This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

[आदिपर्व और सभापर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

[आदिपर्व और सभापर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य ११.०० ग्यारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५.००

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नम्र निवेदन

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा भारतीय सनातनधर्मका एक अत्यन्त आदरणीय और महान् प्रमुख ग्रन्थ है। यह अनन्त अमूल्य रत्नोंका अपार भण्डार है। भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं कि 'इस महाभारतमें मैंने वेदोंके रहस्य और विस्तार, उपनिषदोंके सम्पूर्ण सार, इतिहास-पुराणोंके उन्मेष और निमेष, चातुर्वर्ण्य-के विधान, पुराणोंके आशय, ग्रह-नक्षत्र-तारा आदिके परिमाण, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा), तीर्थों, पुण्य देशों, नदियों, पर्वतों, वनों तथा समुद्रोंका भी वर्णन किया है।' अतएव महाभारत महाकाव्य है, गूढ़ार्थमय ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र है, धर्मग्रन्थ है, राजनीतिक दर्शन है, निष्काम कर्मयोग-दर्शन है, भक्ति-शास्त्र है, अध्यात्म-शास्त्र है, आर्यजातिका इतिहास है और सर्वार्थसाधक तथा सर्वशास्त्रसंग्रह है। सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह है कि इसमें एक, अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, परमयोगेश्वर, अचिन्त्यानन्त गुणगणसम्पन्न, सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी, विचित्र लीलाविहारी, भक्त-भक्तिमान्, भक्त-सर्वस्व, निखिलरसामृतसिन्धु, अनन्तप्रेमाधार, प्रेमघनविग्रह, सच्चिदानन्दघन, वासुदेव भगवान श्रीकृष्णके गुण-गौरवका मधुर गान है। इसकी महिमा अपार है। औपनिषद ऋषिने भी इतिहास-पुराणको पञ्चम वेद बताकर महाभारतकी सर्वोपरि महत्ता स्वीकार की है।

इस महाभारतके हिंदीमें कई अनुवाद इससे पहले प्रकाशित हो चुके हैं, परंतु इस समय संस्कृत-मूल तथा हिंदी-अनुवादसहित सम्पूर्ण ग्रन्थ शायद उपलब्ध नहीं है। मूल तथा हिंदी-अनुवाद पृथक्-पृथक् तो प्राप्त होते हैं, परंतु उनका मूल्य बहुत है। इसीलिये महाभारतका महत्त्व समझनेवाले प्रेमी तथा उदाराशय सज्जनोंका बहुत दिनोंसे यह आग्रह था कि गीताप्रेसके द्वारा मूल संस्कृत एवं हिंदी-अनुवाद-सहित सम्पूर्ण महाभारत प्रकाशित किया जाय। इसके लिये बहुत दिनोंसे प्रयास भी चल रहा था। कई बार योजनाएँ भी बनायी गयीं; परंतु सत्कार्य-प्रारम्भका पुण्य दिवस तभी प्राप्त होता है, जब भगवत्कृपासे वैसा अवसर प्राप्त हो जाता है। बहुत दिनोंके प्रयत्नके पश्चात् अब वह सुअवसर आया है और महाभारत-का यह प्रथम खण्ड आपके हाथोंमें उपस्थित है।

महाभारतमें बहुत पाठभेद हैं। दक्षिण और उत्तरके ग्रन्थोंमें हजारों श्लोकोंका अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इन सारे पाठ-भेदोंको देखकर एक सुनिश्चित पाठ प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन कार्य है। इसी महान् कार्यके लिये पूना भाण्डारकर संस्थानके विद्वान् वर्षोंसे सचेष्ट और सक्रिय हैं और उनके द्वारा संशोधित महाभारत अधिकांश प्रकाशित भी हो चुका है, परंतु यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि उनके द्वारा निर्णीत पाठ सर्वसम्मत पाठ है या वही सर्वथा सत्य एवं शुद्ध है। अवश्य ही उनका सचाईसे भरा प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य और श्लाघ्य है और उससे पाठ-निर्णयमें हमें पर्याप्त सहायता मिली है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

महाभारतमें आया है कि भगवान् व्यासदेवने साठ लाख श्लोकोंकी एक महाभारत-संहिताका निर्माण किया था। उस समय महान् ग्रन्थके चार छोटे-बड़े संस्करण थे। इनमें पहला तीस लाख श्लोकोंका था, जिसे नारदजीने देवलोकमें देवताओंको सुनाया था। दूसरा पंद्रह लाख श्लोकोंका था, जिसको देवल और असित ऋषिने पितृलोकमें पितृगणोंको सुनाया था। तीसरा जो चौदह लाख श्लोकोंका था, शुकदेवजीके द्वारा गन्धर्वों, यक्षों आदिको सुनाया गया और शेष एक लाख श्लोकोंके चौथे संस्करणका प्रचार मनुष्य-

लोकमें हुआ, जो श्रीवैशम्पायनजीके द्वारा जनमेजय तथा ऋषियोंको श्रवण कराया गया। इसी एक लाख श्लोकोंवाले विभिन्न उपाख्यानोंसे युक्त ग्रन्थको 'आदि महाभारत' माना जाता है।*

कुछ सज्जनोंका कहना है कि महाभारतके तीन स्वरूप हैं—'जय', 'भारत' और 'महाभारत'। 'जय' आठ हजार श्लोकोंका था, 'भारत' चौबीस हजार श्लोकोंका बना तथा उसीमें विविध उपाख्यान जोड़कर एक लाख श्लोकोंका 'महाभारत' बनाया गया। इनके रचयिता क्रमशः व्यास, वैशम्पायन और सौति उग्रश्रवा हैं। अन्य महानुभावोंका कथन है कि जय और महाभारत एक ही ग्रन्थके नाम हैं और भारत इनका संक्षिप्त संस्करण है तथा इनके रचयिता तीन नहीं, एकमात्र श्रीव्यासदेव ही हैं। महाभारतमें यह स्पष्ट कहा गया है—

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्। सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा॥

(आदि० ६२। १४)

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। (आदि० ६२। २०)

अर्थात् 'अमित तेजस्वी सत्यवती-पुत्र श्रीव्यासके द्वारा ही इस लोकमें एक लाख श्लोकोंका निर्माण हुआ है। यह 'जय' नामक इतिहास है। विजयकी इच्छा रखनेवालोंको इसका श्रवण करना चाहिये।

कुछ समय पहले महाभारतके अन्वेषक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदयने लिखा था कि 'आजतक खोजमें कहीं भी 'जय' अथवा 'भारत' नामक पृथक् कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'महाभारत' सम्पूर्ण ही श्रीव्यासदेवरचित है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि समय-समयपर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार लोगोंने अनेक कारणोंसे इस ग्रन्थमें प्रक्षिप्त अंश नहीं जोड़े हैं अथवा मूलपाठको नहीं बदला या नहीं निकाला है। कहीं-कहीं तो प्रत्यक्ष परस्परविरोधी वर्णन आनेसे यह संदेह और भी दृढ़ हो जाता है। इसीलिये इसका पाठ-निर्णय बहुत ही कठिन कार्य है। हमारे सामने भी यह कठिनाई थी। अन्तमें प्राचीन पाठोंको लेना ही उचित समझा गया और तदनुसार उत्तर भारतमें सर्वाधिक प्रचलित तथा प्रायः सर्वमान्य 'नीलकण्ठी' टीकासे पाठ लेनेका निश्चय किया गया। इसमें लगभग चौरासी हजार श्लोक हैं और इनके साथ हरिवंशके सोलह हजार श्लोकोंको जोड़नेपर एक लाखके लगभग संख्या हो जाती है। कुछ महानुभावोंका यह मत है कि हरिवंशको इसमें नहीं जोड़ना चाहिये। इसमें तो अब कोई संदेह ही नहीं रह गया है कि महाभारत अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। आश्वलायन सूत्रमें महाभारतका प्रत्यक्ष उल्लेख है, जो पाणिनिके समयसे प्राचीन सिद्ध हो चुका है। श्रीव्यासरचित महाभारतमें एक लाख श्लोक थे—यह कोई नयी धारणा नहीं है। यह सत्य तथ्य है। Insoriptionum Indicarum नामक एक पुस्तकमाला भारत-सरकार प्रकाशन कर रही है, उसमें प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख आदि छप रहे हैं। उसकी तीसरी पुस्तकमें उच्चकल्पके महाराज सर्वनाथका संवत् १४७ का एक लेख है, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि 'व्यासकृत' महाभारतकी श्लोक संख्या एक लाख है। इससे भी यह सिद्ध है कि महाभारत एक लाख श्लोकोंका ग्रन्थ था और दक्षिण-भारतके ग्रन्थोंमें एक लाखके लगभग श्लोकोंका पाठ है भी। दाक्षिणात्य ग्रन्थोंके उन बढ़े हुए श्लोकोंमें भी बहुत अच्छी-अच्छी कथाएँ हैं। उस पाठको वहाँके लोग बहुत ही प्राचीन मानते हैं। एक लाख श्लोकोंके उस महाभारतकी एक 'लक्षालङ्कार' नामक अति प्राचीन टीका भी है। उसके कुछ अंश तो मिले हैं, परंतु पूरी टीका उपलब्ध नहीं है; अतएव इस पाठकी भी अवहेलना नहीं की जा सकती। नीलकण्ठने भी अपनी टीकामें दाक्षिणात्य पाठके नालायनीय प्रसङ्गका उल्लेख किया है। इससे भी उसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है। गीताप्रेसके इस महाभारतमें मुख्यतः नीलकण्ठीके अनुसार पाठ लेनेपर

---

* षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्॥

त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम्। पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश॥

एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्। नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन्॥

गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः। अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्॥

(महा० आदि० १। १०५—१०८)

इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्। उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥

(महा० आदि० १। १०१-१०२)

भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी अंशोंको सम्मिलित किया गया है और इसीके अनुसार बीच-बीचमें उसके श्लोक अर्थसहित दे दिये गये हैं। पर उन श्लोकोंकी श्लोकसंख्या न तो मूलमें दी गयी है, न अर्थमें ही। अध्यायके अन्तमें दाक्षिणात्य पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग बताकर उक्त अध्यायकी पूर्ण श्लोक-संख्या बता दी गयी है और इसी प्रकार पर्वके अन्तमें लिये हुए दाक्षिणात्य अधिक पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग-अलग बताकर उस पर्वकी पूर्ण श्लोक-संख्या भी दे दी गयी है।

इसके अतिरिक्त महाभारतके पूर्व प्रकाशित अन्यान्य संस्करणों तथा पूनाके संस्करणसे भी पाठ-निर्णयमें सहायता ली गयी है और अच्छा प्रतीत होनेपर उनके मूल पाठ या पाठान्तरको भी ग्रहण किया गया है।

गीताप्रेसके इस महाभारतमें अनुष्टुप् छन्दके हिसाबसे तथा 'उवाच' जोड़कर कुल श्लोक-संख्या १००२१७ है। इसमें उत्तर भारतीय पाठकी ८६६००, दाक्षिणात्य पाठकी ६५८४ तथा 'उवाच' की ७०३३ है।

इस विशाल ग्रन्थके हिंदी-अनुवादका प्रायः सारा कार्य गीताप्रेसके प्रसिद्ध तथा सिद्धहस्त भाषा-न्तरकार संस्कृत-हिंदी दोनों भाषाओंके सफल लेखक तथा कवि, परम विद्वान् पण्डितप्रवर श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री महोदयने किया है। इसीसे अनुवादकी भाषा सरल होनेके साथ ही इतनी सुमधुर हो सकी है। दार्शनिक वयोवृद्ध विद्वान् डा० श्रीभगवानदासजीने इस अनुवादकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

आदिपर्व तथा कुछ अन्य पर्वोंके कुछ अनुवादको हमारे परम आदरणीय विद्वान् स्वामीजी श्रीअखण्डा-नन्दजी महाराजने भी कृपापूर्वक देखा है; इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त, पाठनिर्णय तथा अनुवाद देखनेका प्रायः सारा कार्य हमारे परम श्रद्धेय श्रीजय-दयालजी गोयन्दकाने समय-समयपर स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी, श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, श्रीघनश्यामदासजी जालान, श्रीवासुदेवजी काबरा आदिको साथ रखकर किया है। श्रीगोयन्दकाजी तथा इन महानुभावोंने इतनी लगनके साथ बहुत लंबा समय नियमितरूपसे देकर काम न किया होता तो इस विशाल ग्रन्थका प्रकाशन होना सम्भव नहीं था।

यह पूरा महाभारत ग्रन्थ मासिकरूपमें प्रकाशित हो चुका है, उसीको ग्राहकोंकी सुविधाके लिये अब पुस्तकरूपमें भी देनेकी यह व्यवस्था की गयी है।

इसका मूल्य इस प्रकार रखा गया है—

	खण्डोंमें आये पर्वोंके नाम	पृष्ठ-संख्या	रंगीन चित्र	सादे चित्र	लाइन चित्र	मूल्य
(१) प्रथम खण्ड	—आदिपर्व और सभापर्व	९६२	९	४०	१०८	११.००
(२) द्वितीय खण्ड	—वनपर्व और विराटपर्व	१११०	१२	४०	२१४	१२.५०
(३) तृतीय खण्ड	—उद्योगपर्व और भीष्मपर्व	१०७६	२३	३६	८०	१२.५०
(४) चतुर्थ खण्ड	—द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व	१३४६	१३	४०	९१	१५.००
(५) पञ्चम खण्ड	—शान्तिपर्व	१०१४	१०	३१	१६	११.५०
(६) षष्ठ खण्ड	—अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व	११११२	१२	३८	५५	१२.५०

इस प्रकार यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सटीक ६ खण्डोंमें (सजिल्द), पृष्ठ-संख्या ६६२०, चित्र-संख्या बहुरंगे ७९, सादे २२५ तथा लाइन ५६४ कुल ८६८। मूल्य एक साथ ६५.०० में सर्वसाधारणको प्राप्य है।

विनीत प्रार्थी—**प्रकाशक**

गीताप्रेस, पत्रालय गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमहाभारतम्

तत्रादावनुसंधेयाः श्लोकाः—

(महाभारत प्रारम्भ करनेके पूर्व पठनीय और स्मरणीय श्लोक)

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम्।
स्मृतमात्रेण यत् पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः॥ १॥

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥ २॥

भारताध्ययनात् पुण्यादपि पादमधीयतः।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः॥ ३॥

सरस्वतीपदं वन्दे श्रियः पतिमुमापतिम्।
त्विषां पतिं गणपतिं बृहस्पतिमुखानृषीन्॥ ४॥

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्॥ ५॥

असच्च सच्चैव च यद् विश्वं सदसतः परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम्॥ ६॥

मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम्॥ ७॥

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः॥ ८॥

व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥ ९॥

अभ्रश्यामः पिङ्गजटाबद्धकलापः
प्रांशुर्दण्डी कृष्णमृगत्वक्परिधानः।
साक्षाल्लोकान् पावयमानः कविमुख्यः
पाराशर्यः पर्वसुरूपं विवृणोतु॥ १०॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे॥ ११॥

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ १२॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १३॥

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति॥ १४॥

॥ श्रीहरिः ॥

महाभारतके सब पर्वोंके प्रत्येक अध्यायकी पूरी विषयसूची

आदिपर्व

अध्याय　　विषय　　पृष्ठ-संख्या

(अंशावतरणपर्व)

(सम्भवपर्व)

(जतुगृहपर्व)

(हिडिम्बवधपर्व)

(बकवधपर्व)

(चैत्ररथपर्व)

(स्वयंवरपर्व)

(वैवाहिकपर्व)

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

(अर्जुनवनवासपर्व)

(सुभद्राहरणपर्व)

(हरणाहरणपर्व)

(खाण्डवदाहपर्व)

(मयदर्शनपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

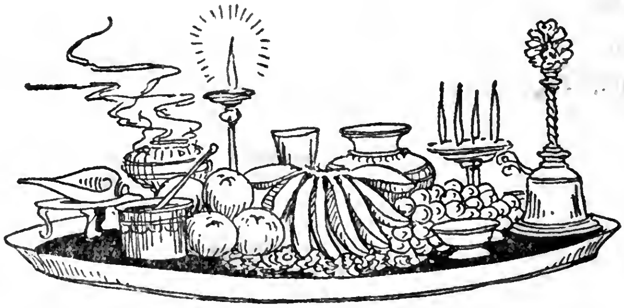

श्रीहरिः

सभापर्व

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

(राजसूयपर्व)

(अर्घाभिहरणपर्व)

(शिशुपालवधपर्व)

(द्यूतपर्व)

चित्र-सूची

(सभापर्व सम्पूर्ण)

नमस्कार

श्रीहरिः

श्रीगणेशाय नमः

श्रीवेदव्यासाय नमः

श्रीमहाभारतम्

आदिपर्व

(अनुक्रमणिकापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

ग्रन्थका उपक्रम, ग्रन्थमें कहे हुए अधिकांश विषयोंकी संक्षिप्त सूची तथा इसके पाठकी महिमा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

'बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण तथा श्रीनर (अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन), उनकी लीला प्रकट करनेवाली भगवती सरस्वती और उसके वक्ता महर्षि वेदव्यासको नमस्कार कर (आसुरी सम्पत्तियोंका नाश करके अन्तःकरणपर दैवी सम्पत्तियोंको विजय प्राप्त करानेवाले) जय* (महाभारत एवं अन्य इतिहास-पुराणादि) का पाठ करना चाहिये ।' †

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ॐ नमः पितामहाय । ॐ नमः प्रजापतिभ्यः । ॐ नमः कृष्णद्वैपायनाय । ॐ नमः सर्वविघ्नविनायकेभ्यः ।

ॐकारस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप भगवान् पितामहको नमस्कार है । ॐकारस्वरूप प्रजापतियोंको नमस्कार है । ॐकारस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायनको नमस्कार है । ॐकारस्वरूप सर्वविघ्नविनाशक विनायकोंको नमस्कार है ।

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे॥१॥
सुखासीनानभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, नैमिषारण्यमें[1] कुलपति[2] महर्षि शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें[3] जब उत्तम एवं कठोर ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षिगण अवकाशके समय सुखपूर्वक बैठे थे, सूतकुलको आनन्दित करनेवाले लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवा सौति स्वयं कौतूहलवश उन ब्रह्मर्षियोंके समीप बड़े विनीतभावसे आये । वे पुराणोंके विद्वान् और कथावाचक थे ॥ १-२ ॥

---

* जय शब्दका अर्थ महाभारत नामक इतिहास ही है । आगे चलकर कहा है—'जयो नामेतिहासोऽयम्' इत्यादि। अथवा अठारहों पुराण, वाल्मीकिरामायण आदि सभी आर्ष-ग्रन्थोंकी संज्ञा 'जय' है।

† मङ्गलाचरणका श्लोक देखनेपर ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ नारायण शब्दका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण और नरोत्तम नरका अर्थ है नररत्न अर्जुन । महाभारतमें प्रायः सर्वत्र इन्हीं दोनोंका नर-नारायणके अवतारके रूपमें उल्लेख हुआ है । इससे मङ्गलाचरणमें ग्रन्थके इन दोनों प्रधान पात्र तथा भगवान्‌के मूर्ति-युगलको प्रणाम करना मङ्गलाचरणको नमस्कारात्मक होनेके साथ ही वस्तुनिर्देशात्मक भी बना देता है । इसलिये अनुवादमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका ही उल्लेख किया गया है ।

१. नैमिष नामकी व्याख्या वाराहपुराणमें इस प्रकार मिलती है—

एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखं तदा ।
उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम् ॥
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितम् ।

ऐसा करके भगवान्‌ने उस समय गौरमुख मुनिसे कहा—'मैंने निमिषमात्रमें इस अरण्य (वन) के भीतर इस दानव-सेनाका संहार किया है; अतः यह वन नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध होगा।

२. जो विद्वान् ब्राह्मण अकेला ही दस सहस्र जिज्ञासु व्यक्तियोंका अन्न-दानादिके द्वारा भरण-पोषण करता है, उसे कुलपति कहते हैं ।

३. जो कार्य अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे किया गया हो और जिसमें बहुतोंको ज्ञान, सदाचार आदिकी शिक्षा तथा अन्न-वस्त्रादि वस्तुएँ दी जाती हों, जो बहुतोंके लिये तृप्तिकारक एवं उपयोगी हो, उसे 'सत्र' कहते हैं ।

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनाम् ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥

उस समय नैमिषारण्यवासियोंके आश्रममें पधारे हुए उन उग्रश्रवाजीको, उनसे चित्र-विचित्र कथाएँ सुननेके लिये, सब तपस्वियोंने वहीं घेर लिया ॥ ३ ॥

अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत् स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिपूजितः ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने पहले हाथ जोड़कर उन सभी मुनियोंको अभिवादन किया और 'आपलोगोंकी तपस्या सुखपूर्वक बढ़ रही है न ?' इस प्रकार कुशल-प्रश्न किया । उन सत्पुरुषोंने भी उग्रश्रवाजीका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लौमहर्षणिः ॥ ५ ॥

इसके अनन्तर जब वे सभी तपस्वी अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गये, तब लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाजीने भी उनके बताये हुए आसनको विनयपूर्वक ग्रहण किया ॥ ५ ॥

सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित् प्रस्तावयन् कथाः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् यह देखकर कि उग्रश्रवाजी थकावटसे रहित होकर आरामसे बैठे हुए हैं, किसी महर्षिने बातचीतका प्रसङ्ग उपस्थित करते हुए यह प्रश्न पूछा—॥ ६ ॥

कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ॥ ७ ॥

कमलनयन सूतकुमार ! आपका शुभागमन कहाँसे हो रहा है ? अबतक आपने कहाँ आनन्दपूर्वक समय बिताया है ? मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये ॥ ७ ॥

एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग् यथावल्लौमहर्षणिः ।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ॥ ८ ॥
तस्मिन् सदसि विस्तीर्णे मुनीनां भावितात्मनाम् ।

उग्रश्रवाजी एक कुशल वक्ता थे । इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर वे शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंकी उस विशाल सभामें ऋषियों तथा राजाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली उत्तम एवं यथार्थ कथा कहने लगे ॥ ८½ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ॥ ९ ॥
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् पारिक्षितस्य च ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ॥ १० ॥
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै ।
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ॥ ११ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—महर्षियो ! चक्रवर्ती सम्राट् महात्मा राजर्षि परीक्षित्-नन्दन जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हींके पास वैशम्पायनने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीके द्वारा निर्मित परम पुण्यमयी चित्र-विचित्र अर्थसे युक्त महाभारतकी जो विविध कथाएँ विधिपूर्वक कही हैं, उन्हें सुनकर मैं आ रहा हूँ ॥ ९–११ ॥

बहूनि सम्परिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ।
समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १२ ॥
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत् पुरा ।
कुरूणां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १३ ॥

मैं बहुत-से तीर्थों एवं धामोंकी यात्रा करता हुआ ब्राह्मणों-के द्वारा सेवित उस परम पुण्यमय समन्तपञ्चक क्षेत्र कुरुक्षेत्र देशमें गया, जहाँ पहले कौरव-पाण्डव एवं अन्य सब राजाओं-का युद्ध हुआ था ॥ १२-१३ ॥

दिदृक्षुरागतस्तस्मात् समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्व एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ।
अस्मिन् यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ॥ १४ ॥

वहींसे आपलोगोंके दर्शनकी इच्छा लेकर मैं यहाँ आपके पास आया हूँ । मेरी यह मान्यता है कि आप सभी दीर्घायु एवं ब्रह्मस्वरूप हैं । ब्राह्मणो ! इस यज्ञमें सम्मिलित आप सभी महात्मा बड़े भाग्यशाली तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी हैं ॥ १४ ॥

कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्याहुताग्नयः ।
भवन्त आसने स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥ १५ ॥
पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः ।
इति वृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥ १६ ॥

इस समय आप सभी स्नान, संध्या-वन्दन, जप और अग्निहोत्र आदि करके शुद्ध हो अपने-अपने आसनपर स्वस्थचित्त-से विराजमान हैं । आज्ञा कीजिये, मैं आपलोगोंको क्या सुनाऊँ ? क्या मैं आपलोगोंको धर्म और अर्थके गूढ़ रहस्यसे युक्त, अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली भिन्न-भिन्न पुराणोंकी कथा सुनाऊँ अथवा उदारचरित महानुभाव ऋषियों एवं सम्राटोंके पवित्र इतिहास ? ॥ १५-१६ ॥

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन तत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ १८ ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥ १९ ॥
जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशम्पायन उक्तवान् ।
यथावत् स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥ २० ॥

वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम्॥ २१॥

ऋषियोंने कहा—उग्रश्रवाजी ! परमर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायनने जिस प्राचीन इतिहासरूप पुराणका वर्णन किया है और देवताओं तथा ऋषियोंने अपने-अपने लोकमें श्रवण करके जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जो आख्यानोंमें सर्वश्रेष्ठ है, जिसका एक-एक पद, वाक्य एवं पर्व विचित्र शब्दविन्यास और रमणीय अर्थसे परिपूर्ण है, जिसमें आत्मा-परमात्माके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय एवं उनके अनुभवके लिये अनुकूल युक्तियाँ भरी हुई हैं और जो सम्पूर्ण वेदोंके तात्पर्यानुकूल अर्थसे अलंकृत है, उस भारत-इतिहासकी परम पुण्यमयी, ग्रन्थके गुप्त भावोंको स्पष्ट करनेवाली, पदों-वाक्योंकी व्युत्पत्तिसे युक्त, सब शास्त्रोंके अभिप्रायके अनुकूल और उनसे समर्थित जो अद्भुतकर्म व्यासकी संहिता है, उसे हम सुनना चाहते हैं। अवश्य ही वह चारों वेदोंके अर्थोंसे भरी हुई तथा पुण्यस्वरूपा है। पाप और भयको नाश करनेवाली है। भगवान् वेदव्यासकी आज्ञासे राजा जनमेजयके यज्ञमें प्रसिद्ध ऋषि वैशम्पायनने आनन्दमें भरकर भलीभाँति इसका निरूपण किया है॥ १७–२१॥

सौतिरुवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्॥ २२॥
असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत्परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम्॥ २३॥
मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम्॥ २४॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः॥ २५॥

उग्रश्रवाजीने कहा—जो सबका आदि कारण अन्तर्यामी और नियन्ता है, यज्ञोंमें जिसका आवाहन और जिसके उद्देश्यसे हवन किया जाता है, जिसकी अनेक पुरुषों-द्वारा अनेक नामोंसे स्तुति की गयी है, जो ऋत (सत्यस्वरूप), एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव एवं एकमात्र अविनाशी और सर्वव्यापी परमात्मा), व्यक्ताव्यक्त (साकार-निराकार) स्वरूप एवं सनातन है, असत्-सत् एवं उभयरूपसे जो स्वयं विराजमान है; फिर भी जिसका वास्तविक स्वरूप सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है, यह विश्व जिससे अभिन्न है, जो सम्पूर्ण परावर (स्थूल-सूक्ष्म) जगत्का स्रष्टा, पुराणपुरुष, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर एवं वृद्धि-क्षय आदि विकारोंसे रहित है, जिसे पाप कभी छू नहीं सकता, जो सहज शुद्ध है, वह ब्रह्म ही मङ्गलकारी एवं मङ्गलमय विष्णु है। उन्हीं चराचर गुरु हृषीकेश (मन-इन्द्रियोंके प्रेरक) श्रीहरिको नमस्कार करके सर्वलोकपूजित अद्भुतकर्मा महात्मा महर्षि व्यासदेवके इस अन्तःकरण-शोधक मतका मैं वर्णन करूँगा॥ २२–२५॥

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥ २६॥

पृथ्वीपर इस इतिहासका अनेकों कवियोंने वर्णन किया है और इस समय भी बहुत-से वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अन्य कवि आगे भी इसका वर्णन करते रहेंगे॥ २६॥

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम्।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः॥ २७॥

इस महाभारतके तीनों लोकोंमें एक महान् ज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठा है। ब्राह्मणादि द्विजाति संक्षेप और विस्तार दोनों ही रूपोंमें अध्ययन और अध्यापनकी परम्पराके द्वारा इसे अपने हृदयमें धारण करते हैं॥ २७॥

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥ २८॥

यह शुभ (ललित एवं मङ्गलमय) शब्दविन्याससे अलंकृत है तथा वैदिक-लौकिक या संस्कृत-प्राकृत संकेतोंसे सुशोभित है। अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा आदि नाना प्रकारके छन्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं; अतः यह ग्रन्थ विद्वानोंको बहुत ही प्रिय है॥ २८॥

(पुण्ये हिमवतः पादे मध्ये गिरिगुहालये।
विशोध्य देहं धर्मात्मा दर्भसंस्तरमाश्रितः॥
शुचिः सनियमो व्यासः शान्तात्मा तपसि स्थितः।
भारतस्येतिहासस्य धर्मेणान्वीक्ष्य तां गतिम्॥
प्रविश्य योगं ज्ञानेन सोऽपश्यत् सर्वमन्ततः।)

हिमालयकी पवित्र तलहटीमें पर्वतीय गुफाके भीतर धर्मात्मा व्यासजी स्नानादिसे शरीर-शुद्धि करके पवित्र हो कुशका आसन बिछाकर बैठे थे। उस समय नियमपालन-पूर्वक शान्तचित्त हो वे तपस्यामें संलग्न थे। ध्यानयोगमें स्थित हो उन्होंने धर्मपूर्वक महाभारत-इतिहासके स्वरूपका विचार करके ज्ञानदृष्टिद्वारा आदिसे अन्ततक सब कुछ प्रत्यक्षकी भाँति देखा (और इस ग्रन्थका निर्माण किया)।

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम्॥ २९॥

सृष्टिके प्रारम्भमें जब यहाँ वस्तुविशेष या नामरूप आदिका भान नहीं होता था, प्रकाशका कहीं नाम नहीं था; सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार छा रहा था, उस समय एक बहुत बड़ा अण्ड प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण प्रजाओंका अविनाशी बीज था॥ २९॥

युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यंज्योतिर्ब्रह्म सनातनम्॥ ३०॥

ब्रह्मकल्पके आदिमें उसी महान् एवं दिव्य अण्डको चार प्रकारके प्राणि-समुदायका कारण कहा जाता है। जिसमें सत्यस्वरूप ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुआ है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है* ॥ ३० ॥

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम्।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत् सदसदात्मकम् ॥ ३१ ॥

वह ब्रह्म अद्भुत, अचिन्त्य, सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त, अव्यक्त, सूक्ष्म, कारणस्वरूप एवं अनिर्वचनीय है और जो कुछ सत्-असत्‌रूपमें उपलब्ध होता है, सब वही है ॥ ३१ ॥

यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥ ३२ ॥
प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त वै।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥ ३३ ॥

उस अण्डसे ही प्रथम देहधारी, प्रजापालक प्रभु देवगुरु पितामह ब्रह्मा तथा रुद्र, मनु, प्रजापति, परमेष्ठी, प्रचेताओंके पुत्र, दक्ष तथा दक्षके सात पुत्र (क्रोध, तम, दम, विक्रीत, अङ्गिरा, कर्दम और अश्व) प्रकट हुए। तत्पश्चात् इक्कीस प्रजापति (मरीचि आदि सात ऋषि और चौदह मनु) † पैदा हुए ॥ ३२-३३ ॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्वे ऋषयो विदुः।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ३४ ॥

जिन्हें मत्स्य-कूर्म आदि अवतारोंके रूपमें सभी ऋषि-मुनि जानते हैं, अप्रमेयात्मा विष्णुरूप पुरुष और उनकी विभूतिरूप विश्वेदेव, आदित्य, वसु एवं अश्विनीकुमार आदि भी क्रमशः प्रकट हुए हैं ॥ ३४ ॥

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक और पितर एवं तत्त्वज्ञानी सदाचारपरायण साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षिगण प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार बहुत-से राजर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ है, जो सब-के-सब शौर्यादि सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। क्रमशः उसी ब्रह्माण्डसे जल, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ भी प्रकट हुई हैं ॥ ३६ ॥

संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात्।
यच्चान्यदपि तत्सर्वं सम्भूतं लोकसाक्षिकम् ॥ ३७ ॥

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, दिन तथा रात्रिका प्राकट्य भी क्रमशः उसीसे हुआ है। इसके सिवा और भी जो कुछ लोकमें देखा या सुना जाता है वह सब उसी अण्डसे उत्पन्न हुआ है ॥ ३७ ॥

यदिदं दृश्यते किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत् प्राप्ते युगक्षये ॥ ३८ ॥

यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह सब प्रलयकाल आनेपर अपने कारणमें विलीन हो जाता है ॥ ३८ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ ३९ ॥

जैसे ऋतुके आनेपर उसके फल-पुष्प आदि नाना प्रकारके चिह्न प्रकट होते हैं और ऋतु बीत जानेपर वे सब समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कल्पका आरम्भ होनेपर पूर्ववत् वे-वे पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं और कल्पके अन्तमें उनका लय हो जाता है ॥ ३९ ॥

एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम्।
अनादिनिधनं लोके चक्रं सम्परिवर्तते ॥ ४० ॥

इस प्रकार यह अनादि और अनन्त काल-चक्र लोकमें प्रवाहरूपसे नित्य घूमता रहता है। इसीमें प्राणियोंकी उत्पत्ति और संहार हुआ करते हैं। इसका कभी उद्भव और विनाश नहीं होता ॥ ४० ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ४१ ॥

देवताओंकी सृष्टि संक्षेपसे तैंतीस हजार, तैंतीस सौ और तैंतीस लक्षित होती है ॥ ४१ ॥

दिवःपुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥ ४२ ॥
पुरा विवस्वतः सर्वे मह्यस्तेषां तथावरः।
देवभ्राट् तनयस्तस्य सुभ्राडिति ततः स्मृतः ॥ ४३ ॥

पूर्वकालमें दिवःपुत्र, बृहत्, भानु, चक्षु, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह तथा रवि— ये सब शब्द विवस्वान्‌के बोधक माने गये हैं, इन सबमें जो अन्तिम 'रवि' हैं वे 'मह्य' (मही—पृथ्वीमें गर्भ स्थापन करनेवाले एवं पूज्य) माने गये हैं। इनके तनय देवभ्राट् हैं और देवभ्राट् के तनय सुभ्राट् माने गये हैं ॥ ४२-४३ ॥

सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ॥ ४४ ॥

सुभ्राट्के तीन पुत्र हुए, वे सब-के-सब संतानवान् और बहुश्रुत (अनेक शास्त्रोंके) ज्ञाता हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—दशज्योति, शतज्योति तथा सहस्रज्योति ॥ ४४ ॥

---

* 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तैत्तिरीय उपनिषद्) ब्रह्मने अण्ड एवं पिण्डकी रचना करके मानो स्वयं ही उसमें प्रवेश किया है।

† ऋषयः सप्त पूर्वे ये मनवश्च चतुर्दश।
एते प्रजानां पतय एभिः कल्पः समाप्यते ॥
(नीलकण्ठीमें ब्रह्माण्डपुराणका वचन)

दशपुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४५ ॥

महात्मा दशज्योतिके दस हजार पुत्र हुए। उनसे भी दस गुने अर्थात् एक लाख पुत्र यहाँ शतज्योतिके हुए ॥ ४५ ॥

भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४६ ॥
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
सम्भूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ॥ ४७ ॥

फिर उनसे भी दस गुने अर्थात् दस लाख पुत्र सहस्रज्योतिके हुए। उन्हींसे यह कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश, ययाति और इक्ष्वाकुके वंश तथा अन्य राजर्षियोंके सब वंश चले। प्राणियोंकी सृष्टिपरम्परा और बहुत-से वंश भी इन्हींसे प्रकट हो विस्तारको प्राप्त हुए हैं ॥ ४६-४७ ॥

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥

भगवान् वेदव्यासने, अपनी ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणियोंके निवासस्थान, धर्म, अर्थ और कामके भेदसे त्रिविध रहस्य, कर्मोपासनाज्ञानरूप वेद, विज्ञानसहित योग, धर्म, अर्थ एवं काम, इन धर्म, काम और अर्थरूप तीन पुरुषार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले विविध शास्त्र, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्यवेद, गन्धर्ववेद आदि लौकिक शास्त्र सब उन्हीं दशज्योति आदिसे हुए हैं—इस तत्त्वको और उनके स्वरूपको भलीभाँति अनुभव किया ॥४८-४९॥

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥

उन्होंने ही इस महाभारत ग्रन्थमें, व्याख्याके साथ उस सब इतिहासका तथा विविध प्रकारकी श्रुतियोंके रहस्य आदिका पूर्णरूपसे निरूपण किया है और इस पूर्णताको ही इस ग्रन्थका लक्षण बताया गया है ॥ ५० ॥

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ५१ ॥

महर्षिने इस महान् ज्ञानका संक्षेप और विस्तार दोनों ही प्रकारसे वर्णन किया है; क्योंकि संसारमें विद्वान् पुरुष संक्षेप और विस्तार दोनों ही रीतियोंको पसंद करते हैं ॥ ५१ ॥

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२ ॥

कोई-कोई इस ग्रन्थका आरम्भ 'नारायणं नमस्कृत्य' से मानते हैं और कोई-कोई आस्तीकपर्वसे। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण उपरिचर वसुकी कथासे इसका विधिपूर्वक पाठ प्रारम्भ करते हैं ॥ ५२ ॥

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः ।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारयितुं परे ॥५३॥

विद्वान् पुरुष इस भारतसंहिताके ज्ञानको विविध प्रकारसे प्रकाशित करते हैं। कोई-कोई ग्रन्थकी व्याख्या करके समझानेमें कुशल होते हैं तो दूसरे विद्वान् अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्तिके द्वारा इन ग्रन्थोंको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५४ ॥

सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने अपनी तपस्या एवं ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे सनातन वेदका विस्तार करके इस लोक-पावन पवित्र इतिहासका निर्माण किया है ॥ ५४ ॥

पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः ।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ॥ ५५ ॥
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत् ।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ॥ ५६ ॥
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम् ।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ॥ ५७ ॥

प्रशस्त व्रतधारी, निग्रहानुग्रह-समर्थ, सर्वज्ञ पराशरनन्दन ब्रह्मर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इस इतिहासशिरोमणि महाभारतकी रचना करके यह विचार करने लगे कि अब शिष्योंको इस ग्रन्थका अध्ययन कैसे कराऊँ ? जनतामें इसका प्रचार कैसे हो। द्वैपायन ऋषिका यह विचार जानकर लोकगुरु भगवान् ब्रह्मा उन महात्माकी प्रसन्नता तथा लोककल्याणकी कामनासे स्वयं ही व्यासजीके आश्रमपर पधारे ॥ ५५–५७ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ॥ ५८ ॥

व्यासजी ब्रह्माजीको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और खड़े रहे। फिर सावधान होकर सब ऋषि-मुनियोंके साथ उन्होंने ब्रह्माजीके लिये आसनकी व्यवस्था की ॥ ५८ ॥

हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने ।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ॥ ५९ ॥

जब उस श्रेष्ठ आसनपर ब्रह्माजी विराज गये, तब व्यासजीने उनकी परिक्रमा की और ब्रह्माजीके आसनके समीप ही विनयपूर्वक खड़े हो गये ॥ ५९ ॥

अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
निषसादासनाभ्याशे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ॥ ६० ॥

परमेष्ठी ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे उनके आसनके पास ही बैठ गये। उस समय व्यासजीके हृदयमें आनन्दका समुद्र

उमड़ रहा था और मुखपर मन्द-मन्द पवित्र मुस्कान लहरा रही थी ॥ ६० ॥

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ६१ ॥

परम तेजस्वी व्यासजीने परमेष्ठी ब्रह्माजीसे निवेदन किया—'भगवन् ! मैंने यह सम्पूर्ण लोकोंसे अत्यन्त पूजित एक महाकाव्यकी रचना की है ॥ ६१ ॥

ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने इस महाकाव्यमें सम्पूर्ण वेदोंका गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रोंका सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है । केवल वेदोंका ही नहीं, उनके अङ्ग एवं उपनिषदोंका भी इसमें विस्तारसे निरूपण किया है ॥ ६२ ॥

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥ ६३ ॥

इस ग्रन्थमें इतिहास और पुराणोंका मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है । भूत, वर्तमान और भविष्यकालकी इन तीनों संज्ञाओंका भी वर्णन हुआ है ॥६३॥

जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥

इस ग्रन्थमें बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थोंके सत्यत्व और मिथ्यात्वका विशेषरूपसे निश्चय किया गया है तथा अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके धर्मों एवं आश्रमों-का भी लक्षण बताया गया है ॥ ६४ ॥

चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ६५ ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्तव्यका विधान, पुराणोंका सम्पूर्ण मूलतत्त्व भी प्रकट हुआ है । तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलोंका विवरण, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन सबके परिमाण और प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इनके आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्रका इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है ॥ ६५-६६ ॥

न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥

न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा) का भी इसमें विशद निरूपण है । साथ ही यह भी बतलाया गया है कि देवता, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्मका कारण क्या है ? ॥ ६७ ॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥ ६८ ॥

लोकपावन तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों और समुद्रका भी इसमें वर्णन किया गया है ॥ ६८ ॥

पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥ ६९ ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥ ७० ॥

दिव्य नगर एवं दुर्गोंके निर्माणका कौशल तथा युद्धकी निपुणताका भी वर्णन है । भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियोंकी जो विशेषताएँ हैं, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये जो कुछ आवश्यक है तथा और भी जितने लोकोपयोगी पदार्थ हो सकते हैं, उन सबका इसमें प्रतिपादन किया गया है; परंतु मुझे इस बातकी चिन्ता है कि पृथ्वीमें इस ग्रन्थ-को लिख सके ऐसा कोई नहीं है' ॥ ६९-७० ॥

ब्रह्मोवाच

तपोविशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात् ।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ॥ ७१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—व्यासजी ! संसारमें विशिष्ट तपस्या और विशिष्ट कुलके कारण जितने भी श्रेष्ठ ऋषि-मुनि हैं, उनमें मैं तुम्हें सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि तुम जगत्, जीव और ईश्वर-तत्त्वका जो ज्ञान है, उसके ज्ञाता हो ॥ ७१ ॥

जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम् ।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति ॥ ७२ ॥

मैं जानता हूँ कि आजीवन तुम्हारी ब्रह्मवादिनी वाणी सत्यभाषण करती रही है और तुमने अपनी रचनाको काव्य कहा है, इसलिये अब यह काव्यके नामसे ही प्रसिद्ध होगी ॥ ७२ ॥

अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ७३ ॥
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।

संसारके बड़े-से-बड़े कवि भी इस काव्यसे बढ़कर कोई रचना नहीं कर सकेंगे । ठीक वैसे ही, जैसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—तीनों आश्रम अपनी विशेषताओंद्वारा गृहस्थाश्रमसे आगे नहीं बढ़ सकते । मुनिवर ! अपने काव्यको लिखवानेके लिये तुम गणेशजीका स्मरण करो ॥ ७३½ ॥

सौतिरुवाच

एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ७४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्माओ ! ब्रह्माजी व्यास-जीसे इस प्रकार सम्भाषण करके अपने धाम ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ७४ ॥

ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्तचिन्तितपूरकः॥ ७५॥
तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदानघ॥ ७६॥

निष्पाप शौनक! तदनन्तर सत्यवतीनन्दन व्यासजीने भगवान् गणेशका स्मरण किया और स्मरण करते ही भक्तवाञ्छाकल्पतरु विघ्नेश्वर श्रीगणेशजी महाराज वहाँ आये, जहाँ व्यासजी विद्यमान थे। व्यासजीने गणेशजीका बड़े आदर और प्रेमसे स्वागत-सत्कार किया और वे जब बैठ गये, तब उनसे कहा—॥ ७५-७६॥

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च॥ ७७॥

'गणनायक! आप मेरेद्वारा निर्मित इस महाभारत-ग्रन्थके लेखक बन जाइये; मैं बोलकर लिखाता जाऊँगा। मैंने मन-ही-मन इसकी रचना कर ली है'॥ ७७॥

श्रुत्वैतत् प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम्।
लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम्॥ ७८॥

यह सुनकर विघ्नराज श्रीगणेशजीने कहा—'व्यासजी! यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ'॥ ७८॥

व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुद्ध्वा मा लिख क्वचित्।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः॥ ७९॥

व्यासजीने भी गणेशजीसे कहा—'बिना समझे किसी भी प्रसङ्गमें एक अक्षर भी न लिखियेगा।' गणेशजीने 'ओम्' कहकर स्वीकार किया और लेखक बन गये॥ ७९॥

ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम्॥ ८०॥

तब व्यासजी भी कुतूहलवश ग्रन्थमें गाँठ लगाने लगे। वे ऐसे-ऐसे श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहरसे दूसरा मालूम पड़ता और भीतर कुछ और होता। इसके सम्बन्धमें प्रतिज्ञा-पूर्वक श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिने यह बात कही है—॥ ८०॥

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥ ८१॥

इस ग्रन्थमें ८८०० आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं, जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें संदेह है॥ ८१॥

तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च॥ ८२॥

मुनिवर! वे कूटश्लोक इतने गुँथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्य-भेदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढवृत्ति आदि रचनावैचित्र्यके कारण गम्भीर हैं॥ ८२॥

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन्।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि॥ ८३॥

स्वयं सर्वज्ञ गणेशजी भी इन श्लोकोंका विचार करते समय क्षणभरके लिये ठहर जाते थे। इतने समयमें व्यासजी भी और बहुतसे श्लोकोंकी रचना कर लेते थे॥ ८३॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम्॥ ८४॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः॥ ८५॥

संसारी जीव अज्ञानान्धकारसे अंधे होकर छटपटा रहे हैं। यह महाभारत ज्ञानाञ्जनकी शलाका लगाकर उनकी आँख खोल देता है। यह शलाका क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका संक्षेप और विस्तारसे वर्णन। यह न केवल अज्ञानकी रतौंधी दूर करता, प्रत्युत सूर्यके समान उदित होकर मनुष्योंकी आँखके सामनेका सम्पूर्ण अन्धकार ही नष्ट कर देता है॥ ८४-८५॥

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम्॥ ८६॥

यह भारत-पुराण पूर्ण चन्द्रमाके समान है, जिससे श्रुतियोंकी चाँदनी छिटकती है और मनुष्योंकी बुद्धिरूपी कुमुदिनी सदाके लिये खिल जाती है॥ ८६॥

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम्॥ ८७॥

यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोहका अन्धकार मिटाकर लोगोंके अन्तःकरणरूप सम्पूर्ण अन्तरङ्ग गृहको भलीभाँति ज्ञानालोकसे प्रकाशित कर देता है॥ ८७॥

संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान्।
सम्भवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटङ्कवान्॥ ८८॥

महाभारत वृक्षका बीज है संग्रहाध्याय और जड़ है पौलोम एवं आस्तीक-पर्व। सम्भवपर्व इसके स्कन्धका विस्तार है और सभा तथा अरण्यपर्व पक्षियोंके रहनेयोग्य कोटर हैं॥ ८८॥

अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योगसारवान्।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान्॥ ८९॥

अरणीपर्व इस वृक्षका ग्रन्थिस्थल है। विराट और उद्योगपर्व इसका सारभाग है। भीष्मपर्व इसकी बड़ी शाखा है और द्रोणपर्व इसके पत्ते हैं॥ ८९॥

कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शान्तिपर्वमहाफलः॥ ९०॥

कर्णपर्व इसके श्वेत पुष्प हैं और शल्यपर्व सुगन्ध। स्त्रीपर्व और ऐषीकपर्व इसकी छाया है तथा शान्तिपर्व इसका महान् फल है ॥ ९० ॥

अश्वमेधामृतरसस्त्वाश्रमस्थानसंश्रयः ।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥ ९१ ॥

अश्वमेधपर्व इसका अमृतमय रस है और आश्रमवासिकपर्व आश्रय लेकर बैठनेका स्थान। मौसलपर्व श्रुतिरूपा ऊँची-ऊँची शाखाओंका अन्तिम भाग है तथा सदाचार एवं विद्यासे सम्पन्न द्विजाति इसका सेवन करते हैं ॥ ९१ ॥

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥ ९२ ॥

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे उनके काव्यके लिये यह मूल आश्रय होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जीवनदाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है ॥ ९२ ॥

सौतिरुवाच

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥ ९३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह भारत एक वृक्ष है। इसके स्वादु, पवित्र, सरस एवं अविनाशी पुष्प तथा फल हैं—धर्म और मोक्ष। उन्हें देवता भी इस वृक्षसे अलग नहीं कर सकते; अब मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ॥ ९३ ॥

मातुर्नियोगाद् धर्मात्मा गाङ्गेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥ ९४ ॥
त्रीनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥ ९५ ॥

पहलेकी बात है—शक्तिशाली, धर्मात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन-(व्यास) ने अपनी माता सत्यवती और परमज्ञानी गङ्गापुत्र भीष्म पितामहकी आज्ञासे विचित्रवीर्यकी पत्नी अम्बिका आदिके गर्भसे तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम हैं धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ॥ ९४-९५ ॥

जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ॥ ९६ ॥
अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥ ९७ ॥
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।
ससदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ॥ ९८ ॥
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ।

इन तीन पुत्रोंको जन्म देकर परम ज्ञानी व्यासजी फिर अपने आश्रमपर चले गये। जब वे तीनों पुत्र वृद्ध हो परम गतिको प्राप्त हुए, तब महर्षि व्यासजीने इस मनुष्यलोकमें महाभारतका प्रवचन किया। जनमेजय और हजारों ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर व्यासजीने पास ही बैठे अपने शिष्य वैशम्पायनको आज्ञा दी कि तुम इन लोगोंको महाभारत सुनाओ। वैशम्पायन याज्ञिक सदस्योंके साथ ही बैठे थे, अतः जब यज्ञकर्ममें बीच-बीचमें अवकाश मिलता, तब यजमान आदिके बार-बार आग्रह करनेपर वे उन्हें महाभारत सुनाया करते थे॥ ९६—९८½॥

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ॥ ९९ ॥
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग् द्वैपायनोऽब्रवीत् ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ॥१००॥
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ।
इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ॥१०१॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ।

इस महाभारत ग्रन्थमें व्यासजीने कुरुवंशके विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुरकी उत्तम प्रज्ञा और कुन्तीदेवीके धैर्यका भलीभाँति वर्णन किया है। महर्षि भगवान् व्यासने इसमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यपरायणता तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन आदिके दुर्व्यवहारोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। पुण्यकर्मा मानवोंके उपाख्यानोंसहित एक लाख श्लोकोंके इस उत्तम ग्रन्थको आद्य भारत (महाभारत) जानना चाहिये ॥ ९९—१०१½ ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ॥१०२॥
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ।
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ॥१०३॥
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम् ।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥१०४॥

तदनन्तर व्यसजीने उपाख्यानभागको छोड़कर चौबीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता बनायी; जिसे विद्वान् पुरुष भारत कहते हैं। इसके पश्चात् महर्षिने पुनः पर्वसहित ग्रन्थमें वर्णित वृत्तान्तोंकी अनुक्रमणिका (सूची) का एक संक्षिप्त अध्याय बनाया, जिसमें केवल डेढ़ सौ श्लोक हैं। व्यासजीने सबसे पहले अपने पुत्र शुकदेवजीको इस महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन कराया ॥ १०२—१०४ ॥

ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ।
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम् ॥१०५॥

तदनन्तर उन्होंने दूसरे-दूसरे सुयोग्य (अधिकारी एवं अनुगत) शिष्योंको इसका उपदेश दिया। तत्पश्चात् भगवान् व्यासने साठ लाख श्लोकोंकी एक दूसरी संहिता बनायी ॥१०५॥

त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ॥१०६॥

उसके तीस लाख श्लोक देवलोकमें समादृत हो रहे हैं, पितृलोकमें पंद्रह लाख तथा गन्धर्वलोकोंमें चौदह लाख श्लोकोंका पाठ होता है ॥ १०६ ॥

एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्।
नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन् ॥१०७॥

इस मनुष्यलोकमें एक लाख श्लोकोंका आद्यभारत (महाभारत) प्रतिष्ठित है। देवर्षि नारदने देवताओंको और असित-देवलने पितरोंको इसका श्रवण कराया है ॥ १०७ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान् ॥१०८॥
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥१०९॥

शुकदेवजीने गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षसोंको महाभारतकी कथा सुनायी है; परंतु इस मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंके शिरोमणि व्यास-शिष्य धर्मात्मा वैशम्पायनजीने इसका प्रवचन किया है। मुनिवरो! वही एक लाख श्लोकोंका महाभारत आपलोग मुझसे श्रवण कीजिये ॥ १०८-१०९ ॥

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥११०॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है। कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल हैं* ॥ ११० ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥१११॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं*॥

पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुद्ध्या विक्रमणेन च।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन्मुनिभिः सह ॥११२॥

महाराज पाण्डु अपनी बुद्धि और पराक्रमसे अनेक देशोंपर विजय पाकर (हिंसक) मृगोंको मारनेके स्वभाववाले होनेके कारण ऋषि-मुनियोंके साथ वनमें ही निवास करते थे ॥

मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम्।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥११३॥

एक दिन उन्होंने मृगरूपधारी महर्षिको मैथुनकालमें मार डाला। इससे वे बड़े भारी संकटमें पड़ गये (ऋषिने यह शाप दे दिया कि स्त्री-सहवास करनेपर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी), यह संकट होते हुए भी युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके जन्मसे लेकर जातकर्म आदि सब संस्कार वनमें ही हुए और वहीं उन्हें शील एवं सदाचारकी रक्षाका उपदेश हुआ ॥

मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥११४॥

[पूर्वोक्त शाप होनेपर भी संतान होनेका कारण यह था कि] कुल-धर्मकी रक्षाके लिये दुर्वासाद्वारा प्राप्त हुई विद्याका आश्रय लेनेके कारण पाण्डवोंकी दोनों माताओं कुन्ती और माद्रीके समीप क्रमशः धर्म, वायु, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार— इन देवताओंका आगमन सम्भव हो

---

* यह और इसके बादका श्लोक महाभारतके तात्पर्यके सूचक हैं। दुर्योधन क्रोध है। यहाँ क्रोध शब्दसे द्वेष, असूया आदि दुर्गुण भी समझ लेने चाहिये। कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि उससे एकताको प्राप्त हैं, उसीके स्वरूप हैं। इन सबका मूल है राजा धृतराष्ट्र। यह अज्ञानी अपने मनको वशमें करनेमें असमर्थ है। इसीने पुत्रोंकी आसक्तिसे अंधे होकर दुर्योधनको अवसर दिया, जिससे उसकी जड़ मजबूत हो गयी। यदि यह दुर्योधनको वशमें कर लेता अथवा बचपनमें ही विदुर आदिकी बात मानकर इसका त्याग कर देता तो विष-दान, लाक्षागृहदाह, द्रौपदी-केशाकर्षण आदि दुष्कार्योंका अवसर ही नहीं आता और कुलक्षय न होता। इस प्रसङ्गसे यह भाव सूचित किया गया है कि यह जो मन्यु (दुर्योधन) रूप वृक्ष है, इसका दृढ़ अज्ञान ही मूल है, क्रोध-लोभादि स्कन्ध हैं, हिंसा-चोरी आदि शाखाएँ हैं और बन्धन-नरकादि इसके फल-पुष्प हैं। पुरुषार्थकामी पुरुषको मूलाज्ञानका उच्छेद करके पहले ही इस (क्रोधरूप) वृक्षको नष्ट कर देना चाहिये।

* युधिष्ठिर धर्म हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे शम, दम, सत्य, अहिंसा आदि रूप धर्मकी मूर्ति हैं। अर्जुन-भीम आदिको धर्मकी शाखा बतलानेका अभिप्राय यह है कि वे सब युधिष्ठिरके ही स्वरूप हैं, उनसे अभिन्न हैं। शुद्धसत्त्वमय ज्ञानविग्रह श्रीकृष्णरूप परमात्मा ही उसके मूल हैं। उनके दृढ़ ज्ञानसे ही धर्मकी नींव मजबूत होती है। श्रुति भगवतीने कहा है कि 'हे गार्गी! इस अविनाशी परमात्माको जाने बिना इस लोकमें जो हजारों वर्षपर्यन्त यज्ञ करता है, दान देता है, तपस्या करता है, उन सबका फल नाशवान् ही होता है।' ज्ञानका मूल है ब्रह्म अर्थात् वेद। वेदसे ही परमधर्म और अपरधर्म यज्ञ-यागादिका ज्ञान होता है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि धर्मका मूल केवल शब्दप्रमाण ही है। वेदके भी मूल ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे ही वेद सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। इस प्रकार उपदेशकके रूपमें ब्राह्मण, प्रमाणके रूपमें वेद और अनुग्राहकके रूपमें परमात्मा धर्मका मूल हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई है कि वेद और ब्राह्मणका भक्त अधिकारी पुरुष भगवदाराधनके बलसे योगादिरूप धर्ममय वृक्षका सम्पादन करे। उस वृक्षके अहिंसा-सत्य आदि तने हैं। धारणा-ध्यान आदि शाखाएँ हैं और तत्त्व-साक्षात्कार ही उसका फल है। इस धर्ममय वृक्षके समाश्रयसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

सका (इन्हींकी कृपासे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी उत्पत्ति हुई) ॥ ११४ ॥

(ततो धर्मोपनिषदः श्रुत्वा भर्तुः प्रिया पृथा ।
धर्मानिलेन्द्रान् स्तुतिभिर्जुहाव सुतवाञ्छया ।
तद्दत्तोपनिषन्माद्री चाश्विनावाजुहाव च ।)
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥११५॥

पतिप्रिया कुन्तीने पतिके मुखसे धर्म-रहस्यकी बातें सुनकर पुत्र पानेकी इच्छासे मन्त्र-जपपूर्वक स्तुतिद्वारा धर्म, वायु और इन्द्र देवताका आवाहन किया। कुन्तीके उपदेश देनेपर माद्री भी उस मन्त्र-विद्याको जान गयी और उसने संतानके लिये दोनों अश्विनीकुमारोंका आवाहन किया। इस प्रकार इन पाँचों देवताओंसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई। पाँचों पाण्डव अपनी दोनों माताओंद्वारा ही पाले-पोसे गये। वे वनोंमें और महात्माओंके परम पुण्य आश्रमोंमें ही तपस्वी लोगोंके साथ दिनोंदिन बढ़ने लगे ॥ ११५ ॥

ऋषिभिर्यत्तदाऽऽनीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥११६॥

(पाण्डुकी मृत्यु होनेके पश्चात्) बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वयं ही पाण्डवोंको लेकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके पास आये। उस समय पाण्डव नन्हे-नन्हे शिशुके रूपमें बड़े ही सुन्दर लगते थे। वे सिरपर जटा धारण किये ब्रह्मचारीके वेशमें थे ॥ ११६ ॥

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥११७॥

ऋषियोंने वहाँ जाकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंसे कहा—'ये तुम्हारे पुत्र, भाई, शिष्य और सुहृद् हैं। ये सभी महाराज पाण्डुके ही पुत्र हैं।' इतना कहकर वे मुनि वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ११७ ॥

तांस्तैर्निवेदितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥११८॥

ऋषियोंद्वारा लाये हुए उन पाण्डवोंको देखकर सभी कौरव और नगरनिवासी, शिष्ट तथा वर्णाश्रमी हर्षसे भरकर अत्यन्त कोलाहल करने लगे ॥ ११८ ॥

आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्यैति चापरे ॥११९॥

कोई कहते, 'ये पाण्डुके पुत्र नहीं हैं।' दूसरे कहते, 'अजी ! ये उन्हींके हैं।' कुछ लोग कहते, जब पाण्डुको मरे इतने दिन हो गये, तब ये उनके पुत्र कैसे हो सकते हैं ?'॥

स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥१२०॥

फिर सब लोग कहने लगे, 'हम तो सर्वथा इनका स्वागत करते हैं। हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हम महाराज पाण्डुकी संतानको अपनी आँखोंसे देख रहे हैं।' फिर तो सब ओरसे स्वागत बोलनेवालोंकी ही बातें सुनायी देने लगीं ॥ १२० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥१२१॥

दर्शकोंका वह तुमुल शब्द बंद होनेपर सम्पूर्ण दिशाओं-को प्रतिध्वनित करती हुई अदृश्य भूतों—देवताओंकी यह सम्मिलित आवाज (आकाशवाणी) गूँज उठी—'ये पाण्डव ही हैं'॥

पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥१२२॥

जिस समय पाण्डवोंने नगरमें प्रवेश किया, उसी समय फूलोंकी वर्षा होने लगी, सब ओर सुगन्ध छा गयी तथा शङ्ख और दुन्दुभियोंके माङ्गलिक शब्द सुनायी देने लगे। यह एक अद्भुत चमत्कारकी-सी बात हुई ॥ १२२ ॥

तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसम्भवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवःस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥१२३॥

सभी नागरिक पाण्डवोंके प्रेमसे आनन्दमें भरकर ऊँचे स्वरसे अभिनन्दन-ध्वनि करने लगे। उनका वह महान् शब्द स्वर्गलोकतक गूँज उठा जो पाण्डवोंकी कीर्ति बढ़ाने-वाला था ॥ १२३ ॥

तेऽधीत्य निखिलान् वेदाञ्छास्त्राणि विविधानि च।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥१२४॥

वे सम्पूर्ण वेद एवं विविध शास्त्रोंका अध्ययन करके वहीं निवास करने लगे। सभी उनका आदर करते थे और उन्हें किसीसे भय नहीं था ॥ १२४ ॥

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥१२५॥
गुरुशुश्रूषया क्षान्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥१२६॥

राष्ट्रकी सम्पूर्ण प्रजा युधिष्ठिरके शौचाचार, भीमसेनकी धृति, अर्जुनके विक्रम तथा नकुल-सहदेवकी गुरु-शुश्रूषा, क्षमाशीलता और विनयसे बहुत ही प्रसन्न होती थी। सब लोग पाण्डवोंके शौर्यगुणसे संतोषका अनुभव करते थे* ॥ १२५-१२६ ॥

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१२७॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् राजाओंके समुदायमें अर्जुनने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके स्वयं ही पति

* शास्त्रोक्त आचारका परित्याग न करना, सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग करना और सदाचारमें दृढ़तासे स्थित रहना— इसको 'शौच'

चुननेवाली द्रुपदकन्या कृष्णाको प्राप्त किया ॥ १२७ ॥

ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥१२८॥

तभीसे वे इस लोकमें सम्पूर्ण धनुर्धारियोंके पूजनीय (आदरणीय) हो गये; और समराङ्गणमें प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति प्रतापी अर्जुनकी ओर किसीके लिये आँख उठाकर देखना भी कठिन हो गया ॥ १२८ ॥

स सर्वान् पार्थिवाञ्जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ॥१२९॥

उन्होंने पृथक्-पृथक् तथा महान् संघ बनाकर आये हुए सब राजाओंको जीतकर महाराज युधिष्ठिरके राजसूय नामक महायज्ञको सम्पन्न कराया ॥ १२९ ॥

अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण सम्प्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥१३०॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासन्धं चैद्यं च बलगर्वितम् ॥१३१॥

भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर नीति और भीमसेन तथा अर्जुनकी शक्तिसे बलके घमण्डमें चूर रहनेवाले जरासन्ध और चेदिराज शिशुपालको मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिरने महायज्ञ राजसूयका सम्पादन किया । वह यज्ञ सभी उत्तम* गुणोंसे सम्पन्न था । उसमें प्रचुर अन्न और पर्याप्त दक्षिणाका वितरण किया गया था ॥ १३०-१३१ ॥

दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकाञ्चनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥१३२॥
विचित्राणि च वासांसि प्रावारावरणानि च ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ॥१३३॥

उस समय इधर-उधर विभिन्न देशों तथा नृपतियोंके यहाँसे मणि, सुवर्ण, रत्न, गाय, हाथी, घोड़े, धन-सम्पत्ति, विचित्र वस्त्र, तम्बू, कनात, परदे, उत्तम कम्बल, श्रेष्ठ मृगचर्म तथा रङ्कुनामक मृगके बालोंके बने हुए कोमल बिछौने आदि जो उपहारकी बहुमूल्य वस्तुएँ आतीं, वे दुर्योधनके हाथमें दी जातीं—उसीकी देख-रेखमें रक्खी जाती थीं ॥ १३२-१३३ ॥

समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम् ।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥१३४॥

उस समय पाण्डवोंकी वह बढ़ी-चढ़ी समृद्धि-सम्पत्ति देखकर दुर्योधनके मनमें ईर्ष्याजनित महान् रोष एवं दुःखका उदय हुआ ॥ १३४ ॥

विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम् ।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥१३५॥

उस अवसरपर मयदानवने पाण्डवोंको एक सभाभवन भेंटमें दिया था, जिसकी रूप-रेखा विमानके समान थी । वह भवन उसके शिल्पकौशलका एक अच्छा नमूना था । उसे देखकर दुर्योधनको अधिक संताप हुआ ॥ १३५ ॥

तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव सम्भ्रमात् ।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥१३६॥

उसी सभाभवनमें जब सम्भ्रम (जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम) होनेके कारण दुर्योधनके पाँव फिसलने-से लगे, तब भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही भीमसेनने उसे गँवार-सा सिद्ध करते हुए उसकी हँसी उड़ायी थी ॥ १३६ ॥

स भोगान् विविधान् भुञ्जन् रत्नानि विविधानि च ।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥१३७॥

दुर्योधन नाना प्रकारके भोग तथा भाँति-भाँतिके रत्नोंका उपयोग करते रहनेपर भी दिनोंदिन दुबला रहने लगा । उसका रंग फीका पड़ गया । इसकी सूचना कर्मचारियोंने महाराज धृतराष्ट्रको दी ॥ १३७ ॥

अन्वजानात् ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ॥१३८॥

धृतराष्ट्र अपने उस पुत्रके प्रति अधिक आसक्त थे, अतः उसकी इच्छा जानकर उन्होंने उसे पाण्डवोंके साथ जूआ खेलनेकी आज्ञा दे दी । जब भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना, तब उन्हें धृतराष्ट्रपर बड़ा क्रोध आया ॥ १३८ ॥

नातिप्रीतमनाश्चासीद् विवादांश्चान्वमोदत ।
द्यूतादीननयान् घोरान् विविधांश्चाप्युपैक्षत ॥१३९॥

यद्यपि उनके मनमें कलहकी सम्भावनाके कारण कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई, तथापि उन्होंने (मौन रहकर) इन

कहते हैं । अपनी इच्छाके अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें विकार न होना ही 'धृति' है । सबसे बढ़कर सामर्थ्यका होना ही 'विक्रम' है । सद्वृत्तिकी अनुवृत्ति ही 'शुश्रूषा' है । (सदाचारपरायण गुरुजनोंका अनुसरण गुरुशुश्रूषा है ।) किसीके द्वारा अपराध बन जानेपर भी उसके प्रति अपने चित्तमें क्रोध आदि विकारोंका न होना ही 'क्षमाशीलता' है । जितेन्द्रियता अथवा अनुद्धत रहना ही 'विनय' है । बलवान् शत्रुको भी पराजित कर देनेका अध्यवसाय 'शौर्य' है । इनके संग्राहक श्लोक इस प्रकार हैं—

आचारपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः ।
आचारे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥
इष्टानिष्टार्थसम्पत्तौ चित्तस्याविकृतिर्धृतिः ।
सर्वातिशयसामर्थ्यं विक्रमं परिचक्षते ॥
वृत्तानुवृत्तिः शुश्रूषा क्षान्तिरागस्यविक्रिया ।
जितेन्द्रियत्वं विनयोऽथवानुद्धतशीलता ॥
शौर्यमध्यवसायः स्याद् बलिनोऽपि पराभवे ।

* आचार्य, ब्रह्मा, ऋत्विक्, सदस्य, यजमान, यजमानपत्नी, धनसम्पत्ति, श्रद्धा-उत्साह, विधि-विधानका सम्यक् पालन एवं सद्बुद्धि आदि यज्ञकी उत्तम गुणसामग्रीके अन्तर्गत हैं ।

विवादोंका अनुमोदन ही किया और भिन्न-भिन्न प्रकारके भयंकर अन्याय, द्यूत आदिको देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी ॥

निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम् ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहन् क्षत्रं परस्परम् ॥१४०॥

(इस अनुमोदन या उपेक्षाका कारण यह था कि वे धर्मनाशक दुष्ट राजाओंका संहार चाहते थे । अतः उन्हें विश्वास था कि) इस विग्रहजनित महान् युद्धमें विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्यकी अवहेलना करके सभी दुष्ट क्षत्रिय एक दूसरेको अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डालेंगे॥१४०॥

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तथा ॥१४१॥
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ॥१४२॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ॥१४३॥

जब युद्धमें पाण्डवोंकी जीत होती गयी, तब यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर तथा दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके दुराग्रहपूर्ण निश्चित विचार जानकर, धृतराष्ट्र बहुत देरतक चिन्तामें पड़े रहे । फिर उन्होंने संजयसे कहा--'संजय ! मेरी सब बातें सुन लो । फिर इस युद्ध या विनाशके लिये मुझे दोष न दे सकोगे । तुम विद्वान्, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितके लिये भी आदरणीय हो । इस युद्धमें मेरी सम्मति बिल्कुल नहीं थी और यह जो हमारे कुलका विनाश हो गया है, इससे मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई है ॥ १४१-१४३ ॥

न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ॥१४४॥

मेरे लिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें कोई भेद नहीं था । किंतु क्या करूँ ! मेरे पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मुझपर ही दोषारोपण करते थे और मेरी बात नहीं मानते थे ॥ १४४ ॥

अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥१४५॥

मैं अंधा हूँ, अतः कुछ दीनताके कारण और कुछ पुत्रोंके प्रति अधिक आसक्ति होनेसे भी वह सब अन्याय सहता आ रहा हूँ । मन्दबुद्धि दुर्योधन जब मोहवश दुखी होता था, तब मैं भी उसके साथ दुखी हो जाता था ॥ १४५ ॥

राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥१४६॥
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं सश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ॥१४७॥
गान्धारराजसहितश्छद्मद्यूतममन्त्रयत् ।
तत्र यद् यद् यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ॥१४८॥

राजसूय-यज्ञमें महापराक्रमी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सर्वोपरि समृद्धि-सम्पत्ति देखकर तथा सभाभवनकी सीढ़ियोंपर चढ़ते और उस भवनको देखते समय भीमसेनके द्वारा उपहास पाकर दुर्योधन भारी अमर्षमें भर गया था । युद्धमें पाण्डवोंको हरानेकी शक्ति तो उसमें थी नहीं; अतः क्षत्रिय होते हुए भी वह युद्धके लिये उत्साह नहीं दिखा सका । परंतु पाण्डवोंकी उस उत्तम सम्पत्तिको हथियानेके लिये उसने गान्धारराज शकुनिको साथ लेकर कपटपूर्ण द्यूत खेलनेका ही निश्चय किया । संजय ! इस प्रकार जूआ खेलनेका निश्चय हो जानेपर उसके पहले और पीछे जो-जो घटनाएँ घटित हुई हैं उन सबका विचार करते हुए मैंने समय-समयपर विजयकी आशाके विपरीत जो-जो अनुभव किया है उसे कहता हूँ, सुनो ॥ १४६-१४८ ॥

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥१४९॥

सूतनन्दन ! मेरे उन बुद्धिमत्तापूर्ण वचनोंको सुनकर तुम ठीक-ठीक समझ लोगे कि मैं कितना प्रज्ञाचक्षु हूँ ॥ १४९ ॥

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं
विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५०॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुनने धनुषपर बाण चढ़ाकर अद्भुत लक्ष्य बेध दिया और उसे धरतीपर गिरा दिया । साथ ही सब राजाओंके सामने, जब कि वे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये, बलपूर्वक द्रौपदीको ले आया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥ १५० ॥

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां
प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५१॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुनने द्वारकामें मधुवंशकी राजकुमारी (और श्रीकृष्णकी बहिन) सुभद्राको बलपूर्वक हरण कर लिया और श्रीकृष्ण एवं बलराम (इस घटनाका विरोध न कर) दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थमें आये तभी समझ लिया था कि मेरी विजय नहीं हो सकती ॥ १५१ ॥

यदाश्रौषं देवराजं प्रविष्टं
शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५२॥

जब मैंने सुना कि खाण्डवदाहके समय देवराज इन्द्र तो वर्षा करके आग बुझाना चाहते थे और अर्जुनने उसे अपने दिव्य बाणोंसे रोक दिया तथा अग्निदेवको तृप्त किया, संजय ! तभी मैंने समझ लिया कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती ॥

यदाश्रौषं जातुषाद् वेश्मनस्तान्
मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुन्त्या समेतान्।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५३॥

जब मैंने सुना कि लाक्षाभवनसे अपनी मातासहित पाँचों पाण्डव बच गये हैं और स्वयं विदुर उनकी स्वार्थसिद्धिके प्रयत्नमें तत्पर हैं। संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी।

यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये
लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन।
शूरान् पञ्चालान् पाण्डवेयांश्च युक्तां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५४॥

जब मैंने सुना कि रंगभूमिमें लक्ष्यवेध करके अर्जुनने द्रौपदी प्राप्त कर ली है और पाञ्चाल वीर तथा पाण्डव वीर परस्पर सम्बद्ध हो गये हैं। संजय! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी॥ १५४॥

यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं
जरासंधं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम्।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५५॥

जब मैंने सुना कि मगधराज-शिरोमणि, क्षत्रियजातिके जाज्वल्यमान रत्न जरासंधको भीमसेनने उसकी राजधानीमें जाकर बिना अस्त्र-शस्त्रके हाथोंसे ही चीर दिया। संजय! मेरी जीतकी आशा तो तभी टूट गयी॥ १५५॥

यदाश्रौषं दिग्विजये पाण्डुपुत्रै-
र्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५६॥

जब मैंने सुना कि दिग्विजयके समय पाण्डवोंने बलपूर्वक बड़े-बड़े भूमिपतियोंको अपने अधीन कर लिया और महायज्ञ राजसूय सम्पन्न कर दिया, संजय! तभी मैंने समझ लिया कि मेरी विजयकी कोई आशा नहीं है॥ १५६॥

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं
सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम्।
रजस्वलां नाथवतीमनाथव-
त्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५७॥

संजय! जब मैंने सुना कि दुःखिता द्रौपदी रजस्वलावस्थामें आँखोंमें आँसू भरे केवल एक वस्त्र पहने वीर पतियोंके रहते हुए भी अनाथके समान भरी सभामें घसीटकर लायी गयी है, तभी मैंने समझ लिया था कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती॥१५७॥

यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं
समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः।
दुःशासनो गतवान् नैव चान्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५८॥

जब मैंने सुना कि धूर्त एवं मन्दबुद्धि दुःशासनने द्रौपदीका वस्त्र खींचा और वहाँ वस्त्रोंका इतना ढेर लग गया कि वह उसका पार न पा सका; संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही॥ १५८॥

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं
पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम्।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयै-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५९॥

संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिरको जूएमें शकुनिने हरा दिया और उनका राज्य छीन लिया, फिर भी उनके अतुल बलशाली धीर गम्भीर भाइयोंने युधिष्ठिरका अनुगमन ही किया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी॥ १५९॥

यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा
धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६०॥

जब मैंने सुना कि वनमें जाते समय धर्मात्मा पाण्डव धर्मराज युधिष्ठिरके प्रेमवश दुःख पा रहे थे और अपने हृदयका भाव प्रकाशित करनेके लिये विविध प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे थे; संजय! तभी मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी॥ १६०॥

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रै-
रन्वागतं धर्मराजं वनस्थम्।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६१॥

जब मैंने सुना कि हजारों स्नातक वनवासी युधिष्ठिरके साथ रह रहे हैं और वे तथा दूसरे महात्मा एवं ब्राह्मण उनसे भिक्षा प्राप्त करते हैं। संजय! तभी मैं विजयके सम्बन्धमें निराश हो गया॥ १६१॥

यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं
किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६२॥

संजय! जब मैंने सुना कि किरातवेषधारी देवदेव त्रिलोचन महादेवको युद्धमें संतुष्ट करके अर्जुनने पाशुपत नामक महान् अस्त्र प्राप्त कर लिया है, तभी मेरी आशा निराशामें परिणत हो गयी॥ १६२॥

(यदाश्रौषं वनवासे तु पार्थान्
समागतान् महर्षिभिः पुराणैः।
उपास्यमानान् सगणैर्जातसख्यान्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं
शक्रात् साक्षाद् दिव्यमस्त्रं यथावत्।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६३॥

जब मैंने सुना कि वनवासमें भी कुन्ती-पुत्रोंके पास पुरातन महर्षिगण पधारते और उनसे मिलते हैं। उनके साथ उठते-बैठते और निवास करते हैं तथा सेवक-सम्बन्धियों-सहित पाण्डवोंके प्रति उनका मैत्रीभाव हो गया है। संजय! तभीसे मुझे अपने पक्षकी विजयका विश्वास नहीं रह गया था। जब मैंने सुना कि सत्यसंध धनंजय अर्जुन स्वर्गमें गये हुए हैं और वहाँ साक्षात् इन्द्रसे दिव्य अस्त्र-शस्त्रकी विधि-पूर्वक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और वहाँ उनके पौरुष एवं ब्रह्मचर्य आदिकी प्रशंसा हो रही है, संजय! तभीसे मेरी युद्धमें विजयकी आशा जाती रही ॥ १६३ ॥

यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते
पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६४॥

जबसे मैंने सुना कि वरदानके प्रभावसे घमंडके नशेमें चूर कालकेय तथा पौलोम नामके असुरोंको, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं जीत सकते थे, अर्जुनने बात-की-बातमें पराजित कर दिया, तभीसे संजय! मैंने विजयकी आशा कभी नहीं की ॥ १६४ ॥

यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे
किरीटिनं यान्तममित्रकर्शनम्।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोकात्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६५॥

मैंने जब सुना कि शत्रुओंका संहार करनेवाले किरीटी अर्जुन असुरोंका वध करनेके लिये गये थे और इन्द्रलोकसे अपना काम पूरा करके लौट आये हैं, संजय! तभी मैंने समझ लिया—अब मेरी जीतकी कोई आशा नहीं ॥ १६५ ॥

(यदाश्रौषं तीर्थयात्राप्रवृत्तं
पाण्डोः सुतं सहितं लोमशेन।
तस्मादश्रौषीदर्जुनस्यार्थलाभं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)
यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं
समागतं भीममन्यांश्च पार्थान्।
तस्मिन् देशे मानुषाणामगम्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६६॥

जब मैंने सुना कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर महर्षि लोमश-जीके साथ तीर्थयात्रा कर रहे हैं और लोमशजीके मुखसे ही उन्होंने यह भी सुना है कि स्वर्गमें अर्जुनको अभीष्ट वस्तु (दिव्यास्त्र) की प्राप्ति हो गयी है, संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा ही छोड़ दी। जब मैंने सुना कि भीमसेन तथा दूसरे भाई उस देशमें जाकर, जहाँ मनुष्योंकी गति नहीं है, कुबेरके साथ मेल-मिलाप कर आये, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥ १६६ ॥

यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां
बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६७॥

जब मैंने सुना कि कर्णकी बुद्धिपर विश्वास करके चलने-वाले मेरे पुत्र घोष-यात्राके निमित्त गये और गन्धर्वोंके हाथ बन्दी बन गये और अर्जुनने उन्हें उनके हाथसे छुड़ाया। संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १६७ ॥

यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं
समागतं धर्मराजेन सूत।
प्रश्नान् कांश्चिद् विब्रुवाणं च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६८॥

सूत संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज यक्षका रूप धारण करके युधिष्ठिरसे मिले और युधिष्ठिरने उनके द्वारा किये गये गूढ़ प्रश्नोंका ठीक-ठीक समाधान कर दिया, तभी विजयके सम्बन्धमें मेरी आशा टूट गयी ॥ १६८ ॥

यदाश्रौषं न विदुर्मामकास्तान्
प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान्।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६९॥

संजय! विराटकी राजधानीमें गुप्तरूपसे द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डव निवास कर रहे थे, परंतु मेरे पुत्र और उनके सहायक इस बातका पता नहीं लगा सके; जब मैंने यह बात सुनी मुझे यह निश्चय हो गया कि मेरी विजय सम्भव नहीं है ॥

(यदाश्रौषं कीचकानां वरिष्ठं
निषूदितं भ्रातृशतेन सार्धम्।
द्रौपद्यर्थं भीमसेनेन संख्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)
यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान्
धनंजयेनैकरथेन भग्नान्।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७०॥

संजय! जब मैंने सुना कि भीमसेनने द्रौपदीके प्रति किये हुए अपराधका बदला लेनेके लिये कीचकोंके सर्वश्रेष्ठ वीरको उस-के सौ भाइयोंसहित युद्धमें मार डाला था, तभीसे मुझे विजयकी

बिल्कुल आशा नहीं रह गयी थी। संजय ! जब मैंने सुना कि विराटकी राजधानीमें रहते समय महात्मा धनंजयने एकमात्र रथकी सहायतासे हमारे सभी श्रेष्ठ महारथियोंको (जो गो-हरणके लिये पूर्ण तैयारीके साथ वहाँ गये थे) मार भगाया, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ॥ १७० ॥

यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा
सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय ।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात् सुतार्थे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७१॥

जिस दिन मैंने यह बात सुनी कि मत्स्यराज विराटने अपनी प्रिय एवं सम्मानित पुत्री उत्तराको अर्जुनके हाथ अर्पित कर दिया, परंतु अर्जुनने अपने लिये नहीं, अपने पुत्रके लिये उसे स्वीकार किया, संजय ! उसी दिनसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था ॥ १७१ ॥

यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य
प्रव्राजितस्य स्वजनात् प्रच्युतस्य ।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७२॥

संजय ! युधिष्ठिर जूएमें पराजित हैं, निर्धन हैं, घरसे निकाले हुए हैं और अपने सगे-सम्बन्धियोंसे बिछुड़े हुए हैं। फिर भी जब मैंने सुना कि उनके पास सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हो चुकी है, तभी विजयके लिये मेरे मनमें जो आशा थी, उसपर पानी फिर गया ॥ १७२ ॥

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं
सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम् ।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहु-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७३॥

(वामनावतारके समय) यह सम्पूर्ण पृथ्वी जिनके एक डगमें ही आ गयी बतायी जाती है, वे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण पूरे हृदयसे पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके लिये तत्पर हैं, जब यह बात मैंने सुनी, संजय ! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ॥ १७३ ॥

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ
कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य ।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७४॥

जब देवर्षि नारदके मुखसे मैंने यह बात सुनी कि श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् नर और नारायण हैं और इन्हें मैंने ब्रह्मलोकमें भलीभाँति देखा है, तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १७४ ॥

यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं
शमार्थिनमुपयातं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थं च यातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७५॥

संजय ! जब मैंने सुना कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लोककल्याणके लिये शान्तिकी इच्छासे आये हुए हैं और कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति-सन्धि करवाना चाहते हैं, परंतु वे अपने प्रयासमें असफल होकर लौट गये, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ॥ १७५ ॥

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां
बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७६॥

संजय ! जब मैंने सुना कि कर्ण और दुर्योधन दोनोंने यह सलाह की है कि श्रीकृष्णको कैद कर लिया जाय और श्रीकृष्णने अपने-आपको अनेक रूपोंमें विराट् या अखिल विश्वके रूपमें दिखा दिया, तभीसे मैंने विजयाशा त्याग दी थी॥

यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते
रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७७॥

जब मैंने सुना—यहाँसे श्रीकृष्णके लौटते समय अकेली कुन्ती उनके रथके सामने आकर खड़ी हो गयी और अपने हृदयकी आर्ति-वेदना प्रकट करने लगी, तब श्रीकृष्णने उसे भलीभाँति सान्त्वना दी। संजय ! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १७७ ॥

यदाश्रौषं मन्त्रिणं वासुदेवं
तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७८॥

संजय! जब मैंने सुना कि श्रीकृष्ण पाण्डवोंके मन्त्री हैं और शान्तनुनन्दन भीष्म तथा भारद्वाज द्रोणाचार्य उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, तब मुझे विजय-प्राप्तिकी किंचित् भी आशा नहीं रही ॥ १७८ ॥

यदाश्रौषं कर्ण उवाच भीष्मं
नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७९॥

जब कर्णने भीष्मसे यह बात कह दी कि 'जबतक तुम युद्ध करते रहोगे, तबतक मैं पाण्डवोंसे नहीं लड़ूँगा', इतना ही नहीं—वह सेनाको छोड़कर हट गया, संजय ! तभीसे मेरे

मनमें विजयके लिये कुछ भी आशा नहीं रह गयी ॥ १७९ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ
तथा धनुर्गाण्डीवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८०॥

संजय ! जब मैंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण, वीरवर अर्जुन और अतुलित शक्तिशाली गाण्डीव धनुष—ये तीनों भयंकर प्रभावशाली शक्तियाँ इकट्ठी हो गयी हैं, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १८० ॥

यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने
रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८१॥

संजय ! जब मैंने सुना कि रथके पिछले भागमें स्थित मोहग्रस्त अर्जुन अत्यन्त दुखी हो रहे थे और श्रीकृष्णने अपने शरीरमें उन्हें सब लोकोंका दर्शन करा दिया, तभी मेरे मनसे विजयकी सारी आशा समाप्त हो गयी ॥ १८१ ॥

यदाश्रौषं भीष्मममित्रकर्शनं
निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम् ।
नैषां कश्चिद् बध्यते ख्यातरूप-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८२॥

जब मैंने सुना कि शत्रुघाती भीष्म रणाङ्गणमें प्रतिदिन दस हजार रथियोंका संहार कर रहे हैं, परंतु पाण्डवोंका कोई प्रसिद्ध योद्धा नहीं मारा जा रहा है, संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १८२ ॥

यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये
स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टा-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८३॥

जब मैंने सुना कि परम धार्मिक गङ्गानन्दन भीष्मने युद्धभूमिमें पाण्डवोंको अपनी मृत्युका उपाय स्वयं बता दिया और पाण्डवोंने प्रसन्न होकर उनकी उस आज्ञाका पालन किया। संजय ! तभी मुझे विजयकी आशा नहीं रही ॥ १८३ ॥

यदाश्रौषं भीष्ममत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८४॥

जब मैंने सुना कि अर्जुनने सामने शिखण्डीको खड़ा करके उसकी ओटसे सर्वथा अजेय अत्यन्त शूर भीष्म पितामहको युद्धभूमिमें गिरा दिया। संजय ! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥ १८४ ॥

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं
वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८५॥

जब मैंने सुना कि हमारे वृद्ध वीर भीष्मपितामह अधिकांश सोमकवंशी योद्धाओंका वध करके अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत शरीर हो शरशय्यापर शयन कर रहे हैं, संजय ! तभी मैंने समझ लिया अब मेरी विजय नहीं हो सकती ॥ १८५ ॥

यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने
पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८६॥

संजय ! जब मैंने सुना कि शान्तनुनन्दन भीष्मपितामहने शरशय्यापर सोते समय अर्जुनको संकेत किया और उन्होंने बाणसे धरतीका भेदन करके उनकी प्यास बुझा दी, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥ १८६ ॥

यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ
कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्मान्श्वापदा भीषयन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८७॥

जब वायु अनुकूल बहकर और चन्द्रमा-सूर्य लाभस्थानमें संयुक्त होकर पाण्डवोंकी विजयकी सूचना दे रहे हैं और कुत्ते आदि भयंकर प्राणी प्रतिदिन हमलोगोंको डरा रहे हैं। संजय ! तब मैंने विजयके सम्बन्धमें अपनी आशा छोड़ दी ॥ १८७ ॥

यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्
निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवाञ्छ्रेष्ठतरान् निहन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८८॥

संजय ! हमारे आचार्य द्रोण बेजोड़ योद्धा थे और उन्होंने रणाङ्गणमें अपने अस्त्र-शस्त्रके अनेकों विविध कौशल दिखलाये, परंतु जब मैंने सुना कि वे वीरशिरोमणि पाण्डवोंमेंसे किसी एकका भी वध नहीं कर रहे हैं, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥ १८८ ॥

यदाश्रौषं चास्मदीयान् महारथान्
व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान् निहतानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८९॥

संजय ! मेरी विजयकी आशा तो तभी नहीं रही, जब मैंने सुना कि मेरे जो महारथी वीर संशप्तक योद्धा अर्जुनके वधके लिये मोर्चेपर डटे हुए थे, उन्हें अकेले ही अर्जुनने मौतके घाट उतार दिया ॥ १८९ ॥

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यै-
भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम्।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९०॥

संजय ! स्वयं भारद्वाज द्रोणाचार्य अपने हाथमें शस्त्र उठाकर उस चक्रव्यूहकी रक्षा कर रहे थे, जिसको कोई दूसरा तोड़ ही नहीं सकता था, परंतु सुभद्रानन्दन वीर अभिमन्यु अकेला ही छिन्न-भिन्न करके उसमें घुस गया, जब यह बात मेरे कानोंतक पहुँची, तभी मेरी विजयकी आशा लुप्त हो गयी ॥ १९० ॥

यदाभिमन्युं परिवार्य बालं
सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्त-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९१॥

संजय ! मेरे बड़े-बड़े महारथी वीरवर अर्जुनके सामने तो टिक न सके और सबने मिलकर बालक अभिमन्युको घेर लिया और उसको मारकर हर्षित होने लगे, जब यह बात मुझतक पहुँची, तभीसे मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥१९१॥

यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य
हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान्।
क्रोधादुक्तं सैन्धवे चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९२॥

जब मैंने सुना कि मेरे मूढ़ पुत्र अपने ही वंशके होनहार बालक अभिमन्युकी हत्या करके हर्षपूर्ण कोलाहल कर रहे हैं और अर्जुनने क्रोधवश जयद्रथको मारनेकी भीषण प्रतिज्ञा की है, संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥१९२॥

यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां
प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९३॥

जब मैंने सुना कि अर्जुनने जयद्रथको मार डालनेकी जो दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, उसने वह शत्रुओंसे भरी रणभूमिमें सत्य एवं पूर्ण करके दिखा दी। संजय ! तभीसे मुझे विजयकी सम्भावना नहीं रह गयी ॥ १९३ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनञ्जये
मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान्।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९४॥

युद्धभूमिमें धनञ्जय अर्जुनके घोड़े अत्यन्त श्रान्त और प्याससे व्याकुल हो रहे थे। स्वयं श्रीकृष्णने उन्हें रथसे खोलकर पानी पिलाया। फिरसे रथके निकट लाकर उन्हें जोत दिया और अर्जुनसहित वे सकुशल लौट गये। जब मैंने यह बात सुनी, संजय ! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥१९४॥

यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु
रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९५॥

जब संग्रामभूमिमें रथके घोड़े अपना काम करनेमें असमर्थ हो गये, तब रथके समीप ही खड़े होकर पाण्डव-वीर अर्जुनने अकेले ही सब योद्धाओंका सामना किया और उन्हें रोक दिया। मैंने जिस समय यह बात सुनी; संजय ! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १९५ ॥

यदाश्रौषं नागबलैः सुदुःसहं
द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९६॥

जब मैंने सुना कि वृष्णिवंशावतंस युयुधान—सात्यकिने अकेले ही द्रोणाचार्यकी उस सेनाको, जिसका सामना हाथियोंकी सेना भी नहीं कर सकती थी, तितर-बितर और तहस-नहस कर दिया तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास पहुँच गये। संजय ! तभीसे मेरे लिये विजयकी आशा असम्भव हो गयी॥

यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं
वधाद् भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः।
धनुष्कोट्याऽऽतुद्य कर्णेन वीरं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९७॥

संजय ! जब मैंने सुना कि वीर भीमसेन कर्णके पंजेमें फँस गये थे, परंतु कर्णने तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर और धनुषकी नोक चुभाकर ही छोड़ दिया तथा भीमसेन मृत्युके मुखसे बच निकले। संजय ! तभी मेरी विजयकी आशापर पानी फिर गया ॥ १९७ ॥

यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च
कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९८॥

जब मैंने सुना द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा तथा वीर शल्यने भी सिन्धुराज जयद्रथका वध सह लिया, प्रतीकार नहीं किया। संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १९८ ॥

यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां
दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९९॥

संजय ! देवराज इन्द्रने कर्णको कवचके बदले एक दिव्य

शक्ति दे रखी थी और उसने उसे अर्जुनपर प्रयुक्त करनेके लिये रख छोड़ा था; परंतु मायापति श्रीकृष्णने भयंकर राक्षस घटोत्कचपर छुड़वाकर उससे भी वञ्चित करवा दिया। जिस समय यह बात मैंने सुनी, उसी समय मेरी विजयकी आशा टूट गयी ॥

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां
युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२००॥

जब मैंने सुना कि कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर चला दी, जिससे रणाङ्गणमें अर्जुनका वध किया जा सकता था। संजय! तब मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ २०० ॥

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं
धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०१॥

संजय! जब मैंने सुना कि आचार्य द्रोण पुत्रकी मृत्युके शोकसे शस्त्रादि छोड़कर आमरण अनशन करनेके निश्चयसे अकेले रथके पास बैठे थे और धृष्टद्युम्नने धर्मयुद्धकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके उन्हें मार डाला, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥ २०१ ॥

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये ।
समं युद्धे मण्डलेभ्यश्चरन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०२॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा जैसे वीरके साथ बड़े-बड़े वीरोंके सामने ही माद्रीनन्दन नकुल अकेले ही अच्छी तरह युद्ध कर रहे हैं। संजय! तब मुझे जीतकी आशा न रही ॥

यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो
नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन् ।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०३॥

जब द्रोणाचार्यकी हत्याके अनन्तर अश्वत्थामाने दिव्य नारायणास्त्रका प्रयोग किया; परंतु उससे वह पाण्डवोंका अन्त नहीं कर सका। संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥ २०३ ॥

यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं
रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य ।
निवारितं नान्यतमेन भीमं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०४॥

जब मैंने सुना कि रणभूमिमें भीमसेनने अपने भाई दुःशासनका रक्तपान किया, परंतु वहाँ उपस्थित सत्पुरुषोंमेंसे किसी एकने भी निवारण नहीं किया। संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा बिल्कुल नहीं रह गयी ॥ २०४ ॥

यदाश्रौषं कर्णमत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
तस्मिन् भ्रातॄणां विग्रहे देवगुह्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०५॥

संजय! वह भाईका भाईसे युद्ध देवताओंकी गुप्त प्रेरणासे हो रहा था। जब मैंने सुना कि भिन्न-भिन्न युद्ध-भूमियोंमें कभी पराजित न होनेवाले अत्यन्त शूरशिरोमणि कर्णको पृथापुत्र अर्जुनने मार डाला, तब मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ॥ २०५ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं
दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम् ।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०६॥

जब मैंने सुना, धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शूरवीर दुःशासन एवं उग्र योद्धा कृतवर्माको भी युद्धमें जीत रहे हैं, संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रह गयी ॥

यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं
रणे शूरं धर्मराजेन सूत ।
सदा संग्रामे स्पर्धते यस्तु कृष्णं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०७॥

संजय! जब मैंने सुना कि रणभूमिमें धर्मराज युधिष्ठिरने शूरशिरोमणि मद्रराज शल्यको मार डाला, जो सर्वदा युद्धमें घोड़े हाँकनेके सम्बन्धमें श्रीकृष्णकी होड़ करनेपर उतारू रहता था, तभीसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था ॥२०७॥

यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं
मायाबलं सौबलं पाण्डवेन ।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०८॥

जब मैंने सुना कि कलहकारी द्यूतके मूल कारण, केवल छल-कपटके बलसे बली पापी शकुनिको पाण्डुनन्दन सहदेवने रणभूमिमें यमराजके हवाले कर दिया, संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥ २०८ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं
ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः ।
दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२०९॥

जब दुर्योधनका रथ छिन्न-भिन्न हो गया, शक्ति क्षीण हो गयी और वह थक गया, तब सरोवरपर जाकर वहाँका जल

स्तम्भित करके उसमें अकेला ही सो गया। संजय ! जब मैंने यह संवाद सुना, तब मेरी विजयकी आशा भी चली गयी॥

यदाश्रौषं पाण्डवांस्तिष्ठमानान्
गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम्।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१०॥

जब मैंने सुना कि उसी सरोवरके तटपर श्रीकृष्णके साथ पाण्डव जाकर खड़े हैं और मेरे पुत्रको असह्य दुर्वचन कहकर नीचा दिखा रहे हैं, तभी संजय ! मैंने विजयकी आशा सर्वथा त्याग दी॥ २१०॥

यदाश्रौषं विविधांश्चित्रमार्गान्
गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम्।
मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२११॥

संजय ! जब मैंने सुना कि गदायुद्धमें मेरा पुत्र बड़ी निपुणतासे पैंतरे बदलकर रणकौशल प्रकट कर रहा है और श्रीकृष्णकी सलाहसे भीमसेनने गदायुद्धकी मर्यादाके विपरीत जाँघमें गदाका प्रहार करके उसे मार डाला; तब तो संजय ! मेरे मनमें विजयकी आशा रह ही नहीं गयी॥ २११॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तै-
र्हतान् पञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान्।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१२॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि दुष्टोंने सोते हुए पाञ्चाल नरपतियों और द्रौपदीके होनहार पुत्रोंको मारकर अत्यन्त बीभत्स और वंशके यशको कलंकित करनेवाला काम किया है, तब तो मुझे विजयकी आशा रही ही नहीं॥ २१२॥

यदाश्रौषं भीमसेनानुयाते-
नाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम्।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद् येन गर्भं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१३॥

संजय ! जब मैंने सुना कि भीमसेनके पीछा करनेपर अश्वत्थामाने क्रोधपूर्वक सींकके बाणपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया, जिससे कि पाण्डवोंका गर्भस्थ वंशधर भी नष्ट हो जाय, तभी मेरे मनमें विजयकी आशा नहीं रही॥ २१३॥

यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन
स्वस्तीत्युक्त्वास्त्रमस्त्रेण शान्तम्।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१४॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामाके द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मशिर अस्त्रको अर्जुनने 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' कहकर अपने अस्त्रसे शान्त कर दिया और अश्वत्थामाको अपना मणिरत्न भी देना पड़ा। संजय ! उसी समय मुझे जीतकी आशा नहीं रही॥ २१४॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे
वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं
परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥२१५॥
शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना
तथा बन्धुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः
प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥२१६॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके उत्तराका गर्भ गिरानेकी चेष्टा कर रहा है तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने परस्पर विचार करके उसे शापोंसे अभिशप्त कर दिया है (तभी मेरी विजयकी आशा सदाके लिये समाप्त हो गयी)। इस समय गान्धारीकी दशा शोचनीय हो गयी है; क्योंकि उसके पुत्र-पौत्र, पिता तथा भाई-बन्धुओंमेंसे कोई नहीं रहा। पाण्डवोंने दुष्कर कार्य कर डाला। उन्होंने फिरसे अपना अकण्टक राज्य प्राप्त कर लिया॥ २१५-२१६॥

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे
त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां
तस्मिन् संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ॥२१७॥

हाय-हाय ! कितने कष्टकी बात है, मैंने सुना है कि इस भयंकर युद्धमें केवल दस व्यक्ति बचे हैं; मेरे पक्षके तीन—कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा तथा पाण्डव-पक्षके सात—श्रीकृष्ण, सात्यकि और पाँचों पाण्डव। क्षत्रियोंके इस भीषण संग्राममें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ नष्ट हो गयीं॥ २१७॥

तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम्।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥२१८॥

सारथे ! यह सब सुनकर मेरी आँखोंके सामने घना अन्धकार छाया हुआ है। मेरे हृदयमें मोहका आवेश-सा होता जा रहा है। मैं चेतना-शून्य हो रहा हूँ। मेरा मन विह्वल-सा हो रहा है॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहुदुःखितः।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥२१९॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर बहुत विलाप किया और अत्यन्त दुःखके कारण वे मूर्च्छित हो गये। फिर होशमें आकर कहने लगे॥ २१९॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयैवं गते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम्।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवित धारणे ॥२२०॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! युद्धका यह परिणाम निकलनेपर अब मैं अविलम्ब अपने प्राण छोड़ना चाहता हूँ। अब जीवन-धारण करनेका कुछ भी फल मुझे दिखलायी नहीं देता ॥

सौतिरुवाच

तं तथावादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ॥२२१॥
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जब राजा धृतराष्ट्र दीनतापूर्वक विलाप करते हुए ऐसा कह रहे थे और नागके समान लम्बी साँस ले रहे थे तथा बार-बार मूर्छित होते जा रहे थे, तब बुद्धिमान् संजयने यह सारगर्भित प्रवचन किया ॥ २२१ ॥

संजय उवाच

श्रुतवानसि वै राजन् महोत्साहान् महाबलान् ॥२२२॥
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ।

संजयने कहा—महाराज ! आपने परम ज्ञानी देवर्षि नारद एवं महर्षि व्यासके मुखसे महान् उत्साहसे युक्त एवं परम पराक्रमी नृपतियोंका चरित्र श्रवण किया है ॥ २२२ ॥

महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च ॥२२३॥
जातान् दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः ॥२२४॥
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशंगतान् ।
शैब्यं महारथं वीरं सृंजयं जयतां वरम् ॥२२५॥
सुहोत्रं रन्तिदेवं च काक्षीवन्तमथौशिजम् ।
बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम् ॥२२६॥
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ।
मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च ॥२२७॥
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ।
कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम् ॥२२८॥
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपाङ्किता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥२२९॥
इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ॥२३०॥

आपने ऐसे-ऐसे राजाओंके चरित्र सुने हैं जो सर्वसद्गुणसम्पन्न, महान् राजवंशोंमें उत्पन्न, दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंके पारदर्शी एवं देवराज इन्द्रके समान प्रभावशाली थे। जिन्होंने धर्मयुद्धसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त की, बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ किये, इस लोकमें उज्ज्वल यश प्राप्त किया और फिर कालके गालमें समा गये। इनमेंसे महारथी शैब्य, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ सृञ्जय, सुहोत्र, रन्तिदेव, काक्षीवान्, औशिज, बाह्लीक, दमन, चैद्य, शर्याति, अपराजित नल, शत्रुघाती विश्वामित्र, महाबली अम्बरीष, मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, दशरथनन्दन श्रीराम, शशबिन्दु, भगीरथ, महाभाग्यशाली कृतवीर्य, जनमेजय और वे शुभकर्मा ययाति, जिनका यज्ञ देवताओंने स्वयं करवाया था, जिन्होंने अपनी राष्ट्रभूमिको यज्ञोंकी खान बना दिया था और सारी पृथ्वी यज्ञसम्बन्धी यूपों (खंभों) से अङ्कित कर दी थी—इन चौबीस राजाओंका वर्णन पूर्वकालमें देवर्षि नारदने पुत्रशोकसे अत्यन्त संतप्त महाराज श्वैत्यका दुःख दूर करनेके लिये किया था ॥ २२३—२३० ॥

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥२३१॥
पूरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाद्युतिः ।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥२३२॥
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कङ्को दुलिदुहो द्रुमः ॥२३३॥
दम्भोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥२३४॥
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥२३५॥
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः ॥२३६॥
बलबन्धुर्निरामर्दः केतुश्रृङ्गो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ॥२३७॥
अवीक्षिच्चपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणसम्भाव्यः प्रत्यङ्गः परहा श्रुतिः ॥२३८॥
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्याताश्चैव पद्मशः ॥२३९॥
हित्वा सुविपुलान् भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो ॥२४०॥

महाराज ! पिछले युगमें इन राजाओंके अतिरिक्त दूसरे और बहुत-से महारथी, महात्मा, शौर्य-वीर्य आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न, परम पराक्रमी राजा हो गये हैं। जैसे—पूरु, कुरु, यदु, शूर, महातेजस्वी विष्वगश्व, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, पराक्रमी रघु, विजय, वीतिहोत्र, अङ्ग, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कङ्क, दुलिदुह, द्रुम, दम्भोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शम्भु, निष्पाप देवावृध, देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, महान् उत्साही और महाविनयी सुक्रतु, निषधराज नल, सत्यव्रत, शान्तभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजङ्घ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, बलबन्धु, निरामर्द, केतुश्रृङ्ग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, अवीक्षित्, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराणोंमें सम्मानित प्रत्यङ्ग, परहा और श्रुति—ये और इनके अतिरिक्त दूसरे सैकड़ों तथा हजारों राजा सुने जाते हैं, जिनका सैकड़ों बार वर्णन किया गया है और

इनके सिवा दूसरे भी, जिनकी संख्या पद्योंमें कही गयी है; बड़े बुद्धिमान् और शक्तिशाली थे। महाराज! किंतु वे अपने विपुल भोग-वैभवको छोड़कर वैसे ही मर गये, जैसे आपके पुत्रोंकी मृत्यु हुई है॥ २३१-२४०॥

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम्॥२४१॥
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः॥२४२॥

जिनके दिव्य कर्म, पराक्रम, त्याग, माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य, पवित्रता, दया और सरलता आदि सद्गुणोंका वर्णन बड़े-बड़े विद्वान् एवं श्रेष्ठतम कवि प्राचीन ग्रन्थोंमें तथा लोकमें भी करते रहते हैं, वे समस्त सम्पत्ति और सद्गुणोंसे सम्पन्न महापुरुष भी मृत्युको प्राप्त हो गये॥ २४१-२४२॥

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि॥२४३॥

—आपके पुत्र दुर्योधन आदि तो दुरात्मा, क्रोधसे जले-भुने, लोभी एवं अत्यन्त दुराचारी थे। उनकी मृत्युपर आपको शोक नहीं करना चाहिये॥ २४३॥

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत॥२४४॥

आपने गुरुजनोंसे सत्-शास्त्रोंका श्रवण किया है। आपकी धारणाशक्ति तीव्र है; आप बुद्धिमान् हैं और ज्ञानवान् पुरुष आपका आदर करते हैं। भरतवंशशिरोमणे! जिनकी बुद्धि शास्त्रके अनुसार सोचती है, वे कभी शोक-मोहसे मोहित नहीं होते॥ २४४॥

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्ररक्षणे॥२४५॥

महाराज! आपने पाण्डवोंके साथ निर्दयता और अपने पुत्रोंके प्रति पक्षपातका जो बर्ताव किया है, वह आपको विदित ही है। इसलिये अब पुत्रोंके जीवनके लिये आपको अत्यन्त व्याकुल नहीं होना चाहिये॥ २४५॥

भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति॥२४६॥

होनहार ही ऐसी थी, इसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। भला, इस सृष्टिमें ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो अपनी बुद्धिकी विशेषतासे होनहार मिटा सके॥ २४६॥

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे॥२४७॥

अपने कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—यह विधाताका विधान है। इसको कोई टाल नहीं सकता। जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख सबका मूल कारण काल ही है॥

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥२४८॥

काल ही प्राणियोंकी सृष्टि करता है और काल ही समस्त प्रजाका संहार करता है। फिर प्रजाका संहार करनेवाले उस कालको महाकालस्वरूप परमात्मा ही शान्त करता है॥२४८॥

कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः॥२४९॥

सम्पूर्ण लोकोंमें यह काल ही शुभ-अशुभ सब पदार्थोंका कर्ता है। काल ही सम्पूर्ण प्रजाका संहार करता है और वही पुनः सबकी सृष्टि भी करता है॥ २४९॥

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः॥२५०॥
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि॥२५१॥

जब सुषुप्ति-अवस्थामें सब इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, तब भी यह काल जागता रहता है। कालकी गतिका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे बेरोक-टोक अपनी क्रिया करता रहता है। इस सृष्टिमें जितने पदार्थ हो चुके, भविष्यमें होंगे और इस समय वर्तमान हैं, वे सब कालकी रचना हैं; ऐसा समझकर आपको अपने विवेकका परित्याग नहीं करना चाहिये॥ २५०-२५१॥

सौतिरुवाच

इत्येवं पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा॥२५२॥
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः॥२५३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सूतवंशी संजयने यह सब कहकर पुत्रशोकसे व्याकुल नरपति धृतराष्ट्रको समझाया-बुझाया और उन्हें स्वस्थ किया। इसी इतिहासके आधारपर श्रीकृष्ण-द्वैपायनने इस परम पुण्यमयी उपनिषद्रूप महाभारतका (शोकातुर प्राणियोंका शोक नाश करनेके लिये) निरूपण किया। विद्वज्जन लोकमें और श्रेष्ठतम कवि पुराणोंमें सदासे इसीका वर्णन करते आये हैं॥ २५२-२५३॥

भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः॥२५४॥

महाभारतका अध्ययन अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है। जो कोई श्रद्धाके साथ इसके किसी एक श्लोकके एक पादका भी अध्ययन करता है, उसके सब पाप सम्पूर्ण रूपसे मिट जाते हैं॥

देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः॥२५५॥

इस ग्रन्थरत्नमें शुभ कर्म करनेवाले देवता, देवर्षि, निर्मल ब्रह्मर्षि, यक्ष और महानागोंका वर्णन किया गया है ॥२५५॥

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥२५६॥

इस ग्रन्थके मुख्य विषय हैं स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण। उन्हींका इसमें संकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं ॥ २५६ ॥

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥२५७॥

वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं और वे ही अविनाशी सनातन ज्योति हैं। मनीषी पुरुष उन्हींकी दिव्य लीलाओंका संकीर्तन किया करते हैं ॥ २५७ ॥

असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ॥२५८॥

उन्हींसे असत्, सत् तथा सदसत्—उभयरूप सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। उन्हींसे संतति (प्रजा), प्रवृत्ति (कर्तव्य-कर्म), जन्म-मृत्यु तथा पुनर्जन्म होते हैं ॥ २५८ ॥

अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥२५९॥

इस महाभारतमें जीवात्माका स्वरूप भी बतलाया गया है एवं जो सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप पाँच महाभूत हैं, उसका तथा जो अव्यक्त प्रकृति आदिके मूल कारण परम ब्रह्म परमात्मा हैं, उनका भी भलीभाँति निरूपण किया गया है ॥ २५९ ॥

यत्तत् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥२६०॥

ध्यानयोगकी शक्तिसे सम्पन्न जीवन्मुक्त यतिवर, दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपने हृदयमें अवस्थित उन्हीं परमात्माका अनुभव करते हैं ॥ २६० ॥

श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ॥२६१॥

जो धर्मपरायण पुरुष श्रद्धाके साथ सर्वदा सावधान रहकर प्रतिदिन इस अध्यायका सेवन करता है, वह पाप-तापसे मुक्त हो जाता है ॥ २६१ ॥

अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन् न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥२६२॥

जो आस्तिक पुरुष महाभारतके इस अनुक्रमणिका-अध्यायको आदिसे अन्ततक प्रतिदिन श्रवण करता है, वह संकटकालमें भी दुःखसे अभिभूत नहीं होता ॥ २६२ ॥

उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत् स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ॥२६३॥

जो इस अनुक्रमणिका-अध्यायका कुछ अंश भी प्रातः-सायं अथवा मध्याह्नमें जपता है, वह दिन अथवा रात्रिके समय संचित सम्पूर्ण पापराशिसे तत्काल मुक्त हो जाता है ॥

भारतस्य वपुर्ह्येतत् सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥२६४॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥२६५॥
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ॥२६६॥
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ।

यह अध्याय महाभारतका मूल शरीर है। यह सत्य एवं अमृत है। जैसे दहीमें नवनीत, मनुष्योंमें ब्राह्मण, वेदोंमें उपनिषद्, ओषधियोंमें अमृत, सरोवरोंमें समुद्र और चौपायोंमें गाय सबसे श्रेष्ठ है, वैसे ही उन्हींके समान इतिहासोंमें यह महाभारत भी है। जो श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको अन्तमें इस अध्यायका एक चौथाई भाग अथवा श्लोक-का एक चरण भी सुनाता है, उसके पितरोंको अक्षय अन्न-पानकी प्राप्ति होती है ॥ २६४–२६६ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥२६७॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते ॥२६८॥

इतिहास और पुराणोंकी सहायतासे ही वेदोंके अर्थका विस्तार एवं समर्थन करना चाहिये। जो इतिहास एवं पुराणोंसे अनभिज्ञ है, उससे वेद डरते रहते हैं कि कहीं यह मुझपर प्रहार कर देगा। जो विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायनद्वारा कहे हुए इस वेदका दूसरोंको श्रवण कराते हैं, उन्हें मनोवाञ्छित अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ २६७-२६८ ॥

भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि ॥२६९॥
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ।
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः ॥२७०॥
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ।
एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः ॥२७१॥
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ॥२७२॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ॥२७३॥

और इससे भ्रूणहत्या आदि पापोंका भी नाश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। जो पवित्र होकर प्रत्येक पर्वपर इस अध्याय-का पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल मिलता है, ऐसा मेरा निश्चय है। जो पुरुष श्रद्धाके साथ

प्रतिदिन इस महर्षि व्यासप्रणीत ग्रन्थरत्नका श्रवण करता है, उसे दीर्घ आयु, कीर्ति और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें सब देवताओंने इकट्ठे होकर तराजूके एक पलड़ेपर चारों वेदोंको और दूसरेपर महाभारतको रक्खा। परंतु जब यह रहस्यसहित चारों वेदोंकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तभीसे संसारमें यह महाभारतके नामसे कहा जाने लगा। सत्यके तराजूपर तौलनेसे यह ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गम्भीरतामें वेदोंसे भी अधिक सिद्ध हुआ है॥ २६९-२७३॥

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २७४॥

अतएव महत्ता, भार अथवा गम्भीरताकी विशेषतासे ही इसको महाभारत कहते हैं। जो इस ग्रन्थके निर्वचनको जान लेता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है॥ २७४॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥ २७५॥

तपस्या निर्मल है, शास्त्रोंका अध्ययन भी निर्मल है, वर्णाश्रमके अनुसार स्वाभाविक वेदोक्त विधि भी निर्मल है और कष्टपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी निर्मल है, किंतु वे ही सब विपरीत भावसे किये जानेपर पापमय हैं अर्थात् दूसरेके अनिष्टके लिये किया हुआ तप, शास्त्राध्ययन और वेदोक्त स्वाभाविक कर्म तथा क्लेशपूर्वक उपार्जित धन भी पापयुक्त हो जाता है। (तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थरत्नमें भाव-शुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है; इसलिये महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन करते समय भी भाव शुद्ध रखना चाहिये।)॥२७५॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणिकापर्वणि प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अनुक्रमणिकापर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ॥ १॥

॥ अनुक्रमणिकापर्व सम्पूर्ण॥

(इस अध्यायमें २७५ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठ के ७ श्लोक हैं, कुल योग २८२ श्लोक)

(पर्वसंग्रहपर्व)

द्वितीयोऽध्यायः

समन्तपञ्चकक्षेत्रका वर्णन, अक्षौहिणी सेनाका प्रमाण, महाभारतमें वर्णित पर्वों और उनके संक्षिप्त विषयोंका संग्रह तथा महाभारतके श्रवण एवं पठनका फल

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ १॥

ऋषि बोले—सूतनन्दन! आपने अपने प्रवचनके प्रारम्भमें जो समन्तपञ्चक (कुरुक्षेत्र) की चर्चा की थी, अब हम उस देश (तथा वहाँ हुए युद्ध) के सम्बन्धमें पूर्णरूपसे सब कुछ यथावत् सुनना चाहते हैं॥ १॥

सौतिरुवाच

शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः॥ २॥

उग्रश्रवाजीने कहा—साधुशिरोमणि विप्रगण! अब मैं कल्याणदायिनी शुभ कथाएँ कह रहा हूँ; उसे आपलोग सावधान चित्तसे सुनिये और इसी प्रसङ्गमें समन्तपञ्चकक्षेत्रका वर्णन भी सुन लीजिये॥ २॥

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः।
असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥ ३॥

त्रेता और द्वापरकी सन्धिके समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने क्षत्रियोंके प्रति क्रोधसे प्रेरित होकर अनेकों बार क्षत्रिय राजाओंका संहार किया॥ ३॥

स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान्॥ ४॥

अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण क्षत्रियवंशका संहार करके समन्तपञ्चकक्षेत्रमें रक्तके पाँच सरोवर बना दिये॥ ४॥

स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः।
पितॄन् संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम्॥ ५॥

क्रोधसे आविष्ट होकर परशुरामजीने उन रक्तरूप जलसे भरे हुए सरोवरोंमें रक्ताञ्जलिके द्वारा अपने पितरोंका तर्पण किया, यह बात हमने सुनी है॥ ५॥

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन्।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव॥ ६॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते॥ ७॥

तदनन्तर, ऋचीक आदि पितृगण परशुरामजी-

के पास आकर बोले—'महाभाग राम ! सामर्थ्यशाली भृगुवंश-भूषण परशुराम ! तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे हम बहुत ही प्रसन्न हैं । महाप्रतापी परशुराम ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो हमसे माँग लो' ॥ ६-७ ॥

राम उवाच

यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ८ ॥
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ९ ॥

परशुरामजीने कहा—यदि आप सब हमारे पितर मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं तो मैंने जो क्रोधवश क्षत्रियवंशका विध्वंस किया है, इस कुकर्मके पापसे मैं मुक्त हो जाऊँ और ये मेरे बनाये हुए सरोवर पृथ्वीमें प्रसिद्ध तीर्थ हो जायँ । यही वर मैं आपलोगोंसे चाहता हूँ ॥ ८-९ ॥

एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन् ।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ १० ॥

तदनन्तर 'ऐसा ही होगा' यह कहकर पितरोंने वरदान दिया । साथ ही 'अब बचे-खुचे क्षत्रियवंशको क्षमा कर दो'—ऐसा कहकर उन्हें क्षत्रियोंके संहारसे भी रोक दिया । इसके पश्चात् परशुरामजी शान्त हो गये ॥ १० ॥

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम् ।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत् परिकीर्तितम् ॥ ११ ॥

उन रक्तसे भरे सरोवरोंके पास जो प्रदेश है उसे ही समन्तपञ्चक कहते हैं । यह क्षेत्र बहुत ही पुण्यप्रद है ॥ ११ ॥

येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते ।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

जिस चिह्नसे जो देश युक्त होता है और जिससे जिसकी पहचान होती है, विद्वानोंका कहना है कि उस देशका वही नाम रखना चाहिये ॥ १२ ॥

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ १३ ॥

जब कलियुग और द्वापरकी सन्धिका समय आया, तब उसी समन्तपञ्चकक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका परस्पर भीषण युद्ध हुआ ॥ १३ ॥

तस्मिन् परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥ १४ ॥

भूमिसम्बन्धी दोषोंसे* रहित उस परम धार्मिक प्रदेशमें युद्ध करनेकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ इकट्ठी हुई थीं ।

समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः ।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणो ! वे सब सेनाएँ वहाँ इकट्ठी हुईं और वहीं नष्ट हो गयीं । द्विजवरो ! इसीसे उस देशका नाम समन्तपञ्चक* पड़ गया ॥ १५ ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ।
तदेतत् कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः ।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु सुव्रताः ॥ १६ ॥

वह देश अत्यन्त पुण्यमय एवं रमणीय कहा गया है । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! तीनों लोकोंमें जिस प्रकार उस देशकी प्रसिद्धि हुई थी, वह सब मैंने आपलोगोंसे कह दिया ॥ १६ ॥

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन ।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ १७ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन ! अभी-अभी आपने जो अक्षौहिणी शब्दका उच्चारण किया है, इसके सम्बन्धमें हमलोग सारी बातें यथार्थरूपसे सुनना चाहते हैं ॥ १७ ॥

अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ॥ १८ ॥

अक्षौहिणी सेनामें कितने पैदल, घोड़े, रथ और हाथी होते हैं ? इसका हमें यथार्थ वर्णन सुनाइये, क्योंकि आपको सब कुछ ज्ञात है ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ १९ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक और तीन घोड़े—बस, इन्हींको सेनाके मर्मज्ञ विद्वानोंने 'पत्ति' कहा है ॥ १९ ॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

इसी पत्तिकी तिगुनी संख्याको विद्वान् पुरुष 'सेनामुख' कहते हैं । तीन 'सेनामुखों'को एक 'गुल्म' कहा जाता है ॥ २० ॥

---

* अधिक नीचा-ऊँचा होना, काँटेदार वृक्षोंसे व्याप्त होना तथा कंकड़-पत्थरोंकी अधिकताका होना आदि भूमिसम्बन्धी दोष माने गये हैं ।

* समन्तनामक क्षेत्रमें पाँच कुण्ड या सरोवर होनेसे उस क्षेत्र और उसके समीपवर्ती प्रदेशका भी समन्तपञ्चक नाम हुआ । परंतु उसका समन्त नाम क्यों पड़ा, इसका कारण इस श्लोकमें बता रहे हैं—'समेतानाम् अन्तो यस्मिन् स समन्तः'—समागत सेनाओंका अन्त हुआ हो जिस स्थानपर, उसे समन्त कहते हैं । इसी व्युत्पत्तिके अनुसार वह क्षेत्र समन्त कहलाता है ।

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ २१ ॥

तीन गुल्मका एक 'गण' होता है, तीन गणकी एक 'वाहिनी' होती है और तीन वाहिनियोंको सेनाका रहस्य जाननेवाले विद्वानोंने 'पृतना' कहा है ॥ २१ ॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ २२ ॥

तीन पृतनाकी एक 'चमू', तीन चमूकी एक 'अनीकिनी' और दस अनीकिनीकी एक 'अक्षौहिणी' होती है। यह विद्वानोंका कथन है ॥ २२ ॥

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ २३ ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः।
गजानां च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! गणितके तत्त्वज्ञ विद्वानोंने एक अक्षौहिणी सेनामें रथोंकी संख्या इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) बतलायी है। हाथियोंकी संख्या भी इतनी ही कहनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २५ ॥

निष्पाप ब्राह्मणो! एक अक्षौहिणीमें पैदल मनुष्योंकी संख्या एक लाख नौ हजार तीन सौ पचास (१०९३५०) जाननी चाहिये ॥ २५ ॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २६ ॥

एक अक्षौहिणी सेनामें घोड़ोंकी ठीक ठीक संख्या पैंसठ हजार छः सौ दस (६५६१०) कही गयी है ॥ २६ ॥

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥ २७ ॥

तपोधनो! संख्याका तत्त्व जाननेवाले विद्वानोंने इसीको अक्षौहिणी कहा है, जिसे मैंने आपलोगोंको विस्तारपूर्वक बताया है ॥ २७ ॥

एतया संख्यया ह्यासन् कुरुपाण्डवसेनयोः।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डिताष्टादशैव तु ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! इसी गणनाके अनुसार कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंकी संख्या अठारह अक्षौहिणी थी ॥ २८ ॥

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः।
कौरवान् कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २९ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले कालकी प्रेरणासे समन्तपञ्चक-क्षेत्रमें कौरवोंको निमित्त बनाकर इतनी सेनाएँ इकट्ठी हुईं और वहीं नाशको प्राप्त हो गयीं ॥ २९ ॥

अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित्।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ ३० ॥

अस्त्र शस्त्रोंके सर्वोपरि मर्मज्ञ भीष्मपितामहने दस दिनोंतक युद्ध किया, आचार्य द्रोणने पाँच दिनोंतक कौरव-सेनाकी रक्षा की ॥ ३० ॥

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः।
शल्योऽर्धदिवसं चैव गदायुद्धमतः परम् ॥ ३१ ॥

शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले वीरवर कर्णने दो दिन युद्ध किया और शल्यने आधे दिनतक। इसके पश्चात् (दुर्योधन और भीमसेनका परस्पर) गदायुद्ध आधे दिनतक होता रहा ॥ ३१ ॥

तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ३२ ॥

अठारहवाँ दिन बीत जानेपर रात्रिके समय अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्यने निःशङ्क सोते हुए युधिष्ठिरके सैनिकोंको मार डाला ॥ ३२ ॥

यत्तु शौनक सत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम्।
जनमेजयस्य तत् सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥ ३३ ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशो वीर्यं महीक्षिताम्।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ॥ ३४ ॥

शौनकजी! आपके इस सत्सङ्ग-सत्रमें मैं यह जो उत्तम इतिहास महाभारत सुना रहा हूँ, यही जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासजीके बुद्धिमान् शिष्य वैशम्पायनजीके द्वारा भी वर्णन किया गया था। उन्होंने बड़े-बड़े नरपतियोंके यश और पराक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये प्रारम्भमें पौष्य, पौलोम और आस्तीक—इन तीन पर्वोंका स्मरण किया है ॥ ३३-३४ ॥

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम्।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३५ ॥

जैसे मोक्ष चाहनेवाले पुरुष पर वैराग्यकी शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही प्रज्ञावान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्भुत आख्यान और भाँति-भाँतिकी परस्पर विलक्षण मर्यादाओंसे युक्त इस महाभारतका आश्रय ग्रहण करते हैं ॥ ३५ ॥

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम्।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३६ ॥

जैसे जाननेयोग्य पदार्थोंमें आत्मा, प्रिय पदार्थोंमें अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप प्रयोजनको पूर्ण करनेवाला यह इतिहास श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३७ ॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर-निर्वाह सम्भव नहीं है, वैसे ही इस इतिहासका आश्रय लिये बिना पृथ्वीपर कोई कथा नहीं है ॥

तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८ ॥

जैसे अपनी उन्नति चाहनेवाले महत्त्वाकाङ्क्षी सेवक अपने कुलीन और सद्भावसम्पन्न स्वामीकी सेवा करते हैं, इसी प्रकार संसारके श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी सेवा करके ही अपने काव्यकी रचना करते हैं ॥ ३८ ॥

इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३९ ॥

जैसे लौकिक और वैदिक सब प्रकारके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाली सम्पूर्ण वाणी स्वरों एवं व्यञ्जनोंमें समायी रहती है, वैसे ही (लोक, परलोक एवं परमार्थसम्बन्धी) सम्पूर्ण उत्तम विद्या-बुद्धि इस श्रेष्ठ इतिहासमें भरी हुई है ॥ ३९ ॥

तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ ४० ॥
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ॥ ४१ ॥

यह महाभारत इतिहास ज्ञानका भण्डार है। इसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ और उसका अनुभव करानेवाली युक्तियाँ भरी हुई हैं। इसका एक-एक पद और पर्व आश्चर्यजनक है तथा यह वेदोंके धर्ममय अर्थसे अलंकृत है। अब इसके पर्वोंकी संग्रह-सूची सुनिये। पहले अध्यायमें पर्वानुक्रमणी है और दूसरेमें पर्वसंग्रह ॥ ४०-४१ ॥

पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम्।
ततः सम्भवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् पौष्य, पौलोम, आस्तीक और आदि-अंशावतरण पर्व हैं। तदनन्तर सम्भवपर्वका वर्णन है, जो अत्यन्त अद्भुत और रोमाञ्चकारी है ॥ ४२ ॥

दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ॥ ४३ ॥

इसके पश्चात् जतुगृह (लाक्षाभवन) दाहपर्व है। तदनन्तर हिडिम्बवधपर्व है, फिर बकवध और उसके बाद चैत्ररथपर्व है ॥ ४३ ॥

ततः स्वयंवरो देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ४४ ॥

उसके बाद पाञ्चालराजकुमारी देवी द्रौपदीके स्वयंवर-पर्वके तथा क्षत्रियधर्मसे सब राजाओंपर विजय-प्राप्तिपूर्वक वैवाहिक-पर्वका वर्णन है ॥ ४४ ॥

विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ॥ ४५ ॥

विदुरागमन-राज्यलम्भपर्व, तत्पश्चात् अर्जुन-वनवास-पर्व और फिर सुभद्रा-हरणपर्व है ॥ ४५ ॥

सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेया हरणहारिका।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ॥ ४६ ॥

सुभद्राहरणके बाद हरणाहरणपर्व है, पुनः खाण्डवदाह-पर्व है, उसीमें मय-दानवके दर्शनकी कथा है ॥ ४६ ॥

सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम्।
जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ॥ ४७ ॥

इसके बाद क्रमशः सभापर्व, मन्त्रपर्व, जरासन्ध-वधपर्व और दिग्विजयपर्वका प्रवचन है ॥ ४७ ॥

पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर राजसूय, अर्घाभिहरण और शिशुपालवध-पर्व कहे गये हैं ॥ ४८ ॥

द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम्।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध एव च ॥ ४९ ॥

इसके बाद क्रमशः द्यूत एवं अनुद्यूतपर्व हैं। तत्पश्चात् वनयात्रापर्व तथा किर्मीरवधपर्व है ॥ ४९ ॥

अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम्।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥ ५० ॥

इसके बाद अर्जुनाभिगमनपर्व जानना चाहिये और फिर कैरात-पर्व आता है, जिसमें सर्वेश्वर भगवान् शिव तथा अर्जुनके युद्धका वर्णन है ॥ ५० ॥

इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम्।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् इन्द्रलोकाभिगमनपर्व है, फिर धार्मिक तथा करुणोत्पादक नलोपाख्यान-पर्व है ॥ ५१ ॥

तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् कुरुराजका तीर्थयात्रा-पर्व, जटासुर-वध-पर्व और उसके बाद यक्ष-युद्धपर्व है ॥ ५२ ॥

निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः।
मार्कण्डेयसमास्या च पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५३ ॥

इसके पश्चात् निवातकवच-युद्ध, आजगर और मार्कण्डेय-समास्यापर्व क्रमशः कहे गये हैं ॥ ५३ ॥

संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ॥ ५४ ॥
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ॥ ५५ ॥

इसके बाद आता है द्रौपदी और सत्यभामाके संवादका पर्व, इसके अनन्तर घोषयात्रा-पर्व है, उसीमें मृगस्वप्नोद्भव और व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान है। तदनन्तर इन्द्रद्युम्नका

आख्यान और उसके बाद द्रौपदीहरण-पर्व है । उसीमें जयद्रथविमोक्षण-पर्व है ॥ ५४-५५ ॥

पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम् ।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५६ ॥

इसके बाद पतिव्रता सावित्रीके पातिव्रत्यका अद्भुत माहात्म्य है । फिर इसी स्थानपर रामोपाख्यान-पर्व जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम् ।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ॥ ५७ ॥

इसके बाद क्रमशः कुण्डलाहरण और आरणेय-पर्व कहे गये हैं । तदनन्तर विराटपर्वका आरम्भ होता है, जिसमें पाण्डवोंके नगर-प्रवेश और समय-पालनसम्बन्धी पर्व हैं ॥५७॥

कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ।
अभिमन्योश्च वैराटय्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥

इसके बाद कीचक-वध-पर्व, गोग्रहण (गोहरण) पर्व तथा अभिमन्यु और उत्तराके विवाहका पर्व है ॥ ५८ ॥

उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ।
ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५९ ॥
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।
पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ॥ ६० ॥

इसके पश्चात् परम अद्भुत उद्योग-पर्व समझना चाहिये। इसीमें सञ्जययान-पर्व कहा गया है । तदनन्तर चिन्ताके कारण धृतराष्ट्रके रातभर जागनेसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रजागर-पर्व समझना चाहिये । तत्पश्चात् वह प्रसिद्ध सनत्सुजात-पर्व है, जिसमें अत्यन्त गोपनीय अध्यात्मदर्शनका समावेश हुआ है॥५९-६०॥

यानसन्धिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ॥ ६१ ॥
सावित्रं वामदेव्यं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजिकम् ॥ ६२ ॥

इसके पश्चात् यानसन्धि तथा भगवद्यान-पर्व है, इसीमें मातलिका उपाख्यान, गालव-चरित, सावित्र, वामदेव तथा वैन्य-उपाख्यान, जामदग्न्य और षोडशराजिक-उपाख्यान आते हैं ॥ ६१-६२ ॥

सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं विश्वोपाख्यानमेव च ॥ ६३ ॥

फिर श्रीकृष्णका सभा-प्रवेश, विदुलाका अपने पुत्रके प्रति उपदेश, युद्धका उद्योग, सैन्य-निर्याण तथा विश्वोपाख्यान—इनका क्रमशः उल्लेख हुआ है ॥ ६३ ॥

ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६४ ॥

इसी प्रसङ्गमें महात्मा कर्णका विवाद-पर्व है । तदनन्तर कौरव एवं पाण्डव-सेनाका निर्याण-पर्व है ॥ ६४ ॥

रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् रथातिरथ-संख्यापर्व और उसके बाद क्रोधकी आग प्रज्वलित करनेवाला उलूकदूतागमन-पर्व है ॥ ६५ ॥

अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ॥ ६६ ॥

इसके बाद ही अम्बोपाख्यान-पर्व है । तत्पश्चात् अद्भुत भीष्माभिषेचन-पर्व कहा गया है ॥ ६६ ॥

जम्बूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ॥ ६७ ॥

इसके आगे जम्बूखण्ड-विनिर्माण-पर्व है । तदनन्तर भूमि-पर्व कहा गया है, जिसमें द्वीपोंके विस्तारका कीर्तन किया गया है॥

पर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ॥ ६८ ॥

इसके बाद क्रमशः भगवद्गीता, भीष्म-वध, द्रोणाभिषेक तथा संशप्तकवध-पर्व हैं ॥ ६८ ॥

अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञापर्व चोच्यते ।
जयद्रथवधः पर्व घटोत्कचवधस्ततः ॥ ६९ ॥

इसके बाद अभिमन्युवध-पर्व, प्रतिज्ञा-पर्व, जयद्रथ-वध-पर्व और घटोत्कचवध-पर्व हैं ॥ ६९ ॥

ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ७० ॥

फिर रोंगटे खड़े कर देनेवाला द्रोणवध-पर्व जानना चाहिये । तदनन्तर नारायणास्त्र-मोक्षपर्व कहा गया है ॥ ७० ॥

कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ॥ ७१ ॥

फिर कर्ण-पर्व और उसके बाद शल्य-पर्व है । इसी पर्वमें ह्रद-प्रवेश और गदायुद्ध-पर्व भी हैं ॥ ७१ ॥

सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।
अत ऊर्ध्वं सुबीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ॥ ७२ ॥

तदनन्तर सारस्वत-पर्व है, जिसमें तीर्थों और वंशोंका वर्णन किया गया है । इसके बाद है अत्यन्त बीभत्स सौप्तिकपर्व ॥

ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ॥ ७३ ॥

इसके बाद अत्यन्त दारुण ऐषीक-पर्वकी कथा है । फिर जलप्रदानिक और स्त्रीविलाप-पर्व आते हैं ॥ ७३ ॥

श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ॥ ७४ ॥

तत्पश्चात् श्राद्धपर्व है, जिसमें मृत कौरवोंकी अन्त्येष्टि-क्रियाका वर्णन है। उसके बाद ब्राह्मणवेषधारी राक्षस चार्वाकके निग्रहका पर्व है ॥ ७४ ॥

आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर धर्मबुद्धिसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके अभिषेकका पर्व है तथा इसके पश्चात् गृह-प्रविभाग-पर्व है ॥ ७५ ॥

शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम्।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥ ७६ ॥

इसके पश्चात् शान्तिपर्व प्रारम्भ होता है; जिसमें राजधर्मानुशासन, आपद्धर्म और मोक्षधर्म-पर्व हैं ॥ ७६ ॥

शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम्।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासः संवादश्चैव मायया ॥ ७७ ॥

फिर शुकप्रश्नाभिगमन, ब्रह्मप्रश्नानुशासन, दुर्वासाका प्रादुर्भाव और मायासंवाद-पर्व हैं ॥ ७७ ॥

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम्।
स्वर्गारोहणिकं चैव ततो भीष्मस्य धीमतः ॥ ७८ ॥

इसके बाद धर्माधर्मका अनुशासन करनेवाला—आनुशासनिकपर्व है, तदनन्तर बुद्धिमान् भीष्मजीका स्वर्गारोहण-पर्व है ॥ ७८ ॥

ततोऽऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम्।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ७९ ॥

अब आता है आश्वमेधिकपर्व, जो सम्पूर्ण पापोंका नाशक है। उसीमें अनुगीतापर्व है, जिसमें अध्यात्मज्ञानका सुन्दर निरूपण हुआ है ॥ ७९ ॥

पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ८० ॥

इसके बाद आश्रमवासिक, पुत्रदर्शन और तदनन्तर नारदागमन-पर्व कहे गये हैं ॥ ८० ॥

मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम्।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥ ८१ ॥

इसके बाद है अत्यन्त भयानक एवं दारुण मौसल-पर्व। तत्पश्चात् महाप्रस्थान-पर्व और स्वर्गारोहण-पर्व आते हैं ॥ ८१ ॥

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा ॥ ८२ ॥

इसके बाद हरिवंश-पर्व है, जिसे खिल (परिशिष्ट) पुराण भी कहते हैं, इसमें विष्णुपर्व श्रीकृष्णकी बाललीला एवं कंस-वधका वर्णन है ॥ ८२ ॥

भविष्यपर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत्।
एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ॥ ८३ ॥

इस खिल-पर्वमें भविष्यपर्व भी कहा गया है, जो महान् अद्भुत है। महात्मा श्रीव्यासजीने इस प्रकार पूरे सौ पर्वोंकी रचना की है ॥ ८३ ॥

यथावत् सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥ ८४ ॥

सूतवंशशिरोमणि लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाजीने व्यासजीकी रचना पूर्ण हो जानेपर नैमिषारण्य-क्षेत्रमें इन्हीं सौ पर्वोंको अठारह पर्वोंके रूपमें सुव्यवस्थित करके ऋषियोंके सामने कहा ॥ ८४ ॥

समासो भारतस्यायमत्रोक्तः पर्वसंग्रहः।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ॥ ८५ ॥
सम्भवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बबकयोर्वधः।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ॥ ८६ ॥
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम्।
विदुरागमनं चैव राज्यलम्भस्तथैव च ॥ ८७ ॥
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः।
हरणाहरणं चैव दहनं खाण्डवस्य च ॥ ८८ ॥
मयस्य दर्शनं चैव आदिपर्वणि कथ्यते।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपसे महाभारतके पर्वोंका संग्रह बताया गया है। पौष्य, पौलोम, आस्तीक आदि—अंशावतरण, सम्भव, लाक्षागृह, हिडिम्ब-वध, बक-वध, चैत्ररथ, देवी द्रौपदीका स्वयंवर, क्षत्रियधर्मसे राजाओंपर विजय-प्राप्तिपूर्वक वैवाहिक विधि, विदुरागमन, राज्यलम्भ, अर्जुनका वनवास, सुभद्राका हरण, हरणाहरण, खाण्डव-दाह तथा मय दानवसे मिलनेका प्रसङ्ग—यहाँतककी कथा आदिपर्वमें कही गयी है ॥ ८५—८८½ ॥

पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ॥ ८९ ॥
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च सम्भवः ॥ ९० ॥

पौष्य-पर्वमें उत्तङ्कके माहात्म्यका वर्णन है। पौलोमपर्वमें भृगुवंशके विस्तारका वर्णन है। आस्तीकपर्वमें सब नागों तथा गरुड़की उत्पत्तिकी कथा है ॥ ८९-९० ॥

क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ॥ ९१ ॥
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम्।
विविधाः सम्भवा राज्ञामुक्ताः सम्भवपर्वणि ॥ ९२ ॥
अन्येषां चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च।
अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ॥ ९३ ॥

इसी पर्वमें क्षीरसागरके मन्थन और उच्चैःश्रवा घोड़ेके जन्मकी भी कथा है। परीक्षित्-नन्दन राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें इन भरतवंशी महात्मा राजाओंकी कथा कही गयी है। सम्भवपर्वमें राजाओंके भिन्न-भिन्न प्रकारके जन्मसम्बन्धी

वृत्तान्तोंका वर्णन है । इसीमें दूसरे शूरवीरों तथा महर्षि द्वैपायनके जन्मकी कथा भी है । यहीं देवताओंके अंशावतरणकी कथा कही गयी है ॥ ९१–९३ ॥

दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम् ।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्त्रिणाम् ॥ ९४ ॥
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ॥ ९५ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥ ९६ ॥

इसी पर्वमें अत्यन्त प्रभावशाली दैत्य, दानव, यक्ष, नाग, सर्प, गन्धर्व और पक्षियों तथा अन्य विविध प्रकारके प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन है। परम तपस्वी महर्षि कण्वके आश्रममें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाके गर्भसे भरतके जन्मकी कथा भी इसीमें है । उन्हीं महात्मा भरतके नामसे यह भरतवंश संसारमें प्रसिद्ध हुआ है ॥ ९४–९६ ॥

वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शान्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥ ९७ ॥

इसके बाद महाराज शान्तनुके गृहमें भागीरथी गङ्गाके गर्भसे महात्मा वसुओंकी उत्पत्ति एवं फिरसे उनके स्वर्गमें जानेका वर्णन किया गया है ॥ ९७ ॥

तेजोंऽशानां च सम्पातो भीष्मस्याप्यत्र सम्भवः ।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥ ९८ ॥
प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च ।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥ ९९ ॥
विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम् ।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥ १०० ॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः ॥ १०१ ॥

इसी पर्वमें वसुओंके तेजके अंशभूत भीष्मके जन्मकी कथा भी है। उनकी राज्यभोगसे निवृत्ति, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञापालन, चित्राङ्गदकी रक्षा और चित्राङ्गदकी मृत्यु हो जानेपर छोटे भाई विचित्रवीर्यकी रक्षा; उन्हें राज्य-समर्पण, अणीमाण्डव्यके शापसे भगवान् धर्मकी विदुरके रूपमें मनुष्योंमें उत्पत्ति, श्रीकृष्णद्वैपायनके वरदानके कारण धृतराष्ट्र एवं पाण्डुका जन्म और इसी प्रसङ्गमें पाण्डवोंकी उत्पत्ति-कथा भी है ॥ ९८–१०१ ॥

वारणावतयात्रायां मन्त्रो दुर्योधनस्य च ।
कूटस्य धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ॥ १०२ ॥
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः ।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ॥ १०३ ॥

लाक्षागृह-दाहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावतयात्राके प्रसङ्गमें दुर्योधनके गुप्त षड्यन्त्रका वर्णन है। उसका पाण्डवोंके पास कूटनीतिज्ञ पुरोचनको भेजनेका भी प्रसङ्ग है। मार्गमें विदुरजीने बुद्धिमान् युधिष्ठिरके हितके लिये म्लेच्छभाषामें जो हितोपदेश किया, उसका भी वर्णन है ॥ १०२-१०३ ॥

विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ॥ १०४ ॥
पुरोचनस्य चात्रैव दहनं सम्प्रकीर्तितम् ।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ॥ १०५ ॥
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात् ।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥ १०६ ॥

फिर विदुरकी बात मानकर सुरंग खुदवानेका कार्य आरम्भ किया गया। उसी लाक्षागृहमें अपने पाँच पुत्रोंके साथ सोती हुई एक भीलनी और पुरोचन भी जल मरे—यह सब कथा कही गयी है । हिडिम्बवधपर्वमें घोर वनके मार्गसे यात्रा करते समय पाण्डवोंको हिडिम्बाके दर्शन, महाबली भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरके वध तथा घटोत्कचके जन्मकी कथा कही गयी है ॥ १०४–१०६ ॥

महर्षेर्दर्शनं चैव व्यासस्यामिततेजसः ।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ १०७ ॥
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः ।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥ १०८ ॥

अमिततेजस्वी महर्षि व्यासका पाण्डवोंसे मिलना और उनकी आज्ञासे एकचक्रा नगरीमें ब्राह्मणके घर पाण्डवोंके गुप्त निवासका वर्णन है। वहीं रहते समय उन्होंने बकासुरका वध किया, जिससे नागरिकोंको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

सम्भवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव ह ।
ब्राह्मणात् समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ॥ १०९ ॥
द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरदिदृक्षया ।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ॥ ११० ॥

इसके अनन्तर कृष्णा द्रौपदी और उसके भाई धृष्टद्युम्नकी उत्पत्तिका वर्णन है। जब पाण्डवोंको ब्राह्मणके मुखसे यह संवाद मिला, तब वे महर्षि व्यासकी आज्ञासे द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये कौतूहलपूर्ण चित्तसे स्वयंवर देखने पाञ्चाल देशकी ओर चल पड़े ॥ १०९-११० ॥

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा ।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ॥ १११ ॥
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ॥ ११२ ॥
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्त्वा धनंजयः ।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ॥ ११३ ॥
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान् पृथिवीपतीन् ।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ॥ ११४ ॥

चैत्ररथ-पर्वमें गङ्गाके तटपर अर्जुनने अङ्गारपर्ण गन्धर्वको जीतकर उससे मित्रता कर ली और उसीके मुखसे तपती, वसिष्ठ और और्वके उत्तम आख्यान सुने। फिर अर्जुनने वहाँसे अपने सभी भाइयोंके साथ पाञ्चालकी ओर यात्रा की। तदनन्तर अर्जुनने पाञ्चालनगरके बड़े-बड़े राजाओंसे भरी सभामें लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त किया—यह कथा भी इसी पर्वमें है। वहीं भीमसेन और अर्जुनने रणाङ्गणमें युद्धके लिये संनद्ध क्रोधान्ध राजाओंको तथा शल्य और कर्णको भी अपने पराक्रमसे पराजित कर दिया॥ १११—११४॥

दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम्।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान् रामकृष्णौ महामती॥११५॥
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालां भार्गववेश्मनि।
पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च॥११६॥

महामति बलराम एवं भगवान् श्रीकृष्णने जब भीमसेन एवं अर्जुनके अपरिमित और अतिमानुष बल-वीर्यको देखा, तब उन्हें यह शङ्का हुई कि कहीं ये पाण्डव तो नहीं हैं। फिर वे दोनों उनसे मिलनेके लिये कुम्हारके घर आये। इसके पश्चात् द्रुपदने 'पाँचों पाण्डवोंकी एक ही पत्नी कैसे हो सकती है' इस सम्बन्धमें विचार-विमर्श किया ११५-११६

पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः॥११७॥

इस वैवाहिक-पर्वमें पाँच इन्द्रोंका अद्भुत उपाख्यान और द्रौपदीके देवविहित तथा मनुष्यपरम्पराके विपरीत विवाहका वर्णन हुआ है॥ ११७॥

क्षत्तुश्च धृतराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति।
विदुरस्य च सम्प्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च॥११८॥

इसके बाद धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पास विदुरजीको भेजा है, विदुरजी पाण्डवोंसे मिले हैं तथा उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन हुआ॥ ११८॥

खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धसर्जनम्।
नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया॥११९॥

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रका पाण्डवोंको आधा राज्य देना, इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंका निवास करना एवं नारदजीकी आज्ञासे द्रौपदीके पास आने-जानेके सम्बन्धमें समय-निर्धारण आदि विषयोंका वर्णन है॥ ११९॥

सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम्।
अनन्तरं च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम्॥१२०॥
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम्।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थं कृतनिश्चयः॥१२१॥
समयं पालयन् वीरो वनं यत्र जगाम ह।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः॥१२२॥

इसी प्रसङ्गमें सुन्द और उपसुन्दके उपाख्यानका भी वर्णन है। तदनन्तर एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे हुए थे। अर्जुनने ब्राह्मणके लिये नियम तोड़कर वहाँ प्रवेश किया और अपने आयुध लेकर ब्राह्मणकी वस्तु उसे प्राप्त करा दी और दृढ़ निश्चय करके वीरताके साथ मर्यादापालनके लिये वनमें चले गये। इसी प्रसङ्गमें यह कथा भी कही गयी है कि वनवासके अवसरपर मार्गमें ही अर्जुन और उलूपीका मेल-मिलाप हो गया॥ १२०—१२२॥

पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च।
तत्रैव मोक्षयामास पञ्च सोऽप्सरसः शुभाः॥१२३॥
शापाद् ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्ते तपस्विनः।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः॥१२४॥

इसके बाद अर्जुनने पवित्र तीर्थोंकी यात्रा की है। इसी समय चित्राङ्गदाके गर्भसे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ है और इसी यात्रामें उन्होंने पाँच शुभ अप्सराओंको मुक्तिदान किया, जो एक तपस्वी ब्राह्मणके शापसे ग्राह हो गयी थीं। फिर प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके मिलनका वर्णन है॥१२३—१२४॥

द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना॥१२५॥

तत्पश्चात् यह बताया गया है कि द्वारकामें सुभद्रा और अर्जुन परस्पर एक दूसरेपर आसक्त हो गये, उसके बाद श्रीकृष्णकी अनुमतिसे अर्जुनने सुभद्राको हर लिया॥१२५॥

गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः॥१२६॥

तदनन्तर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके दहेज लेकर पाण्डवोंके पास पहुँचनेकी और सुभद्राके गर्भसे परम तेजस्वी वीर बालक अभिमन्युके जन्मकी कथा है॥ १२६॥

द्रौपद्यास्तनयानां च सम्भवोऽनुप्रकीर्तितः।
विहारार्थं च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु॥१२७॥
सम्प्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम्।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद् भुजङ्गस्य च मोक्षणम्॥१२८॥

इसके पश्चात् द्रौपदीके पुत्रोंकी उत्पत्तिकी कथा है। तदनन्तर, जब श्रीकृष्ण और अर्जुन यमुनाजीके तटपर विहार करनेके लिये गये हुए थे, तब उन्हें जिस प्रकार चक्र और धनुषकी प्राप्ति हुई, उसका वर्णन है। साथ ही खाण्डववनके दाह, मय दानवके छुटकारे और अग्निकाण्डसे सर्पके सर्वथा बच जानेका वर्णन हुआ है॥ १२७-१२८॥

महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसम्भवः।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम्॥१२९॥

इसके बाद महर्षि मन्दपालका शार्ङ्गी पक्षीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करनेकी कथा है। इस प्रकार इस अत्यन्त विस्तृत आदिपर्वका सबसे प्रथम निरूपण हुआ है॥ १२९॥

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥१३०॥

परमर्षि एवं परम तेजस्वी महर्षि व्यासने इस पर्वमें दो सौ सत्ताईस (२२७) अध्यायोंकी रचना की है ॥ १३० ॥

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ॥१३१॥

महात्मा व्यास मुनिने इन दो सौ सत्ताईस अध्यायोंमें आठ हजार आठ सौ चौरासी (८८८४) श्लोक कहे हैं ॥ १३१ ॥

द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किङ्कराणां च दर्शनम् ॥१३२॥
लोकपालसभाख्यानं नारदाद् देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासन्धवधस्तथा ॥१३३॥
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ॥१३४॥

दूसरा सभापर्व है । इसमें बहुत-से वृत्तान्तोंका वर्णन है । पाण्डवोंका सभानिर्माण, किङ्कर नामक राक्षसोंका दीखना, देवर्षि नारदद्वारा लोकपालोंकी सभाका वर्णन, राजसूय यज्ञका आरम्भ एवं जरासन्ध-वध, गिरिव्रजमें बंदी राजाओंका श्रीकृष्णके द्वारा छुड़ाया जाना और पाण्डवोंकी दिग्विजयका भी इसी सभापर्वमें वर्णन किया गया है ॥ १३२-१३४ ॥

राज्ञामागमनं चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥१३५॥

राजसूय महायज्ञमें उपहार ले-लेकर राजाओंके आगमन तथा पहले किसकी पूजा हो इस विषयको लेकर छिड़े हुए विवादमें शिशुपालके वधका प्रसङ्ग भी इसी सभापर्वमें आया है ॥

यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥१३६॥

यज्ञमें पाण्डवोंका यह वैभव देखकर दुर्योधन दुःख और ईर्ष्यासे मन-ही-मनमें जलने लगा । इसी प्रसङ्गमें सभाभवनके सामने समतल भूमिपर भीमसेनने उसका उपहास किया ॥

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥१३७॥

उसी उपहासके कारण दुर्योधनके हृदयमें क्रोधाग्नि जल उठी । जिसके कारण उसने जूएके खेलका षड्यन्त्र रचा । इसी जूएमें कपटी शकुनिने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको जीत लिया ॥

यत्र द्यूतार्णवे मग्नां द्रौपदीं नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिताम् ॥१३८॥
तारयामास तांस्तीर्णान् ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥१३९॥

जैसे समुद्रमें डूबी हुई नौकाको कोई फिरसे निकाल ले, वैसे ही द्यूतके समुद्रमें डूबी हुई परमदुःखिनी पुत्रवधू द्रौपदीको परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने निकाल लिया । जब राजा दुर्योधनको जूएकी विपत्तिसे पाण्डवोंके बच जानेका समाचार मिला, तब उसने पुनः उन्हें (पितासे आग्रह करके) जूएके लिये बुलवाया ॥ १३८-१३९ ॥

जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत् सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ॥१४०॥

दुर्योधनने उन्हें जूएमें जीतकर वनवासके लिये भेज दिया । महर्षि व्यासने सभापर्वमें यही सब कथा कही है ॥१४०॥

अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ॥१४१॥
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन् द्विजोत्तमाः।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ॥१४२॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या अठहत्तर (७८) है और श्लोकोंकी संख्या दो हजार पाँच सौ ग्यारह (२५११) बतायी गयी है । इसके पश्चात् महत्त्वपूर्ण वनपर्वका आरम्भ होता है ॥ १४१-१४२ ॥

वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥१४३॥

जिस समय महात्मा पाण्डव वनवासके लिये यात्रा कर रहे थे, उस समय बहुत-से पुरवासी लोग बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ १४३ ॥

अन्नौषधीनां च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थं च कृतमाराधनं रवेः ॥१४४॥

महात्मा युधिष्ठिरने पहले अनुयायी ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये अन्न और ओषधियाँ प्राप्त करनेके उद्देश्यसे सूर्य भगवान्‌की आराधना की ॥ १४४ ॥

धौम्योपदेशात् तिग्मांशुप्रसादादन्नसम्भवः ।
हितं च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ॥१४५॥
त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनं चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१४६॥
कर्णप्रोत्साहनाच्चैव धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान् पाण्डवान् हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च॥१४७॥

महर्षि धौम्यके उपदेशसे उन्हें सूर्य भगवान्‌की कृपा प्राप्त हुई और अक्षय अन्नका पात्र मिला । उधर विदुरजी धृतराष्ट्रको हितकारी उपदेश कर रहे थे, परंतु धृतराष्ट्रने उनका परित्याग कर दिया । धृतराष्ट्रके परित्यागपर विदुरजी पाण्डवोंके पास चले गये और फिर धृतराष्ट्रका आदेश प्राप्त होनेपर उनके पास लौट आये । धृतराष्ट्रनन्दन दुर्मति दुर्योधनने कर्णके प्रोत्साहनसे वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेका विचार किया ॥ १४५-१४७ ॥

तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम् ।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ॥१४८॥

दुर्योधनके इस दूषित भावको जानकर महर्षि व्यास झटपट वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने दुर्योधनकी यात्राका निषेध कर दिया। इसी प्रसङ्गमें सुरभिका आख्यान भी है ॥ १४८ ॥

मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम् ।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ॥१४९॥

मैत्रेय ऋषिने आकर राजा धृतराष्ट्रको उपदेश किया और उन्होंने ही राजा दुर्योधनको शाप दे दिया ॥ १४९ ॥

किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे ।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानां च सर्वशः ॥१५०॥

इसी पर्वमें यह कथा है कि युद्धमें भीमसेनने किर्मीरको मार डाला। पाण्डवोंके पास वृष्णिवंशी और पाञ्चाल आये। पाण्डवोंने उन सबके साथ वार्तालाप किया ॥ १५० ॥

श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान् ।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ॥१५१॥

जब श्रीकृष्णने यह सुना कि शकुनिने जूएमें पाण्डवोंको कपटसे हरा दिया है, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए; परंतु अर्जुनने हाथ जोड़कर उन्हें शान्त किया ॥ १५१ ॥

परिदेवनं च पाञ्चाल्या वासुदेवस्य संनिधौ ।
आश्वासनं च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ॥१५२॥

द्रौपदी श्रीकृष्णके पास बहुत रोयी-कलपी। श्रीकृष्णने दुःखार्त द्रौपदीको आश्वासन दिया। यह सब कथा वनपर्वमें है ॥१५२॥

तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा ।
सुभद्रायाः सुपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरीम् ॥१५३॥
नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ॥१५४॥

इसी पर्वमें महर्षि व्यासने सौभवधकी कथा कही है। श्रीकृष्ण सुभद्राको पुत्रसहित द्वारकामें ले गये। धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पुत्रोंको अपने साथ लिवा ले गये। तदनन्तर पाण्डवोंने परम रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ॥१५३-१५४॥

धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह ।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ॥१५५॥

इसी पर्वमें युधिष्ठिर एवं द्रौपदीका संवाद तथा युधिष्ठिर और भीमसेनके संवादका भलीभाँति वर्णन किया गया है॥१५५॥

समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा ।
प्रतिस्मृत्याथ विद्याया दानं राज्ञो महर्षिणा ॥१५६॥

महर्षि व्यास पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने राजा युधिष्ठिरको प्रतिस्मृति नामक मन्त्रविद्याका उपदेश दिया ॥

गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥१५७॥

व्यासजीके चले जानेपर पाण्डवोंने काम्यकवनकी यात्रा की। इसके बाद अमिततेजस्वी अर्जुन अस्त्र प्राप्त करनेके लिये अपने भाइयोंसे अलग चले गये ॥ १५७ ॥

महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ॥१५८॥

वहीं किरात-वेशधारी महादेवजीके साथ अर्जुनका युद्ध हुआ, लोकपालोंके दर्शन हुए और अस्त्रकी प्राप्ति हुई ॥१५८॥

महेन्द्रलोकगमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः ।
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ॥१५९॥

इसके बाद अर्जुन अस्त्रके लिये इन्द्रलोकमें गये—यह सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १५९ ॥

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ॥१६०॥

इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको शुद्धहृदय महर्षि बृहदश्वका दर्शन हुआ। युधिष्ठिरने आर्त होकर उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी और विलाप किया ॥ १६० ॥

नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ॥१६१॥

इसी प्रसङ्गमें नलोपाख्यान आता है, जिसमें धर्मनिष्ठाका अनुपम आदर्श है और जिसे पढ़-सुनकर हृदयमें करुणाकी धारा बहने लगती है। दमयन्तीका दृढ़ धैर्य और नलका चरित्र यहीं पढ़नेको मिलते हैं ॥ १६१ ॥

तथाक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः ।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात् पाण्डुसुतान् प्रति ॥१६२॥
वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥१६३॥

उन्हीं महर्षिसे पाण्डवोंको अक्ष-हृदय (जूएके रहस्य) की प्राप्ति हुई। यहीं स्वर्गसे महर्षि लोमश पाण्डवोंके पास पधारे। लोमशने ही वनवासी महात्मा पाण्डवोंको यह बात बतलायी कि अर्जुन स्वर्गमें किस प्रकार अस्त्र-विद्या सीख रहे हैं ॥ १६२-१६३ ॥

संदेशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनक्रिया ।
तीर्थानां च फलप्राप्तिः पुण्यत्वं चापि कीर्तितम् ॥१६४॥

इसी पर्वमें अर्जुनका संदेश पाकर पाण्डवोंने तीर्थयात्रा की। उन्हें तीर्थयात्राका फल प्राप्त हुआ और कौन तीर्थ कितने पुण्यप्रद होते हैं—इस बातका वर्णन हुआ है ॥ १६४ ॥

पुलस्त्यतीर्थयात्रा च नारदेन महर्षिणा ।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१६५॥
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तिता ॥१६६॥

इसके बाद महर्षि नारदने पुलस्त्य-तीर्थकी यात्रा करने

की प्रेरणा दी और महात्मा पाण्डवोंने वहाँकी यात्रा की। यहीं इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वञ्चित करनेका तथा राजा गयके यज्ञवैभवका वर्णन किया गया है ॥ १६५-१६६ ॥

आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम्।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ॥१६७॥

इसके बाद अगस्त्य-चरित्र है; जिसमें उनके वातापि-भक्षण तथा संतानके लिये लोपामुद्राके साथ समागमका वर्णन है॥

ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥१६८॥

इसके पश्चात् कौमार ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्गका चरित्र है। फिर परम तेजस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामका चरित्र है॥१६८॥

कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ॥१६९॥

इसी चरित्रमें कार्तवीर्य अर्जुन तथा हैहयवंशी राजाओंके वधका वर्णन किया गया है। प्रभासतीर्थमें पाण्डवों एवं यादवोंके मिलनेकी कथा भी इसीमें है ॥ १६९ ॥

सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः।
शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान् सोमपीतिनौ ॥१७०॥

इसके बाद सुकन्याका उपाख्यान है। इसीमें यह कथा है कि भृगुनन्दन च्यवनने शर्यातिके यज्ञमें अश्विनीकुमारोंको सोमपानका अधिकारी बना दिया ॥ १७० ॥

ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः।
मान्धातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम्॥१७१॥

उन्हीं दोनोंने च्यवन मुनिको बूढ़ेसे जवान बना दिया। राजा मान्धाताकी कथा भी इसी पर्वमें कही गयी है ॥ १७१ ॥

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः।
पुत्रार्थमयजद् राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥१७२॥

यहीं जन्तूपाख्यान है। इसमें राजा सोमकने बहुत-से पुत्र प्राप्त करनेके लिये एक पुत्रसे यजन किया और उसके फलस्वरूप सौ पुत्र प्राप्त किये ॥ १७२ ॥

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम्।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मस्य जिज्ञासार्थं शिबिं नृपम् ॥१७३॥

इसके बाद श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर) का सर्वोत्तम उपाख्यान है। इसमें इन्द्र और अग्नि राजा शिबिके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये आये हैं ॥ १७३ ॥

अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र बन्दिना।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ॥१७४॥
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च।
पराजितो यत्र बन्दी विवादेन महात्मना ॥१७५॥
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ॥१७६॥

इसी पर्वमें अष्टावक्रका चरित्र भी है। जिसमें बन्दीके साथ जनकके यज्ञमें ब्रह्मर्षि अष्टावक्रके शास्त्रार्थका वर्णन है। वह बन्दी वरुणका पुत्र था और नैयायिकोंमें प्रधान था। उसे महात्मा अष्टावक्रने वाद-विवादमें पराजित कर दिया। महर्षि अष्टावक्रने बन्दीको हराकर समुद्रमें डाले हुए अपने पिताको प्राप्त कर लिया। इसके बाद यवक्रीत और महात्मा रैभ्यका उपाख्यान है। तदनन्तर पाण्डवोंकी गन्धमादन-यात्रा और नारायणाश्रममें निवासका वर्णन है ॥ १७४—१७६ ॥

नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने।
व्रजन् पथि महाबाहुर्दृष्टवान् पवनात्मजम् ॥१७७॥
कदलीखण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम्।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ॥१७८॥

द्रौपदीने सौगन्धिक कमल लानेके लिये भीमसेनको गन्धमादन पर्वतपर भेजा। यात्रा करते समय महाबाहु भीमसेनने मार्गमें कदली-वनमें महाबली पवननन्दन श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन किया। यहीं सौगन्धिक कमलके लिये भीमसेनने सरोवरमें घुसकर उसे मथ डाला ॥ १७७-१७८ ॥

यत्रास्य युद्धमभवत् सुमहद् राक्षसैः सह।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥१७९॥

वहीं भीमसेनका राक्षसों एवं महाशक्तिशाली मणिमान् आदि यक्षोंके साथ घमासान युद्ध हुआ—॥ १७९ ॥

जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात्।
वृषपर्वणश्च राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ॥१८०॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च।
प्रोत्साहनं च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः ॥१८१॥
कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ॥१८२॥

तत्पश्चात् भीमसेनके द्वारा जटासुर राक्षसका वध हुआ। फिर पाण्डव क्रमशः राजर्षि वृषपर्वा और आर्ष्टिषेणके आश्रमपर गये और वहीं रहने लगे। यहीं द्रौपदी महात्मा भीमसेनको प्रोत्साहित करती रही। भीमसेन कैलास-पर्वतपर चढ़ गये। यहीं अपनी शक्तिके नशेमें चूर मणिमान् आदि यक्षोंके साथ उनका अत्यन्त घोर युद्ध हुआ ॥ १८०—१८२ ॥

समागमश्च पाण्डूनां यत्र वैश्रवणेन च।
समागमश्चार्जुनस्य तत्रैव भ्रातृभिः सह ॥१८३॥

यहीं पाण्डवोंका कुबेरके साथ समागम हुआ। इसी

स्थानपर अर्जुन आकर अपने भाइयोंसे मिले ॥१८३॥

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥१८४॥

इधर सव्यसाची अर्जुनने अपने बड़े भाईके लिये दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये और हिरण्यपुरवासी निवातकवच दानवोंके साथ उनका घोर युद्ध हुआ ॥ १८४ ॥

निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः ।
पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ॥१८५॥
वधश्चैषां समाख्यातो राज्ञस्तेनैव धीमता ।
अस्त्रसंदर्शनारम्भो धर्मराजस्य संनिधौ ॥१८६॥

वहाँ देवताओंके शत्रु भयंकर दानव निवातकवच पौलोम और कालकेयोंके साथ अर्जुनने जैसा युद्ध किया और जिस प्रकार उन सबका वध हुआ था, वह सब बुद्धिमान् अर्जुनने स्वयं राजा युधिष्ठिरको सुनाया । इसके बाद अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरके पास अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करना चाहा ॥ १८५-१८६ ॥

पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा ।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूनां गन्धमादनात् ॥१८७॥

इसी समय देवर्षि नारदने आकर अर्जुनको अस्त्र-प्रदर्शनसे रोक दिया। अब पाण्डव गन्धमादन पर्वतसे नीचे उतरने लगे ॥

भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा ।
भुजगेन्द्रेण बलिना तस्मिन् सुगहने वने ॥१८८॥

फिर एक बीहड़ वनमें पर्वतके समान विशाल शरीरधारी बलवान् अजगरने भीमसेनको पकड़ लिया ॥ १८८ ॥

अमोक्षयद् यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः ।
काम्यकागमनं चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ॥१८९॥

धर्मराज युधिष्ठिरने अजगर-वेषधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको छुड़ा लिया । इसके बाद महानुभाव पाण्डव पुनः काम्यकवनमें आये ॥ १८९ ॥

तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान् पुरुषर्षभान् ।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ॥१९०॥

जब नरपुङ्गव पाण्डव काम्यकवनमें निवास करने लगे, तब उनसे मिलनेके लिये वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण उनके पास आये—यह कथा इसी प्रसङ्गमें कही गयी है ॥ १९० ॥

मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः ।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ॥१९१॥

पाण्डवोंका महामुनि मार्कण्डेयके साथ समागम हुआ । वहाँ महर्षिने बहुत-से उपाख्यान सुनाये । उनमें वेनपुत्र पृथुका भी उपाख्यान है ॥ १९१ ॥

संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः ।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ॥१९२॥

इसी प्रसङ्गमें प्रसिद्ध महात्मा महर्षि तार्क्ष्य और सरस्वतीका संवाद है । तदनन्तर मत्स्योपाख्यान भी कहा गया है ॥१९२॥

मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते ।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ॥१९३॥

इसी मार्कण्डेय-समागममें पुराणोंकी अनेक कथाएँ, राजा इन्द्रद्युम्नका उपाख्यान तथा धुन्धुमारकी कथा भी है ॥१९३॥

पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम् ।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ॥१९४॥

पतिव्रताका और आङ्गिरसका उपाख्यान भी इसी प्रसङ्गमें है । द्रौपदीका सत्यभामाके साथ संवाद भी इसीमें है ॥१९४॥

पुनर्द्वैतवनं चैव पाण्डवाः समुपागताः ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ॥१९५॥

तदनन्तर धर्मात्मा पाण्डव पुनः द्वैत-वनमें आये। कौरवोंने घोषयात्रा की और गन्धर्वोंने दुर्योधनको बंदी बना लिया॥१९५॥

ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोऽसौ किरीटिना ।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनम् ॥१९६॥

वे मन्दमति दुर्योधनको कैद करके लिये जा रहे थे कि अर्जुनने युद्ध करके उसे छुड़ा लिया । इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको स्वप्नमें हरिणके दर्शन हुए ॥ १९६ ॥

काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥१९७॥

इसके पश्चात् पाण्डवगण काम्यक नामक श्रेष्ठ वनमें फिरसे गये । इसी प्रसङ्गमें अत्यन्त विस्तारके साथ व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान भी कहा गया है ॥ १९७ ॥

दुर्वाससोऽप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥१९८॥

इसीमें दुर्वासाजीका उपाख्यान और जयद्रथके द्वारा आश्रमसे द्रौपदीके हरणकी कथा भी कही गयी है ॥ १९८ ॥

यत्रैनमन्वयाद् भीमो वायुवेगसमो जवे ।
चक्रे चैनं पञ्चशिखं यत्र भीमो महाबलः ॥१९९॥

उस समय महाबली भयंकर भीमसेनने वायुवेगसे दौड़कर उसका पीछा किया था तथा जयद्रथके सिरके सारे बाल मूँड़कर उसमें पाँच चोटियाँ रख दी थीं ॥ १९९ ॥

रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ॥२००॥

वनपर्वमें बड़े ही विस्तारके साथ रामायणका उपाख्यान है, जिसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने युद्धभूमिमें अपने पराक्रमसे रावणका वध किया है ॥ २०० ॥

सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ॥२०१॥

इसके बाद ही सावित्रीका उपाख्यान और इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वञ्चित कर देनेकी कथा है ॥ २०१ ॥

यत्रास्य शक्तिं तुष्टोऽसावदादेकवधाय च ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात् सुतम् ॥२०२॥

इसी प्रसङ्गमें इन्द्रने प्रसन्न होकर कर्णको एक शक्ति दी थी, जिससे कोई भी एक वीर मारा जा सकता था। इसके बाद है आरणेय-उपाख्यान, जिसमें धर्मराजने अपने पुत्र युधिष्ठिरको शिक्षा दी है ॥ २०२ ॥

जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ॥२०३॥
अत्राध्यायास्ते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥२०४॥

और उनसे वरदान प्राप्तकर पाण्डवोंने पश्चिम दिशाकी यात्रा की। यह तीसरे वनपर्वकी सूची कही गयी। इस पर्वमें गिनकर दो सौ उनहत्तर (२६९) अध्याय कहे गये हैं ॥ २०३-२०४ ॥

एकादशसहस्राणि श्लोकानां षट् शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथाश्लोकाःपर्वण्यस्मिन् परिकीर्तिताः॥२०५॥

ग्यारह हजार छः सौ चौंसठ (११६६४) श्लोक इस पर्वमें हैं ॥ २०५ ॥

अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ॥२०६॥
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ॥२०७॥

इसके बाद विराटपर्वकी विस्तृत सूची सुनो। पाण्डवोंने विराट-नगरमें जाकर श्मशानके पास एक विशाल शमीका वृक्ष देखा। उसीपर उन्होंने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र रख दिये। तदनन्तर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया और छद्मवेशमें वहाँ निवास करने लगे ॥ २०६-२०७ ॥

पाञ्चालीं प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥२०८॥

कीचक स्वभावसे ही दुष्ट था। द्रौपदीको देखते ही उसका मन काम-बाणसे घायल हो गया। वह द्रौपदीके पीछे पड़ गया। इसी अपराधसे भीमसेनने उसे मार डाला। यह कथा इसी पर्वमें है ॥ २०८ ॥

पाण्डवान्वेषणार्थं च राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
चाराः प्रस्थापिताश्चात्र निपुणाः सर्वतोदिशम्॥२०९॥

राजा दुर्योधनने पाण्डवोंका पता चलानेके लिये बहुत-से निपुण गुप्तचर सब ओर भेजे ॥ २०९ ॥

न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम् ।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ॥२१०॥

परंतु उन्हें महात्मा पाण्डवोंकी गति-विधिका कोई हाल-चाल न मिला। इन्हीं दिनों त्रिगर्तोंने राजा विराटकी गौओं-का प्रथम बार अपहरण कर लिया ॥ २१० ॥

यत्रास्य युद्धं सुमहत् तैरासील्लोमहर्षणम् ।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ॥२११॥

राजा विराटने त्रिगर्तोंके साथ रोंगटे खड़े कर देनेवाला घमासान युद्ध किया। त्रिगर्त विराटको पकड़कर लिये जा रहे थे; किंतु भीमसेनने उन्हें छुड़ा लिया ॥ २११ ॥

गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ।
अनन्तरं च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ॥२१२॥

साथ ही पाण्डवोंने उनके गोधनको भी त्रिगर्तोंसे छुड़ा लिया। इसके बाद ही कौरवोंने विराट-नगरपर चढ़ाई करके उनकी उत्तर दिशाकी गायोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया ॥

समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
प्रत्याहृतं गोधनं च विक्रमेण किरीटिना ॥२१३॥

इसी अवसरपर किरीटधारी अर्जुनने अपना पराक्रम प्रकट करके संग्रामभूमिमें सम्पूर्ण कौरवोंको पराजित कर दिया और विराटके गोधनको लौटा लिया ॥ २१३ ॥

विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥२१४॥

(पाण्डवोंके पहचाने जानेपर) राजा विराटने अपनी पुत्री उत्तरा शत्रुघाती सुभद्रानन्दन अभिमन्युसे विवाह करने-के लिये पुत्रवधूके रूपमें अर्जुनको दे दी ॥ २१४ ॥

चतुर्थमेतद् विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ॥२१५॥
सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकानामपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ॥२१६॥
उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन् महर्षिणा ।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ॥२१७॥

इस प्रकार इस चौथे विराटपर्वकी सूचीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। परमर्षि व्यासजी महाराजने इस पर्वमें गिनकर सड़सठ (६७) अध्याय रखे हैं। अब तुम मुझसे श्लोकोंकी संख्या सुनो। इस पर्वमें दो हजार पचास (२०५०) श्लोक वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यासने कहे हैं। इसके बाद पाँचवाँ उद्योगपर्व समझना चाहिये। अब तुम उसकी विषय-सूची सुनो ॥ २१५-२१७ ॥

उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥२१८॥

जब पाण्डव उपप्लव्य नगरमें रहने लगे, तब दुर्योधन और अर्जुन विजयकी आकाङ्क्षासे भगवान् श्रीकृष्णके पास उपस्थित हुए ॥ २१८ ॥

साहाय्यमस्मिन् समरे भवान् नौ कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥२१९॥

दोनोंने ही भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि 'आप इस युद्धमें हमारी सहायता कीजिये ।' इसपर महामना श्रीकृष्णने कहा—॥ २१९ ॥

अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किं वा ददाम्यहम्॥२२०॥

'दुर्योधन और अर्जुन ! तुम दोनों ही श्रेष्ठ पुरुष हो । मैं स्वयं युद्ध न करके एकका मन्त्री बन जाऊँगा और दूसरेको एक अक्षौहिणी सेना दे दूँगा । अब तुम्हीं दोनों निश्चय करो कि किसे क्या दूँ ?' ॥ २२० ॥

वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनञ्जयः ॥२२१॥

अपने स्वार्थके सम्बन्धमें अनजान एवं खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने एक अक्षौहिणी सेना माँग ली और अर्जुनने यह माँग की कि 'श्रीकृष्ण युद्ध भले ही न करें, परंतु मेरे मन्त्री बन जायँ' ॥ २२१ ॥

मद्रराजं च राजानमायान्तं पाण्डवान् प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः ॥२२२॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान्॥२२३॥
शान्तिपूर्वं चाकथयद् यत्रेन्द्रविजयं नृपः ।
पुरोहितप्रेषणं च पाण्डवैः कौरवान् प्रति ॥२२४॥

मद्रदेशके अधिपति राजा शल्य पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करने आ रहे थे, परन्तु दुर्योधनने मार्गमें ही उपहारोंसे धोखेमें डालकर उन्हें प्रसन्न कर लिया और उन वरदायक नरेशसे यह वर माँगा कि 'मेरी सहायता कीजिये ।' शल्यने दुर्योधनसे सहायताकी प्रतिज्ञा कर ली । इसके बाद वे पाण्डवों-के पास गये और बड़ी शान्तिके साथ सब कुछ समझा-बुझाकर सब बात कह दी । राजाने इसी प्रसङ्गमें इन्द्रकी विजयकी कथा भी सुनायी । पाण्डवोंने अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ २२२–२२४ ॥

वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः ।
तथेन्द्रविजयं चापि यानं चैव पुरोधसः ॥२२५॥
संजयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान् प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥२२६॥

धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पुरोहितके इन्द्र-विजयविषयक वचनको सादर श्रवण करते हुए उनके आगमनके औचित्य-को स्वीकार किया । तत्पश्चात् परम प्रतापी महाराज धृतराष्ट्र-ने भी शान्तिकी इच्छासे दूतके रूपमें संजयको पाण्डवोंके पास भेजा ॥ २२५–२२६ ॥

श्रुत्वा च पाण्डवान् यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः सम्प्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥२२७॥
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥२२८॥

जब धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डवोंने श्रीकृष्णको अपना नेता चुन लिया है और वे उन्हें आगे करके युद्धके लिये प्रस्थान कर रहे हैं, तब चिन्ताके कारण उनकी नींद भाग गयी—वे रातभर जागते रह गये । उस समय महात्मा विदुरने मनीषी राजा धृतराष्ट्रको विविध प्रकारसे अत्यन्त आश्चर्यजनक नीतिका उपदेश किया है (वही विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध है) ॥ २२७-२२८ ॥

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥२२९॥

उसी समय महर्षि सनत्सुजातने खिन्नचित्त एवं शोक-विह्वल राजा धृतराष्ट्रको सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराया ॥ २२९ ॥

प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र वा विभोः ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥२३०॥

प्रातःकाल राजसभामें संजयने राजा धृतराष्ट्रसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐकात्म्य अथवा मित्रताका भलीभाँति वर्णन किया ॥ २३० ॥

यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन् महामतिः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥२३१॥

इसी प्रसंगमें यह कथा भी है कि परम दयालु सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण दया-भावसे युक्त हो शान्ति-स्थापनके लिये सन्धि करानेके उद्देश्यसे स्वयं हस्तिनापुर नामक नगरमें पधारे ॥ २३१ ॥

प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥२३२॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही पक्षोंका हित चाहते थे और शान्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे, परंतु राजा दुर्योधनने उनका विरोध कर दिया ॥ २३२ ॥

दम्भोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ॥२३३॥

इसी पर्वमें दम्भोद्भवकी कथा कही गयी है और साथ ही महात्मा मातलिका अपनी कन्याके लिये वर ढूँढ़नेका प्रसंग भी है ॥ २३३ ॥

महर्षेश्चापि चरितं कथितं गालवस्य वै ।
विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ॥२३४॥

इसके बाद महर्षि गालवके चरित्रका वर्णन है । साथ ही विदुलाने अपने पुत्रको जो शिक्षा दी है, वह भी कही गयी है ॥

कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ॥२३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कर्ण और दुर्योधन आदिकी दूषित मन्त्रणाको जानकर राजाओंकी भरी सभामें अपने योगैश्वर्यका प्रदर्शन किया ॥ २३५ ॥

रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौटीर्यात् प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥२३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथपर बैठाकर उसे (पाण्डवोंके पक्षमें आनेके लिये) अनेक युक्तियोंसे बहुत समझाया-बुझाया, परंतु कर्णने अहंकारवश उनकी बात अस्वीकार कर दी ॥ २३६ ॥

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिन्दमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान् हरिः ॥२३७॥

शत्रुसूदन श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्य नगर आकर जैसा कुछ वहाँ हुआ था, सब पाण्डवोंको कह सुनाया ॥ २३७ ॥

ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम् ।
सांग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः ॥२३८॥

शत्रुघाती पाण्डव उनके वचन सुनकर और क्या करनेमें हमारा हित है—यह परामर्श करके युद्ध-सम्बन्धी सब सामग्री जुटानेमें लग गये ॥ २३८ ॥

ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः ।
नगराद्धास्तिनपुराद् बलसंख्यानमेव च ॥२३९॥

इसके पश्चात् हस्तिनापुर नामक नगरसे युद्धके लिये मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंकी चतुरंगिणी सेनाने कूच किया । इसी प्रसङ्गमें सेनाकी गिनती की गयी है ॥२३९॥

यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ।
श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान् प्रभुः ॥२४०॥

फिर यह कहा गया है कि शक्तिशाली राजा दुर्योधनने दूसरे दिन प्रातःकालसे होनेवाले महायुद्धके सम्बन्धमें उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजा ॥ २४० ॥

रथातिरथसंख्या नमम्बोपाख्यानमेव च ।
एतत् सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते ॥२४१॥

इसके अनन्तर इस पर्वमें रथी, अतिरथी आदिके स्वरूपका वर्णन तथा अम्बाका उपाख्यान आता है । इस प्रकार महाभारतमें उद्योगपर्व पाँचवाँ पर्व है और इसमें बहुत-से सुन्दर-सुन्दर वृत्तान्त हैं ॥ २४१ ॥

उद्योगपर्व निर्दिष्टं संधिविग्रहमिश्रितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४२॥
श्लोकानां षट्सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ॥२४३॥
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ।

इस उद्योगपर्वमें श्रीकृष्णके द्वारा सन्धि-संदेश और उलूकके विग्रह-संदेशका महत्त्वपूर्ण वर्णन हुआ है । तपोधन महर्षियो ! विशालबुद्धि महर्षि व्यासने इस पर्वमें एक सौ छियासी अध्याय रखे हैं और श्लोकोंकी संख्या छः हजार छः सौ अट्ठानबे (६६९८) बतायी है ॥ २४२-२४३ ॥

अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ॥२४४॥
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत् परम् ॥२४५॥
यत्र युद्धमभूद् घोरं दशाहानि सुदारुणम् ।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ॥२४६॥
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः ॥२४७॥
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्ण उदारधीः ।
प्रतोदपाणिराधावद् भीष्मं हन्तुं व्यपेतभीः ॥२४८॥

इसके बाद विचित्र अर्थोंसे भरे भीष्मपर्वकी विषय-सूची कही जाती है, जिसमें संजयने जम्बूद्वीपकी रचना-सम्बन्धी कथा कही है । इस पर्वमें दस दिनोंतक अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होनेका वर्णन आता है, जिसमें धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाके अत्यन्त दुखी होनेकी कथा है । इसी युद्धके प्रारम्भमें महातेजस्वी भगवान् वासुदेवने मोक्ष-तत्त्वका ज्ञान करानेवाली युक्तियोंद्वारा अर्जुनके मोहजनित शोक-संतापका नाश किया था (जो कि भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है) । इसी पर्वमें यह कथा भी है कि युधिष्ठिरके हितमें संलग्न रहनेवाले निर्भय, उदारबुद्धि, अधोक्षज, भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी शिथिलता देख शीघ्र ही हाथमें चाबुक लेकर भीष्मको मारनेके लिये स्वयं रथसे कूद पड़े और बड़े वेगसे दौड़े ॥ २४४–२४८ ॥

वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः ।
गाण्डीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२४९॥

साथ ही सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधन्वा अर्जुनको युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णने व्यङ्ग्य वाक्यके चाबुकसे मार्मिक चोट पहुँचायी ॥ २४९ ॥

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन् निशितैर्बाणै रथाद् भीष्ममपातयत् ॥२५०॥

तब महाधनुर्धर अर्जुनने शिखण्डीको सामने करके तीखे बाणोंसे घायल करते हुए भीष्मपितामहको रथसे गिरा दिया ॥ २५० ॥

शरतल्पगतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह ।
षष्ठमेतत् समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ॥२५१॥

जब कि भीष्मपितामह शरशय्यापर शयन करने लगे । महाभारतमें यह छठा पर्व विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥२५१॥

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ॥२५२॥
श्लोकश्च चतुराशीतिरस्मिन् पर्वणि कीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥२५३॥

वेदके मर्मज्ञ विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने इस भीष्मपर्वमें एक सौ सत्रह अध्याय रखे हैं । श्लोकोंकी संख्या पाँच हजार आठ सौ चौरासी (५८८४) कही गयी है ॥ २५२–२५३ ॥

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सैनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥२५४॥

तदनन्तर अनेक वृत्तान्तोंसे पूर्ण अद्भुत द्रोणपर्वकी कथा आरम्भ होती है, जिसमें परम प्रतापी आचार्य द्रोणके सेनापति-पदपर अभिषिक्त होनेका वर्णन है ॥ २५४ ॥

दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥२५५॥

वहीं यह भी कहा गया है कि अस्त्र-विद्याके परमाचार्य द्रोणने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको पकड़नेकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ २५५ ॥

यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि ॥२५६॥
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।

इसी पर्वमें यह बताया गया है कि संशप्तक योद्धा अर्जुनको रणाङ्गणसे दूर हटा ले गये । वहीं यह कथा भी आयी है कि ऐरावतवंशीय सुप्रतीक नामक हाथीके साथ महाराज भगदत्त भी, जो युद्धमें इन्द्रके समान थे, किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मौतके घाट उतार दिये गये ॥ २५६½ ॥

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महारथाः ॥२५७॥
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ।

इसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि शूरवीर बालक अभिमन्युको, जो अभी जवान भी नहीं हुआ था और अकेला था, जयद्रथ आदि बहुत-से विख्यात महारथियोंने मार डाला ॥ २५७½ ॥

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ॥२५८॥
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।

अभिमन्युके वधसे कुपित होकर अर्जुनने रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करके राजा जयद्रथको भी मार डाला ॥ २५८½ ॥

यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ॥२५९॥
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिरनृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥२६०॥

उसी अवसरपर महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अर्जुनको ढूँढ़नेके लिये कौरवोंकी उस सेनामें घुस गये, जिसकी मोर्चेबंदी बड़े-बड़े देवता भी नहीं तोड़ सकते थे ॥ २५९-२६० ॥

संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोट्यो नव महात्मनाम् ॥२६१॥
किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाणयोधिनः ॥२६२॥
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसन्धश्च वीर्यवान् ॥२६३॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥२६४॥

अर्जुनने, संशप्तकोंमेंसे जो बच रहे थे, उन्हें भी युद्धभूमिमें निःशेष कर दिया। महामना संशप्तक वीरोंकी संख्या नौ करोड़ थी; परंतु किरीटधारी अर्जुनने आक्रमण करके अकेले ही उन सबको यमलोक भेज दिया। धृतराष्ट्रपुत्र, बड़े-बड़े पाषाण-खण्ड लेकर युद्ध करनेवाले म्लेच्छ-सैनिक, समराङ्गणमें युद्धके विचित्र कला-कौशलका परिचय देनेवाले नारायण नामक गोप, अलम्बुष, श्रुतायु, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद तथा घटोत्कच आदि जो बड़े-बड़े वीर मारे गये हैं, वह प्रसङ्ग भी इसी पर्वमें है ॥ २६१–२६४ ॥

अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥२६५॥

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि युद्धमें जब पिता द्रोणाचार्य मार गिराये गये, तब अश्वत्थामाने भी शत्रुओंके प्रति अमर्षमें भरकर 'नारायण' नामक भयानक अस्त्रको प्रकट किया था ॥ २६५ ॥

आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः ॥२६६॥

इसीमें आग्नेयास्त्र तथा भगवान् रुद्रके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। व्यासजीके आगमन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके माहात्म्यकी कथा भी इसीमें है ॥ २६६ ॥

सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥२६७॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ॥२६८॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥२६९॥
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ।

महाभारतमें यह सातवाँ महान् पर्व बताया गया है। कौरव-पाण्डव-युद्धमें जो नरश्रेष्ठ नरेश शूरवीर बताये गये हैं, उनमेंसे अधिकांशमें मारे जानेका प्रसङ्ग इस द्रोणपर्वमें ही आया है।

तत्त्वदर्शी पराशरनन्दन मुनिवर व्यासने भलीभाँति सोच-विचारकर द्रोणपर्वमें एक सौ सत्तर अध्यायों और आठ-हजार नौ सौ नौ (८९०९) श्लोकोंकी रचना एवं गणना की है ॥ २६७–२६९½ ॥

अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ॥२७०॥
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥२७१॥

इसके बाद अत्यन्त अद्भुत कर्ण-पर्वका परिचय दिया गया है । इसीमें परम बुद्धिमान् मद्रराज शल्यको कर्णके सारथि बनानेका प्रसङ्ग है, फिर त्रिपुरके संहारकी पुराण-प्रसिद्ध कथा आयी है ॥ २७०-२७१ ॥

प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः ।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥२७२॥

युद्धके लिये जाते समय कर्ण और शल्यमें जो कठोर संवाद हुआ है, उसका वर्णन भी इसी पर्वमें है । तदनन्तर हंस और कौएका आक्षेपपूर्ण उपाख्यान है ॥ २७२ ॥

वधः पाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना ।
दण्डसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ॥२७३॥

उसके बाद महात्मा अश्वत्थामाके द्वारा राजा पाण्ड्यके वधकी कथा है । फिर दण्डसेन और दण्डके वधका प्रसङ्ग है ॥

द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥२७४॥

इसी पर्वमें कर्णके साथ युधिष्ठिरके द्वैरथ (द्वन्द्व) युद्धका वर्णन है, जिसमें कर्णने सब धुरन्धर वीरोंके देखते-देखते धर्मराज युधिष्ठिरके प्राणोंको संकटमें डाल दिया था ॥२७४॥

अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ॥२७५॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिर और अर्जुनके एक-दूसरेके प्रति क्रोधयुक्त उद्गार हैं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझा-बुझाकर शान्त किया है ॥ २७५ ॥

प्रतिज्ञापूर्वकं चापि वक्षो दुःशासनस्य च ।
भित्त्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान् यत्र संयुगे ॥२७६॥

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि भीमसेनने पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार दुश्शासनका वक्षःस्थल विदीर्ण करके रक्त पीया था ॥ २७६ ॥

द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद् भारतचिन्तकैः ॥२७७॥

तदनन्तर द्वन्द्व-युद्धमें अर्जुनने महारथी कर्णको जो मार गिराया, वह प्रसङ्ग भी कर्णपर्वमें ही है । महाभारतका विचार करनेवाले विद्वानोंने इस कर्णपर्वको आठवाँ पर्व कहा है ॥

एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥२७८॥
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ।

कर्णपर्वमें उनहत्तर अध्याय कहे गये हैं और चार हजार नौ सौ चौंसठ (४९६४) श्लोकोंका पाठ इस पर्वमें किया गया है ॥ २७८½ ॥

अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ॥२७९॥

तत्पश्चात् विचित्र अर्थयुक्त विषयोंसे भरा हुआ शल्यपर्व कहा गया है ॥ २७९ ॥

हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ।
यत्र कौमारमाख्यानमभिषेकस्य कर्म च ॥२८०॥

इसीमें यह कथा आयी है कि जब कौरव-सेनाके सभी प्रमुख वीर मार दिये गये, तब मद्रराज शल्य सेनापति हुए । वहीं कुमार कार्तिकेयका उपाख्यान और अभिषेक-कर्म कहा गया है ॥ २८० ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥२८१॥
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः ।
शकुनेश्च वधोऽत्रैव सहदेवेन संयुगे ॥२८२॥

साथ ही वहाँ रथियोंके युद्धका भी विभागपूर्वक वर्णन किया गया है । शल्यपर्वमें ही कुरुकुलके प्रमुख वीरोंके विनाशका तथा महात्मा धर्मराजद्वारा शल्यके वधका वर्णन किया गया है । इसीमें सहदेवके द्वारा युद्धमें शकुनिके मारे जानेका प्रसङ्ग है ॥ २८१-२८२ ॥

सैन्ये च हतभूयिष्ठे किंचिच्छिष्टे सुयोधनः ।
ह्रदं प्रविश्य यत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ॥२८३॥

जब अधिक-से-अधिक कौरवसेना नष्ट हो गयी और थोड़ी-सी बच रही, तब दुर्योधन सरोवरमें प्रवेश करके पानीको स्तम्भित कर वहीं विश्रामके लिये बैठ गया ॥२८३॥

प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः ।
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ॥२८४॥
ह्रदात् समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान् सह ॥२८५॥

किंतु व्याधोंने भीमसेनसे दुर्योधनकी यह चेष्टा बतला दी । तब बुद्धिमान् धर्मराजके आक्षेपयुक्त वचनोंसे अत्यन्त अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन सरोवरसे बाहर निकला और उसने भीमसेनके साथ गदायुद्ध किया । ये सब प्रसङ्ग शल्यपर्वमें ही हैं ॥ २८४-२८५ ॥

समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥२८६॥
गदायुद्धं च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।

उसीमें युद्धके समय बलरामजीके आगमनकी बात कही गयी है। इसी प्रसङ्गमें सरस्वतीतटवर्ती तीर्थोंके पावन माहात्म्यका परिचय दिया गया है। शल्यपर्वमें ही भयङ्कर गदायुद्धका वर्णन किया गया है ॥ २८६½ ॥

दुर्योधनस्य राज्ञोऽथ यत्र भीमेन संयुगे ॥२८७॥
ऊरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया।
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ॥२८८॥

जिसमें युद्ध करते समय भीमसेनने हठपूर्वक (युद्धके नियमको भङ्ग करके) अपनी भयानक वेगशालिनी गदासे राजा दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं, यह अद्भुत अर्थसे युक्त नवम पर्व बताया गया है ॥ २८७-२८८ ॥

एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्तिताः।
संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकसंख्यात्र कथ्यते ॥२८९॥

इस पर्वमें उनसठ (५९) अध्याय कहे गये हैं, जिसमें बहुत से वृत्तान्तोंका वर्णन आया है। अब इसकी श्लोक-संख्या कही जाती है ॥ २८९ ॥

त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा।
मुनिना सम्प्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ॥२९०॥

कौरव-पाण्डवोंके यशका पोषण करनेवाले मुनिवर व्यासने इस पर्वमें तीन हजार दो सौ बीस (३२२०) श्लोकोंकी रचना की है ॥ २९० ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम्।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥२९१॥
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ॥२९२॥

इसके पश्चात् मैं अत्यन्त दारुण सौप्तिकपर्वकी सूची बता रहा हूँ, जिसमें पाण्डवोंके चले जानेपर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनके पास, जो खूनसे लथ-पथ हुआ पड़ा था, सायंकालके समय कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा—ये तीन महारथी आये ॥ २९१-२९२ ॥

समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ॥२९३॥
अहत्वा सर्वपञ्चालान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पाण्डवांश्च सहामात्यान् विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥२९४॥

निकट आकर उन्होंने देखा, राजा दुर्योधन युद्धके मुहानेपर इस दुर्दशामें पड़ा था। यह देखकर महारथी अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण पाञ्चालों और मन्त्रियोंसहित समस्त पाण्डवोंका वध किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा' ॥ २९३-२९४ ॥

यत्रैवमुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद् वनम् ॥२९५॥

सौप्तिकपर्वमें राजा दुर्योधनसे ऐसी बात कहकर वे तीनों महारथी वहाँसे चले गये और सूर्यास्त होते-होते एक बहुत बड़े वनमें जा पहुँचे ॥ २९५ ॥

न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद् व्यवस्थिताः।
ततः काकान् बहून् रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ॥२९६॥
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन्।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ॥२९७॥

वहाँ तीनों एक बहुत बड़े बरगदके नीचे विश्रामके लिये बैठे। तदनन्तर वहाँ एक उल्लूने आकर रातमें बहुत-से कौओंको मार डाला। यह देखकर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने अपने पिताके अन्यायपूर्वक मारे जानेकी घटनाको स्मरण करके सोते समय ही पाञ्चालोंके वधका निश्चय कर लिया ॥ २९६-२९७ ॥

गत्वा च शिबिरद्वारि दुर्दर्शं तत्र राक्षसम्।
घोररूपमपश्यत् स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ॥२९८॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंके शिबिरके द्वारपर पहुँचकर उसने देखा, एक बड़ा भयङ्कर राक्षस, जिसकी ओर देखना अत्यन्त कठिन है, वहाँ खड़ा है। उसने पृथ्वीसे लेकर आकाशतक-के प्रदेशको घेर रखा था ॥ २९८ ॥

तेन व्याघातमस्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ॥२९९॥

अश्वत्थामा जितने भी अस्त्र चलाता, उन सबको वह राक्षस नष्ट कर देता था। यह देखकर द्रोणकुमारने तुरंत ही भयंकर नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रकी आराधना करके उन्हें प्रसन्न किया ॥ २९९ ॥

प्रसुप्तान् निशि विश्वस्तान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पञ्चालान् सपरीवारान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥३००॥
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण च निजघ्निवान्।
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ॥३०१॥
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद् वधः ॥३०२॥
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः।
द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ॥३०३॥

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने रातमें निःशङ्क सोये हुए धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालों तथा द्रौपदीपुत्रोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यकी सहायतासे परिजनोंसहित मार डाला। भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिका आश्रय लेनेसे केवल पाँच पाण्डव और महान् धनुर्धर सात्यकि बच गये, शेष सभी वीर मारे गये। यह सब प्रसङ्ग सौप्तिकपर्वमें वर्णित है। वहीं यह भी कहा गया है

कि धृष्टद्युम्नके सारथिने जब पाण्डवोंको यह सूचित किया कि द्रोणपुत्रने सोये हुए पाञ्चालोंका वध कर डाला है, तब द्रौपदी पुत्रशोकसे पीड़ित तथा पिता और भाईकी हत्यासे व्यथित हो उठी ॥ ३००—३०३ ॥

कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ।
द्रौपदीवचनाद् यत्र भीमो भीमपराक्रमः ॥३०४॥
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन् वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत् सुसंक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥३०५॥

वह पतियोंको अश्वत्थामासे इसका बदला लेनेके लिये उत्तेजित करती हुई आमरण अनशनका संकल्प ले अन्न-जल छोड़कर बैठ गयी । द्रौपदीके कहनेसे भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन उसका प्रिय करनेकी इच्छासे हाथमें गदा ले अत्यन्त क्रोधमें भरकर गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़े ॥ ३०४-३०५ ॥

भीमसेनभयाद् यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥३०६॥

तब भीमसेनके भयसे घबराकर दैवकी प्रेरणासे पाण्डवोंके विनाशके लिये अश्वत्थामाने रोषपूर्वक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३०६ ॥

मैवमित्यब्रवीत् कृष्णः शमयंस्तस्य तद् वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥३०७॥

किंतु भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके रोषपूर्ण वचनको शान्त करते हुए कहा—'मैवम्'—'पाण्डवोंका विनाश न हो।' साथ ही अर्जुनने अपने दिव्यास्त्रद्वारा उसके अस्त्रको शान्त कर दिया ॥ ३०७ ॥

द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ॥३०८॥

उस समय पापात्मा द्रोणपुत्रके द्रोहपूर्ण विचारको देखकर द्वैपायन व्यास एवं श्रीकृष्णने अश्वत्थामाको और अश्वत्थामाने उन्हें शाप दिया। इस प्रकार दोनों ओरसे एक-दूसरेको शाप प्रदान किया गया ॥ ३०८ ॥

मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ॥३०९॥

महारथी अश्वत्थामासे मणि छीनकर विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक द्रौपदीको दे दी ॥ ३०९ ॥

एतद् वै दशमं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३१०॥

इन सब वृत्तान्तोंसे युक्त सौप्तिकपर्व दसवाँ कहा गया है। महात्मा व्यासने इसमें अठारह अध्याय कहे हैं ॥ ३१० ॥

श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ॥३११॥

इसी प्रकार उन ब्रह्मवादी मुनिने इस पर्वमें श्लोकोंकी संख्या आठ सौ सत्तर (८७०) बतायी है ॥ ३११ ॥

सौप्तिकैषीके सम्बद्धे पर्वण्युत्तमतेजसा ।
अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ॥३१२॥

उत्तम तेजस्वी व्यासजीने इस पर्वमें सौप्तिक और ऐषीक दोनोंकी कथाएँ सम्बद्ध कर दी हैं। इसके बाद विद्वानोंने स्त्रीपर्व कहा है, जो करुणरसकी धारा बहानेवाला है ॥ ३१२ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसीं प्रतिमां दृढाम् ॥३१३॥
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ।
तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥३१४॥
संसारगहनं बुद्ध्या हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ।
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ॥३१५॥

प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने पुत्रशोकसे संतप्त हो भीमसेनके प्रति द्रोह-बुद्धि कर ली और श्रीकृष्णद्वारा अपने समीप लायी हुई लोहेकी मजबूत प्रतिमाको भीमसेन समझकर भुजाओंमें भर लिया तथा उसे दबाकर टूक-टूक कर डाला। उस समय पुत्रशोकसे पीड़ित बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको विदुरजीने मोक्षका साक्षात्कार करानेवाली युक्तियों तथा विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा संसारकी दुःखरूपताका प्रतिपादन करते हुए भलीभाँति समझा-बुझाकर शान्त किया ॥ ३१३—३१५॥

धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तःपुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ॥३१६॥

इसी पर्वमें शोकाकुल धृतराष्ट्रका अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ कौरवोंके युद्धस्थानमें जानेका वर्णन है ॥ ३१६ ॥

विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गान्धारीधृतराष्ट्रयोः ॥३१७॥

वहीं वीरपत्नियोंके अत्यन्त करुणापूर्ण विलापका कथन है। वहीं गान्धारी और धृतराष्ट्रके क्रोधावेश तथा मूर्छित होनेका उल्लेख है ॥ ३१७ ॥

यत्र तान् क्षत्रियाः शूरान् संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄंश्चैव ददृशुर्निहतान् रणे ॥३१८॥

उस समय उन क्षत्राणियोंने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अपने शूरवीर पुत्रों, भाइयों और पिताओंको रणभूमिमें मरा हुआ देखा ॥ ३१८ ॥

पुत्रपौत्रवधार्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गान्धार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनक्रिया ॥३१९॥

पुत्रों और पौत्रोंके वधसे पीड़ित गान्धारीके पास आकर भगवान् श्रीकृष्णने उनके क्रोधको शान्त किया। इस प्रसङ्गका भी इसी पर्वमें वर्णन किया गया है ॥ ३१९ ॥

यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥३२०॥

वहीं यह भी कहा गया है कि परम बुद्धिमान् और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने वहाँ मारे गये समस्त राजाओंके शरीरोंका शास्त्रविधिसे दाह-संस्कार किया और कराया।

तोयकर्मणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयाऽऽत्मनः ॥३२१॥
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारणम् ॥३२२॥
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम्।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥३२३॥
श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ॥३२४॥

तदनन्तर राजाओंको जलाञ्जलिदानके प्रसङ्गमें उन सबके लिये तर्पणका आरम्भ होते ही कुन्तीद्वारा गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए अपने पुत्र कर्णका गूढ़ वृत्तान्त प्रकट किया गया, यह प्रसङ्ग आता है। महर्षि व्यासने ये सब बातें स्त्रीपर्वमें कही हैं। शोक और विकलताका संचार करनेवाला यह ग्यारहवाँ पर्व श्रेष्ठ पुरुषोंके चित्तको भी विह्वल करके उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा प्रवाहित करा देता है। इस पर्वमें सत्ताईस अध्याय कहे गये हैं। इसके श्लोकोंकी संख्या सात सौ पचहत्तर (७७५) कही गयी है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् व्यासजीने महाभारतका यह उपाख्यान कहा है ॥ ३२१—३२४ ॥

अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम्।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३२५॥
घातयित्वा पितॄन् भ्रातॄन् पुत्रान् सम्बन्धिमातुलान्।
शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः ॥३२६॥

स्त्रीपर्वके पश्चात् बारहवाँ पर्व शान्तिपर्वके नामसे विख्यात है। यह बुद्धि और विवेकको बढ़ानेवाला है। इस पर्वमें यह कहा गया है कि अपने पितृतुल्य गुरुजनों, भाइयों, पुत्रों, सगे-सम्बन्धी एवं मामा आदिको मरवाकर राजा युधिष्ठिरके मनमें बड़ा निर्वेद (दुःख एवं वैराग्य) हुआ। शान्तिपर्वमें बाण-शय्यापर शयन करनेवाले भीष्मजीके द्वारा उपदेश किये हुए धर्मोंका वर्णन है ॥ ३२५-३२६ ॥

राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ॥३२७॥
यान् बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात्।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥३२८॥

उत्तम ज्ञानकी इच्छा रखनेवाले राजाओंको उन्हें भलीभाँति जानना चाहिये। उसी पर्वमें काल और कारणकी अपेक्षा रखनेवाले देश और कालके अनुसार व्यवहारमें लाने योग्य आपद्धर्मोंका भी निरूपण किया गया है, जिन्हें अच्छी तरह जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। शान्तिपर्वमें विविध एवं अद्भुत मोक्षधर्मोंका भी बड़े विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है ॥ ३२७-३२८ ॥

द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत् प्राज्ञजनप्रियम्।
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥३२९॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः।
चतुर्दश सहस्राणि तथा सप्त शतानि च ॥३३०॥
सप्त श्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशतिसंख्यया।
अत ऊर्ध्वं च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ॥३३१॥

इस प्रकार यह बारहवाँ पर्व कहा गया है, जो ज्ञानीजनोंको अत्यन्त प्रिय है। इस पर्वमें तीन सौ उन्तालीस (३३९) अध्याय हैं और तपोधनो ! इसकी श्लोक-संख्या चौदह हजार सात सौ बत्तीस (१४७३२) है। इसके बाद उत्तम अनुशासनपर्व है, यह जानना चाहिये ॥ ३२९—३३१ ॥

यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम्।
भीष्माद् भागीरथीपुत्रात् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥३३२॥

जिसमें कुरुराज युधिष्ठिर गङ्गानन्दन भीष्मजीसे धर्मका निश्चित सिद्धान्त सुनकर प्रकृतिस्थ हुए, यह बात कही गयी है॥

व्यवहारोऽत्र कात्स्न्येन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ॥३३३॥

इसमें धर्म और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हितकारी आचार-व्यवहारका निरूपण किया गया है। साथ ही नाना प्रकारके दानोंके फल भी कहे गये हैं ॥ ३३३ ॥

तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥३३४॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ॥३३५॥
एतत् सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम्।
भीष्मस्यात्रैव सम्प्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥३३६॥

दानके विशेष पात्र, दानकी उत्तम विधि, आचार और उसका विधान, सत्यभाषणकी पराकाष्ठा, गौओं और ब्राह्मणोंका माहात्म्य, धर्मोंका रहस्य तथा देश और काल (तीर्थ और पर्व) की महिमा—ये सब अनेक वृत्तान्त जिसमें वर्णित हैं, वह उत्तम अनुशासनपर्व है। इसीमें भीष्मको स्वर्गकी प्राप्ति कही गयी है ॥ ३३४—३३६ ॥

एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम्।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥३३७॥

धर्मका निर्णय करनेवाला यह पर्व तेरहवाँ है। इसमें एक सौ छियालीस (१४६) अध्याय हैं ॥ ३३७ ॥

श्लोकानां तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ॥३३८॥

और पूरे आठ हजार (८०००) श्लोक कहे गये हैं। तदनन्तर चौदहवें आश्वमेधिक नामक पर्वकी कथा है ॥ ३३८॥

तत् संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम्।
सुवर्णकोपसम्प्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ॥३३९॥

जिसमें परम उत्तम योगी संवर्त तथा राजा मरुत्तका उपाख्यान है। युधिष्ठिरको सुवर्णके खजानेकी प्राप्ति और परीक्षित्के जन्मका वर्णन है ॥ ३३९ ॥

दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात् संजीवनं पुनः।
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ॥३४०॥
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः।
चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ॥३४१॥
संग्रामे बभ्रुवाहेण संशयं चात्र दर्शितः।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥३४२॥
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम्।
अध्यायानां शतं चैव त्रयोऽध्यायाश्च कीर्तिताः॥३४३॥
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना॥३४४॥

पहले अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे दग्ध हुए बालक परीक्षित्का पुनः श्रीकृष्णके अनुग्रहसे जीवित होना कहा गया है। सम्पूर्ण राष्ट्रोंमें घूमनेके लिये छोड़े गये अश्वमेध-सम्बन्धी अश्वके पीछे पाण्डुनन्दन अर्जुनके जाने और उन-उन देशोंमें कुपित राजकुमारोंके साथ उनके युद्ध करनेका वर्णन है। पुत्रिकाधर्मके अनुसार उत्पन्न हुए चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहनने युद्धमें अर्जुनको प्राण-संकटकी स्थितिमें डाल दिया था; यह कथा भी अश्वमेधपर्वमें ही आयी है। वहीं अश्वमेध-महायज्ञमें नकुलोपाख्यान आया है। इस प्रकार यह परम अद्भुत आश्वमेधिकपर्व कहा गया है। इसमें एक सौ तीन अध्याय पढ़े गये हैं। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इस पर्वमें तीन हजार तीन सौ बीस (३३२०) श्लोकोंकी रचना की है ॥ ३४०-३४४ ॥

ततस्त्वाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम्।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गान्धार्या सहितो नृपः ॥३४५॥
धृतराष्ट्रोऽऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह।
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ॥३४६॥
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता।

तदनन्तर आश्रमवासिक नामक पंद्रहवें पर्वका वर्णन है। जिसमें गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र और विदुरके राज्य छोड़कर वनके आश्रममें जानेका उल्लेख हुआ है। उस समय धृतराष्ट्रको प्रस्थान करते देख सती साध्वी कुन्ती भी गुरुजनोंकी सेवामें अनुरक्त हो अपने पुत्रका राज्य छोड़कर उन्हींके पीछे-पीछे चली गयीं ॥ ३४५-३४६½ ॥

यत्र राजा हतान् पुत्रान् पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान्।३४७।
लोकान्तरगतान् वीरानपश्यत् पुनरागतान्।
ऋषेः प्रसादात् कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ॥३४८॥
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः।
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ॥३४९॥
संजयश्च सहामात्यो विद्वान् गावल्गणिर्वशी।
ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३५०॥

जहाँ राजा धृतराष्ट्रने युद्धमें मरकर परलोकमें गये हुए अपने वीर पुत्रों, पौत्रों तथा अन्यान्य राजाओंको भी पुनः अपने पास आया हुआ देखा। महर्षि व्यासजीके प्रसादसे यह उत्तम आश्चर्य देखकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्रने शोक त्याग दिया और उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि विदुरजीने धर्मका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की। साथ ही मन्त्रियोंसहित जितेन्द्रिय विद्वान् गवल्गण-पुत्र संजयने भी उत्तम पद प्राप्त कर लिया। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि धर्मराज युधिष्ठिरको नारदजीका दर्शन हुआ ॥

नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत्।
एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं महदद्भुतम् ॥३५१॥

नारदजीसे ही उन्होंने यदुवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना। यह अत्यन्त अद्भुत आश्रमवासिकपर्व कहा गया है ॥ ३५१ ॥

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया।
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ॥३५२॥
षडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना।
अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणम् ॥३५३॥

इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या बयालीस है। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इसमें एक हजार पाँच सौ छः (१५०६) श्लोक रक्खे हैं। इसके बाद मौसलपर्वकी सूची सुनो—यह पर्व अत्यन्त दारुण है ॥ ३५२-३५३ ॥

यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शहता युधि।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ॥३५४॥

इसीमें यह बात आयी है कि वे श्रेष्ठ यदुवंशी वीर क्षार-समुद्रके तटपर आपसके युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके स्पर्शमात्रसे मारे गये। ब्राह्मणोंके शापने उन्हें पहले ही पीस डाला था ॥ ३५४॥

आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥३५५॥

उन सबने मधुपानके स्थानमें जाकर खूब पीया और नशेसे होश-हवास खो बैठे। फिर दैवसे प्रेरित हो परस्पर संघर्ष करके उन्होंने एरकारूपी वज्रसे एक दूसरेको मार डाला ॥

यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ।
नातिचक्रामतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ॥३५६॥

वहीं सबका संहार करके बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाइयोंने समर्थ होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए सर्व-संहारकारी महान् कालका उल्लङ्घन नहीं किया (महर्षियोंकी

वाणी सत्य करनेके लिये कालका आदेश स्वेच्छासे अङ्गीकार कर लिया) ॥ ३५६ ॥

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत् परां चार्तिं नरर्षभः ॥३५७॥

वहीं यह प्रसंग भी है कि नरश्रेष्ठ अर्जुन द्वारकामें आये और उसे वृष्णिवंशियोंसे सूनी देखकर विषादमें डूब गये। उस समय उनके मनमें बड़ी पीड़ा हुई ॥ ३५७ ॥

स संस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥३५८॥

उन्होंने अपने मामा नरश्रेष्ठ वसुदेवजीका दाह-संस्कार करके आपानस्थानमें जाकर यदुवंशी वीरोंके विकट विनाशका रोमाञ्चकारी दृश्य देखा ॥ ३५८ ॥

शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥३५९॥

वहाँसे भगवान् श्रीकृष्ण, महात्मा बलराम तथा प्रधान-प्रधान वृष्णिवंशी वीरोंके शरीरोंको लेकर उन्होंने उनका संस्कार सम्पन्न किया ॥ ३५९ ॥

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥३६०॥

तदनन्तर अर्जुनने द्वारकाके बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंको साथ ले वहाँसे प्रस्थान किया; परंतु उस दुःखदायिनी विपत्तिमें उन्होंने अपने गाण्डीव धनुषकी अभूतपूर्व पराजय देखी ॥

सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावाणामनित्यताम् ॥३६१॥
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥३६२॥

उनके सभी दिव्यास्त्र उस समय अप्रसन्न-से होकर विस्मृत हो गये। वृष्णिकुलकी स्त्रियोंका देखते-देखते अपहरण हो जाना और अपने प्रभावोंका स्थिर न रहना—यह सब देखकर अर्जुनको बड़ा निर्वेद (दुःख) हुआ। फिर उन्होंने व्यासजीके वचनोंसे प्रेरित हो धर्मराज युधिष्ठिरसे मिलकर संन्यासमें अभिरुचि दिखायी ॥ ३६१-३६२ ॥

इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६३॥
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ॥३६४॥

इस प्रकार यह सोलहवाँ मौसलपर्व कहा गया है। इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासने गिनकर आठ अध्याय और तीन सौ बीस (३२०) श्लोक कहे हैं। इसके पश्चात् सत्रहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व कहा गया है ॥ ३६३-३६४ ॥

यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ॥३६५॥

जिसमें नरश्रेष्ठ पाण्डव अपना राज्य छोड़कर द्रौपदीके साथ महाप्रस्थानके* पथपर आ गये ॥ ३६५ ॥

यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ॥
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ॥३६६॥
ददौ सम्पूज्य तद् दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
यत्र भ्रातॄन् निपतितान् द्रौपदीं च युधिष्ठिरः ॥३६७॥
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ।
एतत् सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम् ॥३६८॥

उस यात्रामें उन्होंने लाल सागरके पास पहुँचकर साक्षात् अग्निदेवको देखा और उन्हींकी प्रेरणासे पार्थने उन महात्माको आदरपूर्वक अपना उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष अर्पण कर दिया। उसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि राजा युधिष्ठिरने मार्गमें गिरे हुए अपने भाइयों और द्रौपदीको देखकर भी उनकी क्या दशा हुई यह जाननेके लिये पीछेकी ओर फिरकर नहीं देखा और उन सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। यह सत्रहवाँ 'महाप्रस्थानिक' पर्व कहा गया है ॥ ३६६—३६८ ॥

यत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥३६९॥

इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासजीने तीन अध्याय और एक सौ तेईस श्लोक गिनकर कहे हैं ॥ ३६९ ॥

स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत् तदमानुषम् ।
प्राप्तं दैवरथं स्वर्गान्नेष्टवान् यत्र धर्मराट् ॥३७०॥
आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ।
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः ॥३७१॥
श्वरूपं यत्र तत् त्यक्त्वा धर्मेणासौ समन्वितः ।
स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातना विपुला भृशम् ॥३७२॥
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ।
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातॄणां करुणा गिरः ॥३७३॥
निदेशे वर्तमानानां देशे तत्रैव वर्तताम् ।
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराजेन पाण्डवः ॥३७४॥

तदनन्तर स्वर्गारोहणपर्व जानना चाहिये । जो दिव्य वृत्तान्तोंसे युक्त और अलौकिक है। उसमें यह वर्णन आया है कि स्वर्गसे युधिष्ठिरको लेनेके लिये एक दिव्य रथ आया, किंतु महाज्ञानी धर्मराज युधिष्ठिरने दयावश अपने साथ आये हुए कुत्तेको छोड़कर अकेले उसपर चढ़ना स्वीकार नहीं

* घर छोड़कर निराहार रहते हुए, स्वेच्छासे मृत्युका वरण करनेके लिये निकल जाना और विभिन्न दिशाओंमें भ्रमण करते हुए अन्तमें उत्तर दिशा—हिमालयकी ओर जाना —महाप्रस्थान कहलाता है—पाण्डवोंने ऐसा ही किया ।

किया । महात्मा युधिष्ठिरकी धर्ममें इस प्रकार अविचल स्थिति जानकर कुत्तेने अपने मायामय स्वरूपको त्याग दिया और अब वह साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित हो गया। धर्मके साथ युधिष्ठिर स्वर्गमें गये । वहाँ देवदूतने व्याजसे उन्हें नरककी विपुल यातनाओंका दर्शन कराया। वहीं धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंकी करुणाजनक पुकार सुनी थी। वे सब वहीं नरक-प्रदेशमें यमराजकी आज्ञाके अधीन रहकर यातना भोगते थे । तत्पश्चात् धर्मराज तथा देवराजने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको वास्तवमें उनके भाइयोंको जो सद्गति प्राप्त हुई थी, उसका दर्शन कराया ॥ ३७०-३७४ ॥

आप्लुत्याकाशगङ्गायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम्।
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ॥३७५॥
मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह।
एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ॥३७६॥

इसके बाद धर्मराजने आकाश-गङ्गामें गोता लगाकर मानव-शरीरको त्याग दिया और स्वर्गलोकमें अपने धर्मसे उपार्जित उत्तम स्थान पाकर वे इन्द्रआदि देवताओंके साथ उनसे सम्मानित हो आनन्दपूर्वक रहने लगे । इस प्रकार बुद्धिमान् व्यासजीने यह अठारहवाँ पर्व कहा है॥३७५-३७६॥

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ॥
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥३७७॥
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा।
अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः ॥३७८॥

तपोधनो ! परम ऋषि महात्मा व्यासजीने इस पर्वमें गिने-गिनाये पाँच अध्याय और दो सौ नौ (२०९) श्लोक कहे हैं । इस प्रकार ये कुल मिलाकर अठारह पर्व कहे गये हैं॥ ३७७-३७८ ॥

खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम्।
दशश्लोकसहस्राणि विंशच्छ्लोकशतानि च ॥३७९॥
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा।
एतत् सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ॥३८०॥

खिल पर्वोंमें हरिवंश तथा भविष्यका वर्णन किया गया है । हरिवंशके खिल पर्वोंमें महर्षि व्यासने गणनापूर्वक बारह हजार (१२०००) श्लोक रक्खे हैं। इस प्रकार महाभारतमें यह सब पर्वोंका संग्रह बताया गया है॥३७९-३८०॥

अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥३८१॥

कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं और वह महाभयंकर युद्ध अठारह दिनोंतक चलता रहा ॥ ३८१ ॥

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥३८२॥

जो द्विज अङ्गों और उपनिषदोंसहित चारों वेदोंको जानता है, परंतु इस महाभारत-इतिहासको नहीं जानता, वह विशिष्ट विद्वान् नहीं है ॥ ३८२ ॥

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥३८३॥

असीम बुद्धिवाले महात्मा व्यासने यह अर्थशास्त्र कहा है। यह महान् धर्मशास्त्र भी है, इसे काम-शास्त्र भी कहा गया है (और मोक्षशास्त्र तो यह है ही) ॥ ३८३ ॥

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥३८४॥

इस उपाख्यानको सुन लेनेपर और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता । भला कोकिलका कलरव सुनकर कौओंकी कठोर 'काँय-काँय' किसे पसंद आयेगी ? ॥ ३८४ ॥

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥३८५॥

जैसे पाँच भूतोंसे त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) लोकसृष्टियाँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहाससे कवियोंको काव्यरचनाविषयक बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३८५ ॥

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥३८६॥

द्विजवरो ! इस महाभारत इतिहासके भीतर ही अठारह पुराण स्थित हैं, ठीक उसी तरह, जैसे आकाशमें ही चारों प्रकारकी प्रजा (जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज) विद्यमान हैं ॥ ३८६ ॥

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥३८७॥

जैसे विचित्र मानसिक क्रियाएँ ही समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका आधार हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्मोंके उत्कृष्ट फल-साधनोंका यह आख्यान ही आधार है ॥ ३८७ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥३८८॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर नहीं रह सकता, वैसे ही इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी कथा नहीं है जो इस महाभारतका आश्रय लिये बिना प्रकट हुई हो ॥ ३८८ ॥

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥३८९॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥३९०॥

सभी श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी कथाका आश्रय लेते हैं और लेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे उन्नति चाहनेवाले सेवक श्रेष्ठ स्वामीका सहारा लेते हैं। जैसे शेष तीन आश्रम उत्तम गृहस्थ आश्रमसे बढ़कर नहीं हो सकते, उसी प्रकार संसारके कवि इस महाभारत काव्यसे बढ़कर काव्य-रचना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३८९-३९० ॥

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्।३९१॥

तपस्वी महर्षियो! (तथा महाभारतके पाठको!) आप सब लोग सदा सांसारिक आसक्तियोंसे ऊँचे उठें और आपका मन सदा धर्ममें लगा रहे; क्योंकि परलोकमें गये हुए जीवका बन्धु या सहायक एकमात्र धर्म ही है। चतुर मनुष्य भी धन और स्त्रियोंका सेवन तो करते हैं, किंतु वे उनकी श्रेष्ठतापर विश्वास नहीं करते और न उन्हें स्थिर ही मानते हैं॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥३९२॥

जो व्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय) पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ३९२ ॥

यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन्।
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम् ॥३९३॥

ब्राह्मण दिनमें अपनी इन्द्रियोंद्वारा जो पाप करता है, उससे सायंकाल महाभारतका पाठ करके मुक्त हो जाता है॥

यद् रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ॥३९४॥

इसी प्रकार वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा रातमें जो पाप करता है, उससे प्रातःकाल महाभारतका पाठ करके छूट जाता है ॥ ३९४ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ।३९५।

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको प्रतिदिन सौ गौएँ दान देता है और जो केवल महाभारत कथाका श्रवणमात्र करता है, इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है ॥ ३९५ ॥

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं
विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं
विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥३९६॥

यह महान् अर्थसे भरा हुआ परम उत्तम महाभारत-आख्यान यहाँ पर्वसंग्रहाध्यायके द्वारा समझना चाहिये। इस अध्यायको पहले सुन लेनेपर मनुष्योंके लिये महाभारत-जैसे महासमुद्रमें प्रवेश करना उसी प्रकार सुगम हो जाता है जैसे जहाजकी सहायतासे अनन्त जल-राशिवाले समुद्रमें प्रवेश सहज हो जाता है ॥ ३९६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पर्वसंग्रहपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पर्वसंग्रहपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(पौष्यपर्व)

तृतीयोऽध्यायः

जनमेजयको सरमाका शाप, जनमेजयद्वारा सोमश्रवाका पुरोहितके पदपर वरण, आरुणि, उपमन्यु, वेद और उत्तङ्ककी गुरुभक्ति तथा उत्तङ्कका सर्पयज्ञके लिये जनमेजयको प्रोत्साहन देना

सौतिरुवाच

जनमेजयः पारीक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति। तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—परीक्षित्‌के पुत्र जनमेजय अपने भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घकालतक चलनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करते थे। उनके तीन भाई थे—श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन। वे तीनों उस यज्ञमें बैठे थे। इतनेमें ही देवताओंकी कुतिया सरमाका पुत्र सारमेय वहाँ आया ॥ १ ॥

स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ॥ २ ॥

जनमेजयके भाइयोंने उस कुत्तेको मारा। तब वह रोता हुआ अपनी माँके पास गया ॥ २ ॥

तं माता रोरूयमाणमुवाच । किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ॥ ३ ॥

बार-बार रोते हुए अपने उस पुत्रसे माताने पूछा—'बेटा ! क्यों रोता है ? किसने तुझे मारा है ?' ॥ ३ ॥

स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति ॥ ४ ॥

माताके इस प्रकार पूछनेपर उसने उत्तर दिया—'माँ ! मुझे जनमेजयके भाइयोंने मारा है' ॥ ४ ॥

तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ॥ ५ ॥

तब माता उससे बोली—'बेटा ! अवश्य ही तूने उनका कोई प्रकटरूपमें अपराध किया होगा, जिसके कारण उन्होंने तुझे मारा है' ॥ ५ ॥

स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ॥ ६ ॥

तब उसने मातासे पुनः इस प्रकार कहा—'मैंने कोई अपराध नहीं किया है। न तो उनके हविष्यकी ओर देखा है और न उसे चाटा ही है' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्ता तत् सत्रमुपागच्छद् यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घसत्रमुपास्ते ॥ ७ ॥

यह सुनकर पुत्रके दुःखसे दुखी हुई उसकी माता सरमा उस सत्रमें आयी, जहाँ जनमेजय अपने भाइयोंके साथ दीर्घकालीन सत्रका अनुष्ठान कर रहे थे ॥ ७ ॥

स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचिदपराध्यति नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति ॥ ८ ॥

वहाँ क्रोधमें भरी हुई सरमाने जनमेजयसे कहा—'मेरे इस पुत्रने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया था, न तो इसने हविष्यकी ओर देखा और न उसे चाटा ही था, तब तुमने इसे क्यों मारा ?' ॥ ८ ॥

न किंचिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति ॥ ९ ॥

किंतु जनमेजय और उनके भाइयोंने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब सरमाने उनसे कहा, 'मेरा पुत्र निरपराध था, तो भी तुमने इसे मारा है; अतः तुम्हारे ऊपर अकस्मात् ऐसा भय उपस्थित होगा, जिसकी पहलेसे कोई सम्भावना न रही हो' ॥ ९ ॥

जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ १० ॥

देवताओंकी कुतिया सरमाके इस प्रकार शाप देनेपर जनमेजयको बड़ी घबराहट हुई और वे बहुत दुखी हो गये ॥

स तस्मिन् सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद् यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ॥ ११ ॥

उस सत्रके समाप्त होनेपर वे हस्तिनापुरमें आये और अपने योग्य पुरोहितकी खोज करते हुए इसके लिये बड़ा यत्न करने लगे। पुरोहितके ढूँढ़नेका उद्देश्य यह था कि वह मेरी इस शापरूप पापकृत्याको (जो बल, आयु और प्राणका नाश करनेवाली है) शान्त कर दे ॥ ११ ॥

स कदाचिन्मृगयां गतः पारीक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित् स्वविषय आश्रममपश्यत् ॥ १२ ॥

एक दिन परीक्षित्-पुत्र जनमेजय शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने एक आश्रम देखा, जो उन्हींके राज्यके किसी प्रदेशमें विद्यमान था ॥ १२ ॥

तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । तस्य तपस्यभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १३ ॥

उस आश्रममें श्रुतश्रवा नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि रहते थे। उनके पुत्रका नाम था सोमश्रवा। सोमश्रवा सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ॥ १३ ॥

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारीक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १४ ॥

परीक्षित्-कुमार जनमेजयने महर्षि श्रुतश्रवाके पास जाकर उनके पुत्र सोमश्रवाका पुरोहित-पदके लिये वरण किया ॥ १४ ॥

स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १५ ॥

राजाने पहले महर्षिको नमस्कार करके कहा—'भगवन् ! आपके ये पुत्र सोमश्रवा मेरे पुरोहित हों' ॥ १५ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातो महातपस्वी स्वाध्यायसम्पन्नो मत्तपोवीर्यसम्भृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ जातः ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रुतश्रवाने जनमेजयको इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज जनमेजय ! मेरा यह पुत्र सोमश्रवा सर्पिणीके गर्भसे पैदा हुआ है। यह बड़ा तपस्वी और स्वाध्यायशील है। मेरे तपोबलसे इसका भरण-पोषण हुआ है।

एक समय एक सर्पिणीने मेरा वीर्य-पान कर लिया था, अतः उसीके पेटसे इसका जन्म हुआ है ॥ १६ ॥

समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महादेवकृत्याम् ॥ १७ ॥

यह तुम्हारी सम्पूर्ण पापकृत्याओं (शापजनित उपद्रवों) का निवारण करनेमें समर्थ है । केवल भगवान् शङ्करकी कृत्याको यह नहीं टाल सकता ॥ १७ ॥

अस्य त्वेकमुपांशुव्रतं यदेनं कश्चिद् ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत् तं तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ॥ १८ ॥

किंतु इसका एक गुप्त नियम है । यदि कोई ब्राह्मण इसके पास आकर इससे किसी वस्तुकी याचना करेगा तो यह उसे उसकी अभीष्ट वस्तु अवश्य देगा । यदि तुम उदारतापूर्वक इसके इस व्यवहारको सहन कर सको अथवा इसकी इच्छापूर्तिका उत्साह दिखा सको तो इसे ले जाओ' ॥ १८ ॥

तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत् तथा भविष्यतीति ॥ १९ ॥

श्रुतश्रवाके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उत्तर दिया— 'भगवन् ! सब कुछ उनकी रुचिके अनुसार ही होगा'॥१९॥

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातृनुवाच मयायं वृत उपाध्यायो यदयं ब्रूयात् तत् कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति । तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः । स तथा भ्रातॄन् संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास ॥ २० ॥

फिर वे सोमश्रवा पुरोहितको साथ लेकर लौटे और अपने भाइयोंसे बोले—'इन्हें मैंने अपना उपाध्याय(पुरोहित) बनाया है । ये जो कुछ भी कहें, उसे तुम्हें बिना किसी सोच-विचारके पालन करना चाहिये ।' जनमेजयके ऐसा कहनेपर उनके तीनों भाई पुरोहितकी प्रत्येक आज्ञाका ठीक-ठीक पालन करने लगे । इधर राजा जनमेजय अपने भाइयोंको पूर्वोक्त आदेश देकर स्वयं तक्षशिला जीतनेके लिये चले गये और उस प्रदेशको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ २१ ॥

(गुरुकी आज्ञाका किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस विषयमें आगेका प्रसङ्ग कहा जाता है—) इन्हीं दिनों आयोदधौम्य नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे । उनके तीन शिष्य हुए—उपमन्यु, आरुणि पाञ्चाल तथा वेद ॥ २१ ॥

स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छकेदारखण्डं बधानेति ॥ २२ ॥

एक दिन उपाध्यायने अपने एक शिष्य पाञ्चालदेशवासी आरुणिको खेतपर भेजा और कहा—'वत्स ! जाओ, क्यारियोंकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो' ॥ २२ ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत् केदारखण्डं बद्धुं नाशकत् । स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामि ॥ २३ ॥

उपाध्यायके इस प्रकार आदेश देनेपर पाञ्चालदेशवासी आरुणि वहाँ जाकर उस धानकी क्यारीकी मेड़ बाँधने लगा; परंतु बाँध न सका । मेड़ बाँधनेके प्रयत्नमें ही परिश्रम करते-करते उसे एक उपाय सूझ गया और वह मन-ही-मन बोल उठा—'अच्छा; ऐसा ही करूँ' ॥ २३ ॥

स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २४ ॥

वह क्यारीकी टूटी हुई मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया । उसके लेट जानेपर वहाँका बहता हुआ जल रुक गया॥२४॥

ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत् क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २५ ॥

फिर कुछ कालके पश्चात् उपाध्याय आयोदधौम्यने अपने शिष्योंसे पूछा—'पाञ्चालनिवासी आरुणि कहाँ चला गया ?'॥

ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति । स एवमुक्तस्ताञ्छिष्यान् प्रत्युवाच तस्मात् तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ॥ २६ ॥

शिष्योंने उत्तर दिया—'भगवन् ! आपहीने तो उसे यह कहकर भेजा था कि 'जाओ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो ।' शिष्योंके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उनसे कहा— 'तो चलो, हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ आरुणि गया है'॥

स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार । भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि वत्सैहीति ॥ २७ ॥

वहाँ जाकर उपाध्यायने उसे आनेके लिये आवाज दी— 'पाञ्चालनिवासी आरुणि ! कहाँ हो वत्स ! यहाँ आओ'॥२७॥

स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात् केदारखण्डात् सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ॥२८॥

उपाध्यायका यह वचन सुनकर आरुणि पाञ्चाल सहसा उस क्यारीकी मेड़से उठा और उपाध्यायके समीप आकर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥

प्रोवाच चैनमयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः ॥ २९ ॥

फिर उनसे विनयपूर्वक बोला—'भगवन् ! मैं यह हूँ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़से निकलते हुए अनिवार्य जलको

रोकनेके लिये स्वयं ही यहाँ लेट गया था। इस समय आपकी आवाज सुनते ही सहसा उस मेड़को विदीर्ण करके आपके पास आ खड़ा हुआ ॥ २९ ॥

तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान् कमर्थं करवाणीति ॥ ३० ॥

'मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, आप आज्ञा दीजिये मैं कौन-सा कार्य करूँ ?' ॥ ३० ॥

स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद् भवान् केदारखण्डं विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान् भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः ॥ ३१ ॥

आरुणिके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया—'तुम क्यारीके मेड़को विदीर्ण करके उठे हो, अतः इस उद्दलनकर्मके कारण उद्दालक नामसे ही प्रसिद्ध होओगे ।' ऐसा कहकर उपाध्यायने आरुणिको अनुगृहीत किया ॥ ३१ ॥

यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥ ३२ ॥

साथ ही यह भी कहा कि, 'तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणके भागी होओगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वयं प्रकाशित हो जायँगे' ॥ ३२ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम। अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥३३॥

उपाध्यायके इस प्रकार आशीर्वाद देनेपर आरुणि कृतकृत्य हो अपने अभीष्ट देशको चला गया। उन्हीं आयोदधौम्य उपाध्यायका उपमन्यु नामक दूसरा शिष्य था ॥ ३३ ॥

तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥ ३४ ॥

उसे उपाध्यायने आदेश दिया, वत्स उपमन्यु ! तुम गौओंकी रक्षा करो' ॥ ३४ ॥

स उपाध्यायवचनादरक्षद् गाः। स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३५ ॥

उपाध्यायकी आज्ञासे उपमन्यु गौओंकी रक्षा करने लगा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहकर संध्याके समय गुरुजीके घरपर आता और उनके सामने खड़ा हो नमस्कार करता ॥

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ॥३६॥

उपाध्यायने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा हो रहा है, तब उन्होंने पूछा—'बेटा उपमन्यु ! तुम कैसे जीविका चलाते हो; जिससे इतने अधिक हृष्ट-पुष्ट हो रहे हो !' ॥ ३६ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ३७ ॥

उसने उपाध्यायसे कहा—'गुरुदेव ! मैं भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ ३७ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच मय्यनिवेद्य भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति । स तथेत्युक्त्वा भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायाय न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

यह सुनकर उपाध्याय उपमन्युसे बोले—'मुझे अर्पण किये बिना तुम्हें भिक्षाका अन्न अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये ।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब वह भिक्षा लाकर उपाध्यायको अर्पण करने लगा ॥ ३८ ॥

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात्। स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद् गाः। अहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३९ ॥

उपाध्याय उपमन्युसे सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु 'तथास्तु' कहकर पुनः पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करता रहा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहता और (संध्याके समय) पुनः गुरुके घरपर आकर गुरुके सामने खड़ा हो नमस्कार करता था ॥ ३९ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४० ॥

उस दशामें भी उपमन्युको पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट ही देखकर उपाध्यायने पूछा—'बेटा उपमन्यु ! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर तुम इस समय कैसे जीवन-निर्वाह करते हो !' ॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४१ ॥

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उन्हें उत्तर दिया—'भगवन् ! पहलेकी लायी हुई भिक्षा आपको अर्पित करके अपने लिये दूसरी भिक्षा लाता हूँ और उसीसे अपनी जीविका चलाता हूँ' ॥ ४१ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्त्युपरोधं करोषि इत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति ॥ ४२ ॥

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ वृत्ति नहीं है। तुम ऐसा करके दूसरे भिक्षाजीवी लोगोंकी जीविकामें बाधा डालते हो; अतः लोभी हो (तुम्हें दुबारा भिक्षा नहीं लानी चाहिये।)' ॥ ४२ ॥

स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत्। रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

उसने 'तथास्तु' कहकर गुरुकी आज्ञा मान ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा। एक दिन गायें चराकर वह फिर (सायंकालको) उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ॥ ४३ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्यो अहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४४ ॥

उपाध्यायने उसे फिर भी मोटा-ताजा ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु ! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा ले लेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं माँगते, फिर भी बहुत मोटे हो। आजकल कैसे खाना-पीना चलाते हो ?' ॥ ४४ ॥

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति। तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मया नाभ्यनुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उपमन्युने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं इन गौओंके दूधसे जीवन-निर्वाह करता हूँ।' (यह सुनकर) उपाध्यायने उससे कहा—'मैंने तुम्हें दूध पीनेकी आज्ञा नहीं दी है, अतः इन गौओंके दूधका उपयोग करना तुम्हारे लिये अनुचित है' ॥ ४५ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥

उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर दूध न पीनेकी भी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गोपालन करता रहा। एक दिन गोचारणके पश्चात् वह पुनः उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ॥ ४६ ॥

तमुपाध्यायः पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयो न पिबसि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥

उपाध्यायने अब भी उसे हृष्ट-पुष्ट ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु ! तुम भिक्षाका अन्न नहीं खाते, दुबारा भिक्षा भी नहीं माँगते और गौओंका दूध भी नहीं पीते; फिर भी बहुत मोटे हो। इस समय कैसे निर्वाह करते हो ?' ॥४७॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनात् पिबन्त उद्गिरन्ति ॥ ४८ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! ये बछड़े अपनी माताओंके स्तनोंका दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, उसीको पी लेता हूँ' ॥ ४८ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति। तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः। फेनमपि भवान् न पातुमर्हतीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद् गाः ॥ ४९ ॥

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'ये बछड़े उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, अतः तुमपर दया करके बहुत-सा फेन उगल देते होंगे। इसलिये तुम फेन पीकर तो इन सभी बछड़ोंकी जीविकामें बाधा उपस्थित करते हो, अतः आजसे फेन भी न पिया करो।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे न पीनेकी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा॥

तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति पयो न पिबति फेनं नोपयुङ्क्ते। स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥ ५० ॥

इस प्रकार मना करनेपर उपमन्यु न तो भिक्षाका अन्न खाता। न दुबारा भिक्षा लाता, न गौओंका दूध पीता और न बछड़ोंके फेनको ही उपयोगमें लाता था (अब वह भूखा रहने लगा)। एक दिन वनमें भूखसे पीड़ित होकर उसने आकके पत्ते चबा लिये ॥ ५० ॥

स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽन्धो बभूव। ततः सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे पपात ॥ ५१ ॥

आकके पत्ते खारे, तीखे, कड़वे और रूखे होते हैं। उनका परिणाम तीक्ष्ण होता है (पाचनकालमें वे पेटके अंदर आगकी ज्वाला-सी उठा देते हैं); अतः उनको खानेसे उपमन्युकी आँखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी। वह अन्धा हो गया। अन्धा होनेपर भी वह इधर-उधर घूमता रहा; अतः कुएँमें गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्ताचलावलम्बिनि उपाध्यायः शिष्यानवोचत्—नायात्युपमन्युस्त ऊचुर्वनं गतो गा रक्षितुमिति ॥ ५२ ॥

तदनन्तर जब सूर्यदेव अस्ताचलकी चोटीपर पहुँच गये, तब भी उपमन्यु गुरुके घरपर नहीं आया, तो उपाध्यायने शिष्योंसे पूछा—'उपमन्यु क्यों नहीं आया ?' वे बोले—'वह तो गाय चरानेके लिये वनमें गया था' ॥ ५२ ॥

तानाह उपाध्यायो मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति चिरं ततोऽन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो उपमन्यो क्वासि वत्सैहीति ॥ ५३ ॥

तब उपाध्यायने कहा—मैंने उपमन्युकी जीविकाके सभी मार्ग बंद कर दिये हैं, अतः निश्चय ही वह रूठ गया है; इसीलिये इतनी देर हो जानेपर भी वह नहीं आया, अतः हमें चलकर उसे खोजना चाहिये।' ऐसा कहकर शिष्योंके साथ वनमें

जाकर उपाध्यायने उसे बुलानेके लिये आवाज दी—'ओ उपमन्यु ! कहाँ हो बेटा ! चले आओ' ॥ ५३ ॥

स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन् कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन् कूपे पतित इति ॥ ५४ ॥

उसने उपाध्यायकी बात सुनकर उच्च स्वरसे उत्तर दिया—'गुरुजी ! मैं कुएँमें गिर पड़ा हूँ ।' तब उपाध्यायने उससे पूछा—'वत्स ! तुम कुएँमें कैसे गिर गये ?' ॥ ५४ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच—अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति ॥ ५५ ॥

उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं आकके पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ; इसीलिये कुएँमें गिर गया' ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—अश्विनौ स्तुहि । तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्तारावितिि । स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥ ५६ ॥

तब उपाध्यायने कहा—'वत्स ! दोनों अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं । तुम इन्हींकी स्तुति करो । वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे ।' उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने अश्विनीकुमार नामक दोनों देवताओंकी ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा स्तुति प्रारम्भ की ॥ ५६ ॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू
गिरा वाऽऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमाना-
वधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ॥ ५७ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप दोनों सृष्टिसे पहले विद्यमान थे । आप ही पूर्वज हैं । आप ही चित्रभानु हैं । मैं वाणी और तपके द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ; क्योंकि आप अनन्त हैं । दिव्यस्वरूप हैं । सुन्दर पंखवाले दो पक्षीकी भाँति सदा साथ रहनेवाले हैं । रजोगुणशून्य तथा अभिमानसे रहित हैं । सम्पूर्ण विश्वमें आरोग्यका विस्तार करते हैं ॥५७॥

हिरण्मयौ शकुनी साम्परायौ
नासत्यदस्रौ सुनसौ वै जयन्तौ ।
शुक्रं वयन्तौ तरसा सुवेमा-
वधिव्ययन्तावसितं विवस्वतः ॥ ५८ ॥

सुनहरे पंखवाले दो सुन्दर विहंगमोंकी भाँति आप दोनों बन्धु बड़े सुन्दर हैं । पारलौकिक उन्नतिके साधनोंसे सम्पन्न हैं । नासत्य तथा दस्र—ये दोनों आपके नाम हैं । आपकी नासिका बड़ी सुन्दर है । आप दोनों निश्चितरूपसे विजय प्राप्त करनेवाले हैं । आप ही विवस्वान् (सूर्यदेव) के सुपुत्र हैं; अतः स्वयं ही सूर्यरूपमें स्थित हो दिन तथा रात्रिरूप काले तन्तुओंसे संवत्सररूप वस्त्र बुनते रहते हैं और उस वस्त्रद्वारा वेगपूर्वक देवयान और पितृयान नामक सुन्दर मार्गोंको प्राप्त कराते हैं ॥ ५८ ॥

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिका-
ममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय ।
तावत् सुवृत्तावनमन्त मायया
वसत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥ ५९ ॥

परमात्माकी कालशक्तिने जीवरूपी पक्षीको अपना ग्रास बना रक्खा है । आप दोनों अश्विनीकुमार नामक जीवन्मुक्त महापुरुषोंने ज्ञान देकर कैवल्यरूप महान् सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये उस जीवको कालके बन्धनसे मुक्त किया है । मायाके सहवासी अत्यन्त अज्ञानी जीव जबतक राग आदि विषयोंसे आक्रान्त हो अपनी इन्द्रियोंके समक्ष नत-मस्तक रहते हैं, तबतक वे अपने-आपको शरीरसे आबद्ध ही मानते हैं ॥ ५९ ॥

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव
एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति ।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहना-
स्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ॥ ६० ॥

दिन एवं रात—ये मनोवाञ्छित फल देनेवाली तीन सौ साठ दुधारू गौएँ हैं । वे सब एक ही संवत्सररूपी बछड़ेको जन्म देती और उसको पुष्ट करती हैं । वह बछड़ा सबका उत्पादक और संहारक है । जिज्ञासु पुरुष उक्त बछड़ेको निमित्त बनाकर उन गौओंसे विभिन्न फल देनेवाली शास्त्रविहित क्रियाएँ दुहते रहते हैं; उन सब क्रियाओंका एक (तत्त्वज्ञानकी इच्छा) ही दोहनीय फल है । पूर्वोक्त गौओंको आप दोनों अश्विनीकुमार ही दुहते हैं ॥ ६० ॥

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः
प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः ।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं
मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥ ६१ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! इस कालचक्रकी एकमात्र संवत्सर ही नाभि है, जिसपर रात और दिन मिलाकर सात सौ बीस अरे टिके हुए हैं । वे सब बारह मासरूपी प्रधियों (अरोंको थामनेवाले पुट्ठों) में जुड़े हुए हैं । अश्विनीकुमारो ! यह अविनाशी एवं मायामय कालचक्र बिना नेमिके ही अनियत गतिसे घूमता तथा इहलोक और परलोक दोनों लोकोंकी प्रजाओंका विनाश करता रहता है ॥ ६१ ॥

एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं
षण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम् ।
यस्मिन् देवा अधि विश्वे विषक्ता-
स्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ॥ ६२ ॥

अश्विनीकुमारो ! मेष आदि बारह राशियाँ जिसके बारह अरे, छहों ऋतुएँ जिसकी छः नाभियाँ हैं और संवत्सर जिसकी एक धुरी है, वह एकमात्र कालचक्र सब ओर चल रहा है। यही कर्मफलको धारण करनेवाला आधार है। इसीमें सम्पूर्ण कालाभिमानी देवता स्थित हैं। आप दोनों मुझे इस कालचक्रसे मुक्त करें, क्योंकि मैं यहाँ जन्म आदिके दुःखसे अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ ॥ ६२ ॥

अश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ
तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी।
हित्वा गिरिमश्विनौ गा मुदा चरन्तौ
तद्वृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ॥ ६३ ॥

हे अश्विनीकुमारो! आप दोनोंमें सदाचारका बाहुल्य है। आप अपने सुयशसे चन्द्रमा, अमृत तथा जलकी उज्ज्वलताको भी तिरस्कृत कर देते हैं। इस समय मेरु पर्वतको छोड़कर आप पृथ्वीपर सानन्द विचर रहे हैं। आनन्द और बलकी वर्षा करनेके लिये ही आप दोनों भाई दिनमें प्रस्थान करते हैं ॥

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे
समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६४ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप दोनों ही सृष्टिके प्रारम्भकालमें पूर्वादि दसों दिशाओंको प्रकट करते—उनका ज्ञान कराते हैं। उन दिशाओंके मस्तक अर्थात् अन्तरिक्ष लोकमें रथसे यात्रा करनेवाले तथा सबको समानरूपसे प्रकाश देनेवाले सूर्यदेवका और आकाश आदि पाँच भूतोंका भी आप ही ज्ञान कराते हैं। उन-उन दिशाओंमें सूर्यका जाना देखकर ऋषिलोग भी उनका अनुसरण करते हैं तथा देवता और मनुष्य (अपने अधिकारके अनुसार) स्वर्ग या मर्त्यलोककी भूमिका उपयोग करते हैं ॥ ६४ ॥

युवां वर्णान् विकुरुथो विश्वरूपां-
स्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६५ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप अनेक रंगकी वस्तुओंके सम्मिश्रणसे सब प्रकारकी ओषधियाँ तैयार करते हैं, जो सम्पूर्ण विश्वका पोषण करती हैं। वे प्रकाशमान ओषधियाँ सदा आपका अनुसरण करती हुई आपके साथ ही विचरती हैं। देवता और मनुष्य आदि प्राणी अपने अधिकारके अनुसार स्वर्ग और मर्त्यलोककी भूमिमें रहकर उन ओषधियोंका सेवन करते हैं ॥६५॥

तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं
स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधा-
वृते देवास्तत्प्रपदे न सूते ॥ ६६ ॥

अश्विनीकुमारो ! आप ही दोनों 'नासत्य' नामसे प्रसिद्ध हैं। मैं आपकी तथा आपने जो कमलकी माला धारण कर रक्खी है, उसकी पूजा करता हूँ। आप अमर होनेके साथ ही सत्यका पोषण और विस्तार करनेवाले हैं। आपके सहयोगके बिना देवता भी उस सनातन सत्यकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हैं ॥ ६६ ॥

मुखे न गर्भं लभेतां युवानौ
गतासुरेतत् प्रपदेन सूते।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भ-
स्तावश्विनौ मुञ्चथो जीवसे गाः ॥ ६७ ॥

युवक माता-पिता संतानोत्पत्तिके लिये पहिले मुखसे अन्नरूप गर्भ धारण करते हैं। तत्पश्चात् पुरुषोंमें वीर्यरूपमें और स्त्रीमें रजोरूपसे परिणत होकर वह अन्न जड शरीर बन जाता है। तत्पश्चात् जन्म लेनेवाला गर्भस्थ जीव उत्पन्न होते ही माताके स्तनोंका दूध पीने लगता है। हे अश्विनीकुमारो ! पूर्वोक्त रूपसे संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंको आप तत्त्वज्ञान देकर मुक्त करते हैं। मेरे जीवन-निर्वाहके लिये मेरी नेत्रेन्द्रियको भी रोगसे मुक्त करें ॥ ६७ ॥

स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ
चक्षुर्विहीनः पथि सम्प्रमोहः।
दुर्गेऽहमस्मिन् पतितोऽस्मि कूपे
युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये ॥ ६८ ॥

अश्विनीकुमारो ! मैं आपके गुणोंका बखान करके आप दोनोंकी स्तुति नहीं कर सकता। इस समय नेत्रहीन (अंधा) हो गया हूँ। रास्ता पहचाननेमें भी भूल हो जाती है; इसीलिये इस दुर्गम कूपमें गिर पड़ा हूँ। आप दोनों शरणागतवत्सल देवता हैं, अतः मैं आपकी शरण लेता हूँ ॥ ६८ ॥

इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एष तेऽपूपोऽशानैनमिति ॥ ६९ ॥

इस प्रकार उपमन्युके स्तवन करनेपर दोनों अश्विनीकुमार वहाँ आये और उससे बोले—'उपमन्यु! हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं, यह तुम्हारे खानेके लिये पूआ है, इसे खा लो' ॥६९॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति ॥७०॥

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्यु बोला—'भगवन्! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजीको निवेदन किये बिना इस पूएको अपने उपयोगमें नहीं ला सकता' ॥ ७० ॥

ततस्तमश्विनावूचतुः—आवाभ्यां पुरस्ताद् भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानिवेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७१ ॥

तब दोनों अश्विनीकुमार बोले— 'वत्स! पहले तुम्हारे

उपाध्यायने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था, उसे उन्होंने अपने गुरुजीको निवेदन किये बिना ही काममें ले लिया था। तुम्हारे उपाध्यायने जैसा किया है, वैसा ही तुम भी करो' ॥ ७१ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच–एतत् प्रत्यनुनये भवन्ताव-श्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य गुरवेऽपूपमुपयो-क्तुमिति ॥ ७२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उत्तर दिया—'इसके लिये तो आप दोनों अश्विनीकुमारोंकी मैं बड़ी अनुनय-विनय करता हूँ। गुरुजीके निवेदन किये बिना मैं इस पूएको नहीं खा सकता' ॥ ७२ ॥

तमश्विनावाहतुः प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुभक्त्या उपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसीति श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७३ ॥

तब अश्विनीकुमार उससे बोले, 'तुम्हारी इस गुरु-भक्तिसे हम बड़े प्रसन्न हैं। तुम्हारे उपाध्यायके दाँत काले लोहेके समान हैं। तुम्हारे दाँत सुवर्णमय हो जायँगे। तुम्हारी आँखें भी ठीक हो जायँगी और तुम कल्याणके भागी भी होओगे' ॥ ७३ ॥

स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसका-शमागम्याभ्यवादयत् ॥ ७४ ॥

अश्विनीकुमारोंके ऐसा कहनेपर उपमन्युको आँखें मिल गयीं और उसने उपाध्यायके समीप आकर उन्हें प्रणाम किया ॥

आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान् बभूव ॥ ७५ ॥

तथा सब बातें गुरुजीसे कह सुनायीं। उपाध्याय उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ७५ ॥

आह चैनं यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयो-ऽवाप्स्यसि ॥ ७६ ॥

और उससे बोले—'जैसा अश्विनीकुमारोंने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याणके भागी होओगे ॥ ७६ ॥

सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्म-शास्त्राणीति। एषा तस्यापि परीक्षोपमन्योः ॥ ७७ ॥

'तुम्हारी बुद्धिमें सम्पूर्ण वेद और सभी धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' इस प्रकार यह उपमन्युकी परीक्षा बतायी गयी ॥ ७७ ॥

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित् कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ७८ ॥

उन्हीं आयोदधौम्यके तीसरे शिष्य थे वेद। उन्हें उपाध्यायने आज्ञा दी, 'वत्स वेद! तुम कुछ कालतक यहाँ मेरे घरमें निवास करो। सदा शुश्रूषामें लगे रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ ७८ ॥

स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषण-परोऽवसद् गौरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ॥ ७९ ॥

वेद 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुके घरमें रहने लगे। उन्होंने दीर्घकालतक गुरुकी सेवा की। गुरुजी उन्हें बैलकी तरह सदा भारी बोझ ढोनेमें लगाये रखते थे और वेद सरदी-गरमी तथा भूख-प्यासका कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओंमें गुरुके अनुकूल ही रहते थे। इस प्रकार जब बहुत समय बीत गया, तब गुरुजी उनपर पूर्णतः संतुष्ट हुए ॥

तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप। एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८० ॥

गुरुके संतोषसे वेदने श्रेय तथा सर्वज्ञता प्राप्त कर ली! इस प्रकार यह वेदकी परीक्षाका वृत्तान्त कहा गया ॥ ८० ॥

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद् गुरु-कुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत। तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान् न किंचिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा चेति। दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८१ ॥

तदनन्तर उपाध्यायकी आज्ञा होनेपर वेद समावर्तन-संस्कारके पश्चात् स्नातक होकर गुरुगृहसे लौटे। घर आकर उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। अपने घरमें निवास करते समय आचार्य वेदके पास तीन शिष्य रहते थे, किंतु वे 'काम करो अथवा गुरुसेवामें लगे रहो' इत्यादि रूपसे किसी प्रकारका आदेश अपने शिष्योंको नहीं देते थे; क्योंकि गुरुके घरमें रहनेपर छात्रोंको जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे वे परिचित थे। इसलिये उनके मनमें अपने शिष्योंको क्लेशदायक कार्यमें लगानेकी कभी इच्छा नहीं होती थी ॥ ८१ ॥

अथ कस्मिंश्चित् काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ॥ ८२ ॥ स कदाचिद् याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ॥ ८३ ॥ भो यत् किंचिदस्मद्-गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति स एवं प्रतिसंदिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८४ ॥

एक समयकी बात है—ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेदके पास

आकर 'जनमेजय और पौष्य' नामवाले दो क्षत्रियोंने उनका वरण किया और उन्हें अपना उपाध्याय बना लिया। तदनन्तर एक दिन उपाध्याय वेदने यजमानके कार्यसे बाहर जानेके लिये उद्यत हो उत्तङ्क नामवाले शिष्यको अग्निहोत्र आदिके कार्यमें नियुक्त किया और कहा—'वत्स उत्तङ्क ! मेरे घरमें मेरे बिना जिस किसी वस्तुकी कमी हो जाय, उसकी पूर्ति तुम कर देना, ऐसी मेरी इच्छा है।' उत्तङ्कको ऐसा आदेश देकर आचार्य वेद बाहर चले गये ॥ ८२–८४ ॥

अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म। स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ॥ ८५ ॥

उत्तङ्क गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए सेवापरायण हो गुरुके घरमें रहने लगे। वहाँ रहते समय उन्हें उपाध्यायके आश्रयमें रहनेवाली सब स्त्रियोंने मिलकर बुलाया और कहा ॥

उपाध्यायानी ते ऋतुमती, उपाध्यायश्चोपितोऽस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति ॥ ८६ ॥

तुम्हारी गुरुपत्नी रजस्वला हुई हैं और उपाध्याय परदेश गये हैं। उनका यह ऋतुकाल जिस प्रकार निष्फल न हो, वैसा करो; इसके लिये गुरुपत्नी बड़ी चिन्तामें पड़ी हैं ॥ ८६ ॥

एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयम्। न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ८७ ॥

यह सुनकर उत्तङ्कने उत्तर दिया—'मैं स्त्रियोंके कहनेसे यह न करनेयोग्य निन्द्य कर्म नहीं कर सकता। उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि 'तुम न करनेयोग्य कार्य भी कर डालना' ॥ ८७ ॥

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात् प्रवासात्। स तु तद् वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥ ८८ ॥

इसके बाद कुछ काल बीतनेपर उपाध्याय वेद परदेशसे अपने घर लौट आये। आनेपर उन्हें उत्तङ्कका सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८८ ॥

उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति। धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने भवन्तं सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ॥ ८९ ॥

और बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ! तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की है। इससे हम दोनोंकी एक-दूसरेके प्रति प्रीति बहुत बढ़ गयी है। अब मैं तुम्हें घर लौटनेकी आज्ञा देता हूँ—जाओ, तुम्हारी सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी' ॥ ८९ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच किं ते प्रियं करवाणीति, एवमाहुः ॥ ९० ॥

गुरुके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क बोले—'भगवन्! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वृद्ध पुरुष कहते भी हैं ॥ ९० ॥

यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९१ ॥

'जो अधर्मपूर्वक अध्यापन या उपदेश करता है अथवा जो अधर्मपूर्वक प्रश्न या अध्ययन करता है, उन दोनोंमेंसे एक (गुरु अथवा शिष्य) मृत्यु एवं विद्वेषको प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥

सोऽहमनुज्ञातो भवतेच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपहर्तुमिति। तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ॥ ९२ ॥

'अतः आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं अभीष्ट गुरु-दक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ।' उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर उपाध्याय बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तब कुछ दिन और यहीं ठहरो' ॥९२॥

स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तङ्क आज्ञापयतु भवान् किं ते प्रियमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९३ ॥

तदनन्तर किसी दिन उत्तङ्कने फिर उपाध्यायसे कहा—'भगवन् ! आज्ञा दीजिये, मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु गुरु-दक्षिणाके रूपमें भेंट करूँ ?' ॥ ९३ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद् गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायानीं पृच्छ किमुपाहरामीति ॥ ९४ ॥ एषा यद् ब्रवीति तदुपाहरस्वेति।

यह सुनकर उपाध्यायने उनसे कहा—'वत्स उत्तङ्क ! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ?' अतः जाओ, घरके भीतर प्रवेश करके अपनी गुरुपत्नीसे पूछ लो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ?'॥९४॥ वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।'

स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छद् भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुमिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुमिति ॥९५॥ तदाज्ञापयतु भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति।

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने गुरुपत्नीसे पूछा—'देवि ! उपाध्यायने मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है, अतः मैं आपको कोई अभीष्ट वस्तु गुरुदक्षिणाके रूपमें भेंट करके गुरुके ऋणसे उऋण होकर जाना चाहता हूँ ॥ ९५ ॥ अतः आप आज्ञा दें, मैं गुरुदक्षिणाके रूपमें कौन-सी वस्तु ला दूँ।'

सैवमुक्तोपाध्यायानी तमुत्तङ्कं प्रत्युवाच गच्छ

पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ॥ ९६ ॥

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर गुरुपत्नी उनसे बोलीं—'वत्स ! तुम राजा पौष्यके यहाँ, उनकी क्षत्राणी पत्नीने जो दोनों कुण्डल पहन रक्खे हैं, उन्हें माँग लानेके लिये जाओ ॥९६॥

ते आनयस्व चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामावद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि। तत् सम्पादयस्व एवं हि कुर्वतः श्रेयो भवितान्यथा कुतः श्रेय इति ॥ ९७ ॥

'और उन कुण्डलोंको शीघ्र ले आओ। आजके चौथे दिन पुण्यक व्रत होनेवाला है, मैं उस दिन कानोंमें उन कुण्डलोंको पहनकर सुशोभित हो ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ; अतः तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। अन्यथा कल्याणकी प्राप्ति कैसे सम्भव है ?'॥

स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ॥ ९८ ॥

गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क वहाँसे चल दिये। मार्गमें जाते समय उन्होंने एक बहुत बड़े बैलको और उसपर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुषको भी देखा। उस पुरुषने उत्तङ्कसे कहा—॥ ९८ ॥

भो उत्तङ्कैतत् पुरीषमस्य ऋषभस्य भक्षयस्वेति स एवमुक्तो नैच्छत् ॥ ९९ ॥

'उत्तङ्क ! तुम इस बैलका गोबर खा लो।' किंतु उसके ऐसा कहनेपर भी उत्तङ्कको वह गोबर खानेकी इच्छा नहीं हुई ॥

तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वोत्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०० ॥

तब वह पुरुष फिर उनसे बोला—'उत्तङ्क ! खा लो, विचार न करो। तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया था।'

स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तद् वृषभस्य मूत्रं पुरीषं च भक्षयित्वोत्तङ्कः सम्भ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ॥ १०१ ॥

उसके पुनः ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और उस बैलके गोबर तथा मूत्रको खा-पीकर उतावलीके कारण खड़े-खड़े ही आचमन किया। फिर वे चल दिये ॥ १०१ ॥

यत्र स क्षत्रियः पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः। स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच ॥ १०२ ॥

जहाँ वे क्षत्रिय राजा पौष्य रहते थे, वहाँ पहुँचकर उत्तङ्कने देखा—वे आसनपर बैठे हुए हैं, तब उत्तङ्कने उनके समीप जाकर आशीर्वादसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—॥ १०२ ॥

अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ॥

'राजन् ! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ।' राजाने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! मैं आपका सेवक पौष्य हूँ; कहिये, किस आज्ञाका पालन करूँ?' ॥१०३॥

तमुवाच गुर्वर्थं कुण्डलयोरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति। ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान् दातुमर्हतीति ॥ १०४ ॥

उत्तङ्कने पौष्यसे कहा—'राजन् ! मैं गुरुदक्षिणाके निमित्त दो कुण्डलोंके लिये आपके यहाँ आया हूँ। आपकी क्षत्राणीने जिन्हें पहन रक्खा है, उन्हीं दोनों कुण्डलोंको आप मुझे दे दें। यह आपके योग्य कार्य है' ॥ १०४ ॥

तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति। स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ १०५ ॥

यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा—'ब्रह्मन् ! आप अन्तःपुरमें जाकर क्षत्राणीसे वे कुण्डल माँग लें।' राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने अन्तःपुरमें प्रवेश किया, किंतु वहाँ उन्हें क्षत्राणी नहीं दिखायी दी ॥ १०५ ॥

स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे क्षत्रिया सन्निहिता नैनां पश्यामि ॥ १०६ ॥

तब वे पुनः राजा पौष्यके पास आकर बोले—'राजन् ! आप मुझे संतुष्ट करनेके लिये झूठी बात कहकर मेरे साथ छल करें, यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके अन्तःपुरमें क्षत्राणी नहीं हैं, क्योंकि वहाँ वे मुझे नहीं दिखायी देती हैं' ॥

स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ १०७ ॥

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर पौष्यने एक क्षणतक विचार करके उन्हें उत्तर दिया—'निश्चय ही आप जूँठे मुँह हैं, स्मरण तो कीजिये, क्योंकि मेरी क्षत्राणी पतिव्रता होनेके कारण उच्छिष्ट-अपवित्र मनुष्यके द्वारा नहीं देखी जा सकती हैं। आप उच्छिष्ट होनेके कारण अपवित्र हैं, इसलिये वे आपकी दृष्टिमें नहीं आ रही हैं' ॥ १०७ ॥

अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं गच्छता चेति। तं पौष्यः प्रत्युवाच—एष ते व्यतिक्रमो नोत्थितेनोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ॥ १०८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने स्मरण करके कहा—'हाँ,

अवश्य ही मुझमें अशुद्धि रह गयी है। यहाँकी यात्रा करते समय मैंने खड़े होकर चलते-चलते आचमन किया है।' तब पौष्यने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! यही आपके द्वारा विधिका उल्लङ्घन हुआ है। खड़े होकर और शीघ्रतापूर्वक चलते-चलते किया हुआ आचमन नहींके बराबर है'॥ १०८॥

अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभिरनुष्णाभिर्हृद्गताभिरद्भिस्त्रिः पीत्वा द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य चान्तःपुरं प्रविवेश॥ १०९॥

तत्पश्चात् उत्तङ्क राजासे 'ठीक है' ऐसा कहकर हाथ, पैर और मुँह भलीभाँति धोकर पूर्वाभिमुख हो आसनपर बैठे और हृदयतक पहुँचने योग्य शब्द तथा फेनसे रहित शीतल जलके द्वारा तीन बार आचमन करके उन्होंने दो बार अँगूठेके मूल भागसे मुख पोंछा और नेत्र, नासिका आदि इन्द्रिय-गोलकोंका जलसहित अङ्गुलियोंद्वारा स्पर्श करके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ १०९॥

ततस्तां क्षत्रियामपश्यत्, सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं प्रत्युत्थायाभिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति॥ ११०॥

तब उन्हें क्षत्राणीका दर्शन हुआ। महारानी उत्तङ्कको देखते ही उठकर खड़ी हो गयीं और प्रणाम करके बोलीं—'भगवन्! आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ?'॥

स तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति। सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डलेऽवमुच्यास्मै प्रायच्छदाह तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्यप्रमत्तो नेतुमर्हसीति॥ १११॥

उत्तङ्कने महारानीसे कहा—'देवि! मैंने गुरुके लिये आपके दोनों कुण्डलोंकी याचना की है। वे ही मुझे दे दें।' महारानी उत्तङ्कके उस सद्भाव (गुरुभक्ति)से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने यह सोचकर कि 'ये सुपात्र ब्राह्मण हैं, इन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिये।' अपने दोनों कुण्डल स्वयं उतारकर उन्हें दे दिये और उनसे कहा—'ब्रह्मन्! नागराज तक्षक इन कुण्डलोंको पानेके लिये बहुत प्रयत्नशील हैं। अतः आपको सावधान होकर इन्हें ले जाना चाहिये'॥ १११॥

स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच भगवति सुनिर्वृता भव। न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति॥ ११२॥

रानीके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने उन क्षत्राणीसे कहा—'देवि! आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़नेका साहस नहीं कर सकता'॥ ११२॥

स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छत्। आह चैनं भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच॥ ११३॥

महारानीसे ऐसा कहकर उनसे आज्ञा ले उत्तङ्क राजा पौष्यके निकट आये और बोले—'महाराज पौष्य! मैं बहुत प्रसन्न हूँ (और आपसे विदा लेना चाहता हूँ)।' यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा—॥ ११३॥

भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति॥११४॥

'भगवन्! बहुत दिनोंपर कोई सुपात्र ब्राह्मण मिलता है। आप गुणवान् अतिथि पधारे हैं, अतः मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ। आप इसमें समय दीजिये'॥ ११४॥

तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास॥ ११५॥

तब उत्तङ्कने राजासे कहा—'मेरा समय तो दिया ही हुआ है, किंतु शीघ्रता चाहता हूँ। आपके यहाँ जो शुद्ध एवं सुसंस्कृत भोजन तैयार हो उसे मँगाइये।' राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर जो भोजन-सामग्री प्रस्तुत थी, उसके द्वारा उन्हें भोजन कराया॥ ११५॥

अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वा अशुच्येतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मेऽशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति॥ ११६॥

परंतु जब भोजन सामने आया, तब उत्तङ्कने देखा, उसमें बाल पड़ा है और वह ठण्डा हो चुका है। फिर तो 'यह अपवित्र अन्न है' ऐसा निश्चय करके वे राजा पौष्यसे बोले—'आप मुझे अपवित्र अन्न दे रहे हैं; अतः अन्धे हो जायँगे'॥११६॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भविष्यसीति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच॥ ११७॥

तब पौष्यने भी उन्हें शापके बदले शाप देते हुए कहा—'आप शुद्ध अन्नको भी दूषित बता रहे हैं, अतः आप भी संतानहीन हो जायँगे।' तब उत्तङ्क राजा पौष्यसे बोले—॥११७॥

न युक्तं भवतान्नमशुचि दत्त्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षीकुरु। ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास॥ ११८॥

'महाराज! अपवित्र अन्न देकर फिर बदलेमें शाप देना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अतः पहले अन्नको ही प्रत्यक्ष देख लीजिये।' तब पौष्यने उस अन्नको अपवित्र देखकर उसकी अपवित्रताके कारणका पता लगाया॥११८॥

अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रिया यत् कृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येतदिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ॥ ११९ ॥

वह भोजन खुले केशवाली स्त्रीने तैयार किया था। अतः उसमें केश पड़ गया था। देरका बना होनेसे वह ठण्डा भी हो गया था। इसलिये वह अपवित्र है, इस निश्चयपर पहुँच-कर राजाने उत्तङ्क ऋषिको प्रसन्न करते हुए कहा--॥११९॥

भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं तत् क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ १२० ॥

'भगवन्! यह केशयुक्त और शीतल अन्न अनजानमें आपके पास लाया गया है। अतः इस अपराधके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं अन्धा न होऊँ।' तब उत्तङ्कने राजासे कहा--॥ १२० ॥

न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो नचिरादनन्धो भविष्यसीति । ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ॥ १२१ ॥

'राजन्! मैं झूठ नहीं बोलता। आप पहले अन्धे होकर फिर थोड़े ही दिनोंमें इस दोषसे रहित हो जायँगे। अब आप भी ऐसी चेष्टा करें, जिससे आपका दिया हुआ शाप मुझपर लागू न हो' ॥ १२१ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति किं चैतद् भवता न ज्ञायते यथा--॥ १२२ ॥

नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य
वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः।
तदुभयमेतद् विपरीतं क्षत्रियस्य
वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम्। इति ॥१२३॥

यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा--'मैं शापको लौटाने-में असमर्थ हूँ, मेरा क्रोध अभीतक शान्त नहीं हो रहा है। क्या आप यह नहीं जानते कि ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान मुलायम और जल्दी पिघलनेवाला होता है? केवल उसकी वाणीमें ही तीखी धारवाले छुरेका-सा प्रभाव होता है। किंतु ये दोनों ही बातें क्षत्रियके लिये विपरीत हैं। उसकी वाणी तो नवनीतके समान कोमल होती है, लेकिन हृदय पैनी धारवाले छुरेके समान तीखा होता है ॥ १२२-१२३ ॥

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात् तं शापमन्यथा कर्तुं गम्यतामिति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच भवताहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक् च तेऽभिहितम् ॥ १२४ ॥ यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति । दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १२५ ॥

'अतः ऐसी दशामें कठोरहृदय होनेके कारण मैं उस शापको बदलनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये आप जाइये।' तब उत्तङ्क बोले--'राजन्! आपने अन्नकी अपवित्रता देखकर मुझसे क्षमाके लिये अनुनय-विनय की है, किंतु पहले आपने कहा था कि 'तुम शुद्ध अन्नको दूषित बता रहे हो, इसलिये संतानहीन हो जाओगे।' इसके बाद अन्नका दोषयुक्त होना प्रमाणित हो गया, अतः आपका यह शाप मुझपर लागू नहीं होगा' ॥ १२४-१२५ ॥

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणक-मागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥ १२६ ॥

'अब हम अपना कार्य साधन कर रहे हैं।' ऐसा कहकर उत्तङ्क दोनों कुण्डलोंको लेकर वहाँसे चल दिये। मार्गमें उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणकको देखा जो बार-बार दिखायी देता और छिप जाता था ॥ १२६ ॥

अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे । एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ॥ १२७ ॥

कुछ दूर जानेके बाद उत्तङ्कने उन कुण्डलोंको एक जलाशयके किनारे भूमिपर रख दिया और स्वयं जलसम्बन्धी कृत्य (शौच, स्नान, आचमन, संध्या-तर्पण आदि) करने लगे। इतनेमें ही वह क्षपणक बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलोंको लेकर चंपत हो गया ॥१२७॥

तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ॥ १२८ ॥

उत्तङ्कने स्नान तर्पण आदि जलसम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरुओंको नमस्कार किया और जलसे बाहर निकलकर बड़े वेगसे उस क्षपणकका पीछा किया ॥ १२८ ॥

तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः सद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ॥ १२९ ॥

वास्तवमें वह नागराज तक्षक ही था। दौड़नेसे उत्तङ्क-के अत्यन्त समीपवर्ती हो गया। उत्तङ्कने उसे पकड़ लिया। पकड़में आते ही उसने क्षपणकका रूप त्याग दिया और तक्षक नागका रूप धारण करके वह सहसा प्रकट हुए पृथ्वीके एक बहुत बड़े विवरमें घुस गया ॥ १२९ ॥

प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत्। अथो-त्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षक-मन्वगच्छत् ॥ १३० ॥

बिलमें प्रवेश करके वह नागलोकमें अपने घर चला गया। तदनन्तर उस क्षत्राणीकी बातका स्मरण करके उत्तङ्कने नागलोकतक उस तक्षकका पीछा किया ॥ १३० ॥

स तद् बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत्। तं क्लिश्यमानमिन्द्रोऽपश्यत् स वज्रं प्रेषयामास ॥१३१॥

पहले तो उन्होंने उस विवरको अपने डंडेकी लकड़ीसे खोदना आरम्भ किया, किंतु इसमें उन्हें सफलता न मिली। उस समय इन्द्रने उन्हें क्लेश उठाते देखा तो उनकी सहायताके लिये अपना वज्र भेज दिया ॥ १३१ ॥

गच्छास्य ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुरुष्वेति । अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद् बिलमदारयत् ॥१३२॥

उन्होंने वज्रसे कहा—'जाओ, इस ब्राह्मणकी सहायता करो।' तब वज्रने डंडेकी लकड़ीमें प्रवेश करके उस बिलको विदीर्ण कर दिया (इससे पाताल-लोकमें जानेके लिये मार्ग बन गया।) ॥ १३२ ॥

तमुत्तङ्कोऽनुविवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोकमपर्यन्तमनेकविधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडाश्चर्यस्थानावकीर्णमपश्यत् ॥ १३३ ॥ स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः—

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥१३४॥

तब उत्तङ्क उस बिलमें घुस गये और उसी मार्गसे भीतर प्रवेश करके उन्होंने नागलोकका दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। जो अनेक प्रकारके मन्दिरों, महलों, झुके हुए छज्जोंवाले ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजोंसे सुशोभित और छोटे-बड़े अद्भुत क्रीडास्थानोंसे व्याप्त था। वहाँ उन्होंने इन श्लोकोंद्वारा उन नागोंका स्तवन किया—ऐरावत जिनके राजा हैं, जो समराङ्गणमें विशेष शोभा पाते हैं, बिजली और वायुसे प्रेरित हो जलकी वर्षा करनेवाले बादलोंकी भाँति बाणोंकी धारावाहिक वृष्टि करते हैं, उन सर्पोंकी जय हो ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥१३५॥

ऐरावतकुलमें उत्पन्न नागगणोंमेंसे कितने ही सुन्दर रूपवाले हैं, उनके अनेक रूप हैं, वे विचित्र कुण्डल धारण करते हैं तथा आकाशमें सूर्यदेवकी भाँति स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥ १३५ ॥

बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ॥१३६॥

गङ्गाजीके उत्तर तटपर बहुत-से नागोंके घर हैं, वहाँ रहनेवाले बड़े-बड़े सर्पोंकी भी मैं स्तुति करता हूँ ॥ १३६ ॥

इच्छेत् कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥१३७॥
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति।
ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथं गताः ॥१३८॥
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत् पुरा ॥१३९॥
तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम्।
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ ॥१४०॥
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु।
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः श्रुतः ॥१४१॥
अवसद् यो महद्युम्नि प्रार्थयन् नागमुख्यताम्।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥१४२॥

ऐरावत नागके सिवा दूसरा कौन है, जो सूर्यदेवकी प्रचण्ड किरणोंके सैन्यमें विचरनेकी इच्छा कर सकता है! ऐरावतके भाई धृतराष्ट्र जब सूर्यदेवके साथ प्रकाशित होते और चलते हैं, उस समय अट्ठाईस हजार आठ सर्प सूर्यके घोड़ोंकी बागडोर बनकर जाते हैं। जो इनके साथ जाते हैं और जो दूरके मार्गपर जा पहुँचे हैं, ऐरावतके उन सभी छोटे बन्धुओंको मैंने नमस्कार किया है। जिनका निवास सदा कुरुक्षेत्र और खाण्डववनमें रहा है, उन नागराज तक्षककी मैं कुण्डलोंके लिये स्तुति करता हूँ। तक्षक और अश्वसेन—ये दोनों नाग सदा साथ विचरनेवाले हैं। ये दोनों कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती नदीके तटपर रहा करते थे। जो तक्षकके छोटे भाई हैं, श्रुतसेन नामसे जिनकी ख्याति है तथा जो पाताललोकमें नागराजकी पदवी पानेके लिये सूर्यदेवकी उपासना करते हुए कुरुक्षेत्रमें रहे हैं, उन महात्माको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १३७—१४२ ॥

एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान्।
नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ॥१४३॥

इस प्रकार उन श्रेष्ठ नागोंकी स्तुति करनेपर भी जब ब्रह्मर्षि उत्तङ्क उन कुण्डलोंको न पा सके तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥ १४३ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान् यदा ते कुण्डले नालभत तदापश्यत् स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ । तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यद् द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वं च दर्शनीयम् ॥ १४४ ॥ स तान् सर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवदेव श्लोकैः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार नागोंकी स्तुति करते रहनेपर भी जब वे उन दोनों कुण्डलोंको प्राप्त न कर सके, तब उन्हें वहाँ दो स्त्रियाँ दिखायी दीं, जो सुन्दर करघेपर रखकर सूतके तानेमें वस्त्र बुन रही थीं, उस तानेमें उत्तङ्क मुनिने काले और सफेद दो प्रकारके सूत और बारह अरोंका एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखायी दिये।

जिनके साथ एक दर्शनीय अश्व भी था। उत्तङ्कने इन मन्त्र-तुल्य श्लोकोंद्वारा उनकी स्तुति की—॥१४४-१४५॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये
षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे
षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥१४६॥

यह जो अविनाशी कालचक्र निरन्तर चल रहा है, इसके भीतर तीन सौ साठ अरे हैं, चौबीस पर्व हैं और इस चक्रको छः कुमार घुमा रहे हैं ॥ १४६ ॥

तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ
वयतस्तन्तून् सततं वर्तयन्तौ।
कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ
भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥१४७॥

यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, ऐसी दो युवतियाँ सदा काले और सफेद तन्तुओंको इधर-उधर चलाती हुई इस वासना-जलरूपी वस्त्रको बुन रही हैं तथा वे ही सम्पूर्ण भूतों और समस्त भुवनोंका निरन्तर संचालन करती हैं ॥१४७॥

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता
वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा
सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥१४८॥
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं
वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय
लोकत्रयेशाय पुरन्दराय ॥१४९॥

जो महात्मा वज्र धारण करके तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, जिन्होंने वृत्रासुरका वध तथा नमुचि दानवका संहार किया है, जो काले रंगके दो वस्त्र पहनते और लोकमें सत्य एवं असत्यका विवेक करते हैं, जलसे प्रकट हुए प्राचीन वैश्वानर-रूप अश्वको वाहन बनाकर उसपर चढ़ते हैं तथा जो तीनों लोकोंके शासक हैं, उन जगदीश्वर पुरन्दरको मेरा नमस्कार है ॥ १४८-१४९ ॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किं ते प्रियं करवाणीति स तमुवाच ॥ १५० ॥

तब वह पुरुष उत्तङ्कसे बोला—'ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ। कहो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' यह सुनकर उत्तङ्कने कहा—॥ १५० ॥

नागा मे वशमीयुरिति स चैनं पुरुषः पुनरुवाच-एतमश्वमपाने धमस्वेति ॥ १५१ ॥

'सब नाग मेरे अधीन हो जायँ' उनके ऐसा कहनेपर वह पुरुष पुनः उत्तङ्कसे बोला—'इस घोड़ेकी गुदामें फूँक मारो' ॥

ततोऽश्वस्यापानमधमत् ततोऽश्वाद्धम्यमानात् सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्चिषः सधूमा निष्पेतुः ॥१५२॥

यह सुनकर उत्तङ्कने घोड़ेकी गुदामें फूँक मारी। फूँकनेसे घोड़ेके शरीरके समस्त छिद्रोंसे धूएँसहित आगकी लपटें निकलने लगीं ॥ १५२ ॥

ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ सम्भ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद् विषण्णः कुण्डले गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ॥ १५३ ॥

उस समय सारा नागलोक धूएँसे भर गया। फिर तो तक्षक घबरा गया और आगकी ज्वालाके भयसे दुःखी हो दोनों कुण्डल लिये सहसा घरसे निकल आया और उत्तङ्कसे बोला—॥

इमे कुण्डले गृह्णातु भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ॥ १५४ ॥

'ब्रह्मन्! आप ये दोनों कुण्डल ग्रहण कीजिये।' उत्तङ्कने उन कुण्डलोंको ले लिया। कुण्डल लेकर वे सोचने लगे—॥ १५४ ॥

अद्य तत् पुण्यकमुपाध्यायान्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं सम्भावयेयमिति तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ॥ १५५ ॥

'अहो! आज ही गुरुपत्नीका वह पुण्यकव्रत है और मैं बहुत दूर चला आया हूँ। ऐसी दशामें किस प्रकार इन कुण्डलोंद्वारा उनका सत्कार कर सकूँगा?' तब इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए उत्तङ्कसे उस पुरुषने कहा—॥ १५५ ॥

उत्तङ्क एनमेवाश्वमधिरोह त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यतीति ॥ १५६ ॥

'उत्तङ्क! इसी घोड़ेपर चढ़ जाओ। यह तुम्हें क्षणभरमें उपाध्यायके घर पहुँचा देगा' ॥ १५६ ॥

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलमुपाध्यायानी च स्नाता केशानावापयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १५७ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्क उस घोड़ेपर चढ़े और तुरंत उपाध्यायके घर आ पहुँचे। इधर गुरुपत्नी स्नान करके बैठी हुई अपने केश सँवार रही थीं। 'उत्तङ्क अबतक नहीं आया' यह सोचकर उन्होंने शिष्यको शाप देनेका विचार कर लिया ॥ १५७ ॥

अथ तस्मिन्नन्तरे स उत्तङ्कः प्रविश्य उपाध्यायकुलमुपाध्यायानीमभ्यवादयत् ते चास्यै कुण्डले प्रायच्छत् सा चैनं प्रत्युवाच ॥ १५८ ॥

इसी बीचमें उत्तङ्कने उपाध्यायके घरमें प्रवेश करके गुरुपत्नीको प्रणाम किया और उन्हें वे दोनों कुण्डल दे दिये। तब गुरुपत्नीने उत्तङ्कसे कहा—॥ १५८ ॥

उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १५९ ॥

'उत्तङ्क! तू ठीक समयपर उचित स्थानमें आ पहुँचा। वत्स! तेरा स्वागत है। अच्छा हुआ जो बिना अपराधके ही तुझे शाप नहीं दिया। तेरा कल्याण उपस्थित है, तुझे सिद्धि प्राप्त हो' ॥

अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत्। तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते किं चिरं कृतमिति ॥ १६० ॥

तदनन्तर उत्तङ्कने उपाध्यायके चरणोंमें प्रणाम किया। उपाध्यायने उससे कहा—'वत्स उत्तङ्क! तुम्हारा स्वागत है। लौटनेमें देर क्यों लगायी ?' ॥ १६० ॥

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच भोस्तक्षकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन् कर्मणि तेनास्मि नागलोकं गतः ॥ १६१ ॥

तब उत्तङ्कने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! नागराज तक्षकने इस कार्यमें विघ्न डाल दिया था। इसलिये मैं नागलोकमें चला गया था ॥ १६१ ॥

तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णाः सिताश्च तन्तवः किं तत् ॥ १६२ ॥

'वहाँ मैंने दो स्त्रियाँ देखीं, जो करघेपर सूत रखकर कपड़ा बुन रही थीं। उस करघेमें काले और सफेद रङ्गके सूत लगे थे। वह सब क्या था ? ॥ १६२ ॥

तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षट् चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति तदपि किम्। पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः। अश्वश्चातिप्रमाणो दृष्टः स चापि कः ॥ १६३ ॥

'वहीं मैंने एक चक्र भी देखा, जिसमें बारह अरे थे। छः कुमार उस चक्रको घुमा रहे थे। वह भी क्या था ? वहाँ एक पुरुष भी मेरे देखनेमें आया था। वह कौन था ? तथा एक बहुत बड़ा अश्व भी दिखायी दिया था। वह कौन था ? ॥ १६३ ॥

पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तं च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ॥ १६४ ॥

'इधरसे जाते समय मार्गमें मैंने एक बैल देखा, उसपर एक पुरुष सवार था। उस पुरुषने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा—'उत्तङ्क! इस बैलका गोबर खा लो। तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया है' ॥ १६४ ॥

ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि कः। तदेतद् भवतोपदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ १६५ ॥

'तब उस पुरुषके कहनेसे मैंने उस बैलका गोबर खा लिया। अतः वह बैल और पुरुष कौन थे ? मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ, वह सब क्या था ?' उत्तङ्कके इस प्रकार पूछनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया—॥ १६५ ॥

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी। तदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि षड् ऋतवः द्वादशारा द्वादश मासाः संवत्सरश्चक्रम् ॥ १६६ ॥

'वे जो दोनों स्त्रियाँ थीं, वे धाता और विधाता हैं। जो काले और सफेद तन्तु थे, वे रात और दिन हैं। बारह अरोंसे युक्त चक्रको जो छः कुमार घुमा रहे थे, वे छः ऋतुएँ हैं। बारह महीने ही बारह अरे हैं। संवत्सर ही वह चक्र है ॥ १६६ ॥

यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निर्य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराट्॥१६७॥

'जो पुरुष था, वह पर्जन्य (इन्द्र) है। जो अश्व था, वह अग्नि है। इधरसे जाते समय मार्गमें तुमने जिस बैलको देखा था, वह नागराज ऐरावत है ॥ १६७ ॥

यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रो यदपि ते भक्षितं तस्य ऋषभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन् नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ॥ १६८ ॥

'और जो उसपर चढ़ा हुआ पुरुष था, वह इन्द्र है। तुमने बैलके जिस गोबरको खाया है, वह अमृत था। इसी लिये तुम नागलोकमें जाकर भी मरे नहीं ॥ १६८ ॥

स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं कृतवान्। तस्मात् कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥ १६९ ॥

'वे भगवान् इन्द्र मेरे सखा हैं। तुमपर कृपा करके ही उन्होंने यह अनुग्रह किया है। यही कारण है कि तुम दोनों कुण्डल लेकर फिर यहाँ लौट आये हो ॥ १६९ ॥

तत् सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥१७०॥

'अतः सौम्य! अब तुम जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देता हूँ। तुम कल्याणके भागी होओगे।' उपाध्यायकी आज्ञा पाकर उत्तङ्क तक्षकके प्रति कुपित हो उससे बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुरकी ओर चल दिये ॥ १७० ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य नचिराद् विप्रसत्तमः।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥१७१॥

हस्तिनापुरमें शीघ्र पहुँचकर विप्रवर उत्तङ्क राजा जनमेजयसे मिले ॥ १७१ ॥

पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥१७२॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य स ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसम्पन्नया गिरा ॥१७३॥

जनमेजय पहले तक्षशिला गये थे । वे वहाँ जाकर पूर्ण विजय पा चुके थे । उत्तङ्कने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उत्तम विजयसे सम्पन्न राजा जनमेजयको देखकर पहले उन्हें न्यायपूर्वक जयसम्बन्धी आशीर्वाद दिया । तत्पश्चात् उचित समयपर उपयुक्त शब्दोंसे विभूषित वाणीद्वारा उनसे इस प्रकार कहा—॥ १७२-१७३ ॥

उत्तङ्क उवाच

अन्यस्मिन् करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥१७४॥

उत्तङ्क बोले—नृपश्रेष्ठ ! जहाँ तुम्हारे लिये करनेयोग्य दूसरा कार्य उपस्थित हो, वहाँ अज्ञानवश तुम कोई और ही कार्य कर रहे हो ॥ १७४ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ॥१७५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर राजा जनमेजय उन द्विजश्रेष्ठका विधिपूर्वक पूजन किया और इस प्रकार कहा ॥ १७५ ॥

जनमेजय उवाच

आसां प्रजानां परिपालनेन
स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य
येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ॥१७६॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! मैं इन प्रजाओंकी रक्षाद्वारा अपने क्षत्रियधर्मका पालन करता हूँ । बताइये, आज मेरे करनेयोग्य कौन-सा कार्य उपस्थित है ? जिसके कारण आप यहाँ पधारे हैं ॥ १७६ ॥

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं
स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ॥१७७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयके इस प्रकार कहनेपर पुण्यात्माओंमें अग्रगण्य विप्रवर उत्तङ्कने उन उदार हृदयवाले नरेशसे कहा—'महाराज ! वह कार्य मेरा नहीं आपका ही है, आप उसे अवश्य कीजिये ॥१७७॥

उत्तङ्क उवाच

तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥१७८॥

इतना कहकर उत्तङ्क फिर बोले—भूपालशिरोमणे ! नागराज तक्षकने आपके पिताकी हत्या की है; अतः आप उस दुरात्मा सर्पसे उसका बदला लीजिये ॥ १७८ ॥

कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन् पितुस्तस्य महात्मनः ॥१७९॥

मैं समझता हूँ, शत्रुनाशन-कार्यकी सिद्धिके लिये जो सर्पयज्ञरूप कर्म शास्त्रमें देखा गया है, उसके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ है । अतः राजन् ! अपने महात्मा पिताकी मृत्युका बदला आप अवश्य लें ॥ १७९ ॥

तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद् राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥१८०॥

यद्यपि आपके पिता महाराज परीक्षित्‌ने कोई अपराध नहीं किया था तो भी उस दुष्टात्मा सर्पने उन्हें डँस लिया और वे वज्रके मारे हुए वृक्षकी भाँति तुरंत ही गिरकर कालके गालमें चले गये ॥ १८० ॥

बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान् पापो योऽदशत् पितरं तव ॥१८१॥

सर्पोंमें अधम तक्षक अपने बलके घमण्डसे उन्मत्त रहता है । उस पापीने यह बड़ा भारी अनुचित कर्म किया जो आपके पिताको डँस लिया ॥ १८१ ॥

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं काश्यपं चैव न्यवर्तयत् पापकृत् ॥१८२॥

वे महाराज परीक्षित् राजर्षियोंके वंशकी रक्षा करनेवाले और देवताओंके समान तेजस्वी थे, काश्यप नामक एक ब्राह्मण आपके पिताकी रक्षा करनेके लिये उनके पास आना चाहते थे, किंतु उस पापाचारीने उन्हें लौटा दिया ॥१८२॥

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद् विधीयताम् ॥१८३॥

अतः महाराज ! आप सर्पयज्ञका अनुष्ठान करके उसकी प्रज्वलित अग्निमें उस पापीको होम दीजिये और जल्दी-से-जल्दी यह कार्य कर डालिये ॥ १८३ ॥

एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत् कृतं राजन् भविष्यसि ॥१८४॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥१८५॥

ऐसा करके आप अपने पिताकी मृत्युका बदला चुका

सकेंगे एवं मेरा भी अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा। समूची पृथ्वीका पालन करनेवाले नरेश! तक्षक बड़ा दुरात्मा है। पापरहित महाराज! मैं गुरुजीके लिये एक कार्य करने जा रहा था, जिसमें उस दुष्टने बहुत बड़ा विघ्न डाल दिया था ॥ १८४-१८५ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १८६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! यह समाचार सुनकर राजा जनमेजय तक्षकपर कुपित हो उठे। उत्तङ्कके वाक्यने उनकी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वे क्रोधसे अत्यन्त कुपित हो गये ॥ १८६ ॥

अपृच्छत् स तदा राजा मन्त्रिणस्तान् सुदुःखितः।
उत्तङ्कस्यैव सांनिध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १८७ ॥

उस समय राजा जनमेजयने अत्यन्त दुखी होकर उत्तङ्कके निकट ही मन्त्रियोंसे पिताके स्वर्गगमनका समाचार पूछा ॥

तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत्।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादशृणोत् तदा ॥ १८८ ॥

उत्तङ्कके मुखसे जिस समय उन्होंने पिताके मरनेकी बात सुनी, उसी समय वे महाराज दुःख और शोकमें डूब गये ॥ १८८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौष्यपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौष्यपर्वमें (पौष्याख्यानविषयक) तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(पौलोमपर्व)

चतुर्थोऽध्यायः

कथा-प्रवेश

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥ १ ॥

नैमिषारण्यमें कुलपति शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें उपस्थित महर्षियोंके समीप एक दिन लोमहर्षणपुत्र सूतनन्दन उग्रश्रवा आये। वे पुराणोंकी कथा कहनेमें कुशल थे ॥ १ ॥

पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच।
किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति किमहं ब्रवाणीति ॥ २ ॥

वे पुराणोंके ज्ञाता थे। उन्होंने पुराणविद्यामें बहुत परिश्रम किया था। वे नैमिषारण्यवासी महर्षियोंसे हाथ जोड़कर बोले—'पूज्यपाद महर्षिगण! आपलोग क्या सुनना चाहते हैं? मैं किस प्रसङ्गपर बोलूँ?' ॥ २ ॥

तमृषय ऊचुः परमं लोमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां न प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ॥ ३ ॥

तब ऋषियोंने उनसे कहा—लोमहर्षणकुमार! हम आपको उत्तम प्रसङ्ग बतलायेंगे और कथा-प्रसङ्ग प्रारम्भ होनेपर सुननेकी इच्छा रखनेवाले हमलोगोंके समक्ष आप बहुत-सी कथाएँ कहेंगे ॥ ३ ॥

तत्र भवान् कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥ ४ ॥

किंतु पूज्यपाद कुलपति भगवान् शौनक अभी अग्निकी उपासनामें संलग्न हैं ॥ ४ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ५ ॥

वे देवताओं और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी दिव्य कथाएँ जानते हैं। मनुष्यों, नागों तथा गन्धर्वोंकी कथाओंसे भी वे सर्वथा परिचित हैं ॥ ५ ॥

स चाप्यस्मिन् मखे सौते विद्वान् कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ६ ॥

सूतनन्दन! वे विद्वान् कुलपति विप्रवर शौनकजी भी इस यज्ञमें उपस्थित हैं। वे चतुर, उत्तम व्रतधारी तथा बुद्धिमान् हैं। शास्त्र (श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण) तथा आरण्यक (बृहदारण्यक आदि) के तो वे आचार्य ही हैं ॥ ६ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत् प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥

वे सदा सत्य बोलनेवाले, मन और इन्द्रियोंके संयममें तत्पर, तपस्वी और नियमपूर्वक व्रतको निबाहनेवाले हैं। वे हम सभी लोगोंके लिये सम्माननीय हैं; अतः जबतक उनका आना न हो, तबतक प्रतीक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम्।
ततो वक्ष्यसि यत् त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥

गुरुदेव शौनक जब यहाँ उत्तम आसनपर विराजमान

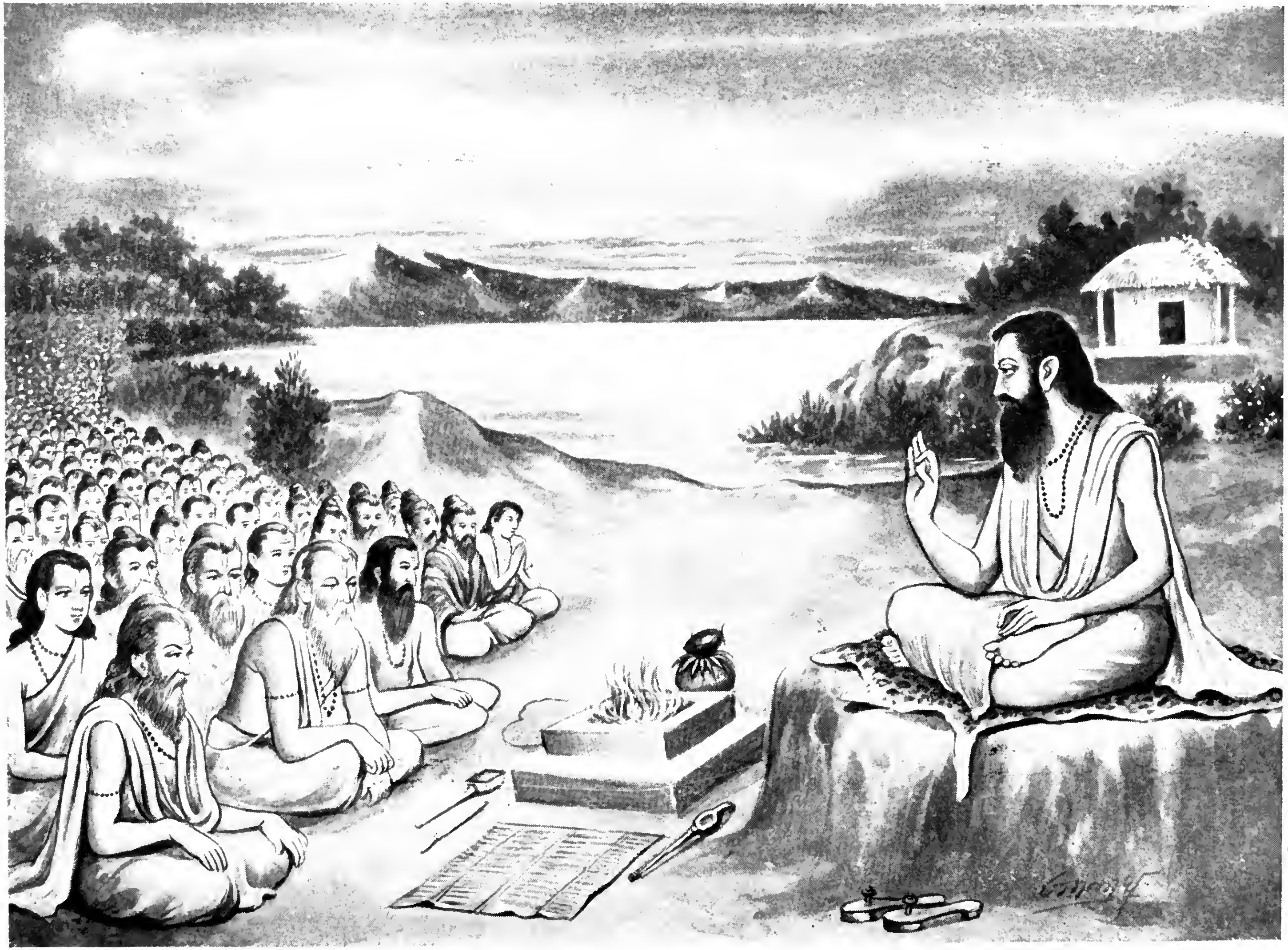

उग्रश्रवाजीके द्वारा महाभारतकी कथा

हो जायँ उस समय वे द्विजश्रेष्ठ आपसे जो कुछ पूछें, उसी प्रसङ्गको लेकर आप बोलियेगा ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ९ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही होगा), गुरुदेव महात्मा शौनकजीके बैठ जानेपर उन्हींके पूछनेके अनुसार मैं नाना प्रकारकी पुण्यदायिनी कथाएँ कहूँगा ॥ ९ ॥

सोऽथ विप्रर्षभः सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि ।
देवान् वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाऽऽजगाम ह ॥ १० ॥

यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ ११ ॥

तदनन्तर विप्रशिरोमणि शौनकजी क्रमशः सब कार्योंका विधिपूर्वक सम्पादन करके वैदिक स्तुतियोंद्वारा देवताओंको और जलकी अञ्जलिद्वारा पितरोंको तृप्त करनेके पश्चात् उस स्थानपर आये, जहाँ उत्तम व्रतधारी सिद्ध-ब्रह्मर्षिगण यज्ञमण्डपमें सूतजीको आगे विराजमान करके सुखपूर्वक बैठे थे ॥ १०-११ ॥

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ १२ ॥

ऋत्विजों और सदस्योंके बैठ जानेपर कुलपति शौनकजी भी वहाँ बैठे और इस प्रकार बोले ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें कथा-प्रवेशनामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भृगुके आश्रमपर पुलोमा दानवका आगमन और उसकी अग्निदेवके साथ बातचीत

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा ।
कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लौमहर्षणे ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—तात लोमहर्षणकुमार ! पूर्वकालमें आपके पिताने सब पुराणोंका अध्ययन किया था । क्या आपने भी उन सबका अध्ययन किया है ? ॥ १ ॥

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ २ ॥

पुराणमें दिव्य कथाएँ वर्णित हैं । परम बुद्धिमान् राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंके आदि वंश भी बताये गये हैं । जिनको पहले हमने आपके पिताके मुखसे सुना है ॥ २ ॥

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

उनमेंसे प्रथम तो मैं भृगुवंशका ही वर्णन सुनना चाहता हूँ । अतः आप इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहिये । हम सब लोग आपकी कथा सुननेके लिये सर्वथा उद्यत हैं ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

यदधीतं पुरा सम्यग् द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
वैशम्पायनविप्राग्र्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ॥ ४ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवाने कहा—भृगुनन्दन ! वैशम्पायन आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महात्मा द्विजवरोंने पूर्वकालमें जो पुराण भलीभाँति पढ़ा था और उन विद्वानोंने जिस प्रकार पुराणका वर्णन किया है, वह सब मुझे ज्ञात है ॥ ४ ॥

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक् चैव ततो मया ।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ॥ ५ ॥
पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन ।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने ॥ ६ ॥
निगदामि यथा युक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ।
भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम् ।
भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ॥ ८ ॥

मेरे पिताने जिस पुराणविद्याका भलीभाँति अध्ययन किया था, वह सब मैंने उन्हींके मुखसे पढ़ी और सुनी है । भृगुनन्दन ! आप पहले उस सर्वश्रेष्ठ भृगुवंशका वर्णन सुनिये, जो देवता, इन्द्र, ऋषि और मरुद्गणोंसे पूजित है । महामुने ! आपके इस अत्यन्त दिव्य भार्गववंशका परिचय देता हूँ । यह परिचय अद्भुत एवं युक्तियुक्त तो होगा ही, पुराणोंके आश्रयसे भी संयुक्त होगा । हमने सुना है कि स्वयम्भू ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें महर्षि भगवान् भृगुको अग्निसे उत्पन्न किया था । भृगुके अत्यन्त प्रिय पुत्र च्यवन हुए, जिन्हें भार्गव भी कहते हैं ॥ ५-८ ॥

च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः ।
प्रमतेरप्यभूत् पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ९ ॥

च्यवनके पुत्रका नाम प्रमति था, जो बड़े धर्मात्मा हुए । प्रमतिके घृताची नामक अप्सराके गर्भसे रुरु नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ॥१०॥

रुरुके पुत्र शुनक थे, जिनका जन्म प्रमद्वराके गर्भसे हुआ था। शुनक वेदोंके पारंगत विद्वान् और धर्मात्मा थे। वे आपके पूर्वपितामह थे ॥ १० ॥

तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान् ब्रह्मवित्तमः।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः ॥११॥

वे तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। धर्मात्मा, सत्यवादी और मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले थे। उनका आहार-विहार नियमित एवं परिमित था ॥११॥

शौनक उवाच

सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥१२॥

शौनकजी बोले—सूतपुत्र! मैं पूछता हूँ कि महात्मा भार्गवका नाम च्यवन कैसे प्रसिद्ध हुआ? यह मुझे बताइये ॥

सौतिरुवाच

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता।
तस्यां समभवद् गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ॥१३॥

उग्रश्रवाजीने कहा—महामुने! भृगुकी पत्नीका नाम पुलोमा था। वह अपने पतिको बहुत ही प्यारी थी। उसके उदरमें भृगुजीके वीर्यसे उत्पन्न गर्भ पल रहा था ॥ १३ ॥

तस्मिन् गर्भेऽथ सम्भूते पुलोमायां भृगूद्वह।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥१४॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ॥१५॥

भृगुवंशशिरोमणे! पुलोमा यशस्वी भृगुकी अनुकूल शील-स्वभाववाली धर्मपत्नी थी। उसकी कुक्षिमें उस गर्भके प्रकट होनेपर एक समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुजी स्नान करनेके लिये आश्रमसे बाहर निकले। उस समय एक राक्षस, जिसका नाम भी पुलोमा ही था, उनके आश्रमपर आया ॥१४-१५॥

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम्।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥१६॥

आश्रममें प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि महर्षि भृगुकी पतिव्रता पत्नीपर पड़ी और वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी सुध-बुध खो बैठा ॥ १६ ॥

अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥१७॥

सुन्दरी पुलोमाने उस राक्षसको अभ्यागत अतिथि मानकर वनके फल-मूल आदिसे उसका सत्कार करनेके लिये उसे न्योता दिया ॥ १७ ॥

तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन् हृच्छयेनाभिपीडितम्।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद् राजन् जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥१८॥

ब्रह्मन्! वह राक्षस कामसे पीड़ित हो रहा था। उस समय उसने वहाँ पुलोमाको अकेली देख बड़े हर्षका अनुभव किया, क्योंकि वह सती साध्वी पुलोमाको हर ले जाना चाहता था ॥ १८ ॥

जातमित्यब्रवीत् कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम्।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ॥१९॥

मनमें उस शुभ लक्षणा सतीके अपहरणकी इच्छा रखकर वह प्रसन्नतासे फूल उठा और मन-ही-मन बोला, 'मेरा तो काम बन गया।' पवित्र मुसकानवाली पुलोमाको पहले उस पुलोमा नामक राक्षसने वरण* किया था ॥ १९ ॥

तां तु प्रादात् पिता पश्चाद् भृगवे शास्त्रवत्तदा।
तस्य तत् किल्बिषं नित्यं हृदि वर्तति भार्गव ॥२०॥

किंतु पीछे उसके पिताने शास्त्र-विधिके अनुसार महर्षि भृगुके साथ उसका विवाह कर दिया। भृगुनन्दन! उसके पिताका वह अपराध राक्षसके हृदयमें सदा काँटे-सा कसकता रहता था ॥ २० ॥

इदमन्तरमित्येवं हर्तुं चक्रे मनस्तदा।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥२१॥

यही अच्छा मौका है, ऐसा विचारकर उसने उस समय पुलोमाको हर ले जानेका पक्का निश्चय कर लिया। इतनेहीमें राक्षसने देखा, अग्निहोत्र-गृहमें अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं॥

तमपृच्छत् ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ॥२२॥

तब पुलोमाने उस समय उस प्रज्वलित पावकसे पूछा—'अग्निदेव! मैं सत्यकी शपथ देकर पूछता हूँ, बताओ, यह किसकी पत्नी है?॥ २२ ॥

मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते।
मया हीयं वृता पूर्वं भार्यार्थे वरवर्णिनी ॥२३॥

'पावक! तुम देवताओंके मुख हो। अतः मेरे पूछनेपर ठीक-ठीक बताओ। पहले तो मैंने ही इस सुन्दरीको अपनी पत्नी बनानेके लिये वरण किया था ॥ २३ ॥

* बाल्यावस्थामें पुलोमा रो रही थी। उसके रोदनकी निवृत्तिके लिये पिताने डराते हुए कहा—'रे राक्षस! तू इसे पकड़ ले।' घरमें पुलोमा राक्षस पहलेसे ही छिपा हुआ था। उसने मन-ही-मन वरण कर लिया—'यह मेरी पत्नी है।' बात केवल इतनी ही थी। इसका अभिप्राय यह है कि हँसी-खेलमें भी या डाँटने-डपटनेके लिये भी बालकोंसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये और राक्षसका नाम भी नहीं रखना चाहिये।

पश्चादिमां पिता प्रादाद् भृगवेऽनृतकारकः ।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ॥२४॥
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम् ।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति ।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ॥२५॥

किंतु बादमें असत्य व्यवहार करनेवाले इसके पिताने भृगुके साथ इसका विवाह कर दिया । यदि यह एकान्तमें मिली हुई सुन्दरी भृगुकी भार्या है तो वैसी बात सच-सच बता दो; क्योंकि मैं इसे इस आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूँ । वह क्रोध आज मेरे हृदयको दग्ध-सा कर रहा है; इस सुमध्यमाको, जो पहले मेरी भार्या थी, भृगुने अन्यायपूर्वक हड़प लिया है' ॥ २४-२५ ॥

सौतिरुवाच

एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम् ।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥२६॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वह राक्षस भृगुकी पत्नीके प्रति, यह मेरी है या भृगुकी—ऐसा संशय रखते हुए, प्रज्वलित अग्निको सम्बोधित करके बार-बार पूछने लगा—॥२६॥

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा ।
साक्षिवत् पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥२७॥

'अग्निदेव ! तुम सदा सब प्राणियोंके भीतर निवास करते हो । सर्वज्ञ अग्ने ! तुम पुण्य और पापके विषयमें साक्षीकी भाँति स्थित रहते हो; अतः सच्ची बात बताओ ॥ २७ ॥

मत्पूर्वापहृता भार्या भृगुणानृतकारिणा ।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥२८॥

'असत्य बर्ताव करनेवाले भृगुने, जो पहले मेरी ही थी, उस भार्याका अपहरण किया है । यदि यह वही है तो वैसी बात ठीक-ठीक बता दो ॥ २८ ॥

श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम् ।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥२९॥

'सर्वज्ञ ! अग्निदेव ! तुम्हारे मुखसे सब बातें सुनकर मैं भृगुकी इस भार्याको तुम्हारे देखते-देखते इस आश्रमसे हर ले जाऊँगा; इसलिये मुझसे सच्ची बात कहो' ॥ २९ ॥

सौतिरुवाच

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत् ।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥३०॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राक्षसकी यह बात सुनकर ज्वालामयी सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव बहुत दुखी हुए । एक ओर वे झूठसे डरते थे तो दूसरी ओर भृगुके शापसे; अतः धीरेसे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच

त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन ।
किन्त्वियं विधिना पूर्वं मन्त्रवन्न वृता त्वया ॥३१॥

अग्निदेव बोले—दानवनन्दन ! इसमें सन्देह नहीं कि पहले तुम्हींने इस पुलोमाका वरण किया था, किंतु विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए इसके साथ तुमने विवाह नहीं किया था ॥ ३१ ॥

पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी ।
ददाति न पिता तुभ्यं वरलोभान्महायशाः ॥३२॥

पिताने तो यह यशस्विनी पुलोमा भृगुको ही दी है । तुम्हारे वरण करनेपर भी इसके महायशस्वी पिता तुम्हारे हाथमें इसे इसलिये नहीं देते थे कि उनके मनमें तुमसे श्रेष्ठ वर मिल जानेका लोभ था ॥ ३२ ॥

यथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम् ।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ॥३३॥

दानव ! तदनन्तर महर्षि भृगुने मुझे साक्षी बनाकर वेदोक्त क्रियाद्वारा विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण किया था ॥ ३३ ॥

सेयमित्यवगच्छामि नानृतं वक्तुमुत्सहे ।
नानृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ॥३४॥

यह वही है ऐसा मैं जानता हूँ । इस विषयमें मैं झूठ नहीं बोल सकता । दानवश्रेष्ठ ! लोकमें असत्यकी कभी पूजा नहीं होती है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि पुलोमाग्निसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें पुलोमा-अग्निसंवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

महर्षि च्यवनका जन्म, उनके तेजसे पुलोमा राक्षसका भस्म होना तथा भृगुका अग्निदेवको शाप देना

सौतिरुवाच

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद् रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन् वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन् ! अग्निका यह वचन सुनकर उस राक्षसने वराहका रूप धारण करके मन और वायुके समान वेगसे उसका अपहरण किया ॥ १ ॥

ततः स गर्भो निवसन् कुक्षौ भृगुकुलोद्वह ।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥

भृगुवंशशिरोमणे ! उस समय वह गर्भ जो अपनी माताकी कुक्षिमें निवास कर रहा था, अत्यन्त रोषके कारण योगबलसे माताके उदरसे च्युत होकर बाहर निकल आया । च्युत होनेके कारण ही उसका नाम च्यवन हुआ ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम् ।
तद् रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥

माताके उदरसे च्युत होकर गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी गर्भको देखते ही वह राक्षस पुलोमाको छोड़कर गिर पड़ा और तत्काल जलकर भस्म हो गया ॥ ३ ॥

सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम् ।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

सुन्दर कटि-प्रदेशवाली पुलोमा दुःखसे मूर्छित हो गयी और किसी तरह सँभलकर भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले अपने पुत्र भार्गव च्यवनको गोदमें लेकर ब्रह्माजीके पास चली ॥

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
सान्त्वयामास भगवान् वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने स्वयं भृगुकी उस पतिव्रता पत्नीको रोती और नेत्रोंसे आँसू बहाती देखा । तब पितामह भगवान् ब्रह्माने अपनी पुत्रवधूको सान्त्वना दी—उसे धीरज बँधाया । उसके आँसुओंके बूँदोंसे एक बहुत बड़ी नदी प्रकट हो गयी ॥ ५-६ ॥

आवर्तन्ती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥

वह नदी तपस्वी भृगुकी उस पत्नीके मार्गको आप्लावित किये हुए थी । उस समय लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने पुलोमाके मार्गका अनुसरण करनेवाली उस नदीको देखकर उसका नाम वधूसरा रख दिया, जो च्यवनके आश्रमके पास प्रवाहित होती है ॥ ७-८ ॥

स एव च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम् ।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ ९ ॥

इस प्रकार भृगुपुत्र प्रतापी च्यवनका जन्म हुआ । तदनन्तर पिता भृगुने वहाँ अपने पुत्र च्यवन तथा पत्नी पुलोमाको देखा और सब बातें जानकर उन्होंने अपनी भार्या पुलोमासे कुपित होकर पूछा ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।
न हि त्वां वेद तद् रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥१०॥

भृगु बोले—कल्याणी ! तुम्हें हर लेनेकी इच्छासे आये हुए उस राक्षसको किसने तुम्हारा परिचय दे दिया ? मनोहर मुसकानवाली मेरी पत्नी तुझ पुलोमाको वह राक्षस नहीं जानता था ॥ १० ॥

तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥११॥

प्रिये ! ठीक-ठीक बताओ । आज मैं कुपित होकर अपने उस अपराधीको शाप देना चाहता हूँ । कौन मेरे शापसे नहीं डरता है ? किसके द्वारा यह अपराध हुआ है ? ॥११॥

पुलोमोवाच

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद् रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥१२॥

पुलोमा बोली—भगवन् ! अग्निदेवने उस राक्षसको मेरा परिचय दे दिया । इससे कुररीकी भाँति विलाप करती हुई मुझ अबलाको वह राक्षस उठा ले गया ॥ १२ ॥

साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं च तद् रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥१३॥

आपके इस पुत्रके तेजसे मैं उस राक्षसके चंगुलसे छूट सकी हूँ । राक्षस मुझे छोड़कर गिरा और जलकर भस्म हो गया ॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥१४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—पुलोमाका यह वचन सुनकर परम क्रोधी महर्षि भृगुका क्रोध और भी बढ़ गया । उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया—'तुम सर्वभक्षी हो जाओगे' ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्नि-शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

शापसे कुपित हुए अग्निदेवका अदृश्य होना और ब्रह्माजीका उनके शापको संकुचित करके उन्हें प्रसन्न करना

सौतिरुवाच

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन् कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षि भृगुके शाप देनेपर अग्निदेवने कुपित होकर यह बात कही—'ब्रह्मन् ! तुमने मुझे शाप देनेका यह दुस्साहसपूर्ण कार्य क्यों किया है ? ॥ १ ॥

धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम्।
पृष्टो यदब्रवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥

'मैं सदा धर्मके लिये प्रयत्नशील रहता और सत्य एवं पक्षपातशून्य वचन बोलता हूँ; अतः उस राक्षसके पूछनेपर यदि मैंने सच्ची बात कह दी तो इसमें मेरा क्या अपराध है ? ॥२॥

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात् तथा परान् ॥ ३ ॥

'जो साक्षी किसी बातको ठीक-ठीक जानते हुए भी पूछनेपर कुछ-का-कुछ कह देता—झूठ बोलता है, वह अपने कुलमें पहले और पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका नाश करता—उन्हें नरकमें ढकेलता है ॥ ३ ॥

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

'इसी प्रकार जो किसी कार्यके वास्तविक रहस्यका ज्ञाता है, वह उसके पूछनेपर यदि जानते हुए भी नहीं बतलाता—मौन रह जाता है तो वह भी उसी पापसे लिप्त होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन् कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥

'मैं भी तुम्हें शाप देनेकी शक्ति रखता हूँ तो भी नहीं देता हूँ; क्योंकि ब्राह्मण मेरे मान्य हैं। ब्रह्मन्! यद्यपि तुम सब कुछ जानते हो, तथापि मैं तुम्हें जो बता रहा हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—॥ ५ ॥

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥

'मैं योगसिद्धिके बलसे अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि आदि मूर्तियोंमें, नित्य किये जानेवाले अग्निहोत्रोंमें, अनेक व्यक्तियोंद्वारा संचालित सत्रोंमें, गर्भाधान आदि क्रियाओंमें तथा ज्योतिष्टोम आदि मखों (यज्ञों) में सदा निवास करता हूँ ॥ ६ ॥

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥

'मुझमें वेदोक्त विधिसे जिस हविष्यकी आहुति दी जाती है, उसके द्वारा निश्चय ही देवता तथा पितृगण तृप्त होते हैं ॥७॥

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥

'जल ही देवता है तथा जल ही पितृगण हैं। दर्श और पौर्णमास याग पितरों तथा देवताओंके लिये किये जाते हैं ॥८॥

देवताः पितरस्तस्मात् पितरश्चापि देवताः।
एकीभूताश्च पूज्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥

'अतः देवता पितर हैं और पितर ही देवता हैं। विभिन्न पर्वोंपर ये दोनों एक रूपमें भी पूजे जाते हैं और पृथक्-पृथक् भी ॥ ९ ॥

देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम्।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥

'मुझमें जो आहुति दी जाती है, उसे देवता और पितर दोनों भक्षण करते हैं। इसीलिये मैं देवताओं और पितरोंका मुख माना जाता हूँ ॥ १० ॥

अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ॥ ११ ॥
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम्।

'अमावास्याको पितरोंके लिये और पूर्णिमाको देवताओंके लिये मेरे मुखसे ही आहुति दी जाती है और उस आहुतिके रूपमें प्राप्त हुए हविष्यका वे देवता और पितर उपभोग करते हैं, सर्वभक्षी होनेपर मैं इन सबका मुँह कैसे हो सकता हूँ ?' ॥ ११½ ॥

सौतिरुवाच

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ॥ १२ ॥
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च।
निरोंकारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ १३ ॥
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन् सुदुःखिताः।
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान् गत्वाब्रुवन् वचः ॥ १४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! तदनन्तर अग्निदेवने कुछ सोच-विचारकर द्विजोंके अग्निहोत्र, यज्ञ, सत्र तथा संस्कारसम्बन्धी क्रियाओंमेंसे अपने आपको समेट लिया। फिर तो अग्निके बिना समस्त प्रजा ॐकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहा आदिसे वञ्चित होकर अत्यन्त दुःखी हो गयी। तब महर्षिगण अत्यन्त उद्विग्न हो देवताओंके पास जाकर बोले—॥ १२–१४ ॥

अग्निनाशात् क्रियाभ्रंशाद् भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः।
विधद्ध्वमत्र यत् कार्यं न स्यात् कालात्ययो यथा ॥१५॥

'पापरहित देवगण! अग्निके अदृश्य हो जानेसे अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण क्रियाओंका लोप हो गया है। इससे तीनों लोकोंके प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं; अतः इस विषयमें जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे आपलोग करें। इसमें अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ १५ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् ऋषि और देवता ब्रह्माजीके पास गये और अग्निको जो शाप मिला था एवं अग्निने सम्पूर्ण क्रियाओंसे जो अपने-आपको समेटकर अदृश्य कर लिया था, वह सब समाचार निवेदन करते हुए बोले—॥ १६ ॥

भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक् तथा ॥ १७ ॥
हुतभुक् सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति।

'महाभाग किसी कारणवश महर्षि भृगुने अग्निदेवको सर्वभक्षी होनेका शाप दे दिया है, किंतु वे सम्पूर्ण देवताओंके मुख, यज्ञभागके अग्रभोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकोंमें दी हुई आहुतियोंका उपभोग करनेवाले होकर भी सर्वभक्षी कैसे हो सकेंगे ?' ॥ १७½ ॥

श्रुत्वा तु तद् वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ॥ १८ ॥
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम्।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ॥ १९ ॥
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन् क्रियाणां च प्रवर्तकः।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन् यथा क्रियाः ॥ २० ॥
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन् हुताशन।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ॥ २१ ॥

देवताओं तथा ऋषियोंकी बात सुनकर विश्वविधाता ब्रह्माजीने प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले अविनाशी अग्निको बुलाकर मधुर वाणीमें कहा—'हुताशन ! यहाँ समस्त लोकोंके स्रष्टा और संहारक तुम्हीं हो, तुम्हीं तीनों लोकोंको धारण करनेवाले हो, सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रवर्तक भी तुम्हीं हो। अतः लोकेश्वर ! तुम ऐसा करो जिससे अग्निहोत्र आदि क्रियाओंका लोप न हो। तुम सबके स्वामी होकर भी इस प्रकार मूढ़ (मोहग्रस्त) कैसे हो गये ? तुम संसारमें सदा पवित्र हो, समस्त प्राणियोंकी गति भी तुम्हीं हो ॥ १८–२१ ॥

न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन्॥२२॥

'तुम सारे शरीरसे सर्वभक्षी नहीं होओगे। अग्निदेव ! तुम्हारे अपानदेशमें जो ज्वालाएँ होंगी, वे ही सब कुछ भक्षण करेंगी ॥ २२ ॥

क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २३ ॥
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद् विनिर्गतम् ॥ २४ ॥
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २५ ॥

'इसके सिवा जो तुम्हारी क्रव्याद मूर्ति है (कच्चा मांस या मुर्दा जलानेवाली जो चिताकी आग है) वही सब कुछ भक्षण करेगी । जैसे सूर्यकी किरणोंसे स्पर्श होनेपर सब वस्तुएँ शुद्ध मानी जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारी ज्वालाओंसे दग्ध होनेपर सब कुछ शुद्ध हो जायगा। अग्निदेव ! तुम अपने प्रभावसे ही प्रकट हुए उत्कृष्ट तेज हो; अतः विभो ! अपने तेजसे ही महर्षिके उस शापको सत्य कर दिखाओ और अपने मुखमें आहुतिके रूपमें पड़े हुए देवताओंके तथा अपने भागको भी ग्रहण करो' ॥ २३–२५ ॥

सौतिरुवाच

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम्।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह सुनकर अग्निदेवने पितामह ब्रह्माजीसे कहा—'एवमस्तु (ऐसा ही हो)।' यों कहकर वे भगवान् ब्रह्माजीके आदेशका पालन करनेके लिये चल दिये ॥ २६ ॥

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम्।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥

इसके बाद देवर्षिगण अत्यन्त प्रसन्न हो जैसे आये थे वैसे ही चले गये । फिर ऋषि-महर्षि भी अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण कर्मोंका पूर्ववत् पालन करने लगे ॥ २७ ॥

दिवि देवा मुमुदिरे भूतसङ्घाश्च लौकिकाः।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २८ ॥

देवतालोग स्वर्गलोकमें आनन्दित हो गये और इस लोकके समस्त प्राणी भी बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही शापजनित पाप कट जानेसे अग्निदेवको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २८ ॥

एवं स भगवाञ्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च सम्भवः ॥ २९ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें भगवान् अग्निदेवको महर्षि भृगुसे शाप प्राप्त हुआ था। यही अग्निशापसम्बन्धी प्राचीन इतिहास है। पुलोमा राक्षसके विनाश और च्यवन मुनिके जन्मका वृत्तान्त भी यही है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापमोचने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्निशापमोचनसम्बन्धी सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

प्रमद्वराका जन्म, रुरुके साथ उसका वाग्दान तथा विवाहके पहले ही साँपके काटनेसे प्रमद्वराकी मृत्यु

सौतिरुवाच

स चापि च्यवनो ब्रह्मन् भार्गवोऽजनयत् सुतम्।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम्॥ १॥
प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत्।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत्॥ २॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन्! भृगुपुत्र च्यवनने अपनी पत्नी सुकन्याके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम प्रमति था। महात्मा प्रमति बड़े तेजस्वी थे। फिर प्रमतिने घृताची अप्सरासे रुरुनामक पुत्र उत्पन्न किया तथा रुरुके द्वारा प्रमद्वराके गर्भसे शुनकका जन्म हुआ॥ १-२॥

(शौनकस्तु महाभाग शुनकस्य सुतो भवान्।)
शुनकस्तु महासत्त्वः सर्वभार्गवनन्दनः।
जातस्तपसि तीव्रे च स्थितः स्थिरयशास्ततः॥ ३॥

महाभाग शौनकजी! आप शुनकके ही पुत्र होनेके कारण 'शौनक' कहलाते हैं। शुनक महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न तथा सम्पूर्ण भृगुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले थे। वे जन्म लेते ही तीव्र तपस्यामें संलग्न हो गये। इससे उनका अविचल यश सब ओर फैल गया॥ ३॥

तस्य ब्रह्मन् रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः॥ ४॥

ब्रह्मन्! मैं महातेजस्वी रुरुके सम्पूर्ण चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। वह सब-का-सब आप सुनिये॥ ४॥

ऋषिरासीन्महान् पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः॥ ५॥

पूर्वकालमें स्थूलकेश नामसे विख्यात एक तप और विद्यासे सम्पन्न महर्षि थे; जो समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे॥

एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान्।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः॥ ६॥

विप्रर्षे! इन्हीं महर्षिके समयकी बात है—गन्धर्वराज विश्वावसुने मेनकाके गर्भसे एक संतान उत्पन्न की॥ ६॥

अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति॥ ७॥

भृगुनन्दन! मेनका अप्सराने गन्धर्वराजद्वारा स्थापित किये हुए उस गर्भको समय पूरा होनेपर स्थूलकेश मुनिके आश्रमके निकट जन्म दिया॥ ७॥

उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम सा।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन् निर्दया निरपत्रपा॥ ८॥

ब्रह्मन्! निर्दय और निर्लज्ज मेनका अप्सरा उस नवजात गर्भको वहीं नदीके तटपर छोड़कर चली गयी॥ ८॥

कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः॥ ९॥
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम्।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः॥ १०॥
जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभे॥ ११॥

तदनन्तर तेजस्वी महर्षि स्थूलकेशने एकान्त स्थानमें त्यागी हुई उस बन्धुहीन कन्याको देखा, जो देवताओंकी बालिकाके समान दिव्य शोभासे प्रकाशित हो रही थी। उस समय उस कन्याको वैसी दशामें देखकर द्विजश्रेष्ठ मुनिवर स्थूलकेशके मनमें बड़ी दया आयी; अतः वे उसे उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे। वह सुन्दरी कन्या उनके शुभ आश्रमपर दिनों-दिन बढ़ने लगी॥ ९-११॥

जातकाद्याः क्रियाश्चास्या विधिपूर्वं यथाक्रमम्।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः॥ १२॥

महाभाग महर्षि स्थूलकेशने क्रमशः उस बालिकाके जातकर्मादि सब संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये॥ १२॥

प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः॥ १३॥

वह बुद्धि, रूप और सब उत्तम गुणोंसे सुशोभित हो संसारकी समस्त प्रमदाओं (सुन्दरी स्त्रियों) से श्रेष्ठ जान पड़ती थी; इसलिये महर्षिने उसका नाम 'प्रमद्वरा' रख दिया॥

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम्।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा॥ १४॥

एक दिन धर्मात्मा रुरुने महर्षिके आश्रममें उस प्रमद्वराको देखा। उसे देखते ही उनका हृदय तत्काल कामदेवके वशीभूत हो गया॥ १४॥

पितरं सखिभिः सोऽथ श्रावयामास भार्गवम्।
प्रमतिश्चाभ्ययाचत् तां स्थूलकेशं यशस्विनम्॥ १५॥

तब उन्होंने मित्रोंद्वारा अपने पिता भृगुवंशी प्रमतिको अपनी अवस्था कहलायी। तदनन्तर प्रमतिने यशस्वी स्थूलकेश मुनिसे (अपने पुत्रके लिये) उनकी वह कन्या माँगी॥ १५॥

ततः प्रादात् पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम्।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते॥ १६॥

तब पिताने अपनी कन्या प्रमद्वराका रुरुके लिये वाग्दान कर दिया और आगामी उत्तरफाल्गुनी नक्षत्रमें विवाहका मुहूर्त निश्चित किया॥ १६॥

ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते।
सखिभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १७ ॥

तदनन्तर जब विवाहका मुहूर्त निकट आ गया, उसी समय वह सुन्दरी कन्या सखियोंके साथ क्रीड़ा करती हुई वनमें घूमने लगी ॥ १७ ॥

नापश्यत् सम्प्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम्।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १८ ॥

मार्गमें एक साँप चौड़ी जगह घेरकर तिरछा सो रहा था। प्रमद्वराने उसे नहीं देखा। वह कालसे प्रेरित होकर मरना चाहती थी, इसलिये सर्पको पैरसे कुचलती हुई आगे निकल गयी ॥ १८ ॥

स तस्याः सम्प्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा।
विषोपलिप्तान् दशनान् भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १९ ॥

उस समय काल-धर्मसे प्रेरित हुए उस सर्पने उस असावधान कन्याके अङ्गमें बड़े जोरसे अपने विषभरे दाँत गड़ा दिये ॥ १९ ॥

सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ॥ २० ॥
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्धजा।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाभवत् ॥ २१ ॥

उस सर्पके डँस लेनेपर वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। उसके शरीरका रंग उड़ गया, शोभा नष्ट हो गयी, आभूषण इधर-उधर बिखर गये और चेतना लुप्त हो गयी। उसके बाल खुले हुए थे। अब वह अपने उन बन्धुजनोंके हृदयमें विषाद उत्पन्न कर रही थी। जो कुछ ही क्षण पहले अत्यन्त सुन्दरी एवं दर्शनीय थी, वही प्राणशून्य होनेके कारण अब देखने योग्य नहीं रह गयी ॥ २०-२१ ॥

प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ २२ ॥

वह सर्पके विषसे पीड़ित होकर गाढ़ निद्रामें सोयी हुईकी भाँति भूमिपर पड़ी थी। उसके शरीरका मध्यभाग अत्यन्त कृश था। वह उस अचेतनावस्थामें भी अत्यन्त मनोहारिणी जान पड़ती थी ॥ २२ ॥

ददर्श तां पिता चैव ये चैवान्ये तपस्विनः।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ २३ ॥

उसके पिता स्थूलकेशने तथा अन्य तपस्वी महात्माओंने भी आकर उसे देखा। वह कमलकी-सी कान्तिवाली किशोरी धरतीपर चेष्टारहित पड़ी थी ॥ २३ ॥

ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २४ ॥
उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः।
भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ॥ २५ ॥
प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः।

तदनन्तर स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शङ्खमेखल, उद्दालक, कठ, महायशस्वी श्वेत, भरद्वाज, कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण, गौतम, अपने पुत्र रुरुसहित प्रमति तथा अन्य सभी वनवासी श्रेष्ठ द्विज दयासे द्रवित होकर वहाँ आये ॥ २४-२५½ ॥

तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ॥ २६ ॥
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ।
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठास्तत्रैवोपाविशंस्तदा ॥ २७ ॥

वे सब लोग उस कन्याको सर्पके विषसे पीड़ित हो प्राणशून्य हुई देख करुणावश रोने लगे। रुरु तो अत्यन्त आर्त होकर वहाँसे बाहर चला गया और शेष सभी द्विज उस समय वहीं बैठे रहे ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वरासर्पदंशेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके सर्पदंशनसे सम्बन्ध रखनेवाला आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक, कुल योग २७½ श्लोक)

नवमोऽध्यायः

रुरुकी आधी आयुसे प्रमद्वराका जीवित होना, रुरुके साथ उसका विवाह, रुरुका सर्पोंको मारनेका निश्चय तथा रुरु-डुण्डुभ-संवाद

सौतिरुवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वातिदुःखितः ॥ १ ॥
शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन् करुणं बहु।
अब्रवीद् वचनं शोचन् प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ॥ २ ॥
शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! वे ब्राह्मण प्रमद्वराके चारों ओर वहाँ बैठे थे, उसी समय रुरु अत्यन्त दुःखित हो गहन वनमें जाकर जोर-जोरसे रुदन करने लगा। शोकसे पीड़ित होकर उसने बहुत करुणाजनक विलाप किया और अपनी प्रियतमा प्रमद्वराका स्मरण करके शोकमग्न हो इस प्रकार बोला—हाय! वह कृशाङ्गी बाला मेरा तथा समस्त बान्धवोंका शोक बढ़ाती हुई भूमिपर सो रही है; इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? ॥ १-३ ॥

यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥

'यदि मैंने दान दिया हो, तपस्या की हो अथवा गुरुजनोंकी भलीभाँति आराधना की हो तो उसके पुण्यसे मेरी प्रिया जीवित हो जाय ॥ ४ ॥

यथा च जन्मप्रभृति यतात्माहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथा ह्येषा समुत्तिष्ठतु भामिनी ॥ ५ ॥

'यदि मैंने जन्मसे लेकर अबतक मन और इन्द्रियोंपर संयम रक्खा हो और ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका दृढ़तापूर्वक पालन किया हो तो यह मेरी प्रिया प्रमद्वरा अभी जी उठे' ॥ ५ ॥

(कृष्णे विष्णौ हृषीकेशे लोकेशेऽसुरविद्विषि ।
यदि मे निश्चला भक्तिर्मम जीवतु सा प्रिया ॥)

'यदि पापी असुरोंका नाश करनेवाले, इन्द्रियोंके स्वामी जगदीश्वर एवं सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी अविचल भक्ति हो तो यह कल्याणी प्रमद्वरा जी उठे' ॥

एवं लालप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च ।
देवदूतस्तदाभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने ॥ ६ ॥

इस प्रकार जब रुरु पत्नीके लिये दुःखित हो अत्यन्त विलाप कर रहा था, उस समय एक देवदूत उसके पास आया और वनमें रुरुसे बोला ॥ ६ ॥

देवदूत उवाच

अभिधत्से ह यद् वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन् नायुरस्ति गतायुषः ॥ ७ ॥
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ॥ ८ ॥

देवदूतने कहा—धर्मात्मा रुरु ! तुम दुःखसे व्याकुल हो अपनी वाणीद्वारा जो कुछ कहते हो, वह सब व्यर्थ है; क्योंकि जिस मनुष्यकी आयु समाप्त हो गयी है, उसे फिर आयु नहीं मिल सकती। यह बेचारी प्रमद्वरा गन्धर्व और अप्सराकी पुत्री थी। इसे जितनी आयु मिली थी, वह पूरी हो चुकी है। अतः तात ! तुम किसी तरह भी मनको शोकमें न डालो ॥ ७-८ ॥

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीह प्रमद्वराम् ॥ ९ ॥

इस विषयमें महात्मा देवताओंने एक उपाय निश्चित किया है। यदि तुम उसे करना चाहो, तो इस लोकमें प्रमद्वराको पा सकोगे ॥ ९ ॥

रुरुरुवाच

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर ।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ १० ॥

रुरु बोला—आकाशचारी देवदूत ! देवताओंने कौन-सा उपाय निश्चित किया है, उसे ठीक-ठीक बताओ ? उसे सुनकर मैं अवश्य वैसा ही करूँगा। तुम मुझे इस दुःखसे बचाओ ॥ १० ॥

देवदूत उवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन ।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ॥ ११ ॥

देवदूतने कहा—भृगुनन्दन रुरु ! तुम उस कन्याके लिये अपनी आधी आयु दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हारी भार्या प्रमद्वरा जी उठेगी ॥ ११ ॥

रुरुरुवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम ।
शृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया ॥ १२ ॥

रुरु बोला—देवश्रेष्ठ ! मैं उस कन्याको अपनी आधी आयु देता हूँ। मेरी प्रिया अपने शृङ्गार, सुन्दर रूप और आभूषणोंके साथ जीवित हो उठे ॥ १२ ॥

सौतिरुवाच

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ॥ १३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब गन्धर्वराज विश्वावसु और देवदूत दोनों सत्पुरुषोंने धर्मराजके पास जाकर कहा—॥ १३ ॥

धर्मराजायुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा ।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे ॥ १४ ॥

'धर्मराज ! रुरुकी भार्या कल्याणी प्रमद्वरा मर चुकी है। यदि आप मान लें तो वह रुरुकी आधी आयुसे जीवित हो जाय' ॥ १४ ॥

धर्मराज उवाच

प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि ।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता ॥ १५ ॥

धर्मराज बोले—देवदूत ! यदि तुम रुरुकी भार्या प्रमद्वराको जिलाना चाहते हो तो वह रुरुकी ही आधी आयुसे संयुक्त होकर जीवित हो उठे ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत् प्रमद्वरा ।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ॥ १६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धर्मराजके ऐसा कहते ही वह सुन्दरी मुनिकन्या प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयुसे संयुक्त हो सोयी हुईकी भाँति जाग उठी ॥ १६ ॥

एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत ॥ १७ ॥
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ ॥ १८ ॥

उत्तम तेजस्वी रुरुके भाग्यमें ऐसी बात देखी गयी थी। उनकी आयु बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। जब उन्होंने भार्या-

के लिये अपनी आधी आयु दे दी, तब दोनोंके पिताओंने निश्चित दिनमें प्रसन्नतापूर्वक उनका विवाह कर दिया। वे दोनों दम्पति एक-दूसरेके हितैषी होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥१७-१८॥

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिञ्जल्कसुप्रभाम्।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ॥१९॥

कमलके केसरकी-सी कान्तिवाली उस दुर्लभ भार्याको पाकर व्रतधारी रुरुने सर्पोंके विनाशका निश्चय कर लिया ॥

स दृष्ट्वा जिह्मगान् सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा ॥२०॥

वह सर्पोंको देखते ही अत्यन्त क्रोधमें भर जाता और हाथमें डंडा ले उनपर यथाशक्ति प्रहार करता था ॥ २० ॥

स कदाचिद् वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत्।
शयानं तत्र चापश्यद् डुण्डुभं वयसान्वितम् ॥२१॥

एक दिनकी बात है, ब्राह्मण रुरु किसी विशाल वनमें गया, वहाँ उसने डुण्डुभ जातिके एक बूढ़े साँपको सोते देखा ॥२१॥

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः ॥२२॥

उसे देखते ही उसके क्रोधका पारा चढ़ गया और उस ब्राह्मणने उस समय सर्पको मार डालनेकी इच्छासे कालदण्डके समान भयंकर डंडा उठाया। तब उस डुण्डुभने मनुष्यकी बोलीमें कहा—॥ २२ ॥

नापराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन।
संरम्भाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः ॥२३॥

'तपोधन! आज मैंने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया है? फिर किसलिये क्रोधके आवेशमें आकर तुम मुझे मार रहे हो?' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वराजीवने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके जीवित होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥९॥

(इस अध्यायमें २३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक, कुल योग २४ श्लोक)

दशमोऽध्यायः

रुरु मुनि और डुण्डुभका संवाद

रुरुरुवाच

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद् भुजगेन ह।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥
भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे ॥ २ ॥

रुरु बोला—सर्प! मेरी प्राणोंके समान प्यारी पत्नीको एक साँपने डँस लिया था। उसी समय मैंने यह घोर प्रतिज्ञा कर ली कि जिस-जिस सर्पको देख लूँगा, उसे-उसे अवश्य मार डालूँगा। उसी प्रतिज्ञाके अनुसार मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ। अतः आज तुम्हें अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा ॥ १-२ ॥

डुण्डुभ उवाच

अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन् ये दशन्तीह मानवान्।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

डुण्डुभने कहा—ब्रह्मन्! वे दूसरे ही साँप हैं जो इस लोकमें मनुष्योंको डँसते हैं। साँपोंकी आकृतिमात्रसे ही तुम्हें डुण्डुभोंको नहीं मारना चाहिये ॥ ३ ॥

एकानर्थान् पृथगर्थानेकदुःखान् पृथक्सुखान्।
डुण्डुभान् धर्मविद् भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

अहो! आश्चर्य है, बेचारे डुण्डुभ अनर्थ भोगनेमें सब सर्पोंके साथ एक हैं; परंतु उनका स्वभाव दूसरे सर्पोंसे भिन्न है। तथा दुःख भोगनेमें तो वे सब सर्पोंके साथ एक हैं; किंतु सुख सबका अलग-अलग है। तुम धर्मज्ञ हो, अतः तुम्हें डुण्डुभोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा।
नावधीद् भयसंविग्नमृषिं मत्वाथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—डुण्डुभ! सर्पका यह वचन सुनकर रुरुने उसे कोई भयभीत ऋषि समझा, अतः उसका वध नहीं किया ॥ ५ ॥

उवाच चैनं भगवान् रुरुः संशमयन्निव।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ॥ ६ ॥

इसके सिवा, बड़भागी रुरुने उसे शान्ति प्रदान करते हुए-से कहा—'भुजङ्गम! बताओ, इस विकृत (सर्प) योनिमें पड़े हुए तुम कौन हो?' ॥ ६ ॥

डुण्डुभ उवाच

अयं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात्।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

डुण्डुभने कहा—रुरो! मैं पूर्वजन्ममें सहस्रपाद नामक ऋषि था; किंतु एक ब्राह्मणके शापसे मुझे इस सर्पयोनिमें आना पड़ा है ॥ ७ ॥

रुरुके दर्शनसे सहस्रपाद ऋषिकी सर्पयोनिसे मुक्ति

रुरुरुवाच

किमर्थं शप्तवान् क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद् भविष्यति ॥ ८ ॥

रुरुने पूछा—भुजगोत्तम ! उस ब्राह्मणने किसलिये कुपित होकर तुम्हें शाप दिया ? तुम्हारा यह शरीर अभी कितने समयतक रहेगा ? ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि रुरुडुण्डुभसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें रुरु-डुण्डुभ-संवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

डुण्डुभकी आत्मकथा तथा उसके द्वारा रुरुको अहिंसाका उपदेश

डुण्डुभ उवाच

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः।
भृशं संशितवाक् तात तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम्।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥

डुण्डुभने कहा—तात ! पूर्वकालमें खगम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण मेरा मित्र था। वह महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर भी बहुत कठोर वचन बोला करता था। एक दिन वह अग्निहोत्रमें लगा था। मैंने खिलवाड़में तिनकोंका एक सर्प बनाकर उसे डरा दिया। वह भयके मारे मूर्च्छित हो गया ॥ १-२ ॥

लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक् संशितव्रतः ॥ ३ ॥

फिर होशमें आनेपर वह सत्यवादी एवं कठोरव्रती तपस्वी मुझे क्रोधसे दग्ध-सा करता हुआ बोला—॥ ३ ॥

यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद् भविष्यसि ॥ ४ ॥

'अरे ! तूने मुझे डरानेके लिये जैसा अल्प शक्तिवाला सर्प बनाया था, मेरे शापवश ऐसा ही अल्पशक्तिसम्पन्न सर्प तुझे भी होना पड़ेगा' ॥ ४ ॥

तस्याहं तपसो वीर्यं जानन्नासं तपोधन।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा ॥ ५ ॥
प्रणतः सम्भ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः।
सखेति सहसेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन् शापोऽयं विनिवर्त्यताम्।
सोऽथ मामब्रवीद् दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसम्भ्रान्तस्तपोधनः।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ॥ ८ ॥

तपोधन ! मैं उसकी तपस्याका बल जानता था, अतः मेरा हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और बड़े वेगसे उसके चरणोंमें प्रणाम करके, हाथ जोड़, सामने खड़ा हो, उस तपोधनसे बोला—सखे ! मैंने परिहासके लिये सहसा यह कार्य कर डाला है। ब्रह्मन् ! इसके लिये क्षमा करो और अपना यह शाप लौटा लो। मुझे अत्यन्त घबराया हुआ देखकर सम्भ्रममें पड़े हुए उस तपस्वीने बार-बार गरम साँस खींचते हुए कहा—'मेरी कही हुई यह बात किसी प्रकार झूठी नहीं हो सकती ॥ ५—८ ॥

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदानघ ॥ ९ ॥

'निष्पाप तपोधन ! इस समय मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो और सुनकर अपने हृदयमें सदा धारण करो॥९॥

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता नचिरादिव ॥ १० ॥

'भविष्यमें महर्षि प्रमतिके पवित्र पुत्र रुरु उत्पन्न होंगे, उनका दर्शन करके तुम्हें शीघ्र ही इस शापसे छुटकारा मिल जायगा' ॥ १० ॥

स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च।
स्वरूपं प्रतिपद्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ११ ॥

जान पड़ता है तुम वही रुरु नामसे विख्यात महर्षि प्रमतिके पुत्र हो। अब मैं अपना स्वरूप धारण करके तुम्हारे हितकी बात बताऊँगा ॥ ११ ॥

स डौण्डुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः ॥ १२ ॥
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम्।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर ॥ १३ ॥

इतना कहकर महायशस्वी विप्रवर सहस्रपादने डुण्डुभका रूप त्यागकर पुनः अपने प्रकाशमान स्वरूपको प्राप्त कर लिया। फिर अनुपम ओजवाले रुरुसे यह बात कही—'समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है॥१२-१३॥

तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित्।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ॥ १४ ॥

'अतः ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी कभी और कहीं भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। ब्राह्मण इस लोकमें सदा सौम्य स्वभावका ही होता है, ऐसा श्रुतिका उत्तम वचन है ॥ १४ ॥

वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ॥ १५ ॥
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ॥ १६ ॥

'वह वेद-वेदाङ्गोंका विद्वान् और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला होता है। अहिंसा, सत्यभाषण, क्षमा और वेदोंका स्वाध्याय निश्चय ही ये ब्राह्मणके उत्तम धर्म हैं। क्षत्रियका जो धर्म है वह तुम्हारे लिये अभीष्ट नहीं है ॥ १५-१६ ॥

दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत् कर्म वै शृणु मे रुरो ॥ १७ ॥
जनमेजयस्य यज्ञेऽस्मिन् सर्पाणां हिंसनं पुरा ।
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ॥ १८ ॥
तपोवीर्यबलोपेताद् वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद् द्विजमुख्याद् वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥ १९ ॥

'रुरो ! दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन—ये सब क्षत्रियोंके कर्म रहे हैं। मेरी बात सुनो, पहले राजा जनमेजयके यज्ञमें सर्पोंकी बड़ी भारी हिंसा हुई। द्विजश्रेष्ठ ! फिर उसी सर्पसत्रमें तपस्याके बल-वीर्यसे सम्पन्न, वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् विप्रवर आस्तीकनामक ब्राह्मणके द्वारा भयभीत सर्पोंकी प्राणरक्षा हुई' ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि डुण्डुभशापमोक्षे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें डुण्डुभशापमोक्षविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पसत्रके विषयमें रुरुकी जिज्ञासा और पिताद्वारा उसकी पूर्ति

रुरुरुवाच

कथं हिंसितवान् सर्पान् स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥

रुरुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! राजा जनमेजयने सर्पोंकी हिंसा कैसे की ? अथवा उन्होंने किसलिये यज्ञमें सर्पोंकी हिंसा करवायी ? ॥ १ ॥

किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

विप्रवर परम बुद्धिमान् महात्मा आस्तीकने किसलिये सर्पोंको उस यज्ञसे बचाया था ? यह सब मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

ऋषिने कहा—'रुरो ! तुम कथावाचक ब्राह्मणोंके मुखसे आस्तीकका महान् चरित्र सुनोगे।' ऐसा कहकर सहस्रपाद मुनि अन्तर्धान हो गये ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत् समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन् संश्रान्तो न्यपतद् भुवि ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर रुरु वहाँ अदृश्य हुए मुनिकी खोजमें उस वनके भीतर सब ओर दौड़ता रहा और अन्तमें थककर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४ ॥

स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ५ ॥
लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात् तदाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

गिरनेपर उसे बड़ी भारी मूर्च्छाने दबा लिया। उसकी चेतना नष्ट-सी हो गयी। महर्षिके यथार्थ वचनका बार-बार चिन्तन करते हुए होशमें आनेपर रुरु घर लौट आया। उस समय उसने पितासे वे सब बातें कह सुनायीं और पितासे भी आस्तीकका उपाख्यान पूछा। रुरुके पूछनेपर पिताने सब कुछ बता दिया ॥ ५-६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि सर्पसत्रप्रस्तावनायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें सर्पसत्रप्रस्तावना-विषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(आस्तीकपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

जरत्कारुका अपने पितरोंके अनुरोधसे विवाहके लिये उद्यत होना

शौनक उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद् वदस्व मे ॥ १ ॥
निखिलेन यथातत्त्वं सौते सर्वमशेषतः।
आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ॥ २ ॥
मोक्षयामास भुजगान् प्रदीप्ताद् वसुरेतसः।
कस्य पुत्रः स राजासीत् सर्पसत्रं य आहरत् ॥ ३ ॥
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे।

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने किसलिये सर्पसत्रद्वारा सर्पोंका अन्त किया ? यह प्रसङ्ग मुझसे कहिये। सूतनन्दन ! इस विषयकी सब बातोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये ! जप-यज्ञ करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने किसलिये सर्पोंको प्रज्वलित अग्निमें जलनेसे बचाया और वे राजा जनमेजय जिन्होंने सर्पसत्रका आयोजन किया था, किसके पुत्र थे ? तथा द्विजवंशशिरोमणि आस्तीक भी किसके पुत्र थे ? यह मुझे बताइये ॥ १–३ ॥

सौतिरुवाच

महदाख्यानमास्तीकं यथैतत् प्रोच्यते द्विज ॥ ४ ॥
सर्वमेतदशेषेण श्रृणु मे वदतां वर।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन् ! आस्तीकका उपाख्यान बहुत बड़ा है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! यह प्रसङ्ग जैसे कहा जाता है, वह सब पूरा-पूरा सुनो ॥ ४½ ॥

शौनक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ॥ ५ ॥
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः।

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! पुरातन ऋषि एवं यशस्वी ब्राह्मण आस्तीककी इस मनोरम कथाको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ५½ ॥

सौतिरुवाच

इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥ ६ ॥
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ॥ ७ ॥
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान्।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ८ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी ! ब्राह्मणलोग इस इतिहासको बहुत पुराना बताते हैं। पहले मेरे पिता लोमहर्षणजीने, जो व्यासजीके मेधावी शिष्य थे, ऋषियोंके पूछनेपर साक्षात् श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास) के कहे हुए इस इतिहासका नैमिषारण्यवासी ब्राह्मणोंके समुदायमें वर्णन किया था। उन्हींके मुखसे सुनकर मैं भी इसका यथावत् वर्णन करता हूँ ॥ ६–८ ॥

इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥

शौनकजी ! यह आस्तीक मुनिका उपाख्यान सब पापोंका नाश करनेवाला है। आपके पूछनेपर मैं इसका पूरा-पूरा वर्णन कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

आस्तीकस्य पिता ह्यासीत् प्रजापतिसमः प्रभुः।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ १० ॥

आस्तीकके पिता प्रजापतिके समान प्रभावशाली थे। ब्रह्मचारी होनेके साथ ही उन्होंने आहारपर भी संयम कर लिया था। वे सदा उग्र तपस्यामें संलग्न रहते थे ॥ १० ॥

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥ ११ ॥
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ १२ ॥

उनका नाम था जरत्कारु। वे ऊर्ध्वरेता और महान् ऋषि थे। यायावरोंमें[१] उनका स्थान सबसे ऊँचा था। वे धर्मके ज्ञाता थे। एक समय तपोबलसे सम्पन्न उन महाभाग जरत्कारुने यात्रा प्रारम्भ की। वे मुनिवृत्तिसे रहते हुए जहाँ शाम होती वहीं डेरा डाल देते थे ॥ ११-१२ ॥

तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः।
चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

वे सब तीर्थोंमें स्नान करते हुए घूमते थे। उन महातेजस्वी

---

१. यायावरका अर्थ है सदा विचरनेवाला मुनि। मुनिवृत्तिसे रहते हुए सदा इधर-उधर घूमते रहनेवाले गृहस्थ ब्राह्मणोंके एक समूह-विशेषकी यायावर संज्ञा है। ये लोग एक गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं ठहरते और पक्षमें एक बार अग्निहोत्र करते हैं। पक्षहोम सम्प्रदायकी प्रवृत्ति इन्हींसे हुई है। इनके विषयमें भारद्वाजका वचन इस प्रकार मिलता है—

यायावरा नाम ब्राह्मणा आसंस्ते अर्धमासादग्निहोत्रमजुह्वन्।

यायावरलोग घूमते-घूमते जहाँ संध्या हो जाती है वहीं ठहर जाते हैं।

मुनिने कठोर व्रतोंकी ऐसी दीक्षा लेकर यात्रा प्रारम्भ की थी, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुःसाध्य थी ॥ १३ ॥

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः ।
इतस्ततः परिचरन् दीप्तपावकसप्रभः ॥ १४ ॥
अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान् ।
लम्बमानान् महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥ १५ ॥

वे कभी वायु पीकर रहते और कभी भोजनका सर्वथा त्याग करके अपने शरीरको सुखाते रहते थे। उन महर्षिने निद्रा-पर भी विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिये उनकी पलक नहीं लगती थी। इधर-उधर विचरण करते हुए वे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। घूमते-घूमते किसी समय उन्होंने अपने पितामहोंको देखा जो ऊपरको पैर और नीचेको सिर किये एक विशाल गड्ढेमें लटक रहे थे ॥१४-१५॥

तानब्रवीत् स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान् ।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥ १६ ॥

उन्हें देखते ही जरत्कारुने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? जो इस गड्ढेमें नीचेको मुख किये लटक रहे हैं?॥ १६ ॥

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते ।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन् नित्यवासिना ॥ १७ ॥

'आप जिस वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंके समूह) को पकड़कर लटक रहे हैं, उसे इस गड्ढेमें गुप्तरूपसे नित्य निवास करनेवाले चूहेने सब ओरसे प्रायः खा लिया है' ॥ १७ ॥*

पितर ऊचुः

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १८ ॥

पितर बोले—ब्रह्मन्! हमलोग कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक मुनि हैं। अपनी संतान-परम्पराका नाश होनेसे हम नीचे—पृथ्वीपर गिरना चाहते हैं ॥ १८ ॥

अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः ॥ १९ ॥

हमारी एक संतति बच गयी है, जिसका नाम है जरत्कारु। हम भाग्यहीनोंकी वह अभागी संतान केवल तपस्यामें ही संलग्न है ॥ १९ ॥

न स पुत्राञ्जनयितुं दारान् मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते संतानस्य क्षयादिह ॥ २० ॥
अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ २१ ॥
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन् को भवानिह नः स्थितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ॥ २२ ॥

वह मूढ़ पुत्र उत्पन्न करनेके लिये किसी स्त्रीसे विवाह करना नहीं चाहता है। अतः वंशपरम्पराका विनाश होनेसे हम यहाँ इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। हमारी रक्षा करनेवाला वह वंशधर मौजूद है, तो भी पापकर्मी मनुष्योंकी भाँति हम अनाथ हो गये हैं। साधुशिरोमणे! तुम कौन हो जो हमारे बन्धु-बान्धवोंकी भाँति हमलोगोंकी इस दयनीय दशाके लिये शोक कर रहे हो? ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि तुम कौन हो जो आत्मीयकी भाँति यहाँ हमारे पास खड़े हो? सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! हम शोचनीय प्राणियोंके लिये तुम क्यों शोकमग्न होते हो॥ २०-२२ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ २३ ॥

जरत्कारुने कहा—महात्माओ! आपलोग मेरे ही पितामह और पूर्वज पितृगण हैं। स्वयं मैं ही जरत्कारु हूँ। बताइये, आज आपकी क्या सेवा करूँ? ॥ २३ ॥

पितर ऊचुः

यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ॥ २४ ॥

पितर बोले—तात! तुम हमारे कुलकी संतान-परम्पराको बनाये रखनेके लिये निरन्तर यत्नशील रहकर विवाहके लिये प्रयत्न करो। प्रभो! तुम अपने लिये, हमारे लिये अथवा धर्मका पालन हो इस उद्देश्यसे पुत्रकी उत्पत्तिके लिये यत्न करो ॥ २४ ॥

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥ २५ ॥

तात! पुत्रवाले मनुष्य इस लोकमें जिस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देनेवाले भलीभाँति संचित किये हुए तपसे भी नहीं पाते ॥ २५ ॥

तद् दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु ।
पुत्रकास्मन्नियोगात् त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २६ ॥

अतः बेटा! तुम हमारी आज्ञासे विवाह करनेका प्रयत्न करो

---

* यहाँ भूलोक ही गड्ढा है। स्वर्गवासी पितरोंको जो नीचे गिरनेका भय लगा रहता है उसीको सूचित करनेके लिये यह कहा गया है कि उनके पैर ऊपर थे और सिर नीचे। काल ही चूहा है और वंशपरम्परा ही वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंका समुदाय) है। उस वंशमें केवल जरत्कारु बच गये थे और अन्य सब पुरुष कालके अधीन हो चुके थे। यही व्यक्त करनेके लिये चूहेके द्वारा तिनकोंके समुदायको सब ओरसे खाया हुआ बताया गया है। जरत्कारुके विवाह न करनेसे उस वंशका वह शेष अंश भी नष्ट होना चाहता था। इसीलिये पितर व्याकुल थे और जरत्कारुको इसका बोध करानेके लिये उन्होंने इस प्रकार दर्शन दिया था।

और संतानोत्पादनकी ओर ध्यान दो। यही हमारे लिये सर्वोत्तम हितकी बात होगी ॥ २६ ॥

जरत्कारुरुवाच

न दारान् वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थतः।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥ २७ ॥

जरत्कारुने कहा—पितामहगण! मैंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया था कि मैं जीवनके सुख-भोगके लिये कभी न तो पत्नीका परिग्रह करूँगा और न धनका संग्रह ही; परंतु यदि ऐसा करनेसे आपलोगोंका हित होता है तो उसके लिये अवश्य विवाह कर लूँगा ॥ २७ ॥

समयेन च कर्ताहमनेन विधिपूर्वकम्।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा ह्यहम् ॥ २८ ॥

किंतु एक शर्तके साथ मुझे विधिपूर्वक विवाह करना है। यदि उस शर्तके अनुसार किसी कुमारी कन्याको पाऊँगा, तभी उससे विवाह करूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं ॥

सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ २९ ॥

(वह शर्त यों है—) जिस कन्याका नाम मेरे नामके ही समान हो, जिसे उसके भाई-बन्धु स्वयं मुझे देनेकी इच्छासे रखते हों और जो भिक्षाकी भाँति स्वयं प्राप्त हुई हो, उसी कन्याका मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार पाणिग्रहण करूँगा ॥ २९ ॥

दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित् प्रदास्यति ॥ ३० ॥

विशेष बात तो यह है कि—मैं दरिद्र हूँ, भला मुझे माँगनेपर भी कौन अपनी कन्या पत्नीरूपमें प्रदान करेगा? इसलिये मेरा विचार है कि यदि कोई भिक्षाके तौरपर अपनी कन्या देगा तो उसे ग्रहण करूँगा ॥ ३० ॥

एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥ ३१ ॥

पितामहो! मैं इसी प्रकार, इसी विधिसे विवाहके लिये सदा प्रयत्न करता रहूँगा। इसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा ॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मिली हुई पत्नीके गर्भसे यदि कोई प्राणी जन्म लेगा तो वह आपलोगोंका उद्धार करेगा, अतः आप मेरे पितर अपने सनातन स्थानपर जाकर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहें ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुतत्पितृसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु तथा उनके पितरोंका संवादनामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

जरत्कारुद्वारा वासुकिकी बहिनका पाणिग्रहण

सौतिरुवाच

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण भार्याकी प्राप्तिके लिये इच्छुक होकर पृथ्वीपर सब ओर विचरने लगे; किंतु उन्हें पत्नीकी उपलब्धि नहीं हुई ॥ १ ॥

स कदाचिद् वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन्।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ॥ २ ॥

एक दिन किसी वनमें जाकर विप्रवर जरत्कारुने पितरोंके वचनका स्मरण करके कन्याकी भिक्षाके लिये तीन बार धीरे-धीरे पुकार लगायी—'कोई भिक्षारूपमें कन्या दे जाय ॥'

तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ॥ ३ ॥

इसी समय नागराज वासुकि अपनी बहिनको लेकर मुनिकी सेवामें उपस्थित हो गये और बोले, 'यह भिक्षा ग्रहण कीजिये।' किंतु उन्होंने यह सोचकर कि शायद यह मेरे-जैसे नामवाली न हो, उसे तत्काल ग्रहण नहीं किया ॥ ३ ॥

सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ४ ॥

उन महात्मा जरत्कारुका मन इस बातपर स्थिर हो गया था कि मेरे-जैसे नामवाली कन्या यदि उपलब्ध हो तो उसीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ ॥ ४ ॥

तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजंगम ॥ ५ ॥

ऐसा निश्चय करके परम बुद्धिमान् एवं महान् तपस्वी जरत्कारुने पूछा—'नागराज! सच-सच बताओ, तुम्हारी इस बहिनका क्या नाम है?' ॥ ५ ॥

वासुकिरुवाच

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम्।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम॥ ६॥

वासुकिने कहा—जरत्कारो ! यह मेरी छोटी बहिन जरत्कारु नामसे ही प्रसिद्ध है । इस सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुमारीको पत्नी बनानेके लिये मैंने स्वयं आपकी सेवामें समर्पित किया है । इसे स्वीकार कीजिये । द्विजश्रेष्ठ ! यह बहुत पहलेसे आपहीके लिये सुरक्षित रक्खी गयी है, अतः इसे ग्रहण करें ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा ततः प्रादाद् भार्यार्थे वरवर्णिनीम्।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ७॥

ऐसा कहकर वासुकिने वह सुन्दरी कन्या मुनिको पत्नी-रूपमें प्रदान की । मुनिने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उसका पाणिग्रहण किया ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिस्वसृवरणे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकिकी बहिनके वरणसे सम्बन्ध रखनेवाला चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

आस्तीकका जन्म तथा मातृशापसे सर्पसत्रमें नष्ट होनेवाले नागवंशकी उनके द्वारा रक्षा

सौतिरुवाच

मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ शौनक ! पूर्वकालमें नागमाता कद्रूने सर्पोंको यह शाप दिया था कि तुम्हें जनमेजयके यज्ञमें अग्नि भस्म कर डालेगी ॥ १ ॥

तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने॥ २॥
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महामनाः॥ ३॥

उसी शापकी शान्तिके लिये नागप्रवर वासुकिने सदाचारका पालन करनेवाले महात्मा जरत्कारुको अपनी बहिन ब्याह दी थी । महामना जरत्कारुने शास्त्रीय विधिके अनुसार उस नागकन्याका पाणिग्रहण किया और उसके गर्भसे आस्तीक नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ २-३ ॥

तपस्वी च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः॥ ४॥

आस्तीक वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान्, तपस्वी, महात्मा, सब लोगोंके प्रति समान भाव रखनेवाले तथा पितृकुल और मातृकुलके भयको दूर करनेवाले थे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः॥ ५॥
तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै।
मोचयामास तान् नागानास्तीकः सुमहातपाः॥ ६॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् पाण्डववंशीय नरेश जनमेजयने सर्पसत्र नामक महान् यज्ञका आयोजन किया, ऐसा सुननेमें आता है । सर्पोंके संहारके लिये आरम्भ किये हुए उस सत्रमें आकर महातपस्वी आस्तीकने नागोंको मौतसे छुड़ाया ॥ ५-६ ॥

भ्रातॄंश्च मातुलांश्चैव तथैवान्यान् स पन्नगान्।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा॥ ७॥

उन्होंने मामा तथा ममेरे भाइयोंको एवं अन्यान्य सम्बन्धोंमें आनेवाले सब नागोंको संकटमुक्त किया । इसी प्रकार तपस्या तथा संतानोत्पादनद्वारा उन्होंने पितरोंका भी उद्धार किया ॥ ७ ॥

व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन् स्वाध्यायैश्चानृणोऽभवत्।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः॥ ८॥
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान्।
अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः॥ ९॥
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः।
आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः॥ १०॥
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमेयिवान्।
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत् कथितं मया।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत् कथयामि ते॥ ११॥

ब्रह्मन् ! भाँति-भाँतिके व्रतों और स्वाध्यायोंका अनुष्ठान करके वे सब प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो गये । अनेक प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके उन्होंने देवताओं, ब्रह्मचर्यव्रतके पालनसे ऋषियों और संतानकी उत्पत्तिद्वारा पितरोंको तृप्त किया । कठोर व्रतका पालन करनेवाले जरत्कारु मुनि पितरोंकी चिन्ताका भारी भार उतारकर अपने उन पितामहोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये । आस्तीक-जैसे

पुत्र तथा परम धर्मकी प्राप्ति करके मुनिवर जरत्कारुने दीर्घकालके पश्चात् स्वर्गलोककी यात्रा की। भृगुकुलशिरोमणे! इस प्रकार मैंने आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है। बताइये, अब और क्या कहा जाय ? ॥८-११॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पाणां मातृशापप्रस्तावे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पोंको मातृशाप प्राप्त होनेकी प्रस्तावनासे युक्त पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

कद्रू और विनताको कश्यपजीके वरदानसे अभीष्ट पुत्रोंकी प्राप्ति

शौनक उवाच

सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन ! आप ज्ञानी महात्मा आस्तीककी इस कथाको पुनः विस्तारके साथ कहिये। हमें उसे सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है ॥ १ ॥

मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥

सौम्य ! आप बड़ी मधुर कथा कहते हैं। उसका एक-एक अक्षर और एक-एक पद कोमल है। तात ! इसे सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। आप अपने पिता लोमहर्षणकी भाँति ही प्रवचन कर रहे हैं ॥ २ ॥

अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव।
आचष्टैतद् यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद॥ ३ ॥

आपके पिता सदा हमलोगोंकी सेवामें लगे रहते थे। उन्होंने इस उपाख्यानको जिस प्रकार कहा है, उसी रूपमें आप भी कहिये ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते।
यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद् वै पितुर्मया ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—आयुष्मन् ! मैंने अपने कथावाचक पिताजीके मुखसे यह आस्तीककी कथा, जिस रूपमें सुनी है, उसी प्रकार आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

पुरा देवयुगे ब्रह्मन् प्रजापतिसुते शुभे।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ॥ ५ ॥
ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह।
प्रादात् ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ॥ ६ ॥
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः।
वरातिसर्गं श्रुत्वैवं कश्यपादुत्तमं च ते ॥ ७ ॥
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ।
वव्रे कद्रूः सुतान् नागान् सहस्रं तुल्यवर्चसः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! पहले सत्ययुगमें दक्ष प्रजापतिकी दो शुभलक्षणा कन्याएँ थीं--कद्रू और विनता। वे दोनों बहिनें रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न तथा अद्भुत थीं। अनघ ! उन दोनोंका विवाह महर्षि कश्यपजीके साथ हुआ था। एक दिन प्रजापति ब्रह्माजीके समान शक्तिशाली पति महर्षि कश्यपने अत्यन्त हर्षमें भरकर अपनी उन दोनों धर्मपत्नियोंको प्रसन्नतापूर्वक वर देते हुए कहा--'तुममेंसे जिसकी जो इच्छा हो वर माँग लो।' इस प्रकार कश्यपजीसे उत्तम वरदान मिलनेकी बात सुनकर प्रसन्नताके कारण उन दोनों सुन्दरी स्त्रियोंको अनुपम आनन्द प्राप्त हुआ। कद्रूने समान तेजस्वी एक हजार नागोंको पुत्ररूपमें पानेका वर माँगा ॥ ५-८ ॥

द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले।
तेजसा वपुषा चैव विक्रमेणाधिकौ च तौ ॥ ९ ॥

विनताने बल, तेज, शरीर तथा पराक्रममें कद्रूके पुत्रोंसे श्रेष्ठ केवल दो ही पुत्र माँगे ॥ ९ ॥

तस्यै भर्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम्।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ॥ १० ॥

विनताको पतिदेवने, अत्यन्त अभीष्ट दो पुत्रोंके होनेका वरदान दे दिया। उस समय विनताने कश्यपजीसे 'एवमस्तु' कहकर उनके दिये हुए वरको शिरोधार्य किया ॥ १० ॥

यथावत् प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाभवत् तदा।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ॥ ११ ॥

अपनी प्रार्थनाके अनुसार ठीक वर पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। कद्रूके पुत्रोंसे अधिक बलवान् और पराक्रमी—दो पुत्रोंके होनेका वर प्राप्त करके विनता अपनेको कृतकृत्य मानने लगी ॥ ११ ॥

कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम्।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ॥ १२ ॥
ते भार्ये वरसंतुष्टे कश्यपो वनमाविशत्।

समान तेजस्वी एक हजार पुत्र होनेका वर पाकर कद्रू भी अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझने लगी। वरदान पाकर संतुष्ट हुई अपनी उन धर्मपत्नियोंसे यह कहकर कि 'तुम दोनों यत्नपूर्वक अपने-अपने गर्भकी रक्षा करना' महातपस्वी कश्यपजी वनमें चले गये ॥ १२½ ॥

सौतिरुवाच

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ॥ १३ ॥
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाण्डे विनता तदा ।

ब्रह्मन् ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् कद्रूने एक हजार और विनताने दो अण्डे दिये ॥ १३½ ॥

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारिकाः ॥ १४ ॥
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च ।
ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ॥ १५ ॥
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत ।

दासियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दोनोंके अण्डोंको गरम बर्तनोंमें रख दिया। वे अण्डे पाँच सौ वर्षोंतक उन्हीं बर्तनोंमें पड़े रहे। तत्पश्चात् पाँच सौ वर्ष पूरे होनेपर कद्रूके एक हजार पुत्र अण्डोंको फोड़कर बाहर निकल आये; परंतु विनताके अण्डोंसे उसके दो बच्चे निकलते नहीं दिखायी दिये॥ १४-१५½॥

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ॥ १६ ॥
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत ।
पूर्वार्धकायसम्पन्नमितरेणाप्रकाशता ॥ १७ ॥

इससे पुत्रार्थिनी और तपस्विनी देवी विनता सौतके सामने लज्जित हो गयी। फिर उसने अपने हाथोंसे एक अण्डा फोड़ डाला। फूटनेपर उस अण्डेमें विनताने अपने पुत्रको देखा, उसके शरीरका ऊपरी भाग पूर्णरूपसे विकसित एवं पुष्ट था, किंतु नीचेका आधा अङ्ग अभी अधूरा रह गया था ॥ १६-१७ ॥

स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः ।
योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया ॥ १८ ॥
शरीरेणासमग्रेण तस्माद् दासी भविष्यसि ।
पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ॥ १९ ॥

सुना जाता है, उस पुत्रने क्रोधके आवेशमें आकर विनताको शाप दे दिया—'मा ! तूने लोभके वशीभूत होकर मुझे इस प्रकार अधूरे शरीरका बना दिया—मेरे समस्त अङ्गोंको पूर्णतः विकसित एवं पुष्ट नहीं होने दिया; इसलिये जिस सौतके साथ तू लाग-डाँट रखती है, उसीकी पाँच सौ वर्षोंतक दासी बनी रहेगी ॥ १८-१९ ॥

एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति ।
यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ॥ २० ॥
न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम् ।

'और मा ! यह जो दूसरे अण्डेमें तेरा पुत्र है, वही तुझे दासी-भावसे छुटकारा दिलायेगा; किंतु माता ! ऐसा तभी हो सकता है जब तू इस तपस्वी पुत्रको मेरी ही तरह अण्डा फोड़कर अङ्गहीन या अधूरे अङ्गोंसे युक्त न बना देगी ॥२०½॥

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ॥ २१ ॥
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात् परः ।

'इसलिये यदि तू इस बालकको विशेष बलवान् बनाना चाहती है तो पाँच सौ वर्षके बादतक तुझे धैर्य धारण करके इसके जन्मकी प्रतीक्षा करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ॥ २२ ॥
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन् प्रभातसमये सदा ।
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ॥ २३ ॥

इस प्रकार विनताको शाप देकर वह बालक अरुण अन्तरिक्षमें उड़ गया। ब्रह्मन् ! तभीसे प्रातःकाल (प्राची दिशामें) सदा जो लाली दिखायी देती है, उसके रूपमें विनताके पुत्र अरुणका ही दर्शन होता है। वह सूर्यदेवके रथपर जा बैठा और उनके सारथिका काम सँभालने लगा ॥२२-२३॥

गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः ।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २४ ॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पतगेश्वरः ॥ २५ ॥

तदनन्तर समय पूरा होनेपर सर्पसंहारक गरुडका जन्म हुआ। भृगुश्रेष्ठ ! पक्षिराज गरुड जन्म लेते ही क्षुधासे व्याकुल हो गये और विधाताने उनके लिये जो आहार नियत किया था, अपने उस भोज्य पदार्थको प्राप्त करनेके लिये माता विनताको छोड़कर आकाशमें उड़ गये ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पादीनामुत्पत्तौ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्प आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

मेरुपर्वतपर अमृतके लिये विचार करनेवाले देवताओंको भगवान् नारायणका समुद्रमन्थनके लिये आदेश

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायाते उच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥
यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जगतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ ३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन ! इसी समय कद्रू और विनता दोनों बहिनें एक साथ ही घूमनेके लिये निकलीं। उस समय उन्होंने उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको निकटसे जाते देखा। वह परम उत्तम अश्वरत्न अमृतके लिये समुद्रका मन्थन करते समय प्रकट हुआ था। उसमें अमोघ बल था। वह संसारके समस्त अश्वोंमें श्रेष्ठ, उत्तम गुणोंसे युक्त, सुन्दर, अजर, दिव्य एवं सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे संयुक्त था। उसके अङ्ग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। सम्पूर्ण देवताओंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी॥ १—३॥

शौनक उवाच

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः॥ ४॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! अब मुझे यह बताइये कि देवताओंने अमृत-मन्थन किस प्रकार और किस स्थानपर किया था, जिसमें वह महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न और अत्यन्त तेजस्वी अश्वराज उच्चैःश्रवा प्रकट हुआ?॥ ४॥

सौतिरुवाच

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः॥ ५॥
कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः॥ ६॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! मेरु नामसे प्रसिद्ध एक पर्वत है, जो अपनी प्रभासे प्रज्वलित होता रहता है। वह तेजका महान् पुञ्ज और परम उत्तम है। अपने अत्यन्त प्रकाशमान सुवर्णमय शिखरोंसे वह सूर्यदेवकी प्रभाको भी तिरस्कृत किये देता है। उस स्वर्णभूषित विचित्र शैलपर देवता और गन्धर्व निवास करते हैं। उसका कोई माप नहीं है। जिनमें पापकी मात्रा अधिक है, ऐसे मनुष्य वहाँ पैर नहीं रख सकते॥ ५-६॥

व्यालैरावारितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम्॥ ७॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः॥ ८॥

वहाँ सब ओर भयंकर सर्प भरे पड़े हैं। दिव्य ओषधियाँ उस तेजोमय पर्वतको और भी उद्भासित करती रहती हैं। वह महान् गिरिराज अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको घेरकर खड़ा है। प्राकृत मनुष्योंके लिये वहाँ मनसे भी पहुँचना असम्भव है। वह गिरि-प्रदेश बहुत-सी नदियों और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित है। भिन्न-भिन्न प्रकारके अत्यन्त मनोहर पक्षियोंके समुदाय अपने कलरवसे उस पर्वतको कोलाहलपूर्ण किये रहते हैं॥ ७-८॥

तस्य शृङ्गमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम्।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः॥ ९॥
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः॥ १०॥
तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत्।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः॥ ११॥
देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ॥ १२॥

उसके शुभ एवं उच्चतम शृङ्ग असंख्य चमकीले रत्नोंसे व्याप्त हैं। वे अपनी विशालताके कारण आकाश-के समान अनन्त जान पड़ते हैं। समस्त महातेजस्वी देवता मेरुगिरिके उस महान् शिखरपर चढ़कर एक स्थानमें बैठ गये और सब मिलकर अमृत-प्राप्तिके लिये क्या उपाय किया जाय, इसका विचार करने लगे। वे सभी तपस्वी तथा शौच-संतोष आदि नियमोंसे संयुक्त थे। इस प्रकार परस्पर विचार एवं सबके साथ मन्त्रणामें लगे हुए देवताओंके समुदायमें उपस्थित हो भगवान् नारायणने ब्रह्माजीसे यों कहा—'समस्त देवता और असुर मिलकर महासागरका मन्थन करें। उस महासागरका मन्थन आरम्भ होनेपर उसमेंसे अमृत प्रकट होगा॥ ९—१२॥

सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः॥ १३॥

'देवताओ! पहले समस्त ओषधियों, फिर सम्पूर्ण रत्नों-को पाकर भी समुद्रका मन्थन जारी रक्खो। इससे अन्तमें तुमलोगोंको निश्चय ही अमृतकी प्राप्ति होगी'॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थने सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

देवताओं और दैत्योंद्वारा अमृतके लिये समुद्रका मन्थन, अनेक रत्नोंके साथ अमृतकी उत्पत्ति और भगवान्‌का मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंके हाथसे अमृत ले लेना

सौतिरुवाच

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम्।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम्॥ १॥
नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम्।
किन्नरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम्॥ २॥
एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम्।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम्॥ ३॥

तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! तदनन्तर सम्पूर्ण देवता मिलकर पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको उखाड़नेके लिये उसके समीप गये । वह पर्वत श्वेत मेघखण्डोंके समान प्रतीत होनेवाले गगनचुम्बी शिखरोंसे सुशोभित था। सब ओर फैली हुई लताओंके समुदायने उसे आच्छादित कर रक्खा था । उसपर चारों ओर भाँति-भाँतिके विहंगम कल-रव कर रहे थे । बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले व्याघ्र-सिंह आदि अनेक हिंसक जीव वहाँ सर्वत्र भरे हुए थे । उस पर्वतके विभिन्न प्रदेशोंमें किन्नरगण, अप्सराएँ तथा देवतालोग निवास करते थे । उसकी ऊँचाई ग्यारह हजार योजन थी और भूमिके नीचे भी वह उतने ही सहस्र योजनोंमें प्रतिष्ठित था । जब देवता उसे उखाड़ न सके, तब वहाँ बैठे हुए भगवान् विष्णु और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले ॥ १–४ ॥

भवन्तावत्र कुर्वातां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥

आप दोनों इस विषयमें कल्याणमयी उत्तम बुद्धि प्रदान करें और हमारे हितके लिये मन्दराचल पर्वतको उखाड़नेका यत्न करें ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच

तथेति चाब्रवीद् विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन ! देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णुने कहा—'तथास्तु (ऐसा ही हो)' । तदनन्तर जिनका स्वरूप मन, बुद्धि एवं प्रमाणोंकी पहुँचसे परे है, उन कमलनयन भगवान् विष्णुने नागराज अनन्तको मन्दराचल उखाड़नेके लिये आज्ञा दी ॥

ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन् कर्मणि वीर्यवान् ॥ ७ ॥

जब ब्रह्माजीने प्रेरणा दी और भगवान् नारायणने भी आदेश दे दिया, तब अतुलपराक्रमी अनन्त (शेषनाग) उठकर उस कार्यमें लगे ॥ ७ ॥

अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः ।
उज्जहार बलाद् ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! फिर तो महाबली अनन्तने जोर लगाकर गिरिराज मन्दराचलको वन और वनवासी जन्तुओंसहित उखाड़ लिया ॥ ८ ॥

ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे ।
तमूचुरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ९ ॥

अपां पतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत् ततः ।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥१०॥

तत्पश्चात् देवतालोग उस पर्वतके साथ समुद्रतटपर उपस्थित हुए और समुद्रसे बोले—'हम अमृतके लिये तुम्हारा मन्थन करेंगे ।' यह सुनकर जलके स्वामी समुद्रने कहा—'यदि अमृतमें मेरा भी हिस्सा रहे तो मैं मन्दराचलको घुमानेसे जो भारी पीड़ा होगी, उसे सह लूँगा ॥९-१०॥

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः ।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति ॥११॥

तब देवताओं और असुरोंने (समुद्रकी बात स्वीकार करके) समुद्रतलमें स्थित कच्छपराजसे कहा—'भगवन् ! आप इस मन्दराचलके आधार बनिये' ॥ ११ ॥

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं वज्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥१२॥

तब कच्छपराजने 'तथास्तु' कहकर मन्दराचलके नीचे अपनी पीठ लगा दी । देवराज इन्द्रने उस पर्वतको वज्रद्वारा दबाये रक्खा ॥ १२ ॥

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकीम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥१३॥
अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ॥१४॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ।

ब्रह्मन् ! इस प्रकार पूर्वकालमें देवताओं, दैत्यों और दानवोंने मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको डोरी बनाकर अमृतके लिये जलनिधि समुद्रको मथना आरम्भ किया । उन महान् असुरोंने नागराज वासुकिके मुखभागको दृढ़तापूर्वक पकड़ रक्खा था और जिस ओर उसकी पूँछ थी उधर सम्पूर्ण देवता उसे पकड़कर खड़े थे ॥ १३-१४-½ ॥

अनन्तो भगवान् देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥१५॥

भगवान् अनन्तदेव उधर ही खड़े थे, जिधर भगवान् नारायण थे । वे वासुकि नागके सिरको बार-बार ऊपर उठा-कर झटकते थे ॥ १५ ॥

वासुकेरथ नागस्य सहसाऽऽक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥१६॥

तब देवताओंद्वारा बार-बार खींचे जाते हुए वासुकि नागके मुखसे निरन्तर धूएँ तथा आगकी लपटोंके साथ गर्म-गर्म साँसें निकलने लगीं ॥ १६ ॥

ते धूमसङ्घाः सम्भूता मेघसङ्घाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन् सुरगणाञ्छ्रमसंतापकर्शितान् ॥१७॥

वे धूम-समुदाय बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा बनकर

परिश्रम एवं संतापसे कष्ट पानेवाले देवताओंपर जलकी धारा बरसाते रहते थे ॥ १७ ॥

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात् प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान् सर्वान् समन्तात् समवाकिरन् ॥१८॥

उस पर्वतशिखरके अग्रभागसे सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंपर सब ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १८ ॥

बभूवात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥१९॥

देवताओं और असुरोंद्वारा मन्दराचलसे समुद्रका मन्थन होते समय वहाँ महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान जोर-जोरसे शब्द होने लगा ॥ १९ ॥

तत्र नाना जलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥२०॥

उस समय उस महान् पर्वतके द्वारा सैकड़ों जलचर जन्तु पिस गये और खारे पानीके उस महासागरमें विलीन हो गये ॥

वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥२१॥

मन्दराचलने वरुणालय (समुद्र) तथा पातालतलमें निवास करनेवाले नाना प्रकारके प्राणियोंका संहार कर डाला ॥

तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम् ।
न्यपतन् पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥२२॥

जब वह पर्वत घुमाया जाने लगा, उस समय उसके शिखरसे बड़े-बड़े वृक्ष आपसमें टकराकर उनपर निवास करने-वाले पक्षियोंसहित नीचे गिर पड़े ॥ २२ ॥

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन् मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥२३॥

उनकी आपसकी रगड़से बार-बार आग प्रकट होकर ज्वालाओंके साथ प्रज्वलित हो उठी और जैसे बिजली नीले मेघको ढक ले, उसी प्रकार उसने मन्दराचलको आच्छादित कर लिया ॥ २३ ॥

ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ॥२४॥

उस दावानलने पर्वतीय गजराजों, गुफाओंसे निकले हुए सिंहों तथा अन्यान्य सहस्रों जन्तुओंको जलाकर भस्म कर दिया। उस पर्वतपर जो नाना प्रकारके जीव रहते थे, वे सब अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥ २४ ॥

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ॥२५॥

तब देवराज इन्द्रने इधर-उधर सबको जलाती हुई उस आगको मेघोंके द्वारा जल बरसाकर सब ओरसे बुझा दिया ॥

ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥२६॥

तदनन्तर समुद्रके जलमें बड़े-बड़े वृक्षोंके भाँति-भाँतिके गोंद तथा ओषधियोंके प्रचुर रस चू-चूकर गिरने लगे ॥२६॥

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥२७॥

वृक्षों और ओषधियोंके अमृततुल्य प्रभावशाली रसोंके जलसे तथा सुवर्णमय मन्दराचलकी अनेक दिव्य प्रभावशाली मणियोंसे चूनेवाले रससे ही देवतालोग अमरत्वको प्राप्त होने लगे॥

ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥२८॥

उन उत्तम रसोंके सम्मिश्रणसे समुद्रका सारा जल दूध बन गया और दूधसे घी बनने लगा ॥ २८ ॥

ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन् नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥२९॥
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥३०॥

तब देवतालोग वहाँ बैठे हुए वरदायक ब्रह्माजीसे बोले—'ब्रह्मन् ! भगवान् नारायणके अतिरिक्त हम सभी देवता और दानव बहुत थक गये हैं; किंतु अभीतक वह अमृत प्रकट नहीं हो रहा है । इधर समुद्रका मन्थन आरम्भ हुए बहुत समय बीत चुका है' ॥ २९-३० ॥

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥३१॥

'यह सुनकर ब्रह्माजीने भगवान् नारायणसे यह बात कही—सर्वव्यापी परमात्मन् ! इन्हें बल प्रदान कीजिये, यहाँ एकमात्र आप ही सबके आश्रय हैं' ॥ ३१ ॥

विष्णुरुवाच

बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद् ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥३२॥

श्रीविष्णु बोले— जो लोग इस कार्यमें लगे हुए हैं, उन सबको मैं बल दे रहा हूँ । सब लोग पूरी शक्ति लगाकर मन्दराचलको घुमावें और इस सागरको क्षुब्ध कर दें ॥३२॥

सौतिरुवाच

नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत् पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥३३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! भगवान् नारायणका वचन सुनकर देवताओं और दानवोंका बल बढ़ गया । उन सबने मिलकर पुनः वेगपूर्वक महासागरका वह जल मथना आरम्भ किया और उस समस्त जलराशिको अत्यन्त क्षुब्ध कर डाला ॥ ३३ ॥

ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥३४॥

फिर तो उस महासागरसे अनन्त किरणोंवाले सूर्यके समान तेजस्वी, शीतल प्रकाशसे युक्त, श्वेतवर्ण एवं प्रसन्नात्मा चन्द्रमा प्रकट हुआ ॥ ३४ ॥

श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात् पाण्डुरवासिनी ।
सुरादेवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥३५॥

तदनन्तर उस घृतस्वरूप जलसे श्वेतवस्त्रधारिणी लक्ष्मी-देवीका आविर्भाव हुआ। इसके बाद सुरादेवी और श्वेत अश्व प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसम्भवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान् नारायणउरोगतः ॥३६॥

फिर अनन्त किरणोंसे समुज्ज्वल दिव्य कौस्तुभमणिका उस जलसे प्रादुर्भाव हुआ, जो भगवान् नारायणके वक्षःस्थल-पर सुशोभित हुई ॥ ३६ ॥

(पारिजातश्च तत्रैव सुरभिश्च महामुने ।
जज्ञाते तौ तदा ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदौ ॥)
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥३७॥

ब्रह्मन् ! महामुने ! वहाँ सम्पूर्ण कामनाओंका फल देनेवाले पारिजात वृक्ष एवं सुरभि गौकी उत्पत्ति हुई। फिर लक्ष्मी, सुरा, चन्द्रमा तथा मनके समान वेगशाली उच्चैःश्रवा घोड़ा--ये सब सूर्यके मार्ग आकाशका आश्रय ले, जहाँ देवता रहते हैं, उस लोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥३८॥

इसके बाद दिव्य शरीरधारी धन्वन्तरि देव प्रकट हुए। वे अपने हाथमें श्वेत कलश लिये हुए थे, जिसमें अमृत भरा था ॥ ३४ ॥

एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान् नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥३९॥

यह अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखकर दानवोंमें अमृतके लिये कोलाहल मच गया। वे सब कहने लगे 'यह मेरा है, यह मेरा है' ॥ ३९ ॥

श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम् ।
ऐरावतो महानागोऽभवद् वज्रभृता धृतः ॥४०॥

तत्पश्चात् श्वेत रंगके चार दाँतोंसे सुशोभित विशालकाय महानाग ऐरावत प्रकट हुआ, जिसे वज्रधारी इन्द्रने अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४० ॥

अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः ।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥४१॥

तदनन्तर अत्यन्त वेगसे मथनेपर कालकूट महाविष उत्पन्न हुआ, वह धूमयुक्त अग्निकी भाँति एकाएक सम्पूर्ण जगत्को घेरकर जलाने लगा ॥ ४१ ॥

त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद् विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥४२॥

उस विषकी गन्ध सूँघते ही त्रिलोकीके प्राणी मूर्च्छित हो गये। तब ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीशङ्करने त्रिलोकीकी रक्षाके लिये उस महान् विषको पी लिया ॥ ४२ ॥

दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः ।
तदाप्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ॥४३॥

मन्त्रमूर्ति भगवान् महेश्वरने विषपान करके उसे अपने कण्ठमें धारण कर लिया। तभीसे महादेवजी नीलकण्ठके नामसे विख्यात हुए, ऐसी जनश्रुति है ॥ ४३ ॥

एतत् तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः ।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमाश्रिताः ॥४४॥

ये सब अद्भुत बातें देखकर दानव निराश हो गये और अमृत तथा लक्ष्मीके लिये उन्होंने देवताओंके साथ महान् वैर बाँध लिया ॥ ४४ ॥

ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः ।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥४५॥

उसी समय भगवान् विष्णुने, मोहिनी मायाका आश्रय ले मनोहारिणी स्त्रीका अद्भुत रूप बनाकर, दानवोंके पास पदार्पण किया ॥ ४५ ॥

ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥४६॥

समस्त दैत्यों और दानवोंने उस मोहिनीपर अपना हृदय निछावर कर दिया। उनके चित्तमें मूढ़ता छा गयी। अतः उन सबने स्त्री-रूपधारी भगवान्को वह अमृत सौंप दिया॥४६॥

(सा तु नारायणी माया धारयन्ती कमण्डलुम्।
आस्यमानेषु दैत्येषु पङ्क्त्या च प्रति दानवैः।
देवानपाययद् देवी न दैत्यांस्ते च चुक्रुशुः ॥)

भगवान् नारायणकी वह मूर्तिमयी माया हाथमें कलश लिये अमृत परोसने लगी। उस समय दानवोंसहित दैत्य पंगत लगाकर बैठे ही रह गये, परंतु उस देवीने देवताओंको ही अमृत पिलाया; दैत्योंको नहीं दिया, इससे उन्होंने बड़ा कोलाहल मचाया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थनेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृत-मन्थनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(इस अध्यायमें ४६ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक तथा कुल ४८½ श्लोक हैं)

भगवान् विष्णुने चक्रसे राहुका सिर काट दिया

एकोनविंशोऽध्यायः

देवताओंका अमृतपान, देवासुरसंग्राम तथा देवताओंकी विजय

सौतिरुवाच

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन् देवान् सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—अमृत हाथसे निकल जानेपर दैत्य और दानव संगठित हो गये और उत्तम-उत्तम कवच तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओंपर टूट पड़े॥ १॥

ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोःसकाशात् सम्प्राप्य सम्भ्रमे तुमुले सति॥ ३ ॥

उधर अनन्त शक्तिशाली नरसहित भगवान् नारायणने जब मोहिनीरूप धारण करके दानवेन्द्रोंके हाथसे अमृत लेकर हड़प लिया, तब सब देवता भगवान् विष्णुसे अमृत ले-लेकर पीने लगे; क्योंकि उस समय घमासान युद्धकी सम्भावना हो गयी थी ॥ २-३ ॥

ततः पिबत्सु पिबत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत् तदा ॥ ४ ॥

जिस समय देवता उस अभीष्ट अमृतका पान कर रहे थे, ठीक उसी समय, राहु नामक दानवने देवतारूपसे आकर अमृत पीना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

वह अमृत अभी उस दानवके कण्ठतक ही पहुँचा था कि चन्द्रमा और सूर्यने देवताओंके हितकी इच्छासे उसका भेद बतला दिया ॥ ५ ॥

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥

तब चक्रधारी भगवान् श्रीहरिने अमृत पीनेवाले उस दानवका मुकुटमण्डित मस्तक चक्रद्वारा बलपूर्वक काट दिया ॥६॥

तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयंकरम् ॥ ७ ॥

चक्रसे कटा हुआ दानवका महान् मस्तक पर्वतके शिखर-सा जान पड़ता था। वह आकाशमें उछल-उछलकर अत्यन्त भयंकर गर्जना करने लगा ॥ ७ ॥

तत् कबन्धं पपातास्य विस्फुरद् धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याकम्पयन् महीम् ॥ ८ ॥

किंतु उस दैत्यका वह धड़ धरतीपर गिर पड़ा और पर्वत, वन तथा द्वीपोंसहित समूची पृथ्वीको कँपाता हुआ तड़फड़ाने लगा ॥ ८ ॥

ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ॥ ९ ॥

तभीसे राहुके मुखने चन्द्रमा और सूर्यके साथ भारी एवं स्थायी वैर बाँध लिया; इसलिये वह आज भी दोनोंपर ग्रहण लगाता है ॥ ९ ॥

विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान् समकम्पयत् ॥ १० ॥

(देवताओंको अमृत पिलानेके बाद) भगवान् श्रीहरिने भी अपना अनुपम मोहिनीरूप त्यागकर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा दानवोंको अत्यन्त कम्पित कर दिया॥ १० ॥

ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ ११ ॥

फिर तो क्षारसागरके समीप देवताओं और असुरोंका सबसे भयंकर महासंग्राम छिड़ गया ॥ ११ ॥

प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥

दोनों दलोंपर सहस्रों तीखी धारवाले बड़े-बड़े भालोंकी मार पड़ने लगी । तेज नोकवाले तोमर तथा भाँति-भाँतिके शस्त्र बरसने लगे ॥ १२ ॥

ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १३ ॥
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकाञ्चनमालीनि निपेतुरनिशं तदा ॥ १४ ॥

भगवानके चक्रसे छिन्न-भिन्न तथा देवताओंके खड्ग, शक्ति और गदासे घायल हुए असुर मुखसे अधिकाधिक रक्त वमन करते हुए पृथ्वीपर लोटने लगे । उस समय तपाये हुए सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित दानवोंके सिर भयंकर पट्टिशोंसे कटकर निरन्तर युद्धभूमिमें गिर रहे थे ॥ १३-१४ ॥

रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १५ ॥

वहाँ खूनसे लथपथ अङ्गवाले मरे हुए महान् असुर, जो समरभूमिमें सो रहे थे, गेरू आदि धातुओंसे रँगे हुए पर्वत-शिखरोंके समान जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

हाहाकारः समभवत् तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥ १६ ॥

संध्याके समय जब सूर्यमण्डल लाल हो रहा था, एक-दूसरेके शस्त्रोंसे कटनेवाले सहस्रों योद्धाओंका हाहाकार इधर-उधर सब ओर गूँज उठा ॥ १६ ॥

परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १७ ॥

उस समराङ्गणमें दूरवर्ती देवता और दानव लोहेके तीखे परिघोंसे एक-दूसरेपर चोट करते थे और निकट आ जानेपर आपसमें मुक्का-मुक्की करने लगते थे। इस प्रकार उनके पारस्परिक आघात-प्रत्याघातका शब्द मानो सारे आकाशमें गूँज उठा ॥ १७ ॥

छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाभिसरेति च।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥ १८ ॥

उस रणभूमिमें चारों ओर ये ही अत्यन्त भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे कि 'टुकड़े-टुकड़े कर दो, चीर डालो, दौड़ो, गिरा दो और पीछा करो' ॥ १८ ॥

एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध हो ही रहा था कि भगवान् विष्णुके दो रूप नर और नारायण देव भी युद्ध-भूमिमें आ गये ॥ १९ ॥

तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥ २० ॥

भगवान् नारायणने वहाँ नरके हाथमें दिव्य धनुष देखकर स्वयं भी दानवसंहारक दिव्य चक्रका चिन्तन किया॥२०॥

ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं
महाप्रभं चक्रममित्रतापनम्।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं
सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥

चिन्तन करते ही शत्रुओंको संताप देनेवाला अत्यन्त तेजस्वी चक्र आकाशमार्गसे उनके हाथमें आ गया। वह सूर्य एवं अग्निके समान जाज्वल्यमान हो रहा था। उस मण्डलाकार चक्रकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी। उसका नाम तो सुदर्शन था, किंतु वह युद्धमें शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था ॥ २१ ॥

तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्
महाप्रभं परनगरावदारणम् ॥ २२ ॥

वहाँ आया हुआ वह भयंकर चक्र प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उसमें शत्रुओंके बड़े-बड़े नगरोंको विध्वंस कर डालनेकी शक्ति थी। हाथीकी सूँड़के समान विशाल भुजदण्डवाले उग्रवेगशाली भगवान् नारायणने उस महातेजस्वी एवं महाबलशाली चक्रको दानवोंके दलपर चलाया ॥ २२ ॥

तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं
पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा।
विदारयद् दितिदनुजान् सहस्रशः
करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥ २३ ॥

उस महासमरमें पुरुषोत्तम श्रीहरिके हाथोंसे संचालित हो वह चक्र प्रलयकालीन अग्निके समान जाज्वल्यमान हो उठा और सहस्रों दैत्यों तथा दानवोंको विदीर्ण करता हुआ बड़े वेगसे बारम्बार उनकी सेनापर पड़ने लगा ॥ २३ ॥

दहत् क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्
प्रसह्य तानसुरगणान् न्यकृन्तत।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा
पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥ २४ ॥

श्रीहरिके हाथोंसे चलाया हुआ सुदर्शन चक्र कभी प्रज्वलित अग्निकी भाँति अपनी लपलपाती लपटोंसे असुरोंको चाटता हुआ भस्म कर देता और कभी हठपूर्वक उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालता था। इस प्रकार रणभूमिके भीतर पृथ्वी और आकाशमें घूम-घूमकर वह पिशाचकी भाँति बार-बार रक्त पीने लगा ॥ २४ ॥

तथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो
मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा।
महाबला विगलितमेघवर्चसः
सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ॥ २५ ॥

इसी प्रकार उदार एवं उत्साहभरे हृदयवाले महाबली असुर भी, जो जलरहित बादलोंके समान श्वेत रंगके दिखायी देते थे, उस समय सहस्रोंकी संख्यामें आकाशमें उड़-उड़कर शिलाखण्डोंकी वर्षासे बार-बार देवताओंको पीड़ित करने लगे ॥ २५ ॥

अथाम्बराद् भयजननाः प्रपेदिरे
सपादपा बहुविधमेघरूपिणः।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः
परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आकाशसे नाना प्रकारके लाल, पीले, नीले आदि रंगवाले बादलों-जैसे बड़े-बड़े पर्वत भय उत्पन्न करते हुए वृक्षोंसहित पृथ्वीपर गिरने लगे। उनके ऊँचे-ऊँचे शिखर गलते जा रहे थे और वे एक-दूसरेसे टकराकर बड़े जोरका शब्द करते थे ॥ २६ ॥

ततो मही प्रविचलिता सकानना
महाद्रिपाताभिहता समन्ततः।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू
रणाजिरे भृशमभिसम्प्रवर्तिते ॥ २७ ॥

उस समय एक-दूसरेको लक्ष्य करके बार-बार जोर-जोरसे गरजनेवाले देवताओं और असुरोंके उस समराङ्गणमें सब ओर भयंकर मार-काट मच रही थी; बड़े-बड़े पर्वतोंके गिरनेसे आहत हुई वनसहित सारी भूमि काँपने लगी ॥ २७ ॥

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणै-
र्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत् ।
विदारयन् गिरिशिखराणि पत्रिभि-
र्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २८ ॥

तब उस महाभयंकर देवासुर-संग्राममें भगवान् नरने उत्तम सुवर्ण-भूषित अग्रभागवाले पंखयुक्त बड़े-बड़े बाणों-द्वारा पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करते हुए समस्त आकाशमार्ग-को आच्छादित कर दिया ॥ २८ ॥

ततो महीं लवणजलं च सागरं
महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं
सुदर्शनं परिकुपितं निशम्य ते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके द्वारा पीड़ित हुए महादैत्य आकाशमें जलती हुई आगके समान उद्भासित होनेवाले सुदर्शन चक्रको अपने ऊपर कुपित देख पृथ्वीके भीतर और खारे पानीके समुद्रमें घुस गये ॥ २९ ॥

ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः
स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशः
ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर देवताओंने विजय पाकर मन्दराचलको सम्मान-पूर्वक उसके पूर्वस्थानपर ही पहुँचा दिया। इसके बाद वे अमृत धारण करनेवाले देवता अपने सिंहनादसे अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको भी सब ओरसे गुँजाते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे
सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं
किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥ ३१ ॥

देवताओंको इस विजयसे बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन्होंने उस अमृतको बड़ी सुव्यवस्थासे रक्खा। अमरोंसहित इन्द्रने अमृतकी वह निधि किरीटधारी भगवान् नरको रक्षाके लिये सौंप दी ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थनसमाप्तिर्नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थन-समाप्ति नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

कद्रू और विनताकी होड़, कद्रूद्वारा अपने पुत्रोंको शाप एवं ब्रह्माजीद्वारा उसका अनुमोदन

सौतिरुवाच

एतत् ते कथितं सर्वममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥
यं निशाम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किं वर्णो भद्रे प्रब्रूहि माचिरम् ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! जिस प्रकार अमृत मथकर निकाला गया, वह सब प्रसङ्ग मैंने आपलोगोंसे कह सुनाया। उस अमृत-मन्थनके समय ही वह अनुपम वेगशाली सुन्दर अश्व उत्पन्न हुआ था, जिसे देखकर कद्रूने विनतासे कहा—भद्रे ! शीघ्र बताओ तो, यह उच्चैः-श्रवा घोड़ा किस रंगका है ॥ १-२ ॥

विनतोवाच

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

विनता बोली—शुभे ! यह अश्वराज श्वेत वर्णका ही है। तुम इसे कैसा समझती हो ? तुम भी इसका रंग बताओ, तब हम दोनों इसके लिये बाजी लगायेंगी ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

कद्रूने कहा—पवित्र मुसकानवाली बहिन ! इस घोड़े-(का रंग तो अवश्य सफेद है, किंतु इस) की पूँछको मैं काले रंगकी ही मानती हूँ। भामिनि ! आओ, दासी होनेकी शर्त रखकर मेरे साथ बाजी लगाओ (यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं दासी बनकर रहूँगी; अन्यथा तुम्हें मेरी दासी बनना होगा) ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वे दोनों बहिनें आपसमें एक दूसरेकी दासी होनेकी शर्त रखकर अपने-अपने घर चली गयीं और उन्होंने यह निश्चय किया कि कल आकर घोड़ेको देखेंगी ॥ ५ ॥

ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा।
नावपद्यन्त ये वाक्यं ताञ्छशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥
सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥

कद्रू कुटिलता एवं छलसे काम लेना चाहती थी। उसने अपने सहस्र पुत्रोंको इस समय आज्ञा दी कि तुम काले रंगके बाल बनकर शीघ्र उस घोड़ेकी पूँछमें लग जाओ, जिससे मुझे दासी न होना पड़े। उस समय जिन सर्पोंने उसकी आज्ञा न मानी उन्हें उसने शाप दिया कि 'जाओ, पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजयके सर्पयज्ञका आरम्भ होनेपर उसमें प्रज्वलित अग्नि तुम्हें जलाकर भस्म कर देगी' ॥ ६—८ ॥

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥

इस शापको स्वयं ब्रह्माजीने सुना। यह दैवसंयोगकी बात है कि सर्पोंको उनकी माता कद्रूकी ओरसे ही अत्यन्त कठोर शाप प्राप्त हो गया ॥ ९ ॥

सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥ १० ॥

सम्पूर्ण देवताओंसहित ब्रह्माजीने सर्पोंकी संख्या बढ़ती देख प्रजाके हितकी इच्छासे कद्रूकी उस बातका अनुमोदन ही किया ॥ १० ॥

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय च ॥ ११ ॥
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम्।
अन्येषामपि सत्त्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये ॥ १२ ॥
तेषां प्राणान्तको दण्डो दैवेन विनिपात्यते।
एवं सम्भाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूं च तां तदा ॥ १३ ॥
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत्।
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयानघ ॥ १४ ॥
विषोल्बणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप।
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्तव्यः कथंचन ॥ १५ ॥
दृष्टं पुरातनं ह्येतद् यज्ञे सर्पविनाशनम्।
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद् देवस्तं प्रसार्य प्रजापतिम्।
प्रादाद् विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ॥ १६ ॥

'ये महाबली दुःसह पराक्रम तथा प्रचण्ड विषसे युक्त हैं। अपने तीखे विषके कारण ये सदा दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये दौड़ते-फिरते हैं। अतः समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे इन्हें शाप देकर माता कद्रूने उचित ही किया है। जो सदा दूसरे प्राणियोंको हानि पहुँचाते रहते हैं, उनके ऊपर दैवके द्वारा ही प्राणनाशक दण्ड आ पड़ता है।' ऐसी बात कहकर ब्रह्माजीने कद्रूकी प्रशंसा की और कश्यपजीको बुलाकर यह बात कही—'अनघ ! तुम्हारे द्वारा जो ये लोगोंको डँसनेवाले सर्प उत्पन्न हो गये हैं, इनके शरीर बहुत विशाल और विष बड़े भयंकर हैं। परंतप ! इन्हें इनकी माताने शाप दे दिया है, इसके कारण तुम किसी तरह भी उसपर क्रोध न करना। तात ! यज्ञमें सर्पोंका नाश होनेवाला है, यह पुराण-वृत्तान्त तुम्हारी दृष्टिमें भी है ही।' ऐसा कहकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने प्रजापति कश्यपको प्रसन्न करके उन महात्माको सर्पोंका विष उतारनेवाली विद्या प्रदान की ॥ ११—१६ ॥

(एवं शप्तेषु नागेषु कद्र्वा च द्विजसत्तम।
उद्विग्नः शापतस्तस्याः कद्रूं कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥
मातरं परमप्रीतस्तदा भुजगसत्तमः।
आविश्य वाजिनं मुख्यं वालो भूत्वाञ्जनप्रभः ॥
दर्शयिष्यामि तत्राहमात्मानं काममाश्वस।
एवमस्त्विति तं पुत्रं प्रत्युवाच यशस्विनी ॥)

द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार माता कद्रूने जब नागोंको शाप दे दिया, तब उस शापसे उद्विग्न हो भुजङ्गप्रवर कर्कोटकने परम प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपनी मातासे कहा—'मा ! तुम धैर्य रखो, मैं काले रंगका बाल बनकर उस श्रेष्ठ अश्वके शरीरमें प्रविष्ट हो अपने-आपको ही इसकी काली पूँछके रूपमें दिखाऊँगा।' यह सुनकर यशस्विनी कद्रूने पुत्रको उत्तर दिया—'बेटा ! ऐसा ही होना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित-विषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

(इस अध्यायमें १६ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक तथा कुल १९ श्लोक हैं)

एकविंशोऽध्यायः

समुद्रका विस्तारसे वर्णन

सौतिरुवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन ! तदनन्तर जब रात

बीती, प्रातःकाल हुआ और भगवान् सूर्यका उदय हो गया, उस समय कद्रू और विनता दोनों बहिनें बड़े जोश और रोषके साथ दासी होनेकी बाजी लगाकर उच्चैःश्रवा नामक अश्वको निकटसे देखनेके लिये गयीं ॥ १-२ ॥

ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम्।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ॥ ३ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्होंने मार्गमें जलनिधि समुद्रको देखा, जो महान् होनेके साथ ही अगाध जलसे भरा था। मगर आदि जलजन्तु उसे विक्षुब्ध कर रहे थे और उससे बड़े जोरकी गर्जना हो रही थी ॥ ३ ॥

तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ॥ ४ ॥

वह तिमि नामक बड़े-बड़े मत्स्योंको भी निगल जानेवाले तिमिङ्गिलों, मत्स्यों तथा मगर आदिसे व्याप्त था। नाना प्रकारकी आकृतिवाले सहस्रों जल-जन्तु उसमें भरे हुए थे ॥

भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा ।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ५ ॥

विकट आकारवाले दूसरे-दूसरे घोर डरावने जलचरों तथा उग्र जल-जन्तुओंके कारण वह महासागर सदा सबके लिये दुर्धर्ष बना हुआ था। उसके भीतर बहुत-से कछुए और ग्राह निवास करते थे ॥ ५ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ६ ॥

सरिताओंका स्वामी वह महासागर सम्पूर्ण रत्नोंकी खान, वरुणदेवका निवासस्थान और नागोंका रमणीय उत्तम गृह है॥६॥

पातालज्वलनावासमसुराणां च बान्धवम्।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ७ ॥

पातालकी अग्नि—बड़वानलका निवास भी उसीमें है। असुरोंको तो वह जलनिधि समुद्र भाई-बन्धुकी भाँति शरण देनेवाला है तथा दूसरे थलचर जीवोंके लिये अत्यन्त भयदायक है॥७॥

शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम्।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ८ ॥

अमरोंके अमृतकी खान होनेसे वह अत्यन्त शुभ एवं दिव्य माना जाता है। उसका कोई माप नहीं है। वह अचिन्त्य, पवित्र जलसे परिपूर्ण तथा अद्भुत है ॥ ८ ॥

घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिःस्वनम्।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ९ ॥

वह घोर समुद्र जल-जन्तुओंके शब्दोंसे और भी भयंकर प्रतीत होता था, उससे भयंकर गर्जना हो रही थी, उसमें गहरी भँवरें उठ रही थीं तथा वह समस्त प्राणियोंके लिये भय-सा उत्पन्न करता था ॥ ९ ॥

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम्।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥ १० ॥

तटपर तीव्रवेगसे बहनेवाली वायु मानो झूला बनकर उस महासागरको चञ्चल किये देती थी। वह क्षोभ और उद्वेगसे बहुत ऊँचेतक लहरें उठाता था और सब ओर चञ्चल तरङ्गरूपी हाथोंको हिला-हिलाकर नृत्य-सा कर रहा था ॥१०॥

चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

चन्द्रमाकी वृद्धि और क्षयके कारण उसकी लहरें बहुत ऊँचे उठतीं और उतरती थीं (उसमें ज्वार-भाटे आया करते थे), अतः वह उत्ताल-तरङ्गोंसे व्याप्त जान पड़ता था। उसीने पाञ्चजन्य शङ्खको जन्म दिया था। वह रत्नोंका आकर और परम उत्तम था ॥ ११ ॥

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ १२ ॥

अमिततेजस्वी भगवान् गोविन्दने वाराहरूपसे पृथ्वीको उपलब्ध करते समय उस समुद्रको भीतरसे मथ डाला था और उस मथित जलसे वह समस्त महासागर मलिन-सा जान पड़ता था ॥ १२ ॥

ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमत्रिणा।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १३ ॥

व्रतधारी ब्रह्मर्षि अत्रिने समुद्रके भीतरी तलका अन्वेषण करते हुए सौ वर्षोंतक चेष्टा करके भी उसका पता नहीं पाया। वह पातालके नीचेतक व्याप्त है और पातालके नष्ट होनेपर भी बना रहता है, इसलिये अविनाशी है ॥ १३ ॥

अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक योगनिद्राका सेवन करनेवाले अमिततेजस्वी कमलनाभ भगवान् विष्णुके लिये वह युगान्तकालसे लेकर युगादिकालतक शयनागार बना रहता है ॥ १४ ॥

वज्रपातनसंत्रस्तमैनाकस्याभयप्रदम् ।
डिम्बाहवार्दितानां च असुराणां परायणम् ॥ १५ ॥

उसीने वज्रपातसे डरे हुए मैनाक पर्वतको अभयदान दिया है तथा जहाँ भयके मारे हाहाकार करना पड़ता है, ऐसे युद्धसे पीड़ित हुए असुरोंका वह सबसे बड़ा आश्रय है ॥१५॥

वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम्।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १६ ॥

बड़वानलके प्रज्वलित मुखमें वह सदा अपने जलरूपी हविष्यकी आहुति देता रहता है और जगत्‌के लिये कल्याणकारी है। इस प्रकार वह सरिताओंका स्वामी समुद्र अगाध, अपार, विस्तृत और अप्रमेय है ॥ १६ ॥

महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ॥ १७ ॥

सहस्रों बड़ी-बड़ी नदियाँ आपसमें होड़-सी लगाकर उस विस्तृत महासागरमें निरन्तर मिलती रहती हैं और अपने जलसे उसे सदा परिपूर्ण किया करती हैं। वह ऊँची-ऊँची लहरोंकी भुजाएँ ऊपर उठाये निरन्तर नृत्य करता-सा जान पड़ता है ॥

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं
गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं
तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार गम्भीर, तिमि और मकर आदि भयंकर जल-जन्तुओंसे व्याप्त, जलचर जीवोंके शब्दरूप भयंकर नादसे निरन्तर गर्जना करनेवाले, अत्यन्त विस्तृत, आकाशके समान स्वच्छ, अगाध, अनन्त एवं महान् जलनिधि समुद्रको कद्रू और विनताने देखा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितके प्रसङ्गमें इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

नागोंद्वारा उच्चैःश्रवाकी पूँछको काली बनाना; कद्रू और विनताका समुद्रको देखते हुए आगे बढ़ना

सौतिरुवाच

नागाश्च संविदं कृत्वा कर्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असम्प्राप्तमनोरथा ॥ १ ॥
प्रसन्ना मोक्षयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो ! इधर नागोंने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि 'हमें माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि इसका मनोरथ पूरा न होगा तो वह स्नेहभाव छोड़कर रोषपूर्वक हमें जला देगी। यदि इच्छा पूर्ण हो जानेसे प्रसन्न हो गयी तो वह भामिनी हमें अपने शापसे मुक्त कर सकती है; इसलिये हम निश्चय ही उस घोड़ेकी पूँछको काली कर देंगे' ॥ १-२ ॥

तथा हि गत्वा ते तस्य पुच्छे वाला इव स्थिताः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ॥ ३ ॥
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ॥ ४ ॥
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ ५ ॥
वायुनातीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।
तिमिङ्गिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ६ ॥
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ॥ ७ ॥

ऐसा विचार करके वे वहाँ गये और काले रंगके बाल बनकर उसकी पूँछमें लिपट गये। द्विजश्रेष्ठ ! इसी बीचमें बाजी लगाकर आयी हुई दोनों सौतें और सगी बहिनें पुनः अपनी शर्तको दुहराकर बड़ी प्रसन्नताके साथ समुद्रके दूसरे पार जा पहुँचीं। दक्षकुमारी कद्रू और विनता आकाशमार्गसे अक्षोभ्य जलनिधि समुद्रको देखती हुई आगे बढ़ीं। वह महासागर अत्यन्त प्रबल वायुके थपेड़े खाकर सहसा विक्षुब्ध हो रहा था। उससे बड़े जोरकी गर्जना होती थी। तिमिङ्गिल और मगर-मच्छ आदि जलजन्तु उसमें सब ओर व्याप्त थे। नाना प्रकारके भयंकर जन्तु सहस्रोंकी संख्यामें उसके भीतर निवास करते थे। इन सबके कारण वह अत्यन्त घोर और दुर्धर्ष जान पड़ता था तथा गहरा होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था ॥ ३–७ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं चापि सुरम्यं सरितां पतिम् ॥ ८ ॥

नदियोंका वह स्वामी सब प्रकारके रत्नोंकी खान, वरुणका निवासस्थान तथा नागोंका सुरम्य गृह था ॥ ८ ॥

पातालज्वलनावासमसुराणां तथाऽऽलयम् ।
भयंकराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम् ॥ ९ ॥

वह पातालव्यापी बड़वानलका आश्रय, असुरोंके छिपनेके स्थान, भयंकर जन्तुओंका घर, अनन्त जलका भण्डार और अविनाशी था ॥ ९ ॥

शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलसम्मितम् ॥ १० ॥

वह शुभ्र, दिव्य, अमरोंके अमृतका उत्तम उत्पत्ति-स्थान, अप्रमेय, अचिन्त्य तथा परम पवित्र जलसे परिपूर्ण था ॥ १० ॥

महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ॥ ११ ॥

बहुत-सी बड़ी-बड़ी नदियाँ सहस्रोंकी संख्यामें आकर उसमें यत्र-तत्र मिलतीं और उसे अधिकाधिक भरती रहती थीं। वह भुजाओंके समान ऊँची लहरोंको ऊपर उठाये नृत्य-सा कर रहा था ॥ ११ ॥

इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं तं
गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं
गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते ॥१२॥

इस प्रकार अत्यन्त तरल तरङ्गोंसे व्याप्त, आकाशके समान स्वच्छ, बड़वानलकी शिखाओंसे उद्भासित, गम्भीर, विकसित और निरन्तर गर्जन करनेवाले महासागरको देखती हुई वे दोनों बहिनें तुरंत आगे बढ़ गयीं ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तिकपर्वमें गरुडचरितके प्रसङ्गमें समुद्रदर्शननामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पराजित विनताका कद्रूकी दासी होना, गरुडकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी स्तुति

सौतिरुवाच

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह ।
न्यपतत् तुरगाभ्याशे नचिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजवम् ।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालवालमुभे तदा ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! तदनन्तर शीघ्रगामिनी कद्रू विनताके साथ उस समुद्रको लाँघकर तुरंत ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके पास पहुँच गयीं। उस समय चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत वर्णवाले उस महान् वेगशाली श्रेष्ठ अश्वको उन दोनोंने काली पूँछवाला देखा ॥ १-२ ॥

निशाम्य च बहून् वालान् कृष्णान् पुच्छसमाश्रितान् ।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ ३ ॥

पूँछके घनीभूत बालोंको काले रंगका देखकर विनता विषादकी मूर्ति बन गयी और कद्रूने उसे अपनी दासीके काममें लगा दिया ॥ ३ ॥

ततः सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता ।
अभवद् दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ४ ॥

पहलेकी लगायी हुई बाजी हारकर विनता उस स्थानपर दुःखसे संतप्त हो उठी और उसने दासीभाव स्वीकार कर लिया॥

एतस्मिन्नन्तरे चापि गरुडः काल आगते ।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ५ ॥

इसी बीचमें समय पूरा होनेपर महातेजस्वी गरुड़ माताकी सहायताके बिना ही अण्डा फोड़कर बाहर निकल आये ॥

महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन् दिशः ।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहंगमः ॥ ६ ॥

वे महान् साहस और पराक्रमसे सम्पन्न थे। अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उनमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी। वे जहाँ जितनी जल्दी जाना चाहें जा सकते थे और अपनी रुचिके अनुसार पराक्रम दिखला सकते थे। उनका प्राकट्य आकाशचारी पक्षीके रूपमें हुआ था॥

अग्निराशिरिवोद्भासन् समिद्धोऽतिभयंकरः ।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७ ॥

वे प्रज्वलित अग्नि-पुञ्जके समान उद्भासित होकर अत्यन्त भयंकर जान पड़ते थे। उनकी आँखें बिजलीके समान चमकनेवाली और पिङ्गलवर्णकी थीं। वे प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ७ ॥

प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवापरः ॥ ८ ॥

उनका शरीर थोड़ी ही देरमें बढ़कर विशाल हो गया। पक्षी गरुड़ आकाशमें उड़ चले। वे स्वयं तो भयंकर थे ही, उनकी आवाज भी बड़ी भयानक थी। वे दूसरे बड़वानल-की भाँति बड़े भीषण जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम् ।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ९ ॥

उन्हें देखकर सब देवता विश्वरूपधारी अग्निदेवकी शरणमें गये और उन्हें प्रणाम करके बैठे हुए उन अग्निदेवसे इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि ।
असौ हि राशिः सुमहान् समिद्धस्तव सर्पति ॥१०॥

'अग्ने ! आप इस प्रकार न बढ़ें। आप हमलोगोंको जलाकर भस्म तो नहीं कर डालना चाहते हैं ? देखिये, वह आपका महान्, प्रज्वलित तेजःपुञ्ज इधर ही फैलता आ रहा है'॥

अग्निरुवाच

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ॥११॥

अग्निदेवने कहा—असुरविनाशक देवताओ ! तुम जैसा समझ रहे हो, वैसी बात नहीं है। ये महाबली गरुड़ हैं, जो तेजमें मेरे ही तुल्य हैं ॥ ११ ॥

जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः ।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान् मोहः समाविशत् ॥१२॥

विनताका आनन्द बढ़ानेवाले ये परम तेजस्वी गरुड इसी रूपमें उत्पन्न हुए हैं। तेजके पुञ्जरूप इन गरुडको देखकर ही तुमलोगोंपर मोह छा गया है ॥ १२ ॥

नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥१३॥

कश्यपनन्दन महाबली गरुड नागोंके विनाशक, देवताओं-के हितैषी और दैत्यों तथा राक्षसोंके शत्रु हैं ॥ १३ ॥

न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ॥१४॥
ते दूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा।

इनसे किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। तुम मेरे साथ चलकर इनका दर्शन करो।

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उस समय देवताओं तथा ऋषियोंने गरुडके पास जाकर अपनी वाणीद्वारा उनका इस प्रकार स्तवन किया (यहाँ परमात्माके रूपमें गरुडकी स्तुति की गयी है) ॥ १४½ ॥

देवा ऊचुः

त्वमृषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ॥१५॥

देवता बोले—प्रभो ! आप मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं; आप ही महाभाग देवता तथा आप ही पतगेश्वर (पक्षियों तथा जीवोंके स्वामी) हैं ॥ १५ ॥

त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शर्वस्त्वं जगत्पतिः ॥१६॥

आप ही प्रभु, तपन, सूर्य, परमेष्ठी तथा प्रजापति हैं। आप ही इन्द्र हैं, आप ही हयग्रीव हैं, आप ही शिव हैं तथा आप ही जगत्के स्वामी हैं ॥ १६ ॥

त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ॥१७॥

आप ही भगवान्‌के मुखस्वरूप ब्राह्मण, पद्मयोनि ब्रह्मा और विज्ञानवान् विप्र हैं, आप ही अग्नि तथा वायु हैं; आप ही धाता, विधाता और देवश्रेष्ठ विष्णु हैं ॥ १७ ॥

त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद् यशः।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥१८॥

आप ही महत्तत्त्व और अहंकार हैं। आप ही सनातन, अमृत और महान् यश हैं। आप ही प्रभा और आप ही अभीष्ट पदार्थ हैं। आप ही हमलोगोंके सर्वोत्तम रक्षक हैं ॥

बलोर्मिमान् साधुरदीनसत्त्वः
समृद्धिमान् दुर्विषहस्त्वमेव।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते
ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥१९॥

आप बलके सागर और साधु पुरुष हैं। आपमें उदार सत्त्वगुण विराजमान है। आप महान् ऐश्वर्यशाली हैं। युद्धमें आपके वेगको सह लेना सभीके लिये सर्वथा कठिन है। पुण्यश्लोक ! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही प्रकट हुआ है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ आप ही हैं ॥ १९ ॥

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं
गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे।
समाक्षिपन् भानुमतः प्रभां मुहु-
स्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥२०॥

आप उत्तम हैं। जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। आप ही सबका अन्त करनेवाले काल हैं और बारम्बार सूर्यकी प्रभाका उपसंहार करते हुए इस समस्त क्षर और अक्षररूप जगत्‌का संहार करते हैं ॥ २० ॥

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्
प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ।
भयंकरः प्रलय इवाग्निरुत्थितो
विनाशयन् युगपरिवर्तनान्तकृत् ॥२१॥

अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले देव ! जैसे सूर्य क्रुद्ध होनेपर सबको जला सकते हैं, उसी प्रकार आप भी कुपित होनेपर सम्पूर्ण प्रजाको दग्ध कर डालते हैं। आप युगान्तकारी कालके भी काल हैं और प्रलयकालमें सबका विनाश करनेके लिये भयंकर संवर्तकाग्निके रूपमें प्रकट होते हैं ॥ २१ ॥

खगेश्वरं शरणमुपागता वयं
महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम्।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥२२॥

आप सम्पूर्ण पक्षियों एवं जीवोंके अधीश्वर हैं। आपका ओज महान् है। आप अग्निके समान तेजस्वी हैं। आप बिजलीके समान प्रकाशित होते हैं। आपके द्वारा अज्ञान-पुञ्जका निवारण होता है। आप आकाशमें मेघोंकी भाँति विचरनेवाले महापराक्रमी गरुड हैं। हम यहाँ आकर आपके शरणागत हो रहे हैं ॥ २२ ॥

परावरं वरदमजय्यविक्रमं
तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम्।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा
त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान् महात्मनः ॥२३॥

आप ही कार्य और कारणरूप हैं। आपसे ही सबको वर मिलता है। आपका पराक्रम अजेय है। आपके तेजसे यह सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो उठा है। जगदीश्वर ! आप तपाये हुए सुवर्णके समान अपने दिव्य तेजसे सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा पुरुषोंकी रक्षा करें ॥ २३ ॥

भयान्विता नभसि विमानगामिनो
विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते ।
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो
महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ॥२४॥

पक्षिराज ! प्रभो ! विमानपर चलनेवाले देवता आपके तेजसे तिरस्कृत एवं भयभीत हो आकाशमें पथभ्रष्ट हो जाते हैं। आप दयालु महात्मा महर्षि कश्यपके पुत्र हैं ॥ २४ ॥

स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां
त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते
दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी ॥२५॥
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं
निगृह्यतां वपुरिदमग्निसंनिभम् ।
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसंनिभां
निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम् ।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां
शिवश्च नो भव भगवन् सुखावहः ॥२६॥

प्रभो ! आप कुपित न हों, सम्पूर्ण जगत्‌पर उत्तम दयाका विस्तार करें। आप ईश्वर हैं, अतः शान्ति धारण करें और हम सबकी रक्षा करें। महान् वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आपकी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्ग तथा यह पृथ्वी सब-के-सब विचलित हो उठे हैं और हमारा हृदय भी निरन्तर काँपता रहता है। अतः खगश्रेष्ठ ! आप अग्निके समान तेजस्वी अपने इस भयंकर रूपको शान्त कीजिये । क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान आपकी उग्र कान्ति देखकर हमारा मन अस्थिर एवं चञ्चल हो जाता है। आप हम याचकोंपर प्रसन्न होइये ! भगवन् ! आप हमारे लिये कल्याण-स्वरूप और सुखदायक हो जाइये ॥ २५-२६ ॥

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥२७॥

ऋषियोंसहित देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर उत्तम पङ्खोंवाले गरुडने उस समय अपने तेजको समेट लिया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

गरुडके द्वारा अपने तेज और शरीरका संकोच तथा सूर्यके क्रोधजनित तीव्र तेजकी शान्तिके लिये अरुणका उनके रथपर स्थित होना

सौतिरुवाच

स श्रुत्वाथात्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम् ।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः सम्प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! देवताओं-द्वारा की हुई स्तुति सुनकर गरुडजीने स्वयं भी अपने शरीरकी ओर दृष्टिपात किया और उसे संकुचित कर लेनेकी तैयारी करने लगे ॥ १ ॥

सुपर्ण उवाच

न मे सर्वाणि भूतानि बिभियुर्देहदर्शनात् ।
भीमरूपात् समुद्विग्नास्तस्मात् तेजस्तु संहरे ॥ २ ॥

गरुडजीने कहा—देवताओ ! मेरे इस शरीरको देखनेसे संसारके समस्त प्राणी उस भयानक स्वरूपसे उद्विग्न होकर डर न जायँ इसलिये मैं अपने तेजको समेट लेता हूँ ॥

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहंगमः ।
अरुणं चात्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात् ॥ ३ ॥
मातुरन्तिकमागच्छत् परं तीरं महोदधेः ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम प्रकट करनेवाले पक्षी गरुड अपने भाई अरुणको पीठपर चढ़ाकर पिताके घरसे माताके समीप महासागरके दूसरे तटपर आये ॥ ३½ ॥

तत्रारुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः ॥ ४ ॥
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान् दग्धुमना यदा ।

जब सूर्यने अपने भयंकर तेजके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेका विचार किया, उस समय गरुडजी महान् तेजस्वी अरुण-को पुनः पूर्व दिशामें लाकर सूर्यके समीप रख आये ॥४½॥

रुरुरुवाच

किमर्थं भगवान् सूर्यो लोकान् दग्धुमनास्तदा ॥ ५ ॥
किमस्यापहृतं देवैर्येनेमं मन्युराविशत् ।

रुरुने पूछा—पिताजी ! भगवान् सूर्यने उस समय सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालनेका विचार क्यों किया ! देवताओंने उनका क्या हड़प लिया था, जिससे उनके मनमें क्रोधका संचार हो गया ॥ ५½ ॥

प्रमतिरुवाच

चन्द्रार्काभ्यां यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन् ॥ ६ ॥
वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्यौ तदानघ ।
वध्यमाने ग्रहेणाथ आदित्ये मन्युराविशत् ॥ ७ ॥

प्रमतिने कहा—अनघ ! जब राहु अमृत पी रहा था, उस समय चन्द्रमा और सूर्यने उसका भेद बता दिया; इसीलिये उसने चन्द्रमा और सूर्यसे भारी वैर बाँध लिया और उन्हें सताने लगा । राहुसे पीड़ित होनेपर सूर्यके मनमें क्रोधका आवेश हुआ ॥ ६-७ ॥

सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति ।
बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ॥ ८ ॥

वे सोचने लगे, 'देवताओंके हितके लिये ही मैंने राहुका भेद खोला था जिससे मेरे प्रति राहुका रोष बढ़ गया । अब उसका अत्यन्त अनर्थकारी परिणाम दुःखके रूपमें अकेले मुझे प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ।
पश्यन्ति ग्रसमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः ॥ ९ ॥

'संकटके अवसरोंपर मुझे अपना कोई सहायक ही नहीं दिखायी देता । देवतालोग मुझे राहुसे ग्रस्त होते देखते हैं तो भी चुपचाप सह लेते हैं ॥ ९ ॥

तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ।
एवं कृतमतिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद् गिरिम् ॥१०॥

'अतः सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये निःसंदेह मैं अस्ताचलपर जाकर वहीं ठहर जाऊँगा ।' ऐसा निश्चय करके सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ॥ १० ॥

तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ।
ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेवं महर्षयः ॥११॥

और वहींसे सूर्यदेवने सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश करनेके लिये सबको संताप देना आरम्भ किया । तब महर्षिगण देवताओंके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥

अद्यार्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।
उत्पत्स्यते महान् दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः ॥१२॥

'देवगण ! आज आधी रातके समय सब लोकोंको भयभीत करनेवाला महान् दाह उत्पन्न होगा, जो तीनों लोकोंका विनाश करनेवाला हो सकता है' ॥ १२ ॥

ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन् किमिवेहाद्य महद् दाहकृतं भयम् ॥१३॥
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन् भानौ कथमेतद् भविष्यति ॥१४॥

तदनन्तर देवता ऋषियोंको साथ ले ब्रह्माजीके पास जाकर बोले—'भगवन् ! आज यह कैसा महान् दाहजनित भय उपस्थित होना चाहता है ? अभी सूर्य नहीं दिखायी देते तो भी ऐसी गरमी प्रतीत होती है मानो जगत्‌का विनाश हो जायगा । फिर सूर्योदय होनेपर गरमी कैसी तीव्र होगी, यह कौन कह सकता है ?' ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान् स भस्मराशीकरिष्यति ॥१५॥

ब्रह्माजीने कहा—ये सूर्यदेव आज सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये ही उद्यत होना चाहते हैं । जान पड़ता है, ये दृष्टिमें आते ही सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगे ॥१५॥

तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ।
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ॥१६॥

किंतु उनके भीषण संतापसे बचनेका उपाय मैंने पहलेसे ही कर रक्खा है । महर्षि कश्यपके एक बुद्धिमान् पुत्र हैं, जो अरुण नामसे विख्यात हैं ॥ १६ ॥

महाकायो महातेजाः स स्थास्यति पुरो रवेः ।
करिष्यति च सारथ्यं तेजश्चास्य हरिष्यति ॥१७॥
लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद् ऋषीणां च दिवौकसाम् ।

उनका शरीर विशाल है । वे महान् तेजस्वी हैं । वे ही सूर्यके आगे रथपर बैठेंगे । उनके सारथिका कार्य करेंगे और उनके तेजका भी अपहरण करेंगे । ऐसा करनेसे सम्पूर्ण लोकों, ऋषि-महर्षियों तथा देवताओंका भी कल्याण होगा ॥१७½॥

प्रमतिरुवाच

ततः पितामहाज्ञातः सर्वं चक्रे तदारुणः ॥१८॥
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृतः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् सूर्यं मन्युराविशत् ॥१९॥

प्रमति कहते हैं—तत्पश्चात् पितामह ब्रह्माजीकी आज्ञासे अरुणने उस समय सब कार्य उसी प्रकार किया । सूर्य अरुणसे आवृत होकर उदित हुए । वत्स ! सूर्यके मनमें क्यों क्रोधका आवेश हुआ था, इस प्रश्नके उत्तरमें मैंने ये सब बातें कही हैं ॥ १८-१९ ॥

अरुणश्च यथैवास्य सारथ्यमकरोत् प्रभुः ।
भूय एवापरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ॥२०॥

शक्तिशाली अरुणने सूर्यके सारथिका कार्य क्यों किया, यह बात भी इस प्रसङ्गमें स्पष्ट हो गयी है। अब अपने पूर्वकथित दूसरे प्रश्नका पुनः उत्तर सुनो ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

सूर्यके तापसे मूर्च्छित हुए सर्पोंकी रक्षाके लिये कद्रूद्वारा इन्द्रदेवकी स्तुति

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः।
मातुरन्तिकमागच्छत् परं पारं महोदधेः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! तदनन्तर इच्छानुसार गमन करनेवाले महान् पराक्रमी तथा महाबली गरुड़ समुद्रके दूसरे पार अपनी माताके समीप आये ॥ १ ॥

यत्र सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥

जहाँ उनकी माता विनता बाजी हार जानेसे दासीभावको प्राप्त हो अत्यन्त दुःखसे संतप्त रहती थीं ॥ २ ॥

ततः कदाचित् विनतां प्रणतां पुत्रसंनिधौ।
काले चाहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥

एक दिन अपने पुत्रके समीप बैठी हुई विनयशील विनताको किसी समय बुलाकर कद्रूने यह बात कही—॥ ३ ॥

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम्।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ॥ ४ ॥

'कल्याणी विनते! समुद्रके भीतर निर्जन प्रदेशमें एक बहुत रमणीय तथा देखनेमें अत्यन्त मनोहर नागोंका निवासस्थान है। तू वहाँ मुझे ले चल' ॥ ४ ॥

ततः सुपर्णमाता तामवहत् सर्पमातरम्।
पन्नगान् गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥

तब गरुडकी माता विनता सर्पोंकी माता कद्रूको अपनी पीठपर ढोने लगी। इधर माताकी आज्ञासे गरुड भी सर्पोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर ले चले ॥ ५ ॥

स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहंगमः।
सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्छिता पन्नगाभवन् ॥ ६ ॥

पक्षिराज गरुड आकाशमें सूर्यके निकट होकर चलने लगे। अतः सर्प सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मूर्छित हो गये ॥ ६ ॥

तदवस्थान् सुतान् दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत्।
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ॥ ७ ॥

अपने पुत्रोंको इस दशामें देखकर कद्रू इन्द्रकी स्तुति करने लगी—'सम्पूर्ण देवताओंके ईश्वर! तुम्हें नमस्कार है। बलसूदन! तुम्हें नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ॥ ८ ॥

'सहस्र नेत्रोंवाले नमुचिनाशन! शचीपते! तुम्हें नमस्कार है। तुम सूर्यके तापसे संतप्त हुए सर्पोंको जलसे नहलाकर नौकाकी भाँति उनके रक्षक हो जाओ ॥ ८ ॥

त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम।
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरन्दर ॥ ९ ॥

'अमरोत्तम! तुम्हीं हमारे सबसे बड़े रक्षक हो। पुरन्दर! तुम अधिक-से-अधिक जल बरसानेकी शक्ति रखते हो ॥ ९ ॥

त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे।
त्वमभ्रगणविक्षेप्ता त्वामेवाहुर्महाघनम् ॥ १० ॥

'तुम्हीं मेघ हो, तुम्हीं वायु हो और तुम्हीं आकाशमें बिजली बनकर प्रकाशित होते हो। तुम्हीं बादलोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले हो और विद्वान् पुरुष तुम्हें ही महामेघ कहते हैं ॥ १० ॥

त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः।
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः ॥ ११ ॥

'संसारमें जिसकी कहीं तुलना नहीं है, वह भयानक वज्र तुम्हीं हो। तुम्हीं भयंकर गर्जना करनेवाले बलाहक (प्रलयकालीन मेघ) हो। तुम्हीं सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि और संहार करनेवाले हो। तुम कभी परास्त नहीं होते ॥ ११ ॥

त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः।
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः ॥ १२ ॥

'तुम्हीं समस्त प्राणियोंकी ज्योति हो। सूर्य और अग्नि भी तुम्हीं हो। तुम आश्चर्यमय महान् भूत हो, तुम राजा हो और तुम देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १२ ॥

त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम्।
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ॥ १३ ॥

'तुम्हीं सर्वव्यापी विष्णु, सहस्रलोचन इन्द्र, द्युतिमान् देवता और सबके परम आश्रय हो। देव! तुम्हीं सब कुछ हो। तुम्हीं अमृत हो और तुम्हीं परमपूजित सोम हो ॥ १३ ॥

त्वं मुहूर्तस्तिथिस्त्वं च त्वं लवस्त्वं पुनः क्षणः।
शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा।
संवत्सरर्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥ १४ ॥

'तुम मुहूर्त हो, तुम्हीं तिथि हो, तुम्हीं लव तथा तुम्हीं क्षण हो। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष भी तुमसे भिन्न नहीं हैं। कला, काष्ठा और त्रुटि सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। संवत्सर, ऋतु, मास, रात्रि तथा दिन भी तुम्हीं हो ॥ १४ ॥

त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुन्धरा
सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा
महोर्मिमान् बहुमकरो झषाकुलः ॥ १५ ॥

तुम्हीं पर्वत और वनोंसहित उत्तम वसुन्धरा हो और तुम्हीं अन्धकाररहित एवं सूर्यसहित आकाश हो। तिमि और तिमिङ्गिलोंसे भरपूर, बहुतेरे मगरों और मत्स्योंसे व्याप्त तथा उत्ताल तरङ्गोंसे सुशोभित महासागर भी तुम्हीं हो॥१५॥

महायशास्त्वमिति सदाभिपूज्यसे
मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥१६॥

'तुम महान् यशस्वी हो। ऐसा समझकर मनीषी पुरुष सदा तुम्हारी पूजा करते हैं। महर्षिगण निरन्तर तुम्हारा स्तवन करते हैं। तुम यजमानकी अभीष्टसिद्धि करनेके लिये यज्ञमें मुदित मनसे सोमरस पीते हो और वषट्कारपूर्वक समर्पित किए हुए हविष्य भी ग्रहण करते हो॥ १६ ॥

त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं
वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा
वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः ॥१७॥

'इस जगत्‌में अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये विप्रगण तुम्हारी पूजा करते हैं। अतुलित बलके भण्डार इन्द्र ! वेदाङ्गोंमें भी तुम्हारी ही महिमाका गान किया गया है। यज्ञपरायण श्रेष्ठ द्विज तुम्हारी प्राप्तिके लिये ही सर्वथा प्रयत्न करके वेदाङ्गोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं (यहाँ कद्रूके द्वारा ईश्वररूपसे इन्द्रकी स्तुति की गयी है)' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

इन्द्रद्वारा की हुई वर्षासे सर्पोंकी प्रसन्नता

सौतिरुवाच

एवं स्तुतस्तदा कद्र्वा भगवान् हरिवाहनः।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागमाता कद्रूके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् इन्द्रने मेघोंकी काली घटाओंद्वारा सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ १ ॥

मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम्।
ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ॥ २ ॥

साथ ही मेघोंको आज्ञा दी—'तुम सब शीतल जलकी वर्षा करो।' आज्ञा पाकर बिजलियोंसे प्रकाशित होनेवाले उन मेघोंने प्रचुर जलकी वृष्टि की ॥ २ ॥

परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि।
संवर्तितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ॥ ३ ॥
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः।
सम्प्रनृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ॥ ४ ॥

वे परस्पर अत्यन्त गर्जना करते हुए आकाशसे निरन्तर पानी बरसाते रहे। जोर-जोरसे गर्जने और लगातार असीम जलकी वर्षा करनेवाले अत्यन्त अद्भुत जलधरोंने सारे आकाशको घेर-सा लिया था। असंख्य धारारूप लहरोंसे युक्त वह व्योमसमुद्र मानो नृत्य-सा कर रहा था ॥ ३-४ ॥

मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः।
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा ॥ ५ ॥
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत।
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥

भयंकर गर्जन-तर्जन करनेवाले वे मेघ बिजली और वायुसे प्रकम्पित हो उस समय निरन्तर मूसलाधार पानी गिरा रहे थे। उनके द्वारा आच्छादित आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी अदृश्य हो गयी थीं। इन्द्रदेवके इस प्रकार वर्षा करनेपर नागोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ५-६ ॥

आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर सब ओर पानी-ही-पानी भर गया। वह शीतल और निर्मल जल रसातलतक पहुँच गया ॥ ७ ॥

तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः।
रामणीयकमागच्छन् मात्रा सह भुजङ्गमाः ॥ ८ ॥

उस समय सारा भूतल जलकी असंख्य तरङ्गोंसे आच्छादित हो गया था। इस प्रकार वर्षासे संतुष्ट हुए सर्प अपनी माताके साथ रामणीयक द्वीपमें आ गये ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

रामणीयक द्वीपके मनोरम वनका वर्णन तथा गरुडका दास्यभावसे छूटनेके लिये सर्पोंसे उपाय पूछना

सौतिरुवाच

सम्प्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा ।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडपर सवार होकर यात्रा करनेवाले वे नाग उस समय जलधारासे नहाकर अत्यन्त प्रसन्न हो शीघ्र ही रामणीयक द्वीपमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥

विश्वकर्माजीके बनाये हुए उस द्वीपमें, जहाँ अब मगर निवास करते थे, जब पहली बार नाग आये थे तो उन्हें वहाँ भयंकर लवणासुरका दर्शन हुआ था ॥ २ ॥

सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसङ्घनिनादितम् ॥ ३ ॥

सर्प गरुडके साथ उस द्वीपके मनोरम वनमें आये, जो चारों ओरसे समुद्रद्वारा घिरकर उसके जलसे अभिषिक्त हो रहा था। वहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी कलरव कर रहे थे ॥३॥

विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥

विचित्र फूलों और फलोंसे भरी हुई वनश्रेणियाँ उस दिव्य वनको घेरे हुए थीं। वह वन बहुत-से रमणीय भवनों और कमलयुक्त सरोवरोंसे आवृत था ॥ ४ ॥

प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥

स्वच्छ जलवाले कितने ही दिव्य सरोवर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। दिव्य सुगन्धका भार वहन करनेवाली पावन वायु मानो वहाँ चँवर डुला रही थी ॥ ५ ॥

उत्पतद्भिरिवाकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥

वहाँ ऊँचे-ऊँचे मलयज वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। वे वायुके वेगसे विकम्पित हो फूलोंकी वर्षा करते हुए उस प्रदेशकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥६॥

वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथान्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान् नागान् पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥

हवाके झोंकेसे दूसरे-दूसरे वृक्षोंके भी फूल झड़ रहे थे, मानो वहाँके वृक्षसमूह वहाँ उपस्थित हुए नागोंपर फूलोंकी वर्षा करते हुए उनके लिये अर्घ्य दे रहे हों ॥ ७ ॥

मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥

वह दिव्य वन हृदयके हर्षको बढ़ानेवाला था। गन्धर्व और अप्सराएँ उसे अधिक पसंद करती थीं। मतवाले भ्रमर वहाँ सब ओर गूँज रहे थे। अपनी मनोहर छटाके द्वारा वह अत्यन्त दर्शनीय जान पड़ता था ॥ ८ ॥

रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥

वह वन रमणीय, मङ्गलकारी और पवित्र होनेके साथ ही लोगोंके मनको मोहनेवाले सभी उत्तम गुणोंसे युक्त था। भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे व्याप्त एवं परम सुन्दर होनेके कारण वह कद्रूके पुत्रोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥ ९ ॥

तत् ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १० ॥

उस वनमें पहुँचकर वे सर्प उस समय सब ओर विहार करने लगे और महापराक्रमी पक्षिराज गरुडसे इस प्रकार बोले—॥

वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।
त्वं हि देशान् बहून् रम्यान् व्रजन् पश्यसि खेचर ॥ ११ ॥

'खेचर ! तुम आकाशमें उड़ते समय बहुत-से रमणीय प्रदेश देखा करते हो; अतः हमें निर्मल जलवाले किसी दूसरे रमणीय द्वीपमें ले चलो' ॥ ११ ॥

स विचिन्त्याब्रवीत् पक्षी मातरं विनतां तदा ।
किं कारणं मया मातः कर्तव्यं सर्पभाषितम् ॥ १२ ॥

गरुडने कुछ सोचकर अपनी माता विनतासे पूछा—'मा ! क्या कारण है कि मुझे सर्पोंकी आज्ञाका पालन करना पड़ता है ?' ॥ १२ ॥

विनतोवाच

दासीभूतास्मि दुर्योगात् सपत्न्याः पतगोत्तम ।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ॥ १३ ॥

विनता बोली—बेटा पक्षिराज ! मैं दुर्भाग्यवश सौतकी दासी हूँ, इन सर्पोंने छल करके मेरी जीती हुई बाजीको पलट दिया था ॥ १३ ॥

तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ॥ १४ ॥

माताके यह कारण बतानेपर आकाशचारी गरुडने उस दुःखसे दुखी होकर सर्पोंसे कहा—॥ १४ ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद् वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ॥ १५ ॥

'जीभ लपलपानेवाले सर्पो ! तुमलोग सच-सच बताओ मैं तुम्हें क्या लाकर दे दूँ ? किस विद्याका लाभ करा दूँ अथवा यहाँ कौन-सा पुरुषार्थ करके दिखा दूँ; जिससे मुझे तथा मेरी माताको तुम्हारी दासतासे छुटकारा मिल जाय' ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतमोजसा ।
ततो दास्याद् विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ॥ १६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडकी बात सुनकर सर्पोंने कहा—'गरुड ! तुम पराक्रम करके हमारे लिये अमृत ला दो । इससे तुम्हें दास्यभावसे छुटकारा मिल जायगा' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

गरुडका अमृतके लिये जाना और अपनी माताकी आज्ञाके अनुसार निषादोंका भक्षण करना

सौतिरुवाच

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सर्पोंकी यह बात सुनकर गरुड अपनी मातासे बोले—'मा ! मैं अमृत लानेके लिये जा रहा हूँ, किंतु मेरे लिये भोजन-सामग्री क्या होगी ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

विनतोवाच

समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम् ।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय ॥ २ ॥

विनताने कहा—समुद्रके बीचमें एक टापू है, जिसके एकान्त प्रदेशमें निषादों (जीवहिंसकों) का निवास है । वहाँ सहस्रों निषाद रहते हैं । उन्हींको मारकर खा लो और अमृत ले आओ ॥ २ ॥

न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥

किंतु तुम्हें किसी प्रकार ब्राह्मणको मारनेका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य है । वह अग्निके समान दाहक होता है ॥ ३ ॥

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥

कुपित किया हुआ ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्रके समान भयंकर होता है । ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंका गुरु कहा गया है ॥ ४ ॥

एवमादिस्वरूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा ॥ ५ ॥

इन्हीं रूपोंमें सत्पुरुषोंके लिये ब्राह्मण आदरणीय माना गया है । तात ! तुम्हें क्रोध आ जाय तो भी ब्राह्मणकी हत्यासे सर्वथा दूर रहना चाहिये ॥ ५ ॥

ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्तव्यः कथंचन ।
न ह्येवमग्निर्नादित्यो भस्म कुर्यात् तथानघ ॥ ६ ॥
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तमम् ॥ ७ ॥
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ।

ब्राह्मणोंके साथ किसी प्रकार द्रोह नहीं करना चाहिये । अनघ ! कठोर व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण क्रोधमें आनेपर अपराधीको जिस प्रकार जलाकर भस्म कर देता है, उस तरह अग्नि और सूर्य भी नहीं जला सकते । इस प्रकार विविध चिह्नोंके द्वारा तुम्हें ब्राह्मणको पहचान लेना चाहिये । ब्राह्मण समस्त प्राणियोंका अग्रज, सब वर्णोंमें श्रेष्ठ, पिता और गुरु है ॥६-७½॥

गरुड उवाच

किंरूपो ब्राह्मणो मातः किंशीलः किं पराक्रमः ॥ ८ ॥

गरुडने पूछा—मा ! ब्राह्मणका रूप कैसा होता है ? उसका शील-स्वभाव कैसा है ? तथा उसमें कौन-सा पराक्रम है ॥ ८ ॥

किंस्विदग्निनिभो भाति किंस्वित् सौम्यप्रदर्शनः ।
यथाहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः ॥ ९ ॥
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ।

वह देखनेमें अग्नि-जैसा जान पड़ता है । अथवा सौम्य दिखायी देता है ? मा ! जिस प्रकार शुभ लक्षणोंद्वारा मैं ब्राह्मणको पहचान सकूँ, वह सब उपाय मुझे बताओ ॥९½॥

विनतोवाच

यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ॥ १० ॥
दहेदङ्गारवत् पुत्र तं विद्या ब्राह्मणर्षभम् ।
विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वदा ॥ ११ ॥

विनता बोली—बेटा ! जो तुम्हारे कण्ठमें पड़नेपर अङ्गारकी तरह जलाने लगे और मानो बंसीका काँटा निगल लिया गया हो, इस प्रकार कष्ट देने लगे, उसे वर्णोंमें श्रेष्ठ

ब्राह्मण समझना । क्रोधमें भरे होनेपर भी तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं करनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जठरे न च जीर्येद् यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ॥१२॥

विनताने पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण पुनः इस प्रकार कहा—'बेटा ! जो तुम्हारे पेटमें पच न सके, उसे ब्राह्मण जानना' ॥ १२ ॥

पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ॥१३॥
प्रीता परमदुःखार्ता नागैर्विप्रकृता सती ।

पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण विनताने पुनः इस प्रकार कहा ! वह पुत्रके अनुपम बलको जानती थी तो भी नागोंद्वारा ठगी जानेके कारण बड़े भारी दुःखसे आतुर हो गयी थी। अतः अपने पुत्रको प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देने लगी ॥ १३½ ॥

विनतोवाच

पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ॥१४॥

विनताने कहा—बेटा ! वायु तुम्हारे दोनों पङ्खोंकी रक्षा करें, चन्द्रमा और सूर्य पृष्ठभागका संरक्षण करें ॥ १४ ॥

शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम् ।
अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ॥१५॥
इहासीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ॥१६॥

अग्निदेव तुम्हारे शिरकी और वसुगण तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरकी सब ओरसे रक्षा करें । पुत्र ! मैं भी तुम्हारे लिये शान्ति एवं कल्याणसाधक कर्ममें संलग्न हो यहाँ निरन्तर कुशल मनाती रहूँगी । वत्स ! तुम्हारा मार्ग विघ्नरहित हो, तुम अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करो ॥ १५-१६ ॥

सौतिरुवाच

ततः स मातुर्वचनं निशम्य
वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात ।
ततो निषादान् बलवानुपागतो
बुभुक्षितः काल इवान्तकोऽपरः ॥१७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! माताकी बात सुनकर महाबली गरुड पङ्ख पसारकर आकाशमें उड़ गये तथा क्षुधातुर काल या दूसरे यमराजकी भाँति उन निषादोंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

स तान् निषादानुपसंहरंस्तदा
रजः समुद्धूय नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन् पयः
समीपजान् भूधरजान् विचालयन् ॥१८॥

उन निषादोंका संहार करनेके लिये उन्होंने उस समय इतनी अधिक धूल उड़ायी, जो पृथ्वीसे आकाशतक छा गयी । वहाँ समुद्रकी कुक्षिमें जो जल था, उसका शोषण करके उन्होंने समीपवर्ती पर्वतीय वृक्षोंको भी विकम्पित कर दिया ॥ १८ ॥

ततः स चक्रे महदाननं तदा
निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुः
यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥१९॥

इसके बाद पक्षिराजने अपना मुख बहुत बड़ा कर लिया और निषादोंका मार्ग रोककर खड़े हो गये । तदनन्तर वे निषाद उतावलीमें पड़कर उसी ओर भागे, जिधर सर्पभोजी गरुडका मुख था ॥ १९ ॥

तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्
समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता
यथानिलप्रचलितपादपे वने ॥२०॥

जैसे आँधीसे कम्पित वृक्षवाले वनमें पवन और धूलसे विमोहित एवं पीड़ित सहस्रों पक्षी उन्मुक्त आकाशमें उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार हवा और धूलकी वर्षासे बेसुध हुए हजारों निषाद गरुडके खुले हुए अत्यन्त विशाल मुखमें समा गये ॥

ततः खगो वदनममित्रतापनः
समाहरत् परिचपलो महाबलः ।
निषूदयन् बहुविधमत्स्यजीविनो
बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥२१॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले, अत्यन्त चपल, महाबली और क्षुधातुर पक्षिराज गरुडने मछली मारकर जीविका चलानेवाले उन अनेकानेक निषादोंका विनाश करनेके लिये अपने मुखको संकुचित कर लिया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कश्यपजीका गरुडको हाथी और कछुएके पूर्वजन्मकी कथा सुनाना, गरुडका उन दोनोंको पकड़कर एक दिव्य वटवृक्षकी शाखापर ले जाना और उस शाखाका टूटना

सौतिरुवाच

तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया।
दहन् दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः॥ १॥
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात्।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा॥ २॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—निषादोंके साथ एक ब्राह्मण भी भार्यासहित गरुडके कण्ठमें चला गया था। वह दहकते हुए अङ्गारकी भाँति जलन पैदा करने लगा। तब आकाशचारी गरुडने उस ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम मेरे खुले हुए मुखसे जल्दी निकल जाओ। ब्राह्मण पापपरायण ही क्यों न हो मेरे लिये सदा अवध्य है'॥ १-२॥

ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह॥ ३॥

ऐसी बात कहनेवाले गरुडसे वह ब्राह्मण बोला—'यह निषाद-जातिकी कन्या मेरी भार्या है; अतः मेरे साथ यह भी निकले (तभी मैं निकल सकता हूँ)'॥ ३॥

गरुड उवाच

एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत।
तूर्णं सम्भावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा॥ ४॥

गरुडने कहा—ब्राह्मण ! तुम इस निषादीको भी लेकर जल्दी निकल जाओ। तुम अभीतक मेरी जठराग्निके तेजसे पचे नहीं हो; अतः शीघ्र अपने जीवनकी रक्षा करो॥

सौतिरुवाच

ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह॥ ५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उनके ऐसा कहनेपर वह ब्राह्मण निषादीसहित गरुडके मुखसे निकल आया और उन्हें आशीर्वाद देकर अभीष्ट देशको चला गया॥ ५॥

सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन् विप्रे च पक्षिराट्।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः॥ ६॥

भार्यासहित उस ब्राह्मणके निकल जानेपर पक्षिराज गरुड पंख फैलाकर मनके समान तीव्र वेगसे आकाशमें उड़े॥

ततोऽपश्यत् स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान् पितुः।
यथान्यायममेयात्मा तं चोवाच महानृषिः॥ ७॥

तदनन्तर उन्हें अपने पिता कश्यपजीका दर्शन हुआ। उनके पूछनेपर अमेयात्मा गरुडने पितासे यथोचित कुशल समाचार कहा। महर्षि कश्यप उनसे इस प्रकार बोले॥ ७॥

कश्यप उवाच

कच्चिद् वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवान्नं विद्यते बहु॥ ८॥

कश्यपजीने पूछा—बेटा ! तुमलोग कुशलसे तो हो न ! विशेषतः प्रतिदिन भोजनके सम्बन्धमें तुम्हें विशेष सुविधा है न ? क्या मनुष्यलोकमें तुम्हारे लिये पर्याप्त अन्न मिल जाता है ?॥ ८॥

गरुड उवाच

माता मे कुशला शश्वत् तथा भ्राता तथा ह्यहम्।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा॥ ९॥

गरुडने कहा—मेरी माता सदा कुशलसे रहती हैं। मेरे भाई तथा मैं दोनों सकुशल हैं। परंतु पिताजी ! पर्याप्त भोजनके विषयमें तो सदा मेरे लिये कुशलका अभाव ही है॥ ९॥

अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम्।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै॥१०॥

मुझे सर्पोंने उत्तम अमृत लानेके लिये भेजा है। माताको दासीपनसे छुटकारा दिलानेके लिये आज मैं निश्चय ही उस अमृतको लाऊँगा॥ १०॥

मात्रा चात्र समादिष्टो निषादान् भक्षयेति ह।
न च मे तृप्तिरभवद् भक्षयित्वा सहस्रशः॥११॥

भोजनके विषयमें पूछनेपर माताने कहा 'निषादोंका भक्षण करो', परंतु हजारों निषादोंको खा लेनेपर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई है॥ ११॥

तस्माद् भक्ष्यं त्वमपरं भगवन् प्रदिशस्व मे।
यद् भुक्त्वामृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो॥१२॥
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान्।

अतः भगवन् ! आप मेरे लिये कोई दूसरा भोजन बताइये। प्रभो ! वह भोजन ऐसा हो जिसे खाकर मैं अमृत लानेमें समर्थ हो सकूँ। मेरी भूख-प्यासको मिटा देनेके लिये आप पर्याप्त भोजन बताइये'॥ १२½॥

कश्यप उवाच

इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम्॥१३॥

कश्यपजी बोले—बेटा ! यह महान् पुण्यदायक सरोवर है, जो देवलोकमें भी विख्यात है॥ १३॥

यत्र कूर्माग्रजं हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः ।
तयोर्जन्मान्तरे वैरं सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥
तन्मे तत्त्वं निबोधत्स्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ ।

उसमें एक हाथी नीचेको मुँह किये सदा सूँड़से पकड़कर एक कछुएको खींचता रहता है । वह कछुआ पूर्वजन्ममें उसका बड़ा भाई था । दोनोंमें पूर्वजन्मका वैर चला आ रहा है । उनमें यह वैर क्यों और कैसे हुआ तथा उन दोनोंके शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई कितनी है, ये सारी बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ । तुम ध्यान देकर सुनो ॥ १४½ ॥

आसीद् विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ॥ १५ ॥
भ्राता तस्यानुजश्चासीत् सुप्रतीको महातपाः ।
स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः ॥१६॥

पूर्वकालमें विभावसु नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे । वे स्वभावके बड़े क्रोधी थे। उनके छोटे भाईका नाम था सुप्रतीक । वे भी बड़े तपस्वी थे । महामुनि सुप्रतीक अपने धनको बड़े भाईके साथ एक जगह नहीं रखना चाहते थे ॥१५-१६॥

विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः ।
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ॥१७॥

सुप्रतीक प्रति दिन बँटवारेके लिये आग्रह करते ही रहते थे। तब एक दिन बड़े भाई विभावसुने सुप्रतीकसे कहा—॥१७॥

विभागं बहवो मोहात् कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः ।
ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ॥१८॥

'भाई ! बहुत-से मनुष्य मोहवश सदा धनका बँटवारा कर लेनेकी इच्छा रखते हैं । तदनन्तर बँटवारा हो जानेपर धनके मोहमें फँसकर वे एक-दूसरेके विरोधी हो परस्पर क्रोध करने लगते हैं ॥ १८ ॥

ततः स्वार्थपरान् मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः ।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥ १९ ॥

'वे स्वार्थपरायण मूढ़ मनुष्य अपने धनके साथ जब अलग-अलग हो जाते हैं, तब उनकी यह अवस्था जानकर शत्रु भी मित्ररूपमें आकर मिलते और उनमें भेद डालते रहते हैं ॥ १९ ॥

विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥ २० ॥

'दूसरे लोग, उनमें फूट हो गयी है, यह जानकर उनके छिद्र देखा करते हैं एवं छिद्र मिल जानेपर उनमें परस्पर बैर बढ़ानेके लिये स्वयं बीचमें आ पड़ते हैं । इसलिये जो लोग अलग-अलग होकर आपसमें फूट पैदा कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा विनाश हो जाता है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

तस्माद् विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसन्ति साधवः ।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशङ्किनाम् ॥ २१ ॥

'अतः साधु-पुरुष भाइयोंके बिलगाव या बटवारेकी प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि इस प्रकार बँट जानेवाले भाई गुरुस्वरूप शास्त्रकी अलङ्घनीय आज्ञाके अधीन नहीं रह जाते और एक-दूसरेको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगते हैं ॥ २१ ॥*

नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ।
यस्मात् तस्मात् सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ॥ २२ ॥

सुप्रतीक ! तुम्हें वशमें करना असम्भव हो रहा है और तुम भेद-भावके कारण ही बँटवारा करके धन लेना चाहते हो, इसलिये तुम्हें हाथीकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा' ॥ २२ ॥

शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत् ।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः सम्भविष्यसि ॥ २३ ॥

इस प्रकार शाप मिलनेपर सुप्रतीकने विभावसुसे कहा—'तुम भी पानीके भीतर विचरनेवाले कछुए होओगे' ॥२३॥

एवमन्योन्यशापात् तौ सुप्रतीकविभावसू ।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ॥ २४ ॥

इस प्रकार सुप्रतीक और विभावसु मुनि एक-दूसरेके शापसे हाथी और कछुएकी योनिमें पड़े हैं । धनके लिये उनके मनमें मोह छा गया था ॥ २४ ॥

रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ॥ २५ ॥
सरस्यस्मिन् महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ।
तयोरन्यतरः श्रीमान् समुपैति महागजः ॥ २६ ॥
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन् सरः ॥२७॥

रोष और लोभरूपी दोषके सम्बन्धसे उन दोनोंको तिर्यक्-योनिमें जाना पड़ा है । वे दोनों विशालकाय जन्तु पूर्व जन्मके वैरका अनुसरण करके अपनी विशालता और बलके घमण्डमें चूर हो एक-दूसरेसे द्वेष रखते हुए इस सरोवरमें रहते हैं । इन दोनोंमें एक जो सुन्दर महान् गजराज है, वह जब सरोवरके तटपर आता है, तब उसके चिग्घाड़नेकी आवाज सुनकर जलके भीतर शयन करनेवाला विशालकाय कछुआ

---

* 'कनिष्ठान् पुत्रवत् पश्येज्ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः' अर्थात् 'बड़ा भाई पिताके समान होता है । वह अपने छोटे भाइयोंको पुत्रके समान देखे ।' यह शास्त्रकी आज्ञा है जिनमें फूट हो जाती है, वे पीछे इस आज्ञाका पालन नहीं कर पाते ।

भी पानीसे ऊपर उठता है। उस समय वह सारे सरोवरको मथ डालता है ॥ २५–२७ ॥

यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलाङ्गूलपादवेगेन वीर्यवान् ॥ २८ ॥
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुझषाकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान् ॥ २९ ॥

उसे देखते ही यह पराक्रमी हाथी अपनी सूँड़ लपेटे हुए जलमें टूट पड़ता है तथा दाँत, सूँड़, पूँछ और पैरोंके वेगसे असंख्य मछलियोंसे भरे हुए समूचे सरोवरमें हलचल मचा देता है। उस समय पराक्रमी कच्छप भी शिर उठाकर युद्धके लिये निकट आ जाता है ॥ २८–२९ ॥

षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ॥ ३० ॥

हाथीका शरीर छः योजन ऊँचा और बारह योजन लंबा है। कछुआ तीन योजन ऊँचा और दस योजन गोल है ॥३०॥

तावुभौ युद्धसम्मत्तौ परस्परवधैषिणौ ।
उपयुज्याशु कर्मेदं साधयेप्सितमात्मनः ॥ ३१ ॥

वे दोनों एक दूसरेको मारनेकी इच्छासे युद्धके लिये मतवाले बने रहते हैं। तुम शीघ्र जाकर उन्हीं दोनोंको भोजनके उपयोगमें लाओ और अपने इस अभीष्ट कार्यका साधन करो ॥ ३१ ॥

महाभ्रघनसंकाशं तं भुक्त्वामृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपं च हस्तिनम् ॥ ३२ ॥

कछुआ महान् मेघ-खण्डके समान है और हाथी भी महान् पर्वतके समान भयंकर है। उन्हीं दोनोंको खाकर अमृत ले आओ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत् तदा ।
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! कश्यपजी गरुडसे ऐसा कहकर उस समय उनके लिये मङ्गल मनाते हुए बोले—'गरुड! युद्धमें देवताओंके साथ लड़ते हुए तुम्हारा मङ्गल हो॥

पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चान्यत् किंचिदुत्तमम् ।
शुभं स्वस्त्ययनं चापि भविष्यति तवाण्डज ॥ ३४ ॥

'पक्षिप्रवर! भरा हुआ कलश, ब्राह्मण, गौएँ तथा और जो कुछ भी माङ्गलिक वस्तुएँ हैं, वे तुम्हारे लिये कल्याणकारी होंगी॥

युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्धं महाबल ।
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ॥ ३५ ॥
रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ।
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमन्तिकात् ॥ ३६ ॥

'महाबली पक्षिराज! संग्राममें देवताओंके साथ युद्ध करते समय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, पवित्र हविष्य, सम्पूर्ण रहस्य तथा सभी वेद, तुम्हें बल प्रदान करें।' पिताके ऐसा कहनेपर गरुड उस सरोवरके निकट गये ॥ ३५–३६ ॥

अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स तत् स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः ॥ ३७ ॥
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ।
समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः ॥ ३८ ॥

उन्होंने देखा, सरोवरका जल अत्यन्त निर्मल है और नाना प्रकारके पक्षी इसमें सब ओर चहचहा रहे हैं। तदनन्तर भयंकर वेगशाली अन्तरिक्षगामी गरुडने पिताके वचनका स्मरण करके एक पंजेसे हाथीको और दूसरेसे कछुएको पकड़ लिया। फिर वे पक्षिराज आकाशमें ऊँचे उड़ गये ॥३७-३८॥

सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ।
ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः ॥ ३९ ॥
न नो भञ्ज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ।
प्रचलाङ्गान् स तान् दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान् ॥ ४० ॥
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ।
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान् भ्राजमानान् महाद्रुमान् ॥ ४१॥

उड़कर वे फिर अलम्बतीर्थमें जा पहुँचे। वहाँ (मेरुगिरिपर) बहुत-से दिव्य वृक्ष अपनी सुवर्णमय शाखा-प्रशाखाओंके साथ लहलहा रहे थे। जब गरुड उनके पास गये, तब उनके पंखोंकी वायुसे आहत होकर वे सभी दिव्य वृक्ष इस भयसे कम्पित हो उठे कि कहीं ये हमें तोड़ न डालें। गरुड रुचिके अनुसार फल देनेवाले उन कल्पवृक्षोंको काँपते देख अनुपम रूप-रंग तथा अङ्गोंवाले दूसरे-दूसरे महावृक्षोंकी ओर चल दिये। उनकी शाखाएँ वैदूर्य मणिकी थीं और वे सुवर्ण तथा रजतमय फलोंसे सुशोभित हो रहे थे। वे सभी महावृक्ष समुद्रके जलसे अभिषिक्त होते रहते थे॥ ३९-४१॥

तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः ।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥ ४२ ॥

वहीं एक बहुत बड़ा विशाल वटवृक्ष था। उसने मनके समान तीव्र-वेगसे आते हुए पक्षियोंके सरदार गरुडसे कहा॥

रौहिण उवाच

यैषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ ॥ ४३ ॥

वटवृक्ष बोला—पक्षिराज! यह जो मेरी सौ योजन तक फैली हुई सबसे बड़ी शाखा है, इसीपर बैठकर तुम इस हाथी और कछुएको खा लो ॥ ४३ ॥

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं
महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन् ।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्
बभञ्ज तामविरलपत्रसंचयाम् ॥४४॥

तब पर्वतके समान विशाल शरीरवाले, पक्षियोंमें श्रेष्ठ, वेगशाली गरुड सहस्रों विहंगमोंसे सेवित उस महान् वृक्षको कम्पित करते हुए तुरंत उसपर जा बैठे। बैठते ही अपने असह्य वेगसे उन्होंने सघन पल्लवोंसे सुशोभित उस विशाल शाखाको तोड़ डाला ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

गरुडका कश्यपजीसे मिलना, उनकी प्रार्थनासे वालखिल्य ऋषियोंका शाखा छोड़कर तपके लिये प्रस्थान और गरुडका निर्जन पर्वतपर उस शाखाको छोड़ना

सौतिरुवाच

स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! महाबली गरुडके पैरोंका स्पर्श होते ही उस वृक्षकी वह महाशाखा टूट गयी; किंतु उस टूटी हुई शाखाको उन्होंने फिर पकड़ लिया ॥

तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन् ।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद् वालखिल्यानधोमुखान् ॥ २ ॥

उस महाशाखाको तोड़कर गरुड मुसकराते हुए उसकी ओर देखने लगे। इतनेहीमें उनकी दृष्टि वालखिल्य नामवाले महर्षियोंपर पड़ी, जो नीचे मुँह किये उसी शाखामें लटक रहे थे॥

ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।
तपोरतान् लम्बमानान् ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ॥ ३ ॥
हन्यादेतान् सम्पतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः ।
नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ॥ ४ ॥
स तद्विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ५ ॥

तपस्यामें तत्पर हुए उन ब्रह्मर्षियोंको वटकी शाखामें लटकते देख गरुडने सोचा 'इसमें ऋषि लटक रहे हैं। मेरे द्वारा इनका वध न हो जाय। यह गिरती हुई शाखा इन ऋषियोंका अवश्य वध कर डालेगी।' यह विचारकर वीरवर पक्षिराज गरुडने हाथी और कछुएको तो अपने पंजोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और उन महर्षियोंके विनाशके भयसे झपटकर वह शाखा अपनी चोंचमें ले ली। उन मुनियोंकी रक्षाके लिये ही गरुडने ऐसा अद्भुत पराक्रम किया था ॥३-५॥

अतिदैवं तु तत् तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः ।
विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥

जिसे देवता भी नहीं कर सकते थे, गरुडका ऐसा अलौकिक कर्म देखकर वे महर्षि आश्चर्यसे चकित हो उठे। उनके हृदयमें कम्प छा गया और उन्होंने उस महान् पक्षीका नाम इस प्रकार रक्खा (उनके गरुड नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की)—॥ ६ ॥

गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहंगमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात् पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥

ये आकाशमें विचरनेवाले सर्पभोजी पक्षिराज भारी भार लेकर उड़े हैं; इसलिये (गुरुम् आदाय उड्डीन इति 'गरुडः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) ये गरुड कहलायेंगे ॥ ७ ॥

ततः शनैः पर्यपतत् पक्षैः शैलान् प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद् देशान् बहून् सगजकच्छपः ॥ ८ ॥

तदनन्तर गरुड अपने पंखोंकी हवासे बड़े-बड़े पर्वतोंको कम्पित करते हुए धीरे-धीरे उड़ने लगे। इस प्रकार वे हाथी और कछुएको साथ लिये हुए ही अनेक देशोंमें उड़ते फिरे ॥८॥

दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ।
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ॥ ९ ॥

वालखिल्य ऋषियोंके ऊपर दयाभाव होनेके कारण ही वे कहीं बैठ न सके और उड़ते-उड़ते अनायास ही पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादनपर जा पहुँचे ॥ ९ ॥

ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ।
ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहंगमम् ॥१०॥
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ।
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥११॥

वहाँ उन्होंने तपस्यामें लगे हुए अपने पिता कश्यपजीको देखा। पिताने भी अपने पुत्रको देखा। पक्षिराजका स्वरूप दिव्य था। वे तेज, पराक्रम और बलसे सम्पन्न तथा मन और वायुके समान वेगशाली थे। उन्हें देखकर पर्वतके शिखरका भान होता था। वे उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान जान पड़ते थे ॥१०-११॥

अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम् ।
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ॥१२॥

उनका स्वरूप ऐसा था, जो चिन्तन और ध्यानमें नहीं आ सकता था। वे समस्त प्राणियोंके लिये भय उत्पन्न कर रहे थे। उन्होंने अपने भीतर महान् पराक्रम धारण कर रक्खा था। वे बहुत भयंकर प्रतीत होते थे। जान पड़ता था, उनके रूपमें स्वयं अग्निदेव प्रकट हो गये हैं॥ १२॥

अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः।
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम्॥१३॥

देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी न तो उन्हें दबा सकता था और न जीत ही सकता था। वे पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करने और समुद्रके जलको सोख लेनेकी शक्ति रखते थे॥

लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम्।
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान् कश्यपस्तदा।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत्॥१४॥

वे समस्त संसारको भयसे कम्पित किये देते थे। उनकी मूर्ति बड़ी भयंकर थी। वे साक्षात् यमराजके समान दिखायी देते थे। उन्हें आया देख उस समय भगवान् कश्यपने उनका संकल्प जानकर इस प्रकार कहा॥ १४॥

कश्यप उवाच

पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम्।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः॥१५॥

कश्यपजी बोले—बेटा! कहीं दुःसाहसका काम न कर बैठना, नहीं तो तत्काल भारी दुःखमें पड़ जाओगे। सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य महर्षि कुपित होकर तुम्हें भस्म न कर डालें॥ १५॥

सौतिरुवाच

ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात्।
वालखिल्यान् महाभागांस्तपसा हतकल्मषान्॥१६॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर पुत्रके लिये महर्षि कश्यपने तपस्यासे निष्पाप हुए महाभाग वालखिल्य मुनियोंको इस प्रकार प्रसन्न किया॥ १६॥

कश्यप उवाच

प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ॥१७॥

कश्यपजी बोले—तपोधनो! गरुडका यह उद्योग प्रजाके हितके लिये हो रहा है। ये महान् पराक्रम करना चाहते हैं। आपलोग इन्हें आज्ञा दें॥ १७॥

सौतिरुवाच

एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भगवान् कश्यपके इस प्रकार अनुरोध करनेपर वे वालखिल्य मुनि उस शाखाको छोड़कर तपस्या करनेके लिये परम पुण्यमय हिमालयपर चले गये॥

ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम्॥१९॥

उनके चले जानेपर विनतानन्दन गरुडने, जो मुँहमें शाखा लिये रहनेके कारण कठिनाईसे बोल पाते थे, अपने पिता कश्यपजीसे पूछा—॥ १९॥

भगवन् क्व विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम्।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान् मम॥२०॥

'भगवन्! इस वृक्षकी शाखाको मैं कहाँ छोड़ दूँ? आप मुझे ऐसा कोई स्थान बतावें जहाँ बहुत दूरतक मनुष्य न रहते हों॥

ततो निःपुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकन्दरम्।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः॥२१॥

तब कश्यपजीने उन्हें एक ऐसा पर्वत बता दिया, जो सर्वथा निर्जन था। जिसकी कन्दराएँ बर्फसे ढँकी हुई थीं और जहाँ दूसरा कोई मनसे भी नहीं पहुँच सकता था॥२१॥

तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः।
जवेनाभ्यपतत् तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः॥२२॥

उस बड़े पेटवाले पर्वतका पता पाकर महान् पक्षी गरुड उसीको लक्ष्य करके शाखा, हाथी और कछुएसहित बड़े वेगसे उड़े॥ २२॥

न तां वध्री परिणहेच्छतचर्मा महातनुम्।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः॥२३॥

गरुड वटवृक्षकी जिस विशाल शाखाको चोंचमें लेकर जा रहे थे, वह इतनी मोटी थी कि सौ पशुओंके चमड़ोंसे बनायी हुई रस्सी भी उसे लपेट नहीं सकती थी॥ २३॥

स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः।
कालेन नातिमहता गरुडः पतगेश्वरः॥२४॥

पक्षिराज गरुड उसे लेकर थोड़ी ही देरमें वहाँसे एक लाख योजन दूर चले आये॥ २४॥

स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात् पितुः।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः॥२५॥

पिताके आदेशसे क्षणभरमें उस पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने वह विशाल शाखा वहीं छोड़ दी। गिरते समय उससे बड़ा भारी शब्द हुआ॥ २५॥

पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट्।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः॥२६॥

वह पर्वतराज उनके पङ्खोंकी वायुसे आहत होकर काँप उठा। उसपर उगे हुए बहुतेरे वृक्ष गिर पड़े और वह फूलोंकी वर्षा-सी करने लगा॥ २६॥

शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम्॥ २७॥

उस पर्वतके मणिकाञ्चनमय विचित्र शिखर, जो उस महान् शैलकी शोभा बढ़ा रहे थे, सब ओरसे चूर-चूर होकर गिर पड़े॥

शाखिनो बहवश्चापि शाखयाभिहतास्तया।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः॥ २८॥

उस विशाल शाखासे टकराकर बहुत-से वृक्ष भी धराशायी हो गये। वे अपने सुवर्णमय फूलोंके कारण बिजलीसहित मेघोंकी भाँति शोभा पाते थे॥ २८॥

ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः॥ २९॥

सुवर्णमय पुष्पवाले वे वृक्ष धरतीपर गिरकर पर्वतके गेरू आदि धातुओंसे संयुक्त हो सूर्यकी किरणोंद्वारा रँगे हुए-से सुशोभित होते थे॥ २९॥

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ॥ ३०॥

तदनन्तर पक्षिराज गरुडने उसी पर्वतकी एक चोटीपर बैठकर उन दोनों—हाथी और कछुएको खाया॥ ३०॥

तावुभौ भक्षयित्वा तु स तार्क्ष्यः कूर्मकुञ्जरौ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः॥ ३१॥

इस प्रकार कछुए और हाथी दोनोंको खाकर महान् वेगशाली गरुड पर्वतकी उस चोटीसे ही ऊपरकी ओर उड़े॥

प्रावर्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः।
इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात् ततः॥ ३२॥

उस समय देवताओंके यहाँ बहुत-से भयसूचक उत्पात होने लगे। देवराज इन्द्रका प्रिय आयुध वज्र भयसे जल उठा॥

सधूमा न्यपतत् सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः॥ ३३॥
साध्यानां मरुतां चैव ये चान्ये देवतागणाः।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत्॥ ३४॥
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः॥ ३५॥

आकाशसे दिनमें ही धूएँ और लपटोंके साथ उल्का गिरने लगीं। वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुद्गण तथा और जो-जो देवता हैं, उन सबके आयुध परस्पर इस प्रकार उपद्रव करने लगे, जैसा पहले कभी देखनेमें नहीं आया था। देवासुर-संग्रामके समय भी ऐसी अनहोनी बात नहीं हुई थी। उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ बड़े जोरकी आँधी उठने लगी। हजारों उल्काएँ गिरने लगीं॥ ३३—३५॥

निरभ्रमेव चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम्।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम्॥ ३६॥

आकाशमें बादल नहीं थे तो भी बड़ी भारी आवाजमें विकट गर्जना होने लगी। देवताओंके भी देवता पर्जन्य रक्तकी वर्षा करने लगे॥ ३६॥

मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृषुः शोणितं बहु॥ ३७॥

देवताओंके दिव्य पुष्पहार मुरझा गये, उनके तेज नष्ट होने लगे। उत्पातकालिक बहुत-से भयंकर मेघ प्रकट हो अधिक मात्रामें रुधिरकी वर्षा करने लगे॥ ३७॥

रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन्।
ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः।
उत्पातान् दारुणान् पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम्॥ ३८॥

बहुत-सी धूलें उड़कर देवताओंके मुकुटोंको मलिन करने लगीं। ये भयंकर उत्पात देखकर देवताओंसहित इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये और बृहस्पतिजीसे इस प्रकार बोले॥ ३८॥

इन्द्र उवाच

किमर्थं भगवन् घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत्॥ ३९॥

इन्द्रने पूछा—भगवन्! सहसा ये भयंकर उत्पात क्यों होने लगे हैं? मैं ऐसा कोई शत्रु नहीं देखता, जो युद्धमें हम देवताओंका तिरस्कार कर सके॥ ३९॥

बृहस्पतिरुवाच

तवापराधाद् देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो।
तपसा वालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम्॥ ४०॥
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः।
हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान् कामरूपधृक्॥ ४१॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज इन्द्र! तुम्हारे ही अपराध और प्रमादसे तथा महात्मा वालखिल्य महर्षियोंके तपके प्रभावसे कश्यप मुनि और विनताके पुत्र पक्षिराज गरुड अमृतका अपहरण करनेके लिये आ रहे हैं। वे बड़े बलवान् और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं॥ ४०-४१॥

समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः।
सर्वं सम्भावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत्॥ ४२॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी गरुड अमृत हर ले जानेमें समर्थ हैं। मैं उनमें सब प्रकारकी शक्तियोंके होनेकी सम्भावना करता हूँ। वे असाध्य कार्य भी सिद्ध कर सकते हैं॥ ४२॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः॥ ४३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—बृहस्पतिजीकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्र अमृतकी रक्षा करनेवाले देवताओंसे

बोले—'रक्षको ! महान् पराक्रमी और बलवान् पक्षी गरुड यहाँसे अमृत हर ले जानेको उद्यत हैं ॥ ४३ ॥

युष्मान् सम्बोधयाम्येष यथा न स हरेद् बलात्।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ॥ ४४ ॥

'मैं तुम्हें सचेत कर देता हूँ, जिससे वे बलपूर्वक इस अमृतको न ले जा सकें । बृहस्पतिजीने कहा है कि उनके बलकी कहीं तुलना नहीं है' ॥ ४४ ॥

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥

इन्द्रको यह बात सुनकर देवता बड़े आश्चर्यमें पड़ गये और यत्नपूर्वक अमृतको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। प्रतापी इन्द्र भी हाथमें वज्र लेकर वहाँ डट गये ॥ ४५ ॥

धारयन्तो विचित्राणि काञ्चनानि मनस्विनः।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ॥ ४६ ॥

मनस्वी देवता विचित्र सुवर्णमय तथा बहुमूल्य वैदूर्य मणिमय कवच धारण करने लगे ॥ ४६ ॥

चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ॥ ४७ ॥
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः।
सविस्फुलिङ्गज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ॥ ४८ ॥
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान्।
शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान्।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ ४९ ॥

उन्होंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान मजबूत और चमकीले चमड़ेके बने हुए हाथके मोजे आदि धारण किये। नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्र भी ले लिये। उन सब आयुधोंकी धार बहुत तीखी थी। वे श्रेष्ठ देवता सब प्रकारके आयुध लेकर युद्धके लिये उद्यत हो गये । उनके पास ऐसे-ऐसे चक्र थे, जिनसे सब ओर आगकी चिनगारियाँ और धूमसहित लपटें प्रकट होती थीं । उनके सिवा परिघ, त्रिशूल, फरसे, भाँति-भाँतिकी तीखी शक्तियाँ, चमकीले खड्ग और भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ भी थीं । अपने शरीरके अनुरूप इन अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर देवता डट गये ॥ ४७–४९ ॥

तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥ ५० ॥

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित निष्पाप देवगण तेजस्वी अस्त्र-शस्त्रोंके साथ अधिक प्रकाशमान हो रहे थे ॥ ५० ॥

अनुपमबलवीर्यतेजसो
धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य।
असुरपुरविदारणाः सुरा
ज्वलनसमिद्धवपुःप्रकाशिनः ॥ ५१ ॥

उनके बल, पराक्रम और तेज अनुपम थे, जो असुरोंके नगरोंका विनाश करनेमें समर्थ एवं अग्निके समान देदीप्यमान शरीरसे प्रकाशित होनेवाले थे; उन्होंने अमृतकी रक्षाके लिये अपने मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ५१ ॥

इति समरवरं सुराः स्थितास्ते
परिघसहस्रशतैः समाकुलम्।
विगलितमिव चाम्बरान्तरं
तपनमरीचिविकाशितं बभासे ॥ ५२ ॥

इस प्रकार वे तेजस्वी देवता उस श्रेष्ठ समरके लिये तैयार खड़े थे। वह रणाङ्गण लाखों परिघ आदि आयुधोंसे व्याप्त होकर सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित एवं टूटकर गिरे हुए दूसरे आकाशके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा वालखिल्योंका अपमान और उनकी तपस्याके प्रभावसे अरुण एवं गरुडकी उत्पत्ति

शौनक उवाच

कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज।
तपसा वालखिल्यानां सम्भूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! इन्द्रका क्या अपराध और कौन-सा प्रमाद था ? वालखिल्य मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे गरुडकी उत्पत्ति कैसे हुई थी ? ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत् कथम् ॥ २ ॥

कश्यपजी तो ब्राह्मण हैं, उनका पुत्र पक्षिराज कैसे हुआ ? साथ ही वह समस्त प्राणियोंके लिये दुर्धर्ष एवं अवध्य कैसे हो गया ? ॥ २ ॥

कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥

उस पक्षीमें इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम करनेकी शक्ति कैसे आ गयी ? मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। यदि पुराणमें कहीं इसका वर्णन हो तो सुनाइये।३।

सौतिरुवाच

विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत् संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझसे जो पूछ रहे हैं, वह पुराणका ही विषय है। मैं संक्षेपमें ये सब बातें बता रहा हूँ, सुनिये ॥ ४ ॥

यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥

कहते हैं, प्रजापति कश्यपजी पुत्रकी कामनासे यज्ञ कर रहे थे, उसमें ऋषियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंने भी उन्हें बड़ी सहायता दी ॥ ५ ॥

तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥

उस यज्ञमें कश्यपजीने इन्द्रको समिधा लानेके कामपर नियुक्त किया था। वालखिल्य मुनियों तथा अन्य देवगणोंको भी यही कार्य सौंपा गया था ॥ ६ ॥

शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम्।
समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिव प्रभुः ॥ ७ ॥

इन्द्र शक्तिशाली थे। उन्होंने अपने बलके अनुसार लकड़ीका एक पहाड़-जैसा बोझ उठा लिया और उसे बिना कष्टके ही वे ले आये ॥ ७ ॥

अथापश्यदृषीन् ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरवर्ष्मणः।
पलाशवर्तिकामेकां वहतः संहतान् पथि ॥ ८ ॥

उन्होंने मार्गमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंको देखा, जो कदमें बहुत ही छोटे थे। उनका सारा शरीर अंगूठेके मध्यभागके बराबर था। वे सब मिलकर पलाशकी एक बाती (छोटी-सी टहनी) लिये आ रहे थे ॥ ८ ॥

प्रलीनान् स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान्।
क्लिश्यमानान् मन्दबलान् गोष्पदे सम्प्लुतोदके ॥ ९ ॥

उन्होंने आहार छोड़ रक्खा था। तपस्या ही उनका धन था। वे अपने अङ्गोंमें ही समाये हुए-से जान पड़ते थे। पानीसे भरे हुए गोखुरके लाँघनेमें भी उन्हें बड़ा क्लेश होता था। उनमें शारीरिक बल बहुत कम था ॥ ९ ॥

तान् सर्वान् विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरन्दरः।
अवहस्याभ्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ॥१०॥

अपने बलके घमंडमें मतवाले इन्द्रने आश्चर्यचकित होकर उन सबको देखा और उनकी हँसी उड़ाते हुए वे अपमानपूर्वक उन्हें लाँघकर शीघ्रताके साथ आगे बढ़ गये ।१०।

तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः।
आरेभिरे महत् कर्म तदा शक्रभयंकरम् ॥११॥

इन्द्रके इस व्यवहारसे वालखिल्य मुनियोंको बड़ा रोष हुआ। उनके हृदयमें भारी क्रोधका उदय हो गया। अतः उन्होंने उस समय एक ऐसे महान् कर्मका आरम्भ किया, जिसका परिणाम इन्द्रके लिये भयंकर था ॥ ११ ॥

जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम्।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥१२॥

ब्राह्मणो! वे उत्तम तपस्वी वालखिल्य मनमें जो कामना रखकर छोटे-बड़े मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देते थे, वह बताता हूँ, सुनिये ॥ १२ ॥

कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥१३॥

संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि यह संकल्प करते थे कि—'सम्पूर्ण देवताओंके लिये कोई दूसरा ही इन्द्र उत्पन्न हो, जो वर्तमान देवराजके लिये भयदायक, इच्छानुसार पराक्रम करनेवाला और अपनी रुचिके अनुसार चलनेकी शक्ति रखनेवाला हो ॥ १३ ॥

इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः।
तपसो नः फलेनाद्य दारुणः सम्भवत्विति ॥१४॥

'शौर्य और वीर्यमें इन्द्रसे वह सौगुना बढ़कर हो। उसका वेग मनके समान तीव्र हो। हमारी तपस्याके फलसे अब ऐसा ही वीर प्रकट हो जो इन्द्रके लिये भयंकर हो ॥ १४ ॥

तद् बुद्ध्वा भृशसंतप्तो देवराजः शतक्रतुः।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥१५॥

उनका यह संकल्प सुनकर सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण करनेवाले देवराज इन्द्रको बड़ा संताप हुआ और वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले कश्यपजीकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥१६॥

देवराज इन्द्रके मुखसे उनका संकल्प सुनकर प्रजापति कश्यप वालखिल्योंके पास गये और उनसे उस कर्मकी सिद्धिके सम्बन्धमें प्रश्न किया ॥ १६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः।
तान् कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥१७॥

सत्यवादी महर्षि वालखिल्योंने 'हाँ ऐसी ही बात है' कहकर अपने कर्मकी सिद्धिका प्रतिपादन किया। तब प्रजापति कश्यपने उन्हें सान्त्वनापूर्वक समझाते हुए कहा—॥ १७ ॥

अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद् ब्रह्मणः कृतः।
इन्द्रार्थे च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ॥१८॥

'तपोधनो! ब्रह्माजीकी आज्ञासे ये पुरन्दर तीनों लोकोंके इन्द्र बनाये गये हैं और आपलोग भी दूसरे इन्द्रकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्नशील हैं ॥ १८ ॥

न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमाः ।
भवतां हि न मिथ्यायं संकल्पो वै चिकीर्षितः ॥१९॥

'संत-महात्माओ ! आप ब्रह्माजीका वचन मिथ्या न करें । साथ ही मैं यह भी चाहता हूँ कि आपके द्वारा किया हुआ यह अभीष्ट संकल्प भी मिथ्या न हो ॥ १९ ॥

भवत्वेष पतत्त्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान् ।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ॥२०॥

'अतः अत्यन्त बल और सत्त्वगुणसे सम्पन्न जो यह भावी पुत्र है, यह पक्षियोंका इन्द्र हो । देवराज इन्द्र आपके पास याचक बनकर आये हैं, आप इनपर अनुग्रह करें ॥ २० ॥

एवमुक्ताः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः ।
प्रत्यूचुरभिसम्पूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥२१॥

महर्षि कश्यपके ऐसा कहनेपर तपस्याके धनी वालखिल्य मुनि उन मुनिश्रेष्ठ प्रजापतिका सत्कार करके बोले ॥ २१ ॥

वालखिल्या ऊचुः

इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते ।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ॥२२॥
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम् ।
तथा चैवं विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ॥२३॥

वालखिल्योंने कहा—प्रजापते ! हम सब लोगोंका यह अनुष्ठान इन्द्रके लिये हुआ था और आपका यह यज्ञसमारोह संतानके लिये अभीष्ट था । अतः इस फलसहित कर्मको आप ही स्वीकार करें और जिसमें सबकी भलाई दिखायी दे, वैसा ही करें ॥ २२-२३ ॥

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा ।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ॥२४॥
तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः ।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ॥२५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इसी समय शुभलक्षणा दक्ष-कन्या कल्याणमयी विनता देवी, जो उत्तम यशसे सुशोभित थी, पुत्रकी कामनासे तपस्यापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने लगी । ऋतुकाल आनेपर जब वह स्नान करके शुद्ध हुई, तब अपने स्वामीकी सेवामें गयी । उस समय कश्यपजीने उससे कहा—॥ २४-२५ ॥

आरम्भः सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः ।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥२६॥

'देवि ! तुम्हारा यह अभीष्ट समारम्भ अवश्य सफल होगा । तुम ऐसे दो पुत्रोंको जन्म दोगी, जो बड़े वीर और तीनों लोकोंपर शासन करनेकी शक्ति रखनेवाले होंगे ॥ २६ ॥

तपसा वालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा ।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ॥२७॥

'वालखिल्योंकी तपस्या तथा मेरे संकल्पसे तुम्हें दो परम सौभाग्यशाली पुत्र प्राप्त होंगे, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होगी' ॥ २७ ॥

उवाच चैनां भगवान् कश्यपः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥२८॥

इतना कहकर भगवान् कश्यपने पुनः विनतासे कहा—'देवि ! यह गर्भ महान् अभ्युदयकारी होगा, अतः इसे सावधानीसे धारण करो ॥ २८ ॥

एतौ सर्वपतत्त्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः ।
लोकसम्भावितौ वीरौ कामरूपौ विहंगमौ ॥२९॥

'तुम्हारे ये दोनों पुत्र सम्पूर्ण पक्षियोंके इन्द्रपदका उपभोग करेंगे । स्वरूपसे पक्षी होते हुए भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ और लोक-सम्भावित वीर होंगे' ॥ २९ ॥

शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः ।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥३०॥
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात् ते पुरन्दर ।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥३१॥

विनतासे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए प्रजापतिने शतक्रतु इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर ! ये दोनों महापराक्रमी भ्राता तुम्हारे सहायक होंगे । तुम्हें इनसे कोई हानि नहीं होगी । इन्द्र ! तुम्हारा संताप दूर हो जाना चाहिये । देवताओंके इन्द्र तुम्हीं बने रहोगे ॥ ३०-३१ ॥

न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः ।
न चावमान्या दर्पात् ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥३२॥

'एक बात ध्यान रखना—आजसे फिर कभी तुम घमंडमें आकर ब्रह्मवादी महात्माओंका उपहास और अपमान न करना; क्योंकि उनके पास वाणीरूप अमोघ वज्र है तथा वे तीक्ष्ण कोपवाले होते हैं ॥ ३२ ॥

एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम् ।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ॥३३॥

कश्यपजीके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्र निःशङ्क होकर स्वर्गलोकमें चले गये । अपना मनोरथ सिद्ध होनेसे विनता भी बहुत प्रसन्न हुई ॥ ३३ ॥

जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा ।
विकलाङ्गोऽरुणस्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ॥३४॥

उसने दो पुत्र उत्पन्न किये—अरुण और गरुड । जिनके अङ्ग कुछ अधूरे रह गये थे, वे अरुण कहलाते हैं, वे ही सूर्यदेवके सारथि बनकर उनके आगे-आगे चलते हैं ।३४।

पतत्त्रीणां च गरुडमिन्द्रत्वेनाभ्यषिञ्चत।
तस्यैतत् कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥३५॥

भृगुनन्दन! दूसरे पुत्र गरुडका पक्षियोंके इन्द्र-पदपर अभिषेक किया गया। अब तुम गरुडका यह महान् पराक्रम सुनो॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुड-चरित्रविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

गरुडका देवताओंके साथ युद्ध और देवताओंकी पराजय

सौतिरुवाच

ततस्तस्मिन् द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं सम्प्राप्तो विबुधान् प्रति॥ १॥
तं दृष्ट्वातिबलं चैव प्राकम्पन्त सुरास्ततः।
परस्परं च प्रत्यघ्नन् सर्वप्रहरणान्युत॥ २॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ! देवताओंका समुदाय जब इस प्रकार भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये उद्यत हो गया, उसी समय पक्षिराज गरुड तुरंत ही देवताओंके पास जा पहुँचे। उन अत्यन्त बलवान् गरुडको देखकर सम्पूर्ण देवता काँप उठे। उनके सभी आयुध आपसमें ही आघात-प्रत्याघात करने लगे॥ १-२॥

तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता॥ ३॥

वहाँ विद्युत् एवं अग्निके समान तेजस्वी और महापराक्रमी अमेयात्मा भौमन [विश्वकर्मा] अमृतकी रक्षा कर रहे थे॥

स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः।
मुहूर्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि॥ ४॥

वे पक्षिराजके साथ दो घड़ीतक अनुपम युद्ध करके उनके पंख, चोंच और नखोंसे घायल हो उस रणाङ्गणमें मृतकतुल्य हो गये॥ ४॥

रजश्चोद्धूय सुमहत् पक्षवातेन खेचरः।
कृत्वा लोकान् निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत्॥ ५॥

तदनन्तर पक्षिराजने अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे बहुत धूल उड़ाकर समस्त लोकोंमें अन्धकार फैला दिया और उसी धूलसे देवताओंको ढक दिया॥ ५॥

तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन्।
न चैवं ददृशुश्छन्ना रजसामृतरक्षिणः॥ ६॥

उस धूलसे आच्छादित होकर देवता मोहित हो गये। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवता भी इसी प्रकार धूलसे ढक जानेके कारण कुछ देख नहीं पाते थे॥ ६॥

एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम्।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान् स विददार ह॥ ७॥

इस तरह गरुडने स्वर्गलोकको व्याकुल कर दिया और पंखों तथा चोंचोंकी मारसे देवताओंका अङ्ग-अङ्ग विदीर्ण कर डाला॥ ७॥

ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत्।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत॥ ८॥

तब सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रदेवने तुरंत ही वायुको आज्ञा दी—'मारुत! तुम इस धूलकी वृष्टिको दूर हटा दो; क्योंकि यह काम तुम्हारे ही वशका है'॥ ८॥

अथ वायुरपोवाह तद् रजस्तरसा बली।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन्॥ ९॥

तब बलवान् वायुदेवने बड़े वेगसे उस धूलको दूर उड़ा दिया। इससे वहाँ फैला हुआ अन्धकार दूर हो गया। अब देवता अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा पक्षी गरुडको पीड़ित करने लगे॥

ननादोच्चैः स बलवान् महामेघ इवाम्बरे।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन्॥ १०॥

देवताओंके प्रहारको सहते हुए महाबली गरुड आकाशमें छाये हुए महामेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको डराते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ १०॥

उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा।
समुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरि स्थितम्॥ ११॥
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन्।
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः॥ १२॥

शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले पक्षिराज बड़े पराक्रमी थे। वे आकाशमें बहुत ऊँचे उड़ गये। उड़कर अन्तरिक्षमें देवताओंके ऊपर [ठीक सिरकी सीधमें] खड़े हो गये। उस समय कवच धारण किये इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनपर पट्टिश, परिघ, शूल और गदा आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करने लगे॥ ११-१२॥

क्षुरप्रैर्ज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः।
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः॥ १३॥

अग्निके समान प्रज्वलित क्षुरप्र, सूर्यके समान उद्भासित होनेवाले चक्र तथा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे शस्त्रोंके प्रहारद्वारा उनपर सब ओरसे मार पड़ रही थी॥ १३॥

कुर्वन् सुतुमुलं युद्धं पक्षिराण्न व्यकम्पत।
निर्दहन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान्।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद् व्याक्षिपत् सुरान् ॥१४॥

तो भी पक्षिराज गरुड देवताओंके साथ तुमुल युद्ध करते हुए तनिक भी विचलित न हुए। परम प्रतापी विनतानन्दन गरुडने, मानो देवताओंको दग्ध कर डालेंगे, इस प्रकार रोषमें भरकर आकाशमें खड़े-खड़े ही पंखों और छातीके धक्केसे उन सबको चारों ओर मार गिराया ॥

ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुर्गरुडार्दिताः।
नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रुवुः शोणितं बहु ॥१५॥

गरुडसे पीड़ित और दूर फेंके गये देवता इधर-उधर भागने लगे। उनके नखों और चोंचसे क्षत-विक्षत हो वे अपने अङ्गोंसे बहुत-सा रक्त बहाने लगे ॥ १५ ॥

साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम्।
प्रजग्मुः सहिता रुद्राः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ॥ १६ ॥

पक्षीराजसे पराजित हो साध्य और गन्धर्व पूर्व दिशाकी ओर भाग चले। वसुओं तथा रुद्रोंने दक्षिण दिशाकी शरण ली ॥

दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्यावुत्तरां दिशम्।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः ॥ १७ ॥

आदित्यगण पश्चिम दिशाकी ओर भागे तथा अश्विनीकुमारोंने उत्तर दिशाका आश्रय लिया। ये महापराक्रमी योद्धा बार-बार पीछेकी ओर देखते हुए भाग रहे थे ॥ १७ ॥

अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट्।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ॥ १८ ॥
उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिराट्।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च ॥ १९ ॥

इसके बाद आकाशचारी पक्षिराज गरुडने वीर अश्वक्रन्द, रेणुक, शूरवीर क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमेष, प्ररुज तथा पुलिन—इन नौ यक्षोंके साथ युद्ध किया ॥ १८-१९॥

तान् पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद् विनतासुतः।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परंतपः ॥ २० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले विनताकुमारने प्रलयकालमें कुपित हुए पिनाकधारी रुद्रकी भाँति क्रोधमें भरकर उन सबको पंखों, नखों और चोंचके अग्रभागसे विदीर्ण कर डाला ॥२०॥

महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥ २१ ॥

वे सभी यक्ष बड़े बलवान् और अत्यन्त उत्साही थे; उस युद्धमें गरुडद्वारा बार-बार क्षत-विक्षत होकर वे खूनकी धारा बहाते हुए बादलोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥

तान् कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान्।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ॥ २२ ॥

पक्षिराज उन सबके प्राण लेकर जब अमृत उठानेके लिये आगे बढ़े, तब उसके चारों ओर उन्होंने आग जलती देखी।

आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम्।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम् ॥ २३ ॥

वह आग अपनी लपटोंसे वहाँके समस्त आकाशको आवृत किये हुए थी। उससे बड़ी ऊँची ज्वालाएँ उठ रही थीं। वह सूर्यमण्डलकी भाँति दाह उत्पन्न करती और प्रचण्ड वायुसे प्रेरित हो अधिकाधिक प्रज्वलित होती रहती थी॥

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां
कृत्वा महात्मा गरुडस्तरस्वी।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तैः
सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन ॥ २४ ॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः
समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं
प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य ॥ २५ ॥

तब वेगशाली महात्मा गरुडने अपने शरीरमें आठ हजार एक सौ मुख प्रकट करके उनके द्वारा नदियोंका जल पी लिया और पुनः बड़े वेगसे शीघ्रतापूर्वक वहाँ आकर उस जलती हुई आगपर वह सब जल उड़ेल दिया। इस प्रकार शत्रुओंको ताप देनेवाले पक्षवाहन गरुडने नदियोंके जलसे उस आगको बुझाकर अमृतके पास पहुँचनेकी इच्छासे एक दूसरा बहुत छोटा रूप धारण कर लिया ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

गरुडका अमृत लेकर लौटना, मार्गमें भगवान् विष्णुसे वर पाना एवं उनपर इन्द्रके द्वारा वज्र-प्रहार

सौतिरुवाच

जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः।
प्रविवेश बलात् पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर जैसे जलका वेग समुद्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार पक्षिराज गरुड सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान सुवर्णमय स्वरूप धारण करके

बलपूर्वक, जहाँ अमृत था उस स्थानमें घुस गये ॥ १ ॥

सचक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥

उन्होंने देखा, अमृतके निकट एक लोहेका चक्र घूम रहा है । उसके चारों ओर छुरे लगे हुए हैं । वह निरन्तर चलता रहता है और उसकी धार बड़ी तीखी है ॥ २ ॥

ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥

वह घोर चक्र अग्नि और सूर्यके समान जाज्वल्यमान था । देवताओंने उस अत्यन्त भयंकर यन्त्रका निर्माण इसलिये किया था कि वह अमृत चुरानेके लिये आये हुए चोरोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३ ॥

तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत् संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥

पक्षी गरुड उसके भीतरका छिद्र—उसमें घुसनेका मार्ग देखते हुए खड़े रहे । फिर एक क्षणमें ही वे अपने शरीरको संकुचित करके उस चक्रके अरोंके बीचसे होकर भीतर घुस गये ॥

अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ॥ ५ ॥
चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥

वहाँ चक्रके नीचे अमृतकी रक्षाके लिये ही दो श्रेष्ठ सर्प नियुक्त किये गये थे । उनकी कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती थी । बिजलीके समान उनकी लपलपाती हुई जीभें, देदीप्यमान मुख और चमकती हुई आँखें थीं । वे दोनों सर्प बड़े पराक्रमी थे । उनके नेत्रोंमें ही विष भरा था । वे बड़े भयंकर, नित्य क्रोधी और अत्यन्त वेगशाली थे । गरुडने उन दोनोंको देखा ॥ ५-६ ॥

सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत् स तूर्णं भस्मसाद् भवेत् ॥ ७ ॥

उनके नेत्रोंमें सदा क्रोध भरा रहता था । वे निरन्तर एकटक दृष्टिसे देखा करते थे (उनकी आँखें कभी बंद नहीं होती थीं) । उनमेंसे एक भी जिसे देख ले, वह तत्काल भस्म हो सकता था ॥

तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसावृणोत् ।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत् ॥ ८ ॥

सुन्दर पंखवाले गरुडजीने सहसा धूल झोंककर उनकी आँखें बंद कर दीं और उनसे अदृश्य रहकर ही वे सब ओरसे उन्हें मारने और कुचलने लगे ॥ ८ ॥

तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।
आच्छिनत् तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत् ततः ॥ ९ ॥
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली ।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ॥ १० ॥

आकाशमें विचरनेवाले महापराक्रमी विनताकुमारने वेगपूर्वक आक्रमण करके उन दोनों सर्पोंके शरीरको बीचसे काट डाला; फिर वे अमृतकी ओर झपटे और चक्रको तोड़-फोड़कर अमृतके पात्रको उठाकर बड़ी तेजीके साथ वहाँसे उड़ चले ॥ ९-१० ॥

अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशु निःसृतः ।
आगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां ततः ॥ ११ ॥

उन्होंने स्वयं अमृतको नहीं पीया, केवल उसे लेकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे निकल गये और सूर्यकी प्रभाका तिरस्कार करते हुए बिना थकावटके चले आये ॥ ११ ॥

विष्णुना च तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान् ।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ॥ १२ ॥

उस समय आकाशमें विनतानन्दन गरुडकी भगवान् विष्णुसे भेंट हो गयी । भगवान् नारायण गरुडके लोलुपतारहित पराक्रमसे बहुत संतुष्ट हुए थे ॥ १२ ॥

तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम् ।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥ १३ ॥

अतः उन अविनाशी भगवान् विष्णुने आकाशचारी गरुडसे कहा—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ ।' अन्तरिक्षमें विचरनेवाले गरुडने यह वर माँगा—'प्रभो ! मैं आपके ऊपर (ध्वजमें) स्थित होऊँ' ॥ १३ ॥

उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम् ॥ १४ ॥

इतना कहकर वे भगवान् नारायणसे फिर यों बोले—'भगवन् ! मैं अमृत पीये बिना ही अजर-अमर हो जाऊँ ॥

एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब भगवान् विष्णुने विनतानन्दन गरुडसे कहा—'एवमस्तु—ऐसा ही हो ।' वे दोनों वर ग्रहण करके गरुडने भगवान् विष्णुसे कहा—॥ १५ ॥

भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपि ।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ॥ १६ ॥

'देव ! मैं भी आपको वर देना चाहता हूँ । भगवान् भी कोई वर माँगें ।' तब श्रीहरिने महाबली गरुत्मान्से अपना वाहन होनेका वर माँगा ॥ १६ ॥

ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ॥ १७ ॥
वव्राज तरसा वेगाद् वायुं स्पर्धन् महाजवः ।
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ॥ १८ ॥
हरन्तममृतं रोषाद् गरुडं पक्षिणां वरम् ।

भगवान् विष्णुने गरुडको अपना ध्वज बना लिया—उन्हें ध्वजके ऊपर स्थान दिया और कहा—'इस प्रकार तुम मेरे ऊपर रहोगे।' तदनन्तर उन भगवान् नारायणसे 'एवमस्तु' कहकर पक्षी गरुड वहाँसे वेगपूर्वक चले गये। महान् वेगशाली गरुड उस समय वायुसे होड़ लगाते चल रहे थे। पक्षियोंके सरदार उन खगश्रेष्ठ गरुडको अमृतका अपहरण करके लिये जाते देख इन्द्रने रोषमें भरकर उनके ऊपर वज्रसे आघात किया॥ १७-१८½॥

तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः॥१९॥
प्रहसञ्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः।
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसम्भवम्॥२०॥
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो।
एतत् पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे॥२१॥

विहंगप्रवर गरुडने उस युद्धमें वज्राहत होकर भी हँसते हुए मधुरवाणीमें इन्द्रसे कहा—'देवराज! जिनकी हड्डीसे यह वज्र बना है, उन महर्षिका सम्मान मैं अवश्य करूँगा। शतक्रतो! ऋषिके साथ-साथ तुम्हारा और तुम्हारे वज्रका भी आदर करूँगा; इसीलिये मैं अपनी एक पाँख, जिसका तुम कहीं अन्त नहीं पा सकोगे, त्याग देता हूँ॥ १९—२१॥

न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन।
एवमुक्त्वा ततः पत्रमुत्ससर्ज स पक्षिराट्॥२२॥

'तुम्हारे वज्रके प्रहारसे मेरे शरीरमें कुछ भी पीड़ा नहीं हुई है।' ऐसा कहकर पक्षिराजने अपना एक पंख गिरा दिया॥

तदुत्सृष्टमभिप्रेक्ष्य तस्य पर्णमनुत्तमम्।
हृष्टानि सर्वभूतानि नाम चक्रुर्गरुत्मतः॥२३॥

उस गिरे हुए परम उत्तम पंखको देखकर सब प्राणियोंको बड़ा हर्ष हुआ और उसीके आधारपर उन्होंने गरुडका नामकरण किया॥ २३॥

सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सहस्राक्षः पुरन्दरः।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाभ्यभाषत॥२४॥

वह सुन्दर पाँख देखकर लोगोंने कहा, 'जिसका यह सुन्दर पर्ण (पंख) है, वह पक्षी सुपर्ण नामसे विख्यात हो।' (गरुडपर वज्र भी निष्फल हो गया) यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रने मन-ही-मन विचार किया, अहो! यह पक्षीरूपमें कोई महान् प्राणी है, ऐसा सोचकर उन्होंने कहा॥ २४॥

शक्र उवाच

बलं विज्ञातुमिच्छामि यत् ते परमनुत्तमम्।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम॥२५॥

इन्द्रने कहा—विहंगप्रवर! मैं तुम्हारे सर्वोत्तम उत्कृष्ट बलको जानना चाहता हूँ और तुम्हारे साथ ऐसी मैत्री स्थापित करना चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

इन्द्र और गरुडकी मित्रता, गरुडका अमृत लेकर नागोंके पास आना और विनताको दासीभावसे छुड़ाना तथा इन्द्रद्वारा अमृतका अपहरण

गरुड उवाच

सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरन्दर।
बलं तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च॥१॥

गरुडने कहा—देव पुरन्दर! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हारे साथ (मेरी) मित्रता स्थापित हो। मेरा बल भी जान लो, वह महान् और असह्य है॥ १॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम्।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो॥२॥

शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छासे अपने बलकी स्तुति और अपने ही मुखसे अपने गुणोंका बखान अच्छा नहीं मानते॥

सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः॥३॥

किंतु सखे! तुमने मित्र मानकर पूछा है, इसलिये मैं बता रहा हूँ; क्योंकि अकारण ही अपनी प्रशंसासे भरी हुई बात नहीं कहनी चाहिये (किंतु किसी मित्रके पूछनेपर सच्ची बात कहनेमें कोई हर्ज नहीं है।)॥ ३॥

सपर्वतवनामुर्वीं ससागरजलामिमाम्।
वहे पक्षेण वै शक्र त्वामप्यत्रावलम्बिनम्॥४॥

इन्द्र! पर्वत, वन और समुद्रके जलसहित सारी पृथ्वीको तथा इसके ऊपर रहनेवाले आपको भी अपने एक पंखपर उठाकर मैं बिना परिश्रमके उड़ सकता हूँ॥ ४॥

सर्वान् सम्पिण्डितान् वापि लोकान् संस्थाणुजङ्गमान्।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद् बलम्॥५॥

अथवा सम्पूर्ण चराचर लोकोंको एकत्र करके यदि मेरे

ऊपर रख दिया जाय तो मैं सबको बिना परिश्रमके ढो सकता हूँ। इससे तुम मेरे महान् बलको समझ लो ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ ६ ॥
एवमेव यथात्थ त्वं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि।
संगृह्यतामिदानीं मे सख्यमत्यन्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! वीरवर गरुडके इस प्रकार कहनेपर श्रीमानोंमें श्रेष्ठ किरीटधारी सर्वलोकहितकारी भगवान् देवेन्द्रने कहा—'मित्र ! तुम जैसा कहते हो, वैसी ही बात है। तुममें सब कुछ सम्भव है। इस समय मेरी अत्यन्त उत्तम मित्रता स्वीकार करो ॥ ६-७ ॥

न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम्।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद् भवानिमम् ॥ ८ ॥

यदि तुम्हें स्वयं अमृतकी आवश्यकता नहीं है तो वह मुझे वापस दे दो। तुम जिनको यह अमृत देना चाहते हो, वे इसे पीकर हमें कष्ट पहुँचावेंगे' ॥ ८ ॥

गरुड उवाच

किंचित् कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ॥ ९ ॥
यत्रेमं तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम्।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदिवेश्वर ॥१०॥

गरुडने कहा—स्वर्गके सम्राट् सहस्राक्ष ! किसी कारणवश मैं यह अमृत ले जाता हूँ। इसे किसीको भी पीनेके लिये नहीं दूँगा। मैं स्वयं जहाँ इसे रख दूँ, वहाँसे तुरंत तुम उठा ले जा सकते हो ॥ ९—१० ॥

शक्र उवाच

वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत् त्वयोक्तमिहाण्डज।
यमिच्छसि वरं मत्तस्तं गृहाण खगोत्तम ॥११॥

इन्द्र बोले—पक्षिराज ! तुमने यहाँ जो बात कही है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ! खगश्रेष्ठ ! तुम मुझसे जो चाहो, वर माँग लो ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन्।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥१२॥
ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम्।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥१३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके ऐसा कहनेपर गरुडको कद्रू-पुत्रोंकी दुष्टताका स्मरण आया। साथ ही उनके उस कपटपूर्ण बर्तावकी भी याद आ गयी, जो माताको दासी बनानेमें कारण था। अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—'इन्द्र ! यद्यपि मैं सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ तो भी तुम्हारी इस याचनाको पूर्ण करूँगा कि अमृत दूसरोंको न दिया जाय। साथ ही तुम्हारे कथनानुसार यह वर भी माँगता हूँ कि महाबली सर्प मेरे भोजन-सामग्री हो जायँ' ॥ १२-१३ ॥

तथेत्युक्त्वान्वगच्छत् तं ततो दानवसूदनः।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ॥१४॥

तब दानवशत्रु इन्द्र 'तथास्तु' कहकर योगीश्वर देवाधिदेव परमात्मा श्रीहरिके पास गये ॥ १४ ॥

स चान्वमोदत् तं चार्थं यथोक्तं गरुडेन वै।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ॥१५॥
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम्।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम् ॥१६॥

श्रीहरिने भी गरुडकी कही हुई बातका अनुमोदन किया। तदनन्तर स्वर्गलोकके स्वामी भगवान् इन्द्र पुनः गरुडको सम्बोधित करके इस प्रकार बोले—'तुम जिस समय इस अमृतको कहीं रख दोगे उसी समय मैं इसे हर ले आऊँगा' (ऐसा कहकर इन्द्र चले गये)। फिर सुन्दर पंखवाले गरुड तुरंत ही अपनी माताके समीप आ पहुँचे ॥ १५-१६ ॥

अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान् परमहृष्टवत्।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ॥१७॥
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ॥१८॥
अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चास्तु मे।
यथोक्तं भवतामेतत् वचो मे प्रतिपादितम् ॥१९॥

तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न-से होकर वे समस्त सर्पोंसे इस प्रकार बोले—'पन्नगो ! मैंने तुम्हारे लिये यह अमृत ला दिया है। इसे कुशोंपर रख देता हूँ। तुम सब लोग स्नान और मङ्गलकर्म (स्वस्ति-वाचन आदि) करके इस अमृतका पान करो। अमृतके लिये भेजते समय तुमने यहाँ बैठकर मुझसे जो बातें कही थीं, उनके अनुसार आजसे मेरी ये माता दासीपनसे मुक्त हो जायँ; क्योंकि तुमने मेरे लिये जो काम बताया था, उसे मैंने पूर्ण कर दिया है' ॥ १७—१९ ॥

ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥२०॥

तब सर्पगण 'तथास्तु' कहकर स्नानके लिये गये। इसी बीचमें इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥२१॥
यत्रैतदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे।
तद् विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ॥२२॥

इसके अनन्तर अमृत पीनेकी इच्छावाले सर्प स्नान, जप और मङ्गल-कार्य करके प्रसन्नतापूर्वक उस स्थानपर आये, जहाँ कुशके आसनपर अमृत रक्खा गया था । आनेपर उन्हें मालूम हुआ कि कोई उसे हर ले गया । तब सर्पोंने यह सोचकर संतोष किया कि यह हमारे कपटपूर्ण बर्तावका बदला है ॥ २१-२२ ॥

सोमस्थानमिदं चेति दर्भास्ते लिलिहुस्तदा ।
ततो द्विधाकृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ॥२३॥

फिर यह समझकर कि यहाँ अमृत रक्खा गया था, इसलिये सम्भव है इसमें उसका कुछ अंश लगा हो, सर्पोंने उस समय कुशोंको चाटना शुरू किया । ऐसा करनेसे सर्पोंकी जीभके दो भाग हो गये ॥ २३ ॥

अभवंश्चामृतस्पर्शाद् दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः ।
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च ।
द्विजिह्वाश्च कृताः सर्पा गरुडेन महात्मना ॥२४॥

तभीसे पवित्र अमृतका स्पर्श होनेके कारण कुशोंकी 'पवित्री' संज्ञा हो गयी । इस प्रकार महात्मा गरुडने देवलोकसे अमृतका अपहरण किया और सर्पोंके समीपतक उसे पहुँचाया; साथ ही सर्पोंको द्विजिह्व (दो जिह्वाओंसे युक्त) बना दिया ॥ २४ ॥

ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्
विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने ।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगै-
रहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥२५॥

उस दिनसे सुन्दर पंखवाले गरुड अत्यन्त प्रसन्न हो अपनी माताके साथ रहकर वहाँ वनमें इच्छानुसार घूमने-फिरने लगे । वे सर्पोंको खाते और पक्षियोंसे सादर-सम्मानित होकर अपनी उज्ज्वल कीर्ति चारों ओर फैलाते हुए माता विनताको आनन्द देने लगे ॥ २५ ॥

इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा
पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात् स पुण्यभाक्
महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ॥२६॥

जो मनुष्य इस कथाको श्रेष्ठ द्विजोंकी उत्तम गोष्ठीमें सदा पढ़ता अथवा सुनता है, वह पक्षिराज महात्मा गरुडके गुणोंका गान करनेसे पुण्यका भागी होकर निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुड-चरित्रविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

मुख्य-मुख्य नागोंके नाम

शौनक उवाच

भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! सर्पोंको उनकी मातासे और विनता देवीको उनके पुत्रसे जो शाप प्राप्त हुआ था, उसका कारण आपने बता दिया ॥ १ ॥

वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥

कद्रू और विनताको उनके पति कश्यपजीसे जो वर मिले थे, वह कथा भी कह सुनायी तथा विनताके जो दोनों पुत्र पक्षीरूपमें प्रकट हुए थे, उनके नाम भी आपने बताये हैं॥२॥

पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥

किंतु सूतपुत्र ! आप सर्पोंके नाम नहीं बता रहे हैं । यदि सबका नाम बताना सम्भव न हो, तो उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं, उन्हींके नाम हम सुनना चाहते हैं ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन ।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—तपोधन ! सर्पोंकी संख्या बहुत है; अतः उन सबके नाम तो नहीं कहूँगा; किंतु उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं; उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ ४ ॥

शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ५ ॥
कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ॥ ७ ॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा ॥ ८ ॥
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥

कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥१०॥
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥११॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो बिल्वको बिल्वपाण्डुरः।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ॥१२॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ॥१३॥
विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान्।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ॥१४॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ॥१५॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥१६॥

नागोंमें सबसे पहले शेषजी प्रकट हुए हैं। तदनन्तर वासुकि, ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, मणिनाग, आपूरण, पिञ्जरक, एलापत्र, वामन, नील, अनील, कल्माष, शबल, आर्यक, उग्रक, कलशपोतक, सुमनाख्य, दधिमुख, विमलपिण्डक, आप्त, कर्कोटक (द्वितीय), शङ्ख, वालिशिख, निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिङ्गल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिण्डक, कम्बल, अश्वतर, कालीयक, वृत्त, संवर्तक, पद्म (प्रथम), पद्म (द्वितीय), शङ्खमुख, कूष्माण्डक, क्षेमक, पिण्डारक, करवीर, पुष्पदंष्ट्र, बिल्वक, बिल्वपाण्डुर, मूषकाद, शङ्खशिरा, पूर्णभद्र, हरिद्रक, अपराजित, ज्योतिक, श्रीवह, कौरव्य, धृतराष्ट्र, पराक्रमी शङ्खपिण्ड, विरजा, सुबाहु, वीर्यवान् शालिपिण्ड, हस्तिपिण्ड, पिठरक, सुमुख, कौणपाशन, कुठर, कुञ्जर, प्रभाकर, कुमुद, कुमुदाक्ष, तित्तिरि, हलिक, महानाग कर्दम, बहुमूलक, कर्कर, अकर्कर, कुण्डोदर और महोदर—ये नाग उत्पन्न हुए ॥ ५-१६ ॥

एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ॥१७॥

द्विजश्रेष्ठ ! ये मुख्य-मुख्य नाग यहाँ बताये गये हैं। सर्पोंकी संख्या अधिक होनेसे उनके नाम भी बहुत हैं। अतः अन्य अप्रधान नागोंके नाम यहाँ नहीं कहे गये हैं ॥ १७ ॥

एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः।
असंख्येयेति मत्वा तान् न ब्रवीमि तपोधन ॥१८॥

तपोधन ! इन नागोंकी संतान तथा उन संतानोंकी भी संतति असंख्य हैं। ऐसा समझकर उनके नाम मैं नहीं कहता हूँ ॥ १८ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥१९॥

तपस्वी शौनकजी ! नागोंकी संख्या यहाँ कई हजारोंसे लेकर लाखों-अरबोंतक पहुँच जाती है। अतः उनकी गणना नहीं की जा सकती है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथन-विषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

शेषनागकी तपस्या, ब्रह्माजीसे वर-प्राप्ति तथा पृथ्वीको सिरपर धारण करना

शौनक उवाच

आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—तात सूतनन्दन ! आपने महापराक्रमी और दुर्धर्ष नागोंका वर्णन किया। अब यह बताइये कि माता कद्रूके उस शापकी बात मालूम हो जानेपर उन्होंने उसके निवारणके लिये आगे चलकर कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

सौतिरुवाच

तेषां तु भगवाञ्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक ! उन नागोंमेंसे महायशस्वी भगवान् शेषनागने कद्रूका साथ छोड़कर कठोर तपस्या प्रारम्भ की। वे केवल वायु पीकर रहते और संयमपूर्वक व्रतका पालन करते थे ॥ २ ॥

गन्धमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सदा नियमपूर्वक रहते हुए शेषजी गन्धमादन पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें तप करने लगे। तत्पश्चात् गोकर्ण, पुष्कर, हिमालयके तटवर्ती प्रदेश तथा भिन्न-भिन्न पुण्य-तीर्थों और देवालयोंमें जा-जाकर संयम-नियमके साथ एकान्तवास करने लगे॥ ३-४ ॥

तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम् ॥ ५ ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः ।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीने देखा, शेषनाग घोर तप कर रहे हैं। उनके शरीरका मांस, त्वचा और नाड़ियाँ सूख गयी हैं। वे सिरपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये मुनिवृत्तिसे रहते हैं। उनमें सच्चा धैर्य है और वे निरन्तर तपमें संलग्न हैं। यह सब देखकर ब्रह्माजी उनके पास आये और बोले—'शेष! तुम यह क्या कर रहे हो? समस्त प्रजाका कल्याण करो ॥ ५-६ ॥

त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

'अनघ! इस तीव्र तपस्याके द्वारा तुम सम्पूर्ण प्रजावर्गको संतप्त कर रहे हो। शेषनाग! तुम्हारे हृदयमें जो कामना हो वह मुझसे कहो' ॥ ७ ॥

शेष उवाच

सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥

शेषनाग बोले—भगवन्! मेरे सब सहोदर भाई बड़े मन्दबुद्धि हैं, अतः मैं उनके साथ नहीं रहना चाहता। आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें ॥ ८ ॥

अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठं नैतान् पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥

वे सदा परस्पर शत्रुकी भाँति एक दूसरेके दोष निकाला करते हैं। इससे ऊबकर मैं तपस्यामें लग गया हूँ; जिससे मैं उन्हें देख न सकूँ ॥ ९ ॥

न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनतां च ते ।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥१०॥

वे विनता और उसके पुत्रोंसे डाह रखते हैं, इसलिये उनकी सुख-सुविधा सहन नहीं कर पाते। आकाशमें विचरनेवाले विनतापुत्र गरुड भी हमारे दूसरे भाई ही हैं ॥ १० ॥

तं च द्विषन्ति सततं स चापि बलवत्तरः ।
वरप्रदानात् स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥११॥

किंतु वे नाग उनसे भी सदा द्वेष रखते हैं। मेरे पिता महात्मा कश्यपजीके वरदानसे गरुड भी बड़े ही बलवान् हैं ॥ ११ ॥

सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात् सह संगमः ॥१२॥

इन सब कारणोंसे मैंने यही निश्चय किया है कि तपस्या करके मैं इस शरीरको त्याग दूँगा, जिससे मरनेके बाद भी किसी तरह उन दुष्टोंके साथ मेरा समागम न हो ॥ १२ ॥

तमेवंवादिनं शेषं पितामह उवाच ह ।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम् ॥१३॥

ऐसी बातें करनेवाले शेषनागसे पितामह ब्रह्माजीने कहा—'शेष! मैं तुम्हारे सब भाइयोंकी कुचेष्टा जानता हूँ ॥ १३ ॥

मातुश्चाप्यपराधाद् वै भ्रातॄणां ते महद् भयम् ।
कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ॥१४॥

'माताका अपराध करनेके कारण निश्चय ही तुम्हारे उन सभी भाइयोंके लिये महान् भय उपस्थित हो गया है; परंतु भुजङ्गम! इस विषयमें जो परिहार अपेक्षित है, उसकी व्यवस्था मैंने पहलेसे ही कर रखी है ॥ १४ ॥

भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि ।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥१५॥

'अतः अपने सम्पूर्ण भाइयोंके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। शेष! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर मुझसे माँग लो ॥ १५ ॥

दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम ।
भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥१६॥

'तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम है; अतः आज मैं तुम्हें अवश्य वर दूँगा। पन्नगोत्तम! यह सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगी हुई है। मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि उत्तरोत्तर धर्ममें स्थिर रहे' ॥ १६ ॥

शेष उवाच

एष एव वरो देव काङ्क्षितो मे पितामह ।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥१७॥

शेषजीने कहा—देव! पितामह! परमेश्वर! मेरे लिये यही अभीष्ट वर है कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, मनोनिग्रह तथा तपस्यामें लगी रहे ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात् प्रजाहितम् ॥१८॥

ब्रह्माजी बोले—शेष! तुम्हारे इस इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी आज्ञासे प्रजाके हितके लिये यह कार्य, जिसे मैं बता रहा हूँ, तुम्हें करना चाहिये ॥ १८ ॥

इमां महीं शैलवनोपपन्नां
ससागरग्रामविहारपत्तनाम् ।
त्वं शेष सम्यक् चलितां यथावत्
संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात् ॥१९॥

शेषनाग! पर्वत, वन, सागर, ग्राम, विहार और नगरोंसहित यह समूची पृथ्वी प्रायः हिलती-डोलती रहती है। तुम इसे भलीभाँति धारण करके इस प्रकार स्थित रहो, जिससे यह पूर्णतः अचल हो जाय ॥ १९ ॥

ब्रह्माजीने शेषजीको वरदान तथा पृथ्वी धारण करनेकी आज्ञा दी

शेष उवाच

यथाह देवो वरदः प्रजापति-
र्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयितास्मि निश्चलां
प्रयच्छतां मे शिरसि प्रजापते ॥२०॥

शेषनागने कहा—प्रजापते ! आप वरदायक देवता, समस्त प्रजाके पालक, पृथ्वीके रक्षक, भूत-प्राणियोंके स्वामी और सम्पूर्ण जगत्के अधिपति हैं। आप जैसी आज्ञा देते हैं, उसके अनुसार मैं इस पृथ्वीको इस तरह धारण करूँगा, जिससे यह हिले-डुले नहीं। आप इसे मेरे सिरपर रख दें ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम
स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।
इमां धरां धारयता त्वया हि मे
महत् प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥२१॥

ब्रह्माजीने कहा—नागराज शेष ! तुम पृथ्वीके नीचे चले जाओ। यह स्वयं तुम्हें वहाँ जानेके लिये मार्ग दे देगी। इस पृथ्वीको धारण कर लेनेपर तुम्हारे द्वारा मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच

तथैव कृत्वा विवरं प्रविश्य स
प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।
बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां
समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥२२॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराज वासुकिके बड़े भाई सर्वसमर्थ भगवान् शेषने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मा-जीकी आज्ञा शिरोधार्य की और पृथ्वीके विवरमें प्रवेश करके समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधादेवीको उन्होंने सब ओरसे पकड़कर सिरपर धारण कर लिया (तभीसे यह पृथ्वी स्थिर हो गयी) ॥

ब्रह्मोवाच

शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो
महीमिमां धारयसे यदेकः ।
अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां
यथाहमेवं बलभिद् यथा वा ॥२३॥

तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—नागोत्तम ! तुम शेष हो, धर्म ही तुम्हारा आराध्यदेव है, तुम अकेले अपने अनन्त फणोंसे इस सारी पृथ्वीको पकड़कर उसी प्रकार धारण करते हो, जैसे मैं अथवा इन्द्र ॥ २३ ॥

सौतिरुवाच

अधोभूमौ वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।
धारयन् वसुधामेकः शासनाद् ब्रह्मणो विभुः ॥२४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! इस प्रकार प्रतापी नाग भगवान् अनन्त अकेले ही ब्रह्माजीके आदेशसे इस सारी पृथ्वीको धारण करते हुए भूमिके नीचे पाताल-लोकमें निवास करते हैं ॥ २४ ॥

सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥२५॥

तत्पश्चात् देवताओंमें श्रेष्ठ भगवान् पितामहने शेषनागके लिये विनतानन्दन गरुडको सहायक बना दिया ॥ २५ ॥

(अनन्ते च प्रयाते तु वासुकिः सुमहाबलः ।
अभ्यषिच्यत नागैस्तु दैवतैरिव वासवः ॥)

अनन्त नागके चले जानेपर नागोंने महाबली वासुकि-का नागराजके पदपर उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने इन्द्रका देवराजके पदपर अभिषेक किया था ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि शेषवृत्तकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें शेषनागवृत्तान्त-कथनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

माताके शापसे बचनेके लिये वासुकि आदि नागोंका परस्पर परामर्श

सौतिरुवाच

मातुः सकाशात् तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः ।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत् कथम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! माता कद्रूसे नागोंके लिये वह शाप प्राप्त हुआ सुनकर नागराज वासुकिको बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे 'किस प्रकार यह शाप दूर हो सकता है' ॥ १ ॥

ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वधर्मपरायणैः ॥ २ ॥

तदनन्तर उन्होंने ऐरावत आदि सर्वधर्मपरायण बन्धुओं-के साथ उस शापके विषयमें विचार किया ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच

अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथानघाः ।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ॥ ४ ॥

वासुकि बोले—निष्पाप नागगण ! माताने हमें जिस प्रकार यह शाप दिया है, वह सब आपलोगोंको विदित ही है। उस शापसे छूटनेके लिये क्या उपाय हो सकता है ? इसके विषयमें सलाह करके हम सब लोगोंको उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। सब शापोंका प्रतीकार सम्भव है, परंतु जो माताके शापसे ग्रस्त हैं, उनके छूटनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ३-४ ॥

अव्ययस्याप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाग्रतः।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥

अविनाशी, अप्रमेय तथा सत्यस्वरूप ब्रह्माजीके आगे माताने हमें शाप दिया है—यह सुनकर ही हमारे हृदयमें कम्प छा जाता है ॥ ५ ॥

नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥

निश्चय ही यह हमारे सर्वनाशका समय आ गया है; क्योंकि अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माने भी शाप देते समय माताको मना नहीं किया ॥ ६ ॥

तस्मात् सम्मन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम्।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ॥ ७ ॥
सर्व एव हि नस्तावद् बुद्धिमन्तो विचक्षणाः।
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ॥ ८ ॥
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम्।

इसलिये आज हमें अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये कि किस उपायसे हम सभी नाग कुशलपूर्वक रह सकते हैं। अब हमें व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये। हमलोगोंमें प्रायः सब नाग बुद्धिमान् और चतुर हैं। यदि हम मिल-जुलकर सलाह करें तो इस संकटसे छूटनेका कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे; जैसे पूर्वकालमें देवताओंने गुफामें छिपे हुए अग्निको खोज निकाला था ॥ ७-८½ ॥

यथा स यज्ञो न भवेद् यथा वापि पराभवः।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ॥ ९ ॥

सर्पोंके विनाशके लिये आरम्भ होनेवाला जनमेजयका यज्ञ जिस प्रकार टल जाय अथवा जिस तरह उसमें विघ्न पड़ जाय, वह उपाय हमें सोचना चाहिये ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच

तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ॥ १० ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! वहाँ एकत्र हुए सभी कद्रूपुत्र 'बहुत अच्छा' कहकर एक निश्चयपर पहुँच गये, क्योंकि वे नीतिका निश्चय करनेमें निपुण थे ॥ १० ॥

एके तत्राब्रुवन् नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ॥ ११ ॥

उस समय वहाँ कुछ नागोंने कहा—'हमलोग श्रेष्ठ ब्राह्मण बनकर जनमेजयसे यह भिक्षा माँगें कि तुम्हारा यज्ञ न हो' ॥ ११ ॥

अपरे त्वब्रुवन् नागास्तत्र पण्डितमानिनः।
मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसम्मताः ॥ १२ ॥

अपनेको बड़ा भारी पण्डित माननेवाले दूसरे नागोंने कहा—'हम सब लोग जनमेजयके विश्वासपात्र मन्त्री बन जायँगे ॥

स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम्।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो तथा यज्ञो निवर्त्स्यति ॥ १३ ॥

'फिर वे सभी कार्योंमें अभीष्ट प्रयोजनका निश्चय करनेके लिये हमसे सलाह पूछेंगे। उस समय हम उन्हें ऐसी बुद्धि देंगे, जिससे यज्ञ होगा ही नहीं ॥ १३ ॥

स नो बहुमतान् राजा बुद्ध्या बुद्धिमतां वरः।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥ १४ ॥

'हम वहाँ बहुत विश्वस्त एवं सम्मानित होकर रहेंगे। अतः बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय यज्ञके विषयमें हमारी सम्मति जाननेके लिये अवश्य पूछेंगे। उस समय हम स्पष्ट कह देंगे—'यज्ञ न करो' ॥ १४ ॥

दर्शयन्तो बहून् दोषान् प्रेत्य चेह च दारुणान्।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥ १५ ॥

'हम युक्तियों और कारणोंद्वारा यह दिखायेंगे कि उस यज्ञसे इहलोक और परलोकमें अनेक भयंकर दोष प्राप्त होंगे; इससे वह यज्ञ होगा ही नहीं ॥ १५ ॥

अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥ १६ ॥
तं गत्वा दशतां कश्चिद् भुजङ्गः स मरिष्यति।
तस्मिन् मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ॥ १७ ॥

'अथवा जो उस यज्ञके आचार्य होंगे, जिन्हें सर्पयज्ञकी विधिका ज्ञान हो और जो राजाके कार्य एवं हितमें लगे रहते हों, उन्हें कोई सर्प जाकर डँस ले। फिर वे मर जायँगे। यज्ञ करानेवाले आचार्यके मर जानेपर वह यज्ञ अपने-आप बंद हो जायगा ॥ १६-१७ ॥

ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः।
तांश्च सर्वान् दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥ १८ ॥

'आचार्यके सिवा दूसरे जो-जो ब्राह्मण सर्पयज्ञकी विधिको जानते होंगे और जनमेजयके यज्ञमें ऋत्विज बननेवाले होंगे, उन सबको हम डँस लेंगे। इस प्रकार सारा काम बन जायगा' ॥

अपरे त्वब्रुवन् नागा धर्मात्मानो दयालवः।
अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ॥१९॥

यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा और दयालु नागोंने कहा—'ऐसा सोचना तुम्हारी मूर्खता है। ब्रह्महत्या कभी शुभकारक नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥२०॥

'आपत्तिकालमें शान्तिके लिये वही उपाय उत्तम माना गया है, जो भलीभाँति श्रेष्ठ धर्मके अनुकूल किया गया हो। संकटसे बचनेके लिये उत्तरोत्तर अधर्म करनेकी प्रवृत्ति तो सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगी' ॥ २० ॥

अपरे त्वब्रुवन् नागाः समिद्धं जातवेदसम्।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ॥२१॥

इसपर दूसरे नाग बोल उठे—जिस समय सर्पयज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित होगी, उस समय हम बिजलियोंसहित मेघ बनकर पानीकी वर्षाद्वारा उसे बुझा देंगे ॥ २१ ॥

स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ॥२२॥

'दूसरे श्रेष्ठ नाग रातमें वहाँ जाकर असावधानीसे सोये हुए ऋत्विजोंके स्रुक्, स्रुवा और यज्ञपात्र आदि शीघ्र चुरा लावें। इस प्रकार उसमें विघ्न पड़ जायगा ॥ २२ ॥

यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
जनान् दशन्तु वै सर्वे नैवं त्रासो भविष्यति ॥२३॥

'अथवा उस यज्ञमें सभी सर्प जाकर सैकड़ों और हजारों मनुष्योंको डँस लें; ऐसा करनेसे हमारे लिये भय नहीं रहेगा।२३।

अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥२४॥

'अथवा सर्पगण उस यज्ञके संस्कारयुक्त भोज्य पदार्थको अपने मल-मूत्रोंद्वारा, जो सब प्रकारकी भोजन-सामग्रीका विनाश करनेवाले हैं, दूषित कर दें' ॥ २४ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ॥२५॥
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम्।

इसके बाद अन्य सर्पोंने कहा—'हम उस यज्ञमें ऋत्विज हो जायँगे और यह कहकर कि 'हमें मुँहमाँगी दक्षिणा दो' यज्ञमें विघ्न खड़ा कर देंगे। उस समय राजा हमारे वशमें पड़कर जैसी हमारी इच्छा होगी वैसा करेंगे ॥ २५½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ॥२६॥
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः।

फिर अन्य नाग बोले—'जब राजा जनमेजय जल-क्रीड़ा करते हों, उस समय उन्हें वहाँसे खींचकर हम अपने घर ले आवें। और बाँधकर रख लें। ऐसा करनेसे वह यज्ञ होगा ही नहीं'—॥ २६½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ॥२७॥
दशामस्तं प्रगृह्याशु कृतमेवं भविष्यति।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन् भविष्यति ॥२८॥

इसपर अपनेको पण्डित माननेवाले दूसरे नाग बोल उठे 'हम जनमेजयको पकड़कर डँस लेंगे।' ऐसा करनेसे तुरंत ही सब काम बन जायगा। उस राजाके मरनेपर हमारे लिये अनर्थोंकी जड़ ही कट जायगी ॥ २७-२८ ॥

एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः।
अथ यन्मन्यसे राजन् द्रुतं तत् संविधीयताम् ॥२९॥

'नेत्रोंसे सुननेवाले नागराज! हम सब लोगोंकी बुद्धि तो इसी निश्चयपर पहुँची है। अब आप जैसा ठीक समझते हों, वैसा शीघ्र करें ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
वासुकिश्चापि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥३०॥

यह कहकर वे सर्प नागराज वासुकिकी ओर देखने लगे। तब वासुकिने भी खूब सोच-विचारकर उन सर्पोंसे कहा—॥

नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥३१॥

'नागगण! तुम्हारी बुद्धिने जो निश्चय किया है, वह व्यवहारमें लाने योग्य नहीं है। इसी प्रकार मेरा विचार भी सब सर्पोंको जँच जाय, यह सम्भव नहीं है ॥ ३१ ॥

किं तत्र संविधातव्यं भवतां स्याद्धितं तु यत्।
श्रेयःप्रसाधनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ॥३२॥

'ऐसी दशामें क्या करना चाहिये, जो तुम्हारे लिये हितकर हो। मुझे तो महात्मा कश्यपजीको प्रसन्न करनेमें ही अपना कल्याण जान पड़ता है ॥ ३२ ॥

ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः।
न च जानाति मे बुद्धिः किंचित् कर्तुं वचो हि वः ॥३३॥

'भुजङ्गमो! अपने जाति-भाइयोंके और अपने हितको दृष्टिमें रखकर तुम्हारे कथनानुसार कोई भी कार्य करना मेरी समझमें नहीं आया ॥ ३३ ॥

मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत्।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥३४॥

'मुझे वही काम करना है, जिसमें तुम लोगोंका वास्तविक हित हो। इसीलिये मैं अधिक चिन्तित हूँ; क्योंकि तुम सबमें बड़ा होनेके कारण गुण और दोषका सारा उत्तरदायित्व मुझपर ही है'॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुक्यादिमन्त्रणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकि आदि नागोंकी मन्त्रणा नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्याय

वासुकिकी बहिन जरत्कारुका जरत्कारु मुनिके साथ विवाह करनेका निश्चय

सौतिरुवाच

सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम्॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! समस्त सर्पोंकी भिन्न-भिन्न राय सुनकर और अन्तमें वासुकिके वचनोंका श्रवण कर एलापत्र नामक नागने इस प्रकार कहा—॥ १॥

न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद् भयम्॥ २॥

'भाइयो! यह सम्भव नहीं कि वह यज्ञ न हो तथा पाण्डववंशी राजा जनमेजय भी, जिससे हमें महान् भय प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं है कि हम उसका कुछ बिगाड़ सकें॥ २॥

दैवेनोपहतो राजन् यो भवेदिह पूरुषः।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत् तत्र परायणम्॥ ३॥

'राजन्! इस लोकमें जो पुरुष दैवका मारा हुआ है, उसे दैवकी ही शरण लेनी चाहिये। वहाँ दूसरा कोई आश्रय नहीं काम देता॥ ३॥

तदिदं चैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम॥ ४॥
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात् पन्नगसत्तमाः॥ ५॥
देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो।
पितामहमुपागम्य दुःखार्तानां महाद्युते॥ ६॥

'श्रेष्ठ नागगण! हमारे ऊपर आया हुआ यह भय भी दैवजनित ही है, अतः हमें दैवका ही आश्रय लेना चाहिये। उत्तम सर्पगण! इस विषयमें आपलोग मेरी बात सुनें। जब माताने सर्पोंको यह शाप दिया था, उस समय भयके मारे मैं माताकी गोदमें चढ़ गया था। पन्नगप्रवर महातेजस्वी नागराजगण! तभी दुःखसे आतुर होकर ब्रह्माजीके समीप आये हुए देवताओंकी यह वाणी मेरे कानोंमें पड़ी, 'अहो! स्त्रियाँ बड़ी कठोर होती हैं, बड़ी कठोर होती हैं'॥ ४—६॥

देवा ऊचुः

का हि लब्ध्वा प्रियान् पुत्राञ्छपेदेवं पितामह।
ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देवदेव तवाग्रतः॥ ७॥

देवता बोले—पितामह! देवदेव! तीखे स्वभाववाली इस क्रूर कद्रूको छोड़कर दूसरी कौन स्त्री होगी, जो प्रिय पुत्रोंको पाकर उन्हें इस प्रकार शाप दे सके और वह भी आपके सामने॥ ७॥

तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाप्युक्तं पितामह।
एतदिच्छामि विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता॥ ८॥

पितामह! आपने भी 'तथास्तु' कहकर कद्रूकी बातका अनुमोदन ही किया है; उसे शाप देनेसे रोका नहीं है। इसका क्या कारण है, हम यह जानना चाहते हैं॥ ८॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्बणाः।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा॥ ९॥

ब्रह्माजीने कहा—इन दिनों भयानक रूप और प्रचण्ड विषवाले क्रूर सर्प बहुत हो गये हैं (जो प्रजाको कष्ट दे रहे हैं)। मैंने प्रजाजनोंके हितकी इच्छासे ही उस समय कद्रूको मना नहीं किया॥ ९॥

ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्बणाः।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः॥ १०॥

जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हीं सर्पोंका विनाश होगा जो प्रायः लोगोंको डँसते रहते हैं, क्षुद्र स्वभावके हैं और पापाचारी तथा प्रचण्ड विषवाले हैं। किंतु जो धर्मात्मा हैं, उनका नाश नहीं होगा॥ १०॥

यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात्।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन् काले समागते॥ ११॥

वह समय आनेपर सर्पोंका उस महान् भयसे जिस निमित्तसे छुटकारा होगा, उसे बतलाता हूँ, तुम सब लोग सुनो॥ ११॥

यायावरकुले धीमान् भविष्यति महानृषिः।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः॥ १२॥

यायावरकुलमें जरत्कारु नामसे विख्यात एक बुद्धिमान् महर्षि होंगे। वे तपस्यामें तत्पर रहकर अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे॥ १२॥

तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः॥ १३॥

उन्हींके आस्तीक नामका एक महातपस्वी पुत्र उत्पन्न होगा जो उस यज्ञको बंद करा देगा। अतः जो सर्प धार्मिक होंगे, वे उसमें जलनेसे बच जायँगे॥ १३॥

देवा ऊचुः

स मुनिप्रवरो ब्रह्मञ्जरत्कारुर्महातपाः।
कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान्॥ १४॥

देवताओंने पूछा—ब्रह्मन्! वे मुनिशिरोमणि महातपस्वी

शक्तिशाली जरत्कारु किसके गर्भसे अपने उस महात्मा पुत्रको उत्पन्न करेंगे ? ॥ १४ ॥

ब्रह्मोवाच

सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तम ।
अपत्यं वीर्यसम्पन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वे शक्तिशाली द्विजश्रेष्ठ जिस 'जरत्कारु' नामसे प्रसिद्ध होंगे, उसी नामवाली कन्याको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उसके गर्भसे एक शक्तिसम्पन्न पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ १५ ॥

वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल ।
स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति ॥ १६ ॥

सर्पराज वासुकिकी बहिनका नाम जरत्कारु है । उसीके गर्भसे वह पुत्र उत्पन्न होगा, जो नागोंको शापसे छुड़ायेगा ॥

एलापत्र उवाच

एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन् ।
उक्त्वैवं वचनं देवान् विरिञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ॥ १७ ॥

एलापत्र कहते हैं—यह सुनकर देवता ब्रह्माजीसे कहने लगे 'एवमस्तु (ऐसा ही हो) ।' देवताओंसे ये सब बातें बताकर ब्रह्माजी ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ १७ ॥

सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।
जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ॥ १८ ॥
भैक्षवद् भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥ १९ ॥

अतः नागराज वासुके ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप नागोंका भय दूर करनेके लिये कन्याकी भिक्षा माँगनेवाले, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जरत्कारुको अपनी जरत्कारु नामवाली यह बहिन ही भिक्षारूपमें अर्पित कर दें । उस शापसे छूटनेका यही उपाय मैंने सुना है ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि एलापत्रवाक्ये अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें एलापत्र-वाक्य-सम्बन्धी अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी आज्ञासे वासुकिका जरत्कारु मुनिके साथ अपनी बहिनको ब्याहनेके लिये प्रयत्नशील होना

सौतिरुवाच

एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम ।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ १ ॥
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत ।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ ! एलापत्रकी बात सुनकर नागोंका चित्त प्रसन्न हो गया । वे सब-के-सब एक साथ बोल उठे—'ठीक है, ठीक है ।' वासुकिको भी इस बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उसी दिनसे अपनी बहिन जरत्कारुका बड़े चावसे पालन-पोषण करने लगे ॥ १-२ ॥

ततो नातिमहान् कालः समतीत इवाभवत् ।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्यैव च तत् कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर थोड़ा ही समय व्यतीत होनेपर सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंने समुद्रका मन्थन किया । उसमें बलवानोंमें श्रेष्ठ वासुकि नाग मन्दराचलरूप मथानीमें लपेटनेके लिये रस्सी बने हुए थे । समुद्र-मन्थनका कार्य पूरा करके देवता वासुकि नागके साथ पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उनसे बोले—'भगवन् ! ये वासुकि माताके शापसे भयभीत हो बहुत संतप्त होते रहते हैं ॥ ३-५ ॥

अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥

'देव ! अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाले इन नागराजके हृदयमें माताका शाप काँटा बनकर चुभा हुआ है और कसक पैदा करता है । आप इनके उस काँटेको निकाल दीजिये ॥

हितो ह्ययं सदास्माकं प्रियकारी च नागराट् ।
प्रसादं कुरु देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥

'देवेश्वर ! नागराज वासुकि हमारे हितैषी हैं और सदा हमलोगोंके प्रिय कार्यमें लगे रहते हैं; अतः आप इनपर कृपा करें और इनके मनमें जो चिन्ताकी आग जल रही है, उसे बुझा दें' ॥

ब्रह्मोवाच

मयैव तद् वितीर्णं वै वचनं मनसामराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! एलापत्र नागने वासुकिके समक्ष पहले जो बात कही थी, वह मैंने ही मानसिक संकल्पद्वारा उसे दी थी (मेरी ही प्रेरणासे एलापत्रने वे बातें वासुकि आदि नागोंके सम्मुख कही थीं) ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः शापमोहितः ॥१२॥
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।
सर्पान् बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान् समादधत् ॥१३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्माजीकी बात सुनकर शापसे मोहित हुए नागराज वासुकिने सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया कि मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है फिर उन्होंने जरत्कारु मुनिकी खोजके लिये नित्य आज्ञामें रहनेवाले बहुत-से सर्पोंको नियुक्त कर दिया ॥१२-१३॥

जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद् वरयितुं प्रभुः ।
शीघ्रमेत्य तदाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥ १४ ॥

और यह कहा—'सामर्थ्यशाली जरत्कारु मुनि जब पत्नीका वरण करना चाहें, उस समय शीघ्र आकर यह बात मुझे सूचित करनी चाहिये । उसीसे हमलोगोंका कल्याण होगा' ॥ १४ ॥

तत् करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम् ।
विनशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ॥ ९ ॥

ये नागराज समय आनेपर स्वयं तदनुसार ही कार्य करें । जनमेजयके यज्ञमें पापी सर्प ही नष्ट होंगे, किंतु जो धर्मात्मा हैं वे नहीं ॥ ९ ॥

उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १० ॥

अब जरत्कारु ब्राह्मण उत्पन्न होकर उग्र तपस्यामें लगे हैं । अवसर देखकर ये वासुकि अपनी बहिन जरत्कारुको उन महर्षिकी सेवामें समर्पित कर दें ॥ १० ॥

एलापत्रेण यत् प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह ।
पन्नगानां हितं देवास्तत् तथा न तदन्यथा ॥ ११ ॥

देवताओ ! एलापत्र नागने जो बात कही है, वही सर्पोंके लिये हितकर है । वही बात होनेवाली है । उससे विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कार्वन्वेषणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु मुनिका अन्वेषणविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुकी तपस्या, राजा परीक्षित्‌का उपाख्यान तथा राजाद्वारा मुनिके कंधेपर मृतक साँप रखनेके कारण दुखी हुए कृशका शृङ्गीको उत्तेजित करना

शौनक उवाच

जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन ।
इच्छामि तदहं श्रोतुं ऋषेस्तस्य महात्मनः ॥ १ ॥
किं कारणं जरत्कारोर्नामैतत् प्रथितं भुवि ।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! आपने जिन जरत्कारु ऋषिका नाम लिया है, उन महात्मा मुनिके सम्बन्धमें मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पृथ्वीपर उनका जरत्कारु नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ ? जरत्कारु शब्दकी व्युत्पत्ति क्या है ? यह आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

सौतिरुवाच

जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं दारुसंज्ञितम् ।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत् स धीमाञ्छनैःशनैः ॥ ३ ॥
क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते ।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन् वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी ! जरा कहते हैं क्षयको और कारु शब्द दारुणका वाचक है । पहले उनका शरीर कारु अर्थात् खूब हट्टा-कट्टा था । उसे परम बुद्धिमान् महर्षिने धीरे-धीरे तीव्र तपस्याद्वारा क्षीण बना दिया । ब्रह्मन् ! इसलिये उनका नाम जरत्कारु पड़ा । वासुकिकी बहिनके भी जरत्कारु नाम पड़नेका यही कारण था ॥ ३-४ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत् तदा ।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा शौनक उस समय खिलखिलाकर हँस पड़े और फिर उग्रश्रवाजीको सम्बोधित करके बोले—'तुम्हारी बात उचित है' ॥ ५ ॥

शौनक उवाच

उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुतवानहम् ।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सौतिः प्रोवाच शास्त्रतः ॥ ६ ॥

शौनकजी बोले—सूतपुत्र ! आपने पहले जो जरत्कारु नामकी व्युत्पत्ति बतायी है, वह सब मैंने सुन ली । अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आस्तीक मुनिका जन्म किस प्रकार हुआ ? शौनकजीका यह बचन सुनकर उग्रश्रवाने पुराणशास्त्रके अनुसार आस्तीकके जन्मका वृत्तान्त बताया ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः सुसमाहितः।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ॥ ७ ॥

उग्रश्रवाजी बोले—नागराज! वासुकिने एकाग्रचित्त हो खूब सोच-समझकर सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया—'मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है'॥

अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः।
तपस्यभिरतो धीमान् स दारान् नाभ्यकाङ्क्षत ॥ ८ ॥

तदनन्तर दीर्घकाल बीत जानेपर भी कठोर व्रतका पालन करनेवाले परम बुद्धिमान् जरत्कारु मुनि केवल तपमें ही लगे रहे। उन्होंने स्त्रीसंग्रहकी इच्छा नहीं की ॥ ८ ॥

स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः
स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा
न चापि दारान् मनसाप्यकाङ्क्षत ॥ ९ ॥

वे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे। तपस्यामें संलग्न रहते थे। नित्य नियमपूर्वक वेदोंका स्वाध्याय करते थे। उन्हें कहींसे कोई भय नहीं था। वे मन और इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखते थे। महात्मा जरत्कारु सारी पृथ्वीपर घूम आये; किंतु उन्होंने मनसे कभी स्त्रीकी अभिलाषा नहीं की ॥ ९ ॥

ततोऽपरस्मिन् सम्प्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु।
परिक्षिन्नाम राजासीद् ब्रह्मन् कौरववंशजः ॥१०॥

ब्रह्मन्! तदनन्तर किसी दूसरे समयमें इस पृथ्वीपर कौरववंशी राजा परीक्षित् राज्य करने लगे ॥ १० ॥

यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि।
बभूव मृगयाशीलः पुरास्य प्रपितामहः ॥११॥

युद्धमें समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ उनके प्रपितामह महाबाहु पाण्डु जिस प्रकार पूर्वकालमें शिकार खेलनेके शौकीन हुए थे, उसी प्रकार राजा परीक्षित् भी थे ॥ ११ ॥

मृगान् विध्यन् वराहांश्च तरक्षून् महिषांस्तथा।
अन्यांश्च विविधान् वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥१२॥

महाराज परीक्षित् वराह, तरक्षु (व्याघ्रविशेष), महिष तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके वनके हिंसक पशुओंका शिकार खेलते हुए वनमें घूमते रहते थे ॥ १२ ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥१३॥

एक दिन उन्होंने गहन वनमें धनुष लेकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला और भागनेपर बहुत दूरतक पीछा किया ॥ १३ ॥

यथैव भगवान् रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि।
अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ॥१४॥

जैसे भगवान् रुद्र आकाशमें मृगशिरा नक्षत्रको बींधकर उसे खोजनेके लिये धनुष हाथमें लिये इधर-उधर घूमते फिरे, उसी प्रकार परीक्षित् भी घूम रहे थे ॥ १४ ॥

न हि तेन मृगो विद्धो जीवन् गच्छति वै वने।
पूर्वरूपं तु तत्तूर्णं सोऽगात् स्वर्गगतिं प्रति ॥१५॥
परिक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान् मृगः।
दूरं चापहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ॥१६॥

उनके द्वारा घायल किया हुआ मृग कभी वनमें जीवित बचकर नहीं जाता था; परंतु आज जो महाराज परीक्षित्का घायल किया हुआ मृग तत्काल अदृश्य हो गया था, वह वास्तवमें उनके स्वर्गवासका मूर्तिमान् कारण था। उस मृगके साथ राजा परीक्षित् बहुत दूरतक खिंचे चले गये ॥१५-१६॥

परिश्रान्तः पिपासार्त आससाद मुनिं वने।
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ॥१७॥
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः।
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ॥१८॥
अपृच्छद् धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः।
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ॥१९॥
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित् तं दृष्टवानसि।
स मुनिस्तं तु नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः ॥२०॥

उन्हें बड़ी थकावट आ गयी। वे प्याससे व्याकुल हो उठे और इसी दशामें वनमें शमीक मुनिके पास आये। वे मुनि गौओंके रहनेके स्थानमें आसनपर बैठे थे और गौओंका दूध पीते समय बछड़ोंके मुखसे जो बहुत-सा फेन निकलता, उसीको खा-पीकर तपस्या करते थे। राजा परीक्षित्ने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन महर्षिके पास बड़े वेगसे आकर पूछा। पूछते समय वे भूख और थकावटसे बहुत आतुर हो रहे थे और धनुषको उन्होंने ऊपर उठा रक्खा था। वे बोले—'ब्रह्मन्! मैं अभिमन्युका पुत्र राजा परीक्षित् हूँ। मेरे बाणोंसे विद्ध होकर एक मृग कहीं भाग निकला है। क्या आपने उसे देखा है?' मुनि मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, अतः उन्होंने राजाको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ १७-२० ॥

तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत्।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत ॥२१॥

तब राजाने कुपित हो धनुषकी नोकसे एक मरे हुए साँपको उठाकर उनके कंधेपर रख दिया, तो भी मुनिने उनकी उपेक्षा कर दी ॥ २१ ॥

न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाशुभम्।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम्।
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत् तथैव सः ॥२२॥

उन्होंने राजासे भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा। उन्हें

इस अवस्थामें देख राजा परीक्षित्ने क्रोध त्याग दिया और मन-ही-मन व्यथित हो पश्चात्ताप करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये। वे महर्षि ज्यों-के-त्यों बैठे रहे ॥ २२ ॥

न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ।
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ॥ २३ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल परीक्षित् अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते थे, अतः उस समय उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी क्षमाशील महामुनिने उन्हें अपमानित नहीं किया ॥ २३ ॥

न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ।
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ॥ २४ ॥

भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ परीक्षित् उन धर्मपरायण मुनिको यथार्थरूपमें नहीं जानते थे; इसीलिये उन्होंने महर्षिका अपमान किया ॥ २४ ॥

तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत् तिग्मतेजा महातपाः ।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः ॥ २५ ॥

मुनिके शृङ्गी नामक एक पुत्र था, जिसकी अभी तरुणावस्था थी। वह महान् तपस्वी, दुःसह तेजसे सम्पन्न और महान् व्रतधारी था। उसमें क्रोधकी मात्रा बहुत अधिक थी; अतः उसे प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन था ॥ २५ ॥

स देवं परमासीनं सर्वभूतहिते रतम् ।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ॥ २६ ॥

वह समय-समयपर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, उत्तम आसनपर विराजमान आचार्यदेवकी सेवामें उपस्थित हुआ करता था ॥

स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ।
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ॥ २७ ॥
संरम्भात् कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः ।
उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ।
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ॥ २८ ॥

शृङ्गी उस दिन आचार्यकी आज्ञा लेकर घरको लौट रहा था। रास्तेमें उसका मित्र ऋषिकुमार कृश, जो धर्मके लिये कष्ट उठानेके कारण सदा ही कृश (दुर्बल) रहा करता था, खेलता मिला। उसने हँसते-हँसते शृङ्गी ऋषिको उसके पिताके सम्बन्धमें ऐसी बात बतायी, जिसे सुनते ही वह रोषमें भर गया। द्विजश्रेष्ठ ! मुनिकुमार शृङ्गी क्रोधके आवेशमें आनेपर अत्यन्त तीक्ष्ण (कठोर) एवं विषके समान विनाशकारी हो जाता था ॥ २७-२८ ॥

कृश उवाच

तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृङ्गिन् गर्वितो भव ॥ २९ ॥

कृशने कहा—शृङ्गिन् ! तुम बड़े तपस्वी और तेजस्वी बनते हो, किंतु तुम्हारे पिता अपने कंधेपर मुर्दा सर्प ढो रहे हैं। अब कभी उनकी तपस्यापर गर्व न करना ॥२९॥

व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद् वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ॥ ३० ॥

हम-जैसे सिद्ध, ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी ऋषि-पुत्र जब कभी बातें करते हों, उस समय तुम वहाँ कुछ न बोलना ॥३०॥

क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं द्रष्टा यस्त्वं शवधरं तथा ॥ ३१ ॥

कहाँ है तुम्हारा पौरुषका अभिमान, कहाँ गयीं तुम्हारी वे दर्पभरी बातें ? जब तुम अपने पिताको मुर्दा ढोते चुपचाप देख रहे हो ! ॥ ३१ ॥

पित्रा च तव तत् कर्म नानुरूपमिवात्मनः ।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाहं भृशदुःखितः ॥ ३२ ॥

मुनिजनशिरोमणे ! तुम्हारे पिताके द्वारा कोई अनुचित कर्म नहीं बना था; इसलिये जैसे मेरे ही पिताका अपमान हुआ हो उस प्रकार तुम्हारे पिताके तिरस्कारसे मैं अत्यन्त दुखी हो रहा हूँ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिदुपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शृङ्गी ऋषिका राजा परीक्षित्को शाप देना और शमीकका अपने पुत्रको शान्त करते हुए शापको अनुचित बताना

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः ।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! कृशके ऐसा कहनेपर तेजस्वी शृङ्गी ऋषिको बड़ा क्रोध हुआ। अपने पिताके कंधेपर मृतक (सर्प) रक्खे जानेकी बात सुनकर वह रोष और शोकसे संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन्।
अपृच्छत् तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

उसने कृशकी ओर देखकर मधुर वाणीमें पूछा—'भैया! बताओ तो, आज मेरे पिता अपने कंधेपर मृतक कैसे धारण कर रहे हैं ?॥ २ ॥

कृश उवाच

राज्ञा परिक्षिता तात मृगयां परिधावता।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः ॥ ३ ॥

कृशने कहा—तात! आज राजा परीक्षित् अपने शिकारके पीछे दौड़ते हुए आये थे। उन्होंने तुम्हारे पिताके कंधेपर मृतक साँप रख दिया है ॥ ३ ॥

शृङ्ग्युवाच

किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः।
ब्रूहि तत् कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥

शृङ्गी बोला—कृश! ठीक-ठीक बताओ, मेरे पिताने उस दुरात्मा राजाका क्या अपराध किया था? फिर मेरी तपस्याका बल देखना ॥ ४ ॥

कृश उवाच

स राजा मृगयां यातः परिक्षिदभिमन्युजः।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ॥ ५ ॥
न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन् महावने।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ॥ ६ ॥

कृशने कहा—अभिमन्युपुत्र राजा परीक्षित् अकेले शिकार खेलने आये थे। उन्होंने एक शीघ्रगामी हिंसक मृग (पशु) को बाणसे बींध डाला; किंतु उस विशाल वनमें विचरते हुए राजाको वह मृग कहीं दिखायी न दिया। फिर उन्होंने तुम्हारे मौनी पिताको देखकर उसके विषयमें पूछा ॥५-६॥

तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासजत् ॥ ८ ॥

राजा भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल थे। इधर तुम्हारे पिता काठकी भाँति अविचल भावसे बैठे थे। राजाने बार-बार तुम्हारे पितासे उस भागे हुए मृगके विषयमें प्रश्न किया, परंतु मौन-व्रतावलम्बी होनेके कारण उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब राजाने धनुषकी नोकसे एक मरा हुआ साँप उठाकर उनके कंधेपर डाल दिया ॥ ७-८ ॥

शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवास्ते यतव्रतः।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रस्थितो गजसाह्वयम् ॥ ९ ॥

शृङ्गिन्! संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तुम्हारे पिता अभी उसी अवस्थामें बैठे हैं और वे राजा परीक्षित् अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चले गये हैं ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं स्कन्धे प्रतिष्ठितम्।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥१०॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार अपने पिताके कंधेपर मृतक सर्पके रक्खे जानेका समाचार सुनकर ऋषिकुमार शृङ्गी क्रोधसे जल उठा। कोपसे उसकी आँखें लाल हो गयीं ॥ १० ॥

आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ॥११॥

वह तेजस्वी बालक रोषके आवेशमें आकर प्रचण्ड क्रोधके वेगसे युक्त हो गया था। उसने जलसे आचमन करके हाथमें जल लेकर उस समय राजा परीक्षित्‌को इस प्रकार शाप दिया॥

शृङ्ग्युवाच

योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षीत् पन्नगं राजकिल्बिषी ॥१२॥
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥१३॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥१४॥

शृङ्गी बोला—जिस पापात्मा नरेशने वैसे धर्म-संकटमें पड़े हुए मेरे बूढ़े पिताके कंधेपर मरा साँप रख दिया है, ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले उस कुरुकुलकलङ्क पापी परीक्षित्‌को आजसे सात रातके बाद प्रचण्ड तेजस्वी पन्नगोत्तम तक्षक नामक विषैला नाग अत्यन्त कोपमें भरकर मेरे वाक्य-बलसे प्रेरित हो यमलोक पहुँचा देगा ॥ १२-१४ ॥

सौतिरुवाच

इति शप्त्वातिसंक्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्यगात्।
आसीनं गोव्रजे तस्मिन् वहन्तं शवपन्नगम् ॥१५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार अत्यन्त क्रोधपूर्वक शाप देकर शृङ्गी अपने पिताके पास आया, जो उस गोष्ठमें कंधेपर मृतक सर्प धारण किये बैठे थे ॥ १५ ॥

स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै।
शवेन भुजगेनासीद् भूयः क्रोधसमाकुलः ॥१६॥

कंधेपर रक्खे हुए मुर्दे साँपसे संयुक्त पिताको देखकर शृङ्गी पुनः क्रोधसे व्याकुल हो उठा॥ १६ ॥

दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत्।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥१७॥

राज्ञा परिक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।
यथार्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ।
सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ॥१८॥
वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम् ।
तमब्रवीत् पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम् ॥१९॥

वह दुःखसे आँसू बहाने लगा । उसने पितासे कहा—'तात ! उस दुरात्मा राजा परीक्षित्के द्वारा आपके इस अपमानकी बात सुनकर मैंने उसे क्रोधपूर्वक जैसा शाप दिया है, वह कुरुकुलाधम वैसे ही भयंकर शापके योग्य है। आजके सातवें दिन नागराज तक्षक उस पापीको अत्यन्त भयंकर यमलोकमें पहुँचा देगा ।' ब्रह्मन् ! इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए पुत्रसे उसके पिता शमीकने कहा ॥ १७–१९ ॥

शमीक उवाच

न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ।
वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ॥२०॥
न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य शापं न रोचये ।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा ॥२१॥
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः ।
यदि राजा न संरक्षेत् पीडा नः परमा भवेत् ॥२२॥

शमीक बोले—वत्स ! तुमने शाप देकर मेरा प्रिय कार्य नहीं किया है । यह तपस्वियोंका धर्म नहीं है । हमलोग उन महाराज परीक्षित्के राज्यमें निवास करते हैं और उनके द्वारा न्यायपूर्वक हमारी रक्षा होती है । अतः उनको शाप देना मुझे पसंद नहीं है । हमारे-जैसे साधु पुरुषोंको तो वर्तमान राजा परीक्षित्के अपराधको सब प्रकारसे क्षमा ही करना चाहिये । बेटा ! यदि धर्मको नष्ट किया जाय तो वह मनुष्यका नाश कर देता है, इसमें संशय नहीं है । यदि राजा रक्षा न करे तो हमें भारी कष्ट पहुँच सकता है ॥२०–२२॥

न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ।
रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः ॥२३॥
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः ।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि ॥२४॥

पुत्र ! हम राजाके बिना सुखपूर्वक धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकते । तात ! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाओंके द्वारा सुरक्षित होकर हम अधिक-से-अधिक धर्मका आचरण कर पाते हैं । अतः हमारे पुण्यकर्मोंमें धर्मतः उनका भी भाग है । इसलिये वर्तमान राजा परीक्षित्के अपराधको तो क्षमा ही कर देना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

परिक्षित्तु विशेषेण यथास्य प्रपितामहः ।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याः प्रजा विभो ॥२५॥

परीक्षित् तो विशेषरूपसे अपने प्रपितामह पाण्डुकी भाँति हमारी रक्षा करते हैं । शक्तिशाली पुत्र ! प्रत्येक राजाको इसी प्रकार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २५ ॥

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥२६॥

वे आज भूखे और थके-माँदे यहाँ आये थे । वे तपस्वी नरेश मेरे इस मौन-व्रतको नहीं जानते थे; मैं समझता हूँ इसीलिये उन्होंने मेरे साथ ऐसा बर्ताव कर दिया ॥ २६ ॥

अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा ।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै ॥२७॥

जिस देशमें राजा न हो वहाँ अनेक प्रकारके दोष (चोर आदिके भय) पैदा होते हैं। धर्मकी मर्यादा त्यागकर उच्छृङ्खल बने हुए लोगोंको राजा अपने दण्डके द्वारा शिक्षा देता है ॥

दण्डात् प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा ।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ॥२८॥

दण्डसे भय होता है, फिर भयसे तत्काल शान्ति स्थापित होती है । जो चोर आदिके भयसे उद्विग्न है, वह धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता । वह उद्विग्न पुरुष यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय कर्मोंका आचरण भी नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात् स्वर्गः प्रतिष्ठितः ।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद् देवाः प्रतिष्ठिताः ॥२९॥

राजासे धर्मकी स्थापना होती है और धर्मसे स्वर्गलोककी प्रतिष्ठा (प्राप्ति) होती है । राजासे सम्पूर्ण यज्ञकर्म प्रतिष्ठित होते हैं और यज्ञसे देवताओंकी प्रतिष्ठा होती है ॥ २९ ॥

देवाद् वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः ।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन् सततं हितम् ॥३०॥
मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः ।
दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥३१॥

देवताके प्रसन्न होनेसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न पैदा होता है और अन्नसे निरन्तर मनुष्योंके हितका पोषण करते हुए राज्यका पालन करनेवाला राजा मनुष्योंके लिये विधाता (धारण-पोषण करनेवाला) है । राजा दस श्रोत्रियके समान है, ऐसा मनुजीने कहा है ॥ ३०-३१ ॥

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥३२॥

वे तपस्वी राजा यहाँ भूखे-प्यासे और थके-माँदे आये थे । उन्हें मेरे इस मौन-व्रतका पता नहीं था, इसलिये मेरे न बोलनेसे रुष्ट होकर उन्होंने ऐसा किया है ॥ ३२ ॥

कस्मादिदं त्वया बाल्यात् सहसा दुष्कृतं कृतम् ।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥३३॥

तुमने मूर्खतावश बिना विचारे क्यों यह दुष्कर्म कर डाला? बेटा! राजा हमलोगोंसे शाप पाने योग्य नहीं हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिच्छापे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-शापविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शमीकका अपने पुत्रको समझाना और गौरमुखको राजा परीक्षित्के पास भेजना, राजाद्वारा आत्मरक्षाकी व्यवस्था तथा तक्षक नाग और काश्यपकी बातचीत

शृङ्ग्युवाच

यद्येतत् साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥ १ ॥

शृङ्गी बोला—तात! यदि यह साहस है अथवा यदि मेरे द्वारा दुष्कर्म हो गया है तो हो जाय। आपको यह प्रिय लगे या अप्रिय, किंतु मैंने जो बात कह दी है, वह झूठी नहीं हो सकती ॥ १ ॥

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

पिताजी! मैं आपसे सच कहता हूँ, अब यह शाप टल नहीं सकता। मैं हँसी-मजाकमें भी झूठ नहीं बोलता, फिर शाप देते समय कैसे झूठी बात कह सकता हूँ ॥ २ ॥

शमीक उवाच

जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥

शमीकने कहा—बेटा! मैं जानता हूँ तुम्हारा प्रभाव उग्र है, तुम बड़े सत्यवादी हो, तुमने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है; अतः यह शाप मिथ्या नहीं होगा ॥ ३ ॥

पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद् यशः ॥ ४ ॥

तथापि पिताको उचित है कि वह अपने पुत्रको बड़ी अवस्थाका हो जानेपर भी सदा सत्कर्मोंका उपदेश देता रहे; जिससे वह गुणवान् हो और महान् यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥

फिर तुम्हें उपदेश देनेकी तो बात ही क्या है, तुम अभी बालक ही हो। तुमने सदा तपस्याके द्वारा अपनेको दिव्य शक्तिसे सम्पन्न किया है। जो योगजनित ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, ऐसे प्रभावशाली तेजस्वी पुरुषोंका भी क्रोध अधिक बढ़ जाता है; फिर तुम-जैसे बालकको क्रोध हो, इसमें कहना ही क्या है॥५॥

सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥

(किंतु यह क्रोध धर्मका नाशक होता है) इसलिये धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुत्र! तुम्हारे बचपन और दुःसाहसपूर्ण कार्यको देखकर मैं तुम्हें कुछ कालतक उपदेश देनेकी आवश्यकता समझता हूँ ॥ ६ ॥

स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥

तुम मन और इन्द्रियोंके निग्रहमें तत्पर होकर जंगली कन्द, मूल, फलका आहार करते हुए इस क्रोधको मिटाकर उत्तम आचरण करो; ऐसा करनेसे तुम्हारे धर्मकी हानि नहीं होगी ॥

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥

क्रोध प्रयत्नशील साधकोंके अत्यन्त दुःखसे उपार्जित धर्मका नाश कर देता है। फिर धर्महीन मनुष्योंको अभीष्ट गति नहीं मिलती है ॥ ८ ॥

शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥

शम (मनोनिग्रह) ही क्षमाशील साधकोंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाला है। जिनमें क्षमा है, उन्हींके लिये यह लोक और परलोक दोनों कल्याणकारक हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥१०॥

इसलिये तुम सदा इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए क्षमाशील बनो। क्षमासे ही ब्रह्माजीके निकटवर्ती लोकोंमें जा सकोगे ॥१०॥

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै ।
तत् करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥११॥
मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेन कृशबुद्धिना ।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥१२॥

तात! मैं तो शान्ति धारण करके अब जो कुछ किया

जा सकता है, वह करूँगा। राजाके पास यह संदेश भेज दूँगा कि 'राजन्! तुम्हारे द्वारा मुझे जो तिरस्कार प्राप्त हुआ है उसे देखकर अमर्षमें भरे हुए मेरे अल्पबुद्धि एवं मूढ़ पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है' ॥ ११-१२ ॥

सौतिरुवाच

एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः।
परिक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥ १३॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥१४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दयालु एवं महातपस्वी शमीक मुनिने अपने गौरमुख नामवाले एकाग्रचित्त एवं शीलवान् शिष्यको इस प्रकार आदेश दे कुशल-प्रश्न, कार्य एवं वृत्तान्तका संदेश देकर राजा परीक्षित्के पास भेजा ॥ १३-१४ ॥

सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्द्धनम्।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥१५॥

गौरमुख वहाँसे शीघ्र कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज परीक्षित्के पास चला गया। राजधानीमें पहुँचनेपर द्वारपालने पहले महाराजको उसके आनेकी सूचना दी और उनकी आज्ञा मिलनेपर गौरमुखने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ॥१६॥
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ।

महाराज परीक्षित्ने उस समय गौरमुख ब्राह्मणका बड़ा सत्कार किया। जब उसने विश्राम कर लिया, तब शमीकके कहे हुए घोर वचनको मन्त्रियोंके समीप राजाके सामने पूर्णरूपसे कह सुनाया ॥ १६½ ॥

गौरमुख उवाच

शमीको नाम राजेन्द्र वर्तते विषये तव ॥१७॥
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ॥१८॥
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च।
क्षान्तवांस्तव तत् कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ॥१९॥

गौरमुख बोला—महाराज! आपके राज्यमें शमीक नामवाले एक परम धर्मात्मा महर्षि रहते हैं। वे जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले और महान् तपस्वी हैं। नरव्याघ्र! आपने मौन-व्रत धारण करनेवाले उन महात्माके कंधेपर धनुषकी नोकसे उठाकर एक मरा हुआ साँप रख दिया था। महर्षिने तो उसके लिये आपको क्षमा कर दिया था, किंतु उनके पुत्रको वह सहन नहीं हुआ ॥ १७—१९ ॥

तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तव भविष्यति ॥२०॥

राजेन्द्र! उस ऋषिकुमारने आज अपने पिताके अनजानमें ही आपके लिये यह शाप दिया है कि 'आजसे सात रातके बाद ही तक्षक नाग आपकी मृत्युका कारण हो जायगा' ॥ २० ॥

तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाब्रवीत्।
तदन्यथा न शक्यं च कर्तुं केनचिदप्युत ॥२१॥

इस दशामें आप अपनी रक्षाकी व्यवस्था करें। यह मुनिने बार-बार कहा है। उस शापको कोई भी टाल नहीं सकता ॥

न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम्।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन् हितार्थिना ॥२२॥

स्वयं महर्षि भी क्रोधमें भरे हुए अपने पुत्रको शान्त नहीं कर पा रहे हैं। अतः राजन्! आपके हितकी इच्छासे उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २२ ॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः।
पर्यतप्यत तत् पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥२३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह घोर वचन सुनकर कुरुनन्दन राजा परीक्षित् मुनिका अपराध करनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ २३ ॥

तं च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा।
भूय एवाभवद् राजा शोकसंतप्तमानसः ॥२४॥

वे श्रेष्ठ महर्षि उस समय वनमें मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, यह सुनकर राजा परीक्षित्का मन और भी शोक एवं संतापमें डूब गया ॥ २४ ॥

अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य च।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत् किल्बिषं मुनेः ॥२५॥

शमीक मुनिकी दयालुता और अपने द्वारा उनके प्रति किये हुए उस अपराधका विचार करके वे अधिकाधिक संतप्त होने लगे ॥ २५ ॥

न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ॥२६॥

देवतुल्य राजा परीक्षित्को अपनी मृत्युका शाप सुनकर वैसा संताप नहीं हुआ जैसा कि मुनिके प्रति किये हुए अपने उस बर्तावको याद करके वे शोकमग्न हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा।
भूयः प्रसादं भगवान् करोत्विह ममेति वै ॥२७॥

तदनन्तर राजाने यह संदेश देकर उस समय गौरमुखको विदा किया कि 'भगवान् शमीक मुनि यहाँ पधारकर पुनः मुझपर कृपा करें' ॥ २७ ॥

तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥२८॥

गौरमुखके चले जानेपर राजाने उद्विग्नचित्त हो मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ २८ ॥

सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२९॥

मन्त्र-तत्त्वके ज्ञाता महाराजने मन्त्रियोंसे सलाह करके एक ऊँचा महल बनवाया; जिसमें एक ही खंभा लगा था। वह भवन सब ओरसे सुरक्षित था ॥ २९ ॥

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥३०॥

राजाने वहाँ रक्षाके लिये आवश्यक प्रबन्ध किया, उन्होंने सब प्रकारकी ओषधियाँ जुटा लीं और वैद्यों तथा मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणोंको सब ओर नियुक्त कर दिया ॥ ३० ॥

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात् परिरक्षितः ॥३१॥

वहीं रहकर वे धर्मज्ञ नरेश सब ओरसे सुरक्षित हो मन्त्रियोंके साथ सम्पूर्ण राज-कार्यकी व्यवस्था करने लगे ॥ ३१ ॥

न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥३२॥

उस समय महलमें बैठे हुए महाराजसे कोई भी मिलने नहीं पाता था। वायुको भी वहाँसे निकल जानेपर पुनः प्रवेशके समय रोका जाता था ॥ ३२ ॥

प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमद् विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ॥३३॥

सातवाँ दिन आनेपर मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता द्विजश्रेष्ठ काश्यप राजाकी चिकित्सा करनेके लिये आ रहे थे ॥ ३३ ॥

श्रुतं हि तेन तदभूद् यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥३४॥

उन्होंने सुन रक्खा था कि 'भूपशिरोमणि परीक्षित्को आज नागोंमें श्रेष्ठ तक्षक यमलोक पहुँचा देगा' ॥ ३४ ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥३५॥

अतः उन्होंने सोचा कि नागराजके डँसे हुए महाराजका विष उतारकर मैं उन्हें जीवित कर दूँगा। ऐसा करनेसे वहाँ मुझे धन तो मिलेगा ही, लोकोपकारी राजाको जिलानेसे धर्म भी होगा ॥ ३५ ॥

तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ॥३६॥
तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥३७॥

मार्गमें नागराज तक्षकने काश्यपको देखा। वे एकचित्त होकर हस्तिनापुरकी ओर बढ़े जा रहे थे। तब नागराजने बूढ़े ब्राह्मणका वेश बनाकर मुनिवर काश्यपसे पूछा—'आप कहाँ बड़ी उतावलीके साथ जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं?' ॥ ३६-३७ ॥

काश्यप उवाच

नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परिक्षितमरिंदमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाद्य प्रधक्ष्यति ॥३८॥

काश्यपने कहा—कुरुकुलमें उत्पन्न शत्रुदमन महाराज परीक्षित्को आज नागराज तक्षक अपनी विषाग्निसे दग्ध कर देगा

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसा ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम् ।
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्तुमपज्वरम् ॥३९॥

वे राजा पाण्डवोंकी वंशपरम्पराको सुरक्षित रखनेवाले तथा अत्यन्त पराक्रमी हैं। अतः सौम्य! अग्निके समान तेजस्वी नागराजके डँस लेनेपर उन्हें तत्काल विषरहित करके जीवित कर देनेके लिये मैं जल्दी-जल्दी जा रहा हूँ ॥ ३९ ॥

तक्षक उवाच

अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ॥४०॥

तक्षक बोला—ब्रह्मन्! मैं ही वह तक्षक हूँ। आज राजाको भस्म कर डालूँगा। आप लौट जाइये। मैं जिसे डँस लूँ, उसकी चिकित्सा आप नहीं कर सकते ॥ ४० ॥

काश्यप उवाच

अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ॥४१॥

काश्यपने कहा—मैं तुम्हारे डँसे हुए राजाको वहाँ जाकर विषसे रहित कर दूँगा। यह विद्याबलसे सम्पन्न मेरी बुद्धिका निश्चय है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि काश्यपागमने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें काश्यपागमन-विषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

तक्षकका धन देकर काश्यपको लौटा देना और छलसे राजा परीक्षित्के समीप पहुँचकर उन्हें डँसना

तक्षक उवाच

यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किंचिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥

तक्षक बोला—काश्यप! यदि इस जगत्में मेरे डँसे हुए रोगीकी कुछ भी चिकित्सा करनेमें तुम समर्थ हो तो मेरे डँसे हुए इस वृक्षको जीवित कर दो ॥ १ ॥

परं मन्त्रबलं यत् ते तद् दर्शय यतस्व च।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे पास जो उत्तम मन्त्रका बल है, उसे दिखाओ और यत्न करो। लो, तुम्हारे देखते-देखते इस वटवृक्षको मैं भस्म कर देता हूँ ॥ २ ॥

काश्यप उवाच

दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३ ॥

काश्यपने कहा—नागराज! यदि तुम्हें इतना अभिमान है तो इस वृक्षको डँसो। भुजङ्गम! तुम्हारे डँसे हुए इस वृक्षको मैं अभी जीवित कर दूँगा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना।
अदशद् वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्मा काश्यपके ऐसा कहनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ नागराज तक्षकने निकट जाकर बरगदके वृक्षको डँस लिया ॥ ४ ॥

स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५ ॥

उस महाकाय विषधर सर्पके डँसते ही उसके विषसे व्याप्त हो वह वृक्ष सब ओरसे जल उठा ॥ ५ ॥

तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत्।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उस वृक्षको जलाकर नागराज पुनः काश्यपसे बोला—'द्विजश्रेष्ठ! अब तुम यत्न करो और इस वृक्षको जिला दो' ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! नागराजके तेजसे भस्म हुए उस वृक्षकी सारी भस्मराशिको एकत्र करके काश्यपने कहा— ॥

विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८ ॥

'नागराज! इस वनस्पतिपर आज मेरी विद्याका बल देखो। भुजङ्गम! मैं तुम्हारे देखते-देखते इस वृक्षको जीवित कर देता हूँ' ॥ ८ ॥

ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर सौभाग्यशाली विद्वान् द्विजश्रेष्ठ काश्यपने भस्मराशिके रूपमें विद्यमान उस वृक्षको विद्याके बलसे जीवित कर दिया ॥ ९ ॥

अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम्।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ॥ १० ॥

पहले उन्होंने उनमेंसे अंकुर निकाला, फिर उसे दो पत्तेका कर दिया। इसी प्रकार क्रमशः पल्लव, शाखा और प्रशाखाओंसे युक्त उस महान् वृक्षको पुनः पूर्ववत् खड़ा कर दिया ॥ १० ॥

तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना।
उवाच तक्षको ब्रह्मन् नैतदत्यद्भुतं त्वयि ॥ ११ ॥

महात्मा काश्यपद्वारा जिलाये हुए उस वृक्षको देखकर तक्षकने कहा—'ब्रह्मन्! तुम-जैसे मन्त्रवेत्तामें ऐसे चमत्कारका होना कोई अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

द्विजेन्द्र यद् विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥ १२ ॥

'तपस्याके धनी द्विजेन्द्र! जब तुम मेरे या मेरे-जैसे दूसरे सर्पके विषको अपनी विद्याके बलसे नष्ट कर सकते हो तो बताओ, तुम कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छासे वहाँ जा रहे हो। १२।

यत् तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात्।
अहमेव प्रदास्यामि तत् ते यद्यपि दुर्लभम् ॥ १३ ॥

'उस श्रेष्ठ राजासे जो फल प्राप्त करना तुम्हें अभीष्ट है, वह अत्यन्त दुर्लभ हो तो भी मैं ही तुम्हें दे दूँगा ॥ १३ ॥

विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥ १४ ॥

'विप्रवर! महाराज परीक्षित् ब्राह्मणके शापसे तिरस्कृत हैं और उनकी आयु भी समाप्त हो चली है। ऐसी दशामें उन्हें जिलानेके लिये चेष्टा करनेपर तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें संदेह है ॥ १४ ॥

ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ॥ १५ ॥

'यदि तुम सफल न हुए तो तीनों लोकोंमें विख्यात एवं प्रकाशित तुम्हारा यश किरणरहित सूर्यके समान इस लोकसे अदृश्य हो जायगा' ॥ १५ ॥

काश्यप उवाच

धनार्थी यास्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ॥ १६ ॥

काश्यपने कहा—नागराज तक्षक! मैं तो वहाँ धनके लिये ही जाता हूँ, वह तुम्हीं मुझे दे दो तो उस धनको लेकर मैं घर लौट जाऊँगा ॥ १६ ॥

तक्षक उवाच

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद् राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ॥१७॥

तक्षक बोला—द्विजश्रेष्ठ! तुम राजा परीक्षित्से जितना धन पाना चाहते हो, उससे अधिक मैं ही दे दूँगा, अतः लौट जाओ॥

सौतिरुवाच

तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः ।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षककी बात सुनकर परम बुद्धिमान् महा तेजस्वी विप्रवर काश्यपने राजा परीक्षित्के विषयमें कुछ देर ध्यान लगाकर सोचा ॥ १८ ॥

दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्तत काश्यपः ॥१९॥
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद् यावदीप्सितम् ।
निवृत्ते काश्यपे तस्मिन् समयेन महात्मनि ॥२०॥
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ।
अथ शुश्राव गच्छन् स तक्षको जगतीपतिम् ॥२१॥
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ।

तेजस्वी काश्यप दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न थे। उस समय उन्होंने जान लिया कि पाण्डववंशी राजा परीक्षित्की आयु अब समाप्त हो गयी है, अतः वे मुनिश्रेष्ठ तक्षकसे अपनी रुचिके अनुसार धन लेकर वहाँसे लौट गये। महात्मा काश्यपके समय रहते लौट जानेपर तक्षक तुरंत हस्तिनापुर नगरमें जा पहुँचा। वहाँ जानेपर उसने सुना, राजा परीक्षित्की मन्त्रों तथा विष उतारनेवाली ओषधियोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जा रही है।

सौतिरुवाच

स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ॥२२॥
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ।
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत् स भुजङ्गमान् ॥२३॥
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! तब तक्षकने विचार किया, मुझे मायाका आश्रय लेकर राजाको ठग लेना चाहिये; किंतु इसके लिये क्या उपाय हो? तदनन्तर तक्षक नागने फल, दर्भ (कुशा) और जल लेकर कुछ नागोंको तपस्वीरूपमें राजाके पास जानेकी आज्ञा दी ॥ २२-२३½ ॥

तक्षक उवाच

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ॥२४॥
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ।

तक्षकने कहा—तुमलोग कार्यकी सफलताके लिये राजाके पास जाओ, किंतु तनिक भी व्यग्र न होना। तुम्हारे जानेका उद्देश्य है—महाराजको फल, फूल और जल भेंट करना॥२४॥

सौतिरुवाच

ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ॥२५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षकके आदेश देनेपर उन नागोंने वैसा ही किया ॥ २५ ॥

उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ।
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ॥२६॥

वे राजाके पास कुश, जल और फल लेकर गये। परम पराक्रमी महाराज परीक्षित्ने उनकी दी हुई वे सब वस्तुएँ ग्रहण कर लीं ॥ २६ ॥

कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ।
गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ॥२७॥
अमात्यान् सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ।
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ॥२८॥
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ।
ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ॥२९॥

तदनन्तर उन्हें पारितोषिक देने आदिका कार्य करके कहा—'अब आपलोग जायँ।' तपस्वियोंके वेषमें छिपे हुए उन नागोंके चले जानेपर राजाने अपने मन्त्रियों और सुहृदोंसे कहा—'ये सब तपस्वियोंद्वारा लाये हुए बड़े स्वादिष्ठ फल हैं। इन्हें मेरे साथ आपलोग भी खायँ।' ऐसा कहकर मन्त्रियों-सहित राजाने उन फलोंको लेनेकी इच्छा की ॥ २७-२९ ॥

विधिना सम्प्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु ।
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत् स्वयम् ॥३०॥

विधाताके विधान एवं महर्षिके वचनसे प्रेरित होकर राजाने वही फल स्वयं खाया, जिसपर तक्षक नाग बैठा था ॥

ततो भक्षयतस्तस्य फलात् कृमिरभूदणुः ।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ॥३१॥

शौनकजी! खाते समय राजाके हाथमें जो फल था, उससे एक छोटा-सा कीट प्रकट हुआ। देखनेमें वह अत्यन्त लघु था, उसकी आँखें काली और शरीरका रंग ताँबेके समान था॥

स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत् ।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ॥३२॥

नृपश्रेष्ठ परीक्षित्ने उस कीड़ेको हाथमें लेकर मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—'अब सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं इसलिये इस समय मुझे सर्पके विषसे कोई भय नहीं है ॥ ३२ ॥

सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिर्मां दशतामयम् ।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ॥३३॥

'वे मुनि सत्यवादी हों, इसके लिये यह कीट ही तक्षक नाम धारण करके मुझे डँस ले। ऐसा करनेसे मेरे दोषका परिहार हो जायगा ॥ ३३ ॥

ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संनिवेश्य ह ॥३४॥
कृमिकं प्राहसत् तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ।
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण त्ववेष्ट्यत ॥३५॥
तस्मात् फलाद् विनिष्क्रम्य यत् तद् राज्ञे निवेदितम् ।
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम् ।
अदशत् पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ॥३६॥

कालसे प्रेरित होकर मन्त्रियोंने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिला दी। मन्त्रियोंसे पूर्वोक्त बात कहकर राजाधिराज परीक्षित् उस लघु कीटको कंधेपर रखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। वे तत्काल ही मरनेवाले थे; अतः उनकी बुद्धि मारी गयी थी। राजा अभी हँस ही रहे थे कि उन्हें जो निवेदित किया गया था उस फलसे निकलकर तक्षक नागने अपने शरीरसे उनको जकड़ लिया। इस प्रकार वेगपूर्वक उनके शरीरमें लिपटकर नागराज तक्षकने बड़े जोरसे गर्जना की और भूपाल परीक्षित्‌को डँस लिया॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि तक्षकदंशे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें तक्षक-दंशन-विषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

जनमेजयका राज्याभिषेक और विवाह

सौतिरुवाच

ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! मन्त्रीगण राजा परीक्षित्‌को तक्षक नागसे जकड़ा हुआ देख अत्यन्त दुखी हो गये। उनके मुखपर विषाद छा गया और वे सब-के-सब रोने लगे ॥ १ ॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥

तक्षककी फुंकारभरी गर्जना सुनकर मन्त्रीलोग भाग चले। उन्होंने देखा लाल कमलकी-सी कान्तिवाला वह अद्भुत नाग आकाशमें सिन्दूरकी रेखा-सी खींचता हुआ चला जा रहा है। नागोंमें श्रेष्ठ तक्षकको इस प्रकार जाते देख वे राजमन्त्री अत्यन्त शोकमें डूब गये ॥ २-३ ॥

ततस्तु ते तद् गृहमग्निनाऽऽवृतं
प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात् परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे
पपात तद्राजाशनिताडितो यथा ॥ ४ ॥

वह राजमहल सर्पके विषजनित अग्निसे आवृत हो धू-धू करके जलने लगा। यह देख उन सब मन्त्रियोंने भयसे उस स्थानको छोड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली तथा राजा परीक्षित् वज्रके मारे हुएकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ॥ ४ ॥

ततो नृपे तक्षकतेजसा हते
प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा
तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥

नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे
समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं
कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥

तक्षककी विषाग्निद्वारा राजा परीक्षित्‌के दग्ध हो जानेपर उनकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ करके पवित्र ब्राह्मण राजपुरोहित, उन महाराजके मन्त्री तथा समस्त पुरवासी मनुष्योंने मिलकर उन्हींके पुत्रको, जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी, राजा बना दिया। कुरुकुलका वह श्रेष्ठ वीर अपने शत्रुओंका विनाश करनेवाला था। लोग उसे राजा जनमेजय कहते थे ॥ ५-६ ॥

स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः
सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो
यथास्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥

बचपनमें ही नृपश्रेष्ठ जनमेजयकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषोंके समान थी। अपने वीर प्रपितामह महाराज युधिष्ठिरकी भाँति कुरुश्रेष्ठ वीरोंके अग्रगण्य जनमेजय भी उस समय मन्त्री और पुरोहितोंके साथ धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगे ॥ ७ ॥

ततस्तु राजानममित्रतापनं
समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं
वपुष्टमार्थे वरयाम्प्रचक्रमुः ॥ ८ ॥

राजमन्त्रियोंने देखा, राजा जनमेजय शत्रुओंको दबानेमें समर्थ हो गये हैं, तब उन्होंने काशिराज सुवर्णवर्माके पास जाकर उनकी पुत्री वपुष्टमाके लिये याचना की ॥ ८ ॥

ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां
कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः।
स चापि तां प्राप्य मुदायुतोऽभव-
न्न चान्यनारीषु मनोदधे क्वचित्॥ ९॥

काशिराजने धर्मकी दृष्टिसे भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपनी कन्या वपुष्टमाका विवाह कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर जनमेजयके साथ कर दिया। जनमेजयने भी वपुष्टमाको पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया और दूसरी स्त्रियोंकी ओर कभी अपने मनको नहीं जाने दिया॥ ९॥

सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव हि
प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान्।
तथा स राजन्यवरो विजह्निवान्
यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः॥ १०॥

राजाओंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी जनमेजयने प्रसन्नचित्त होकर सरोवरों तथा पुष्पशोभित उपवनोंमें रानी वपुष्टमाके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे पूर्वकालमें उर्वशीको पाकर महाराज पुरूरवाने किया था॥ १०॥

वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता
प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम्।
भावेन रामा रमयाम्बभूव सा
विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी॥ ११॥

वपुष्टमा पतिव्रता थी। उसका रूपसौन्दर्य सर्वत्र विख्यात था। वह राजाके अन्तःपुरमें सबसे सुन्दरी रमणी थी। राजा जनमेजयको पतिरूपमें प्राप्त करके वह विहारकालमें बड़े अनुरागके साथ उन्हें आनन्द प्रदान करती थी॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जनमेजयराज्याभिषेके चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजयराज्याभिषेकसम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुको अपने पितरोंका दर्शन और उनसे वार्तालाप

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्हीं दिनोंकी बात है, महातपस्वी जरत्कारु मुनि सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। जहाँ सायंकाल हो जाता, वहीं वे ठहर जाते थे॥ १॥

चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह॥ २॥

उन महातेजस्वी महर्षिने ऐसे कठोर नियमोंकी दीक्षा ले रक्खी थी, जिनका पालन करना दूसरे अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये सर्वथा कठिन था। वे पवित्र तीर्थोंमें स्नान करते हुए विचर रहे थे॥ २॥

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः।
स ददर्श पितॄन् गर्ते लम्बमानानधोमुखान्॥ ३॥
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान्।
तं तन्तुं च शनैराखुमाददानं बिलेशयम्॥ ४॥

वे मुनि वायु पीते और निराहार रहते थे; इसलिये दिन-पर-दिन सूखते चले जाते थे। एक दिन उन्होंने पितरोंको देखा, जो नीचे मुँह किये एक गड्ढेमें लटक रहे थे। उन्होंने खश नामक तिनकोंके समूहको पकड़ रक्खा था, जिसकी जड़में केवल एक तन्तु बच गया था। उस बचे हुए तन्तुको भी वहीं बिलमें रहनेवाला एक चूहा धीरे-धीरे खा रहा था॥ ३-४॥

निराहारान् कृशान् दीनान् गर्ते स्वत्राणमिच्छतः।
उपसृत्य स तान् दीनान् दीनरूपोऽभ्यभाषत॥ ५॥

वे पितर निराहार दीन और दुर्बल हो गये थे और चाहते थे कि कोई हमें इस गड्ढेमें गिरनेसे बचा ले। जरत्कारु उनकी दयनीय दशा देखकर दयासे द्रवित हो स्वयं भी दीन हो गये और उन दीन-दुखी पितरोंके समीप जाकर बोले—॥ ५॥

के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना॥ ६॥

'आपलोग कौन हैं जो खशके गुच्छेके सहारे लटक रहे हैं? इस खशकी जड़ें यहाँ बिलमें रहनेवाले चूहेने खा डाली हैं, इसलिये यह बहुत कमजोर है॥ ६॥

वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम्।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः॥ ७॥

'खशके इस गुच्छेमें जो मूलका एक तन्तु यहाँ बचा है, उसे भी यह चूहा अपने तीखे दाँतोंसे धीरे-धीरे कुतर रहा है॥ ७॥

छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्यचिरादिव।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्ते व्यक्तमधोमुखाः॥ ८॥

'उसका स्वल्प भाग शेष है, वह भी बात-की-बातमें कट जायगा। फिर तो आपलोग नीचे मुँह किये निश्चय ही इस गड्ढेमें गिर जायँगे॥ ८॥

तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान्।
कृच्छ्रमापदमापन्नान् प्रियं किं करवाणि वः॥ ९॥

तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाथवा पुनः।
अर्धेन वापि निस्तर्तुमापदं ब्रूत मा चिरम् ॥ १० ॥

आपको इस प्रकार नीचे मुँह किये लटकते देख मेरे मनमें बड़ा दुःख हो रहा है। आपलोग बड़ी कठिन विपत्तिमें पड़े हैं। मैं आपलोगोंका कौन प्रिय कार्य करूँ? आपलोग मेरी इस तपस्याके चौथे, तीसरे अथवा आधे भागके द्वारा भी इस विपत्तिसे बचाये जा सकें तो शीघ्र बतलावें ॥ ९-१० ॥

अथवापि समग्रेण तरन्तु तपसा मम।
भवन्तः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ॥ ११ ॥

अथवा मेरी सारी तपस्याके द्वारा भी यदि आप सभी लोग वहाँ इस संकटसे पार हो सकें तो भले ही ऐसा कर लें' ॥११॥

पितर ऊचुः

वृद्धो भवान् ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यते तद् व्यपोहितुम् ॥ १२ ॥

पितरोंने कहा—विप्रवर! आप बूढ़े ब्रह्मचारी हैं, जो यहाँ हमारी रक्षा करना चाहते हैं; किंतु हमारा संकट तपस्यासे नहीं टाला जा सकता ॥ १२ ॥

अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतां वर।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन् पताम निरयेऽशुचौ ॥ १३ ॥

तात! तपस्याका बल तो हमारे पास भी है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! हम तो वंशपरम्पराका विच्छेद होनेके कारण अपवित्र नरकमें गिर रहे हैं ॥ १३ ॥

संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीका वचन है कि संतान ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है। तात! यहाँ लटकते हुए हमलोगोंकी सुध-बुध प्रायः खो गयी है, हमें कुछ ज्ञात नहीं होता ॥ १४ ॥

येन त्वा नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम्।
वृद्धो भवान् महाभागो यो नः शोच्यान् सुदुःखितान्
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ॥ १६ ॥

इसीलिये लोकमें विख्यात पौरुषवाले आप-जैसे महापुरुषको हम पहचान नहीं पा रहे हैं। आप कोई महान् सौभाग्यशाली महापुरुष हैं, जो अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए हम-जैसे शोचनीय प्राणियोंके लिये करुणावश शोक कर रहे हैं। ब्रह्मन्! हमलोग कौन हैं इसका परिचय देते हैं, सुनिये। हम अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक महर्षि हैं ॥ १५-१६ ॥

लोकात् पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने।
प्रणष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥ १७ ॥

मुने! वंशपरम्पराका क्षय होनेके कारण हमें पुण्यलोकसे भ्रष्ट होना पड़ा है। हमारी तीव्र तपस्या नष्ट हो गयी; क्योंकि हमारे कुलमें अब कोई संतति नहीं रह गयी है ॥ १७ ॥

अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥ १८ ॥

आजकल हमारी परम्परामें एक ही तन्तु या संतति शेष है, किंतु वह भी नहींके बराबर है। हम अल्पभाग्य हैं, इसीसे वह मन्दभाग्य संतति एकमात्र तपमें लगी हुई है ॥ १८ ॥

जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥ १९ ॥

उसका नाम है जरत्कारु। वह वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् होनेके साथ ही मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, महात्मा, उत्तम व्रतका पालक और महान् तपस्वी है ॥१९॥

तेन स्म तपसो लोभात् कृच्छ्रमापादिता वयम्।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वास्ति कश्चन ॥ २० ॥

उसने तपस्याके लोभसे हमें संकटमें डाल दिया है। उसके न पत्नी है, न पुत्र और न कोई भाई-बन्धु ही है ॥

तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत्।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥ २१ ॥

इसीसे हमलोग अपनी सुध-बुध खोकर अनाथकी तरह इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। यदि वह आपके देखनेमें आवे तो हम अनाथोंको सनाथ करनेके लिये उससे इस प्रकार कहियेगा— ॥ २१ ॥

पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः।
साधु दारान् कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥ २२ ॥

'जरत्कारो! तुम्हारे पितर अत्यन्त दीन हो नीचे मुँह करके गड्ढेमें लटक रहे हैं। तुम उत्तम रीतिसे पत्नीके साथ विवाह कर लो और उसके द्वारा संतान उत्पन्न करो ॥ २२ ॥

कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन।
यस्त्वं पश्यसि नो ब्रह्मन् वीरणस्तम्बमाश्रितान् ॥२३॥
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन् मूलानीहास्य वीरुधः ॥ २४ ॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः।
यत्त्वेतत् पश्यसि ब्रह्मन् मूलमस्यार्धभक्षितम् ॥ २५ ॥
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन् काल एष महाबलः ॥ २६ ॥

'तपोधन! तुम्हीं अपने पूर्वजोंके कुलमें एकमात्र तन्तु बच रहे हो। ब्रह्मन्! आप जो हमें खशके गुच्छेका सहारा लेकर लटकते देख रहे हैं, यह खशका गुच्छा नहीं है, हमारे कुलका आश्रय है, जो अपने कुलको बढ़ानेवाला है।

विप्रवर ! इस खशकी जो कटी हुई जड़ें यहाँ आपकी दृष्टिमें आ रही हैं, ये ही हमारे वंशके वे तन्तु (संतान) हैं, जिन्हें कालरूपी चूहेने खा लिया है। ब्राह्मण ! आप जो इस खशकी यह अधकटी जड़ देखते हैं, जिसके सहारे हम गड्ढेमें लटक रहे हैं, यह वही एकमात्र संतान जरत्कारु है, जो तपस्यामें लगा है और ब्राह्मण देवता ! जिसे आप चूहेके रूपमें देख रहे हैं, यह महाबली काल है ॥ २३-२६ ॥

स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन्।
जरत्कारुं तपोलब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥२७॥

'वह उस तपस्वी एवं मूढ़ जरत्कारुको जो तपको ही लाभ माननेवाला, मन्दात्मा (अदूरदर्शी) और अचेत (जड) हो रहा है, धीरे-धीरे पीड़ा देते हुए दाँतोंसे काट रहा है ॥२७॥

न हि नस्तत् तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम।
छिन्नमूलान् परिभ्रष्टान् कालोपहतचेतसः ॥२८॥
अधःप्रविष्टान् पश्यास्मान् यथा दुष्कृतिनस्तथा।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ॥२९॥
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः।
तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत् पावनं महत् ॥३०॥
तत् सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम्।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधन ॥३१॥
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाख्येयमशेषतः।
यथा दारान् प्रकुर्यात् स पुत्रानुत्पादयेद् यथा ॥३२॥
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया।
बान्धवानां हितस्येह तथा चात्मकुलं तथा ॥३३॥
कस्त्वं बन्धुमिवास्माकमनुशोचसि सत्तम।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥३४॥

'साधुशिरोमणे ! उस जरत्कारुकी तपस्या हमें इस संकटसे नहीं उबारेगी। देखिये, हमारी जड़ें कट गयी हैं, कालने हमारी चेतनाशक्ति नष्ट कर दी है और हम अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे इस गड्ढेमें गिर रहे हैं। जैसे पापियोंकी दुर्गति होती है, वैसे ही हमारी होती है। हम समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ जब इस गड्ढेमें गिर जायँगे, तब वह जरत्कारु भी कालका ग्रास बनकर अवश्य ही इसी नरकमें आ गिरेगा। तात ! तपस्या, यज्ञ अथवा अन्य जो महान् एवं पवित्र साधन हैं, वे सब संतानके समान नहीं हैं। तात ! आप तपस्याके धनी जान पड़ते हैं। आपको तपस्वी जरत्कारु मिल जाय तो उससे हमारा संदेश कहियेगा और आपने यहाँ जो कुछ देखा है, वह सब उसे बता दीजियेगा। ब्रह्मन् ! हमें सनाथ बनानेकी दृष्टिसे आप जरत्कारुके साथ इस प्रकार वार्तालाप कीजियेगा, जिससे वह पत्नी-संग्रह करे और उसके द्वारा पुत्रोंको जन्म दे। तात ! जरत्कारुके बान्धव जो हमलोग हैं, हमारे लिये अपने कुलकी भाँति अपने भाई-बन्धुके समान आप सोच कर रहे हैं। अतः साधुशिरोमणे ! बताइये, आप कौन हैं ? हम सब लोगोंमेंसे आप किसके क्या लगते हैं, जो यहाँ खड़े हुए हैं ? हम आपका परिचय सुनना चाहते हैं ॥'

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुके पितृदर्शनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुका शर्तके साथ विवाहके लिये उद्यत होना और नागराज वासुकिका जरत्कारु नामकी कन्याको लेकर आना

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः।
उवाच तान् पितॄन् दुःखाद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! यह सुनकर जरत्कारु अत्यन्त शोकमें मग्न हो गये और दुःखसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें अपने पितरोंसे बोले ॥ १ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः।
तद् ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ॥ २ ॥
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ ३ ॥

जरत्कारुने कहा—आप मेरे ही पूर्वज पिता और पितामह आदि हैं। अतः बताइये आपका प्रिय करनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये। मैं ही आपलोगोंका पुत्र पापी जरत्कारु हूँ। आप मुझ अकृतात्मा पापीको इच्छानुसार दण्ड दें ॥

पितर ऊचुः

पुत्र दिष्ट्यासि सम्प्राप्त इमं देशं यदृच्छया।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन् न कृतो दारसंग्रहः ॥ ४ ॥

पितर बोले—पुत्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है जो तुम अकस्मात् इस स्थानपर आ गये। ब्रह्मन् ! तुमने अबतक विवाह क्यों नहीं किया ? ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच

ममायं पितरो नित्यं ह्यर्थः परिवर्तते।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै॥ ५॥

जरत्कारुने कहा—पितृगण ! मेरे हृदयमें यह बात निरन्तर घूमती रहती थी कि मैं ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्य-का पालक) होकर इस शरीरको परलोक (पुण्यधाम) में पहुँचाऊँ ॥ ५ ॥

न दारान् वै करिष्येऽहमिति मे भावितं मनः।
एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः॥ ६॥
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात् पितामहाः।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येऽहमसंशयम्॥ ७॥

अतः मैंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि 'मैं कभी पत्नी-परिग्रह (विवाह) नहीं करूँगा।' किंतु पितामहो ! आपको पक्षियोंकी भाँति लटकते देख अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालन-सम्बन्धी निश्चयसे मैंने अपनी बुद्धि लौटा ली है । अब मैं आपका प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा, निश्चय ही विवाह कर लूँगा ॥ ६-७ ॥

सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन।
भविष्यति च या काचिद् भैक्ष्यवत् स्वयमुद्यता॥ ८॥
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम्।
एवं विधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि।
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत् पितामहाः॥ ९॥

(परंतु इसके लिये एक शर्त होगी—) 'यदि मैं कभी अपने ही जैसे नामवाली कुमारी कन्या पाऊँगा, उसमें भी जो भिक्षाकी भाँति बिना माँगे स्वयं ही विवाहके लिये प्रस्तुत हो जायगी और जिसके पालन-पोषणका भार मुझपर न होगा, उसीका मैं पाणिग्रहण करूँगा।' यदि ऐसा विवाह मुझे सुलभ हो जाय तो कर लूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं। पितामहो ! यह मेरा सत्य निश्चय है ॥ ८-९ ॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतांश्चाव्ययांश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम॥१०॥

वैसे विवाहसे जो पत्नी मिलेगी, उसीके गर्भसे आप लोगोंको तारनेके लिये कोई प्राणी उत्पन्न होगा। मैं चाहता हूँ मेरे पितर नित्य शाश्वत लोकोंमें बने रहें, वहाँ वे अक्षय सुखके भागी हों ॥ १० ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक॥११॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! इस प्रकार पितरोंसे कहकर जरत्कारु मुनि पूर्ववत् पृथ्वीपर विचरने लगे। परंतु 'यह बूढ़ा है' ऐसा समझकर किसीने कन्या नहीं दी, अतः उन्हें पत्नी उपलब्ध न हो सकी ॥ ११ ॥

यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा।
तदारण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः॥१२॥

जब वे विवाहकी प्रतीक्षामें खिन्न हो गये, तब पितरोंसे प्रेरित होनेके कारण वनमें जाकर अत्यन्त दुखी हो जोर-जोरसे ब्याहके लिये पुकारने लगे ॥ १२ ॥

स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः॥१३॥

वनमें जानेपर विद्वान् जरत्कारुने पितरोंके हितकी कामना-से तीन बार धीरे-धीरे यह बात कही—'मैं कन्या माँगता हूँ'॥

यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः॥१४॥

(फिर जोरसे बोले—) 'यहाँ जो स्थावर-जङ्गम, दृश्य या अदृश्य प्राणी हैं, वे सब मेरी बात सुनें—॥ १४ ॥

उग्रे तपसि वर्तन्ते पितरश्चोदयन्ति माम्।
निविशस्वेति दुःखार्ताः संतानस्य चिकीर्षया॥१५॥

'मेरे पितर भयंकर कष्टमें पड़े हैं और दुःखसे आतुर हो संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखकर मुझे प्रेरित कर रहे हैं कि 'तुम विवाह कर लो' ॥ १५ ॥

निवेशायाखिलां भूमिं कन्याभैक्ष्यं चरामि भोः।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजितः॥१६॥

अतः विवाहके लिये मैं सारी पृथ्वीपर घूमकर कन्याकी भिक्षा चाहता हूँ। यद्यपि मैं दरिद्र हूँ और सुविधाओंके अभावमें दुखी हूँ, तो भी पितरोंकी आज्ञासे विवाहके लिये उद्यत हूँ ॥

यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतोदिशम्॥१७॥

'मैंने यहाँ जिनका नाम लेकर पुकारा है, उनमेंसे जिस किसी भी प्राणीके पास विवाहके योग्य विख्यात गुणोंवाली कन्या हो, वह सब दिशाओंमें विचरनेवाले मुझ ब्राह्मणको अपनी कन्या दे ॥ १७ ॥

मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवच्चोदिता भवेत्।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत॥१८॥

'जो कन्या मेरे ही जैसी नामवाली हो, भिक्षाकी भाँति मुझे दी जा सकती हो और जिसके भरण-पोषणका भार मुझपर न हो, ऐसी कन्या कोई मुझे दे ॥ १८ ॥

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन्॥१९॥

तब उन नागोंने जो जरत्कारु मुनिकी खोजमें लगाये

गये थे, उनका यह समाचार पाकर उन्होंने नागराज वासुकिको सूचित किया ॥ १९ ॥

तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत् समीपं तस्य पन्नगः ॥२०॥

उनकी बात सुनकर नागराज वासुकि अपनी उस कुमारी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके साथ ले वनमें मुनिके समीप गये ॥ २० ॥

तत्र तां भैक्ष्यवत् कन्यां प्रादात् तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन् न स तां प्रत्यगृह्णत ॥२१॥

ब्रह्मन् ! वहाँ नागेन्द्र वासुकिने महात्मा जरत्कारुको भिक्षाकी भाँति वह कन्या समर्पित की; किंतु उन्होंने सहसा उसे स्वीकार नहीं किया ॥ २१ ॥

असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि मन्दीभूतः परिग्रहे ॥२२॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥२३॥

सोचा, सम्भव है । यह कन्या मेरे-जैसे नामवाली न हो । इसके भरण-पोषणका भार किसपर रहेगा, इस बातका निर्णय भी अभीतक नहीं हो पाया है । इसके सिवा मैं मोक्षभावमें स्थित हूँ, यही सोचकर उन्होंने पत्नी-परिग्रहमें शिथिलता दिखायी । भृगुनन्दन ! इसीलिये पहले उन्होंने वासुकिसे उस कन्याका नाम पूछा और यह स्पष्ट कह दिया—'मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकिजरत्कारु-समागम-सम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारु मुनिका नागकन्याके साथ विवाह, नागकन्या जरत्कारुद्वारा पतिसेवा तथा पतिका उसे त्यागकर तपस्याके लिये गमन

सौतिरुवाच

वासुकिस्त्वब्रवीद् वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! उस समय वासुकिने जरत्कारु मुनिसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याका वही नाम है, जो आपका है । यह मेरी बहिन है और आपकी ही भाँति तपस्विनी भी है । आप इसे ग्रहण करें । आपकी पत्नीका भरण-पोषण मैं करूँगा । तपोधन ! अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं इसकी रक्षा करता रहूँगा । मुनिश्रेष्ठ ! अबतक आपहीके लिये मैंने इसकी रक्षा की है' ॥ १-२ ॥

ऋषिरुवाच

न भरिष्येऽहमेतां वै एष मे समयः कृतः ।
अप्रियं च न कर्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥ ३ ॥

ऋषिने कहा—नागराज ! मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा, मेरी यह शर्त तो तय हो गयी । अब दूसरी शर्त यह है कि तुम्हारी इस बहिनको कभी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे । यदि अप्रिय कार्य कर बैठेगी तो उसी समय मैं इसे त्याग दूँगा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराजने यह शर्त स्वीकार कर ली कि 'मैं अपनी बहिनका भरण-पोषण करूँगा ।' तब जरत्कारु मुनि वासुकिके भवनमें गये ॥ ४ ॥

तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

वहाँ मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तपोवृद्ध महाव्रती धर्मात्मा जरत्कारुने शास्त्रीय विधि और मन्त्रोच्चारणके साथ नागकन्याका पाणिग्रहण किया ॥ ५ ॥

ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य सम्मतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ६ ॥

तदनन्तर महर्षियोंसे प्रशंसित होते हुए वे नागराजके रमणीय भवनमें, जो मनके अनुकूल था, अपनी पत्नीको लेकर गये ॥

शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ॥ ७ ॥

वहाँ बहुमूल्य बिछौनोंसे सजी हुई शय्या बिछी थी । जरत्कारु मुनि अपनी पत्नीके साथ उसी भवनमें रहने लगे ॥

स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ८ ॥

उन साधुशिरोमणिने वहाँ अपनी पत्नीके सामने यह शर्त रक्खी— 'तुम्हें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे। साथ ही कभी अप्रिय वचन भी नहीं बोलना चाहिये॥

त्यजेयं विप्रियं च त्वां कृते वासं च ते गृहे।
एतद् गृहाण वचनं मया यत् समुदीरितम्॥ ९॥

'तुमसे अप्रिय कार्य हो जानेपर मैं तुम्हें और तुम्हारे घरमें रहना छोड़ दूँगा। मैंने जो कुछ कहा है, मेरे इस वचनको दृढ़तापूर्वक धारण कर लो'॥ ९॥

ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति॥१०॥

यह सुनकर नागराजकी बहिन अत्यन्त उद्विग्न हो गयी और उस समय बहुत दुखी होकर बोली—'भगवन्! ऐसा ही होगा'॥ १०॥

तथैव सा च भर्तारं दुःखशीलमुपाचरत्।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी॥११॥

फिर वह यशस्विनी नागकन्या दुःखद स्वभाववाले पतिकी उसी शर्तके अनुसार सेवा करने लगी। वह श्वेतकाकीय* उपायोंसे सदा पतिका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर निरन्तर उनकी आराधनामें लगी रहती थी॥ ११॥

ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद् वासुकेः स्वसा।
भर्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम्॥१२॥

तदनन्तर किसी समय ऋतुकाल आनेपर वासुकिकी बहिन स्नान करके न्यायपूर्वक अपने पति महामुनि जरत्कारुकी सेवामें उपस्थित हुई॥ १२॥

तत्र तस्याः समभवद् गर्भो ज्वलनसंनिभः।
अतीवतेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः॥१३॥

वहाँ उसे गर्भ रह गया, जो प्रज्वलित अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी तथा तपःशक्तिसे सम्पन्न था। उसकी अङ्गकान्ति अग्निके तुल्य थी॥ १३॥

शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः॥१४॥
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत्।
तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद् गिरिम्॥१५॥

जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमा बढ़ते हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी नित्य परिपुष्ट होने लगा। तत्पश्चात् कुछ दिनोंके बाद महातपस्वी जरत्कारु कुछ खिन्नसे होकर अपनी पत्नीकी गोदमें सिर रखकर सो गये। उन विप्रवर जरत्कारुके सोते समय ही सूर्य अस्ताचलको जाने लगे॥ १४-१५॥

अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साचिन्तयत् तदा।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी॥१६॥
किं नु मे सुकृतं भूयाद् भर्तुरुत्थापनं न वा।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम्॥१७॥

ब्रह्मन्! दिन समाप्त होनेहीवाला था। अतः वासुकिकी मनस्विनी बहिन जरत्कारु अपने पतिके धर्मलोपसे भयभीत हो उस समय इस प्रकार सोचने लगी—'इस समय पतिको जगाना मेरे लिये अच्छा (धर्मानुकूल) होगा या नहीं? मेरे धर्मात्मा पतिका स्वभाव बड़ा दुःखद है। मैं कैसा बर्ताव करूँ, जिससे उनकी दृष्टिमें अपराधिनी न बनूँ॥ १६-१७॥

कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथवा पुनः।
धर्मलोपो गरीयान् वै स्यादित्यत्राकरोन्मतिम्॥१८॥
उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति।
धर्मलोपो भवेदस्य संध्यातिक्रमणे ध्रुवम्॥१९॥

यदि इन्हें जगाऊँगी तो निश्चय ही इन्हें मुझपर क्रोध होगा और यदि सोते-सोते संध्योपासनका समय बीत गया तो अवश्य इनके धर्मका लोप हो जायगा, ऐसी दशामें धर्मात्मा पतिका कोप स्वीकार करूँ या उनके धर्मका लोप? इन दोनोंमें धर्मका लोप ही भारी जान पड़ता है।' अतः जिससे उनके धर्मका लोप न हो, वही कार्य करनेका उसने निश्चय किया॥१८-१९॥

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम्॥२०॥
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति॥२१॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके मीठे वचन बोलनेवाली नागकन्या जरत्कारुने वहाँ सोते हुए अग्निके समान तेजस्वी एवं तीव्र तपस्वी महर्षिसे मधुर वाणीमें यों कहा—'महाभाग! उठिये, सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं॥ २०-२१॥

संध्यामुपास्स्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः।
प्रादुष्कृताग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः॥२२॥
संध्या प्रवर्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो।

'भगवन्! आप संयमपूर्वक आचमन करके संध्योपासन कीजिये। अब अग्निहोत्रकी बेला हो रही है। यह मुहूर्त धर्मका साधन होनेके कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ता है। इसमें भूत आदि प्राणी विचरते हैं, अतः भयंकर भी है। प्रभो! पश्चिम दिशामें संध्या प्रकट हो रही है—उधरका आकाश लाल हो रहा है'॥ २२½॥

---

* श्वेतकाकका अर्थ यह है—श्वा, एत और काक; जिसका क्रमशः अर्थ है—कुत्ता, हरिण और कौआ (श्वा+एतमें पररूप हुआ है) तात्पर्य यह है कि यह कुतियाकी भाँति सदा जागती और कम सोती थी, हरिणीके समान भयसे चकित रहती और कौएकी भाँति उनके इङ्गित (इशारे) समझनेके लिये सावधान रहती थी।

जरत्कारु ऋषिने पत्नीका परित्याग कर दिया

एवमुक्तः स भगवान् जरत्कारुर्महातपाः ॥ २३ ॥
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत्।
अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ॥ २४ ॥

नागकन्याके ऐसा कहनेपर महातपस्वी भगवान् जरत्कारु जाग उठे। उस समय क्रोधके मारे उनके होठ काँपने लगे। वे इस प्रकार बोले—'नागकन्ये! तूने मेरा यह अपमान किया है॥

समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम्।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥ २५ ॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते।
न चाप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ॥ २६ ॥
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा।

इसलिये अब मैं तेरे पास नहीं रहूँगा। जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा। वामोरु! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे अस्त हो जायँ। यह मेरे हृदयमें निश्चय है। जिसका कहीं अपमान हो जाय ऐसे किसी भी पुरुषको वहाँ रहना अच्छा नहीं लगता। फिर मेरी अथवा मेरे-जैसे दूसरे धर्मशील पुरुषकी तो बात ही क्या है' ॥ २५-२६½ ॥

एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ॥ २७ ॥
अब्रवीद् भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने।
नावमानात् कृतवती तवाहं विप्र बोधनम् ॥ २८ ॥
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम्।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ॥ २९ ॥
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम्।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ॥ ३० ॥

जब पतिने इस प्रकार हृदयमें कँपकँपी पैदा करनेवाली बात कही, तब उस घरमें स्थित वासुकिकी बहिन इस प्रकार बोली—'विप्रवर! मैंने अपमान करनेके लिये आपको नहीं जगाया था। आपके धर्मका लोप न हो जाय, यही ध्यानमें रखकर मैंने ऐसा किया है।' यह सुनकर क्रोधमें भरे हुए महातपस्वी ऋषि जरत्कारुने अपनी पत्नी नागकन्याको त्याग देनेकी इच्छा रखकर उससे कहा—'नागकन्ये! मैंने कभी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है, अतः अवश्य जाऊँगा॥

समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ॥ ३१ ॥
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥

'मैंने तुम्हारे साथ आपसमें पहले ही ऐसी शर्त कर ली थी। भद्रे! मैं यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। यहाँसे मेरे चले जानेके बाद अपने भाईसे कहना—'भगवान् जरत्कारु चले गये'। शुभे! भीरु! मेरे निकल जानेपर तुम्हें भी शोक नहीं करना चाहिये'॥

इत्युक्ता सानवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥ ३३ ॥
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः॥ ३४ ॥
धैर्यमालम्ब्य वामोरुर्हृदयेन प्रवेपता।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ ३५ ॥
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम्।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ॥ ३६ ॥
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ॥ ३७ ॥
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ॥ ३८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर अनिन्द्य सुन्दरी जरत्कारु भाईके कार्यकी चिन्ता और पतिके वियोगजनित शोकमें डूब गयी। उसका मुँह सूख गया, नेत्रोंमें आँसू छलक आये और हृदय काँपने लगा। फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके सुन्दर जाँघों और मनोहर शरीरवाली वह नागकन्या हाथ जोड़ गद्गद वाणीमें जरत्कारु मुनिसे बोली—'धर्मज्ञ! आप सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। मैं भी पत्नी-धर्ममें स्थित तथा आप प्रियतमके हितमें लगी रहनेवाली हूँ। आपको मुझ निरपराध अबलाका त्याग नहीं करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! मेरे भाईने जिस उद्देश्यको लेकर आपके साथ मेरा विवाह किया था, मैं मन्दभागिनी अबतक उसे पा न सकी। नागराज वासुकि मुझसे क्या कहेंगे! साधुशिरोमणे! मेरे कुटुम्बीजन माताके शापसे दबे हुए हैं। उन्हें मेरे द्वारा आपसे एक संतानकी प्राप्ति अभीष्ट थी, किंतु उसका भी अबतक दर्शन नहीं हुआ। आपसे पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो उसके द्वारा मेरे जाति-भाइयोंका कल्याण हो सकता है॥ ३३-३८॥

सम्प्रयोगो भवेन्नायं मम मोघस्त्वया द्विज।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ॥ ३९ ॥

'ब्रह्मन्! आपसे जो मेरा सम्बन्ध हुआ, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। भगवन्! अपने बान्धवजनोंका हित चाहती हुई मैं आपसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करती हूँ॥ ३९॥

इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन् गन्तुमिच्छस्यनागसम् ४०

'महाभाग! आपने जो गर्भ स्थापित किया है, उसका स्वरूप या लक्षण अभी प्रकट नहीं हुआ। महात्मा होकर ऐसी दशामें आप मुझ निरपराध पत्नीको त्यागकर कैसे जाना चाहते हैं?'

एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत्।
यद् युक्तमनुरूपं च जरत्कारुं तपोधनः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर उन तपोधन महर्षिने अपनी पत्नी जरत्कारुसे उचित तथा अवसरके अनुरूप बात कही—॥ ४१ ॥

अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ४२ ॥

'सुभगे! 'अयं अस्ति'—तुम्हारे उदरमें गर्भ है। तुम्हारा यह गर्भस्थ बालक अग्निके समान तेजस्वी, परम धर्मात्मा मुनि तथा वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् होगा' ॥ ४२ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः ॥ ४३ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा महामुनि जरत्कारु, जिन्होंने जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया था, फिर कठोर तपस्याके लिये वनमें चले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुनिर्गमे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुका तपस्याके लिये निष्क्रमण-विषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वासुकि नागकी चिन्ता, बहिनद्वारा उसका निवारण तथा आस्तीकका जन्म एवं विद्याध्ययन

सौतिरुवाच

गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत्।
भ्रातुः सकाशमागत्य याथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन ! शौनक ! पतिके निकलते ही नागकन्या जरत्कारुने अपने भाई वासुकिके पास जाकर उनके चले जानेका सब हाल ज्यों-का-त्यों सुना दिया ॥१॥

ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम्।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥

यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि स्वयं भी बहुत दुखी हो गये और दुःखमें पड़ी हुई अपनी बहिनसे बोले ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच

जानासि भद्रे यत् कार्यं प्रदाने कारणं स यत्।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात् ततो यदि ॥ ३ ॥

वासुकिने कहा—भद्रे ! सर्पोंका जो महान् कार्य है और मुनिके साथ तुम्हारा विवाह होनेमें जो उद्देश्य रहा है, उसे तो तुम जानती ही हो। यदि उनके द्वारा तुम्हारे गर्भसे कोई पुत्र उत्पन्न हो जाता तो उससे सर्पोंका बहुत बड़ा हित होता॥

स सर्पसत्रात् किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान्।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ॥ ४ ॥

वह शक्तिशाली मुनिकुमार ही हमलोगोंको जनमेजयके सर्पयज्ञमें जलनेसे बचायेगा; यह बात पहले देवताओंके साथ भगवान् ब्रह्माजीने कही थी ॥ ४ ॥

अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात् ते मुनिसत्तमात्।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥
कार्यं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम्।
किंतु कार्यगरीयस्त्वात् ततस्त्वाहमचूचुदम् ॥ ६ ॥

सुभगे ! क्या उन मुनिश्रेष्ठसे तुम्हें गर्भ रह गया है ? तुम्हारे साथ उन मनीषी महात्माका विवाह-कर्म निष्फल हो, यह मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हारा भाई हूँ, ऐसे कार्य (पुत्रोत्पत्ति) के विषयमें तुमसे कुछ पूछना मेरे लिये उचित नहीं है, परंतु कार्यके गौरवका विचार करके मैंने तुम्हें इस विषयमें सब बातें बतानेके लिये प्रेरित किया है ॥ ५-६ ॥

दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत् स माम्॥ ७ ॥

तुम्हारे महातपस्वी पतिको जानेसे रोकना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है, यह जानकर मैं उन्हें लौटा लानेके लिये उनके पीछे नहीं जा रहा हूँ। लौटानेका आग्रह करूँ तो कदाचित् वे मुझे शाप भी दे सकते हैं ॥ ७ ॥

आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम्।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ॥ ८ ॥

अतः भद्रे ! तुम अपने पतिकी सारी चेष्टा बताओ और मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो भयंकर काँटा चुभा हुआ है, उसे निकाल दो ॥ ८ ॥

जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्ता प्रत्यभाषत।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम्॥ ९ ॥

भाईके इस प्रकार पूछनेपर तब जरत्कारु अपने संतप्त भ्राता नागराज वासुकिको धीरज बँधाती हुई इस प्रकार बोली ॥९॥

जरत्कारुरुवाच

पृष्टो मयापत्यहेतोः स महात्मा महातपाः।
अस्तीत्युक्त्वा समुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ॥ १० ॥

जरत्कारुने कहा—भाई ! मैंने संतानके लिये उन महातपस्वी महात्मासे पूछा था। मेरे गर्भके विषयमें 'अस्ति (तुम्हारे गर्भमें पुत्र है)' इतना ही कहकर वे चले गये ॥१०॥

स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं वचः।
उक्तपूर्वं कुतो राजन् साम्पराये स वक्ष्यति ॥ ११ ॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे।
उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः।
तस्माद् व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम् ॥ १३ ॥

राजन्! उन्होंने पहले कभी विनोदमें भी झूठी बात कही हो, यह मुझे स्मरण नहीं है। फिर इस संकटके समय तो वे झूठ बोलेंगे ही क्यों? भैया! मेरे पति तपस्याके धनी हैं। उन्होंने जाते समय मुझसे यह कहा—'नागकन्ये! तुम अपनी कार्य-सिद्धिके सम्बन्धमें कोई चिन्ता न करना। तुम्हारे गर्भसे अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।' इतना कहकर वे तपोवनमें चले गये। अतः भैया! तुम्हारे मनमें जो महान् दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये ॥ ११-१३ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा।
एवमस्त्विति तद् वाक्यं भगिन्याः प्रतिगृह्य तत् ॥ १४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! यह सुनकर नागराज वासुकि बड़ी प्रसन्नतासे बोले—एवमस्तु [ऐसा ही हो]।' इस प्रकार उन्होंने बहिनकी बातको विश्वासपूर्वक ग्रहण किया ॥

सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चानुरूपया।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ॥ १५ ॥

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि अपनी सहोदरा बहिनको सान्त्वना, सम्मान तथा धन देकर एवं सुन्दररूपसे उसका स्वागत-सत्कार करके उसकी समाराधना करने लगे ॥ १५ ॥

ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ॥ १६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! जैसे शुक्लपक्षमें आकाशमें उदित होनेवाला चन्द्रमा प्रतिदिन बढ़ता है, उसी प्रकार जरत्कारुका वह महातेजस्वी और परम कान्तिमान् गर्भ बढ़ने लगा ॥ १६ ॥

अथ काले तु सा ब्रह्मन् प्रजज्ञे भुजगस्वसा।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मन्! तदनन्तर समय आनेपर वासुकिकी बहिनने एक दिव्य कुमारको जन्म दिया, जो देवताओंके बालक-सा तेजस्वी जान पड़ता था। वह पिता और माता—दोनों पक्षोंके भयको नष्ट करनेवाला था ॥ १७ ॥

ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् भार्गवाच्च्यवनान्मुनेः ॥ १८ ॥

वह वहीं नागराजके भवनमें बढ़ने लगा। बड़े होनेपर उसने भृगुकुलोत्पन्न च्यवन मुनिसे छहों अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन किया ॥ १८ ॥

चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः।
नाम चास्याभवत् ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ॥ १९ ॥

वह बचपनसे ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला, बुद्धिमान् तथा सत्त्वगुणसम्पन्न हुआ। लोकमें आस्तीक नामसे उसकी ख्याति हुई ॥ १९ ॥

अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात् पिता गर्भस्थमेव तम्।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ॥ २० ॥

वह बालक अभी गर्भमें ही था, तभी उसके पिता 'अस्ति' कहकर वनमें चले गये थे। इसलिये संसारमें उसका आस्तीक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ २० ॥

स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान्।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात् परिरक्षितः ॥ २१ ॥
भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः।
विवर्धमानः सर्वांस्तान् पन्नगानभ्यहर्षयत् ॥ २२ ॥

अमित बुद्धिमान् आस्तीक बाल्यावस्थामें ही वहाँ रहकर ब्रह्मचर्यका पालन एवं धर्मका आचरण करने लगा। नागराजके भवनमें उसका भलीभाँति यत्नपूर्वक लालन-पालन किया गया। सुवर्णके समान कान्तिमान् शूलपाणि देवेश्वर भगवान् शिवकी भाँति वह बालक दिनोंदिन बढ़ता हुआ समस्त नागोंका आनन्द बढ़ाने लगा ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकोत्पत्तौ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीककी उत्पत्ति-विषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌के धर्ममय आचार तथा उत्तम गुणोंका वर्णन, राजाका शिकारके लिये जाना और उनके द्वारा शमीक मुनिका तिरस्कार

शौनक उवाच

यदपृच्छत् तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! राजा जनमेजयने (उत्तङ्ककी बात सुनकर) अपने पिता परीक्षित्‌के स्वर्गवासके सम्बन्धमें मन्त्रियोंसे जो पूछ-ताछ की थी, उसका आप विस्तारपूर्वक पुनः वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सौतिरुवाच

शृणु ब्रह्मन् यथापृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा।
यथा चाख्यातवन्तस्ते निधनं तत् परीक्षितः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन् ! सुनिये, उस समय राजाने मन्त्रियोंसे जो कुछ पूछा और उन्होंने परीक्षित्‌की मृत्युके सम्बन्धमें जैसी बातें बतायीं, वह सब मैं सुना रहा हूँ ॥२॥

जनमेजय उवाच

जानन्ति स्म भवन्तस्तद् यथा वृत्तं पितुर्मम।
आसीद् यथा स निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—आपलोग यह जानते होंगे कि मेरे पिताके जीवन-कालमें उनका आचार-व्यवहार कैसा था। और अन्तकाल आनेपर वे महायशस्वी नरेश किस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुए थे ? ॥ ३ ॥

श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥ ४ ॥

आपलोगोंसे अपने पिताके सम्बन्धमें सारा वृत्तान्त सुनकर ही मुझे शान्ति प्राप्त होगी; अन्यथा मैं कभी शान्त न रह सकूँगा॥

सौतिरुवाच

मन्त्रिणोऽथाब्रुवन् वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाके सब मन्त्री धर्मज्ञ और बुद्धिमान् थे। उन महात्मा राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर वे सभी उनसे यों बोले ॥ ५ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु पार्थिव यद् ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंने कहा—भूपाल ! तुम जो कुछ पूछते हो, वह सुनो। तुम्हारे महात्मा पिता राजराजेश्वर परीक्षित्‌का चरित्र जैसा था और जिस प्रकार वे मृत्युको प्राप्त हुए वह सब हम बता रहे हैं ॥ ६ ॥

धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत् ॥ ७ ॥

महाराज ! आपके पिता बड़े धर्मात्मा, महात्मा और प्रजापालक थे। वे महामना नरेश इस जगत्‌में जैसे आचार-व्यवहारका पालन करते थे, वह सुनो ॥ ७ ॥

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत।
धर्मतो धर्मविद् राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ८ ॥

वे चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके उन सबकी धर्मपूर्वक रक्षा करते थे। राजा परीक्षित् केवल धर्मके ज्ञाता ही नहीं थे, वे धर्मके साक्षात् स्वरूप थे ॥ ८ ॥

ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन् स च द्वेष्टि न कंचन ॥ ९ ॥

उनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं थी। वे श्रीसम्पन्न होकर इस वसुधादेवीका पालन करते थे। जगत्‌में उनसे द्वेष रखनेवाले कोई न थे और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे ॥

समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत्।
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ॥ १० ॥
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधिष्ठिताः।
विधवानाथविकलान् कृपणांश्च बभार सः ॥ ११ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीके समान वे समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखते थे। राजन् ! महाराज परीक्षित्‌के शासनमें रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें संलग्न और प्रसन्नचित्त रहते थे। वे महाराज विधवाओं, अनाथों, अङ्गहीनों और दीनोंका भी भरण-पोषण करते थे ॥ १०-११ ॥

सुदर्शः सर्वभूतानामासीत् सोम इवापरः।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान् सत्यवाग् दृढविक्रमः ॥ १२ ॥

दूसरे चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखद एवं सुलभ था। उनके राज्यमें सब लोग हृष्ट-पुष्ट थे। वे लक्ष्मीवान्, सत्यवादी तथा अटल पराक्रमी थे ॥१२॥

धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः।
गोविन्दस्य प्रियश्चासीत् पिता ते जनमेजय ॥ १३ ॥

राजा परीक्षित् धनुर्वेदमें कृपाचार्यके शिष्य थे। जनमेजय ! तुम्हारे पिता भगवान् श्रीकृष्णके भी प्रिय थे ॥ १३ ॥

लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ॥ १४ ॥
परीक्षिदभवत् तेन सौभद्रस्यात्मजो बली।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ॥ १५ ॥

वे महायशस्वी महाराज सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेमपात्र थे। जब कुरुकुल परिक्षीण (सर्वथा नष्ट) हो चला था, उस समय उत्तराके गर्भसे उनका जन्म हुआ। इसलिये वे महाबली अभिमन्युकुमार परीक्षित् नामसे विख्यात हुए। राजधर्म और अर्थनीतिमें वे अत्यन्त निपुण थे। समस्त सद्‌गुणोंने स्वयं उनका वरण किया था। वे सदा उनसे संयुक्त रहते थे ॥ १४-१५ ॥

जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता।
षड्‌वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ॥ १६ ॥

उन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीतकर मनको अपने वशमें कर रक्खा था। वे मेधावी तथा धर्मका सेवन करनेवाले थे। उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन

छहों शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। उनकी बुद्धि विशाल थी। वे नीतिके विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १६ ॥

प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ॥१७॥
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान्।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम्।
बाल एवाभिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः ॥१८॥

तुम्हारे पिताने साठ वर्षकी आयुतक इन समस्त प्रजाजनोंका पालन किया था। तदनन्तर हम सबको दुःख देकर उन्होंने विदेह-कैवल्य प्राप्त किया। पुरुषश्रेष्ठ! पिताके देहावसानके बाद तुमने धर्मपूर्वक इस राज्यको ग्रहण किया है, जो सहस्रों वर्षोंसे कुरुकुलके अधीन चला आ रहा है। बाल्यावस्थामें ही तुम्हारा राज्याभिषेक हुआ था। तबसे तुम्हीं इस राज्यके समस्त प्राणियोंका पालन करते हो ॥ १७-१८ ॥

जनमेजय उवाच

नास्मिन् कुले जातु बभूव राजा
यो न प्रजानां प्रियकृत् प्रियश्च।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां
वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ॥१९॥

जनमेजयने पूछा—मन्त्रियो! हमारे इस कुलमें कभी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजाका प्रिय करनेवाला तथा सब लोगोंका प्रेमपात्र न रहा हो। विशेषतः महापुरुषोंके आचारमें प्रवृत्त रहनेवाले हमारे प्रपितामह पाण्डवोंके सदाचारको देखकर प्रायः सभी धर्मपरायण ही होंगे ॥ १९ ॥

कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः।
आचक्षध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥२०॥

अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरे वैसे धर्मात्मा पिताकी मृत्यु किस प्रकार हुई? आपलोग मुझसे इसका यथावत् वर्णन करें। मैं इस विषयमें सब बातें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ २० ॥

सौतिरुवाच

एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम्।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ॥२१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर उन मन्त्रियोंने महाराजसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बताया; क्योंकि वे सभी राजाका प्रिय चाहनेवाले और हितैषी थे ॥ २१ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन् पिता सदा ॥२२॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥२३॥
स कदाचिद् वनगतो मृगं विव्याध पत्रिणा।
विद्ध्वा चान्वसरत् तूर्णं तं मृगं गहने वने ॥२४॥

मन्त्री बोले—राजन्! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता भूपाल परीक्षित्का सदा महाबाहु पाण्डुकी भाँति हिंसक पशुओंको मारनेका स्वभाव था और युद्धमें वे उन्हींकी भाँति सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ सिद्ध होते थे। एक दिनकी बात है, वे सम्पूर्ण राजकार्यका भार हमलोगोंपर रखकर वनमें शिकार खेलनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने पंखयुक्त बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला। बींधकर तुरंत ही गहन वनमें उसका पीछा किया ॥ २२-२४ ॥

पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान्।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥२५॥

वे तलवार बाँधे पैदल ही चल रहे थे। उनके पास बाणोंसे भरा हुआ विशाल तूणीर था। वह घायल पशु उस घने वनमें कहीं छिप गया। तुम्हारे पिता बहुत खोजनेपर भी उसे पा न सके ॥ २५ ॥

परिश्रान्तो वयःस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥२६॥
स तं पप्रच्छ राजेन्द्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम्।
न च किंचिदुवाचैनं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ॥२७॥

प्रौढ़ अवस्था, साठ वर्षकी आयु और बुढ़ापेका संयोग इन सबके कारण वे बहुत थक गये थे। उस विशाल वनमें उन्हें भूख सताने लगी। इसी दशामें महाराजने वहाँ मुनिश्रेष्ठ शमीकको देखा। राजेन्द्र परीक्षित्ने उनसे मृगका पता पूछा; किंतु वे मुनि उस समय मौनव्रतके पालनमें संलग्न थे। उनके पूछनेपर भी महर्षि शमीक उस समय कुछ न बोले ॥ २६-२७ ॥

ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत् स्थितम्।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः ॥२८॥

वे काठकी भाँति चुपचाप, निश्चेष्ट एवं अविचल भावसे स्थित थे। यह देख भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल हुए राजा परीक्षित्को उन मौनव्रतधारी शान्त महर्षिपर तत्काल क्रोध आ गया ॥ २८ ॥

न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम्।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥२९॥

राजाको यह पता नहीं था कि महर्षि मौनव्रतधारी हैं; अतः क्रोधमें भरे हुए आपके पिताने उनका तिरस्कार कर दिया ॥

मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात्।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात् स्कन्धे भरतसत्तम ॥३०॥

भरतश्रेष्ठ! उन्होंने धनुषकी नोकसे पृथ्वीपर पड़े हुए एक

न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा।
तस्थौ तथैव चाक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन् ॥३१॥

मृत सर्पको उठाकर उन शुद्धात्मा महर्षिके कंधेपर डाल दिया॥ किंतु उन मेधावी मुनिने इसके लिये उन्हें भला या बुरा कुछ नहीं कहा। वे क्रोधरहित हो कंधेपर मरा सर्प लिये हुए पूर्ववत् शान्त-भावसे बैठे रहे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारीक्षितीये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-चरित्रविषयक उन्चासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शृङ्गी ऋषिका परीक्षित्को शाप, तक्षकका काश्यपको लौटाकर छलसे परीक्षित्को डँसना और पिताकी मृत्युका वृत्तान्त सुनकर जनमेजयकी तक्षकसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा

मन्त्रिण ऊचुः

ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम्।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं पुनराययौ ॥ १ ॥

मन्त्री बोले—राजेन्द्र! उस समय राजा परीक्षित् भूखसे पीड़ित हो शमीक मुनिके कंधेपर मृतक सर्प डालकर पुनः अपनी राजधानीमें लौट आये ॥ १ ॥

ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद् गवि जातो महायशाः।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥

उन महर्षिके शृङ्गी नामक एक महातेजस्वी पुत्र था, जिसका जन्म गायके पेटसे हुआ था। वह महान् यशस्वी, तीव्र शक्तिशाली और अत्यन्त क्रोधी था ॥ २ ॥

ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ॥ ३ ॥
सख्युः सकाशात् पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम् ॥ ४ ॥
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम्।
तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुतम्।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ॥ ६ ॥
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम्।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम्।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ॥ ७ ॥

एक दिन उसने आचार्यदेवके समीप जाकर पूजा की और उनकी आज्ञा ले वह घरको लौटा। उसी समय शृङ्गी ऋषिने अपने एक सहपाठी मित्रके मुखसे तुम्हारे पिताद्वारा अपने पिताके तिरस्कृत होनेकी बात सुनी। राजसिंह! शृङ्गी-को यह मालूम हुआ कि मेरे पिता काठकी भाँति चुपचाप बैठे थे और उनके कंधेपर मृतक सर्प डाल दिया गया। वे अब भी उस सर्पको अपने कंधेपर रखे हुए हैं। यद्यपि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था। वे मुनिश्रेष्ठ तपस्वी जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, कर्मनिष्ठ, अद्भुत शक्तिशाली, तपस्या-द्वारा कान्तिमान् शरीरवाले, अपने अङ्गोंको संयममें रखनेवाले, सदाचारी, शुभवक्ता, निश्चल भावसे स्थित, लोभरहित, क्षुद्रता-शून्य (गम्भीर), दोषदृष्टिसे रहित, वृद्ध, मौनव्रतावलम्बी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेवाले थे, तो भी आपके पिता परीक्षित्ने उनका तिरस्कार किया ॥ ३–७ ॥

शशापाथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ॥ ८ ॥

यह सब जानकर वह बाल्यावस्थामें भी बूढ़ोंका-सा तेज धारण करनेवाला महातेजस्वी ऋषिकुमार क्रोधसे आगबबूला हो उठा और उसने तुम्हारे पिताको शाप दे दिया ॥ ८ ॥

स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ९ ॥
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत्।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ॥१०॥
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥११॥

शृङ्गी तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। उसने शीघ्र ही हाथमें जल लेकर तुम्हारे पिताको लक्ष्य करके रोषपूर्वक यह बात कही—'जिसने मेरे निरपराध पितापर मरा साँप डाल दिया है, उस पापीको आजसे सात रातके बाद मेरी वाक्-शक्तिसे प्रेरित प्रचण्ड तेजस्वी विषधर तक्षक नाग कुपित हो अपनी विषाग्निसे जला देगा। देखो, मेरी तपस्याका बल' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्रास्य सोऽभवत्।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ॥१२॥

ऐसा कहकर वह बालक उस स्थानपर गया, जहाँ उसके पिता बैठे थे। पिताको देखकर उसने राजाको शाप देनेकी बात बतायी ॥ १२ ॥

स चापि मुनिशार्दूलः प्रेषयामास ते पितुः।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ॥१३॥
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ॥१४॥

तब मुनिश्रेष्ठ शमीकने तुम्हारे पिताके पास अपने शिष्य

गौरमुखको भेजा, जो सुशील और गुणवान् था। उसने विश्राम कर लेनेपर राजासे सब बातें बतायीं और महर्षिका संदेश इस प्रकार सुनाया—'भूपाल ! मेरे पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है; अतः सावधान हो जाओ ॥ १३-१४ ॥

तक्षकस्त्वां महाराज तेजसासौ दहिष्यति।
श्रुत्वा च तद् वचो घोरं पिता ते जनमेजय ॥१५॥
यत्तोऽभवत् परित्रस्तस्तक्षकात् पन्नगोत्तमात्।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ॥१६॥
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत।
तं ददर्शाथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ॥१७॥

'महाराज ! (सात दिनके बाद) तक्षक नाग तुम्हें अपने तेजसे जला देगा।' जनमेजय ! यह भयंकर बात सुनकर तुम्हारे पिता नागश्रेष्ठ तक्षकसे अत्यन्त भयभीत हो सतत सावधान रहने लगे। तदनन्तर जब सातवाँ दिन उपस्थित हुआ, तब उस दिन ब्रह्मर्षि काश्यपने राजाके समीप जानेका विचार किया। मार्गमें नागराज तक्षकने उस समय काश्यपको देखा ॥ १५–१७ ॥

तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम्।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥१८॥

विप्रवर काश्यप बड़ी उतावलीसे पैर बढ़ा रहे थे। उन्हें देखकर नागराजने (ब्राह्मणका वेष धारण करके) इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! आप कहाँ इतनी तीव्र गतिसे जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ?' ॥ १८ ॥

काश्यप उवाच

यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परिक्षिन्नाम वै द्विज।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ॥१९॥
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम्।
मयाभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥२०॥

काश्यपने कहा—ब्रह्मन् ! मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ कुरुकुलके श्रेष्ठ राजा परीक्षित् रहते हैं। सुना है कि आज ही तक्षक नाग उन्हें डँसेगा। अतः मैं तत्काल ही उन्हें नीरोग करनेके लिये जल्दी-जल्दी वहाँ जा रहा हूँ। मेरे द्वारा सुरक्षित नरेशको वह सर्प नष्ट नहीं कर सकेगा ॥ १९-२० ॥

तक्षक उवाच

किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि।
अहं स तक्षको ब्रह्मन् पश्य मे वीर्यमद्भुतम् ॥२१॥
न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम्।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद् वै वनस्पतिम् ॥२२॥

तक्षकने कहा—ब्रह्मन् ! मेरे डँसे हुए मनुष्यको जिलानेकी इच्छा आप कैसे रखते हैं। मैं ही वह तक्षक हूँ ! मेरी अद्भुत शक्ति देखिये। मेरे डँस लेनेपर उस राजाको आप जीवित नहीं कर सकते। ऐसा कहकर तक्षकने एक वृक्षको डँस लिया ॥ २१-२२ ॥

स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ॥२३॥

नागके डँसते ही वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। राजन् ! तदनन्तर काश्यपने (अपनी मन्त्र-विद्याके बलसे) उस वृक्षको पूर्ववत् जीवित (हरा-भरा) कर दिया ॥ २३ ॥

ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ॥२४॥
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ॥२५॥

अब तक्षक काश्यपको प्रलोभन देने लगा। उसने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।' तक्षकके ऐसा कहनेपर काश्यपने उससे कहा—'मैं तो वहाँ धनकी इच्छासे जा रहा हूँ।' उनके ऐसा कहनेपर तक्षकने महात्मा काश्यपसे मधुर वाणीमें कहा—॥ २४-२५ ॥

यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात् ततोऽधिकम्।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चानघ ॥२६॥

'अनघ ! तुम राजासे जितना धन पाना चाहते हो, उससे भी अधिक मुझसे ही ले लो और लौट जाओ' ॥२६॥

स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद् यावदीप्सितम् ॥२७॥

तक्षक नागकी यह बात सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ काश्यप उससे इच्छानुसार धन लेकर लौट गये ॥ २७ ॥

तस्मिन् प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ॥२८॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान् विषवह्निना।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः ॥२९॥

ब्राह्मणके चले जानेपर तक्षकने छलसे भूपालोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे धर्मात्मा पिता राजा परीक्षित्के पास पहुँचकर, यद्यपि वे महलमें सावधानीके साथ रहते थे, तो भी उन्हें अपनी विषाग्निसे भस्म कर दिया। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर विजयकी प्राप्तिके लिये तुम्हारा राजाके पदपर अभिषेक किया गया ॥

एतद् दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम् ॥३०॥

नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि यह प्रसङ्ग बड़ा ही निष्ठुर और दुःखदायक है; तथापि तुम्हारे पूछनेसे हमने सब बातें तुमसे कही हैं। यह सब कुछ हमने अपनी आँखों देखा और कानोंसे भी ठीक-ठीक सुना है ॥ ३० ॥

श्रुत्वा चैनं नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम्।
अस्य चर्षैरुतङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥३१॥

महाराज ! इस प्रकार तक्षकने तुम्हारे पिता राजा परीक्षित्‌का तिरस्कार किया है। इन महर्षि उत्तङ्कको भी उसने बहुत तंग किया है। यह सब तुमने सुन लिया, अब तुम जैसा उचित समझो, करो ॥ ३१ ॥

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिन्दमः ॥३२॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! उस समय शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा जनमेजय अपने सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—॥ ३२ ॥

जनमेजय उवाच

अथ तत् कथितं केन यद् वृत्तं तद् वनस्पतौ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ॥३३॥
यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥३४॥

जनमेजयने कहा—उस वृक्षके डँसे जाने और फिर हरे होनेकी बात आपलोगोंसे किसने कही ? उस समय तक्षकके काटनेसे जो वृक्ष राखका ढेर बन गया था, उसे काश्यपने पुनः जिलाकर हरा-भरा कर दिया। यह सब लोगोंके लिये बड़े आश्चर्यकी बात है। यदि काश्यपके आ जानेसे उनके मन्त्रोंद्वारा तक्षकका विष नष्ट कर दिया जाता तो निश्चय ही मेरे पिताजी बच जाते ॥ ३३-३४ ॥

चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ॥३५॥
तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम्।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ॥३६॥

परंतु उस पापात्मा नीच सर्पने अपने मनमें यह सोचा होगा—'यदि मेरे डँसे हुए राजाको ब्राह्मण जिला देंगे तो लोग कहेंगे कि तक्षकका विष भी नष्ट हो गया। इस प्रकार तक्षक लोकमें उपहासका पात्र बन जायगा।' अवश्य ही ऐसा सोचकर उसने ब्राह्मणको धनके द्वारा संतुष्ट किया था ॥ ३५-३६ ॥

भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम्।
एकं तु श्रोतुमिच्छामि तद् वृत्तं निर्जने वने ॥३७॥
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च कस्तदा।
श्रुतवान् दृष्टवांश्चापि भवत्सु कथमागतम्।
श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ॥३८॥

अच्छा, भविष्यमें प्रयत्नपूर्वक कोई-न-कोई उपाय करके तक्षकको इसके लिये दण्ड दूँगा। परंतु एक बात मैं सुनना चाहता हूँ। नागराज तक्षक और काश्यप ब्राह्मणका वह संवाद तो निर्जन वनमें हुआ होगा। यह सब वृत्तान्त किसने देखा और सुना था ? आपलोगोंतक यह बात कैसे आयी ? यह सब सुनकर मैं सर्पोंके नाशका विचार करूँगा। ३७-३८।

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु राजन् यथास्माकं येन तत् कथितं पुरा।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि ॥३९॥
तस्मिन् वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव।
विचिन्वन् पूर्वमारूढः शुष्कशाखां वनस्पतौ ॥४०॥

मन्त्री बोले—राजन् ! सुनो, विप्रवर काश्यप और नागराज तक्षकका मार्गमें एक-दूसरेके साथ जो समागम हुआ था, उसका समाचार जिसने और जिस प्रकार हमारे सामने बताया था, उसका वर्णन करते हैं। भूपाल ! उस वृक्षपर पहलेसे ही कोई मनुष्य लकड़ी लेनेके लिये सूखी डाली खोजता हुआ चढ़ गया था ॥ ३९-४० ॥

न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ॥४१॥

तक्षक नाग और ब्राह्मण—दोनों ही नहीं जानते थे कि इस वृक्षपर कोई दूसरा मनुष्य भी है। राजन् ! तक्षकके काटनेपर उस वृक्षके साथ ही वह मनुष्य भी जलकर भस्म हो गया था ॥ ४१ ॥

द्विजप्रभावाद् राजेन्द्र व्यजीवत् सवनस्पतिः।
तेनागम्य नरश्रेष्ठ पुंसास्मासु निवेदितम् ॥४२॥

परंतु राजेन्द्र ! ब्राह्मणके प्रभावसे वह भी उस वृक्षके साथ जी उठा। नरश्रेष्ठ ! उसी मनुष्यने आकर हमलोगोंसे तक्षक और ब्राह्मणकी जो घटना थी, वह सुनायी ॥ ४२ ॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च।
एतत् ते कथितं राजन् यथा दृष्टं श्रुतं च यत्।
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ॥४३॥

राजन् ! इस प्रकार हमने जो कुछ सुना और देखा है, वह सब तुम्हें कह सुनाया। भूपाल-शिरोमणे ! यह सुनकर अब तुम्हें जैसा उचित जान पड़े, वह करो ॥ ४३ ॥

सौतिरुवाच

मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः।
पर्यतप्यत दुःखार्तः प्रत्यपिंषत् करं करे ॥४४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—मन्त्रियोंकी बात सुनकर राजा जनमेजय दुःखसे आतुर हो संतप्त हो उठे और कुपित होकर हाथसे हाथ मलने लगे ॥ ४४ ॥

निःश्वासमुष्णमसकृद् दीर्घं राजीवलोचनः।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन् नृपः ॥४५॥

वे बारम्बार लम्बी और गरम साँस छोड़ने लगे। कमलके

समान नेत्रोंवाले राजा जनमेजय उस समय नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४५ ॥

उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः ।
दुर्धरं वाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चापो यथाविधि ॥४६॥
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः ।
अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ॥४७॥

राजाने दो घड़ीतक ध्यान करके मन-ही-मन कुछ निश्चय किया, फिर दुःख-शोक और अमर्षमें डूबे हुए नरेश न थमनेवाले आँसुओंकी अविच्छिन्न धारा बहाते हुए विधिपूर्वक जलका स्पर्श करके सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले ॥ ४६-४७ ॥

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति ।
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत ।
अनन्तरं च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ॥४८॥
प्रतिकर्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता ।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ॥४९॥

जनमेजयने कहा—मन्त्रियो ! मेरे पिताके स्वर्गलोक-गमनके विषयमें आपलोगोंका यह वचन सुनकर मैंने अपनी बुद्धिद्वारा जो कर्तव्य निश्चित किया है, उसे आप सुन लें। मेरा विचार है, उस दुरात्मा तक्षकसे तुरंत बदला लेना चाहिये जिसने शृङ्गी ऋषिको निमित्तमात्र बनाकर स्वयं ही मेरे पिता महाराजको अपनी विषाग्निसे दग्ध करके मारा है ॥४८-४९॥

इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्तयत् ।
यदाऽऽगच्छेत् स वै विप्र ननु जीवेत् पिता मम ॥५०॥

उसकी सबसे बड़ी दुष्टता यह है कि उसने काश्यपको लौटा दिया। यदि वे ब्राह्मणदेवता आ जाते तो मेरे पिता निश्चय ही जीवित हो सकते थे ॥ ५० ॥

परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत् स पार्थिवः ।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ॥५१॥

यदि मन्त्रियोंके विनय और काश्यपके कृपाप्रसादसे महाराज जीवित हो जाते तो इसमें उस दुष्टकी क्या हानि हो जाती ? ॥५१॥

स तु वारितवान् मोहात् काश्यपं द्विजसत्तमम् ।
संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥५२॥

जो कहीं भी परास्त न होते थे, ऐसे मेरे पिता राजा परीक्षित्‌को जीवित करनेकी इच्छासे द्विजश्रेष्ठ काश्यप आ पहुँचे थे, किंतु तक्षकने मोहवश उन्हें रोक दिया ॥ ५२ ॥

महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः ।
द्विजस्य योऽददद् द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥५३॥

दुरात्मा तक्षकका यह सबसे बड़ा अपराध है कि उसने ब्राह्मणदेवको इसलिये धन दिया कि वे महाराजको जिला न दें॥

उत्तङ्कस्य प्रियं कर्तुमात्मनश्च महत् प्रियम् ।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ॥५४॥

इसलिये मैं महर्षि उत्तङ्कका, अपना तथा आप सब लोगोंका अत्यन्त प्रिय करनेके लिये पिताके वैरका अवश्य बदला लूँगा ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारिक्षितमन्त्रिसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजय और मन्त्रियोंका संवाद-विषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पयज्ञका उपक्रम

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान् मन्त्रिभिश्चानुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! श्रीमान् राजा जनमेजयने जब ऐसा कहा, तब उनके मन्त्रियोंने भी उस बातका समर्थन किया। तत्पश्चात् राजा सर्पयज्ञ करनेकी प्रतिज्ञापर आरूढ़ हो गये ॥ १ ॥

ब्रह्मन् भरतशार्दूलो राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुरोहितमथाहूय ऋत्विजो वसुधाधिपः ॥ २ ॥
अब्रवीद् वाक्यसम्पन्नः कार्यसम्पत्करं वचः ।

ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण वसुधाके स्वामी भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ परीक्षित्‌कुमार राजा जनमेजयने उस समय पुरोहित तथा ऋत्विजोंको बुलाकर कार्य सिद्ध करनेवाली बात कही—॥२½॥

यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ॥ ३ ॥
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे ।
अपि तत् कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ॥ ४ ॥
तक्षकं सम्प्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम् ।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ५ ॥

'ब्राह्मणो ! जिस दुरात्मा तक्षकने मेरे पिताकी हत्या की है, उससे मैं उसी प्रकारका बदला लेना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे क्या करना चाहिये, यह आपलोग बतावें। क्या आपलोगों-

को ऐसा कोई कर्म विदित है जिसके द्वारा मैं तक्षक नागको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित जलती हुई आगमें झोंक सकूँ ? उसने अपनी विषाग्निसे पूर्वकालमें मेरे पिताको जिस प्रकार दग्ध किया था, उसी प्रकार मैं भी उस पापी सर्पको जलाकर भस्म कर देना चाहता हूँ' ॥ ३—५ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अस्ति राजन् महत् सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ॥ ६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—राजन्! इसके लिये एक महान् यज्ञ है, जिसका देवताओंने आपके लिये पहलेसे ही निर्माण कर रक्खा है। उसका नाम है सर्पसत्र ! पुराणोंमें उसका वर्णन आया है ॥

आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! उस यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है—ऐसा पौराणिक विद्वान् कहते हैं। उस यज्ञका विधान हमलोगोंको मालूम है ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ८ ॥

साधुशिरोमणे! ऋत्विजोंके ऐसा कहनेपर राजर्षि जनमेजय-को विश्वास हो गया कि अब तक्षक निश्चय ही प्रज्वलित अग्निके मुखमें समाकर भस्म हो जायगा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान् राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत् सत्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे ॥ ९ ॥

तब राजाने उस समय उन मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे कहा—'मैं उस यज्ञका अनुष्ठान करूँगा। आपलोग उसके लिये आवश्यक सामग्री संग्रह कीजिये' ॥ ९ ॥

ततस्ते ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ॥ १० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! तब उन ऋत्विजोंने शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञमण्डप बनानेके लिये वहाँकी भूमि नाप ली ॥ १० ॥

यथावद् वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परं गताः ।
ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ॥११॥
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम् ।
निर्माय चापि विधिवद् यज्ञायतनमीप्सितम् ॥१२॥
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा ।
इदं चासीत् तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ॥१३॥

वे सभी ऋत्विज वेदोंके यथावत् विद्वान् तथा परम बुद्धिमान् थे। उन्होंने विधिपूर्वक मनके अनुरूप एक यज्ञ-मण्डप बनाया, जो परम समृद्धिसे सम्पन्न, उत्तम द्विजोंके समुदायसे सुशोभित, प्रचुर धनधान्यसे परिपूर्ण तथा ऋत्विजोंसे सुसेवित था। उस यज्ञमण्डपका निर्माण कराकर ऋत्विजोंने सर्पयज्ञकी सिद्धिके लिये उस समय राजा जनमेजयको दीक्षा दी। इसी समय जब कि सर्पसत्र अभी प्रारम्भ होनेवाला था, वहाँ पहले ही यह घटना घटित हुई ॥ ११—१३ ॥

निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ।
यज्ञस्यायतने तस्मिन् क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥१४॥
स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः ।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥१५॥

उस यज्ञमें विघ्न डालनेवाला बहुत बड़ा कारण प्रकट हो गया। जब वह यज्ञमण्डप बनाया जा रहा था, उस समय वास्तुशास्त्रके पारङ्गत विद्वान्, बुद्धिमान् एवं अनुभवी सूत्रधार शिल्पवेत्ता सूतने वहाँ आकर कहा—॥१४-१५॥

यस्मिन् देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ॥१६॥

'जिस स्थान और समयमें यह यज्ञमण्डप मापनेकी क्रिया प्रारम्भ हुई है, उसे देखकर यह मालूम होता है कि एक ब्राह्मणको निमित्त बनाकर यह यज्ञ पूर्ण न हो सकेगा' ॥१६॥

एतच्छ्रुत्वा तु राजासौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत् ।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥१७॥

यह सुनकर राजा जनमेजयने दीक्षा लेनेसे पहले ही सेवकको यह आदेश दे दिया—'मुझे सूचित किये बिना किसी अपरिचित व्यक्तिको यज्ञमण्डपमें प्रवेश न करने दिया जाय' ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रमसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पसत्रका आरम्भ और उसमें सर्पोंका विनाश

सौतिरुवाच

ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत् स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! तदनन्तर सर्प-यज्ञकी विधिसे कार्य प्रारम्भ हुआ। सब याजक विधिपूर्वक अपने-अपने कर्ममें संलग्न हो गये ॥ १ ॥

प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूमसंरक्तलोचनाः ।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ २ ॥

सबकी आँखें धूएँसे लाल हो रही थीं । वे सभी ऋत्विज काले वस्त्र पहनकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें होम करने लगे ॥ २ ॥

कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च ।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ ३ ॥

वे समस्त सर्पोंके हृदयमें कँपकँपी पैदा करते हुए उनके नाम ले-लेकर उन सबका वहाँ आगके मुखमें होम करने लगे ॥

ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने ।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् सर्पगण तड़फड़ाते और दीनस्वरमें एक दूसरेको पुकारते हुए प्रज्वलित अग्निमें टपाटप गिरने लगे ॥ ४ ॥

विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम् ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥

वे उछलते, लम्बी साँसें लेते, पूँछ और फनोंसे एक-दूसरेको लपेटते हुए धधकती आगके भीतर अधिकाधिक संख्यामें गिरने लगे ॥ ५ ॥

श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
नदन्तो विविधान् नादान् पेतुर्दीप्ते विभावसौ ॥ ६ ॥

सफेद, काले, नीले, बूढ़े और बच्चे सभी प्रकारके सर्प विविध प्रकारसे चीत्कार करते हुए जलती आगमें विवश होकर गिर रहे थे ॥ ६ ॥

क्रोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः ।
पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावग्निमतां वर ॥ ७ ॥

कोई एक कोस लम्बे थे, तो कोई चार कोस और किन्हीं-किन्हींकी लम्बाई तो केवल गायके कानके बराबर थी । अग्निहोत्रियोंमें श्रेष्ठ शौनक ! वे छोटे-बड़े सभी सर्प बड़े वेगसे आगकी ज्वालामें निरन्तर आहुति बन रहे थे ॥ ७ ॥

एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ॥ ८ ॥

इस प्रकार लाखों, करोड़ों तथा अरबों सर्प वहाँ विवश होकर नष्ट हो गये ॥ ८ ॥

तुरगा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ॥ ९ ॥

कुछ सर्पोंकी आकृति घोड़ोंके समान थी और कुछकी हाथीकी सूँड़के सदृश । कितने ही विशालकाय महाबली नाग मतवाले गजराजोंको मात कर रहे थे ॥ ९ ॥

उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ।
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः ॥१०॥

भयंकर विषवाले छोटे-बड़े अनेक रंगके बहुसंख्यक सर्प, जो देखनेमें भयानक, परिघके समान मोटे, अकारण ही डँस लेनेवाले और अत्यन्त शक्तिशाली थे, अपनी माताके शापसे पीड़ित होकर स्वयं ही आगमें पड़ रहे थे ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रम-विषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपचाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञके ऋत्विजोंकी नामावली, सर्पोंका भयंकर विनाश, तक्षकका इन्द्रकी शरणमें जाना तथा वासुकिका अपनी बहनसे आस्तीकको यज्ञमें भेजनेके लिये कहना

शौनक उवाच

सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः ।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें कौन-कौन-से महर्षि ऋत्विज बने थे ? ॥ १ ॥

के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे ।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥

उस अत्यन्त भयंकर सर्पसत्रमें, जो सर्पोंके लिये महान् भयदायक और विषादजनक था, कौन-कौन-से मुनि सदस्य हुए थे ? ॥ २ ॥

सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हति ।
सर्पसत्रविधानज्ञविज्ञेयाः के च सूतज ॥ ३ ॥

तात ! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक बताइये । सूतपुत्र ! यह भी सूचित कीजिये कि सर्पसत्रकी विधिको जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ समझे जानेयोग्य कौन-कौन-से महर्षि वहाँ उपस्थित थे ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम् ।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन् नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥
तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः ।
च्यवनस्यान्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥

उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सोऽथ जैमिनिः।
ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवोऽथाध्वर्युश्चापि पिङ्गलः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! मैं आपको उन मनीषी महात्माओंके नाम बता रहा हूँ, जो उस समय राजा जनमेजयके ऋत्विज और सदस्य थे। उस यज्ञमें वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण चण्डभार्गव होता थे। उनका जन्म च्यवन मुनिके वंशमें हुआ था। वे उस समयके विख्यात कर्मकाण्डी थे। वृद्ध एवं विद्वान् ब्राह्मण कौत्स उद्गाता, जैमिनि ब्रह्मा तथा शार्ङ्गरव और पिङ्गल अध्वर्यु थे ॥ ४–६ ॥

सदस्यश्चाभवद् व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान्।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥ ७ ॥
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान्।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभः ॥ ९ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
सदस्याश्चाभवंस्तत्र सत्रे पारीक्षितस्य ह ॥१०॥

इसी प्रकार पुत्र और शिष्योंसहित भगवान् वेदव्यास, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिङ्गल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड, जठर, द्विजश्रेष्ठ कालघट, वात्स्य, जप और स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले बूढ़े श्रुतश्रवा, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य तथा समसौरभ—ये और अन्य बहुत-से वेदविद्याके पारङ्गत ब्राह्मण जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें सदस्य बने थे ॥ ७–१० ॥

जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥११॥

उस समय उस महान् यज्ञ सर्पसत्रमें ज्यों-ज्यों ऋत्विज लोग आहुतियाँ डालते, त्यों-त्यों प्राणिमात्रको भय देनेवाले घोर सर्प वहाँ आ-आकर गिरते थे ॥ ११ ॥

वसामेदोवहाः कुल्या नागानां सम्प्रवर्तिताः।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥१२॥

नागोंकी चर्बी और मेदसे भरे हुए कितने ही नाले बह चले। निरन्तर जलनेवाले सर्पोंकी तीखी दुर्गन्ध चारों ओर फैल रही थी ॥ १२ ॥

पततां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाम्बरे।
अश्रूयतानिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ॥१३॥

जो आगमें पड़ रहे थे, जो आकाशमें ठहरे हुए थे और जो जलती हुई आगकी ज्वालामें पक रहे थे, उन सभी सर्पोंका करुण क्रन्दन निरन्तर जोर-जोरसे सुनायी पड़ता था ॥ १३ ॥

तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम्।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥१४॥

नागराज तक्षकने जब सुना कि राजा जनमेजयने सर्पयज्ञकी दीक्षा ली है, तब उसे सुनते ही वह देवराज इन्द्रके भवनमें चला गया ॥ १४ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः।
अगच्छच्छरणं भीत आगः कृत्वा पुरन्दरम् ॥१५॥

वहाँ उसने सब बातें ठीक-ठीक कह सुनायीं। फिर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षकने अपराध करनेके कारण भयभीत हो इन्द्रदेवकी शरण ली ॥ १५ ॥

तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक।
भयं नागेन्द्र तस्माद् वै सर्पसत्रात् कदाचन ॥१६॥

तब इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—'नागराज तक्षक! तुम्हें यहाँ उस सर्पयज्ञसे कदापि कोई भय नहीं है ॥१६॥

प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः।
तस्मात् तव भयं नास्ति व्येतु ते मनसो ज्वरः ॥१७॥

'तुम्हारे लिये मैंने पहलेसे ही पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया है; अतः तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच

एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः।
उवास भवने तस्मिञ्छक्रस्य मुदितः सुखी ॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षक उस इन्द्रभवनमें ही सुखी एवं प्रसन्न होकर रहने लगा ॥ १८ ॥

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥१९॥

नाग निरन्तर उस यज्ञकी आगमें आहुति बनते जा रहे थे। सर्पोंका परिवार अब बहुत थोड़ा बच गया था। यह देख वासुकि नाग अत्यन्त दुखी हो मन-ही-मन संतप्त होने लगे ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥२०॥

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकिपर भयानक मोह-सा छा गया, उनके हृदयमें चक्कर आने लगा। अतः वे अपनी बहिनसे इस प्रकार बोले— ॥ २० ॥

दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च।
सीदामीव च सम्मोहाद् घूर्णतीव च मे मनः ॥२१॥
दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च।
पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन् दीप्ते विभावसौ ॥२२॥

'भद्रे! मेरे अङ्गोंमें जलन हो रही है। मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं। मैं शिथिल-सा हो रहा हूँ और मोहवश मेरे मस्तिष्कमें चक्कर-सा आ रहा है, मेरे नेत्र घूम रहे हैं,

हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होता जा रहा है । जान पड़ता है, आज मैं भी विवश होकर उस यज्ञकी प्रज्वलित अग्निमें गिर पड़ूँगा ॥ २१-२२ ॥

पारिक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्मज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयापि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ॥२३॥

'जनमेजयका वह यज्ञ हमलोगोंकी हिंसाके लिये ही हो रहा है । निश्चय ही अब मुझे भी यमलोक जाना पड़ेगा ॥२३॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वास्मान् सबान्धवान् ॥२४॥

'बहिन ! जिसके लिये मैंने तुम्हारा विवाह जरत्कारु मुनिसे किया था, उसका यह अवसर आ गया है । तुम बान्धवोंसहित हमारी रक्षा करो ॥ २४ ॥

आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिषेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥२५॥

'श्रेष्ठ नागकन्ये ! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने मुझसे कहा था—'आस्तीक उस यज्ञको बंद कर देगा' ॥ २५ ॥

तद् वत्से ब्रूहि वत्सं कुमारं वृद्धसम्मतम् ।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥२६॥

'अतः वत्से ! आज तुम बन्धु-बान्धवोंसहित मेरे जीवनको संकटसे छुड़ानेके लिये वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र कुमार आस्तीकसे कहो । वह बालक होनेपर भी वृद्ध पुरुषोंके लिये भी आदरणीय है' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे वासुकिवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रके विषयमें वासुकिवचन-सम्बन्धी तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५३॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

माताकी आज्ञासे मामाको सान्त्वना देकर आस्तीकका सर्पयज्ञमें जाना

सौतिरुवाच

तत आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब नागकन्या जरत्कारु नागराज वासुकिके कथनानुसार अपने पुत्रको बुलाकर इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चायं सम्प्राप्तस्तत् कुरुष्व यथाकथम् ॥ २ ॥

'बेटा ! मेरे भैयाने एक निमित्तको लेकर तुम्हारे पिताके साथ मेरा विवाह किया था । उसकी पूर्तिका यही उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है । अतः तुम यथावत्‌रूपसे उस उद्देश्यकी पूर्ति करो' ॥ २ ॥

आस्तीक उवाच

किं निमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्तास्मि तत् तथा ॥ ३ ॥

आस्तीकने पूछा—मा ! मामाजीने किस निमित्तको लेकर पिताजीके साथ तुम्हारा विवाह किया था ? वह मुझे ठीक-ठीक बताओ । उसे सुनकर मैं उसकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करूँगा ॥३॥

सौतिरुवाच

तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी ।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाली नागराजकी बहिन जरत्कारु शान्तचित्त हो आस्तीकसे बोली ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच

पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता ।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥

जरत्कारुने कहा—वत्स ! सम्पूर्ण नागोंकी माता कद्रू नामसे विख्यात हैं । उन्होंने किसी समय रुष्ट होकर अपने पुत्रोंको शाप दे दिया था । जिस कारणसे वह शाप दिया, वह बताती हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम ।
विनतार्थाय पणिते दासीभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥ ७ ॥

(अश्वोंका राजा जो उच्चैःश्रवा है, उसके रंगको लेकर विनताके साथ कद्रूने बाजी लगायी थी । उसमें यह शर्त थी 'जो हारे वह जीतनेवालीकी दासी बने' । कद्रू उच्चैःश्रवाकी पूँछ काली बता चुकी थी । अतः उसने अपने पुत्रोंसे कहा—'तुम लोग छलपूर्वक उस घोड़ेकी पूँछ काले रंगकी कर दो ।' सर्प इससे सहमत न हुए । तब उन्होंने सर्पोंको शाप देते हुए कहा—) 'पुत्रो ! तुमलोगोंने मेरे कहनेसे अश्वराज उच्चैःश्रवाकी पूँछका रंग न बदल कर विनताके साथ जो मेरी दासी होनेकी शर्त थी, उसमें—उस घोड़ेके सम्बन्धमें विनताके कथनको मिथ्या नहीं कर दिखाया, इसलिये जनमेजयके यज्ञमें तुमलोगोंको आग जलाकर भस्म कर देगी और तुम सभी मरकर प्रेतलोकको चले जाओगे' ॥ ६-७ ॥

तां च शप्तवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं प्रोवाचानुममोद च ॥ ८ ॥

कद्रूने जब इस प्रकार शाप दे दिया, तब साक्षात् लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने 'एवमस्तु' कहकर उनके वचनका अनुमोदन किया ॥ ८ ॥

वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा ।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान् ॥ ९ ॥

तात ! मेरे भाई वासुकिने भी उस समय पितामहकी बात सुनी थी । फिर अमृत-मन्थनका कार्य हो जानेपर वे देवताओंकी शरणमें गये ॥ ९ ॥

सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन् ॥१०॥
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसम्भवम् ।
राज्ञा वासुकिना सार्धं शापोऽसौ न भवेदिति ॥११॥

देवतालोग मेरे भाईकी सहायतासे उत्तम अमृत पाकर अपना मनोरथ सिद्ध कर चुके थे । अतः वे मेरे भाईको आगे करके पितामह ब्रह्माजीके पास गये । वहाँ समस्त देवताओंने नागराज वासुकिके साथ रहकर पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया । उन्हें प्रसन्न करनेका उद्देश्य यह था कि माताका वह शाप लागू न हो ॥

देवा ऊचुः

वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात् ।
अभिशापः स मातुस्तु भगवन् न भवेत् कथम् ॥१२॥

देवता बोले—भगवन् ! ये नागराज वासुकि अपने जाति-भाइयोंके लिये बहुत दुखी हैं । कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे माताका शाप इन लोगोंपर लागू न हो ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोक्षयिष्यति पन्नगान् ॥१३॥

ब्रह्माजीने कहा—जरत्कारु मुनि जरत्कारु नामवाली जिस पत्नीको ग्रहण करेंगे, उसके गर्भसे उत्पन्न ब्राह्मण सर्पोंको माताके शापसे मुक्त करेगा ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः ।
प्रादान्मामरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ॥१४॥
प्रागेवानागते काले तस्मात् त्वं मय्यजायथाः ।
अयं स कालः सम्प्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ॥१५॥
भ्रातरं चापि मे तस्मात् त्रातुमर्हसि पावकात् ।
न मोघं तु कृतं तत् स्याद् यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥१६॥

देवताके समान तेजस्वी पुत्र ! ब्रह्माजीकी वह बात सुनकर नागश्रेष्ठ वासुकिने मुझे तुम्हारे महात्मा पिताकी सेवामें समर्पित कर दिया । यह अवसर आनेसे बहुत पहले इसी निमित्तसे मेरा विवाह किया गया । तदनन्तर उन महर्षिद्वारा मेरे गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ । जनमेजयके सर्पयज्ञका वह पूर्वनिर्दिष्ट काल आज उपस्थित है (उस यज्ञमें निरन्तर सर्प जल रहे हैं), अतः उस भयसे तुम उन सबका उद्धार करो । मेरे भाईको भी उस भयंकर अग्निसे बचा लो । जिस उद्देश्यको लेकर तुम्हारे बुद्धिमान् पिताकी सेवामें मैं दी गयी, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये । अथवा बेटा ! सर्पोंको इस संकटसे बचानेके लिये तुम क्या उचित समझते हो ? ॥ १४-१६ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सास्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥१७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—माताके ऐसा कहनेपर आस्तीकने उससे कहा—'मा ! तुम्हारी जैसी आज्ञा है वैसा ही करूँगा ।' इसके बाद वे दुःखपीड़ित वासुकिको जीवनदान देते हुए-से बोले—॥ १७ ॥

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१८॥

महान् शक्तिशाली नागराज वासुके ! मैं आपको माताके उस शापसे छुड़ा दूँगा । यह आपसे सत्य कहता हूँ ॥१८॥

भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा राजन् यथा श्रेयो भविष्यति ॥१९॥

'नागप्रवर ! आप निश्चिन्त रहें । आपके लिये कोई भय नहीं है । राजन् ! जैसे भी आपका कल्याण होगा, मैं वैसा प्रयत्न करूँगा ॥ १९ ॥

न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ॥२०॥
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ॥२१॥

'मैंने कभी हँसी-मजाकमें भी झूठी बात नहीं कही है, फिर इस संकटके समय तो कह ही कैसे सकता हूँ । सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मामाजी ! सर्पयज्ञके लिये दीक्षित नृपश्रेष्ठ जनमेजयके पास जाकर अपनी मङ्गलमयी वाणीसे आज उन्हें ऐसा संतुष्ट करूँगा, जिससे राजाका वह यज्ञ बंद हो जायगा ॥

स सम्भावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥२२॥

'महाबुद्धिमान् नागराज ! मुझमें यह सब कुछ करनेकी योग्यता है, आप इसपर विश्वास रक्खें । आपके मनमें मेरे प्रति जो आशा-भरोसा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥

वासुकिरुवाच

आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥२३॥

वासुकि बोले—आस्तीक! माताके शापरूप ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण मुझे चक्कर आ रहा है, मेरा हृदय विदीर्ण होने लगा है और मुझे दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है। २३।

आस्तीक उवाच

न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित् पन्नगोत्तम।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥२४॥

आस्तीकने कहा—नागप्रवर! आपको मनमें किसी प्रकार संताप नहीं करना चाहिये। सर्पयज्ञकी धधकती हुई आगसे जो भय आपको प्राप्त हुआ है, मैं उसका नाश कर दूँगा॥

ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम्।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ॥२५॥

कालाग्निके समान दाहक और अत्यन्त भयंकर शापका यहाँ मैं अवश्य नाश कर डालूँगा। अतः आप उससे किसी तरह भय न करें ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच

ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम्।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ॥२६॥
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥२७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर नागराज वासुकिके भयंकर चिन्ता-ज्वरको दूर कर और उसे अपने ऊपर लेकर द्विजश्रेष्ठ आस्तीक बड़ी उतावलीके साथ नागराज वासुकि आदिको प्राण-संकटसे छुड़ानेके लिये राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें गये, जो समस्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न था ॥ २६-२७ ॥

स गत्वापश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम्।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥२८॥

वहाँ पहुँचकर आस्तीकने परम उत्तम यज्ञमण्डप देखा, जो सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी अनेक सदस्योंसे भरा हुआ था॥

स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन् द्विजसत्तमः।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परंतपः ॥२९॥

द्विजश्रेष्ठ आस्तीक जब यज्ञमण्डपमें प्रवेश करने लगे, उस समय द्वारपालोंने उन्हें रोक दिया। तब काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संतप्त करनेवाले आस्तीक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा रखकर उस यज्ञकी स्तुति करने लगे ॥ २९ ॥

स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्ति-
मृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाग्निम् ॥३०॥

इस प्रकार उस परम उत्तम यज्ञमण्डपके निकट पहुँचकर पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने अक्षय कीर्तिसे सुशोभित यजमान राजा जनमेजय, ऋत्विजों, सदस्यों तथा अग्निदेवका स्तवन आरम्भ किया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीकागमने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रमें आस्तीकका आगमन-विषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आस्तीकके द्वारा यजमान, यज्ञ, ऋत्विज, सदस्यगण और अग्निदेवकी स्तुति-प्रशंसा

आस्तीक उवाच

सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः
प्रजापतेर्यज्ञ आसीत् प्रयागे।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ १ ॥

आस्तीकने कहा—भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! चन्द्रमाका जैसा यज्ञ हुआ था, वरुणने जैसा यज्ञ किया था और प्रयागमें प्रजापति ब्रह्माजीका यज्ञ जिस प्रकार समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारा यह यज्ञ भी उत्तम गुणोंसे युक्त है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥१॥

शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्त-
स्तथा पूरोस्तुल्यसंख्यं शतं वै।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ २ ॥

भरतकुलशिरोमणि परीक्षित्‌कुमार! इन्द्रके यज्ञोंकी संख्या सौ बतायी गयी है, राजा पूरुके यज्ञोंकी संख्या भी उनके समान ही सौ है। उन सबके यज्ञोंके तुल्य ही तुम्हारा यह यज्ञ शोभा पा रहा है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥२॥

यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च
यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

जनमेजय! यमराजका यज्ञ, हरिमेधाका यज्ञ तथा राजा रन्तिदेवका यज्ञ जिस प्रकार श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न था, वैसे ही तुम्हारा यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥३॥

गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो
यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ४ ॥

भरतवंशियोंमें अग्रगण्य जनमेजय ! महाराज गयका यज्ञ, राजा शशबिन्दुका यज्ञ तथा राजाधिराज कुबेरका यज्ञ जिस प्रकार उत्तम विधि-विधानसे सम्पन्न हुआ था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ४ ॥

नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद्
यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ५ ॥

परीक्षित्कुमार ! राजा नृग, राजा अजमीढ और महाराज दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार यज्ञ किया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥५॥

यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनो-
र्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! अजमीढवंशी धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरके यज्ञकी ख्याति स्वर्गके श्रेष्ठ देवताओंने भी सुन रक्खी थी, वैसा ही तुम्हारा भी यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ६ ॥

कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य
स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ७ ॥

भरताग्रगण्य जनमेजय ! सत्यवतीनन्दन व्यासजीका यज्ञ जिसमें उन्होंने स्वयं सब कार्य सम्पन्न किया था, जैसा हो पाया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ७ ॥

इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः
समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य
दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत् कदाचित् ॥ ८ ॥

तुम्हारे ये ऋत्विज सूर्यके समान तेजस्वी हैं और इन्द्रके यज्ञकी भाँति तुम्हारे इस यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं ! कोई भी ऐसी जानने योग्य वस्तु नहीं है जिसका इन्हें ज्ञान न हो। इन्हें दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं हो सकता॥

ऋत्विक् समो नास्ति लोकेषु चैव
द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे।
एतस्य शिष्या क्षितिमाचरन्ति
सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥ ९ ॥

द्वैपायन व्यासजीके समान पारलौकिक साधनोंमें कुशल दूसरा कोई ऋत्विज नहीं है, यह मेरा निश्चित मत है। इनके शिष्य ही अपने-अपने कर्मोंमें निपुण होता, उद्गाता आदि सभी प्रकारके ऋत्विज हैं, जो यज्ञ करानेके लिये सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचरते रहते हैं ॥ ९ ॥

विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा
हिरण्यरेता हुतभुक् कृष्णवर्त्मा।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो
हव्यं तवेदं हुतभुग् वष्टि देवः ॥१०॥

जो विभावसु, चित्रभानु, महात्मा हिरण्यरेता, हविष्यभोजी तथा कृष्णवर्त्मा कहलाते हैं, वे अग्निदेव तुम्हारे इस यज्ञमें दक्षिणावर्त शिखाओंसे प्रज्वलित हो दी हुई आहुतिको भोग लगाते हुए तुम्हारे इस हविष्यकी सदा इच्छा रखते हैं ॥१०॥

नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके
समो नृपः पालयिता प्रजानाम्।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाहं
त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा ॥११॥

इस मृत्युलोकमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा राजा नहीं है, जो तुम्हारी भाँति प्रजाका पालन कर सके। तुम्हारे धैर्यसे मेरा मन सदा प्रसन्न रहता है। तुम साक्षात् वरुण, धर्मराज एवं यमके समान प्रभावशाली हो ॥ ११ ॥

शक्रः साक्षाद् वज्रपाणिर्यथेह
त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम्।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके
न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ॥१२॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! जैसे साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस लोकमें हम प्रजावर्गके पालक माने गये हो। संसारमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भूपाल तुम-जैसा प्रजापालक नहीं है ॥ १२ ॥

खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प
ययातिमान्धातृसमप्रभाव।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा
भीष्मो यथा राजसि सुव्रतस्त्वम् ॥१३॥

राजन् ! तुम खट्वाङ्ग, नाभाग और दिलीपके समान प्रतापी हो। तुम्हारा प्रभाव राजा ययाति और मान्धाताके समान है। तुम अपने तेजसे भगवान् सूर्यके प्रचण्ड तेजकी समानता कर रहे हो। जैसे भीष्मपितामहने उत्तम ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी इस यज्ञमें परम उत्तम व्रतका पालन करते हुए शोभा पा रहे हो ॥ १३ ॥

वाल्मीकिवत् ते निभृतं स्ववीर्यं
वसिष्ठवत् ते नियतश्च कोपः।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे
द्युतिश्च नारायणवद् विभाति ॥१४॥

महर्षि वाल्मीकिकी भाँति तुम्हारा अद्भुत पराक्रम तुममें ही छिपा हुआ है। महर्षि वसिष्ठजीके समान तुमने अपने क्रोधको काबूमें कर रक्खा है। मेरी ऐसी मान्यता है कि तुम्हारा प्रभुत्व इन्द्रके ऐश्वर्यके तुल्य है और तुम्हारी अङ्गकान्ति भगवान् नारायणके समान सुशोभित होती है॥ १४॥

यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः
कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां
निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम्॥१५॥

तुम यमराजकी भाँति धर्मके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले हो। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति सर्वगुणसम्पन्न हो। वसुगणोंके पास जो सम्पत्तियाँ हैं, वैसी ही सम्पदाओंके तुम निवासस्थान हो तथा यज्ञोंकी तो तुम साक्षात् निधि ही हो॥

दम्भोद्भवेनासि समो बलेन
रामो यथा शास्त्रविदस्त्रविच्च।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा
दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन॥१६॥

राजन्! तुम बलमें दम्भोद्भवके समान और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें परशुरामके सदृश हो। तुम्हारा तेज और्व और त्रित नामक महर्षियोंके तुल्य है। राजा भगीरथकी भाँति तुम्हारी ओर देखना भी कठिन है॥ १६॥

सौतिरुवाच

एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना
राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि
प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ॥१७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—आस्तीकके इस प्रकार स्तुति करनेपर यजमान राजा जनमेजय, सदस्य, ऋत्विज और अग्निदेव सभी बड़े प्रसन्न हुए। इन सबके मनोभावों तथा बाह्य चेष्टाओंको लक्ष्य करके राजा जनमेजय इस प्रकार बोले॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीककृतराजस्तवे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकद्वारा सर्पसत्रमें राजा जनमेजयकी स्तुति-विषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाका आस्तीकको वर देनेके लिये तैयार होना, तक्षक नागकी व्याकुलता तथा आस्तीकका वर माँगना

जनमेजय उवाच

बालोऽप्ययं स्थविर इवावभाषते
नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं
तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत्॥ १॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! यह बालक है, तो भी वृद्ध पुरुषोंके समान बात करता है, इसलिये मैं इसे बालक नहीं, वृद्ध मानता हूँ और इसको वर देना चाहता हूँ। इस विषयमें आपलोग अच्छी तरह विचार करके अपनी सम्मति दें॥ १॥

सदस्या ऊचुः

बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां
विद्वान् यो वै स पुनर्वै यथावत्।
सर्वान् कामांस्त्वत्त एवार्हतेऽद्य
यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम्॥ २॥

सदस्य बोले—ब्राह्मण यदि बालक हो तो भी यहाँ राजाओंके लिये सम्माननीय ही है। यदि वह विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है! अतः यह ब्राह्मण बालक आज आपसे यथोचित रीतिसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको पानेके योग्य है, किंतु वर देनेसे पहले तक्षक नाग चाहे जैसे भी शीघ्रतापूर्वक हमारे पास आ पहुँचे, वैसा उपाय करना चाहिये॥ २॥

सौतिरुवाच

व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं
वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा
कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत्॥ ३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर वर देनेके लिये उद्यत राजा जनमेजय विप्रवर आस्तीकसे यह कहना ही चाहते थे कि 'तुम मुँहमाँगा वर माँग लो।' इतनेमें ही होता, जिसका मन अधिक प्रसन्न नहीं था, बोल उठा—'हमारे इस यज्ञकर्ममें तक्षक नाग तो अभीतक आया ही नहीं'॥ ३॥

जनमेजय उवाच

यथा चेदं कर्म समाप्यते मे
यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम्।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे
परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः॥ ४॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! जैसे भी यह कर्म पूरा हो जाय और जिस प्रकार भी तक्षक नाग शीघ्र यहाँ आ जाय,

आपलोग पूरी शक्ति लगाकर वैसा ही प्रयत्न कीजिये; क्योंकि मेरा असली शत्रु तो वही है ॥ ४ ॥

ऋत्विज ऊचुः

यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः ।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥

ऋत्विज बोले—राजन् ! हमारे शास्त्र जैसा कहते हैं तथा अग्निदेव जैसी बात बता रहे हैं, उसके अनुसार तो तक्षक नाग भयसे पीड़ित हो इन्द्रके भवनमें छिपा हुआ है ॥ ५ ॥

यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा
पौराणिको वेदितवान् पुरस्तात् ।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं
यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥

लाल नेत्रोंवाले पुराणवेत्ता महात्मा सूतजीने पहले ही यह बात सूचित कर दी थी। तब राजाने सूतजीसे इसके विषयमें पूछा। पूछनेपर उन्होंने राजासे कहा—'नरदेव ! ब्राह्मणलोग जैसी बात कह रहे हैं, वह ठीक वैसी ही है ॥६॥

पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं
दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन् ।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो
न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥

'राजन्! पुराणको जानकर मैं यह कह रहा हूँ कि इन्द्रने तक्षकको वर दिया है—'नागराज ! तुम यहाँ मेरे समीप सुरक्षित होकर रहो। सर्पसत्रकी आग तुम्हें नहीं जला सकेगी'॥

एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान
आस्ते होतारं चोदयन् कर्मकाले ।
होता च यत्तोऽस्याजुहावाथ मन्त्रै-
रथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ॥ ८ ॥
विमानमारुह्य महानुभावः
सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः ।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो
विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥

यह सुनकर यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेवाले यजमान राजा जनमेजय संतप्त हो उठे और कर्मके समय होताको इन्द्रसहित तक्षक नागका आकर्षण करनेके लिये प्रेरित करने लगे। तब होताने एकाग्रचित्त होकर मन्त्रोंद्वारा इन्द्रसहित तक्षकका आवाहन किया। तब स्वयं देवराज इन्द्र विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे चल पड़े। उस समय सम्पूर्ण देवता सब ओरसे घेरकर उन महानुभाव इन्द्रकी स्तुति कर रहे थे। अप्सराएँ, मेघ और विद्याधर भी उनके पीछे-पीछे थे ॥ ८-९ ॥

तस्योत्तरीये निहितः स नागो
भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत् पुनः
क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन् ॥१०॥

तक्षक नाग उन्हींके उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) में छिपा था। भयसे उद्विग्न होनेके कारण तक्षकको तनिक भी चैन नहीं आता था। इधर राजा जनमेजय तक्षकका नाश चाहते हुए कुपित होकर पुनः मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे बोले ॥ १० ॥

जनमेजय उवाच

इन्द्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥ ११ ॥

जनमेजयने कहा—विप्रगण ! यदि तक्षक नाग इन्द्रके विमानमें छिपा हुआ है तो उसे इन्द्रके साथ ही अग्निमें गिरा दो॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति ।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ॥ १२ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजा जनमेजयके द्वारा इस प्रकार तक्षककी आहुतिके लिये प्रेरित हो होताने इन्द्रके समीपवर्ती तक्षक नागका अग्निमें आवाहन किया—उसके नामकी आहुति डाली ॥ १२ ॥

हूयमानो तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः ।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ॥ १३ ॥

इस प्रकार आहुति दी जानेपर क्षणभरमें इन्द्रसहित तक्षक नाग आकाशमें दिखायी दिया। उस समय उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ १३ ॥

पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत् ।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ॥ १४ ॥

उस यज्ञको देखते ही इन्द्र अत्यन्त भयभीत हो उठे और तक्षक नागको वहीं छोड़कर बड़ी घबराहटके साथ अपने भवनको ही चलते बने ॥ १४ ॥

इन्द्रे गते तु नागेन्द्रस्तक्षको भयमोहितः ।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिः समीपमवशो गतः ॥ १५ ॥

इन्द्रके चले जानेपर नागराज तक्षक भयसे मोहित हो मन्त्रशक्तिसे खिंचकर विवशतापूर्वक अग्निकी ज्वालाके समीप आने लगा ॥ १५ ॥

ऋत्विज ऊचुः

वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद् विधिवत् प्रभो ।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥ १६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—राजेन्द्र ! आपका यह यज्ञकर्म विधि-

पूर्वक सम्पन्न हो रहा है । अब आप इन विप्रवर आस्तीकको मनोवाञ्छित वर दे सकते हैं ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच

बालाभिरूपस्य तवाप्रमेय
वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम् ।
वृणीष्व यत् तेऽभिमतं हृदि स्थितं
तत् ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥ १७ ॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणबालक ! तुम अप्रमेय हो—तुम्हारी प्रतिभाकी कोई सीमा नहीं है । मैं तुम-जैसे विद्वान्‌के लिये वर देना चाहता हूँ । तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट कामना हो, उसे बताओ । वह देने योग्य न होगी, तो भी तुम्हें अवश्य दे दूँगा ॥ १७ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप ।
श्रूयतेऽस्य महान् नादो नदतो भैरवं रवम् ॥ १८ ॥

ऋत्विज बोले—राजन् ! यह तक्षक नाग अब शीघ्र ही तुम्हारे वशमें आ रहा है । वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा है। उसकी भारी चिल्लाहट अब सुनायी देने लगी है ॥ १८ ॥

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो
भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपैति
तीव्रान् निःश्वासान् निःश्वसन् पन्नगेन्द्रः॥ १९ ॥

निश्चय ही इन्द्रने उस नागराज तक्षकको त्याग दिया है। उसका विशाल शरीर मन्त्रद्वारा आकृष्ट होकर स्वर्गलोकसे नीचे गिर पड़ा है । वह आकाशमें चक्कर काटता अपनी सुध-बुध खो चुका है और बड़े वेगसे लम्बी साँसें छोड़ता हुआ अग्निकुण्डके समीप आ रहा है ॥ १९ ॥

सौतिरुवाच

पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।
इदमन्तरमित्येव तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥ २० ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! नागराज तक्षक अब कुछ ही क्षणोंमें आगकी ज्वालामें गिरनेवाला था । उस समय आस्तीकने यह सोचकर कि 'यही वर माँगनेका अच्छा अवसर है' राजाको वर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥ २१ ॥

आस्तीकने कहा—राजा जनमेजय ! यदि तुम मुझे वर देना चाहते हो, तो सुनो, मैं माँगता हूँ कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय और अब इसमें सर्प न गिरने पावें ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन् पारिक्षितस्तु सः ।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! आस्तीकके ऐसा कहनेपर वे परीक्षित्-कुमार जनमेजय खिन्नचित्त होकर बोले—॥ २२ ॥

सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो ।
तत् ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत् क्रतुर्मम ॥ २३ ॥

'विप्रवर ! आप सोना, चाँदी, गौ तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओंको, जिन्हें आप ठीक समझते हों, माँग लें । प्रभो ! वह मुँहमाँगा वर मैं आपको दे सकता हूँ, किंतु मेरा यह यज्ञ बंद नहीं होना चाहिये' ॥ २३ ॥

आस्तीक उवाच

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन् वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत् स्वस्ति मातृकुलस्य नः ॥ २४ ॥

आस्तीकने कहा—राजन् ! मैं तुमसे सोना, चाँदी और गौएँ नहीं माँगूँगा, मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय, जिससे मेरी माताके कुलका कल्याण हो ॥

सौतिरुवाच

आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ॥ २५ ॥
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥ २६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन शौनक ! आस्तीकके ऐसा कहनेपर उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजयने उनसे बार-बार अनुरोध किया, 'विप्रशिरोमणे ! आपका कल्याण हो, कोई दूसरा वर माँगिये ।' किंतु आस्तीकने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ २५-२६ ॥

ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तम् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥ २७ ॥

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ता सभासदोंने एक साथ संगठित होकर राजासे कहा—'ब्राह्मणको (स्वीकार किया हुआ) वर मिलना ही चाहिये' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकवरप्रदानं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकको वरप्रदाननामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञमें दग्ध हुए प्रधान-प्रधान सर्पोंके नाम

शौनक उवाच

ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन् पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! इस सर्पसत्रकी धधकती हुई आगमें जो-जो सर्प गिरे थे, उन सबके नाम मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

सौतिरुवाच

सहस्राणि बहून्यस्मिन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद् द्विजसत्तम ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! इस यज्ञमें सहस्रों, लाखों एवं अरबों सर्प गिरे थे, उनकी संख्या बहुत होनेके कारण गणना नहीं की जा सकती ॥ २ ॥

यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥

परंतु सर्पयज्ञकी अग्निमें जिन प्रधान-प्रधान नागोंकी आहुति दी गयी थी, उन सबके नाम अपनी स्मृतिके अनुसार बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान् सितान् घोरान् महाकायान् विषोल्बणान्॥

पहले वासुकिके कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य-मुख्य सर्पोंके नाम सुनो—वे सब-के-सब नीले, लाल, सफेद और भयानक थे। उनके शरीर विशाल और विष अत्यन्त भयंकर थे ॥ ४ ॥

अवशान् मातृवाग्दण्डपीडितान् कृपणान् हुतान्।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥ ५ ॥
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेगः प्रकालनः ।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ॥ ६ ॥

वे बेचारे सर्प माताके शापसे पीड़ित हो विवशतापूर्वक सर्पयज्ञकी आगमें होम दिये गये थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक, पिच्छल, कौणप, चक्र, कालवेग, प्रकालन, हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक और कालदन्तक ॥ ५-६ ॥

एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसम्भवाः ।
प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः ॥ ७ ॥

ये वासुकिके वंशज नाग थे, जिन्हें अग्निमें प्रवेश करना पड़ा। विप्रवर ! ऐसे ही दूसरे भी बहुत-से महाबली और भयंकर सर्प थे, जो उसी कुलमें उत्पन्न हुए थे। वे सब-के-सब सर्पसत्रकी प्रज्वलित अग्निमें आहुति बन गये थे ॥ ७ ॥

तक्षकस्य कुले जातान् प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः ॥ ८ ॥
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ।
शिली शलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥ ९ ॥
मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः ।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १० ॥

अब तक्षकके कुलमें उत्पन्न नागोंका वर्णन करूँगा, उनके नाम सुनो—पुच्छाण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्ता, रभेणक, उच्छिख, शरभ, भङ्ग, बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन, मुद्गर, शिशुरोमा, सुरोमा और महाहनु—ये तक्षकके वंशज नाग थे, जो सर्पसत्रकी आगमें समा गये ॥ ८—१० ॥

पारावतः पारिजातः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ॥ ११ ॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

पारावत, पारिजात, पाण्डर, हरिण, कृश, विहङ्ग, शरभ, मेद, प्रमोद और संहतापन—ये ऐरावतके कुलसे आकर आगमें आहुति बन गये थे ॥ ११½ ॥

कौरव्यकुलजान् नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे कौरव्य-कुलमें उत्पन्न हुए नागोंके नाम सुनो ॥ १२ ॥

एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ॥ १३ ॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

एरक, कुण्डल, वेणी, वेणीस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृङ्गवेर, धूर्तक, प्रातर और आतक—ये कौरव्य-कुलके नाग यज्ञाग्निमें जल मरे थे ॥ १३½ ॥

धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान् यथातथम् ॥ १४ ॥
कीर्त्यमानान् मया ब्रह्मन् वातवेगान् विषोल्बणान् ।

शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ॥ १५ ॥
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः ॥ १६ ॥
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारकः ।
ऋषभो वेगवान् नागः पिण्डारकमहाहनू ॥ १७ ॥
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ॥ १८ ॥

आस्तीकने तक्षकको अग्निकुण्डमें गिरनेसे रोक दिया

पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथारुणिः।
इति नागा मया ब्रह्मन् कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ॥१९॥
प्राधान्येन बहुत्वात् तु न सर्वे परिकीर्तिताः।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ॥२०॥
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः।
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथापरे ॥२१॥

ब्रह्मन्! अब धृतराष्ट्र-कुलमें उत्पन्न नागोंके नामोंका मुझसे यथावत् वर्णन सुनो। वे वायुके समान वेगशाली और अत्यन्त विषैले थे। (उनके नाम इस प्रकार हैं—) शङ्कुकर्ण, पिठरक, कुठार, मुखसेचक, पूर्णाङ्गद, पूर्णमुख, प्रहास, शकुनि, दरि, अमाहठ, कामठक, सुषेण, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्डवेदाङ्ग, पिशङ्ग, उद्रपारक, ऋषभ, वेगवान् नाग, पिण्डारक, महाहनु, रक्ताङ्ग, सर्वसारङ्ग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्रवेगिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और आरुणि— (ये सभी धृतराष्ट्रवंशी नाग सर्पसत्रकी आगमें जलकर भस्म हो गये थे)। ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले मुख्य मुख्य नागोंका वर्णन किया है। उनकी संख्या बहुत है, इसलिये सबका नामोल्लेख नहीं किया गया है। इन सबकी संतानोंकी और संतानोंकी संततिकी, जो प्रज्वलित अग्निमें जल मरी थीं, गणना नहीं की जा सकती। किसीके तीन सिर थे तो किसीके सात तथा कितने ही दस-दस सिरवाले नाग थे॥ १४–२१॥

कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः।
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः ॥२२॥

उनके विष प्रलयाग्निके समान दाहक थे। वे नाग बड़े ही भयंकर थे। उनके शरीर विशाल और वेग महान् थे। वे ऊँचे तो ऐसे थे, मानो पर्वतके शिखर हों। ऐसे नाग लाखोंकी संख्यामें यज्ञाग्निकी आहुति बन गये॥ २२॥

योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः ॥२३॥
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥२४॥

उनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-एक, दो-दो योजनतककी थी। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा इच्छानुरूप बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। सब-के-सब धधकती हुई आगके समान भयंकर विषसे भरे थे। माताके शापरूपी ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण वे उस महासत्रमें जलकर भस्म हो गये॥ २३-२४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथन-विषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

यज्ञकी समाप्ति एवं आस्तीकका सर्पोंसे वर प्राप्त करना

सौतिरुवाच

इदमत्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुम।
तथा वरैश्छन्द्यमाने राज्ञा पारिक्षितेन हि ॥ १ ॥
इन्द्रहस्ताच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! आस्तीकके सम्बन्धमें यह एक और अद्भुत बात मैंने सुन रक्खी है कि जब राजा जनमेजयने उनसे पूर्वोक्त रूपसे वर माँगनेका अनुरोध किया और उनके वर माँगनेपर इन्द्रके हाथसे छूटकर गिरा हुआ तक्षक नाग आकाशमें ही ठहर गया, तब महाराज जनमेजयको बड़ी चिन्ता हुई॥ १-२॥

हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद् वसुरेतसि।
न स्म स प्रापतद् वह्नौ तक्षको भयपीडितः ॥ ३ ॥

क्योंकि अग्नि पूर्णरूपसे प्रज्वलित थी और उसमें विधिपूर्वक आहुतियाँ दी जा रही थीं तो भी भयसे पीड़ित तक्षक नाग उस अग्निमें नहीं गिरा॥ ३॥

शौनक उवाच

किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम्।
न प्रत्यभात् तदाग्नौ यत् स पपात न तक्षकः ॥ ४ ॥

शौनकजीने पूछा—सूत! उस यज्ञमें बड़े-बड़े मनीषी ब्राह्मण उपस्थित थे। क्या उन्हें ऐसे मन्त्र नहीं सूझे, जिनसे तक्षक शीघ्र अग्निमें आ गिरे? क्या कारण था जो तक्षक अग्निकुण्डमें न गिरा?॥ ४॥

सौतिरुवाच

तमिन्द्रहस्ताद् वित्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम्।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! इन्द्रके हाथसे छूटनेपर नागप्रवर तक्षक भयसे थर्रा उठा। उसकी चेतना लुप्त हो गयी। उस समय आस्तीकने उसे लक्ष्य करके तीन बार इस प्रकार कहा—'ठहर जा, ठहर जा, ठहर जा'॥ ५॥

वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता।
यथा तिष्ठति वै कश्चित् खं च गां चान्तरा नरः ॥ ६ ॥

तब तक्षक पीड़ित हृदयसे आकाशमें उसी प्रकार ठहर

गया, जैसे कोई मनुष्य आकाश और पृथ्वीके बीचमें लटक रहा हो ॥ ६ ॥

ततो राजाब्रवीद् वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम् ।
काममेतद् भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर सभासदोंके बार-बार प्रेरित करनेपर राजा जनमेजयने यह बात कही—'अच्छा आस्तीकने जैसा कहा है, वही हो'॥

समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः ।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ॥ ८ ॥

'यह यज्ञकर्म समाप्त किया जाय। नागगण कुशलपूर्वक रहें और ये आस्तीक प्रसन्न हों। साथ ही सूतजीकी कही हुई बात भी सत्य हो' ॥ ८ ॥

ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत ।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ॥ ९ ॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारिक्षितस्य ह ।
प्रीतिमांश्चाभवद् राजा भारतो जनमेजयः ॥ १० ॥

जनमेजयके द्वारा आस्तीकको यह वरदान प्राप्त होते ही सब ओर प्रसन्नता बढ़ानेवाली हर्षध्वनि छा गयी और पाण्डववंशी महाराज जनमेजयका वह यज्ञ बंद हो गया। ब्राह्मणको वर देकर भरतवंशी राजा जनमेजयको भी प्रसन्नता हुई ॥ ॥ ९-१० ॥

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन् समागताः ।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस यज्ञमें जो ऋत्विज और सदस्य पधारे थे, उन सबको राजा जनमेजयने सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें धन-दान किया ॥ ११ ॥

लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः ।
येनोक्तं तस्य तत्राग्रे सर्पसत्रनिवर्तने ॥ १२ ॥
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
दत्त्वा द्रव्यं यथान्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् ॥ १३ ॥
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥

लोहिताक्ष सूत तथा शिल्पीको, जिसने यज्ञके पहले ही बता दिया था कि इस सर्पसत्रको बंद करनेमें एक ब्राह्मण निमित्त बनेगा, प्रभावशाली राजा जनमेजयने बहुत धन दिया। जिनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, उन नरेश्वर जनमेजयने प्रसन्न होकर यथायोग्य द्रव्य और भोजन-वस्त्र आदिका दान करनेके पश्चात् शास्त्रीय विधिके अनुसार अवभृथ स्नान किया ॥

आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम् ।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥ १५ ॥
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १६ ॥

आस्तीक शुभ-संस्कारोंसे सम्पन्न और मनीषी विद्वान् थे। अपना कर्तव्य पूर्ण कर लेनेके कारण वे कृतकृत्य एवं प्रसन्न थे। राजा जनमेजयने उन्हें प्रसन्नचित्त होकर घरके लिये विदा दी और कहा—'ब्रह्मन्! मेरे भावी अश्वमेध नामक महायज्ञमें आप सदस्य हों और उस समय पुनः पधारनेकी कृपा करें ॥

तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽस्तीको मुदा युतः ।
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥ १७ ॥

आस्तीकने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने अनुपम कार्यका साधन करके राजाको संतुष्ट करनेके पश्चात् वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरं च ताम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य तथावृत्तं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

वे अत्यन्त प्रसन्न हो घर जाकर मामा और मातासे मिले और उनके चरणोंमें प्रणाम करके वहाँका सब समाचार सुनाया ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता
ये तत्रासन् पन्नगा वीतमोहाः ।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवु-
रूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ॥ १९ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! सर्पसत्रसे बचे हुए जो-जो नाग मोहरहित हो उस समय वासुकि नागके यहाँ उपस्थित थे, वे सब आस्तीकके मुखसे उस यज्ञके बंद होनेका समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। आस्तीकपर उनका प्रेम बहुत बढ़ गया और वे उनसे बोले—'वत्स! तुम कोई अभीष्ट वर माँग लो' ॥ १९ ॥

भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं
किं ते प्रियं करवामाद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे
कामं किं ते करवामाद्य वत्स ॥ २० ॥

वे सब-के-सब बार-बार यह कहने लगे—'विद्वन्! आज हम तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करें? वत्स! तुमने हमें मृत्युके मुखसे बचाया है; अतः हम सब लोग तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। बोलो, तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करें? ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच

सायं प्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा
लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि ।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं
तेषां युष्मन्नैव किंचिद् भयं स्यात् ॥ २१ ॥

आस्तीकने कहा—नागगण! लोकमें जो ब्राह्मण

अथवा कोई दूसरा मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर मेरे इस धर्ममय उपाख्यानका पाठ करे, उसे आपलोगोंसे कोई भय न हो ॥

तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नै-
रेतत् सत्यं काममेवं वरं ते ।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते
कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥ २२ ॥

यह सुनकर सभी सर्प बहुत प्रसन्न हुए और अपने भानजेसे बोले—'प्रिय वत्स ! तुम्हारी यह कामना पूर्ण हो । भगिनीपुत्र ! हम बड़े प्रेम और नम्रतासे युक्त होकर सर्वथा तुम्हारे इस मनोरथको पूर्ण करते रहेंगे ॥ २२ ॥

असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत् ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ॥ २३ ॥

'जो कोई असित, आर्तिमान् और सुनीथ मन्त्रका दिन अथवा रातके समय स्मरण करेगा, उसे सर्पोंसे कोई भय नहीं होगा॥२३॥

यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान् योऽभ्यरक्षत ।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ॥ २४ ॥

'(मन्त्र और उनके भाव इस प्रकार हैं-) जरत्कारु ऋषिसे जरत्कारु नामक नागकन्यामें जो आस्तीक नामक यशस्वी ऋषि उत्पन्न हुए तथा जिन्होंने सर्पसत्रमें तुम सर्पोंकी रक्षा की थी, उनका मैं स्मरण कर रहा हूँ । महाभाग्यवान् सर्पो ! तुम लोग मुझे मत डँसो ॥ २४ ॥

सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥ २५ ॥

'महाविषधर सर्प ! तुम भाग जाओ ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम जाओ । जनमेजयके यज्ञकी समाप्तिमें आस्तीकको तुमने जो वचन दिया था, उसका स्मरण करो ॥ २५ ॥

आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते ।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ॥ २६ ॥

'जो सर्प आस्तीकके वचनकी शपथ सुनकर भी नहीं लौटेगा, उसके फनके शीशमके फलके समान सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे' ॥

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु तदा द्विजेन्द्रः
समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।
सम्प्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा
ततो मनो गमनायाथ दध्रे ॥ २७ ॥
मोक्षयित्वा तु भुजगान् सर्पसत्राद् द्विजोत्तमः ।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥ २८ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर शौनक ! उस समय वहाँ आये हुए प्रधान-प्रधान नागराजोंके इस प्रकार कहनेपर महात्मा आस्तीकको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई । तदनन्तर उन्होंने वहाँसे चले जानेका विचार किया । इस प्रकार सर्पसत्रसे नागोंका उद्धार करके द्विजश्रेष्ठ धर्मात्मा आस्तीकने विवाह करके पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न किये और समय आनेपर (प्रारब्ध शेष होनेसे) मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ २७-२८ ॥

इत्याख्यानं मयाऽऽस्तीकं यथावत् तव कीर्तितम् ।
यत् कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २९ ॥

इस प्रकार मैंने आपसे आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है; जिसका पाठ कर लेनेपर कहीं भी सर्पोंसे भय नहीं होता ॥ २९ ॥

यथा कथितवान् ब्रह्मन् प्रमतिः पूर्वजस्तव ।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तम ॥ ३० ॥
यद् वाक्यं श्रुतवांश्चाहं तथा च कथितं मया ।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥ ३१ ॥

ब्रह्मन् ! भृगुवंश-शिरोमणे ! आपके पूर्वज प्रमतिने अपने पुत्र रुरुके पूछनेपर जिस प्रकार आस्तीकोपाख्यान कहा था और जिसे मैंने भी सुना था, उसी प्रकार विद्वान् महात्मा आस्तीकके मङ्गलमय चरित्रका मैंने प्रारम्भसे ही वर्णन किया है ॥ ३०-३१ ॥

श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम् ।
यन्मां त्वं पृष्टवान् ब्रह्मञ्छ्रुत्वा डुण्डुभभाषितम् ।
व्येतु ते सुमहद् ब्रह्मन् कौतूहलमरिंदम ॥ ३२ ॥

आस्तीकका यह धर्ममय उपाख्यान पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है । काम-क्रोधादि शत्रुओंका दमन करनेवाले ब्राह्मण ! कथा-प्रसङ्गमें डुण्डुभकी बात सुनकर आपने मुझसे जिसके विषयमें पूछा था, वह सब उपाख्यान मैंने कह सुनाया । इसे सुनकर आपके मनका महान् कौतूहल अब निवृत्त हो जाना चाहिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(अंशावतरणपर्व)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतका उपक्रम

शौनक उवाच

भृगुवंशात् प्रभृत्येव त्वया मे कीर्तितं महत्।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते॥ १॥

शौनकजी बोले—तात सूतनन्दन! आपने भृगुवंशसे ही प्रारम्भ करके जो मुझे यह सब महान् उपाख्यान सुनाया है, इससे मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ॥ १॥

वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत् सूतनन्दन।
याः कथा व्याससम्पन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे॥ २॥

सूतपुत्र! अब मैं पुनः आपसे यह कहना चाहता हूँ कि भगवान् व्यासने जो कथाएँ कही हैं, उनका मुझसे यथावत् वर्णन कीजिये॥ २॥

तस्मिन् परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम्।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाध्वरे॥ ३॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम्।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः॥ ४॥

जिसका पार होना कठिन था, ऐसे सर्पयज्ञमें आये हुए महात्माओं एवं सभासदोंको जब यज्ञकर्मसे अवकाश मिलता था, उस समय उनमें जिन-जिन विषयोंको लेकर जो-जो विचित्र कथाएँ होती थीं उन सबका आपके मुखसे हम यथार्थ वर्णन सुनना चाहते हैं। सूतनन्दन! आप हमसे अवश्य कहें॥ ३-४॥

सौतिरुवाच

कर्मान्तरेष्वकथयन् द्विजा वेदाश्रयाः कथाः।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत्॥ ५॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! यज्ञकर्मसे अवकाश मिलनेपर अन्य ब्राह्मण तो वेदोंकी कथाएँ कहते थे, परंतु व्यासदेवजी अति विचित्र महाभारतकी कथा सुनाया करते थे॥

शौनक उवाच

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम्।
जनमेजयेन पृष्टः सन् कृष्णद्वैपायनस्तदा॥ ६॥
श्रावयामास विधिवत् तदा कर्मान्तरे तु सः।
तामहं विधिवत् पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम्॥ ७॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! महाभारत नामक इतिहास तो पाण्डवोंके यशका विस्तार करनेवाला है। सर्पयज्ञके विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलनेपर जब राजा जनमेजय प्रश्न करते, तब श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी उन्हें विधिपूर्वक महाभारतकी कथा सुनाते थे। मैं उसी पुण्यमयी कथाको विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ॥ ६-७॥

मनःसागरसम्भूतां महर्षेर्भावितात्मनः।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ सर्वरत्नमयीमिमाम्॥ ८॥

यह कथा पवित्र अन्तःकरणवाले महर्षि वेदव्यासके हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट हुए सब प्रकारके शुभ विचाररूपी रत्नोंसे परिपूर्ण है। साधुशिरोमणे! आप इस कथाको मुझे सुनाइये॥ ८॥

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः॥ ९॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ महाभारत नामक उत्तम उपाख्यानका आरम्भसे ही वर्णन करूँगा, जो श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासको अभिमत है॥ ९॥

शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज।
शंसितुं तन्महान् हर्षो ममापीह प्रवर्तते॥ १०॥

विप्रवर! मेरेद्वारा कही जानेवाली इस सम्पूर्ण महाभारत-कथाको आप पूर्णरूपसे सुनिये। यह कथा सुनाते समय मुझे भी महान् हर्ष प्राप्त होता है॥ १०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

जनमेजयके यज्ञमें व्यासजीका आगमन, सत्कार तथा राजाकी प्रार्थनासे व्यासजीका वैशम्पायनजीसे महाभारत-कथा सुनानेके लिये कहना

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम्।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! जब विद्वान् महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने यह सुना कि राजा जनमेजय सर्पयज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं, तब वे वहाँ आये॥ १॥

जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात् पराशरात् ।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥

वेदव्यासजीको सत्यवतीने कन्यावस्थामें ही शक्तिनन्दन पराशरजीसे यमुनाजीके द्वीपमें उत्पन्न किया था । वे पाण्डवोंके पितामह हैं ॥ २ ॥

जातमात्रश्च यः सद्य इष्टया देहमवीवृधत् ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः ॥ ३ ॥
यन्नैति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च ।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रशान्त्या न मन्युना ॥ ४ ॥

जन्म लेते ही उन्होंने अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया तथा उन महायशस्वी व्यासजीको (स्वतः ही) अङ्गों और इतिहासोंसहित सम्पूर्ण वेदों और उस परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसे कोई तपस्या, वेदाध्ययन, व्रत, उपवास, शम और यज्ञ आदिके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३-४ ॥

विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥

वे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे और उन्होंने एक ही वेदको चार भागोंमें विभक्त किया था । ब्रह्मर्षि व्यासजी परब्रह्म और अपरब्रह्मके ज्ञाता, कवि (त्रिकालदर्शी), सत्यव्रतपरायण तथा परम पवित्र हैं ॥ ५ ॥

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत् ।
शान्तनोः संततिं तन्वन् पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥ ६ ॥

उनकी कीर्ति पुण्यमयी है और वे महान् यशस्वी हैं । उन्होंने ही शान्तनुकी संतान-परम्पराका विस्तार करनेके लिये पाण्डु, धृतराष्ट्र तथा विदुरको जन्म दिया था ॥ ६ ॥

जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तदा ।
विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥

उन महात्मा व्यासने वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् शिष्योंके साथ उस समय राजर्षि जनमेजयके यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ॥

तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए राजा जनमेजयको देखा, जो बहुत-से सभासदोंद्वारा इस प्रकार घिरे हुए थे, मानो देवराज इन्द्र देवताओंसे घिरे हुए हों॥ ८ ॥

तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥

जिनके मस्तकोंपर अभिषेक किया गया था, ऐसे अनेक जनपदोंके नरेश तथा यज्ञानुष्ठानमें कुशल ब्रह्माजीके समान योग्यतावाले ऋत्विज भी उन्हें सब ओरसे घेरे हुए थे ॥९॥

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ॥१०॥

भरतश्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय महर्षि व्यासको आया देख बड़ी प्रसन्नताके साथ उठकर खड़े हो गये और अपने सेवक-गणोंके साथ तुरंत ही उनकी अगवानी करनेके लिये चल दिये ॥

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥११॥

जैसे इन्द्र बृहस्पतिजीको आसन देते हैं, उसी प्रकार राजाने सदस्योंकी अनुमति लेकर व्यासजीके लिये सुवर्णका विष्टर दे आसनकी व्यवस्था की ॥ ११ ॥

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥१२॥

देवर्षियोंद्वारा पूजित वरदायक व्यासजी जब वहाँ बैठ गये, तब राजेन्द्र जनमेजयने शास्त्रीय विधिके अनुसार उनका पूजन किया॥

पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥१३॥

उन्होंने अपने पितामह श्रीकृष्णद्वैपायनको विधि-विधानके साथ पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य और गौ भेंट की, जो इन वस्तुओंको पानेके अधिकारी थे ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत् तदा ॥१४॥

पाण्डववंशी जनमेजयसे वह पूजा ग्रहण करके गौके सम्बन्धमें अपना आदर व्यक्त करते हुए व्यासजी उस समय बड़े प्रसन्न हुए॥

तथा च पूजयित्वा तं प्रणयात् प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥१५॥

पितामह व्यासजीका प्रेमपूर्वक पूजन करके जनमेजयका चित्त प्रसन्न हो गया और वे उनके पास बैठकर कुशल-मङ्गल पूछने लगे॥

भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान् प्रत्यपूजयत् ॥१६॥

भगवान् व्यासने भी जनमेजयकी ओर देखकर अपना कुशल-समाचार बताया तथा अन्य सभासदोंद्वारा सम्मानित हो उनका भी सम्मान किया ॥ १६ ॥

ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत् कृताञ्जलिः ॥१७॥

तदनन्तर सब सदस्योंसहित राजा जनमेजयने हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १७ ॥

जनमेजय उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥१८॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! आप कौरवों और पाण्डवोंको प्रत्यक्ष देख चुके हैं; अतः मैं आपके द्वारा वर्णित उनके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

कथं समभवद् भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥१९॥

वे तो राग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित सत्कर्म करनेवाले थे, उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई ? तथा प्राणियोंका अन्त करनेवाला उनका वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ ? ॥१९॥

पितामहानां सर्वेषां दैवेनानिष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥२०॥

द्विजश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, प्रारब्धने ही प्रेरणा करके मेरे सब प्रपितामहोंके मनको युद्धरूपी अनिष्टमें लगा दिया था । उनके इस सम्पूर्ण वृत्तान्तका आप यथावत् रूपसे वर्णन करें ॥

सौतिरुवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥२१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जनमेजयकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने पास ही बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायनको उस समय इस प्रकार आदेश दिया ॥ २१ ॥

व्यास उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥२२॥

व्यासजी बोले—वैशम्पायन ! पूर्वकालमें कौरवों और पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी थी; जिसे तुम मुझसे सुन चुके हो, वह सब इस समय इन राजा जनमेजयको सुनाओ ॥

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥२३॥
राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः ।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥२४॥

उस समय गुरुदेव व्यासजीकी यह आज्ञा पाकर विप्रवर वैशम्पायनने राजा जनमेजय, सभासद्गण तथा अन्य सब भूपालोंसे कौरव-पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी और उनका सर्वनाश हुआ, वह सब पुरातन इतिहास कहना प्रारम्भ किया ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंमें फूट और युद्ध होनेके वृत्तान्तका सूत्ररूपमें निर्देश

वैशम्पायन उवाच

गुरवे प्राङ्नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
सम्पूज्य च द्विजान् सर्वांस्तथान्यान् विदुषो जनान् ॥१॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मैं सबसे पहले श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्तसे अपने गुरुदेव श्रीव्यासजी महाराजको साष्टाङ्ग नमस्कार करके सम्पूर्ण द्विजों तथा अन्यान्य विद्वानों-का समादर करते हुए यहाँ सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात महर्षि एवं महात्मा इन परम बुद्धिमान् व्यासजीके मतका पूर्णरूपसे वर्णन करता हूँ ॥ १-२ ॥

श्रोतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम् ।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ॥ ३ ॥

जनमेजय ! तुम इस महाभारतकी कथाको सुननेके लिये उत्तम पात्र हो और मुझे यह कथा उपलब्ध है तथा श्रीगुरुजीके मुखारविन्दसे मुझे यह आदेश मिल गया है कि मैं तुम्हें कथा सुनाऊँ; इससे मेरे मनको बड़ा उत्साह प्राप्त होता है॥

शृणु राजन् यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसम्भूतो वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥
यथा च युद्धमभवत् पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥

राजन् ! जिस प्रकार कौरव और पाण्डवोंमें फूट पड़ी, वह प्रसङ्ग सुनो । राज्यके लिये जो जुआ खेला गया, उससे उनमें फूट हुई और उसीके कारण पाण्डवोंका वनवास हुआ । भरतश्रेष्ठ ! फिर जिस प्रकार पृथ्वीके वीरोंका विनाश करनेवाला महाभारत-युद्ध हुआ, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
नचिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ॥ ६ ॥

अपने पिता महाराज पाण्डुके स्वर्गवासी हो जानेपर वे वीर पाण्डव वनसे अपने राजभवनमें आकर रहने लगे । वहाँ थोड़े ही दिनोंमें वे वेद तथा धनुर्वेदके पूरे पण्डित हो गये ॥

तांस्तथा सत्त्ववीर्यौजःसम्पन्नान् पौरसम्मतान् ।
नामृष्यन् कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्छ्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥

सत्त्व (धैर्य और उत्साह), वीर्य (पराक्रम) तथा ओज (देहबल) से सम्पन्न होनेके कारण पाण्डवलोग पुरवासियों-के प्रेम और सम्मानके पात्र थे । उनके धन, सम्पत्ति और

यशकी वृद्धि होने लगी । यह सब देखकर कौरव उनके उत्कर्षको सहन न कर सके ॥ ७ ॥

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सहसौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान् विविधांस्ते समारभन् ॥ ८ ॥

तब क्रूर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तीनोंने मिलकर पाण्डवोंको वशमें करने या देशसे निकाल देनेके लिये नाना प्रकारके यत्न आरम्भ किये ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान् विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ॥ ९ ॥

शकुनिकी सम्मतिसे चलनेवाले शूरवीर दुर्योधनने राज्यके लिये भाँति-भाँतिके उपाय करके पाण्डवोंको पीड़ा दी ॥ ९ ॥

ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद् वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥ १० ॥

उस पापी धृतराष्ट्रपुत्रने भीमसेनको विष दे दिया, किंतु वीरवर भीमसेनने भोजनके साथ उस विषको भी पचा लिया ॥

प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ११ ॥

फिर दुर्योधनने गङ्गाके प्रमाणकोटि नामक तीर्थपर सोये हुए भीमसेनको बाँधकर गङ्गाजीके गहरे जलमें डाल दिया और स्वयं चुपचाप नगरमें लौट आया ॥ ११ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥ १२ ॥

जब कुन्तीनन्दन महाबाहु भीमकी आँख खुली, तब वे सारा बन्धन तोड़कर बिना किसी पीड़ाके उठ खड़े हुए ॥१२॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ १३ ॥

एक दिन दुर्योधनने भीमसेनको सोते समय उनके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें काले साँपोंसे डँसवा दिया, किंतु शत्रु-घाती भीम मर न सके ॥ १३ ॥

तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥ १४ ॥

कौरवोंके द्वारा किये हुए उन सभी अपकारोंके समय पाण्डवोंको उनसे छुड़ाने अथवा उनका प्रतीकार करनेके लिये परम बुद्धिमान् विदुरजी सदा सावधान रहते थे ॥ १४ ॥

स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥ १५ ॥

जैसे स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले इन्द्र सम्पूर्ण जीव-जगत्को सुख पहुँचाते रहते हैं, उसी प्रकार विदुरजी सदा पाण्डवोंको सुख दिया करते थे ॥ १५ ॥

यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाशकद् विनिहन्तुं तान् दैवभाव्यर्थरक्षितान् ॥ १६ ॥

ततः सम्मन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥ १७ ॥

भविष्यमें जो घटना घटित होनेवाली थी, उसके लिये मानो दैव ही पाण्डवोंकी रक्षा कर रहा था । जब छिपकर या प्रकटरूपमें किये हुए अनेक उपायोंसे भी दुर्योधन पाण्डवोंका नाश न कर सका; तब उसने कर्ण और दुःशासन आदि मन्त्रियोंसे सलाह करके धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वारणावत नगरमें एक लाहका घर बनानेकी आज्ञा दी ॥ १६-१७ ॥

सुतप्रियैषी तान् राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुक्षया ॥ १८ ॥

अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र अपने पुत्रका प्रिय चाहनेवाले थे। अतः उन्होंने राज्यभोगकी इच्छासे पाण्डवोंको हस्तिनापुर छोड़कर वारणावतके लाक्षागृहमें रहनेकी आज्ञा दे दी ॥ १८ ॥

ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन् वनम् ।

मातासहित पाँचों पाण्डव एक साथ हस्तिनापुरसे प्रस्थित हुए । उन महात्मा पाण्डवोंके प्रस्थानकालमें विदुरजी सलाह देनेवाले हुए। उन्हींकी सलाह एवं सहायतासे पाण्डवलोग लाक्षागृहसे बचकर आधी रातके समय वनमें भाग निकले थे ॥

ततः सम्प्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ॥ २० ॥
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परंतपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ॥ २१ ॥
पुरोचनाद् रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः ।
सुरङ्गां कारयित्वा तु विदुरेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
प्राद्रवन् भयसंविग्ना मात्रा सह परंतपाः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीकुमार महात्मा पाण्डव वारणावत नगरमें आकर लाक्षागृहमें अपनी माताके साथ रहने लगे । पुरोचनसे सुरक्षित हो सदा सजग रहकर उन्होंने एक वर्षतक वहाँ निवास किया । फिर विदुरकी प्रेरणासे (विदुरके भेजे हुए आदमियोंसे) पाण्डवोंने एक सुरंग खुदवायी। तत्पश्चात् वे शत्रुसंतापी पाण्डव उस लाक्षागृहमें आग लगा पुरोचनको दग्ध करके भयसे व्याकुल हो मातासहित सुरंगद्वारा वहाँसे निकल भागे ॥

ददृशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे ।
हत्वा च तं राक्षसेन्द्रं भीताः समवबोधनात् ॥ २४ ॥
निशि सम्प्राद्रवन् पार्था धार्तराष्ट्रभयार्दिताः ।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् वनमें एक झरनेके पास उन्होंने एक भयंकर राक्षसको देखा, जिसका नाम हिडिम्ब था । राक्षसराज

हिडिम्बको मारकर पाण्डवलोग प्रकट होनेके भयसे रातमें ही वहाँसे दूर निकल गये। उस समय उन्हें धृतराष्ट्रके पुत्रोंका भय सता रहा था। हिडिम्ब-वधके पश्चात् भीमको हिडिम्बा नामकी राक्षसी पत्नीरूपमें प्राप्त हुई, जिसके गर्भसे घटोत्कचका जन्म हुआ॥

एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः।
वेदाध्ययनसम्पन्नास्तेऽभवन् ब्रह्मचारिणः॥ २६॥

तदनन्तर कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव एकचक्रा नगरीमें जाकर वेदाध्ययनपरायण ब्रह्मचारी बन गये॥ २६॥

ते तत्र नियताः कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २७॥

उस एकचक्रा नगरीमें वे नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ एक ब्राह्मणके घरमें कुछ कालतक टिके रहे॥ २७॥

तत्राससाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम्॥ २८॥

उस नगरके समीप एक मनुष्यभक्षी राक्षस रहता था, जिसका नाम था बक। एक दिन महाबाहु भीमसेन उस क्षुधातुर महाबली राक्षस बकके समीप गये॥ २८॥

तं चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः।
निहत्य तरसा वीरो नागरान् पर्यसान्त्वयत्॥ २९॥

नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीरवर भीमने अपने बाहुबलसे उस राक्षसको वेगपूर्वक मारकर वहाँके नगरनिवासियोंको धीरज बँधाया॥ २९॥

ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम्।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम्॥ ३०॥
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिंदमाः॥ ३१॥

वहीं सुननेमें आया कि पाञ्चालदेशकी राजकुमारी कृष्णाका स्वयंवर होनेवाला है। यह सुनकर पाण्डव वहाँ गये और जाकर उन्होंने राजकुमारीको प्राप्त कर लिया। द्रौपदीको प्राप्त करनेके बाद पहचान लिये जानेपर भी वे एक वर्षतक पाञ्चाल देशमें ही रहे। फिर वे शत्रुदमन पाण्डव पुनः हस्तिनापुर लौट आये॥ ३०-३१॥

ते उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति॥ ३२॥
अस्माभिःखाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम्॥ ३३॥
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः।
तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः॥ ३४॥
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः।
तत्र ते न्यवसन् पार्थाः संवत्सरगणान् बहून्॥ ३५॥
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीभृतः।
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः॥ ३६॥
अप्रमत्तोत्थिताःक्षान्ताःप्रतपन्तोऽहितान् बहून्।

वहाँ आनेपर राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात! तुम्हें अपने भाई कौरवोंके साथ लड़ने-झगड़नेका अवसर न प्राप्त हो इसके लिये हमने विचार किया है कि तुमलोग खाण्डवप्रस्थमें रहो। वहाँ अनेक जनपद उससे जुड़े हुए हैं। वहाँ सुन्दर विभागपूर्वक बड़ी-बड़ी सड़कें बनी हुई हैं। अतः तुमलोग ईर्ष्याका त्याग करके खाण्डवप्रस्थमें रहनेके लिये जाओ।' उन दोनोंके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सब पाण्डव अपने समस्त सुहृदोंके साथ सब प्रकारके रत्न लेकर खाण्डवप्रस्थको चले गये। वहाँ वे कुन्ती-पुत्र अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे अन्यान्य राजाओंको अपने वशमें करते हुए बहुत वर्षोंतक निवास करते रहे। इस प्रकार धर्मको प्रधानता देनेवाले, सत्यव्रतके पालनमें तत्पर, सदा सावधान एवं सजग रहनेवाले, क्षमाशील पाण्डव वीर बहुत-से शत्रुओंको संतप्त करते हुए वहाँ निवास करने लगे॥ ३२—३६½॥

अजयद् भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः॥ ३७॥
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा।
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा॥ ३८॥

महायशस्वी भीमसेनने पूर्वदिशापर विजय पायी। वीर अर्जुनने उत्तर, नकुलने पश्चिम और शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सहदेवने दक्षिण दिशापर विजय प्राप्त की॥ ३७-३८॥

एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम्।
पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता॥ ३९॥
षट्सूर्येवाभवत् पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः।
ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद् धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ ४०॥
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम्॥ ४१॥
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम्।
(धैर्यात् सत्याच्च धर्माच्च विजयाच्चाधिकप्रियः।
अर्जुनो भ्रातरं ज्येष्ठं नात्यवर्तत जातुचित्॥)
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन्॥ ४२॥

इस तरह सब पाण्डवोंने समूची पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया। वे पाँचों भाई सूर्यके समान तेजस्वी थे और आकाशमें नित्य उदित होनेवाले सूर्य तो प्रकाशित थे ही; इस तरह सत्यपराक्रमी पाण्डवोंके होनेसे यह पृथ्वी मानो छः सूर्योंसे प्रकाशित होनेवाली बन गयी। तदनन्तर कोई निमित्त बन जानेके कारण सत्यपराक्रमी तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने अपने प्राणोंसे भी अत्यन्त प्रिय, स्थिर-बुद्धि तथा सद्गुणयुक्त भाई नरश्रेष्ठ सव्यसाची अर्जुनको वनमें भेज दिया। अर्जुन अपने धैर्य, सत्य, धर्म और विजयशीलताके कारण भाइयोंको अधिक प्रिय थे। उन्होंने अपने बड़े भाईकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं किया था। वे पूरे बारह वर्ष और

एक मासतक वनमें रहे ॥ ३९-४२ ॥

(तीर्थयात्रां च कृतवान् नागकन्यामवाप्य च।
पाण्ड्यस्य तनयां लब्ध्वा तत्र ताभ्यां सहोषितः॥)
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन।
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम्॥४३॥
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम्।
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता॥४४॥
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनार्जुनेन ह।

उसी समय उन्होंने निर्मल तीर्थोंकी यात्रा की और नागकन्या उलूपीको पाकर पाण्ड्यदेशीय नरेश चित्रवाहनकी पुत्री चित्राङ्गदाको भी प्राप्त किया और उन-उन स्थानोंमें उन दोनोंके साथ कुछ कालतक निवास किया। तत्पश्चात् वे किसी समय द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। वहाँ अर्जुनने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कमललोचना सुभद्राको, जो वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी छोटी बहिन थी, पत्नीरूपमें प्राप्त किया। जैसे इन्द्रसे शची और भगवान् विष्णुसे लक्ष्मी संयुक्त हुई हैं, उसी प्रकार सुभद्रा बड़े प्रेमसे पाण्डुनन्दन अर्जुनसे मिली॥४३-४४½॥

अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम्॥४५॥
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम।
नातिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाभवत्॥४६॥
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव।

तत्पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें भगवान् वासुदेवके साथ रहकर अग्निदेवको तृप्त किया। नृपश्रेष्ठ जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका साथ होनेसे अर्जुनको इस कार्यमें ठीक उसी तरह अधिक परिश्रम या भारका अनुभव नहीं हुआ, जैसे दृढ़ निश्चयको सहायक बनाकर देवशत्रुओंका वध करते समय भगवान् विष्णुको भार या परिश्रमकी प्रतीति नहीं होती है॥४५-४६½॥

पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम्॥४७॥
इषुधी चाक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम्।
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम्॥४८॥

तदनन्तर अग्निदेवने संतुष्ट हो अर्जुनको उत्तम गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर और एक कपिध्वज रथ प्रदान किया। उसी समय अर्जुनने महान् असुर मयको खाण्डव वनमें जलनेसे बचाया था॥४७-४८॥

स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमाचिताम्।
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः॥४९॥

इससे संतुष्ट होकर उसने अर्जुनके लिये एक दिव्य सभाभवनका निर्माण किया, जो सब प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित था। खोटी बुद्धिवाले मूर्ख दुर्योधनके मनमें उस सभाको ले लेनेके लिये लोभ पैदा हुआ॥४९॥

ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम्।
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च॥५०॥
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम्।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु॥५१॥

तब उसने शकुनिकी सहायतासे कपटपूर्ण जुएके द्वारा युधिष्ठिरको ठग लिया और उन्हें बारह वर्षतक वनमें और तेरहवें वर्ष एक राष्ट्रमें अज्ञातरूपसे वास करनेके लिये भेज दिया। इसके बाद चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंने लौटकर अपना राज्य और धन माँगा॥५०-५१॥

नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत।
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम्॥५२॥
राज्यं विहतभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः।
एवमेतत् पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतां वर॥५३॥

महाराज! जब इस प्रकार न्यायपूर्वक माँगनेपर भी उन्हें राज्य नहीं मिला, तब दोनों दलोंसे युद्ध छिड़ गया। फिर तो पाण्डव-वीरोंने क्षत्रियकुलका संहार करके राजा दुर्योधनको भी मार डाला और अपने राज्यको, जिसका अधिकांश भाग उजाड़ हो गया था, पुनः अपने अधिकारमें कर लिया। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! अनायास महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंका यही पुरातन इतिहास है। इस प्रकार राज्यके विनाशके लिये उनमें फूट पड़ी और युद्धके बाद उन्हें विजय प्राप्त हुई॥५२-५३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि भारतसूत्रं नामैकषष्टितमोऽध्यायः॥६१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें भारतसूत्रनामक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतकी महत्ता

जनमेजय उवाच

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत्॥१॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ! आपने कुरुवंशियोंके चरित्ररूप महान् महाभारत-नामक सम्पूर्ण इतिहासका बहुत संक्षेपसे वर्णन किया है॥१॥

कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥

निष्पाप तपोधन ! अब उस विचित्र अर्थवाली कथाको विस्तारके साथ कहिये; क्योंकि उसे विस्तारपूर्वक सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ २ ॥

स भवान् विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥

विप्रवर ! आप पुनः पूरे विस्तारके साथ यह कथा सुनावें। मैं अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ ३ ॥

न तत् कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः।
अवध्यान् सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ॥ ४ ॥

सब मनुष्योंद्वारा जिनकी प्रशंसा की जाती है, उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने जो युद्धभूमिमें समस्त अवध्य सैनिकोंका भी वध किया था, इसका कोई छोटा या साधारण कारण नहीं हो सकता ॥४॥

किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः।
प्रयुज्यमानान् संक्लेशान् क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम्॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव शक्तिशाली और निरपराध थे तो भी उन्होंने दुरात्मा कौरवोंके दिये हुए महान् क्लेशोंको कैसे चुपचाप सहन कर लिया ? ॥ ५ ॥

कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान् वै द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

द्विजोत्तम ! अपनी विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनमें तो दस हजार हाथियोंका बल था। फिर उन्होंने क्लेश उठाते हुए भी क्रोधको किसलिये रोक रक्खा था ?॥६॥

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः।
शक्ता सती धार्तराष्ट्रान् नादहत् क्रोधचक्षुषा ॥ ७ ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णा भी सब कुछ करनेमें समर्थ, सती-साध्वी देवी थीं। धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंद्वारा सतायी जानेपर भी उन्होंने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे उन सबको जलाकर भस्म क्यों नहीं कर दिया ? ॥ ७ ॥

कथं व्यसनिनं द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ॥ ८ ॥

कुन्तीके दोनों पुत्र भीमसेन और अर्जुन तथा माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी उस समय दुष्ट कौरवोंद्वारा अकारण सताये गये थे। उन चारों भाइयोंने जुएके दुर्व्यसनमें फँसे हुए राजा युधिष्ठिरका साथ क्यों दिया ? ॥ ८ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मवित्।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान् स युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता थे, महान् क्लेशमें पड़ने योग्य कदापि नहीं थे, तो भी उन्होंने वह सब कैसे सहन कर लिया ? ॥ ९ ॥

कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः।
अस्यन्नेकोऽनयत् सर्वाः पितृलोकं धनंजयः ॥१०॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे, उन पाण्डुनन्दन अर्जुनने अकेले ही बाणोंकी वर्षा करके समस्त सेनाओंको, जिनकी संख्या बहुत बड़ी थी, किस प्रकार यमलोक पहुँचा दिया ? ॥ १० ॥

एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन।
यद् यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ॥११॥

तपोधन ! यह सब वृत्तान्त आप ठीक-ठीक मुझे बताइये। उन महारथी वीरोंने विभिन्न स्थानों और अवसरोंमें जो-जो कर्म किये थे, वह सब सुनाइये ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ॥१२॥

वैशम्पायनजी बोले—महाराज ! इसके लिये कुछ समय नियत कीजिये; क्योंकि इस पवित्र आख्यानका श्रीव्यासजीके द्वारा जो क्रमानुसार वर्णन किया गया है, वह बहुत विस्तृत है और वह सब आपके समक्ष कहकर सुनाना है ॥ १२ ॥

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥१३॥

सर्वलोकपूजित अमिततेजस्वी महामना महर्षि व्यासजीके सम्पूर्ण मतका यहाँ वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥१४॥

असीम प्रभावशाली सत्यवतीनन्दन व्यासजीने पुण्यात्मा पाण्डवोंकी यह कथा एक लाख श्लोकोंमें कही है ॥ १४ ॥

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ये चेदं शृणुयुर्नराः।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम् ॥१५॥

जो विद्वान् इस आख्यानको सुनाता है और जो मनुष्य सुनते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाकर देवताओंके समान हो जाते हैं॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥१६॥

यह ऋषियोंद्वारा प्रशंसित पुरातन इतिहास श्रवण करने-योग्य सब ग्रन्थोंमें श्रेष्ठ है। यह वेदोंके समान ही पवित्र तथा उत्तम है ॥ १६ ॥

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ॥१७॥

अक्षुद्रान् दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान्।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते॥ १८ ॥

इसमें अर्थ और धर्मका भी पूर्णरूपसे उपदेश किया जाता है। इस परम पावन इतिहाससे मोक्षबुद्धि प्राप्त होती है। जिनका स्वभाव अथवा विचार खोटा नहीं है, जो दानशील, सत्यवादी और आस्तिक हैं, ऐसे लोगोंको व्यासद्वारा विरचित वेदस्वरूप इस महाभारतका जो श्रवण कराता है, वह विद्वान् अभीष्ट अर्थको प्राप्त कर लेता है ॥ १७-१८ ॥

भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ १९ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥ २० ॥

साथ ही वह भ्रूणहत्या-जैसे पापको भी नष्ट कर देता है, इसमें संशय नहीं है। इस इतिहासको श्रवण करके अत्यन्त क्रूर मनुष्य भी राहुसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह 'जय' नामक इतिहास विजयकी इच्छावाले पुरुषको अवश्य सुनना चाहिये ॥ १९-२० ॥

महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत्।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २१ ॥

इसका श्रवण करनेवाला राजा भूमिपर विजय पाता और सब शत्रुओंको परास्त कर देता है। यह पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला और महान् मङ्गलकारी श्रेष्ठ साधन है ॥ २१ ॥

महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥ २२ ॥

युवराज तथा रानीको बारम्बार इसका श्रवण करते रहना चाहिये, इससे वह वीर पुत्र अथवा राज्यसिंहासनपर बैठनेवाली कन्याको जन्म देती है ॥ २२ ॥

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २३ ॥

अमित मेधावी व्यासजीने इसे पुण्यमय, धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है ॥ २३ ॥

सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥ २४ ॥

जो वर्तमानकालमें इसका पाठ करते हैं तथा जो भविष्यमें इसे सुनेंगे, उनके पुत्र सेवापरायण और सेवक स्वामीका प्रिय करनेवाले होंगे ॥ २४ ॥

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥ २५ ॥

जो मानव इस महाभारतको सुनता है, वह शरीर, वाणी और मनके द्वारा किये हुए सम्पूर्ण पापोंको त्याग देता है ॥ २५ ॥

भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम्।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥ २६ ॥

जो दूसरोंके दोष न देखनेवाले भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तरूप महाभारतका श्रवण करते हैं, उन्हें इस लोकमें भी रोग-व्याधिका भय नहीं होता, फिर परलोकमें तो हो ही कैसे सकता है! ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ॥ २७ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ २८ ॥
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम्।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन् ॥ २९ ॥
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन् सततं शुचिः ॥ ३० ॥

लोकमें जिनके महान् कर्म विख्यात हैं, जो सम्पूर्ण विद्याओंके ज्ञानद्वारा उद्भासित होते थे और जिनके धन एवं तेज महान् थे, ऐसे महामना पाण्डवों तथा अन्य क्षत्रियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको लोकमें फैलानेवाले और पुण्यकर्मके इच्छुक श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने इस पुण्यमय महाभारत ग्रन्थका निर्माण किया है। यह धन, यश, आयु, पुण्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो मानव इस लोकमें पुण्यके लिये पवित्र ब्राह्मणोंको इस परम पुण्यमय ग्रन्थका श्रवण कराता है, उसे शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है। जो सदा कौरवोंके इस विख्यात वंशका कीर्तन करता है, वह पवित्र हो जाता है ॥२७-३०॥

वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत्।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ॥ ३१ ॥
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥ ३२ ॥

इसके सिवा, उसे विपुल वंशकी प्राप्ति होती है और वह लोकमें अत्यन्त पूजनीय होता है। जो ब्राह्मण नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वर्षाके चार महीनेतक निरन्तर इस पुण्यप्रद महाभारतका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो महाभारतका पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण वेदोंका पारङ्गत विद्वान् जानना चाहिये ॥ ३१-३२॥

देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ॥ ३३ ॥

इसमें देवताओं, राजर्षियों तथा पुण्यात्मा ब्रह्मर्षियोंके, जिन्होंने अपने सब पाप धो दिये हैं, चरित्रका वर्णन किया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका भी कीर्तन किया जाता है ॥ ३३ ॥

भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते।
अनेकजननो यत्र कार्तिकेयस्य सम्भवः ॥ ३४ ॥

देवेश्वर भगवान् शिव और देवी पार्वतीका भी इसमें वर्णन है तथा अनेक माताओंसे उत्पन्न होनेवाले कार्तिकेयजीके जन्मका प्रसङ्ग भी इसमें कहा गया है ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणों तथा गौओंके माहात्म्यका निरूपण भी इस ग्रन्थमें किया गया है। इस प्रकार यह महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियोंका समूह है। धर्मात्मा पुरुषोंको सदा इसका श्रवण करना चाहिये॥

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ब्राह्मणानिह पर्वसु।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम्॥ ३६ ॥

जो विद्वान् पर्वके दिन ब्राह्मणोंको इसका श्रवण कराता है, उसके सब पाप धुल जाते हैं और वह स्वर्गलोकको जीतकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

(यस्तु राजा शृणोतीदमखिलामश्नुते महीम् ।
प्रसूते गर्भिणी पुत्रं कन्या चाशु प्रदीयते ॥
वणिजः सिद्धयात्राः स्युर्वीरा विजयमाप्नुयुः।
आस्तीकाञ्छ्रावयेन्नित्यं ब्राह्मणाननसूयकान् ॥
वेदविद्याव्रतस्नातान् क्षत्रियाञ्जयमास्थितान् ।
स्वधर्मनित्यान् वैश्यांश्च श्रावयेत् क्षत्रसंश्रितान्॥)

जो राजा इस महाभारतको सुनता है, वह सारी पृथ्वीके राज्यका उपभोग करता है। गर्भवती स्त्री इसका श्रवण करे तो वह पुत्रको जन्म देती है। कुमारी कन्या इसे सुने तो उसका शीघ्र विवाह हो जाता है। व्यापारी वैश्य यदि महाभारत श्रवण करें तो उनकी व्यापारके लिये की हुई यात्रा सफल होती है। शूरवीर सैनिक इसे सुननेसे युद्धमें विजय पाते हैं। जो आस्तिक और दोषदृष्टिसे रहित हों, उन ब्राह्मणोंको नित्य इसका श्रवण करना चाहिये। वेद-विद्याका अध्ययन एवं ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण करके जो स्नातक हो चुके हैं, उन विजयी क्षत्रियोंको और क्षत्रियोंके अधीन रहनेवाले स्वधर्मपरायण वैश्योंको भी महाभारत श्रवण कराना चाहिये ॥

(एष धर्मः पुरा दृष्टः सर्वधर्मेषु भारत ।
ब्राह्मणाच्छ्रवणं राजन् विशेषेण विधीयते ॥
भूयो वा यः पठेन्नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम्।
श्लोकं वाप्यनु गृह्णीत तथार्धश्लोकमेव वा ॥
अपि पादं पठेन्नित्यं न च निर्भारतो भवेत् ।)

भारत ! सब धर्मोंमें यह महाभारत-श्रवणरूप श्रेष्ठ धर्म पूर्वकालसे ही देखा गया है। राजन् ! विशेषतः ब्राह्मणके मुखसे इसे सुननेका विधान है। जो बारम्बार अथवा प्रतिदिन इसका पाठ करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। प्रतिदिन चाहे एक श्लोक या आधे श्लोक अथवा श्लोकके एक चरणका ही पाठ कर ले, किंतु महाभारतके अध्ययनसे शून्य कभी नहीं रहना चाहिये ॥

(इह नैकाश्रयं जन्म राजर्षीणां महात्मनाम् ॥
इह मन्त्रपदं युक्तं धर्मे चानेकदर्शनम् ।
इह युद्धानि चित्राणि राज्ञां वृद्धिरिहैव च ॥
ऋषीणां च कथास्तात इह गन्धर्वरक्षसाम् ।
इह तत् तत् समासाद्य विहितो वाक्यविस्तरः ॥
तीर्थानां नाम पुण्यानां देशानां चेह कीर्तनम्।
वनानां पर्वतानां च नदीनां सागरस्य च ॥)

इस महाभारतमें महात्मा राजर्षियोंके विभिन्न प्रकारके जन्म-वृत्तान्तोंका वर्णन है। इसमें मन्त्र-पदोंका प्रयोग है। अनेक दृष्टियों (मतों) के अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थमें विचित्र युद्धोंका वर्णन तथा राजाओंके अभ्युदयकी कथा है। तात ! इस महाभारतमें ऋषियों तथा गन्धर्वों एवं राक्षसोंकी भी कथाएँ हैं। इसमें विभिन्न प्रसङ्गोंको लेकर विस्तारपूर्वक वाक्यरचना की गयी है। इसमें पुण्यतीर्थों, पवित्र देशों, वनों, पर्वतों, नदियों और समुद्रके भी माहात्म्यका प्रतिपादन किया गया है ॥

(देशानां चैव पुण्यानां पुराणां चैव कीर्तनम् ।
उपचारस्तथैवाग्र्यो वीर्यमप्यतिमानुषम् ॥
इह सत्कारयोगश्च भारते परमर्षिणा ।
रथाश्ववारणेन्द्राणां कल्पना युद्धकौशलम् ॥
वाक्यजातिरनेका च सर्वमस्मिन् समर्पितम् ।)

पुण्यप्रदेशों तथा नगरोंका भी वर्णन किया गया है। श्रेष्ठ उपचार और अलौकिक पराक्रमका भी वर्णन है। इस महाभारतमें महर्षि व्यासने सत्कार-योग (स्वागत-सत्कारके विविध प्रकार) का निरूपण किया है तथा रथसेना, अश्वसेना और गजसेनाकी व्यूहरचना तथा युद्धकौशलका वर्णन किया है। इसमें अनेक शैलीकी वाक्ययोजना—कथोपकथनका समावेश हुआ है। सारांश यह कि इस ग्रन्थमें सभी विषयोंका वर्णन है ॥

श्रावयेद् ब्राह्मणाञ्छ्राद्धे यश्चेमं पादमन्ततः।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्तेत् पितॄनिह ॥ ३७ ॥

जो श्राद्ध करते समय अन्तमें ब्राह्मणोंको महाभारतके श्लोकका एक चतुर्थांश भी सुना देता है, उसका किया हुआ वह श्राद्ध अक्षय होकर पितरोंको अवश्य प्राप्त हो जाता है ॥

अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत् ॥ ३८ ॥
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥ ३९ ॥

दिनमें इन्द्रियों अथवा मनके द्वारा जो पाप बन जाता है अथवा मनुष्य जानकर या अनजानमें जो पाप कर बैठता है वह सब महाभारतकी कथा सुनते ही नष्ट हो जाता है। इसमें भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तका वर्णन है, इसलिये इसको 'महाभारत' कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः ॥४०॥
महतो ह्येनसो मर्त्यान् मोचयेदनुकीर्तितः।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥४१॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ॥४२॥
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम्।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम् ॥४३॥
श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः।
सर्वथा वर्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ॥४४॥

जो महाभारत नामका यह निरुक्त (व्युत्पत्तियुक्त अर्थ) जानता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह भरतवंशी क्षत्रियोंका महान् और अद्भुत इतिहास है। अतः निरन्तर पाठ करनेपर मनुष्योंको बड़े-से-बड़े पापसे छुड़ा देता है। शक्तिशाली आप्तकाम मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान-संध्या आदिसे शुद्ध हो आदिसे ही महाभारतकी रचना करते थे। महर्षिने तपस्या और नियमका आश्रय लेकर तीन वर्षोंमें इस ग्रन्थको पूरा किया है। इसलिये ब्राह्मणोंको भी नियममें स्थित होकर ही इस कथाका श्रवण करना चाहिये। जो ब्राह्मण श्रीव्यासजीकी कही हुई इस पुण्यदायिनी उत्तम भारती-कथाका श्रवण करायेंगे और जो मनुष्य इसे सुनेंगे, वे सब प्रकारकी चेष्टा करते हुए भी इस बातके लिये शोक करने योग्य नहीं हैं कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया? ॥ ४०–४४ ॥

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥४५॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यके द्वारा यह सारा महाभारत इतिहास पूर्णरूपसे श्रवण करनेयोग्य है। ऐसा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥४६॥

इस महान् पुण्यदायक इतिहासको सुननेमात्रसे ही मनुष्यको जो संतोष प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेनेसे भी नहीं मिलता ॥ ४६ ॥

शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम्।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥४७॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य श्रद्धापूर्वक इस अद्भुत इतिहासको सुनता और सुनाता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ४७ ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥४८॥

जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महान् पर्वत मेरु दोनों रत्नोंकी खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्नस्वरूप कथाओं और उपदेशोंका भण्डार कहा जाता है ॥ ४८ ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्रव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम् ॥४९॥

यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र और उत्तम है। यह सुननेयोग्य तो है ही, सुनते समय कानोंको सुख देनेवाला भी है। इसके श्रवणसे अन्तःकरण पवित्र होता और उत्तम शील-स्वभावकी वृद्धि होती है ॥ ४९ ॥

य इदं भारतं राजन् वाचकाय प्रयच्छति।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत् सागरमेखला ॥५०॥

राजन्! जो वाचकको यह महाभारत दान करता है, उसके द्वारा समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका दान सम्पन्न हो जाता है ॥ ५० ॥

पारिक्षित कथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ॥५१॥

जनमेजय! मेरेद्वारा कही हुई इस आनन्ददायिनी दिव्य कथाको तुम पुण्य और विजयकी प्राप्तिके लिये पूर्णरूपसे सुनो ॥

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥५२॥

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस ग्रन्थका निर्माण करनेवाले महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने महाभारत नामक इस अद्भुत इतिहासको तीन वर्षोंमें पूर्ण किया है ॥ ५२ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥५३॥

भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो बात इस ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि महाभारतप्रशंसायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें महाभारतप्रशंसा-विषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

राजा उपरिचरका चरित्र तथा सत्यवती, व्यासादि प्रमुख पात्रोंकी संक्षिप्त जन्मकथा

वैशम्पायन उवाच

राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पहले उपरिचर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो नित्य-निरन्तर धर्ममें ही लगे रहते थे। साथ ही सदा हिंसक पशुओंके शिकारके लिये वनमें जानेका उनका नियम था॥ १॥

स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः॥ २॥

पौरवनन्दन राजा उपरिचर वसुने इन्द्रके कहनेसे अत्यन्त रमणीय चेदिदेशका राज्य स्वीकार किया था॥ २॥

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम्।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे॥ ३॥
इन्द्रत्वमर्हो राजायं तपसेत्यनुचिन्त्य वै।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात् तपसः संन्यवर्तयन्॥ ४॥

एक समयकी बात है, राजा वसु अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग करके आश्रममें निवास करने लगे। उन्होंने बड़ा भारी तप किया, जिससे वे तपोनिधि माने जाने लगे। उस समय इन्द्र आदि देवता यह सोचकर कि यह राजा तपस्याके द्वारा इन्द्र-पद प्राप्त करना चाहता है, उनके समीप गये। देवताओंने राजाको प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें शान्तिपूर्वक समझाया और तपस्यासे निवृत्त कर दिया॥ ३-४॥

देवा ऊचुः

न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत्॥ ५॥

देवता बोले—पृथ्वीपते! तुम्हें ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये जिससे इस भूमिपर वर्णसंकरता न फैलने पावे (तुम्हारे न रहनेसे अराजकता फैलनेका भय है, जिससे प्रजा स्वधर्ममें स्थिर नहीं रह सकेगी। अतः तुम्हें तपस्या न करके इस वसुधाका संरक्षण करना चाहिये)। राजन्! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित धर्म ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रहा है॥ ५॥

इन्द्र उवाच

लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान् पुण्यान् प्राप्स्यसि शाश्वतान्॥ ६॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम इस लोकमें सदा सावधान और प्रयत्नशील रहकर धर्मका पालन करो। धर्मयुक्त रहनेपर तुम सनातन पुण्यलोकोंको प्राप्त कर सकोगे॥ ६॥

दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप॥ ७॥

यद्यपि मैं स्वर्गमें रहता हूँ और तुम भूमिपर; तथापि आजसे तुम मेरे प्रिय सखा हो गये। नरेश्वर! इस पृथ्वीपर जो सबसे सुन्दर एवं रमणीय देश हो, उसीमें तुम निवास करो॥

पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान्।
स्वारक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः॥ ८॥
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप॥ ९॥
धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा॥ १०॥
न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान् संधुक्षयन्ति च॥ ११॥
सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु यद् भवेत्॥ १२॥

इस समय चेदि देश पशुओंके लिये हितकर, पुण्यजनक, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, स्वर्गके समान सुखद होनेके कारण रक्षणीय, सौम्य तथा भोग्य पदार्थों और भूमिसम्बन्धी उत्तम गुणोंसे युक्त है। यह देश अनेक पदार्थोंसे युक्त और धन-रत्न आदिसे सम्पन्न है। यहाँकी वसुधा वास्तवमें वसु (धन-सम्पत्ति) से भरी-पूरी है। अतः तुम चेदिदेशके पालक होकर उसीमें निवास करो। यहाँके जनपद धर्मशील, संतोषी और साधु हैं। यहाँ हास-परिहासमें भी कोई झूठ नहीं बोलता, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता है! पुत्र सदा गुरुजनोंके हितमें लगे रहते हैं, पिता अपने जीते-जी उनका बँटवारा नहीं करते। यहाँके लोग बैलोंको भार ढोनेमें नहीं लगाते और दीनों एवं अनाथोंका पोषण करते हैं। मानद! चेदिदेशमें सब वर्णोंके लोग सदा अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं। तीनों लोकोंमें जो कोई घटना होगी, वह सब यहाँ रहते हुए भी तुमसे छिपी न रहेगी—तुम सर्वज्ञ बने रहोगे॥ ८—१२॥

देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत्।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते॥ १३॥

जो देवताओंके उपभोगमें आने योग्य है, ऐसा स्फटिक मणिका बना हुआ एक दिव्य, आकाशचारी एवं विशाल विमान मैंने तुम्हें भेंट किया है। वह आकाशमें तुम्हारी सेवाके लिये सदा उपस्थित रहेगा॥ १३॥

त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि देवो विग्रहवानिव॥ १४॥

सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक तुम्हीं इस श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मूर्तिमान् देवताकी भाँति सबके ऊपर-ऊपर विचरोगे ॥ १४ ॥

ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ॥ १५ ॥

मैं तुम्हें यह वैजयन्ती माला देता हूँ, जिसमें पिरोये हुए कमल कभी कुम्हलाते नहीं हैं। इसे धारण कर लेनेपर यह माला संग्राममें तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे बचायेगी ॥ १५ ॥

लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥ १६ ॥

नरेश्वर! यह माला ही इन्द्रमालाके नामसे विख्यात होकर इस जगत्में तुम्हारी पहचान करानेके लिये परम धन्य एवं अनुपम चिह्न होगी ॥ १६ ॥

यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने राजाको प्रेमोपहारस्वरूप बाँसकी एक छड़ी दी, जो शिष्ट पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली थी ॥ १७ ॥

तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा ।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर भूपाल वसुने इन्द्रकी पूजाके लिये उस छड़ीको भूमिमें गाड़ दिया ॥ १८ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि यष्ट्याः क्षितिपसत्तमैः ।
प्रवेशः क्रियते राजन् यथा तेन प्रवर्तितः ॥ १९ ॥

राजन्! तबसे लेकर आजतक श्रेष्ठ राजाओंद्वारा छड़ी धरतीमें गाड़ी जाती है। वसुने जो प्रथा चला दी, वह अबतक चली आती है ॥ १९ ॥

अपरेद्युस्ततस्तस्याः क्रियतेऽत्युच्छ्रयो नृपैः ।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धमाल्यैश्च भूषणैः ॥ २० ॥
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत् क्रियतेऽपि च ।
भगवान् पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ॥ २१ ॥

दूसरे दिन अर्थात् नवीन संवत्सरके प्रथम दिन प्रतिपदाको वह छड़ी वहाँसे निकालकर बहुत ऊँचे स्थानमें रखी जाती है; फिर कपड़ेकी पेटी, चन्दन, माला और आभूषणोंसे उसको सजाया जाता है। उसमें विधिपूर्वक फूलोंके हार और सूत लपेटे जाते हैं। तत्पश्चात् उसी छड़ीपर देवेश्वर भगवान् इन्द्रका हंसरूपसे पूजन किया जाता है ॥ २०-२१ ॥

स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ।
स तां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम् ॥ २२ ॥
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत् प्रभुः ।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ॥ २३ ॥
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ॥ २४ ॥

इन्द्रने महात्मा वसुके प्रेमवश स्वयं हंसका रूप धारण करके वह पूजा ग्रहण की। नृपश्रेष्ठ वसुके द्वारा की हुई उस शुभ पूजाको देखकर प्रभावशाली भगवान् महेन्द्र प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले—'चेदिदेशके अधिपति उपरिचर वसु जिस प्रकार मेरी पूजा करते हैं, उसी तरह जो मनुष्य तथा राजा मेरी पूजा करेंगे और मेरे इस उत्सवको रचायेंगे, उनको और उनके समूचे राष्ट्रको लक्ष्मी एवं विजयकी प्राप्ति होगी ॥ २२-२४ ॥

तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति ।
एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप ॥ २५ ॥
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः ।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ॥ २६ ॥
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते ।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ॥ २७ ॥

'इतना ही नहीं, उनका सारा जनपद ही उत्तरोत्तर उन्नतिशील और प्रसन्न होगा।' राजन्! इस प्रकार महात्मा महेन्द्रने, जिन्हें मघवा भी कहते हैं, प्रेमपूर्वक महाराज वसुका भलीभाँति सत्कार किया। जो मनुष्य भूमि तथा रत्न आदिका दान करते हुए सदा देवराज इन्द्रका उत्सव रचायेंगे, वे इन्द्रोत्सवद्वारा इन्द्रका वरदान पाकर उसी उत्तम गतिको पा जायँगे, जिसे भूमिदान आदिके पुण्योंसे युक्त मानव प्राप्त करते हैं ॥ २५-२७ ॥

सम्पूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः ।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥

इन्द्रके द्वारा उपर्युक्त रूपसे सम्मानित चेदिराज वसुने चेदिदेशमें ही रहकर इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया ॥ २८ ॥

इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ॥ २९ ॥

इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये चेदिराज वसु प्रतिवर्ष इन्द्रोत्सव मनाया करते थे। उनके अनन्त बलशाली महापराक्रमी पाँच पुत्र थे ॥ २९ ॥

नानाराज्येषु च सुतान् स सम्राडभ्यषेचयत् ।
महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ॥ ३० ॥

सम्राट् वसुने विभिन्न राज्योंपर अपने पुत्रोंको अभिषिक्त कर दिया। उनमें महारथी बृहद्रथ मगध देशका विख्यात राजा हुआ ॥ ३० ॥

प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ॥ ३१ ॥

दूसरे पुत्रका नाम प्रत्यग्रह था, तीसरा कुशाम्ब था, जिसे मणिवाहन भी कहते हैं। चौथा मावेल्ल था। पाँचवाँ राजकुमार यदु था, जो युद्धमें किसीसे पराजित नहीं होता था ॥ ३१ ॥

एते तस्य सुता राजन् राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवासयन् नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ॥३२॥

राजा जनमेजय ! महातेजस्वी राजर्षि वसुके इन पुत्रोंने अपने-अपने नामसे देश और नगर बसाये ॥ ३२ ॥

वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ।
वसन्तमिन्द्रप्रासादे आकाशे स्फाटिके च तम् ॥३३॥
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ॥३४॥

पाँचों वसुपुत्र भिन्न-भिन्न देशोंके राजा थे और उन्होंने पृथक्-पृथक् अपनी सनातन वंशपरम्परा चलायी। चेदिराज वसु इन्द्रके दिये हुए स्फटिक मणिमय विमानमें रहते हुए आकाशमें ही निवास करते थे। उस समय उन महात्मा नरेश-की सेवामें गन्धर्व और अप्सराएँ उपस्थित होती थीं। सदा ऊपर-ही-ऊपर चलनेके कारण उनका नाम 'राजा उपरिचर'के रूपमें विख्यात हो गया ॥ ३३-३४ ॥

पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात् कोलाहलः किल ॥३५॥

उनकी राजधानीके समीप शुक्तिमती नदी बहती थी। एक समय कोलाहल नामक सचेतन पर्वतने कामवश उस दिव्यरूपधारिणी नदीको रोक लिया ॥ ३५ ॥

गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम ततस्तेन प्रहारविवरेण सा ॥३६॥

उसके रोकनेसे नदीकी धारा रुक गयी। यही देख उपरिचर वसुने कोलाहल पर्वतपर अपने पैरसे प्रहार किया। प्रहार करते ही पर्वतमें दरार पड़ गयी, जिससे निकलकर वह नदी पहलेके समान बहने लगी ॥ ३६ ॥

तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम् ।
तस्माद् विमोक्षणात् प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ॥३७॥

पर्वतने उस नदीके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्या, जुड़वीं संतान उत्पन्न की थी। उसके अवरोधसे मुक्त करनेके कारण प्रसन्न हुई नदीने राजा उपरिचरको अपनी दोनों संतानें समर्पित कर दीं ॥ ३७ ॥

यः पुमानभवत् तत्र तं स राजर्षिसत्तमः ।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमः ॥३८॥

उनमें जो पुरुष था, उसे शत्रुओंका दमन करनेवाले धनदाता राजर्षिप्रवर वसुने अपना सेनापति बना लिया ॥ ३८ ॥

चकार पत्नीं कन्यां तु तथा तां गिरिकां नृपः ।
वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ॥३९॥
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः ।
तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति ॥४०॥
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वर ।
स पितॄणां नियोगं तमनतिक्रम्य पार्थिवः ॥४१॥
चकार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन् ।
अतीवरूपसम्पन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥४२॥

और जो कन्या थी उसे राजाने अपनी पत्नी बना लिया। उसका नाम था गिरिका। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! एक दिन ऋतुकालको प्राप्त हो स्नानके पश्चात् शुद्ध हुई वसुपत्नी गिरिकाने पुत्र उत्पन्न होने योग्य समयमें राजासे समागमकी इच्छा प्रकट की। उसी दिन पितरोंने राजाओंमें श्रेष्ठ वसुपर प्रसन्न हो उन्हें आज्ञा दी 'तुम हिंसक पशुओंका वध करो।' तब राजा पितरोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके कामनावश साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान अत्यन्त रूप और सौन्दर्यके वैभवसे सम्पन्न गिरिकाका ही चिन्तन करते हुए हिंसक पशुओंको मारनेके लिये वनमें गये ॥ ३९-४२ ॥

अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः ।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च बकुलैर्दिव्यपाटलैः ॥४३॥
पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चार्जुनैस्तथा ।
एतै रम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥४४॥
कोकिलाकुलसंनादं मत्तभ्रमरनादितम् ।
वसन्तकाले तत् तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ॥४५॥

राजाका वह वन देवताओंके चैत्ररथ नामक वनके समान शोभा पा रहा था। वसन्तका समय था; अशोक, चम्पा, आम, अतिमुक्तक (माधवीलता), पुन्नाग (नागकेसर), कनेर, मौलसिरी, दिव्य पाटल, पाटल, नारियल, चन्दन तथा अर्जुन—ये स्वादिष्ट फलोंसे युक्त, रमणीय तथा पवित्र महावृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। कोकिलाओंके कल-कूजनसे समस्त वन गूँज उठा था। चारों ओर मतवाले भौंरे कल-कल नाद कर रहे थे ॥ ४३—४५ ॥

मन्मथाभिपरीतात्मा नापश्यद् गिरिकां तदा ।
अपश्यन् कामसंतप्तश्चरमाणो यदृच्छया ॥४६॥

यह उद्दीपन-सामग्री पाकर राजाका हृदय कामवेदनासे पीड़ित हो उठा। उस समय उन्हें अपनी रानी गिरिकाका दर्शन नहीं हुआ। उसे न देखकर कामाग्निसे संतप्त हो वे इच्छानुसार इधर-उधर घूमने लगे ॥ ४६ ॥

पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम् ।
अशोकं स्तवकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ॥४७॥

घूमते-घूमते उन्होंने एक रमणीय अशोकका वृक्ष देखा, जो पल्लवोंसे सुशोभित और पुष्पके गुच्छोंसे आच्छादित था। उसकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हुए थे ॥ ४७ ॥

अधस्तात् तस्य छायायां सुखासीनो नराधिपः ।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धमनोहरम् ॥४८॥

राजा उसी वृक्षके नीचे उसकी छायामें सुखपूर्वक बैठ गये। वह वृक्ष मकरन्द और सुगन्धसे भरा था। फूलोंकी गन्धसे वह बरबस मनको मोहे लेता था ॥ ४८ ॥

वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात्।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ॥४९॥

उस समय कामोद्दीपक वायुसे प्रेरित हो राजाके मनमें रतिके लिये स्त्रीविषयक प्रीति उत्पन्न हुई। इस प्रकार वनमें विचरनेवाले राजा उपरिचरका वीर्य स्खलित हो गया ॥४९॥

स्कन्दमात्रं च तद् रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद् रेत इत्युत ॥५०॥

उसके स्खलित होते ही राजाने यह सोचकर कि मेरा वीर्य व्यर्थ न जाय, उसे वृक्षके पत्तेपर उठा लिया ॥ ५० ॥

इदं मिथ्या परिस्कन्नं रेतो मे न भवेदिति।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ॥५१॥
संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥५२॥

उन्होंने विचार किया 'मेरा यह स्खलित वीर्य व्यर्थ न हो, साथ ही मेरी पत्नी गिरिकाका ऋतुकाल भी व्यर्थ न जाय, इस प्रकार बारम्बार विचारकर राजाओंमें श्रेष्ठ वसुने उस वीर्यको अमोघ बनानेका ही निश्चय किया ॥ ५१-५२ ॥

शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात् तिष्ठन्तमाशुगम् ॥५३॥
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत्।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ॥५४॥
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्तवमद्य वै।
गृहीत्वा तत् तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ॥५५॥

तदनन्तर रानीके पास अपना वीर्य भेजनेका उपयुक्त अवसर देख उन्होंने उस वीर्यको पुत्रोत्पत्तिकारक मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किया। राजा वसु धर्म और अर्थके सूक्ष्मतत्त्वको जाननेवाले थे। उन्होंने अपने विमानके समीप ही बैठे हुए शीघ्रगामी श्येन पक्षी (बाज) के पास जाकर कहा—'सौम्य ! तुम मेरा प्रिय करनेके लिये यह वीर्य मेरे घर ले जाओ और महारानी गिरिकाको शीघ्र दे दो; क्योंकि आज ही उनका ऋतुकाल है।' बाज वह वीर्य लेकर बड़े वेगके साथ तुरंत वहाँसे उड़ गया ॥ ५३–५५ ॥

जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः।
तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ॥५६॥

वह आकाशचारी पक्षी सर्वोत्तम वेगका आश्रय ले उड़ा जा रहा था, इतनेहीमें एक दूसरे बाजने उसे आते देखा।५६।

अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया।
तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ सम्प्रचक्रतुः ॥५७॥

उस बाजको देखते ही उसके पास मांस होनेकी आशंकासे दूसरा बाज तत्काल उसपर टूट पड़ा। फिर वे दोनों पक्षी आकाशमें एक दूसरेको चोंचोंसे मारते हुए युद्ध करने लगे॥

युध्यतोरपतद् रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि।
तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद् वराप्सराः ॥५८॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद् वीर्यमथ वासवम् ॥५९॥
जग्राह तरसोपेत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी।
कदाचिदपि मत्स्यीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ॥६०॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम।
उज्जह्रुरुदरात् तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम् ॥६१॥

उन दोनोंके युद्ध करते समय वह वीर्य यमुनाजीके जलमें गिर पड़ा। अद्रिका नामसे विख्यात एक सुन्दरी अप्सरा ब्रह्माजीके शापसे मछली होकर वहीं यमुनाजीके जलमें रहती थी। बाजके पंजेसे छूटकर गिरे हुए वसुसम्बन्धी उस वीर्यको मत्स्यरूपधारिणी अद्रिकाने वेगपूर्वक आकर निगल लिया। भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् दसवाँ मास आनेपर मत्स्यजीवी मल्लाहोंने उस मछलीको जालमें बाँध लिया और उसके उदरको चीरकर एक कन्या और एक पुरुष निकाला ॥ ५८–६१ ॥

आश्चर्यभूतं तद् गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन्।
काये मत्स्या इमौ राजन् सम्भूतौ मानुषाविति ॥६२॥

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर मछेरोंने राजाके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज ! मछलीके पेटसे ये दो मनुष्य बालक उत्पन्न हुए हैं' ॥ ६२ ॥

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा।
स मत्स्यो नाम राजासीद् धार्मिकः सत्यसंगरः ॥६३॥

मछेरोंकी बात सुनकर राजा उपरिचरने उस समय उन दोनों बालकोंमेंसे जो पुरुष था, उसे स्वयं ग्रहण कर लिया। वही मत्स्य नामक धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ राजा हुआ ॥ ६३ ॥

साप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत।
या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा ॥६४॥
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि।
ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना ॥६५॥
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ॥६६॥

इधर वह शुभलक्षणा अप्सरा अद्रिका क्षणभरमें शापमुक्त हो गयी। भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही उससे कह दिया था कि 'तिर्यग् योनिमें पड़ी हुई तुम दो मानव-संतानोंको जन्म देकर शापसे छूट जाओगी।' अतः मछली मारनेवाले मल्लाहने जब उसे काटा तो वह मानव बालकोंको जन्म देकर मछलीका रूप छोड़ दिव्यरूपको प्राप्त हो गयी। इस प्रकार

वह सुन्दरी अप्सरा सिद्ध, महर्षि और चारणोंके पथसे स्वर्गलोकमें चली गयी ॥ ६४–६६ ॥

सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी।
राज्ञा दत्ता च दासाय कन्येयं ते भवत्विति ॥६७॥

उन जुड़वी संतानोंमें जो कन्या थी, मछलीकी पुत्री होनेसे उसके शरीरसे मछलीकी गन्ध आती थी। अतः राजाने उसे मल्लाहको सौंप दिया और कहा—'यह तेरी पुत्री होकर रहे ॥ ६७ ॥

रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ॥६८॥
आसीत् सा मत्स्यगन्धैव कंचित् कालं शुचिस्मिता।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम् ॥६९॥
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद् वै पराशरः।
अतीवरूपसम्पन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ॥७०॥

वह रूप और सत्त्व (सत्य) से संयुक्त तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण 'सत्यवती' नामसे प्रसिद्ध हुई। मछेरोंके आश्रयमें रहनेके कारण वह पवित्र मुसकानवाली कन्या कुछ कालतक मत्स्यगन्धा नामसे ही विख्यात रही। वह पिताकी सेवाके लिये यमुनाजीके जलमें नाव चलाया करती थी। एक दिन तीर्थयात्राके उद्देश्यसे सब ओर विचरनेवाले महर्षि पराशरने उसे देखा। वह अतिशय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थी। सिद्धोंके हृदयमें भी उसे पानेकी अभिलाषा जाग उठती थी ॥ ६८–७० ॥

दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः ॥७१॥

उसकी हँसी बड़ी मोहक थी, उसकी जाँघें कदलीकी-सी शोभा धारण करती थीं। उस दिव्य वसुकुमारीको देखकर परम बुद्धिमान् मुनिवर पराशरने उसके साथ समागमकी इच्छा प्रकट की ॥ ७१ ॥

संगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत।
साब्रवीत् पश्य भगवन् पारावारे स्थितानृषीन् ॥७२॥

और कहा—'कल्याणी ! मेरे साथ संगम करो।' वह बोली—'भगवन्! देखिये, नदीके आर-पार दोनों तटोंपर बहुत-से ऋषि खड़े हैं ॥ ७२ ॥

आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात् समागमः।
एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः ॥७३॥

'और हम दोनोंको देख रहे हैं। ऐसी दशामें हमारा समागम कैसे हो सकता है ?' उसके ऐसा कहनेपर शक्तिशाली भगवान् पराशरने कुहरेकी सृष्टि की ॥ ७३ ॥

येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत्।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥७४॥
विस्मिता साभवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी।

जिससे वहाँका सारा प्रदेश अन्धकारसे आच्छादित-सा हो गया। महर्षिद्वारा कुहरेकी सृष्टि देखकर वह तपस्विनी कन्या आश्चर्यचकित एवं लज्जित हो गयी ॥ ७४½ ॥

सत्यवत्युवाच

विद्धि मां भगवन् कन्यां सदा पितृवशानुगाम् ॥७५॥

सत्यवतीने कहा—भगवन्! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं सदा अपने पिताके अधीन रहनेवाली कुमारी कन्या हूँ॥

त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ॥७६॥
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन् न स्थातुमुत्सहे।
एतत् संचिन्त्य भगवन् विधत्स्व यदनन्तरम् ॥७७॥

निष्पाप महर्षे ! आपके संयोगसे मेरा कन्याभाव (कुमारीपन) दूषित हो जायगा। द्विजश्रेष्ठ! कन्याभाव दूषित हो जानेपर मैं कैसे अपने घर जा सकती हूँ। बुद्धिमान् मुनीश्वर ! अपने कन्यापनके कलङ्कित हो जानेपर मैं जीवित रहना नहीं चाहती। भगवन् ! इस बातपर भलीभाँति विचार करके जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ॥ ७६-७७ ॥

एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥७८॥
वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भामिनि।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥७९॥

सत्यवतीके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ पराशर प्रसन्न होकर बोले—'भीरु ! मेरा प्रिय कार्य करके भी तुम कन्या ही रहोगी। भामिनि ! तुम जो चाहो, वह मुझसे वर माँग लो। शुचिस्मिते ! आजसे पहले कभी भी मेरा अनुग्रह व्यर्थ नहीं गया है'॥७८-७९॥

एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्धमुत्तमम्।
स चास्यै भगवान् प्रादान्मनसः काङ्क्षितं भुवि ॥८०॥

महर्षिके ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपने शरीरमें उत्तम सुगन्ध होनेका वरदान माँगा। भगवान् पराशरने इस भूतलपर उसे वह मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ८० ॥

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता।
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा ॥८१॥
तेन गन्धवतीत्येवं नामास्याः प्रथितं भुवि।
तस्यास्तु योजनाद् गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ॥८२॥
तस्या योजनगन्धेति ततो नामापरं स्मृतम्।

तदनन्तर वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवती नारीपनके समागमोचित गुण (सद्यः ऋतुस्नान आदि) से विभूषित हो गयी और उसने अद्भुतकर्मा महर्षि पराशरके साथ समागम किया। उसके शरीरसे उत्तम गन्ध फैलनेके कारण पृथ्वीपर उसका गन्धवती नाम विख्यात हो गया। इस पृथ्वीपर

एक योजन दूरके मनुष्य भी उसकी दिव्य सुगन्धका अनुभव करते थे, इस कारण उसका दूसरा नाम योजनगन्धा हो गया ॥ ८१-८२½ ॥

इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ॥ ८३ ॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार परम उत्तम वर पाकर हर्षोल्लाससे भरी हुई सत्यवतीने महर्षि पराशरका संयोग प्राप्त किया और तत्काल ही एक शिशुको जन्म दिया। यमुनाके द्वीपमें अत्यन्त शक्तिशाली पराशरनन्दन व्यास प्रकट हुए॥ ८३-८४ ॥

स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत्॥८५॥

उन्होंने मातासे यह कहा—'आवश्यकता पड़नेपर तुम मेरा स्मरण करना। मैं अवश्य दर्शन दूँगा।' इतना कहकर माताकी आज्ञा ले व्यासजीने तपस्यामें ही मन लगाया ॥८५॥

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनःस्मृतः ॥८६॥

इस प्रकार महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे द्वैपायन व्यासजीका जन्म हुआ। वे बाल्यावस्थामें ही यमुनाके द्वीपमें छोड़ दिये गये, इसलिये 'द्वैपायन' नामसे प्रसिद्ध हुए॥८६॥

(ततः सत्यवती हृष्टा जगाम स्वं निवेशनम्।
तस्यास्त्वायोजनाद् गन्धमाजिघ्रन्ति नरा भुवि ॥
दाशराजस्तु तद्गन्धमाजिघ्रन् प्रीतिमावहत्।)

तदनन्तर सत्यवती प्रसन्नतापूर्वक अपने घरपर गयी। उस दिनसे भूमण्डलके मनुष्य एक योजन दूरसे ही उसकी दिव्य गन्धका अनुभव करने लगे। उसका पिता दाशराज भी उसकी गन्ध सूँघकर बहुत प्रसन्न हुआ॥

दास उवाच

त्वामाहुर्मत्स्यगन्धेति कथं बाले सुगन्धता।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं केन दत्ता सुगन्धता ॥

दाशराजने पूछा—बेटी! तेरे शरीरसे मछलीकी-सी दुर्गन्ध आनेके कारण लोग तुझे 'मत्स्यगन्धा' कहा करते थे, फिर तुझमें यह सुगन्ध कहाँसे आ गयी? किसने यह मछलीकी दुर्गन्ध दूर कर तेरे शरीरको सुगन्ध प्रदान की है?

सत्यवत्युवाच

शक्तेः पुत्रो महाप्राज्ञः पराशर इति स्मृतः ॥
नावं वाहयमानाया मम दृष्ट्वा सुगर्हितम्।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं योजनाद् गन्धतां ददौ ॥
ऋषेः प्रसादं दृष्ट्वा तु जनाः प्रीतिमुपागमन्।)

सत्यवती बोली—पिताजी! महर्षि शक्तिके पुत्र महाज्ञानी पराशर हैं, (वे यमुनाजीके तटपर आये थे; उस समय) मैं नाव खे रही थी। उन्होंने मेरी दुर्गन्धताकी ओर लक्ष्य करके मुझपर कृपा की और मेरे शरीरसे मछलीकी गन्ध दूर करके ऐसी सुगन्ध दे दी, जो एक योजन दूरतक अपना प्रभाव रखती है। महर्षिका यह कृपाप्रसाद देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए॥

पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान् युगे युगे।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगावस्थामवेक्ष्य च ॥८७॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ॥

विद्वान् द्वैपायनजीने देखा कि प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। मनुष्योंकी आयु और शक्ति क्षीण हो चली है और युगकी ऐसी दुरवस्था हो गयी है। यह सब देख-सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वेदोंका व्यास (विस्तार) किया। इसलिये वे व्यास नामसे विख्यात हुए॥ ८७-८८ ॥

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥ ८९ ॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥ ९० ॥

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् व्यासने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव तथा मुझ वैशम्पायनको कराया। फिर उन सबने पृथक्-पृथक् महाभारतकी संहिताएँ प्रकाशित कीं॥८९-९०॥

तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः।
वसुवीर्यात् समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥ ९१ ॥

अमिततेजस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म आठवें वसुके अंशसे तथा गङ्गाजीके गर्भसे उत्पन्न हुए। वे महान् पराक्रमी और अत्यन्त यशस्वी थे॥ ९१ ॥

वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ॥ ९२ ॥
अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः स महायशाः।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ॥ ९३ ॥

पूर्वकालकी बात है वेदार्थोंके ज्ञाता, महान् यशस्वी, पुरातन मुनि, महर्षि भगवान् अणीमाण्डव्य चोर न होते हुए भी चोरके संदेहसे शूलीपर चढ़ा दिये गये। परलोकमें जानेपर उन महायशस्वी महर्षिने पहले धर्मको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥

इषीकया मया बाल्याद् विद्धा ह्येका शकुन्तिका।
तत् किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत् पापमहं स्मरे ॥९४॥

'धर्मराज! पहले कभी मैंने बाल्यावस्थाके कारण सींकसे

एक चिड़ियेके बच्चेको छेद दिया था। वही एक पाप मुझे याद आ रहा है। अपने दूसरे किसी पापका मुझे स्मरण नहीं है ॥

तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाजयत् तपः।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद् यतः ॥९५॥

'मैंने अगणित सहस्रगुना तप किया है। फिर उस तपने मेरे छोटे-से पापको क्यों नहीं नष्ट कर दिया। ब्राह्मणका वध समस्त प्राणियोंके वधसे बड़ा है ॥ ९५ ॥

तस्मात् त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ॥९६॥

'(तुमने मुझे शूलीपर चढ़वाकर वही पाप किया है) इसलिये तुम पापी हो। अतः पृथ्वीपर शूद्रकी योनिमें तुम्हें जन्म लेना पड़ेगा।' अणीमाण्डव्यके उस शापमे धर्म भी शूद्रकी योनिमें उत्पन्न हुए ॥ ९६ ॥

विद्वान् विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी।
संजयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ॥९७॥

पापरहित विद्वान् विदुरके रूपमें धर्मराजका शरीर ही प्रकट हुआ था। उसी समय गवल्गणसे संजय नामक सूतका जन्म हुआ, जो मुनियोंके समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे ॥९७॥

सूर्याच्च कुन्तिकन्यायां जज्ञे कर्णो महाबलः।
सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः ॥९८॥

राजा कुन्तिभोजकी कन्या कुन्तीके गर्भसे सूर्यके अंशसे महाबली कर्णकी उत्पत्ति हुई। वह बालक जन्मके साथ ही कवचधारी था। उसका मुख शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कुण्डलकी प्रभासे प्रकाशित होता था ॥ ९८ ॥

अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
वसुदेवात् तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥९९॥

उन्हीं दिनों विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् विष्णु जगत्के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके द्वारा देवकी-के गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९९ ॥

अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥१००॥

वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, द्युतिमान्, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता तथा प्रभु हैं। उन्हींको अव्यक्त अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म और त्रिगुणमय प्रधान कहते हैं ॥ १०० ॥

आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम्।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥१०१॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम्।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ॥१०२॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम्।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ॥१०३॥

आत्मा, अव्यय, प्रकृति (उपादान), प्रभव (उत्पत्ति-कारण), प्रभु (अधिष्ठाता), पुरुष (अन्तर्यामी), विश्वकर्मा, सत्त्वगुणसे प्राप्त होने योग्य तथा प्रणवाक्षर भी वे ही हैं; उन्हींको अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, पर, अव्यय, कैवल्य, निर्गुण, विश्वरूप, अनादि, जन्म-रहित और अविकारी कहा गया है। वे सर्वव्यापी, परम पुरुष परमात्मा, सबके कर्ता और सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं १०१—१०३

धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु।
अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ॥१०४॥

उन्होंने ही धर्मकी वृद्धिके लिये अन्धक और वृष्णि-कुलमें बलराम और श्रीकृष्णरूपमें अवतार लिया था। वे दोनों भाई सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, महापराक्रमी और समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें परम प्रवीण थे ॥ १०४ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ।
सत्यकाद्धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥१०५॥

सत्यकसे सात्यकि और हृदिकसे कृतवर्माका जन्म हुआ था। वे दोनों अस्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण और भगवान् श्रीकृष्णके अनुगामी थे ॥ १०५ ॥

भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ॥१०६॥

एक समय उग्रतपस्वी महर्षि भरद्वाजका वीर्य किसी द्रोणी (पर्वतकी गुफा) में स्खलित होकर धीरे-धीरे पुष्ट होने लगा। उसीसे द्रोणका जन्म हुआ ॥ १०६ ॥

गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ॥१०७॥

किसी समय गौतमगोत्रीय शरद्वान्‌का वीर्य सरकंडेके समूह-पर गिरा और दो भागोंमें बँट गया। उसीसे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ। कन्याका नाम कृपी था, जो अश्वत्थामाकी जननी हुई। पुत्र महाबली कृपके नामसे विख्यात हुआ ॥ १०७ ॥

अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महाबलः।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥१०८॥
वैताने कर्मणि ततः पावकात् समजायत।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥१०९॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यसे महाबली अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इसी प्रकार यज्ञकर्मका अनुष्ठान होते समय प्रज्वलित अग्निसे धृष्टद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ, जो साक्षात् अग्निदेवके समान तेजस्वी था। पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये धनुष लेकर प्रकट हुआ था ॥१०८-१०९॥

तत्रैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥११०॥

उसी यज्ञकी वेदीसे शुभस्वरूपा तेजस्विनी द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो परम उत्तम रूप धारण करके अपने सुन्दर शरीरसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥ ११० ॥

प्रह्लादशिष्यो नग्नजित् सुबलश्चाभवत् ततः।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥१११॥
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ॥११२॥

प्रह्लादका शिष्य नग्नजित् राजा सुबलके रूपमें प्रकट हुआ। देवताओंके कोपसे उसकी संतति (शकुनि) धर्मका नाश करनेवाली हुई। गान्धारराज सुबलका पुत्र शकुनि एवं सौबल नामसे विख्यात हुआ तथा उनकी पुत्री गान्धारी दुर्योधनकी माता थी। ये दोनों भाई-बहिन अर्थ-शास्त्रके ज्ञानमें निपुण थे ॥ १११-११२ ॥

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ॥११३॥
धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥११४॥
पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक्।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद् युधिष्ठिरः ॥११५॥

राजा विचित्रवीर्यकी क्षेत्रभूता अम्बिका और अम्बालिकाके गर्भसे कृष्णद्वैपायन व्यासद्वारा राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डुका जन्म हुआ। द्वैपायन व्याससे ही शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे विदुरजीका भी जन्म हुआ था। ये धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण, बुद्धिमान्, मेधावी और निष्पाप थे। पाण्डुसे दो स्त्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् पाँच पुत्र उत्पन्न हुए जो सब-के-सब देवताओंके समान थे। उन सबमें बड़े युधिष्ठिर थे। वे उत्तम गुणोंमें भी सबसे बढ़-चढ़कर थे ॥ ११३–११५ ॥

धर्माद् युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः।
इन्द्राद् धनंजयः श्रीमान् सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥११६॥
जज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यां च यमावपि।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥११७॥

युधिष्ठिर धर्मसे, भीमसेन वायुदेवतासे, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् अर्जुन इन्द्रदेवसे तथा सुन्दर रूपवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न हुए थे। ये जुड़वें पैदा हुए थे। नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहते थे ॥ ११६-११७ ॥

तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥११८॥

परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। इनके अतिरिक्त युयुत्सु भी उन्हींका पुत्र था। वह वैश्यजातीय मातासे उत्पन्न होनेके कारण 'करण'[1] कहलाता था ॥

ततो दुःशासनश्चैव दुःसहश्चापि भारत।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ॥११९॥
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ॥१२०॥

भरतवंशी जनमेजय! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र तथा वैश्यापुत्र युयुत्सु—ये ग्यारह महारथी थे ॥ ११९-१२० ॥

अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥१२१॥

अर्जुनद्वारा सुभद्राके गर्भसे अभिमन्युका जन्म हुआ। वह महात्मा पाण्डुका पौत्र और भगवान् श्रीकृष्णका भानजा था ॥

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥१२२॥

पाण्डवोंद्वारा द्रौपदीके गर्भसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए थे, जो बड़े ही सुन्दर और सब शास्त्रोंमें निपुण थे ॥ १२२ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥१२३॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान्।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥१२४॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक तथा सहदेवसे प्रतापी श्रुतसेनका जन्म हुआ था। भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासे वनमें घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२३-१२४ ॥

शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥१२५॥

राजा द्रुपदसे शिखण्डी नामकी एक कन्या हुई, जो आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो गयी। स्थूणाकर्ण नामक यक्षने उसका प्रिय करनेकी इच्छासे उसे पुरुष बना दिया था ॥ १२५ ॥

कुरूणां विग्रहे तस्मिन् समागच्छन् बहून् यथा।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥१२६॥
तेषामपरिमेयानां नामधेयानि सर्वशः।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥१२७॥

---

१. वैश्यायां क्षत्रियाज्जातः करणः परिकीर्तितः। (वैश्य माता और क्षत्रिय पितासे उत्पन्न पुत्र 'करण' कहलाता है) इस धर्मशास्त्रीय वचनके अनुसार युयुत्सुकी 'करण' संज्ञा बतायी गयी है।

कौरवोंके उस महासमरमें युद्ध करनेके लिये राजाओंके कई लाख योद्धा आये थे। दस हजार वर्षोंतक गिनती की जाय तो भी उन असंख्य योद्धाओंके नाम पूर्णतः नहीं बताये जा सकते। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य राजाओंके नाम बताये गये हैं, जिनके चरित्रोंसे इस महाभारत-कथाका विस्तार हुआ है ॥ १२६-१२७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें व्यास आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १३१½ श्लोक हैं)

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्रियवंशकी उत्पत्ति और वृद्धि तथा उस समयके धार्मिक राज्यका वर्णन; असुरोंका जन्म और उनके भारसे पीड़ित पृथ्वीका ब्रह्माजीकी शरणमें जाना तथा ब्रह्माजीका देवताओंको अपने अंशसे पृथ्वीपर जन्म लेनेका आदेश

जनमेजय उवाच

य एते कीर्तिता ब्रह्मन् ये चान्ये नानुकीर्तिताः ।
सम्यक् ताञ्छ्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान् सहस्रशः ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! आपने यहाँ जिन राजाओंके नाम बताये हैं और जिन दूसरे नरेशोंके नाम यहाँ नहीं लिये हैं, उन सब सहस्रों राजाओंका मैं भलीभाँति परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यदर्थमिह सम्भूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

महाभाग! वे देवतुल्य महारथी इस पृथ्वीपर जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उत्पन्न हुए थे, उसका यथावत् वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

रहस्यं खल्विदं राजन् देवानामिति नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यह देवताओंका रहस्य है, ऐसा मैंने सुन रक्खा है। स्वयम्भू ब्रह्माजीको नमस्कार करके आज उसी रहस्यका तुमसे वर्णन करूँगा ॥ ३ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः ॥ ५ ॥

पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित करके उत्तम पर्वत महेन्द्रपर तपस्या की थी। उस समय जब भृगुनन्दनने इस लोकको क्षत्रियशून्य कर दिया था, क्षत्रिय-नारियोंने पुत्रकी अभिलाषासे ब्राह्मणोंकी शरण ग्रहण की थी ॥ ४-५ ॥

ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥ ६ ॥

नररत्न! वे कठोर व्रतधारी ब्राह्मण केवल ऋतुकालमें ही उनके साथ मिलते थे; न तो कामवश और न बिना ऋतुकालके ही ॥ ६ ॥

तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ॥ ७ ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ।
एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥ ८ ॥
जातं वृद्धं च धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम् ।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ९ ॥

राजन्! उन सहस्रों क्षत्राणियोंने ब्राह्मणोंसे गर्भ धारण किया और पुनः क्षत्रियकुलकी वृद्धिके लिये अत्यन्त बलशाली क्षत्रियकुमारों तथा कुमारियोंको जन्म दिया। इस प्रकार तपस्वी ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्राणियोंके गर्भसे धर्मपूर्वक क्षत्रिय-संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि हुई। वे सब संतानें दीर्घायु होती थीं। तदनन्तर जगत्में पुनः ब्राह्मणप्रधान चारों वर्ण प्रतिष्ठित हुए ॥ ७—९ ॥

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा ।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ १० ॥
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत् तथा भरतर्षभ ।
ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ॥ ११ ॥

उस समय सब लोग ऋतुकालमें ही पत्नीसमागम करते थे; केवल कामनावश या ऋतुकालके बिना नहीं करते थे। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदिकी योनिमें पड़े हुए जीव भी ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रियोंसे संयोग करते थे। भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मका आश्रय लेनेसे सब लोग सहस्र एवं शत वर्षोंतक जीवित रहते थे और उत्तरोत्तर उन्नति करते थे ॥

ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ॥ १२ ॥

भूपाल! उस समयकी प्रजा धर्म एवं व्रतके पालनमें तत्पर रहती थी; अतः सभी लोग रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे मुक्त रहते थे ॥ १२ ॥

अथेमां सागरापाङ्गीं गां गजेन्द्रगताखिलाम् ।
अध्यतिष्ठत् पुनः क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ॥१३॥

गजराजके समान गमन करनेवाले राजा जनमेजय ! तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्रसे घिरी हुई पर्वत, वन और नगरों-सहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर पुनः क्षत्रियजातिका ही अधिकार हो गया ॥ १३ ॥

प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ॥१४॥

जब पुनः क्षत्रिय शासक धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करने लगे, तब ब्राह्मण आदि वर्णोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

कामक्रोधोद्भवान् दोषान् निरस्य च नराधिपाः ।
धर्मेण दण्डं दण्ड्येषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ॥१५॥

उन दिनों राजालोग काम और क्रोधजनित दोषोंको दूर करके दण्डनीय अपराधियोंको धर्मानुसार दण्ड देते हुए पृथ्वीका पालन करते थे ॥ १५ ॥

तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणापालयत् प्रजाः ॥१६॥

इस तरह धर्मपरायण क्षत्रियोंके शासनमें सारा देश-काल अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होने लगा । उस समय सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र समयपर वर्षा करके प्रजाओंका पालन करते थे ॥

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥१७॥

राजन् ! उन दिनों कोई भी बाल्यावस्थामें नहीं मरता था । कोई भी पुरुष युवावस्था प्राप्त किये बिना स्त्री-सुखका अनुभव नहीं करता था ॥ १७ ॥

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥१८॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसी व्यवस्था हो जानेसे समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी दीर्घकालतक जीवित रहनेवाली प्रजाओंसे भर गयी ॥

ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदान् विप्राश्चाधीयते तदा ॥१९॥

क्षत्रियलोग बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन करते थे । ब्राह्मण अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करते थे ॥ १९ ॥

न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥२०॥

राजन् ! उस समय ब्राह्मण न तो वेदका विक्रय करते और न शूद्रोंके निकट वेदमन्त्रोंका उच्चारण ही करते थे ॥

कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गाश्चाप्यजीवयन् ॥२१॥

वैश्यगण बैलोंद्वारा इस पृथ्वीपर दूसरोंसे खेती कराते हुए भी स्वयं उनके कंधेपर जूआ नहीं रखते थे—उन्हें बोझ ढोनेमें नहीं लगाते थे और दुर्बल अङ्गोंवाले निकम्मे पशुओंको भी दाना-घास देकर उनके जीवनकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

फेनपांश्च तथा वत्सान् न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥२२॥

जबतक बछड़े केवल दूधपर रहते, घास नहीं चरते, तबतक मनुष्य गौओंका दूध नहीं दुहते थे । व्यापारी लोग बेचने योग्य वस्तुओंका झूठे माप-तौलकर विक्रय नहीं करते थे ॥ २२ ॥

कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥२३॥

नरश्रेष्ठ ! सब मनुष्य धर्मकी ही ओर दृष्टि रखकर धर्ममें ही तत्पर हो धर्मयुक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते थे ॥ २३ ॥

स्वकर्मनिरताश्चासन् सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥२४॥

राजन् ! उस समय सब वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मके पालनमें लगे रहते थे । नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस समय कहीं भी धर्मका ह्रास नहीं होता था ॥ २४ ॥

काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ॥२५॥

भरतश्रेष्ठ ! गौएँ तथा स्त्रियाँ भी ठीक समयपर ही संतान उत्पन्न करती थीं । ऋतु आनेपर ही वृक्षोंमें फूल और फल लगते थे ॥ २५ ॥

एवं कृतयुगे सम्यग् वर्तमाने तदा नृप ।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥२६॥

नरेश्वर ! इस तरह उस समय सब ओर सत्ययुग छा रहा था । सारी पृथ्वी नाना प्रकारके प्राणियोंसे खूब भरी-पूरी रहती थी ॥ २६ ॥

एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु मनुजेश्वर ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार सम्पूर्ण मानव-जगत् बहुत प्रसन्न था । मनुजेश्वर ! इसी समय असुरलोग राजपत्नियोंके गर्भसे जन्म लेने लगे ॥ २७ ॥

आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद् भ्रंशिताः स्वर्गात् सम्बभूवुः क्षिताविह ॥२८॥

उन दिनों अदितिके पुत्रों (देवताओं) द्वारा दैत्यगण अनेक बार युद्धमें पराजित हो चुके थे । स्वर्गके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होनेपर वे इस पृथ्वीपर ही जन्म लेने लगे ॥ २८ ॥

इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥२९॥

प्रभो ! यहीं रहकर देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे वे मनस्वी असुर भूतलपर मनुष्यों तथा भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें जन्म लेने लगे ॥ २९ ॥

गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥३०॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकात्मनाऽऽत्मानमियं धारयितुं धरा ॥३१॥

राजेन्द्र ! गौओं, घोड़ों, गदहों, ऊँटों, भैंसों, कच्चे मांस खानेवाले पशुओं, हाथियों और मृगोंकी योनिमें भी यहाँ असुरोंने जन्म लिया और अभीतक वे जन्म धारण करते जा रहे थे। उन सबसे यह पृथ्वी इस प्रकार भर गयी कि अपने-आपको भी धारण करनेमें समर्थ न हो सकी ॥३०-३१॥

अथ जाता महीपालाः केचिद् बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इह च्युताः ॥३२॥
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥३३॥

स्वर्गसे इस लोकमें गिरे हुए तथा राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए कितने ही दैत्य और दानव अत्यन्त मदसे उन्मत्त रहते थे। वे पराक्रमी होनेके साथ ही अहंकारी भी थे। अनेक प्रकारके रूप धारण कर अपने शत्रुओंका मान मर्दन करते हुए समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर विचरते रहते थे। ३२-३३॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ॥ ३४ ॥

वे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रोंको भी सताया करते थे। अन्यान्य जीवोंको भी अपने बल और पराक्रमसे पीड़ा देते थे ॥ ३४ ॥

त्रासयन्तोऽभिनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन् महीं शतसहस्रशः ॥३५॥

राजन् ! वे असुर लाखोंकी संख्यामें उत्पन्न हुए थे और समस्त प्राणियोंको डराते-धमकाते तथा उनकी हिंसा करते हुए भूमण्डलमें सब ओर घूमते रहते थे ॥ ३५ ॥

आश्रमस्थान् महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥३६॥

वे वेद और ब्राह्मणके विरोधी, पराक्रमके नशेमें चूर तथा अहंकार और बलसे मतवाले होकर इधर-उधर आश्रमवासी महर्षियोंका भी तिरस्कार करने लगे ॥ ३६ ॥

एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन् ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥३७॥

राजन् ! जब इस प्रकार बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त महादैत्य विशेष यत्नपूर्वक इस पृथ्वीको पीड़ा देने लगे, तब यह ब्रह्माजीकी शरणमें जानेको उद्यत हुई ॥ ३७ ॥

न ह्यमी भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम् ।
तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात् ॥३८॥
ततो मही महीपाल भारार्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥३९॥
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्तारमव्ययम् ॥४०॥

दानवोंने बलपूर्वक जिसपर अधिकार कर लिया था, पर्वतों और वृक्षोंसहित उस पृथ्वीको उस समय कच्छप और दिग्गज आदिकी सङ्गठित शक्तियाँ तथा शेषनाग भी धारण करनेमें समर्थ न हो सके। महीपाल ! तब असुरोंके भारसे आतुर तथा भयसे पीड़ित हुई पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंके पितामह भगवान् ब्रह्माजीकी शरणमें उपस्थित हुई। ब्रह्मलोकमें जाकर पृथ्वीने उन लोकस्रष्टा अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माजीका दर्शन किया, जिन्हें महाभाग देवता, द्विज और महर्षि घेरे हुए थे ॥ ३८-४० ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥४१॥

देवकर्ममें संलग्न रहनेवाले अप्सराएँ और गन्धर्व उन्हें प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करते थे। पृथ्वीने उनके निकट जाकर प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
संनिधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥४२॥
तत् प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयम्भुवः ।
पूर्वमेवाभवद् राजन् विदितं परमेष्ठिनः ॥४३॥

भारत ! तदनन्तर शरण चाहनेवाली भूमिने समस्त लोकपालोंके समीप अपना सारा दुःख ब्रह्माजीसे निवेदन किया। राजन् ! स्वयम्भू ब्रह्मा सबके कारणरूप हैं, अतः पृथ्वीका जो आवश्यक कार्य था वह उन्हें पहलेसे ही ज्ञात हो गया था ॥ ४२-४३ ॥

स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न सम्बुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ॥४४॥

भारत ! भला जो जगत्के स्रष्टा हैं, वे देवताओं और असुरोंसहित समस्त जगत्का सम्पूर्ण मनोगत भाव क्यों न समझ लें ॥

तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शम्भुः प्रजापतिः ॥४५॥

महाराज ! जो इस भूमिके पालक और प्रभु हैं, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा समस्त प्राणियोंके अधीश्वर हैं, वे कल्याणमय प्रजापति ब्रह्माजी उस समय भूमिसे इस प्रकार बोले॥

अवतारके लिये प्रार्थना

ब्रह्मोवाच

यदर्थमभिसम्प्राप्ता मत्सकाशं वसुन्धरे।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः॥४६॥

ब्रह्माजीने कहा—वसुन्धरे! तुम जिस उद्देश्यसे मेरे पास आयी हो, उसकी सिद्धिके लिये मैं सम्पूर्ण देवताओंको नियुक्त कर रहा हूँ॥४६॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन् विसृज्य च।
आदिदेश तदा सर्वान् विबुधान् भूतकृत् स्वयम्॥४७॥
अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक् पृथक्।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत्॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने ऐसा कहकर उस समय पृथ्वीको तो विदा कर दिया और समस्त देवताओंको यह आदेश दिया—'देवताओ! तुम इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने-अपने अंशसे पृथ्वीके विभिन्न भागोंमें पृथक् पृथक् जन्म ग्रहण करो। वहाँ असुरोंसे विरोध करके अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धि करनी होगी'॥४७-४८॥

तथैव स समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान्।
उवाच भगवान् सर्वानिदं वचनमर्थवत्॥४९॥

इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने सम्पूर्ण गन्धर्वों और अप्सराओंको भी बुलाकर यह अर्थसाधक वचन कहा॥४९॥

ब्रह्मोवाच

स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा॥५०॥

ब्रह्माजी बोले—तुम सब लोग अपने-अपने अंशसे मनुष्योंमें इच्छानुसार जन्म ग्रहण करो। तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवताओंने देवगुरु ब्रह्माजीकी सत्य, अर्थ-साधक और हितकर बात सुनकर उस समय उसे शिरोधार्य कर लिया॥५०॥

अथ ते सर्वशोंऽशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः॥५१॥

अब वे अपने अपने अंशोंसे भूलोकमें सब ओर जानेका निश्चय करके शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् नारायणके समीप वैकुण्ठधाममें जानेको उद्यत हुए॥५१॥

यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितिप्रभः।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः॥५२॥

जो अपने हाथोंमें चक्र और गदा धारण करते हैं, पीताम्बर पहनते हैं, जिनके अङ्गोंकी कान्ति श्याम रंगकी है, जिनकी नाभिसे कमलका प्रादुर्भाव हुआ है, जो देव-शत्रुओंके नाशक तथा विशाल और मनोहर नेत्रोंसे युक्त हैं॥५२॥

प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥५३॥

जो प्रजापतियोंके भी पति, दिव्यस्वरूप, देवताओंके रक्षक, महाबली, श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता तथा सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित हैं॥५३॥

तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम्।
अंशेनावतरेत्येवं तथेत्याह च तं हरिः॥५४॥

उन भगवान् पुरुषोत्तमके पास जाकर इन्द्रने उनसे कहा—'प्रभो! आप पृथ्वीका शोधन (भार-हरण) करनेके लिये अपने अंशसे अवतार ग्रहण करें।' तब श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली॥५४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६४॥

(सम्भवपर्व)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

मरीचि आदि महर्षियों तथा अदिति आदि दक्षकन्याओंके वंशका विवरण

वैशम्पायन उवाच

अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम्।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! देवताओंसहित इन्द्रने भगवान् विष्णुके साथ स्वर्ग एवं वैकुण्ठसे पृथ्वीपर अंशतः अवतार ग्रहण करनेके सम्बन्धमें कुछ सलाह की॥१॥

आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः।
निर्जगाम पुनस्तस्मात् क्षयान्नारायणस्य ह॥२॥

तत्पश्चात् सभी देवताओंको तदनुसार कार्य करनेके लिये आदेश देकर वे भगवान् नारायणके निवासस्थान वैकुण्ठधामसे पुनः चले आये॥२॥

तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च ।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गाद् दिवौकसः ॥ ३ ॥

तब देवतालोग सम्पूर्ण लोकोंके हित तथा राक्षसोंके विनाशके लिये स्वर्गसे पृथ्वीपर आकर क्रमशः अवतीर्ण होने लगे ॥ ३ ॥

ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च ।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वे देवगण अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मर्षियों अथवा राजर्षियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

दानवान् राक्षसांश्चैव गन्धर्वान् पन्नगांस्तथा ।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥
दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान् बलस्थान् बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥

वे दानव, राक्षस, दुष्ट गन्धर्व, सर्प तथा अन्यान्य मनुष्यभक्षी जीवोंका बारम्बार संहार करने लगे । भरतश्रेष्ठ ! वे बचपनमें भी इतने बलवान् थे कि दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा सर्प उनका बाल बाँकातक नहीं कर पाते थे ॥ ५-६ ॥

जनमेजय उवाच

देवदानवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन सम्भवं कृत्स्नमादितः ।
प्राणिनां चैव सर्वेषां सम्भवं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! मैं देवता, दानवसमुदाय, गन्धर्व, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष, राक्षस तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ । आप कृपा करके आरम्भसे ही इन सबकी उत्पत्तिका यथावत् वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ।
सुरादीनामहं सम्यग् लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—अच्छा, मैं स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा एवं नारायणको नमस्कार करके तुमसे देवता आदि सम्पूर्ण लोगोंकी उत्पत्ति और नाशका यथावत् वर्णन करता हूँ ॥

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥१०॥

ब्रह्माजीके मानस पुत्र छः महर्षि विख्यात हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १० ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात् तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥११॥

मरीचिके पुत्र कश्यप थे और कश्यपसे ही ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं । (ब्रह्माजीके एक पुत्र दक्ष भी हैं) प्रजापति दक्षके परम सौभाग्यशालिनी तेरह कन्याएँ थीं ॥११॥

अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा ।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ॥१२॥
कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसम्पन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥१३॥

नरश्रेष्ठ ! उनके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा (क्रूरा), प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू । भारत ! ये सभी दक्षकी कन्याएँ हैं । इनके बल-पराक्रमसम्पन्न पुत्र-पौत्रोंकी संख्या अनन्त है ॥

अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः ।
ये राजन् नामतस्तांस्ते कीर्तयिष्यामि भारत ॥१४॥

अदितिके पुत्र बारह आदित्य हुए, जो लोकेश्वर हैं । भरतवंशी नरेश ! उन सबके नाम तुम्हें बता रहा हूँ ॥१४॥

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥१५॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥१६॥

धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे जाते हैं । इन सब आदित्योंमें विष्णु छोटे हैं; किंतु गुणोंमें वे सबसे बढ़कर हैं ॥ १५-१६ ॥

एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ॥१७॥

दितिका एक ही पुत्र हिरण्यकशिपु अपने नामसे विख्यात हुआ । उस महामना दैत्यके पाँच पुत्र थे ॥ १७ ॥

प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत् तस्माच्च शिबिवाष्कलौ ॥१८॥

उन पाँचोंमें प्रथमका नाम प्रह्लाद है । उससे छोटेको संह्लाद कहते हैं । तीसरेका नाम अनुह्लाद है । उसके बाद चौथे शिबि और पाँचवें बाष्कल हैं ॥ १८ ॥

प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ॥१९॥

भारत ! प्रह्लादके तीन पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ ॥ १९ ॥

विरोचनस्य पुत्रोऽभूद् बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥२०॥

विरोचनके एक ही पुत्र हुआ, जो महाप्रतापी बलिके नामसे प्रसिद्ध है । बलिका विश्वविख्यात पुत्र बाणनामक महान् असुर है ॥ २० ॥

रुद्रस्यानुचरः श्रीमान् महाकालेति यं विदुः ।
चतुस्त्रिंशद् दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ॥२१॥

जिसे सब लोग भगवान् शंकरके पार्षद श्रीमान् महाकाल-के नामसे जानते हैं। भारत ! दनुके चौंतीस पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं ॥ २१ ॥

तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ॥२२॥
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशङ्कुश्च वीर्यवान् ॥२३॥
तथा गगनमूर्धा च वेगवान् केतुमांश्च सः।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाजकस्तथा ॥२४॥
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षो हराहरौ ॥२५॥
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा।
एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ॥२६॥

उनमें महायशस्वी राजा विप्रचित्ति सबसे बड़ा था। उसके बाद शम्बर, नमुचि, पुलोमा, असिलोमा, केशी, दुर्जय, अयःशिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी अश्वशङ्कु, गगनमूर्धा, वेगवान्, केतुमान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली तुहुण्ड, इषुपाद, एकचक्र, विरूपाक्ष, हर, अहर, निचन्द्र, निकुम्भ, कुपट, कपट, शरभ, शलभ, सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये दनुके वंशमें विख्यात दानव बताये गये हैं ॥ २२—२६ ॥

अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥२७॥

देवताओंमें जो सूर्य और चन्द्रमा माने गये हैं, वे दूसरे हैं और प्रधान दानवमें सूर्य तथा चन्द्रमा दूसरे हैं ॥ २७ ॥

इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ॥२८॥

महाराज ! ये विख्यात दानववंश कहे गये हैं, जो बड़े धैर्यवान् और महाबलवान् हुए हैं। दनुके पुत्रोंमें निम्नाङ्कित दानवोंके दस कुल बहुत प्रसिद्ध हैं ॥ २८ ॥

एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि।
वातापी शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ॥२९॥
गविष्ठश्च वनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥३०॥

एकाक्ष, वीर मृतपा, प्रलम्ब, नरक, वातापी, शत्रुतपन, महान् असुर शठ, गविष्ठ, वनायु तथा दानव दीर्घजिह्व। भारत ! इन सबके पुत्र-पौत्र असंख्य बताये गये हैं ॥२९-३०॥

सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम्।
सुचन्द्रं चन्द्रहर्तारं तथा चन्द्रप्रमर्दनम् ॥३१॥

सिंहिकाने राहु नामक पुत्रको उत्पन्न किया, जो चन्द्रमा और सूर्यका मान-मर्दन करनेवाला है। इसके सिवा सुचन्द्र, चन्द्रहर्ता तथा चन्द्रप्रमर्दनको भी उसीने जन्म दिया ॥३१॥

क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम्।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ॥३२॥

क्रूरा (क्रोधा) के क्रूर स्वभाववाले असंख्य पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए। शत्रुओंका नाश करनेवाला क्रूरकर्मा क्रोधवश नामक गण भी क्रूराकी ही संतान हैं ॥ ३२ ॥

दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥३३॥

दनायुके असुरोंमें श्रेष्ठ चार पुत्र हुए—विक्षर, बल, वीर और महान् असुर वृत्र ॥ ३३ ॥

कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ॥३४॥

कालाके विख्यात पुत्र अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल और साक्षात् कालके समान भयंकर थे। दानवोंमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे महान् पराक्रमी और शत्रुओंको संताप देनेवाले थे ॥ ३४ ॥

विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च।
क्रोधशत्रुस्तथैवान्ये कालकेया इति श्रुताः ॥३५॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता तथा क्रोधशत्रु। कालकेय नामसे विख्यात दूसरे-दूसरे असुर भी कालाके ही पुत्र थे ॥ ३५ ॥

असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत्।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥३६॥

असुरोंके उपाध्याय (अध्यापक एवं पुरोहित) शुक्राचार्य महर्षि भृगुके पुत्र थे। उन्हें उशना भी कहते हैं। उशनाके चार पुत्र हुए, जो असुरोंके पुरोहित थे ॥ ३६ ॥

त्वष्टाधरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकपरायणाः ॥३७॥

इनके अतिरिक्त त्वष्टाधर तथा अत्रि ये दो पुत्र और हुए, जो रौद्र कर्म करने और करानेवाले थे। उशनाके सभी पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्मलोकको ही परम आश्रय माननेवाले थे ॥ ३७ ॥

इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम्।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ॥३८॥

राजन् ! मैंने पुराणमें जैसा सुन रक्खा है, उसके अनुसार तुमसे यह वेगशाली असुरों और देवताओंके वंशकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है ॥ ३८ ॥

एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः।
प्रसंख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥३९॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्तिताः ॥४०॥

महीपाल ! उनकी जो संतानें हैं, उन सबकी पूर्णरूपसे गणना नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सब अनन्त गुने हैं । तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड, अरुण, आरुणि तथा वारुणि—ये विनताके पुत्र कहे गये हैं ॥ ३९-४० ॥

शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्तिताः ॥४१॥

शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक,कूर्म और कुलिक आदि नागगण कद्रूके पुत्र कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥४२॥
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद् वशी ॥४३॥
तथा शालिशिरा राजन् पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ॥४४॥

राजन्! भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, विख्यात प्रयुत, भीम, सर्वज्ञ और जितेन्द्रिय चित्ररथ, शालिशिरा, चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद—ये सब देवगन्धर्व जातिवाले सोलह पुत्र मुनिके गर्भसे उत्पन्न कहे गये हैं ॥ ४२-४४ ॥

अथ प्रभूतान्यन्यानि कीर्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ॥४५॥
अरूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्हिश्च पूर्णायुश्च महायशाः ॥४६॥
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥४७॥
इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधेयाः परिकीर्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥४८॥
प्राधासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ॥४९॥
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥५०॥
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥५१॥

भारत ! इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से वंशोंकी उत्पत्तिका वर्णन करता हूँ । प्राधा नामवाली दक्षकन्याने अनवद्या, मनु, वंशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अरूपा, सुभगा और भासी इन कन्याओंको उत्पन्न किया । सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, महायशस्वी पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सातवें सुपर्ण, आठवें विश्वावसु, नवें भानु और दसवें सुचन्द्र—ये दस देव-गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र बताये गये हैं । इनके सिवा महाभागा देवी प्राधाने पहले देवर्षि (कश्यप) के समागमसे इन प्रसिद्ध अप्सराओंके शुभ लक्षणवाले समुदायको उत्पन्न किया था । उनके नाम ये हैं—अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता, सुरजा और सुप्रिया । अतिबाहु, सुप्रसिद्ध हाहा और हूहू तथा तुम्बुरु–ये चार श्रेष्ठ गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र माने गये हैं॥

अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्तितम् ॥५२॥

अमृत, ब्राह्मण, गौएँ, गन्धर्व तथा अप्सराएँ—ये सब पुराणमें कपिल'की संतानें बतायी गयी हैं ॥ ५२ ॥

इति ते सर्वभूतानां सम्भवः कथितो मया ।
यथावत् सम्परिख्यातो गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥५३॥
भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥५४॥

राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है । इसी तरह गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सुपर्णों, रुद्रों, मरुद्गणों, गौओं तथा श्रीसम्पन्न पुण्यकर्मा ब्राह्मणोंके जन्मकी कथा भी भलीभाँति कही है ॥ ५३-५४ ॥

आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ॥५५॥

यह प्रसङ्ग आयु देनेवाला, पुण्यमय, प्रशंसनीय तथा सुननेमें सुखद है । मनुष्यको चाहिये कि वह दोषदृष्टि न रखकर सदा इसे सुने और सुनावे ॥ ५५ ॥

इमं तु वंशं नियमेन यः पठेत्
महात्मनां ब्राह्मणदेवसंनिधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं
श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ॥५६॥

जो ब्राह्मण और देवताओंके समीप महात्माओंकी इस वंशावलीका नियमपूर्वक पाठ करता है, वह प्रचुर संतान, सम्पत्ति और यश प्राप्त करता है तथा मृत्युके पश्चात् उत्तम गति पाता है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आदित्यादिवंशकथने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आदित्यादिवंशकथन-विषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

महर्षियों तथा कश्यप-पत्नियोंकी संतान-परम्पराका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्माके मानस पुत्र छः महर्षियोंके नाम तुम्हें ज्ञात हो चुके हैं। उनके सातवें पुत्र थे स्थाणु । स्थाणुके परम तेजस्वी ग्यारह पुत्र विख्यात हैं ॥ १ ॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥ २ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥

मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रुसंतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परम-कान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ॥ २-३ ॥

मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये ब्रह्माजीके छः पुत्र बड़े शक्तिशाली महर्षि हैं ॥ ४ ॥

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥

अङ्गिराके तीन पुत्र हुए, जो लोकमें सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त। ये तीनों ही उत्तम व्रत धारण करनेवाले हैं। मनुजेश्वर ! अत्रिके बहुत-से पुत्र सुने जाते हैं। वे सब-के-सब वेदवेत्ता, सिद्ध और शान्तचित्त महर्षि हैं ॥ ५-६ ॥

राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किंनरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् पुलस्त्य मुनिके पुत्र राक्षस, वानर, किंनर तथा यक्ष हैं ॥ ७ ॥

पुलहस्य सुता राजञ्छरभाश्च प्रकीर्तिताः ।
सिंहाः किम्पुरुषा व्याघ्रा ऋक्षा ईहामृगास्तथा ॥ ८ ॥

राजन् ! पुलहके शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ और ईहामृग (भेड़िया) जातिके पुत्र हुए ॥ ८ ॥

क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ९ ॥

क्रतु (यज्ञ) के पुत्र क्रतुके ही समान पवित्र, तीनों लोकोंमें विख्यात, सत्यवादी, व्रतपरायण तथा भगवान् सूर्यके आगे चलनेवाले साठ हजार बालखिल्य ऋषि हुए ॥ ९ ॥

दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथ्वीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ॥ १० ॥

भूमिपाल ! ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे महातपस्वी शान्तचित्त महर्षि भगवान् दक्ष उत्पन्न हुए ॥ १० ॥

वामादजायताङ्गुष्ठाद् भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार उन महात्माके बायें अँगूठेसे उनकी पत्नीका प्रादुर्भाव हुआ । महर्षिने उनके गर्भसे पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ११ ॥

ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥ १२ ॥

वे सभी कन्याएँ परम सुन्दर अङ्गोंवाली तथा विकसित कमलके सदृश विशाल लोचनोंसे सुशोभित थीं । प्रजापति दक्षके पुत्र जब नष्ट हो गये, तब उन्होंने अपनी उन कन्याओंको पुत्रिका बनाकर रखा (और उनका विवाह पुत्रिका धर्मके अनुसार ही किया*) ॥ १२ ॥

ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन् कश्यपाय त्रयोदश ॥ १३ ॥

राजन् ! दक्षने दस कन्याएँ धर्मको, सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको और तेरह कन्याएँ महर्षि कश्यपको दिव्य विधिके अनुसार समर्पित कर दीं ॥ १३ ॥

नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥ १४ ॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयम्भुवा ॥ १५ ॥

अब मैं धर्मकी पत्नियोंके नाम बता रहा हूँ, सुनो—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और

---

* मनुस्मृतिमें प्रजापति दक्षको ही पुत्रिका-विधिका प्रवर्तक बताकर उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥

(मनु० ९ । १२७)

जिसके पुत्र न हों वह निम्नाङ्कित विधिसे अपनी कन्याको पुत्रिका बना ले । यह संकल्प कर ले कि इस कन्याके गर्भसे जो बालक उत्पन्न हो, वह मेरा श्राद्धादि कर्म करनेवाला पुत्ररूप हो ।

मति—ये धर्मकी दस पत्नियाँ हैं । स्वयम्भू ब्रह्माजीने इन सबको धर्मका द्वार निश्चित किया है अर्थात् इनके द्वारा धर्म-में प्रवेश होता है ॥ १४-१५ ॥

सप्तविंशतिः सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः ।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ॥१६॥

चन्द्रमाकी सत्ताईस स्त्रियाँ समस्त लोकोंमें विख्यात हैं । वे पवित्र व्रत धारण करनेवाली सोमपत्नियाँ काल-विभागका ज्ञापन करनेमें नियुक्त हैं ॥ १६ ॥

सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः ।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः ।
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥१७॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥१८॥

लोक-व्यवहारका निर्वाह करनेके लिये वे सब-की-सब नक्षत्र-वाचक नामोंसे युक्त हैं । पितामह ब्रह्माजीके स्तनसे उत्पन्न होनेके कारण मुनिवर धर्मदेव उनके पुत्र माने गये हैं । प्रजापति दक्ष भी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं । दक्षकी कन्याओंके गर्भसे धर्मके आठ पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्हें वसुगण कहते हैं । अब मैं वसुओंका विस्तारपूर्वक परिचय देता हूँ । धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं ॥ १७-१८ ॥

धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वासायाः श्वसनस्तथा॥१९॥
रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥२०॥

धर और ब्रह्मवेत्ता ध्रुव धूम्राके पुत्र हैं । चन्द्रमा मनस्विनीके और अनिल श्वासाके पुत्र हैं । अह रताके और अनल शाण्डिलीके पुत्र हैं तथा प्रत्यूष और प्रभास ये दोनों प्रभाताके पुत्र बताये गये हैं ॥ १९-२० ॥

धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः ॥२१॥

धरके दो पुत्र हुए द्रविण और हुतहव्यवह । सब लोकोंको अपना ग्रास बनानेवाले भगवान् काल ध्रुवके पुत्र हैं ॥ २१ ॥

सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥२२॥

सोमके मनोहरा नामक स्त्रीके गर्भसे प्रथम तो वर्चा नामक पुत्र हुआ, जिससे लोग वर्चस्वी (तेज, कान्ति और पराक्रमसे सम्पन्न) होते हैं, फिर शिशिर, प्राण तथा रमण नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २२ ॥

अह्नः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥२३॥

अहके चार पुत्र हुए—ज्योति, शम, शान्त तथा मुनि । अनलके पुत्र श्रीमान् कुमार (स्कन्द) हुए, जिनका जन्मकालमें सरकंडोंके वनमें निवास था ॥ २३ ॥

तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।
कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ॥२४॥

शाख, विशाख और नैगमेय[1]—ये तीनों कुमारके छोटे भाई हैं । छः कृत्तिकाओंको मातारूपमें स्वीकार कर लेनेके कारण कुमारका दूसरा नाम कार्तिकेय भी है ॥ २४ ॥

अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥२५॥

अनिलकी भार्याका नाम शिवा है । उसके दो पुत्र हैं—मनोजव तथा अविज्ञातगति । इस प्रकार अनिलके दो पुत्र कहे गये हैं ॥ २५ ॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ।
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ॥२६॥
योगसक्ता जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥२७॥

देवल नामक सुप्रसिद्ध मुनिको प्रत्यूषका पुत्र माना जाता है । देवलके भी दो पुत्र हुए । वे दोनों ही क्षमावान् और मनीषी थे । बृहस्पतिकी बहिन स्त्रियोंमें श्रेष्ठ एवं ब्रह्मवादिनी थीं । वे योगमें तत्पर हो सम्पूर्ण जगत्में अनासक्त भावसे विचरती रहीं । वे ही वसुओंमें आठवें वसु प्रभासकी धर्मपत्नी थीं ॥ २६-२७ ॥

विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥२८॥

शिल्पकर्मके ब्रह्मा महाभाग विश्वकर्मा उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं । वे सहस्रों शिल्पोंके निर्माता तथा देवताओंके बढ़ई कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥२९॥

वे सब प्रकारके भूषणोंको बनानेवाले और शिल्पियोंमें श्रेष्ठ हैं । उन्होंने देवताओंके असंख्य दिव्य विमान बनाये हैं ॥२९॥

मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥३०॥

मनुष्य भी महात्मा विश्वकर्माके शिल्पका आश्रय ले जीवन

---

१. किसी-किसीके मतमें शाख, विशाख और नैगमेय—ये तीनों नाम कुमार कार्तिकेयके ही हैं । किन्हींके मतमें कुमार कार्तिकेयके पुत्रोंकी संज्ञा शाख, विशाख और नैगमेय है । कल्पभेदसे सभी ठीक हो सकते हैं ।

निर्वाह करते हैं और सदा उन अविनाशी विश्वकर्माकी पूजा करते रहते हैं ॥ ३० ॥

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान् धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीके दाहिने स्तनको विदीर्ण करके मनुष्यरूपमें भगवान् धर्म प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले हैं॥

त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥ ३२ ॥

उनके तीन श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको हर लेते हैं । उनके नाम हैं—शम, काम और हर्ष । वे अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले हैं ॥ ३२ ॥

कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३३ ॥

कामकी पत्नीका नाम रति है । शमकी भार्या प्राप्ति है । हर्षकी पत्नी नन्दा है । इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं॥३३॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥ ३४ ॥

मरीचिके पुत्र कश्यप और कश्यपके सम्पूर्ण देवता तथा असुर उत्पन्न हुए । नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार कश्यप सम्पूर्ण लोकोंके आदि कारण हैं ॥ ३४ ॥

त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा सान्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥ ३५ ॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३६ ॥

त्वष्टाकी पुत्री संज्ञा भगवान् सूर्यकी धर्मपत्नी हैं । वे परम सौभाग्यवती हैं । उन्होंने अश्विनी (घोड़ी) का रूप धारण करके अन्तरिक्षमें दोनों अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया । राजन्! अदितिके इन्द्र आदि बारह पुत्र ही हैं । उनमें भगवान् विष्णु सबसे छोटे हैं, जिनमें ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ॥३५-३६॥

त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं सम्प्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा प्रजापति और वषट्कार--ये तैंतीस मुख्य देवता हैं । अब मैं तुम्हें इनके पक्ष और कुल आदिके उल्लेखपूर्वक वंश और गण आदिका परिचय देता हूँ ॥ ३७ ॥

रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद् विश्वेदेवांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

रुद्रोंका एक अलग पक्ष या गण है, साध्य, मरुत् तथा वसुओंका भी पृथक्-पृथक् गण है । इसी प्रकार भार्गव तथा विश्वेदेवगणको भी जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥ ३९ ॥

विनतानन्दन गरुड, बलवान् अरुण तथा भगवान् बृहस्पतिकी गणना आदित्योंमें ही की जाती है ॥ ३९ ॥

अश्विनौ गुह्यकान् विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एते देवगणा राजन् कीर्तितास्तेऽनुपूर्वशः ॥ ४० ॥

अश्विनीकुमार, सर्वौषधि तथा पशु इन सबको गुह्यकसमुदायके भीतर समझो । राजन् ! ये देवगण तुम्हें क्रमशः बताये गये हैं ॥ ४० ॥

यान् कीर्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः ॥ ४१ ॥

मनुष्य इन सबका कीर्तन करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । भगवान् भृगु ब्रह्माजीके हृदयका भेदन करके प्रकट हुए थे ॥

भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ।
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयम्भुवा नियुक्तः सन् भुवनं परिधावति ॥ ४२ ॥

भृगुके विद्वान् पुत्र कवि हुए और कविके पुत्र शुक्राचार्य हुए, जो ग्रह होकर तीनों लोकोंके जीवनकी रक्षाके लिये वृष्टि, अनावृष्टि तथा भय और अभय उत्पन्न करते हैं । स्वयम्भू ब्रह्माजीकी प्रेरणासे वे समस्त लोकोंका चक्कर लगाते रहते हैं ॥

योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥ ४३ ॥

महाबुद्धिमान् शुक्र ही योगके आचार्य और दैत्योंके गुरु हुए । वे ही योगबलसे मेधावी, ब्रह्मचारी एवं व्रतपरायण बृहस्पतिके रूपमें प्रकट हो देवताके भी गुरु होते हैं ॥ ४३ ॥

तस्मिन् नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय भार्गवे ।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥ ४४ ॥

ब्रह्माजीने जब भृगुपुत्र शुक्रको जगत्के योगक्षेमके कार्यमें नियुक्त कर दिया, तब महर्षि भृगुने एक दूसरे निर्दोष पुत्रको जन्म दिया ॥ ४४ ॥

च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥ ४५ ॥

जिसका नाम था च्यवन ! महर्षि च्यवनकी तपस्या सदा उद्दीप्त रहती है । वे धर्मात्मा और यशस्वी हैं । भारत! वे अपनी माताको संकटसे बचानेके लिये रोषपूर्वक गर्भसे च्युत हो गये थे (इसलिये च्यवन कहलाये) ॥ ४५ ॥

आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः ।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ॥ ४६ ॥

मनुकी पुत्री आरुषी मनीषी च्यवन मुनिकी पत्नी थी । उससे महायशस्वी और्व मुनिका जन्म हुआ । वे अपनी माताकी ऊरु (जाँघ) फाड़कर प्रकट हुए थे, इसलिये और्व कहलाये ॥

महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः ।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ४७ ॥

वे महान् तेजस्वी और अत्यन्त शक्तिशाली थे। बचपनमें ही अनेक सद्गुण उनकी शोभा बढ़ाने लगे। और्वके पुत्र ऋचीक तथा ऋचीकके पुत्र जमदग्नि हुए ॥ ४७ ॥

जमदग्नेस्तु चत्वार आसन् पुत्रा महात्मनः ।
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥ ४८ ॥

महात्मा जमदग्निके चार पुत्र थे, जिनमें परशुरामजी सबसे छोटे थे; किंतु उनके गुण छोटे नहीं थे। वे श्रेष्ठ सद्गुणोंसे विभूषित थे, सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें कुशल, क्षत्रियकुलका संहार करनेवाले तथा जितेन्द्रिय थे ॥ ४८ ॥

और्वस्यासीत् पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ॥ ४९ ॥

और्व मुनिके जमदग्नि आदि सौ पुत्र थे। फिर उनके भी सहस्रों पुत्र हुए। इस प्रकार इस पृथ्वीपर भृगुवंशका विस्तार हुआ ॥ ४९ ॥

द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ॥ ५० ॥

ब्रह्माजीके दो पुत्र और थे, जिनका धारण-पोषण और सृष्टिरूप लक्षण लोकमें सदा ही उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं धाता और विधाता। ये मनुके साथ रहते हैं ॥५०॥

तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥ ५१ ॥
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद् देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥ ५२ ॥

कमलोंमें निवास करनेवाली शुभस्वरूपा लक्ष्मीदेवी उन दोनोंकी बहिन हैं। आकाशमें विचरनेवाले अश्व लक्ष्मीदेवीके मानस पुत्र हैं। राजन्! वरुणके बीजसे उनकी ज्येष्ठ पत्नी देवीने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया। उसके पुत्रको तो बल और देवनन्दिनी पुत्रीको सुरा समझो ॥ ५१-५२ ॥

प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशकः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर एक समय ऐसा आया, जब प्रजा भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे एक दूसरेको मारकर खाने लगी, उस समय वहाँ अधर्म प्रकट हुआ, जो समस्त प्राणियोंका नाश करनेवाला है ॥ ५३ ॥

तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ॥ ५४ ॥

अधर्मकी स्त्री निर्ऋति हुई, जिससे नैर्ऋत नामवाले तीन भयंकर राक्षस पुत्र उत्पन्न हुए, जो सदा पापकर्ममें ही लगे रहनेवाले हैं ॥ ५४ ॥

भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ॥ ५५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—भय, महाभय और मृत्यु। उनमें मृत्यु समस्त प्राणियोंका अन्त करनेवाला है। उसके पत्नी या पुत्र कोई नहीं है; क्योंकि वह सबका अन्त करनेवाला है ॥ ५५ ॥

काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ॥ ५६ ॥

देवी ताम्राने काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच लोकविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ५६ ॥

उलूकान् सुषुवे काकी श्येनी श्येनान् व्यजायत ।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥ ५७ ॥

जनेश्वर! काकीने उल्लुओं और श्येनीने बाजोंको जन्म दिया; भासीने मुर्गों तथा गीधोंको उत्पन्न किया ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ॥ ५८ ॥
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी ।
कल्याणगुणसम्पन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥ ५९ ॥

कल्याणमयी धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों, कलहंसों तथा चक्रवाकोंको जन्म दिया। कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त यशस्विनी शुकीने शुकों (तोतों) को ही उत्पन्न किया ॥ ५८-५९ ॥

नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसम्भवाः ।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ॥ ६० ॥
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा चैव भामिनी ॥ ६१ ॥

क्रोधवशाने नौ प्रकारकी क्रोधजनित कन्याओंको जन्म दिया। उनके नाम ये हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि तथा सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न सुन्दरी सुरसा ॥ ६०-६१ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्च परंतप ॥ ६२ ॥
ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमनाः सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥ ६३ ॥

नरश्रेष्ठ! समस्त मृग मृगीकी संतानें हैं। परंतप! मृगमन्दासे रीछ तथा सृमर (छोटी जातिके मृग) उत्पन्न हुए। भद्रमनाने ऐरावत हाथीको अपने पुत्ररूपमें उत्पन्न किया। देवताओंका हाथी महान् गजराज ऐरावत भद्रमनाका ही पुत्र है ॥ ६२-६३ ॥

हर्यश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः।
गोलांगूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान् प्रचक्षते ॥६४॥
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान् व्याघ्राननेकशः।
द्वीपिनश्च महासत्त्वान् सर्वानेव न संशयः ॥६५॥

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, वेगवान् घोड़े और वानर हरीके पुत्र हैं। गायके समान पूँछवाले लंगूरोंको भी हरीका ही पुत्र बताया जाता है। शार्दूलीने सिंहों, अनेक प्रकारके बाघों और महान् बलशाली सभी प्रकारके चीतोंको भी जन्म दिया, इसमें संशय नहीं है ॥ ६४-६५ ॥

मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताजनयदाशुगम् ॥६६॥
तथा दुहितरौ राजन् सुरभिर्वै व्यजायत।
रोहिणी चैव भद्रं ते गन्धर्वी तु यशस्विनी ॥६७॥

नरेश्वर! मातङ्गीने मतवाले हाथियोंको संतानके रूपमें उत्पन्न किया। श्वेताने शीघ्रगामी दिग्गज श्वेतको जन्म दिया। राजन्! तुम्हारा भला हो, सुरभिने दो कन्याओंको उत्पन्न किया। उनमेंसे एकका नाम रोहिणी था और दूसरीका गन्धर्वी। गन्धर्वी बड़ी यशस्विनी थी ॥ ६६-६७ ॥

विमलामपि भद्रं ते अनलामपि भारत।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः।
सप्त पिण्डफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत ॥६८॥

भारत! तत्पश्चात् रोहिणीने विमला और अनला नामवाली दो कन्याएँ और उत्पन्न कीं। रोहिणीसे गाय-बैल और गन्धर्वीसे घोड़े ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए। अनलाने सात प्रकारके वृक्षोंको उत्पन्न किया, जिनमें पिण्डाकार फल लगते हैं[1]॥

अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः।
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ॥६९॥
सम्पातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम्।
सुरसाजनयन्नागान् कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ॥७०॥
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ।

अनलाके शुकी नामकी एक कन्या भी हुई। कङ्क पक्षी सुरसाका पुत्र है। अरुणकी पत्नी श्येनीने दो महाबली और पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किये। एकका नाम था सम्पाती और दूसरेका जटायु। जटायु बड़ा शक्तिशाली था। सुरसा और कद्रूने नाग एवं पन्नग जातिके पुत्रोंको उत्पन्न किया। विनताके दो ही पुत्र विख्यात हैं, गरुड और अरुण ॥ ६९-७०½ ॥

(सुरसाजनयत् सर्पाञ्छतमेकशिरोधरान्।
सुरसाकन्यका जातास्तिस्रः कमललोचनाः॥
वनस्पतीनां वृक्षाणां वीरुधां चैव मातरः।
अनला रुहा च द्वे प्रोक्ते वीरुधां चैव ताः स्मृताः॥
गृह्णन्ति ये विना पुष्पं फलानि तरवः पृथक्।
अनलासुतास्ते विज्ञेयाः तानेवाहुर्वनस्पतीन्॥
पुष्पैः फलग्रहान् वृक्षान् रुहायाः प्रसवान् विभो।
लतागुल्मानि वल्यश्च त्वक्सारतृणजातयः॥
वीरुधायाः प्रजास्ताः स्युरत्र वंशः समाप्यते।)

सुरसाने एक सौ एक सिरवाले सर्पोंको जन्म दिया था। सुरसासे तीन कमलनयनी कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो वनस्पतियों, वृक्षों और लता-गुल्मोंकी जननी हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनला, रुहा और वीरुधा। जो वृक्ष बिना फूलके ही फल ग्रहण करते हैं उन सबको अनलाका पुत्र जानना चाहिये; वे ही वनस्पति कहलाते हैं। प्रभो! जो फूलसे फल ग्रहण करते हैं उन वृक्षोंको रुहाकी संतान समझो। लता, गुल्म, वल्ली, बाँस और तिनकोंकी जितनी जातियाँ हैं उन सबकी उत्पत्ति वीरुधासे हुई है। यहाँ वंशवर्णन समाप्त होता है ॥

इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप।
प्रभवः कीर्तितः सम्यङ्मया मतिमतां वर ॥७१॥
यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ॥७२॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय! इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण महाभूतोंकी उत्पत्तिका भलीभाँति वर्णन किया है। जिसे अच्छी तरह सुनकर मनुष्य सब पापोंसे पूर्णतः मुक्त हो जाता है और सर्वज्ञता तथा उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरण-विषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(इस अध्यायमें ७२ श्लोक, दाक्षिणात्य पाठके ४½ श्लोक और कुल ७६½ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

देवता और दैत्य आदिके अंशावतारोंका दिग्दर्शन

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सिंहव्याघ्रमृगाणां च पन्नगानां पतत्त्रिणाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां चैव भूतानां सम्भवं भगवन्नहम्।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम्॥
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ॥ २ ॥

[1] खर्जूरं तालहिन्तालौ ताली खर्जूरिका तथा। गुवाका नारिकेलश्च सप्त पिण्डफला द्रुमाः॥ (खजूर, ताल, हिन्ताल, ताली, छोटे खजूर, सोपारी और नारियल—ये सात पिण्डाकार फलवाले वृक्ष हैं।)

जनमेजयने कहा—भगवन् ! मैं मनुष्य योनिमें अंशतः उत्पन्न हुए देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, हरिण, सर्प, पक्षी एवं सम्पूर्ण भूतोंके जन्मका वृत्तान्त यथार्थ-रूपसे सुनना चाहता हूँ । मनुष्योंमें जो महात्मा पुरुष हैं, उनके तथा इन सभी प्राणियोंके जन्म-कर्मका क्रमशः वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

मानुषेषु मनुष्येन्द्र सम्भूता ये दिवौकसः ।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥ ३ ॥
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद् दानवर्षभः ।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ॥ ४ ॥
दितेः पुत्रस्तु यो राजन् हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—नरेन्द्र ! मनुष्योंमें जो देवता और दानव प्रकट हुए थे, उन सबके जन्मका ही पहले तुम्हें परिचय दे रहा हूँ । विप्रचित्त नामसे विख्यात जो दानवोंका राजा था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ जरासन्ध नामसे विख्यात हुआ । राजन् ! हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध जो दितिका पुत्र था, वही मनुष्यलोकमें नरश्रेष्ठ शिशुपालके रूपमें उत्पन्न हुआ ॥

संह्राद इति विख्यातः प्रह्रादस्यानुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे वाह्लीकपुङ्गवः ॥ ६ ॥
अनुह्रादस्तु तेजस्वी योऽभूत् ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः ॥ ७ ॥

प्रह्रादका छोटा भाई जो संह्रादके नामसे विख्यात था, वही बाह्लीक देशका सुप्रसिद्ध राजा शल्य हुआ । प्रह्रादका ही दूसरा छोटा भाई जिसका नाम अनुह्राद था, धृष्टकेतु नामक राजा हुआ ॥ ६-७ ॥

यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद् भुवि पार्थिवः ॥ ८ ॥

राजन् ! जो शिबि नामका दैत्य कहा गया है, वही इस पृथ्वीपर द्रुम नामसे विख्यात राजा हुआ ॥ ८ ॥

बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

असुरोंमें श्रेष्ठ जो बाष्कल था, वही नरश्रेष्ठ भगदत्तके नामसे उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

अयःशिरा अश्वशिरा अयःशङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ॥१०॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन् वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ।
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान् ॥११॥
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः ।
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ॥१२॥
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ।
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः ॥१३॥
अशोको नाम राजाभून्महावीर्योऽपराजितः ।
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः ॥१४॥
दैतेयः सोऽभवद् राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ।
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ॥१५॥
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
अजकस्त्ववरो राजन् य आसीद् वृषपर्वणः ॥१६॥
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ।
अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान् यो महासुरः ॥१७॥
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
सूक्ष्मस्तु मतिमान् राजन् कीर्तिमान् यः प्रकीर्तितः ॥१८॥
बृहद्रथ इति ख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ।
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥१९॥
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः ।
इषुपान्नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः ॥२०॥
नग्नजिन्नाम राजासीद् भुवि विख्यातविक्रमः ।
एकचक्र इति ख्यात आसीद् यस्तु महासुरः ॥२१॥
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ।
विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः ॥२२॥
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ।
हरस्त्वरिहरो वीर आसीद् यो दानवोत्तमः ॥२३॥
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः ।
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥२४॥
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ।
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः ॥२५॥
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः ।
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ॥२६॥
भूमौ भूमिपतिः श्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः ।
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ॥२७॥
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः ।
कुपटस्तु महावीर्यः श्रीमान् राजन् महासुरः ॥२८॥
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ।
क्रथस्तु राजन् राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महासुरः ॥२९॥
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ।
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह ॥३०॥
प्रह्रादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः ।
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः ॥३१॥
चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः ।
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः ॥३२॥
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ।
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥ ३३ ॥

पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम।
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ॥३४॥
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
मयूर इति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ॥३५॥
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः।
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः ॥३६॥
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः ॥३७॥
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः।
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ॥३८॥
जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः।
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ॥३९॥
काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते।
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकार्केन्दुमर्दनम्।
स क्राथ इति विख्यातो बभूव मनुजाधिपः ॥४०॥

अयःशिरा, अश्वशिरा, वीर्यवान् अयःशङ्कु, गगनमूर्धा और वेगवान्—राजन्! ये पाँच पराक्रमी महादैत्य केकय देशके प्रधान-प्रधान महात्मा राजाओंके रूपमे उत्पन्न हुए। उनसे भिन्न केतुमान् नामसे प्रसिद्ध प्रतापी महान् असुर अमितौजा नामसे विख्यात राजा हुआ, जो भयानक कर्म करनेवाला था। स्वर्भानु नामवाला जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही भयंकर कर्म करनेवाला राजा उग्रसेन कहलाया। अश्व नामसे विख्यात जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही किसीसे परास्त न होनेवाला महापराक्रमी राजा अशोक हुआ। राजन्! उसका छोटा भाई जो अश्वपति नामक दैत्य था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ हार्दिक्य नामवाला राजा हुआ। वृषपर्वा नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर दीर्घप्रज्ञ नामक राजा हुआ। राजन्! वृषपर्वाका छोटा भाई जो अजक था, वही इस भूमण्डलमें शाल्व नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। अश्वग्रीव नामवाला जो धैर्यवान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर रोचमान नामसे विख्यात राजा हुआ। राजन्! बुद्धिमान् और यशस्वी सूक्ष्म नामसे प्रसिद्ध जो दैत्य कहा गया है, वह इस पृथ्वीपर बृहद्रथ नामसे विख्यात राजा हुआ है; असुरोंमें श्रेष्ठ जो तुहुण्ड नामक दैत्य था, वही यहाँ सेनाबिन्दु नामसे विख्यात राजा हुआ। असुरोंके समाजमें जो सबसे अधिक बलवान् था, वह इषुपाद नामक दैत्य इस पृथ्वीपर विख्यात पराक्रमी नग्नजित् नामक राजा हुआ। एकचक्र नामसे प्रसिद्ध जो महान् असुर था, वही इस पृथ्वीपर प्रतिविन्ध्य नामसे विख्यात राजा हुआ। विचित्र युद्ध करनेवाला महादैत्य विरूपाक्ष इस पृथ्वीपर चित्रधर्मा नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। शत्रुओंका संहार करनेवाला जो वीर दानवश्रेष्ठ हर था, वही सुबाहु नामक श्रीसम्पन्न राजा हुआ। शत्रुपक्षका विनाश करनेवाला महातेजस्वी अहर इस भूमण्डलमें बाह्लिक नामसे विख्यात राजा हुआ। चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाला जो असुरश्रेष्ठ निचन्द्र था, वही मुंजकेश नामसे विख्यात श्रीसम्पन्न राजा हुआ। परम बुद्धिमान् निकुम्भ जो युद्धमें अजेय था, वह इस भूमिपर भूपालोंमें श्रेष्ठ देवाधिप कहलाया। दैत्योंमें जो शरभ नामसे प्रसिद्ध महान् असुर था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजर्षि पौरव हुआ। राजन्! महापराक्रमी महान् असुर कुपट ही इस पृथ्वीपर राजा सुपार्श्वके रूपमें उत्पन्न हुआ। महाराज! महादैत्य क्रथ इस पृथ्वीपर राजर्षि पार्वतेयके नामसे उत्पन्न हुआ, उसका शरीर मेरु पर्वतके समान विशाल था। असुरोंमें शलभ नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा दैत्य था, वह बाह्लीकवंशी राजा प्रह्लाद हुआ। दैत्यश्रेष्ठ चन्द्र इस लोकमें चन्द्रमाके समान सुन्दर और चन्द्रवर्मा नामसे विख्यात काम्बोज देशका राजा हुआ। अर्क नामसे विख्यात जो दानवोंका सरदार था, वही नरपतियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि ऋषिक हुआ। नृपशिरोमणे! मृतपा नामसे प्रसिद्ध जो श्रेष्ठ असुर था, उसे पश्चिम अनूप देशका राजा समझो। गविष्ठ नामसे प्रसिद्ध जो महातेजस्वी असुर था, वही इस पृथ्वीपर द्रुमसेन नामक राजा हुआ। मयूर नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् एवं महान् असुर था, वही विश्व नामसे विख्यात राजा हुआ। मयूरका छोटा भाई सुपर्ण ही भूमण्डलमें कालकीर्ति नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। दैत्योंमें जो चन्द्रहन्ता नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ असुर कहा गया है, वही मनुष्योंका स्वामी राजर्षि शुनक हुआ। इसी प्रकार जो चन्द्रविनाशन नामक महान् असुर बताया गया है, वही जानकि नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! दीर्घजिह्व नामसे प्रसिद्ध दानवराज ही इस पृथ्वीपर काशिराजके नामसे विख्यात था। सिंहिकाने सूर्य और चन्द्रमाका मान मर्दन करनेवाले जिस राहुनामक ग्रहको जन्म दिया था, वही यहाँ क्राथ नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ॥ १०—४०॥

दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृतः ॥४१॥

दनायुके चार पुत्रोंमें जो सबसे बड़ा है, वह विक्षर नामक तेजस्वी असुर यहाँ राजा वसुमित्र बताया गया है।४१।

द्वितीयो विक्षराद् यस्तु नराधिप महासुरः।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः ॥४२॥

नराधिप! विक्षरसे छोटा उसका दूसरा भाई बल जो असुरोंका राजा था, पाण्ड्य देशका सुविख्यात राजा हुआ॥ ४२॥

बली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं बभूव स नराधिपः ॥४३॥

महाबली वीर नामसे विख्यात जो श्रेष्ठ असुर (विक्षरका तीसरा भाई) था, पौण्ड्रमात्स्यक नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ॥

वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन् महासुरः।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥४४॥

राजन् ! जो वृत्र नामसे विख्यात (और विक्षरका चौथा भाई) महान् असुर था, वही पृथ्वीपर राजर्षि मणिमान्‌के नामसे प्रसिद्ध भूपाल हुआ ॥ ४४ ॥

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवावरजोऽसुरः।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ॥४५॥

क्रोधहन्ता नामक असुर जो उसका छोटा भाई (कालाके पुत्रोंमें तीसरा) था, वह इस पृथ्वीपर दण्ड नामसे विख्यात नरेश हुआ ॥ ४५ ॥

क्रोधवर्धन इत्येवं यस्त्वन्यः परिकीर्तितः।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ॥४६॥

क्रोधवर्धन नामक जो दूसरा दैत्य कहा गया है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ दण्डधार नामसे विख्यात हुआ ॥ ४६ ॥

कालेयानां तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥४७॥

नृपश्रेष्ठ ! कालेय नामक दैत्योंके जो पुत्र थे, उनमेंसे आठ इस पृथ्वीपर सिंहके समान पराक्रमी राजा हुए ॥४७॥

मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत् स पार्थिवः।
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥४८॥

उन आठों कालेयोंमें श्रेष्ठ जो महान् असुर था, वही मगध देशमें जयत्सेन नामक राजा हुआ ॥ ४८ ॥

द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान् हरिहयोपमः।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ॥४९॥

उन कालेयोंमेंसे जो दूसरा इन्द्रके समान श्रीसम्पन्न था, वही अपराजित नामक राजा हुआ ॥ ४९ ॥

तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥५०॥

तीसरा जो महान् तेजस्वी और महामायावी महादैत्य था, वह इस पृथ्वीपर भयङ्कर पराक्रमी निषादनरेशके रूपमें उत्पन्न हुआ ॥ ५० ॥

तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५१॥

कालेयोंमेंसे ही एक जो चौथा बताया गया है, वह इस भूमण्डलमें राजर्षिप्रवर श्रेणिमान्‌के नामसे विख्यात हुआ।५१।

पञ्चमस्त्वभवत् तेषां प्रवरो यो महासुरः।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परंतपः ॥५२॥

कालेयोंमें जो पाँचवाँ श्रेष्ठ महादैत्य था, वही इस लोकमें शत्रुतापन महौजाके नामसे विख्यात हुआ ॥ ५२ ॥

षष्ठस्तु मतिमान् यो वै तेषामासीन्महासुरः।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥५३॥

उन कालेयोंमें जो छठा महान् असुर था, वह भूमण्डलमें राजर्षिशिरोमणि अभीरुके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाभवद् गणात्।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ॥५४॥

उन्हींमेंसे सातवाँ असुर राजा समुद्रसेन हुआ, जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर विख्यात और धर्म एवं अर्थतत्त्वका ज्ञाता था ॥ ५४ ॥

बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप।
बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥५५॥

राजन् ! कालेयोंमें जो आठवाँ था, वह बृहत् नामसे प्रसिद्ध सर्वभूतहितकारी धर्मात्मा राजा हुआ ॥ ५५ ॥

कुक्षिस्तु राजन् विख्यातो दानवानां महाबलः।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ॥५६॥

महाराज ! दानवोंमें कुक्षिनामसे प्रसिद्ध जो महाबली राजा था, वह पार्वतीय नामक राजा हुआ; जो मेरुगिरिके समान तेजस्वी एवं विशाल था ॥ ५६ ॥

क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान् राजा महासुरः।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ॥५७॥

महापराक्रमी क्रथन नामक जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वह भूमण्डलमें पृथ्वीपति राजा सूर्याक्ष नामसे उत्पन्न हुआ ॥

असुराणां तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः।
दरदो नाम बाह्लीको वरः सर्वमहीक्षिताम् ॥५८॥

असुरोंमें जो सूर्य नामक श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही पृथ्वीपर सब राजाओंमें श्रेष्ठ दरद नामक बाह्लीकराज हुआ॥

गणः क्रोधवशो नाम यस्ते राजन् प्रकीर्तितः।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ॥५९॥

राजन् ! क्रोधवश नामक जिन असुरगणोंका तुम्हें परिचय दिया है, उन्हींमेंसे कुछ लोग इस पृथ्वीपर निम्नाङ्कित वीर राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए ॥ ५९ ॥

मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ॥६०॥
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान् नीलश्च भूमिपः।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥६१॥
दन्तवक्त्रश्च नामासीद् दुर्जयश्चैव दानवः।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥६२॥
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥६३॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च।
श्रुतायुरुद्वहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥६४॥
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥६५॥

मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर, बाह्लिक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान् नील नरेश,

चीरवासा, भूमिपाल, दन्तवक्त्र, दानव दुर्जय, नृपश्रेष्ठ रुक्मी, राजा जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान, गोमुख, करूपदेशके अनेक राजा, क्षेम धूर्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम, उग्रतीर्थ, कलिङ्ग नरेश कुहर तथा परम बुद्धिमान् मनुष्योंका राजा ईश्वर ।६०-६५।

गणात् क्रोधवशादेष राजपूगोऽभवत् क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागो महाकीर्तिर्महाबलः ॥६६॥

इतने राजाओंका समुदाय पहले इस पृथ्वीपर क्रोधवश नामक दैत्यगणसे उत्पन्न हुआ था । ये सब राजा परम सौभाग्यशाली, महान् यशस्वी और अत्यन्त बलशाली थे ॥ ६६ ॥

कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महाबलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो बली ॥६७॥

दानवोंमें जो महाबली कालनेमि था, वही राजा उग्रसेनके पुत्र बलवान् कंसके नामसे विख्यात हुआ ॥ ६७ ॥

यस्त्वासीद् देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥६८॥

इन्द्रके समान कान्तिमान् राजा देवकके रूपमें इस पृथ्वीपर श्रेष्ठ गन्धर्वराज ही उत्पन्न हुआ था ॥ ६८ ॥

बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद् द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥६९॥

भारत ! महान् कीर्तिशाली देवर्षि बृहस्पतिके अंशसे अयोनिज भरद्वाजनन्दन द्रोण उत्पन्न हुए, यह जान लो ॥६९॥

धन्विनां नृपशार्दूल यः सर्वास्त्रविदुत्तमः ।
महाकीर्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वर ॥७०॥

नृपश्रेष्ठ राजा जनमेजय ! आचार्य द्रोण समस्त धनुर्धर वीरोंमें उत्तम और सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता थे । उनकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई थी । वे महान् तेजस्वी थे ॥७०॥

धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥७१॥

वेदवेत्ता विद्वान् द्रोणको धनुर्वेद और वेद दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ मानते थे । वे विचित्र कर्म करनेवाले तथा अपने कुलकी मर्यादाको बढ़ानेवाले थे ॥ ७१ ॥

महादेवान्तकाभ्यां च कामात् क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥७२॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिप ॥७३॥

भारत ! उनके यहाँ महादेव, यम, काम और क्रोधके सम्मिलित अंशसे शत्रुसंतापी शूरवीर अश्वत्थामाका जन्म हुआ, जो इस पृथ्वीपर महापराक्रमी और शत्रुपक्षका संहार करनेवाला वीर था । राजन् ! उसके नेत्र कमलदलके समान विशाल थे ॥ ७२-७३ ॥

जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शान्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद् वासवस्य च ॥७४॥

महर्षि वसिष्ठके शाप और इन्द्रके आदेशसे आठों वसु गङ्गाजीके गर्भसे राजा शान्तनुके पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ॥

तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान् वेदविद् वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥७५॥

उनमें सबसे छोटे भीष्म थे, जिन्होंने कौरव-वंशको निर्भय बना दिया था । वे परम बुद्धिमान्, वेदवेत्ता, वक्ता तथा शत्रुपक्षका संहार करनेवाले थे ॥ ७५ ॥

जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥७६॥

सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भीष्मने भृगुवंशी महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ॥ ७६ ॥

यस्तु राजन् कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत् क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद् विद्धि सम्भूतमतिपौरुषम् ॥७७॥

महाराज ! जो कृप नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, उनका पुरुषार्थ असीम था । उन्हें रुद्रगणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ॥ ७७ ॥

शकुनिर्नाम यस्त्वासीद् राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन् सम्भूतमरिमर्दनम् ॥७८॥

राजन् ! जो इस जगत्‌में महारथी राजा शकुनिके नामसे विख्यात था; उसे तुम द्वापरके अंशसे उत्पन्न हुआ मानो । वह शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाला था ॥ ७८ ॥

सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात् स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥७९॥

वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाले जो सत्यप्रतिज्ञ शत्रुमर्दन सात्यकि थे, वे मरुत्-देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए थे॥

द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाभवद् गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन् सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥८०॥

राजा जनमेजय ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद भी इस मनुष्यलोकमें उस मरुद्गणसे ही उत्पन्न हुए थे ॥

ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।
तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥८१॥

महाराज ! अनुपम कर्म करनेवाले, क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ राजा कृतवर्माको भी तुम मरुद्गणोंसे ही उत्पन्न मानो ॥ ८१ ॥

मरुतां तु गणाद् विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥८२॥

शत्रुराष्ट्रको संताप देनेवाले शत्रुमर्दन राजा विराटको भी मरुद्गणोंसे ही उत्पन्न समझो ॥ ८२ ॥

अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥८३॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ॥८४॥
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत।

अरिष्टाका पुत्र जो हंसनामसे विख्यात गन्धर्वराज था, वही कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले व्यासनन्दन धृतराष्ट्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। धृतराष्ट्रकी बाँहें बहुत बड़ी थीं। वे महातेजस्वी नरेश प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) थे। वे माताके दोष और महर्षिके क्रोधसे अन्धे ही उत्पन्न हुए ॥ ८३-८४½ ॥

तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ॥८५॥
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः।
अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम्।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥८६॥

उन्हींके छोटे भाई महान् शक्तिशाली महाबली पाण्डुके नामसे विख्यात हुए। वे सत्य-धर्ममें तत्पर और पवित्र थे। पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ और बुद्धिमानोंमें उत्तम परम सौभाग्यशाली विदुरको तुम इस लोकमें सूर्यपुत्र धर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ॥ ८५-८६ ॥

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥८७॥

खोटी बुद्धि और दूषित विचारवाले कुरुकुलकलङ्क राजा दुर्योधनके रूपमें इस पृथ्वीपर कलिका अंश ही उत्पन्न हुआ था ॥ ८७ ॥

जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ॥८८॥

राजन्! वह कलिस्वरूप पुरुष सबका द्वेषपात्र था। उसने सारी पृथ्वीके वीरोंको लड़ाकर मरवा दिया था ॥८८॥

उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत्।
पौलस्त्या भ्रातरश्चास्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ॥८९॥

उसके द्वारा प्रज्वलित की हुई वैरकी भारी आग असंख्य प्राणियोंके विनाशका कारण बन गयी। पुलस्त्य-कुलके राक्षस भी मनुष्योंमें दुर्योधनके भाइयोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे ॥

शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम्।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ते चान्ये नानुकीर्तिताः ॥९०॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ॥९१॥

उसके दुःशासन आदि सौ भाई थे। वे सभी क्रूरतापूर्ण कर्म किया करते थे। दुर्मुख, दुःसह तथा अन्य कौरव जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, दुर्योधनके सहायक थे। भरतश्रेष्ठ! धृतराष्ट्रके वे सब पुत्र पूर्वजन्मके राक्षस थे। धृतराष्ट्र-पुत्र युयुत्सु वैश्यजातीय स्त्रीसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके अतिरिक्त था ॥ ९०-९१ ॥

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ॥९२॥

जनमेजयने कहा—प्रभो! धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र थे, उनके नाम मुझे बड़े-छोटेके क्रमसे एक-एक करके बताइये ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथापरः ॥ ९३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ॥ ९४ ॥
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुश्चित्राङ्गदश्च ह ॥ ९५ ॥
दुर्मदो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ९६ ॥
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ॥ ९७ ॥
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसुकुण्डलौ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमौ ॥ ९८ ॥
उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ९९ ॥
जरासन्धो दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक्।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्तिस्तथैव च ॥१००॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधनः ॥१०१॥
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ॥१०२॥
कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः।
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ॥१०३॥
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ॥१०४॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकाङ्गदः।
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ॥१०५॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! सुनो—१ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुःशासन, ४ दुःसह, ५ दुःशल, ६ दुर्मुख, ७ विविंशति, ८ विकर्ण, ९ जलसन्ध, १० सुलोचन, ११ विन्द, १२ अनुविन्द, १३ दुर्धर्ष, १४ सुबाहु, १५ दुष्प्रधर्षण, १६ दुर्मर्षण, १७ दुर्मुख, १८ दुष्कर्ण, १९ कर्ण, २० चित्र, २१ उपचित्र, २२ चित्राक्ष,

१. अत्रि शब्दसे यहाँ 'सूर्य' को ग्रहण किया गया है। नीलकण्ठने भी यही अर्थ लिया है।

२३ चारु, २४ चित्राङ्गद, २५ दुर्मद, २६ दुष्प्रधर्ष, २७ विवित्सु, २८ विकट, २९ सम, ३० ऊर्णनाभ, ३१ पद्मनाभ, ३२ नन्द, ३३ उपनन्द, ३४ सेनापति, ३५ सुषेण, ३६ कुण्डोदर, ३७ महोदर, ३८ चित्रबाहु, ३९ चित्रवर्मा, ४० सुवर्मा, ४१ दुर्विरोचन, ४२ अयोबाहु, ४३ महाबाहु, ४४ चित्रचाप, ४५ सुकुण्डल, ४६ भीमवेग, ४७ भीमबल, ४८ बलाकी, ४९ भीम, ५० विक्रम, ५१ उग्रायुध, ५२ भीमशर, ५३ कनकायु, ५४ दृढायुध, ५५ दृढवर्मा, ५६ दृढक्षत्र, ५७ सोमकीर्ति, ५८ अनूदर, ५९ जरासन्ध, ६० दृढसन्ध, ६१ सत्यसन्ध, ६२ सहस्रवाक्, ६३ उग्रश्रवा, ६४ उग्रसेन, ६५ क्षेममूर्ति, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधन, ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अनुयायी, ७८ कवची, ७९ निषङ्गी, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीर, ८६ वीरबाहु, ८७ अलोलुप, ८८ अभय, ८९ रौद्रकर्मा, ९० दृढरथ, ९१ अनाधृष्य, ९२ कुण्डभेदी, ९३ विरावी, ९४ दीर्घलोचन, ९५ दीर्घबाहु, ९६ महाबाहु, ९७ व्यूढोरु, ९८ कनकाङ्गद, ९९ कुण्डज और १०० चित्रक—ये धृतराष्ट्रके सौ पुत्र थे। इनके सिवा दुःशला नामकी एक कन्या थी ॥ ९३—१०५ ॥

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः।
एतदेकशतं राजन् कन्या चैका प्रकीर्तिता ॥१०६॥

धृतराष्ट्रका वह पुत्र जिसका नाम युयुत्सु था, वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ पुत्रोंसे अतिरिक्त था। राजन्! इस प्रकार धृतराष्ट्रके एक सौ एक पुत्र तथा एक कन्या बतायी गयी है ॥ १०६ ॥

नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्येष्ठतां विदुः।
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥१०७॥

इनके नामोंका जो क्रम दिया गया है, उसीके अनुसार विद्वान् पुरुष इन्हें जेठा और छोटा समझते हैं। धृतराष्ट्रके सभी पुत्र उत्कृष्ट रथी, शूरवीर और युद्धकी कलामें कुशल थे ॥

सर्वे वेदविदश्चैव राजञ्छास्त्रे च पारगाः।
सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ॥१०८॥

राजन्! वे सब-के-सब वेदवेत्ता, शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान्, संग्राम-विद्यामें प्रवीण तथा उत्तम विद्या और उत्तम कुलसे सुशोभित थे ॥ १०८ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते।
दुःशलां समये राजन् सिन्धुराजाय कौरवः ॥१०९॥
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा।
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम् ॥११०॥

भूपाल! उन सबका सुयोग्य स्त्रियोंके साथ विवाह हुआ था। महाराज! कुरुराज दुर्योधनने समय आनेपर शकुनिकी सलाहसे अपनी बहिन दुःशलाका विवाह सिन्धुदेशके राजा जयद्रथके साथ कर दिया। जनमेजय! राजा युधिष्ठिरको तो तुम धर्मका अंश जानो ॥ १०९-११० ॥

भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम्।
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ॥१११॥
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ।
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥११२॥
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत्।
यस्यावतरणे राजन् सुरान् सोमोऽब्रवीदिदम् ॥११३॥

भीमसेनको वायुका और अर्जुनको देवराज इन्द्रका अंश जानो। रूप-सौन्दर्यकी दृष्टिसे इस पृथ्वीपर जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था, वे समस्त प्राणियोंका मन मोह लेनेवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंके अंशसे उत्पन्न हुए थे। वर्चा नामसे विख्यात जो चन्द्रमाका प्रतापी पुत्र था, वही महायशस्वी अर्जुनकुमार अभिमन्यु हुआ। जनमेजय! उसके अवतार-कालमें चन्द्रमाने देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥

नाहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम्।
समयः क्रियतामेष न शक्यमतिवर्तितुम् ॥११४॥

मेरा पुत्र मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, अतः मैं इसे अधिक दिनोंके लिये नहीं दे सकता। इसलिये मृत्युलोकमें इसके रहनेकी कोई अवधि निश्चित कर दी जाय। फिर उस अवधिका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ॥ ११४ ॥

सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः।
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ॥११५॥

'पृथ्वीपर असुरोंका वध करना देवताओंका कार्य है और वह हम सबके लिये करनेयोग्य है। अतः उस कार्यकी सिद्धिके लिये यह वर्चा भी वहाँ अवश्य जायगा। परंतु दीर्घकालतक वहाँ नहीं रह सकेगा ॥ ११५ ॥

ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ॥११६॥

'भगवान् नर, जिनके सखा भगवान् नारायण हैं, इन्द्रके अंशसे भूतलमें अवतीर्ण होंगे। वहाँ उनका नाम अर्जुन होगा और वे पाण्डुके प्रतापी पुत्र माने जायँगे ॥ ११६ ॥

तस्यायं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः।
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ॥११७॥

'श्रेष्ठ देवगण! पृथ्वीपर यह वर्चा उन्हीं अर्जुनका पुत्र होगा, जो बाल्यावस्थामें ही महारथी माना जायगा। जन्म देनेके बाद सोलह वर्षकी अवस्थातक यह वहाँ रहेगा ॥ ११७ ॥

अस्य षोडशवर्षस्य स संग्रामो भविष्यति ।
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिषूदनम् ॥११८॥

'इसके सोलहवें वर्षमें वह महाभारत-युद्ध होगा, जिसमें आपलोगोंके अंशसे उत्पन्न हुए वीर-पुरुष शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला अद्भुत पराक्रम कर दिखायेंगे ॥ ११८ ॥

नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विना कृतः ।
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः ॥११९॥
विमुखाञ्छात्रवान् सर्वान् कारयिष्यति मे सुतः ।
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति ॥१२०॥

'देवताओ ! एक दिन जब कि उस युद्धमें नर और नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) उपस्थित न रहेंगे, उस समय शत्रुपक्षके लोग चक्रव्यूहकी रचना करके आपलोगोंके साथ युद्ध करेंगे । उस युद्धमें मेरा यह पुत्र समस्त शत्रु-सैनिकोंको युद्धसे मार भगायेगा और बालक होनेपर भी उस अभेद्य व्यूहमें घुसकर निर्भय विचरण करेगा ॥११९-१२०॥

महारथानां वीराणां कदनं च करिष्यति ।
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ॥१२१॥
दिनार्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति ।
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ॥१२२॥
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति ।
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ॥१२३॥
प्रणष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति ।
एतत् सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः ॥१२४॥
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन् ।
एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः पितुः ॥१२५॥

'तथा बड़े-बड़े महारथी वीरोंका संहार कर डालेगा । आधे दिनमें ही महाबाहु अभिमन्यु समस्त शत्रुओंके एक चौथाई भागको यमलोग पहुँचा देगा । तदनन्तर बहुत-से महारथी एक साथ ही उसपर टूट पड़ेंगे और वह महाबाहु उन सबका सामना करते हुए संध्या होते-होते पुनः मुझसे आ मिलेगा । वह एक ही वंशप्रवर्तक वीर पुत्रको जन्म देगा, जो नष्ट हुए भरतकुलको पुनः धारण करेगा ।' सोमका यह वचन सुनकर समस्त देवताओंने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और सबने चन्द्रमाका पूजन किया । राजा जनमेजय ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे पिताके पिताका जन्म-रहस्य बताया है ॥ १२१-१२५ ॥

अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
शिखण्डिनमथो राजन् स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ॥१२६॥

महाराज ! महारथी धृष्टद्युम्नको तुम अग्निका भाग समझो । शिखण्डी राक्षसके अंशसे उत्पन्न हुआ था । वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पुनः पुरुष हो गया था ॥

द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ ।
विश्वान् देवगणान् विद्धि संजातान् भरतर्षभ ॥१२७॥

भरतर्षभ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि द्रौपदीके जो पाँच पुत्र थे, उनके रूपमें पाँच विश्वेदेवगण ही प्रकट हुए थे ॥ १२७ ॥

प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथापरः ।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ॥१२८॥

उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, नकुलनन्दन शतानीक तथा पराक्रमी श्रुतसेन ॥

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥१२९॥

वसुदेवजीके पिताका नाम था शूरसेन । वे यदुवंशके एक श्रेष्ठ पुरुष थे । उनके पृथा नामवाली एक कन्या हुई जिसके समान रूपवती स्त्री इस पृथ्वीपर दूसरी नहीं थी ॥ १२९ ॥

पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्रमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ॥१३०॥

उग्रसेनके फुफेरे भाई कुन्तिभोज संतानहीन थे । पराक्रमी शूरसेनने पहले कभी उनके सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं अपनी पहली संतान आपको दे दूँगा' ॥ १३० ॥

अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया ।
अददात् कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ॥१३१॥

तदनन्तर सबसे पहले उनके यहाँ कन्या ही उत्पन्न हुई । शूरसेनने अनुग्रहकी इच्छासे राजा कुन्तिभोजको अपनी वह पुत्री पृथा प्रथम संतान होनेके कारण गोद दे दी ॥ १३१ ॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरद् घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥१३२॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं शंसितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥१३३॥

पिताके घरपर रहते समय पृथाको ब्राह्मणों और अतिथियोंके स्वागत-सत्कारका कार्य सौंपा गया था । एक दिन उसने कठोर व्रतका पालन करनेवाले भयंकर क्रोधी तथा उग्र प्रकृतिवाले एक ब्राह्मण महर्षिकी, जो धर्मके विषयमें अपने निश्चयको छिपाये रखते थे और लोग जिन्हें दुर्वासाके नामसे जानते हैं, सेवा की । वे ऊपरसे तो उग्रस्वभावके थे, परंतु उनका हृदय महान् होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित था । पृथाने पूरा प्रयत्न करके अपनी सेवाओंद्वारा मुनिको संतुष्ट किया ॥ १३२-१३३ ॥

तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि ।
उवाच चैनां भगवान् प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ॥१३४॥

भगवान् दुर्वासाने संतुष्ट होकर पृथाको प्रयोगविधि-सहित एक मन्त्रका विधिपूर्वक उपदेश किया और कहा—

'सुभगे ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १३४ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रसादात् त्वं देवि पुत्राञ्जनिष्यसि ॥१३५॥

'देवि ! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके कृपाप्रसादसे पुत्र उत्पन्न करोगी' ॥

एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥१३६॥

दुर्वासाके ऐसा कहनेपर वह सती-साध्वी यशस्विनी बाला यद्यपि अभी कुमारी कन्या थी, तो भी कौतूहलवश उसने भगवान् सूर्यका आवाहन किया ॥ १३६ ॥

प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत् सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१३७॥

तब सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश फैलानेवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीके उदरमें गर्भ स्थापित किया और उस गर्भसे एक ऐसे पुत्रको जन्म दिया, जो समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ।।१३७।

सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियान्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥१३८॥

वह कुण्डल और कवचके साथ ही प्रकट हुआ था। देवताओंके बालकोंमें जो सहज कान्ति होती है, उसीसे वह सुशोभित था। अपने तेजसे वह सूर्यके समान जान पड़ता था; उसके सभी अङ्ग मनोहर थे, जो उसके सम्पूर्ण शरीर-की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३८ ॥

निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात् तदा ।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ॥१३९॥

उस समय कुन्तीने पिता-माता आदि बान्धव-पक्षके भय-से उस यशस्वी कुमारको छिपाकर एक पेटीमें रखकर जलमें छोड़ दिया ॥ १३९ ॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ॥१४०॥

जलमें छोड़े हुए उस बालकको राधाके पति महायशस्वी अधिरथ सूतने लेकर राधाकी गोदमें दे दिया और उसे राधा-का पुत्र बना लिया ॥ १४० ॥

चक्रतुर्नामधेयं च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ॥१४१॥

उन दोनों दम्पतिने उस बालकका नाम वसुषेण रक्खा। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें भलीभाँति विख्यात था।

संवर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि जजाप जयतां वरः ॥१४२॥

बड़ा होनेपर वह बलवान् बालक सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलामें उत्तम हुआ। उस विजयी वीरने सम्पूर्ण वेदाङ्गोंका अध्ययन कर लिया ॥ १४२ ॥

यस्मिन् काले जपन्नास्ते धीमान् सत्यपराक्रमः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् तस्मिन् काले महात्मनः ॥१४३॥

वसुषेण (कर्ण) बड़ा बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी था। जिस समय वह जपमें लगा होता, उस समय उस महात्माके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे डाले ॥ १४३ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः ।
ययाचे कुण्डले वीरं कवचं च सहाङ्गजम् ॥१४४॥

भूतभावन इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनके हितके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके वीर कर्णसे दोनों कुण्डल तथा उसके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ कवच माँगा ॥१४४॥

उत्कृत्य कर्णो ह्यददात् कवचं कुण्डले तथा ।
शक्तिं शक्रो ददौ तस्मै विस्मितश्चेदमब्रवीत् ॥१४५॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मिन् क्षेप्स्यसि दुर्धर्ष स एको न भविष्यति ॥१४६॥

कर्णने अपने शरीरमें चिपके हुए कवच और कुण्डलोंको उधेड़कर दे दिया। इन्द्रने विस्मित होकर कर्णको एक शक्ति प्रदान की और कहा—'दुर्धर्ष वीर ! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंमेंसे जिसपर भी इस शक्तिको चलाओगे, वह एक व्यक्ति निश्चय ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा' ॥ १४५-१४६ ॥

पुरा नाम च तस्यासीद् वसुषेण इति क्षितौ ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥१४७॥

पहले कर्णका नाम इस पृथ्वीपर वसुषेण था। फिर कवच और कुण्डल काटनेके कारण वह वैकर्तन नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १४७ ॥

आमुक्तकवचो वीरो यस्तु जज्ञे महायशाः ।
स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ॥१४८॥

जो महायशस्वी वीर कवच धारण किये हुए ही उत्पन्न हुआ, वह पृथाका प्रथम पुत्र कर्ण नामसे ही सर्वत्र विख्यात था॥

स तु सूतकुले वीरो ववृधे राजसत्तम ।
कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१४९॥

महाराज ! वह वीर सूतकुलमें पाला-पोसा जाकर बड़ा हुआ था। नरश्रेष्ठ कर्ण सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ॥

दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् ।
दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्नंशमनुत्तमम् ॥१५०॥

वह दुर्योधनका मन्त्री और मित्र होनेके साथ ही उसके शत्रुओंका नाश करनेवाला था। राजन् ! तुम कर्णको साक्षात् सूर्यदेवका सर्वोत्तम अंश जानो ॥ १५० ॥

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद् वासुदेवः प्रतापवान् ॥१५१॥

देवताओंके भी देवता जो सनातन पुरुष भगवान् नारायण हैं, उन्हींके अंशस्वरूप प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए थे ॥ १५१ ॥

शेषस्यांशश्च नागस्य बलदेवो महाबलः।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन् महौजसम् ॥१५२॥

महाबली बलदेवजी शेषनागके अंश थे। राजन्! महातेजस्वी प्रद्युम्नको तुम सनत्कुमारका अंश जानो ॥ १५२ ॥

एवमन्ये मनुष्येन्द्रा बहवोऽशा दिवौकसाम्।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ॥१५३॥

इस प्रकार वसुदेवजीके कुलमें बहुतसे दूसरे-दूसरे नरेन्द्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके अंश थे। ये सभी अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ १५३ ॥

गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन् प्रकीर्तितः।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद् वासवस्य ह ॥१५४॥

महाराज! मैंने अप्सराओंके जिस समुदायका वर्णन किया है, उसका अंश भी इन्द्रके आदेशसे इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ था ॥ १५४ ॥

तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप।
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहः ॥१५५॥

नरेश्वर! वे अप्सराएँ मनुष्यलोकमें सोलह हजार देवियोंके रूपमें उत्पन्न हुई थीं, जो सब-की-सब भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हुईं ॥ १५५ ॥

श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले।
भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ॥१५६॥

नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेके लिये भूतलपर विदर्भराज भीष्मकके कुलमें सती-साध्वी रुक्मिणीदेवीके नामसे लक्ष्मीजीका ही अंश प्रकट हुआ था॥

द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता।
द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ॥१५७॥

सती-साध्वी द्रौपदी शचीके अंशसे उत्पन्न हुई थी। वह राजा द्रुपदके कुलमें यज्ञकी वेदीके मध्यभागसे एक अनिन्द्य सुन्दरी कुमारी कन्याके रूपमें प्रकट हुई थी ॥ १५७ ॥

नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी।
पद्मायताक्षी सुश्रोणी स्वसिताञ्चितमूर्धजा ॥१५८॥

वह न तो बहुत छोटी थी और न बहुत बड़ी ही। उसके अङ्गोंसे नीलकमलकी सुगन्ध फैलती रहती थी। उसके नेत्र कमलदलके समान सुन्दर और विशाल थे, नितम्बभाग बड़ा ही मनोहर था और उसके काले-काले घुँघराले बालोंका सौन्दर्य भी अद्भुत था ॥ १५८ ॥

सर्वलक्षणसम्पूर्णा वैदूर्यमणिसंनिभा।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ॥१५९॥

वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा वैदूर्य मणिके समान कान्तिमती थी। एकान्तमें रहकर वह पाँचों पुरुषप्रवर पाण्डवोंके मनको मुग्ध किये रहती थी ॥ १५९ ॥

सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानां मातरौ तु ते।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ॥१६०॥

सिद्धि और धृति नामवाली जो दो देवियाँ हैं, वे ही पाँचों पाण्डवोंकी दोनों माताओं— कुन्ती और माद्रीके रूपमें उत्पन्न हुई थीं। सुबल-नरेशकी पुत्री गान्धारीके रूपमें साक्षात् मतिदेवी ही प्रकट हुई थीं ॥ १६० ॥

इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा।
अंशावतरणं राजन् राक्षसानां च कीर्तितम् ॥१६१॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः।
महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले ॥१६२॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम्।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ॥१६३॥

राजन्! इस प्रकार तुम्हें देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा राक्षसोंके अंशोंका अवतरण बताया गया। युद्धमें उन्मत्त रहनेवाले जो-जो राजा इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए थे और जो-जो महात्मा क्षत्रिय यादवोंके विशाल कुलमें प्रकट हुए थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जो भी रहे हैं, उन सबके स्वरूपका परिचय मैंने तुम्हें दे दिया है। मनुष्यको चाहिये कि वह दोष-दृष्टिका त्याग करके इस अंशावतरणके प्रसङ्गको सुने। यह धन, यश, पुत्र, आयु तथा विजयकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १६१--१६३ ॥

अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम्।
प्रभवाप्ययवित् प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥१६४॥

देवता, गन्धर्व तथा राक्षसोंके इस अंशावतरणको सुनकर विश्वकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान परमात्माके स्वरूपको जाननेवाला प्राज्ञ पुरुष बड़ी-बड़ी विपत्तियोंमें भी दुखी नहीं होता ॥ १६४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अंशावतरणसमाप्तौ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरणसमाप्तिविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

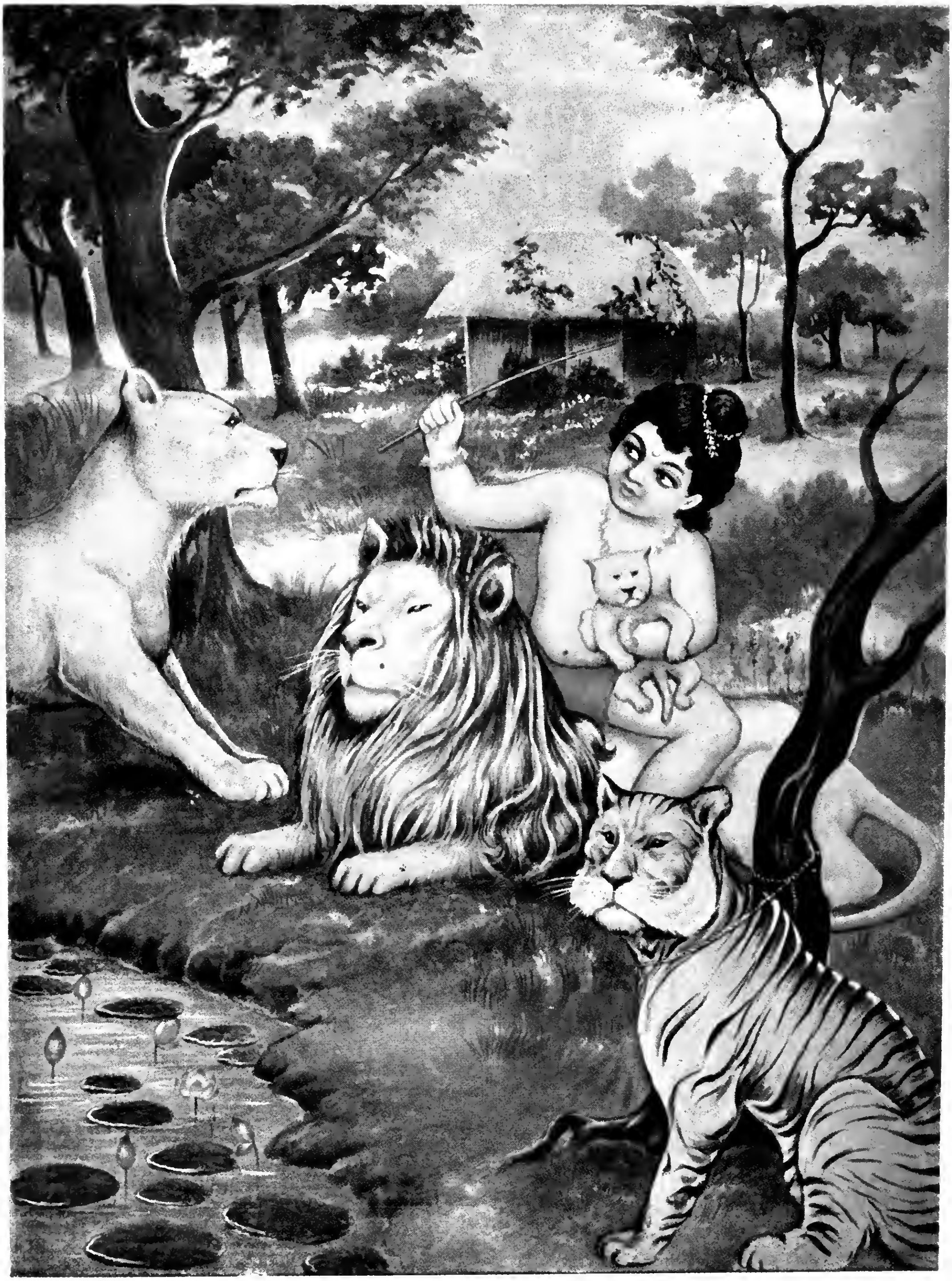

सिंह-बाघोंमें बालक भरत

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तकी अद्भुत शक्ति तथा राज्यशासनकी क्षमताका वर्णन

जनमेजय उवाच

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन् देवदानवरक्षसाम्।
अंशावतरणं सम्यग् गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे देवता, दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा अप्सराओंके अंशावतरणका वर्णन अच्छी तरह सुन लिया ॥ १ ॥

इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ २ ॥

विप्रवर! अब इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आपके द्वारा वर्णित कुरुवंशका वृत्तान्त पुनः आदिसे ही सुनना चाहता हूँ ॥२॥

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! पूरुवंशका विस्तार करनेवाले एक राजा हो गये हैं, जिनका नाम था दुष्यन्त। वे महान् पराक्रमी तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके पालक थे ॥ ३ ॥

चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥

राजा दुष्यन्त पृथ्वीके चारों भागोंका तथा समुद्रसे आवृत सम्पूर्ण देशोंका भी पूर्णरूपसे पालन करते थे। उन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय पायी थी। रत्नाकर समुद्रतक फैले हुए, चारों वर्णके लोगोंसे भरे-पूरे तथा म्लेच्छदेशकी सीमासे मिले-जुले सम्पूर्ण भूभागोंका वे शत्रुमर्दन नरेश अकेले ही शासन तथा संरक्षण करते थे ॥ ४-५ ॥

न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः।
न पापकृत् कश्चिदासीत् तस्मिन् राजनि शासति ॥ ६ ॥

उस राजाके शासनकालमें कोई मनुष्य वर्णसंकर संतान उत्पन्न नहीं करता था; पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी और सारी भूमि ही रत्नोंकी खान बनी हुई थी, इसलिये कोई भी खेती करने या रत्नोंकी खानका पता लगानेकी चेष्टा नहीं करता था। पाप करनेवाला तो उस राज्यमें कोई था ही नहीं ॥ ६ ॥

धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ! सभी लोग धर्ममें अनुराग रखते और उसीका सेवन करते थे। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाते थे। तात! राजा दुष्यन्त जब इस देशके शासक थे, उस समय कहीं चोरोंका भय नहीं था। भूखका भय तो नाममात्रको भी नहीं था। इस देशपर दुष्यन्तके शासनकालमें रोग-व्याधिका डर तो बिल्कुल ही नहीं रह गया था ॥

स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥

सब वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मके पालनमें रत रहते थे। देवाराधन आदि कर्मोंको निष्कामभावसे ही करते थे। राजा दुष्यन्तका आश्रय लेकर समस्त प्रजा निर्भय हो गयी थी ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥१०॥

मेघ समयपर पानी बरसाता और अनाज रसयुक्त होते थे। पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा पशु-धनसे परिपूर्ण थी ॥ १० ॥

स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतं तेषु विद्यते।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ॥११॥

ब्राह्मण अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें तत्पर थे। उनमें झूठ एवं छल-कपट आदिका अभाव था। राजा दुष्यन्त स्वयं भी नवयुवक थे। उनका शरीर वज्रके सदृश दृढ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रमसे सम्पन्न थे ॥ ११ ॥

उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम्।
चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ॥१२॥
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः ॥१३॥

वे अपने दोनों हाथोंद्वारा उपवनों और काननोंसहित मन्दराचलको उठाकर ले जानेकी शक्ति रखते थे। गदायुद्धके प्रक्षेप[1], विक्षेप[2], परिक्षेप[3] और अभिक्षेप[4]—इन चारों प्रकारोंमें कुशल तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें अत्यन्त निपुण

१. दूरवर्ती शत्रुपर गदा फेंकना 'प्रक्षेप' कहलाता है। २. समीपवर्ती शत्रुपर गदाकी कोटिसे प्रहार करना 'विक्षेप' कहा गया है। ३. जब शत्रु बहुत हों तो सब ओर गदाको घुमाते हुए शत्रुओंपर उसका प्रहार करना 'परिक्षेप' है। ४. गदाके अग्रभागसे मारना 'अभिक्षेप' कहलाता है।

थे। घोड़े और हाथीकी पीठपर बैठनेकी कलामें वे अत्यन्त प्रवीण थे। बलमें भगवान् विष्णुके समान और तेजमें भगवान् सूर्यके सदृश थे॥ १२-१३॥

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान्॥१४॥
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत्॥१५॥

वे समुद्रके समान अक्षोभ्य और पृथ्वीके समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्तका सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्रके लोग सदा प्रसन्न रहते थे। वे अत्यन्त धर्मयुक्त भावनासे सदा प्रसन्न रहनेवाली प्रजाका शासन करते थे॥ १४-१५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६८॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दुष्यन्तका शिकारके लिये वनमें जाना और विविध हिंसक वन-जन्तुओंका वध करना

जनमेजय उवाच

सम्भवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैं परम बुद्धिमान् भरतकी उत्पत्ति और चरित्रको तथा शकुन्तलाकी उत्पत्तिके प्रसङ्गको भी यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ॥ १॥

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम्॥ २॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर।

भगवन्! वीरवर दुष्यन्तने शकुन्तलाको कैसे प्राप्त किया? मैं पुरुषसिंह दुष्यन्तके उस चरित्रको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। तत्त्वज्ञ मुने! आप बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। अतः ये सब बातें बताइये॥ २½॥

वैशम्पायन उवाच

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः॥ ३॥
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—एक समयकी बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियोंको साथ लिये सैकड़ों हाथी-घोड़ोंसे घिरकर परम सुन्दर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ एक गहन वनकी ओर चले॥ ३-४॥

खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः॥ ५॥

जब राजाने यात्रा की, उस समय खड्ग, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास और तोमर हाथमें लिये सैकड़ों योद्धा उन्हें घेरे हुए थे॥ ५॥

सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः॥ ६॥
नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा।
हेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः॥ ७॥
आसीत् किलकिलाशब्दस्तस्मिन् गच्छति पार्थिवे।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया॥ ८॥
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम्।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम्॥ ९॥

महाराज दुष्यन्तके यात्रा करते समय योद्धाओंके सिंहनाद, शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज, रथके पहियोंकी घरघराहट, बड़े-बड़े गजराजोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, नाना प्रकारके आयुध तथा भाँति-भाँतिके वेष धारण करनेवाले योद्धाओंद्वारा की हुई गर्जना और ताल ठोंकनेकी आवाज़ोंसे चारों ओर भारी कोलाहल मच गया था। महलके श्रेष्ठ शिखरपर बैठी हुई स्त्रियाँ उत्तम राजोचित शोभासे सम्पन्न शूरवीर दुष्यन्तको देख रही थीं। वे अपने यशको बढ़ानेवाले, इन्द्रके समान पराक्रमी और शत्रुओंका नाश करनेवाले थे। शत्रुरूपी मतवाले हाथीको रोकनेके लिये उनमें सिंहके समान शक्ति थी॥ ६—९॥

पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे।
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः॥१०॥
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः।

वहाँ देखती हुई स्त्रियोंने उन्हें वज्रपाणि इन्द्रके समान समझा और आपसमें वे इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! देखो तो सही, ये ही वे पुरुषसिंह महाराज दुष्यन्त हैं, जो संग्रामभूमिमें वसुओंके समान पराक्रम दिखाते हैं, जिनके बाहुबलमें पड़कर शत्रुओंका अस्तित्व मिट जाता है'॥१०½॥

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम्॥११॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि।
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः॥१२॥

ऐसी बातें करती हुई वे स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे महाराज दुष्यन्तकी स्तुति करतीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा

करती थीं। यत्र-तत्र खड़े हुए श्रेष्ठ ब्राह्मण सब ओर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते थे ॥ ११-१२ ॥

निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया।
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ॥ १३ ॥
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे।
ददृशुर्वर्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ॥ १४ ॥

इस प्रकार महाराज वनमें हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ नगरसे बाहर निकले। वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर यात्रा करनेवाले उन महाराज दुष्यन्तके पीछे-पीछे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णोंके लोग गये और सब आशीर्वाद एवं विजयसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करते हुए उनकी ओर देखते रहे ॥ १३-१४ ॥

सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा।
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ॥ १५ ॥

नगर और जनपदके लोग बहुत दूरतक उनके पीछे-पीछे गये। फिर महाराजकी आज्ञा होनेपर लौट आये ॥ १५ ॥

सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ॥ १६ ॥
स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम्।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ॥ १७ ॥

उनका रथ गरुडके समान वेगशाली था। उसके द्वारा यात्रा करनेवाले नरेशने घरघराहटकी आवाजसे पृथ्वी और आकाशको गुँजा दिया। जाते-जाते बुद्धिमान् दुष्यन्तने एक नन्दनवनके समान मनोहर वन देखा, जो बेल, आक, खैर, कैथ और धव (बाकली) आदि वृक्षोंसे भर-पूर था ॥

विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम्।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ॥ १८ ॥

पर्वतकी चोटीसे गिरे हुए बहुत-से शिलाखण्ड वहाँ इधर-उधर पड़े थे। ऊँची-नीची भूमिके कारण वह वन बड़ा दुर्गम जान पड़ता था। अनेक योजनतक फैले हुए उस वनमें कहीं जल या मनुष्यका पता नहीं चलता था ॥ १८ ॥

मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः।
तद् वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ॥ १९ ॥
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान् मृगान्।
बाणगोचरसम्प्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ॥ २० ॥
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः।
दूरस्थान् सायकैः कांश्चिदभिनत् स नराधिपः ॥ २१ ॥
अभ्याशमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत।
कांश्चिदेणान् समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥ २२ ॥

वह सब ओर मृग और सिंह आदि भयंकर जन्तुओं तथा अन्य वनवासी जीवोंसे भरा हुआ था। नरश्रेष्ठ राजा दुष्यन्तने सेवक, सैनिक और सवारियोंके साथ नाना प्रकारके हिंसक पशुओंका शिकार करते हुए उस वनको रौंद डाला। वहाँ बाणोंके लक्ष्यमें आये हुए बहुत-से व्याघ्रोंको महाराज दुष्यन्तने मार गिराया और कितनोंको सायकोंसे बींध डाला। शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ नरेशने कितने ही दूरवर्ती हिंसक पशुओंको बाणोंद्वारा घायल किया। जो निकट आ गये, उन्हें तलवारसे काट डाला और कितने ही एण जातिके पशुओंको शक्तिनामक शस्त्रद्वारा मौतके घाट उतार दिया ॥

गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ॥ २३ ॥
चचार स विनिघ्नन् वै स्वैरचारान् वनद्विपान्।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ॥ २४ ॥
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ॥ २५ ॥
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः।
शुष्कांश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ॥ २६ ॥
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ॥ २७ ॥

असीम पराक्रमवाले राजा गदा घुमानेकी कलामें अत्यन्त प्रवीण थे। अतः वे तोमर, तलवार, गदा तथा मुसलोंकी मारसे स्वेच्छापूर्वक विचरनेवाले जंगली हाथियोंका वध करते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे। अद्भुत पराक्रमी नरेश और उनके युद्ध-प्रेमी सैनिकोंने उस विशाल वनका कोना-कोना छान डाला। अतः सिंह और बाघ उस वनको छोड़कर भाग गये। पशुओंके कितने ही झुंड, जिनके यूथपति मारे गये थे, व्यग्र होकर भागे जा रहे थे और कितने ही यूथ इधर-उधर आर्त-नाद करते थे। वे प्याससे पीड़ित हो सूखी नदियोंमें जाकर जब जल नहीं पाते, तब निराशासे अत्यन्त खिन्न हो दौड़नेके परिश्रमसे क्लान्तचित्त होनेके कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ते थे। भूख, प्यास और थकावटसे चूर-चूर हो बहुत से पशु धरतीपर गिर पड़े ॥ २३–२७ ॥

केचित् तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ॥ २८ ॥
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत् तदा।
तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ॥ २९ ॥
संकोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ॥ ३० ॥

वहाँ कितने ही व्याघ्र-स्वभावके नृशंस जंगली मनुष्य भूखे होनेके कारण कुछ मृगोंको कच्चे ही चबा गये। कितने ही वनमें विचरनेवाले व्याध वहाँ आग जलाकर मांस पकानेकी अपनी रीतिके अनुसार मांसको कूट-कूट कर राँधने

और खाने लगे । उस वनमें कितने ही बलवान् और मतवाले हाथी अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत होकर सूँडको समेटे हुए भयके मारे वेगपूर्वक भाग रहे थे। उस समय उनके घावोंसे बहुत-सा रक्त बह रहा था और वे मल-मूत्र करते जाते थे ॥ २८—३० ॥

वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून् ।
तद् वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ॥ ३१ ॥

बड़े-बड़े जंगली हाथियोंने भी वहाँ भागते समय बहुत-से मनुष्योंको कुचल डाला। वहाँ बाणरूपी जलकी धारा बरसानेवाले सैन्यरूपी बादलोंने उस वनरूपी व्योमको सब ओरसे घेर लिया था। महाराज दुष्यन्तने जहाँके सिंहोंको मार डाला था, वह हिंसक पशुओंसे भरा हुआ वन बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

तपोवन और कण्वके आश्रमका वर्णन तथा राजा दुष्यन्तका उस आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सेना और सवारियोंके साथ राजा दुष्यन्तने सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करके एक हिंसक पशुका ही पीछा करते हुए दूसरे वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥ २ ॥

उस समय उत्तम बलसे युक्त महाराज दुष्यन्त अकेले ही थे तथा भूख, प्यास और थकावटसे शिथिल हो रहे थे। उस वनके दूसरे छोरमें पहुँचनेपर उन्हें एक बहुत बड़ा ऊसर मैदान मिला, जहाँ वृक्ष आदि नहीं थे ॥ २ ॥

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद् वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥

उस वृक्षशून्य ऊसर भूमिको लाँघकर महाराज दुष्यन्त दूसरे विशालवनमें जा पहुँचे, जो अनेक उत्तम आश्रमोंसे सुशोभित था। देखनेमें अत्यन्त सुन्दर होनेके साथ ही वह मनमें अद्भुत आनन्दोल्लासकी सृष्टि कर रहा था। उस वनमें शीतल वायु चल रही थी। वहाँके वृक्ष फूलोंसे भरे थे और वनमें सब ओर व्याप्त हो उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ अत्यन्त सुखद हरी-हरी कोमल घास उगी हुई थी ॥ ३-४ ॥

विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥

वह वन बहुत बड़ा था और मीठी बोली बोलनेवाले विविध विहंगमोंके कलरवोंसे गूँज रहा था। उसमें कहीं कोकिलोंकी कुहू-कुहू सुन पड़ती थी तो कहीं झींगुरोंकी झीनी झनकार गूँज रही थी ॥ ५ ॥

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥

वहाँ सब ओर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले विशाल वृक्ष अपनी सुखद शीतल छाया किये हुए थे और उन वृक्षोंके नीचे सब ओर भ्रमर मँड़रा रहे थे। इस प्रकार वहाँ सर्वत्र बड़ी भारी शोभा छा रही थी ॥ ६ ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन् वै काननेऽभवत् ॥ ७ ॥

उस वनमें एक भी वृक्ष ऐसा नहीं था, जिसमें फूल और फल न लगे हों तथा भौंरे न बैठे हों। काँटेदार वृक्ष तो वहाँ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता था ॥ ७ ॥

विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥

सब ओर अनेकानेक पक्षी चहक रहे थे। भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे। सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले सुखद छायायुक्त वृक्ष वहाँ चारों ओर फैले हुए थे ॥ ८ ॥

मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशाखिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ।
दिवःस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥ १० ॥

महान् धनुर्धर राजा दुष्यन्तने इस प्रकार मनको मोह लेनेवाले उस उत्तम वनमें प्रवेश किया। उस समय फूलोंसे भरी हुई डालियोंवाले वृक्ष वायुके झकोरोंसे हिल-हिलकर उनके ऊपर बार-बार अद्भुत पुष्प-वर्षा करने लगे। वे वृक्ष इतने

ऊँचे थे, मानो आकाशको छू लेंगे। उनपर बैठे हुए मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके मधुर शब्द वहाँ गूँज रहे थे॥९-१०॥

विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु॥ ११॥
रुवन्ति रावान् मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान्॥ १२॥
लतागृहपरिक्षिप्तान् मनसः प्रीतिवर्धनान्।
सम्पश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा॥ १३॥

उस वनमें पुष्परूपी विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले वृक्ष अद्भुत शोभा पा रहे थे। फूलोंके भारसे झुके हुए उनके कोमल पल्लवोंपर बैठे हुए मधुलोभी भ्रमर मधुर गुंजार कर रहे थे। राजा दुष्यन्तने वहाँ बहुत-से ऐसे रमणीय प्रदेश देखे जो फूलोंके ढेरसे सुशोभित तथा लतामण्डपोंसे अलंकृत थे। मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले उन मनोहर प्रदेशोंका अवलोकन करके उस समय महातेजस्वी राजाको बड़ा हर्ष हुआ॥ ११–१३॥

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः।
अशोभत वनं तत् तु महेन्द्रध्वजसंनिभैः॥ १४॥

फूलोंसे लदे हुए वृक्ष एक दूसरेसे अपनी डालियोंको सटाकर मानो गले मिल रहे थे। वे गगनचुम्बी वृक्ष इन्द्रकी ध्वजाके समान जान पड़ते थे और उनके कारण उस वनकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १४॥

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम्॥ १५॥

सिद्ध-चारणसमुदाय तथा गन्धर्व और अप्सराओंके समूह भी उस वनका अत्यन्त सेवन करते थे। वहाँ मतवाले वानर और किन्नर निवास करते थे॥ १५॥

सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः।
परिक्रामन् वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया॥ १६॥

उस वनमें शीतल, सुगन्ध, सुखदायिनी मन्द वायु फूलोंके पराग वहन करती हुई मानो रमणकी इच्छासे बार-बार वृक्षोंके समीप आती थी॥ १६॥

एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम्॥ १७॥

वह वन मालिनी नदीके कछारमें फैला हुआ था और ऊँची ध्वजाओंके समान ऊँचे वृक्षोंसे भरा होनेके कारण अत्यन्त मनोहर जान पड़ता था। राजाने इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त उस वनका भलीभाँति अवलोकन किया॥ १७॥

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम्।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम्॥ १८॥

इस प्रकार राजा अभी वनकी शोभा देख ही रहे थे कि उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रमपर पड़ी, जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुतसे पक्षी हर्षोल्लासमें भरकर चहक रहे थे॥ १८॥

नानावृक्षसमाकीर्णं सम्प्रज्वलितपावकम्।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत्॥ १९॥

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भर-पूर उस वनमें स्थान-स्थानपर अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार उस अनुपम आश्रमका श्रीमान् दुष्यन्त नरेशने मन-ही-मन बड़ा सम्मान किया॥ १९॥

यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम्।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम्॥ २०॥

वहाँ बहुत-से त्यागी विरागी यति, बालखिल्य ऋषि तथा अन्य मुनिगण निवास करते थे। अनेकानेक अग्निहोत्र-गृह उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ इतने फूल झड़कर गिरे थे कि उनके बिछौने-से बिछ गये थे॥२०॥

महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च।
मालिनीमभितो राजन् नदीं पुण्यां सुखोदकाम्॥ २१॥

बड़े-बड़े तूनके वृक्षोंसे उस आश्रमकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। राजन्! बीचमें पुण्यसलिला मालिनी नदी बहती थी, जिसका जल बड़ा ही सुखद एवं स्वादिष्ट था। उसके दोनों तटोंपर वह आश्रम फैला हुआ था॥ २१॥

नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम्।
तत्र व्यालमृगान् सौम्यान् पश्यन् प्रीतिमवाप सः।२२।

मालिनीमें अनेक प्रकारके जलपक्षी निवास करते थे तथा तटवर्ती तपोवनके कारण उसकी मनोहरता और बढ़ गयी थी। वहाँ विषधर सर्प और हिंसक वनजन्तु भी सौम्यभाव (हिंसा-शून्य कोमलवृत्ति) से रहते थे। यह सब देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ २२॥

तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम्॥ २३॥

श्रीमान् दुष्यन्त नरेश अप्रतिरथ वीर थे—उस समय उनकी समानता करनेवाला भूमण्डलमें दूसरा कोई रथी योद्धा नहीं था। वे उक्त आश्रमके समीप जा पहुँचे, जो देवताओंके लोक-सा प्रतीत होता था। वह आश्रम सब ओरसे अत्यन्त मनोहर था॥ २३॥

नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्ठिताम्॥ २४॥

राजाने आश्रमसे सटकर बहनेवाली पुण्यसलिला मालिनी नदीकी ओर भी दृष्टिपात किया; जो वहाँ समस्त प्राणियोंकी जननी-सी विराज रही थी॥ २४॥

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम्।
सकिंनरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम्॥ २५॥

उसके तटपर चकवा-चकई किलोल कर रहे थे। नदीके जलमें बहुत-से फूल इस प्रकार बह रहे थे, मानो फेन हों। उसके तटप्रान्तमें किन्नरोंके निवास-स्थान थे। वानर और रीछ भी उस नदीका सेवन करते थे ॥ २५ ॥

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम्।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥ २६ ॥

अनेक सुन्दर पुलिन मालिनीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वेद-शास्त्रोंके पवित्र स्वाध्यायकी ध्वनिसे उस सरिताका निकटवर्ती प्रदेश गूँज रहा था। मतवाले हाथी, सिंह और बड़े-बड़े सर्प भी मालिनीके तटका आश्रय लेकर रहते थे ॥ २६ ॥

तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥ २७ ॥

उसके तटपर ही कश्यपगोत्रीय महात्मा कण्वका वह उत्तम एवं रमणीय आश्रम था। वहाँ महर्षियोंके समुदाय निवास करते थे ॥ २७ ॥

नदीमाश्रमसम्बद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ २८ ॥

उस मनोहर आश्रम और आश्रमसे सटी हुई नदीको देखकर राजाने उस समय उसमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥

अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया।
नरनारायणस्थानं गङ्गयेवोपशोभितम् ॥ २९ ॥

टापुओंसे युक्त तथा सुरम्य तटवाली मालिनी नदीसे सुशोभित वह आश्रम गङ्गा नदीसे शोभायमान भगवान् नर-नारायणके आश्रम-सा जान पड़ता था ॥ २९ ॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद् वनम्।
तत् स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ॥ ३० ॥
अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥ ३१ ॥
ध्वजिनीमश्वसम्बाधां पदातिगजसंकुलाम्।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अत्यन्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कश्यपगोत्रीय महर्षि तपोधन कण्वका, जिनके तेजका वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता था, दर्शन करनेके लिये कुबेरके चैत्ररथवनके समान मनोहर उस महान् वनमें प्रवेश किया, जहाँ मतवाले मयूर अपनी केकाध्वनि फैला रहे थे। वहाँ पहुँचकर नरेशने रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई अपनी चतुरङ्गिणी सेनाको उस तपोवनके किनारे ठहरा दिया और कहा—॥ ३०-३२ ॥

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम्।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥ ३३ ॥

'सेनापति! और सैनिको! मैं रजोगुणरहित तपस्वी महर्षि कश्यपनन्दन कण्वका दर्शन करनेके लिये उनके आश्रममें जाऊँगा। जबतक मैं वहाँसे लौट न आऊँ, तबतक तुमलोग यहीं ठहरो' ॥ ३३ ॥

तद् वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार आदेश दे नरेश्वर दुष्यन्तने नन्दनवनके समान सुशोभित उस तपोवनमें पहुँचकर भूख-प्यासको भुला दिया। वहाँ उन्हें बड़ा आनन्द मिला ॥ ३४ ॥

सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ॥ ३५ ॥

वे नरेश मुकुट आदि राजचिह्नोंको हटाकर साधारण वेष-भूषामें मन्त्रियों और पुरोहितके साथ उस उत्तम आश्रमके भीतर गये ॥ ३५ ॥

दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम्।
ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥ ३६ ॥

वहाँ वे तपस्याके भण्डार अविकारी महर्षि कण्वका दर्शन करना चाहते थे। राजाने उस आश्रमको देखा, मानो दूसरा ब्रह्मलोक हो। नाना प्रकारके पक्षी वहाँ कलरव कर रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जनसे सारा आश्रम गूँज रहा था ॥ ३६ ॥

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥ ३७ ॥

श्रेष्ठ ऋग्वेदी ब्राह्मण पद और क्रमपूर्वक ऋचाओंका पाठ कर रहे थे। नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अनेक प्रकारके यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें पढ़ी जाती हुई वैदिक ऋचाओंको सुना ॥ ३७ ॥

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम्।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥ ३८ ॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥ ३९ ॥

यज्ञविद्या और उसके अङ्गोंकी जानकारी रखनेवाले यजुर्वेदी विद्वान् भी आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले सामवेदी महर्षियोंद्वारा वहाँ मधुरस्वरसे सामवेदका गान किया जा रहा था। मनको संयम-में रखकर नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सामवेदी और अथर्ववेदी महर्षि भारुण्डसंज्ञक साममन्त्रोंके गीत गाते और अथर्ववेदके मन्त्रोंका उच्चारण करते थे; जिससे उस आश्रमकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ३८-३९ ॥

अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥ ४० ॥

श्रेष्ठ अथर्ववेदीय विद्वान् तथा पूगयज्ञिय नामक सामके गायक सामवेदी महर्षि पद और क्रमसहित अपनी-अपनी संहिताका पाठ करते थे ॥ ४० ॥

शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान् ब्रह्मलोक इवापरः ॥४१॥

दूसरे द्विजबालक शब्द-संस्कारसे सम्पन्न थे—वे स्थान, करण और प्रयत्नका ध्यान रखते हुए संस्कृतवाक्योंका उच्चारण कर रहे थे। इन सबके तुमुल शब्दोंसे गूँजता हुआ वह सुन्दर आश्रम द्वितीय ब्रह्मलोकके समान सुशोभित होता था ॥४१॥

यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसम्पन्नैर्वेदपारगैः ॥४२॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥४३॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥४४॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥४५॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥४६॥

यज्ञवेदीकी रचनाके ज्ञाता, क्रम और शिक्षामें कुशल, न्यायके तत्त्व और आत्मानुभवसे सम्पन्न, वेदोंके पारङ्गत, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक वाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें कुशल तथा विभिन्न शाखाओंकी गुणविधियोंका एक शाखामें उपसंहार करनेकी कलामें निपुण, उपासना आदि विशेषकार्योंके ज्ञाता, मोक्षधर्ममें तत्पर, अपने सिद्धान्तकी स्थापना करके उसमें शङ्का उठाकर उसके परिहारपूर्वक उस सिद्धान्तके समर्थनमें परम प्रवीण, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा शिक्षा और कल्प—वेदके इन छहों अङ्गोंके विद्वान्, पदार्थ, शुभाशुभ कर्म, सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंको जाननेवाले तथा कार्य (दृश्यवर्ग) और कारण (मूल प्रकृति) के ज्ञाता, पशु-पक्षियोंकी बोली समझनेवाले, व्यासग्रन्थका आश्रय लेकर मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवाले तथा विभिन्न शास्त्रोंके प्रमुख विद्वान् वहाँ रहकर जो शब्दोच्चारण कर रहे थे, उन सबको राजा दुष्यन्तने सुना। कुछ लोकरञ्जन करनेवाले लोगोंकी बातें भी उस आश्रममें चारों ओर सुनायी पड़ती थीं ॥ ४२–४६ ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान् नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ॥४७॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुष्यन्तने स्थान-स्थानपर नियमपूर्वक उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंको जप और होममें लगे हुए देखा॥

आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥४८॥

वहाँ प्रयत्नपूर्वक तैयार किये हुए बहुत सुन्दर एवं विचित्र आसन देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४८ ॥

देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥४९॥

द्विजोंद्वारा की हुई देवालयोंकी पूजा-पद्धति देखकर नृपश्रेष्ठ दुष्यन्तने ऐसा समझा कि मैं ब्रह्मलोकमें आ पहुँचा हूँ ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥५०॥

वह श्रेष्ठ एवं शुभ आश्रम कश्यपनन्दन महर्षि कण्वकी तपस्यासे सुरक्षित तथा तपोवनके उत्तम गुणोंसे संयुक्त था। राजा उसे देखकर तृप्त नहीं होते थे ॥ ५० ॥

स काश्यपस्यायतनं महाव्रतै-
र्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥५१॥

महर्षि कण्वका वह आश्रम, जिसमें वे स्वयं रहते थे, सब ओरसे महान् व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी महर्षियोंद्वारा घिरा हुआ था। वह अत्यन्त मनोहर, मङ्गलमय और एकान्त स्थान था। शत्रुनाशक राजा दुष्यन्तने मन्त्री और पुरोहितके साथ उसकी सीमामें प्रवेश किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तका शकुन्तलाके साथ वार्तालाप, शकुन्तलाके द्वारा अपने जन्मका कारण बतलाना तथा उसी प्रसंगमें विश्वामित्रकी तपस्यासे इन्द्रका चिन्तित होकर मेनकाको मुनिका तपोभङ्ग करनेके लिये भेजना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने उन मन्त्रियोंको भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रममें गये, किंतु वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि नहीं दिखायी दिये॥१॥

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम् ।
उवाच क इवेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥

महर्षि कण्वको न देखकर और आश्रमको सूना पाकर

राजाने सम्पूर्ण वनको प्रतिध्वनित करते हुए-से पूछा—'यहाँ कौन है ?' ॥ २ ॥

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाश्रमात् तस्मात् तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥

दुष्यन्तके उस शब्दको सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसीका वेष धारण किये आश्रमके भीतरसे निकली ॥ ३ ॥

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा।
(सुव्रताभ्यागतं तं तु पूज्यं प्राप्तमथेश्वरम्।
रूपयौवनसम्पन्ना शीलाचारवती शुभा।
सा तमायतपद्माक्षं व्यूढोरस्कं सुसंहतम् ॥
सिंहस्कन्धं दीर्घबाहुं सर्वलक्षणपूजितम्।
विस्पष्टं मधुरां वाचं साब्रवीज्जनमेजय।)
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥

जनमेजय ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली वह सुन्दरी कन्या रूप, यौवन, शील और सदाचारसे सम्पन्न थी। राजा दुष्यन्तके विशालनेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित थे। उनकी छाती चौड़ी, शरीरकी गठन सुन्दर, कंधे सिंहके सदृश और भुजाएँ लंबी थीं। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे। श्याम नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्याने सम्मान्य राजा दुष्यन्तको देखते ही मधुर वाणीमें उनके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'अतिथिदेव ! आपका स्वागत है' ॥ ४ ॥

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥

महाराज ! फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका समादर करनेके पश्चात् उसने राजासे पूछा—'आपका शरीर नीरोग है न ? घरपर कुशल तो है ?' ॥ ५ ॥

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥

उस समय विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके आरोग्य और कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुसकराती हुई-सी बोली—'कहिये आपकी क्या सेवा की जाय ? ॥ ६ ॥

(आश्रमस्याभिगमने किं त्वं कार्यं चिकीर्षसि।
कस्त्वमद्येह सम्प्राप्तो महर्षेराश्रमं शुभम् ॥)

'आपके आश्रमकी ओर पधारनेका क्या कारण है ? आप यहाँ कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ? आपका परिचय क्या है ? आप कौन हैं ? और आज यहाँ महर्षिके इस शुभ आश्रमपर (किस उद्देश्यसे) आये हैं ?'

तामब्रवीत् ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम्।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत् प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

उसके द्वारा विधिवत् किये हुए आतिथ्य-सत्कारको ग्रहण करके राजाने उस सर्वाङ्गसुन्दरी एवं मधुरभाषिणी कन्याकी ओर देखकर कहा ॥ ७ ॥

(दुष्यन्त उवाच

राजर्षेरस्मि पुत्रोऽहमिलिलस्य महात्मनः।
दुष्यन्त इति मे नाम सत्यं पुष्करलोचने ॥)
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम्।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥

दुष्यन्त बोले—कमललोचने ! मैं राजर्षि महात्मा इलिल* का पुत्र हूँ और मेरा नाम दुष्यन्त है। मैं यह सत्य कहता हूँ। भद्रे ! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्वकी उपासना करने—उनके सत्सङ्गका लाभ लेनेके लिये आया हूँ। शोभने ! बताओ तो, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं ? ॥ ८ ॥

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात्।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥

शकुन्तला बोली—अभ्यागत ! मेरे पूज्य पिताजी फल लानेके लिये आश्रमसे बाहर गये हैं। अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये। लौटनेपर उनसे मिलियेगा ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुष्यन्तने देखा—महर्षि कण्व आश्रमपर नहीं हैं और वह तापसी कन्या उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये कह रही है; साथ ही उनकी दृष्टि इस बातकी ओर भी गयी कि यह कन्या सर्वाङ्गसुन्दरी, अपूर्व शोभासे सम्पन्न तथा मनोहर मुसकानसे सुशोभित है। इसका शरीर सौन्दर्यकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा है, तपस्या तथा मन-इन्द्रियोंके संयमने इसमें अपूर्व तेज भर दिया है। यह अनुपम रूप और नयी जवानीसे उद्भासित हो रही है, यह सब सोचकर राजाने पूछा—॥ १०-११ ॥

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम्।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥

'मनोहर कटिप्रदेशसे सुशोभित सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और किसलिये इस वनमें आयी हो ? शोभने ! तुममें ऐसे अद्भुत रूप और गुणोंका विकास कैसे हुआ है ? ॥

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥

'शुभे ! तुमने दर्शनमात्रसे मेरे मनको हर लिया है।

---

* दुष्यन्तके पिताके 'इलिल' और 'इलिन' दोनों ही नाम मिलते हैं।

कल्याणि ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब कुछ ठीक-ठीक बताओ ॥ १३ ॥

(शृणु मे नागनासोरु वचनं मत्तकाशिनि ॥
राजर्षेरन्वये जातः पूरोरस्मि विशेषतः ।
वृणे त्वामद्य सुश्रोणि दुष्यन्तो वरवर्णिनि ॥
न मेऽन्यत्र क्षत्रियायां मनो जातु प्रवर्तते ।
ऋषिपुत्रीषु चान्यासु नावर्णासु परासु वा ॥
तस्मात् प्रणिहितात्मानं विद्धि मां कलभाषिणि ।
तस्य मे त्वयि भावोऽस्ति क्षत्रिया ह्यसि का वद ॥
न हि मे भीरु विप्रायां मनः प्रसहते गतिम् ।
भजे त्वामायतापाङ्गि भक्तं भजितुमर्हसि ॥
भुङ्क्ष्व राज्यं विशालाक्षि बुद्धिं मा त्वन्यथा कृथाः ।)

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली मतवाली सुन्दरी ! मेरी बात सुनो; मैं राजर्षि पूरुके वंशमें उत्पन्न राजा दुष्यन्त हूँ । आज मैं अपनी पत्नी बनानेके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ । क्षत्रिय-कन्याके सिवा दूसरी किसी स्त्रीकी ओर मेरा मन कभी नहीं जाता । अन्यान्य ऋषिपुत्रियों, अपनेसे भिन्न वर्णकी कुमारियों तथा परायी स्त्रियोंकी ओर भी मेरे मनकी गति नहीं होती । मधुरभाषिणि ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं अपने मनको पूर्णतः संयममें रखता हूँ । ऐसा होनेपर भी तुमपर मेरा अनुराग हो रहा है, अतः तुम क्षत्रिय-कन्या ही हो । बताओ, तुम कौन हो ? भीरु ! ब्राह्मण-कन्याकी ओर आकृष्ट होना मेरे मनको कदापि सह्य नहीं है । विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ; तुम्हारी सेवा चाहता हूँ; तुम मुझे स्वीकार करो । विशाललोचने ! मेरा राज्य भोगो । मेरे प्रति अन्यथा विचार न करो, मुझे पराया न समझो' ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥ १४ ॥

उस आश्रममें राजाके इस प्रकार पूछनेपर वह कन्या हँसती हुई मिठासभरे वचनोंमें उनसे इस प्रकार बोली—॥ १४ ॥

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

'महाराज दुष्यन्त ! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्वकी पुत्री मानी जाती हूँ ॥ १५ ॥

(अस्वतन्त्रास्मि राजेन्द्र काश्यपो मे गुरुः पिता ।
तमेव प्रार्थय स्वार्थं नायुक्तं कर्तुमर्हसि ॥)

'राजेन्द्र ! मैं परतन्त्र हूँ । कश्यपनन्दन महर्षि कण्व मेरे गुरु और पिता हैं । उन्हींसे आप अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करें । आपको अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये' ॥

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद् धर्मोऽपि न चलेत् संशितव्रतः ॥ १६ ॥

दुष्यन्त बोले—महाभागे ! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं । वे बड़े कठोर व्रतका पालन करते हैं । साक्षात् धर्मराज भी अपने सदाचारसे विचलित हो सकते हैं, परंतु महर्षि कण्व नहीं ॥ १६ ॥

कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ॥ १७ ॥

ऐसी दशामें तुम-जैसी सुन्दरी देवी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो रहा है । मेरे इस संदेहका निवारण तुम्हीं कर सकती हो ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥ १८ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म आदि पूर्वकालमें जिस प्रकार हुआ है और मैं जिस प्रकार कण्व मुनिकी पुत्री हूँ, वह सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ; सुनिये ॥ १८ ॥

(अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापेनावृतो मूर्खः स्तेन आत्मापहारकः ॥)

जिसका स्वरूप तो अन्य प्रकारका है, किंतु जो सत्पुरुषोंके सामने उसका अन्य प्रकारसे ही परिचय देता है, अर्थात् जो पापात्मा होते हुए भी अपनेको धर्मात्मा कहता है, वह मूर्ख पापसे आवृत, चोर एवं आत्मवञ्चक है ॥

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
(ऊर्ध्वरेता यथासि त्वं कुतस्त्येयं शकुन्तला ।
पुत्री त्वत्तः कथं जाता सत्यं मे ब्रूहि काश्यप ॥)
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ १९ ॥

पृथ्वीपते ! एक दिन किसी ऋषिने यहाँ आकर मेरे जन्मके सम्बन्धमें मुनिसे पूछा—'कश्यपनन्दन ! आप तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, फिर यह शकुन्तला कहाँसे आयी ? आपसे पुत्रीका जन्म कैसे हुआ ? यह मुझे सच-सच बताइये ।' उस समय भगवान् कण्वने उससे जो बात बतायी, वही कहती हूँ, सुनिये ॥ १९ ॥

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥ २० ॥

कण्व बोले—पहलेकी बात है, महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे । उन्होंने देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपनी तपस्यासे अत्यन्त संतापमें डाल दिया ॥ २० ॥

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इन्द्रको यह भय हो गया कि तपस्यासे अधिक शक्ति-

शाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनकासे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२२॥
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥२३॥

'मेनके ! अप्सराओंके जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं। कल्याणि ! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, सुनो। वे सूर्यके समान तेजस्वी, महातपस्वी विश्वामित्र घोर तपस्यामें संलग्न हो मेरे मनको कम्पित कर रहे हैं॥ २२-२३ ॥

मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ॥२४॥

'सुन्दरी मेनके ! उन्हें तपस्यासे विचलित करनेका यह महान् भार मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। विश्वामित्रका अन्तःकरण शुद्ध है। उन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन है और वे इस समय घोर तपस्यामें लगे हैं ॥ २४ ॥

स मां न च्यावयेत् स्थानात् तं वै गत्वा प्रलोभय।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥२५॥

'अतः ऐसा करो, जिससे वे मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट न कर सकें। तुम उनके पास जाकर उन्हें लुभाओ, उनकी तपस्यामें विघ्न डाल दो और इस प्रकार मेरे विघ्नके निवारणका उत्तम साधन प्रस्तुत करो ॥ २५ ॥

रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥२६॥

'वरारोहे ! अपने रूप, जवानी, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुसकान और सरस वार्तालाप आदिके द्वारा मुनिको लुभाकर उन्हें तपस्यासे निवृत्त कर दो' ॥ २६ ॥

मेनकोवाच

महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥२७॥

मेनका बोली—देवराज ! भगवान् विश्वामित्र बड़े भारी तेजस्वी और महान् तपस्वी हैं। वे क्रोधी भी बहुत हैं। उनके इस स्वभावको आप भी जानते हैं ॥ २७ ॥

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥२८॥

जिन महात्माके तेज, तप और क्रोधसे आप भी उद्विग्न हो उठते हैं, उनसे मैं कैसे नहीं डरूँगी ? ॥ २८ ॥

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत्।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात् ॥२९॥
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥३०॥

विश्वामित्र ऋषि वे ही हैं, जिन्होंने महाभाग महर्षि वसिष्ठका उनके प्यारे पुत्रोंसे सदाके लिये वियोग करा दिया; जो पहले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी तपस्याके बलसे ब्राह्मण बन गये; जिन्होंने अपने शौच-स्नानकी सुविधाके लिये अगाध जलसे भरी हुई उस दुर्गम नदीका निर्माण किया, जिसे लोकमें सब मनुष्य अत्यन्त पुण्यमयी कौशिकी नदीके नामसे जानते हैं ॥ २९-३० ॥

बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥३१॥

विश्वामित्र महर्षि वे ही हैं, जिनकी पत्नीका पूर्वकालमें संकटके समय शापवश व्याध बने हुए धर्मात्मा राजर्षि मतङ्गने भरण-पोषण किया था ॥ ३१ ॥

अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम्।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥३२॥

दुर्भिक्ष बीत जानेपर उन शक्तिशाली मुनिने पुनः आश्रमपर आकर उस नदीका नाम 'पारा' रख दिया था ॥ ३२ ॥

मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम्।
त्वं च सोमं भयाद् यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥३३॥

सुरेश्वर ! उन्होंने मतङ्ग मुनिके किये हुए उपकारसे प्रसन्न होकर स्वयं पुरोहित बनकर उनका यज्ञ कराया; जिसमें उनके भयसे आप भी सोमपान करनेके लिये पधारे थे ॥३३॥

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥३४॥

उन्होंने ही कुपित होकर दूसरे लोककी सृष्टि की और नक्षत्र-सम्पत्तिसे रूठकर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोंका निर्माण किया था। ये वे ही महात्मा हैं, जिन्होंने गुरुके शापसे हीनावस्थामें पड़े हुए राजा त्रिशङ्कुको भी शरण दी थी ॥ ३४ ॥

(ब्रह्मर्षिशापं राजर्षिः कथं मोक्ष्यति कौशिकः।
अवमत्य तदा देवैर्यज्ञाङ्गं तद् विनाशितम् ॥
अन्यानि च महातेजा यज्ञाङ्गान्यसृजत् प्रभुः।
निनाय च तदा स्वर्गं त्रिशङ्कुं स महातपाः ॥)

उस समय यह सोचकर कि 'विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठके शापको कैसे छुड़ा देंगे ?' देवताओंने उनकी अवहेलना करके त्रिशङ्कुके यज्ञकी वह सारी सामग्री नष्ट कर दी। परंतु महातेजस्वी शक्तिशाली विश्वामित्रने दूसरी यज्ञ-सामग्रियोंकी सृष्टि कर ली तथा उन महातपस्वीने त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा ही दिया ॥

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे ।
यथासौ न दहेत् क्रुद्धस्तथाऽऽज्ञापय मां विभो ॥३५॥

जिनके ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म हैं, उन महात्मासे मैं बहुत डरती हूँ । प्रभो ! जिससे वे कुपित हो मुझे भस्म न कर दें, ऐसे कार्यके लिये मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ३५ ॥

तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद् धरणीं पदा ।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद् दिशः ॥३६॥

वे अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर सकते हैं, पैरके आघातसे पृथ्वीको कँपा सकते हैं, विशाल मेरुपर्वतको छोटा बना सकते हैं और सम्पूर्ण दिशाओंमें तुरंत उलट-फेर कर सकते हैं ॥ ३६ ॥

तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम् ।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ॥३७॥

ऐसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्वी और जितेन्द्रिय महात्माका मुझ-जैसी नारी कैसे स्पर्श कर सकती है ? ॥।

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम् ।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥३८॥

सुरश्रेष्ठ ! अग्नि जिनका मुख है, सूर्य और चन्द्रमा जिनकी आँखोंके तारे हैं और काल जिनकी जिह्वा है, उन तेजस्वी महर्षिको मेरी-जैसी स्त्री कैसे छू सकती है ? ॥ ३८ ॥

यमश्च सोमश्च महर्षयश्च
साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे ।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्
तस्मात् कस्मान्मादृशी नोद्विजेत ॥३९॥

यमराज, चन्द्रमा, महर्षिगण, साध्यगण, विश्वेदेव और सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषि— ये भी जिनके प्रभावसे उद्विग्न रहते हैं, उन विश्वामित्र मुनिसे मेरी-जैसी स्त्री कैसे नहीं डरेगी ?

त्वयैवमुक्ता च कथं समीप-
मृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र ।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज
यथा त्वदर्थं रक्षिताहं चरेयम् ॥४०॥

सुरेन्द्र ! आपके इस प्रकार वहाँ जानेका आदेश देनेपर मैं उन महर्षिके समीप कैसे नहीं जाऊँगी ? किंतु देवराज ! पहले मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये; जिससे सुरक्षित रहकर मैं आपके कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा कर सकूँ ॥४०॥

कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः
प्रक्रीडितायाा विवृणोतु देव ।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये
सहायभूतस्तु तव प्रसादात् ॥४१॥

देव ! मैं वहाँ जाकर जब क्रीड़ामें निमग्न हो जाऊँ, उस समय वायुदेव आवश्यकता समझकर मेरा वस्त्र उड़ा दें और इस कार्यमें आपके प्रसादसे कामदेव भी मेरे सहायक हों ॥ ४१ ॥

वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्
तस्मिन् काले तमृषिं लोभयन्त्याः ।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिं-
स्ततो ययौ साऽऽश्रमं कौशिकस्य ॥४२॥

जब मैं ऋषिको लुभाने लगूँ, उस समय वनसे सुगन्धभरी वायु चलनी चाहिये । 'तथास्तु' कहकर इन्द्रने जब इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी, तब मेनका विश्वामित्र मुनिके आश्रमपर गयी ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

मेनका-विश्वामित्र-मिलन, कन्याकी उत्पत्ति, शकुन्त पक्षियोंके द्वारा उसकी रक्षा और कण्वका उसे अपने आश्रमपर लाकर शकुन्तला नाम रखकर पालन करना

कण्व उवाच

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम् ।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥ १ ॥

(शकुन्तला दुष्यन्तसे कहती है—)महर्षि कण्वने (पूर्वोक्त ऋषिसे शेष वृत्तान्त इस प्रकार) कहा—
मेनकाके ऐसा कहनेपर इन्द्रदेवने वायुको उसके साथ जानेका आदेश दिया । तब मेनका वायुदेवके साथ समयानुसार वहाँसे प्रस्थित हुई ॥ १ ॥

अथापश्यद् वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे ॥ २ ॥

वनमें पहुँचकर भीरु स्वभाववाली सुन्दरी मेनकाने एक आश्रममें विश्वामित्र मुनिको तप करते देखा । वे तपस्याद्वारा अपने समस्त पाप दग्ध कर चुके थे ॥ २ ॥

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम् ॥ ३ ॥

उस समय महर्षिको प्रणाम करके वह अप्सरा उनके समीपवर्ती स्थानमें ही भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करने लगी। इतनेमें ही वायुने मेनकाका चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वस्त्र उसके शरीरसे हटा दिया ॥ ३ ॥

सागच्छत् त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥

यह देख सुन्दरी मेनका लजाकर वायुदेवको कोसती एवं मुसकराती हुई-सी वह वस्त्र लेनेकी इच्छासे तुरंत ही उस स्थानकी ओर दौड़ी गयी, जहाँ वह गिरा था ॥ ४ ॥

पश्यतस्तस्य तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
गृद्धां वाससि सम्भ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद् विवृतां तदा ॥ ६ ॥

अग्निके समान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्रके देखते-देखते वहाँ यह घटना घटित हुई। वह अनिन्द्य सुन्दरी विषम परिस्थितिमें पड़ गयी थी और घबराकर वस्त्र लेनेकी इच्छा कर रही थी। उसका रूप-सौन्दर्य अवर्णनीय था। तरुणावस्था भी अद्‌भुत थी। उस सुन्दरी अप्सराको मुनिवर विश्वामित्रने वहाँ नंगी देख लिया ॥ ५-६ ॥

तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः ॥ ७ ॥

उसके रूप और गुणोंको देखते ही विप्रवर विश्वामित्र कामके अधीन हो गये। सम्पर्कमें आनेके कारण मेनकामें उनका अनुराग हो गया ॥ ७ ॥

न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा ॥ ८ ॥
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा।
(कामक्रोधावजितवान् मुनिर्नित्यं क्षमान्वितः।
चिरार्जितस्य तपसः क्षयं स कृतवानृषिः ॥
तपसः संक्षयादेव मुनिर्मोहं समाविशत्।
कामरागाभिभूतस्य मुनेः पार्श्वं जगाम सा ॥)
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥ ९ ॥
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम्।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ॥१०॥
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम्।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ॥११॥
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन्।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ॥१२॥

उन्होंने मेनकाको अपने निकट आनेका निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये वह राजी हो गयी। तदनन्तर वे दोनों वहाँ सुदीर्घ कालतक इच्छानुसार विहार तथा रमण करते रहे। वह महान् काल उन्हें एक दिनके समान प्रतीत हुआ। काम और क्रोधपर विजय न पा सकनेवाले उन सदा क्षमाशील महर्षिने दीर्घकालसे उपार्जित की हुई तपस्याको नष्ट कर दिया। तपस्याका क्षय होनेसे मुनिके मनपर मोह छा गया। तब मेनका काम तथा रागके वशीभूत हुए मुनिके पास गयी। ब्रह्मन्! फिर मुनिने मेनकाके गर्भसे हिमालयके रमणीय शिखरपर मालिनी नदीके किनारे शकुन्तलाको जन्म दिया। मेनकाका काम पूरा हो चुका था; वह उस नवजात गर्भको मालिनीके तटपर छोड़कर तुरंत इन्द्रलोकको चली गयी। सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए निर्जन वनमें उस शिशुको सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओरसे पाँखोंद्वारा ढक लिया; जिससे कच्चे मांस खानेवाले गीध आदि जीव वनमें इस कन्याकी हिंसा न कर सकें ॥ ८-१२ ॥

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥१३॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
(मां दृष्ट्वैवान्वपद्यन्त पादयोः पतिता द्विजाः।
अब्रुवञ्छकुनाः सर्वे कलं मधुरभाषिणः ॥

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनकाकुमारीकी रक्षा कर रहे थे। उसी समय आचमन करनेके लिये जब मैं मालिनीतटपर गया तो देखा—यह रमणीय निर्जन वनमें पक्षियोंसे घिरी हुई सो रही है। मुझे देखते ही वे सब मधुरभाषी पक्षी मेरे पैरोंपर गिर गये और सुन्दर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे ॥

द्विजा ऊचुः

विश्वामित्रसुतां ब्रह्मन् न्यासभूतां भरस्व वै।
कामक्रोधावजितवान् सखा ते कौशिकीं गतः ॥
तस्मात् पोषय तत्पुत्रीं दयावानिति तेऽब्रुवन्।

पक्षी बोले—ब्रह्मन्! यह विश्वामित्रकी कन्या आपके यहाँ धरोहरके रूपमें आयी है। आप इसका पालन-पोषण कीजिये। कौशिकीके तटपर गये हुए आपके सखा विश्वामित्र काम और क्रोधको नहीं जीत सके थे। आप दयालु हैं; इसलिये उनकी पुत्रीका पालन कीजिये। इस प्रकार पक्षियोंने कहा॥

कण्व उवाच

सर्वभूतरुतज्ञोऽहं दयावान् सर्वजन्तुषु ॥
निर्जनेऽपि महारण्ये शकुनैः परिवारिताम् ॥)
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥१४॥

कण्व मुनि कहते हैं—ब्रह्मन्! मैं समस्त प्राणियोंकी बोली समझता हूँ और सब जीवोंके प्रति दयाभाव रखता हूँ। अतः उस निर्जन महावनमें पक्षियोंसे घिरी हुई इस कन्याको वहाँसे लाकर मैंने इसे अपनी पुत्रीके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ १४ ॥

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥ १५ ॥

जो गर्भाधानके द्वारा शरीरका निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणोंकी रक्षा करता है और जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्रमें क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं ॥ १५ ॥

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ १६ ॥

निर्जन वनमें इसे शकुन्तोंने घेर रक्खा था, इसलिये 'शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस कन्याका नाम मैंने 'शकुन्तला' रख दिया ॥ १६ ॥

एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम्।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १७ ॥

ब्रह्मन्! इस प्रकार शकुन्तला मेरी बेटी हुई, आप यह जान लें। प्रशंसनीय शील-स्वभाववाली शकुन्तला भी मुझे अपना पिता मानती है ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १८ ॥
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती।
इति ते कथितं राजन् यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १९ ॥

शकुन्तला कहती है—राजन्! उन महर्षिके पूछनेपर पिता कण्वने मेरे जन्मका यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस तरह आप मुझे कण्वकी ही पुत्री समझिये। मैं अपने जन्मदाता पिताको तो जानती नहीं, कण्वको ही पिता मानती हूँ। महाराज! इस प्रकार जो वृत्तान्त मैंने सुन रक्खा था, वह सब आपको बता दिया ॥१८-१९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तला और दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह और महर्षि कण्वके द्वारा उसका अनुमोदन

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

दुष्यन्त बोले—कल्याणि! तुम जैसी बातें कह चुकी हो, उनसे भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय-कन्या हो (क्योंकि विश्वामित्र मुनि जन्मसे तो क्षत्रिय ही हैं)। सुश्रोणि! मेरी पत्नी बन जाओ। बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिये क्या करूँ॥

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ॥ २ ॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३ ॥

सोनेके हार, सुन्दर वस्त्र, तपाये हुए सुवर्णके दो कुण्डल, विभिन्न नगरोंके बने हुए सुन्दर और चमकीले मणिरत्ननिर्मित आभूषण, स्वर्णपदक और कोमल मृगचर्म आदि वस्तुएँ तुम्हारे लिये मैं अभी लाये देता हूँ। शोभने! अधिक क्या कहूँ, मेरा सारा राज्य आजसे तुम्हारा हो जाय, तुम मेरी महारानी बन जाओ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

भीरु! सुन्दरि! गान्धर्व विवाहके द्वारा मुझे अङ्गीकार करो। रम्भोरु! विवाहोंमें गान्धर्व-विवाह श्रेष्ठ कहलाता है॥

शकुन्तलोवाच

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात्।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन्। मेरे पिता कण्व फल लानेके लिये इस आश्रमसे बाहर गये हैं। दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये। वे ही मुझे आपकी सेवामें समर्पित करेंगे ॥ ५ ॥

(पिता हि मे प्रभुर्नित्यं दैवतं परमं मतम्।
यस्य वा दास्यति पिता स मे भर्ता भविष्यति ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
अमन्यमाना राजेन्द्र पितरं मे तपस्विनम्।
अधर्मेण हि धर्मिष्ठ कथं वरमुपास्महे ॥

महाराज! पिता ही मेरे प्रभु हैं। उन्हें ही मैं सदा अपना सर्वोत्कृष्ट देवता मानती हूँ। पिताजी मुझे जिसको सौंप देंगे, वही मेरा पति होगा। कुमारावस्थामें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करता है। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। धर्मिष्ठ राजेन्द्र! मैं अपने तपस्वी पिताकी अवहेलना करके अधर्मपूर्वक पतिका वरण कैसे कर सकती हूँ!

दुष्यन्त उवाच

मा मैवं वद सुश्रोणि तपोराशिं दयात्मकम्।

दुष्यन्त बोले—सुन्दरी ! ऐसा न कहो । तपोराशि महात्मा कण्व बड़े ही दयालु हैं ॥

शकुन्तलोवाच

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥
अग्निर्दहति तेजोभिः सूर्यो दहति रश्मिभिः ।
राजा दहति दण्डेन ब्राह्मणो मन्युना दहेत् ॥
क्रोधितो मन्युना हन्ति वज्रपाणिरिवासुरान् ।)

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! ब्राह्मण क्रोधके द्वारा ही प्रहार करते हैं । वे हाथमें लोहेका हथियार नहीं धारण करते । अग्नि अपने तेजसे, सूर्य अपनी किरणोंसे, राजा दण्डसे और ब्राह्मण क्रोधसे दग्ध करते हैं । कुपित ब्राह्मण अपने क्रोधसे अपराधीको वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंको।

दुष्यन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥

दुष्यन्त बोले—वरारोहे ! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसाके योग्य है । मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छासे स्वीकार करो । मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ ठहरा हूँ । मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है ॥ ६ ॥

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनो मित्रमात्मैव तथाऽऽत्मा चात्मनः पिता ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है । आत्मा ही अपना आश्रय है । आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना पिता है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करने योग्य हो ॥ ७ ॥

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः ।
तेषां धर्म्यान् यथापूर्वं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे संक्षेपसे आठ प्रकारके ही विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा आठवाँ पैशाच ।* स्वायम्भुव मनुका कथन है कि इनमें बादवालोंकी अपेक्षा पहलेवाले विवाह धर्मानुकूल हैं ॥

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥१०॥

पूर्वकथित जो चार विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य हैं, उन्हें ब्राह्मणके लिये उत्तम समझो ! अनिन्दिते ! ब्राह्मसे लेकर गान्धर्वतक क्रमशः छः विवाह क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल जानो ॥ १० ॥

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ॥११॥

राजाओंके लिये तो राक्षस विवाहका भी विधान है । वैश्यों और शूद्रोंमें आसुर विवाह ग्राह्य माना गया है । अन्तिम पाँच विवाहोंमें तीन तो धर्मसम्मत हैं और दो अधर्मरूप माने गये हैं ॥ ११ ॥

पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥१२॥

पैशाच और आसुर विवाह कदापि करने योग्य नहीं हैं । इस विधिके अनुसार विवाह करना चाहिये । यह धर्मका मार्ग बताया गया है ॥ १२ ॥

गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः ।
पृथग् वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नात्र संशयः ॥१३॥

गान्धर्व और राक्षस—दोनों विवाह क्षत्रियजातिके लिये धर्मानुकूल ही हैं । अतः उनके विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये । वे दोनों विवाह परस्पर मिले हों या पृथक्-पृथक् हों क्षत्रियके लिये करने योग्य ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥१४॥

अतः सुन्दरी ! मैं तुम्हें पानेके लिये इच्छुक हूँ । तुम भी मुझे पानेकी इच्छा रखकर गान्धर्व-विवाहके द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ ॥ १४ ॥

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥१५॥

शकुन्तलाने कहा—पौरवश्रेष्ठ ! यदि यह गान्धर्व-विवाह धर्मका मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान

---

* कन्याको वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत करके सजातीय योग्य वरके हाथमें देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है । अपने घरपर देवयज्ञ करके यज्ञान्तमें ऋत्विजको अपनी कन्याका दान करना 'दैव' विवाह कहा गया है । वर और कन्या दोनों साथ रहकर धर्माचरण करें, इस बुद्धिसे कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह माना गया है । वरसे एक गाय और एक बैल शुल्कके रूपमें लेकर कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह बताया गया है । वरसे मूल्यके रूपमें बहुत-सा धन लेकर कन्या देना 'आसुर' विवाह माना गया है । वर और वधू दोनों एक दूसरेको स्वेच्छासे स्वीकार कर लें, यह 'गान्धर्व' विवाह है । जब घरके लोग सोये हों अथवा असावधान हों, उस दशामें कन्याको चुरा लेना 'पैशाच' विवाह है । युद्ध करके मार-काट मचाकर रोती हुई कन्याको उसके रोते हुए भाई-बन्धुओंसे छीन लाना 'राक्षस' विवाह माना गया है ।

करनेमें समर्थ है तो इसके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु प्रभो ! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिये ॥ १५ ॥

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ॥ १६ ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥ १७ ॥

और उसका पालन करनेके लिये मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा कीजिये। वह शर्त क्या है, यह मैं एकान्तमें आपसे कह रही हूँ—महाराज दुष्यन्त ! मेरे गर्भसे आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो—ऐसी मेरी इच्छा है । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ । यदि यह शर्त इसी रूपमें आपको स्वीकार हो तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुन्तलाकी यह बात सुनकर राजा दुष्यन्तने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया कि 'ऐसा ही होगा।' वे शकुन्तलासे बोले—'शुचिस्मिते ! मैं शीघ्र तुम्हें अपने नगरमें ले चलूँगा ॥ १८॥

यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ॥ १९ ॥
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ॥ २० ॥
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वा नाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥ २१ ॥

'सुश्रोणि ! तुम राजभवनमें ही रहने योग्य हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ।' ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलाका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया । फिर उसे विश्वास दिलाकर वहाँसे विदा हुए। जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—'पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये चतुरङ्गिणी सेना भेजूँगा और उसीके साथ अपने राजभवनमें बुलवाऊँगा' ॥ १९-२१ ॥

(एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां स्मितपूर्वमुदैक्षत ॥
प्रदक्षिणीकृतां देवीं राजा सम्परिषस्वजे ।
शकुन्तला ह्यश्रुमुखी पपात नृपपादयोः ॥
तां देवीं पुनरुत्थाप्य मा शुचेति पुनः पुनः ।
शपेयं सुकृतेनैव प्रापयिष्ये नृपात्मजे ॥)

अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलासे ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने उसे अपनी भुजाओंमें भर लिया और उसकी ओर मुसकराते हुए देखा । देवी शकुन्तला राजाकी परिक्रमा करके खड़ी थी । उस समय उन्होंने उसे हृदयसे लगा लिया। शकुन्तलाके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह नरेशके चरणोंमें गिर पड़ी । राजाने देवी शकुन्तलाको फिर उठाकर बार-बार कहा—'राजकुमारी ! चिन्ता न करो । मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हें अवश्य बुला लूँगा ॥'

वैशम्पायन उवाच

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन् प्रायात् काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥ २२ ॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार शकुन्तलासे प्रतिज्ञा करके नरेश्वर राजा दुष्यन्त आश्रमसे चल दिये । उनके मनमें महर्षि कण्वकी ओरसे बड़ी चिन्ता थी कि तपस्वी भगवान् कण्व यह सब सुनकर न जाने क्या कर बैठेंगे ? इस तरह चिन्ता करते हुए ही राजाने अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ २२-२३ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नापजगाम तम् ॥ २४ ॥

उनके गये दो ही घड़ी बीती थी कि महर्षि कण्व भी आश्रमपर आ गये; परंतु शकुन्तला लज्जावश पहलेके समान पिताके समीप नहीं गयी ॥ २४ ॥

(शङ्कितेव च विप्रर्षिमुपचक्राम सा शनैः ।
ततोऽस्य राजन्नग्राह आसनं चाप्यकल्पयत् ॥
शकुन्तला च सव्रीडा तमृषिं नाभ्यभाषत ।
तस्मात् स्वधर्मात् स्खलिता भीता सा भरतर्षभ ॥
अभवद् दोषदर्शित्वाद् ब्रह्मचारिण्ययन्त्रिता ।
स तदा व्रीडितां दृष्ट्वा ऋषिस्तां प्रत्यभाषत ॥

तत्पश्चात् वह डरती हुई ब्रह्मर्षिके निकट धीरे-धीरे गयी। फिर उसने उनके लिये आसन लेकर बिछाया । शकुन्तला इतनी लज्जित हो गयी थी कि महर्षिसे कोई बाततक न कर सकी । भरतश्रेष्ठ ! वह अपने धर्मसे गिर जानेके कारण भयभीत हो रही थी । जो कुछ समय पहलेतक स्वाधीन ब्रह्मचारिणी थी, वही उस समय अपना दोष देखनेके कारण घबरा गयी थी । शकुन्तलाको लज्जामें डूबी हुई देख महर्षि कण्वने उससे कहा ॥

कण्व उवाच

सव्रीडेव च दीर्घायुः पुरेव भविता न च ।
वृत्तं कथय रम्भोरु मा त्रासं च प्रकल्पय ॥

कण्व बोले—बेटी ! तू सलज्ज रहकर ही दीर्घायु होगी । अब पहले-जैसी चपल न रह सकेगी । शुभे ! सारी बातें स्पष्ट बता; भय न कर ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृच्छ्रादतिशुभा सव्रीडा श्रीमती तदा।
सगद्गदमुवाचेदं काश्यपं सा शुचिस्मिता॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पवित्र मुसकानवाली वह सुन्दरी अत्यन्त सदाचारिणी थी; तो भी अपने व्यवहारसे लज्जाका अनुभव करती हुई महर्षि कण्वसे बड़ी कठिनाईके साथ गद्‌गदकण्ठ होकर बोली॥

शकुन्तलोवाच

राजा ताताजगामेह दुष्यन्त इलिलात्मजः।
मया पतिर्वृतो योऽसौ दैवयोगादिहागतः॥
तस्य तात प्रसीदस्व भर्ता मे सुमहायशाः।
अतः सर्वं तु यद् वृत्तं दिव्यज्ञानेन पश्यसि।
अभयं क्षत्रियकुले प्रसादं कर्तुमर्हसि॥)

शकुन्तला बोली—तात! इलिलकुमार महाराज दुष्यन्त इस वनमें आये थे। दैवयोगसे इस आश्रमपर भी उनका आगमन हुआ और मैंने उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। पिताजी! आप उनपर प्रसन्न हों। वे महायशस्वी नरेश अब मेरे स्वामी हैं। इसके बादका सारा वृत्तान्त आप दिव्य ज्ञानदृष्टिसे देख सकते हैं। क्षत्रियकुलको अभयदान देकर उनपर कृपादृष्टि करें॥

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा॥ २५॥

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञानसे सम्पन्न थे। वे दिव्य दृष्टिसे देखकर शकुन्तलाकी तात्कालिक अवस्थाको जान गये; अतः प्रसन्न होकर बोले—॥ २५॥

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः॥ २६॥

'भद्रे! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्तमें किसी पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्मका नाशक नहीं है॥ २६॥

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः॥ २७॥

'क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहा गया है। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरेको चाहते हों, उस दशामें उन दोनोंका एकान्तमें जो मन्त्रहीन सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहा गया है॥ २७॥

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः।
अभ्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले॥ २८॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम्॥ २९॥

'शकुन्तले! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे तुम्हें चाहते थे। तुमने योग्य पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है; इसलिये लोकमें तुम्हारे गर्भसे एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो समुद्रसे घिरी हुई इस समूची पृथ्वीका उपभोग करेगा॥ २८-२९॥

परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्तिनः॥ ३०॥

'शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले उस महामना चक्रवर्ती नरेशकी सेना सदा अप्रतिहत होगी। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकेगा'॥ ३०॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत्।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च॥ ३१॥

तदनन्तर शकुन्तलाने उनके लाये हुए फलके भारको लेकर यथास्थान रख दिया। फिर उनके दोनों पैर धोये तथा जब वे भोजन और विश्राम कर चुके, तब वह मुनिसे इस प्रकार बोली॥ ३१॥

शकुन्तलोवाच

मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ ३२॥

शकुन्तलाने कहा—भगवन्! मैंने पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा दुष्यन्तका पतिरूपमें वरण किया है। अतः मन्त्रियोंसहित उन नरेशपर आपको कृपा करनी चाहिये॥ ३२॥

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि।
(ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते।
सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्न च पापोऽस्ति तेऽनघे॥)
गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम्॥ ३३॥

कण्व बोले—उत्तम वर्णवाली पुत्री! मैं तुम्हारे भलेके लिये राजा दुष्यन्तपर भी प्रसन्न ही हूँ। शुचिस्मिते! अबतक तेरे बहुत-से ऋतु व्यर्थ बीत गये हैं। इस बार यह सार्थक हुआ है। अनघे! तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो॥ ३३॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया॥ ३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब शकुन्तलाने दुष्यन्तके हितकी इच्छासे यह वर माँगा कि पुरुवंशी नरेश सदा धर्ममें स्थिर रहें और वे कभी राज्यसे भ्रष्ट न हों॥ ३४॥

(एवमस्त्विति तां प्राह कण्वो धर्मभृतां वरः।
पस्पर्श चापि पाणिभ्यां सुतां श्रीमिव रूपिणीम्॥

उस समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कण्वने उससे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। यह कहकर उन्होंने मूर्तिमती लक्ष्मी-सी पुत्री शकुन्तलाका दोनों हाथोंसे स्पर्श किया और कहा॥

(कण्व उवाच

अद्यप्रभृति देवी त्वं दुष्यन्तस्य महात्मनः ।
पतिव्रतानां या वृत्तिस्तां वृत्तिमनुपालय ॥)

कण्व बोले—बेटी ! आजसे तू महात्मा राजा दुष्यन्तकी महारानी है । अतः पतिव्रता स्त्रियोंका जो बर्ताव तथा सदाचार है, उसका निरन्तर पालन कर ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तलाके पुत्रका जन्म, उसकी अद्भुत शक्ति, पुत्रसहित शकुन्तलाका दुष्यन्तके यहाँ जाना, दुष्यन्त-शकुन्तला-संवाद, आकाशवाणीद्वारा शकुन्तलाकी शुद्धिका समर्थन और भरतका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

**प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम् ।
(गर्भश्च ववृधे तस्यां राजपुत्र्यां महात्मनः ।
शकुन्तला चिन्तयन्ती राजानं कार्यगौरवात् ॥
दिवारात्रमनिद्रैव स्नानभोजनवर्जिता ॥
राजप्रेषणिका विप्राश्चतुरङ्गबलैः सह ।
अद्य श्वो वा परश्वो वा समायान्तीति निश्चिता ॥
दिवसान् पक्षानृतून् मासानयनानि च सर्वशः ।
गण्यमानेषु सर्वेषु व्यतीयुस्त्रीणि भारत ॥)**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब शकुन्तलासे पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके राजा दुष्यन्त चले गये, तब क्षत्रियकन्या शकुन्तलाके उदरमें उन महात्मा दुष्यन्तके द्वारा स्थापित किया हुआ गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने और पुष्ट होने लगा। शकुन्तला कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर निरन्तर राजा दुष्यन्तका ही चिन्तन करती रहती थी। उसे न तो दिनमें नींद आती थी और न रातमें ही। उसका स्नान और भोजन छूट गया था। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि राजाके भेजे हुए ब्राह्मण चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आज, कल या परसोंतक मुझे लेनेके लिये अवश्य आ जायँगे। भरतनन्दन ! शकुन्तलाको दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वर्ष—इन सबकी गणना करते-करते तीन वर्ष बीत गये ॥

**गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥**

जनमेजय ! तदनन्तर पूरे तीन वर्ष व्यतीत होनेके बाद सुन्दर जाँघोंवाली शकुन्तलाने अपने गर्भसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न, अमित पराक्रमी कुमारको जन्म दिया, जो दुष्यन्तके वीर्यसे उत्पन्न हुआ था ॥ १-२ ॥

**(तस्मै तदान्तरिक्षात् तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥
गायन्त्यो मधुरं तत्र देवैः शक्रोऽभ्युवाच ह ।**

उस समय आकाशसे उस बालकके लिये फूलोंकी वर्षा हुई, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और अप्सराएँ मधुर स्वरमें गाती हुई नृत्य करने लगीं। उस अवसरपर वहाँ देवताओं-सहित इन्द्रने आकर कहा ॥

शक्र उवाच

**शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥
बलं तेजश्च रूपं च न समं भुवि केनचित् ।
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरवः ॥
अनेकानि सहस्राणि राजसूयादिभिर्मखैः ।
स्वार्थं ब्राह्मणसात् कृत्वा दक्षिणाममितां ददात् ॥**

इन्द्र बोले—शकुन्तले ! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। पृथ्वीपर कोई भी इसके बल, तेज तथा रूपकी समानता नहीं कर सकता। यह पूरुवंशका रत्न सौ अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञोंद्वारा सहस्रों बार अपना सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा॥

वैशम्पायन उवाच

**देवतानां वचः श्रुत्वा कण्वाश्रमनिवासिनः ।
सभाजयन्त कण्वस्य सुतां सर्वे महर्षयः ॥
शकुन्तला च तच्छ्रुत्वा परं हर्षमवाप सा ।
द्विजानाहूय मुनिभिः सत्कृत्य च महायशाः ॥)
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—इन्द्रादि देवताओंका यह वचन सुनकर कण्वके आश्रममें रहनेवाले सभी महर्षि कण्वकन्या शकुन्तलाके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह सब सुनकर शकुन्तलाको भी बड़ा हर्ष हुआ। पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कण्वने मुनियोंसे ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका पूर्ण सत्कार करके बालकका विधिपूर्वक जातकर्म आदि संस्कार कराया। वह बुद्धिमान् बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥ ३ ॥

**दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान् ।
चक्राङ्कितकरः श्रीमान् महामूर्धा महाबलः ॥ ४ ॥**

वह सफेद और नुकीले दाँतोंसे शोभा पा रहा था। उसके शरीरका गठन सिंहके समान था। वह ऊँचे कदका था। उसके हाथोंमें चक्रके चिह्न थे। वह अद्भुत शोभासे सम्पन्न, विशाल मस्तकवाला और महान् बलवान् था ॥ ४ ॥

कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत।
षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ ५ ॥
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥ ६ ॥

देवताओंके बालक-सा प्रतीत होनेवाला वह तेजस्वी कुमार वहाँ शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। छः वर्षकी अवस्थामें ही वह बलवान् बालक कण्वके आश्रममें सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, भैंसों और हाथियोंको पकड़कर खींच लाता और आश्रमके समीपवर्ती वृक्षोंमें बाँध देता था ॥ ५-६ ॥

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति।
(ततश्च राक्षसान् सर्वान् पिशाचांश्च रिपून् रणे।
मुष्टियुद्धेन ताडयित्वा ऋषीनाराधयत् तदा ॥
कश्चिद् दितिसुतस्तं तु हन्तुकामो महाबलः।
वध्यमानांस्तु दैतेयानमर्षी तं समभ्ययात् ॥
तमागतं प्रहस्यैव बाहुभ्यां परिगृह्य च।
दृढं चाबध्य बाहुभ्यां पीडयामास तं तदा ॥
मर्दितो न शशाकास्य मोचितुं बलवत्तया।
प्राक्रोशद् भैरवं तत्र द्वारेभ्यो निःसृतं त्वसृक् ॥
तेन शब्देन वित्रस्ता मृगाः सिंहादयो गणाः।
सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रमाश्रमस्थाश्च सुस्रुवुः ॥
निरसुं जानुभिः कृत्वा विससर्ज च सोऽपतत्।
तं दृष्ट्वा विस्मयं चक्रुः कुमारस्य विचेष्टितम् ॥
नित्यकालं वध्यमाना दैतेया राक्षसैः सह।
कुमारस्य भयादेव नैव जग्मुस्तदाश्रमम् ॥)
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥ ७ ॥

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठपर चढ़ जाता और क्रीडा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था। वहाँ सब राक्षस और पिशाच आदि शत्रुओंको युद्धमें मुष्टिप्रहारके द्वारा परास्त करके वह राजकुमार ऋषि-मुनियोंकी आराधनामें लगा रहता था। एक दिन कोई महाबली दैत्य उसे मार डालनेकी इच्छासे उस वनमें आया। वह उसके द्वारा प्रतिदिन सताये जाते हुए दूसरे दैत्योंकी दशा देखकर अमर्षमें भरा हुआ था। उसके आते ही राजकुमारने हँसकर उसे दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और अपनी बाँहोंमें दृढ़तापूर्वक कसकर दबाया। वह बहुत जोर लगाकर भी अपनेको उस बालकके चंगुलसे छुड़ा न सका, अतः भयंकर स्वरसे चीत्कार करने लगा। उस समय दबावके कारण उसकी इन्द्रियोंसे रक्त बह चला। उसकी चीत्कारसे भयभीत हो मृग और सिंह आदि जंगली जीव मल-मूत्र करने लगे तथा आश्रमपर रहनेवाले प्राणियोंकी भी यही दशा हुई। दुष्यन्तकुमारने घुटनोंसे मार-मारकर उस दैत्यके प्राण ले लिये; तत्पश्चात् उसे छोड़ दिया। उसके हाथसे छूटते ही वह दैत्य गिर पड़ा। उस बालकका यह पराक्रम देखकर सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। कितने ही दैत्य और राक्षस प्रतिदिन उस दुष्यन्तकुमारके हाथों मारे जाते थे। कुमारके भयसे ही उन्होंने कण्वके आश्रमपर जाना छोड़ दिया। यह देख कण्वके आश्रममें रहनेवाले ऋषियोंने उसका नया नामकरण किया—॥ ७ ॥

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥ ८ ॥
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः।

'यह सब जीवोंका दमन करता है, इसलिये 'सर्वदमन' नामसे प्रसिद्ध हो।' तबसे उस कुमारका नाम सर्वदमन हो गया। वह पराक्रम, तेज और बलसे सम्पन्न था ॥ ८½ ॥

(अप्रेषयति दुष्यन्ते महिष्यास्तनयस्य च।
पाण्डुभावपरीताङ्गी चिन्तया समभिप्लुताम् ॥
लम्बालकां कृशां दीनां तथा मलिनवाससम्।
शकुन्तलां च सम्प्रेक्ष्य प्रदध्यौ स मुनिस्तदा ॥
शास्त्राणि सर्ववेदाश्च द्वादशाब्दस्य चाभवन् ॥)

राजा दुष्यन्तने अपनी रानी और पुत्रको बुलानेके लिये जब किसी भी मनुष्यको नहीं भेजा, तब शकुन्तला चिन्तामग्न हो गयी। उसके सारे अङ्ग सफेद पड़ने लगे। उसके फूले हुए लंबे केश लटक रहे थे, वस्त्र मैले हो गये थे, वह अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी। शकुन्तलाको इस दयनीय दशामें देखकर कण्व मुनिने कुमार सर्वदमनके लिये विद्याका चिन्तन किया। इससे उस बारह वर्षके ही बालकके हृदयमें समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्रकाशित हो गया ॥

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ॥ ९ ॥
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम्।

महर्षि कण्वने उस कुमार और उसके लोकोत्तर कर्मको देखकर शकुन्तलासे कहा—'अब इसके युवराज-पदपर अभिषिक्त होनेका समय आया है ॥ ९½ ॥

(शृणु भद्रे मम सुते मम वाक्यं शुचिस्मिते।
पतिव्रतानां नारीणां विशिष्टमिति चाच्यते ॥

'मेरी कल्याणमयी पुत्री! मेरा यह वचन सुनो। पवित्र मुसकानवाली शकुन्तले! पतिव्रता स्त्रियोंके लिये यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है; इसलिये बता रहा हूँ ॥

पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव ॥
एतेनैव च वृत्तेन विशिष्टां लप्स्यसे श्रियम्।

'सती स्त्रियोंके लिये सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वे मन, वाणी, शरीर और चेष्टाओंद्वारा निरन्तर पतिकी सेवा करती रहें। मैंने पहले भी तुम्हें इसके लिये आदेश दिया है। तुम अपने इस व्रतका पालन करो। इस पतिव्रतोचित आचार-व्यवहारसे ही विशिष्ट शोभा प्राप्त कर सकोगी ॥

तस्माद् भद्रे प्रयातव्यं समीपं पौरवस्य ह ॥
स्वयं नायाति मत्वा ते गतं कालं शुचिस्मिते।
गत्वाऽऽराधय राजानं दुष्यन्तं हितकाम्यया ॥

'भद्रे! तुम्हें पूरुनन्दन दुष्यन्तके पास जाना चाहिये। वे स्वयं नहीं आ रहे हैं, ऐसा सोचकर तुमने बहुत-सा समय उनकी सेवासे दूर रहकर बिता दिया। शुचिस्मिते! अब तुम अपने हितकी इच्छासे स्वयं जाकर राजा दुष्यन्तकी आराधना करो ॥

दौष्यन्तिं यौवराज्यस्थं दृष्ट्वा प्रीतिमवाप्स्यसि।
देवतानां गुरूणां च क्षत्रियाणां च भामिनि।
भर्तॄणां च विशेषेण हितं संगमनं सताम् ॥
तस्मात् पुत्रि कुमारेण गन्तव्यं मत्प्रियेप्सया।
प्रतिवाक्यं न दद्यास्त्वं शापिता मम पादयोः ॥

'वहाँ दुष्यन्तकुमार सर्वदमनको युवराज-पदपर प्रतिष्ठित देख तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। देवता, गुरु, क्षत्रिय, स्वामी तथा साधु पुरुष—इनका सङ्ग विशेष हितकर है। अतः बेटी! तुम्हें मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे कुमारके साथ अवश्य अपने पतिके यहाँ जाना चाहिये। मैं अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम मुझे मेरी इस आज्ञाके विपरीत कोई उत्तर न देना' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुतां तत्र पौत्रं कण्वोऽभ्यभाषत।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय पौरवम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुत्रीसे ऐसा कहकर महर्षि कण्वने उसके पुत्र भरतको दोनों बाँहोंसे पकड़कर अङ्कमें भर लिया और उसका मस्तक सूँघकर कहा ॥

कण्व उवाच

सोमवंशोद्भवो राजा दुष्यन्तो नाम विश्रुतः।
तस्याग्रमहिषी चैषा तव माता शुचिव्रता ॥
गन्तुकामा भर्तृवशं त्वया सह सुमध्यमा।
गत्वाभिवाद्य राजानं यौवराज्यमवाप्स्यसि ॥
स पिता तव राजेन्द्रस्तस्य त्वं वशगो भव।
पितृपैतामहं राज्यमनुतिष्ठस्व भावतः ॥

कण्वने कहा—वत्स! चन्द्रवंशमें दुष्यन्त नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं। पवित्र व्रतका पालन करनेवाली यह तुम्हारी माता उन्हींकी महारानी है। यह सुन्दरी तुम्हें साथ लेकर अब पतिकी सेवामें जाना चाहती है। तुम वहाँ जाकर राजाको प्रणाम करके युवराज-पद प्राप्त करोगे। वे महाराज दुष्यन्त ही तुम्हारे पिता हैं। तुम सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहना और बाप-दादेके राज्यका प्रेमपूर्वक पालन करना ॥

शकुन्तले शृणुष्वेदं हितं पथ्यं च भामिनि।
पतिव्रताभावगुणान् हित्वा साध्यं न किंचन ॥
पतिव्रतानां देवा वै तुष्टाः सर्ववरप्रदाः।
प्रसादं च करिष्यन्ति ह्यापदर्थे च भामिनि ॥
पतिप्रसादात् पुण्यगतिं प्राप्नुवन्ति न चाशुभम्।
तस्माद् गत्वा तु राजानमाराधय शुचिस्मिते ॥)

(फिर कण्व शकुन्तलासे बोले–) 'भामिनि! शकुन्तले! यह मेरी हितकर एवं लाभप्रद बात सुनो। पतिव्रताभाव-सम्बन्धी गुणोंको छोड़कर तुम्हारे लिये और कोई वस्तु साध्य नहीं है। पतिव्रताओंपर सम्पूर्ण वरोंको देनेवाले देवतालोग भी संतुष्ट रहते हैं। भामिनि! वे आपत्तिके निवारणके लिये अपने कृपा-प्रसादका भी परिचय देंगे। शुचिस्मिते! पतिव्रता देवियाँ पतिके प्रसादसे पुण्यगतिको ही प्राप्त होती हैं; अशुभ गतिको नहीं। अतः तुम जाकर राजाकी आराधना करो' ॥

तस्य तद् बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ॥ १० ॥
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात्।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ ११ ॥

फिर उस बालकके बलको समझकर कण्वने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित मेरी पुत्री शकुन्तला और इसके पुत्रको शीघ्र ही इस घरसे ले जाकर पतिके घरमें पहुँचा दो ॥ १०-११ ॥

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥ १२ ॥

'स्त्रियोंका अपने भाई-बन्धुओंके यहाँ अधिक दिनोंतक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत्य धर्मका नाश करनेवाला होता है। अतः इसे अविलम्ब पतिके घरमें पहुँचा दो' ॥ १२ ॥

(वैशम्पायन उवाच

धर्माभिपूजितं पुत्रं काश्यपेन निशाम्य तु।
काश्यपात् प्राप्य चानुज्ञां मुमुदे च शकुन्तला ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कश्यपनन्दन कण्वने धर्मानुसार मेरे पुत्रका बड़ा आदर किया है, यह देखकर तथा उनकी ओरसे पतिके घर जानेकी आज्ञा पाकर शकुन्तला मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई ॥

कण्वस्य वचनं श्रुत्वा प्रतिगच्छेति चासकृत्।
तथेत्युक्त्वा तु कण्वं च मातरं पौरवोऽब्रवीत्॥
किं चिरायसि मातस्त्वं गमिष्यामो नृपालयम्।

कण्वके मुखसे बारंबार 'जाओ-जाओ' यह आदेश सुनकर पूरुनन्दन सर्वदमनने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और मातासे कहा—'मा ! तुम क्यों विलम्ब करती हो, चलो राजमहल चलें' ॥

एवमुक्त्वा तु तां देवीं दुष्यन्तस्य महात्मनः॥
अभिवाद्य मुनेः पादौ गन्तुमैच्छत् स पौरवः।

देवी शकुन्तलासे ऐसा कहकर पौरवराजकुमारने मुनिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर महात्मा राजा दुष्यन्तके यहाँ जानेका विचार किया ॥

शकुन्तला च पितरमभिवाद्य कृताञ्जलिः॥
प्रदक्षिणीकृत्य तदा पितरं वाक्यमब्रवीत्।
अज्ञानान्मे पिता चेति दुरुक्तं वापि चानृतम्॥
अकार्यं वाप्यनिष्टं वा क्षन्तुमर्हति काश्यप।

शकुन्तलाने भी हाथ जोड़कर पिताको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके उस समय यह बात कही—'भगवन् ! काश्यप ! आप मेरे पिता हैं, यह समझकर मैंने अज्ञानवश यदि कोई कठोर या असत्य बात कह दी हो अथवा न करने योग्य या अप्रिय कार्य कर डाला हो, तो उसे आप क्षमा कर देंगे' ॥

एवमुक्तो नतशिरा मुनिर्नोवाच किंचन॥
मनुष्यभावात् कण्वोऽपि मुनिरश्रूण्यवर्तयत्।

शकुन्तलाके ऐसा कहनेपर सिर झुकाकर बैठे हुए कण्व मुनि कुछ बोल न सके; मानव-स्वभावके अनुसार करुणाका उदय हो जानेसे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥

अब्भक्षान् वायुभक्षांश्च शीर्णपर्णाशनान् मुनीन्॥
फलमूलाशिनो दान्तान् कृशान् धमनिसंततान्।
व्रतिनो जटिलान् मुण्डान् वल्कलाजिनसंवृतान्॥

उनके आश्रममें बहुत-से ऐसे मुनि रहते थे, जो जल पीकर, वायु पीकर अथवा सूखे पत्ते खाकर तपस्या करते थे। फल-मूल खाकर रहनेवाले भी बहुत थे। वे सब-के-सब जितेन्द्रिय एवं दुर्बल शरीरवाले थे। उनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले उन महर्षियोंमेंसे कितने ही सिरपर जटा धारण करते थे और कितने ही सिर मुड़ाये रहते थे। कोई वल्कल धारण करते थे और कोई मृगचर्म लपेटे रहते थे ॥

समाहूय मुनीन् कण्वः कारुण्यादिदमब्रवीत्॥
मया तु लालिता नित्यं मम पुत्री यशस्विनी।
वने जाता विवृद्धा च न च जानाति किंचन॥
अश्रमेण पथा सर्वैर्नीयतां क्षत्रियालयम्।)

महर्षि कण्वने उन मुनियोंको बुलाकर करुण भावसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वनमें उत्पन्न हुई और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है। मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है। यह कुछ नहीं जानती है। विप्रगण ! तुम सब लोग इसे ऐसे मार्गसे राजा दुष्यन्तके घर ले जाओ जिसमें अधिक श्रम न हो' ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ॥१३॥

'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्र-सहित) शकुन्तलाको आगे करके दुष्यन्तके नगरकी ओर चले॥

गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम्।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद् वनात् ॥१४॥

तदनन्तर सुन्दर भौंहोंवाली शकुन्तला कमलके समान नेत्रोंवाले देवबालकके सदृश तेजस्वी पुत्रको साथ ले अपने परिचित तपोवनसे चलकर महाराज दुष्यन्तके यहाँ आयी ॥१४॥

अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥१५॥

राजाके यहाँ पहुँचकर अपने आगमनकी सूचना दे अनुमति लेकर वह उसी बालसूर्यके समान तेजस्वी पुत्रके साथ राजसभामें प्रविष्ट हुई ॥ १५ ॥

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥१६॥

सब शिष्यगण राजाको महर्षिका संदेश सुनाकर पुनः आश्रमको लौट आये और शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराजके प्रति सम्मानका भाव प्रकट करती हुई पुत्रसे बोली— ॥ १६ ॥

(अभिवादय राजानं पितरं ते दृढव्रतम्।
एवमुक्त्वा तु पुत्रं सा लज्जानतमुखी स्थिता॥
स्तम्भमालिङ्गय राजानं प्रसीदस्वेत्युवाच सा।
शाकुन्तलोऽपि राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः॥
हर्षेणोत्फुल्लनयनो राजानं चान्ववैक्षत।
दुष्यन्तो धर्मबुद्ध्या तु चिन्तयन्नेव सोऽब्रवीत्॥

'बेटा ! दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ये महाराज तुम्हारे पिता हैं; इन्हें प्रणाम करो।' पुत्रसे ऐसा कहकर शकुन्तला लज्जासे मुख नीचा किये एक खंभेका सहारा लेकर खड़ी हो गयी और महाराजसे बोली—'देव ! प्रसन्न हों।' शकुन्तलाका पुत्र भी हाथ जोड़कर राजाको प्रणाम करके उन्हींकी ओर देखने लगा। उसके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। राजा दुष्यन्तने उस समय धर्मबुद्धिसे कुछ विचार करते हुए ही कहा ॥

दुष्यन्त उवाच

किमागमनकार्यं ते ब्रूहि त्वं वरवर्णिनि।
करिष्यामि न संदेहः सपुत्राया विशेषतः॥

दुष्यन्त बोले—सुन्दरि! यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या उद्देश्य है? बताओ। विशेषतः उस दशामें, जब कि तुम पुत्रके साथ आयी हो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा; इसमें संदेह नहीं॥

शकुन्तलोवाच

प्रसीदस्व महाराज वक्ष्यामि पुरुषोत्तम॥)

शकुन्तलाने कहा—महाराज! आप प्रसन्न हों। पुरुषोत्तम! मैं अपने आगमनका उद्देश्य बताती हूँ, सुनिये॥

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम्।
त्वया ह्ययं सुतो राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम॥१७॥

राजन्! यह आपका पुत्र है। इसे आप युवराज-पदपर अभिषिक्त कीजिये। महाराज! यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है। पुरुषोत्तम! इसके लिये आपने मेरे साथ जो शर्त कर रक्खी है, उसका पालन कीजिये॥१७॥

यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्त्वया।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति॥१८॥

महाभाग! आपने कण्वके आश्रमपर मेरे साथ समागमके समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय स्मरण कीजिये॥

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि॥१९॥

राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका यह वचन सुनकर सब बातोंको याद रखते हुए भी उससे इस प्रकार कहा—'दुष्ट तपस्विनि! मुझे कुछ भी याद नहीं है। तुम किसकी स्त्री हो?॥१९॥

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरु॥२०॥

'तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थको लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बातका मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है। तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो'॥२०॥

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला॥२१॥

सुन्दर अङ्गवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्तके ऐसा कहनेपर लज्जित हो दुःखसे बेहोश-सी हो गयी और खंभेकी तरह निश्चलभावसे खड़ी रह गयी॥२१॥

संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणोष्ठसम्पुटा।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग् राजानमैक्षत॥२२॥

क्रोध और अमर्षसे उसकी आँखें लाल हो गयीं, ओठ फड़कने लगे और मानो जला देगी, इस भावसे टेढ़ी चितवन-द्वारा राजाकी ओर देखने लगी॥२२॥

आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता।
तपसा सम्भृतं तेजो धारयामास वै तदा॥२३॥

क्रोध उसे उत्तेजित कर रहा था, फिर भी उसने अपने आकारको छिपाये रक्खा और तपस्याद्वारा संचित किये हुए अपने तेजको वह अपने भीतर ही धारण किये रही॥२३॥

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत्॥२४॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे।
न जानामीति निःशङ्कं यथान्यः प्राकृतो जनः॥२५॥

वह दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार-सा करती रही, फिर दुःख और अमर्षमें भरकर पतिकी ओर देखती हुई क्रोध-पूर्वक बोली—'महाराज! आप जान-बूझकर भी दूसरे-दूसरे निम्न कोटिके मनुष्योंकी भाँति निःशङ्क होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता'॥२४-२५॥

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः॥२६॥

'इस विषयमें यहाँ क्या झूठ है और क्या सच, इस बातको आपका हृदय ही जानता होगा। उसीको साक्षी बनाकर—हृदयपर हाथ रखकर सही-सही बात कहिये, जिससे आपका कल्याण हो। आप अपने आत्माकी अवहेलना न कीजिये॥२६॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥२७॥

'(आपका स्वरूप तो कुछ और है' परंतु आप बन कुछ और रहे हैं।) जो अपने असली स्वरूपको छिपाकर अपने-को कुछ-का-कुछ दिखाता है, अपने आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया?॥२७॥

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि॥२८॥

'आप समझ रहे हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था); परंतु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान है। वह सबके पाप-पुण्यको जानता है और आप उसीके निकट रहकर पाप कर रहे हैं॥२८॥

(धर्म एव हि साधूनां सर्वेषां हितकारणम्।
नित्यं मिथ्याविहीनानां न च दुःखावहो भवेत्॥)

मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद् वेत्ति मामिति।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ॥२९॥

'जो सदा असत्यसे दूर रहनेवाले हैं, उन समस्त साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें केवल धर्म ही हितकारक है। धर्म कभी दुःखदायक नहीं होता। मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, किंतु उसका यह समझना भारी भूल है; क्योंकि सब देवता और अन्तर्यामी परमात्मा भी मनुष्यके उस पाप-पुण्यको देखते और जानते हैं ॥ २९ ॥

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥३०॥

'सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दोनों संध्याएँ और धर्म—ये सभी मनुष्यके भले बुरे आचार-व्यवहारको जानते हैं ॥३०॥

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम्।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥३१॥

'जिसपर हृदयस्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञ परमात्मा संतुष्ट रहते हैं, सूर्यपुत्र यमराज उसके सभी पापोंको स्वयं नष्ट कर देते हैं ॥३१॥

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥३२॥

'परंतु जिस दुरात्मापर अन्तर्यामी संतुष्ट नहीं होते, यमराज उस पापीको उसके पापोंका स्वयं ही दण्ड देते हैं ॥ ३२ ॥

योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ॥३३॥
स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम्।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥३४॥

'जो स्वयं अपने आत्माका तिरस्कार करके कुछ-का-कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हितका साधन नहीं कर सकता। मैं स्वयं आपके पास आयी हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नीका तिरस्कार न कीजिये। मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपहीकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं ॥

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥३५॥

'आप किसलिये नीच पुरुषकी भाँति भरी सभामें मुझे अपमानित कर रहे हैं? मैं सूने जंगलमें तो नहीं रो रही हूँ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते? ॥ ३५ ॥

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥३६॥

'महाराज दुष्यन्त! यदि मेरे उचित याचना करनेपर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज आपके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ३६ ॥

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥३७॥

'पति ही पत्नीके भीतर गर्भरूपसे प्रवेश करके पुत्र-रूपमें जन्म लेता है। यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ३७ ॥

यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते।
तत् तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥३८॥

'शास्त्रके ज्ञाता पुरुषके इस प्रकार जो संतान उत्पन्न होती है, वह संततिकी परम्पराद्वारा अपने पहलेके मरे हुए पितामहोंका उद्धार कर देती है ॥ ३८ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥३९॥

'पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजीने उसे 'पुत्र' कहा है ॥ ३९ ॥

(पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः ॥)

'मनुष्य पुत्रसे पुण्यलोकोंपर विजय पाता है, पौत्रसे अक्षय सुखका भागी होता है तथा पौत्रके पुत्रसे प्रपितामहगण आनन्दके भागी होते हैं ॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥४०॥

'वही भार्या है, जो घरके काम-काजमें कुशल हो। वही भार्या है, जो संतानवती हो। वही भार्या है, जो अपने पतिको प्राणोंके समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो ॥ ४० ॥

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥४१॥

'भार्या पुरुषका आधा अङ्ग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और कामका मूल है और संसार-सागरसे तरनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये भार्या ही प्रमुख साधन है ॥४१॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥४२॥

'जिनके पत्नी है, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं। सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नीवाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते हैं तथा जो पत्नीसे युक्त हैं, वे मानो लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही घरकी लक्ष्मी है) ॥ ४२ ॥

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥४३॥

'पत्नी ही एकान्तमें प्रिय वचन बोलनेवाली सङ्गिनी या मित्र है। धर्मकार्योंमें ये स्त्रियाँ पिताकी भाँति पतिकी हितैषिणी होती हैं और संकटके समय माताकी भाँति दुःखमें हाथ बँटाती तथा कष्ट-निवारणकी चेष्टा करती हैं ॥ ४३ ॥

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परा गतिः ॥४४॥

'परदेशमें यात्रा करनेवाले पुरुषके साथ यदि उसकी स्त्री हो तो वह घोर-से-घोर जंगलमें भी विश्राम पा सकता है—सुखसे रह सकता है। लोक-व्यवहारमें भी जिसके स्त्री है, उसीपर सब विश्वास करते हैं। इसलिये स्त्री ही पुरुषकी श्रेष्ठ गति है ॥४४॥

संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम् ।
भार्यैवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ॥४५॥

'पति संसारमें हो या मर गया हो, अथवा अकेले ही नरकमें पड़ा हो; पतिव्रता स्त्री ही सदा उसका अनुगमन करती है ॥ ४५ ॥

प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति ॥४६॥

'साध्वी स्त्री यदि पहले मर गयी हो तो परलोकमें जाकर वह पतिकी प्रतीक्षा करती है और यदि पहले पति मर गया हो तो सती स्त्री पीछेसे उसका अनुसरण करती है ॥४६॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहणमिष्यते ।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ॥४७॥

राजन्! इसीलिये सुशीला स्त्रीका पाणिग्रहण करना सबके लिये अभीष्ट होता है; क्योंकि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीको इहलोकमें तो पाता ही है, परलोकमें भी प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम् ॥४८॥

'पत्नीके गर्भसे अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्माको ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नीको जो पुत्रकी माता बन चुकी है, माताके ही समान देखे ॥ ४८ ॥

(अन्तरात्मैव सर्वस्य पुत्रनाम्नोच्यते सदा ।
गती रूपं च चेष्टा च आवर्ता लक्षणानि च ॥
पितॄणां यानि दृश्यन्ते पुत्राणां सन्ति तानि च ।
तेषां शीलाचारगुणास्तत्सम्पर्काच्छुभाशुभाः ॥)

'सबका अन्तरात्मा ही सदा पुत्र नामसे प्रतिपादित होता है। पिताकी जैसी चाल होती है, जैसे रूप, चेष्टा, आवर्त (भँवर) और लक्षण आदि होते हैं, पुत्रमें भी वैसी ही चाल और वैसे ही रूप-लक्षण आदि देखे जाते हैं। पिताके सम्पर्कसे ही पुत्रोंमें शुभ-अशुभ शील, गुण एवं आचार आदि आते हैं ॥

भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥४९॥

'जैसे दर्पणमें अपना मुँह देखा जाता है, उसी प्रकार पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए अपने आत्माको ही पुत्ररूपमें देखकर पिताको वैसा ही आनन्द होता है, जैसा पुण्यात्मा पुरुषको स्वर्गलोककी प्राप्ति हो जानेपर होता है ॥ ४९ ॥

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः ।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ॥ ५० ॥

जैसे धूपसे तपे हुए जीव जलमें स्नान कर लेनेपर शान्तिका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार जो मानसिक दुःख और चिन्ताओंकी आगमें जल रहे हैं तथा जो नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित हैं, वे मानव अपनी पत्नीके समीप होनेपर आनन्दका अनुभव करते हैं ॥५०॥

(विप्रवासकृशा दीना नरा मलिनवाससः ।
तेऽपि स्वदारांस्तुष्यन्ति दरिद्रा धनलाभवत् ॥)

'जो परदेशमें रहकर अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, जो दीन और मलिन वस्त्र धारण करनेवाले हैं, वे दरिद्र मनुष्य भी अपनी पत्नीको पाकर ऐसे संतुष्ट होते हैं, मानो उन्हें कोई धन मिल गया हो ॥

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥ ५१ ॥

'रति, प्रीति तथा धर्म पत्नीके ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुषको चाहिये कि वह कुपित होनेपर भी पत्नीके साथ कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ५१ ॥

(आत्मनोऽर्धमिति श्रौतं सा रक्षति धनं प्रजाः ।
शरीरं लोकयात्रां वै धर्मं स्वर्गमृषीन् पितॄन् ॥)

'पत्नी अपना आधा अङ्ग है, यह श्रुतिका वचन है। वह धन, प्रजा, शरीर, लोकयात्रा, धर्म, स्वर्ग, ऋषि तथा पितर—इन सबकी रक्षा करती है ॥

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥ ५२ ॥

'स्त्रियाँ पतिके आत्माके जन्म लेनेका सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियोंमें भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्रीके संतान उत्पन्न कर सकें ॥ ५२ ॥

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ ५३ ॥

'जब पुत्र धरतीकी धूलमें सना हुआ पास आता और पिताके अङ्गोंसे लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या हो सकता है ? ॥५३॥

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५४ ॥

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन् स्वमात्मजम् ॥ ५५ ॥

'देखिये, आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनसे आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोदमें बैठनेके लिये उत्सुक है; फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं। चींटियाँ भी अपने अण्डोंका पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़ती नहीं। फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्रका भरण-पोषण क्यों नहीं करते ? ॥ ५४-५५ ॥

(ममाण्डानीति वर्धन्ते कोकिलानपि वायसाः।
किं पुनस्त्वं न मन्येथाः सर्वज्ञः पुत्रमीदृशम् ॥
मलयाच्चन्दनं जातमतिशीतं वदन्ति वै।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य चन्दनादधिकं भवेत् ॥)

''ये मेरे अपने ही अण्डे हैं' ऐसा समझकर कौए कोयल-के अण्डोंका भी पालन-पोषण करते हैं; फिर आप सर्वज्ञ होकर अपनेसे ही उत्पन्न हुए ऐसे सुयोग्य पुत्रका सम्मान क्यों नहीं करते ? लोग मलयगिरिके चन्दनको अत्यन्त शीतल बताते हैं, परंतु गोदमें सटाये हुए शिशुका स्पर्श चन्दनसे भी अधिक शीतल एवं सुखद होता है ॥

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५६ ॥

'अपने शिशु पुत्रको हृदयसे लगा लेनेपर उसका स्पर्श जितना सुखदायक जान पड़ता है, वैसा सुखद स्पर्श न तो कोमल वस्त्रोंका है, न रमणीय सुन्दरियोंका है और न शीतल जलका ही है ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५७ ॥

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चतुष्पदों (चौपायों) में गौ श्रेष्ठतम है, गौरवशाली व्यक्तियोंमें गुरु श्रेष्ठ है और स्पर्श करनेयोग्य वस्तुओंमें पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५७ ॥

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः।
पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५८ ॥

'आपका यह पुत्र देखनेमें कितना प्यारा है। यह आपके अङ्गोंसे लिपटकर आपका स्पर्श करे। संसारमें पुत्रके स्पर्शसे बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसीका नहीं है ॥ ५८ ॥

त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ॥ ५९ ॥
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरव।
इति वागन्तरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत् पुरा ॥ ६० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले सम्राट् ! मैंने पूरे तीन वर्षों-तक अपने गर्भमें धारण करनेके पश्चात् आपके इस पुत्रको जन्म दिया है। यह आपके शोकका विनाश करनेवाला होगा। पौरव ! पहले जब मैं सौरमें थी, उस समय आकाश-वाणीने मुझसे कहा था कि यह बालक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा ॥ ५९-६० ॥

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥ ६१ ॥

प्रायः देखा जाता है कि दूसरे गाँवकी यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आनेपर बड़े स्नेहसे पुत्रोंको गोदमें उठा लेते हैं और उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं ॥ ६१ ॥

वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥ ६२ ॥

'पुत्रोंके जातकर्म संस्कारके समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्र-समुदायका उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं ॥ ६२ ॥

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

'(उस मन्त्रसमुदायका भाव इस प्रकार है—) हे बालक! तुम मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो; हृदयसे उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नामसे प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो; अतः वत्स ! तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो ॥ ६३ ॥

जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाक्षयम्।
तस्मात् त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६४ ॥

'मेरा जीवन तथा अक्षय संतान-परम्परा भी तुम्हारे ही अधीन है, अतः पुत्र ! तुम अत्यन्त सुखी होकर सौ वर्षोंतक जीवन धारण करो ॥ ६४ ॥

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात् पुरुषोऽपरः।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥ ६५ ॥

'यह बालक आपके अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ है; मानो एक पुरुषसे दूसरा पुरुष प्रकट हुआ है। निर्मल सरोवरमें दिखायी देनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति अपने द्वितीय आत्मारूप इस पुत्रको देखिये ॥ ६५ ॥

यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात् प्रणीयते।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन् द्विधा कृतः ॥ ६६ ॥
मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता।
अहमासादिता राजन् कुमारी पितुराश्रमे ॥ ६७ ॥

'जैसे गार्हपत्य अग्निसे आहवनीय अग्निका प्रणयन (प्राकट्य) होता है, उसी प्रकार यह बालक आपसे उत्पन्न हुआ है, मानो आप एक होकर भी अब दो रूपोंमें प्रकट हो गये हैं। राजन् ! आजसे कुछ वर्ष पहले आप शिकार खेलने वनमें गये थे। वहाँ एक हिंसक पशुके पीछे आकृष्ट हो आप दौड़ते हुए मेरे पिताजीके आश्रमपर पहुँच गये, जहाँ

मुझ कुमारी कन्याको अपने गान्धर्व विवाहद्वारा पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ६६-६७ ॥

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः ॥ ६८ ॥

'उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची—ये छः अप्सराएँ ही अन्य सब अप्सराओंसे श्रेष्ठ हैं ॥

तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः।
दिवः सम्प्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥ ६९ ॥

'उन सबमें भी मेनका नामवाली अप्सरा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुई है। उसीने स्वर्गलोकसे भूतलपर आकर विश्वामित्रजीके सम्पर्कसे मुझे उत्पन्न किया था ॥ ६९ ॥

(श्रीमानृषिर्धर्मपरो वैश्वानर इवापरः।
ब्रह्मयोनिः कुशो नाम विश्वामित्रपितामहः ॥
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभश्च धार्मिकः।
गाधिस्तस्य सुतो राजन् विश्वामित्रस्तु गाधिजः ॥
एवंविधः पिता राजन् मेनका जननी वरा ॥)

'महाराज! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक धर्मपरायण तेजस्वी महर्षि हो गये हैं, जो दूसरे अग्निदेवके समान प्रतापी थे। उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीसे हुई थी। वे महर्षि विश्वामित्रके प्रपितामह थे। कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ था। वे बड़े धर्मात्मा थे। राजन्! कुशनाभके पुत्र गाधि हुए और गाधिसे विश्वामित्रका जन्म हुआ। ऐसे कुलीन महर्षि मेरे पिता हैं और मेनका मेरी श्रेष्ठ माता है ॥

सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवासती ॥ ७० ॥

'उस मेनका अप्सराने हिमालयके शिखरपर मुझे जन्म दिया; किंतु वह असद् व्यवहार करनेवाली अप्सरा मुझे परायी संतानकी तरह वहीं छोड़कर चली गयी ॥ ७० ॥

(पक्षिणः पुण्यवन्तस्ते सहिता धर्मतस्तदा।
पक्षैस्तैरभिगुप्ता च तस्मादस्मि शकुन्तला ॥
ततोऽहमृषिणा दृष्टा काश्यपेन महात्मना।
जलार्थमग्निहोत्रस्य गतं दृष्ट्वा तु पक्षिणः ॥
न्यासभूतामिव मुनेः प्रददुर्मां दयावतः।
स मारणिमिवादाय स्वमाश्रममुपागमत् ॥
सा वै सम्भाविता राजन्ननुक्रोशान्महर्षिणा।
तेनैव स्वसुतेवाहं राजन् वै परमर्षिणा ॥
विश्वामित्रसुता चाहं वर्धिता मुनिना नृप।
यौवने वर्तमानां च दृष्टवानसि मां नृप ॥
आश्रमे पर्णशालायां कुमारीं विजने वने।
धात्रा प्रचोदितां शून्ये पित्रा विरहितां मिथः ॥
वाग्भिस्त्वं सूनृताभिर्मामपत्यार्थमचूचुदः।
अकार्षीस्त्वाश्रमे वासं धर्मकामार्थनिश्चितम् ॥
गान्धर्वेण विवाहेन विधिना पाणिमग्रहीः।
साहं कुलं च शीलं च सत्यवादित्वमात्मनः ॥
स्वधर्मं च पुरस्कृत्य त्वामद्य शरणं गता।
तस्मान्नार्हसि संश्रुत्य तथेति वितथं वचः ॥
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा परित्यक्तुमुपस्थिताम्।
त्वन्नाथां लोकनाथस्त्वं नार्हसि त्वमनागसम् ॥)

'वे पक्षी भी पुण्यवान् हैं, जिन्होंने एक साथ आकर उस समय धर्मपूर्वक अपने पंखोंसे मेरी रक्षा की। शकुन्तों (पक्षियों) ने मेरी रक्षा की, इसलिये मेरा नाम शकुन्तला हो गया। तदनन्तर महात्मा कश्यपनन्दन कण्वकी दृष्टि मुझपर पड़ी। वे अग्निहोत्रके लिये जल लानेके हेतु उधर गये हुए थे। उन्हें देखकर पक्षियोंने उन दयालु महर्षिको मुझे धरोहरकी भाँति सौंप दिया। वे मुझे अरणी (शमी) की भाँति लेकर अपने आश्रमपर आये। राजन्! महर्षिने कृपापूर्वक अपनी पुत्रीके समान मेरा पालन-पोषण किया। नरेश्वर! इस प्रकार मैं विश्वामित्र मुनिकी पुत्री हूँ और महात्मा कण्वने मुझे पाल-पोसकर बड़ी किया है। आपने युवावस्थामें मुझे देखा था। निर्जन वनमें आश्रमकी पर्णकुटीके भीतर सूने स्थानमें, जब कि मेरे पिता उपस्थित नहीं थे, विधाताकी प्रेरणासे प्रभावित मुझ कुमारी कन्याको आपने अपने मीठे वचनोंद्वारा संतानोत्पादनके निमित्त सहवासके लिये प्रेरित किया। धर्म, अर्थ एवं कामकी ओर दृष्टि रखकर मेरे साथ आश्रममें निवास किया। गान्धर्व विवाहकी विधिसे आपने मेरा पाणिग्रहण किया है। वही मैं आज अपने कुल, शील, सत्यवादिता और धर्मको आगे रखकर आपकी शरणमें आयी हूँ। इसलिये पूर्वकालमें वैसी प्रतिज्ञा करके अब उसे असत्य न कीजिये। आप जगत्के रक्षक हैं, मेरे प्राणनाथ हैं। मैं सर्वथा निरपराध हूँ और स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ, अतः अपने धर्मको पीछे करके मेरा परित्याग न कीजिये ॥

किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये सम्प्रति च त्वया ॥ ७१ ॥

'मैंने पूर्व जन्मान्तरोंमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे बाल्यावस्थामें तो मेरे बान्धवोंने मुझे त्याग दिया और इस समय आप पतिदेवताके द्वारा भी मैं त्याग दी गयी ॥ ७१ ॥

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम्।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ॥ ७२ ॥

'महाराज! आपके द्वारा स्वेच्छासे त्याग दी जानेपर मैं पुनः अपने आश्रमको लौट जाऊँगी, किंतु अपने इस नन्हे-से पुत्रका त्याग आपको नहीं करना चाहिये ? ॥ ७२ ॥

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥७३॥
मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्यमिव चोज्झिता ॥७४॥

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले ! मैं तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न इस पुत्रको नहीं जानता । स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलनेवाली होती हैं। तुम्हारी बातपर कौन श्रद्धा करेगा ? तुम्हारी माता वेश्या मेनका बड़ी क्रूरहृदया है, जिसने तुम्हें हिमालयके शिखरपर निर्माल्यकी तरह उतार फेंका है ॥ ७३-७४ ॥

स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामवशं गतः ॥७५॥

और तुम्हारे क्षत्रियजातीय पिता विश्वामित्र भी, जो ब्राह्मण बननेके लिये लालायित थे और मेनकाको देखते ही कामके अधीन हो गये थे, बड़े निर्दयी जान पड़ते हैं ॥७५॥

मेनकाप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां पिता च ते।
तयोरपत्यं कस्मात् त्वं पुंश्चलीव प्रभाषसे ॥७६॥

मेनका अप्सराओंमें श्रेष्ठ बतायी जाती है और तुम्हारे पिता विश्वामित्र भी महर्षियोंमें उत्तम समझे जाते हैं। तुम उन्हीं दोनोंकी संतान होकर व्यभिचारिणी स्त्रीके समान क्यों झूठी बातें बना रही हो ॥ ७६ ॥

अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ॥७७॥

तुम्हारी यह बात श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है। इसे कहते समय तुम्हें लज्जा नहीं आती। विशेषतः मेरे समीप ऐसी बातें कहनेमें तुम्हें संकोच होना चाहिये । दुष्ट तपस्विनि ! तुम चली जाओ यहाँसे ॥ ७७ ॥

क्व महर्षिः स चैवाग्र्यः साप्सराः क्व च मेनका।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ॥७८॥

कहाँ वे मुनिशिरोमणि महर्षि विश्वामित्र, कहाँ अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनका और कहाँ तुम-जैसी तापसीका वेष धारण करनेवाली दीन-हीन नारी ? ॥ ७८ ॥

अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम्।
कथमल्पेन कालेन शालस्तम्भ इवोद्गतः ॥७९॥

तुम्हारे इस पुत्रका शरीर बहुत बड़ा है। बाल्यावस्थामें ही यह अत्यन्त बलवान् जान पड़ता है। इतने थोड़े समयमें यह साखूके खंभे-जैसा लम्बा कैसे हो गया ? ॥ ७९ ॥

सुनिकृष्टा च ते योनिः पुंश्चलीव प्रभाषसे।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ॥८०॥

तुम्हारी जाति नीच है । तुम कुलटा-जैसी बातें करती हो। जान पड़ता है, मेनकाने अकस्मात् भोगासक्तिके वशीभूत होकर तुम्हें जन्म दिया है ॥ ८० ॥

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥८१॥

तुम जो कुछ कहती हो, वह सब मेरी आँखोंके सामने नहीं हुआ है । तापसी ! मैं तुम्हें नहीं पहचानता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं चली जाओ ॥ ८१ ॥

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥८२॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! आप दूसरोंके सरसों बराबर दोषोंको तो देखते रहते हैं, किंतु अपने बेलके समान बड़े-बड़े दोषोंको देखकर भी नहीं देखते ॥ ८२ ॥

मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम्।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ॥८३॥

मेनका देवताओंमें रहती है और देवता मेनकाके पीछे चलते हैं—उसका आदर करते हैं (उसी मेनकासे मेरा जन्म हुआ है); अतः महाराज दुष्यन्त ! आपके जन्म और कुलसे मेरा जन्म और कुल बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम्।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥८४॥

राजेन्द्र ! आप केवल पृथ्वीपर घूमते हैं, किंतु मैं आकाशमें भी चल सकती हूँ। तनिक ध्यानसे देखिये, मुझमें और आपमें सुमेरु पर्वत और सरसोंका-सा अन्तर है ॥८४॥

महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥८५॥

नरेश्वर ! मेरे प्रभावको देख लो । मैं इन्द्र, कुबेर, यम और वरुण—सभीके लोकोंमें निरन्तर आने-जानेकी शक्ति रखती हूँ ॥ ८५ ॥

सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ॥८६॥

अनघ ! लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है और वह सत्य भी है, जिसे मैं दृष्टान्तके तौरपर आपसे कहूँगी; द्वेषके कारण नहीं। अतः उसे सुनकर क्षमा कीजियेगा ॥ ८६ ॥

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम्।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥८७॥

कुरूप मनुष्य जबतक आइनेमें अपना मुँह नहीं देख लेता, तबतक वह अपनेको दूसरोंसे अधिक रूपवान् समझता है ॥८७॥

यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते।
तदान्तरं विजानीते आत्मानं चेतरं जनम् ॥ ८८ ॥

किंतु जब कभी आइनेमें वह अपने विकृत मुखका दर्शन कर लेता है, तब अपने और दूसरोंमें क्या अन्तर है, यह उसकी समझमें आ जाता है ॥ ८८ ॥

अतीवरूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते।
अतीव जल्पन् दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥ ८९ ॥

जो अत्यन्त रूपवान् है, वह किसी दूसरेका अपमान नहीं करता; परंतु जो रूपवान् न होकर भी अपने रूपकी प्रशंसामें अधिक बातें बनाता है, वह मुखसे खोटे वचन कहता और दूसरोंको पीडित करता है ॥ ८९ ॥

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥ ९० ॥

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगोंकी भली-बुरी बातें सुनकर उनमेंसे बुरी बातोंको ही ग्रहण करता है; ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओंके रहते हुए भी विष्ठाको ही अपना भोजन बनाता है ॥ ९० ॥

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ९१ ॥

परंतु विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओंके शुभाशुभ वचनको सुनकर उनमेंसे गुणयुक्त बातोंको ही अपनाता है; ठीक उसी तरह, जैसे हंस पानीको छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है॥

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥ ९२ ॥

साधु पुरुष दूसरोंकी निन्दाका अवसर आनेपर जैसे अत्यन्त संतप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य दूसरोंकी निन्दाका अवसर मिलनेपर बहुत संतुष्ट होता है ॥

अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम्।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥९३॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥९४॥

जैसे साधु पुरुष बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करके बड़े प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मूर्ख मानव साधु पुरुषों-की निन्दा करके संतोषका अनुभव करते हैं। साधु पुरुष दूसरोंके दोष न देखते हुए सुखसे जीवन बिताते हैं, किंतु मूर्ख मनुष्य सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं। जिन दोषोंके कारण दुष्टात्मा मनुष्य साधु पुरुषोंद्वारा निन्दाके योग्य समझे जाते हैं, दुष्टलोग वैसे ही दोषोंका साधु पुरुषोंपर आरोप करके उनकी निन्दा करते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥ ९५ ॥

संसारमें इससे बढ़कर हँसीकी दूसरी कोई बात नहीं हो सकती कि जो दुर्जन हैं, वे स्वयं ही सज्जन पुरुषोंको दुर्जन कहते हैं ॥

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥ ९६ ॥

जो सत्यरूपी धर्मसे भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी भय खाता है; फिर आस्तिक मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है॥

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥ ९७ ॥

जो स्वयं ही अपने तुल्य पुत्र उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्तिको देवता नष्ट कर देते हैं और वह उत्तम लोकोंमें नहीं जाता ॥ ९७ ॥

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन्।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात् पुत्रं न संत्यजेत् ॥ ९८ ॥

पितरोंने पुत्रको कुल और वंशकी प्रतिष्ठा बताया है, अतः पुत्र सब धर्मोंमें उत्तम है। इसलिये पुत्रका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ९८ ॥

स्वपत्नीप्रभवान् पञ्च लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान्।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत् ॥ ९९ ॥

अपनी पत्नीसे उत्पन्न एक और अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न लब्ध, क्रीत, पोषित तथा उपनयनादिसे संस्कृत—ये चार मिला-कर कुल पाँच प्रकारके पुत्र मनुजीने बताये हैं ॥ ९९ ॥

धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥१००॥

ये सभी पुत्र मनुष्योंको धर्म और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाले तथा मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होते हैं। पुत्र धर्मरूपी नौकाका आश्रय ले अपने पितरोंका नरकसे उद्धार कर देते हैं ॥

स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥१०१॥

अतः नृपश्रेष्ठ ! आप अपने पुत्रका परित्याग न करें। पृथ्वीपते ! नरेन्द्रप्रवर ! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्मका पालन करते हुए अपने सिरपर कपटका बोझ न उठावें ॥

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥१०२॥

सौ कुँए खोदवानेकी अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ियोंकी अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है।

सौ यज्ञ करनेकी अपेक्षा एक पुत्रको जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रोंकी अपेक्षा भी सत्यका पालन श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥१०३॥

एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्यभाषणका पुण्य दूसरी ओर यदि तराजूपर रक्खा जाय, तो हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी होता है ॥ १०३ ॥

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम् ॥१०४॥

राजन् ! सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन और समस्त तीर्थोंका स्नान भी सत्य वचनकी समानता कर सकेगा या नहीं, इसमें संदेह ही है (क्योंकि सत्य उनसे भी श्रेष्ठ है) ॥ १०४ ॥

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१०५॥

सत्यके समान कोई धर्म नहीं है। सत्यसे उत्तम कुछ भी नहीं है और झूटसे बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत्में दूसरा कोई नहीं है॥

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०६॥

राजन् ! सत्य परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है अतः महाराज ! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञाको न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसङ्गी हो ॥ १०६ ॥

अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशो नास्ति संगतम्॥१०७॥

यदि आपकी झूठमें ही आसक्ति है और मेरी बातपर श्रद्धा नहीं करते हैं तो मैं स्वयं ही चली जाती हूँ। आप-जैसेके साथ रहना मुझे उचित नहीं है ॥ १०७ ॥

(पुत्रत्वे शङ्कमानस्य बुद्धिर्ज्ञापकदीपना ।
गतिः स्वरः स्मृतिः सत्त्वं शीलविज्ञानविक्रमाः ॥
धृष्णुप्रकृतिभावौ च आवर्ता रोमराजयः ।
समा यस्य यतः स्युस्ते तस्य पुत्रो न संशयः ॥
सादृश्येनोद्धृतं विम्बं तव देहाद् विशाम्पते ।
तातेति भाषमाणं वै मा स्म राजन् वृथा कृथाः ॥)

यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसा संदेह होनेपर बुद्धि ही इसका निर्णय करनेवाली अथवा इस रहस्यपर प्रकाश डालनेवाली है। चाल-ढाल, स्वर, स्मरणशक्ति, उत्साह, शील-स्वभाव, विज्ञान, पराक्रम, साहस, प्रकृतिभाव, आवर्त (भँवर) तथा रोमावली—जिसकी ये सब वस्तुएँ जिससे सर्वथा मिलती-जुलती हों, वह उसीका पुत्र है, इसमें संशय नहीं है। राजन् ! आपके शरीरसे पूर्ण समानता लेकर यह बिम्बकी भाँति प्रकट हुआ है और आपको 'तात' कहकर पुकार रहा है। आप इसकी आशा न तोड़ें ॥

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥१०८॥

महाराज दुष्यन्त ! मैं एक बात कहे देती हूँ, आपके सहयोगके बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रोंसे घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुटसे सुशोभित समूची पृथ्वीका शासन करेगा ॥ १०८ ॥

(शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण भविष्यति न चान्यथा ॥
साक्षित्वे बहवोऽप्युक्ता देवदूतादयो मताः ।
न ब्रुवन्ति यथा सत्यमुताहोऽप्यनृतं किल ॥
असाक्षिणी मन्दभाग्या गमिष्यामियथाऽऽगतम्।)

देवराज इन्द्रका वचन है 'शकुन्तले ! तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा।' यह कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यद्यपि देवदूत आदि बहुत-से साक्षी बताये गये हैं, तथापि इस समय वे क्या सत्य है और क्या असत्य—इसके विषयमें कुछ नहीं कह रहे हैं। अतः साक्षीके अभावमें यह भाग्यहीन शकुन्तला जैसे आयी है, वैसे ही लौट जायगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥१०९॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्तसे इतनी बातें कहकर शकुन्तला वहाँसे चलनेको उद्यत हुई। इतनेमें ही ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए दुष्यन्तको सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी हुई ॥ १०९½ ॥

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥११०॥
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
(सर्वेभ्यो ह्यङ्गमङ्गेभ्यः साक्षादुत्पद्यते सुतः ।
आत्मा चैष सुतो नाम तथैव तव पौरव ॥
आहितं ह्यात्मनाऽऽत्मानं परिरक्ष इमं सुतम् ।
अनन्यां त्वां प्रतीक्षस्व मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥
स्त्रियः पवित्रमतुलमेतत् दुष्यन्त धर्मतः ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ॥)
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥१११॥
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम् ॥११२॥

'दुष्यन्त ! माता तो केवल भाथी (धौंकनी) के

समान है । पुत्र पिताका ही होता है; क्योंकि जो जिसके द्वारा उत्पन्न होता है, वह उसीका स्वरूप है—इस न्यायसे पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है, अतः दुष्यन्त ! तुम पुत्रका पालन करो । शकुन्तलाका अनादर मत करो । पौरव ! पुत्र साक्षात् अपना ही शरीर है । वह पिताके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न होता है । वास्तवमें वह पुत्रनामसे प्रसिद्ध अपना आत्मा ही है । ऐसा ही यह तुम्हारा पुत्र भी है । अपने द्वारा ही गर्भमें स्थापित किये हुए आत्मस्वरूप इस पुत्रकी तुम रक्षा करो । शकुन्तला तुम्हारे प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाली धर्म-पत्नी है । इसे इसी दृष्टिसे देखो ! उसका अनादर मत करो । दुष्यन्त ! स्त्रियाँ अनुपम पवित्र वस्तु हैं, यह धर्मतः स्वीकार किया गया है । प्रत्येक मासमें इनके जो रजःस्राव होता है, वह इनके सारे दोषोंको दूर कर देता है । नरदेव ! वीर्यका आधान करनेवाला पिता ही पुत्र बनता है और वह यमलोकसे अपने पितृगणका उद्धार करता है । तुमने ही इस गर्भका आधान किया था । शकुन्तला सत्य कहती है । जाया (पत्नी) दो भागोंमें विभक्त हुए पतिके अपने ही शरीरको पुत्ररूपमें उत्पन्न करती है ॥ ११०–११२ ॥

तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ।
अभूतिरेषा यत् त्यक्त्वा जीवेज्जीवन्तमात्मजम् ॥ ११३॥

'इसलिये राजा दुष्यन्त ! तुम शकुन्तलासे उत्पन्न हुए अपने पुत्रका पालन-पोषण करो । अपने जीवित पुत्रको त्यागकर जीवन धारण करना बड़े दुर्भाग्यकी बात है ॥

शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव ।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ॥ ११४॥
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ।

'पौरव ! यह महामना बालक शकुन्तला और दुष्यन्त दोनोंका पुत्र है । हम देवताओंके कहनेसे तुम इसका भरण-पोषण करोगे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र भरतके नामसे विख्यात होगा' ॥ ११४½ ॥

(एवमुक्त्वा ततो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
पतिव्रतेति संहृष्टाः पुष्पवृष्टिं ववर्षिरे ॥)
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ॥ ११५॥
पुरोहितममात्यांश्च सम्प्रहृष्टोऽब्रवीदिदम् ।
शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ॥ ११६॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् !) ऐसा कहकर देवता तथा तपस्वी ऋषि शकुन्तलाको पतिव्रता बतलाते हुए उसपर फूलोंकी वर्षा करने लगे । पूरुवंशी राजा दुष्यन्त देवताओंकी यह बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और पुरोहित तथा मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आपलोग इस देवदूतका कथन भलीभाँति सुन लें ॥ ११५–११६ ॥

अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ।
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामि ममात्मजम् ॥ ११७॥
भवेद्धि शङ्क्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ।

'मैं भी अपने इस पुत्रको इसी रूपमें जानता हूँ । यदि केवल शकुन्तलाके कहनेसे मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर संदेह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता' ॥ ११७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥ ११८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार देवदूतके वचनसे उस बालककी शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्तने हर्ष और आनन्दमें मग्न हो उस समय अपने उस पुत्रको ग्रहण किया ॥ ११८ ॥

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः ।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ॥ ११९॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने पिताको जो-जो कार्य करने चाहिये, वे सब उपनयन आदि संस्कार बड़े आनन्द और प्रेमके साथ अपने उस पुत्रके लिये (शास्त्र और कुलकी मर्यादाके अनुसार) कराये ॥ ११९ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ॥ १२०॥

और उसका मस्तक सूँघकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे हृदयसे लगा लिया । उस समय ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया और बन्दीजनोंने उनके गुण गाये । महाराजने पुत्र-स्पर्शजनित परम आनन्दका अनुभव किया ॥ १२० ॥

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १२१॥

दुष्यन्तने अपनी पत्नी शकुन्तलाका भी धर्मपूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे समझाते हुए कहा—॥ १२१॥

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥ १२२॥

'देवि ! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी । अतः तुम्हारी शुद्धिके लिये ही मैंने यह उपाय सोचा था ॥ १२२ ॥

(ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव पृथग्विधाः ।
त्वां देवि पूजयिष्यन्ति निर्विशङ्कं पतिव्रताम् ॥)

'देवि ! तुम निःसंदेह पतिव्रता हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये सभी पृथक्-पृथक् तुम्हारा पूजन (समादर) करेंगे ॥

मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चायं वृतो राज्ये मया तस्माद् विचारितम् ॥ १२३॥

'यदि इस प्रकार तुम्हारी शुद्धि न होती तो लोग यही समझते कि तुमने स्त्री-स्वभावके कारण कामवश मुझसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया और मैंने भी कामके अधीन होकर ही तुम्हारे पुत्रको राज्यपर बिठानेकी प्रतिज्ञा कर ली। हम दोनोंके धार्मिक सम्बन्धपर किसीका विश्वास नहीं होता; इसीलिये यह उपाय सोचा गया था ॥ १२३ ॥

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत् क्षान्तं ते मया शुभे ॥१२४॥

'प्रिये ! विशाललोचने ! तुमने भी कुपित होकर जो मेरे लिये अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति तुम्हारा अत्यन्त प्रेम होनेके कारण ही कहे गये हैं। अतः शुभे ! मैंने वह सब अपराध क्षमा कर दिया ॥ १२४ ॥

(अनृतं वाप्यनिष्टं वा दुरुक्तं वापि दुष्कृतम् ।
त्वयाप्येवं विशालाक्षि क्षन्तव्यं मम दुर्वचः ॥
क्षान्त्या पतिकृते नार्यः पातिव्रत्यं व्रजन्ति ताः ।)

'विशाल नेत्रोंवाली देवि ! इसी प्रकार तुम्हें भी मेरे कहे हुए असत्य, अप्रिय, कटु एवं पापपूर्ण दुर्वचनोंके लिये मुझे क्षमा कर देना चाहिये। पतिके लिये क्षमाभाव धारण करनेसे स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मको प्राप्त होती हैं' ॥

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१२५॥

जनमेजय ! अपनी प्यारी रानीसे ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अन्न, पान और वस्त्र आदिके द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ॥ १२५ ॥

(स मातरमुपस्थाय रथन्तर्यामभाषत ।
मम पुत्रो वने जातस्तव शोकप्रणाशनः ॥
ऋणादद्य विमुक्तोऽहमस्मि पौत्रेण ते शुभे ।
विश्वामित्रसुता चेयं कण्वेन च विवर्धिता ॥
स्नुषा तव महाभागे प्रसीदस्व शकुन्तलाम् ।
पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा पौत्रं सा परिषस्वजे ॥
पादयोः पतितां तत्र रथन्तर्या शकुन्तलाम् ।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥
उवाच वचनं सत्यं लक्षयँल्लक्षणानि च ।
तव पुत्रो विशालाक्षि चक्रवर्ती भविष्यति ॥
तव भर्ता विशालाक्षि त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।
दिव्यान् भोगाननुप्राप्ता भव त्वं वरवर्णिनि ॥
एवमुक्ता रथन्तर्या परं हर्षमवाप सा ।
शकुन्तलां तदा राजा शास्त्रोक्तेनैव कर्मणा ॥
ततोऽग्रमहिषीं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताम् ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सैनिकानां च भूपतिः ॥)

तदनन्तर वे अपनी माता रथन्तर्याके पास जाकर बोले—'माँ ! यह मेरा पुत्र है, जो वनमें उत्पन्न हुआ है। यह तुम्हारे शोकका नाश करनेवाला होगा। शुभे ! तुम्हारे इस पौत्रको पाकर आज मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो गया। महाभागे ! यह तुम्हारी पुत्र-वधू है। महर्षि विश्वामित्रने इसे जन्म दिया और महात्मा कण्वने पाला है। तुम शकुन्तलापर कृपादृष्टि रक्खो।' पुत्रकी यह बात सुनकर राजमाता रथन्तर्याने पौत्रको हृदयसे लगा लिया और अपने चरणोंमें पड़ी हुई शकुन्तलाको दोनों भुजाओंमें भरकर वे हर्षके आँसू बहाने लगीं। साथ ही पौत्रके शुभ लक्षणोंकी ओर संकेत करती हुई बोलीं—'विशालाक्षि ! तेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। तेरे पतिको तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त हो। सुन्दरि ! तुम्हें सदा दिव्य भोग प्राप्त होते रहें।' यह कहकर राजमाता रथन्तर्या अत्यन्त हर्षसे विभोर हो उठीं। उस समय राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार समस्त आभूषणोंसे विभूषित शकुन्तलाको पटरानीके पदपर अभिषिक्त करके ब्राह्मणों तथा सैनिकोंको बहुत धन अर्पित किया ॥

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१२६॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने शकुन्तलाकुमारका नाम भरत रखकर उसे युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया। १२६।

(भरते भारमावेश्य कृतकृत्योऽभवन्नृपः ।
ततो वर्षशतं पूर्णं राज्यं कृत्वा नराधिपः ॥
कृत्वा दानानि दुष्यन्तः स्वर्गलोकमुपेयिवान् ।)

फिर भरतको राज्यका भार सौंपकर महाराज दुष्यन्त कृतकृत्य हो गये। वे पूरे सौ वर्षोंतक राज्य भोगकर विविध प्रकारके दान दे अन्तमें स्वर्गलोक सिधारे ॥

तस्य तत् प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥१२७॥

महात्मा राजा भरतका विख्यात चक्र[१] सब ओर घूमने लगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान, दिव्य और अजेय था। वह महान् चक्र अपनी भारी आवाजसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करता चलता था ॥ १२७ ॥

स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥१२८॥

उन्होंने सब राजाओंको जीतकर अपने अधीन कर लिया तथा सत्पुरुषोंके धर्मका पालन और उत्तम यशका उपार्जन किया ॥ १२८ ॥

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥१२९॥

१. चक्रके विशेषणोंसे यहाँ यही अनुमान होता है कि भरतके पास सुदर्शन चक्रके समान ही कोई चक्र था।

महाराज भरत समस्त भूमण्डलमें विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने देवराज इन्द्रकी भाँति बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ १२९ ॥

याजयामास तं कण्वो विधिवद् भूरिदक्षिणम्।
श्रीमान् गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः।
यस्मिन् सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥१३०॥

महर्षि कण्वने आचार्य होकर भरतसे प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त 'गोवितत' नामक अश्वमेध यज्ञका विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाया। श्रीमान् भरतने उस यज्ञका पूरा फल प्राप्त किया। उसमें महाराज भरतने आचार्य कण्वको एक सहस्र पद्म स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणारूपमें दीं ॥ १३० ॥

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥१३१॥

भरतसे ही इस भूखण्डका नाम भारत (अथवा भूमिका नाम भारती) हुआ। उन्हींसे यह कौरववंश भरतवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उनके बाद उस कुलमें पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ॥ १३१ ॥

भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः।
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ॥१३२॥
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः।
येषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत।
महाभागान् देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान् ॥१३३॥

भरतके कुलमें देवताओंके समान महापराक्रमी तथा ब्रह्माजीके समान तेजस्वी बहुत-से राजर्षि हो गये हैं; जिनके सम्पूर्ण नामोंकी गणना असम्भव है। जनमेजय! इनमें जो मुख्य हैं, उन्हींके नामोंका तुमसे वर्णन करूँगा। वे सभी महाभाग नरेश देवताओंके समान तेजस्वी तथा सत्य, सरलता आदि धर्मोंमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १३२-१३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८९॥ श्लोक मिलाकर कुल २२२½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दक्ष, वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्रोंकी उत्पत्ति; पुरूरवा, नहुष और ययातिके चरित्रोंका संक्षेपसे वर्णन

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय! अब मैं दक्ष प्रजापति, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पूरु, अजमीढ, यादव, कौरव तथा भरतवंशियोंकी कुल-परम्पराका तुमसे वर्णन करूँगा। उनका कुल परम पवित्र, महान् मङ्गलकारी तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है ॥१-२½॥

तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ॥ ३ ॥
दश प्रचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महीरुहाः ॥ ४ ॥

प्रचेताके दस पुत्र थे, जो अपने तेजके द्वारा सदा प्रकाशित होते थे। वे सब-के-सब महर्षियोंके समान तेजस्वी, सत्पुरुष और पुण्यकर्मा माने गये हैं। उन्होंने पूर्वकालमें अपने मुखसे प्रकट की हुई अग्निद्वारा उन बड़े-बड़े वृक्षोंको जलाकर भस्म कर दिया था (जो प्राणियोंको पीड़ा दे रहे थे)॥ ३-४ ॥

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
सम्भूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ५ ॥

उक्त दस प्रचेताओंद्वारा (मारिषाके गर्भसे) प्राचेतस दक्षका जन्म हुआ तथा दक्षसे ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। नरश्रेष्ठ! वे सम्पूर्ण जगत्के पितामह हैं ॥ ५ ॥

वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः।
आत्मतुल्यानजनयत् सहस्रं संशितव्रतान् ॥ ६ ॥

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणीसे समागम करके अपने ही समान गुण-शीलवाले एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ६ ॥

सहस्रसंख्यान् सम्भूतान् दक्षपुत्रांश्च नारदः।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

एक सहस्रकी संख्यामें प्रकट हुए उन दक्ष-पुत्रोंको देवर्षि नारदजीने मोक्ष-शास्त्रका अध्ययन कराया। परम उत्तम सांख्य-ज्ञानका उपदेश किया ॥ ७ ॥

ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ८ ॥

जनमेजय! जब वे सभी विरक्त होकर घरसे निकल गये, तब

प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रजापति दक्षने पुत्रिकाके द्वारा पुत्र (दौहित्र) होनेपर उस पुत्रिकाको ही पुत्र मानकर पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ८ ॥

ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ९ ॥

उन्होंने दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको और कालका संचालन करनेमें नियुक्त नक्षत्रस्वरूपा सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको ब्याह दीं ॥ ९ ॥

त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा।
मारीचःकश्यपस्त्वस्यामादित्यान् समजीजनत्॥ १० ॥
इन्द्रादीन् वीर्यसम्पन्नान् विवस्वन्तमथापि च।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ॥ ११ ॥

मरीचिनन्दन कश्यपने अपनी तेरह पत्नियोंमेंसे जो सबसे बड़ी दक्ष-कन्या अदिति थीं, उनके गर्भसे इन्द्र आदि बारह आदित्योंको जन्म दिया, जो बड़े पराक्रमी थे। तदनन्तर उन्होंने अदितिसे ही विवस्वान्‌को उत्पन्न किया। विवस्वान्‌के पुत्र यम हुए,जो वैवस्वत कहलाते हैं। वे समस्त प्राणियोंके नियन्ता हैं॥

मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः ॥ १२ ॥

विवस्वान्‌के ही पुत्र परम बुद्धिमान् मनु हुए, जो बड़े प्रभावशाली हैं। मनुके बाद उनसे यम नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई, जो सर्वत्र विख्यात हैं। यमराज मनुके छोटे भाई तथा प्राणियोंका नियमन करनेमें समर्थ हैं ॥ १२ ॥

धर्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् मनु बड़े धर्मात्मा थे, जिनपर सूर्यवंशकी प्रतिष्ठा हुई। मानवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह मनुवंश उन्हींसे विख्यात हुआ ॥ १३ ॥

ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ॥ १४ ॥

उन्हीं मनुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब मानव उत्पन्न हुए हैं। महाराज! तभीसे ब्राह्मणकुल क्षत्रियसे सम्बद्ध हुआ ॥१४॥

ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन्।
वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥ १५ ॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥ १६ ॥
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते।
पञ्चाशत् तु मनोःपुत्रास्तथैवान्येऽभवन् क्षितौ॥ १७ ॥

उनमेंसे ब्राह्मणजातीय मानवोंने छहों अङ्गोंसहित वेदोंको धारण किया। वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, आठवीं इला, नवें क्षत्रिय-धर्मपरायण पृषध्र तथा दसवें नाभागारिष्ट —इन दसोंको मनुपुत्र कहा जाता है। मनुके इस पृथ्वीपर पचास पुत्र और हुए ॥ १५—१७ ॥

अन्योन्यभेदात् ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम्।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥

परंतु आपसकी फूटके कारण वे सब-के-सब नष्ट हो गये, ऐसा हमने सुना है। तदनन्तर इलाके गर्भसे विद्वान् पुरूरवाका जन्म हुआ ॥ १८ ॥

सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम्।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः ॥ १९ ॥

सुना जाता है, इला पुरूरवाकी माता भी थी और पिता भी*। राजा पुरूरवा समुद्रके तेरह द्वीपोंका शासन और उपभोग करते थे ॥ १९ ॥

अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन् महायशाः।
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ॥ २० ॥
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि।

महायशस्वी पुरूरवा मनुष्य होकर भी मानवेतर प्राणियोंसे घिरे रहते थे। वे अपने बल-पराक्रमसे उन्मत्त हो ब्राह्मणोंके साथ विवाद करने लगे। बेचारे ब्राह्मण चीखते-चिल्लाते रहते थे तो भी वे उनका सारा धन-रत्न छीन लेते थे ॥ २०½ ॥

सनत्कुमारस्तं राजन् ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ॥ २१ ॥
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाप्यसौ।
ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ॥ २२ ॥

जनमेजय! ब्रह्मलोकसे सनत्कुमारजीने आकर उन्हें बहुत समझाया और ब्राह्मणोंपर अत्याचार न करनेका उपदेश दिया, किंतु वे उनकी शिक्षा ग्रहण न कर सके। तब क्रोधमें भरे हुए महर्षियोंने तत्काल उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे नष्ट हो गये ॥ २१-२२ ॥

लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः।
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ॥ २३ ॥
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन् यथावद् विहितांस्त्रिधा।
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ॥ २४ ॥
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः।
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ॥ २५ ॥
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान् प्रचक्षते।
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥

* वास्तवमें इला माता ही थी। जन्मदाता पिता चन्द्रमाके पुत्र बुध थे, परंतु इला जब पुरुषरूपमें परिणत हुई तो उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नने ही पुरूरवाको राज्य दिया था, इसलिये वे पिता भी कहे जाते हैं।

राजा पुरूरवा लोभसे अभिभूत थे और बलके घमंडमें आकर अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। वे शोभाशाली नरेश ही गन्धर्वलोकमें स्थित और विधिपूर्वक स्थापित त्रिविध अग्नियोंको उर्वशीके साथ इस धरातलपर लाये थे। इलानन्दन पुरूरवाके छः पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आयु, धीमान्, अमावसु, दृढ़ायु, वनायु और शतायु। ये सभी उर्वशीके पुत्र हैं। उनमेंसे आयुके स्वर्भानुकुमारीके गर्भसे उत्पन्न पाँच पुत्र बताये जाते हैं—नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, गय तथा अनेना। आयुर्नन्दन नहुष बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ २३—२६ ॥

राज्यं शशास सुमहद् धर्मेण पृथिवीपते।
पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् गन्धर्वोरगराक्षसान् ॥२७॥
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः।
स हत्वा दस्युसंघातानृषीन् करमदापयत् ॥२८॥

पृथ्वीपते! उन्होंने अपने विशाल राज्यका धर्मपूर्वक शासन किया। पितरों, देवताओं, ऋषियों, ब्राह्मणों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका भी पालन किया। राजा नहुषने झुंड-के-झुंड डाकुओं और लुटेरोंका वध करके ऋषियोंको भी कर देनेके लिये विवश किया ॥२७-२८॥

पशुवच्चैव तान् पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान्।
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ॥२९॥
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा।
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ॥३०॥
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः।
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ॥३१॥

अपने इन्द्रत्वकालमें पराक्रमी नहुषने महर्षियोंको पशुकी तरह वाहन बनाकर उनकी पीठपर सवारी की थी। उन्होंने तेज, तप, ओज और पराक्रमद्वारा समस्त देवताओंको तिरस्कृत करके इन्द्रपदका उपभोग किया था। राजा नहुषने छः प्रियवादी पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव। इनमें यति योगका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये थे ॥ २९—३१ ॥

ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत् सत्यपराक्रमः।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ॥३२॥

तब नहुषके दूसरे पुत्र सत्यपराक्रमी ययाति सम्राट् हुए। उन्होंने इस पृथ्वीका पालन तथा बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया॥

अतिभक्त्या पितॄनर्चन् देवांश्च प्रयतः सदा।
अन्वगृह्णात् प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥३३॥
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥३४॥

महाराज ययाति किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे। वे सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर बड़े भक्ति-भावसे देवताओं तथा पितरोंका पूजन करते और समस्त प्रजापर अनुग्रह रखते थे। महाराज जनमेजय! राजा ययातिके देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे महान् धनुर्धर पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी समस्त सद्गुणोंके भण्डार थे ॥ ३३-३४ ॥

देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥३५॥

यदु और तुर्वसु—ये दो देवयानीके पुत्र थे और द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥

स शाश्वतीः समा राजन् प्रजा धर्मेण पालयन्।
जरामार्च्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ॥३६॥

राजन्! वे सर्वदा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते थे। एक समय नहुषपुत्र ययातिको अत्यन्त भयानक वृद्धावस्था प्राप्त हुई, जो रूप और सौन्दर्यका नाश करनेवाली है ॥३६॥

जराभिभूतः पुत्रान् स राजा वचनमब्रवीत्।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ॥३७॥

जनमेजय! वृद्धावस्थासे आक्रान्त होनेपर राजा ययातिने अपने समस्त पुत्रों यदु, पूरु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुसे कहा—॥

यौवनेन चरन् कामान् युवा युवतिभिः सह।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ॥३८॥

'पुत्रो! मैं युवावस्थासे सम्पन्न हो जवानीके द्वारा कामोपभोग करते हुए युवतियोंके साथ विहार करना चाहता हूँ। तुम मेरी सहायता करो' ॥ ३८ ॥

तं पुत्रो देवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते ॥३९॥

यह सुनकर देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुने पूछा—'भगवन्! हमारी जवानी लेकर उसके द्वारा आपको कौन-सा कार्य करना है?' ॥ ३९ ॥

ययातिरब्रवीत् तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम्।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥४०॥

तब ययातिने उससे कहा—'तुम मेरा बुढ़ापा ले लो और मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोपभोग करूँगा ॥ ४० ॥

यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः ॥४१॥

'पुत्रो! अबतक तो मैं दीर्घकालीन यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगा रहा और अब मुनिवर शुक्राचार्यके शापसे बुढ़ापेने मुझे धर दबाया है, जिससे मेरा कामरूप पुरुषार्थ छिन गया। इसीसे मैं संतप्त हो रहा हूँ ॥ ४१ ॥

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः।
अहं तन्वाभिनवया युवा काममवाप्नुयाम् ॥४२॥

'तुममेंसे कोई एक व्यक्ति मेरा वृद्ध शरीर लेकर उसके द्वारा राज्यशासन करे । मैं नूतन शरीर पाकर युवावस्थासे सम्पन्न हो विषयोंका उपभोग करूँगा' ॥ ४२ ॥

ते न तस्य प्रत्यगृह्णन् यदुप्रभृतयो जराम् ।
तमब्रवीत् ततः पूरुः कनीयान् सत्यविक्रमः ॥४३॥
राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः ।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ॥४४॥

राजाके ऐसा कहनेपर भी वे यदु आदि चार पुत्र उनकी वृद्धावस्था न ले सके । तब सबसे छोटे पुत्र सत्यपराक्रमी पूरुने कहा—'राजन् ! आप मेरे नूतन शरीरसे नौजवान होकर विषयोंका उपभोग कीजिये । मैं आपकी आज्ञासे बुढ़ापा लेकर राज्यसिंहासनपर बैठूँगा' ॥ ४३-४४ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात् ।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ॥४५॥

पूरुके ऐसा कहनेपर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके आश्रयसे अपनी वृद्धावस्थाका अपने महात्मा पुत्र पूरुमें संचार कर दिया ॥ ४५ ॥

पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः ।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ॥४६॥

ययाति स्वयं पूरुकी नयी अवस्था लेकर नौजवान बन गये । इधर पूरु भी राजा ययातिकी अवस्था लेकर उसके द्वारा राज्यका पालन करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो वर्षसहस्राणि ययातिरपराजितः ।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः ॥४७॥

तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ ययाति एक सहस्र वर्षतक युवावस्थामें स्थित रहे ॥ ४७ ॥

ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च ।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने ॥४८॥

उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंके साथ दीर्घकालतक विहार करके चैत्ररथ वनमें जाकर विश्वाची अप्सराके साथ रमण किया ॥

नाध्यगच्छत् तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः ।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ ॥४९॥

परंतु उस समय भी महायशस्वी ययाति काम-भोगसे तृप्त न हो सके । राजन् ! उन्होंने मनसे विचारकर यह निश्चय कर लिया कि विषयोंके भोगनेसे भोगेच्छा कभी शान्त नहीं हो सकती । तब राजाने (संसारके हितके लिये) यह गाथा गायी—॥ ४९ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥५०॥

'विषय-भोगकी इच्छा विषयोंका उपभोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकती । घीकी आहुति डालनेसे अधिक प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है ॥ ५० ॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥५१॥

रत्नोंसे भरी हुई सारी पृथ्वी, संसारका सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दरी स्त्रियाँ किसी एक पुरुषको मिल जायँ, तो भी वे सब-के-सब उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे । वह और भी पाना चाहेगा । ऐसा समझकर शान्ति धारण करे—भोगेच्छाको दबा दे ॥ ५१ ॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५२॥

'जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसी भी प्राणीके प्रति बुरा भाव नहीं करता, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५३॥

'जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होनेके कारण यह पुरुष किसीसे नहीं डरता और जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह न तो किसीकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' ॥५३॥

इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप ।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णज्जरां सुतात् ॥५४॥

जनमेजय ! परम बुद्धिमान् महाराज ययातिने इस प्रकार भोगोंकी निःसारताका विचार करके बुद्धिके द्वारा मनको एकाग्र किया और पुत्रसे अपना बुढ़ापा वापस ले लिया ॥ ५४ ॥

दत्त्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥५५॥

पूरुको उसकी जवानी लौटाकर राजाने उसे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और भोगोंसे अतृप्त रहकर ही अपने पुत्र पूरुसे कहा—॥ ५५ ॥

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥५६॥

'बेटा ! तुम्हारे-जैसे पुत्रसे ही मैं पुत्रवान् हूँ । तुम्हीं मेरे वंश-प्रवर्तक पुत्र हो । तुम्हारा वंश इस जगत्‌में पौरव वंशके नामसे विख्यात होगा ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च।
ततः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः॥५७॥
कालेन महता पश्चात् कालधर्ममुपेयिवान्।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान्॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर पूरुका राज्याभिषेक करनेके पश्चात् राजा ययातिने अपनी पत्नियोंके साथ भृगुतुङ्ग पर्वतपर जाकर सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वहाँ बड़ी भारी तपस्या की। इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेके बाद स्त्रियोंसहित निराहार व्रत करके उन्होंने स्वर्गलोक प्राप्त किया॥५७-५८॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

कचका शिष्यभावसे शुक्राचार्य और देवयानीकी सेवामें संलग्न होना और अनेक कष्ट सहनेके पश्चात् मृतसंजीविनी विद्या प्राप्त करना

जनमेजय उवाच

ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम्॥१॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।
आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान् पृथक्॥२॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! हमारे पूर्वज महाराज ययातिने, जो प्रजापतिसे दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुए थे, शुक्राचार्यकी अत्यन्त दुर्लभ पुत्री देवयानीको पत्नीरूपमें कैसे प्राप्त किया? मैं इस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। आप मुझसे सभी वंश-प्रवर्तक राजाओंका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये॥१-२॥

वैशम्पायन उवाच

ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा॥३॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च॥४॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। पूर्वकालमें शुक्राचार्य और वृषपर्वाने ययातिका अपनी-अपनी कन्याके पतिके रूपमें जिस प्रकार वरण किया, वह सब प्रसंग तुम्हारे पूछनेपर मैं तुमसे कहूँगा। साथ ही यह भी बताऊँगा कि नहुषनन्दन ययाति तथा देवयानीका संयोग किस प्रकार हुआ॥३-४॥

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे॥५॥

एक समय चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीके ऐश्वर्यके लिये देवताओं और असुरोंमें परस्पर बड़ा भारी संघर्ष हुआ॥५॥

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽङ्गिरसं मुनिम्।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे॥६॥
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम्।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान् दानवान् युधि संगतान्॥७॥
तान् पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात्।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयांचक्रिरे सुरान्॥८॥

उसमें विजय पानेकी इच्छासे देवताओंने अङ्गिरा मुनिके पुत्र बृहस्पतिका पुरोहितके पदपर वरण किया और दैत्योंने शुक्राचार्यको पुरोहित बनाया। वे दोनों ब्राह्मण सदा आपसमें बहुत लाग-डाट रखते थे। देवताओंने उस युद्धमें आये हुए जिन दानवोंको मारा था, उन्हें शुक्राचार्यने अपनी संजीविनी विद्याके बलसे पुनः जीवित कर दिया। अतः वे पुनः उठकर देवताओंसे युद्ध करने लगे॥६-८॥

असुरास्तु निजघ्नुर्यान् सुरान् समरमूर्धनि।
न तान् संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः॥९॥

परंतु असुरोंने युद्धके मुहानेपर जिन देवताओंको मारा था, उन्हें उदारबुद्धि बृहस्पति जीवित न कर सके॥९॥

न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान्।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन् परम्॥१०॥

क्योंकि शक्तिशाली शुक्राचार्य जिस संजीविनी विद्याको जानते थे, उसका ज्ञान बृहस्पतिको नहीं था। इससे देवताओंको बड़ा विषाद हुआ॥१०॥

ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः॥११॥

इससे देवता शुक्राचार्यके भयसे उद्विग्न हो उस समय बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र कचके पास जाकर बोले—॥११॥

भजमानान् भजस्वास्मान् कुरु नः साह्यमुत्तमम्।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि॥१२॥

शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ॥१३॥

'ब्रह्मन्! हम आपके सेवक हैं। आप हमें अपनाइये और हमारी उत्तम सहायता कीजिये। अमिततेजस्वी ब्राह्मण शुक्राचार्यके पास जो मृतसंजीविनी विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर यहाँ ले आइये। इससे आप हम देवताओंके साथ यज्ञमें भाग प्राप्त कर सकेंगे। राजा वृषपर्वाके समीप आपको विप्रवर शुक्राचार्यका दर्शन हो सकता है॥ १२-१३॥

रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान्।
तमाराधयितुं शक्तो भवान् पूर्ववयाः कविम् ॥१४॥

'वहाँ रहकर वे दानवोंकी रक्षा करते हैं। जो दानव नहीं हैं, उनकी रक्षा नहीं करते। आपकी अभी नयी अवस्था है, अतः आप शुक्राचार्यकी आराधना (करके उन्हें प्रसन्न) करनेमें समर्थ हैं॥ १४॥

देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः।
त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते ॥१५॥

'उन महात्माकी प्यारी पुत्रीका नाम देवयानी है, उसे अपनी सेवाओंद्वारा आप ही प्रसन्न कर सकते हैं। दूसरा कोई इसमें समर्थ नहीं है॥ १५॥

शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥१६॥

'अपने शील-स्वभाव, उदारता, मधुर व्यवहार, सदाचार तथा इन्द्रियसंयमद्वारा देवयानीको संतुष्ट कर लेनेपर आप निश्चय ही उस विद्याको प्राप्त कर लेंगे'॥ १६॥

तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः।
तदभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ॥१७॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर बृहस्पतिपुत्र कच देवताओंसे सम्मानित हो वहाँसे वृषपर्वाके समीप गये॥ १७॥

स गत्वा त्वरितो राजन् देवैः सम्प्रेषितः कचः।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥१८॥

राजन्! देवताओंके भेजे हुए कच तुरंत दानवराज वृषपर्वा-के नगरमें जाकर शुक्राचार्यसे मिले और इस प्रकार बोले—॥

ऋषेरङ्गिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ॥१९॥

'भगवन्! मैं अङ्गिरा ऋषिका पौत्र तथा साक्षात् बृहस्पतिका पुत्र हूँ। मेरा नाम कच है। आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण करें॥ १९॥

ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन् सहस्रं परिवत्सरान् ॥२०॥

ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं। मैं आपके समीप रहकर एक हजार वर्षों तक उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। इसके लिये आप मुझे अनुमति दें'॥ २०॥

शुक्र उवाच

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥२१॥

शुक्राचार्यने कहा—कच! तुम्हारा भलीभाँति स्वागत है; मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये आदरके पात्र हो, अतः मैं तुम्हारा सम्मान एवं सत्कार करूँगा। तुम्हारे आदर-सत्कारसे मेरेद्वारा बृहस्पतिका आदर-सत्कार होगा॥२१॥

वैशम्पायन उवाच

कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद् व्रतम्।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब कचने 'बहुत अच्छा' कहकर महाकान्तिमान् कविपुत्र शुक्राचार्यके आदेशके अनुसार स्वयं ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया॥ २२॥

व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥२३॥
नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे।
गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥२४॥

जनमेजय! नियत समय तकके लिये व्रतकी दीक्षा लेनेवाले कचको शुक्राचार्यने भली-भाँति अपना लिया। कच आचार्य शुक्र तथा उनकी पुत्री देवयानी दोनोंकी नित्य आराधना करने लगे। वे नवयुवक थे और जवानीमें प्रिय लगनेवाले कार्य—गायन और नृत्य करके तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजाकर देवयानीको संतुष्ट रखते थे॥ २३—२४॥

स शीलयन् देवयानीं कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥२५॥

भारत! आचार्यकन्या देवयानी भी युवावस्थामें पदार्पण कर चुकी थी। कच उसके लिये फूल और फल ले आते तथा उसकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे। इस प्रकार उसकी सेवामें संलग्न रहकर वे सदा उसे प्रसन्न रखते थे॥ २५॥

देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारणम्।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत् तथा ॥२६॥

देवयानी भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले कचके ही समीप रहकर गाती और आमोद-प्रमोद करती हुई एकान्तमें उनकी सेवा करती थी॥ २६॥

पञ्चवर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम्।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥२७॥
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद् विद्यारक्षार्थमेव च ॥२८॥

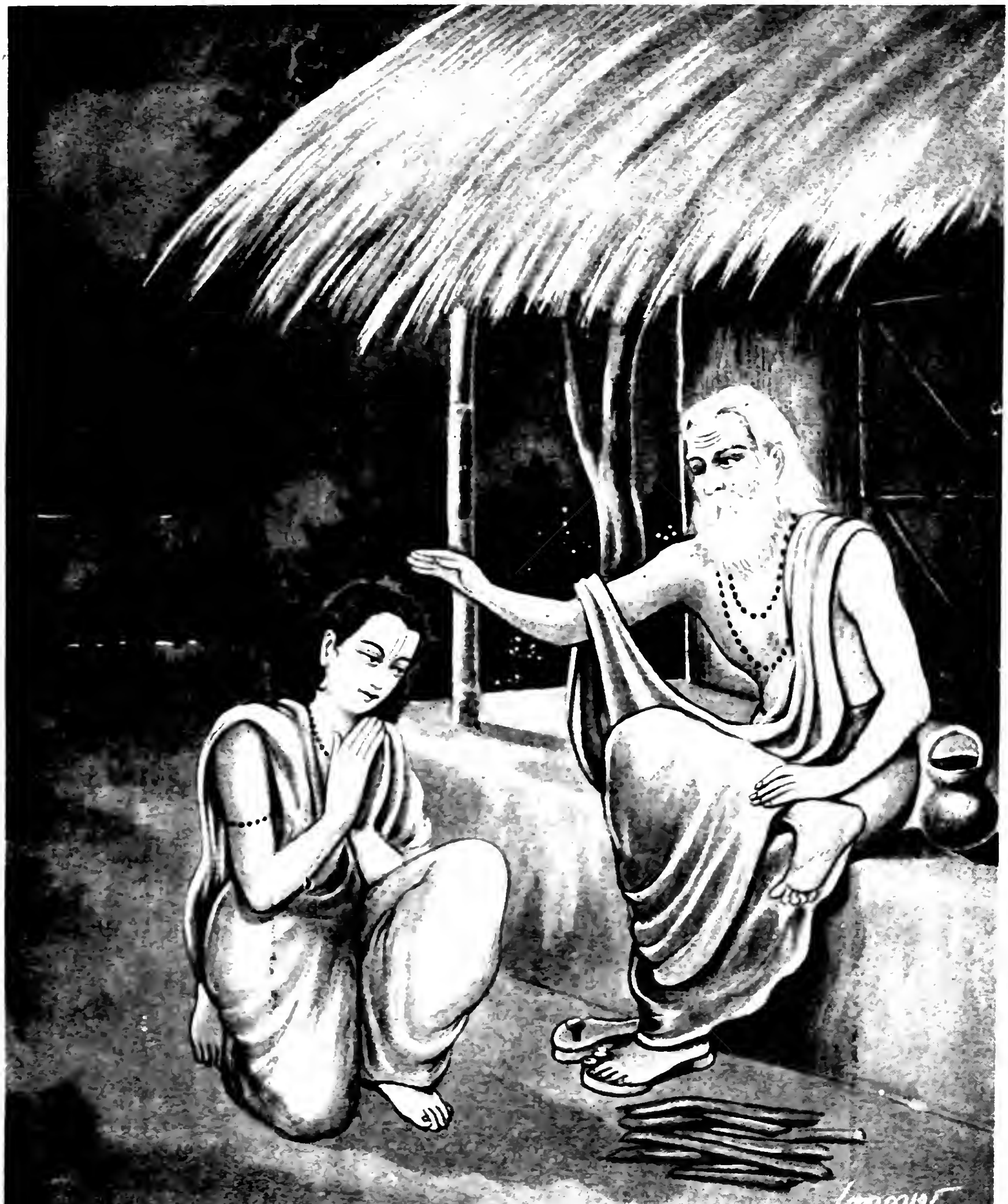

शुक्राचार्य और कच

इस प्रकार वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए कचके पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गये। तब दानवोंको यह बात मालूम हुई। तदनन्तर कचको वनके एकान्त प्रदेशमें अकेले गौएँ चराते देख बृहस्पतिके द्वेषसे और संजीविनी विद्याकी रक्षाके लिये क्रोधमें भरे हुए दानवोंने कचको मार डाला ॥ २७-२८ ॥

हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम्।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम् ॥ २९ ॥

उन्होंने मारनेके बाद उनके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों और सियारोंको बाँट दिया। उस दिन गौएँ बिना रक्षकके ही अपने स्थानपर लौटीं ॥ २९ ॥

सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाभ्यागता वनात्।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत ॥ ३० ॥

जनमेजय! जब देवयानीने देखा, गौएँ तो वनसे लौट आयीं पर उनके साथ कच नहीं हैं, तब उसने उस समय अपने पितासे इस प्रकार कहा ॥ ३० ॥

देवयान्युवाच

आहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते ॥ ३१ ॥

देवयानी बोली—प्रभो! आपने अग्निहोत्र कर लिया और सूर्यदेव भी अस्ताचलको चले गये। गौएँ भी आज बिना रक्षकके ही लौट आयी हैं। तात! तो भी कच नहीं दिखायी देते हैं ॥ ३१ ॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३२ ॥

पिताजी! अवश्य ही कच या तो मारे गये हैं या मर गये हैं। मैं आपसे सच कहती हूँ, उनके बिना जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच

अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम्।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत् ॥ ३३ ॥

शुक्राचार्यने कहा—(बेटी! चिन्ता न करो।) मैं अभी 'आओ' इस प्रकार बुलाकर मरे हुए कचको जीवित किये देता हूँ।

ऐसा कहकर उन्होंने संजीविनी विद्याका प्रयोग किया और कचको पुकारा ॥ ३३ ॥

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः।
आहूतः प्रादुरभवत् कचो हृष्टोऽथ विद्यया ॥ ३४ ॥

फिर तो गुरुके पुकारनेपर कच विद्याके प्रभावसे हृष्ट-पुष्ट हो कुत्तोंके शरीर फाड़-फाड़कर निकल आये और वहाँ प्रकट हो गये ॥ ३४ ॥

कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम्।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भामिनि ॥ ३५ ॥

गृहीत्वा श्रमभारार्तो वटवृक्षं समाश्रितः।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः ॥ ३६ ॥

उन्हें देखते ही देवयानीने पूछा—'आज आपने लौटनेमें विलम्ब क्यों किया?' इस प्रकार पूछनेपर कचने शुक्राचार्यकी कन्यासे कहा—'भामिनि! मैं समिधा, कुश आदि और काष्ठका भार लेकर आ रहा था। रास्तेमें थकावट और भारसे पीड़ित हो एक वटवृक्षके नीचे ठहर गया। साथ ही सारी गौएँ भी उसी वृक्षकी छायामें आकर विश्राम करने लगीं ॥ ३५-३६ ॥

असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन्।
बृहस्पतिसुतश्चाहं कच इत्यभिविश्रुतः ॥ ३७ ॥

'वहाँ मुझे देखकर असुरोंने पूछा—'तुम कौन हो?' मैंने कहा—मेरा नाम कच है, मैं बृहस्पतिका पुत्र हूँ ॥ ३७ ॥

इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः।
दत्त्वा शालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम् ॥ ३८ ॥

'मेरे इतना कहते ही दानवोंने मुझे मार डाला और मेरे शरीरको चूर्ण करके कुत्ते-सियारोंको बाँट दिया। फिर वे सुखपूर्वक अपने घर चले गये ॥ ३८ ॥

आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना।
त्वत्समीपमिहायातः कथंचित् समजीवितः ॥ ३९ ॥

'भद्रे! फिर महात्मा भार्गवने जब विद्याका प्रयोग करके मुझे बुलाया है, तब किसी प्रकारसे पूर्ण जीवन लाभ करके यहाँ तुम्हारे पास आ सका हूँ' ॥ ३९ ॥

हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया ॥ ४० ॥

इस प्रकार ब्राह्मणकन्याके पूछनेपर कचने उससे अपने मारे जानेकी बात बतायी। तदनन्तर पुनः देवयानीने एक दिन अकस्मात् कचको फूल लानेके लिये कहा ॥ ४० ॥

वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम्।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन् ॥ ४१ ॥

विप्रवर कच इसके लिये वनमें गये। वहाँ दानवोंने उन्हें देख लिया और फिर उन्हें पीसकर समुद्रके जलमें घोल दिया ॥ ४१ ॥

चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत्।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः।
पुनरावृत्य तद् वृत्तं न्यवेदयत तद् यथा ॥ ४२ ॥

जब उसके लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब आचार्यकन्याने पितासे पुनः यह बात बतायी। विप्रवर शुक्राचार्यने कचका पुनः संजीविनी विद्याद्वारा आवाहन किया। इससे बृहस्पतिपुत्र कच पुनः वहाँ आ पहुँचे और उनके साथ असुरोंने जो बर्ताव किया था, वह बताया ॥ ४२ ॥

ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः।
प्रायच्छन् ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तदा ॥४३॥

तत्पश्चात् असुरोंने तीसरी बार कचको मारकर आगमें जलाया और उनकी जली हुई लाशका चूर्ण बनाकर मदिरामें मिला दिया तथा उसे ब्राह्मण शुक्राचार्यको ही पिला दिया ॥ ४३ ॥

देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत्।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत् कचस्तात न दृश्यते ॥४४॥

अब देवयानी पुनः अपने पितासे यह बात बोली—'पिताजी! कच मेरे कहनेपर प्रत्येक कार्य पूर्ण कर दिया करते हैं। आज मैंने उन्हें फूल लानेके लिये भेजा था, परंतु अभीतक वे दिखायी नहीं दिये ॥ ४४ ॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥४५॥

'तात! जान पड़ता है वे मार दिये गये या मर गये। मैं आपसे सच कहती हूँ, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ' ॥ ४५ ॥

शुक्र उवाच

बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाणि किम् ॥४६॥

मैवं शुचो मा रुद देवयानि
न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च
सेन्द्रा देवा वसवोऽथाश्विनौ च ॥४७॥
सुरद्विषश्चैव जगच्च सर्व-
मुपस्थाने संनमन्ति प्रभावात्।
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः
संजीवितो वध्यते चैव भूयः ॥४८॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी! बृहस्पतिके पुत्र कच मर गये। मैंने विद्यासे उन्हें कई बार जिलाया, तो भी वे इस प्रकार मार दिये जाते हैं, अब मैं क्या करूँ। देवयानी! तुम इस प्रकार शोक न करो, रोओ मत। तुम-जैसी शक्तिशालिनी स्त्री किसी मरनेवालेके लिये शोक नहीं करती। तुम्हें तो वेद, ब्राह्मण, इन्द्रसहित सब देवता, वसुगण, अश्विनीकुमार, दैत्य तथा सम्पूर्ण जगत्के प्राणी मेरे प्रभावसे तीनों संध्याओंके समय मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हैं। अब उस ब्राह्मणको जिलाना असम्भव है। यदि जीवित हो जाय, तो फिर दैत्योंद्वारा मार डाला जायगा (अतः उसे जिलानेसे कोई लाभ नहीं है) ॥ ४६–४८ ॥

देवयान्युवाच

यस्याङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो
बृहस्पतिश्चापि पिता तपोनिधिः।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं
कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ॥४९॥

देवयानी बोली—पिताजी! अत्यन्त वृद्ध महर्षि अङ्गिरा जिनके पितामह हैं, तपस्याके भण्डार बृहस्पति जिनके पिता हैं, जो ऋषिके पुत्र और ऋषिके ही पौत्र हैं; उन ब्रह्मचारी कचके लिये मैं कैसे शोक न करूँ और कैसे न रोऊँ! ॥ ४९ ॥

स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च
सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये
प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ॥५०॥

तात! वे ब्रह्मचर्यपालनमें रत थे, तपस्या ही उनका धन था। वे सदा ही सजग रहनेवाले और कार्य करनेमें कुशल थे। इसलिये कच मुझे बहुत प्रिय थे। वे सदा मेरे मनके अनुरूप चलते थे। अब मैं भोजनका त्याग कर दूँगी और कच जिस मार्गपर गये हैं, वहीं मैं भी चली जाऊँगी ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स पीडितो देवयान्या महर्षिः
समाह्वयत् संरम्भाच्चैव काव्यः।
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति
ये मे शिष्यानागतान् सूदयन्ति ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीके कहनेसे उसके दुःखसे दुखी हुए महर्षि शुक्राचार्यने कचको पुकारा और दैत्योंके प्रति कुपित होकर बोले—'इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि असुरलोग मुझसे द्वेष करते हैं। तभी तो यहाँ आये हुए मेरे शिष्योंको ये लोग मार डालते हैं ॥ ५१ ॥

अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रा-
स्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम्।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः
कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥५२॥

'ये भयंकर स्वभाववाले दैत्य मुझे ब्राह्मणत्वसे गिराना चाहते हैं। इसीलिये प्रतिदिन मेरे विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इस पापका परिणाम यहाँ अवश्य प्रकट होगा। ब्रह्महत्या किसे नहीं जला देगी, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो?॥

गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः
शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार।

जब गुरुने विद्याका प्रयोग करके बुलाया, तब उनके पेटमें बैठे हुए कच भयभीत हो धीरेसे बोले ॥

(कच उवाच

प्रसीद भगवन् मह्यं कचोऽहमभिवादये।
यथा बहुमतः पुत्रस्तथा मन्यतु मां भवान्॥)

कचने कहा—भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों, मैं कच हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। जैसे पुत्रपर पिताका बहुत प्यार होता है, उसी प्रकार आप मुझे भी अपना स्नेहभाजन समझें॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् केन पथोपनीत-
स्त्वं चोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र॥ ५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी आवाज सुनकर शुक्राचार्यने पूछा—'विप्र! किस मार्गसे जाकर तुम मेरे उदरमें स्थित हो गये? ठीक-ठीक बताओ'॥ ५३॥

कच उवाच

तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः
स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम्।
न त्वेवं स्यात् तपसः संक्षयो मे
ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि॥ ५४॥

कचने कहा—गुरुदेव! आपके प्रसादसे मेरी स्मरण-शक्तिने साथ नहीं छोड़ा है। जो बात जैसे हुई है, वह सब मुझे याद है। इस प्रकार पेट फाड़कर निकल आनेसे मेरी तपस्याका नाश होगा। वह न हो, इसीलिये मैं यहाँ घोर क्लेश सहन करता हूँ॥ ५४॥

असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो
हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां
त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत्॥ ५५॥

आचार्यपाद! असुरोंने मुझे मारकर मेरे शरीरको जलाया और चूर्ण बना दिया। फिर उसे मदिरामें मिलाकर आपको पिला दिया। विप्रवर! आप ब्राह्मी, आसुरी और दैवी तीनों प्रकारकी मायाओंको जानते हैं। आपके होते हुए कोई इन मायाओंका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है?॥ ५५॥

शुक्र उवाच

किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से
वधेन मे जीवितं स्यात् कचस्य।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन
दृश्येत् कचो मद्गतो देवयानि॥ ५६॥

शुक्राचार्य बोले—बेटी देवयानी! अब तुम्हारे लिये कौन-सा प्रिय कार्य करूँ! मेरे वधसे ही कचका जीवित होना सम्भव है। मेरे उदरको विदीर्ण करनेके सिवा और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे मेरे शरीरमें बैठा हुआ कच बाहर दिखायी दे॥ ५६॥

देवयान्युवाच

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां
कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः।
कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म
तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता॥ ५७॥

देवयानीने कहा—पिताजी! कचका नाश और आपका वध—ये दोनों ही शोक अग्निके समान मुझे जला देंगे। कचके नष्ट होनेपर मुझे शान्ति नहीं मिलेगी और आपका वध हो जानेपर मैं जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ५७॥

शुक्र उवाच

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत
यत् त्वां भक्तं भजते देवयानी।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीविनीं त्वं
न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य॥ ५८॥

शुक्राचार्य बोले—बृहस्पतिके पुत्र कच! अब तुम सिद्ध हो गये, क्योंकि तुम देवयानीके भक्त हो और वह तुम्हें चाहती है। यदि कचके रूपमें तुम इन्द्र नहीं हो, तो मुझसे मृतसंजीविनी विद्या ग्रहण करो॥ ५८॥

न निवर्तेत् पुनर्जीवन् कश्चिदन्यो ममोदरात्।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद् विद्यामवाप्नुहि॥ ५९॥

केवल एक ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो मेरे पेटसे पुनः जीवित निकल सके। इसलिये तुम विद्या ग्रहण करो॥ ५९॥

पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मा-
मस्माद्देहादुपनिष्क्रम्य तात।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां
गुरोः सकाशात् प्राप्य विद्यां सविद्यः॥ ६०॥

तात! मेरे इस शरीरसे जीवित निकलकर मेरे लिये पुत्रके तुल्य हो मुझे पुनः जिला देना। मुझ गुरुसे विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जानेपर भी मेरे प्रति धर्मयुक्त दृष्टिसे ही देखना॥

वैशम्पायन उवाच

गुरोः सकाशात् समवाप्य विद्यां
भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः।
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद् ब्राह्मणस्य
शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः॥ ६१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरुसे संजीविनी विद्या प्राप्त करके सुन्दर रूपवाले विप्रवर कच तत्काल ही महर्षि शुक्राचार्यका पेट फाड़कर ठीक उसी तरह बाहर निकल आये,

जैसे दिन बीतनेपर पूर्णिमाकी संध्याको चन्द्रमा प्रकट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशि-
मुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य
ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ६२ ॥

मूर्तिमान् वेदराशिके तुल्य शुक्राचार्यको भूमिपर पड़ा देख कचने भी अपने मरे हुए गुरुको विद्याके बलसे जिलाकर उठा दिया और उस सिद्ध विद्याको प्राप्त कर लेनेपर गुरुको प्रणाम करके वे इस प्रकार बोले—॥ ६२ ॥

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्
विद्यामविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ६३ ॥

'मैं विद्यासे शून्य था, उस दशामें मेरे इन पूजनीय आचार्य जैसे मेरे दोनों कानोंमें मृतसंजीविनी विद्यारूप अमृतकी धारा डाली है, इसी प्रकार जो कोई दूसरे ज्ञानी महात्मा मेरे कानोंमें ज्ञानरूप अमृतका अभिषेक करेंगे, उन्हें भी मैं अपना माता-पिता मानूँगा (जैसे गुरुदेव शुक्राचार्यको मानता हूँ)। गुरुदेवके द्वारा किये हुए उपकारको स्मरण रखते हुए शिष्यको उचित है कि वह उनसे कभी द्रोह न करे ॥ ६३ ॥

ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य
निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं
पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ ६४ ॥

'जो लोग सम्पूर्ण वेदके सर्वोत्तम ज्ञानको देनेवाले तथा समस्त विद्याओंके आश्रयभूत पूजनीय गुरुदेवका उनसे विद्या प्राप्त करके भी आदर नहीं करते, वे प्रतिष्ठारहित होकर पापपूर्ण लोकों—नरकोंमें जाते हैं' ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुरापानाद् वञ्चनां प्राप्य विद्वान्
संज्ञानाशं चैव महातिघोरम् ।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं
पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥ ६५ ॥
समन्युरुत्थाय महानुभाव-
स्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः ।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः
काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् शुक्राचार्य मदिरापानसे ठगे गये थे और उस अत्यन्त भयानक परिस्थितिको पहुँच गये थे, जिसमें तनिक भी चेत नहीं रह जाता। मदिरासे मोहित होनेके कारण ही वे उस समय अपने मनके अनुकूल चलनेवाले प्रिय शिष्य ब्राह्मणकुमार कचको भी पी गये थे। यह सब देख और सोचकर वे महानुभाव कविपुत्र शुक्र कुपित हो उठे। मदिरापानके प्रति उनके मनमें क्रोध और घृणाका भाव जाग उठा और उन्होंने ब्राह्मणोंका हित करनेकी इच्छासे स्वयं इस प्रकार घोषणा की—॥

यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चि-
न्मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्या-
दस्मिंल्लोके गर्हितः स्यात् परे च ॥ ६७ ॥

'आजसे इस जगत्‌का जो कोई भी मन्दबुद्धि ब्राह्मण अज्ञानसे भी मदिरापान करेगा, वह धर्मसे भ्रष्ट हो ब्रह्महत्याके पापका भागी होगा तथा इस लोक और परलोक दोनोंमें वह निन्दित होगा। ६७।

मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां
मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ६८ ॥

'धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण-धर्मकी जो सीमा निर्धारित की गयी है, उसीमें मेरेद्वारा स्थापित की हुई यह मर्यादा भी रहे और यह सम्पूर्ण लोकमें मान्य हो। साधु पुरुष, ब्राह्मण, गुरुओंके समीप अध्ययन करनेवाले शिष्य, देवता और समस्त जगत्‌के मनुष्य, मेरी बाँधी हुई इस मर्यादाको अच्छी तरह सुन लें'॥

इतीदमुक्त्वा स महानुभाव-
स्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान् दानवान् दैवविमूढबुद्धी-
निदं समाहूय वचोऽभ्युवाच ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर तपस्याकी निधियोंकी निधि, अप्रमेय शक्तिशाली महानुभाव शुक्राचार्यने दैवने जिनकी बुद्धिको मोहित कर दिया था उन दानवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा—॥

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ
सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे ।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा
तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः ॥ ७० ॥

'दानवो ! तुम सब मूर्ख हो। मैं तुम्हें बताये देता हूँ—महात्मा कच मुझसे संजीविनी विद्या पाकर सिद्ध हो गये हैं। इनका प्रभाव मेरे ही समान है। ये ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हैं ॥७०॥

(योऽकार्षीद् दुष्करं कर्म देवानां कारणात् कचः ।
न तत्कीर्तिर्जरां गच्छेद् यज्ञियश्च भविष्यति ॥)
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः ।

दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम् ॥ ७१ ॥

'जिन महात्मा कचने देवताओंके लिये वह दुष्कर कार्य किया है, उनकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती और वे यज्ञभागके अधिकारी होंगे।'

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी चुप हो गये और दानव आश्चर्यचकित होकर अपने-अपने घर चले गये ॥ ७१ ॥

गुरोरुष्य सकाशे तु दशवर्षशतानि सः।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ७२ ॥

कचने एक हजार वर्षोंतक गुरुके समीप रहकर अपना व्रत पूरा कर लिया। तब घर जानेकी अनुमति मिल जानेपर कचने देवलोकमें जानेका विचार किया ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानीका कचसे पाणिग्रहणके लिये अनुरोध, कचकी अस्वीकृति तथा दोनोंका एक दूसरेको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

समावृतव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब कचका व्रत समाप्त हो गया और गुरुने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी, तब वे देवलोकको प्रस्थित हुए। उस समय देवयानीने उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षि अङ्गिराके पौत्र ! आप सदाचार, उत्तम कुल, विद्या, तपस्या तथा इन्द्रियसंयम आदिसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १-२ ॥

ऋषिर्यथाङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ॥ ३ ॥

'महायशस्वी महर्षि अङ्गिरा जिस प्रकार मेरे पिताजीके लिये माननीय हैं, उसी प्रकार आपके पिता बृहस्पतिजी मेरे लिये आदरणीय तथा पूज्य हैं ॥ ३ ॥

एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद् ब्रवीमि तपोधन।
व्रतस्थे नियमोपेते यथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥

'तपोधन ! ऐसा जानकर मैं जो कहती हूँ, उसपर विचार करें। आप जब व्रत और नियमोंके पालनमें लगे थे, उन दिनों मैंने आपके साथ जो बर्ताव किया है, उसे आप भूले नहीं होंगे ॥

स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

'अब आप व्रत समाप्त करके अपनी अभीष्ट विद्या प्राप्त कर चुके हैं। मैं आपसे प्रेम करती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें; वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिये' ॥५॥

कच उवाच

पूज्यो मान्यश्च भगवान् यथा तव पिता मम।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥

कचने कहा—निर्दोष अङ्गोंवाली देवयानी ! जैसे तुम्हारे पिता भगवान् शुक्राचार्य मेरे लिये पूजनीय और माननीय हैं, वैसे ही तुम हो; बल्कि उनसे भी बढ़कर मेरी पूजनीया हो ॥६॥

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥

भद्रे ! महात्मा भार्गवको तुम प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो, गुरुपुत्री होनेके कारण धर्मकी दृष्टिसे सदा मेरी पूजनीया हो ॥

यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

देवयानी ! जैसे मेरे गुरुदेव तुम्हारे पिता शुक्राचार्य सदा मेरे माननीय हैं, उसी प्रकार तुम हो; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः।
तस्मात् पूज्यश्च मान्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ॥ १० ॥

देवयानी बोली—द्विजोत्तम ! आप मेरे पिताके गुरुपुत्रके पुत्र हैं, मेरे पिताके नहीं; अतः मेरे लिये भी आप पूजनीय और माननीय हैं। कच ! जब असुर आपको बार-बार मार डालते थे, तबसे लेकर आजतक आपके प्रति मेरा जो प्रेम रहा है, उसे आज याद कीजिये ॥ ९-१० ॥

सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥ ११ ॥

सौहार्द और अनुरागके अवसरपर मेरी उत्तम भक्तिका परिचय आपको मिल चुका है। आप धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपके प्रति भक्ति रखनेवाली निरपराध अबला हूँ। आपको मेरा त्याग करना उचित नहीं है ॥ ११ ॥

कच उवाच

अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ॥ १२ ॥
यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि ॥ १३ ॥
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥

कचने कहा—उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली सुन्दरी! तुम मुझे ऐसे कार्यमें लगा रही हो, जिसमें लगाना कदापि उचित नहीं है। शुभे! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ। तुम मेरे लिये गुरुसे भी बढ़कर गुरुतर हो। विशाल नेत्र तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली भामिनि! शुक्राचार्यके जिस उदरमें तुम रह चुकी हो, उसीमें मैं भी रहा हूँ। इसलिये भद्रे! धर्मकी दृष्टिसे तुम मेरी बहिन हो। अतः सुमध्यमे! मुझसे ऐसी बात न कहो। कल्याणी! मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें तनिक भी रोष नहीं है ॥ १२—१४ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥ १५ ॥

अब मैं जाऊँगा, इसलिये तुमसे पूछता हूँ,—तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ, आशीर्वाद दो कि मार्गमें मेरा मङ्गल हो। धर्मकी अनुकूलता रखते हुए बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण कर लेना और सदा सावधान एवं सजग रहकर मेरे गुरुदेवकी सेवामें लगी रहना ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥ १६ ॥

देवयानी बोली—कच! मैंने धर्मानुकूल कामके लिये आपसे प्रार्थना की है। यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो आपकी यह संजीवनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ १६ ॥

कच उवाच

गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः।
गुरुणा चाननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥ १७ ॥

कचने कहा—देवयानी! गुरुपुत्री समझकर ही मैंने तुम्हारे अनुरोधको टाल दिया है; तुममें कोई दोष देखकर नहीं। गुरुजीने भी इसके विषयमें मुझे कोई आज्ञा नहीं दी है। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, मुझे शाप दे दो ॥ १७ ॥

आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ॥ १८ ॥
तस्माद् भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ॥ १९ ॥

बहिन! मैं आर्ष धर्मकी बात बता रहा था। इस दशामें तुम्हारे द्वारा शाप पानेके योग्य नहीं था। तुमने मुझे धर्मके अनुसार नहीं, कामके वशीभूत होकर आज शाप दिया है, इसलिये तुम्हारे मनमें जो कामना है, वह पूरी नहीं होगी। कोई भी ऋषिपुत्र (ब्राह्मणकुमार) कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा ॥ १८-१९ ॥

फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ॥ २० ॥

तुमने जो मुझे यह कहा कि तुम्हारी विद्या सफल नहीं होगी, सो ठीक है; किंतु मैं जिसे यह विद्या पढ़ा दूँगा, उसकी विद्या तो सफल होगी ही ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्विजश्रेष्ठ कच देवयानीसे ऐसा कहकर तत्काल बड़ी उतावलीके साथ इन्द्रलोकको चले गये ॥ २१ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ॥ २२ ॥

उन्हें आया देख इन्द्रादि देवता बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हो कचसे यह वचन बोले ॥ २२ ॥

देवा ऊचुः

यत् त्वयास्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम्।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक् च भविष्यसि ॥ २३ ॥

देवता बोले—ब्रह्मन्! तुमने हमारे हितके लिये यह बड़ा अद्भुत कार्य किया है, अतः तुम्हारे यशका कभी लोप नहीं होगा और तुम यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी होओगे ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका कलह, शर्मिष्ठाद्वारा कुएँमें गिरायी गयी देवयानीको ययातिका निकालना और देवयानीका शुक्राचार्यजीके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कच मृतसंजीविनी विद्या सीखकर आ गये, तब देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे कचसे उस विद्याको पढ़कर कृतार्थ हो गये ॥ १ ॥

सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन्।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून् पुरन्दर ॥ २ ॥

फिर सबने मिलकर इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर ! अब आपके लिये पराक्रम करनेका समय आ गया है, अपने शत्रुओंका संहार कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ॥ ३ ॥

संगठित होकर आये हुए देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर भूलोकमें आये। वहाँ एक वनमें उन्होंने बहुत-सी स्त्रियोंको देखा ॥ ३ ॥

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ॥ ४ ॥

वह वन चैत्ररथ नामक देवोद्यानके समान मनोहर था। उसमें वे कन्याएँ जलक्रीड़ा कर रही थीं। इन्द्रने वायुका रूप धारण करके उनके सारे कपड़े परस्पर मिला दिये ॥ ४ ॥

ततो जलात् समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥

तब वे सभी कन्याएँ एक साथ जलसे निकलकर अपने-अपने अनेक प्रकारके वस्त्र, जो निकट ही रक्खे हुए थे, लेने लगीं। उस सम्मिश्रणमें शर्मिष्ठाने देवयानीका वस्त्र ले लिया। शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्री थी; दोनोंके वस्त्र मिल गये हैं, इस बातका उसे पता नहीं था ॥ ५-६ ॥

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय वस्त्रोंकी अदला-बदलीको लेकर देवयानी और शर्मिष्ठा दोनोंमें वहाँ परस्पर बड़ा भारी विरोध खड़ा हो गया ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ॥ ८ ॥

देवयानी बोली—अरी दानवकी बेटी ! मेरी शिष्या होकर तू मेरा वस्त्र कैसे ले रही है ? तू सज्जनोंके उत्तम आचारसे शून्य है, अतः तेरा भला न होगा ॥ ८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥ ९ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—अरी ! मेरे पिता बैठे हों या सो रहे हों, उस समय तेरा पिता विनयशील सेवकके समान नीचे खड़ा होकर बार-बार वन्दीजनोंकी भाँति उनकी स्तुति करता है ॥ ९ ॥

याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ॥ ११ ॥

तू भिखमंगेकी बेटी है, तेरा बाप स्तुति करता और दान लेता है। मैं उनकी बेटी हूँ, जिनकी स्तुति की जाती है, जो दूसरोंको दान देते हैं और स्वयं किसीसे कुछ भी नहीं लेते हैं। अरी भिक्षुकि ! तू छाती पीट-पीटकर रो अथवा धूलमें लोट-लोटकर कष्ट भोग। मुझसे द्रोह रख या क्रोध कर (इसकी परवा नहीं है)। भिखमंगिन ! तू खाली हाथ है, तेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं है और देख ले, मेरे पास हथियार है। इसलिये तू मेरे ऊपर व्यर्थ ही क्रोध कर रही है। यदि लड़ना ही चाहती है, तो इधरसे भी डटकर सामना करनेवाला मुझ-जैसा योद्धा तुझे मिल जायगा। मैं तुझे कुछ भी नहीं गिनती ॥ १०-११ ॥

(प्रतिकूलं वदसि चेदितः प्रभृति याचकि।
आकृष्य मम दासीभिः प्रस्थाप्यसि बहिर्बहिः ॥)

भिक्षुकी ! अबसे यदि मेरे विरुद्ध कोई बात कहेगी, तो अपनी दासियोंसे घसीटवाकर तुझे यहाँसे बाहर निकलवा दूँगी॥

वैशम्पायन उवाच

समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि ॥ १२ ॥
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे ततः स्वपुरमागमत्।
हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीने सच्ची बातें कहकर अपनी उच्चता और महत्ता सिद्ध कर दी और शर्मिष्ठाके शरीरसे अपने वस्त्रको खींचने लगी। यह देख शर्मिष्ठाने उसे कुएँमें ढकेल दिया और अब यह मर

गयी होगी, ऐसा समझकर पापमय विचारवाली शर्मिष्ठा नगरको लौट आयी ॥ १२-१३ ॥

अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ।
अथ तं देशमभ्यागाद् ययातिर्नहुषात्मजः ॥१४॥

वह क्रोधके आवेशमें थी, अतः देवयानीकी ओर देखे बिना ही घर लौट गयी । तदनन्तर नहुषपुत्र ययाति उस स्थानपर आये ॥ १४ ॥

श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ।
स नाहुषः प्रेक्षमाण उद्पानं गतोदकम् ॥१५॥

उनके रथके वाहन तथा अन्य घोड़े भी थक गये थे । वे एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसके पीछे-पीछे आये थे और प्याससे कष्ट पा रहे थे । ययाति उस जलशून्य कूपको देखने लगे ॥ १५ ॥

ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ॥१६॥

वहाँ उन्हें अग्नि-शिखाके समान तेजस्विनी एक कन्या दिखायी दी, जो देवाङ्गनाके समान सुन्दरी थी । उसपर दृष्टि पड़ते ही राजाने उससे पूछा ॥ १६ ॥

सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ।
का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ॥१७॥

नृपश्रेष्ठ ययातिने पहले परम मधुर वचनोंद्वारा शान्तभावसे उसे आश्वासन दिया और कहा—'तुम कौन हो ? तुम्हारे नख लाल-लाल हैं । तुम षोडशी जान पड़ती हो । तुम्हारे कानोंके मणिमय कुण्डल अत्यन्त सुन्दर और चमकीले हैं ॥ १७ ॥

दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा ।
कथं च पतितास्यस्मिन् कूपे वीरुत्तृणावृते ॥१८॥
दुहिता चैव कस्य त्वं वद कल्यं सुमध्यमे ।

'तुम किसी अत्यन्त घोर चिन्तामें पड़ी हो । आतुर होकर शोक क्यों कर रही हो ? तृण और लताओंसे ढके हुए इस कुएँमें कैसे गिर पड़ीं ? तुम किसकी पुत्री हो ? सुमध्यमे ! ठीक-ठीक बताओ' ॥ १८½ ॥

देवयान्युवाच

योऽसौ देवैर्हतान् दैत्यानुत्थापयति विद्यया ॥१९॥
तस्य शुक्रस्य कन्याहं स मां नूनं न बुध्यते ।

देवयानी बोली—जो देवताओंद्वारा मारे गये दैत्योंको अपनी विद्याके बलसे जिलाया करते हैं, उन्हीं शुक्राचार्यकी मैं पुत्री हूँ । निश्चय ही उन्हें इस बातका पता नहीं होगा कि मैं इस दुरवस्थामें पड़ी हूँ ॥ १९½ ॥

(पृच्छसे मां कस्त्वमसि रूपवीर्यबलान्वितः ।
ब्रूह्यत्रागमनं किं वा श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

रूप, वीर्य और बलसे सम्पन्न तुम कौन हो, जो मेरा परिचय पूछते हो । यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या कारण है, बताओ । मैं यह सब ठीक-ठीक सुनना चाहती हूँ ॥

ययातिरुवाच

ययातिर्नाहुषोऽहं तु श्रान्तोऽद्य मृगलिप्सया ।
कूपे तृणावृते भद्रे दृष्टवानस्मि त्वामिह ॥)

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं राजा नहुषका पुत्र ययाति हूँ । एक हिंसक पशुको मारनेकी इच्छासे इधर आ निकला । थका-माँदा प्यास बुझानेके लिये यहाँ आया और तिनकोंसे ढके हुए इस कूपमें गिरी हुई तुमपर मेरी दृष्टि पड़ गयी ॥

एष मे दक्षिणो राजन् पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ॥२०॥
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः ।
जानामि त्वां हि संशान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ॥२१॥
तस्मान्मां पतितामस्मात् कूपादुद्धर्तुमर्हसि ।

(देवयानी बोली—) महाराज ! लाल नख और अङ्गुलियोंसे युक्त यह मेरा दाहिना हाथ है । इसे पकड़कर आप इस कुएँसे मेरा उद्धार कीजिये । मैं जानती हूँ, आप उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए नरेश हैं । मुझे यह भी मालूम है कि आप परम शान्त स्वभाववाले, पराक्रमी तथा यशस्वी वीर हैं । इसलिये इस कुएँमें गिरी हुई मुझ अबलाका आप यहाँसे उद्धार कीजिये ॥२०-२१½॥

वैशम्पायन उवाच

तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ॥२२॥
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ।
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात् कूपान्नराधिपः ॥२३॥
(गच्छ भद्रे यथाकामं न भयं विद्यते तव ।
इत्युच्यमाना नृपतिं देवयानी तमुत्तरम् ॥
उवाच मां त्वमादाय गच्छ शीघ्रं प्रियो हि मे ।
गृहीताहं त्वया पाणौ तस्माद् भर्त्ता भविष्यसि ॥
इत्येवमुक्तो नृपतिराह क्षत्रकुलोद्भवः ।
त्वं भद्रे ब्राह्मणी तस्मान्मया नार्हसि सङ्गमम् ॥
सर्वलोकगुरुः काव्यस्त्वं तस्य दुहितासि वै ।
तस्मादपि भयं मेऽद्य तस्मात् कल्याणि नार्हसि ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नहुषपुत्र राजा ययातिने देवयानीको ब्राह्मणकन्या जानकर उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें ले उसे उस कुएँसे बाहर निकाला । वेगपूर्वक कुएँसे बाहर करके राजा ययाति उससे बोले—'भद्रे ! अब जहाँ इच्छा हो जाओ । तुम्हें कोई भय नहीं है ।' राजा ययातिके ऐसा कहनेपर देवयानीने उन्हें उत्तर देते हुए कहा—'तुम मुझे शीघ्र अपने साथ ले चलो; क्योंकि तुम मेरे प्रियतम हो । तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, अतः

तुम्हीं मेरे पति होओगे।' देवयानीके ऐसा कहनेपर राजा बोले—'भद्रे ! मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और तुम ब्राह्मणकन्या हो। अतः मेरे साथ तुम्हारा समागम नहीं होना चाहिये। कल्याणी ! भगवान् शुक्राचार्य सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं और तुम उनकी पुत्री हो, अतः मुझे उनसे भी डर लगता है। तुम मुझ-जैसे तुच्छ पुरुषके योग्य कदापि नहीं हो'॥

देवयान्युवाच

यदि मद्वचनादद्य मां नेच्छसि नराधिप।
त्वामेव वरये पित्रा पश्चाज्ज्ञास्यसि गच्छसि॥)

देवयानी बोली—नरेश्वर! यदि तुम मेरे कहनेसे आज मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते, तो मैं पिताजीके द्वारा भी तुम्हारा ही वरण करूँगी। फिर तुम मुझे अपने योग्य मानोगे और साथ ले चलोगे।

आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ।
गते तु नाहुषे तस्मिन् देवयान्यप्यनिन्दिता॥२४॥
(क्वचिदार्ता च रुदती वृक्षमाश्रित्य तिष्ठति।
ततश्चिरायमाणायां दुहितर्याह भार्गवः॥
धात्रि त्वमानय क्षिप्रं देवयानीं शुचिस्मिताम्।
इत्युक्तमात्रे सा धात्री त्वरिताऽऽह्वयितुं गता॥
यत्र यत्र सखीभिः सा गता पदममार्गत।
सा ददर्श तथा दीनां श्रमार्तां रुदतीं स्थिताम्॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) तदनन्तर सुन्दरी देवयानीकी अनुमति लेकर राजा ययाति अपने नगरको चले गये। नहुषनन्दन ययातिके चले जानेपर सती-साध्वी देवयानी आर्त-भावसे रोती हुई कहीं किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़ी रही। जब पुत्रीके घर लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब शुक्राचार्यने धायसे कहा—'धाय ! तू पवित्र हास्यवाली मेरी बेटी देवयानीको शीघ्र यहाँ बुला ला।' उनके इतना कहते ही धाय तुरंत उसे बुलाने चली गयी। जहाँ-जहाँ देवयानी सखियोंके साथ गयी थी, वहाँ-वहाँ उसका पदचिह्न खोजती हुई धाय गयी और उसने पूर्वोक्त रूपसे श्रमपीड़ित एवं दीन होकर रोती हुई देवयानीको देखा॥

धात्र्युवाच

वृत्तं ते किमिदं भद्रे शीघ्रं वद पिताऽऽह्वयत्।
धात्रीमाह समाहूय शर्मिष्ठावृजिनं कृतम्॥)
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः।

तब धायने पूछा—भद्रे ! यह तुम्हारा क्या हाल है ? शीघ्र बताओ। तुम्हारे पिताजीने तुम्हें बुलाया है।

इसपर देवयानीने धायको अपने निकट बुलाकर शर्मिष्ठाद्वारा किये हुए अपराधको बताया। वह शोकसे संतप्त हो अपने सामने आयी हुई धाय घूर्णिकासे बोली॥

देवयान्युवाच

त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः॥२५॥
नेदानीं सम्प्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः।

देवयानीने कहा—घूर्णिके ! तुम वेगपूर्वक जाओ और शीघ्र मेरे पिताजीसे कह दो 'अब मैं वृषपर्वाके नगरमें पैर नहीं रक्खूँगी'॥ २२–२५½॥

वैशम्पायन उवाच

सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकासुरमन्दिरम्॥२६॥
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना।
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम्॥२७॥
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः।
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम्॥२८॥
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने।
दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने॥२९॥
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत्।
आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः॥३०॥
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर घूर्णिका तुरंत असुरराजके महलमें गयी और वहाँ शुक्राचार्यको देखकर सम्भ्रमपूर्ण चित्तसे वह बात बतला दी। महाभाग ! उसने महाप्राज्ञ शुक्राचार्यको यह बताया कि 'वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके द्वारा देवयानी वनमें मृततुल्य कर दी गयी है।' अपनी पुत्रीको शर्मिष्ठाद्वारा मृततुल्य की गयी सुनकर शुक्राचार्य बड़ी उतावलीके साथ निकले और दुखी होकर उसे वनमें ढूँढ़ने लगे। तदनन्तर वनमें अपनी बेटी देवयानीको देखकर शुक्राचार्यने दोनों भुजाओंसे उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया और दुखी होकर कहा—'बेटी ! सब लोग अपने ही दोष और गुणोंसे—अशुभ या शुभ कर्मोंसे दुःख एवं सुखमें पड़ते हैं। मालूम होता है, तुमसे कोई बुरा कर्म बन गया था, जिसका बदला तुम्हें इस रूपमें मिला है'॥ २६–३०½॥

देवयान्युवाच

निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु शृणुष्वावहितो मम॥३१॥

देवयानी बोली—पिताजी ! मुझे अपने कर्मोंका फल मिले या न मिले, आप मेरी बात ध्यान देकर सुनिये॥ ३१॥

शर्मिष्ठया यदुक्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः।
सत्यं किलैतत् सा प्राह दैत्यानामसि गायनः॥३२॥

वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने आज मुझसे जो कुछ कहा है, क्या यह सच है ? वह कहती है—'आप भाटोंकी तरह दैत्योंके गुण गाया करते हैं'॥ ३२॥

एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम्॥३३॥

वृषपर्वाकी लाड़िली शर्मिष्ठा क्रोधसे लाल आँखें करके आज मुझसे इस प्रकार अत्यन्त तीखे और कठोर वचन कह रही थी—॥ ३३ ॥

स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥३४॥

'देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, नित्य भीख माँगनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी है और मैं तो उन महाराजकी पुत्री हूँ, जिनकी तुम्हारे पिता स्तुति करते हैं, जो स्वयं दान देते हैं और लेते एक धेला भी नहीं हैं' ॥ ३४ ॥

इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥३५॥

वृषपर्वाकी बेटी शर्मिष्ठाने आज मुझसे ऐसी बात कही है। कहते समय उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह भारी घमंडसे भरी हुई थी और उसने एक बार ही नहीं, अपितु बार-बार उपर्युक्त बातें दुहरायी हैं ॥ ३५ ॥

यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया ॥३६॥

तात ! यदि सचमुच मैं स्तुति करनेवाले और दान लेने-वालेकी बेटी हूँ, तो मैं शर्मिष्ठाको अपनी सेवाओंद्वारा प्रसन्न करूँगी। यह बात मैंने अपनी सखीसे कह दी थी ॥ ३६ ॥

(उक्ताप्येवं भृशं क्रुद्धा मां गृह्य विजने वने।
कूपे प्रक्षेपयामास प्रक्षिप्यैव गृहं ययौ ॥)

मेरे ऐसा कहनेपर भी अत्यन्त क्रोधमें भरी हुई शर्मिष्ठाने उस निर्जन वनमें मुझे पकड़कर कुएँमें ढकेल दिया, उसके बाद वह अपने घर चली गयी ॥

शुक्र उवाच

स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥३७॥

शुक्राचार्यने कहा—देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, भीख माँगनेवाले या दान लेनेवालेकी बेटी नहीं है। तू उस पवित्र ब्राह्मणकी पुत्री है, जो किसीकी स्तुति नहीं करता और जिसकी सब लोग स्तुति करते हैं ॥ ३७ ॥

वृषपर्वैव तद् वेद शक्रो राजा च नाहुषः।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥३८॥

इस बातको वृषपर्वा, देवराज इन्द्र तथा राजा ययाति जानते हैं। निर्द्वन्द्व अचिन्त्य ब्रह्म ही मेरा ऐश्वर्ययुक्त बल है ॥

यच्च किंचित् सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि।
तस्याहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयम्भुवा ॥३९॥

ब्रह्माजीने संतुष्ट होकर मुझे वरदान दिया है; उसके अनुसार इस भूतलपर, देवलोकमें अथवा सब प्राणियोंमें जो कुछ भी है, उन सबका मैं सदा-सर्वदा स्वामी हूँ ॥ ३९ ॥

अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया।
पुष्णाम्योषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ॥४०॥

मैं ही प्रजाओंके हितके लिये पानी बरसाता हूँ और मैं ही सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ, यह तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विषादमापन्नां मन्युना सम्प्रपीडिताम्।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानी इस प्रकार विषादमें डूबकर क्रोध और ग्लानिसे अत्यन्त कष्ट पा रही थी, उस समय पिताने सुन्दर मधुर वचनोंद्वारा उसे समझाया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यद्वारा देवयानीको समझाना और देवयानीका असंतोष

शुक्र उवाच

(मम विद्या हि निर्द्वन्द्वा ऐश्वर्यं हि फलं मम।
दैन्यं शाठ्यं च जैह्मयं च नास्ति मे यदधर्मतः ॥)
यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी ! मेरी विद्या द्वन्द्वरहित है। मेरा ऐश्वर्य ही उसका फल है। मुझमें दीनता, शठता, कुटिलता और अधर्मपूर्ण बर्ताव नहीं है। देवयानी ! जो मनुष्य सदा दूसरोंके कठोर वचन (दूसरोंद्वारा की हुई अपनी निन्दा) को सह लेता है, उसने इस सम्पूर्ण जगत्पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा समझो। जो उभरे हुए क्रोधको घोड़ेके समान वशमें कर लेता है, वही सत्पुरुषोंद्वारा सच्चा सारथि कहा गया है। किंतु जो केवल बागडोर या लगाम पकड़कर लटकता रहता है, वह नहीं ॥ १-२ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम्॥ ३॥

देवयानी! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मनसे निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया॥ ३॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते॥ ४॥

जैसे साँप पुरानी केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभड़नेवाले क्रोधको यहाँ क्षमाद्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है॥ ४॥

यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम्॥ ५॥

जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरेके सतानेपर भी दुखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थोंका सुदृढ़ पात्र है॥ ५॥

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः।
न क्रुध्येद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः॥ ६॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक प्रत्येक मासमें बिना किसी थकावटके निरन्तर यज्ञ करता रहता है और दूसरा जो किसीपर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनोंमें क्रोध न करनेवाला ही श्रेष्ठ है॥ ६॥

(क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम्॥
न पूतो न तपस्वी च न यज्वा न च कर्मवित्।
क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च॥
पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम्॥)
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः।
न तत् प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम्॥ ७॥

क्रोधीके यज्ञ, दान और तप—सभी निष्फल होते हैं। अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुषके यज्ञ, तप और दान महान् फल देनेवाले होते हैं। जो क्रोधके वशीभूत हो जाता है, वह कभी पवित्र नहीं होता तथा तपस्या भी नहीं कर सकता। उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है और वह कर्मके रहस्यको भी नहीं जानता। इतना ही नहीं, उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभावसे ही क्रोधी है, उसके पुत्र, भृत्य, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायँगे। अबोध बालक और बालिकाएँ अज्ञानवश आपसमें जो वैर-विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्योंको नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे नादान बालक दूसरोंके बलाबलको नहीं जानते॥ ७॥

देवयान्युवाच

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम्।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम्॥ ८॥

देवयानीने कहा—पिताजी! यद्यपि मैं अभी बालिका हूँ फिर भी धर्म-अधर्मका अन्तर समझती हूँ। क्षमा और निन्दाकी सबलता और निर्बलताका भी मुझे ज्ञान है॥ ८॥

शिष्यस्याशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता।
तस्मात् संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते॥ ९॥

परंतु जो शिष्य होकर भी शिष्योचित बर्ताव नहीं करता, अपना हित चाहनेवाले गुरुको उसकी धृष्टता क्षमा नहीं करनी चाहिये। इसलिये इन संकीर्ण आचार-विचारवाले दानवोंके बीच निवास करना अब मुझे अच्छा नहीं लगता॥ ९॥

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु॥ १०॥

जो पुरुष दूसरोंके सदाचार और कुलकी निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचारवाले मनुष्योंमें कल्याणकी इच्छावाले विद्वान् पुरुषको नहीं रहना चाहिये॥ १०॥

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते॥ ११॥

जो लोग आचार, व्यवहार अथवा कुलीनताकी प्रशंसा करते हों, उन साधु पुरुषोंमें ही निवास करना चाहिये और वही निवास श्रेष्ठ कहा जाता है॥ ११॥

(सुयन्त्रिता वरा नित्यं विहीनाश्च धनैर्नराः।
दुर्वृत्ताः पापकर्माणश्चाण्डाला धनिनोऽपि वा॥
अकारणाद् ये द्विषन्ति परिवादं वदन्ति च।
न तत्रास्य निवासोऽस्ति पाप्मभिः पापतां व्रजेत्॥
सुकृते दुष्कृते वापि यत्र सज्जति यो नरः।
ध्रुवं रतिर्भवेत् तत्र तस्माद् दोषं न रोचयेत्॥)
वाग् दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवारणिम्॥ १२॥

धनहीन मनुष्य भी यदि सदा अपने मनपर संयम रक्खें तो वे श्रेष्ठ हैं और धनवान् भी यदि दुराचारी तथा पापकर्मी हों, तो वे चाण्डालके समान हैं। जो अकारण किसीके साथ द्वेष करते हैं और दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं, उनके बीचमें सत्पुरुषका निवास नहीं होना चाहिये; क्योंकि पापियोंके सङ्गसे मनुष्य पापात्मा हो जाता है। मनुष्य पाप अथवा पुण्य जिसमें भी आसक्त होता है, उसीमें उसकी दृढ़ प्रीति हो जाती है, इसलिये पापकर्ममें प्रीति नहीं करनी चाहिये।

तात ! वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने जो अत्यन्त भयङ्कर दुर्वचन कहा है, वह मेरे हृदयको मथ रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे अग्नि प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है ॥ १२ ॥

न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
(निःसंशयो विशेषेण परुषं मर्मकृन्तनम् ।
सुहृन्मित्रजनास्तेषु सौहृदं न च कुर्वते ॥)
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ॥ १३ ॥

इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात मैं अपने लिये तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं मानती हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कटुवचन मर्मस्थलोंको विदीर्ण करनेवाला होता है। कटुवादी मनुष्योंसे उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र भी प्रेम नहीं करते हैं। जो श्रीहीन होकर शत्रुओंकी चमकती हुई लक्ष्मीकी उपासना करता है, उस मनुष्यका तो मर जाना ही अच्छा है; ऐसा विद्वान् पुरुष अनुभव करते हैं ॥ १३ ॥

(अवमानमवाप्नोति शनैर्नीचेषु सङ्गतः ।
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
शनैर्दुःखं शस्त्रविषाग्निजातं
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
संरोहति शरैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥)

नीच पुरुषोंके संगसे मनुष्य धीरे-धीरे अपमानित हो जाता है। मुखसे जो कटुवचनरूपी बाण छूटते हैं, उनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है। शस्त्र, विष और अग्निसे प्राप्त होनेवाला दुःख शनैः-शनैः अनुभवमें आता है (परंतु कटुवचन तत्काल ही अत्यन्त कष्ट देने लगता है)। अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह दूसरोंपर वाग्बाण न छोड़े। बाणसे बिंधा हुआ वृक्ष और फरसेसे काटा हुआ जंगल फिर पनप जाता है, परंतु वाणीद्वारा जो भयानक कटु वचन निकलता है, उससे घायल हुए हृदयका घाव फिर नहीं भरता ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यान-विषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल २३½ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यका वृषपर्वाको फटकारना तथा उसे छोड़कर जानेके लिये उद्यत होना और वृषपर्वाके आदेशसे शर्मिष्ठाका देवयानीकी दासी बनकर शुक्राचार्य तथा देवयानीको संतुष्ट करना

वैशम्पायन उवाच

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर भृगुश्रेष्ठ शुक्राचार्य बड़े क्रोधमें भरकर वृषपर्वाके समीप गये। वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था। शुक्राचार्यजीने बिना कुछ सोचे-विचारे उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ २ ॥

'राजन् ! जो अधर्म किया जाता है, उसका फल तुरंत नहीं मिलता। जैसे गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जोत-बोकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानेवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड़ काट देता है ॥ २ ॥

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुं भुक्तमिवोदरे ॥ ३ ॥

'यदि वह (पापसे उपार्जित द्रव्यका) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभोग करनेके कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतोंपर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरंत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेटमें उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है ॥ ३ ॥

(अधीयानं हितं राजन् क्षमावन्तं जितेन्द्रियम् ।)
यदघातयथा विप्रं कचमाङ्गिरसं तदा ।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ४ ॥

राजन् ! अङ्गिराके पौत्र कच विशुद्ध ब्राह्मण हैं। वे स्वाध्याय-परायण, हितैषी, क्षमावान् और जितेन्द्रिय हैं, स्वभावसे ही निष्पाप और धर्मज्ञ हैं तथा उन दिनों मेरे घरमें रहकर निरन्तर मेरी सेवामें संलग्न थे, परंतु तुमने उनका बार-बार वध करवाया था ॥ ४ ॥

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम।
वृषपर्वन् निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम्।
स्थातुं त्वद्विषये राजन् न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ५ ॥

'वृषपर्वन्! ध्यान देकर मेरी यह बात सुन लो, तुम्हारे द्वारा पहले वधके अयोग्य ब्राह्मणका वध किया गया है और अब मेरी पुत्री देवयानीका भी वध करनेके लिये उसे कुएँमें ढकेला गया है। इन दोनों हत्याओंके कारण मैं तुमको और तुम्हारे भाई-बन्धुओंको त्याग दूँगा। राजन्! तुम्हारे राज्यमें और तुम्हारे साथ मैं एक क्षण भी नहीं ठहर सकूँगा ॥ ५ ॥

अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम्।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ॥ ६ ॥

'दैत्यराज! बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुमने मुझे मिथ्यावादी समझ लिया। तभी तो तुम अपने इस दोषको दूर नहीं करते और लापरवाही दिखाते हो' ॥ ६ ॥

वृषपर्वोवाच

(यदि ब्रह्मन् घातयामि यदि वाऽऽक्रोशयाम्यहम्।
शर्मिष्ठया देवयानीं तेन गच्छाम्यसद्गतिम् ॥)

वृषपर्वा बोले—ब्रह्मन्! यदि मैं शर्मिष्ठासे देवयानीको पिटवाता या तिरस्कृत करवाता होऊँ तो इस पापसे मुझे सद्गति न मिले ॥

नाधर्मं न मृषावादं त्वयि जानामि भार्गव।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत् प्रसीदतु नो भवान् ॥ ७ ॥
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव।
समुद्रं सम्प्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ८ ॥

भृगुनन्दन! आपपर अधर्म अथवा मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी लगाया हो, यह मैं नहीं जानता। आपमें तो सदा धर्म और सत्य प्रतिष्ठित हैं। अतः आप हमलोगोंपर कृपा करके प्रसन्न होइये। भार्गव! यदि आप हमें छोड़कर चले जाते हैं तो हम सब लोग समुद्रमें समा जायँगे; हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ७-८ ॥

(यद्येव देवान् गच्छेस्त्वं मां च त्यक्त्वा ग्रहाधिप।
सर्वत्यागं ततः कृत्वा प्रविशामि हुताशनम् ॥)

ग्रहेश्वर! यदि आप मुझे छोड़कर देवताओंके पक्षमें चले जायँगे तो मैं भी सर्वस्व त्याग कर जलती आगमें कूद पड़ूँगा॥

शुक्र उवाच

समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ॥ ९ ॥

शुक्राचार्यने कहा—असुरो! तुमलोग समुद्रमें घुस जाओ अथवा चारों दिशाओंमें भाग जाओ; मैं अपनी पुत्रीके प्रति किया गया अप्रिय बर्ताव नहीं सह सकता; क्योंकि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ ९ ॥

प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम्।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ १० ॥

तुम देवयानीको प्रसन्न करो, क्योंकि उसीमें मेरे प्राण बसते हैं। उसके प्रसन्न हो जानेपर इन्द्रके पुरोहित बृहस्पतिकी भाँति मैं तुम्हारे योगक्षेमका वहन करता रहूँगा ॥ १० ॥

वृषपर्वोवाच

यत् किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ ११ ॥

वृषपर्वा बोले—भृगुनन्दन! असुरेश्वरोंके पास इस भूतलपर जो कुछ भी सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े और गाय आदि पशुधन है, उसके और मेरे भी आप ही स्वामी हैं ॥ ११ ॥

शुक्र उवाच

यत् किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ १२ ॥

शुक्राचार्यने कहा—महान् असुर! दैत्यराजोंका जो कुछ भी धन-वैभव है, यदि उसका स्वामी मैं ही हूँ तो उसके द्वारा इस देवयानीको प्रसन्न करो ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः।
देवयान्यन्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर वृषपर्वाने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा मान ली। तदनन्तर दोनों देवयानीके पास गये और महाकवि शुक्राचार्यने वृषपर्वाकी कही हुई सारी बात कह सुनायी ॥ १३ ॥

देवयान्युवाच

यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव।
नाभिजानामि तत् तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १४ ॥

तब देवयानीने कहा—तात! यदि आप राजाके धनके स्वामी हैं तो आपके कहनेसे मैं इस बातको नहीं मानूँगी। राजा स्वयं कहें, तो मुझे विश्वास होगा ॥ १४ ॥

वृषपर्वोवाच

यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि यदि वापि हि दुर्लभम्॥ १५ ॥

वृषपर्वा बोले—पवित्र मुसकानवाली देवयानी! तुम जिस वस्तुको पाना चाहती हो, वह यदि दुर्लभ हो तो भी तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये।
अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दद्याच्च मे पिता॥ १६॥

देवयानीने कहा—मैं चाहती हूँ, शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओंके साथ मेरी दासी होकर रहे और पिताजी जहाँ मेरा विवाह करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाय॥ १६॥

वृषपर्वोवाच

उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम्॥ १७॥

यह सुनकर वृषपर्वाने धायसे कहा—धात्री! तुम उठो, जाओ और शर्मिष्ठाको शीघ्र बुला लाओ एवं देवयानीकी जो कामना हो, उसे वह पूर्ण करे॥ १७॥

(त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥)

कुलके हितके लिये एक मनुष्यको त्याग दे। गाँवके भलेके लिये एक कुलको छोड़ दे। जनपदके लिये एक गाँवकी उपेक्षा कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारी पृथ्वीको त्याग दे॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत्।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह॥ १८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धायने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा—'भद्रे शर्मिष्ठे! उठो और अपने जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाओ॥ १८॥

त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान् देवयान्या प्रचोदितः।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे॥ १९॥

'पापरहित राजकुमारी! आज बाबा शुक्राचार्य देवयानीके कहनेसे अपने शिष्यों—यजमानोंको त्याग रहे हैं। अतः देवयानीकी जो कामना हो, वह तुम्हें पूर्ण करनी चाहिये'॥ १९॥

शर्मिष्ठोवाच

यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम्।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम्।
मद्दोषान्मा गमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते॥ २०॥

शर्मिष्ठा बोली—यदि इस प्रकार देवयानीके लिये ही शुक्राचार्यजी मुझे बुला रहे हैं तो देवयानी जो कुछ चाहती है, वह सब आजसे मैं करूँगी। मेरे अपराधसे शुक्राचार्यजी न जायँ और देवयानी भी मेरे कारण अन्यत्र जानेका विचार न करे॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा।
पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात्॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पिताकी आज्ञासे राजकुमारी शर्मिष्ठा शिबिकापर आरूढ़ हो तुरंत राजधानीसे बाहर निकली। उस समय वह एक सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई थी॥ २१॥

शर्मिष्ठोवाच

अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता॥ २२॥

शर्मिष्ठा बोली—देवयानी! मैं एक सहस्र दासियोंके साथ तुम्हारी दासी बनकर सेवा करूँगी और तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा ब्याह करेंगे, वहाँ तुम्हारे साथ चलूँगी॥

देवयान्युवाच

स्तुवतो दुहिताहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि॥ २३॥

देवयानीने कहा—अरी! मैं तो स्तुति करनेवाले और दान लेनेवाले भिक्षुककी पुत्री हूँ और तुम उस बड़े बापकी बेटी हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं; फिर मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी?॥ २३॥

शर्मिष्ठोवाच

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत्।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता॥ २४॥

शर्मिष्ठा बोली—जिस किसी उपायसे भी सम्भव हो, अपने विपद्ग्रस्त जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाना चाहिये। अतः तुम्हारे पिता जहाँ तुम्हें देंगे, वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगी॥ २४॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत्॥ २५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! जब वृषपर्वाकी पुत्रीने दासी होनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब देवयानीने अपने पितासे कहा॥ २५॥

देवयान्युवाच

प्रविशामि पुरं तात तुष्टास्मि द्विजसत्तम।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते॥ २६॥

देवयानी बोली—पिताजी! अब मैं नगरमें प्रवेश करूँगी। द्विजश्रेष्ठ! अब मुझे विश्वास हो गया कि आपका विज्ञान और आपकी विद्याका बल अमोघ है॥ २६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी पुत्री देवयानीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्यने समस्त दानवोंसे पूजित एवं प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

सखियोंसहित देवयानी और शर्मिष्ठाका वन-विहार, राजा ययातिका आगमन, देवयानीकी उनके साथ बातचीत तथा विवाह

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उत्तम वर्णवाली देवयानी फिर उसी वनमें विहारके लिये गयी ॥ १ ॥

तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा।
तमेव देशं सम्प्राप्ता यथाकामं चचार सा ॥ २ ॥
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम् ।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम्॥ ३ ॥
खादन्त्यो विविधान् भक्ष्यान् विदशन्त्यः फलानि च ।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ॥ ४ ॥
तमेव देशं सम्प्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः।
ददर्श देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ॥ ५ ॥

उस समय उसके साथ एक हजार दासियोंसहित[1] शर्मिष्ठा भी सेवामें उपस्थित थी। वनके उसी प्रदेशमें जाकर वह उन समस्त सखियोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक इच्छानुसार विचरने लगी। वे सभी किशोरियाँ वहाँ भाँति-भाँतिके खेल खेलती हुई आनन्दमें मग्न हो गयीं। वे कभी वासन्तिक पुष्पोंके मकरन्दका पान करतीं, कभी नाना प्रकारके भोज्य पदार्थोंका स्वाद लेतीं और कभी फल खाती थीं। इसी समय नहुषपुत्र राजा ययाति पुनः शिकार खेलनेके लिये दैवेच्छासे उसी स्थानपर आ गये। वे परिश्रम करनेके कारण अधिक थक गये थे और जल पीना चाहते थे। उन्होंने देवयानी, शर्मिष्ठा तथा अन्य युवतियोंको भी देखा ॥ २–५ ॥

पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः ।
(आसने प्रवरे दिव्ये सर्वाभरणभूषिते ।)
उपविष्टां च ददर्श देवयानीं शुचिस्मिताम् ॥ ६ ॥

वे सभी दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो पीनेयोग्य रसका पान और भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ कर रही थीं। राजाने पवित्र मुसकानवाली देवयानीको वहाँ समस्त आभूषणोंसे विभूषित परम सुन्दर दिव्य आसनपर बैठी हुई देखा ॥ ६ ॥

रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम् ।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ७ ॥

उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुन्दरी उन स्त्रियोंके मध्यमें बैठी हुई थी और शर्मिष्ठाद्वारा उसकी चरणसेवा की जा रही थी ॥ ७ ॥

ययातिरुवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते ।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ॥ ८ ॥

ययातिने पूछा—दो हजार कुमारी सखियोंसे घिरी हुई कन्याओ ! मैं आप दोनोंके गोत्र और नाम पूछ रहा हूँ। शुभे ! आप दोनों अपना परिचय दें ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥ ९ ॥

देवयानी बोली—महाराज ! मैं स्वयं परिचय देती हूँ, आप मेरी बात सुनें। असुरोंके जो सुप्रसिद्ध गुरु शुक्राचार्य हैं, मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये ॥ ९ ॥

इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ १० ॥

यह दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मेरी सखी और दासी है। मैं विवाह होनेपर जहाँ जाऊँगी, वहाँ यह भी जायगी ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ॥ ११ ॥

ययाति बोले—सुन्दरी ! यह असुरराजकी रूपवती कन्या सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठा आपकी सखी और दासी किस प्रकार हुई ? यह बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच

सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्तते ।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः॥ १२ ॥

[1] किन्हीं श्लोकोंमें दो हजार और किन्हींमें एक हजार सखियोंका वर्णन आता है। यथावसर दोनों ठीक हैं।

देवयानी बोली—नरश्रेष्ठ ! सब लोग दैवके विधानका ही अनुसरण करते हैं। इसे भी भाग्यका विधान मानकर संतोष कीजिये। इस विषयकी विचित्र घटनाओंको न पूछिये ॥

राजवद् रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च।
को नाम त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥ १३ ॥

आपके रूप और वेष राजाके समान हैं और आप ब्राह्मी वाणी (विशुद्ध संस्कृत भाषा) बोल रहे हैं। मुझे बताइये; आपका क्या नाम है, कहाँसे आये हैं और किसके पुत्र हैं ? ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ॥ १४ ॥

ययातिने कहा—मैंने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सम्पूर्ण वेदका अध्ययन किया है। मैं राजा नहुषका पुत्र हूँ और इस समय स्वयं राजा हूँ। मेरा नाम ययाति है ॥ १४ ॥

देवयान्युवाच

केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ॥ १५ ॥

देवयानीने पूछा—महाराज ! आप किस कार्यसे वनके इस प्रदेशमें आये हैं ? आप जल अथवा कमल लेना चाहते हैं या शिकारकी इच्छासे ही आये हैं ? ॥ १५ ॥

ययातिरुवाच

मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः।
बहुधाप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं एक हिंसक पशुको मारनेके लिये उसका पीछा कर रहा था, इससे बहुत थक गया हूँ और पानी पीनेके लिये यहाँ आया हूँ। अतः अब मुझे आज्ञा दीजिये ॥

देवयान्युवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह।
त्वदधीनास्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ॥ १७ ॥

देवयानीने कहा—राजन् ! आपका कल्याण हो। मैं दो हजार कन्याओं तथा अपनी सेविका शर्मिष्ठाके साथ आपके अधीन होती हूँ। आप मेरे सखा और पति हो जायँ ॥१७॥

ययातिरुवाच

विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ॥ १८ ॥

ययाति बोले—शुक्रनन्दिनी देवयानी ! आपका भला हो। भाविनि ! मैं आपके योग्य नहीं हूँ। क्षत्रियलोग आपके पितासे कन्यादान लेनेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम्।
ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ॥ १९ ॥

देवयानीने कहा—नहुषनन्दन ! ब्राह्मणसे क्षत्रिय जाति और क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति मिली हुई है। आप राजर्षिके पुत्र हैं और स्वयं भी राजर्षि हैं। अतः मुझसे विवाह कीजिये ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने।
पृथग्धर्माः पृथक्शौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ॥ २० ॥

ययाति बोले—वराङ्गने ! एक ही परमेश्वरके शरीरसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है; परंतु सबके धर्म और शौचाचार अलग अलग हैं। ब्राह्मण उन सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

देवयान्युवाच

पाणिधर्मो नाहुषायं न पुम्भिः सेवितः पुरा।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥ २१ ॥

देवयानीने कहा—नहुषकुमार ! नारीके लिये पाणिग्रहण एक धर्म है। पहले किसी भी पुरुषने मेरा हाथ नहीं पकड़ा था। सबसे पहले आपहीने मेरा हाथ पकड़ा था। इसलिये आपहीका मैं पतिरूपमें वरण करती हूँ ॥२१॥

कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान् स्पृशेत्।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ॥ २२ ॥

मैं मनको वशमें रखनेवाली स्त्री हूँ। आप-जैसे राजर्षिकुमार अथवा राजर्षिद्वारा पकड़े गये मेरे हाथका स्पर्श अब दूसरा पुरुष कैसे कर सकता है ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच

क्रुद्धादाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात्।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ॥ २३ ॥

ययाति बोले—देवि ! विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प तथा सब ओरसे प्रज्वलित अग्निसे भी अधिक दुर्धर्ष एवं भयंकर समझे ॥ २३ ॥

देवयान्युवाच

कथमाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात्।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥

देवयानीने कहा—पुरुषप्रवर ! ब्राह्मण विषधर सर्प और सब ओरसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निसे भी दुर्धर्ष एवं भयंकर है, यह बात आपने कैसे कही ? ॥ २४ ॥

ययातिरुवाच

एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥ २५ ॥
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद् भीरु मतो मम।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥ २६ ॥

ययाति बोले—भद्रे ! सर्प एकको ही मारता है, शस्त्रसे भी एक ही व्यक्तिका वध होता है; परंतु क्रोधमें

भरा हुआ ब्राह्मण समस्त राष्ट्र और नगरका भी नाश कर देता है। भीरु! इसीलिये मैं ब्राह्मणको अधिक दुर्धर्ष मानता हूँ। अतः जबतक आपके पिता आपको मेरे हवाले न कर दें, तबतक मैं आपसे विवाह नहीं करूँगा ॥ २५-२६ ॥

देवयान्युवाच

दत्तां वहस्व तन्मा त्वं पित्रा राजन् वृतो मया।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥ २७ ॥
(तिष्ठ राजन् मुहूर्तं तु प्रेषयिष्याम्यहं पितुः।

देवयानीने कहा—राजन्! मैंने आपका वरण कर लिया है, अब आप मेरे पिताके देनेपर ही मुझसे विवाह करें। आप स्वयं तो उनसे याचना करते नहीं हैं; उनके देनेपर ही मुझे स्वीकार करेंगे। अतः आपको उनके कोपका भय नहीं है। राजन्! दो घड़ी ठहर जाइये। मैं अभी पिताके पास संदेश भेजती हूँ ॥ २७ ॥

गच्छ त्वं धात्रिके शीघ्रं ब्रह्मकल्पमिहानय ॥
स्वयंवरे वृतं शीघ्रं निवेदय च नाहुषम् ॥)

धाय! शीघ्र जाओ और मेरे ब्रह्मतुल्य पिताको यहाँ बुला ले आओ। उनसे यह भी कह देना कि देवयानीने स्वयंवरकी विधिसे नहुषनन्दन राजा ययातिका पतिरूपमें वरण किया है ॥

वैशम्पायन उवाच

त्वरितं देवयान्याथ संदिष्टं पितुरात्मनः।
सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार देवयानीने तुरंत धायको भेजकर अपने पिताको संदेश दिया। धायने जाकर शुक्राचार्यसे सब बातें ठीक-ठीक बता दीं ॥ २८ ॥

श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः।
दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ २९ ॥

सब समाचार सुनते ही शुक्राचार्यने वहाँ आकर राजाको दर्शन दिया। विप्रवर शुक्राचार्यको आया देख राजा ययातिने उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर विनम्रभावसे खड़े हो गये ॥ २९ ॥

देवयान्युवाच

राजायं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत्।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे ॥ ३० ॥

देवयानी बोली—तात! ये नहुषपुत्र राजा ययाति हैं। इन्होंने संकटके समय मेरा हाथ पकड़ा था। आपको नमस्कार है। आप मुझे इन्हींकी सेवामें समर्पित कर दें। मैं इस जगत्में इनके सिवा दूसरे किसी पतिका वरण नहीं करूँगी ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥ ३१ ॥

शुक्राचार्यने कहा—वीर नहुषनन्दन! मेरी इस लाडली पुत्रीने तुम्हें पतिरूपमें वरण किया है; अतः मेरी दी हुई इस कन्याको तुम अपनी पटरानीके रूपमें ग्रहण करो ॥

ययातिरुवाच

अधर्मो न स्पृशेदेष महान् मामिह भार्गव।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥ ३२ ॥

ययाति बोले—भार्गव ब्रह्मन्! मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि इस विवाहमें यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला वर्णसंकर-जनित महान् अधर्म मेरा स्पर्श न करे ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच

अधर्मात् त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम्।
अस्मिन् विवाहे मा म्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥ ३३ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन्! मैं तुम्हें अधर्मसे मुक्त करता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँग लो। इस विवाहको लेकर तुम्हारे मनमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये। मैं तुम्हारे सारे पापको दूर करता हूँ ॥ ३३ ॥

वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम्।
अनया सह सम्प्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ॥ ३४ ॥

तुम सुन्दरी देवयानीको धर्मपूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और इसके साथ रहकर अतुल सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त करो ॥

इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
सम्पूज्या सततं राजन् मा चैनां शयने ह्वयेः ॥ ३५ ॥

महाराज! वृषपर्वाकी पुत्री यह कुमारी शर्मिष्ठा भी तुम्हें समर्पित है। इसका सदा आदर करना, किंतु इसे अपनी सेजपर कभी न बुलाना ॥ ३५ ॥

(रहस्येनां समाहूय न वदेर्न च संस्पृशेः।
वहस्व भार्यां भद्रं ते यथाकाममवाप्स्यसि ॥)

तुम्हारा कल्याण हो। इस शर्मिष्ठाको एकान्तमें बुलाकर न तो इससे बात करना और न इसके शरीरका स्पर्श ही करना। अब तुम विवाह करके इसे अपनी पत्नी बनाओ। इससे तुम्हें इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर राजा ययातिने उनकी परिक्रमा की और शास्त्रोक्त विधिसे मङ्गलमय विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ ३६ ॥

लब्ध्वा शुक्रान्महद् वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम्।
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ॥ ३७ ॥

सम्पूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः।
जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना ॥ ३८ ॥

शुक्राचार्यसे देवयानी-जैसी उत्तम कन्या, शर्मिष्ठा और दो हजार अन्य कन्याओं तथा महान् वैभवको पाकर दैत्यों एवं शुक्राचार्यसे पूजित हो, उन महात्माकी आज्ञा ले नृपश्रेष्ठ ययाति बड़े हर्षके साथ अपनी राजधानीको गये ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत ययात्युपाख्यानविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

ययातिसे देवयानीको पुत्र-प्राप्ति; ययाति और शर्मिष्ठाका एकान्त मिलन और उनसे एक पुत्रका जन्म

वैशम्पायन उवाच

ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसंनिभम्।
प्रविश्यान्तःपुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥
देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥
वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणीम्।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ययातिकी राजधानी महेन्द्रपुरी (अमरावती) के समान थी। उन्होंने वहाँ आकर देवयानीको तो अन्तःपुरमें स्थान दिया और उसीकी अनुमतिसे अशोकवाटिकाके समीप एक महल बनवाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको उसकी एक हजार दासियोंके साथ ठहराया और उन सबके लिये अन्न, वस्त्र तथा पेय आदिकी अलग-अलग व्यवस्था करके शर्मिष्ठाका समुचित सत्कार किया॥

(अशोकवनिकामध्ये देवयानी समागता।
शर्मिष्ठया सा क्रीडित्वा रमणीये मनोरमे ॥
तत्रैव तां तु निर्दिश्य राज्ञा सह ययौ गृहम्।
एवमेव सह प्रीत्या मुमुदे बहुकालतः ॥)

देवयानी ययातिके साथ परम रमणीय एवं मनोरम अशोक-वाटिकामें आती और शर्मिष्ठाके साथ वन-विहार करके उसे वहीं छोड़कर स्वयं राजाके साथ महलमें चली जाती थी। इस तरह वह बहुत समयतक प्रसन्नतापूर्वक आनन्द भोगती रही॥

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः।
विजहार बहूनब्दान् देववन्मुदितः सुखी ॥ ४ ॥

नहुषकुमार राजा ययातिने देवयानीके साथ बहुत वर्षोंतक देवताओंकी भाँति विहार किया। वे उसके साथ बहुत प्रसन्न और सुखी थे ॥ ४ ॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते देवयानी वराङ्गना।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥

ऋतुकाल आनेपर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया और समयानुसार प्रथम पुत्रको जन्म दिया ॥ ५ ॥

गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार एक हजार वर्ष व्यतीत हो जानेपर युवावस्थाको प्राप्त हुई वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने अपनेको रजस्वलावस्थामें देखा और चिन्तामग्न हो गयी ॥ ६ ॥

(शुद्धा स्नाता तु शर्मिष्ठा सर्वालंकारभूषिता।
अशोकशाखामालम्ब्य सुफुल्लैः स्तवकैर्वृताम् ॥
आदर्शे मुखमुद्वीक्ष्य भर्तृदर्शनलालसा।
शोकमोहसमाविष्टा वचनं चेदमब्रवीत् ॥
अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसाम्।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियसंदर्शनाद्धि माम् ॥
एवमुक्तवती सा तु शर्मिष्ठा पुनरब्रवीत् ॥)

स्नान करके शुद्ध हो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई शर्मिष्ठा सुन्दर पुष्पोंके गुच्छोंसे भरी अशोक-शाखाका आश्रय लिये खड़ी थी। दर्पणमें अपना मुँह देखकर उसके मनमें पतिके दर्शनकी लालसा जाग उठी और वह शोक एवं मोहसे युक्त हो इस प्रकार बोली—'हे अशोक वृक्ष ! जिनका हृदय शोकमें डूबा हुआ है, उन सबके शोकको तुम दूर करनेवाले हो। इस समय मुझे प्रियतमका दर्शन कराकर अपने ही जैसे नामवाली बना दो' ऐसा कहकर शर्मिष्ठा फिर बोली—॥

ऋतुकालश्च सम्प्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ७ ॥

'मुझे ऋतुकाल प्राप्त हो गया; किंतु अभीतक मैंने पतिका वरण नहीं किया है। यह कैसी परिस्थिति आ गयी। अब क्या करना चाहिये अथवा क्या करनेसे सुकृत (पुण्य) होगा ॥७॥

देवयानी प्रजातासौ वृथाहं प्राप्तयौवना।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥

'देवयानी तो पुत्रवती हो गयी; किंतु मुझे जो जवानी मिली है, वह व्यर्थ जा रही है, जिस प्रकार उसने पतिका वरण किया है, उसी तरह मैं भी उन्हीं महाराजका क्यों न पतिके रूपमें वरण कर लूँ ॥ ८ ॥

राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥

'मेरे याचना करनेपर राजा मुझे पुत्ररूप फल दे सकते हैं, इस बातका मुझे पूरा विश्वास है; परंतु क्या वे धर्मात्मा नरेश इस समय मुझे एकान्तमें दर्शन देंगे?' ॥ ९ ॥

अथ निष्क्रम्य राजासौ तस्मिन् काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य विष्ठितः ॥१०॥

शर्मिष्ठा इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि राजा ययाति उसी समय दैववश महलसे बाहर निकले और अशोकवाटिकाके निकट शर्मिष्ठाको देखकर ठहर गये ॥ १० ॥

तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

मनोहर हासवाली शर्मिष्ठाने उन्हें एकान्तमें अकेला देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की तथा हाथ जोड़कर राजासे यह बात कही ॥ ११ ॥

शर्मिष्ठोवाच

सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च ।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ॥१२॥
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन् वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ॥१३॥

शर्मिष्ठाने कहा—नहुषनन्दन! चन्द्रमा, इन्द्र, विष्णु, यम, वरुण अथवा आपके महलमें कौन किसी स्त्रीकी ओर दृष्टि डाल सकता है ? (अतएव यहाँ मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ) महाराज! मेरे रूप, कुल और शील कैसे हैं, यह तो आप सदासे ही जानते हैं। मैं आज आपको प्रसन्न करके यह प्रार्थना करती हूँ कि मुझे ऋतुदान दीजिये—मेरे ऋतुकालको सफल बनाइये।

ययातिरुवाच

वेद्मि त्वां शीलसम्पन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ॥१४॥

ययातिने कहा—शर्मिष्ठे !तुम दैत्यराजकी सुशील और निर्दोष कन्या हो । मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारे शरीर अथवा रूपमें सूईकी नोक बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है, जो निन्दाके योग्य हो ॥ १४ ॥

अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम् ।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥१५॥

परंतु क्या करूँ; जब मैंने देवयानीके साथ विवाह किया था, उस समय कविपुत्र शुक्राचार्यने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'वृषपर्वाकी पुत्री इस शर्मिष्ठाको अपनी सेजपर न बुलाना'॥१५॥

शर्मिष्ठोवाच

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥१६॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! परिहासयुक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता । अपनी स्त्रियोंके प्रति, विवाहके समय, प्राणसंकटके समय तथा सर्वस्वका अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोषकारक नहीं होता । ये पाँच प्रकारके असत्य पापशून्य बताये गये हैं ॥ १६ ॥

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा
वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां
मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥१७॥

महाराज ! किसी निर्दोष प्राणीका प्राण बचानेके लिये गवाही देते समय किसीके पूछनेपर अन्यथा (असत्य) भाषण करनेवालेको यदि कोई पतित कहता है तो उसका कथन मिथ्या है । परंतु जहाँ अपने और दूसरे दोनोंके ही प्राण बचानेका प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ केवल अपने प्राण बचानेके लिये मिथ्या बोलनेवालेका असत्यभाषण उसका नाश कर देता है ॥१७॥

ययातिरुवाच

राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन् ।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥१८॥

ययाति बोले—देवि ! सब प्राणियोंके लिये राजा ही प्रमाण है । वह यदि झूठ बोलने लगे, तो उसका नाश हो जाता है । अतः अर्थ-संकटमें पड़नेपर भी मैं झूठा काम नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

समावेतौ मतौ राजन् पतिः सख्याश्च यः पतिः ।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः ॥१९॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! अपना पति और सखीका पति दोनों बराबर माने गये हैं । सखीके साथ ही उसकी सेवामें रहनेवाली दूसरी कन्याओंका भी विवाह हो जाता है । मेरी सखीने आपको अपना पति बनाया है, अतः मैंने भी बना लिया ॥ १९ ॥

(सह दत्तास्मि काव्येन देवयान्या महर्षिणा ।
पूज्या पोषयितव्येति न मृषा कर्तुमर्हसि ॥
सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राण्याभरणानि च ।
याचितॄणां ददासि त्वं गोभूम्यादीनि यानि च ॥
वाहिकं दानमित्युक्तं न शरीराश्रितं नृप ।
दुष्करं पुत्रदानं च आत्मदानं च दुष्करम् ॥
शरीरदानात् तत् सर्वं दत्तं भवति नाहुष ।
यस्य यस्य यथा कामस्तस्य तस्य ददाम्यहम् ॥
इत्युक्त्वा नगरे राजंस्त्रिकालं घोषितं त्वया ॥
अनृतं तत्तु राजेन्द्र वृथा घोषितमेव च ।
तत् सत्यं कुरु राजेन्द्र यथा वैश्रवणस्तथा ॥)

राजन् ! महर्षि शुक्राचार्यने देवयानीके साथ मुझे भी यह कहकर आपको समर्पित किया है कि तुम इसका भी पालन-पोषण और आदर करना। आप उनके वचनको मिथ्या न करें ! महाराज ! आप प्रतिदिन याचकोंको जो सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषण, गौ और भूमि आदि दान करते हैं, वह बाह्य दान कहा गया है। वह शरीरके आश्रित नहीं है। पुत्रदान और शरीरदान अत्यन्त कठिन है। नहुषनन्दन ! शरीरदानसे उपर्युक्त सब दान सम्पन्न हो जाता है। राजन् ! 'जिसकी जैसी इच्छा होगी उस-उस मनुष्यको मैं मुँहमाँगी वस्तु दूँगा' ऐसा कहकर आपने नगरमें जो तीनों समय दानकी घोषणा करायी है, वह मेरी प्रार्थना ठुकरा देनेपर झूठी सिद्ध होगी। वह सारी घोषणा ही व्यर्थ समझी जायगी। राजेन्द्र ! आप कुबेरकी भाँति अपनी उस घोषणाको सत्य कीजिये ॥

ययातिरुवाच

दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम्।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२०॥

ययाति बोले—याचकोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दी जायँ' ऐसा मेरा व्रत है। तुम भी मुझसे अपने मनोरथकी याचना करती हो; अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ २० ॥

शर्मिष्ठोवाच

अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ॥२१॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! मुझे अधर्मसे बचाइये और धर्मका पालन कराइये। मैं चाहती हूँ, आपसे संतानवती होकर इस लोकमें उत्तम धर्मका आचरण करूँ ॥ २१ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम् ॥२२॥

महाराज ! तीन व्यक्ति धनके अधिकारी नहीं हैं—पत्नी, दास और पुत्र। ये जो धन प्राप्त करते हैं वह उसीका होता है जिसके अधिकारमें ये हैं। अर्थात् पत्नीके धनपर पतिका, सेवकके धनपर स्वामीका और पुत्रके धनपर पिताका अधिकार होता है ॥ २२ ॥

देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी।
सा चाहं च त्वया राजन् भजनीये भजस्व माम् ॥२३॥

मैं देवयानीकी सेविका हूँ और वह आपके अधीन है; अतः राजन् ! वह और मैं दोनों ही आपके सेवन करने योग्य हैं। अतः मेरा सेवन कीजिये ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान्।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाके ऐसा कहनेपर राजाने उसकी बातोंको ठीक समझा। उन्होंने शर्मिष्ठाका सत्कार किया और धर्मानुसार उसे अपनी भार्या बनाया ॥२४॥

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च।
अन्योन्यं चाभिसम्पूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ॥२५॥

फिर शर्मिष्ठाके साथ समागम किया और इच्छानुसार कामोपभोग करके एक दूसरेका आदर-सत्कार करनेके पश्चात् दोनों जैसे आये थे वैसे ही अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥२५॥

तस्मिन् समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥२६॥

सुन्दर भौंह तथा मनोहर मुसकानवाली शर्मिष्ठाने उस समागममें नृपश्रेष्ठ ययातिसे पहले-पहल गर्भ धारण किया ॥२६॥

प्रजज्ञे च ततः काले राजन् राजीवलोचना।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥२७॥

जनमेजय ! तदनन्तर समय आनेपर कमलके समान नेत्रोंवाली शर्मिष्ठाने देवबालक-जैसे सुन्दर एक कमलनयन कुमारको उत्पन्न किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका संवाद, ययातिसे शर्मिष्ठाके पुत्र होनेकी बात जानकर देवयानीका रूठकर पिताके पास जाना, शुक्राचार्यका ययातिको बूढ़े होनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पवित्र मुसकानवाली देवयानीने जब सुना कि शर्मिष्ठाके पुत्र हुआ है, तब वह दुःखसे पीड़ित हो शर्मिष्ठाके व्यवहारको लेकर बड़ी चिन्ता करने लगी। वह शर्मिष्ठाके पास गयी और इस प्रकार बोली ॥ १½ ॥

देवयान्युवाच

किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ॥ २ ॥

देवयानीने कहा—सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठे ! तुमने कामलोलुप होकर यह कैसा पाप कर डाला ? ॥ २ ॥

शर्मिष्ठोवाच

ऋषिरभ्यागतः कश्चिद् धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥

शर्मिष्ठा बोली—सखी ! कोई धर्मात्मा ऋषि आये थे, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे । मैंने उन वरदायक ऋषिसे धर्मानुसार कामकी याचना की ॥ ३ ॥

नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! मैं न्यायविरुद्ध कामका आचरण नहीं करती । उन ऋषिसे ही मुझे संतान पैदा हुई है, यह तुमसे सत्य कहती हूँ ॥ ४ ॥

देवयान्युवाच

शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥

देवयानीने कहा—भीरु ! यदि ऐसी बात है, तो बहुत अच्छा हुआ । क्या उन द्विजके गोत्र, नाम और कुलका कुछ परिचय मिला है ? मैं उनको जानना चाहती हूँ ॥ ५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।
तं दृष्ट्वा मम सम्प्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ॥ ६ ॥

शर्मिष्ठा बोली—शुचिस्मिते ! वे अपने तप और तेजसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे । उन्हें देखकर मुझे कुछ पूछनेका साहस ही नहीं हुआ ॥ ६ ॥

देवयान्युवाच

यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ॥ ७ ॥

देवयानीने कहा—शर्मिष्ठे ! यदि ऐसी बात है; यदि तुमने ज्येष्ठ और श्रेष्ठ द्विजसे संतान प्राप्त की है तो तुम्हारे ऊपर मेरा क्रोध नहीं रहा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु सम्प्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों आपसमें इस प्रकार बातें करके हँस पड़ीं । देवयानीको प्रतीत हुआ कि शर्मिष्ठा ठीक कहती है; अतः वह चुपचाप महलमें चली गयी ॥ ८ ॥

ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ॥ ९ ॥

राजा ययातिने देवयानीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे यदु और तुर्वसु । वे दोनों दूसरे इन्द्र और विष्णुकी भाँति प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन् कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥

उन्हीं राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम थे द्रुह्यु, अनु और पूरु ॥ १० ॥

ततः काले तु कस्मिंश्चिद् देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजन्जगाम रहितं वनम् ॥ ११ ॥

राजन् ! तदनन्तर किसी समय पवित्र मुसकानवाली देवयानी ययातिके साथ एकान्त वनमें गयी ॥ ११ ॥

ददर्श च तदा तत्र कुमारान् देवरूपिणः ।
क्रीडमानान् सुविश्रब्धान् विस्मिता चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

वहाँ उसने देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले कुछ बालकोंको निर्भय होकर क्रीड़ा करते देखा । उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो वह इस प्रकार बोली ॥ १२ ॥

देवयान्युवाच

कस्यैते दारका राजन् देवपुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥

देवयानीने पूछा—राजन् ! ये देवबालकोंके तुल्य शुभ लक्षणसम्पन्न कुमार किसके हैं ? तेज और रूपमें तो ये मुझे आपहीके समान जान पड़ते हैं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान् पर्यपृच्छत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजासे इस प्रकार पूछकर उसने उन कुमारोंसे प्रश्न किया ॥ १३½ ॥

देवयान्युवाच

किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ।
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥

देवयानीने पूछा—बच्चो ! तुम्हारे कुलका क्या नाम है ? तुम्हारे पिता कौन हैं ? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ । मैं तुम्हारे पिताका नाम सुनना चाहती हूँ ॥ १४ ॥

(एवमुक्ताः कुमारास्ते देवयान्या सुमध्यया ।)
तेऽदर्शयन् प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥

सुन्दरी देवयानीके इस प्रकार पूछनेपर उन बालकोंने पिताका परिचय देते हुए तर्जनी अँगुलीसे उन्हीं नृपश्रेष्ठ ययातिको दिखा दिया और शर्मिष्ठाको अपनी माता बताया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः।
नाभ्यनन्दत तान् राजा देवयान्यास्तदान्तिके ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे सब बालक एक साथ राजाके समीप आ गये; परंतु उस समय देवयानीके निकट राजाने उनका अभिनन्दन नहीं किया—उन्हें गोदमें नहीं उठाया ॥ १६ ॥

रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः।
श्रुत्वा तु तेषां बालानां सव्रीड इव पार्थिवः ॥ १७ ॥

तब वे बालक रोते हुए शर्मिष्ठाके पास चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा ययाति लज्जित-से हो गये ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उन बालकोंका राजाके प्रति विशेष प्रेम देखकर देवयानी सारा रहस्य समझ गयी और शर्मिष्ठासे इस प्रकार बोली ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

(अभ्यागच्छति मां कश्चिदृषिरित्येवमब्रवीः।
ययातिमेव नूनं त्वं प्रोत्साहयसि भामिनि ॥
पूर्वमेव मया प्रोक्तं त्वया तु वृजिनं कृतम्।)
मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ॥ १९ ॥

देवयानी बोली—भामिनि! तुम तो कहती थीं कि मेरे पास कोई ऋषि आया करते हैं। यह बहाना लेकर तुम राजा ययातिको ही अपने पास आनेके लिये प्रोत्साहन देती रहीं। मैंने पहले ही कह दिया था कि तुमने कोई पाप किया है। शर्मिष्ठे! तुमने मेरे अधीन होकर भी मुझे अप्रिय लगनेवाला बर्ताव क्यों किया? तुम फिर उसी असुर-धर्मपर उतर आयीं। मुझसे डरती भी नहीं हो? ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यदुक्तमृषिरित्येव तत् सत्यं चारुहासिनि।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥ २० ॥

शर्मिष्ठा बोली—मनोहर मुसकानवाली सखी! मैंने जो ऋषि कहकर अपने स्वामीका परिचय दिया था, सो सत्य ही है। मैं न्याय और धर्मके अनुकूल आचरण करती हूँ, अतः तुमसे नहीं डरती ॥ २० ॥

यदा त्वया वृतो भर्ता वृत एव तदा मया।
सखीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ॥ २१ ॥
पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥ २२ ॥
(त्वत्पित्रा गुरुणा मे च सह दत्ते उभे शुभे।
तव भर्ता च पूज्यश्च पोष्यां पोषयतीह माम् ॥)

जब तुमने पतिका वरण किया था, उसी समय मैंने भी कर लिया। शोभने! जो सखीका स्वामी होता है, वही उसके अधीन रहनेवाली अन्य अविवाहिता सखियोंका भी धर्मतः पति होता है। तुम ज्येष्ठ हो, ब्राह्मणकी पुत्री हो, अतः मेरे लिये माननीय एवं पूजनीय हो; परंतु ये राजर्षि मेरे लिये तुमसे भी अधिक पूजनीय हैं। क्या यह बात तुम नहीं जानतीं? ॥ २१-२२ ॥ शुभे! तुम्हारे पिता और मेरे गुरु (शुक्राचार्य) जीने हम दोनोंको एक ही साथ महाराजकी सेवामें समर्पित किया है। तुम्हारे पति और पूजनीय महाराज ययाति भी मुझे पालन करने योग्य मानकर मेरा पोषण करते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम्।
राजन् नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाका यह वचन सुनकर देवयानीने कहा—'राजन्! अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। आपने मेरा अत्यन्त अप्रिय किया है' ॥ २३ ॥

सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम्।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर तरुणी देवयानी आँखोंमें आँसू भरकर सहसा उठी और तुरंत ही शुक्राचार्यजीके पास जानेके लिये वहाँसे चल दी। यह देख उस समय राजा ययाति व्यथित हो गये ॥ २४ ॥

अनुवव्राज सम्भ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन् नृपः।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥ २५ ॥

वे व्याकुल हो देवयानीको समझाते हुए उसके पीछे पीछे गये, किंतु वह नहीं लौटी। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं ॥ २५ ॥

अविब्रुवन्ती किंचित् सा राजानं साश्रुलोचना।
अचिरादेव सम्प्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २६॥

वह राजासे कुछ न बोलकर केवल नेत्रोंसे आँसू बहाये जाती थी। कुछ ही देरमें वह कविपुत्र शुक्राचार्यके पास जा पहुँची ॥ २६ ॥

सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २७ ॥

पिताको देखते ही वह प्रणाम करके उनके सामने खड़ी हो गयी। तदनन्तर राजा ययातिने भी शुक्राचार्यकी वन्दना की ॥ २७ ॥

देवयान्युवाच

अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम्।
शर्मिष्ठयातिवृत्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २८ ॥

देवयानीने कहा—पिताजी! अधर्मने धर्मको जीत लिया। नीचकी उन्नति हुई और उच्चकी अवनति। वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मुझे लाँघकर आगे बढ़ गयी ॥ २८ ॥

त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

इन महाराज ययातिसे ही उसके तीन पुत्र हुए हैं, किंतु तात! मुझ भाग्यहीनाके दो ही पुत्र हुए हैं। यह मैं आपसे ठीक बता रही हूँ ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत् कथयामि ते ॥ ३० ॥

भृगुश्रेष्ठ! ये महाराज धर्मज्ञके रूपमें प्रसिद्ध हैं; किंतु इन्होंने ही मर्यादाका उल्लङ्घन किया है। कविनन्दन! यह आपसे यथार्थ कह रही हूँ ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच

धर्मज्ञः सन् महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम्।
तस्माज्जरा त्वामचिराद् धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३१ ॥

शुक्राचार्यने कहा—महाराज! तुमने धर्मज्ञ होकर भी अधर्मको प्रिय मानकर उसका आचरण किया है। इसलिये जिसको जीतना कठिन है, वह वृद्धावस्था तुम्हें शीघ्र ही धर दबायेगी ॥ ३१ ॥

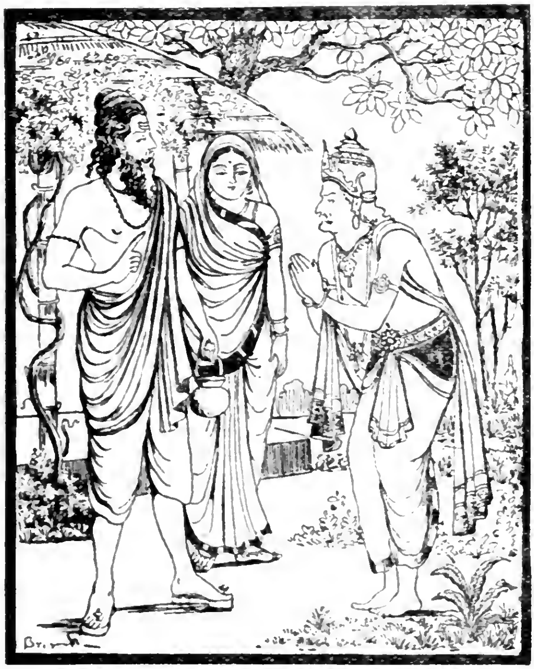

ययातिरुवाच

ऋतुं वै याचमानाया भगवन् नान्यचेतसा।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत् कृतं मया ॥ ३२ ॥
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम्।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३३ ॥
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३४ ॥

ययाति बोले—भगवन्! दानवराजकी पुत्री मुझसे ऋतुदान माँग रही थी; अतः मैंने धर्म-सम्मत मानकर यह कार्य किया, किसी दूसरे विचारसे नहीं। ब्रह्मन्! जो पुरुष न्याययुक्त ऋतुकी याचना करनेवाली स्त्रीको ऋतुदान नहीं देता, वह ब्रह्मवादी विद्वानोंद्वारा भ्रूणहत्या करनेवाला कहा जाता है। जो न्यायसम्मत कामनासे युक्त गम्या स्त्रीके द्वारा एकान्तमें प्रार्थना करनेपर उसके साथ समागम नहीं करता, वह धर्मशास्त्रमें विद्वानोंद्वारा गर्भकी हत्या करनेवाला बताया जाता है। ३२—३४।

(यद् यद् याचति मां कश्चित् तत् तद् देयमिति व्रतम्।
त्वया च सापि दत्ता मे नान्यं नाथमिहेच्छति ॥
मत्वैतन्मे धर्म इति कृतं ब्रह्मन् क्षमस्व माम्।)
इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मन्! मेरा यह व्रत है कि मुझसे कोई जो भी वस्तु माँगे, उसे वह अवश्य दे दूँगा। आपके ही द्वारा मुझे सौंपी हुई शर्मिष्ठा इस जगत्में दूसरे किसी पुरुषको अपना पति

बनाना नहीं चाहती थी। अतः उसकी इच्छा पूर्ण करना धर्म समझकर मैंने वैसा किया है। आप इसके लिये मुझे क्षमा करें। भृगुश्रेष्ठ! इन्हीं सब कारणोंका विचार करके अधर्मके भयसे उद्विग्न हो मैं शर्मिष्ठाके पास गया था ॥ ३५ ॥

शुक्र उवाच

नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव ।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३६ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन्! तुम्हें इस विषयमें मेरे आदेशकी भी प्रतीक्षा करनी चाहिये थी; क्योंकि तुम मेरे अधीन हो। नहुषनन्दन! धर्ममें मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुषको चोरीका पाप लगता है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा ।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोधमें भरे हुए शुक्राचार्यके शाप देनेपर नहुषपुत्र राजा ययाति उसी समय पूर्वावस्था (यौवन) का परित्याग करके तत्काल बूढ़े हो गये ॥ ३७ ॥

ययातिरुवाच

अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ॥ ३८ ॥

ययाति बोले—भृगुश्रेष्ठ! मैं देवयानीके साथ युवावस्थामें रहकर तृप्त नहीं हो सका हूँ; अतः ब्रह्मन्! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यह बुढ़ापा मेरे शरीरमें प्रवेश न करे ॥ ३८ ॥

शुक्र उवाच

नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप ।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन् संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३९ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—भूमिपाल! मैं झूठ नहीं बोलता; बूढ़े तो तुम हो ही गये; किंतु तुम्हें इतनी सुविधा देता हूँ कि यदि चाहो तो किसी दूसरेसे जवानी लेकर इस बुढ़ापाको उसके शरीरमें डाल सकते हो ॥ ३९ ॥

ययातिरुवाच

राज्यभाक् स भवेद् ब्रह्मन् पुण्यभाक् कीर्तिभाक् तथा ।
यो मे दद्याद् वयः पुत्रस्तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ४० ॥

ययाति बोले—ब्रह्मन्! मेरा जो पुत्र अपनी युवावस्था मुझे दे, वही पुण्य और कीर्तिका भागी होनेके साथ ही मेरे राज्यका भी भागी हो। आप इसका अनुमोदन करें ॥ ४० ॥

शुक्र उवाच

संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज ।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति ।
आयुष्मान् कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४२ ॥

शुक्राचार्यने कहा—नहुषनन्दन! तुम भक्तिभावसे मेरा चिन्तन करके अपनी वृद्धावस्थाका इच्छानुसार दूसरेके शरीरमें संचार कर सकोगे। उस दशामें तुम्हें पाप भी नहीं लगेगा। जो पुत्र तुम्हें (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी युवावस्था देगा, वही राजा होगा, साथ ही दीर्घायु, यशस्वी तथा अनेक संतानोंसे युक्त होगा ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

ययातिका अपने पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे अपनी युवावस्था देकर वृद्धावस्था लेनेके लिये आग्रह और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देना, फिर अपने पुत्र पूरुको जरावस्था देकर उनकी युवावस्था लेना तथा उन्हें वर प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि ।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा ययाति बुढ़ापा लेकर वहाँसे अपने नगरमें आये और अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र यदुसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥

ययातिने कहा—तात! कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; मेरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और बाल सफेद हो गये; किंतु मैं अभी जवानीके भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ ॥ २ ॥

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम् ।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ४ ॥

यदो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा विषयोंका उपभोग करूँ । एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी देकर बुढ़ापेके साथ अपना दोष वापस ले लूँगा ॥ ३-४ ॥

यदुरुवाच

जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः ।
तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीष्य इति मे मतिः ॥ ५ ॥

यदु बोले—राजन् ! बुढ़ापेमें खाने-पीनेसे अनेक दोष प्रकट होते हैं; अतः मैं आपकी वृद्धावस्था नहीं लूँगा, यही मेरा निश्चित विचार है ॥ ५ ॥

सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः ।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ॥ ६ ॥

महाराज ! मैं उस बुढ़ापेको लेनेकी इच्छा नहीं करता, जिसके आनेपर दाढ़ी-मूँछके बाल सफेद हो जाते हैं; जीवनका आनन्द चला जाता है । वृद्धावस्था एक दम शिथिल कर देती है । सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और मनुष्य इतना दुर्बल तथा कृशकाय हो जाता है कि उसकी ओर देखते नहीं बनता ॥ ६ ॥

अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवतैः ।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये ॥ ७ ॥

बुढ़ापेमें काम-काज करनेकी शक्ति नहीं रहती, युवतियाँ तथा जीविका पानेवाले सेवक भी तिरस्कार करते हैं; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ॥ ७ ॥

सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप ।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै ॥ ८ ॥

धर्मज्ञ नरेश्वर ! आपके बहुत-से पुत्र हैं, जो आपको मुझसे भी अधिक प्रिय हैं; अतः बुढ़ापा लेनेके लिये किसी दूसरे पुत्रको चुन लीजिये ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मादराज्यभाक् तात प्रजा तव भविष्यति ॥ ९ ॥

ययातिने कहा—तात ! तुम मेरे हृदयसे उत्पन्न (औरस पुत्र) होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देते; इसलिये तुम्हारी संतान राज्यकी अधिकारिणी नहीं होगी ॥ ९ ॥

तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक ॥ १० ॥

(अब उन्होंने तुर्वसुको बुलाकर कहा—) तुर्वसो ! बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो । बेटा ! मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोंका उपभोग करूँगा ॥ १० ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ११ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर मैं तुम्हें जवानी लौटा दूँगा और बुढ़ापेसहित अपने दोषको वापस ले लूँगा ॥ ११ ॥

तुर्वसुरुवाच

न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम् ।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ॥ १२ ॥

तुर्वसु बोले—तात ! काम-भोगका नाश करनेवाली वृद्धावस्था मुझे नहीं चाहिये । वह बल तथा रूपका अन्त कर देती है और बुद्धि एवं प्राणशक्तिका भी नाश करनेवाली है ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ॥ १३ ॥

ययातिने कहा—तुर्वसो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देता है, इसलिये तेरी संतति नष्ट हो जायगी ॥ १३ ॥

संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि ॥ १४ ॥

मूढ़ ! जिनके आचार और धर्म वर्णसंकरोंके समान हैं, जो प्रतिलोमसंकर जातियोंमें गिने जाते हैं तथा जो कच्चा मांस खानेवाले एवं चाण्डाल आदिकी श्रेणीमें हैं, ऐसे लोगोंका तू राजा होगा ॥ १४ ॥

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ॥ १५ ॥

जो गुरु-पत्नियोंमें आसक्त हैं, जो पशु-पक्षी आदिका-सा आचरण करनेवाले हैं तथा जिनके सारे आचार-विचार भी पशुओंके समान हैं, तू उन पापात्मा म्लेच्छोंका राजा होगा ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः ।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययातिने इस प्रकार अपने पुत्र तुर्वसुको शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे यह बात कही ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—द्रुह्यो ! कान्ति तथा रूपका नाश करनेवाली यह वृद्धावस्था तुम ले लो और एक हजार वर्षोंके लिये अपनी जवानी मुझे दे दो ॥ १७ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ॥ १८ ॥

हजार वर्ष पूर्ण हो जानेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी तुम्हें दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष फिर ले लूँगा ॥ १८ ॥

द्रुह्युरुवाच

न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुङ्क्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चास्य भवति तां जरां नाभिकामये ॥ १९ ॥

द्रुह्यु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य हाथी, घोड़े और रथपर नहीं चढ़ सकता; स्त्रीका भी उपभोग नहीं कर सकता । उसकी वाणी भी लड़खड़ाने लगती है; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते सम्पत्स्यते क्वचित् ॥ २० ॥

ययाति बोले—द्रुह्यो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी जवानी मुझे नहीं दे रहा है; इसलिये तेरा प्रिय मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होगा ॥ २० ॥

यत्राश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद् गतं न च ।
हस्तिनां पीठकानां च गर्दभानां तथैव च ॥ २१ ॥
बस्तानां च गवां चैव शिबिकायास्तथैव च ।
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः ॥ २२ ॥

जहाँ घोड़े जुते हुए उत्तम रथों, घोड़ों, हाथियों, पीठकों (पालकियों), गदहों, बकरों, बैलों और शिबिका आदि-की भी गति नहीं है, जहाँ प्रतिदिन नावपर बैठकर ही घूमना-फिरना होगा, ऐसे प्रदेशमें तू अपनी संतानोंके साथ चला जायगा और वहाँ तेरे वंशके लोग राजा नहीं, भोज कहलायँगे ॥ २१-२२ ॥

ययातिरुवाच

अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २३ ॥

तदनन्तर ययातिने अनुसे कहा—अनो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा एक हजार वर्षतक सुख भोगूँगा ॥ २३ ॥

अनुरुवाच

जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ॥ २४ ॥

अनु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य बच्चोंकी तरह असमयमें भोजन करता है, अपवित्र रहता है तथा समयपर अग्निहोत्र नहीं करता, अतः ऐसी वृद्धावस्थाको मैं नहीं लेना चाहता ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात् त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ २५ ॥
प्रजाश्च यौवनप्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव ।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ॥ २६ ॥

ययातिने कहा—अनो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी युवावस्था मुझे नहीं दे रहा है और बुढ़ापेके दोष बतला रहा है, अतः तू वृद्धावस्थाके समस्त दोषोंको प्राप्त करेगा और तेरी संतान जवान होते ही मर जायगी तथा तू भी बूढ़े-जैसा होकर अग्निहोत्रका त्याग कर देगा ॥

ययातिरुवाच

पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान् भविष्यसि ।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् ययातिने पूरुसे कहा—पूरो ! तुम मेरे प्रिय पुत्र हो । गुणोंमें तुम श्रेष्ठ होओगे । तात ! मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और सिरके बाल सफेद हो गये । बुढ़ापाके ये सारे चिह्न मुझे एक ही साथ प्राप्त हुए हैं ॥

काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
कंचित् कालं चरेयं वै विषयान् वयसा तव ॥ २८ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ २९ ॥

कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मेरी यह दशा हुई है; किंतु मैं जवानीके भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ । पूरो ! तुम बुढ़ापे-के साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी युवावस्था लेकर उसके द्वारा कुछ कालतक विषयभोग करूँगा । एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं तुम्हें पुनः तुम्हारी जवानी दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष ले लूँगा ॥ २८-२९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत् करिष्यामि ते वचः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ययातिके ऐसा कहनेपर पूरुने अपने पितासे विनयपूर्वक कहा—'महाराज ! आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, आपके उस वचनका मैं पालन करूँगा ॥

(गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम् ।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः ॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।)

'गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है । गुरुके ही प्रसादसे इन्द्रने

तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको पा लेता है ॥

प्रतिपत्स्यामि ते राजन् पाप्मानं जरया सह।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान् यथेप्सितान् ॥३१॥

'राजन्! मैं बुढ़ापेके साथ आपका दोष ग्रहण कर लूँगा आप मुझसे जवानी ले लें और इच्छानुसार विषयोंका उपभोग करें ॥ ३१ ॥

जरयाहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव।
यौवनं भवते दत्त्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम् ॥३२॥

'मैं वृद्धावस्थासे आच्छादित हो आपकी आयु एवं रूप धारण करके रहूँगा और आपको जवानी देकर आप मेरे लिये जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करूँगा' ॥ ३२ ॥

ययातिरुवाच

पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति ॥३३॥

ययाति बोले—वत्स! पूरो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और प्रसन्न होकर तुम्हें यह वर देता हूँ, 'तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी' ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि ॥३४॥

ऐसा कहकर महातपस्वी ययातिने शुक्राचार्यका स्मरण किया और अपनी वृद्धावस्था महात्मा पूरुको देकर उनकी युवावस्था ले ली ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके 1½ श्लोक मिलाकर कुल 35½ श्लोक हैं।)

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका विषय-सेवन और वैराग्य तथा पूरुका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान् प्रियान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! नहुषके पुत्र नृपश्रेष्ठ ययातिने पूरुकी युवावस्थासे अत्यन्त प्रसन्न होकर अभीष्ट विषयभोगोंका सेवन आरम्भ किया ॥ १ ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथार्हति स एव हि ॥ २ ॥

राजेन्द्र! उनकी जैसी कामना होती, जैसा उत्साह होता और जैसा समय होता, उसके अनुसार वे सुखपूर्वक धर्मानुकूल भोगोंका उपभोग करते थे। वास्तवमें उसके योग्य वे ही थे ॥

देवानतर्पयद् यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत् पितॄनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान् ॥ ३ ॥

उन्होंने यज्ञोंद्वारा देवताओंको, श्राद्धोंसे पितरोंको, इच्छाके अनुसार अनुग्रह करके दीन-दुखियोंको और मुँहमाँगी भोग्य वस्तुएँ देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया ॥ ३ ॥

अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून् संनिग्रहेण च ॥ ४॥
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः ॥ ५ ॥

वे अतिथियोंको अन्न और जल देकर, वैश्योंको उनके धन-वैभवकी रक्षा करके, शूद्रोंको दयाभावसे, लुटेरोंको कैद करके तथा सम्पूर्ण प्रजाको धर्मपूर्वक संरक्षणद्वारा प्रसन्न रखते थे। इस प्रकार साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान राजा ययातिने समस्त प्रजाका पालन किया ॥ ४-५ ॥

स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम् ॥ ६ ॥

वे राजा सिंहके समान पराक्रमी और नवयुवक थे। सम्पूर्ण विषय उनके अधीन थे और वे धर्मका विरोध न करते हुए उत्तम सुखका उपभोग करते थे ॥ ६ ॥

स सम्प्राप्य शुभान् कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः ॥ ७ ॥
परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान्।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ ८ ॥
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने।
अलकायां स कालं तु मेरुशृङ्गे तथोत्तरे ॥ ९ ॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥१०॥

वे नरेश शुभ भोगोंको प्राप्त करके पहले तो तृप्त एवं आनन्दित होते थे; परंतु जब यह बात ध्यानमें आती कि ये हजार वर्ष भी पूरे हो जायँगे, तब उन्हें बड़ा खेद होता था। कालतत्त्वको जाननेवाले पराक्रमी राजा ययाति एक-एक कला और काष्ठाकी गिनती करके एक हजार वर्षके समयकी अवधिका स्मरण रखते थे। राजर्षि ययाति हजार वर्षोंकी जवानी पाकर नन्दनवनमें विश्वाची अप्सराके साथ रमण करते और प्रकाशित

होते थे। वे अलकापुरीमें तथा उत्तर दिशावर्ती मेरुशिखरपर भी इच्छानुसार विहार करते थे। धर्मात्मा नरेशने जब देखा कि समय अब पूरा हो गया, तब वे अपने पुत्र पूरुके पास आकर बोले—॥ ७—१० ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम ।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥११॥

'शत्रुदमन पुत्र ! मैंने तुम्हारी जवानीके द्वारा अपनी रुचि, उत्साह और समयके अनुसार विषयोंका सेवन किया है॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१२॥

'परंतु विषयोंकी कामना उन विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती; अपितु घीकी आहुति पड़नेसे अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ १२ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥१३॥

'इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥१४॥

'खोटी बुद्धिवाले लोगोंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो एक प्राणान्तक रोग है, उस तृष्णाको त्याग देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ॥ १४ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥१५॥

'देखो, विषयभोगमें आसक्तचित्त हुए मेरे एक हजार वर्ष बीत गये, तो भी प्रतिदिन उन विषयोंके लिये ही तृष्णा पैदा होती है ॥ १५ ॥

तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह ॥१६॥

'अतः मैं इस तृष्णाको छोड़कर परब्रह्म परमात्मामें मन लगा द्वन्द्व और ममतासे रहित हो वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा॥

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम् ।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत् सुतः ॥१७॥

'पूरो ! तुम्हारा भला हो, मैं प्रसन्न हूँ। अपनी यह जवानी ले लो। साथ ही यह राज्य भी अपने अधिकारमें कर लो; क्योंकि तुम मेरा प्रिय करनेवाले पुत्र हो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा ।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय नहुषनन्दन राजा ययातिने अपनी वृद्धावस्था वापस ले ली और पूरुने पुनः अपनी युवावस्था प्राप्त कर ली ॥ १८ ॥

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥ १९ ॥

जब ब्राह्मण आदि वर्णोंने देखा कि महाराज ययाति अपने छोटे पुत्र पूरुको राजाके पदपर अभिषिक्त करना चाहते हैं, तब उनके पास आकर इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो ।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥२०॥

'प्रभो ! शुक्राचार्यके नाती और देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुके होते हुए उन्हें लाँघकर आप पूरुको राज्य क्यों देते हैं ? ॥

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः ।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥२१॥

'यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनके बाद तुर्वसु उत्पन्न हुए हैं। तदनन्तर शर्मिष्ठाके पुत्र क्रमशः द्रुह्यु, अनु और पूरु हैं ॥

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति ।
एतत् सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ॥२२॥

'ज्येष्ठ पुत्रोंका उल्लङ्घन करके छोटा पुत्र राज्यका अधिकारी कैसे हो सकता है ? हम आपको इस बातका स्मरण दिला रहे हैं। आप धर्मका पालन कीजिये' ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः ।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥२३॥

ययातिने कहा—ब्राह्मण आदि सब वर्णके लोग मेरी बात सुनें, मुझे ज्येष्ठ पुत्रको किसी तरह राज्य नहीं देना है ॥

मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः ।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥२४॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदुने मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया है ! जो पिताके प्रतिकूल हो, वह सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें पुत्र नहीं माना गया है ॥ २४ ॥

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः ।
स पुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते पितृमातृषु ॥२५॥

जो माता और पिताकी आज्ञा मानता है, उनका हित चाहता है, उनके अनुकूल चलता है तथा माता-पिताके प्रति पुत्रोचित बर्ताव करता है, वही वास्तवमें पुत्र है ॥ २५ ॥

(पुदिति नरकस्याख्या दुःखं हि नरकं विदुः ।
पुतस्त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥
आत्मनः सदृशः पुत्रः पितृदेवर्षिपूजने ।
यो बहूनां गुणकरः स पुत्रो ज्येष्ठ उच्यते ॥
ज्येष्ठांशभाक् स गुणकृदिह लोके परत्र च ।
श्रेयान् पुत्रो गुणोपेतः स पुत्रो नेतरो वृथा ॥
वदन्ति धर्मं धर्मज्ञाः पितॄणां पुत्रकारणात् ।)

'पुत्' यह नरकका नाम है । नरकको दुःखरूप ही मानते हैं । पुत् नामक नरकसे त्राण (रक्षा) करनेके कारण ही लोग इहलोक और परलोकमें पुत्रकी इच्छा करते हैं । अपने अनुरूप पुत्र देवताओं, ऋषियों और पितरोंके पूजनका अधिकारी होता है । जो बहुत-से मनुष्योंके लिये गुणकारक (लाभदायक) हो, उसीको ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं । वह गुणकारक पुत्र ही इहलोक और परलोकमें ज्येष्ठके अंशका भागी होता है । जो उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना गया है, दूसरा नहीं । गुणहीन पुत्र व्यर्थ कहा गया है । धर्मज्ञ पुरुष पुत्रके ही कारण पितरोंके धर्मका बखान करते हैं ॥

यदुनाहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनापि च ।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥ २६ ॥

यदुने मेरी अवहेलना की है; तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुने भी मेरा बड़ा तिरस्कार किया है ॥ २६ ॥

पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान् मम दायादो धृता येन जरा मम ॥ २७ ॥

पूरुने मेरी आज्ञाका पालन किया; मेरी बातको अधिक आदर दिया है, इसीने मेरा बुढ़ापा ले रक्खा था । अतः मेरा यह छोटा पुत्र ही वास्तवमें मेरे राज्य और धनको पानेका अधिकारी है ॥

मम कामः स च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तः काव्येनोशनसा स्वयम् ॥ २८ ॥
पुत्रो यस्त्वानुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ २९ ॥

पूरुने मित्ररूप होकर मेरी कामनाएँ पूर्ण की हैं । स्वयं शुक्राचार्यने मुझे वर दिया है कि 'जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे, वही राजा एवं समस्त भूमण्डलका पालक हो' । अतः मैं आपलोगोंसे विनयपूर्ण आग्रह करता हूँ कि पूरुको ही राज्यपर अभिषिक्त करें ॥ २८-२९ ॥

प्रकृतय ऊचुः

यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ॥ ३० ॥

प्रजावर्गके लोग बोले--जो पुत्र गुणवान् और सदा माता-पिताका हितैषी हो, वह छोटा होनेपर भी श्रेष्ठतम है । वही सम्पूर्ण कल्याणका भागी होने योग्य है ॥ ३० ॥

अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत् तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

पूरु आपका प्रिय करनेवाले पुत्र हैं, अतः शुक्राचार्यके वरदानके अनुसार ये ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं । इस निश्चयके विरुद्ध कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता ॥

वैशम्पायन उवाच

पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--नगर और राज्यके लोगोंने संतुष्ट होकर जब इस प्रकार कहा, तब नहुषनन्दन ययातिने अपने पुत्र पूरुको ही अपने राज्यपर अभिषिक्त किया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात् स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पूरुको राज्य दे वनवासकी दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणोंके साथ नगरसे बाहर निकल गये ॥

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥ ३४ ॥

यदुसे यादव क्षत्रिय उत्पन्न हुए, तुर्वसुकी संतान यवन कहलायी, द्रुह्युके पुत्र भोज नामसे प्रसिद्ध हुए और अनुसे म्लेच्छ जातियाँ उत्पन्न हुईं ॥ ३४ ॥

पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ॥ ३५ ॥

राजा जनमेजय ! पूरुसे पौरव वंश चला; जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो । तुम्हें इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक हजार वर्षोंतक यह राज्य करना है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूरुराज्याभिषेके पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानके प्रसङ्गमें पूरुराज्याभिषेकविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

वनमें राजा ययातिकी तपस्या और उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार नहुषनन्दन राजा ययाति अपने प्रिय पुत्र पूरुका राज्याभिषेक करके प्रसन्नतापूर्वक वानप्रस्थ मुनि हो गये ॥ १ ॥

उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः संशितव्रतः ।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः ॥ २ ॥

वे वनमें ब्राह्मणोंके साथ रहकर कठोर व्रतका पालन करते हुए फल मूलका आहार तथा मन और इन्द्रियोंका संयम करते थे, इससे वे स्वर्गलोकमें गये ॥ २ ॥

स गतः स्वर्निवासं तं निवसन् मुदितः सुखी।
कालेन चातिमहता पुनः शक्रेण पातितः ॥ ३ ॥
निपतन् प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम् ।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ॥ ४ ॥

स्वर्गलोकमें जाकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ सुखपूर्वक रहने लगे और बहुत कालके बाद इन्द्रद्वारा वे पुनः स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। स्वर्गसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर गिरते समय वे भूतलतक नहीं पहुँचे, आकाशमें ही स्थिर हो गये, ऐसा मैंने सुना है ॥ ३-४ ॥

तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतम् ।
राज्ञा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान् ॥ ५ ॥
प्रतर्दनेन शिबिना समेत्य किल संसदि ।

फिर यह भी सुननेमें आया है कि वे पराक्रमी राजा ययाति मुनिसमाजमें राजा वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिबिसे मिलकर पुनः वहींसे साधु पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ५½ ॥

जनमेजय उवाच

कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ॥ ६ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! किस कर्मसे वे भूपाल पुनः स्वर्गमें पहुँचे थे ? ॥ ६ ॥

सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ ७ ॥

विप्रवर ! मैं ये सारी बातें पूर्णरूपसे यथावत् सुनना चाहता हूँ । इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आप इस प्रसङ्गका वर्णन करें ॥७॥

देवराजसमो ह्यासीद् ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ॥ ८ ॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान थे ॥ ८ ॥

तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ॥ ९ ॥

उनका यश चारों ओर फैला था। मैं उन सत्यकीर्ति महात्मा ययातिका चरित्र, जो इहलोक और स्वर्गलोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध है, सुनना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! ययातिकी उत्तम कथा इहलोक और स्वर्गलोकमें भी पुण्यदायक है। वह सब पापोंका नाश करनेवाली है, मैं तुमसे उसका वर्णन करता हूँ ॥

ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ॥ ११ ॥
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान् यदुपुरोगमान् ।
फलमूलाशनो राजा वने संन्यवसच्चिरम् ॥ १२ ॥

नहुषपुत्र महाराज ययातिने अपने छोटे पुत्र पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके यदु आदि अन्य पुत्रोंको सीमान्त (किनारेके देशों) में रख दिया। फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ वे वनमें गये। वहाँ फलमूलका आहार करते हुए उन्होंने दीर्घकालतक वनमें निवास किया ॥ ११-१२ ॥

शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन् पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन् वानप्रस्थविधानतः ॥ १३ ॥

उन्होंने अपने मनको शुद्ध करके क्रोधपर विजय पायी और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करते हुए वानप्रस्थाश्रमकी विधिसे शास्त्रीय विधानके अनुसार अग्निहोत्र प्रारम्भ किया॥

अतिथीन् पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ॥ १४ ॥

वे राजा शिलोञ्छवृत्तिका आश्रय ले यज्ञशेष अन्नका भोजन करते थे। भोजनसे पूर्व वनमें उपलब्ध होनेवाले फल, मूल आदि हविष्यके द्वारा अतिथियोंका आदर-सत्कार करते थे ॥१४॥

पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः ॥ १५ ॥

राजाको इसी वृत्तिसे रहते हुए पूरे एक हजार वर्ष बीत गये। उन्होंने मन और वाणीपर संयम करके तीस वर्षोंतक केवल जलका आहार किया ॥ १५ ॥

ततश्च वायुभक्षोऽभूत् संवत्सरमतन्द्रितः ।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे स वत्सरम् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् वे आलस्यरहित हो एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे

फिर एक वर्षतक पाँच अग्नियोंके बीचमें बैठकर तपस्या की। १६।

एकपादः स्थितश्चासीत् षण्मासाननिलाशनः।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामावृत्य रोदसी ॥ १७ ॥

इसके बाद छः महीनोंतक हवा पीकर वे एक पैरसे खड़े रहे। तदनन्तर पुण्यकीर्ति महाराज ययाति पृथ्वी और आकाशमें अपना यश फैलाकर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

इन्द्रके पूछनेपर ययातिका अपने पुत्र पूरुको दिये हुए उपदेशकी चर्चा करना

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन् देववेश्मनि।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वर्गलोकमें जाकर महाराज ययाति देवभवनमें निवास करने लगे। वहाँ देवताओं, साध्यगणों, मरुद्गणों तथा वसुओंने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया ॥ १ ॥

देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन् पुण्यकृद् वशी।
अवसत् पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥

सुना जाता है कि पुण्यात्मा तथा जितेन्द्रिय राजा ययाति देवलोक और ब्रह्मलोकमें भ्रमण करते हुए वहाँ दीर्घकालतक रहे॥

स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत्।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥

एक दिन नृपश्रेष्ठ ययाति देवराज इन्द्रके पास आये। दोनोंमें वार्तालाप हुआ और अन्तमें इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा॥

शक्र उवाच

यदा स पूरुस्तव रूपेण राजन्
जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ।
तदा च राज्यं सम्प्रदायैव तस्मै
त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥

इन्द्रने पूछा—राजन्! जब पूरु तुमसे वृद्धावस्था लेकर तुम्हारे स्वरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा, तुम सत्य कहो, उस समय राज्य देकर तुमने उसको क्या आदेश दिया था? ॥ ४ ॥

ययातिरुवाच

गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव॥ ५ ॥

ययातिने कहा—(देवराज! मैंने अपने पुत्र पूरुसे कहा था कि) बेटा! गङ्गा और यमुनाके बीचका यह सारा प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें रहेगा। यह पृथ्वीका मध्य भाग है, इसके तुम राजा होओगे और तुम्हारे भाई सीमान्त देशोंके अधिपति होंगे ॥ ५ ॥

(न च कुर्यान्नरो दैन्यं शाठ्यं क्रोधं तथैव च।
जैह्म्यं च मत्सरं वैरं सर्वत्रैव न कारयेत् ॥
मातरं पितरं चैव विद्वांसं च तपोधनम्।
क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान् ॥
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलो बलवत्तरम् ॥
रूपवन्तमरूपी च धनवन्तं च निर्धनः।
अकर्मी कर्मिणं द्वेष्टि धार्मिकं च न धार्मिकः ॥
निर्गुणो गुणवन्तं च शक्रैतत् कलिलक्षणम्।)

देवेन्द्र! (इसके बाद मैंने यह आदेश दिया कि) मनुष्य दीनता, शठता और क्रोध न करे। कुटिलता, मात्सर्य और वैर कहीं न करे। माता, पिता, विद्वान्, तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुषका बुद्धिमान् मनुष्य कभी अपमान न करे। शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है। शक्तिहीन मनुष्य सदा क्रोध करता है। दुष्ट मानव साधु पुरुषसे और दुर्बल अधिक बलवान्से द्वेष करता है। कुरूप मनुष्य रूपवान्से, निर्धन धनवान्से, अकर्मण्य कर्मनिष्ठसे और अधार्मिक धर्मात्मासे द्वेष करता है। इसी प्रकार गुणहीन मनुष्य गुणवान्से डाह रखता है। इन्द्र! यह कलिका लक्षण है।

अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना
विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥

क्रोध करनेवालोंसे वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो कभी क्रोध नहीं करता। इसी प्रकार असहनशीलसे सहनशील उत्तम है, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मूर्खोंसे विद्वान् उत्तम है ॥६॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ७ ॥

यदि कोई किसीकी निन्दा करता या उसे गाली देता हो तो वह भी बदलेमें निन्दा या गाली-गलौज न करे; क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुषका आन्तरिक दुःख ही गाली देनेवाले या अपमान करनेवालेको जला डालता है। साथ ही उसके पुण्यको भी वह ले लेता है ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥

क्रोधवश किसीके मर्म-स्थानमें चोट न पहुँचाये (ऐसा बर्ताव न करे, जिससे किसीको मार्मिक पीड़ा हो)। किसीके प्रति कठोर बात भी मुँहसे न निकाले। अनुचित उपायसे शत्रुको भी वशमें न करे। जो जीको जलानेवाली हो, जिससे दूसरेको उद्वेग होता हो, ऐसी बात मुँहसे न बोले; क्योंकि पापीलोग ही ऐसी बातें बोला करते हैं ॥ ८ ॥

अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥

जो स्वभावका कठोर हो, दूसरोंके मर्ममें चोट पहुँचाता हो, तीखी बातें बोलता हो और कठोर वचनरूपी काँटोंसे दूसरे मनुष्यको पीड़ा देता हो, उसे अत्यन्त लक्ष्मीहीन (दरिद्र या अभागा) समझे। (उसको देखना भी बुरा है; क्योंकि) वह कड़वी बोलीके रूपमें अपने मुँहमें बँधी हुई एक पिशाचिनीको ढो रहा है॥

सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्
सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात्।
सदासतामतिवादांस्तितिक्षेत्
सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः ॥ १० ॥

(अपना बर्ताव और व्यवहार ऐसा रक्खे, जिससे) साधु पुरुष सामने तो सत्कार करें ही, पीठ-पीछे भी उनके द्वारा अपनी रक्षा हो। दुष्ट लोगोंकी कही हुई अनुचित बातें सदा सह लेनी चाहिये तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके सदाचारका आश्रय लेकर साधु पुरुषोंके व्यवहारको ही अपनाना चाहिये ॥ १० ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ११ ॥

दुष्ट मनुष्योंके मुखसे कटु वचनरूपी बाण सदा छूटते रहते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे वाग्बाण दूसरोंके मर्मस्थानोंपर ही चोट करते हैं। अतः विद्वान् पुरुष दूसरेके प्रति ऐसी कठोर वाणीका प्रयोग न करे ॥ ११ ॥

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥

सभी प्राणियोंके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव, दान और सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग—तीनों लोकोंमें इनके समान कोई वशीकरण नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित्।
पूज्यान् सम्पूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन ॥ १३ ॥

इसलिये कभी कठोर वचन न बोले। सदा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोले। पूजनीय पुरुषोंका पूजन (आदर-सत्कार) करे। दूसरोंको दान दे और स्वयं कभी किसीसे कुछ न माँगे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गसे पतन और अष्टकका उनसे प्रश्न करना

इन्द्र उवाच

सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्
गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि।
तत् त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र
केनासि तुल्यस्तपसा ययाते ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम सम्पूर्ण कर्मोंको समाप्त करके घर छोड़कर वनमें चले गये थे। अतः नहुषपुत्र ययाते! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम तपस्यामें किसके समान हो ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित् पश्यामि वासव ॥ २ ॥

ययातिने कहा—इन्द्र! मैं देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों और महर्षियोंमेंसे किसीको भी तपस्यामें अपनी बराबरी करनेवाला नहीं देखता हूँ ॥ २ ॥

ययातिका पतन

इन्द्र उवाच

यदावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च
अल्पीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे
क्षीणे पुण्ये पतितास्यद्य राजन् ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! तुमने अपने समान, अपनेसे बड़े और छोटे लोगोंका प्रभाव न जानकर सबका तिरस्कार किया है, अतः तुम्हारे इन पुण्यलोकोंमें रहनेकी अवधि समाप्त हो गयी; क्योंकि (दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण) तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया, इसलिये अब तुम यहाँसे नीचे गिरोगे ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्
क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद् विहीनः
सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—देवराज इन्द्र! देवता, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्य आदिका अपमान करनेके कारण यदि मेरे पुण्य-लोक क्षीण हो गये हैं तो इन्द्रलोकसे भ्रष्ट होकर मैं साधु पुरुषोंके बीचमें गिरनेकी इच्छा करता हूँ ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

सतां सकाशे पतितासि राजं-
श्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धासि भूयः ।
एतद् विदित्वा च पुनर्ययाते
त्वं मावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले—राजा ययाति! तुम यहाँसे च्युत होकर साधु पुरुषोंके समीप गिरोगे और वहाँ अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर लोगे। यह सब जानकर तुम फिर कभी अपने बराबर तथा अपनेसे बड़े लोगोंका अपमान न करना ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रहायामरराजजुष्टान्
पुण्याँल्लोकान् पतमानं ययातिम् ।
सम्प्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्त-
मुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रके सेवन करने योग्य पुण्यलोकोंका परित्याग करके राजा ययाति नीचे गिरने लगे। उस समय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ अष्टकने उन्हें गिरते देखा। वे उत्तम धर्म-विधिके पालक थे। उन्होंने ययातिसे कहा ॥ ६ ॥

अष्टक उवाच

कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः
स्वतेजसा दीप्यमानो यथाग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्
खात् खेचराणां प्रवरो यथार्कः ॥ ७ ॥

अष्टकने पूछा—इन्द्रके समान सुन्दर रूपवाले तरुण पुरुष तुम कौन हो? तुम अपने तेजसे अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हो। मेघरूपी घने अन्धकारवाले आकाशसे आकाशचारी ग्रहोंमें श्रेष्ठ सूर्यके समान तुम कैसे गिर रहे हो? ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात् पतन्तं
वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत् पततीति सर्वे
वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ॥ ८ ॥

तुम्हारा तेज सूर्य और अग्निके सदृश है। तुम अप्रमेय शक्तिशाली जान पड़ते हो। तुम्हें सूर्यके मार्गसे गिरते देख हम सब लोग मोहित होकर इस तर्क-वितर्कमें पड़े हैं कि 'यह क्या गिर रहा है!' ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे
शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे
तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥

तुम इन्द्र, सूर्य और विष्णुके समान प्रभावशाली हो। तुम्हें आकाशमें स्थित देखकर हम सब लोग अब यह जाननेके

लिये तुम्हारे निकट आये हैं कि तुम्हारे पतनका यथार्थ कारण क्या है ? ॥ ९ ॥

न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे
न च त्वमस्मान् पृच्छसि ये वयं स्मः।
तत् त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप
कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥१०॥

हम पहले तुमसे कुछ पूछनेका साहस नहीं कर सकते और तुम भी हमसे हमारा परिचय नहीं पूछते हो; कि हम कौन हैं ? इसलिये मैं ही तुमसे पूछता हूँ। मनोरम रूपवाले महापुरुष ! तुम किसके पुत्र हो ? और किसलिये यहाँ आये हो ? ॥ १० ॥

भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ
त्यजाशु चैवेन्द्रसमप्रभाव।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे
नालं प्रसोढुं बलहापि शक्रः ॥ ११ ॥

इन्द्रके तुल्य शक्तिशाली पुरुष ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। अब तुम्हें विषाद और मोहको भी तुरंत त्याग देना चाहिये। इस समय तुम संतोंके समीप विद्यमान हो । बल दानवका नाश करनेवाले इन्द्र भी अब तुम्हारा तेज सहन करनेमें असमर्थ हैं ॥ ११ ॥

सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां
सतां सदैवामरराजकल्प।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः
प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ॥ १२ ॥

देवेश्वर इन्द्रके समान तेजस्वी महानुभाव ! सुखसे वञ्चित होनेवाले साधु पुरुषोंके लिये सदा संत ही परम आश्रय हैं। वे स्थावर और जङ्गम सब प्राणियोंपर शासन करनेवाले सत्पुरुष यहाँ एकत्र हुए हैं। तुम अपने समान पुण्यात्मा संतोंके बीचमें स्थित हो ॥ १२ ॥

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतः प्रभुः ॥ १३ ॥

जैसे तपनेकी शक्ति अग्निमें है, बोये हुए बीजको धारण करनेकी शक्ति पृथ्वीमें है, प्रकाशित होनेकी शक्ति सूर्यमें है, इसी प्रकार संतोंपर शासन करनेकी शक्ति केवल अतिथिमें है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका संवाद

ययातिरुवाच

अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सर्वभूतावमानात्।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्
परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ॥ १ ॥

ययातिने कहा—महात्मन् ! मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता ययाति हूँ। समस्त प्राणियोंका अपमान करनेसे मेरा पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं देवताओं, सिद्धों तथा महर्षियोंके लोकसे च्युत होकर नीचे गिर रहा हूँ ॥ १ ॥

अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्य-
स्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा
वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ २ ॥

मैं आपलोगोंसे अवस्थामें बड़ा हूँ, अतः आपलोगोंको प्रणाम नहीं कर रहा हूँ। द्विजातियोंमें जो विद्या, तप और अवस्थामें बड़ा होता है, वह पूजनीय माना जाता है ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः
स वै राजन् नाभ्यधिकः कथ्यते च।
यो विद्यया तपसा सम्प्रवृद्धः
स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥

अष्टक बोले—राजन् ! आपने कहा है कि जो अवस्थामें बड़ा हो, वही अधिक सम्माननीय कहा जाता है। परंतु द्विजोंमें तो जो विद्या और तपस्यामें बढ़ा-चढ़ा हो, वही पूज्य होता है ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहु-
स्तद् वर्ततेऽप्रवणे पापलोक्यम्।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्
यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—पापको पुण्यकर्मोंका नाशक बताया जाता है, वह नरककी प्राप्ति करानेवाला है और वह उद्दण्ड

पुरुषोंमें ही देखा जाता है। दुराचारी पुरुषोंके दुराचारका श्रेष्ठ पुरुष अनुसरण नहीं करते हैं। पहलेके साधु पुरुष भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंके ही अनुकूल आचरण करते थे ॥ ४ ॥

अभूद् धनं मे विपुलं गतं तद्
विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि।
एवं प्रधार्यात्महिते निविष्टो
यो वर्तते स विजानाति धीरः ॥ ५ ॥

मेरे पास पुण्यरूपी बहुत धन था; किंतु दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण वह सब नष्ट हो गया। अब मैं चेष्टा करके भी उसे नहीं पा सकता। मेरी इस दुरवस्थाको समझ-बूझकर जो आत्मकल्याणमें संलग्न रहता है, वही ज्ञानी और वही धीर है ॥ ५ ॥

महाधनो यो यजते सुयज्ञै-
र्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः।
वेदानधीत्य तपसाऽऽयोज्य देहं
दिवं समायात् पुरुषो वीतमोहः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य बहुत धनी होकर उत्तम यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता है, सम्पूर्ण विद्याओंको पाकर जिसकी बुद्धि विनययुक्त है तथा जो वेदोंको पढ़कर अपने शरीरको तपस्यामें लगा देता है, वह पुरुष मोहरहित होकर स्वर्गमें जाता है ॥६॥

न जातु हृष्येन्महता धनेन
वेदानधीयीतानहंकृतः स्यात्।
नानाभावा बहवो जीवलोके
दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः।
तत् तत् प्राप्य न विहन्येत धीरो
दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ॥ ७ ॥

महान् धन पाकर कभी हर्षसे उल्लसित न हो; वेदोंका अध्ययन करे, किंतु अहंकारी न बने। इस जीव-जगत्‌में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले बहुतसे प्राणी हैं, वे सभी प्रारब्धके अधीन हैं, अतः उनके धनादि पदार्थोंके लिये किये हुए उद्योग और अधिकार सभी व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये धीर पुरुषको चाहिये कि वह अपनी बुद्धिसे 'प्रारब्ध ही बलवान् है' यह जानकर दुःख या सुख जो भी मिले, उसमें विकारको प्राप्त न हो ॥ ७ ॥

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं
दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या।
तस्माद् दिष्टं बलवन्मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥ ८ ॥

जीव जो सुख अथवा दुःख पाता है, वह प्रारब्धसे ही प्राप्त होता है, अपनी शक्तिसे नहीं। अतः प्रारब्धको ही बलवान् मानकर मनुष्य किसी प्रकार भी हर्ष अथवा शोक न करे ॥८॥

दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्
समेन वर्तेत सदैव धीरः।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥ ९ ॥

दुःखोंसे संतप्त न हो और सुखोंसे हर्षित न हो। धीर पुरुष सदा समभावसे ही रहे और भाग्यको ही प्रबल मानकर किसी प्रकार चिन्ता एवं हर्षके वशीभूत न हो ॥ ९ ॥

भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्
संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित्।
धाता यथा मां विदधीत लोके
ध्रुवं तथाहं भवितेति मत्वा ॥ १० ॥

अष्टक! मैं कभी भयमें पड़कर मोहित नहीं होता, मुझे कोई मानसिक संताप भी नहीं होता; क्योंकि मैं समझता हूँ कि विधाता इस संसारमें मुझे जैसे रक्खेगा, वैसे ही रहूँगा ॥

संस्वेदजा अण्डजाश्चोद्भिदश्च
सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः।
तथाश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वे
दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ॥ ११ ॥

स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, सरीसृप, कृमि, जलमें रहनेवाले मत्स्य आदि जीव तथा पर्वत, तृण और काष्ठ—ये सभी प्रारब्ध-भोगका सर्वथा क्षय हो जानेपर अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा
कस्मात् संतापमष्टकाहं भजेयम्।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये
तस्मात् संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः॥ १२ ॥

अष्टक! मैं सुख तथा दुःख दोनोंकी अनित्यताको जानता हूँ, फिर मुझे संताप हो तो कैसे? मैं क्या करूँ और क्या करके संतप्त न होऊँ, इन बातोंकी चिन्ता छोड़ चुका हूँ। अतः सावधान रहकर शोक-संतापको अपनेसे दूर रखता हूँ ॥ १२ ॥

(दुःखे न खिद्येन्न सुखेन माद्येत्
समेन वर्तेत स धीरधर्मा।
दिष्टं बलीयः समवेक्ष्य बुद्ध्या
न सज्जते चात्र भृशं मनुष्यः ॥)

जो दुःखमें खिन्न नहीं होता, सुखसे मतवाला नहीं हो उठता और सबके साथ समान भावसे बर्ताव करता है, वह धीर कहा गया है। विज्ञ मनुष्य बुद्धिसे प्रारब्धको अत्यन्त बलवान् समझकर यहाँ किसी भी विषयमें अधिक आसक्त नहीं होता ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययाति-
मथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छत्।

मातामहं सर्वगुणोपपन्नं
तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे और नातेमें अष्टकके नाना लगते थे। वे अन्तरिक्षमें वैसे ही ठहरे हुए थे, मानो स्वर्गलोकमें हों। जब उन्होंने उपर्युक्त बातें कहीं, तब अष्टकने उनसे पुनः प्रश्न किया ॥ १३ ॥

अष्टक उवाच

ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधाना-
स्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत् ।
तान् मे राजन् ब्रूहि सर्वान् यथावत्
क्षेत्रज्ञवद् भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १४ ॥

अष्टक बोले—महाराज ! आपने जिन-जिन प्रधान लोकोंमें रहकर जितने समयतक वहाँके सुखोंका भलीभाँति उपभोग किया है, उन सबका मुझे यथार्थ परिचय दीजिये। राजन्! आप तो महात्माओंकी भाँति धर्मोंका उपदेश कर रहे हैं॥

ययातिरुवाच

राजाहमासमिह सार्वभौम-
स्ततो लोकान् महतश्चाजयं वै ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—अष्टक ! मैं पहले समस्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा था। तदनन्तर सत्कर्मों-द्वारा बड़े-बड़े लोकोंपर मैंने विजय प्राप्त की और उनमें एक हजार वर्षोंतक निवास किया। इसके बाद उनसे भी उच्चतम लोकमें जा पहुँचा ॥ १५ ॥

ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां
सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् ।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १६ ॥

वहाँ सौ योजन विस्तृत और एक हजार दरवाजोंसे युक्त इन्द्रकी रमणीय पुरी प्राप्त हुई। उसमें मैंने केवल एक हजार वर्षोंतक निवास किया और उसके बाद उससे भी ऊँचे लोकमें गया ॥ १६ ॥

ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं
प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर लोकपालोंके लिये भी दुर्लभ प्रजापतिके उस दिव्य लोकमें जा पहुँचा, जहाँ जरावस्थाका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक हजार वर्षतक रहा, फिर उससे भी उत्तम लोकमें चला गया ॥ १७ ॥

स देवदेवस्य निवेशने च
विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
सम्पूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तै-
स्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १८ ॥

वह देवाधिदेव ब्रह्माजीका धाम था। वहाँ मैं अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विहार करता हुआ सम्पूर्ण देवताओंसे सम्मानित होकर रहा। उस समय मेरा प्रभाव और तेज देवेश्वरोंके समान था ॥ १८ ॥

तथावसं नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
सहाप्सरोभिर्विहरन् पुण्यगन्धान्
पश्यन् नगान् पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार मैं नन्दनवनमें इच्छानुसार रूप धारण करके अप्सराओंके साथ विहार करता हुआ दस लाख वर्षोंतक रहा। वहाँ मुझे पवित्र गन्ध और मनोहर रूपवाले वृक्ष देखनेको मिले, जो फूलोंसे लदे हुए थे ॥ १९ ॥

तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं
कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो
ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ २० ॥

वहाँ रहकर मैं देवलोकके सुखोंमें आसक्त हो गया। तदनन्तर बहुत अधिक समय बीत जानेपर एक भयंकर रूपधारी देवदूत आकर मुझसे ऊँची आवाजमें तीन बार बोला—'गिर जाओ, गिर जाओ' ॥ २० ॥

एतावन्मे विदितं राजसिंह
ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात् क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणां
सानुक्रोशाः शोचतां मां नरेन्द्र ॥ २१ ॥

राजशिरोमणे ! मुझे इतना ही ज्ञात हो सका है। तदनन्तर पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं नन्दन वनसे नीचे गिर पड़ा। नरेन्द्र ! उस समय मेरे लिये शोक करनेवाले देवताओंकी अन्तरिक्षमें यह दयाभरी वाणी सुनायी पड़ी—॥२१॥

अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः
पतत्यसौ पुण्यकृत् पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं
सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥ २२ ॥

'अहो ! बड़े कष्टकी बात है कि पवित्र कीर्तिवाले ये पुण्यकर्मा महाराज ययाति पुण्य क्षीण होनेके कारण नीचे गिर रहे हैं।' तब नीचे गिरते हुए मैंने उनसे पूछा—'देवताओ ! मैं साधु पुरुषोंके बीच गिरूँ, इसका क्या उपाय है ?' ॥२२॥

तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः
समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमे-
र्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥ २३ ॥

तब देवताओंने मुझे आपकी यज्ञभूमिका परिचय दिया। मैं इसीको देखता हुआ तुरंत यहाँ आ पहुँचा हूँ। यज्ञभूमिका परिचय देनेवाली हविष्यकी सुगन्धका अनुभव तथा धूमप्रान्तका अवलोकन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता और सान्त्वना मिली है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अष्टक और ययातिका संवाद

अष्टक उवाच

यद्यावसो नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम्।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान
हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—सत्ययुगके निष्पाप राजाओंमें प्रधान नरेश ! जब आप इच्छानुसार रूप धारण करके दस लाख वर्षोंतक नन्दनवनमें निवास कर चुके हैं, तब क्या कारण है कि आप उसे छोड़कर भूतलपर चले आये ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

ज्ञातिः सुहृत् स्वजनो वा यथेह
क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं
त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥

ययाति बोले—जैसे इस लोकमें जाति-भाई, सुहृद् अथवा स्वजन कोई भी क्यों न हो, धन नष्ट हो जानेपर उसे सब मनुष्य त्याग देते हैं; उसी प्रकार परलोकमें जिसका पुण्य समाप्त हो गया है, उस मनुष्यको देवराज इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता तुरंत त्याग देते हैं ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

तस्मिन् कथं क्षीणपुण्या भवन्ति
सम्मुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम्।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति
तद् वै ब्रूहि क्षेत्रवित् त्वं मतो मे ॥ ३ ॥

अष्टकने पूछा—देवलोकमें मनुष्योंके पुण्य कैसे क्षीण होते हैं ? इस विषयमें मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है। प्रजापतिका वह कौन सा धाम है, जिसमें विशिष्ट (अपुनरावृत्तिकी योग्यतावाले) पुरुष जाते हैं ? यह बताइये; क्योंकि आप मुझे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) जान पड़ते हैं ॥३॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
लालप्यमाना नरदेव सर्वे।
ते कङ्कगोमायुबलाशनार्थे[1]
क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥

ययाति बोले—नरदेव ! जो अपने मुखसे अपने पुण्यकर्मोंका बखान करते हैं, वे सभी इस भौम नरकमें आ गिरते हैं। यहाँ वे गीधों, गीदड़ों और कौओं आदिके खाने योग्य इस शरीरके लिये बड़ा भारी परिश्रम करके क्षीण होते और पुत्र-पौत्रादिरूपसे बहुधा विस्तारको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

तस्मादेतद् वर्जनीयं नरेन्द्र
दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव
भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥

इसलिये नरेन्द्र ! इस लोकमें जो दुष्ट और निन्दनीय कर्म हो उसको सर्वथा त्याग देना चाहिये। भूपाल ! मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, बोलो, अब और तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥५॥

अष्टक उवाच

यदा तु तान् वितुदन्ते वयांसि
तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥

अष्टकने पूछा—जब मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् पक्षी, गीध, नीलकण्ठ और पतङ्ग ये नोच-नोचकर खा लेते हैं, तब वे कैसे और किस रूपमें उत्पन्न होते हैं ? मैंने अबतक भौम नामक किसी दूसरे नरकका नाम नहीं सुना था ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

ऊर्ध्वं देहात् कर्मणा जृम्भमाणाद्
व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति।

१. बल शब्दका अर्थ यहाँ कौआ किया गया है; जो 'स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः' अमरकोषके इस वाक्यसे समर्थित होता है।

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥

ययाति बोले—कर्मसे उत्पन्न होने और बढ़नेवाले शरीरको पाकर गर्भसे निकलनेके पश्चात् जीव सबके समक्ष इस पृथ्वीपर (विषयोंमें) विचरते हैं। उनका यह विचरण ही भौम नरक कहा गया है। इसीमें वे पड़ते हैं। इसमें पड़नेपर वे व्यर्थ बीतनेवाले अनेक वर्षसमूहोंकी ओर दृष्टिपात नहीं करते।७।

षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि
तथा अशीतिं परिवत्सराणि।
तान् वै तुदन्ति पततः प्रपातं
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥

कितने ही प्राणी आकाश(स्वर्गादि)में साठ हजार वर्ष रहते हैं! कुछ अस्सी हजार वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं। इसके बाद वे भूमिपर गिरते हैं। यहाँ उन गिरनेवाले जीवोंको तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके भयानक राक्षस (दुष्ट प्राणी) अत्यन्त पीड़ा देते हैं॥८॥

अष्टक उवाच

यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥

अष्टकने पूछा—तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके वे भयंकर राक्षस पापवश आकाशसे गिरते हुए जिन जीवोंको सताते हैं, वे गिरकर कैसे जीवित रहते हैं? किस प्रकार इन्द्रिय आदिसे युक्त होते हैं? और कैसे गर्भमें आते हैं? ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्त-
मन्वेति तद् वै पुरुषेण सृष्टम्।
स वै तस्या रज आपद्यते वै
स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥ १० ॥

ययाति बोले—अन्तरिक्षसे गिरा हुआ प्राणी अस्र (जल) होता है। फिर वही क्रमशः नूतन शरीरका बीजभूत वीर्य बन जाता है। वह वीर्य फूल और फलरूपी शेष कर्मोंसे संयुक्त होकर तदनुरूप योनिका अनुसरण करता है। गर्भाधान करनेवाले पुरुषके द्वारा स्त्रीसंसर्ग होनेपर वह वीर्यमें आविष्ट हुआ जीव उस स्त्रीके रजमें मिल जाता है। तदनन्तर वही गर्भरूपमें परिणत हो जाता है॥ १० ॥

वनस्पतीनोषधीश्चाविशन्ति
अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम्।
चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्व-
मेवम्भूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ११ ॥

जीव जलरूपसे गिरकर वनस्पतियों और ओषधियोंमें प्रवेश करते हैं। जल, वायु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदिमें प्रवेश करते हुए कर्मानुसार पशु अथवा मनुष्य सब कुछ होते हैं। इस प्रकार भूमिपर आकर फिर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार गर्भभावको प्राप्त होते हैं॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

अन्यद् वपुर्विदधातीह गर्भ-
मुताहोस्वित् स्वेन कायेन याति।
आपद्यमानो नरयोनिमेता-
नाचक्ष्व मे संशयात् प्रब्रवीमि ॥ १२ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! इस मनुष्ययोनिमें आनेवाला जीव अपने इसी शरीरसे गर्भमें आता है या दूसरा शरीर धारण करता है। आप यह रहस्य मुझे बताइये। मैं संशय होनेके कारण पूछता हूँ॥ १२ ॥

शरीरभेदाभिसमुच्छ्रयं च
चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम्।
एतत् तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः
क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्याम सर्वे ॥ १३ ॥

गर्भमें आनेपर वह भिन्न-भिन्न शरीररूपी आश्रयको, आँख और कान आदि इन्द्रियोंको तथा चेतनाको भी कैसे उपलब्ध करता है? मेरे पूछनेपर ये सब बातें आप बताइये। तात! हम सब लोग आपको क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) मानते हैं॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनि-
मृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम्।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः
क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥ १४ ॥

ययाति बोले—ऋतुकालमें पुष्परससे संयुक्त वीर्यको वायु गर्भाशयमें खींच लाता है। वहाँ गर्भाशयमें सूक्ष्मभूत उसपर अधिकार कर लेते हैं और वह क्रमशः गर्भकी वृद्धि करता रहता है॥ १४ ॥

स जायमानो विगृहीतमात्रः
संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं
स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥ १५ ॥

वह गर्भ बढ़कर जब सम्पूर्ण अवयवोंसे सम्पन्न हो जाता है, तब चेतनताका आश्रय ले योनिसे बाहर निकलकर मनुष्य कहलाता है। वह कानोंसे शब्द सुनता है, आँखोंसे रूप देखता है॥ १५ ॥

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाथो रसं च
त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम्।

इत्यष्टकेहोपहितं हि विद्धि
महात्मनां प्राणभृतां शरीरे ॥ १६ ॥

नासिकासे सुगन्ध लेता है। जिह्वासे रसका आस्वादन करता है। त्वचासे स्पर्श और मनसे आन्तरिक भावोंका अनुभव करता है। अष्टक! इस प्रकार महात्मा प्राणधारियोंके शरीरमें जीवकी स्थापना होती है ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच

यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा
निखन्यते वापि निकृष्यते वा।
अभावभूतः स विनाशमेत्य
केनात्मना चेतयते परस्तात् ॥ १७ ॥

अष्टकने पूछा—जो मनुष्य मर जाता है, वह जलाया जाता है या गाड़ दिया जाता है अथवा जलमें बहा दिया जाता है। इस प्रकार विनाश होकर स्थूल शरीरका अभाव हो जाता है। फिर वह चेतन जीवात्मा किस शरीरके आधारपर रहकर चैतन्ययुक्त व्यवहार करता है? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

हित्वा सोऽसून् सुप्तवन्निष्टनित्वा
पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी
हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥ १८ ॥

ययाति बोले—राजसिंह! जैसे मनुष्य श्वास लेते हुए प्राणयुक्त स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नमें विचरण करता है, वैसे ही यह चेतन जीवात्मा अस्फुट शब्दोच्चारणके साथ इस मृतक स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीरसे संयुक्त होता है और फिर अथवा पापको आगे रखकर वायुके समान वेगसे चलता हुआ अन्य योनिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति
पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा
न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥ १९ ॥
चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च
तथाभूता गर्भभूता भवन्ति।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं
भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥ २० ॥

पुण्य करनेवाले मनुष्य पुण्य-योनियोंमें जाते हैं और पाप करनेवाले मनुष्य पाप-योनिमें जाते हैं। इस प्रकार पापी जीव कीट-पतङ्ग आदि होते हैं। महानुभाव! इन सब विषयोंको विस्तारके साथ कहनेकी इच्छा नहीं होती। नृपश्रेष्ठ! इसी प्रकार जीव गर्भमें आकर चार पैर, छः पैर और दो पैरवाले प्राणियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यह सब मैंने पूरा-पूरा बता दिया। अब क्या पूछना चाहते हो? ॥१९-२०॥

अष्टक उवाच

किंस्वित् कृत्वा लभते तात लोकान्
मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथाव-
च्छुभाँल्लोकान् येन गच्छेत् क्रमेण ॥ २१ ॥

अष्टकने पूछा—तात! मनुष्य कौन-सा कर्म करके उत्तम लोक प्राप्त करता है? वे लोक तपसे प्राप्त होते हैं या विद्यासे? मैं यही पूछता हूँ। जिस कर्मके द्वारा क्रमशः श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हो सके, वह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥

ययातिरुवाच

तपश्च दानं च शमो दमश्च
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम्।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः
पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ २२ ॥

ययाति बोले—राजन्! साधु पुरुष स्वर्गलोकके सात महान् दरवाजे बतलाते हैं, जिनसे प्राणी उसमें प्रवेश करते हैं। उनके नाम ये हैं—तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियोंके प्रति दया। वे तप आदि द्वार सदा ही पुरुषके अभिमानरूप तमसे आच्छादित होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह संत पुरुषोंका कथन है ॥ २२ ॥

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका
न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥ २३ ॥

जो वेदोंका अध्ययन करके अपनेको सबसे बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्याद्वारा दूसरोंके यशका नाश करता है, उसके पुण्यलोक अन्तवान् (विनाशशील) होते हैं और उसका पढ़ा हुआ वेद भी फल नहीं देता ॥ २३ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ २४ ॥

अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भयसे मुक्त करनेवाले हैं; परंतु वे ही ठीकसे न किये जायँ, अभिमानपूर्वक उनका अनुष्ठान किया जाय तो वे उलटे भय प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

न मानमान्यो मुदमाददीत
न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात्।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके
नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥ २५ ॥

विद्वान् पुरुष सम्मानित होनेपर अधिक आनन्दित न हो और अपमानित होनेपर संतप्त न हो। इस लोकमें संत पुरुष ही सत्पुरुषोंका आदर करते हैं। दुष्ट पुरुषोंको 'यह सत्पुरुष है' ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती ॥ २५ ॥

इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम्।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ॥ २६ ॥

मैं यह दे सकता हूँ, इस प्रकार यजन करता हूँ, इस तरह स्वाध्यायमें लगा रहता हूँ और यह मेरा व्रत है; इस प्रकार जो अहंकारपूर्वक वचन हैं, उन्हें भयरूप कहा गया है। ऐसे वचनोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

ये चाश्रयं वेदयन्ते पुराणं
मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम्।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य
परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह ॥ २७ ॥

जो सबका आश्रय है, पुराण (कूटस्थ) है तथा जहाँ मनकी गति भी रुक जाती है वह (परब्रह्म परमात्मा) तुम सब लोगोंके लिये कल्याणकारी हो। जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे उस परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होकर इहलोक और परलोकमें परम शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका आश्रमधर्मसम्बन्धी संवाद

अष्टक उवाच

चरन् गृहस्थः कथमेति धर्मान्
कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो
बहून्यस्मिन् सम्प्रति वेदयन्ति ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—महाराज! वेदज्ञ विद्वान् इस धर्मके अन्तर्गत बहुत-से कर्मोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका द्वार बताते हैं; अतः मैं पूछता हूँ, आचार्यकी सेवा करनेवाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्मार्गमें स्थित वानप्रस्थ और संन्यासी किस प्रकार धर्माचरण करके उत्तम लोकमें जाता है? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥

ययाति बोले—शिष्यको उचित है कि गुरुके बुलानेपर उसके समीप जाकर पढ़े। गुरुकी सेवामें बिना कहे लगा रहे, रातमें गुरुजीके सो जानेके बाद सोवे और सबेरे उनसे पहले ही उठ जाय। वह मृदुल (विनम्र), जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियमसे रहनेवाला ब्रह्मचारी सिद्धिको पाता है ॥ २ ॥

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥ ३ ॥

गृहस्थ पुरुष न्यायसे प्राप्त हुए धनको पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे और सदा अतिथियोंको भोजन करावे। दूसरोंकी वस्तु उनके दिये बिना ग्रहण नहीं करे। यह गृहस्थ-धर्मका प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है ॥ ३ ॥

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां
वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥

वानप्रस्थ मुनि वनमें निवास करे। आहार और विहारको नियमित रक्खे। अपने ही पराक्रम एवं परिश्रमसे जीवन-निर्वाह करे, पापसे दूर रहे। दूसरोंको दान दे और किसीको कष्ट न पहुँचावे। ऐसा मुनि परम मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार-
श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

संन्यासी शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे। सबसे अलग रहे। गृहस्थके घरमें न सोये। परिग्रहका भार न लेकर अपनेको हल्का रक्खे। थोड़ा-थोड़ा चले। अकेला ही अनेक स्थानोंमें भ्रमण करता रहे। ऐसा संन्यासी ही वास्तवमें भिक्षु कहलाने योग्य है ॥ ५ ॥

रात्र्या यया वाभिजिताश्च लोका
भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा-
नरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥

जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें, इच्छानुसार जीत लिये जायँ तथा उनके परित्यागमें ही सुख जान पड़े, उसी समय विद्वान् पुरुष मनको वशमें करके समस्त संग्रहोंका त्याग कर वनवासी होनेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥

जो वनवासी मुनि वनमें ही अपने पञ्चभूतात्मक शरीरका परित्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्वके और दस पीढ़ी बादके जाति-भाइयोंको तथा इक्कीसवें अपनेको भी पुण्यलोकोंमें पहुँचा देता है ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच

कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! मुनि कितने हैं? और मौन कितने प्रकारके हैं? यह बताइये, हम इसे सुनना चाहते हैं॥८॥

ययातिरुवाच

अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥

ययातिने कहा—जनेश्वर! अरण्यमें निवास करते समय जिसके लिये ग्राम पीछे होता है और ग्राममें वास करते समय जिसके लिये अरण्य पीछे होता है, वह मुनि कहलाता है ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

कथंस्विद् वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ॥ १० ॥

अष्टकने पूछा—अरण्यमें निवास करनेवालेके लिये ग्राम और ग्राममें निवास करनेवालेके लिये अरण्य पीछे कैसे है? ॥१०॥

ययातिरुवाच

न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथास्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥ ११ ॥

ययातिने कहा—जो मुनि वनमें निवास करता है और गाँवोंमें प्राप्त होनेवाली वस्तुओंका उपयोग नहीं करता, इस प्रकार वनमें निवास करनेवाले उस (वानप्रस्थ) मुनिके लिये गाँव पीछे समझा जाता है ॥ ११ ॥

अनग्निरनिकेतश्चाप्यगोत्रचरणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत् तावदिच्छेच्च चीवरम् ॥ १२ ॥
यावत् प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ॥ १३ ॥

जो अग्नि और गृहको त्याग चुका है, जिसका गोत्र और चरण (वेदकी शाखा एवं जाति) से भी सम्बन्ध नहीं रह गया है, जो मौन रहता और उतने ही वस्त्रकी इच्छा रखता है जितनेसे लंगोटी और ओढ़नेका काम चल जाय; इसी प्रकार जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके उतना ही भोजन चाहता है; इस नियमसे गाँवमें निवास करनेवाले उस (संन्यासी) मुनिके लिये अरण्य पीछे समझा जाता है ॥ १२-१३ ॥

यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात्॥ १४ ॥

जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर कर्मोंको त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौनमें स्थित है, ऐसा संन्यासी लोकमें परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम् ॥ १५ ॥

जिसके दाँत शुद्ध और साफ हैं, जिसके नख (और केश) कटे हुए हैं, जो सदा स्नान करता है तथा यम-नियमादिसे अलङ्कृत (है, उन्हें धारण किये हुए) है, शीतोष्णको सहनेसे जिसका शरीर श्याम पड़ गया है, जिसके आचरण उत्तम हैं—ऐसा संन्यासी किसके लिये पूजनीय नहीं है? ॥ १५ ॥

तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १६ ॥

तपस्यासे मांस, हड्डी तथा रक्तके क्षीण हो जानेपर जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह (वानप्रस्थ) मुनि इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ॥ १६ ॥

यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १७ ॥

जब (वानप्रस्थ) मुनि सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित एवं भलीभाँति मौनावलम्बी हो जाता है, तब वह इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ॥१७॥

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १८ ॥

जब संन्यासी मुनि गाय-बैलोंकी तरह मुखसे ही आहार ग्रहण करता है, हाथ आदिका भी सहारा नहीं लेता, तब उसके द्वारा ये सब लोक जीत लिये गये समझे जाते हैं और वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये समर्थ समझा जाता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

अष्टक-ययाति-संवाद और ययातिद्वारा दूसरोंके दिये हुए पुण्यदानको अस्वीकार करना

अष्टक उवाच

कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम्।
उभयोर्धावतो राजन् सूर्याचन्द्रमसोरिव॥ १॥

अष्टकने पूछा—राजन्! सूर्य और चन्द्रमाकी तरह अपने-अपने लक्ष्यकी ओर दौड़ते हुए वानप्रस्थ और संन्यासी इन दोनोंमेंसे पहले कौन-सा देवताओंके आत्मभाव (ब्रह्म) को प्राप्त होता है?॥ १॥

ययातिरुवाच

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः॥ २॥

ययाति बोले—कामवृत्तिवाले गृहस्थोंके बीच ग्राममें ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही उन दोनों प्रकारके मुनियोंमें पहले ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

अवाप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत्।
तप्यते यदि तत् कृत्वा चरेत् सोऽन्यत् तपस्ततः॥ ३॥

जो वानप्रस्थ बड़ी आयु पाकर भी विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विकृत हो उन्हींमें विचरने लगता है, उसे यदि विषयोपभोगके अनन्तर पश्चात्ताप होता है तो उसे मोक्षके लिये पुनः तपका अनुष्ठान करना चाहिये॥ ३॥

पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते॥ ४॥

किंतु जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मोंसे नित्य भय करता है और सदा अपने धर्मका आचरण करता है, वह अत्यन्त सुखरूप मोक्षको अनायास ही प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

तद् वै नृशंसं तदसत्यमाहु-
र्यः सेवतेऽधर्ममनर्थबुद्धिः।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजं-
स्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम्॥ ५॥

राजन्! जो पापबुद्धिवाला मनुष्य अधर्मका आचरण करता है, उसका वह आचरण नृशंस (पापमय) और असत्य कहा गया है एवं उस अजितेन्द्रियका धन भी वैसा ही पापमय और असत्य है। परंतु वानप्रस्थ मुनिका जो धर्मपालन है, वही सरलता है, वही समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है॥ ५॥

अष्टक उवाच

केनासि दूतः प्रहितोऽसि राजन्
युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्व-
मुताहोस्वित् पार्थिवं स्थानमस्ति॥ ६॥

अष्टकने पूछा—राजन्! आपको यहाँ किसने बुलाया? किसने भेजा है? आप अवस्थामें तरुण, फूलोंकी मालासे सुशोभित, दर्शनीय तथा उत्तम तेजसे उद्भासित जान पड़ते हैं। आप कहाँसे आये हैं? किस दिशामें भेजे गये हैं? अथवा क्या आपके लिये इस पृथ्वीपर कोई उत्तम स्थान है?॥ ६॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः
प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद् विप्रहीणः।
उक्त्वाहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं
त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये॥ ७॥

ययातिने कहा—मैं अपने पुण्यका क्षय होनेसे भौम नरकमें प्रवेश करनेके लिये आकाशसे गिर रहा हूँ। ब्रह्माजीके जो लोकपाल हैं, वे मुझे गिरनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं; अतः आपलोगोंसे पूछकर विदा लेकर इस पृथ्वीपर गिरूँगा॥ ७॥

सतां सकाशे तु वृतः प्रपात-
स्ते संगता गुणवन्तस्तु सर्वे।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष
पतिष्यता भूमितलं नरेन्द्र॥ ८॥

नरेन्द्र! मैं जब इस पृथ्वीतलपर गिरनेवाला था, उस समय मैंने इन्द्रसे यह वर माँगा था कि मैं साधु पुरुषोंके समीप गिरूँ। वह वर मुझे मिला, जिसके कारण आप सब सद्गुणी संतोंका सङ्ग प्राप्त हुआ॥ ८॥

अष्टक उवाच

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं
यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये॥ ९॥

अष्टक बोले—महाराज! मेरा विश्वास है कि आप पारलौकिक धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपसे एक बात पूछता हूँ—क्या अन्तरिक्ष या स्वर्गलोकमें मुझे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोक भी हैं? यदि हों तो (उनके प्रभावसे) आप नीचे न गिरें, आपका पतन न हो॥ ९॥

ययातिरुवाच

यावत् पृथिव्यां विहितं गवाश्वं
सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च।

तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै
तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्रसिंह ! इस पृथ्वीपर जंगली और पर्वतीय पशुओंके साथ जितने गाय, घोड़े आदि पशु रहते हैं, स्वर्गमें तुम्हारे लिये उतने ही लोक विद्यमान हैं। तुम इसे निश्चय जानो ॥ १० ॥

अष्टक उवाच

तांस्ते ददामि प्रपत प्रपातं
ये मे लोका दिवि राजेन्द्र सन्ति।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ ११ ॥

अष्टक बोले—राजेन्द्र ! स्वर्गमें मेरे लिये जो लोक विद्यमान हैं, वे सब आपको देता हूँ; परंतु आपका पतन न हो। अन्तरिक्ष या द्युलोकमें मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोहरहित होकर चले जायँ ॥ ११ ॥

ययातिरुवाच

नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य-
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ १२ ॥

ययातिने कहा—नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है। मेरे-जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं। नरेन्द्र ! जैसे दान करना चाहिये, उस विधिसे पहले मैंने भी सदा उत्तम ब्राह्मणोंको बहुत दान दिये हैं ॥ १२ ॥

नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्यात् ब्राह्मणी वीरपत्नी।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मण नहीं है, उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये। याचना तो विद्यासे दिग्विजय करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी पत्नी है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ही याचना करनेका अधिकार है। मुझे उत्तम सत्कर्म करनेकी इच्छा है; अतः ऐसा कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ, जो पहले कभी नहीं किया हो ॥ १३ ॥

प्रतर्दन उवाच

पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप
प्रतर्दनोऽहं यदि मे सन्ति लोकाः।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १४ ॥

प्रतर्दन बोले—वाञ्छनीय रूपवाले श्रेष्ठ पुरुष ! मैं प्रतर्दन हूँ और आपसे पूछता हूँ, यदि अन्तरिक्ष अथवा स्वर्गमें मेरे भी लोक हों तो बताइये। मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र
अप्येकैकः सप्तसप्ताप्यहानि।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोका-
स्ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्र ! आपके तो बहुत लोक हैं, यदि एक-एक लोकमें सात-सात दिन रहा जाय तो भी उनका अन्त नहीं है। वे सब-के-सब अमृतके झरने बहाते हैं एवं घृत (तेज) से युक्त हैं। उनमें शोकका सर्वथा अभाव है। वे सभी लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रतर्दन उवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १६ ॥

प्रतर्दन बोले—महाराज ! वे सभी लोक मैं आपको देता हूँ, आप नीचे न गिरें। जो मेरे लोक हैं वे सब आपके हो जायँ। वे अन्तरिक्षमें हों या स्वर्गमें, आप शीघ्र मोहरहित होकर उनमें चले जाइये ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत
योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन्।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वां-
श्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—राजन् ! कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरेसे पुण्य तथा योग-क्षेमकी इच्छा न करे। विद्वान् राजा दैववश भारी आपत्तिमें पड़ जानेपर भी कोई पापमय कार्य न करे ॥ १७ ॥

धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्
कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ॥ १८ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाको उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक धर्म और यशके मार्गपर ही चले। जिसकी बुद्धि धर्ममें लगी हो उस मेरे-जैसे मनुष्यको जान बूझकर ऐसा दीनतापूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये, जिसके लिये आप मुझसे कह रहे हैं ॥ १८ ॥

कुर्यादपूर्वं न कृतं यदन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
(धर्माधर्मौ सुविनिश्चित्य सम्यक्
कार्याकार्येष्वप्रमत्तश्चरेद् यः ।
स वै धीमान् सत्यसन्धः कृतात्मा
राजा भवेल्लोकपालो महिम्ना ॥
यदा भवेत् संशयो धर्मकार्ये
कामार्थे वा यत्र विन्दन्ति सम्यक् ।
कार्यं तत्र प्रथमं धर्मकार्यं
न तौ कुर्यादर्थकामौ स धर्मः ॥)

ब्रुवाणमेनं नृपतिं ययातिं
नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत् तम् ॥ १९ ॥

जो शुभ कर्म करनेकी इच्छा रखता है, वह ऐसा काम नहीं कर सकता, जिसे अन्य राजाओंने नहीं किया हो। जो धर्म और अधर्मका भलीभाँति निश्चय करके कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें सावधान होकर विचरता है, वही राजा बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और मनस्वी है। वह अपनी महिमासे लोकपाल होता है। जब धर्मकार्यमें संशय हो अथवा जहाँ न्यायतः काम और अर्थ दोनों आकर प्राप्त हों, वहाँ पहले धर्मकार्यका ही सम्पादन करना चाहिये, अर्थ और कामका नहीं। यही धर्म है। इस प्रकारकी बातें कहनेवाले राजा ययातिसे नृपश्रेष्ठ वसुमान् बोले ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायात-विषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका वसुमान् और शिबिके प्रतिग्रहको अस्वीकार करना तथा अष्टक आदि चारों राजाओंके साथ स्वर्गमें जाना

वसुमानुवाच

पृच्छामि त्वां वसुमानौषदश्वि-
र्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥

वसुमान्‌ने कहा—नरेन्द्र! मैं उषदश्वका पुत्र वसुमान् हूँ और आपसे पूछ रहा हूँ। यदि स्वर्ग या अन्तरिक्षमें मेरे लिये भी कोई विख्यात लोक हों तो बताइये। महात्मन्! मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

यदन्तरिक्षं पृथिवीं दिशश्च
यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै
ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ २ ॥

ययातिने कहा—राजन्! पृथ्वी, आकाश और दिशाओंके जितने प्रदेशको सूर्यदेव अपनी किरणोंसे तपाते और प्रकाशित करते हैं; उतने लोक तुम्हारे लिये स्वर्गमें स्थित हैं। वे अन्तवान् न होकर चिरस्थायी हैं और आपकी प्रतीक्षा करते हैं॥

वसुमानुवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनापि राजन्
प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन् प्रदुष्टः ॥ ३ ॥

वसुमान् बोले—राजन्! वे सभी लोक मैं आपके लिये देता हूँ, आप नीचे न गिरें। मेरे लिये जितने पुण्यलोक हैं, वे सब आपके हो जायँ। धीमन्! यदि आपको प्रतिग्रह लेनेमें दोष दिखायी देता हो तो एक मुट्ठा तिनका मुझे मूल्यके रूपमें देकर मेरे इन सभी लोकोंको खरीद लें ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

न मिथ्याहं विक्रयं वै स्मरामि
वृथा गृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—मैंने इस प्रकार कभी झूठ-मूठकी खरीद-बिक्री की हो अथवा छलपूर्वक व्यर्थ कोई वस्तु ली हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। मैं कालचक्रसे शङ्कित रहता हूँ। जिसे पूर्ववर्ती अन्य महापुरुषोंने नहीं किया वह कार्य मैं भी नहीं कर सकता हूँ; क्योंकि मैं सत्कर्म करना चाहता हूँ ॥

वसुमानुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान् वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र
सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५ ॥

वसुमान् बोले—राजन् ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वतः अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये। नरेन्द्र ! निश्चय जानिये, मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा। वे सब आपके ही अधिकारमें रहें ॥५॥

शिबिरुवाच

पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं
ममापि लोका यदि सन्तीह तात।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥

शिबिने कहा—तात ! मैं उशीनरका पुत्र शिबि आपसे पूछता हूँ। यदि अन्तरिक्ष या स्वर्गमें मेरे भी पुण्यलोक हों, तो बताइये; क्योंकि मैं आपको उक्त धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं वाचा हृदयेनापि साधून्
परीप्समानान् नावमंस्था नरेन्द्र।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते
विद्युद्रूपा स्वनवन्तो महान्तः ॥ ७ ॥

ययाति बोले— नरेन्द्र ! जो-जो साधु पुरुष तुमसे कुछ माँगनेके लिये आये, उनका तुमने वाणीसे कौन कहे, मनसे भी अपमान नहीं किया। इस कारण स्वर्गमें तुम्हारे लिये अनन्त लोक विद्यमान हैं, जो विद्युत्के समान तेजोमय, भाँति भाँतिके सुमधुर शब्दोंसे युक्त तथा महान् हैं ॥ ७ ॥

शिबिरुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते।
न चाहं तान् प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा
यत्र गत्वा नानुशोचन्ति धीराः ॥ ८ ॥

शिबिने कहा—महाराज ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वयं अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये। उन सबको देकर निश्चय ही मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा। वे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभाव-
स्ते चाप्यनन्ता नरदेव लोकाः।
तथाद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते
तस्माच्छिबे नाभिनन्दामि देयम् ॥ ९ ॥

ययाति बोले—नरदेव शिबि ! जिस प्रकार तुम इन्द्रके समान प्रभावशाली हो, उसी प्रकार तुम्हारे वे लोक भी अनन्त हैं; तथापि दूसरेके दिये हुए लोकमें मैं विहार नहीं कर सकता इसीलिये तुम्हारे दिये हुएका अभिनन्दन नहीं करता ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

न चेदेकैकशो राजँल्लोकान् नः प्रतिनन्दसि।
सर्वे प्रदाय भवते गन्तारो नरकं वयम् ॥ १० ॥

अष्टकने कहा—राजन् ! यदि आप हममेंसे एक-एकके दिये हुए लोकोंको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण नहीं करते तो हम सब लोग अपने पुण्यलोक आपकी सेवामें समर्पित करके नरक (भूलोक) में जानेको तैयार हैं ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

यदर्होऽहं तद् यतध्वं सन्तः सत्याभिनन्दिनः।
अहं तन्नाभिजानामि यत् कृतं न मया पुरा ॥ ११ ॥

ययाति बोले—मैं जिसके योग्य हूँ, उसीके लिये यत्न करो; क्योंकि साधु पुरुष सत्यका ही अभिनन्दन करते हैं। मैंने पूर्वकालमें जो कर्म नहीं किया, उसे अब भी करने योग्य नहीं समझता ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ॥ १२ ॥

अष्टकने कहा—आकाशमें ये किसके पाँच सुवर्णमय रथ दिखायी देते हैं, जिनपर आरूढ़ होकर मनुष्य सनातन लोकोंमें जानेकी इच्छा करता है ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच

युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः।
उच्चैः सन्तःप्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव॥ १३ ॥

ययाति बोले—ऊपर आकाशमें स्थित प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान जो पाँच सुवर्णमय रथ प्रकाशित हो रहे हैं, ये आपलोगोंको ही स्वर्गमें ले जायँगे ॥ १३ ॥

(वैशम्पायन उवाच)

(एतस्मिन्नन्तरे चैव माधवी तु तपोधना।
मृगचर्मपरीताङ्गी परिणामे मृगव्रतम् ॥
मृगैः सह चरन्ती सा मृगाहारविचेष्टिता।
यज्ञवाटं मृगगणैः प्रविश्य भृशविस्मिता ॥
आघ्रायन्ती धूमगन्धं मृगैरेव चचार सा।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय तपस्विनी माधवी उधर आ निकली। उसने मृगचर्मसे अपने सब अङ्गोंको ढक रक्खा था। वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर वह मृगोंके साथ विचरती हुई मृगव्रतका पालन कर रही थी। उसकी भोजन-सामग्री और चेष्टा मृगोंके ही तुल्य थी। वह मृगोंके झुंडके साथ यज्ञमण्डपमें प्रवेश करके अत्यन्त

विस्मित हुई और यज्ञीय धूमकी सुगन्ध लेती हुई मृगोंके साथ वहाँ विचरने लगी ॥

यज्ञवाटमटन्ती सा पुत्रांस्तानपराजितान् ॥
पश्यन्ती यज्ञमाहात्म्यं मुदं लेभे च माधवी ।

यज्ञशालामें घूम घूमकर अपने अपराजित पुत्रोंको देखती और यज्ञकी महिमाका अनुभव करती हुई माधवी बहुत प्रसन्न हुई ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ययातिं नाहुषं तदा ॥
दिविष्ठं प्राप्तमाज्ञाय ववन्दे पितरं तदा ।
ततो वसुमनाः पृच्छन् मातरं वै तपस्विनीम् ॥

उसने देखा, स्वर्गवासी नहुषनन्दन महाराज ययाति आये हैं, परंतु पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे हैं (आकाशमें ही स्थित हैं)। अपने पिताको पहचानकर माधवीने उन्हें प्रणाम किया। तब वसुमनाने अपनी तपस्विनी मातासे प्रश्न करते हुए कहा ॥

वसुमना उवाच

भवत्या यत् कृतमिदं वन्दनं वरवर्णिनि ।
कोऽयं देवोऽथवा राजा यदि जानासि मे वद ॥

वसुमना बोले—मा ! तुम श्रेष्ठ वर्णकी देवी हो । तुमने इन महापुरुषको प्रणाम किया है । ये कौन हैं ? कोई देवता हैं या राजा ? यदि जानती हो, तो मुझे बताओ ॥

माधव्युवाच

शृणुध्वं सहिताः पुत्रा नाहुषोऽयं पिता मम ।
ययातिर्मम पुत्राणां मातामह इति श्रुतः ॥
पूरुं मे भ्रातरं राज्ये समावेश्य दिवं गतः ।
केन वा कारणेनैव इह प्राप्तो महायशाः ॥

माधवीने कहा—पुत्रो ! तुम सब लोग एक साथ सुन लो—'ये मेरे पिता नहुषनन्दन महाराज ययाति हैं । मेरे पुत्रोंके सुविख्यात मातामह (नाना) ये ही हैं । इन्होंने मेरे भाई पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके स्वर्गलोककी यात्रा की थी; परंतु न जाने किस कारणसे ये महायशस्वी महाराज पुनः यहाँ आये हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स्थानभ्रष्टेति चाब्रवीत् ।
सा पुत्रस्य वचः श्रुत्वा सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥
माधवी पितरं प्राह दौहित्रपरिवारितम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! माताकी यह बात सुनकर वसुमनाने कहा—मा ! ये अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गये हैं । पुत्रका यह वचन सुनकर माधवी भ्रान्तचित्त हो उठी और दौहित्रोंसे घिरे हुए अपने पितासे इस प्रकार बोली ॥

माधव्युवाच

तपसा निर्जिताँल्लोकान् प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
पुत्राणामिव पौत्राणां धर्मादधिगतं धनम् ॥
स्वार्थमेव वदन्तीह ऋषयो वेदपारगाः ।
तस्माद् दानेन तपसा अस्माकं दिवमाव्रज ॥

माधवीने कहा—पिताजी ! मैंने तपस्याद्वारा जिन लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन्हें आप ग्रहण करें । पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति पुत्री और दौहित्रोंका धर्माचरणसे प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिये है, यह वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं; अतः आप हमलोगोंके दान एवं तपस्याजनित पुण्यसे स्वर्गलोकमें जाइये ॥

ययातिरुवाच

यदि धर्मफलं ह्येतच्छोभनं भविता तथा ।
दुहित्रा चैव दौहित्रैस्तारितोऽहं महात्मभिः ॥

ययाति बोले—यदि यह धर्मजनित फल है, तब तो इसका शुभ परिणाम अवश्यम्भावी है । आज मुझे मेरी पुत्री तथा महात्मा दौहित्रोंने तारा है ॥

तस्मात् पवित्रं दौहित्रमद्यप्रभृति पैतृके ।
भविष्यति न संदेहः पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ॥

इसलिये आजसे पितृ-कर्म (श्राद्ध) में दौहित्र परम पवित्र समझा जायगा । इसमें संशय नहीं कि वह पितरोंका हर्ष बढ़ानेवाला होगा ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥
भोक्तारः परिवेष्टारः श्रावितारः पवित्रकाः ।

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र मानी जायँगी—दौहित्र, कुतप और तिल । साथ ही इसमें तीन गुण भी प्रशंसित होंगे—पवित्रता, अक्रोध और अत्वरा (उतावलेपनका अभाव)। तथा श्राद्धमें भोजन करनेवाले, परोसनेवाले और (वैदिक या पौराणिक मन्त्रोंका पाठ) सुनानेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य भी पवित्र माने जायँगे ॥

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे ॥
स कालः कुतपो नाम पितॄणां दत्तमक्षयम् ।

दिनके आठवें भागमें जब सूर्यका ताप घटने लगता है, उस समयका नाम कुतप है । उसमें पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है ॥

तिलाः पिशाचाद् रक्षन्ति दर्भा रक्षन्ति राक्षसात् ॥
रक्षन्ति श्रोत्रियाः पङ्क्तिं यतिभिर्भुक्तमक्षयम् ।

तिल पिशाचोंसे श्राद्धकी रक्षा करते हैं, कुश राक्षसोंसे

१. ये वसुमान् नामसे भी प्रसिद्ध थे ।

बचाते हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण पङ्क्तिकी रक्षा करते हैं और यदि यतिगण श्राद्धमें भोजन कर लें, तो वह अक्षय हो जाता है ॥

लब्ध्वा पात्रं तु विद्वांसं श्रोत्रियं सुव्रतं शुचिम् ॥
स कालः कालतो दत्तं नान्यथा काल इष्यते ।

उत्तम व्रतका आचरण करनेवाला पवित्र श्रोत्रिय ब्राह्मण श्राद्धका उत्तम पात्र है। वह जब प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल समझना चाहिये। उसको दिया हुआ दान उत्तम कालका दान है। इसके सिवा और कोई उपयुक्त काल नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययातिस्तु पुनः प्रोवाच बुद्धिमान् ।
सर्वे ह्यवभृथस्नातास्त्वरध्वं कार्यगौरवात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् ययाति उपर्युक्त बात कहकर पुनः अपने दौहित्रोंसे बोले—'तुम सब लोग अवभृथस्नान कर चुके हो। अब महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्र तैयार हो जाओ' ॥

अष्टक उवाच

आतिष्ठस्व रथान् राजन् विक्रमस्व विहायसम् ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥ १४ ॥

अष्टक बोले—राजन्! आप इन रथोंमें बैठिये और आकाशमें ऊपरकी ओर बढ़िये। जब समय होगा, तब हम भी आपका अनुसरण करेंगे ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजाः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥ १५ ॥

ययाति बोले—हम सब लोगोंने साथ-साथ स्वर्गपर विजय पायी है, इसलिये इस समय सबको वहाँ चलना चाहिये। देवलोकका यह रजोहीन सात्त्विक मार्ग हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽधिरुह्य रथान् सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सभी नृपश्रेष्ठ उन दिव्य रथोंपर आरूढ़ हो धर्मके बलसे स्वर्गमें पहुँचनेके लिये चल दिये। उस समय पृथ्वी और आकाशमें उनकी प्रभा व्याप्त हो रही थी ॥ १६ ॥

(अष्टकश्च शिबिश्चैव काशिराजः प्रतर्दनः ।
ऐक्ष्वाकवो वसुमनाश्चत्वारो भूमिपाश्च ह ॥
सर्वे ह्यवभृथस्नाताः स्वर्गताः साधवः सह ।)

अष्टक, शिबि, काशिराज प्रतर्दन तथा इक्ष्वाकुवंशी वसुमना—ये चारों साधु नरेश यज्ञान्त स्नान करके एक साथ स्वर्गमें गये ॥

अष्टक उवाच

अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता
सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽय-
मेकोऽत्यगात् सर्ववेगेन वाहान् ॥ १७ ॥

अष्टक बोले—राजन्! महात्मा इन्द्र मेरे बड़े मित्र हैं, अतः मैं तो समझता था कि अकेला मैं ही सबसे पहले उनके पास पहुँचूँगा। परंतु ये उशीनरपुत्र शिबि अकेले सम्पूर्ण वेगसे हम सबके वाहनोंको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं, ऐसा कैसे हुआ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

अददद् देवयानाय यावद् वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः ॥ १८ ॥

ययातिने कहा—राजन्! उशीनरके पुत्र शिबिने ब्रह्मलोकके मार्गकी प्राप्तिके लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था, इसलिये ये तुम सब लोगोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १८ ॥

दानं तपः सत्यमथापि धर्मो
ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः
शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ॥ १९ ॥

नरेश्वर! दान, तपस्या, सत्य, धर्म, ह्री, श्री, क्षमा, सौम्यभाव और व्रत-पालनकी अभिलाषा—राजा शिबिमें ये सभी गुण अनुपम हैं तथा बुद्धिमें भी उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है ॥ १९ ॥

एवंवृत्तो ह्रीनिषेधश्च यस्मात्
तस्माच्छिबिरत्यगाद् वै रथेन ।

राजा शिबि ऐसे सदाचारसम्पन्न और लज्जाशील हैं! (इनमें अभिमानकी मात्रा छू भी नहीं गयी है।) इसीलिये शिबि हम सबसे आगे बढ़ गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छ-
न्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अष्टकने कौतूहलवश इन्द्रके तुल्य अपने नाना राजा ययातिसे पुनः प्रश्न किया ॥ २० ॥

पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं
कुतश्च कश्चासि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता
लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥ २१ ॥

महाराज! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। आप उसे सच-सच बताइये। आप कहाँसे आये हैं, कौन हैं और किसके पुत्र हैं?

आपने जो कुछ किया है, उसे करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण इस संसारमें नहीं है ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यं चार्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि
मातामहोऽहं भवतां प्रकाशम् ॥ २२ ॥

ययातिने कहा—मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता राजा ययाति हूँ। इस लोकमें मैं चक्रवर्ती नरेश था। आप सब लोग मेरे अपने हैं; अतः आपसे गुप्त बात भी खोलकर बतलाये देता हूँ। मैं आपलोगोंका नाना हूँ। (यद्यपि पहले भी यह बात बता चुका हूँ, तथापि पुनः स्पष्ट कर देता हूँ)॥२२॥

सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय
प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान् सुरूपां-
स्तदा देवाः पुण्यभाजो भवन्ति ॥ २३ ॥

मैंने इस सारी पृथ्वीको जीत लिया था। मैं ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया करता था। मनुष्य जब एक सौ सुन्दर पवित्र अश्वोंका दान करते हैं, तब वे पुण्यात्मा देवता होते हैं ॥ २३ ॥

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः
पूर्णामिमामखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यै-
स्तदाददं गाः शतमर्बुदानि ॥ २४ ॥

मैंने तो सवारी, गौ, सुवर्ण तथा उत्तम धनसे परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर दी थी एवं सौ अर्बुद (दस अरब) गौओंका दान भी किया था ॥ २४ ॥

सत्येन वै द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ॥ २५ ॥

सत्यसे ही पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं। इसी प्रकार सत्यसे ही मनुष्य-लोकमें अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी व्यर्थ बात मुँहसे नहीं निकाली है; क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्यका ही आदर करते हैं ॥ २५ ॥

यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं
प्रतर्दनं चौषदश्विं तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवा
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥ २६ ॥

अष्टक ! मैं तुमसे, प्रतर्दनसे और उषदश्वके पुत्र वसुमान्‌से भी यहाँ जो कुछ कहता हूँ; वह सब सत्य ही है। मेरे मनका यह विश्वास है कि समस्त लोक, मुनि और देवता सत्यसे ही पूजनीय होते हैं ॥ २६ ॥

यो नः स्वर्गजितः सर्वान् यथा वृत्तं निवेदयेत् ।
अनुसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥ २७ ॥

जो मनुष्य हृदयमें ईर्ष्या न रखकर स्वर्गपर अधिकार करनेवाले हम सब लोगोंके इस वृत्तान्तको यथार्थरूपसे श्रेष्ठ द्विजोंके सामने सुनायेगा, वह हमारे ही समान पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेगा ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राजा स महात्मा ह्यतीव
स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा
स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति बड़े महात्मा थे। शत्रुओंके लिये अजेय और उनके कर्म अत्यन्त उदार थे। उनके दौहित्रोंने उनका उद्धार किया और वे अपने सत्कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल व्याप्त करके पृथ्वी छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायातसमाप्तौ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातसमाप्तिविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

पूरुवंशका वर्णन

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! अब मैं पूरुके वंशका विस्तार करनेवाले राजाओंका परिचय सुनना चाहता हूँ। उनका बल और पराक्रम कैसा था ? वे कैसे और कितने थे ? ॥ १ ॥

न ह्यस्मिन् शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कथंचन ॥ २ ॥

मेरा विश्वास है कि इस वंशमें पहले कभी किसी प्रकार भी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ है, जो शीलरहित, बल-पराक्रमसे शून्य अथवा संतानहीन रहा हो ॥ २ ॥

तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥

तपोधन ! जो अपने सदाचारके लिये प्रसिद्ध और विवेक-सम्पन्न थे, उन सभी पूरुवंशी राजाओंके चरित्रको मुझे विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान् वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः ।
भूरिद्रविणविक्रान्तान् सर्वलक्षणपूजितान् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा । पूरुके वंशमें उत्पन्न हुए वीर नरेश इन्द्रके समान तेजस्वी, अत्यन्त धनवान्, परम पराक्रमी तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे । (उन सबका परिचय देता हूँ) ॥ ४ ॥

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृत् ततः ॥ ५ ॥

पूरुके पौष्टी नामक पत्नीके गर्भसे प्रवीर, ईश्वर तथा रौद्राश्व नामक तीन महारथी पुत्र हुए । इनमेंसे प्रवीर अपनी वंश-परम्पराको आगे बढ़ानेवाले हुए ॥ ५ ॥

मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥

प्रवीरके पुत्रका नाम मनस्यु था, जो शूरसेनीके पुत्र और शक्तिशाली थे । कमलके समान नेत्रवाले मनस्युने चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समस्त पृथ्वीका पालन किया ॥ ६ ॥

शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥

मनस्युके सौवीरीके गर्भसे तीन पुत्र हुए—शक्त, संहनन और वाग्मी । वे सभी शूरवीर और महारथी थे ॥ ७ ॥

अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥ ८ ॥
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ९ ॥

पूरुके तीसरे पुत्र मनस्वी रौद्राश्वके मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे अन्वग्भानु आदि दस महाधनुर्धर पुत्र हुए, जो सभी यज्ञकर्ता, शूरवीर, संतानवान्, अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा धर्मपरायण थे ॥

ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥ ११ ॥

(उन सबके नाम इस प्रकार हैं—) ऋचेयु[1], कक्षेयु, पराक्रमी कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु, महायशस्वी जलेयु, बलवान् और बुद्धिमान् तेजेयु, इन्द्रके समान पराक्रमी सत्येयु, धर्मेयु तथा दसवें देवतुल्य पराक्रमी संनतेयु ॥ १०-११ ॥

अनाधृष्टिरभूत् तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट् ।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥

ऋचेयु जिनका एक नाम अनाधृष्टि भी है, अपने सब भाइयोंमें वैसे ही विद्वान् और पराक्रमी हुए, जैसे देवताओंमें इन्द्र । वे भूमण्डलके चक्रवर्ती राजा थे ॥ १२ ॥

अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद् राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥ १३ ॥

अनाधृष्टिके पुत्रका नाम मतिनार था । राजा मतिनार राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले एवं परम धर्मात्मा थे । १३ ।

मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥ १४ ॥

राजन् ! मतिनारके चार पुत्र हुए, जो अत्यन्त पराक्रमी थे । उनके नाम ये हैं—तंसु, महान्, अतिरथ और अनुपम तेजस्वी द्रुह्यु ॥ १४ ॥

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

इनमें महापराक्रमी तंसुने पौरव वंशका भार वहन करते हुए उज्ज्वल यशका उपार्जन किया और सारी पृथ्वीको जीत लिया ॥

ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ॥ १६ ॥

पराक्रमी तंसुने ईलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ था । उसने भी सारी पृथ्वी जीत ली थी । १६ ।

रथन्तर्यां सुतान् पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन् नृपान् ॥ १७ ॥

ईलिनने रथन्तरी नामवाली अपनी पत्नीके गर्भसे पञ्च महाभूतोंके समान दुष्यन्त आदि पाँच राजपुत्रोंको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ॥ १७ ॥

दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद् राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥ १८ ॥

(उनके नाम ये हैं—) दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु तथा वसु । जनमेजय ! इनमें सबसे बड़े होनेके कारण दुष्यन्त राजा हुए ॥

दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद् यशः ॥ १९ ॥

---

१. ऋचेयु, अन्वग्भानु और अनाधृष्टि एक ही व्यक्तिके नाम हैं ।

दुष्यन्तसे विद्वान् राजा भरतका जन्म हुआ, जो शकुन्तलाके पुत्र थे। उन्हींसे भरतवंशका महान् यश फैला ॥ १९ ॥

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत्।
नाभ्यनन्दत तान् राजा नानुरूपा ममेत्युत ॥२०॥

भरतने अपनी तीन रानियोंसे नौ पुत्र उत्पन्न किये। किंतु 'ये मेरे अनुरूप नहीं हैं' ऐसा कहकर राजाने उन शिशुओंका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

ततस्तान् मातरः क्रुद्धाः पुत्रान् निन्युर्यमक्षयम्।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत् ॥२१॥

तब उन शिशुओंकी माताओंने कुपित होकर उनको मार डाला। इससे महाराज भरतका वह पुत्रोत्पादन व्यर्थ हो गया ॥ २१ ॥

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत ॥२२॥

भारत! तब महाराज भरतने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया और महर्षि भरद्वाजकी कृपासे एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भुमन्यु था ॥ २२ ॥

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥२३॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर पौरवकुलका आनन्द बढ़ानेवाले भरतने अपनेको पुत्रवान् समझकर भुमन्युको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ २३ ॥

ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत् सुतः।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥२४॥
पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन् सुताः।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ॥२५॥

भुमन्युके दिविरथ नामक पुत्र हुआ। उसके सिवा सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु तथा ऋचीक भी भुमन्युके ही पुत्र थे। ये सब पुष्करिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इन सब क्षत्रियोंमें सुहोत्र ही ज्येष्ठ थे। अतः उन्हींको राज्य मिला ॥२४-२५॥

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद् बहुभिः सवैः।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ॥२६॥
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम्।
ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ॥२७॥
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णा मनुष्यकलिला भृशम्।
सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ॥२८॥

राजा सुहोत्रने राजसूय तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञोंद्वारा यजन किया और समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका, जो हाथी-घोड़ोंसे परिपूर्ण तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न थी, उपभोग किया। जब राजा सुहोत्र धर्मपूर्वक प्रजाका शासन कर रहे थे, उस समय सारी पृथ्वी हाथी, घोड़ों, रथ और मनुष्योंसे खचाखच भरी थी। उन पशु आदिके भारी भारसे पीड़ित होकर राजा सुहोत्रके शासनकालकी पृथ्वी मानो नीचे धँसी जाती थी ॥ २६–२८ ॥

चैत्ययूपाङ्किता चासीद् भूमिः शतसहस्रशः।
प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥२९॥

उनके राज्यकी भूमि लाखों चैत्यों (देवमन्दिरों) और यज्ञयूपोंसे चिह्नित दिखायी देती थी। सब लोग हृष्ट-पुष्ट होते थे। खेतीकी उपज अधिक हुआ करती थी। इस प्रकार उस राज्यकी पृथ्वी सदा ही अपने वैभवसे सुशोभित होती थी ॥ २९ ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपतेः।
अजमीढं च सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥३०॥

भारत! राजा सुहोत्रसे ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ तथा पुरुमीढ नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३० ॥

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत् तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥३१॥

उनमें अजमीढ ज्येष्ठ थे। उन्हींपर वंशकी मर्यादा टिकी हुई थी। जनमेजय! उन्होंने भी तीन स्त्रियोंके गर्भसे छः पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ॥३२॥

उनकी धूमिनी नामवाली स्त्रीने ऋक्षको, नीलीने दुष्यन्त और परमेष्ठीको तथा केशिनीने जह्नु, व्रजन तथा रूपिण इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३२ ॥

तथेमे सर्वपञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमिततेजसः ॥३३॥

इनमें दुष्यन्त और परमेष्ठीके सभी पुत्र पाञ्चाल कहलाये। राजन्! अमिततेजस्वी जह्नुके वंशज कुशिक नामसे प्रसिद्ध हुए ॥

व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम्।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजन् वंशकरः सुतः ॥३४॥

व्रजन तथा रूपिणके ज्येष्ठ भाई ऋक्षको राजा कहा गया है। ऋक्षसे संवरणका जन्म हुआ। राजन्! वे वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्र थे ॥ ३४ ॥

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुंधराम्।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥३५॥

जनमेजय! ऋक्षपुत्र संवरण जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय प्रजाका बहुत बड़ा संहार हुआ था, ऐसा हमने सुना है ॥ ३५ ॥

व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥३६॥

इस तरह नाना प्रकारसे क्षय होनेके कारण वह सारा राज्य नष्ट-सा हो गया। सबको भूख, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदिके कष्ट सताने लगे ॥ ३६ ॥

अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च।
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥३७॥
अभ्ययात् तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥३८॥

शत्रुओंकी सेनाएँ भरतवंशी योद्धाओंका नाश करने लगीं। पाञ्चालनरेशने इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए चतुरङ्गिणी सेनाके साथ संवरणपर आक्रमण किया और उनकी सारी भूमि वेगपूर्वक जीतकर दस अक्षौहिणी सेनाओंद्वारा संवरणको भी युद्धमें परास्त कर दिया ॥ ३७-३८ ॥

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजा संवरणस्तस्मात् पलायत महाभयात् ॥३९॥

तदनन्तर स्त्री, पुत्र, सुहृद् और मन्त्रियोंके साथ राजा संवरण महान् भयके कारण वहाँसे भाग चले ॥ ३९ ॥

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत् तदा।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ॥४०॥

उस समय उन्होंने सिंधु नामक महानदके तटवर्ती निकुञ्जमें, जो एक पर्वतके समीपसे लेकर नदीके तटतक फैला हुआ था, निवास किया ॥ ४० ॥

तत्रावसन् बहून् कालान् भारता दुर्गमाश्रिताः।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ॥४१॥

वहाँ उस दुर्गका आश्रय लेकर भरतवंशी क्षत्रिय बहुत वर्षोंतक टिके रहे। उन सबको वहाँ रहते हुए एक हजार वर्ष बीत गये ॥ ४१ ॥

अथाभ्यगच्छद् भरतान् वसिष्ठो भगवानृषिः।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥४२॥
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ॥४३॥
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा।
पुरोहितो भवान् नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ॥४४॥

इसी समय उनके पास भगवान् महर्षि वसिष्ठ आये। उन्हें आया देख भरतवंशियोंने प्रयत्नपूर्वक उनकी अगवानी की और प्रणाम करके सबने उनके लिये अर्घ्य अर्पण किया। फिर उन तेजस्वी महर्षिको सत्कारपूर्वक अपना सर्वस्व समर्पण करके उत्तम आसनपर बिठाकर राजाने स्वयं उनका वरण करते हुए कहा—'भगवन्! हम पुनः राज्यके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। आप हमारे पुरोहित हो जाइये' ॥ ४२-४४ ॥

ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत।
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ॥४५॥
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम्।
भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम् ॥४६॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसिष्ठजीने भी भरतवंशियोंको अपनाया और समस्त भूमण्डलमें उत्कृष्ट पूरुवंशी संवरणको समस्त क्षत्रियोंके सम्राट्‌पदपर अभिषिक्त कर दिया, ऐसा हमारे सुननेमें आया है। तत्पश्चात् महाराज संवरण, जहाँ प्राचीन भरतवंशी राजा रहते थे, उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः।
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ॥४७॥
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः।
ततः संवरणात् सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ॥४८॥

फिर उन्होंने सब राजाओंको जीतकर उन्हें करद बना लिया। तदनन्तर वे महाबली नरेश अजमीढवंशी संवरण पुनः पृथ्वीका राज्य पाकर बहुत दक्षिणावाले बहुसंख्यक महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करने लगे। कुछ कालके पश्चात् सूर्यकन्या तपतीने संवरणके वीर्यसे कुरु नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४७-४८ ॥

राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे।
तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥४९॥

कुरुको धर्मज्ञ मानकर सम्पूर्ण प्रजावर्गके लोगोंने स्वयं उनका राजाके पदपर वरण किया। उन्हींके नामसे पृथ्वीपर कुरुजाङ्गलदेश प्रसिद्ध हुआ ॥ ४९ ॥

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः।
अश्ववन्तमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ॥५०॥
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम।
पञ्चैतान् वाहिनी पुत्रान् व्यजायत मनस्विनी ॥५१॥

उन महातपस्वी कुरुने अपनी तपस्याके बलसे कुरुक्षेत्रको पवित्र बना दिया। उनके पाँच पुत्र सुने गये हैं - अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि तथा सुप्रसिद्ध जनमेजय। इन पाँचों पुत्रोंको उनकी मनस्विनी पत्नी वाहिनीने जन्म दिया था॥

अविक्षितः परीक्षित् तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान्।
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ॥५२॥
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ॥५३॥

अश्ववान्‌का दूसरा नाम अविक्षित् था। उसके आठ पुत्र हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परीक्षित्, पराक्रमी शबलाश्व, आदिराज, विराज, महाबली शाल्मलि, उच्चैःश्रवा,

भङ्गकार तथा आठवाँ जितारि । इनके वंशमें जनमेजय आदि अन्य सात महारथी भी हुए, जो अपने कर्मजनित गुणोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ५२-५३ ॥

परिक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ॥५४॥
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ।
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ॥५५॥
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ॥५६॥
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहिते रताः ॥५७॥

परिक्षित्के सभी पुत्र धर्म और अर्थके ज्ञाता थे; जिनके नाम इस प्रकार हैं—कक्षसेन, उग्रसेन, पराक्रमी चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन । जनमेजयके महाबली पुत्र भूमण्डलमें विख्यात थे। उनमें प्रथम पुत्रका नाम धृतराष्ट्र था । उनसे छोटे क्रमशः पाण्डु, बाह्लीक, महातेजस्वी निषध, बलवान् जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति तथा वसाति थे । इनमें वसाति आठवाँ था । ये सभी धर्म और अर्थमें कुशल तथा समस्त प्राणियोंके हितमें संलग्न रहनेवाले थे ॥ ५४—५७ ॥

धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत् तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ॥५८॥
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ।
धृतराष्ट्रसुतानां तु त्रीनेतान् प्रथितान् भुवि ॥५९॥
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥६०॥

इनमें धृतराष्ट्र राजा हुए । उनके पुत्र कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हविःश्रवा, इन्द्राभ, भुमन्यु और अपराजित थे । भारत ! इनके सिवा प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र- ये तीन पुत्र और थे । धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये ही तीन इस भूतल-पर अधिक विख्यात थे । इनमें भी प्रतीपकी प्रसिद्धि अधिक थी । भूमण्डलमें उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था ॥ ५८—६० ॥

प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥६१॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥६२॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रतीपके तीन पुत्र हुए—देवापि, शान्तनु और महारथी बाह्लीक । इनमेंसे देवापि धर्माचरणद्वारा कल्याण-प्राप्तिकी इच्छासे वनको चले गये, इसलिये शान्तनु एवं महारथी बाह्लीकने इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया ॥ ६१-६२ ॥

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥६३॥

राजन् ! भरतके वंशमें सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्ति-शाली थे । उस वंशमें बहुत-से श्रेष्ठ नृपतिगण देवर्षियोंके समान थे ॥ ६३ ॥

एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥६४॥

ऐसे ही और भी कितने ही देवतुल्य महारथी मनुवंशमें उत्पन्न हुए थे, जो महाराज पुरूरवाके वंशकी वृद्धि करने-वाले थे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशवर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिसे लेकर पूरुवंश, भरतवंश एवं पाण्डुवंशकी परम्पराका वर्णन

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन् पूर्वेषां सम्भवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन् राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! मैंने आपके मुखसे पूर्ववर्ती राजाओंकी उत्पत्तिका महान् वृत्तान्त सुना । इस पूरुवंशमें उत्पन्न हुए उदार राजाओंके नाम भी मैंने भलीभाँति सुन लिये ॥

किंतु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान् भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥

परंतु संक्षेपसे कहा हुआ यह प्रिय आख्यान सुनकर मुझे पूर्णतः तृप्ति नहीं हो रही है । अतः आप पुनः विस्तारपूर्वक मुझसे इसी दिव्य कथाका वर्णन कीजिये । दक्ष प्रजापति और मनुसे लेकर उन सब राजाओंका पवित्र जन्म-प्रसंग किसको प्रसन्न नहीं करेगा ? ॥ २-३ ॥

सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ॥ ४ ॥

उत्तम धर्म और गुणोंके माहात्म्यसे अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ इन राजाओंका श्रेष्ठ और उज्ज्वल यश तीनों लोकोंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ४ ॥

गुणप्रभाववीर्यौजःसत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसम्मिताम् ॥ ५ ॥

ये सभी नरेश उत्तम गुण, प्रभाव, बल-पराक्रम, ओज, सत्त्व (धैर्य) और उत्साहसे सम्पन्न थे। इनकी कथा अमृतके समान मधुर है, उसे सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम्।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें मैंने महर्षि कृष्णद्वैपायनके मुखसे जिसका भलीभाँति श्रवण किया था, वह सम्पूर्ण प्रसङ्ग तुम्हें सुनाता हूँ। अपने वंशकी उत्पत्तिका वह शुभ वृत्तान्त सुनो ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनोरिला इलायाः पुरूरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः; ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥७॥

उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम ॥ ८ ॥

दक्षसे अदिति, अदितिसे विवस्वान् (सूर्य), विवस्वान्से मनु, मनुसे इला, इलासे पुरूरवा, पुरूरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिका जन्म हुआ। ययातिके दो पत्नियाँ थीं, पहली शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी तथा दूसरी वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा ॥ ७-८ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥

यहाँ उनके वंशका परिचय देनेवाला यह श्लोक कहा जाता है— देवयानीने यदु और तुर्वसु नामवाले दो पुत्रोंको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥

तत्र यदोर्यादवाः; पूरोः पौरवाः ॥ १० ॥

इनमें यदुसे यादव और पूरुसे पौरव हुए ॥ १० ॥

पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम । तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नामः यस्त्रीनश्वमेधानाजहार, विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश ॥ ११ ॥

पूरुकी पत्नीका नाम कौसल्या था (उसीको पौष्टी भी कहते हैं)। उसके गर्भसे पूरुके जनमेजय नामक पुत्र हुआ (इसीका दूसरा नाम प्रवीर है); जिसने तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और विश्वजित् यज्ञ करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था ॥ ११ ॥

जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम्।तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्; यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात्, ततस्तस्य प्राचिन्वत्त्वम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने मधुवंशकी कन्या अनन्ताके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे उनके प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उदयाचलसे लेकर सारी प्राची दिशाको एक ही दिनमें जीत लिया था; इसीलिये उसका नाम प्राचिन्वान् हुआ ॥ १२ ॥

प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम् । तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ॥ १३ ॥

प्राचिन्वान्ने यदुकुलकी कन्या अश्मकीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे उन्हें संयाति नामक पुत्र प्राप्त हुआ॥

संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः ॥ १४ ॥

संयातिने दृषद्वान्की पुत्री वराङ्गीसे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें अहंयाति नामक पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

अहंयातिः खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ॥ १५ ॥

अहंयातिने कृतवीर्यकुमारी भानुमतीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे अहंयातिके सार्वभौम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम। तामुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम॥१६॥

सार्वभौमने युद्धमें जीतकर केकयकुमारी सुनन्दाका अपहरण किया और उसीको अपनी पत्नी बनाया। उससे उनको जयत्सेन नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

जयत्सेनो खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः ॥ १७ ॥

जयत्सेनने विदर्भराजकुमारी सुश्रवासे विवाह किया। उसके गर्भसे उनके अवाचीन नामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥

अवाचीनोऽपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहः ॥ १८ ॥

अवाचीनने भी विदर्भराजकुमारी मर्यादाके साथ विवाह किया, जो आगे बतायी जानेवाली देवातिथिकी पत्नीसे भिन्न थी। उसके गर्भसे उन्हें 'अरिह' नामक पुत्र हुआ ॥ १८ ॥

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १९ ॥

अरिहने अङ्गदेशकी राजकुमारीसे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें महाभौम नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायीः यः पुरुषमेधानामयुतमानयत्, तेनास्यायुतनायित्वम् ॥ २० ॥

महाभौमने प्रसेनजित्की पुत्री सुयज्ञासे विवाह किया, उसके गर्भसे उन्हें अयुतनायी नामक पुत्र प्राप्त हुआ;

जिसने दस हजार पुरुषमेध 'यज्ञ' किये। अयुत यज्ञोंका आनयन (अनुष्ठान) करनेके कारण ही उनका नाम अयुतनायी हुआ ॥ २० ॥

अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ॥ २१ ॥

अयुतनायीने पृथुश्रवाकी पुत्री कामासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अक्रोधनका जन्म हुआ ॥ २१ ॥

स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ॥ २२ ॥

अक्रोधनने कलिङ्गदेशकी राजकुमारी करम्भासे विवाह किया। जिसके गर्भसे उनके देवातिथि नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥२२॥

देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अरिहो नाम ॥ २३ ॥

देवातिथिने विदेहराजकुमारी मर्यादासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अरिह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम। तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ॥ २४ ॥

अरिहने अङ्गराजकुमारी सुदेवाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे ऋक्ष नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ २४ ॥

ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम। तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥ २५ ॥

ऋक्षने तक्षककी पुत्री ज्वालाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे मतिनार नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत्। समाप्ते च सत्रे सरस्वत्यभिगम्य तं भर्तारं वरयामास। तस्यां पुत्रमजीजनत् तंसुं नाम ॥ २६ ॥

मतिनारने सरस्वतीके तटपर उत्तम गुणोंसे युक्त द्वादशवार्षिक यज्ञका अनुष्ठान किया। उसके समाप्त होनेपर सरस्वतीने उनके पास आकर उन्हें पतिरूपमें वरण किया। मतिनारने उसके गर्भसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२६॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत्।
ईलिनं जनयामास कालिङ्ग्यां तंसुरात्मजम् ॥ २७ ॥

यहाँ वंशपरम्पराका सूचक श्लोक इस प्रकार है—

सरस्वतीने मतिनारसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया और तंसुने कलिङ्गराजकुमारीके गर्भसे ईलिन नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान् पञ्च पुत्रानजीजनत् ॥ २८ ॥

ईलिनने रथन्तरीके गर्भसे दुष्यन्त आदि पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥ २८ ॥

दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥ २९ ॥

दुष्यन्तने विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलाके साथ विवाह किया; जिसके गर्भसे उनके पुत्र भरतका जन्म हुआ ॥२९॥

अत्रानुवंशश्लोकौ भवतः—

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥३०॥

यहाँ वंशपरम्पराके सूचक दो श्लोक हैं—

'माता तो भाथी (धौंकनी) के समान है। वास्तवमें पुत्र पिताका ही होता है; जिससे उसका जन्म होता है, वही उस बालकके रूपमें प्रकट होता है। दुष्यन्त! तुम अपने पुत्रका भरण-पोषण करो; शकुन्तलाका अपमान न करो ॥

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥३१॥

'गर्भाधान करनेवाला पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है। नरदेव! पुत्र यमलोकसे पिताका उद्धार कर देता है। तुम्हीं इस गर्भके आधान करनेवाले हो। शकुन्तलाका कथन सत्य है'॥

ततोऽस्य भरतत्वम्। भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः।३२।

आकाशवाणीने भरण-पोषणके लिये कहा था, इसलिये उस बालकका नाम भरत हुआ। भरतने राजा सर्वसेनकी पुत्री सुनन्दासे विवाह किया। वह काशीकी राजकुमारी थी। उसके गर्भसे भरतके भुमन्यु नामक पुत्र हुआ ॥ ३२ ॥

भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम। तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३३ ॥

भुमन्युने दशार्हकन्या विजयासे विवाह किया; जिसके गर्भसे सुहोत्रका जन्म हुआ ॥ ३३ ॥

सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम। तस्यामस्य जज्ञे हस्ती; य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास। एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३४ ॥

सुहोत्रने इक्ष्वाकुकुलकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें हस्ती नामक पुत्र हुआ; जिसने यह हस्तिनापुर नामक नगर बसाया था। हस्तीके बसानेसे ही यह नगर 'हास्तिनपुर' कहलाया ॥ ३४ ॥

हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम। तस्यामस्य जज्ञे विगुण्ठनो नाम ॥ ३५ ॥

हस्तीने त्रिगर्तराजकी पुत्री यशोधराके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे विकुण्ठन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥३५॥

विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अजमीढो नाम ॥ ३६ ॥

विकुण्ठनने दशार्हकुलकी कन्या सुदेवासे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें अजमीढ नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति । पृथक् पृथग् वंशधरा नृपतयः । तत्र वंशकरः संवरणः ॥३७॥

अजमीढके कैकेयी, गान्धारी, विशाला तथा ऋक्षासे एक सौ चौबीस पुत्र हुए । वे सब पृथक्-पृथक् वंशप्रवर्तक राजा हुए । इनमें राजा संवरण कुरुवंशके प्रवर्तक हुए ॥

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८ ॥

संवरणने सूर्यकन्या तपतीसे विवाह किया; जिसके गर्भसे कुरुका जन्म हुआ ॥ ३८ ॥

कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे विदूरः ॥ ३९ ॥

कुरुने दशार्हकुलकी कन्या शुभाङ्गीसे विवाह किया । उसके गर्भसे कुरुके विदूर नामक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

विदूरस्तु माधवीमुपयेमे सम्प्रियां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अनश्वा नाम ॥ ४० ॥

विदूरने मधुवंशकी कन्या सम्प्रियासे विवाह किया; जिसके गर्भसे उन्हें अनश्वा नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम । तस्यामस्य जज्ञे परिक्षित् ॥ ४१ ॥

अनश्वाने मगधराजकुमारी अमृताको अपनी पत्नी बनाया । उसके गर्भसे उनके परिक्षित् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४१॥

परिक्षित् खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥ ४२ ॥

परिक्षित्‌ने बाहुदराजकी पुत्री सुयशाके साथ विवाह किया; जिससे उनके भीमसेन नामक पुत्र हुआ ॥ ४२ ॥

भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ॥ ४३ ॥

भीमसेनने केकयदेशकी राजकुमारी कुमारीको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे प्रतिश्रवाका जन्म हुआ ॥ ४३ ॥

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम । तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ॥ ४४ ॥

प्रतिश्रवासे प्रतीप उत्पन्न हुआ । उसने शिविदेशकी राजकन्या सुनन्दासे विवाह किया और उसके गर्भसे देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक—इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥४४॥

देवापिः खलुः बाल एवारण्यं विवेश । शान्तनुस्तु महीपालो बभूव ॥ ४५ ॥

देवापि बाल्यावस्थामें ही वनको चले गये, अतः शान्तनु राजा हुए ॥ ४५ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते ।
पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शान्तनुं विदुः ॥
इति तदस्य शान्तनुत्वम् ॥ ४६ ॥

शान्तनुके विषयमें यह अनुवंशश्लोक उपलब्ध होता है— वे जिस-जिस बूढ़ेको अपने दोनों हाथोंसे छू देते थे, वह बड़े सुख और शान्तिका अनुभव करता था तथा पुनः नौजवान हो जाता था । इसीलिये लोग उन्हें शान्तनुके रूपमें जानने लगे । यही उनके शान्तनु नाम पड़नेका कारण हुआ ॥

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नाम; यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥

शान्तनुने भागीरथी गङ्गाको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग 'भीष्म' कहते हैं ॥ ४७ ॥

भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुदवाहयत्; यामाहुर्गन्धकालीति ॥ ४८ ॥

भीष्मने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके साथ माता सत्यवतीका विवाह कराया; जिसे गन्धकाली भी कहते हैं ॥

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः ॥ ४९ ॥

सत्यवतीके गर्भसे पहले कन्यावस्थामें महर्षि पराशरसे द्वैपायन व्यास उत्पन्न हुए थे । फिर उसी सत्यवतीके राजा शान्तनुद्वारा दो पुत्र और हुए ॥ ४९ ॥

विचित्रवीर्यश्चित्राङ्गदश्च । तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः; विचित्रवीर्यस्तु राजाऽऽसीत् ॥ ५० ॥

जिनका नाम था विचित्रवीर्य और चित्राङ्गद । उनमेंसे चित्राङ्गद युवावस्थामें पदार्पण करनेसे पहले ही एक गन्धर्वके द्वारा मारे गये; परंतु विचित्रवीर्य राजा हुए ॥ ५० ॥

विचित्रवीर्यः खलु कौसल्यात्मजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यने अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया । वे दोनों काशिराजकी पुत्रियाँ थीं और उनकी माताका नाम कौसल्या था ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः । ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ॥ ५२ ॥

विचित्रवीर्यके अभी कोई संतान नहीं हुई थी, तभी उनका देहावसान हो गया । तब सत्यवतीको यह चिन्ता हुई कि 'राजा दुष्यन्तका यह वंश नष्ट न हो जाय' ॥ ५२ ॥

सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास । स तस्याः पुरतः स्थितः, किं करवाणीति ॥ ५३ ॥

उसने मन-ही-मन द्वैपायन महर्षि व्यासका चिन्तन किया। फिर तो व्यासजी उसके आगे प्रकट हो गये और बोले—'क्या आज्ञा है !' ॥ ५३ ॥

सा तमुवाच—भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः। साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ॥ ५४ ॥

सत्यवतीने उनसे कहा—'बेटा! तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य संतानहीन अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गये । अतः उनके वंशकी रक्षाके लिये उत्तम संतान उत्पन्न करो' ॥ ५४ ॥

स तथेत्युक्त्वा त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास; धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ५५ ॥

उन्होंने 'तथास्तु' कहकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ५५ ॥

तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानाद् द्वैपायनस्य ॥ ५६ ॥

उनमेंसे राजा धृतराष्ट्रके गान्धारीके गर्भसे व्यासजीके दिये हुए वरदानके प्रभावसे सौ पुत्र हुए ॥ ५६ ॥

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः; दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्रके उन सौ पुत्रोंमें चार प्रधान थे—दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ॥ ५७ ॥

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री च । इत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ५८ ॥

पाण्डुकी दो पत्नियाँ थीं; कुन्तिभोजकी कन्या पृथा और माद्री। ये दोनों ही स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा थीं ॥ ५८ ॥

अथ पाण्डुर्मृगयां चरन् मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानम्। तथैवाद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाजघान ॥ ५९ ॥

एक दिन राजा पाण्डुने शिकार खेलते समय एक मृगरूपधारी ऋषिको मृगीरूपधारिणी अपनी पत्नीके साथ मैथुन करते देखा। वह अद्भुत मृग अभी काम-रसका आस्वादन नहीं कर सका था। उसे अतृप्त अवस्थामें ही राजाने बाणसे मार दिया ॥ ५९ ॥

स बाणविद्ध उवाच पाण्डुम्—चरता धर्ममिमं येन त्वयाभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात् त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति । स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये। वाक्यं चोवाच—॥ ६० ॥

बाणसे घायल होकर उस मुनिने पाण्डुसे कहा—'राजन्! तुम भी इस मैथुन-धर्मका आचरण करनेवाले तथा काम-रसके ज्ञाता हो, तो भी तुमने मुझे उस दशामें मारा है, जब कि मैं काम-रससे तृप्त नहीं हुआ था। इस कारण इसी अवस्थामें पहुँचकर काम-रसका आस्वादन करनेसे पहले ही शीघ्र मृत्युको प्राप्त हो जाओगे ।' यह सुनकर राजा पाण्डु उदास हो गये और शापका परिहार करते हुए पत्नियोंके सहवाससे दूर रहने लगे। उन्होंने कहा—॥ ६० ॥

स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति। सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच । सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास। धर्माद् युधिष्ठिरं मारुताद् भीमसेनं शक्राद‌र्जुनमिति ॥ ६१ ॥

'देवियो ! अपनी चपलताके कारण मुझे यह शाप मिला है। सुनता हूँ, संतानहीनको पुण्यलोक नहीं प्राप्त होते हैं; अतः तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करो।' यह बात उन्होंने कुन्तीसे कही। उनके ऐसा कहनेपर कुन्तीने तीन पुत्र उत्पन्न किये—धर्मराजसे युधिष्ठिरको, वायुदेवसे भीमसेनको और इन्द्रसे अर्जुनको जन्म दिया ॥ ६१ ॥

तां संहृष्टः पाण्डुरुवाच—

इयं ते सपत्न्यनपत्या; साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति। एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्र्याः प्रायच्छत् ॥ ६२ ॥

इससे पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कुन्तीसे कहा—'यह तुम्हारी सौत माद्री तो संतानहीन ही रह गयी, इसके गर्भसे भी सुन्दर संतान उत्पन्न होनेकी व्यवस्था करो ।' 'ऐसा ही हो' कहकर कुन्तीने अपनी वह विद्या (जिससे देवता आकृष्ट होकर चले आते थे) माद्रीको भी दे दी ॥ ६२ ॥

माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ६३ ॥

माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंने नकुल और सहदेवको उत्पन्न किया ॥ ६३ ॥

माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे च तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ६४ ॥

तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह उवाच कुन्तीम्; यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यमिति ॥ ६५ ॥

एक दिन माद्रीको शृङ्गार किये देख पाण्डु उसके प्रति आसक्त हो गये और उसका स्पर्श होते ही उनका शरीर छूट गया । तदनन्तर वहाँ चिताकी आगमें स्थित पतिके शवके साथ माद्री चितापर आरूढ़ हो गयी और कुन्तीसे बोली—'बहिन ! मेरे जुड़वें बच्चोंके भी लालन-पालनमें तुम सदा सावधान रहना' ॥ ६४-६५ ॥

ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमानीय तापसैर्भीष्मस्य च विदुरस्य च निवेदिताः । सर्ववर्णानां च निवेद्यान्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्ष्यमाणानां तेषाम् ॥ ६६ ॥

इसके बाद तपस्वी मुनियोंने कुन्तीसहित पाण्डवोंको वनसे हस्तिनापुरमें लाकर भीष्म तथा विदुरजीको सौंप दिया। साथ ही समस्त प्रजावर्गके लोगोंको भी सारे समाचार बताकर वे तपस्वी उन सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ६६ ॥

तच्च वाक्यमुपश्रुत्य भगवतामन्तरिक्षात् पुष्पवृष्टिः पपात; देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ॥ ६७ ॥

उन ऐश्वर्यशाली मुनियोंकी बात सुनकर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं ॥ ६७ ॥

प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन् तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तः । तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान् बाल्यात् प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत् ॥ ६८ ॥

भीष्म और धृतराष्ट्रके द्वारा अपना लिये जानेपर पाण्डवोंने उनसे अपने पिताकी मृत्युका समाचार बताया, तत्पश्चात् पिताकी और्ध्वदैहिक क्रियाको विधिपूर्वक सम्पन्न करके पाण्डव वहीं रहने लगे। दुर्योधनको बाल्यावस्थासे ही पाण्डवोंका साथ रहना सहन नहीं हुआ ॥ ६८ ॥

पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं च व्यवसितः; भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ॥ ६९ ॥

पापाचारी दुर्योधन राक्षसी बुद्धिका आश्रय ले अनेक उपायोंसे पाण्डवोंकी जड़ उखाड़नेका प्रयत्न करता रहता था। परंतु जो होनेवाली बात है, वह होकर ही रहती है; इसलिये दुर्योधन आदि पाण्डवोंको नष्ट करनेमें सफल न हो सके ॥ ६९ ॥

ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ॥ ७० ॥

इसके बाद धृतराष्ट्रने किसी बहानेसे पाण्डवोंको जब वारणावत नगरमें जानेके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने वहाँसे जाना स्वीकार कर लिया ॥ ७० ॥

तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥ ७१ ॥

वहाँ भी उन्हें लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया गया; किंतु पाण्डवोंके विदुरजीकी सलाहके अनुसार काम करनेके कारण विरोधीलोग उनको दग्ध करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ७१ ॥

तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः ॥ ७२ ॥

पाण्डव वारणावतसे अपनेको छिपाते हुए चल पड़े और मार्गमें हिडिम्ब राक्षसका वध करके वे एकचक्रा नगरीमें जा पहुँचे ॥

तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ॥ ७३ ॥

एकचक्रामें भी बक नामवाले राक्षसका संहार करके वे पाञ्चाल नगरमें चले गये ॥ ७३ ॥

तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्, स्वविषयं चाभिजग्मुः ॥ ७४ ॥

वहाँ पाण्डवोंने द्रौपदीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और फिर अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ७४ ॥

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः । प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ ७५ ॥

वहाँ कुशलपूर्वक रहते हुए उन्होंने द्रौपदीसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये। युधिष्ठिरने प्रतिविन्ध्यको, भीमसेनने सुतसोमको, अर्जुनने श्रुतकीर्तिको, नकुलने शतानीकको और सहदेवने श्रुतकर्माको जन्म दिया ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे। तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥ ७६ ॥

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम्। तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिरने शिबिदेशके राजा गोवासनकी पुत्री देविकाको स्वयंवरमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया; जिसका नाम यौधेय था। भीमसेनने भी काशिराजकी कन्या बलन्धराके साथ विवाह किया; उसे प्राप्त करनेके लिये बल एवं पराक्रमका शुल्क रक्खा गया था अर्थात् यह शर्त थी कि जो अधिक बलवान् हो, वही उसके साथ विवाह कर सकता है। भीमसेनने उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम सर्वग था ॥ ७६-७७ ॥

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत् । स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली। तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसम्पन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत् ॥ ७८ ॥

अर्जुनने द्वारकामें जाकर मङ्गलमय वचन बोलनेवाली वासुदेवकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसे लेकर कुशलपूर्वक अपनी राजधानीमें चले आये। वहाँ उसके गर्भसे अत्यन्त गुणसम्पन्न अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया; जो वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको बहुत प्रिय था ॥ ७८ ॥

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत्। तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ॥ ७९ ॥

नकुलने चेदिनरेशकी पुत्री करेणुमतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे निरमित्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरम्। तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ॥ ८० ॥

सहदेवने भी मद्रदेशकी राजकुमारी विजयाको स्वयंवरमें प्राप्त किया। वह मद्रराज द्युतिमान्‌की पुत्री थी। उसके गर्भसे उन्होंने सुहोत्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ८० ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥

भीमसेनने पहले ही हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच नामक राक्षसजातीय पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ ८१ ॥

इत्येत एकादश पाण्डवानां पुत्राः। तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ये पाण्डवोंके ग्यारह पुत्र हुए। इनमेंसे अभिमन्युका ही वंश चला ॥ ८२ ॥

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम। तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत्। तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात् पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य, षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ॥ ८३ ॥

अभिमन्युने विराटकी पुत्री उत्तराके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे अभिमन्युके एक पुत्र हुआ; जो मरा हुआ था। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे कुन्तीने उसे अपनी गोदमें ले लिया। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि छः महीनेके इस मरे हुए बालकको मैं जीवित कर दूँगा ॥ ८३ ॥

स भगवता वासुदेवेनासंजातबलवीर्यपराक्रमोऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन संजीवितः। जीवयित्वा चैनमुवाच—परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ॥ ८४ ॥

परिक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम्। तस्यां भवान् जनमेजयः ॥ ८५ ॥

अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे झुलसकर वह असमयमें (समयसे पहले) ही पैदा हो गया था। उसमें बल, वीर्य और पराक्रम नहीं था। परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने तेजसे जीवित कर दिया। इसको जीवित करके वे इस प्रकार बोले—'इस कुलके परिक्षीण (नष्ट) होनेपर इसका जन्म हुआ है; अतः यह बालक परिक्षित् नामसे विख्यात हो।' परिक्षित्‌ने तुम्हारी माता माद्रवतीके साथ विवाह किया, जिसके गर्भसे तुम जनमेजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ८४-८५ ॥

भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते; शतानीकः शङ्कुकर्णश्च। शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥

तुम्हारी पत्नी वपुष्टमाके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं—शतानीक और शङ्कुकर्ण। शतानीककी पत्नी विदेहराजकुमारीके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रका नाम है अश्वमेधदत्त ॥ ८६ ॥

एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितः; धन्यः पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियमवद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः स्वधर्मनिरतैः प्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ॥ ८७ ॥

यह पूरु तथा पाण्डवोंके वंशका वर्णन किया गया; जो धन और पुण्यकी प्राप्ति करानेवाला एवं परम पवित्र है, नियमपरायण ब्राह्मणों, अपने धर्ममें स्थित प्रजापालक क्षत्रियों, वैश्यों तथा तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले श्रद्धालु शूद्रोंको भी सदा इसका श्रवण एवं स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ८७ ॥

इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति ये नराः श्रोष्यन्ति वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेदपरास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सततं देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः सम्पूज्याश्च ॥ ८८ ॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य मनको वशमें करके ईर्ष्या छोड़कर सबके प्रति मैत्रीभाव रखते हुए वेदपरायण हो इस सम्पूर्ण पुण्यमय इतिहासको सुनावेंगे अथवा सुनेंगे वे स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे और देवता, ब्राह्मण तथा मनुष्योंके लिये सदैव आदरणीय तथा पूजनीय होंगे ॥ ८८ ॥

परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्दधाना अमत्सरा मैत्रा वेदसम्पन्नाः श्रोष्यन्ति, तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति ॥ ८९ ॥

जो ब्राह्मण आदि वर्णोंके लोग मात्सर्यरहित, मैत्रीभावसे संयुक्त और वेदाध्ययनसे सम्पन्न हो श्रद्धापूर्वक भगवान् व्यासके द्वारा कहे हुए इस परम पावन महाभारत ग्रन्थको सुनेंगे, वे भी स्वर्गके अधिकारी और पुण्यात्मा होंगे तथा उनके लिये इस बातका शोक नहीं रह जायगा कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ॥ ८९ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः॥ ९०॥

इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—
'यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र, उत्तम तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है। मनको वशमें रखनेवाले साधु पुरुषोंको सदैव इसका श्रवण करना चाहिये॥ ९०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्यायः॥ ९५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशानुकीर्तनविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९५॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

महाभिषको ब्रह्माजीका शाप तथा शापग्रस्त वसुओंके साथ गङ्गाकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत् पृथिवीपतिः।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक् सत्यविक्रमः॥ १॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न महाभिष नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो सत्यवादी होनेके साथ ही सत्यपराक्रमी भी थे। उन्होंने एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंद्वारा देवेश्वर इन्द्रको संतुष्ट किया और उन यज्ञोंके पुण्यसे उन शक्तिशाली नरेशने स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया॥ १-२॥

ततः कदाचिद् ब्रह्माणमुपासांचक्रिरे सुराः।
तत्र राजर्षयो ह्यासन् स च राजा महाभिषः॥ ३॥

तदनन्तर एक समय सब देवता ब्रह्माजीकी सेवामें उनके समीप बैठे हुए थे। वहाँ बहुत-से राजर्षि तथा पूर्वोक्त राजा महाभिष भी उपस्थित थे॥ ३॥

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात् पितामहम्।
तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम्॥ ४॥

इसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा ब्रह्माजीके समीप आयी। उस समय वायुके झोंकेसे उसके शरीरका चाँदनीके समान उज्ज्वल वस्त्र सहसा ऊपरकी ओर उठ गया॥ ४॥

ततोऽभवन् सुरगणाः सहसावाङ्मुखास्तदा।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान् नदीम्॥ ५॥

यह देख सब देवताओंने तुरंत अपना मुँह नीचेकी ओर कर लिया; किंतु राजर्षि महाभिष निःशङ्क होकर देवनदीकी ओर देखते ही रह गये॥ ५॥

सोऽपध्यातो भगवता ब्रह्मणा तु महाभिषः।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि॥ ६॥
ययाऽऽहृतमनाश्चासि गङ्गया त्वं हि दुर्मते।
सा ते वै मानुषे लोके विप्रियाण्याचरिष्यति॥ ७॥

तब भगवान् ब्रह्माने महाभिषको शाप देते हुए कहा—'दुर्मते! तुम मनुष्योंमें जन्म लेकर फिर पुण्यलोकोंमें आओगे। जिस गङ्गाने तुम्हारे चित्तको चुरा लिया है, वही मनुष्यलोकमें तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी॥ ६-७॥

यदा ते भविता मन्युस्तदा शापाद् विमोक्ष्यसे।

'जब तुम्हें गङ्गापर क्रोध आ जायगा, तब तुम भी शापसे छूट जाओगे।'

वैशम्पायन उवाच

स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपानन्यांस्तपोधनान्॥ ८॥
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरितेजसम्।
महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम्॥ ९॥
तमेव मनसा ध्यायन्त्युपावर्तत् सरिद्वरा।
सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतान् नृप॥ १०॥
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून् देवान् दिवौकसः।
तथारूपांश्च तान् दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितां वरा॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा महाभिषने अन्य बहुत-से तपस्वी राजाओंका चिन्तन करके महातेजस्वी राजा प्रतीपको ही अपना पिता बनानेके योग्य चुना—उन्हींको पसंद किया। महानदी गङ्गा राजा महाभिषको धैर्य खोते देख मन-ही-मन उन्हींका चिन्तन करती हुई लौटी। मार्गमें जाती हुई गङ्गाने वसुदेवताओंको देखा। उनका शरीर स्वर्गसे नीचे गिर रहा था। वे मोहाच्छन्न एवं मलिन दिखायी दे रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाने पूछा—॥ ८—११॥

किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम्।
तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि॥ १२॥
अल्पेऽपराधे संरम्भात् वसिष्ठेन महात्मना।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम्॥ १३॥
संध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा।
तेन कोपाद् वयं शप्ता योनौ सम्भवतेति ह॥ १४॥

'तुमलोगोंका दिव्य रूप नष्ट कैसे हो गया? देवता सकुशल तो हैं न?' तब वसुदेवताओंने गङ्गासे कहा—'महानदी! महात्मा वशिष्ठने थोड़े-से अपराधपर क्रोधमें आकर हमें शाप दे दिया है। पहलेकी बात है एक दिन जब वशिष्ठजी पेड़ोंकी आड़में संध्योपासना कर रहे थे, हम सब मोहवश उनका उल्लङ्घन करके चले गये (और उनकी धेनुका अपहरण कर लिया)। इससे कुपित होकर उन्होंने हमें शाप दिया कि 'तुमलोग मनुष्य-योनिमें जन्म लो'॥ १२-१४॥

न निवर्तयितुं शक्यं यदुक्तं ब्रह्मवादिना।
त्वमस्मान् मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान् वसून् भुवि॥१५॥

'उन ब्रह्मवादी महर्षिने जो बात कह दी है, वह टाली नहीं जा सकती; अतः हमारी प्रार्थना है कि तुम पृथ्वीपर मानव-पत्नी होकर हम वसुओंको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न करो॥१५॥

न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाब्रवीदिदम्॥ १६॥

'शुभे! हमें मानुषी स्त्रियोंके उदरमें प्रवेश न करना पड़े, इसीलिये हमने यह अनुरोध किया है।' वसुओंके ऐसा कहनेपर गङ्गाजी 'तथास्तु' कहकर यों बोलीं॥ १६॥

गङ्गोवाच

मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति।

गङ्गाजीने कहा—वसुओ! मर्त्यलोकमें ऐसे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं; जो तुमलोगोंके पिता होंगे॥

वसव ऊचुः

प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति॥ १७॥

वसुगण बोले—प्रतीपके पुत्र राजा शान्तनु लोकविख्यात साधु पुरुष होंगे। मनुष्यलोकमें वे ही हमारे जनक होंगे॥१७॥

गङ्गोवाच

ममाप्येवं मतं देवा यथा मां वदतानघाः।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम्॥ १८॥

गङ्गाजीने कहा—निष्पाप देवताओ! तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही मेरा भी विचार है। मैं राजा शान्तनुका प्रिय करूँगी और तुम्हारे इस अभीष्ट कार्यको भी सिद्ध करूँगी॥

वसव ऊचुः

जातान् कुमारान् स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि।
यथा न चिरकालं नो निष्कृतिः स्यात् त्रिलोकगे॥ १९॥

वसुगण बोले—तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गङ्गे! हमलोग जब तुम्हारे गर्भसे जन्म लें, तब तुम पैदा होते ही हमें अपने जलमें फेंक देना; जिससे शीघ्र ही हमारा मर्त्यलोकसे छुटकारा हो जाय॥ १९॥

गङ्गोवाच

एवमेतत् करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम्।
नास्य मोघः संगमः स्यात् पुत्रहेतोर्मया सह॥ २०॥

गङ्गाजीने कहा—ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगी; परंतु उस राजाका मेरे साथ पुत्रके लिये किया हुआ सम्बन्ध व्यर्थ न हो जाय, इसलिये उनके लिये एक पुत्रकी भी व्यवस्था होनी चाहिये॥

वसव ऊचुः

तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम्।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः॥ २१॥

वसुगण बोले—हम सब लोग अपने तेजका एक-एक अष्टमांश देंगे। उस तेजसे जो तुम्हारा एक पुत्र होगा, वह उस राजाकी इच्छाके अनुरूप होगा॥ २१॥

न सम्पत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान्॥ २२॥

किंतु मर्त्यलोकमें उसकी कोई संतान न होगी। अतः तुम्हारा वह पुत्र संतानहीन होनेके साथ ही अत्यन्त पराक्रमी होगा॥

एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह।
जग्मुः संहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा॥ २३॥

इस प्रकार गङ्गाजीके साथ शर्त करके वसुगण प्रसन्नतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार चले गये॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि महाभिषोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें महाभिषोपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९६॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

राजा प्रतीपका गङ्गाको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करना और शान्तनुका जन्म, राज्याभिषेक तथा गङ्गासे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गाद्वारगतो जपन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर इस पृथ्वीपर राजा प्रतीप राज्य करने लगे। वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते थे। एक समय महाराज प्रतीप गङ्गाद्वार

(हरिद्वार) में गये और बहुत वर्षोंतक जप करते हुए एक आसनपर बैठे रहे ॥ १ ॥

तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा स्त्रीरूपधारिणी ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ॥ २ ॥
अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसंकाशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥

उस समय मनस्विनी गङ्गा सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे युक्त युवती स्त्रीका रूप धारण करके जलसे निकलीं और स्वाध्यायमें लगे हुए राजर्षि प्रतीपके शाल-जैसे विशाल दाहिने ऊरु (जाँघ) पर जा बैठीं । उस समय उनकी आकृति बड़ी लुभावनी थी; रूप देवाङ्गनाओंके समान था और मुख अत्यन्त मनोहर था ॥ २-३ ॥

प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥ ४ ॥

अपनी जाँघपर बैठी हुई उस यशस्विनी नारीसे राजा प्रतीपने पूछा—'कल्याणि ! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ! तुम्हारी क्या इच्छा है ?' ॥ ४ ॥

स्त्र्युवाच

त्वामहं कामये राजन् भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

स्त्री बोली—राजन् ! मैं आपको ही चाहती हूँ । आपके प्रति मेरा अनुराग है, अतः आप मुझे स्वीकार करें; क्योंकि कामके अधीन होकर अपने पास आयी हुई स्त्रियों-का परित्याग साधु पुरुषोंने निन्दित माना है ॥ ५ ॥

प्रतीप उवाच

नाहं परस्त्रियं कामाद् गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! मैं कामवश परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं कर सकता । जो अपने वर्णकी न हो, उससे भी मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता । कल्याणि ! यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है ॥ ६ ॥

स्त्र्युवाच

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन् दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥

स्त्री बोली—राजन् ! मैं अशुभ या अमङ्गल करनेवाली नहीं हूँ, समागमके अयोग्य भी नहीं हूँ और ऐसी भी नहीं हूँ कि कभी कोई मुझपर कलङ्क लगावे । मैं आपके प्रति अनुरक्त होकर आयी हुई दिव्य कन्या एवं सुन्दरी स्त्री हूँ । अतः आप मुझे स्वीकार करें ॥ ७ ॥

प्रतीप उवाच

त्वया निवृत्तमेतत् तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद् धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! तुम जिस प्रिय मनोरथकी पूर्तिके लिये मुझे प्रेरित कर रही हो, उसका निराकरण भी तुम्हारे द्वारा ही हो गया । यदि मैं धर्मके विपरीत तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार कर लूँ तो धर्मका यह विनाश मेरा भी नाश कर डालेगा ॥ ८ ॥

प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥

वराङ्गने ! तुम मेरी दाहिनी जाँघपर आकर बैठी हो । भीरु ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह पुत्र, पुत्री तथा पुत्रवधूका आसन है ॥ ९ ॥

सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ॥ १० ॥

पुरुषकी बायीं जाँघ ही कामिनीके उपभोगके योग्य है; किंतु तुमने उसका त्याग कर दिया है । अतः वराङ्गने ! मैं तुम्हारे प्रति कामयुक्त आचरण नहीं करूँगा ॥ १० ॥

स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थं त्वां वृणोम्यहम् ।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ॥ ११ ॥

सुश्रोणि ! तुम मेरी पुत्रवधू हो जाओ । मैं अपने पुत्रके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ; क्योंकि वामोरु ! तुमने यहाँ आकर मेरी उसी जाँघका आश्रय लिया है, जो पुत्रवधूके पक्षकी है ॥ ११ ॥

स्त्र्युवाच

एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्या तु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ॥ १२ ॥

स्त्री बोली—धर्मज्ञ नरेश ! आप जैसा कहते हैं, वैसा भी हो सकता है । मैं आपके पुत्रके साथ संयुक्त होऊँगी । आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, उसके कारण मैं विख्यात भरतवंशका सेवन करूँगी ॥ १२ ॥

पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम् ।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ १३ ॥

पृथ्वीपर जितने राजा हैं, उन सबके आपलोग उत्तम आश्रय हैं । सौ वर्षोंमें भी आपलोगोंके गुणोंका वर्णन मैं नहीं कर सकती ॥ १३ ॥

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद् विभो ॥ १४ ॥
तत् सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।

आपके कुलमें जो विख्यात राजा हो गये हैं, उनकी साधुता सर्वोपरि है। धर्मज्ञ! मैं एक शर्तके साथ आपके पुत्रसे विवाह करूँगी। प्रभो! मैं जो कुछ भी आचरण करूँ, वह सब आपके पुत्रको स्वीकार होना चाहिये। वे उसके विषयमें कभी कुछ विचार न करें। इस शर्तपर रहती हुई मैं आपके पुत्रके प्रति अपना प्रेम बढ़ाऊँगी। मुझसे जो पुण्यात्मा एवं प्रिय पुत्र उत्पन्न होंगे, उनके द्वारा आपके पुत्रको स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥१४-१५½॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्ता तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा प्रतीपने 'तथास्तु' कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् वह वहीं अन्तर्धान हो गयी ॥ १६ ॥

पुत्रजन्म प्रतीक्षन् वै स राजा तदधारयत्।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥ १७ ॥
तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन।

इसके बाद पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करते हुए राजा प्रतीपने उसकी बात याद रक्खी। कुरुनन्दन! इन्हीं दिनों क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ प्रतीप अपनी पत्नीको साथ लेकर पुत्रके लिये तपस्या करने लगे ॥ १७½ ॥

(प्रतीपस्य तु भार्यायां गर्भः श्रीमानवर्धत।
श्रिया परमया युक्तः शरच्छुक्ले यथा शशी ॥
ततस्तु दशमे मासि प्राजायत रविप्रभम्।
कुमारं देवगर्भाभं प्रतीपमहिषी तदा ॥)
तयोः समभवत् पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥

प्रतीपकी पत्नीकी कुक्षिमें एक तेजस्वी गर्भका आविर्भाव हुआ, जो शरद् ऋतुके शुक्ल पक्षमें परम कान्तिमान् चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगा। तदनन्तर दसवाँ मास प्राप्त होनेपर प्रतीपकी महारानीने एक देवोपम पुत्रको जन्म दिया, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था। उन बूढ़े राजदम्पतिके यहाँ पूर्वोक्त राजा महाभिष ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

शान्तस्य जज्ञे संतानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः।

शान्त पिताकी संतान होनेसे वे शान्तनु कहलाये।

(तस्य जातस्य कृत्यानि प्रतीपोऽकारयत् प्रभुः।
जातकर्मादि विप्रेण वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

शक्तिशाली राजा प्रतीपने उस बालकके आवश्यक कृत्य (संस्कार) करवाये। ब्राह्मण पुरोहितने वेदोक्त क्रियाओंद्वारा उसके जात-कर्म आदि सम्पन्न किये ॥

नामकर्म च विप्रास्तु चक्रुः परमसत्कृतम्।
शान्तनोरवनीपाल वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

जनमेजय! तदनन्तर बहुत-से ब्राह्मणोंने मिलकर वेदोक्त विधियोंके अनुसार शान्तनुका नामकरण-संस्कार भी किया॥

ततः संवर्धितो राजा शान्तनुर्लोकपालकः।
स तु लेभे परां निष्ठां प्राप्य धर्मविदां वरः ॥
धनुर्वेदे च वेदे च गतिं स परमां गतः।
यौवनं चापि सम्प्राप्तः कुमारो वदतां वरः ॥)

तत्पश्चात् बड़े होनेपर राजकुमार शान्तनु लोकरक्षाका कार्य करने लगे। वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने धनुर्वेदमें उत्तम योग्यता प्राप्त करके वेदाध्ययनमें भी ऊँची स्थिति प्राप्त की। वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ वे राजकुमार धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँच गये ॥

संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान् विजातान् स्वेन कर्मणा॥ १९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥ २० ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा उपार्जित अक्षय पुण्यलोकोंका स्मरण करके कुरुश्रेष्ठ शान्तनु सदा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानमें ही लगे रहते थे। युवावस्थामें पहुँचे हुए राजकुमार शान्तनुको राजा प्रतीपने आदेश दिया—॥ १९-२० ॥

पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव।
त्वामाव्रजेद् यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
कामयानाभिरूपाढ्या दिव्या स्त्री पुत्रकाम्यया।
सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि चाङ्गने॥ २२ ॥

'शान्तनो! पूर्वकालमें मेरे समीप एक दिव्य नारी आयी थी। उसका आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये ही हुआ था। बेटा! यदि वह सुन्दरी कभी एकान्तमें तुम्हारे पास आवे, तुम्हारे प्रति कामभावसे युक्त हो और तुमसे पुत्र पानेकी इच्छा रखती हो, तो तुम उत्तम रूपसे सुशोभित उस दिव्य नारीसे 'अङ्गने! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?' इत्यादि प्रश्न न करना ॥ २१-२२ ॥

यच्च कुर्यान्न तत् कर्म सा प्रष्टव्या त्वयानघ।
मन्नियोगाद् भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥ २३ ॥

अनघ! वह जो कार्य करे, उसके विषयमें भी तुम्हें कुछ पूछ-ताछ नहीं करनी चाहिये। यदि वह तुम्हें चाहे, तो मेरी आज्ञासे उसे अपनी पत्नी बना लेना।' ये बातें राजा प्रतीपने अपने पुत्रसे कहीं ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अपने पुत्र शान्तनुको ऐसा आदेश देकर राजा प्रतीपने उसी समय उन्हें अपने राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वनमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् राजा शान्तनु देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे । वे हिंसक पशुओंको मारनेके उद्देश्यसे वनमें घूमते रहते थे ॥ २५ ॥

स मृगान् महिषांश्चैव विनिघ्नन् राजसत्तमः ।
गङ्गामनुचचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ॥ २६ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ शान्तनु हिंसक पशुओं और जंगली भैंसोंको मारते हुए सिद्ध एवं चारणोंसे सेवित गङ्गाजीके तटपर अकेले ही विचरण करते थे ॥ २६ ॥

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीरसे ऐसी प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गयी हो ॥ २७ ॥

सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २८ ॥

उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर और निर्दोष थे । दाँत तो और भी सुन्दर थे । वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थी । उसके शरीरपर महीन साड़ी शोभा पा रही थी और कमलके भीतरी भागके समान उसकी कान्ति थी, वह अकेली थी ॥२८॥

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥ २९ ॥

उसे देखते ही राजा शान्तनुके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, वे उसकी रूप-सम्पत्तिसे आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रोंद्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधाका पान करते हुए-से तृप्त नहीं होते थे ॥ २९ ॥

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥ ३० ॥

वह भी वहाँ विचरते हुए महातेजस्वी राजा शान्तनुको देखते ही मुग्ध हो गयी । स्नेहवश उसके हृदयमें सौहार्दका उदय हो आया । वह विलासिनी राजाको देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी चाथ वाप्सराः ॥ ३१ ॥
यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ॥ ३२ ॥

तब राजा शान्तनु उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें बोले—'सुमध्यमे ! तुम देवी, दानवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी, नागकन्या अथवा मानवी, कुछ भी क्यों न होओ; देवकन्याके समान सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैं तुमसे याचना करता हूँ कि मेरी पत्नी हो जाओ' ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शान्तनूपाख्यान-विषयक सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

शान्तनु और गङ्गाका कुछ शर्तोंके साथ सम्बन्ध, वसुओंका जन्म और शापसे उद्धार तथा भीष्मकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
(यशस्विनी च साऽऽगच्छच्छान्तनोर्भूतये तदा ।
सा च दृष्ट्वा नृपश्रेष्ठं चरन्तं तीरमाश्रितम् ॥)
वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता ॥ १ ॥
(प्रजार्थिनी राजपुत्रं शान्तनुं पृथिवीपतिम् ।
प्रतीपवचनं चापि संस्मृत्यैव स्वयं नृप ॥
कालोऽयमिति मत्वा सा वसूनां शापचोदिता ।)
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा शान्तनुका मधुर मुसकानयुक्त मनोहर वचन सुनकर यशस्विनी गङ्गा उनकी ऐश्वर्य वृद्धिके लिये उनके पास आयीं । तटपर विचरते हुए उन नृपश्रेष्ठको देखकर सती साध्वी गङ्गाको वसुओंको दिये हुए वचनका स्मरण हो आया । साथ ही राजा प्रतीपकी बात भी याद आ गयी । तब यही उपयुक्त समय है, ऐसा मानकर वसुओंको मिले हुए शापसे प्रेरित हो वे स्वयं संतानोत्पादनकी इच्छासे पृथ्वीपति महाराज शान्तनुके समीप चली आयीं और अपनी मधुर वाणीसे महाराजके मनको आनन्द प्रदान करती हुई बोलीं—'भूपाल ! मैं आपकी महारानी बनूँगी एवं आपके अधीन रहूँगी ॥ १-२ ॥

तत् तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ॥ ३ ॥

'(परंतु एक शर्त है—) राजन्! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिये आपको मुझे नहीं रोकना चाहिये और मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहना चाहिये ॥ ३ ॥

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम्॥ ४ ॥

'पृथ्वीपते! ऐसा बर्ताव करनेपर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्यसे रोका या अप्रिय वचन कहा तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूँगी' ॥४॥

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम्॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय बहुत अच्छा कहकर राजाने जब उसकी शर्त मान ली, तब उन नृपश्रेष्ठको पतिरूपमें प्राप्त करके उस देवीको अनुपम आनन्द मिला ॥ ५ ॥

(रथमारोप्य तां देवीं जगाम स तया सह।
सा च शान्तनुमभ्यागात् साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा॥)

तब राजा शान्तनु देवी गङ्गाको रथपर बिठाकर उनके साथ अपनी राजधानीको चले गये। साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित होनेवाली गङ्गादेवी शान्तनुके साथ गयीं ॥

आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान्॥ ६ ॥

इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले राजा शान्तनु उस देवीको पाकर उसका इच्छानुसार उपभोग करने लगे। पिताका यह आदेश था कि उससे कुछ पूछना मत; अतः उनकी आज्ञा मानकर राजाने उससे कोई बात नहीं पूछी ॥६॥

स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः॥ ७ ॥

उसके उत्तम शील-स्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्गुण तथा एकान्त सेवासे महाराज शान्तनु बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७ ॥

दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमन्तं वरवर्णिनी॥ ८ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताभवत्।
शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः॥ ९ ॥

त्रिपथगामिनी दिव्यरूपिणी देवी गङ्गा ही अत्यन्त सुन्दर मनुष्य-देह धारण करके देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी नृपशिरोमणि महाराज शान्तनुको, जिन्हें भाग्यसे इच्छानुसार सुख अपने-आप मिल रहा था, सुन्दरी पत्नीके रूपमें प्राप्त हुई थीं ॥ ८-९ ॥

सम्भोगस्नेहचातुर्यैर्हावभावसमन्वितैः।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः॥ १० ॥

गङ्गादेवी हाव-भावसे युक्त सम्भोग चातुरी और प्रणय-चातुरीसे राजाको जैसे-जैसे रमातीं, उसी-उसी प्रकार वे उनके साथ रमण करते थे ॥ १० ॥

स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः।
संवत्सरानृतून् मासान् बुबुधे न बहून् गतान्॥ ११ ॥

उस दिव्य नारीके उत्तम गुणोंने उनके चित्तको चुरा लिया था; अतः वे राजा उसके साथ रति-भोगमें आसक्त हो गये। कितने ही वर्ष, ऋतु और मास व्यतीत हो गये, किंतु उसमें आसक्त होनेके कारण राजाको कुछ पता न चला ॥११॥

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः।
अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान्॥ १२ ॥

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनुने उसके गर्भसे देवताओंके समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १२ ॥

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत।
प्रीणाम्यहं त्वमित्युक्त्वा गङ्गास्रोतस्यमज्जयत्॥ १३ ॥

भारत! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह गङ्गाजीके जलमें फेंक देती और कहती—'(वत्स! इस प्रकार शापसे मुक्त करके) मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ।' ऐसा कहकर गङ्गा प्रत्येक बालकको धारामें डुबो देती थी ॥ १३ ॥

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवत् तदा।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः॥ १४ ॥

पत्नीका यह व्यवहार राजा शान्तनुको अच्छा नहीं लगता था, तो भी वे उस समय उससे कुछ नहीं कहते थे। राजाको यह डर बना हुआ था कि कहीं यह मुझे छोड़कर चली न जाय ॥ १४ ॥

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः॥ १५ ॥

तदनन्तर जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब हँसती हुई-सी अपनी स्त्रीसे राजाने अपने पुत्रका प्राण बचानेकी इच्छासे दुःखातुर होकर कहा—॥ १५ ॥

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति।
पुत्रघ्नि सुमहत् पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम्॥ १६ ॥

'अरी! इस बालकका वध न कर, तू किसकी कन्या है? कौन है? क्यों अपने ही बेटोंको मारे डालती है। पुत्रघातिनि! तुझे पुत्रहत्याका यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है' ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः॥ १७ ॥

स्त्री बोली—पुत्रकी इच्छा रखनेवाले नरेश ! तुम पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्रको नहीं मारूँगी; परंतु यहाँ मेरे रहनेका समय अब समाप्त हो गया; जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है ॥ १७ ॥

अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताहं त्वया सह ॥ १८ ॥

मैं जह्नुकी पुत्री और महर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गा हूँ। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये तुम्हारे साथ रह रही थी॥

इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ॥ १९ ॥

ये तुम्हारे आठ पुत्र महातेजस्वी महाभाग वसु देवता हैं। वसिष्ठजीके शाप-दोषसे ये मनुष्य-योनिमें आये थे ॥ १९ ॥

तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते ।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नास्तीह काचन ॥ २० ॥

तुम्हारे सिवा दूसरा कोई राजा इस पृथ्वीपर ऐसा नहीं था, जो उन वसुओंका जनक हो सके। इसी प्रकार इस जगत्में मेरी-जैसी दूसरी कोई मानवी नहीं है, जो उन्हें गर्भमें धारण कर सके ॥ २० ॥

तस्मात् तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाक्षयाः ॥ २१ ॥

अतः इन वसुओंकी जननी होनेके लिये मैं मानव-शरीर धारण करके आयी थी। राजन् ! तुमने आठ वसुओंको जन्म देकर अक्षय लोक जीत लिये हैं ॥ २१ ॥

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥ २२ ॥

वसु देवताओंकी यह शर्त थी और मैंने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो-जो वसु जन्म लेगा, उसे मैं जन्मते ही मनुष्य-योनिसे छुटकारा दिला दूँगी ॥ २२ ॥

तत् ते शापाद् विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ॥ २३ ॥

इसलिये अब वे वसु महात्मा आपव (वशिष्ठ) के शापसे मुक्त हो चुके हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी। तुम इस महान् व्रतधारी पुत्रका पालन करो ॥ २३ ॥

(अयं तव सुतस्तेषां वीर्येण कुलनन्दनः ।
सम्भूतोऽति जनानन्यान् भविष्यति न संशयः॥)

यह तुम्हारा पुत्र सब वसुओंके पराक्रमसे सम्पन्न होकर अपने कुलका आनन्द बढ़ानेके लिये प्रकट हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि यह बालक बल और पराक्रममें दूसरे सब लोगोंसे बढ़कर होगा ॥

एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।
मत्प्रसूतिं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥ २४ ॥

यह बालक वसुओंमेंसे प्रत्येकके एक-एक अंशका आश्रय है—सम्पूर्ण वसुओंके अंशसे इसकी उत्पत्ति हुई है। मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके समीप प्रार्थना की थी कि 'राजाका एक पुत्र जीवित रहे'। इसे मेरा बालक समझना और इसका नाम 'गङ्गादत्त' रखना ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मोत्पत्तौ अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्मोत्पत्तिविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

महर्षि वशिष्ठद्वारा वसुओंको शाप प्राप्त होनेकी कथा

शान्तनुरुवाच

आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम् ।
यस्याभिशापात् ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः ॥ १ ॥

शान्तनुने पूछा—देवि ! ये आपव नामके महात्मा कौन हैं ? और वसुओंका क्या अपराध था, जिससे आपवके शापसे उन सबको मनुष्य-योनिमें आना पड़ा ॥ १ ॥

अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥

और तुम्हारे दिये हुए इस पुत्रने कौन-सा कर्म किया है, जिसके कारण यह मनुष्य-लोकमें निवास करेगा ? ॥ २ ॥

ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥

जाह्नवि ! वसु तो समस्त लोकोंके अधीश्वर हैं, वे कैसे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए ? यह सब बात मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! अपने पति राजा शान्तनुके इस प्रकार पूछनेपर जह्नुपुत्री गङ्गादेवीने उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

गङ्गोवाच

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वसिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥

गङ्गा बोलीं—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें वरुणने जिन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था, वे वसिष्ठ नामक मुनि ही 'आपव' नामसे विख्यात हैं ॥ ५ ॥

तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥

गिरिराज मेरुके पार्श्वभागमें उनका पवित्र आश्रम है; जो मृग और पक्षियोंसे भरा रहता है । सभी ऋतुओंमें विकसित होनेवाले फूल उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते हैं ॥६॥

स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन् भरतसत्तम ।
वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! उस वनमें स्वादिष्ट फल, मूल और जलकी सुविधा थी, पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठ उसीमें तपस्या करते थे ॥ ७ ॥

दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता ।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

महाराज ! दक्ष प्रजापतिकी पुत्रीने, जो देवी सुरभि नामसे विख्यात है, कश्यपजीके सहवाससे एक गौको जन्म दिया ॥

अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा ।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥

वह गौ सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट हुई थी तथा समस्त कामनाओंको देनेवालोंमें श्रेष्ठ थी । वरुणपुत्र धर्मात्मा वसिष्ठने उस गौको अपनी होमधेनुके रूपमें प्राप्त किया ॥

सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते ।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ॥१०॥

वह गौ मुनियोंद्वारा सेवित उस पवित्र एवं रमणीय तापस-वनमें रहती हुई सब ओर निर्भय होकर चरती थी ॥ १० ॥

अथ तद् वनमाजग्मुः कदाचिद् भरतर्षभ ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिन उस देवर्षिसेवित वनमें पृथु आदि वसु तथा सम्पूर्ण देवता पधारे ॥ ११ ॥

ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः ।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥१२॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ उस वनमें चारों ओर विचरने तथा रमणीय पर्वतों और वनोंमें रमण करने लगे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्याथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम ।
संचरन्ती वने तस्मिन् गां ददर्श सुमध्यमा ॥१३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महीपाल ! उन वसुओंमेंसे एककी सुन्दरी पत्नीने उस वनमें घूमते समय उस गौको देखा॥१३॥

नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम् ।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसम्पदा ॥१४॥

राजेन्द्र ! सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवालोंमें उत्तम नन्दिनी नामवाली उस गायको देखकर उसकी शीलसम्पत्तिसे वह वसु-पत्नी आश्चर्यचकित हो उठी ॥ १४ ॥

द्यवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ।
आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ॥१५॥
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च ।
एवं गुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ॥१६॥
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन ।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ॥१७॥
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान् वदन् ।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ॥१८॥
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम् ।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ॥१९॥
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत् स्थिरयौवनः ।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ॥२०॥
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम् ।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ॥२१॥

वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले महाराज ! उस देवीने द्यो नामक वसुको वह शुभ गाय दिखायी, जो भलीभाँति हृष्ट-पुष्ट थी । दूधसे भरे हुए उसके थन बड़े सुन्दर थे, पूँछ और खुर भी बहुत अच्छे थे । वह सुन्दर गाय सभी सद्गुणोंसे सम्पन्न और सर्वोत्तम शील-स्वभावसे युक्त थी । पूरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले सम्राट् ! इस प्रकार पूर्वकालमें वसुका आनन्द बढ़ानेवाली देवीने अपने पति वसुको ऐसे सद्गुणोंवाली गौका दर्शन कराया । गजराजके समान पराक्रमी महाराज ! द्योने उस गायको देखते ही उसके रूप और गुणोंका वर्णन करते हुए अपनी पत्नीसे कहा—'यह कजरारे नेत्रोंवाली उत्तम गौ दिव्य है । वरारोहे ! यह उन वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठकी गाय है, जिनका यह उत्तम तपोवन है । सुमध्यमे ! जो मनुष्य इसका स्वादिष्ट दूध पी लेगा, वह दस हजार वर्षोंतक जीवित रहेगा और उतने समयतक उसकी युवावस्था स्थिर रहेगी ।' नृपश्रेष्ठ ! सुन्दर कटिप्रदेश और निर्दोष अङ्गोंवाली वह देवी यह बात सुनकर अपने तेजस्वी पतिसे बोली—'प्राणनाथ ! मनुष्यलोकमें एक राजकुमारी मेरी सखी है ॥ १५—२१ ॥

नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी ।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसंधस्य धीमतः ॥२२॥
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसम्पदा ।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ॥२३॥

'उसका नाम है जितवती । वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सुशोभित है । सत्यप्रतिज्ञ बुद्धिमान् राजर्षि उशीनरकी पुत्री है । रूपसम्पत्तिकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें उसकी बड़ी ख्याति है । महाभाग ! उसीके लिये बछड़ेसहित यह गाय लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा है ॥ २२-२३ ॥

आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद ॥२४॥
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ॥२५॥

'सुरश्रेष्ठ ! आप पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं । इस गायको शीघ्र ले आइये । मानद ! जिससे इसका दूध पीकर मेरी वह सखी मनुष्यलोकमें अकेली ही जरावस्था एवं रोग-व्याधिसे बची रहे । महाभाग ! आप निन्दारहित हैं; मेरे इस मनोरथको पूर्ण कीजिये ॥ २४-२५ ॥

प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत् कथंचन ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ॥२६॥
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ॥२७॥
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ॥२८॥

'मेरे लिये किसी तरह भी इससे बढ़कर प्रिय अथवा प्रियतर वस्तु दूसरी नहीं है ।'

उस देवीका यह वचन सुनकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे द्यो नामक वसुने पृथु आदि अपने भाइयोंकी सहायतासे उस गौका अपहरण कर लिया । राजन् ! कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली पत्नीसे प्रेरित होकर द्योने गौका अपहरण तो कर लिया; परंतु उस समय उन महर्षि वसिष्ठकी तीव्र तपस्याके प्रभावकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके और न यही सोच सके कि ऋषिके कोपसे मेरा स्वर्गसे पतन हो जायगा॥

अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चापश्यत् स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ॥२९॥

कुछ समयके बाद वरुणनन्दन वसिष्ठजी फल-मूल लेकर आश्रमपर आये; परंतु उस सुन्दर काननमें उन्हें बछड़ेसहित अपनी गाय नहीं दिखायी दी ॥ २९ ॥

ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाध्यगच्छच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ॥३०॥

तब तपोधन वसिष्ठजी उस वनमें गायकी खोज करने लगे; परंतु खोजनेपर भी वे उदारबुद्धि महर्षि उस गायको न पा सके ॥ ३० ॥

ज्ञात्वा तथापनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ॥३१॥

तब उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा और यह जान गये कि वसुओंने उसका अपहरण किया है । फिर तो वे क्रोधके वशीभूत हो गये और तत्काल वसुओंको शाप दे दिया— ॥ ३१ ॥

यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।
तस्मात् सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ॥३२॥

'वसुओंने सुन्दर पूँछवाली मेरी कामधेनु गायका अपहरण किया है, इसलिये वे सब-के-सब मनुष्य-योनिमें जन्म लेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३२ ॥

एवं शशाप भगवान् वसूंस्तान् भरतर्षभ ।
वशं क्रोधस्य सम्प्राप्त आपवो मुनिसत्तमः ॥३३॥

भरतर्षभ ! इस प्रकार मुनिवर भगवान् वसिष्ठने क्रोधके आवेशमें आकर उन वसुओंको शाप दिया ॥ ३३ ॥

शप्त्वा च तान् महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान् राजन् वसूनष्टौ तपोधनः ॥३४॥
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान् क्रोधसमन्वितः ।
अथाश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः ॥३५॥
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ॥३६॥
लेभिरे न च तस्मात् ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात् पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ॥३७॥

उन्हें शाप देकर उन महाभाग महर्षिने फिर तपस्यामें ही मन लगाया । राजन् ! तपस्याके धनी ब्रह्मर्षि वसिष्ठका प्रभाव बहुत बड़ा है । इसीलिये उन्होंने क्रोधमें भरकर देवता होनेपर भी उन आठों वसुओंको शाप दे दिया । तदनन्तर हमें शाप मिला है, यह जानकर वे वसु पुनः महामना वसिष्ठके आश्रमपर आये और उन महर्षिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे । नृपश्रेष्ठ ! महर्षि आपव समस्त धर्मोंके ज्ञानमें निपुण थे । महाराज ! उनको प्रसन्न करनेकी पूरी चेष्टा करनेपर भी वे वसु उन मुनिश्रेष्ठसे उनका कृपाप्रसाद न पा सके ॥३४-३७॥

उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सरात् सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ ॥३८॥

उस समय धर्मात्मा वसिष्ठने उनसे कहा— 'मैंने धर आदि तुम सभी वसुओंको शाप दे दिया है; परंतु तुमलोग तो प्रति वर्ष एक-एक करके सब-के-सब शापसे मुक्त हो जाओगे॥

अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा ॥३९॥

'किंतु यह द्यो, जिसके कारण तुम सबको शाप मिला है, मनुष्यलोकमें अपने कर्मानुसार दीर्घकालतक निवास करेगा। ३९।

नानृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान् यदब्रुवम् ।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः ॥४०॥

'मैंने क्रोधमें आकर तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है, उसे असत्य करना नहीं चाहता । ये महामना द्यो मनुष्यलोकमें संतानकी उत्पत्ति नहीं करेंगे ॥ ४० ॥

भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान् वर्जयिष्यति ॥४१॥

'और धर्मात्मा तथा सब शास्त्रोंमें निपुण विद्वान् होंगे; पिताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग कर देंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा वसून् सर्वान् स जगाम महानृषिः।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ॥४२॥

उन सब वसुओंसे ऐसी बात कहकर वे महर्षि वहाँसे चल दिये। तब वे सब वसु एकत्र होकर मेरे पास आये ॥४२॥

अयाचन्त च मां राजन् वरं तच्च मया कृतम्।
जाताञ्जातान् प्रक्षिपास्मान् स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि॥४३॥

राजन्! उस समय उन्होंने मुझसे याचना की और मैंने उसे पूर्ण किया। उनकी याचना इस प्रकार थी—'गङ्गे ! हम ज्यों-ज्यों जन्म लें, तुम स्वयं हमें अपने जलमें डाल देना' ॥ ४३ ॥

एवं तेषामहं सम्यक् शप्तानां राजसत्तम।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद् यथावत् कृतवत्यहम् ॥४४॥

राजशिरोमणे ! इस प्रकार उन शापग्रस्त वसुओंको इस मनुष्यलोकसे मुक्त करनेके लिये मैंने यथावत् प्रयत्न किया है॥

अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम।
द्यौ राजन् मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥४५॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! यह एक मात्र द्यो ही महर्षिके शापसे दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें निवास करेगा ॥ ४५ ॥

(अयं देवव्रतश्चैव गङ्गादत्तश्च मे सुतः।
द्विनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥
अयं कुमारः पुत्रस्ते विवृद्धः पुनरेष्यति।
अहं च ते भविष्यामि आह्वानोपगता नृप ॥)

राजन् ! मेरा यह पुत्र देवव्रत और गङ्गादत्त—दो नामोंसे विख्यात होगा। आपका बालक गुणोंमें आपसे भी बढ़कर होगा। (अच्छा, अब जाती हूँ) आपका यह पुत्र अभी शिशु-अवस्थामें है। बड़ा होनेपर फिर आपके पास आ जायगा और आप जब मुझे बुलायेंगे तभी मैं आपके सामने उपस्थित हो जाऊँगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ये सब बातें बताकर गङ्गादेवी उस नवजात शिशुको साथ ले वहीं अन्तर्धान हो गयीं और अपने अभीष्ट स्थानको चली गयीं ॥ ४६ ॥

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत्।
द्युनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥४७॥

उस बालकका नाम हुआ देवव्रत। कुछ लोग गाङ्गेय भी कहते थे । द्यु[1] नामवाले वसु शान्तनुके पुत्र होकर गुणोंमें उनसे भी बढ़ गये ॥ ४७ ॥

शान्तनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः।
तस्याहं कीर्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान् गुणान् ॥४८॥

इधर शान्तनु शोकसे आतुर हो पुनः अपने नगरको लौट गये । शान्तनुके उत्तम गुणोंका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा ॥ ४८ ॥

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः।
यस्येतिहासो द्युतिमान् महाभारतमुच्यते ॥४९॥

उन भरतवंशी महात्मा नरेशके महान् सौभाग्यका भी मैं वर्णन करूँगा, जिनका उज्ज्वल इतिहास 'महाभारत' नामसे विख्यात है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आपवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आपवोपाख्यान-विषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

शान्तनुके रूप, गुण और सदाचारकी प्रशंसा, गङ्गाजीके द्वारा सुशिक्षित पुत्रकी प्राप्ति तथा देवव्रतकी भीष्म-प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षिसत्कृतः।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा शान्तनु बड़े बुद्धिमान् थे; देवता तथा राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे। वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण जगत्में सत्यवादीके रूपमें विख्यात थे ॥ १ ॥

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम्।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥

[1] 'द्यु' का ही नाम 'द्यो' है, जैसा कि पहले कई बार आ चुका है।

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनुमें इन्द्रियसंयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्गुण सदा विद्यमान थे ॥ २ ॥

एवं स गुणसम्पन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः।
आसीद् भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एवं धर्म और अर्थके साधनमें कुशल राजा शान्तनु भरत-वंशका पालन तथा सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते थे ॥ ३ ॥

कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ॥ ४ ॥

उनकी ग्रीवा शङ्खके समान शोभा पाती थी। कंधे विशाल थे। वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी थे। उनमें सभी राजोचित शुभ लक्षण पूर्ण सार्थक होकर निवास करते थे॥

तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥

उन यशस्वी महाराजके धर्मपूर्ण सदाचारको देखकर सब मनुष्य सदा इसी निश्चयपर पहुँचे थे कि काम और अर्थसे धर्म ही श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

एतान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे।
न चास्य सदृशः कश्चिद् धर्मतः पार्थिवोऽभवत्॥ ६ ॥

महान् शक्तिशाली पुरुषश्रेष्ठ शान्तनुमें ये सभी सद्गुण विद्यमान थे। उनके समान धर्मपूर्वक शासन करनेवाला दूसरा कोई राजा नहीं था ॥ ६ ॥

वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम्।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ७ ॥

वे धर्ममें सदा स्थिर रहनेवाले और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे; अतः समस्त राजाओंने मिलकर राजा शान्तनुको राजराजेश्वर (सम्राट्) के पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥७॥

वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्नविबोधनाः।
पतिं भारत गोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! जब सब राजाओंने शान्तनुको अपना स्वामी तथा रक्षक बना लिया, तब किसीको शोक, भय और मानसिक संताप नहीं रहा। सब लोग सुखसे सोने और जागने लगे ॥ ८ ॥

तेन कीर्तिमता शिष्टाः शक्रप्रतिमतेजसा।
यज्ञदानक्रियाशीलाः समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी और कीर्तिशाली शान्तनुके शासनमें रहकर अन्य राजालोग भी दान और यज्ञ कर्मोंमें स्वभावतः प्रवृत्त होने लगे ॥ ९ ॥

शान्तनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा।
नियमात् सर्ववर्णानां धर्मोत्तरमवर्तत ॥ १० ॥

उस समय शान्तनुप्रधान राजाओंद्वारा सुरक्षित जगत्में सभी वर्णोंके लोग नियमपूर्वक प्रत्येक बर्तावमें धर्मको ही प्रधानता देने लगे ॥ १० ॥

ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन् विशः ॥ ११ ॥

क्षत्रियलोग ब्राह्मणोंकी सेवा करते, वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुरक्त रहते तथा शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुराग रखते हुए वैश्योंकी सेवामें तत्पर रहते थे ॥ ११ ॥

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने।
वसन् सागरपर्यन्तामन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महाराज शान्तनु कुरुवंशकी रमणीय राजधानी हस्तिनापुरमें निवास करते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन और पालन करते थे ॥ १२ ॥

स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ॥ १३ ॥

वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी, धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा सरल थे। दान, धर्म और तपस्या तीनोंके योगसे उनमें दिव्य कान्तिकी वृद्धि हो रही थी ॥ १३ ॥

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूद् वायुवेगसमो जवे।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १४ ॥

उनमें न राग था न द्वेष। चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्यारा लगता था। वे तेजमें सूर्य और वेगमें वायुके समान जान पड़ते थे; क्रोधमें यमराज और क्षमामें पृथ्वीकी समानता करते थे ॥ १४ ॥

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम्।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्तत तथा नृप ॥ १५ ॥

जनमेजय ! महाराज शान्तनुके इस पृथ्वीका पालन करते समय पशुओं, वराहों, मृगों तथा पक्षियोंका वध नहीं होता था ॥ १५ ॥

ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान्।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १६ ॥

उनके राज्यमें ब्रह्म और धर्मकी प्रधानता थी। महाराज शान्तनु बड़े विनयशील तथा काम-राग आदि दोषोंसे दूर रहनेवाले थे। वे सब प्राणियोंका समानभावसे शासन करते थे ॥ १६ ॥

देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः।
न चाधर्मेण केषांचित् प्राणिनामभवद् वधः ॥ १७ ॥

उन दिनों देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा पितृयज्ञके लिये कर्मोंका आरम्भ होता था। अधर्मका भय होनेके कारण किसी भी प्राणीका वध नहीं किया जाता था ॥ १७ ॥

असुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्तताम् ।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत् पिता ॥ १८ ॥

दुखी, अनाथ एवं पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए जीव—इन सब प्राणियोंका वे राजा शान्तनु ही पिताके समान पालन करते थे ॥ १८ ॥

तस्मिन् कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति ।
श्रिता वागभवत् सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १९ ॥

कुरुवंशी नरेशोंमें श्रेष्ठ राजराजेश्वर शान्तनुके शासनकालमें सबकी वाणी सत्यके आश्रित थी—सभी सत्य बोलते थे और सबका मन दान एवं धर्ममें लगता था ॥ १९ ॥

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः ।
रतिमप्राप्नुवन् स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ २० ॥

राजा शान्तनु सोलह, आठ, चार और आठ कुल छत्तीस वर्षोंतक स्त्रीविषयक अनुरागका अनुभव न करते हुए वनमें रहे ॥ २० ॥

तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ २१ ॥

वसुके अवतारभूत गाङ्गेय उनके पुत्र हुए, जिनका नाम देवव्रत था । वे पिताके समान ही रूप, आचार, व्यवहार तथा विद्यासे सम्पन्न थे ॥ २१ ॥

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २२ ॥

लौकिक और अलौकिक सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें वे पारङ्गत थे । उनके बल, सत्त्व (धैर्य) तथा वीर्य (पराक्रम) महान् थे । वे महारथी वीर थे ॥ २२ ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ॥ २३ ॥

एक समय किसी हिंसक पशुको बाणोंसे बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गङ्गाके तटपर आये । उन्होंने देखा कि गङ्गाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है ॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥ २४ ॥

उसे देखकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्तामें पड़ गये कि यह सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी आज पहलेकी तरह क्यों नहीं बह रही है ॥ २४ ॥

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २५ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उन महामना नरेशने इसके कारणका पता लगाते हुए जब आगे बढ़कर देखा, तब मालूम हुआ कि एक परम सुन्दर मनोहर रूपसे सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्रके समान दिव्यास्त्रका अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणोंसे समूची गङ्गाकी धाराको रोककर खड़ा है ॥ २५-२६ ॥

तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवद् विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥ २७ ॥

राजाने उसके निकटकी गङ्गा नदीको उसके बाणोंसे व्याप्त देखा । उस बालकका यह अलौकिक कर्म देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २७ ॥

जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २८ ॥

शान्तनुने अपने पुत्रको पहले पैदा होनेके समय ही देखा था; अतः उन बुद्धिमान् नरेशको उस समय उसकी याद नहीं आयी; इसीलिये वे अपने ही पुत्रको पहचान न सके ॥

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

बालकने अपने पिताको देखकर उन्हें मायासे मोहित कर दिया और मोहित करके शीघ्र वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २९ ॥

तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शान्तनुः ।
शङ्कमानः सुतं गङ्गामब्रवीद् दर्शयेति ह ॥ ३० ॥

यह अद्भुत बात देखकर राजा शान्तनुको कुछ संदेह हुआ और उन्होंने गङ्गासे अपने पुत्रको दिखानेको कहा ॥ ३० ॥

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥ ३१ ॥

तब गङ्गाजी परम सुन्दर रूप धारण करके अपने पुत्रका दाहिना हाथ पकड़े सामने आयीं और दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कुमार देवव्रतको दिखाया ॥ ३१ ॥

अलंकृतामाभरणैर्विरजोऽम्बरसंवृताम् ।
दृष्टपूर्वामपि स तां नाभ्यजानात् स शान्तनुः ॥ ३२ ॥

गङ्गा दिव्य आभूषणोंसे अलङ्कृत हो स्वच्छ सुन्दर साड़ी पहिने हुई थीं । इससे उनका अनुपम सौन्दर्य इतना बढ़ गया था कि पहलेकी देखी होनेपर भी राजा शान्तनु उन्हें पहचान न सके ॥ ३२ ॥

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ॥ ३३ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज ! पूर्वकालमें आपने अपने जिस आठवें पुत्रको मेरे गर्भसे प्राप्त किया था, यह वही है । पुरुषसिंह ! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें अत्यन्त उत्तम है ॥

गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम्।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥ ३४ ॥

राजन्! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है। अब आप अपने इस पुत्रको ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! स्वामिन्! इसे घर ले जाइये ॥ ३४ ॥

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान्।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥ ३५ ॥

आपका यह बलवान् पुत्र महर्षि वसिष्ठसे छहों अङ्गोंसहित समस्त वेदोंका अध्ययन कर चुका है। यह अस्त्र-विद्याका भी पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्धमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी है ॥ ३५ ॥

सुराणां सम्मतो नित्यमसुराणां च भारत।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद् वेद सर्वशः ॥ ३६ ॥

भारत! देवता और असुर भी इसका सदा सम्मान करते हैं। शुक्राचार्य जिस (नीति) शास्त्रको जानते हैं, उसका यह भी पूर्ण रूपसे जानकार है ॥ ३६ ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः।
यद् वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ३७ ॥
तव पुत्रे महाबाहौ साङ्गोपाङ्गं महात्मनि।
ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ ३८ ॥
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेतस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
महेष्वासमिमं राजन् राजधर्मार्थकोविदम् ॥ ३९ ॥
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय।

इसी प्रकार अङ्गिराके पुत्र देव-दानववन्दित बृहस्पति जिस शास्त्रको जानते हैं, वह भी आपके इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें अङ्ग और उपाङ्गोंसहित पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है। जो दूसरोंसे परास्त नहीं होते, वे प्रतापी महर्षि जमदग्निनन्दन परशुराम जिस अस्त्र-विद्याको जानते हैं, वह भी मेरे इस पुत्रमें प्रतिष्ठित है! वीरवर महाराज! यह कुमार राजधर्म तथा अर्थ-शास्त्रका महान् पण्डित है। मेरे दिये हुए इस महाधनुर्धर वीर पुत्रको आप घर ले जाइये ॥ ३७–३९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

(इत्युक्त्वा सा महाभागा तत्रैवान्तरधीयत।)
तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ॥ ४० ॥
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति।
पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम् ॥ ४१ ॥
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना।
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ॥ ४२ ॥
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत्।
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ॥ ४३ ॥
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ।
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ॥ ४४ ॥
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः।
स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर महाभागा गङ्गादेवी वहीं अन्तर्धान हो गयीं। गङ्गाजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर महाराज शान्तनु सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले अपने पुत्रको लेकर राजधानीमें आये। उनका हस्तिनापुर इन्द्रनगरी अमरावतीके समान सुन्दर था। पूरुवंशी राजा शान्तनु पुत्रसहित उसमें जाकर अपने आपको सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न एवं सफलमनोरथ मानने लगे। तदनन्तर उन्होंने सबको अभय देनेवाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्रको राजकाजमें सहयोग करनेके लिये समस्त पौरवोंके बीचमें युवराज-पदपर अभिषिक्त कर दिया। जनमेजय! शान्तनुके उस महायशस्वी पुत्रने अपने आचार-व्यवहारसे पिताको, पौरव-समाजको तथा समूचे राष्ट्रको प्रसन्न कर लिया। अमित-पराक्रमी राजा शान्तनुने वैसे गुणवान् पुत्रके साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये। एक दिन वे यमुना नदीके निकटवर्ती वनमें गये ॥ ४०–४५ ॥

महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम्।
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ॥ ४६ ॥

वहाँ राजाको अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्धका अनुभव हुआ। वे उसके उद्गमस्थानका पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम्।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम्॥ ४७॥

घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहोंकी एक कन्या देखी, जो देवाङ्गनाओंके समान रूपवती थी। श्याम नेत्रोंवाली उस कन्याको देखते ही उस राजाने पूछा—॥ ४७॥

कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि।
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरिम्॥ ४८॥
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः।
रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम्॥ ४९॥
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा॥ ५०॥

'भीरु! तू कौन है, किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है?' वह बोली—'राजन्! आपका कल्याण हो। मैं निषादकन्या हूँ और अपने पिता महामना निषादराजकी आज्ञासे धर्मार्थ नाव चलाती हूँ।' राजा शान्तनुने रूप, माधुर्य तथा सुगन्धसे युक्त देवाङ्गनाके तुल्य उस निषादकन्याको देखकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। तदनन्तर उसके पिताके समीप जाकर उन्होंने उसका वरण किया॥ ४८—५०॥

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात्।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम्॥ ५१॥

उन्होंने उसके पितासे पूछा—'मैं अपने लिये तुम्हारी कन्या चाहता हूँ।' यह सुनकर निषादराजने राजा शान्तनुको यह उत्तर दिया—॥ ५१॥

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर॥ ५२॥

'जनेश्वर! जबसे इस सुन्दरी कन्याका जन्म हुआ है, तभीसे मेरे मनमें यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वरके साथ विवाह करना चाहिये; किंतु मेरे हृदयमें एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिये॥ ५२॥

यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः॥ ५३॥

'पापरहित नरेश! यदि इस कन्याको अपनी धर्मपत्नी बनानेके लिये आप मुझसे माँग रहे हैं, तो सत्यको सामने रखकर मेरी इच्छा पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कीजिये; क्योंकि आप सत्यवादी हैं॥ ५३॥

समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद् वरो जातु भविष्यति॥ ५४॥

'राजन्! मैं इस कन्याको एक शर्तके साथ आपकी सेवामें दूँगा। मुझे आपके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ वर कभी नहीं मिलेगा'॥ ५४॥

शान्तनुरुवाच

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव।
दातव्यं चेत् प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन॥ ५५॥

शान्तनुने कहा—निषाद! पहले तुम्हारे अभीष्ट वरको सुन लेनेपर मैं उसके विषयमें कुछ निश्चय कर सकता हूँ। यदि देने योग्य होगा, तो दूँगा और देने योग्य नहीं होगा, तो कदापि नहीं दे सकता॥ ५५॥

दाश उवाच

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव॥ ५६॥

निषाद बोला—पृथ्वीपते! इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके बाद उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाय, अन्य किसी राजकुमारका नहीं॥ ५६॥

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत॥ ५७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्निसे जल रहे थे, तो भी उनके मनमें निषादको वह वर देनेकी इच्छा नहीं हुई॥ ५७॥

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः॥ ५८॥

कामकी वेदनासे उनका चित्त चञ्चल था। वे उस

निषादकन्याका ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुरको लौट गये ॥ ५८ ॥

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर एक दिन राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्तामें पड़े थे । इसी समय उनके पुत्र देवव्रत अपने पिताके पास आये और इस प्रकार बोले—॥५९॥

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥ ६० ॥

'पिताजी ! आपका तो सब ओरसे कुशल-मङ्गल है, भू-मण्डलके सभी नरेश आपकी आज्ञाके अधीन हैं; फिर किस-लिये आप निरन्तर दुखी होकर शोक और चिन्तामें डूबे रहते हैं ॥ ६० ॥

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन ।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ॥ ६१ ॥

'राजन् ! आप इस तरह मौन बैठे रहते हैं, मानो किसी-का ध्यान कर रहे हों; मुझसे कोई बातचीत तक नहीं करते । घोड़ेपर सवार हो कहीं बाहर भी नहीं निकलते । आपकी कान्ति मलिन होती जा रही है । आप पीले और दुबले हो गये हैं ॥

व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ॥ ६२ ॥

'आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतीकार कर सकूँ ।' पुत्रके ऐसा कहने-पर शान्तनुने उत्तर दिया—॥ ६२ ॥

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥ ६३ ॥

'बेटा ! इसमें संदेह नहीं कि मैं चिन्तामें डूबा रहता हूँ । वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ, सुनो । भारत ! तुम इस विशाल वंशमें मेरे एक ही पुत्र हो ॥ ६३ ॥

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥ ६४ ॥

'तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें लगे रहते हो और पुरुषार्थके लिये सदैव उद्यत रहते हो । बेटा ! मैं इस जगत्‌की अनित्यताको लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ ॥ ६४ ॥

कथंचिद् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥ ६५ ॥

'गङ्गानन्दन ! यदि किसी प्रकार तुमपर कोई विपत्ति आयी, तो उसी दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जायगा । इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर हो ॥ ६५ ॥

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
संतानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥ ६६ ॥

'मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता; किंतु हमारी वंशपरम्पराका लोप न हो, इसीके लिये मुझे पुनः पत्नीकी कामना हुई है । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६६ ॥

अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
(चक्षुरेकं च पुत्रश्च अस्ति नास्ति च भारत ।
चक्षुर्नाशे तनोर्नाशः पुत्रनाशे कुलक्षयः ॥)
अग्निहोत्रं त्रयीविद्यासंतानमपि चाक्षयम् ॥ ६७ ॥
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

'धर्मवादी विद्वान् कहते हैं कि एक पुत्रका होना संतान-हीनताके ही तुल्य है । भारत ! एक आँख अथवा एक पुत्र यदि है, तो वह भी नहींके बराबर है । नेत्रका नाश होनेपर मानो शरीरका ही नाश हो जाता है, इसी प्रकार पुत्रके नष्ट होनेपर कुल-परम्परा ही नष्ट हो जाती है । अग्निहोत्र, तीनों वेद तथा शिष्य-प्रशिष्यके क्रमसे चलनेवाले विद्याजनित वंशकी अक्षय परम्परा— ये सब मिलकर भी जन्मसे होनेवाली संतानकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥ ६७½ ॥

एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वप्रजास्विति ॥ ६८ ॥

'इस प्रकार संतानका महत्त्व जैसा मनुष्योंमें मान्य है, उसी प्रकार अन्य सब प्राणियोंमें भी है ॥ ६८ ॥

यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयीपुराणानां देवतानां च शाश्वती ॥ ६९ ॥
(अपत्यं कर्म विद्या च त्रीणि ज्योतींषि भारत ।
यदिदं कारणं तात सर्वमाख्यातमञ्जसा ॥)

'भारत ! महाप्राज्ञ ! इस बातमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि संतान, कर्म और विद्या—ये तीन ज्योतियाँ हैं; इनमें भी जो संतान है, उसका महत्त्व सबसे अधिक है । यही वेदत्रयी पुराण तथा देवताओंका भी सनातन मत है । तात ! मेरी चिन्ताका जो कारण है, वह सब तुम्हें स्पष्ट बता दिया ॥

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र युद्धात् तस्मात् ते निधनं विद्यते क्वचित् ॥ ७० ॥

'भारत ! तुम शूरवीर हो । तुम कभी किसीकी बात सहन नहीं कर सकते और सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें ही लगे रहते हो; अतः युद्धके सिवा और किसी कारणसे कभी तुम्हारी मृत्यु होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ७० ॥

सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शान्ते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥ ७१ ॥

'इसीलिये मैं इस संदेहमें पड़ा हूँ कि तुम्हारे शान्त हो जानेपर इस वंशपरम्पराका निर्वाह कैसे होगा ? तात ! यही

मेरे दुःखका कारण है; वह सब-का-सब तुम्हें बता दिया' ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाके दुःखका वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान् देवव्रतने अपनी बुद्धिसे भी उसपर विचार किया ॥ ७२ ॥

अभ्यगच्छत् तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत् तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे उसी समय तुरंत अपने पिताके हितैषी बूढ़े मन्त्रीके पास गये और पिताके शोकका वास्तविक कारण क्या है, इसके विषयमें उनसे पूछ-ताछ की ॥ ७३ ॥

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां मामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष देवव्रतके भलीभाँति पूछनेपर वृद्ध मन्त्रीने बताया कि महाराज एक कन्यासे विवाह करना चाहते हैं ॥ ७४ ॥

(सूतं भूयोऽपि संतप्त आह्वयामास वै पितुः ॥
सूतस्तु कुरुमुख्यस्य उपयातस्तदाज्ञया ।
तमुवाच महाप्राज्ञो भीष्मो वै सारथिं पितुः ॥

उसके बाद भी दुःखसे दुखी देवव्रतने पिताके सारथिको बुलाया । राजकुमारकी आज्ञा पाकर कुरुराज शान्तनुका सारथि उनके पास आया । तब महाप्राज्ञ भीष्मने पिताके सारथिसे पूछा ॥

भीष्म उवाच

त्वं सारथे पितुर्मह्यं सखासि रथयुग् यतः ।
अपि जानासि यदि वै कस्यां भावो नृपस्य तु ॥
यथा वक्ष्यसि मे पृष्टः करिष्ये न तदन्यथा ।

भीष्म बोले—सारथे ! तुम मेरे पिताके सखा हो, क्योंकि उनका रथ जोतनेवाले हो । क्या तुम जानते हो कि महाराजका अनुराग किस स्त्रीमें है ? मेरे पूछनेपर तुम जैसा कहोगे, वैसा ही करूँगा, उसके विपरीत नहीं करूँगा ।

सूत उवाच

दाशकन्या नरश्रेष्ठ तत्र भावः पितुर्गतः ।
वृतः स नरदेवेन तदा वचनमब्रवीत् ॥
योऽस्यां पुमान् भवेद् गर्भे स राजा त्वदनन्तरम् ।
नाकामयत तं दातुं पिता तव वरं तदा ॥
स चापि निश्चयस्तस्य न च दद्यामतोऽन्यथा ।
एवं ते कथितं वीर कुरुष्व यदनन्तरम् ॥)

सूत बोला—नरश्रेष्ठ ! एक धीवरकी कन्या है, उसीके प्रति आपके पिताका अनुराग हो गया है । महाराजने धीवरसे उस कन्याको माँगा भी था, परंतु उस समय उसने यह शर्त रक्खी कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही आपके बाद राजा होना चाहिये ।' आपके पिताजीके मनमें धीवरको ऐसा वर देनेकी इच्छा नहीं हुई । इधर उसका भी पक्का निश्चय है कि यह शर्त स्वीकार किये बिना मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा । वीर ! यही वृत्तान्त है, जो मैंने आपसे निवेदन कर दिया । इसके बाद आप जैसा उचित समझें, वैसा करें ॥

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥ ७५ ॥

यह सुनकर कुमार देवव्रतने उस समय बूढ़े क्षत्रियोंके साथ निषादराजके पास जाकर स्वयं अपने पिताके लिये उसकी कन्या माँगी ॥ ७५ ॥

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ७६ ॥

भारत ! उस समय निषादने उनका बड़ा सत्कार किया और विधिपूर्वक पूजा करके आसनपर बैठनेके पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियोंकी मण्डलीमें दाशराजने उनसे कहा ॥७६॥

दाश उवाच

(राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर ।
अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम् ॥)

दाशराज बोला—याचकोंमें श्रेष्ठ राजकुमार ! इस कन्याको देनेमें मैंने राज्यको ही शुल्क रक्खा है। इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही पिताके बाद राजा हो ।

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनोर्भरतर्षभ ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ॥ ७७ ॥

भरतर्षभ ! राजा शान्तनुके पुत्र अकेले आप ही सबकी रक्षाके लिये पर्याप्त हैं । शस्त्रधारियोंमें आप सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं; परंतु तो भी मैं अपनी बात आपके सामने रक्खूँगा ॥

को हि सम्बन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम् ।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ७८ ॥

ऐसे मनोऽनुकूल और स्पृहणीय उत्तम विवाह-सम्बन्धको ठुकराकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मनमें संताप न हो ? भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ॥ ७८ ॥

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।
यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ॥ ७९ ॥

यह कन्या एक आर्य पुरुषकी संतान है, जो गुणोंमें आपलोगोंके ही समान हैं और जिनके वीर्यसे इस सुन्दरी सत्यवतीका जन्म हुआ है ॥ ७९ ॥

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥ ८० ॥

तात ! उन्होंने अनेक बार मुझसे आपके पिताके विषयमें चर्चा की थी। वे कहते थे, सत्यवतीको ब्याहने योग्य केवल धर्मज्ञ राजा शान्तनु ही हैं ॥ ८० ॥

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया।
स चाप्यासीत् सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥ ८१ ॥
कन्यापितृत्वात् किंचित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥ ८२ ॥

महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवतीको पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं; किंतु उनके माँगनेपर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी। युवराज ! मैं कन्याका पिता होनेके कारण कुछ आपसे भी कहूँगा ही। आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक दोष दिखायी देता है, बलवान्‌के साथ शत्रुता ॥ ८१-८२ ॥

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ८३ ॥

परंतप ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके कुपित होनेपर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता ॥

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ८४ ॥

पृथ्वीनाथ ! बस, इस विवाहमें इतना ही दोष है, दूसरा कोई नहीं। परंतप ! आपका कल्याण हो, कन्याको देने या न देनेमें केवल यही दोष विचारणीय है; इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ८५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! निषादके ऐसा कहनेपर गङ्गानन्दन देवव्रतने पिताके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये सब राजाओंके सुनते सुनते यह उचित उत्तर दिया—॥

इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर।
नैव जातो न वाजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ८६ ॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो और ग्रहण करो। ऐसी बात कह सकनेवाला कोई मनुष्य न अबतक पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ॥

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥ ८७ ॥

'लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, वैसा ही करूँगा। इस सत्यवतीके गर्भसे जो पुत्र पैदा होगा, वही हमारा राजा बनेगा' ॥ ८७ ॥

इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतवंशावतंस जनमेजय ! देवव्रतके ऐसा कहनेपर निषाद उनसे फिर बोला। वह राज्यके लिये उनसे कोई दुष्कर प्रतिज्ञा कराना चाहता था ॥ ८८ ॥

त्वमेव नाथः सम्प्राप्तः शान्तनोरमितद्युते।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन् प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥ ८९ ॥

उसने कहा—'अमिततेजस्वी युवराज ! आप ही महाराज शान्तनुकी ओरसे मालिक बनकर यहाँ आये हैं। धर्मात्मन् ! इस कन्यापर भी आपका पूरा अधिकार है। आप जिसे चाहें इसे दे सकते हैं। आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ ८९ ॥

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिन्दम ॥ ९० ॥

'परंतु सौम्य ! इस विषयमें मुझे आपसे कुछ और कहना है और वह आवश्यक कार्य है; अतः आप मेरे इस कथनको सुनिये। शत्रुदमन ! कन्याओंके प्रति स्नेह रखनेवाले सगे-सम्बन्धियोंका जैसा स्वभाव होता है, उसीसे प्रेरित होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ॥ ९० ॥

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ९१ ॥

'सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवतीके हितके लिये इन राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है ॥ ९१ ॥

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद् यत् तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ९२ ॥

'महाबाहो ! वह टल नहीं सकती; उसके विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञापर दृढ़ न रहे, यही हमारे मनमें बड़ा भारी संशय है' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ९३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निषादराजके इस अभिप्रायको समझकर सत्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रतने उस समय पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे यह कठोर प्रतिज्ञा की ॥ ९३ ॥

गाङ्गेय उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नरोत्तम ।
(ऋषयो वाथवा देवा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
यानि यानीह शृण्वन्तु नास्ति वक्ता हि मत्समः ॥
इदं वचनमादत्स्व सत्येन मम जल्पतः ।)
शृण्वतां भूमिपालानां यद् ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ९४ ॥

भीष्मने कहा—नरश्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह बात सुनो । जो-जो ऋषि, देवता एवं अन्तरिक्षके प्राणी यहाँ हों, वे सब भी सुनें। मेरे समान वचन देनेवाला दूसरा नहीं है। निषाद ! मैं सत्य कहता हूँ, पिताके हितके लिये सब भूमिपालोंके सुनते हुए मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी इस बातको समझो ॥ ९४ ॥

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥

राजाओ ! राज्य तो मैंने पहले ही छोड़ दिया है; अब संतानके लिये भी अटल निश्चय कर रहा हूँ ॥ ९५ ॥

अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥ ९६ ॥

निषादराज ! आजसे मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा । मेरे पुत्र न होनेपर भी स्वर्गमें मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे ॥ ९६ ॥

(न हि जन्मप्रभृत्युक्तं मम किंचिदिहानृतम् ।
यावत् प्राणा ध्रियन्ते वै मम देहं समाश्रिताः ॥
तावन्न जनयिष्यामि पित्रे कन्यां प्रयच्छ मे ।
परित्यजाम्यहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ॥
ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ।)

मैंने जन्मसे लेकर अबतक कोई झूठ बात नहीं कही है । जबतक मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे, तबतक मैं संतान नहीं उत्पन्न करूँगा । तुम पिताजीके लिये अपनी कन्या दे दो । दाश ! मैं राज्य तथा मैथुनका सर्वथा परित्याग करूँगा और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर रहूँगा—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ९७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रतका यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराजके रोंगटे खड़े हो गये। उसने तुरंत उत्तर दिया—'मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अवश्य देता हूँ' ॥

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९८ ॥

उस समय अन्तरिक्षमें अप्सरा, देवता तथा ऋषिगण फूलोंकी वर्षा करने लगे और बोल उठे—'ये भयंकर प्रतिज्ञा करनेवाले राजकुमार भीष्म हैं (अर्थात् भीष्मके नामसे इनकी ख्याति होगी)' ॥ ९८ ॥

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९९ ॥

तत्पश्चात् भीष्म पिताके मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यशस्विनी निषादकन्यासे बोले—'माताजी ! इस रथपर बैठिये। अब हमलोग अपने घर चलें ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥१००॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भीष्मने उस भामिनीको रथपर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनुको सौंप दिया ॥ १०० ॥

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥१०१॥

उनके इस दुष्कर कर्मकी सब राजालोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे । सबने एक स्वरसे कहा, 'यह राजकुमार वास्तवमें भीष्म है' ॥ १०१ ॥

तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥१०२॥

भीष्मके द्वारा किये हुए उस दुष्कर कर्मकी बात सुनकर राजा शान्तनु बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्मको स्वच्छन्द मृत्युका वरदान दिया ॥ १०२ ॥

देवव्रत (भीष्म) की भीषण प्रतिज्ञा

न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभवितानघ ॥१०३॥

वे बोले—'मेरे निष्पाप पुत्र ! तुम जबतक यहाँ जीवित रहना चाहोगे, तबतक मृत्यु तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । तुमसे आज्ञा लेकर ही मृत्यु तुमपर अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवतीलाभोपाख्यान-विषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ११६½ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति, शान्तनु और चित्राङ्गदका निधन तथा विचित्रवीर्यका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

(चेदिराजसुतां ज्ञात्वा दाशराजेन वर्धिताम् ।
विवाहं कारयामास शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥)
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सत्यवती चेदिराज वसुकी पुत्री है और निषादराजने इसका पालन-पोषण किया है—यह जानकर राजा शान्तनुने उसके साथ शास्त्रीय विधिसे विवाह किया । तदनन्तर विवाह सम्पन्न हो जानेपर राजा शान्तनुने उस रूपवती कन्याको अपने महलमें रक्खा ॥ १ ॥

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥ २ ॥

कुछ कालके पश्चात् सत्यवतीके गर्भसे शान्तनुका बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्राङ्गद उत्पन्न हुआ, जो बड़ा ही पराक्रमी तथा समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ था ॥ २ ॥

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥

इसके बाद महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनुने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्यको जन्म दिया ॥३॥

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनुकी मृत्यु हो गयी ॥ ४ ॥

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५ ॥

शान्तनुके स्वर्गवासी हो जानेपर भीष्मने सत्यवतीकी सम्मतिसे शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर चित्राङ्गदको राज्यपर बिठाया ॥ ५ ॥

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित् सदृशमात्मनः ॥ ६ ॥

चित्राङ्गद अपने शौर्यके घमंडमें आकर सब राजाओंका तिरस्कार करने लगे । वे किसी भी मनुष्यको अपने समान नहीं मानते थे ॥ ६ ॥

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ॥ ७ ॥

मनुष्योंपर ही नहीं, वे देवताओं तथा असुरोंपर भी आक्षेप करते थे । तब एक दिन उन्हींके समान नामवाला महाबली गन्धर्वराज चित्राङ्गद उनके पास आया ॥ ७ ॥

(गन्धर्व उवाच

त्वं वै सदृशनामासि युद्धं देहि नृपात्मज ।
नाम चान्यत् प्रगृह्णीष्व यदि युद्धं न दास्यसि ॥
त्वयाहं युद्धमिच्छामि त्वत्सकाशात् तु नामतः ।
आगतोऽस्मि वृथाभाष्यो न गच्छेन्नामतो यथा ॥)

गन्धर्वने कहा—राजकुमार ! तुम मेरे सदृश नाम धारण करते हो, अतः मुझे युद्धका अवसर दो और यदि यह न कर सको तो अपना दूसरा नाम रख लो । मैं तुमसे युद्ध करना चाहता हूँ । नामकी एकताके कारण ही मैं तुम्हारे निकट आया हूँ । मेरे नामद्वारा व्यर्थ पुकारा जानेवाला मनुष्य मेरे सामनेसे सकुशल नहीं जा सकता ॥

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद् रणः ॥ ८ ॥
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर उसके साथ कुरुक्षेत्रमें राजा चित्राङ्गदका बड़ा भारी युद्ध हुआ । गन्धर्वराज और कुरुराज दोनों ही बड़े बलवान् थे । उनमें सरस्वती नदीके तटपर तीन वर्षोंतक युद्ध होता रहा । अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त उस घमासान युद्धमें

मायामें बढ़े-चढ़े हुए गन्धर्वने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्राङ्गदका वध कर डाला ॥ ८-९ ॥

स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिंदमम्।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ॥१०॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ चित्राङ्गदको मारकर युद्ध समाप्त करके वह गन्धर्व स्वर्गलोकमें चला गया ॥१०॥

तस्मिन् पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥११॥

उन महान् तेजस्वी पुरुषसिंह चित्राङ्गदके मारे जानेपर शान्तनुनन्दन भीष्मने उनके प्रेत-कर्म करवाये ॥ ११ ॥

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥१२॥

विचित्रवीर्य अभी बालक थे, युवावस्थामें नहीं पहुँचे थे तो भी महाबाहु भीष्मने उन्हें कुरुदेशके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥१३॥

महाराज जनमेजय ! तब विचित्रवीर्य भीष्मजीकी आज्ञाके अधीन रहकर अपने बाप-दादोंके राज्यका शासन करने लगे ॥

स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥१४॥

शान्तनुनन्दन भीष्म धर्म एवं राजनीति आदि शास्त्रोंमें कुशल थे; अतः राजा विचित्रवीर्य धर्मपूर्वक उनका सम्मान करते थे और भीष्मजी भी इन अल्पवयस्क नरेशकी सब प्रकारसे रक्षा करते थे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें चित्राङ्गदोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १७ श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा स्वयंवरसे काशिराजकी कन्याओंका हरण, युद्धमें सब राजाओं तथा शाल्वकी पराजय, अम्बिका और अम्बालिकाके साथ विचित्रवीर्यका विवाह तथा निधन

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव।
पालयामास तद् राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! चित्राङ्गदके मारे जानेपर दूसरे भाई विचित्रवीर्य अभी बहुत छोटे थे, अतः सत्यवतीकी रायसे भीष्मजीने ही उस राज्यका पालन किया ॥

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥ २ ॥

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँचे, तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीने उनकी वह अवस्था देख विचित्रवीर्यके विवाहका विचार किया ॥ २ ॥

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥ ३ ॥

राजन् ! उन दिनों काशिराजकी तीन कन्याएँ थीं, जो अप्सराओंके समान सुन्दर थीं । भीष्मजीने सुना, वे तीनों कन्याएँ साथ ही स्वयंवरसभामें पतिका वरण करनेवाली हैं ॥

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥ ४ ॥

तब माता सत्यवतीकी आज्ञा ले रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथके साथ वाराणसी पुरीको गये ॥

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥ ५ ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मने देखा, सब ओरसे आये हुए राजाओंका समुदाय स्वयंवर-सभामें जुटा हुआ है और वे कन्याएँ भी स्वयंवरमें उपस्थित हैं ॥ ५ ॥

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ॥ ७ ॥

उस समय सब ओर राजाओंके नाम ले-लेकर उन सबका परिचय दिया जा रहा था। इतनेमें ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही आ पहुँचे । उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर, ये बूढ़े हैं, ऐसा सोचती हुई वहाँसे दूर भाग गयीं ॥ ६-७ ॥

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः।

वहाँ जो नीच स्वभावके नरेश एकत्र थे, वे आपसमें ये बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये बूढ़े हो गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिरके बाल सफेद हो चुके हैं; फिर क्या कारण है कि यहाँ आये हैं? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके ये लोगोंमें क्या कहेंगे—कैसे मुँह दिखायेंगे? भूमण्डलमें व्यर्थ ही यह बात फैल गयी है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं' ॥ ८-९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! क्षत्रियोंकी ये बातें सुनकर भीष्म अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १० ॥

भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः ।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिस्वनः ॥ ११ ॥
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधः ॥ १२ ॥
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि ।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्या मिथुनेन गवामपि ॥ १३ ॥

राजन्! वे शक्तिशाली तो थे ही, उन्होंने उस समय स्वयं ही समस्त कन्याओंका वरण किया। इतना ही नहीं, प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीष्मने उन कन्याओंको उठाकर रथपर चढ़ा लिया और समस्त राजाओंको ललकारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'विद्वानोंने कन्याको यथाशक्ति वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके गुणवान् वरको बुलाकर उसे कुछ धन देनेके साथ ही कन्यादान करना उत्तम (ब्राह्म विवाह) बताया है। कुछ लोग एक जोड़ा गाय और बैल लेकर कन्यादान करते हैं (यह आर्ष विवाह है) ॥ ११–१३ ॥

वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च ।
प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥ १४ ॥

'कितने ही मनुष्य नियत धन लेकर कन्यादान करते हैं (यह आसुर विवाह है)। कुछ लोग बलसे कन्याका हरण करते हैं (यह राक्षस विवाह है)। दूसरे लोग वर और कन्याकी परस्पर अनुमति होनेपर विवाह करते हैं (यह गान्धर्व विवाह है)। कुछ लोग अचेत अवस्थामें पड़ी हुई कन्याको उठा ले जाते हैं (यह पैशाच विवाह है)। कुछ लोग वर और कन्याको एकत्र करके स्वयं ही उनसे प्रतिज्ञा कराते हैं कि हम दोनों गार्हस्थ्य धर्मका पालन करेंगे, फिर कन्यापिता दोनोंकी पूजा करके अलङ्कारयुक्त कन्याका वरके लिये दान करता है; इस प्रकार विवाहित होनेवाले (प्राजापत्य विवाहकी रीतिसे) पत्नीकी उपलब्धि करते हैं ॥ १४ ॥

आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान् विन्दन्ति चापरे ।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥ १५ ॥

'कुछ लोग आर्ष विधि (यज्ञ) करके ऋत्विजको कन्या देते हैं। इस प्रकार विवाहित होनेवाले (दैव विवाहकी रीतिसे) पत्नी प्राप्त करते हैं। इस तरह विद्वानोंने यह विवाहका आठवाँ प्रकार माना है। इन सबको तुमलोग समझो ॥ १५ ॥

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ १६ ॥

'क्षत्रिय स्वयंवरकी प्रशंसा करते और उसमें जाते हैं; परंतु उसमें भी समस्त राजाओंको परास्त करके जिस कन्याका अपहरण किया जाता है, धर्मवादी विद्वान् क्षत्रियके लिये उसे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १६ ॥

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ १७ ॥

'अतः भूमिपालो! मैं इन कन्याओंको यहाँसे बलपूर्वक हर ले जाना चाहता हूँ। तुमलोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजयके लिये मुझे रोकनेका प्रयत्न करो ॥ १७ ॥

स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान् प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ॥ १९ ॥

'राजाओ! मैं युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके यहाँ डटा हुआ हूँ।' परम पराक्रमी कुरुकुलश्रेष्ठ भीष्मजी उन महीपालों तथा

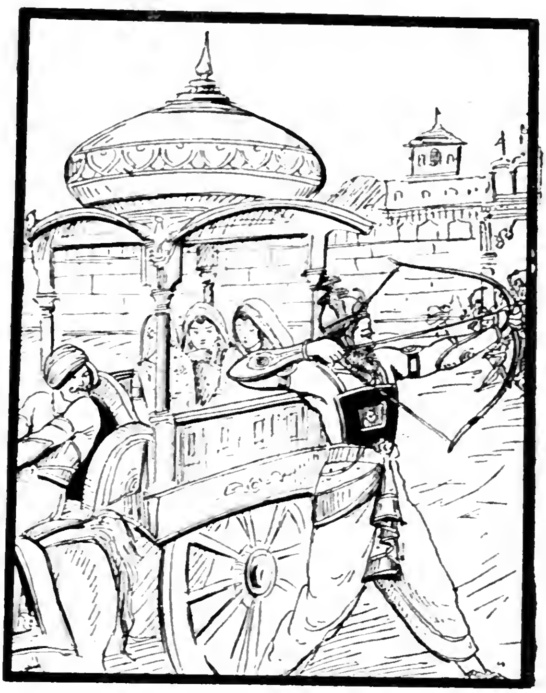

काशिराजसे उपर्युक्त बातें कहकर उन समस्त कन्याओंको, जिन्हें वे उठाकर अपने रथपर बिठा चुके थे, साथ लेकर सबको ललकारते हुए वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चल दिये ॥ १८-१९ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान् बाहून् दशन्तो दशनच्छदान् ।२०।

फिर तो समस्त राजा इस अपमानको न सह सके; वे अपनी भुजाओंका स्पर्श करते (ताल ठोकते) और दाँतोंसे ओठ चबाते हुए अपनी जगहसे उछल पड़े ॥ २० ॥

तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।
आमुञ्चतां च वर्माणि सम्भ्रमः सुमहानभूत् ॥ २१ ॥

सब लोग जल्दी-जल्दी अपने आभूषण उतारकर कवच पहनने लगे । उस समय बड़ा मारी कोलाहल मच गया ॥

ताराणामिव सम्पातो बभूव जनमेजय ।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ॥ २२ ॥
सवर्मभिर्भूषणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः ।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ॥ २३ ॥
सूतोपक्लृप्तान् रुचिरान् सदश्वैरुपकल्पितान् ।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ॥ २४ ॥
प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ।
ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २५ ॥

जनमेजय ! जल्दबाजीके कारण उन सबके आभूषण और कवच इधर-उधर गिर पड़ते थे । उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूटकर गिर रहे हों। कितने ही योद्धाओंके कवच और गहने इधर-उधर बिखर गये । क्रोध और अमर्षके कारण उनकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयी थीं । सारथियोंने सुन्दर रथ सजाकर उनमें सुन्दर अश्व जोत दिये थे । उन रथोंपर बैठकर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो हथियार उठाये हुए उन वीरोंने जाते हुए कुरुनन्दन भीष्मजीका पीछा किया। जनमेजय ! तदनन्तर उन राजाओं और भीष्मजीका घोर संग्राम हुआ। भीष्मजी अकेले थे और राजालोग बहुत । उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ॥ २२–२५ ॥

ते त्विषून् दश साहस्रांस्तस्मिन् युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथान्तरा ॥ २६ ॥
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ॥ २७ ॥
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ॥ २८ ॥
ततः सर्वान् महीपालान् पर्यविध्यात् त्रिभिस्त्रिभिः ।
एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन् विव्याध पञ्चभिः ॥ २९ ॥

राजन् ! उन नरेशोंने भीष्मजीपर एक ही साथ दस हजार बाण चलाये; परंतु भीष्मजीने उन सबको अपने ऊपर आनेसे पहले बीचमें ही विशाल पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया । तब वे सब राजा उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, जैसे बादल पर्वतपर पानीकी धारा बरसाते हैं । भीष्मजीने सब ओरसे उस बाण-वर्षाको रोककर उन सभी राजाओंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया । तब उनमेंसे प्रत्येकने भीष्मजीको पाँच-पाँच बाण मारे ॥ २६-२९ ॥

स च तान् प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन् ।
तद् युद्धमासीत् तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ॥ ३० ॥
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ॥ ३१ ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्याति पुरुषानन्याँल्लाघवं रथचारिणः ॥ ३२ ॥
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ।
तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३३ ॥
कन्याभिः सहितः प्रायाद् भारतो भारतान् प्रति ।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ॥ ३४ ॥
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
वारणं जघने भिन्दन् दन्ताभ्यामपरो यथा ॥ ३५ ॥
वासितामनुसम्प्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः ॥ ३६ ॥
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ।
ततः सः पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ॥ ३७ ॥
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।
विततेषु धनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ॥ ३८ ॥

फिर भीष्मजीने भी अपना पराक्रम प्रकट करते हुए प्रत्येक योद्धाको दो-दो बाणोंसे बींध डाला । बाणों और शक्तियोंसे व्याप्त उनका वह तुमुल युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था । उस समराङ्गणमें भीष्मने लोकविख्यात वीरोंके देखते-देखते उनके धनुष, ध्वजाके अग्रभाग, कवच और मस्तक सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें काट गिराये । युद्धमें रथसे विचरनेवाले भीष्मजीकी दूसरे वीरोंसे बढ़कर हाथकी फुर्ती और आत्मरक्षा आदिकी शत्रुओंने भी सराहना की । सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण भीष्मजीने उन सब योद्धाओंको जीतकर कन्याओंको साथ ले भरतवंशियोंकी राजधानी हस्तिनापुरको प्रस्थान किया । राजन् ! तब महारथी शाल्वराजने पीछेसे आकर युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मपर आक्रमण किया । शाल्वके शारीरिक बलकी कोई सीमा नहीं थी। जैसे हथिनीके पीछे लगे हुए एक गजराजके पृष्ठभागमें उसीका पीछा करनेवाला दूसरा यूथपति दाँतोंसे प्रहार करके उसे विदीर्ण करना चाहता है, उसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु शाल्वराज स्त्रीको पानेकी इच्छासे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो भीष्मका पीछा करते हुए उनसे बोला—'अरे ओ ! खड़ा रह, खड़ा रह ।' तब शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह भीष्म उसके

वचनोंको सुनकर क्रोधसे व्याकुल हो धूमरहित अग्निके समान जलने लगे और हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। उनके ललाटमें सिकुड़न आ गयी ॥ ३०–३८ ॥

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसम्भ्रमः।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ ३९ ॥

महारथी भीष्मने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले भय और घबराहट छोड़कर शाल्वकी ओर अपना रथ लौटाया ॥ ३९ ॥

निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ४० ॥

उन्हें लौटते देख सब राजा भीष्म और शाल्वके युद्धमें कुछ भाग न लेकर केवल दर्शक बन गये ॥ ४० ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे।
अन्योन्यमभ्यवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ४१ ॥

ये दोनों बलवान् वीर मैथुनकी इच्छावाली गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंकी तरह हुंकार करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही बल और पराक्रमसे सुशोभित थे॥

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजा शाल्व शान्तनुनन्दन भीष्म-पर सैकड़ों और हजारों शीघ्रगामी बाणोंकी बौछार करने लगा ॥

पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः।
विस्मिताः समपद्यन्त साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ ४३ ॥

शाल्वने पहले ही भीष्मको पीड़ित कर दिया। यह देख-कर सभी राजा आश्चर्यचकित हो गये और 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ४३ ॥

लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें उसकी फुर्ती देख सब राजा बड़े प्रसन्न हुए और अपनी वाणीद्वारा शाल्वनरेशकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४४ ॥

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥ ४५ ॥

शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने क्षत्रियोंकी वे बातें सुनकर कुपित हो शाल्वसे कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४५ ॥

सारथिं चाब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ४६ ॥

फिर सारथिसे कहा—'जहाँ यह राजा शाल्व है, उधर ही रथ ले चलो। जैसे पक्षिराज गरुड सर्पको दबोच लेते हैं, उसी प्रकार मैं इसे अभी मार डालता हूँ' ॥ ४६ ॥

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग् योजयामास कौरवः।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नच्छाल्वराजस्य भूपते ॥ ४७ ॥

जनमेजय! तदनन्तर कुरुनन्दन भीष्मने धनुषपर उचित रीतिसे वारुणास्त्रका संधान किया और उसके द्वारा शाल्वराजके चारों घोड़ोंको रौंद डाला ॥ ४७ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत् तस्य सारथिम् ॥ ४८ ॥

नृपश्रेष्ठ! फिर अपने अस्त्रोंसे राजा शाल्वके अस्त्रोंका निवारण करके कुरुवंशी भीष्मने उसके सारथिको भी मार डाला॥

अस्त्रेण चास्याथैन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान्।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ४९ ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम्।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ५० ॥
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा।
राजानो ये च तत्रासन् स्वयंवरदिदृक्षवः ॥ ५१ ॥
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजयाः।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५२ ॥
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम्॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् ऐन्द्रास्त्रद्वारा उसके उत्तम अश्वोंको यमलोक पहुँचा दिया। नरश्रेष्ठ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये युद्ध करके शाल्वको जीत लिया और नृपश्रेष्ठ शाल्वका भी केवल प्राणमात्र छोड़ दिया। जनमेजय! उस समय शाल्व अपनी राजधानीको लौट गया और धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगा। इसी प्रकार शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जो-जो राजा वहाँ स्वयंवर देखनेकी इच्छासे आये थे, वे भी अपने-अपने देशको चले गये। प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म उन कन्याओंको जीतकर हस्तिनापुरको चल दिये; जहाँ रहकर धर्मात्मा कुरुवंशी राजा विचित्रवीर्य इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ ४९-५३ ॥

यथा पितास्य कौरव्यः शान्तनुर्नृपसत्तमः।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ॥ ५४ ॥
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान् द्रुमान्।
अक्षतः क्षपयित्वारीन् संख्येऽसंख्येयविक्रमः ॥ ५५ ॥

उनके पिता कुरुश्रेष्ठ नृपशिरोमणि शान्तनु जिस प्रकार राज्य करते थे, वैसा ही वे भी करते थे। जनमेजय! भीष्म-जी थोड़े ही समयमें वन, नदी, पर्वतोंको लाँघते और नाना प्रकारके वृक्षोंको लाँघते और पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ गये। युद्धमें उनका पराक्रम अवर्णनीय था। उन्होंने स्वयं अक्षत रहकर शत्रुओंको ही क्षति पहुँचायी थी ॥ ५४-५५ ॥

आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ॥ ५६ ॥

यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून् ।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ५७ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्म काशिराजकी कन्याओंको पुत्र-वधू, छोटी बहिन एवं पुत्रीकी भाँति साथ रखकर कुरुदेशमें ले आये । वे महाबाहु अपने भाई विचित्रवीर्यका प्रिय करनेकी इच्छासे उन सबको लाये थे ॥ ५६-५७ ॥

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥ ५८ ॥

भाई भीष्मने अपने पराक्रमद्वारा हरकर लायी हुई उन सर्वसद्गुणसम्पन्न कन्याओंको अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यके हाथमें दे दिया ॥ ५८ ॥

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ॥ ५९ ॥
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ।
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ॥ ६० ॥

धर्मज्ञ एवं जितात्मा भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके माता सत्यवतीसे सलाह ले एक निश्चयपर पहुँचकर भाई विचित्रवीर्यके विवाहकी तैयारी करने लगे । काशिराजकी उन कन्याओंमें जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी । उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाईके साथ करेंगे, तब वह उनसे इस प्रकार बोली—॥ ५९-६० ॥

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥ ६१ ॥

'धर्मात्मन् ! मैंने पहलेसे ही मन-ही-मन सौभ नामक विमानके अधिपति राजा शाल्वको पतिरूपमें वरण कर लिया था । उन्होंने भी पूर्वकालमें मेरा वरण किया था । मेरे पिताजीकी भी यही इच्छा थी कि मेरा विवाह शाल्वके साथ हो॥

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन् स्वयंवरे ।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥ ६२ ॥

'उस स्वयंवरमें मुझे राजा शाल्वका ही वरण करना था । धर्मज्ञ ! इन सब बातोंको सोच-समझकर जो धर्मका सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिये ॥ ६२ ॥

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद् वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ॥ ६३ ॥

जब उस कन्याने ब्राह्मणमण्डलीके बीच वीरवर भीष्मजीसे इस प्रकार कहा, तब वे उस वैवाहिक कर्मके विषयमें युक्तियुक्त विचार करने लगे ॥ ६३ ॥

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥ ६४ ॥

वे स्वयं भी धर्मके ज्ञाता थे, फिर भी वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ भलीभाँति विचार करके उन्होंने काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाको उस समय शाल्वके यहाँ जानेकी अनुमति दे दी ॥ ६४ ॥

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६५ ॥

शेष दो कन्याओंका नाम अम्बिका और अम्बालिका था । उन्हें भीष्मजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार छोटे भाई विचित्रवीर्यको पत्नीरूपमें प्रदान किया ॥ ६५ ॥

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥ ६६ ॥

उन दोनोंका पाणिग्रहण करके रूप और यौवनके अभिमानसे भरे हुए धर्मात्मा विचित्रवीर्य कामात्मा बन गये॥

ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे ।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ६७ ॥

उनकी वे दोनों पत्नियाँ सयानी थीं । उनकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी । उनके केश नीले और घुँघराले थे; हाथ-पैरोंके नख लाल और ऊँचे थे; नितम्ब और उरोज स्थूल और उभरे हुए थे ॥ ६७ ॥

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते ।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यो पूजयामासतुः शुभे ॥ ६८ ॥

वे यह जानकर संतुष्ट थीं कि हम दोनोंको अपने अनुरूप पति मिले हैं; अतः वे दोनों कल्याणमयी देवियाँ विचित्रवीर्यकी बड़ी सेवा-पूजा करने लगीं ॥ ६८ ॥

स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः ।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ॥ ६९ ॥

विचित्रवीर्यका रूप अश्विनीकुमारोंके समान था । वे देवताओंके समान पराक्रमी थे । एकान्तमें वे सभी नारियोंके मनको मोह लेनेकी शक्ति रखते थे ॥ ६९ ॥

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ७० ॥

राजा विचित्रवीर्यने उन दोनों पत्नियोंके साथ सात वर्षोंतक निरन्तर विहार किया; अतः उस असंयमके परिणामस्वरूप वे युवावस्थामें ही राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥७०॥

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ ७१ ॥

उनके हितैषी सगे-सम्बन्धियोंने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकोंके साथ उनके रोगनिवारणकी पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरवनरेश यमलोकको चले गये ॥ ७१ ॥

धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ॥ ७२ ॥
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः ।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ॥ ७३ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्मजी भाईकी मृत्युसे चिन्ता और शोकमें डूब गये । फिर माता सत्यवतीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले उन भीष्मजीने ऋत्विजों तथा कुरुकुलके समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ राजा विचित्रवीर्यके सभी प्रेतकार्य अच्छी तरह कराये ॥ ७२-७३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यका निधनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीका भीष्मसे राज्यग्रहण और संतानोत्पादनके लिये आग्रह तथा भीष्मके द्वारा अपनी प्रतिज्ञा बतलाते हुए उसकी अस्वीकृति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरव्यस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्रके वियोगसे अत्यन्त दीन और कृपण हो गयी । उसने पुत्रवधुओंके साथ पुत्रके प्रेतकार्य करके अपनी दोनों बहुओं तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको धीरज बँधाया । फिर उस महाभागा मङ्गलमयी देवीने धर्म, पितृकुल तथा मातृकुलकी ओर देखकर गङ्गानन्दन भीष्मसे कहा—'बेटा ! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले परम यशस्वी कुरुनन्दन महाराज शान्तनुके पिण्ड, कीर्ति और वंश ये सब अब तुम्हींपर अवलम्बित हैं ॥ १–३ ॥

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ४ ॥

'जैसे शुभ कर्म करके स्वर्गलोगमें जाना निश्चित है, जैसे सत्य बोलनेसे आयुका बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मका होना भी निश्चित है ॥ ४ ॥

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ ! तुम सब धर्मोंको संक्षेप और विस्तारसे जानते हो । नाना प्रकारकी श्रुतियों और समस्त वेदाङ्गोंका भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है ॥ ५ ॥

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ६ ॥

'मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचारको भी देखती हूँ । संकटके समय शुक्राचार्य और बृहस्पतिकी भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्यका निर्णय करनेमें समर्थ है ॥ ६ ॥

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

'अतः धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्म ! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्यमें लगाना चाहती हूँ । तुम पहले उसे सुन लो; फिर उसका पालन करनेकी चेष्टा करो ॥ ७ ॥

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ९ ॥
तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १० ॥

'मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होनेके साथ ही तुम्हें अत्यन्त प्रिय था, छोटी अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया । नरश्रेष्ठ ! उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था । तुम्हारे भाईकी ये दोनों सुन्दरी रानियाँ, जो काशिराजकी कन्याएँ हैं, मनोहर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न हैं । इनके हृदयमें पुत्र पानेकी अभिलाषा है । भारत ! तुम हमारे कुलकी संतानपरम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये स्वयं ही इन दोनोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करो । महाबाहो ! मेरी आज्ञासे यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो ॥ ८–१० ॥

राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ११ ॥

'राज्यपर अपना अभिषेक करो और भारतीय प्रजाका पालन करते रहो । धर्मके अनुसार विवाह कर लो; पितरोंको नरकमें न गिरने दो' ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता और सुहृदोंके ऐसा कहनेपर शत्रुदमन धर्मात्मा भीष्मने यह धर्मानुकूल उत्तर दिया—॥ १२॥

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
राज्यार्थे नाभिषिञ्चेयं नोपेयां जातु मैथुनम्।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम्॥ १३॥
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः॥ १४॥

'माता ! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं; परंतु मैं राज्यके लोभसे न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्रीसहवास ही करूँगा। संतानोत्पादन और राज्य ग्रहण न करनेके विषयमें जो मेरी कठोर प्रतिज्ञा है, उसे तो तुम जानती ही हो। सत्यवती ! तुम्हारे लिये शुल्क देनेके हेतु जो-जो बातें हुई थीं, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं। उन प्रतिज्ञाओंको पुनः सच्ची करनेके लिये मैं अपना दृढ़ निश्चय बताता हूँ॥ १३-१४॥

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन॥ १५॥

'मैं तीनों लोकोंका राज्य, देवताओंका साम्राज्य अथवा इन दोनोंसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तुको भी एकदम त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता॥

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥ १६॥

'पृथ्वी अपनी गंध छोड़ दे, जल अपने रसका परित्याग कर दे, तेज रूपका और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुणका त्याग कर दे॥ १६॥

प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्॥
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्॥ १७॥

'सूर्य प्रभा और अग्नि अपनी उष्णताको छोड़ दे, आकाश शब्दका और चन्द्रमा अपनी शीतलताका परित्याग कर दे॥

विक्रमं वृत्रहा जह्याद् धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन॥ १८॥

'इन्द्र पराक्रमको छोड़ दें और धर्मराज धर्मकी उपेक्षा कर दें; परंतु मैं किसी प्रकार सत्यको छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता॥ १८॥

(तन्न जात्वन्यथा कुर्यां लोकानामपि संक्षये।
अमरत्वस्य वा हेतोस्त्रैलोक्यसदनस्य वा॥
एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा।)
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम्॥ १९॥
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम।
इच्छन् सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा॥ २०॥
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम्।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम्॥ २१॥

'सारे संसारका नाश हो जाय, मुझे अमरत्व मिलता हो या त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो, तो भी मैं अपने किये हुए प्रणको नहीं तोड़ सकता।' महान् तेजोरूप धनसे सम्पन्न अपने पुत्र भीष्मके ऐसा कहनेपर माता सत्यवती इस प्रकार बोली—'बेटा ! तुम सत्यपराक्रमी हो। मैं जानती हूँ, सत्यमें तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेजसे नयी त्रिलोकीकी रचना कर सकते हो। मैं उस सत्यको भी नहीं भूल सकी हूँ, जिसकी तुमने मेरे लिये घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्मका विचार करके बाप-दादोंके दिये हुए इस राज्यभारको वहन करो॥ १९-२१॥

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत्।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप॥ २२॥

'परंतप ! जिस उपायसे तुम्हारे वंशकी परम्परा नष्ट न हो, धर्मकी भी अवहेलना न होने पावे और प्रेमी सुहृद् भी संतुष्ट हो जायँ, वही करो'॥ २२॥

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम्॥ २३॥

पुत्रकी कामनासे दीन वचन बोलनेवाली और मुखसे धर्मरहित बात कहनेवाली सत्यवतीसे भीष्मने फिर यह बात कही—॥ २३॥

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते॥ २४॥

'राजमाता ! धर्मकी ओर दृष्टि डालो, हम सबका नाश न करो। क्षत्रियका सत्यसे विचलित होना किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं माना गया है॥ २४॥

शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि।
तत् ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम्॥ २५॥

'राजमाता ! महाराज शान्तनुकी संतानपरम्परा भी जिस उपायसे इस भूतलपर अक्षय बनी रहे, वह धर्मयुक्त उपाय मैं तुम्हें बतलाऊँगा। वह सनातन क्षत्रियधर्म है॥ २५॥

श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २६ ॥

उसे आपद्धर्मके निर्णयमें कुशल विद्वान् पुरोहितोंसे सुनकर और लोकतन्त्रकी ओर भी देखकर निश्चय करो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म सत्यवती-संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीद्वारा व्यासका आवाहन और व्यासजीका माताकी आज्ञासे कुरुवंशकी वृद्धिके लिये विचित्रवीर्यकी पत्नियोंके गर्भसे संतानोत्पादन करनेकी स्वीकृति देना

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं संतानवृद्धये।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं-मातः! भरतवंशकी संतानपरम्पराको बढ़ाने और सुरक्षित रखनेके लिये जो नियत उपाय है, उसे मैं बता रहा हूँ; सुनो। किसी गुणवान्* ब्राह्मणको धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंके गर्भसे संतान उत्पन्न कर सके ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सत्यवती कुछ हँसती और साथ ही लजाती हुई भीष्मजीसे इस प्रकार बोली। बोलते समय उसकी वाणी संकोचसे कुछ अस्पष्ट-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
विश्वासात् ते प्रवक्ष्यामि संतानाय कुलस्य नः ॥ ४ ॥

उसने कहा—'महाबाहु भीष्म! तुम जैसा कहते हो वही ठीक है। तुमपर विश्वास होनेसे अपने कुलकी संततिकी रक्षाके लिये तुम्हें मैं एक बात बतलाती हूँ ॥ ४ ॥

न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम्।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ॥ ५ ॥

'ऐसे आपद्धर्मको देखकर वह बात तुम्हें बताये बिना मैं नहीं रह सकती। तुम्हीं हमारे कुलमें मूर्तिमान् धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो और तुम्हीं परम गति हो ॥ ५ ॥

तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम्।
(यस्तु राजा वसुर्नाम श्रुतस्ते भरतर्षभ।
तस्य शुक्रादहं मत्स्याद् धृता कुक्षौ पुरा किल ॥
मातरं मे जलाद्धृत्वा दाशः परमधर्मवित्।
मां तु स्वगृहमानीय दुहितृत्वे ह्यकल्पयत् ॥)
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत् तरी मम ॥ ६ ॥

'अतः मेरी सच्ची बात सुनकर उसके बाद जो कर्तव्य हो, उसे करो।

'भरतश्रेष्ठ! तुमने महाराज वसुका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें मैं उन्हींके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी। मुझे एक मछलीने अपने पेटमें धारण किया था। एक परम धर्मज्ञ मल्लाहने जलमेंसे मेरी माताको पकड़ा, उसके पेटसे मुझे निकाला और अपने घर लाकर अपनी पुत्री बनाकर रक्खा। मेरे उन धर्मपरायण पिताके पास एक नौका थी, जो (धनके लिये नहीं) धर्मार्थ चलायी जाती थी ॥ ६ ॥

सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम्।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ॥ ७ ॥

---

* यहाँ गुणवान्का अर्थ है—नियोगकी विधिको जाननेवाला संयमी पुरुष। मनु महाराजने स्त्रियोंके आपद्धर्मके प्रसङ्गमें लिखा है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥
(मनुस्मृति ९। ६१)

विधवा स्त्रीके साथ सहवासके लिये (पतिपक्षके गुरुजनोंद्वारा) नियुक्त पुरुष अपने सारे शरीरपर घी चुपड़कर (सौन्दर्य बिगाड़कर), वाणीको संयममें रखकर (चुपचाप रहकर) रात्रिमें सहवास करे। इस प्रकार वह एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी न करे।

विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥
(मनुस्मृति ९। ६३)

विधवामें नियोगके लिये विधिके अनुसार (अर्थात् कामवश न होकर कर्तव्य बुद्धिसे) चित्तको संयमित और इन्द्रियोंको अनासक्त रखते हुए नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर दोनों परस्पर पिता और पुत्रवधूके समान बर्ताव करें (अर्थात् स्त्री उनको पिताके समान समझकर बरते और पुरुष उसे पुत्रवधूके समान मानकर बर्ताव करे)।

कलियुगमें मनुष्योंके असंयमी और कामी होनेके कारण नियोग वर्जित है।

आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन् यमुनां नदीम्।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत् तदा ॥ ८ ॥
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः।
उक्त्वा जन्म कुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम् ॥ ९ ॥

'एक दिन मैं उसी नावपर गयी हुई थी। उन दिनों मेरे यौवनका प्रारम्भ था। उसी समय धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् महर्षि पराशर यमुना नदी पार करनेके लिये मेरी नावपर आये। मैं उन्हें पार ले जा रही थी, तबतक वे मुनिश्रेष्ठ काम-पीड़ित हो मेरे पास आ मुझे समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले और उन्होंने मुझसे अपने जन्म और कुलका परिचय दिया। इसपर मैंने कहा—'भगवन्! मैं तो निषादकी पुत्री हूँ' ॥ ७-९ ॥

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ १० ॥

'भारत! एक ओर मैं पिताजीसे डरती थी और दूसरी ओर मुझे मुनिके शापका भी डर था। उस समय महर्षिने मुझे दुर्लभ वर देकर उत्साहित किया, जिससे मैं उनके अनुरोधको टाल न सकी ॥ १० ॥

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ ११ ॥
मत्स्यगन्धो महानासीत् पुरा मम जुगुप्सितः।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात् स मे मुनिः ॥ १२ ॥

'यद्यपि मैं चाहती नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझ अबलाको अपने तेजसे तिरस्कृत करके नौकापर ही मुझे अपने वशमें कर लिया। उस समय उन्होंने कुहरा उत्पन्न करके सम्पूर्ण लोकको अन्धकारसे आवृत कर दिया था। भारत! पहले मेरे शरीरसे अत्यन्त घृणित मछलीकी-सी बड़ी तीव्र दुर्गन्ध आती थी। उसको मिटाकर मुनिने मुझे यह उत्तम गन्ध प्रदान की थी॥

ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १३ ॥

'तदनन्तर मुनिने मुझसे कहा—'तुम इस यमुनाके ही द्वीपमें मेरे द्वारा स्थापित इस गर्भको त्यागकर फिर कन्या ही हो जाओगी' ॥ १३ ॥

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ॥ १४ ॥

'उस गर्भसे पराशरजीके पुत्र महान् योगी महर्षि व्यास प्रकट हुए। वे ही द्वैपायन नामसे विख्यात हैं। वे मेरे कन्यावस्थाके पुत्र हैं ॥ १४ ॥

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥ १५ ॥

'वे भगवान् द्वैपायन मुनि अपने तपोबलसे चारों वेदोंका पृथक्-पृथक् विस्तार करके लोकमें 'व्यास' पदवीको प्राप्त हुए हैं। शरीरका रंग साँवला होनेसे उन्हें लोग 'कृष्ण' भी कहते हैं ॥ १५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः।
समुत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः ॥ १६ ॥

'वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी और पापशून्य हैं। वे उत्पन्न होते ही बड़े होकर उस द्वीपसे अपने पिताके साथ चले गये थे ॥ १६ ॥

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

'मेरे और तुम्हारे आग्रह करनेपर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाईके क्षेत्रमें कल्याणकारी संतान उत्पन्न करेंगे ॥ १७ ॥

स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥ १८ ॥

'उन्होंने जाते समय मुझसे कहा था कि संकटके समय मुझे याद करना। महाबाहु भीष्म! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं उन्हींका स्मरण करूँ ॥ १८ ॥

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥ १९ ॥

'भीष्म! तुम्हारी अनुमति मिल जाय, तो महातपस्वी व्यास निश्चय ही विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंसे पुत्रोंको उत्पन्न करेंगे'॥१९॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ॥ २० ॥
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम्।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान्।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥ २२ ॥
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यासका नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—'माताजी! जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका बारंबार विचार करता है तथा यह भी जानता है कि किस प्रकार अर्थसे अर्थ, धर्मसे धर्म और कामसे कामरूप फलकी प्राप्ति होती है और वह परिणाममें कैसे सुखद होता है तथा किस प्रकार अर्थादिके सेवनसे विपरीत फल (अर्थनाश आदि) प्रकट होते हैं, इन बातोंपर पृथक्-पृथक् भलीभाँति विचार करके जो धीर पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करता है, वही बुद्धिमान् है। तुमने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे

कुलके लिये भी हितकर और कल्याणकारी है; इसलिये मुझे बहुत अच्छी लगी है' ॥ २०–२२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम् ।
स वेदान् विब्रुवन् धीमान् मातुर्विज्ञाय चिन्तितम् ।२४।
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन ।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यषिञ्चत ।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! उस समय भीष्मजीके इस प्रकार अपनी सम्मति देनेपर काली (सत्यवती) ने मुनिवर कृष्णद्वैपायनका चिन्तन किया । जनमेजय ! माताने मेरा स्मरण किया है, यह जानकर परम बुद्धिमान् व्यासजी वेदमन्त्रोंका पाठ करते हुए क्षणभरमें वहाँ प्रकट हो गये । वे कब किधरसे आ गये, इसका पता किसीको न चला । सत्यवतीने अपने पुत्रका भलीभाँति सत्कार किया और दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन करके अपने स्तनोंके झरते हुए दूधसे उनका अभिषेक किया । अपने पुत्रको दीर्घकालके बाद देखकर सत्यवतीकी आँखोंसे स्नेह और आनन्दके आँसू बहने लगे—॥ २३-२६ ॥

तामद्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च ।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तदनन्तर सत्यवतीके प्रथम पुत्र महर्षि व्यासने अपने कमण्डलुके पवित्र जलसे दुःखिनी माताका अभिषेक किया और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २८ ॥

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाली माताजी ! आपकी जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ । आज्ञा दीजिये, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ' ॥ २८ ॥

तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत् पुरोधाः परमर्षये ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् पुरोहितने महर्षिका विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणके साथ पूजन किया और महर्षिने उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ २९ ॥

पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत् प्रीतिमाप सः ।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३० ॥
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम् ।

विधि और मन्त्रोच्चारणपूर्वक की हुई उस पूजासे व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए । जब वे आसनपर बैठ गये, तब माता सत्यवतीने उनका कुशल-क्षेम पूछा और उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३०½ ॥

मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ॥ ३१ ॥
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः ।
विधानविहितः स त्वं यथा मे प्रथमः सुतः ॥ ३२ ॥
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः ।
यथैव पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ॥ ३३ ॥
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे ।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

'विद्वन् ! माता और पिता दोनोंसे पुत्रोंका जन्म होता है, अतः उनपर दोनोंका समान अधिकार है । जैसे पिता पुत्रोंका स्वामी है, उसी प्रकार माता भी है । इसमें संदेह नहीं है । ब्रह्मर्षे ! विधाताके विधान या मेरे पूर्वजन्मोंके पुण्यसे जिस प्रकार तुम मेरे प्रथम पुत्र हो, उसी प्रकार विचित्रवीर्य मेरा सबसे छोटा पुत्र था । जैसे एक पिताके नाते भीष्म उसके भाई हैं, उसी प्रकार एक माताके नाते तुम भी विचित्रवीर्यके भाई ही हो । बेटा ! मेरी तो ऐसी ही मान्यता है; फिर तुम जैसा समझो । ये सत्यपराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सत्यका पालन कर रहे हैं ॥ ३१–३४ ॥

बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने ।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः संतानाय कुलस्य च ॥ ३५ ॥
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ॥ ३६ ॥
आनृशंस्याच्च यद् ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ॥ ३७ ॥
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ।
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ॥ ३८ ॥
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ।

'अनघ ! संतानोत्पादन तथा राज्य-शासन करनेका इनका विचार नहीं है; अतः तुम अपने भाईके पारलौकिक हितका विचार करके तथा कुलकी संतान-परम्पराकी रक्षाके लिये भीष्मके अनुरोध और मेरी आज्ञासे सब प्राणियोंपर दया करके उनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे और अपने अन्तःकरणकी कोमल वृत्तिको देखते हुए मैं जो कुछ कहूँ, उसे सुनकर उसका पालन करो । तुम्हारे छोटे भाईकी पत्नियाँ देवकन्याओंके समान सुन्दर रूप तथा युवावस्थासे सम्पन्न हैं । उनके मनमें धर्मतः पुत्र पानेकी कामना है । पुत्र ! तुम इसके लिये समर्थ हो, अतः उन दोनोंके गर्भसे ऐसी संतानोंको जन्म दो, जो इस कुल-परम्पराकी रक्षा तथा वृद्धिके लिये सर्वथा सुयोग्य हों' ॥ ३५–३८½ ॥

व्यास उवाच

वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च ॥ ३९ ॥
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ४० ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥ ४१ ॥

व्यासजीने कहा—माता सत्यवती ! आप पर और अपर दोनों प्रकारके धर्मोंको जानती हैं । महाप्राज्ञे ! आपकी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहती है । अतः मैं आपकी आज्ञासे धर्मको ही दृष्टिमें रखकर (कामके वश न होकर ही) आपकी इच्छाके अनुरूप कार्य करूँगा । यह सनातन मार्ग शास्त्रोंमें देखा गया है । मैं अपने भाईके लिये मित्र और वरुणके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा ॥ ३९-४० ॥

व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥ ४२ ॥
न हि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना ।

विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंको मेरे बताये अनुसार एक वर्षतक विधिपूर्वक व्रत (जितेन्द्रिय होकर केवल संतानार्थ साधन) करना होगा, तभी वे शुद्ध होंगी । जिसने व्रतका पालन नहीं किया है, ऐसी कोई भी स्त्री मेरे समीप नहीं आ सकती ॥ ४२½ ॥

सत्यवत्युवाच

सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ॥ ४३ ॥

सत्यवतीने कहा—बेटा ! ये दोनों रानियाँ जिस प्रकार शीघ्र गर्भ धारण करें, वह उपाय करो ॥ ४३ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ॥ ४४ ॥

राज्यमें इस समय कोई राजा नहीं है । बिना राजाके राज्यकी प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है । यज्ञ-दान आदि क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं । उस राज्यमें न वर्षा होती है, न देवता वास करते हैं ॥ ४४ ॥

कथं चाराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद् गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ॥ ४५ ॥

प्रभो ! तुम्हीं सोचो, बिना राजाका राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है । इसलिये शीघ्र गर्भाधान करो । भीष्म बालकको पाल-पोसकर बड़ा कर लेंगे ॥ ४५ ॥

व्यास उवाच

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत् परं व्रतम् ॥ ४६ ॥

व्यासजी बोले—माँ ! यदि मुझे समयका नियम न रखकर शीघ्र ही अपने भाईके लिये पुत्र प्रदान करना है, तो उन देवियोंके लिये यह उत्तम व्रत आवश्यक है कि वे मेरे असुन्दर रूपको देखकर शान्त रहें, डरें नहीं ॥ ४६ ॥

यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४७ ॥

यदि कौसल्या (अम्बिका) मेरे गन्ध, रूप, वेष और शरीरको सहन कर ले तो वह आज ही एक उत्तम बालकको अपने गर्भमें पा सकती है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा ।
शयने सा च कौसल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ॥ ४८ ॥
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ॥ ४९ ॥
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौसल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद् ब्रवीमि निबोध तत् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहनेके बाद महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ व्यासजी सत्यवतीसे फिर 'अच्छा तो कौसल्या (ऋतु-स्नानके पश्चात्) शुद्ध वस्त्र और शृङ्गार धारण करके शय्यापर मिलनकी प्रतीक्षा करे' यों कहकर अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर देवी सत्यवतीने एकान्तमें आयी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिकाके पास जाकर उससे (आपद्) धर्म और अर्थसे युक्त हितकारक वचन कहा—'कौसल्ये ! मैं तुमसे जो धर्मसङ्गत बात कह रही हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ४८-५० ॥

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च सम्प्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥ ५१ ॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥

'मेरे भाग्यका नाश हो जानेसे अब भरतवंशका उच्छेद हो चला है, यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इसके कारण मुझे व्यथित और पितृकुलको पीडित देख भीष्मने इस कुलकी वृद्धिके लिये मुझे एक सम्मति दी है । बेटी ! उस सम्मतिकी सार्थकता तुम्हारे अधीन है । तुम भीष्मके बताये अनुसार मुझे उस अवस्थामें पहुँचाओ, जिससे मैं अपने अभीष्टकी सिद्धि देख सकूँ ॥ ५१-५२ ॥

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ॥ ५३ ॥
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ।

'सुश्रोणि ! इस नष्ट होते हुए भरतवंशका पुनः उद्धार करो ।

तुम देवराज इन्द्रके समान एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दो। वही हमारे कुलके इस महान् राज्य-भारको वहन करेगा' ॥ ५३½ ॥

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद् धर्मचारिणीम्।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥५४॥

कौसल्या धर्मका आचरण करनेवाली थी। सत्यवतीने धर्मको सामने रखकर ही उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर (बड़ी कठिनतासे) इस कार्यके लिये तैयार किया। उसके बाद ब्राह्मणों, देवर्षियों तथा अतिथियोंको भोजन कराया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवती-उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सत्यवती ठीक समयपर अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधूको शय्यापर बैठाती हुई धीरेसे बोली— ॥ १ ॥

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

'कौसल्ये! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधानके लिये आयेंगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रातके समय यहाँ पधारेंगे' ॥ २ ॥

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
साचिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥

सासकी यह बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्यापर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंका चिन्तन करने लगी ॥ ३ ॥

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

उस समय नियोगविधिके अनुसार सत्यवादी महर्षि व्यासने अम्बिकाके महलमें (शरीरको घी चुपड़े हुए, संयत चित्त, कुत्सित रूपमें) प्रवेश किया। उस समय बहुत-से दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४ ॥

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

व्यासजीके शरीरका रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्णकी और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंगकी दिखायी देती थी। उन्हें देखकर देवी कौसल्याने (भयके मारे) अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ ५ ॥

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

माताका प्रिय करनेकी इच्छासे व्यासजीने उसके साथ समागम किया; परंतु काशिराजकी कन्या भयके मारे उनकी ओर अच्छी तरह देख न सकी ॥ ६ ॥

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥

जब व्यासजी उसके महलसे बाहर निकले, तब माता सत्यवतीने आकर उनसे पूछा—'बेटा! क्या अम्बिकाके गर्भसे कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?' ॥ ७ ॥

निशम्य तद् वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः।
नागायुतसमप्राणो विद्वान् राजर्षिसत्तमः ॥ ८ ॥
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति।
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मना ॥ ९ ॥

माताका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यासजी बोले—'माँ! वह दस हजार हाथियोंके समान बलवान्, विद्वान्, राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, परम सौभाग्यशाली, महापराक्रमी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् होगा। उस महामनाके भी सौ पुत्र होंगे ॥ ८-९ ॥

किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥१०॥
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ॥११॥
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि।

'किंतु माताके दोषसे वह बालक अन्धा ही होगा।' व्यासजीकी यह बात सुनकर माताने कहा—'तपोधन! कुरुवंशका राजा अन्धा हो यह उचित नहीं है। अतः कुरुवंशके लिये दूसरा राजा दो, जो जातिभाइयों तथा समस्त कुलका संरक्षक और पिताका वंश बढ़ानेवाला हो' ॥ १०-११½ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ॥१२॥

महायशस्वी व्यासजी 'तथास्तु' कहकर वहाँसे निकल गये ॥ १२ ॥

सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ।
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ॥१३॥
ऋषिमावाहयत् सत्या यथा पूर्वमरिंदम ।
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ॥१४॥
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥१५॥

प्रसवका समय आनेपर कौसल्याने उसी अन्धे पुत्रको जन्म दिया । जनमेजय ! तत्पश्चात् देवी सत्यवतीने अपनी दूसरी पुत्रवधूको समझा-बुझाकर गर्भाधानके लिये तैयार किया और इसके लिये पूर्ववत् महर्षि व्यासका आवाहन किया । फिर महर्षिने उसी (नियोगकी संयमपूर्ण) विधिसे देवी अम्बालिका-के साथ समागम किया । भारत ! महर्षि व्यासको देखकर वह भी कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी ॥ १३–१५ ॥

तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥१६॥

जनमेजय ! उसे भयभीत, विषादग्रस्त तथा पाण्डुवर्णकी-सी देख सत्यवतीनन्दन व्यासने यों कहा—॥ १६ ॥

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ॥१७॥

'अम्बालिके ! तुम मुझे विरूप देखकर पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी थीं, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र पाण्डु रंगका ही होगा ॥ १७ ॥

नाम चास्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ।
इत्युक्त्वा स निरक्रामद् भगवानृषिसत्तमः ॥ १८ ॥

'शुभानने ! इस बालकका नाम भी संसारमें 'पाण्डु' ही होगा ।' ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् व्यास वहाँसे निकल गये ॥ १८ ॥

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत् ।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥१९॥

उस महलसे निकलनेपर सत्यवतीने अपने पुत्रसे उसके विषयमें पूछा । तब व्यासजीने भी मातासे उस बालकके पाण्डुवर्ण होनेकी बात बता दी ॥ १९ ॥

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥ २० ॥

उसके बाद सत्यवतीने पुनः एक दूसरे पुत्रके लिये उनसे याचना की । महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर माताकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ २० ॥

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया ॥२१॥

तदनन्तर देवी अम्बालिकाने समय आनेपर एक पाण्डु वर्णके पुत्रको जन्म दिया । वह अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित हो रहा था ॥ २१ ॥

यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ।
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ॥२२॥

यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए । इसके बाद ऋतुकाल आनेपर सत्यवतीने अपनी बड़ी बहू अम्बिकाको पुनः व्यासजीसे मिलनेके लिये नियुक्त किया ॥ २२ ॥

सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥२३॥

परंतु देवकन्याके समान सुन्दरी अम्बिकाने महर्षिके उस कुत्सित रूप और गन्धका चिन्तन करके भयके मारे देवी सत्यवतीकी आज्ञा नहीं मानी ॥ २३ ॥

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥२४॥

काशिराजकी पुत्री अम्बिकाने अप्सराके समान सुन्दरी अपनी एक दासीको अपने ही आभूषणोंसे विभूषित करके काले-कलूटे महर्षि व्यासके पास भेज दिया ॥ २४ ॥

सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥२५॥

महर्षिके आनेपर उस दासीने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा मिलनेपर वह शय्या-पर बैठी और सत्कारपूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगी ॥२५॥

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ।
तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः ॥२६॥
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ।
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥२७॥

एकान्तमें मिलकर उसपर महर्षि व्यास बहुत संतुष्ट हुए । राजन् ! कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जब उसके साथ शयन करके उठे, तब इस प्रकार बोले—'शुभे ! अब तू दासी नहीं रहेगी । तेरे उदरमें एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है । वह लोकमें धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ होगा' ॥ २६-२७ ॥

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥ २८ ॥

वही बालक विदुर हुआ, जो श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका पुत्र था। एक पिताका होनेके कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डुका भाई था ॥ २८ ॥

धर्मो विदुररूपेण शापात् तस्य महात्मनः।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥ २९ ॥

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुर-रूपमें उत्पन्न हुए थे। वे अर्थतत्त्वके ज्ञाता और काम-क्रोधसे रहित थे ॥ २९ ॥

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत्।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥ ३० ॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने सत्यवतीको भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिकाने अपनी दासी-को भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासीके गर्भसे ही पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ३० ॥

स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रासमेत्य च।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३१ ॥

इस तरह व्यासजी (मातृ-आज्ञापालनरूप) धर्मसे उऋण होकर फिर अपनी माता सत्यवतीसे मिले और उन्हें गर्भका समाचार बताकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३१ ॥

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३२ ॥

विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें व्यासजीसे ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी और कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यके पुत्रोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०५॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि माण्डव्यका शूलीपर चढ़ाया जाना

जनमेजय उवाच

किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान्।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धर्मराजने ऐसा कौन-सा कर्म किया था, जिससे उन्हें शाप प्राप्त हुआ? किस ब्रह्मर्षिके शापसे वे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः।
धृतिमान् सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें माण्डव्य नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे, जो धैर्यवान्, सब धर्मोंके ज्ञाता, सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी थे ॥ २ ॥

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥

वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे दोनों बाँहें ऊपरको उठाये हुए मौनव्रत धारण करके खड़े रहकर बड़ी भारी तपस्या करते थे। माण्डव्यजी बहुत बड़े योगी थे ॥ ३ ॥

तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्ततः।
तमाश्रममनुप्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥

उस कठोर तपस्यामें लगे हुए महर्षिके बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन उनके आश्रमपर चोरीका माल लिये हुए बहुत-से लुटेरे आये ॥ ४ ॥

अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ।
ते तस्यावसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवानागते बले।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद् रक्षिणां बलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥

कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन् यथा शीघ्रतरं वयम्॥ ८॥

जनमेजय! उन चोरोंका बहुत-से सैनिक पीछा कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ! वे दस्यु वह चोरीका माल महर्षिके आश्रममें रखकर भयके मारे प्रजा-रक्षक सेनाके आनेके पहले वहीं कहीं छिप गये। उनके छिप जानेपर रक्षकोंकी सेना शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ पहुँची। राजन्! चोरोंका पीछा करनेवाले लोगोंने इस प्रकार तपस्यामें लगे हुए उन महर्षिको जब वहाँ देखा, तो पूछा कि 'द्विजश्रेष्ठ! बताइये, चोर किस रास्तेसे भगे हैं? जिससे वही मार्ग पकड़कर हम तीव्र गतिसे उनका पीछा करें'॥ ५—८॥

तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः।
न किंचिद् वचनं राजन्नब्रवीत् साध्वसाधु वा॥ ९॥

राजन्! उन रक्षकोंके इस प्रकार पूछनेपर तपस्याके धनी उन महर्षिने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा॥ ९॥

ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम्।
ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च॥ १०॥

तब उन राजपुरुषोंने उस आश्रममें ही चोरोंको खोजना आरम्भ किया और वहीं छिपे हुए चोरों तथा चोरीके मालको भी देख लिया॥ १०॥

ततः शङ्का समभवद् रक्षिणां तं मुनिं प्रति।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन्॥ ११॥

फिर तो रक्षकोंको मुनिके प्रति मनमें संदेह उत्पन्न हो गया और वे उन्हें बाँधकर राजाके पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजासे सब बातें बतायीं और उन चोरोंको भी राजाके हवाले कर दिया॥ ११॥

तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद् वध्यतामिति।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः॥ १२॥

राजाने उन चोरोंके साथ महर्षिको भी प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। रक्षकोंने उन महातपस्वी मुनिको नहीं पहचाना और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया॥ १२॥

ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ॥ १३॥

इस प्रकार वे रक्षक माण्डव्य मुनिको शूलीपर चढ़ाकर वह सारा धन साथ ले राजाके पास लौट गये॥ १३॥

शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्यपद्यत॥ १४॥

धर्मात्मा ब्रह्मर्षि माण्डव्य दीर्घकालतक उस शूलके अग्रभागपर बैठे रहे। वहाँ भोजन न मिलनेपर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई॥ १४॥

धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत्।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना॥ १५॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत।
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन् द्विजोत्तमम्॥ १६॥

वे प्राण धारण किये रहे और स्मरणमात्र करके ऋषियोंको अपने पास बुलाने लगे। शूलीकी नोकपर तपस्या करनेवाले उन महात्मासे प्रभावित होकर सभी तपस्वी मुनियोंको बड़ा संताप हुआ। वे रातमें पक्षियोंका रूप धारण करके वहाँ उड़ते हुए आये और अपनी शक्तिके अनुसार स्वरूपको प्रकाशित करते हुए उन विप्रवर माण्डव्य मुनिसे पूछने लगे—॥

श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् किं पापं कृतवानसि।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत्॥ १७॥

'ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं कि आपने कौन-सा पाप किया है, जिससे यहाँ शूलपर बैठनेका यह महान् कष्ट आपको प्राप्त हुआ है?'॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने षडधिकशततमोऽध्यायः॥ १०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०६॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

माण्डव्यका धर्मराजको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान्।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब उन मुनिश्रेष्ठने उन तपस्वी मुनियोंसे कहा—'मैं किसपर दोष लगाऊँ; दूसरे किसीने मेरा अपराध नहीं किया है'॥ १॥

तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप॥ २॥

महाराज! रक्षकोंने बहुत दिनोंतक उन्हें शूलपर बैठे देख राजाके पास जा वह सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन किया॥ २॥

श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः।
प्रसादयामास तथा शूलस्थमृषिसत्तमम्॥ ३॥

उनकी बात सुनकर मन्त्रियोंके साथ परामर्श करके राजाने शूलीपर बैठे हुए उन मुनिश्रेष्ठको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया॥ ३॥

धर्मराज और अणिमाण्डव्य

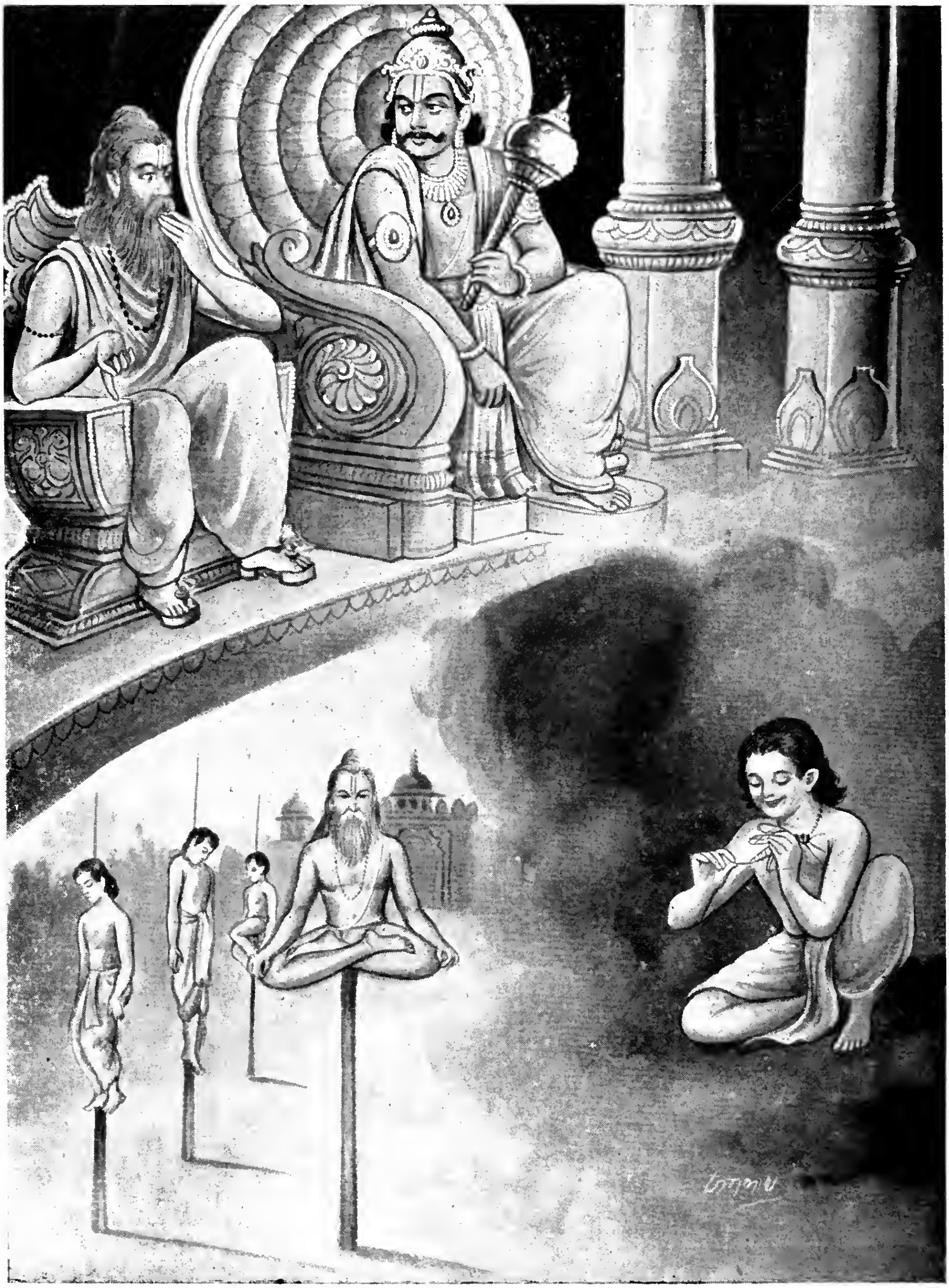

अणिमाण्डव्य ऋषि शूलीपर

राजोवाच

यन्मयापकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४ ॥

राजाने कहा—मुनिवर ! मैंने मोह अथवा अज्ञानवश जो अपराध किया है, उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें । मैं आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाके यों कहनेपर मुनि उनपर प्रसन्न हो गये । राजाने उन्हें प्रसन्न जानकर शूलीसे उतार दिया ॥ ५ ॥

अवतार्य च शूलाग्रात् तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्कष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ ६ ॥

नीचे उतारकर उन्होंने शूलके अग्रभागके सहारे उनके शरीरके भीतरसे शूलको निकालनेके लिये खींचा । खींचकर निकालनेमें असफल होनेपर उन्होंने उस शूलको मूलभागमें काट दिया ॥ ६ ॥

स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः ।
तेनातितपसा लोकान् विजिग्ये दुर्लभान् परैः ॥ ७ ॥

तबसे वे मुनि शूलाग्रभागको अपने शरीरके भीतर लिये हुए ही विचरने लगे । उस अत्यन्त घोर तपस्याके द्वारा महर्षिने ऐसे पुण्यलोकोंपर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्लभ हैं ॥

अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते ।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ॥ ८ ॥
आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः ।
किं नु तद् दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ॥ ९ ॥
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया ।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १० ॥

अणी कहते हैं शूलके अग्रभागको, उससे युक्त होनेके कारण वे मुनि तभीसे सभी लोकोंमें 'अणी-माण्डव्य' कहलाने लगे । एक समय परमात्मतत्त्वके ज्ञाता विप्रवर माण्डव्यने धर्मराजके भवनमें जाकर उन्हें दिव्य आसनपर बैठे देखा । उस समय उन शक्तिशाली महर्षिने उन्हें उलाहना देते हुए पूछा—'मैंने अनजानमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ । फिर मेरी तपस्याका बल देखो' ॥ ८–१० ॥

धर्म उवाच

पतङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता ।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत् तपोधन ॥ ११ ॥

धर्मराज बोले—तपोधन ! तुमने फतिंगोंके पुच्छ-भागमें सींक घुसेड़ दी थी । उसी कर्मका यह फल तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥

स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत् ।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ॥ १२ ॥

विप्रर्षे ! जैसे थोड़ा-सा भी किया हुआ दान कई गुना फल देनेवाला होता है, वैसे ही अधर्म भी बहुत दुःखरूपी फल देनेवाला होता है ॥ १२ ॥

अणीमाण्डव्य उवाच

कस्मिन् काले मया तत् तु कृतं ब्रूहि यथातथम् ।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम् ॥ १३ ॥

अणीमाण्डव्यने पूछा—अच्छा, तो ठीक-ठीक बताओ, मैंने किस समय—किस आयुमें वह पाप किया था ?

धर्मराजने उत्तर दिया—'बाल्यावस्थामें तुम्हारे द्वारा यह पाप हुआ था' ॥ १३ ॥

अणीमाण्डव्य उवाच

बालो हि द्वादशाद् वर्षाज्जन्मतो यत् करिष्यति ।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः ॥ १४ ॥

अणीमाण्डव्यने कहा—धर्म-शास्त्रके अनुसार जन्मसे लेकर बारह वर्षकी आयुतक बालक जो कुछ भी करेगा, उसमें अधर्म नहीं होगा; क्योंकि उस समयतक बालकको धर्म शास्त्रके आदेशका ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥ १४ ॥

अल्पेऽपराधेऽपि महान् मम दण्डस्त्वया कृतः ।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ॥ १५ ॥

धर्मराज ! तुमने थोड़े-से अपराधके लिये मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है । ब्राह्मणका वध सम्पूर्ण प्राणियोंके वधसे भी अधिक भयंकर है ॥ १५ ॥

शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः सम्भविष्यसि ।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ॥ १६ ॥

अतः धर्म ! तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनिमें जन्म लोगे। आजसे संसारमें मैं धर्मके फलको प्रकट करनेवाली मर्यादा स्थापित करता हूँ ॥ १६ ॥

आ चतुर्दशकाद् वर्षान्न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति ॥ १७ ॥

चौदह वर्षकी उम्रतक किसीको पाप नहीं लगेगा। उससे अधिककी आयुमें पाप करनेवालोंको ही दोष लगेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एतेन त्वपराधेन शापात् तस्य महात्मनः।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी अपराधके कारण महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्म ही विदुररूपसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ १९ ॥

वे धर्म-शास्त्र एवं अर्थशास्त्रके पण्डित, लोभ और क्रोधसे रहित, दीर्घदर्शी, शान्तिपरायण तथा कौरवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके जन्म तथा भीष्मजीके धर्मपूर्ण शासनसे कुरुदेशकी सर्वाङ्गीण उन्नतिका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

(धृतराष्ट्रे च पाण्डौ च विदुरे च महात्मनि।)
तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्र, पाण्डु और महात्मा विदुर—इन तीनों कुमारोंके जन्मसे कुरुवंश, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनोंकी बड़ी उन्नति हुई ॥ १ ॥

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बहुत बढ़ गयी, सभी अन्न सरस होने लगे, बादल ठीक समयपर वर्षा करते थे, वृक्षोंमें बहुत-से फल और फूल लगने लगे ॥ २ ॥

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

घोड़े-हाथी आदि वाहन हृष्ट-पुष्ट रहते थे, मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे दिन बिताते थे, फूलों और मालाओंमें अनुपम सुगन्ध होती थी और फलोंमें अनोखा रस होता था ॥ ३ ॥

वणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥

सभी नगर व्यापार-कुशल वैश्यों तथा शिल्पकलामें निपुण कारीगरोंसे भरे रहते थे। शूर-वीर, विद्वान् और संत सुखी हो गये ॥ ४ ॥

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था। पापमें रुचि रखनेवाले लोगोंका सर्वथा अभाव था। राष्ट्रके विभिन्न प्रान्तोंमें सत्ययुग छा रहा था ॥ ५ ॥

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥

उस समयकी प्रजा सत्य व्रतके पालनमें तत्पर हो स्वभावतः यज्ञ-कर्ममें लगी रहती और धर्मानुकूल कर्मोंमें संलग्न रहकर एक-दूसरेको प्रसन्न रखती हुई सदा उन्नतिके पथपर बढ़ती जाती थी ॥ ६ ॥

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः।
अन्योन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥

सब लोग अभिमान और क्रोधसे रहित तथा लोभसे दूर रहनेवाले थे; सभी एक-दूसरेको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। लोगोंके आचार-व्यवहारमें धर्मकी ही प्रधानता थी ॥ ७ ॥

तन्महोदधिवत् पूर्णं नगरं वै व्यरोचत।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ॥ ८ ॥

समुद्रकी भाँति सब प्रकारसे भरा-पूरा कौरवनगर मेघ-समूहोंके समान बड़े-बड़े दरवाजों, फाटकों और गोपुरोंसे सुशोभित था ॥ ८ ॥

प्रासादशतसम्बाधं महेन्द्रपुरसंनिभम्।
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥

सैकड़ों महलोंसे संयुक्त वह पुरी देवराज इन्द्रके अमरावतीके समान शोभा पाती थी। वहाँके लोग नदियों, वनखण्डों, बावलियों, छोटे-छोटे जलाशयों, पर्वतशिखरों तथा रमणीय काननोंमें प्रसन्नतापूर्वक विहार करते थे ॥ ९ ॥

उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ॥ १० ॥

उस समय दक्षिणकुरु देशके निवासी उत्तरकुरुमें रहनेवाले लोगों, देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंके साथ होड़-सी लगाते हुए स्वच्छन्द विचरण करते थे ॥ १० ॥

नाभवत् कृपणः कश्चिन्नाभवन् विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥ ११ ॥

कौरवोंद्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपदमें न तो कोई कंजूस था और न विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं ॥ ११ ॥

कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन् राष्ट्रे सदोत्सवाः ॥ १२ ॥

उस राष्ट्रके कुओं, बगीचों, सभाभवनों, बावलियों तथा ब्राह्मणोंके घरोंमें सब प्रकारकी समृद्धियाँ भरी रहती थीं और वहाँ नित्य-नूतन उत्सव हुआ करते थे ॥ १२ ॥

भीष्मेण धर्मतो राजन् सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे धर्मपूर्वक सुरक्षित भूमण्डलमें वह कुरुदेश सैकड़ों देवस्थानों और यज्ञस्तम्भोंसे चिह्नित होनेके कारण बड़ी शोभा पाता था॥१३॥

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १४ ॥

वह देश दूसरे राष्ट्रोंका भी शोधन करके निरन्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा था। राष्ट्रमें सब ओर भीष्मजी-के द्वारा चलाया हुआ धर्मका शासन चल रहा था ॥ १४ ॥

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ॥ १५ ॥

उन महात्मा कुमारोंके यज्ञोपवीतादि संस्कार किये जानेके समय नगर और देशके सभी लोग निरन्तर उत्सव मनाते थे ॥ १५ ॥

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १६ ॥

जनमेजय ! कुरुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियोंके घरोंमें सदा सब ओर यही बात सुनायी देती थी कि 'दान दो और अतिथियोंको भोजन कराओ' ॥१६॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयोंका भीष्मजीने जन्मसे ही पुत्रकी भाँति पालन किया॥

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १८ ॥

उन्होंने ही उनके सब संस्कार कराये। फिर वे ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर हो गये। परिश्रम और व्यायाममें भी उन्होंने बड़ी कुशलता प्राप्त की। फिर धीरे-धीरे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥ १९ ॥

धनुर्वेद, घोड़ेकी सवारी, गदायुद्ध ढाल, तलवारके, प्रयोग-गजशिक्षा तथा नीतिशास्त्रमें वे तीनों भाई पारंगत हो गये॥१९॥

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ २० ॥

उन्हें इतिहास, पुराण तथा नाना प्रकारके शिष्टाचारोंका भी ज्ञान कराया गया। वे वेद वेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्तके माननेवाले थे ॥ २० ॥

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ २१ ॥

पाण्डु धनुर्विद्यामें उस समयके मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर पराक्रमी थे। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगों-की अपेक्षा शारीरिक बलमें बहुत बढ़कर थे ॥ २१ ॥

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत् कश्चिद् विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥ २२ ॥

राजन् ! तीनों लोकोंमें विदुरजीके समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्ममें ऊँची अवस्थाको प्राप्त (आत्मद्रष्टा)* नहीं था ॥ २२ ॥

प्रणष्टं शन्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २३ ॥

नष्ट हुए शान्तनुके वंशका पुनः उद्धार हुआ देखकर समस्त राष्ट्रके लोग परस्पर कहने लगे…॥ २३ ॥

वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ २५ ॥

'वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली स्त्रियोंमें काशिराजकी दोनों पुत्रियाँ सबसे श्रेष्ठ हैं, देशोंमें कुरुजाङ्गल देश सबसे उत्तम है, सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें भीष्मजीका स्थान सबसे ऊँचा है तथा नगरोंमें हस्तिनापुर सर्वोत्तम है।' धृतराष्ट्र अंधे होनेके कारण और विदुरजी पारशव (शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न) होनेसे राज्य न पा सके; अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए ॥ २४-२५ ॥

* 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' याज्ञवल्क्य-स्मृतिके इस कथनके अनुसार आत्मदर्शन ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥ २६ ॥

एक समयकी बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विदुरजीसे इस प्रकार न्यायोचित वचन बोले ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुराज्याभिषेकेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुराज्याभिषेकविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं ।)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका विवाह

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान् पृथिवीपालान् पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा विदुर ! हमारा यह कुल अनेक सत्-गुणोंसे सम्पन्न होकर इस जगत्‌में विख्यात हो रहा है । यह अन्य भूपालोंको जीतकर इस भूमण्डलके साम्राज्यका अधिकारी हुआ है ॥ १ ॥

रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ॥ २ ॥

पहलेके धर्मज्ञ एवं महात्मा राजाओंने इसकी रक्षा की थी; अतः हमारा यह कुल इस भूतलपर कभी उच्छिन्न नहीं हुआ ।२।

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥ ३ ॥

(बीचमें संकटकाल उपस्थित हुआ था किंतु) मैंने, माता सत्यवतीने तथा महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने मिलकर पुनः इस कुलको स्थापित किया है । तुम तीनों भाई इस कुलके तंतु हो और तुम्हींपर अब इसकी प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥ ४ ॥

वत्स ! यह हमारा वही कुल आगे भी जिस प्रकार समुद्रकी भाँति बढ़ता रहे, निःसंदेह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिये ॥ ४ ॥

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥ ५ ॥

सुना जाता है, यदुवंशी शूरसेनकी कन्या पृथा (जो अब राजा कुन्तिभोजकी गोद ली हुई पुत्री है) भलीभाँति हमारे कुलके अनुरूप है । इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेशके यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है ॥ ५ ॥

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६ ॥

बेटा ! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं । वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हैं ॥ ६ ॥

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
संतानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे ॥ ७ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुर ! मेरी राय है कि इस कुलकी संतानपरम्पराको बढ़ानेके लिये उक्त कन्याओंका वरण करना चाहिये अथवा जैसी तुम्हारी सम्मति हो, वैसा किया जाय ॥७॥

विदुर उवाच

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः ।
तस्मात् स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥८॥

विदुर बोले—प्रभो ! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं; अतः स्वयं विचार करके जिस बातमें इस कुलका हित हो, वह कीजिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ९ ॥
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा ।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ॥ १० ॥
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसके बाद भीष्मजीने ब्राह्मणोंसे गान्धारराज सुबलकी पुत्री शुभलक्षणा गान्धारीके विषयमें सुना कि वह भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले वरदायक भगवान् शंकरकी आराधना करके अपने लिये सौ पुत्र होनेका वरदान प्राप्त कर चुकी है । भारत ! जब इस बातका ठीक-ठीक पता लग गया, तब कुरुपितामह भीष्मने गान्धारराजके पास अपना दूत भेजा । धृतराष्ट्र अंधे हैं, इस बातको लेकर सुबलके मनमें बड़ा विचार हुआ ॥ ९-११ ॥

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ १२ ॥

परंतु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदिके विषयमें बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्मपरायणा गान्धारीका धृतराष्ट्रके लिये वाग्दान कर दिया ॥ १२ ॥

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥ १३ ॥
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा ॥ १४ ॥
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया।
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ॥ १५ ॥
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान्।
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम्।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! गान्धारीने जब सुना कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं और पिता-माता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन्! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं (सदा पतिके अनुकूल रहूँगी,) उनके दोष नहीं देखूँगी। तदनन्तर एक दिन गान्धारराजकुमार शकुनि युवावस्था तथा लक्ष्मीके समान मनोहर शोभासे युक्त अपनी बहिन गान्धारीको साथ लेकर कौरवोंके यहाँ गये और उन्होंने बड़े आदर-सत्कारके साथ धृतराष्ट्रको अपनी बहिन सौंप दी। शकुनिने भीष्मजीकी सम्मतिके अनुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ १३-१६ ॥

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम्।
पुनरायात् स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १७ ॥

वीरवर शकुनिने अपनी बहिनका विवाह करके यथायोग्य दहेज दिया। बदलेमें भीष्मजीने भी उनका बड़ा सम्मान किया। तत्पश्चात् वे अपनी राजधानीको लौट आये ॥ १७ ॥

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १८ ॥

भारत ! सुन्दर शरीरवाली गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्‌व्यवहारोंसे समस्त कौरवोंको प्रसन्न कर लिया ॥ १८ ॥

वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून् पतिपरायणा।
वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्तयत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार सुन्दर बर्तावसे समस्त गुरुजनोंकी प्रसन्नता प्राप्त करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रविवाहविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीको दुर्वासासे मन्त्रकी प्राप्ति, सूर्यदेवका आवाहन तथा उनके संयोगसे कर्णका जन्म एवं कर्णके द्वारा इन्द्रको कवच और कुण्डलोंका दान

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत्।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजीके पिता थे। उन्हें एक कन्या हुई, जिसका नाम पृथा रक्खा गया। इस भूमण्डलमें उसके रूपकी तुलनामें दूसरी कोई स्त्री नहीं थी ॥ १ ॥

पितृष्वस्त्रीयाय स तामनपत्याय भारत।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥ २ ॥

भारत ! सत्यवादी शूरसेनने अपने फुफेरे भाई संतानहीन कुन्तिभोजसे पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं तुम्हें अपनी पहली संतान भेंट कर दूँगा ॥ २ ॥

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षिणे।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई। अतः कृपाकाङ्क्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोजको उनके मित्र शूरसेनने वह कन्या दे दी ॥ ३ ॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे देवतातिथिपूजने।
उग्रं पर्यचरत् तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥

पिता कुन्तिभोजके घरपर पृथाको देवताओंके पूजन और अतिथियोंके सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक समय वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्मके विषयमें अपने निश्चयको सदा गुप्त रखनेवाले एक ब्राह्मण महर्षि आये, जिन्हें लोग दुर्वासाके नामसे जानते हैं। पृथा उनकी सेवा करने लगी। वे बड़े उग्र स्वभावके थे। उनका हृदय बड़ा कठोर था; फिर भी राजकुमारी पृथाने सब प्रकारके यत्नोंसे उन्हें पूर्ण संतुष्ट कर लिया ॥ ४-५ ॥

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

दुर्वासाजीने पृथापर आनेवाले भावी संकटका विचार करके

उनके धर्मकी रक्षाके लिये उसे एक वशीकरण-मन्त्र दिया और उसके प्रयोगकी विधि भी बता दी। तत्पश्चात् वे मुनि उससे बोले—॥ ६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रसादेन पुत्रस्तव भविष्यति ॥ ७ ॥

'शुभे ! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके अनुग्रहसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ॥७॥

तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥

ब्रह्मर्षि दुर्वासाके यों कहनेपर कुन्तीके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। वह यशस्विनी राजकन्या यद्यपि अभी कुमारी थी, तो भी उसने मन्त्रकी परीक्षाके लिये सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ८ ॥

सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम्।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥

आवाहन करते ही उसने देखा, सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और पालन करनेवाले भगवान् भास्कर आ रहे हैं। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्ती चकित हो उठी ॥ ९ ॥

तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत्।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १० ॥

इधर भगवान् सूर्य उसके पास आकर इस प्रकार बोले— 'श्याम नेत्रोंवाली कुन्ती ! यह मैं आ गया। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ १० ॥

(आहूतोपस्थितं भद्रे ऋषिमन्त्रेण चोदितम्।
विद्धि मां पुत्रलाभाय देवमर्कं शुचिस्मिते ॥)

'भद्रे ! मैं दुर्वासा ऋषिके दिये हुए मन्त्रसे प्रेरित हो तुम्हारे बुलाते ही तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये उपस्थित हुआ। पवित्र मुसकानवाली कुन्ती ! तुम मुझे सूर्यदेव समझो।'

कुन्त्युवाच

कश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद् वरं विद्यां च शत्रुहन्।
तद्विजिज्ञासयाऽऽह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो ॥ ११ ॥

कुन्तीने कहा—शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रभो ! एक ब्राह्मणने मुझे वरदानके रूपमें देवताओंके आवाहनका मन्त्र प्रदान किया है। उसीकी परीक्षाके लिये मैंने आपका आवाहन किया था ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाहं प्रसादये।
योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः ॥ १२ ॥

यद्यपि मुझसे यह अपराध हुआ है, तो भी इसके लिये आपके चरणोंमें मस्तक रखकर मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि आप क्षमा-पूर्वक प्रसन्न हो जाइये। स्त्रियोंसे अपना अपराध हो जाय, तो भी श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा उनकी रक्षा ही करनी चाहिये ॥१२॥

सूर्य उवाच

वेदाहं सर्वमेवैतद् यद् दुर्वासा वरं ददौ।
संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ॥ १३ ॥

सूर्यदेव बोले— शुभे ! मैं यह सब जानता हूँ कि दुर्वासाने तुम्हें वर दिया है। तुम भय छोड़कर यहाँ मेरे साथ समागम करो ॥ १३ ॥

अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चास्मि ते शुभे।
वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नात्र संशयः ॥ १४ ॥

शुभे ! मेरा दर्शन अमोघ है और तुमने मेरा आवाहन किया है। भीरु ! यदि यह आवाहन व्यर्थ हुआ, तो भी निःसंदेह तुम्हें बड़ा दोष लगेगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता।
सा तु नैच्छद् वरारोहा कन्याहमिति भारत ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भगवान् सूर्यने कुन्तीको समझाते हुए इस तरहकी बहुत-सी बातें कहीं; किंतु मैं अभी कुमारी कन्या हूँ, यह सोचकर सुन्दरी कुन्तीने उनसे समागमकी इच्छा नहीं की ॥ १५ ॥

बन्धुपक्षभयाद् भीता लज्जया च यशस्विनी।
तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद् भरतर्षभ ॥ १६ ॥

यशस्विनी कुन्ती भाई-बन्धुओंमें बदनामी फैलनेके डरसे भी डरी हुई थी और नारीसुलभ लज्जासे भी वह विवश थी। भरतश्रेष्ठ ! उस समय सूर्यदेवने पुनः उससे कहा—॥ १६ ॥

(पुत्रस्ते निर्मितः सुभ्रु शृणु यादृक्छुभानने ॥
आदित्ये कुण्डले बिभ्रत् कवचं चैव मामकम्।
शस्त्रास्त्राणामभेद्यं च भविष्यति शुचिस्मिते ॥
न न किंचन देयं तु ब्राह्मणेभ्यो भविष्यति।
चोद्यमानो मया चापि नाक्षमं चिन्तयिष्यति।
दास्यत्येव हि विप्रेभ्यो मानी चैव भविष्यति ॥)

'सुन्दर मुख एवं सुन्दर भौंहोंवाली राजकुमारी ! तुम्हारे लिये जैसे पुत्रका निर्माण होगा, वह सुनो— शुचिस्मिते ! वह माता अदितिके दिये हुए दिव्य कुण्डलों और मेरे कवचको धारण किये हुए उत्पन्न होगा। उसका वह कवच किन्हीं अस्त्र-शस्त्रोंसे टूट न सकेगा। उसके पास कोई भी वस्तु ब्राह्मणोंके लिये अदेय न होगी। मेरे कहनेपर भी वह कभी अयोग्य कार्य या विचारको अपने मनमें स्थान न देगा। ब्राह्मणोंके याचना करनेपर वह उन्हें सब प्रकारकी वस्तुएँ देगा ही। साथ ही वह बड़ा स्वाभिमानी होगा॥

मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत।
एवमुक्त्वा स भगवान् कुन्तिराजसुतां तदा ॥ १७ ॥
प्रकाशकर्ता तपनः सम्बभूव तया सह।
तत्र वीरः समभवत् सर्वशस्त्रभृतां वरः।
आमुक्तकवचः श्रीमान् देवगर्भः श्रियान्वितः ॥ १८ ॥

'रानी ! मेरी कृपासे तुम्हें दोष भी नहीं लगेगा।' कुन्तिराजकुमारी कुन्तीसे यों कहकर प्रकाश और गरमी उत्पन्न करनेवाले भगवान् सूर्यने उसके साथ समागम किया। इससे उसी समय एक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने जन्मसे ही कवच पहन रक्खा था और वह देवकुमारके समान तेजस्वी तथा शोभासम्पन्न था ॥ १७-१८ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥

जन्मके साथ ही कवच धारण किये उस बालकका मुख जन्मजात कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था। इस प्रकार कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सब लोकोंमें विख्यात है ॥ १९ ॥

प्रादाच्च कस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः।
दत्त्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ २० ॥

उत्तम प्रकाशवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीको पुनः कन्यात्व प्रदान किया। तत्पश्चात् तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्य देवलोकमें चले गये ॥ २० ॥

दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २१ ॥

उस नवजात कुमारको देखकर वृष्णिवंशकी कन्या कुन्तीके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ। उसने एकाग्रचित्तसे विचार किया कि अब क्या करनेसे अच्छा परिणाम निकलेगा ॥

गूहमानापचारं सा बन्धुपक्षभयात् तदा।
उत्ससर्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम् ॥ २२ ॥

उस समय कुटुम्बीजनोंके भयसे अपने उस अनुचित कृत्यको छिपाती हुई कुन्तीने महाबली कुमार कर्णको जलमें छोड़ दिया ॥ २२ ॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ २३ ॥

जलमें छोड़े हुए उस नवजात शिशुको महायशस्वी सूतपुत्र अधिरथने, जिसकी पत्नीका नाम राधा था, ले लिया। उसने और उसकी पत्नीने उस बालकको अपना पुत्र बना लिया ॥

नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ २४ ॥

उन दम्पतिने उस बालकका नामकरण इस प्रकार किया; यह वसु (कवच-कुण्डलादि धन) के साथ उत्पन्न हुआ है, इसलिये वसुषेण नामसे प्रसिद्ध हो ॥ २४ ॥

स वर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत्।
आ पृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठत वीर्यवान् ॥ २५ ॥

वह बलवान् बालक बड़े होनेके साथ ही सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें निपुण हुआ। पराक्रमी कर्ण प्रातःकालसे लेकर जबतक सूर्य पृष्ठभागकी ओर न चले जाते, सूर्योपस्थान करता रहता था ॥ २५ ॥

तस्मिन् काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् किंचिद् वसु महीतले ॥ २६ ॥

उस समय मन्त्र-जपमें लगे हुए बुद्धिमान् वीर कर्णके लिये इस पृथ्वीपर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे सके ॥ २६ ॥

(ततः काले तु कस्मिंश्चित् स्वप्नान्ते कर्णमब्रवीत्।
आदित्यो ब्राह्मणो भूत्वा शृणु वीर वचो मम ॥
प्रभातायां रजन्यां त्वमागमिष्यति वासवः।
न तस्य भिक्षा दातव्या विप्ररूपी भविष्यति ॥
निश्चयोऽस्यापहर्तुं ते कवचं कुण्डले तथा।
अतस्त्वां बोधयाम्येष स्मर्तासि वचनं मम ॥

किसी समयकी बात है, सूर्यदेवने ब्राह्मणका रूप धारण करके कर्णको स्वप्नमें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'वीर ! मेरी बात सुनो—आजकी रात बीत जानेपर सवेरा होते ही इन्द्र तुम्हारे पास आयेंगे। उस समय वे ब्राह्मण-वेषमें होंगे। यहाँ आकर इन्द्र यदि तुमसे भिक्षा माँगे तो उन्हें देना मत। उन्होंने तुम्हारे कवच और कुण्डलोंका अपहरण करनेका निश्चय किया है। अतः मैं तुम्हें सचेत किये देता हूँ। तुम मेरी यह बात याद रखना ॥'

कर्ण उवाच

शक्रो मां विप्ररूपेण यदि वै याचते द्विज।
कथं चास्मै न दास्यामि यथा चास्म्यवबोधितः ॥
विप्राः पूज्यास्तु देवानां सततं प्रियमिच्छताम्।
तं देवदेवं जानन् वै न शक्नोम्यवमन्त्रणे ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! इन्द्र यदि ब्राह्मणका रूप धारण करके सचमुच मुझसे याचना करेंगे, तो मैं आपकी चेतावनीके अनुसार कैसे उन्हें वह वस्तु नहीं दूँगा। ब्राह्मण तो सदा अपना प्रिय चाहनेवाले देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। देवाधिदेव इन्द्र ही ब्राह्मणरूपमें आये हैं, यह जान लेनेपर भी मैं उनकी अवहेलना नहीं कर सकूँगा ॥

सूर्य उवाच

यद्येवं शृणु मे वीर वरं ते सोऽपि दास्यति।
शक्तिं त्वमपि याचेथाः सर्वशत्रुविबाधिनीम् ॥

सूर्य बोले—वीर ! यदि ऐसी बात है तो सुनो, बदलेमें इन्द्र भी तुम्हें वर देंगे। उस समय तुम उनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका निराकरण करनेवाली बरछी माँग लेना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजः स्वप्ने तत्रैवान्तरधीयत।
कर्णः प्रबुद्धस्तं स्वप्नं चिन्तयानोऽभवत् तदा ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—स्वप्नमें यों कहकर

ब्राह्मण-वेषधारी सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये। तब कर्ण जाग गया और स्वप्नकी बातोंका चिन्तन करने लगा ॥'

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत्।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् एक दिन महातेजस्वी देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर भिक्षाके लिये कर्णके पास आये और उससे उन्होंने कवच और कुण्डलोंको माँगा ॥ २७ ॥

स्वशरीरात् समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम्।
कर्णस्तु कुण्डले छित्त्वा प्रायच्छत् स कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥

तब कर्णने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रको अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवचको शरीरसे उधेड़कर एवं दोनों कुण्डलोंको भी काटकर दे दिया ॥ २८ ॥

प्रतिगृह्य तु देवेशस्तुष्टस्तेनास्य कर्मणा।
(अहो साहसमित्येवं मनसा वासवो हसन्।

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ॥
न तं पश्यामि को ह्येतत् कर्म कर्ता भविष्यति।
प्रीतोऽस्मि कर्मणा तेन वरं वृणु यमिच्छसि ॥

कवच और कुण्डलोंको लेकर उसके इस कर्मसे संतुष्ट हो इन्द्रने मन-ही-मन हँसते हुए कहा—'अहो! यह तो बड़े साहसका काम है। देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीको भी मैं ऐसा साहसी नहीं देखता। भला, कौन ऐसा कार्य कर सकता है।' यों कहकर वे स्पष्ट वाणीमें बोले—'वीर! मैं तुम्हारे इस कर्मसे प्रसन्न हूँ, इसलिये तुम जो चाहो, वही वर मुझसे माँग लो ॥'

कर्ण उवाच

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रुनिबर्हणीम्।

कर्णने कहा—भगवन्! मैं आपकी दी हुई वह अमोघ बरछी चाहता हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है ॥

वैशम्पायन उवाच)

ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब देवराज इन्द्रने बदलेमें उसे अपनी ओरसे एक बरछी प्रदान की और कहा—॥ २९ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति ॥ ३० ॥

'वीरवर! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षसोंमेंसे जिस एकको जीतना चाहोगे, वही इस शक्तिके प्रहारसे नष्ट हो जायगा' ॥ ३० ॥

प्राङ्नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ ३१ ॥

पहले इस पृथ्वीपर उसका नाम वसुषेण कहा जाता था। तत्पश्चात् अपने शरीरसे कवचको कतर डालनेके कारण वह कर्ण और वैकर्तननामसे भी प्रसिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णसम्भवे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं।)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीद्वारा स्वयंवरमें पाण्डुका वरण और उनके साथ विवाह

वैशम्पायन उवाच

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा कुन्तिभोजकी पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी। वह एकमात्र धर्ममें ही रत रहनेवाली और महान् व्रतोंका पालन करनेवाली थी ॥ १ ॥

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम्।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥

स्त्रीजनोचित सर्वोत्तम गुण अधिक मात्रामें प्रकट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। मनोहर रूप तथा युवावस्थासे सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्याके लिये कई राजाओंने महाराज कुन्तिभोजसे याचना की ॥ २ ॥

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान्।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥ ३ ॥

राजेन्द्र! तब कन्याके पिता राजा कुन्तिभोजने उन सब राजाओंको बुलाकर अपनी पुत्री पृथाको स्वयंवरमें उपस्थित किया ॥ ३ ॥

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥ ४ ॥

मनस्विनी कुन्तीने सब राजाओंके बीच रङ्गमञ्चपर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डुको देखा ॥ ४ ॥

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम्।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥ ५ ॥

उनमें सिंहके समान अभिमान जाग रहा था। उनकी छाती बहुत चौड़ी थी। उनके नेत्र बैलकी आँखोंके समान बड़े-बड़े थे। उनका बल महान् था। वे सब राजाओंकी

प्रभाको अपने तेजसे आच्छादित करके भगवान् सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५ ॥

तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवापरम् ।
तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ॥ ६ ॥
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ।
ततः कामपरीताङ्गी सकृत् प्रचलमानसा ॥ ७ ॥

उस राजसमाजमें वे द्वितीय इन्द्रके समान विराजमान थे। निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवरकी रंगभूमिमें नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर मन-ही-मन उन्हें पानेके लिये व्याकुल हो उठी। उसके सब अङ्ग कामसे व्याप्त हो गये और चित्त एकबारगी चञ्चल हो उठा ॥ ६-७ ॥

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत् ।
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ॥ ८ ॥
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ॥ ९ ॥

कुन्तीने लजाते-लजाते राजा पाण्डुके गलेमें जयमाल डाल दी। सब राजाओंने जब सुना कि कुन्तीने महाराज पाण्डुका वरण कर लिया, तब वे हाथी, घोड़े एवं रथों आदि वाहनोंद्वारा जैसे आये थे, वैसे ही अपने-अपने स्थानको लौट गये। राजन्! तब उसके पिताने (पाण्डुके साथ शास्त्रविधिके अनुसार) कुन्तीका विवाह कर दिया ॥ ८-९ ॥

स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः ।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ॥ १० ॥

अनन्त सौभाग्यशाली कुरुनन्दन पाण्डु कुन्तिभोज-कुमारी कुन्तीसे संयुक्त हो शचीके साथ इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ १० ॥

कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ।
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ ११ ॥
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ॥ १२ ॥
सम्प्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोजने कुन्ती और पाण्डुका विवाहसंस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकारके धन और रत्नोंद्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् पाण्डुको उनकी राजधानीमें भेज दिया। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! तब कौरवनन्दन राजा पाण्डु नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित विशाल सेनाके साथ चले। उस समय बहुत-से ब्राह्मण एवं महर्षि आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति करवाते थे। हस्तिनापुरमें आकर उन शक्तिशाली नरेशने अपनी प्यारी पत्नी कुन्तीको राजमहलमें पहुँचा दिया ॥ ११-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीविवाहे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीविवाहविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

माद्रीके साथ पाण्डुका विवाह तथा राजा पाण्डुकी दिग्विजय

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजीने यशस्वी राजा पाण्डुके द्वितीय विवाहके लिये विचार किया ॥ १ ॥

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वे बूढ़े मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों तथा चतुरङ्गिणी सेनाके साथ मद्रराजकी राजधानीमें गये ॥ २ ॥

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥

बाह्लीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजीका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये नगरसे बाहर आये और यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानीके भीतर ले गये ॥ ३ ॥

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ४ ॥

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पण करके मद्रराजने भीष्मजीसे उनके आगमनका प्रयोजन पूछा ॥ ४ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥ ५ ॥

तब कुरुकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजीने मद्रराजसे इस प्रकार कहा—'शत्रुदमन ! तुम मुझे कन्याके लिये आया हुआ समझो ॥ ५ ॥

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥ ६ ॥

'सुना है, तुम्हारी एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभावकी है; उसका नाम माद्री है। मैं उस यशस्विनी माद्रीका अपने पाण्डुके लिये वरण करता हूँ ॥ ६ ॥

युक्तरूपो हि सम्बन्धे त्वं नो राजन् वयं तव।
एतत् संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान् यथाविधि ॥ ७ ॥

'राजन् ! तुम हमारे यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हो और हम भी तुम्हारे योग्य हैं। मद्रेश्वर ! यों विचारकर तुम हमें विधिपूर्वक अपनाओ' ॥ ७ ॥

तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ॥ ८ ॥

भीष्मजीके यों कहनेपर मद्रराजने उत्तर दिया—'मेरा विश्वास है कि आपलोगोंसे श्रेष्ठ वर मुझे ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलेगा ॥ ८ ॥

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ॥ ९ ॥

'परंतु इस कुलमें पहलेके श्रेष्ठ राजाओंने कुछ शुल्क लेनेका नियम चला दिया है। वह अच्छा हो या बुरा, मैं उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

व्यक्तं तद् भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान् देहीति सत्तम ॥ १० ॥

'यह बात सबपर प्रकट है, निस्संदेह आप भी इसे जानते होंगे। साधुशिरोमणे ! इस दशामें आपके लिये यह कहना उचित नहीं है कि मुझे कन्या दे दो ॥ १० ॥

कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत्।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन् ॥ ११ ॥

'वीर ! वह हमारा कुलधर्म है और हमारे लिये वही परम प्रमाण है। शत्रुदमन ! इसीलिये मैं आपसे निश्चितरूपसे यह नहीं कह पाता कि कन्या दे दूँगा' ॥ ११ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः।
धर्म एष परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

यह सुनकर जनेश्वर भीष्मजीने मद्रराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजन् ! यह उत्तम धर्म है। स्वयं स्वयम्भू ब्रह्माजीने इसे धर्म कहा है ॥ १२ ॥

नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः।
विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता ॥ १३ ॥

'यदि तुम्हारे पूर्वजोंने इस विधिको स्वीकार कर लिया है तो इसमें कोई दोष नहीं है। शल्य ! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम्हारी यह कुलमर्यादा हम सबको विदित है' ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम्।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात् सहस्रशः ॥ १४ ॥
गजानश्वान् रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम् ॥ १५ ॥

यह कहकर महातेजस्वी भीष्मजीने राजा शल्यको सोना और उसके बने हुए आभूषण तथा सहस्रों विचित्र प्रकारके रत्न भेंट किये। बहुत-से हाथी, घोड़े, रथ, वस्त्र, अलंकार तथा मणि-मोती और मूँगे भी दिये ॥

तत् प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः सम्प्रीतमानसः।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ १६ ॥

वह सारा धन लेकर शल्यका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपनी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके राजा पाण्डुके लिये कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीको सौंप दिया ॥ १६ ॥

स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः।
आजगाम पुरीं धीमान् प्रविष्टो गजसाह्वयम् ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् गङ्गानन्दन भीष्म माद्रीको लेकर हस्तिनापुरमें आये ॥ १७ ॥

तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसम्मते।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः॥ १८॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा अनुमोदित शुभ दिन और सुन्दर मुहूर्त आनेपर राजा पाण्डुने माद्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ १८ ॥

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर कुरुनन्दन राजा पाण्डुने अपनी कल्याणमयी भार्याको सुन्दर महलमें ठहराया ॥

स ताभ्यां व्यचरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम्॥२०॥

राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्रीके साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे॥

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ॥ २१ ॥

जनमेजय ! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियोंतक विहार करके समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा लेकर राजधानीसे बाहर निकले ॥ २१ ॥

स भीष्मप्रमुखान् वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान् कुरुसत्तमान्।
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाप्यनुमोदितः ॥ २२ ॥
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनन्दितः ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमत् ॥ २३ ॥

उन्होंने भीष्म आदि बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया। कुरुनन्दन धृतराष्ट्र तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंको प्रणाम करके उन सबकी आज्ञा ली और उनका अनुमोदन मिलनेपर मङ्गलाचारयुक्त आशीर्वादोंसे अभिनन्दित हो हाथी, घोड़ों तथा रथसमुदायसे युक्त विशाल सेनाके साथ प्रस्थान किया॥

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुंधराम्।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥ २४ ॥

राजा पाण्डु देवकुमारके समान तेजस्वी थे। उन्होंने इस पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छासे हृष्ट-पुष्ट सैनिकोंके साथ अनेक शत्रुओंपर धावा किया ॥ २४ ॥

पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ २५ ॥

कौरवकुलके सुयशको बढ़ानेवाले, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी राजा पाण्डुने सबसे पहले पूर्वके अपराधी दशार्णोंपर[1] धावा करके उन्हें युद्धमें परास्त किया ॥ २५ ॥

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम्।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ॥ २६ ॥
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् वे नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और बहुसंख्यक हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदलोंसे भरी हुई भारी सेना लेकर मगधदेशमें गये । वहाँ राजगृहमें अनेक राजाओंका अपराधी बलाभिमानी मगधराज दीर्घ उनके हाथसे मारा गया ॥ २६-२७ ॥

ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः॥ २८ ॥

उसके बाद भारी खजाना और वाहन आदि लेकर पाण्डुने मिथिलापर चढ़ाई की और विदेहवंशी क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया ॥ २८ ॥

तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद् यशः ॥ २९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार वे पाण्डु काशी, सुह्म तथा पुण्ड्र देशोंपर विजय पाते हुए अपने बाहुबल और पराक्रमसे कुरुकुलके यशका विस्तार करने लगे ॥ २९ ॥

तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम्।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ॥ ३० ॥

उस समय शत्रुदमन राजा पाण्डु प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित थे। बाणोंका समुदाय उनकी बढ़ती हुई ज्वालाके समान जान पड़ता था। खड्ग आदि शस्त्र लपटोंके समान प्रतीत होते थे। उनके पास आकर बहुत-से राजा भस्म हो गये ॥ ३० ॥

ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला नृपाः।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ॥ ३१ ॥

सेनासहित राजा पाण्डुने सामने आये हुए सैन्यसहित नरपतियोंकी सारी सेनाएँ नष्ट कर दीं और उन्हें अपने अधीन करके कौरवोंके आज्ञापालनमें नियुक्त कर दिया ॥३१॥

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरंदरम् ॥ ३२ ॥

पाण्डुके द्वारा परास्त हुए समस्त भूपालगण देवताओंमें इन्द्रकी भाँति इस पृथ्वीपर सब मनुष्योंमें एकमात्र उन्हींको शूरवीर मानने लगे ॥ ३२ ॥

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥ ३३ ॥

भूतलके समस्त राजाओंने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक टेक दिये और नाना प्रकारके रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये ॥ ३३ ॥

मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ॥ ३४ ॥
खरोष्ट्रमहिषींश्चैव यच्च किंचिदजाविकम्।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च।
तत् सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ ३५ ॥

राजाओंके दिये हुए ढेर-के-ढेर मणि, मोती, मूँगे, सुवर्ण, चाँदी, गोरत्न, अश्वरत्न, रथरत्न, हाथी, गदहे, ऊँट भैंसें, बकरे, भेड़ें, कम्बल, मृगचर्म, रत्न, रङ्कु मृगके चर्मसे बने हुए बिछौने आदि जो कुछ भी सामान प्राप्त हुए, उन सबको हस्तिनापुराधीश राजा पाण्डुने ग्रहण कर लिया ॥३४–३५॥

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ ३६ ॥

वह सब लेकर महाराज पाण्डु अपने राष्ट्रके लोगोंका

१. विन्ध्यपर्वतके पूर्व-दक्षिणकी ओर स्थित उस प्रदेशका प्राचीन नाम दशार्ण है, जिससे होकर धसान नदी बहती है। विदिशा (आधुनिक भिलसा) इसी प्रदेशकी राजधानी थी।

हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर चले आये । उस समय उनकी सवारीके अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे ॥ ३६ ॥

शन्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥ ३७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी शन्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरतकी कीर्ति-कथा जो नष्ट-सी हो गयी थी, उसे महाराज पाण्डुने पुनरुज्जीवित कर दिया ॥ ३७ ॥

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥ ३८ ॥

जिन राजाओंने पहले कुरुदेशके धन तथा कुरुराष्ट्रका अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुरके सिंह पाण्डुने करद बना दिया ॥ ३८ ॥

इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ ३९ ॥

बहुत-से राजा तथा राजमन्त्री एकत्र होकर इस तरहकी बातें कर रहे थे। उनके साथ नगर और जनपदके लोग भी इस चर्चामें सम्मिलित थे। उन सबके हृदयमें पाण्डुके प्रति विश्वास तथा हर्षोल्लास छा रहा था ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते नदूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥ ४० ॥
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥ ४१ ॥
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ ४२ ॥

राजा पाण्डु जब नगरके निकट आये, तब भीष्म आदि सब कौरव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक देखा, राजा पाण्डु और उनका दल बड़े उत्साहके साथ आ रहे हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे लोग हस्तिनापुरसे थोड़ी ही दूरतक जाकर वहाँसे लौट रहे हों। उनके साथ भाँति-भाँतिके धन, एवं नाना प्रकारके वाहनोंपर लादकर लाये हुए छोटे-बड़े रत्न, श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, रथ, गौएँ, ऊँट तथा भेड़ आदि भी थे। भीष्मके साथ कौरवोंने वहाँ जाकर देखा, तो उस धन-वैभवका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ ४०—४२ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ ४३ ॥

कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डुने निकट आकर पितृव्य भीष्मके चरणोंमें प्रणाम किया और नगर तथा जनपदके लोगोंका भी यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४३ ॥

प्रमृद्य परराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४४ ॥

शत्रुओंके राज्योंको धूलमें मिलाकर कृतकृत्य होकर लौटे हुए अपने पुत्र पाण्डुका आलिङ्गन करके भीष्मजी हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ ४४ ॥

स तूर्यशतशङ्खानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन् सर्वशः पौरान् विवेश गजसाह्वयम् ॥ ४५ ॥

सैकड़ों शङ्ख, तुरही एवं नगारोंकी तुमुल ध्वनिसे समस्त पुरवासियोंको आनन्दित करते हुए पाण्डुने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुदिग्विजयविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुका पत्नियोंसहित वनमें निवास तथा विदुरका विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बड़े भाई धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर राजा पाण्डुने अपने बाहुबलसे जीते हुए धनको भीष्म, सत्यवती तथा माता अम्बिका और अम्बालिकाको भेंट किया ॥ १ ॥

विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद् धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥

उन्होंने विदुरजीके लिये भी वह धन भेजा। धर्मात्मा पाण्डुने अन्य सुहृदोंको भी उस धनसे तृप्त किया ॥ २ ॥

ततः सत्यवती भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम्।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥
ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥

भारत! तत्पश्चात् सत्यवतीने पाण्डुद्वारा जीतकर लाये हुए शुभ धनके द्वारा भीष्म और यशस्विनी कौसल्याको[1] भी संतुष्ट किया। माता कौसल्याने अनुपम तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुको उसी प्रकार हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया, जैसे शची अपने पुत्र जयन्तका अभिनन्दन करती हैं ॥ ३—४ ॥

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥

वीरवर पाण्डुके पराक्रमसे धृतराष्ट्रने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञमें एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी ॥ ५ ॥

१, काशिराज कोसलकी कन्या होनेसे अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही कौसल्या कहलाती थीं ।

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा पाण्डुने आलस्यको जीत लिया था । वे कुन्ती और माद्रीकी प्रेरणासे राजमहलोंका निवास और सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वनमें रहने लगे । पाण्डु सदा वनमें रहकर शिकार खेला करते थे ॥ ६-७ ॥

स चरन् दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥

वे हिमालयके दक्षिण भागकी रमणीय भूमिमें विचरते हुए पर्वतके शिखरोंपर तथा ऊँचे शालवृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें निवास करते थे ॥ ८ ॥

रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान् पौरंदरो गजः ॥ ९ ॥

कुन्ती और माद्रीके साथ वनमें विचरते हुए महाराज पाण्डु दो हथिनियोंके बीचमें स्थित ऐरावत हाथीकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ९ ॥

भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ १० ॥

तलवार, बाण, धनुष और विचित्र कवच धारण करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ भ्रमण करनेवाले महान् अस्त्रवेत्ता भरतवंशी राजा पाण्डुको देखकर वनवासी मनुष्य यह समझते थे कि ये कोई देवता हैं ॥ १० ॥

तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपाजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रेरित हो बहुत-से मनुष्य आलस्य छोड़कर वनमें महाराज पाण्डुके लिये इच्छानुसार भोगसामग्री पहुँचाया करते थे ॥ ११ ॥

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥ १२ ॥

एक समय गङ्गानन्दन भीष्मजीने सुना कि राजा देवकके यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न की गयी है । वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न है ॥ १२ ॥

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १३ ॥

तब इन भरतश्रेष्ठने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ ले आकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजीका विवाह कर दिया ॥ १३ ॥

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन विदुरने उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विदुरपरिणये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विदुरविवाहविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके गान्धारीसे एक सौ पुत्र तथा एक कन्याकी तथा सेवा करनेवाली वैश्यजातीय युवतीसे युयुत्सु नामक एक पुत्रकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रके उनकी पत्नी गान्धारीके गर्भसे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए । धृतराष्ट्रकी एक दूसरी पत्नी वैश्यजातिकी कन्या थी । उससे भी एक पुत्रका जन्म हुआ । यह पूर्वोक्त सौ पुत्रोंसे भिन्न था ॥ १ ॥

पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त संतानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥

पाण्डुके कुन्ती और माद्रीके गर्भसे पाँच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब कुरुकुलकी संतानपरम्पराकी रक्षाके लिये देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! गान्धारीके सौ पुत्र किस प्रकार और कितने समयमें उत्पन्न हुए ? और उन सबकी पूरी आयु कितनी थी ? ॥ ३ ॥

कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ ४ ॥

आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत।
कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना ॥ ५ ॥
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः।
एतद् विद्वन् यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ॥ ६ ॥
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु।

वैश्यजातीय स्त्रीके गर्भसे धृतराष्ट्रका वह एक पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ? राजा धृतराष्ट्र सदा अपने अनुकूल चलनेवाली योग्य पत्नी धर्मपरायणा गान्धारीके साथ कैसा बर्ताव करते थे? महात्मा मुनिद्वारा शापको प्राप्त हुए राजा पाण्डुके वे पाँचों महारथी पुत्र देवताओंके अंशसे कैसे उत्पन्न हुए? विद्वान् तपोधन! ये सब बातें यथोचित रूपसे विस्तारपूर्वक कहिये। अपने बन्धुजनोंकी यह चर्चा सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ४—६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ॥ ७ ॥
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ।
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! एक समयकी बात है, महर्षि व्यास भूख और परिश्रमसे खिन्न होकर धृतराष्ट्रके यहाँ आये। उस समय गान्धारीने भोजन और विश्रामकी व्यवस्थाद्वारा उन्हें

संतुष्ट किया। तब व्यासजीने गान्धारीको वर देनेकी इच्छा प्रकट की। गान्धारीने अपने पतिके समान ही सौ पुत्र माँगे ।७-८।

ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्राद्‌थाग्रहीत्।
संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ॥ ९ ॥
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत्।
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ॥ १० ॥

तदनन्तर समयानुसार गान्धारीने धृतराष्ट्रसे गर्भ धारण किया। दो वर्ष व्यतीत हो गये, तबतक गान्धारी उस गर्भको धारण किये रही। फिर भी प्रसव नहीं हुआ। इसी बीचमें गान्धारीने जब यह सुना कि कुन्तीके गर्भसे प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ ॥ ९-१० ॥

उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत्।
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ॥ ११ ॥
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता।
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ॥ १२ ॥

उसे अपने उदरकी स्थिरतापर बड़ी चिन्ता हुई। गान्धारी दुःखसे मूर्च्छित हो रही थी। उसने धृतराष्ट्रकी अनजानमें ही महान् प्रयत्न करके अपने उदरपर आघात किया। तब उसके गर्भसे एक मांसका पिण्ड प्रकट हुआ, जो लोहेके पिण्डके समान कड़ा था ॥ ११-१२ ॥

द्विवर्षसम्भृता कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे।
अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ॥ १३ ॥

उसने दो वर्षोंतक उसे पेटमें धारण किया था, तो भी उसने उसे इतना कड़ा देखकर फेंक देनेका विचार किया। इधर यह बात महर्षि व्यासको मालूम हुई। तब वे बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ १३ ॥

तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः।
ततोऽब्रवीत् सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासजीने उस मांसपिण्डको देखा और गान्धारीसे पूछा 'तुम इसका क्या करना चाहती थीं?' । १४।

सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये।

और उसने महर्षिको अपने मनकी बात सच-सच बता दी।

गान्धार्युवाच

ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ॥ १५ ॥
दुःखेन परमेणेदमुदरं घातितं मया।
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ॥ १६ ॥
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै।

गन्धारीने कहा—मुने! मैंने सुना है, कुन्तीके एक ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो सूर्यके समान तेजस्वी है। यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखके कारण मैंने अपने उदरपर आघात करके गर्भ गिराया है। आपने पहले मुझे ही सौ पुत्र होनेका वरदान दिया था; परंतु आज इतने दिनों बाद मेरे गर्भसे सौ पुत्रोंकी जगह यह मांसपिण्ड पैदा हुआ है ॥ १५-१६½ ॥

व्यास उवाच

एवमेतत् सौबलेयि नैतज्ज्ञात्वन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

व्यासजीने कहा—सुबलकुमारी ! यह सब मेरे वरदानके अनुसार ही हो रहा है; वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ॥ १८ ॥

मैंने कभी हास-परिहासके समय भी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है । फिर वरदान आदि अन्य अवसरोंपर कही हुई मेरी बात झूठी कैसे हो सकती है । तुम शीघ्र ही सौ मटके (कुण्ड) तैयार कराओ और उन्हें घीसे भरवा दो ॥ १८ ॥

सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम् ।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषेचय ॥ १९ ॥

फिर अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रखकर उनकी रक्षाकी भी पूरी व्यवस्था करो । इस मांसपिण्डको ठंडे जलसे सींचो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा ।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय सींचे जानेपर उस मांसपिण्डके सौ टुकड़े हो गये । वे अलग-अलग अँगूठेके पोरुवे बराबर सौ गर्भोंके रूपमें परिणत हो गये ॥ २० ॥

एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशाम्पते ।
मांसपेश्यास्तदा राजन् क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २१ ॥

राजन् ! कालके परिवर्तनसे क्रमशः उस मांसपिण्डके यथायोग्य पूरे एक सौ एक भाग हुए ॥ २१ ॥

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा ।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात् ततः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् गान्धारीने उन सभी गर्भोंको उन पूर्वोक्त कुण्डोंमें रक्खा । वे सभी कुण्ड अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रक्खे हुए थे । उनकी रक्षाकी ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी गयी ॥ २२ ॥

शशंस चैव भगवान् कालेनैतावता पुनः ।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम् ॥ २३ ॥

तब भगवान् व्यासने गान्धारीसे कहा—'इतने ही दिन अर्थात् पूरे दो वर्षोंतक प्रतीक्षा करनेके बाद इन कुण्डोंका ढक्कन खोल देना चाहिये' ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च ।
जगाम तपसे धीमान् हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २४ ॥

यों कहकर और पूर्वोक्त प्रकारसे रक्षाकी व्यवस्था कराकर परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास हिमालय पर्वतपर तपस्याके लिये चले गये ॥ २४ ॥

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

तदनन्तर दो वर्ष बीतनेपर जिस क्रमसे वे गर्भ उन कुण्डोंमें स्थापित किये गये थे, उसी क्रमसे उनमें सबसे पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ । जन्मकालके प्रमाणसे राजा युधिष्ठिर उससे भी ज्येष्ठ थे ॥ २५ ॥

तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते ।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ॥ २६ ॥
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान् ।
स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ॥ २७ ॥
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ॥ २८ ॥

दुर्योधनके जन्मका समाचार परम बुद्धिमान् भीष्म तथा विदुरजीको बताया गया । जिस दिन दुर्धर्ष वीर दुर्योधनका जन्म हुआ, उसी दिन परम पराक्रमी महाबाहु भीमसेन भी उत्पन्न हुए । राजन् ! धृतराष्ट्रका वह पुत्र जन्म लेते ही गदहेके रेंकनेकी-सी आवाजमें रोने-चिल्लाने लगा । उसकी आवाज सुनकर बदलेमें दूसरे गदहे भी रेंकने लगे । गीध, गीदड़ और कौए भी कोलाहल करने लगे ॥ २६–२८ ॥

वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत् तदा ।
ततस्तु भीतवद् राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २९ ॥
समानीय बहून् विप्रान् भीष्मं विदुरमेव च ।
अन्यांश्च सुहृदो राजन् कुरून् सर्वांस्तथैव च ॥ ३० ॥

बड़े जोरकी आँधी चलने लगी । सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा होने लगा । राजन् ! तब राजा धृतराष्ट्र भयभीत-से हो उठे और बहुत-से ब्राह्मणोंको, भीष्मजी और विदुरजीको, दूसरे-दूसरे सुहृदों तथा समस्त कुरुवंशियोंको अपने समीप बुलवाकर उन-से इस प्रकार बोले—॥ २९–३० ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः ।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन् वाच्यमस्ति नः ॥ ३१ ॥

'आदरणीय गुरुजनो ! हमारे कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजकुमार युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं । वे अपने गुणोंसे राज्यको पानेके अधिकारी हो चुके हैं । उनके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना है ॥ ३१ ॥

अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
एतद् विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

'किंतु उनके बाद मेरा यह पुत्र ही ज्येष्ठ है । क्या यह भी राजा बन सकेगा ? इस बातपर विचार करके आपलोग ठीक-ठीक बतायें । जो बात अवश्य होनेवाली है, उसे स्पष्ट कहें' ॥ ३२ ॥

वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत।
क्रव्यादाः प्राणदन् घोराः शिवाश्चाशिवशंसिनः॥ ३३ ॥

जनमेजय ! धृतराष्ट्रकी यह बात समाप्त होते ही चारों दिशाओंमें भयंकर मांसाहारी जीव गर्जना करने लगे। गीदड़ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगे ॥ ३३ ॥

लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः।
तेऽब्रुवन् ब्राह्मणा राजन् विदुरश्च महामतिः॥ ३४ ॥
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप।
उत्थितानि सुतो जाते ज्येष्ठे ते पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ॥ ३६ ॥

राजन् ! सब ओर होनेवाले उन भयानक अपशकुनोंको लक्ष्य करके ब्राह्मणलोग तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! आपके ज्येष्ठ पुत्रके जन्म लेनेपर जिस प्रकार ये भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि आपका यह पुत्र समूचे कुलका संहार करनेवाला होगा। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो सब विघ्नोंकी शान्ति हो जायगी और यदि इसकी रक्षा की गयी तो आगे चलकर बड़ा भारी उपद्रव खड़ा होगा ॥ ३४–३६ ॥

शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत् कुलस्येच्छसि भारत ॥ ३७ ॥

'महीपते ! आपके निन्यानबे पुत्र ही रहें; भारत ! यदि आप अपने कुलकी शान्ति चाहते हैं तो इस एक पुत्रको त्याग दें॥ ३७॥

एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा।
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥ ३८ ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।
स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ ३९ ॥
न चकार यथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः।
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ॥ ४० ॥

'केवल एक पुत्रके त्यागद्वारा इस सम्पूर्ण कुलका तथा समस्त जगत्का कल्याण कीजिये। नीति कहती है कि समूचे कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशके हितके लिये एक गाँवका परित्याग कर दे और आत्माके कल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे।' विदुर तथा उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके यों कहनेपर भी पुत्रस्नेहके बन्धनमें बँधे हुए राजा धृतराष्ट्रने वैसा नहीं किया। जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके पूरे सौ पुत्र हुए ॥ ३८-४० ॥

मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका।
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ॥ ४१ ॥
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल।
तस्मिन् संवत्सरे राजन् धृतराष्ट्रान्महायशाः ॥ ४२ ॥
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप।
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ ४३ ॥
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका।
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर एक ही मासमें गान्धारीसे एक कन्या उत्पन्न हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। जिन दिनों गर्भ धारण करनेके कारण गान्धारीका पेट बढ़ गया था और वह क्लेशमें पड़ी रहती थी, उन दिनों महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें एक वैश्यजातीय स्त्री रहती थी। राजन् ! उस वर्ष धृतराष्ट्रके अंशसे उस वैश्यजातीय भार्याके द्वारा महायशस्वी बुद्धिमान् युयुत्सुका जन्म हुआ। जनमेजय ! युयुत्सु करण कहे जाते थे। इस प्रकार बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके एक सौ वीर महारथी पुत्र हुए। तत्पश्चात् एक कन्या हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। इन सबके सिवा महातेजस्वी परम प्रतापी वैश्यापुत्र युयुत्सु भी थे ॥ ४१–४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि गान्धारीपुत्रोत्पत्तौ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें गान्धारीपुत्रोत्पत्तिविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

दुःशलाके जन्मकी कथा

जनमेजय उवाच

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया।
ऋषेः प्रसादात् तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महर्षि व्यासके प्रसादसे धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए, यह बात आपने मुझे पहले ही बता दी थी। परंतु उस समय यह नहीं कहा था कि उन्हें एक कन्या भी हुई ॥ १ ॥

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका।
गान्धारराजदुहिता शतपुत्रेति चानघ ॥ २ ॥
उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनामिततेजसा।
कथं त्विदानीं भगवन् कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ॥ ३ ॥

अनघ ! इस समय आपने वैश्यापुत्र युयुत्सु तथा सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक कन्याकी भी चर्चा की है। अमिततेजस्वी महर्षि व्यासने गान्धारराजकुमारीको सौ पुत्र होनेका ही वरदान दिया था। भगवन् ! फिर आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि एक कन्या भी हुई ॥ २-३ ॥

यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा।
न प्रजास्यति चेद् भूयः सौबलेयी कथंचन ॥ ४ ॥
कथं तु सम्भवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम् ॥ ५ ॥

यदि महर्षिने उक्त मांसपिण्डके सौ भाग किये और यदि सुबलपुत्री गान्धारीने किसी प्रकार फिर गर्भ धारण या प्रसव नहीं किया, तो उस दुःशला नामवाली कन्याका जन्म किस प्रकार हुआ ? ब्रह्मर्षे ! यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये। मुझे इस विषयमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ४-५ ॥

वैशम्पायन उवाच

साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते।
तां मांसपेशीं भगवान् स्वयमेव महातपाः ॥ ६ ॥
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत्।
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप ॥ ७ ॥
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत् तदा।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता ॥ ८ ॥
दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना।
मनसाचिन्तयद् देवी एतत् पुत्रशतं मम ॥ ९ ॥
भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः।
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद् यदि ॥ १० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पाण्डवनन्दन ! तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ। महातपस्वी भगवान् व्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डको शीतल जलसे सींचकर उसके सौ भाग किये। राजन् ! उस समय जो भाग जैसा बना, उसे धायद्वारा वे एक-एक करके घीसे भरे हुए कुण्डोंमें डलवाते गये। इसी बीचमें पूर्ण दृढ़तासे सतीव्रतका पालन करनेवाली साध्वी एवं सुन्दरी गान्धारी कन्याके स्नेह-सम्बन्धका विचार करके मन-ही-मन सोचने लगी—इसमें संदेह नहीं कि इस मांसपिण्डसे मेरे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे; क्योंकि व्यासमुनि कभी झूठ नहीं बोलते; परंतु मुझे अधिक संतोष तो तब होता, यदि एक पुत्री भी हो जाती ॥ ६—१० ॥

एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी।
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम ॥ ११ ॥

यदि सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायगी तो मेरे ये पति दौहित्रके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले उत्तम लोकोंसे भी वञ्चित नहीं रहेंगे ॥ ११ ॥

अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत्।
यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका ॥ १२ ॥
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता।
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाप्यथवा हुतम् ॥ १३ ॥
गुरवस्तोषिता वापि तथास्तु दुहिता मम।
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥ १४ ॥
व्यभजत् स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः।
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम् ॥ १५ ॥

कहते हैं, स्त्रियोंका दामादमें पुत्रसे भी अधिक स्नेह होता है। यदि मुझे भी सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्री प्राप्त हो जाय तो मैं पुत्र और दौहित्र दोनोंसे घिरी रहकर कृतकृत्य हो जाऊँ। यदि मैंने सचमुच तप, दान अथवा होम किया हो तथा गुरुजनोंको सेवाद्वारा प्रसन्न कर लिया हो, तो मुझे पुत्री अवश्य प्राप्त हो। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डके विभाग कर दिये और पूरे सौ अंशोंकी गणना करके गान्धारीसे कहा ॥ १२—१५ ॥

व्यास उवाच

पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता।
दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात् परः।
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता ॥ १६ ॥

व्यासजी बोले—गान्धारी ! मैंने झूठी बात नहीं कही थी; ये पूरे सौ पुत्र हैं। सौके अतिरिक्त एक भाग और बचा है, जिससे दौहित्रका योग होगा। इस अंशसे तुम्हें अपने मनके अनुरूप एक सौभाग्यशालिनी कन्या प्राप्त होगी ॥ १६ ॥

ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः।
तं चापि प्राक्षिपत् तत्र कन्याभागं तपोधनः ॥ १७ ॥
एतत् ते कथितं राजन् दुःशलाजन्म भारत।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ १८ ॥

यों कहकर महातपस्वी व्यासजीने घीसे भरा हुआ एक और घड़ा मँगाया और उन तपोधन मुनिने उस कन्याभागको उसीमें डाल दिया। भरतवंशी नरेश ! इस प्रकार मैंने तुम्हें दुःशलाके जन्मका प्रसङ्ग सुना दिया। अनघ ! बोलो, अब पुनः और क्या कहूँ ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि दुःशलोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें दुःशलाकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी नामावली

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक्-पृथक्।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ कौन था? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे? इन सब बातोंका क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसंधः समः सहः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रशरासनः ॥ ४ ॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥ ६ ॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ॥ ७ ॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥
दृढसंधो जरासंधः सत्यसंधः सदःसुवाक्।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥ ११ ॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १२ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—(जनमेजय! धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम क्रमशः ये हैं—) १ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुश्शासन, ४ दुस्सह, ५ दुश्शल, ६ जलसंध, ७ सम, ८ सह, ९ विन्द, १० अनुविन्द, ११ दुर्धर्ष, १२ सुबाहु, १३ दुष्प्रधर्षण, १४ दुर्मर्षण, १५ दुर्मुख, १६ दुष्कर्ण, १७ कर्ण, १८ विविंशति, १९ विकर्ण, २० शल, २१ सत्त्व, २२ सुलोचन, २३ चित्र, २४ उपचित्र, २५ चित्राक्ष, २६ चारुचित्रशरासन (चित्र-चाप), २७ दुर्मद, २८ दुर्विगाह, २९ विवित्सु, ३० विकटानन (विकट), ३१ ऊर्णनाभ, ३२ सुनाभ (पद्मनाभ), ३३ नन्द, ३४ उपनन्द, ३५ चित्रबाण (चित्रबाहु), ३६ चित्रवर्मा, ३७ सुवर्मा ३८ दुर्विरोचन, ३९ अयोबाहु, ४० महाबाहु चित्राङ्ग (चित्राङ्गद), ४१ चित्रकुण्डल (सुकुण्डल), ४२ भीमवेग, ४३ भीमबल, ४४ बलाकी, ४५ बलवर्धन (विक्रम), ४६ उग्रायुध, ४७ सुषेण, ४८ कुण्डोदर, ४९ महोदर, ५० चित्रायुध (दृढ़ायुध), ५१ निषङ्गी, ५२ पाशी, ५३ वृन्दारक, ५४ दृढ़वर्मा, ५५ दृढ़क्षत्र, ५६ सोमकीर्ति, ५७ अनूदर, ५८ दृढ़संध, ५९ जरासंध, ६० सत्यसंध, ६१ सदःसुवाक् (सहस्रवाक्), ६२ उग्रश्रवा, ६३ उग्रसेन, ६४ सेनानी (सेनापति), ६५ दुष्पराजय, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधर (दुराधन), ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अग्रयायी (अनुयायी), ७८ कवची, ७९ क्रथन, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीरबाहु, ८६ अलोलुप, ८७ अभय, ८८ रौद्रकर्मा, ८९ दृढ़रथाश्रय (दृढ़रथ), ९० अनाधृष्य, ९१ कुण्डभेदी, ९२ विरावी, ९३ विचित्र कुण्डलोंसे सुशोभित प्रमथ, ९४ प्रमाथी, ९५ वीर्यवान् दीर्घरोमा (दीर्घलोचन), ९६ दीर्घबाहु, ९७ महाबाहु व्यूढोरु, ९८ कनकध्वज (कनकाङ्गद), ९९ कुण्डाशी (कुण्डज) तथा १०० विरजा—धृतराष्ट्रके ये सौ पुत्र थे। इनके सिवा दुःशला नामक एक कन्या थी, जो सौसे अधिक थी* ॥ २–१४ ॥

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥ १५ ॥

राजन्! इस प्रकार धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और उन सौके अतिरिक्त एक कन्या बतायी गयी। राजन्! जिस क्रमसे इनके नाम लिये गये हैं, उसी क्रमसे इनका जन्म हुआ समझो ॥ १५ ॥

---

* आदिपर्वके सरसठवें अध्यायमें भी धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके नाम आये हैं। वहाँ जो नाम दिये गये हैं, उनमेंसे अधिकांश नाम इस अध्यायमें भी ज्यों-के-त्यों हैं। कुछ नामोंमें साधारण अन्तर है, जिन्हें यहाँ कोष्ठकमें दे दिया गया है। इस प्रकार यहाँ और वहाँके

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १६ ॥

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे। सबने युद्धविद्यामें निपुणता प्राप्त कर ली थी। सब-के-सब वेदोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके मर्मज्ञ थे ॥ १६ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ १७ ॥

दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ १८ ॥

जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने समयपर भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रोंका उनके योग्य स्त्रियोंके साथ विवाह कर दिया। भरतश्रेष्ठ ! महाराज धृतराष्ट्रने विवाहके योग्य समय आनेपर अपनी पुत्री दुःशलाका राजा जयद्रथके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रपुत्रनामवर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुके द्वारा मृगरूपधारी मुनिका वध तथा उनसे शापकी प्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः सम्भव उत्तमः।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! आपने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके जन्मका उत्तम प्रसंग सुनाया है, जो महर्षि व्यासकी कृपासे सम्भव हुआ था। आप ब्रह्मवादी हैं। आपने यद्यपि यह मनुष्योंके जन्मका वृत्तान्त बताया है, तथापि यह दूसरे मनुष्योंमें कभी नहीं देखा गया ॥ १ ॥

नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन् पाण्डवानां च कीर्तय ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंके पृथक्-पृथक् नाम भी जो आपने कहे हैं, वे मैंने अच्छी तरह सुन लिये। अब पाण्डवोंके जन्मका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

वे सब महात्मा पाण्डव देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। आपने ही अंशावतरणके प्रसंगमें उन्हें देवताओंका अंश बताया था ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम्।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी ! वे ऐसे पराक्रम कर दिखाते थे, जो मनुष्योंकी शक्तिके परे हैं; अतः मैं उनके जन्मसम्बन्धी वृत्तान्तको सम्पूर्णतासे सुनना चाहता हूँ; कृपा करके कहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते।
चरन् मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! एक समय राजा पाण्डु मृगों और सर्पोंसे सेवित विशाल वनमें विचर रहे थे। उन्होंने मृगोंके एक यूथपतिको देखा, जो मृगीके साथ मैथुन कर रहा था ॥ ५ ॥

ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ॥ ६ ॥

उसे देखते ही राजा पाण्डुने पाँच सुन्दर एवं सुनहरे पंखोंसे युक्त तीखे तथा शीघ्रगामी बाणोंद्वारा, उस मृगी और मृगको भी बींध डाला ॥ ६ ॥

स च राजन् महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ॥ ७ ॥

राजन् ! उस मृगके रूपमें एक महातेजस्वी तपोधन ऋषिपुत्र थे, जो अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नीके साथ तेजस्वी मृग बनकर समागम कर रहे थे ॥ ७ ॥

संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन् गिरम्।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ८ ॥

वे उस मृगीसे सटे हुए ही मनुष्योंकी-सी बोली बोलते हुए क्षणभरमें पृथ्वीपर गिर पड़े। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे विलाप करने लगे ॥ ८ ॥

नामोंकी एकता की गयी है। थोड़े-से नाम ऐसे भी हैं, जिनका मेल नहीं मिलता। नामोंके क्रममें भी दोनों स्थलोंमें अन्तर है। सम्भव है, उनके दो-दो नाम रहे हों और दोनों स्थलोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका उल्लेख हो।

मृग उवाच

काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि।
वर्जयन्ति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः ॥ ९ ॥
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।
विधिपर्यागतानर्थान् प्राज्ञो न प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

मृगने कहा—राजन्! जो मनुष्य काम और क्रोधसे घिरे हुए, बुद्धिशून्य तथा पापोंमें संलग्न रहनेवाले हैं, वे भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग देते हैं। बुद्धि प्रारब्धको नहीं ग्रसती (नहीं लाँघ सकती), प्रारब्ध ही बुद्धिको अपना ग्रास बना लेता है (भ्रष्ट कर देता है)। प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले पदार्थोंको बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं जान पाता ॥९-१०॥

शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ॥ ११ ॥

भारत! सदा धर्ममें मन लगानेवाले क्षत्रियोंके प्रधान कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, तो भी काम और लोभके वशीभूत होकर तुम्हारी बुद्धि धर्मसे कैसे विचलित हुई?॥११॥

पाण्डुरुवाच

शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पाण्डु बोले—शत्रुओंके वधमें राजाओंकी जैसी वृत्ति बतायी गयी है, वैसी ही मृगोंके वधमें भी मानी गयी है; अतः मृग! तुम्हें मोहवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये॥

अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्धि त्वं किं नु गर्हसे ॥ १३ ॥

प्रकट या अप्रकट रूपसे मृगोंका वध हमारे लिये अभीष्ट है। वह राजाओंके लिये धर्म है, फिर तुम उसकी निन्दा कैसे करते हो? ॥ १३ ॥

अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषिः।
आरण्यान् सर्वदेवेभ्यो मृगान् प्रेषन्महावने ॥ १४ ॥
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान् विगर्हसे।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं विहितो वधः ॥ १५ ॥

महर्षि अगस्त्य एक सत्रमें दीक्षित थे, तब उन्होंने भी मृगया की थी। सभी देवताओंके हितके लिये उन्होंने सत्रमें विघ्न करनेवाले पशुओंको महान् वनमें खदेड़ दिया था। अगस्त्य ऋषिके उक्त हिंसाकर्मके अनुसार (मुझ क्षत्रियके लिये तो) तुम्हारा वध करना ही उचित है। मैं प्रमाणसिद्ध धर्मके अनुकूल बर्ताव करता हूँ, तो भी तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो? ॥ १४-१५ ॥

मृग उवाच

न रिपून् वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान्।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधः काले प्रशस्यते ॥ १६ ॥

मृगने कहा—मनुष्य अपने शत्रुओंपर भी, विशेषतः जब वे संकटकालमें हों, बाण नहीं छोड़ते। उपयुक्त अवसर (संग्राम आदि) में ही शत्रुओंके वधकी प्रशंसा की जाती है॥

पाण्डुरुवाच

प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नन्ति चौजसा।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले—मृग! राजालोग नाना प्रकारके तीक्ष्ण उपायोंद्वारा बलपूर्वक खुले-आम मृगका वध करते हैं; चाहे वह सावधान हो या असावधान। फिर तुम मेरी निन्दा क्यों करते हो? ॥ १७ ॥

मृग उवाच

नाहं घ्नन्तं मृगान् राजन् विगर्हे चात्मकारणात्।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्यानृशंस्यतः ॥ १८ ॥

मृगने कहा—राजन्! मैं अपने मारे जानेके कारण इस बातके लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता कि तुम मृगोंको मारते हो। मुझे तो इतना ही कहना है कि तुम्हें दयाभावका आश्रय लेकर मेरे मैथुनकर्मसे निवृत्त होनेतक प्रतीक्षा करनी चाहिये थी ॥ १८ ॥

सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ॥ १९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर और अभीष्ट है, उस समयमें वनके भीतर मैथुन करनेवाले किसी मृगको कौन विवेकशील पुरुष मार सकता है? ॥ १९ ॥

अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरम्।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत् त्वया विफलीकृतम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! मैं बड़े हर्ष और उल्लासके साथ अपने कामरूपी पुरुषार्थको सफल करनेके लिये इस मृगीके साथ मैथुन कर रहा था; किंतु तुमने उसे निष्फल कर दिया ॥ २० ॥

पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ॥ २१ ॥

महाराज! क्लेशरहित कर्म करनेवाले कुरुवंशियोंके कुलमें जन्म लेकर तुमने जो यह कार्य किया है, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २१ ॥

नृशंसं कर्म सुमहत् सर्वलोकविगर्हितम् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाप्यधर्मिष्ठं च भारत ॥ २२ ॥

भारत! अत्यन्त कठोरतापूर्ण कर्म सम्पूर्ण लोकोंमें निन्दित है। वह स्वर्ग और यशको हानि पहुँचानेवाला है। इसके सिवा वह महान् पापकृत्य है ॥ २२ ॥

स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित् ।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २३ ॥

देवतुल्य महाराज ! तुम स्त्री-भोगोंके विशेषज्ञ तथा शास्त्रीय धर्म एवं अर्थके तत्त्वको जाननेवाले हो। तुम्हें ऐसा नरकप्रद पापकार्य नहीं करना चाहिये था ॥ २३ ॥

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २४ ॥

नृपशिरोमणि ! तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि धर्म, अर्थ और कामसे हीन जो पापाचारी मनुष्य कठोरतापूर्ण कर्म करनेवाले हों, उन्हें दण्ड दो ॥ २४ ॥

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहानागसं घ्नता ।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ॥ २५ ॥
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम् ।
त्वयाहं हिंसितो यस्मात् तस्मात् त्वामप्यहं शपे॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ ! मैं तो फल-मूलका आहार करनेवाला एक मुनि हूँ और मृगका रूप धारण करके शम-दमके पालनमें तत्पर हो सदा जंगलोंमें ही निवास करता हूँ। मुझ निरपराधको मारकर यहाँ तुमने क्या लाभ उठाया ? तुमने मेरी हत्या की है, इसलिये बदलेमें मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ ॥ २५-२६ ॥

द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम् ।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ॥ २७ ॥

तुमने मैथुन-धर्ममें आसक्त दो स्त्री-पुरुषोंका निष्ठुरतापूर्वक वध किया है। तुम अजितेन्द्रिय एवं कामसे मोहित हो; अतः इसी प्रकार मैथुनमें आसक्त होनेपर जीवनका अन्त करनेवाली मृत्यु निश्चय ही तुमपर आक्रमण करेगी ॥ २७ ॥

अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः ।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २८ ॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने ।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ॥ २९ ॥

मेरा नाम किंदम है। मैं तपस्यामें संलग्न रहनेवाला मुनि हूँ, अतः मनुष्योंमें—मानव-शरीरसे यह काम करनेमें मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा था। इसीलिये मृग बनकर अपनी मृगीके साथ मैथुन कर रहा था। मैं प्रायः इसी रूपमें मृगोंके साथ घने वनमें विचरता रहता हूँ। तुम्हें मुझे मारनेसे ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी; क्योंकि तुम यह बात नहीं जानते थे (कि यह मुनि है) ॥ २८-२९ ॥

मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम् ।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ॥ ३० ॥

परंतु जब मैं मृगरूप धारण करके कामसे मोहित था; उस अवस्थामें तुमने अत्यन्त क्रूरताके साथ मुझे मारा है; अतः मूढ़ ! तुम्हें अपने इस कर्मका ऐसा ही फल अवश्य मिलेगा ॥ ३० ॥

प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः ।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ ३१ ॥

तुम भी जब कामसे सर्वथा मोहित होकर अपनी प्यारी पत्नीके साथ समागम करने लगोगे, तब इस—मेरी अवस्थामें ही यमलोक सिधारोगे ॥ ३१ ॥

अन्तकाले हि संवासं यया गन्तासि कान्तया ।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम् ।
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वानुगमिष्यति ॥ ३२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज ! अन्तकाल आनेपर तुम जिस प्यारी पत्नीके साथ समागम करोगे, वही समस्त प्राणियोंके लिये दुर्गम यमलोकमें जानेपर भक्तिभावसे तुम्हारा अनुसरण करेगी ॥ ३२ ॥

वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया ।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३३ ॥

मैं सुखमें मग्न था, तथापि तुमने जिस प्रकार मुझे दुःखमें डाल दिया, उसी प्रकार तुम भी जब प्रेयसी पत्नीके संयोग-सुखका अनुभव करोगे, उसी समय तुम्हारे ऊपर दुःख टूट पड़ेगा ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात् स व्यमुच्यत।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर वे मृगरूपधारी मुनि अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उनका देहान्त हो गया तथा राजा पाण्डु भी क्षणभरमें दुःखसे आतुर हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुमृगशापे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुको मृगका शाप नामक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका अनुताप, संन्यास लेनेका निश्चय तथा पत्नियोंके अनुरोधसे वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम् ।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन मृगरूपधारी मुनिको मरा हुआ छोड़कर राजा पाण्डु जब आगे बढ़े, तब पत्नीसहित शोक और दुःखसे आतुर हो अपने सगे भाई-बन्धुकी भाँति उनके लिये विलाप करने लगे तथा अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे ॥ १ ॥

पाण्डुरुवाच

सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम् ।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—खेदकी बात है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी अपने अन्तःकरणपर वश न होनेके कारण कामके फंदेमें फँसकर विवेक खो बैठते हैं और अनुचित कर्म करके उसके द्वारा भारी दुर्गतिमें पड़ जाते हैं ॥ २ ॥

शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

हमने सुना है, सदा धर्ममें मन लगाये रहनेवाले महाराज शन्तनुसे जिनका जन्म हुआ था, वे मेरे पिता विचित्रवीर्य भी कामभोगमें आसक्तचित्त होनेके कारण ही छोटी अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ ३ ॥

तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवागृषिः ।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद् भगवान् मामजीजनत् ॥ ४ ॥

उन्हीं कामासक्त नरेशकी पत्नीसे वाणीपर संयम रखनेवाले ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा ।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयां परिधावतः ॥ ५ ॥

मैं शिकारके पीछे दौड़ता रहता हूँ; मेरी इसी अनीतिके कारण जान पड़ता है देवताओंने मुझे त्याग दिया है । इसीलिये तो ऐसे विशुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेपर भी आज व्यसनमें फँसकर मेरी यह बुद्धि इतनी नीच हो गयी ॥ ५ ॥

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत् ।
सुवृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ६ ॥

अतः अब मैं इस निश्चयपर पहुँच रहा हूँ कि मोक्षके मार्गपर चलनेसे ही अपना कल्याण है । स्त्री-पुत्र आदिका बन्धन ही सबसे महान् दुःख है । आजसे मैं अपने पिता वेदव्यासजीकी उस उत्तम वृत्तिका आश्रय लूँगा, जिससे पुण्यका कभी नाश नहीं होता ॥ ६ ॥

अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम् ।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ७ ॥
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान् ।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः ॥ ८ ॥

मैं अपने शरीर और मनको निःसन्देह अत्यन्त कठोर तपस्यामें लगाऊँगा । इसलिये अब अकेला (स्त्रीरहित) और एकाकी (सेवक आदिसे भी अलग) रहकर एक-एक वृक्षके नीचे फलकी भिक्षा माँगूँगा । सिर मुड़ाकर मौनी संन्यासी हो इन वानप्रस्थियोंके आश्रमोंमें विचरूँगा । उस समय मेरा शरीर धूलसे भरा होगा और निर्जन एकान्त स्थानमें मेरा निवास होगा ॥ ७-८ ॥

वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।
न शोचन् न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ९ ॥

अथवा वृक्षोंका तल ही मेरा निवासगृह होगा । मैं प्रिय एवं अप्रिय सब प्रकारकी वस्तुओंको त्याग दूँगा । न मुझे किसीके वियोगका शोक होगा और न किसीकी प्राप्ति या संयोगसे हर्ष ही होगा । निन्दा और स्तुति दोनों मेरे लिये समान होंगी ॥ ९ ॥

निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
न चाप्यवहसन् कंचिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीं क्वचित् ॥ १० ॥

न मुझे आशीर्वादकी इच्छा होगी न नमस्कारकी । मैं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित और संग्रह-परिग्रहसे दूर रहूँगा । न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न क्रोधसे किसीपर भौंहें टेढ़ी करूँगा ॥ १० ॥

प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥

मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी तथा सदा सब भूतोंके हितसाधनमें मैं संलग्न रहूँगा । (स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज, जरायुज—) चार प्रकारके जो चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे किसीकी भी मैं हिंसा नहीं करूँगा ॥ ११ ॥

स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतां प्रति ।
एककालं चरन् भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ॥ १२ ॥

जैसे पिता अपनी अनेक संतानोंमें सर्वदा समभाव रखता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा सदा समान भाव होगा । (पहले कहे अनुसार) मैं केवल एक समय वृक्षोंसे भिक्षा माँगूँगा अथवा यह सम्भव न हुआ तो दस-पाँच घरोंमें घूमकर (थोड़ी-थोड़ी) भिक्षा ले लूँगा ॥ १२ ॥

असम्भवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि ।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित् ॥ १३ ॥
अन्यान्यपि चरँल्लोभादलाभे सप्त पूरयन् ।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः ॥ १४ ॥

अथवा यदि भिक्षा मिलनी असम्भव हो जाय, तो कई दिनतक उपवास ही करता चलूँगा। (भिक्षा मिल जानेपर भी) भोजन थोड़ा-थोड़ा ही करूँगा। ऊपर बताये हुए एक प्रकारसे भिक्षा न मिलनेपर ही दूसरे प्रकारका आश्रय लूँगा। ऐसा तो कभी न होगा कि लोभवश दूसरे-दूसरे बहुत-से घरोंमें जाकर भिक्षा लूँ। यदि कहीं कुछ न मिला तो भिक्षाकी पूर्तिके लिये सात घरोंपर फेरी लगा लूँगा। यदि मिला तो और न मिला तो, दोनों ही दशाओंमें समान दृष्टि रखते हुए भारी तपस्यामें लगा रहूँगा ॥ १३-१४ ॥

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ १५ ॥
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन् न च द्विषन् ॥ १६ ॥

एक आदमी बसूलेसे मेरी एक बाँह काटता हो और दूसरा मेरी दूसरी बाँहपर चन्दन छिड़कता हो तो उन दोनोंमेंसे एकके अकल्याणका और दूसरेके कल्याणका चिन्तन नहीं करूँगा। जीने अथवा मरनेकी इच्छावाले मनुष्य जैसी चेष्टाएँ करते हैं, वैसी कोई चेष्टा मैं नहीं करूँगा। न जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष ॥ १५-१६ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिव्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
तासु चाप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सम्परित्यक्तधर्मार्थः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ १८ ॥

जीवित पुरुषोंद्वारा अपने अभ्युदयके लिये जो-जो कर्म किये जा सकते हैं, उन समस्त सकाम कर्मोंको मैं त्याग दूँगा; क्योंकि वे सब कालसे सीमित हैं। अनित्य फल देनेवाली क्रियाओंके लिये जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा चेष्टा की जाती है, उस चेष्टाको मैं सर्वथा त्याग दूँगा; धर्मके फलको भी छोड़ दूँगा। अपने अन्तःकरणके मलको सर्वथा धोकर शुद्ध हो जाऊँगा ॥ १७-१८ ॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित् तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः॥ १९ ॥

मैं सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो अविद्याजनित समस्त बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके वशमें न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ॥ १९ ॥

एतया सततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ २० ॥

सदा इस प्रकारकी धृति (धारणा) द्वारा उक्त रूपसे व्यवहार करता हुआ भयरहित मोक्षमार्गमें स्थित होकर इस देहका विसर्जन करूँगा ॥ २० ॥

नाहं सुकृपणे मार्गे स्ववीर्यक्षयशोचिते ।
स्वधर्मात् सततापेते चरेयं वीर्यवर्जितः ॥ २१ ॥

मैं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो गया हूँ। मेरा गृहस्थाश्रम संतानोत्पादन आदि धर्मसे सर्वथा शून्य है और मेरे लिये अपने वीर्यक्षयके कारण सर्वथा शोचनीय ही रहा है; अतः इस अत्यन्त दीनतापूर्ण मार्गपर अब मैं नहीं चल सकता ॥ २१ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यं कृपणचक्षुषा ।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ॥ २२ ॥

जो सत्कार या तिरस्कार पाकर दीनतापूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ किसी दूसरे पुरुषके पास जीविकाकी आशासे जाता है, वह कामात्मा मनुष्य तो कुत्तोंके मार्गपर चलता है ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निःश्वासपरमो नृपः ।
अवेक्षमाणः कुन्तीं च माद्रीं स समभाषत ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर राजा पाण्डु अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस खींचते और कुन्ती-माद्रीकी ओर देखते हुए उन दोनोंसे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

कौसल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः ।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः ॥ २४ ॥
ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः संशितव्रताः ।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः ।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥ २५ ॥

'(देवियो! तुम दोनों हस्तिनापुरको लौट जाओ और) माता अम्बिका, अम्बालिका, भाई विदुर, संजय, बन्धुओंसहित राजा धृतराष्ट्र, दादी सत्यवती, चाचा भीष्मजी, राजपुरोहितगण, कठोरव्रतका पालन तथा सोमपान करनेवाले महात्मा ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरवासीजन आदि जो लोग वहाँ हमलोगोंके आश्रित होकर निवास करते हैं, उन सबको प्रसन्न करके कहना, 'राजा पाण्डु संन्यासी होकर वनमें चले गये' ॥ २४-२५ ॥

निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः ।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ॥ २६ ॥

वनवासके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले पतिदेवका यह वचन सुनकर कुन्ती और माद्रीने उनके योग्य बात कही—॥ २६॥

अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ॥ २७ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! संन्यासके सिवा और भी तो आश्रम हैं, जिनमें आप हम धर्मपत्नियोंके साथ रहकर भारी तपस्या कर सकते हैं ॥ २७ ॥

शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः ॥ २८ ॥

'आपकी वह तपस्या स्वर्गदायक महान् फलकी प्राप्ति कराकर इस शरीरसे भी मुक्ति दिलानेमें समर्थ हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उस तपके प्रभावसे आप ही स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र भी हो सकते हैं ॥ २८ ॥

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २९ ॥

'हम दोनों कामसुखका परित्याग करके पतिलोककी प्राप्तिका ही परम लक्ष्य लेकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई भारी तपस्या करेंगी ॥ २९ ॥

यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ॥ ३० ॥

'महाप्राज्ञ नरेश्वर ! यदि आप हम दोनोंको त्याग देंगे तो आज ही हम अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३० ॥

पाण्डुरुवाच

यदि व्यवसितं ह्येतद् युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ३१ ॥

पाण्डुने कहा—देवियो ! यदि तुम दोनोंका यही धर्मयुक्त निश्चय है तो (ठीक है, मैं संन्यास न लेकर वानप्रस्थाश्रममें ही रहूँगा तथा) आजसे अपने पिता वेदव्यासजीकी अक्षय फलवाली जीवनचर्याका अनुसरण करूँगा ॥ ३१ ॥

त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत् तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३२ ॥

भोगियोंके सुख और आहारका परित्याग करके भारी तपस्यामें लग जाऊँगा । वल्कल पहनकर फल-मूलका भोजन करते हुए महान् वनमें विचरूँगा ॥ ३२ ॥

अग्नौ जुह्वन्नुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३३ ॥

दोनों समय स्नान-संध्या और अग्निहोत्र करूँगा । चिथड़े, मृगचर्म और जटा धारण करूँगा । बहुत थोड़ा आहार ग्रहण करके शरीरसे दुर्बल हो जाऊँगा ॥ ३३ ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३४ ॥
एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३५ ॥

सर्दी, गरमी और आँधीका वेग सहूँगा । भूख-प्यासकी परवा नहीं करूँगा तथा दुष्कर तपस्या करके इस शरीरको सुखा डालूँगा । एकान्तमें रहकर आत्म-चिन्तन करूँगा । कच्चे (कन्द-मूल आदि) और पक्के (फल आदि) से जीवन-निर्वाह करूँगा । देवताओं और पितरोंको जंगली फल-मूल, जल तथा मन्त्रपाठद्वारा तृप्त करूँगा ॥ ३४-३५ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ३६ ॥

मैं वानप्रस्थ आश्रममें रहनेवालोंका तथा कुटुम्बीजनोंका भी दर्शन और अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३६ ॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
काङ्क्षमाणोऽहमास्थास्ये देहस्यास्य समापनात् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मैं वानप्रस्थ-आश्रमसम्बन्धी शास्त्रोंकी कठोर-से-कठोर विधियोंके पालनकी आकाङ्क्षा करता हुआ तबतक वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित रहूँगा जबतक कि शरीरका अन्त न हो जाय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः ।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ॥ ३८ ॥
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ॥ ३९ ॥

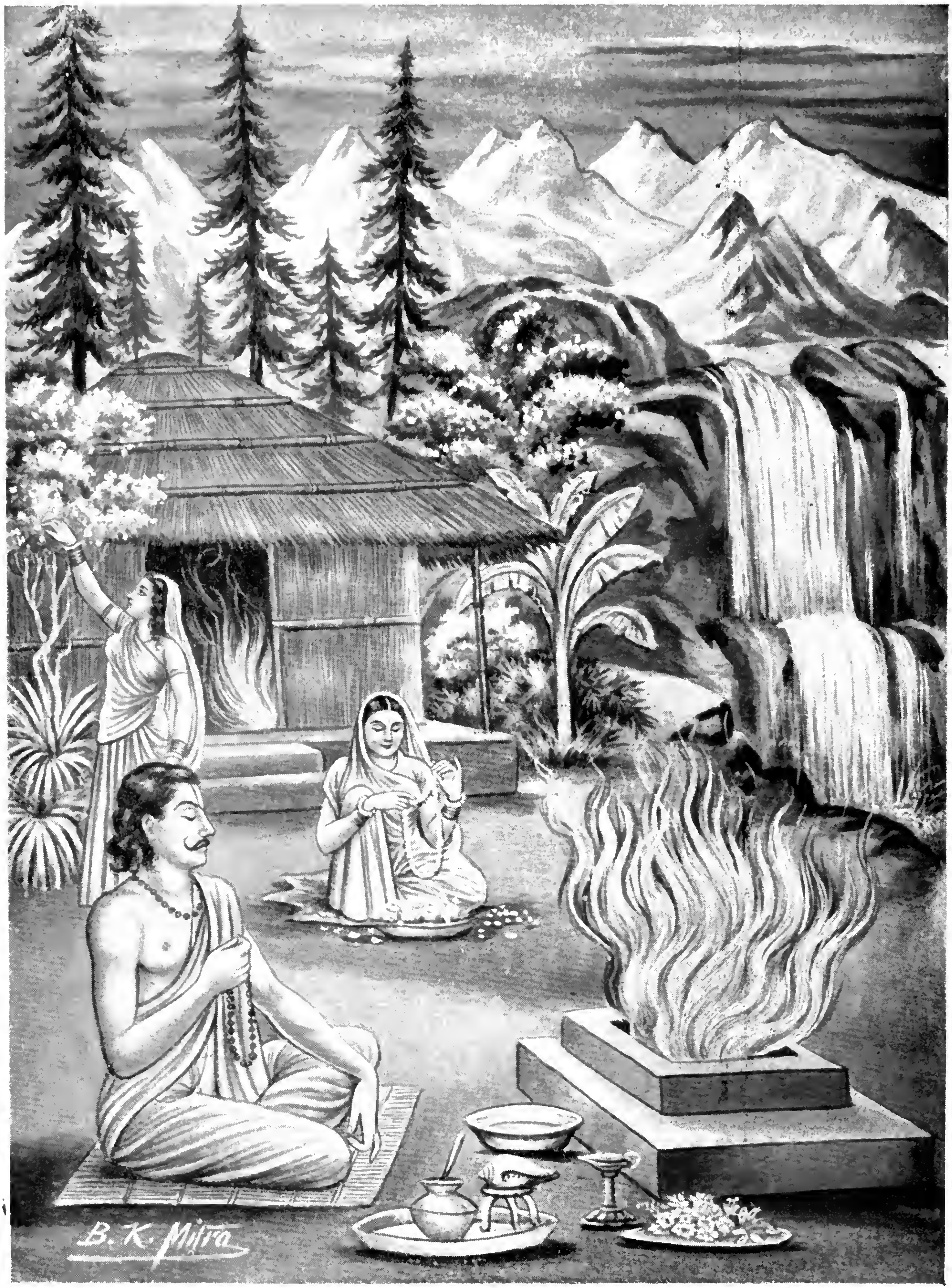

शतशृङ्ग पर्वतपर पाण्डुका तप

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा पाण्डुने अपनी दोनों पत्नियोंसे यों कहकर अपने सिरपेंच, निष्क (वक्षःस्थलके आभूषण), बाजूबंद, कुण्डल और बहुमूल्य वस्त्र तथा माद्री और कुन्तीके भी शरीरके गहने उतारकर सब ब्राह्मणोंको दे दिये। फिर सेवकोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम्।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम्॥ ४०॥
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः।

'तुमलोग हस्तिनापुरमें जाकर कह देना कि कुरुनन्दन राजा पाण्डु अर्थ, काम, विषयसुख और स्त्रीविषयक रति आदि सब कुछ छोड़कर अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ हो गये हैं' ॥ ४०½ ॥

ततस्तस्यानुयातारस्ते चैव परिचारकाः॥ ४१॥
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः॥ ४२॥

भरतसिंह पाण्डुकी यह करुणायुक्त चित्र-विचित्र वाणी सुनकर उनके अनुचर और सेवक सभी हाय-हाय करके भयंकर आर्तनाद करने लगे॥ ४१-४२॥

उष्णमश्रु विमुञ्चन्तस्तं विहाय महीपतिम्।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद् धनम्॥ ४३॥

उस समय नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बहाते हुए वे सेवक राजा पाण्डुको छोड़कर और बचा हुआ सारा धन लेकर तुरंत हस्तिनापुरको चले गये॥ ४३॥

ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः।
कथयांचक्रिरे राज्ञस्तद् धनं विविधं ददुः॥ ४४॥

उन्होंने हस्तिनापुरमें जाकर महात्मा राजा पाण्डुका सारा समाचार राजा धृतराष्ट्रसे ज्यों-का-त्यों कह सुनाया और वह नाना प्रकारका धन धृतराष्ट्रको ही सौंप दिया॥ ४४॥

श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत॥ ४५॥

फिर उन सेवकोंसे उस महान् वनमें पाण्डुके साथ घटित हुई सारी घटनाओंको यथावत् सुनकर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र सदा पाण्डुकी ही चिन्तामें दुखी रहने लगे॥ ४५॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित्।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवार्थं विचिन्तयन्॥ ४६॥

शय्या, आसन और नाना प्रकारके भोगोंमें कभी उनकी रुचि नहीं होती थी। वे भाईके शोकमें मग्न हो सदा उन्हींकी बात सोचते रहते थे॥ ४६॥

राजपुत्रस्तु कौरव्य पाण्डुर्मूलफलाशनः।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम्॥ ४७॥

जनमेजय! राजकुमार पाण्डु फल-मूलका आहार करते हुए अपनी दोनों पत्नियोंके साथ वहाँसे नागशत नामक पर्वतपर चले गये॥ ४७॥

स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम्॥ ४८॥

तत्पश्चात् चैत्ररथ नामक वनमें जाकर कालकूट और हिमालय पर्वतको लाँघते हुए वे गन्धमादनपर चले गये॥४८॥

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च॥ ४९॥
इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समतप्यत॥ ५०॥

महाराज! उस समय महाभूत, सिद्ध और महर्षिगण उनकी रक्षा करते थे। वे ऊँची-नीची जमीनपर सो लेते थे। इन्द्रद्युम्न सरोवरपर पहुँचकर तथा उसके बाद हंसकूटको लाँघते हुए वे शतशृङ्ग पर्वतपर जा पहुँचे। जनमेजय! वहाँ वे तपस्वी-जीवन बिताते हुए भारी तपस्यामें संलग्न हो गये॥४९-५०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुचरितविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११८॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान्।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ भी श्रेष्ठ तपस्यामें लगे हुए पराक्रमी राजा पाण्डु सिद्ध और चारणोंके समुदायको अत्यन्त प्रिय लगने लगे—इन्हें देखते ही वे प्रसन्न हो जाते थे॥ १॥

शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत॥ २॥

भारत! वे ऋषि-मुनियोंकी सेवा करते, अहंकारसे दूर रहते और मनको वशमें रखते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत लिया था। वे अपनी ही शक्तिसे स्वर्गलोकमें जानेके लिये सदा सचेष्ट रहने लगे॥ २॥

केषांचिदभवद् भ्राता केषांचिदभवत् सखा।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत् पर्यपालयन् ॥ ३ ॥

कितने ही ऋषियोंका उनपर भाईके समान प्रेम था। कितनोंके वे मित्र हो गये थे और दूसरे बहुत-से महर्षि उन्हें अपने पुत्रके समान मानकर सदा उनकी रक्षा करते थे ॥ ३ ॥

स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! राजा पाण्डु दीर्घकालतक परहित तपस्याका अनुष्ठान करके ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावशाली हो गये थे ॥ ४ ॥

अमावास्यां तु सहिता ऋषयः संशितव्रताः।
ब्रह्माणं द्रष्टुकामास्ते सम्प्रतस्थुर्महर्षयः ॥ ५ ॥

एक दिन अमावास्या तिथिको कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ऋषि-महर्षि एकत्र हो ब्रह्माजीके दर्शनकी इच्छासे ब्रह्मलोकके लिये प्रस्थित हुए ॥ ५ ॥

सम्प्रयातानृषीन् दृष्ट्वा पाण्डुर्वचनमब्रवीत्।
भवन्तः क्व गमिष्यन्ति ब्रूत मे वदतां वराः ॥ ६ ॥

ऋषियोंको प्रस्थान करते देख पाण्डुने उनसे पूछा—'वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो! आपलोग कहाँ जायँगे? यह मुझे बताइये' ॥ ६ ॥

ऋषय ऊचुः

समवायो महानद्य ब्रह्मलोके महात्मनाम्।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च महात्मनाम्।
वयं तत्र गमिष्यामो द्रष्टुकामाः स्वयम्भुवम् ॥ ७ ॥

ऋषि बोले—राजन्! आज ब्रह्मलोकमें महात्मा देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा महामना पितरोंका बहुत बड़ा समूह एकत्र होनेवाला है। अतः हम वहीं स्वयम्भू ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये जायँगे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डुरुत्थाय सहसा गन्तुकामो महर्षिभिः।
स्वर्गपारं तितीर्षुः स शतशृङ्गादुदङ्मुखः ॥ ८ ॥
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्तं च तापसाः।
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर महाराज पाण्डु भी महर्षियोंके साथ जानेके लिये सहसा उठ खड़े हुए। उनके मनमें स्वर्गके पार जानेकी इच्छा जाग उठी और वे उत्तरकी ओर मुँह करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ शतशृङ्ग पर्वतसे चल दिये। यह देख गिरिराज हिमालयके ऊपर-ऊपर उत्तराभिमुख यात्रा करनेवाले तपस्वी मुनियोंने कहा—॥

दृष्टवन्तो गिरौ रम्ये दुर्गान् देशान् बहून् वयम्।
विमानशतसम्बाधां गीतस्वरनिनादिताम् ॥ १० ॥
आक्रीडभूमिं देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा।
उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च ॥ ११ ॥

'भरतश्रेष्ठ! इस रमणीय पर्वतपर हमने बहुत-से ऐसे प्रदेश देखे हैं, जहाँ जाना बहुत कठिन है। वहाँ देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओंकी क्रीडाभूमि है, जहाँ सैकड़ों विमान खचाखच भरे रहते हैं और मधुर गीतोंके स्वर गूँजते रहते हैं। इसी पर्वतपर कुबेरके अनेक उद्यान हैं, जहाँकी भूमि कहीं समतल है और कहीं नीची ऊँची ॥ १०-११ ॥

महानदीनितम्बांश्च गहनान् गिरिगह्वरान्।
सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः ॥ १२ ॥

'इस मार्गमें हमने कई बड़ी-बड़ी नदियोंके दुर्गम तट और कितनी ही पर्वतीय घाटियाँ देखी हैं। यहाँ बहुत-से ऐसे स्थल हैं, जहाँ सदा बर्फ जमी रहती है तथा जहाँ वृक्ष, पशु और पक्षियोंका नाम भी नहीं है ॥ १२ ॥

सन्ति क्वचिन्महादर्यो दुर्गाः काश्चिद् दुरासदाः।
नातिक्रामेत पक्षी यान् कुत एवेतरे मृगाः ॥ १३ ॥

'कहीं कहीं बहुत बड़ी गुफाएँ हैं, जिनमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। कइयोंके तो निकट भी पहुँचना कठिन है। ऐसे स्थलोंको पक्षी भी नहीं पार कर सकता, फिर मृग आदि अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है! ॥ १३ ॥

वायुरेको हि यात्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः।
गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन् राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ॥ १४ ॥
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ।

'इस मार्गपर केवल वायु चल सकती है तथा सिद्ध महर्षि भी जा सकते हैं। इस पर्वतराजपर चलती हुई ये दोनों राजकुमारियाँ कैसे कष्ट न पायेंगी? भरतवंश-शिरोमणे! ये दोनों रानियाँ दुःख सहन करनेके योग्य नहीं हैं; अतः आप न चलिये' ॥ १४½ ॥

पाण्डुरुवाच

अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ॥ १५ ॥
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ॥ १६ ॥

पाण्डुने कहा—महाभाग महर्षिगण! संतानहीनके लिये स्वर्गका दरवाजा बंद रहता है, ऐसा लोग कहते हैं। मैं भी संतानहीन हूँ, इसलिये दुःखसे संतप्त होकर आपलोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ। तपोधनो! मैं पितरोंके ऋणसे अबतक छूट नहीं सका हूँ, इसलिये चिन्तासे संतप्त हो रहा हूँ ॥

देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः।
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ॥ १७ ॥

निःसंतान अवस्थामें मेरे इस शरीरका नाश होनेपर

मेरे पितरोंका पतन अवश्य हो जायगा। मनुष्य इस पृथ्वीपर चार प्रकारके ऋणोंसे युक्त होकर जन्म लेते हैं॥१७॥

पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः।
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः॥१८॥
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम्।
यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्॥१९॥

(उन ऋणोंके नाम ये हैं—) पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और मनुष्य-ऋण। उन सबका ऋण धर्मतः हमें चुकाना चाहिये। जो मनुष्य यथासमय इन ऋणोंका ध्यान नहीं रखता, उसके लिये पुण्यलोक सुलभ नहीं होते। यह मर्यादा धर्मज्ञ पुरुषोंने स्थापित की है। यज्ञोंद्वारा मनुष्य देवताओंको तृप्त करता है, स्वाध्याय और तपस्याद्वारा मुनियोंको संतोष दिलाता है॥१८-१९॥

पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान्।
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः॥२०॥
त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः॥२१॥

पुत्रोत्पादन और श्राद्धकर्मोंद्वारा पितरोंको तथा दयापूर्ण बर्तावद्वारा वह मनुष्योंको संतुष्ट करता है। मैं धर्मकी दृष्टिसे ऋषि, देव तथा मनुष्य—इन तीनों ऋणोंसे मुक्त हो चुका हूँ। अन्य अर्थात् पितरोंके ऋणका नाश तो इस शरीरके नाश होनेपर भी शायद ही हो सके। तपस्वी मुनियो! मैं अबतक पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सका॥२०-२१॥

इह तस्मात् प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः।
यथैवाहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा॥२२॥
तथैवास्मिन् मम क्षेत्रे कथं वै सम्भवेत् प्रजा।

इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुष पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पत्तिका प्रयत्न करते और स्वयं ही पुत्ररूपमें जन्म लेते हैं। जैसे मैं अपने पिताके क्षेत्रमें महर्षि व्यासद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसी प्रकार मेरे इस क्षेत्रमें भी कैसे संतानकी उत्पत्ति हो सकती है?॥२२½॥

ऋषय ऊचुः

अस्ति वै तव धर्मात्मन् विद्मो देवोपमं शुभम्॥२३॥
अपत्यमनघं राजन् वयं दिव्येन चक्षुषा।
दैवोदिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय॥२४॥

ऋषि बोले—धर्मात्मा नरेश! तुम्हें पापरहित देवोपम शुभ संतान होनेका योग है, यह हम दिव्यदृष्टिसे जानते हैं। नरव्याघ्र! भाग्यने जिसे दे रक्खा है, उस फलको प्रयत्नद्वारा प्राप्त कीजिये॥२३-२४॥

अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विन्दते बुद्धिमान् नरः।
तस्मिन् दृष्टे फले राजन् प्रयत्नं कर्तुमर्हसि॥२५॥
अपत्यं गुणसम्पन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि।

बुद्धिमान् मनुष्य व्यग्रता छोड़कर बिना क्लेशके ही अभीष्ट फलको प्राप्त कर लेता है। राजन्! आपको उस दृष्ट फलके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आप निश्चय ही गुणवान् और हर्षोत्पादक संतान प्राप्त करेंगे॥२५½॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत्॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपस्वी मुनियोंका यह वचन सुनकर राजा पाण्डु बड़े सोच-विचारमें पड़ गये॥२६॥

आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम्।
सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम्।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय॥२७॥

वे जानते थे कि मृगरूपधारी मुनिके शापसे मेरा संतानोत्पादन-विषयक पुरुषार्थ नष्ट हो चुका है। एक दिन वे अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे एकान्तमें इस प्रकार बोले—'देवि! यह हमारे लिये आपत्तिकाल है, इस समय संतानोत्पादनके लिये जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो॥२७॥

अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः॥२८॥
इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते॥२९॥

'सम्पूर्ण लोकोंमें संतान ही धर्ममयी प्रतिष्ठा है—कुन्ती! सदा धर्मका प्रतिपादन करनेवाले धीर पुरुष ऐसा ही मानते हैं। संतानहीन मनुष्य इस लोकमें यज्ञ, दान, तप और नियमोंका भलीभाँति अनुष्ठान कर ले, तो भी उसके किये हुए सब कर्म पवित्र नहीं कहे जाते॥२८-२९॥

सोऽहमेवं विदित्वैतत् प्रपश्यामि शुचिस्मिते।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान् न प्राप्स्यामीति चिन्तयन्॥३०॥

'पवित्र मुसकानवाली कुन्तिभोजकुमारी! इस प्रकार सोच-समझकर मैं तो यही देख रहा हूँ कि संतानहीन होनेके कारण मुझे शुभ लोकोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं निरन्तर इसी चिन्तामें डूबा रहता हूँ॥३०॥

मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा॥३१॥

'मेरा मन अपने वशमें नहीं, मैं क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला हूँ। भीरु! इसीलिये मृगके शापसे मेरी संतानोत्पादन शक्ति उसी प्रकार नष्ट हो गयी है, जिस प्रकार मैंने उस मृगका वध करके उनके मैथुनमें बाधा डाली थी॥३१॥

इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ॥ ३२ ॥

'पृथे ! धर्मशास्त्रमें ये आगे बताये जानेवाले छः पुत्र 'बन्धुदायाद' कहे गये हैं, जो कुटुम्बी होनेसे सम्पत्तिके उत्तराधिकारी होते हैं, और छः प्रकारके पुत्र 'अबन्धुदायाद' हैं, जो कुटुम्बी न होनेपर भी उत्तराधिकारी बताये गये हैं।* इन सबका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३२ ॥

स्वयंजातः प्रणीतश्च तत्समः पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः भगिन्यां यश्च जायते ॥ ३३ ॥

'पहला पुत्र वह है, जो विवाहिता पत्नीसे अपने द्वारा उत्पन्न किया गया हो; उसे 'स्वयं-जात' कहते हैं। दूसरा प्रणीत कहलाता है, जो अपनी ही पत्नीके गर्भसे किसी उत्तम पुरुषके अनुग्रहसे उत्पन्न होता है। तीसरा जो अपनी पुत्रीका पुत्र हो, वह भी उसके ही समान माना गया है। चौथे प्रकारके पुत्रकी पौनर्भव संज्ञा है,† जो दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न हुआ हो। पाँचवें प्रकारके पुत्रकी कानीन संज्ञा है (विवाहसे पहले ही जिस कन्याको इस शर्तके साथ दिया जाता है कि इसके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र मेरा पुत्र समझा जायगा उस कन्याके पुत्रको 'कानीन' कहते हैं)।‡ जो बहिनका पुत्र (भानजा) है, वह छठा कहा गया है॥३३॥

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ ३४ ॥

'अब छः प्रकारके अबन्धुदायाद पुत्र कहे जाते हैं— दत्त (जिसे माता-पिताने स्वयं समर्पित कर दिया हो), क्रीत (जिसे धन आदि देकर खरीद लिया गया हो), कृत्रिम—जो स्वयं मैं आपका पुत्र हूँ, यों कहकर समीप आया हो, सहोढ (जो कन्यावस्थामें ही गर्भवती होकर ब्याही गयी हो, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र सहोढ कहलाता है), ज्ञातिरेता (अपने कुलका पुत्र) तथा अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र। ये सभी अबन्धुदायाद हैं॥३४॥

पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम् ।
उत्तमादवरः पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३५ ॥

'इनमें पूर्व-पूर्वके अभावमें ही दूसरे-दूसरे पुत्रकी अभिलाषा करे। आपत्तिकालमें नीची जातिके पुरुष श्रेष्ठ पुरुषसे भी पुत्रोत्पत्तिकी इच्छा कर सकते हैं ॥ ३५ ॥

अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'पृथे ! अपने वीर्यके बिना भी मनुष्य किसी श्रेष्ठ पुरुष सम्बन्धसे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर लेते हैं और वह धर्मका फल देनेवाला होता है, यह बात स्वायम्भुव मनुने कही है ॥३६॥

तस्मात् प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात् स्वयम् ।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्धयपत्यं यशस्विनि ॥ ३७ ॥

'अतः यशस्विनी कुन्ती ! मैं स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित होनेके कारण तुम्हें आज दूसरेके पास भेजूँगा। तुम मेरे सदृश अथवा मेरी अपेक्षा भी श्रेष्ठ पुरुषसे संतान प्राप्त करो' ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुपृथासंवादे ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डु-पृथा-संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डुको व्युषितश्वके मृत शरीरसे उसकी पतिव्रता पत्नी भद्राके द्वारा पुत्र-प्राप्तिका कथन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! इस प्रकार कहे जानेपर कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ वीरवर राजा पाण्डुसे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥

'धर्मज्ञ ! आप मुझसे किसी तरह ऐसी बात न कहें;

* बन्धु शब्दका अर्थ संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभमें आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु माना गया है, इसलिये बन्धुका अर्थ कुटुम्बी किया है। दायादका अर्थ उसी कोषमें 'उत्तराधिकारी' है। इसीलिये बन्धुदायादका अर्थ 'कुटुम्बी होनेसे 'उत्तराधिकारी' किया है। इसके विपरीत, अबन्धुदायादका अर्थ अबन्धु यानी कुटुम्बी न होनेपर उत्तराधिकारी किया है।

† 'पौनर्भव'का अर्थ पद्मचन्द्रकोषके अनुसार दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र किया गया है।

‡ कानीन—यह अर्थ नीलकण्ठजीने अपनी टीकामें किया है।

मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले आपमें ही अनुराग रखती हूँ ॥ २ ॥

त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥

'महाबाहु वीर भारत ! आप ही मेरे गर्भसे धर्मपूर्वक अनेक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ ३ ॥

स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं आपके साथ ही स्वर्गलोकमें चलूँगी। कुरुनन्दन ! पुत्रकी उत्पत्तिके लिये आप ही मेरे साथ समागम कीजिये ॥ ४ ॥

न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥

'मैं आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषसे समागम करनेकी बात मनमें भी नहीं ला सकती। फिर इस पृथ्वीपर आपसे श्रेष्ठ दूसरा मनुष्य है भी कौन ॥ ५ ॥

इमां च तावद् धर्मात्मन् पौराणीं शृणु मे कथाम्।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥

'धर्मात्मन् ! पहले आप मेरे मुँहसे यह पौराणिक कथा सुन लीजिये। विशालाक्ष ! यह जो कथा मैं कहने जा रही हूँ, सर्वत्र विख्यात है ॥ ६ ॥

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें एक परम धर्मात्मा राजा हो गये हैं। उनका नाम था व्युषिताश्व। वे पूरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे॥

तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे।
उपागमंस्ततो देवाः सेन्द्रा देवर्षिभिः सह ॥ ८ ॥

'एक समय वे महाबाहु धर्मात्मा नरेश जब यज्ञ करने लगे, उस समय इन्द्र आदि देवता देवर्षियोंके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८ ॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नति मर्त्यान् व्यरोचत ॥ १० ॥

'उसमें देवराज इन्द्र सोमपान करके उन्मत्त हो उठे थे तथा ब्राह्मणलोग पर्याप्त दक्षिणा पाकर हर्षसे फूल उठे थे। महामना राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें उस समय देवता और ब्रह्मर्षि स्वयं सब कार्य कर रहे थे। राजन् ! इससे व्युषिताश्व सब मनुष्योंसे ऊँची स्थितिमें पहुँचकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ९-१० ॥

सर्वभूतान् प्रति यथा तपनः शिशिरात्यये।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन् राजसत्तमः ॥ ११ ॥
प्राच्यानुदीच्यान् पाश्चात्त्यान् दाक्षिणात्यानकालयत्।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ॥ १२ ॥

'राजा व्युषिताश्व समस्त भूतोंके प्रीतिपात्र थे। राजाओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्युषिताश्वने अश्वमेध नामक महान् यज्ञमें पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण—चारों दिशाओंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया—ठीक जिस प्रकार शिशिर-कालके अन्तमें भगवान् सूर्यदेव सभी प्राणियोंपर विजय कर लेते हैं—सबको तपाने लगते हैं ॥ ११-१२ ॥

बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १३ ॥
व्युषिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूत्तम।
व्युषिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुंधराम् ॥ १४ ॥
अपालयत् सर्ववर्णान् पिता पुत्रानिवौरसान्।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥ १५ ॥

'उन महाराजमें दस हाथियोंका बल था। कुरुश्रेष्ठ ! पुराणवेत्ता विद्वान् यशमें बढ़े-चढ़े हुए नरेन्द्र व्युषिताश्वके विषयमें यह यशोगाथा गाते हैं—'राजा व्युषिताश्व समुद्र-पर्यन्त इस सारी पृथ्वीको जीतकर जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार सभी वर्णके लोगोंका पालन करते थे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको बहुत धन दिया ॥ १३—१५ ॥

अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून्।
सुषाव च बहून् सोमान् सोमसंस्थास्ततान च ॥ १६ ॥

'अनन्त रत्नोंकी भेंट लेकर उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये। अनेक सोमयागोंका आयोजन करके उनमें बहुत-सा सोमरस संग्रह करके अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम आदि सात प्रकारकी सोम-याग-संस्थाओंका भी अनुष्ठान किया ॥ १६ ॥

आसीत् काक्षीवती चास्य भार्या परमसम्मता।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ॥ १७ ॥

'नरेन्द्र ! राजा कक्षीवान्‌की पुत्री भद्रा उनकी अत्यन्त प्यारी पत्नी थी। उन दिनों इस पृथ्वीपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री न थी ॥ १७ ॥

कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम्।
स तस्यां कामसम्मत्तो यक्ष्मणा समपद्यत ॥ १८ ॥

'मैंने सुना है, वे दोनों पति-पत्नी एक दूसरेको बहुत चाहते थे। पत्नीके प्रति अत्यन्त कामासक्त होनेके कारण राजा व्युषिताश्व राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥ १८ ॥

तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान्।
तस्मिन् प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्यास्य भृशदुःखिता ॥ १९ ॥

'इस कारण वे थोड़े ही समयमें सूर्यकी भाँति अस्त हो गये। उन महाराजके परलोकवासी हो जानेपर उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १९ ॥

अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम् ।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

'नरव्याघ्र जनेश्वर ! हमने सुना है कि भद्राके तबतक कोई पुत्र नहीं हुआ था । इस कारण वह अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर विलाप करने लगी; वह विलाप सुनिये' ॥२०॥

भद्रोवाच

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता ।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ॥ २१ ॥

भद्रा बोली—परमधर्मज्ञ महाराज ! जो कोई भी विधवा स्त्री पतिके बिना जीवन धारण करती है, वह निरन्तर दुःखमें डूबी रहनेके कारण वास्तवमें जीती नहीं, अपितु मृत्युतुल्या है ॥ २१ ॥

पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव ।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ॥ २२ ॥
त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे ।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! पतिके न रहनेपर नारीकी मृत्यु हो जाय, इसीमें उसका कल्याण है । अतः मैं भी आपके ही मार्गपर चलना चाहती हूँ; प्रसन्न होइये और मुझे अपने साथ ले चलिये । आपके बिना एक क्षण भी जीवित रहनेका मुझमें उत्साह नहीं है । राजन् ! कृपा कीजिये और यहाँसे शीघ्र मुझे ले चलिये ॥ २२-२३ ॥

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च ।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तितुम् ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप जहाँ कभी न लौटनेके लिये गये हैं, वहाँका मार्ग समतल हो या विषम, मैं आपके पीछे-पीछे अवश्य चली चलूँगी ॥ २४ ॥

छायेवानुगता राजन् सततं वशवर्तिनी ।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ॥ २५ ॥

राजन् ! मैं छायाकी भाँति आपके पीछे लगी रहूँगी एवं सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी । नरव्याघ्र ! मैं सदा आपके प्रिय और हितमें लगी रहूँगी ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति मां राजन् कष्टा हृदयशोषणाः ।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २६ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले महाराज ! आपके बिना आजसे हृदयको सुखा देनेवाले कष्ट और मानसिक चिन्ताएँ मुझे सताती रहेंगी ॥ २६ ॥

अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः ।
तेन मे विप्रयोगोऽयमुपपन्नस्त्वया सह ॥ २७ ॥

मुझ अभागिनीने निश्चय ही कितने ही जीवनसङ्गियों (स्त्री-पुरुषों) में बिछोह कराया होगा । इसीलिये आज आपके साथ मेरा वियोग घटित हुआ है ॥ २७ ॥

विप्रयुक्ता तु या पत्या मुहूर्तमपि जीवति ।
दुःखं जीवति सा पापा नरकस्थेव पार्थिव ॥ २८ ॥

महाराज ! जो स्त्री पतिसे बिछुड़ जानेपर दो घड़ी भी जीवन धारण करती है, वह पापिनी नरकमें पड़ी हुई-सी दुःखमय जीवन बिताती है ॥ २८ ॥

संयुक्ता विप्रयुक्ताश्च पूर्वदेहे कृता मया ।
तदिदं कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम् ॥ २९ ॥
दुःखं मामनुसम्प्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम् ।
अद्यप्रभृत्यहं राजन् कुशसंस्तरशायिनी ।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ॥ ३० ॥

राजन् ! पूर्वजन्मके शरीरमें स्थित रहकर मैंने एक साथ रहनेवाले कुछ स्त्री-पुरुषोंमें अवश्य वियोग कराया है । उन्हीं पापकर्मोंद्वारा मेरे पूर्वशरीरोंमें जो बीजरूपसे संचित हो रहा था, वही यह आपके वियोगका दुःख आज मुझे प्राप्त हुआ है । महाराज ! मैं दुःखमें डूबी हुई हूँ, अतः आजसे आपके दर्शनकी इच्छा रखकर मैं कुशके बिछौनेपर सोऊँगी ॥ २९-३० ॥

दर्शयस्व नरव्याघ्र शाधि मामसुखान्विताम् ।
कृपणां चाथ करुणं विलपन्तीं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! करुण विलाप करती हुई मुझ दीन-दुखिया अबलाको आज अपना दर्शन और कर्तव्यका आदेश दीजिये ॥ ३१ ॥

कुन्त्युवाच

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः ।
तं शवं सम्परिष्वज्य वाक् किलान्तर्हिताब्रवीत् ॥ ३२ ॥

कुन्तीने कहा—महाराज ! इस प्रकार जब राजाके शवका आलिङ्गन करके वह बार-बार अनेक प्रकारसे विलाप करने लगी, तब आकाशवाणी बोली—॥ ३२ ॥

उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३३ ॥

'भद्रे ! उठो और जाओ, इस समय मैं तुम्हें वर देता हूँ । चारुहासिनि ! मैं तुम्हारे गर्भसे कई पुत्रोंको जन्म दूँगा ।३३।

आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम् ।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३४ ॥

'वरारोहे ! तुम ऋतुस्नान होनेपर चतुर्दशी या अष्टमीकी रातमें अपनी शय्यापर मेरे इस शवके साथ सो जाना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता ।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३५ ॥

आकाशवाणीके यों कहनेपर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली

पतिव्रता भद्रादेवीने पतिकी पूर्वोक्त आज्ञाका अक्षरशः पालन किया ॥ ३५ ॥

सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ।
त्रीन् शाल्वांश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम ॥३६॥

भरतश्रेष्ठ ! रानी भद्राने उस शवके द्वारा सात पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें तीन शाल्वदेशके और चार मद्रदेशके शासक हुए ॥ ३६ ॥

तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ॥ ३७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! इसी प्रकार आप भी मेरे गर्भसे मानसिक संकल्पद्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं; क्योंकि आप तपस्या और योगबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें व्युषिताश्वोपाख्यानविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको समझाना और कुन्तीका पतिकी आज्ञासे पुत्रोत्पत्तिके लिये धर्मदेवताका आवाहन करनेके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत्।
धर्मविद् धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके यों कहनेपर धर्मज्ञ राजा पाण्डुने देवी कुन्तीसे पुनः यह धर्मयुक्त बात कही ॥

पाण्डुरुवाच

एवमेतत् पुरा कुन्ति व्युषिताश्वश्चकार ह।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—कुन्ती ! तुम्हारा कहना ठीक है। पूर्वकालमें राजा व्युषिताश्वने जैसा तुमने कहा है, वैसा ही किया था। कल्याणी! वे देवताओंके समान तेजस्वी थे ॥ २ ॥

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

अब मैं तुम्हें यह धर्मका तत्त्व बतलाता हूँ, सुनो। यह पुरातन धर्मतत्त्व धर्मज्ञ महात्मा ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया है ॥ ३ ॥

धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ॥ ४ ॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः।
विशेषतः पुत्रगृध्नी हीनः प्रजननात् स्वयम् ॥ ५ ॥
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः।
तथा रक्ताङ्गुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे ॥ ६ ॥
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः।
मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ॥ ७ ॥
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि।
त्वत्कृतेऽहंपृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ८ ॥

साधु पुरुष इसीको प्राचीन धर्म कहते हैं। राजकन्ये पति अपनी पत्नीसे जो बात कहे, वह धर्मके अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिये—ऐसा वेदज्ञ पुरुषोंका कथन है। विशेषतः ऐसा पति, जो पुत्रकी अभिलाषा रखता हो और स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो, जो बात कहे, वह अवश्य माननी चाहिये। निर्दोष अङ्गोंवाली शुभलक्षणे ! मैं चूँकि पुत्रका मुँह देखनेके लिये लालायित हूँ, अतएव तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मस्तकके समीप यह अञ्जलि धारण करता हूँ, जो लाल-लाल अङ्गुलियोंसे युक्त तथा कमलदलके समान सुशोभित है। सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! तुम मेरे आदेशसे तपस्यामें बढ़े-चढ़े हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणके साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो। सुश्रोणि ! तुम्हारे प्रयत्नसे मैं पुत्रवानोंकी गति प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी अभिलाषा है ॥ ४–८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरंजयम्।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कही जानेपर पतिके प्रिय और हितमें लगी रहनेवाली सुन्दराङ्गी कुन्ती शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज पाण्डुसे इस प्रकार बोली— ॥ ९ ॥

(अधर्मः सुमहानेष स्त्रीणां भरतसत्तम।
यत् प्रसादयते भर्ता प्रसाद्यः क्षत्रियर्षभ ॥
शृणु चेदं महाबाहो मम प्रीतिकरं वचः ॥)

'भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रियशिरोमणे ! स्त्रियोंके लिये यह बड़े अधर्मकी बात है कि पति ही उनसे प्रसन्न होनेके लिये बार-बार अनुरोध करे; क्योंकि नारीका ही यह कर्तव्य है कि वह पतिको प्रसन्न रखे। महाबाहो ! आप मेरी यह बात सुनिये। इससे आपको बड़ी प्रसन्नता होगी ॥

पितृवेश्मन्यहं बाला नियुक्तातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १० ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ॥ ११ ॥

'बाल्यावस्थामें जब मैं पिताके घर थी, मुझे अतिथियोंके सत्कारका काम सौंपा गया था। वहाँ कठोर व्रतका पालन

करनेवाले एक उग्रस्वभावके ब्राह्मणकी, जिनका धर्मके विषयमें निश्चय दूसरोंको अज्ञात है तथा जिन्हें लोग दुर्वासा कहते हैं, मैंने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। अपने मनको संयममें रखनेवाले उन महात्माको मैंने सब प्रकारके यत्नोंद्वारा संतुष्ट किया॥ १०-११॥

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान् वरम् ।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम् ॥ १२ ॥

'तब भगवान् दुर्वासाने वरदानके रूपमें मुझे प्रयोगविधि-सहित एक मन्त्रका उपदेश दिया और मुझसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति ॥ १३ ॥

'तुम इस मन्त्रसे जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह निष्काम हो या सकाम, निश्चय ही तुम्हारे अधीन हो जायगा ॥ १३ ॥

तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति ।
इत्युक्ताहं तदानेन पितृवेश्मनि भारत ॥ १४ ॥

'राजकुमारी! उस देवताके प्रसादसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' भारत! इस प्रकार मेरे पिताके घरमें उस ब्राह्मणने उस समय मुझसे यह बात कही थी ॥ १४ ॥

ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ।
अनुज्ञाता त्वया देवमाह्वयेयमहं नृप ।
तेन मन्त्रेण राजर्षे यथास्यान्नौ प्रजा हिता ॥ १५ ॥

'उस ब्राह्मणकी बात सत्य ही होगी। उसके उपयोगका यह अवसर आ गया है। महाराज! आपकी आज्ञा होनेपर मैं उस मन्त्रद्वारा किसी देवताका आवाहन कर सकती हूँ। जिससे राजर्षे! हम दोनोंके लिये हितकर संतान प्राप्त हो॥ १५ ॥

(यां मे विद्यां महाराज अददात् स महायशाः ।
तयाहूतः सुरः पुत्रं प्रदास्यति सुरोपमम् ।
अनपत्यकृतं यस्ते शोकं हि व्यपनेष्यति ॥
अपत्यकाम एवं स्यान्ममापत्यं भवेदिति ।)

'महाराज! उन महायशस्वी महर्षिने जो विद्या मुझे दी थी, उसके द्वारा आवाहन करनेपर कोई भी देवता आकर देवोपम पुत्र प्रदान करेगा, जो आपके संतानहीनताजनित शोकको दूर कर देगा; इस प्रकार मुझे संतान प्राप्त होगी और आपकी पुत्रकामना सफल हो जायगी ॥

आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर ।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन् कर्मणि स्थिताम्॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ नरेश! बताइये, मैं किस देवताका आवाहन करूँ। आप समझ लें, मैं (आपके संतोषार्थ) इस कार्यके लिये तैयार हूँ। केवल आपसे आज्ञा मिलनेकी प्रतीक्षामें हूँ' ॥ १६ ॥

पाण्डुरुवाच

(धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि त्वं नो धात्री कुलस्य हि ।
नमो महर्षये तस्मै येन दत्तो वरस्तव ॥
न चाधर्मेण धर्मज्ञे शक्याः पालयितुं प्रजाः ॥)
अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले—प्रिये! मैं धन्य हूँ, तुमने मुझपर महान् अनुग्रह किया। तुम्हीं मेरे कुलको धारण करनेवाली हो। उन महर्षिको नमस्कार है, जिन्होंने तुम्हें वैसा वर दिया। धर्मज्ञे! अधर्मसे प्रजाका पालन नहीं हो सकता। इसलिये वरारोहे! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिये प्रयत्न करो। शुभे! सबसे पहले धर्मका आवाहन करो, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकोंमें धर्मात्मा हैं ॥ १७ ॥

अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्यति कथंचन ।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मन्यते ॥ १८ ॥
धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः ।
धर्मेण चापि दत्तस्य नाधर्मे रंस्यते मनः ॥ १९ ॥
तस्माद् धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते ।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै ॥ २० ॥

(इस प्रकार करनेपर) हमारा धर्म कभी किसी तरह अधर्मसे संयुक्त नहीं हो सकता। वरारोहे! लोक भी उनको

साक्षात् धर्मका स्वरूप मानता है। धर्मसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र कुरुवंशियोंमें सबसे अधिक धर्मात्मा होगा—इसमें संशय नहीं है। धर्मके द्वारा दिया हुआ जो पुत्र होगा, उसका मन अधर्ममें नहीं लगेगा। अतः शुचिस्मिते! तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर धर्मको भी सामने रखते हुए उपचार (पूजा) और अभिचार (प्रयोग-विधि) के द्वारा धर्मदेवताका आवाहन करो॥ १८–२०॥

वैशम्पायन उवाच

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने पति पाण्डुके यों कहनेपर नारियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीने 'तथास्तु' कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीपुत्रोत्पत्त्यनुज्ञाने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीको पुत्रोत्पत्तिके लिये आदेशविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२१

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थं धर्ममच्युतम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब गान्धारीको गर्भ धारण किये एक वर्ष बीत गया, उस समय कुन्तीने गर्भ धारण करनेके लिये अच्युतस्वरूप भगवान् धर्मका आवाहन किया॥ १॥

सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा॥ २॥

देवी कुन्तीने बड़ी उतावलीके साथ धर्मदेवताके लिये पूजाके उपहार अर्पित किये। तत्पश्चात् पूर्वकालमें महर्षि दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसका विधिपूर्वक जप किया॥ २॥

आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात् ततः।
विमाने सूर्यसंकाशे कुन्ती यत्र जपस्थिता॥ ३॥

तब मन्त्रबलसे आकृष्ट हो भगवान् धर्म सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर बैठकर उस स्थानपर आये, जहाँ कुन्तीदेवी जपमें लगी हुई थीं॥ ३॥

विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम्।
सा तं विहस्यमानापि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम्॥ ४॥

तब धर्मने हँसकर कहा—'कुन्ती! बोलो, तुम्हें क्या दूँ?' धर्मके द्वारा हास्यपूर्वक इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती बोली—'मुझे पुत्र दीजिये'॥ ४॥

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम्॥ ५॥

तदनन्तर योगमूर्ति धारण किये हुए धर्मके साथ समागम करके सुन्दराङ्गी कुन्तीने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला था॥ ५॥

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते॥ ६॥

समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम्।
जातमात्रे सुते तस्मिन् वागुवाचाशरीरिणी॥ ७॥

तदनन्तर जब चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्रपर थे, सूर्य तुला राशिपर विराजमान थे, शुक्ल पक्षकी 'पूर्णा' नामवाली पञ्चमी तिथि थी और अत्यन्त श्रेष्ठ अभिजित् नामक आठवाँ मुहूर्त विद्यमान था; उस समय कुन्तीदेवीने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जो महान् यशस्वी था। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई—॥ ६-७॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः।
विक्रान्तः सत्यवाक् चैव राजा पृथ्व्यां भविष्यति॥ ८॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः।
भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ ९॥
यशसा तेजसा चैव वृत्तेन च समन्वितः।

'यह श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्माओंमें अग्रगण्य होगा और इस पृथ्वीपर पराक्रमी एवं सत्यवादी राजा होगा। पाण्डुका यह प्रथम पुत्र 'युधिष्ठिर' नामसे विख्यात हो तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि एवं ख्याति प्राप्त करेगा; यह यशस्वी, तेजस्वी तथा सदाचारी होगा'॥ ८-९½॥

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत्॥ १०॥

उस धर्मात्मा पुत्रको पाकर राजा पाण्डुने पुनः (आग्रहपूर्वक) कुन्तीसे कहा—॥ १०॥

प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु।
(अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठो ज्योतिश्श्रेष्ठो दिवाकरः।
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो बलश्रेष्ठस्तु मारुतः॥
मारुतं मरुतां श्रेष्ठं सर्वप्राणिभिरीडितम्।
आवाहय त्वं नियमात् पुत्रार्थं वरवर्णिनि॥
स नो यं दास्यति सुतं स प्राणबलवान् नृषु।)
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा॥ ११॥

'प्रिये! क्षत्रियको बलसे ही बड़ा कहा गया है। अतः एक ऐसे पुत्रका वरण करो, जो बलमें सबसे श्रेष्ठ हो।

जैसे अश्वमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, सूर्यदेव सम्पूर्ण प्रकाश करनेवालोंमें प्रधान हैं और ब्राह्मण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वायुदेव बलमें सबसे बढ़-चढ़कर हैं। अतः सुन्दरी! अबकी बार तुम पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे समस्त प्राणियोंद्वारा प्रशंसित देवश्रेष्ठ वायुका विधिपूर्वक आवाहन करो। वे हमलोगोंके लिये जो पुत्र देंगे, वह मनुष्योंमें सबसे अधिक प्राणशक्तिसे सम्पन्न और बलवान् होगा।'

स्वामीके इस प्रकार कहनेपर कुन्तीने तब वायुदेवका ही आवाहन किया॥ ११॥

ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत् ते हृदि स्थितम्॥ १२॥

तब महाबली वायु मृगपर आरूढ़ हो कुन्तीके पास आये और यों बोले—'कुन्ती! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, वह कहो। मैं तुम्हें क्या दूँ?'॥ १२॥

सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम।
बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम्॥ १३॥

कुन्तीने लज्जित होकर मुसकराते हुए कहा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये, जो महाबली और विशालकाय होनेके साथ ही सबके घमंडको चूर करनेवाला हो'॥ १३॥

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी॥ १४॥
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत।
इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे॥ १५॥
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत्।
(कुन्ती तु सह पुत्रेण यात्वा सुरुचिरं सरः।
स्नात्वा तु सुतमादाय दशमेऽहनि यादवी॥
दैवतान्यर्चयिष्यन्ती निर्जगामाश्रमात् पृथा।
शैलाभ्याशेन गच्छन्त्यास्तदा भरतसत्तम॥
निश्चक्राम महान् व्याघ्रो जिघांसन् गिरिगह्वरात्॥
तमापतन्तं शार्दूलं विकृष्याथ कुरूत्तमः।
निर्बिभेद शरैः पाण्डुस्त्रिभिस्त्रिदशविक्रमः॥
नादेन महता तां तु पूरयन्तं गिरेर्गुहाम्।)
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल॥ १६॥

वायुदेवसे भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमका जन्म हुआ। जनमेजय! उस महाबली पुत्रको लक्ष्य करके आकाशवाणीने कहा—'यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है।' भीमसेनके जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माताकी गोदसे गिरनेपर उन्होंने अपने अङ्गोंसे एक पर्वतकी चट्टानको चूर-चूर कर दिया। बात यह थी कि यदुकुलनन्दिनी कुन्ती प्रसवके दसवें दिन पुत्रको गोदमें लिये उसके साथ एक सुन्दर सरोवरके निकट गयी और स्नान करके लौटकर देवताओंकी पूजा करनेके लिये कुटियासे बाहर निकली। भरतनन्दन! वह पर्वतके समीप होकर जा रही थी कि इतनेमें ही उसको मार डालनेकी इच्छासे एक बहुत बड़ा व्याघ्र उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकल आया। देवताओंके समान पराक्रमी कुरुश्रेष्ठ पाण्डुने उस व्याघ्रको दौड़कर आते देख धनुष खींच लिया और तीन बाणोंसे मारकर उसे विदीर्ण कर दिया। उस समय वह अपनी विकट गर्जनासे पर्वतकी सारी गुफाको प्रतिध्वनित कर रहा था। कुन्ती बाघके भयसे सहसा उछल पड़ी॥ १४—१६॥

नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम्।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद् गिरौ॥ १७॥

उस समय उसे इस बातका ध्यान नहीं रहा कि मेरी गोदमें भीमसेन सोया हुआ है। उतावलीमें वह वज्रके समान शरीरवाला कुमार पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा॥ १७॥

पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः॥ १८॥

गिरते समय उसने अपने अङ्गोंसे उस पर्वतकी शिलाको चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। पत्थरकी चट्टानको चूर-चूर हुआ देख महाराज पाण्डु बड़े आश्चर्यमें पड़ गये॥ १८॥

(मघे चन्द्रमसा युक्ते सिंहे चाभ्युदिते गुरौ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पुण्ये त्रयोदशे॥
मैत्रे मुहूर्ते सा कुन्ती सुषुवे भीममच्युतम्॥)
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप॥ १९॥

जब चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर विराजमान थे, बृहस्पति सिंह लग्नमें सुशोभित थे, सूर्यदेव दोपहरके समय आकाशके मध्य-भागमें तप रहे थे, उस समय पुण्यमयी त्रयोदशी तिथिको मैत्र मुहूर्तमें कुन्तीदेवीने अविचल शक्तिवाले भीमसेनको जन्म दिया था। भरतश्रेष्ठ भूपाल! जिस दिन भीमसेनका जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी भी उत्पत्ति हुई॥ १९॥

जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत्।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति॥ २०॥

भीमसेनके जन्म लेनेपर पाण्डुने फिर इस प्रकार विचार किया कि मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मुझे सब लोगोंसे श्रेष्ठ उत्तम पुत्र प्राप्त हो॥ २०॥

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते॥ २१॥

यह संसार दैव तथा पुरुषार्थपर अवलम्बित है। इनमें दैव तभी सुलभ (सफल) होता है, जब समयपर उद्योग किया जाय॥ २१॥

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम्।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः॥ २२॥
तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम्।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान् भविष्यति॥ २३॥

बालक भीमके शरीरकी चोटसे चट्टान टूट गयी

अमानुषान् मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् तप्स्ये महत् तपः ॥ २४ ॥

मैंने सुना है कि देवराज इन्द्र ही सब देवताओंमें प्रधान हैं, उनमें अथाह बल और उत्साह है । वे बड़े पराक्रमी एवं अपार तेजस्वी हैं । मैं तपस्याद्वारा उन्हींको संतुष्ट करके महाबली पुत्र प्राप्त करूँगा । वे मुझे जो पुत्र देंगे, वह निश्चय ही सबसे श्रेष्ठ होगा तथा संग्राममें अपना सामना करनेवाले मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों (दैत्य-दानव आदि) को भी मारनेमें समर्थ होगा । अतः मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा बड़ी भारी तपस्या करूँगा ॥ २२–२४ ॥

ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ॥ २५ ॥

ऐसा निश्चय करके कुरुनन्दन महाराज पाण्डुने महर्षियोंसे सलाह लेकर कुन्तीको शुभदायक सांवत्सर व्रतका उपदेश दिया ॥ २५ ॥

आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ॥ २६ ॥
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ॥ २७ ॥
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।

और भारत ! वे महाबाहु धर्मात्मा पाण्डु स्वयं देवताओंके ईश्वर इन्द्रदेवकी आराधना करनेके लिये चित्तवृत्तियोंको अत्यन्त एकाग्र करके एक पैरसे खड़े हो सूर्यके साथ-साथ उग्र तप करने लगे अर्थात् सूर्योदय होनेके समय एक पैरसे खड़े होते और सूर्यास्ततक उसी रूपमें खड़े रहते ।

इस तरह दीर्घकाल व्यतीत हो जानेपर इन्द्रदेव उनपर प्रसन्न हो उनके समीप आये और इस प्रकार बोले ॥ २६-२७½ ॥

शक्र उवाच

पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें ऐसा पुत्र दूँगा, जो तीनों लोकोंमें विख्यात होगा ॥ २८ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ॥ २९ ॥
सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ।

वह ब्राह्मणों, गौओं तथा सुहृदोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति करनेवाला, शत्रुओंको शोक देनेवाला और समस्त बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करनेवाला होगा, मैं तुम्हें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला सर्वश्रेष्ठ पुत्र प्रदान करूँगा ॥ २९½ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ॥ ३० ॥
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ॥ ३१ ॥
दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिंदमम् ॥ ३२ ॥
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ॥ ३३ ॥

महात्मा इन्द्रके यों कहनेपर धर्मात्मा कुरुनन्दन महाराज पाण्डु बड़े प्रसन्न हुए और देवराजके वचनोंका स्मरण करते हुए कुन्तीदेवीसे बोले—'कल्याणि ! तुम्हारे व्रतका भावी परिणाम मङ्गलमय है । देवताओंके स्वामी इन्द्र हमलोगोंपर संतुष्ट हैं और तुम्हें तुम्हारे संकल्पके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र देना चाहते हैं । वह अलौकिक कर्म करनेवाला, यशस्वी, शत्रुदमन, नीतिज्ञ, महामना, सूर्यके समान तेजस्वी, दुर्धर्ष, कर्मठ तथा देखनेमें अत्यन्त अद्भुत होगा ॥ ३०–३३ ॥

पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात् तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥

'सुश्रोणि ! अब ऐसे पुत्रको जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेजका भंडार हो । पवित्र मुसकानवाली कुन्ती ! मैंने देवेन्द्रकी कृपा प्राप्त कर ली है । अब तुम उन्हींका आवाहन करो' ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज पाण्डुके यों कहनेपर यशस्विनी कुन्तीने इन्द्रका आवाहन किया । तदनन्तर देवराज इन्द्र आये और उन्होंने अर्जुनको जन्म दिया ॥ ३५ ॥

(उत्तराभ्यां तु पूर्वाभ्यां फल्गुनीभ्यां ततो दिवा।
जातस्तु फाल्गुने मासि तेनासौ फाल्गुनः स्मृतः ॥)

वह फाल्गुन मासमें दिनके समय पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रोंके संधिकालमें उत्पन्न हुआ। फाल्गुनमास और फाल्गुनी नक्षत्रमें जन्म लेनेके कारण उस बालकका नाम 'फाल्गुन' हुआ॥

जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा ॥ ३६ ॥
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाश्रमवासिनाम्।
कुन्तीमाभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम् ॥ ३७ ॥

कुमार अर्जुनके जन्म लेते ही अत्यन्त गम्भीर नादसे समूचे आकाशको गुँजाती हुई आकाशवाणीने पवित्र मुसकानवाली कुन्तीदेवीको सम्बोधित करके समस्त प्राणियों और आश्रमवासियोंके सुनते हुए अत्यन्त स्पष्ट भाषामें इस प्रकार कहा—॥ ३६-३७ ॥

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवतुल्यपराक्रमः।
एष शक्र इवाजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति ॥ ३८ ॥
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाभूदभिवर्धिता ।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः ॥ ३९ ॥

'कुन्तिभोजकुमारी ! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुनके समान तेजस्वी, भगवान् शिवके समान पराक्रमी और देवराज इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारे यशका विस्तार करेगा। जैसे भगवान् विष्णुने वामनरूपमें प्रकट होकर देवमाता अदितिके हर्षको बढ़ाया था, उसी प्रकार यह विष्णुतुल्य अर्जुन तुम्हारी प्रसन्नताको बढ़ायेगा ॥ ३८-३९ ॥

एष मद्रान् वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः।
चेदिकाशिकरूपांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति ॥ ४० ॥

'तुम्हारा यह वीर पुत्र मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशि तथा करूष नामक देशोंको वशमें करके कुरुवंशकी लक्ष्मीका पालन करेगा ॥ ४० ॥

(गत्वोत्तरदिशं वीरो विजित्य युधि पार्थिवान्।
धनरत्नौघममितमानयिष्यति पाण्डवः ॥)
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम् ॥ ४१ ॥

'वीर अर्जुन उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको युद्धमें जीतकर असंख्य धन-रत्नोंकी राशि ले आयेगा। इसके बाहुबलसे खाण्डववनमें अग्निदेव समस्त प्राणियोंके मेदका आस्वादन करके पूर्ण तृप्ति लाभ करेंगे ॥ ४१ ॥

ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥ ४२ ॥

'यह महाबली श्रेष्ठ वीर बालक समस्त क्षत्रियसमूहका नायक होगा और युद्धमें भूमिपालोंको जीतकर भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा ॥ ४२ ॥

जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः ।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः ॥ ४३ ॥

'कुन्ती ! यह परशुरामके समान वीर योद्धा, भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और महान् यशस्वी होगा ॥ ४३ ॥

एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शंकरम्।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात् तुष्टादवाप्स्यति ॥ ४४ ॥
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः ।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान् वधिष्यति ते सुतः ॥ ४५ ॥

'यह युद्धमें देवाधिदेव भगवान् शंकरको संतुष्ट करेगा और संतुष्ट हुए उन महेश्वरसे पाशुपत नामक अस्त्र प्राप्त करेगा। निवातकवच नामक दैत्य देवताओंसे सदा द्वेष रखते हैं। तुम्हारा यह महाबाहु पुत्र इन्द्रकी आज्ञासे उन सब दैत्योंका संहार कर डालेगा ॥ ४४-४५ ॥

तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलेनाहरिष्यति।
विप्रणष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः ॥ ४६ ॥

'तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ यह अर्जुन सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका पूर्ण रूपसे ज्ञान प्राप्त करेगा और अपनी खोयी हुई सम्पत्तिको पुनः वापस ले आयेगा' ॥ ४६ ॥

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके।
वाचमुच्चारितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम् ॥ ४७ ॥
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम्।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम् ॥ ४८ ॥

कुन्तीने सौरीमेंसे ही यह अत्यन्त अद्भुत बात सुनी। उच्चस्वरमें उच्चारित वह आकाशवाणी सुनकर शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियों तथा विमानोंपर स्थित इन्द्र आदि देवसमूहोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ४७-४८ ॥

आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः ॥ ४९ ॥

तदनन्तर आकाशमें फूलोंकी वर्षाके साथ देव-दुन्दुभियोंका तुमुल नाद बड़े जोरसे गूँज उठा ॥ ४९ ॥

समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन्।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः ॥ ५० ॥
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत् प्रणष्टे
सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम ॥ ५१ ॥

फिर झुंड-के-झुंड देवता वहाँ एकत्र होकर अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे। कद्रूके पुत्र (नाग), विनताके पुत्र (गरुड़ पक्षी), गन्धर्व, अप्सराएँ, प्रजापति, सप्तर्षिगण—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा जो नक्षत्रके रूपमें सूर्यास्त होनेके पश्चात् उदित होते हैं, वे भगवान् अत्रि भी वहाँ आये ५०-५१

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥ ५२॥

मरीचि और अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं प्रजापति दक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी आयीं॥ ५२॥

दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालंकारभूषिताः ।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्तेऽप्सरसां गणाः॥ ५३॥

उन सबने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे। अप्सराओंका पूरा दल वहाँ जुट गया था। वे सभी अर्जुनके गुण गाने और नृत्य करने लगीं॥५३॥

तथा महर्षयश्चापि जेपुस्तत्र समन्ततः।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान् प्रागायत च तुम्बुरुः॥ ५४॥

महर्षि भी वहाँ सब ओर खड़े होकर माङ्गलिक मन्त्रोंका जप करने लगे। गन्धर्वोंके साथ श्रीमान् तुम्बुरुने मधुर स्वरसे गीत गाना प्रारम्भ किया॥ ५४॥

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाष्टमः॥ ५५॥
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा ।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः॥ ५६॥
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चात्र षोडशः।
ऋत्वा बृहत्त्वा बृहकः करालश्च महामनाः॥ ५७॥
ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा॥ ५८॥
गीतमाधुर्यसम्पन्नौ विख्यातौ च हहाहुहू।
इत्येते देवगन्धर्वा जग्मुस्तत्र नराधिप॥ ५९॥

भीमसेन तथा उग्रसेन, ऊर्णायु और अनघ, गोपति एवं धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा तथा आठवें युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि एवं चित्ररथ, तेरहवें शालीशिरा और चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद, ऋत्वा और बृहत्त्वा, बृहक एवं महामना कराल, ब्रह्मचारी तथा विख्यात गुणवान् सुवर्ण, विश्वावसु एवं भुमन्यु, सुचन्द्र और शरु तथा गीतमाधुर्यसे सम्पन्न सुविख्यात हाहा और हूहू—राजन्! ये सब देवगन्धर्व वहाँ पधारे थे॥ ५५-५९॥

तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालंकारभूषिताः ।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः॥ ६०॥

इसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बड़े-बड़े नेत्रोंवाली परम सौभाग्यशालिनी अप्सराएँ भी हर्षोल्लासमें भरकर वहाँ नृत्य करने लगीं॥ ६०॥

अनूचानानवद्या च गुणमुख्या गुणावरा ।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा॥ ६१॥
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा॥ ६२॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा ।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी॥ ६३॥
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः ।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला॥ ६४॥
ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि ।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश॥ ६५॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनूचाना और अनवद्या, गुणमुख्या एवं गुणावरा, अद्रिका तथा सोमा, मिश्रकेशी और अलम्बुषा, मरीचि और शुचिका, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी, रम्भा, मनोरमा, असिता और सुबाहु, सुप्रिया एवं वपु, पुण्डरीका एवं सुगन्धा, सुरसा और प्रमाथिनी, काम्या तथा शारद्वती आदि। ये झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नाचने लगीं। इनमें मेनका, सहजन्या, कर्णिका और पुञ्जिकस्थला, ऋतुस्थला, एवं घृताची, विश्वाची और पूर्वचित्ति, उम्लोचा और प्रम्लोचा—ये दस विख्यात हैं॥ ६१-६५॥

उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चायतलोचनाः ।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोऽंशो भगस्तथा॥ ६६॥
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा।
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः॥ ६७॥

इन्हीं प्रधान अप्सराओंकी श्रेणीमें ग्यारहवीं उर्वशी है। ये सभी विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ वहाँ गीत गाने लगीं। धाता और अर्यमा, मित्र और वरुण, अंश एवं भग, इन्द्र, विवस्वान् और पूषा, त्वष्टा एवं सविता, पर्जन्य तथा विष्णु—ये बारह आदित्य माने गये हैं[1]। ये सभी पाण्डुनन्दन अर्जुनका महत्त्व बढ़ाते हुए आकाशमें खड़े थे॥ ६६-६७॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप॥ ६८॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्तत्रावतस्थिरे॥ ६९॥

शत्रुदमन महाराज! मृगव्याध और सर्प, महायशस्वी निर्ऋति एवं अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य और पिनाकी, दहन तथा ईश्वर, कपाली एवं स्थाणु तथा भगवान् भग—ये ग्यारह रुद्र भी वहाँ आकाशमें आकर खड़े थे॥ ६८-६९॥

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन् परितः स्थिताः॥७०॥

दोनों अश्विनीकुमार तथा आठों वसु, महाबली मरुद्गण एवं विश्वेदेवगण तथा साध्यगण वहाँ सब ओर विद्यमान थे॥७०॥

---

१. यहाँ आदित्योंके तेरह नाम हैं। जान पड़ता है, बारह महीनोंके बारह आदित्य और अधिमास या मलमासके प्रकाशक तेरहवें विष्णु हैं। इसीलिये उसे पुरुषोत्तममास कहते हैं। अधिमासकी पृथक् गणना न होनेसे बारह मासोंके प्रकाशक आदित्य बारह ही कहे गये हैं।

कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः ।
कश्यपश्चाथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ॥ ७१ ॥
आययुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः ।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः ॥ ७२ ॥

कर्कोटक सर्प तथा वासुकि नाग, कश्यप और कुण्ड, महानाग और तक्षक—ये तथा और भी बहुत-से महाबली, महाक्रोधी और तपस्वी नाग वहाँ आकर खड़े थे ॥७१-७२॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः ।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ॥ ७३ ॥

तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि, गरुड एवं असितध्वज, अरुण तथा आरुणि--विनताके ये पुत्र भी उस उत्सवमें उपस्थित थे ॥७३॥

तांश्च देवगणान् सर्वांस्तपःसिद्धा महर्षयः ।
विमानगिर्यग्रगतान् ददृशुर्नेतरे जनाः ॥ ७४ ॥

वे सब देवगण विमान और पर्वतके शिखरपर खड़े थे । उन्हें तपःसिद्ध महर्षि ही देख पाते थे, दूसरे लोग नहीं ॥७४॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः ।
अधिकां स ततो वृत्तिमवर्तन् पाण्डवान् प्रति॥ ७५ ॥

वह महान् आश्चर्य देखकर वे श्रेष्ठ मुनिगण बड़े विस्मयमें पड़े । तबसे पाण्डवोंके प्रति उनमें अधिक प्रेम और आदरका भाव पैदा हो गया ॥ ७५ ॥

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः ।
वक्तुमैच्छद् धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेवमथाब्रवीत् ॥ ७६॥

तदनन्तर महायशस्वी राजा पाण्डु पुत्र-लोभसे आकृष्ट हो अपनी धर्मपत्नी कुन्तीसे फिर कुछ कहना चाहते थे, किंतु कुन्ती उन्हें रोकती हुई बोली—॥ ७६ ॥

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत् ॥ ७७ ॥

'आर्यपुत्र ! आपत्तिकालमें भी तीनसे अधिक चौथी संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। इस विधिके द्वारा तीन-से अधिक चौथी संतान चाहनेवाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवें पुत्रके उत्पन्न होनेपर तो वह कुलटा समझी जाती है॥

स त्वं विद्वन् धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ७८ ॥

'विद्वन् ! आप धर्मको जानते हुए भी प्रमादसे कहनेवालेके समान धर्मका लोप करके अब फिर मुझे संतानोत्पत्तिके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं' ॥ ७८ ॥

(पाण्डुरुवाच

एवमेतद् धर्मशास्त्रं यथा वदसि तत् तथा ।)

पाण्डुने कहा—प्रिये ! वास्तवमें धर्मशास्त्रका ऐसा ही मत है । तुम जो कुछ कहती हो, वह ठीक है ।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ८८½ श्लोक हैं ।)

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति तथा पाण्डु-पुत्रोंके नामकरण-संस्कार

वैशम्पायन उवाच

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कुन्तीके तीन पुत्र उत्पन्न हो गये और धृतराष्ट्रके भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्रीने पाण्डुसे एकान्तमें कहा—॥ १ ॥

न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परंतप ।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा ॥ २ ॥
गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत् कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले निष्पाप कुरुनन्दन ! आप संतान उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हो गये, आपकी इस न्यूनता या दुर्बलताको लेकर मेरे मनमें कोई संताप नहीं है। यद्यपि मैं सदा कुन्तीदेवीकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण पटरानीके पदपर बैठनेकी अधिकारिणी थी, तो भी जो सदा मुझे छोटी बनकर रहना पड़ता है, इसके लिये भी मुझे कोई दुःख नहीं है । राजन् ! गान्धारी तथा राजा धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र हुए हैं, वह समाचार सुनकर भी मुझे वैसा दुःख नहीं हुआ था ॥ २-३॥

इदं तु मे महद् दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति संततिः॥ ४ ॥

'परंतु इस बातका मेरे मनमें बहुत दुःख है कि मैं और कुन्तीदेवी दोनों समानरूपसे आपकी पत्नियाँ हैं, तो भी उन्हें तो पुत्र हुआ और मैं संतानहीन ही रह गयी । यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय मेरे प्राणनाथको कुन्तीके गर्भसे पुत्रकी प्राप्ति हो गयी है ॥ ४ ॥

यदि त्वपत्यसंतानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत् ॥ ५ ॥

'यदि कुन्तिराजकुमारी मेरे गर्भसे भी कोई संतान उत्पन्न

करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा और इससे आपका भी हित हो सकता है ॥ ५ ॥

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥

'सौत होनेके कारण मेरे मनमें एक अभिमान है, जो कुन्तीदेवीसे कुछ निवेदन करनेमें बाधक हो रहा है; अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही मेरे लिये कुन्तीदेवीको प्रेरित कीजिये' ॥ ६ ॥

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥

पाण्डु बोले—माद्री ! यह बात मेरे मनमें भी निरन्तर घूमती रहती है, किंतु इस विषयमें तुमसे कुछ कहनेका साहस नहीं होता था; क्योंकि पता नहीं, तुम यह प्रस्ताव सुनकर प्रसन्न होओगी या बुरा मान जाओगी । यह संदेह बराबर बना रहता था ॥ ७ ॥

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

परंतु आज इस विषयमें तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिये प्रयत्न करूँगा । मुझे विश्वास है, मेरे कहनेपर कुन्तीदेवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम संतानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥
मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः ।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा पाण्डुने एकान्तमें कुन्तीसे यह बात कही—कल्याणि ! मेरी कुल-परम्पराका विच्छेद न हो और सम्पूर्ण जगत्का प्रिय हो, ऐसा कार्य करो । मेरे तथा अपने पूर्वजोंके लिये पिण्डका अभाव न हो और मेरा भी प्रिय हो, इसके लिये तुम परम उत्तम कल्याणमय कार्य करो ॥ ९-१० ॥

यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ॥ ११ ॥

'अपने यशका विस्तार करनेके लिये तुम अत्यन्त दुष्कर कर्म करो, जैसे इन्द्रने स्वर्गका साम्राज्य प्राप्त कर लेनेके बाद भी केवल यशकी कामनासे अनेकानेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ११ ॥

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि ॥ १२ ॥

'भामिनि ! मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यशके लिये गुरुजनोंकी शरण ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण राजर्षियों तथा तपस्वी ब्राह्मणोंने भी यशके लिये छोटे-बड़े कठिन कर्म किये हैं ॥ १३ ॥

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥

अनिन्दिते ! इसी प्रकार तुम भी इस माद्रीको नौकापर बिठाकर पार लगा दो; इसे भी संतति देकर उत्तम यश प्राप्त करो' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात् ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज पाण्डुके यों कहनेपर कुन्तीने माद्रीसे कहा—'तुम एक बार किसी देवताका चिन्तन करो, उससे तुम्हें योग्य संतानकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५ ॥

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥

तब माद्रीने मन-ही-मन कुछ विचार करके दोनों अश्विनीकुमारोंका स्मरण किया । तब उन दोनोंने आकर माद्रीके गर्भसे दो जुड़वें पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ॥ १७ ॥

उनमेंसे एकका नाम नकुल था और दूसरेका सहदेव । पृथ्वीपर सुन्दर रूपमें उन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था । पहलेकी तरह उन दोनों यमल संतानोंके विषयमें भी आकाशवाणीने कहा— ॥ १७ ॥

सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥

'ये दोनों बालक अश्विनीकुमारोंसे भी बढ़कर बुद्धि, रूप और गुणोंसे सम्पन्न होंगे । अपने तेज तथा बढ़ी-चढ़ी रूप-सम्पत्तिके द्वारा ये दोनों सदा प्रकाशित रहेंगे' ॥ १८ ॥

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ॥ १९ ॥

तदनन्तर शतशृङ्गनिवासी ऋषियोंने उन सबके नामकरण-संस्कार किये । उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्मके अनुसार उनके नाम रक्खे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥

कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर, मझलेका नाम भीमसेन और तीसरेका नाम अर्जुन रक्खा गया ॥ २० ॥

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥ २१ ॥

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणोंने माद्री पुत्रोंमेंसे जो पहले उत्पन्न हुआ, उनका नाम नकुल और दूसरेका सहदेव निश्चित किया ।

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ॥ २२ ॥

वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवगण प्रतिवर्ष एक-एक करके उत्पन्न हुए थे, तो भी देवस्वरूप होनेके कारण पाँच संवत्सरोंकी भाँति एक-से सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः ॥ २३ ॥
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतश‍ृङ्गनिवासिनाम् ॥ २४ ॥
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ॥ २५ ॥

वे सभी महान् धैर्यशाली, अधिक वीर्यवान्, महाबली और पराक्रमी थे । उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रोंको देखकर महाराज पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे आनन्दमें मग्न हो गये । वे सभी बालक शतश‍ृङ्गनिवासी समस्त मुनियों और मुनिपत्नियोंके प्रिय थे । तदनन्तर पाण्डुने माद्रीसे संतानकी उत्पत्ति करानेके लिये कुन्तीको पुनः प्रेरित किया ॥२३—२५॥

तमुवाच पृथा राजन् रहस्युक्ता तदा सती ।
उक्ता सकृद् द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ॥ २६ ॥

राजन् ! जब एकान्तमें पाण्डुने कुन्तीसे वह बात कही, तब सती कुन्ती पाण्डुसे इस प्रकार बोली—'महाराज ! मैंने इसे एक पुत्रके लिये नियुक्त किया था, किंतु इसने दो पा लिये । इससे मैं ठगी गयी ॥ २६ ॥

बिभेम्यस्याः परिभवात् कुस्त्रीणां गतिरीदृशी ।
नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ॥ २७ ॥
तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम ।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ॥ २८ ॥
सम्भूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः ।
शुभलक्षणसम्पन्नाः सोमवत् प्रियदर्शनाः ॥ २९ ॥

'अब तो मैं इसके द्वारा मेरा तिरस्कार न हो जाय, इस बातके लिये डरती हूँ । खोटी स्त्रियोंकी ऐसी ही गति होती है । मैं ऐसी मूर्खा हूँ कि मेरी समझमें यह बात नहीं आयी कि दो देवताओंके आवाहनसे दो पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है । अतः राजन् ! अब मुझे इसके लिये आप इस कार्यमें नियुक्त न कीजिये । मैं आपसे यही वर मागती हूँ ।' इस प्रकार पाण्डुके देवताओंके दिये हुए पाँच महाबली पुत्र उत्पन्न हुए, जो यशस्वी होनेके साथ ही कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले और उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे । चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्रिय लगता था ॥ २७—२९ ॥

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ ३० ॥
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३१ ॥

उनका अभिमान सिंहके समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे । उनकी चाल-ढाल भी सिंहके ही समान थी । देवताओंके समान पराक्रमी तथा सिंहकी-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ बढ़ने लगे । उस पुण्यमय हिमालयके शिखरपर पलते और पुष्ट होते हुए वे पाण्डुपुत्र वहाँ एकत्र होनेवाले महर्षियोंको आश्चर्यचकित कर देते थे ॥ ३०-३१ ॥

(जातमात्रानुपादाय शतश‍ृङ्गनिवासिनः ।
पाण्डोः पुत्रानमन्यन्त तापसाः स्वानिवात्मजान् ॥
ततस्तु वृष्णयः सर्वे वसुदेवपुरोगमाः ।
पाण्डुः शापभयाद् भीतः शतश‍ृङ्गमुपेयिवान् ।
तत्रैव मुनिभिः सार्धं तापसोऽभूत् तपश्चरन् ॥
शाकमूलफलाहारस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ।
ध्यानयोगपरो राजा बभूवेति च वादकाः ॥
प्रब्रुवन्ति स्म बहवस्तच्छ्रुत्वा शोककर्षिताः ।
पाण्डोः प्रीतिसमायुक्ताः कदा श्रोष्याम सत्कथाः ॥
इत्येवं कथयन्तस्ते वृष्णयः सह बान्धवैः ।
पाण्डोः पुत्रागमं श्रुत्वा सर्वे हर्षसमन्विताः ॥
सभाजयन्तस्तेऽन्योन्यं वसुदेवं वचोऽब्रुवन् ।

शतश‍ृङ्गनिवासी तपस्वी मुनि पाण्डुके पुत्रोंको जन्मकालसे ही संरक्षणमें लेकर अपने औरस पुत्रोंकी भाँति उनका लाड़-प्यार करते थे । उधर द्वारकामें वसुदेव आदि सब वृष्णिवंशी राजा पाण्डुके विषयमें इस प्रकार विचार कर रहे थे—'अहो ! राजा पाण्डु किंदम मुनिके शापसे भयभीत हो शतश‍ृङ्ग पर्वतपर चले गये हैं और वहीं ऋषि-मुनियोंके साथ तपस्यामें तत्पर हो पूरे तपस्वी बन गये हैं । वे शाक, मूल और फलभोजन करते हैं, तपमें लगे रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं और सदा ध्यानयोगका ही साधन करते हैं । ये बातें बहुत-से संदेशवाहक मनुष्य बता रहे थे ।' यह समाचार सुनकर प्रायः सभी यदुवंशी उनके प्रेमी होनेके नाते शोकमग्न रहते थे । वे सोचते थे—'कब हमें महाराज पाण्डुका शुभ संवाद सुननेको मिलेगा ।' एक दिन अपने भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर सब वृष्णिवंशी जब इस प्रकार पाण्डुके विषयमें कुछ बातें कर रहे थे, उसी समय उन्होंने पाण्डुके पुत्र होनेका समाचार सुना । सुनते ही सब-के-सब हर्षविभोर हो उठे और परस्पर सद्भाव प्रकट करते हुए वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—

वृष्णय ऊचुः

न भवेरन् क्रियाहीनाः पाण्डोः पुत्रा महायशः ।
पाण्डोः प्रियहितान्वेषी प्रेषय त्वं पुरोहितम् ॥

वृष्णियोंने कहा—महायशस्वी वसुदेवजी! हम चाहते हैं कि राजा पाण्डुके पुत्र संस्कारहीन न हों; अतः आप पाण्डुके प्रिय और हितकी इच्छा रखकर उनके पास किसी पुरोहितको भेजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

वसुदेवस्तथेत्युक्त्वा विससर्ज पुरोहितम् ।
युक्तानि च कुमाराणां पारिबर्हाण्यनेकशः ॥
कुन्तीं माद्रीं च संदिश्य दासीदासपरिच्छदम् ।
गाश्च रौप्यं हिरण्यं च प्रेषयामास भारत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसुदेवजीने पुरोहितको भेजा; साथ ही उन कुमारोंके लिये उपयोगी अनेक प्रकारकी वस्त्राभूषण-सामग्री भी भेजी। कुन्ती और माद्रीके लिये भी दासी, दास, वस्त्राभूषण आदि आवश्यक सामान, गौएँ, चाँदी और सुवर्ण भिजवाये ॥

तानि सर्वाणि संगृह्य प्रययौ स पुरोहितः ।
तमागतं द्विजश्रेष्ठं काश्यपं वै पुरोहितम् ॥
पूजयामास विधिवत् पाण्डुः परपुरञ्जयः ।
पृथा माद्री च संहृष्टे वसुदेवं प्रशंसताम् ॥

उन सब सामग्रियोंको एकत्र करके अपने साथ ले पुरोहितने वनको प्रस्थान किया। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले राजा पाण्डुने पुरोहित द्विजश्रेष्ठ काश्यपके आनेपर उनका विधिपूर्वक पूजन किया। कुन्ती और माद्रीने प्रसन्न होकर वसुदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत् ।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च ॥
काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत ।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः ॥
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः ।

तब पाण्डुने अपने पुत्रोंके गर्भाधानसे लेकर चूडाकरण और उपनयनतक सभी संस्कार-कर्म करवाये। भारत! पुरोहित काश्यपने उनके सब संस्कार सम्पन्न किये। बैलोंके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले वे यशस्वी पाण्डव चूडाकरण और उपनयनके पश्चात् उपाकर्म करके वेदाध्ययनमें लगे और उसमें पारंगत हो गये ॥

शार्यातेः पृषतः पुत्रः शुको नाम परंतपः ॥
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा स महात्मा महामखैः ॥
आराध्य देवताः सर्वाः पितॄनपि महामतिः ।
शतशृङ्गे तपस्तेपे शाकमूलफलाशनः ॥
तेनोपकरणश्रेष्ठैः शिक्षया चोपबृंहिताः ।
तत्प्रसादाद् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः ॥

भारत! शर्यातिवंशज पृषत्के एक पुत्र थे, जिनका नाम था शुक। वे अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करनेवाले थे। उन शुकने किसी समय अपने धनुषके बलसे जीतकर समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर अधिकार कर लिया था। अश्वमेध-जैसे सौ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान एवं सम्पूर्ण देवताओं तथा पितरोंकी आराधना करके परम बुद्धिमान् महात्मा राजा शुक शतशृङ्ग पर्वतपर आकर शाक और फल-मूलका आहार करते हुए तपस्या करने लगे। उन्हीं तपस्वी नरेशने श्रेष्ठ उपकरणों और शिक्षाके द्वारा पाण्डवोंकी योग्यता बढ़ायी। राजर्षि शुकके कृपा-प्रसादसे सभी पाण्डव धनुर्वेदमें पारंगत हो गये ॥

गदायां पारगो भीमस्तोमरेषु युधिष्ठिरः ।
असिचर्मणि निष्णातौ यमौ सत्त्ववतां वरौ ॥
धनुर्वेदे गतः पारं सव्यसाची परंतपः ।
शुकेन समनुज्ञातो मत्समोऽयमिति प्रभो ।
अनुज्ञाय ततो राजा शक्तिं खड्गं तथा शरान् ॥
धनुश्च ददतां श्रेष्ठः तालमात्रं महाप्रभम् ।
विपाठक्षुरनाराचान् गृध्रपत्रानलंकृतान् ॥
ददौ पार्थाय संहृष्टो महोरगसमप्रभान् ।
अवाप्य सर्वशस्त्राणि मुदितो वासवात्मजः ॥
मेने सर्वान् महीपालान् अपर्याप्तान् स्वतेजसः ।

भीमसेन गदा-संचालनमें पारंगत हुए और युधिष्ठिर तोमर फेंकनेमें। धैर्यवान् और शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ दोनों माद्रीपुत्र ढाल-तलवार चलानेकी कलामें निपुण हुए। परंतप सव्यसाची अर्जुन धनुर्वेदके पारगामी विद्वान् हुए। राजन्! जब दाताओंमें श्रेष्ठ शुकने जान लिया कि अर्जुन मेरे समान धनुर्वेदके ज्ञाता हो गये, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर शक्ति, खड्ग, बाण ताड़के समान विशाल अत्यन्त चमकीला धनुष तथा विपाठ, क्षुर एवं नाराच अर्जुनको दिये। विपाठ आदि सभी प्रकारके बाण गीधकी पाँखोंसे युक्त तथा अलंकृत थे। वे देखनेमें बड़े-बड़े सर्पोंके समान जान पड़ते थे। इन सब अस्त्र शस्त्रोंको पाकर इन्द्रपुत्र अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे यह अनुभव करने लगे कि भूमण्डलके कोई भी नरेश तेजमें मेरी समानता नहीं कर सकते ॥

एकवर्षान्तरास्त्वेवं परस्परमरिंदमाः ।
अन्ववर्धन्त पार्थाश्च माद्रीपुत्रौ तथैव च ॥)

शत्रुदमन पाण्डवोंकी आयुमें परस्पर एक-एक वर्षका अन्तर था। कुन्ती और माद्री दोनों देवियोंके पुत्र दिन-दिन बढ़ने लगे ॥

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ ३२ ॥

फिर तो जैसे जलमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समयमें बढ़कर सयाने हो गये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं ।)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुकी मृत्यु और माद्रीका उनके साथ चितारोहण

वैशम्पायन उवाच

दर्शनीयांस्ततः पुत्रान् पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान् पश्यन् पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस महान् वनमें रमणीय पर्वत-शिखरपर महाराज पाण्डु उन पाँचों दर्शनीय पुत्रोंको देखते हुए अपने बाहुबलके सहारे प्रसन्नतापूर्वक निवास करने लगे ॥ १ ॥

(पूर्णे चतुर्दशे वर्षे फाल्गुनस्य च धीमतः ।
तदा उत्तरफल्गुन्यां प्रवृत्ते स्वस्तिवाचने ॥
रक्षणे विस्मृता कुन्ती व्यग्रा ब्राह्मणभोजने ।
पुरोहितेन सहिता ब्राह्मणान् पर्यवेषयत् ॥
तस्मिन् काले समाहूय माद्रीं मदनमोहितः ।)
सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसम्मोहने राजा सभार्यो व्यचरद् वनम् ॥ २ ॥

एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् अर्जुनका चौदहवाँ वर्ष पूरा हुआ था । उनकी जन्म-तिथिको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें ब्राह्मणलोगोंने स्वस्तिवाचन प्रारम्भ किया । उस समय कुन्ती-देवीको महाराज पाण्डुकी देख-भालका ध्यान न रहा । वे ब्राह्मणोंको भोजन करानेमें लग गयीं । पुरोहितके साथ स्वयं ही उनको रसोई परोसने लगीं। इसी समय काममोहित पाण्डु माद्रीको बुलाकर अपने साथ ले गये । उस समय चैत्र और वैशाखके महीनोंकी संधिका समय था, समूचा वन भाँति-भाँतिके सुन्दर पुष्पोंसे अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभासे समस्त प्राणियोंको मोहित कर रहा था, राजा पाण्डु अपनी छोटी रानीके साथ वनमें विचरने लगे ॥ २ ॥

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥

पलाश, तिलक, आम, चम्पा, पारिभद्रक तथा और भी बहुत-से वृक्ष फल-फूलोंकी समृद्धिसे भरे हुए थे, जो उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे । नाना प्रकारके जलाशयों तथा कमलोंसे सुशोभित उस वनकी मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डुके मनमें कामका संचार हो गया ॥ ३-४ ॥

प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥

वे मनमें हर्षोल्लास भरकर देवताकी भाँति वहाँ विचर रहे थे । उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहिने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी ॥ ५ ॥

समीक्षमाणः स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥ ६ ॥

वह युवावस्थासे युक्त थी और उसके शरीरपर झीनी-झीनी साड़ी सुशोभित थी । उसकी ओर देखते ही पाण्डुके मनमें कामनाकी आग जल उठी, मानो घने वनमें दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६ ॥

रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥ ७ ॥

एकान्त प्रदेशमें कमलनयनी माद्रीको अकेली देखकर राजा कामका वेग रोक न सके, वे पूर्णतः कामदेवके अधीन हो गये थे ॥ ७ ॥

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥

अतः एकान्तमें मिली हुई माद्रीको महाराज पाण्डुने बलपूर्वक पकड़ लिया । देवी माद्री राजाकी पकड़से छूटनेके लिये यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी ॥ ८ ॥

स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद् बलादिव ॥ ९ ॥
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशं गतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना सम्प्रचोदितः ॥ १० ॥

परंतु उनके मनपर तो कामका वेग सवार था; अतः उन्होंने मृगरूपधारी मुनिसे प्राप्त हुए शापका विचार नहीं किया । कुरुनन्दन जनमेजय ! वे कामके वशमें हो गये थे, इसलिये प्रारब्धसे प्रेरित हो शापके भयकी अवहेलना करके स्वयं ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये बलपूर्वक मैथुन करनेकी इच्छा रखकर माद्रीसे लिपट गये ॥ ९-१० ॥

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात् कालेन मोहिता ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रणष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥

साक्षात् कालने कामात्मा पाण्डुकी बुद्धि मोह ली थी । उनकी बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर विचारशक्तिके साथ-साथ स्वयं भी नष्ट हो गयी थी ॥ ११ ॥

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्रीसे समागम करके कालके गालमें पड़ गये ॥ १२ ॥

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥ १३ ॥

तब माद्री राजाके शवसे लिपटकर बार-बार अत्यन्त दुःखभरी वाणीमें विलाप करने लगी ॥ १३ ॥

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥ १४ ॥

इतनेमें ही पुत्रोंसहित कुन्ती और दोनों पाण्डुनन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृतकावस्थामें पड़े थे ॥ १४ ॥

ततो माद्रयब्रवीद् राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥ १५ ॥

जनमेजय ! यह देख शोकातुर माद्रीने कुन्तीसे कहा—'बहिन ! आप अकेली ही यहाँ आयें । बच्चोंको वहीं रहने दें' ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा ॥ १६ ॥

माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्तीने सब बालकोंको वहीं रोक दिया और 'हाय ! मैं मारी गयी' इस प्रकार आर्तनाद करती हुई सहसा माद्रीके पास आ पहुँची ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ॥ १७ ॥

आकर उसने देखा, पाण्डु और माद्री धरतीपर पड़े हुए हैं । यह देख कुन्तीके सम्पूर्ण शरीरमें शोकाग्नि व्याप्त हो गयी और वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी—॥ १७ ॥

रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान् ।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन् वनौकसः ॥ १८ ॥

'माद्री ! मैं सदा वीर एवं जितेन्द्रिय महाराजकी रक्षा करती आ रही थी । उन्होंने मृगके शापकी बात जानते हुए भी तुम्हारे साथ बलपूर्वक समागम कैसे किया ? ॥ १८ ॥

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः ।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ॥ १९ ॥

'माद्री ! तुम्हें तो महाराजकी रक्षा करनी चाहिये थी । तुमने एकान्तमें उन्हें लुभाया क्यों ? ॥ १९ ॥

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम् ।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत ॥ २० ॥

'वे तो उस शापका चिन्तन करते हुए सदा दीन और उदास बने रहते थे, फिर तुमको एकान्तमें पाकर उनके मनमें कामजनित हर्ष कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥ २० ॥

धन्या त्वमसि वाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ॥ २१ ॥

'वाह्लीकराजकुमारी ! तुम धन्य हो, मुझसे बड़भागिनी हो; क्योंकि तुमने हर्षोल्लाससे भरे हुए महाराजके मुखचन्द्र-का दर्शन किया है ॥ २१ ॥

माद्र्युवाच

विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत् ।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ॥ २२ ॥

माद्री बोली—महारानी ! मैंने रोते-बिलखते बार-बार महाराजको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे तो उस शापजनित दुर्भाग्यको मोहके कारण मानो सत्य करना चाहते थे, इसलिये अपने-आपको रोक न सके ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

(तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती शोकाग्नितापिता ।
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥
निश्चेष्टा पतिता भूमौ मोहान्नैव चचाल सा ॥
कुन्तीमुत्थाप्य माद्री च मोहेनाविष्टचेतनाम् ।
पादयोः पतिता कुन्ती पुनरुत्थाय भूमिपम् ॥
सस्मितेन तु वक्त्रेण वदन्तमिव भारत ।
परिरभ्य तदा मोहाद् विललापाकुलेन्द्रिया ॥
माद्री चापि समालिङ्ग्य राजानं विललाप सा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्ती शोकाग्निसे संतप्त हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी और गिरते ही मूर्च्छा आ जानेके कारण निश्चेष्ट पड़ी रही, हिल-डुल भी न सकी । वह मूर्च्छावश अचेत हो गयी थी । माद्रीने उसे उठाया और कहा—'बहिन ! आइये, आइये !' यों कहकर उसने कुन्तीको कुरुराज पाण्डुका दर्शन कराया । कुन्ती उठकर पुनः महाराज पाण्डुके चरणोंमें गिर पड़ी । महाराजके मुखपर मुसकराहट थी और ऐसा जान पड़ता था मानो वे अभी-अभी कोई बात कहने जा रहे हैं । उस समय मोहवश उन्हें हृदयसे लगाकर कुन्ती विलाप करने लगी । उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी थीं । इसी प्रकार माद्री भी राजाका आलिङ्गन करके करुण विलाप करने लगी ॥

तं तथाधिगतं पाण्डुमृषयः सह चारणैः ।
अभ्येत्य सहिताः सर्वे शोकादश्रूण्यवर्तयन् ॥
अस्तं गतमिवादित्यं सुशुष्कमिव सागरम् ।
दृष्ट्वा पाण्डुं नरव्याघ्रं शोचन्ति स्म महर्षयः ॥
समानशोका ऋषयः पाण्डवाश्च बभूविरे ।
ते समाश्वासिते विप्रैः विलेपतुरनिन्दिते ॥

इस प्रकार मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए पाण्डुके पास चारणोंसहित सभी ऋषि-मुनि जुट आये और शोकवश आँसू बहाने लगे । अस्ताचलको पहुँचे हुए सूर्य तथा एकदम सूखे हुए समुद्रकी भाँति नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर सभी महर्षि शोकमग्न हो गये । उस समय ऋषियोंको तथा पाण्डुपुत्रोंको समान-रूपसे शोकका अनुभव हो रहा था । ब्राह्मणोंने पाण्डुकी दोनों

सती साध्वी रानियोंको समझा-बुझाकर बहुत आश्वासन दिया, तो भी उनका विलाप बंद नहीं हुआ ॥

कुन्त्युवाच

हा राजन् कस्य नौ हित्वा गच्छसि त्रिदशालयम् ॥
हा राजन् मम मन्दायाः कथं माद्रीं समेत्य वै ।
निधनं प्राप्तवान् राजन् मद्भाग्यपरिसंक्षयात् ॥
युधिष्ठिरं भीमसेनमर्जुनं च यमावुभौ ।
कस्य हित्वा प्रियान् पुत्रान् प्रयातोऽसि विशाम्पते ॥
नूनं त्वां त्रिदशा देवाः प्रतिनन्दन्ति भारत ।
यथा हि तप उग्रं ते चरितं विप्रसंसदि ॥
आवाभ्यां सहितो राजन् गमिष्यसि दिवं शुभम् ।
आजमीढाजमीढानां कर्मणा चरितां गतिम् ॥

कुन्ती बोली—हा! महाराज! आप हम दोनोंको किसे सौंपकर स्वर्गलोकमें जा रहे हैं। हाय! मैं कितनी भाग्यहीना हूँ। मेरे राजा! आप किस लिये अकेली माद्रीसे मिलकर सहसा कालके गालमें चले गये। मेरा भाग्य नष्ट हो जानेके कारण ही आज यह दिन देखना पड़ा है। प्रजानाथ! युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव—इन प्यारे पुत्रोंको किसके जिम्मे छोड़कर आप चले गये? भारत! निश्चय ही देवता आपका अभिनन्दन करते होंगे; क्योंकि आपने ब्राह्मणोंकी मण्डलीमें रहकर कठोर तपस्या की है। अजमीढ-कुलनन्दन! आपके पूर्वजोंने पुण्य-कर्मोंद्वारा जिस गतिको प्राप्त किया है, उसी शुभ स्वर्गीय गतिको आप हम दोनों पत्नियोंके साथ प्राप्त करेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

विलपित्वा भृशं त्वेवं निःसंज्ञे पतिते भुवि ।
युधिष्ठिरमुखाः सर्वे पाण्डवा वेदपारगाः ।
तेऽप्यागत्य पितुर्मूले निःसंज्ञाः पतिता भुवि ॥
पाण्डोःपादौ परिष्वज्य विलपन्ति स्म पाण्डवाः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अत्यन्त विलाप करके कुन्ती और माद्री दोनों अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डव वेदविद्यामें पारंगत हो चुके थे, वे भी पिताके समीप आकर संज्ञाशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े। सभी पाण्डव पाण्डुके चरणोंको हृदयसे लगाकर विलाप करने लगे ॥

कुन्त्युवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ॥ २३ ॥
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ॥ २४ ॥
अवाप्य पुत्राँल्लब्धात्मा वीरपत्नीत्वमर्थये ।

कुन्तीने कहा—माद्री! मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ, अतः धर्मके ज्येष्ठ फलपर भी मेरा ही अधिकार है। जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको। मैं मृत्युके वशमें पड़े हुए अपने स्वामीका अनुगमन करूँगी। अब तुम इन्हें छोड़कर उठो और इन बच्चोंका पालन करो। पुत्रोंको पाकर मेरा लौकिक मनोरथ पूर्ण हो चुका है; अब मैं पतिके साथ दग्ध होकर वीरपत्नीका पद पाना चाहती हूँ ॥ २३-२४ ॥

माद्र्युवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम् ॥ २५ ॥

माद्री बोली—रणभूमिसे कभी पीठ न दिखानेवाले अपने पतिदेवके साथ मैं ही जाऊँगी; क्योंकि उनके साथ होनेवाले कामभोगसे मैं तृप्त नहीं हो सकी हूँ। आप बड़ी बहिन हैं, इसलिये मुझे आपको आज्ञा प्रदान करनी चाहिये ।२५।

मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद् भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६ ॥

ये भरतश्रेष्ठ मेरे प्रति आसक्त हो मुझसे समागम करके मृत्युको प्राप्त हुए हैं; अतः मुझे किसी प्रकार परलोकमें पहुँचकर उनकी उस कामवासनाकी निवृत्ति करनी चाहिये ॥

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ॥ २७ ॥

आर्ये! मैं आपके पुत्रोंके साथ अपने सगे पुत्रोंकी भाँति बर्ताव नहीं कर सकूँगी। उस दशामें मुझे पाप लगेगा ॥

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥ २८ ॥

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रोंका भी अपने पुत्रोंके समान ही पालन कीजियेगा। इसके सिवा ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्युके अधीन हुए हैं ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ऋषयस्तान् समाश्वास्य पाण्डवान् सत्यविक्रमान् ।
ऊचुः कुन्तीं च माद्रीं च समाश्वास्य तपस्विनः ॥
सुभगे बालपुत्रे तु न मर्तव्यं कथंचन ।
पाण्डवांश्चापि नेष्यामः कुरुराष्ट्रं परंतपान् ॥
अधर्मेष्वर्थजातेषु धृतराष्ट्रश्च लोभवान् ।
स कदाचिन्न वर्तेत पाण्डवेषु यथाविधि ॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
माद्र्याश्च बलिनां श्रेष्ठः शल्यो भ्राता महारथः ॥
भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः ।
युवाभ्यां दुष्करं चैतद् वदन्ति द्विजपुङ्गवाः ॥
मृते भर्तरि या साध्वी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
यमैश्च नियमैः श्रान्ता मनोवाक्कायजैः शुभैः ॥
व्रतोपवासनियमैः कृच्छ्रैश्चान्द्रायणादिभिः ।
भूशय्यां क्षारलवणवर्जनं चैकभोजनम् ॥

येन केनापि विधिना देहशोषणतत्परा।
देहपोषणसंयुक्ता विषयैर्हृतचेतना॥
देहव्ययेन नरकं महदाप्नोत्यसंशयः।
तस्मात्संशोषयेद् देहं विषया नाशमाप्नुयुः॥
भर्तारं चिन्तयन्ती सा भर्तारं निस्तरेच्छुभा।
तारितश्चापि भर्ता स्यादात्मा पुत्रस्तथैव च॥
तस्माज्जीवितमेतद् युवयोर्विद्म शोभनम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर तपस्वी ऋषियोंने सत्यपराक्रमी पाण्डवोंको धीरज बँधाकर कुन्ती और माद्रीको भी आश्वासन देते हुए कहा—'सुभगे! तुम दोनोंके पुत्र अभी बालक हैं, अतः तुम्हें किसी प्रकार देह-त्याग नहीं करना चाहिये। हमलोग शत्रुदमन पाण्डवोंको कौरवराष्ट्रकी राजधानीमें पहुँचा देंगे। राजा धृतराष्ट्र अधर्ममय धनके लिये लोभ रखता है, अतः वह कभी पाण्डवोंके साथ यथायोग्य बर्ताव नहीं कर सकता। कुन्तीके रक्षक एवं सहायक वृष्णिवंशी और राजा कुन्तिभोज हैं तथा माद्रीके बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी शल्य उसके भाई हैं। इसमें संदेह नहीं कि पतिके साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नीके लिये महान् फलदायक होता है; तथापि तुम दोनोंके लिये यह कार्य अत्यन्त कठोर है, यह बात सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं। जो स्त्री साध्वी होती है, वह अपने पतिकी मृत्यु हो जानेके बाद ब्रह्मचर्यके पालनमें अविचल भावसे लगी रहती है, यम और नियमोंके पालनका क्लेश सहन करती है और मन, वाणी एवं शरीरद्वारा किये जानेवाले शुभ कर्मों तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, उपवास और नियमोंका अनुष्ठान करती है। वह क्षार (पापड़ आदि) और लवणका त्याग करके एक बार ही भोजन करती और भूमिपर शयन करती है। वह जिस किसी प्रकारसे अपने शरीरको सुखानेके प्रयत्नमें लगी रहती है। किंतु विषयोंके द्वारा नष्ट हुई बुद्धिवाली जो नारी देहको पुष्ट करनेमें ही लगी रहती है, वह तो इस (दुर्लभ मनुष्य-) शरीरको व्यर्थ ही नष्ट करके निःसंदेह महान् नरकको प्राप्त होती है। अतः साध्वी स्त्रीको उचित है कि वह अपने शरीरको सुखाये, जिससे सम्पूर्ण विषय-कामनाएँ नष्ट हो जायँ। इस प्रकार उपर्युक्त धर्मका पालन करनेवाली जो शुभलक्षणा नारी अपने पतिदेवका चिन्तन करती रहती है, वह अपने पतिका भी उद्धार कर देती है। इस तरह वह स्वयं अपनेको, अपने पतिको एवं पुत्रको भी संसारसे तार देती है। अतः हमलोग तो यही अच्छा मानते हैं कि तुम दोनों जीवन-धारण करो।'

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डोश्च निर्देशः तथा विप्रगणस्य च।
आज्ञा शिरसि निक्षिप्ता करिष्यामि च तत् तथा॥
यथाऽऽहुर्भगवन्तो हि तन्मन्ये शोभनं परम्।
भर्तुश्च मम पुत्राणां मम चैव न संशयः॥

कुन्ती बोली—महात्माओ! हमारे लिये महाराज पाण्डुकी आज्ञा जैसे शिरोधार्य है, उसी प्रकार आप सब ब्राह्मणोंकी भी है। आपका आदेश मैं सिर-माथे रखती हूँ। आप जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगी। पूज्यपाद विप्रगण जैसा कहते हैं, उसीको मैं अपने पति, पुत्रों तथा अपने आपके लिये भी परम कल्याणकारी समझती हूँ—इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥

माद्र्युवाच

कुन्ती समर्था पुत्राणां योगक्षेमस्य धारणे।
अस्या हि न समा बुद्ध्या यद्यपि स्यादरुन्धती॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च।
नाहं त्वमिव पुत्राणां समर्था धारणे तथा॥
साहं भर्तारमन्वेष्ये अतृप्ता नन्वहं तथा।
भर्तृलोकस्य तु ज्येष्ठा देवी मामनुमन्यताम्॥
धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य सत्यधर्मस्य धीमतः।
पादौ परिचरिष्यामि तदार्ये ह्यनुमन्यताम्॥

माद्रीने कहा—कुन्तीदेवी सभी पुत्रोंके योग-क्षेमके निर्वाहमें—पालन-पोषणमें समर्थ हैं। कोई भी स्त्री, चाहे वह अरुन्धती ही क्यों न हो, बुद्धिमें इनकी समानता नहीं कर सकती। वृष्णिवंशके लोग तथा महाराज कुन्तिभोज भी कुन्तीके रक्षक एवं सहायक हैं। बहिन! पुत्रोंके पालन-पोषणकी शक्ति जैसी आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है। अतः मैं पतिका ही अनुगमन करना चाहती हूँ। पतिके संयोग-सुखसे मेरी तृप्ति भी नहीं हुई है। अतः आप बड़ी महारानीसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे पतिलोकमें जानेकी आज्ञा दें। मैं वहीं धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और बुद्धिमान् पतिके चरणोंकी सेवा करूँगी। आर्ये! आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाराज मद्रराजसुता शुभा।
ददौ कुन्त्यै यमौ माद्री शिरसाभिप्रणम्य च॥
अभिवाद्य ऋषीन् सर्वान् परिष्वज्य च पाण्डवान्।
मूर्ध्न्युपाघ्राय बहुशः पार्थानात्मसुतौ तथा।
हस्ते युधिष्ठिरं गृह्य माद्री वाक्यमभाषत॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! यों कहकर मद्रदेशकी राजकुमारी सती साध्वी माद्रीने कुन्तीको प्रणाम करके अपने दोनों जुड़वें पुत्र उन्हींको सौंप दिये। तत्पश्चात् उसने महर्षियोंको मस्तक नवाकर पाण्डवोंको हृदयसे लगा लिया और बारंबार कुन्तीके तथा अपने पुत्रोंके मस्तक सूँघकर युधिष्ठिरका हाथ पकड़कर कहा॥

माद्रयुवाच

कुन्ती माता अहं धात्री युष्माकं तु पिता मृतः।
युधिष्ठिरः पिता ज्येष्ठश्चतुर्णां धर्मतः सदा ॥
वृद्धानुशासने सक्ताः सत्यधर्मपरायणाः।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ॥
तस्मात् सर्वे कुरुध्वं वै गुरुवृत्तिमतन्द्रिताः।

माद्री बोली-बच्चो ! कुन्तीदेवी ही तुम सबोंकी असली माता हैं, मैं तो केवल दूध पिलानेवाली धाय थी। तुम्हारे पिता तो मर गये। अब बड़े भैया युधिष्ठिर ही धर्मतः तुम चारों भाइयोंके पिता हैं। तुम सब बड़े-बूढ़ों—गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहना और सत्य एवं धर्मके पालनसे कभी मुँह न मोड़ना। ऐसा करनेवाले लोग कभी नष्ट नहीं होते और न कभी उनकी पराजय ही होती है। अतः तुम सब भाई आलस्य छोड़कर गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहना ॥

वैशम्पायन उवाच

ऋषीणां च पृथायाश्च नमस्कृत्य पुनः पुनः।
आयासकृपणा माद्री प्रत्युवाच पृथां तथा ॥
धन्या त्वमसि वार्ष्णेयि नास्ति स्त्री सदृशी त्वया।
वीर्यं तेजश्च योगं च माहात्म्यं च यशस्विनाम् ॥
कुन्ति द्रक्ष्यसि पुत्राणां पञ्चानाममितौजसाम्।
ऋषीणां संनिधावेषां मया वागभ्युदीरिता ॥
स्वर्गं दिदृक्षमाणायाः ममैषा न वृथा भवेत्।
आर्या चाप्यभिवाद्या च मम पूज्या च सर्वतः ॥
ज्येष्ठा वरिष्ठा त्वं देवि भूषिता स्वगुणैः शुभैः।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि त्वया यादवनन्दिनि ॥
धर्मं स्वर्गं च कीर्तिं च त्वत्कृतेऽहमवाप्नुयाम्।
यथा तथा विधत्स्वेह मा च कार्षीर्विचारणाम् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! तत्पश्चात् माद्रीने ऋषियों तथा कुन्तीको बारंबार नमस्कार करके, क्लेशसे क्लान्त होकर कुन्तीदेवीसे दीनतापूर्वक कहा—'वृष्णिकुलनन्दिनि ! आप धन्य हैं। आपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है; क्योंकि आपको इन अमिततेजस्वी तथा यशस्वी पाँचों पुत्रोंके बल, पराक्रम, तेज, योगबल तथा माहात्म्य देखनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैंने स्वर्गलोकमें जानेकी इच्छा रखकर इन महर्षियोंके समीप जो यह बात कही है, वह कदापि मिथ्या न हो। देवि ! आप मेरी गुरु, वन्दनीया तथा पूजनीया हैं; अवस्थामें बड़ी तथा गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। समस्त नैसर्गिक सद्गुण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। यादवनन्दिनि ! अब मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ। आपके प्रयत्नद्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्तिकी प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसरपर करें। मनमें किसी दूसरे विचारको स्थान न दें' ॥

बाष्पसंदिग्धया वाचा कुन्त्युवाच यशस्विनी ॥
अनुज्ञातासि कल्याणि त्रिदिवे संगमोऽस्तु ते।
भर्त्रा सह विशालाक्षि क्षिप्रमद्यैव भामिनि ॥
संगता स्वर्गलोके त्वं रमेथाः शाश्वतीः समाः ॥)
राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम्।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥ २९ ॥

तब यशस्विनी कुन्तीने बाष्पगद्गद वाणीमें कहा—'कल्याणि ! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी। विशाललोचने ! तुम्हें आज ही स्वर्गलोकमें पतिका समागम प्राप्त हो। भामिनि ! तुम स्वर्गमें पतिसे मिलकर अनन्त वर्षोंतक प्रसन्न रहो।'

माद्री बोली—'मेरे इस शरीरको महाराजके शरीरके साथ ही अच्छी प्रकार ढँककर दग्ध कर देना चाहिये। बड़ी बहिन ! आप मेरा यह प्रिय कार्य कर दें ॥ २९ ॥

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन ॥ ३० ॥

'मेरे पुत्रोंका हित चाहती हुई सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करें। इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं जान पड़ती' ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम्।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीसे यह कहकर पाण्डुकी यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिताकी आगपर रक्खे हुए नरश्रेष्ठ पाण्डुके शवके साथ स्वयं भी चितापर जा बैठी ॥ ३१ ॥

(ततः पुरोहितः स्नात्वा प्रेतकर्मणि पारगः।
हिरण्यशकलान्याज्यं तिलान् दधि च तण्डुलान् ॥
उदकुम्भं सपरशुं समानीय तपस्विभिः।
अश्वमेधाग्निमाहृत्य यथान्यायं समन्ततः ॥
काश्यपः कारयामास पाण्डोः प्रेतस्य तां क्रियाम् ॥

तदनन्तर प्रेतकर्मके पारंगत विद्वान् पुरोहित काश्यपने स्नान करके सुवर्णखण्ड, घृत, तिल, दही, चावल, जलसे भरा घड़ा और फरसा आदि वस्तुओंको एकत्र करके तपस्वी मुनियोंद्वारा अश्वमेधकी अग्नि मँगवायी और उसे चारों ओरसे चितासे छुलाकर यथायोग्य शास्त्रीय विधिसे पाण्डुका दाह-संस्कार करवाया ॥

अहताम्बरसंवीतो भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
उदकं कृतवांस्तत्र पुरोहितमते स्थितः ॥
अर्हतस्तस्य कृत्यानि शतशृङ्गनिवासिनः।

तापसा विधिवच्चक्रुश्चारणा ऋषिभिः सह ॥)

भाइयोंसहित निष्पाप युधिष्ठिरने नूतन वस्त्र धारण करके पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार जलाञ्जलि देनेका कार्य पूरा किया। शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियों और चारणोंने आदरणीय राजा पाण्डुके परलोक-सम्बन्धी सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न किये ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डूपरमे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके परलोकगमनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५०½ श्लोक मिलाकर कुल ८१½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषियोंका कुन्ती और पाण्डवोंको लेकर हस्तिनापुर जाना और उन्हें भीष्म आदिके हाथों सौंपना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयांचक्रिरे मिथः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा पाण्डुकी मृत्यु हुई देख वहाँ रहनेवाले, देवताओंके समान तेजस्वी सम्पूर्ण मन्त्रज्ञ महर्षियोंने आपसमें सलाह की ॥ १ ॥

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः ॥ २ ॥

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थानपर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियोंकी शरणमें रहते थे ॥ २ ॥

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥ ३ ॥

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रोंको आपलोगोंके पास धरोहर रखकर यहाँसे स्वर्गलोक चले गये ॥ ३ ॥

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः ॥ ४ ॥

उनके इन पुत्रोंको, पाण्डु और माद्रीके शरीरोंकी अस्थियोंको तथा उन महात्मा नरेशकी महारानी कुन्तीको लेकर हमलोग उनकी राजधानीमें चलें। इस समय हमारे लिये यही धर्म प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान् पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥ ५ ॥
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान् दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार परस्पर सलाह करके उन देवतुल्य उदारचेता सिद्ध महर्षियोंने पाण्डवोंको भीष्म एवं धृतराष्ट्रके हाथों सौंप देनेके लिये पाण्डुपुत्रोंको आगे करके हस्तिनापुर नगरमें जानेका विचार किया ॥ ५-६ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ॥ ७ ॥

उन सब तपस्वी मुनियोंने पाण्डुपत्नी कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्रीके शरीरकी अस्थियोंको साथ लेकर उसी क्षण वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ७ ॥

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥ ८ ॥

पुत्रोंपर सदा स्नेह रखनेवाली कुन्ती पहले बहुत सुख भोग चुकी थी, परंतु अब विपत्तिमें पड़कर बहुत लंबे मार्गपर चल पड़ी; तो भी उसने स्वदेश जानेकी उत्कण्ठा अथवा महर्षियोंके योगजनित प्रभावसे उस मार्गको अल्प ही माना ॥ ८ ॥

सा त्वदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ॥ ९ ॥

यशस्विनी कुन्ती थोड़े ही समयमें कुरुजाङ्गल देशमें जा पहुँची और नगरके वर्धमान नामक द्वारपर गयी ॥ ९ ॥

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥ १० ॥

तब तपस्वी मुनियोंने द्वारपालसे कहा—'राजाको हमारे आनेकी सूचना दो !' द्वारपालने सभामें जाकर क्षणभरमें समाचार दे दिया ॥ १० ॥

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत ॥ ११ ॥

सहस्रों चारणोंसहित मुनियोंका हस्तिनापुरमें आगमन सुनकर उस समय वहाँके लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ११ ॥

मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः।
सदारास्तापसान् द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १२ ॥

दो घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते समस्त पुरवासी स्त्रियों और बालकोंको साथ लिये तपस्वी मुनियोंका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर निकल आये ॥ १२ ॥

स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसङ्घसमास्थिताः।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ॥ १३ ॥

झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ और क्षत्रियोंके समुदाय अनेक सवारियोंपर बैठकर बाहर निकले। ब्राह्मणोंके साथ उनकी स्त्रियाँ भी नगरसे बाहर निकलीं ॥ १३ ॥

तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान् व्यतिकरोऽभवत्।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन् धर्मबुद्धयः ॥ १४ ॥

शूद्रों और वैश्योंके समुदायका बहुत बड़ा मेला जुट गया। किसीके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं था। सबकी बुद्धि धर्ममें लगी हुई थी ॥ १४ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार शन्तनुनन्दन भीष्म, सोमदत्त, बाह्लिक, प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र, संजय तथा स्वयं विदुरजी भी वहाँ आ गये ॥ १५ ॥

सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥ १६ ॥

देवी सत्यवती, काशिराजकुमारी यशस्विनी कौसल्या तथा राजघरानेकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गान्धारी भी अन्तःपुरसे निकलकर वहाँ आयीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसंख्या विनिर्ययुः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र विचित्र आभूषणोंसे विभूषित हो नगरसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

तान् महर्षिगणान् दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १८ ॥

उन महर्षियोंका दर्शन करके सबने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर सभी कौरव पुरोहितके साथ उनके समीप बैठ गये ॥ १८ ॥

तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च।
उपोपविविशुः सर्वे पौरा जानपदा अपि ॥ १९ ॥

इसी प्रकार नगर तथा जनपदके सब लोग भी धरतीपर माथा टेककर सबको अभिवादन और प्रणाम करके आस-पास बैठ गये ॥ १९ ॥

तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो ॥ २० ॥
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत्।
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

राजन्! उस समय वहाँ आये हुए समस्त जनसमुदायको चुपचाप बैठे देख भीष्मजीने पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा सब महर्षियोंकी यथोचित पूजा करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्रका कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियोंमें जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियोंकी अनुमति लेकर इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

यः स कौरव्य दायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २२ ॥
(स यथोक्तं तपस्तेपे तत्र मूलफलाशनः ॥
पत्नीभ्यां सह धर्मात्मा कंचित् कालमतन्द्रितः।
तेन वृत्तसमाचारैस्तपसा च तपस्विनः।
तोषितास्तापसास्तत्र शतशृङ्गनिवासिनः ॥)
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना।
साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन भीष्मजी! वे जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषयभोगोंका परित्याग करके यहाँसे शतशृङ्ग पर्वतपर चले गये थे, उन धर्मात्माने वहाँ फल-मूल खाकर रहते हुए सावधान रहकर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कुछ कालतक शास्त्रोक्त विधिसे भारी तपस्या की। उन्होंने अपने उत्तम आचार-व्यवहार और तपस्यासे शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियोंको संतुष्ट कर लिया था। वहाँ नित्य ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए महाराज पाण्डुको किसी दिव्य हेतुसे साक्षात् धर्मराजद्वारा यह पुत्र प्राप्त हुआ है, जिसका नाम युधिष्ठिर है ॥ २२-२३ ॥

तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २४ ॥

'उसी प्रकार उन महात्मा राजाको साक्षात् वायु देवताने यह महाबली भीम नामक पुत्र प्रदान किया है, जो समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है ॥ २४ ॥

पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनंजयः।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान् सर्वानभिभविष्यति ॥ २५ ॥

'यह तीसरा पुत्र धनंजय है, जो इन्द्रके अंशसे कुन्तीके ही गर्भसे उत्पन्न हुआ है। इसकी कीर्ति समस्त बड़े-बड़े धनुर्धरोंको तिरस्कृत कर देगी ॥ २५ ॥

यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ॥ २६ ॥

'माद्रीदेवीने अश्विनीकुमारोंसे जिन दो पुरुषरत्नोंको उत्पन्न किया है, वे ये ही दोनों महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ हैं। इन्हें भी आपलोग देखें ॥ २६ ॥

(नकुलः सहदेवश्च तावप्यमिततेजसौ।
पाण्डवौ नरशार्दूलाविमावप्यपराजितौ ॥)
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २७ ॥

'इनके नाम हैं नकुल और सहदेव। ये दोनों भी अनन्त तेजसे सम्पन्न हैं। ये नरश्रेष्ठ पाण्डुकुमार भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं। नित्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले यशस्वी राजा पाण्डुने वनमें निवास करते हुए अपने पितामहके उच्छिन्न वंशका पुनः उद्धार किया है ॥ २७ ॥

पुत्राणां जन्मवृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥ २८ ॥

'पाण्डुपुत्रोंके जन्म, उनकी वृद्धि तथा वेदाध्ययन आदि देखकर आपलोग सदा अत्यन्त प्रसन्न होंगे ॥ २८ ॥

वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ २९ ॥

'साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारका पालन करते हुए राजा पाण्डु उत्तम पुत्रोंकी उपलब्धि करके आजसे सत्रह दिन पहले पितृलोकवासी हो गये ॥ २९ ॥

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम्।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ ३० ॥

'जब वे चितापर सुलाये गये और उन्हें अग्निके मुखमें होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवनका मोह छोड़कर उसी अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ॥ ३० ॥

सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता।
तस्यास्तस्य च यत् कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

'वह पतिव्रता देवी महाराज पाण्डुके साथ ही पति-लोकको चली गयी। अब आपलोग माद्री और पाण्डुके लिये जो कार्य आवश्यक समझें, वह करें ॥ ३१ ॥

(पृथां च शरणं प्राप्तां पाण्डवांश्च यशस्विनः।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ॥)
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परंतपाः ॥ ३२ ॥

'शरणमें आयी हुई कुन्ती तथा यशस्वी पाण्डवोंको आपलोग यथोचितरूपसे अपनाकर अनुगृहीत करें; क्योंकि यही सनातन धर्म है। ये पाण्डु और माद्री दोनोंके शरीरोंकी अस्थियाँ हैं और ये ही उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं, शत्रुओंको संतप्त करनेकी शक्ति रखते हैं। आप माद्री और पाण्डुकी श्राद्ध-क्रिया करनेके साथ ही मातासहित इन पुत्रोंको भी अनुगृहीत करें ॥ ३२ ॥

प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३३ ॥

'सपिण्डीकरणपर्यन्त प्रेतकार्य निवृत्त हो जानेपर कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष महायशस्वी एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डुको पितृमेध (यज्ञ) का भी लाभ मिलना चाहिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! समस्त कौरवोंसे ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकोंके साथ क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥

गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुनः।
ऋषिसिद्धगणं दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ॥ ३५ ॥
(कौरवाः सहसोत्पत्य साधु साध्विति विस्मिताः ॥)

गन्धर्वनगरके समान उन महर्षियों और सिद्धोंके समुदायको इस प्रकार अन्तर्धान होते देख वे सभी कौरव सहसा उछलकर 'साधु-साधु' ऐसा कहते हुए बड़े विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ऋषिसंवादे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ऋषिसंवादविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्‌विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डु और माद्रीकी अस्थियोंका दाह-संस्कार तथा भाई-बन्धुओंद्वारा उनके लिये जलाञ्जलिदान

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय।
राजवद् राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! राजाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुके तथा विशेषतः माद्रीके भी समस्त प्रेतकार्य राजोचित ढंगसे कराओ ॥

पशून् वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ॥ २ ॥
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ॥ ३ ॥

पाण्डु और माद्रीके लिये नाना प्रकारके पशु, वस्त्र, रत्न

और धन दान करो । इस अवसरपर जिनको जितना चाहिये, उतना धन दो । कुन्तीदेवी माद्रीका जिस प्रकार सत्कार करना चाहें, वैसी व्यवस्था करो । माद्रीकी अस्थियोंको वस्त्रोंसे अच्छी प्रकार ढँक दो, जिससे उसे वायु तथा सूर्य भी न देख सकें ॥ २-३ ॥

न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः ।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ॥ ४ ॥

निष्पाप राजा पाण्डु शोचनीय नहीं, प्रशंसनीय हैं, जिन्हें देवकुमारोंके समान पाँच वीर पुत्र प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत ।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुरने धृतराष्ट्रसे 'तथास्तु' कहकर भीष्मजीके साथ परम पवित्र स्थानमें पाण्डुका अन्तिम-संस्कार कराया ॥ ५ ॥

ततस्तु नगरात् तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन् पुरोहितैः ॥ ६ ॥

राजन् ! तदनन्तर शीघ्र ही पाण्डुका दाह-संस्कार करनेके लिये पुरोहितगण घृत और सुगन्ध आदिके साथ प्रज्वलित अग्नि लिये नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अथैनामार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां तामलंकृत्य वाससाऽऽच्छाद्य सर्वशः ॥ ७ ॥

इसके बाद वसन्त ऋतुमें सुलभ नाना प्रकारके सुन्दर पुष्पों तथा श्रेष्ठ गन्धोंसे एक शिबिका (वैकुण्ठी) को सजाकर उसे सब ओरसे वस्त्रद्वारा ढँक दिया गया ॥ ७ ॥

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैनं सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥

इस प्रकार बहुमूल्य वस्त्रों और पुष्पमालाओंसे सुशोभित उस शिबिकाके समीप मन्त्री, भाई-बन्धु और सुहृद्-सम्बन्धी—सब लोग उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन् यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंयतम् ॥ ९ ॥

उसमें माद्रीके साथ पाण्डुकी अस्थियाँ भलीभाँति बाँधकर रक्खी गयी थीं । मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली और अच्छी तरह सजायी हुई उस शिबिकाके द्वारा वे सभी बन्धु-बान्धव माद्रीसहित नरश्रेष्ठ पाण्डुकी अस्थियोंको ढोने लगे ॥ ९ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥

शिबिकाके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था। चँवर डुलाये जा रहे थे । सब प्रकारके बाजों-गाजोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी ॥ १० ॥

रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तस्यौर्ध्वदेहिके ॥ ११ ॥

सैकड़ों मनुष्योंने उन महाराज पाण्डुके दाह-संस्कारके दिन बहुत-से रत्न लेकर याचकोंको दिये ॥ ११ ॥

अथच्छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥

इसके बाद कुरुराज पाण्डुके लिये अनेक श्वेत छत्र, बहुतेरे बड़े-बड़े चँवर तथा कितने ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लोग वहाँ ले आये ॥ १२ ॥

याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥

पुरोहितलोग सफेद वस्त्र धारण करके अग्निहोत्रकी अग्निमें आहुति डालते जाते थे । वे अग्नियाँ माला आदिसे अलंकृत एवं प्रज्वलित हो पाण्डुकी पालकीके आगे-आगे चल रही थीं । सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकसे संतप्त हो रोते हुए महाराज पाण्डुकी शिबिकाके पीछे जा रहे थे ॥ १३-१४ ॥

अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।
कृत्वा चास्माननाथांश्च क यास्यति नराधिपः ॥ १५ ॥

वे कहते जाते थे—'हाय ! ये महाराज हमलोगोंको छोड़कर, हमें सदाके लिये भारी दुःखमें डालकर और हम सबको अनाथ करके कहाँ जा रहे हैं' ॥ १५ ॥

क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥

समस्त पाण्डव, भीष्म तथा विदुरजी क्रन्दन करते हुए जा रहे थे । वनके रमणीय प्रदेशमें गङ्गाजीके शुभ एवं समतल तटपर उन लोगोंने, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले सत्यवादी नरश्रेष्ठ पाण्डु और उनकी पत्नी माद्रीकी उस शिबिकाको रक्खा ॥ १६-१७ ॥

ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ॥ १८ ॥
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ॥ १९ ॥
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजा पाण्डुकी अस्थियोंको सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित करके उनपर पवित्र काले अगरका लेप किया

गया। फिर उन्हें दिव्य चन्दनसे चर्चित करके सोनेके कलशोंद्वारा लाये हुए गङ्गाजलसे भाई-बन्धुओंने उसका अभिषेक किया। तत्पश्चात् उनपर सब ओरसे काले अगरसे मिश्रित तुङ्गरस नामक गन्ध-द्रव्यका एवं श्वेत चन्दनका लेप किया गया। इसके बाद उन्हें सफेद स्वदेशी वस्त्रोंसे ढक दिया गया॥ १८-२०॥

संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः॥ २१॥

इस प्रकार बहुमूल्य शय्यापर शयन करने योग्य नरश्रेष्ठ राजा पाण्डुकी अस्थियाँ वस्त्रोंसे आच्छादित हो जीवित मनुष्यकी भाँति शोभा पाने लगीं॥ २१॥

(हयमेधाग्निना सर्वे याजकाः सपुरोहिताः।
वेदोक्तेन विधानेन क्रियाश्चक्रुः समन्त्रकम्॥)
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम्॥ २२॥

समस्त याजकों और पुरोहितोंने अश्वमेधकी अग्निसे वेदोक्त विधिके अनुसार मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। याजकोंकी आज्ञा लेकर प्रेतकर्म आरम्भ करते समय माद्रीसहित अलंकारयुक्त राजाका घृतसे अभिषेक किया गया॥२२॥

तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन्॥ २३॥

फिर तुङ्ग और पद्मकमिश्रित सुगन्धित चन्दन तथा अन्य विविध प्रकारके गन्ध-द्रव्योंसे भाई-बन्धुओंने युधिष्ठिरद्वारा विधिपूर्वक उन दोनोंका दाह-संस्कार कराया॥ २३॥

ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता।
हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि॥ २४॥

उस समय उन दोनोंकी अस्थियोंको देखकर माता कौसल्या (अम्बालिका) 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई सहसा मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २४॥

तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः॥ २५॥

उसे इस प्रकार शोकातुर हो भूमिपर पड़ी देख नगर और जनपदके लोग राजभक्ति तथा दयासे द्रवित एवं दुःखसे संतप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे॥ २५॥

कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि॥ २६॥

कुन्तीके आर्तनादसे मनुष्योंसहित समस्त पशु और पक्षी आदि प्राणी भी करुणक्रन्दन करने लगे॥ २६॥

तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन् भृशदुःखिताः॥ २७॥

शन्तनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर तथा सम्पूर्ण कौरव भी अत्यन्त दुःखमें निमग्न हो रोने लगे॥ २७॥

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः॥ २८॥

तदनन्तर भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डवोंके सहित कुरुकुलकी सभी स्त्रियोंने राजा पाण्डुके लिये जलाञ्जलि दी॥

चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः॥ २९॥

उस समय सभी पाण्डव पिताके लिये रो रहे थे। शांतनुनन्दन भीष्म, विदुर तथा अन्य भाई-बन्धुओंकी भी यही दशा थी। सबने जलाञ्जलि देनेकी क्रिया पूरी की॥ २९॥

कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्छोककर्शितान्।
सर्वाः प्रकृतयो राजन् शोचमाना न्यवारयन्॥ ३०॥

जलाञ्जलिदान करके शोकसे दुर्बल हुए पाण्डवोंको साथ ले मन्त्री आदि सब लोग स्वयं भी दुखी हो उन सबको समझा-बुझाकर शोक करनेसे रोकने लगे॥ ३०॥

यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः।
तथैव नागरा राजन् शिश्यिरे ब्राह्मणादयः॥ ३१॥
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत्।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः॥ ३२॥

राजन्! बारह रात्रियोंतक जिस प्रकार बन्धु-बान्धवोंसहित पाण्डव भूमिपर सोये, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि नागरिक भी धरतीपर ही सोते रहे। उतने दिनोंतक हस्तिनापुर नगर पाण्डवोंके साथ आनन्द और हर्षोल्लाससे शून्य रहा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चेतक सभी वहाँ दुःखमें डूबे रहे। सारा नगर ही अस्वस्थचित्त हो गया था॥ ३१-३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदाहे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके दाहसंस्कारसे सम्बन्ध रखनेवाला एकसौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंकी बालक्रीडा, दुर्योधनका भीमसेनको विष खिलाना तथा गङ्गामें ढकेलना और भीमका नागलोकमें पहुँचकर आठ कुण्डोंके दिव्य रसका पान करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्ती,

राजा धृतराष्ट्र तथा बन्धुओंसहित भीष्मजीने पाण्डुके लिये उस समय अमृतस्वरूप स्वधामय श्राद्ध-दान किया ॥ १ ॥

कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः।
रत्नौघान् विप्रमुख्येभ्यो दत्त्वा ग्रामवरांस्तथा ॥ २ ॥

उन्होंने समस्त कौरवों तथा सहस्रों मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें रत्नोंके ढेर तथा उत्तम-उत्तम गाँव दिये ॥ २ ॥

कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान् भरतर्षभान्।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥

मरणाशौचसे निवृत्त होकर भरतवंशशिरोमणि पाण्डवोंने जब शुद्धिका स्नान कर लिया, तब उन्हें साथ लेकर सबने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

सततं स्मानुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम्।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वमिव बान्धवम् ॥ ४ ॥

नगर और जनपदके सभी लोग मानो कोई अपना ही भाई-बन्धु मर गया हो, इस प्रकार उन भरतकुलतिलक पाण्डुके लिये निरन्तर शोकमग्न हो गये ॥ ४ ॥

श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम्।
सम्मूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत्॥५ ॥

श्राद्धकी समाप्तिपर सब लोगोंको दुखी देखकर व्यासजीने दुःख-शोकसे आतुर एवं मोहमें पड़ी हुई माता सत्यवतीसे कहा— ॥ ५ ॥

अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना ॥ ६ ॥

'मा ! अब सुखके दिन बीत गये। बड़ा भयंकर समय उपस्थित होनेवाला है। उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं। पृथ्वीकी जवानी चली गयी ॥ ६ ॥

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥

'अब ऐसा भयंकर समय आयेगा, जिसमें सब ओर छल-कपट और मायाका बोलबाला होगा। संसारमें अनेक प्रकारके दोष प्रकट होंगे और धर्म-कर्म तथा सदाचारका लोप हो जायगा ॥ ७ ॥

कुरूणामनयाच्चापि पृथिवी न भविष्यति।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ॥ ८ ॥

'दुर्योधन आदि कौरवोंके अन्यायसे सारी पृथ्वी वीरोंसे शून्य हो जायगी; अतः तुम योगका आश्रय लेकर यहाँसे चली जाओ और योगपरायण हो तपोवनमें निवास करो ॥८॥

मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीद् स्नुषाम्॥ ९ ॥

'तुम अपनी आँखोंसे इस कुलका भयंकर संहार न देखो।' तब व्यासजीसे 'तथास्तु' कहकर सत्यवती अंदर गयी और अपनी पुत्रवधूसे बोली— ॥ ९ ॥

अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात् किल भारताः।
सानुबन्धा विनङ्क्ष्यन्ति पौराश्चैवेति नः श्रुतम्॥१०॥

'अम्बिके ! तुम्हारे पौत्रके अन्यायसे भरतवंशी वीर तथा इस नगरके लोग सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जायँगे—ऐसी बात मैंने सुनी है ॥ १० ॥

तत् कौसल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम्।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ॥ ११ ॥

'अतः तुम्हारी राय हो, तो पुत्रशोकसे पीड़ित इस दुःखिनी अम्बालिकाको साथ ले मैं वनमें चली जाऊँ। तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ११ ॥

तथेत्युक्ता त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १२ ॥

अम्बिका भी 'तथास्तु' कहकर साथ जानेको तैयार हो गयी। जनमेजय ! फिर उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सत्यवती भीष्मजीसे पूछकर अपनी दोनों पतोहुओंको साथ ले वनको चली गयी ॥ १२ ॥

ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १३ ॥

भरतवंशशिरोमणि महाराज जनमेजय ! तब वे देवियाँ वनमें अत्यन्त घोर तपस्या करके शरीर त्यागकर अभीष्ट गतिको प्राप्त हो गयीं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय पाण्डवोंके वेदोक्त (समावर्तन आदि) संस्कार हुए। वे पिताके घरमें नाना प्रकारके भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे॥ १४॥

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम्।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥ १५॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे। सब प्रकारकी बालक्रीडाओंमें अपने तेजसे वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे ॥ १५ ॥

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ॥ १६ ॥

दौड़नेमें, दूर रक्खी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तुको सबसे पहले पहुँचकर उठा लेनेमें, खान-पानमें तथा धूल उछालनेके

खेलमें भीमसेन धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन कर डालते थे ॥ १६ ॥

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ॥ १७ ॥
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ॥ १८ ॥
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्य बलाद् बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंऽसकान् ॥ १९ ॥

राजन् ! हर्षसे खेल-कूदमें लगे हुए उन कौरवोंको पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे । कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवोंसे लड़ा देते थे । धृतराष्ट्रके एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे; किंतु भीमसेन बिना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वशमें कर लेते थे । बलवान् भीम उनके बाल पकड़कर बलपूर्वक उन्हें एक दूसरेसे टकरा देते और उनके चीखने-चिल्लानेपर भी उन्हें धरतीपर घसीटते रहते थे । उस समय उनके घुटने, मस्तक और कंधे छिल जाया करते थे ॥ १७—१९ ॥

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ॥ २० ॥

वे जलमें क्रीडा करते समय अपनी दोनों भुजाओंसे धृतराष्ट्रके दस बालकोंको पकड़ लेते और देरतक पानीमें गोते लगाते रहते थे । जब वे अधमरे-से हो जाते, तब उन्हें छोड़ते थे ॥२०॥

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते तदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ॥ २१ ॥

जब कौरव वृक्षपर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैरसे ठोकर मारकर उन पेड़ोंको हिला देते थे ॥ २१ ॥

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ॥ २२ ॥

उनके वेगपूर्वक प्रहारसे आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्रकुमार भयभीत हो फलोंसहित नीचे गिर पड़ते थे ॥ २२ ॥

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २३ ॥

कुश्तीमें, दौड़ लगानेमें तथा शिक्षाके अभ्यासमें धृतराष्ट्रकुमार सदा लाग-डाँट रखते हुए भी कभी भीमसेनकी बराबरी नहीं कर पाते थे ॥ २३ ॥

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २४ ॥

इसी प्रकार भीमसेन भी धृतराष्ट्रपुत्रोंसे स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रिय कार्योंमें ही लगे रहते थे । परंतु उनके मनमें कौरवोंके प्रति द्वेष नहीं था, वे बाल-स्वभावके कारण ही वैसा करते थे ॥ २४ ॥

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २५ ॥

तब धृतराष्ट्रका प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेनमें अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा ॥ २५ ॥

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २६ ॥

वह सदा धर्मसे दूर रहता और पापकर्मोंपर ही दृष्टि रखता था । मोह और ऐश्वर्यके लोभसे उसके मनमें पापपूर्ण विचार भर गये थे ॥ २६ ॥

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥ २७ ॥

वह अपने भाइयोंके साथ विचार करने लगा कि 'यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानोंमें सबसे बढ़कर है । इसे धोखा देकर कैद कर लेना चाहिये ॥२७॥

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
स्पर्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥ २८ ॥

'यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्यसे भी सम्पन्न है । भीमसेन अकेला ही हम सब लोगोंसे होड़ बद लेता है ॥ २८ ॥

तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुंधराम् ।
एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥ ३० ॥

'इसलिये नगरोद्यानमें जब वह सो जाय, तब उसे उठाकर हमलोग गङ्गाजीमें फेंक दें । इसके बाद उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिरको बलपूर्वक कैदमें डालकर मैं अकेला ही सारी पृथ्वीका शासन करूँगा ।'

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीमसेनका अनिष्ट करनेके लिये सदा मौका ढूँढ़ता रहता था ॥ २९-३० ॥

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥ ३१ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधनने गङ्गातटपर जल-विहारके लिये ऊनी और सूती कपड़ोंके विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये ॥ ३१ ॥

सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥ ३२ ॥

वे गृह सब प्रकारकी अभीष्ट सामग्रियोंसे भरे-पूरे थे । उनके ऊपर ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं । उनमें उसने अलग-अलग अनेक प्रकारके बहुत-से कमरे बनवाये थे ॥

उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत ।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥ ३३ ॥

भारत ! गङ्गातटवर्ती प्रमाणकोटि तीर्थमें किसी स्थानपर जाकर दुर्योधनने यह सारा आयोजन करवाया था। उसने उस स्थानका नाम रक्खा था उदकक्रीडन ॥ ३३ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च ।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥ ३४ ॥

वहाँ रसोईके काममें कुशल कितने ही मनुष्योंने जुटकर खाने-पीनेके बहुत-से भक्ष्य[1], भोज्य[2], पेय[3], चोष्य[4] और लेह्य[5] पदार्थ तैयार किये ॥ ३४ ॥

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा ।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर राजपुरुषोंने दुर्योधनको सूचना दी कि 'सब तैयारी पूरी हो गयी है ।' तब खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने पाण्डवोंसे कहा—॥ ३५ ॥

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम् ।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥ ३६ ॥

'आज हमलोग भाँति-भाँतिके उद्यान और वनोंसे सुशोभित गङ्गाजीके तटपर चलें । वहाँ हम सब भाई एक साथ जलविहार करेंगे' ॥ ३६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ॥ ३७ ॥
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ।
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ॥ ३८ ॥
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम् ।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने 'एवमस्तु' कहकर दुर्योधनकी बात मान ली । फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवोंके साथ नगराकार रथों तथा स्वदेशमें उत्पन्न श्रेष्ठ हाथियोंपर सवार हो नगरसे निकले और उद्यान-वनके समीप पहुँचकर साथ आये हुए प्रजावर्गके बड़े-बड़े लोगोंको विदा करके जैसे सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करे, उसी प्रकार वे सब वीर भ्राता उद्यानकी शोभा देखते हुए उसमें प्रविष्ट हुए ॥ ३७–३९ ॥

उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम् ।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः सांचारिकैरपि ॥ ४० ॥
सम्मार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम् ।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४१ ॥
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा ।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ॥ ४२ ॥

वह उद्यान राजाओंकी गोष्ठी और बैठकके स्थानोंसे, श्वेत वर्णके छज्जोंसे, जालियों और झरोखोंसे तथा इधर-उधर ले जाने योग्य जलवर्षक यन्त्रोंसे सुशोभित हो रहा था। महल बनानेवाले शिल्पियोंने उस उद्यान एवं क्रीडाभवनको झाड़-पोंछकर साफ कर दिया था । चित्रकारोंने वहाँ चित्रकारी की थी । जलसे भरी बावलियों तथा तालाबोंद्वारा उसकी बड़ी शोभा हो रही थी । खिले हुए कमलोंसे आच्छादित वहाँका जल बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था । ऋतुके अनुकूल खिलकर झड़े हुए फूलोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी ढँक गयी थी ॥ ४०–४२ ॥

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह ।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥ ४३ ॥

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकारके भोगोंका उपभोग करने लगे ॥ ४३ ॥

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते ।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ४४ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम् ।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उस सुन्दर उद्यानमें क्रीडाके लिये आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरेके मुँहमें खानेकी वस्तुएँ डालने लगे । उस समय पापी दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके भोजनमें कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ४४-४५ ॥

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः ।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ॥ ४६ ॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत् ।
प्रतीच्छितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥ ४७ ॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥ ४८ ॥

उस पापात्माका हृदय छूरेके समान तीखा था; परंतु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो । वह सगे भाई और हितैषी सुहृद्की भाँति स्वयं भीमसेनके लिये भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा । भीमसेन भोजनके दोषसे अपरिचित थे; अतः दुर्योधनने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये । यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने-आपको कृतार्थ मानने लगा ॥

१. दाँतोंसे काट-काटकर खाये जानेवाले मालपूए आदिको भक्ष्य कहते हैं । २. दाँतका सहारा न लेकर केवल जिह्वाके व्यापारसे जिसे भोजन किया जाता है, जैसे हलुआ, खीर आदि। ३. पीने योग्य दुग्ध आदि । ४. चूसनेयोग्य वस्तु जिसका रसमात्र ग्रहण किया जाय और बाकी चीजको त्याग दिया जाय, वह चोष्य है, जैसे ईख-आम आदि । ५. लेह्य—चाटने योग्य चटनी आदि।

कुमार भीमसेनका साँपोंपर कोप

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥ ४९ ॥

तब भोजनके पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जलक्रीडा करने लगे ॥ ४९ ॥

क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥ ५० ॥
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा॥ ५१ ॥

जलक्रीडा समाप्त होनेपर दिनके अन्तमें विहारसे थके हुए वे समस्त कुरुश्रेष्ठ वीर शुद्ध वस्त्र धारणकर सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित हो उन क्रीडाभवनोंमें ही रात बितानेका विचार करने लगे । बलवान् भीमसेन उस समय अधिक परिश्रम करनेके कारण बहुत थक गये थे ॥ ५०-५१ ॥

वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा ।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत् स्थलम्॥ ५२॥

वे जलक्रीड़ाके लिये आये हुए उन कुमारोंको साथ लेकर विश्राम करनेकी इच्छासे प्रमाणकोटिके उस गृहमें आये और वहीं एक स्थानमें सो गये ॥ ५२ ॥

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥ ५३ ॥

पाण्डुनन्दन भीम थके तो थे ही, विषके मदसे भी अचेत हो रहे थे । उनके अङ्ग-अङ्गमें विषका प्रभाव फैल गया था । अतः वहाँ ठंडी हवा पाकर ऐसे सोये कि जडके समान निश्चेष्ट प्रतीत होने लगे ॥ ५३ ॥

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ५४ ॥

तब दुर्योधनने स्वयं लताओंके पाशमें वीरवर भीमको कसकर बाँधा । वे मुर्देके समान हो रहे थे । फिर उसने गङ्गाजीके ऊँचे तटसे उन्हें जलमें ढकेल दिया ॥ ५४ ॥

स निःसञ्ज्ञो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ॥ ५५ ॥
ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥ ५६ ॥

भीमसेन बेहोशीकी ही दशामें जलके भीतर डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे । उस समय कितने ही नागकुमार उनके शरीरसे दब गये । तब बहुत-से महाविषधर नागोंने मिलकर अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे भीमसेनको खूब डँसा ॥ ५५-५६ ॥

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥ ५७ ॥

उनके द्वारा डँसे जानेसे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया । सर्पोंके जङ्गम विषने खाये हुए स्थावर विषको हर लिया ॥ ५७ ॥

दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
त्वचं नैवास्य बिभिदुः सारत्वात् पृथुवक्षसः॥ ५८ ॥

चौड़ी छातीवाले भीमसेनकी त्वचा लोहेके समान कठोर थी; अतः यद्यपि उनके मर्मस्थानोंमें सर्पोंने दाँत गड़ाये थे, तो भी वे उनकी त्वचाको भेद न सके ॥ ५८ ॥

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान् सर्वान् केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः॥ ५९॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन भीम जाग उठे । उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको तोड़कर उन सभी सर्पोंको पकड़-पकड़कर धरतीपर दे मारा । कितने ही सर्प भयके मारे भाग खड़े हुए ॥

हतावशेषा भीमेन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
ऊचुश्च सर्पराजानं वासुकिं वासवोपमम् ॥ ६० ॥

भीमके हाथों मरनेसे बचे हुए सभी सर्प इन्द्रके समान तेजस्वी नागराज वासुकिके समीप गये और इस प्रकार बोले—॥

अयं नरो वै नागेन्द्र ह्यप्सु बद्ध्वा प्रवेशितः ।
यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति ॥ ६१ ॥

नागेन्द्र ! एक मनुष्य है, जिसे बाँधकर जलमें डाल दिया गया है । वीरवर ! जैसा कि हमारा विश्वास है, उसने विष पी लिया होगा ॥ ६१ ॥

निश्चेष्टोऽस्माननुप्राप्तः स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
ससंज्ञश्चापि संवृत्तश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ॥ ६२ ॥

पोथयन्तं महाबाहुं त्वं वै तं ज्ञातुमर्हसि ।

'वह हमलोगोंके पास बेहोशीकी हालतमें आया था, किंतु हमारे डँसनेपर जाग उठा और होशमें आ गया। होशमें आनेपर तो वह महाबाहु अपने सारे बन्धनोंको शीघ्र तोड़कर हमें पछाड़ने लगा है। आप चलकर उसे पहचानें' ॥६२½॥

ततो वासुकिरभ्येत्य नागैरनुगतस्तदा ॥ ६३ ॥
पश्यति स्म महाबाहुं भीमं भीमपराक्रमम् ।
आर्यकेण च दृष्टः स पृथाया आर्यकेण च ॥ ६४ ॥
तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्तः सुपीडितम् ।
सुप्रीतश्चाभवत् तस्य वासुकिः स महायशाः ॥ ६५ ॥
अब्रवीत् तं च नागेन्द्रः किमस्य क्रियतां प्रियम् ।
धनौघो रत्ननिचयो वसु चास्य प्रदीयताम् ॥ ६६ ॥

तब वासुकिने उन नागोंके साथ आकर भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमसेनको देखा। उसी समय नागराज आर्यकने भी उन्हें देखा, जो पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे। उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्रको कसकर छातीसे लगा लिया। महायशस्वी नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय? इन्हें धन, सोना और रत्नोंकी राशि भेंट की जाय' ॥ ६३—६६ ॥

एवमुक्तस्तदा नागो वासुकिं प्रत्यभाषत ।
यदि नागेन्द्र तुष्टोऽसि किमस्य धनसंचयैः ॥ ६७ ॥

उनके यों कहनेपर आर्यक नागने वासुकिसे कहा—'नागराज! यदि आप प्रसन्न हैं तो यह धनराशि लेकर क्या करेगा ॥

रसं पिबेत् कुमारोऽयं त्वयि प्रीते महाबलः ।
बलं नागसहस्रस्य यस्मिन् कुण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

'आपके संतुष्ट होनेपर तो इस महाबली राजकुमारको आपकी आज्ञासे उस कुण्डका रस पीना चाहिये जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

यावत् पिबति बालोऽयं तावदस्मै प्रदीयताम् ।
एवमस्त्विति तं नागं वासुकिः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥

'यह बालक जितना रस पी सके, उतना इसे दिया जाय।' यह सुनकर वासुकिने आर्यक नागसे कहा 'ऐसा ही हो' ॥६९॥

ततो भीमस्तदा नागैः कृतस्वस्त्ययनः शुचिः ।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टश्च रसं पिबति पाण्डवः ॥ ७० ॥

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया। फिर वे पाण्डुकुमार पवित्र हो पूर्वाभिमुख बैठकर कुण्डका रस पीने लगे ॥ ७० ॥

एकोच्छ्वासात् ततः कुण्डं पिबति स्म महाबलः ।
एवमष्टौ स कुण्डानि ह्यपिबत् पाण्डुनन्दनः ॥ ७१ ॥

वे एक ही साँसमें एक कुण्डका रस पी जाते थे। इस प्रकार उन महाबली पाण्डुनन्दनने आठ कुण्डोंका रस पी लिया॥

ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः ।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिंदमः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेन नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सुखपूर्वक सो गये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमसेनरसपाने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके रसपानसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१२७

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके न आनेसे कुन्ती आदिकी चिन्ता, नागलोकसे भीमसेनका आगमन तथा उनके प्रति दुर्योधनकी कुचेष्टा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः ।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेनके बिना ही हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः ।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ॥ २ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम् ।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकारकी सवारियों-द्वारा वहाँसे चलकर वे आपसमें यह कह रहे थे कि भीमसेन तो हमलोगोंसे आगे ही चले गये हैं। पापी दुर्योधनने भीमसेनको वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि ।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ॥ ४ ॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदयमें दुर्योधनके पापपूर्ण विचारका भानतक न हुआ। वे अपने ही अनुमानसे दूसरेको भी साधु ही देखते और समझते थे ॥

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः ।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ॥ ५ ॥

भाईपर स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उस समय माताके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोले—'माँ ! भीमसेन यहाँ आया है क्या ? ॥ ५ ॥

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ॥ ६ ॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ॥ ७ ॥

'मातः ! वह कहाँ गया होगा ? शुभे ! यहाँ भी तो मैं उसे नहीं देख रहा हूँ । वहाँ हमलोगोंने भीमसेनके लिये उद्यान और वनका कोना-कोना खोज डाला । फिर भी जब वीरवर भीमको हम देख न सके, तब सबने यही समझ लिया कि वह हमलोगोंसे पहले ही चला गया होगा ॥६-७॥

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ॥ ८ ॥

'महाभागे ! हम उसके लिये अत्यन्त व्याकुल हृदयसे यहाँ आये हैं । यहाँ आकर वह कहीं चला गया ? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है ? ॥ ८ ॥

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने ॥ ९ ॥

'यशस्विनि ! महाबाहु भीमसेनका पता बताओ । शोभने ! वीर भीमसेनके विषयमें मेरा हृदय शङ्कित हो गया है ॥ ९ ॥

यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ॥ १० ॥
हा हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ॥ ११ ॥

'जहाँ मैं भीमसेनको सोया हुआ समझता था, वहीं किसीने उसे मार तो नहीं डाला ?'

बुद्धिमान् धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती 'हाय-हाय' करके घबरा उठी और युधिष्ठिरसे बोली—'बेटा ! मैंने भीमको नहीं देखा है । वह मेरे पास आया ही नहीं ॥ १०-११ ॥

शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ।
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ॥ १२ ॥
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ॥ १३ ॥

'तुम अपने छोटे भाइयोंके साथ शीघ्र उसे ढूँढ़नेका प्रयत्न करो ।' कुन्तीका हृदय पुत्रकी चिन्तासे व्यथित हो रहा था, उसने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरसे उपर्युक्त बात कहकर विदुरजीको बुलवाया और इस प्रकार कहा—'भगवन् ! भीमसेन नहीं दिखायी देता, वह कहाँ चला गया ? ॥ १२-१३ ॥

उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ॥ १४ ॥

'उद्यानसे सब लोग अपने भाइयोंके साथ चलकर यहाँ आ गये । किंतु अकेला महाबाहु भीम अबतक मेरे पास लौटकर नहीं आया ! ॥ १४ ॥

न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥ १५ ॥

'वह सदा दुर्योधनकी आँखोंमें खटकता रहता है । दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्यका लोभी तथा निर्लज्ज है ॥

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥ १६ ॥

'अतः सम्भव है, वह क्रोधमें वीर भीमसेनको धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्तासे मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है, हृदय दग्ध-सा हो रहा है' ॥ १६ ॥

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ॥ १७ ॥

विदुरजीने कहा—कल्याणी ! ऐसी बात मुँहसे न निकालो, शेष पुत्रोंकी रक्षा करो । यदि दुर्योधनको उलाहना देकर इस विषयमें पूछ-ताछ की जायगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रों-पर भी प्रहार कर सकता है ॥ १७ ॥

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

महामुनि व्यासने पहले जैसा कहा है, उसके अनुसार तुम्हारे ये सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् विदुर यों कहकर अपने घरमें चले गये । इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रोंके साथ चुपचाप घरमें बैठ रही ॥१९॥

ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ॥ २० ॥

उधर, नागलोकमें सोये हुए बलवान् भीमसेन आठवें दिन, जब वह रस पच गया, जगे । उस समय उनके बलकी कोई सीमा नहीं रही ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः ।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमको जगा हुआ देख सब नागोंने शान्त-चित्तसे उन्हें आश्वासन दिया और यह बात कही—॥ २१ ॥

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः ।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

महाबाहो ! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके समान होगा और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे ॥ २२ ॥

गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः ।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ॥ २३ ॥

'आज तुम इस दिव्य जलसे स्नान करो और अपने घर लौट जाओ । कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हारे बिना तुम्हारे सब भाई निरन्तर दुःख और चिन्तामें डूबे रहते हैं' ॥ २३ ॥

ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः ।
ततो नागस्य भवने कृतकौतुकमङ्गलः ॥ २४ ॥
ओषधीभिर्विषघ्नीभिः सुरभीभिर्विशेषतः ।
भुक्तवान् परमान्नं च नागैर्दत्तं महाबलः ॥ २५ ॥

तब महाबाहु भीमसेन स्नान करके शुद्ध हो गये । उन्होंने श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पोंकी माला धारण की । तत्पश्चात् नागराजके भवनमें उनके लिये कौतुक एवं मङ्गलाचार सम्पन्न किये गये । फिर उन महाबली भीमने विष-नाशक सुगन्धित ओषधियोंके साथ नागोंकी दी हुई खीर खायी ॥ २४-२५ ॥

पूजितो भुजगैर्वीर आशीर्भिश्चाभिनन्दितः ।
दिव्याभरणसंछन्नो नागानामन्त्र्य पाण्डवः ॥ २६ ॥
उदतिष्ठत् प्रहृष्टात्मा नागलोकादरिंदमः ।
उत्क्षिप्तः स तु नागेन जलाज्जलरुहेक्षणः ॥ २७ ॥
तस्मिन्नेव वनोद्देशे स्थापितः कुरुनन्दनः ।
ते चान्तर्दधिरे नागाः पाण्डवस्यैव पश्यतः ॥ २८ ॥

इसके बाद नागोंने वीर भीमसेनका आदर-सत्कार करके उन्हें शुभाशीर्वादोंसे प्रसन्न किया । दिव्य आभूषणोंसे विभूषित शत्रुदमन भीमसेन नागोंकी आज्ञा ले प्रसन्नचित्त हो नागलोकसे जानेको उद्यत हुए । तब किसी नागने कमलनयन कुरुनन्दन भीमको जलसे ऊपर उठाकर उसी वनमें (गङ्गातटवर्ती प्रमाणकोटिमें) रख दिया । फिर वे नाग पाण्डुपुत्र भीमके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥ २६-२८ ॥

तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥ २९ ॥

तब महाबली कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन वहाँसे उठकर शीघ्र ही अपनी माताके समीप आ गये ॥ २९ ॥

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमने माता और बड़े भाईको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक छोटे भाइयोंका सिर सूँघा ॥ ३० ॥

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥ ३१ ॥

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयोंने भी उन्हें हृदयसे लगाया और एक दूसरेके प्रति स्नेहाधिक्यके कारण सबने भीमके आगमनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की—'अहोभाग्य ! अहोभाग्य !' कहा ॥ ३१ ॥

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम् ।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेनने दुर्योधनकी वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयोंको बतायीं ॥ ३२ ॥

नागलोके च यद् वृत्तं गुणदोषमशेषतः ।
तच्च सर्वमशेषेण कथयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥

और नागलोकमें जो गुण-दोषपूर्ण घटनाएँ घटी थीं, उन सबको भी पाण्डुनन्दन भीमने पूर्णरूपसे कह सुनाया ॥ ३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥ ३४ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे मतलबकी बात कही—'भैया भीम ! तुम सर्वथा चुप हो जाओ । तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया गया है, वह कहीं किसी प्रकार भी न कहना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ॥ ३५ ॥

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ उस समयसे खूब सावधान रहने लगे ॥ ३५ ॥

सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थानां प्रददौ मतिम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको हाथसे गला घोंटकर मार डाला । उस समय भी धर्मात्मा विदुरने उन कुन्तीपुत्रोंको यही सलाह दी कि वे चुपचाप सब कुछ सहन कर लें ॥ ३६ ॥

भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भृतं लोमहर्षणम् ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रकुमारने भीमसेनके खोजनेमें पुनः नया, तीखा और सत्त्वके रूपमें परिणत रोंगटे खड़े कर देनेवाला कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ३७ ॥

वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया ।
तच्चापि भुक्त्वाजरयदविकारं वृकोदरः ॥ ३८ ॥

वैश्यापुत्र युयुत्सुने कुन्तीपुत्रोंके हितकी कामनासे यह बात उन्हें बता दी; परंतु भीमने उस विषको भी खाकर बिना किसी विकारके पचा लिया ॥ ३८ ॥

विकारं न ह्यजनयत् सुतीक्ष्णमपि तद् विषम् ।
भीमसंहनने भीमे अजीर्यत वृकोदरे ॥ ३९ ॥

यद्यपि वह विष बड़ा तेज था, तो भी उनके लिये कोई बिगाड़ न कर सका। भयंकर शरीरवाले भीमसेनके उदरमें वृक नामकी अग्नि थी; अतः वहाँ जाकर वह विष पच गया॥ ३९॥

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान्॥ ४०॥

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि अनेक उपायोंद्वारा पाण्डवोंको मार डालना चाहते थे॥ ४०॥

पाण्डवाश्चापि तत् सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः॥ ४१॥

पाण्डव भी यह सब जान लेते और क्रोधमें भर जाते थे, तो भी विदुरकी रायके अनुसार चलनेके कारण अपने अमर्षको प्रकट नहीं करते थे॥ ४१॥

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान्।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत्॥ ४२॥
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम्।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात् तु ते॥ ४३॥

राजा धृतराष्ट्रने उन कुमारोंको खेल-कूदमें लगे रहनेसे अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देनेके लिये गौतम-गोत्रीय कृपाचार्यकी खोज करायी, जो सरकंडेके समूहसे उत्पन्न हुए और विविध शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। उन्हींको गुरु बनाकर कुरुकुलके उन सभी कुमारोंको उन्हें सौंप दिया गया; फिर वे कुरुवंशी बालक कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन करने लगे॥ ४२-४३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमप्रत्यागमने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कृपाचार्य, द्रोण और अश्वत्थामाकी उत्पत्ति तथा द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्र-शस्त्रकी प्राप्तिकी कथा

जनमेजय उवाच

कृपस्यापि मम ब्रह्मन् सम्भवं वक्तुमर्हसि।
शरस्तम्बात् कथं जज्ञे कथं चास्त्राण्यवाप्तवान्॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! कृपाचार्यका जन्म किस प्रकार हुआ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें। वे सरकंडेके समूहसे किस तरह उत्पन्न हुए एवं उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान् नाम गौतमः।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो॥ २॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत।
यथास्य बुद्धिरभवद् धनुर्वेदे परंतप॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! महर्षि गौतमके शरद्वान् गौतम* नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र थे। प्रभो! कहते हैं, वे सरकंडोंके साथ उत्पन्न हुए थे। परंतप! उनकी बुद्धि धनुर्वेदमें जितनी लगती थी, उतनी वेदोंके अध्ययनमें नहीं॥ २-३॥

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह॥ ४॥

जैसे अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक वेदोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने तपस्यायुक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये॥ ४॥

धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः॥ ५॥

वे धनुर्वेदमें पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी बड़ी भारी थी; इससे गौतमने देवराज इन्द्रको अत्यन्त चिन्तामें डाल दिया था॥ ५॥

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः।
प्राहिणोत् तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव॥ ६॥

कौरव! तब देवराजने जानपदी नामकी एक देवकन्या-को उनके पास भेजा और यह आदेश दिया कि 'तुम शरद्वान्-की तपस्यामें विघ्न डालो'॥ ६॥

सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम्॥ ७॥

वह जानपदी शरद्वान्के रमणीय आश्रमपर जाकर धनुष-बाण धारण करनेवाले गौतमको लुभाने लगी॥ ७॥

तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत्॥ ८॥

गौतमने एक वस्त्र धारण करनेवाली उस अप्सराको वनमें देखा। संसारमें उसके सुन्दर शरीरकी कहीं तुलना नहीं थी। उसे देखकर शरद्वान्के नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे॥ ८॥

धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन् भुवि।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत॥ ९॥

उनके हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े तथा उसकी ओर देखनेसे उनके शरीरमें कम्प हो आया॥ ९॥

*गौतमगोत्रीय होनेके कारण शरद्वान्को भी गौतम कहा जाता था।

स तु ज्ञानगरीयस्त्वात् तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥

शरद्वान् ज्ञानमें बहुत बढ़े-चढ़े थे और उनमें तपस्याकी भी प्रबल शक्ति थी। अतः वे महाप्राज्ञ मुनि अत्यन्त धीरतापूर्वक अपनी मर्यादामें स्थित रहे ॥ १० ॥

यस्त्वस्य सहसा राजन् विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नान्वबुध्यत ॥ ११ ॥

राजन्! किंतु उनके मनमें सहसा जो विकार देखा गया, इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया; परंतु इस बातका उन्हें भान नहीं हुआ॥ ११ ॥

धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च।
स विहायाश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ॥ १२ ॥
जगाम रेतस्तत् तस्य शरस्तम्बे पपात च ।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥ १३ ॥

वे मुनि बाणसहित धनुष, काला मृगचर्म, वह आश्रम और वह अप्सरा— सबको वहीं छोड़कर वहाँसे चल दिये। उनका वह वीर्य सरकंडेके समुदायपर गिर पड़ा। राजन्! वहाँ गिरनेपर उनका वीर्य दो भागोंमें बँट गया ॥ १२-१३॥

तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ।
मृगयां चरतो राज्ञः शन्तनोस्तु यदृच्छया ॥ १४ ॥
कश्चित् सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ॥ १६ ॥
स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर गौतमनन्दन शरद्वान्के उसी वीर्यसे एक पुत्र और एक कन्याकी उत्पत्ति हुई। उस दिन दैवेच्छासे राजा शन्तनु वनमें शिकार खेलने आये थे। उनके किसी सैनिकने वनमें उन युगल संतानोंको देखा। वहाँ बाणसहित धनुष और काला मृगचर्म देखकर उसने यह जान लिया कि 'ये दोनों किसी धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणकी संतानें हैं' ऐसा निश्चय होनेपर उसने राजाको वे दोनों बालक और बाणसहित धनुष दिखाया। राजा उन्हें देखते ही कृपाके वशीभूत हो गये और उन दोनोंको साथ ले अपने घर आ गये। वे किसीके पूछनेपर यही परिचय देते थे कि 'ये दोनों मेरी ही संतानें हैं' ॥ १४–१७ ॥

ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातीपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ प्रतीपनन्दन शन्तनुने शरद्वान्के उन दोनों बालकोंका पालन-पोषण किया और यथासमय उन्हें सब संस्कारोंसे सम्पन्न किया ॥ १८॥

गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥ १९ ॥
तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥ २० ॥

गौतम (शरद्वान्) भी उस आश्रमसे अन्यत्र जाकर धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर रहने लगे। राजा शन्तनुने यह सोचकर कि मैंने इन बालकोंको कृपापूर्वक पाला-पोसा है, उन दोनोंके वे ही नाम रख दिये—कृप और कृपी। राजाके द्वारा पालित हुई अपनी दोनों संतानोंका हाल गौतमने तपोबलसे जान लिया ॥ १९-२० ॥

आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
चतुर्विधं धनुर्वेदं शास्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥
निखिलेनास्य तत् सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २२ ॥

और वहाँ गुप्तरूपसे आकर अपने पुत्रको गोत्र आदि सब बातोंका पूरा परिचय दे दिया। चार प्रकारके धनुर्वेद, नाना प्रकारके शास्त्र तथा उन सबके गूढ रहस्यका भी पूर्णरूपसे उसको उपदेश दिया। इससे कृप थोड़े ही समयमें धनुर्वेदके उत्कृष्ट आचार्य हो गये ॥ २१-२२ ॥

ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रके महारथी पुत्र, पाण्डव तथा यादव—सबने उन्हीं कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ २३ ॥

वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ।

वृष्णिवंशी तथा भिन्न-भिन्न देशोंसे आये हुए अन्य नरेश भी उनसे धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे ॥

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया॥ २४ ॥
इष्वस्त्रज्ञान् पर्यपृच्छदाचार्यान् वीर्यसम्मतान्।
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथानानास्त्रकोविदः ॥ २५ ॥
नादेवसत्त्वो विनयेत् कुरूनस्त्रे महाबलान् ।
इति संचिन्त्य गाङ्गेयस्तदा भरतसत्तमः ॥ २६ ॥

१. धनुर्वेदके चार भेद इस प्रकार हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मन्त्रमुक्त। छोड़े जानेवाले बाण आदिको 'मुक्त' कहते हैं। जिन्हें हाथमें लेकर प्रहार किया जाय, उन खड्ग आदिको 'अमुक्त' कहते हैं। जिस अस्त्रको चलाने और समेटनेकी कला मालूम हो वह अस्त्र 'मुक्तामुक्त' कहलाता है। जिसे मन्त्र पढ़कर चला तो दिया जाय किंतु उसके उपसंहारकी विधि मालूम न हो, वह अस्त्र 'मन्त्रमुक्त' कहा गया है, शस्त्र, अस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र—ये भी धनुर्वेदके चार भेद हैं। इसी प्रकार आदान, संधान, विमोक्ष और संहार—इन चार क्रियाओंके भेदसे भी धनुर्वेदके चार भेद होते हैं।

द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कृपाचार्यके द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जानेपर पितामह भीष्मने अपने पौत्रोंमें विशिष्ट योग्यता लानेके लिये उन्हें और अधिक शिक्षा देनेकी इच्छासे ऐसे आचार्योंकी खोज प्रारम्भ की, जो बाण-संचालनकी कलामें निपुण और अपने पराक्रमके लिये सम्मानित हों। उन्होंने सोचा—'जिसकी बुद्धि थोड़ी है, जो महान् भाग्यशाली नहीं है, जिसने नाना प्रकारकी अस्त्र-विद्यामें निपुणता नहीं प्राप्त की है तथा जो देवताओंके समान शक्तिशाली नहीं है, वह इन महाबली कौरवोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा नहीं दे सकता।' नरश्रेष्ठ ! यों विचारकर भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने भरद्वाजवंशी, वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके उनको शिष्यरूपमें पाण्डवों तथा कौरवोंको समर्पित कर दिया ॥ २४—२७ ॥

शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक् तेन महात्मना ।
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ॥ २८ ॥

अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महाभाग द्रोण महात्मा भीष्मके द्वारा शास्त्रविधिसे भलीभाँति पूजित होनेपर बहुत संतुष्ट हुए ॥ २८ ॥

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः ।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥ २९ ॥

फिर उन महायशस्वी आचार्य द्रोणने उन सबको शिष्यरूपमें स्वीकार किया और सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा दी ॥ २९ ॥

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशस्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ॥ ३० ॥

राजन् ! अमिततेजस्वी पाण्डव तथा कौरव—सभी थोड़े ही समयमें सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें परम प्रवीण हो गये ॥ ३० ॥

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्रोणः कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चागात् कुरून् ब्रह्मन् कस्य पुत्रः स वीर्यवान् ॥ ३१ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! द्रोणाचार्यकी उत्पत्ति कैसे हुई ? उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-विद्या प्राप्त की ? वे कुरुदेशमें कैसे आये ? तथा वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे ? ॥ ३१ ॥

कथं चास्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामास्त्रवित्तमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३२ ॥

साथ ही अस्त्र-शस्त्रके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा, जो द्रोणका पुत्र था, कैसे उत्पन्न हुआ ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। आप विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन् पुरा ॥ ३४ ॥
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मदद्दप्तां मदालसाम् ॥ ३५ ॥
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें भगवान् भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे। वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतोंका पालन करते थे। एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकारके यज्ञका अनुष्ठान करना था इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियोंको साथ लेकर गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहुँचकर महर्षिने प्रत्यक्ष देखा, घृताची अप्सरा पहलेसे ही स्नान करके नदीके तटपर खड़ी हो वस्त्र बदल रही है। वह रूप और यौवनसे सम्पन्न थी। जवानीके नशेमें मदसे उन्मत्त हुई जान पड़ती थी। उसका वस्त्र खिसक गया और उसे उस अवस्थामें देखकर ऋषिके मनमें कामवासना जाग उठी ॥ ३३—३६ ॥

तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ३७ ॥

परम बुद्धिमान् भरद्वाजजीका मन उस अप्सरामें आसक्त हुआ; इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया। ऋषिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया ॥ ३७ ॥

ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३८ ॥

तब उन बुद्धिमान् महर्षिको उस कलशसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह द्रोणसे जन्म लेनेके कारण द्रोण नामसे ही विख्यात हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका अध्ययन किया ॥ ३८ ॥

अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ३९ ॥

प्रतापी महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने महाभाग अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी ॥ ३९ ॥

अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भारद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ ४० ॥

जनमेजय ! अग्निवेश मुनि साक्षात् अग्निके पुत्र थे। उन्होंने अपने गुरुपुत्र भरद्वाजनन्दन द्रोणको उस आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी शिक्षा दी ॥ ४० ॥

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ॥ ४१ ॥

उन दिनों पृषत नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल महर्षि भरद्वाजके मित्र थे। उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था ॥ ४१ ॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ ४२ ॥

वह राजकुमार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ था। वह प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलता और अध्ययन करता था ॥ ४२ ॥

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर ॥ ४३ ॥

नरेश्वर जनमेजय! पृषतकी मृत्यु हो जानेपर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पञ्चाल देशके राजा हुए ॥ ४३ ॥

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा।
तत्रैव च वसन् द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः ॥ ४४ ॥

कुछ दिनों बाद भगवान् भरद्वाज भी स्वर्गवासी हो गये और महातपस्वी द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे ॥ ४४ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वान् स तपसा दग्धकिल्बिषः।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः ॥ ४५ ॥
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ॥ ४६ ॥

वे वेदों और वेदाङ्गोंके विद्वान् तो थे ही, तपस्याद्वारा अपनी सम्पूर्ण पापराशिको दग्ध कर चुके थे। उनका महान् यश सब ओर फैल चुका था। एक समय पितरोंने उनके मनमें पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी; अतः द्रोणाचार्यने पुत्रके लोभसे शरद्वान्की पुत्री कृपीको धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण किया। कृपी सदा अग्निहोत्र, धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रिय-संयममें उनका साथ देती थी ॥ ४५-४६ ॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च।
स जातमात्रो व्यनदद् यथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥ ४७ ॥

गौतमी कृपीने द्रोणसे अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। उस बालकने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समान शब्द किया ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत्।
अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ॥ ४८ ॥
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ॥ ४९ ॥

उसे सुनकर अन्तरिक्षमें स्थित किसी अदृश्य चेतनने कहा—'इस बालकके चिल्लाते समय अश्वके समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठा है; अतः यह अश्वत्थामा नामसे ही प्रसिद्ध होगा।' उस पुत्रसे भरद्वाजनन्दन द्रोणको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४८-४९ ॥

तत्रैव च वसन् धीमान् धनुर्वेदपरोऽभवत्।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ॥ ५० ॥

सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रममें रहकर धनुर्वेदका अभ्यास करने लगे। राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि 'महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजी इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले वे विप्रवर ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं ॥ ५०-५१ ॥

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥ ५२ ॥

द्रोणने यह सुनकर कि परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा की। इसी प्रकार उन्होंने उनसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा लेनेका भी विचार किया ॥ ५२ ॥

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ ५३ ॥

फिर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शिष्योंसे घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वतपर गये ॥ ५३ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद् भृगुनन्दनम् ॥ ५४ ॥

महेन्द्र पर्वतपर पहुँचकर महान् तपस्वी द्रोणने क्षमा एवं शम-दम आदि गुणोंसे युक्त शत्रुनाशक भृगुनन्दन परशुरामजीका दर्शन किया ॥ ५४ ॥

ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम्।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चाङ्गिरसः कुले ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् शिष्योंसहित द्रोणने भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीके समीप जाकर अपना नाम बताया और यह भी कहा कि 'मेरा जन्म आङ्गिरस कुलमें हुआ है' ॥ ५५ ॥

निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत्।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा ॥ ५६ ॥
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीदिदम्।
भरद्वाजात् समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम् ॥ ५७ ॥
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभ।

इस प्रकार नाम और गोत्र बताकर उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक टेक दिया और परशुरामजीके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर सर्वस्व त्यागकर वनमें जानेकी इच्छा रखनेवाले महात्मा जमदग्निकुमारसे द्रोणने इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि भरद्वाजसे उत्पन्न उनका अयोनिज पुत्र हूँ। आपको यह ज्ञात हो कि मैं धनकी इच्छासे आया हूँ। मेरा नाम द्रोण है' ॥ ५६-५७½ ॥

तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर समस्त क्षत्रियोंका संहार करनेवाले महात्मा परशुराम उनसे यों बोले—॥ ५८ ॥

स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः ॥ ५९ ॥
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥ ६० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारा स्वागत है। तुम जो कुछ भी चाहते हो, मुझसे कहो ।' उनके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजकुमार द्रोणने नाना प्रकारके धन-रत्नोंका दान करनेकी इच्छावाले, योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामसे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं आपसे ऐसे धनकी याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ॥ ५९-६० ॥

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद् वसु किंचिदिह स्थितम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ॥ ६१ ॥
तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ ६२ ॥

परशुरामजी बोले—तपोधन ! मेरे पास यहाँ जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकारका धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणोंको दे दिया । इसी प्रकार ग्राम और नगरोंकी पङ्क्तियोंसे सुशोभित होनेवाली समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यपको दे दी है ॥ ६१—६२ ॥

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥ ६३ ॥

अब मेरा यह शरीरमात्र बचा है । साथ ही नाना प्रकारके बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अवशिष्ट है ॥ ६३ ॥

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥ ६४ ॥

अतः तुम अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अथवा यह शरीर माँग लो । इसे देनेके लिये मैं सदा प्रस्तुत हूँ । द्रोण ! बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ ! शीघ्र उसे कहो ॥ ६४ ॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ ६५ ॥

द्रोणने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधिसहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्रदान करें ॥ ६५ ॥

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ ६६ ॥

तब 'तथास्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजीने द्रोणको सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका भी उपदेश किया ॥ ६६ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ ६७ ॥

वह सब ग्रहण करके द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्रविद्याके पूरे पण्डित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा द्रुपदके पास गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणस्य भार्गवादस्त्रप्राप्तौ ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्रविद्याकी प्राप्तिविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका द्रुपदसे तिरस्कृत हो हस्तिनापुरमें आना, राजकुमारोंसे उनकी भेंट, उनकी बीटा और अँगूठीको कुएँमेंसे निकालना एवं भीष्मका उन्हें अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखना

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपदके यहाँ जाकर उनसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण यहाँ तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ' ॥ १ ॥

इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चालो नामृष्यत वचोऽस्य तत् ॥ २ ॥

मित्र द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहे जानेपर पञ्चालदेशके नरेश द्रुपद उनकी इस बातको सह न सके ॥ २ ॥

सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥

क्रोध और अमर्षसे उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, आँखोंमें लाली छा गयी; धन और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर वे राजा द्रोणसे यों बोले ॥ ३ ॥

द्रुपद उवाच

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ४ ॥

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन् ! तुम्हारी बुद्धि सर्वथा संस्कार-शून्य—अपरिपक्व है । तुम्हारी यह बुद्धि यथार्थ नहीं है । तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मुझसे कह रहे हो कि 'राजन् ! मैं तुम्हारा सखा हूँ' ॥ ४ ॥

---

१. जौके आकारकी बनी हुई काठकी मोटी गुल्लीको 'बीटा' कहते हैं ।

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ५ ॥

ओ मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता नहीं होती ॥ ५ ॥

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ६ ॥

समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-ही-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है। पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय मैं और तुम दोनों समान शक्तिशाली थे ॥ ६ ॥

न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥ ७ ॥

लोकमें किसी भी मनुष्यके हृदयमें मैत्री अमिट होकर नहीं रहती। समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है ॥ ७ ॥

मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीका भरोसा न करो। हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे—इस भावको हृदयसे निकाल दो। द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि स्वार्थको लेकर हुई थी ॥ ८ ॥

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ९ ॥

सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ॥ ९ ॥

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ १० ॥

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हींमें विवाह और मैत्रीका सम्बन्ध हो सकता है। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बलमें (धनवान् और निर्धनमें) कभी मित्रता नहीं हो सकती ॥ १० ॥

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ११ ॥

जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) का मित्र नहीं हो सकता। जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र कदापि नहीं हो सकता। फिर तुम पुरानी मित्रताका क्यों स्मरण करते हो ? ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १२ ॥

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपदके यों कहनेपर प्रतापी द्रोण क्रोधसे जल उठे और दो घड़ीतक गहरी चिन्तामें डूबे रहे। वे बुद्धिमान् तो थे ही, पाञ्चाल-नरेशसे बदला लेनेके विषयमें मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर नगरमें चले गये ॥ १२-१३ ॥

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥ १४ ॥

हस्तिनापुरमें पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतमगोत्रीय कृपाचार्यके घरमें गुप्तरूपसे निवास करने लगे ॥ १४ ॥

ततोऽस्य तनुजः पार्थान् कृपस्यानन्तरं प्रभुः ।
अस्त्राणि शिक्षयामास नाबुध्यन्त च तं जनाः ॥ १५ ॥

वहाँ उनके पुत्र शक्तिशाली अश्वत्थामा कृपाचार्यके बाद पाण्डवोंको स्वयं ही अस्त्रविद्याकी शिक्षा देने लगे; किंतु लोग उन्हें पहचान न सके ॥ १५ ॥

एवं स तत्र गूढात्मा कंचित् कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥ १६ ॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा ।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥ १७ ॥

इस प्रकार द्रोणने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ कालतक निवास किया। तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ मिलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे। उस समय खेलमें लगे हुए उन कुमारोंकी वह वीटा कुएँमें गिर पड़ी ॥ १६-१७ ॥

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ १८ ॥

तब वे उस वीटाको निकालनेके लिये बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्नमें लग गये; परंतु उसे प्राप्त करनेका कोई भी उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ॥ १८ ॥

ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयावनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताभवन् ॥ १९ ॥

इस कारण लज्जासे नतमस्तक होकर वे एक दूसरेकी ओर देखने लगे। गुल्ली निकालनेका कोई उपाय न मिलनेके कारण वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ॥ १९ ॥

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ २० ॥

इसी समय उन्होंने एक श्याम वर्णके ब्राह्मणको थोड़ी ही दूरपर बैठे देखा, जो अग्निहोत्र करके किसी प्रयोजनसे वहाँ रुके हुए थे। वे आपत्तिग्रस्त जान पड़ते थे। उनके सिरके बाल सफेद हो गये थे और शरीर अत्यन्त दुर्बल था ॥ २० ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥ २१ ॥

उन महात्मा ब्राह्मणको देखकर वे सभी कुमार उनके पास गये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भङ्ग हो गया था। कोई काम करनेकी इच्छा नहीं होती थी। मनमें भारी निराशा भर गयी थी ॥ २१ ॥

अथ द्रोणः कुमारांस्तान् दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ २२ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजनसे मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुसकराहटके साथ बड़े कौशलसे बोले—॥ २२ ॥

अहो वो धिग् बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम्।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥२३॥

'अहो! तुमलोगोंके क्षत्रियबलको धिक्कार है और तुमलोगोंकी इस अस्त्र-विद्या-विषयक निपुणताको भी धिक्कार है; क्योंकि तुमलोग भरतवंशमें जन्म लेकर भी कुएँमें गिरी हुई गुल्लीको नहीं निकाल पाते ॥ २३ ॥

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम्।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ २४ ॥

'देखो, मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनोंको सींकोंसे निकाल सकता हूँ। तुमलोग मेरी जीविकाकी व्यवस्था करो' ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम्।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिंदमः ॥ २५ ॥

उन कुमारोंसे यों कहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणने उस निर्जल कुएँमें अपनी अगूँठी डाल दी ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने द्रोणसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

कृपस्यानुमते ब्रह्मन् भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ॥ २६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम्।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आप कृपाचार्यकी अनुमति ले सदा यहीं रहकर भिक्षा प्राप्त करें ॥

उनके यों कहनेपर द्रोणने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारोंसे कहा ॥२६½ ॥

द्रोण उवाच

एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ॥ २७ ॥

द्रोण बोले—ये मुट्ठी भर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रित किया है ॥ २७ ॥

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते।
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ॥ २८ ॥

तुमलोग इसका बल देखो, जो दूसरेमें नहीं है। मैं पहले एक सींकसे उस गुल्लीको बींध दूँगा; फिर दूसरी सींकसे उस पहली सींकको बींधूँगा ॥ २८ ॥

तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम।

इसी प्रकार दूसरीको तीसरीसे बींधते हुए अनेक सींकोंका संयोग होनेपर मुझे गुल्ली मिल जायगी।

वैशम्पायन उवाच

ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणने जैसा कहा था, वह सब कुछ अनायास ही कर दिखाया।२९।

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ ३० ॥

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले।३०।

कुमारा ऊचुः

मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर।

कुमारोंने कहा—ब्रह्मर्षे! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठीको भी निकाल दीजिये।

वैशम्पायन उवाच

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ॥ ३१ ॥
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः।
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ॥ ३२ ॥
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः।
मुद्रिकामुद्धृतां दृष्ट्वा तमाहुस्ते कुमारकाः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महायशस्वी द्रोणने धनुष-बाण लेकर बाणसे उस अँगूठीको बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया। शक्तिशाली द्रोणने इस प्रकार कुएँसे बाणसहित अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें दे दी; किंतु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उस अँगूठीको कुएँसे निकाली हुई देखकर उन कुमारोंने द्रोणसे कहा ॥ ३१—३३ ॥

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ॥ ३४ ॥

कुमार बोले—ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्र-कौशल दूसरे किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं—यह हम जानना चाहते हैं। बताइये, हमलोग आपकी क्या सेवा करें? ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो द्रोणः प्रत्युवाच कुमारकान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारोंके इस प्रकार पूछनेपर द्रोणने उनसे कहा।

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम्॥ ३५॥
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते।

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजीके पास जाकर मेरे रूप और गुणोंका परिचय दो। वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः॥ ३६॥
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म तथाविधम्।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत॥ ३७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—'बहुत अच्छा' कहकर वे कुमार भीष्मजीके पास गये और ब्राह्मणकी सची बातों तथा उनके उस अद्भुत पराक्रमको भी उन्होंने भीष्मजीसे कह सुनाया। कुमारोंकी बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं॥ ३६–३७॥

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम्॥ ३८॥
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत्॥ ३९॥

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारोंके उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये। वहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ द्रोणाचार्यसे उनके आगमनका कारण पूछा और द्रोणने वह सब कारण इस प्रकार निवेदन किया॥ ३८–३९॥

द्रोण उवाच

महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदजिघृक्षया॥ ४०॥

द्रोणाचार्यने कहा—अपनी प्रतिज्ञासे कभी च्युत न होनेवाले भीष्मजी ! पहलेकी बात है, मैं अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा तथा धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये महर्षि अग्निवेशके समीप गया था॥ ४०॥

ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः॥ ४१॥

वहाँ मैं विनीत हृदयसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सिरपर जटा धारण किये बहुत वर्षोंतक रहा। गुरुकी सेवामें निरन्तर संलग्न रहकर मैंने दीर्घकालतक उनके आश्रममें निवास किया॥ ४१॥

पाञ्चाल्यो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत् तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः॥ ४२॥

उन दिनों पञ्चालराजकुमार महाबली यज्ञसेन द्रुपद भी, जो बड़े शक्तिशाली थे, धनुर्वेदकी शिक्षा पानेके लिये उन्हीं गुरुदेव अग्निवेशके समीप रहते थे॥ ४२॥

स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे।
तेनाहं सह संगम्य वर्तयन् सुचिरं प्रभो॥ ४३॥

वे उस गुरुकुलमें मेरे बड़े ही उपकारी और प्रिय मित्र थे। प्रभो ! उनके साथ मिल-जुलकर मैं बहुत दिनोंतक आश्रममें रहा॥ ४३॥

बाल्यात् प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः॥ ४४॥

बचपनसे ही हम दोनोंका अध्ययन साथ-साथ चलता था। द्रुपद वहाँ मेरे घनिष्ठ मित्र थे। वे सदा मुझसे प्रिय वचन बोलते और मेरा प्रिय कार्य करते थे॥ ४४॥

अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम्।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः॥ ४५॥

भीष्मजी ! वे एक दिन मुझसे मेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली यह बात बोले—'द्रोण ! मैं अपने महात्मा पिताका अत्यन्त प्रिय पुत्र हूँ॥ ४५॥

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चाल्यो यदा तदा।
त्वद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे॥ ४६॥
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च।
एवमुक्त्वाथ वव्राज कृतास्त्रः पूजितो मया॥ ४७॥

'तात ! जब पञ्चालनरेश मुझे राज्यपर अभिषिक्त करेंगे, उस समय मेरा राज्य तुम्हारे उपभोगमें आवेगा। सखे ! मैं सत्यकी सौगंध खाकर कहता हूँ—मेरे भोग, वैभव और सुख सब तुम्हारे अधीन होंगे।' यों कहकर वे अस्त्रविद्यामें निपुण हो मुझसे सम्मानित होकर अपने देशको लौट गये॥ ४६-४७॥

तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा।
सोऽहं पितृनियोगेन पुत्रलोभाद् यशस्विनीम्॥ ४८॥
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम्।
अग्निहोत्रे च सत्रे च दमे च सततं रताम्॥ ४९॥

उनकी उस समय कही हुई इस बातको मैं अपने मनमें सदा याद रखता था। कुछ दिनोंके बाद पितरोंकी प्रेरणासे मैंने पुत्र-प्राप्तिके लोभसे परम बुद्धिमती, महान् व्रतका पालन करनेवाली, अग्निहोत्र, सत्र तथा शम-दमके पालनमें मेरे साथ सदा संलग्न रहनेवाली शरद्वान्‌की पुत्री यशस्विनी कृपीसे, जिसके केश बहुत बड़े नहीं थे, विवाह किया॥ ४८-४९॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम्।
भीमविक्रमकर्माणमादित्यसमतेजसम्॥ ५०॥

उस गौतमी कृपीने मुझसे मेरे औरस पुत्र अश्वत्थामाको प्राप्त किया, जो सूर्यके समान तेजस्वी तथा भयंकर पराक्रम एवं पुरुषार्थ करनेवाला है॥ ५०॥

पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा।

गोक्षीरं पिबतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान् ।
अश्वत्थामारुदद् बालस्तन्मे संदेहयद् दिशः ॥ ५१ ॥

उस पुत्रसे मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी मुझसे मेरे पिता भरद्वाजको हुई थी। एक दिनकी बात है, गोधनके धनी ऋषिकुमार गायका दूध पी रहे थे। उन्हें देखकर मेरा छोटा बच्चा अश्वत्थामा भी बाल-स्वभावके कारण दूध पीनेके लिये मचल उठा और रोने लगा। इससे मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया—मुझे दिशाओंके पहचाननेमें भी संशय होने लगा ॥ ५१ ॥

न स्नातकोऽवसीदेत वर्तमानः स्वकर्मसु ।
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ॥ ५२ ॥
विशुद्धमिच्छन् गाङ्गेय धर्मोपेतं प्रतिग्रहम् ।
अन्तादन्तं परिक्रम्य नाध्यगच्छं पयस्विनीम् ॥ ५३ ॥

मैंने मन-ही-मन सोचा, यदि मैं किसी कम गायवाले ब्राह्मणसे गाय माँगता हूँ तो कहीं ऐसा न हो कि वह अपने अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें लगा हुआ स्नातक गोदुग्धके बिना कष्टमें पड़ जाय; अतः जिसके पास बहुत-सी गौएँ हों उसीसे धर्मानुकूल विशुद्ध दान लेनेकी इच्छा रखकर मैंने उस देशमें कई बार भ्रमण किया। गङ्गानन्दन ! एक देशसे दूसरे देशमें घूमनेपर भी मुझे दूध देनेवाली कोई गाय न मिल सकी ॥ ५२-५३ ॥

अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः ।
पीत्वा पिष्टरसं बालः क्षीरं पीतं मयापि च ॥ ५४ ॥
ननर्तोत्थाय कौरव्य हृष्टो बाल्याद् विमोहितः ।
तं दृष्ट्वा नृत्यमानं तु बालैः परिवृतं सुतम् ॥ ५५ ॥
हास्यतामुपसम्प्राप्तं कश्मलं तत्र मेऽभवत् ।
द्रोणं धिगस्त्वधनिनं यो धनं नाधिगच्छति ॥ ५६ ॥

मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि छोटे-छोटे बालक आटेके पानीसे अश्वत्थामाको ललचा रहे हैं और वह अज्ञान-मोहित बालक उस आटेके जलको ही पीकर मारे हर्षके फूला नहीं समाता तथा यह कहता हुआ उठकर नाच रहा है कि 'मैंने दूध पी लिया'। कुरुनन्दन ! बालकोंसे घिरे हुए अपने पुत्रका इस प्रकार नाचते और उसकी हँसी उड़ायी जाती देख मेरे मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उस समय कुछ लोग इस प्रकार कह रहे थे, 'इस धनहीन द्रोणको धिक्कार है; जो धनका उपार्जन नहीं करता ॥ ५४-५६ ॥

पिष्टोदकं सुतो यस्य पीत्वा क्षीरस्य तृष्णया ।
नृत्यति स्म मुदाविष्टः क्षीरं पीतं मयाप्युत ॥ ५७ ॥
इति सम्भाषतां वाचं श्रुत्वा मे बुद्धिरच्यवत् ।
आत्मानं चात्मना गर्हन् मनसेदं व्यचिन्तयम् ॥ ५८ ॥
अपि चाहं पुरा विप्रैर्वर्जितो गर्हितो वसे ।
परोपसेवां पापिष्ठां न च कुर्यां धनेप्सया ॥ ५९ ॥

'जिसका बेटा दूधकी लालसासे आटा मिला हुआ जल पीकर आनन्दमग्न हो यह कहता हुआ नाच रहा है कि 'मैंने भी दूध पी लिया।' इस प्रकारकी बातें करनेवाले लोगोंकी आवाज मेरे कानोंमें पड़ी तो मेरी बुद्धि स्थिर न रह सकी। मैं स्वयं ही अपने आपकी निन्दा करता हुआ मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगा—'मुझे दरिद्र जानकर पहलेसे ही ब्राह्मणोंने मेरा साथ छोड़ दिया। मैं धनाभावके कारण निन्दित होकर उपवास भले ही कर लूँगा, परंतु धनके लोभसे दूसरोंकी सेवा, जो अत्यन्त पापपूर्ण कर्म है, कदापि नहीं कर सकता' ॥ ५७–५९ ॥

इति मत्वा प्रियं पुत्रं भीष्मादाय ततो ह्यहम् ।
पूर्वस्नेहानुरागित्वात् सदारः सौमकिं गतः ॥ ६० ॥

भीष्मजी ! ऐसा निश्चय करके मैं अपने प्रिय पुत्र और पत्नीको साथ लेकर पहलेके स्नेह और अनुरागके कारण राजा द्रुपदके यहाँ गया ॥ ६० ॥

अभिषिक्तं तु श्रुत्वैव कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन् ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं समुपागमम् ॥ ६१ ॥

मैंने सुन रक्खा था कि द्रुपदका राज्याभिषेक हो चुका है, अतः मैं मन-ही-मन अपनेको कृतार्थ मानने लगा और बड़ी प्रसन्नताके साथ राज्यसिंहासनपर बैठे हुए अपने प्रिय सखाके समीप गया ॥ ६१ ॥

संस्मरन् संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत् ।
ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ॥ ६२ ॥
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति ।
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः ॥ ६३ ॥

उस समय मुझे द्रुपदकी मैत्री और उनकी कही हुई पूर्वोक्त बातोंका बारंबार स्मरण हो आता था। तदनन्तर अपने पहलेके सखा द्रुपदके पास पहुँचकर मैंने कहा—नरश्रेष्ठ ! मुझ अपने मित्रको पहचानो तो सही।' प्रभो ! मैं द्रुपदके पास पहुँचनेपर उनसे मित्रकी ही भाँति मिला ॥ ६२-६३ ॥

स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ॥ ६४ ॥

परंतु द्रुपदने मुझे नीच मनुष्यके समान समझकर उपहास करते हुए इस प्रकार कहा—'ब्राह्मण ! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त असंगत एवं अशुद्ध है ॥ ६४ ॥

यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ।
संगतानीह जीर्यन्ति कालेन परिजीर्यतः ॥ ६५ ॥

'तभी तो तुम मुझसे यह कहनेकी धृष्टता कर रहे हो कि 'राजन् ! मैं तुम्हारा सखा हूँ !' समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है ॥ ६५ ॥

सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ६६ ॥

'पहले तुम्हारे साथ मेरी जो मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय हम दोनोंकी शक्ति समान थी (किंतु अब वैसी बात नहीं है)। जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता)का, जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

साम्याद्धि सख्यं भवति वैषम्यान्नोपपद्यते ।
न सख्यमजरं लोके विद्यते जातु कस्यचित् ॥ ६७ ॥

'सब बातोंमें समानता होनेसे ही मित्रता होती है। विषमता होनेपर मैत्रीका होना असम्भव है। फिर लोकमें कभी किसीकी मैत्री अजर-अमर नहीं होती ॥ ६७ ॥

कालो वैनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ।
मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ॥ ६८ ॥

'समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है। इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीकी उपासना (भरोसा) न करो। हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे; इस भावको हृदयसे निकाल दो ॥ ६८ ॥

आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम्।
न ह्यनाढ्यः सखाढ्यस्य नाविद्वान् विदुषः सखा॥ ६९ ॥
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ।
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ॥ ७० ॥
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ७१ ॥
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।
अहं त्वया न जानामि राज्यार्थे संविदं कृताम् ॥ ७२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह (साथ साथ खेलने और अध्ययन करने आदि) स्वार्थको लेकर हुई थी। सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्‌का, मूर्ख विद्वान्‌का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ? मन्दमते ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता हो सकती है ? जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका, जो रथी नहीं है वह रथीका तथा जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता। फिर तुम मुझे जीर्ण-शीर्ण मित्रताका स्मरण क्यों दिलाते हो ? मैंने अपने राज्यके लिये तुमसे कोई प्रतिज्ञा की थी; इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है ॥ ६९—७२ ॥

एकरात्रं तु ते ब्रह्मन् कामं दास्यामि भोजनम्।
एवमुक्तस्त्वहं तेन सदारः प्रस्थितस्तदा ॥ ७३ ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें एक रातके लिये अच्छी तरह भोजन दे सकता हूँ।' राजा द्रुपदके यों कहनेपर मैं पत्नी और पुत्रके साथ वहाँसे चल दिया ॥ ७३ ॥

तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्तास्म्यचिरादिव ।
द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ७४ ॥

चलते समय मैंने एक प्रतिज्ञा की थी, जिसे शीघ्र पूर्ण करूँगा। द्रुपदके द्वारा जो इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण वचन मेरे प्रति कहा गया है, उसके कारण मैं क्षोभसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूँ ॥ ७४ ॥

अभ्यागच्छं कुरून् भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः।
ततोऽहं भवतः कामं संवर्धयितुमागतः ॥ ७५ ॥
इदं नागपुरं रम्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

भीष्मजी ! मैं गुणवान् शिष्योंके द्वारा अपने अभीष्टकी सिद्धि चाहता हुआ आपके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये पञ्चालदेशसे कुरुराज्यके भीतर इस रमणीय हस्तिनापुर नगरमें आया हूँ। बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ७५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मो भारद्वाजमभाषत ॥ ७६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रोणाचार्यके यों कहनेपर भीष्मने उनसे कहा ॥ ७६ ॥

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय ।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये॥ ७७ ॥

भीष्मजी बोले—विप्रवर ! अब आप अपने धनुषकी डोरी उतार दीजिये और यहाँ रहकर राजकुमारोंको धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी अच्छी शिक्षा दीजिये। कौरवोंके घरमें सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग कीजिये ॥ ७७ ॥

कुरूणामस्ति यद् वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम् ।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥ ७८ ॥

कौरवोंके पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं ॥

यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन् कृतं तदिति चिन्त्यताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ ७९ ॥

ब्रह्मन् ! आपने जो माँग की है, उसे पूर्ण हुई समझिये। ब्रह्मर्षे ! आप आये, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने यहाँ पधारकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मद्रोणसमागमे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-द्रोण-समागमविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

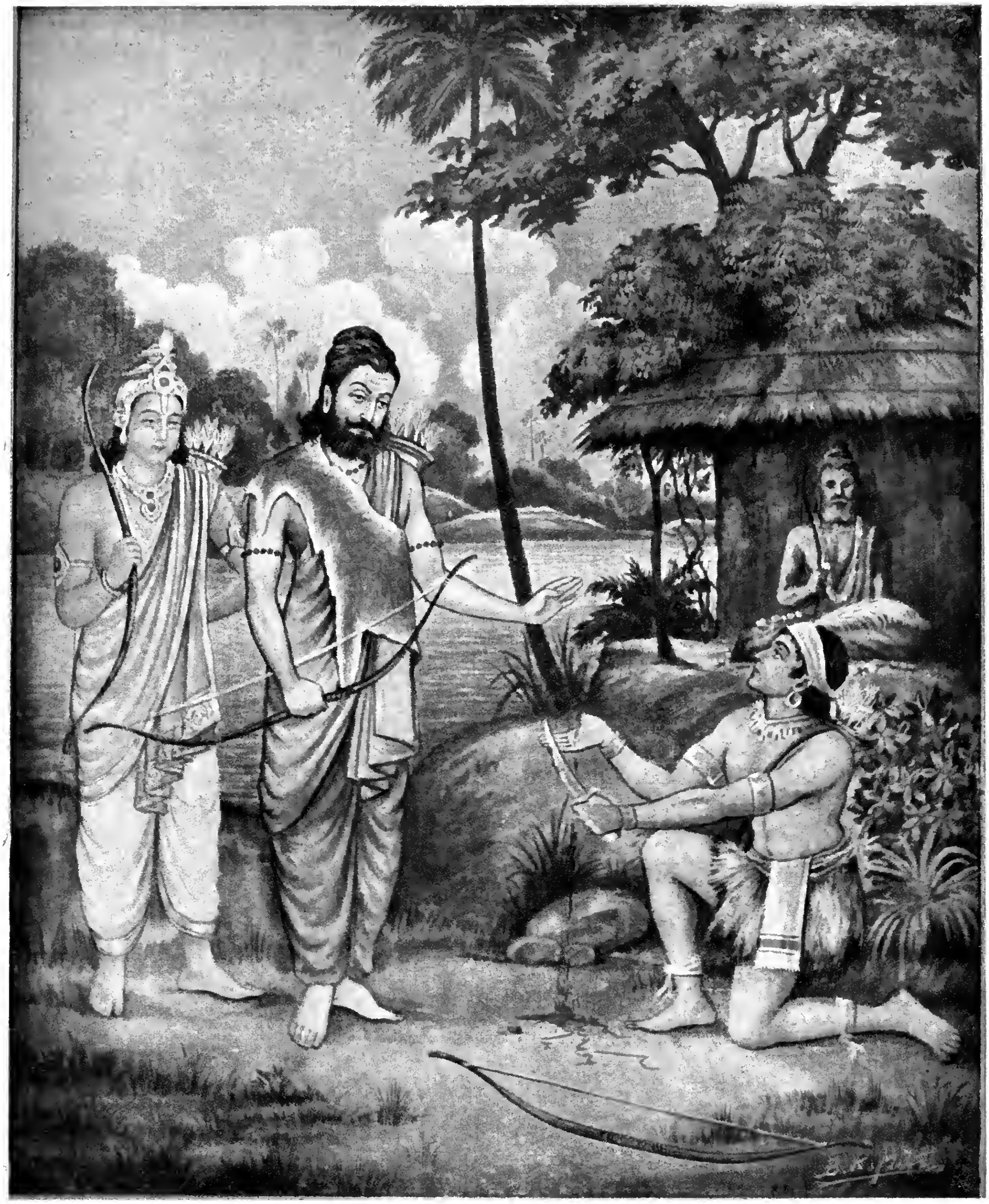

एकलव्यकी गुरु-दक्षिणा

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा राजकुमारोंकी शिक्षा, एकलव्यकी गुरुभक्ति तथा आचार्यद्वारा शिष्योंकी परीक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः ।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी द्रोणाचार्यने भीष्मजीके द्वारा पूजित हो कौरवोंके घरमें विश्राम किया । वहाँ उनका बड़ा सम्मान किया गया ॥ १ ॥

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन् पौत्रानादाय कौरवान् ।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ॥ २ ॥
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम् ।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥ ३ ॥

गुरु द्रोणाचार्य जब विश्राम कर चुके, तब सामर्थ्यशाली भीष्मजीने अपने कुरुवंशी पौत्रोंको लेकर उन्हें शिष्यरूपमें समर्पित किया । साथ ही अत्यन्त प्रसन्न होकर भरद्वाजनन्दन द्रोणको नाना प्रकारके धन-रत्न और सुन्दर सामग्रियोंसे सुसज्जित तथा धन-धान्यसे सम्पन्न भवन प्रदान किया॥ २-३॥

स ताञ्शिष्यान् महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥ ४ ॥

महाधनुर्धर आचार्य द्रोणने प्रसन्नचित्त होकर उन धृतराष्ट्र-पुत्रों तथा पाण्डवोंको शिष्यरूपमें ग्रहण किया ॥ ४ ॥

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥ ५ ॥

उन सबको ग्रहण कर लेनेपर एक दिन एकान्तमें जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मनसे अकेले बैठे थे, तब उन्होंने अपने पास बैठे हुए सब शिष्योंसे यह बात कही ॥ ५ ॥

द्रोण उवाच

कार्यं मे काङ्क्षितं किंचिद्धृदि सम्परिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं मे तदेतद् वदतानघाः ॥ ६ ॥

द्रोण बोले—निष्पाप राजकुमारो ! मेरे मनमें एक कार्य करनेकी इच्छा है । अस्त्रशिक्षा प्राप्त कर लेनेके पश्चात् तुम-लोगोंको मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी । इस विषयमें तुम्हारे क्या विचार हैं, बतलाओ ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा जनमेजय ! आचार्यकी वह बात सुनकर सब कौरव चुप रह गये; परंतु अर्जुनने वह सब कार्य पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ ७ ॥

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥ ८ ॥

तब आचार्यने बारम्बार अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर वे हर्षके आवेशमें रो पड़े ॥ ८ ॥

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥ ९ ॥

तब पराक्रमी द्रोणाचार्य पाण्डवों (तथा अन्य शिष्यों) को नाना प्रकारके दिव्य एवं मानव अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ॥ ९ ॥

राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय दूसरे-दूसरे राजकुमार भी अस्त्रविद्या-की शिक्षा लेनेके लिये द्विजश्रेष्ठ द्रोणके पास आने लगे ॥ १० ॥

वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात् तदा ॥ ११ ॥

वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रिय, नाना देशोंके राजकुमार तथा राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण—ये सभी आचार्य द्रोणके पास (अस्त्र-शिक्षा लेनेके लिये) आये ॥ ११ ॥

स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ॥ १२ ॥

सूतपुत्र कर्ण सदा अर्जुनसे लाग-डाँट रखता और अत्यन्त अमर्षमें भरकर दुर्योधनका सहारा ले पाण्डवोंका अपमान किया करता था ॥ १२ ॥

अभ्ययात् स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया ।
शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवः ।
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥ १३ ॥
तुल्येष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च ।
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्यधिकोऽर्जुनः ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन (सदा अभ्यासमें लगे रहनेसे) धनुर्वेद-की जिज्ञासा, शिक्षा, बाहुबल और उद्योगकी दृष्टिसे उन सभी शिष्योंमें श्रेष्ठ एवं आचार्य द्रोणकी समानता करने योग्य हो गये । उनका अस्त्रविद्यामें बड़ा अनुराग था, इसलिये वे तुल्य अस्त्रोंके प्रयोग, फुर्ती और सफाईमें भी सबसे बढ़-चढ़कर निकले ॥ १३-१४ ॥

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत ।
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ १५ ॥

आचार्य द्रोण उपदेश ग्रहण करनेमें अर्जुनको अनुपम प्रतिभाशाली मानते थे। इस प्रकार आचार्य सब कुमारोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा देते रहे ॥ १५ ॥

कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात् ।
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ॥ १६ ॥
यावत् तेनोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम् ।
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत् कर्म जिष्णुरौहत ॥ १७ ॥

वे अन्य सब शिष्योंको तो पानी लानेके लिये कमण्डलु देते जिससे उन्हें लौटनेमें कुछ विलम्ब हो जाय; परंतु अपने पुत्र अश्वत्थामाको बड़े मुँहका घड़ा देते, जिससे उसके लौटनेमें विलम्ब न हो (अतः अश्वत्थामा सबसे पहले पानी भरकर उनके पास लौट आता था)। जबतक दूसरे शिष्य लौट नहीं आते, तबतक वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको अस्त्र-संचालनकी उत्तम विधि बतलाते थे। अर्जुनने उनके इस कार्यको जान लिया ॥ १६-१७ ॥

ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम् ।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ॥ १८ ॥
आचार्यपुत्रात् तस्मात् तु विशेषोपचयेऽपृथक् ।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ॥ १९ ॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद् गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥ २० ॥

अतः वे वारुणास्त्रसे तुरंत ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्यपुत्रके साथ ही गुरुके समीप आ जाते थे, इसलिये आचार्यपुत्रसे किसी भी गुणकी वृद्धिमें वे अलग या पीछे न रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामासे किसी बातमें कम न रहे। वे अस्त्रवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ थे। अर्जुन अपने गुरुदेवकी सेवा-पूजाके लिये भी उत्तम यत्न करते थे। अस्त्रोंके अभ्यासमें भी उनकी अच्छी लगन थी। इसीलिये वे द्रोणाचार्यके बड़े प्रिय हो गये ॥ १८–२० ॥

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥ २१ ॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन ।
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥ २२ ॥

अर्जुनको धनुष-बाणके अभ्यासमें निरन्तर लगा हुआ देख द्रोणाचार्यने रसोइयेको एकान्तमें बुलाकर कहा—'तुम अर्जुनको कभी अँधेरेमें भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुनसे कभी न कहना' ॥ २१-२२ ॥

ततः कदाचिद् भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥ २३ ॥

तदनन्तर एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, बड़े जोरसे हवा चलने लगी; उससे वहाँका जलता हुआ दीपक बुझ गया ॥ २३ ॥

भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात् ॥ २४ ॥

उस समय भी कुन्तीनन्दन अर्जुन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी अर्जुनका हाथ अभ्यासवश अँधेरेमें भी मुखसे अन्यत्र नहीं जाता था ॥ २४ ॥

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥ २५ ॥

उसे अभ्यासका ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रातमें भी धनुर्विद्याका अभ्यास करने लगे ॥ २५ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

भारत! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार द्रोणने सोते समय सुना। तब वे उठकर उनके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर बोले ॥ २६ ॥

द्रोण उवाच

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

द्रोणने कहा—अर्जुन! मैं ऐसा करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसारमें दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुनको पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमिपर रहकर युद्ध करनेकी शिक्षा देने लगे ॥ २८ ॥

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥ २९ ॥

उन्होंने कौरवोंको गदायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियोंके प्रयोगकी कला एवं एक ही साथ अनेक शस्त्रोंके प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओंसे युद्ध करनेकी शिक्षा दी ॥ २९ ॥

तस्य तत् कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ३० ॥

द्रोणाचार्यका वह अस्त्रकौशल सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये ॥ ३० ॥

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥ ३१ ॥

महाराज! तदनन्तर निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य द्रोणके पास आया ॥ ३१ ॥

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ३२ ॥

परंतु उसे निषादपुत्र समझकर धर्मज्ञ आचार्यने धनुर्विद्या-विषयक शिष्य नहीं बनाया । कौरवोंकी ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया ॥ ३२ ॥

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः ।
अरण्यमनुसम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥ ३३ ॥
तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा ।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले एकलव्यने द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और वनमें लौटकर उनकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी तथा उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्याका अभ्यास प्रारम्भ किया । वह बड़े नियमके साथ रहता था ॥ ३३-३४ ॥

परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च ।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः ॥ ३५ ॥

आचार्यमें उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यासके बलसे उसने बाणोंके छोड़ने, लौटाने और संधान करनेमें बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली ॥ ३५ ॥

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित् कुरुपाण्डवाः ।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दन ॥ ३६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय ! तदनन्तर एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव आचार्य द्रोणकी अनुमतिसे रथोंपर बैठकर (हिंसक पशुओंका) शिकार खेलनेके लिये निकले ॥ ३६ ॥

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद् यदृच्छया ।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ ३७ ॥

इस कार्यके लिये आवश्यक सामग्री लेकर कोई मनुष्य स्वेच्छानुसार अकेला ही उन पाण्डवोंके पीछे-पीछे चला । उसने साथमें एक कुत्ता भी ले रक्खा था ॥ ३७ ॥

तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया ।
श्वा चरन् स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ३८ ॥

वे सब अपना-अपना काम पूरा करनेकी इच्छासे वनमें इधर-उधर विचर रहे थे । उनका वह मूढ़ कुत्ता वनमें घूमता-घामता निषादपुत्र एकलव्यके पास जा पहुँचा ॥ ३८ ॥

स कृष्णं मलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम् ।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ॥ ३९ ॥

एकलव्यके शरीरका रंग काला था । उसके अङ्गोंमें मैल जम गया था और उसने काला मृगचर्म एवं जटा धारण कर रखी थी । निषादपुत्रको इस रूपमें देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान् मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद् यथा ॥ ४० ॥

यह देख भीलने अपने अस्त्रलाघवका परिचय देते हुए उस भूकनेवाले कुत्तेके मुखमें मानो एक ही साथ सात बाण मारे ॥ ४० ॥

स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ॥ ४१ ॥

उसका मुँह बाणोंसे भर गया और वह उसी अवस्थामें पाण्डवोंके पास आया । उसे देखकर पाण्डव वीर बड़े विस्मयमें पड़े ॥ ४१ ॥

लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत् परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन् प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ ४२ ॥

वह हाथकी फुर्ती और शब्दके अनुसार लक्ष्य वेधनेकी उत्तम शक्ति देखकर उस समय सब राजकुमार उस कुत्तेकी ओर दृष्टि डालकर लज्जित हो गये और सब प्रकारसे बाण मारनेवालेकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४२ ॥

तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ४३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पाण्डवोंने उस वनवासी वीरकी वनमें खोज करते हुए उसे निरन्तर बाण चलाते हुए देखा ॥ ४३ ॥

न चैनमभ्यजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान् कस्य वेत्युत ॥ ४४ ॥

उस समय उसका रूप बदल गया था । पाण्डव उसे पहचान न सके; अतः पूछने लगे—'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो ?' ॥ ४४ ॥

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम् ।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥ ४५ ॥

एकलव्यने कहा—वीरो ! आपलोग मुझे निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र तथा द्रोणाचार्यका शिष्य जानें । मैंने धनुर्वेदमें विशेष परिश्रम किया है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः ।
यथावृत्तं वने सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे पाण्डवलोग उस निषादका यथार्थ परिचय पाकर लौट आये और वनमें जो अद्भुत घटना घटी थी, वह सब उन्होंने द्रोणाचार्यसे कह सुनायी ॥ ४६ ॥

कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन् ।
रहो द्रोणं समासाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन बार-बार एकलव्यका स्मरण करते हुए एकान्तमें द्रोणसे मिलकर प्रेमपूर्वक यों बोले ॥४७॥

अर्जुन उवाच

तदाहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥ ४८ ॥

अर्जुनने कहा—आचार्य ! उस दिन तो आपने मुझ अकेलेको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ यह बात कही थी कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा ॥४८॥

अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान् ।
अन्योऽस्ति भवतःशिष्यो निषादाधिपतेःसुतः ॥ ४९ ॥

फिर आपका यह अन्य शिष्य निषादराजका पुत्र अस्त्रविद्यामें मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोकसे भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ ? ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम् ।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! आचार्य द्रोण उस निषादपुत्रके विषयमें दो घड़ीतक मानो कुछ सोचते-विचारते रहे; फिर कुछ निश्चय करके वे सव्यसाची अर्जुनको साथ ले उसके पास गये ॥ ५० ॥

ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम् ।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ५१ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने एकलव्यको देखा, जो हाथमें धनुष ले निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहा था । उसके शरीरपर मैल जम गया था । उसने सिरपर जटा धारण कर रक्खी थी और वस्त्रके स्थानपर चिथड़े लपेट रक्खे थे ॥ ५१ ॥

एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात् ।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥ ५२ ॥

इधर एकलव्यने आचार्य द्रोणको समीप आते देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके दोनों चरण पकड़कर पृथ्वीपर माथा टेक दिया ॥ ५२ ॥

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत् स निषादजः ।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५३ ॥

फिर उस निषादकुमारने अपनेको शिष्यरूपसे उनके चरणोंमें समर्पित करके गुरु द्रोणकी विधिपूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ५३ ॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतां मम ॥ ५४ ॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ।

राजन् ! तब द्रोणाचार्यने एकलव्यसे यह बात कही—'वीर ! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरुदक्षिणा दो' ॥

यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला ॥ ५४½ ॥

एकलव्य उवाच

किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ॥ ५५ ॥
न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ।

एकलव्यने कहा—भगवन् ! मैं आपको क्या दूँ ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिये आज्ञा दें । ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य ! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरुके लिये अदेय हो ॥ ५५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ॥ ५६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब द्रोणाचार्यने उससे कहा—'तुम मुझे दाहिने हाथका अँगूठा दे दो' ॥५६॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा ॥ ५७ ॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।
छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥ ५८ ॥

द्रोणाचार्यका यह दारुण वचन सुनकर सदा सत्यपर अटल रहनेवाले एकलव्यने अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए पहलेकी ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-

विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्यको दे दिया ॥ ५७-५८ ॥

(स सत्यसंधं नैषादिं दृष्ट्वा प्रीतोऽब्रवीदिदम् ।
एवं कर्तव्यमिति वा एकलव्यमभाषत ॥)
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद् यथा पूर्वं नराधिप ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्य निषादनन्दन एकलव्यको सत्यप्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने संकेतसे उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमाके संयोगसे बाण पकड़कर किस प्रकार धनुषकी डोरी खींचनी चाहिये । तबसे वह निषादकुमार अपनी अँगुलियोंद्वारा ही बाणोंका संधान करने लगा । राजन् ! उस अवस्थामें वह उतनी शीघ्रतासे बाण नहीं चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था ॥ ५९ ॥

ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभवितार्जुनम् ॥ ६० ॥

इस घटनासे अर्जुनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई । उनकी भारी चिन्ता दूर हो गयी । द्रोणाचार्यका भी वह कथन सत्य हो गया कि अर्जुनको दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता ॥ ६० ॥

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः ।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥ ६१ ॥

उस समय द्रोणके दो शिष्य गदायुद्धमें सुयोग्य निकले— दुर्योधन और भीमसेन । ये दोनों सदा एक दूसरेके प्रति मनमें क्रोध (स्पर्द्धा) से भरे रहते थे ॥ ६१ ॥

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथाति पुरुषानन्यान् त्सारुकौ यमजावुभौ ॥ ६२ ॥

अश्वत्थामा धनुर्वेदके रहस्योंकी जानकारीमें सबसे बढ़-चढ़कर हुआ । नकुल और सहदेव दोनों भाई तलवारकी मूठ पकड़कर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हुए । वे इस कलामें अन्य सब पुरुषोंसे बढ़-चढ़कर थे ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनंजयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर रथपर बैठकर युद्ध करनेमें श्रेष्ठ थे । परंतु अर्जुन सब प्रकारकी युद्ध-कलाओंमें सबसे बढ़कर थे । वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीमें रथयूथपतियोंके भी यूथपतिके रूपमें प्रसिद्ध थे ॥ ६३ ॥

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥ ६४ ॥

बुद्धि, मनकी एकाग्रता, बल और उत्साहके कारण वे सम्पूर्ण अस्त्रविद्याओंमें प्रवीण हुए । अस्त्रोंके अभ्यास तथा गुरुके प्रति अनुरागमें भी अर्जुनका स्थान सबसे ऊँचा था ॥ ६४ ॥

तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान् ।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ॥ ६५ ॥

यद्यपि सबको समानरूपसे अस्त्रविद्याका उपदेश प्राप्त होता था तो भी पराक्रमी अर्जुन अपनी विशिष्ट प्रतिभाके कारण अकेले ही समस्त कुमारोंमें अतिरथी हुए ॥ ६५ ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानो नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ६६ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े दुरात्मा थे । वे भीमसेनको बलमें अधिक और अर्जुनको अस्त्रविद्यामें प्रवीण देखकर परस्पर सहन नहीं कर पाते थे ॥ ६६ ॥

तांस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥ ६७ ॥

जब सम्पूर्ण धनुर्विद्या तथा अस्त्र-संचालनकी कलामें वे सभी कुमार सुशिक्षित हो गये, तब नरश्रेष्ठ द्रोणने उन सबको एकत्र करके उनके अस्त्रज्ञानकी परीक्षा लेनेका विचार किया ॥ ६७ ॥

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥ ६८ ॥

उन्होंने कारीगरोंसे एक नकली गीध बनवाकर वृक्षके अग्रभागपर रखवा दिया । राजकुमारोंको इसका पता नहीं था । आचार्यने उसी गीधको बींधने योग्य लक्ष्य बताया ॥ ६८ ॥

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं संधितेषवः ॥ ६९ ॥

द्रोण बोले—तुम सब लोग इस गीधको बींधनेके लिये शीघ्र ही धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ाकर खड़े हो जाओ ॥ ६९ ॥

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥ ७० ॥

फिर मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही इसका सिर काट गिराओ। पुत्रो ! मैं एक-एकको बारी-बारीसे इस कार्यमें नियुक्त करूँगा; तुमलोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ॥ ७१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अङ्गिरागोत्रवाले ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोणने सबसे पहले युधिष्ठिरसे कहा—'दुर्धर्ष वीर ! तुम धनुषपर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही उसे छोड़ दो' ॥ ७१ ॥

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परंतपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ७२ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो सबसे पहले धनुष लेकर गीधको बींधनेके लिये लक्ष्य बनाकर खड़े हो गये ॥ ७२ ॥

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥ ७३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब धनुष तानकर खड़े हुए कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे दो घड़ी बाद आचार्य द्रोणने इस प्रकार कहा—॥

पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ ७४ ॥

'राजकुमार ! वृक्षकी शिखापर बैठे हुए इस गीधको देखो ।' तब युधिष्ठिरने आचार्यको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं देख रहा हूँ' ॥ ७४ ॥

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।

मानो दो घड़ी और बिताकर द्रोणाचार्य फिर उनसे बोले ।

द्रोण उवाच

अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ॥ ७५ ॥

द्रोणने कहा—क्या तुम इस वृक्षको, मुझको अथवा अपने भाइयोंको भी देखते हो ? ॥ ७५ ॥

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः ॥ ७६ ॥

यह सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनसे इस प्रकार बोले—'हाँ, मैं इस वृक्षको, आपको, अपने भाइयोंको तथा गीधको भी बारंबार देख रहा हूँ' ॥ ७६ ॥

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव ।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥ ७७ ॥

उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन अप्रसन्न-से हो गये और उन्हें झिड़कते हुए बोले, 'हट जाओ यहाँसे तुम इस लक्ष्यको नहीं बींध सकते' ॥ ७७ ॥

ततो दुर्योधनादींस्तान् धार्तराष्ट्रान् महायशाः ।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥ ७८ ॥

तदनन्तर महायशस्वी आचार्यने उसी क्रमसे दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंको भी उनकी परीक्षा लेनेके लिये बुलाया और उन सबसे उपर्युक्त बातें पूछीं ॥ ७८ ॥

अन्यांश्च शिष्यान् भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान् ।
तथा च सर्वे तत् सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥ ७९ ॥

उन्होंने भीम आदि अन्य शिष्यों तथा दूसरे देशके राजाओंसे भी, जो वहाँ शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्नके उत्तरमें सभीने (युधिष्ठिरकी भाँति ही) कहा—'हम सब कुछ देख रहे हैं।' यह सुनकर आचार्यने उन सबको झिड़ककर हटा दिया ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणशिष्यपरीक्षायामेकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आचार्य द्रोणके द्वारा शिष्योंकी परीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं ।)

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा लक्ष्यवेध, द्रोणका ग्राहसे छुटकारा और अर्जुनको ब्रह्मशिर नामक अस्त्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो धनंजयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अर्जुनसे मुसकराते हुए कहा—'अब तुम्हें इस लक्ष्यका वेध करना है । इसे अच्छी तरह देख लो ॥ १ ॥

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः ।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ २ ॥

'मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही तुम्हें इसपर बाण छोड़ना होगा । बेटा ! धनुष तानकर खड़े हो जाओ और दो घड़ी मेरे आदेशकी प्रतीक्षा करो' ॥ २ ॥

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर अर्जुनने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार (गोल) प्रतीत होने लगा । फिर वे गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो गीधकी ओर लक्ष्य करके खड़े हो गये ॥ ३ ॥

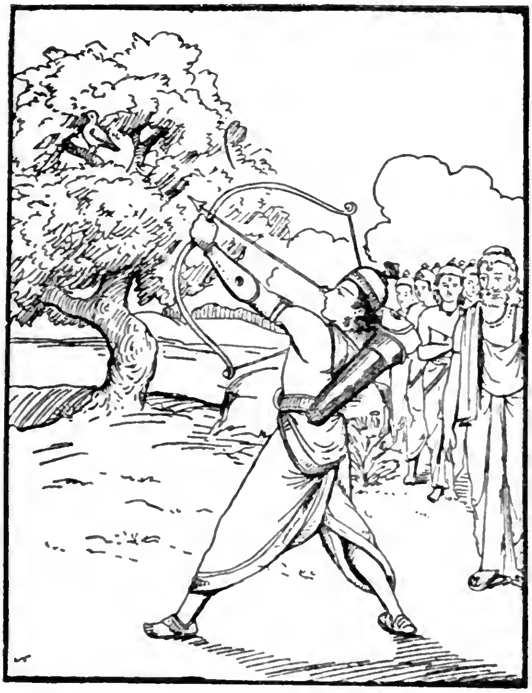

मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत ।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ॥ ४ ॥

मानो दो घड़ी बाद द्रोणाचार्यने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया—अर्जुन ! क्या तुम उस वृक्षपर बैठे हुए गीधको, वृक्षको और मुझे भी देखते हो !' ॥ ४ ॥

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥ ५ ॥

जनमेजय ! यह प्रश्न सुनकर अर्जुनने द्रोणाचार्यसे कहा—'मैं केवल गीधको देखता हूँ । वृक्षको अथवा आपको नहीं देखता' ॥ ५ ॥

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥ ६ ॥

इस उत्तरसे द्रोणका मन प्रसन्न हो गया । मानो दो घड़ी बाद दुर्धर्ष द्रोणाचार्यने पाण्डव-महारथी अर्जुनसे फिर पूछा—॥ ६ ॥

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'वत्स ! यदि तुम इस गीधको देखते हो तो फिर बताओ, उसके अङ्ग कैसे हैं !' अर्जुन बोले—'मैं गीधका मस्तक भर देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीरको नहीं' ॥ ७ ॥

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥ ८ ॥

अर्जुनके यों कहनेपर द्रोणाचार्यके शरीरमें (हर्षातिरेकसे) रोमाञ्च हो आया और वे अर्जुनसे बोले, 'चलाओ बाण !' अर्जुनने बिना सोचे-विचारे बाण छोड़ दिया ॥ ८ ॥

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च ।
शिरः उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ९ ॥

फिर तो पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने चलाये हुए तीखे क्षुर नामक बाणसे वृक्षपर बैठे हुए उस गीधका मस्तक वेगपूर्वक काट गिराया ॥ ९ ॥

तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम् ।
मेने च द्रुपदं संख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥ १० ॥

इस कार्यमें सफलता प्राप्त होनेपर आचार्यने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि राजा द्रुपद युद्धमें अर्जुनद्वारा अपने भाई-बन्धुओंसहित अवश्य पराजित हो जायँगे ॥ १० ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः ।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर किसी समय आङ्गिरसवंशियोंमें उत्तम आचार्य द्रोण अपने शिष्योंके साथ गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये ॥ ११ ॥

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः ।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ॥ १२ ॥

वहाँ जलमें गोता लगाते समय कालसे प्रेरित हो एक बलवान् जलजन्तु ग्राहने द्रोणाचार्यकी पिंडली पकड़ ली ॥ १२ ॥

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत् ।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥ १३ ॥

वे अपनेको छुड़ानेमें समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाये हुए अपने सभी शिष्योंसे बोले—'इस ग्राहको मारकर मुझे बचाओ' ॥ १३ ॥

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः ।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ॥ १४ ॥

उनके इस आदेशके साथ ही बीभत्सु (अर्जुन) ने पाँच अमोघ एवं तीखे बाणोंद्वारा पानीमें डूबे हुए उस ग्राहपर प्रहार किया ॥ १४ ॥

इतरे त्वथ सम्मूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे ।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ॥ १५ ॥

विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ॥ १६ ॥
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः ।
तथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ॥ १७ ॥

परंतु दूसरे राजकुमार हक्के-बक्के-से होकर अपने-अपने स्थानपर ही खड़े रह गये । अर्जुनको तत्काल कार्यमें तत्पर देख द्रोणाचार्यने उन्हें अपने सब शिष्योंसे बढ़कर माना और उस समय वे उनपर बहुत प्रसन्न हुए । अर्जुनके बाणोंसे ग्राहके टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह महात्मा द्रोणकी पिंडली छोड़कर मर गया । तब द्रोणाचार्यने महारथी महात्मा अर्जुनसे कहा—॥ १५-१७ ॥

गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥ १८ ॥

'महाबाहो ! यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र मैं तुम्हें प्रयोग और उपसंहारके साथ बता रहा हूँ । यह सब अस्त्रोंसे बढ़कर है तथा इसे धारण करना भी अत्यन्त कठिन है । तुम इसे ग्रहण करो ॥ १८ ॥

न च ते मानुषेष्वेतत् प्रयोक्तव्यं कथंचन ।
जगद् विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ॥ १९ ॥

'मनुष्योंपर तुम्हें इस अस्त्रका प्रयोग किसी भी दशामें नहीं करना चाहिये । यदि किसी अल्प तेजवाले पुरुषपर इसे चलाया गया तो यह उसके साथ ही समस्त संसारको भस्म कर सकता है ॥ १९ ॥

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ।
तद् धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥ २० ॥

'तात ! यह अस्त्र तीनों लोकोंमें असाधारण बताया गया है । तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर इस अस्त्रको धारण करो और मेरी यह बात सुनो ॥ २० ॥

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥ २१ ॥

'वीर ! यदि कोई अमानव शत्रु तुम्हें युद्धमें पीड़ा देने लगे तो तुम उसका वध करनेके लिये इस अस्त्रका प्रयोग कर सकते हो' ॥ २१ ॥

तथेति सम्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ॥ २२ ॥

तब अर्जुनने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और हाथ जोड़कर उस उत्तम अस्त्रको ग्रहण किया । उस समय गुरु द्रोणने अर्जुनसे पुनः यह बात कही—'संसारमें दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर न होगा' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणग्राहमोक्षणे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणाचार्यका ग्राहसे छुटकारा नामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजकुमारोंका रङ्गभूमिमें अस्त्र-कौशल दिखाना

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १ ॥
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! जब द्रोणने देखा कि धृतराष्ट्रके पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र-विद्याकी शिक्षा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, गङ्गानन्दन भीष्म, महर्षि व्यास तथा विदुरजीके निकट राजा धृतराष्ट्रसे कहा—॥ १-२ ॥

राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

'राजन् ! आपके कुमार अस्त्र-विद्याकी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं । कुरुश्रेष्ठ ! यदि आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालनकी कलाका प्रदर्शन करें ।'

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे बोले ॥ ३½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भारद्वाज महत् कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्विजश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन ! आपने (राजकुमारोंको अस्त्रकी शिक्षा देकर) बहुत बड़ा कार्य किया है ॥ ४ ॥

यदानुमन्यसे कालं यस्मिन् देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥ ५ ॥

आप कुमारोंकी अस्त्र-शिक्षाके प्रदर्शनके लिये जब जो

समय ठीक समझें, जिस स्थानपर जिस-जिस प्रकारका प्रबन्ध आवश्यक मानें, उस-उस तरहकी तैयारी करनेके लिये स्वयं ही मुझे आज्ञा दें ॥ ५ ॥

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान्॥ ६ ॥

आज मैं नेत्रहीन होनेके कारण दुखी होकर, जिनके पास आँखें हैं, उन मनुष्योंके सुख और सौभाग्यको पानेके लिये तरस रहा हूँ; क्योंकि वे अस्त्र-कौशलका प्रदर्शन करनेके लिये भाँति-भाँतके पराक्रम करनेवाले मेरे पुत्रोंको देखेंगे ॥ ६ ॥

क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत् तथा।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ॥ ७ ॥

(आचार्यसे इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र विदुरसे बोले—) 'धर्मवत्सल ! विदुर ! गुरु द्रोणाचार्य जो काम जैसे कहते हैं, उसी प्रकार उसे करो। मेरी रायमें इसके समान प्रिय कार्य दूसरा नहीं होगा' ॥ ७ ॥

ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाकी आज्ञा लेकर विदुरजी (आचार्य द्रोणके साथ) बाहर निकले। महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणने रङ्गमण्डपके लिये एक भूमि पसंद की और उसका माप करवाया ॥ ८ ॥

समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम्।
तस्यां भूमौ बलिं चक्रे तिथौ नक्षत्रपूजिते ॥ ९ ॥
अवघुष्टे समाजे च तदर्थं वदतां वरः।
रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ ॥ ११ ॥
मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिबिकाश्च महाधनाः ॥ १२ ॥

वह भूमि समतल थी। उसमें वृक्ष या झाड़-झंखाड़ नहीं थे। वह उत्तर दिशाकी ओर नीची थी। वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणने वास्तुपूजन देखनेके लिये डिण्डिम-घोष कराके वीरसमुदायको आमन्त्रित किया और उत्तम नक्षत्रसे युक्त तिथिमें उस भूमिपर वास्तुपूजन किया। तत्पश्चात् उनके शिल्पियोंने उस रङ्गभूमिमें वास्तु-शास्त्रके अनुसार विधिपूर्वक एक अति विशाल प्रेक्षागृह[1] की नींव डाली तथा राजा और राजघरानेकी स्त्रियोंके बैठनेके लिये वहाँ सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बहुत सुन्दर भवन बनाया। जनपदके लोगोंने अपने बैठनेके लिये वहाँ ऊँचे और विशाल मञ्च बनवाये तथा (स्त्रियोंको लानेके लिये) बहुमूल्य शिबिकाएँ तैयार करायीं ॥ ९–१२ ॥

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाचार्यसत्तमम् ॥ १३ ॥
(बाह्लीकं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च।
कुरूनन्यांश्च सचिवानादाय नगराद् बहिः ॥)
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम्।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जब निश्चित दिन आया, तब मन्त्रियोंसहित राजा धृतराष्ट्र भीष्मजी तथा आचार्यप्रवर कृपको आगे करके बाह्लीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा तथा अन्यान्य कौरवों और मन्त्रियोंको साथ ले नगरसे बाहर उस दिव्य प्रेक्षागृहमें आये। उसमें मोतियोंकी झालरें लगी थीं, वैदूर्यमणियोंसे उस भवनको सजाया गया था तथा उसकी दीवारोंमें स्वर्णखण्ड मढ़े गये थे ॥१३-१४॥

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः॥ १५ ॥
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान् मेरुं देवस्त्रियो यथा।
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद् द्रुतम् ॥ १६ ॥
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम्।
क्षणेनैकस्थतां तत्र दर्शनेप्सु जगाम ह ॥ १७ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! परम सौभाग्यशालिनी गान्धारी, कुन्ती तथा राजभवनकी सभी स्त्रियाँ वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर दास-दासियों और आवश्यक सामग्रियोंके साथ उस भवनमें आयीं तथा जैसे देवाङ्गनाएँ मेरुपर्वतपर चढ़ती हैं, उसी प्रकार वे हर्षपूर्वक मञ्चोंपर चढ़ गयीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णोंके लोग कुमारोंका अस्त्र-कौशल देखनेकी इच्छासे तुरंत नगरसे निकलकर आ गये। क्षणभरमें वहाँ विशाल जनसमुदाय एकत्र हो गया ॥ १५–१७ ॥

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत् तदा ॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके बाजोंके बजनेसे तथा मनुष्योंके बढ़ते हुए कौतूहलसे वह जनसमूह उस समय क्षुब्ध महासागरके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ १९ ॥
रङ्गमध्यं तदाऽऽचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ॥ २० ॥

तदनन्तर श्वेत वस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोणने अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया; मानो मेघरहित आकाशमें चन्द्रमाने मङ्गलके साथ पदार्पण किया हो। आचार्यके सिर और दाढ़ी-मूँछके

[1] जो उत्सव या नाटक आदिको सुविधापूर्वक देखनेके उद्देश्यसे बनाया गया हो, उसे प्रेक्षागृह या प्रेक्षाभवन कहते हैं।

बाल सफेद हो गये थे। वे श्वेत पुष्पोंकी माला और श्वेत चन्दनसे सुशोभित हो रहे थे ॥ १९-२० ॥

स यथासमयं चक्रे बलिं बलवतां वरः।
ब्राह्मणांस्तु सुमन्त्रज्ञान् कारयामास मङ्गलम् ॥ २१ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ द्रोणने यथासमय देव-पूजा की और श्रेष्ठ मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे मङ्गलपाठ करवाया ॥ २१ ॥

(सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राणि विविधानि च।
प्रददौ दक्षिणां राजा द्रोणस्य च कृपस्य च ॥)
सुखपुण्याहघोषस्य पुण्यस्य समनन्तरम्।
विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः ॥ २२ ॥

उस समय राजा धृतराष्ट्रने सुवर्ण, मणि, रत्न तथा नाना प्रकारके वस्त्र आचार्य द्रोण और कृपको दक्षिणारूपमें दिये। फिर सुखमय पुण्याहवाचन तथा दान-होम आदि पुण्यकर्मोंके अनन्तर नाना प्रकारकी शस्त्र-सामग्री लेकर बहुत-से मनुष्योंने उस रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥ २३ ॥

उसके बाद भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथोंके साथ दस्ताने पहने, कमर कसे, पीठपर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुए उस रङ्गमण्डपके भीतर आये ॥ २३ ॥

अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः।
(रणमध्ये स्थितं द्रोणमभिवाद्य नरर्षभाः।
पूजां चक्रुर्यथान्यायं द्रोणस्य च कृपस्य च ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि उन राजकुमारोंने जेठे-छोटेके क्रमसे स्थित हो उस रङ्गभूमिके मध्यभागमें बैठे हुए आचार्य द्रोणको प्रणाम करके द्रोण और कृप दोनों आचार्योंकी यथोचित पूजा की ॥

आशीर्भिश्च प्रयुक्ताभिः सर्वे संहृष्टमानसाः।
अभिवाद्य पुनःशस्त्रान् बलिपुष्पैः समन्वितान् ॥
रक्तचन्दनसम्मिश्रैः स्वयमार्चन्त कौरवाः।
रक्तचन्दनदिग्धाश्च रक्तमाल्यानुधारिणः ॥
सर्वे रक्तपताकाश्च सर्वे रक्तान्तलोचनाः।
द्रोणेन समनुज्ञाता गृह्य शस्त्रं परंतपाः ॥
धनूंषि पूर्वं संगृह्य तप्तकाञ्चनभूषिताः।
सज्यानि विविधाकारैः शरैः संधाय कौरवाः ॥
ज्याघोषं तलघोषं च कृत्वा भूतान्यपूजयन्।)
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥ २४ ॥

फिर उनसे आशीर्वाद पाकर उन सबका मन प्रसन्न हो गया। तत्पश्चात् पूजाके पुष्पोंसे आच्छादित अस्त्र-शस्त्रोंको प्रणाम करके कौरवोंने रक्त चन्दन और फूलोंद्वारा पुनः स्वयं उनका पूजन किया। वे सब-के-सब लाल चन्दनसे चर्चित तथा लाल रंगकी मालाओंसे विभूषित थे। सबके रथोंपर लाल रंगकी पताकाएँ थीं। सभीके नेत्रोंके कोने लाल रंगके थे। तदनन्तर तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित एवं शत्रुओंको संताप देनेवाले कौरव राजकुमारोंने आचार्य द्रोणकी आज्ञा पाकर पहले अपने अस्त्र एवं धनुष लेकर डोरी चढ़ायी और उसपर भाँति-भाँतिकी आकृतिके बाणोंका संधान करके प्रत्यञ्चाका टंकार करते और ताल ठोंकते हुए समस्त प्राणियोंका आदर किया। तत्पश्चात् वे महापराक्रमी राजकुमार वहाँ परम अद्भुत अस्त्र-कौशल प्रकट करने लगे ॥ २४ ॥

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ॥ २५ ॥

कितने ही मनुष्य बाण लग जानेके डरसे अपना मस्तक झुका देते थे। दूसरे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बिना किसी भयके सब कुछ देखते थे ॥ २५ ॥

ते स्म लक्ष्याणि बिभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥ २६ ॥

वे राजकुमार घोड़ोंपर सवार हो अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित और बड़ी फुर्तीके साथ छोड़े हुए नाना प्रकारके बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्यवेध करने लगे ॥ २६ ॥

तत् कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम्।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ॥ २७ ॥

धनुष-बाण लिये हुए राजकुमारोंके उस समुदायको गन्धर्वनगरके समान अद्भुत देख वहाँ समस्त दर्शक आश्चर्य-चकित हो गये ॥ २७ ॥

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥ २८ ॥

जनमेजय! सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें एक-एक जगह बैठे हुए लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते हुए सहसा 'साधु-साधु (वाह-वाह)' कहकर कोलाहल मचा देते थे ॥२८॥

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्यासु चासकृत्।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलः ॥ २९ ॥

उन महाबली राजकुमारोंने पहले धनुष-बाणके पैंतरे दिखाये। तदनन्तर रथ-संचालनके विविध मार्गों (शीघ्र ले जाना, लौटा लाना, दायें, बायें और मण्डलाकार चलाना आदि) का अवलोकन कराया। फिर कुश्ती लड़ने तथा हाथी और घोड़ेकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेकी चातुरीका परिचय दिया ॥ २९ ॥

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥ ३० ॥

इसके बाद वे ढाल और तलवार लेकर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए खड्ग चलानेके शास्त्रोक्त मार्ग (ऊपर-नीचे

और अगल-बगलमें घुमानेकी कला) का प्रदर्शन करने लगे। उन्होंने रथ, हाथी, घोड़े और भूमि—इन सभी भूमियोंपर यह युद्ध-कौशल दिखाया ॥ ३० ॥

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम्।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ॥ ३१ ॥

दर्शकोंने उन सबके ढाल-तलवारके प्रयोगोंको देखा। उस कलामें उनकी फुर्ती, चतुरता, शोभा, स्थिरता और मुट्ठीकी दृढ़ताका अवलोकन किया ॥ ३१ ॥

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सदा एक दूसरेको जीतनेका उत्साह रखनेवाले दुर्योधन और भीमसेन हाथमें गदा लिये रङ्गभूमिमें उतरे। उस समय वे एक-एक शिखरवाले दो पर्वतोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३२ ॥

बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ।
बृहन्तौ वासिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३३ ॥

वे दोनों महाबाहु कमर कसकर पुरुषार्थ दिखानेके लिये आमने-सामने डटकर खड़े थे और गर्जना कर रहे थे, मानो दो मतवाले गजराज किसी हथिनीके लिये एक दूसरेसे भिड़ना चाहते और चिग्घाड़ते हों ॥ ३३ ॥

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३४ ॥

वे दोनों महाबली योद्धा अपनी-अपनी गदाको दायें-बायें मण्डलाकार घुमाते हुए दो मदोन्मत्त हाथियोंकी भाँति मण्डलके भीतर विचरने लगे ॥ ३४ ॥

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्याः पाण्डवारणिः।
न्यवेदयेतां तत् सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥ ३५ ॥

विदुर धृतराष्ट्रको और पाण्डव-जननी कुन्ती गान्धारीको उन राजकुमारोंकी सारी चेष्टाएँ बताती जाती थीं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यस्त्रदर्शने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन, दुर्योधन तथा अर्जुनके द्वारा अस्त्रकौशलका प्रदर्शन

वैशम्पायन उवाच

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कुरुराज दुर्योधन और बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन रङ्गभूमिमें उतरकर गदा-युद्ध कर रहे थे, उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपात-पूर्ण स्नेह करनेके कारण मानो दो दलोंमें बँट गयी ॥ १ ॥

हा वीर कुरुराजेति हा भीम इति जल्पताम्।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥ २ ॥

कुछ कहते, 'अहो ! वीर कुरुराज कैसा अद्भुत पराक्रम दिखा रहे हैं।' दूसरे बोल उठते, 'वाह ! भीमसेन तो गजबका हाथ मारते हैं।' इस तरहकी बातें करनेवाले लोगोंकी भारी आवाजें वहाँ सहसा सब ओर गूँजने लगीं ॥ २ ॥

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान्।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ३ ॥

फिर तो सारी रङ्गभूमिमें क्षुब्ध महासागरके समान हलचल मच गयी। यह देख बुद्धिमान् द्रोणाचार्यने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामासे कहा ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि।
मा भूद् रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥ ४ ॥

द्रोण बोले—वत्स ! ये दोनों महापराक्रमी वीर अस्त्र-विद्यामें अत्यन्त अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनोंको युद्धसे रोको, जिससे भीमसेन और दुर्योधनको लेकर रङ्गभूमिमें सब ओर क्रोध न फैल जाय ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(तत उत्थाय वेगेन अश्वत्थामा न्यवारयत्।
गुरोराज्ञा भीम इति गान्धारे गुरुशासनम्।
अलं योग्यकृतं वेगमलं साहसमित्युत ॥)
ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अश्वत्थामाने बड़े वेगसे उठकर भीमसेन और दुर्योधनको रोकते हुए कहा—'भीम ! तुम्हारे गुरुकी आज्ञा है, गान्धारीनन्दन ! आचार्यका आदेश है, तुम दोनोंका युद्ध बंद होना चाहिये। तुम दोनों ही योग्य हो, तुम्हारा एक-दूसरेके प्रति वेगपूर्वक आक्रमण अवाञ्छनीय है। तुम दोनोंका यह दुःसाहस अनुचित है। अतः इसे बंद करो।' इस प्रकार कहकर प्रलयकालीन वायुसे विक्षुब्ध उत्ताल तरङ्गोंवाले दो समुद्रोंकी भाँति गदा उठाये हुए दुर्योधन और भीमसेनको गुरुपुत्र अश्वत्थामाने युद्धसे रोक दिया ॥ ५ ॥

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत्।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने महान् मेघोंके समान कोलाहल करनेवाले बाजोंको बंद कराकर रङ्गभूमिमें उपस्थित हो यह बात कही—॥ ६ ॥

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥ ७ ॥

'दर्शकगण ! जो मुझे पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रोंमें निपुणता प्राप्त की है तथा जो भगवान् नारायणके समान पराक्रमी है, उस इन्द्रकुमार कुन्तीपुत्र अर्जुनका कौशल आपलोग देखें' ॥ ७ ॥

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ८ ॥
काञ्चनं कवचं बिभ्रत् प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित् ससंध्य इव तोयदः ॥ ९ ॥

तदनन्तर आचार्यके कहनेसे स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन गोहके चमड़ेके बने हुए हाथके दस्ताने पहने, बाणोंसे भरा तरकस लिये धनुषसहित रङ्गभूमिमें दिखायी दिये। वे श्याम शरीरपर सोनेका कवच धारण किये ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो सूर्य, इन्द्रधनुष, विद्युत् और संध्याकालसे युक्त मेघ शोभा पाता हो ॥ ८-९ ॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत्।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशङ्खानि समन्ततः ॥ १० ॥

फिर तो समूचे रङ्गमण्डपमें हर्षोल्लास छा गया। सब ओर भाँति-भाँतिके बाजे और शंख बजने लगे ॥ १० ॥

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥ ११ ॥
एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥ १२ ॥
इत्येवं तुमुला वाचः शृण्वत्याः प्रेक्षकेरिताः।
कुन्त्याः प्रस्नवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥ १३ ॥

'ये कुन्तीके तेजस्वी पुत्र हैं। ये ही पाण्डुके मझले बेटे हैं। ये देवराज इन्द्रकी संतान हैं। ये ही कुरुवंशके रक्षक हैं। अस्त्र-विद्याके विद्वानोंमें ये सबसे उत्तम हैं। ये धर्मात्माओं और शीलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। शील और ज्ञानकी तो ये सर्वोत्तम निधि हैं।' उस समय दर्शकोंके मुखसे तुमुल ध्वनिके साथ निकली हुई ये बातें सुनकर कुन्तीके स्तनोंसे दूध और नेत्रोंसे स्नेहके आँसू बहने लगे। उन दुग्धमिश्रित आँसुओंसे कुन्तीदेवीका वक्षःस्थल भीग गया ॥ ११—१३ ॥

तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत्।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥ १४ ॥

वह महान् कोलाहल धृतराष्ट्रके कानोंमें भी गूँज उठा। तब नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र प्रसन्नचित्त होकर विदुरसे पूछने लगे—॥ १४ ॥

क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ १५ ॥

'विदुर ! विक्षुब्ध महासागरके समान यह कैसा महान् कोलाहल हो रहा है ? यह शब्द मानो आकाशको विदीर्ण करता हुआ रङ्गभूमिमें सहसा व्यक्त हो उठा है' ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सुमहास्वनः ॥ १६ ॥

विदुरने कहा—महाराज ! ये पाण्डुनन्दन अर्जुन कवच बाँधकर रङ्गभूमिमें उतरे हैं। इसी कारण यह भारी आवाज हो रही है ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते।
पृथारणिसमुद्भूतैस्त्रिभिः पाण्डववह्निभिः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महामते ! कुन्तीरूपी अरणिसे प्रकट हुए इन तीनों पाण्डवरूपी अग्नियोंसे मैं धन्य हो गया। इन तीनोंके द्वारा मैं सर्वथा अनुगृहीत और सुरक्षित हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रमुदिते रङ्गे कथंचित् प्रत्युपस्थिते।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ॥ १८ ॥
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः।
वायव्येनासृजद् वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आनन्दातिरेकसे मुखरित हुआ वह रङ्गमण्डप जब किसी तरह कुछ शान्त हुआ, तब अर्जुनने आचार्यको अपनी अस्त्रसंचालनकी फुर्ती दिखानी आरम्भ की। उन्होंने पहले आग्नेयास्त्रसे आग पैदा की, फिर वारुणास्त्रसे जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया। वायव्यास्त्रसे आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्रसे बादल पैदा कर दिये ॥ १८-१९ ॥

भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन्।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥

उन्होंने भौमास्त्रसे पृथ्वी और पार्वतास्त्रसे पर्वतोंको उत्पन्न कर दिया; फिर अन्तर्धानास्त्रके द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गये ॥ २० ॥

क्षणात् प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥ २१ ॥

वे क्षणभरमें बहुत लंबे हो जाते और क्षणभरमें ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षणमें रथके धुरेपर खड़े होते

तो दूसरे क्षण रथके बीचमें दिखायी देते थे। फिर पलक मारते-मारते पृथ्वीपर उतरकर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे॥ २१॥

सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुं चापि गुरुप्रियः।
सौष्ठवेनाभिसंक्षिप्तः सोऽविध्यद् विविधैः शरैः॥ २२॥

अपने गुरुके प्रिय शिष्य अर्जुनने बड़ी फुर्ती और खूबसूरतीके साथ सुकुमार, सूक्ष्म और भारी निशानेको भी बिना हिलाये-डुलाये नाना प्रकारके बाणोंद्वारा बींध दिया॥ २२॥

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम्।
पञ्च बाणानसंयुक्तान् सम्मुमोचैकबाणवत्॥ २३॥

रङ्गभूमिमें लोहेका बना हुआ सूअर इस प्रकार रक्खा गया था कि वह सब ओर चक्कर लगा रहा था। उस घूमते हुए सूअरके मुखमें अर्जुनने एक ही साथ एक बाणकी भाँति पाँच बाण मारे। वे पाँचों बाण एक दूसरेसे सटे हुए नहीं थे॥ २३॥

गव्ये विषाणकोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम्॥ २४॥

एक जगह गायका सींग एक रस्सीमें लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुनने उस सींगके छेदमें लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये॥ २४॥

इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि ह्यदर्शयत्॥ २५॥

निष्पाप जनमेजय! इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी अस्त्र-कौशल दिखाया। खड्ग, धनुष और गदा आदिके भी शस्त्र-कुशल अर्जुनने अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये॥ २५॥

ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने॥ २६॥
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः॥ २७॥

भारत! इस प्रकार अस्त्रकौशल दिखानेका अधिकांश कार्य जब समाप्त हो चला, मनुष्योंका कोलाहल और बाजेका शब्द जब शान्त होने लगा, उसी समय दरवाजेकी ओरसे किसीका अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकनेका भारी शब्द सुनायी पड़ा; मानो वज्र आपसमें टकरा रहे हों। वह शब्द किसी वीरके माहात्म्य तथा बलका सूचक था॥ २६-२७॥

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद् भूमिर्विदीर्यते।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः॥ २८॥

उसे सुनकर लोग कहने लगे, 'कहीं पहाड़ तो नहीं फट गये! पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो गयी! अथवा जलकी धारासे परिपूर्ण घनीभूत बादलोंकी गम्भीर गर्जनासे आकाश-मण्डल तो नहीं गूँज रहा है?' ॥ २८॥

रङ्गस्यैवं मतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा॥ २९॥

राजन्! उस रङ्गमण्डपमें बैठे हुए लोगोंके मनमें क्षणभरमें उपर्युक्त विचार आने लगे। उस समय सभी दर्शक दरवाजेकी ओर मुँह घुमाकर देखने लगे॥ २९॥

पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः॥ ३०॥

इधर कुन्तीकुमार पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए आचार्य द्रोण पाँच तारोंवाले हस्त नक्षत्रसे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे॥ ३०॥

अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम्।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत्॥ ३१॥
स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधै-
र्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा
पुरन्दरो देवगणैः समावृतः॥ ३२॥

शत्रुहन्ता बलवान् दुर्योधन भी उठकर खड़ा हो गया। अश्वत्थामासहित उसके सौ भाइयोंने आकर उसे चारों ओरसे घेर लिया। हाथोंमें आयुध उठाये खड़े हुए अपने भाइयोंसे घिरा हुआ गदाधारी दुर्योधन पूर्वकालमें दानवसंहारके समय देवताओंसे घिरे देवराज इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। ३१-३२।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका रङ्गभूमिमें प्रवेश तथा राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आश्चर्यसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए द्वारपालोंने जब भीतर जानेका मार्ग दे दिया, तब शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कर्णने उस विशाल रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया॥ १॥

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः ।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥ २ ॥

उसने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य कवचको धारण कर रक्खा था। दोनों कानोंके कुण्डल उसके मुखको उद्भासित कर रहे थे। हाथमें धनुष लिये और कमरमें तलवार बाँधे वह वीर पैरोंसे चलनेवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ २ ॥

कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः ॥ ३ ॥

कुन्तीने कन्यावस्थामें ही उसे अपने गर्भमें धारण किया था। उसका यश सर्वत्र फैला हुआ था। उसके दोनों नेत्र बड़े-बड़े थे। शत्रुसमुदायका संहार करनेवाला कर्ण प्रचण्ड किरणोंवाले भगवान् भास्करका अंश था ॥ ३ ॥

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥ ४ ॥

उसमें सिंहके समान बल, साँड़के समान वीर्य तथा गजराजके समान पराक्रम था, वह दीप्तिसे सूर्य, कान्तिसे चन्द्रमा तथा तेजरूपी गुणसे अग्निके समान जान पड़ता था ॥ ४ ॥

प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान् भास्करस्यात्मसम्भवः ॥ ५ ॥

उसका शरीर बहुत ऊँचा था, अतः वह सुवर्णमय ताड़के वृक्ष-सा प्रतीत होता था। उसके अङ्गोंकी गठन सिंह-जैसी जान पड़ती थी। उसमें असंख्य गुण थे। उसकी तरुण अवस्था थी। वह साक्षात् भगवान् सूर्यसे उत्पन्न हुआ था, अतः (उन्हींके समान) दिव्य शोभासे सम्पन्न था ॥ ५ ॥

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥ ६ ॥

उस समय महाबाहु कर्णने रङ्गमण्डपमें सब ओर दृष्टि डालकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्यको इस प्रकार प्रणाम किया, मानो उनके प्रति उसके मनमें अधिक आदरका भाव न हो ॥ ६ ॥

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥ ७ ॥

रङ्गभूमिमें जितने लोग थे, वे सब निश्चल होकर एकटक दृष्टिसे देखने लगे। यह कौन है, यह जाननेके लिये उनका चित्त चञ्चल हो उठा। वे सब-के-सब उत्कण्ठित हो गये ॥७॥

सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ॥ ८ ॥

इतनेमें ही वक्ताओंमें श्रेष्ठ सूर्यपुत्र कर्ण, जो पाण्डवोंका भाई लगता था, अपने अज्ञात भ्राता इन्द्रकुमार अर्जुनसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला— ॥ ८ ॥

पार्थ यत् ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः ॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुमने इन दर्शकोंके समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक अद्भुत कर्म कर दिखाऊँगा। अतः तुम अपने पराक्रमपर गर्व न करो' ॥ ९ ॥

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर ।
यन्त्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः ॥ १० ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! कर्णकी बात अभी पूरी ही न हो पायी थी कि सब ओरके मनुष्य तुरंत उठकर खड़े हो गये, मानो उन्हें किसी यन्त्रसे एक साथ उठा दिया गया हो ॥ १० ॥

प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस समय दुर्योधनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुनके चित्तमें क्षणभरमें लज्जा और क्रोधका संचार हो आया ॥ ११ ॥

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत् कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥ १२ ॥

तब सदा युद्धसे ही प्रेम करनेवाले महाबली कर्णने द्रोणाचार्यकी आज्ञा लेकर, अर्जुनने वहाँ जो-जो अस्त्र-कौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया ॥ १२ ॥

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

भारत ! तदनन्तर भाइयोंसहित दुर्योधनने वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ कर्णको हृदयसे लगाकर कहा ॥ १३ ॥

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥ १४ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है। मानद ! तुम यहाँ पधारे, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। मैं तथा कौरवोंका यह राज्य सब तुम्हारे हैं। तुम इनका यथेष्ट उपभोग करो ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ १५ ॥

कर्णने कहा—प्रभो ! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा कर दिया, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आपके साथ मित्रता चाहता हूँ और अर्जुनके साथ मेरी द्वन्द्व-युद्ध करनेकी इच्छा है ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद् भव।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिंदम ॥ १६ ॥

दुर्योधन बोला—शत्रुदमन ! तुम मेरे साथ उत्तम भोग भोगो। अपने भाई-बन्धुओंका प्रिय करो और समस्त शत्रुओंके मस्तकपर पैर रक्खो ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अर्जुनने अपने-आपको कर्णद्वारा तिरस्कृत-सा मानकर दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके बीचमें अविचल-से खड़े हुए कर्णको सम्बोधित करके कहा ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच

अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १८ ॥

अर्जुन बोले—कर्ण ! बिना बुलाये आनेवालों और बिना बुलाये बोलनेवालोंको जो (निन्दनीय) लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जानेपर तुम उन्हीं लोकोंमें जाओगे ॥ १८ ॥

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ १९ ॥

कर्णने कहा—अर्जुन ! यह रङ्गमण्डप तो सबके लिये साधारण है, इसमें तुम्हारा क्या लगा है ? जो बल और पराक्रममें श्रेष्ठ होते हैं, वे ही राजा कहलाने योग्य हैं। धर्म भी बलका ही अनुसरण करता है ॥ १९ ॥

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत् ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥ २० ॥

भारत ! आक्षेप करना तो दुर्बलोंका प्रयास है । इससे क्या लाभ है ? साहस हो तो बाणोंसे बातचीत करो। मैं आज तुम्हारे गुरुके सामने ही बाणोंद्वारा तुम्हारा सिर धड़से अलग किये देता हूँ ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरंजयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणकी आज्ञा ले तुरंत अपने भाइयोंसे गले मिलकर युद्धके लिये कर्णकी ओर बढ़े ॥ २१ ॥

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ २२ ॥

तब भाइयोंसहित दुर्योधनने भी धनुष-बाण ले युद्धके लिये तैयार खड़े हुए कर्णका आलिङ्गन किया ॥ २२ ॥

ततः सविद्युत्स्तनितैः सेन्द्रायुधपुरोगमैः ।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापङ्क्तिहासिभिः ॥ २३ ॥

उस समय बकपंक्तियोंके व्याजसे हास्यकी छटा बिखेरनेवाले बादलोंने बिजलीकी चमक, गड़गड़ाहट और इन्द्रधनुषके साथ समूचे आकाशको ढक लिया ॥ २३ ॥

ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम् ।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान् घनान् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनके प्रति स्नेह होनेके कारण इन्द्रको रङ्गभूमिका अवलोकन करते देख भगवान् सूर्यने भी अपने समीपके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २४ ॥

मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत फाल्गुनः ।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत ॥ २५ ॥

तब अर्जुन मेघकी छायामें छिपे हुए दिखायी देने लगे और कर्ण भी सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित दीखने लगा ॥ २५ ॥

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन् देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र जिस ओर कर्ण था, उसी ओर खड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जिधर अर्जुन थे, उस ओर खड़े थे ॥ २६ ॥

द्विधा रङ्गः समभवत् स्त्रीणां द्वैधमजायत ।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्था जगाम ह ॥ २७ ॥

रङ्गभूमिके पुरुषों और स्त्रियोंमें भी कर्ण और अर्जुनको लेकर दो दल हो गये । कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीदेवी वास्तविक रहस्यको जानती थीं (कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं), अतः चिन्ताके कारण उन्हें मूर्च्छा आ गयी ॥ २७ ॥

तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः ॥ २८ ॥

उन्हें इस प्रकार मूर्च्छामें पड़ी हुई देख सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने दासियोंद्वारा चन्दनमिश्रित जल छिड़कवाकर होशमें लानेकी चेष्टा की ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसम्भ्रान्ता नान्वपद्यत किंचन ॥ २९ ॥

इससे कुन्तीको होश तो आ गया; किंतु अपने दोनों पुत्रोंको युद्धके लिये कवच धारण किये देख वे बहुत घबरा गयीं । उन्हें रोकनेका कोई उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ॥ २९ ॥

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ ३० ॥

उन दोनोंको विशाल धनुष उठाये देख द्वन्द्व-युद्धकी नीति-रीतिमें कुशल और समस्त धर्मोंके ज्ञाता शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने इस प्रकार कहा—॥ ३० ॥

अयं पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥ ३१ ॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ॥ ३२ ॥

'कर्ण ! ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र पाण्डुनन्दन अर्जुन कुरुवंशके रत्न हैं, जो तुम्हारे साथ द्वन्द्व-युद्ध करेंगे । महाबाहो ! इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुलका परिचय दो और उन नरेशके नाम बताओ, जिनका वंश तुमसे विभूषित हुआ है ॥ ३१-३२ ॥

ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा ।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥ ३३ ॥

'इसे जान लेनेके बाद यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे या नहीं; क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचारवाले लोगोंके साथ युद्ध नहीं करते' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम् ।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कृपाचार्यके यों कहनेपर कर्णका मुख लज्जासे नीचेको झुक गया । जैसे वर्षाके पानीसे भीगकर कमल मुरझा जाता है, उसी प्रकार कर्णका मुँह म्लान हो गया ॥ ३४ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ३५ ॥

तब दुर्योधनने कहा—आचार्य ! शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार राजाओंकी तीन योनियाँ हैं—उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति (अतः शूरवीर होनेके कारण कर्ण भी राजा ही हैं) ॥ ३५ ॥

यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

यदि ये अर्जुन राजासे भिन्न पुरुषके साथ रणभूमिमें लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्णको इसी समय अङ्गदेशके राज्यपर अभिषिक्त करता हूँ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो राजानमामन्त्र्य गाङ्गेयं च पितामहम् ।
अभिषेकस्य सम्भारान् समानीय द्विजातिभिः ॥)
ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः ।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥ ३७ ॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः ।
(समौलिहारकेयूरैः सहस्ताभरणाङ्गदैः ।
राजलिङ्गैस्तथान्यैश्च भूषितो भूषणैः शुभैः ॥)
सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधनने राजा धृतराष्ट्र और गङ्गानन्दन भीष्मकी आज्ञा ले ब्राह्मणोंद्वारा अभिषेकका सामान मँगवाया । फिर उसी समय महाबली एवं महारथी कर्णको सोनेके सिंहासनपर बिठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंने लावा और फूलोंसे युक्त सुवर्णमय कलशोंके जलसे अङ्गदेशके राज्यपर अभिषिक्त किया । तब मुकुट,

हार, केयूर, कंगन, अंगद, राजोचित चिह्न तथा अन्य शुभ आभूषणोंसे विभूषित हो वह छत्र, चँवर तथा जय-जयकारके साथ राज्यश्रीसे सुशोभित होने लगा ॥ ३७-३८ ॥

(सभाज्यमानो विप्रैश्च प्रदत्त्वा ह्यमितं वसु ।)
उवाच कौरवं राजन् वचनं स वृषस्तदा ।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ॥ ३९ ॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप ।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥ ४० ॥

फिर ब्राह्मणोंसे समादृत हो राजा कर्णने उन्हें असीम धन प्रदान किया । राजन् ! उस समय उसने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनसे कहा—'नृपतिशिरोमणे ! आपने मुझे जो यह राज्य प्रदान किया है, इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट दूँ ? बताइये, आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा ।' यह सुनकर दुर्योधनने कहा—'अङ्गराज ! मैं तुम्हारे साथ ऐसी मित्रता

चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ॥ ३९-४० ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम्।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥ ४१ ॥

उसके यों कहनेपर कर्णने 'तथास्तु' कहकर उसके साथ मैत्री कर ली। फिर वे दोनों बड़े हर्षसे एक दूसरेको हृदयसे लगाकर आनन्दमग्न हो गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णाभिषेके पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णके राज्याभिषेकसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं।)

षट्‌त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा कर्णका तिरस्कार और दुर्योधनद्वारा उसका सम्मान

वैशम्पायन उवाच

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर लाठी ही जिसका सहारा था, वह अधिरथ कर्णको पुकारता हुआ-सा काँपता-काँपता रङ्गभूमिमें आया। उसकी चादर खिसककर गिर पड़ी थी और वह पसीनेसे लथपथ हो रहा था ॥ १ ॥

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥ २ ॥

पिताके गौरवसे बँधा हुआ कर्ण अधिरथको देखते ही धनुष त्यागकर सिंहासनसे नीचे उतर आया। उसका मस्तक अभिषेकके जलसे भीगा हुआ था। उसी दशामें उसने अधिरथके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥ २ ॥

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससम्भ्रमः।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद् रथसारथिः ॥ ३ ॥

अधिरथने अपने दोनों पैरोंको कपड़ेके छोरसे छिपा लिया और 'बेटा! बेटा!' पुकारते हुए अपनेको कृतार्थ समझा ॥ ३ ॥

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः।
अङ्गराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥

उसने स्नेहसे विह्वल होकर कर्णको हृदयसे लगा लिया और अङ्गदेशके राज्यपर अभिषेक होनेसे भीगे हुए उसके मस्तकको आँसुओंसे पुनः अभिषिक्त कर दिया ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ॥ ५ ॥

अधिरथको देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गये कि कर्ण सूतपुत्र है; फिर तो वे हँसते हुए-से बोले—॥ ५ ॥

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम्।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥

'अरे ओ सूतपुत्र! तू तो अर्जुनके हाथसे मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथमें लेना चाहिये; क्योंकि यही तेरे कुलके अनुरूप है ॥ ६ ॥

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ७ ॥

'नराधम! जैसे यज्ञमें अग्निके समीप रक्खे हुए पुरोडाशको कुत्ता नहीं पा सकता, उसी प्रकार तू भी अङ्गदेशका राज्य भोगने योग्य नहीं है' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥ ८ ॥

भीमसेनके यों कहनेपर क्रोधके मारे कर्णका होठ कुछ काँपने लगा और उसने लंबी साँस लेकर आकाशमण्डलमें स्थित भगवान् सूर्यकी ओर देखा ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः।
भ्रातृपद्मवनात् तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥ ९ ॥

इसी समय महाबली दुर्योधन कुपित हो मदोन्मत्त गजराजकी भाँति भ्रातृ-समूहरूपी कमलवनसे उछलकर बाहर निकल आया ॥ ९ ॥

सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम्।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥ १० ॥

उसने वहाँ खड़े हुए भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनसे कहा—'वृकोदर! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥१०॥

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥ ११ ॥

'क्षत्रियोंमें बलकी ही प्रधानता है। बलवान् होनेपर क्षत्रबन्धु (हीन क्षत्रिय) से भी युद्ध करना चाहिये (अथवा मुझ क्षत्रियका मित्र होनेके कारण कर्णके साथ तुम्हें युद्ध करना चाहिये)। शूरवीरों और नदियोंकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको जान लेना बहुत कठिन है ॥ ११ ॥

सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम्।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ १२ ॥

'जिसने सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त कर रखा है, वह तेजस्वी अग्नि जलसे प्रकट हुआ है। दानवोंका संहार करनेवाला वज्र महर्षि दधीचिकी हड्डियोंसे निर्मित हुआ है ॥१२॥

आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि।
श्रूयते भगवान् देवः सर्वगुह्यमयो गुहः॥ १३॥

'सुना जाता है, सर्वगुह्यस्वरूप भगवान् स्कन्ददेव अग्नि, कृत्तिका, रुद्र तथा गङ्गा—इन सबके पुत्र हैं ॥१३॥

क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम्॥ १४॥

'कितने ही ब्राह्मण क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए हैं, उनका नाम तुमने भी सुना ही होगा तथा विश्वामित्र आदि क्षत्रिय भी अक्षय ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १४ ॥

आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः॥ १५॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हमारे आचार्य द्रोणका जन्म कलशसे हुआ है। महर्षि गौतमके कुलमें कृपाचार्यकी उत्पत्ति भी सरकंडोंके समूहसे हुई है ॥ १५ ॥

भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया।
सकुण्डलं सकवचं सर्वलक्षणलक्षितम्।
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति॥ १६॥

'तुम सब भाइयोंका जन्म जिस प्रकार हुआ है, वह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है। समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा कुण्डल और कवचके साथ उत्पन्न हुआ सूर्यके समान तेजस्वी कर्ण किसी सूत जातिकी स्त्रीका पुत्र कैसे हो सकता है। क्या कोई हरिणी अपने पेटसे बाघ पैदा कर सकती है? ॥ १६॥

(कथमादित्यसंकाशं सूतोऽमुं जनयिष्यति।
एवं क्षत्रगुणैर्युक्तं शूरं समितिशोभनम्॥)
पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना॥ १७॥

'इस सूर्य-सदृश तेजस्वी वीरको, जो इस प्रकार क्षत्रियोचित गुणोंसे सम्पन्न तथा समराङ्गणको सुशोभित करनेवाला है, कोई सूत जातिका मनुष्य कैसे उत्पन्न कर सकता है? राजा कर्ण अपने इस बाहुबलसे तथा मुझ-जैसे आज्ञापालक मित्रकी सहायतासे अङ्गदेशका ही नहीं, समूची पृथ्वीका राज्य पानेका अधिकारी है ॥ १७ ॥

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम्।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम्॥ १८॥

'जिस मनुष्यसे मेरा यह बर्ताव नहीं सहा जाता हो, वह रथपर चढ़कर पैरोंसे अपने धनुषको नवावे—हमारे साथ युद्धके लिये तैयार हो जाय' ॥ १८ ॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत्।
साधुवादानुसम्बद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत्॥ १९॥

यह सुनकर समूचे रङ्गमण्डपमें दुर्योधनको मिलनेवाले साधुवादके साथ ही (युद्धकी सम्भावनासे) महान् हाहाकार मच गया। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ॥१९॥

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद् रङ्गाद् विनिर्ययौ॥ २०॥

तब दुर्योधन कर्णके हाथकी अँगुलियाँ पकड़कर मशालकी रोशनी करा उस रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया ॥ २० ॥

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम्॥ २१॥

राजन्! समस्त पाण्डव भी द्रोण, कृपाचार्य और भीष्मजीके साथ अपने-अपने निवासस्थानको चल दिये ॥२१॥

अर्जुनेति जनः कश्चित् कश्चित् कर्णेति भारत।
कश्चिद् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा॥ २२॥

भारत! उस समय दर्शकोंमेंसे कोई अर्जुनकी, कोई कर्णकी और कोई दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए चले गये ॥ २२ ॥

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम्।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत॥ २३॥

दिव्य लक्षणोंसे लक्षित अपने पुत्र अङ्गराज कर्णको पहचानकर कुन्तीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई; किंतु वह दूसरोंपर प्रकट न हुई ॥ २३ ॥

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत॥ २४॥

जनमेजय! उस समय कर्णको मित्रके रूपमें पाकर दुर्योधनका भी अर्जुनसे होनेवाला भय शीघ्र दूर हो गया ॥२४॥

स चापि वीरः कृतशस्त्रनिश्रमः
परेण साम्नाभ्यवदत् सुयोधनम्।
युधिष्ठिरस्याप्यभवत् तदा मति-
र्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ॥ २५॥

वीरवर कर्णने शस्त्रोंके अभ्यासमें बड़ा परिश्रम किया था, वह भी दुर्योधनके साथ परम स्नेह और सान्त्वनापूर्ण बातें करने लगा। उस समय युधिष्ठिरको भी यह विश्वास हो गया कि इस पृथ्वीपर कर्णके समान धनुर्धर कोई नहीं है ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका शिष्योंद्वारा द्रुपदपर आक्रमण करवाना, अर्जुनका द्रुपदको बंदी बनाकर लाना और द्रोणद्वारा द्रुपदको आधा राज्य देकर मुक्त कर देना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान् प्रसमीक्ष्य सः ।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देख द्रोणाचार्यने गुरु-दक्षिणा लेनेका समय आया जान मन-ही-मन कुछ निश्चय किया ॥ १ ॥

ततः शिष्यान् समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत् ।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥ २ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर आचार्यने अपने शिष्योंको बुलाकर उन सबसे गुरुदक्षिणाके लिये इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

पञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परमदक्षिणा ॥ ३ ॥

'शिष्यो ! पञ्चालराज द्रुपदको युद्धमें कैद करके मेरे पास ले आओ । तुम्हारा कल्याण हो । यही मेरे लिये सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी' ॥ ३ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥ ४ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्रतापूर्वक प्रहार करनेवाले वे सब राजकुमार (युद्धके लिये उद्यत हो) रथोंमें बैठकर गुरुदक्षिणा चुकानेके लिये आचार्य द्रोणके साथ ही वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ४ ॥

ततोऽभिजग्मुः पञ्चालान् निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥ ५ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च युयुत्सुश्च महाबलः ।
दुःशासनो विकर्णश्च जलसंधः सुलोचनः ॥ ६ ॥
एते चान्ये च बहवः कुमारा बहुविक्रमाः ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं क्षत्रियर्षभाः ॥ ७ ॥

तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, महाबली युयुत्सु, दुःशासन, विकर्ण, जलसंध तथा सुलोचन—ये और दूसरे भी बहुत-से महापराक्रमी नरश्रेष्ठ क्षत्रियशिरोमणि राजकुमार 'पहले मैं युद्ध करूँगा, पहले मैं युद्ध करूँगा' इस प्रकार कहते हुए पञ्चाल-देशमें जा पहुँचे और वहाँके निवासियोंको मारते-पीटते हुए महाबली राजा द्रुपदकी राजधानीको भी रौंदने लगे ॥५—७॥

ततो वररथारूढाः कुमाराः सादिभिः सह ।
प्रविश्य नगरं सर्वे राजमार्गमुपाययुः ॥ ८ ॥

उत्तम रथोंपर बैठे हुए वे सभी राजकुमार घुड़सवारोंके साथ नगरमें घुसकर वहाँके राजपथपर चलने लगे ॥ ८ ॥

तस्मिन् काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद् बलम् ।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात् ॥ ९ ॥

जनमेजय ! उस समय पञ्चालराज द्रुपद कौरवोंका आक्रमण सुनकर और उनकी विशाल सेनाको अपनी आँखों देखकर बड़ी उतावलीके साथ भाइयोंसहित राजभवनसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

ततस्तु कृतसंनाहा यज्ञसेनसहोदराः ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तः प्रणेदुः सर्व एव ते ॥ १० ॥

महाराज यज्ञसेन (द्रुपद) और उनके सब भाइयोंने कवच धारण किये । फिर वे सभी लोग बाणोंकी बौछार करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १० ॥

ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान् ।
यज्ञसेनः शरान् घोरान् ववर्ष युधि दुर्जयः ॥ ११ ॥

राजा द्रुपदको युद्धमें जीतना बहुत कठिन था । वे चमकीले रथपर सवार हो कौरवोंके सामने जा पहुँचे और भयानक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत् ।
दर्पोद्रेकात् कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवों तथा अन्य राजकुमारोंको अपने बल और पराक्रमका बड़ा घमंड था; इसलिये अर्जुनने पहले ही अच्छी तरह सलाह करके विप्रवर द्रोणाचार्यसे कहा—॥ १२ ॥

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम् ।
एतैरशक्यः पाञ्चालो ग्रहीतुं रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

'गुरुदेव ! इनके पराक्रम दिखानेके पश्चात् हमलोग युद्ध करेंगे । हमारा विश्वास है, ये लोग युद्धमें पञ्चालराजको बंदी नहीं बना सकते' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद् बहिरेव सः ॥ १४ ॥

यों कहकर पापरहित कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने भाइयोंके साथ नगरसे बाहर ही आधे कोसकी दूरीपर ठहर गये थे ॥ १४ ॥

द्रुपदः कौरवान् दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन् कौरवीं चमूम् ॥ १५ ॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ॥ १६ ॥

राजा द्रुपदने कौरवोंको देखकर उनपर सब ओरसे धावा बोल दिया और बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर कौरव-सेनाको मूर्च्छित कर दिया। युद्धमें फुर्ती दिखानेवाले राजा द्रुपद रथपर बैठकर यद्यपि अकेले ही बाणवर्षा कर रहे थे, तो भी अत्यन्त भयके कारण कौरव उन्हें अनेक-सा मानने लगे। १५-१६।

द्रुपदस्य शरा घोरा विचेरुः सर्वतो दिशम्।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्च सहस्रशः ॥ १७ ॥
प्रावाद्यन्त महाराज पाञ्चालानां निवेशने।
सिंहनादश्च संजज्ञे पाञ्चालानां महात्मनाम् ॥ १८ ॥
धनुर्ज्यातलशब्दश्च संस्पृश्य गगनं महान्।

द्रुपदके भयंकर बाण सब दिशाओंमें विचरने लगे। महाराज! उनकी विजय होती देख पाञ्चालोंके घरोंमें शङ्ख, भेरी और मृदङ्ग आदि सहस्रों बाजे एक साथ बज उठे। महान् आत्मबलसे सम्पन्न पाञ्चाल-सैनिकोंका सिंहनाद बड़े जोरोंसे होने लगा। साथ ही उनके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाओंका महान् टंकार आकाशमें फैलकर गूँजने लगा ॥ १७-१८½ ॥

दुर्योधनो विकर्णश्च सुबाहुर्दीर्घलोचनः ॥ १९ ॥
दुःशासनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन्।
सोऽतिविद्धो महेष्वासः पार्षतो युधि दुर्जयः ॥ २० ॥
व्यधमत् तान्यनीकानि तत्क्षणादेव भारत।
दुर्योधनं विकर्णं च कर्णं चापि महाबलम् ॥ २१ ॥
नानानृपसुतान् वीरान् सैन्यानि विविधानि च।
अलातचक्रवत् सर्वं चरन् बाणैरतर्पयत् ॥ २२ ॥

उस समय दुर्योधन, विकर्ण, सुबाहु, दीर्घलोचन और दुःशासन बड़े क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। भारत! युद्धमें परास्त न होनेवाले महान् धनुर्धर द्रुपदने अत्यन्त घायल होकर तत्काल ही उन सबकी सेनाओंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। वे अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमकर दुर्योधन, विकर्ण, महाबली कर्ण, अनेक वीर राजकुमार तथा उनकी विविध सेनाओंको बाणोंसे तृप्त करने लगे ॥ १९–२२ ॥

(दुःशासनं च दशभिर्विकर्णं विंशकैः शरैः।
शकुनिं विंशकैस्तीक्ष्णैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ॥
कर्णदुर्योधनौ चोभौ शरैः सर्वाङ्गसंधिषु।
अष्टाविंशतिभिः सर्वैः पृथक् पृथगरिंदमः ॥
सुबाहुं पञ्चभिर्विद्ध्वा तथान्यान् विविधैः शरैः।
विव्याध सहसा भूयो ननाद बलवत्तरम् ॥
विनद्य कोपात् पाञ्चालः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
धनूंषि रथयन्त्रं च हयांश्चित्रध्वजानपि।
चकर्त सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसंघवत् ॥)
ततस्तु नागराः सर्वे मुसलैर्यष्टिभिस्तदा।
अभ्यवर्षन्त कौरव्यान् वर्षमाणा घना इव ॥ २३ ॥

उन्होंने दुःशासनको दस, विकर्णको बीस तथा शकुनिको अत्यन्त तीखे तीस मर्मभेदी बाण मारकर घायल कर दिया। तत्पश्चात् शत्रुदमन द्रुपदने कर्ण और दुर्योधनके सम्पूर्ण अङ्गोंकी संधियोंमें पृथक्-पृथक् अट्ठाईस बाण मारे। सुबाहुको पाँच बाणोंसे घायल करके अन्य योद्धाओंको भी अनेक प्रकारके सायकोंद्वारा सहसा बींध डाला और तब बड़े जोरसे सिंहनाद किया। इस प्रकार क्रोधपूर्वक गर्जना करके सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाञ्चालराज द्रुपदने शत्रुओंके धनुष, रथ, घोड़े तथा रंग-बिरंगी ध्वजाओंको भी काट दिया। तत्पश्चात् सारे पाञ्चाल सैनिक सिंह-समूहके समान गर्जना करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी निवासी कौरवोंपर टूट पड़े और बरसनेवाले बादलोंकी भाँति उनपर मूसल एवं डंडोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

सबालवृद्धास्ते पौराः कौरवानभ्ययुस्तदा।
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवा नेव भारत ॥ २४ ॥
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान् प्रति।
(पाञ्चालशरभिन्नाङ्गो भयमासाद्य वै वृषः।
कर्णो रथादवप्लुत्य पलायनपरोऽभवत् ॥)
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ॥ २५ ॥
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा।
युधिष्ठिरं निवार्याशु मा युध्यस्वेति पाण्डवम् ॥ २६ ॥

उस समय बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी पुरवासी कौरवोंका सामना कर रहे थे। जनमेजय! गुप्तचरोंके मुखसे यह समाचार सुनकर कि वहाँ तुमुल युद्ध हो रहा है, कौरव वहाँ नहींके बराबर हो गये हैं, पञ्चालराज द्रुपदके बाणोंसे कर्णके सम्पूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये, वह भयभीत हो रथसे कूदकर भाग चला है तथा कौरव-सैनिक चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए हम पाण्डवोंकी ओर भागते आ रहे हैं; पाण्डवलोग पीड़ित सैनिकोंका रोमाञ्चकारी आर्तनाद कानमें पड़ते ही आचार्य द्रोणको प्रणाम करके रथोंपर जा बैठे और शीघ्र वहाँसे चल दिये। अर्जुनने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको यह कहकर रोक दिया कि 'आप युद्ध न कीजिये' ॥ २४–२६ ॥

माद्रेयौ चक्ररक्षौ तु फाल्गुनश्च तदाकरोत्।
सेनाग्रगो भीमसेनः सदाभूद् गदया सह ॥ २७ ॥

उस समय अर्जुनने माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको अपने रथके पहियोंका रक्षक बनाया, भीमसेन सदा गदा हाथमें लेकर सेनाके आगे-आगे चलते थे ॥ २७ ॥

तदा शत्रुस्वनं श्रुत्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
अयाज्जवेन कौन्तेयो रथेनानादयन् दिशः ॥ २८ ॥

तब शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर भाइयोंसहित निष्पाप अर्जुन रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ २८ ॥

पाञ्चालानां ततः सेनामुद्धूतार्णवनिःस्वनाम् ।
भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २९ ॥
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा ।
स्वयमभ्यद्रवद् भीमो नागानीकं गदाधरः ॥ ३० ॥

पाञ्चालोंकी सेना उत्ताल तरङ्गोंवाले विक्षुब्ध महासागरकी भाँति गर्जना कर रही थी। महाबाहु भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस विशाल सेनामें घुस गये, ठीक उसी तरह जैसे समुद्रमें मगर प्रवेश करता है। गदाधारी भीम स्वयं हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ २९-३० ॥

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चातुलः ।
अहनत् कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृत् ॥ ३१ ॥

कुन्तीकुमार भीम युद्धमें कुशल तो थे ही, बाहुबलमें भी उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था। उन्होंने कालरूप धारणकर गदाकी मारसे उस गजसेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ३१ ॥

ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तो रुधिरं बहु ।
भीमसेनस्य गदया भिन्नमस्तकपिण्डकाः ॥ ३२ ॥
पतन्ति द्विरदा भूमौ वज्रघातादिवाचलाः ।
गजानश्वान् रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥
पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ।
गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने ॥ ३४ ॥
चालयन् रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः ।

भीमसेनकी गदासे मस्तक फट जानेके कारण वे पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज लोहूके झरने बहाते हुए वज्रके आघातसे (पंख कटे हुए) पहाड़ोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। अर्जुनके बड़े भाई पाण्डुनन्दन भीमने हाथियों, घोड़ों एवं रथोंको धराशायी कर दिया। पैदलों तथा रथियोंका संहार कर डाला। जैसे ग्वाला वनमें डंडेसे पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन रथियों और हाथियोंको खदेड़ते हुए उनका पीछा करने लगे ॥ ३२–३४½ ॥

वैशम्पायन उवाच

भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ॥ ३५ ॥
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात् स पाण्डवः ।
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ॥ ३६ ॥
पातयन् समरे राजन् युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय द्रोणाचार्यका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन द्रुपदपर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उनपर चढ़ आये। वे रणभूमिमें घोड़ों, रथों और हाथियोंके झुंडोंका सब ओरसे संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३५-३६½ ॥

ततस्ते हन्यमाना वै पाञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ॥ ३७ ॥
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पार्थं संछाद्य सर्वशः ।
सिंहनादं मुखैः कृत्वा समयुध्यन्त पाण्डवम् ॥ ३८ ॥

उनके बाणोंसे घायल हुए पाञ्चाल और सृञ्जय वीरोंने तुरंत ही नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको सब ओरसे ढक दिया और मुखसे सिंहनाद करते हुए उनसे लोहा लेना आरम्भ किया ॥ ३७-३८ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादस्वनं श्रुत्वा नामृष्यत् पाकशासनिः ॥ ३९ ॥

वह युद्ध अत्यन्त भयानक और देखनेमें बड़ा ही अद्भुत था। शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर इन्द्रकुमार अर्जुन उसे सहन न कर सके ॥ ३९ ॥

ततः किरीटी सहसा पाञ्चालान् समरेऽद्रवत् ।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥ ४० ॥

उस युद्धमें किरीटधारी पार्थने बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर पाञ्चालोंको आच्छादित और मोहित-सा करते हुए उनपर सहसा आक्रमण किया ॥ ४० ॥

शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान् संदधानस्य चानिशम् ।
नान्तरं ददृशे किंचित् कौन्तेयस्य यशस्विनः ॥ ४१ ॥

यशस्वी अर्जुन बड़ी फुर्तीसे बाण छोड़ते और निरन्तर नये-नये बाणोंका संधान करते थे। उनके धनुषपर बाण रखने और छोड़नेमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी पड़ता था॥४१॥

(न दिशो नान्तरिक्षं च तदा नैव च मेदिनी ।
अदृश्यत महाराज तत्र किंचन संयुगे ॥
बाणान्धकारे बलिना कृते गाण्डीवधन्वना ।)

महाराज! उस युद्धमें न तो दिशाओंका पता चलता था न आकाशका और न पृथ्वी अथवा और कुछ भी ही दिखायी देता था। बलवान् वीर गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा घोर अन्धकार फैला दिया था ॥

सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः ।
ततः पञ्चालराजस्तु तथा सत्यजिता सह ॥ ४२ ॥
त्वरमाणोऽभिदुद्राव महेन्द्रं शम्बरो यथा ।
महता शरवर्षेण पार्थः पाञ्चालमावृणोत् ॥ ४३ ॥

उस समय पाण्डव-दलमें साधुवादके साथ-साथ सिंहनाद हो रहा था। उधर पञ्चालराज द्रुपदने अपने भाई सत्यजित्को साथ लेकर तीव्र गतिसे अर्जुनपर धावा किया, ठीक उसी तरह जैसे शम्बरासुरने देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया था। परंतु कुन्तीनन्दन अर्जुनने बाणोंकी भारी बौछार करके पञ्चाल-नरेशको ढक दिया ॥ ४२-४३ ॥

ततो हलहलाशब्द आसीत् पाञ्चालके बले ।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥ ४४ ॥

और जैसे महासिंह हाथियोंके यूथपतिको पकड़नेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन द्रुपदको पकड़ना ही चाहते थे कि पाञ्चालोंकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ४४ ॥

दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित् सत्यविक्रमः।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४५ ॥
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥ ४६ ॥

सत्यपराक्रमी सत्यजित्‌ने देखा कि कुन्तीपुत्र धनञ्जय पञ्चालनरेशको पकड़नेके लिये निकट बढ़े आ रहे हैं, तो वे उनकी रक्षाके लिये अर्जुनपर चढ़ आये; फिर तो इन्द्र और बलिकी भाँति अर्जुन और पाञ्चाल सत्यजित्‌ने युद्धके लिये आमने-सामने आकर सारी सेनाओंको क्षोभमें डाल दिया ॥ ४५-४६ ॥

ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः।
विव्याध बलवद् गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४७ ॥

तब अर्जुनने दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा सत्यजित्‌पर बलपूर्वक गहरा आघात करके उन्हें घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४७ ॥

ततः शरशतैः पार्थं पाञ्चालः शीघ्रमार्दयत्।
पार्थस्तु शरवर्षेण छाद्यमानो महारथः ॥ ४८ ॥
वेगं चक्रे महावेगो धनुर्ज्यामवमृज्य च।
ततः सत्यजितश्चापं छित्त्वा राजानमभ्ययात् ॥ ४९ ॥

फिर पाञ्चाल वीर सत्यजित्‌ने भी शीघ्र ही सौ बाण मारकर अर्जुनको पीड़ित कर दिया। उनके बाणोंकी वर्षासे आच्छादित होकर महान् वेगशाली महारथी अर्जुनने धनुषकी प्रत्यञ्चाको झाड़-पोंछकर बड़े वेगसे बाण छोड़ना आरम्भ किया और सत्यजित्‌के धनुषको काटकर वे राजा द्रुपदपर चढ़ आये ॥ ४८-४९ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सत्यजिद् वेगवत्तरम्।
साश्वं ससूतं सरथं पार्थं विव्याध सत्वरः ॥ ५० ॥

तब सत्यजित्‌ने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तुरंत ही घोड़े, सारथि एवं रथसहित अर्जुनको बींध डाला ॥५०॥

स तं न ममृषे पार्थः पाञ्चालेनार्दितो युधि।
ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥ ५१ ॥

युद्धमें पाञ्चाल वीर सत्यजित्‌से पीड़ित हो अर्जुन उनके पराक्रमको न सह सके और उनके विनाशके लिये उन्होंने शीघ्र ही बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ५१ ॥

हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥ ५२ ॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥ ५३ ॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम्।
तदा चक्रे महद् युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥ ५४ ॥

सत्यजित्‌के घोड़े, ध्वजा, धनुष, मुट्ठी तथा पार्श्वरक्षक एवं सारथि दोनोंको अर्जुनने क्षत-विक्षत कर दिया। इस प्रकार बार-बार धनुषके छिन्न-भिन्न होने और घोड़ोंके मारे जानेपर सत्यजित् समरभूमिसे भाग गये। राजन्! उन्हें इस तरह युद्धसे विमुख हुआ देख पञ्चालनरेश द्रुपदने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर बड़े वेगसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की। तब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उनसे बड़ा भारी युद्ध प्रारम्भ किया ॥ ५२—५४ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत्।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ॥ ५५ ॥

उन्होंने पञ्चालराजका धनुष काटकर उनकी ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया। फिर पाँच बाणोंसे उनके घोड़ों और सारथिको घायल कर दिया ॥ ५५ ॥

तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम्।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् उस कटे हुए धनुषको त्यागकर जब वे दूसरा धनुष और तूणीर लेने लगे, उस समय अर्जुनने म्यानसे तलवार निकालकर सिंहके समान गर्जना की ॥ ५६ ॥

पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत्।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥ ५७ ॥
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत्।
ततस्तु सर्वपाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ॥ ५८ ॥

और सहसा पञ्चालनरेशके रथके डंडेपर कूद पड़े। इस प्रकार द्रुपदके रथपर चढ़कर निर्भीक अर्जुनने जैसे गरुड़ समुद्रको क्षुब्ध करके सर्पको पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने काबूमें कर लिया। तब समस्त पाञ्चाल सैनिक (भयभीत हो) दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५७-५८ ॥

दर्शयन् सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनंजयः ॥ ५९ ॥

समस्त सैनिकोंको अपना बाहुबल दिखाते हुए अर्जुन सिंहनाद करके वहाँसे लौटे ॥ ५९ ॥

आयान्तमर्जुनं दृष्ट्वा कुमाराः सहितास्तदा।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ६० ॥

अर्जुनको आते देख सब राजकुमार एकत्र हो महात्मा द्रुपदके नगरका विध्वंस करने लगे ॥ ६० ॥

अर्जुन उवाच

सम्बन्धी कुरुवीराणां द्रुपदो राजसत्तमः।
मा वधीस्तद्बलं भीम गुरुदानं प्रदीयताम् ॥ ६१ ॥

तब अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन! राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपद कौरववीरोंके सम्बन्धी हैं, अतः इनकी सेनाका संहार न करो; केवल गुरुदक्षिणाके रूपमें द्रोणके प्रति महाराज द्रुपदको ही दे दो ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तदा राजन्नर्जुनेन निवारितः ।
अतृप्तो युद्धधर्मेषु न्यवर्तत महाबलः ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अर्जुनके मना करनेपर महाबली भीमसेन युद्धधर्मसे तृप्त न होनेपर भी उससे निवृत्त हो गये ॥ ६२ ॥

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ॥ ६३ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! उन पाण्डवने यज्ञसेन द्रुपदको मन्त्रियोंसहित संग्रामभूमिमें बंदी बनाकर द्रोणाचार्यको उपहारके रूपमें दे दिया ॥ ६३ ॥

भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम् ।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

उनका अभिमान चूर्ण हो गया था, धन छीन लिया गया था और वे पूर्णरूपसे वशमें आ चुके थे; उस समय द्रोणाचार्यने मन-ही-मन पिछले वैरका स्मरण करके राजा द्रुपदसे कहा—॥ ६४ ॥

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया ।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ६५ ॥

राजन् ! मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्रको रौंद डाला। तुम्हारी राजधानी मिट्टीमें मिला दी। अब तुम शत्रुके वशमें पड़े हुए जीवनको लेकर यहाँ आये हो। बोलो, अब पुरानी मित्रता चाहते हो क्या ?' ॥ ६५ ॥

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं किंचित् स पुनरब्रवीत् ।
मा भैः प्राणभयाद् वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ॥ ६६ ॥

यों कहकर द्रोणाचार्य कुछ हँसे। उसके बाद फिर उनसे इस प्रकार बोले—'वीर ! प्राणोंपर संकट आया जानकर भयभीत न होओ। हम क्षमाशील ब्राह्मण हैं॥ ६६ ॥

आश्रमे क्रीडितं यत् तु त्वया बाल्ये मया सह ।
तेन संवर्द्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ॥ ६७ ॥

'क्षत्रियशिरोमणे ! तुम बचपनमें मेरे साथ आश्रममें जो खेले-कूदे हो, उससे तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह एवं प्रेम बहुत बढ़ गया है ॥ ६७ ॥

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप ।
वरं ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥ ६८ ॥

'नरेश्वर ! मैं पुनः तुमसे मैत्रीके लिये प्रार्थना करता हूँ। राजन् ! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम इस राज्यका आधा भाग मुझसे ले लो ॥ ६८ ॥

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हसि ।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥ ६९ ॥

'यज्ञसेन ! तुमने कहा था—जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य लेनेका प्रयत्न किया है ॥ ६९ ॥

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥ ७० ॥

'गङ्गाके दक्षिण प्रदेशके तुम राजा हो और उत्तरके भूभागका राजा मैं हूँ। पाञ्चाल ! अब यदि उचित समझो तो मुझे अपना मित्र मानो' ॥ ७० ॥

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् विक्रान्तेषु महात्मसु ।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ॥ ७१ ॥

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन् ! आप-जैसे पराक्रमी महात्माओंमें ऐसी उदारताका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ और आपके साथ सदा बनी रहनेवाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूँ ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत ।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! द्रुपदके यों कहनेपर द्रोणाचार्यने उन्हें छोड़ दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया॥७२॥

माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरे जनपदायुताम् ।
सोऽध्यावसद् दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम् ॥ ७३ ॥
दक्षिणांश्चापि पञ्चालान् यावच्चर्मण्वती नदी ।
द्रोणेन चैवं द्रुपदः परिभूयाथ पालितः ॥ ७४ ॥

तदनन्तर राजा द्रुपद दीनतापूर्ण हृदयसे गङ्गातटवर्ती अनेक जनपदोंसे युक्त माकन्दीपुरीमें तथा नगरोंमें श्रेष्ठ काम्पिल्य नगरमें निवास एवं चर्मण्वती नदीके दक्षिणतटवर्ती पाञ्चालदेशका शासन करने लगे। इस प्रकार द्रोणाचार्यने द्रुपदको परास्त करके पुनः उनकी रक्षा की ॥ ७३-७४ ॥

क्षात्रेण च बलेनास्य नापश्यत् स पराजयम् ।
हीनं विदित्वा चात्मानं ब्राह्मेण स बलेन तु ॥ ७५ ॥
पुत्रजन्म परीप्सन् वै पृथिवीमन्वसंचरत् ।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ॥ ७६ ॥

द्रुपदको अपने क्षात्रबलके द्वारा द्रोणाचार्यकी पराजय होती नहीं दिखायी दी। वे अपनेको ब्राह्मण-बलसे हीन जानकर (द्रोणाचार्यको पराजित करनेके लिये) शक्तिशाली पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे पृथ्वीपर विचरने लगे। इधर द्रोणाचार्यने (उत्तर-पञ्चालवर्ती) अहिच्छत्र नामक राज्यको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ७५-७६ ॥

एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ॥ ७७ ॥

राजन्! इस प्रकार अनेक जनपदोंसे सम्पन्न अहिच्छत्रा नामवाली नगरीको युद्धमें जीतकर अर्जुनने द्रोणाचार्यको गुरु-दक्षिणामें दे दिया ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रुपदशासने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रुपदपर द्रोणके शासनका वर्णन करनेवाला एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ८४½ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका युवराजपदपर अभिषेक, पाण्डवोंके शौर्य, कीर्ति और बलके विस्तारसे धृतराष्ट्रको चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात् तथार्जवात्।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द आदि सद्गुणोंके कारण पालन करने योग्य प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये युवराजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १-२ ॥

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥ ३ ॥

इसके बाद थोड़े ही दिनोंमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अपने शील (उत्तम स्वभाव), वृत्त (सदाचार एवं सद्व्यवहार) तथा समाधि (मनोयोगपूर्वक प्रजापालनकी प्रवृत्ति) के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डुकी कीर्तिको भी ढक दिया ॥ ३ ॥

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः।
संकर्षणादशिक्षद् वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥ ४ ॥

पाण्डुनन्दन भीमसेन बलरामजीसे नित्यप्रति खड्गयुद्ध, गदायुद्ध तथा रथयुद्धकी शिक्षा लेने लगे ॥ ४ ॥

समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातॄणामचरद् वशे ॥ ५ ॥

शिक्षा समाप्त होनेपर भीमसेन बलमें राजा द्युमत्सेनके समान हो गये और पराक्रमसे सम्पन्न हो अपने भाइयोंके अनुकूल रहने लगे ॥ ५ ॥

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाठानां च तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत्।
लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ॥ ७ ॥
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः।
ततोऽब्रवीद् गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ॥ ८ ॥

अर्जुन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुट्ठीसे धनुषको पकड़नेमें, हाथोंकी फुर्तीमें और लक्ष्यको बींधनेमें बड़े चतुर निकले। वे क्षुर[1], नाराच[2], भल्ल[3] और विपाठ[4] नामक ऋजु, वक्र और विशाल* अस्त्रोंके संचालनका गूढ़ तत्त्व अच्छी तरह जानते और उनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे। इसलिये द्रोणाचार्यको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि फुर्ती और सफाईमें अर्जुनके समान दूसरा कोई योद्धा इस जगत्‌में नहीं है। एक दिन द्रोणने कौरवोंकी भरी सभामें निद्राको जीतनेवाले अर्जुनसे कहा—॥ ६-८ ॥

अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो मम गुरुः पुरा।
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्मि भारत ॥ ९ ॥
तीर्थात् तीर्थं गमयितुमहमेतत् समुद्यतः।
तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशनिप्रभम् ॥ १० ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद् दहेत् पृथिवीमपि।
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ॥ ११ ॥
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो।
त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नान्योऽर्हति विदम् ॥ १२ ॥
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशाम्पते।
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

'भारत! मेरे गुरु अग्निवेश नामसे विख्यात हैं। उन्होंने पूर्वकालमें महर्षि अगस्त्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। मैं उन्हीं महात्मा अग्निवेशका शिष्य हूँ। एक पात्र (गुरु) से दूसरे (सुयोग्य शिष्य) को इसकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे सर्वथा उद्यत

---

१. क्षुर उस बाणको कहते हैं, जिसके बगलमें तेज धार होती है, जैसे नाईका छूरा।

२. नाराच सीधे बाणको कहते हैं, जिसका अग्रभाग तीखा होता है।

३. भल्ल उस बाणको कहते हैं, जिसकी नोकका पिछला भाग चौड़ा और नोकदार होता है।

४. विपाठ नामक बाणकी आकृति खनतीकी भाँति होती है। यह दूसरे बाणोंसे बड़ा होता है।

* उपर्युक्त बाणोंमें क्षुर और नाराच सीधा है, भल्ल टेढ़ा है और विपाठ विशाल है।

होकर मैंने तुम्हें यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र प्रदान किया, जो मुझे बड़ी तपस्यासे मिला था। वह अमोघ अस्त्र वज्रके समान प्रकाशमान है। उसमें समूची पृथ्वीको भी भस्म कर डालनेकी शक्ति है। मुझे वह अस्त्र देते समय गुरु अग्निवेशजीने कहा था, 'शक्तिशाली भारद्वाज ! तुम यह अस्त्र मनुष्योंपर न चलाना। मनुष्येतर प्राणियोंमें भी जो अल्पवीर्य हों, उनपर भी इस अस्त्रको न छोड़ना।' वीर अर्जुन! इस दिव्य अस्त्रको तुमने मुझसे पा लिया है। दूसरा कोई इसे नहीं प्राप्त कर सकता। राजकुमार! इस अस्त्रके सम्बन्धमें मुनिके बताये हुए इस नियमका तुम्हें भी पालन करना चाहिये। अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके सामने ही मुझे एक गुरु-दक्षिणा दो'।९-१३।

ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद् गुरुः।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ ॥ १४ ॥

तब अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'अवश्य दूँगा।' उनके यों कहनेपर गुरु द्रोण बोले—'निष्पाप अर्जुन! यदि युद्ध-भूमिमें मैं भी तुम्हारे विरुद्ध लड़नेको आऊँ तो तुम (अवश्य) मेरा सामना करना' ॥ १४ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहते हुए उनकी इस आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और गुरुके दोनों चरण पकड़कर उन्होंने सर्वोत्तम उपदेश प्राप्त कर लिया ॥ १५ ॥

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम्।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद् धनुर्धरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर अपने आप ही यह बात फैल गयी कि संसारमें अर्जुनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥ १६ ॥

गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः।
पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाथ धनंजयः ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन धनंजय गदा, खड्ग, रथ तथा धनुषद्वारा युद्ध करनेकी कलामें पारंगत हुए ॥ १७ ॥

नीतिमान् सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातॄणां ववृते वशे ॥ १८ ॥
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातॄणां नकुलः प्रियः।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ॥ १९ ॥

सहदेव भी उस समय द्रोणके रूपमें अवतीर्ण देवताओंके आचार्य बृहस्पतिसे सम्पूर्ण नीतिशास्त्रकी शिक्षा पाकर नीतिमान् हो अपने भाइयोंके अधीन (अनुकूल) होकर रहते थे। नकुलने भी द्रोणाचार्यसे ही अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी थी। वे अपने भाइयोंको बहुत ही प्रिय थे और विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अतिरथी वीर कहे जाते थे ॥ १८-१९ ॥

त्रिवर्षकृतयज्ञस्तु गन्धर्वाणामुपप्लवे।
अर्जुनप्रमुखैः पार्थैः सौवीरः समरे हतः ॥ २० ॥
न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद् यवनाधिपः ॥ २१ ॥

सौवीर देशका राजा, जो गन्धर्वोंके उपद्रव करनेपर भी लगातार तीन वर्षोंतक बिना किसी विघ्न-बाधाके यज्ञोंका अनुष्ठान करता रहा, युद्धमें अर्जुन आदि पाण्डवोंके हाथों मारा गया। पराक्रमी राजा पाण्डु भी जिसे वशमें न ला सके थे, उस यवनदेश (यूनान) के राजाको भी जीतकर अर्जुनने अपने अधीन कर लिया ॥ २०-२१ ॥

अतीव बलसम्पन्नः सदा मानी कुरून् प्रति।
विपुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता ॥ २२ ॥
दत्तमित्र इति ख्यातं संग्रामे कृतनिश्चयम्।
सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ॥ २३ ॥

जो अत्यन्त बली तथा कौरवोंके प्रति सदा अभिमान एवं उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करनेवाला था, वह सौवीरनरेश विपुल भी बुद्धिमान् अर्जुनके हाथसे संग्रामभूमिमें मारा गया। जो सदा युद्धके लिये दृढ़ संकल्प किये रहता था, जिसे लोग दत्तामित्रके नामसे जानते थे, उस सौवीरनिवासी सुमित्रका भी अर्जुनने अपने बाणोंसे दमन कर दिया ॥ २२-२३ ॥

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ॥ २४ ॥

इसके सिवा अर्जुनने केवल भीमसेनकी सहायतासे एकमात्र रथपर आरूढ़ हो युद्धमें पूर्व दिशाके सम्पूर्ण योद्धाओं तथा दस हजार रथियोंको जीत लिया ॥ २४ ॥

तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद् दिशम्।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनंजयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार एकमात्र रथसे यात्रा करके धनंजयने दक्षिण दिशापर भी विजय पायी और अपने 'धनंजय' नामको सार्थक करते हुए कुरुदेशकी राजधानीमें धनकी राशि पहुँचायी।२५।

एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः।
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा ॥ २६ ॥

जनमेजय ! इस तरह नरश्रेष्ठ महामना पाण्डवोंने प्राचीन कालमें दूसरे राष्ट्रोंको जीतकर अपने राष्ट्रकी अभिवृद्धि की।२६।

ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम्।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥ २७ ॥

तब दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले पाण्डवोंके अत्यन्त विख्यात बल-पराक्रमकी बात जानकर उनके प्रति राजा धृतराष्ट्रका भाव सहसा दूषित हो गया। अत्यन्त चिन्तामें निमग्न हो जानेके कारण उन्हें रातमें नींद नहीं आती थी।२७।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायामष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कणिकका धृतराष्ट्रको कूटनीतिका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा पाण्डुसुतान् वीरान् बलोद्रिक्तान् महौजसः।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुके वीर पुत्रोंको महान् तेजस्वी और बलमें बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम्।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ॥ २ ॥

तब उन्होंने राजनीति और अर्थ-शास्त्रके पण्डित तथा उत्तम मन्त्रके ज्ञाता मन्त्रिप्रवर कणिकको बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम।
तत्र मे निश्चिततमं संधिविग्रहकारणम्।
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजश्रेष्ठ! पाण्डवोंकी दिनोंदिन उन्नति और सर्वत्र ख्याति हो रही है। इस कारण मैं उनसे डाह रखने लगा हूँ। कणिक! तुम भलीभाँति निश्चय करके बतलाओ, मुझे उनके साथ संधि करनी चाहिये या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूँगा ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर कणिक मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए तथा राजनीतिके सिद्धान्तका परिचय देनेवाली तीखी बात कहने लगे—॥ ४ ॥

शृणु राजन्निदं तत्र प्रोच्यमानं मयानघ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या श्रुत्वैतत् कुरुसत्तम ॥ ५ ॥

'निष्पाप नरेश! इस विषयमें मेरी कही हुई ये बातें सुनिये। कुरुवंशशिरोमणे! इसे सुनकर आप मेरे प्रति दोष-दृष्टि न कीजियेगा ॥ ५ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः ॥ ६ ॥

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपना छिद्र—अपनी दुर्बलता प्रकट न होने दे; परंतु दूसरोंके छिद्र या दुर्बलतापर सदा ही दृष्टि रक्खे और यदि शत्रुओंकी निर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ॥६॥

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥ ७ ॥

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं; इसलिये सब कार्य दण्डके द्वारा ही सिद्ध करे ॥ ७ ॥

नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ८ ॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥ ९ ॥

'राजाको इतनी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे शत्रु उसकी कमजोरी न देख सके और यदि शत्रुकी कमजोरी प्रकट हो जाय तो उसपर अवश्य चढ़ाई करे। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा अपने सब अङ्गों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृत्) की रक्षा करे और अपनी कमजोरीको छिपाये रक्खे। यदि कोई कार्य शुरू कर दे तो उसे पूरा किये बिना कभी न छोड़े; क्योंकि शरीरमें गड़ा हुआ काँटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाय तो वह बहुत दिनोंतक मवाद देता रहता है ॥८-९॥

वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ॥ १० ॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ॥ ११ ॥

'अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओंका वध कर दिया जाय, इसीकी नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं। अत्यन्त पराक्रमी शत्रुको भी आपत्तिमें पड़ा देख उसे सुगमतापूर्वक नष्ट कर दे। इसी

प्रकार जो अच्छी तरह युद्ध करनेवाला शत्रु है, उसे भी आपत्तिकालमें ही अनायास ही मार भगाये । आपत्तिके समय शत्रुका संहार अवश्य ही करे । उस समय उसके सम्बन्ध या सौहार्द आदिका विचार कदापि न करे । तात ! शत्रु दुर्बल हो, तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे ॥ १०-११ ॥

अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत् ॥ १२ ॥

'क्योंकि जैसे थोड़ी-सी भी आग ईंधनका सहारा मिल जानेपर समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार छोटा शत्रु भी दुर्ग आदि प्रबल आश्रयका सहारा लेकर विनाशकारी बन जाता है । अंधा बननेका अवसर आनेपर अंधा बन जाय—अर्थात् अपनी असमर्थताके समय शत्रुके दोषोंको न देखे । उस समय सब ओरसे धिक्कार और निन्दा मिलनेपर भी उसे अनसुनी कर दे, अर्थात् उसकी ओरसे कान बंद करके बहरा बन जाय ॥ १२ ॥

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम्॥ १३ ॥

'ऐसे समयमें अपने धनुषको तिनकेके समान बना दे अर्थात् शत्रुकी दृष्टिमें सर्वथा दीन-हीन एवं असमर्थ बन जाय; परंतु व्याधकी भाँति सोये--अर्थात् जैसे व्याध झूठे ही नींदका बहाना करके सो जाता है और जब मृग विश्वस्त होकर आसपास चरने लगते हैं, तब उठकर उन्हें बाणोंसे घायल कर देता है, उसी प्रकार शत्रुको मारनेका अवसर देखते हुए ही अपने स्वरूप और मनोभावको छिपाकर असमर्थ पुरुषोंका-सा व्यवहार करे । इस प्रकार कपटपूर्ण बर्तावसे वशमें आये हुए शत्रुको साम आदि उपायोंसे विश्वास उत्पन्न करके मार डाले ॥ १३ ॥

दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत ।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम् ॥ १४ ॥

'यह मेरी शरणमें आया है, यह सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिये । शत्रुको मार देनेसे ही राजा निर्भय हो सकता है । यदि शत्रु मारा नहीं गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है ॥ १४ ॥

हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम् ।
हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ॥ १५ ॥

'जो सहज शत्रु है, उसे मुँहमाँगी वस्तु देकर—दानके द्वारा विश्वास उत्पन्न करके मार डाले । इसी प्रकार जो पहलेका अपकारी शत्रु हो और पीछे सेवक बन गया हो, उसे भी जीवित न छोड़े । शत्रुपक्षके त्रिवर्ग[1], पञ्चवर्ग[1] और सप्तवर्ग[2]का सर्वथा नाश कर डाले ॥ १५ ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः ।
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ॥ १६ ॥

'पहले तो सदा शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले । तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्षसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगोंका संहार कर दे ॥ १६ ॥

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १७ ॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन धारण करनेवाले सभी शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं । यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं ? ॥ १७ ॥

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः ।
राजन् नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ॥ १८ ॥

'राजा सदा शत्रुकी गतिविधिको जाननेके लिये एकाग्र रहे । अपने राज्यके सभी अङ्गोंको गुप्त रक्खे । राजन् ! सदा अपने शत्रुओंकी कमजोरीपर दृष्टि रक्खे और उनसे सदा सतर्क (सावधान) रहे ॥ १८ ॥

अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः ।
लोकान् विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद् यथा वृकः॥ १९ ॥

'अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुए वस्त्र, जटा और मृगचर्म धारण करके पहले लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करे; फिर अवसर देखकर भेड़ियेकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े और उन्हें नष्ट कर दे ॥ १९ ॥

अङ्कुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे ।
आनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत् ॥ २० ॥

'कार्यसिद्धिके लिये शौच-सदाचार आदिका पालन एक प्रकारका अङ्कुश (लोगोंको आकृष्ट करनेका साधन) बताया गया है । फलोंसे लदी हुई वृक्षकी शाखाको अपनी ओर कुछ झुकाकर ही मनुष्य उसके पके-पके फलको तोड़े ॥ २० ॥

---

१. तीन प्रकारकी शक्तियाँ ही यहाँ त्रिवर्ग कही गयी हैं । उनके नाम ये हैं—प्रभुशक्ति (ऐश्वर्यशक्ति), उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति । दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रुकी ऐश्वर्य-शक्तिका नाश करे । विश्वसनीय व्यक्तियोंद्वारा अपने उत्कर्षका वर्णन कराकर शत्रुको तेजोहीन बनाना, उसके उत्साह एवं साहसको घटा देना ही उत्साहशक्तिका नाश करना है । गुप्तचरोंद्वारा उनकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर देना ही मन्त्रशक्तिका नाश करना है ।

१. अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना—ये पाँच प्रकृतियाँ ही पञ्चवर्ग हैं ।

२. साम, दान, भेद, दण्ड, उद्बन्धन, विषप्रयोग और आग लगाना—शत्रुको वशमें करने या दबानेके ये सात साधन ही सप्तवर्ग हैं ।

फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिताम् ।
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्ययः ॥ २१ ॥

'लोकमें विद्वान् पुरुषोंका यह सारा आयोजन ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये होता है । जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े, तो ढोये भी ॥ २१ ॥

ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ।
अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ॥ २२ ॥
कृपा न तस्मिन् कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ।
हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ॥ २३ ॥
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत् ।

'परंतु जब अपने अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ डालते हैं । शत्रु बहुत दीनतापूर्ण वचन बोले, तो भी उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिये । उसपर दया नहीं करनी चाहिये । अपकारी शत्रुको मार ही डालना चाहिये । साम अथवा दान तथा भेद एवं दण्ड सभी उपायोंद्वारा शत्रुको मार डाले—उसे मिटा दे' ॥ २२-२३½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः ॥ २४ ॥
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—कणिक ! साम, दान, भेद अथवा दण्डके द्वारा शत्रुका नाश कैसे किया जा सकता है, यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २४½ ॥

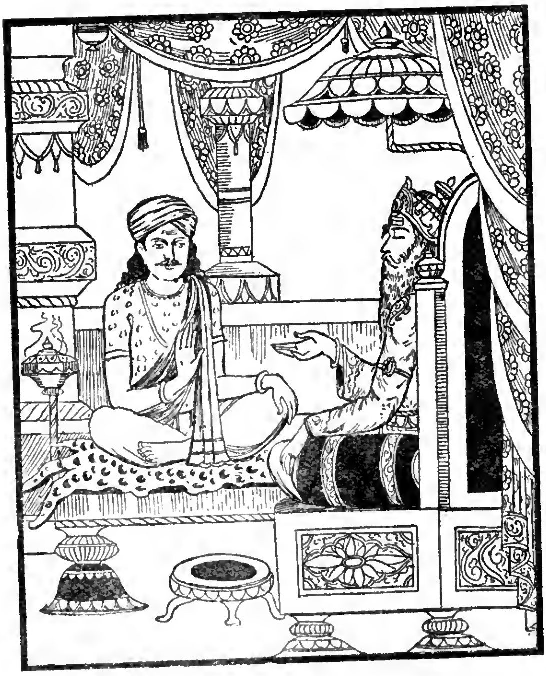

कणिक उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं वने निवसतः पुरा ॥ २५ ॥
जम्बुकस्य महाराज नीतिशास्त्रार्थदर्शिनः ।

कणिकने कहा—महाराज ! इस विषयमें नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले एक वनवासी गीदड़का प्राचीन वृत्तान्त सुनाता हूँ, सुनिये ॥ २५½ ॥

अथ कश्चित् कृतप्रज्ञः शृगालः स्वार्थपण्डितः ॥ २६ ॥
सखिभिर्न्यवसत् सार्धं व्याघ्राखुवृकबभ्रुभिः ।
तेऽपश्यन् विपिने तस्मिन् बलिनं मृगयूथपम् ॥ २७ ॥
अशक्ता ग्रहणे तस्य ततो मन्त्रममन्त्रयन् ।

एक वनमें कोई बड़ा बुद्धिमान् और स्वार्थ साधनेमें कुशल गीदड़ अपने चार मित्रों—बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवलेके साथ निवास करता था । एक दिन उन सबने हरिणोंके एक सरदारको देखा, जो बड़ा बलवान् था । वे सब उसे पकड़नेमें सफल न हो सके, अतः सबने मिलकर यह सलाह की ॥ २६-२७½ ॥

जम्बुक उवाच

असकृद् यतितो ह्येष हन्तुं व्याघ्र वने त्वया ॥ २८ ॥
युवा वै जवसम्पन्नो बुद्धिशाली न शक्यते ।
मूषिकोऽस्य शयानस्य चरणौ भक्षयत्वयम् ॥ २९ ॥
यथैनं भक्षितैः पादैर्व्याघ्रो गृह्णातु वै ततः ।
ततो वै भक्षयिष्यामः सर्वे मुदितमानसाः ॥ ३० ॥

गीदड़ने कहा—भाई बाघ ! तुमने वनमें इस हरिणको मारनेके लिये कई बार यत्न किया, परंतु यह बड़े वेगसे दौड़नेवाला, जवान और बुद्धिमान् है, इसलिये पकड़में नहीं आता । मेरी राय है कि जब यह हरिण सो रहा हो, उस समय यह चूहा इसके दोनों पैरोंको काट खाये । (फिर कटे हुए पैरोंसे यह उतना तेज नहीं दौड़ सकता ।) उस अवस्थामें बाघ उसे पकड़ ले; फिर तो हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर उसे खायँगे ॥ २८-३० ॥

जम्बुकस्य तु तद् वाक्यं तथा चक्रुः समाहिताः ।
मूषिकाभक्षितैः पादैर्मृगं व्याघ्रोऽवधीत् तदा ॥ ३१ ॥

गीदड़की वह बात सुनकर सबने सावधान होकर वैसा ही किया । चूहेके द्वारा काटे हुए पैरोंसे लड़खड़ाते हुए मृगको बाघने तत्काल ही मार डाला ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वैवाचेष्टमानं तु भूमौ मृगकलेवरम् ।
स्नात्वाऽऽगच्छत भद्रं वो रक्षामीत्याह जम्बुकः ॥ ३२ ॥

पृथ्वीपर हरिणके शरीरको निश्चेष्ट पड़ा देख गीदड़ने कहा—'आपलोगोंका भला हो । स्नान करके आइये । तबतक मैं इसकी रखवाली करता हूँ' ॥ ३२ ॥

शृगालवचनात् तेऽपि गताः सर्वे नदीं ततः।
स चिन्तापरमो भूत्वा तस्थौ तत्रैव जम्बुकः ॥ ३३ ॥

गीदड़के कहनेसे वे (बाघ आदि) सब साथी नदीमें (नहानेके लिये) चले गये। इधर वह गीदड़ किसी चिन्तामें निमग्न होकर वहीं खड़ा रहा ॥ ३३ ॥

अथाजगाम पूर्वं तु स्नात्वा व्याघ्रो महाबलः।
ददर्श जम्बुकं चैव चिन्ताकुलितमानसम् ॥ ३४ ॥

इतनेमें ही महाबली बाघ स्नान करके सबसे पहले वहाँ लौट आया। आनेपर उसने देखा, गीदड़का चित्त चिन्तासे व्याकुल हो रहा है ॥ ३४ ॥

व्याघ्र उवाच

किं शोचसि महाप्राज्ञ त्वं नो बुद्धिमतां वरः।
अशित्वा पिशितान्यद्य विहरिष्यामहे वयम् ॥ ३५ ॥

तब बाघने पूछा—महामते ! क्यों सोचमें पड़े हो ? हमलोगोंमें तुम्हीं सबसे बड़े बुद्धिमान् हो। आज इस हरिणका मांस खाकर हमलोग मौजसे घूमें-फिरेंगे ॥ ३५ ॥

जम्बुक उवाच

शृणु मे त्वं महाबाहो यद् वाक्यं मूषिकोऽब्रवीत्।
धिग् बलं मृगराजस्य मयाद्यायं मृगो हतः ॥ ३६ ॥

गीदड़ बोला—महाबाहो ! चूहेने (तुम्हारे विषयमें) जो बात कही है, उसे तुम मुझसे सुनो। वह कहता था, 'मृगोंके राजा बाघके बलको धिक्कार है ! आज इस मृगको तो मैंने मारा है ॥ ३६ ॥

मद्बाहुबलमाश्रित्य तृप्तिमद्य गमिष्यति।
गर्जमानस्य तस्यैवमतो भक्ष्यं न रोचये ॥ ३७ ॥

'मेरे बाहुबलका आश्रय लेकर आज वह अपनी भूख बुझायेगा।' उसने इस प्रकार गरज-गरजकर (घमंडभरी) बातें कही हैं, अतः उसकी सहायतासे प्राप्त हुए इस भोजनको ग्रहण करना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ३७ ॥

व्याघ्र उवाच

ब्रवीति यदि स ह्येवं काले ह्यस्मिन् प्रबोधितः।
स्वबाहुबलमाश्रित्य हनिष्येऽहं वनेचरान् ॥ ३८ ॥
खादिष्ये तत्र मांसानि इत्युक्त्वा प्रस्थितो वनम्।
एतस्मिन्नेव काले तु मूषिकोऽप्याजगाम ह ॥ ३९ ॥
तमागतमभिप्रेत्य शृगालोऽप्यब्रवीद् वचः।

बाघने कहा—यदि वह ऐसी बात कहता है, तब तो उसने इस समय मेरी आँखें खोल दीं—मुझे सचेत कर दिया। आजसे मैं अपने ही बाहुबलके भरोसे वनजन्तुओंका वध किया करूँगा और उन्हींका मांस खाऊँगा।

यों कहकर बाघ वनमें चला गया। इसी समय चूहा भी (नहा-धोकर) वहाँ आ पहुँचा। उसे आया देख गीदड़ने कहा ॥ ३८-३९½ ॥

जम्बुक उवाच

शृणु मूषिक भद्रं ते नकुलो यदिहाब्रवीत् ॥ ४० ॥

गीदड़ बोला—चूहा भाई ! तुम्हारा भला हो। नेवलेने यहाँ जो बात कही है, उसे सुन लो ॥ ४० ॥

मृगमांसं न खादेयं गरमेतन्न रोचते।
मूषिकं भक्षयिष्यामि तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ४१ ॥

वह कह रहा था कि 'बाघके काटनेसे इस हरिणका मांस जहरीला हो गया है, मैं तो इसे खाऊँगा नहीं; क्योंकि यह मुझे पसंद नहीं है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं चूहेको ही खा लूँ' ॥ ४१ ॥

तच्छ्रुत्वा मूषिको वाक्यं संत्रस्तः प्रगतो बिलम्।
ततः स्नात्वा स वै तत्र आजगाम वृको नृप ॥ ४२ ॥

यह बात सुनकर चूहा अत्यन्त भयभीत होकर बिलमें घुस गया। राजन् ! तत्पश्चात् भेड़िया भी स्नान करके वहाँ आ पहुँचा ॥ ४२ ॥

तमागतमिदं वाक्यमब्रवीज्जम्बुकस्तदा।
मृगराजो हि संक्रुद्धो न ते साधु भविष्यति ॥ ४३ ॥
सकलत्रस्त्विहायाति कुरुष्व यदनन्तरम्।
एवं संचोदितस्तेन जम्बुकेन तदा वृकः ॥ ४४ ॥
ततोऽवलुम्पनं कृत्वा प्रयातः पिशिताशनः।
एतस्मिन्नेव काले तु नकुलोऽप्याजगाम ह ॥ ४५ ॥

उसके आनेपर गीदड़ने इस प्रकार कहा—'भेड़िया भाई ! आज बाघ तुमपर बहुत नाराज हो गया है, अतः तुम्हारी खैर नहीं; वह अभी बाघिनको साथ लेकर यहाँ आ रहा है। इसलिये अब तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो।' गीदड़के इस प्रकार कहनेपर कच्चा मांस खानेवाला वह भेड़िया दुम दबाकर भाग गया। इतनेमें ही नेवला भी आ पहुँचा ॥ ४३-४५ ॥

तमुवाच महाराज नकुलं जम्बुको वने।
स्वबाहुबलमाश्रित्य निर्जितास्तेऽन्यतो गताः ॥ ४६ ॥
मम दत्त्वा नियुद्धं त्वं भुङ्क्ष्व मांसं यथेप्सितम्।

महाराज ! उस नेवलेसे गीदड़ने वनमें इस प्रकार कहा—'ओ नेवले ! मैंने अपने बाहुबलका आश्रय ले उन सबको परास्त कर दिया है। वे हार मानकर अन्यत्र चले गये। यदि तुझमें हिम्मत हो तो पहले मुझसे लड़ ले; फिर इच्छानुसार मांस खाना' ॥ ४६½ ॥

नकुल उवाच

मृगराजो वृकश्चैव बुद्धिमानपि मूषिकः ॥ ४७ ॥
निर्जिता यत् त्वया वीरास्तस्माद् वीरतरो भवान्।
न त्वयाप्युत्सहे योद्धुमित्युक्त्वा सोऽप्युपागमत् ॥ ४८ ॥

नेवलेने कहा—जब बाघ, भेड़िया और बुद्धिमान् चूहा—ये सभी वीर तुमसे परास्त हो गये, तब तो तुम वीर-शिरोमणि हो। मैं भी तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर सकता। यों कहकर नेवला भी चला गया ॥ ४७-४८ ॥

कणिक उवाच

एवं तेषु प्रयातेषु जम्बुको हृष्टमानसः।
खादति स्म तदा मांसमेकः सन् मन्त्रनिश्चयात्॥ ४९ ॥

कणिक कहते हैं—इस प्रकार उन सबके चले जानेपर अपनी युक्तिमें सफल हो जानेके कारण गीदड़का हृदय हर्षसे खिल उठा। तब उसने अकेले ही वह मांस खाया ॥ ४९ ॥

एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधेत भूपतिः।
भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ॥ ५० ॥

राजन्! ऐसा ही आचरण करनेवाला राजा सदा सुखसे रहता और उन्नतिको प्राप्त होता है। डरपोकको भय दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपनेसे शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे ॥ ५० ॥

लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाप्यपरं तथा ॥ ५१ ॥

लोभीको धन देकर तथा बराबर और कमजोरको पराक्रमसे वशमें करे। राजन्! इस प्रकार आपसे नीतियुक्त बर्तावका वर्णन किया गया। अब दूसरी बातें सुनिये ॥५१॥

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ५२ ॥

पुत्र, मित्र, भाई, पिता अथवा गुरु—कोई भी क्यों न हो, जो शत्रुके स्थानपर आ जायँ—शत्रुवत् बर्ताव करने लगें, तो उन्हें वैभव चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ॥ ५२ ॥

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन।
उभौ चेत् संशयोपेतौ श्रद्धावांस्तत्र वर्द्धते ॥ ५३ ॥

सौगंध खाकर, धन अथवा जहर देकर या धोखेसे भी शत्रुको मार डाले। किसी तरह भी उसकी उपेक्षा न करे। यदि दोनों राजा समानरूपसे विजयके लिये यत्नशील हों और उनकी जीत संदेहास्पद जान पड़ती हो तो उनमें भी जो मेरे इस नीतिपूर्ण कथनपर श्रद्धा-विश्वास रखता है, वही उन्नतिको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥ ५४ ॥

यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न जानता हो तथा बुरे मार्गपर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित माना जाता है ॥ ५४ ॥

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता।
न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोपसंयुतः ॥ ५५ ॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ॥ ५६ ॥

मनमें क्रोध भरा हो, तो भी ऊपरसे क्रोधशून्य बना रहे और मुसकराकर बातचीत करे। कभी क्रोधमें आकर किसी दूसरेका तिरस्कार न करे। भारत! शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले। शत्रुको मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये, उसके लिये शोक करे तथा रोये और आँसू बहाये ॥ ५५-५६ ॥

आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः।
अथास्य प्रहरेत् काले यदा विचलिते पथि ॥ ५७ ॥

शत्रुको समझा-बुझाकर, धर्म बताकर, धन देकर और सद्व्यवहार करके आश्वासन दे—अपने प्रति उसके मनमें विश्वास उत्पन्न करे, फिर समय आनेपर ज्यों ही वह मार्गसे विचलित हो, त्यों ही उसपर प्रहार करे ॥ ५७ ॥

अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ॥ ५८ ॥

धर्मके आचरणका ढोंग करनेसे घोर अपराध करनेवालेका दोष भी उसी प्रकार ढक जाता है, जैसे पर्वत काले मेघोंकी घटासे ढक जाता है ॥ ५८ ॥

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत्।
अधनान् नास्तिकांश्चौरान् विषये स्वे न वासयेत्॥५९॥

जिसे शीघ्र ही मार डालनेकी इच्छा हो, उसके घरमें आग लगा दे। धनहीनों, नास्तिकों और चोरोंको अपने राज्यमें न रहने दे ॥ ५९ ॥

प्रत्युत्थानासनाद्येन सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात् तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ॥ ६० ॥

(शत्रुके) आनेपर उठकर अगवानी करे, आसन और भोजन दे और कोई प्रिय वस्तु भेंट करे। ऐसे बर्तावोंसे अपने प्रति जिसका पूर्ण विश्वास हो गया हो, उसे भी (अपने लाभके लिये) मारनेमें संकोच न करे। सर्पकी भाँति तीखे दाँतोंसे काटे, जिससे शत्रु फिर उठकर बैठ न सके ॥ ६० ॥

अशङ्कितेभ्यः शङ्केत शङ्कितेभ्यश्च सर्वशः।
अशङ्क्याद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥ ६१ ॥

जिनसे भय प्राप्त होनेका संदेह न हो, उनसे भी सशङ्क (चौकन्ना) ही रहे और जिनसे भयकी आशङ्का हो, उनकी

ओरसे तो सब प्रकारसे सावधान रहे ही। जिनसे भयकी शङ्का नहीं है, ऐसे लोगोंमें यदि भय उत्पन्न होता है तो वह मूलोच्छेद कर डालता है ॥ ६१ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ६२ ॥

जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे; परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अति विश्वास न करे; क्योंकि अति विश्वाससे उत्पन्न होनेवाला भय राजाकी जड़-मूलका भी नाश कर डालता है ॥ ६२ ॥

चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ॥ ६३ ॥

भलीभाँति जाँच-परखकर अपने तथा शत्रुके राज्यमें गुप्तचर रक्खे। शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचरोंको नियुक्त करे, जो पाखण्ड-वेशधारी अथवा तपस्वी आदि हों ॥ ६३ ॥

उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च।
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ ॥ ६४ ॥
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ॥ ६५ ॥

उद्यान, घूमने-फिरनेके स्थान, देवालय, मद्यपानके अड्डे, गली या सड़क, सम्पूर्ण तीर्थस्थान, चौराहे, कुएँ, पर्वत, वन, नदी तथा जहाँ मनुष्योंकी भीड़ इकट्ठी होती हो, उन सभी स्थानोंमें अपने गुप्तचरोंको घुमाता रहे ॥ ६४-६५ ॥

वाचा भृशं विनीतः स्याद्धृदयेन तथा क्षुरः।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे ॥ ६६ ॥

राजा बातचीतमें अत्यन्त विनयशील हो, परंतु हृदय छूरेके समान तीखा बनाये रक्खे। अत्यन्त भयानक कर्म करनेके लिये उद्यत हो तो भी मुसकराकर ही वार्तालाप करे ॥ ६६ ॥

अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम्।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ६७ ॥

अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करना और आशा बँधाना— ये सब ऐश्वर्य-प्राप्तिकी इच्छावाले राजाके कर्तव्य हैं ॥ ६७ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च जीर्येत कर्हिचित् ॥ ६८ ॥

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों परंतु फल न हों (वह बातोंसे लोगोंको फलकी आशा दिलाये, उसकी पूर्ति न करे)। फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो (लोगोंकी स्वार्थसिद्धिमें वह विघ्न डाले या विलम्ब करे)। वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके समान (अर्थात् स्वार्थ-साधकोंकी दुराशाको पूर्ण न होने दे)। कभी स्वयं जीर्ण न हो (तात्पर्य यह कि अपना धन खर्च करके शत्रुओंका पोषण करते हुए अपने आपको निर्धन न बना दे) ॥ ६८ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धस्तथैव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ॥ ६९ ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें तीन प्रकारकी बाधा—अड़चन उपस्थित होती है*। उसी प्रकार उनके तीन ही प्रकारके फल होते हैं। (धर्मका फल है अर्थ एवं काम अर्थात् भोगकी प्राप्ति, अर्थका फल है धर्मका सेवन एवं भोगकी प्राप्ति और काम अर्थात् भोगका फल है—इन्द्रियतृप्ति) इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ (वरणीय) जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये। (त्रिविध पुरुषार्थोंका सेवन इस प्रकार करना चाहिये कि तीनों एक दूसरेके बाधक न हों। अर्थात् जीवनमें तीनोंका सामञ्जस्य ही सुखदायक है।) ॥ ६९ ॥

धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति।
अर्थं चाप्यर्थलुब्धस्य कामं चातिप्रवर्तिनः ॥ ७० ॥

धर्मका अनुष्ठान करनेवाले धर्मात्मा पुरुषके धर्ममें काम और अर्थ—इन दोनोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा पहुँचाती है। इसी प्रकार अर्थलोभीके अर्थमें और अत्यन्त भोगासक्तके काममें भी शेष दो वर्गोंद्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा उपस्थित करती है ॥ ७० ॥

अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ॥ ७१ ॥

राजा अपने हृदयसे अहंकारको निकाल दे। चित्तको एकाग्र रक्खे। सबसे मधुर बोले। दूसरोंके दोष प्रकाशित न करे। सब विषयोंपर दृष्टि रक्खे और शुद्धचित्त हो द्विजोंके साथ बैठकर मन्त्रणा करे ॥ ७१ ॥

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ७२ ॥

राजा यदि संकटमें हो तो कोमल या भयंकर—जिस किसी भी कर्मके द्वारा उस दुरवस्थासे अपना उद्धार करे; फिर समर्थ होनेपर धर्मका आचरण करे ॥ ७२ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७३ ॥

कष्ट सहे बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं करता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है ॥ ७३ ॥

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ ७४ ॥

जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा श्रीरामचन्द्रजी आदिके जीवनका वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिखाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ॥ ७४ ॥

योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत्।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ७५ ॥

---

* इन बाधाओंको श्लोक ७० में स्पष्ट किया गया है।

जैसे वृक्षके ऊपरकी शाखापर सोया हुआ पुरुष जब गिरता है, तब होशमें आता है उसी प्रकार जो अपने शत्रुके साथ संधि करके कृतकृत्यकी भाँति सोता (निश्चिन्त हो जाता) है, वह शत्रुसे धोखा खानेपर सचेत होता है ॥ ७५ ॥

मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
आकारमभिरक्षेत चारेणाप्यनुपालितः ॥ ७६ ॥

राजाको चाहिये कि वह दूसरोंके दोष प्रकाशित न करके अपनी गुप्त मन्त्रणाको सदा छिपाये रखनेकी चेष्टा करे। दूसरोंके गुप्तचरोंसे तो अपने आकारतकको (क्रोध और हर्ष आदिको सूचित करनेवाली चेष्टातकको) गुप्त रक्खे; परंतु अपने गुप्तचरसे भी सदा अपनी गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करे ॥ ७६ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ७७ ॥

राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पाता ॥ ७७ ॥

कर्शितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम्।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ॥ ७८ ॥

जब शत्रुकी सेना दुर्बल, रोगग्रस्त, जल या कीचड़में फँसी, भूख-प्याससे पीड़ित और सब ओरसे विश्वस्त होकर निश्चेष्ट पड़ी हो, उस समय उसपर प्रहार करना चाहिये ॥ ७८ ॥

नार्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम्।
तस्मात् सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत्॥७९॥

धनवान् मनुष्य किसी धनीके पास नहीं जाता। जिसके सब काम पूरे हो चुके हैं, वह किसीके साथ मैत्री निभानेकी चेष्टा नहीं करता; अतः अपनेद्वारा सिद्ध होनेवाले दूसरोंके कार्य ही अधूरे रख दे (जिससे अपने कार्यके लिये उनका आना-जाना बना रहे) ॥ ७९ ॥

संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ८० ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको दूसरोंके दोष न बताकर सदा आवश्यक सामग्रीके संग्रह और शत्रुओंके साथ विग्रह (युद्ध) करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये; साथ ही यत्नपूर्वक अपने उत्साहको बनाये रखना चाहिये ॥८०॥

नास्य कृत्यानि बुध्येरन् मित्राणि रिपवस्तथा।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ॥ ८१ ॥

मित्र और शत्रु—किसीको भी यह पता न चले कि राजा कब क्या करना चाहता है। कार्यके आरम्भ अथवा समाप्त हो जानेपर ही (सब) लोग उसे देखें ॥ ८१ ॥

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ८२ ॥

जबतक अपने ऊपर भय आया न हो, तबतक डरे हुएकी भाँति उसको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब भयको सामने आया देखे, तब निडर होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये ॥ ८२ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद् गर्भमश्वतरी यथा ॥ ८३ ॥

जो मनुष्य दण्डके द्वारा वशमें किये हुए शत्रुपर दया करता है, वह मौतको ही अपनाता है—ठीक उसी तरह जैसे खच्चरी गर्भके रूपमें अपनी मृत्युको ही उदरमें धारण करती है ॥ ८३ ॥

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम्।
न तु बुद्धिक्षयात् किंचिदतिक्रामेत् प्रयोजनम् ॥ ८४ ॥

जो कार्य भविष्यमें करना हो उसपर बुद्धिसे विचार करे और विचारनेके पश्चात् तदनुकूल व्यवस्था करे। इसी प्रकार जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भी बुद्धिसे विचारकर ही करे। बुद्धिसे निश्चय किये बिना किसी भी कार्य या उद्देश्यका परित्याग न करे ॥ ॥ ८४ ॥

उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता।
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः।
नैःश्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविति स्थितिः ॥ ८५ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालका विभाग करके ही यत्नपूर्वक उत्साह एवं उद्यम करना चाहिये। इसी प्रकार देश-कालके विभागपूर्वक ही प्रारब्धकर्म तथा धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिये। देश और कालको ही मङ्गलके प्रधान हेतु समझना चाहिये। यही नीति-शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ८५ ॥

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥ ८६ ॥

छोटे शत्रुकी भी उपेक्षा कर दी जाय, तो वह ताड़के वृक्षकी भाँति जड़ जमा लेता है और घने वनमें छोड़ी हुई आगकी भाँति शीघ्र ही महान् विनाशकारी बन जाता है ॥ ८६ ॥

अग्निं स्तोकमिवात्मानं संधुक्षयति यो नरः।
स वर्धमानो ग्रसते महान्तमपि संचयम् ॥ ८७ ॥

जो मनुष्य थोड़ी-सी अग्निकी भाँति अपने आपको (सहायक सामग्रियोंद्वारा धीरे-धीरे) प्रज्वलित या समृद्ध करता रहता है, वह एक दिन बहुत बड़ा होकर शत्रुरूपी ईंधनकी बहुत बड़ी राशिको भी अपना ग्रास बना लेता है ॥ ८७ ॥

आशां कालवतीं कुर्यात् कालं विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥ ८८ ॥

यदि किसीको किसी बातकी आशा दे तो उसे शीघ्र पूरी न करके दीर्घकालतक लटकाये रक्खे। जब उसे पूर्ण करनेका समय आये, तब उसमें कोई विघ्न डाल दे और इस प्रकार समयकी अवधिको बढ़ा दे। उस विघ्नके पड़नेमें कोई उपयुक्त कारण बता दे और उस कारणको भी युक्तियोंसे सिद्ध कर दे ॥ ८८ ॥

क्षुरो भूत्वा हरेत् प्राणान् निशितः कालसाधनः।
प्रतिच्छन्नो लोमहारी द्विषतां परिकर्तनः ॥ ८९ ॥

लोहेका बना हुआ छूरा शानपर चढ़ाकर तेज किया जाता और चमड़ेके सम्पुटमें छिपाकर रखा जाता है तो वह समय आनेपर (सिर आदि अङ्गोंके समस्त) बालोंको काट देता है। उसी प्रकार राजा अनुकूल अवसरकी अपेक्षा रखकर अपने मनोभावको छिपाये हुए अनुकूल साधनोंका संग्रह करता रहे और छूरेकी तरह तीक्ष्ण या निर्दय होकर शत्रुओंके प्राण ले ले—उनका मूलोच्छेद कर डाले ॥ ८९ ॥

पाण्डवेषु यथान्यायमन्येषु च कुरूद्वह।
वर्तमानो न मज्जेस्त्वं तथा कृत्यं समाचर ॥ ९० ॥

सर्वकल्याणसम्पन्नो विशिष्ट इति निश्चयः।
तस्मात् त्वं पाण्डुपुत्रेभ्यो रक्षात्मानं नराधिप ॥ ९१ ॥

कुरुश्रेष्ठ! आप भी इसी नीतिका अनुसरण करके पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंके साथ यथोचित बर्ताव करते रहें। परंतु ऐसा कार्य करें, जिससे स्वयं संकटके समुद्रमें डूब न जायँ। आप समस्त कल्याणकारी साधनोंसे सम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ हैं, यही सबका निश्चय है; अतः नरेश्वर! आप पाण्डुके पुत्रोंसे अपनी रक्षा कीजिये ॥ ९०-९१ ॥

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप।
पश्चात्तापो यथा न स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ९२ ॥

राजन्! आपके भतीजे पाण्डव बहुत बलवान् हैं; अतः ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे आगे चलकर आपको पछताना न पड़े।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ॥ ९३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर कणिक अपने घरको चले गये। इधर कुरुवंशी धृतराष्ट्र शोकसे व्याकुल हो गये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कणिकवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कणिकवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

(जतुगृहपर्व)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके प्रति पुरवासियोंका अनुराग देखकर दुर्योधनकी चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन् ॥ १ ॥
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम्।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि, राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्णने (आपसमें) एक दुष्टतापूर्ण गुप्त सलाह की। उन्होंने कुरुनन्दन महाराज धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेकर पुत्रोंसहित कुन्तीको आगमें जला डालनेका विचार किया ॥ १-२ ॥

तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान्।
आकारेण च तं मन्त्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर उनकी चेष्टाओंसे उनके मनका भाव समझ गये और उनकी आकृतिसे ही उन दुष्टोंकी गुप्त मन्त्रणाका भी उन्होंने पता लगा लिया ॥ ३ ॥

ततो विदितवेद्यात्मा पाण्डवानां हिते रतः।
पलायने मतिं चक्रे कुन्त्याः पुत्रैः सहानघः ॥ ४ ॥

विदुरजीने मन-ही-मन जानने योग्य सभी बातें जान लीं। वे सदा पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते थे, अतः निष्पाप विदुरने यही निश्चय किया कि कुन्ती अपने पुत्रोंके साथ यहाँसे भाग जाय ॥ ४ ॥

ततो वातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
ऊर्मिक्षमां दृढां कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह ॥ ५ ॥

उन्होंने एक सुदृढ़ नाव बनवायी, जिसे चलानेके लिये उसमें यन्त्र[1] लगाया गया था। वह वायुके वेग और लहरोंके थपेड़ोंका सामना करनेमें समर्थ थी। उसमें झंडियाँ और पताकाएँ फहरा रही थीं। उस नावको तैयार कराके विदुरजीने कुन्तीसे कहा—॥ ५ ॥

एष जातः कुलस्यास्य कीर्तिवंशप्रणाशनः।
धृतराष्ट्रः परीतात्मा धर्मं त्यजति शाश्वतम् ॥ ६ ॥

१. इससे महाभारतकालमें यन्त्रयुक्त नौकाओं (जहाजों) का निर्माण सूचित होता है।

इयं वारिपथे युक्ता तरङ्गपवनक्षमा ।
नौर्यया मृत्युपाशात्त्वं सपुत्रा मोक्ष्यसे शुभे ॥ ७ ॥

'देवि! राजा धृतराष्ट्र इस कुरुकुलकी कीर्ति एवं वंशपरम्पराका नाश करनेवाले पैदा हुए हैं। इनका चित्त पुत्रोंके प्रति ममतासे व्याप्त हुआ है, इसलिये ये सनातन धर्मका त्याग कर रहे हैं। शुभे! जलके मार्गमें यह नाव तैयार है, जो हवा और लहरोंके वेगको भलीभाँति सह सकती है। इसीके द्वारा (कहीं अन्यत्र जाकर) तुम पुत्रोंसहित मौतकी फाँसीसे छूट सकोगी' ॥६-७॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता कुन्ती पुत्रैः सह यशस्विनी ।
नावमारुह्य गङ्गायां प्रययौ भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! यह बात सुनकर यशस्विनी कुन्तीको बड़ी व्यथा हुई। वे पुत्रोंसहित (वारणावतके लाक्षागृहसे बचकर) नावपर जा चढ़ीं और गङ्गाजीकी धारापर यात्रा करने लगीं ॥ ८ ॥

ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
धनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन् वनम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर विदुरजीके कहनेसे पाण्डवोंने नावको वहीं डुबा दिया और उन कौरवोंके दिये हुए धनको लेकर विघ्न-बाधाओंसे रहित वनमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु जातुषे तत्र वेश्मनि ।
कारणाभ्यागता दग्धा सह पुत्रैरनागसा ॥ १० ॥

वारणावतके उस लाक्षागृहमें निषाद जातिकी एक स्त्री किसी कारणवश अपने पाँच पुत्रोंके साथ आकर ठहर गयी थी। वह बेचारी निरपराध होनेपर भी उसमें पुत्रोंसहित जलकर भस्म हो गयी ॥ १० ॥

स च म्लेच्छाधमः पापो दग्धस्तत्र पुरोचनः ।
वञ्चिताश्च दुरात्मानो धार्तराष्ट्राः सहानुगाः ॥ ११ ॥

म्लेच्छोंमें (भी) नीच पापी पुरोचन भी उसी घरमें जल मरा और धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्र अपने सेवकोंसहित धोखा खा गये ॥ ११ ॥

अविज्ञाता महात्मानो जनानामक्षतास्तथा ।
जनन्या सह कौन्तेया मुक्ता विदुरमन्त्रिताः ॥ १२ ॥

विदुरकी सलाहके अनुसार काम करनेवाले महात्मा कुन्तीपुत्र अपनी माताके साथ मृत्युसे बच गये। उन्हें किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँची। साधारण लोगोंको उनके जीवित रहनेकी बात ज्ञात न हो सकी ॥ १२ ॥

ततस्तस्मिन् पुरे लोका नगरे वारणावते ।
दृष्ट्वा जतुगृहं दग्धमन्वशोचन्त दुःखिताः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वारणावत नगरमें वहाँके लोगोंने लाक्षागृहको दग्ध हुआ देख (अत्यन्त) दुखी हो पाण्डवोंके लिये (बड़ा) शोक किया ॥ १३ ॥

राज्ञे च प्रेषयामासुर्यथावृत्तं निवेदितुम् ।
संवृत्तस्ते महान् कामः पाण्डवान् दग्धवानसि॥ १४ ॥

सकामो भव कौरव्य भुङ्क्ष्व राज्यं सपुत्रकः ।
तच्छ्रुत्वा धृतराष्ट्रस्तु सह पुत्रेण शोचयन् ॥ १५ ॥

तथा राजा धृतराष्ट्रके पास यथावत् समाचार कहनेके लिये किसीको भेजकर कहलाया—'कुरुनन्दन! तुम्हारा महान् मनोरथ पूरा हो गया। पाण्डवोंको तुमने जला दिया। अब तुम कृतार्थ हो जाओ और पुत्रोंके साथ राज्य भोगो।' यह सुनकर पुत्रसहित धृतराष्ट्र शोकमग्न हो गये ॥ १४-१५ ॥

प्रेतकार्याणि च तथा चकार सह बान्धवैः ।
पाण्डवानां तथा क्षत्ता भीष्मश्च कुरुसत्तमः ॥ १६ ॥

उन्होंने, विदुरजीने तथा कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजीने भी भाई-बन्धुओंके साथ (पुत्तल-विधिसे) पाण्डवोंके प्रेतकार्य (दाह और श्राद्ध आदि) सम्पन्न किये ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच

पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १७ ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त पुनः विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

सुनृशंसमिदं कर्म तेषां क्रूरोपसंहितम् ।
कीर्तयस्व यथावृत्तं परं कौतूहलं मम ॥ १८ ॥

क्रूर कणिकके उपदेशसे किया हुआ कौरवोंका यह कर्म अत्यन्त निर्दयतापूर्ण था। आप उसका ठीक-ठीक वर्णन कीजिये। मुझे यह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरशो राजन् वदतो मे परंतप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत् पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहता हूँ, सुनो ॥ १९ ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ॥ २० ॥

भीमसेनको सबसे अधिक बलवान् और अर्जुनको अस्त्र-विद्यामें सबसे श्रेष्ठ देखकर दुर्योधन सदा संतप्त होता रहता था। उसके मनमें बड़ा दुःख था ॥ २० ॥

ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ २१ ॥

तब सूर्यपुत्र कर्ण और सुबलकुमार शकुनि आदि अनेक उपायोंसे पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा करने लगे ॥ २१ ॥

पाण्डवा अपि तत् सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ २२ ॥

पाण्डवोंने भी जब जैसा संकट आया, सबका निवारण किया और विदुरकी सलाह मानकर वे कौरवोंके षड्यन्त्रका कभी भंडाफोड़ नहीं करते थे ॥ २२ ॥

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा।
कथयांचक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ॥ २३ ॥

भारत! उन दिनों पाण्डवोंको सर्वगुणसम्पन्न देख नगरके निवासी भरी सभाओंमें उनके सद्गुणोंकी प्रशंसा करते थे॥

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥ २४ ॥

वे जहाँ कहीं चौराहोंपर और सभाओंमें इकट्ठे होते वहीं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरको राज्यप्राप्तिके योग्य बताते थे॥

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥ २५ ॥

वे कहते, 'प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होनेके कारण जब पहले ही राज्य न पा सके, तब (अब) वे कैसे राजा हो सकते हैं ॥ २५ ॥

तथा शांतनवो भीष्मः सत्यसंधो महाव्रतः।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥ २६ ॥

'महान् व्रतका पालन करनेवाले शंतनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं। वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण न करेंगे ॥ २६ ॥

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम्।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥ २७ ॥

'पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं, तो भी उनका शील-स्वभाव वृद्धोंके समान है। वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं; अतः अब हमलोग उन्हींका विधिपूर्वक राज्याभिषेक करें ॥ २७ ॥

स हि भीष्मं शांतनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित्।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥ २८ ॥

'महाराज युधिष्ठिर बड़े धर्मज्ञ हैं। वे शंतनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रका आदर करते हुए उन्हें नाना प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न रक्खेंगे' ॥ २८ ॥

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम्।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरमें अनुरक्त हो उपर्युक्त उद्गार प्रकट करनेवाले लोगोंकी बातें सुनकर खोटी बुद्धिवाला दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जलने लगा ॥ २९ ॥

स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे।
ईर्ष्यया चापि संतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥ ३० ॥

इस प्रकार संतप्त हुआ वह दुष्टात्मा लोगोंकी बातोंको सहन न कर सका। वह ईर्ष्याकी आगसे जलता हुआ धृतराष्ट्रके पास आया ॥ ३० ॥

ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ॥ ३१ ॥

वहाँ अपने पिताको अकेला पाकर पुरवासियोंके युधिष्ठिर-विषयक अनुरागसे दुखी हुए दुर्योधनने पहले पिताके प्रति आदर प्रदर्शित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार कहा ॥ ३१ ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥ ३२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैंने परस्पर वार्तालाप करते हुए पुरवासियोंके मुखसे (बड़ी) अशुभ बातें सुनी हैं। वे आपका और भीष्मजीका अनादर करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राजा बनाना चाहते हैं ॥ ३२ ॥

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥ ३३ ॥

भीष्मजी तो इस बातको मान लेंगे; क्योंकि वे स्वयं राज्य भोगना नहीं चाहते। परंतु नगरके लोग हमारे लिये बहुत बड़े कष्टका आयोजन करना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥ ३४ ॥

पाण्डुने अपने सद्गुणोंके कारण पितासे राज्य प्राप्त कर लिया और आप अंधे होनेके कारण अधिकारप्राप्त राज्यको भी नहीं पा सके ॥ ३४ ॥

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥ ३५ ॥

यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डुके राज्यको, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त कर लेते हैं तो निश्चय ही उनके बाद उनका पुत्र ही इस राज्यका अधिकारी होगा और उसके बाद पुनः उसीकी पुत्रपरम्परामें दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जायँगे ॥ ३५ ॥

ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ ३६ ॥

महाराज ! ऐसी दशामें हमलोग अपने पुत्रोंसहित राज-परम्परासे वञ्चित होनेके कारण सब लोगोंकी अवहेलनाके पात्र बन जायँगे ॥ ३६ ॥

सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ३७ ॥

राजन् ! आप कोई ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे हमें दूसरोंके दिये हुए अन्नसे गुजारा करके सदा नरकतुल्य कष्ट न भोगना पड़े ॥ ३७ ॥

यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान्।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥ ३८ ॥

राजन् ! यदि पहले ही आपने यह राज्य पा लिया होता तो आज हम अवश्य ही इसे प्राप्त कर लेते; फिर तो लोगोंका कोई वश नहीं चलता ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनेर्ष्यायां चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनकी ईर्ष्याविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंको वारणावत भेज देनेका प्रस्ताव

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्तः समपद्यत।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ॥ २ ॥
दुःशासनचतुर्थास्ते मन्त्रयामासुरेकतः।
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्रकी यह बात सुनकर तथा कणिकके उन वचनोंका स्मरण करके प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्रका चित्त सब प्रकारसे दुविधामें पड़ गया। वे शोकसे आतुर हो गये। दुर्योधन, कर्ण, सुबल-पुत्र शकुनि तथा चौथे दुःशासन इन सबने एक जगह बैठकर सलाह की; फिर राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे कहा—॥ १-३ ॥

पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात् तान् विवासयतां भवान्।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ ४ ॥

'पिताजी ! हमें पाण्डवोंसे भय न हो, इसलिये आप किसी उत्तम उपायसे उन्हें यहाँसे हटाकर वारणावत नगरमें भेज दीजिये' ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम्।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

अपने पुत्रकी कही हुई यह बात सुनकर धृतराष्ट्र दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़े रहे; फिर दुर्योधनसे बोले ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद् विशेषतः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डु अपने जीवनभर धर्मको ही नित्य मानकर सम्पूर्ण ज्ञातिजनोंके साथ धर्मानुकूल व्यवहार ही करते थे; मेरे प्रति तो विशेषरूपसे ॥ ६ ॥

नासौ किंचिद् विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम्।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥ ७ ॥

वे इतने भोले-भाले थे कि अपने स्नान-भोजन आदि अभीष्ट कर्तव्योंके सम्बन्धमें भी कुछ नहीं जानते थे। वे उत्तम व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन मुझसे यही कहते थे कि 'यह राज्य तो आपका ही है' ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ॥ ८ ॥

उनके पुत्र युधिष्ठिर भी वैसे ही धर्मपरायण हैं, जैसे स्वयं पाण्डु थे। वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण जगत्में विख्यात तथा पूरुवंशियोंके अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ८ ॥

स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः।
पितृपैतामहाद् राज्यात् ससहायो विशेषतः ॥ ९ ॥

फिर उन्हें उनके बाप-दादोंके राज्यसे बलपूर्वक कैसे हटाया जा सकता है ? विशेषतः ऐसे समयमें, जब कि उनके सहायक अधिक हैं ॥ ९ ॥

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम्।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥ १० ॥

पाण्डुने सभी मन्त्रियों तथा सैनिकोंका सदा पालन-पोषण किया था। उनका ही नहीं, उनके पुत्र-पौत्रोंके भी भरण-पोषणका विशेष ध्यान रक्खा था ॥ १० ॥

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥ ११ ॥

तात ! पाण्डुने पहले नागरिकोंके साथ बड़ा ही सद्भाव-पूर्ण व्यवहार किया है। अब वे विद्रोही होकर युधिष्ठिरके हितके लिये भाई-बन्धुओंके साथ हम सब लोगोंकी हत्या क्यों न कर डालेंगे ? ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने भी अपने हृदयमें इस दोष (प्रजाके विरोधी होने) की सम्भावना की थी और इसीपर दृष्टि रखकर पहले ही अर्थ और सम्मानके द्वारा समस्त प्रजाका आदर-सत्कार किया है ॥ १२ ॥

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥ १३ ॥

अब निश्चय ही वे लोग मुख्यतासे हमारे सहायक होंगे। राजन् ! इस समय खजाना और मन्त्रिमण्डल हमारे ही अधीन हैं ॥ १३ ॥

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ १४ ॥

अतः आप किसी मृदुल उपायसे ही जितना शीघ्र सम्भव हो, पाण्डवोंको वारणावत नगरमें भेज दें ॥ १४ ॥

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन् भविष्यति।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशके महाराज ! जब यह राज्य पूरी तरहसे मेरे अधिकारमें आ जायगा, उस समय कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंके साथ पुनः यहाँ आकर रह सकती हैं ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि सम्परिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! मेरे हृदयमें भी यही बात घूम रही है; किंतु हमलोगोंका यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिये मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता ॥ १६ ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः।
विवास्यमानान् कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥ १७ ॥

मुझे यह भी विश्वास है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य—इनमेंसे कोई भी कुन्तीपुत्रोंको यहाँसे अन्यत्र भेजे जानेकी कदापि अनुमति नहीं देंगे ॥ १७ ॥

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥

बेटा ! इन सभी कुरुवंशियोंके लिये हमलोग और पाण्डव समान हैं। ये धर्मपरायण मनस्वी महापुरुष उनके प्रति विषम व्यवहार करना नहीं चाहेंगे ॥ १८ ॥

ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम्।
कथं न वध्यतां तात गच्छाम जगतस्तथा ॥ १९ ॥

दुर्योधन ! यदि हम पाण्डवोंके साथ विषम व्यवहार करेंगे तो सम्पूर्ण कुरुवंशी और ये (भीष्म, द्रोण आदि) महात्मा एवं सम्पूर्ण जगत्के लोग हमें वध करने योग्य क्यों न समझेंगे ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥ २० ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्षमें हैं, द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २० ॥

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत्।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥

जिस पक्षमें ये दोनों होंगे, उसी ओर शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य भी रहेंगे। वे अपने बहनोई द्रोण और भानजे अश्वत्थामाको कभी छोड़ न सकेंगे ॥ २१ ॥

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः।
न चैकः स समर्थोऽस्मान् पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥ २२ ॥

विदुर भी हमारे आर्थिक बन्धनमें हैं, यद्यपि वे छिपे-छिपे हमारे शत्रुओंके स्नेहपाशमें बँधे हैं। परंतु वे अकेले पाण्डवोंके हितके लिये हमें बाधा पहुँचानेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥ २२ ॥

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥ २३ ॥

इसलिये आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवोंको उनकी माताके साथ वारणावत भेज दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये, जिससे वे आज ही चले जायँ ॥ २३ ॥

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥ २४ ॥

मेरे हृदयमें भयंकर काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता। शोककी आग प्रज्वलित हो उठी है (आप मेरे द्वारा प्रस्तावित) इस कार्यको पूरा करके मेरे हृदयकी शोकाग्निको बुझा दीजिये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनपरामर्शे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनपरामर्शविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः॥ १॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित् कुशलमन्त्रिणः।
कथयांचक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम्॥ २॥
अयं समाजः सुमहान् रमणीयतमो भुवि।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधन और उसके छोटे भाइयोंने धन देकर तथा आदर-सत्कार करके सम्पूर्ण अमात्य आदि प्रकृतियोंको धीरे-धीरे अपने वशमें कर लिया। कुछ चतुर मन्त्री धृतराष्ट्रकी आज्ञासे (चारों ओर) इस बातकी चर्चा करने लगे कि 'वारणावत नगर बहुत सुन्दर है। उस नगरमें इस समय भगवान् शिवकी पूजाके लिये जो बहुत बड़ा मेला लग रहा है, वह तो इस पृथ्वीपर सबसे अधिक मनोहर है॥ १—३॥

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः॥ ४॥

'वह पवित्र नगर समस्त रत्नोंसे भरा-पूरा तथा मनुष्योंके मनको मोह लेनेवाला स्थान है।' धृतराष्ट्रके कहनेसे वे इस प्रकारकी बातें करने लगे॥ ४॥

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप॥ ५॥

राजन्! वारणावत नगरकी रमणीयताका जब इस प्रकार (यत्र-तत्र) वर्णन होने लगा, तब पाण्डवोंके मनमें वहाँ जानेका विचार उत्पन्न हुआ॥ ५॥

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः॥ ६॥

जब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रको यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वहाँ जानेके लिये उत्सुक हैं, तब वे उनके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ६॥

(अधीतानि च शास्त्राणि युष्माभिरिह कृत्स्नशः।
अस्त्राणि च तथा द्रोणाद् गौतमाच्च विशेषतः॥
इदमेवंगते ताताश्चिन्तयामि समन्ततः।
रक्षणे व्यवहारे च राज्यस्य सततं हिते॥)
ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम्॥ ७॥

'बेटो! तुमलोगोंने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लिये। आचार्य द्रोण और कृपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी भी विशेषरूपसे शिक्षा प्राप्त कर ली। प्रिय पाण्डवो! ऐसी दशामें मैं एक बात सोच रहा हूँ। सब ओरसे राज्यकी रक्षा, राजकीय व्यवहारोंकी रक्षा तथा राज्यके निरन्तर हित-साधनमें लगे रहनेवाले मेरे ये मन्त्रीलोग प्रतिदिन बारंबार कहते हैं कि वारणावत नगर संसारमें सबसे अधिक सुन्दर है॥ ७॥

ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः॥ ८॥

'पुत्रो! यदि तुमलोग वारणावत नगरमें उत्सव देखने जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्गके साथ वहाँ जाकर देवताओंकी भाँति विहार करो॥ ८॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायकेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः॥ ९॥
कंचित् कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम्।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ॥ १०॥

'ब्राह्मणों और गायकोंको विशेषरूपसे रत्न एवं धन दो तथा अत्यन्त तेजस्वी देवताओंके समान कुछ कालतक वहाँ इच्छानुसार विहार करते हुए परम सुख प्राप्त करो। तत्पश्चात् पुनः सुखपूर्वक इस हस्तिनापुर नगरमें ही चले आना'॥ ९-१०॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम्॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिर धृतराष्ट्रकी उस इच्छाका रहस्य समझ गये, परंतु अपनेको असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली॥ ११॥

ततो भीष्मं शांतनवं विदुरं च महामतिम्।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम्॥ १२॥
कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान्॥ १३॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम्।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा॥ १४॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने शंतनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, द्रोण, बाह्लिक, कुरुवंशी सोमदत्त, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, अन्यान्य माननीय मन्त्रियों, तपस्वी ब्राह्मणों, पुरोहितों, पुरवासियों तथा यशस्विनी गान्धारीदेवीसे मिलकर धीरे-धीरे दीनभावसे इस प्रकार कहा—॥ १२—१४॥

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात्॥ १५॥

'हम महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे रमणीय वारणावत नगरमें, जहाँ बड़ा भारी मेला लग रहा है, परिवारसहित जानेवाले हैं ॥ १५ ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान् न पापं प्रसहिष्यते ॥ १६ ॥

'आप सब लोग प्रसन्नचित्त होकर हमें अपने पुण्यमय आशीर्वाद दीजिये। आपके आशीर्वादसे हमारी वृद्धि होगी और पापका हमपर वश नहीं चल सकेगा' ॥ १६ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥ १७ ॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित् सर्वशः पाण्डुनन्दनाः॥ १८॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर वे समस्त कुरुवंशी प्रसन्नवदन होकर पाण्डवोंके अनुकूल हो कहने लगे--'पाण्डुकुमारो ! मार्गमें सर्वदा सब प्राणियोंसे तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें कहींसे किसी प्रकारका अशुभ न प्राप्त हो' ॥ १७-१८ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ॥ १९ ॥

तब राज्य-लाभके लिये स्वस्तिवाचन करा समस्त आवश्यक कार्य पूर्ण करके राजकुमार पाण्डव वारणावत नगरको गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतयात्रायां द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें वारणावतयात्राविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनका वारणावत नगरमें लाक्षागृह बनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत् स दुरात्मवान् ॥ १ ॥
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
ममेयं वसुसम्पूर्णा पुरोचन वसुंधरा।
यथेयं मम तद्वत् ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥ ३ ॥
न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको इस प्रकार वारणावत जानेकी आज्ञा दे दी, तब दुरात्मा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। भरतश्रेष्ठ ! उसने अपने मन्त्री पुरोचनको एकान्तमें बुलाया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर कहा, 'पुरोचन ! यह धन-धान्यसे सम्पन्न पृथ्वी जैसे मेरी है, वैसे ही तुम्हारी भी है; अतः तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा तुमसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा विश्वासपात्र सहायक नहीं है, जिससे मिलकर इतनी गुप्त सलाह कर सकूँ, जैसे तुम्हारे साथ करता हूँ १-४ ॥

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर।
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ५ ॥

'तात ! तुम मेरी इस गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करो—इसे दूसरोंपर प्रकट न होने दो और अच्छे उपायद्वारा मेरे शत्रुओंको उखाड़ फेंको। मैं तुमसे जो कहता हूँ, वही करो ॥ ५ ॥

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम्।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

'पिताजीने पाण्डवोंको वारणावत जानेकी आज्ञा दी है। वे उनके आदेशसे (कुछ दिनोंतक) वहाँ रहकर उत्सवमें भाग लेंगे—मेलेमें घूमे-फिरेंगे ॥ ६ ॥

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥ ७ ॥

'अतः तुम खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर आज ही वहाँ पहुँच जाओ, ऐसी चेष्टा करो ॥ ७ ॥

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम्।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥ ८ ॥

'वहाँ जाकर नगरके निकट ही एक ऐसा भवन तैयार कराओ जिसमें चारों ओर कमरे हों तथा जो सब ओरसे सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन खर्च करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिये ॥ ८ ॥

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित्।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥ ९ ॥

'सन तथा राल आदि, जो कोई भी आग भड़कानेवाले द्रव्य संसारमें हैं, उन सबको उस मकानकी दीवारोंमें लगवाना ॥ ९ ॥

सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥ १० ॥

'घी, तेल, चर्बी तथा बहुत-सी लाह मिट्टीमें मिलवाकर उसीसे दीवारोंको लिपवाना ॥ १० ॥

शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ॥ ११ ॥
यथा च तन्न पश्येरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः।
आग्नेयमिति तत् कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥ १२ ॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान् परमार्चितान्।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ॥ १३ ॥

'उस घरके चारों ओर सन, तेल, घी, लाह और लकड़ी आदि सब वस्तुएँ संग्रह करके रखना। अच्छी तरह देख-भाल करनेपर भी पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंको भी इस बातकी शङ्का न हो कि यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है, इस तरह पूरी सावधानीके साथ उस राजभवनका निर्माण कराना चाहिये। इस प्रकार महल बन जानेपर जब पाण्डव वहाँ जायँ, तब उन्हें तथा सुहृदोंसहित कुन्तीदेवीको भी बड़े आदर-सत्कारके साथ उसीमें रखना ॥ ११-१३ ॥

आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥ १४ ॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ॥ १५ ॥

'वहाँ पाण्डवोंके लिये दिव्य आसन, सवारी और शय्या आदिकी ऐसी (सुन्दर) व्यवस्था कर देना, जिसे सुनकर मेरे पिताजी संतुष्ट हों। जबतक समय बदलनेके साथ ही अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धि न हो जाय, तबतक सब काम इस तरह करना चाहिये कि वारणावत नगरके लोगोंको इसके विषयमें कुछ भी ज्ञात न हो सके ॥ १४-१५ ॥

ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान्।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥ १६ ॥

'जब तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो जाय कि पाण्डवलोग यहाँ विश्वस्त होकर रहने लगे हैं, इनके मनमें कहींसे कोई खटका नहीं रह गया है, तब उनके सो जानेपर घरके दरवाजेकी ओरसे आग लगा देना ॥ १६ ॥

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥ १७ ॥

'उस समय लोग यही समझेंगे कि अपने ही घरमें आग लगी थी, उसीमें पाण्डव जल गये। अतः वे पाण्डवोंकी मृत्युके लिये कभी हमारी निन्दा नहीं करेंगे' ॥ १७ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः।
प्रायाद् रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥ १८ ॥

पुरोचनने दुर्योधनके सामने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की एवं खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर आरूढ़ हो वहाँसे वारणावत नगरके लिये प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥ १९ ॥

राजन्! पुरोचन दुर्योधनकी रायके अनुसार चलता था। वारणावतमें शीघ्र ही पहुँचकर उसने राजकुमार दुर्योधनके कथनानुसार सब काम पूरा कर लिया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पुरोचनोपदेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पुरोचनके प्रति दुर्योधनकृत उपदेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा तथा उनको विदुरका गुप्त उपदेश

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् सदश्वैरनिलोपमैः।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ॥ १ ॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥

एवं सर्वान् कुरून् वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः।
समालिङ्ग्य समानान् वै बालैश्चाप्यभिवादिताः॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर चढ़नेके लिये उद्यत हो उत्तम व्रतको धारण करनेवाले पाण्डवोंने अत्यन्त दुखी-से होकर पितामह भीष्मके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा दूसरे बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया। इस प्रकार क्रमशः सभी वृद्ध कौरवोंको प्रणाम करके समान अवस्थावाले लोगोंको हृदयसे लगाया। फिर बालकोंने आकर पाण्डवोंको प्रणाम किया॥ १-३॥

सर्वा मातॄस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम्॥ ४ ॥

इसके बाद सब माताओंसे आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके तथा समस्त प्रजाओंसे भी विदा लेकर वे वारणावत नगरकी ओर प्रस्थित हुए॥ ४॥

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथान्ये कुरुपुङ्गवाः।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वीयुः शोककर्शिताः॥ ५ ॥
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः॥ ६ ॥

उस समय महाज्ञानी विदुर तथा कुरुकुलके अन्य श्रेष्ठ पुरुष एवं पुरवासी मनुष्य शोकसे कातर हो नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके पीछे-पीछे चलने लगे। तब कुछ निर्भय ब्राह्मण पाण्डवोंको अत्यन्त दीन-दशामें देखकर बहुत दुखी हो इस प्रकार कहने लगे—॥ ५-६॥

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति॥ ७ ॥

'अत्यन्त मन्दबुद्धि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंको सर्वथा विषम दृष्टिसे देखते हैं। धर्मकी ओर उनकी दृष्टि नहीं है॥ ७॥

न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनंजयः॥ ८ ॥

'निष्पाप अन्तःकरणवाले पाण्डुकुमार युधिष्ठिर, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा कुन्तीनन्दन अर्जुन कभी पापसे प्रीति नहीं करेंगे॥ ८॥

कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः।
तान् राज्यं पितृतः प्राप्तान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते॥ ९ ॥

'फिर महात्मा दोनों माद्रीकुमार कैसे पाप कर सकेंगे। पाण्डवोंको अपने पितासे जो राज्य प्राप्त हुआ था, धृतराष्ट्र उसे सहन नहीं कर रहे हैं॥ ९॥

अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते॥ १० ॥

'इस अत्यन्त अधर्मयुक्त कार्यके लिये भीष्मजी कैसे अनुमति दे रहे हैं? पाण्डवोंको अनुचितरूपसे यहाँसे निकालकर जो रहने योग्य स्थान नहीं, उस वारणावत नगरमें भेजा जा रहा है। फिर भी भीष्मजी चुपचाप क्यों इसे मान लेते हैं?॥ १०॥

पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छांतनवः पुरा।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः॥ ११ ॥

'पहले शंतनुकुमार राजर्षि विचित्रवीर्य तथा कुरुकुलको आनन्द देनेवाले महाराज पाण्डु हमारे राजा थे। केवल राजा ही नहीं, वे पिताके समान हमारा पालन-पोषण करते थे॥ ११॥

स तस्मिन् पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डु जब देवभाव(स्वर्ग) को प्राप्त हो गये हैं, तब उनके इन छोटे-छोटे राजकुमारोंका भार धृतराष्ट्र नहीं सहन कर पा रहे हैं॥ १२॥

वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात्।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः॥ १३ ॥

'हमलोग यह नहीं चाहते, इसलिये हम सब घर-द्वार छोड़कर इस उत्तम नगरीसे वहीं चलेंगे, जहाँ युधिष्ठिर जा रहे हैं'॥ १३॥

तांस्तथावादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्शितः।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ १४ ॥

शोकसे दुर्बल धर्मराज युधिष्ठिर अपने लिये दुखी उन पुरवासियोंको ऐसी बातें करते देख मन-ही-मन कुछ सोचकर उनसे बोले—॥ १४॥

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः।
अशङ्कमानैस्तत् कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम्॥ १५ ॥

'बन्धुओ! राजा धृतराष्ट्र मेरे माननीय पिता, गुरु एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे जो आज्ञा दें, उसका हमें निःशङ्क होकर पालन करना चाहिये; यही हमारा व्रत है॥ १५॥

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्वा प्रदक्षिणम्।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्तध्वं यथा गृहम्॥ १६ ॥
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते।
तदा करिष्यथास्माकं प्रियाणि च हितानि च॥ १७ ॥

'आपलोग हमारे हितचिन्तक हैं, अतः हमें अपने आशीर्वादसे संतुष्ट करें और हमें दाहिने करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही अपने घरको लौट जायँ। जब आपलोगोंके द्वारा हमारा कोई कार्य सिद्ध होनेवाला होगा, उस समय आप हमारे प्रिय और हितकारी कार्य कीजियेगा'॥ १६-१७॥

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैतान् जग्मुर्नगरमेव हि॥ १८ ॥

उनके यों कहनेपर पुरवासी उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न करते हुए दाहिने करके नगरको ही लौट गये ॥ १८ ॥

पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सत्यधर्मवित्।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर सत्यधर्मके ज्ञाता विदुरजी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरको दुर्योधनके कपटका बोध कराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १९ ॥

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥ २० ॥

विदुरजी बुद्धिमान् तथा मूढ़ म्लेच्छोंकी निरर्थक-सी प्रतीत होनेवाली भाषाके भी ज्ञाता थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर भी उस म्लेच्छ भाषाको समझ लेनेवाले तथा बुद्धिमान् थे। अतः उन्होंने युधिष्ठिरसे ऐसी कहनेयोग्य बात कही, जो म्लेच्छभाषाके जानकार एवं बुद्धिमान् पुरुषको उस भाषामें कहे हुए रहस्यका ज्ञान करा देनेवाली थी, किंतु जो उस भाषाके अनभिज्ञ पुरुषको वास्तविक अर्थका बोध नहीं कराती थी ॥ २० ॥

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम्।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ॥ २१ ॥

'जो शत्रुकी नीति-शास्त्रका अनुसरण करनेवाली बुद्धिको समझ लेता है, वह उसे समझ लेनेपर कोई ऐसा उपाय करे, जिससे वह यहाँ शत्रुजनित संकटसे बच सके ॥ २१ ॥

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥ २२ ॥

'एक ऐसा तीखा शस्त्र है, जो लोहेका बना तो नहीं है, परंतु शरीरको नष्ट कर देता है। जो उसे जानता है, ऐसे उस शस्त्रके आघातसे बचनेका उपाय जाननेवाले पुरुषको शत्रु नहीं मार सकते* ॥ २२ ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ २३ ॥

'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंवाले जंगलको जलाने और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती—यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है † ॥ २३ ॥

नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥ २४ ॥

'जिसके आँखें नहीं हैं, वह मार्ग नहीं जान पाता; अंधेको दिशाओंका ज्ञान नहीं होता और जो धैर्य खो देता है, उसे सद्बुद्धि नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार मेरे समझानेपर तुम मेरी बातको भलीभाँति समझ लो * ॥ २४ ॥

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम्।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥ २५ ॥

'शत्रुओंके दिये हुए बिना लोहेके बने शस्त्रको जो मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वह साहीके बिलमें घुसकर आगसे बच जाता है † ॥ २५ ॥

चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नानुपीड्यते ॥ २६ ॥

'मनुष्य घूम-फिरकर रास्तेका पता लगा लेता है, नक्षत्रोंसे दिशाओंको समझ लेता है तथा जो अपनी पाँचों इन्द्रियोंका स्वयं ही दमन करता है वह शत्रुओंसे पीड़ित नहीं होता' ‡ ॥ २६ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरजीसे कहा—'मैंने आपकी बात अच्छी तरह समझ ली' ॥ २७ ॥

अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥ २८ ॥

इस तरह पाण्डवोंको बारंबार कर्तव्यकी शिक्षा देते हुए कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे जाकर विदुरजी उनको जानेकी आज्ञा दे उन्हें अपने दाहिने करके पुनः अपने घरको लौट गये॥ २८॥

निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

विदुर, भीष्मजी तथा नगरनिवासियोंके लौट जानेपर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास जाकर बोली—॥ २९ ॥

क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद् वयम् ॥३०॥

---

* यहाँ संकेतसे यह बात बतायी गयी है कि शत्रुओंने तुम्हारे लिये एक ऐसा भवन तैयार करवाया है, जो आगको भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है, शस्त्रका शुद्धरूप सद्म है, जिसका अर्थ घर होता है।

† तात्पर्य यह है, वहाँ जो तुम्हारा पार्श्ववर्ती होगा, वह पुरोचन ही तुम्हें आगमें जलाकर नष्ट करना चाहता है। तुम उस आगसे बचनेके लिये एक सुरंग तैयार करा लेना। कक्षघ्नका शुद्ध रूप कुक्षिघ्न है, जिसका अर्थ है कुक्षिचर या पार्श्ववर्ती।

* अर्थात् दिशा आदिका ठीक ज्ञान पहलेसे ही कर लेना, जिससे रातमें भटकना न पड़े।

† तात्पर्य यह कि उस सुरंगसे यदि तुम बाहर निकल जाओगे तो लाक्षागृहमें लगी हुई आगसे बच सकोगे।

‡ अर्थात् यदि तुम पाँचों भाई एकमत रहोगे तो शत्रु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

'बेटा ! विदुरजीने सब लोगोंके बीचमें जो अस्पष्ट-सी बात कही थी, उसे सुनकर तुमने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार किया था; परंतु हमलोग वह बात अबतक नहीं समझ पा रहे हैं ॥ ३० ॥

यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत्।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं संवादं तव तस्य च ॥ ३१ ॥

'यदि उसे हम भी समझ सकें और हमारे जाननेसे कोई दोष न आता हो तो तुम्हारी और उनकी सारी बातचीतका रहस्य मैं सुनना चाहती हूँ' ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित् स्यादिति धर्मधीः॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ ! जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है, उन विदुरजीने (सांकेतिक भाषामें) मुझसे कहा था, 'तुम जिस घरमें ठहरोगे, वहाँसे आगका भय है, यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये । साथ ही वहाँका कोई भी मार्ग ऐसा न हो, जो तुमसे अपरिचित रहे ॥ ३२ ॥

जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत् सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ॥ ३३ ॥

'यदि तुम अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखोगे तो सारी पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर लोगे, यह बात भी उन्होंने मुझसे बतायी थी और इन्हीं बातोंके लिये मैंने विदुरजीको उत्तर दिया था कि 'मैं सब समझ गया' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंने फाल्गुन शुक्ला अष्टमीके दिन रोहिणी नक्षत्रमें यात्रा की थी। वे यथासमय वारणावत पहुँचकर वहाँके नागरिकोंसे मिले ॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतगमने चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावतयात्राविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १४४

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वारणावतमें पाण्डवोंका स्वागत, पुरोचनका सत्कारपूर्वक उन्हें ठहराना, लाक्षागृहमें निवासकी व्यवस्था और युधिष्ठिर एवं भीमसेनकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद् वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥ १ ॥
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् श्रुत्वैव परया मुदा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके शुभागमनका समाचार सुनकर वारणावत नगरसे वहाँके समस्त प्रजाजन अत्यन्त प्रसन्न हो आलस्य छोड़कर शास्त्रविधिके अनुसार सब तरहकी माङ्गलिक वस्तुओंकी भेंट लेकर हजारोंकी संख्यामें नाना प्रकारकी सवारियोंके द्वारा उनकी अगवानीके लिये आये ॥ १-२ ॥

ते समासाद्य कौन्तेयान् वारणावतका जनाः ।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्यावतस्थिरे ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमारोंके निकट पहुँचकर वारणावतके सब लोग उनकी जय-जयकार करते और आशीर्वाद देते हुए उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विबभौ देवसंकाशो वज्रपाणिरिवामरैः ॥ ४ ॥

उनसे घिरे हुए पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर, जो देवताओंके समान तेजस्वी थे, इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानो देवमण्डलीके बीच साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र हों ॥ ४ ॥

सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान् सत्कृत्य चानघ ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥ ५ ॥

निष्पाप जनमेजय ! पुरवासियोंने पाण्डवोंका बड़ा स्वागत-सत्कार किया । फिर पाण्डवोंने भी नागरिकोंको आदरपूर्वक अपनाकर जनसमुदायसे भरे हुए सजे-सजाये वारणावत नगरमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान् ।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥ ६ ॥

राजन् ! नगरमें प्रवेश करके वीर पाण्डव सबसे पहले शीघ्रतापूर्वक स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंके घरोंमें गये ॥ ६ ॥

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार नगरके अधिकारी क्षत्रियोंके यहाँ गये । इसी प्रकार वे क्रमशः वैश्यों और शूद्रोंके घरोंपर भी उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात् पुरोचनपुरस्सराः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नगरनिवासी मनुष्योंद्वारा पूजित एवं सम्मानित हो पाण्डवलोग पुरोचनको आगे करके डेरेपर गये ॥ ८ ॥

तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥ ९ ॥

वहाँ पुरोचनने उनके लिये खाने-पीनेकी उत्तम वस्तुएँ, सुन्दर शय्याएँ और श्रेष्ठ आसव प्रस्तुत किये ॥ ९ ॥

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥ १० ॥

उस भवनमें पुरोचनद्वारा उनका बड़ा सत्कार हुआ । वे अत्यन्त बहुमूल्य सामग्रियोंका उपयोग करते थे और बहुत-से नगरनिवासी श्रेष्ठ पुरुष उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे । इस प्रकार वे (बड़े आनन्दसे) वहाँ रहने लगे ॥ १० ॥

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥ ११ ॥

दस दिनोंतक वहाँ रह लेनेके पश्चात् पुरोचनने पाण्डवोंसे उस नूतन गृहके सम्बन्धमें चर्चा की, जो कहनेको तो 'शिव-भवन' था, परंतु वास्तवमें अशिव (अमङ्गलकारी) था ॥ ११ ॥

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात् कैलासमिव गुह्यकाः ॥ १२ ॥

पुरोचनके कहनेसे वे पुरुषसिंह पाण्डव अपनी सब सामग्रियों और सेवकोंके साथ उस नये भवनमें गये; मानो गुह्यकगण कैलास पर्वतपर जा रहे हों ॥ १२ ॥

तच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

उस घरको अच्छी तरह देखकर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—'भाई ! यह भवन तो आग भड़कानेवाली वस्तुओंसे बना जान पड़ता है ॥ १३ ॥

जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ॥ १४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेन ! मुझे इस घरकी दीवारोंसे घी और लाह मिली हुई चर्बीकी गन्ध आ रही है । अतः स्पष्ट जान पड़ता है कि इस घरका निर्माण अग्निदीपक पदार्थोंसे ही हुआ है ॥ १४ ॥

शणसर्जरसंव्यक्तमानीय गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ॥ १५ ॥
शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ॥ १६ ॥
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।
इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तथा ॥ १७ ॥
आपदं तेन मां पार्थ स सम्बोधितवान् पुरा ।
ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ॥ १८ ॥
पित्रा कनीयसा स्नेहाद् बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम् ।
अनार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥ १९ ॥

'गृहनिर्माणके कर्ममें सुशिक्षित एवं विश्वसनीय कारीगरोंने अवश्य ही घर बनाते समय सन, राल, मूँज, बल्वज (मोटे तिनकोंवाली घास) और बाँस आदि सब द्रव्योंको घीसे सींचकर बड़ी खूबीके साथ इन सबके द्वारा इस सुन्दर भवनकी रचना की है । यह मन्दबुद्धि पापी पुरोचन दुर्योधनकी आज्ञाके अधीन हो सदा इस घात-में लगा रहता है कि जब हमलोग विश्वस्त होकर सोये हों, तब वह आग लगाकर (घरके साथ ही) हमें जला दे । यही उसकी इच्छा है । भीमसेन ! परम बुद्धिमान् विदुरजीने हमारे ऊपर आनेवाली इस विपत्तिको यथार्थरूपमें समझ लिया था; इसीलिये उन्होंने पहले ही मुझे सचेत कर दिया । विदुरजी हमारे छोटे पिता और सदा हमलोगोंका हित चाहनेवाले हैं । अतः उन्होंने स्नेहवश हम बुद्धिमानोंको इस अशिव (अमङ्गलकारी) गृहके सम्बन्धमें, जिसे दुर्योधनके वशवर्ती दुष्ट कारीगरोंने छिपकर कौशलसे बनाया है, पहले ही सब कुछ समझा दिया' ॥ १५—१९ ॥

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—भैया ! यदि आप यह मानते हैं कि इस घरका निर्माण अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वस्तुओंसे हुआ

है तो हमलोग जहाँ पहले रहते थे, कुशलपूर्वक पुनः उसी घरमें क्यों न लौट चलें ? ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले—भाई ! हमलोगोंको यहाँ अपनी बाह्य चेष्टाओंसे मनकी बात प्रकट न करते हुए और यहाँसे भाग छूटनेके लिये मनोऽनुकूल निश्चित मार्गका पता लगाते हुए पूरी सावधानीके साथ यहीं रहना चाहिये । मुझे ऐसा करना ही अच्छा लगता है ॥ २१ ॥

यदि विन्देत चाकारमस्माकं स पुरोचनः ।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रदहेदपि हेतुतः ॥ २२ ॥

यदि पुरोचन हमारी किसी भी चेष्टासे हमारे भीतरी मनोभावको ताड़ लेगा तो वह शीघ्रतापूर्वक अपना काम बनानेके लिये उद्यत हो हमें किसी-न-किसी हेतुसे जला भी सकता है ॥

नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद् वा पुरोचनः ।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥ २३ ॥

यह मूढ़ पुरोचन निन्दा अथवा अधर्मसे नहीं डरता एवं दुर्योधनके वशमें होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करता है ॥ २३ ॥

अपि चेह प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः ।
कोपं कुर्यात् किमर्थं वा कौरवान् कोपयीत सः ॥ २४ ॥

यदि यहाँ हमारे जल जानेपर पितामह भीष्म कौरवोंपर क्रोध भी करें तो वह अनावश्यक है; क्योंकि फिर किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये वे कौरवोंको कुपित करेंगे ॥ २४ ॥

अथवापीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
धर्म इत्येव कुप्येरन् ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥ २५ ॥

अथवा सम्भव है कि यहाँ हमलोगोंके जल जानेपर हमारे पितामह भीष्म तथा कुरुकुलके दूसरे श्रेष्ठ पुरुष धर्म समझकर ही उन आततायियोंपर क्रोध करें । (परंतु वह क्रोध हमारे किस कामका होगा ?) ॥ २५ ॥

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि ।
स्पशैर्नो घातयेत् सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥ २६ ॥

यदि हम जलनेके भयसे डरकर भाग चलें तो भी राज्यलोभी दुर्योधन हम सबको अपने गुप्तचरोंद्वारा मरवा सकता है ॥ २६ ॥

अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान् महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥ २७ ॥

इस समय वह अधिकारपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित है और हम उससे वञ्चित हैं । वह सहायकोंके साथ है और हम असहाय हैं । उसके पास बहुत बड़ा खजाना है और हमारे पास उसका सर्वथा अभाव है । अतः निश्चय ही वह अनेक प्रकारके उपायोंद्वारा हमारी हत्या करा सकता है ॥ २७ ॥

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित् क्वचित् ॥ २८ ॥

इसलिये इस पापात्मा पुरोचन तथा पापी दुर्योधनको भी धोखेमें रखते हुए हमें यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें निवास करना चाहिये ॥ २८ ॥

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ॥ २९ ॥

हम सब मृगयामें रत रहकर यहाँकी भूमिपर सब ओर विचरें, इससे भाग निकलनेके लिये हमें बहुत-से मार्ग ज्ञात हो जायँगे ॥ २९ ॥

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः सम्प्रधक्ष्यति ॥ ३० ॥

इसके सिवा आजसे ही हम जमीनमें एक सुरंग तैयार करें, जो ऊपरसे अच्छी तरह ढकी हो । वहाँ हमारी साँसतक छिपी रहेगी (फिर हमारे कार्योंकी तो बात ही क्या है) । उस सुरंगमें घुस जानेपर आग हमें नहीं जला सकेगी ॥ ३० ॥

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित् तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ३१ ॥

हमें आलस्य छोड़कर इस प्रकार कार्य करना चाहिये, जिससे यहाँ रहते हुए भी हमारे सम्बन्धमें पुरोचनको कुछ भी ज्ञात न हो सके और किसी पुरवासीको भी हमारी कानों-कान खबर न हो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमसेनयुधिष्ठिरसंवादे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेन-युधिष्ठिर-संवादविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरके भेजे हुए खनकद्वारा लाक्षागृहमें सुरंगका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य विदुरजीका हितैषी एवं विश्वासपात्र था । वह अपने काममें बड़ा चतुर था । एक दिन वह एकान्त-

में पाण्डवोंसे मिला और इस प्रकार कहने लगा—॥ १ ॥

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम्।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥ २ ॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिति पाण्डवान्।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥ ३ ॥

'मुझे विदुरजीने भेजा है। मैं सुरंग खोदनेके काममें बड़ा निपुण हूँ। मुझे आप पाण्डवोंका प्रिय कार्य करना है, अतः आपलोग बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? विदुरने गुप्तरूपसे मुझसे यह कहा है कि तुम वारणावतमें जाकर विश्वासपूर्वक पाण्डवोंका हित सम्पादन करो। अतः आप आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ ? ॥ २-३ ॥

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥ ४ ॥

'इसी कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रातको पुरोचन आपके घरके दरवाजेपर आग लगा देगा ॥ ४ ॥

मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः।
इति व्यवसितं तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनकी यह चेष्टा है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ जला दिये जायँ ॥ ५ ॥

किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद् विश्वासकारणम् ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन ! विदुरजीने म्लेच्छभाषामें आपको कुछ संकेत किया था और आपने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार किया था। यह बात मैं विश्वास दिलानेके लिये कहता हूँ' ॥ ६ ॥

उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ॥ ७ ॥
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम्।
न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

तब सत्यवादी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने उससे कहा—'सौम्य ! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम विदुरजीके हितैषी, ईमानदार, विश्वसनीय, प्रिय तथा उनके प्रति सदा अविचल भक्ति रखनेवाले हो। हमारा कोई भी ऐसा प्रयोजन नहीं है, जो परम ज्ञानी विदुरजीको ज्ञात न हो ॥ ७-८ ॥

यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि।
भवतश्च यथा तस्य पालयास्मान् यथा कविः ॥ ९ ॥

'तुम विदुरजीके लिये जैसे आदरणीय और विश्वसनीय हो, वैसे ही हमारे लिये भी हो। तुमसे हमारा कोई अन्तर नहीं है। हमलोग जिस प्रकार विदुरजीके पालनीय हैं, वैसे ही तुम्हारे भी हैं। जैसे वे हमारी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम भी करो ॥ ९ ॥

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १० ॥

'यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है। हमारा विश्वास है कि दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनने हमारे लिये ही इसे बनवाया है ॥ १० ॥

स पापः कोषवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः।
अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥ ११ ॥

'पापी दुर्योधनके पास खजाना है और उसके बहुत-से सहायक भी हैं; इसीलिये वह दुर्बुद्धि पापात्मा सदा हमें सताया करता है ॥ ११ ॥

स भवान् मोक्षयत्वस्मान् यत्नेनास्माद्धुताशनात्।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात् सुयोधनः॥ १२ ॥

'तुम यत्न करके हमलोगोंको इस आगसे बचा लो; अन्यथा हमलोगोंके यहाँ दग्ध हो जानेपर दुर्योधनका मनोरथ सफल हो जायगा ॥ १२ ॥

समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः।
वप्रान्तं निष्प्रतीकारमाश्रित्येदं कृतं महत् ॥ १३ ॥
इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम्।
प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानन्ववोधयत् ॥ १४ ॥

'यह उस दुरात्माका अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ आयुधागार है। इसीके सहारे इस महान् गृहका निर्माण किया गया है। इसमें चहारदीवारीके निकटतक कहीं कोई बाहर निकलनेका मार्ग नहीं है। अवश्य ही दुर्योधनका यह अशुभ कर्म, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है, पहले ही विदुरजीको मालूम हो

गया था। इसीलिये उन्होंने हमें इसकी जानकारी करा दी ॥ १३-१४ ॥

सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान् पुरा।
पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ॥ १५ ॥

'विदुरजीकी दृष्टिमें जो बहुत पहले आ चुकी थी, वही यह विपत्ति आज हमलोगोंपर आयी-की-आयी है। तुम हमें इस संकटसे इस तरह मुक्त करो, जिससे पुरोचनको हमारे विषयमें कुछ भी पता न चले' ॥ १५ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥ १६ ॥

तब उस सुरंग खोदनेवालेने 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा की और कार्यसिद्धिके प्रयत्नमें लग गया। खाईकी सफाई करनेके व्याजसे उसने एक बहुत बड़ी सुरंग तैयार कर दी ॥ १६ ॥

चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद् बिलम्।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥ १७ ॥

भारत! उसने उस भवनके ठीक बीचसे वह महान् सुरंग निकाली। उसके मुहानेपर किवाड़ लगे थे। वह भूमिके समान सतहमें ही बनी थी; अतः किसीको ज्ञात नहीं हो पाती थी ॥ १७ ॥

पुरोचनभयादेव व्यदधात् संवृतं मुखम्।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ॥ १८ ॥
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद् वनम्।
विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम्।
अतुष्टा तुष्टवद् राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥ १९ ॥

पुरोचनके भयसे उस सुरंग खोदनेवालेने उसके मुखको बंद कर दिया था। दुष्टबुद्धि पुरोचन सर्वदा मकानके द्वारपर ही निवास करता था और पाण्डवगण भी रात्रिके समय शस्त्र सम्हाले सावधानीके साथ उस द्वारपर ही रहा करते थे। (इसलिये पुरोचनको आग लगानेका अवसर नहीं मिलता था।) वे दिनमें हिंस्र पशुओंके मारनेके बहाने एक वनसे दूसरे वनमें विचरते रहते थे। पाण्डव भीतरसे तो विश्वास न करनेके कारण सदा चौकन्ने रहते थे, परंतु ऊपरसे पुरोचनको ठगनेके लिये विश्वस्तकी भाँति व्यवहार करते थे। राजन्! वे संतुष्ट न होते हुए भी संतुष्टकी भाँति निवास करते और अत्यन्त विस्मययुक्त रहते थे ॥ १८-१९ ॥

न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः।
अन्यत्र विदुरामात्यात् तस्मात् खनकसत्तमात् ॥ २० ॥

विदुरके मन्त्री और खोदाईके काममें श्रेष्ठ उस खनकको छोड़कर नगरके निवासी भी पाण्डवोंके विषयमें कुछ नहीं जान पाते थे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहवासे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहवासविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लाक्षागृहका दाह और पाण्डवोंका सुरंगके रास्ते निकल जाना

वैशम्पायन उवाच

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान्।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥ १ ॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको एक वर्षसे वहाँ प्रसन्नचित्त हो विश्वस्तकी तरह रहते हुए देख पुरोचनको बड़ा हर्ष हुआ। उसके इस प्रकार प्रसन्न होनेपर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥ ३ ॥

'पापी पुरोचन हमलोगोंको पूर्ण विश्वस्त समझ रहा है। इस क्रूरको अबतक हमलोगोंने धोखा दिया है। अब मेरी रायमें हमारे भाग निकलनेका यह उपयुक्त अवसर आ गया है ॥ ३ ॥

आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम्।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः ॥ ४ ॥

'इस आयुधागारमें आग लगाकर पुरोचनको जला करके इसके भीतर छः प्राणियोंको रखकर हम इस तरह भाग निकलें कि कोई हमें देख न सके' ॥ ४ ॥

अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम्।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ॥ ५ ॥
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥ ६ ॥

महाराज! तदनन्तर एक दिन रात्रिके समय कुन्तीने दान देनेके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराया। उसमें बहुत-सी स्त्रियाँ भी आयी थीं। भारत! वे सब स्त्रियाँ इच्छानुसार घूम-

फिरकर खा-पी लेनेके बाद कुन्तीदेवीसे आज्ञा ले रातमें फिर अपने-अपने घरोंको ही लौट गयीं ॥ ५-६ ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन् भोज्ये यदृच्छया।
अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता॥ ७ ॥
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने॥ ८ ॥
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप।
अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा॥ ९ ॥
तदुपादीपयद् भीमः शेते यत्र पुरोचनः।
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः॥ १० ॥

परंतु दैवेच्छासे उस भोजके समय एक भीलनी अपने पाँच बेटोंके साथ वहाँ भोजनकी इच्छासे आयी, मानो कालने ही उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। वह भीलनी मदिरा पीकर मतवाली हो चुकी थी। उसके पुत्र भी शराब पीकर मस्त थे। राजन्! शराबके नशेमें बेहोश होनेके कारण अपने सब पुत्रोंके साथ वह उसी घरमें सो गयी। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक-सी हो रही थी। रातमें जब सब लोग सो गये, उस समय सहसा बड़े जोरकी आँधी चली। तब भीमसेनने उस जगह आग लगा दी, जहाँ पुरोचन सो रहा था। फिर उन्होंने लाक्षागृहके प्रमुख द्वारपर आग लगायी॥ ७—१० ॥

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने।
ज्ञात्वा तु तद् गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः॥ ११ ॥
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिंदमाः।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः॥ १२ ॥
प्रादुरासीत् तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौराः कृशाननाः॥ १३ ॥

इसके पश्चात् उन्होंने उस घरके चारों ओर आग लगा दी। जब वह सारा घर अग्निकी लपेटमें आ गया, तब यह जानकर शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ सुरंगमें घुस गये; फिर तो वहाँ अग्निकी भयंकर लपटें उठने लगीं, भीषण ताप फैल गया। घरको जलानेवाली उस आगका महान् चट-चट शब्द सुनायी देने लगा। इससे उस नगरका जनसमूह जाग उठा। उस घरको जलता देख पुरवासियोंके मुखपर दीनता छा गयी। वे व्याकुल होकर कहने लगे॥ ११—१३ ॥

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत्॥ १४ ॥
अहो धिग् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत्॥ १५ ॥

पुरवासी बोले—अहो! पुरोचनका अन्तःकरण अपने वशमें नहीं था। उस पापीने दुर्योधनकी आज्ञासे अपने ही विनाशके लिये इस घरको बनवाया और जला भी दिया! अहो! धिक्कार है, धृतराष्ट्रकी बुद्धि बहुत बिगड़ गयी है, जिसने शुद्ध हृदयवाले पाण्डुपुत्रोंको शत्रुकी भाँति आगमें जला दिया॥ १४-१५ ॥

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान्॥ १६ ॥

सौभाग्यकी बात है कि यह अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला पापात्मा पुरोचन भी इस समय दग्ध हो गया है, जिसने बिना किसी अपराधके अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको जला दिया है॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वारणावतके लोग विलाप करने लगे। वे रातभर उस घरको चारों ओरसे घेरकर खड़े रहे॥ १७ ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः॥ १८ ॥

उधर समस्त पाण्डव भी अत्यन्त दुखी हो अपनी माताके साथ सुरंगके मार्गसे निकलकर तुरंत ही दूर चले गये। उन्हें कोई भी देख न सका॥ १८ ॥

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परंतपाः॥ १९ ॥

नींद न ले सकनेके कारण आलस्य और भयसे युक्त परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ जल्दी-जल्दी चल नहीं पाते थे॥ १९ ॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च॥ २० ॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान्।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः॥ २१ ॥

राजेन्द्र! भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन अपने सब भाइयों तथा माताको भी साथ लिये चल रहे थे। वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्होंने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे॥ २०-२१ ॥

उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन्।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः॥ २२ ॥

सुरंगद्वारा मातासहित पाण्डवोंका लाक्षागृहसे निकलना

भीम अपने चारों भाइयोंको तथा माताको उठाकर ले चले

तेजस्वी भीम वायुके समान वेगशाली थे। वे अपनी छातीके धक्केसे वृक्षोंको तोड़ते और पैरोंकी ठोकरसे पृथ्वीको विदीर्ण करते हुए तीव्र गतिसे आगे बढ़े जा रहे थे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहदाहे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहदाहविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरजीके भेजे हुए नाविकका पाण्डवोंको गङ्गाजीके पार उतारना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु यथासम्प्रत्ययं कविः।
विदुरः प्रेषयामास तद् वनं पुरुषं शुचिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय परम ज्ञानी विदुरजीने अपने विश्वासके अनुसार एक शुद्ध विचारवाले पुरुषको उस वनमें भेजा ॥ १ ॥

स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान् ददृशे वने।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान् नदीजलम् ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! उसने विदुरजीके बताये अनुसार ठीक स्थानपर पहुँचकर वनमें मातासहित पाण्डवोंको देखा, जो नदीमें कितना जल है, इसका अनुमान लगा रहे थे ॥ २ ॥

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥ ३ ॥
ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ ४ ॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ॥ ५ ॥

परम बुद्धिमान् महात्मा विदुरको गुप्तचरद्वारा उस पापासक्त पुरोचनकी चेष्टाओंका भी पता चल गया था। इसीलिये उन्होंने उस समय उस बुद्धिमान् मनुष्यको वहाँ भेजा था। उसने मन और वायुके समान वेगसे चलनेवाली एक नाव पाण्डवोंको दिखायी, जो सब प्रकारसे हवाका वेग सहनेमें समर्थ और ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थी। उस नौकाको चलानेके लिये यन्त्र लगाया गया था। वह नाव गङ्गाजीके पावन तटपर विद्यमान थी और उसे विश्वासी मनुष्योंने बनाकर तैयार किया था ॥ ३-५ ॥

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम्।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन मनुष्यने कहा—'युधिष्ठिरजी ! ज्ञानी विदुरजीके द्वारा पहले कही हुई यह बात, जो मेरी विश्वसनीयताको सूचित करनेवाली है, पुनः सुनिये। मैं आपको संकेतके तौरपर स्मरण दिलानेके लिये इसे कहता हूँ ॥ ६ ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ ७ ॥

'(तुमसे विदुरजीने कहा था—)'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंके जंगलको जलानेवाली और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती। यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है' ॥ ७ ॥

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥ ८ ॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ॥ ९ ॥

'इस संकेतसे आप यह जान लें कि 'मैं विश्वासपात्र हूँ और विदुरजीने ही मुझे भेजा है।' इसके सिवा, सर्वतोभावेन अर्थसिद्धिका ज्ञान रखनेवाले विदुरजीने पुनः मुझसे आपके लिये यह संदेश दिया कि 'कुन्तीनन्दन ! तुम युद्धमें भाइयोंसहित दुर्योधन, कर्ण और शकुनिको अवश्य परास्त करोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ८-९ ॥

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद् देशान्न संशयः ॥१०॥

'यह नौका जलमार्गके लिये उपयुक्त है। जलमें यह बड़ी सुगमतासे चलनेवाली है। यह नाव तुम सब लोगोंको इस देशसे दूर छोड़ देगी, इसमे संदेह नहीं है' ॥ १० ॥

अथ तान् व्यथितान् दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान्।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रथितानब्रवीत् पुनः ॥११॥

इसके बाद मातासहित नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको अत्यन्त दुखी देख नाविकने उन सबको नावपर चढ़ाया और जब वे गङ्गाके मार्गसे प्रस्थान करने लगे, तब फिर इस प्रकार कहा—॥ ११॥

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ॥१२॥

'विदुरजीने आप सभी पाण्डुपुत्रोंको भावनाद्वारा हृदयसे

लगाकर और मस्तक सूँघकर यह आशीर्वाद फिर कहलाया है कि 'तुम शान्तचित्त हो कुशलपूर्वक मार्गपर बढ़ते जाओ' ॥ १२॥

इत्युक्त्वा स तु तान् वीरान् पुमान् विदुरचोदितः।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ॥१३॥

राजेन्द्र! विदुरजीके भेजनेसे आये हुए उस नाविकने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे ऐसी बात कहकर उसी नावसे उन्हें गङ्गाजीके पार उतार दिया ॥ १३ ॥

तारयित्वा ततो गङ्गां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः।
जयाशिषः प्रयुज्याथ यथागतमगाद्धि सः ॥१४॥

पार उतारनेके पश्चात् जब वे गङ्गाजीके दूसरे तटपर जा पहुँचे, तब उन सबके लिये 'जय हो, जय हो' यह आशीर्वाद सुनाकर वह नाविक जैसे आया था, उसी प्रकार लौट गया ॥ १४ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसंदिश्य वै कवेः।
गङ्गामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥१५॥

महात्मा पाण्डव भी विद्वान् विदुरजीको उनके संदेशका उत्तर देकर गङ्गापार हो अपनेको छिपाते हुए वेगपूर्वक वहाँसे चल दिये। कोई भी उन्हें देख या पहचान न सका ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि गङ्गोत्तरणे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंके गङ्गापार होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके द्वारा पाण्डवोंके लिये शोकप्रकाश एवं जलाञ्जलिदान तथा पाण्डवोंका वनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उधर रात व्यतीत होनेपर वारणावत नगरके सारे नागरिक बड़ी उतावलीके साथ पाण्डुकुमारोंकी दशा देखनेके लिये उस लाक्षागृहके समीप आये ॥ १ ॥

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥ २ ॥

आते ही वे (सब) लोग आग बुझानेमें लग गये। उस समय उन्होंने देखा कि सारा घर लाखका बना था, जो जलकर खाक हो गया। उसीमें मन्त्री पुरोचन भी जल गया था। २।

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३ ॥

(यह देख) वे (सभी) नागरिक चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि 'अवश्य ही पापाचारी दुर्योधनने पाण्डवोंका विनाश करनेके लिये इस भवनका निर्माण करवाया था ॥ ३ ॥

विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः।
दग्धवान् पाण्डुदायादान् न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ॥ ४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने धृतराष्ट्रकी जानकारीमें पाण्डुपुत्रोंको जलाया है और धृतराष्ट्रने इसे मना नहीं किया ॥ ४ ॥

नूनं शांतनवोऽपीह न धर्ममनुवर्तते।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ॥ ५ ॥

'निश्चय ही इस विषयमें शंतनुनन्दन भीष्म भी धर्मका अनुसरण नहीं कर रहे हैं। द्रोण, विदुर, कृपाचार्य तथा अन्य कौरवोंकी भी यही दशा है ॥ ५ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ॥ ६ ॥

'अब हमलोग दुरात्मा धृतराष्ट्रके पास यह संदेश भेज दें कि तुम्हारी सबसे बड़ी कामना पूरी हो गयी। तुम पाण्डवोंको जलानेमें सफल हो गये' ॥ ६ ॥

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम्।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये जब आगको इधर-उधर हटाया, तब पाँच पुत्रोंके साथ निरपराध भीलनीकी जली लाश देखी ॥ ७ ॥

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम्।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥ ८ ॥

उसी सुरंग खोदनेवाले पुरुषने घरको साफ करते समय सुरंगके छेदको धूलसे ढक दिया था। इससे दूसरे लोगोंकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ी ॥ ८ ॥

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर वारणावतके नागरिकोंने धृतराष्ट्रको यह सूचित कर दिया कि पाण्डव तथा मन्त्री पुरोचन आगमें जल गये ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद् राजा सुमहदप्रियम्।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ॥ १० ॥

महाराज धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके विनाशका यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर बहुत दुखी हो विलाप करने लगे-॥

अद्य पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ॥ ११ ॥

'अहो ! मातासहित इन शूरवीर पाण्डवोंके दग्ध हो जानेपर विशेषरूपसे ऐसा लगता है, मानो मेरे भाई महायशस्वी राजा पाण्डुकी मृत्यु आज हुई है ॥ ११ ॥

गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
सत्कारयन्तु तान् वीरान् कुन्तिराजसुतां च ताम् ।१२।

'मेरे कुछ लोग शीघ्र ही वारणावत नगरमें जायँ और कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती तथा वीरवर पाण्डवोंका आदर-पूर्वक दाहसंस्कार करायें ॥ १२ ॥

कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च बृहन्ति च ।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदो यान्तु तानपि ॥ १३ ॥

'उन सबके कुलोचित शुभ और महान् संस्कारकी व्यवस्था करें तथा जो-जो उस घरमें जलकर मरे हैं, उनके सुहृद् एवं सगे-सम्बन्धी भी उन मृतकोंका दाह-संस्कार करनेके लिये वहाँ जायँ॥

एवं गते मया शक्यं यद् यत् कारयितुं हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत् सर्वं क्रियतां धनैः ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १५ ॥

'इस दशामें मुझे पाण्डवों तथा कुन्तीका हित करनेके लिये जो-जो कार्य करना चाहिये या जो-जो कार्य मुझसे हो सकता है, वह सब धन खर्च करके सम्पन्न किया जाय ।' यों कहकर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने जातिभाइयोंसे घिरे रहकर पाण्डवोंके लिये जलाञ्जलि देनेका कार्य किया॥१४-१५॥

(समेतास्तु ततः सर्वे भीष्मेण सह कौरवाः ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रश्च गङ्गामभिमुखा ययुः ॥
एकवस्त्रा निरानन्दा निराभरणवेष्टनाः ।
उदकं कर्तुकामा वै पाण्डवानां महात्मनाम् ॥)

उस समय भीष्म, सब कौरव तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र एकत्र हो महात्मा पाण्डवोंको जलाञ्जलि देनेकी इच्छासे गङ्गाजीके निकट गये । उन सबके शरीरपर एक-एक ही वस्त्र था । वे सभी आभूषण और पगड़ी आदि उतारकर आनन्दशून्य हो रहे थे ॥

रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चापरे ॥ १६ ॥

उस समय सब लोग अत्यन्त शोकमग्न हो एक साथ रोने और विलाप करने लगे । कोई कहता -'हा कुरुवंश-विभूषण युधिष्ठिर !' दूसरे कहते—'हा भीमसेन !' ॥ १६ ॥

हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ।
कुन्तीमार्ताश्च शोचन्त उदकं चक्रिरे जनाः ॥ १७ ॥

अन्य कोई बोलते—'हा अर्जुन !' और इसी प्रकार दूसरे लोग 'हा नकुल-सहदेव !' कहकर पुकार उठते थे ! सब लोगोंने कुन्तीदेवीके लिये शोकार्त होकर जलाञ्जलि दी ॥ १७ ॥

अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार दूसरे-दूसरे पुरवासीजन भी पाण्डवोंके लिये बहुत शोक करने लगे । विदुरजीने बहुत थोड़ा शोक मनाया; क्योंकि वे वास्तविक वृत्तान्तसे परिचित थे ॥ १८ ॥

(ततः प्रव्यथितो भीष्मः पाण्डुराजसुतान् मृतान् ।
सह मात्रेति तच्छ्रुत्वा विललाप रुरोद च ॥

भीष्म उवाच

न हि तौ नोत्सहेयातां भीमसेनधनंजयौ ।
तरसा वेगितात्मानौ निर्भेत्तुमपि मन्दिरम् ।
परासुत्वं न पश्यामि पृथायाः सह पाण्डवैः ॥
सर्वथा विकृतं नीतं यदि ते निधनं गताः ।
धर्मराजः स निर्दिष्टो ननु विप्रैर्युधिष्ठिरः ॥
सत्यव्रतो धर्मदत्तः सत्यवाक्छुभलक्षणः ।
कथं कालवशं प्राप्तः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ॥
आत्मानमुपमां कृत्वा परेषां वर्तते तु यः ।
सह मात्रा तु कौरव्यः कथं कालवशं गतः ॥
यौवराज्येऽभिषिक्तेन पितुर्येनाहृतं यशः ।
आत्मनश्च पितुश्चैव सत्यधर्मस्य वृत्तिभिः ॥
कालेन स हि सम्भग्नो धिक् कृतान्तमनर्थकम् ॥
यच्च सा वनवासेन क्लेशिता दुःखभागिनी ।
पुत्रगृध्नुतया कुन्ती न भर्तारं मृता त्वनु ॥
अल्पकालं कुले जाता भर्तुः प्रीतिमवाप या ।
दग्धाद्य सह पुत्रैः सा असम्पूर्णमनोरथा ॥
पीनस्कन्धश्चारुबाहुर्मेरुकूटसमो युवा ।
मृतो भीम इति श्रुत्वा मनो न श्रद्दधाति मे ॥
अनिन्द्यानि च यो गच्छन् क्षिप्रहस्तो दृढायुधः ।
प्रपत्तिमाँल्लब्धलक्ष्यो रथयानविशारदः ॥
दूरपाती त्वसम्भ्रान्तो महावीर्यो महास्त्रवित् ।
अदीनात्मा नरव्याघ्रः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥
येन प्राच्याः ससौवीरा दाक्षिणात्याश्च निर्जिताः ।
ख्यापितं येन शूरेण त्रिषु लोकेषु पौरुषम् ॥
यस्मिञ्जाते विशोकाभूत् कुन्ती पाण्डुश्च वीर्यवान् ।
पुरन्दरसमो जिष्णुः कथं कालवशं गतः ॥
कथं तावृषभस्कन्धौ सिंहविक्रान्तगामिनौ ।
मर्त्यधर्ममनुप्राप्तौ यमावरिनिबर्हणौ ॥

तदनन्तर भीष्मजी यह सुनकर कि राजा पाण्डुके पुत्र अपनी माताके साथ जल मरे हैं, अत्यन्त व्यथित

हो उठे और रोने एवं विलाप करने लगे ॥

भीष्मजी बोले—वे दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन उत्साह-शून्य हो गये हों, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यदि वे वेगसे अपने शरीरका धक्का देते तो सुदृढ़ मकानको भी तोड़-फोड़ सकते थे। अतः पाण्डवोंके साथ कुन्तीकी मृत्यु हो गयी है, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता। यदि सचमुच उन सबकी मृत्यु हो चुकी है, तब तो यह सभी प्रकारसे बहुत बुरी बात हुई है। ब्राह्मणोंने तो धर्मराज युधिष्ठिरके विषयमें यह कहा था कि ये धर्मके दिये हुए राजकुमार सत्यव्रती, सत्यवादी एवं शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न होंगे। ऐसे वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर कालके अधीन कैसे हो गये! जो अपने आपको आदर्श बनाकर तदनुरूप दूसरोंके साथ बर्ताव करते थे, वे ही कुरुकुल-शिरोमणि युधिष्ठिर अपनी माताके साथ कालके अधीन कैसे हो गये? जिन्होंने युवराजपदपर अभिषिक्त होते ही पिताके समान ही अपने सत्य एवं धर्मपूर्ण बर्तावके द्वारा अपना ही नहीं, राजा पाण्डुके भी यशका विस्तार किया था, वे युधिष्ठिर भी कालके अधीन हो गये। ऐसे निकम्मे कालको धिक्कार है। उत्तम कुलमें उत्पन्न कुन्ती, जो पुत्रोंके अभिलाषा रखनेके कारण ही वनवासका कष्ट भोगती और दुःखपर दुःख उठाती रही तथा पतिके मरनेपर भी उनका अनुगमन न कर सकी, जिसे बहुत थोड़े समयतक ही पतिका प्रेम प्राप्त हुआ था, वही कुन्तिभोजकुमारी अभी अपने मनोरथ पूरे भी न कर पायी थी कि पुत्रोंके साथ दग्ध हो गयी! जिनके भरे हुए कंधे और मनोहर भुजाएँ थीं, जो मेरु-शिखरके समान सुन्दर एवं तरुण थे, वे भीमसेन मर गये, यह सुनकर भी मनको विश्वास नहीं होता। जो सदा उत्तम मार्गोंपर चलते थे, जिनके हाथोंमें बड़ी फुर्ती थी, जिनके आयुध अत्यन्त दृढ़ थे, जो गुरुजनोंके आश्रित रहते थे, जिनका निशाना कभी चूकता नहीं था, जो रथ हाँकनेमें कुशल, दूरतकका लक्ष्य बेधनेवाले, कभी व्याकुल न होनेवाले, महापराक्रमी और महान् अस्त्रोंके ज्ञाता थे, जिनके हृदयमें कभी दीनता नहीं आती थी, जो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे, जिन्होंने प्राच्य, सौवीर और दाक्षिणात्य नरेशोंको परास्त किया था, जिस शूरवीरने तीनों लोकोंमें अपने पुरुषार्थको प्रसिद्ध किया था और जिनके जन्म लेनेपर कुन्ती और महापराक्रमी पाण्डु भी शोकरहित हो गये थे, वे इन्द्रके समान विजयी वीर अर्जुन भी कालके अधीन कैसे हो गये! जो बैलके-से हृष्ट-पुष्ट कंधोंसे सुशोभित, थे तथा सिंहकी-सी मस्तानी चालसे चलते थे, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले नकुल-सहदेव सहसा मृत्युको कैसे प्राप्त हो गये!

वैशम्पायन उवाच

तस्य विक्रन्दितं श्रुत्वा उदकं च प्रसिञ्चतः।
देशकालं समाज्ञाय विदुरः प्रत्यभाषत ॥

मा शोचीस्त्वं नरव्याघ्र जहि शोकं महाव्रत।
न तेषां विद्यते पापं प्राप्तकालं कृतं मया।
एतच्च तेभ्य उदकं विप्रसिञ्च न भारत ॥
सोऽब्रवीत् किंचिदुत्सार्य कौरवाणामशृण्वताम्।
क्षत्तारमुपसंगृह्य बाष्पोत्पीडकलस्वरः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जलाञ्जलि-दान देते समय भीष्मजीका यह विलाप सुनकर विदुरजीने देश और कालका भलीभाँति विचार करके कहा—'नरश्रेष्ठ! आप दुखी न हों। महाव्रती वीर! आप शोक त्याग दें, पाण्डवोंकी मृत्यु नहीं हुई है। मैंने उस अवसरपर जो उचित था, वह कार्य कर दिया है। भारत! आप उन पाण्डवोंके लिये जलाञ्जलि न दें।' तब भीष्मजी विदुरका हाथ पकड़कर उन्हें कुछ दूर हटा ले गये, जहाँसे कौरवलोग उनकी बात न सुन सकें। फिर वे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥

भीष्म उवाच

कथं ते तात जीवन्ति पाण्डोः पुत्रा महारथाः।
कथमस्मत्कृते पक्षः पाण्डोर्न हि निपातितः ॥
कथं मत्प्रमुखाः सर्वे प्रमुक्ता महतो भयात्।
जननी गरुडेनेव कुमारास्ते समुद्धृताः ॥

भीष्मजीने कहा—तात! पाण्डुके वे महारथी पुत्र कैसे जीवित बच गये? पाण्डुका पक्ष किस तरह हमारे लिये नष्ट होनेसे बच गया? जैसे गरुड़ने अपनी माताकी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुमने किस तरह पाण्डुकुमारोंको बचाकर हम सब लोगोंकी महान् भयसे रक्षा की है?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौरव्य कौरवाणामशृण्वताम्।
आचचक्षे स धर्मात्मा भीष्मायाद्भुतकर्मणे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पूछे जानेपर धर्मात्मा विदुरने कौरवोंके न सुनते हुए अद्भुत कर्म करनेवाले भीष्मजीसे इस प्रकार कहा—॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्रस्य शकुने राज्ञो दुर्योधनस्य च।
विनाशे पाण्डुपुत्राणां कृतो मतिविनिश्चयः ॥
ततो जतुगृहं गत्वा दहनेऽस्मिन् नियोजिते।
पृथायाश्च सपुत्राया धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥
ततः खनकमाहूय सुरङ्गां वै बिले तदा।
सगुहां कारयित्वा ते कुन्त्या पाण्डुसुतास्तदा ॥
निष्क्रामिता मया पूर्वं मा स्म शोके मनः कृथाः।
निर्गताः पाण्डवा राजन् मात्रा सह परंतपाः ॥
अग्निदाहान्महाघोरान्मया तस्मादुपायतः।
मा स्म शोकमिमं कार्षीर्जीवन्त्येव च पाण्डवाः ॥

प्रच्छन्ना विचरिष्यन्ति यावत् कालस्य पर्ययः ॥
तस्मिन् युधिष्ठिरं काले द्रक्ष्यन्ति भुवि भूमिपाः ।)

विदुर बोले—धृतराष्ट्र, शकुनि तथा राजा दुर्योधनका यह पक्का विचार हो गया था कि पाण्डवोंको नष्ट कर दिया जाय। तदनन्तर लाक्षागृहमें जानेपर जब दुर्योधनकी आज्ञासे पुत्रोंसहित कुन्तीको जला देनेकी योजना बन गयी, तब मैंने एक भूमि खोदनेवालेको बुलाकर भूगर्भमें गुफासहित सुरंग खुदवायी और कुन्तीसहित पाण्डवोंको घरमें आग लगनेसे पहले ही निकाल लिया, अतः आप अपने मनमें शोकको स्थान न दीजिये। राजन्! शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ उस महाभयंकर अग्निदाहसे दूर निकल गये हैं। मेरे पूर्वोक्त उपायसे ही यह कार्य सम्भव हो सका है। पाण्डव निश्चय ही जीवित हैं, अतः आप उनके लिये शोक न कीजिये। जबतक यह समय बदलकर अनुकूल नहीं हो जाता, तबतक वे पाण्डव छिपे रहकर इस भूतलपर विचरेंगे। अनुकूल समय आनेपर सब राजा इस पृथ्वीपर युधिष्ठिरको देखेंगे ॥

पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद् वारणावतात्।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ॥ १९ ॥

(इधर) महाबली पाण्डव भी वारणावत नगरसे निकलकर माताके साथ गङ्गा नदीके तटपर पहुँचे ॥ १९ ॥

दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च।
वायुना चानुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन् ॥ २० ॥

वे नाविकोंकी भुजाओं तथा नदीके प्रवाहके वेगसे अनुकूल वायुकी सहायता पाकर जल्दी ही पार उतर गये ॥ २० ॥

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम्।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर नाव छोड़ रातमें नक्षत्रोंद्वारा सूचित मार्गको पहचानकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

यतमाना वनं राजन् गहनं प्रतिपेदिरे।
ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः।
इतः कष्टतरं किं नु यद् वयं गहने वने।
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥ २३ ॥

राजन्! इस प्रकार आगे बढ़नेकी चेष्टा करते हुए वे सब-के-सब एक घने जंगलमें जा पहुँचे। उस समय पाण्डवलोग थके-माँदे, प्याससे पीड़ित और (अधिक जगनेसे) नींदमें अंधे-से हो रहे थे। वे महापराक्रमी भीमसेनसे पुनः इस प्रकार बोले—'भारत! इससे बढ़कर महान् कष्ट क्या होगा कि हमलोग इस घने जंगलमें फँसकर दिशाओंको भी नहीं जान पाते तथा चलने-फिरनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं ॥

तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः।
कथं तु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥ २४ ॥

'हमें यह भी पता नहीं है कि पापी पुरोचन जल गया या नहीं। हम दूसरोंसे छिपे रहकर किस प्रकार इस महान् कष्टसे छुटकारा पा सकेंगे? ॥ २४ ॥

पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥ २५ ॥

'भैया! तुम पुनः पूर्ववत् हम सबको लेकर चलो। हम-लोगोंमें एक तुम्हीं अधिक बलवान् और उसी प्रकार निरन्तर चलने-फिरनेमें भी समर्थ हो' ॥ २५ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाशु महाबलः ॥ २६ ॥

धर्मराजके यों कहनेपर महाबली भीमसेन माता कुन्ती तथा भाइयोंको अपने ऊपर चढ़ाकर बड़ी शीघ्रताके साथ चलने लगे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पाण्डववनप्रवेशे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंका वनमें प्रवेशविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

माता कुन्तीके लिये भीमसेनका जल ले आना, माता और भाइयोंको भूमिपर सोये देखकर भीमका विषाद एवं दुर्योधनके प्रति क्रोध

वैशम्पायन उवाच

तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम्।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाभवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनके चलते समय उनके महान् वेगसे आन्दोलित हो वृक्ष और शाखाओंसहित वह सम्पूर्ण वन घूमता-सा प्रतीत होने लगा ॥ १ ॥

जङ्घावातो ववौ चास्य शुचिशुक्रागमे यथा।
आवर्जितलतावृक्षं मार्गं चक्रे महाबलः ॥ २ ॥

जैसे ज्येष्ठ और आषाढ़ मासके संधिकालमें जोर-जोरसे हवा चलने लगती है, उसी प्रकार उनकी पिंडलियोंके वेगपूर्वक संचालनसे आँधी-सी उठ रही थी। महाबली भीम जिस मार्गसे चलते, वहाँकी लताओं और वृक्षोंको पैरोंसे रौंदकर जमीनके बराबर कर देते थे ॥ २ ॥

स मृद्नन् पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन्।
अवरुज्य ययौ गुल्मान् पथस्तस्य समीपजान् ॥ ३ ॥

उनके मार्गके निकट जो फल और फूलोंसे लदे हुए वनस्पति एवं गुल्म आदि होते, उन्हें तोड़कर वे पैरोंसे रौंदते जाते थे ॥ ३ ॥

स रोषित इव क्रुद्धो वने भञ्जन् महाद्रुमान्।
त्रिप्रस्रुतमदः शुष्मी षष्टिवर्षी मतङ्गराट् ॥ ४ ॥

जैसे तीन अङ्गोंसे मद बहानेवाला साठ वर्षका तेजस्वी गजराज (किसी कारणसे) कुपित हो वनके बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ने लगता है, उसी प्रकार महातेजस्वी भीमसेन उस वनके विशाल वृक्षोंको धराशायी करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ४ ॥

गच्छतस्तस्य वेगेन तार्क्ष्यमारुतरंहसः।
भीमस्य पाण्डुपुत्राणां मूर्च्छेव समजायत ॥ ५ ॥

गरुड़ और वायुके समान तीव्र गतिवाले भीमसेनके चलते समय उनके (महान्) वेगसे अन्य पाण्डुपुत्रोंको मूर्च्छा-सी आ जाती थी ॥ ५ ॥

असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात् तदा ॥ ६ ॥

मार्गमें आये हुए जल-प्रवाहको, जिसका पाट दूरतक फैला होता था, दोनों भुजाओंके बेड़ेद्वारा ही बारंबार पार करके वे सब पाण्डव दुर्योधनके भयसे किसी गुप्त स्थानमें जाकर रहते थे ॥ ६ ॥

कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम्।
अवहत् स तु पृष्ठेन रोधस्सु विषमेषु च ॥ ७ ॥

भीमसेन अपनी सुकुमारी एवं यशस्विनी माता कुन्तीको पीठपर बिठाकर नदीके ऊँचे-नीचे कगारोंपर बड़ी कठिनाईसे ले जाते थे ॥ ७ ॥

अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम्।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे संध्या होते-होते वनके ऐसे भयंकर प्रदेशमें जा पहुँचे, जहाँ फल-मूल और जलकी बहुत कमी थी। वहाँ क्रूर स्वभाववाले पक्षी और हिंसक पशु रहते थे।८।

घोरा समभवत् संध्या दारुणा मृगपक्षिणः।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ॥ ९ ॥

वह संध्या बड़ी भयानक प्रतीत होती थी। क्रूर स्वभाववाले पशु और पक्षी वहाँ वास करते थे। बिना ऋतुकी प्रचण्ड हवाओंके चलनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ (धूलसे आच्छादित हो) अन्धकारपूर्ण हो रही थीं ॥ ९ ॥

शीर्णपर्णफलै राजन् बहुगुल्मक्षुपैर्द्रुमैः।
भग्नावभग्नभूयिष्ठैर्नानाद्रुमसमाकुलैः ॥ १० ॥

राजन् ! (हवाके झोंकोंसे) वनके बहुसंख्यक छोटे-बड़े वृक्ष और गुल्म-लता आदि झुक-झुककर टूट गये थे। उनके पत्ते और फल इधर-उधर बिखर गये थे और उनपर पक्षी शब्द कर रहे थे। इन सबके कारण सम्पूर्ण दिशाओंमें अँधेरा छा रहा था ॥ १० ॥

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥ ११ ॥

वे कुरुकुलरत्न पाण्डव उस समय अधिक परिश्रम और प्यासके कारण बहुत कष्ट पा रहे थे। थकावटसे उनकी नींद भी बहुत बढ़ गयी थी, जिससे पीड़ित होकर वे आगे जानेमें असमर्थ हो गये ॥ ११ ॥

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने।
ततस्तृषापरिक्रान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब उन सबने उस नीरस विशाल जंगलमें डेरा डाल दिया। तत्पश्चात् प्याससे पीड़ित कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंसे बोली— ॥ १२ ॥

माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

'मैं पाँच पाण्डुपुत्रोंकी माता हूँ और उन्हींके बीचमें स्थित हूँ, तो भी प्याससे व्याकुल हूँ' इस प्रकार कुन्ती-देवीने अपने बेटोंके समक्ष यह बात बार-बार दुहरायी ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम्।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥ १४ ॥

माताका वात्सल्यसे कहा हुआ वह वचन सुनकर भीमसेनका हृदय करुणासे भर आया। वे मन-ही-मन संतप्त हो उठे और स्वयं ही (पानी लानेके लिये) जानेकी तैयारी करने लगे॥

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत्।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥ १५ ॥

उस समय भीमने उस विशाल, निर्जन एवं भयंकर वनमें प्रवेश करके एक बहुत सुन्दर और विस्तृत छायावाला पीपलका पेड़ देखा ॥ १५ ॥

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥ १६ ॥

राजन् ! भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उन सबको वहीं

बिठाकर कहा—'आपलोग यहाँ विश्राम करें, तबतक मैं पानीका पता लगाता हूँ' ॥ १६ ॥

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः ।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥ १७ ॥

'ये जलचर सारस पक्षी बड़ी मीठी बोली बोल रहे हैं; (अतः) यहाँ (पासमें) अवश्य कोई महान् जलाशय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ १७ ॥

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥ १८ ॥

भारत ! तब बड़े भाई युधिष्ठिरने 'जाओ !' कहकर उन्हें अनुमति दे दी। आज्ञा पाकर भीमसेन वहीं गये, जहाँ ये जलचर सारस पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ १८ ॥

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातृणां भ्रातृवत्सलः ।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ पानी पीकर स्नान कर लेनेके पश्चात् भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले भीम उनके लिये भी चादरमें पानी ले आये ॥ १९ ॥

गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
शोकदुःखपरीतात्मा निःशश्वासोरगो यथा ॥ २० ॥

दो कोस दूरसे जल्दी-जल्दी चलकर भीमसेन अपनी माताके पास आये। उनका मन शोक और दुःखसे व्याप्त था और वे सर्पकी भाँति लंबी साँस खींच रहे थे ॥ २० ॥

स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले ।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥ २१ ॥

माता और भाइयोंको धरतीपर सोया देख भीमसेन मन-ही-मन अत्यन्त शोकसे संतप्त हो गये और इस प्रकार विलाप करने लगे—॥ २१ ॥

अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति ।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥ २२ ॥

'हाय ! मैं कितना भाग्यहीन हूँ कि आज अपने भाइयोंको पृथ्वीपर सोया देख रहा हूँ। इससे महान् कष्टकी बात देखनेमें क्या आयेगी ॥ २२ ॥

शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥ २३ ॥

'आजसे पहले जब हमलोग वारणावत नगरमें थे, उस समय जिन्हें बहुमूल्य शय्याओंपर भी नींद नहीं आती थी, वे ही आज धरतीपर सो रहे हैं ! ॥ २३ ॥

स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ २४ ॥

स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
तथैव चास्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ॥ २५ ॥
सुकुमारतरामेनां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥ २६ ॥

'जो शत्रुसमूहका संहार करनेवाले वसुदेवजीकी बहिन तथा महाराज कुन्तिभोजकी कन्या हैं, समस्त शुभ लक्षणोंके कारण जिनका सदा समादर होता आया है, जो राजा विचित्रवीर्यकी पुत्रवधू तथा महात्मा पाण्डुकी धर्मपत्नी हैं, जिन्होंने हम-जैसे पुत्रोंको जन्म दिया है, जिनकी अङ्गकान्ति कमलके भीतरी भागके समान है; जो अत्यन्त सुकुमार और बहुमूल्य शय्यापर शयन करनेके योग्य हैं, देखो, आज वे ही कुन्तीदेवी यहाँ भूमिपर सोयी हैं ! ये कदापि इस तरह शयन करनेके योग्य नहीं हैं ॥ २४-२६ ॥

धर्मादिन्द्राच्च वाताच्च सुषुवे या सुतानिमान् ।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते प्रासादशायिनी ॥ २७ ॥

'जिन्होंने धर्म, इन्द्र और वायुके द्वारा हम-जैसे पुत्रोंको उत्पन्न किया है, वे राजमहलमें सोनेवाली महारानी कुन्ती आज परिश्रमसे थककर यहाँ पृथ्वीपर पड़ी हैं ॥ २७ ॥

किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतः परम् ।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान् सुप्तान् पश्यामि भूतले ॥ २८ ॥

'इससे बढ़कर दुःख मैं और क्या देख सकता हूँ जब कि अपने नरश्रेष्ठ भाइयोंको आज मुझे धरतीपर सोते देखना पड़ रहा है ॥ २८ ॥

त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः ।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत् कथम् ॥ २९ ॥

'जो नित्य धर्मपरायण नरेश तीनों लोकोंका राज्य पानेके अधिकारी हैं, वे ही आज साधारण मनुष्योंकी भाँति थके-माँदे पृथ्वीपर कैसे पड़े हैं ॥ २९ ॥

अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमोऽर्जुनः ।
शेते प्राकृतवद् भूमौ ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३० ॥

'मनुष्योंमें जिनकी कहीं समता नहीं है, वे नील मेघके समान श्याम कान्तिवाले अर्जुन आज प्राकृत जनोंकी भाँति पृथ्वी-पर सो रहे हैं; इससे महान् दुःख और क्या हो सकता है ? ॥

अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसम्पदा ।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ॥ ३१ ॥

'जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे देवताओंमें अश्विनीकुमारोंके समान जान पड़ते हैं, वे ही ये दोनों नकुल-सहदेव आज यहाँ साधारण मनुष्योंके समान जमीनपर सोये पड़े हैं ॥ ३१ ॥

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः ।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥ ३२ ॥

'जिसके कुटुम्बी पक्षपातयुक्त और कुलको कलङ्क लगानेवाले नहीं होते, वह पुरुष गाँवके अकेले वृक्षकी भाँति संसारमें सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ॥ ३२ ॥

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वितः।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ॥ ३३ ॥

'गाँवमें यदि एक ही वृक्ष पत्र और फल-फूलोंसे सम्पन्न हो तो वह दूसरे सजातीय वृक्षोंसे रहित होनेपर भी चैत्य (देववृक्ष) माना जाता है तथा उसे पूज्य मानकर उसकी खूब पूजा की जाती है ॥ ३३ ॥

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥ ३४ ॥

'जिनके बहुत-से शूरवीर भाई-बन्धु धर्मपरायण होते हैं, वे भी संसारमें नीरोग रहते और सुखसे जीते हैं ॥ ३४ ॥

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥ ३५ ॥

'जो बलवान्, धनसम्पन्न तथा मित्रों और भाई-बन्धुओंको आनन्दित करनेवाले हैं, वे जंगलके वृक्षोंकी भाँति एक दूसरेके सहारे जीवन धारण करते हैं ॥ ३५ ॥

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद् दैवसंश्रयात् ॥ ३६ ॥

'दुरात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंने तो हमें घरसे निकाल दिया और जलानेकी भी चेष्टा की, परंतु किसी तरह भाग्यके भरोसे हम बच गये हैं ॥ ३६ ॥

तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम्॥ ३७ ॥

'आज उस अग्निदाहसे मुक्त हो हम इस वृक्षके नीचे आश्रय ले रहे हैं। हमें किस दिशामें जाना है, इसका भी पता नहीं है। हम भारी-से-भारी कष्ट उठा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सकामो भव दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्राल्पदर्शन।
नूनं देवाः प्रसन्नास्ते नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते।
नन्वद्य त्वां सहामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ॥ ३९ ॥
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम्।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् ते न क्रुध्यते नृपः ॥ ४० ॥
धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचार युधिष्ठिरः।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसंदीप्तमानसः ॥ ४१ ॥
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन् दीनमानसः।
पुनर्दीनमना भूत्वा शान्तार्चिरिव पावकः ॥ ४२ ॥
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः।
विश्वस्तानिव संविष्टान् पृथग्जनसमानिव ॥ ४३ ॥

'ओ दुर्बुद्धि अल्पदर्शी धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधन ! आज तेरी कामना पूरी हुई। निश्चय ही देवता तुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो राजा युधिष्ठिर मुझे तेरा वध करनेकी आज्ञा नहीं दे रहे हैं। दुर्मते ! यही कारण है कि तू अबतक जी रहा है। रे पापाचारी ! मैं आज ही जाकर कुपित हो मन्त्रियों, कर्ण, छोटे भाई और शकुनिसहित तुझे यमलोक भेज सकता हूँ। किंतु क्या करूँ, पाण्डवश्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर तुझपर कोप नहीं कर रहे हैं'।

यों कहकर महाबाहु भीम मन-ही-मन क्रोधसे जलते और हाथसे हाथ मलते हुए दीनभावसे लंबी साँसें खींचने लगे। बुझी हुई लपटोंवाली अग्निकी भाँति दीनहृदय होकर वे पुनः धरतीपर सोये हुए भाइयोंकी ओर देखने लगे। उनके वे सभी भाई साधारण लोगोंकी भाँति भूमिपर ही निश्चिन्ततापूर्वक सो रहे थे ॥ ३८-४३ ॥

नातिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ॥ ४४ ॥
पास्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥ ४५ ॥

उस समय भीम इस प्रकार विचार करने लगे—'अहो ! इस वनसे थोड़ी ही दूरीपर कोई नगर दिखायी देता है। जब कि जागना चाहिये, ऐसे समय भी ये मेरे भाई सो रहे हैं। अच्छा, मैं स्वयं ही जागरण करूँ। थकावट दूर होनेपर जब ये नींदसे उठेंगे, तभी पानी पियेंगे।' ऐसा निश्चय करके भीमसेन स्वयं उस समय जागरण करने लगे ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमजलाहरणे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेनके जल ले आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ।

(हिडिम्बवधपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बके भेजनेसे हिडिम्बा राक्षसीका पाण्डवोंके पास आना और भीमसेनसे उसका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः।
अविदूरे वनात् तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जहाँ पाण्डव कुन्तीसहित सो रहे थे, उस वनसे थोड़ी दूरपर एक शालवृक्षका आश्रय ले हिडिम्ब नामक राक्षस रहता था ॥ १ ॥

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः ।
प्रावृड्जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः ॥ २ ॥

वह बड़ा क्रूर और मनुष्यमांस खानेवाला था। उसका बल और पराक्रम महान् था। वह वर्षाकालके मेघकी भाँति काला था। उसकी आँखें भूरे रंगकी थीं और आकृतिसे क्रूरता टपक रही थी ॥ २ ॥

दंष्ट्राकरालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः ।
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः ॥ ३ ॥

उसका मुख बड़ी-बड़ी दाढ़ोंके कारण विकराल दिखायी देता था। वह भूखसे पीड़ित था और मांस मिलनेकी आशामें बैठा था। उसके नितम्ब और पेट लम्बे थे। दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ॥ ३ ॥

महावृक्षगलस्कन्धः शङ्कुकर्णो विभीषणः ।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान् महारथान् ॥ ४ ॥

उसका गला और कंधे महान् वृक्षके समान जान पड़ते थे। दोनों कान भालेके समान लम्बे और नुकीले थे। वह देखनेमें बड़ा भयानक था। दैवेच्छासे उसकी दृष्टि उन महारथी पाण्डवोंपर पड़ी ॥ ४ ॥

विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः ।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तश्च तानपश्यद् यदृच्छया ॥ ५ ॥

बेडौल रूप तथा भूरी आँखोंवाला वह विकराल राक्षस देखनेमें बड़ा डरावना था। भूखसे व्याकुल होकर वह कच्चा मांस खाना चाहता था। उसने अकस्मात् पाण्डवोंको देख लिया ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन् धुन्वन् रूक्षान् शिरोरुहान् ।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च ॥ ६ ॥

तब अङ्गुलियोंको ऊपर उठाकर सिरके रूखे बालोंको खुजलाता और फटकारता हुआ वह विशाल मुखवाला राक्षस पाण्डवोंकी ओर बार-बार देखकर जँभाई लेने लगा ॥ ६ ॥

हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः ।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

मनुष्यका मांस मिलनेकी सम्भावनासे उसे बड़ा हर्ष हुआ। उस महाबली विशालकाय राक्षसने मनुष्यकी गन्ध पाकर अपनी बहिनसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्षोऽयं मम सुप्रियः ।
स्नेहस्रवान् प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे सुखम् ॥ ८ ॥

'आज बहुत दिनोंके बाद ऐसा भोजन मिला है, जो मुझे बहुत प्रिय है। इस समय मेरी जीभ लार टपका रही है और बड़े सुखसे लप-लप कर रही है ॥ ८ ॥

अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुस्सहाः ।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ॥ ९ ॥

'आज मैं अपनी आठों दाढ़ोंको, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और जिनकी चोट प्रारम्भसे ही अत्यन्त दुःसह होती है, दीर्घकालके पश्चात् मनुष्योंके शरीरों और चिकने मांसमें डुबाऊँगा ॥ ९ ॥

आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि ।
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ॥ १० ॥

'मैं मनुष्यकी गर्दनपर चढ़कर उसकी नाड़ियोंको काट दूँगा और उसका गरम-गरम, फेनयुक्त तथा ताजा खून खूब छककर पीऊँगा ॥ १० ॥

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः ।
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ॥ ११ ॥

'बहिन! जाओ, पता तो लगाओ, ये कौन इस वनमें आकर सो रहे हैं? मनुष्यकी तीव्र गन्ध आज मेरी नासिकाको मानो तृप्त किये देती है ॥ ११ ॥

हत्वैतान् मानुषान् सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ॥ १२ ॥

तुम इन सब मनुष्योंको मारकर मेरे पास ले आओ। ये हमारी हदमें सो रहे हैं, (इसलिये) इनसे तुम्हें तनिक भी खटका नहीं है ॥ १२ ॥

एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः ।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ॥ १३ ॥

'फिर हम दोनों एक साथ बैठकर इन मनुष्योंके मांस नोच-नोचकर जी-भर खायेंगे। तुम मेरी इस आज्ञाका तुरंत पालन करो ॥ १३ ॥

भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः ।
नृत्याव सहितावावां दत्ततालावनेकशः ॥ १४ ॥

'इच्छानुसार मनुष्यमांस खाकर हम दोनों ताल देते हुए साथ-साथ अनेक प्रकारके नृत्य करें' ॥ १४ ॥

एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने ।
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ॥ १५ ॥
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ।
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह ।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय वनमें हिडिम्बके यों कहनेपर हिडिम्बा अपने भाईकी बात मानकर मानो बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डव थे। वहाँ जाकर उसने कुन्तीके साथ पाण्डवोंको सोते और किसीसे परास्त न होनेवाले भीमसेनको जागते देखा ॥ १५-१६ ॥

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम् ।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १७ ॥

धरतीपर उगे हुए साखूके पौधेकी भाँति मनोहर भीमसेनको देखते ही वह राक्षसी (मुग्ध हो) उन्हें चाहने लगी । इस पृथ्वीपर वे अनुपम रूपवान् थे ॥ १७ ॥

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥ १८ ॥

(उसने मन-ही-मन सोचा—) 'इन श्यामसुन्दर तरुण वीरकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, कंधे सिंहके-से हैं, ये महान् तेजस्वी हैं, इनकी ग्रीवा शङ्खके समान सुन्दर और नेत्र कमलदलके सदृश विशाल हैं । ये मेरे लिये उपयुक्त पति हो सकते हैं ॥ १८ ॥

नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम्॥ १९ ॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ २० ॥

'मेरे भाईकी बात क्रूरतासे भरी है, अतः मैं कदापि उसका पालन नहीं करूँगी । (नारीके हृदयमें) पतिप्रेम ही अत्यन्त प्रबल होता है । भाईका सौहार्द उसके समान नहीं होता । इन सबको मार देनेपर इनके मांससे मुझे और मेरे भाईको केवल दो घड़ीके लिये तृप्ति मिल सकती है और यदि न मारूँ तो बहुत वर्षोंतक इनके साथ आनन्द भोगूँगी' ॥१९-२०॥

सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ २१ ॥
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ २३ ॥

हिडिम्बा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी । वह मानवजातिकी स्त्रीके समान सुन्दर रूप बनाकर लजीली ललनाकी भाँति धीरे-धीरे महाबाहु भीमसेनके पास गयी । दिव्य आभूषण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । तब उसने मुसकराकर भीमसेनसे इस प्रकार पूछा—'पुरुषरत्न ! आप कौन हैं और कहाँसे आये हैं ? ये देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले पुरुष कौन हैं, जो यहाँ सो रहे हैं ? ॥ २१–२३ ॥

केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहे यथा ॥ २४ ॥

'और अनघ ! ये सबसे बड़ी उम्रवाली श्यामा[1] सुकुमारी देवी आपकी कौन लगती हैं, जो इस वनमें आकर भी ऐसी निःशङ्क होकर सो रही हैं, मानो अपने घरमें ही हों ॥ २४ ॥

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥ २५ ॥

'इन्हें यह पता नहीं है कि यह गहन वन राक्षसोंका निवासस्थान है । यहाँ हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस रहता है॥

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ॥ २६ ॥

'वह मेरा भाई है । उस राक्षसने दुष्टभावसे मुझे यहाँ भेजा है । देवोपम वीर ! वह आपलोगोंका मांस खाना चाहता है ॥ २६ ॥

साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७॥

'आपका तेज देवकुमारोंका-सा है, मैं आपको देखकर अब दूसरेको अपना पति बनाना नहीं चाहती । मैं यह सची बात आपसे कह रही हूँ ॥ २७ ॥

एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर ।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥ २८ ॥

'धर्मज्ञ ! इस बातको समझकर आप मेरे प्रति उचित बर्ताव कीजिये । मेरे तन-मनको कामदेवने मथ डाला है । मैं आपकी सेविका हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिये ॥ २८ ॥

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात् पुरुषादकात् ।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥ २९ ॥

'महाबाहो ! मैं इस नरभक्षी राक्षससे आपकी रक्षा करूँगी । हम दोनों पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओंमें निवास करेंगे । अनघ ! आप मेरे पति हो जाइये ॥ २९ ॥

(इच्छामि वीर भद्रं ते मा मा प्राणा विहासिषुः ।
त्वया ह्यहं परित्यक्ता न जीवेयमरिंदम ॥)

---

१. तपाए हुए सोनेके समान वर्णवाली स्त्रीको 'श्यामा' कहा जाता है, जैसा कि इस वचनसे सिद्ध है—

'तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।'

अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ ३० ॥

'वीर! आपका भला चाहती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि आपके ठुकरानेसे मेरे प्राण ही मुझे छोड़कर चले जायँ। शत्रुदमन! यदि आपने मुझे त्याग दिया तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकती। मैं आकाशमें विचरनेवाली हूँ। जहाँ इच्छा हो वहीं बिचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ भिन्न-भिन्न लोकों और प्रदेशोंमें विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिये' ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

(एष ज्येष्ठो मम भ्राता मान्यः परमको गुरुः।
अनिविष्टश्च तन्माहं परिविद्यां कथंचन ॥)
मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान्।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसी! ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जो मेरे लिये परम सम्माननीय गुरु हैं; इन्होंने अभीतक विवाह नहीं किया है, ऐसी दशामें मैं तुझसे विवाह करके किसी प्रकार परिवेत्ता* नहीं बनना चाहता। कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत्में सामर्थ्यशाली होते हुए भी, सुखपूर्वक सोये हुए इन बन्धुओंको, माताको तथा बड़े भ्राताको भी किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके? ॥ ३१ ॥

को हि सुप्तानिमान् भ्रातॄन् दत्त्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ॥ ३२ ॥

मुझ-जैसा कौन पुरुष कामपीड़ितकी भाँति इन सोये हुए भाइयों और माताको राक्षसका भोजन बनाकर (अन्यत्र) जा सकता है? ॥ ३२ ॥

राक्षस्युवाच

यत् ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥ ३३ ॥

राक्षसीने कहा—आपको जो प्रिय लगे, मैं वही करूँगी। आप इन सब लोगोंको जगा दीजिये। मैं इच्छानुसार उस मनुष्यभक्षी राक्षससे इन सबको छुड़ा लूँगी ॥ ३३ ॥

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३४ ॥

भीमसेनने कहा—राक्षसी! मेरे भाई और माता इस वनमें सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाईके भयसे मैं इन्हें जगाऊँगा नहीं ॥ ३४ ॥

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम्।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३५ ॥

भीरु! सुलोचने! मेरे पराक्रमको राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष भी नहीं सह सकते हैं ॥ ३५ ॥

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद् वापीच्छसि तत् कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥ ३६ ॥

अतः भद्रे! तुम जाओ या रहो; अथवा तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वही करो। तन्वङ्गि! अथवा यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाईको ही भेज दो ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि भीमहिडिम्बासंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें भीम-हिडिम्बा-संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं।)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बका आना, हिडिम्बाका उससे भयभीत होना और भीम तथा हिडिम्बासुरका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब यह सोचकर कि मेरी बहिनको गये बहुत देर हो गयी, राक्षसराज हिडिम्ब उस वृक्षसे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवोंके पास आ गया ॥ १ ॥

लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः ॥ २ ॥

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, केश ऊपरको उठे हुए थे और विशाल मुख था। उसके शरीरका रंग ऐसा काला था, मानो मेघोंकी काली घटा छा रही हो। तीखे दाढ़ोंवाला वह राक्षस बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ २ ॥

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥ ३ ॥

देखनेमें विकराल उस राक्षस हिडिम्बको आते देखकर ही हिडिम्बा भयसे थर्रा उठी और भीमसेनसे इस प्रकार बोली— ॥

आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः।
साहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ४ ॥

* जो निर्दोष बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए ही अपना विवाह कर लेता है, वह परिवेत्ता कहलाता है। शास्त्रोंमें वह निन्दनीय माना गया है।

'(देखिये,) यह दुष्टात्मा नरभक्षी राक्षस क्रोधमें भरा हुआ इधर ही आ रहा है, अतः मैं भाइयोंसहित आपसे जो कहती हूँ, वैसा कीजिये ॥ ४ ॥

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥ ५ ॥

'वीर ! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसोंका सम्पूर्ण बल है । आप मेरे इस कटिप्रदेश या पीठपर बैठ जाइये । मैं आपको आकाश-मार्गसे ले चलूँगी ॥ ५ ॥

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परंतप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥ ६ ॥

'परंतप ! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजीको भी जगा दीजिये । मैं आप सब लोगोंको लेकर आकाश-मार्गसे उड़ चलूँगी' ॥ ६ ॥

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥

भीमसेन बोले--सुन्दरी ! तुम डरो मत, मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है । सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूँगा ॥ ७ ॥

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥

भीरु ! यह नीच राक्षस युद्धमें मेरे आक्रमणका वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है। ये अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ।
ऊरू परिघसंकाशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥ ९ ॥

हाथीकी सूँड़-जैसी मोटी और सुन्दर गोलाकार मेरी इन दोनों भुजाओंकी ओर देखो । मेरी ये जाँघें परिघके समान हैं और मेरा विशाल वक्षःस्थल भी सुदृढ़ एवं सुगठित है ॥ ९ ॥

विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साद्य द्रक्ष्यसि शोभने ।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ॥ १० ॥

शोभने ! मेरा पराक्रम (भी) इन्द्रके समान है, जिसे तुम अभी देखोगी । विशाल नितम्बोंवाली राक्षसी ! तुम मुझे मनुष्य समझकर यहाँ मेरा तिरस्कार न करो ॥ १० ॥

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥

हिडिम्बाने कहा--नरश्रेष्ठ ! आपका स्वरूप तो देवताओंके समान है ही । मैं आपका तिरस्कार नहीं करती । मैं तो इसलिये कहती थी कि मनुष्योंपर ही इस राक्षसका प्रभाव मैं (कई बार) देख चुकी हूँ ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! उस नरभक्षी राक्षसको हिडिम्बने क्रोधमें भरकर भीमसेनकी कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ॥ १२ ॥

अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥

(तत्पश्चात्) उसने अपनी बहिनके मनुष्योचित रूपकी ओर दृष्टिपात किया । उसने अपनी चोटीमें फूलोंके गजरे लगा रक्खे थे । उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर जान पड़ता था । उसकी भौंहें, नासिका, नेत्र और केशान्तभाग--सभी सुन्दर थे । नख और त्वचा बहुत ही सुकुमार थी । उसने अपने अङ्गोंको समस्त आभूषणोंसे विभूषित कर रक्खा था तथा शरीरपर अत्यन्त सुन्दर महीन साड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३-१४ ॥

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥

उसे इस प्रकार सुन्दर एवं मनोहर मानव-रूप धारण किये देख राक्षसके मनमें यह संदेह हुआ कि हो-न-हो यह पतिरूपमें किसी पुरुषका वरण करना चाहती है । यह विचार मनमें आते ही वह कुपित हो उठा ॥ १५ ॥

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अपनी बहिनपर उस राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया था । फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा--॥ १६ ॥

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद् विप्रमोहिता ॥ १७ ॥

'हिडिम्बे ! मैं (भूखा हूँ और) भोजन चाहता हूँ । कौन दुर्बुद्धि मानव मेरे इस अभीष्टकी सिद्धिमें विघ्न डाल रहा है । तू अत्यन्त मोहके वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोधसे नहीं डरती है ? ॥ १७ ॥

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥

'मनुष्यको पति बनानेकी इच्छा रखकर मेरा अप्रिय

करनेवाली दुराचारिणी ! तुझे धिक्कार है । तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजोंके कुलमें कलङ्क लगानेवाली है ॥ १८ ॥

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंका आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥

हिडिम्बासे यों कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवोंका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर झपटा ॥ २० ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ तेजस्वी भीम उसे इस प्रकार हिडिम्बापर टूटते देख उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी बहिन-पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए उस राक्षसकी ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—॥ २२ ॥

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २३ ॥

'हिडिम्ब ! सुखपूर्वक सोये हुए मेरे इन भाइयोंको जगानेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । खोटी बुद्धिवाले नरभक्षी राक्षस ! तू पूरे वेगसे आकर मुझसे भिड़ ॥ २३ ॥

मय्येव प्रहरेहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ २४ ॥

'आ, मुझपर ही प्रहार कर । हिडिम्बा स्त्री है, इसे मारना उचित नहीं है—विशेषतः इस दशामें, जब कि इसने कोई अपराध नहीं किया है । तेरा अपराध तो दूसरेके द्वारा हुआ है ॥ २४ ॥

न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ॥ २५ ॥

'यह भोली-भाली स्त्री अपने वशमें नहीं है । शरीरके भीतरके विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर आज यह मुझे अपना पति बनाना चाहती है ॥ २५ ॥

भगिनी तव दुर्वृत्त राक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ॥ २६ ॥

कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ॥ २७ ॥

'राक्षसोंकी कीर्तिको नष्ट करनेवाले दुराचारी हिडिम्ब ! तेरी यह बहिन तेरी आज्ञासे ही यहाँ आयी है; परंतु मेरा रूप देखकर यह बेचारी अब मुझे चाहने लगी है, अतः तेरा कोई अपराध नहीं कर रही है । कामदेवके द्वारा किये हुए अपराधके कारण तुझे इसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ॥ २८ ॥

'दुष्टात्मन् ! तू मेरे रहते इस स्त्रीको नहीं मार सकता । नरभक्षी राक्षस ! तू मुझ अकेलेके साथ अकेला ही भिड़ जा ।२८।

अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ।
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ॥ २९ ॥

'आज मैं अकेला ही तुझे यमलोक भेज दूँगा । निशाचर ! जैसे अत्यन्त बलवान् हाथीके पैरसे दबकर किसीका भी मस्तक पिस जाता है, उसी प्रकार मेरे बलपूर्वक आघातसे कुचला जाकर तेरा सिर फट जायगा ॥ २९ ॥

अद्य गात्राणि ते कङ्काः श्येना गोमायवस्तथा ।
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ॥ ३० ॥

'आज मेरेद्वारा युद्धमें तेरा वध हो जानेपर हर्षमें भरे हुए गीध, बाज और गीदड़ धरतीपर पड़े हुए तेरे अङ्गोंको इधर-उधर घसीटेंगे ॥ ३० ॥

क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमराक्षसम् ।
पुरा यद् दूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ॥ ३१ ॥

'आजसे पहले सदा मनुष्योंको खाकर-खाकर तूने जिसे अपवित्र कर दिया है, उसी वनको आज मैं क्षणभरमें राक्षसों-से सूना कर दूँगा ॥ ३१ ॥

अद्य त्वां भगिनी रक्षः कृष्यमाणं मयासकृत् ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ॥ ३२ ॥

'राक्षस ! जैसे सिंह पर्वताकार महान् गजराजको घसीट ले जाता है, उसी प्रकार आज मेरेद्वारा बार-बार घसीटे जाने-वाले तुझको तेरी बहिन अपनी आँखों देखेगी ॥ ३२ ॥

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥ ३३ ॥

'राक्षसकुलाङ्गार ! मेरेद्वारा तेरे मारे जानेपर वनवासी मनुष्य बिना किसी विघ्न-बाधाके इस वनमें विचरण करेंगे' ॥

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥ ३४ ॥

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य ! व्यर्थ गर्जने तथा बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? यह सब कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हाँकना; अब देर न कर ॥ ३४ ॥

बलिनं मन्यसे यच्चाप्यात्मानं सपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयाऽऽत्मानं बलाधिकम्॥ ३५ ॥
न तावदेतान् हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ॥ ३६ ॥
पीत्वा तवासृग् गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ॥ ३७ ॥

तू अपने-आपको जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी समझ रहा है, उसकी सचाईका पता तो तब लगेगा, जब आज मेरे साथ भिड़ेगा । तभी तू जान सकेगा कि मुझसे तुझमें कितना अधिक बल है । दुर्बुद्धे ! मैं पहले इन सबकी हिंसा नहीं करूँगा । ये थोड़ी देरतक सुखपूर्वक सो लें । तू मुझे बड़ी कड़वी बातें सुना रहा है, अतः सबसे पहले तुझे ही अभी मारे देता हूँ । पहले तेरे अङ्गोंका ताजा खून पीकर उसके बाद तेरे इन भाइयोंका भी वध करूँगा । तदनन्तर अपना अप्रिय करनेवाली इस हिडिम्बाको भी मार डालूँगा ॥ ३—३७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर क्रोधमें भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर उठाये शत्रुदमन भीमसेनपर टूट पड़ा ॥ ३८ ॥

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ ३९ ॥

झपटते ही बड़े वेगसे उसने भीमसेनपर हाथ चलाया । तब तो भयंकर पराक्रमी भीमसेनने तुरंत ही उसके हाथको हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ ३९ ॥

निगृह्य तं बलाद् भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद् देशाद् धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४० ॥

वह राक्षस उनके हाथसे छूटनेके लिये छटपटाने और उछल-कूद मचाने लगा; परंतु भीमसेन उसे पकड़े हुए ही बलपूर्वक उस स्थानसे आठ धनुष (बत्तीस हाथ) दूर घसीट ले गये—उसी प्रकार जैसे सिंह किसी छोटे मृगको घसीटकर ले जाय ॥ ४० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद् भैरवं रवम् ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा बलपूर्वक पीड़ित होनेपर वह राक्षस क्रोधमें भर गया और भीमसेनको भुजाओंसे कसकर भयंकर गर्जना करने लगा ॥ ४१ ॥

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब महाबली भीमसेन यह सोचकर पुनः उसे बलपूर्वक कुछ दूर खींच ले गये कि सुखपूर्वक सोये हुए भाइयोंके कानोंमें शब्द न पहुँचे ॥ ४२ ॥

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ ४३ ॥

फिर तो दोनों एक-दूसरेसे गुथ गये और बलपूर्वक अपनी अपनी ओर खींचने लगे । हिडिम्ब और भीमसेन दोनोंने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया ॥ ४३ ॥

बभञ्जतुस्तदा वृक्षाँल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ ४४ ॥

जैसे साठ वर्षकी अवस्थावाले दो मतवाले गजराज कुपित हो परस्पर युद्ध करते हों, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेसे भिड़कर वृक्षोंको तोड़ने और लताओंको खींच-खींचकर उजाड़ने लगे ॥ ४४ ॥

(पादपानुद्वहन्तौ तावुरुवेगेन वेगितौ ।
स्फोटयन्तौ लताजालान्यूरुभ्यां प्राप्य सर्वतः ॥
वित्रासयन्तौ शब्देन सर्वतो मृगपक्षिणः ।
बलेन बलिनौ मत्तावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥
भीमराक्षसयोर्युद्धं तदावर्तत दारुणम् ॥
ऊरुबाहुपरिक्लेशात् कर्षन्तावितरेतरम् ।
ततः शब्देन महता गर्जन्तौ तौ परस्परम् ॥
पाषाणसंघट्टनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
अन्योन्यं तौ समालिङ्ग्य विकर्षन्तौ परस्परम्॥)

वे दोनों वृक्ष उठाये बड़े वेगसे एक दूसरेकी ओर दौड़ते थे, अपनी जाँघोंकी टक्करसे चारों ओरकी लताओंको छिन्न-भिन्न किये देते थे तथा गर्जन-तर्जनके द्वारा सब ओर पशु-पक्षियोंको आतङ्कित कर देते थे । बलसे उन्मत्त हुए वे दोनों महाबली योद्धा एक-दूसरेको मार डालना चाहते थे । उस समय भीमसेन और हिडिम्बासुरमें बड़ा भयंकर युद्ध चल रहा था । वे दोनों एक दूसरेकी भुजाओंको मरोड़ते और जाँघोंको घुटनोंसे दबाते हुए दोनों एक दूसरेको अपनी ओर खींचते थे । तदनन्तर वे बड़े जोरसे गर्जते हुए परस्पर इस प्रकार प्रहार करने लगे, मानो दो चट्टानें आपसमें टकरा रही हों । तत्पश्चात् वे एक दूसरेसे गुथ गये और दोनों दोनोंको भुजाओंमें कसकर इधर-उधर खींच ले जानेकी चेष्टा करने लगे ॥

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥ ४५ ॥

उन दोनोंकी भारी गर्जनासे वे नरश्रेष्ठ पाण्डव मातासहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बाको देखा॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बयुद्धे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्ब-युद्ध-विषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बाका कुन्ती आदिसे अपना मनोभाव प्रकट करना तथा भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम्।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जागनेपर हिडिम्बाका अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्तीके साथ बड़े विस्मयमें पड़े ॥ १ ॥

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा ।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २ ॥
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥ ३ ॥

तदनन्तर कुन्तीने उसकी रूप सम्पत्तिसे चकित हो उसकी ओर देखकर उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार धीरे धीरे पूछा—'देवकन्याओंकी-सी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? तुम किस कामसे यहाँ आयी हो और कहाँसे तुम्हारा शुभागमन हुआ है ? ॥ २-३ ॥

यदि वास्य वनस्य त्वं देवता यदि वाप्सराः ।
आचक्ष्व मम तत् सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ॥ ४ ॥

'यदि तुम इस वनकी देवी अथवा अप्सरा हो तो वह सब मुझे ठीक-ठीक बता दो; साथ ही यह भी कहो कि किस कामके लिये यहाँ खड़ी हो ? ॥ ४ ॥

हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥ ५ ॥

हिडिम्बा बोली—देवि ! यह जो नील मेघके समान विशाल वन आप देख रही हैं, यह राक्षस हिडिम्बका और मेरा निवासस्थान है ॥ ५ ॥

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि ।
भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥ ६ ॥

महाभागे ! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्बकी बहिन समझें । आर्ये ! मेरे भाईने मुझे आपकी और आपके पुत्रोंकी हत्या करनेकी इच्छासे भेजा था ॥ ६ ॥

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह ।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥ ७ ॥

उसकी बुद्धि बड़ी क्रूरतापूर्ण है । उसके कहनेसे मैं यहाँ आयी और नूतन सुवर्णकी-सी आभावाले आपके महाबली पुत्र-पर मेरी दृष्टि पड़ी ॥ ७ ॥

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥

शुभे ! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर मैं आपके पुत्रकी वशवर्तिनी हो गयी ॥ ८ ॥

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥

तदनन्तर मैंने आपके महाबली पुत्रको पतिरूपमें वरण कर लिया और इस बातके लिये प्रयत्न किया कि उन्हें (तथा आप सब लोगोंको) लेकर यहाँसे अन्यत्र भाग चलूँ, परंतु आपके पुत्रकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं इस कार्यमें सफल न हो सकी ॥ ९ ॥

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥ १० ॥

मेरे लौटनेमें देर होती जान वह मनुष्यभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रोंको मार डालनेके लिये आया।१०।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥ ११ ॥

परंतु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँसे रगड़ते हुए दूर हटा ले गये हैं ॥ ११ ॥

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम्।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥ १२ ॥

देखिये, युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोरसे गर्ज रहे हैं और बड़े वेगसे गुत्थम-गुत्थ होकर एक-दूसरेको अपनी ओर खींच रहे हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बाकी यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये। अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेवने भी ऐसा ही किया ॥ १३ ॥

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम्।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहोंकी भाँति आपसमें गुथ गये हैं और अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरेको घसीट रहे हैं ॥ १४ ॥

अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥

एक दूसरेको भुजाओंमें भरकर बार-बार खींचते हुए उन दोनों योद्धाओंने धरतीकी धूलको दावानलके धूएँके समान बना दिया ॥ १५ ॥

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ।
बभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाभिसंवृतौ ॥ १६ ॥

दोनोंका शरीर पृथ्वीकी धूलमें सना हुआ था। दोनों ही पर्वतोंके समान विशालकाय थे। उस समय वे दोनों कुहरेसे ढँके हुए दो पहाड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥ १७ ॥

भीमसेनको राक्षसद्वारा पीड़ित देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले—॥ १७ ॥

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥ १८ ॥

'महाबाहु भैया भीमसेन ! डरना मत; अबतक हमलोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षससे भिड़कर अत्यन्त परिश्रमके कारण कष्ट पा रहे हो ॥ १८ ॥

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥ १९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुम्हारी सहायताके लिये उपस्थित हूँ। इस राक्षसको अवश्य मार गिराऊँगा। नकुल और सहदेव माताजीकी रक्षा करेंगे' ॥ १९ ॥

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन ! तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो। तुम्हें घबरानेकी आवश्यकता नहीं। मेरी दोनों भुजाओंके बीचमें आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिंदम ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंका दमन करनेवाले भीम ! इस पापी राक्षसको देरतक जीवित रखनेसे क्या लाभ? हमलोगोंको आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समयतक ठहरना सम्भव नहीं है ॥

पुरा संरज्यते प्राची पुरा संध्या प्रवर्तते।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ॥ २२ ॥

उधर सामने पूर्वदिशामें अरुणोदयकी लालिमा फैल रही है। प्रातःसंध्याका समय होनेवाला है। इस रौद्र मुहूर्तमें राक्षस प्रबल हो जाते हैं ॥ २२ ॥

त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम्।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥

अतः भीमसेन ! जल्दी करो। इसके साथ खिलवाड़ न करो। इस भयानक राक्षसको मार डालो। यह अपनी माया फैलाये, इसके पहले ही इसपर अपनी भुजाओंकी शक्तिका प्रयोग करो ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव।
बलमाहारयामास यद् वायोर्जगतः क्षये ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके यों कहनेपर भीम रोषसे जल उठे और प्रलयकालमें वायुका जो बल प्रकट होता है, उसे उन्होंने अपने भीतर धारण कर लिया ॥ २४ ॥

ततस्तस्याम्बुदाभस्य भीमो रोषात् तु रक्षसः।
उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् काले मेघके समान उस राक्षसके शरीरको भीमने क्रोधपूर्वक तुरंत ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया ॥ २५ ॥

हिडिम्ब-वध

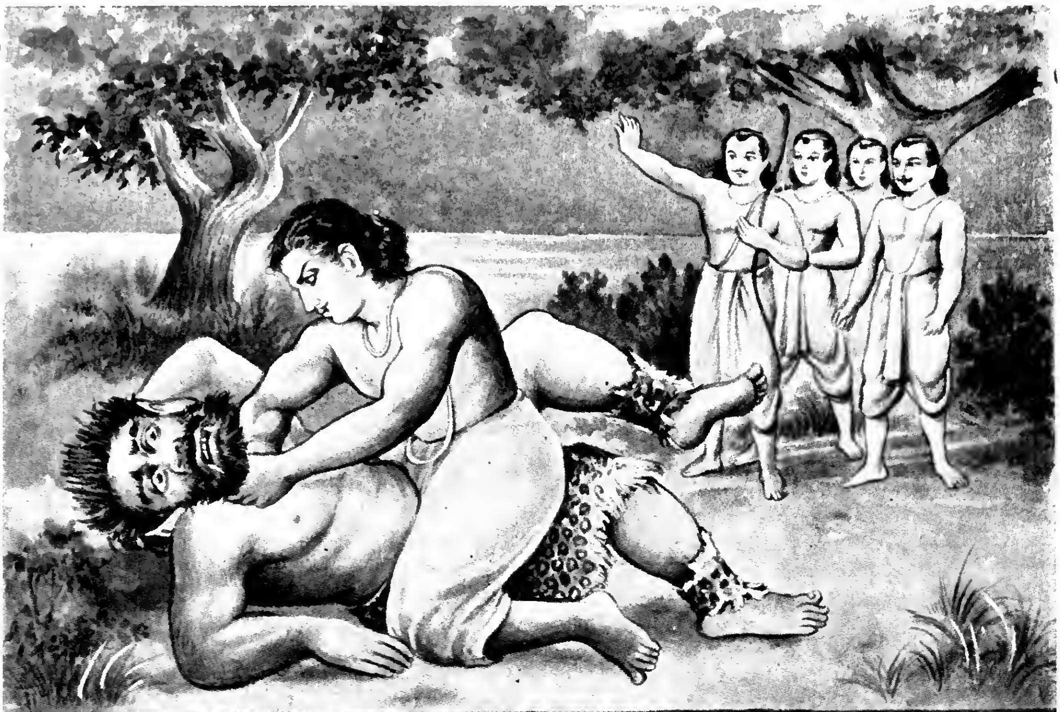

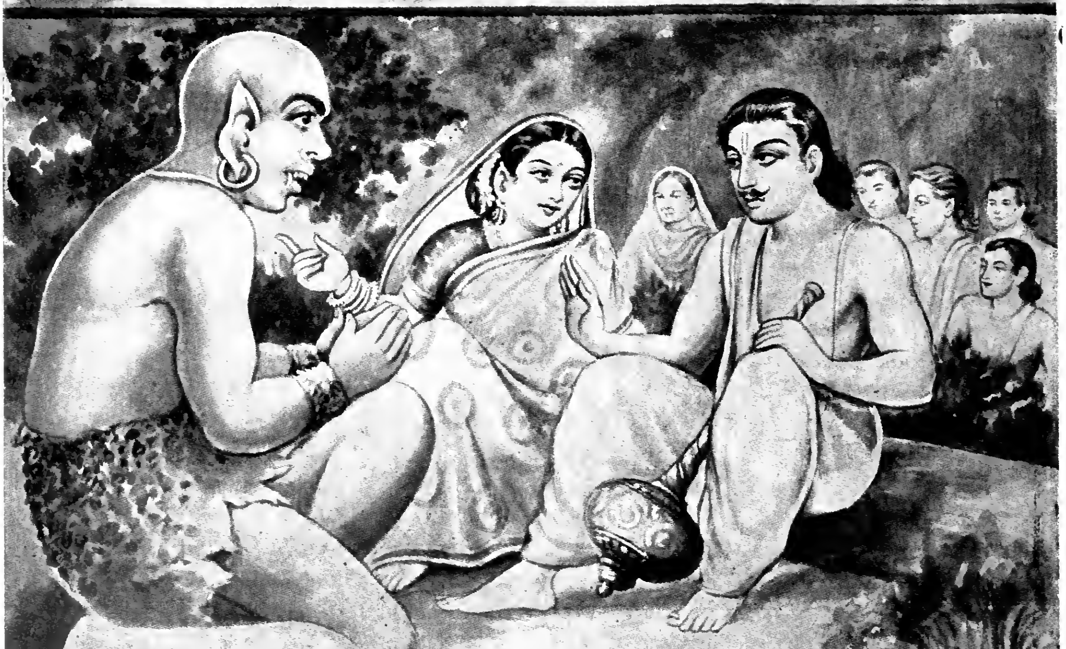

भीमसेन और घटोत्कच

भीम उवाच

वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ॥ २६ ॥

इसके बाद भीम उस राक्षससे बोले—अरे निशाचर ! तू व्यर्थ मांससे व्यर्थ ही पुष्ट होकर व्यर्थ ही बड़ा हुआ है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है। इसीसे तू व्यर्थ मृत्युके योग्य है। इसलिये आज तू व्यर्थ ही अपनी इहलीला समाप्त करेगा (बाहुयुद्धमें मृत्यु होनेके कारण तू स्वर्ग और कीर्तिसे वञ्चित हो जायगा) ॥ २६ ॥

क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम्।
न पुनर्मानुषान् हत्वा भक्षयिष्यसि राक्षस ॥ २७ ॥

राक्षस ! आज तुझे मारकर मैं इस वनको निष्कण्टक एवं मङ्गलमय बना दूँगा, जिससे फिर तू मनुष्योंको मारकर नहीं खा सकेगा ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच

यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥ २८ ॥

अर्जुन बोले—भैया ! यदि तुम युद्धमें इस राक्षसको अपने लिये भार समझ रहे हो तो मैं तुम्हारी सहायता करता हूँ। तुम इसे शीघ्र मार गिराओ ॥ २८ ॥

अथवाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २९ ॥

वृकोदर ! अथवा मैं ही इसे मार डालूँगा। तुम अधिक युद्ध करके थक गये हो। अतः कुछ देर अच्छी तरह विश्राम कर लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! अर्जुनकी यह बात सुनकर भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भर गये। उन्होंने बलपूर्वक राक्षसको पृथ्वीपर दे मारा और उसे रगड़ते हुए पशुकी तरह मारना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार भीमसेनकी मार पड़नेपर वह राक्षस जलसे भीगे हुए नगारेकी-सी ध्वनिसे सम्पूर्ण वनको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे चीखने लगा ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान्॥ ३२ ॥

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसे दोनों भुजाओंसे बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़कर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ३२ ॥

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३३ ॥

हिडिम्बको मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीमकी प्रशंसा करके अर्जुनने पुनः उनसे यह बात कही—॥ ३४ ॥

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! मैं समझता हूँ, इस वनसे नगर अब दूर नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब हमलोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधनको हमारा पता न लग सके' ॥ ३५ ॥

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३६ ॥

तब सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव '(ठीक है,) ऐसा ही करें' यों कहकर माताके साथ वहाँसे चल दिये। हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बवधे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्बासुरके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको हिडिम्बाके वधसे रोकना, हिडिम्बाकी भीमसेनके लिये प्रार्थना, भीमसेन और हिडिम्बाका मिलन तथा घटोत्कचकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

सा तानेवापतत् तूर्णं भगिनी तस्य रक्षसः।
अब्रुवाणा हिडिम्बा तु राक्षसी पाण्डवान् प्रति ॥

अभिवाद्य ततः कुन्तीं धर्मराजं च पाण्डवम्।
अभिपूज्य च तान् सर्वान् भीमसेनमभाषत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बासुरकी बहिन राक्षसी हिडिम्बा बिना कुछ कहे-सुने तुरंत पाण्डवोंके ही पास आयी और फिर माता कुन्ती तथा पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम करके उन सबके प्रति समादरका भाव प्रकट करती हुई भीमसेनसे बोली ॥

हिडिम्बोवाच

अहं ते दर्शनादेव मन्मथस्य वशं गता।
क्रूरं भ्रातृवचो हित्वा सा त्वामेवानुरुन्धती ॥
राक्षसे रौद्रसंकाशे तवापश्यं विचेष्टितम्।
अहं शुश्रूषुरिच्छेयं तव गात्रं निषेवितुम् ॥)

हिडिम्बाने कहा—(आर्यपुत्र !) आपके दर्शनमात्रसे मैं कामदेवके अधीन हो गयी और अपने भाईके क्रूरतापूर्ण वचनोंकी अवहेलना करके आपका ही अनुसरण करने लगी। उस भयंकर आकृतिवाले राक्षसपर आपने जो पराक्रम प्रकट किया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है; अतः मैं सेविका आपके शरीरकी सेवा करना चाहती हूँ ॥

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम्।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—हिडिम्बे ! राक्षस मोहिनी मायाका आश्रय लेकर बहुत दिनोंतक वैरका स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाईके ही मार्गपर चली जा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा—पुरुषसिंह भीम ! यद्यपि तुम क्रोधसे भरे हुए हो, तो भी स्त्रीका वध न करो। पाण्डुनन्दन ! शरीरकी रक्षाकी अपेक्षा भी अधिक तत्परतासे धर्मकी रक्षा करो ॥ २ ॥

वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम्।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥ ३ ॥

महाबली हिडिम्ब हमलोगोंको मारनेके अभिप्रायसे आ रहा था। अतः तुमने जो उसका वध किया, वह उचित ही है। उस राक्षसकी बहिन हिडिम्बा यदि क्रोध भी करे तो हमारा क्या कर लेगी ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर हिडिम्बाने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ ४ ॥

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम्।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥

'आर्ये ! स्त्रियोंको इस जगत्‌में जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे ! आपके पुत्र भीमसेनकी ओरसे मुझे वही कामदेवजनित कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ॥ ६ ॥

'मैंने समयकी प्रतीक्षामें उस महान् दुःखको सहन किया है। अब वह समय आ गया है। आशा है, मुझे अभीष्ट सुखकी प्राप्ति होगी ॥ ६ ॥

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥

'शुभे ! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्मका परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेनको अपना पति चुना है ॥ ७ ॥

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ८ ॥

'यशस्विनि ! यदि ये वीरवर भीमसेन या आप मेरी इस प्रार्थनाको ठुकरा देंगी तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ८ ॥

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि।
मत्वा मूढेति तन्मा त्वं भक्ता वानुगतेति वा ॥ ९ ॥

'अतः वरवर्णिनि ! आपको मुझे एक मूढ़ स्वभावकी स्त्री मानकर या अपनी भक्ता जानकर अथवा अनुचरी (सेविका) समझकर मुझपर कृपा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम्।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥

'महाभागे ! मुझे अपने इस पुत्रसे, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलनेका अवसर दीजिये। मैं इन देवस्वरूप स्वामीको लेकर अपने अभीष्ट स्थानपर जाऊँगी और पुनः निश्चित समयपर इन्हें आपके समीप ले आऊँगी। शुभे ! आप मेरा विश्वास कीजिये ॥

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान् नेष्यामि वः सदा।
(न यातुधान्यहं त्वार्ये न चास्मि रजनीचरी।
कन्या रक्षस्सु साध्व्यस्मि राज्ञि सालकटङ्कटी ॥
पुत्रेण तव संयुक्ता युवतिर्देववर्णिनी।
सर्वान् वोऽहमुपस्थास्ये पुरस्कृत्य वृकोदरम् ॥
अप्रमत्ता प्रमत्तेषु शुश्रूषुरसकृत् त्वहम्।)
वृजिनात् तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ११ ॥
पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रं गतिमभीप्सतः।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

'आप अपने मनसे जब-जब मेरा स्मरण करेंगे, तब-तब सदा ही (सेवामें उपस्थित हो) मैं आपलोगोंको अभीष्ट स्थानोंमें पहुँचा दिया करूँगी। आर्ये! मैं न तो यातुधानी हूँ और न निशाचरी ही हूँ। महारानी! मैं राक्षस जातिकी सुशीला कन्या हूँ और मेरा नाम सालकटङ्कटी है। मैं देवोपम कान्तिसे युक्त और युवावस्थासे सम्पन्न हूँ। मेरे हृदयका संयोग आपके पुत्र भीमसेनके साथ हुआ है। मैं वृकोदरको सामने रखकर आप सब लोगोंकी सेवामें उपस्थित रहूँगी। आपलोग असावधान हों, तो भी मैं पूरी सावधानी रखकर निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहूँगी। आपको संकटोंसे बचाऊँगी। दुर्गम एवं विषम स्थानोंमें यदि आप शीघ्रतापूर्वक अभीष्ट लक्ष्यतक जाना चाहते हों तो मैं आप सब लोगोंको अपनी पीठपर बिठाकर वहाँ पहुँचाऊँगी। आपलोग मुझपर कृपा करें, जिससे भीमसेन मुझे स्वीकार कर लें ॥ ११-१२ ॥

आपदस्तरणे प्राणान् धारयेद् येन तेन वा।
सर्वमावृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता ॥ १३ ॥

'जिस उपायसे भी आपत्तिसे छुटकारा मिले और प्राणोंकी रक्षा हो सके, धर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुषको वह सब स्वीकार करके उस उपायको काममें लाना चाहिये ॥ १३ ॥

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ॥ १४ ॥

'जो आपत्तिकालमें धर्मको धारण करता है, वही धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ है। धर्मपालनमें सङ्कट उपस्थित होना ही धर्मात्मा पुरुषोंके लिये आपत्ति कही जाती है ॥ १४ ॥

पुण्यं प्राणान् धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते।
येन येनाचरेद् धर्मं तस्मिन् गर्हा न विद्यते ॥ १५ ॥

'पुण्य ही प्राणोंको धारण करता है, इसलिये पुण्य प्राणदाता कहलाता है; अतः जिस-जिस उपायसे धर्मका आचरण हो सके, उसके करनेमें कोई निन्दाकी बात नहीं है ॥ १५ ॥

(महतोऽत्र स्त्रियं कामाद् बाधितां त्राहि मामपि।
धर्मार्थकाममोक्षेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥
तं तु धर्ममिति प्राहुर्मुनयो धर्मवत्सलाः।
दिव्यज्ञानेन पश्यामि अतीतानागतानहम् ॥
तस्माद् वक्ष्यामि वः श्रेय आसन्नं सर उत्तमम्।
अद्यासाद्य सरः स्नात्वा विश्रम्य च वनस्पतौ ॥
व्यासं कमलपत्राक्षं दृष्ट्वा शोकं विहास्यथ ॥
धार्तराष्ट्राद् विवासश्च दहनं वारणावते।
त्राणं च विदुरात् तुभ्यं विदितं ज्ञानचक्षुषा ॥
आवासे शालिहोत्रस्य स च वासं विधास्यति।
वर्षवातातपसहः अयं पुण्यो वनस्पतिः ॥
पीतमात्रे तु पानीये क्षुत्पिपासे विनश्यतः।
तपसा शालिहोत्रेण सरो वृक्षश्च निर्मितः ॥
कादम्बाः सारसा हंसाः कुरर्यः कुररैः सह।
रुवन्ति मधुरं गीतं गान्धर्वस्वनमिश्रितम् ॥

'मैं महती कामवेदनासे पीड़ित एक नारी हूँ, अतः आप मेरी भी रक्षा कीजिये। साधु पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-की सिद्धिके सभी पुरुषार्थोंके लिये शरणागतोंपर दया करते हैं। धर्मानुरागी महर्षि दयाको ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। मैं दिव्य ज्ञानसे भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखती हूँ। अतः आपलोगोंके कल्याणकी बात बता रही हूँ। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम सरोवर है। आपलोग आज वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान करके वृक्षके नीचे विश्राम करें। कुछ दिन बाद कमलनयन व्यासजीका दर्शन पाकर आपलोग शोकमुक्त हो जायँगे। दुर्योधनके द्वारा आपलोगोंका हस्तिनापुरसे निकाला जाना, वारणावत नगरमें जलाया जाना और विदुरजीके प्रयत्नसे आप सब लोगोंकी रक्षा होनी, आदि बातें उन्हें ज्ञान-दृष्टिसे ज्ञात हो गयी हैं। वे महात्मा व्यास शालिहोत्र मुनिके आश्रममें निवास करेंगे। उनके आश्रमका वह पवित्र वृक्ष सर्दी, गर्मी और वर्षाको अच्छी तरह सहनेवाला है। वहाँ केवल जल पी लेनेसे भूख-प्यास दूर हो जाती है। शालिहोत्र मुनिने अपनी तपस्याद्वारा पूर्वोक्त सरोवर और वृक्षका निर्माण किया है। वहाँ कादम्ब, सारस, हंस, कुररी और कुरर आदि पक्षी संगीतकी ध्वनिसे मिश्रित मधुर गीत गाते रहते हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती वचनमब्रवीत्।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बाका यह वचन सुनकर कुन्तीदेवीने सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥

कुन्त्युवाच

त्वं हि धर्मभृतां श्रेष्ठ मयोक्तं शृणु भारत।
राक्षस्येषा हि वाक्येन धर्मं वदति साधु वै ॥
भावेन दुष्टा भीमं सा किं करिष्यति राक्षसी।
भजतां पाण्डवं वीरमपत्यार्थं यदीच्छसि ॥)

कुन्ती बोली—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भारत! मैं जो कहती हूँ, उसे तुम सुनो; यह राक्षसी अपनी वाणीद्वारा तो उत्तम धर्मका ही प्रतिपादन करती है। यदि इसकी हार्दिक भावना भीमसेनके प्रति दूषित हो, तो भी यह उनका क्या बिगाड़ लेगी? अतः यदि तुम्हारी सम्मति हो तो यह संतान-के लिये कुछ कालतक मेरे वीर पुत्र पाण्डुनन्दन भीमसेनकी सेवामें रहे ॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे ! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है; इसमें संशय नहीं है। परंतु सुमध्यमे ! मैं जैसे कहूँ, उसी प्रकार तुम्हें सत्यपर स्थिर रहना चाहिये ॥ १६॥

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम्।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ॥ १७ ॥

भद्रे ! जब भीमसेन स्नान, नित्यकर्म तथा माङ्गलिक वेशभूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होनेसे पहलेतक ही उनकी सेवा कर सकती हो ॥ १७ ॥

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥

तुम मनके समान वेगसे चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिनभर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छाके अनुसार विहार करो, परंतु रातको सदा ही तुम्हें भीमसेनको (हमारे पास) पहुँचा देना होगा ॥ १८ ॥

(प्राक् संध्यातो विमोक्तव्यो रक्षितव्यश्च नित्यशः।
एवं रमस्व भीमेन यावद् गर्भस्य वेदनम् ॥
एष ते समयो भद्रे शुश्रूष्यश्चाप्रमत्तया।
नित्यानुकूलया भूत्वा कर्तव्यं शोभनं त्वया ॥

संध्याकाल आनेसे पहले ही इन्हें छोड़ देना होगा और नित्य-निरन्तर इनकी रक्षा करनी होगी। इस शर्तपर तुम

भीमसेनके साथ सुखपूर्वक तबतक रहो, जबतक कि तुम्हें यह पता न चल जाय कि तुम्हारे गर्भमें बालक आ गया है। भद्रे ! यही तुम्हारे लिये पालन करने योग्य नियम है। तुम्हें सावधान होकर भीमसेनकी सेवा करनी चाहिये और नित्य उनके अनुकूल होकर सदा उनकी भलाईमें संलग्न रहना चाहिये ॥

युधिष्ठिरेणैवमुक्ता कुन्त्या चाङ्केऽधिरोपिता।
भीमार्जुनान्तरगता यमाभ्यां च पुरस्कृता ॥
तिर्यग् युधिष्ठिरे याति हिडिम्बा भीमगामिनी।
शालिहोत्रसरो रम्यमासेदुस्ते जलार्थिनः ॥
तत् तथेति प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा।
वनस्पतितलं गत्वा परिमृज्य गृहं यथा ॥
पाण्डवानां च वासं सा कृत्वा पर्णमयं तथा।
आत्मनश्च तथा कुन्त्या एकोद्देशे चकार सा ॥
पाण्डवास्तु ततः स्नात्वा शुद्धाः संध्यामुपास्य च।
तृषिताः क्षुत्पिपासार्ता जलमात्रेण वर्तयन् ॥
शालिहोत्रस्ततो ज्ञात्वा क्षुधार्तान् पाण्डवांस्तदा।
मनसा चिन्तयामास पानीयं भोजनं महत्।
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे विश्रान्ताः पृथया सह ॥
यथा जतुगृहे वृत्तं राक्षसेन कृतं च यत्।
कृत्वा कथा बहुविधाः कथान्ते पाण्डुनन्दनम् ॥
कुन्तिराजसुता वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥

युधिष्ठिरके यों कहनेपर कुन्तीने हिडिम्बाको अपने हृदयसे लगा लिया। तदनन्तर वह युधिष्ठिरसे कुछ दूरीपर रहकर भीमके साथ चल पड़ी। वह चलते समय भीम और अर्जुनके बीचमें रहती थी। नकुल और सहदेव सदा उसे आगे करके चलते थे। (इस प्रकार) वे (सब) लोग जल पीनेकी इच्छासे शालिहोत्र मुनिके रमणीय सरोवरके तटपर जा पहुँचे। वहाँ कुन्ती तथा युधिष्ठिरने पहले जो शर्त रक्खी थी, उसे स्वीकार करके हिडिम्बा राक्षसीने वैसा ही कार्य करनेकी प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् उसने वृक्षके नीचे जाकर घरकी तरह झाड़ू लगायी और पाण्डवोंके लिये निवासस्थानका निर्माण किया। उन सबके लिये पर्णशाला तैयार करनेके बाद उसने अपने और कुन्तीके लिये एक दूसरी जगह कुटी बनायी। तदनन्तर पाण्डवोंने स्नान करके शुद्ध हो संध्योपासना किया और भूख-प्याससे पीड़ित होनेपर भी केवल जलका आहार किया। उस समय शालिहोत्र मुनिने उन्हें भूखसे व्याकुल जान मन-ही-मन उनके लिये प्रचुर अन्न-पानकी सामग्रीका चिन्तन किया (और उससे पाण्डवोंको भोजन कराया)। तदनन्तर कुन्तीदेवीसहित सब पाण्डव विश्राम करने लगे। विश्रामके समय उनमें नाना प्रकारकी बातें होने लगीं—किस प्रकार लाक्षागृहमें उन्हें जलानेका प्रयत्न किया गया तथा फिर राक्षस हिडिम्बने उन लोगोंपर किस प्रकार आक्रमण किया इत्यादि प्रसङ्ग उनकी चर्चाके विषय थे। बातचीत समाप्त

होनेपर कुन्तिराजकुमारी कुन्तीने पाण्डुनन्दन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डुस्तथा मान्यस्तव ज्येष्ठो युधिष्ठिरः।
अहं धर्मविधानेन मान्या गुरुतरा तव॥
तस्मात् पाण्डुहितार्थं मे युवराज हितं कुरु।
निकृता धार्तराष्ट्रेण पापेनाकृतबुद्धिना॥
दुष्कृतस्य प्रतीकारं न पश्यामि वृकोदर।
तस्मात् कतिपयाहेन योगक्षेमं भविष्यति॥
क्षेमं दुर्गमिमं वासं वसिष्यामो यथासुखम्।
इदमद्य महद् दुःखं धर्मकृच्छ्रं वृकोदर॥
दृष्ट्वैव त्वां महाप्राज्ञ अनङ्गाभिप्रचोदिता।
युधिष्ठिरं च मां चैव वरयामास धर्मतः॥
धर्मार्थं देहि पुत्रं त्वं स नः श्रेयः करिष्यति।
प्रतिवाक्यं तु नेच्छामि ह्यावाभ्यां वचनं कुरु॥)

कुन्ती बोली—युवराज! तुम्हारे लिये जैसे महाराज पाण्डु माननीय थे, वैसे ही बड़े भाई युधिष्ठिर भी हैं। धर्म-शास्त्रकी दृष्टिसे मैं उनकी अपेक्षा भी अधिक गौरवकी पात्र तथा सम्माननीय हूँ। अतः तुम महाराज पाण्डुके हितके लिये मेरी एक हितकर आज्ञाका पालन करो। वृकोदर! अपवित्र बुद्धिवाले पापात्मा दुर्योधनने हमारे साथ जो दुष्टता की है, उसके प्रतिशोधका उपाय मुझे कोई नहीं दिखायी देता। अतः कुछ दिनोंके बाद भले ही हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। यह निवासस्थान अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। हम यहाँ सुखपूर्वक रहेंगे। महाप्राज्ञ भीमसेन! आज यह हमारे सामने अत्यन्त दुःखद धर्मसंकट उपस्थित हुआ है कि हिडिम्बा तुम्हें देखते ही कामसे प्रेरित हो मेरे और युधिष्ठिरके पास आकर धर्मतः तुम्हें पतिके रूपमें वरण कर चुकी है। मेरी आज्ञा है कि तुम उसे धर्मके लिये एक पुत्र प्रदान करो। वह हमारे लिये कल्याण-कारी होगा। मैं इस विषयमें तुम्हारा कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहती। तुम हम दोनोंके सामने प्रतिज्ञा करो॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम्॥ १९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! 'बहुत अच्छा' कहकर भीमसेनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की (और हिडिम्बाके साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया) तत्पश्चात् भीमसेन हिडिम्बासे इस प्रकार बोले—'राक्षसी! सुनो, मैं सत्यकी शपथ खाकर तुम्हारे सामने एक शर्त रखता हूँ॥ १९॥

यावत् कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे।
तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे॥ २०॥

'शुभे! सुमध्यमे! जबतक तुम्हें पुत्रकी उत्पत्ति न हो जाय तभीतक मैं तुम्हारे साथ विहारके लिये चलूँगा'॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेनको साथ ले वहाँसे ऊपर आकाशमें उड़ गयी॥ २१॥

शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा॥ २२॥
कृत्वा च परमं रूपं सर्वाभरणभूषिता।
संजल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम्॥ २३॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
सरस्सु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च॥ २४॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च॥ २५॥
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च॥ २६॥
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरस्स्वमलवारिषु।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च॥ २७॥
पल्वलेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु॥ २८॥
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरस्सु च॥ २९॥
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम्।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा॥ ३०॥

उसने रमणीय पर्वतशिखरोंपर, देवताओंके निवासस्थानों-में तथा जहाँ बहुतसे पशु-पक्षी मधुर शब्द करते रहते हैं, ऐसे सुरम्य प्रदेशोंमें सदा परम सुन्दर रूप धारण करके, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो मीठी-मीठी बातें करके पाण्डुनन्दन भीमसेनको सुख पहुँचाया। इसी प्रकार पुष्पित वृक्षों और लताओंसे सुशोभित दुर्गम वनोंमें, कमल और उत्पल आदिसे अलंकृत रमणीय सरोवरोंमें, नदियोंके द्वीपोंमें तथा जहाँकी वालुका वैदूर्यमणिके समान है, जिनके घाट, तटवर्ती वन तथा जल सभी सुन्दर एवं पवित्र हैं, उन पर्वतीय नदियोंमें, विकसित वृक्षों और लता-वल्लरियोंसे विभूषित विचित्र काननोंमें, हिमवान् पर्वतके कुञ्जों और भाँति-भाँतिकी गुफाओंमें, खिले हुए कमलसमूहसे युक्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें, मणियों और सुवर्णसे सम्पन्न समुद्र-तटवर्ती प्रदेशोंमें, छोटे-छोटे सुन्दर तालाबोंमें, बड़े-बड़े शालवृक्षोंके जंगलोंमें, पवित्र देववनोंमें, पर्वतीय शिखरोंपर, गुह्यकोंके निवासस्थानोंमें, सभी ऋतुओंके फलोंसे सम्पन्न तपस्वी मुनियोंके सुरम्य आश्रमोंमें तथा मानसरोवर एवं अन्य जलाशयोंमें घूम-फिरकर हिडिम्बाने

परम सुन्दर रूप धारण करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके साथ रमण किया। वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी, अतः उन-उन स्थानोंमें भीमसेनको आनन्द प्रदान करती हुई विचरती रहती थी ॥ २२—३० ॥

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम्।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥ ३१ ॥

कुछ कालके पश्चात् उस राक्षसीने भीमसेनसे एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शङ्कुके समान थे। वह देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम्।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ॥ ३२ ॥
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम्।
दीर्घघोणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ॥ ३३ ॥

उसकी आवाज बड़ी भयानक थी। सुन्दर लाल-लाल ओठ, तीखी दाढ़ें, महान् बल, बहुत बड़ा धनुष, महान् पराक्रम, अत्यन्त धैर्य और साहस, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महान् वेग और विशाल शरीर—ये उसकी विशेषताएँ थीं। वह महामायावी राक्षस अपने शत्रुओंका दमन करनेवाला था। उसकी नाक बहुत बड़ी, छाती चौड़ी तथा पैरोंकी दोनों पिंडलियाँ टेढ़ी और ऊँची थीं ॥ ३२-३३ ॥

अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम्।
यः पिशाचानतीत्यान्यान् बभूवातीव राक्षसान्॥ ३४ ॥

यद्यपि उसका जन्म मनुष्यसे हुआ था तथापि उसकी आकृति और शक्ति अमानुषिक थी। उसका वेग भयंकर और बल महान् था। वह दूसरे पिशाचों तथा राक्षसोंसे बहुत अधिक शक्तिशाली था ॥ ३४ ॥

बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद् बली ॥ ३५ ॥

राजन्! अवस्थामें बालक होनेपर भी वह मनुष्योंमें युवक-सा प्रतीत होता था। उस बलवान् वीरने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंमें बड़ी निपुणता प्राप्त की थी ॥ ३५ ॥

सद्यो हि गर्भान् राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ॥ ३६ ॥

राक्षसियाँ जब गर्भ धारण करती हैं, तब तत्काल ही उसको जन्म दे देती हैं। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली और नाना प्रकारके रूप बदलनेवाली होती हैं ॥ ३६ ॥

प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात् स पितुस्तदा।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामास्य चक्रतुः ॥ ३७ ॥

उस महान् धनुर्धर बालकने पैदा होते ही पिता और माताके चरणोंमें प्रणाम किया। उसके सिरमें बाल नहीं उगे थे। उस समय पिता और माताने उसका इस प्रकार नामकरण किया ॥ ३७ ॥

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३८ ॥

बालककी माताने भीमसेनसे कहा—'इसका घट (सिर) उत्कच[1] अर्थात् केशरहित है।' उसके इस कथनसे ही उसका नाम घटोत्कच हो गया ॥ ३८ ॥

अनुरक्तश्च तानासीत् पाण्डवान् स घटोत्कचः।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ॥ ३९ ॥

घटोत्कचका पाण्डवोंके प्रति बड़ा अनुराग था और पाण्डवोंको भी वह बहुत प्रिय था। वह सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहता था ॥ ३९ ॥

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान्।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ४० ॥

तदनन्तर हिडिम्बा पाण्डवोंसे यह कहकर कि भीमसेनके साथ रहनेका मेरा समय समाप्त हो गया, आवश्यकताके समय पुनः मिलनेकी प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थानको चली गयी ॥ ४० ॥

घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान् पृथया सह।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य तान् ॥ ४१ ॥
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदतानघाः।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् विशालकाय घटोत्कचने कुन्तीसहित पाण्डवोंको यथायोग्य प्रणाम करके उन्हें सम्बोधित करके कहा—'निष्पाप गुरुजन! आप निःशङ्क होकर बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ।' इस प्रकार पूछनेवाले भीमसेनकुमारसे कुन्तीने कहा—॥ ४१-४२ ॥

त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद् भीमसमो ह्यसि।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ॥ ४३ ॥

'बेटा! तुम्हारा जन्म कुरुकुलमें हुआ है। तुम मेरे लिये साक्षात् भीमसेनके समान हो। पाँचों पाण्डवोंके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हमारी सहायता करो' ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पृथयाप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत्।
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाभवं नृषु ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके यों कहनेपर घटोत्कचने प्रणाम करके ही उनसे कहा—

1. कोई-कोई उत्कचका अर्थ 'ऊपर उठे हुए बालोंवाला' भी करते हैं।

पाण्डवोंकी व्यासजीसे भेंट

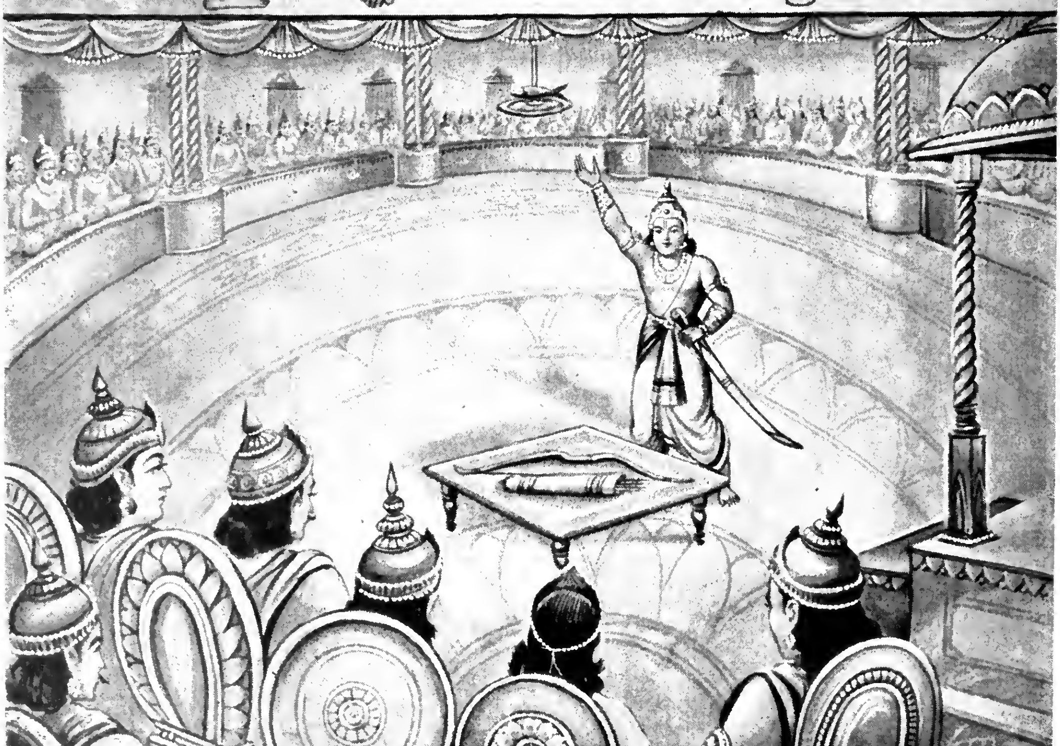

धृष्टद्युम्नकी घोषणा

'दादीजी ! लोकमें जैसे रावण और मेघनाद बहुत बड़े बलवान् थे, उसी प्रकार इस मानव-जगत्‌में मैं भी उन्हींके समान विशालकाय और महापराक्रमी हूँ; बल्कि उनसे भी बढ़कर हूँ ॥ ४४ ॥

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥ ४५ ॥

'जब मेरी आवश्यकता होगी, उस समय मैं स्वयं अपने पितृवर्गकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा ।' यों कहकर राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच पाण्डवोंसे आज्ञा लेकर उत्तर दिशाकी ओर चला गया ॥ ४५ ॥

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना।
कर्णस्याप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ॥ ४६ ॥

महामना इन्द्रने अनुपम पराक्रमी कर्णकी शक्तिका आघात सहन करनेके लिये घटोत्कचकी सृष्टि की थी। वह कर्णके सम्मुख युद्ध करनेमें समर्थ महारथी वीर था ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि घटोत्कचोत्पत्तौ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें घटोत्कचकी उत्पत्तिविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको व्यासजीका दर्शन और उनका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून्।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे महारथी पाण्डव उस स्थानसे हटकर एक वनसे दूसरे वनमें जाकर बहुत-से हिंसक पशुओंको मारते हुए बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े ॥ १ ॥

मत्स्यांस्त्रिगर्तान् पञ्चालान् कीचकानन्तरेण च।
रमणीयान् वनोद्देशान् प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥

मत्स्य, त्रिगर्त, पञ्चाल तथा कीचक—इन जनपदोंके भीतर होकर रमणीय वनस्थलियों और सरोवरोंको देखते हुए वे लोग यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥ ३ ॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥ ४ ॥

उन सबने अपने सिरपर जटाएँ रख ली थीं। वल्कल और मृगचर्मसे अपने शरीरको ढँक लिया था और तपस्वीका-सा वेष धारण कर रक्खा था। इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवीके साथ कहीं तो उन्हें पीठपर ढोते हुए तीव्र गतिसे चलते थे, कहीं इच्छानुसार धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज कर देते थे ॥ ३-४ ॥

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥ ५ ॥

पाण्डवलोग सब शास्त्रोंके ज्ञाता थे और प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदाङ्ग तथा नीतिशास्त्रका स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन जब वे स्वाध्यायमें लगे थे, उन्हें पितामह व्यासजीका दर्शन हुआ ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवोंने उस समय महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायनको प्रणाम किया और अपनी माताके साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ६ ॥

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥
तद् विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम्।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ॥ ८ ॥

तब व्यासजीने कहा—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो !

मैंने पहले ही तुमलोगोंपर आये हुए इस संकटको जान लिया था । धृतराष्ट्रके पुत्रोंने तुम्हें जिस प्रकार अधर्मपूर्वक राज्यसे बहिष्कृत किया है, वह सब जानकर तुम्हारा परम हित करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। इसके लिये तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये; यह सब तुम्हारे भावी सुखके लिये हो रहा है ॥ ७-८ ॥

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम्॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मेरे लिये तुमलोग और धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं। फिर भी जहाँ दीनता और बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं; इसी कारण इस समय तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह है ॥ ९ ॥

स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत।
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम्।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः॥ १० ॥

मैं स्नेहपूर्वक तुमलोगोंका हित करना चाहता हूँ। इसलिये मेरी बात सुनो। यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधिका भय नहीं है। अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो और मेरे पुनः आनेकी प्रतीक्षा करो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पाण्डवोंको भलीभाँति आश्वासन देकर सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरीके निकट गये। वहाँ उन्होंने कुन्तीको इस प्रकार सान्त्वना दी ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः।
पृथिव्यां पार्थिवान् सर्वान् प्रशासिष्यति धर्मराट्॥ १२ ॥

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू! तुम्हारे ये पुत्र नरश्रेष्ठ महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं; अतः ये धर्मसे ही सारी पृथ्वीको जीतकर भूमण्डलके सम्पूर्ण राजाओंपर शासन करेंगे ॥ १२ ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम्।
भीमसेनार्जुनबलाद् भोक्ष्यते नात्र संशयः॥ १३ ॥

भीमसेन और अर्जुनके बलसे समुद्रपर्यन्त सारी वसुधाको अपने अधिकारमें करके ये उसका उपभोग करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा॥ १४ ॥

तुम्हारे और माद्रीके सभी महारथी पुत्र सदा अपने राज्यमें प्रसन्नचित्त हो सुखपूर्वक विचरेंगे ॥ १४ ॥

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम्।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः॥ १५ ॥

पुरुषोंमें सिंहके समान बलवान् पाण्डव इस पृथ्वीको जीतकर प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न राजसूय तथा अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करेंगे ॥ १५ ॥

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः॥ १६ ॥

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदोंके समुदायको उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुखके द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादोंके राज्यका पालन एवं उपभोग करेंगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैनान् ब्राह्मणस्य निवेशने।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर महर्षि द्वैपायनने इन सबको एक ब्राह्मणके घरमें ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे कहा—॥ १७ ॥

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम्॥ १८ ॥

'तुमलोग यहाँ एक मासतक मेरी प्रतीक्षा करो। मैं पुनः आऊँगा। देश और कालका विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिये; इससे तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा' ॥ १८ ॥

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः॥ १९ ॥

राजन्! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की। तदनन्तर शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि एकचक्राप्रवेशे व्यासदर्शने पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें पाण्डवोंका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश और व्यासजीका दर्शनविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

(बकवधपर्व)

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणपरिवारका कष्ट दूर करनेके लिये कुन्तीकी भीमसेनसे बातचीत तथा ब्राह्मणके चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! कुन्तीके महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरीमें पहुँच गये, उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एकचक्रा नगरीमें जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनोंतक एक ब्राह्मणके घरमें रहे। २ ।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च ॥ ३ ॥
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥ ४ ॥

जनमेजय ! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति-भाँतिके रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरोंका दर्शन करते हुए भिक्षाके द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे । अपने उत्तम गुणोंके कारण वे सभी नागरिकोंके प्रीतिपात्र हो गये थे ॥ ३ ४ ॥

(दर्शनीया द्विजाः शुद्धा देवगर्भोपमाः शुभाः ।
भैक्षानर्हाश्च राज्यार्हाः सुकुमारास्तपस्विनः ॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना भैक्षं नार्हन्ति नित्यशः ।
कार्यार्थिनश्चरन्तीति तर्कयन्त इति ब्रुवन् ॥
बन्धूनामागमाश्रित्यमुपचिन्त्य तु नागराः ।
भाजनानि च पूर्णानि भक्ष्यभोज्यैरकारयन् ॥
मौनव्रतेन संयुक्ता भैक्षं गृह्णन्ति पाण्डवाः ।
माता चिरगतान् दृष्ट्वा शोचन्तीति च पाण्डवाः ॥
त्वरमाणा निवर्तन्ते मातृगौरवयन्त्रिताः ॥)

उन्हें देखकर नगरनिवासी आपसमें तर्क-वितर्क करते हुए इस प्रकारकी बातें करते थे—'ये ब्राह्मणलोग तो देखने ही योग्य हैं । इनके आचार-विचार शुद्ध एवं सुन्दर हैं । इनकी आकृति देवकुमारोंके समान जान पड़ती है । ये भीख माँगने-योग्य नहीं, राज्य करनेके योग्य हैं । सुकुमार होते हुए भी तपस्यामें लगे हैं । इनमें सब प्रकारके शुभ लक्षण शोभा पाते हैं । ये कदापि भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं । शायद किसी कार्यवश भिक्षुओंके वेशमें विचर रहे हैं ।' वे नागरिक पाण्डवोंके आगमनको अपने बन्धुजनोंका ही आगमन मानकर उनके लिये भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे भरे हुए पात्र तैयार रखते थे और मौनव्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उनसे वह भिक्षा ग्रहण करते थे । हमें आये हुए बहुत देर हो गयी, इसलिये माताजी चिन्तामें पड़ी होंगी – यह सोचकर माताके गौरव-पाशमें बँधे हुए पाण्डव बड़ी उतावलीके साथ उनके पास लौट आते थे ॥

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि ।
तया विभक्तान् भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक् पृथक्॥ ५॥

प्रतिदिन रात्रिके आरम्भमें भिक्षा लाकर वे माता कुन्तीको सौंप देते और वे बाँटकर जिसके लिये जितना हिस्सा देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डवलोग भोजन करते थे ॥ ५ ॥

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥ ६ ॥

वे चारों वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आधी भिक्षाका उपभोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षाका आधा भाग अकेले महाबली भीमसेन खाते थे ॥ ६ ॥

तथा तु तेषां वसतां तस्मिन् राष्ट्रे महात्मनाम्।
अतिचक्राम सुमहान् कालोऽथ भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! इस प्रकार उस राष्ट्रमें निवास करते हुए महात्मा पाण्डवोंका बहुत समय बीत गया ॥ ७ ॥

ततः कदाचिद् भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥ ८ ॥

तदनन्तर एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षाके लिये गये; किंतु भीमसेन किसी कार्यविशेषके सम्बन्धसे कुन्तीके साथ वहाँ घरपर ही रह गये थे ॥ ८ ॥

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उस दिन ब्राह्मणके घरमें सहसा बड़े जोरका भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्तीने सुना ॥ ९ ॥

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात् साधुभावाच्च कुन्ती राजन् न चक्षमे॥ १० ॥

राजन् ! उन ब्राह्मण-परिवारके लोगोंको बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता तथा साधु-स्वभावके कारण सहन न कर सकीं ॥ १० ॥

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥
वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवीके हृदयको मथे डालता था। अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेनसे इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं— 'बेटा! हमलोग इस ब्राह्मणके घरमें दुर्योधनसे अज्ञात रहकर बड़े सुखसे निवास करते हैं। यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्यको भूल गये हैं ॥ ११-१२ ॥

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥

'इसलिये पुत्र ! मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मणका मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसीके घरमें सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ॥ १३ ॥

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन् न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

'तात ! जिसके प्रति किया हुआ उपकार उसका बदला चुकाये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है (और इतना ही उसका पौरुष—मानवता है कि) दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्यका प्रत्युपकार कर दे ॥ १४ ॥

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥ १५ ॥

'इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मणपर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—माँ ! पहले यह मालूम करो कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है और वह किस कारणसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होगा, तो भी मैं इसका कष्ट दूर करनेके लिये उद्योग करूँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे माँ-बेटे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि पुनः पत्नीसहित ब्राह्मणका आर्तनाद उनके कानोंमें पड़ा ॥ १७ ॥

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

तब कुन्तीदेवी तुरंत ही उस महात्मा ब्राह्मणके अन्तःपुरमें घुस गयीं—ठीक उसी तरह जैसे घरके भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है ॥ १८ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥ १९ ॥

भीतर जाकर कुन्तीने ब्राह्मणको वहाँ पत्नी, पुत्र और कन्याके साथ नीचे मुँह किये बैठे देखा ॥ १९ ॥

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥

ब्राह्मण देवता कह रहे थे—जगत्के इस जीवनको धिक्कार है; क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःखकी जड़, पराधीन और अत्यन्त अप्रियका भागी है ॥ २० ॥

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥

जीनेमें महान् दुःख है। जीवनकालमें बड़ी भारी चिन्ताका सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रक्खा है, उसे दुःखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ २१ ॥

आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते ।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥ २२ ॥

जीवात्मा अकेला ही धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है। इनका वियोग होना भी उसके लिये महान् और अनन्त दुःखका कारण होता है ॥ २२ ॥

आहुः केचित् परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन ।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥

कुछ लोग चारों पुरुषार्थोंमें मोक्षको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं, किंतु वह भी मेरे लिये किसी प्रकार सुलभ नहीं है। अर्थकी प्राप्ति होनेपर तो नरकका सम्पूर्ण दुःख भोगना ही पड़ता है ॥ २३ ॥

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥

धनकी इच्छा सबसे बड़ा दुःख है किंतु धन प्राप्त करनेमें तो और भी अधिक दुःख है और जिसकी धनमें आसक्ति हो गयी है*, उसे उस धनका वियोग होनेपर

---

* यावन्तो यस्य संयोगा द्रव्यैरिष्टैर्भवन्त्युत ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥

इतना महान् दुःख होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है ।२४।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥ २५ ॥

मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे इस विपत्तिसे छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्रीके साथ किसी निरापद स्थानमें भाग चलूँ ॥ २५ ॥

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥ २६ ॥

ब्राह्मणी! तुम इस बातको ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थानमें चलनेके लिये जहाँ सब प्रकारसे अपना भला हो, मैंने प्रयत्न किया था; परंतु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी ॥ २६ ॥

इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमान मयासकृत् ॥ २७ ॥

मूढमते! मैं बार-बार तुमसे अन्यत्र चलनेके लिये अनुरोध करता। उस समय तुम कहने लगती थीं—'यहीं मेरा जन्म हुआ, यहीं बड़ी हुई तथा मेरे पिता भी यहीं रहते थे' ॥

स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ॥ २८ ॥

अरी! तुम्हारे बूढ़े पिता-माता और पहलेके भाई बन्धु जिसे छोड़कर बहुत दिन हुए स्वर्गलोकको चले गये, वहीं निवास करनेके लिये यह आसक्ति कैसी! ॥ २८ ॥

सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वत्या वचो मम।
बन्धुप्रणाशः सम्प्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ॥ २९ ॥

तुमने बन्धु-बान्धवोंके साथ रहनेकी इच्छा रखकर जो मेरी बात नहीं सुनी, उसीका यह फल है कि आज समस्त भाई-बन्धुओंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है, जो मेरे लिये अत्यन्त दुःखका कारण है ॥ २९ ॥

अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन् नृशंसवत् ॥ ३० ॥

अथवा यह मेरे ही विनाशका समय है; क्योंकि मैं स्वयं जीवित रहकर क्रूर मनुष्यकी भाँति दूसरे किसी भाई-बन्धुका त्याग नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ॥ ३१ ॥

प्रिये! तुम मेरी सहधर्मिणी और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली हो।। सदा सावधान रहकर माताके समान मेरा पालन-पोषण करती हो। देवताओंने तुम्हें मेरी सखी (सहायिका) बनाया है। तुम सदा मेरी परम गति (सबसे बड़ा सहारा) हो ॥ ३१ ॥

पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम्।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत् परिणीय च ॥ ३२ ॥

तुम्हारे पिता-माताने तुम्हें सदाके लिये मेरे गृहस्थाश्रमकी अधिकारिणी बनाया है। मैंने विधिपूर्वक तुम्हारा वरण करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक तुम्हारे साथ विवाह किया है ॥ ३२ ॥

कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ॥ ३३ ॥
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम्।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम् ॥ ३४ ॥
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ॥ ३५ ॥
यया दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३६ ॥

तुम कुलीन, सुशीला और संतानवती हो, सती-साध्वी हो। तुमने कभी मेरा अपकार नहीं किया है। तुम नित्य मेरे अनुकूल चलनेवाली धर्मपत्नी हो। अतः मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें नहीं त्याग सकूँगा। फिर स्वयं ही अपने उस पुत्रका त्याग तो कैसे कर सकूँगा, जो अभी निरा बच्चा है, जिसने युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया है तथा जिसके शरीरमें अभी जवानीके लक्षणतक नहीं प्रकट हुए हैं। साथ ही अपनी इस कन्याको कैसे त्याग दूँ, जिसे महात्मा ब्रह्माजी-ने उसके भावी पतिके लिये धरोहरके रूपमें मेरे यहाँ रख छोड़ा है? जिसके होनेसे मैं पितरोंके साथ दौहित्रजनित पुण्यलोकोंको पानेकी आशा रखता हूँ, उसी अपनी बालिका-को स्वयं ही जन्म देकर मैं मौतके मुखमें कैसे छोड़ सकता हूँ? ॥ ३३–३६ ॥

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पिताका अधिक स्नेह पुत्र-पर होता है तथा कुछ दूसरे लोग पुत्रीपर ही अधिक स्नेह बताते हैं; किंतु मेरे लिये तो दोनों ही समान हैं ॥ ३७ ॥

यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम्।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३८ ॥

जिसपर पुण्यलोक, वंशपरम्परा और नित्य सुख — सब कुछ सदा निर्भर रहते हैं, उस निष्पाप बालिकाका परित्याग मैं कैसे कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम् ॥ ३९ ॥

अपनेको भी त्यागकर परलोकमें जानेपर मैं सदा इस बातके लिये संतप्त होता रहूँगा कि मेरे द्वारा त्यागे हुए ये बच्चे अवश्य ही यहाँ जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ ३९ ॥

एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥ ४० ॥

इनमेंसे किसीका भी त्याग विद्वानोंने निर्दयतापूर्ण तथा निन्दनीय बताया है और मेरे मर जानेपर ये सभी मेरे बिना मर जायँगे ॥ ४० ॥

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम्।
अहो धिक् कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥ ४१ ॥

अहो! मैं बड़ी कठिन विपत्तिमें फँस गया हूँ। इससे पार होनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। धिक्कार है इस जीवनको। हाय! मैं बन्धु-बान्धवोंके साथ आज किस गतिको प्राप्त होऊँगा? सबके साथ मर जाना ही अच्छा है। मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायां षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकीचिन्ताविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणीका स्वयं मरनेके लिये उद्यत होकर पतिसे जीवित रहनेके लिये अनुरोध करना

ब्राह्मण्युवाच

न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित्।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ! आपको साधारण मनुष्योंकी भाँति कभी संताप नहीं करना चाहिये। आप विद्वान् हैं, आपके लिये यह संतापका अवसर नहीं है ॥ १ ॥

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः।
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥

एक-न-एक दिन संसारमें सभी मनुष्योंको अवश्य मरना पड़ेगा; अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिये यहाँ शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते।
व्यथां जहि सुबुद्ध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥ ३ ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम्।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने ही लिये अभीष्ट होते हैं। आप उत्तम बुद्धि-विवेकका आश्रय लेकर शोक संताप छोड़िये। मैं स्वयं वहाँ (राक्षसके समीप) चली जाऊँगी। पत्नीके लिये लोकमें सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणोंको भी निछावर करके पतिकी भलाई करे ॥ ३-४ ॥

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीदं सुखावहम्।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥ ५ ॥

पतिके हितके लिये किया हुआ मेरा वह प्राणोत्सर्गरूप कर्म आपके लिये तो सुखकारक होगा ही; मेरे लिये भी परलोकमें अक्षय सुखका साधक और इस लोकमें यशकी प्राप्ति करानेवाला होगा ॥ ५ ॥

एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव।
अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥

यह सबसे बड़ा धर्म है, जो मैं आपसे बता रही हूँ। इसमें आपके लिये अधिक से-अधिक स्वार्थ और धर्मका लाभ दिखायी देता है ॥ ६ ॥

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥ ७ ॥

जिस उद्देश्यसे पत्नीकी अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे उऋण कर दिया है ॥ ७ ॥

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥

इन दोनों संतानोंका पालन पोषण और संरक्षण करनेमें आप समर्थ हैं। आपकी तरह मैं इन दोनोंके पालन-पोषण तथा रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकूँगी ॥ ८ ॥

मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भरेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥

मेरे सर्वस्वके स्वामी प्राणेश्वर! आपके न रहनेपर मेरे इन दोनों बच्चोंकी क्या दशा होगी? मैं किस तरह इन बालकोंका भरण-पोषण करूँगी? ॥ ९ ॥

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥

मेरा पुत्र अभी बालक है, आपके बिना मैं अनाथ विधवा सन्मार्गपर स्थित रहकर इन दोनों बच्चोंको कैसे जिलाऊँगी ॥ १० ॥

अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम्।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥

जो आपके यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा अयोग्य हैं, ऐसे

अहंकारी और घमंडीलोग जब मुझसे इस कन्याको माँगेंगे, तब मैं उनसे इसकी रक्षा कैसे कर सकूँगी ॥ ११ ॥

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥ १२ ॥
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

जैसे पक्षी पृथ्वीपर डाले हुए मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये झपटते हैं, उसी प्रकार सब लोग विधवा स्त्रीको वशमें करना चाहते हैं। द्विजश्रेष्ठ ! दुराचारी मनुष्य जब बार-बार मुझसे याचना करते हुए मुझे मर्यादासे विचलित करनेकी चेष्टा करेंगे, उस समय मैं श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अभिलषित मार्गपर स्थिर नहीं रह सकूँगी ॥ १२-१३ ॥

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम्।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

आपके कुलकी इस एकमात्र निरपराध बालिकाको मैं बाप-दादोंके द्वारा पालित धर्ममार्गपर लगाये रखनेमें कैसे समर्थ होऊँगी ॥ १४ ॥

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान्।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥ १५ ॥

आप धर्मके ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालकको सद्गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहनेपर सब ओरसे आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालकमें वाञ्छनीय उत्तम गुणोंका आधान कैसे कर सकूँगी ॥ १५ ॥

इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम्।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥ १६ ॥

जैसे अनधिकारी शूद्र वेदकी श्रुतिको प्राप्त करना चाहता हो, उसी प्रकार अयोग्य पुरुष मेरी अवहेलना करके आपकी इस अनाथ बालिकाको भी ग्रहण करना चाहेंगे॥ १६ ॥

तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम्।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाध्वरात् ॥ १७ ॥

आपके ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न अपनी इस पुत्रीको यदि मैं उन अयोग्य पुरुषोंके हाथमें न देना चाहूँगी तो वे बलपूर्वक इसे उसी प्रकार हर ले जायँगे, जैसे कौए यज्ञसे हविष्यका भाग लेकर उड़ जायँ ॥ १७ ॥

सम्प्रेक्षमाणा पुत्रं ते नानुरूपमिवात्मनः।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ॥ १८ ॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन् मरिष्यामि न संशयः ॥ १९ ॥

ब्रह्मन् ! आपके इस पुत्रको आपके अनुरूप न देखकर और आपकी इस पुत्रीको भी अयोग्य पुरुषके वशमें पड़ी देखकर तथा लोकमें घमंडी मनुष्योंद्वारा अपमानित हो अपनेको पूर्ववत् सम्मानित अवस्थामें न पाकर मैं प्राण त्याग दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १८-१९ ॥

तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ।
विनश्येतां न संदेहो मत्स्याविव जलक्षये ॥ २० ॥

जैसे पानी सूख जानेपर वहाँकी मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार मुझसे और आपसे रहित होकर अपने ये दोनों बच्चे निःसन्देह नष्ट हो जायँगे ॥ २० ॥

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम्।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

नाथ ! इस प्रकार आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा विनष्ट हो जायँगे—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इसलिये आप केवल मुझे त्याग दीजिये ॥ २१ ॥

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम्।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पतिसे पहले ही मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो यह उनके लिये परम सौभाग्यकी बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं ॥ २२ ॥

(मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं का पतिं नाभिनन्दति ॥)

पिता, माता और पुत्र-ये सब परिमित मात्रामें ही सुख देते हैं, अपरिमित सुखको देनेवाला तो केवल पति है। ऐसे पतिका कौन स्त्री आदर नहीं करेगी !

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥

आर्यपुत्र ! आपके लिये मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु-बान्धवोंको भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन भी त्याग देनेको उद्यत हूँ ॥ २३ ॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥ २४ ॥

स्त्री यदि सदा अपने स्वामीके प्रिय और हितमें लगी रहे तो यह उसके लिये बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकारके दानोंसे भी बढ़कर है ॥ २४ ॥

तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसम्मतम्।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ॥ २५ ॥

अतः मैं जो यह कार्य करना चाहती हूँ, यह श्रेष्ठ पुरुषोंसे सम्मत धर्म है और आपके तथा इस कुलके लिये सर्वथा अनुकूल एवं हितकारक है ॥ २५ ॥

इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥ २६ ॥

अनुकूल संतान, धन, प्रिय सुहृद् तथा पत्नी—ये सभी आपद्धर्मसे छूटनेके लिये ही वाञ्छनीय हैं; ऐसा साधु पुरुषोंका मत है ॥ २६ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ २७ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री तथा धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥

दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम्।
सर्वमेतद् विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥ २८ ॥

पत्नी, पुत्र, धन और घर—ये सब वस्तुएँ दृष्ट और अदृष्ट फल (लौकिक और पारलौकिक लाभ) के लिये संग्रहणीय हैं। विद्वानोंका यह निश्चय है ॥ २८ ॥

एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धनः।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥ २९ ॥

एक ओर सम्पूर्ण कुल हो और दूसरी ओर उस कुलकी वृद्धि करनेवाला शरीर हो तो उन दोनोंकी तुलना करनेपर वह सारा कुल उस शरीरके बराबर नहीं हो सकता; यह विद्वानोंका निश्चय है ॥ २९ ॥

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥ ३० ॥

आर्य ! अतः आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्यकी सिद्धि कीजिये और स्वयं प्रयत्न करके अपनेको इस संकटसे बचाइये। मुझे राक्षसके पास जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे दोनों बच्चोंका पालन कीजिये ॥ ३० ॥

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञ विद्वानोंने धर्म-निर्णयके प्रसङ्गमें नारीको अवध्य बताया है। राक्षसोंको भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं। इसलिये सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री समझकर न मारे॥

निस्संशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥ ३२ ॥

पुरुष वहाँ जायँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा इसमें संशय नहीं है; परंतु स्त्रियोंके वधमें संदेह है। (यदि राक्षसने धर्मका विचार किया तो मेरे बच जानेकी आशा है) अतः धर्मज्ञ आर्यपुत्र ! आप मुझे ही वहाँ भेजें ॥ ३२ ॥

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान्।
त्वत्प्रसूतिःप्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम्॥ ३३ ॥

मैंने सब प्रकारके भोग भोग लिये, मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ प्राप्त कर लीं, महान् धर्मका अनुष्ठान भी पूरा कर लिया और आपसे प्यारी संतान भी प्राप्त कर ली। अब यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो उससे मुझे दुःख न होगा ॥

जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३४ ॥

मुझसे पुत्र उत्पन्न हो गया, मैं बूढ़ी भी हो चली और सदा आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखती आयी हूँ। इन सब बातोंपर विचार करके ही अब मैं मरनेका निश्चय कर रही हूँ ॥ ३४ ॥

उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ॥ ३५ ॥

आर्य ! मुझे त्याग करके आप दूसरी स्त्री भी प्राप्त कर सकते हैं। उससे आपका गृहस्थ-धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो जायगा ॥

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम्।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३६ ॥

कल्याणस्वरूप हृदयेश्वर ! बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करनेवाले पुरुषोंको भी पाप नहीं लगता। परंतु स्त्रियोंको अपने पूर्वपतिका उल्लङ्घन करनेपर बड़ा भारी पाप लगता है।३६।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥ ३७ ॥

इन सब बातोंको विचार करके और अपने देहके त्यागको निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपनेको, अपने कुलको और इन दोनों बच्चोंको भी संकटसे बचा लीजिये।३७।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उसके पति ब्राह्मणदेवता अत्यन्त दुखी हो उसे हृदयसे लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे। ३८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणीवाक्ये सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणीवाक्यविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकन्याके त्याग और विवेकपूर्ण वचन तथा कुन्तीका उन सबके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! दुःखमें डूबे हुए माता-पिताका यह (अत्यन्त शोकपूर्ण) वचन सुनकर कन्याके सम्पूर्ण अङ्गोंमें दुःख व्याप्त हो गया; उसने माता और पिता दोनोंसे कहा—॥ १ ॥

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत्।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम्॥ २ ॥

'आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अनाथकी भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं ? मेरी भी बात सुनिये और उसे सुनकर जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ।२।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया॥ ३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि एक-न-एक दिन आप दोनोंको धर्मतः मेरा परित्याग करना पड़ेगा। जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेलीके द्वारा इस समूचे कुलकी रक्षा कर लीजिये ॥ ३ ॥

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया॥ ४ ॥

'संतानकी इच्छा इसीलिये की जाती है कि यह मुझे संकटसे उबारेगी। अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौकाकी भाँति मेरा उपयोग करके आपलोग शोक-सागरसे पार हो जाइये ॥ ४ ॥

इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः॥ ५ ॥

'जो पुत्र इस लोकमें दुर्गम संकटसे पार लगाये अथवा मृत्युके पश्चात् परलोकमें उद्धार करे—सब प्रकार पिताको तार दे, उसे ही विद्वानोंने वास्तवमें पुत्र कहा है ॥ ५ ॥

आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रान् मयि नित्यं पितामहाः।
तत् स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः॥ ६ ॥

'पितरलोग मुझसे उत्पन्न होनेवाले दौहित्रसे अपने उद्धारकी सदा अभिलाषा रखते हैं, इसलिये मैं स्वयं ही पिताके जीवनकी रक्षा करती हुई उन सबका उद्धार करूँगी ॥ ६ ॥

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः॥ ७ ॥

'यदि आप परलोकवासी हो गये तो यह मेरा नन्हा-सा भाई थोड़े ही समयमें नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।७।

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममानुजे।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत् तत् तेषां विप्रियं भवेत्॥८॥

'पिता स्वर्गवासी हो जायँ और मेरा भैया भी नष्ट हो जाय, तो पितरोंका पिण्ड ही लुप्त हो जायगा, जो उनके लिये बहुत ही अप्रिय होगा ॥ ८ ॥

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम्।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता॥ ९ ॥

'पिता, माता और भाई—तीनोंसे परित्यक्त होकर मैं एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी। यद्यपि मैं ऐसा दुःख भोगनेके योग्य नहीं हूँ, तथापि आप लोगोंके बिना मुझे वह सब भोगना ही पड़ेगा ॥ ९ ॥

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः।
संतानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम्॥ १० ॥

'यदि आप मृत्युके संकटसे मुक्त एवं नीरोग रहे तो मेरी माता, मेरा नन्हा-सा भाई, संतान-परम्परा और पिण्ड (श्राद्ध-कर्म) ये सब स्थिर रहेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मे नियोजय॥ ११ ॥

'कहते हैं पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है; किंतु पुत्री निश्चय ही संकट है, अतः आप इस संकटसे अपनेको बचा लीजिये और मुझे भी धर्ममें लगाइये ॥ ११ ॥

अनाथा कृपणा बाला यत्रक्वचनगामिनी।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा॥ १२ ॥

'पिताजी ! आपके बिना मैं सदाके लिये दीन और असहाय हो जाऊँगी, अनाथ और दयनीय समझी जाऊँगी। अरक्षित बालिका होनेके कारण मुझे जहाँ कहीं भी जानेके लिये विवश होना पड़ेगा ॥ १२ ॥

अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोचनम्।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम्॥ १३ ॥

'अथवा मैं अपनेको मृत्युके मुखमें डालकर इस कुलको संकटसे छुड़ाऊँगी। यह अत्यन्त दुष्कर कर्म कर लेनेसे मेरी मृत्यु सफल हो जायगी ॥ १३ ॥

अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम।
पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ पिताजी ! यदि आप मुझे त्यागकर स्वयं राक्षसके पास चले जायँगे तो मैं बड़े दुःखमें पड़ जाऊँगी। अतः मेरी ओर भी देखिये ॥ १४ ॥

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं स सत्तम।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥

'अतः हे साधुशिरोमणे! आप मेरे लिये, धर्मके लिये तथा संतानकी रक्षाके लिये भी अपनी रक्षा कीजिये और मुझे, जिसको एक दिन छोड़ना ही है, आज ही त्याग दीजिये ॥१५॥

अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
किं त्वतः परमं दुःखं यद् वयं स्वर्गते त्वयि ॥ १६ ॥
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत्।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात् सबान्धवे।
अमृते वसती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १७ ॥

'पिताजी! जो काम अवश्य करना है, उसका निश्चय करनेमें आपको अपना समय व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये (शीघ्र मेरा त्याग करके इस कुलकी रक्षा करनी चाहिये)। हमलोगोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि आपके स्वर्गवासी हो जानेपर हम दूसरोंसे अन्नकी भीख माँगते हुए कुत्तोंकी तरह इधर-उधर दौड़ते फिरें। यदि मुझे त्यागकर आप अपने भाई-बन्धुओंसहित इस क्लेशसे मुक्त हो नीरोग बने रहें तो मैं अमरलोकमें निवास करती हुई बहुत सुखी होऊँगी ॥

इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति न श्रुतम्।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ॥ १८ ॥

'यद्यपि ऐसे दानसे देवता और पितर प्रसन्न नहीं होते, ऐसा मैंने सुन रक्खा है, तथापि आपके द्वारा दी हुई जलाञ्जलिसे वे प्रसन्न होकर अवश्य हमारा हित-साधन करनेवाले होंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम्।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस तरह उस कन्याके मुखसे नाना प्रकारका विलाप सुनकर पिता-माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मणका नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रोंसे देखता हुआ तोतली भाषामें अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला—॥ २० ॥

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत्।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥ २१ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत्।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥

'पिताजी! न रोओ, माँ! न रोओ, बहिन! न रोओ, वह हँसता हुआ-सा प्रत्येकके पास जाता और सबसे यही बात कहता था। तदनन्तर उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्षमें भरकर कहा—'मैं इसीसे उस नरभक्षी राक्षसको मार डालूँगा' ॥ २१-२२ ॥

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत्।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥

यद्यपि वे सब लोग दुःखमें डूबे हुए थे, तथा उस बालककी अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदयमें सहसा अत्यन्त प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी ॥ २३ ॥

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान्।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

'अब यही अपनेको प्रकट करनेका अवसर है, यह जानकर कुन्तीदेवी उन सबके निकट गयीं और अपनी अमृतमयी वाणीसे उन मृतक (तुल्य) मानवोंको जीवन प्रदान करती हुई-सी बोलीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणकन्यापुत्रवाक्ये अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी कन्या और पुत्रके वचनसम्बन्धी एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके पूछनेपर ब्राह्मणका उनसे अपने दुःखका कारण बताना

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥

कुन्तीने पूछा—ब्रह्मन्! आपलोगोंके इस दुःखका कारण क्या है? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ। उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटानेकी चेष्टा करूँगी ॥१॥

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—तपोधने! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनोंके अनुरूप ही है; परंतु हमारे इस दुःखको मनुष्य नहीं मिटा सकता ॥ २ ॥

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
(इतो गव्यूतिमात्रेऽस्ति यमुनागह्वरे गुहा।
तस्यां घोरः स वसति जिघांसुः पुरुषादकः॥)
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः॥ ३॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः।
(तेनेयं पुरुषादेन भक्ष्यमाणा दुरात्मना।
अनाथा नगरी नाथं त्रातारं नाधिगच्छति॥)
रक्षत्यसुरराण्नित्यमिमं जनपदं बली॥ ४॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम्॥ ५॥

इस नगरके पास ही यहाँसे दो कोसकी दूरीपर यमुनाके किनारे घने जंगलमें एक गुफा है, उसीमें एक भयंकर हिंसाप्रिय नरभक्षी राक्षस रहता है। उसका नाम है बक। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगरका स्वामी है। वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्यभक्षी राक्षस मनुष्यके ही मांससे पुष्ट हुआ है। उस दुरात्मा नरभक्षी निशाचरद्वारा प्रतिदिन खायी जाती हुई यह नगरी अनाथ हो रही है। इसे कोई रक्षक या स्वामी नहीं मिल रहा है। राक्षसोचित-बलसे सम्पन्न वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद, नगर और देशकी रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियोंसे कभी भय नहीं होता।३-५।

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति॥ ६॥

उसके लिये कर नियत किया गया है—बीस खारी अगहनीके चावलका भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब सामान लेकर उसके पास जाता है॥ ६॥

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥ ७॥

प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आनेपर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह बारी बहुत वर्षोंके बाद आती है, तथापि लोगोंके लिये उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है॥ ७॥

तद्विमोक्षाय ये केचिद् यतन्ति पुरुषाः क्वचित्।
सपुत्रदारांस्तान् हत्वा तद् रक्षो भक्षयत्युत॥ ८॥

जो कोई पुरुष कभी उससे छूटनेका प्रयत्न करते हैं, वह राक्षस उन्हें पुत्र और स्त्रीसहित मारकर खा जाता है।८।

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मन्दधीः।
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम्॥ ९॥

वास्तवमें जो यहाँका राजा है, वह वेत्रकीयगृह नामक स्थानमें रहता है। परंतु वह न्यायके मार्गपर नहीं चलता। वह मन्दबुद्धि राजा यत्न करके भी ऐसा कोई उपाय नहीं करता, जिससे सदाके लिये प्रजाका संकट दूर हो जाय।९।

एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये।
विषये नित्यवास्तव्याः कुराजानमुपाश्रिताः॥ १०॥

निश्चय ही हमलोग ऐसा ही दुःख भोगनेके योग्य हैं; क्योंकि इस दुर्बल राजाके राज्यमें निवास करते हैं, यहाँके नित्य निवासी हो गये हैं और इस दुष्ट राजाके आश्रयमें रहते हैं॥ १०॥

ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वाच्छन्दचारिणः।
गुणैरेते हि वत्स्यन्ति कामगाः पक्षिणो यथा॥ ११॥

ब्राह्मणोंको कौन आदेश दे सकता है अथवा वे किसके अधीन रह सकते हैं। ये तो इच्छानुसार विचरनेवाले पक्षियों-की भाँति देश या राजाके गुण देखकर ही कहीं भी निवास करते हैं॥ ११॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन् पुत्रांश्च तारयेत्॥ १२॥

नीति कहती है, पहले अच्छे राजाको प्राप्त करे। उसके बाद पत्नीको और फिर धनकी उपलब्धि करे। इन तीनोंके संग्रहद्वारा अपने जाति-भाइयों तथा पुत्रोंको संकटसे बचाये॥

विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम्।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम्॥ १३॥

मैंने इन तीनोंका विपरीत ढंगसे उपार्जन किया है (अर्थात् दुष्ट राजाके राज्यमें निवास किया, कुराज्यमें विवाह किया और विवाहके पश्चात् धन नहीं कमाया); इसलिये इस विपत्तिमें पड़कर हमलोग भारी कष्ट पा रहे हैं॥ १३॥

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया॥ १४॥

वही आज हमारी बारी आयी है, जो समूचे कुलका विनाश करनेवाली है। मुझे उस राक्षसको करके रूपमें नियत भोजन और एक पुरुषकी बलि देनी पड़ेगी॥ १४॥

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन॥ १५॥

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहींसे किसी पुरुषको खरीद लाऊँ। अपने सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तो मैं कदापि उस राक्षसके हाथमें नहीं दे सकूँगा॥ १५॥

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम्॥ १६॥

उस निशाचरसे छूटनेका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः मैं अत्यन्त दुस्तर दुःखके महासागरमें डूबा हुआ हूँ॥ १६॥

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ १७ ॥

अब इन बान्धवजनोंके साथ ही मैं राक्षसके पास जाऊँगा; फिर वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा जायगा ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीप्रश्ने एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्तीप्रश्नविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती और ब्राह्मणकी बातचीत

कुन्त्युवाच

**न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥**

कुन्ती बोली—ब्रह्मन् ! आपको अपने ऊपर आये हुए इस भयसे किसी प्रकार विषाद नहीं करना चाहिये । इस परिस्थितिमें उस राक्षससे छूटनेका उपाय मेरी समझमें आ गया ॥

**एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥**

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र और एक ही तपस्विनी कन्या है, अतः इन दोनोंका तथा आपकी पत्नीका भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ २ ॥

**मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥**

विप्रवर ! मेरे पाँच पुत्र हैं, उनमेंसे एक आपके लिये उस पापी राक्षसकी बलि-सामग्री लेकर चला जायगा ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

**नाहमेतद् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन ।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान् वियोजयन् ॥ ४ ॥**

ब्राह्मणने कहा—मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये किसी तरह ऐसा नहीं करूँगा । एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथिके प्राणोंका नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थके लिये कराऊँ ! यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

**न त्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद् ब्राह्मणार्थे विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ॥ ५ ॥**

ऐसा निन्दनीय कार्य नीच और अधर्मी जनतामें भी नहीं देखा जाता । उचित तो यह है कि ब्राह्मणके लिये स्वयं अपनेको और अपने पुत्रको भी निछावर कर दे ॥ ५ ॥

**आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचते ।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ॥ ६ ॥
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नात्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वापि वरमात्मवधो मम ॥ ७ ॥**

इसीमें मुझे अपना कल्याण समझना चाहिये तथा यही मुझे अच्छा लगता है । ब्रह्महत्या और आत्महत्यामें मुझे आत्महत्या ही श्रेष्ठ जान पड़ती है । ब्रह्महत्या बहुत बड़ा पाप है । इस जगत्में उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है । अनजानमें भी ब्रह्महत्या करनेकी अपेक्षा मेरी दृष्टिमें आत्महत्या कर लेना अच्छा है ॥ ६-७ ॥

**न त्वहं वधमाकाङ्क्षे स्वयमेवात्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥**

कल्याणि ! मैं स्वयं तो आत्महत्याकी इच्छा करता नहीं, परंतु यदि दूसरोंने मेरा वध कर दिया तो उसके लिये मुझे कोई पाप नहीं लगेगा ॥ ८ ॥

**अभिसंधिकृते तस्मिन् ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥
आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥ १० ॥**

यदि मैंने जान-बूझकर ब्राह्मणका वध करा दिया तो वह बड़ा ही नीच और क्रूरतापूर्ण कर्म होगा । उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय मुझे नहीं सूझता । घरपर आये हुए तथा शरणार्थीका त्याग और अपनी रक्षाके लिये याचना करनेवालेका वध—यह विद्वानोंकी रायमें अत्यन्त क्रूर एवं निन्दित कर्म है ॥ ९-१० ॥

**कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥ १२ ॥**

आपद्धर्मके ज्ञाता प्राचीन महात्माओंने कहा है कि किसी प्रकार भी क्रूर एवं निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये । अतः आज अपनी पत्नीके साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाय, यह श्रेष्ठ है; किंतु ब्राह्मणवधकी अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता ॥

कुन्त्युवाच

**ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १३ ॥**

कुन्तीद्वारा ब्राह्मण-दम्पतिको सान्त्वना

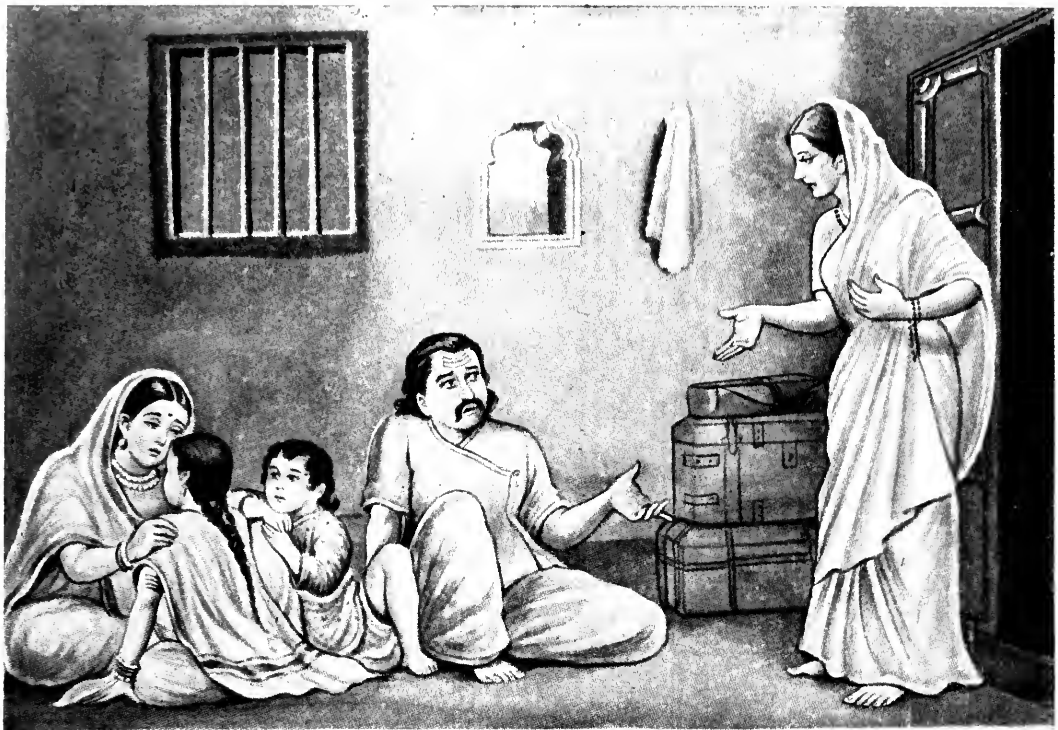

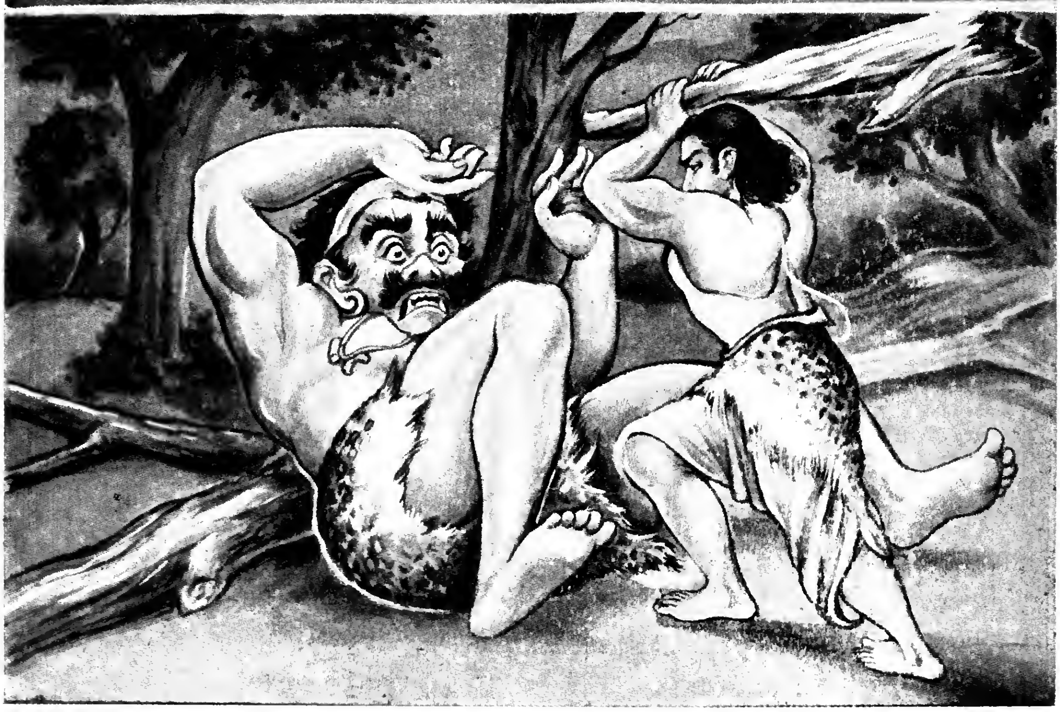

बकासुरपर भीमका प्रहार

न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन् ! मेरा भी यह स्थिर विचार है कि ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी चाहिये । यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों । किंतु वह राक्षस मेरे पुत्रका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है ॥ १३-१४ ॥

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि वह सारा भोजन राक्षसके पास पहुँचा देगा और उससे अपने आपको भी छुड़ा लेगा ॥ १५ ॥

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥ १६ ॥

मैंने पहले भी बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्रसे भिड़कर अपने प्राणों-से हाथ धो बैठे हैं ॥ १६ ॥

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥

परंतु ब्रह्मन् ! आपको किसीसे भी किसी तरह यह बात कहनी नहीं चाहिये । नहीं तो लोग मन्त्र सीखनेके लोभसे कौतूहलवश मेरे पुत्रोंको तंग करेंगे ॥ १७ ॥

गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद् यत् सुतो मम ।
न स कुर्यात् तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम्॥ १८ ॥

और यदि मेरा पुत्र गुरुकी आज्ञा लिये बिना अपना मन्त्र किसीको सिखा देगा तो वह सीखनेवाला मनुष्य उस मन्त्रसे वैसा कार्य नहीं कर सकेगा, जैसा मेरा पुत्र कर लेता है । इस विषयमें साधु पुरुषोंका ऐसा ही मत है ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥

कुन्तीदेवीके यों कहनेपर पत्नीसहित वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुन्तीके अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनोंकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १९ ॥

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्ती और ब्राह्मणने मिलकर वायुनन्दन भीमसेनसे कहा—'तुम यह काम कर दो ।' भीमसेनने उन दोनोंसे

'तथास्तु' कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें भीमके द्वारा बकवधकी स्वीकृतिविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनको राक्षसके पास भेजनेके विषयमें युधिष्ठिर और कुन्तीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्षमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीमसेनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं इस कार्यको पूरा करूँगा', उसी समय पूर्वोक्त सब पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ॥ १ ॥

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेनकी आकृतिसे ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं; फिर उन्होंने एकान्तमें अकेले बैठकर मातासे पूछा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन

कौन सा कार्य करना चाहते हैं ? वे आपकी रायसे अथवा स्वयं ही कुछ करनेको उतारू हो रहे हैं ? ॥ ३ ॥

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

कुन्तीने कहा—बेटा ! शत्रुओंको संतप्त करनेवाला भीमसेन मेरी ही आज्ञासे ब्राह्मणके हितके लिये तथा सम्पूर्ण नगरको संकटसे छुड़ानेके लिये आज एक महान् कार्य करेगा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम्।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ ! आपने यह असह्य और दुष्कर साहस क्यों किया ? साधु पुरुष अपने पुत्रके परित्यागको अच्छा नहीं बताते ॥ ५ ॥

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥ ६ ॥

दूसरेके बेटेके लिये आप अपने पुत्रको क्यों त्याग देना चाहती हैं ? पुत्रका त्याग करके आपने लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध कार्य किया है ॥ ६ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥

जिसके बाहुबलका भरोसा करके हम सब लोग सुखसे सोते हैं और नीच शत्रुओंने जिस राज्यको हड़प लिया है, उसको पुनः वापस लेना चाहते हैं ॥ ७ ॥

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥

जिस अमिततेजस्वी वीरके पराक्रमका चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधनको दुःखके मारे सारी रात नींद नहीं आती थी, ॥ ८ ॥

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम्।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥

जिस वीरके बलसे हमलोग लाक्षागृह तथा दूसरे-दूसरे पापपूर्ण अत्याचारोंसे बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, ॥ ९ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम्।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥ १० ॥
तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥ ११ ॥

जिसके बल-पराक्रमका आश्रय लेकर हमलोग धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर धन-धान्यसे सम्पन्न इस (सम्पूर्ण) पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई ही मानते हैं, उस बलवान् पुत्रके त्यागका निश्चय आपने किस बुद्धिसे किया है ? क्या आप अनेक दुःखोंके कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं ? आपकी बुद्धि लुप्त हो गयी है ॥ १०-११ ॥

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥

कुन्तीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम्हें भीमसेनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धिकी दुर्बलतासे नहीं किया है ॥ १२ ॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १३ ॥
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता।
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ॥ १४ ॥

बेटा ! हमलोग यहाँ इस ब्राह्मणके घरमें बड़े सुखसे रहे हैं । धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमारी कानों-कान खबर नहीं होने पायी है । इस घरमें हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हमने अपने पिछले दुःख और क्रोधको भुला दिया है । पार्थ ! ब्राह्मणके इस उपकारसे उऋण होनेका यही एक उपाय मुझे दिखायी दिया । मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो (जो उपकारको भुला न दे) ॥ १३-१४ ॥

यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः।
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत्।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १५ ॥

दूसरा मनुष्य उसके लिये जितना उपकार करे, उससे कईगुना अधिक प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिये । मैंने उस दिन लाक्षागृहमें भीमसेनका महान् पराक्रम देखा तथा हिडिम्बवधकी घटना भी मेरी आँखोंके सामने हुई । इससे भीमसेनपर मेरा पूरा विश्वास हो गया है॥१५॥

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत्।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १६ ॥

भीमका महान् बाहुबल दस हजार हाथियोंके समान है, जिससे वह हाथीके समान बलशाली तुम सब भाइयोंको वारणावत नगरसे ढोकर लाया है ॥ १६ ॥

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥ १७ ॥

भीमसेनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है । वह युद्धमें सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रका भी सामना कर सकता है ॥ १७ ॥

जातमात्रः पुरा चैव ममाङ्कात् पतितो गिरौ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १८ ॥

पहलेकी बात है, जब वह नवजात शिशुके रूपमें था, उसी समय मेरी गोदसे छूटकर पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा था। जिस चट्टानपर यह गिरा, वह इसके शरीरकी गुरुताके कारण चूर-चूर हो गयी थी ॥ १८ ॥

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १९ ॥

अतः पाण्डुनन्दन ! मैंने भीमसेनके बलको अपनी बुद्धिसे भलीभाँति समझकर तब ब्राह्मणके शत्रुरूपी राक्षससे बदला लेनेका निश्चय किया है ॥ १९ ॥

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद् विनिश्चितम्।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ २० ॥

मैंने न लोभसे, न अज्ञानसे और न मोहसे ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धिके द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है ॥ २० ॥

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! मेरे इस निश्चयसे दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायँगे। एक तो ब्राह्मणके यहाँ निवास करनेका ऋण चुक जायगा और दूसरा लाभ यह है कि ब्राह्मण और पुरवासियोंकी रक्षा होनेके कारण महान् धर्मका पालन हो जायगा ॥ २१ ॥

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित्।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकानाप्नुयादिति मे मतिः ॥ २२ ॥

जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके कार्योंमें सहायता करता है, वह उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है--यह मेरा विश्वास है ॥

क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम्।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥ २३ ॥

यदि क्षत्रिय किसी क्षत्रियको ही प्राणसंकटसे मुक्त कर दे तो वह इस लोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है ॥ २३ ॥

वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २४ ॥

जो क्षत्रिय इस भूतलपर वैश्यके कार्यमें सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंमें प्रजाको प्रसन्न करनेवाला राजा होता है ॥ २४ ॥

शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जो राजा अपनी शरणमें आये हुए शूद्रको प्राणसंकटसे बचाता है, वह इस संसारमें उत्तम धन-धान्यसे सम्पन्न एवं राजाओंद्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ॥

एवं मां भगवान् व्यासः पुरा पौरवनन्दन।
प्रोवाचासुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥ २६ ॥

पौरववंशको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! इस प्रकार पूर्वकालमें दुर्लभ विवेक-विज्ञानसे सम्पन्न भगवान् व्यासने मुझसे कहा था; इसीलिये मैंने ऐसी चेष्टा की है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीयुधिष्ठिरसंवादे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्ती-युधिष्ठिर-संवाद-विषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके पास जाना और स्वयं भोजन करना तथा युद्ध करके उसे मार गिराना

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम्।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले--माँ ! आपने समझ-बूझकर जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकटमें पड़े हुए ब्राह्मणपर दया करके ही ऐसा विचार किया है ॥ १ ॥

ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम्।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥

निश्चय ही भीमसेन उस राक्षसको मारकर लौट आयेंगे; क्योंकि आप सर्वथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये ही उसपर इतनी दयालु हुई हैं ॥ २ ॥

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥

आपको यत्नपूर्वक ब्राह्मणपर अनुग्रह तो करना ही चाहिये; किंतु ब्राह्मणसे यह कह देना चाहिये कि वे इस प्रकार मौन रहें कि नगरनिवासियोंको यह बात मालूम न होने पाये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

(युधिष्ठिरेण सम्मन्त्र्य ब्राह्मणार्थमरिंदम।
कुन्ती प्रविश्य तान् सर्वान् सान्त्वयामास भारत॥)
ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥

आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ब्राह्मण (की रक्षा) के निमित्त युधिष्ठिरसे इस प्रकार सलाह करके कुन्ती देवीने भीतर जाकर समस्त ब्राह्मण-परिवारको सान्त्वना दी। तदनन्तर रात बीतनेपर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजन-सामग्री लेकर उस स्थानपर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। बक राक्षसके वनमें पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिये लाये हुए अन्नको स्वयं खाते हुए राक्षसका नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे ॥ ४-५ ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

भीमके इस प्रकार पुकारनेसे वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर जहाँ भीमसेन बैठकर भोजन कर रहे थे, वहाँ आया ॥ ६ ॥

महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम्।
लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्धजः ॥ ७ ॥

उसका शरीर बहुत बड़ा था। वह इतने महान् वेगसे चलता था, मानो पृथ्वीको विदीर्ण कर देगा। उसकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। आकृति बड़ी विकराल जान पड़ती थी। उसके दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ॥७॥

आकर्णाद् भिन्नवक्त्रश्च शङ्कुकर्णो विभीषणः।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ॥ ८ ॥

मुँहका फैलाव कानोंके समीपतक था, कान भी शङ्कुके समान लंबे और नुकीले थे। बड़ा भयानक था वह राक्षस। उसने भौंहें ऐसी टेढ़ी कर रखी थीं कि वहाँ तीन रेखाएँ उभड़ आयी थीं और वह दाँतोंसे ओठ चबा रहा था ॥ ८ ॥

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भीमसेनको वह अन्न खाते देख राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेरकर कहा—॥ ९ ॥

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम्।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ १० ॥

'यमलोकमें जानेकी इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखोंके सामने मेरे ही लिये तैयार करके लाये हुए इस अन्नको स्वयं खा रहा है?' ॥१०॥

भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

भारत! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोरसे हँसने लगे और उस राक्षसकी अवहेलना करते हुए मुँह फेरकर खाते ही रह गये ॥ ११ ॥

रवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

अब तो वह नरभक्षी राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे भयंकर गर्जना करता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाकर उनकी ओर दौड़ा ॥ १२ ॥

तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ १३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १४ ॥

तो भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेन उस राक्षसकी ओर देखते हुए उसका तिरस्कार करके उस अन्नको खाते ही रहे। तब उसने अत्यन्त अमर्षमें भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेनके पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथोंसे उनकी पीठपर प्रहार किया ॥ १३-१४ ॥

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बलवान् राक्षसके दोनों हाथोंसे भयानक चोट खाकर भी भीमसेनने उसकी ओर देखा तक नहीं, वे भोजन करनेमें ही संलग्न रहे ॥ १५ ॥

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ॥ १६ ॥

तब उस बलवान् राक्षसने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेनको मारनेके लिये फिर उनपर धावा किया ॥ १६ ॥

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १७ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेनने धीरे-धीरे वह सब अन्न खाकर, आचमन करके मुँह-हाथ धो लिये, फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो युद्धके लिये डट गये ॥ १७ ॥

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १८ ॥

जनमेजय! कुपित राक्षसके द्वारा चलाये हुए उस वृक्षको पराक्रमी भीमसेनने बायें हाथसे हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ १८ ॥

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान् बहुविधान् बली।
प्राहिणोद् भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥

तब उस बलवान् निशाचरने पुनः बहुत-से वृक्षोंको उखाड़ा और भीमसेनपर चला दिया। पाण्डुनन्दन भीमने भी उसपर अनेक वृक्षोंद्वारा प्रहार किया ॥ १९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः॥ २०॥

महाराज! नरराज तथा राक्षसराजका वह भयंकर वृक्ष-युद्ध उस वनके समस्त वृक्षोंके विनाशका कारण बन गया॥ २०॥

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम्।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम्॥ २१॥

तदनन्तर बकासुरने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेनकी ओर दौड़कर दोनों बाँहोंसे उन्हें पकड़ लिया॥ २१॥

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली॥ २२॥

महाबाहु बलवान् भीमसेनने भी उस विशाल भुजाओंवाले राक्षसको दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाशसे छूटनेके लिये छटपटा रहा था॥ २२॥

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम्।
समयुज्यत तीव्रेण क्लमेन पुरुषादकः॥ २३॥

भीमसेन उस राक्षसको खींचते थे तथा राक्षस भीमसेनको खींच रहा था। इस खींचा-खींचीमें वह नरभक्षी राक्षस बहुत थक गया॥ २३॥

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा॥ २४॥

उन दोनोंके महान् वेगसे धरती जोरसे काँपने लगी। उन दोनोंने उस समय बड़े-बड़े वृक्षोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ २४॥

हीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम्।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः॥ २५॥

उस नरभक्षी राक्षसको कमजोर पड़ते देख भीमसेन उसे पृथ्वीपर पटककर रगड़ने और दोनों घुटनोंसे मारने लगे।२५।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम्॥ २६॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम्॥ २७॥

तदनन्तर उन्होंने अपने एक घुटनेसे बलपूर्वक राक्षसकी पीठ दबाकर दाहिने हाथसे उसकी गर्दन पकड़ ली और बायें हाथसे कमरका लँगोट पकड़कर उस राक्षसको दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा था॥ २६-२७॥

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः॥ २८॥

राजन्! भीमसेनके द्वारा उस घोर राक्षसकी जब कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुखसे (बहुत-सा) खून गिरा।२८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमसेनयुद्धे द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुर और भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं।)

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

बकासुरके वधसे राक्षसोंका भयभीत होकर पलायन और नगरनिवासियोंकी प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पसलीकी हड्डियोंके टूट जानेपर पर्वतके समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके प्राणरहित हो गया॥ १॥

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः॥ २॥
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत्॥ ३॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति॥ ४॥

जनमेजय! उस चीत्कारसे भयभीत हो उस राक्षसके परिवारके लोग अपने सेवकोंके साथ घरसे बाहर निकल आये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने उन्हें भयसे अचेत देखकर ढाढ़स बँधाया और उनसे यह शर्त करा ली कि 'अबसे कभी तुमलोग मनुष्योंकी हिंसा न करना! जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जायगा'॥ २—४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम्॥ ५॥

भारत! भीमकी यह बात सुनकर उन राक्षसोंने 'एवमस्तु' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली॥ ५॥

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः॥ ६॥

भारत ! तबसे नगरनिवासी मनुष्योंने अपने नगरमें राक्षसोंको बड़े सौम्य-स्वभावका देखा ॥ ६ ॥

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥ ७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने उस राक्षसकी लाश उठाकर नगरके दरवाजेपर गिरा दी और स्वयं दूसरोंकी दृष्टिसे अपनेको बचाते हुए चले गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः ॥ ८ ॥

भीमसेनके बलसे बकासुरको पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षसके कुटुम्बीजन भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये ॥

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

उस राक्षसको मारनेके पश्चात् भीमसेन ब्राह्मणके उसी घरमें गये तथा वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ ९ ॥

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् जब सबेरा हुआ और लोग नगरसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा बकासुर खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर मरा पड़ा है ॥ १० ॥

तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ।
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ॥ ११ ॥

पर्वतशिखरके समान भयानक उस राक्षसको नगरके दरवाजेपर फेंका हुआ देखकर नगरनिवासी मनुष्योंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ११ ॥

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ॥ १२ ॥
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशाम्पते ॥ १३ ॥

राजन् ! उन्होंने एकचक्रा नगरीमें जाकर नगरभरमें यह समाचार फैला दिया; फिर तो हजारों नगरनिवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ोंके साथ बकासुरको देखनेके लिये वहाँ आये। उस समय वह अमानुषिक कर्म देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। जनमेजय ! उन सभी लोगोंने देवताओंकी पूजा की ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ॥ १४ ॥

इसके बाद उन्होंने यह जाननेके लिये कि आज भोजन पहुँचानेकी किसकी बारी थी, दिन आदिकी गणना की। फिर उस ब्राह्मणकी बारीका पता लगनेपर सब लोग उसके पास आकर पूछने लगे ॥ १४ ॥

एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान् सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १५ ॥

इस प्रकार उनके बार-बार पूछनेपर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने पाण्डवोंको गुप्त रखते हुए समस्त नागरिकोंसे इस प्रकार कहा—१५

आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ॥ १६ ॥

'कल जब मुझे भोजन पहुँचानेकी आज्ञा मिली, उस समय मैं अपने बन्धुजनोंके साथ रो रहा था। इस दशामें मुझे एक विशाल हृदयवाले मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणने देखा ॥ १६ ॥

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १७ ॥

'देखकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणदेवताने पहले मुझसे सम्पूर्ण नगरके कष्टका कारण पूछा। इसके बाद अपनी अलौकिक शक्तिका विश्वास दिलाकर हँसते हुए-से कहा—॥ १७ ॥

प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद् दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! आज मैं स्वयं ही उस दुरात्मा राक्षसके लिये भोजन ले जाऊँगा।' उन्होंने यह भी बताया कि 'आपको मेरे लिये भय नहीं करना चाहिये' ॥ १८ ॥

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत् कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १९ ॥

'वे वह भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके वनकी ओर गये। अवश्य उन्होंने ही यह लोक-हितकारी कर्म किया होगा' ॥ १९ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ २० ॥

तब तो वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आश्चर्यचकित हो आनन्दमें निमग्न हो गये। उस समय उन्होंने ब्राह्मणोंके उपलक्ष्यमें महान् उत्सव मनाया ॥ २० ॥

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं द्रष्टुं पार्थास्तत्रैव चावसन् ॥ २१ ॥

इसके बाद उस अद्भुत घटनाको देखनेके लिये जनपदमें रहनेवाले सब लोग नगरमें आये और पाण्डवलोग भी (पूर्ववत्) वहीं निवास करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुरवधविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६३॥

(चैत्ररथपर्व)

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका एक ब्राह्मणसे विचित्र कथाएँ सुनना

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम्।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पुरुषसिंह पाण्डवोंने उस प्रकार बकासुरका वध करनेके पश्चात् कौन-सा कार्य किया? ॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम्।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! बकासुरका वध करनेके पश्चात् पाण्डवलोग ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदोंका स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मणके घरमें रहने लगे॥ २॥

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह॥ ३॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक कठोर नियमोंका पालन करनेवाला ब्राह्मण ठहरनेके लिये उन ब्राह्मणदेवताके घरपर आया॥ ३॥

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः॥ ४॥

उन विप्रवरका सदा घरपर आये हुए सभी अतिथियोंकी सेवा करनेका व्रत था। उन्होंने आगन्तुक ब्राह्मणकी भलीभाँति पूजा करके उसे ठहरनेके लिये स्थान दिया॥ ४॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः॥ ५॥

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, (अतः उन्हें सुननेके लिये) सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव माता कुन्तीके साथ उसके निकट जा बैठे॥ ५॥

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् देशांश्चैव पुराणि च॥ ६॥

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकारके आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरोंका वर्णन किया॥ ६॥

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय।
पञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम्॥ ७॥

जनमेजय! बातचीतके अन्तमें उस ब्राह्मणने वहाँ यह भी बताया कि पञ्चालदेशमें यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीका अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है॥ ७॥

धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे॥ ८॥

धृष्टद्युम्न और शिखण्डीकी उत्पत्ति तथा द्रुपदके महायज्ञमें कृष्णा (द्रौपदी) का बिना माताके गर्भके ही (यज्ञकी वेदीसे) जन्म होना आदि बातें भी उसने कहीं॥ ८॥

तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथान्ते पुरुषर्षभाः॥ ९॥

उस महात्मा ब्राह्मणका इस लोकमें अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होनेवाला यह वचन सुनकर कथाके अन्तमें पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंने विस्तारपूर्वक जाननेके लिये पूछा॥ ९॥

पाण्डवा ऊचुः

कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात्।
वेदीमध्याच्च कृष्णायाः सम्भवः कथमद्भुतः॥ १०॥

पाण्डव बोले—द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नका यज्ञाग्निसे और कृष्णाका यज्ञवेदीके मध्यभागसे अद्भुत जन्म किस प्रकार हुआ? ॥ १०॥

कथं द्रोणान्महेष्वासात् सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत।
कथं विप्र सखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन वा॥ ११॥

धृष्टद्युम्नने महाधनुर्धर द्रोणसे सब अस्त्रोंकी शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की? ब्रह्मन्! द्रुपद और द्रोणमें किस प्रकार मैत्री हुई? और किस कारणसे उनमें वैर पड़ गया? ॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तैश्चोदितो राजन् स विप्रः पुरुषर्षभैः।
कथयामास तत् सर्वं द्रौपदीसम्भवं तदा॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंके इस प्रकार पूछनेपर आगन्तुक ब्राह्मणने उस समय द्रौपदीकी उत्पत्तिका सारा वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया॥ १२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें ब्राह्मणकथाविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणके द्वारा द्रुपदके अपमानित होनेका वृत्तान्त

ब्राह्मण उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूवर्षिर्महातपाः।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः॥ १ ॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—गङ्गाद्वारमें एक महाबुद्धिमान् और परम तपस्वी भरद्वाज नामक महर्षि रहते थे, जो सदा कठोर व्रतका पालन करते थे॥ १॥

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवागतां सतीम्।
ददर्शाप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः॥ २ ॥

एक दिन वे गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहलेसे ही आकर सुन्दरी अप्सरा घृताची नामवाली गङ्गाजीमें गोते लगा रही थी। महर्षिने उसे देखा॥ २॥

तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत् तदा।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे तदा॥ ३ ॥

जब नदीके तटपर खड़ी हो वह वस्त्र बदलने लगी, उस समय वायुने उसकी साड़ी उड़ा दी। वस्त्र हट जानेसे उसे नग्नावस्थामें देखकर महर्षिने उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की॥ ३॥

तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः।
चिरस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे॥ ४ ॥

मुनिवर भरद्वाजने कुमारावस्थासे ही दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। घृताचीमें चित्त आसक्त हो जानेके कारण उनका वीर्य स्खलित हो गया। महर्षिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया॥ ४॥

ततः समभवद् द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः॥ ५ ॥

उसीसे बुद्धिमान् भरद्वाजजीके द्रोण नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका भी अध्ययन कर लिया॥ ५॥

भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः॥ ६ ॥

पृषत नामके एक राजा भरद्वाज मुनिके मित्र थे। उन्हीं दिनों राजा पृषतके भी द्रुपद नामक पुत्र हुआ॥ ६॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः॥ ७ ॥

क्षत्रियशिरोमणि पृषतकुमार द्रुपद प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाकर द्रोणके साथ खेलते और अध्ययन करते थे॥ ७॥

ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ ८ ॥
वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत्।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम॥ ९ ॥

पृषतकी मृत्युके पश्चात् द्रुपद राजा हुए। इधर द्रोणने भी यह सुना कि परशुरामजी अपना सारा धन दान कर देना चाहते हैं और वनमें जानेके लिये उद्यत हैं। तब वे भरद्वाजनन्दन द्रोण परशुरामजीके पास जाकर बोले—'द्विजश्रेष्ठ! मुझे द्रोण जानिये। मैं धनकी कामनासे यहाँ आया हूँ'॥ ८-९॥

राम उवाच

शरीरमात्रमेवाद्य मया समवशेषितम्।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु॥ १० ॥

परशुरामजीने कहा—ब्रह्मन्! अब तो केवल मैंने अपने शरीरको ही बचा रक्खा है (शरीरके सिवा सब कुछ दान कर दिया)। अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा यह शरीर दोनोंमेंसे किसी एकको माँग लो॥ १०॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान्॥ ११ ॥

द्रोण बोले—भगवन्! आप मुझे सम्पूर्ण अस्त्र तथा उन सबके प्रयोग और उपसंहारकी विधि भी प्रदान करें॥ ११॥

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः।
प्रतिगृह्य तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत् तदा॥ १२ ॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—तब भृगुनन्दन परशुरामजीने 'तथास्तु' कहकर अपने सब अस्त्र द्रोणको दे दिये। उन सबको ग्रहण करके द्रोण उस समय कृतार्थ हो गये॥ १२॥

सम्प्रहृष्टमना द्रोणो रामात् परमसम्मतम्।
ब्रह्मास्त्रं समनुप्राप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत्॥ १३ ॥

उन्होंने परशुरामजीसे प्रसन्नचित्त होकर परम सम्मानित ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त किया और मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर हो गये॥ १३॥

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति॥ १४ ॥

तब पुरुषसिंह प्रतापी द्रोणने राजा द्रुपदके पास जाकर कहा—'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ, मुझे पहचानो'॥ १४॥

द्रुपद उवाच

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते॥ १५ ॥

द्रुपदने कहा—जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका; जो रथी नहीं है, वह रथी वीरका और इसी प्रकार जो

राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र होने योग्य नहीं है; फिर तुम पहलेकी मित्रताकी अभिलाषा क्यों करते हो ? ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १६ ॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—बुद्धिमान् द्रोणने पाञ्चालराज द्रुपदसे बदला लेनेका मन-ही-मन निश्चय किया। फिर वे कुरुवंशी राजाओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें गये ॥ १६ ॥

तस्मै पौत्रान् समादाय वसूनि विविधानि च ।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान् द्रोणाय धीमते ॥ १७ ॥

वहाँ जानेपर बुद्धिमान् द्रोणको नाना प्रकारके धन लेकर भीष्मजीने अपने सभी पौत्रोंको उन्हें शिष्यरूपमें सौंप दिया ॥

द्रोणः शिष्यांस्ततः पार्थानिदं वचनमब्रवीत् ।
समानीय तु ताञ्छिष्यान् द्रुपदस्यासुखाय वै ॥ १८ ॥

तब द्रोणने सब शिष्योंको एकत्र करके जिनमें कुन्तीके पुत्र तथा अन्य लोग भी थे, द्रुपदको कष्ट देनेके उद्देश्यसे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

आचार्यवेतनं किंचिद्धृदि यद् वर्तते मम ।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं स्यात् तदृतं वदतानघाः ।
सोऽर्जुनप्रमुखैरुक्तस्तथास्त्विति गुरुस्तदा ॥ १९ ॥

'निष्पाप शिष्यगण ! मेरे मनमें तुमलोगोंसे कुछ गुरुदक्षिणा लेनेकी इच्छा है ! अस्त्रविद्यामें पारङ्गत होनेपर तुम्हें वह दक्षिणा देनी होगी। इसके लिये सच्ची प्रतिज्ञा करो।' तब अर्जुन आदि शिष्योंने अपने गुरुसे कहा—'तथास्तु (ऐसा ही होगा)' ॥ १९ ॥

यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्चयाः ।
ततो द्रोणोऽब्रवीद् भूयो वेतनार्थमिदं वचः ॥ २० ॥

जब समस्त पाण्डव अस्त्रविद्यामें पारङ्गत हो गये और प्रतिज्ञापालनके निश्चयपर दृढ़तापूर्वक डटे रहे, तब द्रोणाचार्यने गुरुदक्षिणा लेनेके लिये पुनः यह बात कही—॥ २० ॥

पार्षतो द्रुपदो नामच्छत्रवत्यां नरेश्वरः ।
तस्मादाकृष्य तद् राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

'अहिच्छत्रा नगरीमें पृषतके पुत्र राजा द्रुपद रहते हैं। उनसे उनका राज्य छीनकर शीघ्र मुझे अर्पित कर दो' ॥

(धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः पञ्चाहान् पाण्डवा ययुः ॥
यज्ञसेनेन संगम्य कर्णदुर्योधनादयः ।
निर्जिताः संन्यवर्तन्त तथान्ये क्षत्रियर्षभाः ॥)
ततः पाण्डुसुताः पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि ।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ॥ २२ ॥

(गुरुकी आज्ञा पाकर) धृतराष्ट्रपुत्रोंसहित पाण्डव पञ्चाल देशमें गये। वहाँ राजा द्रुपदके साथ युद्ध होनेपर कर्ण, दुर्योधन आदि कौरव तथा दूसरे-दूसरे प्रमुख क्षत्रिय वीर परास्त होकर रणभूमिसे भाग गये। तब पाँचों पाण्डवोंने द्रुपदको युद्धमें परास्त कर दिया और मन्त्रियोंसहित उन्हें कैद करके द्रोणके सम्मुख ला दिया ॥ २२ ॥

(महेन्द्र इव दुर्धर्षो महेन्द्र इव दानवम् ।
महेन्द्रपुत्रः पाञ्चालं जितवानर्जुनस्तदा ॥
तद् दृष्ट्वा तु महावीर्यं फाल्गुनस्यामितौजसः ।
व्यस्मयन्त जनाः सर्वे यज्ञसेनस्य बान्धवाः ॥
नास्त्यर्जुनसमो वीर्ये राजपुत्र इति ब्रुवन् ॥)

महेन्द्रपुत्र अर्जुन महेन्द्र पर्वतके समान दुर्धर्ष थे। जैसे महेन्द्रने दानवराजको परास्त किया था, उसी प्रकार उन्होंने पाञ्चालराजपर विजय पायी। अमिततेजस्वी अर्जुनका वह महान् पराक्रम देख राजा द्रुपदके समस्त बान्धवजन बड़े विस्मित हुए और मन-ही-मन कहने लगे—'अर्जुनके समान शक्तिशाली दूसरा कोई राजकुमार नहीं है' ॥

द्रोण उवाच

प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप ।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह ।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं फिर भी तुमसे मित्रताके लिये प्रार्थना करता हूँ। यज्ञसेन ! तुमने कहा था, जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; अतः मैंने राज्य-प्राप्तिके लिये तुम्हारे साथ युद्धका प्रयास किया है। तुम गङ्गाके दक्षिणतटके राजा रहो और मैं उत्तरतटका ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता ।
उवाचास्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ॥ २५ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणके यों कहनेपर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पञ्चालनरेश द्रुपदने विप्रवर द्रोणसे इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते ।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद् यदभिमन्यसे ॥ २६ ॥

'महामते द्रोण ! एवमस्तु, आपका कल्याण हो। आपकी जैसी राय है, उसके अनुसार हम दोनोंकी वही पुरानी मैत्री सदा बनी रहे' ॥ २६ ॥

एवमन्योन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम् ।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिंदमौ ॥ २७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्य और द्रुपद एक दूसरेसे उपर्युक्त बातें कहकर परम उत्तम मैत्रीभाव स्थापित करके इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

असत्कारः स तु महान् मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद् राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ॥ २८ ॥

उस समय उनका जो महान् अपमान हुआ, वह दो घड़ीके लिये भी राजा द्रुपदके हृदयसे निकल नहीं पाया। वे मन-ही-मन बहुत दुखी थे और उनका शरीर भी बहुत दुर्बल हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदके यज्ञसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति

ब्राह्मण उवाच

अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान् द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन् परिचक्राम ब्राह्मणावसथान् बहून् ॥ १ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है— राजा द्रुपद अमर्षमें भर गये थे, अतः उन्होंने कर्मसिद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ढूँढ़नेके लिये बहुत-से ब्रह्मर्षियोंके आश्रममें भ्रमण किया ॥ १ ॥

पुत्रजन्म परीप्सन् वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥

वे अपने लिये एक श्रेष्ठ पुत्र चाहते थे। उनका चित्त शोकसे व्याकुल रहता था। वे रात-दिन इसी चिन्तामें पड़े रहते थे कि मेरे कोई श्रेष्ठ संतान नहीं है ॥ २ ॥

जातान् पुत्रान् स निर्वेदाद् धिग् बन्धूनिति चाब्रवीत्।
निःश्वासपरमश्चासीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥

जो पुत्र या भाई-बन्धु उत्पन्न हो चुके थे, उन्हें वे खेदवश धिक्कारते रहते थे। द्रोणसे बदला लेनेकी इच्छा रखकर राजा द्रुपद सदा लंबी साँसें खींचा करते थे ॥ ३ ॥

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनास्य चिन्तयन् नाध्यगच्छत ॥ ४ ॥
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ।
अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ॥ ५ ॥
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ।
तत्र नास्नातकः कश्चिन्न चासीदव्रती द्विजः ॥ ६ ॥

जनमेजय ! नृपश्रेष्ठ द्रुपद द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये यत्न करनेपर भी उनके प्रभाव, विनय, शिक्षा एवं चरित्रका चिन्तन करके क्षात्रबलके द्वारा उन्हें परास्त करनेका कोई उपाय न जान सके। वे कृष्णवर्णा यमुना तथा गङ्गा दोनोंके तटोंपर घूमते हुए ब्राह्मणोंकी एक पवित्र बस्तीमें जा पहुँचे। वहाँ उन महाभाग नरेशने एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं देखा, जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा न प्राप्त की हो ॥ ४-६ ॥

तथैव च महाभागः सोऽपश्यत् संशितव्रतौ ।
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन महाभागने वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले दो ब्रह्मर्षियोंको देखा, जिनके नाम थे याज और उपयाज। वे दोनों ही परम शान्त और परमेष्ठी ब्रह्माके तुल्य प्रभावशाली थे ॥ ७ ॥

संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ।
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ॥ ८ ॥

वे वैदिक संहिताके अध्ययनमें सदा संलग्न रहते थे। उनका गोत्र काश्यप था। वे दोनों ब्राह्मण सूर्यदेवके भक्त, बड़े ही योग्य तथा श्रेष्ठ ऋषि थे ॥ ८ ॥

स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ।
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ॥ ९ ॥
प्रपेदे छन्दयन् कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक् सर्वकामदः ॥ १० ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ।
येन मे कर्मणा ब्रह्मन् पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्यवे ॥ ११ ॥
उपयाज कृते तस्मिन् गवां दातास्मि तेऽर्बुदम् ।
यद् वा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत् ते प्रदाताहं न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥ १२ ॥

उन दोनोंकी शक्तिको समझकर आलस्यरहित राजा द्रुपदने उन्हें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग-पदार्थ अर्पण करनेका संकल्प लेकर निमन्त्रित किया। उन दोनोंमेंसे जो छोटे उपयाज थे, वे अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे। द्रुपद एकान्तमें उनसे मिले और इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ अर्पण करके उन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करने लगे। सम्पूर्ण मनोभिलषित पदार्थोंको देनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय वचन बोलते हुए द्रुपद मुनिके चरणोंकी सेवामें लग गये और यथायोग्य पूजन करके उपयाजसे बोले—'विप्रवर उपयाज! जिस कर्मसे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो द्रोणाचार्यको मार सके। उस कर्मके पूरा होनेपर मैं आपको एक

अर्बुद (दस करोड़) गायें दूँगा । द्विजश्रेष्ठ ! इसके सिवा और भी जो आपके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वस्तु होगी, वह सब आपको अर्पित करूँगा, इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ९-१२ ॥

इत्युक्तो नाहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत ।
आराधयिष्यन् द्रुपदः स तं पर्यचरत् पुनः ॥ १३ ॥

द्रुपदके यों कहनेपर ऋषि उपयाजने उन्हें जवाब दे दिया, 'मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा ।' परंतु द्रुपद उन्हें प्रसन्न करनेका निश्चय करके पुनः उनकी सेवामें लगे रहे ॥ १३ ॥

ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीत् काले राजन् मधुरया गिरा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठो भ्राता ममागृह्णाद् विचरन् गहने वने ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर द्विजश्रेष्ठ उपयाजने उपयुक्त अवसरपर मधुर वाणीमें द्रुपदसे कहा—'राजन् ! मेरे बड़े भाई याज एक समय घने वनमें विचर रहे थे । उन्होंने एक ऐसी जमीनपर गिरे हुए फलको उठा लिया, जिसकी शुद्धिके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं था ॥ १४-१५ ॥

तदपश्यमहं भ्रातुरसाम्प्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नायं कुर्यात् कदाचन ॥ १६ ॥

'मैं भी भाईके पीछे-पीछे जा रहा था; अतः मैंने उनके इस अयोग्य कार्यको देख लिया और सोचा कि ये अपवित्र वस्तुको ग्रहण करनेमें भी कभी कोई विचार नहीं करते ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा फलस्य नापश्यद् दोषान् पापानुबन्धकान् ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ॥ १७ ॥

'जिन्होंने देखकर भी फलके पापजनक दोषोंकी ओर दृष्टिपात नहीं किया, जो किसी वस्तुको लेनेमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते, वे दूसरे कार्योंमें भी कैसा बर्ताव करेंगे, कहा नहीं जा सकता ॥ १७ ॥

संहिताध्ययनं कुर्वन् वसन् गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स च यदा तदा ॥ १८ ॥
कीर्तयन् गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ॥ १९ ॥

'गुरुकुलमें रहकर संहिताभागका अध्ययन करते हुए भी जो दूसरोंकी त्यागी हुई भिक्षाको जब तब खा लिया करते थे और घृणाशून्य होकर बार-बार उस अन्नके गुणोंका वर्णन करते रहते थे, उन अपने भाईको जब मैं तर्ककी दृष्टिसे देखता हूँ तो वे मुझे फलके लोभी जान पड़ते हैं ॥ १८-१९ ॥

तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ॥ २० ॥
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याश्रममभ्यगात् ।
अभिसम्पूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ॥ २१ ॥

'राजन् ! तुम उन्हींके पास जाओ । वे तुम्हारा यज्ञ करा

देंगे ।' राजा द्रुपद उपयाजकी बात सुनकर याजके इस चरित्रकी मन-ही-मन निन्दा करने लगे, तो भी अपने कार्यका विचार करके याजके आश्रमपर गये और पूजनीय याज मुनिका पूजन करके तब उनसे इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो ।
द्रोणवैराभिसंतप्तं प्रह्लादयितुमर्हसि ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मैं आपको अस्सी हजार गौएँ भेंट करता हूँ । आप मेरा यज्ञ करा दीजिये । मैं द्रोणके वैरसे संतप्त हो रहा हूँ । आप मुझे प्रसन्नता प्रदान करें ॥ २२ ॥

स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाप्यनुत्तमः ।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे ॥ २३ ॥

'द्रोणाचार्य ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और ब्रह्मास्त्रके प्रयोगमें भी सर्वोत्तम हैं; इसलिये मित्र मानने न माननेके प्रश्नको लेकर होनेवाले झगड़ेमें उन्होंने मुझे पराजित कर दिया है ॥ २३ ॥

क्षत्रियो नास्ति तस्यास्यां पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः ।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २४ ॥

'परम बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण इन दिनों कुरुवंशी राजकुमारोंके प्रधान आचार्य हैं । इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसा क्षत्रिय नहीं है, जो अस्त्रविद्यामें उनसे आगे बढ़ा हो ॥ २४ ॥

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च ।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ॥ २५ ॥
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम् ।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २६ ॥

'द्रोणाचार्यके बाणसमूह प्राणियोंके शरीरका संहार करनेवाले हैं। उनका छः हाथका लंबा धनुष बहुत बड़ा दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं कि महान् धनुर्धर महामना द्रोण ब्राह्मण-वेशमें (अपने ब्राह्मतेजके द्वारा) क्षत्रिय-तेजको प्रतिहत कर देते हैं॥ २५-२६॥

क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवास्थितः।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि॥ २७॥

'मानो जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी भाँति क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये उनकी सृष्टि हुई है। उनका अस्त्रबल बड़ा भयंकर है। पृथ्वीके सब मनुष्य मिलकर भी उसे दबा नहीं सकते॥ २७॥

ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवानलः।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरस्सरः॥ २८॥

'घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वे प्रचण्ड ब्राह्मतेज धारण करते हैं और युद्धमें क्षात्रधर्मको आगे रखकर विपक्षियोंसे भिड़ंत होनेपर वे उन्हें भस्म कर डालते हैं॥२८॥

ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते।
सोऽहं क्षात्राद् बलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान्॥ २९॥

'यद्यपि द्रोणाचार्यमें ब्राह्मतेजके साथ-साथ क्षात्रतेज भी विद्यमान है, तथापि आपका ब्राह्मतेज उनसे बढ़कर है। मैं केवल क्षात्रबलके कारण द्रोणाचार्यसे हीन हूँ; अतः मैंने आपके ब्राह्मतेजकी शरण ली है॥ २९॥

द्रोणाद् विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम्।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम्॥ ३०॥

'आप वेदवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण द्रोणाचार्यसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मैं आपकी शरण लेकर एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो युद्धमें दुर्जय और द्रोणाचार्यका विनाशक हो॥ ३०॥

तत् कर्म कुरु मे याज वितराम्यर्बुदं गवाम्।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत्॥ ३१॥

'याजजी! मेरे इस मनोरथको पूर्ण करनेवाला यज्ञ कराइये। उसके लिये मैं आपको एक अर्बुद गौएँ दक्षिणामें दूँगा।'

तब याजने 'तथास्तु' कहकर यजमानकी अभीष्टसिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञ और उसके साधनोंका स्मरण किया॥३१॥

गुर्वर्थ इति चाकाममुपयाजमचोदयत्।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः॥ ३२॥
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै॥ ३३॥

'यह बहुत बड़ा कार्य है' ऐसा विचार करके याजने इस कार्यके लिये किसी प्रकारकी कामना न रखनेवाले उपयाजको भी प्रेरित किया तथा याजने द्रोणके विनाशके लिये वैसा पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। इसके बाद महातपस्वी उपयाजने राजा द्रुपदको अभीष्ट पुत्ररूपी फलकी सिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञकर्मका उपदेश किया॥३२-३३॥

स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः।
इष्यते यद्विधो राजन् भविता ते तथाविधः॥ ३४॥

और कहा—'राजन्! इस यज्ञसे तुम जैसा पुत्र चाहते हो, वैसा ही तुम्हें होगा। तुम्हारा वह पुत्र महान् पराक्रमी, महातेजस्वी और महाबली होगा'॥ ३४॥

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूपतिः।
आजह्रे तत् तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये॥ ३५॥

तदनन्तर द्रोणके घातक पुत्रका संकल्प लेकर राजा द्रुपदने कर्मकी सिद्धिके लिये उपयाजके कथनानुसार सारी व्यवस्था की॥ ३५॥

याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत् तदा।
प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम्॥ ३६॥
(कुमारश्च कुमारी च पितृवंशविवृद्धये।)

हवनके अन्तमें याजने द्रुपदकी रानीको आज्ञा दी—'पृषतकी पुत्रवधू! महारानी! शीघ्र मेरे पास हविष्य ग्रहण करनेके लिये आओ! तुम्हें एक पुत्र और एक कन्याकी प्राप्ति होनेवाली है, वे कुमार और कुमारी अपने पिताके कुलकी वृद्धि करनेवाले होंगे'॥ ३६॥

राज्युवाच

अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन् दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च।
सुतार्थे नोपलब्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये॥ ३७॥

रानी बोली—ब्रह्मन्! अभी मेरे मुखमें ताम्बूल आदिका रंग लगा है! मैं अपने अङ्गोंमें दिव्य सुगन्धित अङ्गराग धारण कर रही हूँ, अतः मुँह धोये और स्नान किये बिना पुत्रदायक हविष्यका स्पर्श करनेके योग्य नहीं हूँ, इसलिये याजजी! मेरे इस प्रिय कार्यके लिये थोड़ी देर ठहर जाइये॥ ३७॥

याज उवाच

याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम्।
कथं कामं न संदध्यात् सा त्वं विप्रेहि तिष्ठ वा॥ ३८॥

याजने कहा—इस हविष्यको स्वयं याजने पकाकर तैयार किया है और उपयाजने इसे अभिमन्त्रित किया है; अतः तुम आओ या वहीं खड़ी रहो, यह हविष्य यजमानकी कामनाको पूर्ण कैसे नहीं करेगा?॥ ३८॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते।
उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः॥ ३९॥

ब्राह्मण कहता है—यों कहकर याजने उस संस्कार-युक्त हविष्यकी आहुति ज्यों ही अग्निमें डाली, त्यों ही उस अग्निसे देवताके समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ ॥ ३९ ॥

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम्।
बिभ्रत् सखड्गः सशरो धनुष्मान् विनदन् मुहुः ॥ ४० ॥

उसके अङ्गोंकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित हो रही थी। उसका रूप भय उत्पन्न करनेवाला था। उसके माथेपर किरीट सुशोभित था। उसने अङ्गोंमें उत्तम कवच धारण कर रक्खा था। हाथोंमें खड्ग, बाण और धनुष धारण किये वह बार-बार गर्जना कर रहा था ॥ ४० ॥

सोऽध्यारोहद् रथवरं तेन च प्रययौ तदा।
ततः प्रणेदुः पञ्चालाः प्रहृष्टाः साधु साध्विति ॥ ४१ ॥

वह कुमार उसी समय एक श्रेष्ठ रथपर जा चढ़ा, मानो उसके द्वारा युद्धके लिये यात्रा कर रहा हो। यह देखकर पाञ्चालोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे जोर-जोरसे बोल उठे, 'बहुत अच्छा', 'बहुत अच्छा' ॥ ४१ ॥

हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान् नेयं सेहे वसुंधरा।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ॥ ४२ ॥
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै।
इत्युवाच महद् भूतमदृश्यं खेचरं तदा ॥ ४३ ॥

उस समय हर्षोल्लाससे भरे हुए इन पाञ्चालोंका भार यह पृथ्वी नहीं सह सकी। आकाशमें कोई अदृश्य महाभूत इस प्रकार कहने लगा—'यह राजकुमार पाञ्चालोंके भयको दूर करके उनके यशकी वृद्धि करनेवाला होगा। यह राजा द्रुपदका शोक दूर करनेवाला है। द्रोणाचार्यके वधके लिये ही इसका जन्म हुआ है' ॥ ४२-४३ ॥

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् यज्ञकी वेदीमेंसे एक कुमारी कन्या भी प्रकट हुई, जो पाञ्चाली कहलायी। वह बड़ी सुन्दरी एवं सौभाग्य-शालिनी थी। उसका एक-एक अङ्ग देखने ही योग्य था। उसकी श्याम आँखें बड़ी-बड़ी थीं ॥ ४४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ॥ ४५ ॥

उसके शरीरकी कान्ति श्याम थी। नेत्र ऐसे जान पड़ते मानो खिले हुए कमलके दल हों। केश काले-काले और घुँघराले थे। नख उभरे हुए और लाल रंगके थे। भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। दोनों उरोज स्थूल और मनोहर थे ॥ ४५ ॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रधावति ॥ ४६ ॥

वह ऐसी जान पड़ती मानो साक्षात् देवी दुर्गा ही मानवशरीर धारण करके प्रकट हुई हों। उसके अङ्गोंसे नील कमलकी-सी सुगन्ध प्रकट होकर एक कोसतक चारों ओर फैल रही थी ॥ ४६ ॥

या बिभर्ति परं रूपं यस्या नास्त्युपमा भुवि।
देवदानवयक्षाणामीप्सितां देवरूपिणीम् ॥ ४७ ॥

उसने परम सुन्दर रूप धारण कर रक्खा था। उस समय पृथ्वीपर उसके-जैसी सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं थी। देवता, दानव और यक्ष भी उस देवोपम कन्याको पानेके लिये लालायित थे ॥ ४७ ॥

तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाशरीरिणी।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा निनीषुः क्षत्रियान् क्षयम् ॥ ४८ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली उस कन्याके प्रकट होनेपर भी आकाशवाणी हुई— 'इस कन्याका नाम कृष्णा है। यह समस्त युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं सुन्दरी है और क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये प्रकट हुई है ॥ ४८ ॥

सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा।
अस्या हेतोः कौरवाणां महदुत्पत्स्यते भयम् ॥ ४९ ॥

'यह सुमध्यमा समयपर देवताओंका कार्य सिद्ध करेगी। इसके कारण कौरवोंको बहुत बड़ा भय प्राप्त होगा' ॥ ४९ ॥

तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत्।
न चैतान् हर्षसम्पूर्णानियं सेहे वसुंधरा ॥ ५० ॥

वह आकाशवाणी सुनकर समस्त पाञ्चाल सिंहोंके समुदाय-की भाँति गर्जना करने लगे। उस समय हर्षमें भरे हुए उन पाञ्चालोंका वेग पृथ्वी नहीं सह सकी ॥ ५० ॥

तौ दृष्ट्वा पार्षती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति ॥ ५१ ॥

उन दोनों पुत्र और पुत्रीको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली राजा पृषतकी पुत्रवधू महर्षि याजकी शरणमें गयी और बोली—'भगवन्! आप ऐसी कृपा करें, जिससे ये दोनों बच्चे मेरे सिवा और किसीको अपनी माता न समझें' ॥ ५१ ॥

तथेत्युवाच तं याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः सम्पूर्णमानसाः ॥ ५२ ॥

तब राजाका प्रिय करनेकी इच्छासे याजने कहा—'ऐसा ही होगा।' उस समय सम्पूर्ण द्विजोंने सफल-मनोरथ होकर उन बालकोंके नामकरण किये ॥ ५२ ॥

धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ॥ ५३ ॥

यह द्रुपदकुमार धृष्ट, अमर्षशील तथा द्युम्न (तेजोमय कवच-कुण्डल एवं क्षात्रतेज) आदिके साथ उत्पन्न होनेके कारण 'धृष्टद्युम्न' नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ५३ ॥

कृष्णेत्येवाब्रुवन् कृष्णां कृष्णाभूत् सा हि वर्णतः।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने कुमारीका नाम कृष्णा रक्खा; क्योंकि वह शरीरसे कृष्ण (श्याम) वर्णकी थी। इस प्रकार द्रुपदके महान् यज्ञमें वे जुड़वीं संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ५४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम्।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः।
तथा तत् कृतवान् द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥ ५६ ॥

परम बुद्धिमान् प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोण यह सोचकर कि प्रारब्धके भावी विधानको टालना असम्भव है, पाञ्चालराज-कुमार धृष्टद्युम्नको अपने घर ले आये और उन्होंने उसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर उसका बहुत बड़ा उपकार किया। द्रोणाचार्यने अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये वह उदारतापूर्ण कार्य किया ॥ ५५-५६ ॥

(ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा जतुगृहे वृत्तं ब्राह्मणाः सपुरोहिताः।
पाञ्चालराजं द्रुपदमिदं वचनमब्रुवन् ॥
धार्तराष्ट्राः सहामात्या मन्त्रयित्वा परस्परम्।
पाण्डवानां विनाशाय मतिं चक्रुः सुदुष्कराम् ॥
दुर्योधनेन प्रहितः पुरोचन इति श्रुतः।
वारणावतमासाद्य कृत्वा जतुगृहं महत् ॥
तस्मिन् गृहे सुविश्वस्तान् पाण्डवान् पृथया सह।
अर्धरात्रे महाराज दग्धवान् स पुरोचनः।
अग्निना तु स्वयमपि दग्धः क्षुद्रो नृशंसकृत् ॥
एतच्छ्रुत्वा सुसंहृष्टो धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥
श्रुत्वा तु पाण्डवान् दग्धान् धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
एतावदुक्त्वा करुणं धृतराष्ट्रस्तु मारिषः ॥
अल्पशोकः प्रहृष्टात्मा शशास विदुरं तदा।
पाण्डवानां महाप्राज्ञ कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अद्य पाण्डुर्हतः क्षत्तः पाण्डवानां विनाशने।
तस्माद् भागीरथीं गत्वा कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अहो विधिवशादेव गतास्ते यमसादनम्।
इत्युक्त्वा प्रारुदत् तत्र धृतराष्ट्रः ससौबलः ॥
श्रुत्वा भीष्मेण विधिवत् कृतवानौर्ध्वदेहिकम्।
पाण्डवानां विनाशाय कृतं कर्म दुरात्मना ॥
एतत्कार्यस्य कर्ता तु न दृष्टो न श्रुतः पुरा।
एतद् वृत्तं महाराज पाण्डवान् प्रति नः श्रुतम् ॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां यज्ञसेनो महामतिः।
यथा तज्जनकः शोचेदौरसस्य विनाशने।
तथातप्यत पाञ्चालः पाण्डवानां विनाशने ॥
समाहूय प्रकृतयः सहिताः सह बान्धवैः।
कारुण्यादेव पाञ्चालः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—लाक्षागृहमें पाण्डवोंके साथ जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनकर ब्राह्मणों तथा पुरोहितोंने पाञ्चालराज द्रुपदसे इस प्रकार कहा—'राजन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अपने मन्त्रियोंके साथ परस्पर सलाह करके पाण्डवोंके विनाशका विचार कर लिया था। ऐसा क्रूरतापूर्ण विचार दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। दुर्योधनके भेजे हुए उसके पुरोचन नामक सेवकने वारणावत नगरमें जाकर एक विशाल लाक्षागृहका निर्माण कराया था। उस भवनमें पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ पूर्ण विश्वस्त होकर रहते थे। महाराज! एक दिन आधी रातके समय पुरोचनने लाक्षागृहमें आग लगा दी। वह नीच और नृशंस पुरोचन स्वयं भी उसी आगमें जलकर भस्म हो गया। यह समाचार सुनकर कि 'पाण्डव जल गये' अम्बिका-नन्दन धृतराष्ट्रको अपने भाई-बन्धुओंके साथ बड़ा हर्ष हुआ। धृतराष्ट्रकी आत्मा हर्षसे खिल उठी थी, तो भी ऊपरसे कुछ शोकका प्रदर्शन करते हुए उन्होंने विदुरजीसे बड़ी करुण भाषामें यह वृत्तान्त बताया और उन्हें आज्ञा दी कि 'महामते! पाण्डवोंका श्राद्ध और तर्पण करो। विदुर! पाण्डवोंके मरनेसे मुझे ऐसा दुःख हुआ है मानो मेरे भाई पाण्डु आज ही स्वर्गवासी हुए हों। अतः गङ्गाजीके तटपर चलकर उनके लिये श्राद्ध और तर्पणकी व्यवस्था करो। अहो! भाग्यवश ही बेचारे पाण्डव यमलोकको चले गये।' यों कहकर धृतराष्ट्र और शकुनि फूट-फूटकर रोने लगे। भीष्मजीने यह समाचार सुनकर उनका विधिपूर्वक और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न किया है। इस प्रकार दुरात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंके विनाशके लिये यह भयंकर षड्यन्त्र किया था। आजसे पहले हमने किसीको ऐसा नहीं देखा या सुना था जो इस तरहका जघन्य कार्य कर सके। महाराज! पाण्डवोंके सम्बन्धमें यह वृत्तान्त हमारे सुननेमें आया है' ॥

ब्राह्मण और पुरोहितका यह वचन सुनकर परम बुद्धिमान् राजा द्रुपद शोकमें डूब गये। जैसे अपने सगे पुत्रकी मृत्यु होनेपर उसके पिताको शोक होता है उसी प्रकार पाण्डवोंके नष्ट होनेका समाचार सुनकर पाञ्चालराजको पीड़ा हुई। उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंके साथ समस्त प्रजाको बुलवाया और बड़ी करुणासे यह बात कही ॥

द्रुपद उवाच

अहो रूपमहो धैर्यमहो वीर्यं च शिक्षितम्।
चिन्तयामि दिवारात्रमर्जुनं प्रति बान्धवाः ॥
भ्रातृभिः सहितो मात्रा सोऽदह्यत हुताशने।
किमाश्चर्यमिदं लोके कालो हि दुरतिक्रमः ॥

मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यामि साम्प्रतम् ।
अन्तर्गतेन दुःखेन दह्यमानो दिवानिशम् ।
याजोपयाजौ सत्कृत्य याचितौ तौ मयानघौ ॥
भारद्वाजस्य हन्तारं देवीं चाप्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्तद् वेद यच्चैव तथा याजेन वै श्रुतम् ॥
याजेन पुत्रकामीयं हुत्वा चोत्पादितावुभौ ।
धृष्टद्युम्नश्च कृष्णा च मम तुष्टिकरावुभौ ॥
किं करिष्यामि ते नष्टाः पाण्डवाः पृथया सह ।

द्रुपद बोले—बन्धुओ ! अर्जुनका रूप अद्भुत था। उनका धैर्य आश्चर्यजनक था। उनका पराक्रम और उनकी अस्त्र-शिक्षा भी अलौकिक थी। मैं दिन-रात अर्जुनकी ही चिन्तामें डूबा रहता हूँ। हाय ! वे अपने भाइयों और माताके साथ आगमें जल गये। संसारमें इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ! सच है, कालका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है। मेरी तो प्रतिज्ञा झूठी हो गयी। अब मैं लोगोंसे क्या कहूँगा। आन्तरिक दुःखसे दिन-रात दग्ध होता रहता हूँ। मैंने निष्पाप याज और उपयाजका सत्कार करके उनसे दो संतानोंकी याचना की थी। एक तो ऐसा पुत्र माँगा, जो द्रोणाचार्यका वध कर सके और दूसरी ऐसी कन्याके लिये प्रार्थना की, जो वीर अर्जुनकी पटरानी बन सके। मेरे इस उद्देश्यको सब लोग जानते हैं और महर्षि याजने भी यही घोषित किया था। उन्होंने पुत्रेष्टि-यज्ञ करके धृष्टद्युम्न और कृष्णाको उत्पन्न किया था। इन दोनों संतानोंको पाकर मुझे बड़ा संतोष हुआ। अब क्या करूँ ! कुन्तीसहित पाण्डव तो नष्ट हो गये ॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येवमुक्त्वा पाञ्चालः शुशोच परमातुरः ॥
दृष्ट्वा शोचन्तमत्यर्थं पाञ्चालगुरुरब्रवीत् ।
पुरोधाः सत्त्वसम्पन्नः सम्यग्विद्याविशेषवान् ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—ऐसा कहकर पाञ्चालराज द्रुपद अत्यन्त दुखी एवं शोकातुर हो गये। पाञ्चालराजके गुरु बड़े सात्त्विक और विशिष्ट विद्वान् थे ! उन्होंने राजाको भारी शोकमें डूबा देखकर कहा ॥

गुरुरुवाच

वृद्धानुशासने सक्ताः पाण्डवा धर्मचारिणः ।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ॥
मया दृष्टमिदं सत्यं शृणुष्व मनुजाधिप ।
ब्राह्मणैः कथितं सत्यं वेदेषु च मया श्रुतम् ॥
बृहस्पतिमुखेनाथ पौलोम्या च पुरा श्रुतम् ।
नष्ट इन्द्रो बिसग्रन्थ्यामुपश्रुत्या तु दर्शितः ॥
उपश्रुतिर्महाराज पाण्डवार्थे मया श्रुता ।
यत्र वा तत्र जीवन्ति पाण्डवास्ते न संशयः ॥

गुरु बोले—महाराज ! पाण्डवलोग बड़े-बूढ़ोंके आज्ञापालनमें तत्पर रहनेवाले तथा धर्मात्मा हैं। ऐसे लोग न तो नष्ट होते हैं और न पराजित ही होते हैं। नरेश्वर ! मैंने जिस सत्यका साक्षात्कार किया है, वह सुनिये। ब्राह्मणोंने तो इस सत्यका प्रतिपादन किया ही है, वेदके मन्त्रोंमें भी मैंने इसका श्रवण किया है। पूर्वकालमें इन्द्राणीने बृहस्पतिजीके मुखसे उपश्रुतिकी महिमा सुनी थी। उत्तरायणकी अधिष्ठात्री देवी उपश्रुतिने ही अदृष्ट हुए इन्द्रका कमलनालकी ग्रन्थिमें दर्शन कराया था। महाराज ! इसी प्रकार मैंने भी पाण्डवोंके विषयमें उपश्रुति सुन रक्खी है। वे पाण्डव कहीं-न-कहीं अवश्य जीवित हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

मया दृष्टानि लिङ्गानि ध्रुवमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥
यन्निमित्तमिहायान्ति तच्छृणुष्व नराधिप ॥
स्वयंवरः क्षत्रियाणां कन्यादाने प्रदर्शितः ।
स्वयंवरस्तु नगरे घुष्यतां राजसत्तम ॥
यत्र वा निवसन्तस्ते पाण्डवाः पृथया सह ।
दूरस्था वा समीपस्थाः स्वर्गस्था वापि पाण्डवाः ॥
श्रुत्वा स्वयंवरं राजन् समेष्यन्ति न संशयः ।
तस्मात् स्वयंवरो राजन् घुष्यतां मा चिरं कृथाः ॥

मैंने ऐसे (शुभ) चिह्न देखे हैं, जिनसे सूचित होता है कि पाण्डव यहाँ अवश्य पधारेंगे। नरेश्वर ! वे जिस निमित्तसे यहाँ आ सकते हैं, वह सुनिये—क्षत्रियोंके लिये कन्यादानका श्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर बताया गया है। नृपश्रेष्ठ ! आप सम्पूर्ण नगरमें स्वयंवरकी घोषणा करा दें। फिर पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ दूर हों, निकट हों अथवा स्वर्गमें ही क्यों न हों—जहाँ कहीं भी होंगे, स्वयंवरका समाचार सुनकर यहाँ अवश्य आयेंगे, इसमें संशय नहीं है। अतः राजन् ! आप (सर्वत्र) स्वयंवरकी सूचना करा दें, इसमें विलम्ब न करें ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा पुरोहितेनोक्तं पाञ्चालः प्रीतिमांस्तदा ।
घोषयामास नगरे द्रौपद्यास्तु स्वयंवरम् ॥
पुष्यमासे तु रोहिण्यां शुक्लपक्षे शुभे तिथौ ।
दिवसैः पञ्चसप्तत्या भविष्यति स्वयंवरः ॥
देवगन्धर्वयक्षाश्च ऋषयश्च तपोधनाः ।
स्वयंवरं द्रष्टुकामा गच्छन्त्येव न संशयः ॥
तव पुत्रा महात्मानो दर्शनीया विशेषतः ।
यदृच्छया तु पाञ्चाली गच्छेद् वा मध्यमं पतिम् ॥
को हि जानाति लोकेषु प्रजापतिविधिं वरम् ।
तस्मात् सपुत्रा गच्छेथा ब्राह्मण्यै यदि रोचते ॥
नित्यकालं सुभिक्षास्ते पञ्चालास्तु तपोधने ॥
यज्ञसेनस्तु राजासौ ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
ब्रह्मण्या नागराश्चाथ ब्राह्मणाश्चातिथिप्रियाः ॥
नित्यकालं प्रदास्यन्ति आमन्त्रणमयाचितम् ॥

अहं च तत्र गच्छामि ममैभिः सह शिष्यकैः।
एकसार्थाः प्रयाताः स्मो ब्राह्मण्यै यदि रोचते ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—पुरोहितकी बात सुनकर पञ्चालराजको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने नगरमें द्रौपदीका स्वयंवर घोषित करा दिया। पौषमासके शुक्लपक्षमें शुभ तिथि (एकादशी) को रोहिणी नक्षत्रमें वह स्वयंवर होगा, जिसके लिये आजसे पचहत्तर दिन शेष हैं। ब्राह्मणी (कुन्ती)! देवता, गन्धर्व, यक्ष और तपस्वी ऋषि भी स्वयंवर देखनेके लिये अवश्य जाते हैं। तुम्हारे सभी महात्मा पुत्र देखनेमें परम सुन्दर हैं। पञ्चालराजपुत्री कृष्णा इनमेंसे किसीको अपनी इच्छासे पति चुन सकती है अथवा तुम्हारे मँझले पुत्रको अपना पति बना सकती है। संसारमें विधाताके उत्तम विधानको कौन जान सकता है! अतः यदि मेरी बात तुम्हें अच्छी लगे, तो तुम अपने पुत्रोंके साथ पञ्चालदेशमें अवश्य जाओ। तपोधने! पञ्चालदेशमें सदा सुभिक्ष रहता है। राजा यज्ञसेन सत्यप्रतिज्ञ होनेके साथ ही ब्राह्मणोंके भक्त हैं। वहाँके नागरिक भी ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले हैं। उस नगरके ब्राह्मण भी अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे प्रतिदिन बिना माँगे ही न्यौता देंगे। मैं भी अपने इन शिष्योंके साथ वहीं जाता हूँ। ब्राह्मणी! यदि ठीक जान पड़े तो चलो। हम सब लोग एक साथ ही वहाँ चले चलेंगे॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं ब्राह्मणो विरराम ह।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर वे ब्राह्मण चुप हो गये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीप्रादुर्भावविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३८ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी अपने पुत्रोंसे पूछकर पञ्चालदेशमें जानेकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात्।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कठोर व्रतवाले उस ब्राह्मणसे यह सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रोंका मन विचलित हो गया॥ १॥

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी॥ २॥

तब सत्यवादिनी कुन्तीने अपने सभी पुत्रोंका मन उस स्वयंवरकी ओर आकृष्ट देख युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा॥ २॥

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः॥ ३॥

कुन्ती बोली—बेटा! हमलोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मणके घरमें बहुत दिनोंसे रह रहे हैं। इस रमणीय नगरमें हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें (पर्याप्त) भिक्षा भी उपलब्ध हुई॥ ३॥

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम॥ ४॥

शत्रुदमन! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको हमने बार-बार देख लिया॥ ४॥

पुनर्द्रष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन॥ ५॥

वीर! यदि उन्हींको हम फिर देखनेके लिये जायँ तो वे हमें उतनी प्रसन्नता नहीं दे सकते। कुरुनन्दन! अब भिक्षा भी यहाँ हमें पहले-जैसी नहीं मिल रही है॥ ५॥

ते वयं साधु पञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति॥ ६॥

यदि तुम्हारी राय हो तो अब हमलोग सुखपूर्वक पञ्चालदेशमें चलें। वीर! उस देशको हमने पहले कभी नहीं देखा है, इसलिये वह बड़ा रमणीय प्रतीत होगा॥ ६॥

सुभिक्षाश्चैव पञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन।
यज्ञसेनश्च राजासौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम॥ ७॥

शत्रुनाशन! सुना जाता है, पञ्चालदेशमें बड़ा सुकाल है (इसलिये भिक्षा बहुतायतसे मिलती है)। हमने यह भी सुना है कि राजा यज्ञसेन ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं॥ ७॥

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे॥ ८॥

बेटा! एक स्थानपर बहुत दिनोंतक रहना मुझे उचित नहीं जान पड़ता; अतः यदि तुम ठीक समझो तो हमलोग सुखपूर्वक वहाँ चलें॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम्।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः॥ ९॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ! आप जिस कार्यको ठीक समझती हैं, वह हमारे लिये परम हितकर है; परंतु अपने छोटे भाइयोंके

सम्बन्धमें मैं नहीं जानता कि वे जानेके लिये उद्यत हैं या नहीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कुन्तीने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे भी चलनेके विषयमें पूछा ! उन सबने भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी ॥ १० ॥

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

राजन् ! तब कुन्तीने उन ब्राह्मणदेवतासे विदा लेकर अपने पुत्रोंके साथ महात्मा द्रुपदकी रमणीय नगरीकी ओर जानेकी तैयारी की ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पञ्चालदेशयात्रायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पञ्चालदेशकी यात्राविषयक एक सौ सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका पाण्डवोंको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु।
आजगामाथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा पाण्डव जब गुप्त रूपसे वहाँ निवास कर रहे थे, उसी समय सत्यवती-नन्दन व्यासजी उनसे मिलनेके लिये वहाँ आये ॥ १ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः।
प्रणिपत्याभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥
समनुज्ञाप्य तान् सर्वानासीनान् मुनिरब्रवीत्।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख शत्रुसंतापन पाण्डवोंने आगे बढ़कर उनकी

अगवानी की और प्रणामपूर्वक उनका अभिवादन करके वे सब उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये । कुन्तीपुत्रों-द्वारा गुप्तरूपसे पूजित हो मुनिवर व्यासने उन सबको आज्ञा देकर बिठाया और जब वे बैठ गये, तब उनसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार पूछा—॥ २-३ ॥

अपि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः।
अपि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संतप्त करनेवाले वीरो ! तुमलोग शास्त्रकी आज्ञा और धर्मके अनुसार चलते हो न ? पूजनीय ब्राह्मणोंकी पूजा करनेमें तो तुम्हारी ओरसे कभी भूल नहीं होती ?' ॥ ४ ॥

अथ धर्मार्थवद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर महर्षि भगवान् व्यासने उनसे धर्म और अर्थ-युक्त बातें कहीं । फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—पहलेकी बात है, तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी कोई कन्या रहती थी, जिसकी कटि कृश तथा नितम्ब और भौंहें सुन्दर थीं । वह कन्या समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थी ॥ ६ ॥

कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ७ ॥

परंतु अपने ही किये हुए कर्मोंके कारण वह कन्या दुर्भाग्यके वश हो गयी, इसलिये वह रूपवती और सदाचारिणी होनेपर भी कोई पति न पा सकी ॥ ७ ॥

ततस्तप्तुमथारेभे पत्यर्थमसुखा ततः।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥

तब पतिके लिये दुखी होकर उसने तपस्या प्रारम्भ की और कहते हैं, उग्र तपस्याके द्वारा उसने भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया ॥ ८ ॥

तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम्।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शंकरः ॥ ९ ॥

उसपर संतुष्ट हो भगवान् शङ्करने उस यशस्विनी कन्यासे कहा—'शुभे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ' ॥ ९ ॥

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम्।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥

तब उसने भगवान् शङ्करसे अपने लिये हितकर वचन कहा—'प्रभो! मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ।' इस वाक्यको उसने बार-बार दुहराया ॥ १० ॥

तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारताः ॥ ११ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् शिवने उससे कहा—'भद्रे! तुम्हारे पाँच भरतवंशी पति होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत्।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात् पतिं प्रभो ॥ १२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर वह कन्या उन वरदायक देवता भगवान् शिवसे इस प्रकार बोली—'देव! प्रभो! मैं आपकी कृपासे एक ही पति चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

पुनरेवाब्रवीद् देव इदं वचनमुत्तमम्।
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ॥ १३ ॥

तब भगवान्ने पुनः उससे यह उत्तम बात कही—'भद्रे! तुमने मुझसे पाँच बार कहा है कि मुझे पति दीजिये॥

देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद् भविष्यति।
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ॥ १४ ॥

'अतः दूसरा शरीर धारण करनेपर तुम्हें जैसा मैंने कहा है, वह वरदान प्राप्त होगा।' वही देवरूपिणी कन्या राजा द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४ ॥

निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता।
पाञ्चालनगरे तस्मान्निवसध्वं महाबलाः।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १५ ॥

वह महाराज पृषतकी पौत्री सती-साध्वी कृष्णा तुमलोगोंकी पत्नी नियत की गयी है; अतः महाबली वीरो! अब तुम पञ्चालनगरमें जाकर रहो। द्रौपदीको पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १६ ॥

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर उन सबसे और कुन्तीसे विदा लेकर वहाँसे चल दिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीजन्मान्तरकथने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मान्तरकथनविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चाल-यात्रा और अर्जुनके द्वारा चित्ररथ गन्धर्वकी पराजय एवं उन दोनोंकी मित्रता

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यासके चले जानेपर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माताको आगे करके वहाँसे पञ्चालदेशकी ओर चल दिये॥१॥

आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्यानुमान्य च।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ २ ॥

परंतप! कुन्तीकुमारोंने पहले ही अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे पूछकर जानेकी आज्ञा ले ली थी और चलते समय बड़े आदरके साथ उन्हें प्रणाम किया। वे सब लोग उत्तर दिशाकी ओर जानेवाले सीधे मार्गोंद्वारा उत्तराभिमुख हो अपने अभीष्ट स्थान पञ्चालदेशकी ओर बढ़ने लगे ॥ २ ॥

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम्।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ ३ ॥

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गङ्गाजीके तटपर सोमाश्रयायण नामक तीर्थमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनंजयः।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥ ४ ॥

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला तथा रक्षा करनेके लिये जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ॥ ४ ॥

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रियः।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥ ५ ॥

उस तीर्थकी गङ्गाके रमणीय तथा एकान्त जलमें गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। वह बड़ा ही ईर्ष्यालु था और जलक्रीड़ा करनेके लिये ही वहाँ आया था ॥ ५ ॥

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम्।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद् बली ॥ ६ ॥

उसने गङ्गाजीकी ओर बढ़ते हुए पाण्डवोंके पैरोंकी धमक सुनी। उस शब्दको सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोधके आवेशमें आकर बड़े जोरसे कुपित हो उठा ॥ ६ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परंतपान्।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

परंतप पाण्डवोंको अपनी माताके साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुषको टंकारता हुआ इस प्रकार बोला—॥ ७॥

संध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहूर्तं प्रचक्षते॥ ८॥
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम्।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम्॥ ९॥

'रात्रि प्रारम्भ होनेके पहले जो पश्चिम दिशामें भयंकर संध्याकी लाली छा जाती है, उस समय अस्सी लवको छोड़कर सारा मुहूर्त इच्छानुसार विचरनेवाले यक्षों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंके लिये निश्चित बताया जाता है। शेष दिनका सब समय मनुष्योंके कार्यवश विचरनेके लिये माना गया है॥ ८-९॥

लोभात् प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान्।
उपक्रान्तानि गृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान्॥ १०॥

'जो मनुष्य लोभवश हमलोगोंकी वेलामें इधर घूमते हुए आ जाते हैं, उन मूर्खोंको हम गन्धर्व और राक्षस कैद कर लेते हैं॥ १०॥

अतो रात्रौ प्राप्नुवन्तो जलं ब्रह्मविदो जनाः।
गर्हयन्ति नरान् सर्वान् बलस्थान् नृपतीनपि॥ ११॥

'इसीलिये वेदवेत्ता पुरुष रातके समय जलमें प्रवेश करनेवाले सम्पूर्ण मनुष्यों और बलवान् राजाओंकी भी निन्दा करते हैं॥ ११॥

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम्॥ १२॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा॥ १३॥

'अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप न आना। तुम्हें ज्ञात कैसे नहीं हुआ कि मैं गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण गङ्गाजीके जलमें उतरा हुआ हूँ। तुमलोग मुझे (अच्छी तरह) जान लो, मैं अपने ही बलका भरोसा करनेवाला स्वाभिमानी, ईर्ष्यालु तथा कुबेरका प्रिय मित्र हूँ॥ १२-१३॥

अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम।
अनुगङ्गं चरन् कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम्॥ १४॥

'मेरा यह वन भी अङ्गारपर्ण नामसे ही विख्यात है। मैं गङ्गाजीके तटपर विचरता हुआ इस वनमें इच्छानुसार विचित्र क्रीड़ाएँ करता रहता हूँ॥ १४॥

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ॥ १५॥

'मेरी उपस्थितिमें यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य—कोई भी नहीं आने पाते; फिर तुमलोग कैसे आ रहे हो?'॥

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते।
रात्रावहनि संध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः॥ १६॥

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालयकी तराई और गङ्गानदीके तटपर रात, दिन अथवा संध्याके समय किसका अधिकार सुरक्षित है?॥ १६॥

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥ १७॥

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके तटपर आनेके लिये यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये या बिना खाये, रातमें आये या दिनमें। इसी प्रकार काल आदिका भी कोई नियम नहीं है॥ १७॥

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुम।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः॥ १८॥

अरे ओ क्रूर! हमलोग तो शक्तिसम्पन्न हैं। असमयमें भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करनेमें असमर्थ हैं, वे दुर्बल मनुष्य ही तुमलोगोंकी पूजा करते हैं॥ १८॥

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद् विनिस्सृता।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत॥ १९॥
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम्।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा॥ २०॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः॥ २१॥
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम्।
तथा पितॄन् वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्॥ २२॥

प्राचीन कालमें हिमालयके स्वर्णशिखरसे निकली हुई गङ्गा सात धाराओंमें विभक्त हो समुद्रमें जाकर मिल गयी हैं। जो पुरुष गङ्गा, यमुना, प्लक्षकी जड़से प्रकट हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—इन सात नदियोंका जल पीते हैं, उनके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यह गङ्गा बड़ी पवित्र नदी है। एकमात्र आकाश ही इनका तट है। गन्धर्व! ये आकाशमार्गसे विचरती हुई गङ्गा देवलोकमें अलकनन्दा नाम धारण करती हैं। ये ही वैतरणी होकर पितृलोकमें बहती हैं। वहाँ पापियोंके लिये इनके पार जाना अत्यन्त कठिन होता है। इस लोकमें आकर इनका नाम गङ्गा होता है। यह श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीका कथन है॥

असम्बाधा देवनदी स्वर्गसम्पादनी शुभा।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः॥ २३॥

ये कल्याणमयी देवनदी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाली हैं। तुम उन्हीं गङ्गाजीपर किसलिये रोक लगाना चाहते हो ? यह सनातन धर्म नहीं है ॥ २३ ॥

अनिवार्यमसम्बाधं तव वाचा कथं वयम् ।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ॥ २४ ॥

जिसे कोई रोक नहीं सकता, जहाँ पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं है, भागीरथीके उस पावन जलका तुम्हारे कहनेसे हम अपने इच्छानुसार स्पर्श क्यों न करें ? ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम् ।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! अर्जुनकी वह बात सुनकर अङ्गारपर्ण क्रोधित हो गया और धनुष नवाकर विषैले साँपोंकी भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा ॥ २५ ॥

उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तरम् ।
व्यपोहत शरांस्तस्य सर्वानेव धनंजयः ॥ २६ ॥

यह देख पाण्डुनन्दन धनंजयने तुरंत ही मशाल घुमाकर

और उत्तम ढालसे रोककर उसके सभी बाण व्यर्थ कर दिये॥

अर्जुन उवाच

विभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते ।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ॥ २७ ॥

अर्जुनने कहा--गन्धर्व ! जो अस्त्रविद्याके विद्वान् हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्रविद्याके मर्मज्ञोंपर फैलायी हुई तुम्हारी यह माया फेनकी तरह विलीन हो जायगी ॥ २७ ॥

मानुषानति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये ।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥ २८ ॥

गन्धर्व ! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्योंसे अधिक शक्तिशाली होते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे साथ मायासे नहीं, दिव्यास्त्रसे युद्ध करूँगा ॥ २८ ॥

पुरास्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात् किल बृहस्पतिः ।
भरद्वाजाय गन्धर्व गुरुर्मान्यः शतक्रतोः ॥ २९ ॥

गन्धर्व ! यह आग्नेय अस्त्र पूर्वकालमें इन्द्रके माननीय गुरु बृहस्पतिजीने भरद्वाज मुनिको दिया था ॥ २९ ॥

भरद्वाजादग्निवेश्यः अग्निवेश्याद् गुरुर्मम ।
साध्विदं मह्यमददद् द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३० ॥

भरद्वाजसे इसे अग्निवेश्यने और अग्निवेश्यसे मेरे गुरु द्रोणाचार्यने प्राप्त किया है। फिर विप्रवर द्रोणाचार्यने यह उत्तम अस्त्र मुझे प्रदान किया ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह ।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥ ३१ ॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः ।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ ३२ ॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः ।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो गन्धर्वपर वह प्रज्वलित आग्नेय अस्त्र चला दिया। उस अस्त्रने गन्धर्वके रथको जलाकर भस्म कर दिया। वह रथहीन गन्धर्व व्याकुल हो गया और अस्त्रके तेजसे मूढ होकर नीचे मुँह किये गिरने लगा। महाबली अर्जुनने उसके फूलकी मालाओंसे सुशोभित केश पकड़ लिये और घसीटकर अपने भाइयोंके पास ले आये। अस्त्रके आघातसे वह गन्धर्व अचेत हो गया था। ३१-३३।

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी ।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३४ ॥

उस गन्धर्वकी पत्नीका नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पतिके जीवनकी रक्षाके लिये महाराज युधिष्ठिरकी शरण ली ॥

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे ।
गन्धर्वीं शरणं प्राप्तां नाम्ना कुम्भीनसीं प्रभो ॥ ३५ ॥

गन्धर्वी बोली—महाभाग ! मेरी रक्षा कीजिये और मेरे इन पतिदेवको आप छोड़ दीजिये ! प्रभो ! मैं गन्धर्व-पत्नी कुम्भीनसी आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम् ।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—तात ! शत्रुसूदन अर्जुन ! यह गन्धर्व युद्धमें हार गया और अपना यश खो चुका । अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है । यह स्वयं कोई पराक्रम नहीं कर सकता । ऐसे दीन-हीन शत्रुको कौन मारता है ? इसे जीवित छोड़ दो ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व ! जीवन धारण करो । जाओ, अब शोक न करो । इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभयदान दे रहे हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३८ ॥

गन्धर्वने कहा—अर्जुन ! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अङ्गारपर्णको छोड़ देता हूँ । अब मैं जनसमुदायमें अपने बलकी श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नामसे अपना परिचय ही दूँगा ॥ ३८ ॥

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥ ३९ ॥

(आजकी पराजयसे) मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुनको (मित्ररूपमें) प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वोंकी मायासे संयुक्त करना चाहता हूँ ॥

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥४०॥

इनके दिव्यास्त्रकी अग्निसे मेरा यह विचित्र एवं उत्तम रथ दग्ध हो गया है । पहले मैं विचित्र रथके कारण 'चित्ररथ' कहलाता था; परंतु अब मेरा नाम दग्धरथ हो गया ॥४०॥

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ४१ ॥

मैंने पूर्वकालमें यहाँ तपस्याद्वारा जो यह विद्या प्राप्त की है, उसे आज अपने प्राणदाता महात्मा मित्रको अर्पित करूँगा ॥

संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत् प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ॥ ४२ ॥

जिन्होंने अपने वेगसे शत्रुकी शक्तिको कुण्ठित करके उसपर विजय पायी और फिर जब वह शत्रु शरणमें आ गया, तब जो उसे प्राणदान दे रहे हैं, वे किस कल्याणकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं ? ॥ ४२ ॥

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ॥ ४३ ॥

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनुने सोमको दिया । सोमने विश्वावसुको दिया और विश्वावसुने मुझे प्रदान किया है ॥ ४३ ॥

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥ ४४ ॥

यह गुरुकी दी हुई विद्या यदि किसी कायरको मिल गयी तो नष्ट हो जाती है । (इस प्रकार) मैंने इसके उपदेशकी परम्पराका वर्णन किया है । अब इसका बल भी मुझसे सुन लीजिये ॥ ४४ ॥

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत् तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४५ ॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी वस्तु है, उसमेंसे जिस वस्तुको आँखसे देखनेकी इच्छा हो, उसे इस विद्याके प्रभावसे कोई भी देख सकता है और जिस रूपमें देखना चाहे, उसी रूपमें देख सकता है ॥ ४५ ॥

एकपादेन षण्मासान् स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रतेऽकृते ॥ ४६ ॥

जो एक पैरसे छः महीनेतक खड़ा रहकर तपस्या करे, वही इस विद्याको पा सकता है । परंतु आपको इस व्रतका पालन या तपस्या किये बिना ही मैं स्वयं उक्त विद्याकी प्राप्ति कराऊँगा ॥ ४६ ॥

विद्यया ह्यनया राजन् वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥ ४७ ॥

राजन् ! इस विद्याके बलसे ही हमलोग मनुष्योंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं और देवताओंके तुल्य प्रभाव दिखा सकते हैं ॥

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥ ४८ ॥

पुरुषशिरोमणे ! मैं आपको और आपके भाइयोंको अलग-अलग गन्धर्वलोकके सौ-सौ घोड़े भेंट करता हूँ ॥४८॥

देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः ।
क्षीणाक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ॥ ४९ ॥

वे घोड़े देवताओं और गन्धर्वोंके वाहन हैं । उनके शरीरकी कान्ति दिव्य है । वे मनके समान वेगशाली और आवश्यकताके अनुसार दुबले-मोटे होते हैं; किंतु उनका वेग कभी कम नहीं होता ॥ ४९ ॥

पुरा कृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम् ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ५० ॥

पूर्वकालमें वृत्रासुरका संहार करनेके निमित्त इन्द्रके लिये जिस वज्रका निर्माण किया गया था, वृत्रासुरके मस्तक-

पर पड़ते ही उसके दस बड़े और सौ छोटे टुकड़े हो गये ।

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यशो घनं किंचित् सैव वज्रतनुः स्मृता ॥ ५१ ॥

तबसे अनेक भागोंमें बँटे हुए उस वज्रके प्रत्येक भागकी देवतालोग उपासना करते हैं । लोकमें उत्कृष्ट धन और यश आदि जो कुछ भी वस्तु है, उसे वज्रका स्वरूप माना गया है ॥ ५१ ॥

वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ५२ ॥

(अग्निमें आहुति देनेके कारण) ब्राह्मणका दाहिना हाथ वज्र है । क्षत्रियका रथ वज्र है । वैश्यलोग जो दान करते हैं, वह भी वज्र है और शूद्रलोग जो सेवाकार्य करते हैं, उसे भी वज्र ही समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः ।
रथाङ्गं बडवा सूते शूराश्चाश्वेषु ये मताः ॥ ५३ ॥

क्षत्रियके रथरूपी वज्रका एक विशिष्ट अङ्ग होनेसे घोड़ोंको अवध्य बताया गया है । गन्धर्वदेशकी घोड़ी रथको वहन करनेवाले रथाङ्ग-स्वरूप (वज्रस्वरूप) घोड़ेको जन्म देती है । वे घोड़े सब अश्वोंमें शूरवीर माने जाते हैं ॥ ५३ ॥

कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ॥ ५४ ॥

गन्धर्व-देशके घोड़ोंकी यह विशेषता है कि वे इच्छानुसार अपना रंग बदल लेते हैं । सवारकी इच्छाके अनुसार अपने वेगको घटा-बढ़ा सकते हैं । जब आवश्यकता या इच्छा हो, तभी वे उपस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार मेरे गन्धर्व-देशीय घोड़े आपकी इच्छा पूर्ण करते रहेंगे ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ॥ ५५ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राणसंकटसे बचानेके कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है तो मैं इस तरहका दान लेना पसंद नहीं करता ॥ ५५ ॥

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५६ ॥

गन्धर्व बोला—महापुरुषोंके साथ जो समागम होता है, वह प्रीतिको बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखनेमें आता है । आपने मुझे जीवनदान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ ॥ ५६ ॥

त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा । भरतकुलभूषण अर्जुन ! ऐसा करनेसे ही हम दोनोंमें दीर्घकालतक समुचित सौहार्द बना रहेगा ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद् भयं भवेत् ॥ ५८ ॥

अर्जुनने कहा— ठीक है, मैं यह अस्त्रविद्या देकर

तुमसे घोड़े ले लूँगा । हम दोनोंकी मैत्री सदा बनी रहे । सखे गन्धर्वराज ! बताओ तो सही, तुमलोगोंसे हम मनुष्योंको क्यों भय प्राप्त होता है ? ॥ ५८ ॥

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः ।
यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिंदमाः ॥ ५९ ॥

गन्धर्व ! हम सब लोग वेदवेत्ता हैं और शत्रुओंका दमन करनेकी शक्ति रखते हैं; फिर भी रातमें यात्रा करते समय जो तुमने हमलोगोंपर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है ? इसपर भी प्रकाश डालो ॥ ५९ ॥

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥ ६० ॥

गन्धर्व बोला—पाण्डुकुमारो ! आपलोग (विवाहित न होनेके कारण) त्रिविध अग्नियोंकी सेवा नहीं करते । (अध्ययन पूरा करके समावर्तन संस्कारसे सम्पन्न हो गये हैं, अतः) प्रतिदिन अग्निको आहुति भी नहीं देते । आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं है । इन्हीं कारणोंसे मैंने आपपर आक्रमण किया है ॥ ६० ॥

(जानता च मया तस्मात् तेजश्चाभिजनं च वः।
इयं मतिमतां श्रेष्ठ धर्षितं वै कृता मतिः॥
को हि वस्त्रिषु लोकेषु न वेद भरतर्षभ।
स्वैर्गुणैर्विस्तृतं श्रीमद् यशोऽग्र्यं भूरिवर्चसाम्)
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते॥ ६१॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इसीलिये मैंने आपलोगोंके तेज और कुलोचित प्रभावको जानते हुए भी आपपर आक्रमण करनेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ! आपलोग महान् तेजस्वी हैं। आपने अपने गुणोंसे जिस शोभाशाली श्रेष्ठ यशका विस्तार किया है, उसे तीनों लोकोंमें कौन नहीं जानता। बुद्धिमान् यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, नाग और दानव कुरुकुलकी यशोगाथाका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं॥ ६१॥

नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम्।
गुणान् कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम्॥ ६२॥

वीर! नारद आदि देवर्षियोंके मुखसे भी मैंने आपके बुद्धिमान् पूर्वजोंका गुणगान सुना है॥ ६२॥

स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम्।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते॥ ६३॥

तथा समुद्रसे घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरते हुए मैंने स्वयं भी आपके उत्तम कुलका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है॥

वेदे धनुषि चाचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम्॥ ६४॥

अर्जुन! तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्वी भरद्वाजनन्दन द्रोणको भी, जो आपके वेद और धनुर्वेदके आचार्य रहे हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ॥ ६४॥

धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान् कुरुवर्धनान्।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान्॥ ६५॥

कुरुश्रेष्ठ! धर्म, वायु, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार तथा महाराज पाण्डु—ये छः महापुरुष कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले हैं। पार्थ! ये देवताओं तथा मनुष्योंके सिरमौर छहों व्यक्ति आपलोगोंके पिता हैं। मैं इन सबको जानता हूँ॥ ६५॥

दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः॥ ६६॥

आप सब भाई देवस्वरूप, महात्मा, समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शूरवीर हैं तथा आपलोगोंने ब्रह्मचर्यव्रतका भलीभाँति पालन किया है॥ ६६॥

उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम्।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम्॥ ६७॥

आपलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है, मन और बुद्धि भी उत्तम है। पार्थ! आपके विषयमें यह सब कुछ जानते हुए भी मैंने यहाँ आक्रमण किया था॥ ६७॥

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः॥ ६८॥

कुरुनन्दन! इसका कारण यह है कि अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्रीके समीप अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर पाता॥ ६८॥

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत्॥ ६९॥

कुन्तीनन्दन! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रातके समय हमलोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है। इसीसे स्त्रीके साथ रहनेके कारण मुझमें क्रोधका आवेश हो गया था॥ ६९॥

सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे॥ ७०॥

तपतीके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन! आपने जिस कारण युद्धमें मुझे पराजित किया है, उसे (भी) बतलाता हूँ; सुनिये॥ ७०॥

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात् तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया॥ ७१॥

ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूपसे विद्यमान है। कुन्तीनन्दन! इसीलिये युद्धमें मैं तुमसे हार गया हूँ॥ ७१॥

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परंतप।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन॥ ७२॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! यदि दूसरा कोई कामासक्त क्षत्रिय रातमें मुझसे युद्ध करने आता तो किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था॥ ७२॥

यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः।
जयेन्नक्तंचरान् सर्वान् स पुरोहितधूर्गतः॥ ७३॥

किंतु कुन्तीकुमार! कामासक्त होनेपर भी यदि कोई पुरुष किसी ब्राह्मणको आगे करके चले तो वह समस्त निशाचरोंपर विजय पा सकता है; क्योंकि उस दशामें उसका सारा भार पुरोहितपर होता है॥ ७३॥

तस्मात् तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम्।
तस्मिन् कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः॥ ७४॥

अतः तपतीनन्दन! मनुष्योंको इस लोकमें जो भी कल्याणकारी कार्य करना अभीष्ट हो, उसमें वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरोहितोंको नियुक्त करे॥ ७४॥

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः॥ ७५॥

जो छहों अङ्गोंसहित वेदके स्वाध्यायमें तत्पर, ईमानदार, सत्यवादी, धर्मात्मा और मनको वशमें रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओंके पुरोहित होने चाहिये॥ ७५॥

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम् ।
यस्य स्याद् धर्मविद् वाग्मी पुरोधाः शीलवान् शुचिः ॥

जिसके यहाँ धर्मज्ञ, वक्ता, शीलवान् और ईमानदार ब्राह्मण पुरोहित हो, उस राजाको इस लोकमें निश्चय ही विजय प्राप्त होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गलोक मिलता है ॥ ७६ ॥

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम् ।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥ ७७ ॥

राजाको किसी अप्राप्त वस्तु या धनको प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धन आदिकी रक्षा करनेके लिये गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिये ॥ ७७ ॥

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः ।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ॥ ७८ ॥

जो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीपर अपना अधिकार चाहे या अपने लिये ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहितकी आज्ञाके अधीन रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च ।
जयेदब्राह्मणः कश्चिद् भूमिं भूमिपतिः क्वचित् ॥ ७९ ॥

तपतीनन्दन ! कोई भी राजा कहीं भी पुरोहितकी सहायताके बिना केवल अपने बल अथवा कुलीनताके भरोसे भूमिपर विजय नहीं पाता ॥ ७९ ॥

तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन ।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम् ॥ ८० ॥

अतः कौरवोंके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन ! आप यह जान लें कि जहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी प्रधानता हो, उसी राज्यकी दीर्घकालतक रक्षा की जा सकती है ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें गन्धर्वपराभवविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८२ श्लोक हैं)

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सूर्यकन्या तपतीको देखकर राजा संवरणका मोहित होना

अर्जुन उवाच

तापत्य इति यद् वाक्यमुक्तवानसि मामिह ।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! तुमने 'तपतीनन्दन' कहकर जो बात यहाँ मुझसे कही है, उसके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि तापत्यका निश्चित अर्थ क्या है ? ॥ १ ॥

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम् ।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ २ ॥

साधुस्वभाव गन्धर्वराज ! यह तपती कौन है, जिसके कारण हमलोग तापत्य कहलाते हैं ? हम तो अपनेको कुन्तीका पुत्र समझते हैं । अतः 'तापत्य'का यथार्थ रहस्य क्या है, यह जाननेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके यों कहनेपर गन्धर्वने कुन्तीनन्दन धनंजयको वह कथा सुनानी प्रारम्भ की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ३ ॥

गन्धर्व उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम् ।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर ॥ ४ ॥

गन्धर्व बोला—समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! इस विषयमें एक बहुत मनोरम कथा है, जिसे मैं यथार्थ एवं पूर्णरूपसे आपको सुनाऊँगा ॥ ४ ॥

उक्तवानसि येन त्वां तापत्य इति यद् वचः ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव ॥ ५ ॥

मैंने जिस कारण अपने वक्तव्यमें तुम्हें 'तापत्य' कहा है, वह बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ५ ॥

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा ।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता ॥ ६ ॥
विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो ।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ॥ ७ ॥

ये जो आकाशमें उदित हो अपने तेजोमण्डलके द्वारा यहाँसे स्वर्गलोकतक व्याप्त हो रहे हैं, इन्हीं भगवान् सूर्यदेवके तपती नामकी एक पुत्री हुई, जो पिताके अनुरूप ही थी । प्रभो ! वह सावित्रीदेवीकी छोटी बहिन थी । वह तपस्यामें संलग्न रहनेके कारण तीनों लोकोंमें तपती नामसे विख्यात हुई ॥ ६-७ ॥

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी ।
नाप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ॥ ८ ॥

उस समय देवता, असुर, यक्ष एवं राक्षस जातिकी स्त्री, कोई अप्सरा तथा गन्धर्वपत्नी भी उसके समान रूपवती न थी ॥ ८ ॥

सुविभक्तानवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना ।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ॥ ९ ॥
न तस्याः सदृशं कंचित् त्रिषु लोकेषु भारत ।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः ॥ १० ॥

उसके शरीरका एक-एक अवयव बहुत सुन्दर, सुविभक्त और निर्दोष था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और कजरारी थीं। वह सुन्दरी सदाचार, साधु-स्वभाव और मनोहर वेशसे सुशोभित थी। भारत! भगवान् सूर्यने तीनों लोकोंमें किसी भी पुरुषको ऐसा नहीं पाया, जो रूप, शील, गुण और शास्त्रज्ञानकी दृष्टिसे उसका पति होने योग्य हो॥ ९-१०॥

सम्प्राप्तयौवनां पश्यन् देयां दुहितरं तु ताम्।
नोपलेभे ततः शान्तिं सम्प्रदानं विचिन्तयन्॥ ११॥

वह युवावस्थाको प्राप्त हो गयी। अब उसका किसीके साथ विवाह कर देना आवश्यक था। उसे उस अवस्थामें देखकर भगवान् सूर्य इस चिन्तामें पड़े कि इसका विवाह किसके साथ किया जाय। यही सोचकर उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी॥ ११॥

अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा॥ १२॥

कुन्तीनन्दन! उन्हीं दिनों महाराज ऋक्षके पुत्र राजा संवरण कुरुकुलके श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष थे। उन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना प्रारम्भ की॥ १२॥

अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि॥ १३॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दन।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान्॥ १४॥

पौरवनन्दन! वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर पवित्र हो अर्घ्य, पुष्प, गन्ध एवं नैवेद्य आदि सामग्रियोंसे तथा भाँति-भाँतिके नियम, व्रत एवं तपस्याओंद्वारा बड़े भक्तिभावसे उदय होते हुए सूर्यकी पूजा करते थे। उनके हृदयमें सेवाका भाव था। वे शुद्ध तथा अहंकारशून्य थे॥ १३-१४॥

ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणासदृशं भुवि।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम्॥ १५॥

रूपमें इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा कोई पुरुष नहीं था। वे कृतज्ञ और धर्मज्ञ थे। अतः सूर्यदेवने राजा संवरणको ही तपतीके योग्य पति माना॥ १५॥

दातुमैच्छत् ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम्।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च॥ १६॥

कुरुनन्दन! उन्होंने नृपश्रेष्ठ संवरणको, जिनका उत्तम कुल सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात था, अपनी कन्या देनेकी इच्छा की॥ १६॥

यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत्॥ १७॥

जैसे आकाशमें उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यदेव अपने तेजसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर राजा संवरण अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित थे॥ १७॥

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः॥ १८॥

पार्थ! जैसे ब्रह्मवादी महर्षि उगते हुए सूर्यकी आराधना करते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजाएँ महाराज संवरणकी उपासना करती थीं॥ १८॥

स सोममति कान्तत्वादादित्यमति तेजसा।
बभूव नृपतिः श्रीमान् सुहृदां दुर्हृदामपि॥ १९॥

वे अपनी कमनीय कान्तिसे चन्द्रमाको और तेजसे सूर्यदेवको भी तिरस्कृत करते थे। राजा संवरण मित्रों तथा शत्रुओंकी मण्डलीमें भी अपनी दिव्य शोभासे प्रकाशित होते थे॥ १९॥

एवं गुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम्॥ २०॥

कुरुनन्दन! ऐसे उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा श्रेष्ठ आचार-व्यवहारसे युक्त राजा संवरणको भगवान् सूर्यने स्वयं ही अपनी पुत्री तपतीको देनेका निश्चय कर लिया॥ २०॥

स कदाचिदथो राजा श्रीमानमितविक्रमः।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! एक दिन अमितपराक्रमी श्रीमान् राजा संवरण पर्वतके समीपवर्ती उपवनमें हिंसक पशुओंका शिकार कर रहे थे॥ २१॥

चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः॥ २२॥
समृताश्वश्चरन् पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः।
ददर्शासदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम्॥ २३॥

कुन्तीपुत्र! शिकार खेलते समय ही राजाका अनुपम अश्व पर्वतपर भूख-प्याससे पीड़ित हो मर गया। पार्थ! घोड़ेकी मृत्यु हो जानेसे राजा संवरण पैदल ही उस पर्वत-शिखरपर विचरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक विशाल-लोचना कन्या देखी, जिसकी समता करनेवाली स्त्री कहीं नहीं थी॥ २२-२३॥

स एक एकामासाद्य कन्यां परबलार्दनः।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः॥ २४॥

शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले नृपश्रेष्ठ संवरण अकेले थे और वह कन्या भी अकेली ही थी। उसके पास पहुँचकर राजा एकटक नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हुए खड़े रह गये॥ २४॥

स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम्।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम्॥ २५॥

पहले तो उसका रूप देखकर नरेशने अनुमान किया कि हो-न-हो ये साक्षात् लक्ष्मी हैं; फिर उनके ध्यानमें यह बात

आयी कि सम्भव है, भगवान् सूर्यकी प्रभा ही सूर्यमण्डलसे च्युत होकर इस कन्याके रूपमें आकाशसे पृथ्वीपर आ गयी हो ॥२५॥

वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः ।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ २६ ॥

शरीर और तेजसे वह आगकी ज्वाला-सी जान पड़ती थी । उसकी प्रसन्नता और कमनीय कान्तिसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह निर्मल चन्द्रकला हो ॥ २६ ॥

गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन् स्थिता स्वसितलोचना ।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी ॥ २७ ॥

सुन्दर कजरारे नेत्रोंवाली वह दिव्य कन्या जिस पर्वत-शिखरपर खड़ी थी, वहाँ वह सोनेकी दमकती हुई प्रतिमा-सी सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाभवत् ॥ २८ ॥

विशेषतः उसके रूप और वेशसे विभूषित हो वृक्ष, गुल्म और लताओंसहित वह पर्वत सुवर्णमय-सा जान पड़ता था ॥ २८ ॥

अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः ।
अवाप्तं चात्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ॥ २९ ॥

उसे देखकर राजा संवरणकी समस्त लोकोंकी सुन्दरी युवतियोंमें अनादर-बुद्धि हो गयी । राजा यह मानने लगे कि आज मुझे अपने नेत्रोंका फल मिल गया ॥ २९ ॥

जन्मप्रभृति यत् किंचिद् दृष्टवान् स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ॥ ३० ॥

भूपाल संवरणने जन्मसे लेकर (उस दिनतक) जो कुछ देखा था, उसमें कोई भी रूप उन्हें उस (दिव्य किशोरी) के सदृश नहीं प्रतीत हुआ ॥ ३० ॥

तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन ॥ ३१ ॥

उस कन्याने उस समय अपने उत्तम गुणमय पाशोंसे राजाके मन और नेत्रोंको बाँध लिया । वे अपने स्थानसे हिल-डुलतक न सके। उन्हें किसी बातकी सुध-बुध (भी) न रही॥ ३१॥

अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम् ।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ॥ ३२ ॥

वे सोचने लगे, निश्चय ही ब्रह्माने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंके सौन्दर्य-सिन्धुको मथकर इस विशाल नेत्रोंवाली किशोरीके इस मनोहर रूपका आविष्कार किया होगा ॥ ३२ ॥

एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसम्पदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उस समय उसकी रूप-सम्पत्तिसे राजा संवरणने यही अनुमान किया कि संसारमें इस दिव्य कन्याकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है ॥ ३३ ॥

तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः ॥ ३४ ॥

कल्याणमय कुलमें उत्पन्न हुए वे नरेश उस कल्याण-स्वरूपा कामिनीको देखते ही काम बाणसे पीड़ित हो गये । उनके मनमें चिन्ताकी आग जल उठी ॥ ३४ ॥

दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर तीव्र कामाग्निसे जलते हुए राजा संवरणने लज्जारहित होकर उस लज्जाशीला एवं मनोहारिणी कन्यासे इस प्रकार पूछा— ॥ ३५ ॥

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ॥ ३६ ॥

'रम्भोरु ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और किस-लिये यहाँ खड़ी हो ? पवित्र मुसकानवाली ! तुम इस निर्जन वनमें अकेली कैसे विचर रही हो ? ॥ ३६ ॥

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ॥ ३७ ॥

'तुम्हारे सभी अङ्ग परम सुन्दर एवं निर्दोष हैं । तुम सब प्रकारके (दिव्य) आभूषणोंसे विभूषित हो । सुन्दरि ! इन आभूषणोंसे तुम्हारी शोभा नहीं है, अपितु तुम स्वयं ही इन आभूषणोंकी शोभा बढ़ानेवाली अभीष्ट आभूषणके समान हो ॥

न देवीं नासुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ॥ ३८ ॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, तुम न तो देवाङ्गना हो, न असुरकन्या, न यक्षकुलकी स्त्री हो, न राक्षसवंशकी, न नागकन्या हो, न गन्धर्वकन्या । मैं तुम्हें मानवी भी नहीं मानता ॥ ३८ ॥

या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ॥ ३९ ॥

'यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैंने अब-तक जो कोई भी सुन्दरी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं, उनमेंसे किसीको भी मैं तुम्हारे समान नहीं मानता ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात् कान्ततरं तव ।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः ॥ ४० ॥

'सुमुखि ! जबसे मैंने चन्द्रमासे भी बढ़कर कमनीय एवं कमलदलके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त तुम्हारे मुखका दर्शन किया है, तभीसे मन्मथ मुझे मथ-सा रहा है' ॥ ४० ॥

एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ॥ ४१ ॥

इस प्रकार राजा संवरण उस सुन्दरीसे बहुत कुछ कह गये; परंतु उसने उस समय उस निर्जन वनमें उन काम-पीड़ित नरेशको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा ।
सौदामिनीव चाभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४२ ॥

राजा संवरण उन्मत्तकी भाँति प्रलाप करते रह गये और वह विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी वहीं उनके सामने ही बादलोंमें बिजलीकी भाँति अन्तर्धान हो गयी ॥ ४२ ॥

तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः ।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत् तदा ॥ ४३ ॥

तब वे नरेश कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस (दिव्य) कन्याको ढूँढ़नेके लिये वनमें सब ओर उन्मत्तकी भाँति भ्रमण करने लगे ॥ ४३ ॥

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च ।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४४ ॥

जब कहीं भी उसे देख न सके, तब वे नृपश्रेष्ठ वहाँ बहुत विलाप करते-करते मूर्च्छित हो दो घड़ीतक निश्चेष्ट पड़े रहे ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपती और संवरणकी बातचीत

गन्धर्व उवाच

अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः ।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! जब तपती अदृश्य हो गयी, तब काममोहित राजा संवरण, जो शत्रुसमुदायको मार गिराने-वाले थे, स्वयं ही बेहोश होकर धरतीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी ।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥

जब वे इस प्रकार मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, तब स्थूल एवं विशाल श्रोणीप्रदेशवाली तपतीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपनेको राजा संवरणके सामने प्रकट कर दिया ॥ २ ॥

अथाबभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम् ।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥ ३ ॥
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिंदम ॥ ४ ॥
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ ।
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ॥ ५ ॥
ददर्शविपुलश्रोणीं तामेवाभिमुखे स्थिताम् ।
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ॥ ६ ॥
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा ।
साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ॥ ७ ॥
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम् ।
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन् न शाम्यति ।
दष्टमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ॥ ९ ॥

कुरुवंशका विस्तार करनेवाले राजा संवरण कामाग्निसे पीड़ित हो अचेत हो गये थे। उस समय जैसे कोई हँसकर मधुर वचन बोलता हो, उसी प्रकार कल्याणी तपती मीठी वाणीमें उन नरेशसे बोली—'शत्रुदमन ! उठिये, उठिये; आपका कल्याण हो। राजसिंह ! आप इस भूतलके विख्यात सम्राट् हैं। आपको इस प्रकार मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये।' तपतीने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा, तब राजा संवरणने आँखें खोलकर देखा। वही विशाल नितम्बों-वाली सुन्दरी सामने खड़ी थी। राजाके अन्तःकरणमें काम-जनित आग जल रही थी। वे उस कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरीसे लड़खड़ाती वाणीमें बोले—'श्यामलोचने ! तुम आ गयीं, अच्छा हुआ। यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैं कामसे पीड़ित तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो, अन्यथा मेरे प्राण मुझे छोड़कर चले जायँगे। विशालाक्षि ! कमलके भीतरी भागकी-सी कान्तिवाली सुन्दरि ! तुम्हारे लिये कामदेव मुझे अपने तीखे बाणोंद्वारा बार-बार घायल कर रहा है। यह (एक क्षणके लिये भी) शान्त नहीं होता। भद्रे ! ऐसे समयमें जब मेरा कोई भी रक्षक नहीं है, मुझे कामरूपी महासर्पने डस लिया है ॥ ३—९ ॥

सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने ।
त्वदधीना हि मे प्राणाः किंनरोद्गीतभाषिणि ॥ १० ॥

'स्थूल एवं विशाल नितम्बोंवाली वरानने ! मेरे समीप आओ। किन्नरोंकी-सी मीठी बोली बोलनेवाली ! मेरे प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ १० ॥

चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने ।
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम् ॥ ११ ॥

'भीरु ! तुम्हारे सभी अङ्ग मनोहर तथा अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हैं। तुम्हारा मुख कमल और चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकूँगा॥

कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम् ।
तस्मात् कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ॥ १२ ॥

कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरि ! यह काम-

देव मुझे (अपने बाणोंसे) घायल कर रहा है; विशाललोचने! इसलिये तुम मुझपर दया करो ॥ १२ ॥

भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि ।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि ॥ १३ ॥

'कजरारे नेत्रोंवाली भामिनि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ । तुम मेरा परित्याग न करो । तुम्हें तो प्रेमपूर्वक मेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम् ।
न त्वां दृष्ट्वा पुनश्चान्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचते॥ १४ ॥

'मेरा मन तुम्हारे दर्शनके साथ ही तुमसे अनुरक्त हो गया है । इसलिये वह अत्यन्त चञ्चल हो उठा है । कल्याणि ! तुम्हें देख लेनेके बाद फिर दूसरी स्त्रीकी ओर देखनेकी रुचि मुझे नहीं रह गयी है ॥ १४ ॥

प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि ।
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमङ्गने ॥ १५ ॥
अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यति स्म पतत्रिभिः ।
मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ॥ १६ ॥
प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे ।
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ॥ १७ ॥
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुस्सहैः शरैः।
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि ॥ १८ ॥

'मैं सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाओ । महानुभावे ! मुझ भक्तको अङ्गीकार करो । वरारोहे ! विशाल नेत्रोंवाली अङ्गने ! जबसे मैंने तुम्हें देखा है, तभीसे कामदेव मेरे अन्तःकरणको अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा है । कमल-लोचने ! तुम प्रेमपूर्वक समागमके जलसे मेरे कामाग्निजनित दाहको बुझाकर मुझे आह्लाद प्रदान करो । कल्याणि ! तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न हुआ कामदेव फूलोंके आयुध लेकर भी अत्यन्त दुर्धर्ष हो रहा है । उसके धनुष और बाण दोनों ही बड़े प्रचण्ड हैं । वह अपने दुस्सह बाणोंसे मुझे बींध रहा है। महानुभावे ! तुम आत्मदान देकर मेरे उस कामको शान्त करो॥

गान्धर्वेण विवाहेन मामुपेहि वराङ्गने ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १९ ॥

'वराङ्गने ! गान्धर्व विवाहद्वारा तुम मुझे प्राप्त होओ । सब विवाहोंमें गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है' ।१९।

तपत्युवाच

नाहमीशाऽऽत्मनो राजन् कन्या पितृमती ह्यहम्।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥२०॥

तपतीने कहा—राजन् ! मैं ऐसी कन्या हूँ, जिसके पिता विद्यमान हैं; अतः अपने इस शरीरपर मेरा कोई अधिकार नहीं है । यदि आपका मुझपर प्रेम है तो मेरे पिता-जीसे मुझे माँग लीजिये ॥ २० ॥

यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान् ममाहरः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! जैसे आपके प्राण मेरे अधीन हैं, उसी प्रकार आपने भी दर्शनमात्रसे ही मेरे प्राणोंको हर लिया है ॥२१॥

न चाहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ॥ २२ ॥
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मैं अपने शरीरकी स्वामिनी नहीं हूँ, इसलिये आपके समीप नहीं आ सकती; कारण कि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र नहीं होतीं । आपका कुल सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है । आप-जैसे भक्तवत्सल नरेशको कौन कन्या अपना पति बनानेकी इच्छा नहीं करेगी ! ॥ २२-२३ ॥

तस्मादेवं गते काले याचस्व पितरं मम ।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ २४ ॥

ऐसी दशामें आप यथासमय नमस्कार, तपस्या और नियमके द्वारा मेरे पिता भगवान् सूर्यको प्रसन्न करके उनसे मुझे माँग लीजिये ॥ २४ ॥

स चेत् कामयते दातुं तव मामरिसूदन ।
भविष्याम्यद्य ते राजन् सततं वशवर्तिनी ॥ २५ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! यदि वे मुझे आपकी सेवामें देना चाहेंगे तो मैं आजसे सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी॥२५॥

अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २६ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! मैं इन्हीं अखिलभुवनभास्कर भगवान् सविता-

की पुत्री और सावित्रीकी छोटी बहिन हूँ। मेरा नाम तपती है ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७१॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीकी सहायतासे राजा संवरणको तपतीकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता ।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! यों कहकर वह अनिन्द्य-सुन्दरी तपती तत्काल ऊपर (आकाशमें) चली गयी और वे राजा संवरण फिर वहीं (मूर्च्छित हो) पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम् ।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ॥ २ ॥

इधर उनके मन्त्री सेना और अनुचरोंको साथ लिये उन श्रेष्ठ नरेशको खोजते हुए आ रहे थे । उस महान वनमें पहुँचकर मन्त्रीने राजाको देखा ॥ २ ॥

क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ॥ ३ ॥
बभूव सोऽस्य सचिवः सम्प्रदीप्त इवाग्निना ।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसम्भ्रमः ॥ ४ ॥

वे समय पाकर गिरे हुए ऊँचे इन्द्रध्वजकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे । तपतीसे विमुक्त उन महान् धनुर्धर महाराजको इस प्रकार पृथ्वीपर पड़ा देख राजमन्त्री ऐसे व्याकुल हो उठे मानो उनके शरीरमें आग लग गयी हो । वे तुरंत उनके पास जा पहुँचे । स्नेहवश उनके हृदयमें घबराहट पैदा हो गयी थी ॥

तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम् ।
भूतलाद् भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ॥ ५ ॥
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च ।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ॥ ६ ॥

राजमन्त्री अवस्थामें तो बड़े-बूढ़े थे ही, बुद्धि, कीर्ति और नीतिमें भी बढ़े-चढ़े थे । उन्होंने जैसे पिता अपने गिरे हुए पुत्रको धरतीसे उठा ले, उसी प्रकार कामवेदनासे मूर्च्छित हुए भूमिपालोंके भी स्वामी महाराज संवरणको शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपरसे उठा लिया । राजाको उठाकर और उन्हें जीवित पाकर उनकी चिन्ता दूर हो गयी ॥ ५-६ ॥

उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम् ।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवानघ ॥ ७ ॥

वे उठकर बैठे हुए महाराजसे कल्याणमयी मधुर वाणीमें बोले—'नरश्रेष्ठ ! आप डरें नहीं । अनघ ! आपका कल्याण हो' ॥

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम् ।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ८ ॥

युद्धमें शत्रुदलको पृथ्वीपर गिरा देनेवाले नरेशको भूमिपर गिरा देख मन्त्रीने यह अनुमान लगाया कि ये भूख-प्याससे पीड़ित एवं थके-माँदे हैं ॥ ८ ॥

वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याभ्यषेचयत् ।
अस्फुटन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ९ ॥

गिरनेपर राजाका मुकुट छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था (इससे अनुमान होता था कि राजा युद्धमें घायल नहीं हुए हैं) । मन्त्रीने राजाके मस्तकको कमलकी सुगन्धसे युक्त ठंडे जलसे सींचा ॥ ९ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणस्तद् बलं बलवान् नृपः ।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ १० ॥

उससे राजाको चेत हो आया । बलवान् नरेशने एकमात्र अपने मन्त्रीके सिवा सारी सेनाको लौटा दिया ॥ १० ॥

ततस्तस्याज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद् बलम् ।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन् पुनरुपाविशत् ॥ ११ ॥

महाराजकी आज्ञासे तुरंत वह विशाल सेना राजधानीकी ओर चल दी; परंतु वे राजा संवरण फिर उसी पर्वत-शिखरपर जा बैठे ॥ ११ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः ।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमुखः क्षितौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ पर्वतपर स्नानादिसे पवित्र हो भगवान् सूर्यकी आराधना करनेके लिये हाथ जोड़ ऊपरकी ओर मुँह किये वे भूमिपर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १३ ॥

उस समय शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा संवरणने अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठका मन-ही-मन स्मरण किया ॥

नक्तं दिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे ।
अथाजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १४ ॥

वे रात-दिन एक ही जगह खड़े होकर तपस्यामें लगे रहे । तब बारहवें दिन महर्षि वसिष्ठका (वहाँ) शुभागमन हुआ ॥

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम् ।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ॥ १५ ॥

विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वसिष्ठ दिव्यज्ञानसे पहले ही जान गये कि सूर्यकन्या तपतीने राजाका चित्त चुरा लिया है ॥ १५ ॥

तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः ।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवार्थचिकीर्षया ॥ १६ ॥

इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर तपस्यामें लगे हुए उक्त नरेशसे धर्मात्मा मुनिवर वसिष्ठने उन्हींकी कार्य-सिद्धिके लिये कुछ बातचीत की ॥ १६ ॥

स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १७ ॥

उक्त महाराजके देखते-देखते सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि सूर्यदेवसे मिलनेके लिये ऊपरको गये ॥

सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चात्मानं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ दोनों हाथ जोड़कर सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्यदेवके समीप गये और 'मैं वसिष्ठ हूँ' यों कहकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे अपना समाचार निवेदित किया॥१८॥

(*वसिष्ठ उवाच*

अजाय लोकत्रयपावनाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय।
सूर्याय सर्गप्रलयालयाय
नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥
विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने
जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥
नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥)

फिर वसिष्ठजी बोले—जो अजन्मा, तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, किरणोंके अधिपति, धर्मस्वरूप, सृष्टि और प्रलयके अधिष्ठान तथा परम दयालु देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो ज्ञानियोंके अन्तरात्मा, जगत्‌को प्रकाशित करनेवाले, संसारके हितैषी, स्वयम्भू तथा सहस्रों उद्दीप्त नेत्रोंसे सुशोभित हैं, उन अमिततेजस्वी सुरश्रेष्ठ भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो जगत्‌के एकमात्र नेत्र हैं, संसारकी सृष्टि, पालन और संहारके हेतु हैं, तीनों वेद जिनके स्वरूप हैं, जो त्रिगुणात्मक स्वरूप धारण करके ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामसे प्रसिद्ध हैं, उन भगवान् सविताको नमस्कार है ॥

तमुवाच महातेजा विवस्वान् मुनिसत्तमम्।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ॥ १९ ॥

तब महातेजस्वी भगवान् सूर्यने मुनिवर वसिष्ठसे कहा—'महर्षे ! तुम्हारा स्वागत है ! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, उसे कहो ॥ १९ ॥

यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर।
तत् ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ २० ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग ! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, तुम्हारी वह अभीष्ट वस्तु कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो, तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ २० ॥

(स्तुतोऽस्मि वरदस्तेऽहं वरं वरय सुव्रत।
स्तुतिस्त्वयोक्ता भक्तानां जप्येयं वरदोऽस्म्यहम्॥)

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! तुमने जो मेरा स्तवन किया है, इसके लिये मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ, कोई वर माँगो । तुम्हारे द्वारा कही हुई वह स्तुति भक्तोंके लिये निरन्तर जप करने योग्य है। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥

एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ॥ २१ ॥

उनके यों कहनेपर महातपस्वी मुनिवर वसिष्ठ मरीचिमाली भगवान् भास्करको प्रणाम करके इस प्रकार बोले ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता।
तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—विभावसो ! यह जो आपकी तपती नामकी पुत्री एवं सावित्रीकी छोटी बहिन है, इसे मैं आपसे राजा संवरणके लिये माँगता हूँ ॥ २२ ॥

स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहंगम ॥ २३ ॥

उस राजाकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई है। वे धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उदार बुद्धिवाले हैं; अतः आकाशचारी सूर्यदेव ! महाराज संवरण आपकी पुत्रीके लिये सुयोग्य पति होंगे ॥ २३ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन ददानीत्येव निश्चितः।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ २४ ॥

वसिष्ठजीके यों कहनेपर अपनी कन्या देनेका निश्चय करके भगवान् सूर्यने ब्रह्मर्षिका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यदपवर्जनात् ॥ २५ ॥

'मुने ! संवरण राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, आप महर्षियोंमें उत्तम हैं और तपती युवतियोंमें सर्वश्रेष्ठ है; अतः उसके दानसे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है' ॥ २५ ॥

ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम्।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ॥ २६ ॥

तदनन्तर साक्षात् भगवान् सूर्यने अनिन्द्यसुन्दरी तपतीको राजा संवरणकी पत्नी होनेके लिये महात्मा वसिष्ठको अर्पित कर दिया ॥ २६ ॥

प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाजगाम ह ॥ २७ ॥

यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत्।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उस कन्याको ग्रहण किया और वहाँसे विदा होकर वे तपतीके साथ पुनः उस स्थानपर आये, जहाँ विख्यातकीर्ति, कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा संवरण कामके वशीभूत हो मन-ही-मन तपतीका चिन्तन करते हुए बैठे थे ॥

दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम्।
वसिष्ठेन सहायान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥ २९ ॥

मनोहर मुसकानवाली देवकन्या तपतीको वसिष्ठजीके साथ आती देख राजा संवरण अत्यन्त हर्षोल्लाससे युक्त हो

अधिक शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

रुरुचे साधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात्।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ॥ ३० ॥

सुन्दर भौंहोंवाली तपती आकाशसे पृथ्वीपर आते समय गिरी हुई बिजलीके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी प्रभासे प्रकाशित करती हुई अधिक सुशोभित हो रही थी ॥ ३० ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३१ ॥

राजाने क्लेश सहन करते हुए बारह राततक एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाया था। तब विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् वसिष्ठ मुनि राजाके पास आये थे ॥ ३१ ॥

तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम्।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ३२ ॥

सबके अधीश्वर वरदायक देवशिरोमणि भगवान् सूर्यको तपस्याद्वारा प्रसन्न करके महाराज संवरणने वसिष्ठजीके ही तेजसे तपतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते।
जग्राह विधिवत् पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठने देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित उस उत्तम पर्वतपर विधिपूर्वक तपतीका पाणिग्रहण किया ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ३४ ॥

उसके बाद वसिष्ठजीकी आज्ञा लेकर राजर्षि संवरणने उसी पर्वतपर अपनी पत्नीके साथ विहार करनेकी इच्छा की ॥ ३४ ॥

ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ ३५ ॥

उन दिनों भूपालने नगर, राष्ट्र, वन तथा उपवनोंकी देख-भाल एवं रक्षाके लिये मन्त्रीको ही आदेश देकर विदा किया ॥ ३५ ॥

नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथापचक्रमे।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन् विजहारामरो यथा ॥ ३६ ॥

वसिष्ठजी भी राजासे विदा ले अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर राजा संवरण उस पर्वतपर देवताकी भाँति विहार करने लगे ॥ ३६ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च।
रेमे तस्मिन् गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ॥ ३७ ॥

वे उसी पर्वतके वनों और काननोंमें अपनी पत्नीके साथ उसी प्रकार बारह वर्षोंतक रमण करते रहे ॥ ३७ ॥

तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन् समा द्वादश सत्तम।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवास्य भारत ॥ ३८ ॥

अर्जुन! उन दिनों महाराज संवरणके राज्य और नगरमें इन्द्रने बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं की ॥ ३८ ॥

ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिंदम।
प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन! उस अनावृष्टिके समय प्रायः स्थावर एवं जंगम सभी प्रकारकी प्रजाका क्षय होने लगा ॥ ३९ ॥

तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे।
नावश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि नारुहन् ॥ ४० ॥

ऐसे भयंकर समयमें पृथ्वीपर ओसकी एक बूँदतक न गिरी। परिणाम यह हुआ कि खेती उगती ही नहीं थी ॥ ४० ॥

ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः।
गृहाणि सम्परित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ॥ ४१ ॥

तब सभी लोगोंका चित्त व्याकुल हो उठा। मनुष्य भूखके भयसे पीड़ित हो घरोंको छोड़कर दिशा-विदिशाओंमें मारे-मारे फिरने लगे ॥ ४१ ॥

ततस्तस्मिन् पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः।
परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ॥ ४२ ॥

तत् क्षुधार्तैर्निराहारैः शवभूतैस्तथा नरैः।
अभवत् प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवावृतम् ॥ ४३ ॥

फिर तो उस नगर और राष्ट्रके लोग क्षुधासे पीड़ित हो सनातन मर्यादाको छोड़कर स्त्री, पुत्र एवं परिवार आदिका त्याग करके परस्पर एक दूसरेको मारने और लूटने-खसोटने लगे। राजाका नगर ऐसे लोगोंसे भर गया, जो भूखसे आतुर हो उपवास करते-करते मुर्दोंके समान हो रहे थे। उन नर-कंकालोंसे परिपूर्ण वह नगर प्रेतोंसे घिरे हुए यमराजके निवासस्थान-सा जान पड़ता था ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तत् तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥

प्रजाकी ऐसी दुरवस्था देख धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने ही (अपने तपोबलसे) उस राज्यमें वर्षा की ॥४४॥

तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत् पुरम्।
तपत्या सहितं राजन् व्युषितं शाश्वतीः समाः।
ततः प्रवृष्टस्तत्रासीद् यथापूर्वं सुरारिहा ॥ ४५ ॥

साथ ही वे नृपश्रेष्ठ संवरणको, जो बहुत वर्षोंसे प्रवासी हो रहे थे, तपतीके साथ नगरमें ले आये। उनके आनेपर दैत्यहन्ता देवराज इन्द्र वहाँ पूर्ववत् वर्षा करने लगे ॥ ४५ ॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन् प्रभुः ॥ ४६ ॥

उन श्रेष्ठ राजाके नगरमें प्रवेश करनेपर भगवान् इन्द्रने वहाँ अन्नका उत्पादन बढ़ानेके लिये पुनः अच्छी वर्षा की ॥ ४६ ॥

ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत् पुरं परया मुदा।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ ४७ ॥

तबसे शुद्ध अन्तःकरणवाले नृपश्रेष्ठ संवरणके द्वारा पालित सब लोग प्रसन्न रहने लगे। उस राज्य और नगरमें बड़ा आनन्द छा गया ॥ ४७ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर तपतीके सहित महाराज संवरणने शचीके साथ इन्द्रके समान सुशोभित होते हुए बारह वर्षोंतक यज्ञ किया ॥

गन्धर्व उवाच

एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ॥ ४९ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन! इस प्रकार भगवान् सूर्यकी पुत्री महाभागा तपती आपके पूर्वपुरुष संवरणकी पत्नी हुई थी, जिससे मैंने आपको तपतीनन्दन माना है ॥४९॥

तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ ५० ॥

तपस्वीजनोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! महाराज संवरणने तपतीके गर्भसे कुरुको उत्पन्न किया था; अतः उसी वंशमें जन्म लेनेके कारण आपलोग तापत्य हुए ॥ ५० ॥

(कुरूद्भवा यतो यूयं कौरवाः कुरवस्तथा।
पौरवा आजमीढाश्च भारता भरतर्षभ ॥
तापत्यमखिलं प्रोक्तं वृत्तान्तं तव पूर्वकम्।
पुरोहितमुखा यूयं भुङ्ग्ध्वं वै पृथिवीमिमाम् ॥)

भरतश्रेष्ठ! उन्हीं कुरुसे उत्पन्न होनेके कारण आप सब लोग 'कौरव' तथा 'कुरुवंशी' कहलाते हैं। इसी प्रकार पूरुसे उत्पन्न होनेके कारण 'पौरव', अजमीढकुलमें जन्म लेनेसे 'आजमीढ' तथा भरतकुलमें उत्पन्न होनेसे 'भारत' कहलाते हैं। इस प्रकार आपलोगोंकी वंशजननी तपतीका सारा पुरातन वृत्तान्त मैंने बता दिया। अब आपलोग पुरोहितको आगे रखकर इस पृथ्वीका पालन एवं उपभोग करें ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्यानसमाप्तौ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानकी समाप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गन्धर्वका वसिष्ठजीकी महत्ता बताते हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको पुरोहित बनानेके लिये आग्रह करना

वैशम्पायन उवाच

स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत् तदा भरतर्षभ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाबभौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! गन्धर्वका यह कथन सुनकर अर्जुन अत्यन्त भक्तिभावके कारण पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगे ॥ १ ॥

उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥

फिर महाधनुर्धर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने गन्धर्वसे कहा—'सखे! वसिष्ठके तपोबलकी बात सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी उत्कण्ठा पैदा हो गयी है ॥ २ ॥

वसिष्ठ इति तस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत् तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

'तुमने उन महर्षिका नाम वसिष्ठ बताया था। उनका यह नाम क्यों पड़ा? इसे मैं सुनना चाहता हूँ। तुम यथार्थरूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः।
आसीदेतन्ममाचक्ष्व क एष भगवानृषिः॥ ४॥

'गन्धर्वराज ! ये जो हमारे पूर्वजोंके पुरोहित थे, वे भगवान् वसिष्ठ मुनि कौन हैं ? यह मुझसे कहो' ॥ ४ ॥

गन्धर्व उवाच

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि॥ ५॥
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः।
इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठ इति चोच्यते॥ ६॥

गन्धर्वने कहा—वसिष्ठजी ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं ! उनकी पत्नीका नाम अरुन्धती है। जिन्हें देवता भी कभी जीत नहीं सके, वे काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु वसिष्ठजीकी तपस्यासे सदाके लिये पराभूत होकर उनके चरण दबाते रहे हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण वे वसिष्ठ कहलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः।
विश्वामित्रापराधेन धारयन् मन्युमुत्तमम्॥ ७॥

विश्वामित्रके अपराधसे मनमें पवित्र क्रोध धारण करते हुए भी उन उदारबुद्धि महर्षिने कुशिकवंशका समूलोच्छेद नहीं किया ॥ ७ ॥

पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत्।
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम्॥ ८॥

विश्वामित्रके द्वारा अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेसे वे संतप्त थे, उनमें बदला लेनेकी शक्ति भी थी, तो भी उन्होंने असमर्थकी भाँति सब कुछ सह लिया एवं विश्वामित्रका विनाश करनेके लिये कोई दारुण कर्म नहीं किया ॥ ८ ॥

मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान् यमक्षयात्।
कृतान्तं नातिचक्राम वेलामिव महोदधिः॥ ९॥

वे अपने मरे हुए पुत्रोंको यमलोकसे वापस ला सकते थे; परंतु जैसे महासागर अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे यमराजकी मर्यादाको लाँघनेके लिये उद्यत नहीं हुए ॥ ९ ॥

यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम्॥ १०॥

उन्हीं जितात्मा महात्मा वसिष्ठ मुनिको (पुरोहितरूपमें) पाकर इक्ष्वाकुवंशी भूपालोंने (दीर्घकालतक) इस (समूची) पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया था ॥ १० ॥

पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन॥ ११॥

कुरुनन्दन ! इन्हीं मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुरोहितरूपमें पाकर उन नरपतियोंने बहुतसे यज्ञ भी किये थे ॥ ११ ॥

स हि तान् याजयामास सर्वान् नृपतिसत्तमान्।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवामरान्॥ १२॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! जैसे बृहस्पतिजी सम्पूर्ण देवताओंका यज्ञ कराते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उन सम्पूर्ण श्रेष्ठ राजाओंका यज्ञ कराया था ॥ १२ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः।
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः प्रतिदृश्यताम्॥ १३॥

इसलिये जिसके मनमें धर्मकी प्रधानता हो, जो वेदोक्त धर्मका ज्ञाता और मनके अनुकूल हो; ऐसे किसी गुणवान् ब्राह्मणको आपलोग भी पुरोहित बनानेका निश्चय करें ॥ १३ ॥

क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये॥ १४॥

पार्थ ! पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले कुलीन क्षत्रियको अपने राज्यकी वृद्धिके लिये पहले (किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको) पुरोहित नियुक्त कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरस्सरम्।
तस्मात् पुरोहितः कश्चिद् गुणवान् विजितेन्द्रियः।
विद्वान् भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित्॥ १५॥

पृथ्वीको जीतनेकी इच्छावाले राजाको उचित है कि वह ब्राह्मणको अपने आगे रक्खे; अतः कोई गुणवान्, जितेन्द्रिय, वेदाभ्यासी, विद्वान् तथा धर्म, काम और अर्थका तत्त्वज्ञ ब्राह्मण आपका पुरोहित हो ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पुरोहित बनानेके लिये कथनसम्बन्धी एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीके अद्भुत क्षमा-बलके आगे विश्वामित्रजीका पराभव

अर्जुन उवाच

किंनिमित्तमभूद् वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत्॥ १॥

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज ! विश्वामित्र और वसिष्ठ मुनि तो अपने-अपने दिव्य आश्रममें निवास करते हैं, फिर उनमें वैर किस कारण हुआ ? ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत् तन्निबोध मे॥ २॥

गन्धर्वने कहा—पार्थ ! वसिष्ठजीके इस उपाख्यानको

सब लोकोंमें बहुत पुराना बतलाते हैं । उसे यथार्थरूपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ २ ॥

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः ॥ ३ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! कान्यकुब्ज देशमें एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोकमें गाधिके नामसे विख्यात थे । वे कुशिकके औरस पुत्र बताये जाते हैं ॥ ३ ॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥

उन्हीं धर्मात्मा नरेशके पुत्र विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जो सेना और वाहनोंसे सम्पन्न होकर शत्रुओंका मानमर्दन किया करते थे ॥ ४ ॥

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥
व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥

एक दिन वे अपने मन्त्रियोंके साथ गहन वनमें आखेटके लिये गये । मरुप्रदेशके सुरम्य वनोंमें उन्होंने वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसका पीछा किया । अधिक परिश्रमके कारण उन्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ा । नरश्रेष्ठ ! वे प्याससे पीड़ित हो महर्षि वसिष्ठके आश्रममें आये । मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज विश्वामित्रको आया देख पूजनीय पुरुषोंकी पूजा करनेवाले महर्षि वसिष्ठने उनका सत्कार करते हुए आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित किया ॥ ५-७ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तदा ॥ ८ ॥

भारत ! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्वागत-भाषण तथा वन्य हविष्य आदिसे उन्होंने विश्वामित्रजीका सत्कार किया॥८॥

तस्याथ कामधुग् धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान् प्रयच्छेति सा कामान् दुह्यते सदा ॥ ९ ॥

महात्मा वसिष्ठजीके यहाँ एक कामधेनु थी, जो 'अमुक-अमुक मनोरथोंको पूर्ण करो' यह कहनेपर सदा उन-उन कामनाओंको पूर्ण कर दिया करती थी ॥ ९ ॥

ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथार्जुन ॥ ११ ॥
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ।
तैः कामैः सर्वसम्पूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

ग्रामीण तथा जंगली अन्न, फल-मूल, दूध, षड्रस भोजन, अमृतके समान मधुर परम उत्तम रसायन, खाने, पीने और चबाने योग्य भाँति-भाँतिके पदार्थ, अमृतके समान स्वादिष्ट चटनी आदि तथा चूसने योग्य ईख आदि वस्तुएँ तथा भाँति-भाँतिके बहुमूल्य रत्न एवं वस्त्र आदि सब सामग्रियोंको उस कामधेनुने प्रस्तुत कर दिया । सब प्रकारसे उन सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंके द्वारा हे अर्जुन ! राजा विश्वामित्र भलीभाँति पूजित हुए ॥ १०-१२ ॥

सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ।
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ॥ १३ ॥

उस समय वे अपनी सेना और मन्त्रियोंके साथ बहुत संतुष्ट हुए । महर्षिकी धेनुका मस्तक, ग्रीवा, जाँघें, गलकम्बल, पूँछ और थन—ये छः अङ्ग बड़े एवं विस्तृत थे ।* उसके पार्श्वभाग तथा ऊरु बड़े सुन्दर थे । वह पाँच पृथुल अङ्गोंसे सुशोभित थी† ॥ १३ ॥

मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ।
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुश‍ृङ्गां मनोरमाम् ॥ १४ ॥

उसकी आँखें मेढक-जैसी थीं । आकृति बड़ी सुन्दर थी । चारों थन मोटे और फैले हुए थे । वह सर्वथा प्रशंसाके योग्य थी । सुन्दर पूँछ, नुकीले कान और मनोहर सींगोंके कारण वह बड़ी मनोरम जान पड़ती थी ॥ १४ ॥

पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ।
अभिनन्दय स तां राजा नन्दिनीं गाधिनन्दनः ॥ १५ ॥

उसके सिर और गर्दन विस्तृत एवं पुष्ट थे । उसका नाम नन्दिनी था । उसे देखकर विस्मित हुए गाधिनन्दन विश्वामित्रने उसका अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ।
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन् मम राज्येन वा पुनः ॥ १६ ॥
नन्दिनीं सम्प्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ।

और अत्यन्त संतुष्ट होकर राजा विश्वामित्रने उस समय उन महर्षिसे कहा—'ब्रह्मन् ! आप दस करोड़ गायें अथवा मेरा सारा राज्य

---

* गौओंके मस्तक आदि छः अङ्गोंका बड़ा एवं विस्तृत होना शुभ माना गया है । जैसा कि शास्त्रका वचन है—

शिरो ग्रीवा सक्थिनी च सास्ना पुच्छमथ स्तनाः ।
शुभान्येतानि धेनूनामायतानि प्रचक्षते ॥

† गौओंका ललाट, दोनों नेत्र और दोनों कान—ये पाँचों अङ्ग पृथु (पुष्ट एवं विस्तृत) हों तो विद्वानोंद्वारा अच्छे माने जाते हैं । जैसा कि शास्त्रका वचन है—

ललाटं श्रवणौ चैव नयनद्वितयं तथा ।
पृथून्येतानि शस्यन्ते धेनूनां पञ्च सूरिभिः ॥

[नीलकण्ठी टीकासे]

लेकर इस नन्दिनीको मुझे दे दें। महामुने! इसे देकर आप राज्य भोग करें॥ १६½॥

वसिष्ठ उवाच

देवतातिथिपित्रर्थं याज्यार्थं च पयस्विनी॥ १७॥
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनापि तवानघ।

वसिष्ठजीने कहा—अनघ! देवता, अतिथि और पितरोंकी पूजा एवं यज्ञके हविष्य आदिके लिये यह दुधारू गाय नन्दिनी अपने यहाँ रहती है, इसे तुम्हारा राज्य लेकर भी नहीं दिया जा सकता॥ १७½॥

विश्वामित्र उवाच

क्षत्रियोऽहं भवान् विप्रस्तपस्स्वाध्यायसाधनः॥ १८॥

विश्वामित्रजी बोले—मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप तपस्या तथा स्वाध्यायका साधन करनेवाले ब्राह्मण हैं॥१८॥

ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु।
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम्॥ १९॥
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम्।
(क्षत्रियोऽस्मि न विप्रोऽहं बाहुवीर्योऽस्मि धर्मतः।
तस्माद् भुजबलेनेमां हरिष्यामीह पश्यतः॥)

ब्राह्मण अत्यधिक शान्त और जितात्मा होते हैं। उनमें बल और पराक्रम कहाँसे आ सकता है; फिर क्या बात है जो आप मेरी अभीष्ट वस्तुको एक अर्बुद गाय लेकर भी नहीं दे रहे हैं। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूँगा, इस गायको बलपूर्वक ले जाऊँगा। मैं क्षत्रिय हूँ, ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे धर्मतः अपना बाहुबल प्रकट करनेका अधिकार है; अतः बाहुबलसे ही आपके देखते-देखते इस गायको हर ले जाऊँगा॥ १९½॥

वसिष्ठ उवाच

बलस्थश्चासि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः॥ २०॥
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय।

वसिष्ठजीने कहा—तुम सेनाके साथ हो, राजा हो और अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाले क्षत्रिय हो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा शीघ्र कर डालो, विचार न करो॥ २०½॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव॥ २१॥
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम्।
कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः॥ २२॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! वसिष्ठजीके यों कहनेपर विश्वामित्रने मानो बलपूर्वक ही हंस और चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाली उस नन्दिनी गायका अपहरण कर लिया। उसे कोड़ों और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँका जा रहा था॥ २१-२२॥

हम्भायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याथ नन्दिनी।
आगम्याभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी॥ २३॥
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाश्रमात् ततः।

अर्जुन! उस समय कल्याणमयी नन्दिनी डकराती हुई महर्षि वसिष्ठके सामने आकर खड़ी हो गयी और उन्हींकी ओर मुँह करके देखने लगी। उसके ऊपर जोर-जोरसे मार पड़ रही थी, तो भी वह आश्रमसे अन्यत्र नहीं गयी॥ २३½॥

वसिष्ठ उवाच

शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः॥ २४॥
ह्रियसे त्वं बलाद् भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि।
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान् ब्राह्मणो ह्यहम्॥ २५॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे! तुम बार-बार क्रन्दन कर रही हो। मैं तुम्हारा आर्तनाद सुनता हूँ, परंतु क्या करूँ? कल्याणमयी नन्दिनि! विश्वामित्र तुम्हें बलपूर्वक हर ले जा रहे हैं। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। मैं एक क्षमाशील ब्राह्मण हूँ॥ २४-२५॥

गन्धर्व उवाच

सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत्॥ २६॥

गन्धर्व कहता है—भरतवंशशिरोमणे! नन्दिनी विश्वामित्रके भयसे उद्विग्न हो उठी थी। वह उनके सैनिकोंके भयसे मुनिवर वसिष्ठकी शरणमें गयी॥ २६॥

गौरुवाच

कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत्।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन् किमुपेक्षसे॥ २७॥

गौने कहा—भगवन्! विश्वामित्रके निर्दय सैनिक मुझे कोड़ों और डंडोंसे पीट रहे हैं। मैं अनाथकी भाँति क्रन्दन कर रही हूँ। आप क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं?॥ २७॥

गन्धर्व उवाच

नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः ।
न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ॥ २८ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! नन्दिनी इस प्रकार अपमानित होकर करुण-क्रन्दन कर रही थी, तो भी दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महामुनि वसिष्ठ न तो क्षुब्ध हुए और न धैर्यसे ही विचलित हुए ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते ॥ २९ ॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे ! क्षत्रियोंका बल उनका तेज है और ब्राह्मणोंका बल उनकी क्षमा है । चूँकि मुझे क्षमा अपनाये हुए है, अतः तुम्हारी रुचि हो, तो जा सकती हो ॥ २९ ॥

नन्दिन्युवाच

किं नु त्यक्तास्मि भगवन् यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन् नेतुं शक्या न वै बलात् ॥ ३० ॥

नन्दिनीने कहा—भगवन् ! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ऐसी बात कहते हैं ? ब्रह्मन् ! आपने त्याग न दिया हो, तो कोई मुझे बलपूर्वक नहीं ले जा सकता ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजी बोले—कल्याणि ! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता । तुम यदि रह सको तो यहीं रहो । यह तुम्हारा बछड़ा मजबूत रस्सीसे बाँधकर बलपूर्वक ले जाया जा रहा है ॥

गन्धर्व उवाच

स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ॥ ३२ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! 'यहीं रहो' वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर नन्दिनीने अपने सिर और गर्दनको ऊपरकी ओर उठाया । उस समय वह देखनेमें बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ॥ ३३ ॥

क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयी थीं । उसके डकरानेकी आवाज जोर-जोरसे सुनायी देने लगी । उसने विश्वामित्रकी उस सेनाको चारों ओर खदेड़ना शुरू किया ॥ ३३ ॥

कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समाददे ॥ ३४ ॥

कोड़ोंके अग्रभाग और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँके जानेके कारण उसके नेत्र पहलेसे ही क्रोधके कारण रक्तवर्णके हो गये थे । फिर उसने और भी क्रोध धारण किया ॥ ३४ ॥

आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।

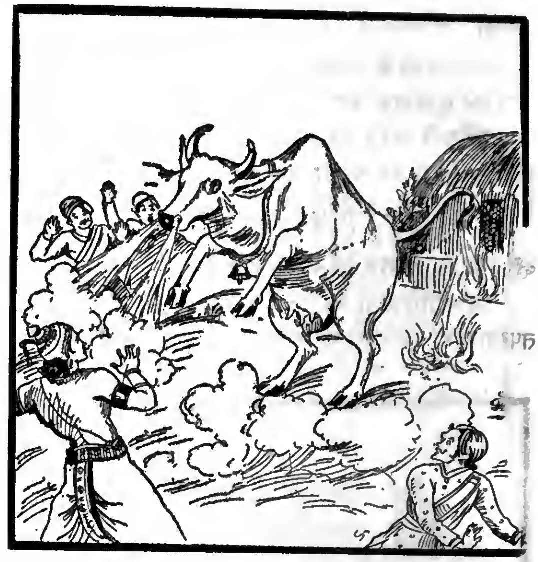

अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३५ ॥
असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्रविडाञ्छकान् ।
योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान् बहून् ॥ ३६ ॥

क्रोधके कारण उसके शरीरसे अपूर्व दीप्ति प्रकट हो रही थी । वह दोपहरसे सूर्यकी भाँति उद्भासित हो उठी । उसने अपनी पूँछसे बारंबार अङ्गारकी भारी वर्षा करते हुए पूँछसे ही पह्लवोंकी सृष्टि की, थनोंसे द्रविडों और शकोंको उत्पन्न किया, योनिदेशसे यवनों और गोबरसे बहुतेरे शबरोंको जन्म दिया ॥ ३५-३६ ॥

मूत्रतश्चासृजत् कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसान् ॥

कितने ही शबर उसके मूत्रसे प्रकट हुए । उसके पार्श्वभागसे पौण्ड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर और खसोंकी सृष्टि हुई ॥ ३७ ॥

चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् स केरलान् ।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार उस गौने फेनसे चिबुक, पुलिन्द, चीन, हूण, केरल आदि बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी सृष्टि की ॥ ३८ ॥

तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंछन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ॥ ३९ ॥
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ॥ ४० ॥

उसके द्वारा रचे गये नाना प्रकारके म्लेच्छगणोंकी वे विशाल सेनाएँ जो अनेक प्रकारके कवच आदिसे आच्छादित

विश्वामित्रकी सेनापर नन्दिनीका कोप

थीं। सबने भाँति-भाँतिके आयुध धारण कर रक्खे थे और सभी सैनिक क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। विश्वामित्रके एक-एक सैनिकको म्लेच्छ-सेनाके पाँच-पाँच, सात-सात योद्धाओंने घेर रक्खा था ॥ ३९-४० ॥

अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ४१ ॥

उस समय अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी वर्षासे घायल होकर विश्वामित्रकी सेनाके पाँव उखड़ गये और उनके सामने ही वे सभी योद्धा भयभीत हो सब ओर भाग चले ॥ ४१ ॥

न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित् तत्रास्य सैनिकाः।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए होनेपर भी वसिष्ठसेनाके सैनिक विश्वामित्रके किसी भी योद्धाका प्राण नहीं लेते थे ॥ ४२ ॥

सा गौस्तत् सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम्॥ ४३ ॥
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाध्यगच्छत।

इस प्रकार नन्दिनी गायने उनकी सारी सेनाको दूर भगा दिया। विश्वामित्रकी वह सेना तीन योजनतक खदेड़ी गयी। वह सेना भयसे व्याकुल होकर चीखती-चिल्लाती रही; किंतु कोई भी संरक्षक उसे नहीं मिला ॥ ४३½ ॥

(विश्वामित्रस्ततो दृष्ट्वा क्रोधाविष्टः स रोदसी।
ववर्ष शरवर्षाणि वसिष्ठे मुनिसत्तमे ॥
घोररूपांश्च नाराचान् क्षुरान् भल्लान् महामुनिः।
विश्वामित्रप्रयुक्तांस्तान् वैणवेन व्यमोचयत् ॥
वसिष्ठस्य तदा दृष्ट्वा कर्मकौशलमाहवे ॥
विश्वामित्रोऽपि कोपेन भूयः शत्रुनिपातनः।
दिव्यास्त्रवर्षं तस्मै तु प्राहिणोन्मुनये रुषा ॥
आग्नेयं वारुणं चैन्द्रं याम्यं वायव्यमेव च।
विससर्ज महाभागे वसिष्ठे ब्रह्मणः सुते ॥
अस्त्राणि सर्वतो ज्वालां विसृजन्ति प्रपेदिरे।
युगान्तसमये घोराः पतङ्गस्येव रश्मयः ॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ब्रह्मशक्तिप्रयुक्तया।
यष्ट्या निवारयामास सर्वान्यस्त्राणि स स्मयन्॥
ततस्ते भस्मसाद्भूताः पतन्ति स्म महीतले।
अपोह्य दिव्यान्यस्त्राणि वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥

यह देखकर विश्वामित्र क्रोधसे व्याप्त हो मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको लक्षित करके पृथिवी और आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगे; परंतु महामुनि वसिष्ठने विश्वामित्रके चलाये हुए भयंकर नाराच, क्षुर और भल्ल नामक बाणोंका केवल बाँसकी छड़ीसे निवारण कर दिया। युद्धमें वसिष्ठ मुनिका वह कार्य-कौशल देखकर शत्रुओंको मार गिरानेवाले विश्वामित्र भी पुनः कुपित हो महर्षि वसिष्ठपर रोषपूर्वक दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महाभाग वसिष्ठपर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, याम्यास्त्र और वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। वे सब अस्त्र प्रलयकालके सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके समान सब ओरसे आगकी लपटें छोड़ते हुए महर्षिपर टूट पड़े; परंतु महातेजस्वी वसिष्ठने मुसकराते हुए ब्राह्मबलसे प्रेरित हुई छड़ीके द्वारा इन सब अस्त्रोंको पीछे लौटा दिया। फिर तो वे सभी अस्त्र भस्मीभूत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार उन दिव्यास्त्रोंका निवारण करके वसिष्ठजीने विश्वामित्रसे यह बात कही ॥

वसिष्ठ उवाच

निर्जितोऽसि महाराज दुरात्मन् गाधिनन्दन।
यदि तेऽस्ति परं शौर्यं तद् दर्शय मयि स्थिते ॥

वसिष्ठजी बोले—महाराज दुरात्मा गाधिनन्दन! अब तू परास्त हो चुका है। यदि तुझमें और भी उत्तम पराक्रम है तो मेरे ऊपर दिखा। मैं तेरे सामने डटकर खड़ा हूँ ॥

गन्धर्व उवाच

विश्वामित्रस्तथा चोक्तो वसिष्ठेन नराधिप।
नोवाच किंचिद् व्रीडाक्तो विद्रावितमहाबलः ॥)

गन्धर्व कहता है—राजन्! विश्वामित्रकी वह विशाल सेना खदेड़ी जा चुकी थी। वसिष्ठके द्वारा पूर्वोक्तरूपसे ललकारे जानेपर वे लज्जित होकर कुछ भी उत्तर न दे सके ॥

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवं तदा ॥ ४४ ॥
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ॥ ४५ ॥

ब्रह्मतेजका यह अत्यन्त आश्चर्यजनक चमत्कार देखकर विश्वामित्र क्षत्रियत्वसे खिन्न एवं उदासीन हो यह बात बोले—'क्षत्रिय-बल तो नाममात्रका ही बल है; उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेजजनित बल ही वास्तविक बल है' ॥ ४४-४५ ॥

बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम्।
स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम्॥ ४६ ॥
भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे।
स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा ॥ ४७ ॥
तताप सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्।
अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार बलाबलका विचार करके उन्होंने तपस्याको ही सर्वोत्तम बल निश्चित किया और अपने समृद्धिशाली राज्य तथा देदीप्यमान राज्यलक्ष्मीको छोड़कर, भोगोंको पीछे

करके तपस्यामें ही मन लगाया। इस तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हो उद्दीप्त तेजवाले विश्वामित्रजीने अपने प्रभावसे सम्पूर्ण लोकोंको स्तब्ध एवं संतप्त कर दिया और (अन्ततोगत्वा) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया; फिर वे इन्द्रके साथ सोमपान करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे विश्वामित्रपराभवे चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठजीके चरित्रके प्रसङ्गमें विश्वामित्रपराभवविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिके शापसे कल्माषपादका राक्षस होना, विश्वामित्रकी प्रेरणासे राक्षसद्वारा वसिष्ठके पुत्रोंका भक्षण और वसिष्ठका शोक

गन्धर्व उवाच

कल्माषपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! इक्ष्वाकुवंशमें एक राजा हुए, जो लोकमें कल्माषपादके नामसे प्रसिद्ध थे। इस पृथ्वीपर वे एक असाधारण तेजस्वी राजा थे ॥ १ ॥

स कदाचिद् वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात्।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः ॥ २ ॥

एक दिन वे नगरसे निकलकर वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गये। वहाँ वे रिपुमर्दन नरेश वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए इधर-उधर विचरने लगे ॥ २ ॥

तस्मिन् वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत्।
हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः ॥ ३ ॥

उस महाभयानक वनमें उन्होंने बहुत-से गैंड़े भी मारे। बहुत देरतक हिंस्र पशुओंको मारकर जब राजा थक गये, तब वहाँसे नगरकी ओर लौटे ॥ ३ ॥

अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान्।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ४ ॥
तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ॥ ५ ॥

प्रतापी विश्वामित्र उन्हें अपना यजमान बनाना चाहते थे। राजा कल्माषपाद युद्धमें कभी पराजित नहीं होते थे। उस दिन वे भूख-प्याससे पीड़ित थे और ऐसे तंग रास्तेपर आ पहुँचे थे, जहाँ एक ही आदमी आ-जा सकता था। वहाँ आनेपर उन्होंने देखा, सामनेकी ओरसे मुनिश्रेष्ठ महामना वसिष्ठकुमार आ रहे हैं ॥ ४-५ ॥

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम्।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वे वसिष्ठजीके वंशकी वृद्धि करनेवाले महाभाग शक्ति थे। महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े वे ही थे ॥६॥

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत्।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ७ ॥

उन्हें देखकर राजाने कहा—'हमारे रास्तेसे हट जाओ।' तब शक्ति मुनिने मधुर वाणीमें उन्हें समझाते हुए कहा—॥

मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये ॥ ८ ॥

'महाराज! मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिये। यही सनातन धर्म है। सभी धर्मोंमें राजाके लिये यही उचित है कि वह ब्राह्मणको मार्ग दे' ॥ ८ ॥

एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार वे दोनों आपसमें रास्तेके लिये वाग्युद्ध करने लगे। एक कहता, 'तुम हटो' तो दूसरा कहता, 'नहीं, तुम हटो।' इस प्रकार वे उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगे ॥ ९ ॥

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन् धर्मपथे स्थितः।
नापि राजा मुनेर्मानात् क्रोधाच्चाथ जगाम ह ॥ १० ॥
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः।
जघान कशया मोहात् तदा राक्षसवन्मुनिम् ॥ ११ ॥

ऋषि तो धर्मके मार्गमें स्थित थे, अतः वे रास्ता छोड़कर नहीं हटे। उधर राजा भी मान और क्रोधके वशीभूत हो मुनिके मार्गसे इधर-उधर नहीं हट सके। राजाओंमें श्रेष्ठ कल्माषपादने मार्ग न छोड़नेवाले शक्ति मुनिके ऊपर मोहवश राक्षसकी भाँति कोड़ेसे आघात किया ॥ १०-११ ॥

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १२ ॥

कोड़ेकी चोट खाकर मुनिश्रेष्ठ शक्तिने क्रोधसे मूर्च्छित हो उन उत्तम नरेशको शाप दे दिया ॥ १२ ॥

हंसि राक्षसवद् यस्माद् राजापसद तापसम्।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ॥ १३ ॥
मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम्।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना ॥ १४ ॥

तपस्याकी प्रबल शक्तिसे सम्पन्न शक्तिमुनिने कहा—'राजाओंमें नीच कल्माषपाद! तू एक तपस्वी ब्राह्मणको

राक्षसकी भाँति मार रहा है, इसलिये आजसे नरभक्षी राक्षस हो जायगा तथा अबसे तू मनुष्योंके मांसमें आसक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरता रहेगा। नृपाधम ! जा यहाँसे' ॥१३-१४॥

ततो याज्यनिमित्तं तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वैरमासीत् तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ॥ १५ ॥

उन्हीं दिनों यजमानके लिये विश्वामित्र और वसिष्ठमें वैर चल रहा था। उस समय विश्वामित्र राजा कल्माषपादके पास आये ॥ १५ ॥

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥

अर्जुन ! जब राजा तथा ऋषिपुत्र दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उग्रतपस्वी प्रतापी विश्वामित्र मुनि उनके निकट चले गये ॥ १६ ॥

ततः स बुबुधे पश्चात् तमृषिं नृपसत्तमः।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ॥ १७ ॥

तदनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्माषपादने वसिष्ठके समान तेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पुत्र उन महर्षि शक्तिको पहचाना ॥ १७ ॥

अन्तर्धाय तदाऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम् ॥ १८ ॥

भारत ! तब विश्वामित्रजीने भी अपनेको अदृश्य करके अपना प्रिय करनेकी इच्छासे राजा और शक्ति दोनोंको चकमा दिया ॥ १८ ॥

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन् ॥ १९ ॥

जब शक्तिने शाप दे दिया, तब नृपतिशिरोमणि कल्माषपाद उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके शरण होने चले ॥ १९ ॥

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाके मनोभावको समझकर उक्त विश्वामित्रजीने एक राक्षसको राजाके भीतर प्रवेश करनेके लिये आज्ञा दी।२०।

शापात् तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ॥ २१ ॥

ब्रह्मर्षि शक्तिके शाप तथा विश्वामित्रजीकी आज्ञासे किंकर नामक राक्षसने तब राजाके भीतर प्रवेश किया ॥ २१ ॥

रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत् तस्माद् देशादरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन ! राक्षसने राजाको आविष्ट कर लिया है, यह जानकर मुनिवर विश्वामित्रजी भी उस स्थानसे चले गये ॥२२॥

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसान्तर्गतेन वै।
बलवत् पीडितः पार्थ नान्वबुध्यत किंचन ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! भीतर घुसे हुए राक्षससे अत्यन्त पीड़ित हो उन नरेशको किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २३ ॥

ददर्शाथ द्विजः कश्चिद् राजानं प्रस्थितं वनम्।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ॥ २४ ॥

एक दिन किसी ब्राह्मणने (राक्षससे आविष्ट) राजाको वनकी ओर जाते देखा और भूखसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण उनसे मांससहित भोजन माँगा ॥ २४ ॥

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ॥ २५ ॥

तब राजर्षि मित्रसह (कल्माषपाद) ने उस द्विजसे कहा—'ब्रह्मन् ! आप यहीं बैठिये और दो घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये ॥ २५ ॥

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम्।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ॥ २६ ॥

'मैं वनसे लौटनेपर आपको यथेष्ट भोजन दूँगा।' यह कहकर राजा चले गये और वह ब्राह्मण (वहाँ) ठहर गया ॥२६॥

ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम्।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥ २७ ॥

पार्थ ! तत्पश्चात् महामना राजा मित्रसह इच्छानुसार मौजसे घूम-फिरकर जब लौटे, तब अन्तःपुरमें चले गये ॥ २७ ॥

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम्।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २८ ॥
गच्छामुष्मिन् वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २९ ॥

वहाँ आधी रातके समय उन्हें ब्राह्मणको भोजन देनेकी प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ। फिर तो वे उठ बैठे और तुरंत रसोइयेको बुलाकर बोले—'जाओ, वनके अमुक प्रदेशमें

एक ब्राह्मण भोजनके लिये मेरी प्रतीक्षा करता है। उसे तुम मांसयुक्त भोजनसे तृप्त करो' ॥ २८-२९ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित्।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥ ३० ॥

गन्धर्व कहता है—उनके यों कहनेपर रसोइयेने मांसके लिये खोज की; परंतु जब कहीं भी मांस नहीं मिला, तब उसने दुखी होकर राजाको इस बातकी सूचना दी ॥३०॥

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

राजापर राक्षसका आवेश था, अतः उन्होंने रसोइयेसे निश्चिन्त होकर कहा- 'उस ब्राह्मणको मनुष्यका मांस ही खिला दो' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥ ३१ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम्।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ ३२ ॥

तब रसोइया 'तथास्तु' कहकर वध्यभूमिमें जल्लादोंके घर गया और (उनसे) निर्भय होकर तुरंत ही मनुष्यका मांस ले आया॥

एतत् संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै।
तस्मै प्रादाद् ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ ३३ ॥

फिर उसीको तुरंत विधिपूर्वक राँधकर अन्नके साथ उसे उस तपस्वी एवं भूखे ब्राह्मणको दे दिया ॥ ३३ ॥

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३४ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने तपःसिद्ध दृष्टिसे उस अन्नको देखा और 'यह खाने योग्य नहीं है' यों समझकर क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए कहा ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण उवाच

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः।
तस्मात् तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणने कहा—वह नीच राजा मुझे न खाने योग्य अन्न दे रहा है, अतः उसी मूर्खकी जिह्वा ऐसे अन्नके लिये लालायित रहेगी ॥ ३५ ॥

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥ ३६ ॥

जैसा कि शक्ति मुनिने कहा है, वह मनुष्योंके मांसमें आसक्त हो समस्त प्राणियोंका उद्वेगपात्र बनकर इस पृथ्वीपर विचरेगा ॥ ३६ ॥

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत्।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवन्नृपः ॥ ३७ ॥

दो बार इस तरहकी बात कही जानेके कारण राजाका शाप प्रबल हो गया। उसके साथ उनमें राक्षसके बलका समावेश हो जानेके कारण राजाकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी॥

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसापहृतेन्द्रियः।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ॥ ३८ ॥

भारत! राक्षसने राजाके मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया था, अतः उन नृपश्रेष्ठने कुछ ही दिनों बाद उक्त शक्ति मुनिको अपने सामने देखकर कहा—॥ ३८ ॥

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया।
तस्मात् त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ॥ ३९ ॥

'चूँकि तुमने मुझे यह सर्वथा अयोग्य शाप दिया है, अतः अब मैं तुम्हींसे मनुष्योंका भक्षण आरम्भ करूँगा' ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥ ४० ॥

यों कहकर राजाने तत्काल ही शक्तिके प्राण ले लिये और जैसे बाघ अपनी रुचिके अनुकूल पशुको चबा जाता है, उसी प्रकार वे भी शक्तिको खा गये ॥ ४० ॥

शक्तिनं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः संदिदेश ह ॥ ४१ ॥

शक्तिको मारा गया देख विश्वामित्र बार-बार वसिष्ठके पुत्रोंपर ही आक्रमण करनेके लिये उस राक्षसको प्रेरित करते थे ॥ ४१ ॥

स ताञ्छक्त्यवरान् पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ४२ ॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह छोटे मृगोंको खा जाता है, उसी प्रकार उन (राक्षसभावापन्न) नरेशने महात्मा वसिष्ठके उन सब पुत्रोंको भी, जो शक्तिसे छोटे थे, (मारकर) खा लिया ॥ ४२ ॥

वसिष्ठो घातिताञ्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

वसिष्ठने यह सुनकर भी कि विश्वामित्रने मेरे पुत्रोंको मरवा डाला है, अपने शोकके वेगको उसी प्रकार धारण कर लिया, जैसे महान् पर्वत सुमेरु इस पृथ्वीको ॥ ४३ ॥

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४४ ॥

उस समय (अपनी पुत्रवधुओंके दुःखसे दुःखित हो) वसिष्ठने अपने शरीरको त्याग देनेका विचार कर लिया; परंतु विश्वामित्रका मूलोच्छेद करनेकी बात बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठके मनमें ही नहीं आयी ॥ ४४ ॥

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥ ४५ ॥

महर्षि भगवान् वसिष्ठने मेरुपर्वतके शिखरसे अपने आपको उसी पर्वतकी शिलापर गिराया; परंतु उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे रूईके ढेरपर गिरे हों ॥ ४५ ॥

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने ॥ ४६ ॥

पाण्डुनन्दन! जब (इस प्रकार) गिरनेसे भी वे नहीं मरे, तब वे भगवान् वसिष्ठ महान् वनके भीतर धधकते हुए दावानलमें घुस गये ॥ ४६ ॥

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत् ततः ॥ ४७ ॥

यद्यपि उस समय अग्नि प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो रही थी, तो भी उन्हें जला न सकी। शत्रुसूदन अर्जुन! उनके प्रभावसे वह दहकती हुई आग भी उनके लिये शीतल हो गयी॥

स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि ॥ ४८ ॥

तब शोकके आवेशसे युक्त महामुनि वसिष्ठने सामने समुद्र देखकर अपने कण्ठमें बड़ी भारी शिला बाँध ली और तत्काल जलमें कूद पड़े ॥ ४८ ॥

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः।
न ममार यदा विप्रः कथंचित् संशितव्रतः।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥

परंतु समुद्रकी लहरोंके वेगने उन महामुनिको किनारे लाकर डाल दिया। कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि वसिष्ट जब किसी प्रकार न मर सके, तब खिन्न होकर अपने आश्रमपर ही लौट पड़े ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे वसिष्ठशोके पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसङ्गमें वसिष्ठशोकविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कल्माषपादका शापसे उद्धार और वसिष्ठजीके द्वारा उन्हें अश्मक नामक पुत्रकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात् ततः ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर मुनिवर वसिष्ठ आश्रमको अपने पुत्रोंसे सूना देख अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और पुनः आश्रम छोड़कर चल दिये ॥ १ ॥

सोऽपश्यत् सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीरजान् बहून् ॥ २ ॥

कुन्तीनन्दन! वर्षाका समय था; उन्होंने देखा, एक नदी नूतन जलसे लबालब भरी है और तटवर्ती बहुत-से वृक्षोंको (अपने जलकी धारामें) बहाये लिये जाती है ॥ २ ॥

अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥ ३ ॥

कौरवनन्दन! (उसे देखकर) दुःखसे युक्त वसिष्ठजीके मनमें फिर यह विचार आया कि मैं इसी नदीके जलमें डूब जाऊँ॥

ततःपाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त दुखी हुए महामुनि वसिष्ट अपने शरीरको पाशोंद्वारा अच्छी तरह बाँधकर उस महानदीके जलमें कूद पड़े॥

अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुन! उस नदीने वसिष्ठजीके बन्धन काटकर उन्हें स्थलमें पहुँचा दिया और उन्हें विपाश (बन्धनरहित) करके छोड़ दिया ॥ ५ ॥

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥ ६ ॥

तब पाशमुक्त हो महर्षि जलसे निकल आये और उन्होंने उस नदीका नाम 'विपाशा' (व्यास) रख दिया ॥ ६ ॥

शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥

उस समय (पुत्रवधुओंके संतोषके लिये) उन्होंने शोक-बुद्धि कर ली थी, इसलिये वे किसी एक स्थानमें नहीं ठहरते थे; पर्वतों, नदियों और सरोवरोंके तटपर चक्कर लगाते रहते थे ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ॥ ८ ॥

(इस तरह घूमते-घूमते) महर्षिने पुनः हिमालय पर्वतसे निकली हुई एक भयंकर नदीको देखा, जिसमें बड़े प्रचण्ड ग्राह रहते थे। उन्होंने फिर उसीकी प्रखर धारामें अपने-आपको डाल दिया।८।

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥ ९ ॥

वह श्रेष्ठ नदी ब्रह्मर्षि वसिष्ठको अग्निके समान तेजस्वी जान सैकड़ों धाराओंमें फूटकर इधर-उधर भाग चली! इसीलिये वह 'शतद्रु' नामसे विख्यात हुई ॥ ९ ॥

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ ॥ १० ॥

वहाँ भी अपनेको स्वयं ही स्थलमें पड़ा देख 'मैं मर नहीं सकता' यों कहकर वे फिर अपने आश्रमपर ही चले गये ॥ १० ॥

स गत्वा विविधाञ्छैलान् देशान् बहुविधांस्तथा।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाथाश्रमेऽनुसृतोऽभवत्॥ ११ ॥

इस तरह नाना प्रकारके पर्वतों और बहुसंख्यक देशोंमें भ्रमण करके वे पुनः जब अपने आश्रमके समीप आये, उस समय उनकी पुत्रवधू अदृश्यन्ती उनके पीछे हो ली ॥ ११ ॥

अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिःस्वनम्।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

मुनिको पीछेकी ओरसे संगतिपूर्वक छहों अङ्गोंसे अलंकृत तथा स्फुट अर्थोंसे युक्त वेदमन्त्रोंके अध्ययनका शब्द सुन पड़ा ॥ १२ ॥

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाथ सोऽब्रवीत्।
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १३ ॥

तब उन्होंने पूछा—'मेरे पीछे-पीछे कौन आ रहा है?' उक्त पुत्रवधूने उत्तर दिया, 'महाभाग! मैं तपमें ही संलग्न रहनेवाली महर्षि शक्तिकी अनाथ पत्नी अदृश्यन्ती हूँ' ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १४ ॥

वसिष्ठजीने पूछा—बेटी! पहले शक्तिके मुँहसे मैं अङ्गोंसहित वेदका जैसा पाठ सुना करता था, ठीक उसी प्रकार यह किसके द्वारा किये हुए साङ्ग वेदके अध्ययनकी ध्वनि मेरे कानोंमें आ रही है? ॥ १४ ॥

अदृश्यन्त्युवाच

अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ॥ १५ ॥

अदृश्यन्ती बोली—भगवन्! यह मेरे उदरमें उत्पन्न हुआ आपके पुत्र शक्तिका बालक है। मुने! उसे मेरे गर्भमें

ही वेदाभ्यास करते बारह वर्ष हो गये हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १६ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! अदृश्यन्तीके यों कहनेपर भगवान् पुरुषोत्तमका भजन करनेवाले महर्षि वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए और 'मेरी वंशपरम्पराका लोप नहीं हुआ है,' यों कहकर मरनेके संकल्पसे विरत हो गये ॥ १६ ॥

ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहानघ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १७ ॥

अनघ! तब वे अपनी पुत्रवधूके साथ आश्रमकी ओर लौटने लगे। इतनेमें ही मुनिने निर्जन वनमें बैठे हुए राजा कल्माषपादको देखा ॥ १७ ॥

स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं तदा मुनिम् ॥ १८ ॥

भारत! भयानक राक्षससे आविष्ट हुए राजा कल्माषपाद मुनिको देखते ही क्रोधमें भरकर उठे और उसी समय उन्हें खा जानेकी इच्छा करने लगे ॥ १८ ॥

अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

उस क्रूरकर्मा राक्षसको सामने देख अदृश्यन्तीने भयाकुल वाणीमें वसिष्ठजीसे यह कहा— ॥ १९ ॥

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ॥ २० ॥

'भगवन्! वह भयंकर राक्षस एक बहुत बड़ा काठ लेकर इधर ही आ रहा है, मानो साक्षात् यमराज भयानक दण्ड लिये आ रहे हों ॥ २० ॥

तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २१ ॥

'महाभाग ! आप सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । (इस समय) इस भूतलपर आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है; जो उस राक्षसका वेग रोक सके ॥ २१ ॥

पाहि मां भगवन् पापादस्माद् दारुणदर्शनात् ।
राक्षसोऽयमिहात्तुं वै नूनमावां समीहते ॥ २२ ॥

'भगवन् ! देखनेमें अत्यन्त भयंकर इस पापीसे मेरी रक्षा कीजिये । निश्चय ही यह राक्षस यहाँ हम दोनोंको खा जानेकी घातमें लगा है' ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात् तु कथंचन ।
नैतद् रक्षो भयं यस्मात् पश्यसि त्वमुपस्थितम्॥२३॥

वसिष्ठजीने कहा—बेटी ! भयभीत न हो । इस राक्षससे तो किसी प्रकार न डरो । जिससे तुम्हें भय उपस्थित दिखायी देता है, यह वास्तवमें राक्षस नहीं है ॥ २३ ॥

राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान् प्रथितो भुवि ।
स एषोऽस्मिन् वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २४ ॥

ये भूमण्डलमें विख्यात पराक्रमी राजा कल्माषपाद हैं । ये ही इस वनमें अत्यन्त भीषण रूप धारण करके रहते हैं॥२४॥

गन्धर्व उवाच

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ २५ ॥

गन्धर्व कहता है—भारत ! उस राक्षसको आते देख तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने हुंकारमात्रसे ही रोक दिया ॥ २५ ॥

मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा ।
मोक्षयामास वै शापात् तस्माद् योगान्नराधिपम् ॥२६॥

और मन्त्रपूत जलसे उसके छींटे देकर अपने योगके प्रभावसे राजाको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

स हि द्वादश वर्षाणि वासिष्ठस्यैव तेजसा ।
ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ २७ ॥

जैसे पर्वकालमें सूर्य राहुद्वारा ग्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार राजा कल्माषपाद बारह वर्षोंतक वसिष्ठजीके पुत्र शक्तिके ही तेज (शापके प्रभाव) से ग्रस्त रहे ॥ २७ ॥

रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद् वनं महत् ।
तेजसा रञ्जयामास संध्याभ्रमिव भास्करः ॥ २८ ॥

उस (मन्त्रपूत जलके प्रभावसे) राक्षसने भी राजाको छोड़ दिया । फिर तो भगवान् भास्कर जैसे संध्याकालीन बादलोंको अपनी (अरुण) किरणोंसे रँग देते हैं, उसी प्रकार राजाने अपने (सहज) तेजसे उस महान् वनको अनुरञ्जित कर दिया ॥ २८ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर सचेत होनेपर राजा कल्माषपादने तत्काल ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—॥

सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम ।
अस्मिन् काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ३० ॥

'महाभाग मुनिश्रेष्ठ ! मैं आपका यजमान सौदास हूँ। इस समय आपकी जो अभिलाषा हो, कहिये-मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

वृत्तमेतद् यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै ।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र मावमंस्थाः कदाचन ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजीने कहा—नरेन्द्र ! मेरी जो अभिलाषा थी, वह समयानुसार सिद्ध हो गयी । अब जाओ, अपना राज्य सँभालो (आजसे फिर) कभी ब्राह्मणका अपमान न करना ॥ ३१ ॥

राजोवाच

नावमंस्ये महाभाग कदाचिद् ब्राह्मणानहम् ।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक् पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ॥३२॥

राजा बोले—महाभाग ! मैं कभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करूँगा । आपकी आज्ञाके पालनमें संलग्न हो (सदा) ब्राह्मणोंकी भलीभाँति पूजा करूँगा ॥ ३२ ॥

इक्ष्वाकूणां च येनाहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत् त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदां वर ॥ ३३ ॥

समस्त वेदवेत्ताओंमें अग्रगण्य द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे एक

पुत्र प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मैं अपने इक्ष्वाकुवंशी पितरोंके ऋणसे उऋण हो सकूँ ॥ ३३ ॥

अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुलवृद्धये ॥ ३४ ॥

साधुशिरोमणे ! इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धिके लिये आप मुझे ऐसी अभीष्ट संतान दीजिये, जो उत्तम स्वभाव, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ३४ ॥

गन्धर्व उवाच

ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ॥ ३५ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन ! तब सत्यप्रतिज्ञ विप्रवर वसिष्ठने महान् धनुर्धर राजा कल्माषपादसे उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें वैसा ही पुत्र दूँगा' ॥ ३५ ॥

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ॥ ३६ ॥

मनुजेश्वर ! तदनन्तर यथासमय राजाके साथ वसिष्ठजी उनकी राजधानीमें गये, जो लोकोंमें अयोध्यापुरीके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ ३७ ॥

अपने पापरहित महात्मा नरेशका आगमन सुनकर अयोध्याकी सारी प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी अगवानीके लिये ठीक उसी तरह बाहर निकल आयी, जैसे देवतालोग अपने स्वामी इन्द्रका स्वागत करते हैं ॥ ३७ ॥

सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम्।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ॥ ३८ ॥
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ॥ ३९ ॥

बहुत वर्षोंके बाद राजाने उस पुण्यमयी नगरीमें प्रसिद्ध महर्षि वसिष्ठके साथ प्रवेश किया। अयोध्यावासी लोगोंने पुरोहितके साथ आये हुए राजा कल्माषपादका उसी प्रकार दर्शन किया, जैसे (प्रातःकाल) प्रजा उदित हुए भगवान् सूर्यका दर्शन करती है ॥ ३८-३९ ॥

स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ॥ ४० ॥

जैसे शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा शरत्कालमें उदित हो आकाशको अपनी ज्योत्स्नासे जगमग कर देते हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीवानोंमें श्रेष्ठ नरेशने उस अयोध्यापुरीको शोभासे परिपूर्ण कर दिया ॥ ४० ॥

संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम्।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत् पुरमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। सब ओर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ उस पुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। इस प्रकार राजाकी वह उत्तम नगरी दर्शकोंके मनको उत्तम आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ ४१ ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवामरावती ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! जैसे इन्द्रसे अमरावतीकी शोभा होती है, उसी प्रकार संतुष्ट एवं पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्यापुरी उस समय महाराज कल्माषपादकी उपस्थितिमें बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ४२ ॥

ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत् पुरमुत्तमम्।
राज्ञस्तस्याज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

राजर्षि कल्माषपादके उस उत्तम नगरीमें प्रवेश करनेके पश्चात् उक्त महाराजकी आज्ञाके अनुसार महारानी (मदयन्ती) महर्षि वसिष्ठजीके समीप गयीं ॥ ४३ ॥

ऋतावथ महर्षिः स सम्बभूव तया सह।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् भगवद्भक्त महर्षि वसिष्ठने ऋतुकालमें शास्त्रकी अलौकिक विधिके अनुसार महारानीके साथ नियोग किया ॥ ४४ ॥

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर रानीकी कुक्षिमें गर्भ स्थापित हो जानेपर उक्त राजासे वन्दित हो (उनसे विदा लेकर) मुनिवर वसिष्ठ अपने आश्रमको लौट गये ॥ ४५ ॥

दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी ॥ ४६ ॥

जब बहुत समय बीतनेके बाद (भी) वह गर्भ बाहर न निकला, तब यशस्विनी रानी (मदयन्ती) ने अश्म (पत्थर) से अपने गर्भाशयपर प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्यं यो न्यवेशयत् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर बारहवें वर्षमें बालकका जन्म हुआ। वही पुरुषश्रेष्ठ राजर्षि अश्मकके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिन्होंने पौदन्य नामका नगर बसाया था ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे सौदाससुतोत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरितके प्रसङ्गमें सौदासको पुत्र-प्राप्तिविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिपुत्र पराशरका जन्म और पिताकी मृत्युका हाल सुनकर कुपित हुए पराशरको शान्त करनेके लिये वसिष्ठजीका उन्हें और्वोपाख्यान सुनाना

गन्धर्व उवाच

आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत।
शक्तेः कुलकरं राजन् द्वितीयमिव शक्तिनम्॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर (वसिष्ठजीके) आश्रममें रहती हुई अदृश्यन्तीने शक्तिके वंशको बढ़ानेवाले एक पुत्रको जन्म दिया, मानो उस बालकके रूपमें दूसरे शक्ति मुनि ही हों॥ १॥

जातकर्मादिकांस्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान् स्वयम्॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! मुनिवर भगवान् वसिष्ठने स्वयं अपने पौत्रके जातकर्म आदि संस्कार किये॥ २॥

परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः॥ ३॥

उस बालकने गर्भमें आकर परासु (मरनेकी इच्छावाले) वसिष्ठ मुनिको पुनः जीवित रहनेके लिये उत्साहित किया था; इसलिये वह लोकमें 'पराशर'के नामसे विख्यात हुआ॥ ३॥

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिः।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवान्ववर्तत॥ ४॥

धर्मात्मा पराशर मुनि वसिष्ठको ही अपना पिता मानते थे और जन्मसे ही उनके प्रति पितृभाव रखते थे॥ ४॥

स तात इति विप्रर्षिर्वसिष्ठं प्रत्यभाषत।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप॥ ५॥

परंतप कुन्तीकुमार! एक दिन ब्रह्मर्षि पराशरने अपनी माता अदृश्यन्तीके सामने ही वसिष्ठजीको 'तात' कहकर पुकारा॥ ५॥

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह॥ ६॥

बेटेके मुखसे परिपूर्ण अर्थका बोधक 'तात' यह मधुर वचन सुनकर अदृश्यन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वह उससे बोली—॥ ६॥

मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे॥ ७॥

'बेटा! ये तुम्हारे पिताके भी पिता हैं। तुम इन्हें 'तात तात!' कहकर न पुकारो। वत्स! तुम्हारे पिताको तो वनके भीतर राक्षस खा गया॥ ७॥

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः॥ ८॥

'अनघ! तुम जिन्हें तात मानते हो, ये तुम्हारे तात नहीं हैं। ये तो तुम्हारे यशस्वी पिताके भी पूजनीय पिता हैं'॥ ८॥

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः॥ ९॥

माताके यों कहनेपर सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ महामना पराशर दुःखसे आतुर हो उठे। उन्होंने उसी समय सब लोकोंको नष्ट कर डालनेका विचार किया॥ ९॥

तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः॥ १०॥
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु।

उनके मनका ऐसा निश्चय जान ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातपस्वी, महात्मा एवं तात्त्विक बुद्धिवाले मित्रावरुणनन्दन वसिष्ठजीने पराशरको ऐसा करनेसे रोक दिया। जिस हेतु और युक्तिसे वे उन्हें रोकनेमें सफल हुए, वह (बताता हूँ,) सुनिये॥

वसिष्ठ उवाच

कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः॥ ११॥
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः।
स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च॥ १२॥
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पतिः।
तस्मिन् नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन॥ १३॥
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम्।
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते॥ १४॥
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान्।
भूमौ तु निदधुः केचिद् भृगवो धनमक्षयम्॥ १५॥

वसिष्ठजीने (पराशरसे) कहा—वत्स! इस पृथ्वीपर कृतवीर्य नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे नृपश्रेष्ठ वेदज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान थे। तात! उन महाराजने सोमयज्ञ करके उसके अन्तमें उन अग्रभोजी भार्गवोंको विपुल धन और धान्य देकर उसके द्वारा पूर्ण संतुष्ट किया। राजाओंमें श्रेष्ठ कृतवीर्यके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके वंशजोंको किसी तरह द्रव्यकी आवश्यकता आ पड़ी। भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यहाँ धन है, यह जानकर वे सभी राजपुत्र उन श्रेष्ठ भार्गवोंके पास याचक बनकर गये। उस समय कुछ भार्गवोंने अपनी अक्षय धनराशिको धरतीमें गाड़ दिया॥ ११—१५॥

ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम्।
भृगवस्तु ददुः केचित् तेषां वित्तं यथेप्सितम्॥ १६॥

कुछने क्षत्रियोंसे भय समझकर अपना धन ब्राह्मणोंको दे दिया और कुछ भृगुवंशियोंने उन क्षत्रियोंको यथेष्ट धन दे भी दिया ॥ १६ ॥

क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ।
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ॥ १७ ॥
खनताधिगतं वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि ।
तद् वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ॥ १८ ॥

तात ! कुछ दूसरे-दूसरे कारणोंका विचार करके उस समय उन्होंने क्षत्रियोंको धन प्रदान किया था । वत्स ! तदनन्तर किसी क्षत्रियने अकस्मात् धरती खोदते खोदते किसी भृगुवंशीके घरमें गड़ा हुआ धन पा लिया । तब सभी श्रेष्ठ क्षत्रियोंने एकत्र होकर उस धनको देखा ॥ १७-१८ ॥

अवमन्य ततः क्रोधाद् भृगूंस्ताञ्छरणागतान् ।
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः ॥१९॥

फिर तो उन्होंने क्रोधमें भरकर शरणमें आये हुए भृगुवंशियोंका भी अपमान किया । उन महान् धनुर्धर वीरोंने (वहाँ आये हुए) समस्त भार्गवोंको तीखे बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १९ ॥

आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुन्धराम् ।
तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात् तदा ॥ २० ॥
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे ।
तासामन्यतमा गर्भं भयाद् दध्रे महौजसम् ॥ २१ ॥
ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्तुः कुलविवृद्धये ।
तद् गर्भमुपलभ्याशु ब्राह्मणी या भयार्दिता ॥ २२ ॥
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे ।
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करते हुए वे क्रोधान्ध क्षत्रिय सारी पृथ्वीपर विचरने लगे । इस प्रकार भृगुवंशका उच्छेद आरम्भ होनेपर भृगुवंशियोंकी पत्नियाँ उस समय भयके मारे हिमालयकी दुर्गम कन्दरामें जा छिपीं । उनमेंसे एक स्त्रीने अपने महान् तेजस्वी गर्भको भयके मारे एक ओरकी जाँघको चीरकर उसमें रख लिया । उस वामोरुने अपने पतिके वंशकी वृद्धिके लिये ऐसा साहस किया था । उस गर्भका समाचार जानकर कोई ब्राह्मणी बहुत डर गयी और उसने शीघ्र ही अकेली जाकर क्षत्रियोंके समीप उसकी खबर पहुँचा दी । फिर तो वे क्षत्रियलोग उस गर्भकी हत्या करनेके लिये उद्यत हो वहाँ गये ॥ २०-२३ ॥

ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा ।
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, वह ब्राह्मणी अपने तेजसे प्रकाशित हो रही है । उसी समय उस ब्राह्मणीका वह गर्भस्थ शिशु उसकी जाँघ फाड़कर बाहर निकल आया ॥ २४ ॥

मुष्णन् दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः ।
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ॥ २५ ॥

बाहर निकलते ही दोपहरके प्रचण्ड सूर्यकी भाँति उस तेजस्वी शिशुने (अपने तेजसे) उन क्षत्रियोंकी आँखोंकी ज्योति छीन ली । तब वे अंधे होकर उस पर्वतके बीहड़ स्थानोंमें भटकने लगे ॥ २५ ॥

ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः ।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥ २६ ॥

फिर मोहके वशीभूत हो अपनी दृष्टिको खो देनेवाले क्षत्रियोंने पुनः दृष्टि प्राप्त करनेके लिये उसी सती-साध्वी ब्राह्मणीकी शरण ली ॥ २६ ॥

ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः ।
ज्योतिःप्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाग्नयः ॥ २७ ॥
भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत् क्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ॥ २८ ॥

वे क्षत्रिय उस समय आँखकी ज्योतिसे वञ्चित हो बुझी हुई लपटोंवाली आगके समान अत्यन्त दुःखसे आतुर एवं अचेत हो रहे थे । अतः वे उस महान् सौभाग्यशालिनी देवीसे इस प्रकार बोले—'देवि ! यदि आपकी कृपा हो तो नेत्र पाकर यह क्षत्रियोंका दल अब लौट जायगा, थोड़ी देर विश्राम करके हम सभी पापाचारी यहाँसे साथ ही चले जायेंगे ॥ २७-२८ ॥

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने ।
पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २९ ॥

'शोभने ! तुम अपने पुत्रके साथ हम सबपर प्रसन्न हो जाओ और पुनः नूतन दृष्टि देकर हम सभी राजपुत्रोंकी रक्षा करो' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें औवोंपाख्यानविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पितरोंद्वारा और्वके क्रोधका निवारण

ब्राह्मण्युवाच

नाहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता ।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ॥ १ ॥

ब्राह्मणीने कहा—पुत्रो ! मैंने तुम्हारी दृष्टि नहीं ली है; मुझे तुमपर क्रोध भी नहीं है । परंतु मेरी जाँघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी बालक निश्चय ही तुम्हारे ऊपर आज कुपित हुआ है ॥ १ ॥

तेन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना ।
स्मरता निहतान् बन्धूनादत्तानि न संशयः ॥ २ ॥

पुत्रो ! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस महात्मा शिशुने तुमलोगोंद्वारा मारे गये अपने बन्धु-बान्धवोंका स्मरण करके क्रोधवश तुम्हारी आँखें ले ली हैं, इसमें संशय नहीं है ॥२॥

गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः ।
तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः ॥ ३ ॥

बच्चो ! जबसे तुमलोग भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करने लगे, तबसे मैंने अपने इस गर्भको सौ वर्षोंतक एक जाँघमें छिपाकर रक्खा था ॥ ३ ॥

षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह ।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

भृगुकुलका पुनः प्रिय करनेकी इच्छासे छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेद इस बालकको गर्भमें ही प्राप्त हो गये थे ॥

सोऽयं पितृवधाद् व्यक्तं क्रोधाद् वो हन्तुमिच्छति।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः ॥ ५ ॥

अतः यह बालक अपने पिताके वधसे कुपित हो निश्चय ही तुमलोगोंको मार डालना चाहता है । इसीके दिव्य तेजसे तुम्हारी नेत्र-ज्योति छिन गयी है ॥ ५ ॥

तमेव यूयं याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम् ।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति ॥ ६ ॥

इसलिये तुमलोग मेरे इस उत्तम पुत्र और्वसे ही याचना करो । यह तुमलोगोंके नतमस्तक होनेसे संतुष्ट होकर पुनः तुम्हारी खोयी हुई नेत्रोंकी ज्योति दे देगा ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम् ।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः ॥ ७ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर ! ब्राह्मणीके यों कहने-पर उन सब क्षत्रियोंने तब और्वको (प्रणाम करके) कहा— 'आप प्रसन्न होइये ।' तब (उनके विनययुक्त वचन सुनकर) और्वने प्रसन्न हो (अपने तपके प्रभावसे) उनको नेत्रोंकी ज्योति दे दी ॥ ७ ॥

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः ।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत ॥ ८ ॥

वे साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षि अपनी माताका ऊरु भेदन करके उत्पन्न हुए थे, इसी कारण लोकमें 'और्व' नामसे उनकी ख्याति हुई ॥ ८ ॥

चक्षूंषि प्रतिलभ्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः ।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर अपनी खोयी हुई आँखें पाकर वे क्षत्रियलोग लौट गये; इधर भृगुवंशी और्व मुनिने सम्पूर्ण लोकोंके पराभवका विचार किया ॥ ९ ॥

स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः ।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः ॥ १० ॥

वत्स पराशर ! उन महामना मुनिने समस्त लोकोंका पूर्णरूपसे विनाश करनेकी ओर अपना मन लगाया ॥१०॥

इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः ।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः ॥ ११ ॥

भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले उस कुमारने (क्षत्रियों-द्वारा मारे गये अपने भृगुवंशी पूर्वजोंका सम्मान करने)(अथवा उनके वधका बदला लेने) के लिये सब लोकोंके विनाशका निश्चय किया और बहुत बड़ी तपस्याद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाया ॥ ११ ॥

तापयामास ताँल्लोकान् सदेवासुरमानुषान् ।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन् पितामहान् ॥ १२ ॥

उसने अपने पितरोंको आनन्दित करनेके लिये अत्यन्त उग्र तपस्याद्वारा देवता, असुर और मनुष्योंसहित उन सभी लोकोंको संतप्त कर दिया ॥ १२ ॥

ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम् ।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

तात!तदनन्तर सभी पितरोंने अपने कुलका आनन्द बढ़ाने-वाले और्व मुनिका वह निश्चय जानकर पितृलोकसे आकर यह बात कही ॥ १३ ॥

पितर ऊचुः

और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक ।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः ॥ १४ ॥

पितर बोले—बेटा और्व ! तुम्हारी उग्र तपस्याका प्रभाव हमने देख लिया । अब अपना क्रोध रोको और सम्पूर्ण लोकोंपर प्रसन्न हो जाओ ॥ १४ ॥

नानीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः ।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम् ॥ १५ ॥

तात ! यह न समझना कि जिस समय क्षत्रियलोग हमारी हिंसा कर रहे थे, उस समय शुद्ध अन्तःकरणवाले हम भृगुवंशी ब्राह्मणोंने असमर्थ होनेके कारण अपने कुलके वधको चुपचाप सह लिया ॥ १५ ॥

आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत् ।
तदास्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम् ॥ १६ ॥

वत्स ! जब हमारी आयु बहुत बड़ी हो गयी (और तब भी मौत नहीं आयी), उस दशामें हमलोगोंको (बड़ा) खेद हुआ और हमने (जान-बूझकर) क्षत्रियोंसे स्वयं अपना वध करानेकी इच्छा की ॥ १६ ॥

निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि ।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान् कोपयिष्णुभिः ॥ १७ ॥

किसी भृगुवंशीने अपने घरमें जो धन गाड़ दिया था, वह भी वैर बढ़ानेके लिये ही किया गया था। हम चाहते थे कि क्षत्रियलोग हमारे ऊपर कुपित हो जायँ ॥ १७ ॥

किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत् ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ! (यदि ऐसी बात न होती तो) स्वर्गलोककी इच्छावाले हम भार्गवोंको धनसे क्या काम था; क्योंकि साक्षात् कुबेरने हमें प्रचुर धनराशि लाकर दी थी ॥ १८ ॥

यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात सम्मतः ॥ १९ ॥

तात! जब मौत हमें अपने अङ्कमें न ले सकी, तब हमलोगोंने सर्वसम्मतिसे यह उपाय ढूँढ़ निकाला था ॥ १९ ॥

आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान्।
ततोऽस्माभिःसमीक्ष्यैवंनात्मनाऽऽत्मा निपातितः॥ २०॥

बेटा! आत्महत्या करनेवाला पुरुष शुभ लोकोंको नहीं पाता, इसीलिये हमने खूब सोच-विचारकर अपने ही हाथों अपना वध नहीं किया ॥ २० ॥

न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि।
नियच्छेदं मनः पापात् सर्वलोकपराभवात् ॥ २१ ॥

वत्स! तुम जो यह (सब) करना चाहते हो, वह भी हमें प्रिय नहीं है। सम्पूर्ण लोकोंका पराभव बहुत बड़ा पाप है, अतः उधरसे मनको रोको ॥ २१ ॥

मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान् सप्त पुत्रक।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ॥ २२ ॥

तात! क्षत्रियोंको न मारो। बेटा! भू आदि सात लोकोंका भी संहार न करो। यह जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह (तुम्हारे) तपस्याजनित तेजको दूषित करनेवाला है, अतः इसीको मारो। २२।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्ववारणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वक्रोधनिवारण-विषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

और्व और पितरोंकी बातचीत तथा और्वका अपनी क्रोधाग्निको बडवानलरूपसे समुद्रमें त्यागना

और्व उवाच

उक्तवानस्मि यां क्रोधात् प्रतिज्ञां पितरस्तदा।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ॥ १ ॥

और्वने कहा—पितरो! मैंने क्रोधवश उस समय जो सम्पूर्ण लोकोंके विनाशकी प्रतिज्ञा कर ली थी, वह झूठी नहीं होनी चाहिये ॥ १ ॥

वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाहं भवितुमुत्सहे।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवारणिम् ॥ २ ॥

जिसका क्रोध और प्रतिज्ञा निष्फल होते हों, ऐसा बननेकी मेरी इच्छा नहीं है। यदि मेरा क्रोध सफल नहीं हुआ तो वह मुझको उसी प्रकार जला देगा, जैसे आग अरणी काष्ठको जला देती है ॥ २ ॥

यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति।
नालं स मनुजः सम्यक् त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

जो किसी कारणवश उत्पन्न हुए क्रोधको सह लेता है, वह मनुष्य धर्म, अर्थ और कामकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३ ॥

अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ॥ ४ ॥

सबको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाओंद्वारा उचित अवसरपर प्रयोगमें लाया हुआ रोष दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंकी रक्षा करनेवाला हो ॥ ४ ॥

अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ॥ ५ ॥

मैं जिन दिनों माताकी एक जाँघमें गर्भ-शय्यापर सोता था, उन दिनों क्षत्रियोंद्वारा भार्गवोंका वध होनेपर माताओंका करुण क्रन्दन मुझे स्पष्ट सुनायी देता था ॥ ५ ॥

संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः।
आगर्भोच्छेदनात् क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत्॥ ६ ॥

इन नीच क्षत्रियोंने जब गर्भके बच्चोंतकके सिर-काट-काटकर संसारमें भृगुवंशी ब्राह्मणोंका संहार आरम्भ कर दिया, तब मुझमें क्रोधका आवेश हुआ ॥ ६ ॥

सम्पूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा।
भयात् सर्वेषु लोकेषु नाधिजग्मुः परायणम् ॥ ७ ॥

जिनकी कोख भरी हुई थी, वे मेरी माताएँ और पितृगण भी भयके मारे समस्त लोकोंमें भागते फिरे; किंतु उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिली ॥ ७ ॥

तान् भृगूणां यदा दारान् कश्चिन्नाभ्युपपद्यत।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ॥ ८ ॥

जब भार्गवोंकी पत्नियोंका कोई भी रक्षक नहीं मिला, तब मेरी इस कल्याणमयी माताने मुझे अपनी एक जाँघमें छिपाकर रक्खा था ॥ ८ ॥

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

जबतक जगत्में कोई भी पापकर्मको रोकनेवाला होता है, तबतक सम्पूर्ण लोकोंमें पापियोंका होना सम्भव नहीं होता ॥ ९ ॥

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥

जब पापी मनुष्यको कहीं कोई रोकनेवाला नहीं मिलता, तब बहुतेरे मनुष्य पाप करनेमें लग जाते हैं ॥ १० ॥

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ॥ ११ ॥

जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जान-बूझकर पापको नहीं रोकता, वह भी उसी पापकर्मसे लिप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम ।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥
अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम् ।
भवतां च वचो नालमहं समभिवर्तितुम् ॥ १३ ॥

इस लोकमें अपना जीवन सबको प्रिय है; यह समझकर सबका शासन करनेवाले राजालोग सामर्थ्य होते हुए भी मेरे पिताओंकी रक्षा न कर सके, इसीलिये मैं भी इन सब लोकोंपर कुपित हुआ हूँ। मुझमें इन्हें दण्ड देनेकी शक्ति है। अतः (इस विषयमें) मैं आपलोगोंका वचन माननेमें असमर्थ हूँ।१२-१३।

ममापि चेद् भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत् ।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद् भयम् ॥ १४ ॥

यदि मैं भी शक्ति रहते हुए लोगोंके इस महान् पापाचारको उदासीनभावसे चुपचाप देखता रहूँ, तो मुझे भी उन लोगोंके पापसे भय हो सकता है ॥ १४ ॥

यश्चायं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥

मेरे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह आग (सम्पूर्ण) लोकोंको अपनी लपटोंसे लपेट लेना चाहती है, यदि मैं इसे रोक दूँ तो यह मुझे ही अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगी ॥१५॥

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम् ।
तस्माद् विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः॥ १६ ॥

मैं यह भी जानता हूँ कि आपलोग समस्त जगत्का हित चाहनेवाले हैं। अतः शक्तिशाली पितरो ! आपलोग ऐसा करें, जिससे इन लोकोंका और मेरा भी कल्याण हो।१६।

पितर ऊचुः

य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ॥ १७ ॥

पितर बोले—और्व ! तुम्हारे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह अग्नि सब लोकोंको अपना ग्रास बनाना चाहती है, उसे तुम जलमें छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो; क्योंकि (सभी) लोक जलमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १७ ॥

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥

सभी रस जलके परिणाम हैं तथा सम्पूर्ण जगत् (भी) जलका परिणाम माना गया है। अतः द्विजश्रेष्ठ ! तुम अपनी इस क्रोधाग्निको जलमें ही छोड़ दो ॥ १८ ॥

अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः॥ १९ ॥

विप्रवर ! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह क्रोधाग्नि जलको जलाती हुई समुद्रमें स्थित रहे, क्योंकि सभी लोक जलके परिणाम माने गये हैं ॥ १९ ॥

एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवानघ भविष्यति ।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

अनघ ! ऐसा करनेसे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जायगी और देवताओंसहित समस्त लोक भी नष्ट नहीं होंगे॥

वसिष्ठ उवाच

ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥
महद्धयशिरो भूत्वा यत् तद् वेदविदो विदुः ।
तमग्निमुद्गिरद् वक्त्रात् पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर ! तब और्वने (अपनी) उस क्रोधाग्निको समुद्रमें डाल दिया। आज भी वह बहुत बड़ी घोड़ीके मुखकी-सी आकृति धारण करके महासागरके जलका पान करती रहती है। वेदज्ञ पुरुष उससे (भलीभाँति) परिचित हैं। वह वड़वा अपने मुखसे वही आग उगलती हुई महासागरका जल पीती रहती है ॥ २१-२२ ॥

तस्मात् त्वमपि भद्रं ते न लोकान् हन्तुमर्हसि ।
पराशर परॉल्लोकान् जानञ्ज्ञानवतां वर ॥ २३ ॥

ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम परलोकको भलीभाँति जानते हो; अतः तुम्हें भी समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ॥ २३ ॥
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २४ ॥

भगीरथवंशी बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, बुद्धिमान् वत्सराज, कोसलनरेश, पराक्रमी शिशुपाल तथा जरासंध—ये तथा और भी अनेक जनपदोंके शासक भूमण्डलमें विख्यात बहुत-से क्षत्रिय वीर तुम्हारे लिये यहाँ पधारे हैं। भद्रे ! ये पराक्रमी नरेश तुम्हें पानेके उद्देश्यसे इस उत्तम लक्ष्यका भेदन करेंगे । शुभे ! जो इस निशानेको वेध डाले उसीका आज तुम वरण करना ॥ २१—२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजनामकीर्तने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें राजाओंके नामका परिचयविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८५॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजाओंका लक्ष्यवेधके लिये उद्योग और असफल होना

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः
सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव
शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब नवयुवक राजा अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो कानोंमें कुण्डल पहने और परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये अपने-अपने आसनोंसे उठने लगे । उन्हें अपनेमें ही सबसे अधिक अस्त्रविद्या और बलके होनेका अभिमान था; सभीको अपने रूप, पराक्रम, कुल, शील, धन और जवानीका बड़ा घमंड था । वे सभी मस्तकसे वेगपूर्वक मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके गजराजोंकी भाँति उन्मत्त हो रहे थे ॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः
संकल्पजेनाभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥

वे एक दूसरेको बड़ी स्पर्धासे देख रहे थे । उनके सभी अङ्गोंमें कामोन्माद व्याप्त हो रहा था । 'कृष्णा तो मेरी ही होनेवाली है' यह कहते हुए वे अपने राजोचित आसनोंसे सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

ते क्षत्रिया रङ्गगता समेता
जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्या-
मुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

द्रुपदकुमारीको पानेकी इच्छासे रङ्गमण्डपमें एकत्र हुए वे क्षत्रियनरेश गिरिराजनन्दिनी उमाके विवाहमें इकट्ठे हुए देवताओंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः
कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थे
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥

कामदेवके बाणोंकी चोटसे उनके सभी अङ्गोंमें निरन्तर पीड़ा हो रही थी । उनका मन द्रौपदीमें ही लगा हुआ था । द्रुपदकुमारीको पानेके लिये रङ्गभूमिमें उतरे हुए वे सभी नरेश वहाँ अपने सुहृद् राजाओंसे भी ईर्ष्या करने लगे ।

अथाययुर्देवगणा विमानै
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव
यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥

इसी समय रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, समस्त साध्यगण तथा मरुद्गण यमराज और कुबेरको आगे करके अपने-अपने विमानोंपर बैठकर वहाँ आये ॥ ६ ॥

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च
देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च
गन्धर्वमुख्याः सहसाप्सरोभिः ॥ ७ ॥

दैत्य, सुपर्ण, नाग, देवर्षि, गुह्यक, चारण तथा विश्वावसु नारद और पर्वत आदि प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अप्सराओंको साथ लिये सहसा आकाशमें उपस्थित हो गये ॥ ७ ॥

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च
वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥

(अन्य राजालोग द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये लक्ष्य

वेधनेके विचारमें पड़े थे, किंतु) भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले महान् यदुश्रेष्ठ, जिनमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक वंशके प्रमुख व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, चुपचाप अपनी जगहपर बैठे-बैठे देख रहे थे ॥

दृष्ट्वा तु तान् मत्तगजेन्द्ररूपान्।
पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान्।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ९ ॥

यदुवंशी वीरोंके प्रधान नेता श्रीकृष्णने लक्ष्मीके सम्मुख विराजमान गजराजों तथा राखमें छिपी हुई आगके समान मतवाले हाथीकी-सी आकृतिवाले पाण्डवोंको, जो अपने सब अङ्गोंमें भस्म लपेटे हुए थे, देखकर (तुरंत) पहचान लिया॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स
भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ।
शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य रामो
जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह ॥ १० ॥

और बलरामजीसे धीरे-धीरे कहा—भैया! वह देखिये, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और दोनों जुड़वे वीर नकुल-सहदेव उधर बैठे हैं।' बलरामजीने उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया ॥ १० ॥

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः
कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान् वै
संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ११ ॥

दूसरे-दूसरे वीर राजा, राजकुमार एवं राजाओंके पौत्र अपने नेत्रों, मन और स्वभावको द्रौपदीकी ओर लगाकर उसीको देख रहे थे, अतः पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। वे जोशमें आकर दाँतोंसे ओठ चबा रहे थे और रोषसे उनकी आँखें लाल हो रही थीं॥ ११ ॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते
वीरौ यमौ चैव महानुभावौ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार वे महाबाहु कुन्तीपुत्र तथा दोनों महानुभाव वीर नकुल-सहदेव सब-के-सब द्रौपदीको देखकर तुरंत कामदेवके बाणोंसे घायल हो गये ॥ १२ ॥

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्
सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम्।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥

राजन्! उस समय वहाँका आकाश देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे खचाखच भरा था। सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंका समुदाय वहाँ जुट गया था। सब ओर दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो रही थी और दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च
बभूव तत् संकुलमन्तरिक्षम्।
विमानसम्बाधमभूत् समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥

बृहत् शब्द करनेवाली दुन्दुभियोंके नादसे सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा था। चारों ओरका आकाश विमानोंसे ठसाठस भरा था और वहाँ बाँसुरी, वीणा तथा ढोलकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥ १४ ॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य-
द्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ॥ १५ ॥
कलिङ्गवङ्गाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा
विदेहराजो यवनाधिपश्च।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा
राष्ट्राधिपा पङ्कजपत्रनेत्राः ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालै-
र्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता
बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे नृपतिगण द्रौपदीके लिये क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे। कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिङ्गराज, वङ्गनरेश, पाण्ड्यनरेश, पौण्ड्र देशके अधिपति, विदेहके राजा, यवन-देशके अधिपति तथा अन्यान्य अनेक राष्ट्रोंके स्वामी, बहुतेरे राजा, राजपुत्र तथा राजपौत्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलपत्रके समान शोभा पा रहे थे, जिनके विभिन्न अङ्गोंमें किरीट, हार, अङ्गद (बाजूबंद) तथा कड़े आदि आभूषण शोभा दे रहे थे तथा जिनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, वे सब-के-सब पराक्रमी और धैर्यसे युक्त हो अपने बल और शक्तिपर गर्जते हुए क्रमशः उस धनुषपर अपना बल दिखाने लगे ॥

तत् कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम्।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ॥ १८ ॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः ॥ १९ ॥

परंतु वे उस सुदृढ़ धनुषपर हाथसे कौन कहे, मनसे

स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
निर्जगाम पुराद् राजा सहदारः परंतपः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कल्माषपाद शापके परवश हो अपनी पत्नीके साथ नगरसे बाहर निकल गये। उस समय उनकी आँखें क्रोधसे व्याप्त हो रही थीं ॥ ६ ॥

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ ७ ॥

अपनी स्त्रीके साथ निर्जन वनमें जाकर वे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वह महान् वन भाँति-भाँतिके मृगोंसे भरा हुआ था। उसमें नाना प्रकारके जीव-जन्तु निवास करते थे॥

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम्।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ॥ ८ ॥

अनेक प्रकारकी लताओं तथा गुल्मोंसे आच्छादित और विविध प्रकारके वृक्षोंसे आवृत वह (गहन) वन भयंकर शब्दोंसे गूँजता रहता था। शापग्रस्त राजा कल्माषपाद उसीमें भ्रमण करने लगे ॥ ८ ॥

स कदाचित् क्षुधाविष्टो मृगयन् भक्ष्यमात्मनः।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने ॥ ९ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ॥ १० ॥

एक दिन भूखसे व्याकुल हो वे अपने लिये भोजनकी तलाश करने लगे। बहुत क्लेश उठानेके बाद उन्होंने देखा कि उस वनके किसी निर्जन प्रदेशमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुनके लिये एकत्र हुए हैं। वे दोनों अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पाये थे, इतनेहीमें उन राक्षसाविष्ट कल्माषपादको देखकर अत्यन्त भयभीत हो (वहाँसे) भाग चले ॥९-१०॥

तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात्।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ॥ ११ ॥

उन भागते हुए दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको राजाने बलपूर्वक पकड़ लिया। पतिको राक्षसके हाथमें पड़ा देख ब्राह्मणी बोली—॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि सुव्रत।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं आपसे जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! आपका जन्म सूर्यवंशमें हुआ है। आप सम्पूर्ण जगत्में विख्यात हैं ॥ १२ ॥

अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'आप सदा प्रमादशून्य होकर धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। गुरुजनोंकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। दुर्धर्ष वीर! यद्यपि आप इस समय शापसे ग्रस्त हैं, तो भी आपको पापकर्म नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिता।
अकृतार्था ह्ययं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता ॥ १४ ॥
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्तायं मे विसृज्यताम्।

'मेरा ऋतुकाल प्राप्त है, मैं पतिके कष्टसे दुःख पा रही हूँ। मैं संतानकी इच्छासे पतिके समीप आयी थी और उनसे मिलकर अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पायी हूँ। नृपश्रेष्ठ! ऐसी दशामें आप मुझपर प्रसन्न होइये और मेरे इन पतिदेवताको छोड़ दीजिये' ॥ १४½ ॥

एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत् ॥ १५ ॥
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम्।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन् भुवि ॥ १६ ॥
सोऽग्निःसमभवद् दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत्।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता ॥ १७ ॥
कल्माषपादं राजर्षिमशपद् ब्राह्मणी रुषा।
यस्मान्ममाकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ॥ १८ ॥
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः।
तस्मात् त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः ॥ १९ ॥
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम्।
यस्य त्वर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ॥ २० ॥
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम ॥ २१ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणी करुण विलाप करती हुई याचना कर रही थी, तो भी जैसे व्याघ्र मनचाहे मृगको मारकर खा जाता है, उसी प्रकार राजाने अत्यन्त निर्दयीकी भाँति ब्राह्मणीके पतिको खा लिया। उस समय क्रोधसे पीड़ित हुई ब्राह्मणीके नेत्रोंसे धरतीपर आँसुओंकी जो बूँदें गिरीं, वे सब प्रज्वलित अग्नि बन गयीं। उस अग्निने उस स्थानको जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर पतिके वियोगसे व्यथित एवं शोक-संतप्त ब्राह्मणीने रोषमें भरकर राजर्षि कल्माषपादको शाप दिया—'ओ नीच! मेरी पतिविषयक कामना अभी पूर्ण नहीं हो पायी थी, तभी तूने अत्यन्त क्रूरकी भाँति मेरे देखते-देखते आज मेरे महायशस्वी प्रियतम पतिको अपना ग्रास बना लिया है; अतः दुर्बुद्धे! तू भी मेरे शापसे पीड़ित हुआ ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम करते ही तत्काल प्राण त्याग देगा। जिन महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंका तुमने संहार किया है, उन्हींसे समागम करके तेरी पत्नी पुत्र पैदा करेगी। नृपाधम! वही पुत्र तेरा वंश चलानेवाला होगा' ॥ १५-२१ ॥

एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार राजाको शाप देकर वह सती साध्वी आङ्गिरसी राजा कल्माषपादके समीप ही प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर गयी॥

वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुसूदन अर्जुन ! महाभाग वसिष्ठजी अपनी बड़ी भारी तपस्या तथा ज्ञानयोगके प्रभावसे ये सब बातें जानते थे ॥२३॥

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः ।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ॥ २४ ॥

दीर्घकालके पश्चात् वे राजर्षि जब शापसे मुक्त हुए, तब ऋतुकालमें अपनी पत्नीके पास गये। परंतु उनकी रानी मदयन्तीने उन्हें (उक्त शापकी याद दिलाकर) रोक दिया॥२४॥

न हि सस्मार स नृपस्तं शापं काममोहितः ।
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा सम्भ्रान्तो नृपसत्तमः॥२५॥

राजा कल्माषपाद कामसे मोहित हो रहे थे । इसलिये उन्हें शापका स्मरण नहीं रहा । महारानी मदयन्तीकी बात सुनकर वे नृपश्रेष्ठ बड़े सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गये। २५ ।

तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद् भृशं तदा ।
एतस्मात् कारणाद् राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत्।
स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ॥ २६ ॥

उस शापको बार-बार याद करके उन्हें बड़ा संताप हुआ । नरश्रेष्ठ ! इसी कारण शापदोषसे युक्त राजा कल्माषपादने महर्षि वसिष्ठका अपनी पत्नीके साथ नियोग कराया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वसिष्ठोपाख्याने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठोपाख्यानविषयक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका धौम्यको अपना पुरोहित बनाना

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्वराज ! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, उनका नाम बताओ; क्योंकि तुम्हें सब कुछ ज्ञात है ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥

गन्धर्व बोला—कुन्तीनन्दन ! इसी वनके उत्कोचक तीर्थमें महर्षि देवलके छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं। यदि आपलोग चाहें तो उन्हींका पुरोहितके पदपर वरण करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुनने (बहुत) प्रसन्न होकर गन्धर्वको विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही—॥ ३ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ॥४॥
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह ।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

'गन्धर्वप्रवर ! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे ही पास रहें । आवश्यकताके समय हम तुमसे ले लेंगे, तुम्हारा कल्याण हो ।' अर्जुनकी यह बात पूरी होनेपर गन्धर्वराज और पाण्डवोंने एक-दूसरेका बड़ा सत्कार किया । फिर पाण्डवगण गङ्गाके रमणीय तटसे अपनी इच्छाके अनुसार चल दिये ॥ ४-५ ॥

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रमपर जाकर पाण्डवोंने धौम्यका पौरोहित्य-कर्मके लिये वरण किया ॥ ६ ॥

तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ धौम्यने जंगली फल-मूल

अपर्ण करके तथा पुरोहितीके लिये स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया ॥ ७ ॥

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥ ८ ॥

पाण्डवोंने उन ब्राह्मणदेवताको पुरोहित बनाकर यह भलीभाँति विश्वास कर लिया कि 'हमें अपना राज्य और धन अब मिले हुएके ही समान है।' साथ ही उन्हें यह भी भरोसा हो गया कि 'स्वयंवरमें द्रौपदी हमें मिल जायगी'॥८॥

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतास्तदा।
नाथवन्तमिवात्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

उन गुरु एवं पुरोहितके साथ हो जानेसे उस समय भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंने अपने-आपको सनाथ-सा समझा ॥

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥ १० ॥

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थके तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवोंके गुरु हुए! उन धर्मज्ञ मुनिने धर्मज्ञ कुन्तीकुमारोंको अपना यजमान बना लिया ॥ १० ॥

वीरांस्तु सहितान् मेने प्राप्तराज्यान् स्वधर्मतः।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ॥ ११ ॥

धौम्यको भी यह विश्वास हो गया कि ये बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साहसे युक्त देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्मके अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे ॥ ११ ॥

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥ १२ ॥

धौम्यने पाण्डवोंके लिये स्वस्तिवाचन किया। तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक साथ द्रौपदीके स्वयंवरमें जानेका निश्चय किया॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें धौम्यको पुरोहित बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

(स्वयंवरपर्व)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चालयात्रा और मार्गमें ब्राह्मणोंसे बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों भाई पाण्डव राजकुमारी द्रौपदी, उसके पञ्चालदेश और वहाँके महान् उत्सवको देखनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥१॥

ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परंतपाः।
ब्राह्मणान् ददृशुर्मार्गे गच्छतः संगतान् बहून्॥ २ ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्होंने मार्गमें देखा, बहुत-से ब्राह्मण एक साथ जा रहे हैं ॥ २ ॥

त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन् पाण्डवान् ब्रह्मचारिणः।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाभ्यागता इह ॥ ३ ॥

राजन्! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे पूछा—'आपलोग कहाँ जायँगे और कहाँसे आ रहे हैं?' ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः।
भवन्तो वै विजानन्तु सह मात्रा द्विजर्षभाः॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रवरो! आपलोगोंको मालूम हो कि हमलोग एक साथ विचरनेवाले सहोदर भाई हैं और अपनी माताके साथ एकचक्रा नगरीसे आ रहे हैं ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पञ्चालान् द्रुपदस्य निवेशने।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—आज ही पञ्चाल देशको चलिये। वहाँ राजा द्रुपदके दरबारमें महान् धन-धान्यसे सम्पन्न स्वयंवरका बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ५ ॥

एकसार्थं प्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥

हम सबलोग एक साथ चले हैं और वहीं जा रहे हैं। वहाँ अत्यन्त अद्भुत और बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ६ ॥

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः।
वेदीमध्यात् समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥

यज्ञसेन नामवाले महाराज द्रुपदके एक पुत्री है, जो यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है। उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर हैं ॥ ७ ॥

दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः॥ ८॥

उसका एक-एक अङ्ग निर्दोष है। वह मनस्विनी सुकुमारी द्रुपदकन्या देखने ही योग्य है। द्रोणाचार्यके शत्रु प्रतापी धृष्टद्युम्नकी वह बहिन है॥ ८॥

यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः॥ ९॥

धृष्टद्युम्न वे ही हैं, जो कवच, खड्ग, धनुष और बाणके साथ उत्पन्न हुए हैं। महाबाहु धृष्टद्युम्न प्रज्वलित अग्निसे प्रकट होनेके कारण अग्निके समान ही तेजस्वी हैं॥ ९॥

स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवाति वै॥ १०॥

द्रौपदी निर्दोष अङ्गों तथा पतली कमरवाली है और उसके शरीरसे नीलकमलके समान सुगन्ध निकलकर एक कोसतक फैलती रहती है। वह उन्हीं धृष्टद्युम्नकी बहिन है॥ १०॥

यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम्।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम्॥ ११॥

यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदीका स्वयंवर नियत हुआ है। अतः हमलोग उस राजकुमारीको तथा उस स्वयंवरके दिव्य महोत्सवको देखनेके लिये वहाँ जा रहे हैं॥ ११॥

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः॥ १२॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः।
महारथा कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः॥ १३॥

(वहाँ कितने ही प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, स्वाध्यायशील, पवित्र, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महात्मा एवं तरुण अवस्थावाले दर्शनीय राजा और राजकुमार अनेक देशोंसे पधारेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण महारथी भूमिपाल भी वहाँ आयँगे॥ १२-१३॥

ते तत्र विविधान् दायान् विजयार्थं नरेश्वराः।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः॥ १४॥

वे नरपतिगण अपनी-अपनी विजयके उद्देश्यसे वहाँ नाना प्रकारके उपहार, धन, गौएँ, भक्ष्य और भोज्य आदि सब प्रकारकी वस्तुएँ दान करेंगे॥ १४॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम्।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम्॥ १५॥

उनका वह सब दान ग्रहण कर, स्वयंवरको देखकर और उत्सवका आनन्द लेकर फिर हमलोग अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले जायँगे॥ १५॥

नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः॥ १६॥

वहाँ अनेक देशोंके नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध तथा अत्यन्त बलवान् मल्ल आयँगे॥ १६॥

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ॥ १७॥

महात्माओ! इस प्रकार हमारे साथ खेल करके, तमाशा देखकर और नाना प्रकारके दान ग्रहण करके फिर आपलोग भी लौट आइयेगा॥ १७॥

दर्शनीयांश्च वः सर्वान् देवरूपानवस्थितान्।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत् संगत्यैकतमं वरम्॥ १८॥

आप सब लोगोंका रूप तो देवताओंके समान है, आप सभी दर्शनीय हैं, आपलोगोंको (वहाँ उपस्थित) देखकर द्रौपदी दैवयोगसे आपमेंसे ही किसी एकको अपना वर चुन सकती है॥ १८॥

अयं भ्राता तव श्रीमान् दर्शनीयो महाभुजः।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु।
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति॥ १९॥

आपलोगोंके ये भाई अर्जुन तो बड़े सुन्दर और दर्शनीय हैं। इनकी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं। इन्हें यदि विजयके कार्यमें नियुक्त कर दिया जाय, तो ये दैवात् बहुत बड़ी धनराशि जीत लाकर निश्चय ही आपलोगोंकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे।

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम्।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम्॥ २०॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणो! हम भी द्रुपदकन्याके उस श्रेष्ठ स्वयंवर-महोत्सवको देखनेके लिये आपलोगोंके साथ चलेंगे॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवागमनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८३॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्रुपदकी राजधानीमें जाकर कुम्हारके यहाँ रहना, स्वयंवरसभाका वर्णन तथा धृष्टद्युम्नकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय।
राज्ञा दक्षिणपञ्चालान् द्रुपदेनाभिरक्षितान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन ब्राह्मणोंके यों कहनेपर पाण्डवलोग (उन्हींके साथ) राजा द्रुपदके द्वारा पालित दक्षिणपाञ्चाल देशकी ओर चले॥ १॥

ततस्ते सुमहात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम्।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा॥ २॥

तदनन्तर उन पाण्डववीरोंको मार्गमें पापरहित, शुद्धचित्त एवं श्रेष्ठ महात्मा द्वैपायन मुनिका दर्शन हुआ॥ २॥

तस्मै यथावत् सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम्॥ ३॥

पाण्डवोंने उनका यथावत् सत्कार किया और उन्होंने पाण्डवोंका। फिर उनमें आवश्यक बातचीत हुई। वार्तालाप

समाप्त होनेपर व्यासजीकी आज्ञा ले पाण्डव पुनः द्रुपदकी राजधानीकी ओर चल दिये॥ ३॥

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः॥ ४॥

महारथी पाण्डव मार्गमें अनेकानेक रमणीय बन और सरोवर देखते तथा उन-उन स्थानोंमें डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये॥ ४॥

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः।
आनुपूर्व्येण सम्प्राप्ताः पञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः॥ ५॥

(प्रतिदिन) स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले, पवित्र, मधुर प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस तरह चलकर क्रमशः पञ्चालदेशमें जा पहुँचे॥ ५॥

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा॥ ६॥

द्रुपदके नगर और उसकी चहारदीवारीको देखकर पाण्डवोंने उस समय एक कुम्हारके घरमें अपने रहनेकी व्यवस्था की॥ ६॥

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥ ७॥

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते (और उसीसे निर्वाह करते) थे। इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डववीरोंको कहीं कोई भी मनुष्य पहचान न सके॥ ७॥

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥ ८॥

राजा द्रुपदके मनमें सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका ब्याह करूँ। परंतु वे अपने इस मनोभावको किसीपर प्रकट नहीं करते थे॥ ८॥

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत॥ ९॥

भरतवंशी जनमेजय! पाञ्चालनरेशने कुन्तीकुमार अर्जुनको खोज निकालनेकी इच्छासे एक ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका भी न सके॥ ९॥

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम्।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः॥ १०॥

राजाने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनवाया, (जो तीव्रवेगसे आकाशमें घूमता रहता था)। उस यन्त्रके छिद्र-के ऊपर उन्होंने उसीके बराबरका लक्ष्य तैयार कराकर रखवा दिया। (इसके बाद उन्होंने यह घोषणा करा दी)॥ १०॥

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति॥ ११॥

द्रुपदने घोषणा की—जो वीर इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणोंद्वारा ही यन्त्रके छेदके भीतरसे इसे लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्रीको प्राप्त कर सकेगा॥

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत्।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! इस प्रकार राजा द्रुपदने जब स्वयंवरकी घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा वहाँ उनकी राजधानीमें एकत्र होने लगे॥

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥ १३ ॥

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखनेके लिये आये। राजन्! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्णके साथ वहाँ आये थे॥ १३ ॥

ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन्।
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ॥ १४ ॥
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम्।
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धृतनिःस्वनाः ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंसे कितने ही महाभाग ब्राह्मणोंने भी पदार्पण किया था। महामना राजा द्रुपदने (वहाँ पधारे हुए) नरपतियोंका भलीभाँति स्वागत-सत्कार एवं सेवा-पूजा की। तत्पश्चात् वे सभी नरेश स्वयंवर देखनेकी इच्छासे वहाँ रखे हुए मञ्चोंपर बैठे। उस नगरके समस्त निवासी भी यथास्थान आकर बैठ गये। उन सबका कोलाहल क्षुब्ध हुए समुद्रके भयंकर गर्जनके समान सुनायी पड़ता था॥ १४-१५ ॥

शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स्म पार्थिवाः।
प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १६ ॥

वहाँकी बैठक शिशुमारकी आकृतिमें सजायी गयी थी शिशुमारके शिरोभागमें सब राजा अपने-अपने मञ्चोंपर बैठे थे। नगरसे ईशानकोणमें सुन्दर एवं समतल भूमिपर स्वयंवरसभाका रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओरसे सुन्दर भवनोंद्वारा घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था।

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः ॥ १७ ॥

उसके सब ओर चहारदीवारी और खाईं बनी थीं। अनेक फाटक और दरवाजे उस मण्डपकी शोभा बढ़ा रहे थे। विचित्र चँदोवेसे उस सभाभवनको सब ओरसे सजाया गया था॥ १७ ॥

तूर्यौघशतसंकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १८ ॥

वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बज रहे थे। बहुमूल्य अगुरु-धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। फर्शपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था। सब ओर फूलोंकी मालाएँ और हार टँगे थे, जिससे वहाँकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी।

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ १९ ॥

उस रङ्गमण्डपके चारों ओर कैलासशिखरके समान ऊँचे और श्वेत रंगके गगनचुम्बी महल बने हुए थे॥ १९॥

सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषणैः।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २० ॥

उन्हें भीतरसे सोनेके जालीदार पर्दों और झालरोंसे सजाया गया था। फर्श और दीवारोंमें मणि एवं रत्न जड़े गये थे। उत्तम सुखपूर्वक चढ़ने योग्य सीढ़ियाँ बनी थीं। बड़े-बड़े आसन और बिछावन आदि बिछाये गये थे॥२०॥

स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २१ ॥

अनेक प्रकारकी मालाएँ और हार उन भवनोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। अगुरुकी सुगन्ध छा रही थी। वे हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत दिखायी देते थे। उनके भीतरसे निकली हुई धूपकी सुगन्ध चारों ओर एक योजन-तक फैल रही थी॥ २१ ॥

असम्बाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः।
बहुधा तु पिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २२ ॥

उन महलोंमें सैकड़ों दरवाजे थे। उनके भीतर आने-जानेके लिये बिल्कुल रोक-टोक नहीं थी और वे भाँति-भाँतिकी शय्याओं तथा आसनोंसे सुशोभित थे। उनकी दीवारोंको अनेक प्रकारकी धातुओंके रंगोंसे रँगा गया था। अतः वे राजमहल हिमालयके बहुरंगे शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे॥ २२ ॥

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥ २३ ॥

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानोंमें, जो अनेक प्रकारके बने हुए थे, सब राजालोग परस्पर एक दूसरेसे होड़ रखते हुए सुन्दर-से-सुन्दर श्रृङ्गार धारण करके बैठे॥२३॥

तत्रोपविष्टान् ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान्।
राजसिंहान् महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान् ॥२४॥
महाप्रसादान् ब्रह्मण्यान् स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः।
प्रियान् सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ॥ २५ ॥
मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः।
कृष्णादर्शनसिद्ध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २६ ॥

नगर और जनपदके लोगोंने जब देखा कि उक्त विमानोंमें बहुमूल्य मञ्चोंके ऊपर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न परम सौभाग्यशाली, कालागुरुसे विभूषित, महान् कृपाप्रसादसे युक्त, ब्राह्मणभक्त, अपने-अपने राष्ट्रके रक्षक

और शुभ पुण्यकर्मोंके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्‌के प्रिय श्रेष्ठ नरपतिगण आकर बैठ गये हैं, तब राजकुमारी द्रौपदीके दर्शनका लाभ लेनेके लिये वे भी मब ओर सुखपूर्वक जा बैठे ॥ २४-२६ ॥

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन्।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २७ ॥

वे पाण्डव भी पाञ्चालनरेशकी उस सर्वोत्तम समृद्धिका अवलोकन करते हुए ब्राह्मणोंके साथ उन्हींकी पङ्क्तिमें बैठे थे।

ततः समाजो ववृधे स राजन् दिवसान् बहून्।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २८ ॥

राजन्! नगरमें बहुत दिनोंसे लोगोंकी भीड़ बढ़ रही थी। राजसमाजके द्वारा प्रचुर धन-रत्नोंका दान किया जा रहा था। बहुतेरे नट और नर्तक अपनी कला दिखाकर उस समाजकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २८ ॥

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २९ ॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम्।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३० ॥

सोलहवें दिन अत्यन्त मनोहर समाज जुटा। भरतश्रेष्ठ! उसी दिन स्नान करके सुन्दर वस्त्र और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो हाथोंमें सोनेकी बनी हुई कामदार जयमाला लिये द्रुपदराजकुमारी उस रङ्गभूमिमें उतरी ॥ २९-३० ॥

पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद् ब्राह्मणः शुचिः।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत् तदा ॥ ३१ ॥

तब सोमकवंशी क्षत्रियोंके पवित्र एवं मन्त्रज्ञ ब्राह्मण पुरोहितने अग्निवेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर वेदोक्त विधिके अनुसार प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति डाली ॥ ३१ ॥

संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अग्निदेवको तृप्त करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर चारों ओर बजनेवाले सब प्रकारके बाजे बंद करा दिये गये ॥ ३२ ॥

निःशब्दे तु कृते तस्मिन् धृष्टद्युम्नो विशाम्पते।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३३ ॥
रङ्गमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

महाराज! बाजोंकी आवाज बंद हो जानेपर जब स्वयंवर-सभामें सन्नाटा छा गया, तब विधिके अनुसार धृष्टद्युम्न द्रौपदीको (साथ) लेकर रङ्गमण्डपके बीचमें खड़ा हो मेघ और दुन्दुभिके समान स्वर तथा मेघगर्जनकी गम्भीर वाणीमें यह अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन बोला—॥ ३३-३४ ॥

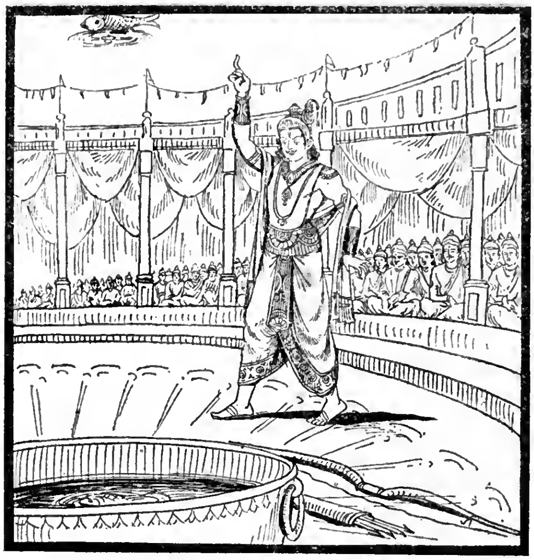

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥ ३५ ॥

'यहाँ आये हुए भूपालगण! आपलोग (ध्यान देकर) मेरी बात सुनें। यह धनुष है, ये बाण हैं और यह निशाना है। आपलोग आकाशमें छोड़े हुए पाँच पैने बाणोंद्वारा उस यन्त्रके छेदके भीतरसे लक्ष्यको वेधकर गिरा दें ॥ ३५ ॥

एतन्महत् कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥ ३६ ॥

'मैं सच कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता— जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बलसे सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखायेगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसीकी धर्मपत्नी होगी।

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः
पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च
संकीर्तयन् भूमिपतीन् समेतान् ॥ ३७ ॥

यों कहकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने वहाँ आये हुए राजाओंके नाम, गोत्र और पराक्रमका वर्णन करते हुए अपनी बहिन द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नवाक्यविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका द्रौपदीको स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय देना

धृष्टद्युम्न उवाच

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा॥ १॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः॥ २॥
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा॥ ३॥
एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः॥ ४॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! यह देखो—दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव, उग्रायुध, बलाकी, करकायु, विरोचन, कुण्डक, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक, बाहुशाली, तुहुण्ड तथा विकट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली धृतराष्ट्रपुत्र जो सब-के-सब वीर हैं, तुम्हें प्राप्त करनेके लिये कर्णके साथ यहाँ पधारे हैं॥ १—४॥

असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः॥ ५॥
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ॥ ६॥
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः॥ ७॥
सहदेवजयत्सेनौ मेघसंधिश्च पार्थिवः।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च॥ ८॥
वार्द्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा॥ ९॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा॥ १०॥
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान्॥ ११॥
जलसंधः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्॥ १२॥
कालिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः॥ १३॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः॥ १४॥
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः॥ १५॥

इनके सिवा और भी असंख्य महामना क्षत्रियशिरोमणि भूमिपाल यहाँ आये हैं। उधर देखो, गान्धारराज सुबलके पुत्र शकुनि, वृषक और बृहद्बल बैठे हैं। गान्धारराजके ये सभी पुत्र यहाँ पधारे हैं। अश्वत्थामा और भोज—ये दोनों महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं और तुम्हारे लिये गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर यहाँ आये हैं। राजा बृहन्त, मणिमान्, दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, राजा मेघसंधि, अपने दोनों पुत्रों शङ्ख और उत्तरके साथ राजा विराट, वृद्धक्षेमके पुत्र सुशर्मा, राजा सेनाबिन्दु, सुकेतु और उनके पुत्र सुवर्चा, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, नील, चित्रायुध, अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेनके प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसंध, विदण्ड और उनके पुत्र दण्ड, पौण्ड्रक वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, कलिङ्गनरेश, ताम्रलिप्त-नरेश, पाटनके राजा, अपने दो पुत्रों वीर रुक्माङ्गद तथा रुक्मरथके साथ महारथी मद्रराज शल्य, कुरुवंशी सोमदत्त तथा उनके तीन महारथी शूरवीर पुत्र भूरि, भूरिश्रवा और शल, काम्बोजदेशीय सुदक्षिण, पूरुवंशी दृढधन्वा॥५–१५॥

बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा॥ १६॥
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान्।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा॥ १७॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च॥ १८॥
विदूरथश्च कङ्कश्च शङ्कुश्च सगवेषणः।
आशावहोऽनिरुद्धश्च शमीकः सारिमेजयः॥ १९॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्लीपिण्डारकस्तथा।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः॥ २०॥

महाबली सुषेण, उशीनरदेशीय शिबि तथा चोर-डाकुओंको मार डालनेवाले कारूषाधिपति भी यहाँ आये हैं। इधर संकर्षण, वासुदेव, (भगवान् श्रीकृष्ण) रुक्मिणीनन्दन पराक्रमी प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध, श्रीकृष्णके बड़े भाई गद, अक्रूर, सात्यकि, परम बुद्धिमान् उद्धव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कङ्क, शङ्कु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध, शमीक, सारिमेजय, वीर, वातपति, झिल्लीपिण्डारक तथा पराक्रमी उशीनर—ये सब वृष्णिवंशी कहे गये हैं॥ १६–२०॥

भागीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः॥ २१॥
उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ।
वत्सराजश्च मतिमान् कोसलाधिपतिस्तथा॥ २२॥
शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासंधस्तथैव च।

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ॥ २३ ॥
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २४ ॥

भगीरथवंशी बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, बुद्धिमान् वत्सराज, कोसलनरेश, पराक्रमी शिशुपाल तथा जरासंध—ये तथा और भी अनेक जनपदोंके शासक भूमण्डलमें विख्यात बहुत-से क्षत्रिय वीर तुम्हारे लिये यहाँ पधारे हैं। भद्रे ! ये पराक्रमी नरेश तुम्हें पानेके उद्देश्यसे इस उत्तम लक्ष्यका भेदन करेंगे । शुभे ! जो इस निशानेको वेध डाले उसीका आज तुम वरण करना ॥ २१—२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजनामकीर्तने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें राजाओंके नामका परिचयविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८५॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजाओंका लक्ष्यवेधके लिये उद्योग और असफल होना

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः
सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव
शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब नवयुवक राजा अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो कानोंमें कुण्डल पहने और परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये अपने-अपने आसनोंसे उठने लगे । उन्हें अपनेमें ही सबसे अधिक अस्त्रविद्या और बलके होनेका अभिमान था; सभीको अपने रूप, पराक्रम, कुल, शील, धन और जवानीका बड़ा घमंड था । वे सभी मस्तकसे वेगपूर्वक मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके गजराजोंकी भाँति उन्मत्त हो रहे थे ॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः
संकल्पजेनाभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥

वे एक दूसरेको बड़ी स्पर्धासे देख रहे थे । उनके सभी अङ्गोंमें कामोन्माद व्याप्त हो रहा था । 'कृष्णा तो मेरी ही होनेवाली है' यह कहते हुए वे अपने राजोचित आसनोंसे सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

ते क्षत्रिया रङ्गगता समेता
जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्या-
मुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

द्रुपदकुमारीको पानेकी इच्छासे रङ्गमण्डपमें एकत्र हुए वे क्षत्रियनरेश गिरिराजनन्दिनी उमाके विवाहमें इकट्ठे हुए देवताओंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः
कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥

कामदेवके बाणोंकी चोटसे उनके सभी अङ्गोंमें निरन्तर पीड़ा हो रही थी । उनका मन द्रौपदीमें ही लगा हुआ था । द्रुपदकुमारीको पानेके लिये रङ्गभूमिमें उतरे हुए वे सभी नरेश वहाँ अपने सुहृद् राजाओंसे भी ईर्ष्या करने लगे ।

अथाययुर्देवगणा विमानै
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव
यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥

इसी समय रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, समस्त साध्यगण तथा मरुद्गण यमराज और कुबेरको आगे करके अपने-अपने विमानोंपर बैठकर वहाँ आये ॥ ६ ॥

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च
देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च
गन्धर्वमुख्याः सहसाप्सरोभिः ॥ ७ ॥

दैत्य, सुपर्ण, नाग, देवर्षि, गुह्यक, चारण तथा विश्वावसु नारद और पर्वत आदि प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अप्सराओंको साथ लिये सहसा आकाशमें उपस्थित हो गये ॥ ७ ॥

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च
वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥

(अन्य राजालोग द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये लक्ष्य

वेधनेके विचारमें पड़े थे, किंतु) भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले महान् यदुश्रेष्ठ, जिनमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक वंशके प्रमुख व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, चुपचाप अपनी जगहपर बैठे-बैठे देख रहे थे॥

दृष्ट्वा तु तान् मत्तगजेन्द्ररूपान्।
पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान्।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः॥ ९॥

यदुवंशी वीरोंके प्रधान नेता श्रीकृष्णने लक्ष्मीके सम्मुख विराजमान गजराजों तथा राखमें छिपी हुई आगके समान मतवाले हाथीकी-सी आकृतिवाले पाण्डवोंको, जो अपने सब अङ्गोंमें भस्म लपेटे हुए थे, देखकर (तुरंत) पहचान लिया॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स
भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ।
शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य रामो
जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह॥ १०॥

और बलरामजीसे धीरे-धीरे कहा—भैया! वह देखिये, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और दोनों जुड़वे वीर नकुल-सहदेव उधर बैठे हैं।' बलरामजीने उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न चित्त हो भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया॥ १०॥

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः
कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान् वै
संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः॥ ११॥

दूसरे-दूसरे वीर राजा, राजकुमार एवं राजाओंके पौत्र अपने नेत्रों, मन और स्वभावको द्रौपदीकी ओर लगाकर उसीको देख रहे थे, अतः पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। वे जोशमें आकर दाँतोंसे ओठ चबा रहे थे और रोषसे उनकी आँखें लाल हो रही थीं॥ ११॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते
वीरौ यमौ चैव महानुभावौ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः॥ १२॥

इसी प्रकार वे महाबाहु कुन्तीपुत्र तथा दोनों महानुभाव वीर नकुल-सहदेव सब-के-सब द्रौपदीको देखकर तुरंत कामदेवके बाणोंसे घायल हो गये॥ १२॥

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्
सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम्।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम्॥ १३॥

राजन्! उस समय वहाँका आकाश देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे खचाखच भरा था। सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंका समुदाय वहाँ जुट गया था। सब ओर दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो रही थी और दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च
बभूव तत् संकुलमन्तरिक्षम्।
विमानसम्बाधमभूत् समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम्॥ १४॥

बृहत् शब्द करनेवाली दुन्दुभियोंके नादसे सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा था। चारों ओरका आकाश विमानोंसे ठसाठस भरा था और वहाँ बाँसुरी, वीणा तथा ढोलकी मधुर ध्वनि हो रही थी॥ १४॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य-
द्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः॥ १५॥
कलिङ्गवङ्गाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा
विदेहराजो यवनाधिपश्च।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा
राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः॥ १६॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालै-
र्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता
बलेन वीर्येण च नर्दमानाः॥ १७॥

तदनन्तर वे नृपतिगण द्रौपदीके लिये क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे। कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिङ्गराज, वङ्गनरेश, पाण्ड्यनरेश, पौण्ड्र देशके अधिपति, विदेहके राजा, यवन-देशके अधिपति तथा अन्यान्य अनेक राष्ट्रोंके स्वामी, बहुतेरे राजा, राजपुत्र तथा राजपौत्र; जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलपत्रके समान शोभा पा रहे थे, जिनके विभिन्न अङ्गोंमें किरीट, हार, अङ्गद (बाजूबंद) तथा कड़े आदि आभूषण शोभा दे रहे थे तथा जिनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, वे सब-के-सब पराक्रमी और धैर्यसे युक्त हो अपने बल और शक्तिपर गर्जते हुए क्रमशः उस धनुषपर अपना बल दिखाने लगे॥

तत् कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम्।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः॥ १८॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः॥ १९॥

परंतु वे उस सुदृढ़ धनुषपर हाथसे कौन कहे, मनसे

भी प्रत्यञ्चा न चढ़ा सके। अपने बल, शिक्षा और गुणके अनुसार उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं चमचमाते हुए धनुषके झटकेसे दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर धरतीपर जा गिरते थे। फिर तो उनका उत्साह समाप्त हो जाता, किरीट और हार खिसककर गिर जाते और वे लंबी साँसें खींचते हुए शान्त होकर बैठ जाते थे ॥ १८-१९॥

हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेन
विस्रस्तहाराङ्गदचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं
राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ॥ २० ॥

उस सुदृढ़ धनुषके झटकेसे जिनके हार, बाजूबंद और कड़े आदि आभूषण दूर जा गिरे थे, वे नरेश उस समय द्रौपदीको पानेकी आशा छोड़कर अत्यन्त व्यथित हो हाहाकार कर उठे ॥

सर्वान् नृपांस्तान् प्रसमीक्ष्य कर्णो
धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
सज्यं चकाराशु युयोज बाणान् ॥ २१ ॥

उन सब राजाओंकी यह अवस्था देख धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण उस धनुषके पास गया और तुरंत ही उसे उठाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तथा शीघ्र ही उस धनुषपर वे पाँचों बाण जोड़ दिये ॥ २१ ॥*

दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा
भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञ-
मत्यग्निसोमार्कमथार्कपुत्रम् ॥ २२ ॥

अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी सूर्य-पुत्र कर्ण द्रौपदीके प्रति आसक्त होनेके कारण जब लक्ष्य भेदनेकी प्रतिज्ञा करके उठा, तब उसे देखकर महाधनुर्धर पाण्डवोंने यह विश्वास कर लिया कि अब यह इस उत्तम लक्ष्यको भेदकर पृथ्वीपर गिरा देगा ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै-
र्जगाद नाहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं
तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ॥ २३ ॥

कर्णको देखकर द्रौपदीने उच्च स्वरसे यह बात कही—'मैं सूत जातिके पुरुषका वरण नहीं करूँगी'। यह सुनकर कर्णने अमर्षयुक्त हँसीके साथ भगवान् सूर्यकी ओर देखा और उस प्रकाशमान धनुषको डाल दिया ॥ २३ ॥

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥ २४ ॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओरसे हट गये, तब यमराजके समान बलवान्, धीर, वीर, चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठानेके लिये चला। परंतु उसपर हाथ लगाते ही वह घुटनोंके बल पृथ्वी-पर गिर पड़ा ॥ २४-२५ ॥

ततो राजा महावीर्यो जरासंधो महाबलः ।
धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥

तदनन्तर महापराक्रमी एवं महाबली राजा जरासंध धनुष के निकट आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा हो गया ॥ २६ ॥

धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् ॥ २७ ॥

परंतु उठाते समय धनुषका झटका खाकर वह भी घुटनेके बल गिर पड़ा। तब वहाँसे उठकर राजा जरासंध अपने राज्यको चला गया ॥ २७ ॥

ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आये। पर उन्होंने भी उस धनुषको चढ़ाते समय धरतीपर घुटने टेक दिये।

(ततो दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः परंतपः ।
मानी दृढास्त्रसम्पन्नः सर्वैश्च नृपलक्षणैः ॥
उत्थितः सहसा तत्र भ्रातृमध्ये महाबलः ।
विलोक्य द्रौपदीं हृष्टो धनुषोऽभ्याशमागमत् ॥
स बभौ धनुरादाय शक्रश्चापधरो यथा ।
आरोपयंस्तु तद् राजा धनुषा बलिना तदा ॥
उत्तानशय्यमपतदङ्गुल्यन्तरताडितः ।
स ययौ ताडितस्तेन व्रीडन्निव नराधिपः ॥)

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाला धृतराष्ट्रपुत्र महा-बली राजा दुर्योधन सहसा अपने भाइयोंके बीचसे उठकर खड़ा हो गया। उसके अस्त्र-शस्त्र बड़े मजबूत थे। वह स्वाभिमानी होनेके साथ ही समस्त राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न था। द्रौपदीको देखकर उसका हृदय हर्षसे खिल उठा और वह शीघ्रतापूर्वक धनुषके पास आया। उस धनुषको हाथमें लेकर वह चापधारी इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। राजा दुर्योधन उस मजबूत धनुषपर जब प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, उस

---

* कर्णके द्वारा प्रत्यञ्चा और बाण चढ़ानेकी बात दाक्षिणात्य पाठमें कहीं नहीं है। भण्डारकरकी प्रतिमें भी मुख्य पाठमें यह वर्णन नहीं है। नीलकण्ठी पाठमें भी इससे पूर्व श्लोक १५में तथा उत्तर अ० १८७ श्लोक ४ एवं १९ में भी ऐसा ही उल्लेख है कि कर्ण धनुषपर प्रत्यञ्चा और बाण नहीं चढ़ा सका था; इससे यही सिद्ध होता है कि कर्णने बाण नहीं चढ़ाया था।

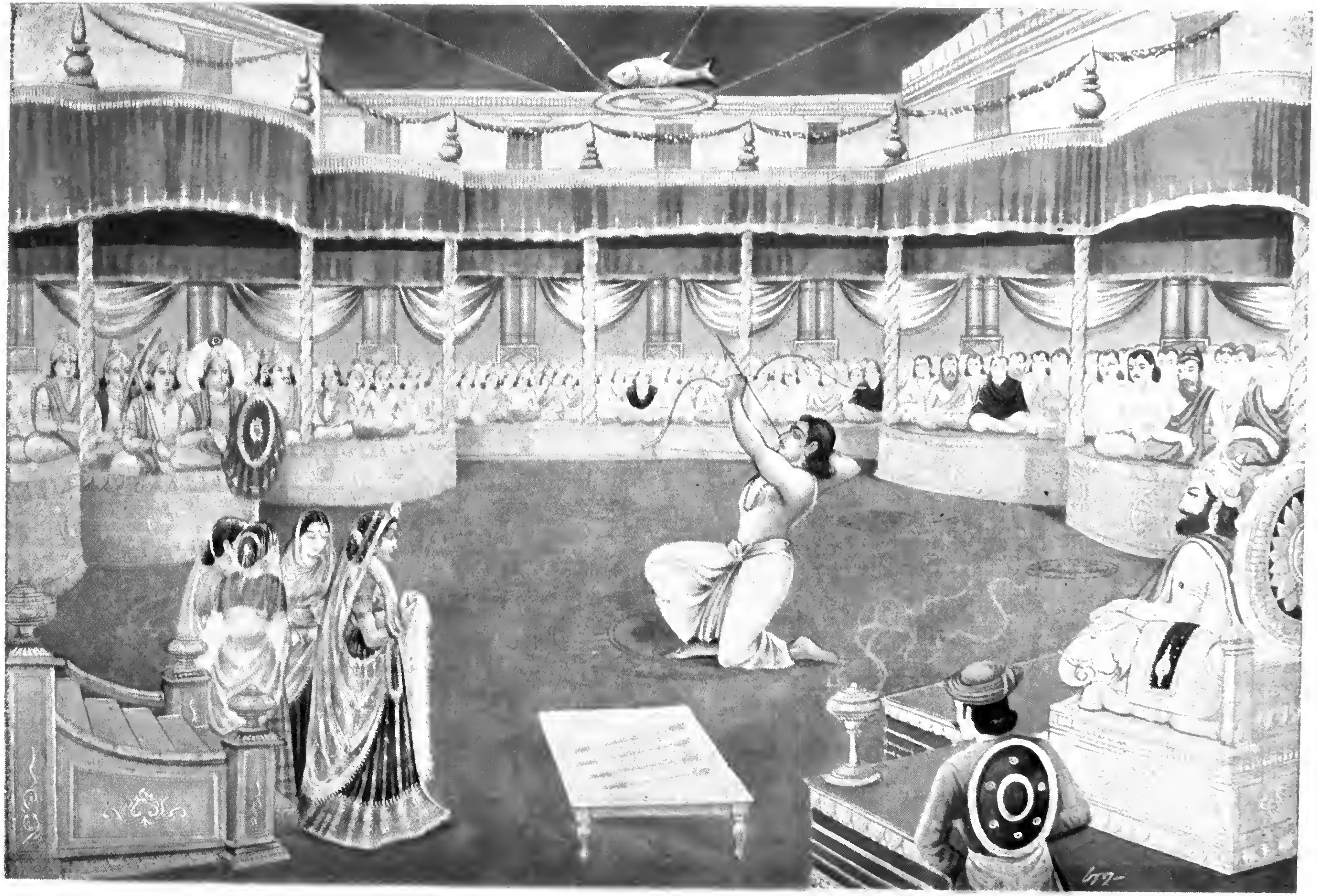

द्रौपदी-स्वयंवर

समय उसके अंगुलियोंके बीचमें झटकेसे ऐसी चोट लगी कि वह चित्त लोट गया। धनुषकी चोट खाकर राजा दुर्योधन अत्यन्त लज्जित होता हुआ-सा अपने स्थानपर लौट गया॥

तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे
निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं
सज्यं धनुस्तत् सशरं प्रवीरः॥ २९॥

(जब इस प्रकार बड़े-बड़े प्रभावशाली राजा लक्ष्यवेध न कर सके, तब) सारा समाज सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गया और लक्ष्यवेधकी बात-चीततक बंद हो गयी, उसी समय प्रमुख वीर कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसपर बाण-संधान करनेकी अभिलाषा की॥ २९॥

(ततो वरिष्ठः सुरदानवाना-
मुदारधीर्वृष्णिकुलप्रवीरः।
जहर्ष रामेण स पीड्य हस्तं
हस्तं गतां पाण्डुसुतस्य मत्वा॥
न जज्ञुरन्ये नृपवीरमुख्याः
संछन्नरूपानथ पाण्डुपुत्रान्।)

यह देख देवता और दानवोंके आदरणीय, वृष्णिवंश-के प्रमुख वीर उदारबुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ उनका हाथ दबाते हुए बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें यह विश्वास हो गया कि द्रौपदी अब पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें आ गयी। पाण्डवोंने अपना रूप छिपा रक्खा था, अतः दूसरे कोई राजा या प्रमुख वीर उन्हें पहचान न सके।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुखीभवने षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें सम्पूर्ण राजाओंके विमुख होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५$\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ३४$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! जब सब राजाओंने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ानेके कार्यसे मुँह मोड़ लिया, तब उदारबुद्धि अर्जुन ब्राह्मणमण्डलीके बीचसे उठकर खड़े हुए॥ १॥

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम्॥ २॥

इन्द्रकी ध्वजाके समान (लंबे) अर्जुनको उठकर धनुषकी ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे॥ २॥

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः॥ ३॥

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ प्रसन्नताके मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपसमें इस प्रकार कहने लगे—॥ ३॥

यत् कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः॥ ४॥
तत् कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः॥ ५॥

'ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेद-परायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका (तक) न सके, उसी धनुषपर अस्त्र-ज्ञानसे शून्य और शारीरिक बलकी दृष्टिसे अत्यन्त दुर्बल यह निरा ब्राह्मण-बालक कैसे प्रत्यञ्चा चढ़ा सकेगा॥ ४-५॥

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते॥ ६॥

'इसने बालोचित चपलताके कारण इस कार्यकी कठिनाई-पर विचार नहीं किया है। यदि इसमें यह सफल न हुआ तो समस्त राजाओंमें ब्राह्मणोंकी बड़ी हँसी होगी॥ ६॥

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात्।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मागमत्॥ ७॥

'यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चञ्चलताके कारण धनुषपर डोरी चढ़ानेके लिये आगे बढ़ा है तो इसे रोक देना चाहिये; अच्छा तो यही होगा कि यह जाय ही नहीं॥ ७॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नावहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम्॥ ८॥

ब्राह्मण बोले—(भाइयो!) हमारी हँसी नहीं होगी। न हमें किसीके सामने छोटा ही बनना पड़ेगा और लोकमें हमलोग राजाओंके द्वेषपात्र भी नहीं होंगे। (अतः इन बातों-की चिन्ता छोड़ दो)॥ ८॥

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव॥ ९॥

कुछ ब्राह्मणोंने कहा—'यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावतके शुण्ड-दण्डके समान हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता है। इसके कंधे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्यमें हिमालयके समान जान पड़ता है ॥ ९ ॥

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥ १० ॥

'इसकी सिंहके समान मस्तानी चाल है। यह शोभाशाली तरुण मतवाले गजराजके समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीरके लिये यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है ॥ १० ॥

शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत्।
न च तद् विद्यते किंचित् कर्म लोकेषु यद् भवेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥ १२ ॥
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन् ॥ १३ ॥
सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत् समुपागतम्।
(धनुर्वेदे च वेदे च योगेषु विविधेषु च।
न तं पश्यामि मेदिन्यां ब्राह्मणाभ्यधिको भवेत् ॥
मन्त्रयोगबलेनापि महताऽऽत्मबलेन वा।
जम्भयेयुरमुं लोकमथवा द्विजसत्तमाः ॥)
जामदग्न्येन रामेण निर्जिताः क्षत्रिया युधि ॥ १४ ॥

'इसमें शक्ति और महान् उत्साह है। यदि यह असमर्थ होता तो स्वयं ही धनुषके पास जानेका साहस नहीं करता। सम्पूर्ण लोकोंमें देवता, असुर आदिके रूपमें विचरनेवाले पुरुषोंका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणोंके लिये असाध्य हो। ब्राह्मणलोग जल पीकर, हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हैं। अतः वे शरीरसे दुबले होनेपर भी अपने तेजके कारण अत्यन्त बलवान् होते हैं। ब्राह्मण भला-बुरा, सुखद-दुःखद और छोटा-बड़ा—जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है; अतः किसी भी कर्मको करते समय उस ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। मैं भूमण्डलमें ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता जो धनुर्वेद, वेद तथा नाना प्रकारके योगोंमें ब्राह्मणसे बढ़-चढ़कर हो। श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्र-बल योग-बल अथवा महान् आत्म-बलसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को स्तब्ध कर सकते हैं। (अतः उसके प्रति तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये) देखो, जमदग्निनन्दन परशुरामजीने अकेले ही (सम्पूर्ण) क्षत्रियोंको युद्धमें जीत लिया था ॥ ११–१४ ॥

पीतः समुद्रोऽगस्त्येन ह्यगाधो ब्रह्मतेजसा।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र बटुरेष धनुर्महान् ॥ १५ ॥
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः।

'महर्षि अगस्त्यने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे अगाध समुद्रको पी डाला। इसलिये आप सब लोग यहाँ आशीर्वाद दें कि यह महान् ब्रह्मचारी शीघ्र ही इस धनुषको चढ़ा दे (और लक्ष्य-वेध करनेमें सफल हो)' यह सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण उसी प्रकार आशीर्वादकी वर्षा करने लगे ॥ १५½ ॥

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ॥ १६ ॥
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः।
स तद् धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब ब्राह्मणलोग भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुषके पास जाकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुषके चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की ॥ १६–१७ ॥

प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम्।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनो धनुः ॥ १८ ॥

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकरको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करके अर्जुनने वह धनुष उठा लिया ॥ १८ ॥

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥ १९ ॥
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥ २० ॥

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजालोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुषपर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुषपर विष्णुके समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी वीरोंमें श्रेष्ठताका अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुनने पलक मारते-मारते प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथमें ले लिये ॥ १९-२० ॥

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ॥ २१ ॥

और उन्हें चलाकर बात-की-बातमें (लक्ष्य) बेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्रके छेदसे सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय आकाशमें बड़े जोरका हर्षनाद हुआ और सभामण्डपमें तो उससे भी महान् आनन्द-कोलाहल छा गया ॥ २१ ॥

पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ २२ ॥

देवतालोग शत्रुहन्ता अर्जुनके मस्तकपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात् पुष्पवृष्टयः ॥ २३ ॥
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ।
सूतमागधसङ्घाश्चाप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ॥ २४ ॥

सहस्रों ब्राह्मण (हर्षमें भरकर) वहाँ अपने दुपट्टे हिलाने लगे (मानो अर्जुनकी विजय-ध्वजा फहरा रहे हों), फिर तो (जो लोग लक्ष्यवेध करनेमें असमर्थ हो हार मान चुके थे) वे राजा लोग सब ओरसे हाहाकार करने लगे। उस रङ्गभूमिमें आकाशसे सब ओर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। बाजा बजानेवाले लोग सैकड़ों अङ्गोंवाली तुरही आदि बजाने लगे। सूत और मागधगण वहाँ मीठे स्वरसे यशोगान करने लगे ॥ २३-२४ ॥

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५ ॥

अर्जुनको देखकर शत्रुसूदन द्रुपदके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने अपनी सेनाके साथ उनकी सहायता करनेका निश्चय किया ॥ २५ ॥

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ २६ ॥

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेवको साथ लेकर डेरेपर ही चले गये ॥ २६ ॥

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य ।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७ ॥
(स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं
विनापि हासं हसतीव कन्या ।
मदादृतेऽपि स्खलतीव भावै-
र्वाचा विना व्याहरतीव दृष्ट्या ॥
समेत्य तस्योपरि सोत्ससर्ज
समागतानां पुरतो नृपाणाम् ।
विन्यस्य मालां विनयेन तस्थौ
विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा ॥
शचीव देवेन्द्रमथाग्निदेवं
स्वाहेव लक्ष्मीश्च यथा मुकुन्दम् ।
उषेव सूर्यं मदनं रतिश्च
महेश्वरं पर्वतराजपुत्री ।
रामं यथा मैथिलराजपुत्री
भैमी यथा राजवरं नलं हि ॥)

लक्ष्यको बिंधकर धरतीपर गिरा देख इन्द्रके तुल्य पराक्रमी अर्जुनपर दृष्टि डालकर हाथमें सुन्दर श्वेत फूलोंकी जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुसकराती हुई कुन्तीकुमारके समीप गयी। उसका रूप जिन्होंने बार-बार देखा था, उनके लिये भी वह नित्य नयी-सी जान पड़ती थी। वह द्रुपदकुमारी विना हँसीके भी हँसती-सी प्रतीत होती थी। मदसेवनके विना भी (आन्तरिक अनुराग-सूचक) भावोंके द्वारा लड़खड़ाती-सी चलती थी और विना बोले भी केवल दृष्टिसे ही बातचीत करती-सी जान पड़ती थी। निकट जाकर राजकुमारी द्रौपदीने वहाँ जुटे हुए समस्त राजाओंके समक्ष उन सबकी उपेक्षा करके सहसा वह माला अर्जुनके गलेमें डाल दी और विनयपूर्वक खड़ी हो गयी। जैसे शचीने देवराज इन्द्रका, स्वाहाने अग्निदेवका, लक्ष्मीने भगवान् विष्णुका, उषाने सूर्यदेवका, रतिने कामदेवका, गिरिराजकुमारी उमाने महेश्वरका, विदेहराजनन्दिनी सीताने श्रीरामका तथा भीम-कुमारी दमयन्तीने नृपश्रेष्ठ नलका वरण किया था, उसी प्रकार द्रौपदीने पाण्डुपुत्र अर्जुनका वरण कर लिया ॥ २७ ॥

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे
द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा
पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ॥ २८ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुन इस प्रकार उस स्वयंवर-सभामें (स्त्री-रत्न द्रौपदीको जीतकर) उसे अपने साथ ले रङ्गभूमिसे बाहर निकले। पत्नी द्रौपदी उनके पीछे-पीछे चल रही थी। उस समय उपस्थित ब्राह्मणोंने उनका बड़ा सत्कार किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें लक्ष्यछेदनविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदको मारनेके लिये उद्यत हुए राजाओंका सामना करनेके लिये भीम और अर्जुनका उद्यत होना और उनके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णका बलरामजीसे वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपद उस ब्राह्मणको कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय राजाओंको बड़ा क्रोध हुआ और वे एक दूसरेको देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥

'(अहो ! देखो तो सही,) यह राजा द्रुपद (यहाँ) एकत्र हुए हमलोगोंको तिनकेकी तरह तुच्छ समझकर और हमारा उल्लङ्घन करके युवतियोंमें श्रेष्ठ अपनी कन्याका विवाह एक ब्राह्मणके साथ करना चाहता है ॥ २ ॥

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ॥ ३ ॥

'यह वृक्ष लगाकर अब फल लगनेके समय उसे काटकर गिरा रहा है । अतः हमलोग इस दुरात्माको मार डालें; क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है ॥ ३ ॥

न ह्यर्हत्येष सम्मानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥

'यह राजा द्रुपद गुणोंके कारण हमसे वृद्धोचित सम्मान पानेका अधिकारी भी नहीं है; राजाओंसे द्वेष करनेवाले इस दुराचारीको पुत्रसहित हमलोग मार डालें ॥ ४ ॥

अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद् भोजयित्वान्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥

'पहले तो इसने हम सब राजाओंको बुलाकर सत्कार किया, उत्तम गुणयुक्त भोजन कराया और ऐसा करनेके बाद यह हमारा अपमान कर रहा है ॥ ५ ॥

अस्मिन् राजसमावाये देवानामिव संनये ।
किमयं सदृशं कञ्चिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ६ ॥

'देवताओंके समूहकी भाँति उत्तम नीतिसे सुशोभित राजाओंके इस समुदायमें क्या इसने किसी भी नरेशको अपनी पुत्रीके योग्य नहीं देखा है ? ॥ ६ ॥

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ७ ॥

'स्वयंवरमें कन्याद्वारा वरण प्राप्त करनेका अधिकार ही ब्राह्मणोंको नहीं है । (लोगोंमें) यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयंवर क्षत्रियोंका ही होता है ॥ ७ ॥

अथवा यदि कन्येयं न च कञ्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥ ८ ॥

'अथवा राजाओ ! यदि यह कन्या हमलोगोंमेंसे किसीको अपना पति बनाना न चाहे तो हम इसे जलती हुई आगमें झोंककर अपने-अपने राज्यको चल दें ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद् वाकृतवानिदम् ।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ९ ॥

'यद्यपि इस ब्राह्मणने चपलताके कारण अथवा राजकन्याके प्रति लोभ होनेसे हम राजाओंका अप्रिय किया है, तथापि ब्राह्मण होनेके कारण हमें किसी प्रकार इसका वध नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च ।
पुत्रपौत्रं च यच्चान्यदस्माकं विद्यते धनम् ॥ १० ॥

'क्योंकि हमारा राज्य, जीवन, रत्न, पुत्र-पौत्र तथा और भी जो धन-वैभव है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है । (ब्राह्मणोंके लिये हम इन सब चीजोंका त्याग कर सकते हैं)॥

अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ ११ ॥

'द्रुपदको तो हम इसलिये दण्ड देना चाहते हैं कि (हमारा) अपमान न हो, हमारे धर्मकी रक्षा हो और दूसरे स्वयंवरोंकी भी ऐसी दुर्गति न हो' ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः ।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

यों कहकर परिघ-जैसी मोटी बाँहोंवाले वे श्रेष्ठ भूपाल हर्ष (और उत्साह) में भरकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपदको मारनेकी इच्छासे उनकी ओर वेगसे दौड़े ॥ १२ ॥

तान् गृहीतशरावापान् क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद् ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ॥ १३ ॥

उन बहुत-से राजाओंको क्रोधमें भरकर धनुष लिये आते देख द्रुपद अत्यन्त भयभीत हो ब्राह्मणोंकी शरणमें गये ॥ १३ ॥

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान् ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिंदमौ ॥ १४ ॥

मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति उन नरेशोंको वेगसे आते देख शत्रुदमन महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करनेके लिये आ गये ॥

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धगोधाङ्गुलित्राः ।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १५ ॥

तब हाथोंमें गोहके चमड़ेके दस्ताने पहने और आयुधोंको ऊपर उठाये अमर्षमें भरे हुए वे (सभी) नरेश कुरुराजकुमार अर्जुन और भीमसेनको मारनेके लिये उनपर टूट पड़े ॥ १५ ॥

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १६ ॥

तब तो वज्रके समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेनने गजराजकी भाँति अपने दोनों हाथोंसे एक वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ १६ ॥

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १७ ॥

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रुनाशन कुन्तीकुमार भीमसेन उसी वृक्षको हाथमें लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराजकी भाँति पुरुषोत्तम अर्जुनके समीप खड़े हो गये ॥ १७ ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥ १८ ॥

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्रके समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेनके उस (अद्भुत) कार्यको देखकर चकित हो उठे और भय छोड़कर धनुष हाथमें लिये हुए युद्धके लिये डट गये ॥ १८ ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं
हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १९ ॥

जिनकी बुद्धि लोकोत्तर और कर्म अचिन्त्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन तथा उनके भाई भीमसेनका वह (साहसपूर्ण) कार्य देखकर भयंकर पराक्रमी एवं हलको ही आयुधके रूपमें धारण करनेवाले अपने भ्राता बलरामजीसे यह बात कही—॥ १९ ॥

य एष सिंहर्षभखेलगामी
महद्धनुः कर्षति तालमात्रम्[1] ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति
यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ २० ॥

यस्त्वेष वृक्षं तरसावभज्य
राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य
कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ २१ ॥

'भैया संकर्षण ! ये जो श्रेष्ठ सिंहके समान चालसे लीलापूर्वक चल रहे हैं और तालके बराबर विशाल धनुषको खींच रहे हैं, ये अर्जुन ही हैं; इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है । यदि मैं वासुदेव हूँ तो मेरी यह बात झूठी नहीं है । और ये जो बड़े वेगसे वृक्ष उखाड़कर सहसा समस्त राजाओंका सामना करनेके लिये उद्यत हुए हैं, भीमसेन हैं; क्योंकि इस समय पृथ्वीपर भीमसेनके सिवा दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं है, जो युद्ध-भूमिमें यह अद्भुत पराक्रम कर सके ॥

योऽसौ पुरस्तात् कमलायताक्ष-
स्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो
विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ॥ २२ ॥

'अच्युत ! जो विकसित कमल-दलके समान विशाल नेत्रोंवाले, दुबले-पतले, विनयशील, गोरे, महान् सिंहकी-सी चालसे चलनेवाले तथा लंबी, सुन्दर एवं मनोहर नाकवाले पुरुष (अभी यहाँसे) निकले हैं, वे धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं ।२२।

यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ
द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहा-
न्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च॥ २३ ॥

'उनके साथ युगल कार्तिकेय-जैसे जो दो कुमार थे, वे

१. ऊर्ध्वविस्तृतदोर्मानं तालमित्यभिधीयते । इस वचनके अनुसार एक मनुष्य अपनी बाँहको ऊपर उठाकर खड़ा हो तो उस हाथसे लेकर पैरतककी लंबाईको 'ताल' कहते हैं ।

अश्विनीकुमारोंके पुत्र नकुल और सहदेव रहे हैं—ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि मैंने सुन रखा है कि उस लाक्षागृहके दाहसे पाण्डव और कुन्तीदेवी—सभी बचकर निकल गये थे' ॥

(यथा नृपाः पाण्डवमाजिमध्ये
तं प्राब्रवीच्चक्रधरो हलायुधम् ।
बलं विजानन् पुरुषोत्तमस्तदा
न कार्यमार्येण च सम्भ्रमस्त्वया॥
भीमानुजो योधयितुं समर्थ
एको हि पार्थः ससुरासुरान् बहून्।
अलं विजेतुं किमु मानुषान् नृपान्
साहाय्यमस्मान् यदि सव्यसाची।
स वाञ्छति स्म प्रयताम वीर
पराभवः पाण्डुसुते न चास्ति)

राजालोग रण-भूमिमें पाण्डु-पुत्र अर्जुनके प्रति अपना क्रोध जैसे प्रकट कर रहे थे, उसे सुनकर अर्जुनके बलको जानते हुए चक्रधारी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीसे कहा—'भैया ! आपको घबराना नहीं चाहिये । यदि बहुत-से देवता और असुर एकत्र हो जायँ तो भी भीमसेनके छोटे भाई कुन्तीकुमार अर्जुन उन सबके साथ अकेले ही युद्ध करनेमें समर्थ हैं । फिर इन मानव-भूपालोंपर विजय पाना कौन बड़ी बात है । यदि सव्यसाची अर्जुन हमारी सहायता लेना चाहेंगे तो हम इसके लिये प्रयत्न करेंगे । वीरवर ! मेरा विश्वास है कि पाण्डुपुत्र अर्जुनकी पराजय नहीं हो सकती' ।

तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो
हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं
पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ॥ २४ ॥

जलहीन मेघके समान गौरवर्णवाले हलधर (बलरामजी) ने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णकी बातपर विश्वास करके उनसे कहा—'भैया ! कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर पाण्डवोंसहित अपनी बुआ कुन्तीको लाक्षागृहसे बची हुई देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कर्ण तथा शल्यकी पराजय और द्रौपदीसहित भीम-अर्जुनका अपने डेरेपर जाना

वैशम्पायन उवाच

**अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओंको हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुनसे कहने लगे—'तुम डरना नहीं, हम (सब) लोग (तुम्हारी ओरसे) शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ १ ॥

**तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठथ पार्श्वतः ॥ २ ॥**

इस प्रकारकी बातें करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे अर्जुनने हँसते हुए-से कहा—'आपलोग दर्शक होकर बगलमें चुपचाप खड़े रहें ॥ २ ॥

**अहमेनानजिह्माग्रैः शतशो विकिरञ्छरैः ।
वारयिष्यामि संक्रुद्धान् मन्त्रैराशीविषानिव ॥ ३ ॥**

'मैं (अकेला ही) सीधी नोकवाले सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके क्रोधमें भरे हुए इन शत्रुओंको उसी प्रकार रोक दूँगा, जैसे मन्त्रज्ञलोग अपने मन्त्रों (के बल) से विषैले सर्पोंको कुण्ठित कर देते हैं' ॥ ३ ॥

**इति तद् धनुरानम्य शुल्कावाप्तं महाबलः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४ ॥**

यों कहकर महाबली अर्जुनने उसी स्वयंवरमें लक्ष्यवेधके लिये प्राप्त हुए धनुषको झुकाकर (उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसे हाथमें लेकर) भाई भीमसेनके साथ वे पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ ४ ॥

**ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥ ५ ॥**

तदनन्तर कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियोंको आते देख वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी तरह टूट पड़े, जैसे दो (मतवाले) हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर बढ़े जा रहे हों ॥

**ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सतः ॥ ६ ॥**

तब युद्धके लिये उत्सुक उन राजाओंने कठोर स्वरमें ये बातें कहीं—'युद्धकी इच्छावाले ब्राह्मणका भी रणभूमिमें वध शास्त्रानुकूल देखा गया है' ॥ ६ ॥

**इत्येवमुक्त्वा राजानः सहसा दुद्रुवुर्द्विजान् ।
ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ॥ ७ ॥**

यों कहकर वे राजालोग सहसा ब्राह्मणोंकी ओर दौड़े। महातेजस्वी कर्ण अर्जुनकी ओर युद्धके लिये बढ़ा॥

युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली॥ ८॥

ठीक उसी तरह जैसे हथिनीके लिये लड़नेकी इच्छा रखकर एक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीसे भिड़नेके लिये जा रहा हो, महाबली मद्रराज शल्य भीमसेनसे जा भिड़े॥

दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह संगताः।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे॥ ९॥

दुर्योधन आदि सभी (भूपाल) एक साथ अन्यान्य ब्राह्मणोंके साथ उस युद्ध-भूमिमें बिना किसी प्रयासके (खेल-सा करते हुए) कोमलतापूर्वक (शीत) युद्ध करने लगे॥ ९॥

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः॥ १०॥

तब तेजस्वी अर्जुनने अपने धनुषको जोरसे खींचकर अपनी ओर वेगसे आते हुए सूर्यपुत्र कर्णको कई तीक्ष्ण बाण मारे॥ १०॥

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम्।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति॥ ११॥

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणोंके वेगपूर्वक आघातसे राधानन्दन कर्णको मूर्च्छा आने लगी। वह बड़ी कठिनाईसे अर्जुनकी ओर बढ़ा॥ ११॥

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ॥ १२॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथोंकी फुर्ती दिखानेमें बेजोड़ थे, उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था। दोनों ही एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर बड़े क्रोधसे लड़ रहे थे॥ १२॥

कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे।
इति शूरार्थवचनैरभाषेतां परस्परम्॥ १३॥

'देखो, तुमने जिस अस्त्रका प्रयोग किया था, उसे रोकनेके लिये मैंने यह अस्त्र चलाया है। देख लो, मेरी भुजाओंका बल!' इस प्रकार शौर्यसूचक वचनोंद्वारा वे आपसमें बातें भी करते जाते थे॥ १३॥

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत्॥ १४॥

तदनन्तर अर्जुनके बाहुबलकी इस पृथ्वीपर कहीं समता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण अत्यन्त क्रोधपूर्वक जमकर युद्ध करने लगा॥ १४॥

अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान् बाणान् वेगवतस्तदा।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन्॥ १५॥

उस समय अर्जुनद्वारा चलाये हुए उन सभी वेगशाली बाणोंको काटकर कर्ण बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा। समस्त सैनिकोंने उसके इस अद्भुत कार्यकी सराहना की॥ १५॥

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च॥ १६॥

कर्ण बोला—विप्रवर! युद्धमें आपके बाहुबलसे मैं (बहुत) संतुष्ट हूँ। आपमें थकावट या विषादका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता और आपने सभी अस्त्र-शस्त्रोंको जीतकर मानो अपने काबूमें कर लिया है। (आपकी यह सफलता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है)॥ १६॥

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद् वा विष्णुरच्युतः॥ १७॥

विप्रशिरोमणे! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं! या परशुराम? अथवा आप स्वयं इन्द्र या अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु हैं?॥ १७॥

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रतियुध्यसे॥ १८॥

मैं समझता हूँ, आप इन्हींमेंसे कोई हैं और अपने स्वरूपको छिपानेके लिये यह ब्राह्मणवेष धारण करके बाहुबलका आश्रय ले मेरे साथ युद्ध कर रहे हैं॥ १८॥

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद् वा किरीटिनः॥ १९॥

क्योंकि युद्धमें मेरे कुपित होनेपर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डु-नन्दन अर्जुनके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता॥ १९॥

तमेवं वादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान्॥ २०॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'कर्ण! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न प्रतापी परशुराम॥

ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
ब्राह्मे पौरंदरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात्॥ २१॥
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव।

'मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम और योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ। गुरुका उपदेश पाकर ब्रह्मास्त्र तथा इन्द्रास्त्र दोनोंमें पारंगत हो गया हूँ। वीर! आज मैं तुम्हें युद्धमें जीतनेके लिये खड़ा हूँ, तुम भी स्थिरतापूर्वक खड़े रहो'॥ २१½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत॥ २२॥

ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! अर्जुनकी यह बात सुनकर महारथी कर्ण ब्राह्मतेजको अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया ॥ २२½ ॥

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ ॥ २३ ॥
बलिनौ युद्धसम्पन्नौ विद्यया च बलेन च।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ॥ २४ ॥

इसी समय दूसरे स्थानको अपना रणक्षेत्र बनाकर वहीं बलवान् वीर शल्य और भीमसेन एक दूसरेको ललकारते हुए दो मतवाले गजराजोंकी भाँति युद्ध कर रहे थे। दोनों ही विद्या, बल और युद्धकी कलासे सम्पन्न थे ॥ २३-२४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम्।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ॥ २५ ॥

वे घूँसों और घुटनोंसे एक दूसरेको मारने लगे। दोनों एक दूसरेको दूरतक ठेल ले जाते, नीचे गिरानेका प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-बगलसे पैंतरे देकर गिरानेकी चेष्टा करते थे ॥ २५ ॥

आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः।
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः ॥ २६ ॥
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः।
मुहूर्तं तौ तदान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे एक दूसरेको खींचते और मुक्कोंसे मारते थे। उस समय घूँसोंकी मारसे दोनोंके शरीरोंपर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों। लगभग दो घड़ीतक दोनों उस युद्धमें एक दूसरेको खींचते और ठेलते रहे ॥ २६-२७ ॥

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीमसेनने दोनों हाथोंसे शल्यको ऊपर उठाकर उस युद्धभूमिमें पटक दिया। यह देख ब्राह्मणलोग हँसने लगे ॥ २८ ॥

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने एक आश्चर्यकी बात यह की कि महाबली शल्यको पृथ्वीपर पटककर भी मार नहीं डाला ॥ २९ ॥

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ ३० ॥

भीमसेनके द्वारा शल्यके पछाड़ दिये जाने और अर्जुनसे कर्णके डर जानेपर सभी राजा (युद्धका विचार छोड़) शङ्कित हो भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३० ॥

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥ ३१ ॥

और एक साथ ही बोल उठे--'अहो ! ये दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्मभूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँके हैं ? ॥ ३१ ॥

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद् वा पाण्डवाद् वा किरीटिनः ॥ ३२ ॥

'परशुराम, द्रोण अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुनके सिवा दूसरा ऐसा कौन है, जो युद्धमें राधानन्दन कर्णका सामना कर सके ॥

कृष्णाद् वा देवकीपुत्रात् कृपाद् वापि शरद्वतः।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥ ३३ ॥

'(इसी प्रकार) देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समरभूमिमें दुर्योधनके साथ लोहा ले सके ॥ ३३ ॥

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद् वा वृकोदरात् ॥ ३४ ॥
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे।
क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात् ॥ ३५ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यको भी वीरवर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधनको छोड़कर दूसरा कौन रणभूमिमें गिरा सकता है। अतः ब्राह्मणोंसे घिरे हुए इस युद्धक्षेत्रसे हमलोगोंको हट जाना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा।
अथैनानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत् ॥ ३६ ॥

'क्योंकि ब्राह्मण अपराधी हों, तो भी सदा ही उनकी रक्षा करनी चाहिये। पहले इनका ठीक-ठीक परिचय ले लें, फिर (ये चाहें तो) हम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करेंगे' ॥ ३६ ॥

तांस्तथावादिनः सर्वान् प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान्।
अथान्यान् पुरुषांश्चापि कृत्वा तत् कर्म संयुगे ॥ ३७ ॥

उन सब राजाओं तथा अन्य लोगोंको ऐसी बातें करते देख और युद्धमें वह महान् पराक्रम दिखाकर भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न थे ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनका वह अद्भुत कार्य देख भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचते हुए कि ये दोनों भाई कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन ही हैं,

उन सब राजाओंको यह समझकर कि 'इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदीको प्राप्त किया है' अनुनयपूर्वक युद्धसे रोका ॥ ३८ ॥

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके समझानेसे वे सभी युद्धकुशल श्रेष्ठ नरेश युद्धसे निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरोंको चले गये ॥ ३९ ॥

वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन् समागताः ॥ ४० ॥

वहाँ जो दर्शक एकत्र हुए थे, वे 'इस रङ्गमण्डपके उत्सवसे ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई; पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको ब्राह्मणोंने प्राप्त किया,' यों कहते हुए (अपने-अपने निवासस्थानको) चले गये ॥ ४० ॥

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनंजयौ ॥ ४१ ॥

रुरुमृगके चर्मको वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाले ब्राह्मणोंसे घिरे होनेके कारण भीमसेन और अर्जुन बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे ॥ ४१ ॥

विमुक्तौ जनसम्बाधाच्छत्रुभिः परिवीक्षितौ ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ४२ ॥

जनताकी भीड़से बाहर निकलनेपर शत्रुओंने उन्हें अच्छी तरह देखा । आगे-आगे वे दोनों नरवीर थे और उनके पीछे-पीछे द्रौपदी चली जा रही थी । द्रौपदीके साथ वहाँ उन दोनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४२ ॥

पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥

अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति ।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ॥ ४४ ॥
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ॥ ४५ ॥

वे ऐसे लगते थे, जैसे पूर्णमासी तिथिको मेघोंकी घटासे निकलकर चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशित हो रहे हों। इधर भिक्षाका समय बीत जानेपर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबकर उनके विनाशकी आशङ्का करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको पहिचानकर उनकी हत्या कर डाली हो ! अथवा दृढ़तापूर्वक वैरभावको मनमें रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसोंने तो मेरे बच्चोंको नहीं मार डाला ? क्या महात्मा व्यासके भी निश्चित मतके विपरीत कोई बात हो गयी ?' ॥ ४३-४५ ॥

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसम्प्लुते ॥ ४६ ॥
महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत् तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुत्रस्नेहमें पगी कुन्तीदेवी जब चिन्तामें मग्न हो रही थीं, आकाशमें मेघोंकी भारी घटा घिर आनेके कारण जब दुर्दिन-सा हो रहा था और जनता सब काम छोड़कर सोये हुए-की भाँति अपने-अपने घरोंपर निश्चेष्ट होकर बैठी थी, उसी समय दिनके तीसरे पहरमें बादलोंसे घिरे हुए सूर्यके समान ब्राह्मणमण्डलीसे घिरे हुए अर्जुनने वहाँ उस कुम्हारके घरमें प्रवेश किया ॥ ४६-४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवप्रत्यागमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती, अर्जुन और युधिष्ठिरकी बातचीत, पाँचों पाण्डवोंका द्रौपदीके साथ विवाहका विचार तथा बलराम और श्रीकृष्णकी पाण्डवोंसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां
पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ महानुभाव कुन्तीपुत्र भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घरमें प्रवेश करके अत्यन्त प्रसन्न हो माताको द्रौपदीकी प्राप्ति सूचित करते हुए बोले—'माँ ! हमलोग भिक्षा लाये हैं' ॥ १ ॥

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

उस समय कुन्तीदेवी कुटियाके भीतर थीं । उन्होंने अपने पुत्रोंको देखे विना ही उत्तर दे दिया—'(भिक्षा लाये हो तो) तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ ।' तत्पश्चात् द्रौपदीको देखकर कुन्तीने चिन्तित होकर कहा—'हाय ! मेरे मुँहसे बड़ी अनुचित बात निकल गयी' ॥ २ ॥

साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती
युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम्॥ ३॥

कुन्तीदेवी अधर्मके भयसे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; (परंतु मनोनुकूल पतिकी प्राप्तिसे) द्रौपदीके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। कुन्तीदेवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयीं और उनसे उन्होंने यह बात कही—॥ ३॥

कुन्त्युवाच

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः
तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं
समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥ ४॥

कुन्तीने कहा—बेटा! यह राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी (इसे देखे बिना ही) भूलसे (भिक्षा ही समझकर) अनुरूप उत्तर दे दिया—'तुम सब लोग मिलकर इसे पाओ'॥ ४॥

मया कथं नानृतमुक्तमद्य
भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो
न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च॥ ५॥

कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब कैसे मेरी बात झूठी न हो? और क्या किया जाय, जिससे इस पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको न तो पाप लगे और न नीच योनियोंमें ही भटकना पड़े॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो मतिमान् नृवीरो
मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो
धनंजयं वाक्यमिदं बभाषे॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ नरवीर राजा युधिष्ठिर बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने माताकी यह बात सुनकर दो घड़ीतक (मन-ही-मन) कुछ विचार किया। फिर कुन्तीदेवीको भलीभाँति आश्वासन देकर उन्होंने धनंजयसे यह बात कही—॥ ६॥

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः॥ ७॥

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है, तुम्हारे ही साथ इस राजकुमारीकी शोभा होगी। शत्रुओंका सामना करनेवाले वीर! तुम अग्नि प्रज्वलित करो और (अग्निदेवके साक्ष्यमें) विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणि-ग्रहण करो'॥ ७॥

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा॥ ८॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राज-
न्नियं च कन्या भवतो नियोज्याः॥ ९॥

अर्जुन बोले—नरेन्द्र! आप मुझे अधर्मका भागी न बनाइये। (बड़े भाईके अविवाहित रहते छोटे भाईका विवाह हो जाय,) यह धर्म नहीं है; ऐसा व्यवहार तो अनार्योंमें देखा गया है। पहले आपका विवाह होना चाहिये; तत्पश्चात् अचिन्त्यकर्मा महाबाहु भीमसेनका और फिर मेरा। तत्पश्चात् नकुल फिर वेगवान् सहदेव विवाह कर सकते हैं। राजन्! भैया भीमसेन, मैं, नकुल-सहदेव तथा यह राजकन्या—सभी आपकी आज्ञाके आधीन हैं॥ ८-९॥

एवं गते यत् करणीयमत्र
धर्म्यं यशस्यं कुरु तद् विचिन्त्य।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत् स्यात्
प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते॥ १०॥

ऐसी दशामें आप यहाँ अपनी बुद्धिसे विचार करके जो धर्म और यशके अनुकूल तथा पाञ्चालराजके लिये भी हितकर

कार्य हो, वह कीजिये और उसके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके अधीन हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम्।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके ये भक्तिभाव तथा स्नेहसे भरे वचन सुननेके बाद समस्त पाण्डवोंने पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीकी ओर देखा ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम्।
सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥ १२ ॥

यशस्विनी कृष्णा भी उन सबको देख रही थी। वहाँ बैठे हुए पाण्डवोंने द्रौपदीको देखकर आपसमें भी एक दूसरेपर दृष्टिपात किया और सबने अपने हृदयमें द्रुपदराजकुमारीको बसा लिया ॥ १२ ॥

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम्।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १३ ॥

द्रुपदकुमारीपर दृष्टि पड़ते ही उन सभी अमिततेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर मन्मथ प्रकट हो गया।

काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम्।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १४ ॥

विधाताने पाञ्चालीका कमनीय रूप स्वयं ही रचा और सँवारा था। वह संसारकी अन्य स्त्रियोंसे बहुत अधिक आकर्षक और समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाला था ॥ १४ ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ॥ १५ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उनकी आकृति देखकर ही उनके मनका भाव समझ लिया। फिर उन्हें द्वैपायन वेदव्यासजीके सारे वचनोंका स्मरण हो आया।

अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथोभेदभयान्नृपः।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥ १६ ॥

द्रौपदीको लेकर हम सब भाइयोंमें फूट न पड़ जाय, इस भयसे राजाने अपने सभी बन्धुओंसे कहा—'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी पत्नी होगी' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत् प्रसमीक्ष्य सर्वे
ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम्।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः
सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अपने बड़े भाईका यह वचन सुनकर उदार हृदयवाले समस्त पाण्डव मन-ही-मन उसीका चिन्तन करते हुए चुपचाप बैठे रह गये ॥ १७ ॥

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १८ ॥

इधर वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण रोहिणीनन्दन बलरामजीके साथ कुरुकुलके प्रमुख वीर पाण्डवोंको पहिचानकर कुम्हारके घरमें, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं
ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चा-
प्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ १९ ॥

वहाँ बलरामसहित श्रीकृष्णने मोटी और विशाल भुजाओंसे सुशोभित अजातशत्रु युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए अग्निके समान तेजस्वी अन्य चारों भाइयोंको देखा ॥ १९ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥ २० ॥

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे 'मैं श्रीकृष्ण हूँ' यों कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिरके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ॥ २० ॥

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥ २१ ॥

उन्हींके साथ उसी प्रकार बलरामजीने भी (अपना नाम बताकर) उनके चरण छुए। पाण्डव भी उन दोनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। जनमेजय! फिर उन यदुवीरोंने अपनी बूआ कुन्तीके भी चरणोंका स्पर्श किया ॥ २१ ॥

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—'वसुदेवनन्दन!

हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगोंको कैसे पहचान किया ?' ॥ २२ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २३ ॥

तब भगवान् वासुदेवने हँसकर उत्तर दिया—'राजन् ! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचानमें आ ही जाती है। भला, पाण्डवोंको छोड़कर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो वैसा अद्भुत कर्म कर दिखाता ॥ २३ ॥

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि शत्रुओंका सामना करनेकी शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्निकाण्डसे जीवित बच गये। पापी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अपने मन्त्रियों-सहित इस षड्यन्त्रमें सफल न हो सका, यह भी सौभाग्यकी ही बात है ॥ २४ ॥

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद् गुहायां
विवर्धध्वं ज्वलना इवैधमानाः।
मा वो विदुः पार्थिवाः केचिदेव
यास्यावहे शिविरायैव तावत् ॥
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाव्ययश्रीः
प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् ॥ २५ ॥

'हमारे अन्तःकरणमें जो कल्याणकी भावना निहित है, वह आपको प्राप्त हो। आपलोग सदा प्रज्वलित अग्निकी भाँति बढ़ते रहें। अभी आपलोगोंको कोई भी राजा पहचान न सकें, इसलिये हमलोग भी अपने शिविरको ही लौट जायँगे।' यों कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अक्षय शोभासे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ शीघ्र वहाँसे चल दिये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि रामकृष्णागमने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें बलराम और श्रीकृष्णका आगमनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका गुप्तरूपसे वहाँका सब हाल देखकर राजा द्रुपदके पास आना तथा द्रौपदीके विषयमें द्रुपदका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कुरुनन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घर जा रहे थे, उसी समय पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूपसे उनके पीछे लग गये ॥ १ ॥

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमाराग्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥

उन्होंने चारों ओर अपने सेवकोंको बैठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूपसे कुम्हारके घरके पास ही छिपे रहे ॥ २ ॥

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥

सायंकाल होनेपर शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिरको निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था ॥ ३ ॥

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥ ४ ॥

तब उदारहृदया कुन्तीने उस समय द्रौपदीसे कहा—'भद्रे ! तुम भोजनका प्रथम भाग लेकर उससे देवताओंको बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणको भिक्षा दो ॥ ४ ॥

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ॥ ५ ॥

'तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रितभावसे रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो । तदनन्तर जो शेष बच जाय, उसके शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो । अन्नका आधा भाग एकके लिये रक्खो, फिर शेषके छः भाग करके चार भाइयोंके लिये चार भाग अलग-अलग रख दो, उसके बाद मेरे लिये और अपने लिये भी एक-एक भाग पृथक्-पृथक् परोस दो ॥ ५ ॥

अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एषो हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥ ६ ॥

'कल्याणी ! ये जो गजराजके समान शरीरवाले हृष्ट-पुष्ट गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्नका आधा भाग दे दो । वीरवर भीम सदासे ही अधिक भोजन करनेवाले हैं' ॥ ६ ॥

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥

सासकी आज्ञाका पालन करनेमें ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुन्तीदेवीने जैसा कहा था, ठीक वैसा ही किया । सबने उस अन्नका भोजन किया ॥ ७ ॥

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर वेगवान् वीर माद्रीकुमार सहदेवने धरतीपर कुशकी शय्या बिछा दी । फिर समस्त पाण्डव वीर अपने-अपने मृगचर्म बिछाकर भूमिपर ही सोये ॥ ८ ॥

अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात् तु बभूव तेषां
पादान्तरे चाथ बभूव कृष्णा ॥ ९ ॥

अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः
पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या
न चावमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ॥ १० ॥

उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके सिर दक्षिण दिशाकी ओर थे । कुन्ती उनके मस्तककी ओर और द्रौपदी पैरोंकी ओर पृथ्वीपर ही पाण्डवोंके साथ सोयी, मानो उन कुशासनोंपर वह उनके पैरोंकी तकिया बन गयी । वहाँ उस परिस्थितिमें रहकर भी द्रौपदीके मनमें तनिक भी दुःख नहीं हुआ और उसने उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका किंचिन्मात्र भी तिरस्कार नहीं किया ॥ ९-१० ॥

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥ ११ ॥

वे शूरवीर पाण्डव वहाँ सेनापतियोंके योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे । उन्होंने नाना प्रकारके दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसोंके विषयमें भी चर्चाएँ कीं ॥ ११ ॥

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः
पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तदा विषण्णां
ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥ १२ ॥

उनकी कही हुई वे सभी बातें उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नने सुनीं और उन सभी लोगोंने वहाँ सोयी हुई द्रौपदीको भी देखा ॥ १२ ॥

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ १३ ॥

तदनन्तर राजकुमार धृष्टद्युम्न रातमें पाण्डवोंका इतिहास तथा उनकी कही हुई सारी बातें राजा द्रुपदको पूर्णरूपसे सुनानेके लिये बड़ी उतावलीके साथ राजभवनमें गये ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥ १४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंका पता न पानेके कारण बहुत खिन्न थे । धृष्टद्युम्नके आनेपर महात्मा द्रुपदने उससे पूछा—बेटा ! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गयी ? कौन उसे ले गया ? ॥ १४ ॥

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन
वैश्येन वा करदेनोपपन्ना।
कच्चित् पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं
कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ॥ १५ ॥

'कहीं किसी शूद्रने अथवा नीच जातिके पुरुषद्वारा ऊँची जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न मनुष्यने या कर देनेवाले वैश्यने तो मेरी पुत्रीको प्राप्त नहीं कर लिया? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिरपर अपना कीचड़से सना पाँव तो नहीं रख दिया? मालाके समान सुकुमारी और हृदयपर धारण करने योग्य मेरी लाड़ली पुत्री श्मशानके समान अपवित्र किसी पुरुषके हाथमें तो नहीं पड़ गयी? ॥ १५ ॥

कच्चित् सवर्णप्रवरो मनुष्य
उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित्।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः
कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ॥ १६ ॥

'क्या द्रौपदीको पानेवाला मनुष्य अपने समान वर्ण (क्षत्रियकुल) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है? अथवा वह अपनेसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलका है? बेटा! मेरी कृष्णाका स्पर्श कर किसी निम्नवर्णवाले मनुष्यने आज मेरे मस्तकपर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया? ॥ १६ ॥

कच्चिन्न तप्स्ये परमप्रतीतः
संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण।
वदस्व तत्त्वेन महानुभाव
कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ॥ १७ ॥

'क्या ऐसा सौभाग्य होगा कि मैं नरश्रेष्ठ अर्जुनसे द्रौपदीका विवाह करके अत्यन्त प्रसन्न होऊँ और कभी भी संतप्त न हो सकूँ? महानुभाव पुत्र! ठीक-ठीक बताओ, आज जिसने मेरी पुत्रीको जीता है, वह पुरुष कौन है? ॥ १७ ॥

विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्
कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः।
कच्चित् तु पार्थेन यवीयसाद्य
धनुर्गृहीतं निहतं च लक्ष्यम् ॥ १८ ॥

'क्या कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विचित्रवीर्यकुमार पाण्डुके शूरवीर पुत्र अभी जीवित हैं? क्या आज कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने ही उस धनुषको उठाया और लक्ष्यको मार गिराया था?' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नका प्रत्यागमनविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

(वैवाहिकपर्व)

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके द्वारा द्रौपदी तथा पाण्डवोंका हाल सुनकर राजा द्रुपदका उनके पास पुरोहितको भेजना तथा पुरोहित और युधिष्ठिरकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपदके यों कहनेपर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्षमें भरकर वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था एवं जो कृष्णाको ले गया, वह कौन था, वह सब समाचार कहने लगे ॥ १ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः
कृष्णाजिनी देवसमानरूपः।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं
लक्ष्यं च यः पातितवान् पृथिव्याम् ॥ २ ॥

असज्जमानश्च ततस्तरस्वी
वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु
सर्वैश्च देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्न बोले—महाराज! जिन विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले, कृष्णमृगचर्मधारी तथा देवताके समान मनोहर रूपवाले तरुण वीरने श्रेष्ठ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और लक्ष्यको वेधकर पृथ्वीपर गिराया था, वे किसीका भी साथ न करके अकेले ही बड़े वेगसे आगे बढ़े। उस समय बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरे हुए थे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। सम्पूर्ण देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित देवराज इन्द्र जैसे दैत्योंकी सेनाके भीतर निःशङ्क होकर विचरते हैं, उसी प्रकार वे नवयुवक वीर निर्भीक होकर राजाओंके बीचसे निकले ॥

कृष्णा प्रगृह्याजिनमन्वयात् तं
नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु
क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ॥ ४ ॥
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये
प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम्।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्
क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥ ५ ॥

उस समय राजकुमारी कृष्णा अत्यन्त प्रसन्न हो उनका मृगचर्म थामकर ठीक उसी तरह उनके पीछे-पीछे जा रही थी, जैसे गजराजके पीछे हथिनी जा रही हो। यह देख राजा लोग सहन न कर सके और क्रोधमें भरकर युद्ध करनेके लिये उसपर चारों ओरसे टूट पड़े। तब एक दूसरा वीर बहुत बड़े वृक्षको उखाड़कर राजाओंकी उस मण्डलीमें कूद पड़ा और जैसे कोपमें भरे हुए यमराज समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार वह उन नरेशोंको मानो कालके गालमें भेजने लगा ॥ ४-५ ॥

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र
कृष्णामुपादाय गतौ वराग्र्यौ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ
बाह्यां पुराद् भार्गवकर्मशालाम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ सब राजाओंके देखते-देखते द्रौपदीको साथ ले नगरसे बाहर कुम्हारके घरमें चले गये ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य
तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः।
तथाविधैरेव नरप्रवीरै-
रुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ॥ ७ ॥

उस घरमें अग्निशिखाके समान तेजस्विनी एक स्त्री बैठी हुई थीं। मेरा अनुमान है कि वे उन वीरोंकी माता रही होंगी। उनके आस-पास अग्नितुल्य तेजस्वी वैसे ही तीन श्रेष्ठ नरवीर और बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादौ
उक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां
भिक्षाप्रचाराय गता नराग्र्याः ॥ ८ ॥

इन दोनों वीरोंने माताके चरणोंमें प्रणाम करके द्रौपदीसे भी उन्हें प्रणाम करनेके लिये कहा। प्रणाम करके वहीं खड़ी हुई कृष्णाको उन्होंने माताको सौंप दिया और स्वयं वे नरश्रेष्ठ वीर भिक्षा लानेके लिये चले गये ॥ ८ ॥

तेषां तु भैक्षं प्रतिगृह्य कृष्णा
दत्त्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च
नरप्रवीरान् स्वयमप्यभुङ्क्त ॥ ९ ॥

जब वे लौटे तब उनकी भिक्षामें मिले हुए अन्नको लेकर (उनकी माताके आज्ञानुसार) द्रौपदीने देवताओंको बलि समर्पित की, ब्राह्मणोंको दिया और उन वृद्धा स्त्री तथा उन प्रमुख नरवीरोंको अलग-अलग भोजन परोसकर अन्तमें स्वयं भी बचे हुए अन्नको खाया ॥ ९ ॥

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव
कृष्णा च तेषां चरणोपधाने।
आसीत् पृथिव्यां शयनं च तेषां
दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ १० ॥

राजन्! भोजनके बाद वे सब सो गये। कृष्णा उनके पैरोंके समीप सोयी। धरतीपर ही उनकी शय्या बिछी थी। नीचे कुशकी चटाइयाँ थीं और ऊपर मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ १० ॥

ते नर्दमाना इव कालमेघाः
कथा विचित्राः कथयाम्बभूवुः।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता
न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ॥ ११ ॥

सोते समय वे वर्षाकालके मेघके समान गम्भीर गर्जना करते हुए आपसमें बड़ी विचित्र बातें करने लगे। वे पाँचों वीर जो बातें कह रहे थे, वे वैश्यों, शूद्रों तथा ब्राह्मणों-जैसी नहीं थीं ॥ ११ ॥

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन्।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निदाहात् ॥ १२ ॥

राजन्! जिस प्रकार वे युद्धका वर्णन करते थे, उससे यह मान लेनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है, कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बच गये हैं। अतः हमारे मनमें जो पाण्डवोंसे सम्बन्ध करनेकी अभिलाषा थी, अवश्य वही सफल हुई जान पड़ती है ॥ १२ ॥

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार उन्होंने धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ायी, जिस तरह दुर्भेद्य लक्ष्यको वेध गिराया और जिस प्रकार वे सभी भाई आपसमें बातें करते हैं, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्तीके पुत्र ही ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए विचर रहे हैं ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम्।

विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ॥१४॥

जनमेजय ! इस समाचारसे राजा द्रुपदको बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहितको भेजते हुए कहा—'आप उन लोगोंसे कहियेगा कि मैं आपलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आपलोग महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं ? ॥ १४ ॥

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम्।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथाव-
दुवाच चानुक्रमविक्रमेण ॥ १५ ॥

राजाका अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये और उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपदके वचनोंको ठीक-ठीक एकके बाद एक करके क्रमशः कहने लगे—॥ १५ ॥

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ॥ १६ ॥

'वरदानके योग्य वीर पुरुषो ! वर देनेमें समर्थ पाञ्चालदेशके राजा द्रुपद आपलोगोंका परिचय जानना चाहते हैं। इन वीर पुरुषको लक्ष्यवेध करते देखकर उन्हें हर्षकी सीमा नहीं रह गयी है ॥ १६ ॥

आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम्।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य ॥ १७ ॥

'आपलोग अपनी जाति और कुल आदिका यथावत् वर्णन करें, शत्रुओंके माथेपर पैर रक्खें और मेरे तथा अनुचरोंसहित पाञ्चालराजके हृदयको आनन्द प्रदान करें ॥ १७ ॥

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥ १८ ॥

'महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्माके समान प्रिय मित्र थे। इसलिये उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्रीका विवाह पाण्डुकुमारसे करूँ। इसे राजा पाण्डुको पुत्रवधूके रूपमें समर्पित करूँ ॥ १८ ॥

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ १९ ॥

सर्वाङ्गसुन्दर शूरवीरो ! राजा द्रुपदके हृदयमें निरन्तर यह कामना रही है कि मोटी एवं विशाल भुजाओंवाले अर्जुन मेरी इस पुत्रीका धर्मपूर्वक पाणिग्रहण करें ॥ १९ ॥

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत्।

'उनका यह कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूर्ण हो जाय, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभ कर्मोंका फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिये यश, पुण्य और हितकी बात होगी' ॥ १९½ ॥

अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं
ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा ॥ २० ॥
समीपतो भीममिदं शशास
प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञः
तस्मै प्रयोज्याभ्यधिका हि पूजा ॥ २१ ॥

जब विनयशील पुरोहितजी यह बात कह चुके, तब राजा युधिष्ठिरने उनकी ओर देखकर पास बैठे हुए भीमसेनको यह आज्ञा दी कि इन्हें पाद्य और अर्घ्य समर्पित करो। ये महाराज द्रुपदके माननीय पुरोहित हैं। अतः इनका हमें विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये' ॥ २०-२१ ॥

भीमस्ततस्तत् कृतवान् नरेन्द्र
तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात्।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा
युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तब भीमसेनने पाद्य, अर्घ्य निवेदन करके उनका विधिवत् पूजन किया। उनकी दी हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके पुरोहितजी जब बड़े सुखसे आसनपर बैठ गये, तब राजा युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणदेवतासे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात्।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपदने यह कन्या अपनी इच्छासे नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्मके अनुसार लक्ष्यवेधकी शर्त करके अपनी कन्या देनेका निश्चय किया था। उस वीर पुरुषने उसी शर्तको पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है ॥ २३ ॥

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥ २४ ॥
सेयं तथानेन महात्मनेह
कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये।
नैवंगते सौमकिरद्य राजा
संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २५ ॥

'राजाने वहाँ वर्ण, शील, कुल और गोत्रके विषयमें कोई अभिप्राय नहीं व्यक्त किया था। धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देनेपर ही कन्यादानकी घोषणा की थी। इस महात्मा वीरने उसी घोषणाके अनुसार राजाओंकी मण्डलीमें राजकुमारी कृष्णापर विजय पायी है। ऐसी दशामें सोमकवंशी राजा द्रुपदको अब सुखका अभाव करनेवाला संताप नहीं करना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥ २६ ॥

'ब्राह्मण! राजा द्रुपदकी जो पहलेकी अभिलाषा है, वह भी पूरी होगी। इस राजकन्याको हम सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य एवं उत्तम मानते हैं ॥ २६ ॥

न तद् धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥ २७ ॥

'कोई बलहीन पुरुष उस विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्याकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, ऐसे पुरुषके अथवा किसी नीच कुलके मनुष्यके लिये भी उस लक्ष्यको गिराना असम्भव था ॥ २७ ॥

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥ २८ ॥

अतः पाञ्चालराजको अब अपनी पुत्रीके लिये पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस पृथ्वीपर उस वीरके सिवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्यको वेध सके' ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २९ ॥

राजा युधिष्ठिर यों कह ही रहे थे कि पाञ्चालराज द्रुपदके पाससे एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आया कि 'राजभवनमें आपलोगोंके लिये भोजन तैयार है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों और कुन्तीका द्रुपदके घरमें जाकर सम्मानित होना और राजा द्रुपदद्वारा पाण्डवोंके शील-स्वभावकी परीक्षा

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा
विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च।
तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः
कृष्णां च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥ १ ॥

दूत बोला—महाराज द्रुपदने विवाहके निमित्त बरातियोंको जिमानेके लिये उत्तम भोजनसामग्री तैयार करायी है। अतः आपलोग सम्पूर्ण दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो उसे पायें। राजकुमारी कृष्णाको भी विवाहविधिसे वहीं प्राप्त करें। इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥

ये सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा राजाओंकी सवारीके

योग्य विचित्र रथ खड़े हैं, इनमें उत्तम घोड़े जुते हुए हैं; इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपदके महलमें पधारें।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजीको विदा करके उन विशाल रथोंपर आरूढ़ हो (राजभवनकी ओर) चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही सवारीपर बैठी हुई थीं ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥

भारत! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहितके मुखसे सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके शील-स्वभावकी परीक्षाके लिये राजा द्रुपदने अनेक प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह किया ॥ ४ ॥

फलानि माल्यानि च संस्कृतानि
वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जू-
र्बीजानि चान्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः
सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र
सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥ ६ ॥

राजन्! (सब प्रकारके) फल, सुन्दर ढंगसे बनायी हुई मालाएँ, कवच, ढाल, आसन, गौएँ, रस्सियाँ, बीज एवं खेतीके अन्य सामान तथा अन्य कारीगरियोंके सब सामान पूर्णरूपसे वहाँ संगृहीत किये गये थे। इसके सिवा, खेलके लिये जो आवश्यक वस्तुएँ होती हैं, उन सबको राजा द्रुपदने वहाँ जुटाकर रक्खा था ॥ ५-६ ॥

वर्माणि चर्माणि च भानुमन्ति
खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः।
धनूंषि चाग्र्याणि शराश्च चित्राः
शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च ॥ ७ ॥
प्रासा भुशुण्ड्यश्च परश्वधाश्च
सांग्रामिकं चैव तथैव सर्वम्।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवन्ति
तथैव वासो विविधं च तत्र ॥ ८ ॥

दूसरी ओर कवच, चमकती हुई ढालें, तलवारें, बड़े-बड़े विचित्र घोड़े तथा रथ, श्रेष्ठ धनुष, विचित्र बाण, सुवर्ण-भूषित शक्तियाँ एवं ऋष्टियाँ, प्रास, भुशुण्डियाँ, फरसे तथा सब प्रकार-की युद्धसामग्री, उत्तम वस्तुओंसे युक्त शय्या-आसन और नाना प्रकारके वस्त्र भी वहाँ संग्रह करके रक्खे गये थे ॥ ७-८ ॥

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वी-
मन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं
प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥ ९ ॥

कुन्तीदेवी सती-साध्वी कृष्णाको साथ ले द्रुपदके रनिवासमें गयीं। वहाँकी उदारहृदया स्त्रियोंने कौरवराज पाण्डुकी धर्मपत्नीका (बड़ा) आदर-सत्कार किया ॥ ९ ॥

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान्।
गूढोत्तरांसान् भुजगेन्द्रभोग-
प्रलम्बबाहून् पुरुषप्रवीरान् ॥ १० ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे
पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ ११ ॥

राजन्! पाण्डवोंकी चाल-ढाल सिंहके समान पराक्रम-सूचक थी, उनकी आँखें साँड़के समान बड़ी-बड़ी थीं, उन्होंने काले मृगचर्मके ही दुपट्टे ओढ़ रक्खे थे, उनकी हँसलीकी हड्डियाँ मांससे छिपी हुई थीं और भुजाएँ नागराजके शरीरके समान मोटी एवं विशाल थीं। उन पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी पुत्र, मन्त्री, इष्ट-मित्र और समस्त नौकर-चाकर ये सब-के-सब वहाँ बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ १०-११ ॥

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः।
यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्याः
तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठसहित बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनोंपर बिना किसी हिचक या संकोचके मनमें तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े-छोटेके क्रमसे जा बैठे ॥ १२ ॥

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥

तब स्वच्छ और सुन्दर पोशाक पहिने हुए दास-दासी तथा रसोइयोंने सोने-चाँदीके बरतनोंमें राजाओंके भोजन करने योग्य अनेक प्रकारकी सामान्य और विशेष भोजन-सामग्री लाकर परोसी ॥ १३ ॥

उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्

सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचिके अनुसार उन सब वस्तुओंको खाकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। राजन्! (तदनन्तर वहाँ संग्रह की हुई अन्य) सब वैभव-भोगकी सामग्रियोंको छोड़कर वे पहले उसी स्थानपर गये, जहाँ युद्धकी सामग्रियाँ रक्खी गयी थीं ॥ १४ ॥

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो

राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः।

समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः

कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ॥ १५ ॥

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री बड़े प्रसन्न हुए और उनके पास जाकर उन्होंने अपने मनमें यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवीके ही पुत्र हैं ॥ १५ ॥

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा

यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि युधिष्ठिरादिपरीक्षणे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परीक्षाविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपद और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा व्यासजीका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम्।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम्।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान्।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतोदिशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महातेजस्वी, उदारचित्त पाञ्चालराज द्रुपदने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिरको (अपने पास) बुलाकर ब्राह्मणोचित आतिथ्य-सत्कारके द्वारा उन्हें अपनाकर पूछा—'हमें कैसे ज्ञात हो कि आपलोग किस वर्णके हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें? अथवा मायाका आश्रय लेकर ब्राह्मणरूपसे सब दिशाओंमें विचरनेवाले आपलोगोंको हम कोई देवता मानें! ॥ १—३ ॥

कृष्णाहेतोरनुप्राप्ता देवाः संदर्शनार्थिनः।
ब्रवीतु नो भवान् सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, आप कृष्णाको पानेके लिये यहाँ दर्शक बनकर आये हुए देवता ही हैं। आप सच्ची बात हमें बता दें, क्योंकि आपके विषयमें हमको बड़ा संदेह हो रहा है ॥४॥

अपि नः संशयस्यान्ते मनः संतुष्टिमावहेत्।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप! आपसे रहस्यकी बात सुनकर क्या हमारे इस संशयका नाश और मनको संतोष होगा और क्या हमारा भाग्य उदय होगा? ॥ ५ ॥

इच्छया ब्रूहि तत् सत्यं सत्यं राजसु शोभते।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥ ६ ॥

आप स्वेच्छासे ही सच्ची बात बतायें, राजाओंमें इष्ट और

१—स्मृतियोंमें इष्ट और पूर्तका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

'अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदोंकी आज्ञाका निरन्तर पालन, अतिथियोंका सत्कार तथा बलिवैश्वदेव-कर्म—ये 'इष्ट' कहलाते हैं। बावली, कुआँ, पोखरे आदि बनवाना, देवमन्दिर निर्माण कराना, अन्नदान देना और बगीचे लगाना—इनका नाम 'पूर्त' है।

पूर्तकी अपेक्षा सत्यकी ही अधिक महिमा है; अतः असत्य नहीं बोलना चाहिये ॥ ६ ॥

श्रुत्वा ह्यमरसंकाश तव वाक्यमरिंदम।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः॥ ७ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी शत्रुसूदन! मैं आपकी बात सुनकर निश्चय ही विधिपूर्वक विवाहकी तैयारी करूँगा ॥७॥

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—पाञ्चालराज! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिये। आपके मनमें जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही आज पूरी हुई है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥ ९ ॥

राजन्! हमलोग क्षत्रिय ही हैं, महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं। मुझे कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र समझिये, ये दोनों भीमसेन और अर्जुन हैं ॥ ९ ॥

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥ १० ॥

राजन्! इन्हीं दोनोंने समस्त राजाओंके समूहमें आपकी पुत्रीको जीता है। उधर वे दोनों नकुल और सहदेव हैं। माता कुन्ती वहीं गयी हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा है ॥१०॥

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ! अब आपकी मानसिक चिन्ता निकल जानी चाहिये। हम सब लोग क्षत्रिय ही हैं। आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरको प्राप्त हुई है।

इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद् ब्रवीमि ते।
भवान् हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ १२ ॥

महाराज! यह सब मैं आपसे सच्ची बात कह रहा हूँ। आप हमारे बड़े तथा परम आश्रय हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरकी ये बातें सुनकर महाराज द्रुपदकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये। वे आनन्दमें मग्न हो गये और (गला भर आनेके कारण) उन युधिष्ठिरको तत्काल (कुछ) उत्तर न दे सके ॥१३॥

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतप।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन द्रुपदने (बड़े) यत्नसे अपने (हर्षके आवेश) को रोका और युधिष्ठिरको उनके कथनके अनुरूप ही उत्तर दिया ॥ १४ ॥

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात्।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १५ ॥

फिर उन धर्मात्मा पाञ्चाल-नरेशने यह पूछा कि 'आपलोग वारणावत नगरसे किस प्रकार भाग निकले?' पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वे सारी बातें उन्हें क्रमशः कह सुनायीं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम्।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥ १६ ॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रतिजज्ञे च राजाय द्रुपदो वदतां वरः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमारके मुखसे वह सारा समाचार सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज द्रुपदने उस समय राजा धृतराष्ट्रकी बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की कि 'हम तुम्हें तुम्हारा राज्य दिलवाकर रहेंगे' ॥ १६-१७ ॥

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥

राजन्! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपदके द्वारा निर्दिष्ट किये हुए विशाल भवनमें गये और यज्ञसेन (द्रुपद) से सम्मानित हो वहीं रहने लगे। इस प्रकार विश्वास जम जानेपर महाराज द्रुपदने अपने पुत्रोंके साथ जाकर युधिष्ठिरसे कहा—॥१८-१९॥

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥

'ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहु अर्जुन आजके पुण्यमय दिवसमें मेरी पुत्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें और (अपने कुलोचित) मङ्गलाचारका पालन प्रारम्भ कर दें ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'राजन्! विवाह तो मेरा भी करना होगा'॥२१॥

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥

द्रुपद बोले—वीर ! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयोंमेंसे जिसके साथ चाहें, उसीके साथ कृष्णाको विवाहकी आज्ञा दे दें ।२२।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन् ! द्रौपदी तो हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी । मेरी माताने पहले हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रखी है ॥ २३ ॥

अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥

मैं तथा पाण्डव भीमसेन भी अभीतक अविवाहित हैं और आपकी इस रत्नस्वरूपा कन्याको अर्जुनने जीता है ॥२४॥

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥

महाराज ! हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि रत्नको हम सब लोग बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे । नृपशिरोमणे ! हम अपनी उस (पुरानी) शर्तको छोड़ना या तोड़ना (नहीं चाहते) ॥ २५ ॥

सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥

अतः कृष्णा धर्मके अनुसार हम सभीकी महारानी होगी । इसलिये वह प्रज्वलित अग्निके सामने क्रमशः हम सबका पाणिग्रहण करे ॥ २६ ॥

द्रुपद उवाच

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥

द्रुपद बोले—'कुरुनन्दन ! एक राजाकी बहुत-सी रानियाँ (अथवा एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ) हों, ऐसा विधान तो वेदोंमें देखा गया है; परंतु एक स्त्रीके अनेक पुरुष पति हों, ऐसा कहीं सुननेमें नहीं आया है* ॥ २७ ॥

लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥

तुम धर्मके ज्ञाता और पवित्र हो, अतः तुम्हें लोक और वेदके विरुद्ध यह अधर्म नहीं करना चाहिये । तुम कुन्तीके पुत्र हो; तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों हो रही है ? ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, हम उसकी गतिको नहीं जानते । पूर्वकालके प्रचेता आदि जिस मार्गसे गये हैं, उसीका हमलोग क्रमशः अनुसरण करते हैं ॥ २९ ॥

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥

मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती । हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही ठीक जँचा है ॥

एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात् कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३१ ॥

राजन् ! यह अटल धर्म है । आप बिना किसी सोच-विचारके इसका पालन करें । पृथ्वीपते ! आपको इस विषयमें किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ ३१ ॥

द्रुपद उवाच

त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥ ३२ ॥

द्रुपद बोले—कुन्तीनन्दन ! तुम, कुन्तीदेवी और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग मिलकर यह निश्चय करके बतायें कि क्या करना चाहिये ? उसे ही कल ठीक समयपर हमलोग करेंगे ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद् यदृच्छया ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर वे सब लोग मिलकर इस विषयमें सलाह करने लगे । राजन् ! इसी समय भगवान् वेदव्यास वहाँ अकस्मात् आ पहुँचे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें वेदव्यासके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

* इस विषयमें यह श्रुतिका वचन प्रसिद्ध है—'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सहपतयः' अर्थात् एक पुरुषकी बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं, किंतु एक स्त्रीके लिये बहुत-से पति नहीं होते ।

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके सामने द्रौपदीका पाँच पुरुषोंसे विवाह होनेके विषयमें द्रुपद, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिरका अपने-अपने विचार व्यक्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे पाण्डव तथा महायशस्वी पाञ्चालराज द्रुपद—सबने खड़े होकर महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको प्रणाम किया ॥१॥

प्रतिनन्द्य स तां पूजां पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुद्धे निषसाद महामनाः ॥ २ ॥

उनके द्वारा की हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अन्तमें सबसे कुशल-मङ्गल पूछकर महामना व्यासजी शुद्ध सुवर्णमय आसनपर विराजमान हुए ॥ २ ॥

अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनामिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः ॥ ३ ॥

फिर अमित-तेजस्वी व्यासजीकी आज्ञा पाकर वे सभी नरश्रेष्ठ बहुमूल्य आसनोंपर बैठे ॥ ३ ॥

ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः ।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यथ विशाम्पते ॥ ४ ॥
कथमेका बहूनां स्याद् धर्मपत्नी न संकरः ।
एतन्मे भगवान् सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम् ॥ ५ ॥

राजन् ! तदनन्तर दो घड़ीके बाद राजा द्रुपदने मीठी वाणी बोलकर महात्मा व्यासजीसे द्रौपदीके विषयमें पूछा—'भगवन् ! एक ही स्त्री बहुत-से पुरुषोंकी धर्मपत्नी कैसे हो सकती है ? जिससे संकरताका दोष न लगे, यह सब आप ठीक-ठीक बतावें' ॥ ४-५ ॥

व्यास उवाच

अस्मिन् धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके ।
यस्य यस्य मतं यद् यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत् ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—अत्यन्त गहन होनेके कारण शास्त्रीय आवरणके द्वारा ढके हुए अतएव इस लोक-वेद-विरुद्ध धर्मके सम्बन्धमें तुममेंसे जिसका-जिसका जो-जो मत हो, उसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः ।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

द्रुपद बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मेरी रायमें तो यह अधर्म ही है; क्योंकि यह लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध है। बहुत-से पुरुषोंकी एक ही पत्नी हो, ऐसा व्यवहार कहीं भी नहीं है ॥

न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न चाप्यधर्मो विद्वद्भिश्चरितव्यः कथंचन ॥ ८ ॥

पूर्ववर्ती महात्मा पुरुषोंने भी ऐसे धर्मका आचरण नहीं किया है; और विद्वान् पुरुषोंको किसी प्रकार भी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

ततोऽहं न करोम्येनं व्यवसायं क्रियां प्रति ।
धर्मः सदैव संदिग्धः प्रतिभाति हि मे त्वयम् ॥ ९ ॥

इसलिये मैं इस धर्मविरोधी आचारको काममें नहीं लाना चाहता। मुझे तो इस कार्यके धर्मसंगत होनेमें सदा ही संदेह जान पड़ता है ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ ।
ब्रह्मन् समभिवर्तेत सवृत्तः संस्तपोधन ॥ १० ॥

धृष्टद्युम्न बोले—द्विजश्रेष्ठ ! आप ब्राह्मण हैं, तपोधन हैं; आप ही बताइये, बड़ा भाई सदाचारी होते हुए भी अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ समागम कैसे कर सकता है ? ॥१०॥

न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद् गतिं विद्म कथंचन ।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥ ११ ॥
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽयं न व्यवस्यते ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥ १२ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण हम

उसकी गतिको सर्वथा नहीं जानते; अतः यह कार्य अधर्म है या धर्म, इसका निश्चय करना हम-जैसे लोगोंके लिये असम्भव है। ब्रह्मन्! इसीलिये हम किसी तरह भी ऐसी सम्मति नहीं दे सकते कि राजकुमारी कृष्णा पाँच पुरुषोंकी धर्मपत्नी हो॥ ११-१२॥

युधिष्ठिर उवाच

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन॥ १३॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा॥ १४॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती; परंतु इस विवाहमें मेरे मनकी प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये यह किसी प्रकार भी अधर्म नहीं है। पुराणोंमें भी सुना जाता है कि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जटिला नामवाली गौतम गोत्रकी कन्याने सात ऋषियोंके साथ विवाह किया था॥ १३-१४॥

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताभूद् दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः॥ १५॥

इस प्रकार कण्डु मुनिकी पुत्री वार्क्षीने तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले दस प्रचेताओंके साथ, जिनका एक ही नाम था और जो आपसमें भाई-भाई थे, विवाहसम्बन्ध स्थापित किया था॥ १५॥

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः॥ १६॥

धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ व्यासजी! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है॥ १६॥

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम॥ १७॥

हमारी माताने भी यही बात कही है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो; अतः द्विजश्रेष्ठ! हम पाँचों भाइयोंके साथ होनेवाले इस विवाहसम्बन्धको परम धर्म मानते हैं॥ १७॥

कुन्त्युवाच

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम्॥ १८॥

कुन्तीने कहा—धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है। (अवश्य मैंने द्रौपदीके साथ पाँचों भाइयोंके विवाह-सम्बन्धकी आज्ञा दे दी है।) मुझे झूठसे बहुत भय लगता है; बताइये, मैं झूठके पापसे कैसे बच सकूँगी?॥ १८॥

व्यास उवाच

अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे धर्मश्चैव सनातनः।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम्॥ १९॥

व्यासजी बोले—भद्रे! तुम झूठसे बच जाओगी। (पाण्डवोंके लिये) यह सनातन धर्म है। (कुन्तीसे यों कहकर वे द्रुपदसे बोले) पाञ्चालराज! (इस विवाहमें एक रहस्य है, जिसे) मैं सबके सामने नहीं कहूँगा। तुम स्वयं एकान्तमें चलकर मुझसे सुन लो॥ १९॥

यथायं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः॥ २०॥

जिस प्रकार और जिस कारणसे यह सनातन धर्मके अनुकूल कहा गया है और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जिस प्रकार इसकी धर्मानुकूलताका प्रतिपादन किया है, उसपर विचार करनेसे निस्संदेह यही सिद्ध होता है कि यह विवाह धर्मसम्मत है॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय भगवान् व्यासो द्वैपायनः प्रभुः।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत्॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शक्तिशाली द्वैपायन भगवान् व्यासजी अपने आसनसे उठे और राजा द्रुपदका हाथ पकड़कर राजभवनके भीतर चले गये॥

पाण्डवाश्चापि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ॥ २२॥

पाँचों पाण्डव, कुन्तीदेवी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये सब लोग जहाँ बैठे थे, वहीं उन दोनों (व्यास और द्रुपद) की प्रतीक्षा करने लगे॥ २२॥

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने।
आचख्यौ तद् यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता॥ २३॥

तदनन्तर व्यासजीने उन महात्मा नरेशको वह कथा सुनायी, जिसके अनुसार यहाँ बहुत-से पुरुषोंका एक ही पत्नीसे विवाह करना धर्मसम्मत माना गया॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि व्यासवाक्ये पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें व्यास-वाक्यविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९५॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका द्रुपदको पाण्डवों तथा द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा सुनाकर दिव्य दृष्टि देना और द्रुपदका उनके दिव्य रूपोंकी झाँकी करना

व्यास उवाच

पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते।
तत्र वैवस्वतो राजञ्शामित्रमकरोत् तदा॥ १॥

व्यासजीने कहा—पाञ्चालनरेश! पूर्व कालकी बात है, नैमिषारण्य क्षेत्रमें देवता लोग एक यज्ञ कर रहे थे। उस समय वहाँ सूर्यपुत्र यम शामित्र (यज्ञ)-कार्य करते थे।

ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्
नामारयत् कंचिदपि प्रजानाम्।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः
कालातिपातान्मरणप्रहीणाः॥ २॥

राजन्! उस यज्ञकी दीक्षा लेनेके कारण यमराजने मानव-प्रजाकी मृत्युका काम बंद कर रखा था! इस प्रकार मृत्युका नियत समय बीत जानेसे सारी प्रजा अमर होकर दिनों-दिन बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसकी संख्या बहुत बढ़ गयी॥ २॥

सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः
साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च।
प्रजापतिर्भुवनस्य प्रणेता
समाजग्मुस्तत्र देवास्तथान्ये॥ ३॥
ततोऽब्रुवन् लोकगुरुं समेता
भयात् तीव्रान्मानुषाणां च वृद्ध्या।
तस्माद् भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः
प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम्॥ ४॥

चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्य सब देवता मिलकर जहाँ सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माजी रहते थे, वहाँ गये। वहाँ जाकर वे सब देवता लोकगुरु ब्रह्माजीसे बोले—'भगवन्! मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है। इससे हमें बड़ा भय लगता है। उस भयसे हम सब लोग व्याकुल हो उठे हैं और सुख पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हैं'॥ ३-४॥

पितामह उवाच

किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदामराः।
मा वो मर्त्यसकाशाद् वै भयं भवितुमर्हति॥ ५॥

ब्रह्माजीने कहा—तुम्हें मनुष्योंसे क्यों भय लगता है? जब कि तुम सभी लोग अमर हो, तब तुम्हें मरणधर्मा मनुष्योंसे कभी भयभीत नहीं होना चाहिये॥ ५॥

देवा ऊचुः

मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहागताः॥ ६॥

देवता बोले—जो मरणशील थे, वे अमर हो गये। अब हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं रह गया। यह अन्तर मिट जानेसे ही हमें अधिक घबराहट हो रही है। हमारी विशेषता बनी रहे, इसीलिये हम यहाँ आये हैं॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच

वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतो-
स्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये
तत एषां भवितैवान्तकालः॥ ७॥
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभक्ता
वीर्येण युष्माकमुत प्रयुक्ता।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले
न तत्र वीर्यं भविता नरेषु॥ ८॥

भगवान् ब्रह्माजीने कहा—सूर्यपुत्र यमराज यज्ञके कार्यमें लगे हैं, इसीलिये ये मनुष्य मर नहीं रहे हैं। जब वे यज्ञका सारा काम पूरा करके इधर ध्यान देंगे, तब इन मनुष्योंका अन्तकाल उपस्थित होगा। तुमलोगोंके बलके प्रभावसे जब सूर्यनन्दन यमराजका शरीर यज्ञकार्यसे अलग होकर अपने कार्यमें प्रयुक्त होगा, तब वही अन्तकाल आनेपर मनुष्योंकी मृत्युका कारण बनेगा। उस समय मनुष्योंमें इतनी शक्ति नहीं होगी कि वे मृत्युसे अपनेको बचा सकें॥ ७-८॥

व्यास उवाच

ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं
श्रुत्वा जग्मुर्यत्र देवा यजन्ते।
समासीनास्ते समेता महाबला
भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम्॥ ९॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! तब वे अपने पूर्वज देवता ब्रह्माजीका वचन सुनकर फिर वहीं चले गये, जहाँ सब देवता यज्ञ कर रहे थे। एक दिन वे सभी महाबली देवगण गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये और वहाँ तटपर बैठे। उसी समय उन्हें भागीरथीके जलमें बहता हुआ एक कमल दिखायी दिया॥ ९॥

दृष्ट्वा च तद् विस्मितास्ते बभूवु-
स्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम।
सोऽपश्यद् योषामथ पावकप्रभां
यत्र देवी गङ्गा सततं प्रभूता॥ १०॥

उसे देखकर वे सब देवता चकित हो गये। उनमें सबसे प्रधान और शूरवीर इन्द्र उस कमलका पता लगानेके लिये

गङ्गाजीके मूल स्थानकी ओर गये। गङ्गोत्तरीके पास, जहाँ गङ्गादेवीका जल सदा अविच्छिन्नरूपसे झरता रहता है, पहुँचकर इन्द्रने एक अग्निके समान तेजस्विनी युवती देखी॥

सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी
गङ्गां देवीं व्यवगाह्य व्यतिष्ठत्।
तस्याश्रुबिन्दुः पतितो जले य-
स्तत् पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम्॥ ११॥

वह युवती वहाँ जलके लिये आयी थी और भगवती गङ्गाकी धारामें प्रवेश करके रोती हुई खड़ी थी। उसके आँसुओंका एक-एक बिन्दु, जो जलमें गिरता था, वहाँ सुवर्णमय कमल बन जाता था॥ ११॥

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानी-
मपृच्छत् तां योषितमन्तिकाद् वै।
का त्वं भद्रे रोदिषि कस्य हेतो-
र्वाक्यं तथ्यं कामयेऽहं ब्रवीहि॥ १२॥

यह अद्भुत दृश्य देखकर वज्रधारी इन्द्रने उस समय उस युवतीके निकट जाकर पूछा—'भद्रे! तुम कौन हो और किसलिये रोती हो? बताओ, मैं तुमसे सची बात जानना चाहता हूँ'॥ १२॥

स्त्र्युवाच

त्वं वेत्स्यसे मामिह यास्मि शक्र
यदर्थं चाहं रोदिमि मन्दभाग्या।
आगच्छ राजन् पुरतो गमिष्ये
द्रष्टासि तद् रोदिमि यत्कृतेऽहम्॥ १३॥

युवती बोली—देवराज इन्द्र! मैं एक भाग्यहीन अबला हूँ; कौन हूँ और किसलिये रो रही हूँ, यह सब तुम्हें ज्ञात हो जायगा। तुम मेरे पीछे-पीछे आओ, मैं आगे-आगे चल रही हूँ। वहाँ चलकर स्वयं ही देख लोगे कि मैं किसलिये रोती हूँ॥ १३॥

व्यास उवाच

तां गच्छन्तीमन्वगच्छत् तदानीं
सोऽपश्यद्दूरात् तरुणं दर्शनीयम्।
सिद्धासनस्थं युवतीसहायं
क्रीडन्तमैक्षद् गिरिराजमूर्ध्नि॥ १४॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर आगे-आगे जाती हुई उस स्त्रीके पीछे-पीछे उस समय इन्द्र भी गये। गिरिराज हिमालयके शिखरपर पहुँचकर उन्होंने देखा—पास ही एक परम सुन्दर तरुण पुरुष सिद्धासनसे बैठे हैं, उनके साथ एक युवती भी है। इन्द्रने उस युवतीके साथ उन्हें क्रीडा—विनोद करते देखा॥ १४॥

तमब्रवीद् देवराजो ममेदं
त्वं विद्धि विद्वन् भुवनं वशे स्थितम्।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद्
दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम्॥ १५॥

वे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे क्रीडामें अत्यन्त तन्मय हो रहे थे, अतः इधर-उधर उनका ध्यान नहीं जाता था। उन्हें इस प्रकार असावधान देख देवराज इन्द्रने कुपित होकर कहा—'महानुभाव! यह सारा जगत् मेरे अधिकारमें है, मेरी आज्ञाके अधीन है; मैं इस जगत्का ईश्वर हूँ'॥ १५॥

क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो
जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराज-
स्तेनेक्षितः स्थाणुरिवावतस्थे॥ १६॥

इन्द्रको क्रोधमें भरा देख वे देवपुरुष हँस पड़े। उन्होंने धीरेसे आँख उठाकर उनकी ओर देखा। उनकी दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्रका शरीर स्तम्भित हो गया (अकड़ गया)। वे ठूँठे काठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये॥ १६॥

यदा तु पर्याप्तमिहास्य क्रीडया
तदा देवीं रुदतीं तामुवाच।
आनीयतामेष यतोऽहमारा-
न्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत॥ १७॥

जब उनकी वह क्रीडा समाप्त हुई, तब वे उस रोती हुई देवीसे बोले—'इस इन्द्रको जहाँ मैं हूँ, यहीं—मेरे समीप ले आओ, जिससे फिर इसके भीतर अभिमानका प्रवेश न हो'॥ १७॥

ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु
स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद् धरण्याम्।
तमब्रवीद् भगवानुग्रतेजा
मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित्॥ १८॥

तदनन्तर उस स्त्रीने ज्यों ही इन्द्रका स्पर्श किया, उसके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वे धरतीपर गिर पड़े। तब उग्र तेजस्वी भगवान् रुद्रने उनसे कहा—'इन्द्र! फिर किसी प्रकार भी ऐसा घमंड न करना॥ १८॥

निवर्तयैनं च महाद्रिराजं
बलं च वीर्यं च तवाप्रमेयम्।
छिद्रस्य चैवाविश मध्यमस्य
यत्रासते त्वद्विधाः सूर्यभासः॥ १९॥

'तुममें अनन्त बल और पराक्रम है, अतः इस गुफाके दरवाजेपर लगे हुए इस महान् पर्वतराजको हटा दो और इसी गुफाके भीतर घुस जाओ, जहाँ सूर्यके समान तेजस्वी तुम्हारे-जैसे और भी इन्द्र रहते हैं'॥ १९॥

स तद् विवृत्य विवरं महागिरे-
स्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान् ददर्श।

स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः
कच्चिन्नाहं भविता वै यथेमे ॥ २० ॥

उन्होंने उस महान् पर्वतकी कन्दराका द्वार खोलकर उसमें अपने ही समान तेजस्वी अन्य चार इन्द्रोंको भी देखा। उन्हें देखकर वे बहुत दुखी हुए और सोचने लगे—'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि मैं भी इन्हींके समान दुर्दशामें पड़ जाऊँ' ॥ २० ॥

ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं
विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच ।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो
यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ॥ २१ ॥

तब पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजीने आँखें तरेरकर कुपित हो वज्रधारी इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो ! तुमने मूर्खतावश पहले मेरा अपमान किया है, इसलिये अब इस कन्दरामें प्रवेश करो' ॥ २१ ॥

उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः
प्रावेपतार्तो भृशमेवाभिषङ्गात् ।
स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव नुन्न-
मश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ॥ २२ ॥

उस पर्वतशिखरपर भगवान् रुद्रके यों कहनेपर देवराज इन्द्र पराभवकी आशङ्कासे अत्यन्त दुखी हो गये, उनके सारे अङ्ग शिथिल पड़ गये और हवासे हिलनेवाले पीपलके पत्तेकी तरह वे थर-थर काँपने लगे ॥ २२ ॥

स प्राञ्जलिर्वै वृषवाहनेन
प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः ।
उवाच देवं बहुरूपमुग्र-
स्रष्टाशेषस्य भुवनस्य त्वं भवाद्यः ॥ २३ ॥

वृषभवाहन भगवान् शंकरके द्वारा इस प्रकार सहसा गुहा-प्रवेशकी आज्ञा मिलनेपर काँपते हुए इन्द्रने हाथ जोड़कर उन अनेक रूपधारी उग्रस्वरूप रुद्रदेवसे कहा—'जगद्योने ! आप ही समस्त जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले आदिपुरुष हैं' ॥ २३ ॥

तमब्रवीदुग्रवर्चाः प्रहस्य
नैवंशीलाः शेषमिहाप्नुवन्ति ।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्
तस्मादेतां दरीमाविश्य शेष्व ॥ २४ ॥

तब भयंकर तेजवाले रुद्रने हँसकर कहा—'तुम्हारे-जैसे शील स्वभाववाले लोगोंको यहाँ प्रसादकी प्राप्ति नहीं होती। ये लोग भी पहले तुम्हारे ही-जैसे थे, अतः तुम भी इस कन्दरामें घुसकर शयन करो ॥ २४ ॥

तत्र ह्येवं भवितारो न संशयो
योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम् ।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाविषह्यं
बहूनन्यान् निधनं प्रापयित्वा ॥ २५ ॥

आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं
स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम् ।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं
कर्तव्यमन्यद् विविधार्थयुक्तम् ॥ २६ ॥

'वहाँ भविष्यमें निश्चय ही तुमलोग ऐसे ही होनेवाले हो—तुम सबको मनुष्ययोनिमें प्रवेश करना पड़ेगा। उस जन्ममें तुम अनेक दुःसह कर्म करके बहुतोंको मौतके घाट उतारकर पुनः अपने शुभ कर्मोंद्वारा पहलेसे ही उपार्जित पुण्यात्माओंके निवासयोग्य इन्द्रलोकमें आ जाओगे। मैंने जो कुछ कहा है, वह सब कुछ तुम्हें करना होगा। इसके सिवा और भी नाना प्रकारके प्रयोजनोंसे युक्त कार्य तुम्हारे द्वारा सम्पन्न होंगे' ॥ २५-२६ ॥

पूर्वेन्द्रा ऊचुः

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्
दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः ।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां
धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च ।
अस्त्रैर्दिव्यैर्मानुषान् योधयित्वा
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ॥ २७ ॥

पहलेके चारों इन्द्र बोले—भगवन् ! हम आपकी आज्ञाके अनुसार देवलोकसे मनुष्यलोकमें जायँगे, जहाँ दुर्लभ मोक्षका साधन भी सुलभ होता है। परंतु वहाँ हमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार—ये ही देवता माताके गर्भमें स्थापित करें। तदनन्तर हम दिव्यास्त्रोंद्वारा मानव-वीरोंसे युद्ध करके पुनः इन्द्रलोकमें चले आयेंगे ॥ २७ ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु
देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह ।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतो-
र्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥

विश्वभुग् भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान् ।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ॥ २९ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! पूर्ववर्ती इन्द्रोंका यह वचन सुनकर वज्रधारी इन्द्रने पुनः देवश्रेष्ठ महादेवजीसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं अपने वीर्यसे अपने ही अंशभूत पुरुषको देवताओंके कार्यके लिये समर्पित करूँगा, जो इन चारोंके साथ पाँचवाँ होगा। उसे मैं स्वयं ही उत्पन्न करूँगा। विश्वभुक्, भूतधामा, प्रतापी इन्द्र शिबि, चौथे शान्ति और पाँचवें तेजस्वी—ये ही उन पाँचोंके नाम हैं ॥ २८-२९ ॥

तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा
प्रादादिष्टं संनिसर्गाद् यथोक्तम् ।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां
श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ ३० ॥

पाण्डव, द्रुपद और व्यासजीमें बातचीत

व्यासजीद्वारा पाण्डवोंके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन

उग्र धनुष धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने उन सबको उनकी अभीष्ट कामना पूर्ण होनेका वरदान दिया, जिसे वे अपने साधुस्वभावके कारण भगवान्‌के सामने प्रकट कर चुके थे। साथ ही उस लोककमनीया युवती स्त्रीको, जो स्वर्गलोककी लक्ष्मी थी, मनुष्यलोकमें उनकी पत्नी निश्चित की ॥ ३० ॥

तैरेव सार्धं तु ततः स देवो
जगाम नारायणमप्रमेयम्।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं
सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्हींके साथ महादेवजी अनन्त, अप्रमेय, अव्यक्त, अजन्मा, पुराणपुरुष, सनातन, विश्वरूप एवं अनन्तमूर्ति भगवान् नारायणके पास गये ॥ ३१ ॥

स चापि तद् व्यदधात् सर्वमेव
ततः सर्वे सम्बभूवुर्धरण्याम्।
स चापि केशौ हरिरुद्ववर्ह
शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ॥ ३२ ॥

उन्होंने भी उन्हीं सब बातोंके लिये आज्ञा दी। तत्पश्चात् वे सब लोग पृथ्वीपर प्रकट हुए। उस समय भगवान् नारायणने अपने मस्तकसे दो केश निकाले, जिनमें एक श्वेत था और दूसरा श्याम ॥ ३२ ॥

तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां
कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च।
तयोरेको बलदेवो बभूव
योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः।
कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव
केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥ ३३ ॥

वे दोनों केश यदुवंशकी दो स्त्रियों—देवकी तथा रोहिणीके भीतर प्रविष्ट हुए। उनमेंसे रोहिणीके बलदेव प्रकट हुए, जो भगवान् नारायणका श्वेत केश थे; दूसरा केश, जिसे श्यामवर्णका बताया गया है, वही देवकीके गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ * ॥ ३३ ॥

ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धा-
स्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः
शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ॥ ३४॥

उत्तरवर्ती हिमालयकी कन्दरामें पहले जो इन्द्रस्वरूप पुरुष बंदी बनाकर रक्खे गये थे, वे ही ये चारों पराक्रमी पाण्डव यहाँ विद्यमान हैं और साक्षात् इन्द्रका अंशभूत जो पाँचवाँ पुरुष प्रकट होनेवाला था, वही पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन है ॥ ३४ ॥

एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवु-
र्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा
भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥ ३५ ॥
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात्
समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात्।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं
गन्धश्चास्याः क्रोशमात्रात् प्रवाति ॥ ३६॥

राजन्! इस प्रकार ये पाण्डव प्रकट हुए हैं, जो पहले इन्द्र रह चुके हैं। यह दिव्यरूपा द्रौपदी वही स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पहलेसे ही इनकी पत्नी नियत हो चुकी है। महाराज! यदि इस कार्यमें देवताओंका सहयोग न होता तो तुम्हारे इस यज्ञ कर्मद्वारा यज्ञवेदीकी भूमिसे ऐसी दिव्य नारी कैसे प्रकट हो सकती थी, जिसका रूप सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाश बिखेर रहा है और जिसकी सुगन्ध एक कोसतक फैलती रहती है ॥ ३५-३६ ॥

इदं चान्यत् प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र
ददानि ते वरमत्यद्भुतं च।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं
पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ॥ ३७ ॥

नरेन्द्र! मैं तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक एक और अद्भुत वरके रूपमें यह दिव्य दृष्टि देता हूँ; इससे सम्पन्न होकर तुम कुन्तीके पुत्रोंको उनके पूर्वकालिक पुण्यमय दिव्य शरीरोंसे सम्पन्न देखो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासः परमोदारकर्मा
शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तांश्च सर्वान्
राजापश्यत् पूर्वदेहैर्यथावत् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर परम उदारकर्मवाले पवित्र ब्रह्मर्षि व्यासजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे राजा द्रुपदको दिव्यदृष्टि प्रदान की, जिससे उन्होंने समस्त पाण्डवोंको पूर्वशरीरोंसे सम्पन्न वास्तविकरूपमें देखा ॥

ततो दिव्यान् हेमकिरीटमालिनः
शक्रप्रख्यान् पावकादित्यवर्णान्।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो
व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान् ददर्श ॥ ३९ ॥

वे दिव्य शरीरसे सुशोभित थे। उनके मस्तकपर सुवर्णमय किरीट और गलेमें सुन्दर सोनेकी माला शोभा पा रही थी। उनकी छवि इन्द्रके ही समान थी। वे अग्नि और सूर्य-

* भगवान् नारायण सच्चिदानन्दघन हैं, उनके नाम, रूप, लीला और धाम—सभी चिन्मय हैं। उन्होंने अपने श्याम और श्वेत केशोंको द्वारमात्र बनाकर स्वयं ही सम्पूर्णरूपसे अपनेको प्रकट किया था।

के समान कान्तिमान् थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें सब तरहके दिव्य अलंकार धारण कर रक्खे थे। उनकी युवावस्था थी तथा रूप अत्यन्त मनोहर था। उन सबकी छाती चौड़ी थी और वे तालवृक्षके समान लंबे थे। इस रूपमें राजा द्रुपदने उनका दर्शन किया॥ ३९॥

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुगन्धै-
र्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव।
साक्षात् त्र्यक्षान् वा वसूंश्चापि रुद्रा-
नादित्यान् वा सर्वगुणोपपन्नान्॥ ४०॥

वे दिव्य निर्मल वस्त्रों, उत्तम गन्धों और सुन्दर मालाओंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे तथा साक्षात् त्रिनेत्र महादेव, वसुगण, रुद्रगण अथवा आदित्यगणोंके समान तेजस्वी एवं सर्वगुणसम्पन्न दिखायी देते थे॥ ४०॥

तान् पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याभिरूपान्
शक्रात्मजं चेन्द्ररूपं निशम्य।
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च
दिव्यां मायां तामवेक्ष्याप्रमेयाम्॥ ४१॥

चारों पाण्डवोंको परम सुन्दर पूर्वकालिक इन्द्रोंके रूपमें तथा इन्द्रपुत्र अर्जुनको भी इन्द्रके ही स्वरूपमें देखकर उस अप्रमेय दिव्यमायापर दृष्टिपात करके राजा द्रुपद अत्यन्त प्रसन्न एवं आश्चर्यचकित हो उठे॥ ४१॥

तां चैवाग्र्यां स्त्रियमतिरूपयुक्तां
दिव्यां साक्षात् सोमवह्निप्रकाशाम्।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः
पत्नीं मत्वा हृष्टवान् पार्थिवेन्द्रः॥ ४२॥

उन राजराजेश्वरने अपनी पुत्रीको भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, अत्यन्त रूपवती और साक्षात् चन्द्रमा तथा अग्निके समान प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारीके रूपमें देखा। साथ ही यह मान लिया कि द्रौपदी रूप, तेज और यशकी दृष्टिसे अवश्य उन पाण्डवोंकी पत्नी होने योग्य है। इससे उन्हें महान् हर्ष हुआ॥

स तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं
जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति
प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम्॥ ४३॥

यह महान् आश्चर्य देखकर द्रुपदने सत्यवतीनन्दन व्यासजीके चरण पकड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उनसे कहा—'महर्षे! आपमें ऐसी अद्भुत शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है।' तब व्यासजी प्रसन्नचित्त हो द्रुपदसे बोले॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती॥ ४४॥

व्यासजीने कहा—राजन्! (अपनी पुत्रीके एक और जन्मका वृत्तान्त भी सुनो—) एक तपोवनमें किसी महात्मा मुनिकी कोई कन्या रहती थी। सती-साध्वी एवं रूपवती होनेपर भी उसे योग्य पतिकी प्राप्ति नहीं हुई॥ ४४॥

तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम्।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम्॥ ४५॥

उसने कठोर तपस्याद्वारा भगवान् शंकरको संतुष्ट किया; महादेवजी प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर उस मुनि-कन्यासे बोले— 'तुम मनोवाञ्छित वर माँगो'॥ ४५॥

सैवमुक्ताब्रवीत् कन्या देवं वरदमीश्वरम्।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः॥ ४६॥

उनके यों कहनेपर उस मुनि-कन्याने वरदायक महेश्वरसे बार-बार कहा—'मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ'॥

ददौ तस्यै स देवेशस्तं वरं प्रीतिमानसः।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः॥ ४७॥

देवेश्वर भगवान् शंकर प्रसन्नचित्त होकर उसे वर देते हुए बोले— 'भद्रे! तुम्हारे पाँच पति होंगे'॥ ४७॥

सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति शंकर॥ ४८॥

यह सुनकर उसने महादेवजीको प्रसन्न करते हुए पुनः यह बात कही—'शंकरजी! मैं तो आपसे एक ही गुणवान् पति प्राप्त करना चाहती हूँ'॥ ४८॥

तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः।
पञ्चकृत्वस्त्वयोक्तोऽहं पतिं देहीति वै पुनः॥ ४९॥
तत् तथा भविता भद्रे वचस्तद् भद्रमस्तु ते।
देहमन्यं गतायास्ते सर्वमेतद् भविष्यति॥ ५०॥

तब देवाधिदेव महादेवजीने मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट होकर उससे यह शुभ वचन कहा—'भद्रे! तुमने 'पति दीजिये' इस वाक्यको पाँच बार दुहराया है; इसलिये मैंने जो पहले कहा है, वैसा ही होगा, तुम्हारा कल्याण हो। किंतु तुम्हें दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर यह सब होगा'॥ ४९-५०॥

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता॥ ५१॥

द्रुपद! वही मुनिकन्या तुम्हारी इस दिव्यरूपिणी पुत्रीके रूपमें फिर उत्पन्न हुई है। अतः यह पृषत्-वंशकी सती कन्या कृष्णा पहलेसे ही पाँच पतियोंकी पत्नी नियत की गयी है॥ ५१॥

स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थं तु समुत्पन्ना महामखे।
सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवागता॥ ५२॥

यह स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पाण्डवोंके लिये तुम्हारे महायज्ञमें प्रकट हुई है। इसने अत्यन्त घोर तपस्या

करके इस जन्ममें तुम्हारी पुत्री होनेका सौभाग्य प्राप्त किया है।५२।

सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा
पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयम्भुवा
श्रुत्वा राजन् द्रुपदेष्टं कुरुष्व ॥ ५३ ॥

महाराज द्रुपद ! वही यह देवसेवित सुन्दरी देवी अपने ही कर्मसे पाँच पुरुषोंकी एक ही पत्नी नियत की गयी है। स्वयं ब्रह्माजीने इसे देवस्वरूप पाण्डवोंकी पत्नी होनेके लिये रचा है। यह सब सुनकर तुम्हें जो अच्छा लगे, वह करो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पञ्चेन्द्रोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाँच इन्द्रोंके उपाख्यानका वर्णन करनेवाला एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१९६॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह

द्रुपद उवाच

अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे
मया पूर्वं यतितं संविधातुम्।
न वै शक्यं विहितस्यापयानं
तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ १ ॥

द्रुपद बोले—ब्रह्मर्षे ! आपके इस वचनको न सुननेके कारण ही पहले मैंने वैसा करने (कृष्णाको एक ही योग्य पतिसे ब्याहने)का प्रयत्न किया था; परंतु विधाताने जो रच रक्खा है, उसे टाल देना असम्भव है; अतः उसी पूर्वनिश्चित विधानका पालन करना उचित है ॥ १ ॥

दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः
स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित्।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतो-
स्तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ २ ॥

भाग्यमें जो लिख दिया है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता। अपने प्रयत्नसे यहाँ कुछ नहीं हो सकता। एक वरकी प्राप्तिके लिये जो साधन (तप) किया गया, वही पाँच पतियोंकी प्राप्तिका कारण बन गया; अतः दैवके द्वारा पूर्वनिश्चित विधानका ही पालन करना उचित है ॥ २ ॥

यथैव कृष्णोक्तवती पुरस्ता-
न्नैकं पतिं मे भगवान् ददातु।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत् तां
देवो हि वेत्ता परमं यदत्र ॥ ३ ॥

पूर्वजन्ममें कृष्णाने अनेक बार भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो ! मुझे पति दें।' जैसा उसने कहा, वैसा ही वर उन्होंने भी उसे दे दिया। अतः इसमें कौन-सा उत्तम रहस्य छिपा है, उसे वे भगवान् ही जानते हैं ॥ ३ ॥

यदि चैवं विहितः शंकरेण
धर्मोऽधर्मो वा नात्र ममापराधः।
गृह्णन्त्विमे विधिवत् पाणिमस्या
यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा ॥ ४ ॥

यदि साक्षात् शंकरने ऐसा विधान किया है तो यह धर्म हो या अधर्म, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। ये पाण्डवलोग विधिपूर्वक प्रसन्नतासे इसका पाणिग्रहण करें; विधाताने ही कृष्णाको इन पाण्डवोंकी पत्नी बनाया है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भगवान् धर्मराज-
मद्यैव पुण्याहमुत वः पाण्डवेय।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः
पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम् ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! आज ही तुम लोगोंके लिये पुण्य दिवस है। आज चन्द्रमा भरण-पोषणकारक पुष्य नक्षत्रपर जा रहे हैं; इसलिये आज पहले तुम्हीं कृष्णाका पाणिग्रहण करो' ॥ ५ ॥

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो
जन्यार्थमुक्तं बहु तत् तदग्र्यम्।
समानयामास सुतां च कृष्णा-
माप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥ ६ ॥

व्यासजीका यह आदेश सुनकर पुत्रोंसहित राजा द्रुपदने वर-वधूके लिये कथित समस्त उत्तम वस्तुओंको मँगवाया और अपनी पुत्री कृष्णाको स्नान कराकर बहुत-से रत्नमय आभूषणों-द्वारा विभूषित किया ॥ ६ ॥

ततस्तु सर्वे सुहृदो नृपस्य
समाजग्मुः सहिता मन्त्रिणश्च।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता
द्विजाश्च पौराश्च यथा प्रधानाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् राजाके सभी सुहृद्-सम्बन्धी, मन्त्री, ब्राह्मण और पुरवासी अत्यन्त प्रसन्न हो विवाह देखनेके लिये आये और बड़ोंको आगे करके बैठे ॥ ७ ॥

ततोऽस्य वेश्माग्र्यजनोपशोभितं
विस्तीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
बलौघरत्नौघविचित्रमाबभौ
नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजा द्रुपदका वह भवन श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित होने लगा। उसके आँगनको विस्तृत कमल और उत्पल आदिसे सजाया गया था। वहाँ एक ओर सेनाएँ खड़ी थीं और दूसरी ओर रत्नोंका ढेर लगा था। इससे वह राजभवन निर्मल तारकाओंसे संयुक्त आकाशकी भाँति विचित्र शोभा धारण कर रहा था ॥ ८ ॥

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा
विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्राम्बरचन्दनोक्षिताः
कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ॥ ९ ॥

इधर युवावस्थासे सम्पन्न कौरव-राजकुमार पाण्डव वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और कुण्डलोंसे अलंकृत हो अभिषेक और मङ्गलाचार करके बहुमूल्य कपड़ों एवं केसर, चन्दनसे सुशोभित हुए ॥ ९ ॥

पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा
सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो ।
क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः सदो
महर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ॥ १० ॥

तब अग्निके समान तेजस्वी अपने पुरोहित धौम्यजीके साथ विधिपूर्वक बड़े-छोटेके क्रमसे वे सभी प्रसन्नतापूर्वक विवाहमण्डपमें गये—ठीक उसी तरह, जैसे बड़े-बड़े साँड गोशालामें प्रवेश करें ॥ १० ॥

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम् ।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रवि-
न्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वेदके पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्यने (वेदीपर) प्रज्वलित अग्निकी स्थापना करके उसमें मन्त्रोंद्वारा आहुति दी और युधिष्ठिरको बुलाकर कृष्णाके साथ उनका गँठबन्धन कर दिया ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी
समानयामास स वेदपारगः ।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ ॥ १२ ॥

वेदोंके परिपूर्ण विद्वान् पुरोहितने उन दोनों दम्पतिका पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्निकी परिक्रमा करवायी, फिर (अन्य शास्त्रोक्त विधियोंका अनुष्ठान करके) उनका विवाह-कार्य सम्पन्न कर दिया। इसके बाद संग्राममें शोभा पानेवाले युधिष्ठिरको छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राजभवनसे बाहर चले गये ॥ १२ ॥

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा
वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम् ।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो
महारथाः कौरववंशवर्धनाः ॥ १३ ॥

इसी क्रमसे कौरव-कुलकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम शोभा धारण करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया ॥ १३ ॥

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं
जगाद देवर्षिरतीतमानुषम् ।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा
बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥ १४ ॥

देवर्षिने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत, उत्तम एवं अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको ही प्राप्त हो जाती थी ॥ १४ ॥

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् ।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥ १५ ॥

विवाह कार्य सम्पन्न हो जानेपर द्रुपदने महारथी पाण्डवोंको दहेजमें बहुत-सा धन और नाना प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्णकी मालाओं और सुवर्ण-जटित जुओंसे सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे ॥ १५ ॥

शतं गजानामपि पद्मिनां तथा
शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं
महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ॥ १६ ॥

पद्म आदि उत्तम लक्षणोंसे युक्त सौ हाथी तथा पर्वतोंके समान ऊँचे और सुनहरे हौदोंसे सुशोभित सौ हाथी और (साथ ही) बहुमूल्य शृङ्गार-सामग्री, वस्त्राभूषण एवं हार धारण करनेवाली एक सौ नवयौवना दासियाँ भी भेंट कीं ॥ १६ ॥

पृथक्पृथग् दिव्यदृशां पुनर्ददौ
तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि
प्रभावयुक्तानि महानुभावः ॥ १७ ॥

सोमकवंशमें उत्पन्न महानुभाव राजा द्रुपदने इस प्रकार अग्निको साक्षी बनाकर प्रत्येक सुन्दर दृष्टिवाले

पाण्डवोंके लिये अलग-अलग प्रचुर धन तथा प्रभुत्व-सूचक बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण अर्पित किये ॥ १७ ॥

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः
प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥ १८ ॥

विवाहके पश्चात् इन्द्रके समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशिके साथ लक्ष्मीस्वरूपा द्रौपदीको पाकर पाञ्चालराज द्रुपदके ही नगरमें सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १८ ॥

(सर्वेऽप्यतुष्यन् नृप पाण्डवेया-
स्तस्याः शुभैः शीलसमाधिवृत्तैः ।
सा चाप्येषा याज्ञसेनी तदानीं
विवर्धयामास मुदं स्वसुवृतैः ॥)

राजन् ! सभी पाण्डव द्रौपदीकी सुशीलता, एकाग्रता और सद्व्यवहारसे बहुत संतुष्ट थे (और द्रौपदीको भी संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करते थे) । इसी प्रकार द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उस समय अपने उत्तम नियमोंद्वारा पाण्डवोंका आनन्द बढ़ाती थी ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्रौपदीविवाहे सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें द्रौपदीविवाहविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका द्रौपदीको उपदेश और आशीर्वाद तथा भगवान् श्रीकृष्णका पाण्डवोंके लिये उपहार भेजना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह ।
न बभूव भयं किंचिद् देवेभ्योऽपि कथंचन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंसे सम्बन्ध हो जानेपर राजा द्रुपदको देवताओंसे भी किसी प्रकारका कुछ भी भय नहीं रहा, फिर मनुष्योंसे तो हो ही कैसे सकता था ॥ १ ॥

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः ।
नाम संकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः ॥ २ ॥

महात्मा द्रुपदके कुटुम्बकी स्त्रियाँ कुन्तीके पास आकर अपने नाम ले-लेकर उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करने लगीं ॥ २ ॥

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला ।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

कृष्णा भी रेशमी साड़ी पहने माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् सासके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीत भावसे खड़ी हुई ॥ ३ ॥

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम् ।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ॥ ४ ॥

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, शील और सदाचारसे सुशोभित अपनी बहू द्रौपदीको सामने देख कुन्तीदेवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं—॥ ४ ॥

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥ ५ ॥

यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती ।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ॥ ६ ॥

'बेटी ! जैसे इन्द्राणी इन्द्रमें, स्वाहा अग्निमें, रोहिणी

चन्द्रमामें, दमयन्ती नलमें, भद्रा कुबेरमें, अरुन्धती वसिष्ठमें तथा लक्ष्मी भगवान् नारायणमें भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने पतियोंमें अनुरक्त रहो ॥ ५-६ ॥

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम अनन्त सौख्यसे सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीर पुत्रोंकी जननी बनो । सौभाग्यशालिनी, भोगसामग्रीसे सम्पन्न, पतिके साथ यज्ञमें बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ ॥ ७ ॥

अतिथीनागतान् साधून् वृद्धान् बालांस्तथा गुरून्।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ॥८॥

'अपने घरपर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनोंका यथायोग्य सत्कार करनेमें ही तुम्हारा प्रत्येक वर्ष बीते ॥ ८ ॥

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला ॥ ९ ॥

'तुम्हारे पति कुरुजाङ्गल देशके प्रधान-प्रधान राष्ट्रों तथा नगरोंके राजा हों और उनके साथ ही रानीके पदपर तुम्हारा अभिषेक हो। धर्मके प्रति तुम्हारे हृदयमें स्वाभाविक स्नेह हो ॥ ९ ॥

पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः।
कुरु ब्राह्मणसात् सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ॥ १० ॥

'तुम्हारे महाबली पतियोंद्वारा पराक्रमसे जीती हुई इस समूची पृथ्वीको तुम अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंके हवाले कर दो ॥ १० ॥

पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम्॥ ११ ॥

'कल्याणमयी गुणवती बहू! पृथ्वीपर जितने गुणवान् रत्न हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सौ वर्षतक सुखी रहो ॥ ११ ॥

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम्।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम्॥ १२ ॥

'बहू! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित देखकर जिस प्रकार मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती होओगी, उस समय भी अभिनन्दन करूँगी; तुम सद्गुणसम्पन्न हो' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥ १३ ॥
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥ १४ ॥
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विवाह हो जानेपर पाण्डवोंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने वैदूर्य-मणि-जटित सोनेके बहुत-से आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, अनेक देशोंके बने हुए कोमल स्पर्शवाले कम्बल, मृगचर्म, सुन्दर रत्न, शय्याएँ, आसन, भाँति-भाँतिके बड़े-बड़े वाहन तथा वैदूर्य और वज्रमणि (हीरे) से खचित सैकड़ों बर्तन भेंटके तौरपर भेजे ॥ १३—१५ ॥

रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः।
प्रेष्याः सम्प्रददौ कृष्णो नानादेश्याः स्वलंकृताः॥ १६ ॥

रूप-यौवन और चातुर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा वस्त्रा-भूषणोंसे अलंकृत अनेक देशोंकी सजी-धजी बहुत-सी सुन्दरी सेविकाएँ भी समर्पित कीं ॥ १६ ॥

गजान् विनीतान् भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान्।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान् ॥ १७ ॥
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥ १८ ॥

इसके सिवा अमेयात्मा मधुसूदनने सुशिक्षित और वशमें रहनेवाले अच्छी जातिके हाथी, गहनोंसे सजे हुए उत्तम घोड़े, चमकते हुए सोनेके पत्रोंसे सुशोभित और सधे हुए घोड़ोंसे युक्त बहुत-से सुन्दर रथ, करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ तथा पंक्तिमें रखी हुई सुवर्णकी ढेरियाँ उनके लिये भेजीं ॥ १७-१८ ॥

तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये वह सारा उपहार ग्रहण कर लिया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके विवाहसे दुर्योधन आदिकी चिन्ता, धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति प्रेमका दिखावा और दुर्योधनकी कुमन्त्रणा

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुपनीयत।
पाण्डवैरुपसम्पन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सब राजाओंको अपने विश्वसनीय गुप्तचरोंद्वारा यह यथार्थ समाचार मिल गया कि शुभलक्षणा द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ है ॥ १ ॥

येन तद् धनुरादाय लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥ २ ॥

जिन महात्मा पुरुषने वह धनुष लेकर लक्ष्यको वेधा था, वे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ तथा महान् धनुष-बाण धारण करनेवाले स्वयं अर्जुन थे ॥ २ ॥

यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्यापातयद् बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान् रणे ॥ ३ ॥
न चास्य सम्भ्रमः कश्चिदासीत् तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥

जिस बलवान् वीरने अत्यन्त कुपित हो मद्रराज शल्यको उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया था और हाथमें वृक्ष ले रणभूमिमें समस्त योद्धाओंको भयभीत कर डाला था तथा जिस महातेजस्वी शूरवीरको उस समय तनिक भी घबराहट नहीं हुई थी, वह शत्रुसेनाके हाथी, घोड़े आदि अङ्गोंको मार गिरानेवाला तथा स्पर्शमात्रसे भय उत्पन्न करनेवाला महाबली भीमसेन था ॥ ३-४ ॥

ब्रह्मरूपधराञ्छ्रुत्वा प्रशान्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान् मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥ ५ ॥

ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रशान्त भावसे बैठे हुए वे वीर पुरुष कुन्तीपुत्र पाण्डव ही थे, यह सुनकर वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५ ॥

सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिव च तांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः ॥ ६ ॥

उन्होंने पहले सुन रक्खा था कि कुन्ती अपने पुत्रोंसहित लाक्षागृहमें जल गयी । अब उन्हें जीवित सुनकर वे राजालोग यह मानने लगे कि इन पाण्डवोंका फिर नया जन्म-सा हुआ है ॥ ६ ॥

धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणातिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥ ७ ॥

पुरोचनके किये हुए अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मका स्मरण हो आनेसे उस समय सभी नरेश कुरुवंशी धृतराष्ट्र तथा भीष्मको धिक्कारने लगे ॥ ७ ॥

(धार्मिकान् वृत्तसंपन्नान् मातुः प्रियहिते रतान् ।
यदा तानीदृशान् पार्थानुत्सादयितुमिच्छति ॥

'देखो न; धर्मात्मा, सदाचारी तथा माताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले कुन्तीकुमारोंको भी यह धृतराष्ट्र नष्ट करना चाहता है (भला, इससे बढ़कर निन्दनीय कौन होगा ।'

ततः स्वयंवरे वृत्ते धार्तराष्ट्राः स्म भारत ।
मन्त्रयन्ते ततः सर्वे कर्णसौबलदूषिताः ॥

जनमेजय ! उधर स्वयंवर समाप्त होनेपर धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जिन्हें कर्ण और शकुनिने बिगाड़ रक्खा था, इस प्रकार सलाह करने लगे ।

शकुनिरुवाच

कश्चिच्छत्रुः कर्शनीयः पीडनीयस्तथापरः ।
उत्सादनीयाः कौन्तेयाः सर्वक्षत्रस्य मे मताः ॥

शकुनि बोला—संसारमें कोई शत्रु तो ऐसा होता है, जिसे सब प्रकारसे दुर्बल कर देना उचित है; दूसरा ऐसा होता है, जिसे सदा पीड़ा दी जाय । परंतु कुन्तीके ये सभी पुत्र तो समस्त क्षत्रियोंके लिये समूल नष्ट कर देने योग्य हैं । इनके विषयमें मेरा यही मत है ।

एवं पराजिताः सर्वे यदि यूयं गमिष्यथ ।
अकृत्वा संविदं कांचित् तद् वस्तप्स्यत्यसंशयम् ॥

यदि इस प्रकार पराजित होकर आप सब लोग इन (पाण्डवोंके विनाशकी) युक्ति निश्चित किये बिना ही चले जायँगे, तो अवश्य ही यह भूल आपलोगोंको सदा संतप्त करती रहेगी ।

अयं देशश्च कालश्च पाण्डवोद्धरणाय नः ।
न चेदेवं करिष्यध्वं लोके हास्या भविष्यथ ॥

पाण्डवोंको जड़मूलसहित विनष्ट करनेके लिये हमारे सामने यही उपयुक्त देश और काल उपस्थित है । यदि आपलोग ऐसा नहीं करेंगे तो संसारमें उपहासके पात्र होंगे।

यमेते संश्रिता वस्तुं कामयन्ते च भूमिपम् ।
सोऽल्पवीर्यबलो राजा द्रुपदो वै मतो मम ॥

ये पाण्डव जिस राजाके आश्रयमें रहनेकी इच्छा रखते हैं, उस द्रुपदका बल और पराक्रम मेरी रायमें बहुत थोड़ा है।

यावदेतान् न जानन्ति जीवतो वृष्णिपुङ्गवाः ।
चैद्यश्च पुरुषव्याघ्रः शिशुपालः प्रतापवान् ॥

जबतक वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर यह नहीं जानते कि पाण्डव जीवित हैं, पुरुषसिंह चेदिराज प्रतापी शिशुपाल भी जबतक इस बातसे अनभिज्ञ है, तभीतक पाण्डवोंको मार डालना चाहिये।

एकीभावं गता राज्ञा द्रुपदेन महात्मना ।
दुराधर्षतरा राजन् भविष्यन्ति न संशयः ॥

राजन् ! जब ये महात्मा राजा द्रुपदके साथ मिलकर एक हो जायँगे, तब इन्हें परास्त करना अत्यन्त कठिन हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।

यावदस्वरतां सर्वे प्राप्नुवन्ति नराधिपाः ।
तावदेव व्यवस्यामः पाण्डवानां वधं प्रति ॥

जबतक सब राजा ढीले पड़े हैं, तभीतक हमें पाण्डवोंके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिये ।

मुक्ता जतुगृहाद् भीमाद् आशीविषमुखादिव ।
पुनर्यदीह मुच्यन्ते महन्नो भयमाविशेत् ॥

विषधर सर्पके मुख-सदृश भयंकर लाक्षागृहसे तो वे बच ही गये हैं। यदि फिर यहाँ हमारे हाथसे छूट जाते हैं तो उनसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है।

तेषामिहोपयातानामेषां च पुरवासिनाम्।
अन्तरे दुष्करं स्थातुं मेषयोर्महतोरिव॥

यदि वे वृष्णिवंशी और चेदिवंशी वीर यहाँ आ जायँ और यहाँके नागरिक भी अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो जायँ तो इनके बीचमें खड़ा होना उतना ही कठिन होगा, जितना आपसमें लड़ते हुए दो विशाल मेढ़ोंके बीचमें ठहरना।

हलधृक्प्रगृहीतानि बलानि बलिनां स्वयम्।
यावन्न कुरुसेनायां पतन्ति पतगा इव॥
तावत् सर्वाभिसारेण पुरमेतद् विनाश्यताम्।
एतदत्र परं मन्ये प्राप्तकालं नरर्षभाः॥

जबतक हल धारण करनेवाले बलरामजीके द्वारा संचालित बलवान् योद्धाओंकी सेनाएँ स्वयं ही आकर कौरव-सेनारूपी खेतीपर टिड्डियोंकी भाँति टूट न पड़ें, तबतक हम सब लोग एक साथ आक्रमण करके इस नगरको नष्ट कर दें। नरश्रेष्ठ वीरो! मैं इस अवसरपर यही सर्वोत्तम कर्तव्य मानता हूँ!

वैशम्पायन उवाच

शकुनेर्वचनं श्रुत्वा भाषमाणस्य दुर्मतेः।
सौमदत्तिरिदं वाक्यं जगाद परमं ततः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—दुर्बुद्धि शकुनिका यह प्रस्ताव सुनकर सोमदत्त-कुमार भूरिश्रवाने यह उत्तम बात कही।

सौमदत्तिरुवाच

प्रकृतीः सप्त वै ज्ञात्वा आत्मनश्च परस्य च।
तथा देशं च कालं च षड्विधांश्च नयेद् गुणान्॥

भूरिश्रवा बोले—अपने पक्षकी और शत्रुपक्षकी भी सातों प्रकृतियों[1]को ठीक-ठीक जानकर ही देश और कालका ज्ञान रखते हुए छः प्रकारके गुणों[2]का यथावसर प्रयोग करना चाहिये।

स्थानं वृद्धिं क्षयं चैव भूमिं मित्राणि विक्रमम्।
समीक्ष्याथाभियुञ्जीत परं व्यसनपीडितम्॥

स्थान, वृद्धि, क्षय, भूमि, मित्र तथा पराक्रम—इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए यदि शत्रु संकटसे पीड़ित हो तभी उसपर आक्रमण करना चाहिये।

ततोऽहं पाण्डवान् मन्ये मित्रकोशसमन्वितान्।
बलस्थान् विक्रमस्थांश्च स्वकृतैः प्रकृतिप्रियान्॥

इस दृष्टिसे देखनेपर मैं पाण्डवोंको मित्र और खजाना दोनोंसे सम्पन्न समझता हूँ। वे बलवान् तो हैं ही, पराक्रमी भी हैं और अपने सत्कर्मोंद्वारा समस्त प्रजाके प्रिय हो रहे हैं।

वपुषा हि तु भूतानां नेत्राणि हृदयानि च।
श्रोत्रं मधुरया वाचा रमयत्यर्जुनो नृणाम्॥

अर्जुन अपने शरीरकी गठनसे (सभी) मनुष्योंके नेत्रों तथा हृदयको आनन्द प्रदान करते हैं और मीठी-मीठी वाणी-द्वारा सबके कानोंको सुख पहुँचाते हैं।

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन भेजिरे।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा च चकार तत्॥

केवल प्रारब्धसे ही प्रजा उनकी सेवा नहीं करती। प्रजाके मनको जो प्रिय लगता है, उसकी पूर्ति अर्जुन अपने प्रयत्नोंद्वारा करते रहते हैं।

न ह्ययुक्तं न चासक्तं नानृतं न च विप्रियम्।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य भारती॥

मनोहर वचन बोलनेवाले अर्जुनकी वाणी कभी ऐसा वचन नहीं बोलती, जो अयुक्त, आसक्तिपूर्ण, मिथ्या तथा अप्रिय हो।

तानेवंगुणसम्पन्नान् सम्पन्नान् राजलक्षणैः।
न तान् पश्यामि ये शक्ताः समुच्छेत्तुं यथा बलात्॥

समस्त पाण्डव राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न तथा उपर्युक्त गुणोंसे विभूषित हैं। मैं ऐसे किन्हीं वीरोंको नहीं देखता, जो अपने बलसे पाण्डवोंका वास्तवमें उच्छेद कर सकें।

प्रभावशक्तिर्विपुला मन्त्रशक्तिश्च पुष्कला।
तथैवोत्साहशक्तिश्च पार्थेष्वभ्यधिका सदा॥

उनकी प्रभावशक्ति विपुल है, मन्त्रशक्ति भी प्रचुर है तथा उत्साहशक्ति भी पाण्डवोंमें सबसे अधिक है।

मौलमित्रबलानां च कालज्ञो वै युधिष्ठिरः।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनेति युधिष्ठिरः॥
अमित्रं यतते जेतुं न रोषेणेति मे मतिः।

युधिष्ठिर इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि कब स्वाभाविक बलका प्रयोग करना चाहिये तथा कब मित्र और सैन्यबलका। राजा युधिष्ठिर साम, दान, भेद और दण्ड-नीतिके द्वारा ही यथासमय शत्रुको जीतनेका प्रयत्न करते हैं, क्रोधके द्वारा नहीं—ऐसा मेरा विश्वास है।

परिक्रीय धनैः शत्रून् मित्राणि च बलानि च।
मूलं च सुदृढं कृत्वा हन्त्यरीन् पाण्डवस्तदा॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर प्रचुर धन देकर शत्रुओंको, मित्रों

---

१. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—इन सात अङ्गोंको सात प्रकृतियाँ कहते हैं।

२. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है।

को तथा सेनाओंको भी खरीद लेते हैं और अपनी नींवको सुदृढ़ करके शत्रुओंका नाश करते हैं ।

अशक्यान् पाण्डवान् मन्ये देवैरपि सवासवैः ।
येषामर्थे सदा युक्तौ कृष्णसंकर्षणावुभौ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि इन्द्र आदि देवता भी उन पाण्डवोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, जिनकी सहायताके लिये कृष्ण और बलराम दोनों सदा कमर कसे रहते हैं ।

श्रेयश्च यदि मन्यध्वं मन्मतं यदि वो मतम् ।
संविदं पाण्डवैः सार्धं कृत्वा याम यथागतम् ॥

यदि आपलोग मेरी बातको हितकर मानते हों, यदि मेरे मतके अनुकूल ही आपलोगोंका मत हो, तो हमलोग पाण्डवोंसे मेल करके जैसे आये हैं, वैसे ही लौट चलें ।

गोपुराट्टालकैरुच्चैरुपतल्पशतैरपि ।
गुप्तं पुरवरश्रेष्ठमेतदद्भिश्च संवृतम् ॥
तृणधान्येन्धनरसैस्तथा यन्त्रायुधौषधैः ।
युक्तं बहुकपाटैश्च द्रव्यागारतुषादिकैः ॥

यह श्रेष्ठ नगर गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा सैकड़ों उपतल्पोंसे सुरक्षित है । इसके चारों ओर जलसे भरी खाई है । घास-चारा, अनाज, ईंधन, रस, यन्त्र, आयुध तथा औषध आदिकी यहाँ बहुतायत है । बहुत-से कपाट, द्रव्यागार और भूसा आदिसे भी यह नगर भरपूर है ।

भीमोच्छ्रितमहाचक्रं बृहदट्टालसंवृतम् ।
दृढप्राकारनिर्यूहं शतघ्नीजालसंवृतम् ॥

यहाँ बड़े भयंकर और ऊँचे विशाल चक्र हैं । बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंकी पंक्ति इस नगरको घेरे हुए है । इसकी चहारदीवारी और छज्जे सुदृढ़ हैं । शतघ्नी (तोप) नामक अस्त्रोंके समुदायसे यह नगरी घिरी हुई है ।

ऐष्टको दारवो वप्रो मानुषश्चेति यः स्मृतः ।
प्राकारकर्तृभिर्वीरैः नृगर्भस्तत्र पूजितः ॥

इसकी रक्षाके लिये तीन प्रकारका घेरा बना है--एक तो ईंटोंका, दूसरा काठका और तीसरा मानव सैनिकोंका । चहारदीवारी बनानेवाले वीरोंने यहाँ नरगर्भकी पूजा की है ।

तदेतन्नरगर्भेण पाण्डरेण विराजते ।
सालेनानेकतालेन सर्वतः संवृतं पुरम् ॥
अनुरक्ताः प्रकृतयो द्रुपदस्य महात्मनः ।
दानमानार्चिताः सर्वे बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥

इस प्रकार यह नगर श्वेत नरगर्भसे शोभित है । अनेक ताड़के बराबर ऊँचे शालवृक्षोंकी पंक्तियोंद्वारा यह श्रेष्ठ नगरी सब ओरसे घिरी हुई है । महामना राजा द्रुपदकी सभी प्रजा और प्रकृतियाँ (मन्त्री आदि) उनमें अनुराग रखती है । बाहर और भीतरके सभी कर्मचारियोंका दान और मान-द्वारा सत्कार किया जाता है ।

प्रतिरुद्धानिमाञ्ज्ञात्वा राजभिर्भीमविक्रमैः ।
उपयास्यन्ति दाशार्हाः समुदग्रोच्छ्रितायुधाः ॥

भयानक-पराक्रमी राजाओंद्वारा पाण्डवोंको सब ओरसे घिरा हुआ जानकर समस्त यदुवंशी वीर प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र लिये यहाँ उपस्थित हो जायँगे ।

तस्मात् संधिं वयं कृत्वा धार्तराष्ट्रस्य पाण्डवैः ।
स्वराष्ट्रमेव गच्छामो यद्याप्तवचनं मम ॥
एतन्मम मतं सर्वैः क्रियतां यदि रोचते ।
एतद्धि सुकृतं मन्ये क्षेमं चापि महीक्षिताम् ॥)

अतः हम धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनकी पाण्डवोंके साथ संधि कराकर अपने राज्यमें ही लौट चलें । यदि आपलोगोंको मेरी बातपर विश्वास हो और मेरा यह मत सबको ठीक जँचता हो तो आप सब लोग इसे काममें लायें । हमारा यही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है और मैं इसीको राजाओंके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ।

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान् वृतान् ॥ ८ ॥

स्वयंवर समाप्त हो जानेपर जब यह ज्ञात हो गया कि द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है, तब वे सभी राजा जैसे आये थे, वैसे ही (अपने-अपने) देशको लौट गये ॥ ८ ॥

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन् मन्दं मन्दमिवाब्रवीत् ॥ १० ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णाने श्वेतवाहन अर्जुनको (जयमाला पहनाकर उनका) वरण किया है, यह अपनी आँखों देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वह अश्वत्थामा, मामा शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा अपने भाइयोंके साथ (द्रुपदकी राजधानीसे) हस्तिनापुरके लिये लौट पड़ा । मार्गमें दुःशासनने लज्जित होकर दुर्योधनसे धीरे धीरे (इस प्रकार) कहा—॥ ९-१० ॥

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन् वेद कश्चिद् धनंजयम् ॥ ११ ॥

'भाईजी ! यदि अर्जुन ब्राह्मणके वेशमें न होता तो वह कदापि द्रौपदीको न पा सकता था । राजन् ! वास्तवमें किसी-को यह पता ही नहीं चला कि वह अर्जुन है ॥ ११ ॥

दैवं च परमं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः ॥ १२ ॥

'मैं तो भाग्यको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषका प्रयत्न निरर्थक है । तात ! हमारे पुरुषार्थको धिक्कार है, जब कि पाण्डव अभीतक जी रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं सम्भाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम् ।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥ १३ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और पुरोचनको कोसते हुए वे सब कौरव दुखी होकर हस्तिनापुरमें पहुँचे । (पाण्डवोंकी) सफलता देखकर, उनका चित्त ठिकाने न रहा ॥ १३ ॥

त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान् महौजसः ।
मुक्तान् हव्यभुजश्चैव संयुक्तान् द्रुपदेन च ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम् ।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान् सर्वयुद्धविशारदान् ॥ १५ ॥

महातेजस्वी कुन्तीकुमार लाक्षागृहकी आगसे जीवित बचकर राजा द्रुपदके सम्बन्धी हो गये, यह अपनी आँखों देखकर और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रुपदके अन्य पुत्र युद्धकी सम्पूर्ण कलाओंमें दक्ष हैं, इस बातका विचार करके कौरव बहुत डर गये । उनकी आशा निराशामें परिणत हो गयी ॥ १४-१५ ॥

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम् ।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥ १६ ॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते ।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥ १७ ॥

विदुरजीने जब यह सुना कि पाण्डवोंने द्रौपदीको प्राप्त किया है और धृतराष्ट्रके पुत्र अपना अभिमान चूर्ण हो जानेसे लज्जित होकर लौट आये हैं, तब वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । राजन् ! तब वे धृतराष्ट्रके पास जाकर विस्मय-सूचक वाणीमें बोले—'महाराज ! हमारा अहोभाग्य है, जो कौरववंशकी वृद्धि हो रही है ॥ १६-१७ ॥

वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ १८ ॥

भारत ! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुरकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो सहसा बोल उठे—'अहो-भाग्य, अहोभाग्य' ॥ १८ ॥

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥ १९ ॥

उस अंधे नरेशने अज्ञानवश यह समझ लिया कि 'द्रुपदकन्याने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनका वरण किया है' ॥ १९ ॥

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥ २० ॥

इसलिये उन्होंने आज्ञा दी—'द्रौपदीके लिये बहुत-से आभूषण मँगाओ और मेरे पुत्र दुर्योधन तथा द्रौपदीको बड़ी धूमधामसे नगरमें ले आओ' ॥ २० ॥

अथास्य पश्चाद् विदुर आचख्यौ पाण्डवान् वृतान् ।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ॥ २१ ॥

तब पीछेसे विदुरने उन्हें बताया कि—'द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है । वे सभी वीर राजा द्रुपदके द्वारा पूजित होकर वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ॥ २१ ॥

तेषां सम्बन्धिनश्चान्यान् बहून् बलसमन्वितान् ।
समागतान् पाण्डवेयैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ॥ २२ ॥

उसी स्वयंवरमें उनके बहुत-से अन्य सम्बन्धी भी, जो भारी सैनिकशक्तिसे सम्पन्न हैं, पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिले हैं ॥ २२ ॥

(एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः ।
आकारच्छादनार्थं तु दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥

विदुरका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने अपनी बदली हुई आकृतिको छिपानेके लिये कहा—'अहोभाग्य ! अहोभाग्य !'

धृतराष्ट्र उवाच

एवं विदुर भद्रं ते यदि जीवन्ति पाण्डवाः ।
साध्वाचारा तथा कुन्ती सम्बन्धो द्रुपदेन च ॥
अन्ववाये वसोर्जातः प्रकृष्टे मान्यके कुले ।
व्रतविद्यातपोवृद्धः पार्थिवानां धुरन्धरः ॥
पुत्राश्चास्य तथा पौत्राः सर्वे सुचरितव्रताः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवः सुमहाबलाः ॥)

धृतराष्ट्र (फिर) बोले—विदुर ! यदि ऐसी बात है, यदि (वास्तवमें) पाण्डव जीवित हैं, तो बड़े आनन्दकी बात है, तुम्हारा कल्याण हो । अवश्य ही कुन्ती बड़ी साध्वी हैं । द्रुपदके साथ जो सम्बन्ध हुआ है, वह हमारे लिये अत्यन्त स्पृहणीय है । विदुर ! राजा द्रुपद वसुके श्रेष्ठ और सम्माननीय कुलमें उत्पन्न हुए हैं । व्रत, विद्या और तप—तीनोंमें वे बढ़े-चढ़े हैं । राजाओंमें तो वे अग्रगण्य हैं ही । उनके सभी पुत्र और पौत्र भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं । द्रुपदके अन्य बहुत-से सम्बन्धी भी अत्यन्त बलवान् हैं ।

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तच्छृणु ॥ २३ ॥

विदुर ! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही या उससे भी अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मनमें अधिक अपनापनका भाव क्यों है ? यह बताता हूँ; सुनो ॥ २३ ॥

यत् ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ॥ २४ ॥

वे वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं और उन्हें मित्रोंका सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, और भी बहुत-से महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं ॥ २४ ॥

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥ २५ ॥

विदुर ! कौन ऐसा राजा है, जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपदको मित्रके रूपमें पाकर जीना नहीं चाहेगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजन् विदुरः स्वं निवेशनम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्रसे विदुर (इस प्रकार) बोले—'महाराज ! सौ वर्षोंतक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे।' राजन् ! इतना कहकर विदुरजी अपने घर चले गये ॥ २६ ॥

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥ २७ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन और कर्णने धृतराष्ट्रके पास आकर यह बात कही— ॥ २७ ॥

संनिधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥ २८ ॥
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विषतां वर ॥ २९ ॥

'महाराज ! विदुरके समीप हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते। इस समय एकान्त है, इसलिये कहते हैं। आप यह क्या करना चाहते हैं ? पूज्य पिताजी ! आप तो शत्रुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं और विदुरजीके निकट हमारे वैरियोंकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ २८-२९ ॥

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥ ३० ॥

'निष्पाप नरेश ! हमें करना तो कुछ और चाहिये, किंतु आप करते कुछ और (ही) हैं। तात ! हमारे लिये तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवोंकी शक्तिका विनाश करते रहें ॥

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥ ३१ ॥

'इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिये—यही सोच विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डवपुत्र बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवचनविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

द्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, शत्रुओंको वशमें करनेके उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मैं भी तो वही करना चाहता हूँ, जैसा तुम दोनों चाहते हो; परंतु मैं अपनी आकृतिसे भी विदुरपर अपने मनका भाव प्रकट होने देना नहीं चाहता ॥

ततस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥

इसीलिये विदुरके सामने विशेषतः पाण्डवोंके गुणोंका ही बखान करता हूँ, जिससे वह इशारेसे भी मेरे मनोभावको न ताड़ सके ॥ २ ॥

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद् ब्रवीहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ॥ ३ ॥

सुयोधन और कर्ण ! तुम दोनों समयके अनुसार जो कार्य करना आवश्यक समझते हो वह शीघ्र मुझे बताओ ॥ ३ ॥

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! आज अत्यन्त गुप्तरूपसे कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणोंको नियुक्त करना चाहिये, जिनके कार्योंपर हमारा पूर्ण विश्वास हो। हमें उनके द्वारा पाण्डवोंमेंसे कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंमें फूट डालनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥
परित्यजेद् यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ॥ ६ ॥

अथवा धनकी बहुत बड़ी राशि देकर राजा द्रुपद, उनके पुत्र तथा मन्त्रियोंको सर्वथा प्रलोभनमें डालना चाहिये, जिससे पञ्चालनरेश कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको त्याग दें—उन्हें अपने घर और नगरसे निकाल दें। अथवा वे ब्राह्मणलोग पाण्डवोंके मनमें वहीं रहनेकी रुचि उत्पन्न करें ॥ ५-६ ॥

इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक् पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

वे अलग-अलग इन सभी पाण्डवोंसे कहें कि हस्तिनापुरका निवास आपलोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। इस प्रकार ब्राह्मणोंद्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न कर देनेपर सम्भव है, पाण्डवलोग अपने मनमें वहीं (पञ्चालदेशमें ही) रहनेका निश्चय कर लें ॥ ७ ॥

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान् भेदयन्त्वनुरागतः ॥ ८ ॥

अथवा कुछ ऐसे मनुष्य भेजे जायँ, जो उपाय ढूँढ़ निकालनेमें चतुर तथा कार्यकुशल हों और प्रेमपूर्वक बातें करके कुन्तीपुत्रोंमें परस्पर फूट डाल दें ॥ ८ ॥

व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां बहुत्वात् सुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥ ९ ॥

अथवा कृष्णाको ही इस प्रकार बहका दें कि वह अपने पतियोंका परित्याग कर दे। अनेक पति होनेके कारण (उसका किसीमें भी सुदृढ़ अनुराग नहीं हो सकता; अतः) उनका परित्याग कराना सरल है। अथवा वे लोग पाण्डवोंको ही द्रौपदीकी ओरसे विलग कर दें और ऐसा होनेपर द्रौपदीको उनकी ओरसे विरक्त बना दें ॥ ९ ॥

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥ १० ॥

अथवा राजन् ! उपायकुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेनका ही वध कर डालें; क्योंकि वही पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् है ॥ १० ॥

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान् न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ॥ ११ ॥

उसीका आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पहलेसे ही हमें कुछ नहीं समझते। वह बड़े तीखे स्वभावका और शूरवीर है। वही पाण्डवोंका सबसे बड़ा सहारा है ॥ ११ ॥

तस्मिंस्त्वभिहते राजन् हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ॥ १२ ॥

राजन् ! उसके मारे जानेपर पाण्डवोंका बल और उत्साह नष्ट हो जायगा। फिर वे राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे। भीमसेन ही उनका सबसे बड़ा आश्रय है ॥ १२ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥ १३ ॥

भीमसेनको पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्धमें अजेय बने हुए हैं। यदि भीम न हों तो वे रणभूमिमें कर्णकी एक चौथाईके बराबर भी नहीं हो सकेंगे ॥ १३ ॥

ते जानानास्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान् बलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्बलाः ॥ १४ ॥

भीमसेनके बिना अपनी बहुत बड़ी दुर्बलताका अनुभव करके वे दुर्बल पाण्डव हमें अपनेसे बलवान् जानकर राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यामहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥ १५ ॥

राजन् ! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारी आज्ञाके अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्रके अनुसार उनके विनाशके कार्यमें लग जायँगे ॥ १५ ॥

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥ १६ ॥

अथवा देखनेमें सुन्दर युवती स्त्रियोंद्वारा एक-एक पाण्डवको लुभाया जाय और इस प्रकार कृष्णाका मन उनकी ओरसे फेर दिया जाय ॥ १६ ॥

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ॥ १७ ॥

अथवा पाण्डवोंको यहाँ बुला लानेके लिये राधानन्दन कर्णको भेजा जाय और यहाँ लाकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओं-द्वारा विभिन्न उपायोंसे उन सबको मार गिराया जाय ॥ १७ ॥

एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान् मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ १८ ॥
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ॥ १९ ॥

पिताजी ! इन उपायोंमेंसे जो भी आपको निर्दोष जान पड़े, उसीसे पहले काम लीजिये; क्योंकि समय बीता जा रहा है। जबतक वे राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदपर उनका पूरा विश्वास नहीं जम जाता, तभीतक उन्हें मारा जा सकता है। पूरा विश्वास जम जानेपर तो उन्हें मारना असम्भव हो जायगा ॥ १८-१९ ॥

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे॥

पिताजी ! शत्रुओंको वशमें करनेके लिये ये ही उपाय मेरी बुद्धिमें आते हैं; मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें अथवा कर्ण ! तुम्हारी क्या राय है ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२००॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको पराक्रमसे दबानेके लिये कर्णकी सम्मति

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—दुर्योधन ! मेरे विचारसे तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन ! ऐसे किसी भी उपायसे पाण्डवोंको वशमें नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥

पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया ॥ २ ॥
इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥ ३ ॥

वीर ! पहले भी तुमने अनेक गुप्त उपायोंद्वारा पाण्डवोंको दबानेकी चेष्टा की है, परंतु उनपर तुम्हारा वश नहीं चल सका। भूपाल ! वे जब बच्चे थे और यहीं तुम्हारे पास रहते थे, उस समय उनके पक्षमें कोई नहीं था, तब भी तुम उन्हें बाधा पहुँचानेमें सफल न हो सके ॥ २-३ ॥

जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ॥ ४ ॥

अब तो वे विदेशमें हैं, उनके पक्षमें बहुत-से लोग हो गये हैं और सब प्रकारसे उनकी बढ़ती हो गयी है। अतः अब वे कुन्तीकुमार तुम्हारे बताये हुए उपायोंद्वारा वशमें आनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थसे कभी च्युत न होनेवाले वीर ! मेरा तो यही विचार है ॥ ४ ॥

न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥

अब वे संकटमें नहीं डाले जा सकते। भाग्यने उन्हें शक्तिशाली बना दिया है और उनमें अपने बाप-दादोंके राज्यको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ५ ॥

परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥ ६ ॥

उनमें आपसमें भी फूट डालना सम्भव नहीं है। जो (एकराय होकर) एक ही पत्नीमें अनुरक्त हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परैः।
परिद्यूनान् वृतवती किमुताद्य मृजावतः ॥ ७ ॥

कृष्णाको भी उनकी ओरसे फूट डालकर विलग करना असम्भव है; क्योंकि जब पाण्डवलोग भिक्षाभोजी होनेके कारण दीन-हीन थे, उस अवस्थामें कृष्णाने उनका वरण किया है; अब तो वे सम्पत्तिशाली होकर स्वच्छ एवं सुन्दर वेषमें रहते हैं, अब वह क्यों उनकी ओरसे विरक्त होगी ?

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा ॥ ८ ॥

प्रायः स्त्रियोंका यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्रीमें अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी रुचि हो। पाण्डवोंके साथ रहनेमें कृष्णाको यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अतः उसके मनमें भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता ॥ ८ ॥

आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान् राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥ ९ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले हैं। वे धनके लोभी नहीं हैं। अतः तुम अपना सारा राज्य दे दो, तो भी यह निश्चय है कि वे कुन्ती-पुत्रोंका परित्याग नहीं करेंगे॥

यथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान्।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥ १० ॥

इसी प्रकार उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी गुणवान् तथा पाण्डवोंका प्रेमी है। अतः मैं उन्हें पूर्वोक्त उपायोंसे वशमें करने योग्य कदापि नहीं मान सकता ॥ १० ॥

इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते ॥ ११ ॥
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम्।
अस्मत्पक्षो महान् यावद् यावत् पाञ्चालको लघुः।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥ १२ ॥

राजन् ! इस समय हमारे लिये एक ही उपाय काममें लाने योग्य है; वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ नहीं जमा लेते, तभीतक उनपर प्रहार करना चाहिये। इसीसे वे काबूमें आ सकते हैं।' तात ! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह राय पसंद होगी। जबतक हमारा

पक्ष बढ़ा-चढ़ा है, और जबतक पाञ्चालराजका बल हमसे कम है, तभीतक उनपर आक्रमण कर दिया जाय। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो ॥ ११-१२ ॥

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १३ ॥

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवोंके पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभीतक तुम उनके ऊपर पराक्रम कर लो ॥ १३ ॥

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १४ ॥

पृथ्वीपते! जबतक पाञ्चालनरेश अपने महापराक्रमी पुत्रोंके साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका विचार नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम अपना बल-विक्रम प्रकट कर लो ॥ १४ ॥

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन् यादववाहिनीम्।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति ॥ १५ ॥

इसके लिये तुम्हें तभीतक अवसर है, जबतक कि वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्ण यदुवंशियोंकी सेना साथ लिये पाण्डवोंको राज्य दिलानेके उद्देश्यसे पाञ्चालराजके घरपर नहीं आ जाते ॥ १५ ॥

वसूनि विविधान् भोगान् राज्यमेव च केवलम्।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ॥ १६ ॥

पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्णकी ओरसे धन-रत्न, भाँति-भाँतिके भोग तथा सारा राज्य—कुछ भी अदेय नहीं है ॥

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ॥ १७ ॥

महात्मा भरतने पराक्रमसे ही यह पृथ्वी प्राप्त की। इन्द्रने पराक्रमसे ही तीनों लोकोंपर विजय पायी ॥ १७ ॥

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥ १८ ॥

राजन्! क्षत्रियके लिये पराक्रमकी ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरोंका स्वधर्म है ॥ १८ ॥

ते बलेन वयं राजन् महता चतुरङ्गिणा।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ॥ १९ ॥

राजन्! हमलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा राजा द्रुपदको कुचलकर शीघ्र ही यहाँ पाण्डवोंको कैद कर लायें ॥

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥ २० ॥

न सामसे, न दानसे और न भेदकी नीतिसे पाण्डवोंको वशमें किया जा सकता है। अतः उन्हें पराक्रमसे ही नष्ट करो ॥ २० ॥

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥ २१ ॥

पराक्रमसे पाण्डवोंको जीतकर इस सारी पृथ्वीका राज्य भोगो। नरेश्वर! इसके सिवा दूसरा कोई कार्यसिद्धिका उपाय मैं नहीं देखता ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर प्रतापी धृतराष्ट्रने उसकी बड़ी सराहना की और तदनन्तर इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसंपन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥ २३ ॥

'कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और सूतकुलको आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा पराक्रमयुक्त वचन तुम्हारे ही योग्य है ॥ २३ ॥

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ॥ २४ ॥

'परंतु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों एक साथ बैठकर पुनः विचार कर लो तथा कोई ऐसी बात सोच निकालो, जो भविष्यमें भी हमें सुख देनेवाली हो' ॥ २४ ॥

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥ २५ ॥

महाराज! तदनन्तर महायशस्वी धृतराष्ट्रने भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण मन्त्रियोंको बुलवाकर उनके साथ उस समय विचार आरम्भ किया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रमन्त्रणासम्बन्धी दो सौ पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मकी दुर्योधनसे पाण्डवोंको आधा राज्य देनेकी सलाह

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवोंके साथ विरोध या युद्ध किसी प्रकार भी पसंद नहीं है। मेरे लिये जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु—इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र ! जैसे गान्धारीके पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र भी हैं; इसीलिये जैसे मुझे पाण्डवोंकी रक्षा करनी चाहिये, वैसे तुम्हें भी ॥ २ ॥

यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! मेरे और तुम्हारे लिये जैसे पाण्डवोंकी रक्षा आवश्यक है, वैसे ही दुर्योधन तथा अन्य समस्त कौरवोंको भी उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे
संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः।
तेषामपीदं प्रपितामहानां
राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥

ऐसी दशामें मैं पाण्डवोंके साथ लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करता। उन वीरोंके साथ संधि करके उन्हें आधा राज्य दे दिया जाय। (दुर्योधनकी ही भाँति) उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके भी बाप-दादोंका यह राज्य है ॥ ४ ॥

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्यको अपनी पैतृक सम्पत्तिके रूपमें देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं ॥

यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित् ॥ ६ ॥

यदि यशस्वी पाण्डव इस राज्यको नहीं पा सकते तो तुम्हें अथवा भरतवंशके किसी अन्य पुरुषको भी वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्यको हथिया लिया है; परंतु मेरा विचार यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्यको पा चुके थे ॥ ७ ॥

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम्।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥ ८ ॥

पुरुषसिंह ! प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो ! इसीमें सब लोगोंका हित है ॥ ८ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते न हितं नो भविष्यति।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥ ९ ॥

यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम्।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥ १० ॥

अतः अपनी कीर्तिकी रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्यका जीवन निष्फल माना गया है ॥ १० ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ११ ॥

गान्धारीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यकी कीर्ति जबतक नष्ट नहीं होती, तभीतक वह जीवित है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम्।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥ १२ ॥

महाबाहो ! कुरुकुलके लिये उचित इस उत्तम धर्मका पालन करो। अपने पूर्वजोंके अनुरूप कार्य करते रहो ॥ १२ ॥

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ॥ १३ ॥

सौभाग्यकी बात है कि कुन्तीके पुत्र जीवित हैं; यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि कुन्ती भी मरी नहीं है और सबसे बड़े सौभाग्यका विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने (बुरे) इरादेमें सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया ॥ १३ ॥

यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ॥ १४ ॥
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम्।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत् पुरोचनम्।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥ १५ ॥

गान्धारीकुमार ! जबसे मैंने सुना कि कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जल गये तथा कुन्ती भी उसी अवस्थाको प्राप्त हुई है, तभीसे मैं (लज्जाके मारे) जगत्के किसी भी प्राणीकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता था। नरश्रेष्ठ ! लोग इस कार्यके लिये पुरोचनको उतना दोषी नहीं मानते, जितना तुम्हें दोषी समझते हैं ॥ १४-१५ ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम्।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥

अतः महाराज ! पाण्डवोंका यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तवमें तुम्हारे ऊपर लगे हुए कलङ्कका नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिये ॥ १६ ॥

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! पाण्डववीरोंके जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥ १८ ॥

वे सब धर्ममें स्थित हैं; उन सबका एक चित्त—एक-

विचार है। इस राज्यपर तुम्हारा और उनका समान स्वत्व है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण बर्ताव करके उन्हें यहाँसे हटाया गया है ॥ १८ ॥

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

यदि तुम्हें धर्मके अनुकूल चलना है, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि (संसारमें) भलाई करनी है, तो उन्हें आधा राज्य दे दो ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि भीष्मवाक्ये द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक दो सौ दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥२०२॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यकी पाण्डवोंको उपहार भेजने और बुलानेकी सम्मति तथा कर्णके द्वारा उनकी सम्मतिका विरोध करनेपर द्रोणाचार्यकी फटकार

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजा धृतराष्ट्र! सलाह लेनेके लिये बुलाये हुए हितैषियोंको उचित है कि वे ऐसी बात कहें, जो धर्म, अर्थ और यशकी प्राप्ति करानेवाली हो—यह हम परम्परासे सुनते आये हैं ॥ १ ॥

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥

तात! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मकी है। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य बाँट देना चाहिये, यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ॥ २ ॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥

भारत! द्रुपदके पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाय और वह पाण्डवोंके लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर जाय ॥ ३ ॥

मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात् त्वत्संयोगोद्भवां तथा ॥ ४ ॥
सम्प्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद् राजन् दुर्योधनं तथा।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥ ५ ॥

राजा द्रुपदके पास बहूके लिये वरपक्षकी ओरसे उसे धन और रत्न लेकर जाना चाहिये। भारत! उस पुरुषको राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नके सामने बार-बार यह कहना चाहिये कि आपके साथ सम्बन्ध हो जानेसे राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन अपना बड़ा अभ्युदय मान रहे हैं और उन्हें इस वैवाहिक सम्बन्धसे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ४-५ ॥

उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत्।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान् माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंको सान्त्वना देते हुए बार-बार इस सम्बन्धके उचित और प्रिय होनेकी चर्चा करे ॥ ६ ॥

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च।
वचनात् तव राजेन्द्र द्रौपद्याः सम्प्रयच्छतु ॥ ७ ॥

राजेन्द्र! वह आपकी आज्ञासे द्रौपदीके लिये बहुत-से सुन्दर सुवर्णमय आभूषण अर्पित करे ॥ ७ ॥

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! द्रुपदके सभी पुत्रों, समस्त पाण्डवों और कुन्तीके लिये भी जो उपयुक्त आभूषण आदि हों, उन्हें भी वह अर्पित करे ॥ ८ ॥

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति ॥ ९ ॥

इस प्रकार (उपहार देनेके पश्चात्) पाण्डवोंसहित द्रुपदसे सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्तमें वह पाण्डवोंके हस्तिनापुरमें आनेके विषयमें प्रस्ताव करे ॥ ९ ॥

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम्।
दुःशासनो विकर्णश्चाप्यानेतुं पाण्डवानिह ॥ १० ॥

जब द्रुपदकी ओरसे पाण्डववीरोंको यहाँ आनेकी अनुमति मिल जाय, तब एक अच्छी-सी सेना साथ ले दुःशासन और विकर्ण पाण्डवोंको यहाँ ले आनेके लिये जायँ ॥ १० ॥

ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥ ११ ॥

यहाँ आनेके पश्चात् वे श्रेष्ठ पाण्डव आपके द्वारा सदा आदर-सत्कार प्राप्त करते हुए प्रजाकी इच्छाके अनुसार वे अपने पैतृक राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे ॥ ११ ॥

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥ १२ ॥

भरतवंशी महाराज! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवोंके प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिये—भीष्मजीके साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ ॥ १२ ॥

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥

कर्ण बोला—महाराज ! भीष्मजी और द्रोणाचार्यको आपकी ओरसे सदा धन और सम्मान प्राप्त होता रहता है । इन्हें आप अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर सभी कार्योंमें इनकी सलाह लेते हैं । फिर भी यदि ये आपके भलेकी सलाह न दें तो इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ! ॥ १३ ॥

दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनान्तरात्मना ।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात् सतां मतम् ॥ १४ ॥

जो अपने अन्तःकरणके दुर्भावको छिपाकर, दोषयुक्त हृदयसे कोई सलाह देता है, वह अपने ऊपर विश्वास करनेवाले साधुपुरुषोंके अभीष्ट कल्याणकी सिद्धि कैसे कर सकता है ?

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥

मित्र भी अर्थसंकटके समय अथवा किसी कामकी कठिनाई आ पड़नेपर न तो कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण ही । सभीके लिये दुःख या सुखकी प्राप्ति भाग्यके अनुसार ही होती है ॥ १५ ॥

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो या मूर्ख, बालक हो या वृद्ध तथा सहायकोंके साथ हो या असहाय, वह दैवयोगसे सर्वत्र सब कुछ पा लेता है ॥ १६ ॥

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद् राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥ १७ ॥

सुना है, पहले राजगृहमें अम्बुवीच नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे । वे मगध राजाओंमेंसे एक थे ॥ १७ ॥

स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाभवत् तदा ॥ १८ ॥

उनकी कोई भी इन्द्रिय कार्य करनेमें समर्थ नहीं थी, वे (श्वासके रोगसे पीड़ित हो) एक स्थानपर पड़े-पड़े लंबी साँसें खींचा करते थे; अतः प्रत्येक कार्यमें उन्हें मन्त्रीके ही अधीन रहना पड़ता था ॥ १८ ॥

तस्यामात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥

उनके मन्त्रीका नाम था महाकर्णि । उन दिनों वही वहाँका एकमात्र राजा बन बैठा था । उसे सैनिक बल प्राप्त था, अतः अपनेको सबल मानकर राजाकी अवहेलना करता था ॥

स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥

वह मूढ मन्त्री राजाके उपभोगमें आने योग्य स्त्री, रत्न, धन तथा ऐश्वर्यको भी स्वयं ही भोगता था ॥ २० ॥

तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽभ्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥

वह सब पाकर उस लोभीका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता गया । इस प्रकार सारी चीजें लेकर वह उनके राज्यको भी हड़प लेनेकी इच्छा करने लगा ॥ २१ ॥

हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद् राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तिसे रहित होनेके कारण केवल ऊपरको साँस ही खींचा करता था, तथापि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी वह दुष्ट मन्त्री उनका राज्य न ले सका—यह बात हमने सुन रक्खी है ॥ २२ ॥

किमन्यद् विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशाम्पते ॥ २३ ॥
मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम् ।
अतोऽन्यथा चेद् विहितं यतमानो न लप्स्यसे ॥ २४ ॥

राजाका राजत्व भाग्यसे ही सुरक्षित था (उनके प्रयत्नसे नहीं;) (अतः) भाग्यसे बढ़कर दूसरा सहारा क्या हो सकता है ! महाराज ! यदि आपके भाग्यमें राज्य बदा होगा तो सब लोगोंके देखते-देखते वह निश्चय ही आपके पास रहेगा और यदि भाग्यमें राज्यका विधान नहीं है, तो आप यत्न करके भी उसे नहीं पा सकेंगे ॥ २३-२४ ॥

एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥ २५ ॥

राजन् ! आप समझदार हैं, अतः इसी प्रकार विचार करके अपने मन्त्रियोंकी साधुता और असाधुताको समझ लीजिये । किसने दूषित हृदयसे सलाह दी है और किसने दोषशून्य हृदयसे, इसे भी जान लेना चाहिये ॥ २५ ॥

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—ओ दुष्ट ! तू क्यों ऐसी बात कहता है, यह हम जानते हैं । पाण्डवोंके लिये तेरे हृदयमें जो द्वेष संचित है, उसीसे प्रेरित होकर तू मेरी बातोंमें दोष बता रहा है ॥ २६ ॥

हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत् परमं हितम् ॥ २७ ॥

कर्ण ! मैं अपनी समझसे कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाली परम हितकी बात कहता हूँ । यदि तू इसे दोषयुक्त मानता

है तो बता, क्या करनेसे कौरवोंका परम हित होगा ? ॥ २७ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते यद् ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ॥ २८ ॥

मैं अत्यन्त हितकी बात बता रहा हूँ । यदि उसके विपरीत कुछ किया जायगा तो कौरवोंका शीघ्र ही नाश हो जायगा—ऐसा मेरा मत है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि द्रोणवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें द्रोणवाक्य-विषयक दो सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

विदुरजीकी सम्मति—द्रोण और भीष्मके वचनोंका ही समर्थन

विदुर उवाच

राजन् निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं सम्प्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपके (हितैषी) बान्धवोंका यह कर्तव्य है कि वे आपको संदेहरहित हितकी बात बतायें। परंतु आप सुनना नहीं चाहते, इसलिये आपके भीतर उनकी कही हुई हितकी बात भी ठहर नहीं पा रही है ॥ १ ॥

प्रियं हितं च तद् वाक्यमुक्तवान् कुरुसत्तमः।
भीष्मः शांतनवो राजन् प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥ २ ॥
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम्।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥ ३ ॥

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ शांतनुनन्दन भीष्मने आपसे प्रिय और हितकी बात कही है; परंतु आप उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार आचार्य द्रोणने अनेक प्रकारसे आपके लिये उत्तम हितकी बात बतायी है; किंतु राधानन्दन कर्ण उसे आपके लिये हितकर नहीं मानते ॥ २-३ ॥

चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम्।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात् प्रज्ञयाधिकः ॥ ४ ॥

महाराज ! मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी आपके किसी ऐसे परमसुहृद् व्यक्तिको नहीं देखता, जो इन दोनों वीर महापुरुषोंसे बुद्धि या विचारशक्तिमें अधिक हो ॥ ४ ॥

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! अवस्था, बुद्धि और शास्त्रज्ञान—सभी बातोंमें ये दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवोंमें समान भाव रखते हैं ॥ ५ ॥

धर्मे चानवरौ राजन् सत्यतायां च भारत।
रामाद् दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥ ६ ॥

भरतवंशी नरेश ! ये दोनों धर्म और सत्यवादितामें दशरथनन्दन श्रीराम तथा राजा गयसे कम नहीं हैं। मेरा यह कथन सर्वथा संशयरहित है ॥ ६ ॥

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन।
न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥ ७ ॥

उन्होंने आपके सामने भी (कभी) कोई ऐसी बात नहीं कही होगी, जो आपके लिये अनिष्टकारक सिद्ध हुई हो तथा इनके द्वारा आपका कुछ अपकार हुआ हो, ऐसा भी देखनेमें नहीं आता ॥ ७ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥ ८ ॥

महाराज ! आपने भी इनका कोई अपराध नहीं किया है; फिर ये दोनों सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह आपको हितकारक सलाह न दें, यह कैसे हो सकता है ॥ ८ ॥

प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! ये दोनों इस लोकमें नरश्रेष्ठ और बुद्धिमान् हैं, अतः आपके लिये ये कोई कुटिलतापूर्ण बात नहीं कहेंगे ॥

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन।
न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! इनके विषयमें मेरा यह निश्चित विचार है कि ये दोनों धर्मके ज्ञाता महापुरुष हैं, अतः स्वार्थके लिये किसी एक ही पक्षको लाभ पहुँचानेवाली बात नहीं कहेंगे ॥

एतद्धि परमं श्रेयो मन्येऽहं तव भारत।
दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन् यथा तव ॥ ११ ॥
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन् न संशयः।
तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ॥ १२ ॥
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः।
अथ ते हृदये राजन् विशेषः स्वेषु वर्तते।
अन्तरस्थं विवृण्वाना श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥ १३ ॥

भारत ! इन्होंने जो सम्मति दी है, इसीको मैं आपके लिये परम कल्याणकारक मानता हूँ। महाराज ! जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी आपके पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है। इस बातको न जाननेवाले कुछ मन्त्री यदि आपको पाण्डवोंके अहितकी सलाह दें तो यह कहना पड़ेगा कि वे मन्त्रीलोग, आपका कल्याण किस बातमें है, यह विशेषरूपमें नहीं देख पा रहे हैं। राजन् ! यदि आपके हृदयमें अपने पुत्रोंपर विशेष पक्षपात है तो आपके भीतरके छिपे

हुए भावको बाहर सबके सामने प्रकट करनेवाले लोग निश्चय ही आपका भला नहीं कर सकते ॥ ११–१३ ॥

एतदर्थमिमौ राजन् महात्मानौ महाद्युती।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥ १४ ॥

महाराज ! इसीलिये ये दोनों महातेजस्वी महात्मा आपके सामने कुछ खोलकर नहीं कह सके हैं। इन्होंने आपको ठीक ही सलाह दी है; परंतु आप उसे निश्चितरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ॥ १५ ॥

इन पुरुषशिरोमणियोंने जो पाण्डवोंके अजेय होनेकी बात बतायी है, वह बिल्कुल ठीक है। पुरुषसिंह ! आपका कल्याण हो ॥ १५ ॥

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनंजयः।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ॥ १६ ॥

राजन् ! दायें-बायें दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजयको साक्षात् इन्द्र भी युद्धमें कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १६ ॥

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान्।
कथं स युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥ १७ ॥

दस हजार हाथियोंके समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेनको युद्धमें देवता भी कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १७ ॥

तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव।
कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितुमिच्छता ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो जीवित रहना चाहता है, उसके द्वारा युद्धमें निपुण तथा यमराजके पुत्रोंकी भाँति भयंकर दोनों भाई नकुल सहदेव कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ॥ १९ ॥

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरमें धैर्य, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन्हें रणभूमिमें कैसे हराया जा सकता है ? ॥ १९ ॥

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं सङ्ख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः॥ २० ॥

बलरामजी जिनके पक्षपाती हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सलाहकार हैं तथा जिनके पक्षमें सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्धमें किसे नहीं परास्त कर देंगे ? ॥ २० ॥

द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक् तेषु समाचर ॥ २२ ॥

द्रुपद जिनके श्वशुर हैं और उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्न आदि वीर भ्राता जिनके साले हैं, भारत ! ऐसे पाण्डवोंको रणभूमिमें जीतना असम्भव है। इस बातको जानकर तथा पहले उनके पिताका राज्य होनेके कारण वे ही धर्मपूर्वक इस राज्यके उत्तराधिकारी हैं, इस बातकी ओर ध्यान देकर आप उनके साथ उत्तम बर्ताव कीजिये ॥ २१-२२ ॥

इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत्।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥ २३ ॥

राजन् ! पुरोचनके हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका बहुत बड़ा अपयश सब ओर फैल गया है। अपने उस कलङ्कको आज आप पाण्डवोंपर अनुग्रह करके धो डालिये ॥ २३ ॥

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥ २४ ॥

पाण्डवोंपर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुलके सभी लोगोंके जीवनका रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रियजातिका अभ्युदय करनेवाला होगा ॥ २४ ॥

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २५ ॥

राजन् ! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है। अतः मित्रके रूपमें उनका संग्रह हमारे अपने पक्षकी वृद्धिका कारण होगा ॥ २५ ॥

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २६ ॥

पृथ्वीपते ! यदुवंशियोंकी संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिस ओर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सभी रहेंगे। इसलिये जिस पक्षमें श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्षकी विजय अवश्य होगी ॥ २६ ॥

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥ २७ ॥

महाराज ! जो कार्य शान्तिपूर्वक समझाने-बुझानेसे ही सिद्ध हो जा सकता है, उसीको कौन दैवका मारा हुआ मनुष्य युद्धके द्वारा सिद्ध करेगा ॥ २७ ॥

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥ २८ ॥

कुन्तीके पुत्रोंको जीवित सुनकर नगर और जनपदके सभी लोग उन्हें देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। राजन् ! उन सबका प्रिय कीजिये ॥ २८ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥ २९ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्मपरायण,

खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं; अतः इनका कहना न मानिये ॥

उक्तमेतत् पुरा राजन् मया गुणवतस्तव ।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

भूपाल ! आप गुणवान् हैं । आपसे तो मैंने पहले ही यह कह दिया था कि दुर्योधनके अपराधसे निश्चय ही यह समस्त प्रजा नष्ट हो जायगी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरवाक्ये चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें विदुरवाक्यविषयक दो सौ चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरका द्रुपदके यहाँ जाना और पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेजनेका प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शांतनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! शन्तनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही ठहरे । अतः इनका वचन परम हितकारक है । तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है ॥ १ ॥

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥ २ ॥

कुन्तीके वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डुके लड़के हैं, उसी प्रकार धर्मकी दृष्टिसे वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥ ३ ॥

जैसे मेरे पुत्रोंका यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंका भी यह राज्य है—इसमें भी संशय नहीं है ॥ ३ ॥

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी विदुर ! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती तथा उस देवरूपिणी वधू कृष्णाके साथ इन पाण्डवोंको सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ ४ ॥

दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥ ५ ॥

सौभाग्यकी बात है कि वे कुन्तीपुत्र जीवित हैं । सौभाग्यसे ही कुन्ती भी जीवित है और यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि उन महारथियोंने द्रुपदकन्याको प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥ ६ ॥

महाद्युते ! सौभाग्यसे हम सबकी वृद्धि हो रही है । भाग्यकी बात है कि पापी पुरोचन शान्त हो गया और सौभाग्यसे ही मेरा महान् दुःख मिट गया ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥ ७ ॥
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा महाराज यज्ञसेनके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट लेकर राजा द्रुपद और पाण्डवोंके समीप गये ॥ ७-८ ॥

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥ ९ ॥

राजन् ! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् एवं धर्मज्ञ विदुर न्यायके अनुसार बड़े-छोटेके क्रमसे द्रुपद और अन्य लोगोंके साथ हृदयसे लगकर नमस्कार आदि-पूर्वक मिले ॥ ९ ॥

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥ १० ॥

राजा द्रुपदने भी धर्मके अनुसार विदुरजीका आदर-सत्कार किया । फिर वे दोनों यथोचित रीतिसे एक-दूसरेके कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे ॥ १० ॥

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहाद् परिष्वज्य स तान् पप्रच्छानामयं ततः ॥ ११ ॥

भारत ! विदुरजीने वहाँ पाण्डवों तथा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको भी देखा और स्नेहपूर्वक उन्हें हृदयसे लगाकर उन सबकी कुशल पूछी ॥ ११ ॥

तैश्चाप्यमितबुद्धिः स पूजितो हि यथाक्रमम् ।
वचनाद् धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ॥ १२ ॥
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥ १३ ॥
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशाम्पते ।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥ १४ ॥

उन्होंने भी अमित-बुद्धिमान् विदुरजीका क्रमशः आदर-सत्कार किया । तदनन्तर विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे

अनुसार बारंबार स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्रोंसे कुशल-मङ्गल एवं स्वास्थ्यविषयक प्रश्न किया। जनमेजय! फिर विदुरजीने कौरवोंकी ओरसे जैसे दिये गये थे, उसीके अनुसार पाण्डवों, कुन्ती, द्रौपदी तथा द्रुपदके पुत्रोंके लिये नाना प्रकारके रत्न और धन भेंट किये ॥ १२-१४ ॥

प्रोवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ॥ १५ ॥

अगाध बुद्धिवाले विदुरजी पाण्डवों तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप विनीतभावसे नम्रतापूर्वक बोले—॥ १५ ॥

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ॥ १७ ॥

विदुरने कहा—राजन्! आप अपने मन्त्रियों और पुत्रोंके साथ मेरी बात सुनें। महाराज! धृतराष्ट्रने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओंके साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारंबार आपकी कुशल पूछी है। महाराज! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १६-१७ ॥

तथा भीष्मः शांतनवः कौरवैः सह सर्वशः।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥ १८ ॥

इसी प्रकार शंतनुनन्दन महाप्राज्ञ भीष्मजी भी समस्त कौरवोंके साथ सब तरहसे आपकी कुशल पूछते हैं ॥ १८ ॥

भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥ १९ ॥

आपके प्रिय मित्र महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य भी (मन-ही-मन) आपको हृदयसे लगाकर कुशल पूछ रहे हैं ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया सम्बन्धमीयिवान्।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ॥ २० ॥

पाञ्चालनरेश! राजा धृतराष्ट्र आपके सम्बन्धी होकर अपने आपको कृतार्थ मानते हैं। यही दशा समस्त कौरवोंकी है ॥ २० ॥

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥ २१ ॥

यज्ञसेन! उन्हें राज्यकी प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्धका सौभाग्य पाकर हुई है ॥ २१ ॥

एतद् विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान्।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥ २२ ॥

यह जानकर आप पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवोंको देखने और मिलनेके लिये अत्यन्त उतावले हो रहे हैं ॥ २२ ॥

विप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ॥ २३ ॥

दीर्घकालसे ये परदेशमें रह रहे हैं, अतः नरश्रेष्ठ पाण्डव तथा कुन्ती—सभी लोग अपना नगर देखनेके लिये उत्सुक हो रहे होंगे ॥ २३ ॥

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ॥ २४ ॥

कौरवकुलकी सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ, हमारे हस्तिनापुर नगर तथा राष्ट्रके सभी लोग पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको देखनेकी इच्छा रखकर उसके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ २४ ॥

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम्।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥ २५ ॥

अतः आप पत्नीसहित पाण्डवोंको हस्तिनापुर चलनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये। इस विषयमें मेरी सम्मति यही है ॥ २५ ॥

निसृष्टेषु त्वया राजन् पाण्डवेषु महात्मसु।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान्।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ॥ २६ ॥

राजन्! जब आप महामना पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे देंगे, तब मैं यहाँसे राजा धृतराष्ट्रके पास शीघ्रगामी दूत भेजूँगा और यह संदेश कहला दूँगा कि कुन्ती तथा कृष्णाके साथ समस्त पाण्डव हस्तिनापुरमें आयेंगे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरद्रुपदसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें विदुर-द्रुपदसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगरका निर्माण करना एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका द्वारकाके लिये प्रस्थान

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम् ।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥ १ ॥

द्रुपद बोले–महाप्राज्ञ विदुरजी ! आज आपने जो कुछ मुझसे कहा है, सब ठीक है । प्रभो ! (कौरवोंके साथ) यह सम्बन्ध हो जानेसे मुझे भी महान् हर्ष हुआ है ॥ १ ॥

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम् ।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ॥ २ ॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ३ ॥
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तथा गच्छन्तु पाण्डवाः ।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंका अपने नगरमें जाना भी अत्यन्त उचित ही है । तथापि मेरे लिये अपने मुखसे इन्हें जानेके लिये कहना उचित नहीं है । यदि कुन्तीकुमार वीरवर युधिष्ठिर भीमसेन, अर्जुन और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव जाना उचित समझें तथा धर्मज्ञ बलराम और श्रीकृष्ण पाण्डवोंका वहाँ जाना उचित समझते हों तो ये अवश्य वहाँ जायँ; क्योंकि ये दोनों पुरुषसिंह सदा इनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं ॥ २–४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः ।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन् ! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं । आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं रोचते मम ।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब वसुदेव-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मुझे तो इनका जाना ही ठीक जान पड़ता है। अथवा सब धर्मोंके ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाय' ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः ।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥ ७ ॥
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम साम्प्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः ॥ ८ ॥

द्रुपद बोले—दशार्हकुलके रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हों, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है । महाभाग कुन्तीपुत्र इस समय मेरे लिये जैसे अपने हैं, उसी प्रकार इन भगवान् वासुदेवके लिये भी समस्त पाण्डव उतने ही प्रिय एवं आत्मीय हैं—इसमें संशय नहीं है ॥७-८ ॥

न तद् ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम केशव जिस प्रकार इन पाण्डवोंके श्रेय (अत्यन्त हित) का ध्यान रखते हैं, उतना ध्यान कुन्ती-नन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भी नहीं रखते ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पृथायास्तु तथा वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ।
पादौ स्पृष्ट्वा पृथायास्तु शिरसा च महीं गतः ।
दृष्ट्वा तु देवरं कुन्ती शुशोच च मुहुर्मुहुः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उसी प्रकार महा-तेजस्वी विदुर कुन्तीके भवनमें गये । वहाँ उन्होंने धरतीपर माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया । विदुरको आया देख कुन्ती बार-बार शोक करने लगी ।

कुन्त्युवाच

वैचित्रवीर्य ते पुत्राः कथंचिज्जीवितास्त्वया ।
त्वत्प्रसादाज्जतुगृहे त्राताः प्रत्यागतास्तव ॥
कूर्मश्चिन्तयते पुत्रान् यत्र वा तत्र वा गतान् ।
चिन्तया वर्धयेत् पुत्रान् यथा कुशलिनस्तथा ॥
तव पुत्रास्तु जीवन्ति त्वं त्राता भरतर्षभ ।
यथा परभृतः पुत्रानरिष्टा वर्धयेत् सदा ।
तथैव तव पुत्रास्तु मया तात सुरक्षिताः ॥
दुःखास्तु बहवः प्राप्ता तथा प्राणान्तिका मया ।
अतः परं न जानामि कर्तव्यं ज्ञातुमर्हसि ॥

कुन्ती बोली—विदुरजी ! आपके पुत्र पाण्डव किसी प्रकार आपके ही कृपाप्रसादसे जीवित हैं। लाक्षागृहमें आपने इन सबके प्राण बचाये हैं और अब यह पुनः आपके समीप जीते-जागते लौट आये हैं। कछुआ अपने पुत्रोंका, वे कहीं भी क्यों न हो, मनसे चिन्तन करता रहता है । इस चिन्तासे ही अपने पुत्रोंका वह पालन-पोषण एवं संवर्धन करता है ।

उसीके अनुसार जैसे वे सकुशल जीवित रहते हैं, वैसे ही आपके पुत्र पाण्डव (आपकी ही मङ्गल-कामनासे) जी रहे हैं ! भरतश्रेष्ठ ! आप ही इनके रक्षक हैं । तात ! जैसे कोयलके पुत्रोंका पालन-पोषण सदा कौएकी माता करती है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंकी रक्षा मैंने की है । अबतक मैंने बहुत-से प्राणान्तक कष्ट उठाये हैं; इसके बाद मेरा क्या कर्तव्य है, यह मैं नहीं जानती । यह सब आप ही जानें !

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा दुःखार्ता शुशोच परमातुरा ।
प्रणिपत्याब्रवीत् क्षत्ता मा शोच इति भारत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर दुःखसे पीड़ित हुई कुन्ती अत्यन्त आतुर होकर शोक करने लगी । उस समय विदुरने उन्हें प्रणाम करके कहा, तुम शोक न करो ।

विदुर उवाच

न विनश्यन्ति लोकेषु तव पुत्रा महाबलाः ।
नचिरेणैव कालेन स्वराज्यस्था भवन्ति ते ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्मा शोकं कुरु माधवि ॥)

विदुर बोले—यदुकुलनन्दिनी ! तुम्हारे महाबली पुत्र संसारमें (दूसरोंके सतानेसे) नष्ट नहीं हो सकते । अब वे थोड़े ही दिनोंमें समस्त बन्धुओंके साथ अपने राज्यपर अधिकार करनेवाले हैं । अतः तुम शोक मत करो ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥ १० ॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपदकुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्तीको साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १०-११ ॥

(सुवर्णकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ।
जाम्बूनदपरिष्कारान् प्रभिन्नकरटामुखान् ॥
अधिष्ठितान् महामात्रैः सर्वशस्त्रसमन्वितान् ।
सहस्रं प्रददौ राजा गजानां वरवर्णिनाम् ॥
रथानां च सहस्रं वै सुवर्णमणिचित्रितम् ।
चतुर्युजां भानुमच्च पञ्चानां प्रददौ तदा ॥
सुवर्णपरिबर्हाणां वरचामरमालिनाम् ।
जात्यश्वानां च पञ्चाशत्सहस्रं प्रददौ नृपः ॥
दासीनामयुतं राजा प्रददौ वरभूषणम् ।
ततः सहस्रं दासानां प्रददौ वरधन्विनाम् ॥
हैमानि शय्यासनभाजनानि
द्रव्याणि चान्यानि च गोधनानि ।
पृथक् पृथक् चैव ददौ स कोटिं
पाञ्चालराजः परमप्रहृष्टः ॥
शिबिकानां शतं पूर्णं वाहान् पञ्चशतं नरान् ।
एवमेतानि पाञ्चालो कन्यार्थे प्रददौ धनम् ॥
हरणं चापि पाञ्चाल्या ज्ञातिदेयं तु सौमकिः ।
धृष्टद्युम्नो ययौ तत्र भगिनीं गृह्य भारत ॥
नानद्यमाने बहुभिः तूर्यशब्दैः सहस्रशः ॥)

उस समय राजा द्रुपदने उन्हें एक हजार सुन्दर हाथी प्रदान किये, जिनकी पीठोंपर सोनेके हौदे कसे हुए थे और गलेमें सोनेके आभूषण शोभा पा रहे थे । उनके अङ्कुश भी सोनेके ही थे । जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उन सबको सजाया गया था । उनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी । बड़े-बड़े महावत उन सबका संचालन करते थे । वे सभी गजराज सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे । राजाने पाँचों पाण्डवोंके लिये चार घोड़ोंसे जुते हुए एक हजार रथ दिये, जो सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करते थे और सब ओर अपनी प्रभा बिखेर रहे थे । इतना ही नहीं, राजाने अच्छी जातिके पचास हजार घोड़े भी दिये, जो सुनहरे साज-बाजसे सुसज्जित और सुन्दर चँवर तथा मालाओंसे अलंकृत थे । इनके सिवा सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दस हजार दासियाँ भी दीं । साथ ही उत्तम धनुष धारण करनेवाले एक हजार दास पाण्डवोंको भेंट किये । बहुत-सी शय्याएँ, आसन और पात्र भी दिये जो सब-के-सब सुवर्णके बने हुए थे । दूसरे-दूसरे द्रव्य और गोधन भी समर्पित किये । इन सबकी पृथक्-पृथक् संख्या एक-एक करोड़ थी । इस प्रकार पाञ्चालराज द्रुपदने बड़े हर्ष और उल्लासके साथ पाण्डवोंको उपर्युक्त वस्तुएँ अर्पित कीं । सौ पालकियाँ और उनको ढोनेवाले पाँच सौ कहार दिये । इस प्रकार पाञ्चालराजने अपनी कन्याके लिये ये सभी वस्तुएँ तथा बहुत-सा धन दहेजमें दिया । जनमेजय ! धृष्टद्युम्न स्वयं अपनी बहिनका हाथ पकड़कर सवारीपर बैठानेके लिये ले गये । उस समय सहस्रों प्रकारके बाजे एक साथ बज उठे ॥

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥ १२ ॥

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डववीरोंका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये कौरवोंको भेजा ॥ १२ ॥

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥ १३ ॥

भारत ! विकर्ण, महान् धनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि भेजे गये थे ॥

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥
(पाण्डवानागताञ्छ्रुत्वा नागरास्तु कुतूहलात्।
मण्डयांचक्रिरे तत्र नगरं नागसाह्वयम् ॥
मुक्तपुष्पावकीर्णं तज्जलसिक्तं तु सर्वशः।
धूपितं दिव्यधूपेन मण्डनैश्चापि संवृतम् ॥
पताकोच्छ्रितमाल्यं च पुरमप्रतिमं बभौ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च नानावादित्रनिःस्वनैः।)
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाभवत्।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥

इन सबसे घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवोंने तब धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया। पाण्डवोंका आगमन सुनकर नागरिकोंने कौतूहलवश हस्तिनापुर नगरको (अच्छी तरहसे) सजा रक्खा था। सड़कोंपर सब ओर फूल बिखेरे गये थे, जलका छिड़काव किया गया था, सारा नगर दिव्य धूपकी सुगन्धसे महँ-महँ कर रहा था और भाँति-भाँतिकी प्रसाधन-सामग्रियोंसे सजाया गया था। पताकाएँ फहराती थीं और ऊँचे गृहोंमें पुष्पहार सुशोभित होते थे। शङ्ख, भेरी तथा नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे वह अनुपम नगर बड़ी शोभा पा रहा था। उस समय कौतूहलवश सारा नगर देदीप्यमान-सा हो उठा। पुरुषसिंह पाण्डव प्रजाजनोंके शोक और दुःखका निवारण करनेवाले थे; अतः वहाँ उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले पुरवासियोंद्वारा कही हुई भिन्न-भिन्न प्रकारकी हृदय-स्पर्शिनी बातें सुनायी पड़ीं—॥ १४–१६ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित्।
यो नः स्वानिव दायादान् धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥

(पुरवासी कह रहे थे--) 'ये ही वे नरश्रेष्ठ धर्मज्ञ युधिष्ठिर पुनः यहाँ पधार रहे हैं, जो धर्मपूर्वक अपने पुत्रोंकी भाँति हमलोगोंकी रक्षा करते थे ॥ १७ ॥

अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ॥ १८ ॥

इनके आनेसे निःसंदेह ऐसा जान पड़ता है, आज प्रजाजनोंके प्रिय महाराज पाण्डु ही मानो हमारा प्रिय करनेके लिये वनसे चले आये हों ॥ १८ ॥

किं नु नाथ कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम्।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥ १९ ॥

तात ! कुन्तीके वीर पुत्र यदि पुनः इस नगरमें चले आये तो आज हम सब लोगोंका कौन-सा परम प्रिय कार्य नहीं सम्पन्न हो गया ॥ १९ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम् ॥ २० ॥

यदि हमने दान और होम किया है, यदि हमारी तपस्या शेष है तो उन सबके पुण्यसे ये पाण्डव सौ वर्षतक इसी नगरमें निवास करें' ॥ २० ॥

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥

इतनेमें ही पाण्डवोंने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म तथा अन्य वन्दनीय पुरुषोंके पास जाकर उन सबके चरणोंमें प्रणाम किया॥

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च।
न्यविशन्ताथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ २२ ॥

फिर समस्त नगरवासियोंसे कुशलप्रश्न करके वे राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राजमहलोंमें गये ॥ २२ ॥

(दुर्योधनस्य महिषी काशिराजसुता तदा।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां वधूभिः सहिता तदा ॥
पाञ्चालीं प्रतिजग्राह द्रौपदीं श्रीमिवापराम्।
पूजयामास पूजार्हां शचीदेवीमिवागताम् ॥
ववन्दे तत्र गान्धारीं माधवी कृष्णया सह।
आशिषश्च प्रयुक्त्वा तु पाञ्चालीं परिषस्वजे ॥
परिष्वज्य च गान्धारी कृष्णां कमललोचनाम्।
पुत्राणां मम पाञ्चाली मृत्युरेवेत्यमन्यत।
सा चिन्त्य विदुरं प्राह युक्तितः सुबलात्मजा ॥

उस समय दुर्योधनकी रानीने, जो काशिराजकी पुत्री थी, धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अन्य वधुओंके साथ आकर द्वितीय लक्ष्मीके समान सुन्दरी पञ्चालराजकुमारी द्रौपदीकी अगवानी की। द्रौपदी सर्वथा पूजाके योग्य थी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् शचीदेवीने पदार्पण किया हो। दुर्योधन-पत्नीने उसका भलीभाँति सत्कार किया। वहाँ पहुँचकर कुन्तीने अपनी बहूरानी द्रौपदीके साथ गान्धारीको प्रणाम किया। गान्धारीने आशीर्वाद देकर द्रौपदीको हृदयसे लगा लिया। कमलसदृश नेत्रोंवाली कृष्णाको हृदयसे लगाकर गान्धारी सोचने लगी कि यह पाञ्चाली तो मेरे पुत्रोंकी मृत्यु ही है। यह सोचकर सुबलपुत्री गान्धारीने युक्तिसे विदुरको बुलाकर कहा--

गान्धार्युवाच

कुन्तीं राजसुतां क्षत्तः सवधूं सपरिच्छदाम्।
पाण्डोर्निवेशनं शीघ्रं नीयतां यदि रोचते ॥
करणेन मुहूर्तेन नक्षत्रेण शुभे तिथौ।
यथासुखं तथा कुन्ती रंस्यते स्वगृहे सुतैः ॥

फिर गान्धारीने कहा--विदुर ! यदि तुम्हें जँचे तो राजकुमारी कुन्तीको पुत्रवधूसहित शीघ्र ही पाण्डुके महलमें ले जाओ और वहीं इनका सारा सामान भी पहुँचा दो। उत्तम करण, मुहूर्त और नक्षत्रसहित शुभ तिथिको उस महलमें इन्हें प्रवेश करना चाहिये, जिससे कुन्तीदेवी अपने घरमें पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्येव तदा क्षत्ता कारयामास तत्तदा ॥
पूजयामासुरत्यर्थं बान्धवाः पाण्डवांस्तदा ।
नागराः श्रेणिमुख्याश्च पूजयन्ति स्म पाण्डवान् ॥
भीष्मो द्रोणस्तथा कर्णो बाह्लीकः ससुतस्तदा ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य अकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥
एवं विहरतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नेता सर्वस्य कार्यस्य विदुरो राजशासनात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! 'बहुत अच्छा' कहकर उसी समय विदुरने वैसी ही व्यवस्था की। सभी बन्धु-बान्धवोंने पाण्डवोंका उस समय अत्यन्त आदर-सत्कार किया। प्रमुख नागरिकों तथा सेठोंने भी पाण्डवोंका पूजन किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा पुत्रसहित बाह्लीकने धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंका आतिथ्य-सत्कार किया। इस प्रकार हस्तिनापुरमें विहार करनेवाले महात्मा पाण्डवोंके सभी कार्योंमें विदुरजी ही नेता थे। उन्हें इसके लिये राजाकी ओरसे आदेश प्राप्त हुआ था॥

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शांतनवेन च ॥ २३ ॥

कुछ कालतक विश्राम कर लेनेपर उन महाबली महात्मा पाण्डवोंको राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजीने बुलाया।२३।

(धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
(पाण्डुना वर्धितं राज्यं पाण्डुना पालितं जगत् ॥
शासनान्मम कौन्तेय मम भ्राता महाबलः ।
कृतवान् दुष्करं कर्म नित्यमेव विशाम्पते ॥
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय शासनं कुरु मा चिरम्॥
मम पुत्रा दुरात्मानो दर्पाहंकारसंयुताः ।
शासनं न करिष्यन्ति मम नित्यं युधिष्ठिर ॥
स्वकार्यनिरतैर्नित्यमवलिप्तैर्दुरात्मभिः ।)
पुनर्वो विग्रहो मा भूत् खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो। कुन्तीनन्दन ! मेरी आज्ञासे पाण्डुने इस राज्यको बढ़ाया और पाण्डुने ही जगत्का पालन किया। मेरे भाई पाण्डु बड़े बलवान् थे। राजन् ! वे मेरे कहनेसे सदा ही दुष्कर कार्य किया करते थे। कुन्तीकुमार ! तुम भी यथासम्भव शीघ्र मेरी आज्ञाका पालन करो, विलम्ब न करो। मेरे दुरात्मा पुत्र दर्प और अहंकारसे भरे हुए हैं। युधिष्ठिर ! वे सदा मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेंगे। अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए उन बलाभिमानी दुरात्माओंके साथ तुम्हारा फिर कोई झगड़ा न खड़ा हो जाय, इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थमें निवास करो॥२४॥

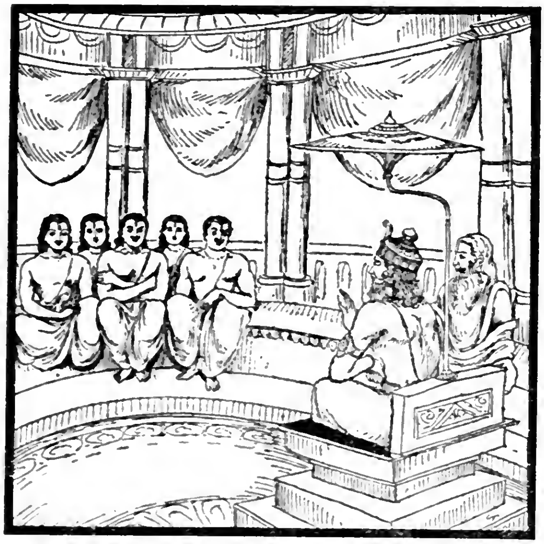

न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान् पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ॥ २५ ॥
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ।

वहाँ रहते समय कोई तुम्हें बाधा नहीं दे सकता; क्योंकि जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन वहाँ तुमलोगोंकी भलीभाँति रक्षा करेंगे। तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें चलकर रहो ॥२५½॥

(धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकस्य सम्भारान् क्षत्तरानय मा चिरम् ।
अभिषिक्तं करिष्यामि अद्य वै कुरुनन्दनम् ॥
ब्राह्मणा नैगमश्रेष्ठाः श्रेणीमुख्याश्च सर्वशः ।
आहूयन्तां प्रकृतयो बान्धवाश्च विशेषतः ॥
पुण्याहं वाच्यतां तात गोसहस्रं तु दीयताम् ।
ग्राममुख्याश्च विप्रेभ्यो दीयन्तां सहदक्षिणाः ॥
अङ्गदे मुकुटं क्षत्तः हस्ताभरणमानय ॥
मुक्तावलीश्च हारं च निष्कादीन् कुण्डलानि च ।
कटिबन्धश्च सूत्रं च तथोदरनिबन्धनम् ॥
अष्टोत्तरसहस्रं तु ब्राह्मणाधिष्ठिता गजाः ।
जाह्नवीसलिलं शीघ्रमानयन्तु पुरोहितैः ॥
अभिषेकोदकक्लिन्नं सर्वाभरणभूषितम् ।
औपवाह्योपरिगतं दिव्यचामरवीजितम् ॥
सुवर्णमणिचित्रेण श्वेतच्छत्रेण शोभितम् ।
जयेति द्विजवाक्येन स्तूयमानं नृपैस्तथा ॥
दृष्ट्वा कुन्तीसुतं ज्येष्ठमाजमीढं युधिष्ठिरम् ।
प्रीताः प्रीतेन मनसा प्रशंसन्तु पुरे जनाः ॥

पाण्डोः कृतोपकारस्य राज्यं दत्त्वा ममैव च ।
प्रतिक्रियाकृतमिदं भविष्यति न संशयः ॥

(फिर) धृतराष्ट्रने (विदुरसे) कहा—विदुर! तुम राज्याभिषेककी सामग्री लाओ, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। मैं आज ही कुरुकुलनन्दन युधिष्ठिरका अभिषेक करूँगा। वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, नगरके सभी प्रमुख व्यापारी, प्रजावर्गके लोग और विशेषतः बन्धु-बान्धव बुलाये जायँ। तात! पुण्याहवाचन कराओ और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके साथ एक सहस्र गौएँ तथा मुख्य-मुख्य ग्राम दो। विदुर! दो भुजबंद, एक सुन्दर मुकुट तथा हाथके आभूषण मँगाओ। मोतीकी कई मालाएँ, हार, पदक, कुण्डल, करधनी, कटिसूत्र तथा उदरबन्ध भी ले आओ। एक हजार आठ हाथी मँगाओ, जिनपर ब्राह्मण सवार हों। पुरोहितोंके साथ जाकर वे हाथी शीघ्र गङ्गाजीका जल ले आयें। युधिष्ठिर अभिषेकके जलसे भीगे हों, समस्त आभूषणोंसे उन्हें विभूषित किया गया हो, वे राजाकी सवारीके योग्य गजराजपर बैठे हों, उनपर दिव्य चँवर डुल रहे हों और उनके मस्तकके ऊपर सुवर्ण और मणियोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला श्वेत छत्र सुशोभित हो, ब्राह्मणोंद्वारा की हुई जय-जयकारके साथ बहुत-से नरेश उनकी स्तुति करते हों। इस प्रकार कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र अजमीढकुलतिलक युधिष्ठिरका प्रसन्न मनसे दर्शन करके प्रसन्न हुए पुरवासीजन इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करें। राजा पाण्डुने मुझे ही अपना राज्य देकर जो उपकार किया था, उसका बदला इसीसे पूर्ण होगा कि युधिष्ठिरका राज्याभिषेक कर दिया जाय; इसमें संशय नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता साधु साध्वित्यभाषत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर भीष्म, द्रोण, कृप तथा विदुरने कहा—'बहुत अच्छा! बहुत अच्छा!'

श्रीवासुदेव उवाच

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम्।
शीघ्रमद्यैव राजेन्द्र यथोक्तं कर्तुमर्हसि ॥

(तब) भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाराज! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंका यश बढ़ानेवाला है। राजेन्द्र! आपने जैसा कहा है, उसे आज ही जितना शीघ्र सम्भव हो सके, पूर्ण कर डालिये।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वार्ष्णेयस्त्वरयामास तं तदा।
यथोक्तं धृतराष्ट्रस्य कारयामास कौरवः ॥
तस्मिन् क्षणे महाराज कृष्णद्वैपायनस्तदा।
आगत्य कुरुभिः सर्वैः पूजितः स सुहृद्गणैः ॥
मूर्धावसिक्तैः सहितो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
कारयामास विधिवत् केशवानुमते तदा ॥
कृपो द्रोणश्च भीष्मश्च धौम्यश्च व्यासकेशवौ।
बाह्लीकः सोमदत्तश्च चातुर्वेद्यपुरस्कृताः ॥
अभिषेकं तदा चक्रुर्भद्रपीठे सुसंयतम्।
जित्वा तु पृथिवीं कृत्स्नां वशे कृत्वा नरर्षभान् ॥
राजसूयादिभिर्यज्ञैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
स्नात्वा ह्यवभृथस्नानं मोदतां बान्धवैः सह ॥
एवमुक्त्वा तु ते सर्वे आशीर्भिरभिपूजयन्।
मूर्धाभिषिक्तः कौरव्य सर्वाभरणभूषितः ॥
जयेति संस्तुतो राजा प्रददौ धनमक्षयम्।
सर्वमूर्धावसिक्तैश्च पूजितः कुरुनन्दनः ॥
औपवाह्यमथारुह्य श्वेतच्छत्रेण शोभितः।
रराजानुगतो राजा महेन्द्र इव दैवतैः ॥
ततः प्रदक्षिणीकृत्य नगरं नागसाह्वयम्।
प्रविवेश ततो राजा नागरैः पूजितो भृशम् ॥
मूर्धाभिषिक्तं कौन्तेयमभ्यनन्दन्त बान्धवाः।
गान्धारिपुत्राः शोचन्तः सर्वे ते सह बान्धवैः ॥
ज्ञात्वा शोकं तु पुत्राणां धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्नृपम् ॥
समक्षं वासुदेवस्य कुरूणां च समक्षतः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें जल्दी करनेकी प्रेरणा दी। विदुरजीने धृतराष्ट्रके कथनानुसार सब कार्य पूर्ण कर दिया। उसी समय, राजन्, वहाँ महर्षि कृष्णद्वैपायन पधारे। समस्त कौरवोंने अपने सुहृदोंके साथ आकर उनकी पूजा की। तब वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणों तथा मूर्धाभिषिक्त नरेशोंके साथ मिलकर भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार व्यासजीने विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य सम्पन्न किया। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म, धौम्य, व्यास, श्रीकृष्ण, बाह्लीक और सोमदत्तने चारों वेदोंके विद्वानोंको आगे रखकर भद्रपीठपर संयमपूर्वक बैठे हुए युधिष्ठिरका उस समय अभिषेक किया और सबने यह आशीर्वाद दिया कि 'राजन्! तुम सारी पृथ्वीको जीतकर सम्पूर्ण नरेशोंको अपने अधीन करके प्रचुर दक्षिणासे युक्त राजसूय आदि यज्ञ-याग पूर्ण करनेके पश्चात् अवभृथ-स्नान करके बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखी रहो।' जनमेजय! यों कहकर उन सबने अपने आशीर्वादोंद्वारा युधिष्ठिरका सम्मान किया। समस्त आभूषणोंसे विभूषित, मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरने अक्षय धनका दान किया। उस समय सब लोगोंने जय-जयकारपूर्वक उनकी स्तुति की। समस्त मूर्धाभिषिक्त राजाओंने भी कुरुनन्दन युधिष्ठिरका पूजन किया। फिर वे राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो श्वेत छत्रसे सुशोभित हुए। उनके पीछे-पीछे बहुत-से मनुष्य चल रहे थे। उस समय देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। समस्त हस्तिनापुर नगरकी परिक्रमा करके

राजाने पुनः राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय नागरिकोंने उनका विशेष समादर किया। बन्धु-बान्धवोंने भी मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरका सादर अभिनन्दन किया। यह सब देखकर वे गान्धारीके दुर्योधन आदि सभी पुत्र अपने भाइयोंके साथ शोकातुर हो रहे थे । अपने पुत्रोंको शोक हुआ जानकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कौरवोंके समक्ष राजा युधिष्ठिरसे (इस प्रकार) कहा।

धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकं त्वया प्राप्तं दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
गच्छ त्वमद्यैव नृप कृतकृत्योऽसि कौरव॥
आयुः पुरूरवा राजन् नहुषश्च ययातिना।
तत्रैव निवसन्ति स्म खाण्डवाह्वे नृपोत्तम॥
राजधानी तु सर्वेषां पौरवाणां महाभुज।
विनाशितं मुनिगणैर्लोभाद् बुधसुतस्य च॥
तस्मात् त्वं खाण्डवप्रस्थं पुरं राष्ट्रं च वर्धय।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतनिश्चयाः॥
त्वद्भक्त्या जन्तवश्चान्ये भजन्त्वेव पुरं शुभम्।
पुरं राष्ट्रं समृद्धं वै धनधान्यैः समावृतम्॥
तस्मात् गच्छस्व कौन्तेय भ्रातृभिः सहितोऽनघ।)

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन। तुमने वह राज्याभिषेक प्राप्त किया है, जो अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ है । राजन्! तुम राज्य पाकर कृतार्थ हो गये । अतः आज ही खाण्डवप्रस्थ चले जाओ। नृपश्रेष्ठ! पुरूरवा, आयु, नहुष तथा ययाति खाण्डवप्रस्थमें ही निवास करते थे। महाबाहो! वहीं समस्त पौरव नरेशोंकी राजधानी थी। आगे चलकर मुनियोंने बुधपुत्रके लोभसे खाण्डवप्रस्थको नष्ट कर दिया था। इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थ नगरको पुनः बसाओ और अपने राष्ट्रकी वृद्धि करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र सबने तुम्हारे साथ वहाँ जानेका निश्चय किया है। तुममें भक्ति रखनेके कारण दूसरे लोग भी उस सुन्दर नगरका आश्रय लेंगे। निष्पाप कुन्तीकुमार! वह नगर तथा राष्ट्र समृद्धिशाली और धन-धान्यसे सम्पन्न है। अतः तुम भाइयोंसहित वहीं जाओ।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च॥ २६॥
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन्॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर पाण्डवोंने उन्हें प्रणाम किया और आधा राज्य पाकर वे खाण्डवप्रस्थकी ओर चल दिये, जो भयंकर वनके रूपमें था। धीरे-धीरे वे खाण्डवप्रस्थमें जा पहुँचे॥२६-२७॥

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयां चक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः॥ २८॥

तदनन्तर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पाण्डवोंने श्रीकृष्णसहित वहाँ जाकर उस स्थानको उत्तम स्वर्गलोककी भाँति शोभायमान कर दिया॥ २८॥

(वासुदेवो जगन्नाथश्चिन्तयामास वासवम्।
महेन्द्रश्चिन्तितो राजन् विश्वकर्माणमादिशत्॥

फिर जगदीश्वर भगवान् वासुदेवने देवराज इन्द्रका चिन्तन किया। राजन्! उनके चिन्तन करनेपर इन्द्रदेवने (उनके मनकी बात जानकर) विश्वकर्माको इस प्रकार आज्ञा दी।

महेन्द्र उवाच

विश्वकर्मन् महाप्राज्ञ अद्यप्रभृति तत् पुरम्।
इन्द्रप्रस्थमिति ख्यातं दिव्यं रम्यं भविष्यति॥

इन्द्र बोले—विश्वकर्मन्! महामते! (आप जाकर खाण्डवप्रस्थ नगरका निर्माण करें।) आजसे वह दिव्य और रमणीय नगर इन्द्रप्रस्थके नामसे विख्यात होगा।

वैशम्पायन उवाच

महेन्द्रशासनाद् गत्वा विश्वकर्मा तु केशवम्।
प्रणम्य प्रणिपातार्हं किं करोमीत्यभाषत॥
वासुदेवस्तु तच्छ्रुत्वा विश्वकर्माणमूचिवान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय। महेन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माने खाण्डवप्रस्थमें जाकर वन्दनीय भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—मेरे लिये क्या आज्ञा है! उनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा।

वासुदेव उवाच

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुरसंनिभम्।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम्॥)

श्रीकृष्ण बोले—विश्वकर्मन्! तुम कुरुराज युधिष्ठिरके लिये महेन्द्रपुरीके समान एक महानगरका निर्माण करो। इन्द्रके निश्चय किये हुए नामके अनुसार वह इन्द्रप्रस्थ कहलायेगा।

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥ २९॥

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेशमें शान्तिकर्म कराके महारथी पाण्डवोंने वेदव्यासजीको अगुआ बनाकर नगर बसानेके लिये जमीनका नाप करवाया॥ २९॥

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता॥ ३०॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा॥ ३१॥

उसके चारों ओर समुद्रकी भाँति विस्तृत एवं अगाध जलसे भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस नगरकी शोभा बढा रही थीं। श्वेत बादलों तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल चहारदीवारी शोभा दे रही थी, जो अपनी ऊँचाईसे आकाशमण्डलको व्याप्त करके खड़ी थी। जैसे नागोंसे भोगवती सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारीसे खाईसहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३०-३१ ॥

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥ ३२ ॥

उस नगरके दरवाजे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो पाँख फैलाये गरुड़ हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकाएँ उस नगरकी श्रीवृद्धि कर रही थीं। मेघोंकी घटाके समान सुशोभित तथा मन्दराचलके समान ऊँचे गोपुरोंद्वारा वह नगर सब ओरसे सुरक्षित था ॥ ३२ ॥

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ॥ ३३ ॥

नाना प्रकारके अभेद्य तथा सब ओरसे घिरे हुए शस्त्रागारोंमें शस्त्र संग्रह करके रक्खे गये थे। नगरके चारों ओर हाथसे चलायी जानेवाली लोहेकी शक्तियाँ तैयार करके रखी गयी थीं, जो दो जीभोंवाले साँपोंके समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगरकी सुरक्षा की गयी थी ॥ ३३ ॥

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अस्त्र-शस्त्रोंका अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओंसे युक्त और योद्धाओंसे सुरक्षित उस नगरकी शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अङ्कुशों (बर्छों), शतघ्नियों (तोपों) और अन्यान्य युद्धसम्बन्धी यन्त्रोंके जालसे वह नगर शोभा पा रहा था ॥ ३४ ॥

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम्।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ॥ ३५ ॥

लोहेके बने हुए महान् चक्रोंद्वारा उस उत्तम नगरकी अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानोंमें जानेके लिये विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। उस नगरमें दैवी आपत्तिका नाम नहीं था ॥ ३५ ॥

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥ ३६ ॥

अनेक प्रकारके श्रेष्ठ, एवं शुभ्र सदनोंसे शोभित वह नगर स्वर्गलोकके समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ ॥ ३६ ॥

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इन्द्रप्रस्थके रमणीय एवं शुभ प्रदेशमें कुरुराज युधिष्ठिरका सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाशमें विद्युत्की प्रभासे व्याप्त मेघमण्डलकी भाँति देदीप्यमान था ॥ ३७ ॥

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम्।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः ॥ ३८ ॥
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।
वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ॥ ३९ ॥

अनन्त धनराशिसे परिपूर्ण होनेके कारण वह भवन धनाध्यक्ष कुबेरके निवासस्थानकी समानता करता था। राजन्! सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगरमें निवास करनेके लिये आये, जो सम्पूर्ण भाषाओंके जानकार थे। उन सबको वहाँका रहना बहुत पसंद आया। अनेक दिशाओंसे धनोपार्जनकी इच्छावाले वणिक् भी उस नगरमें आये ॥ ३८-३९ ॥

सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ॥ ४० ॥

सब प्रकारकी शिल्पकलाके जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें निवास करनेके लिये आ गये थे। नगरके चारों ओर रमणीय उद्यान थे ॥ ४० ॥

आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा।
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ॥ ४१ ॥
शालतालतमालैश्च वकुलैश्च सकेतकैः।
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ॥ ४२ ॥

जो आम, आमड़ा, कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागपुष्प, लकुच, कटहल, साल, ताल, तमाल, मौलसिरी और केवड़ा आदि सुन्दर फूलोंसे भरे और फलोंके भारसे झुके हुए मनोहर वृक्षोंसे सुशोभित थे ॥ ४१-४२ ॥

प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ॥ ४३ ॥
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ॥ ४४ ॥

प्राचीन आँवले, लोध्र, खिले हुए अङ्कोल, जामुन, पाटल, कुब्जक, अतिमुक्तक लता, करवीर, पारिजात तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्ष, जिनमें सदा फल और फूल लगे रहते थे और जिनके ऊपर भाँति-भाँतिके सहस्रों पक्षी कलरव करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४३-४४ ॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदैः।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ॥ ४५ ॥

मतवाले मयूरोंके केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाली कोकिलोंकी काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानोंमें

दर्पणके समान स्वच्छ क्रीड़ाभवन तथा नाना प्रकारके लता-मण्डप बनाये गये थे ॥ ४५ ॥

मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथाजगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४६ ॥
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४७ ॥

मनोहर चित्रशालाओं तथा राजाओंकी विहारयात्राके लिये निर्मित हुए कृत्रिम पर्वतोंसे भी वे उद्यान बड़ी शोभा पा रहे थे। उत्तम जलसे भरी हुई अनेक प्रकारकी बावलियाँ तथा कमल और उत्पलकी सुगन्धसे वासित अत्यन्त रमणीय सरोवर जहाँ हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षी निवास करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४७ ॥

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४८ ॥

वहाँ वनसे घिरी हुई भाँति-भाँतिकी रमणीय पुष्करिणियाँ और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान पड़ते थे ॥ ४८ ॥

(चातुर्वर्ण्यसमाकीर्णमान्यैः शिल्पिभिरावृतम् ।
उपयोगसमर्थैश्च सर्वद्रव्यैः समावृतम् ॥
नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम् ।
मत्तवारणसम्पूर्णं गोभिरुष्ट्रैः खरैरजैः ॥
सर्वदाभिगतं सद्भिः कारितं विश्वकर्मणा ॥
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥
पुरीं सर्वगुणोपेतां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
पौरवाणामधिपतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
कृतमङ्गलसत्कारो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
द्वैपायनं पुरस्कृत्य धौम्यस्यानुमते स्थितः ॥
भ्रातृभिः सहितो राजन् केशवेन सहाभिभूः ।
तोरणद्वारसुमुखं द्वात्रिंशद्द्वारसंयुतम् ॥
वर्धमानपुरद्वारं प्रविवेश महाद्युतिः ॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषाः श्रूयन्ते बहवो भृशम् ।
जयेति ब्राह्मणगिरः श्रूयन्ते च सहस्रशः ॥
संस्तूयमानो मुनिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।
औपवाह्यगतो राजा राज्यमार्गमतीत्य च ॥
कृतमङ्गलसत्कारं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥
प्रविश्य भवनं राजा सत्कारैरभिपूजितः ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् केशवेन यथाक्रमम् ॥
ततस्तु राष्ट्रं नगरं नरनारीगणायुतम् ।
गोधनैश्च समाकीर्णं सस्यवृद्धिस्तदाभवत् ॥)

वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे ठसाठस भरा था। माननीय शिल्पी वहाँ निवास करते थे। वह पुरी उपभोगमें आनेवाली समस्त सामग्रियोंसे सम्पन्न थी। वहाँ सदा श्रेष्ठ पुरुष रहा करते थे। असंख्य नर-नारी उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ मतवाले हाथी, ऊँट, गायें, बैल, गदहे और बकरे आदि पशु भी सदा मौजूद रहते थे। विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई उस पुरीमें सदा साधु-महात्माओंका समागम होता था। वह इन्द्रप्रस्थ नगर स्वर्गके समान शोभा पाता था। राजन्! कौरवराज महातेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंद्वारा मङ्गल-कृत्य कराकर द्वैपायन व्यासको आगे करके धौम्य मुनिकी सम्मतिके अनुसार भाइयों तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ बत्तीस दरवाजोंसे युक्त तोरणद्वारके सामने आकर वर्धमान नामक नगरद्वारमें प्रवेश किया। उस समय शङ्ख और नगारोंकी आवाज बड़े जोर-जोरसे सुनायी देती थी। सहस्रों ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए जयघोषका श्रवण होता था। मुनि तथा सूत, मागध और वन्दीजन राजाकी स्तुति कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर हाथीपर बैठे हुए थे। उन्होंने राजमार्गको पार करके एक उत्तम भवनमें प्रवेश किया, जहाँ माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किया गया था। उस भवनमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सत्कारोंसे सम्मानित हो राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रमशः सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर अगणित नर-नारियोंसे सुशोभित वह राष्ट्र और नगर गोधनसे सम्पन्न हो गया और दिनोंदिन खेतीकी वृद्धि होने लगी ॥

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत ॥ ४९ ॥

महाराज! पुण्यात्मा मनुष्योंसे भरे हुए उस महान् राष्ट्रमें प्रवेश करनेके बाद पाण्डवोंकी प्रसन्नता निरन्तर बढ़ती गयी ॥ ४९ ॥

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ५० ॥

भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको आधा राज्य देकर वहाँसे विदा कर देनेपर समस्त पाण्डव खाण्डवप्रस्थके निवासी हो गये ॥ ५० ॥

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ५१ ॥

इन्द्रके समान शक्तिशाली और महान् धनुर्धर पाँचों पाण्डवोंके द्वारा वह श्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थ नगर नागोंसे युक्त भोगवती पुरीकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ५१ ॥

(ततस्तु विश्वकर्माणं पूजयित्वा विसृज्य च ।
द्वैपायनं च सम्पूज्य विसृज्य च नराधिप ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजा गन्तुकामं कृतक्षणम् ॥

तदनन्तर विश्वकर्माका पूजन करके राजाने उन्हें विदा कर दिया। फिर व्यासजीको सम्मानपूर्वक विदा देकर राजा युधिष्ठिरने जानेके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

तव प्रसादाद् वार्ष्णेय राज्यं प्राप्तं मयानघ।
प्रसादादेव ते वीर शून्यं राष्ट्रं सुदुर्गमम्॥
तवैव तु प्रसादेन राज्यस्थाश्च महामते॥
गतिस्त्वमन्तकाले च पाण्डवानां तु माधव।
मातास्माकं पिता देवो न पाण्डुं विद्म वै वयम्॥
ज्ञात्वा तु कृत्यं कर्तव्यं कारयस्व भवान् हि नः।
यदिष्टमनुमन्तव्यं पाण्डवानां त्वयानघ॥

युधिष्ठिर बोले—निष्पाप वृष्णिनन्दन! आपकी ही कृपासे मैंने राज्य प्राप्त किया है। वीर! आपके ही प्रसादसे यह अत्यन्त दुर्गम एवं निर्जन प्रदेश आज धन-धान्यसे सम्पन्न राष्ट्र बन गया। महामते! आपकी ही दयासे हमलोग राज्यसिंहासनपर आसीन हुए हैं। माधव! अन्तकालमें भी आप ही हम पाण्डवोंकी गति हैं। आप ही हमारे माता-पिता और इष्टदेव हैं। हम पाण्डुको नहीं जानते। अनघ! आप स्वयं समझकर जो करने योग्य कार्य हो, वह हमसे करायें। पाण्डवोंके लिये जो अभीष्ट हो, उसी कार्यको करनेके लिये आप हमें अनुमति दें॥

श्रीवासुदेव उवाच

त्वत्प्रभावान्महाभाग राज्यं प्राप्तं स्वधर्मतः।
पितृपैतामहं राज्यं कथं न स्यात् तव प्रभो॥
धार्तराष्ट्रा दुराचाराः किं करिष्यन्ति पाण्डवान्।
यथेष्टं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह॥
धर्मोपदेशं संक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव।
अद्यैव नारदः श्रीमानागमिष्यति सत्वरः॥
आदत्स्व तस्य वाक्यानि शासनं कुरु तस्य वै॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग! आपको अपने ही प्रभावसे अपने ही धर्मके फलस्वरूप राज्य प्राप्त हुआ है। प्रभो! जो राज्य आपके बाप-दादोंका ही है, वह आपको कैसे नहीं मिलता। धृतराष्ट्रके पुत्र दुराचारी हैं। वे पाण्डवोंका क्या कर लेंगे? आप इच्छानुसार पृथ्वीका पालन कीजिये और सदा धर्ममर्यादाकी धुरी धारण करिये। कुरुनन्दन! संक्षेपसे आपके लिये धर्मका उपदेश इतना ही है कि ब्राह्मणोंकी सेवा करिये। आज ही बड़ी जल्दीमें आपके यहाँ श्रीनारदजी पधारेंगे, उनका आदर-सत्कार करके उनकी बातें सुनिये और उनकी आज्ञाका पालन कीजिये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कुन्तीमभिवाद्य जनार्दनः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा गमिष्यामि नमोऽस्तु ते॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें प्रणाम करके मधुर वाणीमें बोले—'बुआजी! नमस्कार। अब मैं जाऊँगा (आज्ञा दीजिये)।'

कुन्त्युवाच

जातुषं गृहमासाद्य मया प्राप्तं च केशव।
आर्येण चापि न ज्ञातं कुन्तिभोजेन चानघ॥
त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम्।
त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः॥
सर्वदुःखानि शाम्यन्ति तव संदर्शनान्मम।
स्मरस्वैनान् महाप्राज्ञ तेन जीवन्ति पाण्डवाः॥

कुन्ती बोली—केशव! लाक्षागृहमें जाकर मैंने जो कष्ट भोगा है, उसे मेरे पूज्य पिता कुन्तिभोज भी नहीं जान सके हैं। गोविन्द! तुम्हारी सहायतासे ही मैं इस महान् दुःख-समुद्रसे पार हुई हूँ। प्रभो! तुम अनाथोंके, विशेषतः दीन-दुखियोंके नाथ (रक्षक) हो। तुम्हारे दर्शनसे हमारे सारे दुःख दूर हो जाते हैं। महामते! इन पाण्डवोंको सदा याद रखना। ये तुम्हारे शुभ चिन्तनसे ही जीवन धारण करते हैं॥

वैशम्पायन उवाच

करिष्यामीति चामन्त्र्य अभिवाद्य पितृष्वसाम्।
गमनाय मतिं चक्रे वासुदेवः सहानुगः॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीसे यह कहकर कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, प्रणाम करके, विदा ले सेवकोंसहित वहाँसे जानेका विचार किया॥

तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः।
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा॥ ५२॥

राजन्! इस प्रकार उस पुरीको बसाकर बलरामजीके साथ वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी अनुमति ले उस समय द्वारकापुरीको चले गये॥ ५२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें नगरनिर्माणविषयक दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ॥ २०६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९९ श्लोक मिलाकर कुल १५१ श्लोक हैं।)

प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका मिलन

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँ नारदजीका आगमन और उनमें फूट न हो, इसके लिये कुछ नियम बनानेके लिये प्रेरणा करके सुन्द और उपसुन्दकी कथाको प्रस्तावित करना

जनमेजय उवाच

एवं सम्प्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन ।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! इस प्रकार इन्द्रप्रस्थका राज्य प्राप्त कर लेनेके पश्चात् महात्मा पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

सर्वं एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः ।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत ॥ २ ॥

मेरे पूर्वपितामह सभी पाण्डव महान् सत्त्व (मनोबल) से सम्पन्न थे । उनकी धर्मपत्नी द्रौपदीने किस प्रकार उन सबका अनुसरण किया ? ॥ २ ॥

कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः ।
वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

वे महान् सौभाग्यशाली नरेश जब एक ही कृष्णाके प्रति अनुरक्त थे, तब उनमें आपसमें फूट कैसे नहीं हुई ? ॥ ३ ॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन ।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह ॥ ४ ॥

तपोधन ! द्रौपदीसे सम्बन्ध रखनेवाले उन पाण्डवोंका आपसमें कैसा वर्ताव था, यह सब मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः ।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य पाकर परंतप पाण्डव द्रौपदीके साथ खाण्डवप्रस्थमें विहार करने लगे ॥ ५ ॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसंधो युधिष्ठिरः ।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्यको पाकर अपने भाइयोंके साथ धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे ॥

जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ७ ॥

वे सभी शत्रुओंपर विजय पा चुके थे, सभी महाबुद्धिमान् थे । सबने सत्यधर्मका आश्रय ले रक्खा था । इस प्रकार वे पाण्डव वहाँ बड़े आनन्दके साथ रहते थे ॥ ७ ॥

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव नगरवासियोंके सम्पूर्ण कार्य करते हुए बहुमूल्य तथा राजोचित सिंहासनोंपर बैठा करते थे ॥ ८ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया ॥ ९ ॥

एक दिन जब वे सभी महामना पाण्डव अपने सिंहासनों-पर विराजमान थे, उसी समय देवर्षि नारद अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे ॥ ९ ॥

(पथा नक्षत्रजुष्टेन सुपर्णचरितेन च ॥
चन्द्रसूर्यप्रकाशेन सेवितेन महर्षिभिः ।
नभःस्थलेन दिव्येन दुर्लभेनातपस्विनाम् ॥

उनका आगमन आकाशमार्गसे हुआ, जिसका नक्षत्र सेवन करते हैं, जिसपर गरुड़ चलते हैं, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश फैलता है और जो महर्षियोंसे सेवित है । जो लोग तपस्वी नहीं हैं, उनके लिये व्योममण्डलका वह दिव्य मार्ग दुर्लभ है ॥

भूतार्चितो भूतधरं राष्ट्रं नगरभूषितम् ।
अवेक्षमाणो द्युतिमानाजगाम महातपाः ॥
सर्ववेदान्तगो विप्रः सर्वविद्यासु पारगः ।
परेण तपसा युक्तो ब्राह्मेण तपसा वृतः ॥
नये नीतौ च निरतो विश्रुतश्च महामुनिः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा पूजित महान् तपस्वी एवं तेजस्वी देवर्षि नारद बड़े-बड़े नगरोंसे विभूषित और सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रयभूत राष्ट्रोंका अवलोकन करते हुए वहाँ आये । विप्रवर नारद सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता तथा समस्त विद्याओंके पारङ्गत पण्डित हैं । वे परमतपस्वी तथा ब्राह्मतेजसे सम्पन्न हैं; न्यायोचित वर्ताव तथा नीतिमें निरन्तर निरत रहनेवाले सुविख्यात महामुनि हैं ॥

परात् परतरं प्राप्तो धर्मात् समभिजग्मिवान् ॥
भावितात्मा गतरजाः शान्तो मृदुर्ऋजुर्द्विजः ।
धर्मेणाधिगतः सर्वैर्देवदानवमानुषैः ॥
अक्षीणवृत्तधर्मश्च संसारभयवर्जितः ॥
सर्वथा कृतमर्यादो वेदेषु विविधेषु च ॥
ऋक्सामयजुषां वेत्ता न्यायवृत्तान्तकोविदः ॥
ऋजुरारोहवाञ्छुक्लो भूयिष्ठपथिकोऽनघः ।
श्लक्ष्णया शिखयोपेतः सम्पन्नः परमत्विषा ॥
अवदाते च सूक्ष्मे च दिव्ये च रुचिरे शुभे ।
महेन्द्रदत्ते महती बिभ्रत् परमवाससी ॥
प्राप्य दुष्प्रापमन्येन ब्रह्मवर्चसमुत्तमम् ॥
भवने भूमिपालस्य बृहस्पतिरिवाप्लुतः ॥

उन्होंने धर्म-बलसे परात्पर परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वे शुद्धात्मा, रजोगुणरहित, शान्त, मृदु तथा सरल स्वभावके ब्राह्मण हैं। वे देवता, दानव और मनुष्य सबको धर्मतः प्राप्त होते हैं। उनका धर्म और सदाचार कभी खण्डित नहीं हुआ है। वे संसारभयसे सर्वथा रहित हैं। उन्होंने सब प्रकारसे विविध वैदिक धर्मोंकी मर्यादा स्थापित की है। वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके विद्वान् हैं। न्यायशास्त्रके पारङ्गत पण्डित हैं। वे सीधे और ऊँचे कदके तथा शुक्ल वर्णके हैं। वे निष्पाप नारद अधिकांश समय यात्रामें व्यतीत करते हैं। उनके मस्तकपर सुन्दर शिखा शोभित है। वे उत्तम कान्तिसे प्रकाशित होते हैं। वे देवराज इन्द्रके दिये हुए दो बहुमूल्य वस्त्र धारण करते हैं। उनके वे दोनों वस्त्र उज्ज्वल, महीन, दिव्य, सुन्दर और शुभ हैं। दूसरोंके लिये दुर्लभ एवं उत्तम ब्रह्मतेजसे युक्त वे बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् नारदजी राजा युधिष्ठिरके महलमें उतरे।

संहितायां च सर्वेषां स्थितस्योपस्थितस्य च।
द्विपदस्य च धर्मस्य क्रमधर्मस्य पारगः॥
गाथासामानुधर्मज्ञः साम्नां परमवल्गुनाम्।
आत्मना सर्वमोक्षिभ्यः कृतिमान् कृत्यवित् तथा॥
योक्ता धर्मे बहुविधे मनो मतिमतां वरः।
विदितार्थः समश्चैव छेत्ता निगमसंशयान्॥
अर्थनिर्वचने नित्यं संशयच्छिदसंशयः।
प्रकृत्या धर्मकुशलो नानाधर्मविशारदः॥
लोपेनागमधर्मेण संक्रमेण च वृत्तिषु।
एकशब्दांश्च नानार्थानेकार्थांश्च पृथक्छ्रुतीन्॥
पृथगर्थाभिधानांश्च प्रयोगाणामवेक्षिता॥

संहिताशास्त्रमें सबके लिये स्थित और उपस्थित मानवधर्म तथा क्रमप्राप्त धर्मके वे पारगामी विद्वान् हैं। वे गाथा और साममन्त्रोंमें कहे हुए आनुषंगिक धर्मोंके भी ज्ञाता हैं तथा अत्यन्त मधुर सामगानके पण्डित हैं। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले सब लोगोंके हितके लिये नारदजी स्वयं ही प्रयत्नशील रहते हैं। कब किसका क्या कर्तव्य है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है। वे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं और मनको नाना प्रकारके धर्ममें लगाये रखते हैं। उन्हें जानने योग्य सभी अर्थोंका ज्ञान है। वे सबमें समभाव रखनेवाले हैं और वेदविषयक सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करनेवाले हैं। अर्थकी व्याख्याके समय सदा संशयों-का उच्छेद करते हैं। उनके हृदयमें संशयका लेश भी नहीं है। वे स्वभावतः धर्मनिपुण तथा नाना धर्मोंके विशेषज्ञ हैं। लोप, आगमधर्म तथा वृत्तिसंक्रमणके द्वारा प्रयोगमें आये हुए एक शब्दके अनेक अर्थोंको, पृथक्-पृथक् श्रवणगोचर होनेवाले अनेक शब्दोंके एक अर्थको तथा विभिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थोंको वे पूर्णरूपसे देखते और समझते हैं॥

प्रमाणभूतो लोकस्य सर्वाधिकरणेषु च।
सर्ववर्णविकारेषु नित्यं सकलपूजितः॥
स्वरेऽस्वरे च विविधे वृत्तेषु विविधेषु च।
समस्थानेषु सर्वेषु समाम्नायेषु धातुषु॥
उद्देश्यानां समाख्याता सर्वमाख्यातमुद्दिशन्।
अभिसंधिषु तत्त्वज्ञः पदान्यङ्गान्यनुस्मरन्॥
कालधर्मेण निर्दिष्टं यथार्थं च विचारयन्।
चिकीर्षितं च यो वेत्ता यथा लोकेन संवृतम्॥
विभाषितं च समयं भाषितं हृदयङ्गमम्।
आत्मने च परस्मै च स्वरसंस्कारयोगवान्॥
एषां स्वराणां वेत्ता च बोद्धा च वचनस्वरान्।
विज्ञाता चोक्तवाक्यानामेकतां बहुतां तथा॥
बोद्धा हि परमार्थांश्च विविधांश्च व्यतिक्रमान्।
अभेदतश्च बहुशो बहुशश्चापि भेदतः॥
वचनानां च विविधानादेशांश्च समीक्षिता।
नानार्थकुशलस्तत्र तद्धितेषु च सर्वशः॥
परिभूषयिता वाचां वर्णतः स्वरतोऽर्थतः।
प्रत्ययांश्च समाख्याता नियतं प्रतिधातुकम्॥
पञ्च चाक्षरजातानि स्वरसंज्ञानि यानि च।)

सभी अधिकरणों और समस्त वर्णोंके विकारोंमें निर्णय देनेके निमित्त वे सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत हैं। सदा सब लोग उनकी पूजा करते हैं। नाना प्रकारके स्वर, व्यञ्जन, भाँति-भाँतिके छन्द, समान स्थानवाले सभी वर्ण, समाम्नाय तथा धातु—इन सबके उद्देश्योंकी नारदजी बहुत अच्छी व्याख्या करते हैं। सम्पूर्ण आख्यात प्रकरण (धातुरूप तिङन्त आदि) का प्रतिपादन कर सकते हैं। सब प्रकारकी संधियोंके सम्पूर्ण रहस्योंको जानते हैं। पदों और अङ्गोंका निरन्तर स्मरण रखते हैं, काल-धर्मसे निर्दिष्ट यथार्थ तत्त्वका विचार करनेवाले हैं तथा वे लोगोंके छिपे हुए मनोभावको—वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको भी अच्छी तरह जानते हैं। विभाषित (वैकल्पिक), भाषित (निश्चयपूर्वक कथित) और हृदयङ्गम किये हुए समयका उन्हें यथार्थ ज्ञान है। वे अपने तथा दूसरेके लिये स्वरसंस्कार तथा योगसाधनमें तत्पर रहते हैं। वे इन प्रत्यक्ष चलनेवाले स्वरोंको भी जानते हैं, वचन-स्वरोंका भी ज्ञान रखते हैं, कही हुई बातोंके मर्मको जानते और उनकी एकता तथा अनेकताको समझते हैं। उन्हें परमार्थका यथार्थ ज्ञान है। वे नाना प्रकारके व्यतिक्रमों (अपराधों) को भी जानते हैं। अभेद और भेददृष्टिसे भी बारंबार तत्त्वविचार करते रहते हैं। वे शास्त्रीय वाक्योंके विविध आदेशोंकी भी समीक्षा करनेवाले तथा नाना प्रकारके अर्थज्ञानमें कुशल हैं, तद्धित प्रत्ययोंका उन्हें पूरा ज्ञान है। वे स्वर, वर्ण और अर्थ तीनोंसे ही वाणी-को विभूषित करते हैं। प्रत्येक धातुके प्रत्ययोंका नियमपूर्वक प्रतिपादन करनेवाले हैं। पाँच प्रकारके जो अक्षरसमूह

तथा स्वर हैं*, उनको भी वे यथार्थरूपसे जानते हैं ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रादाद् युधिष्ठिरो धीमान् राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥ ११ ॥

उन्हें आया देख राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और अपना परम सुन्दर आसन उन्हें बैठनेके लिये दिया। जब देवर्षि उसपर बैठ गये, तब परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने स्वयं ही विधिपूर्वक उन्हें अर्घ्य निवेदन किया और उसीके साथ-साथ उन्हें अपना सारा राज्य समर्पित कर दिया। उनकी यह पूजा ग्रहण करके देवर्षि उस समय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०-११ ॥

आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ।
निषसादाभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ॥ १३ ॥
जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ॥ १४ ॥
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा ।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ॥ १५ ॥
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान् सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥ १७ ॥

फिर आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करके बोले—'तुम भी बैठो।' नारदकी आज्ञा पाकर राजा युधिष्ठिर बैठे और कृष्णाको कहला दिया कि स्वयं भगवान् नारदजी पधारे हैं। यह सुनकर द्रौपदी भी पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उसी स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डवोंके साथ नारदजी विराजमान थे। धर्मका आचरण करनेवाली कृष्णा देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके अपने अङ्गोंको ढके हुए हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। धर्मात्मा एवं सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारदने राजकुमारी द्रौपदीको नाना प्रकारके आशीर्वाद देकर उस सती-साध्वी देवीसे कहा, 'अब तुम भीतर जाओ।' कृष्णाके चले जानेपर भगवान् देवर्षिने एकान्तमें युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंसे कहा ॥ १२—१७ ॥

नारद उवाच

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १८ ॥

नारदजी बोले—पाण्डवो! यशस्विनी पाञ्चाली तुम सब लोगोंकी एक ही धर्मपत्नी है; अतः तुमलोग ऐसी नीति बना लो, जिससे तुमलोगोंमें कभी परस्पर फूट न हो ॥ १८ ॥

सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥ १९ ॥

पहलेकी बात है, सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर भाई-भाई थे। वे सदा साथ रहते थे एवं दूसरेके लिये अवध्य थे (केवल आपसमें ही लड़कर वे मर सकते थे)। उनकी तीनों लोकोंमें बड़ी ख्याति थी ॥ १९ ॥

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २० ॥

उनका एक ही राज्य था और एक ही घर। वे एक ही शय्यापर सोते, एक ही आसनपर बैठते और एक साथ ही भोजन करते थे। इस प्रकार आपसमें अटूट प्रेम होनेपर भी तिलोत्तमा अप्सराके लिये लड़कर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ।२०।

रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तत् कुरुष्व युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! इसलिये आपसकी प्रीतिको बढ़ानेवाले सौहार्दकी रक्षा करो और ऐसा कोई नियम बनाओ, जिससे यहाँ तुमलोगोंमें वैर-विरोध न हो ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चान्योन्यमघ्नताम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! सुन्द और उपसुन्द नामक असुर किसके पुत्र थे? उनमें कैसे विरोध उत्पन्न हुआ और किस प्रकार उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला? ॥२२॥

अप्सरा देवकन्या वा कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन सम्मत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २३ ॥

---

* कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ—इन पाँच स्थानों अथवा पाँच आभ्यन्तर प्रयत्नोंके भेदसे पाँच प्रकारके अक्षरसमूह कहे गये हैं। अ इ उ ऋ ऌ—ये पाँच ही मूल स्वर हैं, अन्य स्वर इन्हींके दीर्घ आदि भेद अथवा संधिज हैं।

यह तिलोत्तमा अप्सरा थी ? किसी देवताकी कन्या थी ? तथा वह किसके अधिकारमें थी ? जिसकी कामनासे उन्मत्त होकर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ॥ २३ ॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् परं कौतूहलं हि नः ॥ २४ ॥

तपोधन ! यह सब वृत्तान्त जिस प्रकार घटित हुआ था, वह सब हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं। ब्रह्मन् ! उसे सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि युधिष्ठिरनारदसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें युधिष्ठिर-नारद-संवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द-उपसुन्दकी तपस्या, ब्रह्माजीके द्वारा उन्हें वर प्राप्त होना और दैत्योंके यहाँ आनन्दोत्सव

नारद उवाच

शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम्।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! यह वृत्तान्त जिस प्रकार संघटित हुआ था, वह प्राचीन इतिहास तुम मुझसे भाइयोंसहित विस्तारपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें महान् दैत्य हिरण्यकशिपुके कुलमें निकुम्भ नामसे प्रसिद्ध एक दैत्यराज हो गया है, जो अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था ॥ २ ॥

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥ ३ ॥

उसके महाबली और भयानक पराक्रमी दो पुत्र हुए, जिनका नाम था सुन्द और उपसुन्द । वे दोनों दैत्यराज बड़े भयंकर और क्रूर हृदयके थे ॥ ३ ॥

तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसम्मतौ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥

उनका एक ही निश्चय होता था और एक ही कार्यके लिये वे सदा सहमत रहते थे। उनके सुख और दुःख भी एक ही प्रकारके थे। वे दोनों सदा साथ रहते थे ॥ ४ ॥

विनान्योन्यं न भुञ्जाते विनान्योन्यं न जल्पतः।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥

उनमेंसे एकके विना दूसरा न तो खाता-पीता और न किसीसे कुछ बात-चीत ही करता था। वे दोनों एक-दूसरेका प्रिय करते और परस्पर मीठे वचन बोलते थे ॥ ५ ॥

एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकोऽभवत् कृतः।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥ ६ ॥

उनके शील और आचरण एक-से थे, मानो एक ही जीवात्मा दो शरीरोंमें विभक्त कर दिया गया हो। वे महापराक्रमी दैत्य साथ-साथ बढ़ने लगे। वे प्रत्येक कार्यमें एक ही निश्चयपर पहुँचते थे ॥ ६ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम्।
दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः ॥ ७ ॥

किसी समय वे तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छासे एकमत होकर गुरुसे दीक्षा ले विन्ध्य पर्वतपर आये और वहाँ कठोर तपस्या करने लगे ॥ ७ ॥

तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ॥ ८ ॥

भूख और प्यासका कष्ट सहते हुए शिरपर जटा तथा शरीरपर वल्कल धारण किये वे दोनों भाई दीर्घकालतक भारी तपस्यामें लगे रहे ॥ ८ ॥

मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः।
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितौ।
ऊर्ध्वबाहू चानिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ ९ ॥

उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, वे हवा पीकर रहते थे और अपने ही शरीरके मांसखण्ड काट-काटकर अग्निमें आहुति देते थे। तदनन्तर बहुत समयतक पैरोंके अंगूठोंके अग्रभागके बलपर खड़े हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये एकटक दृष्टिसे देखते हुए वे दोनों व्रत धारण करके तपस्यामें संलग्न रहे ॥ ९ ॥

तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १० ॥

उन दैत्योंकी तपस्याके प्रभावसे दीर्घकालतक संतप्त होनेके कारण विन्ध्य पर्वत धुआँ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १० ॥

ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ ११ ॥

उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओंको बड़ा भय हुआ। वे देवतागण उनके तपको भंग करनेके लिये अनेक प्रकारके विघ्न डालने लगे ॥ ११ ॥

रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १२ ॥

उन्होंने बार-बार रत्नोंके ढेर तथा सुन्दरी स्त्रियोंको भेज-भेजकर उन दोनोंको प्रलोभनमें डालनेकी चेष्टा की; किंतु उन महान् व्रतधारी दैत्योंने अपने तपको भंग नहीं किया ॥ १२ ॥

अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चात्मजनस्तथा ॥ १३ ॥
प्रपात्यमाना विस्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ॥ १४ ॥
अभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् देवताओंने महान् आत्मबलसे सम्पन्न उन दोनों दैत्योंके सामने पुनः मायाका प्रयोग किया। उनकी मायानिर्मित बहनें, माताएँ, पत्नियाँ तथा अन्य आत्मीयजन वहाँ भागते हुए आते और उन्हें कोई शूलधारी राक्षस बार-बार खदेड़ता तथा पृथ्वीपर पटक देता था। उनके आभूषण गिर जाते, वस्त्र खिसक जाते और बालोंकी लटें खुल जाती थीं। वे सभी आत्मीयजन सुन्द-उपसुन्दको पुकारकर चीखते हुए कहते—'बेटा ! मुझे बचाओ, भैया ! मेरी रक्षा करो।' यह सब सुनकर भी वे दोनों महान् व्रतधारी तपस्वी अपनी तपस्यासे नहीं डिगे; अपने व्रतको नहीं तोड़ सके ॥ १३–१५ ॥

यदा क्षोभं नोपयाति नार्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १६ ॥

जब उन दोनोंमेंसे एक भी न तो इन घटनाओंसे क्षुब्ध हुआ और न किसीके मनमें कष्टका ही अनुभव हुआ, तब वे मायामयी स्त्रियाँ और वह राक्षस सब-के-सब अदृश्य हो गये ॥

ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेणच्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ १७ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंके हितैषी पितामह साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन दोनों महादैत्योंके निकट आकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ १७ ॥

ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १८ ॥
ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसानेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ १९ ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुदृढ़ पराक्रमी दोनों भाई सुन्द और उपसुन्द भगवान् ब्रह्माको उपस्थित देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये और एक साथ भगवान् ब्रह्मासे बोले—'भगवन् ! यदि आप हमारी तपस्यासे प्रसन्न हैं तो हम दोनों सम्पूर्ण मायाओंके ज्ञाता, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और अमर हो जायँ' ॥ १८–२० ॥

ब्रह्मोवाच

ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति ।
अन्यद् वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अमरत्वके सिवा तुम्हारी माँगी हुई सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। तुम मृत्युका कोई दूसरा ऐसा विधान माँग लो, जो तुम्हें देवताओंके समान बनाये रख सके॥

प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः ।
युवयोर्हेतुनानेन नामरत्वं विधीयते ॥ २२ ॥

हम तीनों लोकोंके ईश्वर होंगे, ऐसा संकल्प करके जो तुमलोगोंने यह बड़ी भारी तपस्या प्रारम्भ की थी, इसीलिये तुम-लोगोंको अमर नहीं बनाया जाता; क्योंकि अमरत्व तुम्हारी तपस्याका उद्देश्य नहीं था ॥ २२ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनानेन दैत्येन्द्रौ न वां कामं करोम्यहम् ॥२३॥

दैत्यपतियो ! तुम दोनोंने त्रिलोकीपर विजय पानेके लिये ही इस तपस्याका आश्रय लिया था, इसीलिये तुम्हारी अमरत्व-विषयक कामनाकी पूर्ति मैं नहीं कर रहा हूँ ॥ २३ ॥

सुन्दोपसुन्दावूचतुः

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नो भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २४ ॥

सुन्द और उपसुन्द बोले—पितामह ! तब यह वर दीजिये कि हम दोनोंमेंसे एक-दूसरेको छोड़कर तीनों लोकोंमें जो कोई भी चर या अचर भूत हैं, उनसे हमें मृत्युका भय न हो ॥ २४ ॥

पितामह उवाच

यत् प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद् ददानि वाम्।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद् वा भविष्यति ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जैसी प्रार्थना की है, तुम्हारी वह मुँहमाँगी वस्तु तुम्हें अवश्य दूँगा । तुम्हारी मृत्युका विधान ठीक इसी प्रकार होगा ॥ २५ ॥

नारद उवाच

ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत् तदा तयोः।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २६ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय उन दोनों दैत्योंको यह वरदान देकर और उन्हें तपस्यासे निवृत्त करके ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २६ ॥

लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावुभौ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २७ ॥

फिर वे दोनों भाई दैत्यराज सुन्द और उपसुन्द यह अभीष्ट वर पाकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये अवध्य हो पुनः अपने घरको ही लौट गये ॥ २७ ॥

तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ॥ २८ ॥

वरदान पाकर पूर्णकाम होकर लौटे हुए उन दोनों मनस्वी वीरोंको देखकर उनके सभी सगे-सम्बन्धी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८ ॥

ततस्तौ तु जटा भित्त्वा मौलिनौ सम्बभूवतुः।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ॥ २९ ॥
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम् ।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर उन्होंने जटाएँ कटाकर मस्तकपर मुकुट धारण कर लिये और बहुमूल्य आभूषण तथा निर्मल वस्त्र धारण करके ऐसा प्रकाश फैलाया, मानो असमयमें ही चाँदनी छिटक गयी हो और सर्वदा दिन-रात एकरस रहने लगी हो। उनके सभी सगे-सम्बन्धी सदा आमोद-प्रमोदमें डूबे रहते थे ॥ २९-३० ॥

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति ।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे ॥ ३१ ॥

प्रत्येक घरमें सर्वदा 'खाओ, भोग करो, लुटाओ, मौज करो, गाओ और पीओ' का शब्द गूँजता रहता था ॥३१॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत् पुरम् ॥ ३२ ॥

जहाँ-तहाँ जोर-जोरसे तालियाँ पीटनेकी ऊँची आवाजसे दैत्योंका वह सारा नगर हर्ष और आनन्दमें मग्न जान पड़ता था ॥ ३२ ॥

तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ॥ ३३ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे दैत्य वर्षोंतक भाँति-भाँतिके खेल-कूद और आमोद-प्रमोद करनेमें लगे रहे; किंतु वह सारा समय उन्हें एक दिनके समान लगा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्यानेऽष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ २०८

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द और उपसुन्दद्वारा क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करना

नारद उवाच

उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उत्सव समाप्त हो जानेपर तीनों लोकोंको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छासे आपसमें सलाह करके उन दोनों दैत्योंने सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सुहृद्भिरप्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥

सुहृदों तथा दैत्यजातीय बूढ़े मन्त्रियोंकी अनुमति लेकर उन्होंने रातके समय मघा नक्षत्रमें प्रस्थान करके यात्रा प्रारम्भ की ॥ २ ॥

गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया ।
प्रस्थितौ सह वर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा ॥ ४ ॥

उनके साथ गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर और कवचसे सुसज्जित दैत्योंकी विशाल सेना जा रही थी। वे दोनों सेनाके साथ प्रस्थान कर रहे थे । चारणलोग विजयसूचक मङ्गल और स्तुतिपाठ करते हुए उन दोनोंके गुण गाते जाते थे । इस प्रकार उन दोनों दैत्योंने बड़े आनन्दसे यात्रा की ॥ ३-४ ॥

तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले वे दोनों दैत्य इच्छानुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते थे; अतः आकाशमें उछलकर पहले देवताओंके ही घरोंपर जा चढ़े ॥५॥

तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत् प्रभोः।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः॥ ६ ॥

उनका आगमन सुनकर और ब्रह्माजीसे मिले हुए उनके वरदानका विचार करके देवतालोग स्वर्ग छोड़कर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ६ ॥

ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा।
खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन्द्रलोकपर विजय पाकर वे तीव्रपराक्रमी दैत्य यक्षों, राक्षसों तथा अन्यान्य आकाशचारी भूतोंको मारने और पीड़ा देने लगे ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगतान् नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ।
समुद्रवासिनीः सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः॥ ८ ॥

उन दोनों महारथियोंने भूमिके अंदर पातालमें रहनेवाले नागोंको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाली सम्पूर्ण म्लेच्छ जातियोंको परास्त किया ॥ ८ ॥

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः॥ ९ ॥

तदनन्तर भयंकर शासन करनेवाले वे दोनों दैत्य सारी पृथ्वीको जीतनेके लिये उद्यत हो गये और अपने सैनिकोंको बुलाकर अत्यन्त तीखे वचन बोले—॥ ९ ॥

राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा॥ १० ॥

'इस पृथ्वीपर बहुतसे राजर्षि और ब्राह्मण रहते हैं, जो बड़े-बड़े यज्ञ करके हव्य-कव्योंद्वारा देवताओंके तेज, बल और लक्ष्मीकी वृद्धि किया करते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवंप्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम्।
सम्भूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः॥ ११ ॥

'इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए वे सभी लोग असुरोंके द्रोही हैं। इसलिये हम सबको संगठित होकर उन सबका सब प्रकारसे वध कर डालना चाहिये' ॥ ११ ॥

एवं सर्वान् समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ॥ १२ ॥

समुद्रके पूर्वतटपर अपने समस्त सैनिकोंको ऐसा आदेश देकर मनमें क्रूर संकल्प लिये वे दोनों भाई सब ओर आक्रमण करने लगे ॥ १२ ॥

यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद् याजयन्ति च ये द्विजाः।
तान् सर्वान् प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः॥१३॥

जो लोग यज्ञ करते तथा जो ब्राह्मण आचार्य बनकर यज्ञ कराते थे, उन सबका बलपूर्वक वध करके वे महाबली दैत्य आगे बढ़ जाते थे ॥ १३ ॥

आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम्।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः॥ १४॥

उनके सैनिक शुद्धात्मा मुनियोंके आश्रमोंपर जाकर उनके अग्निहोत्रकी सामग्री उठाकर बिना किसी डर-भयके पानीमें फेंक देते थे ॥ १४ ॥

तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः।
नाक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः॥ १५ ॥

कुछ तपस्याके धनी महात्माओंने क्रोधमें भरकर उन्हें जो शाप दिये, उनके शाप भी उन दैत्योंके मिले हुए वरदानसे प्रतिहत होकर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके ॥ १५ ॥

नाक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव।
नियमान् सम्परित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः॥ १६ ॥

पत्थरपर चलाये हुए बाणोंकी भाँति जब शाप उन्हें पीड़ित न कर सके, तब ब्राह्मणलोग अपने सारे नियम छोड़कर वहाँसे भाग चले ॥ १६ ॥

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः।
तयोर्भयाद् दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः॥ १७ ॥

जैसे साँप गरुड़के डरसे भाग जाते हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके जितेन्द्रिय, शान्तिपरायण एवं तपःसिद्ध महात्मा भी उन दोनों दैत्योंके भयसे भाग जाते थे ॥ १७ ॥

मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः।
शून्यमासीज्जगत् सर्वं कालेनेव हतं तदा॥ १८ ॥

सारे आश्रम मथकर उजाड़ डाले गये। कलश और स्रुव तोड़-फोड़कर फेंक दिये गये। उस समय सारा जगत् कालके द्वारा विनष्ट हुएकी भाँति सूना हो गया ॥ १८ ॥

ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ॥ १९ ॥

राजन्! तदनन्तर जब गुफाओंमें छिपे हुए ऋषि दिखायी न दिये, तब उन दोनोंने एक राय करके उनके वधकी इच्छासे अपने स्वरूपको अनेक जीव-जन्तुओंके रूपमें बदल लिया ॥ १९ ॥

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम्॥ २० ॥

कठिन-से-कठिन स्थानमें छिपे हुए मुनिको भी वे मद बहानेवाले मतवाले हाथीका रूप धारण करके यमलोक पहुँचा देते थे ॥ २० ॥

सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन् दृष्ट्वा निजघ्नतुः॥२१॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥

वे कभी सिंह होते, कभी बाघ बन जाते और कभी अदृश्य हो जाते थे। इस प्रकार वे क्रूर दैत्य विभिन्न उपायोंद्वारा ऋषियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे। उस समय पृथ्वीपर यज्ञ और स्वाध्याय बंद हो गये। राजर्षि और ब्राह्मण नष्ट हो गये और यात्रा, विवाह आदि उत्सवों तथा यज्ञोंकी सर्वथा समाप्ति हो गयी ॥ २१-२२ ॥

हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥

सर्वत्र हाहाकार छा रहा था, भयका आर्तनाद सुनायी पड़ता था। बाजारोंमें खरीद-बिक्रीका नाम नहीं था। देवकार्य बंद हो गये। पुण्य और विवाहादि कर्म छूट गये थे ॥ २३ ॥

निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥

कृषि और गोरक्षाका नाम नहीं था, नगर और आश्रम उजड़कर खण्डहर हो गये थे। चारों ओर हड्डियाँ और कङ्काल भरे पड़े थे। इस प्रकार पृथ्वीकी ओर देखना भी भयानक प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम्।
जगत् प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत् तदा ॥ २५ ॥

श्राद्धकर्म लुप्त हो गया। वषट्कार और मङ्गलका कहीं नाम नहीं रह गया। सारा जगत् भयानक प्रतीत होता था। इसकी ओर देखना तक कठिन हो गया था ॥ २५ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः।
जग्मुर्विषादं तत् कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥

सुन्द और उपसुन्दका वह भयानक कर्म देखकर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे, नक्षत्र और देवता सभी अत्यन्त खिन्न हो उठे ॥ २६ ॥

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे दोनों दैत्य अपने क्रूर कर्मद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको जीतकर शत्रुओंसे रहित हो कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ २०९

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमाकी उत्पत्ति, उसके रूपका आकर्षण तथा सुन्दोपसुन्दको मोहित करनेके लिये उसका प्रस्थान

नारद उवाच

ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत् कदनं महत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सम्पूर्ण देवर्षि और सिद्ध-महर्षि वह महान् हत्याकाण्ड देखकर बहुत दुखी हुए ॥ १ ॥

तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥

उन्होंने अपने मन, इन्द्रियसमुदाय तथा क्रोधको जीत लिया था। फिर भी सम्पूर्ण जगत्पर दया करके वे ब्रह्माजीके धाममें गये ॥ २ ॥

ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात् परिवारितम् ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजीको देवताओं, सिद्धों और महर्षियोंसे सब ओर घिरे हुए बैठे देखा ॥ ३ ॥

तत्र देवो महादेवस्तत्राग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठ्यास्तथर्षयः ॥ ४ ॥

वैखानसा वालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः।
अजाश्चैवाविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ॥ ५ ॥

ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपागमन्।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्व एव महर्षयः ॥ ६ ॥

सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ॥ ७ ॥

न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ॥ ८ ॥

तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद् वचस्तदा ॥ ९ ॥

मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम्।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ १० ॥

वहाँ भगवान् महादेव, वायुसहित अग्निदेव, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मपुत्र महर्षि, वैखानस (वनवासी), वालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचिप, अजन्मा, अविमूढ़ तथा तेजोगर्भ आदि नाना प्रकारके तपस्वी मुनि ब्रह्माजीके पास आये थे। उन सभी महर्षियोंने निकट जाकर दीनभावसे ब्रह्माजीसे सुन्द-उपसुन्दके सारे क्रूर कर्मोंका वृत्तान्त कह सुनाया। दैत्योंने

जिस प्रकार लूट-पाट की, जैसे-जैसे और जिस क्रमसे लोगोंकी हत्याएँ कीं, वह सब समाचार पूर्णरूपसे ब्रह्माजीको बताया। तब सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंने भी इस बातको लेकर ब्रह्माजीको प्रेरणा की। ब्रह्माजीने उन सबकी बातें सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार किया। फिर उन दोनोंके वधके लिये कर्तव्यका निश्चय करके विश्वकर्माको बुलाया ॥ ४–१० ॥

दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः।
सृज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ॥ ११ ॥

उनको आया देखकर महातपस्वी ब्रह्माजीने यह आज्ञा दी कि तुम एक तरुणी स्त्रीके शरीरकी रचना करो, जो सबका मन लुभा लेनेवाली हो ॥ ११ ॥

पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके विश्वकर्माने उन्हें प्रणाम किया और खूब सोच-विचारकर एक दिव्य युवतीका निर्माण किया ॥ १२ ॥

त्रिषु लोकेषु यत् किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
समानयद् दर्शनीयं तत् तदत्र स विश्ववित् ॥ १३ ॥

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी चर और अचर दर्शनीय पदार्थ था, सर्वज्ञ विश्वकर्माने उस सबके सारांशका उस सुन्दरीके शरीरमें संग्रह किया ॥ १३ ॥

कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत्।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद् देवरूपिणीम् ॥ १४ ॥

उन्होंने उस युवतीके अङ्गोंमें करोड़ों रत्नोंका समावेश किया और इस प्रकार रत्नराशिमयी उस देवरूपिणी रमणीका निर्माण किया ॥ १४ ॥

सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाप्रतिमाभवत् ॥ १५ ॥

विश्वकर्माद्वारा बड़े प्रयत्नसे बनायी हुई वह दिव्य युवती अपने रूप-सौन्दर्यके कारण तीनों लोकोंकी स्त्रियोंमें अनुपम थी ॥१५॥

न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद् गात्रे रूपसम्पदा।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥ १६ ॥

उसके शरीरमें कहीं तिलभर भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँकी रूपसम्पत्तिको देखनेके लिये लगी हुई दर्शकोंकी दृष्टि जम न जाती हो ॥ १६ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १७ ॥

वह मूर्तिमती कामरूपिणी लक्ष्मीकी भाँति समस्त प्राणियोंके नेत्रों और मनको हर लेती थी ॥ १७ ॥

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद् विनिर्मिता।
तिलोत्तमेति तत् तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १८ ॥

उत्तम रत्नोंका तिल-तिलभर अंश लेकर उसके अङ्गोंका निर्माण हुआ था, इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रख दिया ॥ १८ ॥

ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं मयि भूतेश येनास्म्यद्येह निर्मिता ॥ १९ ॥

तदनन्तर तिलोत्तमा ब्रह्माजीको नमस्कार करके हाथ जोड़कर बोली—'प्रजापते! मुझपर किस कार्यका भार रक्खा गया है? जिसके लिये आज मेरे शरीरका निर्माण किया गया है' ॥ १९ ॥

पितामह उवाच

गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—भद्रे तिलोत्तमे! तू सुन्द और उपसुन्द नामक असुरोंके पास जा और अपने अत्यन्त कमनीय रूपके द्वारा उनको लुभा ॥ २० ॥

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसम्पत्कृतेन वै।
विरोधः स्याद् यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ॥ २१ ॥

तुझे देखते ही तेरे लिये—तेरी रूपसम्पत्तिके लिये उन दोनों दैत्योंमें परस्पर विरोध हो जाय, ऐसा प्रयत्न कर ॥

नारद उवाच

सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम्।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब तिलोत्तमाने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह देवमण्डलीकी परिक्रमा करने लगी ॥२२॥

प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः।
देवाश्चैवोत्तरेणासन् सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीके दक्षिणभागमें भगवान् महेश्वर पूर्वाभिमुख होकर बैठे थे; उत्तरभागमें देवतालोग थे तथा ऋषि-मुनि ब्रह्माजीके चारों ओर बैठे थे ॥ २३ ॥

कुर्वत्या तु तदा तत्र मण्डलं तत् प्रदक्षिणम्।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान् धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ॥ २४ ॥

वहाँ तिलोत्तमाने जब देवमण्डलीकी प्रदक्षिणा आरम्भ की, तब इन्द्र और भगवान् शङ्कर दोनों धैर्यपूर्वक अपने स्थानपर ही बैठे रहे ॥ २४ ॥

द्रष्टुकामस्य चात्यर्थं गतया पार्श्वतस्तया।
अन्यदञ्चितपक्ष्माक्षं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २५ ॥

जब वह दक्षिण पार्श्वकी ओर गयी, तब उसे देखनेकी इच्छासे भगवान् शङ्करके दक्षिणभागमें एक और मुख प्रकट हो गया, जो कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित था ॥ २५ ॥

पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम् ।
गतया चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ॥ २६ ॥

जब वह पीछेकी ओर गयी, तब उनका पश्चिम मुख प्रकट हुआ और उत्तर पार्श्वकी ओर उसके जानेपर भगवान् शिवके उत्तरवर्ती मुखका प्राकट्य हुआ ॥ २६ ॥

महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार इन्द्रके भी आगे, पीछे और पार्श्वभागमें सब ओर लाल कोनेवाले सहस्रों विशाल नेत्र प्रकट हो गये ॥

एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ॥ २८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् महादेवजीके चार मुख प्रकट हुए और बलहन्ता इन्द्रके हजार नेत्र हुए ॥

तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः ।
मुखानि चाभ्यवर्तन्त येन याति तिलोत्तमा ॥ २९ ॥

दूसरे-दूसरे देवताओं और महर्षियोंके मुख भी जिस ओर तिलोत्तमा जाती थी, उसी ओर घूम जाते थे ॥ २९ ॥

तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम् ।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ॥ ३० ॥

उस समय देवाधिदेव ब्रह्माजीको छोड़कर शेष सभी महानुभावोंकी दृष्टि तिलोत्तमाके शरीरपर बार-बार पड़ने लगी ॥

गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः ।
कृतमित्येव तत् कार्यं मेनिरे रूपसम्पदा ॥ ३१ ॥

जब वह जाने लगी, तब सभी देवताओं और महर्षियोंको उसकी रूपसम्पत्ति देखकर यह विश्वास हो गया कि अब वह सारा कार्य सिद्ध ही है ॥ ३१ ॥

तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः ।
सर्वान् विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ॥ ३२ ॥

तिलोत्तमाके चले जानेपर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने उन सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंको विदा किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने तिलोत्तमाप्रस्थापने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानके प्रसंगमें तिलोत्तमाप्रस्थापनविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमापर मोहित होकर सुन्द-उपसुन्दका आपसमें लड़ना और मारा जाना एवं तिलोत्तमाको ब्रह्माजीद्वारा वरप्राप्ति तथा पाण्डवोंका द्रौपदीके विषयमें नियम-निर्धारण

नारद उवाच

जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वे दोनों दैत्य सुन्द और उपसुन्द सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे रहित एवं व्यथारहित हो तीनों लोकोंको पूर्णतः अपने वशमें करके कृतकृत्य हो गये ॥ १ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम् ।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ॥ २ ॥

देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, मनुष्य तथा राक्षसोंके सभी रत्नोंको छीनकर उन दोनों दैत्योंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥२॥

यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन ।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ॥ ३ ॥

जब त्रिलोकीमें उनका सामना करनेवाले कोई नहीं रह गये, तब वे देवताओंके समान अकर्मण्य होकर भोग-विलासमें लग गये ॥ ३ ॥

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः ।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥

सुन्दरी स्त्रियों, मनोहर मालाओं, भाँति-भाँतिके सुगन्ध-द्रव्यों, पर्याप्त भोजन-सामग्रियों तथा मनको प्रिय लगनेवाले अनेक प्रकारके पेय रसोंका सेवन करके वे बड़े आनन्दसे दिन बिताने लगे ॥ ४ ॥

अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च ।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥

अन्तःपुरके उपवन और उद्यानमें, पर्वतोंपर, वनोंमें तथा अन्य मनोवाञ्छित प्रदेशोंमें भी वे देवताओंकी भाँति विहार करने लगे ॥ ५ ॥

ततः कदाचिद् विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥

तदनन्तर एक दिन विन्ध्यपर्वतके शिखरपर जहाँकी शिलामयी भूमि समतल थी और जहाँ ऊँचे शाल वृक्षोंकी शाखाएँ फूलोंसे भरी हुई थीं, वहाँ वे दोनों दैत्य विहार करनेके लिये गये ॥ ६ ॥

सुन्द और उपसुन्दका अत्याचार

तिलोत्तमाके लिये सुन्द और उपसुन्दका युद्ध

दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ॥ ७ ॥

वहाँ उनके लिये सम्पूर्ण दिव्य भोग प्रस्तुत किये गये, तदनन्तर वे दोनों भाई श्रेष्ठ आसनोंपर सुन्दरी स्त्रियोंके साथ आनन्दमग्न होकर बैठे ॥ ७ ॥

ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर बहुत-सी स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक उनके पास आयीं और वाद्य, नृत्य, गीत एवं स्तुति-प्रशंसा आदिके द्वारा उन दोनोंका मनोरञ्जन करने लगीं ॥ ८ ॥

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेशं साऽऽक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥

इसी समय तिलोत्तमा वहाँ वनमें फूल चुनती हुई आयी । उसके शरीरपर एक ही लाल रंगकी महीन साड़ी थी । उसने ऐसा वेश धारण कर रक्खा था, जो किसी भी पुरुषको उन्मत्त बना सकता था ॥ ९ ॥

नदीतीरेषु जातान् सा कर्णिकारान् प्रचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्रास्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥

नदीके किनारे उगे हुए कनेरके फूलोंका संग्रह करती हुई वह धीरे-धीरे उसी स्थानकी ओर गयी, जहाँ वे दोनों महादैत्य बैठे थे ॥ १० ॥

तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ सम्बभूवतुः ॥ ११ ॥

उन दोनोंने बहुत अच्छा मादक रस पी लिया था, जिससे उनके नेत्र नशेके कारण कुछ लाल हो गये थे । उस सुन्दर अङ्गोंवाली तिलोत्तमाको देखते ही वे दोनों दैत्य कामवेदनासे व्यथित हो उठे ॥ ११ ॥

तावुत्थायासनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च कामसम्मत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥

और अपना आसन छोड़कर खड़े हो उसी स्थानपर गये, जहाँ वह खड़ी थी । दोनों ही कामसे उन्मत्त हो रहे थे, इसलिये दोनों ही उसे अपनी स्त्री बनानेके लिये उससे प्रेमकी याचना करने लगे ॥ १२ ॥

दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना ।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥

सुन्दने सुन्दर भौंहोंवाली तिलोत्तमाका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने उसका बायाँ हाथ पकड़ लिया ॥ १३ ॥

वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च ।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥

एक तो वे दुर्लभ वरदानके मदसे उन्मत्त थे, दूसरे उनपर अपने स्वाभाविक बलका नशा सवार था । इसके सिवा धनमद, रत्नमद और सुरापानके मदसे भी वे उन्मत्त हो रहे थे ॥

सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ ।
(तौ कटाक्षेण दैत्येन्द्रावाकर्षति मुहुर्मुहुः ।
दक्षिणेन कटाक्षेण सुन्दं जग्राह कामिनी ॥
वामेनैव कटाक्षेण उपसुन्दं जिघृक्षती ।
गन्धाभरणरूपैस्तौ व्यामोहं जग्मतुस्तदा ॥)
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥

इन सभी मदोंसे उन्मत्त होनेके कारण आपसमें ही एक दूसरेपर उनकी भौंहें तन गयीं । तिलोत्तमा कटाक्षद्वारा उन दोनों दैत्यराजोंको बार-बार अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी । उस कामिनीने अपने दाहिने कटाक्षसे सुन्दको आकृष्ट कर लिया और बायें कटाक्षसे वह उपसुन्दको वशमें करनेकी चेष्टा करने लगी । उसकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणराशि तथा रूप-सम्पत्तिसे वे दोनों दैत्य तत्काल मोहित हो गये । उनमें मद और कामका आवेश हो गया; अतः वे एक-दूसरेसे इस प्रकार बोले—॥

मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत ।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

सुन्दने कहा—'अरे ! यह मेरी पत्नी है, तुम्हारे लिये माताके समान है ।' यह सुनकर उपसुन्द बोल उठा—'नहीं-नहीं, यह मेरी भार्या है, तुम्हारे लिये तो पुत्रवधूके समान है' ॥

नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत् ।
तस्या रूपेण सम्मत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ॥ १७ ॥

'यह तुम्हारी नहीं है, मेरी है', यही कहते-कहते उन दोनोंको क्रोध चढ़ आया । तिलोत्तमाके रूपसे मतवाले होकर वे दोनों स्नेह और सौहार्दसे शून्य हो गये ॥ १७ ॥

तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतावुभौ तदा ।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ॥ १८ ॥

उस सुन्दरीको पानेके लिये दोनों भाइयोंने उस समय हाथमें भयंकर गदाएँ ले लीं । दोनों ही उसके प्रति कामसे मोहित हो रहे थे ॥ १८ ॥

अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ॥ १९ ॥

'पहले मैं इसे प्राप्त करूँगा', 'नहीं, पहले मैं'; ऐसा कहते हुए दोनों एक-दूसरेको मारने लगे । इस प्रकार गदाओंकी चोट खाकर वे दोनों भयानक दैत्य धरतीपर गिर पड़े ॥ १९ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा ॥ २० ॥
पातालमगमत् सर्वो विषादभयकम्पितः ।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ॥ २१ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम् ।
वरेणच्छन्दयामास भगवान् प्रपितामहः ॥ २२ ॥

उनके सारे अङ्ग खूनसे लथ-पथ हो रहे थे । ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे दो सूर्य पृथ्वीपर गिर गये हों ।

उनके मारे जानेपर वे सब स्त्रियाँ वहाँसे भाग गयीं और दैत्योंका वह सारा समुदाय विषाद और भयसे कम्पित होकर पातालमें चला गया। तत्पश्चात् विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् ब्रह्माजी देवताओं और महर्षियोंके साथ तिलोत्तमाकी प्रशंसा करते हुए वहाँ आये और भगवान् पितामहने उसे वरके द्वारा प्रसन्न किया ॥ २०—२२ ॥

वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः।
आदित्यचरिताँल्लोकान् विचरिष्यसि भाविनि ॥ २३ ॥
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन।
एवं तस्यै वरं दत्त्वा सर्वलोकपितामहः ॥ २४ ॥
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः।

वर देनेके लिये उत्सुक हुए ब्रह्माजी स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भामिनि ! जहाँतक सूर्यकी गति है, उन सभी लोकोंमें तू इच्छानुसार विचर सकेगी । तुझमें इतना तेज होगा कि कोई आँख भरकर तुझे अच्छी तरह देख भी न सकेगा ।' इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी तिलोत्तमाको वरदान देकर तथा त्रिलोकीकी रक्षाका भार इन्द्रको सौंपकर पुनः ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २३-२४½ ॥

नारद उवाच

एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ॥ २५ ॥
तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः।
तस्माद् ब्रवीमि वः स्नेहात् सर्वान् भरतसत्तमाः ॥ २६ ॥
यथा वो नात्र भेदः स्यात् सर्वेषां द्रौपदीकृते।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ ॥ २७ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सुन्द और उपसुन्दने परस्पर संगठित और सभी बातोंमें एकमत रहकर भी तिलोत्तमाके लिये कुपित हो एक-दूसरेको मार डाला। अतः भरतवंशशिरोमणियो ! मैं तुम सब लोगोंसे स्नेहवश कहता हूँ कि यदि मेरा प्रिय चाहते हो, तो ऐसा कुछ नियम बना लो, जिससे द्रौपदीके लिये तुम सब लोगोंमें फूट न होने पावे । तुम्हारा कल्याण हो ॥ २५—२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यवशमागताः।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदके ऐसा कहनेपर एक दूसरेके अधीन रहनेवाले उन अमिततेजस्वी महात्मा पाण्डवोंने देवर्षिके सामने ही यह नियम बनाया—॥२८॥

(एकैकस्य गृहे कृष्णा वसेद् वर्षमकल्मषा ।)
द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत्।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २९ ॥

'हममेंसे प्रत्येकके घरमें पापरहित द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करे । द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए हममेंसे एक भाईको यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें निवास करे' ॥ २९ ॥

कृते तु समये तस्मिन् पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।
नारदोऽप्यगमत् प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ ३० ॥

धर्मका आचरण करनेवाले पाण्डवोंद्वारा यह नियम स्वीकार कर लिये जानेपर महामुनि नारदजी प्रसन्न हो अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! इस प्रकार नारदजीकी प्रेरणासे पाण्डवोंने पहले ही नियम बना लिया था । इसीलिये वे सब आपसमें कभी एक दूसरेके विरोधी नहीं हुए ॥ ३१ ॥

(एतद् विस्तरशः सर्वमाख्यातं ते नरेश्वर।
काले च तस्मिन् सम्पन्नं यथावज्जनमेजय ॥)

नरेश्वर जनमेजय ! उस समय जो बातें जिस प्रकार घटित हुई थीं, वे सब मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक बतायी हैं ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

(अर्जुनवनवासपर्व)

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाके लिये नियमभङ्ग और वनकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीक्षितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार नियम बनाकर पाण्डवलोग वहाँ रहने लगे । वे अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे दूसरे राजाओंको अधीन करते रहते थे ॥ १ ॥

तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम्।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी॥ २॥

कृष्णा मनुष्योंमें सिंहके समान वीर और अमित तेजस्वी उन पाँचों पाण्डवोंकी आज्ञाके अधीन रहती थी॥ २॥

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः।
बभूव परमप्रीता नागैर्भोगवती यथा॥ ३॥

पाण्डव द्रौपदीके साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियोंके साथ ठीक उसी तरह अत्यन्त प्रसन्न रहती थी जैसे नागोंके रहनेसे भोगवतीपुरी परम शोभायुक्त होती है॥ ३॥

वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु।
व्यवर्धन् कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः॥ ४॥

महात्मा पाण्डवोंके धर्मानुसार वर्ताव करनेके कारण समस्त कुरुवंशी निर्दोष एवं सुखी रहकर निरन्तर उन्नति करने लगे॥ ४॥

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
कस्यचित् तस्करा जह्रुः केचिद् गा नृपसत्तम॥ ५॥

महाराज! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् एक दिन कुछ चोरोंने किसी ब्राह्मणकी गौएँ चुरा लीं॥ ५॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत् स पाण्डवान्॥ ६॥

अपने गोधनका अपहरण होता देख ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और खाण्डवप्रस्थमें आकर उसने उच्चस्वरसे पाण्डवोंको पुकारा—॥ ६॥

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः।
प्रसह्य चास्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः॥ ७॥

'पाण्डवो! हमारे गाँवसे कुछ नीच, क्रूर और पापात्मा चोर जबरदस्ती गोधन चुराकर लिये जा रहे हैं। उसकी रक्षाके लिये दौड़ो॥ ७॥

ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाभिमर्दति॥ ८॥

'आज एक शान्तस्वभाव ब्राह्मणका हविष्य कौए लूटकर खा रहे हैं। नीच सियार सिंहकी सूनी गुफाको रौंद रहा है॥ ८॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम्॥ ९॥

'जो राजा प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें वसूल करता है, किंतु प्रजाकी रक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोकोंमें पूर्ण पापाचारी कहा गया है॥ ९॥

ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतामस्त्रधारणम्॥ १०॥

'मुझ ब्राह्मणका धन चोर लिये जा रहे हैं, मेरे गौके न रहनेपर दुग्ध आदि हविष्यके अभावसे धर्म और अर्थका लोप हो रहा है तथा मैं यहाँ आकर रो रहा हूँ। पाण्डवो! (चोरोंको दण्ड देनेके लिये) अस्त्र धारण करो'॥ १०॥

वैशम्पायन उवाच

रोरूयमाणस्याभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनंजयः॥ ११॥
श्रुत्वैव च महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वह ब्राह्मण निकट आकर बहुत रो रहा था। पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन धनंजयने उसकी कही हुई सारी बातें सुनीं और सुनकर उन महाबाहुने उस ब्राह्मणसे कहा—'डरो मत'॥ ११½॥

आयुधानि च यत्रासन् पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १२॥
कृष्णया सह तत्रास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
सम्प्रवेशाय चाशक्तो गमनाय च पाण्डवः॥ १३॥

महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र जहाँ रक्खे गये थे, वहीं धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णाके साथ एकान्तमें बैठे थे। अतः पाण्डुपुत्र अर्जुन न तो घरके भीतर प्रवेश कर सकते थे और न खाली हाथ चोरोंका ही पीछा कर सकते थे॥ १२-१३॥

तस्य चार्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः॥ १४॥

इधर उस आर्त ब्राह्मणकी बातें उन्हें बार-बार शस्त्र लेआनेको प्रेरित कर रही थीं। जब वह अधिक रोने-चिल्लाने लगा, तब अर्जुनने दुखी होकर सोचा—॥ १४॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः॥ १५॥

'इस तपस्वी ब्राह्मणके गोधनका अपहरण हो रहा है; अतः ऐसे समयमें इसके आँसू पोंछना मेरा कर्तव्य है। यही मेरा निश्चय है॥ १५॥

उपप्रेक्षणजोऽधर्मः सुमहान् स्यान्महीपतेः।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम्॥ १६॥

'यदि मैं राजद्वारपर रोते हुए इस ब्राह्मणकी रक्षा आज नहीं करूँगा, तो महाराज युधिष्ठिरको उपेक्षाजनित महान् अधर्मका भागी होना पड़ेगा॥ १६॥

अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत्॥ १७॥

'इसके सिवा लोकमें यह बात फैल जायगी कि हम सब लोग किसी आर्तकी रक्षारूप धर्मके पालनमें श्रद्धा नहीं रखते। साथ ही हमें अधर्म भी प्राप्त होगा॥ १७॥

अनादृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवानृतं भवेत्॥ १८॥

'यदि राजाका अनादर करके मैं घरके भीतर चला जाऊँ, तो महाराज अजातशत्रुके प्रति मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या होगी ॥ १८ ॥

अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम।
सर्वमन्यत् परिहृतं धर्षणात् तु महीपतेः ॥ १९ ॥

'राजाकी उपस्थितिमें घरके भीतर प्रवेश करनेपर मुझको वनमें निवास करना होगा। इसमें महाराजके तिरस्कारके सिवा और सारी बातें तुच्छ होनेके कारण उपेक्षणीय हैं ॥ १९ ॥

अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥

'चाहे राजाके तिरस्कारसे मुझे नियमभङ्गका महान् दोष प्राप्त हो अथवा वनमें ही मेरी मृत्यु हो जाय तथापि शरीरको नष्ट करके भी गौ-ब्राह्मण-रक्षारूप धर्मका पालन ही श्रेष्ठ है' ॥ २० ॥

एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत।

जनमेजय ! ऐसा निश्चय करके कुन्तीकुमार धनंजयने राजासे पूछकर घरके भीतर प्रवेश करके धनुष ले लिया और (बाहर आकर) प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा—॥ २१½ ॥

ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत् परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद् गच्छावहे सह।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चौरहस्ताद् धनं तव ॥ २३ ॥

'विप्रवर ! शीघ्र आइये। जबतक दूसरोंके धन हड़पनेकी इच्छावाले वे क्षुद्र चोर दूर नहीं चले जाते, तभीतक हम दोनों एक साथ वहाँ पहुँच जायँ। मैं अभी आपका गोधन चोरोंके हाथसे छीनकर आपको लौटा देता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद् धनम् ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धनुष और कवच धारण करके ध्वजायुक्त रथपर आरूढ़ हो उन चोरोंका पीछा किया और बाणोंसे चोरोंका विनाश करके सारा गोधन जीत लिया ॥

ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः।
ततस्तद् गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ॥ २५ ॥
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनंजयः।
सोऽभिवाद्य गुरून् सर्वान् सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः॥ २६ ॥

फिर ब्राह्मणको वह सारा गोधन देकर प्रसन्न करके अनुपम यशके भागी हो पाण्डुपुत्र सव्यसाची वीर धनंजय पुनः अपने नगरमें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने समस्त गुरुजनोंको प्रणाम किया और उन सभी गुरुजनोंने उनकी बड़ी प्रशंसा एवं अभिनन्दन किया ॥ २५-२६ ॥

धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ॥ २७ ॥
वनवासो गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः।

इसके बाद अर्जुनने धर्मराजसे कहा—'प्रभो ! मैंने आपको द्रौपदीके साथ देखकर पहलेके निश्चित नियमको भङ्ग किया है; अतः आप इसके लिये मुझे प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दीजिये। मैं वनवासके लिये जाऊँगा; क्योंकि हमलोगोंमें यह शर्त हो चुकी है' ॥ २७½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ॥ २८ ॥
कथमित्यब्रवीद् वाचा शोकार्तः सज्जमानया।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ॥ २९ ॥
उवाच दीनो राजा च धनंजयमिदं वचः।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥ ३० ॥

अर्जुनके मुखसे सहसा यह अप्रिय वचन सुनकर धर्मराज शोकातुर होकर लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—'ऐसा क्यों करते हो ?' इसके बाद राजा युधिष्ठिर धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई गुडाकेश धनंजयसे फिर दीन होकर बोले—'अनघ ! यदि तुम मुझको प्रमाण मानते हो, तो मेरी यह बात सुनो—॥ २८—३० ॥

अनुप्रवेशे यद् वीर कृतवांस्त्वं मम प्रियम्।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ ३१ ॥

'वीरवर ! तुमने घरके भीतर प्रवेश करके तो मेरा प्रिय कार्य किया है, अतः उसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ; क्योंकि मेरे हृदयमें वह अप्रिय नहीं है ॥ ३१ ॥

गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ ३२ ॥

'यदि बड़ा भाई घरमें स्त्रीके साथ बैठा हो, तो छोटे

भाईका वहाँ जाना दोषकी बात नहीं है; परंतु छोटा भाई घरमें हो, तो बड़े भाईका वहाँ जाना उसके धर्मका नाश करनेवाला है ॥ ३२ ॥

निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च ते धर्षणा कृता ॥ ३३ ॥

'अतः महाबाहो ! मेरी बात मानो; वनवासका विचार छोड़ दो। न तो तुम्हारे धर्मका लोप हुआ है और न तुम्हारे-द्वारा मेरा तिरस्कार ही किया गया है' ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोले—प्रभो ! मैंने आपके ही मुखसे सुना है कि धर्माचरणमें कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। अतः मैं सत्यकी शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि सत्यसे विचलित नहीं होऊँगा ॥ ३४ ॥

(आज्ञा तु मम दातव्या भवता कीर्तिवर्धन।
भवदाज्ञामृते किंचिन्न कार्यमिति निश्चितम् ॥)

यशोवर्धन ! मुझे आप वनवासके लिये आज्ञा दें, मेरा यह निश्चय है कि मैं आपकी आज्ञाके विना कोई कार्य नहीं करूँगा॥

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाकी आज्ञा लेकर अर्जुनने वनवासकी दीक्षा ली और वनमें बारह वर्षोंतक रहनेके लिये वे वहाँसे चल पड़े ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनतीर्थयात्रायां द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनतीर्थयात्राविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३६ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गङ्गाद्वारमें ठहरना और वहाँ उनका उलूपीके साथ मिलन

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयान्तं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम्।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरववंशका यश बढ़ानेवाले महाबाहु अर्जुन जब जाने लगे, उस समय बहुत-से वेदज्ञ महात्मा ब्राह्मण उनके साथ हो लिये ॥ १ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वांसस्तथैवाध्यात्मचिन्तकाः।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ॥ २ ॥
कथकाश्चापरे राजन् श्रमणाश्च वनौकसः।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ॥ ३ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके विद्वान्, अध्यात्मचिन्तन करनेवाले, भिक्षाजीवी ब्रह्मचारी, भगवद्भक्त, पुराणोंके ज्ञाता सूत, अन्य कथावाचक, संन्यासी, वानप्रस्थ तथा जो ब्राह्मण मधुर स्वरसे दिव्य कथाओंका पाठ करते हैं, वे सब अर्जुनके साथ गये ॥ २-३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके साथ चलते हैं, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन पूर्वोक्त पुरुषों तथा अन्य बहुत-से मधुरभाषी सहायकोंके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ४ ॥

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ ६ ॥

भारत ! नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्गमें अनेक रमणीय एवं विचित्र वन, सरोवर, नदी, सागर, देश और पुण्यतीर्थ देखे। धीरे-धीरे गङ्गाद्वार (हरद्वार) में पहुँचकर शक्तिशाली पार्थने वहीं डेरा डाल दिया ॥ ५-६ ॥

तत्र तस्याद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय।
कृतवान् यद् विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः॥ ७ ॥

जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें अर्जुनका एक अद्भुत कार्य सुनो, जो पाण्डवोंमें श्रेष्ठ विशुद्धचित्त धनंजयने किया था ॥ ७ ॥

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥

भारत ! जब कुन्तीकुमार और उनके साथी ब्राह्मणलोग गङ्गाद्वारमें ठहर गये, तब उन ब्राह्मणोंने अनेक स्थानोंपर अग्निहोत्रके लिये अग्नि प्रकट की ॥ ८ ॥

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथि स्थितैः।
शुशुभेऽतीव तद् राजन् गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥

गङ्गाके तटपर जब अलग-अलग अग्नियाँ प्रज्वलित हो गयीं और सन्मार्गमें स्थित एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें रखने-

वाले विद्वान् ब्राह्मणलोग स्नान करके फूलोंके उपहार चढ़ाकर जब पूर्वोक्त अग्नियोंमें आहुति दे चुके, तब उन महात्माओंके द्वारा उस गङ्गाद्वार नामक तीर्थकी शोभा बहुत बढ़ गयी ॥

तथा पर्याकुले तस्मिन् निवेशे पाण्डवर्षभः।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार विद्वान् एवं महात्मा ब्राह्मणोंसे जब उनका आश्रम भरा-पूरा हो गया, उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्नान करनेके लिये गङ्गामें उतरे ॥ ११ ॥

तत्राभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान्।
उत्तितीर्षुर्जलाद् राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥

राजन्! वहाँ स्नान करके पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् अग्निहोत्र करनेके लिये वे जलसे निकलना ही चाहते थे कि नागराजकी पुत्री उलूपीने उनके प्रति आसक्त हो पानीके भीतरसे ही महाबाहु अर्जुनको खींच लिया ॥ १२-१३ ॥

ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः।
कौरव्यस्याथ नागस्य भवने परमार्चिते ॥ १४ ॥

नागराज कौरव्यके परम सुन्दर भवनमें पहुँचकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर देखा, तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ १४ ॥

तत्राग्निकार्यं कृतवान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनातुष्यद्धुताशनः ॥ १५ ॥

उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयने निर्भीक होकर उसी अग्निमें अपना अग्निहोत्रकार्य सम्पन्न किया। इससे अग्निदेव बहुत संतुष्ट हुए ॥ १५ ॥

अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अग्निहोत्रका कार्य कर लेनेके पश्चात् अर्जुनने नागराज-कन्यासे हँसते हुए-से यह बात कही—॥ १६ ॥

किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि।
कश्चायं सुभगे देशः का च त्वं कस्य वाऽऽत्मजा ॥ १७ ॥

'भीरु! तुमने ऐसा साहस क्यों किया है? भाविनि! यह कौन-सा देश है? सुभगे! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?' ॥१७॥

उलूप्युवाच

ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः।
तस्यास्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ॥१८॥

उलूपीने कहा—राजन्! ऐरावत नागके कुलमें कौरव्य नामक नाग उत्पन्न हुए हैं, मैं उन्हींकी पुत्री नागिन हूँ। मेरा नाम उलूपी है ॥ १८ ॥

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम्।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्छिता ॥१९॥

नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करनेके लिये समुद्रगामिनी नदी गङ्गामें उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं कामवेदनासे मूर्च्छित हो गयी थी ॥ १९ ॥

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन।
अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ ॥२०॥

निष्पाप कुरुनन्दन! मैं आपके ही लिये कामदेवके तापसे जली जा रही हूँ। मैंने आपके सिवा दूसरेको अपना हृदय अर्पण नहीं किया है। अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम्।
धर्मराजेन चादिष्टं नाहमस्मि स्वयंवशः ॥२१॥

अर्जुन बोले—भद्रे! यह मेरे बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले ब्रह्मचर्यव्रतका समय है। धर्मराज युधिष्ठिरने मुझे इस व्रतके पालनकी आज्ञा दी है। अतः मैं अपने वशमें नहीं हूँ ॥ २१ ॥

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥२२॥

जलचारिणि! मैं तुम्हारा भी प्रिय करना चाहता हूँ। मैंने पहले कभी कोई असत्य बात नहीं कही है ॥ २२ ॥

कथं च नानृतं मे स्यात् तव चापि प्रियं भवेत्।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्या भुजङ्गमे ॥२३॥

नागकन्ये! तुम ऐसा कोई उपाय करो, जिससे मुझे झूठका दोष न लगे, तुम्हारा भी प्रिय हो और मेरे धर्मको भी हानि न पहुँचे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम्।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान् गुरुः ॥२४॥

उलूपीने कहा—पाण्डुनन्दन! आप जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं और आपके बड़े भाईने जिस प्रकार आपको ब्रह्मचर्य-पालनका आदेश दिया है, वह सब मैं जानती हूँ॥

परस्परं वर्तमानान् द्रुपदस्यात्मजां प्रति।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात् स वै द्वादशवार्षिकम् ॥२५॥
वने चरेद् ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः।

आपलोगोंने आपसमें यह शर्त कर रक्खी है कि हम लोगोंमेंसे कोई भी यदि द्रौपदीके पास रहे, उस दशामें यदि दूसरा मोहवश उस घरमें प्रवेश करे, तो वह बारह वर्षोंतक वनमें रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ २५½ ॥

तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ॥२६॥
कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ॥२७॥

अतः आपके बड़े भाईने वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये केवल द्रौपदीको निमित्त बनाकर यह एक-दूसरेके प्रवासका नियम बनाया है। यहाँ आपका धर्म दूषित नहीं होता। विशाल नेत्रोंवाले अर्जुन! आपको आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद् व्यतिक्रमः॥
स च ते धर्म एव स्याद् दत्त्वा प्राणान् ममार्जुन।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ॥२९॥

मेरी रक्षा करनेसे आपके धर्मका लोप नहीं होगा। यदि आपके इस धर्मका थोड़ा-सा व्यतिक्रम हो भी जाय तो भी मुझे प्राणदान देनेसे तो आपको महान् धर्म होगा ही। अतः मेरे स्वामी कुन्तीकुमार अर्जुन! मैं आपकी भक्त हूँ, मुझे स्वीकार कीजिये; यह आर्तरक्षण सत्पुरुषोंका मत है ॥२८-२९॥

न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ॥३०॥

महाबाहो! यदि आप मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो निश्चय जानिये, मैं मर जाऊँगी। अतः मुझे प्राणदान देकर अत्यन्त उत्तम धर्मका अनुष्ठान कीजिये ॥ ३० ॥

शरणं च प्रपन्नास्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम।
दीनाननाथान् कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ॥३१॥

पुरुषोत्तम! आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। कुन्ती-कुमार! आप प्रतिदिन न जाने कितने दीनों और अनाथोंकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥

साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता।
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम्।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥३२॥

मैं भी यही आशा लेकर शरणमें आयी हूँ और बार-बार दुखी होकर रोती-गिड़गिड़ाती हूँ। मैं आपके प्रति अनुरक्त हूँ और आपसे समागमकी याचना करती हूँ। अतः मेरा प्रिय मनोरथ पूर्ण कीजिये। मुझे आत्मदान देकर मेरी कामना सफल कीजिये ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया।
कृतवांस्तत् तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नागराजकी कन्या उलूपीके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने धर्मको ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया ॥ ३३ ॥

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान्।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ॥३४॥

प्रतापी अर्जुनने नागराजके घरमें ही वह रात्रि व्यतीत की। फिर सूर्योदय होनेपर वे कौरव्यके भवनसे ऊपरको उठे ॥३४॥

आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥३५॥

उलूपीके साथ अर्जुन फिर गङ्गाद्वारमें आ पहुँचे। साध्वी उलूपी उन्हें वहाँ छोड़कर पुनः अपने घरको लौट गयी॥

दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥३६॥
(पुत्रमुत्पादयामास स तस्यां सुमनोहरम्।
इरावन्तं महाभागं महाबलपराक्रमम् ॥)

भारत! जाते समय उसने अर्जुनको यह वर दिया कि आप जलमें सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वशमें रहेंगे, इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार अर्जुनने उलूपीके गर्भसे अत्यन्त मनोहर तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न इरावान् नामक महाभाग पुत्र उत्पन्न किया ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वण्युलूपीसङ्गमे च त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें उलूपी-समागमविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पूर्वदिशाके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मणिपूरमें जाकर चित्राङ्गदाका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न करना

वैशम्पायन उवाच

कथयित्वा च तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रातकी वह सारी घटना ब्राह्मणोंसे कहकर इन्द्रपुत्र अर्जुन हिमालयके पास चले गये ॥ १ ॥

अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम्।
भृगुतुङ्गे च कौन्तेयः कृतवाञ्छौचमात्मनः ॥ २ ॥

अगस्त्यवट, वसिष्ठपर्वत तथा भृगुतुङ्गपर जाकर उन्होंने शौच-स्नान आदि किये ॥ २ ॥

प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत् कुरुसत्तमः ॥ ३ ॥

भारत ! कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने उन तीर्थोंमें ब्राह्मणोंको कई हजार गौएँ दान कीं और द्विजातियोंके रहनेके लिये घर एवं आश्रम बनवा दिये ॥ ३ ॥

हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः।
दृष्टवान् पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥

हिरण्यबिंदुतीर्थमें स्नान करके पाण्डवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम अर्जुनने अनेक पवित्र स्थानोंका दर्शन किया ॥ ४ ॥

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥ ५ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् हिमालयसे नीचे उतरकर भरत-कुलभूषण नरश्रेष्ठ अर्जुन पूर्व दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५ ॥

आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान् कुरुसत्तमः।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम्।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥ ७ ॥

भारत ! फिर उस यात्रामें कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अनेक तीर्थोंका तथा नैमिषारण्यतीर्थमें बहनेवाली रमणीय उत्पलिनी नदी, नन्दा, अपरनन्दा, यशस्विनी कौशिकी (कोसी), महानदी, गयातीर्थ और गङ्गाजीका भी दर्शन किया ॥ ६-७ ॥

एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाऽऽश्रमान्।
आत्मनः पावनं कुर्वन् ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः ॥ ८ ॥

इस प्रकार उन्होंने सब तीर्थों और आश्रमोंको देखते हुए स्नान आदिसे अपनेको पवित्र करके ब्राह्मणोंके लिये बहुत-सी गौएँ दान कीं ॥ ८ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित्।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ ९ ॥

तदनन्तर अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग देशोंमें जो कोई भी पवित्र तीर्थ और मन्दिर थे, उन सबमें वे गये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च विधिवत् तानि धनं चापि ददौ ततः।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥

और उन तीर्थोंका दर्शन करके उन्होंने विधिपूर्वक वहाँ धन-दान किया। कलिङ्ग राष्ट्रके द्वारपर पहुँचकर अर्जुनके साथ चलनेवाले ब्राह्मण उनकी अनुमति लेकर वहाँसे लौट गये ॥ १० ॥

स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः ॥ ११ ॥

परंतु कुन्तीपुत्र शूरवीर धनंजय उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा ले थोड़े-से सहायकोंके साथ उस स्थानकी ओर गये, जहाँ समुद्र लहराता था ॥ ११ ॥

स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च।
हर्म्याणि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ॥ १२ ॥

कलिङ्ग देशको लाँघकर शक्तिशाली अर्जुन अनेक देशों, मन्दिरों तथा रमणीय अट्टालिकाओंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ॥ १२ ॥

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम्।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥ १३ ॥

इस प्रकार वे तपस्वी मुनियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतका दर्शन कर समुद्रके किनारे-किनारे यात्रा करते हुए धीरे-धीरे मणिपूर पहुँच गये ॥ १३ ॥

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥

वहाँके सम्पूर्ण तीर्थों और पवित्र मन्दिरोंमें जानेके बाद महाबाहु अर्जुन मणिपूरनरेशके पास गये ॥ १४ ॥

मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम्।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥

राजन् ! मणिपूरके स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन थे। उनके चित्राङ्गदा नामवाली एक परम सुन्दरी कन्या थी ॥ १५ ॥

तां ददर्श पुरे तस्मिन् विचरन्तीं यदृच्छया।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥

उस नगरमें विचरण करती हुई उस सुन्दर अङ्गोंवाली चित्रवाहनकुमारीको अकस्मात् देखकर अर्जुनके मनमें उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई ॥ १६ ॥

अभिगम्य च राजानमवदत् स्वं प्रयोजनम्।
देहि मे खल्विमां राजन् क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥

अतः राजासे मिलकर उन्होंने अपना अभिप्राय इस प्रकार बताया—'महाराज ! मुझ महामनस्वी क्षत्रियको आप अपनी यह पुत्री प्रदान कर दीजिये' ॥ १७ ॥

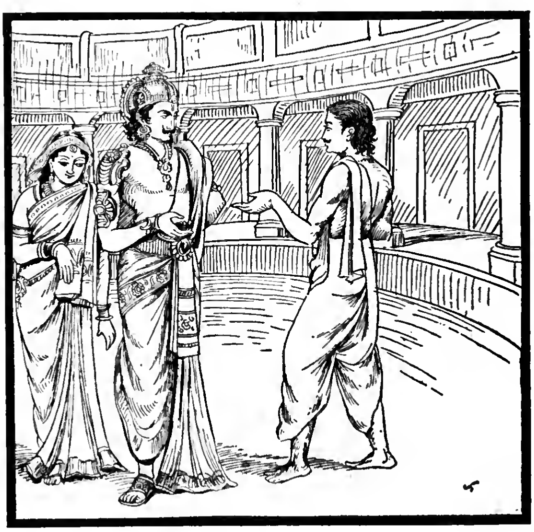

तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद् राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम्।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥१८॥

यह सुनकर राजाने पूछा—'आप किनके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है ?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'मैं महाराज पाण्डु तथा कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ । मुझे लोग धनंजय कहते हैं' ॥ १८ ॥

तमुवाचाथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन् सम्बभूव ह ॥१९॥

तब राजाने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'इस कुलमें पहले प्रभञ्जन नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं ॥ १९ ॥

अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम्।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक् ॥२०॥
ईश्वरस्तोषितः पार्थ देवदेव उमापतिः।
स तस्मै भगवान् प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ॥२१॥

'उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने पुत्रकी इच्छासे उत्तम तपस्या प्रारम्भ की । पार्थ ! उन्होंने उस उग्र तपस्यासे पिनाकधारी देवाधिदेव महेश्वरको संतुष्ट कर लिया । तब देवदेवेश्वर भगवान् उमापति उन्हें वरदान देते हुए बोले, 'तुम्हारे कुलमें एक-एक संतान होती जायगी' ॥ २०-२१ ॥

एकैकः प्रसवस्तस्माद् भवत्यस्मिन् कुले सदा।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ॥२२॥
एका च मम कन्येयं कुलस्योत्पादिनी भृशम्।
पुत्रो ममायमिति मे भावना पुरुषर्षभ ॥२३॥

'इस कारण हमारे इस कुलमें सदासे एक-एक संतान ही होती चली आ रही है । मेरे अन्य सभी पूर्वजोंके तो पुत्र होते आये हैं, परंतु मेरे यह एक कन्या ही हुई है । यही इस कुलकी परम्पराको चलानेवाली है । अतः भरतश्रेष्ठ ! इसके प्रति मेरी यही भावना रहती है कि 'यह मेरा पुत्र है' ॥

पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायते भारत त्वया ॥२४॥
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥२५॥

'यद्यपि यह पुत्री है, तो भी हेतुविधिसे (अर्थात् इससे जो प्रथम पुत्र होगा, वह मेरा ही पुत्र माना जायगा, इस हेतुसे) मैंने इसे पुत्रकी संज्ञा दे रक्खी है । भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे-द्वारा इसके गर्भसे जो एक पुत्र उत्पन्न हो, वह यहीं रहकर इस कुलपरम्पराका प्रवर्तक हो; इस कन्याके विवाहका यही शुल्क आपको देना होगा । पाण्डुनन्दन ! इसी शर्तके अनुसार आप इसे ग्रहण करें' ॥ २४-२५ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च।
उवास नगरे तस्मिंस्तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ॥२६॥

'तथास्तु' कहकर अर्जुनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और उस कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने तीन वर्षोंतक उसके साथ उस नगरमें निवास किया ॥ २६ ॥

तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम्।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम् ॥२७॥

उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उस सुन्दरीको हृदयसे लगाकर अर्जुनने विदा ली तथा राजा चित्रवाहनसे पूछकर वे पुनः तीर्थोंमें भ्रमण करनेके लिये चल दिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि चित्राङ्गदासंगमे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें चित्राङ्गदासमागमविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वर्गा अप्सराका ग्राहयोनिसे उद्धार तथा वर्गाकी आत्मकथाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभ।
अभ्यगच्छत् सुपुण्यानि शोभितानि तपस्विभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर तपस्वीजनोंसे सुशोभित परम पुण्यमय तीर्थोंमें गये ॥ १ ॥

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि तत्र पञ्च स्म तापसाः।
अवकीर्णानि यान्यासन् पुरस्तात् तु तपस्विभिः ॥ २ ॥

वहाँ उन दिनों तपस्वीलोग पाँच तीर्थोंको छोड़ देते थे । ये वे ही तीर्थ थे, जहाँ पूर्वकालमें बहुतेरे तपस्वी महात्मा भरे रहते थे ॥ २ ॥

अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम्।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत् ॥ ३ ॥

भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत्।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः ॥ ४ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अगस्त्यतीर्थ, सौभद्रतीर्थ, परम पावन पौलोमतीर्थ, अश्वमेध यज्ञका फल देनेवाला स्वच्छ

कारन्धमतीर्थ तथा पापनाशक महान् भारद्वाजतीर्थ । कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने इन पाँचों तीर्थोंका दर्शन किया ॥ ३-४ ॥

विविक्तान्युपलक्ष्याथ तानि तीर्थानि पाण्डवः ।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने देखा, ये सभी तीर्थ बड़े एकान्तमें हैं, तो भी एकमात्र धर्ममें बुद्धिको लगाये रखनेवाले मुनि भी उन तीर्थोंको दूरसे ही छोड़ दे रहे हैं ॥ ५ ॥

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत् प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

तब कुरुनन्दन धनंजयने दोनों हाथ जोड़कर तपस्वी मुनियोंसे पूछा—'वेदवक्ता ऋषिगण इन तीर्थोंका परित्याग किसलिये कर रहे हैं ?' ॥ ६ ॥

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ७ ॥

तपस्वी बोले—कुरुनन्दन ! उन तीर्थोंमें पाँच घड़ियाल रहते हैं, जो नहानेवाले तपोधन ऋषियोंको जलके भीतर खींच ले जाते हैं; इसीलिये ये तीर्थ मुनियोंद्वारा त्याग दिये गये हैं ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी बातें सुनकर कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उन तपोधनोंके मना करनेपर भी उन तीर्थोंका दर्शन करनेके लिये गये ॥ ८ ॥

ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम् ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ९ ॥

तदनन्तर परंतप शूरवीर अर्जुन महर्षि सुभद्रके उत्तम सौभद्रतीर्थमें सहसा उतरकर स्नान करने लगे ॥ ९ ॥

अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ १० ॥

इतनेमें ही जलके भीतर विचरनेवाले एक महान् ग्राहने नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजयका एक पैर पकड़ लिया ॥ १० ॥

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ ११ ॥

परंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु कुन्तीकुमार बहुत उछल-कूद मचाते हुए उस जलचर जीवको लिये-दिये पानीसे बाहर निकल आये ॥ ११ ॥

उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना ।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२ ॥

यशस्वी अर्जुनद्वारा पानीके ऊपर खिंच आनेपर वह ग्राह समस्त आभूषणोंसे विभूषित एक परम सुन्दरी नारीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १२ ॥

दीप्यमाना श्रिया राजन् दिव्यरूपा मनोरमा ।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १३ ॥
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ॥ १४ ॥
किमर्थं च महत् पापमिदं कृतवती पुरा ।

राजन् ! वह दिव्यरूपिणी मनोरमा रमणी अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित हो रही थी । यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर कुन्तीनन्दन धनंजय बड़े प्रसन्न हुए और उस स्त्री-से इस प्रकार बोले—'कल्याणी ! तुम कौन हो और कैसे जलचरयोनिको प्राप्त हुई थीं ? तुमने पूर्वकालमें ऐसा महान् पाप किसलिये किया ? जिससे तुम्हारी यह दुर्गति हुई ?' ॥ १३-१४½ ॥

वर्गोवाच

अप्सरास्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ॥ १५ ॥

वर्गा बोली—महाबाहो ! मैं नन्दनवनमें विहार करनेवाली एक अप्सरा हूँ ॥ १५ ॥

इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल ।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः ॥ १६ ॥

महाबल ! मेरा नाम वर्गा है । मैं कुबेरकी नित्यप्रेयसी रही हूँ । मेरी चार दूसरी सखियाँ भी हैं । वे सब इच्छानुसार गमन करनेवाली और सुन्दरी हैं ॥ १६ ॥

ताभिः सार्धं प्रयातास्मि लोकपालनिवेशनम् ।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १७ ॥

उन सबके साथ एक दिन मैं लोकपाल कुबेरके घरपर जा रही थी । मार्गमें हम सबने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्राह्मणको देखा ॥ १७ ॥

रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम् ।
तस्यैव तपसा राजंस्तद् वनं तेजसाऽऽवृतम् ॥ १८ ॥

वे बड़े रूपवान् थे और अकेले एकान्तमें रहकर वेदोंका स्वाध्याय करते थे । राजन् ! उन्हींकी तपस्यासे वह सारा वन-प्रान्त तेजोमय हो रहा था ॥ १८ ॥

आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत् ।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग् रूपं चाद्भुतमुत्तमम् ॥ १९ ॥
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया ।

वे सूर्यकी भाँति उस सम्पूर्ण प्रदेशको प्रकाशित कर रहे थे । उनकी वैसी तपस्या और वह अद्भुत एवं उत्तम रूप देखकर हम सभी अप्सराएँ उनके तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे उस स्थानमें उतर पड़ीं ॥ १९½ ॥

अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ २० ॥
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ।
गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम् ॥२१॥

भारत ! मैं, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता पाँचों एक ही साथ उन ब्राह्मणके समीप गयीं और उन्हें लुभाती हुई हँसने तथा गाने लगीं ॥ २०-२१ ॥

स च नास्मासु कृतवान् मनो वीर कथंचन ।
नाकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥ २२ ॥

परंतु वीरवर ! उन्होंने किसी प्रकार भी अपने मनको हमारी ओर नहीं खिंचने दिया। वे महातेजस्वी ब्राह्मण निर्मल तपस्यामें संलग्न थे। वे उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥

सोऽशपत् कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! हमारी उद्दण्डतासे कुपित होकर उन ब्राह्मणने हमें शाप दे दिया—'तुमलोग सौ वर्षोंतक जलमें ग्राह बनकर रहोगी' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें तीर्थग्राहविमोचनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१५॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

वर्गाकी प्रार्थनासे अर्जुनका शेष चारों अप्सराओंको भी शापमुक्त करके मणिपूर जाना और चित्राङ्गदासे मिलकर गोकर्णतीर्थको प्रस्थान करना

वर्गोवाच

ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भारतसत्तम ।
अयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥

वर्गा बोली—भरतवंशके महापुरुष ! उन ब्राह्मणका शाप सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ। तब हम सब-की-सब अपने धर्मसे च्युत न होनेवाले उन तपस्वी विप्रकी शरणमें गयीं ॥ १ ॥

रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥

(और इस प्रकार बोलीं-) 'ब्रह्मन् ! हम रूप, यौवन और कामसे उन्मत्त हो गयी थीं। इसीलिये यह अनुचित कार्य कर बैठीं। आप कृपापूर्वक हमारा अपराध क्षमा करें ॥ २ ॥

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद् वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहागताः ॥ ३ ॥

'तपोधन ! हमारा तो पूर्णरूपसे यही मरण हो गया कि हम आप-जैसे शुद्धात्मा मुनिको लुभानेके लिये यहाँ आयीं ॥

अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः ।
तस्माद् धर्मेण वर्ध त्वं नास्मान् हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

'धर्मात्मा पुरुष ऐसा मानते हैं कि स्त्रियाँ अवध्य बनायी गयी हैं। अतः आप अपने धर्माचरणद्वारा निरन्तर उन्नति कीजिये। आपको हम अबलाओंकी हत्या नहीं करनी चाहिये ॥

सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ ! ब्राह्मण समस्त प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखनेवाला कहा जाता है। भद्र पुरुष ! मनीषी पुरुषोंका यह कथन सत्य होना चाहिये ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मस्तस्मात् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ महात्मा शरणागतोंकी रक्षा करते हैं। हम भी आपकी शरणमें आयी हैं; अतः आप हमारे अपराध क्षमा करें' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत् ।
प्रसादं कृतवान् वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीरवर ! उनके ऐसा कहनेपर सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी तथा शुभ कर्म करनेवाले उन धर्मात्मा ब्राह्मणने उन सबपर कृपा की ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण बोले—'शत' और 'शतसहस्र' शब्द ये सभी अनन्त संख्याके वाचक हैं, परंतु यहाँ जो मैंने 'शतं समाः' (तुमलोगोंको सौ वर्षोंतक ग्राह होनेके लिये) कहा है, उसमें शत शब्द सौ वर्षके परिमाणका ही वाचक है। अनन्तकालका वाचक नहीं है ॥ ८ ॥

यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले ।
उत्कर्षति जलात् तस्मात् स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसतापि कदाचन ॥ १० ॥

जब जलमें ग्राह बनकर लोगोंको पकड़नेवाली तुम सब अप्सराओंको कोई श्रेष्ठ पुरुष जलसे बाहर स्थलपर खींच लायेगा, उस समय तुम सब लोग फिर अपना दिव्य रूप प्राप्त कर लोगी। मैंने पहले कभी हँसीमें भी झूठ नहीं कहा है ॥ ९-१० ॥

तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह ।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः ।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

तुमलोगोंका उद्धार हो जानेके बाद वे सभी तीर्थ इस जगत्‌में नारीतीर्थके नामसे विख्यात होंगे और मनीषी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले पुण्य तीर्थ बन जायँगे ॥११॥

वर्गोवाच

ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
अचिन्तयामोऽपसृत्य तस्माद् देशात् सुदुःखिताः ॥१२॥
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाल्पेन तं नरम् ।
समागच्छेम यो नस्तद् रूपमापादयेत् पुनः ॥ १३ ॥

वर्गा कहती है—भारत ! तदनन्तर उन ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा करके अत्यन्त दुखी हो हम सब उस स्थानसे अन्यत्र चली आयीं और इस चिन्तामें पड़ गयीं कि कहाँ जाकर हम सब लोग रहें, जिससे थोड़े ही समयमें हमें वह मनुष्य मिल जाय, जो हमें पुनः हमारे पूर्व स्वरूपकी प्राप्ति करायेगा ॥ १२-१३ ॥

ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! हमलोग दो घड़ीसे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रही थीं कि हमको महाभाग देवर्षि नारदजीका दर्शन प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

सम्प्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! उन अमिततेजस्वी देवर्षिको देखकर हमें बड़ा हर्ष हुआ और उन्हें प्रणाम करके हम लज्जावश सिर झुकाकर वहाँ खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

स नोऽपृच्छद् दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम् ।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

फिर उन्होंने हमारे दुःखका कारण पूछा और हमने उनसे सब कुछ बता दिया । सारा हाल सुनकर वे इस प्रकार बोले—॥

दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम् ॥ १७ ॥

'दक्षिण समुद्रके तटके समीप पाँच तीर्थ हैं, जो परम पुण्यजनक तथा अत्यन्त रमणीय हैं । तुम सब उन्हींमें चली जाओ, देर न करो ॥

तत्राशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनंजयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ॥ १८ ॥
तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमिहागताः ।
तदिदं सत्यमेवाद्य मोक्षिताहं त्वयानघ ॥ १९ ॥

'वहाँ पुरुषोंमें श्रेष्ठ शुद्धात्मा पाण्डुकुमार धनंजय शीघ्र ही पहुँचकर तुम्हें इस दुःखसे छुड़ायेंगे, इसमें संशय नहीं है ।' वीर अर्जुन ! नारदजीका यह वचन सुनकर हम सब सखियाँ यहीं चली आयीं । अनघ ! आज सचमुच ही आपने मुझे उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले श्रिताः ।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥

ये मेरी चार सखियाँ और हैं, जो अभी जलमें ही पड़ी हैं । वीरवर ! आप यह पुण्य कर्म कीजिये; इन सबको शापसे छुड़ा दीजिये ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब उदारहृदय पराक्रमी पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने उन सभी अप्सराओंको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २१ ॥

उत्थाय च जलात् तस्मात् प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।
तास्तदाप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥

राजन् ! उस जलसे ऊपर निकलकर फिर अपना पूर्वस्वरूप प्राप्त कर लेनेपर वे अप्सराएँ उस समय पहलेकी भाँति दिखायी देने लगीं ॥ २२ ॥

तीर्थानि शोधयित्वा तु तथानुज्ञाय ताः प्रभुः ।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन तीर्थोंका शोधन करके उन अप्सराओंको जानेकी आज्ञा दे शक्तिशाली अर्जुन चित्राङ्गदासे मिलनेके लिये पुनः मणिपूर गये ॥ २३ ॥

तस्यामजनयत् पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

वहाँ उन्होंने चित्राङ्गदाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न किया था, उसका नाम बभ्रुवाहन रक्खा गया था । राजन् ! अपने उस पुत्रको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने राजा चित्रवाहनसे कहा— ॥ २४ ॥

चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम् ।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ॥ २५ ॥

'महाराज ! इस बभ्रुवाहनको आप चित्राङ्गदाके शुल्करूपमें ग्रहण कीजिये, इससे मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा' ॥

चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ।
इह वै भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने पुनः चित्राङ्गदासे कहा—'प्रिये ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम यहीं रहो और बभ्रुवाहनका पालन-पोषण करो ॥ २६ ॥

इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्रागत्य रंस्यसि ।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ ॥ २७ ॥
आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान् ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते ॥ २८ ॥

'फिर यथासमय हमारे निवासस्थान इन्द्रप्रस्थमें आकर तुम बड़े सुखसे रहोगी । वहाँ आनेपर माता कुन्ती, युधिष्ठिर, भीमसेन, मेरे छोटे भाई नकुल-सहदेव तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंको देखनेका तुम्हें अवसर मिलेगा । अनिन्दिते ! इन्द्रप्रस्थमें मेरे समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर तुम बहुत प्रसन्न होओगी ॥ २७-२८ ॥

धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ॥ २९ ॥

'सदा धर्मपर स्थित रहनेवाले सत्यवादी कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर सारी पृथ्वीको जीतकर राजसूययज्ञ करेंगे ॥ २९ ॥

तत्रागच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः ।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता ॥ ३० ॥

'उस समय वहाँ भूमण्डलके नरेशनामधारी सभी राजा आयेंगे । तुम्हारे पिता भी बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर उस समय उपस्थित होंगे ॥ ३० ॥

एकसार्थं प्रयातासि चित्रवाहनसेवया ।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ॥ ३१ ॥

'चित्रवाहनकी सेवाके निमित्त उन्हींके साथ राजसूययज्ञमें तुम भी चली आना । मैं वहीं तुमसे मिलूँगा । इस समय पुत्रका पालन करो और शोक छोड़ दो ॥ ३१ ॥

बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः ।
तस्माद् भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ॥ ३२ ॥

'बभ्रुवाहनके नामसे मेरा प्राण ही इस भूतलपर विद्यमान है, अतः तुम इस पुत्रका भरण-पोषण करो । यह इस वंशको बढ़ानेवाला पुरुषरत्न है ॥ ३२ ॥

चित्रवाहनदायादं धर्मात् पौरवनन्दनम् ।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात् पालय सर्वदा ॥ ३३ ॥

'यह धर्मतः चित्रवाहनका पुत्र है; किंतु शरीरसे पूरुवंशको आनन्दित करनेवाला है । अतः पाण्डवोंके इस प्रिय पुत्रका तुम सदा पालन करो ॥ ३३ ॥

विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते ।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत् ॥ ३४ ॥

'सती-साध्वी प्रिये ! मेरे वियोगसे तुम संतप्त न होना ।' चित्राङ्गदासे ऐसा कहकर अर्जुन गोकर्णतीर्थकी ओर चल दिये ॥

आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम् ।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ॥ ३५ ॥

वह भगवान् शङ्करका आदिस्थान है और दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है । पापी मनुष्य भी वहाँ जाकर निर्भय पद प्राप्त कर लेता है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्णसे मिलना और उन्हींके साथ उनका रैवतक पर्वत एवं द्वारकापुरीमें आना

वैशम्पायन उवाच

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण जगामामितविक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अमित-पराक्रमी अर्जुन क्रमशः अपरान्त (पश्चिम समुद्रतटवर्ती) देशके समस्त पुण्य तीर्थों और मन्दिरोंमें गये ॥ १ ॥

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च ।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

पश्चिम समुद्रके तटपर जितने तीर्थ और देवालय थे, उन सबकी यात्रा करके वे प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २ ॥

प्रभासदेशं सम्प्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ॥ ३ ॥
ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः ।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गुप्तचरोंद्वारा यह सुना कि किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुन परम पवित्र एवं रमणीय प्रभास-क्षेत्रमें आ गये हैं, तब वे अपने सखा कुन्तीनन्दनसे मिलनेके लिये वहाँ गये । उस समय प्रभासमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने एक-दूसरेको देखा ॥ ३-४ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने ।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

दोनों ही दोनोंको हृदयसे लगाकर कुशल-प्रश्न पूछनेके

पश्चात् वे परस्पर प्रिय मित्र साक्षात् नर-नारायण ऋषि वनमें एक स्थानपर बैठ गये ॥ ५ ॥

ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाण्डवैतानि तीर्थान्यनुचरस्युत ॥ ६ ॥

तब भगवान् वासुदेवने अर्जुनसे उनकी जीवनचर्याके सम्बन्धमें पूछा—'पाण्डव ! तुम किसलिये तीर्थोंमें विचर रहे हो ?' ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥ ७ ॥

यह सुनकर अर्जुनने उन्हें सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया । सब कुछ सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'यह बात ऐसी ही है' ॥ ७ ॥

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ॥ ८ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रभासक्षेत्रमें इच्छानुसार घूम-फिरकर रैवतक पर्वतपर चले गये । उन्हें रातको वहीं ठहरना था ॥ ८ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात् तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उनके सेवकोंने पहलेसे ही आकर उस पर्वतको सजा रक्खा था और वहाँ भोजन भी तैयार करके रख लिया था ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान् नटनर्तकान् ॥ १० ॥
अभ्यनुज्ञाय तान् सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ॥ ११ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुनने भगवान् वासुदेवके साथ प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण भोज्य पदार्थोंको यथारुचि खाकर नटों और नर्तकोंके नृत्य देखे । तत्पश्चात् उन सबको उपहार आदिसे सम्मानित करके जानेकी आज्ञा दे महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन सत्कारपूर्वक बिछी हुई दिव्य शय्यापर सोनेके लिये गये ॥ १०-११ ॥

ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
तीर्थानां पल्वलानां च पर्वतानां च दर्शनम् ।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ॥ १२ ॥

वहाँ सुन्दर शय्यापर सोये हुए महाबाहु धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णसे अनेक तीर्थों, कुण्डों, पर्वतों, नदियों तथा वनोंके दर्शनसम्बन्धी अनुभवकी विचित्र बातें कहीं ॥ १२ ॥

एवं स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय ।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिन् शयने स्वर्गसंनिभे ॥ १३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार बात करते-करते अर्जुन उस स्वर्गसदृश सुखदायिनी शय्यापर सो गये ॥ १३ ॥

मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १४ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल मधुर गीत, वीणाकी मीठी ध्वनि, स्तुति और मङ्गलपाठके शब्दोंद्वारा जगाये जानेपर उनकी नींद खुली ॥

स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् आवश्यक कार्य करके श्रीकृष्णके द्वारा अभिनन्दित हो उनके साथ सुवर्णमय रथपर बैठकर वे द्वारकापुरीको गये ॥ १५ ॥

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उस समय कुन्तीकुमारके स्वागतके लिये समूची द्वारकापुरी सजायी गयी थी तथा वहाँके घरोंके बगीचेतक सजाये गये थे ॥ १६ ॥

दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको देखनेके लिये द्वारकावासी मनुष्य लाखोंकी संख्यामें मुख्य सड़कपर चले आये थे ॥ १७ ॥

अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत् ॥ १८ ॥

जहाँसे अर्जुनका दर्शन हो सके, ऐसे स्थानोंपर सैकड़ों-हजारों स्त्रियाँ आँख लगाये खड़ी थीं तथा भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषोंकी बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ॥ १९ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके सब लोगोंद्वारा इस प्रकार आदर-सत्कार पाकर अर्जुनने वन्दनीय पुरुषोंको प्रणाम किया और उन सबने उनका स्वागत किया ॥ १९ ॥

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिचोदितः।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २० ॥

यदुकुलके समस्त कुमारोंने भी वीरवर अर्जुनका बड़ा सत्कार किया। अर्जुन अपने समान अवस्थावाले सब लोगोंसे उन्हें बारंबार हृदयसे लगाकर मिले ॥ २० ॥

कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २१ ॥

इसके बाद नाना प्रकारके रत्न तथा भाँति-भाँतिके भोज्य-पदार्थोंसे भरपूर श्रीकृष्णके रमणीय भवनमें उन्होंने श्रीकृष्णके साथ ही अनेक रात्रियोंतक निवास किया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनद्वारकागमने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनका द्वारकागमन-विषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

(सुभद्राहरणपर्व)

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

रैवतक पर्वतके उत्सवमें अर्जुनका सुभद्रापर आसक्त होना और श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिरकी अनुमतिसे उसे हर ले जानेका निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन् रैवतके गिरौ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर कुछ दिन बीतनेके बाद रैवतक पर्वतपर वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंका एक बड़ा भारी उत्सव हुआ ॥ १ ॥

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥

पर्वतपर होनेवाले उस उत्सवमें भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सहस्रों ब्राह्मणोंको दान दिया ॥ २ ॥

प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः।
स देशः शोभितो राजन् कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥

राजन्! उस पर्वतके चारों ओर रत्नजटित विचित्र राज-भवन और कल्पवृक्ष थे, जिनसे उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३ ॥

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन्।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥ ४ ॥

वहाँ बाजे बजानेमें कुशल मनुष्य अनेक प्रकारके बाजे बजाते, नाचनेवाले नाचते और गायकगण गीत गाते थे ॥

अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम्।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

महान् तेजस्वी वृष्णिवंशियोंके बालक वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सुवर्णचित्रित सवारियोंपर बैठकर देदीप्यमान होते हुए चारों ओर घूम रहे थे ॥ ५ ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत ॥ ७ ॥

द्वारकापुरीके निवासी सैकड़ों-हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकोंके साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियोंके द्वारा आकर उस उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। भारत! भगवान् बलराम हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवतीके साथ विचर रहे थे। उनके पीछे-पीछे गन्धर्व (गायक) चल रहे थे ॥ ६-७ ॥

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान्।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ॥ ८ ॥

वृष्णिवंशके प्रतापी राजा उग्रसेन भी वहाँ आमोद-प्रमोद कर रहे थे। उनके पास बहुत-से गन्धर्व गा रहे थे और सहस्रों स्त्रियाँ उनकी सेवा कर रही थीं ॥ ८ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥

युद्धमें दुर्मद वीरवर प्रद्युम्न और साम्ब दिव्य मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण करके आनन्दसे उन्मत्त हो देवताओंकी भाँति विहार करते थे ॥ ९ ॥

अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक्।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥

अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, महारव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, उद्धव और जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, ऐसे अन्य यदुवंशी भी सब-के-सब अलग-अलग स्त्रियों और गन्धर्वोंसे घिरे हुए रैवतक पर्वतके उस उत्सवकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥

उस अत्यन्त अद्भुत विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सवमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ घूम रहे थे ॥ १३ ॥

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ॥ १४ ॥

इसी समय वहाँ वसुदेवजीकी सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृङ्गारसे सुसज्जित हो सखियोंसे घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ टहलते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने उसे देखा ॥ १४ ॥

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥

उसे देखते ही अर्जुनके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी इस मनोदशाको भाँप लिया ॥

अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ॥ १६ ॥

फिर वे पुरुषोत्तम हँसते हुए-से बोले—'भारत ! यह क्या, वनवासीका मन भी इस तरह कामसे उन्मथित हो रहा है ?

ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यह मेरी और सारणकी सगी बहिन है, तुम्हारा कल्याण हो, इसका नाम सुभद्रा है। यह मेरे पिताकी बड़ी लाड़िली कन्या है। यदि तुम्हारा विचार इससे ब्याह करनेका हो तो मैं पितासे स्वयं कहूँगा' ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥

अर्जुनने कहा—यह वसुदेवजीकी पुत्री, साक्षात् आप वासुदेवकी बहिन और अनुपम रूपसे सम्पन्न है, फिर यह किसका मन न मोह लेगी ॥ १८ ॥

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम्।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥

सखे ! यदि यह वृष्णिकुलकी कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा समस्त कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाय ॥ १९ ॥

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं ब्रवीहि जनार्दन।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥ २० ॥

जनार्दन ! बताइये, इसे प्राप्त करनेका क्या उपाय हो सकता है ? यदि मनुष्यके द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ ! क्षत्रियोंके विवाहका स्वयंवर एक प्रकार है, परंतु उसका परिणाम संदिग्ध होता है; क्योंकि स्त्रियोंका स्वभाव अनिश्चित हुआ करता है (पता नहीं, वे स्वयंवरमें किसका वरण करें) ॥

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

बलपूर्वक कन्याका हरण भी शूरवीर क्षत्रियोंके लिये विवाहका उत्तम हेतु कहा गया है; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ २२ ॥

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥ २३ ॥

अतः अर्जुन ! मेरी राय तो यही है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिनको बलपूर्वक हर ले जाओ। कौन जानता है, स्वयंवरमें उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसे वरण करना चाहेगी ? ॥ २३ ॥

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥ २५ ॥

तब अर्जुन और श्रीकृष्णने कर्त्तव्यका निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषोंको इन्द्रप्रस्थमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जाननेकी इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिरने यह सुनते ही अपनी ओरसे आज्ञा दे दी ॥ २४-२५ ॥

(भीमसेनस्तु तच्छ्रुत्वा कृतकृत्योऽभ्यमन्यत।
इत्येवं मनुजैः सार्धमुक्त्वा प्रीतिमुपेयिवान् ॥)

भीमसेन यह समाचार सुनकर अपनेको कृतकृत्य मानने लगे और दूसरे लोगोंके साथ ये बातें करके उनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि युधिष्ठिरानुज्ञायामष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें युधिष्ठिरकी आज्ञासम्बन्धी दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यादवोंकी युद्धके लिये तैयारी और अर्जुनके प्रति बलरामजीके क्रोधपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम्।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस विवाहसम्बन्धी संदेशपर युधिष्ठिरको आज्ञा मिल जानेके पश्चात् धनंजयको जब यह मालूम हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वतपर गयी हुई है, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे सलाह ली। श्रीकृष्णने उन्हें आगे क्या करना है, यह बताकर सुभद्रासे विवाह करने तथा उसे हर ले जानेकी अनुमति दे दी। श्रीकृष्णकी सम्मति पाकर भरतश्रेष्ठ अर्जुन अपने विश्रामस्थानपर चले गये ॥ १-२ ॥

रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥

(भगवान्‌की आज्ञासे दारुकने) उनके सुवर्णमय रथको विधिपूर्वक सजाकर तैयार किया था। उसमें स्थान-स्थानपर छोटी-छोटी घंटिकाएँ तथा झालरें लगा दी थीं और शैब्य, सुग्रीव आदि अश्व भी उसमें जोत दिये थे। उस रथके भीतर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद थे। उसकी घर्घराहटसे मेघकी गर्जनाके समान आवाज होती थी। वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ता था। उसे देखते ही शत्रुओंका हर्ष हवा हो जाता था। नरश्रेष्ठ धनंजय कवच और तलवार बाँधकर एवं हाथोंमें दस्ताने पहनकर उसी रथके द्वारा शिकार खेलनेके बहाने रैवतक पर्वतपर गये ॥ ३—५ ॥

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम्।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम्।
सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ७ ॥

उधर सुभद्रा गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओंकी पूजा करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पर्वतकी परिक्रमा पूरी करके द्वारकाकी ओर लौट रही थी। अर्जुन कामदेवके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्होंने दौड़कर सर्वाङ्गसुन्दरी सुभद्राको बलपूर्वक रथपर बिठा लिया ॥ ६-७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥

इसके बाद पुरुषसिंह धनंजय पवित्र मुसकानवाली सुभद्राको साथ ले उस सुवर्णमय रथद्वारा अपने नगरकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥ ९ ॥

सुभद्राका अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरीकी ओर दौड़े गये ॥ ९ ॥

ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।
सभापालस्य तत् सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ १० ॥

उन्होंने एक साथ सुधर्मासभामें पहुँचकर सभापालसे अर्जुनके उस साहसपूर्ण पराक्रमका सारा हाल कह सुनाया ॥

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ११ ॥

उनकी बातें सुनकर सभापालने सबको युद्धके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेके उद्देश्यसे सुवर्णखचित नगाड़ा बजाया, जिसकी आवाज बहुत ऊँची और दूरतक फैलनेवाली थी ॥ ११ ॥

क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ॥ १२ ॥

उसकी आवाज सुनकर भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीर क्षुब्ध हो उठे और खाना-पीना छोड़कर चारों ओरसे दौड़े आये ॥ १२ ॥

तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १३ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥ १४ ॥

उस सभामें सैकड़ों सिंहासन रक्खे गये थे, जिनमें सुवर्ण जड़ा गया था । उन सिंहासनोंपर बहुमूल्य बिछौने पड़े थे । वे सभी आसन मणि और मूँगोंसे चित्रित होनेके कारण प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे । भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषसिंह महारथी वीर उन्हीं सिंहासनोंपर आकर बैठे, मानो यज्ञकी वेदियोंपर प्रज्वलित अग्निदेव शोभा पा रहे हों ॥ १३-१४ ॥

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये ।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥ १५ ॥

देवसमूहकी भाँति वहाँ बैठे हुए उन यदुवंशियोंके समुदायमें सेवकोंसहित सभापालने अर्जुनकी वह सारी करतूत कह सुनायी ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः ।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १६ ॥

यह सुनते ही युद्धोन्मादसे लाल नेत्रोंवाले वृष्णिवंशी वीर अर्जुनके प्रति अमर्षसे भर गये और गर्वसे उछल पड़े ॥

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च ।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १७ ॥

(वे बड़ी उतावलीसे कहने लगे—)'जल्दी रथ जोतो, फौरन प्रास ले आओ, धनुष तथा बहुमूल्य एवं विशाल कवच लाओ ॥

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च ।
स्वयं च तुरगान् केचिदयुञ्जन् हेमभूषितान् ॥ १८ ॥

कोई सारथियोंको पुकारकर कहने लगे—'अरे ! जल्दी रथ जोतो ।' कुछ लोग स्वयं ही सोनेके आभूषणोंसे विभूषित घोड़ोंको रथोंमें जोतने लगे ॥ १८ ॥

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च ।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ॥ १९ ॥

रथ, कवच और ध्वजाओंके लाये जाते समय चारों ओर उन नर-वीरोंके कोलाहलसे वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गयी ॥ १९ ॥

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः ।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले नील वस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले बलरामजी उन यादवोंसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णींभूते जनार्दने ।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २१ ॥

'मूर्खो ! श्रीकृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो ? इनका अभिप्राय जाने बिना ही तुम इतने कुपित हो उठे । तुमलोगोंकी यह गर्जना व्यर्थ ही है ॥ २१ ॥

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः ।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २२ ॥

'पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बतावें । तदनन्तर जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसीका आलस्य छोड़कर पालन करो' ॥ २२ ॥

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात् ।
तूष्णीम्भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ २३ ॥

बलरामजीकी यह मानने योग्य बात सुनकर सब यादव चुप हो गये और सब लोग उन्हें साधुवाद देने लगे ॥२३॥

समं वचो निशम्यैव बलदेवस्य धीमतः ।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २४ ॥

परम बुद्धिमान् बलरामजीके उस वचनको सुननेके साथ ही वे सभी वीर फिर उस सभामें मौन होकर बैठ गये ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परंतपः ।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥ २५ ॥

तदनन्तर परंतप बलरामजी भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'जनार्दन ! यह सब कुछ देखते हुए भी तुम क्यों मौन होकर बैठे हो ? ॥ २५ ॥

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत ।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २६ ॥

'अच्युत ! तुम्हारे संतोषके लिये ही हम सब लोगोंने अर्जुनका इतना सत्कार किया; परंतु वह खोटी बुद्धिवाला कुलाङ्गार उस सत्कारके योग्य कदापि न था ॥ २६ ॥

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २७ ॥

'अपनेको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस बर्तनमें खाये, उसीमें छेद करे ॥ २७ ॥

इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन् ।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २८ ॥

'सम्बन्धकी इच्छा रहते हुए भी कौन ऐसा कल्याण-कामी पुरुष होगा, जो पहलेके उपकारको मानते हुए ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य करे ॥ २८ ॥

सोऽवमन्य तथास्माकमनादृत्य च केशवम् ।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ २९ ॥

'उसने हमलोगोंका अपमान और केशवका अनादर करके आज बलपूर्वक सुभद्राका अपहरण किया है, जो उसके लिये अपनी मृत्युके समान है ॥ २९ ॥

कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३० ॥

'गोविन्द! जैसे सर्प पैरकी ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार मैं उसने जो मेरे सिरपर पैर रख दिया है, उसे कैसे सह सकूँगा ? ॥ ३० ॥

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुंधराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥

'अर्जुनका यह अन्याय मेरे लिये असह्य है। आज मैं अकेला ही इस वसुन्धराको कुरुवंशियोंसे विहीन कर दूँगा' ।३१।

तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ॥ ३२ ॥

मेघ और दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनिके समान बलरामजीकी वैसी गर्जना सुनकर उस समय भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके समस्त वीरोंने उन्हींका अनुसरण किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें बलदेवक्रोधविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(हरणाहरणपर्व)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और सुभद्राका विवाह, अर्जुनके इन्द्रप्रस्थ पहुँचनेपर श्रीकृष्ण आदिका दहेज लेकर वहाँ जाना, द्रौपदीके पुत्र एवं अभिमन्युके जन्म, संस्कार और शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

उक्तवन्तो यथा वीर्यमसकृत् सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद् वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय सभी वृष्णिवंशियोंने अपने-अपने पराक्रमके अनुसार अर्जुनसे बदला लेनेकी बात बार-बार दुहरायी । तब भगवान् वासुदेव यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोले—॥ १ ॥

नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥ २ ॥

'निद्राविजयी अर्जुनने इस कुलका अपमान नहीं किया है। अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुलके प्रति अधिक सम्मानका भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥ ३ ॥

'पाण्डुपुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशके लोग सदासे ही धनके लोभी नहीं हैं, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती। साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुनको यह भी मालूम है कि स्वयंवरमें कन्याके मिल जानेका पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है ॥ ३ ॥

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥

'भला, कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशुकी तरह पराक्रमशून्य होकर कन्यादानकी प्रतीक्षामें बैठा रहेगा एवं इस पृथ्वीपर कौन ऐसा अधम पुरुष होगा, जो धन लेकर अपनी संतानको बेचेगा ॥ ४ ॥

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥ ५ ॥

'मेरा विश्वास है कि कुन्तीकुमारने इन सभी दोषोंकी ओर दृष्टिपात किया है; इसीलिये उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बलपूर्वक कन्याका अपहरण किया है ॥ ५ ॥

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥ ६ ॥

'मेरी समझमें यह सम्बन्ध बहुत उचित है। सुभद्रा यशस्विनी है और ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं; अतः इन्होंने सुभद्राका बलपूर्वक हरण किया है ॥ ६ ॥

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ॥ ७ ॥

'महाराज भरत तथा महायशस्वी शान्तनुके कुलमें जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीके पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुनको कौन अपना सम्बन्धी बनाना न चाहेगा?॥७॥

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात्।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ८ ॥
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष।

'आर्य ! इन्द्रलोक एवं रुद्रलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले विकराल नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रको छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो संग्राममें बलपूर्वक पार्थको परास्त कर सके ॥ ८½ ॥

स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः॥ ९ ॥
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत्।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ॥ १० ॥
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः।

'इस समय अर्जुनके पास मेरा सुप्रसिद्ध रथ है, मेरे ही अद्भुत घोड़े हैं और स्वयं अर्जुन शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्र चलानेवाले योद्धा हैं। ऐसी दशामें अर्जुनकी समानता कौन कर सकता है ? आपलोग प्रसन्नताके साथ दौड़े जाइये और बड़ी सान्त्वनासे धनंजयको लौटा लाइये। मेरी तो यही परम सम्मति है ॥ ९-१०½ ॥

यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद् गच्छेत् स्वकं पुरम्॥ ११ ॥
प्रणश्येद् वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः।

'यदि अर्जुन आपलोगोंको बलपूर्वक हराकर अपने नगरमें चले गये, तब तो आपलोगोंका सारा यश तत्काल ही नष्ट हो जायगा और सान्त्वनापूर्वक उन्हें ले आनेमें अपनी पराजय नहीं है' ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ॥ १२ ॥

जनमेजय ! वासुदेवका यह वचन सुनकर यादवोंने वैसा ही किया ॥ १२ ॥

निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः।
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ॥ १३ ॥

शक्तिशाली अर्जुन द्वारकामें लौट आये। वहाँ उन्होंने सुभद्रासे विवाह किया और एक सालसे कुछ अधिक दिनतक वे वहीं रहे ॥

विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः।
पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः ॥ १४ ॥

द्वारकामें इच्छानुसार विहार करके वृष्णिवंशियोंद्वारा पूजित होकर अर्जुन वहाँसे पुष्कर तीर्थमें चले गये और वनवासका शेष समय वहीं व्यतीत किया ॥ १४ ॥

पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः।
(ववन्दे धौम्यमासाद्य मातरं च धनंजयः ॥

बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर वे खाण्डवप्रस्थमें आये। उन्होंने धौम्यजीके पास जाकर उनको तथा माता कुन्तीको प्रणाम किया।

स्पृष्ट्वा च चरणौ राज्ञो भीमस्य च धनंजयः।
यमाभ्यां वन्दितो हृष्टः सस्वजे तौ ननन्द च ॥)
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ॥ १५ ॥
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान् पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान्।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमके चरण छुये। तदनन्तर नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया। अर्जुनने भी हर्षमें भरकर उन दोनोंको हृदयसे लगा लिया और उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। फिर वहाँ राजासे मिलकर नियमपूर्वक एकाग्रचित्त हो उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया। तत्पश्चात् वे द्रौपदीके समीप गये ॥ १५½ ॥

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम् ॥ १६ ॥
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥ १७ ॥

द्रौपदीने प्रणयकोपवश कुरुनन्दन अर्जुनसे कहा— 'कुन्तीकुमार ! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंशकी कन्या सुभद्रा है। सच है, बोझको कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढीला पड़ जाता है (यही हालत मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमबन्धनकी है) ॥ १६-१७ ॥

तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः।
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चासकृत् ॥ १८ ॥

इस तरह नाना प्रकारकी बातें कहकर कृष्णा विलाप करने लगी। तब धनंजयने उसे पूर्ण सान्त्वना दी और अपने अपराधके लिये उससे बार-बार क्षमा माँगी ॥ १८ ॥

सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्।
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ॥ १९ ॥

इसके बाद अर्जुनने लाल रेशमी साड़ी पहनकर आयी हुई अनिन्द्यसुन्दरी सुभद्राका ग्वालिनका-सा वेश बनाकर उसे बड़ी उतावलीके साथ महलमें भेजा ॥ १९ ॥

साधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी।
भवनं श्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ॥ २० ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी।
तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ॥ २१ ॥

वीरपत्नी, वराङ्गना एवं यशस्विनी सुभद्रा उस वेशमें और अधिक शोभा पाने लगी। उसकी आँखें विशाल और कुछ-कुछ लाल थीं। उस यशस्विनीने सुन्दर राजभवनके भीतर जाकर राजमाता कुन्तीके चरणोंमें प्रणाम किया। कुन्ती

सुभद्राका कुन्ती और द्रौपदीकी सेवामें उपस्थित होना

उस सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगी ॥ २०-२१ ॥

प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जतातुलाम् ।
ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ॥ २२ ॥
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत् ।

और उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अनुपम वधूको अनेक आशीर्वाद दिये। तदनन्तर पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मनोहर मुखवाली सुभद्राने तुरंत जाकर महारानी द्रौपदीके चरण छूए और कहा 'देवि ! मैं आपकी दासी हूँ' ॥ २२½ ॥

प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ॥ २३ ॥
परिष्वज्यावदत् प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ॥ २४ ॥

उस समय द्रौपदी तुरंत उठकर खड़ी हो गयी और श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नतासे बोली—'बहिन ! तुम्हारे पति शत्रुरहित हों।' सुभद्राने भी आनन्दमग्न होकर कहा—'बहिन ! ऐसा ही हो' ॥२३-२४॥

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ॥ २५ ॥
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः सम्प्राप्तं स्वं पुरोत्तमम् ।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ॥ २६ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ॥ २७ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् महारथी पाण्डव मन-ही-मन हर्ष-विभोर हो उठे और कुन्तीदेवी भी बहुत प्रसन्न हुईं। कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्णने जब यह सुना कि पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ पहुँच गये हैं, तब वे शुद्धात्मा श्रीकृष्ण एवं बलराम तथा वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान-प्रधान वीर महारथियोंके साथ वहाँ आये ॥ २५–२७ ॥

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ॥ २८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण भाइयों, पुत्रों और बहुतेरे योद्धाओंके साथ घिरे हुए तथा विशाल सेनासे सुरक्षित होकर इन्द्रप्रस्थमें पधारे ॥ २८ ॥

तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिंदमः ॥ २९ ॥

उस समय वहाँ वृष्णिवीरोंके सेनापति शत्रुदमन महा-यशस्वी और परम बुद्धिमान् दानपति अक्रूरजी भी आये थे ॥

अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ।
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः ॥ ३० ॥

इनके सिवा महातेजस्वी अनाधृष्टि तथा साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम बुद्धिमान महामनस्वी एवं परमयशस्वी उद्धव भी आये थे ॥ ३० ॥

सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ॥ ३१ ॥
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च ।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ॥ ३३ ॥

सत्यक, सात्यकि, सात्वतवंशी कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शङ्कु, पराक्रमी चारुदेष्ण, झिल्ली, विपृथु, महाबाहु सारण तथा विद्वानोंमें श्रेष्ठ गद—ये तथा और दूसरे भी बहुत-से वृष्णि, भोज और अन्धकवंशके लोग दहेजकी बहुत-सी सामग्री लेकर खाण्डवप्रस्थमें आये थे॥ ३१–३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत् तदा ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णका आगमन सुनकर उन्हें आदरपूर्वक लिवा लानेके लिये नकुल और सहदेव-को भेजा ॥ ३४ ॥

ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महर्द्धिमत् ।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ३५ ॥

उन दोनोंके द्वारा स्वागतपूर्वक लाये हुए वृष्णिवंशियोंके उस परम समृद्धिशाली समुदायने खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया। उस समय ध्वजा-पताकाओंसे सजाया हुआ वह नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३५ ॥

सम्मृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम् ।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥ ३६ ॥

नगरकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं। उनके ऊपर जलका छिड़काव किया गया था। स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरोंसे नगरकी सजावट की गयी थी। शीतल चन्दन, रस

तथा अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थोंकी सुवास सब ओर छा रही थी ॥ ३६ ॥

दह्यतागुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ॥ ३७ ॥

जगह-जगह जलते हुए अगुरुकी सुगन्ध फैल रही थी, सारा नगर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था। कितने ही व्यापारी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३७ ॥

प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः।
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने बलरामजी तथा वृष्णि, अन्धक एवं भोजवंशी वीरोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३८॥

सम्पूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ॥ ३९ ॥

पुरवासी मनुष्यों तथा सहस्रों ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उन्होंने राजभवनके भीतर प्रवेश किया। वह घर इन्द्रभवन-की शोभाको भी तिरस्कृत कर रहा था ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद् यथाविधि।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरजी बलरामजीके साथ विधिपूर्वक मिले और श्रीकृष्णका मस्तक सूँघकर उन्हें दोनों भुजाओंमें कस लिया ॥

तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाभिपूजयन्।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत् प्रत्यपूजयत् ॥ ४१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर विनीतभावसे युधिष्ठिर-का सम्मान किया। नरश्रेष्ठ भीमसेनका भी उन्होंने विधिवत् पूजन किया ॥ ४१ ॥

तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ॥ ४२ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वृष्णि और अन्धकवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंका विधिपूर्वक यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ॥४२॥

गुरुवत् पूजयामास कांश्चित् कांश्चिद् वयस्यवत्।
कांश्चिदभ्यवदत् प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ४३ ॥

कुछ लोगोंका उन्होंने गुरुकी भाँति पूजन किया, कितनोंको समवयस्क मित्रोंकी भाँति गलेसे लगाया, कुछ लोगोंसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया और कुछ लोगोंने उन्हींको प्रणाम किया ॥ ४३ ॥

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम्।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४४ ॥

महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने वधू तथा वरपक्षके लोगोंके लिये उत्तम धन अर्पित किया। वरके कुटुम्बीजनोंको देनेयोग्य दहेज पहले नहीं दिया गया था, उसीकी पूर्ति उन्होंने इस समय की ॥ ४४ ॥

रथानां काञ्चनाङ्गानां किङ्किणीजालमालिनाम्।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः ॥ ४५ ॥
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च।
श्रीमान् माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ॥ ४६ ॥

किंकिणी और झालरोंसे सुशोभित सुवर्णखचित एक हजार रथ जिनमेंसे प्रत्येकमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे और प्रत्येकमें पूर्ण शिक्षित चतुर सारथि बैठा हुआ था, श्रीमान् कृष्णने समर्पित किये तथा मथुरामण्डलकी पवित्र तेजवाली दस हजार दुधारू गौएँ दीं ॥ ४५-४६ ॥

वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम्।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम् ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाली विशुद्ध जातिकी एक हजार सुवर्णभूषित घोड़ियाँ भी जनार्दनने प्रेमपूर्वक भेंट कीं ॥

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम्।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार पाँच सौ काले अयालवाली और पाँच सौ सफेद रंगवाली खच्चरियाँ समर्पित कीं, जो सभी वशमें की हुई तथा वायुके समान वेगवाली थीं ॥ ४८ ॥

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम्।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ॥ ४९ ॥
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम्।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ॥ ५० ॥

स्नान, पान और उत्सवमें जिनका उपयोग किया गया था, जो वयःप्राप्त थीं, जिनके वेष सुन्दर और कान्ति मनोहर थी, जिन्होंने सोनेके सौ-सौ मणियोंकी कण्ठियाँ पहन रक्खी थीं, जिनके शरीरमें रोमावलियाँ नहीं प्रकट हुई थीं, जो वस्त्रा-भूषणोंसे अलङ्कृत तथा सेवाके काममें पूर्ण दक्ष थीं, ऐसी एक हजार गौरवर्णा कन्याएँ भी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने भेंट कीं ॥ ४९-५० ॥

पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जनार्दनने उत्तम दहेजके रूपमें बाह्लीक देशके एक लाख घोड़े दिये, जो पीठपर सवारी ढोनेवाले थे ॥ ५१ ॥

कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ॥ ५२ ॥

दशार्हवंशके रत्न भगवान् श्रीकृष्णने अग्निके समान देदीप्यमान कृत्रिम सुवर्ण (मोहर) और अकृत्रिम विशुद्ध सुवर्णके (डले) दस भार उपहारमें दिये ॥ ५२ ॥

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम्।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ५३ ॥
क्लृप्तानां पटुघण्टानां चारूणां हेममालिनाम्।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः ॥ ५४ ॥

रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली।
प्रीयमाणो हलधरः सम्बन्धं प्रतिमानयन् ॥ ५५ ॥

जिन्हें साहसका काम प्रिय है और जो हाथमें हल धारण करते हैं, उन बलरामने प्रसन्न होकर इस नूतन सम्बन्धका आदर करते हुए अर्जुनको पाणिग्रहणके दहेजके रूपमें एक हजार मतवाले हाथी भेंट किये, जो तीन अङ्गोंसे मदकी धारा बहानेवाले थे। वे हाथी युद्धमें कभी पीछे नहीं हटते थे और देखनेमें पर्वतशिखरके समान जान पड़ते थे। उनके मस्तकोंपर सुन्दर वेषरचना की गयी थी। उन सबके पार्श्वभागमें मजबूत घण्टे लटक रहे थे तथा गलेमें सोनेके हार शोभा दे रहे थे। वे सभी हाथी बड़े सुन्दर लगते थे और उन सबके साथ महावत थे ॥ ५३–५५ ॥

स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान्।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ॥ ५६ ॥
पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महाधनः।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ ५७ ॥

जैसे नदियोंके जलका महान् प्रवाह समुद्रमें मिलता है, उसी प्रकार वह महान् धन और रत्नोंका भारी प्रवाह, जिसमें वस्त्र और कम्बल फेनके समान जान पड़ते थे, बड़े-बड़े हाथी महान् ग्राहोंका भ्रम उत्पन्न करते थे और जहाँ ध्वजा-पताकाएँ सेवारका काम कर रही थीं, पाण्डवरूपी महासागरमें जा मिला। यद्यपि पाण्डव-समुद्र पहलेसे ही परिपूर्ण था तथापि इस महान् धनप्रवाहने उसे और भी पूर्णतर बना दिया। यही कारण था कि वह पाण्डव-महासागर शत्रुओंके लिये शोकदायक प्रतीत होने लगा ॥ ५६-५७ ॥

प्रतिजग्राह तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ॥ ५८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने वह सारा धन ग्रहण किया और वृष्णि तथा अन्धकवंशके उन सभी महारथियोंका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ ५८ ॥

ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः।
विजह्रुरमरावासे नराः सुकृतिनो यथा ॥ ५९ ॥

जैसे पुण्यात्मा मनुष्य देवलोकमें सुख भोगते हैं, उसी प्रकार कुरु, वृष्णि और अन्धकवंशके वे श्रेष्ठ महात्मा पुरुष एकत्र होकर इच्छानुसार विहार करने लगे ॥ ५९ ॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ॥ ६० ॥

वे कौरव और वृष्णिवंशके वीर जहाँ-तहाँ वीणाकी उत्तम ध्वनिके साथ गाते-बजाते और संगीतका आनन्द लेते हुए यथावसर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विहार करने लगे ॥

एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान् बहून्।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं प्रति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार वे उत्तम पराक्रमी यदुवंशी बहुत दिनोंतक इन्द्रप्रस्थमें विहार करते हुए कौरवोंसे सम्मानित हो फिर द्वारका चले गये ॥ ६१ ॥

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ६२ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी कुरुप्रवर पाण्डवोंके दिये हुए उज्ज्वल रत्नोंकी भेंट ले बलरामजीको आगे करके चले गये ॥ ६२ ॥

वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥ ६३ ॥

जनमेजय ! परंतु भगवान् वासुदेव महात्मा अर्जुनके साथ रमणीय इन्द्रप्रस्थमें ही ठहर गये ॥ ६३ ॥

व्यचरद् यमुनातीरे मृगयां स महायशाः।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ॥ ६४ ॥

महायशस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ शिकार खेलते और जंगली वराहों तथा हिंस्र पशुओंका वध करते हुए यमुनाजीके तटपर विचरते थे। इस प्रकार वे किरीटधारी अर्जुनके साथ विहार करते थे ॥ ६४ ॥

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ ६५ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् श्रीकृष्णकी प्यारी बहिन सुभद्राने यशस्वी सौभद्रको जन्म दिया; ठीक वैसे ही, जैसे शचीने जयन्तको उत्पन्न किया था ॥ ६५ ॥

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम्।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ६६ ॥

सुभद्राने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्युको उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल और बैलोंके समान विशाल नेत्र थे। वह शत्रुओंका दमन करनेवाला था ॥ ६६ ॥

अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम्।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६७ ॥

वह अभि (निर्भय) एवं मन्युमान् (क्रुद्ध होकर लड़नेवाला) था, इसीलिये पुरुषोत्तम अर्जुनकुमारको 'अभिमन्यु' कहते हैं ॥ ६७ ॥

स सात्वत्यामतिरथः सम्बभूव धनंजयात्।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६८ ॥

जैसे यज्ञमें मन्थन करनेपर शमीके गर्भसे उत्पन्न अश्वत्थसे अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार अर्जुनके द्वारा सुभद्राके गर्भसे उस अतिरथी वीरका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ६८ ॥

यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ॥ ६९ ॥

भारत ! उसके जन्म लेनेपर महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ तथा बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ दानमें दीं ॥ ६९ ॥

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात् प्रभृति चाभवत् ।
पितॄणामिव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ७० ॥

जैसे समस्त पितरों और प्रजाओंको चन्द्रमा प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रिय हो गया था ॥ ७० ॥

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ७१ ॥

श्रीकृष्णने जन्मसे ही उसके लालन-पालनकी सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं । बालक अभिमन्यु शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा ॥ ७१ ॥

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ७२ ॥

उस शत्रुदमन बालकने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पदों[1] और दशविध अङ्गोंसे[2] युक्त दिव्य एवं मानुष[1] सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ ७२ ॥

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥ ७३ ॥

अस्त्रोंके विज्ञान, सौष्ठव (प्रयोगपटुता) तथा सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी महाबली अर्जुनने उसे विशेष शिक्षा दी थी ॥ ७३ ॥

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ७४ ॥

धनंजयने अभिमन्युको (अस्त्र-शस्त्रोंके) आगम और प्रयोगमें अपने समान बना दिया था । वे सुभद्राकुमारको देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७४ ॥

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ७५ ॥

वह दूसरोंको तिरस्कृत करनेवाले समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित एवं दुर्धर्ष था । उसके कंधे वृषभके समान हृष्ट-पुष्ट थे तथा मुँह बाये हुए सर्पकी भाँति वह शत्रुओंको भयानक प्रतीत होता था ॥ ७५ ॥

सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ७६ ॥

उसमें सिंहके समान गर्व था तथा मतवाले गजराजकी भाँति पराक्रम था । वह महाधनुर्धर वीर अपने गम्भीर स्वरसे मेघ और दुन्दुभिकी ध्वनिको लजा देता था । उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनमें आह्लाद उत्पन्न करता था ॥ ७६ ॥

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७७ ॥

वह शूरता, पराक्रम, रूप तथा आकृति—सभी बातोंमें श्रीकृष्णके समान ही जान पड़ता था । अर्जुन अपने उस पुत्रको वैसी ही प्रसन्नतासे देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ॥ ७७ ॥

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान् वीराञ्छ्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव ॥ ७८ ॥

---

१. धनुर्वेदमें निम्नाङ्कित चार पाद बताये गये हैं—मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त । जैसा कि वचन है—

मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च ।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ॥

जिसका मन्त्रद्वारा केवल प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं, उसे मन्त्रमुक्त कहते हैं । जिसे हाथमें लेकर धनुषद्वारा छोड़ा जाय, वह बाण आदि पाणिमुक्त कहा गया है । जिसके प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह मुक्तामुक्त है । जो वस्तुतः छोड़ा नहीं जाता, जैसे मन्त्रद्वारा साधित (ध्वजा आदि) है, जिसको देखनेमात्रसे शत्रु भाग जाते हैं, वह अमुक्त कहलाता है। ये अथवा सूत्र, शिक्षा, प्रयोग तथा रहस्य—ये ही धनुर्वेदके चार पाद हैं ।

२. आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य—धनुर्वेदके ये दस अङ्ग हैं । यथा—

आदानमथ संधानं मोक्षणं विनिवर्तनम् ।
स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम् ॥
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ।

तरकससे बाणको निकालना आदान है । उसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर रखना संधान है, लक्ष्यपर छोड़ना मोक्षण कहा गया है । यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाण-को लौटा लेते हैं । इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना विनिवर्तन कहलाता है । धनुष या उसकी प्रत्यञ्चाके धारण अथवा शर-संधानकालमें धनुष और प्रत्यञ्चाके मध्यदेशको स्थान कहा गया है । तीन या चार अँगुलियोंका सहयोग ही मुष्टि है । तर्जनी और मध्यमा अंगुलिके अथवा मध्यमा और अंगुष्ठके मध्यसे बाणका संधान करना प्रयोग कहलाता है । स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होने-वाले ज्याघात (प्रत्यञ्चाके आघात) और बाणके आघातको रोकने-के लिये जो दस्तानों आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित्त है । चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध मण्डल कहलाता है । शब्दके आधारपर लक्ष्य बींधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना, ये सब रहस्यके अन्तर्गत हैं ।

१. ब्रह्मास्त्र आदिको दिव्य और खड्ग आदिको मानुष कहा गया है ।

शुभलक्षणा पाञ्चालीने भी अपने पाँचों पतियोंसे पाँच श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया। वे सब-के-सब वीर और पर्वतके समान अविचल थे ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ ७९ ॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान्।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे। इन पाँच वीर महारथी पुत्रोंको पाञ्चाली (द्रौपदी) ने उसी प्रकार जन्म दिया, जैसे अदितिने बारह आदित्योंको ।७९-८०।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम्।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ८१ ॥

ब्राह्मणोंने युधिष्ठिरसे उनके पुत्रका नाम शास्त्रके अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहारजनित वेदनाके ज्ञानमें विन्ध्यपर्वतके समान हो। (इसे शत्रुओंके प्रहारसे तनिक भी पीड़ा न हो)॥ ८१ ॥

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम्।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ८२ ॥

भीमसेनके सहस्र सोमयाग करनेके पश्चात् द्रौपदीने उनसे सोम और सूर्यके समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्रको उत्पन्न किया था, इसलिये उसका नाम सुतसोम रक्खा गया।८२।

श्रुतं कर्म महत् कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥

किरीटधारी अर्जुनने महान् एवं विख्यात कर्म करनेके पश्चात् लौटकर द्रौपदीसे पुत्र उत्पन्न किया था, इसलिये उनके पुत्रका नाम श्रुतकर्मा हुआ ॥ ८३ ॥

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ॥ ८४ ॥

कौरवकुलके महामना राजर्षि शतानीकके नामपर नकुलने अपने कीर्तिवर्धक पुत्रका नाम शतानीक रख दिया ॥८४॥

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर कृष्णाने सहदेवसे अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्रमें एक पुत्र उत्पन्न किया, इसलिये उसका नाम श्रुतसेन रक्खा गया (श्रुतसेन अग्निका ही नामान्तर है) ॥८५॥

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र! ये यशस्वी द्रौपदीकुमार एक-एक वर्षके अन्तरसे उत्पन्न हुए थे और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे ॥८६॥

जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च।
चकार विधिवद् धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पुरोहित धौम्यने क्रमशः उन सभी बालकोंके जातकर्म, चूड़ाकरण और उपनयन आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये ॥ ८७ ॥

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद् दिव्यमानुषम् ॥ ८८ ॥

पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले उन बालकोंने धौम्य मुनिसे वेदाध्ययन करनेके पश्चात् अर्जुनसे सम्पूर्ण दिव्य एवं मानुष धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया ॥ ८८ ॥

दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः।
अन्वितो राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८९ ॥

राजेश्वर ! देवपुत्रोंके समान चौड़ी छातीवाले उन महारथी पुत्रोंसे संयुक्त हो पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हरणाहरणपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हरणाहरणपर्वमें दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १॥ श्लोक मिलाकर कुल ९०½ श्लोक हैं)

(खाण्डवदाहपर्व)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके राज्यकी विशेषता, कृष्ण और अर्जुनका खाण्डववनमें जाना तथा उन दोनोंके पास ब्राह्मणवेशधारी अग्निदेवका आगमन

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान्।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थमें रहते हुए पाण्डवोंने अन्य बहुत-से राजाओंको, जो उनके शत्रु थे, मार दिया ॥ १ ॥

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत् सुखम्।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरका आसरा लेकर सब लोग सुखसे

रहने लगे, जैसे जीवात्मा पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप अपने उत्तम शरीरको पाकर सुखसे रहता है ॥ २ ॥

स समं धर्मकामार्थान् सिषेवे भरतर्षभ ।
त्रीनिवात्मसमान् बन्धून् नीतिमानिव मानयन् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज युधिष्ठिर नीतिज्ञ पुरुषकी भाँति धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको आत्माके समान प्रिय बन्धु मानते हुए न्याय और समतापूर्वक इनका सेवन करते थे ॥ ३ ॥

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥

इस प्रकार तुल्यरूपसे बँटे हुए धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ भूतलपर मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो रहे थे और राजा युधिष्ठिर चौथे पुरुषार्थ मोक्षकी भाँति सुशोभित होते थे ॥ ४ ॥

अध्येतारं परं वेदान् प्रयोक्तारं महाध्वरे ।
रक्षितारं शुभाँल्लोकान् लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥

प्रजाने महाराज युधिष्ठिरके रूपमें ऐसा राजा पाया था, जो परम ब्रह्म परमात्माका चिन्तन करनेवाला, बड़े-बड़े यज्ञोंमें वेदोंका उपयोग करनेवाला और शुभ लोकोंके संरक्षणमें तत्पर रहनेवाला था ॥ ५ ॥

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनासीत् पृथिवीक्षिताम् ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके द्वारा दूसरे राजाओंकी चञ्चल लक्ष्मी भी स्थिर हो गयी, बुद्धि उत्तम निष्ठावाली हो गयी और सम्पूर्ण धर्मकी दिनोंदिन वृद्धि होने लगी ॥ ६ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥

जैसे यथावसर उपयोगमें लाये जानेवाले चारों वेदोंके द्वारा विस्तारपूर्वक आरम्भ किया हुआ महायज्ञ शोभा पाता है, उसी प्रकार अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥ ७ ॥

तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवामराः ॥ ८ ॥

जैसे बृहस्पति-सदृश मुख्य-मुख्य देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार धौम्य आदि ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठते थे ॥ ८ ॥

धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवामले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥

निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्दप्रद राजा युधिष्ठिर-के प्रति अत्यन्त प्रीति होनेके कारण उन्हें देखकर प्रजाके नेत्र और मन एक साथ प्रफुल्लित हो उठते थे ॥ ९ ॥

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन रेमिरे ।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥

प्रजा केवल उनके पालनरूप राजोचित कर्मसे ही संतुष्ट नहीं थी, वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रखनेके कारण भी सदा आनन्दित रहती थी । राजाके प्रति प्रजाकी भक्ति इसलिये थी कि प्रजाके मनको जो प्रिय लगता था, राजा युधिष्ठिर उसीको क्रियाद्वारा पूर्ण करते थे ॥ १० ॥

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नासह्यं न च वाप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥

सदा मीठी बातें करनेवाले बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरके मुखसे कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य और अप्रिय बात नहीं निकलती थी ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षन् सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर सब लोगोंका और अपना भी हित करनेकी चेष्टामें लगे रहकर सदा प्रसन्नतापूर्वक समय बिताते थे ॥ १२ ॥

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।
अवसन् पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥

इस प्रकार सभी पाण्डव अपने तेजसे दूसरे नरेशोंको संतप्त करते हुए निश्चिन्त तथा आनन्दमग्न होकर वहाँ निवास करते थे ॥

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥ १४ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा— 'कृष्ण ! बड़ी गरमी पड़ रही है । चलिये, यमुनाजीमें स्नानके लिये चलें ॥ १४ ॥

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन ।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! मित्रोंके साथ वहाँ जलविहार करके हमलोग शामतक फिर लौट आयेंगे । जनार्दन ! यदि आपकी रुचि हो, तो चलें' ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद् रोचते यद् वयं जले ।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥

वासुदेव बोले—कुन्तीनन्दन ! मेरी भी ऐसी ही इच्छा हो रही है कि हमलोग सुहृदोंके साथ वहाँ चलकर सुखपूर्वक जलविहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! यह सलाह करके युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अर्जुन और श्रीकृष्ण सुहृदोंके साथ वहाँ गये ॥ १७ ॥

विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरन्दरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥
विवेशान्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥

यमुनाके तटपर जहाँ विहारस्थान था, वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके रनिवासकी स्त्रियाँ नाना प्रकारके सुन्दर रत्नोंके साथ क्रीड़ाभवनके भीतर चली गयीं । वह उत्तम विहारभूमि नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित थी । वहाँ बने हुए अनेक छोटे-बड़े भवनोंके कारण वह स्थान इन्द्रपुरीके समान सुशोभित होता था । अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, बहुमूल्य सरस पेय, भाँति-भाँतिके पुष्पहार और सुगन्धित द्रव्य भी थे । भारत ! वहाँ जाकर सब लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जलक्रीड़ा करने लगे ॥ १८—२० ॥

स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥

विशाल नितम्बों और मनोहर पीन उरोजोंवाली वामलोचना वनिताएँ भी यौवनके मदके कारण डगमगाती चालसे चलकर इच्छानुसार क्रीड़ाएँ करने लगीं ॥२१॥

वने काश्चिज्जले काश्चित् काश्चिद् वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथायोग्यं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ॥ २२ ॥

वे स्त्रियाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रुचिके अनुसार कुछ वनमें, कुछ जलमें और कुछ घरोंमें यथोचितरूपसे क्रीड़ा करने लगीं ॥ २२ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रायच्छतां महाराज ते तु तस्मिन् मदोत्कटे ॥ २३ ॥

महाराज ! उस समय यौवनमदसे युक्त द्रौपदी और सुभद्राने बहुत-से वस्त्र और आभूषण बाँटे ॥ २३ ॥

काश्चित् प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः ।
जहसुश्च परा नार्यो जगुश्चान्या वरस्त्रियः ॥ २४ ॥

वहाँ कुछ श्रेष्ठ स्त्रियाँ हर्षोल्लासमें भरकर नृत्य करने लगीं । कुछ जोर-जोरसे कोलाहल करने लगीं । अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ ठठाकर हँसने लगीं तथा कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ गीत गाने लगीं ॥ २४ ॥

रुरुधुश्चापरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥

कुछ एक-दूसरीको पकड़कर रोकने और मृदु प्रहार करने लगीं तथा कुछ दूसरी स्त्रियाँ एकान्तमें बैठकर आपसमें कुछ गुप्त बातें करने लगीं ॥ २५ ॥

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते हर्म्यं तद् वनं सुमहर्द्धिमत् ॥ २६ ॥

वहाँका राजभवन और महान् समृद्धिशाली वन वीणा, वेणु और मृदङ्ग आदि मनोहर वाद्योंकी सुमधुर ध्वनिसे सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोहरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार जब वहाँ क्रीड़ा-विहारका आनन्दमय उत्सव चल रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण और अर्जुन पासके ही किसी अत्यन्त मनोहर प्रदेशमें गये ॥ २७ ॥

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ॥ २८ ॥
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥

राजन् ! वहाँ जाकर शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन दो बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे और पहले किये हुए पराक्रमों तथा अन्य बहुत-सी बातोंकी चर्चा करके आमोद-प्रमोद करने लगे ॥ २८-२९ ॥

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत् तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ॥ ३० ॥

वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुए धनंजय और वासुदेव स्वर्गलोकमें स्थित अश्विनीकुमारोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे । उसी समय उन दोनोंके पास एक ब्राह्मणदेवता आये ॥ ३० ॥

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिङ्गोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥

वे विशाल शालवृक्षके समान ऊँचे थे । उनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी । उनके सारे अङ्ग नीले और पीले रंगके थे, दाढ़ी-मूँछें अग्निज्वालाके समान पीत वर्णकी

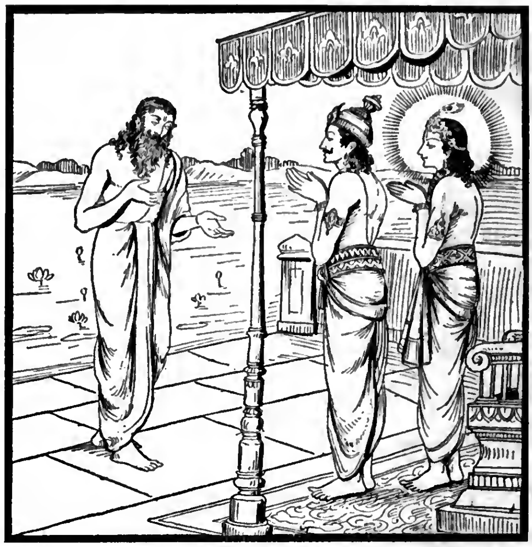

थीं तथा ऊँचाईके अनुसार ही उनकी मोटाई थी ॥ ३१ ॥

तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥

वे प्रातःकालिक सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। वे चीर-वस्त्र पहने और मस्तकपर जटा धारण किये हुए थे। उनका मुख कमलदलके समान शोभा पा रहा था। उनकी प्रभा पिङ्गल वर्णकी थी और वे अपने तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ३२ ॥

उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३३ ॥

वे तेजस्वी द्विजश्रेष्ठ जब निकट आ गये, तब अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें ब्राह्मणरूपी अग्निदेवके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका खाण्डववनको जलानेके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सहायताकी याचना करना, अग्निदेव उस वनको क्यों जलाना चाहते थे, इसे बतानेके प्रसङ्गमें राजा श्वेतकिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन ब्राह्मणदेवताने अर्जुन और सात्वतवंशी भगवान् वासुदेवसे, जो विश्वविख्यात वीर थे और खाण्डववनके समीप खड़े हुए थे, कहा— ॥ १ ॥

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छतम् ॥ २ ॥

'मैं अधिक भोजन करनेवाला एक ब्राह्मण हूँ और सदा अपरिमित अन्न भोजन करता हूँ। वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन ! आज मैं आप दोनोंसे भिक्षा माँगता हूँ। आपलोग एक बार पूर्ण भोजन कराकर मुझे तृप्ति प्रदान कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत् तस्यान्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले— 'ब्रह्मन् ! बताइये, आप किस अन्नसे तृप्त होंगे ? हम दोनों उसीके लिये प्रयत्न करेंगे' ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत् तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥

जब वे दोनों वीर 'आपके लिये किस अन्नकी व्यवस्था की जाय ?' इसी बातको बार-बार दुहराने लगे, तब उनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निदेव उन दोनोंसे इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद् युवां सम्प्रयच्छतम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—वीरो ! मुझे अन्नकी भूख नहीं है, आपलोग मुझे अग्नि समझें । जो अन्न मेरे अनुरूप हो, वही आप दोनों मुझे दें ॥ ५ ॥

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥

इन्द्र सदा इस खाण्डववनकी रक्षा करते हैं। उन महा-मनासे सुरक्षित होनेके कारण मैं इसे जला नहीं पाता ॥ ६ ॥

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥

इस वनमें इन्द्रका सखा तक्षक नाग अपने परिवारसहित सदा निवास करता है। उसीके लिये वज्रधारी इन्द्र सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

तत्र भूतान्यनेकानि रक्षतेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥ ८ ॥

उस तक्षक नागके प्रसङ्गसे ही यहाँ रहनेवाले और भी अनेक जीवोंकी वे रक्षा करते हैं, इसलिये इन्द्रके प्रभावसे मैं इस वनको जला नहीं पाता। परंतु मैं सदा ही इसे जलानेकी इच्छा रखता हूँ ॥ ८ ॥

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥

मुझे प्रज्वलित देखकर वे मेघोंद्वारा जलकी वर्षा करने लगते हैं, यही कारण है कि जलानेकी इच्छा रखते हुए भी मैं इस खाण्डववनको दग्ध करनेमें सफल नहीं हो पाता ॥ ९ ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥

आप दोनों अस्त्रविद्याके पूरे जानकार हैं, अतः मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास आया हूँ कि आप दोनोंकी सहायतासे इस खाण्डववनको जला सकूँ। मैं इसी अन्नकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ १० ॥

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक् सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

आप दोनों उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अतः जब मैं इस वनको जलाने लगूँ, उस समय आपलोग ऊपरसे बरसती हुई जलकी धाराओं तथा इस वनसे निकलकर चारों ओर भागनेवाले प्राणियोंको रोकियेगा ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् अग्निदेव देवराज इन्द्रके द्वारा सुरक्षित और अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए खाण्डववनको किसलिये जलाना चाहते थे? ॥ १२ ॥

न ह्येतत् कारणं ब्रह्मन्नल्पं सम्प्रतिभाति मे।
यद् ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

विप्रवर! मुझे इसका कोई साधारण कारण नहीं जान पड़ता, जिसके लिये कुपित होकर हव्यवाहन अग्निने समूचे खाण्डववनको भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

एतद् विस्तरशो ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्! मुने! पूर्वकालमें खाण्डववनका दाह जिस प्रकार हुआ, वह सब विस्तारके साथ मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे ब्रुवतो राजन् सर्वमेतद् यथातथम्।
यन्निमित्तं ददाहाग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज जनमेजय! अग्निदेवने जिस कारण खाण्डववनको जलाया, वह सब वृत्तान्त मैं यथावत् बतलाता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम्।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ! खाण्डववनके विनाशसे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्राचीन कथा महर्षियोंद्वारा प्रस्तुत की गयी है। उसीको मैं तुमसे कहूँगा ॥ १६ ॥

पौराणः श्रूयते राजन् राजा हरिहयोपमः।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥

राजन्! सुना जाता है, प्राचीनकालमें इन्द्रके समान बल और पराक्रमसे सम्पन्न श्वेतकि नामके एक राजा थे ॥ १७ ॥

यज्वा दानपतिर्धीमान् यथा नान्योऽस्ति कश्चन।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ॥ १८ ॥

उस समय उनके-जैसा यज्ञ करनेवाला, दाता और बुद्धिमान् दूसरा कोई नहीं था। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १८ ॥

तस्य नान्याभवद् बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥

राजन्! प्रतिदिन उनके मनमें यज्ञ और दानके सिवा दूसरा कोई विचार ही नहीं उठता था। वे यज्ञकर्मोंके आरम्भ और नाना प्रकारके दानोंमें ही लगे रहते थे ॥ १९ ॥

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ॥ २० ॥

इस प्रकार वे बुद्धिमान् नरेश ऋत्विजोंके साथ यज्ञ किया करते थे। यज्ञ करते-करते उनके ऋत्विजोंकी आँखें धूएँसे व्याकुल हो उठीं ॥ २० ॥

कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्ते नराधिपम्।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान् महीपतिः ॥ २१ ॥
चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम्।
ततस्तेषामनुमते तद् विप्रैस्तु नराधिपः ॥ २२ ॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह।

दीर्घकालतक आहुति देते-देते वे सभी खिन्न हो गये थे। इसलिये राजाको छोड़कर चले गये। तब राजाने उन ऋत्विजोंको पुनः यज्ञके लिये प्रेरित किया। परंतु जिनके नेत्र दुखने लगे थे, वे ऋत्विज उनके यज्ञमें नहीं आये। तब राजाने उनकी अनुमति लेकर दूसरे ब्राह्मणोंको ऋत्विज बनाया और उन्हींके साथ अपने चालू किये हुए यज्ञको पूरा किया ॥ २१-२२½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित् कालपर्यये ॥ २३ ॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।
ऋत्विजो नाभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः ॥ २४ ॥

इस प्रकार यज्ञपरायण राजाके मनमें किसी समय यह संकल्प उठा कि मैं सौ वर्षोंतक चालू रहनेवाला एक सत्र प्रारम्भ करूँ; परंतु उन महामनाको वह यज्ञ आरम्भ करनेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिले ॥ २३-२४ ॥

स च राजाकरोद् यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ॥ २५ ॥
ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥

उन महायशस्वी नरेशने अपने सुहृदोंको साथ लेकर इस कार्यके लिये बहुत बड़ा प्रयत्न किया। पैरोंपर पड़कर, सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर और इच्छानुसार दान देकर बार-बार निरालस्यभावसे ऋत्विजोंको मनाया, उनसे यज्ञ करानेके लिये अनुनय-विनय की; परंतु उन्होंने अमिततेजस्वी नरेशके मनोरथको सफल नहीं किया ॥ २५-२६ ॥

स चाश्रमस्थान् राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥
आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः।
तन्नार्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥

तब उन राजर्षिने कुछ कुपित होकर आश्रमवासी महर्षियोंसे कहा—'ब्राह्मणो ! यदि मैं पतित होऊँ और आपलोगोंकी शुश्रूषासे मुँह मोड़ता होऊँ तो निन्दित होनेके कारण आप सभी ब्राह्मणोंके द्वारा शीघ्र ही त्याग देने योग्य हूँ, अन्यथा नहीं; अतः यज्ञ करानेके लिये मेरी इस बढ़ी हुई श्रद्धामें आपलोगोंको बाधा नहीं डालनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

'विप्रवरो ! इस प्रकार बिना किसी अपराधके मेरा परित्याग करना आपलोगोंके लिये कदापि उचित नहीं है। मैं आपकी शरणमें हूँ। आपलोग कृपापूर्वक मुझपर प्रसन्न होइये ॥ २९ ॥

सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

'श्रेष्ठ द्विजगण ! मैं कार्यार्थी होनेके कारण सान्त्वना देकर दान आदि देनेकी बात कहकर यथार्थ वचनोंद्वारा आपलोगोंको प्रसन्न करके आपकी सेवामें अपना कार्य निवेदन कर रहा हूँ ॥ ३० ॥

अथवाहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान् गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः॥ ३१॥

'द्विजोत्तमो ! यदि आपलोगोंने द्वेषवश मुझे त्याग दिया तो मैं यह यज्ञ करानेके लिये दूसरे ऋत्विजोंके पास जाऊँगा' ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थे परंतप ॥ ३२ ॥
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ॥ ३३ ॥

इतना कहकर राजा चुप हो गये। परंतप जनमेजय ! जब वे ऋत्विज राजाका यज्ञ करानेके लिये उद्यत न हो सके, तब वे रुष्ट होकर उन नृपश्रेष्ठसे बोले—'भूपालशिरोमणे ! आपके यज्ञकर्म तो निरन्तर चलते रहते हैं ॥ ३२-३३ ॥

ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात् परिश्रान्तान् स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि॥ ३४ ॥
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासम्भावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ॥ ३५ ॥

'अतः सदा कर्ममें लगे रहनेके कारण हमलोग थक गये हैं, पहलेके परिश्रमसे हमारा कष्ट बढ़ गया है। ऐसी दशामें बुद्धिमोहित होनेके कारण उतावले होकर आप चाहें तो हमारा त्याग कर सकते हैं। निष्पाप नरेश ! आप तो भगवान् रुद्रके ही समीप जाइये। अब वे ही आपका यज्ञ करायेंगे' ॥ ३४-३५ ॥

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणोंका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर राजा श्वेतकिको बड़ा क्रोध हुआ। वे कैलास पर्वतपर जाकर उग्र तपस्यामें लग गये ॥ ३६ ॥

आराधयन् महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन् दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३७ ॥

राजन् ! तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले राजा श्वेतकि मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करते हुए बहुत दिनोंतक निराहार खड़े रहे ॥ ३७ ॥

कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद् राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३८ ॥

वे कभी बारहवें दिन और कभी सोलहवें दिन फल-मूलका आहार कर लेते थे ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन् स्थाणुरिवाचलः ।
षण्मासानभवद् राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ॥ ३९ ॥

दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकटक देखते हुए राजा श्वेतकि एकाग्रचित्त हो छः महीनोंतक ठूँठकी तरह अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ३९ ॥

तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत् तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥

भारत ! उन नृपश्रेष्ठको इस प्रकार भारी तपस्या करते देख भगवान् शङ्करने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया ॥ ४० ॥

उवाच चैनं भगवान् स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ॥४१॥

और स्नेहपूर्वक गम्भीर वाणीमें भगवान्ने उनसे कहा—'परंतप ! नरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ ॥४१॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्यामिततेजसः ॥ ४२ ॥
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ।

'भूपाल ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम जैसा चाहते हो, वैसा वर माँग लो ।' अमिततेजस्वी रुद्रका यह वचन सुनकर राजर्षि श्वेतकिने परमात्मा शिवके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ४२½ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४३ ॥
स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ॥ ४४ ॥
उवाच भगवान् प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ।

'देवदेवेश ! सुरेश्वर ! यदि मेरे ऊपर आप सर्वलोक-वन्दित भगवान् प्रसन्न हुए हैं तो स्वयं चलकर मेरा यज्ञ करायें ।' राजाकी कही हुई यह बात सुनकर भगवान् शिव प्रसन्न होकर मुसकराते हुए बोले—॥ ४३-४४½ ॥

नास्माकमेष विषयो वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत् तप्तं तपो राजन् वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ॥ ४६ ॥

'राजन् ! यज्ञ कराना हमारा काम नहीं है; परंतु तुमने यही वर माँगनेके लिये भारी तपस्या की है, अतः परंतप नरेश ! मैं एक शर्तपर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा' ॥ ४५-४६ ॥

रुद्र उवाच

समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ॥ ४७ ॥
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ।

रुद्र बोले—राजेन्द्र ! यदि तुम एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक घृतकी निरन्तर अविच्छिन्न धाराद्वारा अग्निदेवको तृप्त करो तो मुझसे जिस कामनाके लिये प्रार्थना कर रहे हो, उसे पाओगे ॥४७½॥

एवमुक्तश्च रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ॥ ४८ ॥
तथा चकार तत् सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ॥ ४९ ॥

भगवान् रुद्रके ऐसा कहनेपर राजा श्वेतकिने शूलपाणि शिवकी आज्ञाके अनुसार सारा कार्य सम्पन्न किया । बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् महेश्वर पुनः आये ॥ ४७-४९ ॥

दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् शङ्कर नृपश्रेष्ठ श्वेतकिको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ५० ॥

तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा ।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ॥ ५१ ॥

'भूपालशिरोमणे ! तुमने इस वेदविहित कर्मके द्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट किया है, परंतु परंतप ! शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करानेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है ॥ ५१ ॥

अतोऽहं त्वां स्वयं नाद्य याजयामि परंतप ।
ममांशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः ॥ ५२ ॥

'अतः परंतप ! मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा । पृथ्वीपर मेरे ही अंशभूत एक महाभाग श्रेष्ठ द्विज हैं ॥ ५२ ॥

दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति ।
मन्नियोगान्महातेजाः सम्भाराः सम्भ्रियन्तु ते ॥ ५३ ॥

'वे दुर्वासा नामसे विख्यात हैं । महातेजस्वी दुर्वासा मेरी आज्ञासे तुम्हारा यज्ञ करायेंगे; तुम सामग्री जुटाओ' ।५३।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम् ।
स्वपुरं पुनरागम्य सम्भारान् पुनरार्जयत् ॥ ५४ ॥

भगवान् रुद्रका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा पुनः अपने नगरमें आये और यज्ञसामग्री जुटाने लगे ॥५४॥

ततः सम्भृतसम्भारो भूयो रुद्रमुपागमत् ।
सम्भृता मम सम्भाराः सर्वोपकरणानि च ॥ ५५ ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ ५६ ॥
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत् ।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम् ।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह ॥ ५८ ॥

तदनन्तर सामग्री जुटाकर वे पुनः भगवान् रुद्रके पास गये और बोले—'महादेव ! आपकी कृपासे मेरी यज्ञसामग्री तथा अन्य सभी आवश्यक उपकरण जुट गये । अब कल मुझे यज्ञकी दीक्षा मिल जानी चाहिये ।' महामना राजाका यह कथन सुनकर भगवान् रुद्रने दुर्वासाको बुलाया और कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! ये महाभाग राजा श्वेतकि हैं । विप्रेन्द्र ! मेरी आज्ञासे तुम इन भूमिपालका यज्ञ कराओ ।' यह सुनकर महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ ५५–५८ ॥

ततः सत्रं समभवत् तस्य राज्ञो महात्मनः ।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर यथासमय विधिपूर्वक उन महामना नरेशका यज्ञ आरम्भ हुआ । शास्त्रमें जैसा बताया गया है, उसी ढंगसे सब कार्य हुआ । उस यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणा दी गयी ॥ ५९ ॥

तस्मिन् परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स याजकाः ॥ ६० ॥
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ।
सोऽपि राजन् महाभागः स्वपुरं प्राविशत् तदा ॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिः स्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दितः ॥ ६२ ॥

उन महामना नरेशका वह यज्ञ पूरा होनेपर उसमें जो महातेजस्वी सदस्य और ऋत्विज दीक्षित हुए थे, वे सब दुर्वासाजीकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चले गये । राजन्! वे महान् सौभाग्यशाली नरेश भी वेदोंके पारङ्गत महाभाग ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उस समय अपनी राजधानीमें गये । उस समय वन्दीजनोंने उनका यश गाया और पुरवासियोंने अभिनन्दन किया ॥ ६०—६२ ॥

एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चापि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ॥ ६३ ॥
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः ।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि श्वेतकिका आचार-व्यवहार ऐसा ही था । वे दीर्घकालके पश्चात् अपने यज्ञके सम्पूर्ण सदस्यों तथा ऋत्विजों-सहित देवताओंसे प्रशंसित हो स्वर्गलोकमें गये । उनके यज्ञमें अग्निने लगातार बारह वर्षोंतक घृतपान किया था ॥ ६३-६४ ॥

सततं चाज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि ।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥

उस अद्वितीय यज्ञमें निरन्तर घीकी अविच्छिन्न धाराओंसे अग्निदेवको बड़ी तृप्ति प्राप्त हुई ॥ ६५ ॥

न चैच्छत् पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत् प्रकाशते ॥ ६६ ॥

अब उन्हें फिर दूसरे किसीका हविष्य ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रही । उनका रंग सफेद हो गया, कान्ति फीकी पड़ गयी तथा वे पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ६६ ॥

ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणश्च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ॥ ६७ ॥

तब भगवान् अग्निदेवके उदरमें विकार हो गया । वे तेजसे हीन हो ग्लानिको प्राप्त होने लगे ॥ ६७ ॥

स लक्षयित्वा चात्मानं तेजोहीनं हुताशनः ।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥

अपनेको तेजसे हीन देख अग्निदेव ब्रह्माजीके लोकपूजित पुण्यधाममें गये ॥ ६८ ॥

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन् परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥

वहाँ बैठे हुए ब्रह्माजीसे वे यह वचन बोले—'भगवन्! राजा श्वेतकिने अपने यज्ञमें मुझे परम संतुष्ट कर दिया ।६९।

अरुचिश्चाभवत् तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम् ।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ॥ ७० ॥
इच्छेय त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम् ।

'परंतु मुझे अत्यन्त अरुचि हो गयी है, जिसे मैं किसी प्रकार दूर नहीं कर पाता । जगत्पते ! उस अरुचिके कारण मैं तेज और बलसे हीन होता जा रहा हूँ । अतः मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे मैं स्वस्थ हो जाऊँ; मेरी स्वाभाविक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे' ॥ ७०½ ॥

एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद् भगवान् सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ॥ ७२ ॥
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत् ।
तेजसा विप्रहीणत्वात् सहसा हव्यवाहन ॥ ७३ ॥
मा गमस्त्वं यथा वह्ने प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी हव्यवाहन अग्निसे हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—'महाभाग ! तुमने बारह वर्षोंतक वसुधाराकी आहुतिके रूपमें प्राप्त हुई घृतधाराका उपभोग किया है । इसीलिये तुम्हें ग्लानि प्राप्त हुई है । हव्यवाहन ! तेजसे हीन होनेके कारण तुम्हें सहसा अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये । वह्ने ! तुम फिर पूर्ववत् स्वस्थ हो जाओगे । मैं समय पाकर तुम्हारी अरुचि नष्ट कर दूँगा ॥ ७१—७४ ॥

पुरा देवनियोगेन यत् त्वया भस्मसात् कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो ।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ॥ ७६ ॥

'पूर्वकालमें देवताओंके आदेशसे तुमने दैत्योंके जिस अत्यन्त घोर निवासस्थान खाण्डववनको जलाया था, वहाँ इस समय सब प्रकारके जीव-जन्तु आकर निवास करते हैं । विभावसो ! उन्हींके मेदसे तृप्त होकर तुम स्वस्थ हो सकोगे ॥ ७५-७६ ॥

गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ॥ ७७ ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ।
सहसा प्राज्वलच्चाग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥

'उस वनको जलानेके लिये तुम शीघ्र ही जाओ। तभी इस ग्लानिसे छुटकारा पा सकोगे।' परमेष्ठी ब्रह्माजीके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर अग्निदेव बड़े वेगसे वहाँ दौड़े गये। खाण्डववनमें पहुँचकर उत्तम बलका आश्रय ले वायुका सहारा पाकर कुपित अग्निदेव सहसा प्रज्वलित हो उठे ॥ ७७-७८ ॥

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः।
परमं यत्नमातिष्ठन् पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥

खाण्डववनको जलते देख वहाँ रहनेवाले प्राणियोंने उस आगको बुझानेके लिये बड़ा यत्न किया ॥ ७९ ॥

करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें हाथी अपनी सूँड़ोंमें जल लेकर शीघ्रतापूर्वक दौड़े आते और क्रोधपूर्वक उतावलीके साथ आगपर उस जलको उड़ेल दिया करते थे ॥ ८० ॥

बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम्।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ८१ ॥

अनेक सिरवाले नाग भी क्रोधसे मूर्च्छित हो अपने मस्तकोंद्वारा अग्निके समीप शीघ्रतापूर्वक जलकी धारा बरसाने लगे॥

तथैवान्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन् भरतर्षभ ॥ ८२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसी प्रकार दूसरे-दूसरे जीवोंने भी अनेक प्रकारके प्रहारों (धूल झोंकने आदि) तथा उद्यमों (जल छिड़कने आदि) के द्वारा शीघ्रतापूर्वक उस आगको बुझा दिया ॥ ८२ ॥

अनेन तु प्रकारेण भूयो भूयश्च प्रज्वलन्।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥ ८३ ॥

इस तरह खाण्डववनमें अग्निने बार-बार प्रज्वलित होकर सात बार उसे जलानेका प्रयास किया; परंतु प्रतिबार वहाँके निवासियोंने उन्हें बुझा दिया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अग्निपराभवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अग्निपराभवविषयक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२२॥

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका अग्निकी प्रार्थना स्वीकार करके उनसे दिव्य धनुष एवं रथ आदि माँगना

वैशम्पायन उवाच

स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः।
पितामहमुपागच्छत् संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी असफलतासे अग्निदेवको बड़ी निराशा हुई। वे सदा ग्लानिमें डूबे रहने लगे और कुपित हो पितामह ब्रह्माजीके पास गये ॥१॥

तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे संन्यवेदयत्।
उवाच चैनं भगवान् मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥

वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीसे सब बातें यथोचित रीतिसे कह सुनायीं। तब भगवान् ब्रह्माजी दो घड़ीतक विचार करके उनसे बोले—॥ २ ॥

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ।
कालं च कंचित् क्षमतां ततस्त्वं धक्ष्यसेऽनल॥ ३ ॥

'अनघ ! तुम जिस प्रकार खाण्डववनको जलाओगे, वह उपाय तो मुझे सूझ गया है; किंतु उसके लिये तुम्हें कुछ समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अनल ! इसके बाद तुम खाण्डववनको जला सकोगे ॥ ३ ॥

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ॥ ४ ॥

'हव्यवाहन ! उस समय नर और नारायण तुम्हारे सहायक होंगे। उन दोनोंके साथ रहकर तुम उस वनको जला सकोगे' ॥ ४ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत।
सम्भूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयम्भुवः।
अनुस्मृत्य जगामाथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥

तब अग्निने ब्रह्माजीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही सही।' तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् नर-नारायण ऋषियोंके अवतीर्ण होनेकी बात जानकर अग्निदेवको ब्रह्माजीकी बातका स्मरण हुआ। राजन् ! तब वे पुनः ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५-६ ॥

अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥

उस समय ब्रह्माजीने कहा—'अनल ! अब जिस प्रकार तुम इन्द्रके देखते-देखते अभी खाण्डववन जला सकोगे, वह उपाय सुनो ॥ ७ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

'विभावसो ! आदिदेव नर और नारायण मुनि इस

समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ८ ॥

अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते ।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥

'वहाँके लोग उन्हें अर्जुन और वासुदेवके नामसे जानते हैं। वे दोनों इस समय खाण्डववनके पास ही एक साथ बैठे हैं ॥ ९ ॥

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च ।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥

'उन दोनोंसे तुम खाण्डववन जलानेके कार्यमें सहायताकी याचना करो। तब तुम इन्द्रादि देवताओंसे रक्षित होनेपर भी उस वनको जला सकोगे ॥ १० ॥

तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः ।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥

'वे दोनों वीर एक साथ होनेपर यत्नपूर्वक वनके सारे जीवोंको भी रोकेंगे और देवराज इन्द्रका भी सामना करेंगे, मुझे इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः ।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥ १२ ॥
तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः ।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह सुनकर हव्यवाहनने तुरंत श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास आकर जो कार्य निवेदन किया, वह मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। जनमेजय ! अग्निका वह कथन सुनकर अर्जुनने इन्द्रकी इच्छाके विरुद्ध खाण्डववन जलानेकी अभिलाषा रखनेवाले जातवेदा अग्निसे उस समयके अनुकूल यह बात कही ॥

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च ।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान् बहून् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! मेरे पास बहुत-से दिव्य एवं उत्तम अस्त्र तो हैं, जिनके द्वारा मैं एक क्या, अनेक वज्रधारियोंसे युद्ध कर सकता हूँ ॥ १५ ॥

धनुर्मे नास्ति भगवन् बाहुवीर्येण सम्मितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद् विषहेन्मम ॥ १६ ॥

परंतु मेरे पास मेरे बाहुबलके अनुरूप धनुष नहीं है, जो समरभूमिमें युद्धके लिये प्रयत्न करते समय मेरा वेग सह सके ॥

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः ।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान् मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥

इसके सिवा शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते रहनेके लिये मुझे इतने अधिक बाणोंकी आवश्यकता होगी, जो कभी समाप्त न हों तथा मेरी इच्छाके अनुरूप बाणोंको ढोनेके लिये शक्तिशाली रथ भी मेरे पास नहीं है ॥ १७ ॥

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान् वातरंहसः ।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १८ ॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम् ।
येन नागान् पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥

मैं वायुके समान वेगवान् श्वेत वर्णके दिव्य अश्व तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाला एवं सूर्यके समान तेजस्वी रथ चाहता हूँ । इसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णके बल-पराक्रमके अनुसार कोई आयुध इनके पास भी नहीं है, जिससे ये नागों और पिशाचोंको युद्धमें मार सकें ॥१८-१९॥

उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन् वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥

भगवन् ! इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो उपाय सम्भव हो, वह मुझे बताइये, जिससे मैं इस महान् वनमें जल बरसाते हुए इन्द्रको रोक सकूँ ॥ २० ॥

पौरुषेण तु यत् कार्यं तत् कर्तारौ स्व पावक ।
करणानि समर्थानि भगवन् दातुमर्हसि ॥ २१ ॥

भगवन् अग्निदेव ! पुरुषार्थसे जो कार्य हो सकता है, उसे हमलोग करनेके लिये तैयार हैं; किंतु इसके लिये सुदृढ़ साधन जुटा देनेकी कृपा आपको करनी चाहिये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अर्जुनाग्निसंवादे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अर्जुन-अग्निसंवादविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका अर्जुन और श्रीकृष्णको दिव्य धनुष, अक्षय तरकस, दिव्य रथ और चक्र आदि प्रदान करना तथा उन दोनोंकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर धूमरूपी ध्वजासे सुशोभित होनेवाले भगवान् हुताशनने दर्शनकी इच्छासे लोकपाल वरुणका चिन्तन किया ॥ १ ॥

आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम्।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम्॥ २॥

अदितिके पुत्र, जलके स्वामी और सदा जलमें ही निवास करनेवाले उन वरुणदेवने, अग्निदेवने मेरा चिन्तन किया है, यह जानकर तत्काल उन्हें दर्शन दिया॥ २॥

तमब्रवीद् धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम्।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम्॥ ३॥

चौथे लोकपाल सनातन देवदेव जलेश्वर वरुणका स्वागत-सत्कार करके धूमकेतु अग्निने उनसे कहा—॥ ३॥

सोमेन राज्ञा यद् दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते।
तत् प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम्॥ ४॥

'वरुणदेव! राजा सोमने आपको जो दिव्य धनुष और अक्षय तरकस दिये हैं, वे दोनों मुझे शीघ्र दीजिये। साथ ही कपियुक्त ध्वजासे सुशोभित रथ भी प्रदान कीजिये॥ ४॥

कार्यं च सुमहत् पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्ममाद्य प्रदीयताम्॥ ५॥

'आज कुन्तीपुत्र अर्जुन गाण्डीव धनुषके द्वारा और भगवान् वासुदेव चक्रके द्वारा मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे; अतः वह सब आज मुझे दे दीजिये'॥ ५॥

ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत।
तदद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम्॥ ६॥
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम्॥ ७॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम्।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम्॥ ८॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्ये च महेषुधी॥ ९॥

तब वरुणने अग्निदेवसे 'अभी देता हूँ' ऐसा कहकर वह धनुषोंमें रत्नके समान गाण्डीव तथा बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी दिये। वह धनुष अद्भुत था। उसमें बड़ी शक्ति थी और वह यश एवं कीर्तिको बढ़ानेवाला था। किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे वह टूट नहीं सकता था और दूसरे सब शस्त्रोंको नष्ट कर डालनेकी शक्ति उसमें मौजूद थी। उसका आकार सभी आयुधोंसे बढ़कर था। शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करनेवाला वह एक ही धनुष दूसरे लाख धनुषोंके बराबर था। वह अपने धारण करनेवालेके राष्ट्रको बढ़ानेवाला एवं विचित्र था। अनेक प्रकारके रंगोंसे उसकी शोभा होती थी। वह चिकना और छिद्रसे रहित था। देवताओं, दानवों और गन्धर्वोंने अनन्त वर्षोंतक उसकी पूजा की थी॥६—९॥

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम्।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः॥ १०॥

इसके सिवा वरुणने दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ एक रथ भी प्रस्तुत किया, जिसकी ध्वजापर श्रेष्ठ कपि विराजमान था। उसमें जुते हुए अश्वोंका रंग चाँदीके समान सफेद था। वे सभी घोड़े गन्धर्वदेशमें उत्पन्न तथा सोनेकी मालाओंसे विभूषित थे॥ १०॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः॥ ११॥

उनकी कान्ति सफेद बादलोंकी-सी जान पड़ती थी। वे वेगमें मन और वायुकी समानता करते थे। वह रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओंसे युक्त तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अजेय था॥ ११॥

भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम्।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः॥ १२॥
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत् प्रभुः॥ १३॥

उससे तेजोमयी किरणें छिटकती थीं। उसके चलनेपर सब ओर बड़े जोरकी आवाज गूँज उठती थी। वह रथ सब प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रजापति विश्वकर्माने बड़ी भारी तपस्याके द्वारा उस रथका निर्माण किया था। उस सूर्यके समान तेजस्वी रथका 'इदमित्थम्' रूपसे वर्णन नहीं हो सकता था। पूर्वकालमें शक्तिशाली सोम (चन्द्रमा) ने उसी रथपर आरूढ़ हो दानवोंपर विजय पायी थी॥ १२-१३॥

नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ॥ १४॥

वह रथ नूतन मेघके समान प्रतीत होता था और अपनी दिव्य शोभासे प्रज्वलित-सा हो रहा था। इन्द्रधनुषके समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन उस श्रेष्ठ रथके समीप गये॥

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः॥ १५॥

उस रथका ध्वजदण्ड बड़ा सुन्दर और सुवर्णमय था। उसके ऊपर सिंह और व्याघ्रके समान भयंकर आकृतिवाला दिव्य वानर बैठा था॥ १५॥

दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत।
ध्वजे भूतानि तत्रासन् विविधानि महान्ति च॥ १६॥
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति।

उस रथके शिखरपर बैठा हुआ वह वानर ऐसा जान पड़ता था, मानो शत्रुओंको भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजमें और भी नाना प्रकारके बड़े भयंकर प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रुसैनिकोंके होश उड़ जाते थे॥ १६½॥

स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।

वह श्रेष्ठ रथ भाँति-भाँतिकी पताकाओंसे सुशोभित हो रहा था। अर्जुनने कमर कस ली, कवच और तलवार बाँध ली, दस्ताने पहन लिये तथा रथकी परिक्रमा और देवताओंको प्रणाम करके वे उसपर आरूढ़ हुए, ठीक वैसे ही, जैसे कोई पुण्यात्मा विमानपर बैठता है ॥ १७-१८½ ॥

तच्च दिव्यं धनुःश्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १९ ॥
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।
मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥
येऽशृण्वन् कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।

तदनन्तर, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिसका निर्माण किया था, उस दिव्य एवं श्रेष्ठ गाण्डीव धनुषको हाथमें लेकर अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए। पराक्रमी धनंजयने अग्निदेवको सामने रखकर उस धनुषको हाथमें उठाया और बल लगाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। महाबली पाण्डुकुमारके उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते समय जिन लोगोंने उसकी टङ्कार सुनी, उनका हृदय व्यथित हो उठा ॥ १९—२१½ ॥

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।
वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥

वह रथ, धनुष तथा अक्षय तरकस पाकर कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निकी सहायता करनेमें समर्थ हो गये। तदनन्तर पावकने भगवान् श्रीकृष्णको एक चक्र दिया, जिसका मध्यभाग वज्रके समान था ॥ २२-२३ ॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत् तदा ।
अब्रवीत् पावकश्चैवमेतेन मधुसूदन ॥ २४ ॥
अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम् ।
अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाधिकस्तथा ।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥

उस अग्निप्रदत्त प्रिय अस्त्र चक्रको पाकर भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सहायताके लिये समर्थ हो गये। उनसे अग्निदेवने कहा—'मधुसूदन ! इस चक्रके द्वारा आप युद्धमें अमानव प्राणियोंको भी जीत लेंगे, इसमें संशय नहीं है। इसके होनेसे आप युद्धमें मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, पिशाचों, दैत्यों और नागोंसे भी अधिक शक्तिशाली होंगे तथा इन सबका संहार करनेमें भी निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे॥ २४—२६॥

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत् त्वया माधव शत्रुषु ।
हत्वाप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २७ ॥

'माधव ! युद्धमें आप जब-जब इसे शत्रुओंपर चलायेंगे, तब-तब यह उन्हें मारकर और स्वयं किसी अस्त्रसे प्रतिहत न होकर पुनः आपके हाथमें आ जायगा' ॥ २७ ॥

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् भगवान् वरुणने भी बिजलीके समान कड़-कड़ाहट पैदा करनेवाली कौमोदकी नामक गदा भगवान्‌को भेंट की, जो दैत्योंका विनाश करनेवाली और भयंकर थी ॥ २८ ॥

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥
कल्यौ स्वो भगवन् योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सता ॥ ३० ॥

इसके बाद अस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं शस्त्रसम्पन्न अर्जुन और श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अग्निदेवसे कहा—'भगवन् ! अब हम दोनों रथ और ध्वजासे युक्त हो सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंसे भी युद्ध करनेमें समर्थ हो गये हैं; फिर तक्षक नागके लिये युद्धकी इच्छा रखनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे युद्ध करना क्या बड़ी बात है ?' ॥ २९-३० ॥

अर्जुन उवाच

चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन् युधि वीर्यवान् ।
चक्रेण भस्मसात् सर्वं विसृष्टेन तु वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नास्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले—अग्निदेव ! सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक ये महापराक्रमी जनार्दन जब हाथमें चक्र लेकर युद्धमें विचरेंगे, उस समय त्रिलोकीमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे ये चक्रके प्रहारसे भस्म न कर सकें ॥ ३१ ॥

गाण्डीवं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान् विजेतुं युधि पावक ॥ ३२ ॥

पावक ! मैं भी यह गाण्डीव धनुष और ये दोनों बड़े-बड़े अक्षय तरकस लेकर सम्पूर्ण लोकोंको युद्धमें जीत लेनेका उत्साह रखता हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वतः परिवार्यैवं दावमेतं महाप्रभो ।
कामं सम्प्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३३ ॥

महाप्रभो ! अब आप इस सम्पूर्ण वनको चारों ओरसे घेरकर आज ही इच्छानुसार जलाइये। हम आपकी सहायताके लिये तैयार हैं ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निने तेजोमय रूप धारण करके खाण्डववनको सब ओरसे जलाना आरम्भ कर दिया ॥ ३४ ॥

सर्वतः परिवार्याथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥

सात ज्वालामयी जिह्वाओंवाले अग्निदेव खाण्डववनको सब ओरसे घेरकर महाप्रलयका-सा दृश्य उपस्थित करते हुए जलाने लगे ॥ ३५ ॥

प्रतिगृह्य समाविश्य तद् वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकम्पयत् ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस वनको चारों ओरसे अपनी लपटोंमें लपेटकर और उसके भीतरी भागमें भी व्याप्त होकर अग्निदेव मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष करते हुए समस्त प्राणियोंको कँपाने लगे ॥ ३६ ॥

दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोऽशुभिः ॥ ३७ ॥

भारत ! उस जलते हुए खाण्डववनका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त पर्वतराज मेरुका सम्पूर्ण कलेवर उद्दीप्त हो उठा हो ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि गाण्डीवादिदाने चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें गाण्डीवादिदानविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

खाण्डववनमें जलते हुए प्राणियोंकी दुर्दशा और इन्द्रके द्वारा जल बरसाकर आग बुझानेकी चेष्टा

वैशम्पायन उवाच

तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ वीर दो रथोंपर बैठकर खाण्डववनके दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओंमें घूम-घूमकर प्राणियोंका महान् संहार करने लगे ॥ १ ॥

यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥ २ ॥

खाण्डववनमें रहनेवाले प्राणी जहाँ-जहाँ भागते दिखायी देते, वहीं-वहीं वे दोनों प्रमुख वीर उनका पीछा करते ॥ २ ॥

छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः ।
आविद्धावेव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥

(खाण्डववनके प्राणियोंको) शीघ्रतापूर्वक सब ओर दौड़नेवाले उन दोनों महारथियोंका छिद्र नहीं दिखायी देता था, जिससे वे भाग सकें । रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों रथारूढ़ वीर अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमते हुए ही दीख पड़ते थे ॥ ३ ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः ।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥

जब खाण्डववनमें आग फैल गयी और वह अच्छी तरह जलने लगा, उस समय लाखों प्राणी भयानक चीत्कार करते हुए चारों ओर उछलने-कूदने लगे ॥ ४ ॥

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे ।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथापरे ॥ ५ ॥

बहुत-से प्राणियोंके शरीरका एक हिस्सा जल गया था, बहुतेरे आँचमें झुलस गये थे, कितनोंकी आँखें फूट गयी थीं और कितनोंके शरीर फट गये थे । ऐसी अवस्थामें भी सब भाग रहे थे ॥ ५ ॥

समालिङ्गय सुतानन्ये पितॄन् भ्रातॄनथापरे ।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

कोई अपने पुत्रोंको छातीसे चिपकाये हुए थे, कुछ प्राणी अपने पिता और भाइयोंसे सटे हुए थे । वे स्नेहवश एक दूसरेको छोड़ न सके और वहीं कालके गालमें समा गये ॥ ६ ॥

संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

कुछ जानवर दाँत कटकटाते, बार-बार उछलते-कूदते और अत्यन्त चक्कर काटते हुए फिर आगमें ही पड़ जाते थे ॥ ७ ॥

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥

कितने ही पक्षी पाँख, आँख और पञ्जोंके जल जानेसे धरतीपर गिरकर छटपटा रहे थे । स्थान-स्थानपर मरणोन्मुख जीव-जन्तु दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ॥ ९ ॥

जलाशय आगसे तपकर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे । उनमें रहनेवाले कछुए और मछली आदि जीव सब ओर निर्जीव दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

शरीरैरपरे दीप्तैर्देहवन्त इवाग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणिसंक्षये ॥ १० ॥

प्राणियोंके संहारस्थल बने हुए उस वनमें कितने ही प्राणी अपने जलते हुए अङ्गोंसे मूर्तिमान् अग्निके समान दीख पड़ते थे ॥ १० ॥

कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान् प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कितने ही उड़ते हुए पक्षियोंको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े करके प्रज्वलित आगमें झोंक दिया ॥ ११ ॥

ते शराचितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥

पहले तो पक्षी बड़े वेगसे ऊपरको उड़ते, परंतु बाणोंसे सारा अङ्ग छिद जानेपर जोर-जोरसे आर्तनाद करते हुए पुनः खाण्डववनमें ही गिर पड़ते थे ॥ १२ ॥

शरैरभ्याहतानां च संघशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥

बाणोंसे घायल हुए झुंड-के-झुंड वनवासी जीवोंका भयानक चीत्कार समुद्र-मन्थनके समय होनेवाले जल-जन्तुओंके करुण-क्रन्दनके समान जान पड़ता था ॥ १३ ॥

वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

प्रज्वलित अग्निकी बड़ी-बड़ी लपटें आकाशमें ऊपरकी ओर उठने और देवताओंके मनमें बड़ा भारी भय उत्पन्न करने लगीं ॥ १४ ॥

तेनार्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्वे एव दिवौकसः ।
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १५ ॥

उस लपटसे संतप्त हुए देवता और महर्षि आदि सभी देवलोकवासी महात्मा असुरोंका नाश करनेवाले देवेश्वर सहस्राक्ष इन्द्रके पास गये ॥ १५ ॥

देवा ऊचुः

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना ।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १६ ॥

देवता बोले—अमरेश्वर ! अग्निदेव इन सब मनुष्योंको क्यों जला रहे हैं ? कहीं संसारका प्रलय तो नहीं आ गया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंसे यह सुनकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्र स्वयं वह घटना देखकर खाण्डववनको आगके भयसे छुड़ानेके लिये चले ॥

महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

उन्होंने अपने साथ अनेक प्रकारके विशाल रथ ले लिये और आकाशमें स्थित हो देवताओंके स्वामी वे इन्द्र जलकी वर्षा करने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन् धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ १९ ॥

देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर मेघ रथके धुरेके समान मोटी-मोटी असंख्य धाराएँ खाण्डववनमें गिराने लगे ॥ १९ ॥

असम्प्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित् पावकं गताः ॥ २० ॥

परंतु अग्निके तेजसे वे धाराएँ वहाँ पहुँचनेसे पहले आकाशमें ही सूख जाती थीं । अग्नितक कोई धारा पहुँची ही नहीं ॥ २० ॥

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद् बहु ॥ २१ ॥

तब नमुचिनाशक इन्द्रदेव अग्निपर अत्यन्त कुपित हो पुनः बड़े-बड़े मेघोंद्वारा बहुत जलकी वर्षा कराने लगे । २१ ।

अर्चिर्धाराभिसम्बद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद् वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥ २२ ॥

आगकी लपटों और जलकी धाराओंसे संयुक्त होनेपर उस वनमें धुआँ उठने लगा । सब ओर बिजली चमकने लगी और चारों ओर मेघोंकी गड़गड़ाहटका शब्द गूँज उठा । इस प्रकार खाण्डववनकी दशा बड़ी भयंकर हो गयी ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें इन्द्रकोपविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्‌विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओं आदिके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तस्याथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत्।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वर्षा करते हुए इन्द्रकी उस जलधाराको पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने उत्तम अस्त्रका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी बौछारसे रोक दिया॥१॥

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः।
आच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः॥ २॥

अमित आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव अर्जुनने बहुत-से बाणोंकी वर्षा करके सारे खाण्डववनको ढँक दिया, जैसे कुहरा चन्द्रमाको ढक देता है॥ २॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना॥ ३॥

सव्यसाची अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे सारा आकाश छा गया था; इसलिये कोई भी प्राणी उस वनसे निकल नहीं पाता था॥ ३॥

तक्षकस्तु न तत्रासीन्नागराजो महाबलः।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रं गतो हि सः॥ ४॥

जब खाण्डववन जलाया जा रहा था, उस समय महाबली नागराज तक्षक वहाँ नहीं था, कुरुक्षेत्र चला गया था॥

अश्वसेनोऽभवत् तत्र तक्षकस्य सुतो बली।
स यत्नमकरोत् तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः॥ ५॥

परंतु तक्षकका बलवान् पुत्र अश्वसेन वहीं रह गया था। उसने उस आगसे अपनेको छुड़ानेके लिये बड़ा भारी प्रयत्न किया॥ ५॥

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा॥ ६॥

किंतु अर्जुनके बाणोंसे रुँध जानेके कारण वह बाहर निकल न सका। उसकी माता सर्पिणीने उसे निगलकर उस आगसे बचाया॥ ६॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्य च।
निगीर्यमाणा साक्रामत् सुतं नागी मुमुक्षया॥ ७॥

उसने पहले उसका मस्तक निगल लिया। फिर धीरे-धीरे पूँछतकका भाग निगल गयी। निगलते-निगलते ही उस नागिनने पुत्रको बचानेके लिये आकाशमें उड़कर निकल भागनेकी चेष्टा की॥ ७॥

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः॥ ८॥

परंतु पाण्डुकुमार अर्जुनने मोटी धारवाले तीखे बाणसे उस भागती हुई सर्पिणीका मस्तक काट दिया। शचीपति इन्द्रने उसकी यह अवस्था अपनी आँखों देखी॥ ८॥

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम्।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत॥ ९॥

तब उसे छुड़ानेकी इच्छासे वज्रधारी इन्द्रने आँधी और वर्षा चलाकर पाण्डुकुमार अर्जुनको उस समय मोहित कर दिया। इतनेहीमें तक्षकका पुत्र अश्वसेन उस संकटसे मुक्त हो गया॥ ९॥

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः।
द्विधा त्रिधा च खगतान् प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत्॥ १०॥

तब उस भयानक मायाको देखकर नागसे ठगे गये पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें उड़नेवाले प्राणियोंके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले॥ १०॥

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम्।
पावको वासुदेवश्चाप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि॥ ११॥

फिर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने टेढ़ी चालसे चलनेवाले उस नागको शाप दिया—'अरे! तू आश्रयहीन हो जायगा।' अग्नि और श्रीकृष्णने भी उसका अनुमोदन किया॥ ११॥

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याशुगैः शरैः।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन्॥ १२॥

तदनन्तर अपने साथ की हुई वञ्चनाको बार-बार स्मरण करके क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा आकाश-को आच्छादित करके इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया॥ १२॥

देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम्।
स्वमस्त्रमसृजत् तीव्रं छादयित्वाखिलं नभः॥ १३॥

देवराजने भी अर्जुनको युद्धमें कुपित देख सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित करते हुए अपने दुस्सह अस्त्र (ऐन्द्रास्त्र) को प्रकट किया॥ १३॥

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन् सर्वसागरान्।
वियत्स्थो जनयन् मेघाञ्जलधारासमाकुलान्॥ १४॥

फिर तो बड़ी भारी आवाजके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी। उसने समस्त समुद्रोंको क्षुब्ध करते हुए आकाशमें स्थित हो मुसलाधार पानी बरसानेवाले मेघोंको उत्पन्न किया॥

ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान्।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम्॥ १५॥
वायव्यमभिमन्त्र्याथ प्रतिपत्तिविशारदः।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद् विनाशितम्॥ १६॥

वे भयंकर मेघ बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ धरतीपर वज्र गिराने लगे। उस अस्त्रके प्रतीकारकी विद्यामें कुशल अर्जुनने उन मेघोंको नष्ट करनेके लिये अभिमन्त्रित करके वायव्य नामक उत्तम अस्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रने इन्द्रके छोड़े हुए वज्र और मेघोंका ओज एवं बल नष्ट कर दिया॥ १५-१६॥

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः।
क्षणेन चाभवद् व्योम सम्प्रशान्तरजस्तमः॥ १७॥

जलकी वे सारी धाराएँ सूख गयीं और बिजलियाँ भी नष्ट हो गयीं। क्षणभरमें आकाश धूल और अन्धकारसे रहित हो गया॥ १७॥

सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम्।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग् विविधाकृतिः॥ १८॥
सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः।
प्रजज्वालाथ सोऽर्चिष्मान् स्वनादैः पूरयञ्जगत्॥ १९॥

सुखदायिनी शीतल हवा चलने लगी। सूर्यमण्डल स्वाभाविक स्थितिमें दिखायी देने लगा। अग्निदेव प्रतीकार-शून्य होनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए और अनेक रूपोंमें प्रकट हो प्राणियोंके शरीरसे निकली हुई बसाके समूहसे अभिषिक्त होकर बड़ी-बड़ी लपटोंके साथ प्रज्वलित हो उठे। उस समय अपनी आवाजसे वे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रहे थे॥ १८-१९॥

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः।
खमुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्रिणः॥ २०॥

महाराज! उस खाण्डववनको श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित देख अहंकारसे युक्त सुन्दर पंख आदि अङ्गोंवाले पक्षी आकाशमें उड़ने लगे॥ २०॥

गरुत्मान् वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात् कृष्णपाण्डवौ॥ २१॥

एक गरुडजातीय पक्षी[1] वज्रके समान पाँख, चोंच और पंजोंसे प्रहार करनेकी इच्छा रखकर आकाशसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर झपटा॥ २१॥

तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः॥ २२॥

इसी प्रकार प्रज्वलित मुखवाले नागोंके समुदाय भी पाण्डव अर्जुनके समीप भयानक जहर उगलते हुए उनकी ओर टूट पड़े॥ २२॥

तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः।
विविशुश्चापि तं दीप्तं देहाभावाय पावकम्॥ २३॥

यह देख अर्जुनने रोषाग्निप्रेरित बाणोंद्वारा उन सबके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और वे सभी अपने शरीरको भस्म करनेके लिये उस जलती हुई आगमें समा गये॥ २३॥

ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः॥ २४॥

तत्पश्चात् असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग युद्धके लिये उत्सुक हो अनुपम गर्जना करते हुए वहाँ दौड़े आये॥

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसम्मूर्छितौजसः॥ २५॥

किन्हींके हाथमें लोहेकी गोली छोड़नेवाले यन्त्र (तोप, बंदूक आदि) थे और कुछ लोगोंने हाथोंमें चक्र, पत्थर एवं भुशुण्डी उठा रक्खी थी। क्रोधाग्निसे बढ़े हुए तेजवाले वे सब-के-सब श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालना चाहते थे॥ २५॥

तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं प्रमुञ्चताम्।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः॥ २६॥

वे लोग बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उस समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उन सबके सिर उड़ा दिये॥ २६॥

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत्॥ २७॥

शत्रुविनाशन महातेजस्वी श्रीकृष्णने भी चक्रद्वारा दैत्यों और दानवोंके समुदायका महान् संहार कर दिया॥ २७॥

अथापरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः॥ २८॥

फिर दूसरे-दूसरे अमित तेजस्वी दैत्य-दानव बाणोंसे घायल और चक्रवेगसे कम्पित हो तटपर आकर रुक जानेवाली समुद्रकी लहरोंके समान एक सीमातक ही ठहर गये—आगे न बढ़ सके॥ २८॥

ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत्॥ २९॥

तब देवताओंके महाराज इन्द्र श्वेत ऐरावतपर आरूढ़ हो अत्यन्त क्रोधपूर्वक उन दोनोंकी ओर दौड़े॥ २९॥

वेगेनाशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत्।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः॥ ३०॥

असुरसूदन इन्द्रने बड़े वेगसे अशनि-रूप अपना वज्रास्त्र उठाकर चला दिया और देवताओंसे कहा—'लो ये दोनों मारे गये'॥ ३०॥

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम्।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा॥ ३१॥

देवराज इन्द्रको वह महान् वज्र उठाये देख देवताओंने भी अपने-अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र ले लिये॥ ३१॥

कालदण्डं यमो राजन् गदां चैव धनेश्वरः।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रां च तथाशनिम्॥ ३२॥

---

१. यह विष्णुवाहन गरुडसे भिन्न था।

राजन्! यमराजने कालदण्ड, कुबेरने गदा तथा वरुणने पाश और विचित्र वज्र हाथमें ले लिये ॥ ३२ ॥

स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाचलः।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ॥ ३३ ॥

देवताओंके सेनापति स्कन्द शक्ति हाथमें लेकर मेरु पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े हो गये। दोनों अश्विनीकुमारोंने भी चमकीली ओषधियाँ उठा लीं ॥ ३३ ॥

जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा।
पर्वतं चापि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ॥ ३४ ॥

धाताने धनुष लिया और जयने मुसल, क्रोधमें भरे हुए महाबली त्वष्टाने पर्वत उठा लिया ॥ ३४ ॥

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम्।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचारार्यमा अपि ॥ ३५ ॥

अंशने शक्ति हाथमें ले ली और मृत्युदेवने फरसा। अर्यमा भी भयानक परिघ लेकर युद्धके लिये विचरने लगे ॥

मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान्।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशाम्पते ॥ ३६ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः।

मित्र देवता जिसके किनारोंपर छुरे लगे हुए थे, वह चक्र लेकर खड़े हो गये। महाराज! पूषा, भग और क्रोधमें भरे हुए सविता धनुष और तलवार लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुनपर टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमानाः स्वतेजसा।
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ॥ ३८ ॥
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः।

रुद्र, वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वेदेव तथा अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले साध्यगण—ये और दूसरे बहुत-से देवता नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनकी ओर बढ़े ॥ ३७-३८½ ॥

तत्राद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ॥ ३९ ॥
युगान्तसमरूपाणि भूतसम्मोहनानि च।
तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ॥ ४० ॥
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्जकार्मुकौ।

उस महासंग्राममें प्रलयकालके समान रूपवाले तथा प्राणियोंको मोहमें डाल देनेवाले अद्भुत अपशकुन दिखायी देने लगे। देवताओंसहित इन्द्रको रोषमें भरा देख अपनी महिमासे च्युत न होनेवाले निर्भय तथा दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन धनुष तानकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३९-४०½ ॥

आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ॥ ४१ ॥
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा।

तदनन्तर वे दोनों युद्धकुशल वीर कुपित हो अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा वहाँ आते हुए देवताओंको घायल करने लगे ॥ ४१½ ॥

असकृद् भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ॥ ४२ ॥
भयाद् रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः।

बहुतसे देवता बार-बार प्रयत्न करनेपर भी कभी सफल-मनोरथ न हो सके। उनकी आशा टूट गयी और वे भयके मारे युद्ध छोड़कर इन्द्रकी ही शरणमें चले गये ॥ ४२½ ॥

दृष्ट्वा निवारितान् देवान् माधवेनार्जुनेन च ॥ ४३ ॥
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः।

श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा देवताओंकी गति कुण्ठित हुई देख आकाशमें खड़े हुए महर्षिगण बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ ४३½ ॥

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्यासकृद् रणे ॥ ४४ ॥
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत्।

इन्द्र भी उस युद्धमें बार-बार उन दोनों वीरोंका पराक्रम देख बड़े प्रसन्न हुए और पुनः उन दोनोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४४½ ॥

ततोऽश्मवर्षं सुमहद् व्यसृजत् पाकशासनः ॥ ४५ ॥
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः।

तदनन्तर इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उनपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥ ४५½ ॥

तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ॥ ४६ ॥
विफलं क्रियमाणं तत् समवेक्ष्य शतक्रतुः।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ॥ ४७ ॥

अर्जुनने अत्यन्त अमर्षमें भरकर अपने बाणोंद्वारा वह सारी वर्षा नष्ट कर दी। सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पाकशासन इन्द्रने उस पत्थरोंकी वर्षाको विफल हुई देख पुनः पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा की ॥ ४६-४७ ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः।
विलयं गमयामास हर्षयन् पितरं तथा ॥ ४८ ॥

यह देख इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पिताका हर्ष बढ़ाते हुए महान् वेगशाली बाणोंद्वारा पत्थरोंकी उस वृष्टिको फिर विलीन कर दिया ॥ ४८ ॥

तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत्।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥

इसके बाद इन्द्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनको मारनेके लिये अपने दोनों हाथोंसे एक पर्वतका महान् शिखर वृक्षोंसहित उखाड़ लिया और उसे उनके ऊपर चलाया ॥ ४९ ॥

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृङ्गं सहस्रधा ॥ ५० ॥

यह देख अर्जुनने प्रज्वलित नोकवाले वेगवान् एवं सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा उस पर्वत-शिखरको हजारों टुकड़े करके गिरा दिया ॥ ५० ॥

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥

छिन्न-भिन्न होकर गिरता हुआ वह पर्वतशिखर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य-चन्द्रमा आदि ग्रह आकाशसे टूटकर गिर रहे हों ॥ ५१ ॥

तेनाभिपतिता दावं शैलेन महता भृशम् ।
शृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः ॥ ५२ ॥

वहाँ गिरे हुए उस महान् पर्वतशिखरके द्वारा खाण्डव वनमें निवास करनेवाले बहुतसे प्राणी मारे गये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें देवताओंके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

(मयदर्शनपर्व)

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंकी पराजय, खाण्डववनका विनाश और मयासुरकी रक्षा

वैशम्पायन उवाच

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पर्वत-शिखरके गिरनेसे खाण्डववनमें रहनेवाले दानव, राक्षस, नाग, चीते तथा रीछ आदि वनचर प्राणी भयभीत हो उठे ॥ १ ॥

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा ॥ २ ॥
समुद्विग्ना विससृपुस्तथान्या भूतजातयः ।

मदकी धारा बहानेवाले हाथी, शार्दूल, केसरी, सिंह, मृग, भैंस, सैकड़ों पक्षी तथा दूसरी-दूसरी जातिके प्राणी अत्यन्त उद्विग्न हो इधर-उधर भागने लगे ॥ २½ ॥

तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ॥ ३ ॥
उत्पातनादशब्देन त्रासिता इव च स्थिताः ।
ते वनं प्रसमीक्ष्याथ दह्यमानमनेकधा ॥ ४ ॥
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम् ।

उन्होंने उस जलते हुए वनको और मारनेके लिये अस्त्र उठाये श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको देखा । उत्पात और आर्तनादके शब्दसे उस वनमें खड़े हुए वे सभी प्राणी संत्रस्त-से हो उठे थे । उस वनको अनेक प्रकारसे दग्ध होते देख और अस्त्र उठाये हुए श्रीकृष्णपर दृष्टि डाल भयानक आर्तनाद करने लगे ॥ ३-४½ ॥

तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ॥ ५ ॥
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ।

उस भयंकर आर्तनाद और अग्निदेवकी गर्जनासे वहाँका सम्पूर्ण आकाश मानो उत्पातकालिक मेघोंकी गर्जनासे गूँज रहा था ॥ ५½ ॥

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ॥ ६ ॥
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ।

तब महाबाहु श्रीकृष्णने अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले उस अत्यन्त भयंकर महान् चक्रको उन दैत्य आदि प्राणियोंके विनाशके लिये छोड़ा ॥ ६½ ॥

तेनार्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ॥ ७ ॥
निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात् ।

उस चक्रके प्रहारसे पीड़ित हो दानव, निशाचर आदि समस्त क्षुद्र प्राणी सौ-सौ टुकड़े होकर क्षणभरमें आगमें गिर गये ॥ ७½ ॥

तत्रादृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ॥ ८ ॥
वसारुधिरसम्पृक्ताः संध्यायामिव तोयदाः ।

श्रीकृष्णके चक्रसे विदीर्ण हुए दैत्य मेदा तथा रक्तमें सनकर संध्याकालके मेघोंकी भाँति दिखायी देने लगे ॥ ८½ ॥

पिशाचान् पक्षिणो नागान् पशूंश्चैव सहस्रशः ॥ ९ ॥
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत् तत्र भारत ।

भारत ! भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सहस्रों पिशाचों, पक्षियों, नागों तथा पशुओंका वध करते हुए कालके समान विचर रहे थे ॥ ९½ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः ॥ १० ॥
छित्त्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ।

श्रीकृष्ण और अर्जुनका देवताओंसे युद्ध

अर्जुन और श्रीकृष्णको इन्द्रका वरदान

शत्रुघाती श्रीकृष्णके द्वारा बार-बार चलाया हुआ वह चक्र अनेक प्राणियोंका संहार करके पुनः उनके हाथमें चला आता था ॥ १०½ ॥

तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ११ ॥
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ।

इस प्रकार पिशाच, नाग तथा राक्षसोंका संहार करनेवाले सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप उस समय बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

समेतानां च सर्वेषां दानवानां च सर्वशः ॥ १२ ॥
विजेता नाभवत् कश्चित् कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ।

वहाँ सब ओरसे सम्पूर्ण दानव एकत्र हो गये थे, तथापि उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं निकला, जो युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीत सके ॥ १२½ ॥

तयोर्बलात् परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ॥ १३ ॥
नाशक्नुवञ्छमयितुं तदाभूवन् पराङ्मुखाः ।

जब देवतालोग उन दोनोंके बलसे खाण्डववनकी रक्षा करने और उस आगको बुझानेमें सफल न हो सके, तब पीठ दिखाकर चल दिये ॥ १३½ ॥

शतक्रतुस्तु सम्प्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ॥ १४ ॥
बभूव मुदितो राजन् प्रशंसन् केशवार्जुनौ ।

राजन्! शतक्रतु इन्द्र देवताओंको विमुख हुआ देख श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ॥ १४½ ॥

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाशरीरिणी ॥ १५ ॥
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ।

देवताओंके लौट आनेपर इन्द्रको सम्बोधित करके बड़े गम्भीर स्वरसे आकाशवाणी हुई—॥ १५½ ॥

न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ॥ १६ ॥
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ।

'वासव ! तुम्हारे सखा नागप्रवर तक्षक इस समय यहाँ नहीं हैं । वे खाण्डवदाहके समय कुरुक्षेत्र चले गये थे॥१६½॥

न च शक्यौ युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ॥ १७ ॥
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ॥ १८ ॥
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ।
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ॥ १९ ॥

'भगवान् वासुदेव तथा अर्जुनको किसी प्रकार युद्धसे जीता नहीं जा सकता । मेरे कहनेसे तुम इस बातको समझ लो । ये दोनों पहलेके देवता नर और नारायण हैं । देवलोकमें भी इनकी ख्याति है । इनका बल और पराक्रम कैसा है, यह तुम भी जानते हो । ये अपराजित और दुर्धर्ष वीर हैं । सम्पूर्ण लोकोंमें किसीके द्वारा भी ये युद्धमें जीते नहीं जा सकते ॥ १७–१९ ॥

अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ।
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ॥ २० ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ।

'ये दोनों पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण सम्पूर्ण देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, मनुष्यों, किन्नरों तथा नागोंके लिये भी परम पूजनीय हैं ॥ २०½ ॥

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ॥ २१ ॥
दिष्टं चाप्यनुपश्यैतत् खाण्डवस्य विनाशनम् ।

'अतः इन्द्र ! तुम्हें देवताओंके साथ यहाँसे चले जाना ही उचित है । खाण्डववनके इस विनाशको तुम प्रारब्धका ही कार्य समझो' ॥ २१½ ॥

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ॥ २२ ॥
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य सम्प्रतस्थे दिवं तदा ।

यह आकाशवाणी सुनकर देवराज इन्द्रने इसे ही सत्य माना और क्रोध तथा अमर्ष छोड़कर वे उसी समय स्वर्गलोकको लौट गये ॥ २२½ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ॥ २३ ॥
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ।

राजन् ! महात्मा इन्द्रको वहाँसे प्रस्थान करते देख समस्त स्वर्गवासी देवता सेनासहित उनके पीछे-पीछे चले गये ॥ २३½ ॥

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ॥ २४ ॥
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ।

उस समय देवताओंसहित देवराज इन्द्रको जाते देख वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनने सिंहनाद किया ॥ २४½ ॥

देवराजे गते राजन् प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ॥ २५ ॥
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ।

राजन् ! देवराजके चले जानेपर वीरवर केशव तथा अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो उस समय बेखटके खाण्डववनका दाह कराने लगे ॥ २५½ ॥

स मारुत इवाभ्राणि नाशयित्वार्जुनः सुरान् ॥ २६ ॥
व्यधमच्छरसङ्घातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ।

जैसे प्रबल वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने देवताओंको भगाकर अपने बाणोंके समुदायसे खाण्डववासी प्राणियोंको मारना आरम्भ किया ॥ २६½ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ॥ २७ ॥
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ।

सव्यसाची अर्जुनके बाण चलाते समय उनके बाणोंसे

कट जानेके कारण कोई भी जीव वहाँसे बाहर न निकल सका ॥

नाशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ॥ २८ ॥
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ।
शतं चैकेन विव्याध शतेनैकं पतत्रिणाम् ॥ २९ ॥

अमोघ अस्त्रधारी अर्जुनको उस समय बड़े-से-बड़े प्राणी देख भी न सके, फिर रणभूमिमें युद्ध तो कर ही कैसे सकते थे। वे कभी एक ही बाणसे सैकड़ोंको बींध डालते थे और कभी एकहीको सौ बाणोंसे घायल कर देते थे ॥ २८-२९ ॥

व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात् कालहता इव ।
न चालभन्त ते शर्म रोधस्सु विषमेषु च ॥ ३० ॥

वे सभी प्राणी प्राणशून्य होकर साक्षात् कालसे मारे हुएकी भाँति आगमें गिर पड़ते थे। वे वनके किनारे हों या दुर्गम स्थानोंमें हों, कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ३० ॥

पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाप्यजायत ।
भूतसङ्घाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ॥ ३१ ॥

पितरों और देवताओंके लोकमें भी खाण्डववनके दाहकी गर्मी पहुँचने लगी। बहुतेरे प्राणियोंके समुदाय कातर हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३१ ॥

रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ।
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ॥ ३२ ॥

हाथी, मृग और चीते भी रोदन करते थे। उनके आर्तनादसे गङ्गा तथा समुद्रके भीतर रहनेवाले मत्स्य भी थर्रा उठे ॥ ३२ ॥

विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ।
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ॥ ३३ ॥
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद् योद्धुं कुतः पुनः ।

उस वनमें रहनेवाले जो विद्याधर-जातिके लोग थे, उनकी भी यही दशा थी। महाबाहो! उस समय कोई श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था; फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ॥ ३३½ ॥

एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ॥ ३४ ॥
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान् हरिः ।

जो कोई राक्षस, दानव और नाग वहाँ एक साथ सङ्घ बनाकर निकलते थे, उन सबको भगवान् श्रीहरि चक्रद्वारा मार देते थे ॥ ३४½ ॥

ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद् गतासवः ॥ ३५ ॥
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ।

वे तथा दूसरे विशालकाय प्राणी चक्रके वेगसे शरीर और मस्तक छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण निर्जीव हो प्रज्वलित आगमें गिर पड़ते थे ॥ ३५½ ॥

स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ॥ ३६ ॥
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ।
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च सम्प्रदीप्तमहाननः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वनजन्तुओंके मांस, रुधिर और मेदेके समूहसे अत्यन्त तृप्त हो अग्निदेव ऊपर आकाशचारी होकर धूमरहित हो गये। उनकी आँखें चमक उठीं, जिह्वामें दीप्ति आ गयी और उनका विशाल मुख भी अत्यन्त तेजसे प्रकाशित होने लगा ॥ ३६—३७ ॥

दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन् प्राणभृतां वसाम् ।
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ॥ ३८ ॥
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ।

उनके चमकीले केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे, आँखें पिंगलवर्णकी थीं और वे प्राणियोंके मेदेका रस पी रहे थे। श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिया हुआ वह इच्छानुसार भोजन पाकर अग्निदेव बड़े प्रसन्न और पूर्ण तृप्त हो गये। उन्हें बड़ी शान्ति मिली ॥ ३८½ ॥

तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ॥ ३९ ॥
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ।

इसी समय तक्षकके निवासस्थानसे निकलकर सहसा भागते हुए मयासुरपर भगवान् मधुसूदनकी दृष्टि पड़ी।३९½।

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ॥ ४० ॥
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ।

वातसारथि अग्निदेव मूर्तिमान् हो सिरपर जटा धारण किये मेघके समान गर्जना करने लगे और उस असुरको जला डालनेकी इच्छासे माँगने लगे ॥ ४०½ ॥

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ॥ ४१ ॥
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ॥ ४२ ॥
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ।

मय दानवेन्द्रोंके शिल्पियोंमें श्रेष्ठ था, उसे पहचानकर भगवान् वासुदेव उसका वध करनेके लिये चक्र लेकर खड़े हो गये। मयने देखा एक ओर मुझे मारनेके लिये चक्र उठा है, दूसरी ओर अग्निदेव मुझे भस्म कर डालना चाहते हैं; तब वह अर्जुनकी शरणमें गया और बोला—'अर्जुन! दौड़ो मुझे बचाओ, बचाओ' ॥ ४१—४२½ ॥

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ॥ ४३ ॥
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ।

भारत ! उसका भययुक्त स्वर सुनकर कुन्तीकुमार धनंजयने उसे जीवनदान देते हुए कहा—'डरो मत' ॥४३½॥

तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४४ ॥

अर्जुनके मनमें दया आ गयी थी, अतः उन्होंने मयासुरसे फिर कहा—'तुम्हें डरना नहीं चाहिये' ॥ ४४ ॥

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ४५ ॥

अर्जुनके अभय-दान देनेपर भगवान् श्रीकृष्णने नमुचिके भ्राता मयासुरको मारनेकी इच्छा त्याग दी और अग्निदेवने भी उसे नहीं जलाया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परम बुद्धिमान् अग्निदेवने श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा इन्द्रके आक्रमणसे सुरक्षित रहकर खाण्डववनको पंद्रह दिनोंतक जलाया ॥ ४६ ॥

तस्मिन् वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४७ ॥

उस वनके जलाये जाते समय अश्वसेन नाग, मयासुर तथा चार शार्ङ्गक नामवाले पक्षियोंको अग्निने नहीं जलाया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि मयदानवत्राणे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें मयदानवकी रक्षाविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२७॥

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोपाख्यान—मन्दपाल मुनिके द्वारा जरिता-शार्ङ्गिकासे पुत्रोंकी उत्पत्ति और उन्हें बचानेके लिये मुनिका अग्निदेवकी स्तुति करना

जनमेजय उवाच

किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन् वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत् प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार सारे वनके जलाये जानेपर भी अग्निदेवने उन चारों शार्ङ्गकोंको क्यों दग्ध नहीं किया ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥

विप्रवर ! आपने अश्वसेन नाग तथा मयदानवके न जलनेका कारण तो बताया है; परंतु शार्ङ्गकोंके दग्ध न होनेका कारण नहीं कहा है ॥ २ ॥

तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाग्निसम्मर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! उस भयानक अग्निकाण्डमें उन शार्ङ्गकोंका सकुशल बच जाना, यह बड़े आश्चर्यकी बात है । कृपया बताइये, उनका नाश कैसे नहीं हुआ ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि यथाभूतमरिंदम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! वैसे भयंकर अग्निकाण्डमें भी अग्निदेवने जिस कारणसे शार्ङ्गकोंको दग्ध नहीं किया और जिस प्रकार वह घटना घटित हुई, वह सब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान् मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥

मन्दपाल नामसे विख्यात एक विद्वान् महर्षि थे । वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ और कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ ५ ॥

स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
स्वाध्यायवान् धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः॥ ६॥

राजन्! वे ऊर्ध्वरेता मुनियोंके मार्ग (ब्रह्मचर्य) का आश्रय लेकर सदा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न और धर्मपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था और वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे॥ ६॥

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम्॥ ७॥

भारत! वे अपनी तपस्याको पूरी करके शरीरका त्याग करनेपर पितृलोकमें गये; किंतु वहाँ उन्हें अपने तप एवं सत्कर्मोंका फल नहीं मिला॥ ७॥

स लोकानफलान् दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान् दिवौकसः॥ ८॥

उन्होंने तपस्याद्वारा वशमें किये हुए लोकोंको भी निष्फल देखकर धर्मराजके पास बैठे हुए देवताओंसे पूछा॥ ८॥

मन्दपाल उवाच

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत् कर्मणः फलम्॥ ९॥

मन्दपाल बोले—देवताओ! मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए ये लोक बंद क्यों हैं? (उपभोगके साधनोंसे शून्य क्यों हैं?) मैंने वहाँ कौन-सा सत्कर्म नहीं किया है, जिसका फल मुझे इस रूपमें मिला है॥ ९॥

तत्राहं तत् करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम्।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः॥ १०॥

जिसके लिये इस तपस्याका फल ढका हुआ है, मैं उस लोकमें जाकर वह कर्म करूँगा। आपलोग मुझसे उसको बताइये॥ १०॥

देवा ऊचुः

ऋणिनो मानवा ब्रह्मन् जायन्ते येन तच्छृणु।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः॥ ११॥
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा श्रुतैः।
तपस्वी यज्ञकृच्चासि न च ते विद्यते प्रजा॥ १२॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! मनुष्य जिस ऋणसे ऋणी होकर जन्म लेते हैं, उसे सुनिये। यज्ञकर्म, ब्रह्मचर्य-पालन और प्रजाकी उत्पत्ति—इन तीनोंके लिये सभी मनुष्योंपर ऋण रहता है, इसमें संशय नहीं है। यज्ञ, तपस्या और वेदाध्ययनके द्वारा वह सारा ऋण दूर किया जाता है। आप तपस्वी और यज्ञकर्ता तो हैं ही, आपके कोई संतान नहीं है॥ ११-१२॥

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान्॥ १३॥

अतः संतानके लिये ही आपके ये लोक ढके हुए हैं। इसलिये पहले संतान उत्पन्न कीजिये, फिर अपने प्रचुर पुण्यलोकोंका फल भोगियेगा॥ १३॥

पुंनाम्नो नरकात् पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम॥ १४॥

श्रुतिका कथन है कि पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है। अतः विप्रवर! आप अपनी वंशपरम्पराको अविच्छिन्न बनानेका प्रयत्न कीजिये॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम्।
क नु शीघ्रमपत्यं स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत्॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंका वह बचन सुनकर मन्दपालने बहुत सोचा-विचारा कि कहाँ जानेसे मुझे शीघ्र संतान होगी॥ १५॥

स चिन्तयन्नभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान्।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गिको भूत्वा जरितां समुपेयिवान्॥ १६॥

यह सोचते हुए वे अधिक बच्चे देनेवाले पक्षियोंके यहाँ गये और शार्ङ्गिक होकर जरिता नामवाली शार्ङ्गिकासे सम्बन्ध स्थापित किया॥ १६॥

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः।
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति॥ १७॥
बालान् स तानण्डगतान् सह मात्रा मुनिर्वने।

जरिताके गर्भसे चार ब्रह्मवादी पुत्रोंको मुनिने जन्म दिया। अंडेमें पड़े हुए उन बच्चोंको मातासहित वहीं छोड़कर वे मुनि वनमें लपिताके पास चले गये॥ १७½॥

तस्मिन् गते महाभागे लपितां प्रति भारत॥ १८॥
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत्।

भारत! महाभाग मन्दपाल मुनिके लपिताके पास चले जानेपर संतानके प्रति स्नेहयुक्त जरिताको बड़ी चिन्ता हुई॥ १८½॥

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान् वने॥ १९॥
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान्।
बभार चैतान् संजातान् स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा॥ २०॥

अंडेमें स्थित उन मुनियोंको यद्यपि मन्दपालने त्याग दिया था, तो भी वे त्यागने योग्य नहीं थे। अतः पुत्र-शोकसे पीड़ित हुई जरिताने खाण्डववनमें अपने पुत्रोंको नहीं छोड़ा। वह स्नेहसे विह्वल होकर अपनी वृत्तिद्वारा उन नवजात शिशुओंका भरण-पोषण करती रही॥ १९-२०॥

ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः।
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन् वने लपितया सह॥ २१॥

उधर वनमें लपिताके साथ विचरते हुए मन्दपाल मुनिने अग्निदेवको खाण्डववनका दाह करनेके लिये आते देखा ॥

तं संकल्पं विदित्वाग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान्।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ॥ २२ ॥
पुत्रान् प्रति वदन् भीतो लोकपालं महौजसम्।

अग्निदेवके संकल्पको जानकर और अपने पुत्रोंकी बाल्यावस्थाका विचार करके ब्रह्मर्षि मन्दपाल भयभीत होकर महातेजस्वी लोकपाल अग्निसे अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये निवेदन करते हुए (ईश्वरकी भाँति) उनकी स्तुति करने लगे ॥ २२½ ॥

मन्दपाल उवाच

त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ॥ २३ ॥

मन्दपालने कहा—अग्निदेव ! आप सब लोकोंके मुख हैं, आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचाते हैं ॥ २३ ॥

त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक।
त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ॥ २४ ॥

पावक ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तस्तलमें गूढ़रूपसे विचरते हैं। विद्वान् पुरुष आपको एक (अद्वितीय ब्रह्मरूप) बताते हैं। फिर दिव्य, भौम और जठरानलरूपसे आपके त्रिविध स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं ॥ २४ ॥

त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन्।
त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ॥ २५ ॥

आपको ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान—इन आठ मूर्तियोंमें विभक्त करके ज्ञानी पुरुषोंने आपको यज्ञवाहन बनाया है। महर्षि कहते हैं कि इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि आपने ही की है ॥ २५ ॥

त्वदृते हि जगत् कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन।
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ॥ २६ ॥
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्।

हुताशन ! आपके बिना सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा। ब्राह्मणलोग आपको नमस्कार करके अपनी पत्नियों और पुत्रोंके साथ कर्मानुसार प्राप्त की हुई सनातन गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २६½ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान् सविद्युतः ॥ २७ ॥

अग्ने ! आकाशमें विद्युत्के साथ मेघोंकी जो घटा घिर आती है, उसे भी आपका ही स्वरूप कहते हैं ॥ २७ ॥

दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः।
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ॥ २८ ॥

प्रलयकालमें आपसे ही भयंकर ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालती हैं। महान् तेजस्वी जातवेदा ! आपसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है ॥ २८ ॥

तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम्।
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ॥ २९ ॥

तथा आपके ही द्वारा कर्मोंका विधान किया गया है और सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति भी आपसे ही हुई है। आपसे ही पूर्वकालमें जलकी सृष्टि हुई है और आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २९ ॥

त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत् सम्प्रतिष्ठितम्।
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ॥ ३० ॥
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चानिलः।

आपहीमें हव्य और कव्य यथावत् प्रतिष्ठित हैं। देव ! आप ही दग्ध करनेवाले अग्नि, धारण-पोषण करनेवाले धाता और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति हैं। आप ही युगल अश्विनीकुमार, मित्र (सूर्य), चन्द्रमा और वायु हैं ॥ ३०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ॥ ३१ ॥
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः।
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मन्दपाल मुनिके इस प्रकार स्तुति करनेपर अग्निदेव उन अमिततेजस्वी महर्षिपर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नचित्त होकर उनसे बोले—'मैं आपके किस अभीष्ट कार्यकी सिद्धि करूँ ?' ॥ ३१-३२ ॥

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम्।
प्रदहन् खाण्डवं दावं मम पुत्रान् विसर्जय ॥ ३३ ॥

तब मन्दपालने हाथ जोड़कर हव्यवाहन अग्निसे कहा—'भगवन् ! आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दें' ॥ ३३ ॥

तथेति तत् प्रतिश्रुत्य भगवान् हव्यवाहनः।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३४ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् हव्यवाहनने वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की और उस समय खाण्डववनको जलानेके लिये वे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्यानेऽष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिताका अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये चिन्तित होकर विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाधिजग्मुः परायणम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब आग प्रज्वलित हुई, तब वे शार्ङ्गक शिशु बहुत दुखी, व्यथित और अत्यन्त उद्विग्न हो गये। उस समय उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं जान पड़ता था॥ १॥

निशम्य पुत्रकान् बालान् माता तेषां तपस्विनी।
जरिता शोकदुःखार्ता विललाप सुदुःखिता॥ २॥

उन बच्चोंको छोटे जानकर उनकी तपस्विनी माता शोक और दुःखसे आतुर हुई जरिता बहुत दुखी होकर विलाप करने लगी॥ २॥

जरितोवाच

अयमग्निर्दहन् कक्षमित आयाति भीषणः।
जगत् संदीपयन् भीमो मम दुःखविवर्धनः॥ ३॥

जरिता बोली—यह भयानक आग इस वनको जलाती हुई इधर ही बढ़ी आ रही है। जान पड़ता है, यह सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेगी। इसका स्वरूप भयंकर और मेरे दुःखको बढ़ानेवाला है॥ ३॥

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः॥ ४॥

ये सांसारिक ज्ञानसे शून्य चित्तवाले शिशु मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इन्हें पाँखें नहीं निकलीं और अभीतक ये पैरोंसे भी हीन हैं, हमारे पितरोंके ये ही आधार हैं॥ ४॥

त्रासयंश्चायमायाति लेलिहानो महीरुहान्।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम॥ ५॥

सबको त्रास देती और वृक्षोंको चाटती हुई यह आगकी लपट इधर ही चली आ रही है। हाय! मेरे बच्चे बिना पंखके हैं, मेरे साथ उड़ नहीं सकते॥ ५॥

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे॥ ६॥

मैं स्वयं भी इन्हें लेकर इस आगसे पार नहीं हो सकूँगी। इन्हें छोड़ भी नहीं सकती। मेरे हृदयमें इनके लिये बड़ी व्यथा हो रही है॥ ६॥

कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम्।
किं नु मे स्यात् कृतं कृत्वा मन्यध्वं पुत्रकाः कथम्॥ ७॥

मैं किस बच्चेको छोड़ दूँ और किसे साथ लेकर जाऊँ? क्या करनेसे कृतकृत्य हो सकती हूँ? मेरे बच्चो! तुमलोगोंकी क्या राय है?॥ ७॥

चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह॥ ८॥

मैं तुमलोगोंके छुटकारेका उपाय सोचती हूँ; किंतु कुछ भी समझमें नहीं आता। अच्छा; अपने अङ्गोंसे तुमलोगोंको ढँक लूँगी और तुम्हारे साथ ही मैं भी मर जाऊँगी॥ ८॥

जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम्।
सारिसृक्कः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः॥ ९॥
स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा॥ १०॥

पुत्रो! तुम्हारे निर्दयी पिता पहले ही यह कहकर चल दिये कि 'जरितारि ज्येष्ठ है, अतः इस कुलकी रक्षाका भार इसीपर होगा। दूसरा पुत्र सारिसृक्क अपने पितरोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होगा। स्तम्बमित्र तपस्या करेगा और द्रोण ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा'॥ ९-१०॥

कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टापदुत्तमा।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला।
नापश्यत् स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदानलात्॥ ११॥

हाय! मुझपर बड़ी भारी कष्टदायिनी आपत्ति आ पड़ी। इन चारों बच्चोंमेंसे किसको लेकर मैं इस आगको पार कर सकूँगी। क्या करनेसे मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है?

इस प्रकार विचार करते-करते जरिता अत्यन्त विह्वल हो गयी; परंतु अपने पुत्रोंको उस आगसे बचानेका कोई उपाय उस समय उसके ध्यानमें नहीं आया॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम्।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट्॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बिलखती हुई अपनी मातासे वे शार्ङ्गपक्षीके बच्चे बोले—'माँ! तुम स्नेह छोड़कर जहाँ आग न हो, उधर उड़ जाओ॥

अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात् कुलसंततिः॥ १३॥

'माँ! यदि हम यहाँ नष्ट हो जायँ तो भी तुम्हारे दूसरे बच्चे हो सकते हैं; परंतु तुम्हारे नष्ट हो जानेपर तो हमारे इस कुलकी परम्परा ही लुप्त हो जायगी॥ १३॥

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद् यत् कुलस्य नः।
तद् वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत् तव॥ १४॥

'माँ ! इन दोनों बातोंपर विचार करके जिस प्रकार हमारे कुलका कल्याण हो, वही करनेको तुम्हारे लिये यह उत्तम अवसर है ॥ १४ ॥

मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ॥ १५ ॥

'तुम हम सब पुत्रोंपर ऐसा स्नेह न करो, जिससे सबका विनाश हो जाय । उत्तम लोककी इच्छा रखनेवाले मेरे पिता-का यह कर्म व्यर्थ न हो जाय' ॥ १५ ॥

जरितोवाच

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥ १६ ॥

जरिता बोली—मेरे बच्चो ! इस वृक्षके पास भूमिमें यह चूहेका बिल है । तुमलोग जल्दी-से-जल्दी इसके भीतर घुस जाओ । इसके भीतर तुम्हें आगसे भय नहीं है ॥ १६ ॥

ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १७ ॥

तुमलोगोंके घुस जानेपर मैं इस बिलका छेद धूलसे बंद कर दूँगी । बच्चो ! मेरा विश्वास है, ऐसा करनेसे इस जलती आगसे तुम्हारा बचाव हो सकेगा ॥ १७ ॥

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ॥ १८ ॥

फिर आग बुझ जानेपर मैं धूल हटानेके लिये यहाँ आ जाऊँगी । आगसे बचनेके लिये मेरी यह बात तुमलोगोंको पसंद आनी चाहिये ॥ १८ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

अबर्हान् मांसभूतान् नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नात्र शक्नुमः ॥ १९ ॥

शार्ङ्गक बोले—अभी हम बिना पंखोंके बच्चे हैं, हमारा शरीर मांसका लोथड़ामात्र है । चूहा मांसभक्षी जीव है, वह हमें नष्ट कर देगा । इस भयको देखते हुए हम इस बिलमें प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत् कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात् पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ॥ २० ॥

हम तो यह सोचते हैं कि क्या उपाय हो, जिससे अग्नि हमें न जलावे, चूहा हमें न मारे एवं हमारे पिताका संतानोत्पादनविषयक प्रयत्न निष्फल न हो और हमारी माता भी जीवित रहे ? ॥ २० ॥

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान् दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥

बिलमें चूहेसे हमारा विनाश हो जायगा और आकाशमें उड़नेपर अग्निसे । इन दोनों परिणामोंपर विचार करनेसे हमें आगसे जल जाना ही श्रेष्ठ जान पड़ता है, चूहेका भोजन बनना नहीं ॥ २१ ॥

गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २२ ॥

यदि हमलोगोंको बिलमें चूहेने खा लिया तो वह हमारी निन्दित मृत्यु होगी । आगसे जलकर शरीरका परित्याग करनेके लिये शिष्ट पुरुषोंकी आज्ञा है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि जरिताविलापे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें जरिताविलापविषयक दो सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२९॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिता और उसके बच्चोंका संवाद

जरितोवाच

अस्माद् बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम् ।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नात्र भयं हि वः ॥ १ ॥

जरिताने कहा—बच्चो ! चूहा इस बिलसे निकला था, उस समय उसे बाज उठा ले गया; उस छोटेसे चूहेको वह अपने दोनों पंजोंसे पकड़कर उड़ गया । अतः अब इस बिलमें तुम्हारे लिये भय नहीं है ॥ १ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ॥ २ ॥

शार्ङ्गक बोले—हम किसी तरह यह नहीं समझ सकते कि बाज चूहेको उठा ले गया । उस बिलमें दूसरे चूहे भी तो हो सकते हैं; हमारे लिये तो उनसे भी भय ही है ॥ २ ॥

संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

आग यहाँतक आयेगी, इसमें संदेह है; क्योंकि वायुके वेगसे अग्निका दूसरी ओर पलट जाना भी देखा गया है । परंतु बिलमें तो उसके भीतर रहनेवाले जीवोंसे हमारी मृत्यु होनेमें कोई संशय ही नहीं है ॥ ३ ॥

निःसंशयात् संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

माँ ! संशयरहित मृत्युसे संशययुक्त मृत्यु अच्छी है (क्योंकि उसमें बच जानेकी भी आशा होती है); अतः तुम आकाशमें उड़ जाओ । तुम्हें फिर (धर्मानुकूल रीतिसे) सुन्दर पुत्रोंकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४ ॥

जरितोवाच

अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततां वरम् ।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५ ॥
तं पतन्तं महावेगात् त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ॥ ६ ॥

जरिताने कहा—बच्चो ! जब पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली बाज बिलसे चूहेको लेकर वेगपूर्वक उड़ा जा रहा था, उस समय महान् वेगसे उड़नेवाले उस बाजके पीछे मैं भी बड़ी तीव्र गतिसे गयी और बिलसे चूहेको ले जानेके कारण उसे आशीर्वाद देती हुई बोली—॥ ५-६ ॥

यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

'श्येनराज ! तुम मेरे शत्रुको लेकर उड़े जा रहे हो, इसलिये स्वर्गमें जानेपर तुम्हारा शरीर सोनेका हो जाय और तुम्हारे कोई शत्रु न रह जाय' ॥ ७ ॥

स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाखुः पतत्त्रिणा ।
तदाहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥

जब उस पक्षिप्रवर बाजने चूहेको खा लिया, तब मैं उसकी आज्ञा लेकर पुनः घर लौट आयी ॥ ८ ॥

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९ ॥

अतः बच्चो ! तुमलोग विश्वासपूर्वक बिलमें घुसो । वहाँ तुम्हारे लिये भय नहीं है । महान् बाजने मेरी आँखोंके सामने ही चूहेका अपहरण किया था ॥ ९ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ॥ १० ॥

शार्ङ्गक बोले—माँ ! बाजने चूहेको पकड़ लिया, इसको हम नहीं जानते और जाने बिना हम इस बिलमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १० ॥

जरितोवाच

अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नास्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम ॥ ११ ॥

जरिताने कहा—बेटो ! मैं जानती हूँ, बाजने अवश्य चूहेको पकड़ लिया । तुमलोग मेरी बात मानो । इस बिलमें तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ११ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥

शार्ङ्गक बोले—माँ ! तुम झूठे बहाने बनाकर हमें भयसे छुड़ानेकी चेष्टा न करो । संदिग्ध कार्योंमें प्रवृत्त होना बुद्धिमानीका काम नहीं है ॥ १२ ॥

न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान् वेत्थ ये वयम् ।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान् का सती के वयं तव ॥ १३ ॥

हमने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है और हम पहले कौन थे, इस बातको भी तुम नहीं जानतीं । फिर तुम क्यों कष्ट सहकर हमारी रक्षा करना चाहती हो ? तुम हमारी कौन हो और हम तुम्हारे कौन हैं ? ॥ १३ ॥

तरुणी दर्शनीयासि समर्था भर्तुरेषणे ।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥

माँ ! अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है, तुम दर्शनीय सुन्दरी हो और पतिके अन्वेषणमें समर्थ भी हो । अतः पति-का ही अनुसरण करो । तुम्हें फिर सुन्दर पुत्र मिल जायँगे ॥

वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।
अथास्मान् न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥

हम आगमें जलकर उत्तम लोक प्राप्त करेंगे और यदि अग्निने हमें नहीं जलाया तो तुम फिर हमारे पास चली आना ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बच्चोंके ऐसा कहने-पर शार्ङ्गी उन्हें खाण्डववनमें छोड़कर तुरंत ऐसे स्थानमें चली गयी, जहाँ आगसे कुशलपूर्वक बिना किसी कष्टके बच जानेकी सम्भावना थी ॥ १६ ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात् त्वरितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव तुरंत वहाँ आ पहुँचे, जहाँ मन्दपालके पुत्र शार्ङ्गक पक्षी मौजूद थे ॥ १७ ॥

ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहंगमाः ।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ॥ १८ ॥

तब उस जलती हुई आगको देखकर वे पक्षी आपसमें वार्तालाप करने लगे । उनमेंसे जरितारिने अग्निदेवको यह बात सुनायी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३०॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोंके स्तवनसे प्रसन्न होकर अग्निदेवका उन्हें अभय देना

जरितारिरुवाच

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः ।
स कृच्छ्रकालं सम्प्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ॥ १ ॥

जरितारि बोला—बुद्धिमान् पुरुष संकटकाल आनेके पहले ही सजग हो जाता है, वह संकटका समय आ जानेपर कभी व्यथित नहीं होता ॥ १ ॥

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नावबुध्यते ।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत् ॥ २ ॥

जो मूढ़चित्त जीव आनेवाले संकटको नहीं जानता, वह संकटके समय व्यथित होनेके कारण महान् कल्याणसे वञ्चित रह जाता है ॥ २ ॥

सारिसृक्क उवाच

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः ।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ॥ ३ ॥

सारिसृक्कने कहा—भैया ! तुम धीर और बुद्धिमान् हो और हमारे लिये यह प्राणसंकटका समय है (अतः इससे तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो); क्योंकि बहुतोंमें कोई एक ही बुद्धिमान् और शूरवीर होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः ।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति ॥ ४ ॥

स्तम्बमित्र बोला—बड़ा भाई पिताके तुल्य है, बड़ा भाई ही संकटसे छुड़ाता है । यदि बड़ा भाई ही आनेवाले भय और उससे बचनेके उपायको न जाने तो छोटा भाई क्या करेगा ? ॥ ४ ॥

द्रोण उवाच

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम् ।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति ॥ ५ ॥

द्रोणने कहा—यह जाज्वल्यमान अग्नि हमारे घोंसलेकी ओर तीव्र वेगसे आ रहा है । इसके मुखमें सात जिह्वाएँ हैं और यह क्रूर अग्नि समस्त वृक्षोंको चाटता हुआ सब ओर फैल रहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः ।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाग्निं शृणु पार्थिव ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आपसमें बातें करके मन्दपालके वे पुत्र एकाग्रचित्त हो अग्निदेवकी स्तुति करने लगे; वह स्तुति सुनो ॥ ६ ॥

जरितारिरुवाच

आत्मासि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम् ।
योनिरापश्च ते शुक्रं योनिस्त्वमसि चाम्भसः ॥ ७ ॥

जरितारिने कहा—अग्निदेव ! आप वायुके आत्मस्वरूप और वनस्पतियोंके शरीर हैं । तृण-लता आदिकी योनि पृथ्वी और जल तुम्हारे वीर्य हैं, जलकी योनि भी तुम्हीं हो ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वं चाधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा ।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा ॥ ८ ॥

महावीर्य ! आपकी ज्वालाएँ सूर्यकी किरणोंके समान ऊपर-नीचे, आगे-पीछे तथा अगल-बगल सब ओर फैल रही हैं ॥ ८ ॥

सारिसृक्क उवाच

माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः
पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो ।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्य-
स्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने ॥ ९ ॥

सारिसृक्क बोला—धूममयी ध्वजासे सुशोभित अग्निदेव ! हमारी माता चली गयी, पिताका भी हमें पता नहीं है और हमारे अभी पंखतक नहीं निकले हैं । हमारा आपके सिवा दूसरा कोई रक्षक नहीं है; अतः आप ही हम बालकोंकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिपाहि त्वमार्त्तान् वै शरणैषिणः ॥ १० ॥

अग्ने ! आपका जो कल्याणमय स्वरूप है तथा आपकी जो सात ज्वालाएँ हैं उन सबके द्वारा आप शरणमें आनेकी इच्छावाले हम आर्त प्राणियोंकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो
नान्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ।
ऋषीनस्मान् बालकान् पालयस्व
परेणास्मान् प्रेहि वै हव्यवाह ॥ ११ ॥

जातवेदा ! एकमात्र आप ही सर्वत्र तपते हैं । देव ! सूर्यकी किरणोंमें तपनेवाला पुरुष भी आपसे भिन्न नहीं है । हव्यवाहन ! हम बालक ऋषि हैं; हमारी रक्षा कीजिये । हमसे दूर चले जाइये ॥ ११ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत्।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

स्तम्बमित्रने कहा—अग्ने ! एकमात्र आप ही सब कुछ हैं, यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है। आप ही प्राणियोंका पालन और जगत्‌को धारण करते हैं ॥ १२ ॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥

आप ही अग्नि, आप ही हव्यका वहन करनेवाले और आप ही उत्तम हविष्य हैं। मनीषी पुरुष आपको ही अनेक और एकरूपमें स्थित जानते हैं ॥ १३ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥

हव्यवाह ! आप इन तीनों लोकोंकी सृष्टि करके प्रलय-काल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार कर देते हैं। अतः अग्ने ! आप सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही इसके लयस्थान भी हैं ॥ १४ ॥

द्रोण उवाच

त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

द्रोण बोला—जगत्पते ! आप ही शरीरके भीतर रहकर प्राणियोंद्वारा खाये हुए अन्नको सदा उद्दीप्त होकर पचाते हैं। सम्पूर्ण विश्व आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो
भूमेरम्भो भूमिजातान् रसांश्च।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले
दृष्ट्वा वृष्ट्या भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥

शुक्रवर्णवाले सर्वज्ञ अग्निदेव ! आप ही सूर्य होकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जलको और सम्पूर्ण पार्थिव रसों-को ग्रहण करते हैं तथा पुनः समय आनेपर आवश्यकता देखकर वर्षाके द्वारा इस पृथ्वीपर जलरूपमें उन सब रसोंको प्रस्तुत कर देते हैं ॥ १६ ॥

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥

उज्ज्वल वर्णवाले अग्ने ! फिर आपसे ही हरे-हरे पत्तोंवाले वनस्पति उत्पन्न होते हैं और आपसे ही पोखरियाँ तथा कल्याणमय महासागर पूर्ण होते हैं ॥ १७ ॥

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम्।
शिवस्त्राता भवास्माकं मास्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले अग्निदेव ! हमारा यह शरीररूप घर रसनेन्द्रियाधिपति वरुणदेवका आलम्बन है। आप आज शीतल एवं कल्याणमय बनकर हमारे रक्षक होइये; हमें नष्ट न कीजिये ॥ १८ ॥

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन।
परेण प्रेहि मुञ्चास्मान् सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥

पिंगल नेत्र तथा लोहित ग्रीवावाले हुताशन ! आप कृष्ण-वर्त्मा हैं। समुद्रतटवर्ती गृहोंकी भाँति हमें भी छोड़ दीजिये। दूरसे ही निकल जाइये ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्मवादी द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर प्रसन्नचित्त हुए अग्निने मन्दपालसे की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण करके द्रोणसे कहा ॥

अग्निरुवाच

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्म तद् व्याहृतं त्वया।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥

अग्नि बोले—जान पड़ता है, तुम द्रोण ऋषि हो; क्योंकि तुमने उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करूँगा, तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ २१ ॥

मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः।
वर्जयेः पुत्रकान् मह्यं दहन् दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥

मन्दपाल मुनिने पहले ही मुझसे तुमलोगोंके विषयमें निवेदन किया था कि 'आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दीजियेगा' ॥ २२ ॥

तस्य तद् वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम्।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन् स्तोत्रेण सत्तम ॥ २३ ॥

द्रोण ! तुम्हारे पिताका वह वचन और तुमने यहाँ जो कुछ कहा है, वह भी मेरे लिये गौरवकी वस्तु है। बोलो, तुम्हारी और कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ ? ब्रह्मन् ! साधुशिरो-मणे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे इस स्तोत्रसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २३ ॥

द्रोण उवाच

इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः।
एतान् कुरुष्व दग्धांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ॥ २४ ॥

द्रोणने कहा—शुक्रस्वरूप अग्ने ! ये बिलाव हमें

प्रतिदिन उद्विग्न करते रहते हैं । हुताशन ! आप इन्हें बन्धु-बान्धवोंसहित भस्म कर डालिये ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तत् कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शार्ङ्गकोंकी अनुमतिसे अग्निदेवने वैसा ही किया और प्रज्वलित होकर वे सम्पूर्ण खाण्डववनको जलाने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३१॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्दपालका अपने बाल-बच्चोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्त्वापि च स तिग्मांशुं नैव शर्माधिगच्छति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्दपाल भी अपने पुत्रोंकी चिन्तामें पड़े थे। यद्यपि वे (उनकी रक्षाके लिये) अग्निदेवसे प्रार्थना कर चुके थे, तो भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥

स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं नु शक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥

पुत्रोंके लिये संतप्त होते हुए वे लपितासे बोले—'लपिते ! मेरे बच्चे अपने घोंसलेमें कैसे बच सकेंगे ? ॥ २ ॥

वर्धमाने हुतवहे वाते चाशु प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

'जब अग्निका वेग बढ़ेगा और हवा तीव्र गतिसे चलने लगेगी, उस समय मेरे बच्चे अपनेको आगसे बचानेमें असमर्थ हो जायँगे ॥ ३ ॥

कथं त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी ।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥

'उनकी तपस्विनी माता स्वयं असमर्थ है, वह बेचारी उनकी रक्षा कैसे करेगी ? अपने बच्चोंके बचनेका कोई उपाय न देखकर वह शोकसे आतुर हो जायगी ॥ ४ ॥

कथमुड्डयनेऽशक्तान् पतने च ममात्मजान् ।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥

'मेरे बच्चे उड़ने और पंख फड़फड़ानेमें असमर्थ हैं। उन्हें उस दशामें देखकर संतप्त हो बार-बार चीत्कार करती और दौड़ती हुई जरिता किस दशामें होगी ? ॥ ५ ॥

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्कः कथं च मे ।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥

'मेरा बेटा जरितारि कैसे होगा, सारिसृक्ककी क्या अवस्था होगी, स्तम्बमित्र और द्रोण कैसे होंगे ? तथा वह तपस्विनी जरिता किस हालतमें होगी ?' ॥ ६ ॥

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने ।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥

भारत ! मन्दपाल मुनि जब इस प्रकार वनमें (अपनी स्त्री एवं बच्चोंके लिये) विलाप कर रहे थे, उस समय लपिताने ईर्ष्यापूर्वक कहा—॥ ७ ॥

न ते पुत्रेष्ववेक्षास्ति यानृषीनुक्तवानसि ।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद् भयम् ॥ ८ ॥

'तुम्हें पुत्रोंको देखनेकी चिन्ता नहीं है । तुमने जिन ऋषियोंके नाम लिये हैं, वे तेजस्वी और शक्तिशाली हैं; उन्हें अग्निसे तनिक भी भय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वयाग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥

'मेरे पास ही तुमने अग्निदेवको स्वयं अपने पुत्र सौंपे थे और उन महात्मा अग्निने भी उनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी ॥ ९ ॥

लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति ।
समर्थं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ॥ १० ॥

'वे लोकपाल हैं। जब बात दे चुके हैं, तब उसे झूठी नहीं करेंगे। अतः स्वस्थ पुरुष ! तुम्हारा मन अपने बच्चोंकी रक्षारूप बन्धुजनोचित कर्तव्यके पालनेके लिये उत्सुक नहीं है ॥ १० ॥

तामेव तु ममामित्रां चिन्तयन् परितप्यसे ।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराभवत् ॥ ११ ॥

'तुम तो मेरी दुश्मन उसी जरिता सौतके लिये चिन्ता करते हुए संतप्त हो रहे हो । पहले जरितामें तुम्हारा जैसा स्नेह था वैसा अवश्य ही मुझपर नहीं है ॥ ११ ॥

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान उपद्रष्टुं शक्तेनात्मा कथंचन ॥ १२ ॥

'जो सहायकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली है' वह मुझ-जैसे अपने सुहृद् व्यक्तिपर स्नेह नहीं रखे और अपने आत्मीय जनको पीड़ित देखकर उसकी उपेक्षा करे, यह किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता ॥ १२ ॥

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥

'अतः अब तुम उस जरिताके ही पास जाओ, जिसके लिये तुम इतने संतप्त हो रहे हो। मैं भी दुष्ट पुरुषके आश्रयमें पड़ी हुई स्त्रीकी भाँति अकेली ही विचरूँगी' ॥ १३ ॥

मन्दपाल उवाच

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥

मन्दपालने कहा—अरी! तू जैसा समझती है, उस भावसे मैं इस संसारमें नहीं विचरता हूँ। मेरा विचरना तो केवल संतानके लिये होता है। मेरी वह संतान ही संकटमें पड़ी हुई है ॥१४॥

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत् स मन्दधीः।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥

जो पैदा हुए बच्चोंका परित्याग कर भविष्यमें होनेवालोंका भरोसा करता है, वह मूर्ख है; सब लोग उसका अनादर करते हैं; तेरी जैसी इच्छा हो, वैसा कर ॥ १५ ॥

एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान्।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥

यह प्रज्वलित आग सारे वृक्षोंको अपनी लपटोंमें लपेटती हुई मेरे उद्विग्न हृदयमें अमङ्गलसूचक संताप उत्पन्न कर रही है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्माद् देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः।
जगाम पुत्रकानेव त्वरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब अग्निदेव उस स्थानसे हट गये, तब पुत्रोंकी लालसा रखनेवाली जरिता पुनः शीघ्रतापूर्वक अपने बच्चोंके पास गयी ॥ १७ ॥

सा तान् कुशलिनः सर्वान् विमुक्ताञ्जातवेदसः।
रोरूयमाणान् ददृशे वने पुत्रान् निरामयान् ॥ १८ ॥

उसने देखा, सभी बच्चे आगसे बच गये हैं और सकुशल हैं। उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है और वे वनमें जोर-जोरसे चहक रहे हैं ॥ १८ ॥

अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात् सा पुनः पुनः।
एकैकश्येन तान् सर्वान् क्रोशमानान्वपद्यत ॥ १९ ॥

उन्हें बार-बार देखकर वह नेत्रोंसे आँसू बहाने लगी और बारी-बारीसे पुकारकर वह सभी बच्चोंसे मिली ॥ १९ ॥

ततोऽभ्यगच्छत् सहसा मन्दपालोऽपि भारत।
अथ ते सर्व एवैनं नाभ्यनन्दंस्तदा सुताः ॥ २० ॥

भारत! इतनेमें ही मन्दपाल मुनि भी सहसा वहाँ आ पहुँचे; किंतु उन बच्चोंमेंसे किसीने भी उस समय उनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः।
न चैवोचुस्तदा किंचित् तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २१ ॥

वे एक-एक बच्चेसे बोलते और जरिताको भी बार-बार बुलाते, परंतु वे लोग उन मुनिसे भला या बुरा कुछ भी नहीं बोले ॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चानुजः।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान् कतमश्च ते ॥ २२ ॥

मन्दपालने पूछा—प्रिये! तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र कौन है, उससे छोटा कौन है, मझला कौन है और सबसे छोटा कौन है? ॥ २२ ॥

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे।
कृतवानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥ २३ ॥

मैं इस प्रकार दुःखसे आतुर होकर तुमसे पूछ रहा हूँ, तुम मुझे उत्तर क्यों नहीं देती? यद्यपि मैंने तुम्हें त्याग दिया था, तो भी यहाँसे जानेपर मुझे शान्ति नहीं मिलती थी ॥ २३ ॥

जरितोवाच

किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥ २४ ॥

जरिता बोली—तुम्हें ज्येष्ठ पुत्रसे क्या काम है, उसके बादवालेसे भी क्या लेना है, मझले अथवा छोटे पुत्रसे भी तुम्हें क्या प्रयोजन है? ॥ २४ ॥

यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २५ ॥

पहले तुम मुझे सबसे हीन समझकर त्यागकर जिसके पास चले गये थे, उसी मनोहर मुसकानवाली तरुणी लपिताके पास जाओ ॥ २५ ॥

मन्दपाल उवाच

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात्।
सापत्नकमृते लोके नान्यदर्थविनाशनम् ॥ २६ ॥

मन्दपालने कहा—परलोकमें स्त्रियोंके लिये परपुरुषसे सम्बन्ध और सौतियाडाहको छोड़कर दूसरा कोई दोष उनके परमार्थका नाश करनेवाला नहीं है ॥ २६ ॥

वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च।
सुव्रता चापि कल्याणी सर्वभूतेषु विश्रुता ॥ २७ ॥
अरुन्धती महात्मानं वसिष्ठं पर्यशङ्कत।
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥
सप्तर्षिमध्यगं धीरमवमेने च तं मुनिम्।
अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा।
लक्ष्यालक्ष्या नाभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ॥ २९ ॥

यह सौतियाडाह वैरकी आगको भड़कानेवाला और अत्यन्त उद्वेगमें डालनेवाला है। समस्त प्राणियोंमें विख्यात और उत्तम व्रतका पालन करनेवाली कल्याणमयी अरुन्धतीने उन महात्मा वसिष्ठपर भी शङ्का की थी, जिनका हृदय अत्यन्त विशुद्ध है, जो सदा उनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं और सप्तर्षिमण्डलके मध्यमें विराजमान होते हैं। ऐसे धैर्यवान् मुनिका भी उन्होंने सौतियाडाहके कारण तिरस्कार किया था। इस अशुभ चिन्तनके कारण उनकी अङ्गकान्ति धूम और अरुणके समान (मंद) हो गयी। वे कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रहकर प्रच्छन्न वेषमें मानो कोई निमित्त देखा करती हैं ॥ २७-२९ ॥

अपत्यहेतोः सम्प्राप्तं तथा त्वमपि मामिह।
इष्टमेवं गते हि त्वं सा तथैवाद्य वर्तते ॥ ३० ॥

मैं पुत्रोंसे मिलनेके लिये आया हूँ, तो भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो और इस प्रकार अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जानेपर जैसे तुम मेरे साथ संदेहयुक्त व्यवहार करती हो, वैसा ही लपिता भी करती है ॥ ३० ॥

न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥

यह मेरी भार्या है, ऐसा मानकर पुरुषको किसी प्रकार भी स्त्रीपर विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि नारी पुत्रवती हो जानेपर पतिसेवा आदि अपने कर्तव्योंपर ध्यान नहीं देती ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासते।
स च तानात्मजान् सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर वे सभी पुत्र यथोचितरूपसे अपने पिताके पास आ बैठे और वे मुनि भी उन सब पुत्रोंको आश्वासन देनेके लिये उद्यत हुए ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रदेवका श्रीकृष्ण और अर्जुनको वरदान तथा श्रीकृष्ण, अर्जुन और मयासुरका अग्निसे विदा लेकर एक साथ यमुनातटपर बैठना

मन्दपाल उवाच

युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥

मन्दपाल बोले—मैंने अग्निदेवसे यह प्रार्थना की थी कि वे तुमलोगोंको दाहसे मुक्त कर दें। महात्मा अग्निने भी वैसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी ॥ १ ॥

अग्नेर्वचनमाज्ञाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाहमिहागतः ॥ २ ॥

अग्निके दिये हुए वचनको स्मरण करके, तुम्हारी माताकी धर्मज्ञताको जानकर और तुमलोगोंमें भी महान् शक्ति है, इस बातको समझकर ही मैं पहले यहाँ नहीं आया था ॥ २ ॥

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति।
ऋषीन् वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद् विदितं च वः ॥ ३ ॥

बच्चो ! तुम्हें मेरे प्रति अपने हृदयमें संताप नहीं करना चाहिये। तुमलोग ऋषि हो, यह बात अग्निदेव भी जानते हैं; क्योंकि तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका बोध हो चुका है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितान् पुत्रान् भार्यामादाय स द्विजः।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आश्वस्त किये हुए अपने पुत्रों और पत्नी जरिताको साथ ले द्विज मन्दपाल उस देशसे दूसरे देशमें चले गये ॥४॥

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं ततः।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥

उधर प्रज्वलित हुए प्रचण्ड ज्वालाओंवाले भगवान् हुताशनने भी जगत्‌का हित करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जला दिया ॥ ५ ॥

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ॥ ६ ॥

वहाँ मज्जा और मेदकी कई नहरें बह चलीं और उन सबको पीकर अग्निदेव पूर्ण तृप्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने अर्जुनको दर्शन दिया ॥ ६ ॥

ततोऽन्तरिक्षाद् भगवानवतीर्य पुरंदरः।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उसी समय भगवान् इन्द्र मरुद्गणों एवं अन्य देवताओंके साथ आकाशसे उतरे और अर्जुन तथा श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम्।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥

'आप दोनोंने यह ऐसा कार्य किया है, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इस लोकमें मनुष्योंके लिये जो दुर्लभ हो ऐसा कोई वर आप दोनों माँग लें' ॥ ८ ॥

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने इन्द्रसे सब प्रकारके दिव्यास्त्र माँगे। महातेजस्वी इन्द्रने उन अस्त्रोंको देनेके लिये समय निश्चित कर दिया ॥ ९ ॥

यदा प्रसन्नो भगवान् महादेवो भविष्यति।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ॥ १० ॥

(वे बोले—) 'पाण्डुनन्दन ! जब तुमपर भगवान् महादेव प्रसन्न होंगे, तब मैं तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्रदान करूँगा ॥

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ॥ ११ ॥
आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ॥ १२ ॥

'कुरुनन्दन ! वह समय कब आनेवाला है, इसे भी मैं जानता हूँ। तुम्हारे महान् तपसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें सम्पूर्ण आग्नेय तथा सब प्रकारके वायव्य अस्त्र प्रदान करूँगा। धनंजय ! उसी समय तुम मेरे सम्पूर्ण अस्त्रोंको ग्रहण करोगे' ॥

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी यह वर माँगा कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे। इन्द्रने परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णको वह वर दे दिया ॥ १३ ॥

एवं दत्त्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार दोनोंको वर देकर अग्निदेवकी आज्ञा ले देवताओं-सहित देवराज भगवान् इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये ॥ १४ ॥

पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम्।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥

अग्निदेव भी मृगों और पक्षियोंसहित सम्पूर्ण वनको जलाकर पूर्ण तृप्त हो छः दिनोंतक विश्राम करते रहे ॥१५॥

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाच्युतार्जुनौ ॥ १६ ॥

जीव-जन्तुओंके मांस खाकर उनके मेद तथा रक्त पीकर अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निने श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कहा—॥१६॥

युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम्।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥

'वीरो ! आप दोनों पुरुषरत्नोंने मुझे आनन्दपूर्वक तृप्त कर दिया। अब मैं आपको अनुमति देता हूँ, जहाँ आपकी इच्छा हो, जाइये' ॥ १७ ॥

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महात्मा अग्निदेवके इस प्रकार आज्ञा देनेपर अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा मयासुर सबने उनकी परिक्रमा की। फिर तीनों ही यमुनानदीके रमणीय तटपर जाकर एक साथ बैठे ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि वरप्रदाने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतमें व्यासनिर्मित एक लाख श्लोकोंकी संहिताके अन्तर्गत आदिपर्वके मयदर्शनपर्वमें इन्द्रवरदानविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(आदिपर्व सम्पूर्णम्)

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप्के अनुसार गिननेपर	गद्योंको अनुष्टुप् छन्द बनाकर जोड़नेपर	कुल
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७८७०½	(५११½)	७३६½	२८३	८८९०
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७१०½	(१८½)	२६	×	७३६½

आदिपर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—९६२६½

महाभारतके पठन एवं श्रवणकी महिमा

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ १ ॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके मुखारविन्दसे निकला हुआ यह महाभारत अत्यन्त पुण्यजनक, पवित्र, पापहारी एवं कल्याणरूप है; इसकी महिमा अपार है। जो इस महाभारतकी कथाको सुनकर उसे हृदयङ्गम कर लेता है, उसे तीर्थराज पुष्करके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है? पुष्कर-स्नानका जो फल शास्त्रोंमें कहा गया है, वह उसे इस कथाके श्रवणसे ही मिल जाता है। एक ओर तो एक मनुष्य वेदज्ञ एवं अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणको सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली सौ गौएँ दान करता है और दूसरी ओर दूसरा मनुष्य नित्य महाभारतकी पुण्यमयी कथाका श्रवण करता है, उन दोनोंको समान फल मिलता है।

(महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वसे)

निवेदन

महाभारतका आदिपर्व पूरा हो चुका है। अब यहाँसे सभापर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वके उत्तरभारतीय (प्रधानतया नीलकण्ठी) पाठके अनुसार ८५४० श्लोक आदिपर्वमें थे। दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी समझकर ७३६½ श्लोक और ले लिये गये। इससे आदिपर्व ९२७६½ श्लोकोंका हो गया। इसी प्रकार सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये जायँगे। यों श्लोकसंख्यामें वृद्धि होती रहेगी। अनुवादमें मूलका अनुसरण करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न अनुवादक तथा संशोधक महोदय कर रहे हैं, तथापि भूलें तो रहती ही होंगी। विद्वान् पाठक ध्यानसे पढ़कर भूलें बतायेंगे, तो उनकी बड़ी कृपा होगी। उन भूलोंपर विचार करके आगामी संस्करणमें उनके सुधारका प्रयत्न किया जायगा। महाभारतके ग्राहक उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं, यह आनन्दका विषय है। महाभारतके अनुरागी महानुभावोंको इस ग्रन्थके ग्राहक बढ़ाकर भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृतिके मूर्तस्वरूप पञ्चम वेदरूप इस महान् पुण्य ग्रन्थका प्रचार-प्रसार करनेमें विशेषरूपसे सहायक बनना चाहिये। यह हमारी विनीत प्रार्थना है।

—सम्पादक 'महाभारत'

श्रीकृष्णका मयासुरसे सभानिर्माणके लिये प्रस्ताव

ॐ परमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सभापर्व

(सभाक्रियापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार मयासुरद्वारा सभाभवन बनानेकी तैयारी

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! खाण्डवदाहके अनन्तर मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा करके हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें उनसे कहा ॥

मय उवाच

अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः ।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥३॥

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन ! आपने अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्णसे तथा जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवसे भी मेरी रक्षा की है। अतः बताइये, मैं (इस उपकारके बदले) आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर ।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—असुरराज ! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकारका मानो सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा स्नेहका भाव रक्खेंगे ।४।

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत ॥ ५ ॥

मयासुर बोला—प्रभो ! पुरुषोत्तम ! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुषके अनुरूप ही है; परंतु भारत ! मैं बड़े प्रेमसे आपके लिये कुछ करना चाहता हूँ ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः ।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव ॥ ६ ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं दानवोंका विश्वकर्मा एवं शिल्पविद्याका महान् पण्डित हूँ। अतः मैं आपके लिये किसी वस्तुका निर्माण करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

(दानवानां पुरा पार्थ प्रासादा हि मया कृताः ।
रम्याणि सुखगर्भाणि भोगाढ्यानि सहस्रशः ॥
उद्यानानि च रम्याणि सरांसि विविधानि च ।
विचित्राणि च शस्त्राणि रथाः कामगमास्तथा ॥

नगराणि विशालानि साट्टप्राकारतोरणैः।
वाहनानि च मुख्यानि विचित्राणि सहस्रशः॥
बिलानि रमणीयानि सुखयुक्तानि वै भृशम्।
एतत् कृतं मया सर्वं तस्मादिच्छामि फाल्गुन॥)

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने दानवोंके बहुत-से महल बनाये हैं। इसके सिवा देखनेमें रमणीय, सुख और भोगसाधनोंसे सम्पन्न अनेक प्रकारके रमणीय उद्यानों, भाँति-भाँतिके सरोवरों, विचित्र अस्त्र-शस्त्रों, इच्छानुसार चलनेवाले रथों, अट्टालिकाओं, चहारदिवारियों और बड़े-बड़े फाटकोंसहित विशाल नगरों, हजारों अद्भुत एवं श्रेष्ठ वाहनों तथा बहुत-सी मनोहर एवं अत्यन्त सुखदायक सुरंगोंका मैंने निर्माण किया है। अतः अर्जुन ! मैं आपके लिये भी कुछ बनाना चाहता हूँ॥

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित् कारयितुं त्वया॥ ७॥

अर्जुन बोले—मयासुर ! तुम मेरेद्वारा अपनेको प्राण-संकटसे मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिये कुछ करना चाहते हो। ऐसी दशामें मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूँगा॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि॥ ८॥

दानव ! साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो। इसलिये तुम भगवान् श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा॥

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ ! तब मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णसे काम बतानेका अनुरोध किया। उसके प्रेरणा करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अनुमानतः दो घड़ीतक विचार किया कि 'इसे कौन-सा काम बताया जाय ?'॥ ९॥

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति॥ १०॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे॥ ११॥

तदनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचकर प्रजापालक लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ दैत्यराज मय ! यदि तुम मेरा कोई प्रिय कार्य करना चाहते हो तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरके लिये जैसा ठीक समझो, वैसा एक सभाभवन बना दो॥ १०-११॥

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम्॥ १२॥

'वह सभा ऐसी बनाओ, जिसके बन जानेपर सम्पूर्ण मनुष्यलोकके मानव देखकर विस्मित हो जायँ एवं कोई उसकी नकल न कर सके॥ १२॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येम हि कृतांस्त्वया।
आसुरान् मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय॥ १३॥

'मयासुर ! तुम ऐसे सभाभवनका निर्माण करो, जिसमें हम तुम्हारेद्वारा अङ्कित देवता, असुर और मनुष्योंकी शिल्पनिपुणताका दर्शन कर सकें'॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम्॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके लिये विमान-जैसी सुन्दर सभा बनानेका निश्चय किया॥ १४॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम्॥ १५॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको ये सब बातें बताकर मयासुरको उनसे मिलाया॥

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत॥ १६॥

भारत ! राजा युधिष्ठिरने उस समय मयासुरका यथा-योग्य सत्कार किया और मयासुरने भी बड़े आदरके साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया॥ १६॥

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत॥ १७॥

जनमेजय ! दैत्यराज मयने उस समय वहाँ पाण्डवोंको दैत्योंके अद्भुत चरित्र सुनाये॥ १७॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १८॥

कुछ दिनोंतक वहाँ आरामसे रहकर दैत्योंके विश्वकर्मा मयासुरने सोच-विचारकर महात्मा पाण्डवोंके लिये सभाभवन बनानेकी तैयारी की॥ १८॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः॥ १९॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्रशः।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान्॥ २०॥
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम्।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः॥ २१॥

उसने कुन्तीपुत्रों तथा महात्मा श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार सभा बनानेका निश्चय किया। किसी पवित्र तिथिको (शुभ मुहूर्तमें) मङ्गलानुष्ठान, स्वस्तिवाचन आदि करके

महातेजस्वी और पराक्रमी मयने हजारों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकारका धन दान किया। इसके बाद उसने सभा बनानेके लिये समस्त ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न दिव्य रूपवाली मनोरम सब ओरसे दस हजार हाथकी (अर्थात् दस हजार हाथ चौड़ी और दस हजार हाथ लम्बी) धरती नपवायी ॥ १९–२१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभास्थाननिर्णयविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण खाण्डवप्रस्थमें सुखपूर्वक रहकर प्रेमी पाण्डवोंके द्वारा नित्य पूजित होते रहे ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

तदनन्तर पिताके दर्शनके लिये उत्सुक होकर विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञा लेकर वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगद्वन्द्य केशवने अपनी बुआ कुन्तीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कुन्तीने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥ ३ ॥

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महायशस्वी हृषीकेश अपनी बहिन सुभद्रासे मिले। उसके पास जानेपर स्नेहवश उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ ४ ॥

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

भगवान्ने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी सुभद्रासे बहुत थोड़े, सत्य, प्रयोजनपूर्ण, हितकारी, युक्तियुक्त एवं अकाट्य वचनोंद्वारा अपने जानेकी आवश्यकता बतायी (और उसे ढाढ़स बँधाया) ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्राने बार-बार भाईकी पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनोंसे कहनेके लिये संदेश दिये ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम्।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

भामिनी सुभद्राको प्रसन्न करके उससे जानेकी अनुमति लेकर वृष्णिकुलभूषण जनार्दन द्रौपदी तथा धौम्यमुनिसे मिले ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद् विद्वान् पार्थेन सहितो बली।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यथोचित रीतिसे धौम्यजीको प्रणाम किया और द्रौपदीको सान्त्वना दे उसकी अनुमति लेकर वे अर्जुनके साथ अन्य भाइयोंके पास गये। पाँचों भाई पाण्डवोंसे घिरे हुए विद्वान् एवं बलवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ ८-९ ॥

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ॥ १० ॥

तदनन्तर गरुडध्वज श्रीकृष्णने यात्राकालोचित कर्म करनेके लिये पवित्र हो स्नान करके अलङ्कार धारण किया ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥

फिर उन यदुश्रेष्ठने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ११ ॥

स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षाद् विनिर्गतः ॥ १२ ॥

प्रतिष्ठित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यदुप्रवर श्रीकृष्ण यात्राकालोचित सब कार्य पूर्ण करके प्रस्थित हुए और भीतरसे चलकर बाहरी ड्योढ़ीको पार करते हुए राजभवनसे बाहर निकले ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १३ ॥

उस समय सुयोग्य ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और भगवान्ने दहीसे भरे पात्र, अक्षत, फल आदिके साथ उन ब्राह्मणोंको धन देकर उन सबकी परिक्रमा की ॥ १३ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय ताक्ष्र्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥

इसके बाद गरुडचिह्नित ध्वजासे सुशोभित और गदा, चक्र, खड्ग एवं शार्ङ्गधनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न शैब्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंसे युक्त शुभ सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कमलनयन श्रीकृष्णने उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र एवं गुणयुक्त मुहूर्तमें यात्रा आरम्भ की ॥ १४-१५ ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥

उस समय श्रीकृष्णका रथ हाँकनेवाले सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुकको हटाकर उसके स्थानमें राजा युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

अभीषून् सम्प्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।

कुरुराज युधिष्ठिरने घोड़ोंकी बागडोर स्वयं अपने हाथमें ले ली। फिर महाबाहु अर्जुन भी रथपर बैठ गये और सुवर्णमय दण्डसे विभूषित श्वेत चँवर लेकर दाहिनी ओरसे उनके ऊपर डुलाने लगे ॥ १७½ ॥

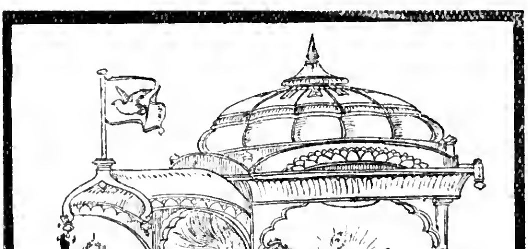

तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
(छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ।
वैडूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ॥
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वने ।
उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ॥
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ।)
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।

इसी प्रकार नकुल-सहदेवसहित बलवान् भीमसेन भी ऋत्विजों और पुरवासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने वेगपूर्वक आगे बढ़कर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर दिव्य मालाओंसे सुशोभित एवं सौ शलाकाओं (तिल्लियों) से युक्त स्वर्ण-विभूषित छत्र लगाया। उस छत्रमें वैदूर्यमणिका डंडा लगा हुआ था। नकुल और सहदेव भी शीघ्रतापूर्वक रथपर आरूढ़ हो श्वेत चँवर और व्यजन डुलाते हुए जनार्दनकी सेवा करने लगे। उस समय अपने समस्त फुफेरे भाइयोंसे संयुक्त शत्रुदमन केशव ऐसी शोभा पाने लगे, मानो अपने प्रिय शिष्योंके साथ गुरु यात्रा कर रहे हों ॥ १८-१९½ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णके बिछोहसे अर्जुनको बड़ी व्यथा हो रही थी। गोविन्दने उन्हें हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी अनुमति ली। फिर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेनका चरणस्पर्श किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनने भगवान्‌को छातीसे लगा लिया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया (तब भगवान्‌ने भी उन दोनोंको छातीसे लगा लिया) ॥२०-२१॥

योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! शत्रुविजयी श्रीकृष्णने दो कोस दूर चले जानेपर युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमति ले यह अनुरोध किया कि 'अब आप लौट जाइये' ॥ २२ ॥

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ गोविन्दने प्रणाम करके युधिष्ठिरके पैर पकड़ लिये। फिर पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने यादवश्रेष्ठ कमलनयन केशवको दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और 'जाओ' कहकर उन्हें जानेकी आज्ञा दी ॥ २३-२४ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात् तदा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ पुनः आनेका निश्चित वादा

करके भगवान् मधुसूदनने पैदल आये हुए नागरिकोंसहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनाईसे लौटाया और प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारकाको गये, मानो इन्द्र अमरावतीको जा रहे हों। जबतक वे दिखायी दिये, तबतक पाण्डव अपने नेत्रोंद्वारा उनका अनुसरण करते रहे ॥ २५-२६ ॥

मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥

अत्यन्त प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्णके साथ ही चला गया। अभी केशवके दर्शनसे पाण्डवोंका मन तृप्त नहीं हुआ था, तभी नयनाभिराम भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। पाण्डवोंकी श्रीकृष्णदर्शनविषयक कामना अधूरी ही रह गयी। उन सबका मन भगवान् गोविन्दके साथ ही चला गया ॥ २७-२८ ॥

निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥

अब वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव मार्गसे लौटकर तुरंत अपने नगरकी ओर चल पड़े। उधर श्रीकृष्ण भी रथके द्वारा शीघ्र ही द्वारका जा पहुँचे ॥ २९ ॥

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥

सात्वतवंशी वीर सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके पीछे बैठकर यात्रा कर रहे थे और सारथि दारुक आगे था। उन दोनोंके साथ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण वेगशाली गरुडकी भाँति द्वारकामें पहुँच गये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित मार्गसे लौटकर सुहृदोंके साथ अपने श्रेष्ठ नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥

विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातॄन् पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥

राजन्! वहाँ पुरुषसिंह धर्मराजने समस्त सुहृदों, भाइयों और पुत्रोंको विदा करके राजमहलमें द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ३२ ॥

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥

इधर भगवान् केशव भी उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवोंसे सम्मानित हो प्रसन्नतापूर्वक द्वारकापुरीके भीतर गये ॥ ३३ ॥

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने राजा उग्रसेन, बूढ़े पिता वसुदेव और यशस्विनी माता देवकीको प्रणाम करके बलरामजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ।

तत्पश्चात् जनार्दनने प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध तथा भानु आदिको स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाया और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा लेकर रुक्मिणीजीके महलमें प्रवेश किया ॥ ३५½ ॥

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत् कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३६ ॥

इधर महाभाग मयने भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सभामण्डप बनानेकी मन-ही-मन कल्पना की ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकायात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

मयासुरका भीमसेन और अर्जुनको गदा और शङ्ख लाकर देना तथा उसके द्वारा अद्भुत सभाका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मयासुरने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे कहा—'भारत! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं एक जगह जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ॥ १ ॥

(विश्रुतां त्रिषु लोकेषु पार्थ दिव्यां सभां तव ।
प्राणिनां विस्मयकरीं तव प्रीतिविवर्धिनीम् ।
पाण्डवानां च सर्वेषां करिष्यामि धनंजय ॥)

'कुन्तीकुमार धनंजय! मैं आपके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात एक दिव्य सभाका निर्माण करूँगा। जो समस्त प्राणियों-को आश्चर्यमें डालनेवाली तथा आपके साथ ही समस्त पाण्डवोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाली होगी ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥

'पूर्वकालमें जब दैत्यलोग कैलास पर्वतसे उत्तर दिशामें स्थित मैनाक पर्वतपर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसरके समीप सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वाकी सभामें रक्खा गया था ॥ २-३ ॥

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम्॥ ४ ॥

'भारत ! यदि वह अवतक वहीं होगा तो उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा। फिर उसीसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यशको बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ॥ ४ ॥

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

'जो सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, विचित्र एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली होगी। कुरुनन्दन! बिन्दुसरमें एक भयंकर गदा भी है ॥ ५ ॥

निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

'मैं समझता हूँ, राजा वृषपर्वाने युद्धमें शत्रुओंका संहार करके वह गदा वहीं रख दी थी। वह गदा बड़ी भारी है, विशेष भार या आघात सहन करनेमें समर्थ एवं सुदृढ़ है। उसमें सोनेकी फूलियाँ लगी हुई हैं, जिनसे वह बड़ी विचित्र दिखायी देती है ॥ ६ ॥

सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा अकेली ही एक लाख गदाओंके बराबर है। जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेनके योग्य होगी ॥ ७ ॥

वारुणश्च महाशङ्खो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥ ८ ॥

'वहाँ वरुणदेवका देवदत्त नामक महान् शङ्ख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। ये सब वस्तुएँ लाकर मैं आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में कैलाससे उत्तर मैनाक पर्वतके पास गया ॥ ९ ॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

'वहीं हिरण्यशृङ्ग नामक महामणिमय विशाल पर्वत है, जहाँ रमणीय बिन्दुसर नामक तीर्थ है। वहीं राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक (तपस्या करते हुए) निवास किया था ॥ १०½ ॥

यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी महात्मा प्रजापतिने मुख्य-मुख्य सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, जिनमें सोनेकी वेदियाँ और मणियोंके खंभे बने थे ॥ ११-१२ ॥

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
अत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥

यह सब शोभाके लिये बनाया गया था, शास्त्रीय विधि अथवा सिद्धान्तके अनुसार नहीं। सहस्र नेत्रोंवाले शचीपति इन्द्रने भी वहीं यज्ञ करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १३ ॥

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान् सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त प्राणियोंके अधिपति उग्रतेजस्वी सनातन देवता महादेवजी वहीं रहकर सहस्रों भूतोंसे सेवित होते हैं ॥ १४ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

एक हजार युग बीतनेपर वहीं नर-नारायण ऋषि, ब्रह्मा, यमराज और पाँचवें महादेवजी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥

यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् वासुदेवने धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये बहुत वर्षोंतक निरंतर श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया था॥

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥

उस यज्ञमें स्वर्णमालाओंसे मण्डित खंभे और अत्यन्त चमकीली वेदियाँ बनी थीं। भगवान् केशवने उस यज्ञमें सहस्रों-लाखों वस्तुएँ दानमें दी थीं ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर मयासुरने वहाँ जाकर वह गदा, शङ्ख और सभा बनानेके लिये स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया, जो पहले वृषपर्वाके अधिकारमें था ॥ १८ ॥

किंकरैः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद् धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥

बहुत-से किंकर तथा राक्षस जिस महान् धनकी रक्षा करते थे, वहाँ जाकर महान् असुर मयने वह सब ले लिया। १९।

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥२०॥

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुरने वह अनुपम सभा तैयार की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात, दिव्य, मणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ॥ २० ॥

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेनको और देवदत्त नामक उत्तम शङ्ख अर्जुनको भेंट कर दिया ॥ २१ ॥

यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥

उस शङ्खकी आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे । महाराज ! उस सभामें सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे ॥

दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् ।
यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥
भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः ।

वह सब ओरसे दस हजार हाथ विस्तृत थी (अर्थात् उसकी लंबाई और चौड़ाई भी दस-दस हजार हाथ थी) । जैसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी सभा प्रकाशित होती है, उसी प्रकार अत्यन्त उद्भासित होनेवाली उस सभाने बड़ा मनोहर रूप धारण किया ॥ २३½ ॥

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥

वह अपनी प्रभाद्वारा सूर्यदेवकी तेजोमयी प्रभासे टक्कर लेती थी ॥ २४ ॥

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २५ ॥

वह दिव्य सभा अपने अलौकिक तेजसे निरंतर प्रदीप्त-सी जान पड़ती थी । उसकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि नूतन मेघोंकी घटाके समान वह आकाशको घेरकर खड़ी थी । उसका विस्तार भी बहुत था । वह रमणीय सभा पाप-तापका नाश करनेवाली थी ॥ २५ ॥

उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥

उत्तमोत्तम द्रव्योंसे उसका निर्माण किया गया था । उसके परकोटे और फाटक रत्नोंसे बने हुए थे । उसमें अनेक प्रकारके अद्भुत चित्र अङ्कित थे । वह बहुत धनसे पूर्ण थी । दानवोंके विश्वकर्मा मयासुरने उस सभाको बहुत सुन्दरतासे बनाया था ॥ २६ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाथ तादृशी ।
सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः ॥ २७ ॥

बुद्धिमान् मयने जिस सभाका निर्माण किया था, उसके समान सुन्दर यादवोंकी सुधर्मा सभा अथवा ब्रह्माजीकी सभा भी नहीं थी ॥ २७ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २८ ॥

मयासुरकी आज्ञाके अनुसार आठ हजार किंकर नामक राक्षस उस सभाकी रक्षा करते और उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर ले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

वे राक्षस भयंकर आकृतिवाले, आकाशमें विचरनेवाले, विशालकाय और महाबली थे । उनकी आँखें लाल और पिंगलवर्णकी थीं तथा कान सीपीके समान जान पड़ते थे । वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ २९ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रवितनां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥

मयासुरने उस सभाभवनके भीतर एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी बना रक्खी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी । उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमलके पत्ते फैले हुए थे । उन कमलोंके मृणाल मणियोंके बने थे ॥ ३० ॥

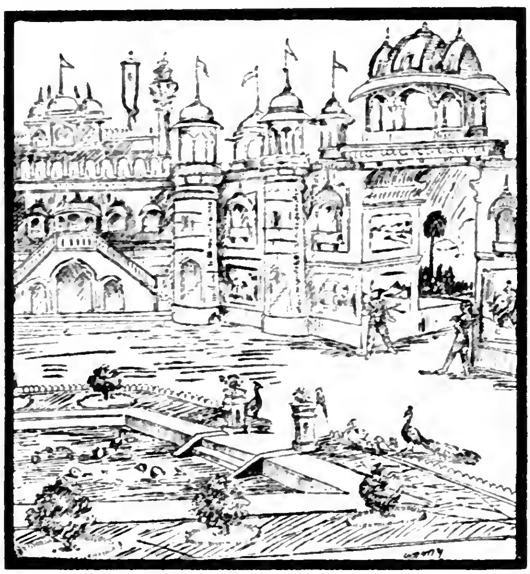

पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३१ ॥

उसमें पद्मरागमणिमय कमलोंकी मनोहर सुगंध छा रही थी । अनेक प्रकारके पक्षी उसमें रहते थे । खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियों तथा कछुओंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उस पोखरीमें उतरनेके लिये स्फटिक-

मणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उसमें पंकरहित स्वच्छ जल भरा हुआ था। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर थी ॥ ३१ ॥

मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम्।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३२ ॥

मन्द वायुसे उद्वेलित हो जब जलकी बूँदें उछलकर कमलके पत्तोंपर बिखर जाती थीं, उस समय वह सारी पुष्करिणी मौक्तिकबिन्दुओंसे व्याप्त जान पड़ती थी। उसके चारों ओरके घाटोंपर बड़ी-बड़ी मणियोंकी चौकोर शिलाखण्डोंसे पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ ३२ ॥

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत ॥ ३३ ॥

मणियों तथा रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण कुछ राजालोग उस पुष्करिणीके पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थतापर विश्वास नहीं करते थे और भ्रमसे उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः॥ ३४ ॥

उस सभाभवनके सब ओर अनेक प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, जो सदा फूलोंसे भरे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष सदा हवाके झोंकोंसे हिलते रहते थे ॥ ३४ ॥

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३५ ॥

केवल वृक्ष ही नहीं; उस भवनके चारों ओर अनेक सुगन्धित वन, उपवन और बावलियाँ भी थीं, जो हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियोंसे युक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३५ ॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते ॥ ३६ ॥

वहाँ जल और स्थलमें होनेवाले कमलोंकी सुगन्ध लेकर वायु सदा पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी ॥ ३६ ॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥

मयासुरने पूरे चौदह महीनोंमें इस प्रकारकी उस अद्भुत सभाका निर्माण किया था। राजन्! जब वह बनकर तैयार हो गयी, तब उसने धर्मराजको इस बातकी सूचना दी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभानिर्माणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

मयद्वारा निर्मित सभाभवनमें धर्मराज युधिष्ठिरका प्रवेश तथा सभामें स्थित महर्षियों और राजाओं आदिका वर्णन

(*वैशम्पायन उवाच*

तां तु कृत्वा सभां श्रेष्ठां मयश्चार्जुनमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस श्रेष्ठ सभाभवनका निर्माण करके मयासुरने अर्जुनसे कहा।

मय उवाच

एषा सभा सव्यसाचिन् ध्वजो ह्यत्र भविष्यति ॥

मयासुर बोला—सव्यसाचिन्! यह है आपकी सभा, इसमें एक ध्वजा होगी ॥

भूतानां च महावीर्यो ध्वजाग्रे किङ्करो गणः।
तव विस्फारघोषेण मेघवन्निनदिष्यति ॥

उसके अग्रभागमें भूतोंका महापराक्रमी किंकर नामक गण निवास करेगा। जिस समय तुम्हारे धनुषकी टंकारध्वनि होगी, उस समय उस ध्वनिके साथ ये भूत भी मेघोंके समान गर्जना करेंगे ॥

अयं हि सूर्यसंकाशो ज्वलनस्य रथोत्तमः।
इमे च दिविजाः श्वेता वीर्यवन्तो हयोत्तमाः ॥

मायामयः कृतो ह्येष ध्वजो वानरलक्षणः।
असज्जमानो वृक्षेषु धूमकेतुरिवोच्छ्रितः ॥

यह जो सूर्यके समान तेजस्वी अग्निदेवका उत्तम रथ है और ये जो श्वेत वर्णवाले दिव्य एवं बलवान् अश्वरत्न हैं तथा यह जो वानरचिह्नसे उपलक्षित ध्वज है, इन सबका निर्माण मायासे ही हुआ है। यह ध्वज वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं है तथा अग्निकी लपटोंके समान सदा ऊपरकी ओर ही उठा रहता है ॥

बहुवर्णं हि लक्ष्येत ध्वजं वानरलक्षणम्।
ध्वजोत्कटं ह्यनवमं युद्धे द्रक्ष्यसि विष्ठितम् ॥

आपका यह वानरचिह्नित ध्वज अनेक रंगका दिखायी देता है। आप युद्धमें इस उत्कट एवं स्थिर ध्वजको कभी झुकता नहीं देखेंगे ॥

इत्युक्त्वाऽऽलिङ्ग्य बीभत्सुं विसृष्टः प्रययौ मयः।)

ऐसा कहकर मयासुरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनसे विदा लेकर (अभीष्ट स्थानको) चला गया ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः॥ १॥
साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च।
कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः॥ २॥
भक्ष्यप्रकारैर्विविधैः फलैश्चापि तथा नृप।
चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और मधु मिलायी हुई खीर, खिचड़ी, जीवन्तिकाके साग, सब प्रकारके हविष्य, भाँति-भाँतिके भक्ष्य तथा फल, ईख आदि नाना प्रकारके चोष्य और बहुत अधिक पेय (शर्बत) आदि सामग्रियोंद्वारा दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उस सभाभवनमें प्रवेश किया॥ १—३॥

अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि।
तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान्॥ ४॥

उन्होंने नये-नये वस्त्र और छोटे-बड़े अनेक प्रकारके हार आदिके उपहार देकर अनेक दिशाओंसे आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया॥ ४॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत॥ ५॥

भारत! तत्पश्चात् उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक हजार गौएँ दीं। उस समय वहाँ ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष मानो स्वर्गलोकतक गूँज उठा॥ ५॥

वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च॥ ६॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके बाजे तथा भाँति-भाँतिके दिव्य सुगन्धित पदार्थोंद्वारा उस भवनमें देवताओंकी स्थापना एवं पूजा की। इसके बाद वे उस भवनमें प्रविष्ट हुए॥६॥

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ७॥

वहाँ धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें कितने ही मल्ल (बाहुयुद्ध करनेवाले), नट, झल्ल (लकुटियोंसे युद्ध करनेवाले), सूत और वैतालिक उपस्थित हुए॥ ७॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि॥ ८॥

इस प्रकार पूजनका कार्य सम्पन्न करके भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति उस रमणीय सभामें आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ ८॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः॥ ९॥

उस सभामें ऋषि तथा विभिन्न देशोंसे आये हुए नरेश पाण्डवोंके साथ बैठा करते थे॥ ९॥

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः॥ १०॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम्॥ ११॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥ १२॥
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः॥ १३॥
बलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः॥ १४॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा॥ १५॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः॥ १६॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः॥ १७॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः॥ १८॥

असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक-दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्ण-द्वैपायन, शुकदेव, व्यासजीके शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा हमलोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्गय, वराह, शुनक (द्वितीय), महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप तथा कठ आदि धर्मज्ञ, जितात्मा और जितेन्द्रिय मुनि उस सभामें विराजते थे॥ १०-१८॥

एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः॥ १९॥

ये तथा और भी वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत बहुत-से मुनि-श्रेष्ठ उस सभामें महात्मा युधिष्ठिरके पास बैठा करते थे॥ १९॥

कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते॥ २०॥

वे धर्मज्ञ, पवित्रात्मा और निर्मल महर्षि राजा युधिष्ठिरको पवित्र कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ नरेश भी वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे॥ २०॥

श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः।
कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः।
यथासुरान् कालकेयान् देवो वज्रधरस्तथा ॥ २३ ॥

श्रीमान् महामना धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन, संग्रामजित्, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन, राजा कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, कम्बोजराज कमठ और महाबली कम्पन, जो अकेले ही बल-पौरुषसम्पन्न, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा अमिततेजस्वी यवनोंको सदा उसी प्रकार कँपाते रहते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रने कालकेय नामक असुरोंको कम्पित किया था। (ये सभी नरेश धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते रहते थे) ॥ २१–२३॥

जटासुरो मद्रकाणां च राजा
कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः।
तथाऽऽङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण
पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥ २४ ॥
अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २५ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः।
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयसेनश्च मागधः ॥ २६ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः।
केतुमान् वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २७ ॥
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २८ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ २९ ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३० ॥
भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान्।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ ३१ ॥
केतुमान् वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः ॥ ३२ ॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।

इनके सिवा जटासुर, मद्रराज शल्य, राजा कुन्तिभोज, किरातराज पुलिन्द, अङ्गराज, वङ्गराज, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्राज, आन्ध्रनरेश, अङ्ग, वङ्ग, सुमित्र, शत्रुसूदन शैब्य, किरातराज सुमना, यवननरेश, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधदेशीय जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुसंहारक पुरु, केतुमान, वसुदान, विदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, दुर्धर्ष वीर अनूपराज, क्रमजित्, सुदर्शन, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषराज दन्तवक्त्र, वृष्णिवंशियोंके देवस्वरूप दुर्धर्ष राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, पराक्रमी द्युमत्सेन, महान् धनुर्धर केकयराजकुमार, सोमक-पौत्र द्रुपद, केतुमान (द्वितीय) तथा अस्त्रविद्यामें निपुण महाबली वसुमान्—ये तथा और भी बहुतसे प्रधान क्षत्रिय उस सभामें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें बैठते थे ॥ २४–३२½ ॥

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥ ३३ ॥
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ३४ ॥

जो महाबली राजकुमार अर्जुनके पास रहकर कृष्ण-मृगचर्म धारण किये धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे (वे भी उस सभा-भवनमें बैठकर राजा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे)। राजन्! वृष्णिवंशको आनन्दित करनेवाले राजकुमारोंको वहीं शिक्षा मिली थी ॥ ३३-३४ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३६ ॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, जाम्बवतीकुमार साम्ब, सत्यक-पुत्र (सात्यकि) युयुधान, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य—ये और दूसरे भी बहुत-से राजा उस सभामें बैठते थे। पृथ्वीपते! अर्जुनके सखा तुम्बुरु गन्धर्व भी उस सभामें नित्य विराजमान होते थे ॥ ३५-३६ ॥

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः।
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३७ ॥

मन्त्रीसहित चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएँ सभामें बैठे हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करती थीं ॥ ३७ ॥

गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः ॥ ३८ ॥
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः।
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ३९ ॥

गाने-बजानेमें कुशल, साम्य[1] और ताल[2]के विशेषज्ञ तथा प्रमाण, लय और स्थानकी जानकारीके लिये विशेष परिश्रम किये हुए मनस्वी किन्नर तुम्बुरुकी आज्ञासे वहाँ अन्य गन्धर्वोंके साथ दिव्य तान छेड़ते हुए यथोचित रीतिसे गाते और पाण्डवों

१. संगीतमें नृत्य, गीत और वाद्यकी समताको लय अथवा साम्य कहते हैं; जैसा कि अमरकोषका वाक्य है—'लयः साम्यम्'।

२. नृत्य या गीतमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीच-बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते जाते हैं, ताल कहलाता है; जैसा कि अमरकोषका वचन है—'तालः कालक्रियामानम्'।

तथा महर्षियोंका मनोरञ्जन करते हुए धर्मराजकी उपासना करते थे ॥ ३८-३९ ॥

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४० ॥

जैसे देवतालोग दिव्यलोककी सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार कितने ही सत्यप्रतिज्ञ और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महापुरुष उस सभामें बैठकर महाराज युधिष्ठिरकी आराधना करते थे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभाप्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

पञ्चमोऽध्यायः

नारदजीका युधिष्ठिरकी सभामें आगमन और प्रश्नके रूपमें युधिष्ठिरको शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन उस सभामें महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदिके साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥ ७ ॥
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान् पाण्डवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

उसी समय वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता, ऋषि, देवताओंद्वारा पूजित, इतिहास-पुराणके मर्मज्ञ, पूर्वकल्पकी बातोंके विशेषज्ञ, न्यायके विद्वान्, धर्मके तत्त्वको जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छहों अङ्गोंके पण्डितोंमें शिरोमणि, ऐक्य[1], संयोग[2], नानात्व और समवायके[3] ज्ञानमें विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसम्पन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, अपर ब्रह्म और परब्रह्मको विभागपूर्वक जाननेवाले, प्रमाणोंद्वारा एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचे हुए, पञ्चावयवयुक्त[4] वाक्यके गुण-दोषको जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे वक्ताके साथ भी उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ निश्चय रखनेवाले तथा इन सम्पूर्ण चौदहों भुवनोंको ऊपर, नीचे, और तिरछे सब ओरसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, महाबुद्धिमान्, सांख्य और योगके विभागपूर्वक ज्ञाता, देवताओं और असुरोंमें भी निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न करनेके इच्छुक, संधि और विग्रहके

१. परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वेदके वचनोंकी एकवाक्यता।

२. एकमें मिले हुए वचनोंको प्रयोगके अनुसार अलग-अलग करना।

३. यज्ञके अनेक कर्मोंके एक साथ उपस्थित होनेपर अधिकारके अनुसार यजमानके साथ कर्मका जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है।

४. दूसरेको किसी वस्तुका बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ पुरुष जिस अनुमानवाक्यका प्रयोग करता है, उसमें पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे किसीने कहा—'इस पर्वतपर आग है' यह वाक्य प्रतिज्ञा है। 'क्योंकि वहाँ धूम है' यह हेतु है। 'जैसे रसोईघरमें धूआँ दीखनेपर वहाँ आग देखी जाती है' यह दृष्टान्त ही उदाहरण है। 'चूँकि इस पर्वतपर धूआँ दिखायी देता है' हेतुकी इस उपलब्धिका नाम उपनय है। 'इसलिये वहाँ आग है' यह निश्चय ही निगमन है। इस वाक्यमें अनुकूल तर्कका होना गुण है और प्रतिकूल तर्कका होना दोष है, जैसे 'यदि वहाँ आग न होती, तो धूआँ भी नहीं उठता' यह अनुकूल तर्क है। जैसे कोई तालाबसे भाप उठती देखकर यह कहे कि इस तालाबमें आग है, तो उसका वह अनुमान आश्रयासिद्धरूप हेत्वाभाससे युक्त होगा।

तत्त्वको समझनेवाले, अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका अनुमानसे निश्चय करके शत्रुपक्षके मन्त्रियों आदिको फोड़नेके लिये धन आदि बाँटनेके उपयुक्त अवसरका ज्ञान रखनेवाले, संधि (सुलह), विग्रह (कलह), यान (चढ़ाई करना), आसन (अपने स्थानपर ही चुप्पी मारकर बैठे रहना), द्वैधीभाव (शत्रुओंमें फूट डालना) और समाश्रय (किसी बलवान् राजाका आश्रय ग्रहण करना)—राजनीतिके इन छहों अङ्गोंके उपयोगके जानकार, समस्त शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, युद्ध और संगीतकी कलामें कुशल, सर्वत्र क्रोधरहित, इन उपर्युक्त गुणोंके सिवा और भी असंख्य सद्गुणोंसे सम्पन्न, मननशील, परम कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारद लोक-लोकान्तरोंमें घूमते-फिरते पारिजात, बुद्धिमान् पर्वत तथा सौम्य, सुमुख आदि अन्य अनेक ऋषियोंके साथ सभामें स्थित पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये मनके समान वेगसे वहाँ आये और उन ब्रह्मर्षिने जय-सूचक आशीर्वादोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सम्मान किया ॥ २–१२ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित्।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायार्घ्यमेव च।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदको आया देख भाइयोंसहित सहसा उठकर उन्हें प्रेम, विनय और नम्रतापूर्वक उस समय नमस्कार किया और उन्हें उनके योग्य आसन देकर धर्मज्ञ नरेशने गौ, मधुपर्क तथा अर्घ्य आदि उपचार अर्पण करते हुए रत्नोंसे उनका विधिपूर्वक पूजन किया तथा उनकी सब इच्छाओंकी पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट किया ॥ १३–१५ ॥

तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात्।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिरसे यथोचित पूजा पाकर नारदजी भी बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार सम्पूर्ण पाण्डवोंसे पूजित होकर उन वेदवेत्ता महर्षिने युधिष्ठिरसे धर्म, काम और अर्थ तीनोंके उपदेशपूर्वक ये बातें पूछीं ॥ १६ ॥

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १७ ॥

नारदजी बोले—राजन्! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे (यज्ञ, दान तथा कुटुम्बरक्षा आदि आवश्यक कार्योंके) निर्वाहके लिये पूरा पड़ जाता है? क्या धर्ममें तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक

लगता है? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं? (भगवच्चिन्तनमें लगे हुए) तुम्हारे मनको (किन्हीं दूसरी वृत्तियों-द्वारा) आघात या विक्षेप तो नहीं पहुँचता है? ॥ १७॥

कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥

नरदेव! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंकी प्रजाओंके प्रति अपने पिता-पितामहोंद्वारा व्यवहारमें लायी हुई धर्मार्थयुक्त उत्तम एवं उदार वृत्तिका व्यवहार करते हो? ॥ १८ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ १९ ॥

तुम धनके लोभमें पड़कर धर्मको, केवल धर्ममें ही संलग्न रहकर धनको अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस काम-भोगके सेवनद्वारा धर्म और अर्थ दोनोंको ही हानि तो नहीं पहुँचाते? ॥ १९ ॥

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥ २० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं वरदायक नरेश! तुम त्रिवर्ग-सेवनके उपयुक्त समयका ज्ञान रखते हो; अतः कालका विभाग करके नियत और उचित समयपर सदा धर्म, अर्थ एवं कामका सेवन करते हो न? ॥ २० ॥*

* दक्षस्मृतिमें त्रिवर्गसेवनका काल-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

पूर्वाह्णकालमें धर्मका आचरण करे, मध्याह्नके समय धनोपार्जनका काम देखे और सायाह्न (रात्रि) के समय कामका सेवन करे। यह वैदिक श्रुतिका आदेश है। (नीलकण्ठीसे उद्धृत)

पाण्डवोंद्वारा देवर्षि नारदका पूजन

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥ २१ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! क्या तुम राजोचित छः[1] गुणोंके द्वारा सातों[2] उपायोंकी, अपने और शत्रुके बलाबलकी तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह[3] व्यक्तियोंकी भलीभाँति परख करते रहते हो ? ॥ २१ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥

विजेताओंमें श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ! क्या तुम अपनी और शत्रुकी शक्तिको अच्छी तरह समझकर यदि शत्रु प्रबल हुआ तो उसके साथ संधि बनाये रखकर अपने धन और कोषकी वृद्धिके लिये आठ[4] कर्मोंका सेवन करते हो ? ॥ २२ ॥

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारी मन्त्री आदि सातों[5] प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओंमें मिल तो नहीं गयी हैं ? तुम्हारे राज्यके धनीलोग बुरे व्यसनोंसे बचे रहकर सर्वथा तुमसे प्रेम करते हैं न ? ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २४ ॥

जिनपर तुम्हें संदेह नहीं होता, ऐसे शत्रुके गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियोंद्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाको जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते ? ॥ २४ ॥

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद् वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित् संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २५ ॥

क्या तुम मित्र, शत्रु और उदासीन लोगोंके सम्बन्धमें यह ज्ञान रखते हो कि वे कब क्या करना चाहते हैं ? उपयुक्त समयका विचार करके ही संधि और विग्रहकी नीतिका सेवन करते हो न ? ॥ २५ ॥

कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ॥ २६ ॥
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २७ ॥

क्या तुम्हें इस बातका अनुमान है कि उदासीन एवं मध्यम व्यक्तियोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये ? वीर ! तुमने अपने स्वयंके समान विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी बातको अच्छी तरह समझानेमें समर्थ, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषोंको ही मन्त्री बना रक्खा है न ? क्योंकि भारत ! राजाकी विजय-प्राप्तिका मूल कारण अच्छी मन्त्रणा (सलाह) और उसकी सुरक्षा ही है, (जो सुयोग्य मन्त्रीके अधीन है) ॥ २६-२७ ॥

कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २८ ॥

तात ! मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उन शास्त्रज्ञ सचिवोंद्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न ? शत्रुओंद्वारा उसका नाश तो नहीं हो रहा है ? ॥ २८ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुद्ध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २९ ॥

तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जग जाते हो न ? अर्थशास्त्रके जानकार तो तुम हो ही। रात्रिके पिछले भागमें जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित) के विषयमें विचार तो करते हो न ? * ॥ २९ ॥

---

१. राजाओंमें छः गुण होने चाहिये—व्याख्यानशक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकालकी स्मृति, भविष्यपर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता ।

२. सात उपाय ये हैं- —मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद ।

३. परीक्षाके योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्रमें इस प्रकार बताये गये हैं—

देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः ।
अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ॥

देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु (बल), इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजाओंको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।

४. राजाके कोष और धनकी वृद्धिके लिये आठ कर्म ये हैं—

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥
अष्ट संधानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥

खेतीका विस्तार, व्यापारकी रक्षा, दुर्गकी रचना एवं रक्षा, पुलोंका निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बाँधना, सोने-हीरे आदि-की खानोंपर अधिकार करना, करकी वसूली और उजाड़ प्रान्तोंमें लोगोंको बसाना—मनीषी पुरुषोंद्वारा ये आठ संधानकर्म बताये गये हैं ।

५. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना एवं पुरवासी—ये राज्यके सात अङ्ग ही सात प्रकृतियाँ हैं । अथवा—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं ।

* स्मृतिमें कहा है कि—'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।'

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने हितका चिन्तन करे ।

(नीलकण्ठी टीकासे उद्धृत)

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३० ॥

(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है, छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ,) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥ ३० ॥

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३१ ॥

धनकी वृद्धिके ऐसे उपायोंका निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़ता हो, किंतु वृद्धि अधिक होती हो, उनका शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न ? वैसे कार्योंमें अथवा वैसा कार्य करनेवाले लोगोंके मार्गमें तुम विघ्न तो नहीं डालते ? ॥ ३१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥ ३२ ॥

तुम्हारे राज्यके किसान—मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं ? उनके कार्य और गति-विधिपर तुम्हारी दृष्टि है न ? वे तुम्हारे अविश्वासके पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः कामपर लेते तो नहीं रहते ? क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नतिमें उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकालसे अनुगृहीत होनेपर ही वे ज्ञात, विश्वासपात्र और स्वामीके प्रति अनुरक्त होते हैं) ॥ ३२ ॥

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥ ३३ ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ।

कृषि आदिके कार्य विश्वसनीय, लोभरहित और बड़े-बूढ़ोंके समयसे चले आनेवाले कार्यकर्ताओंद्वारा ही कराते हो न ? राजन् ! वीरशिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्योंके सिद्ध हो जानेपर या सिद्धिके निकट पहुँच जानेपर ही लोग जान पाते हैं ? सिद्ध होनेसे पहले ही तुम्हारे किन्हीं कार्योंको लोग जान तो नहीं लेते ॥ ३३½ ॥

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देनेका काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओंको सब प्रकारकी आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न ? ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३५ ॥

तुम हजारों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही तो खरीदते हो न ? अर्थात् आदरपूर्वक स्वीकार करते हो न ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ ३५ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३६ ॥

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी और धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ३६ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३७ ॥

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमारको विपुल सम्पत्तिकी प्राप्ति करा देता है ॥ ३७ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३८ ॥

क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३८ ॥

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन ! तुम शत्रुओंसे अज्ञात, सतत सावधान और नित्य प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओंकी गति-विधिपर दृष्टि रखते हो न ? ॥ ३९ ॥

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४० ॥

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टिसे रहित तथा शास्त्रचर्चामें कुशल हैं ? क्या तुम उनका पूर्ण सत्कार करते हो ? ॥ ४० ॥

---

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनको व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये ।

२. उपर्युक्त टिप्पणीमें अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं ।

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ४१ ॥

तुमने अग्निहोत्रके लिये विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरल स्वभावके ब्राह्मणको नियुक्त किया है न ? वह सदा किये हुए और किये जानेवाले हवनको तुम्हें ठीक समयपर सूचित कर देता है न ? ॥ ४१ ॥

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ४२ ॥

क्या तुम्हारे यहाँ हस्त-पादादि अङ्गोंकी परीक्षामें निपुण, ग्रहोंकी वक्र तथा अतिचार आदि गतियों एवं उनके शुभाशुभ परिणाम आदिको बतानेवाला तथा दिव्य, भौम एवं शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके उत्पातोंको पहलेसे ही जान लेनेमें कुशल ज्योतिषी है ? ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ ४३ ॥

तुमने प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको उनके योग्य महान् कार्योंमें, मध्यम श्रेणीके कार्यकर्ताओंको मध्यम कार्योंमें तथा निम्न श्रेणीके सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार छोटे कामोंमें ही लगा रक्खा है न ? ॥ ४३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४४ ॥

क्या तुम निश्छल, बाप-दादोंके क्रमसे चले आये हुए और पवित्र आचार-विचारवाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको सदा श्रेष्ठ कर्मोंमें लगाये रखते हो ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कठोर दण्डके द्वारा तुम प्रजाजनोंको अत्यन्त उद्वेगमें तो नहीं डाल देते ? मन्त्रीलोग तुम्हारे राज्यका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न ? ॥ ४५ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ४६ ॥

जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका और स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ ४६ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ॥ ४७ ॥

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न, शूरवीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्यमें कुशल है ! ॥ ४७ ॥

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४८ ॥

तुम्हारी सेनाके मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकारके युद्धोंमें चतुर, धृष्ट (निर्भय), निष्कपट और पराक्रमी हैं न ? तुम उनका यथोचित सत्कार एवं सम्मान करते हो न ? ॥ ४८ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ४९ ॥

अपनी सेनाके लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समयपर दे देते हो न ? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते ? ॥ ४९ ॥

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति यद्भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ ५० ॥

भोजन और वेतनमें अधिक विलम्ब होनेपर भृत्यगण अपने स्वामीपर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थका कारण बताया गया है ॥ ५० ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ॥ ५१ ॥

क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे युद्धमें तुम्हारे हितके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग करनेको सदा तैयार रहते हैं ? ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ५२ ॥

तुम्हारे कर्मचारियोंमें कोई ऐसा तो नहीं है, जो अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासनका उल्लङ्घन करनेवाला हो तथा युद्धके सारे साधनों एवं कार्योंको अकेला ही अपनी रुचिके अनुसार चला रहा हो ? ॥ ५२ ॥

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५३ ॥

(तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला) कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे जब किसी कार्यको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न ? ॥

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥ ५४ ॥

क्या तुम विद्यासे विनयशील एवं ज्ञाननिपुण मनुष्योंको उनके गुणोंके अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो ? ॥ ५४ ॥

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो लोग तुम्हारे हितके लिये सहर्ष मृत्युका वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकटमें पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चोंकी रक्षा तुम करते हो न ? ॥ ५५ ॥

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो भयसे अथवा अपनी धन-सम्पत्तिका नाश होनेसे तुम्हारी शरणमें आया हो या युद्धमें तुमसे परास्त हो गया हो, ऐसे शत्रुका तुम पुत्रके समान पालन करते हो या नहीं ? ॥ ५६ ॥

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।
समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५७॥

पृथ्वीपते ! क्या समस्त भूमण्डलकी प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिताके समान विश्वसनीय मानती है ? ॥ ५७ ॥

कच्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५८ ॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम अपने शत्रुको (स्त्री-द्यूत आदि) दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ सुनकर उसके त्रिविध बल (मन्त्र, कोष एवं भृत्य-बल अथवा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति) पर विचार करके यदि वह दुर्बल हो तो उसके ऊपर बड़े वेगसे आक्रमण कर देते हो ? ॥ ५८ ॥

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ५९ ॥

शत्रुदमन ! क्या तुम पार्ष्णिग्राह आदि बारह[1] व्यक्तियोंके मण्डल (समुदाय) को जानकर अपने कर्तव्यका[2] निश्चय करके और पराजयमूलक व्यसनोंका[3] अपने पक्षमें अभाव तथा शत्रुपक्षमें आधिक्य देखकर उचित अवसर आनेपर दैवका भरोसा करके अपने सैनिकोंको अग्रिम वेतन देकर शत्रुपर चढ़ाई कर देते हो ? ॥ ५९ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६० ॥

परंतप ! शत्रुके राज्यमें जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं, उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते हो या नहीं ? ॥ ६० ॥

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६१ ॥

कुन्तीनन्दन ! क्या तुम पहले अपनी इन्द्रियों और मनको जीतकर ही प्रमादमें पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चित् ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ॥ ६२ ॥

शत्रुओंपर तुम्हारे आक्रमण करनेसे पहले अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए तुम्हारे साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार गुण विधिपूर्वक उन शत्रुओंतक पहुँच जाते हैं न ? (क्योंकि शत्रुओंको वशमें करनेके लिये इनका प्रयोग आवश्यक है ।) ॥ ६२ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६३ ॥

महाराज ! तुम अपने राज्यकी नींवको दृढ़ करके शत्रुओंपर धावा करते हो न ? उन शत्रुओंको जीतनेके लिये पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न ? और उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूपसे रक्षा तो करते रहते हो न ? ॥ ६३ ॥

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६४ ॥

क्या धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक,लेखक और प्रहरी—इन आठ अङ्गों और हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—इन चार* प्रकारके बलोंसे युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित होकर शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ होती है ? ॥ ६४ ॥

---

१. विजयके इच्छुक राजाके आगे खड़े होनेवाले उसके शत्रुके शत्रु २, उन शत्रुओंके मित्र २, उन मित्रोंके मित्र २—ये छः व्यक्ति युद्धमें आगे खड़े होते हैं । विजिगीषुके पीछे पार्ष्णिग्राह (पृष्ठरक्षक) और आक्रन्द (उत्साह दिलानेवाला)—ये दो व्यक्ति खड़े होते हैं । इन दोनोंकी सहायता करनेवाले एक-एक व्यक्ति इनके पीछे खड़े होते हैं, जिनकी आसार संज्ञा है । ये क्रमशः पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहे जाते हैं । इस प्रकार आगेके छः और पीछेके चार मिलकर दस होते हैं । विजिगीषुके पार्श्वभागमें मध्यम और उसके भी पार्श्वभागमें उदासीन होता है । इन दोनोंको जोड़ लेनेसे इन सबकी संख्या बारह होती है । इन्हींको द्वादश राजमण्डल अथवा 'पार्ष्णिमूल' कहते हैं । अपने और शत्रुपक्षके इन व्यक्तियोंको जानना चाहिये ।

२. नीतिशास्त्रके अनुसार विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जो लोभी हो, किंतु जिसे वेतन न मिला हो, जो मानी हो किंतु किसी तरह अपमानित हो गया हो, जो क्रोधी हो और उसे क्रोध दिलाया गया हो, जो स्वभावसे ही डरनेवाला हो और उसे पुनः डरा दिया गया हो—इन चार प्रकारके लोगोंको फोड़ ले और अपने पक्षमें ऐसे लोग हों, तो उन्हें उचित सम्मान देकर मिला ले ।

३. व्यसन दो प्रकारके हैं—दैव और मानुष। दैव व्यसन पाँच प्रकारके हैं—अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी । मानुष व्यसन भी पाँच प्रकारका है—मूर्ख पुरुषोंसे, चोरोंसे, शत्रुओंसे, राजाके प्रिय व्यक्तिसे तथा राजाके लोभसे प्रजाको प्राप्त भय ।

[नीलकंठी टीकाके अनुसार]

* आठ अङ्ग और चार बल भारतकौमुदीटीकाके अनुसार लिये गये हैं ।

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६५ ॥

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज ! तुम शत्रुओंके राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके समयकी उपेक्षा न करके रणभूमिमें शत्रुओंको मारते हो न ? ॥ ६५ ॥

कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव।
अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६६ ॥

क्या अपने और शत्रुके राष्ट्रोंमें तुम्हारे बहुत-से अधिकारी स्थान-स्थानमें घूम-फिरकर प्रजाको वशमें करने एवं कर लेने आदि प्रयोजनोंको सिद्ध करते हैं और परस्पर मिलकर राष्ट्र एवं अपने पक्षके लोगोंकी रक्षामें लगे रहते हैं ?॥ ६६ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६७ ॥

महाराज ! तुम्हारे खाद्य पदार्थ, शरीरमें धारण करनेके वस्त्र आदि तथा सूँघनेके उपयोगमें आनेवाले सुगन्धित द्रव्योंकी रक्षा विश्वस्त पुरुष ही करते हैं न ? ॥ ६७ ॥

कच्चित् कोषश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम्।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६८ ॥

तुम्हारे कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामि-भक्त मनुष्योंद्वारा ही तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आयके साधनोंकी रक्षा एवं देख-भाल की जाती है न ? ॥ ६८ ॥

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥६९॥

प्रजापालक नरेश ! क्या तुम रसोइये आदि भीतरी सेवकों तथा सेनापति आदि बाह्य सेवकोंद्वारा भी पहले अपनी ही रक्षा करते हो, फिर आत्मीय जनोंद्वारा एवं परस्पर एक-दूसरेसे उन सबकी रक्षापर भी ध्यान देते हो ? ॥ ६९ ॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७० ॥

तुम्हारे सेवक पूर्वाह्णकालमें (जो कि धर्माचरणका समय है) तुमसे मद्यपान, द्यूत, क्रीड़ा और युवती स्त्री आदि दुर्व्यसनोंमें तुम्हारा समय और धनको व्यर्थ नष्ट करनेके लिये प्रस्ताव तो नहीं करते ? ॥ ७० ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥ ७१ ॥

क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है ? ॥ ७१ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान्।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७२ ॥

तुम अपने आश्रित कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुखियोंको धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो न ? ॥ ७२ ॥

कच्चिच्चायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७३ ॥

तुम्हारी आमदनी और खर्चको लिखने और जोड़नेके काममें लगाये हुए सभी लेखक और गणक प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें तुम्हारे सामने अपना हिसाब पेश करते हैं न ?॥७३॥

कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान्।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७४ ॥

किन्हीं कार्योंमें नियुक्त किये हुए प्रौढ़, हितैषी एवं प्रिय कर्मचारियोंको पहले उनके किसी अपराधको जाँच किये बिना तुम कामसे अलग तो नहीं कर देते हो ? ॥ ७४ ॥

कच्चिद् विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान्।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! तुम उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मनुष्योंको पहचानकर उन्हें उनके अनुरूप कार्योंमें ही लगाते हो न ? ॥ ७५ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७६ ॥

राजन् ! तुमने ऐसे लोगोंको तो अपने कामोंपर नहीं लगा रक्खा है ? जो लोभी, चोर, शत्रु अथवा व्यावहारिक अनुभवसे सर्वथा शून्य हों ? ॥ ७६ ॥

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः॥ ७७ ॥

चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुलकी स्त्रियोंद्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्रको पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है ? क्या तुम्हारे राज्यके किसान संतुष्ट हैं ? ॥ ७७ ॥

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ७८ ॥

क्या तुम्हारे राज्यके सभी भागोंमें जलसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं ? केवल वर्षाके पानीके भरोसे ही तो खेती नहीं होती है ? ॥ ७८ ॥

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७९ ॥

तुम्हारे राज्यके किसानका अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता ? क्या तुम प्रत्येक किसानपर अनुग्रह करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याजपर ऋण देते हो ? ॥ ७९ ॥

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८० ॥

तात ! तुम्हारे राष्ट्रमें अच्छे पुरुषोंद्वारा वार्ता— कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारका काम अच्छी तरह किया जाता है न? क्योंकि उपर्युक्त वार्तावृत्तिपर अवलम्बित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ ८० ॥

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८१ ॥

राजन् ! क्या तुम्हारे जनपदके प्रत्येक गाँवमें शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पाँच पञ्च मिलकर सुचारुरूपसे जनहितके कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं? ॥ ८१ ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८२ ॥

क्या नगरोंकी रक्षाके लिये गाँवोंको भी नगरके ही समान बहुत-से शूरवीरोंद्वारा सुरक्षित कर दिया गया है ? सीमावर्ती गाँवोंको भी अन्य गाँवोंकी भाँति सभी सुविधाएँ दी गयी हैं ? तथा क्या वे सभी प्रान्त, ग्राम और नगर तुम्हें (कर-रूपमें एकत्र किया हुआ) धन समर्पित करते हैं* ? ॥ ८२ ॥

कच्चिद् बलेनानुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चौरान् निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८३ ॥

क्या तुम्हारे राज्यमें कुछ रक्षक पुरुष सेना साथ लेकर चोर-डाकुओंका दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरोंमें विचरते रहते हैं ? ॥ ८३ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित् ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ८४ ॥

तुम स्त्रियोंको सान्त्वना देकर संतुष्ट रखते हो न ? क्या वे तुम्हारे यहाँ पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं ? तुम उनपर पूरा विश्वास तो नहीं करते ? और विश्वास करके उन्हें कोई गुप्त बात तो नहीं बता देते ? ॥ ८४ ॥

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८५ ॥

राजन् ! तुम कोई अमङ्गलसूचक समाचार सुनकर और उसके विषयमें बार-बार विचार करके भी प्रिय भोग-विलासोंका आनन्द लेते हुए अन्तःपुरमें ही सोते तो नहीं रह जाते ? ॥ ८५ ॥

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८६ ॥

प्रजानाथ ! क्या तुम रात्रिके (पहले पहरके बाद) जो प्रथम दो (दूसरे-तीसरे) याम हैं, उन्हींमें सोकर अन्तिम पहरमें उठकर बैठ जाते और धर्म एवं अर्थका चिन्तन करते हो ? ॥ ८६ ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम प्रतिदिन समयपर उठकर स्नान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो देश-कालके ज्ञाता मन्त्रियोंके साथ बैठकर (प्रार्थी या दर्शनार्थी) मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण करते हो न ? ॥ ८७ ॥

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम ॥ ८८ ॥

शत्रुदमन ! क्या लाल वस्त्र धारण करके अलंकारोंसे अलंकृत हुए योद्धा अपने हाथोंमें तलवार लेकर तुम्हारी रक्षाके लिये सब ओरसे सेवामें उपस्थित रहते हैं ? ॥ ८८ ॥

कच्चिद् दण्ड्येषु यमवत् पूज्येषु च विशाम्पते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८९ ॥

महाराज ! क्या तुम दण्डनीय अपराधियोंके प्रति यमराज और पूजनीय पुरुषोंके प्रति धर्मराजका-सा बर्ताव करते हो ? प्रिय एवं अप्रिय व्यक्तियोंकी भलीभाँति परीक्षा करके ही व्यवहार करते हो न ? ॥ ८९ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ९० ॥

कुन्तीकुमार ! क्या तुम ओषधिसेवन या पथ्य-भोजन आदि नियमोंके पालनद्वारा अपने शारीरिक कष्टको तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवारूप सत्सङ्गद्वारा मानसिक संतापको सदा दूर करते रहते हो ? ॥ ९० ॥

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९१ ॥

तुम्हारे वैद्य अष्टाङ्गचिकित्सामें * कुशल, हितैषी, प्रेमी एवं तुम्हारे शरीरको स्वस्थ रखनेके प्रयत्नमें सदा संलग्न रहनेवाले हैं न ? ॥ ९१ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा मानाद् वापि विशाम्पते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन ॥ ९२ ॥

नरेश्वर ! कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम अपने यहाँ आये हुए अर्थी (याचक) और प्रत्यर्थी (राजाकी ओरसे मिली हुई वृत्ति बंद हो जानेसे दुःखी हो पुनः उसीको पानेके लिये प्रार्थी) की ओर लोभ, मोह अथवा अभिमानवश किसी प्रकार आँख उठाकर देखतेतक नहीं ? ॥ ९२ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥ ९३ ॥

* सीमावर्ती गाँवका अधिपति अपने यहाँका राजकीय कर एकत्र करके ग्रामाधिपतियोंको दे, ग्रामाधिपति नगराधिपतियोंको, वह देशाधिपतियोंको और देशाधिपति साक्षात् राजाको वह धन अर्पित करे।

* नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श—ये आठ चिकित्साके प्रकार कहे जाते हैं।

कहीं अपने आश्रित जनोंकी जीविकावृत्तिको तुम लोभ, मोह, आत्मविश्वास अथवा आसक्तिसे बंद तो नहीं कर देते ? ॥ ९३ ॥

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ९४ ॥

तुम्हारे नगर तथा राष्ट्रके निवासी मनुष्य संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते ? शत्रुओंने उन्हें किसी तरह घूस देकर खरीद तो नहीं लिया है ? ॥ ९४ ॥

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः।
मन्त्रेण बलवान् कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ९५ ॥

कोई दुर्बल शत्रु जो तुम्हारे द्वारा पहले बलपूर्वक पीड़ित किया गया (किंतु मारा नहीं गया), अब मन्त्रणाशक्तिसे अथवा मन्त्रणा और सेना दोनों ही शक्तियोंसे किसी तरह बलवान् होकर सिर तो नहीं उठा रहा है ? ॥ ९५ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः॥ ९६॥

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे द्वारा सम्मान पाकर तुम्हारे लिये अपने प्राणोंकी बलि दे सकते हैं ? ॥ ९६ ॥

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ९७ ॥

क्या तुम्हारे मनमें सभी विद्याओंके प्रति गुणके अनुसार आदरका भाव है ? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-संतोंकी सेवा-पूजा करते हो ? जो तुम्हारे लिये शुभ एवं कल्याणकारिणी है। इन ब्राह्मणोंको तुम सदा दक्षिणा तो देते रहते हो न ? क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ९७ ॥

कच्चिद् धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तसे ॥ ९८ ॥

तीनों वेद ही जिसके मूल हैं और पूर्वपुरुषोंने जिसका आचरण किया है, उस धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तुम अपने पूर्वजोंकी ही भाँति प्रयत्नशील तो रहते हो ? धर्मानुकूल कर्ममें ही तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है ? ॥ ९८ ॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९९ ॥

क्या तुम्हारे महलमें तुम्हारी आँखोंके सामने गुणवान् ब्राह्मण स्वादिष्ट और गुणकारक अन्न भोजन करते हैं ? और भोजनके पश्चात् उन्हें दक्षिणा दी जाती है ? ॥ ९९ ॥

कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ १०० ॥

अपने मनको वशमें करके एकाग्रचित्त हो वाजपेय और पुण्डरीक आदि सभी यज्ञ-यागोंका तुम पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेका प्रयत्न तो करते हो न ? ॥ १०० ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् दैवतांस्तापसानपि।
चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥ १०१॥

जाति-भाई, गुरुजन, वृद्ध पुरुष, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष (पीपल) आदि तथा कल्याणकारी ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो न ? ॥ १०१ ॥

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वे नु तिष्ठति ॥ १०२॥

निष्पाप नरेश ! तुम किसीके मनमें शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते ? तुम्हारे पास कोई मनुष्य हाथमें मङ्गल-सामग्री लेकर सदा उपस्थित रहता है न ? ॥ १०२ ॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०३॥

पापरहित युधिष्ठिर ! अबतक जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार ही तुम्हारी बुद्धि और वृत्ति (विचार और आचार) हैं न ? ऐसी धर्मानुकूल बुद्धि और वृत्ति आयु तथा यशको बढ़ानेवाली एवं धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली है ॥ १०३ ॥

एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तसुखमेधते ॥ १०४॥

जो ऐसी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करता है, उसका राष्ट्र कभी संकटमें नहीं पड़ता। वह राजा सारी पृथ्वीको जीतकर बड़े सुखसे दिनोंदिन उन्नति करता है ॥ १०४ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥ १०५॥

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि शास्त्रकुशल विद्वानोंका सङ्ग न करनेवाले तुम्हारे मूर्ख मन्त्रियोंने किसी विशुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ एवं पवित्र पुरुषपर चोरीका अपराध लगाकर उसका सारा धन हड़प लिया हो ? और फिर अधिक धनके लोभसे वे उसे प्राणदण्ड देते हों ? ॥ १०५ ॥

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०६॥

नरश्रेष्ठ ! कोई ऐसा दुष्ट चोर जो चोरी करते समय गृहरक्षकोंद्वारा देख लिया गया और चोरीके मालसहित पकड़ लिया गया हो, धनके लोभसे छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥ १०६ ॥

उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता जनैः॥ १०७॥

भारत ! तुम्हारे मन्त्री चुगली करनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर विवेकशून्य हो किसी धनीके या दरिद्रके थोड़े समयमें ही अचानक पैदा हुए अधिक धनको मिथ्यादृष्टिसे तो नहीं देखते ?

या उनके बढ़े हुए धनको चोरी आदिसे लाया हुआ तो नहीं मान लेते ? ॥ १०७ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ॥१०८॥
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ॥१०९॥
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥११०॥

युधिष्ठिर ! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, प्रजाजनोंपर अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्रको न जाननेवाले मूर्खोंके साथ विचार-विमर्श, निश्चित कार्योंके आरम्भ करनेमें विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक उत्सव आदि न करना तथा एक साथ ही सभी शत्रुओंपर चढ़ाई कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषोंका त्याग तो करते हो न ? क्योंकि जिनके राज्यकी जड़ जम गयी है, ऐसे राजा भी इन दोषोंके कारण नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८–११० ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम्।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम्॥१११॥

क्या तुम्हारे वेद सफल हैं ? क्या तुम्हारा धन सफल है ? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है ? और क्या तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान सफल है ? ॥ १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम्।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥११२॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षे ! वेद कैसे सफल होते हैं, धनकी सफलता कैसे होती है ? स्त्रीकी सफलता कैसे मानी गयी है तथा शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है ? ॥ ११२ ॥

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥११३॥

नारदजीने कहा—राजन् ! वेदोंकी सफलता अग्निहोत्रसे होती है, दान और भोगसे ही धन सफल होता है, स्त्रीका फल है—रति और पुत्रकी प्राप्ति तथा शास्त्रज्ञानका फल है, शील और सदाचार ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥११४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर महातपस्वी नारद मुनिने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥११५॥

नारदजीने पूछा—राजन् ! कर वसूलनेका काम करनेवाले तुम्हारे कर्मचारीलोग दूरसे लाभ उठानेके लिये आये हुए व्यापारियोंसे ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न ? (अधिक तो नहीं लेते ?) ॥ ११५ ॥

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥११६॥

महाराज ! वे व्यापारीलोग आपके नगर और राष्ट्रमें सम्मानित हो विक्रीके लिये उपयोगी सामान लाते हैं न ! उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छलसे ठगते तो नहीं ? ॥११६॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥११७॥

तात ! तुम सदा धर्म और अर्थके ज्ञाता एवं अर्थशास्त्रके पूरे पण्डित बड़े-बूढ़े लोगोंकी धर्म और अर्थसे युक्त बातें सुनते रहते हो न ? ॥ ११७ ॥

कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥११८॥

क्या तुम्हारे यहाँ खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न तथा फल-फूल एवं गौओंसे प्राप्त होनेवाले दूध, घी आदिमेंसे मधु (अन्न) और घृत आदि धर्मके लिये ब्राह्मणोंको दिये जाते हैं ? ॥ ११८ ॥

द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि ॥११९॥

नरेश्वर ! क्या तुम सदा नियमसे सभी शिल्पियोंको व्यवस्थापूर्वक एक साथ इतनी वस्तु-निर्माणकी सामग्री दे देते हो, जो कम-से कम चौमासे भर चल सके ॥ ११९ ॥

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥१२०॥

महाराज ! क्या तुम्हें किसीके किये हुए उपकारका पता चलता है ? क्या तुम उस उपकारीकी प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषोंसे भरी हुई सभाके बीच उस उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो ? ॥ १२० ॥

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥१२१॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम संक्षेपसे सिद्धान्तका प्रतिपादन

करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र एवं रथसूत्र आदिका संग्रह (पठन एवं अभ्यास) करते रहते हो ? ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥१२२॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम्हारे घरपर धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र[1] और नागरिक[2] सूत्रका अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है ? ॥ १२२ ॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥१२३॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र (जो मन्त्रबलसे प्रयुक्त होते हैं), वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले सब प्रकारके विषप्रयोग ज्ञात हैं न ? ॥ १२३ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥१२४॥

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसोंके भयसे अपने सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करते हो ? ॥ १२४ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान्।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥१२५॥

धर्मज्ञ ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पङ्गुओं, अङ्गहीनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित अनाथों तथा संन्यासियोंका भी पिताकी भाँति पालन करते हो ? ॥ १२५ ॥

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥१२६॥

महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंको पीछे कर दिया (त्याग दिया) है ? ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा
श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो
राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुश्रेष्ठ महात्मा राजा युधिष्ठिरने ब्रह्माके पुत्रोंमें श्रेष्ठ नारदजीका यह वचन सुनकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम एवं अभिवादन किया और अत्यन्त संतुष्ट हो देवस्वरूप नारदजीसे कहा ॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं
प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१२८॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे ! आपने जैसा उपदेश दिया है, वैसा ही करूँगा। आपके इस प्रवचनसे मेरी प्रज्ञा और भी बढ़ गयी है।

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने वैसा ही आचरण किया और इसीसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पा लिया ॥ १२८ ॥

नारद उवाच

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१२९॥

नारदजीने कहा—जो राजा इस प्रकार चारों वर्णों (और वर्णाश्रमधर्म) की रक्षामें संलग्न रहता है, वह इस लोकमें अत्यन्त सुखपूर्वक विहार करके अन्तमें देवराज इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें नारदजीके द्वारा प्रश्नके व्याजसे राजधर्मका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा

वैशम्पायन उवाच

सम्पूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम्।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका यह उपदेश पूर्ण होनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भलीभाँति उनकी पूजा की; तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उनके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

१. लोहेकी बनी हुई उन मशीनोंको, जिनके द्वारा बारूदके बलसे शीशे, काँसे और पत्थरकी गोलियाँ चलायी जाती हैं—यन्त्र कहते हैं। उन यन्त्रोंके प्रयोगकी विधिके प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्रसूत्र हैं।

२. नगरकी रक्षा तथा उन्नतिके साधनोंको बतानेवाले संक्षिप्त वाक्योंको ही यहाँ नागरिक सूत्र कहा गया है।

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! आपने जो यह राजधर्मका यथार्थ सिद्धान्त बताया है, वह सर्वथा न्यायोचित है। मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेशका यथाशक्ति पालन करता हूँ ॥ २ ॥

राजभिर्यद् यथा कार्यं पुरा वैतन्न संशयः।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कालके राजाओंने जो कार्य जैसे सम्पन्न किया, वह प्रत्येक न्यायोचित, सकारण और किसी विशेष प्रयोजनसे युक्त होता था ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

प्रभो! हम भी उन्हींके उत्तम मार्गसे चलना चाहते हैं, परंतु उस प्रकार (सर्वथा) चल नहीं पाते; जैसे वे नियतात्मा महापुरुष चला करते थे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च।
मुहूर्तात् प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः।
अपृच्छत् पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने नारदजीके पूर्वोक्त प्रवचनकी बड़ी प्रशंसा की। फिर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले नारद मुनि जब शान्तिपूर्वक बैठ गये, तब दो घड़ीके बाद ठीक अवसर जानकर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर भी उनके निकट आ बैठे और सम्पूर्ण राजाओंके बीच वहाँ उनसे इस प्रकार पूछने लगे ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवान् संचरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून्।
ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिवर! आप मनके समान वेगशाली हैं, अतः ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिनका निर्माण किया है, उन अनेक प्रकारके बहुत-से लोकोंका दर्शन करते हुए आप उनमें सदा बेरोक-टोक विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित्।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्! क्या आपने पहले कहीं ऐसी या इससे भी अच्छी कोई सभा देखी है? मैं जानना चाहता हूँ, अतः आप मुझसे यह बात बतावें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम्।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन् मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर देवर्षि नारदजी मुसकराने लगे और उन पाण्डुकुमारको इसका उत्तर देते हुए मधुर वाणीमें बोले ॥ ९ ॥

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—तात! भरतवंशी नरेश! मणि एवं रत्नोंकी बनी हुई जैसी तुम्हारी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्यलोकमें न तो पहले कभी देखी है और न कानोंसे ही सुनी है ॥ १० ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम्।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारा मन दिव्य सभाओंका वर्णन सुननेको उत्सुक हो तो मैं तुम्हें पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, स्वर्गवासी इन्द्र, कैलासनिवासी कुबेर तथा ब्रह्माजीकी दिव्य सभाका वर्णन सुनाऊँगा, जहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है एवं जो दिव्य और अदिव्य भोगोंसे सम्पन्न तथा संसारके अनेक रूपोंसे अलंकृत है। वह देवता, पितृगण, साध्यगण, याजक तथा मनको वशमें रखनेवाले शान्त मुनिगणोंसे सेवित है। वहाँ उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ ११—१३ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १५ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर भाइयों तथा सम्पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षे! हम सभी दिव्य सभाओंका वर्णन सुनना चाहते हैं। आप उनके विषयमें सब बातें बताइये ॥ १४-१५ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १६ ॥

'ब्रह्मन्! उन सभाओंका निर्माण किस द्रव्यसे हुआ है? उनकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है? ब्रह्माजीकी उस दिव्य सभामें कौन-कौन सभासद् उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं?॥ १६॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥

'इसी प्रकार देवराज इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण तथा कुबेरकी सभामें कौन-कौन लोग उनकी उपासना करते हैं ?॥ १७॥

एतत् सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! हम सब लोग आपके मुखसे ये सब बातें यथोचित रीतिसे सुनना चाहते हैं। हमारे मनमें उसके लिये बड़ा कौतूहल है' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत।
क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः॥ १९ ॥

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'राजन् ! तुम हमसे यहाँ उन सभी दिव्य सभाओंका क्रमशः वर्णन सुनो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा-विषयक छठा अध्याय पूरा हुआ

सप्तमोऽध्यायः

इन्द्रसभाका वर्णन

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इन्द्रकी तेजोमयी दिव्य सभा सूर्यके समान प्रकाशित होती है। (विश्वकर्माके) प्रयत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। स्वयं इन्द्रने (सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके) उसपर विजय पायी है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

उसकी लंबाई डेढ़ सौ और चौड़ाई सौ योजनकी है। वह आकाशमें विचरनेवाली और इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलनेवाली है। उसकी ऊँचाई भी पाँच योजनकी है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥

उसमें जीर्णता, शोक और थकावट आदिका प्रवेश नहीं है। वहाँ भय नहीं है, वह मङ्गलमयी और शोभासम्पन्न है। उसमें ठहरनेके लिये सुन्दर-सुन्दर महल और बैठनेके लिये उत्तमोत्तम सिंहासन बने हुए हैं। वह रमणीय सभा दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत॥ ४ ॥

भारत ! कुन्तीनन्दन ! उस सभामें सर्वश्रेष्ठ सिंहासनपर देवराज इन्द्र शोभामें लक्ष्मीके समान प्रतीत होनेवाली इन्द्राणी शचीके साथ विराजते हैं ॥ ४ ॥

बिभ्रद् वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः।
विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥

उस समय वे अवर्णनीय रूप धारण करते हैं। उनके मस्तकपर किरीट रहता है और दोनों भुजाओंमें लाल रंगके बाजूबंद शोभा पाते हैं। उनके शरीरपर स्वच्छ वस्त्र और कण्ठमें विचित्र माला सुशोभित होती है। वे लज्जा, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंके साथ उस दिव्य सभामें विराजमान होते हैं ॥ ५ ॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम्।
मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥

राजन् ! उस दिव्य सभामें सभी मरुद्गण और गृहवासी देवता सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेनेवाले महात्मा इन्द्रकी प्रतिदिन सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥

सिद्ध, देवर्षि, साध्यदेवगण तथा मरुत्वान्—ये सभी सुवर्ण-मालाओंसे सुशोभित हो तेजस्वी रूप धारण किये एक साथ उस दिव्य सभामें बैठकर शत्रुदमन महामना देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं। वे सभी देवता अपने अनुचरों (सेवकों) के साथ वहाँ विराजमान होते हैं। वे दिव्यरूपधारी होनेके साथ ही उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत रहते हैं ॥ ७-८ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार जिनके पाप धुल गये हैं, वे अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले सभी निर्मल देवर्षि वहाँ इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः।

वे देवर्षिगण तेजस्वी, सोमयाग करनेवाले तथा शोक और चिन्तासे शून्य हैं ॥ ९½ ॥

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥ ११ ॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥ १३ ॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४ ॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा मुनि, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा मुनि, पवित्रपाणि, सावर्णि (द्वितीय), याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पराशरनन्दन व्यास, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा तथा तुम्बुरु—ये और दूसरे अयोनिज या योनिज मुनि एवं वायु पीकर रहनेवाले तथा हविष्य-पदार्थोंको खानेवाले महर्षि सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ १०–१५ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ॥ १७ ॥
कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
(षडर्तुः कवषो धूम्रो रैभ्यो नलपरावसू ।
स्वस्त्यात्रेयो जरत्कारुः कहोलः काश्यपस्तथा ।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गौ च उन्मुखो विमुखस्तथा ॥)
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
(कण्वः कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च ।)
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहस्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २० ॥
प्राची दिग् यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश पाण्डुनन्दन ! सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानरमुनि, षडर्तु, कवष, धूम्र, रैभ्य, नल, परावसु, स्वस्त्यात्रेय, जरत्कारु, कहोल, काश्यप, विभाण्डक, ऋष्यशृङ्ग, उन्मुख, विमुख, कालकवृक्षीय मुनि, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, पराक्रमी विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक, दिव्य जल, ओषधियाँ, श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, अर्थ, धर्म, काम, विद्युत्, जलधर मेघ, वायु, गर्जना करनेवाले बादल, प्राची दिशा, यज्ञके हविष्यको वहन करनेवाले सत्ताईस पावक,* सम्मिलित अग्नि और सोम, संयुक्त इन्द्र और अग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेव, साध्य, बृहस्पति, शुक्र, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, विविध यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा और यज्ञनिर्वाहक मन्त्र—ये सभी वहाँ इन्द्रसभामें बैठते हैं ॥ १६–२३ ॥

तथैवाप्सरसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २४ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

राजन् ! इसी प्रकार मनोहर अप्सराएँ तथा सुन्दर गन्धर्व नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकारके हास्योंद्वारा देवराज इन्द्रका मनोरञ्जन करते हैं ॥ २४½ ॥

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।

इतना ही नहीं, वे स्तुति, मङ्गलपाठ और पराक्रमसूचक कर्मोंके गायनद्वारा बल और वृत्रनामक असुरोंके नाशक महात्मा इन्द्रका स्तवन करते हैं ॥ २५½ ॥

ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥

ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सम्पूर्ण देवर्षि माला पहने एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो, नाना प्रकारके दिव्य विमानोंद्वारा अग्निके समान देदीप्यमान होते हुए वहाँ आते-जाते रहते हैं ॥ २६-२७ ॥

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥

---

* नीलकण्ठने अपनी टीकामें इन सत्ताईस पावकोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—अङ्गिरा, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, निर्मन्थ्य, वैद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जठराग्नि, विषग, क्रव्यात्, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शान्त, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान् ।

बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य विराजते हैं। ये तथा और भी बहुतसे संयमी महात्मा जिनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्रिय है, चन्द्रमाकी भाँति चमकीले विमानोंद्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं। राजन्! भृगु और सप्तर्षि, जो साक्षात् ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली हैं, ये भी इन्द्र-सभाकी शोभा बढ़ाते हैं ॥२८-२९॥

एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्करमालिनी।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

महाबाहु नरेश! शतक्रतु इन्द्रकी यह कमल-मालाओंसे सुशोभित सभा मैंने अपनी आँखों देखी है। अब यमराजकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें इन्द्र-सभा-वर्णन नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

यमराजकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! अब मैं सूर्यपुत्र यमकी सभाका वर्णन करता हूँ, सुनो। उसकी रचना भी विश्वकर्माने ही की है ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना।
विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥

राजन्! वह तेजोमयी विशाल सभा लम्बाई और चौड़ाईमें भी सौ योजन है तथा पाण्डुनन्दन! सम्भव है, इससे भी कुछ बड़ी हो ॥ २ ॥

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी।
नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

उसका प्रकाश सूर्यके समान है। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली वह सभा सब ओरसे प्रकाशित होती है। वह न तो अधिक शीतल है, न अधिक गर्म। मनको अत्यन्त आनन्द देनेवाली है ॥ ३ ॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥

उसके भीतर न शोक है, न जीर्णता; न भूख लगती है, न प्यास। वहाँ कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित होती। दीनता, थकावट अथवा प्रतिकूलताका तो वहाँ नाम भी नहीं है ॥ ४ ॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
सारवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुदमन! वहाँ दिव्य और मानुष, सभी प्रकारके भोग उपस्थित रहते हैं। सरस एवं स्वादिष्ठ भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्रचुर मात्रामें संचित रहते हैं ॥ ५ ॥

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम्।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्य नित्यं कामफला द्रुमाः ॥ ६ ॥

इसके सिवा चाटने योग्य, चूसने योग्य, पीने योग्य तथा हृदयको प्रिय लगनेवाली और भी स्वादिष्ठ एवं मनोहर वस्तुएँ वहाँ सदा प्रस्तुत रहती हैं। उस सभामें पवित्र सुगन्ध फैलानेवाली पुष्प-मालाएँ और सदा इच्छानुसार फल देनेवाले वृक्ष लहलहाते रहते हैं ॥ ६ ॥

रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते।

वहाँ ठंडे और गर्म स्वादिष्ठ जल नित्य उपलब्ध होते हैं। तात! वहाँ बहुतसे पुण्यात्मा राजर्षि और निर्मल हृदयवाले ब्रह्मर्षि प्रसन्नतापूर्वक बैठकर सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ७½ ॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसद्दस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥ १० ॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः।
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः ॥ ११ ॥
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः।
व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥ १४ ॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान् मधुः।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १७ ॥

राजा दशरथश्चैव ककुत्स्थोऽथ प्रवर्धनः ।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्यश्च रामश्च नाभागसगरौ तथा ।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः ।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः ।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा ।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं गयाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ॥ २३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम् ।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥ २४ ॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः ।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः ।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥
अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः ।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, राजर्षि कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त,मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य अर्जुन, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल,दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, महाबली क्षुप, रुषद्गु, वृषसेन, रथ और ध्वजासे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषधेश्वर, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बलवान् मधु, इला-नन्दन पुरूरवा, बलवान् राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, राजा शशबिन्दु, महाराज दशरथ, ककुत्स्थ, प्रवर्धन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गौराश्व, जमदग्निनन्दन परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा पृथु, वारिसेन, पुरुजित्, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, एक सौ मत्स्य, एक सौ नीप, एक सौ गय, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, सौ वीरी, सौ ईरी, दो सौ भीष्म, एक सौ भीम, एक सौ प्रतिविन्ध्य, एक सौ नाग तथा एक सौ हय, सौ पलाश, सौ काश और सौ कुश राजा एवं शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंसहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ तथा इनके सिवा सहस्रों शशबिन्दुनामक राजा, जो अधिक दक्षिणावाले अनेक महान् अश्वमेधयज्ञोंद्वारा यजन करके धर्मराजके लोकमें गये हुए हैं। राजेन्द्र ! ये सभी पुण्यात्मा, कीर्तिमान् और बहुश्रुत राजर्षि उस सभामें सूर्य-पुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ८–२८ ॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥ ३० ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ॥ ३२ ॥

अगस्त्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यज्ञकर्ता, सिद्ध, योग-शरीरधारी, अग्निष्वात्त पितर, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद् तथा दूसरे मूर्तिमान् पितर, साक्षात् कालचक्र (संवत्सर आदि कालविभागके अभिमानी देवता), भगवान् हव्य-वाहन (अग्नि), दक्षिणायनमें मरनेवाले तथा सकामभावसे दुष्कर (श्रमसाध्य) कर्म करनेवाले मनुष्य, जनेश्वर कालकी आज्ञामें तत्पर यमदूत, शिंशप एवं पलाश, काश और कुश आदिके अभिमानी देवता मूर्तिमान् होकर उस सभामें धर्म-राजकी उपासना करते हैं ॥ २९–३२ ॥

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः ।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ३३ ॥

ये तथा और भी बहुत-से लोग पितृराज यमकी सभाके सदस्य हैं, जिनके नामों और कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती ॥ ३३ ॥

असम्बाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा ।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! वह सभा बाधारहित है। वह रमणीय तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली है। विश्वकर्माने दीर्घकाल-तक तपस्या करके उसका निर्माण किया है ॥ ३४ ॥

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३६ ॥

भारत ! वह सभा अपने तेजसे प्रज्वलित तथा उद्भासित होती रहती है। कठोर तपस्या और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, शान्त, संन्यासी तथा अपने पुण्यकर्मसे शुद्ध एवं पवित्र हुए पुरुष उस सभामें जाते हैं। उन सबके शरीर तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं। सभी निर्मल वस्त्र धारण करते हैं॥ ३५-३६॥

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः॥ ३७॥

सभी अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हैं। वे अपने पवित्र शुभ कर्मों तथा वस्त्राभूषणोंसे भी विभूषित होते हैं॥ ३७॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः सङ्घशश्चाप्सरोगणाः।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः॥ ३८॥

कितने ही महामना गन्धर्व और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ उस सभामें उपस्थित हो सब प्रकारके वाद्य, नृत्य, गीत, हास्य और लास्यकी उत्तम कलाका प्रदर्शन करती हैं॥ ३८॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः॥ ३९॥

कुन्तीकुमार ! उस सभामें सदा सब ओर पवित्र गन्ध, मधुर शब्द और दिव्य मालाओंके सुखद स्पर्श प्राप्त होते रहते हैं॥ ३९॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम्।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः॥ ४०॥

सुन्दर रूप धारण करनेवाले एक करोड़ धर्मात्मा एवं मनस्वी पुरुष महात्मा यमकी उपासना करते हैं॥ ४०॥

ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम्॥ ४१॥

राजन् ! पितृराज महात्मा यमकी सभा ऐसी ही है। अब मैं वरुणकी मूर्तिमान् पुष्कर आदि तीर्थमालाओंसे सुशोभित सभाका भी वर्णन करूँगा॥ ४१॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें यम-सभा-वर्णननामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८॥

नवमोऽध्यायः

वरुणकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा॥ १॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वरुणदेवकी दिव्य सभा अपनी अनन्त कान्तिसे प्रकाशित होती रहती है। उसकी भी लम्बाई-चौड़ाईका मान वही है, जो यमराजकी सभाका है। उसके परकोटे और फाटक बड़े सुन्दर हैं॥ १॥

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता॥ २॥

विश्वकर्माने उस सभाको जलके भीतर रहकर बनाया है। वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित होती है॥ २॥

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः॥ ३॥

उस सभाके भिन्न-भिन्न प्रदेश नीले-पीले, काले, सफेद और लाल रंगके लतागुल्मोंसे आच्छादित हैं। उन लताओंने मनोहर मञ्जरीपुञ्ज धारण कर रक्खे हैं॥ ३॥

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४॥

सभाभवनके भीतर विचित्र और मधुर स्वरसे बोलनेवाले सैकड़ों-हजारों पक्षी चहकते रहते हैं। उनके विलक्षण रूप-सौन्दर्यका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी आकृति बड़ी सुन्दर है॥ ४॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता॥ ५॥

वरुणकी सभाका स्पर्श बड़ा ही सुखद है, वहाँ न सर्दी है, न गर्मी। उसका रंग श्वेत है, उसमें कितने ही कमरे और आसन (दिव्य मञ्च आदि) सजाये गये हैं। वरुणजीके द्वारा सुरक्षित वह सभा बड़ी रमणीय जान पड़ती है॥ ५॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः॥ ६॥

उसमें दिव्य रत्नों और वस्त्रोंको धारण करनेवाले तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलंकृत वरुणदेव वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं॥ ६॥

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते॥ ७॥

उस सभामें दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चन्दनका अङ्गराग धारण करनेवाले आदित्यगण जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं॥ ७॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥

वासुकि नाग, तक्षक, ऐरावतनाग, कृष्ण, लोहित, पद्म और पराक्रमी चित्र, ॥ ८ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
(मणिनागश्च नागश्च मणिः शङ्खनखस्तथा ।
कौरव्यः स्वस्तिकश्चैव एलापत्रश्च वामनः ॥
अपराजितश्च दोषश्च नन्दकः पूरणस्तथा ।
अभीकः शिभिकः श्वेतो भद्रो भद्रेश्वरस्तथा ॥)
मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिनाग, नाग, मणि, शङ्खनख, कौरव्य, स्वस्तिक, एलापत्र, वामन, अपराजित, दोष, नन्दक, पूरण, अभीक, शिभिक, श्वेत, भद्र, भद्रेश्वर, मणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक, धनञ्जय, ॥ ९ ॥

पाणिमान् कुण्डधारश्च बलवान् पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ।
(अनन्तश्च महानागो यं स दृष्ट्वा जलेश्वरः ।
अभ्यर्चयति सत्कारैरासनेन च तं विभुम् ॥
वासुकिप्रमुखाश्चैव सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
अनुज्ञाताश्च शेषेण यथार्हमुपविश्य च ॥)
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ ११ ॥

पाणिमान्, बलवान् कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय आदि नाग जो पताका, मण्डल और फणोंसे सुशोभित वहाँ उपस्थित होते हैं, महानाग भगवान् अनन्त भी वहाँ स्थित होते हैं, जिन्हें देखते ही जलके स्वामी वरुण आसन आदि देते और सत्कारपूर्वक उनका पूजन करते हैं। वासुकि आदि सभी नाग हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होते और भगवान् शेषकी आज्ञा पाकर यथायोग्य आसनोंपर बैठकर वहाँकी शोभा बढ़ाते हैं। युधिष्ठिर ! ये तथा और भी बहुत-से नाग उस सभामें क्लेशरहित हो महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ १०-११ ॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ॥ १२ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १३ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १४ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसङ्घाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १५ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १६ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥ १७ ॥

विरोचनपुत्र राजा बलि, पृथ्वीविजयी नरकासुर, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशमुख रावण, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्राद तथा इन्द्रतापन आदि सभी दैत्यों और दानवोंके समुदाय मनोहर कुण्डल, सुन्दर हार, किरीट तथा दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये उस सभामें धर्मपाशधारी महात्मा वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं। वे सभी दैत्य वरदान पाकर शौर्यसम्पन्न हो मृत्यु-रहित हो गये हैं। उनका चरित्र एवं व्रत बहुत उत्तम है ॥ १२-१७ ॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ॥ १८ ॥

चारों समुद्र, भागीरथी नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, नर्मदा, वेगवाहिनी, ॥ १८ ॥

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ॥ १९ ॥

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, ॥ १९ ॥

गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी ॥ २० ॥

गोदावरी, कृष्णवेणा, सरिताओंमें श्रेष्ठ कावेरी, किम्पुना, विशल्या, वैतरणी, ॥ २० ॥

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥

तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, पर्णाशा, महानदी, ॥ २१ ॥

सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥ २२ ॥

सरयू, वारवत्या, सरिताओंमें श्रेष्ठ लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, ॥ २२ ॥

लङ्घती गोमती चैव संध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र युधिष्ठिर ! लङ्घती, गोमती, संध्या और त्रिस्रोतसी, ये तथा दूसरे लोकविख्यात उत्तम तीर्थ (वहाँ वरुणकी उपासना करते हैं) ॥ २३ ॥

सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा।

समस्त सरिताएँ, जलाशय, सरोवर, कूप, झरने, पोखरे और तालाब, सम्पूर्ण दिशाएँ, पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जलचर जीव अपने-अपने स्वरूप धारण करके महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ २४-२५½ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २६ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते।

सभी गन्धर्व और अप्सराओंके समुदाय भी गीत गाते और बाजे बजाते हुए उस सभामें वरुणदेवताकी स्तुति एवं उपासना करते हैं ॥ २६½ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते।

रत्नयुक्त पर्वत और प्रतिष्ठित रस (मूर्तिमान् होकर) अत्यन्त मधुर कथाएँ कहते हुए वहाँ निवास करते हैं ॥ २७½ ॥

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च।

वरुणका मन्त्री सुनाभ अपने पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ गौ तथा पुष्कर नामवाले तीर्थके साथ वरुणदेवकी उपासना करता है ॥ २८½ ॥

सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥

ये सभी शरीर धारण करके लोकेश्वर वरुणकी उपासना करते रहते हैं ॥ २९ ॥

एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहले सब ओर घूमते हुए मैंने वरुणजीकी इस रमणीय सभाका भी दर्शन किया है। अब तुम कुबेरकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें वरुण-सभा-वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

कुबेरकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी और सत्तर योजन चौड़ी है, वह अत्यन्त श्वेतप्रभासे युक्त है ॥ १ ॥

तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा।
शशिप्रभा प्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! विश्रवाके पुत्र कुबेरने स्वयं ही तपस्या करके उस सभाको प्राप्त किया है। वह अपनी धवल कान्तिसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी तिरस्कृत कर देती है और देखनेमें कैलासशिखर-सी जान पड़ती है ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

गुह्यकगण जब उस सभाको उठाकर ले चलते हैं, उस समय वह आकाशमें सटी हुई-सी सुशोभित होती है। यह दिव्य सभा ऊँचे सुवर्णमय महलोंसे शोभायमान होती है॥३॥

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥

महान् रत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। उसकी झाँकी बड़ी विचित्र है। उससे दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है और वह दर्शकके मनको अपनी ओर खींच लेती है। श्वेत बादलोंके शिखर-सी प्रतीत होनेवाली वह सभा आकाशमें तैरती-सी दिखायी देती है ॥ ४ ॥

दिव्या हेममयैरङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता।

उस दिव्य सभाकी दीवारें विद्युत्के समान उद्दीप्त होनेवाले सुनहले रंगोंसे चित्रित की गयी हैं ॥ ४½ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ॥ ५ ॥
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः।
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

उस सभामें सूर्यके समान चमकीले दिव्य बिछौनोंसे ढके हुए तथा दिव्य पादपीठोंसे सुशोभित श्रेष्ठ सिंहासनपर कानोंमें ज्योतिसे जगमगाते कुण्डल और अङ्गोंमें विचित्र वस्त्र एवं आभूषण धारण करनेवाले श्रीमान् राजा वैश्रवण (कुबेर) सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए बैठते हैं ॥ ५-६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन्।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥

नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥

(अपने पास आये हुए याचककी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें अत्यन्त) उदार मन्दार वृक्षोंके वनोंको आन्दोलित करता तथा सौगन्धिक कानन, अलका नामक पुष्करिणी और नन्दन वनकी सुगन्धका भार वहन करता हुआ हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाला गन्धवाही शीतल समीर उस सभामें कुबेर-की सेवा करता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥

महाराज ! देवता और गन्धर्व अप्सराओंके साथ उस सभामें आकर दिव्य तानोंसे युक्त गीत गाते हैं ॥ ९ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ ११ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ।
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा तथा लता आदि नृत्य और गीतमें कुशल सहस्रों अप्सराओं और गन्धर्वों-के गण कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ १०–१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ १३ ॥

गन्धर्व और अप्सराओंके समुदायसे भरी तथा दिव्य वाद्य, नृत्य एवं गीतोंसे निरन्तर गूँजती हुई कुबेरकी वह सभा बड़ी मनोहर जान पड़ती है ॥ १३ ॥

किन्नरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १७ ॥
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १८ ॥

किन्नर तथा नर नामवाले गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेत-भद्र गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्गलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत तथा चीरवासा, भारत! ये तथा दूसरे बहुत-से यक्ष लाखोंकी संख्या-में उपस्थित होकर उस सभामें कुबेरकी सेवा करते हैं ॥ १४–१८ ॥

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १९ ॥

धन-सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग प्रायः उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥ २० ॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा अन्य ऋषिगण उस सभामें विराजमान होते हैं। इनके सिवा, बहुत-से पिशाच और महाबली गन्धर्व वहाँ लोकपाल महात्मा धनदकी उपासना करते हैं ॥ २०½ ॥

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद् भगनेत्रहा ।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! लाखों भूतसमूहोंसे घिरे हुए उग्र धनुर्धर महाबली पशुपति (जीवोंके स्वामी), शूलधारी, भगदेवता-के नेत्र नष्ट करनेवाले तथा त्रिलोचन भगवान् उमापति और क्लेशरहित देवी पार्वती ये दोनों वामन, विकट, कुब्ज, लाल नेत्रोंवाले, महान् कोलाहल करनेवाले, मेदा और मांस खानेवाले, अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले तथा वायुके समान महान् वेगशाली भयानक भूत-प्रेतादिके साथ उस सभामें सदैव धन देनेवाले अपने मित्र कुबेरके पास बैठते हैं ॥ २२–२४ ॥

प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथापरः ।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ।

इनके सिवा और भी विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और प्रसन्नचित्त सैकड़ों गन्धर्वपति विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, संगीतज्ञ चित्रसेन तथा चित्ररथ—ये और अन्य गन्धर्व भी धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २५-२६½ ॥

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २८ ॥

विद्याधरोंके अधिपति चक्रधर्मा भी अपने छोटे भाइयों-के साथ वहाँ धनेश्वर भगवान् कुबेरकी आराधना करते हैं ॥ २७-२८ ॥

आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किम्पुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ॥ २९ ॥

भगदत्त आदि राजा भी उस सभामें बैठते हैं तथा किन्नरोंके स्वामी द्रुम कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३० ॥
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

महेन्द्र, गन्धमादन एवं धर्मनिष्ठ राक्षसराज विभीषण भी यक्षों, गन्धर्वों तथा सम्पूर्ण निशाचरोंके साथ अपने भाई भगवान् कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३०½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥

हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य, कैलास, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन और इन्द्रकील तथा सुनाभ नाम-वाले दोनों दिव्य पर्वत—ये तथा अन्य सब मेरु आदि बहुत-से पर्वत धनके स्वामी महामना प्रभु कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३१—३३ ॥

नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ।
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥ ३४ ॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोऽधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल तथा शङ्कुकर्ण आदि भगवान् शिवके सभी दिव्य-पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय तथा गर्जनशील महाबली श्वेत वृषभ वहाँ उपस्थित रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद् धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद् भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३८ ॥

दूसरे-दूसरे राक्षस और पिशाच भी धनदाता कुबेरकी उपासना करते हैं। पार्षदोंसे घिरे हुए देवदेवेश्वर, त्रिभुवन-भावन, बहुरूपधारी, कल्याणस्वरूप, उमावल्लभ भगवान् महेश्वर जब उस सभामें पधारते हैं, तब पुलस्त्यनन्दन धनाध्यक्ष कुबेर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते और उनकी आज्ञा ले उन्हींके पास बैठ जाते हैं। उनका सदाका यही नियम है। कुबेरके सखा भगवान् शङ्कर कभी-कभी उस सभामें पदार्पण किया करते हैं॥ ३६—३८ ॥

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान् निधीन् प्रगृह्याथ उपासाते धनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ निधियोंमें प्रमुख और धनके अधीश्वर शङ्ख तथा पद्म—ये दोनों (मूर्तिमान् हो) अन्य सब निधियोंको साथ ले धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन् कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ४० ॥

राजन्! कुबेरकी वैसी रमणीय सभा जो आकाशमें विचरनेवाली है, मैंने अपनी आँखों देखी है। अब मैं ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन करूँगा, उसे सुनो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें कुबेर-सभावर्णननामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तात भारत! अब तुम मेरे मुखसे कही हुई पितामह ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन सुनो! वह सभा ऐसी है, इस रूपसे नहीं बतलायी जा सकती ॥ १ ॥

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन् मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः ।
स तामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥

राजन् ! पहले सत्ययुगकी बात है, भगवान् सूर्य ब्रह्माजीकी सभा देखकर फिर मनुष्यलोकको देखनेके लिये बिना परिश्रमके ही द्युलोकसे उतरकर इस लोकमें आये और मनुष्यरूपसे इधर-उधर विचरने लगे। पाण्डुनन्दन ! सूर्यदेवने मुझसे उस ब्राह्मी सभाका यथार्थतः वर्णन किया ॥ २-३ ॥

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह सभा अप्रमेय, दिव्य, ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुई तथा समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली है। उसका प्रभाव अवर्णनीय है॥ ४ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रवम् ॥ ५ ॥

पाण्डुकुलभूषण युधिष्ठिर ! उस सभाके अलौकिक गुण सुनकर मेरे मनमें उसके दर्शनकी इच्छा जाग उठी और मैंने सूर्यदेवसे कहा—॥ ५ ॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम्।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं भी ब्रह्माजीकी कल्याणमयी सभाका दर्शन करना चाहता हूँ। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! जिस तपस्यासे, सत्कर्मसे अथवा उपयुक्त ओषधियोंके प्रभावसे उस पापनाशिनी उत्तम सभाका दर्शन हो सके, वह मुझे बताइये। भगवन् ! मैं जैसे भी उस सभाको देख सकूँ, उस उपायका वर्णन कीजिये' ॥ ६-७ ॥

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रिकम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरी वह बात सुनकर सहस्रों किरणोंवाले भगवान् दिवाकरने कहा—'तुम एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीके व्रतका पालन करो। वह श्रेष्ठ व्रत एक हजार वर्षोंमें पूर्ण होगा।' तब मैंने हिमालयके शिखरपर आकर उस महान् व्रतका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ ८-९ ॥

ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान्।
आगच्छत् तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ॥ १० ॥

तदनन्तर मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर पापरहित, क्लेशशून्य और परम शक्तिशाली भगवान् सूर्य मुझे साथ ले ब्रह्माजीकी उस सभामें गये ॥ १० ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥

राजन् ! वह सभा 'ऐसी ही है' इस प्रकार नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि वह एक-एक क्षणमें दूसरा अनिर्वचनीय स्वरूप धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चापि भारत।
न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥

भारत ! उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है अथवा उसकी स्थिति क्या है, यह सब मैं कुछ नहीं जानता। मैंने किसी भी सभाका वैसा स्वरूप पहले कभी नहीं देखा था ॥ १२ ॥

सुसुखा सा सदा राजन् न शीता न च घर्मदा।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥

राजन् ! वह सदा उत्तम सुख देनेवाली है। वहाँ न सर्दीका अनुभव होता है, न गर्मीका। उस सभामें पहुँच जानेपर लोगोंको भूख, प्यास और ग्लानिका अनुभव नहीं होता ॥ १३ ॥

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥१४॥

वह सभा अनेक प्रकारकी अत्यन्त प्रकाशमान मणियोंसे निर्मित हुई है। वह खंभोंके आधारपर नहीं टिकी है और उसमें कभी क्षयरूप विकार न आनेके कारण वह नित्य मानी गयी है * ॥ १४ ॥

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ॥ १५ ॥
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ॥ १६ ॥

अनन्त प्रभावाले नाना प्रकारके प्रकाशमान दिव्य पदार्थोंद्वारा अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली वह सभा अपने तेजसे सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करती हुई-सी स्वर्गसे भी ऊपर स्थित हुई प्रकाशित हो रही है ॥ १५-१६ ॥

तस्यां स भगवानास्ते विदधद् देवमायया।
स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥

राजन् ! उस सभामें सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी देवमायाद्वारा समस्त जगत्‌की स्वयं ही सृष्टि करते हुए सदा अकेले ही विराजमान होते हैं ॥ १७ ॥

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम्।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ॥ १८ ॥

भारत ! वहाँ दक्ष आदि प्रजापतिगण उन भगवान् ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं। दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, प्रभावशाली कश्यप, ॥ १८ ॥

---

* 'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्' इस श्रुतिसे भी उसकी नित्यता ही सूचित होती है।

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ॥ १९ ॥

भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, ॥ १९ ॥

अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ २० ॥
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं भुवः ॥ २१ ॥

अथर्वाङ्गिरस, सूर्यकिरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा पृथ्वीकी रचनाके जो अन्य कारण हैं, इन सबके अभिमानी देवता, ॥ २०-२१ ॥

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ॥ २२ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य, शक्तिशाली मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, ॥ २२ ॥

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ॥ २३ ॥

महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, ॥ २३ ॥

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ॥ २४ ॥

असित, देवल, तत्त्वज्ञानी जैगीषव्य, शत्रुविजयी ऋषभ, महापराक्रमी मणि, ॥ २४ ॥

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ॥ २५ ॥

तथा आठ अङ्गोंसे युक्त मूर्तिमान् आयुर्वेद, नक्षत्रों-सहित चन्द्रमा, अंशुमाली सूर्य, ॥ २५ ॥

वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ॥ २६ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ।

वायु, क्रतु, संकल्प और प्राण—ये तथा और भी बहुत-से मूर्तिमान् महान् व्रतधारी महात्मा ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ २६½ ॥

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ॥ २७ ॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम—ये भी मूर्तिमान् होकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ २८ ॥
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीस गण एक साथ उस सभामें आते हैं। सात अन्य गन्धर्व भी जो प्रधान हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं। समस्त लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु तथा केतु—ये सभी ग्रह, ॥ २८-२९ ॥

मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ॥ ३० ॥

सामगानसम्बन्धी मन्त्र, रथन्तरसाम, हरिमान्, वसुमान्, अपने स्वामी इन्द्रसहित बारह आदित्य, अग्नि-सोम आदि युगल नामोंसे कहे जानेवाले देवता, ॥ ३० ॥

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ ३१ ॥

मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसुगण, समस्त पितृगण, सभी हविष्य, ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र, ॥ ३२ ॥

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ॥ ३३ ॥

इतिहास, उपवेद,* सम्पूर्ण वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम और समस्त देवता, ॥ ३३ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ ३४ ॥

सावित्री, दुर्गम दुःखसे उबारनेवाली दुर्गा, सात प्रकारकी[1] प्रणवरूपा वाणी, मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश और क्षमा, ॥

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ॥ ३५ ॥
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ।
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ॥ ३६ ॥

साम, स्तुति, गीत, विविध गाथा तथा तर्कयुक्त भाष्य—ये सभी देहधारी होकर एवं अनेक प्रकारके नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका तथा कारिका आदि उस सभामें मूर्तिमान् होकर रहते हैं। इसी प्रकार गुरुजनोंकी पूजा करनेवाले जो दूसरे पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे सभी उस सभामें स्थित होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

* आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने गये हैं।

१. अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु और शक्ति—ये प्रणवके सात प्रकार हैं। अथवा संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ललित, मागध और गद्य—ये वाणीके सात प्रकार जानने चाहिये।

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छहों ऋतुएँ, ॥ ३७ ॥

संवत्सराः पञ्च युगमहोरात्रश्चतुर्विधः ।
कालचक्रं च तद् दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ॥ ३८ ॥
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ।

साठ संवत्सर, पाँच संवत्सरोंका युग, चार प्रकारके दिन-रात (मानव, पितर, देवता और ब्रह्माजीके दिन-रात), नित्य, दिव्य, अक्षय एवं अव्यय कालचक्र तथा धर्मचक्र भी देह धारण करके सदा ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित रहते हैं ॥ ३८½ ॥

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ॥ ३९ ॥
कालिका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ ४० ॥
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४१ ॥
पृथ्वी गां गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४२ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४३ ॥

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा और कद्रू–ये दो देवियाँ, देवमाताएँ, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा तथा अपरा, षष्ठी, पृथ्वी, भूतलपर उतरी हुई गङ्गादेवी, लज्जा, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति तथा अन्य देवियाँ भी उस सभामें प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करती हैं ॥ ३९–४३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४४ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, साध्य तथा मनके समान वेगशाली पितर भी उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ ४४ ॥

पितॄणां च गणान् विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ॥ ४५ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पितरोंके सात ही गण होते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्त ॥

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४६ ॥
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४७ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाप्याय्यते पुनः ।
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ॥ ४८ ॥
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ।

भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात स्वर्गलोकमें विचरनेवाले महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य (ये चार मूर्त हैं), एकशृङ्ग, चतुर्वेद तथा कला (ये तीन अमूर्त हैं) । ये सातों पितर क्रमशः चारों वर्णोंमें पूजित होते हैं । राजन् ! पहले इन पितरोंके तृप्त होनेसे फिर सोम देवता भी तृप्त हो जाते हैं । ये सभी पितर उक्त सभामें उपस्थित हो प्रसन्नतापूर्वक अमित तेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ ४६–४८½ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ॥ ४९ ॥
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ।
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे ॥ ५० ॥
पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ।
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण तथा श्रेष्ठ पशु भी वहाँ पितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं । स्थावर और जङ्गम महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा पार्वतीसहित महादेवजी—ये सब सदा उस सभामें पधारते हैं ॥ ४९–५१ ॥

महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ।
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ॥ ५२ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ।

राजेन्द्र ! स्वामी कार्तिकेय भी वहाँ उपस्थित होकर सदा ब्रह्माजीकी सेवा करते हैं । भगवान् नारायण, देवर्षिगण, बालखिल्य ऋषि तथा दूसरे अयोनिज और योनिज ऋषि उस सभामें ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ॥ ५२½ ॥

यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! संक्षेपमें यह समझ लो कि तीनों लोकोंमें स्थावर-जङ्गम भूतोंके रूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब मैंने उस सभामें देखा था ॥ ५३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास संतानवान् महर्षि उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥५४॥

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथाऽऽगतम् ॥ ५५ ॥

वे सब महर्षि तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते और आज्ञा लेकर जैसे आये होते हैं, वैसे ही चले जाते हैं ॥५५॥

अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान् नागांस्तथा द्विजान्।
यक्षान् सुपर्णान् कालेयान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥ ५६॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते॥ ५७॥

अगाध बुद्धिवाले दयालु लोकपितामह ब्रह्माजी अपने यहाँ आये हुए सभी महाभाग अतिथियों—देवता, दैत्य, नाग, पक्षी, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व तथा अप्सराओं एवं सम्पूर्ण भूतोंसे यथायोग्य मिलते हैं और उन्हें अनुगृहीत करते हैं॥ ५६-५७॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः।
सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप॥ ५८॥

मनुजेश्वर! अमित तेजस्वी विश्वात्मा स्वयम्भू उन सब अतिथियोंको अपनाकर उन्हें सान्त्वना देते, उनका सम्मान करते, उनके प्रयोजनकी पूर्ति करके उन सबको आवश्यकता तथा रुचिके अनुसार भोगसामग्री प्रदान करते हैं॥ ५८॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा॥ ५९॥

तात भारत! इस प्रकार वहाँ आने-जानेवाले लोगोंसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुखदायिनी जान पड़ती है॥ ५९॥

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा॥ ६०॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव॥ ६१॥

नृपश्रेष्ठ! वह सभा सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न, दिव्य तथा ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे सेवित और पापरहित एवं ब्राह्मी श्रीसे उद्भासित और सुशोभित होती रहती है। वैसी उस सभाका मैंने दर्शन किया है। जैसे मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा दुर्लभ है, वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंमें ब्रह्माजीकी सभा परम दुर्लभ है॥ ६०-६१॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव॥ ६२॥

भारत! ये सभी सभाएँ मैंने पूर्वकालसे देवलोकमें देखी हैं! मनुष्यलोकमें तो तुम्हारी यह सभा ही सर्वश्रेष्ठ है॥ ६२॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें ब्रह्मसभावर्णननामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा हरिश्चन्द्रका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके प्रति राजा पाण्डुका संदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन्! जैसा आपने मुझसे वर्णन किया है, उसके अनुसार सूर्यपुत्र यमकी सभामें ही अधिकांश राजालोगोंकी स्थिति बतायी गयी है॥ १॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा॥ २॥

प्रभो! वरुणकी सभामें तो अधिकांश नाग, दैत्येन्द्र, सरिताएँ और समुद्र ही बताये गये हैं॥ २॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः॥ ३॥

इसी प्रकार धनाध्यक्ष कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा भगवान् शङ्करकी उपस्थितिका वर्णन हुआ है॥ ३॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह॥ ४॥

ब्रह्माजीकी सभामें आपने महर्षियों, सम्पूर्ण देवगणों तथा समस्त शास्त्रोंकी स्थिति बतायी है॥ ४॥

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः॥ ५॥

परंतु मुने! इन्द्रकी सभामें आपने अधिकांश देवताओंकी ही उपस्थितिका वर्णन किया है और थोड़े-से विभिन्न गन्धर्वों एवं महर्षियोंकी भी स्थिति बतायी है॥ ५॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः॥ ६॥

महामुने! महात्मा देवराज इन्द्रकी सभामें आपने राजर्षियोंमेंसे एकमात्र हरिश्चन्द्रका ही नाम लिया है॥ ६॥

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्द्धते सुमहायशाः॥ ७॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! उन्होंने कौन-सा कर्म अथवा कौन-सी तपस्या की है, जिससे वे महान् यशस्वी होकर देवराज इन्द्रसे स्पर्धा कर रहे हैं॥ ७॥

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः॥ ८॥

किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

विप्रवर ! आपने पितृलोकमें जाकर मेरे पिता महाभाग पाण्डुको भी देखा था; किस प्रकार वे आपसे मिले थे ? भगवन् ! उन्होंने आपसे क्या कहा ? यह मुझे बताइये। सुव्रत ! आपसे यह सब कुछ सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥८-९॥

नारद उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः॥ १०॥

नारदजीने कहा—शक्तिशाली राजेन्द्र ! तुमने जो राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयमें मुझसे पूछा है, उसके उत्तरमें मैं उन बुद्धिमान् नरेशका माहात्म्य बता रहा हूँ, सुनो ॥१०॥

(इक्ष्वाकूणां कुले जातस्त्रिशङ्कुर्नाम पार्थिवः।
अयोध्याधिपतिर्वीरो विश्वामित्रेण संस्थितः ॥
तस्य सत्यवती नाम पत्नी केकयवंशजा।
तस्यां गर्भः समभवद् धर्मेण कुरुनन्दन ॥
सा च काले महाभागा जन्ममासं प्रविश्य वै।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम् ॥
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः।)

इक्ष्वाकुकुलमें त्रिशङ्कु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वीर त्रिशङ्कु अयोध्याके स्वामी थे और वहाँ विश्वामित्र मुनिके साथ रहा करते थे। उनकी पत्नीका नाम सत्यवती था, वह केकय-कुलमें उत्पन्न हुई थी। कुरुनन्दन ! रानी सत्यवतीके धर्मानुकूल गर्भ रहा। फिर समयानुसार जन्ममास प्राप्त होनेपर महाभागा रानीने एक निष्पाप पुत्रको जन्म दिया, उसका नाम हुआ हरिश्चन्द्र। वे त्रिशङ्कुकुमार ही लोक-विख्यात राजा हरिश्चन्द्र कहे गये हैं ॥

स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम्।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥

राजा हरिश्चन्द्र बड़े बलवान् और समस्त भूपालोंके सम्राट् थे। भूमण्डलके सभी नरेश उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सिर झुकाये खड़े रहते थे ॥ ११ ॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम्।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥

जनेश्वर ! उन्होंने एकमात्र स्वर्णविभूषित जैत्र नामक रथपर चढ़कर अपने शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर ली थी ॥ १२ ॥

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥

महाराज ! पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा हरिश्चन्द्रने राजसूय नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन् ॥१४ ॥

राजाकी आज्ञासे समस्त भूपालोंने धन लाकर भेंट किये और उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका कार्य किया ॥

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ १५ ॥

महाराज हरिश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें याचकोंको, जितना उन्होंने माँगा, उससे पाँचगुना अधिक धन दान किया ॥ १५ ॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा ।
प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १६ ॥

जब अग्निदेवके विसर्जनका अवसर आया, उस समय उन्होंने विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको नाना प्रकार-के धन एवं रत्न देकर तृप्त किया ॥ १६ ॥

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्॥ १७ ॥

नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, मनोवाञ्छित वस्तुओंका पुरस्कार तथा रत्नराशिका दान देकर तृप्त एवं संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंने राजा हरिश्चन्द्रको आशीर्वाद दिये। इसीलिये वे अन्य राजाओंकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी और यशस्वी हुए हैं ॥ १७ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ १८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि उन सहस्रों राजाओंकी अपेक्षा महाराज हरिश्चन्द्र अधिक सम्मानपूर्वक इन्द्रसभामें विराजमान होते हैं–इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो ॥ १८ ॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान्।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! प्रतापी हरिश्चन्द्र उस महायज्ञको समाप्त करके जब सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए, उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ १९ ॥

ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतकुलभूषण ! दूसरे भी जो भूपाल राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वे देवराज इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ॥ २० ॥

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत् सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतर्षभ ! जो लोग संग्राममें पीठ न दिखाकर वहीं मृत्युका वरण कर लेते हैं, वे भी देवराज इन्द्रकी उस सभामें जाकर वहाँ आनन्दका उपभोग करते हैं ॥ २१ ॥

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः॥२२॥

तथा जो लोग कठोर तपस्याके द्वारा यहाँ अपने शरीरका त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभामें जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं ॥ २२ ॥

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥

कौरवनन्दन कुन्तीकुमार ! तुम्हारे पिता पाण्डुने राजा हरिश्चन्द्रकी सम्पत्ति देखकर अत्यन्त चकित हो तुमसे कहनेके लिये संदेश दिया है ॥ २३ ॥

विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! मुझे मनुष्यलोकमें आता जान उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा—'देवर्षे ! आप युधिष्ठिरसे यह कहियेगा—॥

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥

'भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं, तुम सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हो; अतः राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ २५ ॥

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ॥ २६ ॥

'तुम-जैसे पुत्रके द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न होनेपर मैं भी शीघ्र ही राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति बहुत वर्षोंतक इन्द्रभवनमें आनन्द भोगूँगा' ॥ २६ ॥

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रवम् ॥ २७ ॥

तब मैंने पाण्डुसे कहा—'एवमस्तु, यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो आपके पुत्र राजा युधिष्ठिरसे कह दूँगा' ॥२७॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन ! तुम अपने पिताके संकल्पको पूरा करो । ऐसा करनेपर तुम पूर्वजोंके साथ देवराज इन्द्रके लोकमें जाओगे ॥ २८ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥ २९ ॥

राजन् ! इस महान् यज्ञमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है; क्योंकि यज्ञनाशक ब्रह्मराक्षस इसका छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २९ ॥

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥

तथा इसका अनुष्ठान होनेपर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वीपर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियोंके संहार और भूमण्डलके विनाशका कारण होता है ॥ ३० ॥

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत् क्षेमं तत् समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! यह सब सोच-विचारकर तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो । चारों वर्णोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान और उद्यत रहो ॥ ३१ ॥

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ।
एतत् ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३२ ॥

संसारमें तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त करो । तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने विस्तारपूर्वक बता दिया । अब मैं यहाँसे द्वारका जाऊँगा, इसके लिये तुमसे अनुमति चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमारोंसे ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियोंके साथ आये थे, उन्हींसे घिरे हुए पुनः चले गये ॥ ३३ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३४ ॥

नारदजीके चले जानेपर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभापर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें पाण्डु-संदेश-कथनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

(राजसूयारम्भपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसूयविषयक संकल्प और उसके विषयमें भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्णसे सलाह लेना

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद् वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका वह वचन सुनकर युधिष्ठिरने लंबी साँस खींची । राजसूययज्ञके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए उन्हें शान्ति नहीं मिली ॥ १ ॥

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् ।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः ।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

राजसूययज्ञ करनेवाले महात्मा राजर्षियोंकी वैसी महिमा सुनकर तथा पुण्यकर्मोंद्वारा उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती देखकर एवं यज्ञ करनेवाले राजर्षि हरिश्चन्द्रका महान् तेज (तथा विशेष वैभव एवं आदर-सत्कार) सुनकर उनके मनमें राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा हुई ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने समस्त सभासदोंका सत्कार किया और उन सब सदस्योंने भी उनका बड़ा सम्मान किया । अन्तमें (सबकी सम्मतिसे) उनका मन यज्ञ करनेके ही संकल्पपर दृढ़ हो गया ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय बार-बार विचार करके राजसूययज्ञके अनुष्ठानमें ही मन लगाया ॥ ५ ॥

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

अद्भुत बल और पराक्रमवाले धर्मराजने पुनः अपने धर्मका ही चिन्तन किया और सम्पूर्ण लोकोंका हित कैसे हो, इसी ओर वे ध्यान देने लगे ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे । वे सारी प्रजापर अनुग्रह करके सबका समानरूपसे हितसाधन करने लगे ॥ ७ ॥

सर्वेषां दीयतां देयं मुञ्चन् कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८ ॥

क्रोध और अभिमानसे रहित होकर राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंसे कह दिया कि 'देने योग्य वस्तुएँ सबको दी जायँ अथवा सारी जनताका पावना (ऋण) चुका दिया जाय ।' उनके राज्यमें 'धर्मराज ! आप धन्य हैं । धर्मस्वरूप युधिष्ठिर आपको साधुवाद !' इसके सिवा और कोई बात नहीं सुनी जाती थी ॥ ८ ॥

एवंगते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ॥ ९ ॥

उनका ऐसा व्यवहार देख सारी प्रजा उनके ऊपर पिताके समान भरोसा रखने लगी । उनके प्रति द्वेष रखनेवाला कोई नहीं रहा । इसीलिये वे 'अजातशत्रु' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥ १० ॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ।
अविग्रहा वीतभयाः स्वधर्मनिरताः सदा ॥ ११ ॥
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ।

महाराज युधिष्ठिर सबको आत्मीय जनोंकी भाँति अपनाते, भीमसेन सबकी रक्षा करते, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओंके संहारमें लगे रहते, बुद्धिमान् सहदेव सबको धर्मका उपदेश दिया करते और नकुल स्वभावसे ही सबके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करते थे । इससे उनके राज्यके सभी जनपद कलहशून्य, निर्भय, स्वधर्मपरायण तथा उन्नतिशील थे । वहाँ उनकी इच्छाके अनुसार समयपर वर्षा होती थी ॥ १०-११½ ॥

वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२ ॥
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥ १३ ॥
सर्वमेव न तत्रासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।

उन दिनों राजाके सुप्रबन्धसे ब्याजकी आजीविका, यज्ञकी सामग्री, गोरक्षा, खेती और व्यापार—इन सबकी विशेष उन्नति होने लगी । निर्धन प्रजाजनोंसे पिछले वर्षका बाकी कर नहीं

लिया जाता था तथा चालू वर्षका कर वसूल करनेके लिये किसीको पीड़ा नहीं दी जाती थी। सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले युधिष्ठिरके शासनकालमें रोग तथा अग्निका प्रकोप आदि कोई भी उपद्रव नहीं था ॥ १२-१३½ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषा कृतम् ।

लुटेरोंसे, ठगोंसे, राजासे तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे प्रजाके प्रति अत्याचार या मिथ्या व्यवहार कभी नहीं सुना जाता था और आपसमें भी सारी प्रजा एक दूसरेसे मिथ्या व्यवहार नहीं करती थी ॥ १४½ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग् जात्यैश्च नैगमैः ।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ।

दूसरे राजालोग विभिन्न देशके कुलीन वैश्योंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करने, उन्हें कर देने, अपने उपार्जित धन-रत्न आदिकी भेंट देने तथा संधि-विग्रहादि छः कार्योंमें राजाको सहयोग देनेके लिये उनके पास आते थे। सदा धर्ममें ही लगे रहनेवाले राजा युधिष्ठिरके शासन-कालमें राजस स्वभाववाले तथा लोभी मनुष्योंद्वारा इच्छानुसार धन आदिका उपभोग किये जानेपर भी उनका देश दिनोंदिन उन्नति करने लगा ॥ १५-१६½ ॥

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी। सभी सद्गुण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वे शीत एवं उष्ण आदि सभी द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ तथा अपने राजोचित गुणोंसे सर्वत्र सुशोभित होते थे ॥ १७ ॥

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १८ ॥

राजन्! दसों दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले वे महा-यशस्वी सम्राट् जिस देशपर अधिकार जमाते, वहाँ ग्वालोंसे लेकर ब्राह्मणोंतक सारी प्रजा उनके प्रति पिता-माताके समान भाव रखकर प्रेम करने लगती थी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस समय अपने मन्त्रियों और भाइयों-को बुलाकर उनसे बार-बार पूछा—'राजसूययज्ञके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' ॥ १९ ॥

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उन सब मन्त्रियोंने एक साथ यज्ञकी इच्छावाले परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे उस समय यह अर्थयुक्त बात कही—॥ २० ॥

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥

'महाराज! राजसूययज्ञके द्वारा अभिषिक्त होनेपर राजा वरुणके गुणोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञके द्वारा सम्राट्‌के समस्त गुणोंको पानेकी अभिलाषा रखता है ॥ २१ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन! आप तो सम्राट्‌के गुणोंको पानेके सर्वथा योग्य हैं; अतः आपके हितैषी सुहृद् आपके द्वारा राजसूययज्ञके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २२ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥

'उस यज्ञका समय क्षत्रसम्पत्ति यानी सेना आदिके अधीन है। उसमें उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंद्वारा अग्निकी स्थापनाके लिये छः अग्निवेदियों-का निर्माण करते हैं ॥ २३ ॥

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान् यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित् तेन चोच्यते ॥ २४ ॥

'जो उस यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह 'दर्वीहोम' (अग्निहोत्र आदि) से लेकर समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है एवं यज्ञके अन्तमें जो अभिषेक होता है, उससे वह यज्ञकर्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लगता है ॥ २४ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो! आप उस यज्ञके सम्पादनमें समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञाके अधीन हैं। महाराज! आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ॥ २५ ॥

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

'अतः किसी प्रकारका सोच-विचार न करके आप राजसूयके अनुष्ठानमें मन लगाइये।' इस प्रकार उनके सभी सुहृदोंने अलग-अलग और सम्मिलित होकर अपनी यही सम्मति प्रकट की ॥

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते ।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उनका यह साहसपूर्ण, प्रिय एवं श्रेष्ठ वचन सुनकर उसे मन-ही-मन ग्रहण किया ॥ २७ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उन्होंने सुहृदोंका वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर तथा यह भी जानते हुए कि राजसूययज्ञ अपने लिये साध्य है, उसके विषयमें बारम्बार मन-ही-मन विचार किया ॥२८॥

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥

फिर मन्त्रणाका महत्त्व जाननेवाले बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, महात्मा ऋत्विजों, मन्त्रियों तथा धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियोंके साथ इस विषयपर पुनः विचार करने लगे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ ! राजसूय नामक उत्तम यज्ञ किसी सम्राट्के ही योग्य है, तो भी मैं उसके प्रति श्रद्धा रखने लगा हूँ; अतः आपलोग बताइये, मेरे मनमें जो यह राजसूययज्ञ करनेकी अभिलाषा हुई है, कैसी है ? ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कमलनयन जनमेजय ! राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे सब लोग उस समय धर्मराज युधिष्ठिरसे यों बोले—॥ ३१ ॥

अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चान्ये तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।

'धर्मज्ञ ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके सर्वथा योग्य हैं ।' ऋत्विजों तथा महर्षियोंने जब राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब उनके मन्त्रियों और भाइयोंने उन महात्माओंके वचनका बड़ा आदर किया ॥ ३२½ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ॥ ३३ ॥
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥ ३५ ॥
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
सर्वलोकात् परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु ॥ ३७ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे पुनः इस विषयपर मन-ही-मन विचार किया—'जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनोंको देखकर तथा देश, काल, आय और व्ययको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझ करके कार्य आरम्भ करता है, वह कष्टमें नहीं पड़ता । केवल अपने ही निश्चयसे यज्ञका आरम्भ नहीं किया जाता ।' ऐसा समझकर यत्नपूर्वक कार्यभार वहन करनेवाले युधिष्ठिरने उस कार्यके विषयमें पूर्ण निश्चय करनेके लिये जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णको ही सब लोगोंसे उत्तम माना और वे मन-ही-मन उन अप्रमेय महाबाहु श्रीहरिकी शरणमें गये, जो अजन्मा होते हुए भी धर्म एवं साधु पुरुषोंकी रक्षा आदिकी इच्छासे मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ३३–३७ ॥

पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसम्मतैः ।
नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ॥ ३८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके देवपूजित अलौकिक कर्मोंद्वारा यह अनुमान किया कि श्रीकृष्णके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसे वे कर न सकें ॥ ३८ ॥

न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ।
शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।

उनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इस तरह उन्होंने उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ माना । ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरुजनोंके प्रति निवेदन करनेकी भाँति समस्त प्राणियोंके गुरु श्रीकृष्णके पास शीघ्र ही एक दूत भेजा । वह दूत शीघ्रगामी रथके द्वारा तुरंत यादवोंके यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णसे द्वारकामें ही मिला ॥ ३९–४०½ ॥

(स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा व्यज्ञापयत माधवम् ॥

उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार निवेदन किया ॥

दूत उवाच

धर्मराजो हृषीकेश धौम्यव्यासादिभिः सह ।

पाञ्चालमात्स्यसहितैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वशः ॥
त्वद्दर्शनं महाबाहो काङ्क्षते स युधिष्ठिरः ।

दूतने कहा—महाबाहु हृषीकेश ! धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियों, द्रुपद और विराट आदि नरेशों तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ आपका दर्शन करना चाहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रसेनवचः श्रुत्वा यादवप्रवरो बली ।)
दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूत इन्द्रसेनकी यह बात सुनकर यदुवंशशिरोमणि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिरके पास स्वयं भी उनके दर्शनकी अभिलाषासे दूत इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थ नगरमें आये ॥ ४१½ ॥

व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान् क्षिप्रवाहनः॥४२॥

मार्गमें अनेक देशोंको लाँघते हुए वे बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ रहे थे । उनके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे ॥ ४२ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः ॥ ४३ ॥

भगवान् जनार्दन इन्द्रप्रस्थमें आकर राजा युधिष्ठिरसे मिले । फुफेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनने अपने घरमें श्रीकृष्णका पिताकी भाँति पूजन किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ४३ ॥

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर प्रेमी सुहृद् अर्जुनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए । फिर नकुल-सहदेवने गुरुकी भाँति उनकी सेवा-पूजा की ॥ ४४ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद उन्होंने एक उत्तम भवनमें विश्राम किया । थोड़ी देर बाद जब वे मिलनेके योग्य हुए और इसके लिये उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने आकर उनसे अपना सारा प्रयोजन बतलाया ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहनेभरसे ही पूरा नहीं हो सकता। जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है ॥ ४६ ॥

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥

जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूययज्ञ सम्पन्न कर सकता है ॥ ४७ ॥

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूययज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा ॥ ४८ ॥

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥

कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं । दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे ॥ ४९ ॥

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥

कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं । इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं ॥ ५० ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं । अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम एवं करने योग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें वासुदेवागमनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी राजसूययज्ञके लिये सम्मति

कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाराज ! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं; अतः आप राजसूययज्ञ करनेके लिये योग्य हैं। भारत ! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आपके पूछनेपर मैं इस विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ ॥ १ ॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने पूर्वकालमें जब क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय लुक-छिपकर जो क्षत्रिय शेष रह

गये, वे पूर्ववर्ती क्षत्रियोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। इस प्रकार इस समय संसारमें नाममात्रके क्षत्रिय रह गये हैं ॥ २ ॥

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशवाग्भिस्तत् ते ह विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥

पृथ्वीपते ! इन क्षत्रियोंने पूर्वजोंके कथनानुसार सामूहिकरूपसे यह नियम बना लिया है कि हममेंसे जो समस्त क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा। भरतश्रेष्ठ ! यह बात आपको भी मालूम ही होगी ॥ ३ ॥

ऐलस्यैक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिवद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥

इस समय श्रेणिवद्ध (सब-के-सब) राजा तथा भूमण्डलके दूसरे क्षत्रिय भी अपनेको सम्राट् पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुकी संतान कहते हैं ॥ ४ ॥

ऐलवंश्यास्तु ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन् ! पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुके वंशमें जो नरेश आजकल हैं, उनके एक सौ कुल विद्यमान हैं; यह बात आप अच्छी तरह जान लें ॥ ५ ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।

महाराज ! आजकल राजा ययातिके कुलमें गुणकी दृष्टिसे भोजवंशियोंका ही अधिक विस्तार हुआ है। भोजवंशी बढ़कर चारों दिशाओंमें फैल गये हैं तथा आजके सभी क्षत्रिय उन्हींकी धन-सम्पत्तिका आश्रय ले रहे हैं ॥ ६½ ॥

इदानीमेव वै राजञ्जरासंधो महीपतिः ॥ ७ ॥
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ॥ ८ ॥

राजन् ! अभी-अभी भूपाल जरासंध उन समस्त क्षत्रिय-कुलोंकी राजलक्ष्मीको लाँघकर राजाओंद्वारा सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बल-पराक्रमसे सबपर आक्रमण करके समस्त राजाओंका सिरमौर हो रहा है ॥७-८॥

सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदममन्यत ।
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ॥ ९ ॥

जरासंध मध्यभूमिका उपभोग करते हुए समस्त राजाओंमें परस्पर फूट डालनेकी नीतिको पसंद करता है। इस समय वही सबसे प्रबल एवं उत्कृष्ट राजा है। यह सारा जगत् एकमात्र उसीके वशमें है ॥ ९ ॥

स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः ।
तं स राजा जरासंधं संश्रित्य किल सर्वशः ॥ १० ॥
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ।

महाराज ! वह अपनी राजनीतिक युक्तियोंसे इस समय सम्राट् बन बैठा है। राजन् ! कहते हैं, प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकारसे जरासंधका आश्रय लेकर ही उसका प्रधान सेनापति हो गया है ॥ १०½ ॥

तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः ॥ ११ ॥
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ।

युधिष्ठिर ! मायायुद्ध करनेवाला महाबली करूषराज दन्तवक्र भी जरासंधके सामने शिष्यकी भाँति हाथ जोड़े खड़ा रहता है ॥ ११½ ॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ॥ १२ ॥
जरासंधं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।

विशालकाय अन्य दो महापराक्रमी योद्धा सुप्रसिद्ध हंस और डिम्भक भी महाबली जरासंधकी शरण ले चुके थे ॥

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥

करूषदेशका राजा दन्तवक्र, करभ और मेघवाहन—ये सभी सिरपर दिव्य मणिमय मुकुट धारण करते हुए भी जरासंधको अपने मस्तककी अद्भुत मणि मानते हैं (अर्थात् उसके चरणोंमें सिर झुकाते रहते हैं) ॥ १३ ॥

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद् भक्तिमांस्त्वयि ।

महाराज ! जो मुर और नरक नामक देशका शासन करते हैं, जिनकी सेना अनन्त है, जो वरुणके समान पश्चिम दिशाके अधिपति कहे जाते हैं, जिनकी वृद्धावस्था हो चली है तथा जो आपके पिताके मित्र रहे हैं, वे यवनाधिपति राजा भगदत्त भी वाणी तथा क्रियाद्वारा भी जरासंधके सामने विशेषरूपसे नतमस्तक रहते हैं; फिर भी वे मन-ही-मन तुम्हारे स्नेह-पाशमें बँधे हैं और जैसे पिता अपने पुत्रपर प्रेम रखता है, वैसे ही उनका तुम्हारे ऊपर वात्सल्यभाव बना हुआ है ॥

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः ।
स ते संनतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥

जो भारतभूमिके पश्चिमसे लेकर दक्षिणतकके भागपर शासन करते हैं, आपके मामा वे शत्रुसंहारक शूरवीर कुन्ति-भोजकुलवर्द्धक पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपके प्रति प्रेम और आदरका भाव रखते हैं ॥ १६-१७ ॥

जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १९ ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥

जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रक्खा है, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेशमें पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत्में जो अपने-आपको पुरुषोत्तम ही कहकर बताया करता है और मोहवश सदा मेरे शङ्ख-चक्र आदि चिह्नोंको धारण करता है; वङ्ग, पुण्ड्र तथा किरातदेशका जो राजा है तथा लोकमें वासुदेवके नामसे जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान् राजा पौण्ड्रक भी जरासंधसे ही मिला हुआ है ॥ १८–२० ॥

चतुर्थभाग् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् सपाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २१ ॥
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥

राजन् ! जो पृथ्वीके एक चौथाई भागके स्वामी हैं, इन्द्रके सखा हैं, बलवान् हैं, जिन्होंने अस्त्र-विद्याके बलसे पाण्ड्य, क्रथ और कैशिक देशोंपर विजय पायी है, जिनका भाई आकृति जमदग्निनन्दन परशुरामके समान शौर्यसम्पन्न है, वे भोज-वंशी शत्रुहन्ता राजा भीष्मक (मेरे श्वशुर होते हुए) भी मगध-राज जरासंधके भक्त हैं ॥ २१-२२ ॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

हम सदा उनका प्रिय करते रहते हैं, उनके प्रति नम्रता दिखाते हैं और उनके सगे-सम्बन्धी हैं; तो भी वे हम-जैसे अपने भक्तोंको तो नहीं अपनाते हैं और हमारे शत्रुओंसे मिलते-जुलते हैं ॥ २३ ॥

न कुलं स बलं राजन्नभ्यजानात् तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपस्थितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे अपने बल और कुलकी ओर भी ध्यान नहीं देते, केवल जरासंधके उज्ज्वल यशकी ओर देखकर उसके आश्रित बन गये हैं ॥ २४ ॥

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २५ ॥

प्रभो ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें निवास करनेवाले भोजवंशियोंके अठारह कुल जरासंधके ही भयसे भागकर पश्चिम दिशामें रहने लगे हैं ॥ २५ ॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति तथा शाल्वायन आदि राजा भी अपने भाइयों तथा सेवकोंके साथ दक्षिण दिशामें भाग गये हैं। जो लोग दक्षिण पञ्चाल एवं पूर्वी कुन्तिप्रदेशमें रहते थे, वे सभी क्षत्रिय तथा कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि राजपूत

भी जरासंधके भयसे पीड़ित हो उत्तर दिशाको छोड़कर दक्षिण दिशाका ही आश्रय ले चुके हैं ॥ २६-२८ ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासंधभयार्दिताः ।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥

उसी प्रकार समस्त पञ्चालदेशीय क्षत्रिय जरासंधके भयसे दुखी हो अपना राज्य छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये हैं ॥ २९ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३० ॥

कुछ समय पहलेकी बात है, व्यर्थ बुद्धिवाले कंसने समस्त यादवोंको कुचलकर जरासंधकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया ॥ ३० ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान् ।

उनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति । वे दोनों अबलाएँ सहदेवकी छोटी बहिनें थीं । निःसार बुद्धिवाला कंस जरासंधके ही बलसे अपने जाति-भाइयोंको अपमानित करके सबका प्रधान बन बैठा था । यह उसका बहुत बड़ा अत्याचार था ॥ ३१½ ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता ।

उस दुरात्मासे पीड़ित हो भोजराजवंशके बड़े-बूढ़े लोगोंने जाति-भाइयोंकी रक्षाके लिये हमसे प्रार्थना की ॥ ३२½ ॥

दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥

तब मैंने आहुककी पुत्री सुतनुका विवाह अक्रूरसे करा दिया और बलरामजीको साथी बनाकर जाति-भाइयोंका कार्य सिद्ध किया । मैंने और बलरामजीने कंस और सुनामाको मार डाला ॥३३-३४ ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासंधे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥३५ ॥

इससे कंसका भय तो जाता रहा; परंतु जरासंध कुपित हो हमसे बदला लेनेको उद्यत हो गया । राजन् ! उस समय भोजवंशके अठारह कुलों (मन्त्री-पुरोहित आदि) ने मिलकर इस प्रकार विचार-विमर्श किया—॥ ३५ ॥

अनारभन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥

'यदि हमलोग शत्रुओंका अन्त करनेवाले बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा निरन्तर आघात करते रहें, तो भी तीन सौ वर्षोंमें भी उसकी सेनाका नाश नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥

'क्योंकि बलवानोंमें श्रेष्ठ हंस और डिम्भक उसके सहायक हैं, जो बलमें देवताओंके समान हैं । उन दोनोंको यह वरदान प्राप्त है कि वे किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारे जा सकते' ॥ ३७ ॥

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥

भैया युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि एक साथ रहनेवाले वे दोनों वीर हंस और डिम्भक तथा पराक्रमी जरासंध—ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥ ३८ ॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ३९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह केवल मेरा ही मत नहीं है, दूसरे भी जितने भूमिपाल हैं, उन सबका यही विचार रहा है ॥ ३९ ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान् नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥

जरासंधके साथ जब सत्रहवीं बार युद्ध हो रहा था, उसमें हंस नामसे प्रसिद्ध कोई दूसरा राजा भी लड़ने आया था, वह उस युद्धमें बलरामजीके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥

भारत ! यह देख किसी सैनिकने चिल्लाकर कहा—'हंस मारा गया ।' राजन् ! उसकी वह बात कानमें पड़ते ही डिम्भक अपने भाईको ही मरा हुआ जान यमुनाजीमें कूद पड़ा ॥ ४१ ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥

मैं हंसके विना इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता ।' ऐसा निश्चय करके डिम्भकने अपनी जान दे दी ॥

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

डिम्भककी इस प्रकार मृत्यु हुई सुनकर शत्रुनगरीको जीतनेवाला हंस भी भाईके शोकसे यमुनामें ही कूद पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ॥ ४३ ॥

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनोंकी मृत्यु हुई सुनकर राजा जरासंध हताश हो गया और उत्साहशून्य हृदयसे अपनी राजधानीको लौट गया ॥ ४४ ॥

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥

शत्रुसूदन ! उसके इस प्रकार लौट जानेपर हम सब लोग पुनः मथुरामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ४५ ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मागधं नृपम् ।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ॥ ४६ ॥
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम ।

शत्रुदमन राजेन्द्र ! फिर जब पतिके शोकसे पीड़ित हुई कंसकी कमललोचना भार्या अपने पिता मगधनरेश जरासंधके पास जाकर उसे बार-बार उकसाने लगी कि मेरे पतिके घातकको मार डालो, ॥ ४६½ ॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ॥ ४७ ॥
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ।

तब हमलोग भी पहलेकी की हुई गुप्त मन्त्रणाको स्मरण करके उदास हो गये । महाराज ! फिर तो हम मथुरासे भाग खड़े हुए ॥ ४७-½ ॥

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ॥ ४८ ॥
पलायामो भयात् तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ।
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उस समय हमने यही निश्चय किया कि 'यहाँकी विशाल सम्पत्तिको पृथक्-पृथक् बाँटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओंके साथ शत्रुके भयसे भाग चलें।' ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥४८-४९॥

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ।
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ॥ ५० ॥

और राजन्! रैवतक पर्वतसे सुशोभित रमणीय कुशस्थली पुरीमें जाकर हमलोग निवास करने लगे ॥ ५० ॥

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ।
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः॥ ५१ ॥

हमने कुशस्थली दुर्गकी ऐसी मरम्मत करायी कि देवताओंके लिये भी उसमें प्रवेश करना कठिन हो गया। अब तो उस दुर्गमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती हैं, फिर वृष्णिकुलके महारथियोंकी तो बात ही क्या है ?॥५१॥

तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ।
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ॥ ५२ ॥
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ।

शत्रुसूदन ! हमलोग द्वारकापुरीमें सब ओरसे निर्भय होकर रहते हैं । कुरुश्रेष्ठ ! गिरिराज रैवतककी दुर्गमताका विचार करके अपनेको जरासंधके संकटसे पार हुआ मानकर हम सभी मधुवंशियोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है ॥ ५२½ ॥

एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः ॥ ५३ ॥
सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः ।

राजन् ! हम जरासंधके अपराधी हैं, अतः शक्तिशाली होते हुए भी जिस स्थानसे हमारा सम्बन्ध था, उसे छोड़कर गोमान् (रैवतक) पर्वतके आश्रयमें आ गये हैं ॥ ५३½ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ॥ ५४ ॥
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ।
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ५५ ॥

रैवतक दुर्गकी लम्बाई तीन योजनकी है । एक-एक योजनपर सेनाओंके तीन-तीन दलोंकी छावनी है । प्रत्येक योजनके अन्तमें सौ-सौ द्वार हैं, जो सेनाओंसे सुरक्षित हैं । वीरोंका पराक्रम ही उस गढ़का प्रधान फाटक है । युद्धमें उन्मत्त होकर पराक्रम दिखानेवाले अठारह यादववंशी क्षत्रियोंसे वह दुर्ग सुरक्षित है ॥ ५४-५५ ॥

अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ॥ ५६ ॥

हमारे कुलमें अठारह हजार भाई हैं । आहुकके सौ पुत्र हैं, जिनमेंसे एक-एक देवताओंके समान पराक्रमी है ॥५६॥

चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ॥ ५७ ॥
एवमतिरथाः सप्त राजन्नन्यान् निबोध मे ।
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ॥ ५८ ॥
कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ।
पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥ ५९ ॥

अपने भाईके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलरामजी, साम्ब और प्रद्युम्न—ये सात अतिरथी वीर हैं । राजन् ! अब मुझसे दूसरोंका परिचय सुनिये । कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिंजय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ति—ये सात महारथी हैं । अन्धक भोजके दो पुत्र और बूढ़े राजा उग्रसेनको भी गिन लेनेपर उन महारथियोंकी संख्या दस हो जाती है ॥ ५७–५९ ॥

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ६० ॥

ये सभी वीर वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले, पराक्रमी और महारथी हैं, जो मध्यदेशका स्मरण करते हुए वृष्णिकुलमें निवास करते हैं ॥ ६० ॥

(वितद्रुर्झल्लिबभ्रू च उद्धवोऽथ विदूरथः ।
वसुदेवोग्रसेनौ च सप्तैते मन्त्रिपुङ्गवाः ॥
प्रसेनजिच्च यमलो राजराजगुणान्वितः ।
स्यमन्तको मणिर्यस्य रुक्मं निस्रवते बहु ॥)

वितद्रु, झल्लि, बभ्रु, उद्धव, विदूरथ, वसुदेव तथा उग्रसेन—ये सात मुख्य मन्त्री हैं । प्रसेनजित् और सत्राजित्—ये दोनों जुड़वें बन्धु कुबेरोपम सद्गुणोंसे सुशोभित हैं ।उनके पास जो 'स्यमन्तक' नामक मणि है, उससे प्रचुर-मात्रामें सुवर्ण झरता रहता है ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥ ६१ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! आप सदा ही सम्राट्के गुणोंसे युक्त हैं । अतः भारत ! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये ॥ ६१ ॥

(दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम् ।
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम् ॥
एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च ।
एतानजित्वा संग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम् ॥
अथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः ।)

दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, रुक्मी, धनुर्धर एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैब्य तथा शकुनि—इन सब वीरोंको संग्राममें जीते बिना आप कैसे वह यज्ञ कर सकते हैं ? परंतु ये नरश्रेष्ठ आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करेंगे ॥

न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम ॥ ६२ ॥

किंतु राजन् ! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६३ ॥

उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रक्खा है, मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रक्खा हो ॥ ६३ ॥

स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम ॥ ६४ ॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ॥ ६५ ॥

शत्रुदमन ! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं । वह राजाओंकी बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है । नृपश्रेष्ठ ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है ॥६४-६५॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान् ।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६६ ॥

क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है ॥ ६६ ॥

वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा ।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६७ ॥

महाराज ! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीडित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये (और अबतक वहीं निवास करते हैं) ॥ ६७ ॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च ॥ ६८ ॥

राजन् ! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ६८ ॥

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन ।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥ ६९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना राजसूय यज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा ॥ ६९ ॥

(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम् ॥)

भरतश्रेष्ठ ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये । उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी ॥

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ७० ॥

निष्पाप नरेश ! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें । ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

जरासंधके विषयमें राजा युधिष्ठिर, भीम और श्रीकृष्णकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आप परम बुद्धिमान् हैं, आपने जैसी बात कही है, वैसी दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस पृथ्वीपर आपके सिवा समस्त संशयोंको मिटानेवाला और कोई नहीं है ॥ १ ॥

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥

आजकल तो घर-घरमें राजा हैं और सभी अपना-अपना प्रिय कार्य करते हैं, परंतु वे सम्राट्पदको नहीं प्राप्त कर सके; क्योंकि सम्राट्की पदवी बड़ी कठिनाईसे मिलती है ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥

जो दूसरोंके प्रभावको जानता है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है ? दूसरेके साथ मुकाबला होनेपर भी जो प्रशंसनीय बना रह जाय, उसीकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

वृष्णिकुलभूषण ! यह पृथ्वी बहुत विशाल है, अनेक प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई है, मनुष्य दूर जाकर (सत्पुरुषोंका संग करके) यह समझ पाता है कि अपना कल्याण कैसे होगा ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

मैं तो मन और इन्द्रियोंके संयमको ही सबसे उत्तम मानता हूँ, उसीसे मेरा भला होगा। राजसूय यज्ञका आरम्भ करनेपर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति अपने लिये असम्भव है—मेरी तो यही धारणा है ॥ ५ ॥

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥

जनार्दन ! ये उत्तम कुलमें उत्पन्न मनस्वी सभासद् ऐसा जानते हैं कि इनमें कभी कोई श्रेष्ठ (सर्वविजयी) भी हो सकता है ॥ ६ ॥

वयं चैव महाभाग जरासंधभयात् तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात् तस्य चानघ ॥ ७ ॥
अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद् विशङ्किते ॥ ८ ॥

पापरहित महाभाग ! हम भी जरासंधके भयसे तथा उसकी दुष्टतासे सदा शङ्कित रहते हैं। किसीसे परास्त न होनेवाले प्रभो! मैं तो आपके ही बाहुबलका भरोसा रखता हूँ। जब आप ही जरासंधसे शङ्कित हैं, तब तो मैं अपनेको उसके सामने कदापि बलवान् नहीं मान सकता ॥ ७-८ ॥

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद् वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ।
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ॥ ९ ॥

महाबाहु माधव ! आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है या नहीं ? वार्ष्णेय ! (आपकी शक्ति अनन्त है,) यह जानते हुए भी मैं बार-बार इसी बातपर विचार करता रहता हूँ ॥ ९ ॥

त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः॥१०॥

केशव ! मेरे लिये सभी कार्योंमें आप ही प्रमाण हैं। युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर बोलनेमें चतुर भीमसेनने यह वचन कहा ॥

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ ११ ॥

भीमसेन बोले— महाराज ! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होकर भी उचित उपाय अथवा युक्तिसे काम न लेकर किसी बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों दीमकोंके बनाये हुए मिट्टीके ढेरके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान्॥१२॥

परंतु जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधके वधका कार्य पूरा कर लेंगे; ठीक उसी तरह, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि कर देती हैं ॥ १३ ॥

(त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा ॥)

गोविन्द ! आपके बुद्धिबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करनेवाले आप हैं, उनकी—हम पाण्डवोंकी विजय निश्चित है ॥

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम्॥ १४॥
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः॥ १५॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता। अतः केवल अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते। युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतने योग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्का पद प्राप्त किया था। भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे॥ १४-१५॥

ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर॥ १६॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः॥ १७॥

इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे। अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं। युधिष्ठिर ! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति हैं, उन सबसे आप सम्पन्न हैं॥ १६-१७॥

बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः॥ १८॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये। क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते, अतः वह बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है॥ १८॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः॥ १९॥

जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजालोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता। अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है॥ १९॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित्॥ २०॥

आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है। जिनका विधिपूर्वक राज्यपर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रक्खा हो॥ २०॥

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान्।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति॥ २१॥

इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको वशमें कर लिया है। कुन्तीनन्दन ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा। २१।

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ ! रुद्रदेवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है ?॥ २२॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम्॥ २३॥

क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है; अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें॥ २३॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते॥ २४॥

राजन् ! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) बाकी हैं। उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा॥ २४॥

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत्॥ २५॥

जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

जरासंधको जीतनेके विषयमें युधिष्ठिरके उत्साहहीन होनेपर अर्जुनका उत्साहपूर्ण उद्गार

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं सम्राट्के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थसाधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ ? ॥

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन आपको मैं अपना मन मानता हूँ । अपने मन और नेत्रोंको खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा ? ॥ २ ॥

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

जरासंधकी सेनाका पार पाना कठिन है । उसका पराक्रम भयानक है । युद्धमें उस सेनाका सामना करके यमराज भी विजयी नहीं हो सकते, फिर वहाँ आपलोगोंका प्रयत्न क्या कर सकता है ? ॥ ३ ॥

(कथं जित्वा पुनर्यूयमस्मान् सम्प्रति यास्यथ ।)
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥ ४ ॥

आपलोग किस प्रकार उसे जीतकर फिर हमारे पास लौट सकेंगे ? यह कार्य हमारे लिये इष्ट फलके विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है । इसमें लगे हुए मनुष्यको निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति होती है। इसलिये अबतक हम जिसे करना चाहते थे, उस राजसूय यज्ञकी ओर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता ॥ ४ ॥

यथाहं विमृशाम्येकस्तत् तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥ ५ ॥

जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेले जैसा सोचता हूँ, मेरे उस विचारको आप सुनें । मुझे तो इस कार्यको छोड़ देना ही अच्छा लगता है । राजसूयका अनुष्ठान बहुत कठिन है । अब यह मेरे मनको निरुत्साह कर रहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे; इससे उत्साहित होकर वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ७ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं ॥ ७ ॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ८ ॥

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है । मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ ८ ॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥ ९ ॥

महापराक्रमी राजा कृतवीर्यके कुलमें उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा ? निर्बल कुलमें जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून् ॥ १० ॥

महाराज ! शत्रुओंको जीतनेमें जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकारसे श्रेष्ठ क्षत्रिय है । बलवान् पुरुष सब गुणोंसे हीन हो, तो भी वह शत्रुओंके संकटसे पार हो सकता है ॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥ ११ ॥

जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? पराक्रममें सभी गुण उसके अङ्ग बनकर रहते हैं ॥

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते ॥ १२ ॥

महाराज ! सिद्धि (मनोयोग) और प्रारब्धके अनुकूल पुरुषार्थ ही विजयका हेतु है । कोई बलसे संयुक्त होनेपर भी प्रमाद करे—कर्तव्यमें मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १३ ॥

प्रमादरूप छिद्रके कारण बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओं-द्वारा मारा जाता है ॥ १३ ॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते ।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १४ ॥

बलवान् पुरुषमें जैसे दीनताका होना बड़ा भारी दोष है, वैसे ही बलिष्ठ पुरुषमें मोहका होना भी महान् दुर्गुण है । दीनता और मोह दोनों विनाशके कारण हैं; अतः विजय चाहनेवाले राजाके लिये वे दोनों ही त्याज्य हैं ॥ १४ ॥

जरासंधविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि हम राजसूय यज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १६ ॥

यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन् ! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताका कलङ्क क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १७ ॥

ऐसा करनेपर तो शान्तिकी इच्छा रखनेवाले संन्यासियोंका गेरुआ वस्त्र ही हमें सुलभ होगा, परंतु हमलोग साम्राज्यको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधवधके लिये मन्त्रणाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग सुनाना

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा--राजन् ! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है ॥ १ ॥

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा ।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ २ ॥

महाराज ! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी ? रातमें आयेगी या दिनमें ? (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है ।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो ॥ २ ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें ॥ ३ ॥

सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥ ४ ॥

दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है । शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है । दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः ।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है । यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो, तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती ।५।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ६ ॥

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे ? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे ॥ ६ ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ७ ॥

जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है । यही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है ॥ ७ ॥

अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥

यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो यह

हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे ॥ ८ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ ९ ॥

यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता (उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा) ॥ ९ ॥

अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ १० ॥

अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये, तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जातिभाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण! यह जरासंध कौन है? उसका बल और पराक्रम कैसा है? जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया? ॥ ११ ॥

कृष्ण उवाच

शृणु राजञ्जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १२ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥

मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे ॥ १३ ॥

रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः ॥ १४ ॥

राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे ही सुशोभित होता रहता था ॥ १४ ॥

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥

वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धन-सम्पत्तिमें कुबेरके समान थे ॥ १५ ॥

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी ॥ १६ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ॥
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ॥ १७ ॥
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा।
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ॥ १८ ॥
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः।

भरतकुलभूषण! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी दो जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)। जैसे दो हथिनियोंके साथ गजराज सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे महाराज बृहद्रथ अपने मनके अनुरूप दोनों प्रिय पत्नियोंके साथ शोभा पाने लगे ॥ १७-१८½ ॥

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ॥ १९ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः।

जब वे दोनों पत्नियोंके बीचमें विराजमान होते, उस समय ऐसा जान पड़ता, मानो गङ्गा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् समुद्र सुशोभित हो रहा हो ॥ १९½ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ॥ २० ॥
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन।
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २१ ॥

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से माङ्गलिक कृत्य, होम और पुत्रेष्टियज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ २०-२१ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २२ ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम्।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २३ ॥

एक दिन उन्होंने सुना कि गौतमगोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों) के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं) की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया ॥ २२-२३ ॥

(बृहद्रथं च स ऋषिः यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ॥
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ॥

महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन् ! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है ?' ॥

स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ॥

तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन् ! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है ॥

तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम्।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ॥

'इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है ? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा ॥

नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ॥)

'मुने ! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २४ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २५ ॥

तब धैर्यसे सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र ! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता ? ॥ २६ ॥

कृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्य च्छायायां समुपाविशत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय पिघल गया)। तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे ॥ २७ ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २८ ॥

उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आमका फल गिरा। वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी ॥ २८ ॥

तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥ २९ ॥

मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें ले लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया ॥ २९ ॥

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन् ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। नरेश्वर ! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ ॥ ३० ॥

(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ॥

'महाराज ! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यही राजाओंका धर्म है ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ॥

'नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो। फिर पुत्रको राज्य-सिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना ॥

अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ॥

'भूपाल ! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ— वह ब्राह्मणभक्त होगा, युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्ध-विषयक रुचि कभी कम न होगी, ।

प्रियातिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम् ।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम् ॥
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः ।)

'वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये ॥

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३१ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया ॥ ३२ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३३ ॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३४ ॥

उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया । होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंके गर्भ रह गये । उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर ! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया ॥ ३५ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर,

आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था । एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं ॥ ३६ ॥

उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३७ ॥

उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं । उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया ॥ ३७ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे ।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥ ३८ ॥

उन दोनोंकी धायें गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं ॥ ३८ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३९ ॥

पुरुषसिंह ! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया ॥

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४० ॥

विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जाने योग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया ॥ ४० ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही एक

शरीरधारी वीर कुमार बन गया ॥ ४१ ॥

ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४२ ॥

राजन्! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उसे वह शिशु वज्रके सारतत्त्वका बना जान पड़ा। राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी ॥ ४२ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४३ ॥

उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४४ ॥

परंतप नरव्याघ्र! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं ॥ ४४ ॥

ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४५ ॥

दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकी थीं, मलिन मुख हो सहसा बाहर निकल आयीं ॥ ४५ ॥

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम्।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४६ ॥

नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥

उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको संतान पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ। यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम्।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४८ ॥

ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह उस बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली ॥ ४८ ॥

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम्।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात्।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥ ४९ ॥

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है। तुम इसे ग्रहण करो। ब्रह्मर्षिके वरदान एवं आशीर्वादसे तुम्हारी दोनों पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ है। धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था; किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्रवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया ॥ ५० ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५१ ॥

यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो स्वरूपसे राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा ॥ ५१ ॥

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५२ ॥

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान मनोहर कान्तिवाली कल्याणी! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो? बताओ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ ॥ १ ॥

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी ।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥ २ ॥

मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ। कहनेको तो मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी ॥ २ ॥

दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी ।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ॥ ३ ॥
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।
त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो ॥ ४ ॥

और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था। मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अङ्कित करता है), उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो ! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ ॥ ३-४ ॥

लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता ।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥

एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अङ्कित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है ॥ ५ ॥

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव ।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥ ६ ॥
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ७ ॥

अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन् ! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज ! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ ॥ ६-७ ॥

(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप ।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एष भविष्यति ॥)

राजन् ! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं, उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा ॥

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसम्पूजनात् तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥

मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है ? किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये ॥ ९ ॥

तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ॥ १० ॥

उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी) के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी ॥ १० ॥

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम् ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा—'इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा' ॥ ११ ॥

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः ।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १२ ॥

मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्नि और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

चण्डकौशिक मुनिके द्वारा जरासंधका भविष्यकथन तथा पिताके द्वारा उसका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

श्रीकृष्ण उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! कुछ कालके पश्चात् महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मुनि पुनः मगधदेशमें घूमते हुए आये ॥ १ ॥

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥

उनके आगमनसे राजा बृहद्रथको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे मन्त्री, अग्रगामी सेवक, रानी तथा पुत्रके साथ मुनिके पास गये ॥ २ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

भारत ! पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा राजाने महर्षिका पूजन किया और अपने सारे राज्यके सहित पुत्रको उन्हें सौंप दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद् भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥

महाराज ! राजाकी ओरसे प्राप्त हुई उस पूजाको स्वीकार करके ऐश्वर्यशाली महर्षिने मगधनरेशको सम्बोधित करके प्रसन्न चित्तसे कहा—'राजन् ! जरासंधके जन्मसे लेकर अबतककी सारी बातें मुझे दिव्य दृष्टिसे ज्ञात हो चुकी हैं । राजेन्द्र ! अब यह सुनो कि तुम्हारा पुत्र भविष्यमें कैसा होगा ? ॥ ४-५ ॥

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥

'इसमें रूप, सत्त्व, बल और ओजका विशेष आविर्भाव होगा । इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह पुत्र साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होगा ॥ ६ ॥

प्रापयिष्यति तत् सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

'यह पराक्रमयुक्त होकर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेगा । जैसे उड़ते हुए गरुडके वेगको दूसरे पक्षी नहीं पा सकते, उसी प्रकार इस बलवान् राजकुमारके शौर्यका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सकेंगे । जो लोग इससे शत्रुता करेंगे, वे नष्ट हो जायँगे ॥ ७-८ ॥

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥

'महीपते ! जैसे नदीका वेग किसी पर्वतको पीड़ा नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार देवताओंके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र भी इसे चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ ९ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥

'जिनके मस्तकपर राज्याभिषेक हुआ है, उन सभी राजाओंके ऊपर रहकर यह अपने तेजसे प्रकाशित होता रहेगा । जैसे सूर्य समस्त ग्रह-नक्षत्रोंकी कान्ति हर लेते हैं, उसी प्रकार यह राजकुमार समस्त राजाओंके तेजको तिरस्कृत कर देगा ॥ १० ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥

'जैसे फतिंगे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार सेना और सवारियोंसे भरे-पूरे समृद्धिशाली नरेश भी इससे टक्कर लेते ही नष्ट हो जायँगे ॥ ११ ॥

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥

'यह समस्त राजाओंकी संगृहीत सम्पदाओंको उसी प्रकार अपने अधिकारमें कर लेगा, जैसे नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र वर्षा-ऋतुमें बढ़े हुए जलवाली नदियोंको अपनेमें मिला लेता है ॥ १२ ॥

एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥

'यह महाबली राजकुमार चारों वर्णोंको भलीभाँति धारण करेगा (उन्हें आश्रय देगा;) ठीक वैसे ही, जैसे सभी प्रकारके धान्योंको धारण करनेवाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी शुभ और अशुभ सबको आश्रय देती है ॥ १३ ॥

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥

'जैसे सब देहधारी समस्त प्राणियोंके आत्मारूप वायुदेवके अधीन होते हैं, उसी प्रकार सभी नरेश इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ॥ १४ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥

'यह मगधराज सम्पूर्ण लोकोंमें अत्यन्त बलवान् होगा और त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले सर्वदुःखहारी महादेव रुद्रकी आराधना करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करेगा' ॥१५॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ १६ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! ऐसा कहकर अपने कार्यके चिन्तनमें लगे हुए मुनिने राजा बृहद्रथको विदा कर दिया ॥ १६ ॥

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासंधं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।
अभिषिक्ते जरासंधे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥

राजधानीमें प्रवेश करके अपने जाति-भाइयों और सगे-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए मगधनरेश बृहद्रथने उसी समय जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया । ऐसा करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ । जरासंधका अभिषेक हो जानेपर महाराज बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें चले गये ॥ १७-१८ ॥

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासंधः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद् वशे ॥ १९ ॥

महाराज ! दोनों माताओं और पिताके वनवासी हो जानेपर जरासंधने अपने पराक्रमसे समस्त राजाओंको वशमें कर लिया ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत् तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दीर्घकालतक तपोवनमें रहकर तपस्या करते हुए महाराज बृहद्रथ अपनी पत्नियोंके साथ स्वर्गवासी हो गये ॥ २० ॥

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥

इधर जरासंध भी चण्डकौशिक मुनिके कथनानुसार भगवान् शङ्करसे सारा वरदान पाकर राज्यकी रक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके द्वारा अपने जामाता राजा कंसके मारे जानेपर श्रीकृष्णके साथ उसका वैर बहुत बढ़ गया ॥ २२ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २४ ॥

भारत ! उसी वैरके कारण बलवान् मगधराजने अपनी गदा निन्यानवे बार घुमाकर गिरिव्रजसे मथुराकी ओर फेंकी । उन दिनों अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण मथुरामें ही रहते थे । वह उत्तम गदा निन्यानवे योजन दूर मथुरामें जाकर गिरी ॥ २३-२४ ॥

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥

पुरवासियोंने उसे देखकर उसकी सूचना भगवान् श्रीकृष्णको दी । मथुराके समीपका वह स्थान, जहाँ गदा गिरि थी, गदावसानके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ॥ २६ ॥

जरासंधको सलाह देनेके लिये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा नीतिशास्त्रमें निपुण दो मन्त्री थे, जो हंस और डिम्भकके नामसे विख्यात थे । वे दोनों किसी भी शस्त्रसे मरनेवाले नहीं थे ॥ २६ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥

जनमेजय ! उन दोनों महाबली वीरोंका परिचय मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया है । मेरा ऐसा विश्वास है, जरासंध और वे तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥

एवमेव तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २८ ॥

वीरवर महाराज ! इस प्रकार नीतिका पालन करनेके लिये ही उस समय बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धाओंने जरासंधकी उपेक्षा कर दी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधप्रशंसाविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(जरासंधवधपर्व)

विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः॥ १॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज ! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है॥१॥

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥ २॥

युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये॥ २॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥ ३॥

मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे॥ ३॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति॥ ४॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति॥ ५॥

जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है। अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे जरासंध निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा॥ ४-५॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा॥ ६॥

जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं॥ ६॥

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे॥ ७॥

राजन् ! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और यदि आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको शीघ्र ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
भीमार्जुनौ समालोक्य सम्प्रहृष्टमुखौ स्थितौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्के ऐसा कहनेपर वहाँ खड़े हुए भीमसेन और अर्जुनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उस समय उन दोनोंकी ओर देखकर युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्शन।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत ! आप ऐसी बात न कहें, न कहें। आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं; हम सब लोग आपकी शरणमें हैं॥ ९॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी॥ १०॥

गोविन्द ! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं॥ १०॥

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥ ११॥

आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया। समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी पूरा हो गया॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत् कार्यं समुपपद्यते।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम॥ १२॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुःखितः॥ १३॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः॥ १४॥

जगन्नाथ ! पुरुषोत्तम ! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जैसे धर्म,

काम और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुःखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता । श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते । इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२-१४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता ? ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अंधं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

चतुर सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित की हुई सेना उत्तम कार्य करती है, अन्यथा उस सेनाको अंधी और जड कहते हैं; अतः नीतिनिपुण पुरुषोंद्वारा ही सेनाका संचालन होना चाहिये ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम् ।
यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥

जिधर नीची जमीन होती है, उधर ही लोग जल बहाकर ले जाते हैं । जहाँ गड्ढा होता है, उधर ही धीवर भी जल बहाते हैं (इसी प्रकार आपलोग भी जैसे कार्य-साधनमें सुविधा हो, वैसा ही करें) ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

इसीलिये हम नीतिविधानके ज्ञाता लोकविख्यात महापुरुष श्रीगोविन्दकी शरण लेकर कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

इसी प्रकार सबके लिये यह उचित है कि कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सभी कार्योंमें बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न और उपायसे युक्त श्रीकृष्णको ही आगे रक्खे ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम् ।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥

यदुश्रेष्ठ ! इसी प्रकार समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है । अर्जुन आप श्रीकृष्णका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका । नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें, तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् ।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रियरूपको छिपाकर यात्रा की । उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ॥ २२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

जरासंधके प्रति रोषके कारण वे प्रज्वलित-से हो रहे थे । जातिभाइयोंके उद्धारके लिये उनका महान् तेज प्रकट हुआ था । उस समय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले उन तीनोंका स्वरूप अत्यन्त उद्भासित हो रहा था । एक ही कार्यके लिये उद्यत हुए और युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले उन दोनों (कृष्णोंको अर्थात् नर-नारायण-रूप कृष्ण और अर्जुन) को भीमसेनको आगे लिये जाते देख युधिष्ठिरको यह निश्चय हो गया कि जरासंध अवश्य मारा जायगा ॥ २३-२४ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ ।
धर्मकामार्थलोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥

क्योंकि वे दोनों महात्मा निमेष-उन्मेषसे लेकर महाप्रलय-पर्यन्त समस्त कार्योंके नियन्ता तथा धर्म, काम और अर्थ-साधनमें लगे हुए लोगोंको तत्सम्बन्धी कार्योंमें लगानेवाले ईश्वर (नर-नारायण) हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥ २७ ॥

वे तीनों कुरुदेशसे प्रस्थित हो कुरुजाङ्गलके बीचसे होते हुए रमणीय पद्मसरोवरपर पहुँचे । फिर कालकूट पर्वतको लाँघकर गण्डकी, महाशोण, सदानीरा एवं एकपर्वतक प्रदेश-की सब नदियोंको क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः ॥ २८ ॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥

इससे पहले मार्गमें उन्होंने रमणीय सरयू नदी पार करके पूर्वी कोसलप्रदेशमें भी पदार्पण किया था। कोसल पार करके बहुत-सी नदियोंका अवलोकन करते हुए वे मिथिलामें गये। गङ्गा और शोणभद्रको पार करके वे तीनों अच्युत वीर पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे। उन्होंने कुश एवं चीरसे ही अपने शरीरको ढक रक्खा था। जाते-जाते वे मगधक्षेत्रकी सीमामें पहुँच गये ॥ २८-२९ ॥

ते शश्वद् गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

फिर सदा गोधनसे भरे-पूरे, जलसे परिपूर्ण तथा सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित गोरथ पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने मगधकी राजधानीको देखा ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें कृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनकी मगधयात्रा-विषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा मगधकी राजधानीकी प्रशंसा, चैत्यक पर्वतशिखर और नगाड़ोंको तोड़-फोड़कर तीनोंका नगर एवं राजभवनमें प्रवेश तथा श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! देखो, यह मगधदेशकी सुन्दर एवं विशाल राजधानी कैसी शोभा पा रही है। यहाँ पशुओंकी अधिकता है। जलकी भी सदा पूर्ण सुविधा रहती है। यहाँ रोग-व्याधिका प्रकोप नहीं होता। सुन्दर महलोंसे भरा-पूरा यह नगर बड़ा मनोहर प्रतीत होता है ॥ १ ॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

तात ! यहाँ विहारोपयोगी विपुल, वराह, वृषभ (ऋषभ), ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा पाँचवाँ चैत्यक नामक पर्वत है। बड़े-बड़े शिखरोंवाले ये पाँचों सुन्दर पर्वत शीतल छायावाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं और एक साथ मिलकर एक-दूसरेके शरीरका स्पर्श करते हुए मानो गिरिव्रज नगरकी रक्षा कर रहे हैं।२-३।

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥

वहाँ लोध नामक वृक्षोंके कई मनोहर वन हैं, जिनसे वे पाँचों पर्वत ढके हुए-से जान पड़ते हैं। उनकी शाखाओंके अग्रभागमें फूल-ही-फूल दिखायी देते हैं। लोधोंके ये सुगन्धित वन कामीजनोंको बहुत प्रिय हैं ॥ ४ ॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान् मुनिः॥ ५ ॥

यहीं अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले महामना गौतमने उशीनरदेशकी शूद्रजातीय कन्याके गर्भसे काक्षीवान् आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

गौतमः प्रणयात् तस्माद् यथासौ तत्र सद्मनि ।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात् ॥ ६ ॥

इसी कारण वह गौतम मुनि राजाओंके प्रेमसे वहाँ आश्रममें रहता तथा मगधदेशीय राजवंशकी सेवा करता है ॥ ६ ॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥

अर्जुन ! पूर्वकालमें अङ्ग-वङ्ग आदि महाबली राजा भी गौतमके घरमें आकर आनन्दपूर्वक रहते थे ॥ ७ ॥

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः ॥ ८ ॥

पार्थ ! गौतमके आश्रमके निकट लहलहाती हुई पीपल और लोधोंकी इन सुन्दर एवं मनोरम वनपङ्क्तियोंको तो देखो ॥ ८ ॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥

यहाँ अर्बुद और शक्रवापी नामवाले दो नाग रहते हैं, जो अपने शत्रुओंको संतप्त करनेवाले हैं। यहीं स्वस्तिक नाग और मणि नागके भी उत्तम भवन हैं ॥ ९ ॥

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥

मनुने मगधदेशके निवासियोंको मेघोंके लिये अपरिहार्य (अनुग्राह्य) कर दिया है; (अतः वहाँ सदा ही

बादल समयपर यथेष्ट वर्षा करते हैं)। चण्डकौशिक मुनि और मणिमान् नाग भी मगधदेशपर अनुग्रह कर चुके हैं ॥

(पाण्डरे विपुले चैव तथा वाराहकेऽपि च ।
चैत्यके च गिरिश्रेष्ठे मातङ्गे च शिलोच्चये ॥
एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धमहालयाः ।
यतीनामाश्रमाश्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ॥

श्वेतवर्णके वृषभ, विपुल, वाराह, गिरिश्रेष्ठ चैत्यक तथा मातङ्ग गिरि—इन सभी श्रेष्ठ पर्वतोंपर सम्पूर्ण सिद्धोंके विशाल भवन हैं तथा यतियों, मुनियों और महात्माओंके बहुत-से आश्रम हैं ॥

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा ।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ॥)

वृषभ, महापराक्रमी तमाल, गन्धर्वों, राक्षसों तथा नागोंके भी निवासस्थान उन पर्वतोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासंधोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार चारों ओरसे दुर्धर्ष उस रमणीय नगरको पाकर जरासंधको यह अभिमान बना रहता है कि मुझे अनुपम अर्थसिद्धि प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ।

आज हमलोग उसके घरपर ही चलकर उसका सारा घमंड हर लेंगे ॥ ११½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े । वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे भरा-पूरा था । उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे ॥ १२-१३ ॥

स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।
ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ॥ १४ ॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मगधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ॥ १५ ॥

वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। कोई भी उसको जीत नहीं सकता था । ऐसे गिरिव्रजके निकट वे तीनों जा पहुँचे । वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये । उस नगरमें निवास करनेवाले मनुष्य तथा बृहद्रथ-परिवारके लोग उस पर्वतकी पूजा किया करते थे । मगधदेशकी प्रजाको यह चैत्यक पर्वत बहुत ही प्रिय था ॥ १४-१५ ॥

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १६ ॥

उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगाड़े तैयार कराये, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ॥ १६ ॥

स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १७ ॥

राजाने उन नगाड़ोंको उस राक्षसके ही चमड़ेसे मढ़ाकर अपने नगरमें रखवा दिया । जहाँ वे नगाड़े बजते थे, वहाँ दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगती थी ॥ १७ ॥

भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानाऽऽयुधास्तदा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन् ।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासंधं जिघांसवः ॥ १९ ॥

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगाड़ोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया । उन सबने अनेक प्रकारके आयुध लेकर द्वारके सामने मगधनिवासियोंके परम प्रिय उस चैत्यक पर्वतपर धावा किया था । जरासंधको मारनेकी इच्छा रखकर मानो वे उसके मस्तकपर आघात कर रहे थे ॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत् तत् पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥

उस चैत्यकका विशाल शिखर बहुत पुराना, किंतु सुदृढ़ था । मगधदेशमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी । गन्ध और पुष्पकी मालाओंसे उसकी सदा पूजा की जाती थी । श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरोंने अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया । तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे ॥

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥ २२ ॥

इसी समय वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंने अनेक अपशकुन देखकर राजा जरासंधको उनके विषयमें सूचित किया ॥ २२ ॥

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासंधः प्रतापवान् ।
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ॥ २३ ॥

पुरोहितोंने राजाको हाथीपर बिठाकर उसके चारों ओर प्रज्वलित आग घुमायी । प्रतापी राजा जरासंधने अनिष्टकी

शान्तिके लिये व्रतकी दीक्षा ले नियमोंका पालन करते हुए उपवास किया ॥ २३ ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासंधेन भारत ॥ २४ ॥

भारत ! इधर भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके वेषमें अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके अपनी भुजाओंसे ही आयुधोंका काम लेते हुए जरासंधके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखकर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥ २५ ॥
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः॥ २६ ॥

उन्होंने खाने-पीनेकी वस्तुओं, फूल-मालाओं तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंकी दूकानोंसे सजे हुए हाट-बाटकी अपूर्व शोभा और सम्पदा देखी। नगरका वह वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, सर्वगुणसम्पन्न तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला था। उस गलीकी अद्भुत समृद्धिको देखकर वे महाबली नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन एक मालीसे बलपूर्वक बहुत-सी मालाएँ लेकर नगरकी प्रधान सड़कसे चलने लगे ॥२५-२६॥

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासंधस्य धीमतः ॥ २७ ॥

उन सबके वस्त्र अनेक रंगके थे। उन्होंने गलेमें हार और कानोंमें चमकीले कुण्डल पहन रक्खे थे। वे क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे ॥ २७ ॥

गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ॥ २८ ॥
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ।

जैसे हिमालयकी गुफाओंमें रहनेवाले सिंह गौओंका स्थान ढूँढ़ते हुए आगे बढ़ते हों, उसी प्रकार वे तीनों वीर राजभवनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे थे। महाराज ! युद्धमें विशेष शोभा पानेवाले उन तीनों वीरोंकी भुजाएँ साखूके लट्ठे-जैसी सुशोभित हो रही थीं। उनपर चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था ॥ २८½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्शालस्कन्धानिवोद्गतान्।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ २९ ॥

शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छाती-वाले गजराजसदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगध-निवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३० ॥

वे नरश्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ राजा जरासंधके निकट गये ॥ ३० ॥

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३१ ॥

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पानेके योग्य थे। उनका सर्वत्र सत्कार होता था। उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया और उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥ ३२ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥ ३३ ॥
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

तदनन्तर शक्तिशाली राजाने इन तीनों अतिथियोंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है।' जनमेजय ! उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे। उनमेंसे महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र ! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते। आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे' ॥ ३२-३३½ ॥

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३४ ॥
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।
तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३५ ॥

तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया। फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ वह गया। राजन् ! उसका यह नियम भूमण्डलमें विख्यात था ॥ ३४-३५ ॥

स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! युद्धविजयी राजा जरासंध स्नातक ब्राह्मणोंका आगमन सुनकर आधी रातके समय भी उनकी आवभगतके लिये उनके पास चला जाता था ॥ ३६ ॥

तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासंधो विस्मितश्चाभवत् तदा ॥ ३७ ॥

उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ। वह उनके पास गया ॥ ३७ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासंधं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३९ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ राजा जरासंधको देखते ही इस प्रकार बोले—'महाराज !

जरासंधके भवनमें श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन

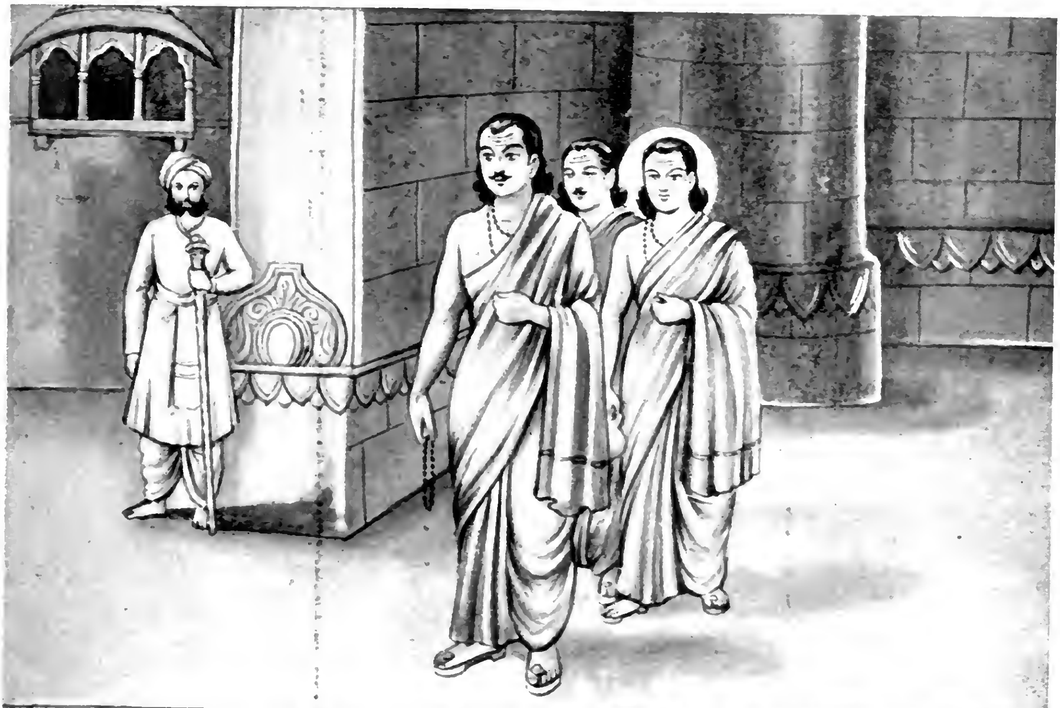

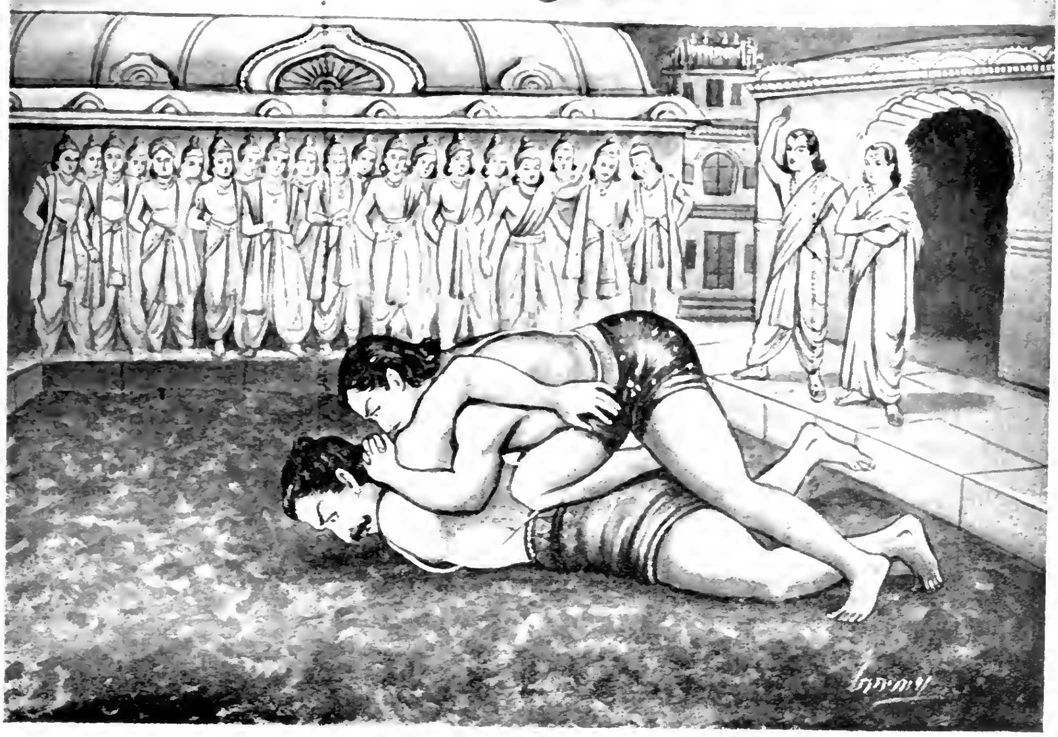

भीमसेन और जरासंधका युद्ध

आपका कल्याण हो।' जनमेजय! ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे ॥ ३८-३९ ॥

तानब्रवीज्जरासंधस्तथा पाण्डवयादवान्।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ४० ॥

राजेन्द्र! ब्राह्मणोंके छद्मवेषमें छिपे हुए उन पाण्डव तथा यादव वीरोंको लक्ष्य करके जरासंधने कहा—'आपलोग बैठ जायँ' ॥ ४० ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः।
सम्प्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ॥ ४१ ॥

फिर वे सभी बैठ गये। वे तीनों पुरुषसिंह महान् यज्ञमें प्रज्वलित तीन अग्नियोंकी भाँति अपनी अपूर्व शोभासे उद्भासित हो रहे थे ॥ ४१ ॥

तानुवाच जरासंधः सत्यसंधो नराधिपः।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान्।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४२ ॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन! उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—'ब्राह्मणो! इस मानव-जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण समावर्तन आदि विशेष निमित्तके बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते। मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आपलोग कौन हैं? आपके गलेमें फूलोंकी माला है और भुजाओंमें धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न स्पष्ट दिखायी देता है ॥ ४२-४३ ॥

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४४ ॥

'आपलोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं, परंतु ब्राह्मण होनेका परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके रंगीन कपड़े पहने और अकारण माला तथा चन्दन लगाये हुए आप कौन हैं? सच बताइये। राजाओंमें सत्यकी ही शोभा होती है ॥ ४४ ॥

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥ ४५ ॥

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये द्वारके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है? ॥ ४५ ॥

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥ ४६ ॥

'बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रक्खा है? ॥४६॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम्।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥ ४७ ॥

'इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित हो मेरेद्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजाको आपलोग ग्रहण क्यों नहीं करते हैं? फिर मेरे यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है?' ॥४७॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४८ ॥

जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥४८॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं ॥ ४९ ॥

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ५० ॥

इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम् ॥ ५१ ॥

जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है ॥ ५१ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ॥ ५२ ॥

विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो, तो निश्चय ही देख लोगे ॥ ५२ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥ ५३ ॥

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं ॥ ५३ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५४ ॥

हम अपने कार्यसे तुम्हारे घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यह हमारा सनातन व्रत है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णजरासंधसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्णजरासंधसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

जरासंध और श्रीकृष्णका संवाद तथा जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी एवं जरासंधका श्रीकृष्णके साथ वैर होनेके कारणका वर्णन

जरासंध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासंध बोला—ब्राह्मणो! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता ॥ १ ॥

वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

विप्रगण! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है, तब मुझ निरपराधको आपलोग शत्रु कैसे मान रहे हैं? यह बताइये। क्या यही साधु पुरुषोंका बर्ताव है? ॥ २ ॥

अथ धर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन् महारथः।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

किसीके धर्म (और अर्थ) में बाधा डालनेसे अवश्य ही मनको बड़ा संताप होता है। जो धर्मज्ञ महारथी क्षत्रिय लोकमें धर्मके विपरीत आचरण करता हुआ किसी निरपराध व्यक्तिपर दूसरोंके धन और धर्मके नाशका दोष लगाता है, वह कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है और अपनेको कल्याणसे भी वञ्चित कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ३-४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान् वै साधुचारिणाम्।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

सत्कर्म करनेवाले क्षत्रियोंके लिये तीनों लोकोंमें क्षत्रिय-धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रियके लिये अन्य धर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५ ॥

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

मैं अपने मनको वशमें रखकर सदा स्वधर्म (क्षत्रिय-धर्म) में स्थित रहता हूँ। प्रजाओंका भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी दशामें भी आपलोग प्रमादसे ही मुझे शत्रु या अपराधी बता रहे हैं ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं ॥ ७ ॥

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥

राजन्! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मानते हो? ॥ ८ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो? ॥ ९ ॥

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥

बृहद्रथकुमार! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १० ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो ? ॥ ११ ॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः ॥ १२ ॥

जरासंध ! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्णके लोगोंको पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है ? ॥ १२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥

जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥ १४ ॥

तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ १४ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत्।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है ॥ १५ ॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा ? ॥ १६ ॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये ॥ १७ ॥

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥

वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है ॥ १८ ॥

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥

क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥

हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है ? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो। राजन् ! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज ! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है ॥ २०-२१ ॥

यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

भूपाल ! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभी-तक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ ॥ २२ ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥

मगधराज ! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥

दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये ॥ २४ ॥

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २५ ॥

तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो ॥ २५ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ।२६।

मगधनरेश ! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो । तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो ॥ २६ ॥

जरासंध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥

जरासंधने कहा—श्रीकृष्ण ! मैं युद्धमें जीते बिना किन्हीं राजाओंको कैद करके यहाँ नहीं लाता हूँ। यहाँ कौन ऐसा शत्रु राजा है, जो दूसरोंसे अजेय होनेपर भी मेरेद्वारा जीत न लिया गया हो ?॥ २७ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! क्षत्रियके लिये तो यह धर्मानुकूल जीविका बतायी गयी है कि वह पराक्रम करके शत्रुको अपने वशमें लाकर फिर उसके साथ मनमाना बर्ताव करे ॥ २८ ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रियके व्रतको सदा याद रखता हुआ देवताको बलि देनेके लिये उपहारके रूपमें लाये हुए इन राजाओंको आज तुम्हारे भयसे कैसे छोड़ सकता हूँ ? ॥ २९ ॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥३०॥

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचनायुक्त सेनाके साथ लड़ ले अथवा तुममेंसे कोई एक मुझ अकेलेके साथ युद्ध करे अथवा मैं अकेला ही तुममेंसे दो या तीनोंके साथ बारी-बारीसे या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासंधः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत् तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भयानक कर्म करनेवाले उन तीनों वीरोंके साथ युद्धकी इच्छा रखकर राजा जरासंधने अपने पुत्र सहदेवके राज्याभिषेककी आज्ञा दे दी ॥ ३१ ॥

स तु सेनापतिं राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मगधनरेशने वह युद्ध उपस्थित होनेपर अपने सेनापति कौशिक और चित्रसेनका स्मरण किया (जो उस समय जीवित नहीं थे) ॥ ३२ ॥

ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥

राजन् ! ये वे ही थे, जिनके नाम पहले तुमसे हंस और डिम्भक बताये हैं । मनुष्यलोकके सभी पुरुष उनके प्रति बड़े आदरका भाव रखते थे ॥ ३३ ॥

तं तु राजन् विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३४ ॥
सत्यसंधो जरासंधं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥
नात्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥

जनमेजय ! मनस्वी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, वसुदेवपुत्र एवं बलरामके छोटे भाई भगवान् मधुसूदनने दिव्य दृष्टिसे स्मरण करके यह जान लिया था कि सिंहके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाला यह राजा जरासंध युद्धमें दूसरे वीरका भाग (वध्य) नियत किया गया है । यदुवंशियोंमेंसे किसीके हाथसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माजीके आदेशकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने स्वयं उसे मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३४—३६ ॥

(जनमेजय उवाच

किमर्थं वैरिणावास्तामुभौ तौ कृष्णमागधौ ।
कथं च निर्जितः संख्ये जरासंधेन माधवः ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भगवान् श्रीकृष्ण और मगधराज जरासंध दोनों एक-दूसरेके शत्रु क्यों हो गये थे ? तथा जरासंधने यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको युद्धमें कैसे परास्त किया ? ॥

कश्च कंसो मागधस्य यस्य हेतोः स वैरवान् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं वैशम्पायन तत्त्वतः ॥

कंस मगधराज जरासंधका कौन था, जिसके लिये उसने भगवान्से वैर ठान लिया । वैशम्पायनजी ! ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

यादवानामन्ववाये वसुदेवो महामतिः ।
उदपद्यत वार्ष्णेयो ह्युग्रसेनस्य मन्त्रभृत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यदुकुलमें परम बुद्धिमान् वसुदेव उत्पन्न हुए, जो वृष्णिवंशके राजकुमार तथा राजा उग्रसेनके विश्वसनीय मन्त्री थे ॥

उग्रसेनस्य कंसस्तु बभूव बलवान् सुतः ।
ज्येष्ठो बहूनां कौरव्य सर्वशस्त्रविशारदः ॥

उग्रसेनका पुत्र बलवान् कंस हुआ, जो उनके अनेक पुत्रोंमें सबसे बड़ा था । कुरुनन्दन ! कंसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें निपुणता प्राप्त की थी ॥

जरासंधस्य दुहिता तस्य भार्यातिविश्रुता ।
राज्यशुल्केन दत्ता सा जरासंधेन धीमता ॥

जरासंधकी पुत्री उसकी सुप्रसिद्ध पत्नी थी, जिसे बुद्धिमान् जरासंधने इस शर्तके साथ दिया था कि इसके पतिको तत्काल राजाके पदपर अभिषिक्त किया जाय ॥

तदर्थमुग्रसेनस्य मथुरायां सुतस्तदा ।
अभिषिक्तस्तदामात्यैः स वै तीव्रपराक्रमः ॥

इस शुल्ककी पूर्तिके लिये उग्रसेनके उस दुःसह पराक्रमी पुत्रको मन्त्रियोंने मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ऐश्वर्यबलमत्तस्तु स तदा बलमोहितः ।
निगृह्य पितरं भुङ्क्ते तद् राज्यं मन्त्रिभिः सह ॥

तब ऐश्वर्यके बलसे उन्मत्त और शारीरिक शक्तिसे मोहित हो कंस अपने पिताको कैद करके मन्त्रियोंके साथ उनका राज्य भोगने लगा ॥

वसुदेवस्य तत् कृत्यं न शृणोति स मन्दधीः ।
स तेन सह तद् राज्यं धर्मतः पर्यपालयत् ॥

मन्दबुद्धि कंस वसुदेवजीके कर्तव्य-विषयक उपदेशको नहीं सुनता था, तो भी उसके साथ रहकर वसुदेवजी मथुराके राज्यका धर्मपूर्वक पालन करने लगे ॥

प्रीतिमान् स तु दैत्येन्द्रो वसुदेवस्य देवकीम् ।
उवाह भार्यां स तदा दुहिता देवकस्य या ॥

दैत्यराज कंसने अत्यन्त प्रसन्न होकर वसुदेवजीके साथ देवकीका ब्याह कर दिया, जो उग्रसेनके भाई देवककी पुत्री थी ॥

तस्यामुद्वाह्यमानायां रथेन जनमेजय ।
उपारुरोह वार्ष्णेयं कंसो भूमिपतिस्तदा ॥

जनमेजय ! जब रथपर बैठकर देवकी विदा होने लगी, तब राजा कंस भी उसे पहुँचानेके लिये वृष्णिवंशविभूषण वसुदेवजीके पास उस रथपर जा बैठा ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीद् देवदूतस्य कस्यचित् ।
वसुदेवश्च शुश्राव तां वाचं पार्थिवश्च सः ॥

इसी समय आकाशमें किसी देवदूतकी वाणी स्पष्ट सुनायी देने लगी । वसुदेवजीने तो उसे सुना ही, राजा कंसने भी सुना ॥

यामेतां वहमानोऽद्य कंसोद्वहसि देवकीम् ।
अस्या यश्चाष्टमो गर्भः स ते मृत्युर्भविष्यति ॥

देवदूत कह रहा था—'कंस ! आज तू जिस देवकीको रथपर बिठाकर लिये जा रहा है, उसका आठवाँ गर्भ तेरी मृत्युका कारण होगा' ॥

सोऽवतीर्य ततो राजा खड्गमुद्धृत्य निर्मलम् ।
इयेष तस्या मूर्धानं छेत्तुं परमदुर्मतिः ॥

यह आकाशवाणी सुनते ही अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले राजा कंसने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और देवकीका सिर काट लेनेका विचार किया ॥

स सान्त्वयंस्तदा कंसं हसन् क्रोधवशानुगम् ।
राजन्ननुनयामास वसुदेवो महामतिः ॥

राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् वसुदेवजी हँसते हुए क्रोधके वशीभूत हुए कंसको सान्त्वना दे उसकी अनुनय-विनय करने लगे—॥

अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ॥

'पृथ्वीपते ! प्रायः सभी धर्मोंमें नारीको अवध्य बताया गया है । क्या तुम इस निर्बल एवं निरपराध नारीको सहसा मार डालोगे ? ॥

यच्च तेऽत्र भयं राजन् शक्यते बाधितुं त्वया ।
इयं च शक्या पालयितुं समयश्चैव रक्षितुम् ॥

'राजन् ! इससे जो तुम्हें भय प्राप्त होनेवाला है, उसका तो तुम निवारण कर सकते हो । तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये और मुझे इसकी प्राणरक्षाके लिये जो शर्त निश्चित हो, उसका पालन करना चाहिये ॥

अस्यास्त्वमष्टमं गर्भं जातमात्रं महीपते ।
विध्वंसय तदा प्राप्तमेवं परिहृतं भवेत् ॥

'राजन् ! इसके आठवें गर्भको तुम पैदा होते ही नष्ट कर देना । इस प्रकार तुमपर आयी हुई विपत्ति टल सकती है' ॥

एवं स राजा कथितो वसुदेवेन भारत ।
तस्य तद् वचनं चक्रे शूरसेनाधिपस्तदा ॥
ततस्तस्यां सम्बभूवुः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
जाताञ्जातांस्तु तान् सर्वाञ्जघान मथुरेश्वरः ॥

भरतनन्दन ! वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर शूरसेनदेशके राजा कंसने उनकी बात मान ली । तदनन्तर देवकीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी अनेक कुमार क्रमशः उत्पन्न हुए । मथुरानरेश कंसने जन्म लेते ही उन सबको मार डालता था ॥

अथ तस्यां समभवद् बलदेवस्तु सप्तमः ।
याम्यया मायया तं तु यमो राजा विशाम्पते ॥
देवक्या गर्भमतुलं रोहिण्या जठरेऽक्षिपत् ।
आकृष्य कर्षणात् सम्यक् संकर्षण इति स्मृतः ॥
बलश्रेष्ठतया तस्य बलदेव इति स्मृतः ।

तदनन्तर देवकीके उदरमें सातवें गर्भके रूपमें बलदेवका आगमन हुआ । राजन् ! यमराजने यमसम्बन्धिनी मायाके द्वारा उस अनुपम गर्भको देवकीके उदरसे निकालकर रोहिणी-की कुक्षिमें स्थापित कर दिया । आकर्षण होनेके कारण उस बालकका नाम संकर्षण हुआ । बलमें प्रधान होनेसे उसका नाम बलदेव हुआ ॥

पुनस्तस्यां समभवदष्टमो मधुसूदनः ॥
तस्य गर्भस्य रक्षां तु चक्रे सोऽभ्यधिकं नृपः ।

तत्पश्चात् देवकीके उदरमें आठवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् मधुसूदनका आविर्भाव हुआ। राजा कंसने बड़े यत्नसे उस गर्भकी रक्षा की ॥

ततः काले रक्षणार्थं वसुदेवस्य सात्वतः ॥
उग्रः प्रयुक्तः कंसेन सचिवः क्रूरकर्मकृत् ।
विमूढेषु प्रभावेन बालस्योत्तीर्य तत्र वै ॥
उपागम्य स घोषे तु जगाम स महाद्युतिः ।
जातमात्रं वासुदेवमथाकृष्य पिता ततः ॥
उपजह्रे परिक्रीतां सुतां गोपस्य कस्यचित् ।

तदनन्तर प्रसवकाल आनेपर सात्वतवंशी वसुदेवपर कड़ी नजर रखनेके लिये कंसने उग्र स्वभाववाले अपने क्रूरकर्मा मन्त्रीको नियुक्त किया। परंतु बालस्वरूप श्रीकृष्णके प्रभावसे रक्षकोंके निद्रासे मोहित हो जानेपर वहाँसे उठकर महातेजस्वी वसुदेवजी बालकके साथ व्रजमें चले गये। नवजात वासुदेवको मथुरासे हटाकर पिता वसुदेवने उसके बदलेमें किसी गोपकी पुत्रीको लाकर कंसको भेंट कर दिया ॥

मुमुक्षमाणस्तं शब्दं देवदूतस्य पार्थिवः ॥
जघान कंसस्तां कन्यां प्रहसन्ती जगाम सा ।
आर्येति वाशती शब्दं तस्मादार्येति कीर्तिता ॥

देवदूतके कहे हुए पूर्वोक्त शब्दका स्मरण करके उसके भयसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले कंसने उस कन्याको भी पृथ्वीपर दे मारा। परंतु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर हँसती और आर्य शब्दका उच्चारण करती हुई वहाँसे चली गयी। इसीलिये उसका नाम 'आर्या' हुआ ॥

एवं तं वञ्चयित्वा च राजानं स महामतिः ।
वासुदेवं महात्मानं वर्धयामास गोकुले ॥

परम बुद्धिमान् वसुदेवने इस प्रकार राजा कंसको चकमा देकर गोकुलमें अपने महात्मा पुत्र वासुदेवका पालन कराया ॥

वासुदेवोऽपि गोपेषु ववृधेऽब्जमिवाम्भसि ।
अज्ञायमानः कंसेन गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥

वासुदेव भी पानीमें कमलकी भाँति गोपोंमें रहकर बड़े हुए। काठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति वे अज्ञातभावसे वहाँ रहने लगे। कंसको उनका पता न चला ॥

विप्रचक्रेऽथ तान् सर्वान् बलवान् मधुरेश्वरः ।
वर्धमानो महाबाहुस्तेजोबलसमन्वितः ॥

मथुरानरेश कंस उन सब गोपोंको बहुत सताया करता था। इधर महाबाहु श्रीकृष्ण बड़े होकर तेज और बलसे सम्पन्न हो गये ॥

ततस्ते क्लिश्यमानास्तु पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
भयेन कामादपरे गणशः पर्यवारयन् ॥

राजाके सताये हुए गोपगण भय तथा कामनासे झुंड-के-झुंड एकत्र हो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर संगठित होने लगे ॥

स तु लब्ध्वा बलं राजन्नुग्रसेनस्य सम्मतः ।
वसुदेवात्मजः सर्वैर्भ्रातृभिः सहितं पुनः ॥
निर्जित्य युधि भोजेन्द्रं हत्वा कंसं महाबलः ।
अभ्यषिञ्चत् ततो राज्य उग्रसेनं विशाम्पते ॥

राजन्! इस प्रकार बलका संग्रह करके महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उग्रसेनकी सम्मतिके अनुसार समस्त भाइयोंसहित भोजराज कंसको मारकर पुनः उग्रसेनको ही मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः श्रुत्वा जरासंधो माधवेन हतं युधि ।
शूरसेनाधिपं चक्रे कंसपुत्रं तदा नृपः ॥

राजन्! जरासंधने जब यह सुना कि श्रीकृष्णने कंसको युद्धमे मार डाला है, तब उसने कंसके पुत्रको शूरसेनदेशका राजा बनाया ॥

स सैन्यं महदुत्थाप्य वासुदेवं प्रसह्य च ।
अभ्यषिञ्चत् सुतं तत्र सुताया जनमेजय ॥

जनमेजय! उसने बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण किया और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको हराकर अपनी पुत्रीके पुत्रको वहाँ राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

उग्रसेनं च वृष्णींश्च महाबलसमन्वितः ।
स तत्र विप्रकुरुते जरासंधः प्रतापवान् ॥
एतद् वैरं कौरवेय जरासंधस्य माधवे ।

जनमेजय! प्रतापी जरासंध महान् बल और सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न था। वह उग्रसेन तथा वृष्णिवंशको सदा क्लेश पहुँचाया करता था। कुरुनन्दन! जरासंध और श्रीकृष्णके वैरका यही वृत्तान्त है ॥

आशासितार्थे राजेन्द्र संरुरोध विनिर्जितान् ।
पार्थिवैस्तैर्नृपतिभिर्यक्ष्यमाणः समृद्धिमान् ॥
देवश्रेष्ठं महादेवं कृत्तिवासं त्रियम्बकम् ।
एतत् सर्वं यथा वृत्तं कथितं भरतर्षभ ॥
यथा तु स हतो राजा भीमसेनेन तच्छृणु ।)

राजेन्द्र! समृद्धिशाली जरासंध कृत्तिवासा और त्र्यम्बक नामोंसे प्रसिद्ध देवश्रेष्ठ महादेवजीको भूमण्डलके राजाओंकी बलि देकर उनका यजन करना चाहता था और इसी मनोवाञ्छित

प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उसने अपने जीते हुए समस्त राजाओंको कैदमें डाल रक्खा था। भरतश्रेष्ठ ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् बताया गया। अब जिस प्रकार भीमसेनने राजा जरासंधका वध किया, वह प्रसङ्ग सुनो ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधका युद्धके लिये उद्योगविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ श्लोक मिलाकर कुल ७५ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

जरासंधका भीमसेनके साथ युद्ध करनेका निश्चय, भीम और जरासंधका भयानक युद्ध और जरासंधकी थकावट

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः।
उवाच वाग्मी राजानं जरासंधमधोक्षजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा जरासंधने अपने मनमें युद्धका निश्चय कर लिया है, यह देख बोलनेमें कुशल यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—राजन् ! हम तीनोंमेंसे किस एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हारे मनमें उत्साह हो रहा है ? हममेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्धके लिये तैयार हो ? ॥२॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी मगधनरेश राजा जरासंधने भीमसेनके साथ युद्ध करना स्वीकार किया ॥ ३ ॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च।
उपतस्थे जरासंधं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥

जरासंधको युद्ध करनेके लिये उत्सुक देख उसके पुरोहित गोरोचन, माला, अन्यान्य माङ्गलिक वस्तुएँ तथा उत्तम-उत्तम ओषधियाँ, जो पीड़ाके समय भी सुख देनेवाली और मूर्च्छाकालमें भी होश बनाये रखनेवाली थीं, लेकर उसके पास आये ॥ ४ ॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना।
समनह्यज्जरासंधः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥

यशस्वी ब्राह्मणके द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न हो जानेपर जरासंध क्षत्रियधर्मका स्मरण करके युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गया ॥ ५ ॥

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च।
उदतिष्ठज्जरासंधो वेलातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥

जरासंधने किरीट उतारकर केशोंको कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये उठकर खड़ा हो गया; मानो महासागर अपनी मर्यादा—तटवर्तिनी भूमिको लाँघ जानेको उद्यत हो गया हो ॥ ६ ॥

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥

उस समय भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासंधने भीमसेनसे कहा—'भीम ! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषसे लड़कर हारना भी अच्छा है' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा जरासंधो भीमसेनमरिंदमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासंध भीमसेनकी ओर बढ़ा; मानो बल नामक असुर इन्द्रसे भिड़नेके लिये बढ़ा जा रहा हो ॥ ८ ॥

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासंधमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥

तदनन्तर बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे सलाह लेकर स्वस्तिवाचनके अनन्तर युद्धकी इच्छासे जरासंधके पास आ धमके ॥ ९ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥

फिर तो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥ ११ ॥

पहले उन दोनोंने हाथ मिलाये। फिर एक-दूसरेके चरणोंका अभिवन्दन किया। तत्पश्चात् भुजाओंके मूलभागके

संचालनसे वहाँ बँधे हुए बाजूबंदकी डोरको हिलाते हुए वे दोनों वीर वहीं ताल ठोंकने लगे ॥ ११ ॥

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥

राजन् ! फिर वे दोनों हाथोंसे एक-दूसरेके कंधेपर बार-बार चोट करते हुए अङ्ग-अङ्गसे भिड़कर आपसमें गुँथ गये तथा एक-दूसरेको बार-बार रगड़ने लगे ॥ १२ ॥

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाशनिम् ॥ १३ ॥

वे कभी हाथोंको बड़े वेगसे सिकोड़ लेते, कभी फैला देते, कभी ऊपर-नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बाँध लेते। इस प्रकार चित्रहस्त आदि दाँव दिखाकर उन दोनोंने कक्षा-बन्धका प्रयोग किया अर्थात् एक-दूसरेकी काख या कमरमें दोनों हाथ डालकर प्रतिद्वन्द्वीको बाँध लेनेकी चेष्टा की। फिर गलेमें और गालमें ऐसे-ऐसे हाथ मारने लगे कि आगकी चिनगारी-सी निकलने लगी और वज्रपातका-सा शब्द होने लगा ॥ १३ ॥

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे 'बाहुपाश' और 'चरणपाश' आदि दाँव-पेंचोंसे काम लेते हुए एक-दूसरेपर पैरोंसे ऐसा भीषण प्रहार करने लगे कि शरीरकी नस-नाड़ियाँतक पीड़ित हो उठीं। तदनन्तर दोनोंने दोनोंपर 'पूर्णकुम्भ' नामक दाँव लगाया (दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको परस्पर गूँथकर उन हाथोंकी हथेलियोंसे शत्रुके सिरको दबाया)। इसके बाद 'उरोहस्त'का प्रयोग किया (छातीपर थप्पड़ मारना शुरू कर दिया) ॥ १४ ॥

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥

फिर एक-दूसरेके हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजोंकी भाँति गर्जने लगे। दोनों ही भुजाओंसे प्रहार करते हुए मेघके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

थप्पड़ोंकी मार खाकर वे परस्पर घूर-घूरकर देखते और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंके समान एक-दूसरेको खींच-खींचकर लड़ने लगे ॥ १६ ॥

अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥

उस समय दोनों अपने अङ्गों और भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीके शरीरको दबाकर शत्रुकी पीठमें अपने गलेकी हँसली भिड़ाकर उसके पेटको दोनों बाँहोंसे कस लेते और उठाकर दूर फेंकते थे ॥

उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ॥ १८ ॥

इसी प्रकार कमरमें और बगलमें भी हाथ लगाकर दोनों प्रतिद्वन्द्वीको पछाड़नेकी चेष्टा करते थे। अपने शरीरको सिकोड़कर शत्रुकी पकड़से छूट जानेकी कला दोनों जानते थे। दोनों ही मल्लयुद्धकी शिक्षामें प्रवीण थे। वे उदरके नीचे हाथ लगाकर दोनों हाथोंसे पेटको लपेट लेते और विपक्षीको कण्ठ एवं छातीतक ऊँचे उठाकर धरतीपर दे मारते थे ॥१८॥

सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥

फिर वे सारी मर्यादाओंसे ऊँचे उठे हुए 'पृष्ठभङ्ग' नामक दाँव-पेंचसे काम लेने लगे (अर्थात् एक-दूसरेकी पीठको धरतीसे लगा देनेकी चेष्टामें लग गये)। दोनों भुजाओंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदर आदिमें आघात करके मूर्च्छित करनेका प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भका प्रयोग करने लगे ॥१९॥

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे अपनी इच्छाके अनुसार 'तृणपीड' (रस्सी बनानेके लिये बटे जानेवाले तिनकोंकी भाँति हाथ-पैर आदिको ऐंठना) तथा मुष्टिकाघातसहित पूर्णयोग (मुक्केको एक अङ्गमें मारनेकी चेष्टा दिखाकर दूसरे अङ्गमें आघात करना) आदि युद्धके दाँव-पेंचोंका प्रयोग एक-दूसरेपर करने लगे ॥ २० ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥

शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

जनमेजय ! उस समय उनका मल्लयुद्ध देखनेके लिये हजारों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं वृद्ध इकट्ठे हो गये । मनुष्योंकी अपार भीड़से वह स्थान ठसाठस भर गया ॥ २१-२२ ॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा ।
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके आघातसे तथा एक-दूसरेके निग्रह-प्रग्रह[1]से ऐसा भयंकर चटचट शब्द होता था, मानो वज्र और पर्वत परस्पर टकरा रहे हों ॥ २३ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरे हुए थे और एक-दूसरेकी दुर्बलता या असावधानीपर दृष्टि रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पानेकी इच्छा रखते थे ॥

तद् भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें, जहाँ वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति उन दोनों बलवान् वीरोंमें संघर्ष छिड़ा था, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ कि दर्शकलोग दूर भाग खड़े हुए ॥ २५ ॥

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥ २६ ॥

वे एक-दूसरेको पीछे ढकेलते और आगे खींचते थे । बार-बार खींचतान और छीना-झपटी करते थे । दोनोंने अपने प्रहारोंसे एक-दूसरेके शरीरमें खरोंच एवं घाव पैदा कर दिये और दोनों दोनोंको पटककर घुटनोंसे मारने तथा रगड़ने लगे ॥ २६ ॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥

फिर बड़े भारी गर्जन-तर्जनके द्वारा आपसमें डाँट बताते हुए एक-दूसरेपर ऐसे प्रहार करने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा कर रहे हों ॥ २७ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥

दोनोंकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं । दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे और लोहेकी परिघ-जैसी मोटी भुजाओंको भिड़ाकर आपसमें गुँथ जाते थे ॥ २८ ॥

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥

कार्तिक मासके पहले दिन उन दोनोंका युद्ध प्रारम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविरामगतिसे चलता रहा ॥ २९ ॥

तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥ ३० ॥

उन महात्माओंका वह युद्ध इसी रूपमें त्रयोदशीतक होता रहा । चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेश जरासंध क्लेशसे थककर युद्धसे निवृत्त-सा होने लगा ॥ ३० ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥ ३१ ॥

राजन् ! उसे इस प्रकार थका देख भगवान् श्रीकृष्ण भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनको समझाते हुए-से बोले—॥ ३१ ॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥ ३२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! शत्रु थक गया हो तो युद्धमें उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है । यदि उसे पूर्णतः पीड़ा दी जाय तो वह अपने प्राण त्याग देगा ॥ ३२ ॥

तस्मात् ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

'अतः पार्थ ! तुम्हें राजा जरासंधको अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिये । भरतश्रेष्ठ ! तुम अपनी भुजाओंद्वारा इनके साथ समभावसे ही युद्ध करो' ॥ ३३ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासंधस्य तद् रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेनने जरासंधको थका हुआ जानकर उसके वधका विचार किया ॥ ३४ ॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वृकोदरने उस अपराजित शत्रु जरासंधको जीतनेके लिये भारी क्रोध धारण किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधकी थकावटसे सम्बन्ध रखनेवाला तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

---

१. दोनों हाथोंसे शत्रुका कंधा पकड़कर खींचने और उसे नीचे मुख गिरानेकी चेष्टाका नाम 'निग्रह' है तथा शत्रुको उत्तान गिरा देनेके लिये उसके पैरोंको पकड़कर खींचना 'प्रग्रह' कहलाता है ।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीमके द्वारा जरासंधका वध, बंदी राजाओंकी मुक्ति, श्रीकृष्ण आदिका भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थमें आना और वहाँसे श्रीकृष्णका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधवधेप्सया॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेनने विशाल बुद्धिका सहारा ले जरासंधके बधकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहा—॥ १॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा॥ २॥

'यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! जरासंधने लंगोटसे अपनी कमर खूब कस ली है। यह पापी प्राण रहते मेरे वशमें आनेवाला नहीं जान पड़ता' ॥ २॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम्।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया॥ ३॥

उनके ऐसा कहनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जरासंधके वधके लिये भीमसेनको उत्तेजित करते हुए कहा—॥ ३॥

यत् ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः॥ ४॥

'भीम ! तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट दैवी स्वरूप है और तुम्हें वायुदेवतासे जो दिव्य बल प्राप्त हुआ है, उसे आज हमारे सामने जरासंधपर शीघ्रतापूर्वक दिखाओ ॥ ४॥

(तवैष वध्यो दुर्बुद्धिः जरासंधो महारथः।
इत्यन्तरिक्षे त्वश्रौषं यदा वायुरपोह्यते॥

'यह खोटी बुद्धिवाला महारथी जरासंध तुम्हारे हाथोंसे ही मारा जा सकता है। यह बात आकाशमें मुझे उस समय सुनायी पड़ी थी जब कि बलरामजीके द्वारा जरासंधके प्राण लेनेकी चेष्टा की जा रही थी ॥

गोमन्ते पर्वतश्रेष्ठे येनैष परिमोक्षितः।
बलदेवबलं प्राप्य कोऽन्यो जीवेत मागधात्॥

'इसीलिये गिरिश्रेष्ठ गोमन्तपर भैया बलरामने इसे जीवित छोड़ दिया था; अन्यथा बलदेवजीके काबूमें आ जानेपर इस जरासंधके सिवा दूसरा कौन जीवित बच सकता था ? ॥

तदस्य मृत्युर्विहितः त्वदृते न महाबल।
वायुं चिन्त्य महाबाहो जहीमं मगधाधिपम्॥)

'महाबली भीम ! तुम्हारे सिवा और किसीके द्वारा इसकी मृत्यु नहीं होनेवाली है। महाबाहो ! तुम वायुदेवका चिन्तन करके इस मगधराजको मार डालो' ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिंदमः।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः॥ ५॥

उनके इस तरह संकेत करनेपर शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबली भीमने उस समय बलवान् जरासंधको उठाकर आकाशमें वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ५॥

(ततस्तु भगवान् कृष्णो जरासंधजिघांसया।
भीमसेनं समालोक्य नलं जग्राह पाणिना॥
द्विधा चिच्छेद वै तत् तु जरासंधवधं प्रति।)

तब भगवान् श्रीकृष्णने जरासंधका वध करानेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर देखकर एक नरकट* हाथमें ले लिया और उसे (दातुनकी भाँति) दो टुकड़ोंमें चीर डाला (तथा उसे फेंक दिया)। यह जरासंधको मारनेके लिये एक संकेत था ॥

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! (भीमने उनके संकेतको समझ लिया और) उन्होंने सौ बार घुमाकर उसे धरतीपर पटक दिया और उसकी पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली, फिर अपने शरीरकी रगड़से पीसते हुए भीमने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ६॥

करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः॥ ७॥

इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरपर अपना पैर रखकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला ॥ ७॥

(पुनः संधाय तु तदा जरासंधः प्रतापवान्॥
भीमेन च समागम्य बाहुयुद्धं चकार ह।
तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥
सर्वलोकक्षयकरं सर्वभूतभयावहम्।
पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छिद्य माधवः॥
व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया।

तब वे दोनों टुकड़े फिरसे जुड़ गये और प्रतापी जरासंध भीमसे भिड़कर बाहुयुद्ध करने लगा। उन दोनों वीरोंका वह युद्ध अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार हो जायगा। वह द्वन्द्वयुद्ध सम्पूर्ण प्राणियोंके भयको बढ़ानेवाला था। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने पुनः एक नरकट लेकर पहलेकी ही

---

* नरकट बेंतकी तरह पोले डंठलका एक पौधा होता है, जो कलम बनानेके काम आता है।

भाँति चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उन दोनों टुकड़ोंको अलग-अलग विपरीत दिशामें फेंक दिया। जरासंधके वधके लिये यह दूसरा संकेत था॥

भीमसेनस्तदा ज्ञात्वा निर्बिभेद च मागधम्॥
द्विधा व्यत्यस्य पादेन प्राक्षिपच्च ननाद ह।

भीमसेनने उसे समझकर पुनः मगधराजको दो टुकड़ोंमें चीर डाला और पैरसे ही उन दोनों टुकड़ोंको विपरीत दिशाओंमें करके फेंक दिया। इसके बाद वे विकट गर्जना करने लगे॥

शुष्कमांसास्थिमेदस्त्वग्भिन्नमस्तिष्कपिण्डकः॥
शवभूतस्तदा राजन् पिण्डीकृत इवाबभौ।)

राजन्! उस समय जरासंधका शरीर शवरूप होकर मांसके लोंदे-सा जान पड़ने लगा। उसके शरीरके मांस, हड्डियाँ, मेदा और चमड़ा सभी सूख गये थे। मस्तिष्क और शरीर दो भागोंमें विदीर्ण हो गये थे॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः।
अभवत् तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः॥ ८॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह॥ ९॥

जब जरासंध रगड़ा जा रहा था और पाण्डुकुमार गर्ज-गर्जकर उसे पीसे डालते थे, उस समय भीमसेनकी गर्जना और जरासंधकी चीत्कारसे जो तुमुल नाद प्रकट हुआ, वह समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। उसे सुनकर सभी मगधनिवासी भयसे थर्रा उठे। स्त्रियोंके तो गर्भतक गिर गये॥ ८-९॥

किं नु स्याद्धिमवान् भिन्नः किं नु स्विद् दीर्यते मही।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात्॥ १०॥

भीमसेनकी गर्जना सुनकर मगधके लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि 'कहीं हिमालय पहाड़ तो नहीं फट पड़ा? कहीं पृथ्वी तो विदीर्ण नहीं हो रही है?'॥ १०॥

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम्।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः॥ ११॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों वीर रातमें राजा जरासंधके प्राणहीन शरीरको सोते हुएके समान राज-भवनके द्वारपर छोड़कर वहाँसे चल दिये॥ ११॥

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम्।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान्॥ १२॥

श्रीकृष्णने जरासंधके ध्वजा-पताकामण्डित दिव्य रथको जोत लिया और उसपर दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर पहाड़ी खोहके पास जा वहाँ कैदमें पड़े हुए अपने बान्धवस्वरूप समस्त राजाओंको छुड़ाया॥ १२॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात्॥ १३॥

उस महान् भयसे छूटे हुए रत्नभोगी नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हें विविध रत्नोंसे युक्त कर दिया॥ १३॥

अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात्॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्षतरहित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। वे शत्रुपर विजय पा चुके थे, उस अवस्थामें वे उस दिव्य रथपर आरूढ़ हो कैदसे छूटे हुए राजाओंके साथ गिरिव्रज नगरसे बाहर निकले॥ १४॥

यः स सोदर्यवान् नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः॥ १५॥

उस रथका नाम था सोदर्यवान्, उसमें दो महारथी योद्धा एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि थे। उस रथमें बार-बार शत्रुओंपर आघात करनेकी सुविधा थी तथा वह दर्शनीय होनेके साथ ही समस्त राजाओंके लिये दुर्जय था॥ १५॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः॥ १६॥
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये।

भीम और अर्जुन—ये दो योद्धा उस रथपर बैठे थे, श्रीकृष्ण सारथिका काम सँभाल रहे थे, सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंके लिये भी उसे जीतना कठिन था। इन दोनों रथियोंके द्वारा उस श्रेष्ठ रथकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो इन्द्र और विष्णु एक साथ बैठकर तारकामय संग्राममें विचर रहे हों॥ १६½॥

रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा॥ १७॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना॥ १८॥

वह रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं। उसकी घर्घराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वह शत्रुओंका विघातक और विजय प्रदान करनेवाला था। उसी रथपर सवार हो उसके द्वारा श्रीकृष्णने उस समय यात्रा की॥ १७-१८॥

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः॥ १९॥

यह वही रथ था, जिसके द्वारा इन्द्रने निन्यानबे दानवोंका वध किया था। उस रथको पाकर वे तीनों नरश्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुए॥ १९॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ २० ॥

तदनन्तर दोनों फुफेरे भाइयोंके साथ रथपर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णको देखकर मगधके निवासी बड़े विस्मित हुए ॥ २० ॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥ २१ ॥

वह रथ वायुके समान वेगशाली था, उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे । भारत ! श्रीकृष्णके बैठ जानेसे उस दिव्य रथकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः ।
योजनाद् ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २२ ॥

उस उत्तम रथपर देवनिर्मित ध्वज फहराता रहता था, जो रथसे अछूता था (रथके साथ उसका लगाव नहीं था, वह बिना आधारके ही उसके ऊपर लहराया करता था) । इन्द्रधनुषके समान प्रकाशमान बहुरंगी एवं शोभाशाली वह ध्वज एक योजन दूरसे ही दीखने लगता था ॥ २२ ॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन् स तेनासीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥ २३ ॥
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्मिन् रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः ॥ २४ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गरुडजीका स्मरण किया । गरुडजी उसी क्षण वहाँ आ गये । उस रथकी ध्वजामें बहुत-से भूत मुँह बाये हुए विकट गर्जना करते रहते थे । उन्हींके साथ सर्पभोजी गरुडजी भी उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हो गये । उनके द्वारा वह ध्वज ऊँचे उठे हुए चैत्य वृक्षके समान सुशोभित हो गया ॥ २३-२४ ॥

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २५ ॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २६ ॥

अब वह उत्तम ध्वज सहस्रों किरणोंसे आवृत मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अपने तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा । प्राणियोंके लिये उसकी ओर देखना कठिन हो गया । वह वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं था, अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा कटता नहीं था । राजन् ! वह दिव्य और श्रेष्ठ ध्वज इस लोकके मनुष्योंको दृष्टिगोचर मात्र होता था ॥ २५-२६ ॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥ २७ ॥

मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनिसे परिपूर्ण उसी दिव्य रथपर भीमसेन और अर्जुनके साथ बैठे हुए पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण नगरसे बाहर निकले ॥ २७ ॥

यं लेभे वासवाद् राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृप ॥ २८ ॥

राजन् ! इन्द्रसे उस रथको राजा वसुने प्राप्त किया था । फिर क्रमशः वसुसे बृहद्रथको और बृहद्रथसे जरासंधको वह रथ मिला था ॥ २८ ॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद् बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः ॥ २९ ॥

महायशस्वी कमलनयन महाबाहु श्रीकृष्ण गिरिव्रजसे बाहर आ समतल भूमिपर खड़े हुए ॥ २९ ॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

जनमेजय ! वहाँ ब्राह्मण आदि सभी नागरिकोंने शास्त्रीय विधिसे उनका सत्कार एवं पूजन किया ॥ ३० ॥

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

कैदसे छूटे हुए राजाओंने भी मधुसूदनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३२ ॥

'महाबाहो ! आप देवकी देवीको आनन्दित करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं, भीमसेन और अर्जुनका बल भी आपके साथ है । आपके द्वारा जो धर्मकी रक्षा हो रही है, वह आप-सरीखे धर्मावतारके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३२ ॥

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३३ ॥

'प्रभो ! हम सब राजा दुःखरूपी पङ्कसे युक्त जरासंध-

रूपी भयानक कुण्डमें डूब रहे थे, आपने जो आज हमारा यह उद्धार किया है, वह आपके योग्य ही है ॥ ३३ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे।
दिष्ट्या मोक्षाद् यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३४ ॥

'विष्णो ! अत्यन्त भयंकर पहाड़ी किलेमें कैद हो हम बड़े दुःखसे दिन काट रहे थे । यदुनन्दन ! आपने हमें इस संकटसे मुक्त करके अत्यन्त उज्ज्वल यश प्राप्त किया है; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३४ ॥

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान्।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३५ ॥

'पुरुषसिंह ! हम आपके चरणोंमें पड़े हैं । आप हमें आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ? कोई दुष्कर कार्य हो तो भी आपको यह समझना चाहिये मानो हम सब राजाओंने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया' ॥ ३५ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥

तब महामना भगवान् हृषीकेशने उन सबको आश्वासन देकर कहा—'राजाओ ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥

'धर्ममें तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट् पद प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है । इस कार्यमें तुम सब लोग उनकी सहायता करो' ॥ ३७ ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥ ३८ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! तब उन सभी राजाओंने प्रसन्नचित्त हो 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌की वह आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ ३८ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥

इतना ही नहीं, उन भूपालोंने दशार्हकुलभूषण भगवान्‌को रत्न भेंट किये । भगवान् गोविन्दने बड़ी कठिनाईसे, उन सबपर कृपा करनेके लिये ही, वह भेंट स्वीकार की ॥ ३९ ॥

जरासंधात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर जरासंधका पुत्र महामना सहदेव पुरोहितको आगे करके सेवकों और मन्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकला ॥

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके आगे रत्नोंका बहुत बड़ा भण्डार आ रहा था । सहदेव अत्यन्त विनीतभावसे चरणोंमें पड़कर नरदेव भगवान् वासुदेवकी शरणमें आया था ॥ ४१ ॥

(सहदेव उवाच

यत् कृतं पुरुषव्याघ्र मम पित्रा जनार्दन।
तत् ते हृदि महाबाहो न कार्यं पुरुषोत्तम ॥

सहदेव बोला—पुरुषसिंह जनार्दन ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! मेरे पिताने जो अपराध किया है, उसे आप अपने हृदयसे निकाल दें ॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविन्द प्रसादं कुरु मे प्रभो।
पितुरिच्छामि संस्कारं कर्तुं देवकिनन्दन ॥

गोविन्द ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । प्रभो ! आप मुझपर कृपा कीजिये । देवकीनन्दन ! मैं अपने पिताका दाह-संस्कार करना चाहता हूँ ॥

त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य भीमसेनात् तथार्जुनात्।
निर्भयो विचरिष्यामि यथाकामं यथासुखम् ॥

आपसे, भीमसेनसे तथा अर्जुनसे आज्ञा लेकर यह कार्य करूँगा और आपकी कृपासे निर्भय हो इच्छानुसार सुखपूर्वक विचरूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्यमानस्य सहदेवस्य मारिष।
प्रहृष्टो देवकीपुत्रः पाण्डवौ च महारथौ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार निवेदन करनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥

क्रियतां संस्क्रिया राजन् पितुस्त इति चाब्रुवन्।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पार्थयोश्च स मागधः ॥
प्रविश्य नगरं तूर्णं सह मन्त्रिभिरच्युत।
चितां चन्दनकाष्ठैश्च कालेयसरलैस्तथा ॥
कालागुरुसुगन्धैश्च तैलैश्च विविधैरपि।
घृतधाराक्षतैश्चैव सुमनोभिश्च मागधम् ॥
समन्तादवकीर्यन्त दह्यन्तं मगधाधिपम्।

उन सबने एक स्वरसे कहा—'राजन् ! तुम अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करो ।' भगवान् श्रीकृष्ण तथा दोनों कुन्तीकुमारोंका यह आदेश सुनकर मगधराजकुमारने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया । फिर चन्दनकी लकड़ी तथा केशर, देवदारु और काला अगुरु आदि सुगन्धित काष्ठोंसे चिता बनाकर उसपर मगधराजका शव रखा गया । तत्पश्चात् जलती चितामें दग्ध होते हुए मगधराजके शरीरपर नाना प्रकारके चन्दनादि सुगन्धित तैल और घीकी धाराएँ गिरायी गयीं । सब ओरसे अक्षत और फूलोंकी वर्षा की गयी ॥

उदकं तस्य चक्रेऽथ सहदेवः सहानुजः ॥
कृत्वा पितुः स्वर्गगतिं निर्ययौ यत्र केशवः ।
पाण्डवौ च महाभागौ भीमसेनार्जुनावुभौ ॥
स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा विज्ञापयत माधवम् ।

शवदाहके पश्चात् सहदेवने अपने छोटे भाईके साथ पिताके लिये जलाञ्जलि दी । इस प्रकार पिताका पारलौकिक कार्य करके राजकुमार सहदेव नगरसे निकलकर उस स्थानमें गया, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महाभाग पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन विद्यमान थे । उसने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥

सहदेव उवाच

इमे रत्नानि भूरीणि गोऽजाविमहिषादयः ।
हस्तिनोऽश्वाश्च गोविन्द वासांसि विविधानि च ॥
दीयतां धर्मराजाय यथा वा मन्यते भवान् ।)

सहदेवने कहा—प्रभो ! ये गाय, भैंस, भेड़-बकरे आदि पशु, बहुत-से रत्न, हाथी-घोड़े और नाना प्रकारके वस्त्र आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं । गोविन्द ! ये सब वस्तुएँ धर्मराज युधिष्ठिरको दीजिये अथवा आपकी जैसी रुचि हो, उसके अनुसार मुझे सेवाके लिये आदेश दीजिये ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

वह भयसे पीड़ित हो रहा था; पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभयदान देकर उसके लाये हुए बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट स्वीकार कर ली ॥ ४२ ॥

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासंधात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् जरासंधकुमारको प्रसन्नतापूर्वक वहीं पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया । श्रीकृष्णने सहदेवको अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया, इसलिये भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ४३ ॥

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥

राजन् ! उन महात्माओंद्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासंधपुत्र तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिताके नगरमें लौट गया ॥ ४४ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥

और पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न हो प्रचुर रत्नोंकी भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४५ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥

भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले और अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ४६ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासंधो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! सौभाग्यकी बात है कि महाबली भीमसेनने जरासंधको मार गिराया और समस्त राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ा दिया ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥

'भारत ! भाग्यसे ही ये दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन अपने नगरमें पुनः सकुशल लौट आये और इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँची' ॥ ४८ ॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार करके भीमसेन और अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया ॥४९॥

ततः क्षीणे जरासंधे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥

तदनन्तर जरासंधके नष्ट होनेपर अपने दोनों भाइयों-द्वारा की हुई विजयको पाकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित आनन्दमग्न हो गये ॥ ५० ॥

(हृष्टश्च धर्मराड् वाक्यं जनार्दनमभाषत ।

फिर धर्मराजने हर्षमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ।

युधिष्ठिर उवाच

त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्र भीमसेनेन पातितः ।
मागधोऽसौ बलोन्मत्तो जरासंधः प्रतापवान् ॥

युधिष्ठिर बोले—पुरुषसिंह जनार्दन ! आपका सहारा पाकर ही भीमसेनने बलके अभिमानसे उन्मत्त रहनेवाले प्रतापी मगधराज जरासंधको मार गिराया है ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं प्राप्स्यामि विगतज्वरः ।
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य यागार्होऽस्मि जनार्दन ॥

अब मैं निश्चिन्त होकर यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयका शुभ अवसर प्राप्त करूँगा । प्रभो ! आपके बुद्धि-बलका सहारा पाकर मैं यज्ञ करनेयोग्य हो गया ॥

पीतं पृथिव्यां युद्धेन यशस्ते पुरुषोत्तम ।
जरासंधवधेनैव प्राप्तास्ते विपुलाः श्रियः ॥

पुरुषोत्तम ! इस युद्धसे भूमण्डलमें आपके यशका विस्तार हुआ । जरासंधके वधसे ही आपको प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य कौन्तेयः प्रादाद् रथवरं प्रभोः ।
प्रतिगृह्य तु गोविन्दो जरासंधस्य तं रथम् ॥
प्रहृष्टस्तस्य मुमुदे फाल्गुनेन जनार्दनः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मराजपुरस्कृतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भगवान्‌को श्रेष्ठ रथ प्रदान किया । जरासंधके उस रथको पाकर गोविन्द बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके साथ उसमें बैठकर बड़े हर्षका अनुभव करने लगे । धर्मराज युधिष्ठिरके उस भेंटको अङ्गीकार करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ ॥

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५१ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ जाकर समस्त राजाओंसे उनकी अवस्थाके अनुसार क्रमशः मिले; फिर उन सबका यथायोग्य सत्कार एवं पूजन करके उन्होंने सभी नरपतियोंको विदा कर दिया ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५२ ॥

राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा ले वे सब नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ॥ ५२ ॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने उस समय पाण्डवोंद्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध करवाया ॥

घातयित्वा जरासंधं बुद्धिपूर्वमरिंदमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५४ ॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५५ ॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन् दिशः ॥ ५६ ॥

भारत ! जरासंधको बुद्धिपूर्वक मरवाकर शत्रुदमन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, कुन्ती तथा द्रौपदीसे आज्ञा ले, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धौम्यजीसे भी पूछकर धर्मराजके दिये हुए उसी मनके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए अपनी द्वारकापुरीको चले गये ॥ ५४—५६ ॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जाते समय युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की ॥ ५७ ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ॥ ५८ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५९ ॥

भारत ! महान् विजयको प्राप्त करके और जरासंधके द्वारा कैद किये हुए उन राजाओंको अभयदान देकर देवकी-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उक्त कर्मके द्वारा पाण्डवोंके यशका बहुत विस्तार हुआ और वे पाण्डव द्रौपदीकी भी प्रीतिको बढ़ाने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तस्मिन् काले तु यद् युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद् राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ॥ ६० ॥

उस समय धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये जो उचित कर्तव्य था, उसका राजा युधिष्ठिरने धर्मपूर्वक पालन किया । वे प्रजाओंकी रक्षा करनेके साथ ही उन्हें धर्मका उपदेश भी देते रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधवधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

(दिग्विजयपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन आदि चारों भाइयोंकी दिग्विजयके लिये यात्रा

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन श्रेष्ठ धनुष, दो विशाल एवं अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वज और अद्भुत सभाभवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे; अब वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! मुझे धनुष, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक, भूमि (राज्य एवं इन्द्रप्रस्थका दुर्ग), यश और बल—ये सभी दुर्लभ एवं मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं ॥ २ ॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम ॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब मैं अपने कोषको बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ । मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओंको जीतकर उनसे कर वसूल करूँ ॥ ३ ॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते ॥ ४ ॥

आपकी आज्ञा हो तो उत्तम तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें कुबेरद्वारा पालित उत्तर दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान करूँ ॥

(एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजः सहानुजः ।
प्रहृष्टो मन्त्रिभिश्चैव व्यासधौम्यादिभिः सह ॥
ततो व्यासो महाबुद्धिरुवाचेदं वचोऽर्जुनम् ।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई । साथ ही मन्त्रियों तथा व्यास, धौम्य आदि महर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ । तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् व्यासजीने अर्जुनसे कहा ॥

व्यास उवाच

साधु साध्विति कौन्तेय दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी ।
पृथिवीमखिलां जेतुमेकोऽध्यवसितो भवान् ॥

व्यासजी बोले—कुन्तीनन्दन ! मैं तुम्हें बारंबार साधुवाद देता हूँ । सौभाग्यसे तुम्हारी बुद्धिमें ऐसा संकल्प हुआ है । तुम सारी पृथ्वीको अकेले ही जीतनेके लिये उत्साहित हो रहे हो ॥

धन्यः पाण्डुर्महीपालो यस्य पुत्रस्त्वमीदृशः ।
सर्वं प्राप्स्यति राजेन्द्रो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
त्वद्वीर्येण स धर्मात्मा सार्वभौमत्वमेष्यति ।

राजा पाण्डु धन्य थे, जिनके पुत्र तुम ऐसे पराक्रमी निकले । तुम्हारे पराक्रमसे धर्मपुत्र धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर सब कुछ पा लेंगे । सार्वभौम सम्राट्के पदपर प्रतिष्ठित होंगे ॥

त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राजसूयमवाप्स्यति ॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
यमयोश्चैव वीर्येण सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ॥

तुम्हारे बाहुबलका सहारा पाकर ये राजसूययज्ञ पूर्ण कर लेंगे । भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम नीति, भीम और अर्जुनके बल तथा नकुल और सहदेवके पराक्रमसे धर्मराज युधिष्ठिरको सब कुछ प्राप्त हो जायगा ॥

तस्माद् दिशं देवगुप्तामुदीचीं गच्छ फाल्गुन ।
शक्तो भवान् सुराञ्जित्वा रत्नान्याहर्तुमोजसा ॥

इसलिये अर्जुन ! तुम तो देवताओंद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशाकी यात्रा करो; क्योंकि देवताओंको जीतकर वहाँसे बलपूर्वक रत्न ले आनेमें तुम्हीं समर्थ हो ॥

प्राचीं भीमो बलश्लाघी प्रयातु भरतर्षभः ।
याम्यां तत्र दिशं यातु सहदेवो महारथः ॥
प्रतीचीं नकुलो गन्ता वरुणेनाभिपालिताम् ।
एषा मे नैष्ठिकी बुद्धिः क्रियतां भरतर्षभाः ॥

अपने बलद्वारा दूसरोंसे होड़ लेनेवाले भरतकुलभूषण भीमसेन पूर्व दिशाकी यात्रा करें । महारथी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करें और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशापर आक्रमण करें । भरतश्रेष्ठ पाण्डवो ! मेरी बुद्धिका ऐसा ही निश्चय है । तुमलोग इसका पालन करो ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा व्यासवचो हृष्टास्तमूचुः पाण्डुनन्दनाः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! व्यासजीकी यह बात सुनकर पाण्डवोंने बड़े हर्षके साथ कहा ।

पाण्डवा ऊचुः

एवमस्तु मुनिश्रेष्ठ यथाऽऽज्ञापयसि प्रभो ।)

पाण्डव बोले—मुनिश्रेष्ठ ! आप जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हो ।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी पूर्वोक्त बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥

'भरतकुलभूषण ! पूजनीय ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यात्रा करो । तुम्हारी यह यात्रा शत्रुओंका शोक और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाली हो ॥ ६ ॥

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ।

'पार्थ ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त करोगे' ॥ ६½ ॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।

उनके इस प्रकार आदेश देनेपर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेनाके साथ अग्निके दिये हुए अद्भुतकर्मा दिव्य रथद्वारा वहाँसे प्रस्थित हुए । इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव इन सभी भाइयोंने धर्मराजसे सम्मानित हो सेनाओंके साथ दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया ॥ ७-८½ ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥ १० ॥

राजन् ! इन्द्रकुमार अर्जुनने कुबेरकी प्रिय उत्तर दिशापर विजय पायी । भीमसेनने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा तथा अस्त्रवेत्ता नकुलने पश्चिम दिशाको जीता ॥९-१०॥

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥

केवल धर्मराज युधिष्ठिर सुहृदोंसे घिरे हुए अपनी उत्तम राजलक्ष्मीके साथ खाण्डवप्रस्थमें रह गये थे ॥११॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें दिग्विजयका संक्षिप्त वर्णनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

षड्‌विंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अनेक देशों, राजाओं तथा भगदत्तकी पराजय

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! दिग्विजयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये । अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यद्यपि कुन्तीके चारों पुत्रोंने एक ही समय इन चारों दिशाओंकी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी, तो भी पहले तुम्हें अर्जुनका दिग्विजय-वृत्तान्त सुनाऊँगा ॥ २ ॥

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥

महाबाहु धनंजयने अत्यन्त दुःसह पराक्रम प्रकट किये बिना ही पहले पुलिन्द देशके भूमिपालोंको अपने वशमें किया ॥

आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥

कुलिन्दोंके साथ-साथ कालकूट और आनर्त देशके राजाओंको जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको भी जीत लिया ॥

स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम्॥ ५ ॥

राजन् ! तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने सुमण्डलको साथी बना लिया और उनके साथ जाकर शाकलद्वीप तथा राजा प्रतिविन्ध्यपर विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥

शाकलद्वीप तथा अन्य सातों द्वीपोंमें जो राजा रहते थे, उनके साथ अर्जुनके सैनिकोंका घमासान युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण जनमेजय ! अर्जुनने उन महान् धनुर्धरोंको भी जीत लिया और उन सबको साथ लेकर प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ॥ ७ ॥

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज ! प्राग्ज्योतिषपुरके प्रधान राजा भगदत्त थे । उनके साथ महात्मा अर्जुनका बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश किरात, चीन तथा समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले अन्य बहुतेरे योद्धाओंसे घिरे हुए थे ॥

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥ १० ॥

राजा भगदत्तने अर्जुनके साथ आठ दिनोंतक युद्ध किया, तो भी उन्हें युद्धसे थकते न देख वे हँसते हुए बोले—॥१०॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुम इन्द्रके पुत्र और संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर हो। तुममें ऐसा बल और पराक्रम उचित ही है ॥ ११ ॥

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ १२ ॥

'मैं देवराज इन्द्रका मित्र हूँ और युद्धमें उनसे तनिक भी कम नहीं हूँ, बेटा ! तो भी मैं संग्राममें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा ॥ १२ ॥

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक॥ १३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी इच्छा क्या है, बताओ ? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वत्स ! महाबाहो ! तुम जो कहोगे, वही करूँगा' ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥ १४ ॥
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम्।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! धर्मज्ञ सत्यप्रतिज्ञ कुरुकुल-रत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत दक्षिणा देकर राजसूय यज्ञ करनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ वे चक्रवर्ती सम्राट् हों। आप उन्हें कर दीजिये। आप मेरे पिताके मित्र हैं और मुझसे भी प्रेम रखते हैं; अतः मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता। आप प्रेमभावसे ही उन्हें भेंट दीजिये ॥ १४-१५ ॥

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥

भगदत्तने कहा—कुन्तीकुमार ! मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यह सब कुछ करूँगा। बोलो, तुम्हारे लिये और क्या करूँ ? ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तपराजये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार महाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयप्रसंगमें भगदत्तपराजयसम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका अनेक पर्वतीय देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः।
अनेनैव कृतं सर्वमनुजानीहि याम्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर धनंजयने भगदत्तसे कहा—'राजन् ! आपने जो कर देना स्वीकार कर लिया, इतनेसे ही मेरा सब सत्कार हो जायगा, अब आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ' ॥ १ ॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
प्रययावुत्तरां तस्माद् दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥

भगदत्तको जीतकर महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन वहाँसे कुबेरद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशामें गये ॥ २ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम्।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशोंपर विजय प्राप्त की ॥ ३ ॥

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥

फिर समस्त पर्वतों और वहाँ निवास करनेवाले राजाओं-को अपने अधीन करके उन्होंने सबसे धन वसूल किये ।४।

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान्।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उन नरेशोंको प्रसन्न करके उन सबके साथ उलूकवासी राजा बृहन्तपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥

जुझाऊ बाजे श्रेष्ठ मृदङ्ग आदिकी ध्वनि, रथके पहियों-की घर्घराहट और हाथियोंकी गर्जनासे वे इस पृथ्वीको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा।
निष्क्रम्य नगरात् तस्माद् योधयामास फाल्गुनम् ॥७॥

तब राजा बृहन्त तुरंत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ नगर-से बाहर निकले और अर्जुनसे युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

सुमहान् संनिपातोऽभूद् धनंजयबृहन्तयोः।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥

उस समय अर्जुन और बृहन्तमें बड़े जोरकी मार-काट शुरू हुई, परंतु बृहन्त पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको न सह सके ॥ ८ ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारको असह्य मानकर दुर्धर्ष वीर पर्वतराज बृहन्त युद्धसे हट गये और सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन् राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥

जनमेजय ! अर्जुनने बृहन्तका राज्य पुनः उन्हींके हाथमें सौंपकर उलूकराजके साथ सेनाबिन्दुपर आक्रमण किया और उन्हें शीघ्र ही राज्यच्युत कर दिया ॥ १० ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक देशों और वहाँके राजाओंको अपने अधीन किया॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान् राजन् देशान् पञ्चगणांस्ततः॥ १२ ॥

राजन् ! धर्मराजकी आज्ञासे किरीटधारी अर्जुनने वहीं रहकर अपने सेवकोंद्वारा पञ्चगण नामक देशोंको जीत लिया॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥

वहाँसे सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें आकर चतुरंगिणी सेनाके साथ शक्तिशाली अर्जुनने वहीं पड़ाव डाला ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन सभी पराजित राजाओंसे घिरे हुए महातेजस्वी अर्जुनने पौरव राजा विश्वगश्वपर आक्रमण किया॥१४॥

विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥

वहाँ संग्राममें शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको परास्त करके पौरवद्वारा सुरक्षित उनकी राजधानीको भी सेनाद्वारा जीत लिया ॥ १५ ॥

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥

पौरवको युद्धमें जीतकर पर्वतनिवासी लुटेरोंके सात दलोंपर, जो 'उत्सवसंकेत' कहलाते थे, पाण्डुकुमार अर्जुनने विजय प्राप्त की ॥ १६ ॥

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥

इसके बाद क्षत्रियशिरोमणि धनंजयने काश्मीरके क्षत्रियवीरोंको तथा दस मण्डलोंके साथ राजा लोहितको भी जीत लिया ॥ १७ ॥

ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद आदि बहुतसे क्षत्रियनरेशगण सब ओरसे कुन्तीनन्दन अर्जुनकी शरणमें आये ॥ १८ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥

इसके बाद कुरुनन्दन धनंजयने रमणीय अभिसारी नगरीपर विजय पायी और उरगावासी राजा रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ॥ १९ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥

तदनन्तर इन्द्रकुमार अर्जुनने राजा चित्रायुधके द्वारा सुरक्षित सुरम्य नगर सिंहपुरपर सेना लेकर आक्रमण किया और उसे युद्धमें जीत लिया ॥ २० ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥

इसके बाद पाण्डवप्रवर कुरुकुलनन्दन किरीटीने अपनी सारी सेनाके साथ धावा करके सुह्म तथा चोल देशकी सेनाओंको मथ डाला ॥ २१ ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् परम पराक्रमी इन्द्रकुमारने बड़ी भारी मारकाट मचाकर दुर्धर्ष वीर बाह्लीकोंको वशमें किया ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ॥ २३ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने साथ शक्तिशालिनी सेना लेकर काम्बोजोंके साथ दरदोंको भी जीत लिया ॥ २३ ॥

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान् सर्वानजयत् प्रभुः ॥ २४ ॥

ईशान कोणका आश्रय ले जो लुटेरे या डाकू वनमें निवास करते थे, उन सबको शक्तिशाली धनंजयने जीतकर वशमें कर लिया ॥ २४ ॥

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ॥ २५ ॥

महाराज ! लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशोंको भी अर्जुनने एक साथ जीत लिया ॥ २५ ॥

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवातिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥

ऋषिकदेशमें भी ऋषिकराज और अर्जुनमें तारकामय संग्रामके समान बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २६ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान् रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥

राजन्! युद्धके मुहानेपर ऋषिकोंको हराकर अर्जुनने तोतेके उदरके समान हरे रंगवाले आठ घोड़े उनसे भेंट लिये॥

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥

इनके सिवा, मोरके समान रंगवाले उत्तम, गतिशील और शीघ्रगामी दूसरे भी बहुतसे घोड़े वे करके रूपमें वसूल कर लाये ॥ २८ ॥

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः ॥ २९ ॥

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुन संग्राममें हिमवान् और निष्कुट प्रदेशके अधिपतियोंको जीतकर धवलगिरिपर आये और वहीं सेनाका पड़ाव डाला ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयके प्रसंगमें अनेक देशोंपर विजयसम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरुपर विजय प्राप्त करके अर्जुनका इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरिको लाँघकर द्रुमपुत्रके द्वारा सुरक्षित किम्पुरुषदेशमें गये, जहाँ किन्नरोंका निवास था। वहाँ क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले भारी संग्रामके द्वारा उन्होंने उस देशको जीत लिया और कर देते रहनेकी शर्तपर उस राजाको पुनः उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥

किन्नरदेशको जीतकर शान्तचित्त इन्द्रकुमारने सेनाके साथ गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित हाटकदेशपर हमला किया ॥३॥

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

और उन गुह्यकोंको सामनीतिसे समझा-बुझाकर ही वशमें कर लेनेके पश्चात् वे परम उत्तम मानसरोवरपर गये। वहाँ कुरुनन्दन अर्जुनने समस्त ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध जल-स्रोतों) का दर्शन किया ॥ ४ ॥

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

मानसरोवरपर पहुँचकर शक्तिशाली पाण्डुकुमारने हाटक देशके निकटवर्ती गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात् तदा ॥ ६ ॥

वहाँ गन्धर्वनगरसे उन्होंने उस समय करके रूपमें तित्तिरि, कल्माष और मण्डूक नामवाले बहुत-से उत्तम घोड़े प्राप्त किये ॥ ६ ॥

(हेमकूटमथासाद्य न्यविशत् फाल्गुनस्तथा ।
तं हेमकूटं राजेन्द्र समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
हरिवर्षं विवेशाथ सैन्येन महताऽऽवृतः ।
तत्र पार्थो ददर्शाथ बहूनिह मनोरमान् ॥
नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

तत्पश्चात् अर्जुनने हेमकूट पर्वतपर जाकर पड़ाव डाला। राजेन्द्र! फिर हेमकूटको भी लाँघकर वे पाण्डुनन्दन पार्थ अपनी विशाल सेनाके साथ हरिवर्षमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने बहुत-से मनोरम नगर, सुन्दर वन तथा निर्मल जलसे भरी हुई नदियाँ देखीं ॥

पुरुषान् देवकल्पांश्च नारीश्च प्रियदर्शनाः ॥
तान् सर्वांस्तत्र दृष्ट्वाथ मुदा युक्तो धनंजयः ।

वहाँके पुरुष देवताओंके समान तेजस्वी थे। स्त्रियाँ भी परम सुन्दरी थीं। उन सबका अवलोकन करके अर्जुनको वहाँ बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

वशे चक्रेऽथ रत्नानि लेभे च सुबहूनि च ॥
ततो निषधमासाद्य गिरिस्थानजयत् प्रभुः ।
अथ राजन्नतिक्रम्य निषधं शैलमायतम् ॥
विवेश मध्यमं वर्षं पार्थो दिव्यमिलावृतम् ।

उन्होंने हरिवर्षको अपने अधीन कर लिया और वहाँसे बहुतेरे रत्न प्राप्त किये। इसके बाद निषधपर्वतपर जाकर

शक्तिशाली अर्जुनने वहाँके निवासियोंको पराजित किया। तदनन्तर विशाल निषधपर्वतको लाँघकर वे दिव्य इलावृत-वर्षमें पहुँचे, जो जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती भूभाग है ॥

तत्र देवोपमान् दिव्यान् पुरुषान् देवदर्शनान् ॥
अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनंजयः।

वहाँ अर्जुनने देवताओं-जैसे दिखायी देनेवाले देवोपम शक्तिशाली दिव्य पुरुष देखे। वे सब-के-सब अत्यन्त सौभाग्य-शाली और अद्भुत थे। उससे पहले अर्जुनने कभी वैसे दिव्य पुरुष नहीं देखे थे ॥

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसंनिभाः ॥
दृष्ट्वा तानजयद् रम्यान् स तैश्च ददृशे तदा।

वहाँके भवन अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य थे तथा नारियाँ अप्सराओंके समान प्रतीत होती थीं। अर्जुनने वहाँ-के रमणीय स्त्री-पुरुषोंको देखा। इनपर भी वहाँके लोगोंकी दृष्टि पड़ी ॥

जित्वा च तान् महाभागान् करे च विनिवेश्य सः॥
रत्नान्यादाय दिव्यानि भूषणैर्वसनैः सह।
उदीचीमथ राजेन्द्र ययौ पार्थो मुदान्वितः ॥

तत्पश्चात् उस देशके निवासियोंको अर्जुनने युद्धमें जीत लिया, जीतकर उनपर कर लगाया और फिर उन्हीं बड़-भागियोंको वहाँके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वस्त्रों और आभूषणोंके साथ दिव्य रत्नोंकी भेंट लेकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर बढ़ गये ॥

स ददर्श महामेरुं शिखराणां प्रभुं महत्।
तं काञ्चनमयं दिव्यं चतुर्वर्णं दुरासदम् ॥
आयतं शतसाहस्रं योजनानां तु सुस्थितम्।
ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ॥
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः।
काञ्चनाभरणं दिव्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥
नित्यपुष्पफलोपेतं सिद्धचारणसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥

आगे जाकर उन्हें पर्वतोंके स्वामी गिरिप्रवर महामेरुका दर्शन हुआ, जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। उसमें चार प्रकारके रंग दिखायी पड़ते हैं। वहाँतक पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उसकी लम्बाई एक लाख योजन है। वह परम उत्तम मेरुपर्वत महान् तेजके पुञ्ज-सा जगमगाता रहता है और अपने सुवर्णमय कान्तिमान् शिखरोंद्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करता है। वह सुवर्णभूषित दिव्य पर्वत देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। सिद्ध और चारण भी वहाँ नित्य निवास करते हैं। उस पर्वतपर सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती है। उसकी ऊँचाईका कोई माप नहीं है। अधर्मपरायण मनुष्य उस पर्वतका स्पर्श नहीं कर सकते ॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
स्वर्गमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रायेण महागिरिम् ॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानाविहगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥
तं दृष्ट्वा फाल्गुनो मेरुं प्रीतिमानभवत् तदा।

बड़े भयंकर सर्प वहाँ विचरण करते हैं। दिव्य ओषधियाँ उस पर्वतको प्रकाशित करती रहती हैं। महागिरि मेरु ऊँचाईद्वारा स्वर्गलोकको भी घेरकर खड़ा है। दूसरे मनुष्य मनसे भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। कितनी ही नदियाँ और वृक्ष उस शैल-शिखरकी शोभा बढ़ाते हैं। भाँति-भाँतिके मनोहर पक्षी वहाँ कलरव करते रहते हैं। ऐसे मनोहर मेरु-गिरिको देखकर उस समय अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

मेरोरिलावृतं वर्षं सर्वतः परिमण्डलम् ॥
मेरोस्तु दक्षिणे पार्श्वे जम्बूर्नाम वनस्पतिः।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः ॥

मेरुके चारों ओर मण्डलाकार इलावृतवर्ष बसा हुआ है। मेरुके दक्षिण पार्श्वमें जम्बू नामका एक वृक्ष है, जो सदा फल और फूलोंसे भरा रहता है। सिद्ध और चारण उस वृक्षका सेवन करते हैं ॥

आस्वर्गमुच्छ्रिता राजन् तस्य शाखा वनस्पतेः।
यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम् ॥

राजन्! उक्त जम्बू-वृक्षकी शाखा ऊँचाईमें स्वर्गलोकतक फैली हुई है। उसीके नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहते हैं ॥

तां च जम्बूं ददर्शाथ सव्यसाची परंतपः।
तौ दृष्ट्वाप्रतिमौ लोके जम्बूं मेरुं च संस्थितौ ॥
प्रीतिमानभवद् राजन् सर्वतः स विलोकयन्।
तत्र लेभे ततो जिष्णुः सिद्धैर्दिव्यैश्च चारणैः ॥
रत्नानि बहुसाहस्रं वस्त्राण्याभरणानि च।
अन्यानि च महार्हाणि तत्र लब्ध्वार्जुनस्तदा ॥
आमन्त्रयित्वा तान् सर्वान् यज्ञमुद्दिश्य वै गुरोः।
अथादाय बहून् रत्नान् गमनायोपचक्रमे ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस जम्बू-वृक्षको देखा। जम्बू और मेरुगिरि दोनों ही इस जगत्‌में अनुपम हैं। उन्हें देखकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! वहाँ सब ओर दृष्टिपात करते हुए अर्जुनने सिद्धों और दिव्य चारणोंसे कई सहस्र रत्न, वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर उन सबसे विदा ले बड़े भाईके यज्ञके उद्देश्य-से बहुत-से रत्नोंका संग्रह करके वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥

मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा पर्वतप्रवरं प्रभुः ।
ययौ जम्बूनदीतीरं नदीं श्रेष्ठां विलोकयन् ॥
स तां मनोरमां दिव्यां जम्बूस्वादुरसावहाम् ।

पर्वतश्रेष्ठ मेरुको अपने दाहिने करके अर्जुन जम्बूनदीके तटपर गये । वे उस श्रेष्ठ सरिताकी शोभा देखना चाहते थे । वह मनोरम दिव्य नदी जलके रूपमें जम्बूवृक्षके फलोंका स्वादिष्ट रस बहाती थी ॥

हेमपक्षिगणैर्जुष्टां सौवर्णजलजाकुलाम् ॥
हेमपङ्कां हेमजलां शुभां सौवर्णवालुकाम् ।

सुनहरे पंखोंवाले पक्षी उसका सेवन करते थे । वह नदी सुवर्णमय कमलोंसे भरी हुई थी । उसकी कीचड़ भी स्वर्णमय थी । उसके जलसे भी सुवर्णमयी आभा छिटक रही थी । उस मङ्गलमयी नदीकी वालुका भी सुवर्णके चूर्ण-सी शोभा पाती थी ॥

क्वचित् सौवर्णपद्मैश्च संकुलां हेमपुष्पकैः ॥
क्वचित् सुपुष्पितैः कीर्णां सुवर्णकुमुदोत्पलैः ।
क्वचित् तीररुहैः कीर्णां हेमवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥

कहीं-कहीं सुवर्णमय कमलों तथा स्वर्णमय पुष्पोंसे वह व्याप्त थी । कहीं सुन्दर खिले हुए सुवर्णमय कुमुद और उत्पल छाये हुए थे । कहीं उस नदीके तटपर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए स्वर्णमय वृक्ष सब ओर फैले हुए थे ॥

तीर्थैश्च रुक्मसोपानैः सर्वतः संकुलां शुभाम् ।
विमलैर्मणिजालैश्च नृत्यगीतरवैर्युताम् ॥

उस सुन्दर सरिताके घाटोंपर सब ओर सोनेकी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । निर्मल मणियोंके समूह उसकी शोभा बढ़ाते थे । नृत्य और गीतके मधुर शब्द उस प्रदेशको मुखरित कर रहे थे ॥

दीप्तहेमवितानैश्च समन्ताच्छोभितां शुभाम् ।
तथाविधां नदीं दृष्ट्वा पार्थस्तां प्रशशंस ह ॥
अदृष्टपूर्वां राजेन्द्र दृष्ट्वा हर्षमवाप च ।

उसके दोनों तटोंपर सुनहरे और चमकीले चँदोवे तने थे, जिनके कारण जम्बू नदीकी बड़ी शोभा हो रही थी । राजेन्द्र ! ऐसी अदृष्टपूर्व नदीका दर्शन करके अर्जुनने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

दर्शनीयान् नदीतीरे पुरुषान् सुमनोहरान् ॥
तान् नदीसलिलाहारान् सदारानमरोपमान् ।
नित्यं सुखमुदा युक्तान् सर्वालंकारशोभितान् ॥

उस नदीके तटपर बहुत-से देवोपम पुरुष अपनी स्त्रियों-के साथ विचर रहे थे । उनका सौन्दर्य देखने ही योग्य था । वे सबके मनको मोह लेते थे । जम्बू नदीका जल ही उनका आहार था । वे सदा सुख और आनन्दमें निमग्न रहनेवाले तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे ॥

तेभ्यो बहूनि रत्नानि तदा लेभे धनंजयः ।
दिव्यजाम्बूनदं हेमभूषणानि च पेशलम् ॥
लब्ध्वा तान् दुर्लभान् पार्थः प्रतीचीं प्रययौ दिशम् ।

उस समय अर्जुनने उनसे भी नाना प्रकारके रत्न प्राप्त किये । दिव्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण और भाँति-भाँतिके आभूषण आदि दुर्लभ वस्तुएँ पाकर अर्जुन वहाँसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥

नागानां रक्षितं देशमजयच्चार्जुनस्ततः ॥
ततो गत्वा महाराज वारुणीं पाकशासनिः ।
गन्धमादनमासाद्य तत्रस्थानजयत् प्रभुः ॥
तं गन्धमादनं राजन्नतिक्रम्य ततोऽर्जुनः ।
केतुमालं विवेशाथ वर्षं रत्नसमन्वितम् ।
सेवितं देवकल्पैश्च नारीभिः प्रियदर्शनैः ॥

उधर जाकर अर्जुनने नागोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर विजय पायी । महाराज ! वहाँसे और पश्चिम जाकर शक्तिशाली अर्जुन गन्धमादन पर्वतपर पहुँच गये और वहाँके रहनेवालों-को जीतकर अपने अधीन बना लिया । राजन् ! इस प्रकार गन्धमादन पर्वतको लाँघकर अर्जुन रत्नोंसे सम्पन्न केतुमालवर्षमें गये, जो देवोपम पुरुषों और सुन्दरी स्त्रियोंकी निवासभूमि है ॥

तं जित्वा चार्जुनो राजन् करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य तत्र रत्नानि दुर्लभानि तथार्जुनः ॥
पुनश्च परिवृत्याथ मध्यं देशमिलावृतम् ।

राजन् ! उस वर्षको जीतकर अर्जुनने उसे कर देनेवाला बना दिया और वहाँसे दुर्लभ रत्न लेकर वे पुनः मध्यवर्ती इलावृतवर्षमें लौट आये ॥

गत्वा प्राचीं दिशं राजन् सव्यसाची परंतपः ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान् ।
पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ॥
रत्नान्यादाय सर्वेभ्यो माल्यवन्तं ततो ययौ ।
तं माल्यवन्तं शैलेन्द्रं समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
भद्राश्वं प्रविवेशाथ वर्षं स्वर्गोपमं शुभम् ।

तदनन्तर शत्रुदमन सव्यसाची अर्जुनने पूर्व दिशामें प्रस्थान किया । मेरु और मन्दराचलके बीच शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर जो लोग कीचक और वेणु नामक बाँसोंकी रमणीय छायाका आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द, तङ्गण तथा परतङ्गण आदि जातियोंको हराकर उन सबसे रत्नोंकी भेंट ले अर्जुन माल्यवान् पर्वतपर गये । तत्पश्चात् गिरिराज माल्यवान्को

भी लाँघकर उन पाण्डुकुमारने भद्राश्ववर्षमें प्रवेश किया, जो स्वर्गके समान सुन्दर है ॥

तत्रामरोपमान् रम्यान् पुरुषान् सुखसंयुतान् ॥
जित्वा तान् स्ववशे कृत्वा करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य सर्वरत्नानि असंख्यानि ततस्ततः ॥
नीलं नाम गिरिं गत्वा तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।

उस देशमें देवताओंके समान सुन्दर और सुखी पुरुष निवास करते थे । अर्जुनने उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया और उनपर कर लगा दिया । इस प्रकार इधर-उधरसे असंख्य रत्नोंका संग्रह करके शक्तिशाली अर्जुनने नीलगिरिकी यात्रा की और वहाँके निवासियोंको पराजित किया ॥

ततो जिष्णुरतिक्रम्य पर्वतं नीलमायतम् ॥
विवेश रम्यकं वर्षं संकीर्णं मिथुनैः शुभैः ।
तं देशमथ जित्वा च करे च विनिवेश्य च ॥
अजयच्चापि बीभत्सुर्देशं गुह्यकरक्षितम् ।
तत्र लेभे च राजेन्द्र सौवर्णान् मृगपक्षिणः ॥
अगृह्णाद् यज्ञभूत्यर्थं रमणीयान् मनोरमान् ।

तदनन्तर विशाल नीलगिरिको भी लाँघकर सुन्दर नर-नारियोंसे भरे हुए रम्यकवर्षमें उन्होंने प्रवेश किया । उस देशको भी जीतकर अर्जुनने वहाँके निवासियोंपर कर लगा दिया । तत्पश्चात् गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशको जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया । राजेन्द्र ! वहाँ उन्हें सोनेके मृग और पक्षी उपलब्ध हुए, जो देखनेमें बड़े ही रमणीय और मनोरम थे । उन्होंने यज्ञ-वैभवकी समृद्धिके लिये उन मृगों और पक्षियोंको ग्रहण कर लिया ॥

अन्यानि लब्ध्वा रत्नानि पाण्डवोऽथ महाबलः॥
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् सगणं तदा ।
तत्र रत्नानि दिव्यानि लब्ध्वा राजन्नथार्जुनः ॥
श्वेतपर्वतमासाद्य जित्वा पर्वतवासिनः ।
स श्वेतं पर्वतं राजन् समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
वर्षं हिरण्यकं नाम विवेशाथ महीपते ।

तदनन्तर महाबली पाण्डुनन्दन अन्य बहुत-से रत्न लेकर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशमें गये और गन्धर्वगणोंसहित उस देशपर अधिकार जमा लिया । राजन् ! वहाँ भी अर्जुनको बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त हुए । तदनन्तर उन्होंने श्वेत पर्वतपर जाकर वहाँके निवासियोंको जीता । फिर उस पर्वतको लाँघकर पाण्डुकुमार अर्जुनने हिरण्यकवर्षमें प्रवेश किया ॥

स तु देशेषु रम्येषु गन्तुं तत्रोपचक्रमे ॥
मध्ये प्रासादवृन्देषु नक्षत्राणां शशी यथा ।

महाराज ! वहाँ पहुँचकर वे उस देशके रमणीय प्रदेशोंमें विचरने लगे । बड़े-बड़े महलोंकी पङ्क्तियोंमें भ्रमण करते हुए श्वेताश्व अर्जुन नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे ॥

महापथेषु राजेन्द्र सर्वतो यान्तमर्जुनम् ॥
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया वीर्यशोभया ।
ददृशुस्ताः स्त्रियः सर्वाः पार्थमात्मयशस्करम् ॥
तं कलापधरं शूरं सरथं सानुगं प्रभुम् ।
सवर्मसुकिरीटं वै संनद्धं सपरिच्छदम् ॥
सुकुमारं महासत्त्वं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शक्तिपाणिं स्म मेनिरे ।

राजेन्द्र ! जब अर्जुन उत्तम बल और शोभासे सम्पन्न हो हिरण्यकवर्षकी विशाल सड़कोंपर चलते थे, उस समय प्रासाद-शिखरोंपर खड़ी हुई वहाँकी सुन्दरी स्त्रियाँ उनका दर्शन करती थीं । कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने यशको बढ़ानेवाले थे । उन्होंने आभूषण धारण कर रक्खा था । वे शूर वीर, रथयुक्त, सेवकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली थे । उनके अङ्गोंमें कवच और मस्तकपर सुन्दर किरीट शोभा दे रहा था । वे कमर कसकर युद्धके लिये तैयार थे और सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री उनके साथ थी । वे सुकुमार, अत्यन्त धैर्यवान्, तेजके पुञ्ज, परम उत्तम, इन्द्र-तुल्य पराक्रमी, शत्रुहन्ता तथा शत्रुओंके गजराजोंकी गतिको रोक देनेवाले थे । उन्हें देखकर वहाँकी स्त्रियोंने यही अनुमान लगाया कि इस वीर पुरुषके रूपमें साक्षात् शक्तिधारी कार्तिकेय पधारे हैं ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ॥
अस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ।

वे आपसमें इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो ! ये जो पुरुषसिंह दिखायी दे रहे हैं, संग्राममें इनका पराक्रम अद्भुत है । इनके बाहुबलका आक्रमण होनेपर शत्रुओंके समुदाय अपना अस्तित्व खो बैठते हैं ॥'

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा धनंजयम्॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टिं च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।

इस प्रकारकी बातें करती हुई स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे अर्जुनकी ओर देखकर उनके गुण गातीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥

दृष्ट्वा ते तु मुदा युक्ताः कौतूहलसमन्विताः ॥
रत्नैर्विभूषणैश्चैव अभ्यवर्षन्त पाण्डवम् ।

वहाँके सभी निवासी बड़ी प्रसन्नताके साथ कौतूहलवश उन्हें देखते और उनके निकट रत्नों तथा आभूषणोंकी वर्षा करते थे ॥

अथ जित्वा समस्तांस्तान् करे च विनिवेश्य च ॥
मणिहेमप्रवालानि रत्नान्याभरणानि च ।
एतानि लब्ध्वा पार्थोऽपि शृङ्गवन्तं गिरिं ययौ ॥
शृङ्गवन्तं च कौन्तेयः समतिक्रम्य फाल्गुनः ॥,)
उत्तरं कुरुवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥

उन सबको जीतकर तथा उनके ऊपर कर लगाकर वहाँसे मणि, सुवर्ण, मूँगे, रत्न तथा आभूषण ले अर्जुन शृङ्गवान् पर्वत-पर चले गये। वहाँसे आगे बढ़कर पाकशासनपुत्र पाण्डव अर्जुनने उत्तर कुरुवर्षमें पहुँचकर उस देशको जीतनेका विचार किया ॥ ७ ॥

तत एनं महावीर्यं महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

इतनेहीमें महापराक्रमी अर्जुनके पास बहुतसे विशाल-काय महाबली द्वारपाल आ पहुँचे और प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥

'पार्थ ! इस नगरको तुम किसी तरह जीत नहीं सकते। कल्याणस्वरूप अर्जुन ! यहाँसे लौट जाओ। अच्युत ! तुम यहाँतक आ गये, यही बहुत हुआ। जो मनुष्य इस नगरमें प्रवेश करता है, निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वीर ! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। यहाँतक आ पहुँचना ही तुम्हारी बहुत बड़ी विजय है ॥ ९-१० ॥

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥

'अर्जुन ! यहाँ कोई जीतने योग्य वस्तु नहीं दिखायी देती। यह उत्तर कुरुदेश है। यहाँ युद्ध नहीं होता है। कुन्तीकुमार ! इसके भीतर प्रवेश करके भी तुम यहाँ कुछ देख नहीं सकोगे, क्योंकि मानव-शरीरसे यहाँकी कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती ॥ ११-१२॥

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि ।
तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तव भारत ॥ १३ ॥

'भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! यदि यहाँ तुम युद्धके सिवा और कोई काम करना चाहते हो तो बताओ, तुम्हारे कहनेसे हम स्वयं ही उस कार्यको पूर्ण कर देंगे' ॥ १३ ॥

ततस्तानब्रवीद् राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने उनसे हँसते हुए कहा—'मैं अपने भाई बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको समस्त भूमण्डलका एक-मात्र चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

'आपलोगोंका देश यदि मनुष्योंके विपरीत पड़ता है तो मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा। महाराज युधिष्ठिरके लिये करके रूपमें कुछ धन दीजिये' ॥ १५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ॥ १६ ॥

तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको करके रूपमें बहुत-से दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य रेशमी वस्त्र एवं मृगचर्म दिये। १६।

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्छुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनने क्षत्रिय राजाओं तथा लुटेरोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और उत्तर दिशापर विजय प्राप्त की। राजाओंको जीतकर उनसे कर लेते और उन्हें फिर अपने राज्यपर ही स्थापित कर देते थे। राजन् ! वे वीर अर्जुन सबसे धन और भाँति-भाँतिके रत्न लेकर तथा भेंटमें मिले हुए वायुके समान वेगवाले तित्तिरि[1], कल्माष, सुग्गापङ्खी एवं मोर-सदृश सभी घोड़ोंको साथ लिये और विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए फिर अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ-में लौट आये ॥ १७–२० ॥

१. तीतरके समान चितकबरे रंगवाले।

धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम्।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥

पार्थने घोड़ोंसहित वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया और उनकी आज्ञा लेकर वे महलमें चले गये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनकी उत्तर दिशापर विजय-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५८ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पूर्व दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान और विभिन्न देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान्।
धर्मराजमनुप्राप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्धनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाले भरतवंशशिरोमणि महाप्रतापी एवं पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा ले, शत्रुके राज्यको कुचल देनेवाली और हाथी, घोड़े एवं रथसे भरी हुई, कवच आदिसे सुसज्जित विशाल सेनाके साथ पूर्व दिशाको जीतनेके लिये चले ॥ १-२½ ॥

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः।

नरश्रेष्ठ भीमसेनने पहले पाञ्चालोंकी महानगरी अहिच्छत्रामें जाकर भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाञ्चाल वीरोंको समझा-बुझाकर वशमें किया ॥ ३½ ॥

ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥ ५ ॥

वहाँसे आगे जाकर उन भरतवंशशिरोमणि शूर-वीर भीमने गण्डक (गण्डकी नदीके तटवर्ती) और विदेह (मिथिला) देशोंको थोड़े ही समयमें जीतकर दशार्ण देशको भी अपने अधिकारमें कर लिया। वहाँ दशार्णनरेश सुधर्माने भीमसेनके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही महान् युद्ध किया। उन दोनोंका वह मल्लयुद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ४-५ ॥

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ६ ॥

भीमसेनने उस महामना राजाका यह अद्भुत पराक्रम देखकर महाबली सुधर्माको अपना प्रधान सेनापति बना दिया॥६॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः।
सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ७ ॥

राजन् ! इसके बाद भयानक पराक्रमी भीमसेन पुनः विशाल सेनाके साथ पृथ्वीको कँपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर बढ़े ॥७॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम्।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीमने अश्वमेधदेशके राजा रोचमानको उनके सेवकोंसहित बलपूर्वक जीत लिया ॥८॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

उन्हें हराकर महापराक्रमी कुरुनन्दन कुन्तीकुमार भीमने कोमल बर्तावके द्वारा ही पूर्वदेशपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ९ ॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर दक्षिण आकर पुलिन्दोंके महान् नगर सुकुमार और वहाँके राजा सुमित्रको अपने अधीन कर लिया ॥ १० ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ ११ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञासे महापराक्रमी शिशुपालके यहाँ गये ॥ ११ ॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुकुमार भीमका अभिप्राय जानकर नगरसे बाहर आ स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ १२ ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥

महाराज ! कुरुकुल और चेदिकुलके वे श्रेष्ठ पुरुष परस्पर मिलकर दोनोंने दोनों कुलोंके कुशल-प्रश्न पूछे ॥ १३ ॥

ततो निवेद्य तद् राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥

राजन् ! तदनन्तर चेदिराजने अपना राष्ट्र भीमसेनको सौंपकर हँसते हुए पूछा—'अनघ ! यह क्या करते हो ?' ॥ १४ ॥

तस्य भीमस्तदाऽऽचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १५ ॥

तब भीमने उससे धर्मराज जो कुछ करना चाहते थे, वह सब कह सुनाया । तदनन्तर राजा शिशुपालने उनकी बात मानकर कर देना स्वीकार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥

राजन् ! उसके बाद शिशुपालसे सम्मानित हो भीमसेन अपनी सेना और सवारियोंके साथ तेरह दिन वहाँ रह गये । तत्पश्चात् वहाँसे विदा हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमदिग्विजयविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

भीमका पूर्व दिशाके अनेक देशों तथा राजाओंको जीतकर भारी धन-सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थमें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेनने कुमारदेशके राजा श्रेणिमान् तथा कोसलराज बृहद्बलको परास्त किया ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

इसके बाद अयोध्याके धर्मज्ञ नरेश महाबली दीर्घयज्ञको पाण्डवश्रेष्ठ भीमने कोमलतापूर्ण बर्तावसे वशमें कर लिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली पाण्डुकुमारने गोपालकक्ष और उत्तर कोसल देशको जीतकर मल्लराष्ट्रके अधिपति पार्थिवको अपने अधीन कर लिया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वे समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥

इसके बाद हिमालयके पास जाकर बलवान् भीमने सारे जलोद्भव देशपर थोड़े ही समयमें अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार भरतवंशभूषण भीमसेनने अनेक देश जीते और भल्लाटके समीपवर्ती देशों तथा शुक्तिमान् पर्वतपर भी विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी तथा भयंकर पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनने समरमें पीठ न दिखानेवाले काशिराज सुबाहुको बलपूर्वक हराया ॥ ६½ ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ।

इसके बाद पाण्डुपुत्र भीमने सुपार्श्वके निकट राजराजेश्वर क्रथको, जो युद्धमें बलपूर्वक उनका सामना कर रहे थे, हरा दिया ॥ ७½ ॥

ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी कुन्तीकुमारने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभय नामक देशोंको जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथके निकटवर्ती स्थान—नेपाल) को भी सब ओरसे जीत लिया । वहाँसे लौटकर महाबाहु भीमने मदधार पर्वत और सोमधेयनिवासियोंको परास्त किया । इसके बाद बलवान् भीमने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमिपर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया ॥ ८—१० ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

फिर क्रमशः भर्गोंके स्वामी, निषादोंके अधिपति तथा मणिमान् आदि बहुत-से भूपालोंको अपने अधिकारमें कर लिया । तदनन्तर दक्षिण मल्लदेश तथा भोगवान् पर्वतको भीमसेनने अधिक प्रयास किये बिना ही वेगपूर्वक जीत लिया। ११-१२।

शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम्।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥

शर्मक और वर्मकोंको उन्होंने समझा-बुझाकर ही जीत लिया । विदेह देशके राजा जनकको भी पुरुषसिंह भीमने

अधिक उग्र प्रयास किये विना ही परास्त किया। फिर शकों और बर्बरोंपर छलसे विजय प्राप्त कर ली॥ १३-१४॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात्।
किरातानामधिपतीनजयत् सप्त पाण्डवः॥ १५॥
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानतिवीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद् बली॥ १६॥

विदेह देशमें ही ठहरकर कुन्तीकुमार भीमने इन्द्रपर्वतके निकटवर्ती सात किरातराजोंको जीत लिया। इसके बाद सुह्म और प्रसुह्म देशके राजाओंको, जिनके पक्षमें बहुत लोग थे, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् कुन्तीकुमार भीम युद्धमें परास्त करके मगधदेशको चल दिये॥ १५-१६॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन्।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत्॥ १७॥

मार्गमें दण्ड-दण्डधार तथा अन्य राजाओंको जीतकर उन सबके साथ वे गिरिव्रज नगरमें आये॥ १७॥

जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद् बली॥ १८॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना॥ १९॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः॥ २०॥
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम्।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे॥ २१॥

वहाँ जरासंधकुमार सहदेवको सान्त्वना देकर उसे कर देनेकी शर्तपर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया और उन सबके साथ बलवान् भीमने कर्णपर चढ़ाई की। पाण्डवश्रेष्ठ भीमने पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए चतुरंगिणी सेना साथ ले शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध छेड़ दिया। भारत! उस युद्धमें कर्णको परास्त करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् बलवान् भीमने पर्वतीय राजाओंपर विजय प्राप्त की। तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेनने मोदागिरिके अत्यन्त बलिष्ठ राजाको अपनी भुजाओंके बलसे महासमरमें मार गिराया॥ १८—२१॥

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम्।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम्॥ २२॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत्॥ २३॥

महाराज! तत्पश्चात् भीमसेन पुण्ड्रकदेशके अधिपति महाबली वीर राजा वासुदेवके साथ, जो कोसी नदीके कछारमें रहनेवाले तथा महान् तेजस्वी थे, जा भिड़े। वे दोनों ही बलवान् एवं दुःसह पराक्रमवाले वीर थे। भीमने विपक्षी वासुदेव (पौण्ड्रक) को युद्धमें हराकर वङ्गदेशके राजापर आक्रमण किया॥ २२-२३॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम्।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा॥ २४॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः।
सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः॥ २५॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने समुद्रसेन, भूपाल चन्द्रसेन, राजा ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति तथा सुह्म-नरेशको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाले समस्त म्लेच्छोंको भी अपने अधीन कर लिया॥ २४-२५॥

एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् बली॥ २६॥

इस प्रकार पवनपुत्र बलवान् भीमने बहुत-से देशोंपर अधिकार प्राप्त करके उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशकी यात्रा की॥ २६॥

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च॥ २७॥

वहाँ उन्होंने समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले बहुत-से म्लेच्छ राजाओंको जीतकर उनसे करके रूपमें भाँति-भाँतिके रत्न वसूल किये॥ २७॥

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम्।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम्॥ २८॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम्॥ २९॥

इतना ही नहीं, उन राजाओंने भीमसेनको चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चाँदी और बहुमूल्य मूँगे भेंट किये। कुन्ती और पाण्डुके पुत्र महात्मा भीमसेनके पास उन्होंने करोड़ोंकी संख्यामें धन-रत्नोंकी वर्षा की (करके रूपमें धन-रत्न प्रदान किये)॥ २८-२९॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद् धनम्॥ ३०॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी भीमने इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमके द्वारा पूर्व दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरसे सम्मानित हो दक्षिण दिशापर विजय पानेके लिये विशाल सेनाके साथ प्रस्थित हुए॥ १॥

स शूरसेनान् कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद् बली॥ २॥

शक्तिशाली सहदेवने सबसे पहले समस्त शूरसेननिवासियोंको पूर्णरूपसे जीत लिया; फिर मत्स्यराज विराटको अपने अधीन बनाया॥ २॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम्।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत्॥ ३॥

राजाओंके अधिपति महाबली दन्तवक्रको भी परास्त किया और उसे कर देनेवाला बनाकर फिर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया॥ ३॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम्।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् स पटच्चरान्॥ ४॥
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा।
तरसैवाजयद् धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम्॥ ५॥

इसके बाद राजा सुकुमार तथा सुमित्रको वशमें किया। इसी प्रकार अपर मत्स्यों और लुटेरोंपर भी विजय प्राप्त की। तदनन्तर निषाददेश तथा पर्वतप्रवर गोशृङ्गको जीतकर बुद्धिमान् सहदेवने राजा श्रेणिमान्‌को वेगपूर्वक परास्त किया॥ ४-५॥

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत्।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम्॥ ६॥

फिर नरराष्ट्रको जीतकर राजा कुन्तिभोजपर धावा किया। परंतु कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ ही उसका शासन स्वीकार कर लिया॥ ६॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम्।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा॥ ७॥

इसके बाद चर्मण्वतीके तटपर सहदेवने जम्भकके पुत्रको देखा, जिसे पूर्ववैरी वासुदेवने जीवित छोड़ दिया था॥ ७॥

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ॥ ८॥

भारत! उस जम्भपुत्रने सहदेवके साथ घोर संग्राम किया; परंतु सहदेव उसे युद्धमें जीतकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये॥ ८॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च॥ ९॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ।

वहाँ महाबली माद्रीकुमारने सेक और अपरसेक देशोंपर विजय पायी और उन सबसे नाना प्रकारके रत्न भेंटमें लिये। तत्पश्चात् सेकाधिपतिको साथ ले उन्होंने नर्मदाकी ओर प्रस्थान किया॥ ९½॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महताऽऽवृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्॥ १०॥

अश्विनीकुमारोंके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहाँ युद्धमें विशाल सेनासे घिरे हुए अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दको परास्त किया॥ १०॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ।
तत्र युद्धमभूद् राजन् दिवसद्वयमच्युत॥ ११॥

वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर वे भोजकट नगरमें गये। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले राजन्! वहाँ दो दिनोंतक युद्ध होता रहा॥ ११॥

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम्॥ १२॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोसलान् नृपान्।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि॥ १३॥

माद्रीनन्दनने उस संग्राममें दुर्धर्ष वीर भीष्मकको परास्त करके कोसलाधिपति, वेणानदीके तटवर्ती प्रदेशोंके स्वामी, कान्तारक तथा पूर्वकोसलके राजाओंको भी समरमें पराजित किया। तत्पश्चात् नाटकेयों और हेरम्बकोंको भी युद्धमें हराया॥ १२-१३॥

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ।
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥

महाबली पाण्डुनन्दन सहदेवने मारुध तथा रम्यग्रामको बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुक तथा समस्त वनेचर राजाओंको जीत लिया। तदनन्तर महाबली माद्रीकुमारने राजा वाताधिपको वशमें किया ॥ १४-१५ ॥

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥

फिर पुलिन्दोंको संग्राममें हराकर नकुलके छोटे भाई सहदेव दक्षिण दिशामें और आगे बढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्ड्य-नरेशके साथ एक दिन युद्ध किया ॥ १६ ॥

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ॥ १७ ॥

उन्हें जीतकर महाबाहु सहदेव दक्षिणापथकी ओर गये और लोकविख्यात किष्किन्धा नामक गुफामें जा पहुँचे ॥१७॥

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥

वहाँ वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ उन्होंने सात दिनोंतक युद्ध किया; किंतु उन दोनोंका कुछ बिगाड़ न हो सका ॥ १८ ॥

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥

तब वे दोनों महात्मा वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सहदेवसे प्रेमपूर्वक बोले—॥ १९ ॥

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥

'पाण्डवप्रवर ! तुम सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर जाओ। परम बुद्धिमान् धर्मराजके कार्यमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये' ॥ २० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर माहिष्मती पुरीको गये और वहाँ राजा नीलके* साथ घोर युद्ध किया ॥२१॥

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद् युद्धमासीद् भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥

सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान् हव्यवाहनः ॥ २३ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेव बड़े प्रतापी थे। उनसे राजा नीलका जो महान् युद्ध हुआ, वह कायरोंको भयभीत करनेवाला, सेनाओंका विनाशक और प्राणोंको संशयमें डालनेवाला था। भगवान् अग्निदेव राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ॥ २२-२३ ॥

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥

उस समय सहदेवकी सेनामें रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य और कवच सभी आगसे जलते दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

ततः सुसम्भ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय ! इससे कुरुनन्दन सहदेवके मनमें बड़ी घबराहट हुई। वे इसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो गये ॥२५॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद् युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! सहदेव तो यज्ञके लिये ही चेष्टा कर रहे थे, फिर भगवान् अग्निदेव उस युद्धमें उनके विरोधी कैसे हो गये ? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! सुननेमें आया है कि माहिष्मती नगरीमें निवास करनेवाले भगवान् अग्निदेव किसी समय उस नील राजाकी कन्या सुदर्शनाके प्रति आसक्त हो गये ॥ २७ ॥

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीवशोभना ।
साग्निहोत्रमुपातिष्ठद् बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥

राजा नीलके एक कन्या थी, जो अनुपम सुन्दरी थी। वह सदा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उपस्थित हुआ करती थी ॥ २८ ॥

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥

पङ्खेसे हवा करनेपर भी अग्निदेव तबतक प्रज्वलित नहीं होते थे, जबतक कि वह सुन्दरी अपने मनोहर ओष्ठसम्पुटसे फूँक मारकर हवा न देती थी ॥ २९ ॥

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥

---

* यह इक्ष्वाकुवंशीय दुर्जयका पुत्र था। इसका दूसरा नाम दुर्योधन था। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था। इसकी कथा अनुशासन-पर्वके दूसरे अध्यायमें आती है।

तत्पश्चात् भगवान् अग्नि उस सुदर्शना नामकी राजकन्याको चाहने लगे । इस बातको राजा नील और सभी नागरिक जान गये ॥ ३० ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ।
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद् धार्मिकस्तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन ब्राह्मणका रूप धारण करके इच्छानुसार घूमते हुए अग्निदेव उस सर्वाङ्गसुन्दरी कमलनयनी कन्याके पास आये और उसके प्रति कामभाव प्रकट करने लगे । धर्मात्मा राजा नीलने शास्त्रके अनुसार उस ब्राह्मणपर शासन किया ॥ ३१ ॥

प्रजज्वाल ततः कोपाद् भगवान् हव्यवाहनः ।
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् ॥ ३२ ॥

तब क्रोधसे भगवान् अग्निदेव अपने रूपमें प्रज्वलित हो उठे । उन्हें इस रूपमें देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक रखकर अग्निदेवको प्रणाम किया ॥ ३२ ॥

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ॥ ३३ ॥
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य समय आनेपर राजाने उस कन्याको ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवकी सेवामें अर्पित कर दिया और उनके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार किया । राजा नीलकी सुन्दरी कन्याको पत्नीरूपमें ग्रहण करके भगवान् अग्निने राजापर अपना कृपाप्रसाद प्रकट किया ॥ ३३-३४ ॥

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ ३५ ॥

वे उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सर्वोत्तम सहायक हो राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे । राजाने अपनी सेनाके प्रति अभयदान माँगा ॥ ३५ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात् तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद् राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥ ३६ ॥

राजन् ! तभीसे जो कोई नरेश अज्ञानवश उस पुरीको बलपूर्वक जीतना चाहते, उन्हें अग्निदेव जला देते थे ॥ ३६ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! उस समय माहिष्मतीपुरीमें युवती स्त्रियाँ इच्छानुसार ग्रहण करनेके योग्य नहीं रह गयी थीं (क्योंकि वे स्वतन्त्रतासे ही वरका वरण किया करती थीं) ॥ ३७ ॥

एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
वरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३८ ॥

अग्निदेवने स्त्रियोंके लिये यह वर दे दिया था कि अपने प्रतिकूल होनेके कारण ही कोई स्त्रियोंको वरका स्वयं ही वरण करनेसे रोक नहीं सकता । इससे वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक वरका वरण करनेके लिये विचरण किया करती थीं ॥ ३८ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तत् पुरं भरतर्षभ ।
भयादग्नेर्महाराज तदाप्रभृति सर्वदा ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तभीसे सब राजा (जो इस रहस्यसे परिचित थे) अग्निके भयके कारण माहिष्मती पुरीपर चढ़ाई नहीं करते थे ॥ ३९ ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन् नाकम्पत यथाचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत् पावकं ततः ॥ ४० ॥

राजन् ! धर्मात्मा सहदेव अग्निसे व्याप्त हुई अपनी सेनाको भयसे पीड़ित देख पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे, भयसे कम्पित नहीं हुए । उन्होंने आचमन करके पवित्र हो अग्निदेवसे इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

सहदेव उवाच

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन् नमोऽस्तु ते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४१ ॥

सहदेव बोले—कृष्णवर्त्मन् ! हमारा यह आयोजन तो आपहीके लिये है, आपको नमस्कार है । पावक ! आप देवताओंके मुख हैं, यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४१ ॥

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४२ ॥

आप सबको पवित्र करनेके कारण पावक हैं और हव्य (हवनीय पदार्थ) को वहन करनेके कारण हव्यवाहन कहलाते हैं । वेद आपके लिये ही जात अर्थात् प्रकट हुए हैं, इसीलिये आप जातवेदा हैं ॥ ४२ ॥

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४३ ॥

विभावसो ! आप ही चित्रभानु, सुरेश और अनल कहलाते हैं । आप सदा स्वर्गद्वारका स्पर्श करते हैं । आप आहुति दिये हुए पदार्थोंको खाते हैं, इसलिये हुताशन हैं । प्रज्वलित होनेसे ज्वलन और शिखा (लपट) धारण करनेसे शिखी हैं ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४४ ॥

आप ही वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग और भूरितेजस् नाम धारण करते हैं । आपने ही कुमार कार्तिकेयको जन्म दिया है, आप

ही ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण भगवान् हैं। श्रीरुद्रका वीर्य धारण करनेसे आप रुद्रगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके उत्पादक होनेसे आपका नाम हिरण्यकृत् है ॥ ४४ ॥

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ॥ ४५ ॥

आप अग्नि मुझे तेज दें, वायुदेव प्राणशक्ति प्रदान करें, पृथ्वी मुझमें बलका आधान करें और जल मुझे कल्याण प्रदान करें ॥ ४५ ॥

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४६ ॥

जलको प्रकट करनेवाले महान् शक्तिसम्पन्न जातवेदा सुरेश्वर अग्निदेव ! आप देवताओंके मुख हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४६ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

ऋषि, ब्राह्मण, देवता तथा असुर भी सदा यज्ञ करते समय आपमें आहुति डालते हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र करें ॥ ४७ ॥

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसम्भवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥

देव ! धूम आपका ध्वज है, आप शिखा धारण करनेवाले हैं, वायुसे आपका प्राकट्य हुआ है। आप समस्त पापोंके नाशक हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर आप सदा विराजमान होते हैं। अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४८ ॥

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ॥ ४९ ॥

भगवन् ! मैंने पवित्र होकर प्रेमभावसे आपका इस प्रकार स्तवन किया है। अग्निदेव ! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रवण-शक्ति एवं शास्त्रज्ञान और प्रीति प्रदान करें ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन् यो जुहुयाद् विभुम् ।
ऋद्धिमान् सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो द्विज इस प्रकार इन श्लोकरूप आग्नेय मन्त्रोंका पाठ करते हुए (अन्तमें स्वाहा बोलकर) भगवान् अग्निदेवको आहुति समर्पित करता है, वह सदा समृद्धिशाली और जितेन्द्रिय होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

सहदेव उवाच

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ।

सहदेव बोले—हव्यवाहन ! आपको यज्ञमें यह विघ्न नहीं डालना चाहिये ।

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५१ ॥
विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ॥ ५२ ॥

भारत ! ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ माद्रीकुमार सहदेव धरतीपर कुश बिछाकर अपनी भयभीत और उद्विग्न सेनाके अग्रभागमें विधिपूर्वक अग्निके सम्मुख धरना देकर बैठ गये ॥ ५१-५२ ॥

न चैनमत्यगाद् वह्निर्वेलामिव महोदधिः ।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५३ ॥
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया ।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ॥ ५४ ॥

जैसे महासागर अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार अग्निदेव सहदेवको लाँघकर उनकी सेनामें नहीं गये। वे कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरदेव सहदेवके पास धीरे-धीरे आकर उन्हें सान्त्वना देते हुए यह वचन बोले— 'कौरव्य ! उठो, उठो, मैंने यह तुम्हारी परीक्षा की है। तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सम्पूर्ण अभिप्रायको मैं जानता हूँ ॥ ५३–५४ ॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ।
यावद् राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ॥ ५५ ॥
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ॥ ५६ ॥

'परंतु भरतसत्तम ! राजा नीलके कुलमें जबतक उनकी वंशपरम्परा चलती रहेगी, तबतक मुझे इस माहिष्मतीपुरीकी रक्षा करनी होगी। पाण्डुकुमार ! साथ ही मैं तुम्हारा मनोरथ भी पूर्ण करूँगा' ॥ ५५-५६ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जनमेजय ! यह सुनकर माद्रीकुमार सहदेव प्रसन्नचित्त हो वहाँसे उठे और हाथ जोड़कर एवं सिर झुकाकर उन्होंने अग्निदेवका पूजन किया ॥ ५७ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगात् तदा ।
पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५८ ॥
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधाम्पतिम् ।

अग्निके लौट जानेपर उन्हींकी आज्ञासे राजा नील उस समय वहाँ आये और उन्होंने योद्धाओंके अधिपति पुरुषसिंह सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ ५८½ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ॥ ५९ ॥
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद् विजयी दक्षिणां दिशम् ।

राजा नीलकी वह पूजा ग्रहणकर और उनपर कर लगाकर विजयी माद्रीकुमार सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥ ५९½ ॥

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ॥ ६० ॥
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ।
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ॥ ६१ ॥
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ।

फिर त्रिपुरीके राजा अमितौजाको वशमें करके महाबाहु सहदेवने पौरवेश्वरको वेगपूर्वक बंदी बना लिया । तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्नके द्वारा विशाल भुजाओंवाले माद्रीकुमारने सुराष्ट्रदेशके अधिपति कौशिकाचार्य आकृतिको वशमें किया ॥ ६०-६१½ ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ॥ ६२ ॥
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ॥ ६३ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ।
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधाम्पतिः ।

महाराज ! सुराष्ट्रमें ही ठहरकर धर्मात्मा सहदेवने भोजकट-निवासी रुक्मी तथा विशाल राज्यके अधिपति परम बुद्धिमान् साक्षात् इन्द्रसखा भीष्मकके पास दूत भेजा । पुत्रसहित भीष्मकने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टि रखकर प्रेमपूर्वक ही सहदेवका शासन स्वीकार कर लिया । तदनन्तर योद्धाओंके अधिपति सहदेव वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर पुनः आगे बढ़ गये ॥ ६२-६४½ ॥

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ॥ ६५ ॥
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ।
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ॥ ६६ ॥
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।

महाबलशाली महातेजस्वी माद्रीकुमारने शूर्पारक और तालाकट नामक देशोंको जीतते हुए दण्डकारण्यको अपने अधीन कर लिया । तत्पश्चात् समुद्रके द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ-जातीय राजाओं, निषादों तथा राक्षसों, कर्णप्रावरणों[1] को भी परास्त किया ॥ ६५-६६½ ॥

ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥ ६७ ॥

कालमुख नामसे प्रसिद्ध जो मनुष्य और राक्षस दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए योद्धा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की ॥ ६७ ॥

कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपत्तनं तथा ।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ॥ ६८ ॥
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।
एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः ॥ ६९ ॥
नगरीं संजयन्तीं च पाखण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७० ॥

समूचे कोलगिरि, सुरभीपत्तन, ताम्रद्वीप, रामकपर्वत तथा तिमिंगिलनरेशको भी अपने वशमें करके परम बुद्धिमान् सहदेवने एक पैरके पुरुषों, केरलों, वनवासियों, संजयन्ती नगरी तथा पाखण्ड और करहाटक देशोंको दूतोंद्वारा संदेश देकर ही अपने अधीन कर लिया और उन सबसे कर वसूल किया ॥ ६८-७० ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ॥ ७१ ॥
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७२ ॥

पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक, रमणीय आटवीपुरी तथा यवनोंके नगर—इन सबको उन्होंने दूतोंद्वारा ही वशमें कर लिया और सबको कर देनेके लिये विवश किया ॥ ७१-७२ ॥

(समुद्रतीरमासाद्य न्यविशत् पाण्डुनन्दनः ।
सहदेवस्ततो राजन् मन्त्रिभिः सह भारत ।
सम्प्रधार्य महाबाहुः सचिवैर्बुद्धिमत्तरैः ॥

वहाँसे समुद्रके तटपर पहुँचकर पाण्डुनन्दन सहदेवने सेनाका पड़ाव डाला । भारत ! तदनन्तर महाबाहु सहदेवने अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्रणा देनेमें कुशल सचिवोंके साथ बैठकर बहुत देरतक विचारविमर्श किया ॥

अनुमान्य स तां राजन् सहदेवस्त्वरान्वितः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र भ्रातुः पुत्रं घटोत्कचम् ॥

राजेन्द्र जनमेजय ! उन सबकी सम्मतिको आदर देते हुए माद्री-कुमारने अपने भतीजे राक्षसराज घटोत्कचका तुरंत चिन्तन किया ॥

ततश्चिन्तितमात्रे तु राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
अतिदीर्घो महाकायः सर्वाभरणभूषितः ॥

उनके चिन्तन करते ही वह बड़े डील-डौलवाला विशाल-काय राक्षस दिखायी दिया । उसने सब प्रकारके आभूषण धारण कर रक्खे थे ॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
विचित्रहारकेयूरः किङ्किणीमणिभूषितः ॥

उसके शरीरका रंग मेघोंकी काली घटाके समान था । उसके कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे थे । उसके गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी विचित्र शोभा हो रही थी । कटिभागमें वह किंकिणीकी मणियोंसे विभूषित था ॥

हेममाली महादंष्ट्रः किरीटी कुक्षिबन्धनः ।
ताम्रकेशो हरिश्मश्रुर्भीमाक्षः कनकाङ्गदः ॥

उसके कण्ठमें सुवर्णकी माला, मस्तकपर किरीट और कमरमें करधनीकी शोभा हो रही थी । उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, सिरके बाल ताँबेके समान लाल थे, मूँछ-दाढ़ी-

---

१. जो अपने कानोंसे ही शरीरको ढक लें उन्हें 'कर्णप्रावरण' कहते हैं । प्राचीन कालमें ऐसी जातिके लोग थे, जिनके कान पैरोंतक लटकते थे ।

के बाल हरे दिखायी देते थे एवं आँखें बड़ी भयंकर थीं। उसकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमक रहे थे ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गः सूक्ष्माम्बरधरो बली।
जवेन स ययौ तत्र चालयन्निव मेदिनीम् ॥

उसने अपने सब अङ्गोंमें लाल चन्दन लगा रक्खा था। उसके कपड़े बहुत महीन थे। वह बलवान् राक्षस अपने वेगसे समूची पृथ्वीको हिलाता हुआ-सा वहाँ पहुँचा ॥

ततो दृष्ट्वा जना राजन्नायान्तं पर्वतोपमम्।
भयाद्धि दुद्रुवुः सर्वे सिंहात् क्षुद्रमृगा यथा ॥

राजन्! उस पर्वताकार घटोत्कचको आता देख वहाँके सब लोग भयके मारे भाग खड़े हुए; मानो किसी सिंहके भयसे जंगलके मृग आदि क्षुद्र पशु भाग रहे हों ॥

आससाद च माद्रेयं पुलस्त्यं रावणो यथा।
अभिवाद्य ततो राजन् सहदेवं घटोत्कचः ॥
प्रह्वः कृताञ्जलिस्तस्थौ किं कार्यमिति चाब्रवीत्।

घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आया, मानो रावणने महर्षि पुलस्त्यके पास पदार्पण किया हो। महाराज! तदनन्तर घटोत्कच सहदेवको प्रणाम करके उनके सामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?' ॥

तं मेरुशिखराकारमागतं पाण्डुनन्दनः ॥
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत्।
पूजयित्वा सहामात्यः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ॥

घटोत्कच मेरुपर्वतके शिखर-जैसा जान पड़ता था। उसको आया देख पाण्डुनन्दन सहदेवने दोनों भुजाओंमें भरकर उसे हृदयसे लगा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् उसका स्वागत-सत्कार करके मन्त्रियोंसहित सहदेव बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले ॥

सहदेव उवाच

गच्छ लङ्कां पुरीं वत्स करार्थं मम शासनात्।
तत्र दृष्ट्वा महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥
रत्नानि राजसूयार्थं विविधानि बहूनि च।
उपादाय च सर्वाणि प्रत्यागच्छ महाबल ॥

सहदेवने कहा—वत्स! तुम मेरी आज्ञासे कर लेनेके लिये लंकापुरीमें जाओ और वहाँ राक्षसराज महात्मा विभीषणसे मिलकर राजसूययज्ञके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न प्राप्त करो। महाबली वीर! उनकी ओरसे भेंटमें मिली हुई सब वस्तुएँ लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ ॥

नो चेदेवं वदेः पुत्र समर्थमिदमुत्तरम्।
विष्णोर्भुजबलं वीक्ष्य राजसूयमथारभत् ॥
कौन्तेयो भ्रातृभिः सार्धं सर्वं जानीहि साम्प्रतम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सर्वं वैश्रवणानुज ॥
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ मा भूत् कालस्य पर्ययः।

बेटा! यदि विभीषण तुम्हें भेंट न दें, तो उन्हें अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस प्रकार कहना—'कुबेरके छोटे भाई लंकेश्वर! कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलको देखकर भाइयोंसहित राजसूययज्ञ आरम्भ किया है। आप इस समय इन बातोंको अच्छी तरह जान लें। आपका कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा।' इतना कहकर तुम शीघ्र लौट आना; अधिक विलम्ब मत करना ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनैवमुक्तस्तु मुदा युक्तो घटोत्कचः।
तथेत्युक्त्वा महाराज प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥
ययौ प्रदक्षिणं कृत्वा सहदेवं घटोत्कचः।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पाण्डुकुमार सहदेवके ऐसा कहनेपर घटोत्कच बहुत प्रसन्न हुआ और 'तथास्तु' कहकर सहदेवकी परिक्रमा करके दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥

ततः कच्छगतो धीमान् दूतं माद्रवतीसुतः।
प्रेषयामास हैडिम्बं पौलस्त्याय महात्मने।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार समुद्रके तटपर पहुँचकर बुद्धिमान् शत्रुदमन धर्मात्मा माद्रवतीकुमारने महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणके पास प्रेमपूर्वक घटोत्कचको अपना दूत बनाकर भेजा ॥ ७३ ॥

(लङ्कामभिमुखो राजन् समुद्रमवलोकयत् ॥
कूर्मग्राहझषाकीर्णं नक्रैर्मीनैस्तथाऽऽकुलम्।
शुक्तिव्रातैः समाकीर्णं शङ्खानां निचयाकुलम् ॥

राजन्! लङ्काकी ओर जाते हुए घटोत्कचने समुद्रको देखा। वह कछुओं, मगरों, नाकों तथा मत्स्य आदि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें ढेर-के-ढेर शङ्ख और सीपियाँ छा रही थीं ॥

स दृष्ट्वा रामसेतुं च चिन्तयन् रामविक्रमम्।
प्रणम्य तमतिक्रम्य याम्यां वेलामलोकयत् ॥

भगवान् श्रीरामके द्वारा बनवाये हुए पुलको देखकर घटोत्कचको भगवान्‌के पराक्रमका चिन्तन हो आया और उस सेतुतीर्थको प्रणाम करके उसने समुद्रके दक्षिणतटकी ओर दृष्टिपात किया ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य दक्षिणं स घटोत्कचः।
ददर्श लङ्कां राजेन्द्र नाकपृष्ठोपमां शुभाम् ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् दक्षिणतटपर पहुँचकर घटोत्कचने लङ्कापुरी देखी, जो स्वर्गके समान सुन्दर थी ॥

प्राकारेणावृतां रम्यां शुभद्वारैश्च शोभिताम् ।
प्रासादैर्बहुसाहस्रैः श्वेतरक्तैश्च संकुलाम् ॥

उसके चारों ओर चहारदीवारी बनी थी । सुन्दर फाटक उस रमणीय पुरीकी शोभा बढ़ाते थे । सफेद और लाल रंगके हजारों महलोंसे वह लंकापुरी भरी हुई थी ॥

तापनीयगवाक्षेण मुक्ताजालान्तरेण च ।
हैमराजतजालेन दान्तजालैश्च शोभिताम् ॥

वहाँके गवाक्ष (जँगले) सोनेके बने हुए थे और उनके भीतर मोतियोंकी जाली लगी हुई थी । कितने ही गवाक्ष सोने, चाँदी तथा हाथीदाँतकी जालियोंसे सुशोभित थे ॥

हर्म्यगोपुरसम्बाधां रुक्मतोरणसंकुलाम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादामुद्यानवनशोभिताम् ॥

कितनी ही अट्टालिकाएँ तथा गोपुर उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे । स्थान-स्थानपर सोनेके फाटक लगे हुए थे । वहाँ दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि गूँजती रहती थी । बहुत-से उद्यान और वन उस नगरीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे ॥

पुष्पगन्धैश्च संकीर्णां रमणीयमहापथाम् ।
नानारत्नैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥

उसमें चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध छा रही थी । वहाँकी लंबी-चौड़ी सड़कें बहुत सुन्दर थीं । भाँति-भाँतिके रत्नोंसे भरी-पुरी लंका इन्द्रकी अमरावतीपुरीको भी लज्जित कर रही थी ॥

विवेश स पुरीं लङ्कां राक्षसैश्च निषेविताम् ।
ददर्श राक्षसव्राताञ्छूलप्रासधरान् बहून् ॥

घटोत्कचने राक्षसोंसे सेवित उस लङ्कापुरीमें प्रवेश किया और देखा, झुंड-के-झुंड राक्षस त्रिशूल और भाले लिये विचर रहे हैं ॥

नानावेषधरान् दक्षान् नारीश्च प्रियदर्शनाः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥

वे सभी युद्धमें कुशल हैं और नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं । घटोत्कचने वहाँकी नारियोंको भी देखा । वे सब-की-सब बड़ी सुन्दर थीं । उनके अङ्गोंमें दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य हार शोभा दे रहे थे ॥

मदरक्तान्तनयनाः पीनश्रोणिपयोधराः ।
भैमसेनिं ततो दृष्ट्वा हृष्टास्ते विस्मयं गताः ॥

उनके नेत्रोंके किनारे मदिराके नशेसे कुछ लाल हो रहे थे । उनके नितम्ब और उरोज उभरे हुए तथा मांसल थे । भीमसेनपुत्र घटोत्कचको वहाँ आया देख लङ्कानिवासी राक्षसोंको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ ॥

आससाद गृहं राज्ञ इन्द्रस्य सदनोपमम् ।
स द्वारपालमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥

इधर घटोत्कच इन्द्रभवनके समान मनोहर राजमहलके द्वारपर जा पहुँचा और द्वारपालसे इस प्रकार बोला ॥

घटोत्कच उवाच

कुरूणामृषभो राजा पाण्डुर्नाम महाबलः ।
कनीयांस्तस्य दायादः सहदेव इति श्रुतः ॥

घटोत्कचने कहा—कुरुकुलमें एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं । वे महाबली नरेश 'पाण्डु'के नामसे विख्यात थे । उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'सहदेव' है ॥

कृष्णमित्रस्य तु गुरो राजसूयार्थमुद्यतः ।
तेनाहं प्रेषितो दूतः करार्थं कौरवस्य च ॥

वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न करानेके लिये कटिबद्ध हैं । धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं । सहदेवने कुरुराज युधिष्ठिरके लिये कर लेनेके निमित्त मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है ॥

द्रष्टुमिच्छामि पौलस्त्यं त्वं क्षिप्रं मां निवेदय ।

मैं पुलस्त्यनन्दन महाराज विभीषणसे मिलना चाहता हूँ । तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दो ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्वारपालो महीपते ।
तथेत्युक्त्वा विवेशाथ भवनं स निवेदकः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! घटोत्कचका वह वचन सुनकर वह द्वारपाल 'बहुत अच्छा' कहकर सूचना देनेके लिये राजभवनके भीतर गया ॥

साञ्जलिः स समाचष्ट सर्वां दूतगिरं तदा ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
उवाच वाक्यं धर्मात्मा समीपे मे प्रवेश्यताम् ।

वहाँ उसने हाथ जोड़कर दूतकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं । द्वारपालकी बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उससे कहा—'दूतको मेरे समीप ले आओ' ॥

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र धर्मज्ञेन महात्मना ।
अथ निष्क्रम्य सम्भ्रान्तो द्वाःस्थो हैडिम्बमब्रवीत् ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ महात्मा विभीषणकी ऐसी आज्ञा होनेपर द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ बाहर निकला और घटोत्कच-से बोला—॥

एहि दूत नृपं द्रष्टुं क्षिप्रं प्रविश च स्वयम् ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा प्रविवेश घटोत्कचः ॥

'दूत ! आओ । महाराजसे मिलनेके लिये राजभवनमें शीघ्र प्रवेश करो ।' द्वारपालका कथन सुनकर घटोत्कचने राजभवनमें प्रवेश किया ॥

स प्रविश्य ददर्शाथ राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरम्।
ततः कैलाससंकाशं तप्तकाञ्चनतोरणम्॥

तदनन्तर उसमें प्रवेश करके उसने राक्षसराज विभीषणका महल देखा, जो अपनी उज्ज्वल आभासे कैलासके समान जान पड़ता था। उसका फाटक तपाकर शुद्ध किये हुए सोनेसे तैयार किया गया था॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं गोपुरैश्चापि शोभितम्।
हर्म्यप्रासादसम्बाधं नानारत्नसमन्वितम्॥

चहारदीवारीसे घिरा हुआ वह राजमन्दिर अनेक गोपुरोंसे सुशोभित हो रहा था। उसमें बहुत-सी अट्टालिकाएँ तथा महल बने हुए थे। भाँति-भाँतिके रत्न उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे॥

काञ्चनैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि।
वज्रवैडूर्यगर्भैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः।
नानाध्वजपताकाभिः सुवर्णाभिश्च चित्रितम्।

तपाये हुए सुवर्ण, रजत (चाँदी) तथा स्फटिकमणिके बने हुए खम्भे नेत्र और मनको बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। उन खम्भोंमें हीरे और वैडूर्य जड़े हुए थे। सुनहरे रंगकी विविध ध्वजा-पताकाओंसे उस भव्य भवनकी विचित्र शोभा हो रही थी॥

चित्रमाल्यावृतं रम्यं तप्तकाञ्चनवेदिकम्॥
तान् दृष्ट्वा तत्र सर्वान् स भैमसेनिर्मनोरमान्।
प्रविशन्नेव हैडिम्बः शुश्राव मुरजस्वनम्॥

विचित्र मालाओंसे अलंकृत तथा विशुद्ध स्वर्णमय वेदिकाओंसे विभूषित वह राजभवन बड़ा रमणीय दिखायी दे रहा था। उस महलकी इन सारी मनोरम विशेषताओंको देखकर घटोत्कचने ज्यों ही भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उसके कानोंमें मृदंगकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी॥

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालमिताक्षरम्।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादं वादित्रशतसंकुलम्॥

वहाँ वीणाके तार झंकृत हो रहे थे और उसके लयपर गीत गाया जा रहा था, जिसका एक-एक अक्षर समतालके अनुसार उच्चारित हो रहा था। सैकड़ों वाद्योंके साथ दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष गूँज रहा था॥

स श्रुत्वा मधुरं शब्दं प्रीतिमानभवत् तदा।
ततो विगाह्य हैडिम्बो बहुकक्षां मनोरमाम्॥
स ददर्श महात्मानं द्वाःस्थेन भरतर्षभ।
तं विभीषणमासीनं काञ्चने परमासने॥

भरतश्रेष्ठ! वह मधुर शब्द सुनकर घटोत्कचके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अनेक मनोरम कक्षाओंको पार करके द्वारपालके साथ जा सुन्दर स्वर्णसिंहासनपर बैठे हुए महात्मा विभीषणका दर्शन किया॥

दिव्ये भास्करसंकाशे मुक्तामणिविभूषिते।
दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपधरं विभुम्॥

उनका सिंहासन सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था और उसमें मोती तथा मणि आदि रत्न जड़े हुए थे। दिव्य आभूषणोंसे राक्षसराज विभीषणके अङ्गोंकी विचित्र शोभा हो रही थी। उनका रूप दिव्य था॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धोक्षितं शुभम्॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्।

वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे अभिषिक्त हो बड़े सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य तथा अग्निके समान उद्भासित हो रही थी॥

उपोपविष्टं सचिवैर्देवैरिव शतक्रतुम्॥
यक्षैर्महारथैर्दिव्यैर्नारीभिः प्रियदर्शनैः।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः पूज्यमानं यथाविधि॥

जैसे इन्द्रके पास बहुत-से देवता बैठते हैं, उसी प्रकार विभीषणके समीप उनके अनेक सचिव बैठे थे। बहुत-से दिव्य सुन्दर महारथी यक्ष अपनी स्त्रियोंके साथ मङ्गलयुक्त वाणीद्वारा विभीषणका विधिपूर्वक पूजन कर रहे थे॥

चामरे व्यजने चाग्र्ये हेमदण्डे महाधने।
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि॥

दो सुन्दरी नारियाँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित बहुमूल्य चँवर तथा व्यजन लेकर उनके मस्तकपर डुला रही थीं॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टं कुबेरवरुणोपमम्।
धर्मे चैव स्थितं नित्यमद्भुतं राक्षसेश्वरम्॥

राक्षसराज विभीषण कुबेर और वरुणके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं अद्भुत दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंसे दिव्य प्रभा छिटक रही थी। वे सदा धर्ममें स्थित रहते थे॥

राममिक्ष्वाकुनाथं वै स्मरन्तं मनसा सदा।
दृष्ट्वा घटोत्कचो राजन् ववन्दे तं कृताञ्जलिः॥

वे मन-ही-मन इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते थे। राजन्! उन राक्षसराज विभीषणको देख घटोत्कचने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया॥

प्रह्वस्तस्थौ महावीर्यः शक्रं चित्ररथो यथा।
तं दूतमागतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः॥
पूजयित्वा यथान्यायं सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत्।

और जैसे महापराक्रमी चित्ररथ इन्द्रके सामने नम्र रहते हैं, उसी प्रकार महाबली घटोत्कच भी विनीतभावसे उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राक्षसराज विभीषणने उस दूतको आया हुआ देख उसका यथायोग्य सम्मान करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा॥

विभीषण उवाच

कस्य वंशे तु संजातः कमिच्छन् महीपतिः॥
तस्यानुजान् समस्तांश्च पुरं देशं च तस्य वै।

त्वां च कार्यं च तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥
विस्तरेण मम ब्रूहि सर्वानेतान् पृथक्-पृथक् ।

विभीषणने पूछा—दूत ! जो महाराज मुझसे कर लेना चाहते हैं, वे किसके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। उनके समस्त भाइयों तथा ग्राम और देशका परिचय दो। मैं तुम्हारे विषयमें भी जानना चाहता हूँ तथा तुम जिस कार्यके लिये कर लेने आये हो, उस समस्त कार्यके विषयमें भी मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। तुम मेरी पूछी हुई इन सब बातोंको विस्तारपूर्वक पृथक्-पृथक् बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु हैडिम्बः पौलस्त्येन महात्मना ॥
कृताञ्जलिरुवाचाथ सान्त्वयन् राक्षसाधिपम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा विभीषणके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने हाथ जोड़ राक्षसराजको आश्वासन देते हुए कहा ॥

घटोत्कच उवाच

सोमस्य वंशे राजाऽऽसीत् पाण्डुर्नाम महाबलः।
पाण्डोः पुत्राश्च पञ्चासञ्छक्रतुल्यपराक्रमाः ॥
तेषां ज्येष्ठस्तु नाम्नाभूद् धर्मपुत्र इति श्रुतः ।

घटोत्कच बोला—महाराज ! चन्द्रवंशमें पाण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाबली राजा हो गये हैं। उनके पाँच पुत्र हैं, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। उन पाँचोंमें जो बड़े हैं, वे धर्मपुत्रके नामसे विख्यात हैं ॥

अजातशत्रुर्धर्मात्मा धर्मो विग्रहवानिव ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्राप्य राज्यमकारयत् ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे नगरे नागसाह्वये ॥

उनके मनमें किसीके प्रति शत्रुता नहीं है; इसलिये लोग उन्हें अजातशत्रु कहते हैं। उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं। गङ्गाके दक्षिणतटपर हस्तिनापुर नामका एक नगर है। राजा युधिष्ठिर वहीं अपना पैतृक राज्य प्राप्त करके उसकी रक्षा करते थे ॥

तद् दत्त्वा धृतराष्ट्राय शक्रप्रस्थं ययौ ततः ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शक्रप्रस्थे प्रमोदते ॥

राक्षसराज ! कुछ कालके पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुरका राज्य धृतराष्ट्रको सौंप दिया और स्वयं वे भाइयोंसहित इन्द्रप्रस्थ चले गये। इन दिनों वे वहीं आनन्दपूर्वक रहते हैं ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तावुभौ नगरोत्तमौ ।
नित्यं धर्मे स्थितो राजा शक्रप्रस्थे प्रशासति ॥

वे दोनों श्रेष्ठ नगर गङ्गा-यमुनाके बीचमें बसे हुए हैं। नित्य धर्मपरायण राजा युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें ही रहकर शासन करते हैं ॥

तस्यानुजो महाबाहुः भीमसेनो महाबलः ।
महातेजा महावीर्यः सिंहतुल्यः स पाण्डवः ॥

उनके छोटे भाई पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेन भी बड़े बलवान् हैं। वे सिंहके समान महापराक्रमी और अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

दशनागसहस्राणां बले तुल्यः स पाण्डवः ।
तस्यानुजोऽर्जुनो नाम महावीर्यपराक्रमः ॥
सुकुमारो महासत्त्वो लोके वीर्येण विश्रुतः ।

उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनसे छोटे भाईका नाम अर्जुन है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, सुकुमार तथा अत्यन्त धैर्यवान् हैं। उनका पराक्रम विश्वमें विख्यात है ॥

कार्तवीर्यसमो वीर्ये सागरप्रतिमो बले ॥
जामदग्न्यसमो ह्यस्त्रे संख्ये रामसमोऽर्जुनः ।
रूपे शक्रसमः पार्थस्तेजसा भास्करोपमः ॥

वे कुन्तीनन्दन अर्जुन कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी, सगरपुत्रोंके समान बलवान्, परशुरामजीके समान अस्त्रविद्याके ज्ञाता, श्रीरामचन्द्रजीके समान समरविजयी, इन्द्रके समान रूपवान् तथा भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥

देवदानवगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
मानुषैश्च समस्तैश्च अजेयः फाल्गुनो रणे ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य—ये सब मिलकर भी युद्धमें अर्जुनको परास्त नहीं कर सकते ॥

तेन तत् खाण्डवं दावं तर्पितं जातवेदसे ।
तरसा धर्षयित्वा तं शक्रं देवगणैः सह ॥
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ।

उन्होंने खाण्डववनको जलाकर अग्निदेवको तृप्त किया है। देवताओंसहित इन्द्रको वेगपूर्वक पराजित करके उन्होंने अग्निदेवको संतुष्ट किया और उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं ॥

तेन लब्धा महाराज दुर्लभा देवतैरपि ॥
वासुदेवस्य भगिनी सुभद्रा नाम विश्रुता ।

महाराज ! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ थी ॥

अर्जुनस्यानुजो राजन् नकुलश्चेति विश्रुतः ॥
दर्शनीयतमो लोके मूर्तिमानिव मन्मथः ।

राजन् ! अर्जुनके छोटे भाई नकुल नामसे विख्यात हैं, जो इस जगत्‌में मूर्तिमान् कामदेवके समान दर्शनीय हैं ॥

तस्यानुजो महातेजाः सहदेव इति श्रुतः ।
तेनाहं प्रेषितो राजन् सहदेवेन मारिष ॥

नकुलके छोटे भाई महातेजस्वी सहदेवके नामसे विख्यात हैं। माननीय महाराज ! उन्हीं सहदेवने मुझे यहाँ भेजा है ॥

अहं घटोत्कचो नाम भीमसेनसुतो बली।
मम माता महाभागा हिडिम्बा नाम राक्षसी॥

मेरा नाम घटोत्कच है। मैं भीमसेनका बलवान् पुत्र हूँ। मेरी सौभाग्यशालिनी माताका नाम हिडिम्बा है। वे राक्षसकुलकी कन्या हैं॥

पार्थानामुपकारार्थं चरामि पृथिवीमिमाम्।
आसीत् पृथिव्याः सर्वस्या महीपालो युधिष्ठिरः॥

मैं कुन्तीपुत्रोंका उपकार करनेके लिये ही इस पृथ्वीपर विचरता हूँ। महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक हो गये हैं॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे।
संदिदेश च स भ्रातॄन् करार्थं सर्वतोदिशम्॥

उन्होंने क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करनेकी तैयारी की है। उन्हीं महाराजने अपने सब भाइयोंको कर वसूल करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा है॥

वृष्णिवीरेण सहितः संदिदेशानुजान् नृपः।
उदीचीमर्जुनस्तूर्णं करार्थं समुपाययौ॥

वृष्णिवीर भगवान् श्रीकृष्णके साथ धर्मराजने जब अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये आदेश दिया, तब महाबली अर्जुन कर वसूल करनेके लिये तुरंत उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥

गत्वा शतसहस्राणि योजनानि महाबलः।
जित्वा सर्वान् नृपान् युद्धे हत्वा च तरसा वशी॥
स्वर्गद्वारमुपागम्य रत्नान्यादाय वै भृशम्।

उन्होंने लाख योजनकी यात्रा करके सम्पूर्ण राजाओंको युद्धमें हराया है और सामना करनेके लिये आये हुए विपक्षियोंको वेगपूर्वक मारा है। जितेन्द्रिय अर्जुनने स्वर्गके द्वारतक जाकर प्रचुर रत्न-राशि प्राप्त की है॥

अश्वांश्च विविधान् दिव्यान् सर्वानादाय फाल्गुनः॥
धनं बहुविधं राजन् धर्मपुत्राय वै ददौ।

नाना प्रकारके दिव्य अश्व उन्हें भेंटमें मिले हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके धन लाकर उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित किये हैं॥

भीमसेनो हि राजेन्द्र जित्वा प्राचीं दिशं बलात्॥
वशे कृत्वा महीपालान् पाण्डवाय धनं ददौ।

राजेन्द्र! युधिष्ठिरके दूसरे भाई भीमसेनने पूर्व दिशामें जाकर उसे बलपूर्वक जीता है और वहाँके राजाओंको अपने वशमें करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित किया है॥

दिशं प्रतीचीं नकुलः करार्थं प्रययौ तथा॥
सहदेवो दिशं याम्यां जित्वा सर्वान् महीक्षितः।

नकुल कर लेनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये हैं और सहदेव सम्पूर्ण राजाओंको जीतते हुए दक्षिण दिशामें बढ़ते चले आये हैं॥

मां संदिदेश राजेन्द्र करार्थमिह सत्कृतः॥
पार्थानां चरितं तुभ्यं संक्षेपात् समुदाहृतम्।

राजेन्द्र! उन्होंने बड़े सत्कारपूर्वक मुझे आपके यहाँ राजकीय कर देनेके लिये संदेश भेजा है। महाराज! पाण्डवोंका यह चरित्र मैंने अत्यन्त संक्षेपमें आपके समक्ष रक्खा है॥

तमवेक्ष्य महाराज धर्मराजं युधिष्ठिरम्॥
पावकं राजसूयं च भगवन्तं हरिं प्रभुम्।
एतानवेक्ष्य धर्मज्ञ करं त्वं दातुमर्हसि॥

आप धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखिये, पवित्र करनेवाले राजसूययज्ञ तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिकी ओर भी ध्यान दीजिये। धर्मज्ञ नरेश! इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए आपको मुझे कर देना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

तेन तद् भाषितं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मात्मा सचिवैः सह॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचकी वह बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए॥

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम्।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः॥ ७४॥

विभीषणने प्रेमपूर्वक ही उनका शासन स्वीकार कर लिया। शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् विभीषणने उसे कालका ही विधान समझा॥ ७४॥

(ततो ददौ विचित्राणि कम्बलानि कुथानि च।
दन्तकाञ्चनपर्यङ्कान् मणिहेमविचित्रितान्॥

उन्होंने सहदेवके लिये हाथीकी पीठपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल (कालीन) तथा हाथीदाँत और सुवर्णके बने हुए पलंग दिये, जिनमें सोने तथा रत्न जड़े हुए थे॥

भूषणानि विचित्राणि महार्हाणि बहूनि च।
प्रवालानि च शुभ्राणि मणींश्च विविधान् बहून्॥
काञ्चनानि च भाण्डानि कलशानि घटानि च।
कटाहान्यपि चित्राणि द्रोण्यश्चैव सहस्रशः॥

इसके सिवा बहुत-से विचित्र और बहुमूल्य आभूषण भी भेंट किये। सुन्दर मूँगे, भाँति-भाँतिके मणिरत्न, सोनेके बर्तन, कलश, घड़े, विचित्र कड़ाहे और हजारों जलपात्र समर्पित किये॥

राजतानि च भाण्डानि चित्राणि च बहूनि च।
शस्त्राणि रुक्मचित्राणि मणिमुक्तैर्विचित्रितान्॥

इनके सिवा चाँदीके भी बहुत-से ऐसे बर्तन दिये, जिनमें

चित्रकारी की गयी थी। कुछ ऐसे शस्त्र भेंट किये, जिनमें सुवर्ण, मणि और मोती जड़े हुए थे ॥

यज्ञस्य तोरणे युक्तान् ददौ तालांश्चतुर्दश।
रुक्मपङ्कजपुष्पाणि शिबिका मणिभूषिताः ॥

यज्ञके फाटकपर लगाने योग्य चौदह ताड़ प्रदान किये। सुवर्णमय कमलपुष्प और मणिजटित शिबिकाएँ भी दीं ॥

मुकुटानि महार्हाणि हेमवर्णांश्च कुण्डलान्।
हेमपुष्पाण्यनेकानि रुक्ममाल्यानि चापरान् ॥
शङ्खांश्च चन्द्रसंकाशाञ्छतावर्तान् विचित्रिणः।

बहुमूल्य मुकुट, सुनहले कुण्डल, सोनेके बने हुए अनेकानेक पुष्प, सोनेके ही हार तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं विचित्र शतावर्त शङ्ख भेंट किये ॥

चन्दनानि च मुख्यानि रुक्मरत्नान्यनेकशः ॥
वासांसि च महार्हाणि कम्बलानि बहून्यपि।
अन्यांश्च विविधान् राजन् रत्नानि च बहूनि च ॥
स ददौ सहदेवाय तदा राजा विभीषणः।)

श्रेष्ठ चन्दन, अनेक प्रकारके सुवर्ण तथा रत्न, महँगे वस्त्र, बहुत-से कम्बल, अनेक जातिके रत्न तथा और भी भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थ राजा विभीषणने सहदेवको भेंट किये ॥

ततः सम्प्रेषयामास रत्नानि विविधानि च।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७५ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान्।

तथा उन्होंने नाना प्रकारके रत्न, चन्दन, अगुरुके काष्ठ, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और विशेष मूल्यवान् मणि-रत्न भी उसके साथ भिजवाये ॥ ७५½ ॥

(विभीषणं च राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
प्रदक्षिणं परीत्यैव निर्जगाम घटोत्कचः।

तदनन्तर घटोत्कचने हाथ जोड़कर राजा विभीषणको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥

तानि सर्वाणि रत्नानि अष्टाशीतिर्निशाचराः ॥
आजह्रुः समुदा राजन् हैडिम्बेन तदा सह।

राजन्! घटोत्कचके साथ अट्ठासी निशाचर उन सब रत्नोंको पहुँचानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आये ॥

रत्नान्यादाय सर्वाणि प्रतस्थे स घटोत्कचः ॥
ततो रत्नान्युपादाय हैडिम्बो राक्षसैः सह।
जगाम तूर्णं लङ्कायाः सहदेवपदं प्रति ॥
आसेदुः पाण्डवं सर्वे लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥

इस प्रकार उन सब रत्नोंको साथ ले घटोत्कचने राक्षसोंके साथ लङ्कासे सहदेवके पड़ावकी ओर प्रस्थान किया और समुद्र लाँघकर वे सब-के-सब पाण्डुनन्दन सहदेवके निकट आ पहुँचे ॥

सहदेवो ददर्शाथ रत्नाहारान् निशाचरान्।
आगतान् भीमसंकाशान् हैडिम्बं च तथा नृप ॥

राजन्! सहदेवने रत्न लेकर आये हुए भयंकर निशाचरों तथा घटोत्कचको भी देखा ॥

द्रमिला नैर्ऋतान् दृष्ट्वा दुद्रुवुस्ते भयार्दिताः।
भैमसेनिस्ततो गत्वा माद्रेयं प्राञ्जलिः स्थितः ॥

उस समय उन राक्षसोंको देखकर द्राविड़ सैनिक भयभीत हो सब ओर भागने लगे। इतनेमें ही भीमसेनकुमार घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया ॥

प्रीतिमानभवद् दृष्ट्वा रत्नौघं तं च पाण्डवः।
तं परिष्वज्य पाणिभ्यां दृष्ट्वा तान् प्रीतिमानभूत् ॥
विसृज्य द्रमिलान् सर्वान् गमनायोपचक्रमे।)

पाण्डुकुमार सहदेव वह रत्न-राशि देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घटोत्कचको दोनों हाथोंसे पकड़कर गले लगाया और दूसरे राक्षसोंकी ओर देखकर भी बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद समस्त द्राविड सैनिकोंको विदा करके सहदेव वहाँसे लौटनेकी तैयारी करने लगे ॥

न्यवर्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७६ ॥

तैयारी पूरी हो जानेपर प्रतापी और बुद्धिमान् सहदेव इन्द्रप्रस्थकी ओर चल दिये ॥ ७६ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च।
करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक जीतकर तथा सामनीतिसे समझा-बुझाकर सब राजाओंको अपने अधीन करके उन्हें करद बनाकर शत्रुदमन माद्रीनन्दन इन्द्रप्रस्थमें वापस आ गये ॥ ७७ ॥

(रत्नभारमुपादाय ययौ सह निशाचरैः।
इन्द्रप्रस्थं विवेशाथ कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥

रत्नोंका वह भारी भार साथ लिये निशाचरोंके साथ सहदेवने इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय वे पैरोंकी धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से चल रहे थे ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् सहदेवः कृताञ्जलिः।
प्रह्वोऽभिवाद्य तस्थौ स पूजितश्चैव तेन वै ॥

राजन्! युधिष्ठिरको देखते ही सहदेव हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें पड़ गये। फिर विनीतभावसे उनके समीप खड़े हो गये। उस समय युधिष्ठिरने भी उनका बहुत सम्मान किया ॥

लङ्काप्राप्तान् धनौघांश्च दृष्ट्वा तान् दुर्लभान् बहून्।
प्रीतिमानभवद् राजा विस्मयं च ययौ तदा ॥

लङ्कासे प्राप्त हुई अत्यन्त दुर्लभ एवं प्रचुर धनराशियोंको देखकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥

कोटीसहस्रमधिकं हिरण्यस्य महात्मने।
विचित्रांस्तु मणींश्चैव गोऽजाविमहिषांस्तथा॥
धर्मराजाय तत् सर्वं निवेद्य भरतर्षभ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ७८ ॥)

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उस धनराशिमें सहस्र कोटिसे भी अधिक सुवर्ण था। विचित्र मणि एवं रत्न थे। गाय, भैंस, भेड़ और बकरियोंकी संख्या भी अधिक थी। राजन्! इन सबको महात्मा धर्मराजकी सेवामें समर्पित करके कृतकृत्य हो सहदेव सुखपूर्वक राजधानीमें रहने लगे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०० श्लोक मिलाकर कुल १७८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयका वर्णन करूँगा। शक्तिशाली नकुलने जिस प्रकार भगवान् वासुदेवद्वारा अधिकृत पश्चिम दिशापर विजय पायी थी, वह सुनो ॥ १ ॥

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम्।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥

बुद्धिमान् माद्रीकुमारने विशाल सेनाके साथ खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशामें जानेके लिये प्रस्थान किया ॥ २ ॥

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥

वे अपने सैनिकोंके महान् सिंहनाद, गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटकी तुमुल ध्वनिसे इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए जा रहे थे ॥ ३ ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत्।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

जाते-जाते वे बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न, गौओंकी बहुलतासे युक्त तथा स्वामिकार्तिकेयके अत्यन्त प्रिय रमणीय रोहीतक[1] पर्वत एवं उसके समीपवर्ती देशमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः।
मरुभूमिं स कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महोत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥

वहाँ उनका मत्तमयूर नामवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ घोर संग्राम हुआ। उसपर अधिकार करनेके पश्चात् महान् तेजस्वी नकुलने समूची मरुभूमि (मारवाड़), प्रचुर धन-धान्यपूर्ण शैरीषक और महोत्थ नामक देशोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया। महोत्थ देशके अधिपति राजर्षि आक्रोशको भी जीत लिया। आक्रोशके साथ उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ था ॥ ५-६ ॥

तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ॥ ७ ॥
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ।

तत्पश्चात् दशार्णदेशपर विजय प्राप्त करके पाण्डुनन्दन नकुलने शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पञ्चकर्पट एवं माध्यमिक देशोंको प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधान-देशीय क्षत्रियोंको भी हराया ॥ ७½ ॥

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः ।

पुनः उधरसे लौटकर नरश्रेष्ठ नकुलने पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणोंको परास्त किया ॥ ८½ ॥

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥

समुद्रके तटपर रहनेवाले जो महाबली ग्रामणीय (ग्राम शासकके वंशज) क्षत्रिय थे, सरस्वती नदीके किनारे निवास करनेवाले जो शूद्र आभीरगण थे, मछलियोंसे जीविका चलानेवाले जो धीवर जातिके लोग थे तथा जो पर्वतोंपर वास करनेवाले दूसरे-दूसरे मनुष्य थे, उन सबको नकुलने जीतकर अपने वशमें कर लिया ॥ ९-१० ॥

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम्।

---
1. इसीको आजकल रोहतक (पंजाब) कहते हैं।

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

फिर सम्पूर्ण पञ्चनददेश (पंजाब), अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट नगर और द्वारपालपुरको अत्यन्त कान्तिमान् नकुलने शीघ्र ही अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ११½॥

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥

रामठ, हार, हूण तथा अन्य जो पश्चिमी नरेश थे, उन सबको पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे ही अपने अधीन कर लिया । भारत ! वहीं रहकर उन्होंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा ॥ १२-१३ ॥

स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

राजन् ! उन्होंने केवल प्रेमके कारण नकुलका शासन स्वीकार कर लिया । इसके बाद शाकलदेशको जीतकर बलवान् नकुलने मद्रदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया और वहाँके शासक अपने मामा शल्यको प्रेमसे ही वशमें कर लिया ॥ १४½ ॥

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः ।

राजन् ! राजा शल्यने सत्कारके योग्य नकुलका यथावत् सत्कार किया । शल्यसे भेंटमें बहुत-से रत्न लेकर योद्धाओंके अधिपति माद्रीकुमार आगे बढ़ गये ॥ १५½ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७ ॥

तदनन्तर समुद्री टापुओंमें रहनेवाले अत्यन्त भयंकर म्लेच्छ, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको जीतकर उनसे रत्नोंकी भेंट ले विजयके विचित्र उपायोंके जाननेवाले कुरुश्रेष्ठ नकुल इन्द्रप्रस्थकी ओर लौटे ॥ १६-१७ ॥

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८ ॥

महाराज ! उन महामना नकुलके बहुमूल्य खजानेका बोझ दस हजार हाथी बड़ी कठिनाईसे ढो रहे थे ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् माद्रीकुमारने इन्द्रप्रस्थमें विराजमान वीरवर राजा युधिष्ठिरसे मिलकर वह सारा धन उन्हें समर्पित कर दिया ॥

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् वासुदेवके द्वारा अपने अधिकारमें की हुई वरुणपालित पश्चिम दिशापर विजय पाकर नकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(राजसूयपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके शासनकी विशेषता, श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरका राजसूययज्ञकी दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे-सम्बन्धियोंको बुलानेके लिये निमन्त्रण भेजना

वैशम्पायन उवाच

(एवं निर्जित्य पृथिवीं भ्रातरः कुरुनन्दन ।
वर्तमानाः स्वधर्मेण शशासुः पृथिवीमिमाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इस प्रकार सारी पृथ्वीको जीतकर अपने धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई पाण्डव इस भूमण्डलका शासन करने लगे ॥

चतुर्भिर्भीमसेनाद्यैर्भ्रातृभिः सहितो नृपः ।
अनुगृह्य प्रजाः सर्वाः सर्ववर्णानगोपयत् ॥

भीमसेन आदि चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करते हुए सब वर्णके लोगोंको संतुष्ट रखते थे ॥

अविरोधेन सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।
प्रीयतां दीयतां सर्वं मुक्त्वा कोषं बलं विना ॥
साधु धर्मेति पार्थस्य नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।

युधिष्ठिर किसीका भी विरोध न करके सबके हितसाधनमें लगे रहते थे । 'सबको तृप्त एवं प्रसन्न किया जाय, खजाना

खोलकर सबको खुले हाथ दान दिया जाय, किसीपर बल-प्रयोग न किया जाय, धर्म! तुम धन्य हो।' इत्यादि बातोंके सिवा युधिष्ठिरके मुखसे और कुछ नहीं सुनायी पड़ता था ॥

एवंवृत्ते जगत् तस्मिन् पितरीवान्वरज्यत ॥
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ।)

उनके ऐसे बर्तावके कारण सारा जगत् उनके प्रति वैसा ही अनुराग रखने लगा, जैसे पुत्र पिताके प्रति अनुरक्त होता है। राजा युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था; इसीलिये वे 'अजातशत्रु' कहलाते थे ॥

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजाकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका संहार करते थे। उनके इन कार्योंसे निश्चिन्त एवं उत्साहित होकर प्रजावर्गके सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके पालनमें संलग्न रहते थे ॥ १ ॥

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥ २ ॥

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करनेसे उनके राज्यमें मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे। इस प्रकार युधिष्ठिर-का सम्पूर्ण जनपद धन-धान्यसे सम्पन्न हो गया था ॥ २ ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छे ढंगसे होने लगे। विशेषतः राजाकी सुव्यवस्थासे ही यह सब कुछ उत्तमरूपसे सम्पन्न होता था ॥ ३ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥

राजन्! औरोंकी तो बात ही क्या है; चोरों, ठगों, राजा अथवा राजाके विश्वासपात्र व्यक्तियोंके मुखसे भी वहाँ कोई झूठी बात नहीं सुनी जाती थी। केवल प्रजाके साथ ही नहीं, आपसमें भी वे लोग झूठ-कपटका बर्ताव नहीं करते थे ॥ ४ ॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

धर्मपरायण युधिष्ठिरके शासनकालमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि, रोग-व्याधि तथा आग लगने आदि उपद्रवोंका नाम भी नहीं था ॥ ५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन ॥ ६ ॥

राजालोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करनेके लिये ही आते थे, युद्ध आदि दूसरे किसी कामसे नहीं ॥ ६ ॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धनकी आयसे उनका महान् धन-भंडार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्षोंतक खुले हाथ लुटानेपर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था ॥ ७ ॥

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्न-वस्त्रके भंडार तथा खजानेका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका ही निश्चय किया ॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥ ९ ॥

उनके जितने हितैषी सुहृद् थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—'प्रभो! यह आपके यज्ञ करनेका उपयुक्त समय आया है; अतः अब उसका आरम्भ कीजिये' ॥ ९ ॥

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम् ॥ १० ॥

वे सुहृद् इस तरहकी बातें कर ही रहे थे कि उसी समय भगवान् श्रीहरि आ पहुँचे। वे पुराणपुरुष, नारायण ऋषि, वेदात्मा एवं विज्ञानी जनोंके लिये भी अगम्य परमेश्वर हैं ॥ १० ॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥

वे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके उत्तम उत्पत्ति-स्थान और लयके अधिष्ठान हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके नियन्ता हैं। वे ही केशी दैत्यको मारनेवाले केशव हैं। ११।

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महताऽऽवृतः ॥ १३ ॥

वे सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंके परकोटेकी भाँति संरक्षक, आपत्ति-में अभय देनेवाले तथा उनके शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। पुरुषसिंह माधव अपने पिता वसुदेवजीको द्वारकाकी सेनाके आधिपत्यपर स्थापित करके धर्मराजके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले विशाल सेनाके साथ वहाँ आये थे ॥ १२-१३॥

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन् रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥

उस धनराशिकी कहीं सीमा नहीं थी; मानो रत्नोंका

अक्षय महासागर हो। उसे लेकर रथोंकी आवाजसे समूची दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वे उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत्।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंका धन-भण्डार तो यों ही भरा-पूरा था; भगवान्‌ने (उन्हें अक्षय धनकी भेंट देकर) उसे और भी पूर्ण कर दिया। उनका शुभागमन पाण्डवोंके शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था। बिना सूर्यका अन्धकारपूर्ण जगत् सूर्योदय होनेसे जिस प्रकार प्रकाशसे भर जाता है, बिना वायुके स्थानमें वायुके चलनेसे जैसे नूतन प्राण-शक्तिका संचार हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके पदार्पण करनेपर समस्त इन्द्रप्रस्थमें हर्षोल्लास छा गया ॥ १५ ॥

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न होकर उनसे मिले। उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशल-मङ्गल पूछा और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयोंके साथ निकट जाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा ॥ १६-१७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! आपकी दयासे आपकी सेवाके लिये सारी पृथ्वी इस समय मेरे अधीन हो गयी है। वार्ष्णेय ! मुझे धन भी बहुत प्राप्त हो गया है ॥ १८ ॥

सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥ १९ ॥

देवकीनन्दन माधव ! वह सारा धन मैं विधिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा हव्यवाहन अग्निके उपयोगमें लाना चाहता हूँ। १९।

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

महाबाहु दाशार्ह ! अब मैं आप तथा अपने छोटे भाइयोंके साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ॥ २० ॥

तद् दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥

विशाल भुजाओंवाले गोविन्द ! आप स्वयं यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। दाशार्ह ! आपके यज्ञ करनेपर मैं पापरहित हो जाऊँगा ॥ २१ ॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥

प्रभो ! अथवा मुझे अपने इन छोटे भाइयोंके साथ दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये। श्रीकृष्ण ! आपकी अनुज्ञा मिलनेपर ही मैं उस उत्तम यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम्।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम्।
सम्प्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजसूययज्ञके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजसिंह ! आप सम्राट् होने योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। आपके दीक्षा लेनेपर हम सब लोग कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २३ ॥

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ॥ २४ ॥

'आप अपने इस अभीष्ट यज्ञको प्रारम्भ कीजिये। मैं आपका कल्याण करनेके लिये सदा उद्यत हूँ। मुझे आवश्यक कार्यमें लगाइये, मैं आपकी सब आज्ञाओंका पालन करूँगा'। २४।

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा संकल्प सफल हो गया, मेरी सिद्धि सुनिश्चित है; क्योंकि हृषीकेश ! आप मेरी इच्छाके अनुसार स्वयं ही यहाँ उपस्थित हो गये हैं ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञ करनेके लिये साधन जुटाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २७ ॥

उस समय शत्रुओंका संहार करनेवाले पाण्डुकुमारने योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको आज्ञा दी—॥ २७ ॥

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥

अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥

'इस यज्ञके लिये ब्राह्मणोंके बताये अनुसार यज्ञके अङ्गभूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकारकी माङ्गलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजीकी बतायी हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओंको क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने सेवक जाकर ले आवें ॥ २८-२९ ॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥

'इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पूरु, ये मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्न आदिके संग्रहके कामपर जुट जायँ। ३०।

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! जिनको खानेकी प्रायः सभी इच्छा करते हैं, वे रस और गन्धसे युक्त भाँति-भाँतिके मिष्टान्न आदि तैयार कराये जायँ, जो ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रीति प्रदान करनेवाले हों' ॥ ३१ ॥

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होते ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने उनसे निवेदन किया, 'यह सब व्यवस्था हो चुकी है'। ३२।

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ॥ ३३ ॥

राजन् ! तदनन्तर द्वैपायन व्यासजी बहुत-से ऋत्विजोंको ले आये। वे महाभाग ब्राह्मण मानो साक्षात् मूर्तिमान् वेद ही थे। ३३।

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥

स्वयं सत्यवतीनन्दन व्यासने उस यज्ञमें ब्रह्माका काम सँभाला। धनंजयगोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामगान करनेवाले हुए ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥

और ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य उस यज्ञके श्रेष्ठतम अध्वर्यु थे। वसुपुत्र पैल धौम्य मुनिके साथ होता बने थे ॥ ३५ ॥

एतेषां पुत्रवर्गाश्च शिष्याश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इनके पुत्र और शिष्यवर्गके लोग, जो सब-के-सब वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे, 'होत्रग' (सप्त होता) हुए ॥ ३६ ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद् देवयजनं महत् ॥ ३७ ॥

उन सबने पुण्याहवाचन कराकर उस विधिका ऊहन (अर्थात् राजसूयेन यक्ष्ये, स्वाराज्यमवाप्नवानि--मैं स्वाराज्य प्राप्त करूँ, इस उद्देश्यसे राजसूययज्ञ करूँगा, इत्यादि रूपसे संकल्प) कराकर शास्त्रोक्त विधिसे उस महान् यज्ञस्थानका पूजन कराया॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥

उस स्थानपर राजाकी आज्ञासे शिल्पियोंने देवमन्दिरोंके समान विशाल एवं सुगन्धित भवन बनाये ॥ ३८ ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ३९ ॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा ॥ ४० ॥

तदनन्तर राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही मन्त्री सहदेवको आज्ञा दी, 'सब राजाओं तथा ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करनेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजो ।' राजाकी यह बात सुनकर सहदेवने दूतोंको भेजा और कहा—॥ ३९-४० ॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

'तुमलोग सभी राज्योंमें घूम-घूमकर वहाँके राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रोंको निमन्त्रित कर दो और बुला ले आओ' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम् ।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सहदेवकी आज्ञा पाकर सब शीघ्रगामी दूत गये और उन्होंने ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके लोगोंको निमन्त्रित किया तथा बहुतोंको वे अपने साथ ही शीघ्र बुला लाये। वे अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य व्यक्तियोंको भी साथ लाना न भूले ॥ ४२ ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तदनन्तर वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणोंने ठीक समयपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजसूययज्ञकी दीक्षा दी ॥ ४३ ॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४४ ॥

यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे घिरे हुए यज्ञमण्डपमें गये ॥ ४४ ॥

भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः॥ ४५॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव।

उस समय उनके सगे भाई, जाति-बन्धु, सुहृद्, सहायक, अनेक देशोंसे आये हुए क्षत्रिय नरेश तथा मन्त्रि-गण भी थे। नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर मूर्तिमान् धर्म ही जान पड़ते थे॥ ४५½॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः॥ ४६॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः।

तत्पश्चात् वहाँ भिन्न-भिन्न देशोंसे ब्राह्मणलोग आये, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे॥ ४६½॥

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात्॥ ४७॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक्।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः॥ ४८॥

धर्मराजकी आज्ञासे हजारों शिल्पियोंने आत्मीयजनोंके साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंके ठहरनेके लिये पृथक्-पृथक् घर बनाये थे, जो बहुत-से अन्न और वस्त्रोंसे परिपूर्ण थे और जिनमें सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक रहनेकी सुविधाएँ थीं।४७-४८।

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान्॥ ४९॥

राजन्! उन गृहोंमें वे ब्राह्मणलोग राजासे सत्कार पाकर निवास करने लगे। वहाँ वे नाना प्रकारकी कथाएँ कहते और नट-नर्तकोंके खेल देखते थे॥ ४९॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम्॥ ५०॥

वहाँ भोजन करते और बोलते हुए आनन्दमग्न महात्मा ब्राह्मणोंका निरन्तर महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था॥ ५०॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः॥ ५१॥

'इनको दीजिये, इन्हें परोसिये, भोजन कीजिये, भोजन कीजिये' इसी प्रकारके शब्द वहाँ प्रतिदिन कानोंमें पड़ते थे।५१।

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग् ददौ॥ ५२॥

भारत! धर्मराज युधिष्ठिरने एक लाख गौएँ, उतनी ही शय्याएँ, एक लाख स्वर्णमुद्राएँ तथा उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको दान कीं॥ ५२॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे॥ ५३॥

इस प्रकार स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति भूमण्डलमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका वह यज्ञ प्रारम्भ हुआ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम्।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः॥ ५४॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे॥ ५५॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा॥ ५४-५५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें राजसूयदीक्षाविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५९½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें सब देशके राजाओं, कौरवों तथा यादवोंका आगमन और उन सबके भोजन-विश्राम आदिकी सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धविजयी पाण्डुकुमार नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म और धृतराष्ट्र-को निमन्त्रित किया॥ १॥

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः॥ २॥

तत्पश्चात् उन्होंने बड़े सत्कारके साथ आचार्य आदिको भी न्यौता दिया। वे सब लोग बड़े प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको आगे करके उस यज्ञमें गये॥ २॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ॥ ३॥

भरतकुलभूषण! यज्ञवेत्ता धर्मराजका यज्ञ सुनकर अन्य सैकड़ों मनुष्य भी संतुष्ट हृदयसे वहाँ गये॥ ३॥

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम्।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत॥ ४॥
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च।

भारत ! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभाको देखनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंसे सभी क्षत्रिय वहाँ नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट लेकर आये ॥ ४½ ॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
यक्षसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।
पर्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।
आकर्षः कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥
बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ।

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, सोमदत्त, कुरुनन्दन भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश महारथी भगदत्त, जिनके साथ समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले सब जातियोंके म्लेच्छ भी थे, पर्वतीय नृपतिगण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्गदेशके राजा, कलिङ्गनरेश, आकर्ष, कुन्तल, मालव, आन्ध्र, द्राविड और सिंहलदेशके नरेशगण, काश्मीर-नरेश, महातेजस्वी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लिक, दूसरे शूर नृपतिगण, अपने दोनों पुत्रोंके साथ विराट, महाबली मावेल्ल तथा नाना जनपदोंके शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ५-१३½ ॥

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ॥ १४ ॥
आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ।
रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥
वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः ।

भारत ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें रणदुर्मद महापराक्रमी राजा शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ आया था। इसके सिवा बलराम, अनिरुद्ध, कङ्क, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह तथा अन्य सभी वृष्णिवंशी महारथी उस यज्ञमें आये थे ॥ १४-१६½ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ।

ये तथा दूसरे भी बहुत-से मध्यदेशीय नरेश पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें सम्मिलित हुए थे ॥ १७½ ॥

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान् ।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे प्रबन्धकोंने उनके ठहरनेके लिये उत्तम भवन दिये, जो बहुत अधिक भोजनसामग्रीसे सम्पन्न थे। राजन् ! उन घरोंके भीतर स्नानके लिये बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे भी सुशोभित थे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन सभी महात्मा नरेशोंका स्वागत-सत्कार करते थे ॥ १८-१९ ॥

सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान् नृपाः ।
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान् द्रव्यभूषितान् ॥२०॥

उनसे सम्मानित हो उन्हींके बताये हुए विभिन्न भवनोंमें जाकर राजालोग ठहरते थे। वे सभी भवन कैलासशिखरके समान ऊँचे और भव्य थे। नाना प्रकारके द्रव्योंसे विभूषित एवं मनोहर थे ॥ २० ॥

सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥

वे भव्य भवन सब ओरसे सुन्दर, सफेद और ऊँचे परकोटोंद्वारा घिरे हुए थे। उनमें सोनेकी झालरें लगी थीं। उनके आँगनके फर्शमें मणि एवं रत्न जड़े हुए थे ॥ २१ ॥

सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान् ।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ॥ २२ ॥

उनमें सुखपूर्वक ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। उन महलोंके भीतर बहुमूल्य एवं बड़े-बड़े आसन तथा अन्य आवश्यक सामान थे। उन घरोंको मालाओंसे सजाया गया था। उनमें उत्तम अगुरुकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥२२॥

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ।
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥

वे सभी अतिथिभवन हंस और चन्द्रमाके समान सफेद थे। एक योजन दूरसे ही वे अच्छी तरह दिखायी देने लगते थे। उनमें स्थानकी संकीर्णता या तङ्गी नहीं थी। सबके दरवाजे बराबर थे। वे सभी गृह विभिन्न गुणों (सुख-सुविधाओं) से युक्त थे ॥ २३ ॥

बहुधातुनिबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखरानिव ।

उनकी दीवारें अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित थीं तथा वे हिमालयके शिखरोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ॥ २४ ॥
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥

वहाँ विश्राम करनेके अनन्तर वे भूमिपाल बहुत दक्षिणा देनेवाले एवं बहुतेरे सदस्योंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले । जनमेजय ! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों तथा महर्षियोंसे भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओंसे भरे-पूरे स्वर्गलोकके समान शोभा पा रहा था ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें निमन्त्रित राजाओंका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदिकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशतिसे कहा—'इस यज्ञमें आपलोग सब प्रकारसे मुझपर अनुग्रह करें ॥ १-२ ॥

इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥

'यहाँ मेरा जो यह महान् धन है, उसे आपलोग मेरी प्रार्थना मानकर इच्छानुसार सत्कर्मोंमें लगाइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥

यज्ञदीक्षित युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबको यथायोग्य अधिकारोंमें लगाया ॥ ४ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रीकी देख-रेख तथा उसके बाँटने-परोसनेकी व्यवस्थाका अधिकार दुःशासनको दिया । ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार उन्होंने अश्वत्थामाको सौंप दिया ॥ ५ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥

राजाओंकी सेवा और सत्कारके लिये धर्मराजने संजयको नियुक्त किया । कौन काम हुआ और कौन नहीं हुआ, इसकी देख-रेखका काम महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्यको मिला ॥ ६ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥

तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन् न्ययोजयत् ।
बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत् तत्र रेमिरे ॥ ८ ॥

उत्तम वर्णके स्वर्ण तथा रत्नोंको परखने, रखने और दक्षिणा देनेके कार्यमें राजाने कृपाचार्यकी नियुक्ति की । इसी प्रकार दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंको यथायोग्य भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाया । नकुलके द्वारा सम्मानपूर्वक बुलाकर लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ वहाँ घरके मालिककी तरह सुखपूर्वक रहने और इच्छानुसार विचरने लगे ॥ ७-८ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी धनको व्यय करनेके कार्यमें नियुक्त किये गये थे तथा राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओंसे सब प्रकारकी भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखनेका काम सँभाल रहे थे ॥ ९ ॥

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥ १० ॥

सब लोगोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें लगे थे, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको और उनकी सभाको देखनेकी इच्छासे आये हुए राजाओंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे कम भेंट लाया हो ॥ ११ ॥

रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ।
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ॥ १२ ॥
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ।

प्रत्येक राजा बहुसंख्यक रत्नोंकी भेंट देकर धर्मराज युधिष्ठिरके धनकी वृद्धि करने लगा । सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नोंके दानसे अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें ॥ १२½ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ॥ १३ ॥
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ।
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ॥ १४ ॥
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ।
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

राजन् ! जिनके शिखर यज्ञ देखनेके लिये आये हुए देवताओंके विमानोंका स्पर्श कर रहे थे, जो जलाशयोंसे परिपूर्ण और सेनाओंसे घिरे हुए थे; उन सुन्दर भवनों, इन्द्रादि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके निवासस्थानों तथा परम समृद्धिसे सम्पन्न रत्नोंसे परिपूर्ण चित्र एवं विमानके तुल्य बने हुए दिव्य गृहोंसे, समागत राजाओंसे तथा असीम श्री-समृद्धियोंसे महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह सभा बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३—१५ ॥

ऋद्ध्या तु वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद् दक्षिणावता ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अनुपम समृद्धिद्वारा वरुण-देवताकी बराबरी कर रहे थे । उन्होंने यज्ञमें छः अग्नियोंकी* स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणा देकर उस यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन किया ॥ १६ ॥

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १७ ॥

राजाने उस यज्ञमें आये हुए सब लोगोंको उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके संतुष्ट किया । वह यज्ञसमारोह अन्नसे भरा-पूरा था, उसमें खाने-पीनेकी सब सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रामें सदा प्रस्तुत रहती थीं । वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगोंसे ही पूर्ण था । वहाँ कोई भूखा नहीं रहने पाता था तथा उस उत्सव-समारोहमें सब ओर रत्नोंका ही उपहार दिया जाता था ॥ १७ ॥

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ १८ ॥

मन्त्रशिक्षामें निपुण महर्षियोंद्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें इडा (मन्त्र-पाठ एवं स्तुति), घृत-होम तथा तिल आदि शाकल्य पदार्थोंकी आहुतियोंसे देवतालोग तृप्त हो गये ॥ १८ ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार दक्षिणामें अन्न और महान् धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हो गये । अधिक क्या कहा जाय, उस यज्ञमें सभी वर्णके लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें यज्ञकरणविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

* नीलकण्ठीकी टीकामें छः अग्नियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—आरम्भणीय, क्षत्र, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय ।

(अर्घाभिहरणपर्व)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंका समागम, श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमाका वर्णन और भीष्मजीकी अनुमतिसे श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अभिषेचनीय[1] कर्मके दिन सत्कारके योग्य महर्षिगण और ब्राह्मणलोग राजाओंके साथ यज्ञभवनमें गये ॥ १ ॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥
एवमेतन्न चाप्येवमेवं चैतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ ४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञभवनमें राजर्षियोंके साथ बैठे हुए नारद आदि महर्षि उस समय ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और देवर्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे । बीच-बीचमें यज्ञसम्बन्धी एक-एक कर्मसे अवकाश पाकर अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आपसमें जल्प[2] (वाद-विवाद) करते थे । 'यह इसी प्रकार होना चाहिये,' 'नहीं, ऐसे नहीं होना चाहिये,' 'यह बात ऐसी ही है, ऐसी ही है, इससे भिन्न नहीं है ।' इस प्रकार कह-कहकर बहुत-से वितण्डावादी[3] द्विज वहाँ वाद-विवाद करते थे ॥ २–४ ॥

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥

कुछ विद्वान् शास्त्रनिश्चित नाना प्रकारके तर्कों और युक्तियोंसे दुर्बल पक्षोंको पुष्ट और पुष्ट पक्षोंको दुर्बल सिद्ध कर देते थे ॥

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ ६ ॥

वहीं कुछ मेधावी पण्डित, जो दूसरोंके कथनमें दोष दिखानेके ही अभ्यासी थे, अन्य लोगोंके कहे हुए अनुमानसाधित विषयको उसी तरह बीचसे ही लोक लेते थे, जैसे बाज़ मांसके लोथड़ेको आकाशमें ही एक दूसरेसे छीन लेते हैं ॥

केचिद् धर्मार्थकुशलाः केचित् तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥

उन्हींमें कुछ लोग धर्म और अर्थके निर्णयमें अत्यन्त निपुण थे । कोई महान् व्रतका पालन करनेवाले थे । इस प्रकार सम्पूर्ण भाष्यके विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे महात्मा अच्छी कथाएँ और शिक्षाप्रद बातें कहकर स्वयं भी सुखी होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते थे ॥ ७ ॥

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ॥ ८ ॥

जैसे नक्षत्रमालाओंद्वारा मण्डित विशाल आकाशमण्डलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वेदज्ञ देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और महर्षियोंसे वह वेदी सुशोभित हो रही थी ॥ ८ ॥

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥

राजन् ! युधिष्ठिरकी यज्ञशालाके भीतर उस अन्तर्वेदीके आस-पास उस समय न तो कोई शूद्र था और न व्रतहीन द्विज ही ॥

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

परम बुद्धिमान् राजलक्ष्मीसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके उस धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १० ॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तु तदा पश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥

जनमेजय ! उस समय वहाँ समस्त क्षत्रियोंका सम्मेलन देखकर मुनिवर नारदजी सहसा चिन्तित हो उठे ॥ ११ ॥

---

१. जिसमें पूजनीय पुरुषोंका अभिषेक—अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, उस कर्मका नाम अभिषेचनीय है । यह राजसूय-यज्ञका अङ्गभूत सोमयागविशेष है ।

२. यह एक प्रकारका वाद है, जिसमें वादी छल, जाति और निग्रहस्थानको लेकर अपने पक्षका मण्डन और विपक्षीके पक्षका खण्डन करता है । इसमें वादीका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं होता, किंतु स्वपक्षस्थापन और परपक्षखण्डनमात्र होता है । वादके समान इसमें भी प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयव होते हैं ।

३. जिस बहस या वाद-विवादका उद्देश्य अपने पक्षकी स्थापना या परपक्षका खण्डन न होकर व्यर्थकी बकवादमात्र हो, उसका नाम 'वितण्डा' है ।

सस्मार च पुरा वृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! भगवान्‌के सम्पूर्ण अंशों (देवताओं) सहित अवतार लेनेके सम्बन्धमें ब्रह्मलोकमें पहले जो चर्चा हुई थी, वह प्राचीन घटना उन्हें याद आ गयी ॥ १२ ॥

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन ।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! नारदजीने यह जानकर कि राजाओंके इस समुदायके रूपमें वास्तवमें देवताओंका ही समागम हुआ है, मन-ही-मन कमलनयन भगवान् श्रीहरिका चिन्तन किया ॥

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥

वे सोचने लगे—'अहो ! सर्वव्यापक देवशत्रुविनाशक वैरिनगरविजयी साक्षात् भगवान् नारायणने ही अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है ॥ १४ ॥

संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥ १५ ॥

'पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक-दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे ॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः ।
आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥

'कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया ॥ १६ ॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥ १७ ॥

'अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥ १८ ॥

'इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं ॥ १८ ॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥

'अहो ! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे बलसम्पन्न क्षत्रिय-समुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं' ॥ १९ ॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित् ।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीड्यन्तमीश्वरम् ॥ २० ॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं; ऐसा समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे ॥ २०-२१ ॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'भरतकुलभूषण युधिष्ठिर ! अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो ॥ २२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ॥ २३ ॥

'आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छहोंको अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है ॥ २३ ॥

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥

'ये यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिये अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है। ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घ-कालके पश्चात् पधारे हैं ॥ २४ ॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥

'इसलिये राजन् ! तुम बारी-बारीसे इन सबके लिये अर्घ्य दो और इन सबमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हो, उसको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो' ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन पितामह ! इन समागत

नरेशोंमें किस एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् ।
अमन्यत तदा कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्णको ही भूमण्डलमें सबसे अधिक पूजनीय माना ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमसे उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें भुवनभास्कर भगवान् सूर्य । अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्यका उदय होनेपर ज्योतिसे जगमग हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायुके संचारसे सजीव-सा हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है (अतः ये ही अग्रपूजाके योग्य हैं)॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

भीष्मजीकी आज्ञा मिल जानेपर प्रतापी सहदेवने वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य

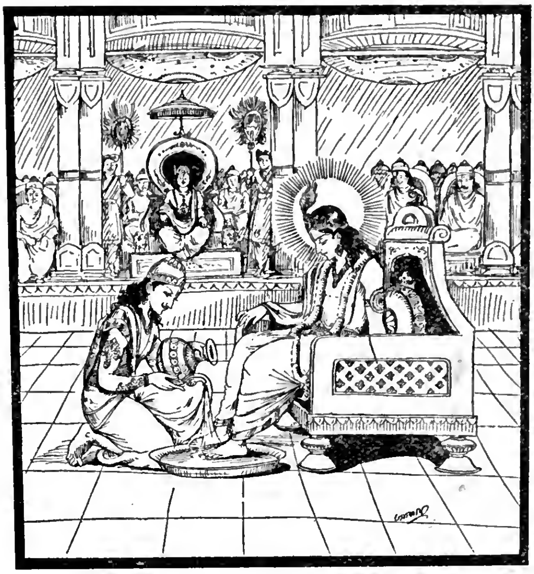

निवेदन किया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया । वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरिकी वह पूजा राजा शिशुपाल नहीं सह सका ॥ ३१ ॥

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

महाबली चेदिराज भरी सभामें भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरको उलाहना देकर भगवान् वासुदेवपर आक्षेप करने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घ्यदाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें श्रीकृष्णको अर्घ्यदानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिशुपालके आक्षेपपूर्ण वचन

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—कौरव्य ! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियोंके रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओंकी भाँति राजोचित पूजाका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ॥ १ ॥

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥ २ ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

महात्मा पाण्डवोंके लिये यह विपरीत आचार कभी उचित नहीं है । पाण्डुकुमार ! तुमने स्वार्थवश कमलनयन कृष्णका पूजन किया है । पाण्डवो ! अभी तुमलोग बालक हो । तुम्हें धर्मका पता नहीं है, क्योंकि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है । ये गङ्गानन्दन भीष्म बहुत बूढ़े हो गये हैं । अब इनकी स्मरणशक्ति जवाब दे चुकी है । इनकी सूझ और समझ भी

भीष्मका युधिष्ठिरको श्रीकृष्णकी महिमा बताना

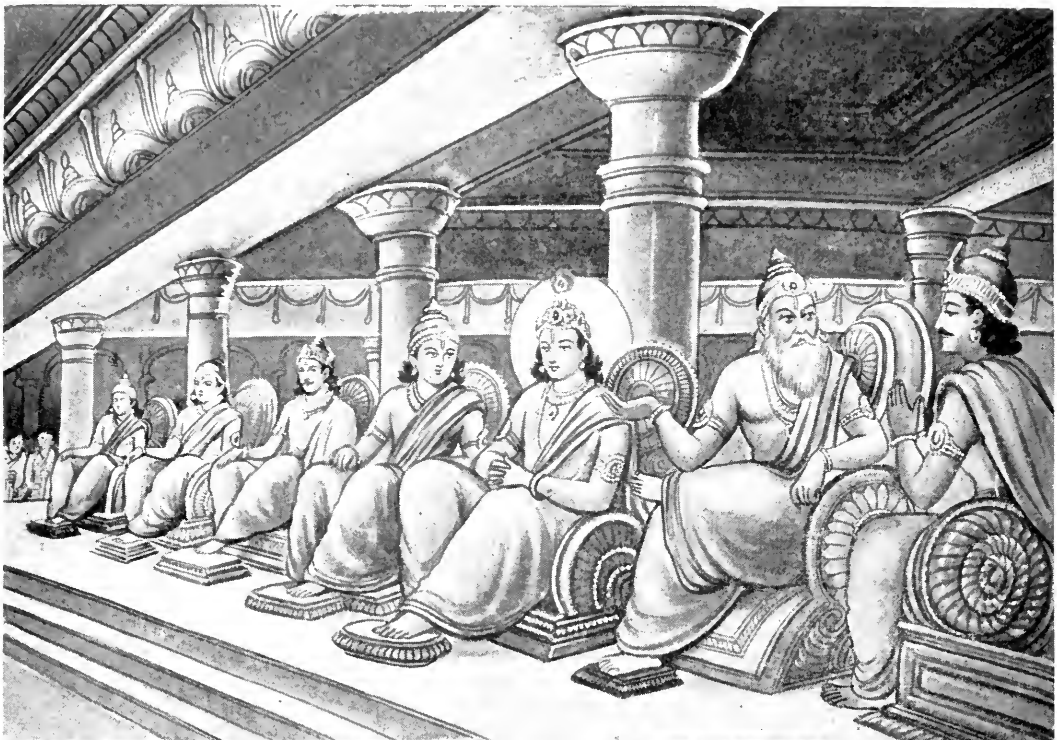

शिशुपालका युद्धके लिये उद्योग

बहुत कम हो गयी है (तभी इन्होंने श्रीकृष्णपूजाकी सम्मति दी है) ॥ २-३ ॥

त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम् ॥ ४ ॥

भीष्म ! तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुरुष भी जब मनमाना अथवा किसीका प्रिय करनेके लिये मुँहदेखी करने लगता है, तब वह साधु पुरुषोंके समाजमें अधिक अपमानका पात्र बन जाता है ॥ ४ ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥

यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर सम्पूर्ण भूपालोंके बीच तुमलोगोंने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजाका अधिकारी यह कैसे हो सकता है ? ॥५॥

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥

कुरुपुङ्गव ! अथवा यदि तुम श्रीकृष्णको बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजीके रहते हुए उनका यह पुत्र कैसे पूजाका पात्र हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥

अथवा यह मान लिया जाय कि वासुदेव कृष्ण तुम लोगोंका प्रिय चाहनेवाला और तुम्हारा अनुसरण करनेवाला सुहृद् है, इसीलिये तुमने इसकी पूजा की है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सबसे बड़े सुहृद् तो राजा द्रुपद हैं। उनके रहते यह माधव पूजा पानेका अधिकारी कैसे हो सकता है ? कुरुनन्दन ! अथवा यह समझ लें कि तुम कृष्णको आचार्य मानते हो, फिर भी आचार्योंमें भी बड़े-बूढ़े द्रोणाचार्यके रहते हुए इस यदुवंशीकी पूजा तुमने क्यों की है ? ॥ ७-८ ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! अथवा यदि यह कहा जाय कि तुम कृष्णको अपना ऋत्विज समझते हो तो ऋत्विजोंमें भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यासके रहते हुए तुमने कृष्णकी अग्रपूजा कैसे की ? ॥ ९ ॥

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥१० ॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्म पुरुषशिरोमणि तथा स्वच्छन्दमृत्यु हैं । इनके रहते तुमने कृष्णकी अर्चना कैसे की ? कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् वीर अश्वत्थामाके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजा कैसे कर डाली ? ॥ १०-११ ॥

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे ।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १२ ॥
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथार्चितः ।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे ॥ १३ ॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १४ ॥

पुरुषप्रवर राजाधिराज दुर्योधन और भरतवंशके आचार्य महात्मा कृपके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजाका औचित्य कैसे स्वीकार किया ? तुमने किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुमका उल्लङ्घन करके कृष्णकी अग्रपूजा क्यों की ? पाण्डुके समान दुर्धर्ष वीर तथा राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न भीष्मक, राजा रुक्मी और उसी प्रकार श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्यके रहते हुए तुम्हारे द्वारा कृष्णकी पूजा किस दृष्टिसे की गयी ? ॥१२—१४॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः ।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ॥ १५ ॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः ।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १६ ॥

भारत ! ये जो अपने बलके द्वारा सब राजाओंसे होड़ लेते हैं, विप्रवर परशुरामजीके प्रिय शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने बलका भरोसा करके युद्धमें अनेक राजाओंको परास्त किया है, उन महाबली कर्णको छोड़कर तुमने कृष्णकी आराधना कैसे की ? ॥ १५-१६ ॥

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मधुसूदन कृष्ण न ऋत्विज है, न आचार्य है और न राजा ही है; फिर तुमने किस प्रिय कामनासे इसकी पूजा की है ? ॥ १७ ॥

अथ वाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ १८ ॥

भारत ! अथवा यदि यह मधुसूदन ही तुमलोगोंका पूजनीय देवता है, इसलिये इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओंको केवल अपमानित करनेके लिये बुलानेकी क्या आवश्यकता थी ? ॥ १८ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात्॥१९॥

राजाओ ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा कोई विशेष आश्वासन मिलनेके कारण नहीं ॥ १९ ॥

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ॥ २० ॥

हमने तो यही समझा था कि यह धर्माचरणमें संलग्न रहनेवाला क्षत्रिय सम्राट्का पद पाना चाहता है तो अच्छा ही है। यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परंतु यह राजा युधिष्ठिर हमलोगोंको नहीं मानता है ॥ २० ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! इससे बढ़कर दूसरा अपमान और क्या हो सकता है कि तुमने राजाओंकी सभामें जिसे राजोचित चिह्न छत्र-चवँर आदि प्राप्त नहीं हुआ है, उस कृष्णकी अर्घ्यके द्वारा पूजा की है ॥ २१ ॥

अकस्माद् धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम्।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अकस्मात् ही धर्मात्मा होनेका यश प्राप्त हो गया है, अन्यथा कौन ऐसा धर्मनिष्ठ पुरुष होगा जो किसी धर्मच्युतकी इस प्रकार पूजा करेगा ॥ २२ ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा।
जरासंधं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥

वृष्णिकुलमें पैदा हुए इस दुरात्माने तो कुछ ही दिन पहले महात्मा राजा जरासंधका अन्यायपूर्वक वध किया है ॥२३॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात्।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥

आज युधिष्ठिरका धर्मात्मापन दूर निकल गया, क्योंकि इन्होंने कृष्णको अर्घ्य निवेदन करके अपनी कायरता ही दिखायी है ॥ २४ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥ २५ ॥

(अब शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको देखकर कहा—) माधव ! कुन्तीके पुत्र डरपोक, कायर और तपस्वी हैं। इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर यदि तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिये था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो ? ॥ २५ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥

अथवा जनार्दन ! इन कायरोंद्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजाको उसके योग्य न होते हुए भी तुमने क्यों स्वीकार कर लिया ?॥ २६ ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥ २७ ॥

जैसे कुत्ता एकान्तमें चूकर गिरे हुए थोड़े-से हविष्य (घृत) को चाट ले और अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे, उसी प्रकार तुम अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको बहुत बड़ा मान रहे हो ॥ २७ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

कृष्ण ! तुम्हारी इस अग्रपूजासे हम राजाधिराजोंका कोई अपमान नहीं होता, परंतु ये कुरुवंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य देकर वास्तवमें तुम्हींको ठग रहे हैं ॥ २८ ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम्।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २९ ॥

मधुसूदन ! जैसे नपुंसकका ब्याह रचाना और अंधेको रूप दिखाना उनका उपहास ही करना है, उसी प्रकार तुम-जैसे राज्यहीनकी यह राजाओंके समान पूजा भी विडम्बना-मात्र ही है ॥ २९ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ॥ ३० ॥

आज मैंने राजा युधिष्ठिरको देख लिया, भीष्म भी जैसे हैं, उनको भी देख लिया और इस वासुदेव कृष्णका भी वास्तविक रूप क्या है, यह भी देख लिया। वास्तवमें ये सब ऐसे ही हैं ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात्।

निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ॥ ३१ ॥

उनसे ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसनसे उठकर कुछ राजाओंके साथ उस सभाभवनसे जानेको उद्यत हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें शिशुपालका क्रोध-विषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शिशुपालको समझाना और भीष्मजीका उसके आक्षेपोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिर शिशुपालके समीप दौड़े गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

'राजन् ! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है। किसीके प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको न जानते हों ऐसी बात नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ॥ ३ ॥

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

'देखो ! ये सभी नरेश, जिनमेंसे कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं, श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

'चेदिराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे हमारे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं। कुरुनन्दन भीष्मजीको उनके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं है' ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌में सबसे बढ़कर हैं। वे ही परम पूजनीय हैं। जो उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता है, उसकी अनुनय-विनय नहीं करनी चाहिये। वह सान्त्वना देने या समझाने-बुझानेके योग्य भी नहीं है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय जिसे युद्धमें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रियके लिये गुरुतुल्य पूज्य हो जाता है ॥ ७ ॥

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

राजाओंके इस समुदायमें एक भी भूपाल ऐसा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हो चुका हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥

इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं। राजन् ! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थीं। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥ ११ ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम् ।

मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है। अपने

यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है ॥१२½॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है ॥ १३½ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥

चेदिराज ! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है ॥ १४-१५ ॥

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्ज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥ १६ ॥

हम इनके यश, शौर्य और विजयको भलीभाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न की हो ॥ १६ ॥

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो ॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥

वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं ॥ १८ ॥

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥१९॥

इनमें वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा संसारके मनुष्योंमें दूसरा कौन सबसे बढ़कर है ? ॥ १९ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २० ॥

दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं ॥ २० ॥

तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥

जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय हैं, उन सकल-गुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करें ॥ २१ ॥

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है ॥ २२ ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है ॥ २३ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥

ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं।'

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं॥

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७ ॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥ २९ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री,

मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों)में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दाँयें-बाँयें, जितने भी जगत्के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं ॥ २६-२९ ॥

[भगवान् नारायणकी महिमा और उनके द्वारा मधु-कैटभका वध]

(वैशम्पायन उवाच

**ततो भीष्मस्य तच्छ्रुत्वा वचः काले युधिष्ठिरः ।
उवाच मतिमान् भीष्मं ततः कौरवनन्दनः ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीष्मजीका वह समयोचित वचन सुनकर कौरवनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

**विस्तरेणास्य देवस्य कर्माणीच्छामि सर्वशः ।
श्रोतुं भगवतस्तानि प्रब्रवीहि पितामह ॥
कर्मणामानुपूर्व्यं च प्रादुर्भावांश्च मे विभोः ।
यथा च प्रकृतिः कृष्णे तन्मे ब्रूहि पितामह ॥**

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मैं इन भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप उन्हें कृपापूर्वक बतावें । पितामह ! भगवान्के अवतारों और चरित्रोंका क्रमशः वर्णन कीजिये । साथ ही मुझे यह भी बताइये कि श्रीकृष्णका शील-स्वभाव कैसा है ?

वैशम्पायन उवाच

**एवमुक्तस्तदा भीष्मः प्रोवाच भरतर्षभम् ।
युधिष्ठिरममित्रघ्नं तस्मिन् क्षत्रसमागमे ॥
समक्षं वासुदेवस्य देवस्येव शतक्रतोः ।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैराचचक्षे जनाधिप ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीष्मने राजाओंके उस समुदायमें देवराज इन्द्रके समान सुशोभित होनेवाले भगवान् वासुदेवके सामने ही शत्रुहन्ता भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका, जिन्हें दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता, वर्णन किया ॥

**शृण्वतां पार्थिवानां च धर्मराजस्य चान्तिके ।
इदं मतिमतां श्रेष्ठः कृष्णं प्रति विशाम्पते ॥
साम्नैवामन्त्र्य राजेन्द्र चेदिराजमरिंदमम् ।
भीमकर्मा ततो भीष्मो भूयः स इदमब्रवीत् ॥
कुरूणां चापि राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह ।**

धर्मराजके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण नरेश उनकी यह बात सुन रहे थे । राजन् ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीमकर्मा भीष्मने शत्रुदमन चेदिराज शिशुपालको सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें ही समझाकर कुरुराज युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥

भीष्म उवाच

**वर्तमानामतीतां च शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम् ।**

भीष्म बोले—राजा युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है । इन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

**अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ॥
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।**

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं । पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे । ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं ॥

**सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥**

इनके सहस्रों मस्तक हैं । ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं । इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं । ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं ॥

**सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ॥**

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं । ये महान् तेजस्वी देवता हैं । सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है । इनके अनेक वर्ण हैं । ये देवताओंके भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं ॥

**असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः ।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ॥**

उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की । फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजीको उत्पन्न किया ॥

**ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम् ।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः ॥**

ब्रह्माजीके चार मुख हैं । उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है । इस प्रकार आदिकालमें समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई ॥

**पुराथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ॥**

फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारणतत्त्वमें लीन हो जाते हैं ॥

**आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥**

और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, उस समय एकमात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं॥

नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत ।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ॥

भरतनन्दन ! भगवान् नारायणके सब अङ्ग सर्वदेवमय हैं। राजन् ! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण हैं॥

अश्विनौ घ्राणयोर्देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ॥

दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानमें हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं एवं इन्द्र और अग्निदेवता उन परमात्माके मुख हैं॥

अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ॥

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं। जैसे गुँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं॥

आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् ।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ॥
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।

प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया॥

सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ॥
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान् ।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ॥

इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया। सबकी सृष्टि उन्होंने ही की। उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई॥

ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर ।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ॥

युधिष्ठिर ! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया। उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई। इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया॥

कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत ।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ॥

भरतनन्दन ! अबतक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं॥

मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है॥

सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ॥

देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं॥

ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥

ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥

जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है॥

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥

युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है॥

बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ॥
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च ।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शङ्करं च महायशाः ॥

देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्रयुगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शङ्करकी उत्पत्ति करते हैं॥

सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम् ।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं। पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है॥

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥

योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम् ॥

पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी, देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर) की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे मधु और कैटभ। वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे। उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवाञ्छित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था ॥

भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः ॥

कहते हैं, वे दोनों महान् असुर महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे। पहले भगवान्‌ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे ही उनकी आकृति बनायी थी ॥

महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः ॥

वे पर्वतराज हिमालयके समान विशाल शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे। उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया ॥

तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः ॥

फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे। वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा ॥

एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम् ।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः ॥

एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर। तब जलसे उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया ॥

मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम् ।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ ॥

यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा। इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे ॥

तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ ॥

राजन्! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे ॥

सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत ।

उस समय सारा लोक जलमय हो गया था। उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये ॥

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते ॥
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम् ।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥

वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे। वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हुआ था। कहनेको तो वह पङ्कज था, परंतु पङ्कसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की ॥

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः ॥

भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे ॥

तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः ।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः ॥
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा ।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते ॥
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः ।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः ॥

उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस भयानक एकार्णवमें, जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम् ॥
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ॥

तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले—'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हारे युद्ध-कौशलसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो। हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो ॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम ।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ ॥

तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः ।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत् ॥
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ ।

'तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों । जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है ।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला ॥

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ ॥
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः ।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा ॥
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः ।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा ॥
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही ।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम् ॥

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं । जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया । उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की । राजन् कुन्तीकुमार ! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी, अतः तभीसे यह मही 'मेदिनी'के नामसे प्रसिद्ध हुई । भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी संक्षिप्त कथा]

भीष्म उवाच

प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः ।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि शृणु तान् कुरुनन्दन ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! भगवान्‌के अबतक कई सहस्र अवतार हो चुके हैं । मैं यहाँ कुछ अवतारोंका यथाशक्ति वर्णन करूँगा । तुम ध्यान देकर उनका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि ।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवा ऋषिगणैः सह ॥

पूर्वकालमें जब भगवान् पद्मनाभ समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, पुष्करमें उनसे अनेक देवताओं और महर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥

एष पौष्करिको नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
पुराणः कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः ॥

यह भगवान्‌का 'पौष्करिक' (पुष्करसम्बन्धी) पुरातन अवतार कहा गया है, जो वैदिक श्रुतियोंद्वारा अनुमोदित है ॥

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ॥
उज्जहार महीं तोयात् सशैलवनकाननाम् ।

महात्मा श्रीहरिका जो वराह नामक अवतार है, उसमें भी प्रधानतः वैदिक श्रुति ही प्रमाण है । उस अवतारके समय भगवान्‌ने वराहरूप धारण करके पर्वतों और वनों-सहित सारी पृथ्वीको जलसे बाहर निकाला था ॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ।

चारों वेद ही भगवान् वराहके चार पैर थे । यूप ही उनकी दाढ़ थे । क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और 'चिति' (इष्टिका-चयन) ही मुख थे । अग्नि जिह्वा, कुश रोम तथा ब्रह्म मस्तक थे । वे महान् तपसे सम्पन्न थे ॥

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः ॥
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् ।

दिन और रात ही उनके दो नेत्र थे । उनका स्वरूप दिव्य था । वेदाङ्ग ही उनके विभिन्न अङ्ग थे । श्रुतियाँ ही उनके लिये आभूषणका काम देती थीं । घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथुन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी । उनका शरीर बहुत बड़ा था ॥

धर्मसत्यमयः श्रीमान् कर्मविक्रमसत्कृतः ॥
प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महावृषः ।

धर्म और सत्य उनका स्वरूप था, वे अलौकिक तेजसे सम्पन्न थे । वे विभिन्न कर्मरूपी विक्रमसे सुशोभित हो रहे थे, प्रायश्चित्त उनके नख थे, वे धीर स्वभावसे युक्त थे, पशु उनके घुटनोंके स्थानमें थे और महान् वृषभ (धर्म) ही उनका श्रीविग्रह था ॥

औद्गात्रहोमलिङ्गोऽसौ फलबीजमहौषधिः ॥
बाह्यान्तरात्मा मन्त्रास्थिविकृतः सौम्यदर्शनः ।

उद्गाताका होमरूप कर्म उनका लिङ्ग था, फल और बीज ही उनके लिये महान् औषध थे, वे बाह्य और आभ्यन्तर जगत्‌के आत्मा थे, वैदिक मन्त्र ही उनके शारीरिक अस्थि-विकार थे । देखनेमें उनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य था ॥

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान् ॥
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः ।

यज्ञकी वेदी ही उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य आदि उनके वेग थे । प्राग्वंश (यजमानगृह एवं पत्नीशाला) उनका शरीर कहा गया है । वे महान् तेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षाओंसे व्याप्त थे ॥

दक्षिणाहृदयो योगी महाशास्त्रमयो महान् ॥
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ।

दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थी, वे महान् योगी और महान् शास्त्रस्वरूप थे । प्रीतिकारक उपाकर्म उनके ओष्ठ और प्रवर्ग्य कर्म ही उनके रत्नोंके आभूषण थे ॥

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः ॥
एवं यज्ञवराहो वै भूत्वा विष्णुः सनातनः ।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ॥

एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः।
मज्जितां सलिले तस्मिन् स्वदेवीं पृथिवीं तदा॥
उज्जहार विषाणेन मार्कण्डेयस्य पश्यतः।

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वत-शिखरकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे। इस प्रकार यज्ञमय वराहरूप धारण करके एकार्णवके जलमें प्रविष्ट हो सर्वशक्तिमान् सनातन भगवान् विष्णुने उस जलमें गिरकर डूबी हुई पर्वत, वन और समुद्रों-सहित अपनी महारानी भूदेवीका (दाढ़ या) सींगकी सहायतासे मार्कण्डेय मुनिके देखते-देखते उद्धार किया॥

शृङ्गेणेमां समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया॥
सहस्रशीर्षो देवो हि निर्ममे जगतीं प्रभुः।

सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित होनेवाले उन भगवान्ने सींग (या दाढ़) के द्वारा सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये इस पृथ्वीका उद्धार करके उसे जगत्का एक सुदृढ़ आश्रय बना दिया॥

एवं यज्ञवराहेण भूतभव्यभवात्मना॥
उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा।
निहता दानवाः सर्वे देवदेवेन विष्णुना॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप भगवान् यज्ञवराहने समुद्रका जल हरण करनेवाली भूदेवीका पूर्वकालमें उद्धार किया था। उस समय उन देवाधिदेव विष्णुने समस्त दानवोंका संहार किया था॥

वाराहः कथितो ह्येष नारसिंहमथो शृणु।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः॥

यह वराह अवतारका वृत्तान्त बतलाया गया। अब नृसिंहावतारका वर्णन सुनो, जिसमें नरसिंहरूप धारण करके भगवान्ने हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था॥

दैत्येन्द्रो बलवान् राजन् सुरारिर्बलगर्वितः।
हिरण्यकशिपुर्नाम आसीत् त्रैलोक्यकण्टकः॥

राजन्! प्राचीनकालमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका राजा था। वह बलवान् तो था ही, उसे अपने बलका घमंड भी बहुत था। वह तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप हो रहा था॥

दैत्यानामादिपुरुषो वीर्यवान् धृतिमान् बली।
प्रविश्य स वनं राजंश्चकार तप उत्तमम्॥

पराक्रमी हिरण्यकशिपु धीर और बलवान् था। दैत्यकुलका आदिपुरुष वही था। राजन्! उसने वनमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की॥

दशवर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च।
जपोपवासैस्तस्यासीत् स्थाणुर्मौनव्रतो दृढः॥

साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक पूर्वोक्त तपस्याके हेतुभूत जप और उपवासमें संलग्न रहनेसे वह ठूँठे काठके समान अविचल और दृढतापूर्वक मौनव्रतका पालन करनेवाला हो गया॥

ततो दमशमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ।
ब्रह्मा प्रीतमनास्तस्य तपसा नियमेन च॥

निष्पाप नरेश! उसके इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य भूपते।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता॥

भूपाल! तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हंस जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे॥

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैः मरुद्भिर्दैवतैः सह।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः॥
दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्चापरैर्ग्रहैः॥
देवर्षिभिस्तपोयुक्तैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा।
राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः॥

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, देवगण, रुद्रगण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किंनर, दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, अन्यान्य आकाशचारी ग्रह, तपस्वी, देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं॥

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वसुरैस्तथा।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यमागम्य चाब्रवीत्॥

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचर-गुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यके पास आकर बोले॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज! तुम मेरे भक्त हो। तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करो॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः।
न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम॥

हिरण्यकशिपु बोला—सुरश्रेष्ठ! मुझे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—कोई भी न मार सके॥

ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह।
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया॥

लोकपितामह! तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप भी न दें यही वर मैंने माँगा है॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न चान्येन मे वधः॥

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वतसे, न वृक्षसे, न सूखेसे, न

गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥

नाकाशे वा न भूमौ वा रात्रौ वा दिवसेऽपि वा ।
नान्तर्वा न बहिर्वापि स्याद् वधो मे पितामह ॥

पितामह ! न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न रातमें, न दिनमें तथा न बाहर और न भीतर ही मेरा वध हो सके ॥

पशुभिर्वा मृगैर्न स्यात् पक्षिभिर्वा सरीसृपैः ।
ददासि चेद् वरानेतान् देवदेव वृणोम्यहम् ॥

पशु या मृग, पक्षी अथवा सरीसृप (सर्प-बिच्छू) आदिसे भी मेरी मृत्यु न हो। देवदेव! यदि आप वर दे रहे हैं तो मैं इन्हीं वरोंको लेना चाहता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वकामान् वरांस्तात प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥

ब्रह्माजीने कहा—तात ! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये। वत्स ! इसमें संशय नहीं कि सम्पूर्ण कामनाओंसहित इन मनोवाञ्छित वरोंको तुम अवश्य प्राप्त कर लोगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवानाकाशेन जगाम ह ।
रराज ब्रह्मलोके स ब्रह्मर्षिगणसेवितः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे चले गये और ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा ।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि उस वरदानका समाचार सुनकर ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित हुए ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधिष्यति स नोऽसुरः ।
तत् प्रसीदस्व भगवन् वधोऽस्य प्रविचिन्त्यताम् ॥

देवता बोले—भगवन् ! इस वरके प्रभावसे वह असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका कोई उपाय सोचिये ॥

भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदि स्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥

भीष्म उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः ।
प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वदेवगणांस्तदा ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवान् प्रजापतिने उन सब देवगणोंसे इस प्रकार कहा ॥

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् ।
तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं कृष्णः करिष्यति ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा। फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे ब्रह्मणा तस्य वै वधम् ।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार उसके वधकी बात सुनकर सब देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धामको चले गये ॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वास्ता बाधते प्रजाः ।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥

दैत्य हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीका वर पाते ही समस्त प्रजाको कष्ट पहुँचाने लगा। वरदानसे उसका घमण्ड बहुत बढ़ गया था ॥

राज्यं चकार दैत्येन्द्रो दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
सप्त द्वीपान्वशे चक्रे लोकान् लोकान्तरान् बलात् ॥

वह दैत्योंका राजा होकर राज्य भोगने लगा। झुंड-के-झुंड दैत्य उसे घेरे रहते थे। उसने सातों द्वीपों और अनेक लोक-लोकान्तरोंको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया ॥

दिव्यलोकान् समस्तान् वै भोगान् दिव्यानवाप सः ।
देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तान् पराजित्य महासुरः ॥

उस महान् असुरने तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त देवताओंको जीतकर सम्पूर्ण दिव्य लोकों और वहाँके दिव्य भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ।
यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि ॥

इस प्रकार तीनों लोकोंको अपने अधीन करके वह दैत्य स्वर्गलोकमें निवास करने लगा। वरदानके मदसे उन्मत्त हो दानव हिरण्यकशिपु देवलोकका निवासी बन बैठा ॥

अथ लोकान् समस्तांश्च विजित्य स महासुरः ।
भवेयमहमेवेन्द्रः सोमोऽग्निर्मारुतो रविः ॥
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ।
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वसवोऽर्यमा ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किम्पुरुषाधिपः ।
एते भवेयमित्युक्त्वा स्वयं भूत्वा बलात् स च ॥

तदनन्तर वह महान् असुर अन्य समस्त लोकोंको जीतकर यह सोचने लगा कि मैं ही इन्द्र हो जाऊँ, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, वसुगण, अर्यमा, धन देनेवाले धनाध्यक्ष, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी—ये सब मैं ही हो जाऊँ।

ऐसा सोचकर उसने स्वयं ही बलपूर्वक उन-उन पदोंपर अधिकार जमा लिया ॥

तेषां गृहीत्वा स्थानानि तेषां कार्याण्यवाप सः ।
इज्यश्चासीन्मखवरैः स तैर्देवर्षिसत्तमैः ॥
नरकस्थान् समानीय स्वर्गस्थांस्तांश्चकार सः ।
एवमादीनि कर्माणि कृत्वा दैत्यपतिर्बली ॥
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै संशितव्रतान् ।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् पुरा धर्षितवांश्च सः ॥

उनके स्थान ग्रहण करके उन सबके कार्य वह स्वयं देखने लगा। उत्तम देवर्षिगण श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा जिन देवताओंका यजन करते थे, उन सबके स्थानपर वह स्वयं ही यज्ञभागका अधिकारी बन बैठा। नरकमें पड़े हुए सब जीवोंको वहाँसे निकालकर उसने स्वर्गका निवासी बना दिया। बलवान् दैत्यराजने ये सब कार्य करके मुनियोंके आश्रमोंपर धावा किया और कठोर व्रतका पालन करनेवाले, सत्यधर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको सताना आरम्भ किया ॥

यज्ञीयान् कृतवान् दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः ।
यत्र यत्र सुरा जग्मुस्तत्र तत्र व्रजत्युत ॥
स्थानानि देवतानां तु हृत्वा राज्यमपालयत् ।

उसने दैत्योंको यज्ञका अधिकारी बनाया और देवताओं-को उस अधिकारसे वञ्चित कर दिया। जहाँ-जहाँ देवता जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका पीछा करता था। देवताओंके सारे स्थान हड़पकर वह स्वयं ही त्रिलोकीके राज्यका पालन करने लगा ॥

पञ्च कोट्यश्च वर्षाणि नियुतान्येकषष्टि च ॥
षष्टिश्चैव सहस्राणां जग्मुस्तस्य दुरात्मनः ।
एतद् वर्षं स दैत्येन्द्रो भोगैश्वर्यमवाप सः ॥

उस दुरात्माके राज्य करते पाँच करोड़ इकसठ लाख साठ हजार वर्ष व्यतीत हो गये। इतने वर्षोंतक दैत्यराज हिरण्यकशिपुने दिव्य भोगों और ऐश्वर्यका उपभोग किया ॥

तेनातिबाध्यमानास्ते दैत्येन्द्रेण बलीयसा ।
ब्रह्मलोकं सुरा जग्मुः सर्वे शक्रपुरोगमाः ॥
पितामहं समासाद्य खिन्नाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।

महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपुके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर खेदग्रस्त हो हाथ जोड़कर बोले ॥

देवा ऊचुः

भगवन् भूतभव्येश नस्त्रायस्व इहागतान् ।
भयं दितिसुताद् घोरं भवत्यद्य दिवानिशम् ॥

देवताओंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् पितामह! हम यहाँ आपकी शरणमें आये हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये। अब हमें उस दैत्यसे दिन-रात घोर भयकी प्राप्ति हो रही है ॥

भगवन् सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

भगवन्! आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्योंके निर्माता, अव्यक्त प्रकृति एवं नित्य स्वरूप हैं ॥

ब्रह्मोवाच

श्रूयतामापदेवं हि दुर्विज्ञेया मयापि च ।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ॥
अव्यक्तः सर्वभूतानामचिन्त्यो विभुरव्ययः ।

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! सुनो, ऐसी विपत्तिको समझना मेरे लिये भी अत्यन्त कठिन है। अन्तर्यामी भगवान् नारायण ही हमारी सहायता कर सकते हैं। वे विश्वरूप, महातेजस्वी, अव्यक्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतोंके लिये अचिन्त्य हैं ॥

ममापि स तु युष्माकं व्यसने परमा गतिः ॥
नारायणः परोऽव्यक्तादहमव्यक्तसम्भवः ।

संकटकालमें मेरे और तुम्हारे वे ही परम गति हैं। भगवान् नारायण अव्यक्तसे परे हैं और मेरा आविर्भाव अव्यक्त-से हुआ है ॥

मत्तो जज्ञुः प्रजा लोकाः सर्वे देवासुराश्च ते ॥
देवा यथाहं युष्माकं तथा नारायणो मम ।
पितामहोऽहं सर्वस्य स विष्णुः प्रपितामहः ॥
तमिमं विबुधा दैत्यं स विष्णुः संहरिष्यति ।
तस्य नास्ति ह्यशक्यं च तस्माद् व्रजत मा चिरम् ॥

मुझसे समस्त प्रजा, सम्पूर्ण लोक तथा देवता और असुर भी उत्पन्न हुए हैं। देवताओ! जैसे मैं तुमलोगोंका जनक हूँ, उसी प्रकार भगवान् नारायण मेरे जनक हैं। मैं सबका पितामह हूँ और वे भगवान् विष्णु प्रपितामह हैं। देवताओ! इस हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वे विष्णु ही संहार करेंगे। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, अतः सब लोग उन्हींकी शरणमें जाओ, विलम्ब न करो ॥

भीष्म उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे ते भरतर्षभ ।
विबुधा ब्रह्मणा सार्धं जग्मुः क्षीरोदधिं प्रति ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! पितामह ब्रह्माका यह वचन सुनकर सब देवता उनके साथ ही क्षीरसमुद्रके तटपर गये ॥

आदित्या मरुतः साध्या विश्वे च वसवस्तथा ।
रुद्रा महर्षयश्चैव अश्विनौ च सुरूपिणौ ॥
अन्ये च दिव्या ये राजंस्ते सर्वे सगणाः सुराः ।
चतुर्मुखं पुरस्कृत्य श्वेतद्वीपमुपस्थिताः ॥

आदित्य, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, महर्षि, सुन्दर रूपवाले अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य जो दिव्य योनिके पुरुष हैं, वे सब अर्थात् अपने गणोंसहित समस्त देवता

चतुर्मुख ब्रह्माजीको आगे करके श्वेतद्वीपमें उपस्थित हुए ॥

गत्वा क्षीरसमुद्रं तं शाश्वतीं परमां गतिम् ।
अनन्तशयनं देवमनन्तं दीप्ततेजसम् ॥
शरण्यं त्रिदशा विष्णुमुपतस्थुः सनातनम् ।
देवं ब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं महाबलम् ॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥

क्षीरसमुद्रके तटपर पहुँचकर सब देवता अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले अनन्त एवं उद्दीप्त तेजसे प्रकाशमान उन शरणागतवत्सल सनातन देवता श्रीविष्णुके सम्मुख उपस्थित हुए, जो सबके सनातन परम गति हैं। वे प्रभु देवस्वरूप, वेदमय, यज्ञरूप, ब्राह्मणको देवता माननेवाले, महान् बल और पराक्रमके आश्रय, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप, सर्वसमर्थ, विश्ववन्दित, सर्वव्यापी, दिव्य शक्तिसम्पन्न तथा शरणागतरक्षक हैं। वे सब देवता उन्हीं भगवान् नारायणकी शरणमें गये ॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्वधात् ।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥

देवता बोले—देवेश्वर ! आज आप हिरण्यकशिपुका वध करके हमारी रक्षा कीजिये। सुरश्रेष्ठ ! आप ही हमारे और ब्रह्मा आदिके भी धारण-पोषण करनेवाले परमेश्वर हैं ॥

उत्फुल्लपद्मपत्राक्ष शत्रुपक्षभयङ्कर ।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवाद्य नः ॥

खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाले नारायण ! आप शत्रुपक्षको भय प्रदान करनेवाले हैं। प्रभो ! आज आप दैत्योंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो हमारे शरणदाता होइये ॥

भीष्म उवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा तदा विष्णुः शुचिश्रवाः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां वक्तुमेवोपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओंकी यह बात सुनकर पवित्र कीर्तिवाले भगवान् विष्णुने उस समय सम्पूर्ण भूतोंसे अदृश्य रहकर बोलना आरम्भ किया ॥

श्रीभगवानुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ।
तदेवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। देवगण ! तुमलोग अविलम्ब स्वर्गलोकमें जाओ और पहलेकी ही भाँति वहाँ निर्भय होकर रहो।

एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥

मैं वरदान पाकर घमंडमें भरे हुए दानवराज हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये भी अवध्य हो रहा है, सेवकोंसहित अभी मार डालता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् भूतभव्येश खिन्ना ह्येते भृशं सुराः ।
तस्मात् त्वं जहि दैत्येन्द्रं क्षिप्रं कालोऽस्य मा चिरम् ॥

ब्रह्माजीने कहा—भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी नारायण ! ये देवता बहुत दुखी हो गये हैं, अतः आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको शीघ्र मार डालिये। उसकी मृत्युका समय आ गया है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥

श्रीभगवानुवाच

क्षिप्रं देवाः करिष्यामि त्वरया दैत्यनाशनम् ।
तस्मात् त्वं विबुधाश्चैव प्रतिपद्यत वै दिवम् ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मा तथा देवताओ ! मैं शीघ्र ही उस दैत्यका नाश करूँगा, अतः तुम सब लोग अपने-अपने दिव्यलोकमें जाओ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवेश्वरान् ।
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना ।
भीमरूपो महातेजा व्यादितास्य इवान्तकः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा करके आधा शरीर मनुष्यका और आधा सिंहका-सा बनाकर नरसिंहविग्रह धारण करके एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए बड़ा भयंकर रूप बना लिया। वे महातेजस्वी नरसिंह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे ॥

हिरण्यकशिपुं राजन् जगाम हरिरीश्वरः ।
दैत्यास्तमागतं दृष्ट्वा नारसिंहं महाबलम् ॥
ववर्षुः शस्त्रवर्षैस्ते सुसंक्रुद्धास्तदा हरिम् ।

राजन् ! तदनन्तर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके पास गये। नृसिंहरूपधारी महाबली भगवान् श्रीहरिको आया देख दैत्योंने कुपित होकर उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

तैर्विसृष्टानि शस्त्राणि भक्षयामास वै हरिः ॥
जघान च रणे दैत्यान् सहस्राणि बहून्यपि ।

उनके द्वारा चलाये हुए सभी शस्त्रोंको भगवान् खा गये, साथ ही उन्होंने उस युद्धमें कई हजार दैत्योंका संहार कर डाला ॥

तान् निहत्य च दैत्येन्द्रान् सर्वान् क्रुद्धान् महाबलान् ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो दैत्येन्द्रं बलगर्वितम् ।

क्रोधमें भरे हुए उन सभी महाबलवान् दैत्येश्वरोंका विनाश करके अत्यन्त कुपित हो भगवान्ने बलोन्मत्त दैत्यराज हिरण्यकशिपुपर धावा किया ॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिस्वनः ॥
जीमूत इव दीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ।

भगवान् नृसिंहकी अङ्गकान्ति मेघोंकी घटाके समान श्याम थी। वे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान दहाड़

रहे थे। उनका उद्दीप्त तेज भी मेघोंके ही समान शोभा पाता था और वे मेघोंके ही समान महान् वेगशाली थे ॥

देवारिर्दितिजो दुष्टो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥

भगवान् नृसिंहको आया देख देवताओंसे द्वेष रखनेवाला दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु उनकी ओर दौड़ा ॥

दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धशार्दूलविक्रमम् ।
दीप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं खरैर्नखमुखैरुत ॥
ततः कृत्वा तु युद्धं वै तेन दैत्येन वै हरिः ।

कुपित सिंहके समान पराक्रमी उस अत्यन्त बलशाली, दर्पयुक्त एवं दैत्यगणोंसे सुरक्षित दैत्यको सामने आया देख महातेजस्वी भगवान् नृसिंहने नखोंके तीखे अग्रभागोंके द्वारा उस दैत्यके साथ घोर युद्ध किया ॥

संध्याकाले महातेजाः प्रघाणे च त्वरान्वितः ॥
ऊरौ निधाय दैत्येन्द्रं निर्बिभेद नखैर्हि तम् ।

फिर संध्याकाल आनेपर बड़ी उतावलीके साथ उसे पकड़कर वे राजभवनकी देहलीपर बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपनी जाँघोंपर दैत्यराजको रखकर नखोंसे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला ॥

महाबलं महावीर्यं वरदानेन दर्पितम् ॥
दैत्यश्रेष्ठं सुरश्रेष्ठो जघान तरसा हरिः ।

सुरश्रेष्ठ श्रीहरिने वरदानसे घमंडमें भरे हुए महाबली महापराक्रमी दैत्यराजको बड़े वेगसे मार डाला ॥

हिरण्यकशिपुं हत्वा सर्वदैत्यांश्च वै तदा ॥
विबुधानां प्रजानां च हितं कृत्वा महाद्युतिः ।
प्रमुमोद हरिर्देवः स्थाप्य धर्मं तदा भुवि ॥

इस प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायी सब दैत्योंका संहार करके महातेजस्वी भगवान् श्रीहरिने देवताओं तथा प्रजाजनोंका हितसाधन किया और इस पृथ्वीपर धर्मकी स्थापना करके वे बड़े प्रसन्न हुए ॥

एष ते नारसिंहोऽत्र कथितः पाण्डुनन्दन ।
शृणु त्वं वामनं नाम प्रादुर्भावं महात्मनः ॥

पाण्डुनन्दन! यह मैंने तुम्हें संक्षेपसे नृसिंहावतारकी कथा सुनायी है। अब तुम परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा त्रेतायुगे राजन् बलिर्वैरोचनोऽभवत् ।
दैत्यानां पार्थिवो वीरो बलेनाप्रतिमो बली ॥

राजन्! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है; विरोचनकुमार बलि दैत्योंके राजा थे। बलमें उनके समान दूसरा कोई नहीं था। बलि अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही महान् वीर भी थे ॥

तदा बलिर्महाराज दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
विजित्य तरसा शक्रमिन्द्रस्थानमवाप सः ॥

महाराज! दैत्यसमूहसे घिरे हुए बलिने बड़े वेगसे इन्द्रपर आक्रमण किया और उन्हें जीतकर इन्द्रलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

तेन वित्रासिता देवा बलिनाऽऽखण्डलादयः ।
ब्रह्माणं तु पुरस्कृत्य गत्वा क्षीरोदधिं तदा ॥
तुष्टुवुः सहिताः सर्वे देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजा बलिके आक्रमणसे अत्यन्त त्रस्त हुए इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीको आगे करके क्षीरसागरके तटपर गये और सबने मिलकर देवाधिदेव भगवान् नारायणका स्तवन किया ॥

स तेषां दर्शनं चक्रे विबुधानां हरिः स्तुतः ॥
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्यां जन्म चोच्यते ।

देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरिने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है, उनपर कृपाप्रसाद करनेके फलस्वरूप भगवान्का अदितिके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः ॥
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजोऽभवत् ।

जो इस समय यदुकुलको आनन्दित कर रहे हैं, ये ही भगवान् श्रीकृष्ण पहले अदितिके पुत्र होकर इन्द्रके छोटे भाई विष्णु (या उपेन्द्र) के नामसे विख्यात हुए ॥

तस्मिन्नेव च काले तु दैत्येन्द्रो वीर्यवान् बलिः ॥
अश्वमेधं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।

उन्हीं दिनों महापराक्रमी दैत्यराज बलिने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठानकी तैयारी आरम्भ की ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे दैत्येन्द्रस्य युधिष्ठिर ॥
स विष्णुर्वामनो भूत्वा प्रच्छन्नो ब्रह्मवेषधृक् ।
मुण्डो यज्ञोपवीती च कृष्णाजिनधरः शिखी ॥
पलाशदण्डं संगृह्य वामनोऽद्भुतदर्शनः ।
प्रविश्य स बलेर्यज्ञे वर्तमाने तु दक्षिणाम् ॥
देहीत्युवाच दैत्येन्द्रं विक्रमांस्त्रीन् ममैव ह ।

युधिष्ठिर! जब दैत्यराजका यज्ञ आरम्भ हो गया, उस समय भगवान् विष्णु ब्राह्मणवेषधारी वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपनेको छिपाकर सिर मुँड़ाये, यज्ञोपवीत, काला मृगचर्म और शिखा धारण किये, हाथमें पलाशका डंडा लिये उस यज्ञमें गये। उस समय भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा दिखायी देती थी। बलिके वर्तमान यज्ञमें प्रवेश करके उन्होंने दैत्यराजसे कहा—'मुझे तीन पग भूमि दक्षिणारूपमें दीजिये' ॥

दीयतां त्रिपदीमात्रमित्ययाचन्महासुरम् ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रददौ विष्णवे तदा ।

'केवल तीन पग भूमि मुझे दे दीजिये' ऐसा कहकर उन्होंने महान् असुर बलिसे याचना की। बलिने भी 'तथास्तु' कहकर श्रीविष्णुको भूमि दे दी ॥

तेन लब्ध्वा हरिर्भूमिं जृम्भयामास वै भृशम् ।
स शिशुः सदिवं खं च पृथिवीं च विशाम्पते ॥
त्रिभिर्विक्रमणैरेतत् सर्वमाक्रमताभिभूः ।
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ।

बलिसे वह भूमि पाकर भगवान् विष्णु बड़े वेगसे बढ़ने लगे । राजन्! वे पहले तो बालक-जैसे लगते थे; किंतु उन्होंने बढ़कर तीन ही पगोंमें स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी—सबको माप लिया । इस प्रकार बलवान् राजा बलिके यज्ञमें जब महाबली भगवान् विष्णुने केवल तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया, तब किसीसे भी क्षुब्ध न किये जा सकनेवाले महान् असुर क्षुब्ध हो उठे ॥

विप्रचित्तिमुखाः क्रुद्धा दैत्यसङ्घा महाबलाः ॥
नानावक्त्रा महाकाया नानावेषधरा नृप ।

राजन्! उनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रधान थे। क्रोधमें भरे हुए उन महाबली दैत्योंके समुदाय अनेक प्रकारके वेष धारण किये वहाँ उपस्थित थे । उनके मुख अनेक प्रकारके दिखायी देते थे । वे सब-के-सब विशालकाय थे ॥

नानाप्रहरणा रौद्रा नानामाल्यानुलेपनाः ॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्ता इव तेजसा ।
क्रममाणं हरिं तत्र उपावर्तन्त भारत ॥

उनके हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र थे । उन्होंने विविध प्रकारकी मालाएँ तथा चन्दन धारण कर रक्खे थे । वे देखनेमें बड़े भयंकर थे और तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे । भरतनन्दन ! जब भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंको मापना आरम्भ किया, उस समय सभी दैत्य अपने-अपने आयुध लेकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैस्तु तान् ।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम् ॥
सम्प्राप्य पादमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचत भूतात्मा भास्करं स्वेन तेजसा ॥

भगवान्ने महाभयंकर रूप धारण करके उन सब दैत्योंको लातों-थप्पड़ोंसे मारकर भूमण्डलका सारा राज्य उनसे शीघ्र छीन लिया । उनका एक पैर आकाशमें पहुँचकर आदित्य-मण्डलमें स्थित हो गया । भूतात्मा भगवान् श्रीहरि उस समय अपने तेजसे सूर्यकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर प्रकाशित हो रहे थे॥

प्रकाशयन् दिशः सर्वाः प्रदिशश्च महाबलः ।
शुशुभे स महाबाहुः सर्वलोकान् प्रकाशयन् ॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे ।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तदा स्थितौ ।

महाबली महाबाहु भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं तथा समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे । जिस समय वे वसुधाको अपने पैरोंसे माप रहे थे, उस समय वे इतने बढ़े कि चन्द्रमा और सूर्य उनकी छातीके सामने आ गये थे । जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे ही चन्द्रमा और सूर्य उनके नाभिदेशमें आ गये ॥

परमाक्रममाणस्य जानुभ्यां तौ व्यवस्थितौ ॥
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः ।

अथासाद्य कपालं स अण्डस्य तु युधिष्ठिर ॥
तच्छिद्रात् स्यन्दिनी तस्य पादाद् भ्रष्टा तु निम्नगा।
ससार सागरं साऽऽशु पावनी सागरङ्गमा ॥

जब वे आकाश या स्वर्गलोकसे भी ऊपरको पैर बढ़ाने लगे, उस समय उनका रूप इतना विशाल हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा उनके घुटनोंमें स्थित दिखायी देने लगे। इस प्रकार ब्राह्मणलोग अमितपराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विशाल रूपका वर्णन करते हैं । युधिष्ठिर ! भगवान्का पैर ब्रह्माण्ड-कपालतक पहुँच गया और उसके आघातसे कपालमें छिद्र हो गया, जिससे झर-झर करके एक नदी प्रकट हो गयी, जो शीघ्र ही नीचे उतरकर समुद्रमें जा मिली। सागरमें मिलनेवाली वह पावन सरिता ही गङ्गा है ॥

जहार मेदिनीं सर्वां हत्वा दानवपुङ्गवान् ।
आसुरीं श्रियमाहृत्य त्रींल्लोकान् स जनार्दनः ॥
सपुत्रदारानसुरान् पाताले तानपातयत् ।
नमुचिः शम्बरश्चैव प्रह्लादश्च महामनाः ॥
पादपाताभिनिर्धूताः पाताले विनिपातिताः ।
महाभूतानि भूतात्मा स विशेषेण वै हरिः ॥
कालं च सकलं राजन् गात्रभूतान्यदर्शयत् ।

भगवान् श्रीहरिने बड़े-बड़े दानवोंको मारकर सारी पृथ्वी उनके अधिकारसे छीन ली और तीनों लोकोंके साथ सारी आसुरी-सम्पदाका अपहरण करके उन असुरोंको स्त्री-पुत्रोंसहित पातालमें भेज दिया । नमुचि, शम्बर और महामना प्रह्लाद भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हो गये। भगवान्ने उनको भी पातालमें भेज दिया । राजन् ! भूतात्मा भगवान् श्रीहरिने अपने श्रीअङ्गोंमें विशेषरूपसे पञ्चमहाभूतों तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालोंका दर्शन कराया ॥

तस्य गात्रे जगत् सर्वमानीतमिव दृश्यते ॥
न किंचिदस्ति लोकेषु यदव्याप्तं महात्मना ।
तद्धि रूपं महेशस्य देवदानवमानवाः ॥
दृष्ट्वा तं मुमुहुः सर्वे विष्णुतेजोऽभिपीडिताः ।

उनके शरीरमें सारा संसार इस प्रकार दिखायी देता था, मानो उसमें लाकर रख दिया गया हो । संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उन परमात्मासे व्याप्त न हो । परमेश्वर भगवान् विष्णुके उस रूपको देखकर उनके तेजसे तिरस्कृत हो देवता, दानव और मानव सभी मोहित हो गये ॥

बलिर्बद्धोऽभिमानी च यज्ञवाटे महात्मना ॥
विरोचनकुलं सर्वं पाताले विनिपातितम् ॥

अभिमानी राजा बलिको भगवान्ने यज्ञमण्डपमें ही बाँध लिया और विरोचनके समस्त कुलको स्वर्गसे पातालमें भेज दिया॥

एवंविधानि कर्माणि कृत्वा गरुडवाहनः ।
न विस्मयमुपागच्छत् पारमेष्ठ्येन तेजसा ॥

गरुडवाहन भगवान् विष्णुको अपने परमेश्वरीय तेजसे उपर्युक्त कर्म करके भी अहंकार नहीं हुआ ॥

स सर्वममरैश्वर्यं सम्प्रदाय शचीपतेः ।
त्रैलोक्यं च ददौ शक्रे विष्णुर्दानवसूदनः ॥

दानवसूदन श्रीविष्णुने शचीपति इन्द्रको समस्त देवताओंका आधिपत्य देकर त्रिलोकीका राज्य भी उन्हें दे दिया ।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ।
वेदविद्भिर्द्विजैरेतत् कथ्यते वैष्णवं यशः ॥
मानुषेषु यथा विष्णोः प्रादुर्भावं तथा शृणु ॥

इस प्रकार परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त संक्षेपसे तुम्हें बताया गया। वेदवेत्ता ब्राह्मण भगवान् विष्णुके इस सुयशका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर ! अब तुम मनुष्योंमें श्रीहरिके जो अवतार हुए हैं, उनका वृत्तान्त सुनो ॥

विष्णोः पुनर्महाराज प्रादुर्भावो महात्मनः ।
दत्तात्रेय इति ख्यात ऋषिरासीन्महायशाः ॥

महाराज! अब मैं पुनः भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन करता हूँ। दत्तात्रेयजी महान् यशस्वी महर्षि थे।

तेन नष्टेषु वेदेषु क्रियासु च मखेषु च ।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते ॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टे स्थितेऽनृते ।
प्रजासु क्षीयमाणासु धर्मे चाकुलतां गते ॥
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीताश्च तेन वै ।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना ॥
स एव वै यदा प्रादाद्धैहयाधिपतेर्वरम् ।
तं हैहयानामधिपस्त्वर्जुनोऽभिप्रसादयत् ॥

एक समयकी बात है, सारे वेद नष्ट-से हो गये। वैदिक कर्मों और यज्ञ-यागादिकोंका लोप हो गया। चारों वर्ण एकमें मिल गये और सर्वत्र वर्णसंकरता फैल गयी। धर्म शिथिल हो गया एवं अधर्म दिनों-दिन बढ़ने लगा। सत्य दब गया और सब ओर असत्यने सिक्का जमा लिया। प्रजा क्षीण होने लगी और धर्मको अधर्मद्वारा हर तरहसे पीड़ा (हानि) पहुँचने लगी । ऐसे समयमें महात्मा दत्तात्रेयने यज्ञ और कर्मानुष्ठानकी विधिसहित सम्पूर्ण वेदोंका पुनरुद्धार किया और पुनः चारों वर्णोंको पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थापित किया। इन्होंने ही हैहयराज अर्जुनको वर प्रदान किया था। हैहयराज अर्जुनने अपनी सेवाओंद्वारा दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया था ॥

वने पर्यचरत् सम्यक् शुश्रूषुरनसूयकः ।
निर्ममो निरहंकारो दीर्घकालमतोषयत् ॥
आराध्य दत्तात्रेयं हि अगृह्णात् स वरानिमान् ।
आप्तादाप्ततराद् विप्राद् विद्वान् विद्वन्निषेवितात्॥
ऋतेऽमरत्वं विप्रेण दत्तात्रेयेण धीमता ।
वरैश्चतुर्भिः प्रवृत इमांस्तत्राभ्यनन्दत ॥

वह अच्छी तरह सेवामें संलग्न हो वनमें मुनिवर दत्तात्रेयकी परिचर्यामें लगा रहता था। उसने दूसरोंका दोष देखना छोड़ दिया था। वह ममता और अहङ्कारसे रहित था। उसने दीर्घकालतक दत्तात्रेयजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया। दत्तात्रेयजी आप्त पुरुषोंसे भी बढ़कर आप्त पुरुष थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी सेवामें रहते थे। विद्वान् सहस्रबाहु अर्जुनने उन ब्रह्मर्षिसे ये निम्नाङ्कित वर प्राप्त किये। अमरत्व छोड़कर उसके माँगे हुए सभी वर विद्वान् ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने दे दिये। उसने चार वरोंके लिये महर्षिसे प्रार्थना की थी और उन चारोंका ही महर्षिने अभिनन्दन किया था ॥

श्रीमान् मनस्वी बलवान् सत्यवागनसूयकः ।
सहस्रबाहुर्भूयासमेष मे प्रथमो वरः ॥
जरायुजाण्डजं सर्वं सर्वं चैव चराचरम् ।
प्रशास्तुमिच्छे धर्मेण द्वितीयस्त्वेष मे वरः ॥

(वे वर इस प्रकार हैं—हैहयराज बोला—) 'मैं श्रीमान्, मनस्वी, बलवान्, सत्यवादी, अदोषदर्शी तथा सहस्र भुजाओंसे विभूषित होऊँ' यह मेरे लिये पहला वर है। 'मैं जरायुज और अण्डज जीवोंके साथ-साथ समस्त चराचर जगत्का धर्मपूर्वक शासन करना चाहता हूँ' मेरे लिये दूसरा वर यही हो ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् यजेयं विपुलैर्मखैः ।
अमित्रान् निशितैर्बाणैर्घातयेयं रणाजिरे ॥
दत्तात्रेयेह भगवंस्तृतीयो वर एष मे।
यस्य नासीन्न भविता न चास्ति सदृशः पुमान् ।
इह वा दिवि वा लोके स मे हन्ता भवेदिति ॥

'मैं अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मण अतिथियोंका यजन करूँ और जो लोग मेरे शत्रु हैं, उन्हें समराङ्गणमें तीखे बाणोंद्वारा मारकर यमलोक पहुँचा दूँ।' भगवन् दत्तात्रेय ! मेरे लिये यही तीसरा वर हो। 'जिसके समान इहलोक या स्वर्गलोकमें कोई पुरुष न था, न है और न होगा ही, वही मेरा वध करनेवाला हो' (यह मेरे लिये चौथा वर हो) ॥

सोऽर्जुनः कृतवीर्यस्य वरः पुत्रोऽभवद् युधि ।
स सहस्रं सहस्राणां माहिष्मत्यामवर्धत ॥

वह अर्जुन राजा कृतवीर्यका ज्येष्ठ पुत्र था और युद्धमें महान् शौर्यका परिचय देता था। उसने माहिष्मती नगरीमें दस लाख वर्षोंतक निरन्तर अभ्युदयशील होकर राज्य किया ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा द्वीपांश्चापि समुद्रिणः ।
नभसीव ज्वलन् सूर्यः पुण्यैः कर्मभिरर्जुनः ॥

जैसे आकाशमें सूर्यदेव सदा प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन सारी पृथ्वी और समुद्री द्वीपोंको जीतकर इस भूतलपर अपने पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित हो रहा था।

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रद्वीपं गभस्तिमत् ।
गान्धर्वं वारुणं द्वीपं सौम्याक्षमिति च प्रभुः ॥

पूर्वैरजितपूर्वांश्च द्वीपानजयदर्जुनः ॥
सौवर्णं सर्वमप्यासीद् विमानवरमुत्तमम् ।
चतुर्धा व्यभजद् राष्ट्रं तद् विभज्यान्वपालयत् ॥

शक्तिशाली सहस्रबाहुने इन्द्रद्वीप, कशेरुद्वीप, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान् द्वीप, गन्धर्वद्वीप, वरुणद्वीप और सौम्याक्षद्वीपको, जिन्हें उसके पूर्वजोंने भी नहीं जीता था, जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया । उसका श्रेष्ठ राजभवन बहुत ही सुन्दर और साराका सारा सुवर्णमय था । उसने अपने राज्यकी आयको चार भागोंमें बाँट रखा था और इस विभाजनके अनुसार ही वह प्रजाका पालन करता था ॥

एकांशेनाहरत् सेनामेकांशेनावसद् गृहान् ।
यस्तु तस्य तृतीयांशो राजाऽऽसीज्जनसंग्रहे ॥
आप्तः परमकल्याणस्तेन यज्ञानकल्पयत् ॥

वह उस आयके एक अंशके द्वारा सेनाका संग्रह और संरक्षण करता था, दूसरे अंशके द्वारा गृहस्थीका खर्च चलाता था तथा उसका जो तीसरा अंश था, उसके द्वारा राजा अर्जुन प्रजाजनोंकी भलाईके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान करता था । वह सबका विश्वासपात्र और परम कल्याणकारी था ॥

ये दस्यवो ग्रामचरा अरण्ये च वसन्ति ये ।
चतुर्थेन च सोंऽशेन तान् सर्वान् प्रत्यषेधयत् ॥
सर्वेभ्यश्चान्तवासिभ्यः कार्तवीर्योऽहरद् बलिम् ।
आहृतं स्वबलैर्यत् तदर्जुनश्चाभिमन्यते ॥
काको वा मूषिको वापि तं तमेव न्यवर्हयत् ।
द्वाराणि नापिधीयन्ते राष्ट्रेषु नगरेषु च ॥

वह राजकीय आयके चौथे अंशके द्वारा गाँवों और जंगलोंमें डाकुओं और लुटेरोंको शासनपूर्वक रोकता था । कृतवीर्यकुमार अर्जुन उसी धनको अच्छा मानता था, जिसे उसने अपने बल-पराक्रमद्वारा प्राप्त किया हो । काक या मूषकवृत्तिसे जो लोग प्रजाके धनका अपहरण करते थे, उन सबको वह नष्ट कर देता था । उसके राज्यके भीतर गाँवों तथा नगरोंमें घरके दरवाजे बंद नहीं किये जाते थे ॥

स एव राष्ट्रपालोऽभूत् स्त्रीपालोऽभवदर्जुनः ।
स एवासीदजापालः स गोपालो विशाम्पते ॥

राजन् ! कार्तवीर्य अर्जुन ही समूचे राष्ट्रका पोषक, स्त्रियोंका संरक्षक, बकरियोंकी रक्षा करनेवाला तथा गौओंका पालक था ॥

स स्मारण्ये मनुष्याणां राजा क्षेत्राणि रक्षति ।
इदं तु कार्तवीर्यस्य बभूवासदृशं जनैः ॥

वही जंगलोंमें मनुष्योंके खेतोंकी रक्षा करता था । यह है कार्तवीर्यका अद्भुत कार्य, जिसकी मनुष्योंसे तुलना नहीं हो सकती ॥

न पूर्वे नापरे तस्य गमिष्यन्ति गतिं नृपाः ।
यदर्णवे प्रयातस्य वस्त्रं न परिषिच्यते ॥
शतं वर्षसहस्राणामनुशिष्यार्जुनो महीम् ।
दत्तात्रेयप्रसादेन एवं राज्यं चकार सः ॥

न पहलेका कोई राजा कार्तवीर्यकी किसी महत्ताको प्राप्त कर सका और न भविष्यमें ही कोई प्राप्त कर सकेगा । वह जब समुद्रमें चलता था, तब उसका वस्त्र नहीं भीगता था । राजा अर्जुन दत्तात्रेयजीके कृपाप्रसादसे लाखों वर्षतक पृथ्वीपर शासन करते हुए इस प्रकार राज्यका पालन करता रहा ॥

एवं बहूनि कर्माणि चक्रे लोकहिताय सः ।
दत्तात्रेय इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥
कथितो भरतश्रेष्ठ शृणु भूयो महात्मनः ॥
यदा भृगुकुले जन्म यदर्थं च महात्मनः ।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥

इस प्रकार उसने लोकहितके लिये बहुत-से कार्य किये । भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन किया । अब पुनः उन महात्माके अन्य अवतारका वर्णन सुनो । भगवान्‌का वह अवतार जामदग्न्य (परशुराम) के नामसे विख्यात है । उन्होंने किसलिये और कब भृगुकुलमें अवतार ग्रहण किया, वह प्रसंग बतलाता हूँ; सुनो ॥

जमदग्निसुतो राजन् रामो नाम स वीर्यवान् ।
हैहयान्तकरो राजन् स रामो बलिनां वरः ॥
कार्तवीर्यो महावीर्यो बलेनाप्रतिमस्तथा ।
रामेण जामदग्न्येन हतो विषममाचरन् ॥

महाराज युधिष्ठिर ! महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम बड़े पराक्रमी हुए हैं । बलवानोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने ही हैहयवंशका संहार किया था । महापराक्रमी कार्तवीर्य अर्जुन बलमें अपना सानी नहीं रखता था; किंतु अपने अनुचित बर्तावके कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा मारा गया ॥

तं कार्तवीर्यं राजानं हैहयानामरिंदमम् ।
रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वावधीद् रणे ॥

शत्रुसूदन हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु युद्धमें परशुरामजीने उसे नीचे गिराकर मार डाला ॥

जम्भस्य मूर्ध्नि भेत्ता च हन्ता च शतदुन्दुभेः ।
स एव कृष्णो गोविन्दो जातो भृगुषु वीर्यवान् ॥
सहस्रबाहुमुद्धर्तुं सहस्रजितमाहवे ॥
क्षत्रियाणां चतुष्षष्टिमयुतानां महायशाः ।
सरस्वत्यां समेतानि एष वै धनुषाजयत् ॥
ब्रह्मद्विषां वधे तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश ।
पुनर्जग्राह शूराणामन्तं चक्रे नरर्षभः ॥
ततो दशसहस्रस्य हन्ता पूर्वमरिंदमः ।
सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमुदकृन्तत ॥

ये भगवान् गोविन्द ही पराक्रमी परशुरामरूपसे भृगुवंशमें अवतीर्ण हुए । ये ही जम्भासुरका मस्तक विदीर्ण करनेवाले तथा शतदुन्दुभिके घातक हैं । इन्होंने सहस्रोंपर विजय पानेवाले सहस्रबाहु अर्जुनका युद्धमें संहार करनेके लिये ही

अवतार लिया था। महायशस्वी परशुरामने केवल धनुषकी सहायतासे सरस्वती नदीके तटपर एकत्रित हुए छः लाख चालीस हजार क्षत्रियोंपर विजय पायी थी। वे सभी क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले थे। उनका वध करते समय नरश्रेष्ठ परशुरामने और भी चौदह हजार शूरवीरोंका अन्त कर डाला। तदनन्तर शत्रुदमन रामने दस हजार क्षत्रियोंका और वध किया। इसके बाद उन्होंने हजारों वीरोंको मूसलसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया तथा सहस्रोंको फरसेसे काट डाला॥

चतुर्दश सहस्राणि क्षणमात्रमपातयत्।
शिष्टान् ब्रह्मद्विषश्छित्त्वा ततोऽस्नायत भार्गवः॥
राम रामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियार्दितैः।
न्यघ्नद् दशसहस्राणि रामः परशुनाभिभूः॥

भृगुनन्दन परशुरामने चौदह हजार क्षत्रियोंको क्षणमात्रमें मार गिराया तथा शेष ब्रह्मद्रोहियोंका भी मूलोच्छेद करके स्नान किया। क्षत्रियोंसे पीड़ित होकर ब्राह्मणोंने 'राम-राम' कहकर आर्तनाद किया था; इसीलिये सर्वविजयी परशुरामने पुनः फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंका अन्त किया॥

न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भृशमुदीरिताम्।
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजातयः॥

जिस समय द्विजलोग 'भृगुनन्दन परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इत्यादि बातें कहकर करुणक्रन्दन करते, उस समय उन पीड़ितोंद्वारा कही हुई वह आर्तवाणी परशुरामजी नहीं सहन कर सके॥

काश्मीरान् दरदान् कुन्तीन् क्षुद्रकान् मालवाञ्छकान्।
चेदिकाशिकरूषांश्च ऋषिकान् क्रथकैशिकान्॥
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान्।
रात्रायणान् वीतिहोत्रान् किरातान् मार्तिकावतान्॥
एतानन्यांश्च राजेन्द्रान् देशे देशे सहस्रशः।
निकृत्य निशितैर्बाणैः सम्प्रदाय विवस्वते॥

उन्होंने काश्मीर, दरद, कुन्तिभोज, क्षुद्रक, मालव, शक, चेदि, काशि, करूष, ऋषिक, क्रथ, कैशिक, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मागध, काशी, कोसल, रात्रायण, वीतिहोत्र, किरात तथा मार्तिकावत—इनको तथा अन्य सहस्रों राजेश्वरोंको प्रत्येक देशमें तीखे बाणोंसे मारकर यमराजके भेंट कर दिया॥

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिः मेरुमन्दरभूषणा।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता॥

मेरु और मन्दर पर्वत जिसके आभूषण हैं, वह पृथ्वी करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशोंसे पट गयी। एक-दो बार नहीं, इक्कीस बार परशुरामने यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी॥

एवमिष्ट्वा महाबाहुः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
अन्यद् वर्षशतं रामः सौभे शाल्वमयोधयत्॥
ततः स भृगुशार्दूलस्तं सौभं योधयन् प्रभुः।
सुबन्धुरं रथं राजन्नास्थाय भरतर्षभ॥
नग्निकानां कुमारीणां गायन्तीनामुपाशृणोत्।

तदनन्तर महाबाहु परशुरामने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ वर्षोंतक सौभ नामक विमानपर बैठे हुए राजा शाल्वके साथ युद्ध किया। भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर सुन्दर रथपर बैठकर सौभ विमानके साथ युद्ध करनेवाले शक्तिशाली वीर भृगुश्रेष्ठ परशुरामने गीत गाती हुई नग्निका[1] कुमारियोंके मुखसे यह सुना—॥

राम राम महाबाहो भृगूणां कीर्तिवर्धन॥
त्यज शस्त्राणि सर्वाणि न त्वं सौभं वधिष्यसि।
चक्रहस्तो गदापाणिर्भीतानामभयंकरः॥
युधि प्रद्युम्नसाम्बाभ्यां कृष्णः सौभं वधिष्यति।

'राम! राम! महाबाहो! तुम भृगुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हो; अपने सारे अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल दो। तुम सौभ विमानका नाश नहीं कर सकोगे। भयभीतोंको अभय देनेवाले चक्रधारी गदापाणि भगवान् श्रीविष्णु प्रद्युम्न और साम्बको साथ लेकर युद्धमें सौभ विमानका नाश करेंगे'॥

तच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रस्तत एव वनं ययौ॥
न्यस्य सर्वाणि शस्त्राणि कालकाङ्क्षी महायशाः॥
रथं वर्मायुधं चैव शरान् परशुमेव च।
धनूंष्यप्सु प्रतिष्ठाप्य राजंस्तेपे परं तपः॥

यह सुनकर पुरुषसिंह परशुराम उसी समय वनको चल दिये। राजन्! वे महायशस्वी मुनि कृष्णावतारके समयकी प्रतीक्षा करते हुए अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, रथ, कवच, आयुध, बाण, परशु और धनुष जलमें डालकर बड़ी भारी तपस्यामें लग गये॥

ह्रियं प्रज्ञां श्रियं कीर्तिं लक्ष्मीं चामित्रकर्शनः।
पञ्चाधिष्ठाय धर्मात्मा तं रथं विससर्ज ह॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले धर्मात्मा परशुरामने लज्जा, प्रज्ञा, श्री, कीर्ति और लक्ष्मी—इन पाँचोंका आश्रय लेकर अपने पूर्वोक्त रथको त्याग दिया॥

आदिकाले प्रवृत्तं हि विभजन् कालमीश्वरः।
नाहनच्छ्रद्धया सौभं न ह्यशक्तो महायशाः॥
जामदग्न्य इति ख्यातो यस्त्वसौ भगवानृषिः।
सोऽस्य भागस्तपस्तेपे भार्गवो लोकविश्रुतः॥
शृणु राजंस्तथा विष्णोः प्रादुर्भावं महात्मनः।
चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः॥

आदिकालमें जिसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस कालका विभाग करके भगवान् परशुरामने कुमारियोंकी बातपर श्रद्धा होनेके कारण ही सौभ विमानका नाश नहीं किया, असमर्थताके कारण नहीं। जमदग्निनन्दन परशुरामके नामसे विख्यात वे महर्षि, जो विश्वविदित ऐश्वर्यशाली महर्षि हैं, वे इन्हीं

---

[1] १. जिनमें ऋतुधर्म (रजस्वलावस्था) का प्रादुर्भाव न हुआ हो, उन्हें नग्निका कहते हैं।

श्रीकृष्णके अंश हैं, जो इस समय तपस्या कर रहे हैं। राजन्! अब महात्मा भगवान् विष्णुके साक्षात् स्वरूप श्रीरामके अवतारका वर्णन सुनो, जो विश्वामित्र मुनिको आगे करके चलनेवाले थे॥

तिथौ नावमिके जज्ञे तथा दशरथादपि।
कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा विष्णुरव्ययः॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको अविनाशी भगवान् महाबाहु विष्णुने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके महाराज दशरथके सकाशसे अवतार ग्रहण किया था॥

लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः।
प्रसादनार्थं लोकस्य विष्णुस्तस्य सनातनः॥
धर्मार्थमेव कौन्तेय जज्ञे तत्र महायशाः।

वे भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार लोकमें श्रीरामके नामसे विख्यात हुए। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जगत्को प्रसन्न करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही महायशस्वी सनातन भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए थे॥

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम्॥
यज्ञविघ्नं तदा कृत्वा विश्वामित्रस्य भारत।
सुबाहुर्निहतस्तेन मारीचस्ताडितो भृशम्॥

मनुष्योंके स्वामी भगवान् श्रीरामको साक्षात् सर्वभूतपति श्रीहरिका ही स्वरूप बतलाया जाता है। भारत! उस समय विश्वामित्रके यज्ञमें विघ्न डालनेके कारण राक्षस सुबाहु श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और मारीच नामक राक्षसको भी बड़ी चोट पहुँची॥

तस्मै दत्तानि शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
वधार्थं देवशत्रूणां दुर्वाराणि सुरैरपि॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिने देवशत्रु राक्षसोंका वध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनका निवारण करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था॥

वर्तमाने तदा यज्ञे जनकस्य महात्मनः।
भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया परम्॥
ततो विवाहं सीतायाः कृत्वा स रघुवल्लभः।
नगरीं पुनरासाद्य मुमुदे तत्र सीतया॥

उन्हीं दिनों महात्मा जनकके यहाँ धनुषयज्ञ हो रहा था, उसमें श्रीरामने भगवान् शङ्करके महान् धनुषको खेल-खेलमें ही तोड़ डाला। तदनन्तर सीताजीके साथ विवाह करके रघुनाथजी अयोध्यापुरीमें लौट आये और वहाँ सीताजी-के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य पित्रा तत्राभिचोदितः।
कैकेय्याः प्रियमन्विच्छन् वनमभ्यवपद्यत॥

कुछ कालके पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर वे अपनी विमाता महारानी कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे वनमें चले गये॥

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वने वसन्।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः॥
चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि भारत।
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेत्यभिहिता जनैः॥

वहाँ सब धर्मोंके ज्ञाता और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया। भरतवंशी राजन्! चौदह वर्षोंतक उन्होंने वनमें तपस्यापूर्वक जीवन बिताया। उनके साथ उनकी अत्यन्त रूपवती धर्मपत्नी भी थीं, जिन्हें लोग सीता कहते थे॥

पूर्वोचितत्वात् सा लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार सः॥
मारीचं दूषणं हत्वा खरं त्रिशिरसं तथा।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां घोरकर्मणाम्॥
जघान रामो धर्मात्मा प्रजानां हितकाम्यया।

अवतारके पहले श्रीविष्णुरूपमें रहते समय भगवान्के साथ उनकी जो योग्यतमा भार्या लक्ष्मी रहा करती हैं, उन्होंने ही उपयुक्त होनेके कारण श्रीरामावतारके समय सीताके रूपमें अवतीर्ण हो अपने पतिदेवका अनुसरण किया था। भगवान् श्रीराम जनस्थानमें रहकर देवताओंके कार्य सिद्ध करते थे। धर्मात्मा श्रीरामने प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया। जिनमें मारीच, खर-दूषण और त्रिशिरा आदि प्रधान थे॥

विराधं च कबन्धं च राक्षसौ क्रूरकर्मिणौ॥
जघान च तदा रामो गन्धर्वौ शापविक्षतौ॥

उन्हीं दिनों दो शापग्रस्त गन्धर्व क्रूरकर्मा राक्षसोंके रूपमें वहाँ रहते थे, जिनके नाम विराध और कबन्ध थे। श्रीरामने उन दोनोंका भी संहार कर डाला॥

स रावणस्य भगिनीनासाच्छेदं चकार ह।
भार्यावियोगं तं प्राप्य मृगयन् व्यचरद् वनम्॥
ततस्तमृष्यमूकं स गत्वा पम्पामतीत्य च।
सुग्रीवं मारुतिं दृष्ट्वा चक्रे मैत्रीं तयोः स वै॥

उन्होंने रावणकी बहिन शूर्पणखाकी नाक भी लक्ष्मणके द्वारा कटवा दी; इसीके कारण (राक्षसोंके षड्यन्त्रसे) उन्हें पत्नीका वियोग देखना पड़ा। तब वे सीताकी खोज करते हुए वनमें विचरने लगे। तदनन्तर ऋष्यमूक पर्वतपर जा पम्पा-सरोवरको लाँघकर श्रीरामजी सुग्रीव और हनुमान्जीसे मिले और उन दोनोंके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली॥

अथ गत्वा स किष्किन्धां सुग्रीवेण तदा सह।
निहत्य वालिनं युद्धे वानरेन्द्रं महाबलम्॥
अभ्यषिञ्चत् तदा रामः सुग्रीवं वानरेश्वरम्॥
ततः स वीर्यवान् राजंस्त्वरयन् वै समुत्सुकः।
विचित्य वायुपुत्रेण लङ्कादेशं निवेदितम्॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ किष्किन्धामें जाकर महाबली वानरराज वालीको युद्धमें मारा और सुग्रीवको वानरोंके राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। राजन्! तदनन्तर पराक्रमी श्रीराम सीताजीके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ उनकी खोज कराने लगे। वायुपुत्र हनुमान्‌जीने पता लगाकर यह बतलाया कि सीताजी लङ्कामें हैं॥

सेतुं बद्ध्वा समुद्रस्य वानरैः सहितस्तदा।
सीतायाः पदमन्विच्छन् रामो लङ्कां विवेश ह॥

तब समुद्रपर पुल बाँधकर वानरोंसहित श्रीरामने सीताजीके स्थानका पता लगाते हुए लङ्कामें प्रवेश किया॥

देवोरगगणानां हि यक्षराक्षसपक्षिणाम्।
तत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि दुर्जयम्॥
युक्तं राक्षसकोटीभिर्भिन्नाञ्जनचयोपमम्।

वहाँ देवता, नागगण, यक्ष, राक्षस तथा पक्षियोंके लिये अवध्य और युद्धमें दुर्जय राक्षसराज रावण करोड़ों राक्षसोंके साथ रहता था। वह देखनेमें खानसे खोदकर निकाले हुए कोयलेके ढेरके समान जान पड़ता था॥

दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम्॥
जघान सचिवैः सार्धं सान्वयं रावणं रणे।
त्रैलोक्यकण्टकं वीरं महाकायं महाबलम्॥
रावणं सगणं हत्वा रामो भूतपतिः पुरा॥
लङ्कायां तं महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
अभिषिच्य च तत्रैव अमरत्वं ददौ तदा॥

देवताओंके लिये उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। ब्रह्माजीसे वरदान मिलनेसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था। श्रीरामने त्रिलोकीके लिये कण्टकरूप महाबली विशालकाय वीर रावणको उसके मन्त्रियों और वंशजोंसहित युद्धमें मार डाला। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीरघुनाथजीने प्राचीनकालमें रावणको सेवकोंसहित मारकर लङ्काके राज्यपर राक्षसपति महात्मा विभीषणका अभिषेक करके उन्हें वहीं अमरत्व प्रदान किया॥

आरुह्य पुष्पकं रामः सीतामादाय पाण्डव।
सबलः स्वपुरं गत्वा धर्मराज्यमपालयत्॥
दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्ततो रामस्य शासनात्॥

पाण्डुनन्दन! तत्पश्चात् श्रीरामने पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो सीताको साथ ले दलबलसहित अपनी राजधानीमें जाकर धर्मपूर्वक राज्यका पालन किया। राजन्! उन्हीं दिनों मथुरामें मधुका पुत्र लवण नामक दानव राज्य करता था, जिसे रामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने मार डाला॥

एवं बहूनि कर्माणि कृत्वा लोकहिताय सः।
राज्यं चकार विधिवद् रामो धर्मभृतां वरः॥

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लोकहितके लिये बहुतसे कार्य करके विधिपूर्वक राज्यका पालन किया॥

दशाश्वमेधानाजह्रे जारुधिस्थान् निरर्गलान्॥
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नात्ययः प्राणिनां तदा।
न वित्तजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥
प्राणिनां च भयं नासीज्जलानलविधानजम्।
पर्यदेवन्न विधवा नानाथाः काश्चनाभवन्॥

उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और सरयूतटके जारुधिप्रदेशको विघ्न-बाधाओंसे रहित कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके शासनकालमें कभी कोई अमङ्गलकी बात नहीं सुनी गयी। उस समय प्राणियोंकी अकालमृत्यु नहीं होती थी और किसीको भी धनकी रक्षा आदिके निमित्त भय नहीं प्राप्त होता था। संसारके जीवोंको जल और अग्नि आदिसे भी भय नहीं होता था। विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना जाता था तथा स्त्रियाँ अनाथ नहीं होती थीं॥

सर्वमासीत् तदा तृप्तं रामे राज्यं प्रशासति॥
न संकरकरा वर्णा नाकृष्टकरकृज्जनः।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट था। किसी भी वर्णके लोग वर्णसंकर संतान नहीं उत्पन्न करते थे। कोई भी मनुष्य ऐसी जमीनके लिये कर नहीं देता था, जो जोतने-बोनेके काममें न आती हो॥

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
विशः पर्यचरन् क्षत्रं क्षत्रं नापीडयद् विशः।
नरा नात्यचरन् भार्या भार्या नात्यचरन् पतीन्॥
नासीदल्पकृषिर्लोके रामे राज्यं प्रशासति।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
अरोगाः प्राणिनोऽप्यासन् रामे राज्यं प्रशासति॥

बूढ़ेलोग बालकोंका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करते थे (उनके सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था)। वैश्यलोग क्षत्रियोंकी परिचर्या करते थे और क्षत्रियलोग भी वैश्योंको कष्ट नहीं होने देते थे। पुरुष अपनी पत्नियोंकी अवहेलना नहीं करते थे और पत्नियाँ भी पतियोंकी अवहेलना नहीं करती थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासन करते समय लोकमें खेतीकी उपज कम नहीं होती थी। लोग सहस्र पुत्रोंसे युक्त होकर सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे। श्रीरामके राज्य-शासनकालमें सब प्राणी नीरोग थे॥

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां तथैव च।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति॥
सर्वे ह्यासंस्तृप्तरूपास्तदा तस्मिन् विशाम्पते।
धर्मेण पृथिवीं सर्वामनुशासति भूमिपे॥

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें इस पृथ्वीपर ऋषि, देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। राजन्! भूमिपाल श्रीरघुनाथजी जिन दिनों सारी पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें सब लोग पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करते थे॥

तपस्येवाभवन् सर्वे सर्वे धर्ममनुव्रताः।
पृथिव्यां धार्मिके तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति॥

धर्मात्मा राजा रामके राज्यमें पृथ्वीपर सब लोग तपस्यामें ही लगे रहते थे और सब-के-सब धर्मानुरागी थे ॥

नाधर्मिष्ठो नरः कश्चिद् बभूव प्राणिनां क्वचित् ।
प्राणापानौ समावास्तां रामे राज्यं प्रशासति ॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कोई भी मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता था । सबके प्राण और अपान समवृत्तिमें स्थित थे ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
श्यामो युवा लोहिताक्षो मातङ्गानामिवर्षभः ॥
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाबलः ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥
राज्यं भोगं च सम्प्राप्य शशास पृथिवीमिमाम् ।

जो पुराणवेत्ता विद्वान् हैं, वे इस विषयमें निम्नाङ्कित गाथा गाया करते हैं—'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति श्याम है, युवावस्था है, उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लाली है । वे गजराज-जैसे पराक्रमी हैं । उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं । मुख बहुत सुन्दर है । कंधे सिंहके समान हैं और वे महान् बलशाली हैं । उन्होंने राज्य और भोग पाकर ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका शासन किया ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ॥
रामभूतं जगदिदं रामे राज्यं प्रशासति ।
ऋग्यजुःसामहीनाश्च न तदासन् द्विजातयः ॥

प्रजाजनोंमें 'राम राम राम' इस प्रकार केवल रामकी ही चर्चा होती थी । रामके राज्य-शासनकालमें यह सारा जगत् राममय हो रहा था । उस समयके द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके ज्ञानसे शून्य नहीं थे ॥

उषित्वा दण्डके कार्यं त्रिदशानां चकार सः ।
पूर्वापकारिणं संख्ये पौलस्त्यं मनुजर्षभः ॥
देवगन्धर्वनागानामरिं स निजघान ह ।
सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥

इस प्रकार मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें निवास करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया और पहलेके अपराधी पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो देवताओं, गन्धर्वों और नागोंका शत्रु था, युद्धमें मार गिराया । इक्ष्वाकुकुलका अभ्युदय करनेवाले महाबाहु श्रीराम महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न और अपने तेजसे देदीप्यमान थे ॥

रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रमताभिभूः ।
इति दाशरथेः ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

वे इसी प्रकार सेवकोंसहित रावणका वध करके राज्य-पालनके पश्चात् साकेतलोकमें पधारे । इस प्रकार परमात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अवतारका वर्णन किया गया ॥

(कृष्णावतारः)

ततः कृष्णो महाबाहुर्भीतानामभयङ्करः ।
अष्टाविंशे युगे राजन्नजे श्रीवत्सलक्षणः ॥

राजन् ! तदनन्तर अब अट्ठाईसवें द्वापरमें भयभीतोंको अभय देनेवाले श्रीवत्स विभूषित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें श्रीविष्णुका अवतार हुआ है ॥

पेशलश्च वदान्यश्च लोके बहुमतो नृषु ।
स्मृतिमान् देशकालज्ञः शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥

ये इस लोकमें परम सुन्दर, उदार, मनुष्योंमें अत्यन्त सम्मानित, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, देशकालके ज्ञाता एवं शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग आदि आयुध धारण करनेवाले हैं ॥

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा ।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ॥

वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है । ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं । भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है ॥

स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः ।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ॥

ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं । इन्हींकी मधुसूदन नामसे प्रसिद्धि है । इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है ॥

कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान् ।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया । परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है ॥

(कल्क्यवतारः)

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः ।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥
पाखण्डिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः ।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं विप्राणां हितकाम्यया ॥

कलियुगके अन्तमें जब धर्म शिथिल हो जायगा, उस समय भगवान् श्रीहरि पाखण्डियोंके वध तथा धर्मकी वृद्धिके लिये और ब्राह्मणोंके हितकी कामनासे पुनः अवतार लेंगे । उनके उस अवतारका नाम होगा 'कल्कि विष्णुयशा' ॥

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः ।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥

भगवान्‌के ये तथा और भी बहुत-से दिव्य अवतार देवगणोंके साथ होते हैं, जिनका ब्रह्मवादी पुरुष पुराणोंमें वर्णन करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

वृन्दावनमें श्रीकृष्ण

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः । श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन् । प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद्वनगतो युवा ॥

[श्रीकृष्णका प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण-बलरामकी बाललीलाओंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तोऽथ कौन्तेयस्ततः पौरवनन्दनः।
आबभाषे पुनर्भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके इस प्रकार कहनेपर पूरुवंशको आनन्दित करनेवाले कुन्ती-कुमार धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उनसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव मनुष्येन्द्र उपेन्द्रस्य यशस्विनः।
जन्म वृष्णिषु विज्ञातुमिच्छामि वदतां वर॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र ! मैं यशस्वी भगवान् विष्णुके वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण करनेका वृत्तान्त पुनः (विस्तारपूर्वक) जानना चाहता हूँ ॥

यथैव भगवाञ्जातः क्षिताविह जनार्दनः।
माधवेषु महाबुद्धिस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥

पितामह ! परम बुद्धिमान् भगवान् जनार्दन इस पृथ्वीपर मधुवंशमें जिस प्रकार उत्पन्न हुए, वह सब प्रसङ्ग मुझसे कहिये ॥

यदर्थं च महातेजा गास्तु गोवृषभेक्षणः।
ररक्ष कंसस्य वधाल्लोकानामभिरक्षिता॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले लोकरक्षक महातेजस्वी श्रीकृष्णने किसलिये कंसका वध करके गौओंकी रक्षा की ! ॥

क्रीडता चैव यद् बाल्ये गोविन्देन विचेष्टितम्।
तदा मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! उस समय बाल्यावस्थामें बालकोचित क्रीड़ाएँ करते समय भगवान् गोविन्दने क्या-क्या लीलाएँ कीं ! यह सब मुझे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीष्मः केशवस्य महात्मनः।
माधवेषु तदा जन्म कथयामास वीर्यवान्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महापराक्रमी भीष्मने मधुवंशमें भगवान् केशवके अवतार लेनेकी कथा कहनी प्रारम्भ की ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथातथम्।
यतो नारायणस्येह जन्म वृष्णिषु कौरव॥

भीष्मजी बोले—कुरुरत्न युधिष्ठिर ! अब मैं वृष्णिवंशमें भगवान् नारायणके अवतार-ग्रहणका यथावत् वृत्तान्त कहूँगा ॥

अजातशत्रो जातस्तु यथैष भुवि भूमिपः।
कीर्त्यमानं मया तात निबोध भरतर्षभ॥

भरतकुलभूषण तात अजातशत्रो ! वसुधाकी रक्षा करनेवाले ये भगवान् यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए। यह मैं बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥

सागराः समकम्पन्त मुदा चेलुश्च पर्वताः।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने॥

भगवान्‌के जन्मके समय आनन्दोद्रेकके कारण समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं, पर्वत हिलने लगे और बुझी हुई अग्नियाँ भी सहसा प्रज्वलित हो उठीं ॥

शिवाः सम्प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः।
ज्योतींषि सम्प्रकाशन्ते जायमाने जनार्दने॥

भगवान् जनार्दनके जन्मकालमें शीतल, मन्द एवं सुखद वायु चलने लगी। धरतीकी धूल शान्त हो गयी और नक्षत्र प्रकाशित होने लगे ॥

देवदुन्दुभयश्चापि सस्वनुर्भृशमम्बरे।
अभ्यवर्षंस्तदाऽऽगम्य देवताः पुष्पवृष्टिभिः॥

आकाशमें देवलोकके नगाड़े जोर-जोरसे बजने लगे और देवगण आ-आकर वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरस्तुवन् मधुसूदनम्।
उपतस्थुस्तदा प्रीताः प्रादुर्भावे महर्षयः॥

वे मङ्गलमयी वाणीद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे। भगवान्‌के अवतारका समय जान महर्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ आ पहुँचे ॥

ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन्।
उपानृत्यन्नुपजगुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥

नारद आदि देवर्षियोंको उपस्थित देख गन्धर्व और अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं ॥

उपतस्थे च गोविन्दं सहस्राक्षः शचीपतिः।
अभ्यभाषत तेजस्वी महर्षीन् पूजयंस्तदा॥

उस समय सहस्र नेत्रोंवाले शचीवल्लभ तेजस्वी इन्द्र भगवान् गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुए और महर्षियोंका आदर करते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

कृत्यानि देवकार्याणि कृत्वा लोकहिताय च।
स्वलोकं लोककृद् देव पुनर्गच्छ स्वतेजसा॥

इन्द्रने कहा—देव ! आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा हैं। देवताओंके जो कर्तव्य कार्य हैं, उन सबको सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये सिद्ध करके आप अपने तेजसहित पुनः परमधामको पधारिये ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा मुनिभिः सार्धं जगाम त्रिदिवेश्वरः।

भीष्मजी कहते हैं—ऐसा कहकर स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र देवर्षियोंके साथ अपने लोकको चले गये ॥

वसुदेवस्ततो जातं बालमादित्यसंनिभम् ।
नन्दगोपकुले राजन् भयात् प्राच्छादयद्धरिम् ॥

राजन्! तदनन्तर वसुदेवजीने कंसके भयसे सूर्यके समान तेजस्वी अपने नवजात बालक श्रीहरिको नन्दगोपके घरमें छिपा दिया ॥

नन्दगोपकुले कृष्ण उवास बहुलाः समाः ।
ततः कदाचित् सुप्तं तं शकटस्य त्वधः शिशुम् ॥
यशोदा सम्परित्यज्य जगाम यमुनां नदीम् ।

श्रीकृष्ण बहुत वर्षोंतक नन्दगोपके ही घरमें रहे। एक दिन वहाँ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये थे। माता यशोदा उन्हें वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर चली गयीं ॥

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स्वहस्तचरणौ क्षिपन् ॥
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन् ।
पादाङ्गुष्ठेन शकटं धारयन्नथ केशवः ॥
तत्रार्थैकेन पादेन पातयित्वा तथा शिशुः ।

उस समय श्रीकृष्ण शिशुलीलाका प्रदर्शन करते हुए अपने हाथ-पैर फेंक-फेंककर मधुर स्वरमें रोने लगे। पैरोंको ऊपर फेंकते समय भगवान् केशवने अपने पैरके अँगूठेसे छकड़ेको धक्का दे दिया और इस प्रकार एक ही पाँवसे छकड़ेको उलटकर गिरा दिया ॥

न्युब्जः पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च ॥
पातितं शकटं दृष्ट्वा भिन्नभाण्डघटीघटम् ।
जनास्ते शिशुना तेन विस्मयं परमं ययुः ॥

उसके बाद वे स्वयं औंधे मुँह हो गये और माताका स्तन पीनेकी इच्छासे जोर-जोरसे रोने लगे। शिशुके ही पदाघातसे छकड़ा उलटकर गिर गया तथा उसपर रक्खे हुए सभी मटके और घड़े आदि बर्तन चकनाचूर हो गये। यह देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

प्रत्यक्षं शूरसेनानां दृश्यते महदद्भुतम् ।
पूतना चापि निहता महाकाया महास्तनी ॥
पश्यतां सर्वदेवानां वासुदेवेन भारत ।

भरतनन्दन! शूरसेनदेश (मथुरामण्डल)के निवासियोंको यह अत्यन्त अद्भुत घटना प्रत्यक्ष दिखायी दी तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने (आकाशमें स्थित) सब देवताओंके देखते-देखते महान् काय एवं विशाल स्तनोंवाली पूतनाको भी पहले मार डाला था ॥

ततः काले महाराज संसक्तौ रामकेशवौ ॥
विष्णुः सङ्कर्षणश्चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम् ।

महाराज! तदनन्तर संकर्षण और विष्णुके स्वरूप बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई कुछ कालके अनन्तर एक साथ ही घुटनोंके बल रेंगने लगे ॥

अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥
विसर्पयेतां सर्वत्र सर्पभोगभुजौ तदा ।

जैसे चन्द्रमा और सूर्य एक दूसरेकी किरणोंसे बँधकर आकाशमें एक साथ विचरते हों, उसी प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण सर्वत्र एक साथ चलते-फिरते थे। उनकी भुजाएँ सर्पके शरीरकी भाँति सुशोभित होती थीं ॥

रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ रामकृष्णौ तदा नृप ॥
क्वचिच्च जानुभिर्घृष्टौ क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पिबन्तौ दधिकुल्याश्च मथ्यमाने च भारत ॥

नरेश्वर! बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंके अङ्ग धूलि-धूसरित होकर बड़ी शोभा पाते। भारत! कभी वे दोनों भाई घुटनोंके बल चलते थे, जिससे उनमें घट्ठे पड़ गये थे। कभी वे वनमें खेला करते और कभी मथते समय दहीकी घोल लेकर पीया करते थे ॥

ततः स बालो गोविन्दो नवनीतं तदा क्षये ।
ग्रसमानस्तु तत्रायं गोपीभिर्ददृशेऽथ वै ॥

एक दिन बालक श्रीकृष्ण एकान्त गृहमें छिपकर माखन खा रहे थे। उस समय वहाँ उन्हें कुछ गोपियोंने देख लिया ॥

दाम्नाथोलूखले कृष्णो गोपस्त्रीभिश्च बन्धितः ।
तदाथ शिशुना तेन राजंस्तावर्जुनावुभौ ॥
समूलविटपौ भग्नौ तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब उन यशोदा आदि गोपाङ्गनाओंने एक रस्सीसे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया। राजन्! उस समय उन्होंने उस ऊखलको यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें अड़ाकर उन्हें जड़ और शाखाओंसहित तोड़ डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ॥

तत्रासुरौ महाकायौ गतप्राणौ बभूवतुः ॥

उन वृक्षोंपर दो विशालकाय असुर रहा करते थे। वे भी वृक्षोंके टूटनेके साथ ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥

ततस्तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ।
तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम बाल्यावस्थाकी सीमाको पार करके उस व्रजमण्डलमें ही सात वर्षकी अवस्थावाले हो गये ॥

नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ।
बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ॥

बलराम नीले रंगके और श्रीकृष्ण पीले रंगके वस्त्र धारण करते थे। एकके श्रीअङ्गोंपर पीले रंगका अङ्गराग लगता था और दूसरेके श्वेत रंगका! दोनों भाई काकपक्ष (सिरके पिछले भागमें बड़े-बड़े केश) धारण किये बछड़े चराने लगे ॥

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ।
शुशुभाते वनगतावुदीर्णाविव पन्नगौ ॥

उन दोनोंकी मुखच्छवि बड़ी मनोहारिणी थी। वे वनमें जाकर श्रवण-सुखद पर्णवाद्य (पत्तोंके बाजे-पिपिहरी आदि) बजाया करते थे। वहाँ दो तरुण नागकुमारोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ।
वनमालापरिक्षिप्तौ सालपोताविवोद्गतौ ॥

वे अपने कानोंमें मोरके पंख लगा लेते, मस्तकपर पल्लवोंके मुकुट धारण करते और गलेमें वनमाला डाल लेते थे। उस समय शालके नये पौधोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ।
शिक्यतुम्बधरौ वीरौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥

वे कभी कमलके फूलोंके शिरोभूषण धारण करते और कभी बछड़ोंकी रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण कर लेते थे। वीरवर श्रीकृष्ण और बलराम छींके और तुम्बी लिये वनमें घूमते और गोपजनोचित वेणु बजाया करते थे ॥

क्वचिद् वसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचिद् वने।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥

वे दोनों भाई कहीं ठहर जाते, कहीं वनमें एक दूसरेके साथ खेलने लगते और कहीं पत्तोंकी शय्या बिछाकर सो जाते तथा नींद लेने लगते थे ॥

तौ वत्सान् पालयन्तौ हि शोभयन्तौ महद् वनम्।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म राजन्नेवं तदा शुभौ ॥

राजन्! इस प्रकार वे मङ्गलमय बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ोंकी रक्षा करते तथा उस महान् वनकी शोभा बढ़ाते हुए सब ओर घूमते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे ॥

ततो वृन्दावनं गत्वा वसुदेवसुतावुभौ।
गोव्रजं तत्र कौन्तेय चारयन्तौ विजह्रतुः ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर वे दोनों वसुदेवपुत्र वृन्दावनमें जाकर गौएँ चराते हुए लीला-विहार करने लगे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कालिय-मर्दन एवं धेनुकासुर, अरिष्टासुर और कंस आदिका वध, श्रीकृष्ण और बलरामका विद्याभ्यास तथा गुरु-दक्षिणारूपसे गुरुजीको उनके मरे हुए पुत्रको जीवित करके देना]

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् गोविन्दो ज्येष्ठं सङ्कर्षणं विना।
चचार तद् वनं रम्यं रम्यरूपो वराननः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन मनोहर रूप और सुन्दर मुखवाले भगवान् गोविन्द अपने बड़े भाई संकर्षणको साथ लिये बिना ही रमणीय वृन्दावनमें चले गये और वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगे ॥

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥

उन्होंने काक-पक्ष धारण कर रक्खा था। वे परम शोभायमान, श्याम-वर्ण तथा कमलके समान सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे। जैसे चन्द्रमा कलंकसे युक्त होकर शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे शोभा पा रहा था ॥

रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा।
श्वेतगन्धेन लिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥
राजता बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन्।
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन्।
प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद् वनगतो युवा ॥
गोकुले मेघकाले तु चचार द्युतिमान् प्रभुः।
बहुरम्येषु देशेषु वनस्य वनराजिषु ॥
तासु कृष्णो मुदं लेभे क्रीडया भरतर्षभ।
स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः स परिव्रजन्॥

उन्होंने रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति पहन रक्खा था। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। विभिन्न अङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप किया गया था। उनके मस्तकपर काले-घुँघराले केश सुशोभित थे। सिरपर मोरपंखका मुकुट शोभा पाता था, जो मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहरा रहा था। भगवान् कहीं गीत गाते, कहीं क्रीड़ा करते, कहीं नाचते और कहीं हँसते थे। इस प्रकार गोपालोचित वेष धारण किये मधुर गीत

गाते और वेणु बजाते हुए तरुण श्रीकृष्ण गौओंको आनन्दित करनेके लिये कभी-कभी वनमें घूमते थे। अत्यन्त कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण वर्षाके समय गोकुलमें वहाँके अतिशय रमणीय प्रदेशों तथा वनश्रेणियोंमें विचरण करते थे। भरतश्रेष्ठ! उन वनश्रेणियोंमें भाँति-भाँतिके खेल करके श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न होते थे। एक दिन वे गौओंके साथ वनमें घूम रहे थे॥

भाण्डीरं नाम दृष्ट्वाथ न्यग्रोधं केशवो महान्।
तच्छायायां निवासाय मतिं चक्रे तदा प्रभुः॥

घूमते-घूमते महात्मा भगवान् केशवने भाण्डीर नामक वटवृक्ष देखा और उसकी छायामें बैठनेका विचार किया॥

स तत्र वयसा तुल्यैः वत्सपालैः सहानघ।
रेमे स दिवसान् कृष्णः पुरा स्वर्गपुरे तथा॥

निष्पाप युधिष्ठिर! वहाँ श्रीकृष्ण समान अवस्थावाले दूसरे गोप-बालकोंके साथ बछड़े चराते थे, दिनभर खेल-कूद करते थे और पहले दिव्य धाममें जिस प्रकार वे आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वनमें आनन्दपूर्वक दिन बिताते थे॥

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनः।
रमयन्ति स्म बहवो मान्यैः क्रीडनकैस्तदा॥
अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म वनप्रियाः॥

भाण्डीरवनमें निवास करनेवाले बहुत-से ग्वाले वहाँ क्रीडा करते हुए श्रीकृष्णको अच्छे-अच्छे खिलौनोंद्वारा प्रसन्न रखते थे। दूसरे प्रसन्नचित्त रहनेवाले गोप, जिन्हें वनमें घूमना प्रिय था, सदा श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया करते थे॥

तेषां संगायतामेव वादयामास केशवः।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बं वीणां च तत्र वै॥
एवं क्रीडान्तरैः कृष्णो गोपालैर्विजहार सः।

जब वे गीत गाते, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बाजोंके बीच-बीचमें वेणु, तुम्बी और वीणा बजाया करते थे। इस प्रकार विभिन्न लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ खेलते थे॥

तेन बालेन कौन्तेय कृतं लोकहितं तदा॥
पश्यतां सर्वभूतानां वासुदेवेन भारत।

भरतनन्दन! उस समय बालक श्रीकृष्णने सम्पूर्ण भूतों-के देखते-देखते लोकहितके अनेक कार्य किये॥

ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि॥
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः।
विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान्॥

बृन्दावनमें कदम्बवनके पास जो ह्रद (कुण्ड) था, उसमें प्रवेश करके उन्होंने कालियनागके मस्तकपर नृत्यक्रीडा की

थी! फिर सब लोगोंके सामने ही कालियनागको अन्यत्र जानेका आदेश देकर वे बलदेवजीके साथ वनमें इधर-उधर विचरण करने लगे॥

धेनुको दारुणो दैत्यो राजन् रासभविग्रहः।
तदा तालवने राजन् बलदेवेन वै हतः॥

राजन्! तालवनमें धेनुक नामक भयंकर दैत्य निवास करता था, जो गधेका रूप धारण करके रहता था। उस समय वह बलदेवजीके हाथसे मारा गया॥

ततः कदाचित् कौन्तेय रामकृष्णौ वनं गतौ।
चारयन्तौ प्रवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर किसी समय सुन्दर मुखवाले बलराम और श्रीकृष्ण अपने बढ़े हुए गोधनको चरानेके लिये वनमें गये॥

विहरन्तौ मुदा युक्तौ वीक्षमाणौ वनानि वै।
क्ष्वेलयन्तौ प्रगायन्तौ विचिन्वन्तौ च पादपान्॥

वहाँ वनकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई घूमते, खेलते, गीत गाते और विभिन्न वृक्षोंकी खोज करते हुए बड़े प्रसन्न होते थे॥

नामभिर्व्याहरन्तौ च वत्सान् गाश्च परंतपौ।
नेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों अजेय वीर वहाँ गौओं और बछड़ोंको नाम ले-लेकर बुलाते और लोकप्रचलित बालोचित क्रीडाएँ करते रहते थे॥

तौ देवौ मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ।
तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम्॥

वे दोनों देववन्दित देवता थे तो भी मानवी दीक्षा ग्रहण करनेके कारण मानव-जातिके अनुरूप गुणोंवाली क्रीडाएँ करते हुए वनमें विचरते थे॥

ततः कृष्णो महातेजास्तदा गत्वा तु गोव्रजम् ।
गिरियज्ञं तमेवैष प्रकृतं गोपदारकैः ॥
बुभुजे पायसं शौरिरीश्वरः सर्वभूतकृत् ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीकृष्ण गौओंके व्रजमें जाकर गोपबालकोंद्वारा किये जानेवाले गिरियज्ञमें सम्मिलित हो वहाँ सर्वभूतस्रष्टा ईश्वरके रूपमें अपनेको प्रकट करके (गिरिराजके लिये समर्पित) खीरको स्वयं ही खाने लगे ॥

तं दृष्ट्वा गोपकाः सर्वे कृष्णमेव समर्चयन् ॥
पूज्यमानस्ततो गोपैर्दिव्यं वपुरधारयत् ।

उन्हें देखकर सब गोप भगवद्बुद्धिसे श्रीकृष्णके उस स्वरूपकी ही पूजा करने लगे । गोपालोंद्वारा पूजित श्रीकृष्णने दिव्य रूप धारण कर लिया ॥

धृतो गोवर्धनो नाम सप्ताहं पर्वतस्तदा ॥
शिशुना वासुदेवेन गवार्थमरिमर्दन ।

शत्रुमर्दन युधिष्ठिर ! (जब इन्द्र वर्षा कर रहे थे, उस समय) बालक वासुदेवने गौओंकी रक्षाके लिये एक सप्ताहतक गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा रक्खा था ॥

क्रीडमानस्तदा कृष्णः कृतवान् कर्म दुष्करम् ॥
तदद्भुतमिवात्रासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उस समय श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला, जो सब लोगोंके लिये अत्यन्त अद्भुत-सा था ॥

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः ॥
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिञ्चत् पुरंदरः ।
इत्युक्त्वाऽऽश्लिष्य गोविन्दं पुरुहूतोऽभ्ययाद् दिवम् ।

देवाधिदेव इन्द्रने भूतलपर जाकर जब श्रीकृष्णको (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने श्रीकृष्णको 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पदपर) अभिषेक किया । देवराज इन्द्र गोविन्दको हृदयसे लगाकर उनकी अनुमति ले स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथारिष्ट इति ख्यातं दैत्यं वृषभविग्रहम् ।
जघान तरसा कृष्णः पशूनां हितकाम्यया ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने पशुओंके हितकी कामनासे वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक दैत्यको वेगपूर्वक मार गिराया ॥

केशिनं नाम दैतेयं राजन् वै हयविग्रहम् ।
तथा वनगतं पार्थ गजायुतबलं हयम् ॥
प्रहितं भोजपुत्रेण जघान पुरुषोत्तमः ।

राजन् ! व्रजमें केशी नामका एक दैत्य रहता था, जिसका शरीर घोड़ेके समान था । उसमें दस हजार हाथियोंका बल था । कुन्तीनन्दन ! उस अश्वरूपधारी दैत्यको भोजकुलोत्पन्न कंसने भेजा था । वृन्दावनमें आनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उसे भी अरिष्टासुरकी भाँति मार दिया ॥

आन्ध्रं मल्लं च चाणूरं निजघान महासुरम् ॥

कंसके दरबारमें एक आन्ध्रदेशीय मल्ल था, जिसका नाम था चाणूर । वह एक महान् असुर था । श्रीकृष्णने उसे भी मार डाला ॥

सुनामानममित्रघ्नं सर्वसैन्यपुरस्कृतम् ।
बालरूपेण गोविन्दो निजघान च भारत ॥

भरतनन्दन ! (कंसका भाई) शत्रुनाशक सुनामा कंसकी सारी सेनाका अगुआ—सेनापति था । गोविन्द अभी बालक थे, तो भी उन्होंने सुनामाको मार दिया ॥

बलदेवेन चायत्तः समाजे मुष्टिको हतः ।

भारत ! (दंगल देखनेके लिये जुटे हुए) जनसमाजमें युद्धके लिये तैयार खड़े हुए मुष्टिक नामक पहलवानको बलरामजीने अखाड़ेमें ही मार दिया ॥

त्रासितश्च तदा कंस स हि कृष्णेन भारत ॥

युधिष्ठिर ! उस समय श्रीकृष्णने कंसके मनमें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥

ऐरावतं युयुत्सन्तं मातङ्गानामिवर्षभम् ।
कृष्णः कुवलयापीडं हतवांस्तस्य पश्यतः ॥

हाथियोंमें श्रेष्ठ कुवलयापीडको, जो ऐरावतकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रीकृष्णको कुचल देना चाहता था, श्रीकृष्णने कंसके देखते-देखते ही मार गिराया ॥

हत्वा कंसममित्रघ्नः सर्वेषां पश्यतां तदा ।
अभिषिच्योग्रसेनं तं पित्रोः पादमवन्दत ॥

फिर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने सब लोगोंके सामने ही कंसको मारकर उग्रसेनको राजपदपर अभिषिक्त कर दिया और अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया ॥

एवमादीनि कर्माणि कृतवान् वै जनार्दनः।
उवास कतिचित् तत्र दिनानि सहलायुधः॥

इस प्रकार जनार्दनने कितने ही अद्भुत कार्य किये और कुछ दिनोंतक बलरामजीके साथ वे मथुरामें ही रहे॥

ततस्तौ जग्मतुस्तात गुरुं सान्दीपनिं पुनः।
गुरुशुश्रूषया युक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ॥

तात युधिष्ठिर! तदनन्तर वे दोनों धर्मज्ञ भाई गुरु सान्दीपनिके यहाँ (उज्जयिनीपुरीमें) विद्याध्ययनके लिये गये। वहाँ वे गुरुसेवा-परायण हो सदा धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहे॥

व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्तावतिष्ठताम्।
अहोरात्रचतुष्षष्ट्या षडङ्गं वेदमापतुः॥

वे दोनों महात्मा कठोर व्रतका पालन करते हुए वहाँ रहते थे। उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः॥

इतना ही नहीं, उन यदुकुलकुमारोंने लेख्य (चित्रकला), गणित, गान्धर्ववेद तथा सारे वैद्यको भी उतने ही समयके भीतर जान लिया॥

हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः॥
धनुर्वेदचिकीर्षार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।

गजशिक्षा तथा अश्वशिक्षाको तो उन्होंने कुल बारह दिनोंमें ही प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे दोनों धर्मज्ञ एवं धर्मपरायण वीर धनुर्वेद सीखनेके लिये पुनः सान्दीपनि मुनिके पास गये॥

ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च॥
तेन तौ सत्कृतौ राजन् विचरन्ताववन्तिषु।

राजन्! धनुर्वेदके श्रेष्ठ आचार्य सान्दीपनिके पास जाकर उन दोनोंने प्रणाम किया। सान्दीपनिने उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाया एवं वे फिर अवन्तीमें विचरते हुए वहाँ रहने लगे॥

पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्॥
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः।

पचास दिन-रातमें ही उन दोनोंने दस अङ्गोंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

दृष्ट्वा कृतास्त्रौ विप्रेन्द्रो गुर्वर्थे तावचोदयत्॥
अयाचतार्थं गोविन्दं ततः सान्दीपनिर्विभुः।

उन दोनों भाइयोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देखकर विप्रवर सान्दीपनिने उन्हें गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा दी। सान्दीपनिजी सब विषयोंके विद्वान् थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अपने अभीष्ट मनोरथकी याचना इस प्रकार की॥

मम पुत्रः समुद्रेऽस्मिंस्तिमिना चापवाहितः॥
पुत्रमानय भद्रं ते भक्षितं तिमिना मम।

सान्दीपनिरुवाच

सान्दीपनिजी बोले—मेरा पुत्र इस समुद्रमें नहा रहा था, उस समय 'तिमि' नामक जलजन्तु उसे पकड़कर भीतर ले गया और उसके शरीरको खा गया। तुम दोनोंका भला हो। मेरे उस मरे हुए पुत्रको जीवित करके यहाँ ला दो॥

भीष्म उवाच

आर्ताय गुरवे तत्र प्रतिशुश्राव दुष्करम्॥
अशक्यं त्रिषु लोकेषु कर्तुमन्येन केनचित्।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतना कहते-कहते गुरु सान्दीपनि पुत्रशोकसे आर्त हो गये। यद्यपि उनकी माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकोंमें दूसरे किसी पुरुषके लिये इस कार्यका साधन करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

यश्च सान्दीपनेः पुत्रं जघान भरतर्षभ॥
सोऽसुरः समरे ताभ्यां समुद्रे विनिपातितः।

भरतश्रेष्ठ! जिसने सान्दीपनिके पुत्रको मारा था, उस असुरको उन दोनों भाइयोंने युद्ध करके समुद्रमें मार गिराया॥

ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रसादादमितौजसः॥
दीर्घकालं गतः प्रेतं पुनरासीच्छरीरवान्।

तदनन्तर अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे सान्दीपनिका पुत्र, जो दीर्घकालसे यमलोकमें जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा॥

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम्॥
सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि गवाश्वं च धनानि च॥
सर्वं तदुपजह्राते गुरवे रामकेशवौ।
ततस्तं पुत्रमादाय ददौ च गुरवे प्रभुः॥

बलराम और श्रीकृष्णने अपने गुरुको सब प्रकारके ऐश्वर्य, गाय, घोड़े और प्रचुर धन सब कुछ दिये। तत्पश्चात् गुरुपुत्रको लेकर भगवान्‌ने गुरुजीको सौंप दिया॥

तं दृष्ट्वा पुत्रमायान्तं सान्दीपनिपुरे जनाः।
अशक्यमेतत् सर्वेषामचिन्त्यमिति मेनिरे॥
कश्च नारायणादन्यश्चिन्तयेदिदमद्भुतम्।

उस पुत्रको आया देख सान्दीपनिके नगरके लोग यह मान

गये कि श्रीकृष्णके द्वारा यह ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ है, जो अन्य सब लोगोंके लिये असम्भव और अचिन्त्य है। भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो इस अद्भुत कार्यको सोच भी सके (करना तो दूरकी बात है) ॥

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च केशवः ॥
परमां मुख्यतां प्राप्तः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।

भगवान् श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धमें तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। वे समस्त लोकोंमें विख्यात हो गये ॥

भोजराजतनूजोऽपि कंसस्तात युधिष्ठिर ॥
अस्त्रज्ञाने बले वीर्ये कार्तवीर्यसमोऽभवत् ।

तात युधिष्ठिर ! भोजराजकुमार कंस भी अस्त्रज्ञान, बल और पराक्रममें कार्तवीर्य अर्जुनकी समानता करता था ॥

तस्य भोजपतेः पुत्राद् भोजराज्यविवर्धनात् ॥
उद्विजन्ते स्म राजानः सुपर्णादिव पन्नगाः ।

भोजवंशके राज्यकी वृद्धि करनेवाले भोजराजकुमार कंससे भूमण्डलके सब राजा उसी प्रकार उद्विग्न रहते थे, जैसे गरुड़से सर्प ॥

चित्रकार्मुकनिर्स्त्रिंशविमलप्रासयोधिनः ॥
शतं शतसहस्राणि पादातास्तस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उसके यहाँ धनुष, खड्ग और चमचमाते हुए भाले लेकर विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले एक करोड़ पैदल सैनिक थे ॥

अष्टौ शतसहस्राणि शूराणामनिवर्तिनाम् ॥
अभवन् भोजराजस्य जाम्बूनदमयध्वजाः ।

भोजराजके रथी सैनिक, जिनके रथोंपर सुवर्णमय ध्वज फहराते रहते थे तथा जो शूरवीर होनेके साथ ही युद्धमें कभी पीठ दिखलानेवाले नहीं थे, आठ लाखकी संख्यामें थे ॥

स्फुरत्काञ्चनकक्ष्यास्तु गजास्तस्य युधिष्ठिर ॥
तावन्त्येव सहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम् ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हाथी-सवार भी आठ ही लाख थे। उनके हाथियोंकी पीठपर सुवर्णके चमकीले हौदे कसे होते थे ॥

ते च पर्वतसङ्काशाश्चित्रध्वजपताकिनः ॥
बभूवुर्भोजराजस्य नित्यं प्रमुदिता गजाः ।

भोजराजके वे पर्वताकार गजराज विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होते थे और सदा संतुष्ट रहते थे ॥

स्वलङ्कृतानां शीघ्राणां करेणूनां युधिष्ठिर ।
अभवद् भोजराजस्य द्विस्तावद्धि महद् बलम् ॥

युधिष्ठिर ! भोजराज कंसके यहाँ आभूषणोंसे सजी हुई शीघ्रगामिनी हथिनियोंकी विशाल सेना गजराजोंकी अपेक्षा दूनी थी ॥

षोडशाश्वसहस्राणि किंशुकाभानि तस्य वै ।
अपरस्तु महाव्यूहः किशोराणां युधिष्ठिर ॥
आरोहवरसम्पन्नो दुर्धर्षः केनचिद् बलात् ।
स च षोडशसाहस्रः कंसभ्रातृपुरस्सरः ॥

उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े ऐसे थे, जिनका रङ्ग पलासके फूलकी भाँति लाल था। राजन् ! किशोर-अवस्थाके घोड़ोंका एक दूसरा दल भी मौजूद था, जिसकी संख्या सोलह हजार थी। इन अश्वोंके सवार भी बहुत अच्छे थे। इस अश्वसेनाको कोई भी बलपूर्वक दबा नहीं सकता था। कंसका भाई सुनामा इन सबका सरदार था ॥

सुनामा सदृशस्तेन स कंसं पर्यपालयत् ।

वह भी कंसके ही समान बलवान् था एवं सदा कंसकी रक्षाके लिये तत्पर रहता था ॥

य आसन् सर्ववर्णास्तु हयास्तस्य युधिष्ठिर ॥
स गणो मिश्रको नाम षष्टिसाहस्र उच्यते ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ घोड़ोंका एक और भी बहुत बड़ा दल था, जिसमें सभी रङ्गके घोड़े थे। उस दलका नाम था मिश्रक। मिश्रकोंकी संख्या साठ हजार बतलायी जाती है ॥

कंसरोषमहावेगां ध्वजानूपमहाद्रुमाम् ॥
मत्तद्विपमहाग्राहां वैवस्वतवशानुगाम् ।

(कंसके साथ होनेवाला महान् समर एक भयंकर नदीके समान था।) कंसका रोष ही उस नदीका महान् वेग था। ऊँचे-ऊँचे ध्वज तटवर्ती वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। मतवाले हाथी बड़े-बड़े ग्राहोंके समान थे। वह नदी यमराजकी आज्ञाके अधीन होकर चलती थी ॥

शस्त्रजालमहाफेनां सादिवेगमहाजलाम् ॥
गदापरिघपाठीनां नानाकवचशैवलाम् ।

अस्त्र-शस्त्रोंके समूह उसमें फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। सवारोंका वेग उसमें महान् जलप्रवाह-सा प्रतीत होता था। गदा और परिघ पाठीन नामक मछलियोंके सदृश जान पड़ते थे। नाना प्रकारके कवच सेवारके समान थे ॥

रथनागमहावर्तां नानारुधिरकर्दमाम् ॥
चित्रकार्मुककल्लोलां रथाश्वकलिलह्रदाम् ।

रथ और हाथी उसमें बड़ी-बड़ी भँवरोंका दृश्य उपस्थित करते थे। नाना प्रकारका रक्त ही कीचड़का काम करता था। विचित्र धनुष उठती हुई लहरोंके समान जान पड़ते थे। रथ और अश्वोंका समूह ह्रदके समान था ॥

महामृधनदीं घोरां योधावर्तननिःस्वनाम् ॥
को वा नारायणादन्यः कंसहन्ता युधिष्ठिर ।

योद्धाओंके इधर-उधर दौड़ने या बोलनेसे जो शब्द होता था, वही उस भयानक समर-सरिताका कलकल नाद था। युधिष्ठिर ! भगवान् नारायणके सिवा ऐसे कंसको कौन मार सकता था ? ॥

एष शक्ररथे तिष्ठंस्तान्यनीकानि भारत ॥
व्यधमद् भोजपुत्रस्य महाभ्राणीव मारुतः ।

भारत ! जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रके रथमें बैठकर कंसकी उपर्युक्त सारी सेनाओंका संहार कर डाला ॥

तं सभास्थं सहामात्यं हत्वा कंसं सहान्वयम् ॥
मानयामास मानार्हां देवकीं ससुहृद्गणाम् ।

सभामें विराजमान कंसको मन्त्रियों और परिवारके साथ

मारकर श्रीकृष्णने सुहृदोंसहित सम्माननीय माता देवकीका समादर किया ॥

यशोदां रोहिणीं चैव अभिवाद्य पुनः पुनः ॥
उग्रसेनं च राजानमभिषिच्य जनार्दनः ।
अर्चितो यदुमुख्यैश्च भगवान् वासवानुजः ॥

जनार्दनने यशोदा और रोहिणीको भी बारंबार प्रणाम करके उग्रसेनको राजाके पदपर अभिषिक्त किया। उस समय यदुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषोंने इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिका पूजन किया ॥

ततः पार्थिवमायान्तं सहितं सर्वराजभिः ।
सरस्वत्यां जरासंधमजयत् पुरुषोत्तमः ॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने समस्त राजाओंके सहित आक्रमण करनेवाले राजा जरासंधको सरोवरों या ह्रदोंसे सुशोभित यमुनाके तटपर परास्त किया ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[नरकासुरका सैनिकोंसहित वध, देवता आदिकी सोलह हजार कन्याओंको पत्नीरूपमें स्वीकार करके श्रीकृष्णका उन्हें द्वारका भेजना तथा इन्द्र-लोकमें जाकर अदितिको कुण्डल अर्पण-कर द्वारकापुरीमें वापस आना]

भीष्म उवाच

शूरसेनपुरं त्यक्त्वा सर्वयादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् कृष्णः प्रत्यपद्यत केशवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेन-पुरी मथुराको छोड़कर द्वारकामें चले गये ॥

प्रत्यपद्यत यानानि रत्नानि च बहूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रतिपालयन् ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने असुरोंको पराजित करके जो बहुत-से रत्न और वाहन प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे ॥

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुः वरमत्तान् महासुरान् ॥

उनके इस कार्यमें दैत्य और दानव विघ्न डालने लगे। तब महाबाहु श्रीकृष्णने वरदानसे उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला ॥

स विघ्नमकरोत् तत्र नरको नाम नैर्ऋतः ।
त्रासनः सुरसंघानां विदितो वः प्रभावतः ॥

तत्पश्चात् नरक नामक राक्षसने भगवान्‌के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया। वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला था। राजन् ! तुम्हें तो उसका प्रभाव विदित ही है॥

स भूम्यां मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवासुरान्तकः ।
मानुषाणामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ॥

समस्त देवताओंके लिये अन्तकरूप नरकासुर इस धरतीके भीतर मूर्तिलिङ्गमें[1] स्थित हो मनुष्यों और ऋषियोंके प्रतिकूल आचरण किया करता था ॥

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ॥

---

१. मूर्ति या शिवलिङ्गके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वी-के भीतर गुफामें बनाया गया हो। शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रक्खा था।

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं। उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके पास जाकर उसे पकड़ लिया। कशेरु बड़ी सुन्दरी और चौदह वर्षकी अवस्थावाली थी॥

प्रमथ्य च जहारैतां हृत्वा च नरकोऽब्रवीत्।
नष्टशोकभयाबाधः प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा॥

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था। उसके शोक, भय और बाधाएँ दूर हो गयी थीं। उसने कशेरुको मूर्च्छित करके हर लिया और अपने घर लाकर उससे इस प्रकार कहा॥

नरक उवाच

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु॥
अद्यप्रभृति तद् देवि सहिताः सर्वनैर्ऋताः।
तवैवोपहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः॥

नरकासुर बोला—देवि! देवताओं और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस ला-लाकर तुम्हें ही अर्पित किया करेंगे। दैत्य और दानव भी तुम्हें उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट देंगे॥

भीष्म उवाच

एवमुत्तमरत्नानि बहूनि विविधानि च।
स जहार तदा भौमः स्त्रीरत्नानि च भारत॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके बहुत-से उत्तम रत्नों तथा स्त्री-रत्नोंका भी अपहरण किया॥

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बलात्।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः॥

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी नरकासुर बलपूर्वक हर लाया। देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया॥

चतुर्दशसहस्राणां चैकविंशच्छतानि च।
एकवेणीधराः सर्वाः सतां मार्गमनुव्रताः॥

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं। वे सब-की-सब सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करके व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं॥

तासामन्तःपुरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वते।
औदकायामदीनात्मा मुरस्य विषयं प्रति॥

उत्साहयुक्त मनवाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वत-पर अन्तःपुरका निर्माण कराया। उस स्थानका नाम था औदका (जलकी सुविधासे सम्पन्न भूमि)। वह अन्तःपुर मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें बना था॥

ताश्च प्राग्ज्योतिषो राजा मुरस्य दश चात्मजाः।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते॥

प्राग्ज्योतिषपुरका राजा भौमासुर, मुरके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उस अन्तःपुरकी रक्षा करते हुए सदा उसके समीप ही रहते थे॥

स एव तपसां पारे वरदत्तो महीसुतः।
अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थं युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर! पृथ्वीपुत्र भौमासुर तपस्याके अन्तमें वरदान पाकर इतना गर्वोन्मत्त हो गया था कि इसने कुण्डलके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया॥

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा।
कृतपूर्वं महाघोरं यदकार्षीन्महासुरः॥

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पाप नहीं किया था, जैसा अकेले इस महान् असुर-ने कर डाला था॥

यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम्।
विषयान्तपालाश्चत्वारो यस्यासन् युद्धदुर्मदाः॥

पृथ्वीदेवीने उसे उत्पन्न किया था, प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी तथा चार युद्धोन्मत्त दैत्य उसके राज्य-की सीमाकी रक्षा करनेवाले थे॥

आदेवयानमावृत्य पन्थानं पर्यवस्थिताः।
त्रासनाः सुरसङ्घानां विरूपै राक्षसैः सह॥

वे पृथ्वीसे लेकर देवयानतकके मार्गको रोककर खड़े रहते थे। भयानक रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर वे देव-समुदायको भयभीत किया करते थे॥

हयग्रीवो निशुम्भश्च घोरः पञ्चजनस्तथा।
मुरः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तो महासुरः॥

उन चारों दैत्योंके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निशुम्भ, भयंकर पञ्चजन तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुर, जो वरदान प्राप्त कर चुका था॥

तद्वधार्थं महाबाहुरेष चक्रगदासिधृक्।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वासुदेवो जनार्दनः॥

उसीके वधके लिये चक्र, गदा और खड्ग धारण करने-वाले ये महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वसुदेवजीके पुत्र होनेसे ये जनार्दन 'वासुदेव' कहलाते हैं॥

तस्यास्य पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः।
निवासो द्वारका तात विदितो वः प्रधानतः॥

तात युधिष्ठिर! इनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है। इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका निवासस्थान प्रधानतः द्वारका ही है, यह तुम सब लोग जानते हो॥

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात् ।
अति वै राजते पृथ्व्यां प्रत्यक्षं ते युधिष्ठिर ॥

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावती पुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है। युधिष्ठिर ! भूमण्डलमें द्वारकाकी शोभा सबसे अधिक है। यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख चुके हो ॥

तस्मिन् देवपुरप्रख्ये सा सभा वृष्ण्युपाश्रया ।
या दाशार्हीति विख्याता योजनायतविस्तृता ॥

देवपुरीके समान सुशोभित द्वारका नगरीमें वृष्णिवंशियोंके बैठनेके लिये एक सुन्दर सभा है, जो दाशार्हीके नामसे विख्यात है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक योजनकी है ॥

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः ।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते ॥

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक-वंशके सभी लोग बैठते हैं और सम्पूर्ण लोक-जीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं ॥

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ ।
दिव्यगन्धा ववुर्वाताः कुसुमानां च वृष्टयः ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिनकी बात है; सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे। इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी ॥

ततः सूर्यसहस्राभस्तेजोराशिर्महाद्भुतः ।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें सहस्रों सूर्योंके समान महान् एवं अद्भुत तेजोराशि प्रकट हुई। वह धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी ॥

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डरं गजमास्थितः ।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः प्रत्यदृश्यत ॥

उस तेजोमण्डलके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंसहित दिखायी दिये ॥

रामकृष्णौ च राजा च वृष्ण्यन्धकगणैः सह ।
उत्पत्य सहसा तस्मै नमस्कारमकुर्वत ॥

बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ सहसा उठकर बाहर आये और सबने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया ॥

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम् ।
सस्वजे बलदेवं च राजानं च तमाहुकम् ॥

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया। फिर बलराम तथा राजा उग्रसेनसे भी उसी प्रकार मिले ॥

उद्धवं वसुदेवं च विकद्रुं च महामतिम् ।
प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं ससात्यकिम् ॥

गदं सारणमक्रूरं कृतवर्माणमेव च ।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च अन्यानपि यथोचितम् ॥
परिष्वज्य च दृष्ट्वा च भगवान् भूतभावनः ।

भूतभावन ऐश्वर्यशाली इन्द्रने वसुदेव, उद्धव, महामति विकद्रु, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सात्यकि, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण आदि अन्य यादवोंका भी यथोचित रीतिसे आलिङ्गन करके उन सबकी ओर दृष्टिपात किया ॥

वृष्ण्यन्धकमहामात्रान् परिष्वज्याथ वासवः ॥
प्रगृह्य पूजां तैर्दत्तामुवाचावनताननः ।

इस प्रकार उन्होंने वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान व्यक्तियोंको हृदयसे लगाकर उनकी दी हुई पूजा ग्रहण की तथा मुखको नीचेकी ओर झुकाकर वे इस प्रकार बोले ॥

इन्द्र उवाच

अदित्या चोदितः कृष्ण तव मात्राहमागतः ॥
कुण्डलेऽपहृते तात भौमेन नरकेण च ।

इन्द्रने कहा—भैया कृष्ण ! तुम्हारी माता अदितिकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ। तात ! भूमिपुत्र नरकासुरने उनके कुण्डल छीन लिये हैं ॥

निदेशशब्दवाच्यस्त्वं लोकेऽस्मिन् मधुसूदन ॥
तस्माज्जहि महाभाग भूमिपुत्रं नरेश्वर ।

मधुसूदन ! इस लोकमें माताका आदेश सुननेके पात्र केवल तुम्हीं हो। अतः महाभाग नरेश्वर ! तुम भौमासुरको मार डालो ॥

भीष्म उवाच

तमुवाच महाबाहुः प्रीयमाणो जनार्दनः ।
निर्जित्य नरकं भौममाहरिष्यामि कुण्डले ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब महाबाहु जनार्दन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'देवराज ! मैं भूमिपुत्र नरका-सुरको पराजित करके माताजीके कुण्डल अवश्य ला दूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु गोविन्दो राममेवाभ्यभाषत ।
प्रद्युम्नमनिरुद्धं च साम्बं चाप्रतिमं बले ॥
एतांश्चोक्त्वा तदा तत्र वासुदेवो महायशाः ।
अथारुह्य सुपर्णं वै शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥
ययौ तदा हृषीकेशो देवानां हितकाम्यया ।

ऐसा कहकर भगवान् गोविन्दने बलरामजीसे बातचीत की। तत्पश्चात् प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अनुपम बलवान् साम्बसे भी इसके विषयमें वार्तालाप करके महायशस्वी इन्द्रियाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग

धारणकर गरुड़पर आरुढ़ हो देवताओंका हित करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥

तं प्रयान्तममित्रघ्नं देवाः सहपुरन्दराः ॥
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः स्तुवन्तो विष्णुमच्युतम् ।

शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णको प्रस्थान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े प्रसन्न हुए और अच्युत भगवान् कृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हींके पीछे-पीछे चले ॥

सोऽग्रयान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महासुरान् ॥
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट् सहस्रं ददर्श सः ।

भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके उन मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मारकर मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाशोंको देखा; जिनके किनारोंके भागोंमें छुरे लगे हुए थे ॥

संच्छिद्य पाशांस्त्वस्त्रेण मुरं हत्वा सहान्वयम् ॥
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भमवपोथयत् ।

भगवान्ने अपने अस्त्र (चक्र) से मुर दैत्यके पाशोंको काटकर मुरनामक असुरको उसके वंशजोंसहित मार डाला और शिलाओंके समूहोंको लाँघकर निशुम्भको भी मार गिराया ॥

यः सहस्रसमस्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ॥
तं जघान महावीर्यं हयग्रीवं महाबलम् ।

तत्पश्चात् जो अकेला ही सहस्रों योद्धाओंके समान था, और सम्पूर्ण देवताओंके साथ अकेला ही युद्ध कर सकता था, उस महाबली एवं महापराक्रमी हयग्रीवको भी मार दिया ॥

अपारतेजा दुर्धर्षः सर्वयादवनन्दनः ॥
मध्ये लोहितगङ्गायां भगवान् देवकीसुतः ।
औदकायां विरूपाक्षं जघान भरतर्षभ ॥
पञ्च पञ्चजनान् घोरान् नरकस्य महासुरान् ।

भरतश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर भगवान् देवकीनन्दनने औदकाके अन्तर्गत लोहितगङ्गाके बीच विरूपाक्षको तथा 'पञ्चजन' नामसे प्रसिद्ध नरकासुरके पाँच भयंकर राक्षसोंको भी मार गिराया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ॥
पुरमासादयामास तत्र युद्धमवर्तत ।

फिर भगवान् अपनी शोभासे उद्दीप्त-से दिखायी देनेवाले प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे । वहाँ उनका दानवोंसे फिर युद्ध छिड़ गया ॥

महद् दैवासुरं युद्धं यद् वृत्तं भरतर्षभ ॥
युद्धं न स्यात् समं तेन लोकविस्मयकारकम् ।

भरतकुलभूषण ! वह युद्ध महान् देवासुर-संग्रामके रूपमें परिणत हो गया । उसके समान लोकविस्मयकारी युद्ध दूसरा कोई नहीं हो सकता ॥

चक्रलाञ्छनसंछिन्नाः शक्तिखड्गहतास्तदा ॥
निपेतुर्दानवास्तत्र समासाद्य जनार्दनम् ।

चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णसे भिड़कर सभी दानव वहाँ चक्रसे छिन्न-भिन्न एवं शक्ति तथा खड्गसे आहत होकर धराशायी हो गये ॥

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतप ।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः पातालविवरं ययौ ॥
त्रासनं सुरसङ्घानां नरकं पुरुषोत्तमः ।
योधयत्यतितेजस्वी मधुवन्मधुसूदनः ॥

परंतप युधिष्ठिर ! इस प्रकार आठ लाख दानवोंका संहार करके पुरुषसिंह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पातालगुफामें गये । जहाँ देवसमुदायको आतंकित करनेवाला नरकासुर रहता था । अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मधुसूदनने मधुकी भाँति पराक्रमी नरकासुरसे युद्ध प्रारम्भ किया ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तेन भौमेन भारत ।
कुण्डलार्थे सुरेशस्य नरकेण महात्मना ॥

भारत ! देवमाता अदितिके कुण्डलोंके लिये भूमिपुत्र महाकाय नरकासुरके साथ छिड़ा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर था।

मुहूर्तं लालयित्वाथ नरकं मधुसूदनः ।
प्रवृत्तचक्रं चक्रेण प्रममाथ बलाद् बली ॥

बलवान् मधुसूदनने चक्र हाथमें लिये हुए नरकासुरके साथ दो घड़ीतक खिलवाड़ करके बलपूर्वक चक्रसे उसके मस्तकको काट डाला ॥

चक्रप्रमथितं तस्य पपात सहसा भुवि ।
उत्तमाङ्गं हताङ्गस्य वृत्रे वज्रहते यथा ॥

चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर घायल हुए शरीरवाले नरका-

सुरका मस्तक वज्रके मारे हुए वृत्रासुरके सिरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

भूमिस्तु पतितं दृष्ट्वा ते वै प्रादाच्च कुण्डले।
प्रदाय च महाबाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥

भूमिने अपने पुत्रको रणभूमिमें गिरा देख अदितिके दोनों कुण्डल लौटा दिये और महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥

भूमिरुवाच

सृष्टस्त्वयैव मधुहंस्त्वयैव निहतः प्रभो।
यथेच्छसि तथा क्रीडन् प्रजास्तस्यानुपालय ॥

भूमि बोली—प्रभो मधुसूदन ! आपने ही इसे जन्म दिया था और आपने ही इसे मारा है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही लीला करते हुए नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां च मुनीनां च पितॄणां च महात्मनाम्।
उद्वेजनीयो भूतानां ब्रह्मद्विट् पुरुषाधमः ॥
लोकद्विष्टः सुतस्ते तु देवारिर्लोककण्टकः।

श्रीभगवान्‌ने कहा—भामिनी ! तुम्हारा यह पुत्र देवताओं, मुनियों, पितरों, महात्माओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके उद्वेगका पात्र हो रहा था। यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला, देवताओंका शत्रु तथा सम्पूर्ण विश्वका कण्टक था, इसलिये सब लोग इससे द्वेष रखते थे ॥

सर्वलोकनमस्कार्यामदितिं बाधते बली ॥
कुण्डले दर्पसम्पूर्णस्ततोऽसौ निहतोऽसुरः।

इस बलवान् असुरने बलके घमंडमें आकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय देवमाता अदितिको भी कष्ट पहुँचाया और उनके कुण्डल ले लिये। इन्हीं सब कारणोंसे यह मारा गया है॥

नैव मन्युस्त्वया कार्यो यत् कृतं मयि भामिनि ॥
मत्प्रभावाच्च ते पुत्रो लब्धवान् गतिमुत्तमाम्।
तस्माद् गच्छ महाभागे भारावतरणं कृतम् ॥

भामिनि ! मैंने इस समय जो कुछ किया है, उसके लिये तुम्हें मुझपर क्षोभ नहीं करना चाहिये। महाभागे ! तुम्हारे पुत्रने मेरे प्रभावसे अत्यन्त उत्तम गति प्राप्त की है; इसलिये जाओ, मैंने तुम्हारा भार उतार दिया है ॥

भीष्म उवाच

निहत्य नरकं भौमं सत्यभामासहायवान्।
सहितो लोकपालैश्च ददर्श नरकालयम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर सत्यभामा सहित भगवान् श्रीकृष्णने लोकपालोंके साथ जाकर नरकासुरके घरको देखा ॥

अथास्य गृहमासाद्य नरकस्य यशस्विनः।
ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ॥

यशस्वी नरकके घरमें जाकर उन्होंने नाना प्रकारके रत्न और अक्षय धन देखा ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि वैडूर्यविकृतानि च।
अश्मसारानर्कमणीन् विमलान् स्फाटिकानपि ॥

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वस्तुएँ, पुखराज, सूर्यकान्त मणि और निर्मल स्फटिक मणिकी वस्तुएँ भी वहाँ देखनेमें आयीं ॥

जाम्बूनदमयान्येव शातकुम्भमयानि च।
प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिप्रभाणि च ॥

जाम्बूनद तथा शातकुम्भसंज्ञक सुवर्णकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥

हिरण्यवर्णं रुचिरं श्वेतमभ्यन्तरं गृहम्।
यदक्षयं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ॥
न हि राज्ञः कुबेरस्य तावद् धनसमुच्छ्रयः।
दृष्टपूर्वः पुरा साक्षान्महेन्द्रसदनेष्वपि ॥

नरकासुरका भीतरी भवन सुवर्णके समान सुन्दर, कान्तिमान् एवं उज्ज्वल था। उसके घरमें जो असंख्य एवं अक्षय धन दिखायी दिया, उतनी धनराशि राजा कुबेरके घरमें भी नहीं है। देवराज इन्द्रके भवनमें भी पहले कभी उतना वैभव नहीं देखा गया था ॥

इन्द्र उवाच

इमानि मणिरत्नानि विविधानि वसूनि च ॥
हेमसूत्रा महाकक्ष्यास्तोमरैर्वीर्यशालिनः।

भूमिका भगवान्‌को अदितिके कुण्डल देना

भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ॥
विमलाभिः पताकाभिर्वासांसि विविधानि च ।
ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः ॥

इन्द्र बोले—जनार्दन ! ये जो नाना प्रकारके माणिक्य, रत्न, धन तथा सोनेकी जालियोंसे सुशोभित बड़े-बड़े हौदोंवाले, तोमरसहित पराक्रमशाली बड़े भारी गजराज एवं उनपर बिछानेके लिये मूँगेसे विभूषित कम्बल, निर्मल पताकाओंसे युक्त नाना प्रकारके वस्त्र आदि हैं, इन सबपर आपका अधिकार है । इन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है तथा इससे दूनी हथिनियाँ हैं ।

अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ।
गोभिश्चाविकृतैर्यानैः कामं तव जनार्दन ॥

जनार्दन ! यहाँ आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं और बैल जुते हुए नये-नये वाहन हैं । इनमेंसे जिनकी आपको आवश्यकता हो, वे सब आपके यहाँ जा सकते हैं ॥

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च ।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ॥
चन्दनागुरुमिश्राणि यानानि विविधानि च ।
एतत् ते प्रापयिष्यामि वृष्ण्यावासमरिंदम ॥

शत्रुदमन ! ये महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुमिश्रित नाना प्रकारके रथ—ये सब वस्तुएँ मैं आपके लिये वृष्णियोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा दूँगा ॥

भीष्म उवाच

देवगन्धर्वरत्नानि दैतेयासुरजानि च ।
यानि सन्तीह रत्नानि नरकस्य निवेशने ॥
एतत् तु गरुडे सर्वं क्षिप्रमारोप्य वासवः ।
दाशार्हपतिना सार्धमुपायान्मणिपर्वतम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवता, गन्धर्व, दैत्य और असुरसम्बन्धी जितने भी रत्न नरकासुरके घरमें उपलब्ध हुए, उन्हें शीघ्र ही गरुड़पर रखकर देवराज इन्द्र दाशार्हवंशके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ मणिपर्वतपर गये ॥

तत्र पुण्या ववुर्वाताः प्रभाश्चित्राः समुज्ज्वलाः ।
प्रेक्षतां सुरसङ्घानां विस्मयः समपद्यत ॥

वहाँ बड़ी पवित्र हवा बह रही थी तथा विचित्र एवं उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली हुई थी । यह सब देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

त्रिदशा ऋषयश्चैव चन्द्रादित्यौ यथा दिवि ।
प्रभया तस्य शैलस्य निर्विशेषमिवाभवत् ॥

आकाशमण्डलमें प्रकाशित होनेवाले देवता, ऋषि, चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वहाँ आये हुए देवगण उस पर्वतकी प्रभासे तिरस्कृत हो साधारण-से प्रतीत हो रहे थे ॥

अनुज्ञातस्तु रामेण वासवेन च केशवः ।
प्रीयमाणो महाबाहुर्विवेश मणिपर्वतम् ॥

तदनन्तर बलरामजी तथा देवराज इन्द्रकी आज्ञासे महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके मणिपर्वतपर बने हुए अन्तःपुरमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया ॥

तत्र वैडूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः ।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ॥

मधुसूदनने देखा, उस अन्तःपुरके द्वार और गृह वैदूर्यमणिके समान प्रकाशित हो रहे हैं । उनके फाटकोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं ॥

चित्रग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः ।
हेमचित्रपताकैश्च प्रासादैरुपशोभितः ॥

सुवर्णमय विचित्र पताकाओंवाले महलोंसे सुशोभित वह मणिपर्वत चित्रलिखित मेघोंके समान प्रतीत होता था ॥

हर्म्याणि च विशालानि मणिसोपानवन्ति च ।
तत्रस्था वरवर्णाभा ददृशुर्मधुसूदनम् ॥
गन्धर्वासुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तदा ।
त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तमपराजितम् ॥

उन महलोंमें विशाल अट्टालिकाएँ बनी थीं, जिनपर चढ़नेके लिये मणिनिर्मित सीढ़ियाँ सुशोभित हो रही थीं । वहाँ रहनेवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और असुरोंकी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंने उस स्वर्गके समान प्रदेशमें खड़े हुए अपराजित वीर भगवान् मधुसूदनको देखा ॥

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ॥

देखते-देखते ही उन सबने महाबाहु श्रीकृष्णको घेर लिया । वे सभी स्त्रियाँ एक वेणी धारण किये गेरुए वस्त्र पहिने इन्द्रियसंयमपूर्वक वहाँ तपस्या करती थीं ॥

व्रतसंतापजः शोको नात्र काश्चिदपीडयत् ।
अरजांसि च वासांसि बिभ्रत्यः कौशिकान्यपि ॥
समेत्य यदुसिंहस्य चक्रुरस्याञ्जलिं स्त्रियः ।
ऊचुश्चैनं हृषीकेशं सर्वास्ताः कमलेक्षणाः ॥

उस समय व्रत और संतापजनित शोक उनमेंसे किसीको पीड़ा नहीं दे सका । वे निर्मल रेशमी वस्त्र पहने हुए यदुवीर श्रीकृष्णके पास जा उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं । उन कमलनयनी कामिनियोंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी श्रीहरिसे इस प्रकार कहा ॥

कन्यका ऊचुः

नारदेन समाख्यातमस्माकं पुरुषोत्तम ।
आगमिष्यति गोविन्दः सुरकार्यार्थसिद्धये ॥

कन्याएँ बोलीं—पुरुषोत्तम ! देवर्षि नारदने हमसे कह रक्खा था कि 'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भगवान् गोविन्द यहाँ पधारेंगे ॥

सोऽसुरं नरकं हत्वा निशुम्भं मुरमेव च ।
भौमं च सपरीवारं हयग्रीवं च दानवम् ॥
तथा पञ्चजनं चैव प्राप्स्यते धनमक्षयम् ।

'एवं वे सपरिवार नरकासुर, निशुम्भ, मुर, दानव हयग्रीव तथा पञ्चजनको मारकर अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥

सोऽचिरेणैव कालेन युष्मन्मोक्ता भविष्यति ॥
एवमुक्त्वागमद् धीमान् देवर्षिर्नारदस्तथा ।

'थोड़े ही दिनोंमें भगवान् यहाँ पधारकर तुम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करेंगे ।' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद यहाँसे चले गये ॥

त्वां चिन्तयानाः सततं तपो घोरमुपास्महे ॥
कालेऽतीते महाबाहुं कदा द्रक्ष्याम माधवम् ।

हम सदा आपका ही चिन्तन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं । हमारे मनमें यह संकल्प उठता रहता था कि कितना समय बीतनेपर हमें महाबाहु माधवका दर्शन प्राप्त होगा ॥

इत्येवं हृदि संकल्पं कृत्वा पुरुषसत्तम ॥
तपश्चराम सततं रक्ष्यमाणा हि दानवैः ।

पुरुषोत्तम ! यही संकल्प लेकर दानवोंद्वारा सुरक्षित हो हम सदा तपस्या करती आ रही हैं ॥

गान्धर्वेण विवाहेन विवाहं कुरु नः प्रियम् ॥
ततोऽस्मत्प्रियकामार्थं भगवान् मारुतोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं नारदेनाद्य न चिरात् तद् भविष्यति ॥

भगवन् ! आप गान्धर्व विवाहकी रीतिसे हमारे साथ विवाह करके हमारा प्रिय करें । हमारे पूर्वोक्त मनोरथको जानकर भगवान् वायुदेवने भी हम सबके प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये कहा था कि 'देवर्षि नारदजीने जो कहा है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगा' ॥

भीष्म उवाच

तासां परमनारीणामृषभाक्षं पुरस्कृतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा गृष्टीनामिव गोपतिम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओं तथा गन्धर्वोंने देखा, वृषभकेसमान विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण उन परम सुन्दरी नारियोंके समक्ष वैसे ही खड़े थे, जैसे नयी गायोंके आगे साँड़ हो ॥

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रमुदीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः ।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन् ॥

भगवान्‌के मुखचन्द्रको देखकर उन सबकी इन्द्रियाँ उल्लसित हो उठीं और वे हर्षमें भरकर महाबाहु श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार बोलीं ॥

कन्यका ऊचुः

सत्यं बत पुरा वायुरिदमस्मानिहाब्रवीत् ।
सर्वभूतकृतज्ञश्च महर्षिरपि नारदः ॥

कन्याओंने कहा—बड़े हर्षकी बात है कि पूर्वकालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति कृतज्ञता रखनेवाले महर्षि नारदजीने जो बात कही थी, वह सत्य हो गयी ।

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता वो भविता ह्यतः ॥

उन्होंने कहा था कि 'शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले सर्वव्यापी नारायण भगवान् विष्णु भूमिपुत्र नरकको मारकर तुमलोगोंके पति होंगे' ॥

दिष्ट्या तस्यर्षिमुख्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
वचनं दर्शनादेव सत्यं भवितुमर्हति ॥

ऋषियोंमें प्रधान महात्मा नारदका वह वचन आज आपके दर्शनमात्रसे सत्य होने जा रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥

यत् प्रियं बत पश्याम वक्त्रं चन्द्रोपमं तु ते ।
दर्शनेन कृतार्थाः स्मो वयमद्य महात्मनः ॥

तभी तो आज हम आपके परम प्रिय चन्द्रतुल्य मुखका दर्शन कर रही हैं । आप परमात्माके दर्शनमात्रसे ही हम कृतार्थ हो गयीं ॥

भीष्म उवाच

उवाच स यदुश्रेष्ठः सर्वास्ता जातमन्मथाः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भगवान्‌के प्रति

उन सबके हृदयमें कामभावका संचार हो गया था। उस समय यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूत विशालाक्ष्यस्तत् सर्वं वो भविष्यति ॥

श्रीभगवान् बोले—विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियो! जैसा तुम कहती हो, उसके अनुसार तुम्हारी सारी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी ॥

भीष्म उवाच

तानि सर्वाणि रत्नानि गमयित्वाथ किङ्करैः ।
स्त्रियश्च गमयित्वाथ देवतानृपकन्यकाः ॥
वैनतेयभुजे कृष्णो मणिपर्वतमुत्तमम् ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे भगवान् देवकीसुतः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सेवकोंद्वारा उन सब रत्नोंको तथा देवताओं एवं राजाओं आदिकी कन्याओंको द्वारका भेजकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस उत्तम मणिपर्वतको शीघ्र ही गरुड़की बाँह (पंख या पीठ) पर चढ़ा दिया ॥

सपक्षिगणमातङ्गं सव्यालमृगपन्नगम् ।
शाखामृगगणैर्जुष्टं सप्रस्तरशिलातलम् ॥
न्यङ्कुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
सप्रपातमहासानुं विचित्रशिखिसंकुलम् ॥
तं महेन्द्रानुजः शौरिश्चकार गरुडोपरि ।
पश्यतां सर्वभूतानामुत्पाट्य मणिपर्वतम् ॥

केवल पर्वत ही नहीं, उसपर रहनेवाले जो पक्षियोंके समुदाय, हाथी, सर्प, मृग, नाग, वंदर, पत्थर, शिला, न्यङ्कु, वराह, रुरुमृग, झरने, बड़े-बड़े शिखर तथा विचित्र मोर आदि थे, उन सबके साथ मणिपर्वतको उखाड़कर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने सब प्राणियोंके देखते-देखते गरुड़पर रख लिया ॥

उपेन्द्रं बलदेवं च वासवं च महाबलम् ।
तं च रत्नौघमतुलं पर्वतं च महाबलः ॥
वरुणस्यामृतं दिव्यं छत्रं चन्द्रोपमं शुभम् ॥
स्वपक्षबलविक्षेपैर्महाद्रिशिखरोपमः ॥
दिक्षु सर्वासु संरावं स चक्रे गरुडो वहन् ॥

महाबली गरुड़ श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाबलवान् इन्द्रको, उस अनुपम रत्नराशि तथा पर्वतको, वरुणदेवताके दिव्य अमृत तथा चन्द्रतुल्य उज्ज्वल शुभकारक छत्रको वहन करते हुए चल दिये। उनका शरीर विशाल पर्वत-शिखरके समान था। वे अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-हिलाकर सब दिशाओंमें भारी शोर मचाते जा रहे थे ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ॥
संजहार महाभ्राणि वैश्वानरपथं गतः ।

उड़ते समय गरुड़ पर्वतोंके शिखर तोड़ डालते थे, पेड़ोंको उखाड़ फेंकते थे और ज्योतिष्पथ (आकाश) में चलते समय बड़े-बड़े बादलोंको अपने साथ उड़ा ले जाते थे ॥

ग्रहनक्षत्रताराणां सप्तर्षीणां स्वतेजसा ॥
प्रभाजालमतिक्रम्य चन्द्रसूर्यपथं ययौ ।

वे अपने तेजसे ग्रह, नक्षत्र, तारों और सप्तर्षियोंके प्रकाशपुञ्जको तिरस्कृत करते हुए चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे ॥

मेरोः शिखरमासाद्य मध्यमं मधुसूदनः ॥
देवस्थानानि सर्वाणि ददर्श भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मधुसूदनने मेरुपर्वतके मध्यम शिखरपर पहुँचकर समस्त देवताओंके निवासस्थानोंका दर्शन किया ॥

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च युधिष्ठिर ॥
भ्राजमानान्यतिक्रम्य अश्विनोश्च परंतप ।
प्राप्य पुण्यतमं स्थानं देवलोकमरिंदमः ॥

युधिष्ठिर! उन्होंने विश्वदेवों, मरुद्गणों और साध्योंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघकर अश्विनीकुमारोंके पुण्यतम लोकमें पदार्पण किया। परंतप! तत्पश्चात् शत्रुहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण देवलोकमें जा पहुँचे ॥

शक्रसद्म समासाद्य चावरुह्य जनार्दनः ।
सोऽभिवाद्यादितेः पादावर्चितः सर्वदैवतैः ॥
ब्रह्मदक्षपुरोगैश्च प्रजापतिभिरेव च ।

इन्द्रभवनके निकट आकर भगवान् जनार्दन गरुड़परसे उतर पड़े। वहाँ उन्होंने देवमाता अदितिके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा और दक्ष आदि प्रजापतियोंने तथा सम्पूर्ण देवताओंने उनका भी स्वागत-सत्कार किया ॥

अदितेः कुण्डले दिव्ये ददावथ तदा विभुः ॥
रत्नानि च परार्ध्याणि रामेण सह केशवः ।

उस समय बलरामसहित भगवान् केशवने माता अदितिको दोनों दिव्य कुण्डल और बहुमूल्य रत्न भेंट किये ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमदितिर्वासवानुजम् ॥
पूजयामास दाशार्हं रामं च विगतज्वरा ।

वह सब ग्रहण करके माता अदितिका मानसिक दुःख दूर हो गया और उन्होंने इन्द्रके छोटे भाई यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और बलरामका बहुत आदर-सत्कार किया ॥

शची महेन्द्रमहिषी कृष्णस्य महिषीं तदा ॥
सत्यभामां तु संगृह्य अदित्यै वै न्यवेदयत् ।

इन्द्रकी महारानी शचीने उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी

पटरानी सत्यभामाका हाथ पकड़कर उन्हें माता अदितिकी सेवामें पहुँचाया ॥

सा तस्याः सत्यभामायाः कृष्णप्रियचिकीर्षया ॥
वरं प्रादाद् देवमाता सत्यायै विगतज्वरा ।

देवमाताकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी । उन्होंने श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सत्यभामाको उत्तम वर प्रदान किया ॥

अदितिरुवाच

जरां न यास्यसि वधूर्यावद् वै कृष्णमानुषम् ॥
सर्वगन्धगुणोपेता भविष्यसि वरानने ।

अदिति बोलीं—सुन्दर मुखवाली बहू ! जबतक श्रीकृष्ण मानवशरीरमें रहेंगे, तबतक तू वृद्धावस्थाको प्राप्त न होगी और सब प्रकारकी दिव्य सुगन्ध एवं उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती रहेगी ॥

भीष्म उवाच

विहृत्य सत्यभामा वै सह शच्या सुमध्यमा ॥
शच्यापि समनुज्ञाता ययौ कृष्णनिवेशनम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुन्दरी सत्यभामा शचीदेवीके साथ घूम-फिरकर उनकी आज्ञा ले भगवान् श्रीकृष्णके विश्रामगृहमें चली गयीं ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैर्महर्षिगणसेवितः ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णो देवलोकादरिंदमः ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महर्षियोंसे सेवित और देवताओंद्वारा पूजित होकर देवलोकसे द्वारकाको चले गये ॥

सोऽतिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमच्युतः ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद पुरोत्तमम् ॥

महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण लंबा मार्ग तय करके उत्तम द्वारका नगरीमें, जिसके प्रधान द्वारका नाम वर्धमान था, जा पहुँचे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[द्वारकापुरी एवं रुक्मिणी आदि रानियोंके महलोंका वर्णन, श्रीबलराम और श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रवेश]

भीष्म उवाच

तां पुरीं द्वारकां दृष्ट्वा विभुर्नारायणो हरिः ।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नां प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सर्वव्यापी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने सब प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंसे भरी-पूरी द्वारकापुरीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसमें प्रवेश करनेकी तैयारी की ॥

सोऽपश्यद् वृक्षषण्डांश्च रम्यानारामजान् बहून् ।
समन्ततो द्वारवत्यां नानापुष्पफलान्वितान् ॥

उन्होंने देखा, द्वारकापुरीके सब ओर बगीचोंमें बहुतसे रमणीय वृक्षसमूह शोभा पा रहे हैं, जिनमें नाना प्रकारके फल और फूल लगे हुए हैं ॥

अर्कचन्द्रप्रतीकाशैर्मेरुकूटनिभैर्गृहैः ।
द्वारका रचिता रम्यैः सुकृता विश्वकर्मणा ॥

वहाँके रमणीय राजसदन सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति गगनचुम्बी थे । उन भवनोंसे विभूषित द्वारकापुरीकी रचना साक्षात् विश्वकर्माने की थी ॥

पद्मषण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ॥

उस पुरीके चारों ओर बनी हुई चौड़ी खाइयाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । उनमें कमलके फूल खिले हुए थे । हंस आदि पक्षी उनके जलका सेवन करते थे । वे देखनेमें गङ्गा और सिन्धुके समान जान पड़ती थीं ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली ऊँची गगनचुम्बिनी श्वेत चहारदीवारीसे सुशोभित द्वारकापुरी सफेद बादलोंसे घिरी हुई देवपुरी (अमरावती) के समान जान पड़ती थी ॥

नन्दनप्रतिमैश्चापि मिश्रकप्रतिमैर्वनैः ।
भाति चैत्ररथं दिव्यं पितामहवनं यथा ॥
वैभ्राजप्रतिमैश्चैव सर्वर्तुकुसुमोत्कटैः ।
भाति तारापरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बरे ॥

नन्दन और मिश्रके जैसे वन उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे । वहाँका दिव्य चैत्ररथ वन ब्रह्माजीके अलौकिक उद्यानकी भाँति शोभित था । सभी ऋतुओंके फूलोंसे भरे हुए वैभ्राज नामक वनके सदृश मनोहर उपवनोंसे घिरी हुई द्वारकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त स्वर्गपुरी शोभा पा रही हो ॥

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ॥
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारकायां विभूषणम् ॥

रमणीय द्वारकापुरीकी पूर्वदिशामें महाकाय रैवतक पर्वत, जो उस पुरीका आभूषणरूप था, सुशोभित हो रहा था । उसके शिखर बड़े मनोहर थे ॥

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ॥
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ।
उत्तरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते ॥
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डरः पाण्डवर्षभ ।

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था। पश्चिमदिशामें सुकक्ष नामक रजत-पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे सुशोभित महान् वन शोभा पा रहा था। पाण्डवश्रेष्ठ ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें मन्दराचलके सदृश श्वेत वर्णवाला वेणुमन्त पर्वत शोभायमान था॥

चित्रकम्बलवर्णाभं पाञ्चजन्यवनं तथा॥
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति।

रैवतक पर्वतके पास चित्रकम्बलके-से वर्णवाले पाञ्चजन्य-वन तथा सर्वर्तुकवनकी भी बड़ी शोभा होती थी॥

लतावेष्टं समन्तात् तु मेरुप्रभवनं महत्॥
भाति तालवनं चैव पुष्पकं पुण्डरीकवत्।

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, तालवन तथा कमलोंसे सुशोभित पुष्पकवन शोभा पा रहे हैं॥

सुकक्षं परिवार्यैनं चित्रपुष्पं महावनम्॥
शतपत्रवनं चैव करवीरकुसुम्भि च।

सुकक्ष पर्वतको चारों ओरसे घेरकर चित्रपुष्प नामक महावन, शतपत्रवन, करवीरवन और कुसुम्भिवन सुशोभित होते हैं॥

भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च महावनम्॥
रमणं भावनं चैव वेणुमन्तं समन्ततः।

वेणुमन्त पर्वतके सब ओर चैत्ररथ, नन्दन, रमण और भावन नामक महान् वन शोभा पाते हैं॥

भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत॥
धनुःशतपरीणाहा केशवस्य महात्मनः॥

भारत ! महात्मा केशवकी उस पुरीमें पूर्वदिशाकी ओर एक रमणीय पुष्करिणी शोभा पाती है, जिसका विस्तार सौ धनुष है॥

महापुरीं द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्मुखैर्युताम्।
प्रविष्टो द्वारकां रम्यां भासयन्तीं समन्ततः॥

पचास दरवाजोंसे सुशोभित और सब ओरसे प्रकाशमान उस सुरम्य महापुरी द्वारकामें श्रीकृष्णने प्रवेश किया॥

अप्रमेयां महोत्सेधां महागाधपरिप्लवाम्।
प्रासादवरसम्पन्नां श्वेतप्रासादशालिनीम्॥

वह कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था। उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी। वह पुरी चारों ओर अत्यन्त अगाध जलराशिसे घिरी हुई थी, सुन्दर-सुन्दर महलोंसे भरी हुई द्वारका श्वेत अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी॥

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैः समन्विताम्।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम्॥

तीखे यन्त्र, शतघ्नी, विभिन्न यन्त्रोंके समुदाय और लोहेके बने हुए बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित द्वारकापुरीको भगवान्ने देखा॥

अष्टौ रथसहस्राणि प्राकारे किङ्किणीकिनः।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा॥

देवपुरीकी भाँति उसकी चहारदीवारीके निकट क्षुद्र-घण्टिकाओंसे सुशोभित आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें पताकाएँ फहराती रहती थीं॥

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम्॥

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन है एवं लम्बाई बारह योजन है अर्थात् वह कुल ९६ योजन विस्तृत है। उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् १९२ योजन विस्तृत है। वह पुरी सब प्रकारसे अविचल है। श्रीकृष्णने उस पुरीको देखा॥

अष्टमार्गां महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम्।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम्॥

उसमें जानेके लिये आठ मार्ग हैं, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ हैं और सोलह बड़े-बड़े चौराहे हैं। इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी है॥

व्यूहानामन्तरा मार्गाः सप्त चैव महापथाः।
तत्र सा विहिता साक्षान्नगरी विश्वकर्मणा॥

व्यूहोंके बीच-बीचमें मार्ग बने हैं, सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। साक्षात् विश्वकर्माने इस द्वारकानगरीका निर्माण किया है॥

काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेता जनहर्षिणी।
गीतघोषमहाघोषैः प्रासादप्रवरैः शुभा॥

सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे सुशोभित यह नगरी जन-जनको हर्ष प्रदान करनेवाली है। यहाँ गीतके मधुर स्वर तथा अन्य प्रकारके घोष गूँजते रहते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंके कारण वह पुरी परम सुन्दर प्रतीत होती है॥

तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम्।
वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा भगवान् पाकशासनः॥

नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकामें यशस्वी दशार्हवंशियोंके महल देखकर भगवान् पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लवनिभानि च।
काञ्चनाभानि भास्वन्ति मेरुकूटनिभानि च॥

उन महलोंके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वे मनोहर भवन मेघोंके समान जान पड़ते थे और सुवर्णमय होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान थे। वे मेरुपर्वतके उत्तुङ्ग शिखरोंके समान आकाशको चूम रहे थे।

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिच्छदैः ।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितैः ॥

उन गृहोंके शिखर चूनेसे लिपे-पुते और सफेद थे। उनकी छतें सुवर्णकी बनी हुई थीं। वहाँके शिखर, गुफा और शृङ्ग—सभी रत्नमय थे। उस पुरीके भवन सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे ॥

सहर्म्यैः सार्धचन्द्रैश्च सनिर्यूहैः सपञ्जरैः ।
सयन्त्रगृहसम्बाधैः सधातुभिरिवाद्रिभिः ॥

(भगवान्ने देखा) वहाँ बड़े-बड़े महल, अटारी तथा छज्जे हैं और उन छज्जोंमें लटकते हुए पक्षियोंके पिंजड़े शोभा पाते हैं। कितने ही यन्त्रगृह वहाँके महलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण द्वारकाके भवन विविध धातुओंसे विभूषित पर्वतोंके समान शोभा धारण करते हैं ॥

मणिकाञ्चनभौमैश्च सुधामृष्टतलैस्तथा ।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यविकृतार्गलैः ॥

कुछ गृह तो मणिके बने हैं, कुछ सुवर्णसे तैयार किये गये हैं और कुछ पार्थिव पदार्थों (ईंट, पत्थर आदि) द्वारा निर्मित हुए हैं। उन सबके निम्नभाग चूनेसे स्वच्छ किये गये हैं। उनके दरवाजे (चौखट-किंवाड़े) जाम्बूनद सुवर्णके बने हैं और अर्गलाएँ (सिटकनियाँ) वैदूर्यमणिसे तैयार की गयी हैं ॥

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शैर्महाधनपरिच्छदैः ।
रम्यसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ॥

उन गृहोंका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला है। वे सभी बहुमूल्य सामानोंसे भरे हैं। उनकी समतल भूमि, गुफा और शिखर सभी अत्यन्त मनोहर हैं। इससे उन भवनोंकी शोभा विचित्र पर्वतोंके समान जान पड़ती है ॥

पञ्चवर्णसुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
तुल्यपर्जन्यनिर्घोषैर्नानावर्णैरिवाम्बुदैः ॥

उन गृहोंमें पाँच रंगोंके सुवर्ण मढ़े गये हैं। उनसे जो बहुरङ्गी आभा फैलती है, वह फुलझड़ी-सी जान पड़ती है। उन गृहोंसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द होते रहते हैं। वे देखनेमें अनेक वर्णोंके बादलोंके समान जान पड़ते हैं ॥

महेन्द्रशिखरप्रख्यैर्विहितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए वे (ऊँचे और विशाल) भवन महेन्द्र पर्वतके शिखरोंकी शोभा धारण करते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो ये आकाशमें रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर है ॥

तैर्दाशार्हमहाभागैर्बभासे भवनह्रदैः ।
चण्डनागाकुलैर्घोरैर्ह्रदैर्भोगवती यथा ॥

जैसे भोगवती गङ्गा प्रचण्ड नागगणोंसे भरे हुए भयंकर कुण्डोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी दशार्ह-कुलके महान् सौभाग्यशाली पुरुषोंसे भरे हुए उपर्युक्त भवन-रूपी ह्रदोंके द्वारा शोभा पा रही है ॥

कृष्णध्वजोपवाह्यैश्च दाशार्हायुधरोहितैः ।
वृष्णिमत्तमयूरैश्च स्त्रीसहस्रप्रभाकुलैः ॥
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलङ्कृता ।
ददृशे द्वारकातीव मेघैर्द्यौरिव संवृता ।

जैसे आकाश मेघोंकी घटासे आच्छादित होता है, उसी प्रकार द्वारकापुरी मनोहर भवनरूपी मेघोंसे अलङ्कृत दिखायी देती है। ये भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्य (प्रमुख मेघ) के समान हैं। वृष्णिवंशी युवक मतवाले मयूरोंके समान उन भवनरूपी मेघोंको देखकर हर्षसे नाच उठते हैं। सहस्रों स्त्रियोंकी कान्ति विद्युत्की प्रभाके समान उनमें व्याप्त है। जैसे मेघ कृष्णध्वज (अग्नि या सूर्यकिरण) के उपवाह्य (आधेय अथवा कार्य) हैं, उसी प्रकार द्वारका-के भवन भी कृष्णध्वजसे विभूषित उपवाह्य (वाहनों) से सम्पन्न हैं। यदुवंशियोंके विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उन मेघसदृश महलोंमें इन्द्रधनुषकी बहुरङ्गी छटा छिटकाते हैं ॥

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ॥
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयं महाधनैः ॥
प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।

भारत ! देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका भवन, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने अपने हाथों बनाया है, चार योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता है। उसमें कितनी बहुमूल्य सामग्रियाँ लगी हैं ! इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उस विशाल भवनके भीतर सुन्दर-सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। वह प्रासाद जगत्के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त है। श्रीकृष्ण, बलराम और इन्द्रने उस द्वारकाको देखा ॥

यं चकार महाबाहुस्त्वष्टा वासवचोदितः ॥
प्रासादं पद्मनाभस्य सर्वतो योजनायतम् ।
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनायुतम् ।
रुक्मिण्याः प्रवरो वासो विहितः सुमहात्मना ॥

महाबाहु विश्वकर्माने इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् पद्मनाभ-के लिये जिस मनोहर प्रासादका निर्माण किया है, उसका विस्तार सब ओरसे एक-एक योजनका है। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया है, जिससे वह मेरु पर्वतके उत्तुङ्ग शृङ्गकी शोभा धारण कर रहा है। वह प्रासाद महात्मा विश्वकर्माने महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया है। यह उनका सर्वोत्तम निवास है ॥

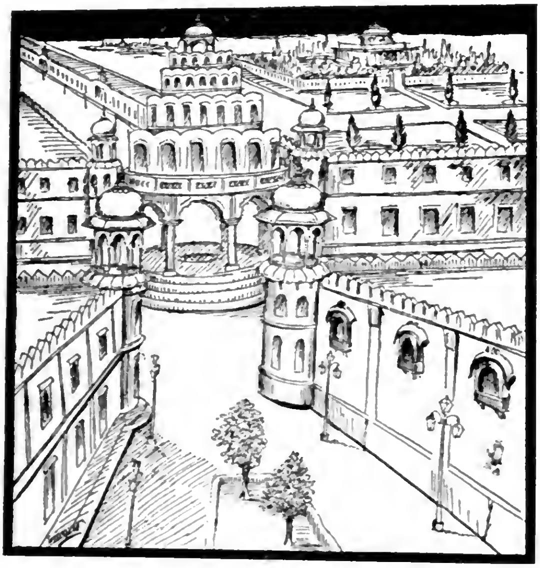

सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम्।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुः शीतवानिति ॥

श्रीकृष्णकी दूसरी पटरानी सत्यभामा सदा श्वेत-रङ्गके प्रासादमें निवास करती हैं, जिसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये हैं। उसमें प्रवेश करनेपर लोगोंको (ग्रीष्म ऋतुमें भी) शीतलताका अनुभव होता है ॥

विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतम्।
व्यक्तबद्धं वनोद्देशे चतुर्दिशि महाध्वजम् ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती हैं। एक सुन्दर उद्यानमें उस भवनका निर्माण किया गया है। उसके चारों ओर ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराती रहती हैं ॥

स च प्रासादमुख्योऽत्र जाम्बवत्या विभूषितः।
प्रभया भूषणैश्चित्रैस्त्रैलोक्यमिव भासयन् ॥
यस्तु पाण्डरवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः।
विश्वकर्माकरोदेनं कैलासशिखरोपमम् ॥

इसके सिवा वह प्रमुख प्रासाद, जो रुक्मिणी तथा सत्यभामाके महलोंके बीचमें पड़ता है और जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली रहती है, जाम्बवतीदेवीद्वारा विभूषित किया गया है। वह अपनी दिव्य प्रभा और विचित्र सजावटसे मानो तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा है।उसे भी विश्वकर्माने ही बनाया है। जाम्बवतीका वह विशाल भवन कैलास-शिखरके समान सुशोभित होता है ॥

जाम्बूनदप्रदीप्ताग्रः प्रदीप्तज्वलनोपमः।
सागरप्रतिमोऽतिष्ठन् मेरुरित्यभिविश्रुतः ॥
तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी।
सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ॥

जिसका दरवाजा जाम्बूनद सुवर्णके समान उद्दीप्त होता है, जो देखनेमें प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता है। विशालतामें समुद्रसे जिसकी उपमा दी जाती है,जो मेरुके नामसे विख्यात है, उस महान् प्रासादमें गान्धारराजकी कुलीन कन्या सुकेशीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया है ॥

पद्मकूट इति ख्यातः पद्मवर्णो महाप्रभः।
सुप्रभाया महाबाहो निवासः परमार्चितः ॥

महाबाहो ! पद्मकूट नामसे विख्यात जो कमलके समान कान्तिवाला प्रासाद है, वह महारानी सुप्रभाका परम पूजित निवासस्थान है ॥

यस्तु सूर्यप्रभो नाम प्रासादवर उच्यते।
लक्ष्मणायाः कुरुश्रेष्ठ स दत्तः शार्ङ्गधन्वना ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जिस उत्तम प्रासादकी प्रभा सूर्यके समान है, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने महारानी लक्ष्मणाको दे रक्खा है॥

वैडूर्यवरवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः।
यं विदुः सर्वभूतानि हरिरित्येव भारत ।
वासः स मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितः ॥
महिष्या वासुदेवस्य भूषणं सर्ववेश्मनाम्।

भारत ! वैदूर्यमणिके समान कान्तिमान् हरे रङ्गका महल जिसे देखकर सब प्राणियोंको 'श्रीहरि' ही हैं, ऐसा अनुभव होता है, वह मित्रविन्दाका निवासस्थान है। उसकी देवगण भी सराहना करते हैं। भगवान् वासुदेवकी रानी मित्रविन्दा-का यह भवन अन्य सब महलोंका आभूषणरूप है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः ॥
अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति।
सुदत्तायाः सुवासस्तु पूजितः सर्वशिल्पिभिः ॥
महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः।

युधिष्ठिर ! द्वारकामें जो दूसरा प्रमुख प्रासाद है, उसे सम्पूर्ण शिल्पियोंने मिलकर बनाया है। वह अत्यन्त रमणीय भवन हँसता-सा खड़ा है। सभी शिल्पी उसके निर्माण-कौशलकी सराहना करते हैं। उस प्रासादका नाम है केतुमान्।वह भगवान् वासुदेवकी महारानी सुदत्तादेवीका सुन्दर निवासस्थान है ॥

प्रासादो विरजो नाम विरजस्को महात्मनः ॥
उपस्थानगृहं तात केशवस्य महात्मनः।

वहीं 'विरज' नामसे प्रसिद्ध एक प्रासाद है, जो निर्मल एवं रजोगुणके प्रभावसे शून्य है। वह परमात्मा श्रीकृष्णका उपस्थानगृह (खास रहनेका स्थान) है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र यं त्वष्टा व्यदधात् स्वयम्॥
योजनायतविष्कुम्भं सर्वरत्नमयं विभोः।

इसी प्रकार वहाँ एक और भी प्रमुख प्रासाद है, जिसे

स्वयं विश्वकर्माने बनाया है। उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है। भगवान्का वह भवन सब प्रकारके रत्नोंद्वारा निर्मित हुआ है॥

तेषां तु विहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजनना ध्वजाः॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सुन्दर सदनमें जो मार्गदर्शक-ध्वज हैं, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये हैं। उन सबपर पताकाएँ फहराती रहती हैं॥

घण्टाजालानि तत्रैव सर्वेषां च निवेशने।
आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्त्यचलो महान्॥

द्वारकापुरीमें सभीके घरोंमें घंटा लगाया गया है। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ लाकर वैजयन्ती पताकाओंसे युक्त पर्वत स्थापित किया है॥

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरो महत्।
षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनविस्तृतम्॥

वहाँ हंसकूट पर्वतका शिखर है, जो साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा है। वहीं इन्द्रद्युम्नसरोवर भी है, जिसका विस्तार बहुत बड़ा है॥

सकिन्नरमहानादं तदप्यमिततेजसः।
पश्यतां सर्वभूतानां त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥

वहाँ सब भूतोंके देखते-देखते किन्नरोंके संगीतका महान् शब्द होता रहता है। वह भी अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका ही लीलास्थल है। उसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है॥

आदित्यपथगं यत् तन्मेरोः शिखरमुत्तमम्।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥
तदप्युत्पाट्य कृच्छ्रेण स्वं निवेशनमाहृतम्।
भ्राजमानं पुरा तत्र सर्वौषधिविभूषितम्॥

मेरुपर्वतका जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ जाम्बूनदमय दिव्य और त्रिभुवनविख्यात उत्तम शिखर है, उसे उखाड़कर भगवान् श्रीकृष्ण कठिनाई उठाकर भी अपने महलमें ले आये हैं। सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत वह मेरुशिखर द्वारकामें पूर्ववत् प्रकाशित है॥

यमिन्द्रभवनाच्छौरिराजहार परंतपः।
पारिजातः स तत्रैव केशवेन निवेशितः॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिसे इन्द्रभवनसे हर ले आये थे, वह पारिजातवृक्ष भी उन्होंने द्वारकामें ही लगा रक्खा है॥

विहिता वासुदेवेन ब्रह्मस्थलमहाद्रुमाः॥
शालतालाश्वकर्णाश्च शतशाखाश्च रोहिणाः।
भल्लातककपित्थाश्च चन्द्रवृक्षाश्च चम्पकाः॥
खर्जूराः केतकाश्चैव समन्तात् परिरोपिताः।

भगवान् वासुदेवने ब्रह्मलोकके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी लाकर द्वारकामें लगाया है। शाल, ताल, अश्वकर्ण (कनेर), सौ शाखाओंसे सुशोभित वटवृक्ष, भल्लातक (भिलावा), कपित्थ (कैथ), चन्द्र (बड़ी इलायचीके) वृक्ष, चम्पा, खजूर और केतक (केवड़ा)—ये वृक्ष वहाँ सब ओर लगाये गये थे॥

पद्माकुलजलोपेता रक्ताः सौगन्धिकोत्पलाः॥
मणिमौक्तिकवालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः॥

द्वारकामें जो पुष्करिणियाँ और सरोवर हैं, वे कमलपुष्पोंसे सुशोभित स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। उनकी आभा लाल रङ्गकी है। उनमें सुगन्धयुक्त उत्पल खिले हुए हैं। उनमें स्थित वालूके कण मणियों और मोतियोंके चूर्ण जैसे जान पड़ते हैं। वहाँ लगाये हुए बड़े-बड़े वृक्ष उन सरोवरोंके सुन्दर तटोंकी शोभा बढ़ाते हैं॥

ये च हैमवता वृक्षा ये च नन्दनजास्तथा।
आहृत्य यदुसिंहेन तेऽपि तत्र निवेशिताः॥

जो वृक्ष हिमालयपर उगते हैं तथा जो नन्दनवनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी यदुप्रवर श्रीकृष्णने वहाँ लाकर लगाया है॥

रक्तपीतारुणप्रख्याः सितपुष्पाश्च पादपाः।
सर्वर्तुफलपूर्णास्ते तेषु काननसंधिषु॥

कोई वृक्ष लाल रङ्गके हैं, कोई पीत वर्णके हैं और कोई अरुण कान्तिसे सुशोभित हैं तथा बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें श्वेत रङ्गके पुष्प शोभा पाते हैं। द्वारकाके उपवनोंमें लगे हुए पूर्वोक्त सभी वृक्ष सम्पूर्ण ऋतुओंके फलोंसे परिपूर्ण हैं॥

सहस्रपत्रपद्माश्च मन्दराश्च सहस्रशः।
अशोकाः कर्णिकाराश्च तिलका नागमल्लिकाः॥
कुरवा नागपुष्पाश्च चम्पकास्तृणगुल्मकाः।
सप्तपर्णाः कदम्बाश्च नीपाः कुरबकास्तथा॥
केतक्यः केसराश्चैव हिन्तालतलताटकाः।
तालाः प्रियङ्गुवकुलाः पिण्डिका बीजपूरकाः॥
द्राक्षामलकखर्जूरा मृद्वीका जम्बुकास्तथा।
आम्राः पनसवृक्षाश्च अङ्कोलास्तिलतिन्दुकाः॥
लिकुचाम्रातकाश्चैव क्षीरिका कण्टकी तथा।
नालिकेरेङ्गुदाश्चैव उत्क्रोशकवनानि च॥
वनानि च कदल्याश्च जातिमल्लिकपाटलाः।
भल्लातककपित्थाश्च तैतभा बन्धुजीवकाः॥
प्रवालाशोककाश्मर्यः प्राचीनाश्चैव सर्वशः।
प्रियङ्गुबदरीभिश्च यवैः स्पन्दनचन्दनैः॥
शमीबिल्वपलाशैश्च पाटलावटपिप्पलैः।
उदुम्बरैश्च द्विदलैः पालाशैः पारिभद्रकैः॥

इन्द्रवृक्षार्जुनैश्चैव अश्वत्थैश्चिरिबिल्वकैः।
सौभञ्जनकवृक्षैश्च भल्लटैरश्वसाह्वयैः॥
सर्जैस्ताम्बूलवल्लीभिर्लवङ्गैः क्रमुकैस्तथा।
वंशैश्च विविधैस्तत्र समन्तात् परिरोपितैः॥

सहस्रदल कमल, सहस्रों मन्दार, अशोक, कर्णिकार, तिलक, नागमल्लिका, कुरव (कटसरैया), नागपुष्प, चम्पक, तृण, गुल्म, सप्तपर्ण (छितवन), कदम्ब, नीप, कुरबक, केतकी, केसर, हिंताल, तल, ताटक, ताल, प्रियङ्गु, वकुल (मौलसिरी), पिण्डिका, बीजपूर (बिजौरा), दाख, आँवला, खजूर, मुनक्का, जामुन, आम, कटहल, अङ्कोल, तिल, तिन्दुक, लिकुच (लीची), आमड़ा, क्षीरिका (काकोली नामकी जड़ी या पिंडखजूर), कण्टकी (बेर), नारियल, इङ्गुद (हिंगोट), उत्क्रोशकवन, कदली-वन, जाति (चमेली), मल्लिका (मोतिया), पाटल, भल्लातक, कपित्थ, तैतम, बन्धुजीव (दुपहरिया), प्रवाल, अशोक और काश्मरी (गाँभारी) आदि सब प्रकारके प्राचीन वृक्ष, प्रियङ्गुलता, बेर, जौ, स्पन्दन, चन्दन, शमी, बिल्व, पलाश, पाटला, बड़, पीपल, गूलर, द्विदल, पालाश, पारिभद्रक, इन्द्रवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, अश्वत्थ, चिरिबिल्व, सौभञ्जन, भल्लट, अश्व-पुष्प, सर्ज, ताम्बूललता, लवङ्ग, सुपारी तथा नाना प्रकारके बाँस—ये सब द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णभवनके चारों ओर लगाये हैं॥

ये च नन्दनजा वृक्षा ये च चैत्ररथे वने।
सर्वे ते यदुनाथेन समन्तात् परिरोपिताः॥

नन्दनवनमें और चैत्ररथवनमें जो-जो वृक्ष होते हैं, वे सभी यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने लाकर यहाँ सब ओर लगाये हैं॥

कुमुदोत्पलपूर्णाश्च वाप्यः कूपाः सहस्रशः।
समाकुलमहावाप्यः पीता लोहितवालुकाः॥

भगवान् श्रीकृष्णके गृहोद्यानमें कुमुद और कमलोंसे भरी हुई कितनी ही छोटी बावलियाँ हैं। सहस्रों कुएँ बने हुए हैं। जलसे भरी हुई बड़ी-बड़ी वापिकाएँ भी तैयार करायी गयी हैं, जो देखनेमें पीत वर्णकी हैं और जिनकी बालुकाएँ लाल हैं॥

तस्मिन् गृहवने नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः।
फुल्लोत्पलजलोपेता नानाद्रुमसमाकुलाः॥

उनके गृहोद्यानमें स्वच्छ जलसे भरे हुए कुण्डवाली कितनी ही कृत्रिम नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो प्रफुल्ल उत्पलयुक्त जलसे परिपूर्ण हैं तथा जिन्हें दोनों ओरसे अनेक प्रकारके वृक्षोंने घेर रक्खा है॥

तस्मिन् गृहवने नद्यो मणिशर्करवालुकाः।
मत्तबर्हिणसङ्घाश्च कोकिलाश्च मदोद्वहाः॥

उस भवनके उद्यानकी सीमामें मणिमय कंकड़ और बालुकाओंसे सुशोभित नदियाँ निकाली गयी हैं, जहाँ मतवाले मयूरोंके झुंड विचरते हैं और मदोन्मत्त कोकिलाएँ कुहू-कुहू किया करती हैं॥

बभूवुः परमोपेताः सर्वे जगतिपर्वताः।
तत्रैव गजयूथानि तत्र गोमहिषास्तथा॥
निवासाश्च कृतास्तत्र वराहमृगपक्षिणाम्।

उस गृहोद्यानमें जगत्‌के सभी श्रेष्ठ पर्वत अंशतः संगृहीत हुए हैं। वहाँ हाथियोंके यूथ तथा गाय-भैंसोंके झुंड रहते हैं। वहीं जंगली सूअर, मृग और पक्षियोंके रहने योग्य निवासस्थान भी बनाये गये हैं॥

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः॥
व्यक्तं किष्कुशतोद्यामः सुधाकरसमप्रभः।

विश्वकर्माद्वारा निर्मित पर्वतमाला ही उस विशाल भवनकी चहारदीवारी है। उसकी ऊँचाई सौ हाथकी है और वह चन्द्रमा-के समान अपनी श्वेत छटा छिटकाती रहती है॥

तेन ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च॥
परिक्षिप्तानि हर्म्यस्य वनान्युपवनानि च।

पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ, सरोवर और प्रासादके समीपवर्ती वन-उपवन इस चहारदीवारीसे घिरे हुए हैं॥

एवं तच्छिल्पिवर्येण विहितं विश्वकर्मणा॥
प्रविशन्नेव गोविन्दो ददर्श परितो मुहुः।

इस प्रकार शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माद्वारा बनाये हुए द्वारका नगरमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सब ओर दृष्टिपात किया॥

इन्द्रः सहामरैः श्रीमांस्तत्र तत्रावलोकयत्।

देवताओंके साथ श्रीमान् इन्द्रने वहाँ द्वारकाको सब ओर दृष्टि दौड़ाते हुए देखा॥

एवमालोकयांचक्रुर्द्वारकामृषभास्त्रयः।
उपेन्द्रबलदेवौ च वासवश्च महायशाः॥

इस प्रकार उपेन्द्र (श्रीकृष्ण), बलराम तथा महायशस्वी इन्द्र इन तीनों श्रेष्ठ महापुरुषोंने द्वारकापुरीकी शोभा देखी॥

ततस्तं पाण्डरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः॥
प्रीतः शङ्खमुपादध्मौ द्विषतां रोमहर्षणम्।

तदनन्तर गरुड़के ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक श्वेतवर्णवाले अपने उस पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला है॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम्॥
ररास च नभः सर्वं तच्चित्रमभवत् तदा।

उस घोर शङ्खध्वनिसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा

सारा आकाशमण्डल गूँजने लगा। उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं निशम्य कुकुरान्धकाः ॥
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात्।

पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुडका दर्शन कर कुकुर और अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये ॥

शङ्खचक्रगदापाणिं सुपर्णशिरसि स्थितम् ॥
दृष्ट्वा जहृषिरे कृष्णं भास्करोदयतेजसम्।

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुडके ऊपर बैठे थे। उनका तेज सूर्योदयके समान नूतन चेतना और उत्साह पैदा करनेवाला था। उन्हें देखकर सबको बड़ा हर्ष हुआ ॥

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
सिंहनादश्च संजज्ञे सर्वेषां पुरवासिनाम्।

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं। उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी। समस्त पुरवासी भी सिंहनाद कर उठे ॥

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ॥
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम्।

उस समय दशार्ह, कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य वेणुशङ्खरवैः सह ॥
उग्रसेनो ययौ राजा वासुदेवनिवेशनम्।

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके वेणुनाद और शङ्खध्वनिके साथ उनके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये ॥

आनन्दितुं पर्यचरन् स्वेषु वेश्मसु देवकी ॥
रोहिणी च यथोद्देशमाहुकस्य च याः स्त्रियः।

देवकी, रोहिणी तथा उग्रसेनकी स्त्रियाँ अपने अपने महलोंमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करनेके लिये यथास्थान खड़ी थीं। पास आनेपर उन सबने उनका यथावत् सत्कार किया ॥

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः ॥
एवमुक्तः स ह स्त्रीभिरीक्षितो मधुसूदनः।

वे आशीर्वाद देती हुई इस प्रकार बोलीं—'समस्त ब्राह्मणद्वेषी असुर मारे गये; अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।' स्त्रियोंने भगवान् मधुसूदनसे ऐसा कहकर उनकी ओर देखा ॥

ततः शौरिः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्ययात् ॥
चकाराथ यथोद्देशमीश्वरो मणिपर्वतम्।

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुडके द्वारा ही अपने महलमें गये वहाँ उन परमेश्वरने एक उपयुक्त स्थानमें मणिपर्वतको स्थापित कर दिया ॥

ततो धनानि रत्नानि सभायां मधुसूदनः ॥
निधाय पुण्डरीकाक्षः पितुर्दर्शनलालसः।

इसके बाद कमलनयन मधुसूदनने सभाभवनमें धन और रत्नोंको रखकर मन-ही-मन पिताके दर्शनकी अभिलाषा की ॥

ततः सान्दीपनिं पूर्वमुपस्पृष्ट्वा महायशाः ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षः प्रीयमाणो महाभुजः।

फिर विशाल एवं कुछ लाल नेत्रोंवाले उन महायशस्वी महाबाहुने पहले मन-ही-मन गुरु सान्दीपनिके चरणोंका स्पर्श किया ॥

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दगतचेतसम् ॥
ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः।

तत्पश्चात् भाई बलरामजीके साथ जाकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया ॥

रामकृष्णौ समाश्लिष्य सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके सब लोगोंने बलराम और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥

तं तु कृष्णः समाहृत्य रत्नौघधनसंचयम् ॥
व्यभजत् सर्ववृष्णिभ्य आदध्वमिति चाब्रवीत्।

भगवान् श्रीकृष्णने रत्न और धनकी उस राशिको एकत्र करके अलग-अलग बाँट दिया और सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंसे कहा—'यह सब आपलोग ग्रहण करें' ॥

यथाश्रेष्ठमुपागम्य सात्वतान् यदुनन्दनः ॥
सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः।
ततः सर्वाणि वित्तानि सर्वरत्नमयानि च ॥
व्यभजत् तानि तेभ्योऽथ सर्वेभ्यो यदुनन्दनः।

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने यदुवंशियोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, उन सबसे क्रमशः मिलकर सब यादवोंको नाम ले-लेकर बुलाया और उन सबको वे सभी रत्नमय धन पृथक्-पृथक् बाँट दिये ॥

सा केशवमहामात्रैर्महेन्द्रप्रमुखैः सह ॥
शुशुभे वृष्णिशार्दूलैः सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जैसे पर्वतकी कन्दरा सिंहोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी उस समय भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज

इन्द्र तथा वृष्णिवंशी वीर पुरुषसिंहोंसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥

अथासनगतान् सर्वानुवाच विबुधाधिपः ॥
शुभया हर्षयन् वाचा महेन्द्रस्तान् महायशाः ।
कुकुरान्धकमुख्यांश्च तं च राजानमाहुकम् ॥

जब सभी यदुवंशी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, उस समय देवताओंके स्वामी महायशस्वी महेन्द्र अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा कुकुर और अन्धक आदि यादवों तथा राजा उग्रसेनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ।
यत् कृतं वासुदेवेन तद् वक्ष्यामि समासतः ॥

इन्द्रने कहा—यदुवंशी वीरो ! परमात्मा श्रीकृष्णका मनुष्य-योनिमें जिस उद्देश्यको लेकर अवतार हुआ है और भगवान् वासुदेवने इस समय जो महान् पुरुषार्थ किया है, वह सब मैं संक्षेपसे बताऊँगा ॥

अयं शतसहस्राणि दानवानामरिंदमः ।
निहत्य पुण्डरीकाक्षः पातालविवरं ययौ ॥
यच्च नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः ।
तदिदं शौरिणा वित्तं प्रापितं भवतामिह ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन श्रीहरिने एक लाख दानवोंका संहार करके उस पाताल-विवरमें प्रवेश किया था, जहाँ पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि दैत्य भी नहीं पहुँच सके थे। भगवान् आपलोगोंके लिये यह धन वहींसे लाये हैं ॥

सपाशं मुरमाक्रम्य पाञ्चजन्यं च धीमता ।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भः सगणो हतः ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पाशसहित मुर नामक दैत्यको कुचलकर पञ्चजन नामवाले राक्षसोंका विनाश किया और शिला-समूहोंको लाँघकर सेवकगणोंसहित निशुम्भको मौतके घाट उतार दिया ॥

हयग्रीवश्च विक्रान्तो निहतो दानवो बली ॥
मथितश्च मृधे भौमः कुण्डले चाहृते पुनः ।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद् यशः ॥

तत्पश्चात् इन्होंने बलवान् एवं पराक्रमी दानव हयग्रीवपर आक्रमण करके उसे मार गिराया और भौमासुरका भी युद्धमें संहार कर डाला। इसके बाद केशवने माता अदितिके कुण्डल प्राप्त करके उन्हें यथास्थान पहुँचाया और स्वर्गलोक तथा देवताओंमें अपने महान् यशका विस्तार किया ॥

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः ।
यजन्तु विविधैः सोमैर्मखैरन्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके लोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेकर शोक, भय और बाधाओंसे मुक्त हैं। अब ये सभी नाना प्रकारके यज्ञों तथा सोमरसद्वारा भगवान्‌का यजन करें ॥

पुनर्बाणवधे शौरिमादित्या वसुभिः सह ।
मन्मुखा हि गमिष्यन्ति साध्याश्च मधुसूदनम् ॥

अब पुनः बाणासुरके वधका अवसर उपस्थित होनेपर मैं तथा सब देवता, वसु और साध्यगण मधुसूदन श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित होंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वानामन्त्र्य कुकुरान्धकान् ।
सस्वजे रामकृष्णौ च वसुदेवं च वासवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! समस्त कुकुर और अन्धकवंशके लोगोंसे ऐसा कहकर सबसे विदा ले देवराज इन्द्रने बलराम, श्रीकृष्ण और वसुदेवको हृदयसे लगाया ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं च सारणम् ।
बभ्रुं झल्लिं गदं भानुं चारुदेष्णं च वृत्रहा ॥
सत्कृत्य सारणाक्रूरौ पुनराभाष्य सात्यकिम् ।
सस्वजे वृष्णिराजानमाहुकं कुकुराधिपम् ॥

प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सारण, बभ्रु, झल्लि, गद, भानु, चारुदेष्ण, सारण और अक्रूरका भी सत्कार करके वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रने पुनः सात्यकिसे वार्तालाप किया। इसके बाद वृष्णि और कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेनको गले लगाया ॥

भोजं च कृतवर्माणमन्यांश्चान्धकवृष्णिषु ।
आमन्त्र्य देवप्रवरो वासवो वासवानुजम् ॥

तत्पश्चात् भोज, कृतवर्मा तथा अन्य अन्धकवंशी एवं वृष्णिवंशियोंका आलिङ्गन करके देवराजने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णसे विदा ली ॥

ततः श्वेताचलप्रख्यं गजमैरावतं प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानामारुरोह शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति भगवान् इन्द्र सब प्राणियोंके देखते-देखते श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च वरवारणम् ।
मुखाडम्बरनिर्घोषैः पूरयन्तमिवासकृत् ॥

वह श्रेष्ठ गजराज अपनी गम्भीर गर्जनासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको बारंबार निनादित-सा कर रहा था॥

हैमयन्त्रमहाकक्ष्यं हिरण्मयविषाणिनम् ।
मनोहरकुथास्तीर्णं सर्वरत्नविभूषितम् ॥

उसकी पीठपर सोनेके खंभोंसे युक्त बहुत बड़ा हौदा कसा हुआ था। उसके दाँतोंमें सोना मढ़ा गया था। उसके ऊपर मनोहर झूल पड़ी हुई थी। वह सब प्रकारके रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित था॥

अनेकशतरत्नाभिः पताकाभिरलंकृतम्।
नित्यस्रुतमदस्रावं क्षरन्तमिव तोयदम्॥

सैकड़ों रत्नोंसे अलंकृत पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसके मस्तकसे निरन्तर मदकी धारा इस प्रकार बहती रहती थी, मानो मेघ पानी बरसा रहा हो॥

दिशागजं महामात्रं काञ्चनस्रजमास्थितः।
प्रबभौ मन्दराग्रस्थः प्रतपन् भानुमानिव॥

वह विशालकाय दिग्गज सोनेकी माला धारण किये हुए था। उसपर बैठे हुए देवराज इन्द्र मन्दराचलके शिखरपर तपते हुए सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहे थे॥

ततो वज्रमयं भीमं प्रगृह्य परमाङ्कुशम्।
ययौ बलवता सार्धं पावकेन शचीपतिः॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्र वज्रमय भयंकर एवं विशाल अङ्कुश लेकर बलवान् अग्निदेवके साथ स्वर्गलोकको चल दिये॥

तं करेणुगजव्रातैर्विमानैश्च मरुद्गणाः।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः कुबेरवरुणग्रहाः॥

उनके पीछे हाथी-हथिनियोंके समुदायों और विमानोंद्वारा मरुद्गण, कुबेर तथा वरुण आदि देवता भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़े॥

स वायुपथमास्थाय वैश्वानरपथं गतः।
प्राप्य सूर्यपथं देवस्तत्रैवान्तरधीयत॥

इन्द्रदेव पहले वायुपथमें पहुँचकर वैश्वानरपथ (तेजोमय लोक) में जा पहुँचे। तत्पश्चात् सूर्यदेवके मार्गमें जाकर वहाँ अन्तर्धान हो गये॥

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः।
नन्दगोपस्य महिषी यशोदा लोकविश्रुता॥
रेवती च महाभागा रुक्मिणी च पतिव्रता।
सत्या जाम्बवती चोभे गान्धारी शिंशुमापि वा॥
विशोका लक्ष्मणा साध्वी सुमित्रा केतुमा तथा।
वासुदेवमहिष्योऽन्याः श्रिया सार्धं ययुस्तदा॥
विभूतिं द्रष्टुमनसः केशवस्य वराङ्गनाः।
प्रीयमाणाः सभां जग्मुरालोकयितुमच्युतम्॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ, राजा उग्रसेनकी रानियाँ, नन्दगोपकी विश्वविख्यात रानी यशोदा, महाभागा रेवती(बलभद्र-पत्नी) तथा पतिव्रता रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, गान्धारराज-कन्या शिंशुमा, विशोका, लक्ष्मणा, साध्वी सुमित्रा, केतुमा तथा भगवान् वासुदेवकी अन्य रानियाँ—ये सब-की-सब श्रीजीके साथ भगवान् केशवकी विभूति एवं नवागत सुन्दरी रानियोंको देखनेके लिये और श्रीअच्युतका दर्शन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ सभाभवनमें गयीं॥

देवकी सर्वदेवीनां रोहिणी च पुरस्कृता।
ददृशुर्देवमासीनं कृष्णं हलभृता सह॥

देवकी तथा रोहिणीजी सब रानियोंके आगे चल रही थीं। सबने वहाँ जाकर श्रीबलरामजीके साथ बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा॥

तौ तु पूर्वमुपक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च।
अभ्यवादयतां देवौ देवकीं रामकेशवौ॥
देवकीं सप्तदेवीनां यथाश्रेष्ठं च मातरः।

उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने उठकर पहले रोहिणीजीको प्रणाम किया। फिर देवकीजी तथा सात देवियोंमेंसे श्रेष्ठताके क्रमसे अन्य सभी माताओंकी चरण-वन्दना की॥

ववन्दे सह रामेण भगवान् वासवानुजः॥
अथासनवरं प्राप्य वृष्णिदारपुरस्कृता॥
उभावङ्कगतौ चक्रे देवकी रामकेशवौ।

बलरामसहित भगवान् उपेन्द्रने जब इस प्रकार मातृ-चरणोंमें प्रणाम किया, तब वृष्णिकुलकी महिलाओंमें अग्रणी माता देवकीजीने एक श्रेष्ठ आसनपर बैठकर बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको गोदमें ले लिया॥

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभे तदा॥
देवकी देवमातेव मित्रेण वरुणेन च।

वृषभके सदृश विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उस समय माता देवकीकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदितिकी होती है॥

ततः प्राप्ता यशोदाया दुहिता वै क्षणेन हि॥
जाज्वल्यमाना वपुषा प्रभयातीव भारत।

इसी समय यशोदाजीकी पुत्री क्षणभरमें वहाँ आ पहुँची। भारत! उसके श्रीअङ्ग दिव्य प्रभासे प्रज्वलित-से हो रहे थे॥

एकानङ्गेति यामाहुः कन्यां तां कामरूपिणीम्॥
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः।

उस कामरूपिणी कन्याका नाम था 'एकानङ्गा'। जिसके निमित्तसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध किया था॥

ततः स भगवान् रामस्तामुपाक्रम्य भामिनीम्॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन परिजग्राह पाणिना।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः॥

तब भगवान् बलरामने आगे बढ़कर उस मानिनी बहिनको बायें हाथसे पकड़ लिया और वात्सल्य-स्नेहसे

उसका मस्तक सूँघा । तदनन्तर श्रीकृष्णने भी उस कन्याको दाहिने हाथसे पकड़ लिया ॥

ददृशुस्तां सभामध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः ॥
रुक्मपद्मशयां पद्मां श्रीमिवोत्तमनागयोः ।

लोगोंने उस सभामें बलराम और श्रीकृष्णकी इस बहिनको देखा; मानो दो श्रेष्ठ गजराजोंके बीचमें सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान भगवती लक्ष्मी हों ॥

अथाक्षतमहावृष्ट्या लाजपुष्पघृतैरपि ॥
वृष्णयोऽवाकिरन् प्रीताः संकर्षणजनार्दनौ ।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशी पुरुषोंने प्रसन्न होकर बलराम और श्रीकृष्णपर लाजा (खील), फूल और घीसे युक्त अक्षत-की वर्षा की ॥

सबालाः सहवृद्धाश्च सज्ञातिकुलबान्धवाः ॥
उपोपविविशुः प्रीता वृष्णयो मधुसूदनम् ।

उस समय बालक, वृद्ध, ज्ञाति, कुल और बन्धु-बान्धवों-सहित समस्त वृष्णिवंशी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् मधुसूदनके समीप बैठ गये ॥

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः ॥
विवेश पुरुषव्याघ्रः स्ववेश्म मधुसूदनः ।

इसके बाद पुरवासियोंकी प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषसिंह महाबाहु मधुसूदनने सबसे पूजित हो अपने महलमें प्रवेश किया॥

रुक्मिण्या सहितो देव्या प्रमुमोद सुखी सुखम् ।
अनन्तरं च सत्याया जाम्बवत्याश्च भारत ।
सर्वासां च यदुश्रेष्ठः सर्वकालविहारवान् ॥

वहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ बड़े सुखका अनुभव करने लगे । भारत ! तत्पश्चात् सदा लीला-विहार करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्रमशः सत्यभामा तथा जाम्बवती आदि सभी देवियोंके निवासस्थानोंमें गये ॥

जगाम च हृषीकेशो रुक्मिण्याः स्वं निवेशनम् ।

फिर अन्तमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके महलमें पधारे ॥

एष तात महाबाहो विजयः शार्ङ्गधन्वनः॥
एतदर्थं च जन्माहुर्मानुषेषु महात्मनः ।

तात ! महाबाहु युधिष्ठिर ! शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजयगाथा कही गयी है । इसीके लिये महात्मा श्रीकृष्णका मनुष्योंमें अवतार हुआ बताया जाता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और भीष्मके द्वारा श्रीकृष्ण-माहात्म्यका उपसंहार]

भीष्म उवाच

द्वारकायां ततः कृष्णः स्वदारेषु दिवानिशम् ।
सुखं लब्ध्वा महाराज प्रमुमोद महायशाः ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिर ! तदनन्तर महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ दिन-रात सुखका अनुभव करते हुए द्वारकापुरीमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

पौत्रस्य कारणाच्चक्रे विबुधानां हितं तदा ।
सवासवैः सुरैः सर्वैर्दुष्करं भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने अपने पौत्र अनिरुद्धको निमित्त बनाकर देवताओंका जो हित-साधन किया, वह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥

बाणो नामाभवद् राजा बलेर्ज्येष्ठसुतो बली ।
वीर्यवान् भरतश्रेष्ठ स च बाहुसहस्रवान् ॥

भरतकुलभूषण ! बाण नामक एक राजा हुआ था, जो बलिका ज्येष्ठ पुत्र था । वह महान् बलवान् और पराक्रमी होनेके साथ ही सहस्र भुजाओंसे सुशोभित था ॥

ततश्चक्रे तपस्तीव्रं सत्येन मनसा नृप ।
रुद्रमाराधयामास स च बाणः समा बहूः ॥

राजन् ! बाणासुरने सच्चे मनसे बड़ी कठोर तपस्या की । उसने बहुत वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की ॥

तस्मै बहुवरा दत्ताः शङ्करेण महात्मना ।
तस्माल्लब्ध्वा वरान् बाणो दुर्लभान् ससुरैरपि॥
स शोणितपुरे राज्यं चकाराप्रतिमो बली ।

महात्मा शङ्करने उसे अनेक वरदान दिये । भगवान् शङ्करसे देवदुर्लभ वरदान पाकर बाणासुर अनुपम बलशाली हो गया और शोणितपुरमें राज्य करने लगा ॥

त्रासिताश्च सुराः सर्वे तेन बाणेन पाण्डव ॥
विजित्य विबुधान् सर्वान् सेन्द्रान् बाणः समा बहूः ।
अशासत महद् राज्यं कुबेर इव भारत ॥

भरतवंशी पाण्डुनन्दन ! बाणासुरने सब देवताओंको आतङ्कित कर रक्खा था । उसने इन्द्र आदि सब देवताओंको जीतकर कुबेरकी भाँति दीर्घकालतक इस भूतलपर महान् राज्यका शासन किया ॥

ऋद्ध्यर्थं कुरुते यत्नं तस्य चैवोशना कविः ।

ज्ञानी विद्वान् शुक्राचार्य उसकी समृद्धि बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते रहते थे ॥

ततो राजन्नुषा नाम बाणस्य दुहिता तथा ॥
रूपेणाप्रतिमा लोके मेनकायाः सुता यथा ।

राजन् ! बाणासुरके एक पुत्री थी, जिसका नाम उषा था । संसारमें उसके रूपकी तुलना करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी । वह मेनका अप्सराकी पुत्री-सी प्रतीत होती थी ॥

अथोपायेन कौन्तेय अनिरुद्धो महाद्युतिः ॥
प्राद्युम्निस्तामुषां प्राप्य प्रच्छन्नः प्रमुमोद ह ।

कुन्तीनन्दन ! महान् तेजस्वी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध किसी उपायसे उषातक पहुँचकर छिपे रहकर उसके साथ आनन्दका उपभोग करने लगे ॥

अथ बाणो महातेजास्तदा तत्र युधिष्ठिर ॥
तं गुह्यनिलयं ज्ञात्वा प्राद्युम्निं सुतया सह ।
गृहीत्वा कारयामास वस्तुं कारागृहे बलात् ॥

युधिष्ठिर ! महातेजस्वी बाणासुरने गुप्तरूपसे छिपे हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धका अपनी पुत्रीके साथ रहना जान लिया और उन्हें अपनी पुत्रीसहित बलपूर्वक कारागारमें ठूँस देनेके लिये बंदी बना लिया ॥

सुकुमारः सुखार्होऽथ तदा दुःखमवाप सः ।
बाणेन खेदितो राजन्ननिरुद्धो मुमोह च ॥

राजन् ! वे सुकुमार एवं सुख भोगनेके योग्य थे, तो भी उन्हें उस समय दुःख उठाना पड़ा । बाणासुरके द्वारा भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जानेपर अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये ॥

एतस्मिन्नेव काले तु नारदो मुनिपुङ्गवः ।
द्वारकां प्राप्य कौन्तेय कृष्णं दृष्ट्वा वचोऽब्रवीत् ॥

कुन्तीकुमार ! इसी समय मुनिप्रवर नारदजी द्वारकामें आकर श्रीकृष्णसे मिले और इस प्रकार बोले ॥

नारद उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां कीर्तिवर्धन ।
त्वत्पौत्रो बाध्यमानोऽथ बाणेनामिततेजसा ॥
कृच्छ्रं प्राप्तोऽनिरुद्धो वै शेते कारागृहे सदा ।

नारदजीने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण ! आप यदुवंशियोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं । इस समय अमिततेजस्वी बाणासुर आपके पौत्र अनिरुद्धको बहुत कष्ट दे रहा है । वे संकटमें पड़े हैं और सदा कारागारमें निवास कर रहे हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा सुरर्षिर्वै बाणस्याथ पुरं ययौ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा ततो राजञ्जनार्दनः ।
आहूय बलदेवं वै प्रद्युम्नं च महाद्युतिम् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तं ताभ्यां सह जनार्दनः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर देवर्षि नारद बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको चले गये । नारदजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा महातेजस्वी प्रद्युम्नको बुलाया और उन दोनोंके साथ वे गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥

ततः सुपर्णमारुह्य त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥
जग्मुः क्रुद्धा महावीर्या बाणस्य नगरं प्रति ।

तदनन्तर वे तीनों महापराक्रमी पुरुषरत्न गरुड़पर आरूढ़ हो क्रोधमें भरकर बाणासुरके नगरकी ओर चल दिये ॥

अथासाद्य महाराज तत्पुरीं ददृशुश्च ते ॥
ताम्रप्राकारसंवीतां रूप्यद्वारैश्च शोभिताम् ।

महाराज ! वहाँ जाकर उन्होंने बाणासुरकी पुरीको देखा, जो ताँबेकी चहारदिवारीसे घिरी हुई थी । चाँदीके बने हुए दरवाजे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

हेमप्रासादसम्बाधां मुक्तामणिविचित्रिताम् ॥
उद्यानवनसम्पन्नां नृत्तगीतैश्च शोभिताम् ।

वह पुरी सुवर्णमय प्रासादोंसे भरी हुई थी और मुक्तामणियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें स्थान-स्थानपर उद्यान और वन शोभा पा रहे थे । वह नगरी नृत्य और गीतोंसे सुशोभित थी ॥

तोरणैःपक्षिभिःकीर्णां पुष्करिण्या च शोभिताम्॥
तां पुरीं स्वर्गसंकाशां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ।
दृष्ट्वा मुदा युतां हैमां विस्मयं परमं ययुः ॥

वहाँ अनेक सुन्दर फाटक बने थे । सब ओर भाँति-भाँतिके पक्षी चहचहाते थे । कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती थी । उसमें हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष निवास करते थे और वह पुरी स्वर्गके समान मनोहर दिखायी देती थी । प्रसन्नतासे भरी हुई उस सुवर्णमयी नगरीको देखकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न तीनोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

तस्य बाणपुरस्यासन् द्वारस्था देवताः सदा ।
महेश्वरो गुहश्चैव भद्रकाली च पावकः ॥
एता वै देवता राजन् ररक्षुस्तां पुरीं सदा ।

बाणासुरकी राजधानीमें कितने ही देवता सदा द्वारपर बैठकर पहरा देते थे । राजन् ! भगवान् शङ्कर, कार्तिकेय, भद्रकालीदेवी और अग्नि—ये देवता सदा उस पुरीकी रक्षा करते थे ॥

अथ कृष्णो बलाज्जित्वा द्वारपालान् युधिष्ठिर ॥
सुसंक्रुद्धो महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ।
आससादोत्तरद्वारं शङ्करेणाभिपालितम् ॥

युधिष्ठिर! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी श्रीकृष्णने अत्यन्त कुपित हो पूर्वद्वारके रक्षकोंको बलपूर्वक जीतकर भगवान् शङ्करके द्वारा सुरक्षित उत्तरद्वारपर आक्रमण किया॥

तत्र तस्थौ महातेजाः शूलपाणिर्महेश्वरः ।
पिनाकं सशरं गृह्य बाणस्य हितकाम्यया ॥
ज्ञात्वा तमागतं कृष्णं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
महेश्वरो महाबाहुः कृष्णाभिमुखमाययौ ॥

वहाँ महान् तेजस्वी भगवान् महेश्वर हाथमें त्रिशूल लिये खड़े थे । जब उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुँह बाये कालकी भाँति आ रहे हैं, तब वे महाबाहु महेश्वर

बाणासुरके हित-साधनकी इच्छासे बाणसहित पिनाक नामक धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णके सम्मुख आये ॥

ततस्तौ चक्रतुर्युद्धं वासुदेवमहेश्वरौ ।
तद् युद्धमभवद् घोरमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ॥

तदनन्तर भगवान् वासुदेव और महेश्वर परस्पर युद्ध करने लगे । उनका वह युद्ध अचिन्त्य, रोमाञ्चकारी तथा भयंकर था ॥

अन्योन्यं तौ ततक्षाते अन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
दिव्यास्त्राणि च तौ देवौ क्रुद्धौ मुमुचतुस्तदा ॥

वे दोनों देवता एक दूसरेपर विजय पानेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे । दोनों ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे ॥

ततः कृष्णो रणं कृत्वा मुहूर्तं शूलपाणिना ।
विजित्य तं महादेवं ततो युद्धे जनार्दनः ॥
अन्यांश्च जित्वा द्वारस्थान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने शूलपाणि भगवान् शङ्करके साथ दो घड़ीतक युद्ध करके महादेवजीको जीत लिया तथा द्वारपर खड़े हुए अन्य शिवगणोंको भी परास्त करके उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया !

प्रविश्य बाणमासाद्य स तत्राथ जनार्दनः ॥
चक्रे युद्धं महाक्रुद्धस्तेन बाणेन पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! पुरीमें प्रवेश करके अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीजनार्दनने बाणासुरके पास पहुँचकर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥

बाणोऽपि सर्वशस्त्राणि शितानि भरतर्षभ ॥
सुसंक्रुद्धस्तदा युद्धे पातयामास केशवे ।

भरतश्रेष्ठ ! बाणासुर भी क्रोधसे आगबबूला हो रहा था । उसने भी युद्धमें भगवान् केशवपर सभी तीखे-तीखे अस्त्र-शस्त्र चलाये ॥

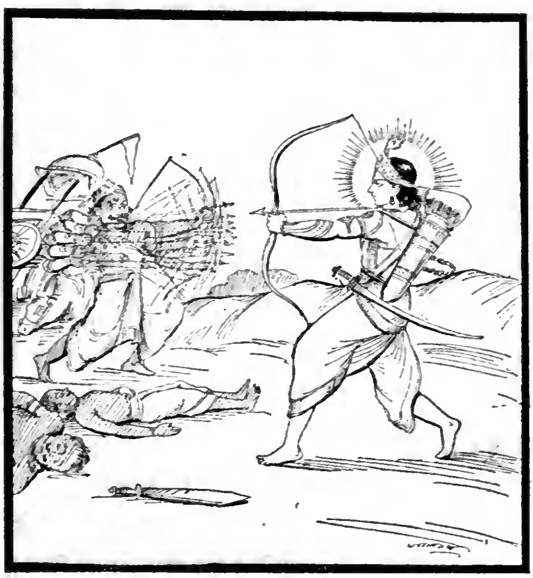

पुनरुद्यम्य शस्त्राणां सहस्रं सर्वबाहुभिः ॥
मुमोच बाणः संक्रुद्धः कृष्णं प्रति रणाजिरे ।

फिर उसने उद्योगपूर्वक अपनी सभी भुजाओंसे उस समराङ्गणमें कुपित हो श्रीकृष्णपर सहस्रों शस्त्रोंका प्रहार किया ॥

ततः कृष्णस्तु सञ्छिद्य तानि सर्वाणि भारत ॥
कृत्वा मुहूर्तं बाणेन युद्धं राजन्नधोक्षजः ।
चक्रमुद्यम्य राजन् वै दिव्यं शस्त्रोत्तमं ततः ॥
सहस्रबाहूंश्चिच्छेद बाणस्यामिततेजसः ।

भारत ! परंतु श्रीकृष्णने वे सभी शस्त्र काट डाले। राजन् ! तदनन्तर भगवान् अधोक्षजने दो घड़ीतक बाणासुरके साथ युद्ध करके अपना दिव्य उत्तम शस्त्र चक्र हाथमें उठाया और अमित तेजस्वी बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काट दिया ॥

ततो बाणो महाराज कृष्णेन भृशपीडितः ॥
छिन्नबाहुः पपाताशु विशाख इव पादपः ।

महाराज ! तब श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर बाणासुर भुजाएँ कट जानेपर शाखाहीन वृक्षकी भाँति धरती-पर गिर पड़ा ॥

स पातयित्वा बालेयं बाणं कृष्णस्त्वरान्वितः ॥
प्राद्युम्निं मोक्षयामास क्षिप्तं कारागृहे तदा ।

इस प्रकार बलिपुत्र बाणासुरको रणभूमिमें गिराकर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ कैदमें पड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको छुड़ा लिया ॥

मोक्षयित्वाथ गोविन्दः प्राद्युम्निं सह भार्यया ।
बाणस्य सर्वरत्नानि असंख्यानि जहार सः ॥

पत्नीसहित अनिरुद्धको छुड़ाकर भगवान् गोविन्दने बाणासुरके सभी प्रकारके असंख्य रत्न हर लिये ॥

गोधनान्यथ सर्वस्वं स बाणस्यालये बलात् ।
जहार च हृषीकेशो यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥
ततः स सर्वरत्नानि चाहृत्य मधुसूदनः ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे तत् सर्वं गरुडोपरि ॥

उसके घरमें जो भी गोधन अथवा अन्य किसी प्रकारके धन मौजूद थे, उन सबको भी यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भगवान् हृषीकेशने हर लिया । फिर वे सब रत्न लेकर मधुसूदनने शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर रख लिये ॥

त्वरयाथ स कौन्तेय बलदेवं महाबलम् ।
प्रद्युम्नं च महावीर्यमनिरुद्धं महाद्युतिम् ॥
उषां च सुन्दरीं राजन् भृत्यदासीगणैः सह ।
सर्वानेतान् समारोप्य रत्नानि विविधानि च ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् उन्होंने महाबली बलदेव, अमितपराक्रमी प्रद्युम्न, परमकान्तिमान् अनिरुद्ध तथा सेवकों और दासियोंसहित सुन्दरी उषा—इन सबको और नाना प्रकारके रत्नोंको भी गरुड़पर चढ़ाया ॥

मुदा युक्तो महातेजाः पीताम्बरधरो बली ।
दिव्याभरणचित्राङ्गः शङ्खचक्रगदासिभृत् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तमुदयं भास्करो यथा ।

इसके बाद शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, महाबली एवं महातेजस्वी श्रीकृष्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वयं भी गरुड़पर आरूढ़ हुए, मानो भगवान् भास्कर उदयाचलपर आसीन हुए हों । उस समय भगवान्‌के श्रीअङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विचित्र शोभा धारण कर रहे थे ॥

अथारुह्य सुपर्णं स प्रययौ द्वारकां प्रति ॥
प्रविश्य स्वपुरं कृष्णो यादवैः सहितस्ततः ।
प्रमुमोद तदा राजन् स्वर्गस्थो वासवो यथा ॥

गरुड़पर आरूढ़ हो श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर चल दिये । राजन् ! अपनी पुरी द्वारकामें पहुँचकर वे यदुवंशियोंके साथ ठीक वैसे ही आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गलोकमें देवताओंके साथ रहते हैं ॥

सूदिता मौरवाः पाशा निशुम्भनरकौ हतौ ।
कृतक्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥
शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिता भरतर्षभ ।
धनुषश्च प्रणादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च ।

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्णने मुरदैत्यके पाश काट दिये, निशुम्भ और नरकासुरको मार डाला और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये निष्कण्टक बना दिया । इन्होंने अपने धनुषकी टंकार और पाञ्चजन्य शङ्खके हुंकारसे समस्त भूपालोंको आतङ्कित कर दिया है ॥

मेघप्रख्यैरनीकैश्च दाक्षिणात्यैः सुसंवृतम् ।
रुक्मिणं त्रासयामास केशवो भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण ! भगवान् केशवने उस रुक्मीको भी भयभीत कर दिया, जिसके पास मेघोंकी घटाके समान असंख्य सेनाएँ हैं और जो दाक्षिणात्य सेवकोंसे सदा सुरक्षित रहता है ॥

ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
उवाह महिषीं भोज्यामेष चक्रगदाधरः ॥

इन चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान्‌ने रुक्मीको हराकर सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा भोजकुलोत्पन्ना रुक्मिणीका अपहरण किया, जो इस समय इनकी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित है ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः ।
वक्रश्च सह शैब्येन शतधन्वा च क्षत्रियः ॥

ये जारूथी नगरीमें वहाँके राजा आहुतिको तथा क्राथ एवं शिशुपालको भी परास्त कर चुके हैं । इन्होंने शैब्य, दन्तवक्र तथा शतधन्वा नामक क्षत्रियोंको भी हराया है ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः क्रोधाद् यवनश्च कशेरुमान् ।

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन और कशेरुमान्‌का भी क्रोधपूर्वक वध किया है ॥

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥
विभिद्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनमयोधयत् ।

कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको विदीर्ण करके द्युमत्सेनके साथ युद्ध किया ॥

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ ॥
जग्राह भरतश्रेष्ठ वरुणस्याभितश्चरौ ।
इरावत्यामुभौ चैतावग्निसूर्यसमौ बले ॥
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना ।

भरतश्रेष्ठ ! जो बलमें अग्नि और सूर्यके समान थे और वरुणदेवताके उभय पार्श्वमें विचरण करते तथा जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा महेन्द्र पर्वतके शिखरपर इरावती नदीके किनारे पकड़े और मारे गये ॥

अक्षप्रपतने चैव नेमिहंसपथेषु च ॥
उभौ तावपि कृष्णेन स्वराष्ट्रे विनिपातितौ ।

अक्षप्रपतनके अन्तर्गत नेमिहंसपथ नामक स्थानमें, जो उनके अपने ही राज्यमें पड़ता था, उन दोनोंको भगवान् श्रीकृष्णने मारा था ॥

प्राग्ज्योतिषं पुरश्रेष्ठमसुरैर्बहुभिर्वृतम् ।
प्राप्य लोहितकूटानि कृष्णेन वरुणो जितः ॥
अजेयो दुष्प्रधर्षश्च लोकपालो महाद्युतिः ।

बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पुरश्रेष्ठ प्राग्ज्योतिषमें पहुँचकर वहाँकी पर्वतमालाके लाल शिखरोंपर जाकर श्रीकृष्णने उन लोकपाल वरुणदेवतापर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्धर्ष, अजेय एवं अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

इन्द्रद्वीपो महेन्द्रेण गुप्तो मघवता स्वयम् ॥
पारिजातो हृतः पार्थ केशवेन बलीयसा ।

पार्थ ! यद्यपि इन्द्र पारिजातके लिये द्वीप (रक्षक) बने हुए थे, स्वयं ही उसकी रक्षा करते थे, तथापि महाबली केशवने उस वृक्षका अपहरण कर लिया ॥

पाण्ड्यं पौण्ड्रं च मात्स्यं च कलिङ्गं च जनार्दनः ॥
जघान सहितान् सर्वानङ्गराजं च माधवः ।

लक्ष्मीपति जनार्दनने पाण्ड्य, पौण्ड्र, मत्स्य, कलिंग और अङ्ग आदि देशोंके समस्त राजाओंको एक साथ पराजित किया ॥

एष चैकशतं हत्वा रथेन क्षत्रपुङ्गवान् ॥
गान्धारीमवहत् कृष्णो महिषीं यादवर्षभः ।

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने केवल एक रथपर चढ़कर अपने विरोधमें खड़े हुए सौ क्षत्रियनरेशोंको मौतके घाट उतारकर गान्धारराजकुमारी शिंशुमाको अपनी महारानी बनाया ॥

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छन्नेष चक्रगदाधरः ॥
वेणुदारिहृतां भार्यामुन्ममाथ युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! चक्र और गदा धारण करनेवाले इन भगवान्ने बभ्रुका प्रिय करनेकी इच्छासे वेणुदारिके द्वारा अपहृत की हुई उनकी भार्याका उद्धार किया था ॥

पर्याप्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ॥
वेणुदारिवशे युक्तां जिगाय मधुसूदनः ।

इतना ही नहीं; मधुसूदनने वेणुदारिके वशमें पड़ी हुई घोड़ों, हाथियों एवं रथोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको भी जीत लिया ॥

अवाप्य तपसा वीर्यं बलमोजश्च भारत ॥
त्रासिताः सगणाः सर्वे बाणेन विबुधाधिपाः ।
वज्राशनिगदापाशैस्त्रासयद्भिरनेकशः ॥
तस्य नासीद् रणे मृत्युर्देवैरपि सवासवैः ।
सोऽभिभूतश्च कृष्णेन निहतश्च महात्मना ॥
छित्त्वा बाहुसहस्रं तद् गोविन्देन महात्मना ।

भारत ! जिस बाणासुरने तपस्याद्वारा बल, वीर्य और ओज पाकर समस्त देवेश्वरोंको उनके गणोंसहित भयभीत कर दिया था, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा बारंबार वज्र, अशनि, गदा और पाशोंका प्रहार करके त्रास दिये जानेपर भी समराङ्गणमें जिसकी मृत्यु न हो सकी, उसी दैत्यराज बाणासुरको महामना भगवान् गोविन्दने उसकी सहस्र भुजाएँ काटकर पराजित एवं क्षत-विक्षत कर दिया ॥

एष पीठं महाबाहुः कंसं च मधुसूदनः ॥
पैठकं चातिलोमानं निजघान जनार्दनः ।

मधु दैत्यका विनाश करनेवाले इन महाबाहु जनार्दनने पीठ, कंस, पैठक और अतिलोमा नामक असुरोंको भी मार दिया ॥

जम्भमैरावतं चैव विरूपं च महायशाः ॥
जघान भरतश्रेष्ठ शम्बरं चारिमर्दनम् ।

भरतश्रेष्ठ ! इन महायशस्वी श्रीकृष्णने जम्भ, ऐरावत, विरूप और शत्रुमर्दन शम्बरासुरको भी (अपनी विभूतियों-द्वारा) मरवा डाला ॥

एष भोगवतीं गत्वा वासुकिं भरतर्षभ ॥
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षो रौहिणेयममोचयत् ।

भरतकुलभूषण ! इन कमलनयन श्रीहरिने भोगवती-पुरीमें जाकर वासुकि नागको हराकर रोहिणीनन्दनको[१] बन्धनसे छुड़ाया ॥

एवं बहूनि कर्माणि शिशुरेव जनार्दनः ॥
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ।

इस प्रकार संकर्षणसहित कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण-ने बाल्यावस्थामें ही बहुत-से अद्भुत कर्म किये थे ॥

एवमेषोऽसुराणां च सुराणां चापि सर्वशः ॥
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।

ये ही देवताओं और असुरोंको सर्वथा अभय तथा भय देनेवाले हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं ॥

एवमेष महाबाहुः शास्ता सर्वदुरात्मनाम् ॥
कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुष्टोंका दमन करनेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीहरि अनन्त देवकार्य सिद्ध करके अपने परम-धामको पधारेंगे ॥

एष भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा सागरं गमयिष्यति ।

ये महायशस्वी श्रीकृष्ण मुनिजनवाञ्छित एवं भोगोंसे सम्पन्न रमणीय द्वारकापुरीको आत्मसात् करके समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥

बहुपुण्यवतीं रम्यां चैत्ययूपवतीं शुभाम् ॥
द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ।

ये चैत्य और यूपोंसे सम्पन्न, परम पुण्यवती, रमणीय एवं मङ्गलमयी द्वारकाको वन-उपवनोंसहित वरुणालयमें डुबा देंगे ॥

तां सूर्यसदनप्रख्यां मनोज्ञां शार्ङ्गधन्वना ॥
विश्लिष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ।

सूर्यलोकके समान कान्तिमती एवं मनोरम द्वारकापुरी-को जब शार्ङ्गधन्वा वासुदेव त्याग देंगे, उस समय समुद्र इसे अपने भीतर ले लेगा ॥

सुरासुरमनुष्येषु नाभून्न भविता क्वचित् ॥
यस्तामध्यवसद् राजा अन्यत्र मधुसूदनात् ।

भगवान् मधुसूदनके सिवा देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें ऐसा कोई राजा न हुआ और न होगा ही, जो द्वारकापुरीमें रहनेका संकल्प भी कर सके ॥

भ्राजमानास्तु शिशवो वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥
तज्जुष्टं प्रतिपत्स्यन्ते नाकपृष्ठं गतासवः ।

उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी एवं उनके कान्तिमान् शिशु भी प्राण त्यागकर भगवत्सेवित परमधामको प्राप्त करेंगे ॥

एवमेव दशार्हाणां विधाय विधिना विधिम् ॥
विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च सविता स्वयम् ।

---

१. रोहिणीके गद और सारण आदि कई पुत्र थे ।

इस प्रकार ये दशार्हवंशियोंके सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करेंगे । ये स्वयं ही विष्णु, नारायण, सोम, सूर्य और सविता हैं ॥

अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्रकामगमो वशी ॥
मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।

ये अप्रमेय हैं । इनपर किसीका नियन्त्रण नहीं चल सकता । ये इच्छानुसार चलनेवाले और सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं । जैसे बालक खिलौनेसे खेलता है, उसी प्रकार ये भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ आनन्दमयी क्रीडा करते हैं ॥

नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रभुः ॥
आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ।

ये प्रभु न तो किसीके गर्भमें आते हैं और न किसी योनिविशेषमें ही इनका आवास हुआ है अर्थात् ये अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं । श्रीकृष्ण अपने ही तेजसे सबकी सद्गति करते हैं ॥

यथा बुद्बुद उत्थाय तत्रैव प्रविलीयते ॥
चराचराणि भूतानि तथा नारायणे सदा ।

जैसे बुद्बुद पानीसे उठकर फिर उसीमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त चराचर भूत सदा भगवान् नारायणसे प्रकट होकर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं ॥

न प्रमातुं महाबाहुः शक्यो भारत केशवः ॥
परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ।

भारत ! इन महाबाहु केशवकी कोई इतिश्री नहीं बतायी जा सकती । इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न पर और अपर कुछ भी नहीं है ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ ३० ॥

यह शिशुपाल मूढ़बुद्धि पुरुष है, यह भगवान् श्रीकृष्णको सर्वत्र व्यापक तथा सर्वदा स्थिर नहीं जानता है, इसीलिये उनके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहता है ॥ ३० ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान् नरः ।
स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य उत्तम धर्मकी खोज करता है, वह धर्मके स्वरूपको जैसा समझता है, वैसा यह चेदिराज शिशुपाल नहीं समझता ॥ ३१ ॥

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥ ३२ ॥

अथवा वृद्धों और बालकोंसहित यहाँ बैठे हुए समस्त महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूज्य न मानता हो या कौन है, जो इनकी पूजा न करता हो ! ॥ ३२ ॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

यदि शिशुपाल इस पूजाको अनुचित मानता है, तो अब उस अनुचित पूजाके विषयमें उसे जो उचित जान पड़े, वैसा करे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें भीष्मवाक्यनामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७२८½ श्लोक मिलाकर कुल ७६१½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सहदेवकी राजाओंको चुनौती तथा क्षुब्ध हुए शिशुपाल आदि नरेशोंका युद्धके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाबली भीष्म चुप हो गये । तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने शिशुपालकी बातोंका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह सार्थक बात कही—॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

'राजाओ ! केशी दैत्यका वध करनेवाले अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णकी मेरेद्वारा जो पूजा की गयी है, उसे आपलोगोंमेंसे जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानोंके मस्तकपर मैंने यह पैर रख दिया । मैंने खूब सोच-समझकर यह बात कही है । जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाय । मेरेद्वारा वह वधके योग्य होगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २-३½ ॥

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।

'जो बुद्धिमान् राजा हों वे मेरेद्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्यनिवेदनके सर्वथा योग्य भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका हृदयसे अनुमोदन करें' ॥४½॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥

मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।

सहदेवने महामानी और बलवान् राजओंके बीच खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ नरेश थे, उनमेंसे कोई कुछ न बोला ॥ ५½ ॥

ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन् साधु साध्विति ।

उस समय सहदेवके मस्तकपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और अदृश्यरूपसे खड़े हुए देवताओंने 'साधु', 'साधु', कहकर उनके सत्साहसकी प्रशंसा की ॥ ६½ ॥

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥

तदनन्तर कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-की महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों-की बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले—॥ ७–८ ॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ९ ॥

'जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे । ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विशिष्ट व्यक्तियोंको पहचानने-वाले नरदेव सहदेवने क्रमशः पूज्य व्यक्तियोंकी पूजा करके वह अर्घ्यनिवेदनका कार्य पूरा कर दिया ॥ १० ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥११॥

इस प्रकार श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जानेपर शत्रु-विजयी शिशुपालने क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओंसे कहा—॥ ११ ॥

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥१२॥

'भूमिपालो ! मैं सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ । अब तुमलोग किस चिन्तामें पड़े हो । आओ, हम सब लोग युद्धके लिये सुसज्जित हो पाण्डवों और यादवोंकी सम्मिलित सेनाका सामना करनेके लिये डट जायँ' ॥ १२ ॥

इति सर्वान् समुत्साह्य राज्ञस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥१३॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥१४॥

इस प्रकार उन सब राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करके चेदिराजने युधिष्ठिरके यज्ञमें विघ्न डालनेके उद्देश्यसे राजाओंसे सलाह की। शिशुपालके इस प्रकार बुलानेपर उसके सेनापतित्व-में सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये। वे सब-के-सब अत्यन्त क्रोधसे भर रहे थे एवं उनके मुखकी कान्ति बदली हुई दिखायी देती थी ॥ १३-१४ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥१५॥

उन सबने यह कहा कि 'युधिष्ठिरके अभिषेक और श्रीकृष्णकी पूजाका कार्य सफल न हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिये' ॥ १५ ॥

निष्कर्षान्निश्चयात् सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥१६॥

इस निर्णय एवं निष्कर्षपर पहुँचकर वे सभी नरेश क्रोधसे मोहित हो गये । सहदेवकी बातोंसे अपमानका अनुभव करके अपनी शक्तिकी प्रबलताका विश्वास करके राजाओंने उपर्युक्त बातें कही थीं ॥ १६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥१७॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंके मना करनेपर भी उनका क्रोधसे तमतमाता हुआ शरीर उन सिंहोंके समान सुशोभित हुआ, जो मांससे वञ्चित कर दिये जानेके कारण दहाड़ रहे हों ॥

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥१८॥

राजाओंका वह समुदाय अक्षय समुद्रकी भाँति उमड़ रहा था । उसका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था। सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं । उसे इस प्रकार शपथ करते देख भगवान् श्रीकृष्णने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्धके लिये तैयार हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें राजाओंकी मन्त्रणाविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

(शिशुपालवधपर्व)

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता और भीष्मजीका उन्हें सान्त्वना देना

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम्।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम्॥ १॥
रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम्।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रलय-कालीन महावायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हुए भयंकर महासागरकी भाँति राजाओंके उस समुदायको क्रोधसे चञ्चल हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीसे उसी प्रकार बोले, जैसे शत्रुहन्ता महातेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिजीसे कोई बात पूछते हैं—॥१-२॥

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ३॥

'पितामह! यह देखिये, राजाओंका महासमुद्र रोषसे अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। अब यहाँ इन सबको शान्त करनेका जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइये॥३॥

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत्।
यथा सर्वत्र तत् सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह॥ ४॥

'दादाजी! यज्ञमें विघ्न न पड़े और प्रजाओंका हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय अब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ ४॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः॥ ५॥

धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुरुकुल पितामह भीष्मजी इस प्रकार बोले—॥ ५॥

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः॥ ६॥

'कुरुवंशके वीर! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? हमने कल्याणमय मार्ग पहले ही चुन लिया है (श्रीकृष्णका आश्रय ही वह मार्ग है, जिसका मैंने वरण कर लिया है)॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः॥ ७॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः।

'जैसे सिंहके सो जानेपर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भूँकने लगते हैं, उसी प्रकार ये सामने खड़े हुए राजा भी तभीतक भूँक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंशका सिंह सो रहा है॥७½॥

भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ॥ ८॥
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः॥ ९॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम्॥ १०॥

'क्रोधमें भरे हुए कुत्तोंके समान ये लोग सिंहके निकट तभीतक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण सिंहकी तरह जाग नहीं उठते—इन्हें दण्ड देनेके लिये उद्यत नहीं हो जाते। राजाओंमें श्रेष्ठ चेदिकुलभूषण नृसिंह शिशुपाल भी अपनी विवेकशक्ति खो बैठा है, तभी इन सब नरेशोंको यमलोकमें भेज देनेकी इच्छासे कुत्तेसे सिंह बनानेकी कोशिश कर रहा है॥ ८—१०॥

नूनमेतत् समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत॥११॥

'भारत! अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण इस शिशुपालके भीतर उनका जो तेज है, उसे पुनः समेट लेना चाहते हैं॥११॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम्॥१२॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही इस चेदिराज शिशुपालकी तथा इन समस्त भूपालोंकी बुद्धि मारी गयी है॥ १२॥

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा॥१३॥

'क्योंकि नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण जिस-जिसको अपनेमें विलीन कर लेना चाहते हैं, उस-उस मनुष्यकी बुद्धि इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे इस चेदिराज शिशुपालकी॥ १३॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर॥१४॥

'युधिष्ठिर! माधव श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें जो स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—ये चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीकी यह बात सुनकर चेदिराज शिशुपाल उनको बड़ी कठोर बातें सुनाने लगा ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासन नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालद्वारा भीष्मकी निन्दा

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—कुलको कलंकित करनेवाले भीष्म ! तुम अनेक प्रकारकी विभीषिकाओंद्वारा इन सब राजाओंको डरानेकी चेष्टा कर रहे हो । बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्यपर लज्जा क्यों नहीं आती ! ॥ १ ॥

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥

तुम तीसरी प्रकृतिमें स्थित (नपुंसक) हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार धर्मविरुद्ध बातें कहना उचित ही है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम समूचे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो ॥ २ ॥

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात्।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥ ३ ॥

भीष्म ! जैसे एक नाव दूसरी नावमें बाँध दी जाय; एक अंधा दूसरे अंधेके पीछे चले; वही दशा इन सब कौरवोंकी है, जिन्हें तुम-जैसा अगुआ मिला है ॥ ३ ॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

तुमने श्रीकृष्णके पूतना-वध आदि कर्मोंका जो विशेष-रूपसे वर्णन किया है, उससे हमारे मनको पुनः बहुत बड़ी चोट पहुँची है ॥ ४ ॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥

भीष्म ! तुम्हें अपने ज्ञानीपनका बड़ा घमंड है, परंतु तुम हो वास्तवमें बड़े मूर्ख । ओह ! इस केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा होते ही तुम्हारी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ! ॥ ५ ॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

भीष्म ! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्योंको भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वालियेकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो (यह आश्चर्य है !) ॥ ६ ॥

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥

भीष्म ! यदि इसने बचपनमें एक पक्षी (बकासुर) को अथवा जो युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, उन अश्व (केशी) और वृषभ (अरिष्टासुर) नामक पशुओंको मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात हो गयी ? ॥ ७ ॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥

भीष्म ! छकड़ा क्या है, चेतनाशून्य लकड़ियोंका ढेर ही तो, यदि इसने पैरसे उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी करामात कर डाली ? ॥ ८ ॥

(अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ।
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः ॥)

आकके पौधोंके बराबर दो अर्जुन वृक्षोंको यदि श्रीकृष्णने गिरा दिया अथवा एक नागको ही मार गिराया तो कौन बड़े आश्चर्यका काम कर डाला ? ॥

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

भीष्म ! यदि इसने गोवर्धनपर्वतको सात दिनतक अपने हाथपर उठाये रक्खा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती; क्योंकि गोवर्धन तो दीमकोंकी खोदी हुई मिट्टीका ढेर मात्र है ॥ ९ ॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥

भीष्म ! कृष्णने गोवर्धनपर्वतके शिखरपर खेलते हुए अकेले ही बहुत-सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँह-से सुनकर दूसरे लोगोंको ही आश्चर्य हुआ होगा (मुझे नहीं) ॥ १० ॥

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

धर्मज्ञ भीष्म ! जिस महाबली कंसका अन्न खाकर यह पला था, उसीको इसने मार डाला। यह भी इसके लिये कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम्।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

कुरुकुलाधम भीष्म ! तुम धर्मको बिलकुल नहीं जानते। मैं तुमसे धर्मकी जो बात कहूँगा, वह तुमने संत-महात्माओंके मुखसे भी नहीं सुनी होगी ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः॥ १३ ॥

स्त्रीपर, गौपर, ब्राह्मणोंपर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनपर भी हथियार न चलाये ॥ १३ ॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा।
भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते॥ १४ ॥

भीष्म ! जगत्में साधु धर्मात्मा पुरुष सज्जनोंको सदा इसी धर्मका उपदेश देते रहते हैं; किंतु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखायी देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥ १५ ॥

कौरवाधम ! तुम मेरे सामने इस कृष्णकी स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषयमें कुछ जानता ही न होऊँ ॥ १५ ॥

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते।
एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १६ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारे कहनेसे गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुए भी इस कृष्णकी पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञताकी हद हो गयी। तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकारकी हत्याओंका अपराधी है, वह स्तुतिका अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः।
सम्भावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः।
एवमेतत् सर्वमिति तत् सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥

तुम कहते हो, 'ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, ये ही सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं' और तुम्हारे ही कहनेसे यह कृष्ण अपनेको ऐसा ही समझने भी लगा है। वह इन सभी बातोंको ज्यों-की-त्यों ठीक मानता है; परंतु मेरी दृष्टिमें कृष्णके सम्बन्धमें तुम्हारे द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह सब निश्चय ही झूठा है ॥ १७ ॥

न गाथागाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥

कोई भी गीत गानेवालेको कुछ सिखा नहीं सकता, चाहे वह कितनी ही बार क्यों न गाता हो। भूलिङ्ग पक्षीकी भाँति सब प्राणी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं ॥ १८ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः।
अति पापीयसी चैषा पाण्डवानामपीष्यते ॥ १९ ॥

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति बड़ी अधम है, इसमें संशय नहीं है। अतएव इन पाण्डवोंकी प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है ॥ १९ ॥

येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥

अथवा क्यों न हो, जिनका परम पूजनीय कृष्ण है और सत्पुरुषोंके मार्गसे गिरा हुआ तुम-जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा जिनका मार्गदर्शक है ॥ २० ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद् यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥

भीष्म ! कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनेको ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ और धर्मात्मा जानते हुए भी ऐसे नीच कर्म करेगा, जो धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी तुम्हारे द्वारा किये गये हैं ॥ २१ ॥

चेत् त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥ २२ ॥

यदि तुम धर्मको जानते हो, यदि तुम्हारी बुद्धि उत्तम ज्ञान और विवेकसे सम्पन्न है तो तुम्हारा भला हो, बताओ, काशिराजकी जो धर्मज्ञ कन्या अम्बा दूसरे पुरुषमें अनुरक्त थी, उसका अपनेको पण्डित माननेवाले तुमने क्यों अपहरण किया ? ॥ २२ ॥

तां त्वयापि हृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुम्हारे द्वारा अपहरण की गयी उस काशिराजकी कन्याको तुम्हारे भाई विचित्रवीर्यने अपनानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले थे ॥ २३ ॥

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥

उन्हींकी दोनों विधवा पत्नियोंके गर्भसे तुम-जैसे पण्डित-

मानीके देखते-देखते दूसरे पुरुषद्वारा संतानें उत्पन्न की गयीं, फिर भी तुम अपनेको साधु पुरुषोंके मार्गपर स्थिर मानते हो ॥ २४ ॥

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीबत्वाद् वा न संशयः ॥२५॥

भीष्म! तुम्हारा धर्म क्या है! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य भी व्यर्थका ढकोसलामात्र है, जिसे तुमने मोहवश अथवा नपुंसकताके कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित्।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २६ ॥

धर्मराज भीष्म! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी तो नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है, तुमने ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका कभी सङ्ग नहीं किया है। तभी तो तुम ऐसे धर्मका उपदेश करते हो ॥ २६ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥

यज्ञ, दान, स्वाध्याय तथा बहुत दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञ—ये सब संतानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत्।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥

भीष्म! अनेक व्रतों और उपवासोंद्वारा जो पुण्य कार्य किया जाता है, वह सब संतानहीन पुरुषके लिये निश्चय ही व्यर्थ हो जाता है ॥ २८ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः।
हंसवत् त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥२९॥

तुम संतानहीन, वृद्ध और मिथ्याधर्मका अनुसरण करनेवाले हो; अतः इस समय हंसकी भाँति तुम भी अपने जातिभाइयोंके हाथसे ही मारे जाओगे ॥ २९ ॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा।
भीष्म यत् तदहं सम्यग् वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥

भीष्म! पहलेके विवेकी मनुष्य एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाया करते हैं, वही मैं ज्यों-का-त्यों तुम्हारे सामने उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत् पुरा।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

पूर्वकालकी बात है, समुद्रके निकट कोई बूढ़ा हंस रहता था। वह धर्मकी बातें करता; परंतु उसका आचरण ठीक उसके विपरीत होता था। वह पक्षियोंको सदा यह उपदेश दिया करता कि धर्म करो, अधर्मसे दूर रहो। सदा सत्य बोलनेवाले उस हंसके मुखसे दूसरे-दूसरे पक्षी यही उपदेश सुना करते थे ॥ ३१-३२ ॥

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥

भीष्म! ऐसा सुननेमें आया है कि वे समुद्रके जलमें विचरनेवाले पक्षी धर्म समझकर उसके लिये भोजन जुटा दिया करते थे ॥ ३३ ॥

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः।
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ॥ ३४ ॥

भीष्म! हंसपर विश्वास हो जानेके कारण वे सभी पक्षी अपने अण्डे उसके पास ही रखकर समुद्रके जलमें गोते लगाते और विचरते थे; परंतु वह पापी हंस उन सबके अण्डे खा जाता था ॥ ३४ ॥

स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि।
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद् ददर्श ह ॥ ३५ ॥

वे बेचारे पक्षी असावधान थे और वह अपना काम बनानेके लिये सदा चौकन्ना रहता था। तदनन्तर जब वे अण्डे नष्ट होने लगे, तब एक बुद्धिमान् पक्षीको हंसपर कुछ संदेह हुआ और एक दिन उसने उसकी सारी करतूत देख भी ली ॥ ३५ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम्।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३६ ॥

हंसका यह पापपूर्ण कृत्य देखकर वह पक्षी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो उठा और उसने अन्य सब पक्षियोंसे सारा हाल कह सुनाया ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ॥ ३७ ॥

कुरुवंशी भीष्म! तब उन पक्षियोंने निकट जाकर सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया और धर्मात्माका मिथ्या ढोंग बनाये हुए उस हंसको मार डाला ॥ ३७ ॥

ते त्वां हंसधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३८ ॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
भीष्म यां तां च ते सम्यक् कथयिष्यामि भारत ॥ ३९ ॥

तुम भी उस हंसके ही समान हो, अतः ये सब नरेश अत्यन्त कुपित होकर आज तुम्हें उसी तरह मार डालेंगे, जैसे उन पक्षियोंने हंसकी हत्या कर डाली थी। भीष्म! इस

विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् एक गाथा गाया करते हैं। भरतकुलभूषण ! मैं उसे भी तुमको भलीभाँति सुनाये देता हूँ ॥ ३८-३९ ॥

अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाशुचि।
अण्डभक्षणकर्मैतत् तव वाचमतीयते ॥ ४० ॥

'हंस ! तुम्हारी अन्तरात्मा रागादि दोषोंसे दूषित है, तुम्हारा यह अण्डभक्षणरूप अपवित्र कर्म तुम्हारी इस धर्मोपदेशमयी वाणीके सर्वथा विरुद्ध है' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवाक्यविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालकी बातोंपर भीमसेनका क्रोध और भीष्मजीका उन्हें शान्त करना

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—महाबली राजा जरासंध मेरे लिये बड़े ही सम्माननीय थे। वे कृष्णको दास समझकर इसके साथ युद्धमें लड़ना ही नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते ॥ २ ॥

तब इस केशवने जरासंधके वधके लिये भीमसेन और अर्जुनको साथ लेकर जो नीच कर्म किया है, उसे कौन अच्छा मान सकता है ? ॥ २ ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥

पहले तो (चैत्यकगिरिके शिखरको तोड़कर) बिना दरवाजेके ही इसने नगरमें प्रवेश किया। उसपर भी छद्मवेष बना लिया और अपनेको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार इस कृष्णने भूपाल जरासंधका प्रभाव देखा ॥ ३ ॥

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
नेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

उस धर्मात्मा जरासंधने जब इस दुरात्माके आगे ब्राह्मण अतिथिके योग्य पाद्य आदि प्रस्तुत किये, तब इसने यह जानकर कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४ ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

कौरव्य भीष्म ! तत्पश्चात् जब उन्होंने कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनोंसे भोजन करनेका आग्रह किया, तब इस कृष्णने ही उसका निषेध किया था ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

मूर्ख भीष्म ! यदि यह कृष्ण सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता है, जैसा कि तुम इसे मानते हो तो यह अपनेको भलीभाँति ब्राह्मण भी क्यों नहीं मानता ? ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझे सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह जान पड़ती है कि ये पाण्डव भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गसे दूर हटा दिये गये हैं; इसलिये ये भी कृष्णके इस कार्यको ठीक समझते हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

अथवा भारत ! स्त्रीके समान धर्मवाले (नपुंसक) और बूढ़े तुम-जैसे लोग जिनके सभी कार्योंमें पथप्रदर्शन करते हैं, उनका ऐसा समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालकी बातें बड़ी रूखी थीं। उनका एक-एक अक्षर कटुतासे भरा हुआ था। उन्हें सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्निसे जल उठे ॥ ९ ॥

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

उनकी आँखें स्वभावतः बड़ी-बड़ी और कमलके समान सुन्दर थीं। वे क्रोधके कारण अधिक लाल हो गयीं; मानो उनमें खून उतर आया हो ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

सब राजाओंने देखा, उनके ललाटमें तीन रेखाओंसे युक्त भ्रुकुटी तन गयी है; मानो त्रिकूट पर्वतपर त्रिपथगामिनी गङ्गा लहरा उठी हों ॥ ११ ॥

दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम्।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

वे दाँतोंसे दाँत पीसने लगे, रोषकी अधिकतासे उनका मुख ऐसा भयंकर दिखायी देने लगा; मानो प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको निगल जानेकी इच्छावाला विकराल काल ही प्रकट हो गया हो ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम्।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने बड़े वेगसे उठकर उन मनस्वी भीमको पकड़ लिया, मानो महेश्वरने कार्तिकेयको रोक लिया हो॥१३॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

भारत! पितामह भीष्मके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें कहकर रोके जानेपर भीमसेनका क्रोध शान्त हो गया ॥१४॥

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

शत्रुदमन भीम भीष्मजीकी आज्ञाका उल्लंघन उसी प्रकार न कर सके, जैसे वर्षाके अन्तमें उमड़ा हुआ होनेपर भी महासागर अपनी तटभूमिसे आगे नहीं बढ़ता है ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

राजन्! भीमसेनके कुपित होनेपर भी वीर शिशुपाल भयभीत नहीं हुआ। उसे अपने पुरुषार्थका पूरा भरोसा था ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥

भीमको बार-बार वेगसे उछलते देख शत्रुदमन शिशुपालने उनकी कुछ भी परवा नहीं की, जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह मृगको कुछ भी नहीं समझता ॥ १७ ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान्।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी भीमसेनको कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला—॥ १८ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

'भीष्म! छोड़ दो इसे, ये सभी राजा देख लें कि यह भीम मेरे प्रभावसे उसी प्रकार दग्ध हो जायगा जैसे फतिंगा आगके पास जाते ही भस्म हो जाता है' ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलतिलक भीष्मने भीमसे यह कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीमक्रोधविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा शिशुपालके जन्मके वृत्तान्तका वर्णन

भीष्म उवाच

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः।
रासभारावसदृशं रराव च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—भीमसेन! सुनो, चेदिराज दमघोषके कुलमें जब यह शिशुपाल उत्पन्न हुआ, उस समय इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। इसने रोनेकी जगह गदहेके रेंकनेकी भाँति शब्द किया और जोर-जोरसे गर्जना भी की ॥ १ ॥

तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागायाकुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता-पिता अन्य भाई-बन्धुओंसहित भयसे थर्रा उठे। इसकी वह विकराल आकृति देख उन्होंने इसे त्याग देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम्।
चिन्तासम्मूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥

पत्नी, पुरोहित तथा मन्त्रियोंसहित चेदिराजका हृदय चिन्तासे मोहित हो रहा था। उस समय आकाशवाणी हुई—॥३॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

'राजन्! तुम्हारा यह पुत्र श्रीसम्पन्न और महाबली है, अतः तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये। तुम शान्तचित्त होकर इस शिशुका पालन करो ॥ ४ ॥

न च वै तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥

'नरेश्वर ! अभी इसकी मृत्यु नहीं आयी है और न काल ही उपस्थित हुआ है। जो इसकी मृत्युका कारण है तथा जो शस्त्रद्वारा इसका वध करेगा, वह अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है' ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर यह आकाशवाणी सुनकर उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके पुत्रस्नेहसे संतप्त हुई इसकी माता बोली—॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥

'मेरे इस पुत्रके विषयमें जिन्होंने यह बात कही है, उन्हें मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करती हूँ। चाहे वे कोई देवता हों अथवा और कोई प्राणी ! वे फिर मेरे प्रश्नका उत्तर दें। मैं यह यथार्थरूपसे सुनना चाहती हूँ कि मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा ?' ॥७-८ ॥

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
तृतीयमेतद् बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति।

तब पुनः उसी अदृश्य भूतने यह उत्तर दिया—'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर पाँच सिरवाले दो सर्पोंकी भाँति इसकी पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र भी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमें निमित्त बनेगा' ॥ ९-१०½ ॥

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः।

चार बाँह और तीन आँखवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखनेके लिये आये ॥ ११½ ॥

तान् पूजयित्वा सम्प्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत् तदा।

चेदिराजने अपने घर पधारे हुए उन सभी नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके अपने पुत्रको हर एकको गोदमें रक्खा ॥ १२½ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्कसमारूढो न तत् प्राप निदर्शनम्।

इस प्रकार वह शिशु क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें अलग-अलग रक्खा गया; परंतु मृत्युसूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ १३½ ॥

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥

द्वारकामें यही समाचार सुनकर महाबली बलराम और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी वीर अपनी बुआसे मिलनेके लिये उस समय चेदिराज्यकी राजधानीमें गये ॥ १४-१५ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम्।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥

वहाँ बलराम और श्रीकृष्णने बड़े-छोटेके क्रमसे सबको यथायोग्य प्रणाम किया एवं राजा दमघोष और अपनी बुआ श्रुतश्रवासे कुशल और आरोग्यविषयक प्रश्न किया। तत्पश्चात् दोनों भाई एक उत्तम आसनपर विराजमान हुए ॥ १६ ॥

साभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥

महादेवी श्रुतश्रवाने बड़े प्रेमसे उन दोनों वीरोंका सत्कार किया और स्वयं ही अपने पुत्रको श्रीकृष्णकी गोदमें डाल दिया ॥ १७ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

उनकी गोदमें रखते ही बालककी वे दोनों बाँहें गिर गयीं और ललाटवर्ती नेत्र भी वहीं विलीन हो गया ॥ १८ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥

यह देखकर बालककी माता भयभीत हो मन-ही-मन व्यथित हो गयी और श्रीकृष्णसे वर माँगती हुई बोली—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! मैं भयसे व्याकुल हो रही हूँ। मुझे इस पुत्रकी जीवनरक्षाके लिये कोई वर दो ॥ १९ ॥

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद् यदुनन्दनः ॥ २० ॥

'क्योंकि तुम संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके सबसे बड़े सहारे और भयभीत मनुष्योंको अभय देनेवाले हो।'

अपनी बुआके ऐसा कहनेपर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा—॥ २० ॥

मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥

'देवि ! धर्मज्ञे ! तुम डरो मत। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। बुआ ! तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर दूँ ? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध कर दूँ ? ॥ २१ ॥

शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद् यदुनन्दनम्॥ २२॥

'सम्भव हो या असम्भव, तुम्हारे वचनका मैं अवश्य पालन करूँगा।' इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर श्रुतश्रवा यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोली—॥ २२॥

शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो॥ २३॥

'महाबली यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण! तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा कर देना। प्रभो! यही मेरा मनोवाञ्छित वर समझो'॥ २३॥

श्रीकृष्ण उवाच

अपराधशतं क्षम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः॥ २४॥

श्रीकृष्णने कहा—बुआ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरेद्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूँगा। तुम अपने मनमें शोक न करो॥ २४॥

भीष्म उवाच

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः॥ २५॥

भीष्मजी कहते हैं—वीरवर भीमसेन! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णके दिये हुए वरदानसे उन्मत्त होकर तुम्हें युद्धके लिये ललकार रहा है॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवृत्तान्तवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मकी बातोंसे चिढ़े हुए शिशुपालका उन्हें फटकारना तथा भीष्मका श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये समस्त राजाओंको चुनौती देना

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम्।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भीमसेन! यह चेदिराज शिशुपालकी बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले तुम-जैसे महावीरको ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका ही यह निश्चित विधान है॥ १॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः॥ २॥

भीमसेन! कालने ही इसके मन और बुद्धिको ग्रस लिया है, अन्यथा इस भूमण्डलमें कौन ऐसा राजा होगा, जो मुझपर इस तरह आक्षेप कर सके, जैसे यह कुलकलङ्क शिशुपाल कर रहा है॥ २॥

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम्।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः॥ ३॥

यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके तेजका अंश है। ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंशको पुनः समेट लेना चाहते हैं॥ ३॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट्।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन्॥ ४॥

कुरुसिंह भीम! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि शिशुपाल हम सबको कुछ न समझकर आज सिंहके समान गरज रहा है॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम्॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात शिशुपाल न सह सका। वह पुनः अत्यन्त क्रोधमें भरकर भीष्मको उनकी बातोंका उत्तर देते हुए बोला॥ ५॥

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः॥ ६॥

शिशुपालने कहा—भीष्म! तुम सदा भाटकी तरह खड़े होकर जिसकी स्तुति गाया करते हो, उस कृष्णका जो प्रभाव है, वह हमारे शत्रुओंके पास ही रहे॥ ६॥

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम्॥ ७॥

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुतिमें ही लगता है तो इस जनार्दनको छोड़कर इन राजाओंकी ही स्तुति करो॥ ७॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम्।
जायमानेन येनेयमभवद् दारिता मही॥ ८॥

ये दरददेशके राजा हैं, इनकी स्तुति करो। ये

भूमिपालोंमें श्रेष्ठ बाह्लीक बैठे हैं, इनके गुण गाओ। इन्होंने जन्म लेते ही अपने शरीरके भारसे इस पृथ्वीको विदीर्ण कर दिया था ॥ ८ ॥

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥

भीष्म! ये जो वङ्ग और अङ्ग दोनों देशोंके राजा हैं, इन्द्रके समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले हैं, इन वीरवर कर्णकी कीर्तिका गान करो ॥ ९ ॥

यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥

महाबाहो! इन कर्णके ये दोनों दिव्य कुण्डल जन्मके साथ ही प्रकट हुए हैं। किसी देवताने ही इन कुण्डलोंका निर्माण किया है। कुण्डलोंके साथ-साथ इनके शरीरपर यह दिव्य कवच भी जन्मसे ही पैदा हुआ है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

वासवप्रतिमो येन जरासंधोऽतिदुर्जयः।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अत्यन्त दुर्जय जरासंधको बाहुयुद्धके द्वारा केवल परास्त ही नहीं किया, उनके शरीरको चीर भी डाला, उन भीमसेनकी स्तुति करो। ११।

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा दोनों पिता-पुत्र महारथी हैं तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव स्तुत्य भी हैं। भीष्म! तुम उन दोनोंकी अच्छी तरह स्तुति करो ॥ १२ ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम्।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥

भीष्म! इन दोनों पिता-पुत्रोंमेंसे यदि एक भी अत्यन्त क्रोधमें भर जाय, तो चराचर प्राणियोंसहित इस सारी पृथ्वीको नष्ट कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३॥

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम्।
नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि॥ १४ ॥

भीष्म! मुझे तो कोई भी ऐसा राजा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी बराबरी कर सके। तो भी तुम इन दोनोंकी स्तुति करना नहीं चाहते॥१४॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्।
दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥

इस समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर जो अद्वितीय अनुपम वीर हैं, उन राजाधिराज महाबाहु दुर्योधनको, अस्त्रविद्यामें निपुण और सुदृढ़पराक्रमी राजा जयद्रथको और विश्वविख्यात विक्रमशाली महाबली किम्पुरुषाचार्य द्रुमको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो। ॥१५-१६॥

वृद्धं च भारताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥

शरद्वान् मुनिके पुत्र महापराक्रमी कृप भरतवंशके वृद्ध आचार्य हैं। इनका उल्लङ्घन करके तुम कृष्णका गुण क्यों गाते हो? ॥ १७ ॥

धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पुरुषरत्न महाबली रुक्मीकी अवहेलना करके तुम केशवकी प्रशंसाके गीत क्यों गाते हो? ॥ १८ ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम्।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तरम् ॥२०॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ॥ २१ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम्।

महापराक्रमी भीष्मक, भूमिपाल दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज सहदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, पाण्ड्यनरेश, श्वेत, उत्तर, महाभाग शङ्ख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य तथा महारथी एवं महाबली कलिंगनरेशकी अवहेलना करके कृष्णकी प्रशंसा क्यों कर रहे हो? ॥ १९–२१½ ॥

शल्यादीनपि कस्मात् त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुति करनेमें ही लगता है तो इन शल्य आदि श्रेष्ठ राजाओंकी स्तुति क्यों नहीं करते? ॥ २२ ॥

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

भीष्म! तुमने पहले बड़े-बूढ़े धर्मोपदेशकोंके मुखसे यदि यह धर्मसंगत बात, जिसे मैं अभी बताऊँगा नहीं सुनी, तो मैं क्या कर सकता हूँ? ॥ २३ ॥

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥

भीष्म ! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरेकी निन्दा और दूसरेकी स्तुति —ये चार प्रकारके कार्य पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ॥ २४ ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥२५॥

भीष्म ! जो स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है, उसी केशवकी तुम मोहवश सदा भक्तिभावसे जो स्तुति करते रहते हो, उसका कोई अनुमोदन नहीं करता ॥ २५ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत् केवलकाम्यया ॥२६॥

दुरात्मा कृष्ण तो राजा कंसका सेवक है, उनकी गौओंका चरवाहा रहा है । तुम केवल स्वार्थवश इसमें सारे जगत्‌का समावेश कर रहे हो ॥ २६ ॥

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥२७॥

भारत ! तुम्हारी बुद्धि ठिकानेपर नहीं आ रही है । मैं यह बात पहले ही बता चुका हूँ कि तुम भूलिङ्ग पक्षीके समान कहते कुछ और करते कुछ हो ॥ २७ ॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥२८॥

भीष्म ! हिमालयके दूसरे भागमें भूलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है । उसके मुखसे सदा ऐसी बात सुनायी पड़ती है, जो उसके कार्यके विपरीत भावकी सूचक होनेके कारण अत्यन्त निन्दनीय जान पड़ती है ॥ २८ ॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥२९॥

वह चिड़िया सदा यही बोला करती है 'मा साहसम्' (अर्थात् साहसका काम न करो), परंतु वह स्वयं ही भारी साहसका काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती ॥२९॥

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥३०॥

भीष्म ! वह मूर्ख चिड़िया मांस खाते हुए सिंहके दाँतोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको अपनी चोंचसे चुगती रहती है ॥३०॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥३१॥

निःसंदेह सिंहकी इच्छासे ही वह अबतक जी रही है । पापी भीष्म ! इसी प्रकार तुम भी सदा बढ़-बढ़कर बातें करते हो ॥ ३१ ॥

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥३२॥

भीष्म ! निःसंदेह तुम्हारा जीवन इन राजाओंकी इच्छासे ही बचा हुआ है; क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत्‌से द्वेष करनेवाले हों ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालका यह कटु वचन सुनकर भीष्मजीने शिशुपालके सुनते हुए यह बात कही—॥ ३३ ॥

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥३४॥

'अहो ! शिशुपालके कथनानुसार मैं इन राजाओंकी इच्छापर जी रहा हूँ; परंतु मैं तो इन समस्त भूपालोंको तिनके-बराबर भी नहीं समझता' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुकुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ॥३५॥

भीष्मके ऐसा कहनेपर बहुत-से राजा कुपित हो उठे । कुछ लोगोंको हर्ष हुआ तथा कुछ भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ॥ ३५ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥३६॥

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्मकी वह बात सुनकर कहने लगे—'यह बूढ़ा भीष्म पापी और घमण्डी है, अतः क्षमाके योग्य नहीं है ॥ ३६ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥३७॥

'राजाओ ! क्रोधमें भरे हुए हम सब लोग मिलकर इस खोटी बुद्धिवाले भीष्मको पशुकी भाँति गला दबाकर मार डालें अथवा घास-फूसकी आगमें इसे जीते-जी जला दें' ॥३७॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥३८॥

उन राजाओंकी ये बातें सुनकर कुरुकुलके पितामह बुद्धिमान् भीष्मजी फिर उन्हीं नरेशोंसे बोले—॥ ३८ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत् तु वक्ष्यामि तत् सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥३९॥

'राजाओ ! यदि मैं सबकी बातका अलग-अलग उत्तर दूँ तो यहाँ उसकी समाप्ति होती नहीं दिखायी देती । अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब ध्यान देकर सुनो ॥ ३९ ॥

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४०॥

'तुमलोगोंमें साहस या शक्ति हो, तो पशुकी भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूसकी आगमें मुझे जला दो। मैंने तो तुमलोगोंके मस्तकपर अपना यह पूरा पैर रख दिया ॥ ४० ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥४१॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥४२॥

'हमने जिनकी पूजा की है, अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे भगवान् गोविन्द तुमलोगोंके सामने मौजूद हैं। तुमलोगोंमेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह इन्हीं यदुकुलतिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्णको आज युद्धके लिये ललकारे और इनके हाथों मारा जाकर इन्हीं भगवान्‌के शरीरमें प्रविष्ट हो जाय' ।४१-४२।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालका वध, राजसूययज्ञकी समाप्ति तथा सभी ब्राह्मणों, राजाओं और श्रीकृष्णका स्वदेशगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः ।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेवके साथ युद्धके लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन ।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

जनार्दन ! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवोंसहित तुम्हें मार डालूँ॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः ।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

'कृष्ण ! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं; क्योंकि इन्होंने सब राजाओंकी अवहेलना करके राजा न होनेपर भी तुम्हारी पूजा की ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

'तुम कंसके दास थे तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राजोचित पूजाके अनधिकारी हो। तो भी कृष्ण ! जो लोग मूर्खतावश तुम-जैसे दुर्बुद्धिकी पूजनीय पुरुषकी भाँति पूजा करते हैं, वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ।

ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ ४½ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥

शिशुपालके ऐसा कहनेपर अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने उसके सामने समस्त राजाओंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥

'भूमिपालो ! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत् ।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः ॥ ७ ॥

'नरेश्वरो ! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी ॥ ७ ॥

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।
हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा॥ ८ ॥

'एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहाँ जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया ॥ ८ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

'मेरे पिताजी अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था ॥ ९ ॥

सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः ।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥

'इतना ही नहीं, इसने बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे द्वारका जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ॥

'इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालानरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया ॥११॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥

'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है ॥ १२ ॥

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥

'आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह जान लें ॥ १३ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥

'परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा ॥ १४ ॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥

'अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी, परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक स्वरसे चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की ॥ १६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ १७ ॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥

'कृष्ण ! तुम इस भरी सभामें, विशेषतः सभी राजाओंके सामने रुक्मिणीको मेरी पहलेकी मनोनीत पत्नी बताते हुए लज्जाका अनुभव कैसे नहीं करते ? ॥ १८ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥

'मधुसूदन ! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनी स्त्रीको पहले दूसरेकी वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुए सत्पुरुषोंकी सभामें इसका वर्णन करेगा ? ॥ १९ ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद् वापि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥

'कृष्ण ! यदि अपनी बुआकी बातोंपर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होनेसे मेरा क्या बनने-बिगड़नेवाला है ?' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः ।
मनसाचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ॥ २१ ॥

शिशुपाल इस तरहकी बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्गविनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥

चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया। तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा—॥ २२ ॥

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥
दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥

'यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं ! इसीकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। राजाओ ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप सभी भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शिशुपालका सिर उड़ा दिया ॥ २५ ॥

स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः ।
ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् ।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
ववन्दे तत् तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २७ ॥

महाबाहु शिशुपाल वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति धराशायी हो गया । महाराज ! तदनन्तर सभी नरेशोंने देखा; चेदिराजके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपर उठ रहा है; मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो । नरेश्वर ! उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्ण-को नमस्कार किया और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ २६-२७ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः ।
यद् विवेश महाबाहुं तत् तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥

यह देखकर सभी राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसका तेज महाबाहु पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो गया ॥ २८ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः ।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुंधरा ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालके मारे जानेपर सारी पृथ्वी हिलने लगी, बिना बादलोंके ही आकाशसे वर्षा होने लगी और प्रज्वलित बिजली टूट-टूटकर गिरने लगी ॥ २९ ॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥

वह समय वाणीकी पहुँचके परे था । उसका वर्णन करना कठिन था । उस समय कोई भूपाल वहाँ इस विषयमें कुछ भी न बोल सके—मौन रह गये । वे बार-बार केवल श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखते रहे ॥ ३० ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥

कुछ अन्य नरेश अत्यन्त अमर्षमें भरकर हाथोंसे हाथ मसलने लगे तथा दूसरे लोग क्रोधसे मूर्च्छित होकर दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ॥ ३१ ॥

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥

कुछ राजा एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे । कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोधके वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ ३३ ॥
शशंसुर्निर्वृता सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ।

बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा ब्राह्मणों तथा महाबली भूमिपालोंने भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए उन्हींकी शरण ली ॥ ३३½ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—'दमघोषपुत्र वीर राजा शिशुपालका अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कारके साथ करो, इसमें देर न लगाओ ।' पाण्डवोंने भाईकी उस आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन किया ॥ ३४-३५ ॥

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ आये हुए सभी भूमिपालोंके साथ चेदिदेशके राजसिंहासनपर शिशुपालके पुत्रको अभिषिक्त कर दिया ॥ ३६ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरका वह सम्पूर्ण समृद्धियोंसे भरा-पूरा राजसूययज्ञ तरुण राजाओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा ॥ ३७ ॥

शिशुपालके वधके लिये भगवान्‌का हाथमें चक्र ग्रहण करना

दुर्योधनका स्थलके भ्रमसे जलमें गिरना

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥

उस यज्ञका विघ्न शान्त हो गया था; अतः उसका सुखपूर्वक आरम्भ हुआ। उसमें अपरिमित धन-धान्यका संग्रह एवं सदुपयोग किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित होनेके कारण उस यज्ञमें कभी अन्नकी कमी नहीं होने पायी। उसमें सदा पर्याप्तमात्रामें भक्ष्य-भोज्य आदिकी सामग्री प्रस्तुत रहती थी ॥ ३८ ॥

(ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम्।
उपेन्द्रबुद्ध्या विहितं सहदेवेन भारत ॥

भरतनन्दन ! राजाओंने सहदेवके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञका उत्तम विधि-विधान देखा ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र हेमतालमयानि च।
दीप्तभास्करतुल्यानि प्रदीप्तानीव तेजसा।
स यज्ञस्तोरणैस्तैश्च ग्रहैर्द्यौरिव सम्बभौ ॥

उस यज्ञमण्डपमें सुवर्णमय तालके बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभासे तेजस्वी सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे। उन तेजस्वी द्वारोंसे वह विशाल यज्ञ-मण्डप ग्रहोंसे आकाशकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥

शय्यासनविहारांश्च सुबहून् वित्तसम्भृतान्।
घटान् पात्रीः कटाहानि कलशानि समन्ततः।
न ते किञ्चिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ॥

वहाँ शय्या, आसन और क्रीडाभवनोंकी संख्या बहुत थी। उनके निर्माणमें प्रचुर धन लगा था। चारों ओर घड़े, भाँति-भाँतिके पात्र, कड़ाहे और कलश आदि सुवर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ राजाओंने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोनेकी बनी हुई न हो ॥

ओदनानां विकाराणि स्वादूनि विविधानि च।
सुबहूनि च भक्ष्याणि पेयानि मधुराणि च।
ददुर्द्विजानां सततं राजप्रेष्या महाध्वरे ॥

उस महान् यज्ञमें राजसेवकगण ब्राह्मणोंके आगे सदा नाना प्रकारके स्वादिष्ट भात तथा चावलकी बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे। वे उनके लिये मधुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां भुञ्जतां तदा।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खोऽध्मायत नित्यशः ॥

भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शङ्ख बजाया जाता था ॥

मुहुर्मुहुः प्रणादस्तु तस्य शङ्खस्य भारत।
उत्तमं शङ्खशब्दं तं श्रुत्वा विस्मयमागताः ॥

जनमेजय ! दिनमें कई बार इस तरहकी शंख-ध्वनि होती थी। वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगोंको बड़ा विस्मय होता था ॥

एवं प्रवृत्ते यज्ञे तु तुष्टपुष्टजनायुते।
अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सेधाः पर्वतोपमाः।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषां च ह्रदाञ्जनाः ॥

इस प्रकार सहस्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञका कार्य चलने लगा। राजन् ! उसमें अन्नके बहुत-से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। लोगोंने देखा, वहाँ दहीकी नहरें बह रही थीं तथा घीके कितने ही कुण्ड भरे हुए थे ॥

जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन् महाक्रतौ ॥

राजन् ! महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें नाना जनपदोंसे युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र हुआ-सा दिखायी देता था ॥

राजानः स्रग्विणस्तत्र सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
विविधान्यन्नपानानि लेह्यानि विविधानि च।
तेषां नृपोपभोग्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ॥

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल तथा हार धारण किये नरेश ब्राह्मणोंको राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य नाना प्रकारके अन्न-पान और भाँति-भाँतिकी चटनी परोसते थे ॥

एतानि सततं भुक्त्वा तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः।
परां प्रीतिं ययुः सर्वे मोदमानास्तदा भृशम् ॥

उस यज्ञमें निरन्तर उपर्युक्त पदार्थ भोजन करके सब ब्राह्मण आनन्दमग्न हो बड़ी तृप्ति और प्रसन्नताका अनुभव करते थे ॥

एवं समुदितं सर्वं बहुगोधनधान्यवत्।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययुः ॥

इस प्रकार बहुत-सी गायों तथा धन-धान्यसे सम्पन्न उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डपको देखकर सब राजाओंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥

ऋत्विजश्च यथाशास्त्रं राजसूयं महाक्रतुम्।
पाण्डवस्य यथाकालं जुहुवुः सर्वयाजकाः ॥

ऋत्विजलोग शास्त्रीय विधिके अनुसार राजा युधिष्ठिरके उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते थे और समस्त याजक ठीक समयपर अग्निमें आहुतियाँ देते थे ॥

व्यासधौम्यादयः सर्वे विधिवद् षोडशर्त्विजः।
स्वस्वकर्माणि चक्रुस्ते पाण्डवस्य महाक्रतौ ॥

व्यास और धौम्य आदि जो सोलह ऋत्विज थे, वे युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें विधिपूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्योंका सम्पादन करते थे ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नपापो नाक्षमो द्विजः ॥

उस यज्ञमण्डपमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रतशील, अध्यापक, पापरहित, क्षमाशील एवं सामर्थ्यशील न हो ॥

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः ॥

उस यज्ञमें कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास सर्वदा।
सहदेवो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥

महातेजस्वी सहदेव महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको सदा भोजन दिलाया करते थे ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः ॥

शास्त्रोक्त अर्थपर दृष्टि रखनेवाले यज्ञकुशल याजक प्रतिदिन सब कार्योंको विधिवत् सम्पन्न करते थे ॥

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा।
रेमिरे च कथान्ते तु सर्वे तस्मिन् महाक्रतौ ॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण वहाँ सदा कथा-प्रवचन किया करते थे। उस महायज्ञमें सब लोग कथाके अन्तमें बड़े सुखका अनुभव करते थे ॥

देवैरन्यैश्च यक्षैश्च उरगैर्दिव्यमानुषैः।
विद्याधरगणैः कीर्णः पाण्डवस्य महात्मनः ॥
स राजसूयः शुशुभे धर्मराजस्य धीमतः।

देवता, असुर, यक्ष, नाग, दिव्य मानव तथा विद्याधरगणोंसे भरा हुआ बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन महात्मा धर्मराजका वह राजसूययज्ञ बड़ी शोभा पाता था ॥

गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः ॥
देवैर्मुनिगणैर्यक्षैर्देवलोक इवापरः।
स किम्पुरुषगीतैश्च किन्नरैरुपशोभितः॥

वह यज्ञमण्डप गन्धर्वों, अप्सरा-समूहों, देवताओं, मुनिगणों तथा यक्षोंसे सुशोभित हो दूसरे देवलोकके समान जान पड़ता था। किम्पुरुषोंके गीत तथा किन्नरगण उस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

नारदश्च जगौ तत्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः॥
रमयन्ति स्म तान् सर्वान् यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा दूसरे गीतकुशल गन्धर्व वहाँ गीत गाकर यज्ञकार्योंके बीच-बीचमें अवकाश मिलनेपर सब लोगोंका मनोरंजन करते थे ॥

इतिहासपुराणानि आख्यानानि च सर्वशः।
ऊचुर्वै शब्दशास्त्रज्ञा नित्यं कर्मान्तरेष्वथ ॥

यज्ञसम्बन्धी कर्मोंके बीचमें अवसर मिलनेपर व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् पुरुष इतिहास, पुराण तथा सब प्रकारके उपाख्यान सुनाया करते थे ॥

भेर्यश्च मुरजाश्चैव मड्डुका गोमुखाश्च ये।
शृङ्गवंशाम्बुजाश्चैव श्रूयन्ते स्म सहस्रशः ॥

वहाँ सहस्रों भेरी, मृदङ्ग, मड्डुक, गोमुख, शृङ्ग, वंशी और शंखोंके शब्द सुनायी पड़ते थे ॥

लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा॥
नानादेशसमुद्भूतैर्नानाजातिभिरागतैः ।
पर्याप्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥

इस जगत्में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, (क्षत्रिय,) वैश्य, शूद्र, सब प्रकारके म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णोंके लोग उस यज्ञमें उपस्थित हुए थे। अनेक देशोंमें उत्पन्न विभिन्न जातिके लोगोंके शुभागमनसे युधिष्ठिरके उस राजभवनमें ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक यहाँ उपस्थित हो गया है ॥

भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवः ससुयोधनाः।
वृष्णयश्च समग्राश्च पञ्चालाश्चापि सर्वशः।
यथार्हं सर्वकर्माणि चक्रुर्दासा इव क्रतौ ॥

उस राजसूययज्ञमें भीष्म,, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पाञ्चाल भी सेवकोंकी भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों करते थे ॥

एवं प्रवृत्तो यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः।
शुशुभे च महाबाहो सोमस्येव क्रतुर्यथा ॥

महाबाहु जनमेजय ! इस प्रकार बुद्धिमान् युधिष्ठिरका वह यज्ञ चन्द्रमाके राजसूययज्ञकी भाँति शोभा पाता था ॥

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

धर्मराज युधिष्ठिर उस यज्ञमें हर समय वस्त्र, कम्बल,

चादर, स्वर्णपदक, सोनेके बर्तन और सब प्रकारके आभूषणोंका दान करते रहते थे ॥

यानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम् ।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा ॥

वहाँ राजाओंसे जो-जो रत्न अथवा उत्तम धन भेंटके रूपमें प्राप्त हुए, उन सबको युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥

कोटीसहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।

उन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें सहस्र कोटि स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं ॥

न करिष्यति तं लोके कश्चिदन्यो महीपतिः ॥
याजकाः सर्वकामैश्च सततं तत्पुर्धनैः ।

उन्होंने संसारमें वह कार्य किया जिसे दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुएँ और प्रचुर धन पाकर सदाके लिये तृप्त हो गये ॥

व्यासं धौम्यं च प्रयतो नारदं च महामतिम् ॥
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं वैशम्पायनमेव च ।
याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं च महौजसम् ॥
सर्वांश्च विप्रप्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥

फिर राजा युधिष्ठिरने व्यास, धौम्य, महामति नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा महातेजस्वी कलाप—इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूर्ण मनोयोगके साथ सत्कार एवं पूजन किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

युष्मत्प्रभावात् प्राप्तोऽयं राजसूयो महाक्रतुः ।
जनार्दनप्रभावाच्च सम्पूर्णो मे मनोरथः ॥

युधिष्ठिर उनसे बोले--महर्षियो ! आपलोगोंके प्रभावसे यह राजसूय महायज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके प्रतापसे मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ यज्ञं समाप्यान्ते पूजयामास माधवम् ।
बलदेवं च देवेशं भीष्माद्यांश्च कुरूत्तमान् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार यज्ञ-समाप्तिके समय राजा युधिष्ठिरने अन्तमें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण, देवेश्वर बलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदिका पूजन किया ॥

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस राजसूय महायज्ञको विधिपूर्वक समाप्त किया। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने आरम्भसे लेकर अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ॥ ३९ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिर जब अवभृथस्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रियराजाओंका समुदाय उनके पास जाकर बोला—॥ ४० ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।
आजमीढाजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४१ ॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥

'धर्मज्ञ ! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने सम्राट्का पद प्राप्त कर लिया। अजमीढ-कुलनन्दन राजाधिराज ! आपने इस कर्मद्वारा अजमीढवंशी क्षत्रियोंके यशका विस्तार तो किया ही है, महान् धर्मका भी सम्पादन किया है। नरव्याघ्र ! आपने हमारे लिये सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा बड़ा सम्मान किया है। अब हम आपसे जानेकी अनुमति लेना चाहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ।
राजानः सर्व एवैते प्रत्यासान् समुपागताः ॥ ४४ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः ।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥

'हम अपने-अपने राष्ट्रको जायँगे, आप हमें आज्ञा दें।' राजाओंका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पूजनीय नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके सब भाइयोंसे कहा—'ये सभी राजा प्रेमसे ही हमारे यहाँ पधारे थे। ये परंतप भूपाल अब मुझसे पूछकर अपने राष्ट्रको जानेके लिये उद्यत हैं। तुमलोगोंका भला हो। तुमलोग अपने राज्यकी सीमातक आदरपूर्वक इन श्रेष्ठ नरपतियोंको पहुँचा आओ' ॥ ४३-४५ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥

भाईकी बात मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओंके साथ गये ॥ ४६ ॥

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनंजयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरंत ही राजा विराटके साथ गया। धनंजयने महारथी महात्मा द्रुपदका अनुसरण किया ॥ ४७ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ॥ ४८ ॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके साथ गये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने द्रोणाचार्य तथा उनके वीर पुत्र अश्वत्थामाको पहुँचाया ॥ ४८ ॥

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ॥ ४९ ॥

राजन्! सुबल और उनके पुत्रके साथ नकुल गये। द्रौपदीके पाँच पुत्रों तथा अभिमन्युने पर्वतीय महारथियोंको अपने राज्यकी सीमातक पहुँचाया ॥ ४९ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५० ॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार अन्य क्षत्रियशिरोमणियोंने दूसरे दूसरे क्षत्रिय राजाओंका अनुगमन किया। इसी तरह सभी ब्राह्मण भी अत्यन्त पूजित हो सहस्रोंकी संख्यामें वहाँसे विदा हुए। राजाओं तथा ब्राह्मणोंके चले जानेपर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५०-५१ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥

'कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरीको जाऊँगा। सौभाग्यसे आपने सब यज्ञोंमें उत्तम राजसूयका सम्पादन कर लिया ॥ ५२ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दनसे बोले—'गोविन्द! आपकी ही कृपासे मैंने यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न किया है ॥ ५३ ॥

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद् वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥

'तथा सारा क्षत्रियमण्डल भी आपके ही प्रसादसे मेरे अधीन हुआ और उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट ले मेरे पास आया ॥

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५५ ॥

'अनघ! आपको जानेके लिये मेरी वाणी कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना कभी प्रसन्न नहीं रह सकूँगा ॥

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥

'परंतु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।' उनके ऐसा कहनेपर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीहरि युधिष्ठिरको साथ ले बुआ कुन्तीके पास गये और प्रसन्नतापूर्वक बोले—'बुआजी! तुम्हारे पुत्रोंने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया, उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। वे सब के-सब धन तथा रत्नोंसे सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ' ॥ ५६—५८ ॥

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकी आज्ञा ले श्रीकृष्ण सुभद्रा और द्रौपदीसे भी मिले और मीठे वचनोंसे उन दोनोंको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिरके साथ अन्तःपुरसे बाहर निकले ॥ ५९ ॥

स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम्।
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥ ६० ॥
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥

फिर स्नान और जप करके उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके बाद महाबाहु दारुक मेघके समान नीले रंगका सुन्दर रथ जोतकर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। गरुडध्वजसे सुशोभित उस सुन्दर रथको उपस्थित देख महामना कमलनयन श्रीकृष्णने उसकी दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ हो वे द्वारकापुरीकी ओर चल पड़े ॥

(सात्यकिः कृतवर्मा च रथमारुह्य सत्वरौ।
बीजयामासतुस्तत्र चामराभ्यां हरिं तथा ॥
बलदेवश्च देवेशो यादवाश्च सहस्रशः।
प्रययू राजवत् सर्वे धर्मपुत्रेण पूजिताः।
ततः स सम्मतं राजा हित्वा सौवर्णमासनम् ॥)
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥

सात्यकि और कृतवर्मा शीघ्रतापूर्वक उस रथपर आरूढ़ हो श्रीहरिकी सेवाके लिये चँवर डुलाने लगे। देवेश्वर बलदेवजी तथा सहस्रों यदुवंशी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे पूजित हो राजाकी भाँति वहाँसे विदा हुए। तदनन्तर सोनेके श्रेष्ठ सिंहासनको छोड़कर भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे ॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

तब कमललोचन भगवान् श्रीहरिने दो घड़ीतक अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे कहा—॥ ६४ ॥

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६५ ॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः ।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६६ ॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति ।

'राजन्! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनोंके पालनमें लगे रहें। जैसे सब प्राणी मेघको, पक्षी महान् वृक्षको और सम्पूर्ण देवता इन्द्रको अपने जीवनका आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी बन्धु-बान्धव जीवन-निर्वाहके लिये आपका आश्रय लें।' श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपसमें इस प्रकार बातें करके एक दूसरेकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चल दिये ॥ ६५–६६½ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६७ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६८ ॥

राजन्! यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर भी राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों नरश्रेष्ठ उस दिव्य सभाभवनमें ही रहे ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवधविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४२ श्लोक मिलाकर कुल ११० श्लोक हैं)

(द्यूतपर्व)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी भविष्यवाणीसे युधिष्ठिरकी चिन्ता और समत्वपूर्ण बर्ताव करनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात् समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञोंमें श्रेष्ठ परम दुर्लभ राजसूययज्ञके समाप्त हो जानेपर शिष्योंसे घिरे हुए भगवान् व्यास राजा युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

सोऽभ्ययादासनात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

उन्हें देखकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर तुरंत आसनसे उठकर खड़े हो गये और आसन एवं पाद्य आदि समर्पण करके उन्होंने पितामह व्यासजीका यथावत् पूजन किया ॥

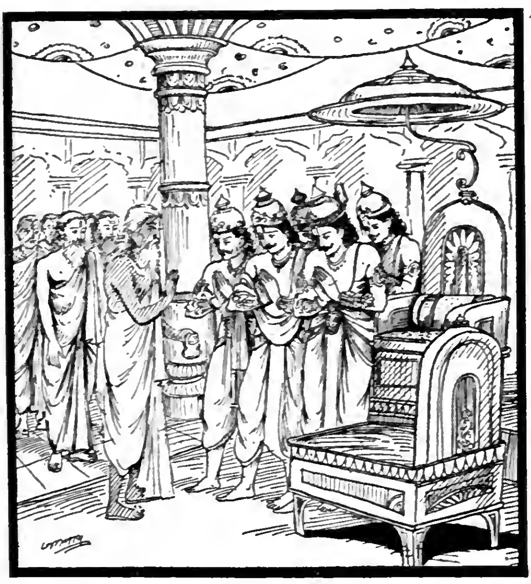

अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय उत्तम आसनपर बैठकर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बैठ जाओ' ॥ ३ ॥

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरके बैठ जानेपर बातचीतमें कुशल भगवान् व्यासने उनसे कहा—॥ ४ ॥

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम परम दुर्लभ सम्राट्का पद पाकर सदा उन्नतिशील हो रहे हो। कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश! तुमने समस्त कुरुवंशियोंको समृद्धिशाली बना दिया ॥ ५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशाम्पते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत् ।

'राजन्! अब मैं जाऊँगा। इसके लिये तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। तुमने मेरा अच्छी तरह सम्मान किया है।'

महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पितामहके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और कहा ॥ ६½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नान्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर बोले—नरश्रेष्ठ ! मेरे मनमें एक भारी संशय उत्पन्न हो गया है । विप्रवर ! आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसका समाधान कर सके ॥ ७½ ॥

उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवान्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

पितामह ! देवर्षि भगवान् नारदने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीविषयक तीन प्रकारके उत्पात बताये हैं । क्या शिशुपालके मारे जानेसे वे महान् उत्पात शान्त हो गये ? ॥ ८-९ ॥

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर पराशरनन्दन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ॥ ११ ॥

'राजन् ! उत्पातोंका महान् फल तेरह वर्षोंतक हुआ करता है । इस समय जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला होगा ॥ ११ ॥

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १२ ॥

'भरतकुलतिलक ! एकमात्र तुम्हींको निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमिपालोंका समुदाय आपसमें लड़कर नष्ट हो जायगा । भारत ! क्षत्रियोंका यह विनाश दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके पराक्रमद्वारा सम्पन्न होगा॥

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥ १३ ॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र ! तुम रातके अन्तमें स्वप्नमें उन वृषभध्वज भगवान् शंकरका दर्शन करोगे, जो नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी तथा कृत्तिवासा कहलाते हैं ॥ १३-१४ ॥

कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥ १५ ॥

उन भगवान् शिवकी कान्ति कैलासशिखरके समान उज्ज्वल होगी । वे वृषभपर आरूढ़ हुए सदा दक्षिण दिशाकी ओर देख रहे होंगे ॥ १५ ॥

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

'राजन् ! तुम्हें इस प्रकार ऐसा स्वप्न दिखायी देगा, किंतु उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि काल सबके लिये दुर्लङ्घ्य है ॥ १६ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥ १७ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलासपर्वतपर जाऊँगा । तुम सावधान एवं जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीका पालन करो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदमार्गका अनुसरण करनेवाले अपने शिष्योंके साथ कैलासपर्वतपर चले गये ॥ १८ ॥

गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत् तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ १९ ॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ २० ॥

अपने पितामह व्यासजीके चले जानेपर चिन्ता और शोकसे युक्त राजा युधिष्ठिर बारंबार गरम साँसें लेते हुए उसी बातका चिन्तन करते रहे । अहो ! दैवका विधान पुरुषार्थसे किस प्रकार टाला जा सकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही होगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥ २२ ॥
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

यही सोचते-सोचते महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—'पुरुषसिंहो ! महर्षि व्यासने मुझसे जो कहा है, उसे तुमलोगोंने सुना है न ? उनकी वह बात सुनकर मैंने मरनेका निश्चय कर लिया है । तात ! यदि समस्त क्षत्रियोंके विनाशमें विधाताने मुझे ही निमित्त बनानेकी इच्छा की है, कालने मुझे ही इस अनर्थका कारण बनाया है तो

मेरे जीवनका क्या प्रयोजन है ?' राजाकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनने उत्तर दिया—॥ २१–२३ ॥

मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम्।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ॥ २४ ॥

'राजन्! इस भयंकर मोहमें न पड़िये, यह बुद्धिको नष्ट करनेवाला है। महाराज! अच्छी तरह सोच-विचारकर आपको जो कल्याणप्रद जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः।
द्वैपायनस्य वचनं ह्येवं समनुचिन्तयन् ॥ २५ ॥

तब सत्यवादी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे व्यासजीकी बातोंपर विचार करते हुए कहा—॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत।
त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥ २६ ॥

'तात! तुमलोगोंका कल्याण हो, भाइयोंके विनाशका कारण बननेके लिये मुझे तेरह वर्षोंतक जीवित रहनेसे क्या लाभ? यदि जीना ही है तो आजसे मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—॥ २६ ॥

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान्।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत् समुदाहरन्॥ २७ ॥

'मैं अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंसे कभी कड़वी बात नहीं बोलूँगा। बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञामें रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ लानेमें संलग्न रहूँगा'। २७।

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २८ ॥

'इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरोंके प्रति भेदभाव न होगा; क्योंकि जगत्‌में लड़ाई-झगड़ेका मूल कारण भेदभाव ही है ॥ २८ ॥

विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन्।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥ २९ ॥

'नररत्नो! विग्रह या वैर-विरोधको अपनेसे दूर ही रखकर सबका प्रिय करते हुए मैं संसारमें निन्दाका पात्र नहीं हो सकूँगा ॥ २९ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः संनिशम्य तत्।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥ ३० ॥

अपने बड़े भाईकी बात सुनकर सब पाण्डव उन्हींके हितमें तत्पर हो सदा उनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ३० ॥

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजन्! धर्मराजने अपने भाइयोंके साथ भरी सभामें यह प्रतिज्ञा करके देवताओं तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण किया ॥ ३१ ॥

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम्।
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! समस्त क्षत्रियोंके चले जानेपर कल्याणमय माङ्गलिक कृत्य पूर्ण करके भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने मन्त्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया। महाराज! दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों उस रमणीय सभामें ही रह गये ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिर-प्रतिज्ञाविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका मयनिर्मित सभाभवनको देखना और पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बनना तथा युधिष्ठिरके वैभवको देखकर उसका चिन्तित होना

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा दुर्योधनने उस सभाभवनमें निवास करते समय शकुनिके साथ धीरे-धीरे उस सारी सभाका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधन उस सभामें उन दिव्य अभिप्रायों (दृश्यों) को देखने लगा, जिन्हें उसने हस्तिनापुरमें पहले कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥

एक दिनकी बात है, राजा दुर्योधन उस सभाभवनमें घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थलपर जा पहुँचा और वहाँ जलकी आशंकासे उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया। इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जानेसे उसका मन उदास हो गया और वह उस स्थानसे लौटकर सभामें दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ॥ ३-४ ॥

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम्॥ ५ ॥

तदनन्तर वह स्थलमें ही गिर पड़ा, इससे वह मन-ही-मन दुखी और लज्जित हो गया तथा वहाँसे हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभाभवनमें घूमने लगा ॥ ५ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी और स्फटिकमणिमय कमलोंसे सुशोभित बावलीको स्थल मानकर वह वस्त्रसहित जलमें गिर पड़ा ॥ ६ ॥

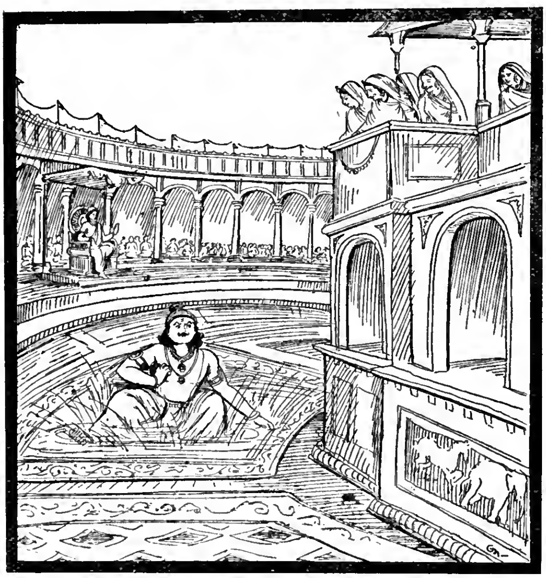

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात्।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ॥ ८ ॥
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥

उसे जलमें गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे। उनके सेवकोंने भी दुर्योधनकी हँसी उड़ायी तथा राजाज्ञासे उन्होंने दुर्योधनको सुन्दर वस्त्र दिये। दुर्योधन-की यह दुरवस्था देख महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोरसे हँसने लगे। दुर्योधन स्वभावसे ही अमर्षशील था; अतः वह उनका उपहास न सह सका ॥ ७-९ ॥

आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥

वह अपने चेहरेके भावको छिपाये रखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि नहीं डालता था। फिर स्थलमें ही जलका भ्रम हो जानेसे वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा; मानो तैरनेकी तैयारी कर रहा हो ॥ १० ॥

आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥

इस प्रकार जब वह ऊपर चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्तिपर हँसने लगे। उसके बाद राजा दुर्योधनने एक स्फटिकमणिका बना हुआ दरवाजा देखा, जो वास्तवमें बंद था, तो भी खुला दीखता था। उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर-सा आ गया॥११॥

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम्।
विघट्टयन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥ १२ ॥

ठीक उसी तरहका एक दूसरा दरवाजा मिला, जिसमें स्फटिकमणिके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे थे। यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधनने उसे बंद समझकर उसपर दोनों हाथोंसे धक्का देना चाहा। किंतु धक्केसे वह स्वयं द्वारके बाहर निकलकर गिर पड़ा ॥ १२ ॥

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥

आगे जानेपर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला; परंतु कहीं पिछले दरवाजोंकी भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भयसे वह उस दरवाजेके इधरसे ही लौट आया ॥ १३ ॥

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥

राजन्! इस प्रकार बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें पाण्डवोंके पास आयी हुई अद्भुत समृद्धिपर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अप्रसन्न मनसे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १४-१५ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥

पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीसे संतप्त हो उसीका चिन्तन करते

हुए जानेवाले राजा दुर्योधनके मनमें पापपूर्ण विचारका उदय हुआ ॥ १६ ॥

पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७ ॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह देखकर कि कुन्तीके पुत्रोंका मन प्रसन्न है, भूमण्डलके सब नरेश उनके वशमें हैं तथा बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा जगत् उनका हितैषी है, इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंकी महिमा अत्यन्त बढ़ी हुई देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका रंग फीका पड़ गया ॥ १७-१८ ॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥

रास्तेमें जाते समय वह नाना प्रकारके विचारोंसे चिन्तातुर था । वह अकेला ही परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी अलौकिक सभा तथा अनुपम लक्ष्मीके विषयमें सोच रहा था ॥ १९ ॥

प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाभ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

इस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उन्मत्त-सा हो रहा था । वह शकुनिके बार-बार पूछनेपर भी उसे कोई उत्तर नहीं दे रहा था ॥ २० ॥

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥ २१ ॥

उसे नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे युक्त देख शकुनिने पूछा—'दुर्योधन ! तुम्हें कहाँसे यह दुःखका कारण प्राप्त हो गया, जिससे तुम लंबी साँसें खींचते चल रहे हो ?' ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्ये तोयमिवाल्पकम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी ! मैंने देखा है, श्वेतवाहन महात्मा अर्जुनके अस्त्रोंके प्रतापसे जीती हुई यह सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके वशमें हो गयी है । महातेजस्वी युधिष्ठिरका वह राजसूययज्ञ उसी प्रकार सम्पन्न हुआ है, जैसे देवताओंमें देवराज इन्द्रका यज्ञ पूर्ण हुआ था । यह सब देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्यासे भरा ठीक उसी प्रकार जलता रहता हूँ, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें थोड़ा-सा जल जल्दी सूख जाता है ॥ २२—२४ ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत् कश्चित् तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥

और भी देखिये, यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णने शिशुपालको मार गिराया, परंतु वहाँ कोई भी वीर पुरुष उसका बदला लेनेको तैयार नहीं हुआ ॥ २५ ॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥

पाण्डवजनित आगसे दग्ध होनेवाले राजाओंने वह अपराध क्षमा कर दिया । अन्यथा इतने बड़े अन्यायको कौन सह सकता है ? ॥ २६ ॥

वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥

वासुदेव श्रीकृष्णने जैसा महान् अनुचित कर्म किया था वह महामना पाण्डवोंके प्रतापसे सफल हो गया ॥ २७ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥

जैसे कर देनेवाले व्यापारी वैश्य नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार सब राजा अनेक प्रकारके उत्तम रत्न लेकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २८ ॥

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके समीप प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ । यद्यपि मेरी यह दुरवस्था उचित नहीं है ॥ २९ ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ ३० ॥

ऐसा निश्चय करके दुर्योधन चिन्ताकी आगसे दग्ध-सा होता हुआ पुनः गान्धारराज शकुनिसे बोला ॥ ३० ॥

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥ ३१ ॥

मैं आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, विष खा लूँगा अथवा जलमें डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ ३१ ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृद्ध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥

संसारमें कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो शत्रुओंकी वृद्धि और अपनी हीन दशा होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ॥ ३२ ॥

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि ।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥

मैं इस समय न तो स्त्री हूँ, न अस्त्रबलसे सम्पन्न हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुंसक ही हूँ, तो भी अपने शत्रुओंके पास आयी हुई वैसी उत्कृष्ट सम्पत्तिको देखकर भी चुपचाप सहन कर रहा हूँ ! ॥ ३३ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥

शत्रुओंके पास समस्त भूमण्डलका वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नोंसे भरी सम्पदा और उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूययज्ञ देखकर मेरे-जैसा कौन पुरुष चिन्तित न होगा ? ॥ ३४ ॥

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥

मैं अकेला उस राजलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक नहीं देखता हूँ, इसीलिये मृत्युका चिन्तन करता हूँ ॥ ३५ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां श्रियं तामहतां तथा ॥ ३६ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास उस अक्षय विशुद्ध लक्ष्मीका संचय देख मैं दैवको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥

सुबलपुत्र ! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिरको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया था, किंतु उन सारे संकटोंको लाँघ करके वे जलमें कमलकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ते गये ॥३७॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥

इसीसे मैं दैवको उत्तम मानता हूँ और पुरुषार्थको निरर्थक; क्योंकि हम धृतराष्ट्रपुत्र हानि उठा रहे हैं और ये कुन्तीके पुत्र प्रतिदिन उन्नति करते जा रहे हैं ॥ ३८ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम् ।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥ ३९ ॥

मैं उस राजलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकोंद्वारा किये गये अपने उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ मानो आगमें जलता होऊँ ॥ ३९ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

मामाजी ! अब मुझे (मरनेके लिये) आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैं बहुत दुखी हूँ और ईर्ष्याकी आगमें जल रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्रको मेरी यह अवस्था सूचित कर दीजियेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये शकुनि और दुर्योधनकी बातचीत

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥

शकुनि बोला—दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिरके प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्यका ही उपभोग करते आ रहे हैं। तुमने उन्हें वशमें लानेके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किया, परंतु उनके द्वारा तुम उन्हें अपने अधीन न कर सके ॥ १-२ ॥

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिंदम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! तुमने बार-बार पाण्डवोंपर कुचक्र चलाये, परंतु वे नरश्रेष्ठ अपने भाग्यसे

उन सभी संकटोंसे छुटकारा पाते गये ॥ ३ ॥

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥

उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको तथा पुत्रोंसहित राजा द्रुपद एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें कारण महापराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सहायकरूपमें प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

(अजितः सोऽपि सर्वैर्हि सदेवासुरमानुषैः ।
तत्तेजसा प्रवृद्धोऽसौ तत्र का परिदेवना ॥)

श्रीकृष्णको सब देवता, असुर और मनुष्य मिलकर भी जीत नहीं सकते । उन्हींके तेजसे राजा युधिष्ठिरकी उन्नति हुई है; इसके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥

पृथ्वीपते ! पाण्डवोंने अपने उद्देश्यसे विचलित न होकर निरन्तर प्रयत्न करके राज्यमें अपना पैतृक अंश प्राप्त किया है और वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हींके तेजसे बहुत बढ़ गयी है, अतः उसके लिये चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ५ ॥

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम्॥ ६ ॥
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः ।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥

अर्जुनने अग्निदेवको संतुष्ट करके गाण्डीव धनुष, अक्षय तरकस तथा कितने ही दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं । उस श्रेष्ठ धनुषके द्वारा तथा अपनी भुजाओंके बलसे उन्होंने समस्त राजाओंको वशमें किया है, अतः इसके लिये शोककी क्या आवश्यकता है ? ॥ ६-७ ॥

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥

सव्यसाची परंतप अर्जुनने मय दानवको आगमें जलनेसे बचाया और उसीके द्वारा उस दिव्य सभाका निर्माण कराया ॥ ८ ॥

तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥
यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥

उस मयके ही कहनेसे किंकरनामधारी भयंकर राक्षसगण उस सभाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते हैं । अतः इसके लिये भी शोक-संताप क्यों किया जाय ? भारत ! तुमने जो अपनेको असहाय बताया है, वह मिथ्या है; क्योंकि तुम्हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ९-१० ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महान् धनुर्धर और पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ तुम्हारी सहायताके लिये उद्यत हैं । राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयोंसहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो ॥ ११-१२ ॥

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १४ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो तुम्हारे और इन द्रोण आदि अन्य महारथियोंके साथ इन पाण्डवोंको ही युद्धमें जीत लूँ । इनके पराजित हो जानेपर अभी यह सारी पृथ्वी, समस्त भूपाल और वह महाधन-सम्पन्न सभा भी हमारे अधीन हो जायगी ॥ १३-१४ ॥

शकुनिरुवाच

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १५ ॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १६ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते । ये सब-के-सब महारथी, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं तु तद् विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥ १७ ॥

राजन् ! मैं वह उपाय जानता हूँ, जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं । तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी ! यदि मेरे सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य महात्माओंकी सतत सावधानीसे किसी उपायद्वारा पाण्डवोंको जीता जा सके तो वह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम्॥ १९॥

शकुनि बोला—राजन्! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जूएका खेल बहुत प्रिय है, किंतु वे उसे खेलना नहीं जानते। यदि महाराज युधिष्ठिरको द्यूतक्रीडाके लिये बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे॥ १९॥

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय॥ २०॥

मैं जूआ खेलनेमें बहुत निपुण हूँ। इस कलामें मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। केवल यहीं नहीं, तीनों लोकोंमें मेरे-जैसा द्यूतविद्याका जानकार नहीं है। अतः कुरुनन्दन! तुम द्यूतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको बुलाओ॥ २०॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम्।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ॥ २१॥

नरश्रेष्ठ! मैं पाशा फेंकनेमें कुशल हूँ; अतः युधिष्ठिरके राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मीको तुम्हारे लिये अवश्य प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है॥ २१॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः॥ २२॥

दुर्योधन! तुम ये सारी बातें पिताजीसे कहो। उनकी आज्ञा मिल जानेपर मैं निःसंदेह पाण्डवोंको जीत लूँगा।२२।

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम्॥ २३॥

दुर्योधनने कहा—सुबलनन्दन! आप ही कुरुकुलके प्रधान महाराज धृतराष्ट्रसे इन सब बातोंको यथोचित रूपसे कहिये। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकूँगा॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर दुर्योधनका अपनी चिन्ता बताना और द्यूतके लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध करना एवं धृतराष्ट्रका विदुरको इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम्।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः॥ १॥
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत्।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा॥ २॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित सुबलनन्दन शकुनि राजा युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञका उत्सव देखकर जब लौटा, तब पहले दुर्योधनके अपने अनुकूल मतको जानकर और उसकी पूरी बातें सुनकर सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर इस प्रकार बोला॥ १—३॥

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप॥ ४॥

शकुनिने कहा—महाराज! दुर्योधनकी कान्ति फीकी पड़ती जा रही है! वह सफेद और दुर्बल हो गया है। उसकी बड़ी दयनीय दशा है। वह निरन्तर चिन्तामें डूबा रहता है। नरेश्वर! उसके मनोभावको समझिये॥ ४॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम्।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे॥ ५॥

उसे शत्रुओंकी ओरसे कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी अच्छी तरह परीक्षा क्यों नहीं करते? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदयमें महान् शोक व्याप्त है। आप उसका पता क्यों नहीं लगाते?॥ ५॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन॥ ६॥

धृतराष्ट्र दुर्योधनके पास जाकर बोले—बेटा दुर्योधन! तुम्हारे दुःखका कारण क्या है? सुना है, तुम बड़े कष्टमें हो। कुरुनन्दन! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो वह बात मुझे बताओ॥ ६॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम्।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम्॥ ७॥

यह शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो; परंतु मैं बहुत सोचनेपर भी तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं देखता॥ ७॥

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

बेटा ! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्यका भार तुम्हारे ही ऊपर है । तुम्हारे भाई और सुहृद् कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम बहुमूल्य वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, बढ़िया विशुद्ध भात खाते हो तथा अच्छी जातिके घोड़े तुम्हारी सवारीमें रहते हैं; फिर किस दुःखसे तुम सफेद और दुबले हो गये हो ? ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

बहुमूल्य शय्याएँ, मनको प्रिय लगनेवाली युवतियाँ, सभी ऋतुओंमें लाभदायक भवन और इच्छानुसार सुख देनेवाले विहारस्थान—देवताओंकी भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसंदेह तुम्हें वाणीद्वारा कहनेमात्रसे सुलभ हैं । मेरे दुर्द्धर्ष पुत्र ! फिर तुम दीनकी भाँति क्यों शोक करते हो ? ॥ १०-११ ॥

(उपस्थितः सर्वकामैस्त्रिदिवे वासवो यथा ।
विविधैरन्नपानैश्च प्रवरैः किं नु शोचसि ॥

जैसे स्वर्गमें इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग सुलभ हैं, उसी प्रकार समस्त अभिलषित भोग और खाने-पीनेकी विविध उत्तम वस्तुएँ तुम्हारे लिये सदा प्रस्तुत हैं । फिर तुम किसलिये शोक करते हो ? ॥

निरुक्तं निगमं छन्दः सषडङ्गार्थशास्त्रवान् ।
अधीतः कृतविद्यस्त्वमष्टव्याकरणैः कृपात् ॥

तुमने कृपाचार्यसे निरुक्त, निगम, छन्द, वेदके छहों अङ्ग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकारके व्याकरणशास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥

हलायुधात् कृपाद् द्रोणादस्त्रविद्यामधीतवान् ।
प्रभुस्त्वं भुञ्जसे पुत्र संस्तुतः सूतमागधैः ॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
लोकेऽस्मिञ्ज्येष्ठभागी त्वं तन्ममाचक्ष्व पुत्रक ॥

हलायुध, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्यसे तुमने अस्त्रविद्या सीखी है । बेटा ! तुम इस राज्यके स्वामी होकर इच्छानुसार सब वस्तुओंका उपभोग करते हो । सूत और मागध सदा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं । तुम्हारी बुद्धिकी प्रखरता प्रसिद्ध है । तुम इस जगत्में ज्येष्ठ पुत्रके लिये सुलभ समस्त राजोचित सुखोंके भागी हो । फिर भी तुम्हें कैसे चिन्ता हो रही है ? बेटा ! तुम्हारे इस शोकका कारण क्या है ? यह मुझे बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मन्दः क्रोधवशानुगः ।
पितरं प्रत्युवाचेदं स्वमतिं सम्प्रकाशयन् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—पिताका यह कथन सुनकर क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ दुर्योधनने उन्हें अपना विचार बताते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैं अच्छा खाता-पहनता तो हूँ, परंतु कायरोंकी भाँति । मैं समयके परिवर्तनकी प्रतीक्षामें रहकर अपने हृदयमें भारी ईर्ष्या धारण करता हूँ ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान् मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो शत्रुओंके प्रति अमर्ष रख उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है और अपनी प्रजाको शत्रुजनित क्लेशसे छुड़ानेकी इच्छा करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥

भारत ! संतोष लक्ष्मी और अभिमानका नाश कर देता है । दया और भय—ये दोनों भी वैसे ही हैं । इन (संतोषादि) से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता ॥ १४ ॥

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता । वही मेरी कान्तिको नष्ट करनेवाली है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।

शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीन दशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ । यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ ॥ १६½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर अपने घरमें बसनेवाले अट्ठासी हजार

स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं । उनमेंसे प्रत्येककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ प्रस्तुत रहती हैं ॥ १७½ ॥

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १८ ॥

इसके सिवा युधिष्ठिरके महलमें दस हजार अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ १८ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् ।

काम्बोजराजने काले, नीले और लाल रंगके कदलीमृग-के चर्म तथा अनेक बहुमूल्य कम्बल युधिष्ठिरके लिये भेंटमें भेजे थे ॥ १८½ ॥

गजयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २० ॥

उन्हींकी भेजी हुई सैकड़ों हथिनियाँ, सहस्रों गायें और घोड़े तथा तीस-तीस हजार ऊँट और घोड़ियाँ वहाँ विचरती थीं । सभी राजालोग भेंट लेकर युधिष्ठिरके भवनमें एकत्र हुए थे ॥ १९-२० ॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः॥ २१ ॥

पृथ्वीपते ! उस महान् यज्ञमें भूपालगण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न लाये थे ॥२१॥

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके यज्ञमें धनकी जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है ॥ २२ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥ २३ ॥

महाराज ! शत्रुकी वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ; मुझे चैन नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर तीन खर्व भेंट लेकर राजाके द्वार-पर रोके हुए खड़े थे ॥ २४ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एतद् धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २५ ॥

वे सब लोग सोनेके सुन्दर कलश और इतना धन लेकर आये थे, तो भी वे सभी राजद्वारमें प्रवेश नहीं कर पाते थे अर्थात् उनमेंसे कोई-कोई ही प्रवेश कर पाते थे ॥

यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ॥ २६ ॥

देवाङ्गनाएँ इन्द्रके लिये कलशोंमें जैसा मधु लिये रहती हैं, वैसा ही वरुणदेवताका दिया हुआ और काँसके पात्रमें रक्खा हुआ मधु समुद्रने युधिष्ठिरके लिये उपहारमें भेजा था ॥ २६ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् ।
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २७ ॥

वहाँ छींकेपर रखकर लाया हुआ एक हजार स्वर्णमुद्राओंका बना हुआ कलश रक्खा था, जिसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े हुए थे । उस पात्रमें स्थित समुद्रजलको उत्तम शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया था ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् ।
गृहीत्वा तत् तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २८ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्त्रिणः ॥ २९ ॥
तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम् ।

तात ! वह सब देखकर मुझे ज्वर-सा आ गया । भरतश्रेष्ठ ! वैसे ही सुवर्णकलशोंको लेकर पाण्डवलोग जल लानेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम समुद्रतट तो जाया करते थे, किंतु सुना जाता है कि उत्तर समुद्रके समीप, जहाँ पक्षियोंके सिवा मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ भी जाकर अर्जुन अपार धन करके रूपमें वसूल कर लाये ॥२८-२९½ ॥

इदं चाद्भुतमत्रासीत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें एक यह अद्भुत बात और भी हुई थी, वह मैं बताता हूँ, सुनिये ॥ ३० ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ॥ ३१ ॥

जब एक लाख ब्राह्मणोंको रसोई परोस दी जाती, तब उसके लिये एक संकेत नियत किया गया था; प्रतिदिन लाखकी संख्या पूरी होते ही बड़े जोरसे शङ्ख बजाया जाता था ॥ ३१ ॥

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३२ ॥

भारत ! ऐसा शङ्ख वहाँ बार-बार बजता था और मैं निरन्तर उस शङ्ख-ध्वनिको सुना करता था; इससे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आता था ॥ ३२ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हुए बहुत-से राजाओंद्वारा भरी हुई यज्ञमण्डपकी बैठक ताराओंसे व्याप्त हुए निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ॥ ३३ ॥

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें भूपालगण सब रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे ॥ ३४ ॥

वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ।
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ॥ ३५ ॥

राजालोग वैश्योंकी भाँति ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे । राजा युधिष्ठिरके पास जो लक्ष्मी है, वह देवराज इन्द्र, यम, वरुण अथवा यक्षराज कुबेरके पास भी नहीं होगी ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी उस उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर मेरे हृदयमें जलन पैदा हो गयी है; अतः मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलती ॥ ३६ ॥

(अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं शमो मम न विद्यते ।
अवाप्स्ये वा रणं बाणैः शयिष्ये वा हतः परैः ॥
एतादृशस्य मे किं नु जीवितेन परंतप ।
वर्धन्ते पाण्डवा राजन् वयं हि स्थितवृद्धयः ॥)

पाण्डवोंका ऐश्वर्य यदि मुझे नहीं प्राप्त हुआ तो मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी । या तो मैं बाणोंद्वारा रण भूमिमें उपस्थित होकर शत्रुओंकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त करूँगा या शत्रुओंद्वारा मारा जाकर संग्राममें सदाके लिये सो जाऊँगा । परंतप ! ऐसी स्थितिमें मेरे इस जीवनसे क्या लाभ ? पाण्डव दिनों-दिन बढ़ रहे हैं और हमारी उन्नति रुक गयी है ॥

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३७ ॥

शकुनिने दुर्योधनसे पुनः कहा—सत्यपराक्रमी दुर्योधन ! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्तिका उपाय मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३८ ॥

भारत ! मैं इस भूमण्डलमें द्यूतविद्याका विशेष जानकर हूँ, द्यूतक्रीड़ाका मर्म जानता हूँ; दाव लगानेका भी मुझे ज्ञान है तथा पाशे फेंकनेकी कलाका भी मैं विशेषज्ञ हूँ ॥ ३८ ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुआ खेलना बहुत प्रिय है, परंतु वे उसे खेलना जानते नहीं हैं ॥ ३८½ ॥

आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ३९ ॥

द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्यसे यदि उन्हें बुलाया जाय तो वे अवश्य पधारेंगे ॥ ३९ ॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥ ४० ॥

प्रभो ! मैं छल करके युधिष्ठिरको निश्चय ही जीत लूँगा और उनकी उस दिव्य समृद्धिको यहाँ मँगा लूँगा; अतः तुम उन्हें बुलाओ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने तुरंत ही धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! ये अक्षविद्याका मर्म जाननेवाले हैं और जूएके द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका अपहरण कर लेनेका उत्साह रखते हैं; अतः इसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये' ॥ ४१-४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, जिनके आदेशके अनुसार मैं चलता हूँ । उनसे मिलकर विचार करनेके पश्चात् मैं यह समझ सकूँगा कि इस कार्यके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया जाय ॥ ४३ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्मको सामने रखकर दोनों पक्षोंके लिये उचित और परम हितकी बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्यका निश्चय बतायेंगे ॥ ४४ ॥

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधनने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्यसे निवृत्त कर देंगे । राजेन्द्र ! यदि आपने इस कार्यसे मुँह मोड़ लिया तो मैं निःसंदेह प्राण त्याग दूँगा ॥ ४५ ॥

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥ ४६ ॥

राजन्! मेरी मृत्यु हो जानेपर आप विदुरके साथ सुखसे रहियेगा और सारी पृथ्वीका राज्य भोगियेगा। मेरे जीवित रहनेसे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे? ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत् तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रका यह प्रेमपूर्ण आर्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधनके मतमें आ गये और सेवकोंसे इस प्रकार बोले—॥ ४७ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४८ ॥

'बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर दर्शनीय एवं विशाल सभाभवनका शीघ्र निर्माण करें। उसमें सौ दरवाजे हों और एक हजार खंभे लगे हुए हों ॥ ४८ ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ४९ ॥

फिर सब देशोंसे बढ़ई बुलाकर उस सभाभवनके खंभों और दीवारोंमें रत्न जड़वा दिये जायँ। इस प्रकार वह सुन्दर एवं सुसज्जित सभाभवन जब सुखपूर्वक प्रवेशके योग्य हो जाय, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो,' ॥४९॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै ॥ ५० ॥

महाराज! दुर्योधनकी शान्तिके लिये ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्रने विदुरके पास दूत भेजा ॥ ५० ॥

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत् कश्चिद् विनिश्चयः।
द्यूते दोषांश्च जानन् स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५१ ॥

विदुरसे पूछे बिना उनका कोई भी निश्चय नहीं होता था। जूएके दोषोंको जानते हुए भी वे पुत्रस्नेहसे उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम्।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् विदुर कलहके द्वाररूप जूएका अवसर उपस्थित हुआ सुनकर और विनाशका मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्रके पास दौड़े आये ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

विदुरने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्रके पास जाकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा ॥ ५३ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५४ ॥

विदुर बोले—राजन्! मैं आपके इस निश्चयको पसंद नहीं करता। प्रभो! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे, जूएके लिये आपके और पाण्डुके पुत्रोंमें भेदभाव न हो ॥५४॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि हमलोगोंपर देवताओं-की कृपा होगी तो मेरे पुत्रोंका पाण्डुपुत्रोंके साथ निःसंदेह कलह न होगा ॥ ५५ ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम्।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५६ ॥

अशुभ हो या शुभ, हितकर हो या अहितकर, सुहृदोंमें यह द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ होनी ही चाहिये। निःसंदेह यह भाग्यसे ही प्राप्त हुई है ॥ ५६ ॥

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति ॥ ५७ ॥

भारत! जब मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मजी तथा तुम—ये सब लोग संनिकट रहेंगे, तब किसी प्रकार दैवविहित अन्याय नहीं होने पायगा ॥ ५७ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ५८ ॥

तुम वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथपर बैठकर अभी खाण्डवप्रस्थको जाओ और युधिष्ठिरको बुला ले आओ ॥ ५८ ॥

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतत् ब्रवीमि ते।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ५९ ॥

विदुर! मेरा निश्चय तुम युधिष्ठिरसे न बताना; यह बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। मैं दैवको भी प्रबल मानता हूँ, जिसकी प्रेरणासे यह द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ होने जा रहा है ॥

इत्युक्तो विदुरो धीमान् नेदमस्तीति चिन्तयन्।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् विदुरजी यह सोचते हुए कि यह द्यूतक्रीड़ा अच्छी नहीं है, अत्यन्त दुखी हो महाज्ञानी गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास गये ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको अपने दुःख और चिन्ताका कारण बताना

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा--मुने! भाइयोंमें वह महाविनाशकारी द्यूत किस प्रकार आरम्भ हुआ; जिसमें मेरे पितामह पाण्डवोंको उस महान् संकटका सामना करना पड़ा ? ॥ १ ॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! वहाँ कौन-कौनसे राजा सभासद् थे ? किसने द्यूतक्रीडाका अनुमोदन किया और किसने निषेध ? ॥ २ ॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद् विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! मैं इस प्रसङ्गको आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । विप्रवर ! यह द्यूत ही समस्त भूमण्डलके विनाशका मुख्य कारण है ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत् सर्वं वेदतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

सौति कहते हैं—राजाके इस प्रकार पूछनेपर व्यासजीके प्रतापी शिष्य वेदतत्त्वज्ञ वैशम्पायनजी वह सब प्रसङ्ग सुनाने लगे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा--भरतवंशशिरोमणे ! महाराज जनमेजय ! यदि तुम्हारा मन यह सब सुननेमें लगता है तो पुनः विस्तारके साथ इस कथाको सुनो ॥ ५ ॥

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥

विदुरका विचार जानकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने एकान्तमें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जूएका खेल नहीं होना चाहिये, विदुर इसे अच्छा नहीं बताते हैं। महाबुद्धिमान् विदुर हमें कोई ऐसी सलाह नहीं देंगे, जिससे हमलोगोंका अहित होनेवाला हो ॥ ७ ॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत् सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥

'विदुर जो कहते हैं, उसीको मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ। बेटा ! तुम भी वही सब करो । मेरी समझमें तुम्हारे लिये यही हितकर है ॥ ८ ॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
तद् वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ॥ ९ ॥
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ॥ १० ॥
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ॥ ११ ॥

'उदार बुद्धिवाले इन्द्रगुरु देवर्षि भगवान् बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रको जिस शास्त्रका उपदेश दिया था, वह सब उसके रहस्यसहित महाज्ञानी विदुर जानते हैं। बेटा ! मैं भी सदा विदुरकी बात मानता हूँ । कुरुकुलमें सबसे श्रेष्ठ और मेधावी विदुर माने गये हैं तथा वृष्णिवंशमें पूजित उद्धवको परम बुद्धिमान् बताया गया है। अतः बेटा ! जूआ खेलनेसे कोई लाभ नहीं है । जूएमें वैर-विरोधकी सम्भावना दिखायी देती है ॥ ९—११ ॥

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥

'वैर-विरोध होनेसे राज्यका नाश हो जाता है, अतः पुत्र ! जूएका आग्रह छोड़ दो। पिता-माताको चाहिये कि वे पुत्रको उत्तम कर्त्तव्यकी शिक्षा दें; इसीलिये मैंने ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम्।
अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ॥ १३ ॥

'बेटा ! तुम अपने बाप-दादोंके पदपर प्रतिष्ठित हो, तुमने वेदोंका स्वाध्याय किया है, शास्त्रोंकी विद्वत्ता प्राप्त की है और घरमें सदा तुम्हारा लालन-पालन हुआ है ॥ १३ ॥

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम्।
पृथग्जनैरलभ्यं यद् भोजनाच्छादनं परम् ॥ १४ ॥
तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ॥ १५ ॥

'महाबाहो ! तुम अपने भाइयोंमें बड़े हो, अतः राजाके पदपर स्थित हो, तुम्हें किस कल्याणमय वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है ? दूसरे लोगोंके लिये जो अलभ्य है, वह उत्तम भोजन और

वस्त्र तुम्हें प्राप्त हैं । फिर तुम क्यों शोक करते हो । महाबाहो ! तुम्हारे बाप-दादोंका यह महान् राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न है ॥ १४-१५ ॥

नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा ।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं यन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥

'स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी भाँति तुम इस लोकमें सदा सबपर शासन करते हुए शोभा पाते हो । तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रसिद्ध है । फिर तुम्हें शोककी कारणभूत यह दुःखदायिनी चिन्ता कैसे प्राप्त हुई है । यह मुझसे बताओ' ॥ १६ ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १७ ॥

दुर्योधन बोला—मैं अच्छा खाता हूँ और अच्छा पहिनता हूँ, इतना ही देखते हुए जो पापी पुरुष शत्रुओंके प्रति ईर्ष्या नहीं करता, वह अधम बताया गया है ॥ १७ ॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती । मैं तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी उस जगमगाती हुई लक्ष्मीको देखकर व्यथित हो रहा हूँ ॥ १८ ॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते॥१९॥

सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके अधीन हो गयी है; फिर भी मैं पाषाणतुल्य हूँ जो कि ऐसा दुःख प्राप्त होनेपर भी जीवित हूँ और आपसे बातें करता हूँ ॥ १९ ॥

आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

नीप, चित्रक, कुकुर, कारस्कर तथा लोहजङ्घ आदि क्षत्रियनरेश युधिष्ठिरके घरमें सेवकोंकी भाँति सेवा करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ २० ॥

हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥

हिमालय प्रदेश तथा समुद्री द्वीपोंके रहनेवाले और रत्नोंकी खानोंके सभी अधिपति म्लेच्छजातीय नरेश युधिष्ठिरके घरमें प्रवेश करने नहीं पाते थे, उन्हें महलसे दूर ही ठहराया गया था ॥ २१ ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥

महाराज ! मुझे अन्य सब भाइयोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानकर युधिष्ठिरने सत्कारपूर्वक रत्नोंकी भेंट लेनेके कामपर नियुक्त कर दिया था ॥ २२ ॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत ॥ २३ ॥

भारत ! वहाँ भेंट लाये हुए नरेशोंके द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ और बहुमूल्य रत्नोंकी जो राशि एकत्र हुई थी, उसका आरपार दिखायी नहीं देता था ॥ २३ ॥

न मे हस्तः समभवद् वसु तत् प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २४ ॥

उस रत्नराशिको ग्रहण करते-करते जब मेरा हाथ थक गया, तब मेरे थक जानेपर राजालोग रत्नराशि लिये बहुत दूरतक खड़े दिखायी देने लगते थे ॥ २४ ॥

कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २५ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २६ ॥

भारत ! बिन्दु-सरोवरसे लाये हुए रत्नोंद्वारा मयासुरने एक कृत्रिम पुष्करिणीका निर्माण किया था, जो स्फटिकमणिकी शिलाओंसे आच्छादित है । वह मुझे जलसे भरी हुई-सी दिखायी दी । भारत ! जब मैं उसमें उतरनेके लिये वस्त्र उठाने लगा, तब भीमसेन ठठाकर हँस पड़े । शत्रुकी विशिष्ट समृद्धिसे मैं मूढ़-सा हो रहा था और रत्नोंसे रहित तो था ही ॥ २५-२६ ॥

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् ।
यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ॥ २७ ॥
शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः ।
सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ यदि मैं समर्थ होता तो भीमसेनको वहीं मार गिराता । राजन् ! यदि मैं भीमसेनको मारनेका उद्योग करता तो मेरी भी शिशुपालकी-सी ही दशा हो जाती; इसमें संशय नहीं है । भारत ! शत्रुके द्वारा किया हुआ उपहास मुझे दग्ध किये देता है ॥ २७-२८ ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! मैंने पुनः एक वैसी ही बावलीको देखकर, जो कमलोंसे सुशोभित हो रही थी, समझा कि यह भी पहली पुष्करिणीकी भाँति स्फटिकशिलासे पाटकर बराबर कर दी गयी होगी; परंतु वह वास्तवमें जलसे परिपूर्ण थी, इसलिये मैं भ्रमसे उसमें गिर पड़ा ॥ २९ ॥

तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥

वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। स्त्रियोंसहित द्रौपदी भी मेरे हृदयमें चोट पहुँचाती हुई हँस रही थी ॥ ३० ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥

मेरे सब कपड़े जलमें भीग गये थे; अतः राजाकी आज्ञासे सेवकोंने मुझे दूसरे वस्त्र दिये। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात हुई ॥ ३१ ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद् वदतो मे नराधिप।
अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥

महाराज! एक और वञ्चना मुझे सहनी पड़ी, जिसे बताता हूँ, सुनिये। एक जगह बिना द्वारके ही द्वारकी आकृति बनी हुई थी, मैं उसीसे निकलने लगा; अतः शिलासे टकरा गया। जिससे मेरे ललाटमें बड़े जोरकी चोट लगी ॥ ३२ ॥

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥

उस समय नकुल और सहदेवने दूरसे मुझे टकराते देख निकट आकर अपने हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दोनों भाई साथ रहकर मेरे लिये शोक करने लगे ॥ ३३ ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

वहाँ सहदेवने मुझे आश्चर्यमें डालते हुए बार-बार यह कहा—'राजन्! यह दरवाजा है, इधर चलिये' ॥ ३४ ॥

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥

महाराज! वहाँ भीमसेनने मुझे 'धृतराष्ट्रपुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—'राजन्! इधर दरवाजा है' ॥ ३५ ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

मैंने उस सभामें जो-जो रत्न देखे हैं, उनके पहले कभी नाम भी नहीं सुने थे; अतः इन सब बातोंके लिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—भारत! मैंने पाण्डवोंके यज्ञमें राजाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न देशोंसे लाये हुए जो उत्तम धनरत्न देखे थे, उन्हें बताता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम्।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण! आप सच मानिये, शत्रुओंका वह वैभव देखकर मेरा मन मूढ़-सा हो गया था। मैं इस बात-को न जान सका कि यह धन कितना है और किस देशसे लाया गया है ॥ २ ॥

और्णान् बैलान् वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान्।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥

काम्बोजनरेशने भेड़के ऊन, बिलमें रहनेवाले चूहे आदिके रोएँ तथा बिल्लियोंकी रोमावलियोंसे तैयार किये हुए सुवर्णचित्रित बहुत-से सुन्दर वस्त्र और मृगचर्म भेंटमें दिये थे। तीतर पक्षीकी भाँति चितकबरे और तोतेके समान नाकवाले तीन सौ घोड़े दिये थे। इसके सिवा तीन-तीन सौ ऊँटनियाँ और खच्चरियाँ भी दी थीं, जो पीलु, शमी और इङ्गुद खाकर मोटी-ताजी हुई थीं ॥ ३-४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ॥ ६ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान्।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ ७ ॥

महाराज! ब्राह्मण लोग तथा गाय-बैलोंका पोषण करनेवाले वैश्य और दास-कर्मके योग्य शूद्र आदि सभी महात्मा धर्मराजकी प्रसन्नताके लिये तीन खर्बके लागतकी भेंट लेकर दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी

खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर सोनेके बने हुए सुन्दर कलश एवं अन्य भेंट-सामग्री लेकर द्वारपर खड़े थे। परंतु भीतर प्रवेश नहीं

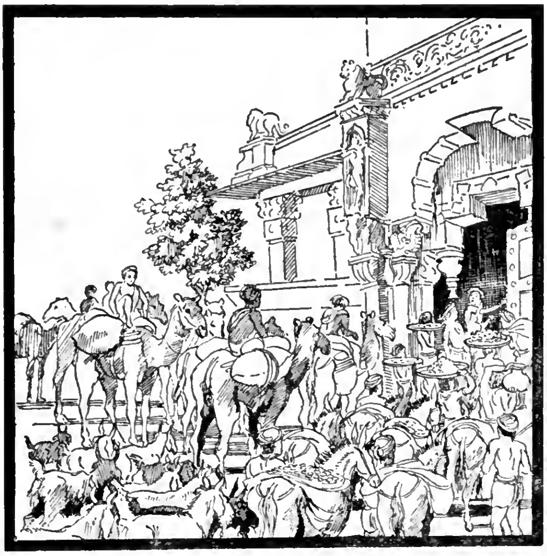

कर पाते थे ॥ ५—७ ॥

(यश्च स द्विजमुख्येन राज्ञः शङ्खो निवेदितः।
प्रीत्या दत्तः कुणिन्देन धर्मराजाय धीमते ॥

द्विजोंमें प्रधान राजा कुणिन्दने परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े प्रेमसे एक शङ्ख निवेदन किया ॥

तं सर्वे भ्रातरो भ्रात्रे ददुः शङ्खं किरीटिने।
तं प्रत्यगृह्णाद् बीभत्सुस्तोयजं हेममालिनम् ॥
चितं निष्कसहस्रेण भ्राजमानं स्वतेजसा।

उस शङ्खको सब भाइयोंने मिलकर किरीटधारी अर्जुनको दे दिया। उसमें सोनेका हार जड़ा हुआ था और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मढ़ी गयी थीं। अर्जुनने उसे सादर ग्रहण किया। वह शङ्ख अपने तेजसे प्रकाशित हो रहा था ॥

रुचिरं दर्शनीयं च भूषितं विश्वकर्मणा ॥
अधारयच्च धर्मश्च तं नमस्य पुनः पुनः।

साक्षात् विश्वकर्माने उसे रत्नोंद्वारा विभूषित किया था। वह बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय था। साक्षात् धर्मने उस शङ्खको बार-बार नमस्कार करके धारण किया था ॥

योऽन्नदाने नदति स ननादाधिकं तदा ॥
प्रणादाद् भूमिपास्तस्य पेतुर्हीनाः स्वतेजसा ॥

अन्नदान करनेपर वह शङ्ख अपने आप बज उठता था। उस समय उस शङ्खने बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार किया। उसके गम्भीर नादसे समस्त भूमिपाल तेजोहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्थाः शौर्यसम्पन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः ॥

केवल धृष्टद्युम्न, पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा आठवें श्रीकृष्ण धैर्यपूर्वक खड़े रहे। ये सब-के-सब एक दूसरेका प्रिय करनेवाले तथा शौर्यसे सम्पन्न हैं ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ॥
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुरददाद्धेमशृङ्गिणः।
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्याय भारत ॥

इन्होंने मुझको तथा दूसरे भूमिपालोंको मूर्छित हुआ देख जोर-जोरसे हँसना आरम्भ किया। उस समय अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको पाँच सौ हृष्ट-पुष्ट बैल दिये। वे बैल गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ थे और उनके सींगोंमें सोना मढ़ा गया था ॥

सुमुखेन बलिर्मुख्यः प्रेषितोऽजातशत्रवे।
कुणिन्देन हिरण्यं च वासांसि विविधानि च ॥

भारत! राजा सुमुखने अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास भेंटकी प्रमुख वस्तुएँ भेजी थीं। कुणिन्दने भाँति-भाँतिके वस्त्र और सुवर्ण दिये थे ॥

काश्मीरराजो मार्द्वीकं शुद्धं च रसवन्मधु।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवायाभ्युपाहरत् ॥

काश्मीरनरेशने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरोंके गुच्छे भेंट किये थे। साथ ही सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लेकर उन्होंने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित की थी ॥

यवना हयानुपादाय पर्वतीयान् मनोजवान्।
आसनानि महार्हाणि कम्बलांश्च महाधनान् ॥
नवान् विचित्रान् सूक्ष्मांश्च परार्ध्यान् सुप्रदर्शनान्।
अन्यच्च विविधं रत्नं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥

कितने ही यवन मनके समान वेगशाली पर्वतीय घोड़े, बहुमूल्य आसन, नूतन, सूक्ष्म, विचित्र दर्शनीय और कीमती कम्बल, भाँति-भाँतिके रत्न तथा अन्य वस्तुएँ लेकर राजद्वारपर खड़े थे, फिर भी अंदर नहीं जाने पाते थे ॥

श्रुतायुरपि कालिङ्गो मणिरत्नमनुत्तमम्।

कलिङ्गनरेश श्रुतायुने उत्तम मणिरत्न भेंट किये ॥

दक्षिणात् सागराभ्याशात् प्रावारांश्च परःशतान् ॥
औदकानि सरत्नानि बलिं चादाय भारत।
अन्येभ्यो भूमिपालेभ्यः पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

इसके सिवा, उन्होंने दूसरे भूपालोंसे दक्षिण समुद्रके निकटसे सैकड़ों उत्तरीय वस्त्र, शङ्ख, रत्न तथा अन्य उपहार-सामग्री लेकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

दार्दुरं चन्दनं मुख्यं भारान् षण्णवतिं ध्रुवम्।
पाण्डवाय ददौ पाण्ड्यः शङ्खांस्तावत एव च ॥

पाण्ड्यनरेशने मलय और दर्दुरपर्वतके श्रेष्ठ चन्दनके छियानबे भार युधिष्ठिरको भेंट किये। फिर उतने ही शङ्ख भी समर्पित किये ॥

चन्दनागुरु चानन्तं मुक्तावैदूर्यचित्रकाः।
चोलश्च केरलश्चोभौ ददतुः पाण्डवाय वै ॥

चोल और केरलदेशके नरेशोंने असंख्य चन्दन, अगुरु तथा मोती, वैदूर्य तथा चित्रक नामक रत्न धर्मराज युधिष्ठिरको अर्पित किये ॥

अश्मको हेमशृङ्गीश्च दोग्ध्रीर्हेमविभूषिताः।
सवत्साः कुम्भदोहाश्च गाः सहस्राण्यदाद् दश ॥

राजा अश्मकने बछड़ोंसहित दस हजार दुधारू गौएँ भेंट कीं, जिनके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ था और गलेमें सोनेके आभूषण पहनाये गये थे। उनके थन घड़ोंके समान दिखायी देते थे ॥

सैन्धवानां सहस्राणि हयानां पञ्चविंशतिम्।
अददात् सैन्धवो राजा हेममाल्यैरलंकृतान् ॥

सिन्धुनरेशने सुवर्ण-मालाओंसे अलंकृत पचीस हजार सिन्धुदेशीय घोड़े उपहारमें दिये थे ॥

सौवीरो हस्तिभिर्युक्तान् रथांश्च त्रिशतावरान्।
जातरूपपरिष्कारान् मणिरत्नविभूषितान् ॥
मध्यंदिनार्कप्रतिमांस्तेजसाप्रतिमानिव ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

सौवीरराजने हाथी जुते हुए रथ प्रदान किये, जो तीन सौसे कम न रहे होंगे। उन रथोंको सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंसे सजाया गया था। वे दोपहरके सूर्यकी भाँति जगमगा रहे थे। उनसे जो प्रभा फैल रही थी, उसकी कहीं भी उपमा न थी। इन रथोंके सिवा, उन्होंने अन्य सब प्रकारकी भी उपहार-सामग्री युधिष्ठिरको भेंट की थी ॥

अवन्तिराजो रत्नानि विविधानि सहस्रशः।
हाराङ्गदांश्च मुख्यान् वै विविधं च विभूषणम् ॥
दासीनामयुतं चैव बलिमादाय भारत।
सभाद्वारि नरश्रेष्ठ दिदृक्षुरवतिष्ठते ॥

नरश्रेष्ठ भरतनन्दन ! अवन्तीनरेश नाना प्रकारके सहस्रों रत्न, हार, श्रेष्ठ अङ्गद (बाजूबंद), भाँति-भाँतिके अन्यान्य आभूषण, दस हजार दासियों तथा अन्यान्य उपहार-सामग्री साथ लेकर राजसभाके द्वारपर खड़े थे और भीतर जाकर युधिष्ठिरका दर्शन पानेके लिये उत्सुक हो रहे थे ॥

दशार्णश्चेदिराजश्च शूरसेनश्च वीर्यवान्।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

दशार्णनरेश, चेदिराज तथा पराक्रमी राजा शूरसेनने सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लाकर युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

काशिराजेन हृष्टेन बली राजन् निवेदितः ॥
अशीतिगोसहस्राणि शतान्यष्टौ च दन्तिनाम्।
विविधानि च रत्नानि काशिराजो बलिं ददौ ॥

राजन् ! काशीनरेशने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अस्सी हजार गौएँ, आठ सौ गजराज तथा नाना प्रकारके रत्न भेंट किये ॥

कृतक्षणश्च वैदेहः कौसलश्च बृहद्बलः।
ददतुर्वाजिमुख्यांश्च सहस्राणि चतुर्दश ॥

विदेहराज कृतक्षण तथा कोसलनरेश बृहद्बलने चौदह-चौदह हजार उत्तम घोड़े दिये थे ॥

शैब्यो वसादिभिः सार्धं त्रिगर्तो मालवैः सह।
तस्मै रत्नानि ददतुरेकैको भूमिपोऽमितम् ॥
हारांस्तु मुक्तान् मुख्यांश्च विविधं च विभूषणम्।)

बस आदि नरेशोंसहित राजा शैब्य तथा मालवोंसहित त्रिगर्तराजने युधिष्ठिरको बहुत-से रत्न भेंट किये, उनमेंसे एक-एक भूपालने असंख्य हार, श्रेष्ठ मोती तथा भाँति-भाँतिके आभूषण समर्पित किये थे ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः।

कार्पासिक देशमें निवास करनेवाली एक लाख दासियाँ उस यज्ञमें सेवा कर रही थीं। वे सब-की-सब श्यामा तथा तन्वङ्गी थीं। उन सबके केश बड़े-बड़े थे और वे सभी सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थीं ॥ ८½ ॥

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥

महाराज ! भरुकच्छ (भड़ौंच) निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपभोगमें आने योग्य रङ्कुमृगके चर्म तथा अन्य सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर उपस्थित हुए थे। वे अपने साथ गान्धार-देशके बहुत-से घोड़े भी लाये थे ॥ ९-१० ॥

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १३ ॥

जो समुद्रतटवर्ती गृहोद्यानमें तथा सिन्धुके उस पार रहते हैं, वर्षाद्वारा इन्द्रके पैदा किये हुए तथा नदीके जलसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके धान्योंद्वारा जीवननिर्वाह करते हैं, वे वैराम, पारद, आभीर तथा कितव जातिके लोग नाना प्रकारके रत्न एवं भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री—बकरी,

भेंड़, गाय, सुवर्ण, गधे, ऊँट, फलसे तैयार किया हुआ मधु तथा अनेक प्रकारके कम्बल लेकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण (बाहर ही) खड़े थे और भीतर नहीं जाने पाते थे ॥ ११–१३ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान् हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके अधिपति तथा म्लेच्छोंके स्वामी शूरवीर एवं बलवान् महारथी राजा भगदत्त यवनोंके साथ पधारे थे और वायुके समान वेगवाले अच्छी जातिके शीघ्रगामी घोड़े तथा सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर

राजद्वारपर खड़े थे । (अधिक भीड़के कारण) उनका प्रवेश भी रोक दिया गया था ॥ १४-१५ ॥

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत् तदा ॥ १६ ॥

उस समय प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त हीरे और पद्मराग आदि मणियोंके आभूषण तथा विशुद्ध हाथी-दाँतकी मूँठवाले खड्ग देकर भीतर गये थे ॥ १६ ॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाल्ँललाटाक्षान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान् दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवास, रोमक, पुरुषादक तथा एकपाद—इन देशोंके राजा नाना दिशाओंसे आकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों देखा था । ये राजालोग भेंट-सामग्री लेकर आये थे और अपने साथ अनेक रंगवाले बहुत-से दूरगामी गधे (खच्चर) लाये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे । उनकी संख्या दस हजार थी । वे सभी रासभ सिखलाये हुए तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात थे ॥ १७–१९ ॥

प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ २० ॥
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।

उनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई जैसी होनी चाहिये, वैसी ही थी । उसका रंग भी अच्छा था । वे समस्त रासभ वङ्क्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए थे । उक्त राजालोग युधिष्ठिरको भेंटके लिये बहुत-सा सोना और चाँदी देते थे और देकर युधिष्ठिर यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होते थे ॥ २०½ ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान् मनोजवान् ॥ २१ ॥
तथैवेन्द्रायुधनिभान् संध्याभ्रसदृशानपि ।
अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ॥ २२ ॥
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।

एकपाददेशीय राजाओंने इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान लाल, तोतेके समान हरे, मनके समान वेगशाली, इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगे, संध्याकालके बादलोंके सदृश लाल और अनेक वर्णवाले महावेगशाली जंगली घोड़े एवं बहुमूल्य सुवर्ण उन्हें भेंटमें दिये ॥ २१–२२½ ॥

चीनाञ्छकांस्तथा चौड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ॥ २३ ॥
वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २४ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ २५ ॥

चीन, शक, ओड्र, वनवासी बर्बर, वार्ष्णेय, हार, हूण, कृष्ण, हिमालयप्रदेश, नीप और अनूप देशोंके नाना रूपधारी राजा वहाँ भेंट देनेके लिये आये थे, किंतु रोक दिये जानेके कारण दरवाजेपर ही खड़े थे । उन्होंने अनेक रूपवाले दस हजार गधे भेंटके लिये वहाँ प्रस्तुत किये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे, जो सौ कोसतक लगातार चल सकते थे । वे सभी सिखलाये हुए तथा सब दिशाओंमें विख्यात थे ॥ २३–२५ ॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥

निसितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूञ्छितान् ॥ २८ ॥
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २९ ॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।

जिनकी लंबाई-चौड़ाई पूरी थी, जिनका रंग सुन्दर और स्पर्श सुखद था, ऐसे बाह्लीकचीनके बने हुए, ऊनी, हिरनके रोमसमूहसे बने हुए, रेशमी, पाटके, विचित्र गुच्छेदार तथा कमलके तुल्य कोमल सहस्रों चिकने वस्त्र, जिनमें कपासका नाम भी नहीं था तथा मुलायम मृगचर्म—ये सभी वस्तुएँ भेंटके लिये प्रस्तुत थीं। तीखी और लंबी तलवारें, ऋष्टि, शक्ति, फरसे, अपरान्त (पश्चिम) देशके बने हुए तीखे परशु, भाँति-भाँतिके रस और गन्ध, सहस्रों रत्न तथा सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर शक, तुषार, कंक, रोमश तथा शृङ्गीदेशके लोग राजद्वारपर रोके जाकर खड़े थे ॥२६–२९½॥

महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

दूरतक जानेवाले बड़े-बड़े हाथी, जिनकी संख्या एक अर्बुद थी एवं घोड़े, जिनकी संख्या कई सौ अर्बुद थी और सुवर्ण जो एक पद्मकी लागतका था—इन सबको तथा भाँति-भाँतिकी दूसरी उपहार-सामग्रीको साथ लेकर कितने ही नरेश राजद्वारपर रोके जाकर भेंट देनेके लिये खड़े थे ॥३०-३१॥

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ।
एतद् दत्त्वा महद् द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ॥
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

बहुमूल्य आसन, वाहन, रत्न तथा सुवर्णसे जटित हाथीदाँतकी बनी हुई शय्याएँ, विचित्र कवच, भाँति-भाँतिके शस्त्र, सुवर्णभूषित, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अनेक प्रकारके रथ, हाथियोंपर बिछानेयोग्य विचित्र कम्बल, विभिन्न प्रकारके रत्न, नाराच, अर्धनाराच तथा अनेक तरहके शस्त्र—इन सब बहुमूल्य वस्तुओंको देकर पूर्वदेशके नरपतिगण महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए थे ॥ ३२–३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—अनघ ! राजाओंद्वारा युधिष्ठिरके यज्ञके लिये दिये हुए जिस महान् धनका संग्रह वहाँ हुआ था, वह अनेक प्रकारका था। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥

मेरु और मन्दराचलके बीचमें प्रवाहित होनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर छिद्रोंमें वायुके भर जानेसे वेणुकी तरह बजनेवाले बाँसोंकी रमणीय छायामें जो लोग बैठते और विश्राम करते हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण आदि नरेश भेंटमें देनेके लिये पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले हुए पिपीलिक नामवाले सुवर्णके ढेर-के-ढेर उठा लाये थे। उसका माप द्रोणसे किया जाता था ॥ २–४ ॥

कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥

इतना ही नहीं, वे सुन्दर काले रंगके चँवर तथा चन्द्रमाके समान श्वेत दूसरे चामर एवं हिमालयके पुष्पोंसे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट मधु भी प्रचुर मात्रामें लाये थे। उत्तरकुरु

देशसे गङ्गाजल और मालाके योग्य रत्न तथा उत्तरकैलाससे प्राप्त हुई अतीव बलसम्पन्न ओषधियाँ एवं अन्य भेंटकी सामग्री साथ लेकर आये हुए पर्वतीय भूपालगण अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके द्वारपर रोके जाकर विनीतभावसे खड़े थे ॥५-७॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥

पिताजी ! मैंने देखा कि जो राजा हिमालयके परार्धभागमें निवास करते हैं, जो उदयगिरिके निवासी हैं, जो समुद्रतटवर्ती कारूषदेशमें रहते हैं तथा जो लौहित्यपर्वतके दोनों ओर वास करते हैं, फल और मूल ही जिनका भोजन है, वे चर्मवस्त्रधारी क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा किरातनरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे ॥ ८-९ ॥

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते ।
आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥

राजन् ! चन्दन और अगुरुकाष्ठ तथा कृष्णागुरु काष्ठके अनेक भार, चर्म, रत्न, सुवर्ण तथा सुगन्धित पदार्थोंकी राशि और दस हजार किरातदेशीय दासियाँ, सुन्दर-सुन्दर पदार्थ, दूर देशोंके मृग और पक्षी तथा पर्वतोंसे संगृहीत तेजस्वी सुवर्ण एवं सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर आये हुए राजालोग द्वारपर रोके जानेके कारण खड़े थे ॥ १०–१२ ॥

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥ १४ ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
शौण्डिकाः कुकुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥

किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य तथा गय—ये उत्तम कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय राजकुमार सैकड़ोंकी संख्यामें पङ्क्तिबद्ध खड़े होकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित कर रहे थे ॥ १३–१७ ॥

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्त्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥१९॥

भारत ! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्त्रोर्ण, शैशव तथा कर्णप्रावरण आदि बहुत-से क्षत्रियनरेश वहाँ दरवाजेपर खड़े थे तथा राजाज्ञासे द्वारपालगण उन सबको यह संदेश देते थे कि आपलोग अपने लिये समय निश्चित कर लें । फिर उत्तम भेंट-सामग्री अर्पित करें । इसके बाद आपलोगोंको भीतर जानेका मार्ग मिल सकेगा ॥ १८-१९ ॥

ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान् ।
शैलाभान् नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥२०॥
दत्त्वैकैको दश शतान् कुञ्जरान् कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तदा ॥२१॥

तदनन्तर एक-एक क्षमाशील और कुलीन राजाने काम्यक सरोवरके निकट उत्पन्न हुए एक-एक हजार हाथियोंकी भेंट देकर द्वारके भीतर प्रवेश किया । उन हाथियोंके दाँत हलदण्डके समान लंबे थे । उनको बाँधनेकी रस्सी सोनेकी बनी हुई थी । उन हाथियोंका रंग कमलके समान सफेद था । उनकी पीठपर झूल पड़ा हुआ था । वे देखनेमें पर्वताकार और उन्मत्त प्रतीत होते थे ॥ २०-२१ ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥२२॥

ये तथा और भी बहुत-से भूपालगण अनेक दिशाओंसे भेंट लेकर आये थे । दूसरे-दूसरे महामना नरेशोंने भी वहाँ रत्नोंकी भेंट अर्पित की थी ॥ २२ ॥

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥२३॥

इन्द्रके अनुगामी गन्धर्वराज चित्ररथने चार सौ दिव्य अश्व दिये, जो वायुके समान वेगशाली थे ॥ २३ ॥

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्त्रसवर्णानामददाद्धेममालिनाम् ॥२४॥

तुम्बुरु नामक गन्धर्वराजने प्रसन्नतापूर्वक सौ घोड़े भेंट किये, जो आमके पत्तेके समान हरे रंगवाले तथा सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित थे ॥ २४ ॥

कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते।
अददाद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥२५॥

महाराज ! शूकरदेशके पुण्यात्मा राजाने कई सौ गजरत्न भेंट किये ॥ २५ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम्।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२६॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने सुवर्णमालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी उपहारके रूपमें दिये ॥ २६ ॥

पांशुराष्ट्राद् वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान्।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् काञ्चनमालिनाम् ॥२७॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२८॥

राजन्! राजा वसुदानने पांशुदेशसे छब्बीस हाथी, वेग और शक्तिसे सम्पन्न दो हजार सुवर्णमालाभूषित जवान घोड़े और सब प्रकारकी दूसरी भेंट-सामग्री भी पाण्डवोंको समर्पित की ॥ २७-२८ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशाम्पते।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥२९॥
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम्।

राजन् ! राजा द्रुपदने चौदह हजार दासियाँ, दस हजार सपत्नीक दास, हाथी जुते हुए छब्बीस रथ तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कुन्तीपुत्रोंको यज्ञके लिये समर्पित किया था॥ २९½॥

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥३०॥
अददद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥३१॥

वृष्णिकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने भी अर्जुनका आदर करते हुए चौदह हजार उत्तम हाथी दिये। श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं॥ ३०-३१ ॥

यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥३२॥

अर्जुन श्रीकृष्णसे जो कह देंगे, वह सब वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामको भी त्याग सकते हैं ॥ ३२ ॥

तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥३३॥
मलयाद् दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान्।

इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं। मलय तथा दर्दुरपर्वतसे वहाँके राजालोग सोनेके घड़ोंमें रक्खे हुए सुगन्धित चन्दन-रस तथा चन्दन एवं अगुरुके ढेर भेंटके लिये लेकर आये थे ॥ ३३½ ॥

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥३४॥
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ।

चोल और पाण्ड्यदेशोंके नरेश चमकीले मणि-रत्न, सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुए थे; परंतु उन्हें भी भीतर जानेके लिये रास्ता नहीं मिला ॥ ३४½ ॥

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासङ्घांस्तथैव च ॥३५॥
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्।

सिंहलदेशके क्षत्रियोंने समुद्रका सारभूत वैदूर्य, मोतियोंके ढेर तथा हाथियोंके सैकड़ों झूल अर्पित किये ॥ ३५½ ॥

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ॥३६॥
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥३७॥
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा।

वे सिंहलदेशीय वीर मणियुक्त वस्त्रोंसे अपने शरीरोंको ढके हुए थे। उनके शरीरका रंग काला था और उनकी आँखोंके कोने लाल दिखायी देते थे। उन भेंट-सामग्रियोंको लेकर वे सब लोग दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मण, विजित क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवाकी इच्छावाले शूद्र प्रसन्नतापूर्वक वहाँ उपहार अर्पित करते थे ॥ ३६-३७½ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन् युधिष्ठिरम् ॥३८॥
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा।

सभी म्लेच्छ तथा आदि, मध्य और अन्तमें उत्पन्न सभी वर्णके लोग विशेष प्रेम और आदरके साथ युधिष्ठिरके पास भेंट लेकर आये थे ॥ ३८½ ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥३९॥
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने।

अनेक देशोंमें उत्पन्न और विभिन्न जातिके लोगोंके आगमनसे युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें मानो यह सम्पूर्ण लोक ही एकत्र हुआ जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ॥४०॥
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४१॥
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः।

मेरे शत्रुओंके घरमें राजाओंद्वारा लाये हुए बहुत-से छोटे-बड़े उपहारोंको देखकर दुःखसे मुझे मरनेकी इच्छा होती थी। राजन्! पाण्डवोंके वहाँ जिन लोगोंका भरण-पोषण होता है, उनकी संख्या मैं आपको बता रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर उन सबके लिये कच्चे-पक्के भोजनकी व्यवस्था करते हैं ॥ ४०-४१½ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥४२॥
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ।

युधिष्ठिरके यहाँ तीन पद्म दस हजार हाथीसवार और घुड़सवार, एक अर्बुद (दस करोड़) रथारोही तथा असंख्य पैदल सैनिक हैं ॥ ४२½ ॥

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥४३॥
विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च ।

युधिष्ठिरके यज्ञमें कहीं कच्चा अन्न तौला जा रहा था, कहीं पक रहा था, कहीं परोसा जाता था और कहीं ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ॥४३½॥

नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृतमसत्कृतम् ॥४४॥
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।

मैंने युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें सभी वर्णके लोगोंमेंसे किसीको ऐसा नहीं देखा, जो खा-पीकर आभूषणोंसे विभूषित और सत्कृत न हुआ हो ॥ ४४½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥४५॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर घरमें बसनेवाले जिन अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दास-दासी उपस्थित रहते हैं ॥ ४५½ ॥

सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४६॥

वे सब ब्राह्मण भोजनसे अत्यन्त तृप्त एवं संतुष्ट हो राजा युधिष्ठिरको उनके (काम-क्रोधादि) शत्रुओंके विनाशके लिये आशीर्वाद देते हैं ॥ ४६ ॥

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४७॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरके महलमें दूसरे दस हजार ऊर्ध्वरेता यति भी सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥

अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ॥४८॥

राजन् ! उस यज्ञमें द्रौपदी प्रतिदिन स्वयं पहले भोजन न करके इस बातकी देखभाल करती थी कि कुबड़े और बौनेसे लेकर सब मनुष्योंमें किसने खाया है और किसने अभीतक भोजन नहीं किया है ॥ ४८ ॥

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सम्बन्धिकेन पञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥४९॥

भारत ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको दो ही कुलके लोग कर नहीं देते थे । सम्बन्धके कारण पाञ्चाल और मित्रताके कारण अन्धक एवं वृष्णि ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा युधिष्ठिरके अभिषेकका वर्णन

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदोक्तावभृथप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जो राजा आर्य, सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, विद्वान्, वक्ता, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ-स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील, धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त थे, वे सभी इन धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे । राजाओंने दक्षिणामें देनेके लिये जो गौएँ मँगवायी थीं, उन सबको मैंने जहाँ-तहाँ देखा । उनके दुग्धपात्र काँसेके थे । वे सब-की-सब जंगलोंमें खुली चरनेवाली थीं तथा उनकी संख्या कई हजार थी ॥ १-३ ॥

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥

वाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम्।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥

भारत ! राजालोग युधिष्ठिरके अभिषेकके लिये स्वयं ही प्रयत्न करके शान्तचित्त हो सत्कारपूर्वक छोटे-बड़े पात्र उठा-उठाकर ले आये थे। वाह्लीकनरेश रथ ले आये, जो सुवर्णसे सजाया गया था। सुदक्षिणने उस रथमें काम्बोज-देशके सफेद घोड़े जोत दिये ॥ ४-५ ॥

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमहार्षीत् स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥
दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥
मत्स्यस्त्वक्षान् हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत्।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ९ ॥

महाबली सुनीथने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें अनुकर्ष (रथके नीचे लगने योग्य काष्ठ) लगा दिया। चेदिराजने स्वयं उस रथमें ध्वजा फहरा दी। दक्षिणदेशके राजाने कवच दिया। मगधनरेशने माला और पगड़ी प्रस्तुत की। महान् धनुर्धर वसुदानने साठ वर्षकी अवस्थाका एक गजराज उपस्थित कर दिया। मत्स्यनरेशने सुवर्णजटित धुरी ला दी। एकलव्यने पैरोंके समीप जूते लाकर रख दिये। अवन्ती-नरेशने अभिषेकके लिये अनेक प्रकारका जल एकत्र कर दिया। चेकितानने तूणीर और काशिराजने धनुष अर्पित किया। शल्यने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींकेपर रक्खा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया ॥ ६-९ ॥

अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ॥ १० ॥

तदनन्तर धौम्य तथा महातपस्वी व्यासने देवर्षि नारद, देवल और असित मुनिको आगे करके युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ १० ॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥

परशुरामजीके साथ वेदके पारंगत दूसरे विद्वान् महर्षियोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ ११ ॥

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद् भूरिदक्षिणम्।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रके पास सप्तर्षि पधारते हैं, उसी प्रकार पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके पास बहुत-से महात्मा मन्त्रोच्चारण करते हुए पधारे थे ॥ १२ ॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके लिये छत्र धारण किया तथा अर्जुन और भीमसेनने व्यजन डुलाये ॥ १३ ॥

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा।
उपागृह्णाद् यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत्।

तथा नकुल और सहदेवने दो विशुद्ध चँवर हाथमें ले लिये। पूर्वकालमें प्रजापतिने इन्द्रके लिये जिस शङ्खको धारण किया था, वही वरुणदेवताका शङ्ख समुद्रने युधिष्ठिरको भेंट किया था। विश्वकर्माने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे जिस शैक्यपात्र (छींकेपर रक्खे हुए सुवर्णकलश) का निर्माण किया था; उसमें स्थित समुद्रजलको शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया। उस समय वहाँ मुझे मूर्च्छा आ गयी थी ॥ १४-१५½ ॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम् ॥ १६ ॥

पिताजी ! लोग जल लानेके लिये पूर्वसे पश्चिम समुद्र-तक जाते हैं, दक्षिण समुद्रकी भी यात्रा करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकान् ॥ १७ ॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन्।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥ १८ ॥

परंतु उत्तर समुद्रतक पक्षियोंके सिवा और कोई नहीं जाता; (किंतु वहाँ भी अर्जुन पहुँच गये।) वहाँ अभिषेकके समय सैकड़ों मङ्गलकारी शङ्ख एक साथ ही जोर-जोरसे बजने लगे, जिससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ जो तेजोहीन भूपाल थे, वे भयके मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ १७-१८ ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥ १९ ॥

धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें श्रीकृष्ण—ये ही धैर्यपूर्वक स्थिर रहे। ये सभी पराक्रमसम्पन्न तथा एक दूसरेका प्रिय करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥ २० ॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत।
न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥ २१ ॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद् भगीरथः।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

वे मुझे तथा अन्य राजाओंको अचेत हुए देखकर उस समय जोर-जोरसे हँस रहे थे । भारत ! तदनन्तर अर्जुनने

प्रसन्न होकर पाँच सौ बैलोंको, जिनके सींगोंमें सोना मँढ़ा हुआ था, मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंमें बाँट दिया । पिताजी ! न रन्तिदेव, न नाभाग, न मान्धाता, न मनु, न वेननन्दन राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति और न नहुष ही वैसे ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् थे, जैसे कि आज राजा युधिष्ठिर हैं ॥ २०–२२ ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर राजसूययज्ञ पूर्ण करके अत्यन्त उच्च कोटिकी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं । ये शक्तिशाली महाराज हरिश्चन्द्रकी भाँति सुशोभित होते हैं ॥ २३ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २४ ॥

भारत ! हरिश्चन्द्रकी भाँति कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी इस राजलक्ष्मीको देखकर मेरा जीवित रहना आप किस दृष्टिसे अच्छा समझते हैं ? ॥ २४ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥ २५ ॥

राजन् ! यह युग अंधे विधातासे बँधा हुआ है । इसीलिये इसमें सब बातें उलटी हो रही हैं । छोटे बढ़ रहे हैं और बड़े हीन दशामें गिरते जा रहे हैं ॥ २५ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म
समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर ।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च
विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २६ ॥

कुरुप्रवीर ! ऐसा देखकर अच्छी तरह विचार करनेपर भी मुझे चैन नहीं पड़ता । इसीसे मैं दुर्बल, कान्तिहीन और शोकमग्न हो रहा हूँ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो । बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो; क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

युधिष्ठिर किसीके साथ छल नहीं करते, उनका धन तुम्हारे ही जैसा है । जो तुम्हारे मित्र हैं, वे उनके भी मित्र हैं और युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते । भरतकुलतिलक ! फिर तुम्हारे-जैसे पुरुषको उनसे द्वेष क्यों करना चाहिये ? ॥२॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥

राजन् ! तुम्हारा और युधिष्ठिरका कुल एवं पराक्रम एक-सा है । बेटा ! तुम मोहवश अपने भाईकी लक्ष्मीकी इच्छा क्यों करते हो ? ऐसे अधम न बनो; शान्तभावसे रहो । शोक न करो ॥ ३ ॥

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम उस यज्ञ-वैभवको पानेकी अभिलाषा रखते हो तो ऋत्विजलोग तुम्हारे लिये भी गायत्री आदि सात छन्दरूपी तन्तुओंसे युक्त राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान करा देंगे ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

उसमें देश-देशके राजालोग तुम्हारे लिये भी बड़े प्रेम और आदरसे रत्न, आभूषण तथा बहुत धन ले आयेंगे॥५॥

(मही कामदुघा सा हि वीरपत्नीति चोच्यते।
तथा वीर्याश्रिता भूमिस्तनुते हि मनोरथम्॥
तवाप्यस्ति हि चेद् वीर्यं भोक्ष्यसे हि महीमिमाम्॥)

बेटा! यह पृथ्वी कामधेनु है। इसे वीरपत्नी भी कहते हैं। अपने पराक्रमसे जीती हुई भूमि मनोवाञ्छित फल प्रदान करती है। यदि तुममें भी बल और पराक्रम हो तो तुम इस पृथ्वीका यथेष्ट उपभोग कर सकते हो॥

अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम्।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते॥ ६॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु।
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम्॥ ७॥

तात! दूसरेके धनकी स्पृहा रखना नीच पुरुषोंका काम है। जो भलीभाँति अपने धनसे संतुष्ट तथा अपने धर्ममें ही स्थित है, वही सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। दूसरेके धनको हड़पनेकी कोई चेष्टा न करना, अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना और अपनेको जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना—यही उत्तम वैभवका लक्षण है॥ ६-७॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति॥ ८॥

जो विपत्तिमें व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमादका अभाव है तथा जिसके हृदयमें विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है॥ ८॥

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु॥ ९॥

ये पाण्डुपुत्र तुम्हारी भुजाओंके समान हैं, इन्हें काटो मत। इसी प्रकार तुम भाइयोंके धनके लिये मित्रद्रोह न करो॥ ९॥

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम्।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम्॥ १०॥

राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो। वे तुम्हारे भाई हैं और भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है। तात! मित्रद्रोहमें बहुत बड़ा पाप होता है। देखो, जो तुम्हारे बाप-दादे हैं, वे ही उनके भी हैं॥ १०॥

अन्तर्वेद्यां ददद् वित्तं कामाननुभवन् प्रियान्।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ! तुम यज्ञमें धन दान करो, मनको प्रिय लगनेवाले भोग भोगो और निर्भय होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए शान्त रहो॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १२½ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको उकसाना

दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव॥ १॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रोंका श्रवणभर किया है, वह शास्त्रके तात्पर्यको नहीं समझ सकता; ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दालके रसको नहीं जानती॥ १॥

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेषि मां भवान्॥ २॥

एक नौकामें बँधी हुई दूसरी नौकाके समान आप विदुरकी बुद्धिके आश्रित हैं। जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालते हैं, स्वार्थसाधनके लिये क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है, अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं?॥ २॥

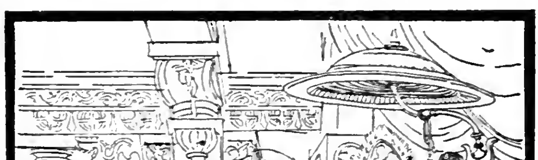

न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः॥ ३॥

आप जिनके शासक हैं, वे धार्तराष्ट्र नहींके बराबर हैं (क्योंकि आप उन्हें स्वेच्छासे उन्नतिके पथपर बढ़ने नहीं देते)। आप सदा अपने वर्तमान कर्तव्यको भविष्यपर ही टालते रहते हैं ॥ ३ ॥

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥

जिस दलका अगुआ दूसरेकी बुद्धिपर चलता हो वह अपने मार्गमें सदा मोहित होता रहता है। फिर उसके पीछे चलनेवाले लोग अपने मार्गका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? ॥ ४ ॥

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥

राजन् ! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहते हैं, आपने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, तो भी जब हमलोग अपने कार्योंमें तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोहमें ही डाल देते हैं ॥ ५ ॥

लोकवृत्ताद् राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिने राजव्यवहारको लोकव्यवहारसे भिन्न बताया है; अतः राजाको सावधान होकर सदा अपने प्रयोजनका ही चिन्तन करना चाहिये। महाराज ! क्षत्रियकी वृत्ति विजयमें ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्तिके विषयमें क्या परीक्षा करनी है ? ॥ ६-७ ॥

प्रकालयेद् दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतकुलभूषण ! शत्रुकी जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छावाला भूपाल सम्पूर्ण दिशाओंका उसी प्रकार संचालन करे, जैसे सारथि चाबुकसे घोड़ोंको हाँककर अपनी रुचिके अनुसार चलाता है ॥ ८ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते।
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम्॥ ९ ॥

गुप्त या प्रकट, जो उपाय शत्रुको संकटमें डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषोंका शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥

राजन् ! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है और न शत्रु-मित्र-सूचक कोई अक्षर ही है। जो जिसको संताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है ॥ १० ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम्।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥

असंतोष ही लक्ष्मीकी प्राप्तिका मूल कारण है; अतः मैं असंतोष चाहता हूँ। राजन् ! जो अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है॥ ११॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥

ऐश्वर्य अथवा धनमें ममता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पहलेके उपार्जित धनको दूसरे लोग बलात्कारसे छीन लेते हैं। यही राजधर्म माना गया है ॥ १२ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥

इन्द्रने नमुचिसे कभी वैर न करनेकी प्रतिज्ञा करके उसपर विश्वास जमाया और मौका देखकर उसका सिर काट लिया। तात ! शत्रुके प्रति इसी प्रकारका व्यवहार सदासे होता चला आया है। यह इन्द्रको भी मान्य है ॥ १३ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहों आदिको निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेशमें न विचरनेवाले ब्राह्मण (संन्यासी) को ग्रस लेती है॥ १४ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! मनुष्यका जन्मसे कोई शत्रु नहीं होता, जिसके साथ एक-सी जीविका होती है, अर्थात् जो लोग एक ही वृत्तिसे जीवननिर्वाह करते हैं, वे ही (ईर्ष्याके कारण) आपसमें एक-दूसरेके शत्रु होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रुपक्षकी ओरसे मोहवश उदासीन हो जाता है, बढ़े हुए रोगकी भाँति शत्रु उस उदासीन राजाकी जड़ काट डालता है ॥ १६ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः।
वल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥

जैसे वृक्षकी जड़में उत्पन्न हुई दीमक उसमें लगी रहनेके कारण उस वृक्षको ही खा जाती है, वैसे ही छोटा-सा भी शत्रु यदि पराक्रमसे बहुत बढ़ जाय, तो वह पहलेके प्रबल शत्रुको भी नष्ट कर डालता है ॥ १७ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ॥ १८ ॥

भरतकुलभूषण ! अजमीढनन्दन ! आपको शत्रुकी

लक्ष्मी अच्छी नहीं लगनी चाहिये। हर समय न्यायको सिरपर चढ़ाये रखना भी बुद्धिमानोंके लिये भार ही है ॥ १८ ॥

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥

जो जन्मकालसे शरीर आदिकी वृद्धिके समान धनवृद्धिकी भी अभिलाषा करता है, वह कुटुम्बीजनोंमें बहुत आगे बढ़ जाता है। पराक्रम करना तत्काल उन्नतिका कारण है॥१९॥

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ॥ २० ॥

जबतक मैं पाण्डवोंकी सम्पत्तिको प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मनमें दुविधा ही रहेगी। इसलिये या तो मैं पाण्डवोंकी उस सम्पत्तिको ले लूँगा अथवा युद्धमें मरकर सो जाऊँगा (तभी मेरी दुविधा मिटेगी) ॥ २० ॥

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

महाराज ! आज जो मेरी दशा है; इसमें मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ? पाण्डव प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं और हमलोगोंकी वृद्धि (उन्नति) अस्थिर है—अधिक कालतक टिकनेवाली नहीं जान पड़ती है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, द्यूतक्रीडाके लिये सभानिर्माण और धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको बुलानेके लिये विदुरको आज्ञा देना

शकुनिरुवाच

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ॥ १ ॥

शकुनि बोला—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर संतप्त हो रहे हो, उसका मैं द्यूतके द्वारा अपहरण कर लूँगा ॥ १ ॥

आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ॥ २ ॥
अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये।
ग्लहान् धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ॥ ३ ॥

परंतु राजन् ! तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुला लो। मैं किसी संशयमें पड़े बिना, सेनाके सामने युद्ध किये बिना केवल पासे फेंककर स्वयं किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही पाण्डवोंको जीत लूँगा; क्योंकि मैं द्यूतविद्याका ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कलासे अनभिज्ञ हैं। भारत ! दावोंको मेरे धनुष समझो और पासोंको मेरे बाण ॥ २-३ ॥

अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ॥ ४ ॥

पासोंका जो हृदय (मर्म) है, उसीको मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चा समझो और जहाँसे पासे फेंके जाते हैं, वह स्थान ही मेरा रथ है ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! ये मामाजी पासे फेंकनेकी कलामें निपुण हैं। ये द्यूतके द्वारा पाण्डवोंसे उनकी सम्पत्ति ले लेनेका उत्साह रखते हैं। उसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये ॥५॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! मैं अपने भाई महात्मा विदुरकी सम्मतिके अनुसार चलता हूँ। उनसे मिलकर यह जान सकूँगा कि इस कार्यके विषयमें क्या निश्चय करना चाहिये ?।६।

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! विदुर सब प्रकारसे संशयरहित हैं। वे आपकी बुद्धिको जूएके निश्चयसे हटा देंगे। कुरुनन्दन ! वे जैसे पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते हैं, वैसे मेरे हितमें नहीं ॥ ७ ॥

नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कार्य दूसरेके बलपर न करे। कुरुराज ! किसी भी कार्यमें दो पुरुषोंकी राय पूर्णरूपसे नहीं मिलती ॥ ८ ॥

भयं परिहरन् मन्द आत्मानं परिपालयन्।
वर्षासु क्लिन्नकटवत् तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ९ ॥

मूर्ख मनुष्य भयका त्याग और आत्मरक्षा करते हुए भी यदि चुपचाप बैठा रहे, उद्योग न करे, तो वह वर्षा-

कालमें भींगी हुई चटाईके समान नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ १० ॥

रोग अथवा यमराज इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया या नहीं । अतः जबतक अपनेमें सामर्थ्य हो, तभीतक अपने हितका साधन कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद् वै शस्त्रमनायसम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मुझे तो बलवानोंके साथ विरोध करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वैर-विरोध बड़ा भारी झगड़ा खड़ा कर देता है, जो (कुलके विनाशके लिये) बिना लोहेका शस्त्र है ॥ ११ ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र
संग्रन्थनं कलहस्याति घोरम् ।
तद् वै प्रवृत्तं तु यथा कथंचित्
सृजेदसीन् निशितान् सायकांश्च ॥१२॥

राजकुमार ! तुम द्यूतरूपी अनर्थको ही अर्थ मान रहे हो। यह जूआ कलहको ही गूँथनेवाला एवं अत्यन्त भयंकर है । यदि किसी प्रकार यह शुरू हो गया तो तीखी तलवारों और बाणोंकी भी सृष्टि कर देगा ॥ १२ ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीत-
स्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः ।
तद् रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य
सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! पुराने लोगोंने भी द्यूतक्रीड़ाका व्यवहार किया है । उसमें न तो दोष है और न युद्ध ही होता है। अतः आप शकुनि मामाकी बात मान लीजिये और शीघ्र ही यहाँ (द्यूतके लिये) सभामण्डप बन जानेकी आज्ञा दीजिये। १३।

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं
तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव
दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १४ ॥

यह जूआ हम खेलनेवालोंके लिये एक विशिष्ट स्वर्गीय सुखका द्वार है । उसके आस-पास बैठनेवाले लोगोंके लिये भी वह वैसा ही सुखद होता है । इस प्रकार इसमें पाण्डवोंको भी हमारे समान ही सुख प्राप्त होगा । अतः आप पाण्डवोंके साथ द्यूतक्रीडाकी व्यवस्था कीजिये ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत् ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात् तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती । नरेन्द्र ! जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो । जूएका आरम्भ करनेपर मेरी बातोंको याद करके तुम पीछे पछताओगे; क्योंकि ऐसी बातें जो तुम्हारे मुखसे निकली हैं, धर्मानुकूल नहीं कही जा सकतीं ॥ १५ ॥

दृष्टं ह्येतद् विदुरेणैव सर्वं
विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति
महद् भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १६ ॥

बुद्धि और विद्याका अनुसरण करनेवाले विद्वान् विदुरने यह सब परिणाम पहलेसे ही देख लिया था । क्षत्रियोंके लिये विनाशकारी वही यह महान् भय मुझ विवशके सामने आ रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये
स्थितो राजा दैवसम्मूढचेताः ॥ १७ ॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां
शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे
तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने दैवको परम दुस्तर माना और दैवके प्रतापसे ही उनके चित्तपर मोह छा गया। वे कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये । फिर पुत्रकी बात मानकर उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि शीघ्र ही तत्पर होकर तोरणस्फाटिक नामक सभा तैयार कराओ । उसमें सुवर्ण तथा वैदूर्यसे जटित एक हजार खम्भे और सौ दरवाजे हों। उस सुन्दर सभाकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक कोसकी होनी चाहिये ॥ १७-१८ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः
प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां
सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १९ ॥

उनकी यह आज्ञा सुनकर तेज काम करनेवाले चतुर

एवं बुद्धिमान् सहस्रों शिल्पी निर्भीक होकर काममें लग गये । उन्होंने शीघ्र ही वह सभा तैयार कर दी और उसमें सब तरहकी वस्तुएँ यथास्थान सजा दीं ॥ १९ ॥

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां
सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ २० ॥

थोड़े ही समयमें तैयार हुई उस असंख्य रत्नोंसे सुशोभित रमणीय एवं विचित्र सभाको अद्भुत सोनेके आसनोंद्वारा सजा दिया गया । तत्पश्चात् विश्वस्त सेवकोंने राजा धृतराष्ट्र-को उस सभाभवनके तैयार हो जानेकी सूचना दी ॥ २० ॥

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् विद्वान् राजा धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरको यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिरके पास जाकर मेरी आज्ञासे उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ ॥ २१ ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा
शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य
सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २२ ॥

उनसे कहना, मेरी यह विचित्र सभा अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित है । इसे बहुमूल्य शय्याओं और आसनोंद्वारा सजाया गया है । युधिष्ठिर ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ आकर इसे देखो और इसमें सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और धृतराष्ट्रकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद् राजंश्चकार ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पुत्र दुर्योधनका मत जानकर राजा धृतराष्ट्रने दैवको दुस्तर माना और यह कार्य किया ॥ १ ॥

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाभ्यनन्दद् वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने धृतराष्ट्रका वह अन्यायपूर्ण आदेश सुनकर भाईकी उस बातका अभिनन्दन नहीं किया और इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं
मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि ।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्या-
देतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

विदुर बोले—महाराज ! मैं आपके इस आदेशका अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये । इससे मुझे समस्त कुलके विनाशका भय है । नरेन्द्र ! पुत्रोंमें भेद होनेपर निश्चय ही आपको कलहका सामना करना पड़ेगा । इस जूएके कारण मुझे ऐसी आशङ्का हो रही है ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां
न चेद् दैवं प्रतिलोमं भविष्यत् ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यदि दैव प्रतिकूल न हो,

तो मुझे कलह भी कष्ट नहीं दे सकेगा। विधाताका बनाया हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके अधीन होकर ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ ४ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

इसलिये विदुर! तुम मेरी आज्ञासे आज राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन दुर्द्धर्ष कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें जाकर सबसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रके बलपूर्वक भेजनेपर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् और अच्छी प्रकार काबूमें किये हुए महान् अश्वोंसे जुते रथपर सवार हो परम बुद्धिमान् पाण्डवोंके समीप गये ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥

महाबुद्धिमान् विदुरजी उस मार्गको तय करके राजा युधिष्ठिरकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ द्विजातियोंसे सम्मानित होकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

कुबेरके भवनके समान सुशोभित राजमहलमें जाकर धर्मात्मा विदुर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे मिले। सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने विदुरजीका यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रकी कुशल पूछी ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।
कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। आप कुशलसे तो आये हैं? बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पुत्र उनके अनुकूल चलते हैं न? तथा सारी प्रजा उनके वशमें है न? ॥ ५ ॥

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥ ६ ॥

विदुरने कहा—राजन्! इन्द्रके समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने जातिभाइयों तथा पुत्रोंसहित सकुशल हैं। अपने विनीत पुत्रोंसे वे प्रसन्न रहते हैं। उनमें शोकका अभाव है। वे महामना अपनी आत्मामें ही अनुराग रखनेवाले हैं ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह संदेश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभाके समान ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयोंके साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयोंकी इस सभाको देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर द्यूतक्रीडा करें और मन बहलावें। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे ॥ ७-८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र
महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा।
तान् द्रक्ष्यसे कितवान् संनिविष्टा-
नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥

महामना राजा धृतराष्ट्रने वहाँ जो जूएके स्थान बनवाये हैं, उनको और वहाँ जुटकर बैठे हुए धूर्त जुआरियोंको तुम देखोगे। राजन्! मैं इसीलिये आया हूँ। तुम चलकर उस सभा एवं द्यूतक्रीडाका सेवन करो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः ।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! जूएमें तो झगड़ा-फसाद होता है । कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा अथवा आप क्या ठीक समझते हैं; हम सब लोग तो आपकी आज्ञाके अनुसार ही चलनेवाले हैं ॥ १० ॥

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

विदुरजीने कहा—विद्वन् ! मैं जानता हूँ, जूआ अनर्थकी जड़ है; इसीलिये मैंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया तथापि राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! वहाँ राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोड़कर दूसरे कौन-कौन धूर्त जूआ खेलनेवाले हैं । यह मैं आपसे पूछता हूँ । आप उन सबको बताइये, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ोंकी बाजी लगाकर हमें जूआ खेलना पड़ेगा ॥ १२ ॥

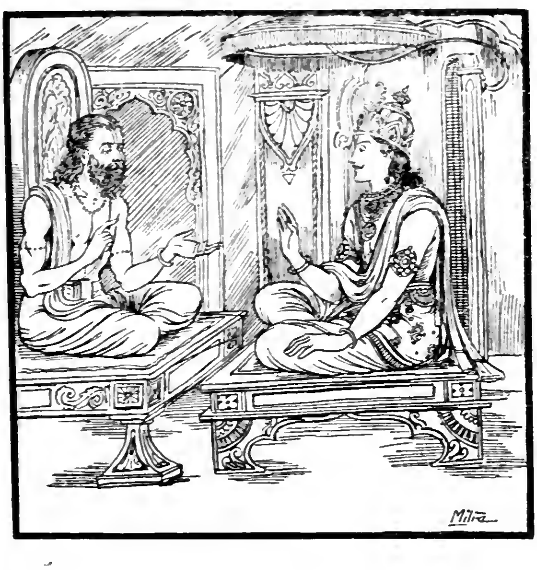

विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः ।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुएका बहुत बड़ा खिलाड़ी है । वह अपनी इच्छाके अनुसार पासे फेंकनेमें सिद्धहस्त है । उसे द्यूतविद्याके रहस्यका ज्ञान है । उसके सिवा राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा
मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले—तब तो वहाँ बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी जुटे हुए हैं । विधाताका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके ही अधीन है; स्वतन्त्र नहीं है ॥ १४ ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् ।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् विदुरजी ! मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएमें अवश्य चलना चाहता हूँ । पुत्रको पिता सदैव प्रिय है; अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा ॥ १५ ॥

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥

मेरे मनमें जूआ खेलनेकी इच्छा नहीं है । यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभामें न बुलाते, तो मैं शकुनिसे कभी जुआ नहीं खेलता; किंतु बुलानेपर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा । यह मेरा सदाका नियम है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरसे ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही यात्राकी सारी तैयारी करनेके

लिये आज्ञा दे दी। फिर सबेरा होनेपर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा की ॥ १७ ॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत्।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥

जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आनेपर आँखकी ज्योतिको हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्यकी बुद्धिको हर लेता है। दैवसे ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सीमें बँधे हुएकी भाँति विधाताके वशमें घूमता रहता है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन राजा युधिष्ठिर जूएके लिये राजा धृतराष्ट्रके उस बुलावेको सहन न करते हुए भी विदुरजीके साथ वहाँ जानेको उद्यत हो गये ॥ १९ ॥

बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः॥ २० ॥

बाह्लीकद्वारा जोते हुए रथपर बैठकर शत्रुसूदन पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा प्रारम्भ की ॥ २० ॥

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः।

वे अपनी राजलक्ष्मीसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणको आगे करके प्रस्थान किया ॥ २०½ ॥

(संदिदेश ततः प्रेष्यान् नागाह्वयगतिं प्रति ॥
ततस्ते नरशार्दूलाश्चक्रुर्वै नृपशासनम् ॥

सबसे पहले राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंको हस्तिनापुरकी ओर चलनेका आदेश दिया। वे नरश्रेष्ठ राजसेवक महाराजकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हो गये ॥

ततो राजा महातेजाः सधौम्यः सपरिच्छदः।
ब्राह्मणैः स्वस्ति वाच्यैव निर्ययौ मन्दिराद् बहिः ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित हो ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पुरोहित धौम्यके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा गत्यर्थं स यथाविधि।
अन्येभ्यः स तु दत्त्वार्थं गन्तुमेवोपचक्रमे ॥

यात्राकी सफलताके लिये उन्होंने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन देकर और दूसरोंको भी मनोवाञ्छित वस्तुएँ अर्पित करके यात्रा प्रारम्भ की ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं राजार्हं सपरिच्छदम्।
तमारुह्य महाराजो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥
निषसाद गजस्कन्धे काञ्चने परमासने।
हारी किरीटी हेमाभः सर्वाभरणभूषितः ॥
रराज राजन् पार्थो वै परया नृपशोभया।
रुक्मवेदिगतः प्राज्यो ज्वलन्निव हुताशनः ॥

राजाके बैठनेके योग्य एक साठ वर्षका गजराज सब आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित करके लाया गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। उसकी पीठपर सोनेका सुन्दर-हौदा कसा गया था। महाराज युधिष्ठिर (पूर्वोक्त रथसे उतर कर) उस गजराजपर आरूढ़ हो हौदेमें बैठे। उस समय वे हार, किरीट तथा अन्य सभी आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी स्वर्णगौर-कान्ति तथा उत्कृष्ट राजोचित शोभासे सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सोनेकी वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हो रहे हों ॥

ततो जगाम राजा स प्रहृष्टनरवाहनः।
रथघोषेण महता पूरयन् वै नभःस्थलम् ॥
संस्तूयमानः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः।
महासैन्येन संवीतो यथाऽऽदित्यः स्वरश्मिभिः ॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए मनुष्यों तथा वाहनोंके साथ राजा युधिष्ठिर वहाँसे चल पड़े। वे (राजपरिवारके लोगोंसे भरे हुए पूर्वोक्त) रथके महान् घोषसे समस्त आकाशमण्डलको गुँजाते जा रहे थे। सूत, मागध और बन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुण गाते थे। उस समय विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर अपनी किरणोंसे आवृत हुए सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
बभौ युधिष्ठिरो राजा पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे राजा युधिष्ठिर पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे ॥

चामरैर्हेमदण्डैश्च धूयमानः समन्ततः।
जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ॥
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावद् भरतर्षभ।

उनके चारों ओर स्वर्णदण्डविभूषित चँवर डुलाये जाते थे। भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको मार्गमें बहुतेरे मनुष्य हर्षोल्लासमें भरकर 'महाराजकी जय हो' कहते हुए शुभाशीर्वाद देते थे और वे यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन सबको स्वीकार करते थे ॥

अपरे कुरुराजानं पथि यान्तं समाहिताः ॥
स्तुवन्ति सततं सौख्यान्मृगपक्षिस्वनैर्नराः।

उस मार्गमें दूसरे बहुत-से मनुष्य एकाग्रचित्त हो मृगों और पक्षियोंकी-सी आवाजमें निरन्तर सुखपूर्वक कुरुराज युधिष्ठिरकी स्तुति करते थे ॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ॥
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिष्ठितः।

जनमेजय! इसी प्रकार जो सैनिक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे थे, उनका कोलाहल भी समूचे आकाशमण्डलको स्तब्ध करके गूँज रहा था ॥

नृपस्याग्रे ययौ भीमो गजस्कन्धगतो बली ॥
उभौ पार्श्वगतौ राज्ञः सदश्वौ वै सुकल्पितौ ।
अधिरूढौ यमौ चापि जग्मतुर्भरतर्षभ ॥
शोभयन्तौ महासैन्यं तावुभौ रूपशालिनौ ।

हाथीकी पीठपर बैठे हुए बलवान् भीमसेन राजाके आगे-आगे जा रहे थे । उनके दोनों ओर सजे-सजाये दो श्रेष्ठ अश्व थे, जिनपर नकुल और सहदेव बैठे थे । भरतश्रेष्ठ! वे दोनों भाई स्वयं तो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थे ही, उस विशाल सेनाकी भी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

पृष्ठतोऽनुययौ धीमान् पार्थः शस्त्रभृतां वरः ॥
श्वेताश्वो गाण्डिवं गृह्य अग्निदत्तं रथं गतः ।

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् श्वेतवाहन अर्जुन अग्निदेवके दिये हुए रथपर बैठकर गाण्डीव धनुष धारण किये महाराजके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

सैन्यमध्ये ययौ राजन् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥
द्रौपदीप्रमुखा नार्यः सानुगाः सपरिच्छदाः ।
आरुह्य ता विचित्राणि शिबिकानां शतानि च ॥
महत्या सेनया राजन्नग्रे राज्ञो ययुस्तदा ।

राजन्! कुरुराज युधिष्ठिर सेनाके बीचमें चल रहे थे। द्रौपदी आदि स्त्रियाँ अपनी सेविकाओं तथा आवश्यक सामग्रियोंके साथ सैकड़ों विचित्र शिबिकाओं (पालकियों) पर आरूढ़ हो बड़ी भारी सेनाके साथ महाराजके आगे-आगे जा रही थीं।

समृद्धनरनागाश्वं सपताकरथध्वजम् ॥
समृद्धरथनिस्त्रिंशं पत्तिभिर्घोषितस्वनम् ।

पाण्डवोंकी वह सेना हाथी-घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे भरी-पूरी थी। उसमें बहुत-से रथ भी थे, जिनकी ध्वजाओंपर पताकाएँ फहरा रही थीं। उन सभी रथोंमें खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र संगृहीत थे। पैदल सैनिकोंका कोलाहल सब ओर फैल रहा था ॥

शङ्खदुन्दुभितालानां वेणुवीणानुनादितम् ॥
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं प्रयातं तत् तदा नृप ।

राजन्! शङ्ख, दुन्दुभि, ताल, वेणु और वीणा आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँज रही थी। उस समय हस्तिनापुरकी ओर जाती हुई पाण्डवोंकी उस सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ॥
अत्यक्रामन्महाराज पुरीं चाभ्यवपद्यत ।
हस्तीपुरसमीपे तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥

जनमेजय! कुरुराज युधिष्ठिर अनेक सरोवर, नदी, वन और उपवनोंको लाँघते हुए हस्तिनापुरके समीप जा पहुँचे ॥

चक्रे निवेशनं तत्र ततः स सहसैनिकः ।
शिवे देशे समे चैव न्यवसत् पाण्डवस्तदा ॥

वहाँ उन्होंने एक सुखद एवं समतल प्रदेशमें सैनिकोंसहित पड़ाव डाल दिया । उसी छावनीमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वयं भी ठहर गये ॥

ततो राजन् समाहूय शोकविह्वलया गिरा ।
एतद् वाक्यं च सर्वस्वं धृतराष्ट्रचिकीर्षितम् ।
आचचक्षे यथावृत्तं विदुरोऽथ नृपस्य ह ॥)

राजन्! तदनन्तर विदुरजीने शोकाकुल वाणीमें महाराज युधिष्ठिरको वहाँका सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीडाके पीछे क्या रहस्य है? ॥

धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥
स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥

तब धृतराष्ट्रके द्वारा बुलाये हुए कालके समयानुसार धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुँचकर धृतराष्ट्रके भवनमें गये और उनसे मिले ॥ २१-२२ ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके साथ भी यथायोग्य मिले ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ॥ २७ ॥
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत् ताराभिरिव रोहिणीम् ।
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य, शकुनि तथा जो राजा वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे, उन सबसे मिले। फिर वीर दुःशासन, उसके समस्त भाई, राजा जयद्रथ तथा सम्पूर्ण कौरवोंसे मिल करके भाइयोंसहित महाबाहु युधिष्ठिरने बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके भवनमें प्रवेश किया और वहाँ सदा ताराओंसे घिरी रहनेवाली रोहिणीदेवीके समान पुत्रवधुओंके साथ बैठी हुई पतिव्रता गान्धारीदेवीको देखा। युधिष्ठिरने गान्धारीको

प्रणाम किया और गान्धारीने भी उन्हें आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ २४-२८ ॥

ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने बूढ़े चाचा प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रका पुनः दर्शन किया ॥ २९ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३० ॥

राजा धृतराष्ट्रने कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदि अन्य चारों पाण्डवोंका मस्तक सूँघा॥३०॥

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ॥३१॥

जनमेजय ! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवोंको आये देख कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३१ ॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् दुःशलाप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले पाण्डवोंने रत्नमय गृहोंमें प्रवेश किया। दुःशला आदि स्त्रियोंने वहाँ आये हुए उन सबको देखा। द्रुपदकुमारीकी प्रज्वलित अग्निके समान उत्तम समृद्धि देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएँ अधिक प्रसन्न नहीं हुईं ॥ ३२-३३ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३४ ॥
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ३५ ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदी आदि अपनी स्त्रियोंसे बातचीत करके पहले व्यायाम एवं केश-प्रसाधन आदि कार्य किया। तदनन्तर नित्यकर्म करके सबने अपनेको दिव्य चन्दन आदिसे विभूषित किया। तत्पश्चात् मनमें कल्याणकी भावना रखनेवाले पाण्डव ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर मनोनुकूल भोजन करनेके पश्चात् शयनगृहमें गये ॥ ३४-३५½ ॥

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

वहाँ स्त्रियोंद्वारा अपने सुयशका गान सुनते हुए वे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सो गये ॥ ३६ ॥

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥ ३७ ॥

उनकी वह पुण्यमयी रात्रि रति-विलासपूर्वक समाप्त हुई। प्रातःकाल बन्दीजनोंके द्वारा स्तुति सुनते हुए पूर्ण विश्रामके पश्चात् उन्होंने निद्राका त्याग किया ॥ ३७ ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और संध्योपासनादि नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस रमणीय सभामें गये। वहाँ जुआरियोंने उनका अभिनन्दन किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरसभागमनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

जूएके अनौचित्यके सम्बन्धमें युधिष्ठिर और शकुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि कुन्तीकुमार उस सभामें पहुँचकर सब राजाओंसे मिले। अवस्थाक्रमके अनुसार समस्त पूजनीय राजाओंका बारी-बारीसे सम्मान करके सबसे मिलने-जुलनेके पश्चात् वे यथायोग्य सुन्दर रमणीय गलीचोंसे युक्त विचित्र आसनोंपर बैठे ॥ १-२ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥

उनके एवं सब नरेशोंके बैठ जानेपर वहाँ सुबलकुमार शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर ! सभामें पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है, सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब पासे फेंककर जूआ खेलनेका अवसर मिलना चाहिये ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन् ! जूआ तो एक प्रकारका छल है तथा पापका कारण है ! इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न इसकी कोई निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो ? ॥ ५ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥

शकुने ! जुआरियोंका छल-कपटमें ही सम्मान होता है; सज्जन पुरुष वैसे सम्मानकी प्रशंसा नहीं करते। अतः तुम क्रूर मनुष्यकी भाँति अनुचित मार्गसे हमें जीतनेकी चेष्टा न करो ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥

शकुनि बोला—जिस अङ्कपर पासा पड़ता है, उसे जो पहले ही समझ लेता है, जो शठताका प्रतीकार करना जानता है एवं पासे फेंकने आदि समस्त व्यापारोंमें उत्साहपूर्वक लगा रहता है तथा जो परम बुद्धिमान् पुरुष द्यूतक्रीडाविषयक सब बातोंकी जानकारी रखता है, वही जूएका असली खिलाड़ी है; वह द्यूतक्रीडामें दूसरोंकी सारी शठतापूर्ण चेष्टाओंको सह लेता है ॥ ७ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं न-
स्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां
कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि पासा विपरीत पड़ जाय तो हम खिलाड़ियोंमेंसे एक पक्षको पराजित कर सकता है; अतः जय-पराजय दैवाधीन पासोंके ही आश्रित है। उसीसे पराजयरूप दोषकी प्राप्ति होती है। हारनेकी शङ्का तो हमें भी है, फिर भी हम खेलते हैं। अतः भूमिपाल ! आप शङ्का न कीजिये, दाँव लगाइये, अब विलम्ब न कीजिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मुनिश्रेष्ठ असित-देवलने, जो सदा इन लोकद्वारोंमें भ्रमण करते रहते हैं, ऐसा कहा है कि जुआरियोंके साथ शठतापूर्वक जो जूआ खेला जाता है, पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्धमें ही प्राप्त होती है; अतः क्षत्रियोंके लिये युद्ध ही उत्तम है, जूआ खेलना नहीं ॥ ९-१० ॥

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष वाणीद्वारा किसीके प्रति अनुचित शब्द नहीं निकालते तथा कपटपूर्ण बर्ताव नहीं करते। कुटिलता और शठतासे रहित युद्ध ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ११ ॥

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे।
तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥ १२ ॥

शकुने ! हमलोग जिस धनसे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करते हैं, उसको तुम जूआ खेलकर हमलोगोंसे हड़पनेकी चेष्टा न करो ॥ १२ ॥

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

मैं धूर्ततापूर्ण बर्तावके द्वारा सुख अथवा धन पानेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि जुआरीके कार्यको विद्वान् पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥

शकुनि बोला—युधिष्ठिर ! श्रोत्रिय विद्वान् दूसरे श्रोत्रिय विद्वानोंके पास जब उन्हें जीतनेके लिये जाता है, तब शठतासे ही काम लेता है। विद्वान् अविद्वानोंको शठतासे ही पराजित करता है; परंतु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते ॥ १४ ॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥

धर्मराज ! जो द्यूतविद्यामें पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितोंपर शठतासे ही विजय पाता है। विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको जो परास्त करता है, वह भी शठता ही है; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ॥ १५ ॥

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अनाड़ी-

को एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बलको शठतासे ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्योंमें विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको शठतासे ही जीतते हैं; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते॥ १६॥

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम्॥ १७॥

इसी प्रकार आप यदि मेरे पास आकर यह मानते हैं कि आपके साथ शठता की जायगी एवं यदि आपको भय मालूम होता है तो इस जूएके खेलसे निवृत्त हो जाइये॥ १७॥

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः॥ १८॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! मैं बुलानेपर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैवके वशमें हूँ॥ १८॥

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम्॥ १९॥

अच्छा तो यहाँ जिन लोगोंका जमाव हुआ है, उनमें किसके साथ मुझे जूआ खेलना होगा? मेरे मुकाबलेमें बैठकर दूसरा कौन पुरुष दाँव लगायेगा? इसका निश्चय हो जाय, तो जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ १९॥

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते॥ २०॥
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम।

दुर्योधन बोला—महाराज! दाँवपर लगानेके लिये धन और रत्न तो मैं दूँगा; परंतु मेरी ओरसे खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि॥ २०½॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम्॥ २१॥

युधिष्ठिरने कहा—दूसरेके लिये दूसरेका जूआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन्! इस बातको समझ लो, फिर इच्छानुसार जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरशकुनिसंवादविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब जूएका खेल आरम्भ होने लगा, उस समय सब राजालोग धृतराष्ट्रको आगे करके उस सभामें आये॥ १॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत॥ २॥

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप और परम बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग असंतुष्ट चित्तसे ही धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे वहाँ आये॥ २॥

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे॥ ३॥

सिंहके समान ग्रीवावाले वे महातेजस्वी राजालोग कहीं एक-एक आसनपर दो-दो तथा कहीं पृथक्-पृथक् एक-एक आसनपर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रक्खे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनोंको ग्रहण किया॥

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम्॥ ४॥

राजन्! जैसे महाभाग देवताओंके एकत्र होनेसे स्वर्गलोक सुशोभित होता है, उसी प्रकार उन आगन्तुक नरेशोंसे उस सभाकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ ४॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम्॥ ५॥

महाराज! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे तथा उनके शरीर तेजोयुक्त थे। उनके बैठ जानेके अनन्तर वहाँ सुहृदोंकी द्यूतक्रीडा आरम्भ हुई॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! यह समुद्रके आवर्तमें उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्यका है। मेरे हारोंमें यह सर्वोत्तम है तथा इसपर उत्तम सुवर्ण जड़ा गया है॥ ६॥

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे॥ ७॥

राजन्! मेरी ओरसे यही धन दाँवपर रक्खा गया है। इसके बदलेमें तुम्हारी ओरसे कौन-सा धन दाँवपर रक्खा जाता है, जिस धनके द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो॥

दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम्॥ ८॥

दुर्योधन बोला—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धनपर अहंकार नहीं है। आप इस जूएको जीतिये॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पासे फेंकनेकी कलामें अत्यन्त निपुण शकुनिने उन पासोंको हाथमें लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव मैंने जीता'॥ ९॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतारम्भविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरकी हार

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! तुमने छलसे इस दाँवमें मुझे हरा दिया, इसीपर तुम गर्वित हो उठे हो; आओ, हमलोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जूआ खेलें॥ १॥

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ २॥

मेरे पास हजारों निष्कों[1] से भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रक्खी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकारके सुवर्ण हैं। राजन्! मेरा यह सब धन दाँवपर लगा दिया गया। मैं इसीके द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम्।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कौरवोंके वंशधर एवं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने फिर कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ ३॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः॥ ४॥
संह्लादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत्।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः॥
अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः। ५॥
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन्।
एतद् राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—यह जो परमानन्ददायक राजरथ है, जो हमलोगोंको यहाँतक ले आया है, रथोंमें श्रेष्ठ जैत्र नामक पुण्यमय श्रेष्ठ रथ है। चलते समय इससे मेघ और समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती रहती है। यह अकेला ही एक हजार रथोंके समान है। इसके ऊपर बाघका चमड़ा लगा हुआ है। यह अत्यन्त सुदृढ़ है। इसके पहिये तथा अन्य आवश्यक सामग्री बहुत सुन्दर है। यह परम शोभायमान

[1] प्राचीन कालमें प्रचलित एक सिक्का, जो एक कर्ष अथवा सोलह मासे सोनेका बना होता था।

रथ क्षुद्र घण्टिकाओंसे सजाया गया है। कुरर पक्षीकी-सी कान्तिवाले आठ अच्छे घोड़े, जो समूचे राष्ट्रमें सम्मानित हैं, इस रथको वहन करते हैं। भूमिका स्पर्श करनेवाला कोई भी प्राणी इन घोड़ोंके सामने पड़ जानेपर बच नहीं सकता। राजन्! इन घोड़ोंसहित यह रथ मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ४–६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः पासे फेंके और जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास एक लाख तरुणी दासियाँ हैं, जो सुवर्णमय माङ्गलिक आभूषण धारण करती हैं। जिनके हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ, बाँहोंमें भुजबंद, कण्ठमें निष्कोंका हार तथा अन्य अङ्गोंमें भी सुन्दर आभूषण हैं। बहुमूल्य हार उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। वे अपने शरीरमें चन्दनका लेप लगाती हैं, मणि और सुवर्ण धारण करती हैं तथा चौसठ कलाओंमें निपुण हैं। नृत्य और गानमें भी वे कुशल हैं। ये सब-के-सब मेरे आदेशसे स्नातकों, मन्त्रियों तथा राजाओंकी सेवा-परिचर्या करती हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ ८–१० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पुनः जीतका निश्चय करके पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—दासियोंकी तरह ही मेरे यहाँ एक लाख दास हैं। वे कार्यकुशल तथा अनुकूल रहनेवाले हैं। उनके शरीरपर सदा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १३ ॥

वे चतुर, बुद्धिमान्, संयमी और तरुण अवस्थावाले हैं। उनके कानोंमें कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं। वे हाथोंमें भोजनपात्र लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन परोसते रहते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर पुनः शठताका आश्रय लेनेवाले शकुनिने अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने जीत लिया' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुबलकुमार! मेरे यहाँ एक हजार मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधनेके रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणोंसे विभूषित रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अङ्गोंपर कमलके चिह्न बने हुए हैं। उनके गलेमें सोनेके हार सुशोभित होते हैं ॥ १५ ॥

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥

वे अच्छी तरह वशमें किये हुए हैं और राजाओंकी सवारीके काममें आते हैं। युद्धमें वे सब प्रकारके शब्द सहन करनेवाले हैं। उनके दाँत हलदण्डके समान लंबे हैं और शरीर विशाल है। उनमेंसे प्रत्येकके आठ-आठ हथिनियाँ हैं ॥ १६ ॥

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

उनकी कान्ति नूतन मेघोंकी घटाके समान है। वे सब-के-सब बड़े-बड़े नगरोंको भी नाश कर देनेकी शक्ति रखते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे शकुनिने हँसकर कहा—'इस दाँवको भी मैंने ही जीता' ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम्।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास उतने ही अर्थात् एक हजार रथ हैं, जिनकी ध्वजाओंमें सोनेके डंडे लगे हैं। उन रथोंपर पताकाएँ फहराती रहती हैं। उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं और विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं। उन रथियोंमेंसे प्रत्येकको अधिक-से-अधिक एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ तक वेतनमें मिलती हैं। वे युद्ध कर रहे हों या न कर रहे हों, प्रत्येक मासमें उन्हें यह वेतन प्राप्त होता रहता है। राजन् ! यह मेरा धन है, इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर वैरी दुरात्मा शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गन्धर्वान् हेममालिनः।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥ २२ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे यहाँ तीतर पक्षीके समान विचित्र वर्णवाले गन्धर्वदेशके घोड़े हैं, जो सोनेके हारसे विभूषित हैं। शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्वने युद्धमें पराजित एवं तिरस्कृत होनेके पश्चात् संतुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुनको प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे। राजन् ! यह मेरा धन है जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥२२-२३॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास दस हजार श्रेष्ठ रथ और छकड़े हैं। जिनमें छोटे-बड़े वाहन सदा जुटे ही रहते हैं ॥ २५ ॥

एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णके हजारों चुने हुए योद्धा मेरे यहाँ एक साथ रहते हैं। वे सब-के-सब वीरोचित पराक्रमसे सम्पन्न एवं शूरवीर हैं ॥ २६ ॥

क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान्।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥

उनकी संख्या साठ हजार है। वे दूध पीते और शालिके चावलका भात खाकर रहते हैं। उन सबकी छाती बहुत चौड़ी है। राजन् ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके उपासक शकुनिने पुनः युधिष्ठिरसे पूर्ण निश्चयके साथ कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास ताँबे और लोहेकी चार सौ निधियाँ यानी खजानेसे भरी हुई पेटियाँ हैं। प्रत्येकमें पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है, वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है, उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। भारत ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २९-३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पूर्ववत् पूर्ण निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतक्रीडाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको विदुरकी चेतावनी

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार जब सर्वस्वका अपहरण करनेवाली वह भयानक द्यूतक्रीडा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयोंका निवारण करनेवाले विदुरजी बोल उठे॥ १॥

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम्॥ २॥

विदुरजीने कहा—भरतकुलतिलक महाराज धृतराष्ट्र! मरणासन्न रोगीको जैसे ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपलोगोंको मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी। फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अच्छी तरह सुनिये और समझिये॥ २॥

यद् वै पुरा जातमात्रो रुराव
गोमायुवद् विस्वरं पापचेताः।
दुर्योधनो भरतानां कुलघ्नः
सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः॥ ३॥

यह भरतवंशका विनाश करनेवाला पापी दुर्योधन पहले जब गर्भसे बाहर निकला था, गीदड़के समान जोर-जोरसे चिल्लाने लगा था; अतः यह निश्चय ही आप सब लोगोंके विनाशका कारण बनेगा॥ ३॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम॥ ४॥

राजन्! दुर्योधनके रूपमें आपके घरके भीतर एक गीदड़ निवास कर रहा है; परंतु आप मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते। सुनिये, मैं आपको शुक्राचार्यकी कही हुई नीतिकी बात बतलाता हूँ॥ ४॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति॥ ५॥

मधु बेचनेवाला मनुष्य जब कहीं ऊँचे वृक्ष आदिपर मधुका छत्ता देख लेता है, तब वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओर ध्यान नहीं देता। वह ऊँचे स्थानपर चढ़कर या तो मधु पाकर मग्न हो जाता है अथवा उस स्थानसे नीचे गिर जाता है॥ ५॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः॥ ६॥

वैसे ही यह दुर्योधन जूएके नशेमें इतना उन्मत्त हो गया है कि मधुमत्त पुरुषकी भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखता। महारथी पाण्डवोंके साथ वैर करके हमें पतनके गर्तमें गिरकर मरना पड़ेगा, इस बातको समझ नहीं पा रहा है॥ ६॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया॥ ७॥

महाप्राज्ञ! मुझे मालूम है कि भोजवंशके एक नरेशने पूर्वकालमें पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने कुमार्गगामी पुत्रका परित्याग कर दिया था॥ ७॥

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन्।
नियोगात् तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना॥ ८॥

अन्धकों, यादवों और भोजोंने मिलकर कंसको त्याग दिया तथा उन्हींके आदेशसे शत्रुघाती श्रीकृष्णने उसको मार डाला॥ ८॥

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम्॥ ९॥

इस प्रकार उसके मारे जानेसे समस्त बन्धु-बान्धव सदाके लिये सुखी हो गये हैं। आप भी आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधनको बंदी बना ले सकते हैं॥ ९॥

निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम्।
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च।
क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे॥

इसी पापीके कैद हो जानेसे समस्त कौरव सुख और आनन्दसे रह सकते हैं। राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर। इस कौवेको देकर आप विचित्र पंखवाले मयूरोंको खरीद लीजिये। इस गीदड़के द्वारा इन पाण्डवरूपी शेरोंको अपनाइये। शोकके समुद्रमें डूबकर प्राण न दीजिये॥ १०॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ ११॥

समूचे कुलकी भलाईके लिये एक मनुष्यको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशकी भलाईके लिये एक गाँवको त्याग दे और आत्माके उद्धारके लिये सारी पृथ्वीका ही परित्याग कर दे॥ ११॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान्॥ १२॥

सबके मनोभावोंको जाननेवाले तथा सब शत्रुओंके लिये भयंकर सर्वज्ञ शुक्राचार्यने जम्भ दैत्यको त्याग करनेके समय समस्त बड़े-बड़े असुरोंसे यह कथा सुनायी थी॥ १२॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित् पक्षिणो वनगोचरान्।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद् राजा न्यपीडयत्।
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ॥१३॥

एक वनमें कुछ पक्षी रहते थे, जो अपने मुखसे सोना उगला करते थे। एक दिन जब वे अपने घोंसलोंमें आरामसे बैठे थे, उस देशके राजाने उन्हें लोभवश मरवा डाला। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! उस राजाको एक साथ बहुत-सा सुवर्ण पा लेनेकी इच्छा थी। उपभोग-के लोभने उसे अंधा बना दिया था ॥ १३ ॥

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत्।
तदर्थकामस्तद्वत् त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप ॥१४॥

अतः उसने उस धनके लोभसे उन पक्षियोंका वध करके वर्तमान और भविष्य दोनों लाभोंका तत्काल नाश कर दिया। राजन् ! इसी प्रकार आप पाण्डवोंका सारा धन हड़प लेनेके लोभसे उनके साथ द्रोह न करें ॥ १४ ॥

मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पत्रिहा पुरुषो यथा।
(पतेन तव नाशः स्याद् बडिशाच्छफरो यथा।)
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ॥१५॥
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः।

अन्यथा उन पक्षियोंकी हिंसा करनेवाले राजाकी भाँति आपको भी मोहवश पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस द्रोहसे आपका उसी तरह सर्वनाश हो जायगा, जैसे बंसीका काँटा निगल लेनेसे मछलीका नाश हो जाता है। भरतकुलभूषण ! जैसे माली उद्यानके वृक्षोंको बार-बार सींचता रहता है और समय-समयपर उनसे खिले पुष्पोंको चुनता भी रहता है, उसी प्रकार आप पाण्डवरूपी वृक्षोंको स्नेहजलसे सींचते हुए उनसे उत्पन्न होनेवाले धनरूपी पुष्पोंको लेते रहिये ॥ १५½ ॥

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१६॥

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आप उन्हें जड़मूलसहित जलानेकी चेष्टा न कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंके साथ विरोध करनेके कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जाना पड़े ॥ १६ ॥

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१७॥

भरतवंशीय राजन् ! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्धके लिये तैयार होंगे, उनका मुकाबला कौन कर सकता है ? ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनसम्बन्धी बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा जूएका घोर विरोध

विदुर उवाच

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—महाराज ! जूआ खेलना झगड़ेकी जड़ है। इससे आपसमें फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकटकी सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उसीका आश्रय लेकर इस समय भयानक वैरकी सृष्टि कर रहा है ॥१॥

प्रातीपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शन्तनु, भीमसेन[1] तथा बाह्लीकके वंशज सब प्रकारसे घोर संकटमें पड़ जायँगे ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैष क्षेमं राष्ट्रादपोहति।
विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥ ३ ॥

जैसे मतवाला बैल मदोन्मत्त होकर स्वयं ही अपने सींगोंको तोड़ लेता है, उसी प्रकार यह दुर्योधन मदान्धताके कारण स्वयं अपने राज्यसे मङ्गलका बहिष्कार कर रहा है ॥ ३ ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्
वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम्।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रा-
मारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥

राजन् ! जो वीर और विद्वान् मनुष्य अपनी दृष्टिकी अवहेलना करके दूसरेके चित्तके अनुसार चलता है, वह समुद्रमें मूर्ख नाविकद्वारा चलायी जाती हुई नावपर बैठे हुए मनुष्यके समान भयंकर विपत्तिमें पड़ जाता है ॥ ४ ॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥

१. कुरुकुलके एक पूर्वपुरुष।

दुर्योधन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ दाँव लगाकर जूआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है; यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो; किंतु आजका यह अतिशय विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्धके रूपमें परिणत होनेवाला है, जिससे (अगणित) मनुष्योंका संहार होगा ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो
हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाय-
मचिन्तितोऽनभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥

जूआ अधःपतन करनेवाला है; परंतु शकुनिने इसे उत्तम मानकर यहाँ उपस्थित किया है। यह जूएका निश्चय आपलोगोंके हृदयमें गुप्त मन्त्रणाके पश्चात् स्थिर हुआ है। परंतु यह जूए-का खेल आपके अपने ही बन्धु युधिष्ठिरके साथ आपके विचार और इच्छाके विरुद्ध कलहके रूपमें परिणत हो जायगा ॥

प्रातीपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं
काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं
मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥

प्रतीप और शन्तनुके वंशजो ! कौरवोंकी सभामें मेरी कही हुई बात ध्यानसे सुनो । यह विद्वानोंको भी मान्य है । तुमलोग इस मूर्ख दुर्योधनके पीछे चलकर वैरकी धधकती हुई भयानक आगमें न कूदो ॥ ७ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रु-
र्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च
कोऽत्र द्वीपः स्यात् तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥

जूएके मदमें भूले हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर जब अपना क्रोध न रोक सकेंगे तथा भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेव भी जब क्रुद्ध हो उठेंगे, उस समय घमासान युद्ध छिड़ जानेपर विपत्तिके महासागरमें डूबते हुए तुमलोगोंका कौन आश्रयदाता होगा ? ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां
पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहुवित्तान् पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं
किं ते तत् स्याद् वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥

महाराज ! आप जूएसे पहले भी मनसे जितना धन चाहते, उतना धन पा सकते थे; यदि अत्यन्त धनवान् पाण्डवोंको आपने जूएके द्वारा जीत ही लिया तो इससे आपका क्या होगा ? कुन्तीके पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं। आप इन्हींको अपनाइये ॥ ९ ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पर्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ॥१०॥

मैं सुबलपुत्र शकुनिका जूआ खेलना कैसा है, यह जानता हूँ। यह पर्वतीय नरेश जूएकी सारी कपटविद्याको जानता है। मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँसे आया है, वहीं लौट जाय। भारत ! इस तरह कौरवों तथा पाण्डवोंमें युद्धकी आग न भड़काओ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका विदुरको फटकारना और विदुरका उसे चेतावनी देना

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! तुम सदा हमारे शत्रुओंके ही सुयशकी डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा किया करते हो । तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं, हमें मूर्ख समझकर तुम सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो ॥ १ ॥

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो
निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो
न ज्यायसः कृथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥

जो दूसरोंको चाहनेवाला है, वह मनुष्य पहचानमें आ जाता है; क्योंकि वह जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी निन्दा और जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्रशंसामें संलग्न रहता है। तुम्हारा हृदय हमारे प्रति किस प्रकार द्वेषसे परिपूर्ण है, यह बात तुम्हारी जिह्वा प्रकट कर देती है । तुम अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके प्रति इस प्रकार हृदयका द्वेष न प्रकट करो ॥

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहु-
स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात्॥ ३ ॥

हमारे लिये तुम गोदमें बैठे साँपके समान हो और विलावकी भाँति पालनेवालेका ही गला घोंट रहे हो। तुम स्वामि-द्रोह रखते हो, फिर भी तुम्हें लोग पापी नहीं कहते ! विदुर ! तुम इस पापसे डरते क्यों नहीं ? ॥ ३ ॥

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद् वै
मास्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः।
द्विषद्भिस्त्वं सम्प्रयोगाभिनन्दी
मुहुर्द्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात्॥ ४ ॥

हमने शत्रुओंको जीतकर (धनरूप) महान् फल प्राप्त किया है। विदुर ! तुम हमसे यहाँ कटु वचन न बोलो। तुम शत्रुओंके साथ मेल करके प्रसन्न हो रहे हो और हमारे साथ मेल करके भी अब (हमारे शत्रुओंकी प्रशंसा करके) हमलोगोंके बारंबार द्वेषके पात्र बन रहे हो॥ ४ ॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्
निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे
यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे॥ ५ ॥

अक्षम्य कटुवचन बोलनेवाला मनुष्य शत्रु बन जाता है। शत्रुकी प्रशंसा करते समय भी लोग अपने गूढ़ मनोभावको छिपाये रखते हैं। निर्लज्ज विदुर ! तुम भी उसी नीतिका आश्रय लेकर चुप क्यों नहीं रहते ? हमारे काममें बाधा क्यों डालते हो ! तुम जो मनमें आता है, वही बक जाते हो॥ ५ ॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात्।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम्॥ ६ ॥

विदुर ! तुम हमलोगोंका अपमान न करो, तुम्हारे इस मनको हम जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ोंके निकट बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यशकी रक्षा करो। दूसरोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करो॥ ६ ॥

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम्॥ ७ ॥

विदुर ! 'मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ' ऐसा न समझो और हमें प्रतिदिन कड़वी बातें न कहो। मैं अपने हितके सम्बन्धमें तुमसे कोई सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हारा भला हो। हम तुम्हारी कठोर बातें सहते चले जाते हैं, इसलिये हम क्षमाशीलोंको तुम अपने वचनरूपी बाणोंसे छेदो मत॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि॥ ८ ॥

देखो, इस जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक माताके गर्भमें सोये हुए शिशुपर भी शासन करता है; उसीके द्वारा मैं भी अनुशासित हूँ। अतः जैसे जल स्वाभाविक ही नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह जगन्नियन्ता मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वैसे ही उसी काममें लगता हूँ॥ ८ ॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम्।
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति॥ ९ ॥

जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है—अर्थात् पत्थरपर सिर पटककर स्वयं ही अपनेको पीड़ा देता है तथा जिनकी प्रेरणासे मनुष्य सर्पको भी दूध पिलाकर पालता है, उसी सर्वनियन्ताकी बुद्धि समस्त जगत्के कार्योंका अनुशासन करती है। जो बलपूर्वक किसीपर अपना उपदेश लादता है, वह अपने उस व्यवहारके द्वारा उसे अपना शत्रु बना लेता है॥ ९ ॥

मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः।
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक् चिरं नाभिधावति।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत॥ १० ॥

इस प्रकार मित्रताका अनुसरण करनेवाले मनुष्यको विद्वान् पुरुष त्याग दे। भारत ! जो पहले कपूरमें आग लगाकर उसके प्रज्वलित हो जानेपर देरतक उसे बुझानेके लिये नहीं दौड़ता, वह कहीं उसकी बची हुई राख भी नहीं पाता॥ १० ॥

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति॥ ११ ॥

विदुर ! जो शत्रुका पक्षपाती हो, अपनेसे द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको घरमें नहीं रहने देना चाहिये। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। कुलटा स्त्रीको मीठी-मीठी बातोंद्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह पतिको छोड़ ही देती है॥ ११ ॥

विदुर उवाच

एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां वृत्तं साक्षिवद् ब्रूहि राजन्।

राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १२ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! जो इस प्रकार मनके प्रतिकूल किंतु हितभरी शिक्षा देनेमात्रसे अपने हितैषी पुरुषको त्याग देते हैं, उनका वह बर्ताव कैसा है, यह आप साक्षीकी भाँति पक्षपातरहित होकर बताइये; क्योंकि राजाओंके चित्त द्वेषसे भरे होते हैं, इसलिये वे सामने मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर पीठ-पीछे मूसलोंसे आघात करवाते हैं ॥ १२ ॥

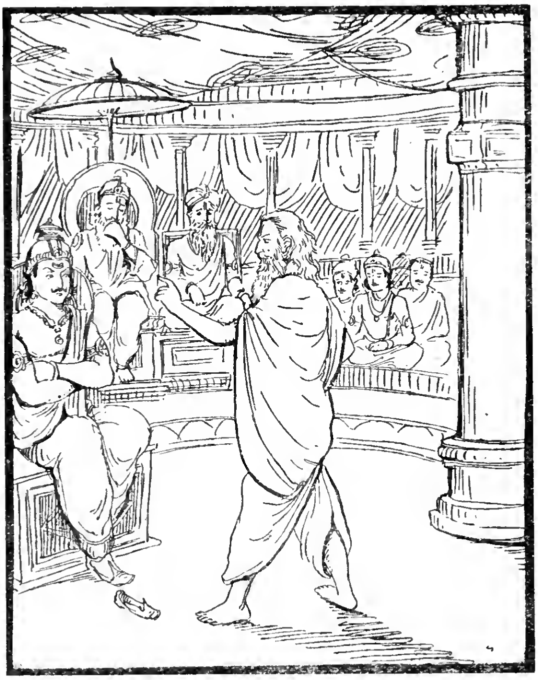

अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १३ ॥

राजकुमार दुर्योधन ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी मन्द है । तुम अपनेको विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो । जो किसी पुरुषको सुहृद्‌के पदपर स्थापित करके फिर स्वयं ही उसपर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ॥ १३ ॥

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १४ ॥

जैसे श्रोत्रियके घरमें दुराचारिणी स्त्री कल्याणमय अग्निहोत्र आदि कार्योंमें नहीं लगायी जा सकती, उसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुषको कल्याणके मार्गपर नहीं लगाया जा सकता। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति नहीं पसंद आ सकता, उसी प्रकार भरतवंशशिरोमणि दुर्योधनको निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर नहीं प्रतीत होता ॥ १४ ॥

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १५ ॥

राजन् ! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्योंमें केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो, तो स्त्रियों मूर्खों, पङ्गुओं तथा उसी तरहके अन्य सब मनुष्योंसे सलाह लिया करो ॥ १५ ॥

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६ ॥

इस संसारमें सदा मनको प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचनको कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ॥ १६ ॥

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है ॥ १७ ॥

अव्याधिजं कटुजं तीक्ष्णमुष्णं
यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १८ ॥

महाराज ! जो पी लेनेपर मानसिक रोगोंका नाश करनेवाला है, कड़वी बातोंसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो तीखा, तापदायक, कीर्तिनाशक, कठोर और दूषित प्रतीत होता है, जिसे दुष्टलोग नहीं पी सकते तथा जो सत्पुरुषोंके पीनेकी वस्तु है, उस क्रोधको पीकर शान्त हो जाइये ॥ १८ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च
वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु
ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ १९ ॥

मैं तो चाहता हूँ कि विचित्रवीर्यनन्दन धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको सदा यश और धन दोनों प्राप्त हों, परंतु दुर्योधन ! तुम जैसे रहना चाहते हो, वैसे रहो, तुम्हें नमस्कार है । ब्राह्मणलोग मेरे लिये भी कल्याणका आशीर्वाद दें ॥ १९ ॥

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! मैं एकाग्र हृदयसे तुमसे यह बात बता रहा हूँ, 'विद्वान् पुरुष उन सर्पोंको कुपित न करें, जो दाँतों और नेत्रोंसे भी विष उगलते रहते हैं (अर्थात् ये पाण्डव तुम्हारे लिये सर्पोंसे भी अधिक भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो)'॥२०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदीसहित अपनेको भी हारना

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ १ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! आप अबतक पाण्डवोंका बहुत-सा धन हार चुके। यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल।
अथ त्वं शकुने कस्मात् वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ। शकुने ! तुम मेरे धनका परिमाण क्यों पूछते हो ? ॥ २ ॥

अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम्।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः॥ ३ ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ४ ॥

अयुत, प्रयुत, शङ्कु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शङ्ख, निखर्व, महापद्म, कोटि, मध्य, परार्ध और पर इतना धन मेरे पास है। राजन् ! खेलो, मैं इसीको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शकुनिने छलका आश्रय ले पुनः इसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह धन भी मैंने जीत लिया' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम्।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास सिन्धु नदीके पूर्वी तटसे लेकर पर्णाशा नदीके किनारेतक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशुधन हैं, वह असंख्य हैं। उनमें भी दूध देनेवाली गौओंकी संख्या अधिक है। यह सारा मेरा धन है, जिसे मैं दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके आश्रित हुए शकुनिने अपनी ही जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ब्राह्मणोंको जीविकारूपमें जो ग्रामादि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकारमें है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं। शकुने ! मैं इसी धनको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटका आश्रय ग्रहण करके शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ये राजपुत्र जिन आभूषणोंसे विभूषित होकर शोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गलेके स्वर्णभूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं। इन्हें दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छल-कपटका आश्रय लेनेवाले शकुनिने युधिष्ठिरसे निश्चयपूर्वक कहा—'लो, यह भी मैंने जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंहके समान कंधोंवाले महाबाहु नकुलको ही इस समय मैं दाँवपर रखता हूँ, इन्हींको मेरे दाँवका धन समझो ॥ १२ ॥

शकुनिरुवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥

शकुनि बोला—धर्मराज युधिष्ठिर ! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब किस धनसे आप यहाँ खेल रहे हैं ? ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शकुनिने पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'लो, इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—ये सहदेव धर्मोंका उपदेश करते हैं। संसारमें पण्डितके रूपमें इनकी ख्याति है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँवपर लगानेके योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तुकी भाँति इन्हें दाँवपर रखकर खेलता हूँ ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छली शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ १६ ॥

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ॥ १७ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! आपके ये दोनों प्रिय भाई माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव तो मेरेद्वारा जीत लिये गये, अब रहे भीमसेन और अर्जुन। मैं समझता हूँ, ये दोनों आपके लिये अधिक गौरवकी वस्तु हैं (इसीलिये आप इन्हें दाँवपर नहीं लगाते) ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ओ मूढ़ ! तू निश्चय ही अधर्मका आचरण कर रहा है, जो न्यायकी ओर नहीं देखता। तू शुद्ध हृदयवाले हमारे भाइयोंमें फूट डालना चाहता है ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! धनके लोभसे अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य नरककुण्डमें गिरता है। अधिक उन्मत्त हुआ ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयुमें बड़े और गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। भरतवंशविभूषण ! आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ २० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! जुआरी जूआ खेलते समय पागल होकर जो अनाप-शनाप बातें बक जाया करते हैं, वे न कभी स्वप्नमें दिखायी देती हैं और न जाग्रत्कालमें ही ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने ! जो युद्धरूपी समुद्रमें हम-लोगोंको नौकाकी भाँति पार लगानेवाले हैं तथा शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वे लोकविख्यात वेगशाली वीर राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँवपर लगानेयोग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटी शकुनिने पूर्ववत् विजयका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह भी मैंने ही जीता' ॥ २२ ॥

शकुनिरुवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः
पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन् दयितेन दीव्य
यत् कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम्॥ २३ ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! ये पाण्डवोंमें धनुर्धर वीर सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा जीत लिये गये। पाण्डुनन्दन! अब आपके पास भीमसेन ही जुआरियोंको प्राप्त होनेवाले धनके रूपमें शेष हैं, अतः उन्हींको दाँवपर रखकर खेलिये ॥ २३॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता युधि नः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा
सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी ॥ २४ ॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान् न विद्यते
गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जो युद्धमें हमारे सेनापति और दानवशत्रु वज्रधारी इन्द्रके समान अकेले ही आगे बढ़नेवाले हैं; जो तिरछी दृष्टिसे देखते हैं, जिनकी भौंहें धनुषकी भाँति झुकी हुई हैं, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंहके समान हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं, बलमें जिनकी समानता करनेवाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियोंमें अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओंको कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेनको दाँवपर लगाकर मैं जुआ खेलता हूँ। यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताका आश्रय लेकर शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २६ ॥

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातॄंश्च सहयद्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ २७ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों और हाथी-घोड़ोंसहित बहुत धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ धन कोई अवशिष्ट हो, तो बतलाइये ॥२७॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मैं अपने सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्रिय हूँ; अतः अपनेको ही दाँवपर लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दासकी भाँति सब कार्य करूँगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने निश्चयपूर्वक अपनी जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २९ ॥

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः ।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥ ३० ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! आप अपनेको दाँवपर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धनके शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान् पाप है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक् पृथक्॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पासा फेंकनेकी विद्यामें निपुण शकुनिने राजा युधिष्ठिरसे दाँव लगानेके विषयमें उक्त बातें कहकर सभामें बैठे हुए लोकप्रसिद्ध वीर राजाओंको पृथक्-पृथक् पाण्डवोंकी पराजय सूचित की ॥ ३१ ॥

शकुनिरुवाच

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् शकुनिने फिर कहा—राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं; अतः पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको आप दाँवपर रखिये और उसके द्वारा फिर अपनेको जीत लीजिये ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जो न नाटी है न लंबी, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुँघराले हैं, उस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ३३ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३४ ॥

उसके नेत्र शरद्ऋतुके प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं। उसके शरीरसे शारदीय कमलके समान सुगन्ध

फैलती रहती है । वह शरद्‌ऋतुके कमलोंका सेवन करती है तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान है ॥ ३४ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात् तथा स्याद् रूपसम्पदा ।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम् ॥ ३५ ॥

पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं ॥ ३५ ॥

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३६ ॥

वह समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न तथा मनके अनुकूल और प्रिय वचन बोलनेवाली है । मनुष्य धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये जैसी पत्नीकी इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है ॥ ३६ ॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३७ ॥

वह ग्वालों और भेड़ोंके चरवाहोंसे भी पीछे सोती और सबसे पहले जागती है । कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इन सबकी वह जानकारी रखती है ॥ ३७ ॥

आभाति पद्मवद् वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।
वेदिमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ३८ ॥

उसका स्वेदबिन्दुओंसे विभूषित मुख कमलके समान सुन्दर और मल्लिकाके समान सुगन्धित है। उसका मध्यभाग वेदीके समान कृश दिखायी देता है । उसके सिरके केश बड़े-बड़े हैं, मुख और ओष्ठ अरुणवर्णके हैं तथा उसके अङ्गोंमें अधिक रोमावलियाँ नहीं हैं ॥ ३८ ॥

तयैवंविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्‌ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥ ३९ ॥

सुबलपुत्र ! ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी सुमध्यमा पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीको दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ; यद्यपि ऐसा करते हुए मुझे महान् कष्ट हो रहा है ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा कहते ही उस सभामें बैठे हुए बड़े-बूढ़े लोगोंके मुखसे 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी ॥

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४१ ॥

राजन् ! उस समय सारी सभामें हलचल मच गयी । राजाओंको बड़ा शोक हुआ । भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरसे पसीना छूटने लगा ॥ ४१ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ४२ ॥

विदुरजी तो दोनों हाथोंसे अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये । वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास लेकर मुँह नीचे किये हुए गम्भीर चिन्तामें निमग्न हो बैठे रह गये ॥ ४२ ॥

(बाह्लीकः सोमदत्तश्च प्रातीपेयः ससंजयः ।
द्रौणिभूरिश्रवाश्चैव युयुत्सुर्धृतराष्ट्रजः ॥
हस्तौ पिषन्नधोवक्त्रा निःश्वसन्त इवोरगाः ॥)

बाह्लीक, प्रतीपके पौत्र सोमदत्त, भीष्म, सञ्जय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु—ये सब मुँह नीचे किये सर्पोंके समान लंबी साँसें खींचते हुए अपने दोनों हाथ मलने लगे ॥

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे, 'क्या हमारे पक्षकी जीत हो रही है ।' वे अपनी प्रसन्नताकी आकृतिको न छिपा सके ॥ ४३ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४४ ॥

दुःशासन आदिके साथ कर्णको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु अन्य सभासदोंकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥ ४४ ॥

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ॥ ४५ ॥

सुबलपुत्र शकुनिने मैंने यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर पासोंको पुनः उठा लिया । उस समय वह विजयोल्लाससे सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीपराजयविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ मिलाकर कुल $46\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

विदुरका दुर्योधनको फटकारना

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम् ।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! यहाँ आओ । तुम जाकर

द्यूत-क्रीडामें युधिष्ठिरकी पराजय

दुःशासनका द्रौपदीके केश पकड़कर खींचना

पाण्डवोंकी प्यारी और मनोऽनुकूल पत्नी द्रौपदीको यहाँ ले आओ। वह पापाचारिणी शीघ्र यहाँ आये और मेरे महलमें झाड़ू लगाये। उसे वहीं दासियोंके साथ रहना होगा॥ १॥

विदुर उवाच

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिवेलम्॥ २॥

विदुर बोले—ओ मूर्ख! तेरे-जैसे नीचके मुखसे ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। अरे! तू कालपाशसे बँधा हुआ है, इसीलिये कुछ समझ नहीं पाता। तू ऐसे ऊँचे स्थानमें लटक रहा है, जहाँसे गिरकर प्राण जानेमें अधिक विलम्ब नहीं; किंतु तुझे इस बातका पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर व्याघ्रोंको अत्यन्त क्रुद्ध कर रहा है॥२॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम्॥ ३॥

मन्दात्मन्! तेरे सिरपर कोपमें भरे हुए महान् विषधर सर्प चढ़ आये हैं। तू उनका क्रोध न बढ़ा, यमलोकमें जानेको उद्यत न हो॥ ३॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः॥ ४॥

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, उस दशामें उन्होंने इसे दाँवपर रखा है (अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गयी)॥ ४॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम्॥ ५॥

जैसे बाँस अपने नाशके लिये ही फल धारण करता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्र इस राजा दुर्योधनने महान् भयदायक वैरकी सृष्टिके लिये इस जूएके खेलको अपनाया है। यह ऐसा मतवाला हो गया है कि मौत सिरपर नाच रही है; किंतु इसे उसका पता ही नहीं है॥ ५॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम्॥ ६॥

किसीको मर्मभेदी बात न कहे, किसीसे कठोर वचन न बोले। नीच कर्मके द्वारा शत्रुको वशमें करनेकी चेष्टा न करे। जिस बातसे दूसरेको उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, वैसी बात मुँहसे कभी न निकाले॥ ६॥

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥ ७॥

मुँहसे जो कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे दूसरेके मर्मपर ही आघात करते हैं; अतः विद्वान् पुरुषको दूसरोंके प्रति निष्ठुर वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ ७॥

अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं
तद्वद् वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः॥ ८॥

कहते हैं, एक बकरा कोई शस्त्र निगलने लगा; किंतु जब वह निगला न जा सका, तब उसने पृथ्वीपर अपना सिर पटक-पटककर उस शस्त्रको निगल जानेका प्रयत्न किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह भयानक शस्त्र उस बकरेका ही गला काटनेवाला हो गया। इसी प्रकार तुम पाण्डवोंसे वैर न ठानो॥ ८॥

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव॥ ९॥

कुन्तीके पुत्र किसी वनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान्‌से ऐसी कड़ी बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्तेके-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस तरह दूसरोंको भूँका करते हैं॥ ९॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं
न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां
द्यूतोदये सह दुःशासनेन॥१०॥

धृतराष्ट्रका पुत्र नरकके अत्यन्त भयंकर एवं कुटिल द्वारको नहीं देख रहा है। दुःशासनके साथ कौरवोंमेंसे बहुत-से लोग दुर्योधनकी इस द्यूतक्रीडामें उसके साथी बन गये॥ १०॥

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति॥११॥

चाहे तूँबी जलमें डूब जाय, पत्थर तैरने लग जाय तथा नौकाएँ भी सदा ही जलमें डूब जाया करें; परंतु धृतराष्ट्रका यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां
सुदारुणः सर्वहरो विनाशः।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा
न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥१२॥

यह दुर्योधन निश्चय ही कुरुकुलका नाश करनेवाला होगा। इसके द्वारा अत्यन्त भयंकर सर्वनाशका अवसर उपस्थित होगा। यह अपने सुहृदोंका पाण्डित्यपूर्ण हितकर वचन भी नहीं सुनता; इसका लोभ बढ़ता ही जा रहा है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

प्रातिकामीके बुलानेसे न आनेपर दुःशासनका सभामें द्रौपदीको केश पकड़कर घसीटकर लाना एवं सभासदोंसे द्रौपदीका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन गर्वसे उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुरको धिक्कार है' ऐसा कहकर प्रातिकामीकी ओर देखा और सभामें बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच उससे कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहाँ ले आओ। तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। ये विदुर तो डरपोक हैं, अतः सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ये कभी हमलोगोंकी वृद्धि नहीं चाहते ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया एवं जैसे कुत्ता सिंहकी माँदमें घुसे, उसी प्रकार उस राजभवनमें प्रवेश करके वह पाण्डवोंकी महारानीके पास गया ॥

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत्।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥

प्रातिकामी बोला—द्रुपदकुमारी ! धर्मराज युधिष्ठिर जूएके मदसे उन्मत्त हो गये थे। उन्होंने सर्वस्व हारकर आपको दाँवपर लगा दिया। तब दुर्योधनने आपको जीत लिया। याज्ञसेनी ! अब आप धृतराष्ट्रके महलमें पधारें। मैं आपको वहाँ दासीका काम करवानेके लिये ले चलता हूँ ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रातिकामिन् ! तू ऐसी बात कैसे कहता है ? कौन राजकुमार अपनी पत्नीको दाँवपर रखकर जूआ खेलेगा ? क्या राजा युधिष्ठिर जूएके नशेमें इतने पागल हो गये कि उनके पास जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया ? ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारी ! जब जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया, तब अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार जूआ खेलने लगे। पहले तो

उन्होंने अपने भाइयोंको दाँवपर लगाया, उसके बाद अपनेको और अन्तमें आपको भी दाँवपर रख दिया ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम सभामें उन जुआरी महाराजके पास जाओ और जाकर यह पूछो कि 'आप पहले अपनेको हारे थे या मुझे ?' ॥ ७ ॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥

सूतनन्दन ! यह जानकर आओ । तब मुझे ले चलो । राजा क्या करना चाहते हैं ? यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभामें चलूँगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामीने सभामें जाकर राजाओंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी वह बात कह सुनायी । उसने कहा—'द्रौपदी आपसे पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तुके स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं ? आप पहले अपनेको हारे हैं या मुझे ?' ॥ ९-१० ॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥

राजन् ! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामीको भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ॥ १२ ॥

तब दुर्योधन बोला—सूतपुत्र ! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्नको पूछे । यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिरके उत्तरको सुनें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामी दुर्योधनके वशमें था, इसलिये वह राजभवनमें जाकर द्रौपदीसे व्यथित होकर बोला ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥ १४ ॥

प्रातिकामीने कहा—राजकुमारी ! वे (दुर्योधन आदि) सभासद् तुम्हें सभामें ही बुला रहे हैं । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, अब कौरवोंके विनाशका समय आ गया है जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभामें बुलानेका साहस करता है, वह कभी अपने धन-वैभवकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! निश्चय ही विधाताका ऐसा ही विधान है । बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं । जगत्में एकमात्र धर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है । यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा ॥ १५ ॥

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥

मेरे इस धर्मका उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभामें बैठे हुए कुरुवंशियोंके पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—'इस समय मुझे क्या करना चाहिये ?' वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी ॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥ १७ ॥

द्रौपदीका यह कथन सुनकर सूत प्रातिकामीने पुनः सभामें जाकर द्रौपदीके प्रश्नको दुहराया; किंतु उस समय दुर्योधनके उस दुराग्रहको जानकर सभी नीचे मुँह किये बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद् भरतर्षभ ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधन क्या करना चाहता है, यह सुनकर युधिष्ठिरने द्रौपदीके पास एक ऐसा दूत भेजा, जिसे वह पहचानती थी और उसीके द्वारा यह संदेश कहलाया, 'पाञ्चालराजकुमारी ! यद्यपि तुम रजस्वला और नीवीको नीचे रखकर एक ही वस्त्र धारण कर रही हो, तो भी उसी दशामें रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो जाओ ॥ १८-१९ ॥

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे निनिन्देरन् मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २० ॥

'तुम-जैसी राजकुमारीको सभामें आयी देख सभी सभासद् मन-ही-मन इस दुर्योधनकी निन्दा करेंगे' ॥ २० ॥

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान् धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥

राजन् ! वह बुद्धिमान् दूत तुरंत द्रौपदीके भवनमें गया। वहाँ उसने धर्मराजका निश्चित मत उसे बता दिया ॥ २१ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥ २२ ॥

इधर महात्मा पाण्डव सत्यके बन्धनसे बँधकर अत्यन्त दीन और दुःखमग्न हो गये । उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ २२ ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥

उनके दीन मुँहकी ओर देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हो सूतसे बोला—'प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहीं ले आओ। उसके सामने ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नोंका उत्तर देंगे' ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनके वशमें रहनेवाले प्रातिकामीने द्रौपदीके क्रोधसे डरते हुए अपने मान-सम्मानकी परवा न करके पुनः सभासदोंसे पूछा—'मैं द्रौपदीको क्या उत्तर दूँ ?' ॥ २४ ॥

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो
वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ २५ ॥

दुर्योधन बोला—दुःशासन ! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है। इसे भीमसेनका डर लगा हुआ है। तुम स्वयं द्रौपदीको यहाँ पकड़ लाओ । हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हमलोगोंके वशमें हैं । वे तुम्हारा क्या कर लेंगे ॥ २५ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद् वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँख किये वहाँसे चल दिया । महारथी पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके उसने राजकुमारी द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २७ ॥

'पाञ्चालि ! आओ, आओ, तुम जूएमें जीती जा चुकी हो । कृष्णे ! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधनकी ओर देखो । कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! हमने धर्मके अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवोंकी सेवा करो । अभी राजसभामें चली चलो' ॥ २७ ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥

यह सुनकर द्रौपदीका हृदय अत्यन्त दुःखित होने लगा । उसने अपने मलिन मुखको हाथसे पोंछा । फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ बूढ़े महाराज धृतराष्ट्रकी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं ॥ २८ ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥

तब दुःशासन भी रोषसे गर्जता हुआ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ा। उसने महाराज युधिष्ठिरकी पत्नी द्रौपदीके लम्बे, नीले और लहराते हुए केशोंको पकड़ लिया ॥ २९ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन
महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं
बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥

जो केश राजसूय महायज्ञके अवभृथस्नानमें मन्त्रपूत जलसे सींचे गये थे, उन्हींको दुःशासनने पाण्डवोंके पराक्रमकी अवहेलना करके बलात्कारपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३० ॥

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथव-
च्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥ ३१ ॥

लम्बे-लम्बे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस बेचारी आर्त अबलाको अनाथकी भाँति घसीटता हुआ सभाके समीप ले आया और जैसे वायु केलेके वृक्षको झकझोरकर झुका देता है, उसी प्रकार वह द्रौपदीको बलपूर्वक खींचने लगा ॥ ३१ ॥

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥

दुःशासनके खींचनेसे द्रौपदीका शरीर झुक गया। उसने धीरेसे कहा—'ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन ! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र है। इस दशामें मुझे सभामें ले जाना अनुचित है' ॥ ३२ ॥

ततोऽब्रवीत् तां प्रसभं निगृह्य
केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥

यह सुनकर दुःशासन उसके काले-काले केशोंको और जोरसे पकड़कर कुछ बकने लगा; इधर यज्ञसेनकुमारी कृष्णाने अपनी रक्षाके लिये सर्वपापहारी, सर्वविजयी, नरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगी ॥ ३३ ॥

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥

दुःशासन बोला—द्रौपदी ! तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जूएमें जीता है; अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छाके अनुसार दासियोंमें रहना पड़ेगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय द्रौपदीके केश बिखर गये थे। दुःशासनके झकझोरनेसे उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था। वह लाजसे गड़ी जाती थी और भीतर-ही-भीतर क्रोधसे दग्ध हो रही थी। उसी दशामें वह धीरेसे इस प्रकार बोली ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥

द्रौपदीने कहा—अरे दुष्ट ! ये सभामें शास्त्रोंके विद्वान्, कर्मठ और इन्द्रके समान तेजस्वी मेरे पिताके समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं। मैं उनके सामने इस रूपमें खड़ी होना नहीं चाहती ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मस्त्वमनार्यवृत्त
मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकर्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः
सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥

क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन ! तू इस प्रकार मुझे न खींच, न खींच, मुझे वस्त्रहीन मत कर। इन्द्र आदि देवता भी तेरी सहायताके लिये आ जायँ, तो भी मेरे पति राजकुमार पाण्डव तेरे इस अत्याचारको सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥ ३८ ॥

धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्ममें ही स्थित हैं। धर्मका स्वरूप बड़ा सूक्ष्म है। सूक्ष्म बुद्धिवाले धर्मपालनमें निपुण महापुरुष ही उसे समझ सकते हैं। मैं अपने पतिके गुणोंको छोड़कर वाणीद्वारा उनके परमाणुतुल्य छोटे-से-छोटे दोषको भी कहना नहीं चाहती ॥ ३८ ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ॥ ३९ ॥

अरे ! तू इन कौरववीरोंके बीचमें जो मुझ रजस्वला स्त्रीको खींचकर लिये जा रहा है, यह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य है। मैं देखती हूँ यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्मकी निन्दा नहीं कर रहा है। निश्चय ही ये सब लोग तेरे मतमें हो गये ॥ ३९ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥

अहो ! धिक्कार है ! भरतवंशके नरेशोंका धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्मके जाननेवाले इन महापुरुषोंका सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवोंकी धर्ममर्यादाका उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभामें बैठे हुए सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं ॥ ४० ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥

जान पड़ता है द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्रमें अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है; तभी तो ये कुरुवंशके बड़े-बूढ़े महापुरुष राजा दुर्योधनके इस भयानक पापाचारकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं॥४१॥

(इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्वं एव सभासदः ।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः ॥)

मेरे इस प्रश्नका सभी सभासद् उत्तर दें। राजाओ! आपलोग क्या समझते हैं ? धर्मके अनुसार मैं जीती गयी हूँ या नहीं ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार करुण स्वरमें विलाप करती सुमध्यमा द्रौपदीने क्रोधमें भरे हुए अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा। पाण्डवोंके अङ्ग-अङ्गमें क्रोधकी अग्नि व्याप्त हो गयी थी । द्रौपदीने अपने कटाक्षद्वारा देखकर उनकी क्रोधाग्निको और भी उद्दीप्त कर दिया ॥ ४२ ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन
रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥

राज्य, धन तथा मुख्य-मुख्य रत्नोंको हार जानेपर भी पाण्डवोंको उतना दुःख नहीं हुआ था, जितना कि द्रौपदीके लज्जा एवं क्रोधयुक्त कटाक्षपातसे हुआ था ॥ ४३ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णा-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पा-
मुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४४॥

द्रौपदीको अपने दीन पतियोंकी ओर देखती देख दुःशासन उसे बड़े वेगसे झकझोरकर जोर-जोरसे हँसते हुए 'दासी' कहकर पुकारने लगा । उस समय द्रौपदी मूर्छित-सी हो रही थी ॥ ४४ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः
सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥

कर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने खिलखिलाकर हँसते हुए दुःशासनके उस कथनकी बड़ी सराहना की। सुबलपुत्र गान्धारराज शकुनिने भी दुःशासनका अभिनन्दन किया॥४५॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

उस समय वहाँ जितने सभासद् उपस्थित थे, उनमेंसे कर्ण, शकुनि और दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब लोगोंको सभामें इस प्रकार घसीटी जाती हुई द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥

उस समय भीष्मने कहा—सौभाग्यशालिनी बहू ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है वह पराये धनको दाँवपर नहीं लगा सकता, परंतु स्त्रीको सदा अपने स्वामीके अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातोंपर विचार करनेसे मुझसे कुछ कहते नहीं बनता ॥ ४७ ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन
तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८ ॥

मेरा विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर धन-समृद्धिसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको त्याग सकते हैं, किंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते। इन पाण्डुनन्दनने स्वयं कहा है कि मैं अपनेको हार गया; अतः मैं इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु
कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिर-
स्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९ ॥

यह शकुनि मनुष्योंमें द्यूतविद्याका अद्वितीय जानकार है। इसीने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको प्रेरित करके उनके मनमें तुम्हें दाँवपर रखनेकी इच्छा उत्पन्न की है, परंतु युधिष्ठिर इसे शकुनिका छल नहीं मानते; इसीलिये मैं तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर पाता हूँ ॥ ४९ ॥

द्रौपद्युवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यै-
र्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः
कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—जूआ खेलनेमें निपुण, अनार्य, दुष्टात्मा, कपटी तथा द्यूतप्रेमी धूर्तोंने राजा युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जूएका खेल आरम्भ कर दिया। इन्हें जूआ खेलनेका अधिक अभ्यास नहीं है। फिर इनके मनमें जूएकी इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी ! ॥ ५० ॥

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तै-
रबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः।
सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्
पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५१ ॥

जिनके हृदयकी भावना शुद्ध नहीं है, जो सदा छल और कपटमें लगे रहते हैं, उन समस्त दुरात्माओंने मिलकर इन भोले-भाले कुरु-पाण्डव-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिरको पहले जूएमें जीत लिया है, तत्पश्चात् ये मुझे दाँवपर लगानेके लिये विवश किये गये हैं ॥ ५१ ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभाया-
मीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं
विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥

ये कुरुवंशी महापुरुष जो सभामें बैठे हुए हैं, सभी पुत्रों और पुत्रवधुओंके स्वामी हैं (सभीके घरमें पुत्र और पुत्र-वधुएँ हैं), अतः ये सब लोग मेरे कथनपर अच्छी तरह विचार करके इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ५२ ॥

(न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥)

वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्मकी बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्ती-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि
वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी करुणस्वरमें बोलकर रोती हुई अपने दीन पतियोंकी ओर देखने लगी। उस समय दुःशासनने उसके प्रति कितने ही अप्रिय कठोर एवं कटुवचन कहे ॥ ५३ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च
चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥

कृष्णा रजस्वलावस्थामें घसीटी जा रही थी, उसके सिरका कपड़ा सरक गया था, वह इस तिरस्कारके योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेनको बड़ी पीड़ा हुई। ये युधिष्ठिरकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीप्रश्नविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर ५६ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका क्रोध एवं अर्जुनका उन्हें शान्त करना, विकर्णकी धर्मसङ्गत बातका कर्णके द्वारा विरोध, द्रौपदीका चीरहरण एवं भगवान्द्वारा उसकी लज्जारक्षा तथा विदुरके द्वारा प्रह्लादका उदाहरण देकर सभासदोंको विरोधके लिये प्रेरित करना

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भैया युधिष्ठिर ! जुआरियोंके घरमें प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँवपर लगाकर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओंके प्रति भी उनके हृदयमें दया रहती है ॥ १ ॥

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥

काशिराजने जो धन उपहारमें दिया था एवं और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिये लाये थे तथा अन्य राजाओंने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयोंको भी शत्रुओंने जूएके दाँवपर रखवाकर अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २-३ ॥

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान्।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

किंतु इसके लिये मेरे मनमें क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं। पर द्रौपदीको जो दाँवपर लगाया गया, इसे मैं बहुत ही अनुचित मानता हूँ ॥ ४ ॥

एषा ह्यनर्हति बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥

यह भोली-भाली अबला पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर इस प्रकार अपमानित होनेके योग्य नहीं थी, परंतु आपके कारण ये नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥

राजन्! द्रौपदीकी इस दुर्दशाके लिये मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा। सहदेव! आग ले आओ ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओंने तुम्हारी धर्मविषयक गौरव बुद्धिको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽनिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥

भैया! शत्रुओंकी कामना सफल न करो; उत्तम धर्मका ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा ज्येष्ठ भ्राताका अपमान कौन कर सकता है? ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

महाराज युधिष्ठिरको शत्रुओंने द्यूतके लिये बुलाया है; अतः ये क्षत्रियव्रतको ध्यानमें रखकर दूसरोंकी इच्छासे जूआ खेलते हैं। यह हमारे महान् यशका विस्तार करनेवाला है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन! यदि मैं इस विषयमें यह न जानता कि इनका यह कार्य क्षत्रियधर्मके अनुकूल ही है, तो बलपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें इनकी दोनों बाँहोंको एक साथ ही जलाकर राख कर डालता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः।
कृष्यमाणां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको दुखी और पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्णने यह कहा—॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥

'भूमिपालो! द्रौपदीने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका आपलोग उत्तर दें। यदि इसके प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ।
समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

'पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंशके सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते? ॥ १३ ॥

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च।
कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

'हम सबके आचार्य भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणकुलके श्रेष्ठ पुरुष हैं। ये दोनों भी इस प्रश्नपर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते? ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

'जो दूसरे राजालोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधको त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

'राजाओ! कल्याणी द्रौपदीने बार-बार जिस प्रश्नको दुहराया है, उसपर विचार करके आपलोग उत्तर दें, जिससे मालूम हो जाय कि इस विषयमें किसका क्या पक्ष (विचार) है' ॥ १६ ॥

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस प्रकार विकर्णने उन सब सभासदोंसे बार-बार अनुरोध किया; परंतु उन नरेशोंने उस विषयमें उससे भला-बुरा कुछ नहीं कहा ॥ १७ ॥

उक्त्वा सकृत् तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उन सब राजाओंसे बार-बार आग्रह करनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्णने हाथपर हाथ मलते हुए लंबी साँस खींचकर कहा—॥ १८ ॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥

'कौरवो तथा अन्य भूमिपालो ! आपलोग द्रौपदीके प्रश्नपर किसी प्रकारका विचार प्रकट करें या न करें, मैं इस विषयमें जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह कहता हूँ ॥ १९ ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥

'नरश्रेष्ठ भूपालो ! राजाओंके चार दुर्व्यसन बताये गये हैं--शिकार, मदिरापान, जूआ तथा विषयभोगमें अत्यन्त आसक्ति ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

'इन दुर्व्यसनोंमें आसक्त मनुष्य धर्मकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करने लगता है । इस प्रकार व्यसनासक्त पुरुषके द्वारा किये हुए किसी भी कार्यको लोग सम्मान नहीं देते हैं ॥ २१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूतरूपी दुर्व्यसनमें अत्यन्त आसक्त हैं । इन्होंने धूर्त जुआरियोंसे प्रेरित होकर द्रौपदीको दाँवपर लगा दिया है ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥

'सती-साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवोंकी समानरूपसे पत्नी है, केवल युधिष्ठिरकी ही नहीं है । इसके सिवा, पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पहले अपने आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दाँवपर रक्खा है ॥ २३ ॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥

'सब दाँवोंको जीतनेकी इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनिने ही द्रौपदीको दाँवपर लगानेकी बात उठायी है । इन सब बातोंपर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको जीती हुई नहीं मानता' ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर सभी सभासद् विकर्णकी प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनिकी निन्दा करने लगे । उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया ॥ २५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस कोलाहलके शान्त होनेपर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसकी सुन्दर बाँह पकड़कर इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥

कर्णने कहा—विकर्ण ! इस जगत्में बहुत-सी वस्तुएँ विपरीत परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं । जैसे अरणिसे उत्पन्न हुई अग्नि उसीको जला देती है, उसी प्रकार कोई-कोई मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है, उसीका विनाश करनेवाला बन जाता है ॥ २७ ॥

(व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः ।
तृणानि पशवो घ्नन्ति स्वपक्षं चैव कौरवः ॥
द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः ।
धृतराष्ट्रश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः ॥)

रोग यद्यपि शरीरमें ही पलता है, तथापि वह शरीरके ही बलका नाश करता है । पशु घासको ही चरते हैं, फिर भी उसे पैरोंसे कुचल डालते हैं । उसी प्रकार कुरुकुलमें उत्पन्न होकर भी तुम अपने ही पक्षको हानि पहुँचाना चाहते हो । विकर्ण ! द्रोण, भीष्म, कृप, अश्वत्थामा, महाबुद्धिमान् विदुर, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी—ये तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं ॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥

द्रौपदीने बार-बार प्रेरित किया है, तो भी ये सभासद् कुछ भी नहीं बोलते हैं; क्योंकि ये सब लोग द्रुपदकुमारीको धर्मके अनुसार जीती हुई समझते हैं ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्रकुमार ! तुम केवल अपनी मूर्खताके कारण आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हो; क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभामें वृद्धोंकी-सी बातें करते हो ॥

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥

दुर्योधनके छोटे भाई ! तुम्हें धर्मके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है । तुम जो जीती हुई द्रौपदीको नहीं जीती हुई

बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्दबुद्धि होनेका परिचय मिलता है ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रकुमार ! तुम कृष्णाको नहीं जीती हुई कैसे मानते हो ? जब कि पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरने द्यूतसभाके बीच अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया है ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतर ही है। इस प्रकार जब कृष्णाको धर्मपूर्वक जीत लिया गया है, तब तुम उसे नहीं जीती हुई क्यों समझते हो ? ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी वाणीद्वारा कहकर द्रौपदीको दाँवपर रखा और शेष पाण्डवोंने मौन रहकर उसका अनुमोदन किया। फिर किस कारणसे तुम उसे नहीं जीती हुई मानते हो ? ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम्।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

अथवा यदि तुम्हारी यह राय हो कि एकवस्त्रा द्रौपदीको इस सभामें अधर्मपूर्वक लाया गया है, तो इसके उत्तरमें भी मेरी उत्तम बात सुनो ॥ ३४ ॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन ! देवताओंने स्त्रीके लिये एक ही पतिका विधान किया है; परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियोंके अधीन है, अतः यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभामें लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा अथवा नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है, यह मेरा स्पष्ट मत है ॥ ३५-३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद् या चैषा ये च पाण्डवाः।
सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥

इन पाण्डवोंके पास जो कुछ धन है, जो यह द्रौपदी है तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनिने यहाँ जूएके धनके रूपमें धर्मपूर्वक जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥

दुःशासन ! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानोंकी-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवोंके और द्रौपदीके भी वस्त्र उतार लो ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र उतारकर सभामें बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात्।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

राजन् ! तब दुःशासनने उस भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब वस्त्र खींचा जाने लगा, तब द्रौपदीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया। ४० $\frac{1}{2}$।

(*द्रौपद्युवाच*

ज्ञातं मया वसिष्ठेन पुरा गीतं महात्मना।
महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ॥

द्रौपदीने मन-ही-मन कहा—मैंने पूर्वकालमें महात्मा वसिष्ठजीकी बतायी हुई इस बातको अच्छी तरह समझा है कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः।
मनसा चिन्तयामास देवं नारायणं प्रभुम् ॥
आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा विचारकर द्रौपदीने बारम्बार 'गोविन्द' और 'कृष्ण'का नाम लेकर पुकारा और आपत्तिकालमें अभय देनेवाले लोकप्रपितामह नारायण-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन किया ॥

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥ ४२ ॥

'हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! हे गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ केशव ! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे संकटनाशन जनार्दन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥

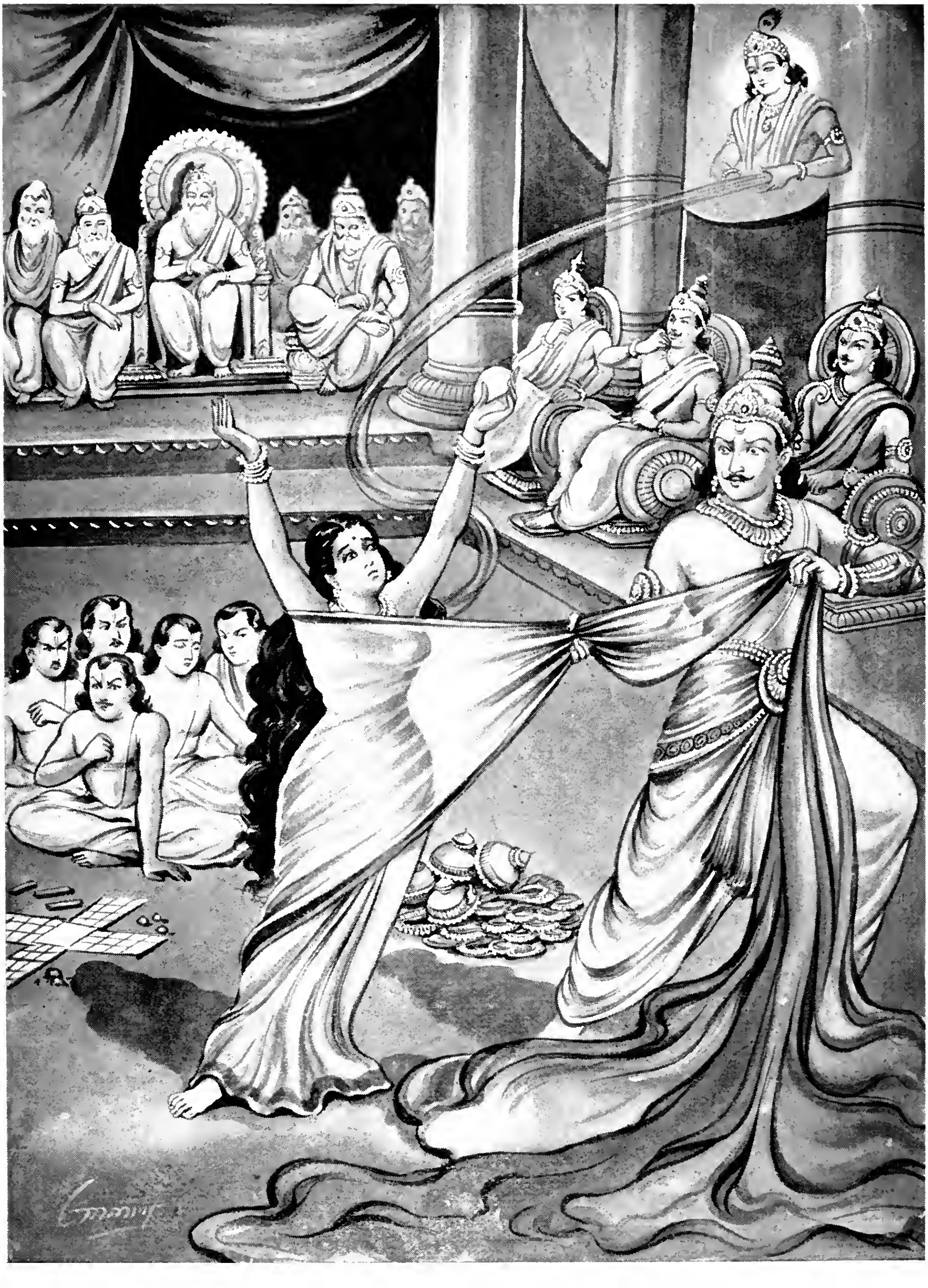

द्रौपदी-चीर-हरण

'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! गोविन्द ! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये' ॥ ४३ ॥

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥

राजन् ! इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका बार-बार चिन्तन करके मानिनी द्रौपदी दुखी हो अंचलसे मुँह ढककर जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ४४ ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्॥
कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥४६॥

द्रुपदनन्दिनीकी वह करुण पुकार सुनकर कृपालु श्रीकृष्ण गद्‌गद हो गये तथा शय्या और आसन छोड़कर दयासे द्रवित हो पैदल ही दौड़ पड़े । यज्ञसेनकुमारी कृष्णा अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु, हरि और नर आदि भगवन्नामोंको जोर-जोरसे पुकार रही थी । इसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंद्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया ॥ ४५-४६ ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥४७॥

जनमेजय ! द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय उसी तरहके दूसरे-दूसरे अनेक वस्त्र प्रकट होने लगे ॥ ४७ ॥

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥

राजन् ! धर्मपालनके प्रभावसे वहाँ भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंगे वस्त्र प्रकट होते रहे ॥ ४८ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद् घोरदर्शनः ।
तदद्भुततमं लोको वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥४९॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद् विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥५०॥

उस समय वहाँ बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया । जगत्‌में यह अद्भुत दृश्य देखकर सब राजा द्रौपदीकी प्रशंसा और दुःशासनकी निन्दा करने लगे । उस समय वहाँ समस्त राजाओंके बीच हाथपर हाथ मलते हुए भीमसेनने क्रोधसे फड़कते हुए ओठोंद्वारा भयंकर गर्जनाके साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की) ॥ ४९-५० ॥

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ॥५१॥

भीमसेनने कहा—देश-देशान्तरके निवासी क्षत्रियो ! आपलोग मेरी इस बातपर ध्यान दें । ऐसी बात आजसे पहले न तो किसीने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही॥५१॥

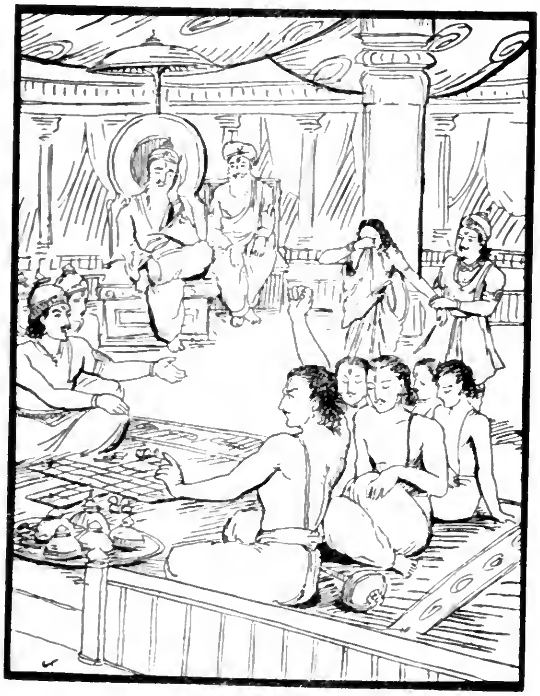

यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥५२॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ॥५३॥

भूमिपालो ! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरतवंशके लिये कलंक है । मैं युद्धमें बलपूर्वक इस पापीकी छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा । यदि न पीऊँ—अर्थात् अपनी कही हुई उस बातको पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादोंकी श्रेष्ठ गति न मिले ॥ ५२-५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य ते तद् वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली भयंकर बात सुनकर वहाँ बैठे हुए राजाओंने धृतराष्ट्रपुत्र दुःशासनकी निन्दा करते हुए भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५४ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५५॥

जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थककर लज्जित हो चुपचाप बैठ गया ॥ ५५ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥५६॥

उस समय कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखकर सभामें उपस्थित नरेशोंकी ओरसे दुःशासनपर रोमाञ्चकारी शब्दोंमें धिक्कारकी बौछार होने लगी ॥ ५६ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥५७॥

कौरव द्रौपदीके पूर्वोक्त प्रश्नपर स्पष्ट विवेचन नहीं कर रहे थे, अतः वहाँ बैठे हुए लोग राजा धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए उन्हें कोसने लगे ॥ ५७ ॥

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥५८॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सभासदोंको चुप कराया और इस प्रकार कहा ॥ ५८ ॥

विदुर उवाच

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥५९॥

विदुरजी बोले—इस सभामें पधारे हुए भूपालगण! द्रुपदकुमारी कृष्णा यहाँ अपना प्रश्न उपस्थित करके इस तरह अनाथकी भाँति रो रही है; परंतु आपलोग उसका विवेचन नहीं करते, अतः यहाँ धर्मकी हानि हो रही है॥५९॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥६०॥

संकटमें पड़ा हुआ मनुष्य अग्निकी भाँति चिन्तासे प्रज्वलित हुआ सभाकी शरण लेता है, उस समय सभासद्‌गण धर्म और सत्यका आश्रय लेकर अपने वचनोंद्वारा उसे शान्त करते हैं ॥ ६० ॥

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥६१॥

अतः श्रेष्ठ मनुष्यको उचित है कि वह धर्मानुकूल प्रश्नको सचाईके साथ उपस्थित करे और सभासदोंको चाहिये कि वे काम-क्रोधके वेगसे ऊपर उठकर उस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ६१ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥६२॥

राजाओ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दिया है, अब आपलोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका निर्णय करें ॥ ६२ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥६३॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है ॥ ६३ ॥

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं सम्प्राप्नोतीति निश्चयः ॥६४॥

इसी प्रकार जो धर्मज्ञ मानव सभामें जाकर किसी प्रश्नपर झूठा निर्णय देता है, वह निश्चय ही असत्यभाषणका पूरा फल (दण्ड) पाता है ॥ ६४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥६५॥

इस विषयमें विज्ञपुरुष प्रह्लाद और अङ्गिराकुमार मुनि सुधन्वाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६५ ॥

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥६६॥

दैत्यराज प्रह्लादके एक पुत्र था विरोचन। उसका केशिनी नामवाली एक कन्याकी प्राप्तिके लिये अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाके साथ विवाद हो गया ॥ ६६ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा।
तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥६७॥

दोनों ही उस कन्याको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' ऐसा कहने लगे। मेरे सुननेमें आया है कि उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी ॥६७॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम्।
ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥६८॥

श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर जब उनका विवाद बहुत बढ़ गया, तब उन्होंने दैत्यराज प्रह्लादसे जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दीजिये, झूठ न बोलियेगा' ॥ ६८ ॥

स वै विवदनाद् भीतः सुधन्वानं विलोकयन्।
तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥६९॥

प्रह्लाद उस विवादसे भयभीत हो सुधन्वाकी ओर देखने लगे; तब सुधन्वाने प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान कुपित होकर कहा—॥ ६९ ॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥७०॥

'प्रह्लाद! यदि तुम इस प्रश्नके उत्तरमें झूठ बोलोगे अथवा मौन रह जाओगे, तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्रद्वारा तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े कर देगा' ॥ ७० ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन् व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥७१॥

सुधन्वाके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपने लगे और इसके विषयमें कुछ पूछनेके लिये वे महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये ॥ ७१ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥७२॥

प्रह्लाद बोले—महाभाग ! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मणके भी धर्मको जानते हैं। मुझपर एक धर्मसंकट उपस्थित हुआ है, उसे सुनिये ॥ ७२ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद् वितथं चैव निर्दिशेत्।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥७३॥

मैं पूछता हूँ कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे दे, उसे परलोकमें कौन-से लोक प्राप्त होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ७३ ॥

कश्यप उवाच

जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद् भयात् तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७४॥

कश्यपजीने कहा—जो जानते हुए भी काम, क्रोध तथा भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है ॥ ७४ ॥

साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन्।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७५॥

जो गवाह गाय-बैलके ढीले-ढाले कानोंकी तरह शिथिल हो दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बनाये रखकर गवाही नहीं देता, वह भी अपनेको वरुणदेवताके सहस्रों पाशोंसे बाँध लेता है ॥७५॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात् सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥७६॥

एक वर्ष पूरा होनेपर उसका एक पाश खुलता है, अतः सच्ची बात जाननेवाले पुरुषको यथार्थरूपसे सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ७६ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७७॥

जहाँ धर्म अधर्मसे विद्ध होकर सभामें उपस्थित होता है, उसके काँटेको उससे बिंधे हुए सभासद्लोग नहीं काट पाते (अर्थात् उनको पापका फल भोगना ही पड़ता है) ॥७७॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७८॥

सभामें जो अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करनेवालोंको मिलता है और एक चतुर्थांश उन सभासदोंको प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुषकी निन्दा नहीं करते ॥ ७८ ॥

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥७९॥

जिस सभामें निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद् भी पापसे मुक्त हो जाते हैं और सारा पाप करनेवालेको ही लगता है ॥ ७९ ॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥८०॥

प्रह्लाद ! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका नाश तो करते ही हैं आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके भी पुण्योंका वे हवन करते हैं ॥

हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत्।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८१॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत्।
अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥८२॥
अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥८३॥

जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, उसे जो दुःख होता है, जिसका पुत्र मर गया हो, उसे जो शोक होता है, ऋणग्रस्त और स्वार्थसे वञ्चित मनुष्यको जो क्लेश होता है, पतिसे विहीन होनेपर स्त्रीको तथा राजाके कोपभाजन मनुष्यको जो कष्ट उठाना पड़ता है, पुत्रहीना नारीको जो संताप होता है, शेरके चंगुलमें फँसे हुए प्राणीको जो व्याकुलता होती है, सौतवाली स्त्रीको जो दुःख होता है, साक्षियोंने जिसे धोखा दिया हो, उस मनुष्यको जो महान् क्लेश होता है—इन सभी प्रकारके दुःखों-को देवताओंने समान बतलाया है ॥ ८१—८३ ॥

तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन्।
समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥८४॥
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते।

झूठ बोलनेवाला मनुष्य उन सभी दुःखोंका भागी होता है । समक्ष दर्शन, श्रवण और धारणसे साक्षी संज्ञा होती है, अतः सत्य बोलनेवाला साक्षी कभी धर्म और अर्थसे वञ्चित नहीं होता ॥ ८४½ ॥

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥८५॥

कश्यपजीकी यह बात सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा—॥ ८५ ॥

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥८६॥

'विरोचन ! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है' ॥ ८६॥

सुधन्वोवाच

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८७ ॥

सुधन्वाने कहा—दैत्यराज ! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रह गये, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको यह आज्ञा देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

विदुर उवाच

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८८ ॥

विदुरजी कहते हैं—सभासदो ! इस प्रकार इस उत्तम धर्ममय प्रसङ्गको सुनकर आप सब लोग द्रौपदीके प्रश्नके अनुसार यह बतावें कि उसके सम्बन्धमें आपकी क्या मान्यता है ? ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान् नय ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरकी यह बात सुनकर भी सब राजालोग कुछ न बोले। उस समय कर्णने दुःशासनसे कहा—'इस दासी द्रौपदीको अपने घर ले जाओ' ॥ ८९ ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान्।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९० ॥

द्रौपदी लज्जामें डूबी हुई थरथर काँपती और पाण्डवोंको पुकारती थी। उस दशामें दुःशासनने उस भरी सभाके बीच उस बेचारी दुखिया तपस्विनीको घसीटना आरम्भ किया ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें 'द्रौपदीको भरी सभामें खींचना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

द्रौपदीका चेतावनीयुक्त विलाप एवं भीष्मका वचन

द्रौपद्युवाच

पुरस्तात् करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम्।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—हाय ! मेरा जो कार्य सबसे पहले करनेका था, वह अभीतक नहीं हुआ। मुझे अब वह कार्य कर लेना चाहिये। इस बलवान् दुरात्मा दुःशासनने मुझे बलपूर्वक घसीटकर व्याकुल कर दिया है ॥ १ ॥

अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥

कौरवोंकी सभामें मैं समस्त कुरुवंशी महात्माओंको प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहटके कारण पहले प्रणाम नहीं किया; अतः यह मेरा अपराध न माना जाय ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःशासनके बार-बार खींचनेसे तपस्विनी द्रौपदी पृथ्वीपर गिर पड़ी और उस सभामें अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी। वह जिस दुरवस्थामें पड़ी थी, उसके योग्य कदापि न थी ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥

द्रौपदीने कहा—हा ! मैं स्वयंवरके समय सभामें आयी थी और उस समय रंगभूमिमें पधारे हुए राजाओंने मुझे देखा था। उसके सिवा, अन्य अवसरोंपर कहीं भी आजसे पहले किसीने मुझे नहीं देखा। वही मैं आज सभामें बलपूर्वक लायी गयी हूँ ॥ ४ ॥

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥

पहले राजभवनमें रहते हुए जिसे वायु तथा सूर्य भी नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभाके भीतर महान् जनसमुदायमें आकर सबके नेत्रोंकी लक्ष्य बन गयी हूँ ॥ ५ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥

पहले अपने महलमें रहते समय जिसका वायुद्वारा स्पर्श भी पाण्डवोंको सहन नहीं होता था, उसी मुझ द्रौपदीका यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभामें स्पर्श कर रहा है, तो भी आज ये पाण्डुकुमार सह रहे हैं ॥ ६ ॥

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम्।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम्॥ ७॥

मैं कुरुकुलकी पुत्रवधू एवं पुत्रीतुल्य हूँ। सताये जानेके योग्य नहीं हूँ, फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन करते हैं। मैं समझती हूँ, बड़ा विपरीत समय आ गया है॥ ७॥

किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम्॥ ८॥

इससे बढ़कर दयनीय दशा और क्या हो सकती है कि मुझ-जैसी शुभकर्मपरायणा सती-साध्वी स्त्री भरी सभामें विवश करके लायी गयी है। आज राजाओंका धर्म कहाँ चला गया?॥

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम्।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः॥ ९॥

मैंने सुना है, पहले लोग धर्मपरायणा स्त्रीको कभी सभामें नहीं लाते थे, किंतु इन कौरवोंके समाजमें वह प्राचीन सनातन धर्म नष्ट हो गया है॥ ९॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्॥ १०॥

अन्यथा मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी सुशीला बहन और भगवान् श्रीकृष्णकी सखी होकर राजाओंकी इस सभामें कैसे लायी जा सकती थी?॥ १०॥

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम्।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः॥ ११॥

कौरवो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्णकी कन्या हूँ। आपलोग बतावें, मैं दासी हूँ या अदासी? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगी॥ ११॥

अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः।
क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः॥

कुरुवंशी क्षत्रियो! यह कुरुकुलकी कीर्तिमें कलङ्क लगानेवाला नीच दुःशासन मुझे बहुत कष्ट दे रहा है। मैं इस क्लेशको देरतक नहीं सह सकूँगी॥ १२॥

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत् करिष्यामि कौरवाः॥ १३॥

कुरुवंशियो! आप क्या मानते हैं? मैं जीती गयी हूँ या नहीं। मैं आपके मुँहसे इसका ठीक-ठीक उत्तर सुनना चाहती हूँ। फिर उसीके अनुसार कार्य करूँगी॥ १३॥

भीष्म उवाच

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विप्रैर्महात्मभिः॥ १४॥

भीष्मजीने कहा—कल्याणि! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। लोकमें विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठीक नहीं जान सकते॥ १४॥

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः॥ १५॥

संसारमें बलवान् मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचारके समय लोग उसीको धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् पुरुषके बताये धर्मसे दब जाता है (अतः इस समय कर्ण और दुर्योधनका बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है।)॥ १५॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात्।
सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात्॥ १६॥

मैं तो धर्मका स्वरूप सूक्ष्म और गहन होनेके कारण तथा इस धर्मनिर्णयके कार्यके अत्यन्त गुरुतर होनेसे तुम्हारे इस प्रश्नका निश्चितरूपसे यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता॥ १६॥

नूनमन्तः कुलस्यायं भविता नचिरादिव।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः॥ १७॥

अवश्य ही बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है, क्योंकि समस्त कौरव लोभ और मोहके वशीभूत हो गये हैं॥ १७॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम्।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता॥ १८॥

कल्याणि! तुम जिनकी पत्नी हो, वे पाण्डव हमारे उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं और भारी-से-भारी संकटमें पड़कर भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होते हैं॥ १८॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम्।
यत् कृच्छ्रमपि सम्प्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे॥ १९॥

पाञ्चालराजकुमारी! तुम्हारा यह आचार-व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकटमें पड़कर भी तुम धर्मकी ओर ही देख रही हो॥ १९॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः॥ २०॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति॥ २१॥

ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध एवं धर्मज्ञ पुरुष भी सिर लटकाये शून्य शरीरसे इस प्रकार बैठे हैं, मानो निष्प्राण हो गये हों। मेरी राय यह है कि इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं। तुम जीती गयी हो या नहीं? यह बात स्वयं इन्हें बतलानी चाहिये।२०-२१।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६९॥

सप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनके छल-कपटयुक्त वचन और भीमसेनका रोषपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं
रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु
महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महारानी द्रौपदीको वहाँ आर्त होकर कुररीकी भाँति बहुत विलाप करती देखकर भी सभामें बैठे हुए राजालोग दुर्योधनके भयसे भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सके ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रां-
स्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निदं वचनं बभाषे
पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥

राजाओंके बेटों और पोतोंको मौन देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उस समय मुसकराते हुए पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी-से यह बात कही ॥ २ ॥

दुर्योधन उवाच

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही पति महाबली भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुलपर छोड़ दिया जाता है। ये ही तुम्हारी पूछी हुई बातका उत्तर दें ॥ ३ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये
युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं
पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥ ४ ॥

पाञ्चालि ! इन श्रेष्ठ राजाओंके बीच ये लोग यह स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। सभी पाण्डव मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको झूठा ठहरा दें। फिर तुम दास्यभावसे मुक्त कर दी जाओगी ॥४॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष
वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥

ये धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। तुमको दाँवपर रखनेका इन्हें अधिकार था या नहीं ? ये स्वयं ही कह दें; फिर इन्हींके कथनानुसार तुम शीघ्र दासीपन या अदासीपन किसी एकका आश्रय लो ॥ ५ ॥

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां
दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥

द्रौपदी ! ये सभी उत्तम स्वभाववाले कुरुवंशी इस सभामें तुम्हारे लिये ही दुखी हैं और तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य
वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो
हाहेत्यासीदपि चैवार्तनादः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर एक ओर सभी सभासदोंने कुरुराज दुर्योधनके उस कथनकी उच्च स्वरसे भूरि-भूरि प्रशंसा की और गर्जना करते हुए वे वस्त्र हिलाने लगे तथा वहीं दूसरी ओर हाहाकार और आर्तनाद होने लगा ॥ ७ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं सुमनोहरं त-
द्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम्।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः
कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥

दुर्योधनका वह मनोहर वचन सुनकर उस समय सभामें कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अन्य सब राजा भी बड़े प्रसन्न हुए तथा दुर्योधनको कौरवोंमें श्रेष्ठ और धार्मिक कहते हुए उसका आदर करने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥

फिर वे सब नरेश मुँह घुमाकर राजा युधिष्ठिरकी ओर इस आशासे देखने लगे कि देखें, ये धर्मज्ञ पाण्डुकुमार क्या कहते हैं ? ॥ ९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥

युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन

किस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं। भीमसेन, नकुल तथा सहदेव भी क्या कहते हैं। इसके लिये उन राजाओंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी ॥ १० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥

वह कोलाहल शान्त होनेपर भीमसेन अपनी चन्दन-चर्चित सुन्दर दिव्य भुजा उठाकर इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥

भीमसेनने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुलके स्वामी न होते तो हम कौरवोंका यह अत्याचार कदापि सहन नहीं करते ॥ १२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः।
मन्यतेऽजितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन्।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥

ये हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी प्रभु हैं। यदि ये द्रौपदीको दाँवपर लगानेसे पूर्व अपनेको हारा हुआ नहीं मानते हैं तो हम सब लोग इनके द्वारा दाँवपर रखे जानेके कारण हारे जा चुके हैं। यदि मैं हारा गया न होता तो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला कोई भी मरणधर्मा मनुष्य द्रौपदीके इन केशोंको छू लेनेपर मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता था। राजाओ! परिघके समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल भुजाओंकी ओर तो देखो। इनके बीचमें आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता ॥ १३-१५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि संकटम्।
गौरवेण विरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥

मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, बड़े भाईके गौरवने मुझे रोक रक्खा है और अर्जुन भी मना कर रहा है, इसीलिये मैं इस संकटसे पार नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव।
धार्तराष्ट्रानिमान् पापान् निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७ ॥

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह छोटे मृगोंको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं धृतराष्ट्रके इन पापी पुत्रोंको तलवारकी जगह हाथोंके तलवोंसे ही मसल डालूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब भीष्म, द्रोण और विदुरने भीमसेनको शान्त करते हुए कहा—'भीम! क्षमा करो, तुम सब कुछ कर सकते हो' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

कर्ण और दुर्योधनके वचन, भीमसेनकी प्रतिज्ञा, विदुरकी चेतावनी और द्रौपदीको धृतराष्ट्रसे वरप्राप्ति

कर्ण उवाच

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति
दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे
हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—भद्रे द्रौपदी! दास, पुत्र और सदा पराधीन रहनेवाली स्त्री—ये तीनों धनके स्वामी नहीं होते। जिसका पति अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो गया है, ऐसी निर्धन दासकी पत्नी और दासका सारा धन—इन सबपर उस दासके स्वामीका ही अधिकार होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व
तत् ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि
भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ २ ॥

राजकुमारी! अतः अब तुम राजा दुर्योधनके परिवारमें जाकर सबकी सेवा करो। यही कार्य तुम्हारे लिये शेष बचा है, जिसके लिये तुम्हें यहाँ आदेश दिया जा रहा है। आजसे धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र ही तुम्हारे स्वामी हैं, कुन्तीके पुत्र नहीं ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद् दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्ति-
र्नित्यं दास्ये विदितं तत् तवास्तु ॥ ३ ॥

सुन्दरी! अब तुम शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो, जिससे द्यूतक्रीडाके द्वारा तुम्हें फिर किसीकी दासी न बनना

पड़े। पतियोंके प्रति इच्छानुसार बर्ताव तुम-जैसी स्त्रीके लिये निन्दनीय नहीं है। दासीपनमें तो स्त्रीकी स्वेच्छाचारिता प्रसिद्ध है ही, अतः यह दास्यभाव ही तुम्हें प्राप्त हो ॥३॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि
पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥

यज्ञसेनकुमारी ! नकुल हार गये, भीमसेन, युधिष्ठिर, सहदेव तथा अर्जुन भी पराजित होकर दास बन गये। अब तुम दासी हो चुकी हो। वे हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं हैं ॥ ४ ॥

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः।
पाञ्चाल्यस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥

क्या कुन्तीकुमार युधिष्ठिर इस जीवनमें पराक्रम और पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं समझते, जिन्होंने सभामें इस द्रुपदराजकुमारी कृष्णाको दाँवपर लगाकर जूएका खेल किया ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो
दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेन बड़ी वेदनाका अनुभव करते हुए उस समय जोर-जोरसे उच्छ्वास लेने लगे। वे राजा युधिष्ठिरके अनुगामी होकर धर्मके पाशमें बँधे हुए थे। क्रोधसे उनके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको दग्ध करते हुए-से बोले ॥ ६ ॥

भीम उवाच

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राज-
न्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयु-
र्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—राजन् ! मुझे सूतपुत्र कर्णपर क्रोध नहीं आता। सचमुच ही दासधर्म वही है, जो उसने बताया है। महाराज ! यदि आप इस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर जूआ न खेलते तो क्या ये शत्रु हमलोगोंसे ऐसी बातें कह सकते थे ? ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने मौन एवं अचेतकी-सी दशामें बैठे हुए युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'नरेश ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञाके अधीन हैं। आप ही द्रौपदीके प्रश्नपर कुछ बोलिये। क्या आप कृष्णाको हारी हुई नहीं मानते हैं ?' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्नवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम्।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर ऐश्वर्यमदसे मोहित हुए दुर्योधनने इशारेसे राधानन्दन कर्णको बढ़ावा देते और भीमसेनका तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघका वस्त्र हटाकर द्रौपदीकी ओर मुसकराते हुए देखा। उसने केलेके खंभेके समान मोटी, समस्त लक्षणोंसे सुशोभित, हाथीकी सूँड़के सदृश चढ़ाव-उतारवाली और वज्रके समान कठोर अपनी बायीं जाँघ द्रौपदीकी दृष्टिके सामने करके दिखायी ॥ १०–१२ ॥

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥

उसे देखकर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभाको सुनाते हुए-से राजाओंके बीचमें बोले—॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥

'दुर्योधन ! यदि महासमरमें तेरी इस जाँघको मैं अपनी गदासे न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वजोंके साथ उन्हींके समान पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो' ॥ १४ ॥

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः॥ १५ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही थीं; ठीक उसी तरह, जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरोंसे आगकी लपटें निकलती दिखायी देती हैं॥

विदुर उवाच

परं भयं पश्यत भीमसेनात्
तद् बुध्यध्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्
परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥

विदुरजीने कहा—धृतराष्ट्रके पुत्रो ! देखो, भीमसेनसे यह बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है । इसपर ध्यान दो । निश्चय ही प्रारब्धकी प्रेरणासे ही भरतवंशियोंके समक्ष यह महान् अन्याय उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा
यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ
पापान् मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रो ! तुमलोगोंने मर्यादाका उल्लङ्घन करके यह जूएका खेल किया है । तभी तो तुम भरी सभामें स्त्रीको लाकर उसके लिये विवाद कर रहे हो । तुम्हारे योग और क्षेम दोनों पूर्णतया नष्ट हो रहे हैं । आज सब लोगोंको मालूम हो गया कि कौरव पापपूर्ण मन्त्रणा ही करते हैं ॥ १७ ॥

इमं धर्मं कुरवो जानताशु
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत् ।
इमां चेत् पूर्वं कितवोऽग्लहिष्य-
दीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥

कौरवो ! तुम धर्मकी इस महत्ताको शीघ्र ही समझ लो; क्योंकि धर्मका नाश होनेपर सारी सभाको दोष लगता है । यदि जूआ खेलनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने शरीरको हारे बिना पहले ही इस द्रौपदीको दाँवपर लगाते तो वे ऐसा करनेके अधिकारी हो सकते थे ॥ १८ ॥

स्वप्ने यथैतद् विजितं धनं स्या-
देवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य
धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

(परंतु जब वे पहले अपनेको हारकर उसे दाँवपर लगानेका अधिकार ही खो बैठे थे, तब उसका मूल्य ही क्या रहा ?) अनधिकारी पुरुष जिस धनको दाँवपर लगाता है, उसकी हार-जीत मैं वैसी ही मानता हूँ जैसे कोई स्वप्नमें किसी धनको हारता या जीतता है । कौरवो ! तुमलोग गान्धारराज शकुनिकी बात सुनकर अपने धर्मसे भ्रष्ट न होओ ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य
स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीश-
मथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २० ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! मैं भीम, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी बात माननेके लिये तैयार हूँ । ये सब लोग कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें हारनेका कोई अधिकार नहीं था, फिर तुम दासीपनसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः
कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा ।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा
तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—कुन्तीनन्दन महात्मा धर्मराज राजा युधिष्ठिर पहले तो हमें दाँवपर लगानेके अधिकारी थे ही, किंतु जब वे अपने शरीरको ही हार गये, तब किसके स्वामी रहे ! इस बातपर सब कौरव विचार करें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे
गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्
समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रकी अग्निशालाके भीतर एक गीदड़ आकर जोर-जोरसे

हुँआ-हुँआ करने लगा । उस शब्दको लक्ष्य करके सब ओर गदहे रेंकने लगे तथा गृध्र आदि भयंकर पक्षी भी चारों ओर अशुभसूचक कोलाहल करने लगे ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी
शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्
स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर तथा सुबलपुत्री गान्धारीने भी उस भयानक शब्दको सुना । भीष्म, द्रोण और गौतमवंशीय विद्वान् कृपाचार्यके

कानोंमें भी वह अमङ्गलकारी शब्द सुन पड़ा। फिर तो वे सभी लोग उच्च स्वरसे 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' ऐसा कहने लगे ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वां-
स्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे।
निवेदयामासतुरार्तवत् तदा
ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

तदनन्तर गान्धारी और विद्वान् विदुरने उस उत्पातसूचक भयंकर शब्दको लक्ष्य करके अत्यन्त दुखी हो राजा धृतराष्ट्रसे उसके विषयमें निवेदन किया, तब राजाने इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम्।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू तो जीता ही मारा गया। दुर्विनीत! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी महिला एवं विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नीको ले आकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
हितान्वेषी बान्धवानामपायात्।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं
विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर उनके हितकी इच्छा रखनेवाले तत्त्वदर्शी एवं मेधावी राजा धृतराष्ट्रने अपनी बुद्धिसे इस दुःखद प्रसंगपर विचार करके पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बहू द्रौपदी! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ एवं धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ २९ ॥

द्रौपदी बोली—भरतवंशशिरोमणे! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभावसे मुक्त हो जायँ। जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्यको अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह 'दासपुत्र' है ॥ २८-२९ ॥

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

जैसे पहले राजकुमार होकर फिर कोई मनुष्य कभी दासपुत्र नहीं हुआ है, उसी प्रकार राजाओंके द्वारा जिसका लालन-पालन हुआ है, उस मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यका दासपुत्र होना कदापि उचित नहीं है ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—कल्याणि! तुम जैसा कहती हो, वैसे ही हो। भद्रे! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो। मेरा मन मुझे वर देनेके लिये प्रेरित कर रहा है कि तुम एक ही वर पानेके योग्य नहीं हो ॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥ ३२ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष-बाणसहित दासभावसे रहित एवं स्वतन्त्र हो जायँ ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाभागे! तुम अपने कुलको आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ एवं धर्मका पालन करनेवाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरोंसे तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भगवन्! लोभ धर्मका नाशक होता है, अतः अब मेरे मनमें वर माँगनेका उत्साह नहीं है। राजशिरोमणे! तीसरा वर लेनेका मुझे अधिकार भी नहीं है ॥ ३४ ॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र! वैश्यको एक वर माँगनेका अधिकार बताया गया है, क्षत्रियकी स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रियको तीन

वर तथा ब्राह्मणको सौ वर लेनेका अधिकार है ॥ ३५ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३६ ॥

राजन्! ये मेरे पति दासभावको प्राप्त होकर भारी विपत्तिमें फँस गये थे। अब उससे पार हो गये। इसके बाद पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा ये लोग स्वयं कल्याण प्राप्त कर लेंगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीवरलाभविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

शत्रुओंको मारनेके लिये उद्यत हुए भीमको युधिष्ठिरका शान्त करना

कर्ण उवाच

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैंने मनुष्योंमें जिन सुन्दरी स्त्रियोंके नाम सुने हैं, उनमेंसे किसीने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुननेमें नहीं आया ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥ २ ॥

कुन्तीके पुत्र तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए थे, ऐसे समयमें यह द्रुपदकुमारी कृष्णा इन पाण्डवोंको परम शान्ति देनेवाली बन गयी ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥ ३ ॥

पाण्डवलोग नौका और आधारसे रहित जलमें गोते खा रहे थे अर्थात् संकटके अथाह सागरमें डूब रहे थे, किंतु यह पाञ्चालराजकुमारी इनके लिये पार लगानेवाली नौका बन गयी ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कौरवोंके बीचमें कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त असहनशील भीमसेन मन-ही-मन बहुत दुखी होकर बोले—'हाय! पाण्डवोंको उबारनेवाली एक स्त्री हुई' ॥ ४ ॥

भीम उवाच

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

भीमसेनने कहा—महर्षि देवलका कथन है कि पुरुषमें तीन प्रकारकी ज्योतियाँ हैं—संतान, कर्म और ज्ञान; क्योंकि इन्हींसे सारी प्रजाकी सृष्टि हुई ॥ ५ ॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत् पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥

जब यह शरीर प्राणरहित होकर शून्य एवं अपवित्र हो जाता है तथा समस्त बन्धु-बान्धव उसे त्याग देते हैं तब ये ही ज्ञान आदि तीनों ज्योतियाँ (परलोकगत) पुरुषके उपयोगमें आती हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनंजय कथंस्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

धनंजय! हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीके शरीरका बलपूर्वक स्पर्श करके दुःशासनने उसे अपवित्र कर दिया है, इससे हमारी संतानरूप ज्योति नष्ट हो गयी। जो पराये पुरुषसे छू गयी, उस स्त्रीसे उत्पन्न संतान किस कामकी होगी? ॥७॥

अर्जुन उवाच

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भारत! (द्रौपदी सती है। उसके विषयमें आप ऐसी बात न कहें। दुःशासनने अवश्य नीचता की है, किंतु) श्रेष्ठ पुरुष नीच पुरुषोंद्वारा कही या न कही गयी कड़वी बातोंका कभी उत्तर नहीं देते ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ॥ ९ ॥

प्रतिशोधका उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरोंके उपकारोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैरको नहीं। उन साधु पुरुषोंको स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता रहता है ॥ ९ ॥

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ॥ १० ॥

भीमसेनने (राजा युधिष्ठिरसे) कहा—भरतवंशी राजराजेश्वर! (यदि आपकी आज्ञा हो, तो) यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओंको मैं यहीं समाप्त कर दूँ। और यहाँसे

बाहर निकलकर इनके मूलका भी नाश कर डालूँ ॥ १० ॥

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत।
अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥

भारत! अब यहाँ विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी हमें क्या आवश्यकता है? मैं आज ही इन सबको यमलोक भेज देता हूँ, आप इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥

अपने छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए भीमसेन उपर्युक्त बात कहकर शत्रुओंकी ओर बार-बार देखने लगे; मानो सिंह मृगोंके समूहमें खड़ा हो उन्हींकी ओर देख रहा हो ॥१२॥

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुन शत्रुओंकी ओर देखनेवाले भीमसेनको बार-बार शान्त कर रहे थे, परंतु पराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने भीतर धधकती हुई क्रोधाग्निसे जल रहे थे ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी श्रवणादि इन्द्रियोंके छिद्रों तथा रोमकूपोंसे धूम और चिनगारियों-सहित आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत् तस्य तन्मुखम्।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥

भौंहें तनी होनेके कारण प्रलयकालमें मूर्तिमान् यमराजकी भाँति उनके भयानक मुखकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम्।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥

भारत! तब विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनको अपने एक हाथसे रोकते हुए युधिष्ठिरने कहा—'ऐसा न करो, शान्तिपूर्वक बैठ जाओ' ॥ १६ ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम्।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

उस समय महाबाहु भीमके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्हें रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्रके पास गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमसेनका क्रोधविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको सारा धन लौटाकर एवं समझा-बुझाकर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन्! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें। भारत! हमलोग सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—अजातशत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञासे हारे हुए धनके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके कुशलपूर्वक अपनी राजधानीको जाओ और अपने राज्यका शासन करो ॥ २ ॥

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम्।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

मुझ वृद्धकी यही आज्ञा है। एक बात और है, उसपर भी ध्यान देना। मेरी कही हुई सारी बातें तुम्हारे हित और परम मङ्गलके लिये होंगी ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो। महामते! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ोंकी उपासना की है ॥ ४ ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। भारत! तुम शान्त हो जाओ। (जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ।) पत्थर या लोहेपर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती। लोग उसे लकड़ीपर ही चलाते हैं ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान्।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम्॥ ७॥

जो पुरुष वैरको याद नहीं रखते, गुणोंको ही देखते हैं, अवगुणोंको नहीं तथा किसीसे विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहे गये हैं। साधु पुरुष दूसरोंके सत्कर्मों (उपकारादि) को ही याद रखते हैं, उनके किये हुए वैरको नहीं। वे दूसरोंकी भलाई तो करते हैं; परंतु उनसे बदला लेनेकी भावना नहीं रखते॥ ६-७॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम्॥ ८॥
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः॥ ९॥

युधिष्ठिर! नीच मनुष्य साधारण बातचीतमें भी कटुवचन बोलने लगते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तरमें कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणीके पुरुष हैं। परंतु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसीके कटुवचन बोलने या न बोलनेपर भी अपने मुखसे कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते॥ ८-९॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः॥ १०॥

महात्मा पुरुष अपने अनुभवको सामने रखकर दूसरोंके सुख-दुःखको भी अपने समान जानते हुए उनके अच्छे बर्तावोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैर-विरोधको नहीं॥ १०॥

असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे॥ ११॥

सत्पुरुष आर्यमर्यादाको कभी भङ्ग नहीं करते। उनके दर्शनसे सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! कौरव-पाण्डवोंके समागममें तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके समान ही आचरण किया है॥ ११॥

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया॥ १२॥
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत।

तात! दुर्योधनने जो कठोर बर्ताव किया है, उसे तुम अपने हृदयमें मत लाना। भारत! तुम तो उत्तम गुण ग्रहण करनेकी इच्छासे अपनी माता गान्धारी तथा यहाँ बैठे हुए मुझ अंधे बूढ़े ताऊकी ओर देखो॥ १२½॥

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम्॥ १३॥
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम्।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता॥ १४॥
मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः।

मैंने सोच-समझकर भी इस जूएकी इसलिये उपेक्षा कर दी—उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की कि मैं मित्रों और सुहृदोंसे मिलना चाहता था और अपने पुत्रोंके बलाबलको देखना चाहता था। राजन्! जिनके तुम शासक हो और सब शास्त्रोंमें निपुण परम बुद्धिमान् विदुर जिनके मन्त्री हैं, वे कुरुवंशी कदापि शोकके योग्य नहीं हैं॥ १३-१४½॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः॥ १५॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः॥ १६॥

तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरुसेवाका भाव है। अजातशत्रो! तुम्हारा भला हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ। दुर्योधन आदि बन्धुओंके प्रति तुम्हें अच्छे भाईका-सा स्नेहभाव रहे और तुम्हारा मन सदा धर्ममें लगा रहे॥ १५-१६॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर पूज्यवर धृतराष्ट्रके आदेशको स्वीकार करके भाइयोंके सहित वहाँसे विदा हो गये। १७।

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम्॥ १८॥

वे मेघके समान शब्द करनेवाले रथोंपर द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्न मनसे नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको चल दिये॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रवरदानपूर्वक युधिष्ठिरका इन्द्रप्रस्थगमन-विषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७३॥

(अनुद्यूतपर्व)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे अर्जुनकी वीरता बतलाकर पुनः द्यूतक्रीडाके लिये पाण्डवोंको बुलानेका अनुरोध और उनकी स्वीकृति

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब कौरवोंको यह मालूम हुआ कि पाण्डवोंको रथ और धनके संग्रहसहित खाण्डवप्रस्थ जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उनके मनकी अवस्था कैसी हुई? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण जनमेजय! परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधनके पास, जो अपने मन्त्रियों (कर्ण एवं शकुनि) के साथ बैठा था, गया और दुःखसे पीडित होकर इस प्रकार बोला ॥ २-३ ॥

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥

दुःशासनने कहा—महारथियो! आपलोगोंको यह मालूम होना चाहिये कि हमने बड़े दुःखसे जिस धनराशिको प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है। उसने सारा धन शत्रुओंके अधीन कर दिया ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवोंसे बदला लेनेके लिये परस्पर मिलकर सलाह करने लगे। फिर उन सबने बड़ी उतावलीके साथ विचित्रवीर्यनन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर मधुरवाणीमें कहा ॥ ५-६ ॥

(दुर्योधन उवाच

अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके धनुर्धरः।
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! संसारमें अर्जुनके समान पराक्रमी धनुर्धर दूसरा कोई नहीं है। ये दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली हैं ॥

शृणु राजन् पुराचिन्त्यानर्जुनस्य च साहसान्।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो दुष्कृतं कृतवान् पुरा ॥
द्रुपदस्य पुरे राजन् द्रौपद्याश्च स्वयंवरे।

महाराज! अर्जुनने पहले जो-जो अचिन्त्य साहसपूर्ण कार्य किये हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनिये। राजन्! पहले राजा द्रुपदके नगरमें द्रौपदीके स्वयंवरके समय धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने वह पराक्रम कर दिखाया था, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥

स दृष्ट्वा पार्थिवान् सर्वान् क्रुद्धान् पार्थो महाबलः॥
वारयित्वा शरैस्तीक्ष्णैरजयत् तत्र स स्वयम्।
जित्वा तु तान् महीपालान् सर्वान् कर्णपुरोगमान्॥
लेभे कृष्णां शुभां पार्थो युद्ध्वा वीर्यबलात् तदा।
सर्वक्षत्रसमूहेषु अम्बां भीष्मो यथा पुरा ॥

उस समय महाबली अर्जुनने सब राजाओंको कुपित देख तीखे बाणोंके प्रहारसे उन्हें जहाँके तहाँ रोक दिया और स्वयं ही सबपर विजय पायी। कर्ण आदि सभी राजाओंको अपने बल और पराक्रमसे युद्धमें जीतकर कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय शुभलक्षणा द्रौपदीको प्राप्त किया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें भीष्मजीने सम्पूर्ण क्षत्रिय-समुदायमें अपने बल-पराक्रमसे काशिराजकी कन्या अम्बा आदिको प्राप्त किया था ॥

ततः कदाचिद् बीभत्सुस्तीर्थयात्रां ययौ स्वयम्।
अथोलूपीं शुभां जातां नागराजसुतां तदा ॥
नागेष्ववाप चाग्र्येषु प्रार्थितोऽथ यथातथम्।
ततो गोदावरीं वेण्णां कावेरीं चावगाहत।

तदनन्तर अर्जुन किसी समय स्वयं तीर्थयात्राके लिये गये। उस यात्रामें ही उन्होंने नागलोकमें पहुँचकर परम सुन्दरी नागराजकन्या उलूपीको उसके प्रार्थना करनेपर विधिपूर्वक पत्नीरूपमें ग्रहण किया। फिर क्रमशः अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए दक्षिण दिशामें जाकर गोदावरी, वेण्णा तथा कावेरी आदि नदियोंमें स्नान किया ॥

स दक्षिणं समुद्रान्तं गत्वा चाप्सरसां च वै ।
कुमारीतीर्थमासाद्य मोक्षयामास चार्जुनः ॥
ग्राहरूपान्विताः पञ्च अतिशौर्येण वै बलात् ॥

दक्षिणसमुद्रके तटपर कुमारीतीर्थमें पहुँचकर अर्जुनने अत्यन्त शौर्यका परिचय देते हुए ग्राहरूपधारिणी पाँच अप्सराओंका बलपूर्वक उद्धार किया ॥

कन्यातीर्थं समभ्येत्य ततो द्वारवतीं ययौ ॥
तत्र कृष्णनिदेशात् स सुभद्रां प्राप्य फाल्गुनः ।
तामारोप्य रथोपस्थे प्रययौ स्वपुरीं प्रति ॥

तत्पश्चात् कन्याकुमारीतीर्थकी यात्रा करके वे दक्षिणसे लौट आये और अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए द्वारकापुरी जा पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुनने सुभद्राको लेकर रथपर बिठा लिया और अपनी नगरी इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान किया ॥

भूयः शृणु महाराज फाल्गुनस्य तु साहसम् ।
ददौ च वह्नेर्बीभत्सुः प्रार्थितं खाण्डवं वनम् ॥
लब्धमात्रे तु तेनाथ भगवान् हव्यवाहनः ।
भक्षितुं खाण्डवं राजंस्ततः समुपचक्रमे ॥

महाराज ! अर्जुनके साहसका और भी वर्णन सुनिये; उन्होंने अग्निदेवको उनके माँगनेपर खाण्डववन समर्पित किया था । राजन् ! उनके द्वारा उपलब्ध होते ही भगवान् अग्निदेवने उस वनको अपना आहार बनाना आरम्भ किया ॥

ततस्तं भक्षयन्तं वै सव्यसाची विभावसुम् ।
रथी धन्वी शरान् गृह्य स कलापयुतः प्रभुः ॥
पालयामास राजेन्द्र स्ववीर्येण महाबलः ॥

राजेन्द्र ! जब अग्निदेव खाण्डववनको जलाने लगे, उस समय (अग्निदेवसे) रथ, धनुष, बाण और कवच आदि लेकर महान् बल तथा प्रभावसे युक्त सव्यसाची अर्जुन अपने पराक्रमसे उसकी रक्षा करने लगे ॥

ततः श्रुत्वा महेन्द्रस्तं मेघांस्तान् संदिदेश ह ।
तेनोक्ता मेघसङ्घास्ते ववर्षुरतिवृष्टिभिः ॥

खाण्डववनके दाहका समाचार सुनकर देवराज इन्द्रने मेघोंको आग बुझानेकी आज्ञा दी । उनकी प्रेरणासे मेघोंने बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥

ततो मेघगणान् पार्थः शरव्रातैः समन्ततः ।
खगमैर्वारयामास तदाश्चर्यमिवाभवत् ॥

यह देखकर अर्जुनने आकाशगामी बाणसमूहोंद्वारा सब

ओरसे बादलोंको रोक दिया । वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

वारितान् मेघसङ्घांश्च श्रुत्वा क्रुद्धः पुरंदरः ।
पाण्डरं गजमास्थाय सर्वदेवगणैर्वृतः ॥
ययौ पार्थेन संयोद्धुं रक्षार्थं खाण्डवस्य च ॥

मेघोंको रोका गया सुनकर इन्द्रदेव कुपित हो उठे । श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ हो वे समस्त देवताओंके साथ खाण्डववनकी रक्षाके निमित्त अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये गये ॥

रुद्राश्च मरुतश्चैव वसवश्चाश्विनौ तदा ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च विश्वेदेवाश्च भारत ॥
गन्धर्वाश्चैव सहिता अन्ये सुरगणाश्च ये ।
ते सर्वे शस्त्रसम्पन्ना दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
धनंजयं जिघांसन्तः प्रपेतुर्विबुधाधिपाः ॥

भारत ! उस समय रुद्र, मरुद्गण, वसु, अश्विनीकुमार, आदित्य, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व तथा अन्य देवगण अपने-अपने तेजसे देदीप्यमान एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये गये । वे सभी देवेश्वर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर टूट पड़े ॥

ततो देवगणाः सर्वे युद्ध्वा पार्थेन वै मुहुः ।
रणे जेतुमशक्यं तं ज्ञात्वा ते भरतर्षभ ॥
शान्तास्ते विबुधाः सर्वे पार्थबाणाभिपीडिताः ।

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ बारंबार युद्ध करके जब देवताओंने यह समझ लिया कि इन्हें समराङ्गणमें पराजित करना असम्भव है, तब वे अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण युद्धसे विरत हो गये (भाग खड़े हुए)

युगान्ते यानि दृश्यन्ते निमित्तानि महान्त्यपि ।
सर्वाणि तत्र दृश्यन्ते सुघोराणि महीपते ॥

महाराज ! प्रलयकालमें जो विनाशसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन दिखायी देते हैं, वे सभी उस समय प्रत्यक्ष दीखने लगे ॥

ततो देवगणाः सर्वे पार्थं समभिदुद्रुवुः।
असम्भ्रान्तस्तु तान् दृष्ट्वा स तां देवमयीं चमूम्।
त्वरितः फाल्गुनो गृह्य तीक्ष्णांस्तानाशुगांस्तदा॥
शक्रं देवांश्च सम्प्रेक्ष्य तस्थौ काल इवात्यये ॥

तदनन्तर सब देवताओंने एक साथ अर्जुनपर धावा किया; परंतु उस देवसेनाको देखकर अर्जुनके मनमें घबराहट नहीं हुई । वे तुरंत ही तीखे बाण हाथमें लेकर इन्द्र और देवताओंकी ओर देखते हुए प्रलयकालमें सर्वसंहारक कालकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥

ततो देवगणाः सर्वे बीभत्सुं सपुरंदराः।
अवाकिरञ्छरव्रातैर्मानुषं तं महीपते ॥

राजन् ! अर्जुनको मानव समझकर इन्द्रसहित सब देवता उनपर बाणसमूहोंकी बौछार करने लगे ॥

ततः पार्थो महातेजा गाण्डीवं गृह्य सत्वरः ॥
वारयामास देवानां शरव्रातैः शरांस्तदा।

परंतु महातेजस्वी पार्थने शीघ्रतापूर्वक गाण्डीव धनुष लेकर अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे देवताओंके बाणोंको रोक दिया ॥

पुनः क्रुद्धाः सुराः सर्वे मर्त्यं संख्ये महाबलाः ॥
नानाशस्त्रैर्ववर्षुस्तं सव्यसाचिं महीपते ॥

पिताजी ! यह देख समस्त महाबली देवता पुनः कुपित हो गये और उस युद्धमें मरणधर्मा अर्जुनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥

तान् पार्थः शस्त्रवर्षान् वै विसृष्टान् विबुधैस्तदा।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव निशितैः शरैः ॥

अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा देवताओंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंके आकाशमें ही दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥

पुनश्च पार्थः संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः।
देवसङ्घाञ्छरैस्तीक्ष्णैरार्पयद् वै समन्ततः ॥

फिर अधिक क्रोधमें भरकर अर्जुनने अपने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार दिखायी देने लगा और उसके द्वारा सब ओर तीखे सायकोंकी वृष्टि करके सब देवताओंको घायल कर दिया ॥

विद्रुतान् देवसङ्घांस्तान् रणे दृष्ट्वा पुरंदरः।
ततः क्रुद्धो महातेजाः पार्थं बाणैरवाकिरत् ॥

देवताओंको युद्धसे भागा हुआ देख महातेजस्वी इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो पार्थपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥

पार्थोऽपि शक्रं विव्याध मानुषो विबुधाधिपम् ॥
ततः सोऽश्ममयं वर्षं व्यसृजद् विबुधाधिपः।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः ॥
अथ संवर्धयामास तद् वर्षं देवराडपि।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ॥

पार्थने मनुष्य होकर भी देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपने सायकोंसे बींध डाला । तब देवेश्वरने अर्जुनपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की । यह देख अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भर गये और अपने बाणोंद्वारा उन्होंने इन्द्रकी उस पाषाण-वर्षाका निवारण कर दिया । तदनन्तर देवराज इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उस पाषाणवर्षाको पहलेसे भी अधिक बढ़ा दिया ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगमिषुभिः पाण्डवोऽपि च।
विलयं गमयामास हर्षयन् पाकशासनम् ॥

यह देख पाण्डुनन्दन अर्जुनने इन्द्रका हर्ष बढ़ाते हुए उस अत्यन्त वेगशालिनी पाषाणवर्षाको अपने बाणोंसे विलीन कर दिया ॥

उपादाय तु पाणिभ्यामङ्गदं नाम पर्वतम्।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः श्वेतवाहनम् ॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलमानैरजिह्मगैः ।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरिराजं सहस्रशः ॥
शक्रं च वारयामास शरैः पार्थो बलाद् युधि।

तब इन्द्रने श्वेतवाहन अर्जुनको कुचल डालनेकी इच्छासे वृक्षोंसहित अंगद नामक पर्वत (जो मन्दराचलका एक शिखर है) को दोनों हाथोंसे उठाकर उनके ऊपर छोड़ दिया । यह देख अर्जुनने अग्निके समान प्रज्वलित और सीधे लक्ष्य-तक पहुँचनेवाले सहस्रों वेगशाली बाणोंद्वारा उस पर्वतराजको खण्ड-खण्ड कर दिया । साथ ही पार्थने उस युद्धमें बलपूर्वक बाण मारकर इन्द्रको स्तब्ध कर दिया ॥

ततः शक्रो महाराज रणे वीरं धनंजयम् ॥
ज्ञात्वा जेतुमशक्यं तं तेजोबलसमन्वितम् ॥
परां प्रीतिं ययौ तत्र पुत्रशौर्येण वासवः।

महाराज ! तदनन्तर तेज और बलसे सम्पन्न वीर धनंजयको युद्धमें जीतना असम्भव जानकर इन्द्रको अपने पुत्रके पराक्रमसे वहाँ बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥

तदा तत्र न तस्यासीद् दिवि कश्चिन्महायशाः ॥
समर्थो निर्जये राजन्नपि साक्षात् प्रजापतिः ॥

राजन् ! उस समय वहाँ स्वर्गका कोई भी महायशस्वी वीर, चाहे साक्षात् प्रजापति ही क्यों न हों, ऐसा नहीं था, जो अर्जुनको जीतनेमें समर्थ हो सके ।

ततः पार्थः शरैर्हत्वा यक्षराक्षसपन्नगान् ।
दीप्ते चाग्नौ महातेजाः पातयामास संततम् ॥
प्रतिप्रेक्षयितुं पार्थं न शेकुस्तत्र केचन ।
दृष्ट्वा निवारितं शक्रं दिवि देवगणैः सह ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अर्जुन अपने बाणोंसे यक्ष, राक्षस और नागोंको मारकर उन्हें लगातार प्रज्वलित अग्निमें गिराने लगे। स्वर्गवासी देवताओंसहित इन्द्रको अर्जुनने युद्धसे विरत कर दिया, यह देख उस समय कोई भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते थे ॥

यथा सुपर्णः सोमार्थे विबुधानजयत् पुरा ।
तथा जित्वा सुरान् पार्थस्तर्पयामास पावकम्॥
ततोऽर्जुनः स्ववीर्येण तर्पयित्वा विभावसुम् ।
रथं ध्वजं हयांश्चैव दिव्यास्त्राणि सभां च वै ॥
गाण्डीवं च धनुःश्रेष्ठं तूणी चाक्षयसायकौ ।
एतान्यवाप बीभत्सुर्लेभे कीर्तिं च भारत ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें गरुड़ने अमृतके लिये देवताओंको जीत लिया था, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी देवताओंको जीतकर खाण्डववनके द्वारा अग्निदेवको तृप्त किया। इस प्रकार पार्थने अपने पराक्रमसे अग्निदेवको तृप्त करके उनसे रथ, ध्वजा, अश्व, दिव्यास्त्र, उत्तम धनुष गाण्डीव तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर प्राप्त किये। इनके सिवा अनुपम यश और मयासुरसे एक सभाभवन भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥

भूयोऽपि शृणु राजेन्द्र पार्थो गत्वोत्तरां दिशम्।
विजित्य नववर्षांश्च सपुरांश्च सपर्वतान् ॥
जम्बूद्वीपं वशे कृत्वा सर्वं तद् भरतर्षभ ।
बलाज्जित्वा नृपान् सर्वान् करे च विनिवेश्य च॥
रत्नान्यादाय सर्वाणि गत्वा चैव पुनः पुरीम् ।
ततो ज्येष्ठं महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं कारयामास भारत ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनके पराक्रमकी कथा अभी और सुनिये। उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर नगरों और पर्वतोंसहित जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंपर विजय पायी। भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने समस्त जम्बूद्वीपको वशमें करके सब राजाओंको बलपूर्वक जीत लिया और सबपर कर लगाकर उनसे सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले वे पुनः अपनी पुरीको लौट आये। भारत ! तदनन्तर अर्जुनने अपने बड़े भाई महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करवाया ॥

स तान्यन्यानि कर्माणि कृतवानर्जुनः पुरा ।
अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके पुमान् क्वचित्॥

पिताजी ! इस प्रकार अर्जुनने पूर्वकालमें ये तथा और भी बहुत-से पराक्रम कर दिखाये हैं। संसारमें कहीं कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो बल और पराक्रममें अर्जुनकी समानता कर सके ॥

देवदानवयक्षाश्च पिशाचोरगराक्षसाः ।
भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवश्च महारथाः ॥
लोके सर्वनृपाश्चैव वीराश्चान्ये धनुर्धराः ।
एते चान्ये च बहवः परिवार्य महीपते ॥
एकं पार्थं रणे यत्ताः प्रतियोद्धुं न शक्नुयुः ॥

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस एवं भीष्म, द्रोण आदि समस्त कौरव महारथी, भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश तथा अन्य धनुर्धर वीर—ये तथा अन्य बहुत-से शूरवीर युद्धभूमिमें अकेले अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर पूरी सावधानीके साथ खड़े हो जायँ, तो भी उनका सामना नहीं कर सकते ॥

अहं हि नित्यं कौरव्य फाल्गुनं प्रति सत्तमम् ।
अनिशं चिन्तयित्वा तं समुद्विग्नोऽस्मि तद्भयात्॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं साधुशिरोमणि अर्जुनके विषयमें नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता हूँ ॥

गृहे गृहे च पश्यामि तात पार्थमहं सदा ।
शरगाण्डीवसंयुक्तं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥
अपि पार्थसहस्राणि भीतः पश्यामि भारत ।
पार्थभूतमिदं सर्वं नगरं प्रतिभाति मे ॥

पिताजी ! मुझे प्रत्येक घरमें सदा हाथमें पाश लिये यमराजकी भाँति गाण्डीव धनुषपर बाण चढ़ाये अर्जुन दिखायी देते हैं। भारत ! मैं इतना डर गया हूँ कि मुझे सहस्रों अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। यह सारा नगर मुझे अर्जुनरूप ही प्रतीत होता है ॥

पार्थमेव हि पश्यामि रहिते तात भारत ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं पार्थमुद्भ्रमामि ह्यचेतनः ॥

भारत ! मैं एकान्तमें अर्जुनको ही देखता हूँ। स्वप्नमें भी अर्जुनको देखकर मैं अचेत और उद्भ्रान्त हो उठता हूँ ॥

अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः ।
अश्वाश्चार्थाश्च ह्यजाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ॥

मेरा हृदय अर्जुनसे इतना भयभीत हो गया है कि अश्व, अर्थ और अज आदि अकारादि नाम मेरे मनमें त्रास उत्पन्न कर देते हैं ॥

नास्ति पार्थादृते तात परवीराद् भयं मम ।
प्रह्लादं वा बलिं वापि हन्याद्धि विजयो रणे ॥
तस्मात् तेन महाराज युद्धमसज्जनक्षयम् ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो नित्यं दुःखं वहामि च ॥

तात ! अर्जुनके सिवा शत्रुपक्षके दूसरे किसी वीरसे मुझे डर

नहीं लगता है । महाराज ! मेरा विश्वास है कि अर्जुन युद्धमें प्रह्लाद अथवा बलिको भी मार सकते हैं; अतः उनके साथ किया हुआ युद्ध हमारे सैनिकोंके ही संहारका कारण होगा । मैं अर्जुनके प्रभावको जानता हूँ । इसीलिये सदा दुःखके भारसे दबा रहता हूँ ॥

पुरा हि दण्डकारण्ये मारीचस्य यथा भयम् ।
भवेद् रामे महावीर्ये तथा पार्थे भयं मम ॥

जैसे पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे मारीचको भय हो गया था, उसी प्रकार अर्जुनसे मुझे भय हो रहा है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

जानाम्येव महद् वीर्यं जिष्णोरेतद् दुरासदम् ।
तात वीरस्य पार्थस्य मा कार्षीस्त्वं तु विप्रियम्॥
द्यूतं वा शस्त्रयुद्धं वा दुर्वाक्यं वा कदाचन ।
एतेष्वेवं कृते तस्य विग्रहश्चैव वो भवेत् ॥
तस्मात् त्वं पुत्र पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय ॥
यश्च पार्थेन सम्बन्धाद् वर्तते च नरो भुवि ।
तस्य नास्ति भयं किंचित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥
तस्मात् त्वं जिष्णुना वत्स नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! अर्जुनके महान् पराक्रमको तो मैं जानता ही हूँ । उनके इस पराक्रमका सामना करना अत्यन्त कठिन है । अतः तुम वीर अर्जुनका कोई अपराध न करो । उनके साथ द्यूतक्रीड़ा, शस्त्रयुद्ध अथवा कटु वचनका प्रयोग कभी न करो; क्योंकि इन्हींके कारण उनका तुमलोगोंके साथ विवाद हो सकता है । अतः बेटा ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो । भारत ! जो मनुष्य इस पृथ्वीपर अर्जुनके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए उनसे सद्व्यवहार करता है, उसे तीनों लोकोंमें तनिक भी भय नहीं है; अतः वत्स ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पार्थस्य कौरव्य मायया निकृतिः कृता ।
तस्माद्धि तं जहि सदा त्वन्योपायेन नो भवेत् ॥

दुर्योधन बोला—कुरुश्रेष्ठ ! जूएमें हमलोगोंने अर्जुनके प्रति छल कपटका बर्ताव किया था, अतः आप किसी दूसरे उपायसे उन्हें मार डालें । इसीसे हमलोगोंका सदा भला होगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उपायश्च न कर्तव्यः पाण्डवान् प्रति भारत ।
पार्थान् प्रति पुरा वत्स बहूपायाः कृतास्त्वया ॥
तानुपायान् हि कौन्तेया बहुशो व्यतिचक्रमुः॥
तस्माद्धितं जीविताय नः कुलस्य जनस्य च ।
त्वं चिकीर्षसि चेद् वत्स समित्रः सहबान्धवः ।
सभ्रातृकस्त्वं पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय ॥

धृतराष्ट्रने कहा—भारत ! पाण्डवोंके प्रति किसी अनुचित उपायका प्रयोग नहीं करना चाहिये । बेटा ! तुमने उन सबको मारनेके लिये पहले बहुत-से उपाय किये हैं । कुन्तीके पुत्र तुम्हारे उन सभी प्रयत्नोंका उल्लंघन करके बहुत बार आगे बढ़ गये हैं; अतः वत्स ! यदि तुम अपने कुल और आत्मीयजनोंकी जीवनरक्षाके लिये किसी हितकर उपायका अवलम्बन करना चाहते हो तो मित्र, बन्धु-बान्धव तथा भाइयोंसहित तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु विधिना चोदितोऽब्रवीत् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधन दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके विधातासे प्रेरित हो इस प्रकार बोला ॥

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! देवगुरु विद्वान् बृहस्पतिजीने इन्द्रको नीतिका उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है ॥ ७ ॥

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम्॥ ८ ॥

शत्रुसूदन ! जो आपका अहित करते हैं, उन शत्रुओंको बिना युद्धके अथवा युद्ध करके—सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये ॥ ८ ॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति ॥ ९ ॥

महाराज ! यदि हम पाण्डवोंके धनसे सब राजाओंका सत्कार करके उन्हें साथ ले पाण्डवोंसे युद्ध करें, तो हमारा क्या बिगड़ जायगा ! ॥ ९ ॥

अहीनाशीविषान् क्रुद्धान् नाशाय समुपस्थितान्।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥ १० ॥

क्रोधमें भरकर काटनेके लिये उद्यत हुए विषधर सर्पोंको अपने गलेमें लटकाकर अथवा पीठपर चढ़ाकर कौन मनुष्य उन्हें उसी अवस्थामें छोड़ सकता है ? ॥ १० ॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥ ११ ॥

तात ! अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर रथमें बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पोंकी भाँति आपके कुलका संहार कर डालेंगे ॥ ११ ॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥
गदां गुर्वी समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥१३॥

हमने सुना है, अर्जुन कवच धारण करके दो उत्तम तूणीर पीठपर लटकाये हुए जाते हैं। वे बार-बार गाण्डीव धनुष हाथमें लेते हैं और लम्बी साँसें खींचकर इधर-उधर देखते हैं। इसी प्रकार भीमसेन शीघ्र ही अपना रथ जोतकर भारी गदा उठाये बड़ी उतावलीके साथ यहाँसे निकलकर गये हैं ॥ १२-१३ ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत्।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥१४॥

नकुल अर्धचन्द्रविभूषित ढाल एवं तलवार लेकर जा रहे हैं। सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरने भी विभिन्न चेष्टाओं-द्वारा यह व्यक्त कर दिया है कि वे लोग क्या करना चाहते हैं ?॥

ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान्।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ॥१५॥

वे सब लोग अनेक शस्त्र आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न रथोंपर बैठकर शत्रुपक्षके रथियोंका संहार करनेके उद्देश्यसे सेना एकत्र करनेके लिये गये हैं ॥ १५ ॥

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे इसके लिये हमें कभी क्षमा न करेंगे। द्रौपदीको जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमेंसे कौन चुपचाप सह लेगा ! ॥ १६ ॥

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥१७॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आपका भला हो, हम चाहते हैं कि वनवासकी शर्त रखकर पाण्डवोंके साथ फिर एक बार जूआ खेलें। इस प्रकार इन्हें हम अपने वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१८॥

जूएमें हार जानेपर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करें और बारह वर्षतक वनमें ही निवास करें ॥ १८ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१९॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम्।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२०॥

तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीसे दूर किसी नगरमें रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसीकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्षतक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्तपर फिर जूएका खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंककर जूआ खेलें ॥१९-२०॥

एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ॥२१॥

भरतकुलभूषण महाराज ! यही हमारा सबसे महान् कार्य है। ये शकुनि मामा विद्यासहित पासे फेंकनेकी कलाको अच्छी तरह जानते हैं ॥ २१ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥

(हमारी विजय होनेपर) हमलोग बहुत-से मित्रोंका संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेनाका पुरस्कार आदिके द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्यपर अपनी जड़ जमा लेंगे ॥ २२ ॥

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम्।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परंतप ॥२३॥

यदि वे तेरहवें वर्षके अज्ञातवासकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेंगे तो हम उन्हें युद्धमें परास्त कर देंगे। शत्रुओंको संताप देने-वाले नरेश ! आप हमारे इस प्रस्तावको पसंद करें ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डवलोग दूर चले गये हों तो भी तुम्हारी इच्छा हो, तो उन्हें तुरंत बुला लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें और इस नये दाँवपर फिर जूआ खेलें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वरसे इस निर्णयका विरोध करते हुए कहा—'अब जूआ नहीं होना चाहिये, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है'॥२५-२६॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥

भावी अर्थको देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये; किंतु दुर्योधनादि पुत्रोंके प्रेममें आकर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलानेका आदेश दे ही दिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरप्रत्यानयनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६७½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गान्धारीकी धृतराष्ट्रको चेतावनी और धृतराष्ट्रका अस्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

**अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भावी अनिष्टकी आशङ्कासे धर्मपरायणा गान्धारी पुत्रस्नेहवश शोकसे कातर हो उठी और राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोली—॥

**जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥**

'आर्यपुत्र ! दुर्योधनके जन्म लेनेपर परम बुद्धिमान् विदुरजीने कहा था—यह बालक अपने कुलका नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये ॥ २ ॥

**व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥**

'भारत ! इसने जन्म लेते ही गीदड़की भाँति 'हुँआ-हुँआ' का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुलका अन्त करनेवाला होगा । कौरवो ! आपलोग भी इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥ ३ ॥

**मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥ ४ ॥**

'भरतकुलतिलक ! आप अपने ही दोषसे इस कुलको विपत्तिके महासागरमें न डुबाइये । प्रभो ! इन उद्दण्ड बालकोंकी हाँमें हाँ न मिलाइये ॥ ४ ॥

**मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम् ॥ ५ ॥
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥**

'इस कुलके भयंकर विनाशमें स्वयं ही कारण न बनिये । भरतश्रेष्ठ ! बँधे हुए पुलको कौन तोड़ेगा ? बुझी हुई वैरकी आगको फिर कौन भड़कायेगा ? कुन्तीके शान्तिपरायण पुत्रोंको फिर कुपित करनेका साहस कौन करेगा ? अजमीढ-कुलके रत्न ! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी ॥ ५-६ ॥

**शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ॥ ७ ॥**

राजन् ! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता । मन्दबुदि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

**त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥**

'आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रणमें रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये । ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाका त्याग करके प्राणोंसे हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापेमें छोड़कर चल बसें । इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलाङ्गार दुर्योधनको त्याग दें ॥ ८ ॥

**तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥**

'महाराज ! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया । अतः समझ लीजिये, उसीका यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुलके विनाशका कारण होने जा रहा है ॥ ९ ॥

**शमेन धर्मेण नयेन युक्ता
या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥**

'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीतिसे युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे । आप प्रमाद मत कीजिये । क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्तावसे बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंतक चली जाती है' ॥ १० ॥

**अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥**

तब महाराज धृतराष्ट्रने धर्मपर दृष्टि रखनेवाली गान्धारीसे कहा—'देवि ! इस कुलका अन्त भले ही हो जाय, परंतु मैं दुर्योधनको रोक नहीं सकता ॥ ११ ॥

गान्धारीका धृतराष्ट्रको समझाना

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

'ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो। पाण्डव लौट आयें और मेरे पुत्र उनके साथ फिर जूआ खेलें' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सबके मना करनेपर भी धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरका पुनः जूआ खेलना और हारना

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम्।
उवाच वचनाद् राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थके मार्गमें बहुत दूरतक चले गये थे। उस समय

बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला--॥ १ ॥

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत॥ २ ॥

'भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्रने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ! हमारी सभा फिर सदस्योंसे भर गयी है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पासे फेंककर जूआ खेलो' ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम्।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—समस्त प्राणी विधाताकी प्रेरणासे शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा॥ ३॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएके लिये यह बुलावा हमारे कुलके विनाशका कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

असम्भवे हेममयस्य जन्तो-
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! किसी जानवरका शरीर सुवर्णका हो, यह सम्भव नहीं; तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होनेवाले मृगके लिये लुभा गये। जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः अत्यन्त विपरीत हो जाती है ॥ ५ ॥

इति ब्रुवन् निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥ ६ ॥

ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ पुनः लौट पड़े। वे शकुनिकी मायाको जानते थे, तो भी जूआ खेलनेके लिये चले आये ॥ ६ ॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर सुहृदोंके मनमें बड़ी पीड़ा होने लगी। प्रारब्धके वशीभूत हुए कुन्तीकुमार सम्पूर्ण लोकोंके विनाशके लिये पुनः द्यूतक्रीडा आरम्भ करनेके उद्देश्यसे चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गये ॥ ७-८ ॥

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत्।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

शकुनिने कहा—राजन् ! भरतश्रेष्ठ हमारे बूढ़े महाराजने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है। अब जूएके लिये एक ही दाँव रखा जायगा उसे सुनिये—॥ ९ ॥

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥

'यदि आपने हमलोगोंको जूएमें हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करेंगे ॥ १० ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥

'और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ ११ ॥

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥

'यदि हम जीत गये तो आपलोग द्रौपदीके साथ बारह वर्षोंतक मृगचर्म धारण करते हुए वनमें रहें ॥ १२ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥

'आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहना होगा ॥ १३ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥

'तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर हम या आप फिर वनसे आकर यथोचित रीतिसे अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं' ॥ १४ ॥

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! इसी निश्चयके साथ आप आइये और पुनः पासा फेंककर हमलोगोंके साथ जूआ खेलिये ॥ १५ ॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि ॥ १६ ॥

यह सुनकर सब सभासदोंने सभामें अपने हाथ ऊपर उठाकर अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी घबराहटके साथ कहा ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः

अहो धिग् बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद् भयम् ।
बुद्ध्या बुध्येन्न वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः ॥ १७ ॥

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है ! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिरको उनके ऊपर आनेवाले महान् भयकी बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धिके द्वारा इस भयको समझें या न समझें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जाके कारण तथा धृतराष्ट्रके आज्ञापालनरूप धर्मकी दृष्टिसे पुनः जूआ खेलनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १८ ॥

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन्॥१९॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जूएका परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुलका विनाश बहुत निकट है, वे द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—शकुने ! स्वधर्मपालनमें संलग्न रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जूएके लिये बुलाये जानेपर कैसे पीछे हट सकता था, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २० ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

एवं दैवबलाविष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीष्मद्रोणैर्वार्यमाणो विदुरेण च धीमता ॥
युयुत्सुना कृपेणाथ संजयेन च भारत ।
गान्धार्या पृथया चैव भीमार्जुनयमैस्तथा ॥
विकर्णेन च वीरेण द्रौपद्या द्रौणिना तथा ।
सोमदत्तेन च तथा बाह्लीकेन च धीमता ॥
वार्यमाणोऽपि सततं न च राजा नियच्छति ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर प्रारब्धके वशीभूत हो गये थे। महाराज ! उन्हें भीष्म, द्रोण और बुद्धिमान् विदुरजी दुबारा जूआ खेलनेसे रोक रहे थे। युयुत्सु, कृपाचार्य तथा संजय भी मना कर रहे थे। गान्धारी, कुन्ती, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, वीर विकर्ण, द्रौपदी, अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा बुद्धिमान् बाह्लीक भी बारंबार रोक रहे थे तो भी राजा युधिष्ठिर भावीके वश होनेके कारण जूएसे नहीं हटे ॥

शकुनिरुवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः॥ २१ ॥

शकुनिने कहा—राजन्! हमलोगोंके पास बैल, घोड़े और बहुत-सी दुधारू गौएँ हैं। भेड़ और बकरियोंकी तो गिनती ही नहीं है। हाथी, खजाना, दास-दासी तथा सुवर्ण सब कुछ हैं॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः॥ २२॥

फिर भी (इन्हें छोड़कर) एकमात्र वनवासका निश्चय ही हमारा दाँव है। पाण्डवो! आपलोग या हम, जो भी हारेंगे, उन्हें वनमें जाकर रहना होगा॥ २२॥

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः॥ २३॥

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जनसमूहमें अज्ञातभावसे रहना होगा। नरश्रेष्ठगण! हम इसी निश्चयके साथ जूआ खेलें॥ २३॥

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ २४॥

भारत! वनवासकी शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकनेसे जूएका खेल पूरा हो जायगा। युधिष्ठिरने उसकी बात स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् सुबलपुत्र शकुनिने पासा हाथमें उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—मेरी जीत हो गयी॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरपराभवविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

दुःशासनद्वारा पाण्डवोंका उपहास एवं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शत्रुओंको मारनेके लिये भीषण प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जूएमें हारे हुए कुन्तीके पुत्रोंने वनवासकी दीक्षा ली और क्रमशः सबने मृगचर्मको उत्तरीय वस्त्रके रूपमें धारण किया॥ १॥

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिंदमान्।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत्॥ २॥

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्मसे अपने अङ्गोंको ढँककर वनवासके लिये प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासनने सभामें उनको लक्ष्य करके कहा—॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः॥ ३॥

'धृतराष्ट्रपुत्र महामना राजा दुर्योधनका समस्त भूमण्डलपर एकछत्र राज्य हो गया। पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये॥ ३॥

अद्यैव ते सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद् वयं परैः॥ ४॥

'आज वे पाण्डव समान मार्गोंसे, जिनपर आये हुओंकी भीड़के कारण जगह नहीं रही है, वनको चले जा रहे हैं। हमलोग अपने प्रतिपक्षियोंसे गुण और अवस्था दोनोंमें बड़े हैं। अतः हमारा स्थान उनसे बहुत ऊँचा है॥ ४॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम्।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः॥ ५॥

धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः॥ ६॥

'कुन्तीके पुत्र दीर्घकालतकके लिये अनन्त दुःखरूप नरकमें गिरा दिये गये। ये सदाके लिये सुखसे वञ्चित तथा राज्यसे हीन हो गये हैं। जो लोग पहले अपने धनसे उन्मत्त हो धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभवसे हाथ धोकर वनमें जा रहे हैं॥ ५-६॥

चित्रान् सन्नाहानवमुच्य पार्था
वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे
यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः॥ ७॥

'सभी पाण्डव अपने शरीरपर जो विचित्र कवच और चमकीले दिव्य वस्त्र हैं, उन सबको उतारकर मृगचर्म धारण कर लें; जैसा कि सुबलपुत्र शकुनिके भावको स्वीकार करके ये लोग जूआ खेले हैं॥ ७॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः॥ ८॥

'जो अपनी बुद्धिमें सदा यही अभिमान लिये बैठे थे कि हमारे-जैसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, वे ही पाण्डव आज विपरीत अवस्थामें पहुँचकर थोथे तिलोंकी भाँति निःसत्त्व हो गये हैं। अब इन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान होगा॥ ८॥

इदं हि वासो यदि वेदशानां
मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्
बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥

'इन मनस्वी और बलवान् पाण्डवोंका यह मृगचर्ममय वस्त्र तो देखो जिसे यज्ञमें महात्मालोग धारण करते हैं। मुझे तो इनके शरीरपर ये मृगचर्म यज्ञकी दीक्षाके अधिकारसे रहित जंगली कोलभीलोंके चर्ममय वस्त्रके समान ही प्रतीत होते हैं ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

'महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या पाञ्चालीको पाण्डवोंके लिये देकर कोई अच्छा काम नहीं किया। द्रौपदीके पति ये कुन्तीपुत्र निरे नपुंसक ही हैं ॥ १० ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥ ११ ॥

'द्रौपदी! जो सुन्दर महीन कपड़े पहना करते थे, उन्हीं पाण्डवोंको वनमें निर्धन, अप्रतिष्ठित और मृगचर्मकी चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी ? अब तुम किसी अन्य पुरुषको, जिसे चाहो, अपना पति बना लो ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः
क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे
न त्वां तपेत् कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

'ये समस्त कौरव क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा उत्तम धन-वैभवसे सम्पन्न हैं। इन्हींमेंसे किसीको अपना पति चुन लो, जिससे यह विपरीत काल (निर्धनावस्था) तुम्हें संतप्त न करे ॥ १२ ॥

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥

'जैसे थोथे तिल बोनेपर फल नहीं देते हैं, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ हैं तथा जैसे काकयव (तंदुलरहित तृणधान्य) निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवोंका जीवन निरर्थक हो गया है ॥ १३ ॥

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य
मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्था-
नश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥

'थोथे तिलोंकी भाँति इन पतित और नपुंसक पाण्डवों-की सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा, व्यर्थका परिश्रम ही तो उठाना पड़ेगा।'

इस प्रकार धृतराष्ट्रके नृशंस पुत्र दुःशासनने पाण्डवोंको बहुत-से कठोर वचन सुनाये ॥ १४ ॥

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

यह सब सुनकर भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। जैसे हिमालयकी गुफामें रहनेवाला सिंह गीदड़के पास जाय, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासनके पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोरसे फटकारते हुए बोले ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥

भीमसेनने कहा—क्रूर एवं नीच दुःशासन ! तू पापी मनुष्योंद्वारा प्रयुक्त होनेवाली ओछी बातें बक रहा है। अरे! तू अपने बाहुबलसे नहीं, शकुनिकी छलविद्याके प्रभावसे आज राजाओंकी मण्डलीमें अपने मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, उसी प्रकार जब युद्धमें मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातोंकी याद दिलाऊँगा ॥ १७ ॥

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम्॥ १८ ॥

जो लोग क्रोध और लोभके वशीभूत हो तुम्हारे रक्षक बनकर पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूँगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौर्गौरिति स्माह्वयन् मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मृगचर्म धारण किये भीमसेनको ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवोंके बीचमें उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल! ओ बैल' कहकर उन्हें पुकारने लगा। उस समय भीमका मार्ग धर्मराज युधिष्ठिरने रोक रक्खा था (अन्यथा वे दुःशासनको जीता न छोड़ते) ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—ओ नृशंस दुःशासन ! तेरे ही मुखसे ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं, तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपटसे धन पाकर इस तरह आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ॥ २० ॥

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत् पार्थो वृकोदरः।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥

मेरी बात सुन ले । यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्धमें तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीये तो इसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम्।
शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ २२ ॥

मैं तुझसे सच्ची बात कह रहा हूँ, शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जब कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात्।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डव-लोग सभा-भवनसे निकले, उस समय मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन हर्षमें भरकर सिंहके समान मस्तानी चालसे चलने-वाले भीमसेनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चालकी नकल करने लगा ॥ २३ ॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥

यह देख भीमसेनने अपने आधे शरीरको पीछेकी ओर मोड़कर कहा—'ओ मूढ़ ! केवल दुःशासनके रक्तपानद्वारा ही मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है। तुझे भी सम्बन्धियों-सहित शीघ्र ही यमलोक भेजकर तेरे इस परिहासकी याद दिलाते हुए इसका समुचित उत्तर दूँगा' ॥ २४ ॥

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपना अपमान होता देख बलवान् एवं मानी भीमसेन क्रोधको किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिर-के पीछे कौरवसभासे निकलते हुए इस प्रकार बोले ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनंजयः।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥

भीमसेनने कहा—मैं दुर्योधनका वध करूँगा, अर्जुन कर्णका संहार करेंगे और इस जुआरी शकुनिको सहदेव मार डालेंगे ॥ २६ ॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥

साथ ही इस भरी सभामें मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ । मेरा यह विश्वास है कि देवतालोग मेरी यह बात सत्य कर दिखायेंगे । जब हम कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधनको मैं गदासे मार गिराऊँगा तथा रणभूमिमें पड़े हुए इस पापीके मस्तकको पैरसे ठुकराऊँगा ॥ २७-२८ ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

और यह जो केवल बात बनानेमें बहादुर क्रूरस्वभाव-वाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छातीका खून उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह किसी मृगका रक्त पान करता है ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम्।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति ॥ ३० ॥

अर्जुनने कहा—आर्य भीमसेन ! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणीद्वारा सूचित नहीं करते । आजसे चौदहवें वर्षमें जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—यह भूमि दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा चौथे दुःशासनके रक्तका निश्चय ही पान करेगी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम्।
भीमसेन नियोगात् ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥

अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन ! जो हमलोगोंके दोष ही ढूँढ़ा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है,

कौरवोंको बुरी सलाहें देता है और व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, उस कर्णको मैं आपकी आज्ञासे अवश्य युद्धमें मार डालूँगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥

अपने भाई भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं युद्धमें कर्ण और उसके अनुगामियोंको भी बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ॥ ३३ ॥

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

दूसरे भी जो नरेश बुद्धिके व्यामोहवश हमारे विपक्षमें होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा मैं यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद् यदि ॥ ३५ ॥

यदि मेरा सत्य विचलित हो जाय तो हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्यकी प्रभा नष्ट हो जाय और चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर हो जाय (अर्थात् जैसे हिमालय अपने स्थानसे नहीं हट सकता, सूर्यकी प्रभा नष्ट नहीं हो सकती, चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे वचन मिथ्या नहीं हो सकते) ॥ ३५ ॥

न प्रदास्यति चेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ॥ ३६ ॥

यदि आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारपूर्वक हमारा राज्य हमें वापस न दे देगा तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान् माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर प्रतापी वीर माद्रीनन्दन सहदेवने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर शकुनिके वधकी इच्छासे इस प्रकार कहा; उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास ले रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

सहदेव उवाच

अक्षान् यान् मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥

सहदेवने कहा—ओ गान्धारनिवासी क्षत्रियकुलके कलंक मूर्ख शकुने! जिन्हें तू पासे समझ रहा है, वे पासे नहीं हैं, उनके रूपमें तूने युद्धमें तीखे बाणोंका वरण किया है ॥ ३९ ॥

यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥

आर्य भीमसेनने बन्धु-बान्धवोंसहित तेरे विषयमें जो बात कही है, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा। तुझे अपने बचावके लिये जो कुछ करना हो, वह सब कर डाल ॥ ४० ॥

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥

सुबलकुमार! यदि तू क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राममें डटा रह जायगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवों-सहित अवश्य मार डालूँगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन्! सहदेवकी बात सुनकर मनुष्योंमें परम दर्शनीय रूपवाले नकुलने भी यह बात कही ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालचोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥

नकुल बोले—दुर्योधनके प्रियसाधनमें लगे हुए जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंने इस द्यूतसभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कठोर बातें सुनायी हैं, कालसे प्रेरित हो मौतके मुँहमें जानेकी इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी बहुसंख्यक धृतराष्ट्रकुमारोंको मैं यमलोकका अतिथि बना दूँगा ॥ ४३-४४ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥ ४५ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करते हुए मैं सारी पृथ्वीको धृतराष्ट्र-पुत्रोंसे सूनी कर दूँगा; इसमें अधिक देर नहीं है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्रके पास गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें पाण्डवोंकी प्रतिज्ञासे सम्बन्ध रखनेवाला सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेना, विदुरका कुन्तीको अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव और पाण्डवोंको धर्मपूर्वक रहनेका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम्॥ १॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः॥ २॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंशके समस्त गुरुजनोंसे वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। बड़े-बूढ़े पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय तथा दूसरे सब सदस्योंसे पूछकर सबकी आज्ञा लेकर वनमें जाता हूँ, फिर लौटकर आप लोगोंका दर्शन करूँगा॥ १-३॥

वैशम्पायन उवाच

न च किंचिदथोचुस्तं ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम्।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर सब कौरव लाजके मारे सन्न रह गये, कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके कल्याणका चिन्तन किया॥ ४॥

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता॥ ५॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः॥ ६॥

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो! राजपुत्री आर्या कुन्ती वनमें जाने लायक नहीं हैं। वे कोमल अङ्गोंवाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आरामके ही योग्य हैं; अतः वे मेरे ही घरमें सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सब लोग जान लो। मेरी शुभ-कामना है कि तुम वहाँ सर्वथा नीरोग एवं सुखसे रहो॥ ५-६॥

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः॥ ७॥

पाण्डवोंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही हो। इतना कहकर वे सब फिर बोले—'अनघ! आप हमें जैसा कहें—जैसी आज्ञा दें, वही शिरोधार्य है। आप हमारे पितृव्य (पिताके भाई) हैं, अतः पिताके ही तुल्य हैं। हम सब भाई आपकी शरणमें हैं॥ ७॥

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते॥ ८॥

'विद्वन्! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते! इसके सिवा और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइये'॥ ८॥

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये॥ ९॥

विदुर बोले—भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम मुझसे यह जान लो कि अधर्मसे पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजयके लिये दुखी नहीं होता॥ ९॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही॥ १०॥

तुम धर्मके ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धमें विजय पानेवाले हैं। भीमसेन शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओंको जुटानेमें कुशल हैं॥ १०॥

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी॥ ११॥

सहदेव संयमी हैं तथा ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओंके शिरोमणि हैं। एवं धर्मपरायणा द्रौपदी भी धर्म और अर्थके सम्पादनमें कुशल है॥ ११॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह॥ १२॥

तुम सब लोग आपसमें एक दूसरेके प्रिय हो, तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुममें भेद या फूट नहीं डाल सकते, इस जगत्‌में कौन है जो तुमलोगोंको न चाहता हो॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽच्युत॥ १३॥

भारत! तुम्हारा यह क्षमाशीलताका नियम सब प्रकारसे कल्याणकारी है। इन्द्रके समान पराक्रमी शत्रु भी इसका सामना नहीं कर सकता॥ १३॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरुसावर्णिने हिमालयपर तुम्हें धर्म और ज्ञानका उपदेश दिया है, वारणावत नगरमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने, भृगुतुङ्ग पर्वतपर परशुरामजीने तथा दृषद्वतीके तटपर साक्षात् भगवान् शङ्करने तुम्हें अपने सदुपदेशसे कृतार्थ किया है। अञ्जन पर्वतपर तुमने महर्षि असितका भी उपदेश सुना है ॥ १४-१५ ॥

कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥

कल्माषी नदीके किनारे निवास करनेवाले महर्षि भृगुने भी तुम्हें उपदेश देकर अनुगृहीत किया है। देवर्षि नारदजी सदा तुम्हारी देख-भाल करते हैं और तुम्हारे ये पुरोहित धौम्यजी तो सदा साथ ही रहते हैं ॥ १६ ॥

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम्।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥ १७ ॥

ऋषियोंद्वारा सम्मानित उस परलोकविषयक विज्ञानका तुम कभी त्याग न करना। पाण्डुनन्दन! तुम अपनी बुद्धिसे इलानन्दन पुरूरवाको भी पराजित करते हो ॥ १७ ॥

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥

शक्तिसे समस्त राजाओंको तथा धर्मसेवनद्वारा ऋषियोंको भी जीत लेते हो। तुम इन्द्रसे मनमें विजयका उत्साह प्राप्त करो। क्रोधको काबूमें रखनेका पाठ यमराजसे सीखो ॥ १८ ॥

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥

उदारता एवं दानमें कुबेरका और संयममें वरुणका आदर्श ग्रहण करो। दूसरोंके हितके लिये अपने आपको निछावर करना, सौम्यभाव (शीतलता) तथा दूसरोंको जीवन-दान देना—इन सब बातोंकी शिक्षा तुम्हें जलसे लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात्।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥ २० ॥

तुम भूमिसे क्षमा, सूर्यमण्डलसे तेज, वायुसे बल तथा सम्पूर्ण भूतोंसे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो ॥ २० ॥

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान्।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥

तुम्हें कभी कोई रोग न हो, सदा मङ्गल-ही-मङ्गल दिखायी दे। कुशलपूर्वक वनसे लौटनेपर मैं फिर तुम्हें देखूँगा। युधिष्ठिर! आपत्तिकालमें, धर्म तथा अर्थका संकट उपस्थित होनेपर अथवा सभी कार्योंमें समय-समयपर अपने उचित कर्तव्यका पालन करना। कुन्तीनन्दन! भारत! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं। तुम्हें कल्याण प्राप्त हो ॥ २१-२२ ॥

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
न हि वो वृजिनं किंचिद् वेद कश्चित् पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जब वनसे कुशलपूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आनेपर फिर तुमसे मिलूँगा। तुम्हारे पहलेके किसी दोषको दूसरा कोई न जाने, इसकी चेष्टा रखना ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरके ऐसा कहनेपर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोणको नमस्कार करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरका वनको प्रस्थानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका कुन्तीसे विदा लेना तथा कुन्तीका विलाप एवं नगरके नर-नारियोंका शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम्।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा।
ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिरके प्रस्थान करनेपर कृष्णाने यशस्विनी कुन्तीके पास जाकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वनमें जानेकी आज्ञा माँगी। वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ बैठी थीं, उन सबकी यथायोग्य वन्दना करके सबसे गले मिलकर उसने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की। फिर तो पाण्डवों-

के अन्तःपुरमें महान् आर्तनाद होने लगा ॥ १-२ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

द्रौपदीको जाती देख कुन्ती अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शोकाकुल वाणीद्वारा बड़ी कठिनाईसे इस प्रकार बोलीं—॥

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥

'बेटी ! इस महान् संकटको पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम स्त्रीके धर्मोंको जानती हो, शील और सदाचारका पालन करनेवाली हो ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते ।
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥

'पवित्र मुसकानवाली बहू ! इसीलिये पतियोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती स्त्रियोंके सद्गुणोंसे सम्पन्न हो; तुमने पति और पिता—दोनोंके कुलोंकी शोभा बढ़ायी है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥

'निष्पाप द्रौपदी ! ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें तुमने अपनी क्रोधाग्निसे जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्नबाधाओंसे रहित हो; मेरे किये हुए शुभ चिन्तनसे तुम्हारा अभ्युदय हो ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैक्लव्यं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'जो बात अवश्य होनेवाली है उसके होनेपर साध्वी स्त्रियोंके मनमें व्याकुलता नहीं होती। तुम अपने श्रेष्ठ धर्मसे सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥

'बेटी ! वनमें रहते हुए मेरे पुत्र सहदेवकी तुम सदा देख-भाल रखना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकटमें पड़कर दुखी न होने पावे' ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥

कुन्तीके ऐसा कहनेपर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई द्रौपदीने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रजसे सना हुआ था और उसके सिरके बाल बिखरे हुए थे। उसी दशामें वह अन्तःपुरसे बाहर निकली ॥ ९ ॥

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ॥ १० ॥

रोती-बिलखती, वनको जाती हुई द्रौपदीके पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःखसे व्याकुल हो कुछ दूरतक गयीं, इतनेहीमें उन्होंने अपने सभी पुत्रोंको देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे ॥ १० ॥

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥ ११ ॥

उनके सभी अङ्ग मृगचर्मसे ढँके हुए थे और वे लज्जावश नीचे मुख किये चले जा रहे थे। हर्षमें भरे हुए शत्रुओंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था और हितैषी सुहृद् उनके लिये शोक कर रहे थे ॥ ११ ॥

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
स्वजमानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु ॥ १२ ॥

उस अवस्थामें उन सभी पुत्रोंके निकट पहुँचकर कुन्तीके हृदयमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। वे उन्हें हृदयसे लगाकर शोकवश बहुत विलाप करती हुई बोलीं ॥

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत् ॥ १४ ॥

कुन्तीने कहा—पुत्रो ! तुम उत्तम धर्मका पालन करनेवाले तथा सदाचारकी मर्यादासे विभूषित हो। तुममें क्षुद्रताका अभाव है। तुम भगवान्‌के सुदृढ़ भक्त और देवाराधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हो। तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है। विधाताका यह कैसा विपरीत विधान है। किसके

अनिष्टचिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है, यह बुद्धिसे बार-बार विचार करनेपर भी मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ १३-१४ ॥

स्यात् तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम्।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥१५॥

यह मेरे ही भाग्यका दोष हो सकता है। तुम तो उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगनेके लिये ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥१६॥

इस प्रकार सम्पत्तिसे वञ्चित होकर तुम वनके दुर्गम स्थानोंमें कैसे रह सकोगे? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेजसे परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल हो ॥ १६ ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम्।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

यदि मैं यह जानती कि नगरमें आनेपर तुम्हें निश्चय ही वनवासका कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डुके परलोकवासी हो जानेपर शतशृङ्गपुरसे हस्तिनापुर नहीं आती ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा।
यः पुत्राधिमसम्प्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ॥१८॥

मैं तो तुम्हारे तपस्वी एवं मेधावी पिताको ही धन्य मानती हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके दुःखसे दुखी होनेका अवसर न पाकर स्वर्गलोककी अभिलाषाको ही प्रिय समझा ॥ १८ ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम्।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥१९॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानसे सम्पन्न एवं परमगतिको प्राप्त हुई कल्याणमयी इस धर्मज्ञा माद्रीको भी सर्वथा धन्य मानती हूँ। जिसने अपने अनुराग, उत्तम बुद्धि और सद्‌व्यवहारद्वारा मुझे भुलाकर जीवित रहनेके लिये विवश कर दिया। मुझको और जीवनके प्रति मेरी इस आसक्तिको धिक्कार है! जिसके कारण मुझे यह महान् क्लेश भोगना पड़ता है ॥ १९-२० ॥

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥२१॥

पुत्रो! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हो। मैंने बड़े कष्टसे तुम्हें पाया है; अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वनमें चलूँगी। हाय कृष्णे! तुम क्यों मुझे छोड़े जाती हो? ॥ २१ ॥

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥२२॥

यह प्राणधारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाताने न जाने क्यों प्रमादवश मेरे जीवनका भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया। तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है ॥ २२ ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि संकर्षणानुज।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥

हा! द्वारकावासी श्रीकृष्ण! तुम कहाँ हो! बलरामजीके छोटे भैया! मुझको तथा इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको इस दुःखसे क्यों नहीं बचाते? ॥ २३ ॥

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥२४॥

'प्रभो! तुम आदि-अन्तसे रहित हो, जो मनुष्य तुम्हारा निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हें तुम अवश्य संकटसे बचाते हो।' तुम्हारी यह विरद व्यर्थ कैसे हो रही है? ॥ २४ ॥

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः।
नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥

ये मेरे पुत्र उत्तम धर्म, महात्मा पुरुषोंके शील-स्वभाव, यश और पराक्रमका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं; भगवन्! इनपर तो दया करो ॥ २५ ॥

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२६॥

नीतिके अर्थको जाननेवाले परम विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके, जो इस कुलके रक्षक हैं, रहते हुए यह विपत्ति हमपर क्यों आयी? ॥ २६ ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे।
पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२७॥

हा महाराज पाण्डु! कहाँ हो। आज तुम्हारे श्रेष्ठ पुत्रोंको शत्रुओंने जूएमें जीतकर वनवास दे दिया है, तुम क्यों इनकी दुरवस्थाकी उपेक्षा कर रहे हो? ॥ २७ ॥

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः।
शरीरादपि माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥२८॥

माद्रीनन्दन सहदेव! तुम मुझे अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय हो। बेटा! लौट आओ। कुपुत्रकी भाँति मेरा त्याग न करो ॥ २८ ॥

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसंधिनः।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥२९॥

तुम्हारे ये भाई यदि सत्य-धर्मके पालनका आग्रह रखकर वनमें जा रहे हैं तो जायँ; तुम यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्मका लाभ लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्तीको अभिवादन एवं प्रणाम करके पाण्डवलोग दुखी हो वनको चले गये ॥ ३० ॥

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥

विदुरजी शोकाकुला कुन्तीको अनेक प्रकारकी युक्तियों-

द्वारा धीरज बँधाकर उन्हें धीरे-धीरे अपने घर ले गये । उस समय वे स्वयं भी बहुत दुखी थे ॥ ३१ ॥

(ततः सम्प्रस्थिते तत्र धर्मराजे तदा नृपे ।
जनाः समस्तास्तं द्रष्टुं समारुरुहुरातुराः ॥
ततः प्रासादवर्याणि विमानशिखराणि च ।
गोपुराणि च सर्वाणि वृक्षानन्यांश्च सर्वशः ॥
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब उस नगरके समस्त निवासी दुःखसे आतुर हो उन्हें देखनेके लिये महलों, मकानकी छतों, समस्त गोपुरों और वृक्षोंपर चढ़ गये । वहाँसे सब लोग उदास होकर उन्हें देखने लगे ॥

न हि रथ्यास्ततः शक्या गन्तुं बहुजनाकुलाः ॥
आरुह्य ते स्म तान्यत्र दीनाः पश्यन्ति पाण्डवम् ।

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भारी भीड़से इतनी भर गयी थीं कि उनपर चलना असम्भव हो गया था। इसीलिये लोग ऊँचे चढ़कर अत्यन्त दीनभावसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको देख रहे थे ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं चेलभूषणवर्जितम् ॥
वल्कलाजिनसंवीतं पार्थं दृष्ट्वा जनास्तदा ।
ऊचुर्बहुविधा वाचो भृशोपहतचेतसः ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर छत्ररहित एवं पैदल ही चल रहे थे । उनके शरीरपर राजोचित वस्त्रों और आभूषणोंका भी अभाव था । वे वल्कल और मृगचर्म पहने हुए थे । उन्हें इस दशामें देखकर लोगोंके हृदयमें गहरी चोट पहुँची और वे सब लोग नाना प्रकारकी बातें करने लगे ॥

जना ऊचुः

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेवं कृष्णया सार्धमनुयान्ति स्म पाण्डवाः ॥
चत्वारो भ्रातरश्चैव पुरोधाश्च विशाम्पतिम् ।

नगरनिवासी मनुष्य बोले—अहो ! यात्रा करते समय जिनके पीछे विशाल चतुरंगिणी सेना चलती थी, आज वे ही राजा युधिष्ठिर इस प्रकार जा रहे हैं और उनके पीछे द्रौपदीके साथ केवल चार भाई पाण्डव तथा पुरोहित चल रहे हैं ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ॥
तामद्य कृष्णां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ।

जिसे आजसे पहले आकाशचारी प्राणीतक नहीं देख पाते थे, उसी द्रुपदकुमारी कृष्णाको अब सड़कपर चलनेवाले साधारण लोग भी देख रहे हैं ॥

अङ्गरागोचितां कृष्णां रक्तचन्दनसेविनीम् ॥
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ।

सुकुमारी द्रौपदीके अङ्गोंमें दिव्य अङ्गराग शोभा पाता था । वह लाल चन्दनका सेवन करती थी, परंतु अब वनमें सर्दी, गर्मी और वर्षा लगनेसे उसकी अङ्गकान्ति शीघ्र ही फीकी पड़ जायगी ॥

अद्य नूनं पृथा देवी सत्त्वमाविश्य भाषते ॥
पुत्रान् स्नुषां च देवी तु द्रष्टुमद्याथ नार्हति ॥

निश्चय ही आज कुन्तीदेवी बड़े भारी धैर्यका आश्रय लेकर अपने पुत्रों और पुत्रवधूसे वार्तालाप करती हैं; अन्यथा इस दशामें वे इनकी ओर देख भी नहीं सकतीं ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् दुःखदर्शनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥

गुणहीन पुत्रका भी दुःख मातासे कैसे देखा जायगा; फिर जिस पुत्रके सदाचारमात्रसे यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसपर कोई दुःख आये, तो उसकी माता वह कैसे देख सकती है ! ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशो धृतिः शीलं दमः शमः ।
पाण्डवं शोभयन्त्येते षड् गुणाः पुरुषोत्तमम् ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः।

पुरुषरत्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको कोमलता, दया, धैर्य, शील, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये छः सद्गुण सुशोभित करते हैं। अतः उनकी हानिसे आज सारी प्रजाको बड़ी पीड़ा हो रही है॥

औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात्॥
पीडया पीडितं सर्वं जगत् तस्य जगत्पतेः।
मूलस्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः॥

जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी घट जानेसे जलचर जीव-जन्तु व्यथित हो उठते हैं एवं जड़ कट जानेसे फल और फूलोंसे युक्त वृक्ष सूखने लगता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌के पालक महाराज युधिष्ठिरकी पीड़ासे सारा संसार पीड़ित हो गया है॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मराजो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखास्तस्येतरे जनाः॥
ते भ्रातर इव क्षिप्रं सपुत्राः सहबान्धवाः।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति पाण्डवः॥

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर मनुष्योंके मूल हैं। जगत्‌के दूसरे लोग उन्हींकी शाखा, पत्र, पुष्प और फल हैं। आज हम अपने पुत्रों और भाई-बन्धुओंको साथ लेकर चारों भाई पाण्डवोंकी भाँति शीघ्र उसी मार्गसे उनके पीछे-पीछे चलें, जिससे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर जा रहे हैं॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखाः पार्थमनुयाम सुधार्मिकम्॥

आज हम अपने खेत, बाग-बगीचे और घर-द्वार छोड़कर परम धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके साथ चल दें और उन्हींके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझें॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः॥
रजसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि सौबलः प्रतिपद्यताम्॥

हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें। आँगनकी फर्श खोद डालें। सारा धन-धान्य साथ ले लें। सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर धूल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय। मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कपटी सुबलपुत्र शकुनि आकर अधिकार कर ले॥

वनं नगरमद्यास्तु यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम्॥

अब जहाँ पाण्डव जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर ही वनके रूपमें परिणत हो जाय॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे वनानि मृगपक्षिणः।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद् भीता गजाः सिंहा वनान्यपि॥

वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ, मृग और पक्षी जंगलोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वहाँसे दूर चले जायँ॥

अनाक्रान्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च।
तृणमाषफलादानां देशांस्त्यक्त्वा मृगद्विजाः॥
वयं पार्थैर्वने सम्यक् सह वत्स्याम निर्वृताः।

हमलोग तृण (साग-पात), अन्न और फलका उपयोग करनेवाले हैं। जंगलके हिंसक पशु और पक्षी हमारे रहनेके स्थानोंको छोड़कर चले जायँ। वे ऐसे स्थानका आश्रय लें, जहाँ हम न जायँ और वे उन स्थानोंको छोड़ दें, जिनका हम सेवन करें। हमलोग वनमें कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़े सुखसे रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव पार्थः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी कही हुई भाँति-भाँतिकी बातें युधिष्ठिरने सुनीं। सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं आया॥

ततः प्रासादसंस्थास्तु समन्ताद् वै गृहे गृहे।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषितः॥
ततः प्रासादजालानामुत्पाट्यावरणानि च।
ददृशुः पाण्डवान् दीनान् रौरवाजिनवाससः॥
कृष्णां त्वदृष्टपूर्वां तां व्रजन्तीं पद्भिरेव च।
एकवस्त्रां रुदन्तीं तां मुक्तकेशीं रजस्वलाम्॥
दृष्ट्वा तदा स्त्रियः सर्वा विवर्णवदना भृशम्।

विलप्य बहुधा मोहाद् दुःखशोकेन पीडिताः ॥
हा हा धिग् धिग् धिगित्युक्त्वा नेत्रैरश्रूण्यवर्तयन्।)

तदनन्तर चारों ओर महलोंमें रहनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी खिड़कियोंके पर्दे हटाकर दीन पाण्डवोंको देखने लगीं। सब पाण्डवोंने मृगचर्ममय वस्त्र धारण कर रक्खा था। उनके साथ द्रौपदी भी पैदल ही चली जा रही थी। उसे उन स्त्रियोंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, केश खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और रोती चली जा रही थी। उसे देखकर उस समय सब स्त्रियोंका मुख उदास हो गया। वे क्षोभ एवं मोहके कारण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई दुःखशोकसे पीड़ित हो गयीं और 'हाय हाय! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको बार-बार धिक्कार है, धिक्कार है' ऐसा कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत्।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून् भृशम्।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रपुत्रोंकी स्त्रियाँ द्रौपदीके द्यूतसभामें जाने और उसके वस्त्र खींचे जाने (एवं वनमें जाने) आदिका सारा वृत्तान्त सुनकर कौरवोंकी अत्यन्त निन्दा करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और अपने मुखारविन्दको हथेलीपर रखकर बहुत देरतक गहरी चिन्तामें डूबी रहीं ॥ ३२-३३ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥

उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्रका भी हृदय उद्विग्न हो उठा। उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ३४ ॥

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गयी। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था। उन्होंने विदुरके पास संदेश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ ॥ ३५ ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके महलमें गये। उस समय महाराज धृतराष्ट्रने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें द्रौपदीकुन्तीसंवादविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

वनगमनके समय पाण्डवोंकी चेष्टा और प्रजाजनोंकी शोकातुरताके विषयमें धृतराष्ट्र तथा विदुरका संवाद और शरणागत कौरवोंको द्रोणाचार्यका आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! दूरदर्शी विदुरजीके आनेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने शङ्कित-सा होकर पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं? ॥ २ ॥

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

पुरोहित धौम्य तथा यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है। मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओंको सुनना चाहता हूँ, तुम मुझसे कहो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
बाहू विशालौ संपश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥

विदुर बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्रसे मुँह ढँककर जा रहे हैं। पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए जाते हैं ॥ ४ ॥

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥

सव्यसाची अर्जुन बालू बिखेरते हुए राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्रीकुमार सहदेव अपने मुँहपर मिट्टी पोतकर जाते हैं ॥ ५ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥

लोकमें अत्यन्त दर्शनीय मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अङ्गोंमें धूल लपेटकर व्याकुलचित्त हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ६ ॥

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥

परम सुन्दरी विशाललोचना कृष्णा अपने केशोंसे ही मुँह ढँककर रोती हुई राजाके पीछे-पीछे जा रही है ॥ ७ ॥

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते ।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥

महाराज ! पुरोहित धौम्यजी हाथमें कुश लेकर रुद्र तथा यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए आगे-आगे मार्गपर चल रहे हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! पाण्डवलोग यहाँ जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह बताओ। वे क्यों इस प्रकार जा रहे हैं ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

विदुर बोले—महाराज ! यद्यपि आपके पुत्रोंने छलपूर्ण बर्ताव किया है। पाण्डवोंका राज्य और धन सब कुछ चला गया है तो भी परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हो रही है ॥ १० ॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥

भारत ! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दयाभाव बनाये रखते थे, किंतु इन्होंने छलपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उन्हें राज्यसे वञ्चित किया है, इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध है और इसीलिये वे अपनी आँखोंको नहीं खोलते हैं ॥ ११ ॥

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥

'मैं भयानक दृष्टिसे देखकर किसी (निरपराधी) मनुष्यको भस्म न कर डालूँ' इसी भयसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं ॥ १२ ॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १३ ॥

अब भीमसेन जिस प्रकार चल रहे हैं, उसका रहस्य बताता हूँ, सुनिये ! भरतश्रेष्ठ ! उन्हें इस बातका अभिमान है कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति ।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥ १४ ॥
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ।

इसीलिये वे अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए यात्रा करते हैं। राजन् ! अपने बाहुबलरूपी वैभवपर उन्हें गर्व है। अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये अपने बाहुबलके अनुरूप ही पराक्रम करना चाहते हैं ॥ १४½ ॥

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥ १५ ॥
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन उस समय राजाके पीछे-पीछे जो बालू बिखेरते हुए यात्रा कर रहे थे, उसके द्वारा वे शत्रुओंपर बाण बरसानेकी अभिलाषा व्यक्त करते थे। भारत ! इस समय उनके गिराये हुए बालूके कण जैसे आपसमें संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओंपर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणोंकी वर्षा करेंगे ॥

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥

भारत ! 'आज इस दुर्दिनमें कोई मेरे मुँहको पहचान न ले, यही सोचकर सहदेव अपने मुँहमें मिट्टी पोतकर जा रहे हैं ॥ १७ ॥

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥

प्रभो ! 'मार्गमें मैं स्त्रियोंका चित्त न चुरा लूँ' इस भयसे नकुल अपने सारे अङ्गोंमें धूल लगाकर यात्रा करते हैं ॥ १८ ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

द्रौपदीके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और उसके कपड़ोंमें रक्त (रज) का दाग लगा हुआ था, उसने रोते हुए यह बात कही थी ॥ १९ ॥

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥

'जिनके अन्यायसे आज मैं इस दशाको पहुँची हूँ,आजके चौदहवें वर्षमें उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे उनकी लाशोंके पास लोट-लोटकर रोयेंगी और अपने अङ्गोंमें रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियोंको तिलाञ्जलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी' ॥ २०-२१ ॥

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यःपुरोहितः।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! धीरस्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशोंका अग्र-भाग नैर्ऋत्यकोणकी ओर करके यमदेवतासम्बन्धी साममन्त्रोंका गान करते हुए पाण्डवोंके आगे-आगे जा रहे हैं ॥ २२ ॥

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्ती त्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥

धौम्यजी यह कहकर गये थे कि युद्धमें कौरवोंके मारे जानेपर उनके गुरु भी इसी प्रकार कभी साम-गान करेंगे॥२३॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः॥ २५ ॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥

महाराज ! उस समय नगरके लोग अत्यन्त दुःखसे आतुर हो बार-बार चिल्लाकर कह रहे थे कि 'हाय-हाय! हमारे स्वामी पाण्डव चले जा रहे हैं। अहो ! कौरवोंमें जो बड़े-बूढ़े लोग हैं, उनकी यह बालकोंकी-सी चेष्टा तो देखो । धिक्कार है उनके इस बर्तावको ! ये कौरव लोभवश महाराज पाण्डुके पुत्रोंको राज्यसे निकाल रहे हैं। इन पाण्डुपुत्रोंसे वियुक्त होकर हम सब लोग आज अनाथ हो गये। इन लोभी और उद्दण्ड कौरवोंके प्रति हमारा प्रेम कैसे हो सकता है; ॥२४–२६॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥

महाराज ! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नोंके द्वारा अपने आन्तरिक निश्चयको प्रकट करते हुए वनको गये हैं ॥ २७ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥
राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥

हस्तिनापुरसे उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके निकलते ही बिना बादलके बिजली गिरने लगी, पृथ्वी काँप उठी। राजन्!बिना पर्व (अमावस्या) के ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया था और नगरको दायें रखकर उल्का गिरी थी ॥ २८-२९ ॥

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥

गीध, गीदड़ और कौवे आदि मांसाहारी जन्तु नगरके मन्दिरों, देववृक्षों, चहारदीवारी तथा अट्टालिकाओंपर मांस और हड्डी आदि लाकर गिराने लगे थे ॥ ३० ॥

एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन् दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी दुर्मन्त्रणाके कारण ऐसे-ऐसे अपशकुनरूप दुर्दम्य एवं महान् उत्पात प्रकट हुए हैं, जो भरतवंशियोंके विनाशकी सूचना दे रहे हैं ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर जब दोनों वहाँ बातचीत कर रहे थे, उसी समय सभामें महर्षियोंसे घिरे हुए देवर्षि नारद कौरवोंके सामने आकर खड़े हो गये और यह भयंकर वचन बोले—॥ ३२-३३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥

'आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधनके अपराधसे भीम और अर्जुनके पराक्रमद्वारा कौरवकुलका नाश हो जायगा' ॥३४॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद् देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर विशाल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले देवर्षिप्रवर नारद आकाशमें जाकर सहसा अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

(धृतराष्ट्र उवाच

किमब्रुवन् नागरिकाः किं वै जानपदा जनाः ।
मह्यं तत्त्वेन चाचक्ष्व क्षत्तः सर्वमशेषतः ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! जब पाण्डव वनको जाने लगे, उस समय नगर और देशके लोग क्या कह रहे थे, ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे ठीक-ठीक बताओ ॥

विदुर उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा येऽन्ये वदन्त्यथ।
तच्छृणुष्व महाराज वक्ष्यते च मया तव॥

विदुर बोले—महाराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यलोग इस घटनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सुनिये, मैं आपसे सब बातें बता रहा हूँ ॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम्।
इति पौराः सुदुःखार्ताः शोचन्ति स्म समन्ततः॥

पाण्डवोंके जाते समय समस्त पुरवासी दुःखसे आतुर हो सब ओर शोकमें डूबे हुए थे और इस प्रकार कह रहे थे—'हाय ! हाय ! हमारे स्वामी, हमारे रक्षक वनमें चले जा रहे हैं। भाइयो ! देखो, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका यह कैसा अन्याय है !' ॥

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत्।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम्॥

स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्षरहित, शब्दशून्य तथा उत्सवहीन-सा हो गया॥

सर्वे चासन् निरुत्साहा व्याधिना बाधिता यथा॥
पार्थान् प्रति नरा नित्यं चिन्ताशोकपरायणाः।
तत्र तत्र कथां चक्रुः समासाद्य परस्परम्॥

सब लोग कुन्तीपुत्रोंके लिये निरन्तर चिन्ता एवं शोकमें निमग्न हो उत्साह खो बैठे थे। सबकी दशा रोगियोंके समान हो गयी थी। सब एक दूसरेसे मिलकर जहाँ-तहाँ पाण्डवोंके विषयमें ही वार्तालाप करते थे ॥

वनं गते धर्मराजे दुःखशोकपरायणाः।
बभूवुः कौरवा वृद्धा भृशं शोकेन पीडिताः॥

धर्मराजके वनमें चले जानेपर समस्त वृद्ध कौरव भी अत्यन्त शोकसे व्यथित हो दुःख और चिन्तामें निमग्न हो गये ॥

ततः पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम्।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणाः पार्थिवं प्रति॥

तदनन्तर समस्त पुरवासी राजा युधिष्ठिरके लिये शोकाकुल हो गये। उस समय वहाँ ब्राह्मणलोग राजा युधिष्ठिरके विषयमें निम्नाङ्कित बातें करने लगे ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कथं नु राजा धर्मात्मा वने वसति निर्जने।
तस्यानुजाश्च ते नित्यं कृष्णा च द्रुपदात्मजा॥
सुखार्हापि च दुःखार्ता कथं वसति सा वने॥

ब्राह्मणोंने कहा—हाय ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर और उनके भाई निर्जन वनमें कैसे रहेंगे ! तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा तो सुख भोगनेके ही योग्य है, वह दुःखसे आतुर हो वनमें कैसे रहेगी ॥

विदुर उवाच

एवं पौराश्च विप्राश्च सदाराः सहपुत्रकाः।
स्मरन्तः पाण्डवान् सर्वे बभूवुर्भृशदुःखिताः॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पुरवासी ब्राह्मण अपनी स्त्रियों और पुत्रोंके साथ पाण्डवोंका स्मरण करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥

आविद्धा इव शस्त्रेण नाभ्यनन्दन् कथंचन।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न कंचित् प्रत्यपूजयन्॥

शस्त्रोंके आघातसे घायल हुए मनुष्योंकी भाँति वे किसी प्रकार सुखी न हो सके। बात कहनेपर भी वे किसीको आदरपूर्वक उत्तर नहीं देते थे ॥

न भुक्त्वा न शयित्वा ते दिवा वा यदि वा निशि।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन्॥

उन्होंने दिन अथवा रातमें न तो भोजन किया और न नींद ही ली; शोकके कारण उनका सारा विज्ञान आच्छादित हो गया था। वे सब-के-सब अचेत-से हो रहे थे ॥

यदवस्था बभूवार्ता ह्ययोध्या नगरी पुरा।
रामे वनं गते दुःखाद्धृतराज्ये सलक्ष्मणे॥
तदवस्थं बभूवार्तमद्येदं गजसाह्वयम्।
गते पार्थे वनं दुःखाद्धृतराज्ये सहानुजैः॥

जैसे त्रेतायुगमें राज्यका अपहरण हो जानेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेके बाद अयोध्या नगरी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो बड़ी दुरवस्थाको पहुँच गयी थी, वही दशा राज्यके अपहरण हो जानेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरके वनमें चले जानेसे आज हमारे इस हस्तिनापुरकी हो गयी है ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नागरस्य गिरं च वै।
भूयो मुमोह शोकाच्च धृतराष्ट्रः सबान्धवः॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका कथन और पुरवासियोंकी कही हुई बातें सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित राजा धृतराष्ट्र पुनः शोकसे मूर्छित हो गये ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन्॥ ३६॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिने द्रोणको अपना द्वीप (आश्रय) माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीत् ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम्।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान्॥ ३७॥

उस समय द्रोणाचार्यने अमर्षशील दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अन्य सब भरतवंशियोंसे कहा—॥ ३७ ॥

अवध्यान् पाण्डवान् प्राहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्तमानो यथाबलम् ॥३८॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान् सराजकान्।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥३९॥

'पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं, अतः ब्राह्मणलोग उन्हें अवध्य बतलाते हैं। मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदयसे तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरणमें आये हुए इन राजाओंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता। दैव ही सबसे प्रबल है॥ ३८-३९ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥४०॥

'पाण्डव जूएमें पराजित होकर धर्मके अनुसार वनमें गये हैं। वे वहाँ बारह वर्षोंतक रहेंगे॥ ४० ॥

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥

'वनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करके जब वे क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो यहाँ लौटेंगे, उस समय वैरका बदला अवश्य लेंगे। उनका वह प्रतीकार हमारे लिये महान् दुःखका कारण होगा॥ ४१ ॥

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे।
पुत्रार्थमयजद् राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥

'राजन्! मैंने मैत्रीके विषयको लेकर कलह प्रारम्भ होनेपर राजा द्रुपदको उनके राज्यसे भ्रष्ट किया था; भारत! इससे दुखी होकर उन्होंने मेरे वधके लिये पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे एक यज्ञका आयोजन किया॥ ४२ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात्।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ॥ ४३ ॥

'याज और उपयाजकी तपस्यासे उन्होंने अग्निसे धृष्टद्युम्न और वेदीके मध्यभागसे सुन्दरी द्रौपदीको प्राप्त किया॥४३॥

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धतो मतः।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥

'धृष्टद्युम्न तो सम्बन्धकी दृष्टिसे कुन्तीपुत्रोंका साला ही है, अतः सदा उनका प्रिय करनेमें लगा रहता है, उसीसे मुझे भय है॥ ४४ ॥

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥

'उसके शरीरकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित होती है। वह देवताका दिया हुआ पुत्र है और धनुष, बाण तथा कवचके साथ प्रकट हुआ है। मरणधर्मा मनुष्य होनेके कारण मुझे अब उससे महान् भय लगता है॥ ४५॥

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत् संगमो मम।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षका पोषक हो गया है। रथियों और अतिरथियोंकी गणनामें जिसका नाम सबसे पहले लिया जाता है, वह तरुण वीर अर्जुन धृष्टद्युम्नके लिये, यदि मेरे साथ उसका युद्ध हुआ तो, लड़कर प्राणतक देनेके लिये उद्यत हो जायगा। कौरवो! (अर्जुनके साथ मुझे लड़ना पड़े) इस पृथ्वीपर इससे बढ़कर महान् दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है?॥ ४६-४७ ॥

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥

'धृष्टद्युम्न द्रोणकी मौत है, यह बात सर्वत्र फैल चुकी है। मेरे वधके लिये ही उसका जन्म हुआ है! यह भी सब लोगोंने सुन रक्खा है। धृष्टद्युम्न स्वयं भी संसारमें अपनी वीरताके लिये विख्यात है॥ ४८ ॥

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारे लिये यह निश्चय ही बहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। शीघ्र ही अपने कल्याण-साधनमें लग जाओ। पाण्डवोंको वनवास दे देनेमात्रसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता॥ ४९ ॥

मुहूर्तं सुखमेवैतत् तालच्छायेव हैमनी।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्स्यथ वैशसम्।

'यह राज्य तुमलोगोंके लिये शीतकालमें होनेवाली ताड़के पेड़की छायाके समान दो ही घड़ीतक सुख देनेवाला है। अब तुम बड़े-बड़े यज्ञ करो, मनमाने भोग भोगो और इच्छानुसार दान कर लो। आजसे चौदहवें वर्षमें तुम्हें बहुत बड़ी मार-काटका सामना करना पड़ेगा'॥ ५०½ ॥

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥

द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—॥५१॥

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान्।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः।

सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥

'विदुर! गुरु द्रोणाचार्यने ठीक कहा है। तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ। यदि वे न लौटें तो वे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त रथियों और पैदल सेनाओंसे सुरक्षित और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हो सत्कारपूर्वक वनमें भ्रमणके लिये जायँ; क्योंकि वे भी मेरे पुत्र ही हैं' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें विदुर, धृतराष्ट्र और द्रोणके वचनविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता और उनका संजयके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव जूएमें हारकर वनमें चले गये, तब राजा धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

महाराज धृतराष्ट्रको लंबी साँस खींचते और उद्विग्नचित्त होकर चिन्तामें डूबे हुए देख संजयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप।
प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

संजय बोले—पृथ्वीनाथ! यह धन-रत्नोंसे सम्पन्न वसुधाका राज्य पाकर और पाण्डवोंको अपने देशसे निकालकर अब आप क्यों शोकमग्न हो रहे हैं? ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जिन लोगोंका युद्धकुशल बलवान् महारथी पाण्डवोंसे वैर होगा, वे शोकमग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

तवेदं स्वकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम्।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥

संजय बोले—राजन्! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है और इसीके कारण सम्पूर्ण जगत्का सगे-सम्बन्धियोंसहित विनाश हो जायगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरने बार-बार मना किया तो भी आपके मूढ़ और निर्लज्ज पुत्र दुर्योधनने सूतपुत्र प्रातिकामीको यह आदेश देकर भेजा कि तुम पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको सभामें ले आओ ॥ ६-७ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥

देवतालोग जिस पुरुषको पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उल्टा ही देखने लगता है। विनाशकाल उपस्थित होनेपर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्यायके समान जान पड़ता है और वह हृदयसे किसी प्रकार नहीं निकलता ॥ ८-९ ॥

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥

उस समय उस पुरुषके विनाशके लिये अनर्थ ही अर्थरूपसे और अर्थ भी अनर्थरूपसे उसके सामने उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थरूपमें आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

काल डंडा या तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता। कालका बल इतना ही है कि वह प्रत्येक वस्तुके विषयमें मनुष्यकी विपरीत बुद्धि कर देता है ॥ ११ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥

अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत् सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान् हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान् सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी तपस्विनी है । उसका जन्म किसी मानवी स्त्रीके गर्भसे नहीं हुआ है, वह अग्निके कुलमें उत्पन्न हुई और अनुपम सुन्दरी है । वह सब धर्मोंको जाननेवाली तथा यशस्विनी है । उसे भरी सभामें खींचकर लानेवाले दुष्टोंने भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले घमासान युद्धकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है । अधर्मपूर्वक जूआ खेलनेवाले दुर्योधनके सिवा कौन है, जो द्रौपदीको सभामें बुला सके । सुन्दर शरीरवाली पाञ्चालराजकुमारी स्त्रीधर्मसे युक्त (रजस्वला) थी । उसका वस्त्र रक्तसे सना हुआ था । वह एक ही साड़ी पहने हुए थी । उसने सभामें आकर पाण्डवोंको देखा । उन पाण्डवोंके धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी सबका अपहरण हो चुका था । वे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे वञ्चित हो दासभावको प्राप्त हो गये थे । धर्मके बन्धनमें बँधे रहनेके कारण वे पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ-से हो रहे थे ॥ १२-१६ ॥

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥

उनकी यह दशा देखकर कृष्णा क्रोध और दुःखमें डूब गयी । वह तिरस्कारके योग्य कदापि न थी, तो भी कौरवोंकी सभामें दुर्योधन और कर्णने उसे कटु वचन सुनाये ॥ १७ ॥

इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

राजन् ! ये सारी बातें मुझे महान् दुःखको निमन्त्रण देनेवाली जान पड़ती हैं ॥ १७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! द्रौपदीके उन दीनतापूर्ण नेत्रोंद्वारा यह सारी पृथ्वी दग्ध हो सकती थी ॥ १८ ॥

अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह संगताः ॥ १९ ॥
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥

संजय ! उसके अभिशापसे मेरे सभी पुत्रोंका आज ही संहार हो जाता, परंतु उसने सब कुछ चुपचाप सह लिया । जिस समय रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली पाण्डवोंकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी कृष्णा सभामें लायी गयी, उस समय वहाँ उसे देखकर भरतवंशकी सभी स्त्रियाँ गान्धारीके साथ मिलकर बड़े भयानक स्वरसे विलाप एवं चीत्कार करने लगीं ॥ १९-२० ॥

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे ।

ये सारी स्त्रियाँ प्रजावर्गकी स्त्रियोंके साथ मिलकर रात-दिन सदा इसीके लिये शोक करती रहती हैं । उस दिन द्रौपदीका वस्त्र खींचे जानेके कारण सब ब्राह्मण कुपित हो उठे थे, अतः सायंकाल हमारे घरोंमें उन्होंने अग्निहोत्र-तक नहीं किया ॥ २१½ ॥

आसीन्निष्टानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥
दिव उल्काश्चापतन्त राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥

उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी भयानक गर्जनाके समान भारी आवाजके साथ बड़े जोरकी आँधी चलने लगी । वज्रपातका-सा अत्यन्त कर्कश शब्द होने लगा । आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं तथा राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया और प्रजाके लिये अत्यन्त घोर भय उपस्थित कर दिया ॥ २२-२३ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

इसी प्रकार हमारी रथशालाओंमें आग लग गयी और रथोंकी ध्वजाएँ जलकर खाक हो गयीं, जो भरतवंशियोंके लिये अमङ्गलकी सूचना देनेवाली थीं ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥

दुर्योधनके अग्निहोत्रगृहमें गीदड़ियाँ आकर भयंकर स्वरसे हुँआ-हुँआ करने लगीं । उनकी आवाज सुनते ही चारों दिशाओंमें गधे रेंकने लगे ॥ २५ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद् यदिच्छति ॥ २७ ॥

संजय ! यह सब देखकर द्रोणके साथ भीष्म, कृपाचार्य, सोमदत्त और महामना बाह्लीक वहाँसे उठकर चले गये ।

तब मैंने विदुरकी प्रेरणासे वहाँ यह बात कही—'मैं कृष्णाको मनोवाञ्छित वर दूँगा। वह जो कुछ चाहे, माँग सकती है'॥

अवृणोत् तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम्।
सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम्॥ २८॥

तब वहाँ पाञ्चालीने यह वर माँगा कि पाण्डवलोग दासभावसे मुक्त हो जायँ। मैंने भी रथ और धनुष आदिके सहित पाण्डवोंको उनकी समस्त सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट जानेकी आज्ञा दे दी थी॥ २८॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित्।
एतदन्तास्तु भरता यद् वः कृष्णा सभां गता॥ २९॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान् दैवसृष्टोपसर्पति॥ ३०॥

तदनन्तर सब धर्मोंके ज्ञाता परम बुद्धिमान् विदुरने कहा—'भरतवंशियो! यह कृष्णा जो तुम्हारी सभामें लायी गयी, यही तुम्हारे विनाशका कारण होगा। यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है, वह परम उत्तम लक्ष्मी ही है। देवताओंकी आज्ञासे ही पाञ्चाली इन पाण्डवोंकी सेवा करती है॥ २९-३०॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः॥ ३१॥
तेन सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः॥ ३२॥

'कुन्तीके पुत्र अमर्षमें भरे हुए हैं। द्रौपदीको जो यहाँ इस प्रकार क्लेश दिया गया है, इसे वे कदापि सहन नहीं करेंगे। सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी अथवा महारथी पाञ्चाल वीर भी इसे नहीं सहेंगे। अर्जुन पाञ्चाल वीरोंसे घिरे हुए अवश्य आयँगे॥ ३१-३२॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः॥ ३३॥

'उनके बीचमें महाधनुर्धर महाबली भीमसेन होंगे, जो दण्डपाणि यमराजकी भाँति गदा घुमाते हुए युद्धके लिये आयँगे॥ ३३॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः॥ ३४॥

'उस समय परम बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर और भीमसेनकी गदाका महान् वेग देखकर कोई भी राजा उनका सामना करनेमें समर्थ न हो सकेंगे॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान्॥ ३५॥

'अतः मुझे तो पाण्डवोंके साथ सदा शान्ति बनाये रखनेकी ही नीति अच्छी लगती है। उनके साथ युद्ध करना मुझे पसंद नहीं है। मैं पाण्डवोंको सदा ही कौरवोंसे अधिक बलवान् मानता हूँ॥ ३५॥

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि॥ ३६॥

'क्योंकि महान् तेजस्वी और बलवान् राजा जरासंधको भीमसेनने बाहुरूपी शस्त्रसे ही युद्धमें मार गिराया था॥ ३६॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया॥ ३७॥

'भरतवंशशिरोमणे! अतः पाण्डवोंके साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिये। दोनों पक्षोंके लिये यही उचित है। आप निःशङ्क होकर यही उपाय करें॥ ३७॥

एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः॥ ३८॥
उक्तवान् न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा॥ ३९॥

'महाराज! ऐसा करनेपर आप परम कल्याणके भागी होंगे।' संजय! इस प्रकार विदुरने मुझसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कही थीं; किंतु पुत्रका हित चाहनेवाला होकर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी॥ ३८-३९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारतनामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८१॥

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२५९५॥	(१५७)	२१७॥=	२८१३=
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१२४२	(१)	१।=	१२४३।=

सभापर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—४०५६॥

(सभापर्व सम्पूर्णम्)

निवेदन

'महाभारत मासिक पत्र' के इस पञ्चम अङ्कमें सभापर्व समाप्त होकर वनपर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वकी भाँति सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये गये हैं। विशेषतः अड़तीसवें अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंका जो संक्षिप्त और श्रीकृष्णावतारका विशेष वर्णन दाक्षिणात्य प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, उस प्रसङ्गके एक ही स्थलपर ७६१½ श्लोक लिये गये हैं। भगवान्‌के चरित्र-वर्णनके ये श्लोक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके प्रसङ्गमें जब भीष्मजीने बहुतसे संत-महात्माओंके मुखसे सुनी हुई श्रीकृष्णकी महिमा बतायी, उस समय युधिष्ठिरके मनमें उनके लीला-चरित्रको सुननेकी अभिलाषा जाग्रत् हो उठी और उन्हींके पूछनेपर भीष्मजीने विस्तारपूर्वक भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। इकतालीसवें अध्यायके शिशुपालके कथनपर ध्यान देनेसे भी उक्त प्रसङ्गकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि भीष्मजीने भगवान्‌की पूतनावध, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुनभङ्ग, बकासुरवध, कालियदमन, केशी-अरिष्टासुर-वध और कंस-संहार आदि बाललीलाओंका वर्णन न किया होता तो शिशुपाल उनका नामोल्लेख कैसे कर सकता था; इससे सिद्ध है कि भीष्मजीने उस समय अवश्य ही विस्तारपूर्वक श्रीकृष्णचरित्र सुनाये थे।

वनपर्वके प्रसङ्ग भी बड़े ही मार्मिक और उपादेय हैं। पाण्डवोंकी कष्टसहिष्णुता, साहस, उत्साह, धैर्य और संकटकालमें भी धर्म-पालनकी दृढ़ता आदि बातें सदा ही पढ़ने, मनन करने और जीवनमें उतारने योग्य हैं। इस पर्वमें अनेकानेक राजर्षियों-महर्षियोंके त्याग एवं तपस्यामय जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। इसमें तीर्थसेवन, दान, यज्ञ, परोपकार, धर्माचरण, सत्य-परायणता, त्याग, वैराग्य, पातिव्रत्य, तपस्या तथा सत्सङ्ग आदिके महत्त्वका बहुत सुन्दर निरूपण है। शान्तिपर्वकी भाँति यह पर्व भी समादरणीय सदुपदेशोंसे ही भरा है। नल-दमयन्ती, सत्यवान्-सावित्री तथा रामायणकी कथा भी इसीमें आयी है। सभी दृष्टियोंमें यह पर्व पठनीय और माननीय है।

सम्पादक—महाभारत

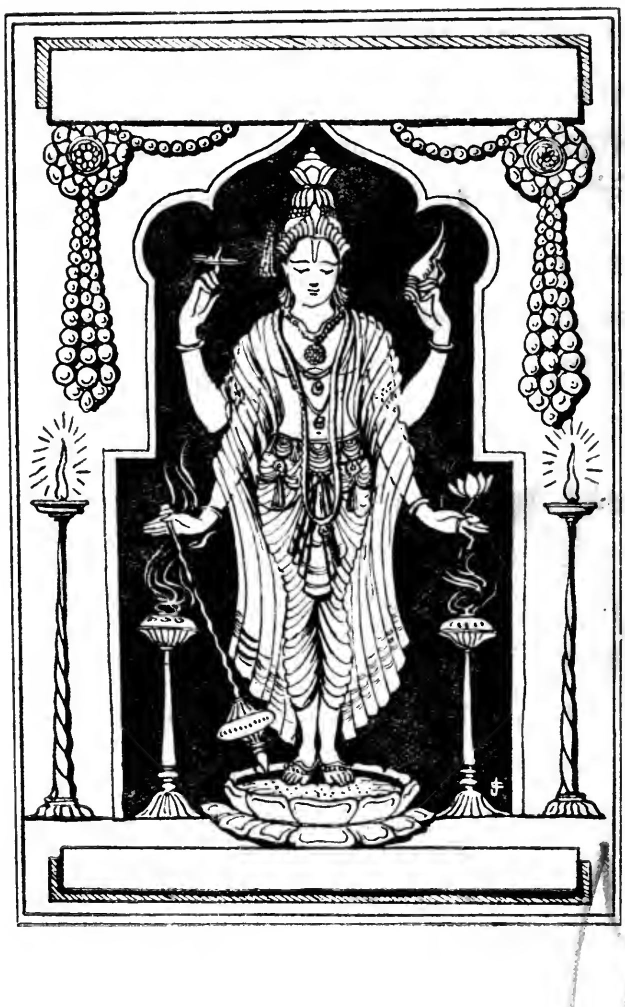

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

[वनपर्व और विराटपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

[illegible] पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

[वनपर्व और विराटपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १२॥) साढ़े बारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

वनपर्व

(कैरातपर्व)

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

(नलोपाख्यानपर्व)

(तीर्थयात्रापर्व)

(जटासुरवधपर्व)

(यक्षयुद्धपर्व)

(निवातकवचयुद्धपर्व)

(आजगरपर्व)

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

(घोषयात्रापर्व)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

(द्रौपदीहरणपर्व)

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

(रामोपाख्यानपर्व)

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

(कुण्डलाहरणपर्व)

(आरणेयपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

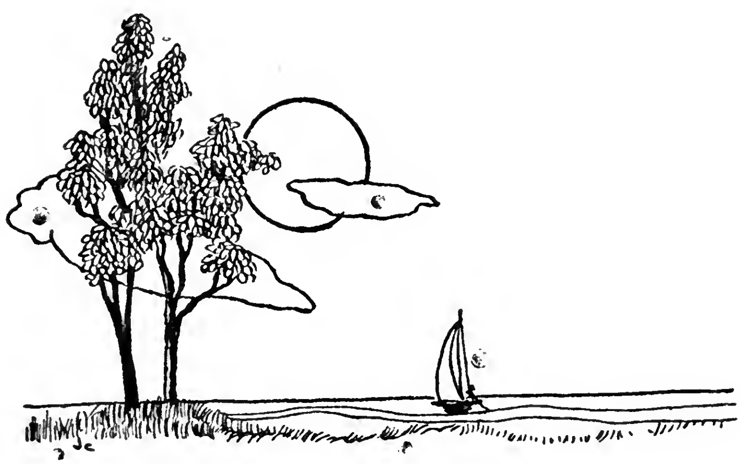

॥ श्रीहरिः ॥

विराटपर्व

(वैवाहिकपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

पाण्डवोंका वनगमन

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

वनपर्व

(अरण्यपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवोंका वनगमन, पुरवासियोंद्वारा उनका अनुगमन और युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर उनमेंसे बहुतोंका लौटना तथा पाण्डवोंका प्रमाणकोटितीर्थमें रात्रिवास

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम॥ १॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम्।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः॥ २॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर! मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब इस प्रकार कपटपूर्वक कुन्तीकुमारोंको जूएमें हराकर कुपित कर दिया और घोर वैरकी नींव डालते हुए उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनायीं, तब मेरे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि कुरुवंशियोंने क्या किया?॥१-२॥

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः॥ ३॥

तथा जो सहसा ऐश्वर्यसे वञ्चित हो जानेके कारण महान् दुःखमें पड़ गये थे, उन इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डवोंने वनमें किस प्रकार विचरण किया?॥ ३॥

के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम्।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम्॥ ४॥

उस भारी संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके साथ वनमें कौन-कौन गये थे? वनमें वे किस आचार-व्यवहारसे रहते थे? क्या खाते थे? और उन महात्माओंका निवास स्थान कहाँ था?॥ ४॥

कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम्॥ ५॥

महामुने! ब्राह्मणश्रेष्ठ! शत्रुओंका संहार करनेवाले उन शूरवीर महारथियोंके बारह वर्ष वनमें किस प्रकार बीते?॥

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम्।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी॥ ६॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन॥ ७॥

तपोधन! संसारकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता एवं सदा सत्य बोलनेवाली वह महाभागा राजकुमारी द्रौपदी, जो दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं थी, वनवासके भयंकर कष्टको कैसे सह सकी? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये॥६-७॥

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे॥ ८॥

ब्रह्मन्! मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए महान् पराक्रम और तेजसे सम्पन्न पाण्डवोंके चरित्रको सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें अत्यन्त कौतूहल हो रहा है॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात्॥ ९॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा जूएमें पराजित करके

क्रुद्ध किये हुए कुन्तीकुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

वर्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ १० ॥

वर्धमानपुरकी दिशामें स्थित नगरद्वारसे निकलकर

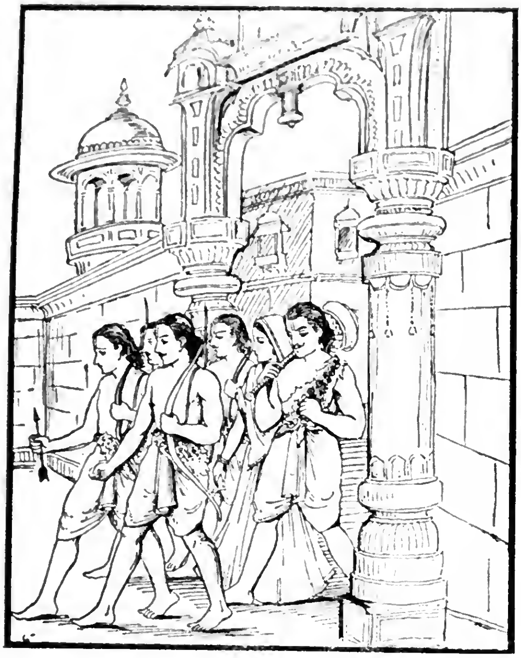

शस्त्रधारी पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ उत्तराभिमुख होकर यात्रा आरंभ की ॥ १० ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ११ ॥

इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक सारी स्त्रियोंको शीघ्रगामी रथोंपर बिठाकर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ११ ॥

गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद् भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ १२ ॥
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।

पाण्डव वनकी ओर गये हैं, यह जानकर हस्तिनापुरके निवासी शोकसे पीडित हो बिना किसी भयके भीष्म, विदुर, द्रोण और कृपाचार्यकी बारंबार निन्दा करते हुए एक दूसरेसे मिलकर इस प्रकार कहने लगे ॥ १२½ ॥

पौरा ऊचुः

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ॥ १३ ॥
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेनाभिपालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १४ ॥

पुरवासी बोले—अहो ! हमारा यह समस्त कुल, हम तथा हमारे घर-द्वार अब सुरक्षित नहीं हैं; क्योंकि यहाँ पापात्मा दुर्योधन सुबलपुत्र शकुनिसे पालित हो कर्ण और दुःशासनकी सम्मतिसे इस राज्यका शासन करना चाहता है ॥ १४ ॥

नेतत् कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥

जहाँ पापियोंकी ही सहायतासे यह पापाचारी राज्य करना चाहता है, वहाँ हमलोगोंके कुल, आचार, धर्म और अर्थ भी नहीं रह सकते, फिर सुख तो रह ही कैसे सकता है ? ॥ १५ ॥

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ १६ ॥

दुर्योधन गुरुजनोंसे द्वेष रखनेवाला है । उसने सदाचार और पाण्डवों-जैसे सुहृदोंको त्याग दिया है । वह अर्थलोलुप, अभिमानी, नीच और स्वभावतः ही निष्ठुर है ॥ १६ ॥

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १७ ॥

जहाँ दुर्योधन राजा है, वहाँकी यह सारी पृथ्वी नहींके बराबर है, अतः यही ठीक होगा कि हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ पाण्डव जा रहे हैं ॥ ७ ॥

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १८ ॥

पाण्डवगण दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुविजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा तथा सदाचारपरायण हैं ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् माद्रिनन्दनान् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे पुरवासी पाण्डवोंके पास गये और उन कुन्तीकुमारों तथा माद्रीपुत्रोंसे मिलकर वे सब-के-सब हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— ॥

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान् दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ २० ॥

पाण्डवो ! आपलोगोंका कल्याण हो । हम आपके वियोगसे बहुत दुखी हैं । आपलोग हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं ? आप जहाँ जायँगे, वहीं हम भी आपके साथ चलेंगे ॥ २० ॥

अधर्मेण जिताञ्छ्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातुमिहार्हथ ॥ २१ ॥

भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २२ ॥

'निर्दयी शत्रुओंने आपको अधर्मपूर्वक जूएमें हराया है, यह सुनकर हम सब लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं । आपलोग हमारा त्याग न करें; क्योंकि हम आपके सेवक हैं, प्रेमी हैं, सुहृद् हैं और सदा आपके

प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले हैं । आपके बिना इस दुष्ट राजाके राज्यमें रहकर हम नष्ट होना नहीं चाहते ॥ २१-२२ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥ २३ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डवो ! शुभ और अशुभ आश्रयमें रहनेपर वहाँका संसर्ग मनुष्यमें जैसे गुण-दोषोंकी सृष्टि करता है, उनका हम वर्णन करते हैं, सुनिये ॥ २३ ॥

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २४ ॥

'जैसे फूलोंके संसर्गमें रहनेपर उनकी सुगन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको भी सुवासित कर देती है, उसी प्रकार संसर्गजनित गुण भी अपना प्रभाव डालते हैं ॥ २४ ॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २५ ॥

'मूढ मनुष्योंसे मिलना-जुलना मोहजालकी उत्पत्तिका कारण होता है । इसी प्रकार साधु-महात्माओंका सङ्ग प्रतिदिन धर्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २५ ॥

तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २६ ॥

'इसलिये विद्वानों, वृद्ध पुरुषों तथा उत्तम स्वभाववाले शान्तिपरायण तपस्वी सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये ॥२६॥

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥२७॥
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २८ ॥

'जिन पुरुषोंके विद्या, जाति और कर्म-ये तीनों उज्ज्वल हों, उनका सेवन करना चाहिये; क्योंकि उन महापुरुषोंके साथ बैठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी बढ़कर है । हमलोग अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, तो भी पुण्यात्मा साधुपुरुषोंके समुदायमें रहनेसे हमें पुण्यकी ही प्राप्ति होगी । इसी प्रकार पापीजनोंके सेवनसे हम पापके ही भागी होंगे।२७-२८।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥ २९ ॥

'दुष्ट मनुष्योंके दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठनेसे धार्मिक आचारोंकी हानि होती है । इसलिये वैसे मनुष्योंको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ २९ ॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥ ३० ॥

'नीच पुरुषोंका साथ करनेसे मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट होती है । मध्यम श्रेणीके मनुष्योंका साथ करनेसे मध्यम होती है और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करनेसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है ॥ ३० ॥

अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः ।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसम्भवाः ।
लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ॥ ३१ ॥

'उत्तम, प्रसिद्ध एवं विशेषतः धर्मिष्ठ मनुष्योंने लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी उत्पत्तिके हेतुभूत जो वेदोक्त गुण (साधन) बताये हैं, वे ही लोकाचारमें प्रकट होते हैं--लोगोंद्वारा काममें लाये जाते हैं और शिष्ट पुरुष उन्हींका आदर करते हैं ॥३१॥

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ३२ ॥

'वे सभी सद्गुण पृथक्-पृथक् और एक साथ आपलोगोंमें विद्यमान हैं, अतः हमलोग कल्याणकी इच्छासे आप-जैसे गुणवान् पुरुषोंके बीचमें रहना चाहते हैं' ॥ ३२ ॥

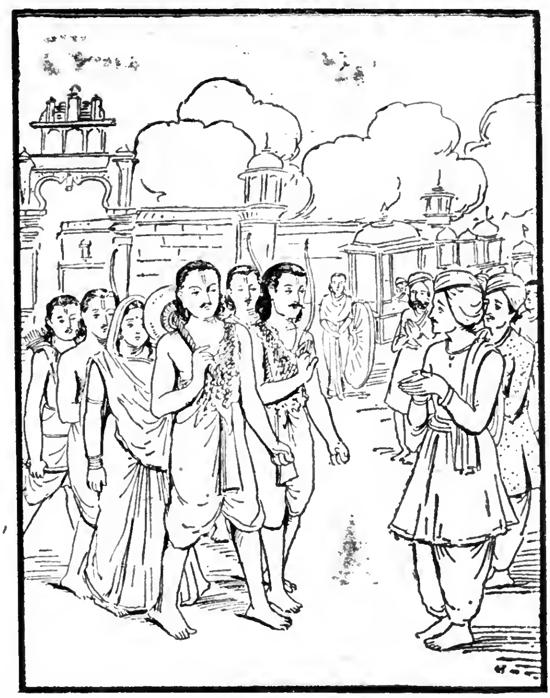

युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—हमलोग धन्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण आदि प्रजावर्गके लोग हमारे प्रति स्नेह और करुणाके पाशमें बँधकर जो गुण हमारे अंदर नहीं हैं, उन गुणोंको भी हममें बतला रहे हैं ॥ ३३ ॥

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३४ ॥

भाइयोंसहित मैं आप सब लोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ। आपलोग हमपर स्नेह और कृपा करके उसके पालनसे मुख न मोड़ें ॥ ३४ ॥

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३५ ॥

(आपलोगोंको मालूम होना चाहिये कि) हमारे पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुरजी, मेरी माता तथा प्रायः अन्य सगे-सम्बन्धी भी हस्तिनापुरमें ही हैं ॥ ३५ ॥

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ॥ ३६ ॥

वे सब लोग आपलोगोंके साथ ही शोक और संतापसे व्याकुल हैं, अतः आपलोग हमारे हितकी इच्छा रखकर उन सबका यत्नपूर्वक पालन करें ॥ ३६ ॥

निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥ ३७ ॥

अच्छा, अब लौट जाइये, आपलोग बहुत दूर चले आये हैं। मैं अपनी शपथ दिलाकर अनुरोध करता हूँ कि आपलोग मेरे साथ न चलें। मेरे स्वजन आपके पास धरोहरके रूपमें हैं। उनके प्रति आपलोगोंके हृदयमें स्नेहभाव रहना चाहिये ॥

एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम्।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ॥ ३८ ॥

मेरे हृदयमें स्थित सब कार्योंमें यही कार्य सबसे उत्तम है, आपके द्वारा इसके किये जानेपर मुझे महान् संतोष प्राप्त होगा और इसीसे मेरा सत्कार भी हो जायगा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराजके द्वारा इस प्रकार विनयपूर्वक अनुरोध किये जानेपर उन समस्त प्रजाओंने 'हा! महाराज!' ऐसा कहकर एक ही साथ भयंकर आर्तनाद किया ॥ ३९ ॥

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताःपरमातुराः।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥ ४० ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके गुणोंका स्मरण करके प्रजावर्गके लोग दुःखसे पीडित और अत्यन्त आतुर हो गये। उनकी पाण्डवोंके साथ जानेकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। वे केवल उनसे मिलकर लौट आये ॥ ४० ॥

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ४१ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर पाण्डवगण रथोंपर बैठकर गङ्गाजीके किनारे प्रमाणकोटि नामक महान् वटके समीप आये ॥ ४१ ॥

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ४२ ॥

संध्या होते-होते उस वटके निकट पहुँचकर शूरवीर पाण्डवोंने पवित्र जलका स्पर्श (आचमन और संध्यावन्दन आदि) करके वह रात वहीं व्यतीत की ॥ ४२ ॥

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात् केचिद् द्विजातयः॥४३॥

दुःखसे पीड़ित हुए वे पाँचों पाण्डुकुमार उस रातमें केवल जल पीकर ही रह गये। कुछ ब्राह्मणलोग भी इन पाण्डवोंके साथ स्नेहवश वहाँतक चले आये थे ॥ ४३ ॥

साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४४ ॥

उनमेंसे कुछ साग्नि (अग्निहोत्री) थे और कुछ निरग्नि। उन्होंने अपने शिष्यों तथा भाई-बन्धुओंको भी साथ ले लिया था। वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥४४॥

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ४५ ॥

संध्याकालकी नैसर्गिक शोभासे रमणीय तथा राक्षस-पिशाचादिके संचरणका समय होनेसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले उस मुहूर्तमें अग्नि प्रज्वलित करके वेद-मन्त्रोंके घोषपूर्वक अग्निहोत्र करनेके बाद उन ब्राह्मणोंमें परस्पर संवाद होने लगा ॥ ४५ ॥

राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन्॥४६॥

हंसके समान मधुर स्वरमें बोलनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए सारी रात उनका मनोरञ्जन किया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पुरवासियोंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

धनके दोष, अतिथिसत्कारकी महत्ता तथा कल्याणके उपायोंके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरसे ब्राह्मणों तथा शौनकजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभातका उदय हुआ तथा अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डव वनकी ओर जानेके लिये उद्यत हुए, उस समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलनेके लिये उनके सामने खड़े हो गये॥ १॥

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः॥ २॥
फलमूलाशनाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम्॥ ३॥

तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'ब्राह्मणो! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जूएमें हरण कर लिया गया है। हम फल, मूल तथा अन्नके आहारपर रहनेका निश्चय करके दुखी होकर वनमें जा रहे हैं। वनमें बहुत-से दोष हैं। वहाँ सर्प-बिच्छू आदि असंख्य भयंकर जन्तु हैं॥ २-३॥

परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः॥ ४॥

'मैं समझता हूँ, वहाँ आपलोगोंको अवश्य ही महान् कष्टका सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणोंको दिया हुआ क्लेश तो देवताओंका भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है। अतः ब्राह्मणो! आपलोग यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको लौट जायँ'॥ ४॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः॥ ५॥

ब्राह्मणोंने कहा—राजन्! आपकी जो गति होगी, उसे भुगतनेके लिये हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त तथा उत्तम धर्मपर दृष्टि रखनेवाले हैं। इसलिये आपको हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये॥ ५॥

अनुकम्पां हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु॥ ६॥

देवता भी अपने भक्तोंपर विशेषतः सदाचारपरायण ब्राह्मणोंपर तो अवश्य ही दया करते हैं॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम्॥ ७॥
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः॥ ८॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रगण! मेरे मनमें भी ब्राह्मणोंके प्रति उत्तम भक्ति है, किंतु यह सब प्रकारके सहायक साधनोंका अभाव ही मुझे दुःखमग्न-सा किये देता है। जो फल-मूल एवं शहद आदि आहार जुटाकर ला सकते थे, वे ही ये मेरे भाई शोकजनित दुःखसे मोहित हो रहे हैं॥ ७-८॥

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे॥ ९॥

द्रौपदीके अपमान तथा राज्यके अपहरणके कारण ये दुःखसे पीडित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें (आहार जुटानेका आदेश देकर) अधिक क्लेशमें नहीं डालना चाहता॥ ९॥

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत् ते हृदि पार्थिव।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम्॥ १०॥

ब्राह्मण बोले—पृथ्वीनाथ! आपके हृदयमें हमारे पालन-पोषणकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं ही अपने लिये अन्न आदिकी व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे॥ १०॥

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम्॥ ११॥

हम आपके अभीष्टचिन्तन और जपके द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आपके साथ ही प्रसन्नतापूर्वक वनमें विचरेंगे॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः।
न्यूनभावात् तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः॥ १२॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! आपका कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि मैं सदा ब्राह्मणोंके साथ रहनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ, किंतु इस समय धन आदिसे हीन होनेके कारण मैं देख रहा हूँ कि मेरे लिये यह अपकीर्तिकी-सी बात है॥ १२॥

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृतभोजनान् ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान्॥

आप सब लोग स्वयं ही आहार जुटाकर भोजन करें, यह मैं कैसे देख सकूँगा ? आपलोग कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं, तो भी मेरे प्रति स्नेह होनेके कारण इतना क्लेश उठा रहे हैं । धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंको धिक्कार है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः ॥ १४ ॥
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर शोकमग्न हो चुपचाप पृथ्वीपर बैठ गये। उस समय अध्यात्मविषयमें रत अर्थात् परमात्मचिन्तनमें तत्पर विद्वान् ब्राह्मण शौनकने, जो कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों ही निष्ठाओंके विचारमें प्रवीण थे, राजासे इस प्रकार कहा—॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १६ ॥

'शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं । वे मूढ़ मनुष्यपर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं; परंतु ज्ञानी पुरुषपर वे प्रभाव नहीं डाल सकते ॥ १६ ॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १७ ॥

'अनेक दोषोंसे युक्त, ज्ञानविरुद्ध एवं कल्याणनाशक कर्मोंमें आप-जैसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं फँसते हैं ॥ १७ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्या सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यवस्थिता ॥१८॥

राजन् ! योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिमें सम्पन्न, समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाली तथा श्रुतियों और स्मृतियोंके स्वाध्यायसे भलीभाँति दृढ़ की हुई जो उत्तम बुद्धि कही गयी है, वह आपमें स्थित है ॥ १८ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १९ ॥

'अर्थसंकट, दुस्तर दुःख तथा स्वजनोंपर आयी हुई विपत्तियोंमें आप-जैसे ज्ञानी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित नहीं होते ॥ १९ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ २० ॥

'पूर्वकालमें महात्मा राजा जनकने अन्तःकरणको स्थिर करनेवाले कुछ श्लोकोंका गान किया था । मैं उन श्लोकोंका वर्णन करता हूँ, आप सुनिये—॥ २० ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ २१ ॥

'सारा जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीडित है । उन दोनों प्रकारके दुःखोंकी शान्तिका यह उपाय संक्षेप और विस्तारसे सुनिये ॥ २१ ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥

'रोग, अप्रिय घटनाओंकी प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओंका वियोग—इन चार कारणोंसे शारीरिक दुःख प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ॥ २३ ॥

'समयपर इन चारों कारणोंका प्रतीकार करना एवं कभी भी उसका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुःख-निवारक उपाय) हैं। इन्हींसे आधि-व्याधिकी शान्ति होती है॥

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः सम्भोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २४ ॥

'अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान् पुरुष प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगोंकी प्राप्ति कराकर पहले मनुष्योंके मानसिक दुःखोंका ही निवारण किया करते हैं ॥ २४ ॥

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २५ ॥

'क्योंकि मनमें दुःख होनेपर शरीर भी संतप्त होने लगता है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला डाल देनेपर घड़ेमें रक्खा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है॥

मानसं शमयेत् तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ २६ ॥

'इसलिये जलसे अग्निको शान्त करनेकी भाँति ज्ञानके द्वारा मानसिक दुःखको शान्त करना चाहिये । मनका दुःख मिट जानेपर मनुष्यके शरीरका दुःख भी दूर हो जाता है ॥

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात् तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २७ ॥

'मनके दुःखका मूल कारण क्या है ? इसका पता लगानेपर 'स्नेह' (संसारमें आसक्ति) की ही उपलब्धि होती है। इसी स्नेहके कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुःख पाता है ॥ २७ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात् प्रवर्तते ॥ २८ ॥
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २९ ॥

'दुःखका मूल कारण है आसक्ति । आसक्तिसे ही भय होता है । शोक, हर्ष तथा क्लेश-इन सबकी प्राप्ति भी आसक्तिके कारण ही होती है । आसक्तिसे ही विषयोंमें भाव और अनुराग होते हैं । ये दोनों ही अमङ्गलकारी हैं । इनमें भी पहला अर्थात् विषयोंके प्रति भाव महान् अनर्थकारक माना गया है ॥ २८-२९ ॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥ ३० ॥

'जैसे खोखलेमें लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्षको जड़-मूल-सहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयोंके प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनोंका नाश कर देती है ॥ ३० ॥

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ॥ ३१ ॥

'विषयोंके प्राप्त न होनेपर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्यको प्राप्त होता है । उसके मनमें किसी-के प्रति द्वेषभाव न होनेके कारण वह निर्वैर तथा बन्धन-मुक्त होता है ॥ ३१ ॥

तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ॥ ३२ ॥

'इसलिये मित्रों तथा धनराशिको पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करे । अपने शरीरसे उत्पन्न हुई आसक्तिको ज्ञानसे निवृत्त करे ॥ ३२ ॥

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ ३३ ॥

'जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मनको वशमें रखनेवाले हैं, उनपर आसक्तिका प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहरता ॥ ३३ ॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ॥ ३४ ॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥ ३५ ॥

'रागके वशीभूत हुए पुरुषको काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । फिर उसके मनमें कामभोगकी इच्छा जाग उठती है । तत्पश्चात् तृष्णा बढ़ने लगती है । तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ (पापमें प्रवृत्त करनेवाली) तथा नित्य उद्वेग करनेवाली बतायी गयी है । उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है । वह अत्यन्त भयंकर पापबन्धनमें डालनेवाली है ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ ३६ ॥

'खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीरके जरासे जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ॥ ३७ ॥

'यह तृष्णा यद्यपि मनुष्योंके शरीरके भीतर ही रहती है, तो भी इसका कहीं आदि-अन्त नहीं है । लोहेके पिण्डकी आगके समान यह तृष्णा प्राणियोंका विनाश कर देती है ॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥ ३८ ॥

'जैसे काष्ठ अपनेसे ही उत्पन्न हुई आगसे जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वशमें नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए लोभके द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ ३९ ॥

'धनवान् मनुष्योंको राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनोंसे भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियोंको मृत्युसे ॥ ३९ ॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ ४० ॥

'जैसे मांसके टुकड़ेको आकाशमें पक्षी, पृथ्वीपर हिंस्र जन्तु तथा जलमें मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान् पुरुषको सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं ॥ ४० ॥

अर्थ एव हि केषांचिदनर्थं भजते नृणाम् ।
अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ॥ ४१ ॥

'कितने ही मनुष्योंके लिये अर्थ ही अनर्थका कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थद्वारा सिद्ध होनेवाले श्रेय (सांसारिक भोग) में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याणको नहीं प्राप्त होता ॥ ४१ ॥

तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ॥ ४२ ॥
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ॥ ४३ ॥
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः ॥ ४४ ॥

'इसलिये धन-प्राप्तिके सभी उपाय मनमें मोह बढ़ानेवाले हैं । कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग इन्हें विद्वानोंने देहधारियोंके लिये धनजनित दुःख माना है । धनके

उपार्जन, संरक्षण तथा व्ययमें मनुष्य महान् दुःख सहन करते हैं और धनके ही कारण एक दूसरेको मार डालते हैं। धनको त्यागनेमें भी महान् दुःख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रुका-सा काम करता है* ॥४२-४४॥

दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत्।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ ४५ ॥

'धनकी प्राप्ति भी दुःखसे ही होती है। इसलिये उसका चिन्तन न करे; क्योंकि धनकी चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असंतुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट ॥ ४५ ॥

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४६ ॥

'धनकी प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः संतोष ही परम सुख है। इसीलिये ज्ञानीजन संतोषको ही सबसे उत्तम समझते हैं ॥ ४६ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४७ ॥

'यौवन, रूप, जीवन, रत्नोंका संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनोंका एकत्र निवास—ये सभी अनित्य हैं; अतः विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा न करे ॥ ४७ ॥

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान् क्लेशान् सहेत च।
न हि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः।
अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४८ ॥

'इसलिये धन-संग्रहका त्याग करे और उसके त्यागसे जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह ले। जिनके पास धनका संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है। अतः धर्मात्मा पुरुष उसी धनकी प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छासे न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो ॥ ४८ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥ ४९ ॥

'जो धर्म करनेके लिये धनोपार्जनकी इच्छा करता है, उसका धनकी इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा मनुष्योंके लिये उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥ ५० ॥

'युधिष्ठिर! इस प्रकार आपके लिये किसी भी वस्तुकी अभिलाषा करनी उचित नहीं है। यदि आपको धर्मसे ही प्रयोजन हो तो धनकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें' ॥५०॥

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ, वह इसलिये नहीं कि मुझे धनसम्बन्धी भोग भोगनेकी इच्छा है; मैं तो ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये ही धनकी इच्छा रखता हूँ, लोभवश नहीं ॥ ५१ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५२ ॥

विप्रवर! गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाला मेरे-जैसा पुरुष अपने अनुयायियोंका भरण-पोषण भी न करे, यह कैसे उचित हो सकता है? ॥ ५२ ॥

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५३ ॥

गृहस्थके भोजनमें देवता, पितर, मनुष्य एवं समस्त प्राणियोंका हिस्सा देखा जाता है। गृहस्थका यह धर्म है कि वह अपने हाथसे भोजन न बनानेवाले संन्यासी आदिको अवश्य पका-पकाया अन्न दे ॥ ५३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५४ ॥

आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी, सत्पुरुषोंके घरमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता ॥ ५४ ॥

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥ ५५ ॥

रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके-माँदे हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये ॥ ५५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ ५६ ॥

जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे उसका आदर-सत्कार करे ॥ ५६ ॥

अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ॥ ५७ ॥

* धनके लोभसे मनुष्य रक्षककी हत्या कर डालते हैं।

यदि गृहस्थ मनुष्य अग्निहोत्र, साँड, जाति-भाई, अतिथि-अभ्यागत, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र तथा भृत्य-जनोंका आदर-सत्कार न करे, तो वे अपनी क्रोधाग्निसे उसे जला सकते हैं ॥ ५७ ॥

आत्मार्थं पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून्।
न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत्॥ ५८ ॥

केवल अपने लिये अन्न न पकावे (देवता-पितरों एवं अतिथियोंके उद्देश्यसे ही भोजन बनानेका विधान है), निकम्मे पशुओंकी भी हिंसा न करे और जिस वस्तुको विधिपूर्वक देवता आदिके लिये अर्पित न करे, उसे स्वयं भी न खाय ॥ ५८ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ॥ ५९ ॥

कुत्तों, चाण्डालों और कौवोंके लिये पृथ्वीपर अन्न डाल दे। यह वैश्वदेव नामक महान् यज्ञ है, जिसका अनुष्ठान प्रातःकाल और सायंकालमें भी किया जाता है ॥ ५९ ॥

विघसाशी भवेत् तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ ६० ॥

अतः गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विघस एवं अमृत भोजन करे। घरके सब लोगोंके भोजन कर लेनेपर जो अन्न शेष रह जाय उसे 'विघस' कहते हैं तथा बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नका नाम 'अमृत' है ॥ ६० ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६१ ॥

अतिथिको नेत्र दे (उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (मनसे हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हितकी बात कहे)। जब वह जाने लगे, तब कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाय और जबतक वह घरपर रहे, तबतक उसके पास बैठे (उसकी सेवामें लगा रहे)। यह पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त अतिथि-यज्ञ है ॥ ६१ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६२ ॥

जो गृहस्थ अपरिचित थके-माँदे पथिकको प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥६२॥

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्! जो गृहस्थ इस वृत्तिसे रहता है, उसके लिये उत्तम धर्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, अथवा इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है? ॥ ६३ ॥

शौनक उवाच

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत्।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६४ ॥

शौनकजीने कहा—अहो! बहुत दुःखकी बात है, इस जगत्‌में विपरीत बातें दिखायी देती हैं। साधु पुरुष जिस कर्मसे लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्योंको उसीसे प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६५ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपनी जननेन्द्रिय तथा उदरकी तृप्तिके लिये मोह एवं रागके वशीभूत हो विषयोंका अनुसरण करता हुआ नाना प्रकारकी विषय-सामग्रीको यज्ञावशेष मानकर उसका संग्रह करता है ॥ ६५ ॥

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६६ ॥

समझदार मनुष्य भी मनको हर लेनेवाली इन्द्रियोंद्वारा विषयोंकी ओर खींच लिया जाता है। उस समय उसकी विचारशक्ति मोहित हो जाती है। जैसे दुष्ट घोड़े वशमें न होनेपर सारथिको कुमार्गमें घसीट ले जाते हैं, यही दशा उस अजितेन्द्रिय पुरुषकी भी होती है ॥ ६६ ॥

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६७ ॥

जब मन और पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, उस समय प्राणियोंके पूर्वसंकल्पके अनुसार उसीकी वासनासे वासित मन विचलित हो उठता है ॥ ६७ ॥

मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम्।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६८ ॥

मन जिस इन्द्रियके विषयोंका सेवन करने जाता है, उसीमें उस विषयके प्रति उत्सुकता भर जाती है और वह इन्द्रिय उस विषयके उपभोगमें प्रवृत्त हो जाती है ॥ ६८ ॥

ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत् ॥ ६९ ॥

तदनन्तर संकल्प ही जिसका बीज है, उस कामके द्वारा विषयरूपी बाणोंसे बिंधकर मनुष्य ज्योतिके लोभसे पतंगकी भाँति लोभकी आगमें गिर पड़ता है ॥ ६९ ॥

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ॥ ७० ॥

इसके बाद इच्छानुसार आहार-विहारसे मोहित हो महामोहमय सुखमें निमग्न रहकर वह मनुष्य अपने आत्माके ज्ञानसे वञ्चित हो जाता है ॥ ७० ॥

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७१ ॥

इस प्रकार अविद्या, कर्म और तृष्णाद्वारा चक्रकी भाँति भ्रमण करता हुआ मनुष्य संसारकी विभिन्न योनियोंमें गिरता है ॥

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

फिर तो ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियोंमें तथा जल, भूमि और आकाशमें वह मनुष्य बारम्बार जन्म लेकर चक्कर लगाता रहता है ॥ ७२ ॥

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७३ ॥

यह अविवेकी पुरुषोंकी गति बतायी गयी है । अब आप मुझसे विवेकी पुरुषोंकी गतिका वर्णन सुनें । जो धर्म एवं कल्याणमार्गमें तत्पर हैं और मोक्षके विषयमें जिनका निरन्तर अनुराग है, वे विवेकी हैं ॥ ७३ ॥

तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद् धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत् ७४

वेदकी यह आज्ञा है कि कर्म करो और कर्म छोड़ो; अतः आगे बताये जानेवाले इन सभी धर्मोंका अहंकारशून्य होकर अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ७४ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७५ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा लोभका परित्याग—ये धर्मके आठ मार्ग हैं ॥ ७५ ॥

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः ।
कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत्॥ ७६ ॥

इनमें पहले बताये हुए चार धर्म पितृयानके मार्गमें स्थित हैं अर्थात् इन चारोंका सकामभावसे अनुष्ठान करनेपर ये पितृयानमार्गसे ले जाते हैं । अग्निहोत्र और संध्योपासनादि जो अवश्य करनेयोग्य कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य बुद्धिसे ही अभिमान छोड़कर करे ॥ ७६ ॥

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७७ ॥

अन्तिम चार धर्मोंको देवयानमार्गका स्वरूप बताया गया है । साधु पुरुष सदा उसी मार्गका आश्रय लेते हैं । आगे बताये जानेवाले आठ अङ्गोंसे युक्त मार्गद्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके कर्तव्य कर्मोंका कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर पालन करे ॥ ७७ ॥

सम्यक्संकल्पसंबन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक् च गुरुसेवनात् ॥ ७८ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक् चाध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात् सम्यक्चित्तनिरोधनात्॥ ७९॥

पूर्णतया संकल्पोंको एक ध्येयमें लगा देनेसे, इन्द्रियोंको भली प्रकार वशमें कर लेनेसे, अहिंसादि व्रतोंका अच्छी प्रकार पालन करनेसे, भली प्रकार गुरुकी सेवा करनेसे, यथायोग्य योगसाधनोपयोगी आहार करनेसे, वेदादिका भली प्रकार अध्ययन करनेसे, कर्मोंको भली-भाँति भगवत्समर्पण करनेसे और चित्तका भली प्रकार निरोध करनेसे मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ ७८-७९ ॥

एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ८० ॥

संसारको जीतनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार राग-द्वेषसे मुक्त होकर कर्म करते हैं । इन्हीं नियमोंके पालनसे देवतालोग ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं ॥ ८० ॥

रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८१ ॥

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु तथा दोनों अश्विनीकुमार योगजनित ऐश्वर्यसे युक्त होकर इन प्रजाजनोंका धारण-पोषण करते हैं ॥ ८१ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ॥ ८२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार आप भी मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें करके तपस्याद्वारा सिद्धि तथा योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजिये ॥ ८२ ॥

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ८३ ॥

यज्ञ, युद्धादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि पितृ-मातृमयी (परलोक और इहलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाली) है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है । अब तपस्याद्वारा वह योगसिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये, जिससे ब्राह्मणोंका भरण-पोषण हो सके ॥ ८३ ॥

सिद्धा हि यद् यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ॥ ८४ ॥

सिद्ध पुरुष जो-जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तपके प्रभावसे प्राप्त कर लेते हैं । अतः आप तपस्याका आश्रय लेकर अपने मनोरथकी पूर्ति कीजिये ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पाण्डवोंका प्रव्रजन (वनगमन) विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अन्नके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना और उनसे अक्षयपात्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शौनकके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने पुरोहितके पास आकर भाइयोंके बीचमें इस प्रकार बोले—॥ १॥

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
न चास्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः॥ २॥

'विप्रवर! ये वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण मेरे साथ वनमें चल रहे हैं। परंतु मैं इनका पालन-पोषण करनेमें असमर्थ हूँ, यह सोचकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है॥ २॥

परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे।
कथमत्र मया कार्यं तद् ब्रूहि भगवन् मम॥ ३॥

भगवन्! मैं इन सबका त्याग नहीं कर सकता; परंतु इस समय मुझमें इन्हें अन्न देनेकी शक्ति नहीं है। ऐसी अवस्थामें मुझे क्या करना चाहिये! यह कृपा करके बताइये'॥

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम्।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर दो घड़ीतक ध्यान-सा लगाया और धर्मपूर्वक उस उपायका अन्वेषण करनेके पश्चात् उनसे इस प्रकार कहा॥ ४॥

धौम्य उवाच

पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम्।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा॥ ५॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः॥ ६॥

धौम्य बोले—राजन्! सृष्टिके प्रारम्भकालमें जब सभी प्राणी भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे, तब भगवान् सूर्यने पिताकी भाँति उन सबपर दया करके उत्तरायणमें जाकर अपनी किरणोंसे पृथ्वीका रस (जल) खींचा और दक्षिणायनमें लौटकर पृथ्वीको उस रससे आविष्ट किया॥५-६॥

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा॥ ७॥

इस प्रकार जब सारे भूमण्डलमें क्षेत्र तैयार हो गया, तब ओषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने अन्तरिक्षमें मेघोंके रूपमें परिणत हुए सूर्यके तेजको प्रकट करके उसके द्वारा बरसाये हुए जलसे अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया॥ ७॥

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि॥ ८॥

चन्द्रमाकी किरणोंसे अभिषिक्त हुआ सूर्य जब अपनी प्रकृतिमें स्थित हो जाता है, तब छः प्रकारके रसोंसे युक्त पवित्र ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वही पृथ्वीमें प्राणियोंके लिये अन्न होता है॥ ८॥

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज॥ ९॥

इस प्रकार सभी जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाला अन्न सूर्यरूप ही है। अतः भगवान् सूर्य ही समस्त प्राणियोंके पिता हैं, इसलिये तुम उन्हींकी शरणमें जाओ॥ ९॥

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम्॥ १०॥

जो जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टियोंसे परम उज्ज्वल हैं, ऐसे महात्मा राजा भारी तपस्याका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजाजनोंका संकटसे उद्धार करते हैं॥ १०॥

भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः॥ ११॥

भीम, कार्तवीर्य अर्जुन, वेनपुत्र पृथु तथा नहुष आदि नरेशोंने तपस्या, योग और समाधिमें स्थित होकर भारी आपत्तियोंसे प्रजाको उबारा है॥ ११॥

तथा त्वमपि धर्मात्मन् कर्मणा च विशोधितः।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन् भर भारत॥ १२॥

धर्मात्मा भारत! इसी प्रकार तुम भी सत्कर्मसे शुद्ध होकर तपस्याका आश्रय ले धर्मानुसार द्विजातियोंका भरण-पोषण करो॥ १२॥

जनमेजय उवाच

कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः।
विप्रार्थमाराधितवान् सूर्यमद्भुतदर्शनम्॥ १३॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये, जिनका दर्शन अत्यन्त अद्भुत है, उन भगवान् सूर्यकी आराधना किस प्रकार की?॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र ! मैं सब बातें बता रहा हूँ । तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर सुनो और धैर्य रक्खो ॥ १४ ॥

धौम्येन तु तथा पूर्वं पार्थाय सुमहात्मने ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥

महामते ! धौम्यने जिस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरको पहले भगवान् सूर्यके एक सौ आठ नाम बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

धौम्य उवाच

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १६ ॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७ ॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वै वरुणो यमः ॥ १८ ॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ १९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ॥ २० ॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २१ ॥
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोऽशुश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २२ ॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ॥ २३ ॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥ २४ ॥
मनःसुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारकः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २५ ॥
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥ २७ ॥
एतद् वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्यामिततेजसः ।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत् स्वयंभुवा ॥ २८ ॥

धौम्य बोले—१ सूर्य, २ अर्यमा, ३ भग, ४ त्वष्टा, ५ पूषा, ६ अर्क, ७ सविता, ८ रवि, ९ गभस्तिमान्, १० अज, ११ काल, १२ मृत्यु, १३ धाता, १४ प्रभाकर, १५ पृथिवी, १६ आप, १७ तेज, १८ ख (आकाश), १९ वायु, २० परायण, २१ सोम, २२ बृहस्पति, २३ शुक्र, २४ बुध, २५ अङ्गारक (मङ्गल), २६ इन्द्र, २७, विवस्वान्, २८ दीप्तांशु, २९ शुचि, ३० शौरि, ३१ शनैश्चर, ३२ ब्रह्मा, ३३ विष्णु, ३४ रुद्र, ३५ स्कन्द, ३६ वरुण, ३७ यम, ३८ वैद्युताग्नि, ३९ जाठराग्नि, ४० ऐन्धनाग्नि, ४१ तेजःपति, ४२ धर्मध्वज, ४३ वेदकर्ता, ४४ वेदाङ्ग, ४५ वेदवाहन, ४६ कृत, ४७ त्रेता, ४८ द्वापर, ४९ सर्वमलाश्रय कलि, ५० कला-काष्ठा-मुहूर्तरूप समय, ५१ क्षपा (रात्रि), ५२ याम, ५३ क्षण, ५४ संवत्सरकर, ५५ अश्वत्थ, ५६ कालचक्रप्रवर्तक विभावसु, ५७ शाश्वत पुरुष, ५८ योगी, ५९ व्यक्ताव्यक्त, ६० सनातन, ६१ कालाध्यक्ष, ६२ प्रजाध्यक्ष, ६३ विश्वकर्मा, ६४ तमोनुद, ६५ वरुण, ६६ सागर, ६७ अंशु, ६८ जीमूत, ६९ जीवन, ७० अरिहा, ७१ भूताश्रय, ७२ भूतपति, ७३ सर्वलोकनमस्कृत, ७४ स्रष्टा, ७५ संवर्तक, ७६ वह्नि, ७७ सर्वादि, ७८ अलोलुप, ७९ अनन्त, ८० कपिल, ८१ भानु, ८२ कामद, ८३ सर्वतोमुख, ८४ जय, ८५ विशाल, ८६ वरद, ८७ सर्वधातुनिषेचिता, ८८ मनःसुपर्ण, ८९ भूतादि, ९० शीघ्रग, ९१ प्राणधारक, ९२ धन्वन्तरि, ९३ धूमकेतु, ९४ आदिदेव, ९५ अदितिसुत, ९६ द्वादशात्मा, ९७ अरविन्दाक्ष, ९८ पिता-माता-पितामह, ९९ स्वर्गद्वार-प्रजाद्वार, १०० मोक्षद्वार-त्रिविष्टप, १०१ देहकर्ता, १०२ प्रशान्तात्मा, १०३ विश्वात्मा, १०४ विश्वतोमुख, १०५ चराचरात्मा, १०६ सूक्ष्मात्मा, १०७ मैत्रेय तथा १०८ करुणान्वित—ये अमिततेजस्वी भगवान् सूर्यके कीर्तन करनेयोग्य एक सौ आठ नाम हैं, जिनका उपदेश साक्षात् ब्रह्माजीने किया है ॥ १६—२८ ॥

सुरगणपितृयक्षसेवितं
ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं
प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥ २९ ॥

(इन नामोंका उच्चारण करके भगवान् सूर्यको इस प्रकार नमस्कार करना चाहिये ।) समस्त देवता, पितर और यक्ष जिनकी सेवा करते हैं, असुर, राक्षस तथा सिद्ध जिनकी वन्दना करते हैं तथा जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके समान कान्तिमान् हैं, उन भगवान् भास्करको मैं अपने हितके लिये प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्
स पुत्रदारान् धनरत्नसंचयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा
धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सूर्योदयके समय भलीभाँति एकाग्रचित्त हो इन नामोंका पाठ करता है, वह स्त्री, पुत्र, धन, रत्नराशि, पूर्वजन्मकी स्मृति, धैर्य तथा उत्तम बुद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

इमं स्तवं देववरस्य यो नरः
प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागरा-
ल्लभेत कामान् मनसा यथेप्सितान् ॥ २१ ॥

जो मानव स्नान आदि करके पवित्र, शुद्धचित्त एवं एकाग्र हो देवेश्वर भगवान् सूर्यके इस नामात्मक स्तोत्रका कीर्तन करता है वह शोकरूपी दावानलसे युक्त दुस्तर संसारसागरसे मुक्त हो मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥ ३२ ॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम्।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥ ३३ ॥
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत्।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहित धौम्यके इस प्रकार समयोचित बात कहनेपर ब्राह्मणोंको देनेके लिये अन्नकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नियममें स्थित हो मनको वशमें रखकर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए शुद्धचेता धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तम तपस्याका अनुष्ठान आरम्भ किया। राजा युधिष्ठिरने गङ्गाजीके जलमें स्नान करके पुष्प और नैवेद्य आदि उपहारोंद्वारा भगवान् दिवाकरकी पूजा की और उनके सम्मुख मुँह करके खड़े हो गये। धर्मात्मा पाण्डुकुमार चित्तको एकाग्र करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए केवल वायु पीकर रहने लगे ॥ ३२—३४ ॥

गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान्।
शुचिः प्रयतवाग् भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ॥ ३५ ॥

गङ्गाजलका आचमन करके पवित्र हो वाणीको वशमें रखकर तथा प्राणायामपूर्वक स्थित रहकर उन्होंने पूर्वोक्त अष्टोत्तरशतनामात्मक स्तोत्रका जप किया ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं॥३६॥

त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं॥ ३७ ॥

त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥ ३८ ॥

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे उसका पालन किया जाता है ॥३८॥

त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणार्चितम् ॥ ३९ ॥

सूर्यदेव! आप ऋषिगणोंद्वारा पूजित हैं। वेदके तत्त्वज्ञ ब्राह्मणलोग अपनी-अपनी वेदशाखाओंमें वर्णित मन्त्रोंद्वारा उचित समयपर उपस्थान करके आपका पूजन किया करते हैं॥

तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ॥ ४० ॥

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक और नाग आपसे वर पानेकी अभिलाषासे आपके गतिशील दिव्य रथके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ४० ॥

त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः॥ ४१ ॥

तैंतीस[1] देवता एवं विमानचारी सिद्धगण भी उपेन्द्र तथा महेन्द्र-सहित आपकी आराधना करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥४१॥

उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ॥ ४२ ॥
गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ॥ ४३ ॥
वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ विद्याधरगण दिव्य मन्दार-कुसुमोंकी मालाओंसे आपकी पूजा करके सफलमनोरथ हो तुरंत आपके समीप पहुँच जाते हैं। गुह्यक, सात[2] प्रकारके पितृगण तथा दिव्य मानव (सनकादि) आपकी ही पूजा करके श्रेष्ठ पदको प्राप्त करते हैं। वसुगण, मरुद्गण, रुद्र, साध्य तथा आपकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य आदि सिद्ध महर्षि आपकी ही आराधनासे सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हुए हैं ॥४२-४४॥

सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च।
न तद्भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥ ४५ ॥
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥ ४६ ॥

१. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

२. सभापर्वके ११ वे अध्याय श्लोक ४६, ४७ में सात पितरोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य, एकशृङ्ग, चतुर्वेद और कला।

ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः ।
त्वयि सत्यं च सत्त्वं च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ॥ ४७ ॥
त्वत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥ ४८ ॥

ब्रह्मलोकसहित ऊपरके सातों लोकोंमें तथा अन्य सब लोकोंमें भी ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता, जो आप भगवान् सूर्यसे बढ़कर हो । भगवन् ! जगत्में और भी बहुत-से महान् शक्तिशाली प्राणी हैं; परंतु उनकी कान्ति और प्रभाव आपके समान नहीं हैं। सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ आपके ही अन्तर्गत हैं । आप ही समस्त ज्योतियोंके स्वामी हैं। सत्य, सत्त्व तथा समस्त सात्त्विक भाव आपमें ही प्रतिष्ठित हैं । 'शार्ङ्ग' नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णुने जिसके द्वारा दैत्योंका घमंड चूर्ण किया है, उस सुदर्शन चक्रको विश्वकर्माने आपके ही तेजसे बनाया है ॥ ४५-४८ ॥

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।
सर्वौषधिरसानां च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ॥ ४९ ॥

आप ग्रीष्म-ऋतुमें अपनी किरणोंसे समस्त देहधारियोंके तेज और सम्पूर्ण ओषधियोंके रसका सार खींचकर पुनः वर्षाकालमें उसे बरसा देते हैं ॥ ४९ ॥

तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः ।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ॥ ५० ॥

वर्षा-ऋतुमें आपकी कुछ किरणें तपती हैं, कुछ जलाती हैं, कुछ मेघ बनकर गरजती, बिजली बनकर चमकती तथा वर्षा भी करती हैं ॥ ५० ॥

न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः ।
शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ॥ ५१ ॥

शीतकालकी वायुसे पीड़ित जगत्को अग्नि, कम्बल और वस्त्र भी उतना सुख नहीं देते, जितना आपकी किरणें देती हैं ॥ ५१ ॥

त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम् ।
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्तसे ॥ ५२ ॥

आप अपनी किरणोंद्वारा तेरह[1] द्वीपोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करते हैं और अकेले ही तीनों लोकोंके हितके लिये तत्पर रहते हैं ॥ ५२ ॥

तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत् ।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्तेरन् मनीषिणः ॥ ५३ ॥

यदि आपका उदय न हो तो यह सारा जगत् अंधा हो जाय और मनीषी पुरुष धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कर्मोंमें प्रवृत्त ही न हों ॥ ५३ ॥

आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपःक्रियाः ।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ॥ ५४ ॥

गर्भाधान या अग्निकी स्थापना, पशुओंको बाँधना, इष्टि (पूजा), मन्त्र, यज्ञानुष्ठान और तप आदि समस्त क्रियाएँ आपकी ही कृपासे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगणोंद्वारा सम्पन्न की जाती हैं ॥ ५४ ॥

यदहर्ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसम्मितम् ।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीका जो एक सहस्र युगोंका दिन बताया गया है, कालमानके जाननेवाले विद्वानोंने उसका आदि और अन्त आपको ही बताया है ॥ ५५ ॥

मनूनां मनुपुत्राणां जगतोऽमानवस्य च ।
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ॥ ५६ ॥

मनु और मनुपुत्रोंके, जगत्के, (ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले) अमानव पुरुषके, समस्त मन्वन्तरोंके तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर आप ही हैं ॥ ५६ ॥

संहारकाले सम्प्राप्ते तव क्रोधविनिःसृतः ।
संवर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्यावतिष्ठते ॥ ५७ ॥

प्रलयकाल आनेपर आपके ही क्रोधसे प्रकट हुई संवर्तक नामक अग्नि तीनों लोकोंको भस्म करके फिर आपमें ही स्थित हो जाती है ॥ ५७ ॥

त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः ।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याभूतसम्प्लवम् ॥ ५८ ॥

आपकी ही किरणोंसे उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे ऐरावत आदि महामेघ और बिजलियाँ सम्पूर्ण भूतोंका संहार करती हैं ॥ ५८ ॥

कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानं द्वादशादित्यतां गतः ।
संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ॥ ५९ ॥

फिर आप ही अपनेको बारह स्वरूपोंमें विभक्त करके बारह सूर्योंके रूपमें उदित हो अपनी किरणोंद्वारा त्रिलोकीका संहार करते हुए एकार्णवके समस्त जलको सोख लेते हैं॥

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६० ॥

आपको ही इन्द्र कहते हैं । आप ही रुद्र, आप ही विष्णु और आप ही प्रजापति हैं । अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु तथा सनातन ब्रह्म भी आप ही हैं ॥ ६० ॥

त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः ।
विवस्वान् मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ॥ ६१ ॥

---

[1] १. जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर— ये सात प्रधान द्वीप माने गये हैं । इनके सिवा कई उपद्वीप हैं । उनको लेकर यहाँ १३ द्वीप बताये गये हैं ।

सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवाम्पतिः ।
मार्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत् तथा॥ ६२ ॥
दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्यसे ॥ ६३ ॥

आप ही हंस (शुद्धस्वरूप), सविता (जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले), भानु (प्रकाशमान), अंशुमाली (किरण-समूहसे सुशोभित), वृषाकपि (धर्मरक्षक), विवस्वान् (सर्वव्यापी), मिहिर (जलकी वृष्टि करनेवाले), पूषा (पोषक), मित्र (सबके सुहृद्), धर्म (धारण करनेवाले), सहस्ररश्मि (हजारों किरणोंवाले), आदित्य (अदितिपुत्र), तपन (तापकारी), गवाम्पति (किरणोंके स्वामी), मार्तण्ड, अर्क (अर्चनीय), रवि, सूर्य (उत्पादक), शरण्य (शरणागतकी रक्षा करनेवाले), दिनकृत् (दिनके कर्ता), दिवाकर (दिनको प्रकट करनेवाले), सप्तसप्ति (सात घोड़ोंवाले), धामकेशी (ज्योतिर्मय किरणोंवाले), विरोचन (देदीप्यमान), आशुगामी (शीघ्रगामी), तमोघ्न (अन्धकार-नाशक) तथा हरिताश्व (हरे रंगके घोड़ोंवाले) कहे जाते हैं ॥ ६१–६३ ॥

सप्तम्यामथवा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोऽनहंकारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ॥ ६४॥

जो सप्तमी अथवा षष्ठीको खेद और अहंकारसे रहित हो भक्तिभावसे आपकी पूजा करता है, उस मनुष्यको लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥

न तेषामापदः सन्ति नाधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवानन्यमनसः कुर्वन्त्यर्चनवन्दनम् ॥ ६५ ॥

भगवन् ! जो अनन्य चित्तसे आपकी अर्चना और वन्दना करते हैं, उनपर कभी आपत्ति नहीं आती । वे मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे भी ग्रस्त नहीं होते ॥ ६५ ॥

सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः ।
त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ॥ ६६ ॥

जो प्रेमपूर्वक आपके प्रति भक्ति रखते हैं, वे समस्त रोगों तथा सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो चिरंजीवी एवं सुखी होते हैं ॥ ६६ ॥

त्वं ममापन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः ।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयार्हसि ॥ ६७ ॥

अन्नपते ! मैं श्रद्धापूर्वक सबका आतिथ्य करनेकी इच्छासे अन्न प्राप्त करना चाहता हूँ । आप मुझे अन्न देनेकी कृपा करें ॥ ६७ ॥

ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।
माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान् वन्देऽशनिक्षुभान् । ६८ ।

आपके चरणोंके निकट रहनेवाले जो माठर, अरुण तथा दण्ड आदि अनुचर (गण) हैं, वे विद्युत्‌के प्रवर्तक हैं । मैं उन सबकी वन्दना करता हूँ ॥ ६८ ॥

क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमातरः ।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ॥ ६९ ॥

क्षुभाके साथ जो मैत्रीदेवी तथा गौरी-पद्मा आदि अन्य भूतमाताएँ हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ । वे सभी मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतो महाराज भास्करो लोकभावनः ।
ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम् ।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ॥ ७० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! जब युधिष्ठिरने लोकभावन भगवान् भास्करका इस प्रकार स्तवन किया, तब दिवाकरने प्रसन्न होकर उन पाण्डुकुमारको दर्शन दिया । उस समय उनके श्रीअङ्ग प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रहे थे ॥ ७० ॥

विवस्वानुवाच

यत् तेऽभिलषितं किंचित् तत् त्वं सर्वमवाप्स्यसि ।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ॥ ७१ ॥

भगवान् सूर्य बोले—धर्मराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह सब तुम्हें प्राप्त होगा । मैं बारह वर्षोंतक तुम्हें अन्न प्रदान करूँगा ॥ ७१ ॥

गृहीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्तं नराधिप ।
यावद् वर्त्स्यति पाञ्चाली पात्रेणानेन सुव्रत ॥ ७२॥

फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति ॥ ७३ ॥

राजन्! यह मेरी दी हुई ताँबेकी बटलोई लो । सुव्रत! तुम्हारे रसोईघरमें इस पात्रद्वारा फल, मूल, भोजन करनेके योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकारकी भोजन-सामग्री तैयार होगी, वह तबतक अक्षय बनी रहेगी, जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न करके परोसती रहेगी ॥ ७२-७३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि ।

आजसे चौदहवें वर्षमें तुम अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ७३½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७४ ॥

इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना
पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तत् तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं
तदाप्नुयाद् यद्यपि तत् सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥

जो कोई अन्य पुरुष भी मनको संयममें रखकर चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करके इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वर भी माँगे, तो भगवान् सूर्य उसकी उस मनोवाञ्छित वस्तुको दे सकते हैं ॥ ७५ ॥

यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोऽप्यथवा स्त्रियः ॥ ७६ ॥

जो प्रतिदिन इस स्तोत्रको धारण करता अथवा बार-बार सुनता है, वह यदि पुत्रार्थी हो तो पुत्र पाता है, धन चाहता हो तो धन पाता है, विद्याकी अभिलाषा रखता हो तो उसे विद्या प्राप्त होती है और पत्नीकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको पत्नी सुलभ होती है ॥ ७६ ॥

उभे संध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ।
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ ७७ ॥

स्त्री हो या पुरुष यदि दोनों संध्याओंके समय इस स्तोत्र-का पाठ करता है, तो आपत्तिमें पड़कर भी उससे मुक्त हो जाता है । बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ७७ ॥

एतद् ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ।
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद् युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान् कामानवाप्तवान् ॥ ७८ ॥

यह स्तुति सबसे पहले ब्रह्माजीने महात्मा इन्द्रको दी, इन्द्रसे नारदजीने और नारदजीसे धौम्यने इसे प्राप्त किया । धौम्यसे इसका उपदेश पाकर राजा युधिष्ठिरने अपनी सब कामनाएँ प्राप्त कर लीं ॥ ७८ ॥

संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद् वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥ ७९ ॥

जो इसका अनुष्ठान करता है, वह सदा संग्राममें विजयी होता है, बहुत धन पाता है, सब पापोंसे मुक्त होता और अन्तमें सूर्यलोकको जाता है ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्च परिषस्वजे ॥ ८० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पूर्वोक्त वर पाकर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर गङ्गाजीके जलसे बाहर निकले । उन्होंने धौम्यजीके दोनों चरण पकड़े और भाइयोंको हृदयसे लगा लिया ॥ ८० ॥

द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ८१ ॥

द्रौपदीने उन्हें प्रणाम किया और वे उससे प्रेमपूर्वक मिले । फिर उसी समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने चूल्हेपर बटलोई रखकर रसोई तैयार करायी ॥ ८१ ॥

संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ८२ ॥

उसमें तैयार की हुई चार प्रकारकी थोड़ी-सी भी रसोई उस पात्रके प्रभावसे बढ़ जाती और अक्षय हो जाती थी । उसीसे वे ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे ॥ ८२ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद् भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर अपने छोटे भाइयोंको भी भोजन करानेके पश्चात् 'विघस' संज्ञक अवशिष्ट अन्नको युधिष्ठिर सबसे पीछे खाते थे ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ।
एवं दिवाकरात् प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ॥ ८४ ॥
कामान् मनोऽभिलषितान् ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ।
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिरको भोजन कराकर द्रौपदी शेष अन्न स्वयं खाती थी । द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर उस पात्रका अन्न समाप्त हो जाता था । इस प्रकार सूर्यसे मनोवाञ्छित वरोंको

भगवान् सूर्यका युधिष्ठिरको अक्षयपात्र देना

पाकर उन्हींके समान तेजस्वी प्रभावशाली राजा युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको नियमपूर्वक अन्नदान करने लगे। पुरोहितोंको आगे करके उत्तम तिथि, नक्षत्र एवं पर्वोपर विधि और मन्त्रके प्रमाणके अनुसार उनके यज्ञसम्बन्धी कार्य होने लगे॥८४-८५॥

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम्॥ ८६॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचन कराकर ब्राह्मणसमुदायसे घिरे हुए पाण्डव धौम्यजीके साथ काम्यकवनको चले गये॥८६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रको हितकी सलाह देना और धृतराष्ट्रका रुष्ट होकर महलमें चला जाना

वैशम्पायन उवाच

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु
प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं
सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव वनमें चले गये, तब प्रज्ञाचक्षु अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र मन-ही-मन संतप्त हो उठे। उन्होंने अगाधबुद्धि धर्मात्मा विदुरको बुलाकर स्वयं सुखद आसनपर बैठे हुए उनसे इस प्रकार कहा॥ १॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा
धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम्।
समश्च त्वं सम्मतः कौरवाणां
पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि॥ २॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! तुम्हारी बुद्धि शुक्राचार्यके समान शुद्ध है। तुम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म श्रेष्ठ धर्मको जानते हो। तुम्हारी सबके प्रति समान दृष्टि है और कौरव तथा पाण्डव सभी तुम्हारा सम्मान करते हैं। अतः मेरे तथा इन पाण्डवोंके लिये जो हितकर कार्य हो, वह मुझे बताओ॥ २॥

एवंगते विदुर यदद्य कार्यं
पौराश्च मे कथमस्मान् भजेरन्।
ते चाप्यस्मान् नोद्धरेयुः समूलां-
स्तत्त्वं ब्रूयाः साधुकार्याणि वेत्सि॥ ३॥

विदुर! ऐसी दशामें अब हमारा जो कर्तव्य हो वह बताओ। ये पुरवासी कैसे हमलोगोंसे प्रेम करेंगे। तुम ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे वे पाण्डव हमलोगोंको जड़-मूल-सहित उखाड़ न फेंकें। तुम अच्छे कार्योंको जानते हो। अतः हमें ठीक-ठीक कर्तव्यका निर्देश करो॥ ३॥

विदुर उवाच

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र
राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या
पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोः सुतांश्च॥ ४॥

विदुरजीने कहा—नरेन्द्र! धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी प्राप्तिका मूल कारण धर्म ही है। धर्मात्मा पुरुष इस राज्यकी जड़ भी धर्मको ही बतलाते हैं, अतः महाराज! आप धर्मके मार्गपर स्थिर रहकर यथाशक्ति अपने तथा पाण्डुके सब पुत्रोंका पालन कीजिये॥ ४॥

स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां
पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां
पराजैषीत् सत्यसंधं सुतस्ते॥ ५॥

शकुनि आदि पापात्माओंने द्यूतसभामें उस धर्मके साथ विश्वासघात किया; क्योंकि आपके पुत्रने सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको बुलाकर उन्हें कपटपूर्वक पराजित किया है॥ ५॥

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राज-
ञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम्।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापा-
न्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु॥ ६॥

कुरुराज! दुरात्माओंद्वारा पाण्डवोंके प्रति किये हुए इस दुर्व्यवहारकी शान्तिका उपाय मैं जानता हूँ, जिससे आपका पुत्र दुर्योधन पापसे मुक्त हो लोकमें भलीभाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करे॥ ६॥

तद् वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां
यद् तद् राजन्नभिसृष्टं त्वयाऽऽसीत्।
एष धर्मः परमो यत् स्वकेन
राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत्॥ ७॥

आपने पाण्डवोंको जो राज्य दिया था, वह सब उन्हें मिल जाना चाहिये। राजाके लिये यह सबसे बड़ा धर्म है कि वह अपने धनसे संतुष्ट रहे। दूसरेके धनपर लोभभरी दृष्टि न डाले ॥ ७ ॥

यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्
धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम्।
एतत् कार्यं तव सर्वप्रधानं
तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ॥ ८ ॥

ऐसा कर लेनेपर आपके यशका नाश नहीं होगा, भाइयोंमें फूट नहीं होगी और आपको धर्मकी भी प्राप्ति होगी। आपके लिये सबसे प्रमुख कार्य यह है कि पाण्डवोंको संतुष्ट करें और शकुनिका तिरस्कार करें ॥ ८ ॥

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्या-
देतद् राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व।
तथैतदेवं न करोषि राजन्
ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ ९ ॥

राजन्! ऐसा करनेपर भी यदि आपके पुत्रोंका भाग्य शेष होगा तो उनका राज्य उनके पास रह जायगा; अतः आप शीघ्र ही यह काम कर डालिये। महाराज! यदि आप ऐसा न करेंगे तो कौरवकुलका निश्चय ही नाश हो जायगा ॥

न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा
शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो
धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ॥ १० ॥
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा
तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति।
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते
मया यत् ते हितमासीत् तदानीम् ॥ ११ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन अथवा अर्जुन अपने शत्रुओंकी सेनामें किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण सव्यसाची अर्जुन जिनके योद्धा हैं, सम्पूर्ण लोकोंका सारभूत गाण्डीव जिनका धनुष है तथा अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले भीमसेन जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले हैं, उन पाण्डवोंके लिये संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त न हो सके। आपके पुत्र दुर्योधनके जन्म लेते ही मुझे उस समय जो हितकी बात जान पड़ी, वह मैंने पहले ही बता दी थी ॥ १०-११ ॥

पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य
हितं परं न च तत् त्वं चकर्थ।
इदं च राजन् हितमुक्तं न चेत् त्व-
मेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ॥ १२ ॥

मैंने साफ कह दिया था कि आपका यह पुत्र समस्त कुलका अहित करनेवाला है, अतः इसको त्याग दीजिये; परंतु आपने मेरी उत्तम और सात्त्विक सलाहके अनुसार कार्य नहीं किया। राजन्! इस समय भी मैंने जो यह आपके हितकी बात बतायी है यदि उसे आप नहीं करेंगे तो आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १२ ॥

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते
सम्प्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम्।
तापो न ते भविता प्रीतियोगा-
न्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ॥ १३ ॥

यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंके साथ एक राज्य बनानेकी बात मान ले तो आपको पश्चात्ताप नहीं होगा, प्रसन्नता ही प्राप्त होगी। यदि दुर्योधन आपकी बात न माने तो समस्त कुलको सुख पहुँचानेके लिये आप अपने उस पुत्रपर नियन्त्रण कीजिये ॥ १३ ॥

दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य
पाण्डोः पुत्रं कुरुष्वाधिपत्ये।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो
धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ॥ १४ ॥

इस प्रकार अहितकारक दुर्योधनको काबूमें करके आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यपर अभिषिक्त कर दीजिये; क्योंकि वे अजातशत्रु हैं। उनका किसीसे राग या द्वेष नहीं है। राजन्! वे ही इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे ॥ १४ ॥

ततो राजन् पार्थिवाः सर्व एव
वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः
प्रीत्या राजन् पाण्डुपुत्रान् भजन्तु ॥ १५ ॥

महाराज! यदि ऐसा हुआ तो भूमण्डलके समस्त राजा वैश्योंकी भाँति उपहार ले हम कौरवोंकी सेवामें शीघ्र उपस्थित होंगे। राजराजेश्वर! दुर्योधन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण प्रेमपूर्वक पाण्डवोंको अपनावें ॥ १५ ॥

दुःशासनो याचतु भीमसेनं
सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व
राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ॥ १६ ॥

दुःशासन भरी सभामें भीमसेन तथा द्रौपदीसे क्षमा माँगे और आप युधिष्ठिरको भलीभाँति सान्त्वना दे सम्मानपूर्वक इस राज्यपर बिठा दीजिये ॥ १६ ॥

त्वया पृष्टः किमहमन्यद् वदेय-
मेतत् कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ॥ १७ ॥

कुरुराज! आपने हितकी बात पूछी है तो मैं इसके

सिवा और क्या बताऊँ। यह सब कर लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एतद् वाक्यं विदुर यत् ते सभाया-
मिह प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य मां च।
हितं तेषामहितं मामकाना-
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुमने यहाँ सभामें पाण्डवोंके तथा मेरे विषयमें जो बात कही है, वह पाण्डवोंके लिये तो हितकर है, पर मेरे पुत्रोंके लिये अहितकारक है, अतः यह सब मेरा मन स्वीकार नहीं करता है ॥ १८ ॥

इदं त्विदानीं गत एव निश्चितं
तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति
कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम्॥ १९ ॥

इस समय तुम जो कुछ कह रहे हो इससे यह भलीभाँति निश्चय होता है कि तुम पाण्डवोंके हितके लिये ही यहाँ आये थे। तुम्हारे आजके ही व्यवहारसे मैं समझ गया कि तुम मेरे हितैषी नहीं हो। मैं पाण्डवोंके लिये अपने पुत्रोंको कैसे त्याग दूँ ॥ १९ ॥

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ॥ २० ॥

इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीरसे उत्पन्न हुआ है। समताकी ओर दृष्टि रखते हुए भी कौन किसको ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरेके हितके लिये अपने शरीरका त्याग कर दो ॥ २० ॥

स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि
मानं च तेऽहमधिकं धारयामि।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं
सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ॥ २१ ॥

विदुर! मैं तुम्हारा अधिक सम्मान करता हूँ; किंतु तुम मुझे सब कुटिलतापूर्ण सलाह दे रहे हो। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, चले जाओ या रहो। तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। कुलटा स्त्रीको कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह स्वामीको त्याग ही देती है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्य-
दन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन्।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः
सम्प्राद्रवद् यत्र पार्था बभूवुः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र सहसा उठकर महलके भीतर चले गये। तब विदुरने यह कहकर कि अब इस कुलका नाश अवश्यम्भावी है, जहाँ पाण्डव थे, वहाँ चले गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरवाक्यप्रत्याख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें प्रवेश और विदुरजीका वहाँ जाकर उनसे मिलना और बातचीत करना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात् कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भरतवंशशिरोमणि पाण्डव वनवासके लिये गङ्गाजीके तटसे अपने साथियोंसहित कुरुक्षेत्रमें गये ॥ १ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

उन्होंने क्रमशः सरस्वती, दृषद्वती और यमुना नदीका सेवन करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश किया। इस प्रकार वे निरन्तर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ते गये ॥ २ ॥

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर सरस्वती-तट तथा मरुभूमि एवं वन्य प्रदेशोंकी यात्रा करते हुए उन्होंने काम्यकवनका दर्शन किया, जो ऋषि-मुनियोंके समुदायको बहुत ही प्रिय था ॥ ३ ॥

तत्र ते न्यवसन् वीरा वने बहुमृगद्विजे।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ॥ ४ ॥

भारत! उस वनमें बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे। वहाँ मुनियोंने उन्हें बिठाया और बहुत सान्त्वना दी। फिर वे वीर पाण्डव वहीं रहने लगे ॥ ३ ॥

विदुरस्त्वथ पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥

इधर विदुरजी सदा पाण्डवोंको देखनेके लिये उत्सुक रहा करते थे। वे एकमात्र रथके द्वारा काम्यकवनमें गये, जो वनोचित सम्पत्तियोंसे भरा-पूरा था ॥ ५ ॥

ततो गत्वा विदुरः काम्यकं त-
च्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते
सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥

शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा खींचे जानेवाले रथसे काम्यक वनमें पहुँचकर विदुरजीने देखा धर्मात्मा युधिष्ठिर एकान्त प्रदेशमें द्रौपदी, भाइयों तथा ब्राह्मणोंके साथ बैठे हैं ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यद् विदुरं तूर्णमारा-
दभ्यायान्तं सत्यसंधः स राजा।
अथाब्रवीद् भ्रातरं भीमसेनं
किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिरने जब बड़ी उतावलीके साथ विदुरजीको अपने निकट आते देखा, तब भाई भीमसेनसे कहा—'ये विदुरजी हमारे पास आकर न जाने क्या कहेंगे ॥७॥

कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य
समाह्वाता देवनायोपयातः।
कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि
जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥

'ये शकुनिके कहनेसे हमें फिर जूआ खेलनेके लिये बुलाने तो नहीं आ रहे हैं। कहीं नीच शकुनि हमें फिर द्यूत-सभामें बुलाकर हमारे आयुधोंको तो जीत नहीं लेगा ॥ ८ ॥

समाहूतः केनचिदाद्रवेति
नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम्।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु
राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥

'भीमसेन! आओ, कहकर यदि कोई मुझे (युद्ध या द्यूतके लिये) बुलावे, तो मैं पीछे नहीं हट सकता। ऐसी दशामें यदि हम गाण्डीव धनुष किसी तरह जूएमें हार गये, तो हमारी राज्य-प्राप्ति संशयमें पड़ जायगी' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः
प्रत्यगृह्णन् नृपते सर्व एव।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो
यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेयात् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सब पाण्डवोंने उठकर विदुरजीकी अगवानी की। उनके द्वारा किया हुआ यथोचित स्वागत-सत्कार ग्रहण करके अजमीढवंशी विदुर पाण्डवोंसे मिले ॥ १० ॥

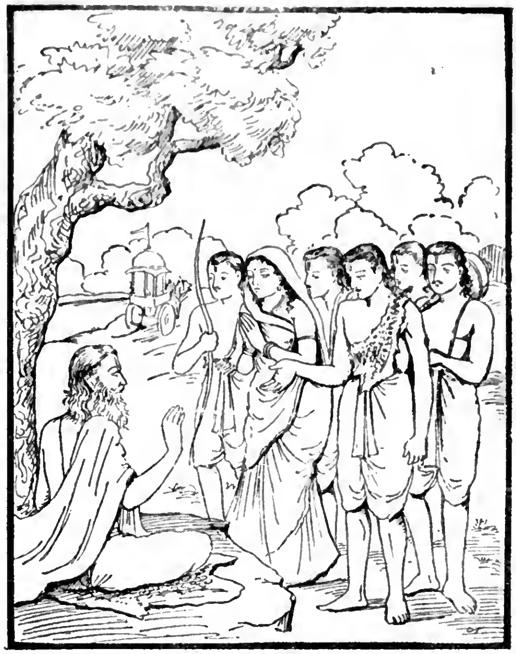

समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभा-
स्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम्।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस
यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥

विदुरजीके आदर-सत्कार पानेपर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उनसे वनमें आनेका कारण पूछा। उनके पूछनेपर विदुरने भी अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने जैसा बर्ताव किया था, वह सब विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्त-
मजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य।
एवं गते समतामभ्युपेत्य
पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥

विदुरजी बोले—अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्रने मुझे अपना रक्षक समझकर बुलाया और मेरा आदर करके कहा—'विदुर! आजकी परिस्थितिमें समभाव रखकर तुम ऐसा कोई उपाय बताओ, जो मेरे और पाण्डवोंके लिये हितकर हो' ॥ १२ ॥

मयाप्युक्तं यत् क्षेमं कौरवाणां
हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव।
तद् वै तस्मै न रुचामभ्युपैति
ततश्चाहं क्षेममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥

तब मैंने भी ऐसी बातें बतायीं, जो सर्वथा उचित तथा कौरववंश एवं धृतराष्ट्रके लिये भी हितकर और लाभदायक थीं। वह बात उनको नहीं रुची और मैं उसके सिवा दूसरी कोई बात उचित नहीं समझता था ॥ १३ ॥

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं
न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः।
यथाऽऽतुरस्येव हि पथ्यमन्नं
न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥

पाण्डवो ! मैंने दोनों पक्षके लिये परम कल्याणकी बात बतायी थी, परंतु अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने मेरी वह बात नहीं सुनी। जैसे रोगीको हितकर भोजन अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई हितकर बात भी पसंद नहीं आती ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥

अजातशत्रो ! जैसे श्रोत्रियके घरकी दुष्टा स्त्री श्रेयके मार्गपर नहीं लायी जा सकती, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको कल्याणके मार्गपर लाना असम्भव है। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई बात निश्चय ही नहीं रुचती ॥ १५ ॥

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां
न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं
जलं न तिष्ठेत् पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥ १६ ॥

राजन् ! राजा धृतराष्ट्र कल्याणकारी उपाय नहीं ग्रहण करते हैं, अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि कौरवकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। जैसे कमलके पत्तेपर डाला हुआ जल नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार कही हुई हितकर बात राजा धृतराष्ट्रके मनमें स्थान नहीं पाती है ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां
यस्मिन् श्रद्धा भारत तत्र याहि।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं
महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥

उस समय राजा धृतराष्ट्रने कुपित होकर मुझसे कहा—'भारत ! जिसपर तुम्हारी श्रद्धा हो, वहीं चले जाओ। अब मैं इस राज्य अथवा नगरका पालन करनेके लिये तुम्हारी सहायता नहीं चाहता' ॥ १७ ॥

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र।
तद् वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां
तद् धार्यतां यत् प्रवक्ष्यामि भूयः॥ १८ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने मुझे त्याग दिया है; अतः मैं तुम्हें उपदेश देनेके लिये आया हूँ। मैंने सभामें जो कुछ कहा था और पुनः इस समय जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब तुम धारण करो ॥ १८ ॥

क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः
क्षमां कुर्वन् कालमुपासते यः।
संवर्धयन् स्तोकमिवाग्निमात्मवान्
स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥

जो शत्रुओंद्वारा दुःसह कष्ट दिये जानेपर भी क्षमा करते हुए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करता है तथा जिस प्रकार थोड़ी-सी आगको भी लोग घास-फूसके द्वारा प्रज्वलित-करके बढ़ा लेते हैं, वैसे ही जो मनको वशमें रखकर अपनी शक्ति और सहायकोंको बढ़ाता है, वह अकेला ही सारी पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायै-
स्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः।
सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः
सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥ २० ॥

राजन् ! जिसका धन सहायकोंके लिये बँटा नहीं है अर्थात् जिसके धनको सहायक भी अपना ही समझकर भोगते हैं, उसके दुःखमें भी वे सब लोग हिस्सा बँटाते हैं। सहायकोंके संग्रहका यही उपाय है। सहायकोंकी प्राप्ति हो जानेपर पृथ्वीकी ही प्राप्ति हो गयी, ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं
तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य
एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! व्यर्थकी बकवादसे रहित सत्य बोलना ही श्रेष्ठ है। अपने सहायक भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर समान अन्नका भोजन करना चाहिये। उन सबके आगे अपनी मान, बड़ाई तथा पूजाकी बातें नहीं करनी चाहिये। ऐसा बर्ताव करनेवाला भूपाल सदा उन्नतिशील होता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि
परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं
तद् वै वाच्यं तत् करिष्यामि कृत्स्नम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी ! मैं उत्तम बुद्धिका आश्रय ले सतत सावधान रहकर आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा। और भी देश-कालके अनुसार आप जो कर्तव्य उचित समझें, वह बतावें। मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरनिर्वासनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयको भेजकर विदुरको वनसे बुलवाना और उनसे क्षमा-प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब विदुरजी पाण्डवोंके आश्रमपर चले गये, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १ ॥

विदुरस्य प्रभावं च संधिविग्रहकारितम्।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा, विदुर संधि और विग्रह आदिकी नीतिको अच्छी तरह जानते हैं, जिसके कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव है। वे पाण्डवोंके पक्षमें हो गये तो भविष्यमें उनका महान् अभ्युदय होगा ॥ २ ॥

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ ३ ॥

विदुरका स्मरण करके वे मोहित-से हो गये और सभाभवनके द्वारपर आकर सब राजाओंके देखते-देखते अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात्।
समीपोपस्थितं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

फिर होशमें आनेपर वे पृथ्वीसे उठ खड़े हुए और समीप आये हुए संजयसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद् धर्म इवापरः।
तस्य स्मृत्याद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ५ ॥

'संजय ! विदुर मेरे भाई और सुहृद् हैं। वे साक्षात् दूसरे धर्मके समान हैं। उनकी याद आनेसे आज मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होने लगा है ॥ ५ ॥

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै।
इति ब्रुवन् स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥

'तुम मेरे धर्मज्ञ भ्राता विदुरको शीघ्र यहाँ बुला लाओ।' ऐसा कहते हुए राजा धृतराष्ट्र दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ६ ॥

पश्चात्तापाभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र विदुरकी याद आनेसे मोहित हो पश्चात्तापसे खिन्न हो उठे और भ्रातृस्नेहवश संजयसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

गच्छ संजय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ८ ॥

'संजय ! जाओ, मेरे भाई विदुरका पता लगाओ। मुझ पापीने क्रोधवश उन्हें निकाल दिया। वे जीवित तो हैं न ? ॥

न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ ९ ॥

'अपरिमित बुद्धिवाले मेरे उन विद्वान् भाईने पहले कभी कोई छोटा-सा भी अपराध नहीं किया है ॥ ९ ॥

स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान्।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय ॥ १० ॥

'बुद्धिमान् संजय! मुझसे परम मेधावी विदुरका बड़ा अपराध हुआ। तुम जाकर उन्हें ले आओ, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा'॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति ॥ ११ ॥
सोऽचिरेण समासाद्य तद् वनं यत्र पाण्डवाः।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव पुरंदरम् ॥ १३ ॥

राजाका यह वचन सुनकर संजयने उनका आदर करते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर काम्यकवनको प्रस्थान किया। जहाँ पाण्डव रहते थे, उस वनमें शीघ्र ही पहुँचकर संजयने देखा, राजा युधिष्ठिर मृगचर्म धारण करके विदुरजी तथा सहस्रों ब्राह्मणोंके साथ बैठे हुए हैं और देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति अपने भाइयोंसे सुरक्षित हैं ॥ ११–१३ ॥

युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास संजयः।
भीमार्जुनयमांश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरके पास पहुँचकर संजयने उनका सम्मान किया।

फिर भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवने संजयका यथोचित सत्कार किया ॥ १४ ॥

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च संजयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

राजा युधिष्ठिरके कुशल-प्रश्न करनेके पश्चात् जब संजय सुखपूर्वक बैठ गया, तब अपने आनेका कारण बताते हुए उसने इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

संजय उवाच

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥ १६ ॥

संजयने कहा--विदुरजी ! अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र आपको स्मरण करते हैं । आप जल्दी चलकर उनसे मिलिये और उन्हें जीवनदान दीजिये ॥ १६ ॥

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान् पाण्डवान् कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद् राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ॥ १७ ॥

साधुशिरोमणे ! आप कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे आदरपूर्वक विदा लेकर महाराजके आदेशसे शीघ्र उनके पास चलें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवत्सलः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ १८ ॥
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! स्वजनोंके परम प्रिय बुद्धिमान् विदुरजीसे जब संजयने इस प्रकार कहा, तब वे युधिष्ठिरकी अनुमति लेकर फिर हस्तिनापुरमें आये । वहाँ महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने उनसे कहा--'धर्मज्ञ विदुर ! तुम आ गये, यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है । अनघ ! यह भी मेरे सौभाग्यकी बात है कि तुम मुझे भूले नहीं ॥

अद्य रात्रौ दिवा चाहं त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ २० ॥

'भरतकुलभूषण ! मैं आज दिन-रात तुम्हारे लिये जागते रहनेके कारण अपने शरीरकी विचित्र दशा देख रहा हूँ' ॥

सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने विदुरको अपने हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघते हुए कहा--'निष्पाप

विदुर ! मैंने तुमसे जो अप्रिय बात कह दी है, उसके लिये मुझे क्षमा करो' ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

क्षान्तमेव मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान् ।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २२ ॥
भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥ २३ ॥

विदुरने कहा--राजन् ! मैंने तो सब क्षमा कर ही दिया है । आप मेरे परम गुरु हैं । मैं शीघ्रतापूर्वक आपके दर्शनके लिये आया हूँ । नरश्रेष्ठ ! धर्मात्मा पुरुष दीन जनोंकी ओर अधिक झुकते हैं । आपको इसके लिये मनमें विचार नहीं करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान् प्रति ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही आपके भी । परंतु पाण्डव इन दिनों दीन दशामें हैं, अतः इनके प्रति मेरे हृदयका झुकाव हो गया ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! वे दोनों महातेजस्वी भाई विदुर और धृतराष्ट्र एक-दूसरेसे अनुनय-विनय करके अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरप्रत्यागमने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरप्रत्यागमनविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्णकी सलाह, पाण्डवोंका वध करनेके लिये उनका वनमें जानेकी तैयारी तथा व्यासजीका आकर उनको रोकना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुर आ गये और राजा धृतराष्ट्रने उन्हें सान्त्वना देकर रख लिया, यह सुनकर दुष्ट बुद्धिवाला धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधन संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा ।
अब्रवीद् वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः ॥ २ ॥

उसने शकुनि, कर्ण और दुःशासनको बुलाकर अज्ञान-जनित मोहमें मग्न हो इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद् विद्वान् हिते रतः ॥ ३ ॥

'बुद्धिमान् पिताजीका यह मन्त्री विदुर फिर लौट आया। विदुर विद्वान् होनेके साथ ही पाण्डवोंका सुहृद् और उन्हींके हितसाधनमें संलग्न रहनेवाला है ॥ ३ ॥

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति ।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ॥ ४ ॥

'यह पिताजीके विचारको पुनः पाण्डवोंके लौटा लानेकी ओर जबतक नहीं खींचता, तभीतक मेरे हितसाधनके विषयमें तुमलोग कोई उत्तम सलाह दो ॥ ४ ॥

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथंचन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः ॥ ५ ॥

'यदि मैं किसी प्रकार पाण्डवोंको यहाँ आया देख लूँगा, तो जलका भी परित्याग करके स्वेच्छासे अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ५ ॥

विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ ६ ॥

'मैं जहर खा लूँगा, फाँसी लगा लूँगा, अपने आपको ही शस्त्रसे मार दूँगा अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु पाण्डवोंको फिर बढ़ते या फलते-फूलते नहीं देख सकूँगा' ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशाम्पते ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ॥ ७ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! तुम भी क्या नादान बच्चोंके-से विचार रखते हो ? पाण्डव प्रतिज्ञा करके वनमें गये हैं। वे उस प्रतिज्ञाको तोड़कर लौट आवें, ऐसा कभी नहीं होगा ॥

सत्यवाक्यस्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! सब पाण्डव सत्य वचनका पालन करनेमें संलग्न हैं। तात ! वे तुम्हारे पिताकी बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ८ ॥

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम् ।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति ॥ ९ ॥

अथवा यदि वे तुम्हारे पिताकी बात मान लेंगे और प्रतिज्ञा तोड़कर इस नगरमें आ जायँगे, तो हमारा व्यवहार इस प्रकार होगा ॥ ९ ॥

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः ।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ॥ १० ॥

हम सब लोग राजाकी आज्ञाका पालन करते हुए मध्यस्थ हो जायँगे और छिपे-छिपे पाण्डवोंके बहुत-से छिद्र देखते रहेंगे ॥ १० ॥

दुःशासन उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल ।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते ॥ ११ ॥

दुःशासनने कहा—महाबुद्धिमान् मामाजी ! आप जैसा कहते हैं, वही मुझे भी ठीक जान पड़ता है। आपके मुखसे जो विचार प्रकट होता है, वह मुझे सदा अच्छा लगता है ॥

कर्ण उवाच

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम् ।
ऐकमत्यं हि नो राजन् सर्वेषामेव लक्षये ॥ १२ ॥

कर्ण बोला--दुर्योधन ! हम सब लोग तुम्हारी अभिलषित कामनाकी पूर्तिके लिये सचेष्ट हैं। राजन् ! इस विषयमें हम सभीका एक मत दिखायी देता है ॥ १२ ॥

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम् ।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात् पुनर्द्यूतेन ताञ्जय ॥ १३ ॥

धीरबुद्धि पाण्डव निश्चित समयकी अवधिको पूर्ण किये बिना यहाँ नहीं आयँगे और यदि वे मोहवश आ भी जायँ, तो तुम पुनः जूएके द्वारा उन्हें जीत लेना ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत् स पराङ्मुखः ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णके ऐसा कहनेपर उस समय राजा दुर्योधनको अधिक प्रसन्नता नहीं हुई। उसने तुरंत ही अपना मुँह फेर लिया ॥ १४ ॥

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे।
रोषाद् दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ॥ १५ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना।
अथो मम मतं यत् तु तन्निबोधत भूमिपाः ॥ १६ ॥

तब उसके आशयको समझकर कर्णने रोषसे अपनी सुन्दर आँखें फाड़कर दुःशासन, शकुनि और दुर्योधनकी ओर देखते हुए स्वयं ही उत्साहमें भरकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—'भूमिपालो ! इस विषयमें मेरा जो मत है, उसे सुन लो ॥ १५-१६ ॥

प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किङ्करपाणयः।
न चास्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्द्रिताः ॥ १७ ॥

'हम सब लोग राजा दुर्योधनके किंकर और भुजाएँ हैं; अतः हम सब मिलकर इनका प्रिय कार्य करेंगे; परंतु हम आलस्य छोड़कर इनके प्रियसाधनमें लग नहीं पाते ॥ १७ ॥

वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान् वनगोचरान् ॥ १८ ॥

'मेरी राय यह है कि हम कवच पहनकर अपने-अपने रथपर आरूढ़ हो अस्त्र-शस्त्र लेकर वनवासी पाण्डवोंको मारनेके लिये एक साथ उनपर धावा करें ॥ १८ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम्।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥ १९ ॥

'जब वे सभी मरकर शान्त हो जायँ और अज्ञात गतिको अर्थात् परलोकको पहुँच जायँ तब धृतराष्ट्रके पुत्र तथा हम सब लोग सारे झगड़ोंसे दूर हो जायँगे ॥ १९ ॥

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥ २० ॥

'वे जबतक क्लेशमें पड़े हैं, जबतक शोकमें डूबे हुए हैं और जबतक मित्रों एवं सहायकोंसे वञ्चित हैं, तभीतक युद्धमें जीते जा सकते हैं, मेरा तो यही मत है' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २१ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर सबने बार-बार उसकी सराहना की और कर्णकी बातके उत्तरमें सबके मुखसे यही निकला—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक्।
निर्ययुः पाण्डवान् हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ॥ २२ ॥

इस प्रकार आपसमें बातचीत करके रोष और जोशमें भरे हुए वे सब पृथक्-पृथक् रथोंपर बैठकर पाण्डवोंके वधका निश्चय करके एक साथ नगरसे बाहर निकले ॥ २२ ॥

तान् प्रस्थितान् परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ २३ ॥

उन्हें वनकी ओर प्रस्थान करते जान शक्तिशाली महर्षि शुद्धात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास दिव्य दृष्टिसे सब कुछ देखकर सहसा वहाँ आये ॥ २३ ॥

प्रतिषिध्याथ तान् सर्वान् भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥ २४ ॥

उन लोकपूजित भगवान् व्यासने उन सबको रोका और सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रके पास शीघ्र आकर कहा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासागमने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासजीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका धृतराष्ट्रसे दुर्योधनके अन्यायको रोकनेके लिये अनुरोध

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र ! तुम मेरी बात सुनो; मैं तुम्हें समस्त कौरवोंके हितकी उत्तम बात बताता हूँ ॥

न मे प्रियं महाबाहो यद् गताः पाण्डवा वनम्।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग जो वनमें भेजे गये हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है। दुर्योधन आदिने उन्हें छलपूर्वक जूएमें हराया है ॥ २ ॥

ते स्मरन्तः परिक्लेशान् वर्षे पूर्णे त्रयोदशे।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥ ३ ॥

भारत ! वे तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर अपनेको दिये हुए क्लेश याद करके कुपित हो कौरवोंपर विष उगलेंगे अर्थात् विषके समान घातक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करेंगे ॥ ३ ॥

तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः।
पाण्डवान् नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥

ऐसा जानते हुए भी तुम्हारा यह पापात्मा एवं मूर्ख पुत्र क्यों सदा रोषमें भरा रहकर राज्यके लिये पाण्डवोंका वध करना चाहता है ? ॥ ४ ॥

वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन् प्राणान् विमोक्ष्यति॥ ५ ॥

तुम इस मूढ़को रोको। तुम्हारा यह पुत्र शान्त हो जाय। यदि इसने वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा की, तो यह स्वयं ही अपने प्राणोंको खो बैठेगा ॥ ५ ॥

यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम्।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि ॥ ६ ॥

जैसे ज्ञानी विदुर, भीष्म, मैं, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य हैं, वैसे ही साधुस्वभाव तुम भी हो ॥ ६ ॥

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन् प्रतिपद्यताम् ॥ ७ ॥

महाप्राज्ञ ! स्वजनोंके साथ कलह अत्यन्त निन्दित माना गया है। वह अधर्म एवं अयश बढ़ानेवाला है; अतः राजन् ! तुम स्वजनोंके साथ कलहमें न पड़ो ॥ ७ ॥

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान् प्रति भारत।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् महान्तमनयं स्पृशेत् ॥ ८ ॥

भारत ! पाण्डवोंके प्रति इस दुर्योधनका जैसा विचार है, यदि उसकी उपेक्षा की गयी—उसका शमन न किया गया, तो उसका वह विचार महान् अत्याचारकी सृष्टि कर सकता है ॥

अथवायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान् ॥ ९ ॥

अथवा तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र अकेला ही दूसरे किसी सहायकको लिये बिना पाण्डवोंके साथ वनमें जाय ॥ ९ ॥

ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः।
यदि स्यात् कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ॥ १० ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ पाण्डवोंके संसर्गमें रहनेसे तुम्हारे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें स्नेह हो जाय, तो तुम आज भी कृतार्थ हो जाओगे ॥ १० ॥

अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति ॥ ११ ॥
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा।
भवान् वात्र क्षमं कार्यं पुरा वोऽर्थोऽभिवर्धते ॥ १२ ॥

किंतु महाराज ! जन्मके समय किसी वस्तुका जैसा स्वभाव बन जाता है, वह दूर नहीं होता। भले ही वह वस्तु अमृत ही क्यों न हो ? यह बात मेरे सुननेमें आयी है। अथवा इस विषयमें भीष्म, द्रोण, विदुर या तुम्हारी क्या सम्मति है ? यहाँ जो उचित हो, वह कार्य पहले करना चाहिये, उसीसे तुम्हारे प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। ११-१२।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा सुरभि और इन्द्रके उपाख्यानका वर्णन तथा उनका पाण्डवोंके प्रति दया दिखलाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन् नाहमप्येतद् रोचये द्यूतसम्भवम्।
मन्ये तद्विधिनाऽऽकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—भगवन् ! यह जूएका खेल मुझे भी पसंद नहीं था। मुने ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि विधाताने मुझे बलपूर्वक खींचकर इस कार्यमें लगा दिया ॥ १ ॥

नैतद् रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तच्च मोहात् प्रवर्तितम्॥ २ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरको भी यह द्यूतका आयोजन अच्छा नहीं लगता था। गान्धारी भी नहीं चाहती थी कि जूआ खेला जाय; परंतु मैंने मोहवश सबको जूएमें लगा दिया ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम्।
पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि प्रियव्रत ॥ ३ ॥

भगवन् ! प्रियव्रत ! मैं यह जानता हूँ कि दुर्योधन अविवेकी है, तो भी पुत्रस्नेहके कारण मैं उसका त्याग नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान्।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ॥ ४ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! विचित्रवीर्यनन्दन ! तुम ठीक कहते हो, हम अच्छी तरह जानते हैं कि पुत्र परम प्रिय वस्तु है। पुत्रसे बढ़कर संसारमें और कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम् ॥ ५ ॥

सुरभिने पुत्रके लिये आँसू बहाकर इन्द्रको भी यह बात समझायी थी, जिससे वे अन्य समृद्धिशाली पदार्थोंसे सम्पन्न होनेपर भी पुत्रसे बढ़कर दूसरी किसी वस्तुको नहीं मानते हैं ॥ ५ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशाम्पते ॥ ६ ॥

जनेश्वर ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक परम उत्तम इतिहास सुनाता हूँ; जो सुरभि तथा इन्द्रके संवादके रूपमें है ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपगता राजन् सुरभी प्रारुदत् किल।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ७ ॥

राजन् ! पहलेकी बात है, गोमाता सुरभि स्वर्गलोकमें जाकर फूट-फूटकर रोने लगी। तात ! उस समय इन्द्रको उसपर बड़ी दया आयी ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम्।
मानुषेष्वथ वा गोषु नैतदल्पं भविष्यति ॥ ८ ॥

इन्द्रने पूछा—शुभे ! तुम क्यों इस तरह रो रही हो ? देवलोकवासियोंकी कुशल तो है न ? मनुष्यों तथा गौओंमें तो सब लोग कुशलसे हैं न ? तुम्हारा यह रोदन किसी अल्प कारणसे नहीं हो सकता ? ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच

विनिपातो न वः कश्चिद् दृश्यते त्रिदशाधिप।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ॥ ९ ॥

सुरभिने कहा—देवेश्वर ! आपलोगोंकी अवनति नहीं दिखायी देती। इन्द्र ! मुझे तो अपने पुत्रके लिये शोक हो रहा है, इसीसे रोती हूँ ॥ ९ ॥

पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम्।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ॥ १० ॥

देखो, इस नीच किसानको जो मेरे दुर्बल बेटेको बार-बार कोड़ेसे पीट रहा है और वह हलसे जुतकर अत्यन्त पीड़ित हो रहा है ॥ १० ॥

निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराधिप।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम।
एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ॥ ११ ॥
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसंततः।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ॥ १२ ॥
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ॥ १३ ॥

सुरेश्वर ! वह तो विश्रामके लिये उत्सुक होकर बैठ रहा है और वह किसान उसे डंडे मारता है। देवेन्द्र ! यह देखकर मुझे अपने बच्चेके प्रति बड़ी दया हो आयी है और मेरा मन उद्विग्न हो उठा है। वहाँ दो बैलोंमेंसे एक तो बलवान् है, जो भारयुक्त जुएको खींच सकता है; परंतु दूसरा निर्बल है, प्राणशून्य-सा जान पड़ता है। वह इतना दुबला-पतला हो गया है कि उसके सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ दीख रही हैं। वह बड़े कष्टसे उस भारयुक्त जुएको खींच पाता है। वासव ! मुझे उसीके लिये शोक हो रहा है। इन्द्र ! देखो-देखो, चाबुकसे मार-मारकर उसे बार-बार पीड़ा दी जा रही है, तो भी उस जुएके भारको वहन करनेमें वह असमर्थ हो रहा है। ११–१३॥

ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥

यही देखकर मैं शोकसे पीड़ित हो अत्यन्त दुखी हो गयी हूँ और करुणामग्न हो दोनों नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई रो रही हूँ ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने।
किं कृपायितवत्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति ॥ १५ ॥

इन्द्रने कहा—कल्याणी ! तुम्हारे तो सहस्रों पुत्र इसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, फिर तुमने एक ही पुत्रके मार खानेपर यहाँ इतनी करुणा क्यों दिखायी ? ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच

यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥ १६ ॥

सुरभि बोली—देवेन्द्र ! यदि मेरे सहस्रों पुत्र हैं, तो मैं उन सबके प्रति समान भाव ही रखती हूँ; परंतु दीन-दुखी पुत्रके प्रति अधिक दया उमड़ आती है ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥

व्यासजी कहते हैं—कुरुराज ! सुरभिकी यह बात सुनकर इन्द्र बड़े विस्मित हो गये। तबसे वे पुत्रको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानने लगे ॥ १७ ॥

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम्।
कर्षकस्याचरन् विघ्नं भगवान् पाकशासनः ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ पाकशासन भगवान् इन्द्रने किसानके कार्यमें विघ्न डालते हुए सहसा भयंकर वर्षा की ॥ १८ ॥

तद् यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा।
सुतेषु राजन् सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥

इस प्रसङ्गमें सुरभिने जैसा कहा है, वह ठीक है; कौरव और पाण्डव सभी मिलकर तुम्हारे ही पुत्र हैं। परंतु राजन् ! सब पुत्रोंमें जो हीन हों, दयनीय दशामें पड़े हों, उन्हींपर अधिक कृपा होनी चाहिये ॥ १९ ॥

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक।
विदुरश्च महाप्राज्ञ स्नेहादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

वत्स ! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र हैं, वैसे ही तुम भी हो उसी प्रकार महाज्ञानी विदुर भी हैं। मैंने स्नेहवश ही तुमसे ये बातें कही है ॥ २० ॥

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः॥ २१॥

भारत! दीर्घकालसे तुम्हारे एक सौ एक पुत्र हैं; किंतु पाण्डुके पाँच ही पुत्र देखे जाते हैं। वे भी भोले-भाले, छल-कपटसे रहित हैं और अत्यन्त दुःख उठा रहे हैं॥ २१॥

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते॥ २२॥

'वे कैसे जीवित रहेंगे और कैसे वृद्धिको प्राप्त होंगे?' इस प्रकार कुन्तीके उन दीन पुत्रोंके प्रति सोचते हुए मेरे मनमें बड़ा संताप होता है॥ २२॥

यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः॥ २३॥

राजन्! यदि तुम चाहते हो कि समस्त कौरव यहाँ जीवित रहें, तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंसे मेल करके शान्ति-पूर्वक रहे॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें सुरभि-उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९॥

दशमोऽध्यायः

व्यासजीका जाना, मैत्रेयजीका धृतराष्ट्र और दुर्योधनसे पाण्डवोंके प्रति सद्भावका अनुरोध तथा दुर्योधनके अशिष्ट व्यवहारसे रुष्ट होकर उसे शाप देना

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—महाप्राज्ञ मुने! आप जैसा कहते हैं, यही ठीक है। मैं भी इसे ही ठीक मानता हूँ तथा ये सब राजालोग भी इसीका अनुमोदन करते हैं॥ १॥

भवांश्च मन्यते साधु यत् कुरूणां महोदयम्।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने॥ २॥

मुने! आप भी वही उत्तम मानते हैं, जो कुरुवंशके महान् अभ्युदयका कारण है। मुने! यही बात विदुर, भीष्म और द्रोणाचार्यने भी मुझे कही है॥ २॥

यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि।
अन्वशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम॥ ३॥

यदि आपका मुझपर अनुग्रह है और यदि कौरवकुलपर आपकी दया है तो आप मेरे दुरात्मा पुत्र दुर्योधनको स्वयं ही शिक्षा दीजिये॥ ३॥

व्यास उवाच

अयमायाति वै राजन् मैत्रेयो भगवानृषिः।
अन्विष्य पाण्डवान् भ्रातॄनिहैत्यस्मद्दिदृक्षया॥ ४॥

व्यासजीने कहा—राजन्! ये महर्षि भगवान् मैत्रेय आ रहे हैं। पाँचों पाण्डवबन्धुओंसे मिलकर अब ये हमलोगोंसे मिलनेके लिये यहाँ आते हैं॥ ४॥

एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन् महानृषिः।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च॥ ५॥

महाराज! ये महर्षि ही इस कुलकी शान्तिके लिये तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको यथायोग्य शिक्षा देंगे॥ ५॥

ब्रूयाद् यदेष कौरव्य तत् कार्यमविशङ्कया।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा॥ ६॥

कुरुनन्दन! मैत्रेय जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये। यदि उनके बताये हुए कार्यकी अवहेलना की गयी तो वे कुपित होकर तुम्हारे पुत्रको शाप दे देंगे॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर व्यासजी चले गये और मैत्रेयजी आते हुए दिखायी दिये। राजा धृतराष्ट्रने पुत्रसहित उनकी अगवानी की और स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया॥ ७॥

अर्घ्याद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम्।
प्रश्रयेणाब्रवीद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः॥ ८॥

पाद्य, अर्घ्य आदि उपचारोंद्वारा पूजित हो जब मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय विश्राम कर चुके, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने नम्रतापूर्वक पूछा—॥ ८॥

सुखेनागमनं कच्चिद् भगवन् कुरुजाङ्गलान्।
कच्चित् कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः॥ ९॥

'भगवन्! इस कुरुदेशमें आपका आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न? वीर भ्राता पाँचों पाण्डव तो कुशलसे हैं न?॥

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चित् च भरतर्षभाः।
कच्चित् कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति॥ १०॥

'क्या वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहना चाहते हैं? क्या कौरवोंमें उत्तम भ्रातृभाव अखण्ड बना रहेगा?'॥ १०॥

मैत्रेय उवाच

तीर्थयात्रामनुक्रामन् प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान् काम्यके वने ॥ ११ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! मैं तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे घूमता हुआ अकस्मात् कुरुजाङ्गल देशमें चला आया हूँ । काम्यकवनमें धर्मराज युधिष्ठिरसे भी मेरी भेंट हुई थी॥११॥

तं जटाजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! जटा और मृगचर्म धारण करके तपोवनमें निवास करनेवाले उन महात्मा धर्मराजको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से मुनि पधारे थे ॥ १२ ॥

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥ १३ ॥

महाराज ! वहीं मैंने सुना कि तुम्हारे पुत्रोंकी बुद्धि भ्रान्त हो गयी है । वे द्यूतरूपी अनीतिमें प्रवृत्त हो गये और इस प्रकार जूएके रूपमें उनके ऊपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ॥ १४ ॥

यह सुनकर मैं कौरवोंकी दशा देखनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ । राजन् ! तुम्हारे ऊपर सदासे ही मेरा स्नेह और प्रेम अधिक रहा है ॥ १४ ॥

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योन्येन ते पुत्रा विरुध्यन्ते कथंचन ॥ १५ ॥

महाराज ! तुम्हारे और भीष्मके जीते-जी यह उचित नहीं जान पड़ता कि तुम्हारे पुत्र किसी प्रकार आपसमें विरोध करें ॥ १५ ॥

मेढीभूतः स्वयं राजन् निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥ १६ ॥

महाराज ! तुम स्वयं इन सबको बाँधकर नियन्त्रणमें रखनेके लिये खम्भेके समान हो; फिर पैदा होते हुए इस घोर अन्यायकी क्यों उपेक्षा कर रहे हो ॥ १६ ॥

दस्यूनामिव यद् वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
येन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारी सभामें डाकुओंकी भाँति जो बर्ताव किया गया है, उसके कारण तुम तपस्वी मुनियोंके समुदायमें शोभा नहीं पा रहे हो ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महर्षि भगवान् मैत्रेय अमर्षशील राजा दुर्योधनकी ओर मुड़कर उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ १८ ॥

मैत्रेय उवाच

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतां वर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ॥ १९ ॥

मैत्रेयजीने कहा—महाबाहु दुर्योधन ! तुम वक्ताओंमें श्रेष्ठ हो; मेरी एक बात सुनो । महाभाग ! मैं तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ ॥ १९ ॥

मा द्रुहः पाण्डवान् राजन् कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ॥ २० ॥

राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्रोह न करो । नरश्रेष्ठ ! अपना, पाण्डवोंका, कुरुकुलका तथा सम्पूर्ण जगत्का प्रिय साधन करो ॥

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ सब पाण्डव शूरवीर, पराक्रमी और युद्ध-कुशल हैं । उन सबमें दस हजार हाथियोंका बल है । उनका शरीर वज्रके समान दृढ़ है ॥ २१ ॥

सत्यव्रतधराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ २२ ॥
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।

वे सब-के-सब सत्यव्रतधारी और अपने पौरुषपर अभिमान रखनेवाले हैं । इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले देवद्रोही हिडिम्ब आदि राक्षसोंका तथा राक्षसजातीय किर्मीरका वध भी उन्होंने ही किया है ॥ २२½ ॥

इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ॥ २३ ॥
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनां वरः ॥ २४ ॥
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् यथा भीमेन पातितः ॥ २५ ॥
जरासंधो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ॥ २६ ॥

यहाँसे रातमें जब वे महात्मा पाण्डव चले जा रहे थे, उस समय उनका मार्ग रोककर भयंकर और पर्वतके समान विशालकाय किर्मीर उनके सामने खड़ा हो गया । युद्धकी श्लाघा रखनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस राक्षसको बलपूर्वक पकड़कर पशुकी तरह वैसे ही मार डाला, जैसे व्याघ्र छोटे मृगको मार डालता है । राजन् ! देखो, दिग्विजयके समय भीमसेनने उस महान् धनुर्धर राजा जरासंध-को भी युद्धमें मार गिराया, जिसमें दस हजार हाथियों-का बल था । (यह भी स्मरण रखना चाहिये कि) वसुदेव-

नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी हैं तथा द्रुपदके सभी पुत्र उनके साले हैं ॥ २३–२६ ॥

कस्तान् युधि समासीत जरामरणवान् नरः ।
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ॥ २७ ॥

जरा और मृत्युके वशमें रहनेवाला कौन मनुष्य युद्धमें उन पाण्डवोंका सामना कर सकता है । भरतकुलभूषण ! ऐसे महापराक्रमी पाण्डवोंके साथ तुम्हें शान्तिपूर्वक मिलकर ही रहना चाहिये ॥ २७ ॥

कुरु मे वचनं राजन् मा मन्युवशमन्वगाः ।

राजन् ! तुम मेरी बात मानो; क्रोधके वशमें न होओ ॥ २७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ।
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन् महीम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मैत्रेयजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय दुर्योधनने मुसकराकर हाथीके सूँड़के समान अपनी जाँघको हाथसे ठोंका और पैरसे पृथ्वीको कुरेदने लगा ॥ २८-२९ ॥

न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुंधराम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन् मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

उस दुर्बुद्धिने मैत्रेयजीको कुछ भी उत्तर न दिया । वह अपने मुँहको कुछ नीचा किये चुपचाप खड़ा रहा । राजन् ! मैत्रेयजीने देखा, दुर्योधन सुनना नहीं चाहता, वह पैरोंसे धरतीको कुरेद रहा है । यह देख उनके मनमें क्रोध जाग उठा । फिर तो वे मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय कोपके वशीभूत हो गये ॥ ३०-३१ ॥

विधिना सम्प्रणुदितः शापायास्य मनो दधे ।
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद् दुष्टचेतसम् ॥ ३२ ॥

विधातासे प्रेरित होकर उन्होंने दुर्योधनको शाप देनेका विचार किया । तदनन्तर मैत्रेयने क्रोधसे लाल आँखें करके जलका आचमन किया और उस दुष्ट चित्तवाले धृतराष्ट्रपुत्रको इस प्रकार शाप दिया—॥ ३२ ॥

यस्मात् त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

'दुर्योधन ! तू मेरा अनादर करके मेरी बात मानना

नहीं चाहता; अतः तू इस अभिमानका तुरंत फल पा ले ॥ ३३ ॥

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३४ ॥

'तेरे द्रोहके कारण बड़ा भारी युद्ध छिड़ेगा, उसमें बलवान् भीमसेन अपनी गदाकी चोटसे तेरी जाँघ तोड़ डालेंगे' ॥ ३४ ॥

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ॥ ३५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने मुनिको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन् ! ऐसा न हो' ३५ ॥

मैत्रेय उवाच

शमं यास्यति चेत् पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥ ३६ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! जब तुम्हारा पुत्र शान्ति धारण करेगा (पाण्डवोंसे वैर-विरोध न करके मेल-मिलाप कर लेगा), तब यह शाप इसपर लागू न होगा । तात ! यदि इसने विपरीत बर्ताव किया, तो यह शाप इसे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दुर्योधनके पिता महाराज धृतराष्ट्रने भीमसेनके बलका विशेष परिचय

पानेके लिये मैत्रेयजीसे पूछा—'मुने ! भीमने किर्मीरको कैसे मारा ?' ॥ ३७ ॥

मैत्रेय उवाच

नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३८ ॥

मैत्रेयजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा पुत्र मेरी बात सुनना नहीं चाहता, अतः मैं तुमसे इस समय फिर कुछ नहीं कहूँगा । ये विदुरजी मेरे चले जानेपर वह सारा प्रसंग तुम्हें बतायेंगे ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथाऽऽगतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मैत्रेयजी जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । किर्मीरवधका समाचार सुनकर उद्विग्न हो दुर्योधन भी बाहर निकल गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि मैत्रेयशापे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें मैत्रेयशापविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(किर्मीरवधपर्व)

एकादशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा किर्मीरके वधकी कथा

धृतराष्ट्र उवाच

किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत् समागमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! मैं किर्मीरवधका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ, कहो । उस राक्षसके साथ भीमसेनकी मुठभेड़ कैसे हुई ? ॥ १ ॥

विदुर उवाच

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मानवशक्तिसे अतीत कर्म करनेवाले भीमसेनके इस भयानक कर्मको आप सुनिये, जिसे मैंने उन पाण्डवोंके कथाप्रसङ्गमें (ब्राह्मणोंसे) बार-बार सुना है ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद् वनम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! पाण्डव जूएमें पराजित होकर जब यहाँसे गये, तब तीन दिन और तीन रातमें काम्यकवनमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे त्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तद् वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात् परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात् किल ॥ ५ ॥

आधी रातके भयंकर समयमें, जब कि भयानक कर्म करनेवाले नरभक्षी राक्षस विचरते रहते हैं, तपस्वी मुनि और वनचारी गोपगण भी उस राक्षसके भयसे उस वनको दूरसे ही त्याग देते थे ॥ ४-५ ॥

तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥

भारत ! उस वनमें प्रवेश करते ही वह राक्षस उनका मार्ग रोककर खड़ा हो गया । उसकी आँखें चमक रही थीं । वह भयानक राक्षस मशाल लिये आया था ॥ ६ ॥

बाहू महान्तौ कृत्वा तु तथाऽऽस्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ॥ ७ ॥

अपनी दोनों भुजाओंको बहुत बड़ी करके मुँहको भयानक रूपसे फैलाकर वह उसी मार्गको घेरकर खड़ा हो गया, जिससे वे कुरुवंशशिरोमणि पाण्डव यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ८ ॥

उसकी आठ दाढ़ें स्पष्ट दिखायी देती थीं, आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं एवं सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए और प्रज्वलित-से जान पड़ते थे । उसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्यकी किरणों, विद्युन्मण्डल और बकपङ्क्तियोंके साथ मेघ शोभा पा रहा हो ॥ ८ ॥

सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ।
मुञ्चन्तं विपुलान् नादान् सतोयमिव तोयदम् ॥ ९ ॥

वह भयंकर गर्जनाके साथ राक्षसी मायाकी सृष्टि कर रहा था ! सजल जलधरके समान जोर-जोरसे सिंहनाद करता था ॥ ९ ॥

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतोदिशम् ।
विमुक्तनादाः सम्पेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥ १० ॥

उसकी गर्जनासे भयभीत हुए स्थलचर पक्षी जलचर पक्षियोंके साथ चीं-चीं करते हुए सब दिशाओंमें भाग चले ॥

सम्प्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम्।
तद् वनं तस्य नादेन सम्प्रस्थितमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भागते हुए मृग, भेड़िये, भैंसे तथा रीछोंसे भरा हुआ वह वन उस राक्षसकी गर्जनासे ऐसा हो गया, मानो वह ही भाग रहा हो ॥ ११ ॥

तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ॥ १२ ॥

उसकी जाँघोंकी हवाके वेगसे आहत हो ताम्रवर्णके पल्लवरूपी बाँहोंद्वारा सुशोभित दूरकी लताएँ भी मानो वृक्षोंसे लिपटी जाती थीं ॥ १२ ॥

तस्मिन् क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥ १३ ॥

इसी समय बड़ी प्रचण्ड वायु चलने लगी । उसकी उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित हो आकाशके तारे भी अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः।
पञ्चानामिन्द्रियाणां तु शोकावेश इवातुलः ॥ १४ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियोंको अकस्मात् अतुलित शोकावेश प्राप्त हो जाय, उसी प्रकार पाँचों पाण्डवोंका वह तुलनारहित महान् शत्रु सहसा उनके पास आ पहुँचा; पर पाण्डवोंको उस राक्षसका पता नहीं था ॥ १४ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवान् दूरात् कृष्णाजिनसमावृतान्।
आवृणोत् तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥

उसने दूरसे ही पाण्डवोंको कृष्णमृगचर्म धारण किये आते देख मैनाक पर्वतकी भाँति उस वनके प्रवेश-द्वारको घेर लिया ॥ १५ ॥

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥

उस अदृष्टपूर्व राक्षसके निकट पहुँचकर कमललोचना कृष्णाने भयभीत हो अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥१६॥

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥ १७ ॥

दुःशासनके हाथोंसे खुले हुए उसके केश सब ओर बिखरे हुए थे । वह पाँच पर्वतोंके बीचमें पड़ी हुई नदीकी भाँति व्याकुल हो उठी ॥ १७ ॥

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥ १८ ॥

उसे मूर्छित होती हुई देख पाँचों पाण्डवोंने सहारा देकर उसी तरह थाम लिया, जैसे विषयोंमें आसक्त हुई इन्द्रियाँ तत्सम्बन्धी अनुरक्तिको धारण किये रहती हैं ॥१८॥

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम्।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ॥ १९ ॥
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान्।
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ २० ॥
काममूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत।
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वहाँ प्रकट हुई अत्यन्त भयानक राक्षसी मायाको देख शक्तिशाली धौम्य मुनिने अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए राक्षसविनाशक विविध मन्त्रोंद्वारा पाण्डवोंके देखते-देखते उस मायाका नाश कर दिया । माया नष्ट होते ही वह अत्यन्त बलवान् एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला क्रूर राक्षस क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखता हुआ कालके समान दिखायी देने लगा । उस समय परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उससे पूछा—॥ १९—२१ ॥

को भवान् कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम्।
प्रत्युवाचाथ तद् रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२२॥

'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो अथवा तुम्हारा कौन-सा कार्य सम्पादन किया जाय ? यह सब बताओ ।' तब उस राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ २२ ॥

अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः।
वनेऽस्मिन् काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ॥ २३ ॥

'मैं बकका भाई हूँ, मेरा नाम किर्मीर है, इस निर्जन काम्यकवनमें निवास करता हूँ । यहाँ मुझे किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है ॥ २३ ॥

युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन्।
के यूयमभिसम्प्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम्।
युधि निर्जित्य वः सर्वान् भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥ २४ ॥

'यहाँ आये हुए मनुष्योंको युद्धसे जीतकर सदा उन्हींको खाया करता हूँ । तुमलोग कौन हो ? जो स्वयं ही मेरा आहार बननेके लिये मेरे निकट आ गये ? मैं तुम सबको युद्धमें परास्त करके निश्चिन्त हो अपना आहार बनाऊँगा' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! उस दुरात्माकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसे गोत्र एवं नाम आदि सब बातोंका परिचय दिया ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥ २६ ॥

हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हूँ । सम्भव है, मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें भी पड़ा हो । इस समय मेरा राज्य शत्रुओंने जूएमें हरण कर लिया है । अतः मैं भीमसेन, अर्जुन आदि सब भाइयोंके साथ वनमें रहनेका निश्चय करके तुम्हारे निवासस्थान इस घोर काम्यकवनमें आया हूँ ॥ २६-२७ ॥

विदुर उवाच

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! तब किर्मीरने युधिष्ठिरसे कहा—'आज सौभाग्यवश देवताओंने यहाँ मेरे बहुत दिनोंके मनोरथकी पूर्ति कर दी ॥ २८ ॥

भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चासादयाम्यहम् ॥ २९ ॥

'मैं प्रतिदिन हथियार उठाये भीमसेनका वध करनेके लिये सारी पृथ्वीपर विचरता था; किंतु यह मुझे मिल नहीं रहा था ॥ २९ ॥

सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥ ३० ॥
वैत्रकीयवने राजन् ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥ ३१ ॥

'आज सौभाग्यवश यह स्वयं मेरे यहाँ आ पहुँचा । भीम मेरे भाईका हत्यारा है, मैं बहुत दिनोंसे इसकी खोजमें था । राजन् ! इसने (एकचक्रा नगरीके पास) वैत्रकीयवनमें ब्राह्मणका कपटवेष धारण करके वेदोक्त मन्त्ररूप विद्याबलका आश्रय ले मेरे प्यारे भाई बकासुरका वध किया था; वह इसका अपना बल नहीं था ॥ ३०-३१ ॥

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ॥ ३२ ॥

'इसी प्रकार वनमें रहनेवाले मेरे प्रिय मित्र हिडिम्बको भी इस दुरात्माने मार डाला और उनकी बहिनका अपहरण कर लिया । ये सब बहुत पहलेकी बातें हैं ॥ ३२ ॥

सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते स मे ॥ ३३ ॥

'वही यह मूढ़ भीमसेन हमलोगोंके घूमने-फिरनेकी बेलामें आधीरातके समय मेरे इस गहन वनमें आ गया है ॥ ३३ ॥

अद्यास्य यातयिष्यामि तद् वैरं चिरसम्भृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥

'आज इससे मैं उस पुराने वैरका बदला लूँगा और इसके प्रचुर रक्तसे बकासुरका तर्पण करूँगा ॥ ३४ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ॥ ३५ ॥

'आज मैं राक्षसोंके लिये कण्टकरूप इस भीमसेनको मारकर अपने भाई तथा मित्रके ऋणसे उऋण हो परम शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ ३५ ॥

यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

'युधिष्ठिर ! यदि पहले बकासुरने भीमसेनको छोड़ दिया, तो आज मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे खा जाऊँगा ॥ ३६ ॥

एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
सम्भक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ॥ ३७ ॥

'जैसे महर्षि अगस्त्यने वातापिनामक महान् राक्षसको खाकर पचा लिया, उसी प्रकार मैं भी इस महाबली भीमको मारकर खा जाऊँगा और पचा लूँगा' ॥ ३७ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसंधो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति सक्रोधो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८ ॥

उसके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने कुपित हो उस राक्षसको फटकारते हुए कहा—'ऐसा कभी नहीं हो सकता' ॥ ३८ ॥

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत् तदा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने बड़े वेगसे हिलाकर एक दस व्याम* लम्बे वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ ३९ ॥

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥

इधर विजयी अर्जुनने भी पलक मारते-मारते अपने उस गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी, जिसे वज्रको भी पीस डालनेका गौरव प्राप्त था ॥ ४० ॥

निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद् रक्षो मेघनिःस्वनम् ।
अभिद्रुत्याब्रवीद् वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! भीमसेनने अर्जुनको रोक दिया और मेघके समान गर्जना करनेवाले उस राक्षसपर आक्रमण करते हुए कहा 'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वैनमतिक्रुद्धः कक्ष्यामुत्पीड्य पाण्डवः ।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ॥ ४२ ॥

---

* दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी अंगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अंगुलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं । यही पुरुषप्रमाण है । इसकी लम्बाई लगभग $3\frac{1}{2}$ हाथकी होती है ।

तमभ्यधावद् वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा।
यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ॥ ४३ ॥
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव।
असम्भ्रान्तं तु तद् रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने वस्त्रसे अच्छी तरह अपनी कमर कस ली और हाथसे हाथ रगड़कर दाँतोंसे ओंठ चबाते हुए वृक्षको ही आयुध बनाकर बड़े वेगसे उसकी तरफ दौड़े और जैसे इन्द्र वज्रका प्रहार करते हैं, उसी प्रकार यमदण्डके समान उस भयंकर वृक्षको राक्षसके मस्तकपर उन्होंने बड़े जोरसे दे मारा। तो भी वह निशाचर युद्धमें अविचलभावसे खड़ा दिखायी दिया ॥ ४२-४४ ॥

चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव।
तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ॥ ४५ ॥
पदा सव्येन चिक्षेप तद् रक्षः पुनराव्रजत्।
किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ॥ ४६ ॥
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ॥ ४७ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकाङ्क्षिणोः पुरा।

तत्पश्चात् उसने भी प्रज्वलित वज्रके समान जलता हुआ काठ भीमके ऊपर फेंका, परंतु योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमने उस जलते काठको अपने बाँये पैरसे मारकर इस तरह फेंका कि वह पुनः उस राक्षसपर ही जा गिरा। फिर तो किर्मीरने भी सहसा एक वृक्ष उखाड़ लिया और क्रोधमें भरे हुए दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस युद्धमें पाण्डुकुमार भीमपर आक्रमण किया। जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी अभिलाषा रखनेवाले वालि और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें भारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उन दोनोंका वह वृक्ष-युद्ध वनके वृक्षोंका विनाशक था ॥ ४५–४७½ ॥

शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ॥ ४८ ॥
यथैवोत्पलपत्राणि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा।

जैसे दो मतवाले गजराजोंके मस्तकपर पड़े हुए कमलपत्र क्षणभरमें छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं, वैसे ही उन दोनोंके मस्तकपर पड़े हुए वृक्षोंके अनेक टुकड़े हो जाते थे ॥ ४८½ ॥

मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ॥ ४९ ॥
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५० ॥

वहाँ उस महान् वनमें बहुत-से वृक्ष मूँजकी भाँति जर्जर हो गये थे। वे फटे चीथड़ोंकी तरह इधर-उधर फैले हुए सुशोभित होते थे। भरतश्रेष्ठ! राक्षसराज किर्मीर और मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेनका वह वृक्षयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ४९-५० ॥

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः।
प्राहिणोद् राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ॥ ५१ ॥

तदनन्तर राक्षसने कुपित हो एक पत्थरकी चट्टान लेकर युद्धमें खड़े हुए भीमसेनपर चलायी। भीम उसके प्रहारसे जडवत् हो गये ॥ ५१ ॥

तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५२ ॥

वे शिलाके आघातसे जडवत् हो रहे थे। उस अवस्थामें वह राक्षस भीमसेनकी ओर उसी तरह दौड़ा जैसे राहु अपनी भुजाओंसे सूर्यकी किरणोंका निवारण करते हुए उनपर आक्रमण करता है ॥ ५२ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम्।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५३ ॥

वे दोनों वीर परस्पर भिड़ गये और दोनों दोनोंको खींचने लगे। दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति परस्पर भिड़े हुए उन दोनों योद्धाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५३ ॥

तयोरासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५४ ॥

नख और दाढ़ोंसे ही आयुधका काम लेनेवाले दो उन्मत्त व्याघ्रोंकी भाँति उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था ॥ ५४ ॥

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
कृष्णानयनदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ॥ ५५ ॥

दुर्योधनके द्वारा प्राप्त हुए तिरस्कारसे तथा अपने बाहुबलसे भीमसेनका शौर्य एवं अभिमान जाग उठा था। इधर द्रौपदी भी प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देख रही थी; अतः वे उस युद्धमें उत्तरोत्तर उत्साहित हो रहे थे ॥ ५५ ॥

अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ५६ ॥

उन्होंने अमर्षमें भरकर सहसा आक्रमण करके दोनों भुजाओंसे उस राक्षसको उसी तरह पकड़ लिया, जैसे मतवाला गजराज गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले दूसरे हाथीसे भिड़ जाता है ॥ ५६ ॥

स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
तमाक्षिपद् भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ॥ ५७ ॥

उस बलवान् राक्षसने भी भीमसेनको दोनों भुजाओंसे पकड़ लिया; तब बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उसे बलपूर्वक दूर फेंक दिया ॥ ५७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ५८ ॥
अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ५९ ॥

युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँसके फटनेके समान भयंकर शब्द हो रहा था। जैसे प्रचण्ड

वायु अपने वेगसे वृक्षको झकझोर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने बलपूर्वक उछलकर उसकी कमर पकड़ ली और उस राक्षसको बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ५८-५९ ॥

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६० ॥

बलवान् भीमकी पकड़में आकर वह दुर्बल राक्षस अपनी शक्तिके अनुसार उनसे छूटनेकी चेष्टा करने लगा । उसने भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको इधर-उधर खींचा ॥ ६० ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उसे थका हुआ देख भीमसेनने अपनी दोनों भुजाओंसे उसे उसी तरह कस लिया, जैसे पशुको डोरीसे बाँध देते हैं ॥ ६१ ॥

विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ६२ ॥

राक्षस किर्मीर फूटे हुए नगारेकी-सी आवाजमें बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने और छटपटाने लगा । बलवान् भीम उसे देरतक घुमाते रहे, इससे वह मूर्छित हो गया ॥ ६२ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥ ६३ ॥

उस राक्षसको विषादमें डूबा हुआ जान पाण्डुनन्दन भीमने दोनों भुजाओंसे वेगपूर्वक दबाते हुए पशुकी तरह उसे मारना आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ॥ ६४ ॥

भीमने उस राक्षसके कटिप्रदेशको अपने घुटनेसे दबाकर दोनों हाथोंसे उसका गला मरोड़ दिया ॥ ६४ ॥

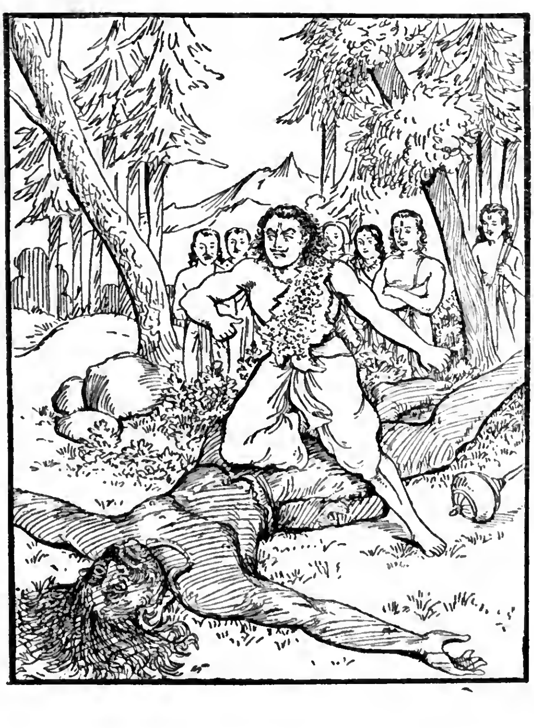

अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्यावृत्तनयनोल्बणम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६५ ॥

किर्मीरका सारा अङ्ग जर्जर हो गया और उसकी आँखें घूमने लगीं, इससे वह और भी भयंकर प्रतीत होता था । भीमने उसी अवस्थामें उसे पृथ्वीपर घुमाया और यह बात कही—॥ ६५ ॥

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चापि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६६ ॥

'ओ पापी ! अब तू यमलोकमें जाकर भी हिडिम्ब और बकासुरके आँसू न पोंछ सकेगा' ॥ ६६ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६७ ॥

ऐसा कहकर क्रोधसे भरे हृदयवाले नरवीर भीमने उस राक्षसको, जिसके वस्त्र और आभूषण खिसककर इधर-उधर गिर गये थे और चित्त भ्रान्त हो रहा था, प्राण निकल जानेपर छोड़ दिया ॥ ६७ ॥

तस्मिन् हते तोयदतुल्यरूपे
कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकै-
र्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६८ ॥

उस राक्षसका रूप-रंग मेघके समान काला था । उसके मारे जानेपर राजकुमार पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और भीमसेनके अनेक गुणोंकी प्रशंसा करते हुए द्रौपदीको आगे करके वहाँसे द्वैतवनकी ओर चल दिये ॥ ६८ ॥

विदुर उवाच

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात् तस्य धर्मराजस्य कौरव ॥ ६९ ॥

विदुरजी कहते हैं—नरेश्वर ! इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मार गिराया ॥

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७० ॥

तदनन्तर विजयी एवं धर्मज्ञ पाण्डुकुमार उस वनको निष्कण्टक (राक्षसरहित) बनाकर द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे ॥ ७० ॥

समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

भरतकुलके भूषणरूप उन सभी वीरोंने द्रौपदीको आश्वासन देकर प्रसन्नचित्त हो प्रेमपूर्वक भीमसेनकी सराहना की ॥ ७१ ॥

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७२ ॥

भीमसेनके बाहुबलसे पिसकर जब वह राक्षस नष्ट हो गया, तब उस अकण्टक एवं कल्याणमय वनमें उन सभी वीरोंने प्रवेश किया ॥ ७२ ॥

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७३ ॥

मैंने महान् वनमें जाते और आते समय रास्तेमें मरकर गिरे हुए उस भयानक एवं दुष्टात्मा राक्षसके शवको अपनी आँखों देखा था, जो भीमसेनके बलसे मारा गया था ॥७३॥

तत्राश्रौषमहं चैतत् कर्म भीमस्य भारत ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन् समागताः ॥ ७४ ॥

भारत ! मैंने वनमें उन ब्राह्मणोंके मुखसे, जो वहाँ आये हुए थे, भीमसेनके इस महान् कर्मका वर्णन सुना ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्तवत् तदा ॥ ७५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राक्षसप्रवर किर्मीरका युद्धमें मारा जाना सुनकर राजा धृतराष्ट्र किसी भारी चिन्तामें डूब गये और शोकातुर मनुष्यकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत किर्मीरवधपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(अर्जुनाभिगमनपर्व)

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन और द्रौपदीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति, द्रौपदीका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने प्रति किये गये अपमान और दुःखका वर्णन और भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं धृष्टद्युम्नका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह ।
पाण्डवान् दुःखसंतप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सुना कि पाण्डव अत्यन्त दुःखसे संतप्त हो राजधानीसे निकलकर चले गये, तब वे उनसे मिलनेके लिये महान् वनमें गये ॥ १ ॥

पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु तथा महापराक्रमी लोकविख्यात केकयराजकुमार सभी भाई क्रोध और अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करते हुए कुन्तीकुमारोंसे मिलनेके लिये वनमें गये और आपसमें इस प्रकार कहने लगे, 'हमें क्या करना चाहिये' ॥ २-३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके वे सभी क्षत्रियशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण विषादग्रस्त हो कुरुप्रवर युधिष्ठिरको नमस्कार करके इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजाओ ! जान पड़ता है, यह पृथ्वी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन—इन सबके रक्तका पान करेगी ॥ ५ ॥

एतान् निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान् ॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

युद्धमें इनको और इनके सब सेवकोंको अन्य राजाओं-सहित परास्त करके हम सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरको पुनः चक्रवर्ती नरेशके पदपर अभिषिक्त करें । जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो, उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है ॥ ६-७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ८ ॥
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्रोंके अपमानसे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे कुपित हो उठे, मानो वे समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देंगे । उन्हें इस प्रकार क्रोध करते देख अर्जुनने उन्हें शान्त किया और उन सत्यकीर्ति महात्माद्वारा पूर्व शरीरोंमें किये हुए कर्मोंका कीर्तन आरम्भ किया ॥ ८-९ ॥

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्यामी, अप्रमेय, सत्यस्वरूप, अमिततेजस्वी, प्रजापतियोंके भी पति, सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक तथा परम बुद्धिमान् श्रीविष्णु ही हैं (अर्जुनने उनकी इस प्रकार स्तुति की) ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर आपने यत्रसायंगृह[1] मुनिके रूपमें दस हजार वर्षोंतक विचरण किया है अर्थात् नारायणऋषिके रूपमें निवास किया है ॥ ११ ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा ॥ १२ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें कभी इस धराधाममें अवतीर्ण हो आपने ग्यारह हजार वर्षोंतक केवल जल पीकर रहते हुए पुष्करतीर्थमें निवास किया है ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १३ ॥

मधुसूदन ! आप विशालापुरीके बदरिकाश्रममें दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये केवल वायुका आहार करते हुए सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे हैं ॥ १३ ॥

अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसंततः ।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १४ ॥

कृष्ण ! आप सरस्वती नदीके तटपर उत्तरीय वस्त्रतकका त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समयतक शरीरसे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । आपके सारे शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं ॥ १४ ॥

प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ १५ ॥
अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादेन नियमस्थितः ।
लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! आप पुण्यात्मा पुरुषोंके निवासयोग्य प्रभासतीर्थमें जाकर लोगोंको तपमें प्रवृत्त करनेके लिये शौच-संतोषादि नियमोंमें स्थित हो महातेजस्वी स्वरूपसे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक एक ही पैरसे खड़े रहे । ये सब बातें मुझसे श्रीव्यासजीने बतायी हैं ॥ १५-१६ ॥

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १७ ॥

केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं ॥ १७ ॥

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥ १८ ॥

आप भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर अदितिके दोनों मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे एवं आपने ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले यज्ञके उपयुक्त घोड़ेकी रचना की थी ॥ १८ ॥

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान् ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभुने वह कर्म करके सामना करनेके लिये आये हुए समस्त दैत्यों और दानवोंका युद्धस्थलमें वध किया ॥ १९ ॥

ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः ।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥ २० ॥

महाबाहु केशव ! तदनन्तर शचीपतिको सर्वेश्वरपद प्रदान करके आप इस समय मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥ २१ ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

परंतप ! पुरुषोत्तम ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए । ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचरगुरु तथा सृष्टिकर्ता एवं अजन्मा आप ही हैं ॥

परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥ २३ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आपने चैत्ररथवनमें अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । आप सबके उत्तम आश्रय, देवशिरोमणि और महातेजस्वी हैं ॥ २३ ॥

---

१. यत्रसायंगृह मुनि वे होते हैं, जो जहाँ सायंकाल हो जाता है, वहीं घरकी तरह रातभर निवास करते हैं ।

शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ॥ २४ ॥

जनार्दन ! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञमें पृथक्-पृथक् एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाके रूपमें दीं ॥ २४ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥ २५ ॥

यदुनन्दन ! आप अदितिके पुत्र हो, इन्द्रके छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णुके नामसे विख्यात हैं ॥ २५ ॥

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २६ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! आपने वामनावतारके समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेजसे तीन डगोंद्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—तीनोंको नाप लिया ॥ २६ ॥

सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥

भूतात्मन् ! आपने सूर्यके रथपर स्थित हो द्युलोक और आकाशमें व्याप्त होकर अपने तेजसे भगवान् भास्करको भी अत्यन्त प्रकाशित किया है ॥ २७ ॥

प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ॥ २८ ॥

विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारोंमें सैकड़ों असुरोंका, जो अधर्ममें रुचि रखनेवाले थे, वध किया है ॥ २८ ॥

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २९ ॥

आपने मुर दैत्यके लोहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला और पुनः प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सकुशल यात्रा करने योग्य बना दिया ॥ २९ ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ ३० ॥

भगवन् ! आपने जारूथी नगरीमें आहुति, क्राथ, साथियोंसहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य और शतधन्वाको परास्त किया ॥ ३० ॥

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार मेघके समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्य-तुल्य तेजस्वी रथके द्वारा कुण्डिनपुरमें जाकर आपने रुक्मीको युद्धमें जीता और भोजवंशकी कन्या रुक्मिणीको अपनी पटरानीके रूपमें प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥ ३२ ॥

प्रभो ! आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्नको मारा और यवनजातीय कसेरुमान् एवं सौभपति शाल्वको भी यमलोक पहुँचा दिया। साथ ही शाल्वके सौभ विमानको भी छिन्न-भिन्न करके धरतीपर गिरा दिया ॥ ३२ ॥

एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्छृणुष्व ह ।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन पूर्वोक्त राजाओंको आपने युद्धमें मारा है। अब आपके द्वारा मारे हुए औरोंके भी नाम सुनिये। इरावतीके तटपर आपने कार्तवीर्य अर्जुनके सदृश पराक्रमी भोजको युद्धमें मार गिराया ॥ ३३ ॥

गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ।
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ॥ ३४ ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ।

गोपति और तालकेतु—ये दोनों भी आपके ही हाथसे मारे गये। जनार्दन ! भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न तथा ऋषि-मुनियोंकी प्रिय अपने अधीन की हुई पुण्यमयी द्वारका नगरीको आप अन्तमें समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥ ३४½ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥ ३५ ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥ ३६ ॥

मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह ! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है ? अच्युत ! महलके मध्यभागमें बैठे और अपने तेजसे उद्भासित हुए आपके पास आकर सम्पूर्ण ऋषियोंने अभयकी याचना की ॥ ३५-३६ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मन्येवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप ॥ ३७ ॥

परंतप मधुसूदन ! प्रलयकालमें समस्त भूतोंका संहार करके इस जगत्‌को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप अकेले ही रहते हैं ॥ ३७ ॥

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥ ३८ ॥

वार्ष्णेय ! सृष्टिके प्रारम्भकालमें आपके नाभिकमलसे चराचरगुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है ॥ ३८ ॥

तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥ ३९ ॥

ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥ ४० ॥

जब ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उस समय दो भयंकर दानव मधु और कैटभ उनके प्राण लेनेको उद्यत हो गये। उनका यह अत्याचार देखकर क्रोधमें भरे हुए आप श्रीहरिके ललाटसे भगवान् शंकरका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथोंमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देव ब्रह्मा और शिव आपके ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं॥

त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत्।
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४१ ॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने।
नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ॥ ४२ ॥
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान्।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥ ४३ ॥

वे दोनों आपकी ही आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारदजीने बतलायी थी। नारायण श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार पूर्वकालमें चैत्ररथवनके भीतर आपने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रका अनुष्ठान किया था। भगवान् पुण्डरीकाक्ष ! आप महान् बलवान् हैं। बलदेवजी आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपनमें ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषोंने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणोंके साथ कुछ कालतक कैलास पर्वतपर भी रहे हैं ॥ ४१-४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः।
तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मासे ऐसा कहकर चुप हो गये। तब भगवान् जनार्दनने कुन्तीकुमारसे इस प्रकार कहा—॥ ४४ ॥

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ ४५ ॥

'पार्थ ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है॥

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ४६ ॥

'दुर्द्धर्ष वीर ! तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं ॥ ४६ ॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता' ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रोषावेशसे भरे हुए राजाओंकी मण्डलीमें उस वीरसमुदायके मध्य महात्मा केशवके ऐसा कहनेपर धृष्टद्युम्न आदि भाइयोंसे घिरी और कुपित हुई पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी भाइयोंके साथ बैठे हुए शरणागतवत्सल श्रीकृष्णके पास जा उनकी शरणकी इच्छा रखती हुई उनसे बोली ॥ ४८-४९ ॥

द्रौपद्युवाच

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो ! ऋषिलोग प्रजासृष्टिके प्रारम्भकालमें एकमात्र आपको ही सम्पूर्ण जगत्‌का स्रष्टा एवं प्रजापति कहते हैं। महर्षि असित-देवलका यही मत है ॥ ५० ॥

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ५१ ॥

दुर्द्धर्ष मधुसूदन ! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं और आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन परशुरामका कथन है ॥ ५१ ॥

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ५२

पुरुषोत्तम ! कश्यपजीका कहना है कि महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे प्रकट हुए यज्ञ भी आप ही हैं ॥ ५२ ॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भूतभावन भूतेश्वर ! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं। नारदजीने आपके विषयमें यही विचार प्रकट किया है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥ ५४ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवताओंसे बारम्बार क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ५४ ॥

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५५ ॥

प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है। ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं। आप सनातन पुरुष हैं ॥ ५५ ॥

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम्।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥ ५६ ॥

विद्या और तपस्यासे सम्पन्न तथा तपके द्वारा शोधित अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानसे तृप्त महर्षियोंमें आप ही परम श्रेष्ठ हैं ॥ ५६ ॥

राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम्।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥ ५७ ॥

पुरुषोत्तम ! युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले, सब धर्मोंसे सम्पन्न पुण्यात्मा राजर्षियोंके आप ही आश्रय हैं। आप ही प्रभु (सबके स्वामी), आप ही विभु (सर्वव्यापी) और आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। आप ही विविध प्राणियोंके रूपमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥

लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आपमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५८ ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम्।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥

महाबाहो ! भूलोकके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा सम्पूर्ण जगत्‌का कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५९ ॥

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ६० ॥

मधुसूदन ! मैं आपके प्रति प्रेम होनेके कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानव जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं ॥

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥ ६१ ॥

भगवन् कृष्ण ! मेरे-जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्रोंकी पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीरकी बहिन हो, क्या किसी तरह सभामें (केश पकड़कर) घसीटकर लायी जा सकती है ? ॥ ६१ ॥

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ६२ ॥

मैं रजस्वला थी, मेरे कपड़ोंपर रक्तके छींटे लगे थे, शरीरपर एक ही वस्त्र था और लज्जा एवं भयसे मैं थरथर काँप रही थी। उस दशामें मुझ दुःखिनी अबलाको कौरवोंकी सभामें घसीटकर लाया गया था ॥ ६२ ॥

राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसातिपरिप्लुता।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन् पापचेतसः ॥ ६३ ॥

भरी सभामें राजाओंकी मण्डलीके बीच अत्यन्त रजस्राव होनेके कारण मैं रक्तसे भीगी जा रही थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर धृतराष्ट्रके पापात्मा पुत्रोंने जोर-जोरसे हँसकर मेरी हँसी उड़ायी ॥ ६३ ॥

दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥ ६४ ॥

मधुसूदन ! पाण्डवों, पाञ्चालों और वृष्णिवंशी वीरोंके जीते-जी धृतराष्ट्रके पुत्रोंने दासीभावसे मेरा उपभोग करनेकी इच्छा प्रकट की ॥ ६४ ॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गयी ॥

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान् महाबलान्।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ६६ ॥

मैं तो संग्राममें श्रेष्ठ इन महाबली पाण्डवोंकी ही निन्दा करती हूँ; जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीको शत्रुओंद्वारा सतायी जाती हुई देख रहे थे ॥ ६६ ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गाण्डिवम्।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥ ६७ ॥

जनार्दन ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है, जो उन नराधमोंद्वारा मुझे अपमानित होती देखकर भी सहन करते रहे ॥ ६७ ॥

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा।
यद् भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ६८ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सदा आचरणमें लाया हुआ यह धर्मका सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं ॥ ६८ ॥

भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ६९ ॥

पत्नीकी रक्षा करनेसे अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतानकी रक्षा होनेपर अपने आत्माकी रक्षा होती है ॥

आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥ ७० ॥

अपना आत्मा ही स्त्रीके गर्भसे जन्म लेता है; इसीलिये वह जाया कहलाती है । पत्नीको भी अपने पतिकी रक्षा इसीलिये करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदरसे जन्म ग्रहण करे ॥ ७० ॥

नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ७१ ॥

ये अपनी शरणमें आनेपर कभी किसीका भी त्याग नहीं करते; किंतु इन्हीं पाण्डवोंने मुझ शरणागत अबलापर तनिक भी दया नहीं की ॥ ७१ ॥

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ॥ ७२ ॥

जनार्दन ! इन पाँच पतियोंसे उत्पन्न हुए मेरे महाबली पाँच पुत्र हैं । उनकी देखभालके लिये भी मेरी रक्षा आवश्यक थी ॥ ७२ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिश्च शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ७३ ॥
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और छोटे पाण्डव सहदेवसे श्रुतकर्माका जन्म हुआ है । ये सभी कुमार सच्चे पराक्रमी हैं । श्रीकृष्ण! आपका पुत्र प्रद्युम्न जैसा शूरवीर है, वैसे ही वे मेरे महारथी पुत्र भी हैं ॥ ७३-७४ ॥

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥ ७५ ॥

ये धनुर्विद्यामें श्रेष्ठ तथा शत्रुओंद्वारा युद्धमें अजेय हैं तो भी दुर्बल धृतराष्ट्र-पुत्रोंका अत्याचार कैसे सहन करते हैं ! ॥ ७५ ॥

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिक्लिष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ७६ ॥

अधर्मसे सारा राज्य हरण कर लिया गया, सब पाण्डव दास बना दिये गये और मैं एकवस्त्रधारिणी रजस्वला होनेपर भी सभामें घसीटकर लायी गयी ॥ ७६ ॥

नाधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥ ७७ ॥

मधुसूदन ! अर्जुनके पास जो गाण्डीव धनुष है, उसपर अर्जुन, भीम अथवा आपके सिवा दूसरा कोई प्रत्यञ्चा भी नहीं चढ़ा सकता (तो भी ये मेरी रक्षा न कर सके) ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७८ ॥

कृष्ण ! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके पुरुषार्थको भी धिक्कार है, जिसके होते हुए दुर्योधन इतना बड़ा अत्याचार करके दो घड़ी भी जीवित रह रहा है ॥ ७८ ॥

य एतानाक्षिपद् राष्ट्रात् सह मात्राविहिंसकान् ।
अधीयानान् पुरा बालान् व्रतस्थान् मधुसूदन ॥ ७९ ॥

मधुसूदन ! पहले बाल्यावस्थामें, जब कि पाण्डव ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए अध्ययनमें लगे थे, किसीकी हिंसा नहीं करते थे, जिस दुष्टने इन्हें इनकी माताके साथ राज्यसे बाहर निकाल दिया था ॥ ७९ ॥

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भूतं लोमहर्षणम् ॥ ८० ॥

जिस पापीने भीमसेनके भोजनमें नूतन, तीक्ष्ण, परिमाणमें अधिक एवं रोमाञ्चकारी कालकूट नामक विष डलवा दिया था ॥ ८० ॥

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥ ८१ ॥

महाबाहु नरश्रेष्ठ जनार्दन ! भीमसेनकी आयु शेष थी, इसीलिये वह घातक विष अन्नके साथ ही पच गया और उसने कोई विकार नहीं उत्पन्न किया (इस प्रकार उस दुर्योधनके अत्याचारोंको कहाँतक गिनाया जाय) ॥ ८१ ॥

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ८२ ॥

श्रीकृष्ण ! प्रमाणकोटि तीर्थमें, जब भीमसेन विश्वस्त होकर सो रहे थे, उस समय दुर्योधनने इन्हें बाँधकर गङ्गामें फेंक दिया और स्वयं चुपचाप राजधानीमें लौट आया ॥ ८२ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संच्छिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

जब इनकी आँख खुली तो ये महाबली महाबाहु भीमसेन सारे बन्धनोंको तोड़कर जलसे ऊपर उठे ॥ ८३ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ८४ ॥

इनके सारे अङ्गोंमें विषैले काले सर्पोंसे डँसवाया; परंतु शत्रुहन्ता भीमसेन मर न सके ॥ ८४ ॥

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान् सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ८५ ॥

जागनेपर कुन्तीनन्दन भीमने सब सर्पोंको उठा-उठाकर पटक दिया । दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको भी उलटे हाथसे मार डाला ॥ ८५ ॥

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद् बालकान् वारणावते।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत् कर्तुमर्हति ॥ ८६ ॥

इतना ही नहीं; वारणावतमें आर्या कुन्तीके साथमें ये बालक पाण्डव सो रहे थे; उस समय उसने घरमें आग लगवा दी। ऐसा दुष्कर्म दूसरा कौन कर सकता है ? ॥ ८६ ॥

यत्रार्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत्।
महद् व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ८७ ॥

उस समय वहाँ आर्या कुन्ती भयभीत हो रोती हुई पाण्डवोंसे इस प्रकार बोलीं—'मैं बड़े भारी संकटमें पड़ी, आगसे घिर गयी ॥ ८७ ॥

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात्।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥ ८८ ॥

'हाय ! हाय ! मैं मारी गयी, अब इस आगसे कैसे शान्ति प्राप्त होगी ? मैं अनाथकी तरह अपने बालक पुत्रोंके साथ नष्ट हो जाऊँगी' ॥ ८८ ॥

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥ ८९ ॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान् पततां वरः।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ९० ॥

उस समय वहाँ वायुके समान वेग और पराक्रमवाले महाबाहु भीमसेनने आर्या कुन्ती तथा भाइयोंको आश्वासन देते हुए कहा—'पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतानन्दन गरुड जैसे उड़ा करते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम सबको लेकर यहाँसे चल दूँगा। अतः तुम्हें यहाँ तनिक भी भय नहीं है' ॥८९-९०॥

आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ९१ ॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान्।
भ्रातॄनार्यां च बलवान् मोक्षयामास पावकात् ॥ ९२ ॥

ऐसा कहकर पराक्रमी एवं बलवान् भीमने आर्या कुन्तीको बायें अङ्कमें, धर्मराजको दाहिने अङ्कमें, नकुल और सहदेवको दोनों कंधोंपर तथा अर्जुनको पीठपर चढ़ा लिया और सबको लिये-दिये सहसा वेगसे उछलकर इन्होंने उस भयंकर अग्निसे भाइयों तथा माताकी रक्षा की * ॥९१-९२॥

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः।
अभ्यगच्छन्महारण्ये हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥ ९३ ॥

फिर वे सब यशस्वी पाण्डव माताके साथ रातमें ही वहाँसे चल दिये और हिडिम्ब-वनके पास एक भारी वनमें जा पहुँचे ॥

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ॥ ९४ ॥

वहाँ मातासहित ये दुखी पाण्डव थककर सो गये। सो जानेपर इनके निकट हिडिम्बा नामक राक्षसी आयी॥९४॥

सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान् मात्रा सह क्षितौ।
हृच्छयेनाभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ॥ ९५ ॥

मातासहित पाण्डवोंको वहाँ धरतीपर सोते देख कामसे पीड़ित हो उस राक्षसीने भीमसेनकी कामना की ॥ ९५ ॥

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ९६ ॥

भीमके पैरोंको अपनी गोदमें लेकर वह कल्याणमयी अबला अपने कोमल हाथोंसे प्रसन्नतापूर्वक दबाने लगी ॥९६॥

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान् सत्यविक्रमः।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ॥ ९७ ॥

उसका स्पर्श पाकर बलवान् सत्यपराक्रमी तथा अमेयात्मा भीमसेन जाग उठे। जागनेपर उन्होंने पूछा—'सुन्दरी ! तुम यहाँ क्या चाहती हो ?' ॥ ९७ ॥

एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥ ९८ ॥

इस प्रकार पूछनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली उस अनिन्द्य सुन्दरी राक्षसकन्याने महात्मा भीमसे कहा—॥९८॥

पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान्।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद् गच्छत मा चिरम्॥९९॥

'आपलोग यहाँसे जल्दी भाग जायँ, मेरा यह बलवान् भाई हिडिम्ब आपको मारनेके लिये आयेगा; अतः आप लोग जल्दी चले जाइये, देर न कीजिये' ॥ ९९ ॥

अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥१००॥

यह सुनकर भीमने अभिमानपूर्वक कहा—'मैं उस राक्षससे नहीं डरता। यदि यहाँ आयगा, तो मैं ही उसे मार डालूँगा' ॥ १०० ॥

तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद् राक्षसाधमः।
भीमरूपो महानादान् विसृजन् भीमदर्शनः ॥१०१॥

उन दोनोंकी बातचीत सुनकर वह भीम रूपधारी भयंकर एवं नीच राक्षस बड़े जोरसे गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ॥ १०१ ॥

* आदिपर्वके १४७वें अध्यायके लाक्षागृहदाहप्रसङ्गमें बतलाया है कि 'भीमसेनने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे।' इस कथनसे द्रौपदीके वचन भिन्न हैं; क्योंकि द्रौपदीका उस समय विवाह नहीं हुआ था, अतः द्रौपदी इस बातको ठीक-ठीक नहीं जानती थी, इसीसे वह लोगोंके मुखसे सुनी-सुनायी बात अनुमानसे कह रही है; अतः लाक्षागृहदाहके प्रसङ्गकी बात ही ठीक है।

राक्षस उवाच

केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि ॥१०२॥

राक्षस बोला—हिडिम्बे ! तू किससे बात कर रही है? लाओ इसे मेरे पास । हमलोग खायँगे । अब तुम्हें देर नहीं करनी चाहिये ॥ १०२ ॥

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैनमैच्छत् तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥१०३॥

मनस्विनी एवं अनिन्दिता हिडिम्बाने स्नेहयुक्त हृदयके कारण दयावश यह क्रूरतापूर्ण संदेश भीमसेनसे कहना उचित न समझा ॥ १०३ ॥

स नादान् विनदन् घोरान् राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥१०४॥

इतनेहीमें वह नरभक्षी राक्षस घोर गर्जना करता हुआ बड़े वेगसे भीमसेनकी ओर दौड़ा ॥ १०४ ॥

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात् पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥१०५॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत् सहसा करम् ॥१०६॥

क्रोधमें भरे हुए उस बलवान् राक्षसने बड़े वेगसे निकट जाकर अपने हाथसे भीमसेनका हाथ पकड़ लिया । भीमसेनके हाथका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था । उनका शरीर भी वैसा ही सुदृढ़ था । राक्षसने भीमसेनसे भिड़कर उनके हाथको सहसा झटक दिया॥

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद् वृकोदरः ॥१०७॥

राक्षसने भीमसेनके हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया; यह बात महाबाहु भीमसेन नहीं सह सके । वे वहीं कुपित हो गये ॥ १०७ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥१०८॥

उस समय सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता भीमसेन और हिडिम्बमें इन्द्र और वृत्रासुरके समान भयानक एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ १०८ ॥

विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहानघ ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्बलं बली ॥१०९॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! महापराक्रमी और बलवान् भीमसेनने उस राक्षसके साथ बहुत देरतक खिलवाड़ करके उसके निर्बल हो जानेपर उसे मार डाला ॥ १०९ ॥

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ॥११०॥

इस प्रकार हिडिम्बको मारकर हिडिम्बाको आगे किये भीमसेन अपने भाइयोंके साथ आगे बढ़े । उसी हिडिम्बासे घटोत्कचका जन्म हुआ ॥ ११० ॥

ततः सम्प्राद्रवन् सर्वे सह मात्रा परंतपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥१११॥

तदनन्तर सब परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आगे बढ़े । ब्राह्मणोंसे घिरे हुए ये लोग एकचक्रा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १११ ॥

प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ॥११२॥

उस यात्रामें इनके प्रिय एवं हितमें लगे हुए व्यासजी ही इनके परामर्शदाता हुए । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उन्हींकी सम्मतिसे एकचक्रा पुरीमें गये ॥ ११२ ॥

तत्राप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव सम्मितम् ॥११३॥

वहाँ जानेपर भी इन्हें नरभक्षी राक्षस महाबली बकासुर मिला । वह भी हिडिम्बके ही समान भयंकर था ॥ ११३ ॥

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥११४॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीम उस भयंकर राक्षसको मारकर अपने सब भाइयोंके साथ मेरे पिता द्रुपदकी राजधानीमें गये ॥

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ॥११५॥

श्रीकृष्ण ! जैसे आपने भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीको जीता था, उसी प्रकार मेरे पिताकी राजधानीमें रहते समय सव्यसाची अर्जुनने मुझे जीता ॥ ११५ ॥

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन ।
स्वयंवरे महत् कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥११६॥

मधुसूदन ! स्वयंवरमें, जो महान् कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर था, वह करके भारी युद्धमें भी अर्जुनने मुझे जीत लिया था ॥

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ॥११७॥

परंतु आज मैं इन सबके होते हुए भी अनेक प्रकारके क्लेश भोगती और अत्यन्त दुःखमें डूबी रहकर अपनी सास कुन्तीसे अलग हो धौम्यजीको आगे रखकर वनमें निवास करती हूँ ॥ ११७ ॥

त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाभ्यधिकाः परैः ।
विहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्त मां कथम् ॥११८॥

ये सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव बल-वीर्यमें शत्रुओंसे बढ़े-चढ़े हैं, इनसे सर्वथा हीन कौरव मुझे भरी सभामें कष्ट दे रहे थे, तो भी इन्होंने क्यों मेरी उपेक्षा की ? ॥ ११८ ॥

एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तास्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥११९॥

पापकर्मोंमें लगे हुए अत्यन्त दुर्बल पापी शत्रुओंके दिये हुए ऐसे-ऐसे दुःख मैं सह रही हूँ और दीर्घ कालसे चिन्ताकी आगमें जल रही हूँ ॥ ११९ ॥

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥१२०॥

यह प्रसिद्ध है कि मैं दिव्य विधिसे एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ । पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी और महाराज पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ ॥ १२० ॥

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥१२१॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं श्रेष्ठ और सती-साध्वी होती हुई भी इन पाँचों पाण्डवोंके देखते-देखते केश पकड़कर घसीटी गयी ॥ १२१ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥१२२॥

ऐसा कहकर मृदुभाषिणी द्रौपदी कमलकोशके समान कान्तिमान् एवं कोमल हाथसे अपना मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी ॥ १२२ ॥

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ॥१२३॥

पाञ्चालराजकुमारी कृष्णा अपने कठोर, उभरे हुए, शुभलक्षण तथा सुन्दर स्तनोंपर दुःखजनित अश्रुबिन्दुओंकी वर्षा करने लगी ॥ १२३ ॥

चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥१२४॥

कुपित हुई द्रौपदी बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई आँसूभरे कण्ठसे बोली—॥ १२४ ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ॥१२५॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये न पति हैं, न पुत्र हैं, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं और न आप ही हैं ॥ १२५ ॥

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत् तदा ॥१२६॥

'क्योंकि आप सब लोग, नीच मनुष्योंद्वारा जो मेरा अपमान हुआ था, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, मानो इसके लिये आपके हृदयमें तनिक भी दुःख नहीं है । उस समय कर्णने जो मेरी हँसी उड़ायी थी, उससे उत्पन्न हुआ दुःख मेरे हृदयसे दूर नहीं होता है ॥ १२६ ॥

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः ।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव ॥१२७॥

'श्रीकृष्ण ! चार कारणोंसे आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये । एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे अग्निकुण्डमें उत्पन्न होनेके कारण मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथे आप मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं' ॥१२७॥

वैशम्पायन उवाच

अथ तामब्रवीत् कृष्णस्तस्मिन् वीरसमागमे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने वीरोंके उस समुदायमें द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ १२७½ ॥

वासुदेव उवाच

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि ।
बीभत्सुशरसंच्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् ॥१२८॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ॥१२९॥

श्रीकृष्ण बोले—भाविनि ! तुम जिनपर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राणप्यारे पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो मरकर धरतीपर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी । पाण्डवोंके हितके लिये जो कुछ भी सम्भव है, वह सब करूँगा, शोक न करो ॥ १२८-१२९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकली भवेत् ॥ १३० ॥
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा द्रौपदी वाक्यं प्रतिवाक्यमथाच्युतात् ॥ १३१ ॥
साचीकृतमवेक्षत् सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
आबभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ॥ १३२ ॥

मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी। कृष्णे ! आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और समुद्र सूख जाय, किंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती। द्रौपदीने अपनी बातोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ऐसी बातें सुनकर तिरछी चितवनसे अपने मँझले पति अर्जुनकी ओर देखा। महाराज ! तब अर्जुनने द्रौपदीसे कहा—॥ १३०-१३२ ॥

मा रोदीः शुभताम्राक्षि यदाह मधुसूदनः ।
तथा तद् भविता देवि नान्यथा वरवर्णिनि ॥ १३३ ॥

'लालिमायुक्त सुन्दर नेत्रोंवाली देवि ! वरवर्णिनि ! रोओ मत। भगवान् मधुसूदन जो कुछ कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा; टल नहीं सकता' ॥ १३३ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनंजयः ॥ १३४ ॥
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजैः ॥ १३५ ॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! मैं द्रोणको मार डालूँगा, शिखण्डी भीष्मका वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधनको मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्णको यमलोक भेज देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामका आश्रय पाकर हमलोग युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हैं। इन्द्र भी हमें रणमें परास्त नहीं कर सकते। फिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३४-१३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेऽभिमुखाः वीरा वासुदेवमुपास्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृष्टद्युम्नके ऐसा कहनेपर वहाँ बैठे हुए वीर भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे। उनके बीचमें बैठे हुए महाबाहु केशवने उनसे ऐसा कहा ॥ १३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-आश्वासनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका जुएके दोष बताते हुए पाण्डवोंपर आयी हुई विपत्तिमें अपनी अनुपस्थितिको कारण मानना

वासुदेव उवाच

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! यदि मैं पहले द्वारकामें या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकटमें नहीं पड़ते ॥ १ ॥

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥ २ ॥

दुर्जय वीर ! अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन तथा अन्य कौरवोंके बिना बुलाये भी मैं उस द्यूतसभामें आता और जूएके अनेक दोष दिखाकर उसे रोकनेकी चेष्टा करता ॥

भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ।
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ॥ ३ ॥
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ।
तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ॥ ४ ॥

प्रभो ! मैं आपके लिये भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक तथा राजा धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता—'कुरुवंशके महाराज ! आपके पुत्रोंको जूआ नहीं खेलना चाहिये।' राजन् ! मैं द्यूतसभामें जूएके उन दोषोंको स्पष्टरूपसे बताता, जिनके कारण आपको अपने राज्यसे वञ्चित होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा ।
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ॥ ५ ॥

तथा जिन दोषोंने पूर्वकालमें वीरसेनपुत्र महाराज नलको राजसिंहासनसे च्युत किया । नरेश्वर ! जूआ खेलनेसे सहसा ऐसा सर्वनाश उपस्थित हो जाता है, जो कल्पनामें भी नहीं आ सकता ॥ ५ ॥

सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥

इसके सिवा उससे सदा जूआ खेलनेकी आदत बन जाती है । यह सब बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम् ।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥

स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है । शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं; परंतु द्यूतक्रीडाको तो जूएके दोष जाननेवाले लोग विशेषरूपसे निन्दनीय समझते हैं ॥

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥
एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥ १० ॥

जूएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है । साथ ही जूआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है । समस्त भोग-पदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटुवचन सुननेको मिलते हैं । कुरुनन्दन ! ये तथा और भी बहुत-से दोष हैं, जो जूएके प्रसंगसे कटु परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं । महाबाहो ! मैं धृतराष्ट्रसे मिलकर जूएके ये सभी दोष बतलाता ॥ १० ॥

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम ।
अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥ ११ ॥

कुरुवर्धन ! मेरे इस प्रकार समझाने-बुझानेपर यदि वे मेरी बात मान लेते, तो कौरवोंमें शान्ति बनी रहती और धर्मका भी पालन होता ॥ ११ ॥

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! यदि वे मेरे मधुर एवं हितकर वचनको सुनकर उसे न मानते, तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता ॥ १२ ॥

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥ १३ ॥

यदि वहाँ सुहृद्नामधारी शत्रु अन्यायका आश्रय ले इस धृतराष्ट्रका साथ देते, तो मैं उन सभासद् जुआरियोंको मार डालता ॥ १३ ॥

असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं उन दिनों आनर्तदेशमें ही नहीं था, इसीलिये आपलोगोंपर यह द्यूतजनित संकट आ गया ॥१४॥

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ॥ १५ ॥

कुरुप्रवर पाण्डुनन्दन ! जब मैं द्वारकामें आया, तब सात्यकिसे आपके संकटमें पड़नेका यथावत् समाचार सुना ॥ १५ ॥

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! यह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और प्रजेश्वर ! मैं तुरंत ही आपसे मिलनेके लिये चला आया ॥ १६ ॥

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः॥ १७ ॥

भरतकुलभूषण ! अहो ! आप सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये हैं । मैं तो आपको सब भाइयोंसहित विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें वासुदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्यूतके समय न पहुँचनेमें श्रीकृष्णके द्वारा शाल्वके साथ युद्ध करने और सौभ विमानसहित उसे नष्ट करनेका संक्षिप्त वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

असांनिध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन ।
क्व चासीद् विप्रवासस्ते किं चाकार्षीः प्रवासतः॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—वृष्णिकुलको आनन्दित करनेवाले

श्रीकृष्ण ! जब द्यूतक्रीडाका आयोजन हो रहा था, उस समय तुम द्वारकामें क्यों अनुपस्थित रहे ? उन दिनों तुम्हारा निवास कहाँ था और उस प्रवासके द्वारा तुमने कौन-सा कार्य सिद्ध किया ? ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति।
स रोषवशमापन्नो नामृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः।
उपायाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! कुरुकुलभूषण ! मैं उन दिनों शाल्वके सौभ नामक नगराकार विमानको नष्ट करनेके लिये गया हुआ था। इसका क्या कारण था, वह बतलाता हूँ, सुनिये। भरतश्रेष्ठ ! आपके राजसूययज्ञमें अग्रपूजाके प्रश्नको लेकर जो क्रोधके वशीभूत हो इस कार्यको नहीं सह सका था और इसीलिये जिस दुरात्मा महातेजस्वी महाबाहु एवं महायशस्वी दमघोषनन्दन वीर राजा शिशुपालको मैंने मार डाला था; उसकी मृत्युका समाचार सुनकर शाल्व प्रचण्ड रोषसे भर गया। भारत ! मैं तो यहाँ हस्तिनापुरमें था और वह हमलोगोंसे सूनी द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ॥ २–५ ॥

स तत्र योधितो राजन् कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! वहाँ वृष्णिवंशके श्रेष्ठ कुमारोंने उसके साथ युद्ध किया। वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभनामक विमानपर बैठकर आया और क्रूर मनुष्यकी भाँति यादवोंकी हत्या करने लगा ॥

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान् बालान् हत्वा बहूंस्तदा।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले शाल्वने वृष्णिवंशके बहुतेरे बालकोंका वध करके नगरके सब बगीचोंको उजाड़ डाला ॥

उक्तवांश्च महाबाहो क्वासौ वृष्णिकुलाधमः।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥

महाबाहो ! उसने यादवोंसे पूछा—'वह वृष्णिकुलका कलङ्क मन्दात्मा वसुदेवपुत्र वासुदेव कहाँ है ? ॥ ८ ॥

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम्।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥ ९ ॥

तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम्।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ॥ १० ॥

'उसे युद्धकी बड़ी इच्छा रहती है, आज उसके घमंडको मैं चूर कर दूँगा। आनर्तनिवासियो ! सच-सच बतला दो। वह कहाँ है ? जहाँ होगा, वहीं जाऊँगा और कंस तथा केशीका संहार करनेवाले उस कृष्णको मारकर ही लौटूँगा। मैं अपने अस्त्र-शस्त्रको छूकर सत्यकी सौगन्ध खाता हूँ कि अब कृष्णको मारे बिना नहीं लौटूँगा ॥ ९-१० ॥

क्वासौ क्वासाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति।
मया किल रणे योद्धुं काङ्क्षमाणः स सौभराट् ॥ ११ ॥

सौभविमानका स्वामी शाल्व संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर चारों ओर दौड़ता और सबसे यही पूछता था कि 'वह कहाँ है, कहाँ है ?' ॥ ११ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम्।
शिशुपालवधामर्षाद् गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीपते ॥ १३ ॥

राजन् ! साथ ही वह यह भी कहता था कि 'आज उस नीच पापाचारी और विश्वासघाती कृष्णको शिशुपालवधके अमर्षके कारण मैं यमलोक भेज दूँगा। उस पापीने मेरे भाई राजा शिशुपालको मार गिराया है, अतः मैं भी उसका वध करूँगा॥

भ्राता बालश्च राजा च न च संग्राममूर्धनि।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥

'मेरा भाई शिशुपाल अभी छोटी अवस्थाका था, दूसरे वह राजा था, तीसरे युद्धके मुहानेपर खड़ा नहीं था, चौथे असावधान था, ऐसी दशामें उस वीरकी जिसने हत्या की है, उस जनार्दनको मैं अवश्य मारूँगा' ॥ १४ ॥

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! इस प्रकार शिशुपालके लिये विलाप करके मुझपर आक्षेप करता हुआ वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा आकाशमें ठहरा हुआ था ॥१५॥

तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यहाँसे द्वारका जानेपर मैंने, मार्तिकावतक देशके निवासी दुष्टात्मा एवं दुर्बुद्धि राजा शाल्वने मेरे प्रति जो दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया था (आक्षेपपूर्ण बातें कही थीं), वह सब कुछ सुना ॥ १६ ॥

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः।
निश्चित्य मनसा राजन् वधायास्य मनो दधे ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! तब मेरा मन भी रोषसे व्याकुल हो उठा। राजन् ! फिर मन-ही-मन कुछ निश्चय करके मैंने शाल्वके वधका विचार किया ॥ १७ ॥

आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चात्मनि कौरव।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत् परीप्सता ॥ १९ ॥

कुरुप्रवर ! पृथ्वीपते ! उसने आनर्त देशमें जो महान् संहार मचा रखा था, वह मुझपर जो आक्षेप करता था तथा उस पापाचारीका घमंड जो बहुत बढ़ गया था, वह सब सोचकर मैं सौभनगरका नाश करनेके लिये प्रस्थित हुआ। मैंने सब ओर उसकी खोज की तो वह मुझे समुद्रके एक द्वीपमें दिखायी दिया ॥ १८-१९ ॥

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर शाल्वको समरभूमिमें बुलाया और स्वयं भी युद्धके लिये उपस्थित हुआ ॥

तन्मुहूर्तमभूद् युद्धं तत्र मे दानवैः सह।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥

वहाँ सौभ-निवासी दानवोंके साथ दो घड़ीतक मेरा युद्ध हुआ और मैंने सबको वशमें करके पृथ्वीपर मार गिराया ॥

एतत् कार्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाविनयोत्थितम्।
द्रुतमागतवान् युष्मान् द्रष्टुकामः सुदुःखितान्॥ २२॥

महाबाहो ! यही कार्य उपस्थित हो गया था, जिससे मैं उस समय न आ सका। लौटनेपर ज्यों ही सुना कि हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी उद्दण्डताके कारण जूआ खेला गया (और पाण्डव उसमें सब कुछ हारकर वनको चले गये); तब अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए आपलोगोंको देखनेके लिये मैं तुरंत यहाँ चला आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

सौभ-नाशकी विस्तृत कथाके प्रसङ्गमें द्वारकामें युद्धसम्बन्धी रक्षात्मक तैयारियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! वसुदेवनन्दन ! महामते ! तुम सौभ-विमानके नष्ट होनेका समाचार विस्तारपूर्वक कहो। मैं तुम्हारे मुखसे इस प्रसङ्गको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप।
उपायाद् भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो ! नरेश्वर ! भरतश्रेष्ठ ! श्रुतश्रवा*के पुत्र शिशुपालके मारे जानेका समाचार सुनकर शाल्वने द्वारकापुरीपर चढ़ाई की ॥ २ ॥

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन।
शाल्वो वैहायसं चापि तत् पुरं व्यूह्य विष्ठितः ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! उस दुष्टात्मा शाल्वने सेनाद्वारा द्वारकापुरीको सब ओरसे घेर लिया था। वह स्वयं आकाशचारी विमान सौभपर व्यूहरचनापूर्वक विराजमान हो रहा था॥३॥

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम्।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ॥ ४ ॥

उसीपर रहकर राजा शाल्व द्वारकापुरीके लोगोंसे युद्ध

* श्रुतश्रवा शिशुपालकी माताका नाम है। यह वसुदेवजीकी बहिन थी।

करता था। वहाँ भारी युद्ध छिड़ा हुआ था और उसमें सभी दिशाओंसे अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहार हो रहे थे ॥ ४ ॥

पुरी समन्ताद् विहिता सपताका सतोरणा।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥

द्वारकापुरीमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं। ऊँचे-ऊँचे गोपुर वहाँ चारों दिशाओंमें सुशोभित थे। जगह-जगह सैनिकोंके समुदाय युद्धके लिये प्रस्तुत थे। सैनिकोंके आत्म-रक्षापूर्वक युद्धकी सुविधाके लिये स्थान-स्थानपर बुर्ज बने हुए थे। युद्धोपयोगी यन्त्र वहाँ बैठाये गये थे तथा सुरङ्गद्वारा नये-नये मार्ग निकालनेके काममें भी बहुत-से लोग जुटे हुए थे ॥

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा।
सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥ ६ ॥

सड़कोंपर लोहेके विषाक्त काँटे अदृश्यरूपसे बिछाये गये थे। अट्टालिकाओं और गोपुरोंमें पर्याप्त अन्नका संग्रह किया गया था। शत्रुपक्षके प्रहारोंको रोकनेके लिये जगह-जगह मोर्चेबन्दी की गयी थी। शत्रुओंके चलाये हुए जलते गोले और अलात (प्रज्वलित लौहमय शस्त्र) को भी विफल करके नीचे गिरा देनेवाली शक्तियाँ सुसज्जित थीं ॥ ६ ॥

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका।
सतोमराङ्कुशा राजन् सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडशृङ्गिका ॥ ८ ॥

अस्त्रोंसे भरे हुए मिट्टी और चमड़ेके असंख्य पात्र रखे गये थे। भरतश्रेष्ठ! ढोल, नगारे और मृदंग आदि जुझाऊ बाजे भी बज रहे थे। राजन्! तोमर, अंकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पत्थरके गोले, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र, फरसे, बहुत-सी सुदृढ़ ढालें और गोला-बारूदसे भरी हुई तोपें यथास्थान तैयार रखी गयी थीं ॥ ७-८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना सुयुक्ता भरतर्षभ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे।
अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥

भरतकुलभूषण! शास्त्रोक्त विधिसे द्वारकापुरीकी रक्षाके सभी उत्तम उपायोंसे सम्पन्न किया गया था। कुरुश्रेष्ठ! शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ गद, साम्ब और उद्धव आदि अनेक वीर पुरुष नाना प्रकारके बहुसंख्यक रथोंद्वारा पुरीकी रक्षामें दत्तचित्त थे। जो अत्यन्त विख्यात कुलोंमें उत्पन्न थे तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके बल-वीर्यका परिचय मिल चुका था, ऐसे वीर रक्षक मध्यम गुल्म (नगरके मध्यवर्ती दुर्ग) में स्थित हो पुरीकी पूर्णतः रक्षा कर रहे थे। सबको प्रमादसे बचानेवाले उग्रसेन और उद्धव आदिने शत्रुओंके गुल्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति रखनेवाले घुड़सवारोंके हाथमें झंडे देकर समूचे नगरमें यह घोषणा करा दी थी कि किसीको भी मद्यपान नहीं करना चाहिये ॥ ९—१२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः।
इति कृत्वाप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥ १३ ॥

क्योंकि मदिरासे उन्मत्त हुए लोगोंपर राजा शाल्व घातक प्रहार कर सकता है। यह सोचकर वृष्णि और अन्धकवंशके सभी योद्धा पूरी सावधानीके साथ युद्धमें डटे हुए थे ॥ १३ ॥

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटा नर्तकगायनाः।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥

धनसंग्रहकी रक्षा करनेवाले यादवोंने आनर्तदेशीय नटों, नर्तकों तथा गायकोंको शीघ्र ही नगरसे बाहर कर दिया था ॥ १४ ॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः।
परिखाश्चापि कौरव्य कालैः सुनिचिताः कृताः ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन! द्वारका पुरीमें आनेके लिये जो पुल मार्गमें पड़ते थे, वे सब तोड़ दिये गये। नौकाएँ रोक दी गयी थीं और खाइयोंमें काँटे बिछा दिये गये थे ॥ १५ ॥

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीषकाः।
समन्तात् क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! द्वारकापुरीके चारों ओर एक कोसतकके चारों ओरके कुएँ इस प्रकार जलशून्य कर दिये गये थे मानो भाड़ हों और उतनी दूरकी भूमि भी लौहकण्टक आदिसे व्याप्त कर दी गयी थी ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम्।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥ १७ ॥

निष्पाप नरेश! द्वारका एक तो स्वभावसे ही दुर्गम्य, सुरक्षित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न है, तथापि उस समय इसकी विशेष व्यवस्था कर दी गयी थी ॥ १७ ॥

सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत् पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! द्वारकानगर इन्द्रभवनकी भाँति ही सुरक्षित, सुगुप्त और सम्पूर्ण आयुधोंसे भरा-पूरा है ॥ १८ ॥

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥

राजन् ! सौभनिवासियोंके साथ युद्ध होते समय वृष्णि और अन्धकवंशी वीरोंके उस नगरमें कोई भी राजमुद्रा (पास) के बिना न तो बाहर निकल सकता था और न बाहरसे नगरके भीतर ही आ सकता था ॥ १९ ॥

अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥

कुरुनन्दन राजेन्द्र ! वहाँ प्रत्येक सड़क और चौराहेपर बहुत-से हाथीसवार और घुड़सवारोंसे युक्त विशाल सेना उपस्थित रहती थी ॥ २० ॥

दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ २१ ॥

महाबाहो ! उस समय सेनाके प्रत्येक सैनिकको पूरा-पूरा वेतन और भत्ता चुका दिया गया था । सबको नये-नये हथियार और पोशाकें दी गयी थीं और उन्हें विशेष पुरस्कार आदि देकर उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया गया था ॥ २१ ॥

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥

कोई भी सैनिक ऐसा नहीं था, जिसे सोने-चाँदीके सिवा ताँबा आदि वेतनके रूपमें दिया जाता हो अथवा जिसे समयपर न वेतन प्राप्त हुआ हो । किसी भी सैनिकको दयावश सेनामें भर्ती नहीं किया गया था तथा कोई भी ऐसा न था, जिसका पराक्रम बहुत दिनोंसे देखा न गया हो ॥ २२ ॥

एवं सुविहिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥ २३ ॥

कमलनयन राजन् ! जिसमें बहुत-से दक्ष मनुष्य निवास करते थे, उस द्वारकानगरीकी रक्षाके लिये इस प्रकारकी व्यवस्था की गयी थी । वह राजा उग्रसेनके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

शाल्वकी विशाल सेनाके आक्रमणका यादवसेनाद्वारा प्रतिरोध, साम्बद्वारा क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान्‌का वध तथा चारुदेष्णद्वारा विविन्ध्य दैत्यका वध एवं प्रद्युम्नद्वारा सेनाको आश्वासन

वासुदेव उवाच

तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजेन्द्र ! सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व अपनी बहुत बड़ी सेनाके साथ, जिसमें हाथीसवारों तथा पैदलोंकी संख्या अधिक थी, द्वारकापुरीपर चढ़ आया और उसके निकट आकर ठहरा ॥ १ ॥

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ॥ २ ॥

जहाँ अधिक जलसे भरा हुआ जलाशय था, वहीं समतल भूमिमें उसकी सेनाने पड़ाव डाला । उसमें हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल चारों प्रकारके सैनिक थे । स्वयं राजा शाल्व उसका संरक्षक था ॥ २ ॥

वर्जयित्वा श्मशानानि देवताऽऽयतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद् बलम् ॥ ३ ॥

श्मशानभूमि, देवमन्दिर, बाँबी और चैत्यवृक्षको छोड़कर सभी स्थानोंमें उसकी सेना फैलकर ठहरी हुई थी ॥ ३ ॥

अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवासञ्छाल्वस्य शिविरे नृप ॥ ४ ॥

सेनाओंके विभागपूर्वक पड़ाव डालनेसे सारे रास्ते घिर गये थे । राजन् ! शाल्वके शिविरमें प्रवेश करनेका कोई मार्ग नहीं रह गया था ॥ ४ ॥

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ॥ ५ ॥

तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ! राजा शाल्वकी वह सेना सब प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें निपुण, रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई तथा पैदल सिपाहियों और ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। उसका प्रत्येक सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् था। सबमें वीरोचित लक्षण दिखायी देते थे। उस सेनाके सिपाही विचित्र ध्वजा तथा कवच धारण करते थे। उनके रथ और धनुष भी विचित्र थे। कुरुनन्दन! द्वारकाके समीप उस सेनाको ठहराकर राजा शाल्वने उसे वेगपूर्वक द्वारकाकी ओर बढ़ाया, मानो पक्षिराज गरुड़ अपने लक्ष्यकी ओर उड़े जा रहे हों ॥ ५-७ ॥

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ८ ॥

शाल्वराजकी उस सेनाको आती देख उस समय वृष्णि-कुलको आनन्दित करनेवाले कुमार नगरसे बाहर निकलकर युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
ते रथैर्दंशिता सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन! शाल्वराजके उस आक्रमणको वे सहन न कर सके। चारुदेष्ण, साम्ब और महारथी प्रद्युम्न—ये सब कवच, विचित्र आभूषण तथा ध्वजा धारण करके रथोंपर बैठकर शाल्वराजके अनेक श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ भिड़ गये ॥ ९-१० ॥

गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥

हर्षमें भरे हुए साम्बने धनुष धारण करके शाल्वके मन्त्री तथा सेनापति क्षेमवृद्धिके साथ युद्ध किया ॥ ११ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
तद् बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! जाम्बवतीकुमारने उसके ऊपर भारी बाणवर्षा की, मानो इन्द्र जलकी वर्षा कर रहे हों। महाराज! सेनापति क्षेमवृद्धिने साम्बकी उस भयंकर बाणवर्षाको हिमालयकी

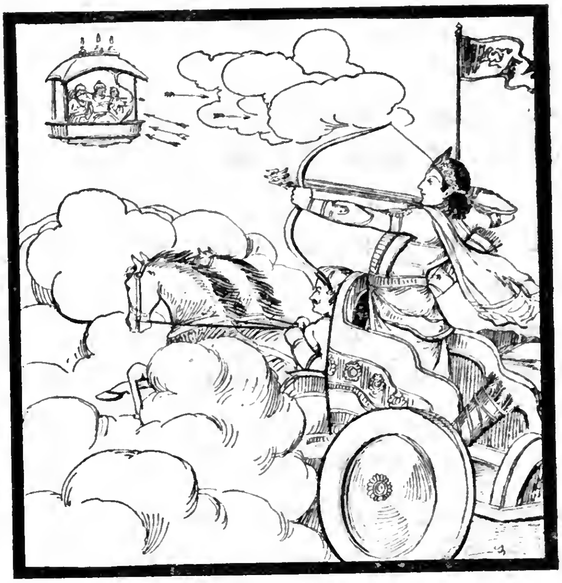

भाँति अविचल रहकर सहन किया ॥ १२-१३ ॥

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर क्षेमवृद्धिने स्वयं भी साम्बके ऊपर मायानिर्मित बाणोंकी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ॥ १५ ॥

साम्बने उस मायामय बाणजालको मायासे ही छिन्न-भिन्न करके क्षेमवृद्धिके रथपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ १५ ॥

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥

साम्बने सेनापति क्षेमवृद्धिको अपने बाणोंसे घायल कर दिया। वह साम्बकी बाणवर्षासे पीड़ित हो शीघ्रगामी अश्वोंकी सहायतासे (लड़ाईका मैदान छोड़कर) भाग गया ॥ १६ ॥

तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।
वेगवान् नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद् बली ॥ १७ ॥

शाल्वके क्रूर सेनापति क्षेमवृद्धिके भाग जानेपर वेगवान् नामक बलवान् दैत्यने मेरे पुत्रपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥

राजेन्द्र! वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाला वीर साम्ब वेगवान्‌के वेगको सहन करते हुए धैर्यपूर्वक उसका सामना करने लगा ॥ १८ ॥

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविद्ध्य सत्यविक्रमः ॥ १९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्यपराक्रमी वीर साम्बने अपनी वेगशालिनी गदाको बड़े वेगसे घुमाकर वेगवान् दैत्यके सिरपर दे मारा ॥ १९ ॥

तया त्वभिहतो राजन् वेगवान् न्यपतद् भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ २० ॥

राजन् ! उस गदासे आहत होकर वेगवान् इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो जीर्ण जड़वाला पुराना वृक्ष हवाके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो ॥ २० ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ २१ ॥

गदासे घायल हुए उस वीर महादैत्यके मारे जानेपर मेरा पुत्र साम्ब शाल्वकी विशाल सेनामें घुसकर युद्ध करने लगा ॥

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २२ ॥

महाराज ! चारुदेष्णके साथ महारथी एवं महान् धनुर्धर विविन्ध्य नामक दानव शाल्वकी आज्ञासे युद्ध कर रहा था ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन् यथा पूर्वं तथाभवत् ॥ २३ ॥

राजन् ! तदनन्तर चारुदेष्ण और विविन्ध्यमें वैसा ही भयंकर युद्ध होने लगा, जैसा पहले इन्द्र और वृत्रासुरमें हुआ था ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥

वे दोनों एक-दूसरेपर कुपित हो बाणोंसे परस्पर आघात कर रहे थे और महाबली सिंहोंकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ २४ ॥

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी शत्रुनाशक बाणको महान् (दिव्य) अस्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने धनुषपर संधान किया ॥ २५ ॥

स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासुरथापतत् ॥ २६ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मेरे उस महारथी पुत्रने क्रोधमें भरकर विविन्ध्यपर वह बाण चलाया। उसके लगते ही विविन्ध्य प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६ ॥

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७ ॥

विविन्ध्यको मारा गया और सेनाको तहस-नहस हुई देख शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा फिर वहाँ आया ॥ २७ ॥

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद् बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ॥ २८ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! उस समय सौभ विमानपर बैठे हुए शाल्वको देखकर द्वारकाकी सारी सेना भयसे व्याकुल हो उठी ॥ २८ ॥

ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद् बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! तब प्रद्युम्नने निकलकर आनर्तवासियोंकी उस सेनाको धीरज बँधाया और इस प्रकार कहा—॥ २९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात् सौभं सराजकम् ॥ ३० ॥

'यादवो ! आप सब लोग (चुपचाप) खड़े रहें और मेरे पराक्रमको देखें; मैं किस प्रकार युद्धमें राजा शाल्वके सहित सौभ विमानकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ३० ॥

अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥ ३१ ॥

'यदुवंशियो ! मैं अपने धनुर्दण्डसे छूटे हुए लोहेके सर्पतुल्य बाणोंद्वारा सौभपति शाल्वकी सेनाको अभी नष्ट किये देता हूँ ॥

आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ॥ ३२ ॥

'आप धैर्य धारण करें, भयभीत न हों, सौभराज अभी नष्ट हो रहा है। दुष्टात्मा शाल्व मेरा सामना होते ही सौभ विमानसहित नष्ट हो जायगा' ? ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
विष्ठितं तद् बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३ ॥

वीर पाण्डुनन्दन ! हर्षमें भरे हुए प्रद्युम्नके ऐसा कहने पर वह सारी सेना स्थिर हो पूर्ववत् प्रसन्नता और उत्साहके साथ युद्ध करने लगी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा द्रौपदीको आश्वासन

सप्तदशोऽध्यायः

प्रद्युम्न और शाल्वका घोर युद्ध

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान् भरतर्षभ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम्॥ १॥
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवान्तकम्।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात् परान्॥ २॥
विक्षिपन् नादयंश्चापि धनुः श्रेष्ठं महाबलः।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! यादवोंसे ऐसा कहकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न एक सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए, जिसमें बख्तर पहनाये हुए घोड़े जुते थे। उन्होंने अपनी मकरचिह्नित ध्वजाको ऊँचा किया, जो मुँह बाये हुए कालके समान प्रतीत होती थी। उनके रथके घोड़े ऐसे चलते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। ऐसे अश्वोंसे जुते हुए रथके द्वारा महाबली प्रद्युम्नने शत्रुओंपर आक्रमण किया। वे अपने श्रेष्ठ धनुषको बारंबार खींचकर उसकी टंकार फैलाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने पीठपर तरकस और कमरमें तलवार बाँध ली थी। उनमें शौर्य भरा था और उन्होंने गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे॥ १—३॥

स विद्युच्छुरितं चापं विहरन् वै तलात् तलम्।
मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभनिवासिनः॥ ४॥

वे अपने धनुषको एक हाथसे दूसरे हाथमें ले लिया करते थे। उस समय वह धनुष बिजलीके समान चमक रहा था। उन्होंने उस धनुषके द्वारा सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त दैत्योंको मूर्छित कर दिया॥ ४॥

तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चासकृत्।
नान्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान् रणे॥ ५॥

वे बारंबार धनुषको खींचते, उसपर बाण रखते और उसके द्वारा शत्रुसैनिकोंको युद्धमें मार डालते थे। उनकी उक्त क्रियाओंमें किसीको थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी देता था॥ ५॥

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य
चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य
शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्र्यम्॥ ६॥

उनके मुखका रंग तनिक भी नहीं बदलता था। उनके अङ्ग भी विचलित नहीं होते थे। सब ओर गर्जना करते हुए प्रद्युम्नका उत्तम एवं अद्भुत बल-पराक्रमका सूचक सिंहनाद सब लोगोंको सुनायी देता था॥ ६॥

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो
व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी।
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये
शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः॥ ७॥

शाल्वकी सेनाके ठीक सामने प्रद्युम्नके श्रेष्ठ रथपर उनकी उत्तम ध्वजा फहराती हुई शोभा पा रही थी। उस ध्वजाके सुवर्णमय दण्डके ऊपर सब तिमि नामक जलजन्तुओंका प्रमथन करनेवाले मुँह बाये एक मगरमच्छका चिह्न था। वह शत्रुसैनिकोंको अत्यन्त भयभीत कर रहा था॥ ७॥

ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप॥ ८॥

नरेश्वर! तदनन्तर शत्रुहन्ता प्रद्युम्न तुरंत आगे बढ़कर राजा शाल्वके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे उसीकी ओर दौड़े॥ ८॥

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह॥ ९॥

कुरुकुलतिलक! उस महासंग्राममें वीर प्रद्युम्नके द्वारा किया हुआ वह आक्रमण क्रुद्ध हुआ राजा शाल्व न सह सका॥ ९॥

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरंजयः॥ १०॥

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले शाल्वने रोष एवं बलके मदसे उन्मत्त हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानसे उतरकर प्रद्युम्नसे युद्ध आरम्भ किया॥ १०॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव॥ ११॥

शाल्व तथा वृष्णिवंशी वीर प्रद्युम्नमें बलि और इन्द्रके समान घोर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग एकत्र होकर उन दोनोंका युद्ध देखने लगे॥ ११॥

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः स तूणवान्॥ १२॥

वीर! शाल्वके पास सुवर्णभूषित मायामय रथ था। वह रथ ध्वजा, पताका, अनुकर्ष (हरसा)* और तरकससे युक्त था॥ १२॥

स तं रथवरं श्रीमान् समारुह्य किल प्रभो।
मुमोच बाणान् कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः॥ १३॥

* रथके नीचे पहियेके ऊपर लगा रहनेवाला काठ।

प्रभो कुरुनन्दन ! श्रीमान् महाबली शाल्वने उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ १३ ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत् तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं सम्मोहयन्निव ॥ १४ ॥

तब प्रद्युम्न भी युद्धभूमिमें अपनी भुजाओंके वेगसे शाल्वको मोहित करते हुए-से उसके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ १४ ॥

स तैरभिहतः संख्ये नामर्षयत सौभराट् ।
शरान् दीप्ताग्निसंकाशान् मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥

सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व युद्धमें प्रद्युम्नके बाणोंसे घायल होनेपर यह सहन नहीं कर सका—अमर्षमें भर गया और मेरे पुत्रपर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाण छोड़ने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं बाणौघं स चिच्छेद महाबलः ।
ततश्चान्यांञ्छरान् दीप्तान् प्रचिक्षेप सुते मम ॥ १६ ॥

महाबली प्रद्युम्नने उन बाणोंको आते ही काट गिराया । तत्पश्चात् शाल्वने मेरे पुत्रपर और भी बहुत-से प्रज्वलित बाण छोड़े ॥ १६ ॥

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! शाल्वके बाणोंसे घायल होकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने तुरंत ही उस युद्धभूमिमें शाल्वपर एक ऐसा बाण चलाया, जो मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १७ ॥

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
विव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

मेरे पुत्रके चलाये हुए उस बाणने शाल्वके कवचको छेदकर उसके हृदयको बींध डाला । इससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
सम्प्राद्रवन् दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुंधराम् ॥ १९ ॥

वीर शाल्वराजके अचेत होकर गिर जानेपर उसकी सेनाके समस्त दानवराज पृथ्वीको विदीर्ण करके पातालमें पलायन कर गये ॥ १९ ॥

हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ २० ॥

पृथ्वीपते ! उस समय सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व जब संज्ञाशून्य होकर धराशायी हो गया, तब उसकी समस्त सेनामें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब चेत हुआ, तब महाबली शाल्व सहसा उठकर प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद् रथे तदा ॥ २२ ॥

शाल्वके उन बाणोंद्वारा कण्ठके मूलभागमें गहरा आघात लगनेसे अत्यन्त घायल होकर समरमें स्थित महाबाहु वीर प्रद्युम्न उस समय रथपर मूर्च्छित हो गये ॥ २२ ॥

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन् महीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नको घायल करके शाल्व बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा । उसकी आवाजसे वहाँकी सारी पृथ्वी गूँज उठी ॥ २३ ॥

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान् दुरासदान् ॥ २४ ॥

भारत ! मेरे पुत्रके मूर्च्छित हो जानेपर भी शाल्वने उनपर और भी बहुत-से दुर्द्धर्ष बाण शीघ्रतापूर्वक छोड़े ॥ २४ ॥

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद् रणाजिरे ॥ २५ ॥

कौरवश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-से बाणोंसे आहत होनेके कारण प्रद्युम्न उस रणाङ्गणमें मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट हो गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

मूर्च्छावस्थामें सारथिके द्वारा रणभूमिसे बाहर लाये जानेपर प्रद्युम्नका अनुताप और इसके लिये सारथिको उपालम्भ देना

वासुदेव उवाच

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन् प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—बलवानोंमें श्रेष्ठ

प्रद्युम्न जब शाल्वके बाणोंसे पीडित हो (मूर्च्छित हो) गये, तब सेनामें आये हुए वृष्णिवंशी वीरोंका उत्साह भङ्ग हो गया। उन सबको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम् ॥ २ ॥

राजन्! प्रद्युम्नके मोहित होनेपर वृष्णि और अन्धक-वंशकी सारी सेनामें हाहाकार मच गया और शत्रुलोग अत्यन्त प्रसन्नतासे खिल उठे ॥ २ ॥

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः।
रणादपाहरत् तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ॥ ३ ॥

दारुकका पुत्र प्रद्युम्नका सुशिक्षित सारथि था। वह प्रद्युम्नको इस प्रकार मूर्च्छित देख वेगशाली अश्वोंद्वारा उन्हें तुरंत रणभूमिसे बाहर ले गया ॥ ३ ॥

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत्।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

अभी वह रथ अधिक दूर नहीं जाने पाया था, तभी बड़े-बड़े रथियोंको परास्त करनेवाले प्रद्युम्न सचेत हो गये और हाथमें धनुष लेकर सारथिसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

सौते किं ते व्यवसितं कस्माद् यासि पराङ्मुखः।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ॥ ५ ॥

'सूतपुत्र! आज तूने क्या सोचा है? क्यों युद्धसे मुँह मोड़कर भागा जा रहा है? युद्धसे पलायन करना वृष्णिवंशी वीरोंका धर्म नहीं है ॥ ५ ॥

कच्चित् सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ॥ ६ ॥

'सूतनन्दन! इस महासंग्राममें राजा शाल्वको देखकर तुझे मोह तो नहीं हो गया है? अथवा युद्ध देखकर तुझे विषाद तो नहीं होता है? मुझसे ठीक-ठीक बता (तेरे इस प्रकार भागनेका क्या कारण है?)' ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

जानार्दने न मे मोहो नापि मां भयमाविशत्।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ॥ ७ ॥

सूतपुत्रने कहा—जनार्दनकुमार! न मुझे मोह हुआ है और न मेरे मनमें भय ही समाया है। केशवनन्दन! मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह राजा शाल्व आपके लिये अत्यन्त भार-सा हो रहा है ॥ ७ ॥

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत्।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ॥ ८ ॥

वीरवर! मैं धीरे-धीरे रणभूमिसे दूर इसलिये जा रहा हूँ कि यह पापी शाल्व बड़ा बलवान् है। सारथिका यह धर्म है कि यदि शूरवीर रथी संग्राममें मूर्च्छित हो जाय तो वह किसी प्रकार उसके प्राणोंकी रक्षा करे ॥ ८ ॥

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम्।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम् ॥ ९ ॥

आयुष्मन्! मुझे आपकी और आपको मेरी सदा रक्षा करनी चाहिये। रथी सारथिके द्वारा सदा रक्षणीय है, इस कर्तव्यका विचार करके ही मैं रणभूमिसे लौट रहा हूँ ॥ ९ ॥

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः।
न समं रौक्मिणेयाहं रणे मत्वापयामि वै ॥ १० ॥

महाबाहो! आप अकेले हैं और इन दानवोंकी संख्या बहुत है। रुक्मिणीनन्दन! इस युद्धमें इतने विपक्षियोंका सामना करना अकेले आपके लिये कठिन है; यह सोचकर ही मैं युद्धसे हट रहा हूँ ॥ १० ॥

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान्।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥
दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन।
व्यपयानं रणात् सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! सूतके ऐसा कहनेपर मकरध्वज प्रद्युम्नने उससे कहा—'दारुककुमार! तू रथको पुनः युद्धभूमिकी ओर लौटा ले चल। सूतपुत्र! आजसे फिर कभी किसी प्रकार भी मेरे जीते-जी रथको रणभूमिसे न लौटाना ॥ ११-१२ ॥

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम्।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥ १३ ॥

'वृष्णिवंशमें ऐसा कोई (वीर पुरुष) नहीं पैदा हुआ है, जो युद्ध छोड़कर भाग जाय अथवा गिरे हुएको तथा 'मैं आपका हूँ' यह कहनेवालेको मारे ॥ १३ ॥

तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार स्त्री, बालक, वृद्ध, रथहीन, अपने पक्षसे बिछुड़े हुए तथा जिसके अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये हों, ऐसे लोगोंपर जो हथियार उठाता हो, ऐसा मनुष्य भी वृष्णिकुलमें नहीं उत्पन्न हुआ है ॥ १४ ॥

त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥ १५ ॥

'दारुककुमार! तू सूतकुलमें उत्पन्न होनेके साथ ही सूतकर्मकी अच्छी तरह शिक्षा पा चुका है। वृष्णिवंशी वीरोंका युद्धमें क्या धर्म है, यह भी भली भाँति जानता है ॥

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥

'सूतनन्दन! युद्धके मुहानेपर डटे हुए वृष्णिकुलके

वीरोंका सम्पूर्ण चरित्र तुझसे अज्ञात नहीं है; अतः तू फिर कभी किसी तरह भी युद्धसे न लौटना ॥ १६ ॥

अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम्।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ॥ १७ ॥

'युद्धसे लौटने या भ्रान्तचित्त होकर भागनेपर जब मेरी पीठमें शत्रुके बाणोंका आघात लगा हो, उस समय किसीसे परास्त न होनेवाले मेरे पिता गदाग्रज भगवान् माधव मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ १७ ॥

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १ ॥

'अथवा पिताजीके बड़े भाई नीलाम्बरधारी मदोत्कट महाबाहु बलरामजी जब यहाँ पधारेंगे, तब वे मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ १८ ॥

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः।
अपयातं रणात् सूत साम्बश्च समितिंजयः ॥ १९ ॥

'सूत ! युद्धसे भागनेपर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी महाधनुर्धर सात्यकि तथा समरविजयी साम्ब मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ १९ ॥

चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥ २० ॥

'सारथे ! दुर्धर्ष वीर चारुदेष्ण, गद, सारण और महाबाहु अक्रूर मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ २० ॥

शूरं सम्भावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम्।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः॥२१ ॥

'मैं शूरवीर, सम्भावित (सम्मानित), शान्तस्वभाव तथा सदा अपनेको वीर पुरुष माननेवाला समझा जाता हूँ। (युद्धमें भागनेपर) मुझे देखकर झुंडकी झुंड एकत्र हुई वृष्णिवीरोंकी स्त्रियाँ मुझे क्या कहेंगी ? ॥ २१ ॥

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम्।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥ २२ ॥

'सब लोग यही कहेंगे--'यह प्रद्युम्न भयभीत हो महान् संग्राम छोड़कर भागा आ रहा है; इसे धिक्कार है।' उस अवस्थामें किसीके मुखसे मेरे लिये अच्छे शब्द नहीं निकलेंगे ॥

धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ॥ २३ ॥

'सूतकुमार ! मेरे अथवा मेरे जैसे किसी भी पुरुषके लिये धिक्कारयुक्त वाणीद्वारा कोई परिहास भी कर दे, तो वह मृत्युसे भी अधिक कष्ट देनेवाला है; अतः तू फिर कभी युद्ध छोड़कर न भागना ॥ २३ ॥

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः।
यज्ञं भरतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ॥ २४ ॥

'मेरे पिता मधुसूदन भगवान् श्रीहरि यहाँकी रक्षाका सारा भार मुझपर रखकर भरतवंशशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें गये हैं। (आज मुझसे जो अपराध हो गया है,) इसे वे कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे ॥ २४ ॥

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥ २५ ॥

'सूतपुत्र ! वीर कृतवर्मा शाल्वका सामना करनेके लिये पुरीसे बाहर आ रहे थे; किंतु मैंने उन्हें रोक दिया और कहा—'आप यहीं रहिये। मैं शाल्वको परास्त करूँगा' ॥

स च सम्भावयन् मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥ २६ ॥

'कृतवर्मा मुझे इस कार्यके लिये समर्थ जानकर युद्धसे निवृत्त हो गये। आज युद्ध छोड़कर जब मैं उन महारथी वीरसे मिलूँगा, तब उन्हें क्या जवाब दूँगा ? ॥ २६ ॥

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम्।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥ २७ ॥

'शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले कमलनयन महाबाहु एवं अजेय वीर भगवान् पुरुषोत्तम जब यहाँ मेरे निकट पदार्पण करेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा !

सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम्॥ २८ ॥

'सात्यकिसे, बलरामजीसे तथा अन्धक और वृष्णिवंशके अन्य वीरोंसे, जो सदा मुझसे स्पर्धा रखते हैं, मैं क्या कहूँगा ? ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥

'सूतपुत्र ! तेरे द्वारा रणसे दूर लाया हुआ मैं इस युद्धको छोड़कर और पीठपर बाणोंकी चोट खाकर विवशतापूर्ण जीवन किसी प्रकार भी नहीं धारण करूँगा ॥ २९ ॥

स निवर्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥

'दारुकनन्दन ! अतः तू शीघ्र ही रथके द्वारा पुनः संग्रामभूमिकी ओर लौट। आजसे मुझपर आपत्ति आनेपर भी तू किसी तरह ऐसा बर्ताव न करना ॥ ३० ॥

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथंचन।
अपयातो रणाद् भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः॥ ३१ ॥

'सूतपुत्र ! पीठपर बाणोंकी चोट खाकर भयभीत हो युद्धसे भागनेवालेके जीवनको मैं किसी प्रकार भी अधिक आदर नहीं देता ॥ ३१ ॥

कदापि सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम्।

अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥

'सूतपुत्र ! क्या तू मुझे कायरोंकी तरह भयसे पीडित और युद्ध छोड़कर भागा हुआ समझता है ? ॥ ३२ ॥

न युक्तं भवता त्यक्तुं संग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥ ३३ ॥

'दारुककुमार ! तुझे संग्रामभूमिका परित्याग करना कदापि उचित नहीं था । विशेषतः उस अवस्थामें, जब कि मैं युद्धकी अभिलाषा रखता था । अतः जहाँ युद्ध हो रहा है, वहाँ चल' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

प्रद्युम्नके द्वारा शाल्वकी पराजय

वासुदेव उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर सूतपुत्रने शीघ्र ही बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नसे थोड़े शब्दोंमें मधुरतापूर्वक कहा—॥ १ ॥

न मे भयं रौक्मिणेय संग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नात्र किंचिदतोऽन्यथा ॥ २ ॥

'रुक्मिणीनन्दन ! संग्रामभूमिमें घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए मुझे तनिक भी भय नहीं होता । मैं वृष्णिवंशियोंके युद्धधर्मको भी जानता हूँ । आपने जो कुछ कहा है, उसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ॥ २ ॥

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥

'आयुष्मन् ! मैंने तो सारथ्यमें तत्पर रहनेवाले लोगोंके इस उपदेशका स्मरण किया था कि सभी दशाओंमें रथीकी रक्षा करनी चाहिये । उस समय आप भी अधिक पीड़ित थे ॥ ३ ॥

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥

'वीर ! शाल्वके चलाये हुए बाणोंसे अधिक घायल होनेके कारण आपको मूर्च्छा आ गयी थी, इसीलिये मैं आपको लेकर रणभूमिसे हटा था ॥ ४ ॥

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥ ५ ॥

'सात्वतवीरोंमें प्रधान केशवनन्दन ! अब दैवेच्छासे आप सचेत हो गये हैं, अतः घोड़े हाँकनेकी कलामें मुझे कैसी उत्तम शिक्षा मिली है, उसे देखिये ॥ ५ ॥

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ॥ ६ ॥

'मैं दारुकका पुत्र हूँ और उन्होंने ही मुझे सारथ्यकर्मकी यथावत् शिक्षा दी है । देखिये ! अब मैं निर्भय होकर राजा शाल्वकी इस विख्यात सेनामें प्रवेश करता हूँ' ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् संचोद्य संगरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत् तदा ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वीरवर ! ऐसा कहकर उस सूतपुत्रने घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लेकर उन्हें युद्धभूमिकी ओर हाँका और शीघ्रतापूर्वक वहाँ जा पहुँचा ॥ ७ ॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥ ८ ॥

उसने समान-असमान और वाम-दक्षिण आदि सब प्रकारकी विचित्र मण्डलाकार गतिसे रथका संचालन किया ॥

प्रतोदेनाहता राजन् रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥

राजन् ! वे श्रेष्ठ घोड़े चाबुककी मार खाकर बागडोर हिलानेसे तीव्र गतिसे दौड़ने लगे, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ ९ ॥

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नास्पृशंश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥

महाराज ! दारुकपुत्रके हस्तलाघवको समझकर वे घोड़े प्रज्वलित अग्निकी भाँति दमकते हुए इस प्रकार जा रहे थे, मानो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श भी न कर रहे हों ॥ १० ॥

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नातियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ११ ॥

भरतकुलभूषण ! दारुकके पुत्रने अनायास ही शाल्वकी उस सेनाको अपसव्य (दाहिने) कर दिया । यह एक अद्भुत बात हुई ॥ ११ ॥

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ॥ १२ ॥

सौभराज शाल्व प्रद्युम्नके द्वारा अपनी सेनाका अपसव्य किया जाना न सह सका। उसने सहसा तीन बाण चलाकर प्रद्युम्नके सारथिको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन्।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ॥ १३ ॥
ततो बाणान् बहुविधान् पुनरेव स सौभराट्।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥
तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥
छिन्नान् दृष्ट्वा तु तान् बाणान् प्रद्युम्नेन च सौभराट्।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

महाबाहो ! परंतु दारुककुमारने वहाँ बाणोंके वेगपूर्वक प्रहारकी कोई चिन्ता न करते हुए शाल्वकी सेनाको अपसव्य (दाहिने) करते हुए ही रथको आगे बढ़ाया। वीरवर ! तब सौभराज शाल्वने पुनः मेरे पुत्र रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नपर अनेक प्रकारके बाण चलाये। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए शाल्वके बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही तीक्ष्ण बाणोंसे मुसकराकर काट देते थे। प्रद्युम्नके द्वारा अपने बाणोंको छिन्न-भिन्न होते देख सौभराजने भयंकर आसुरी मायाका सहारा लेकर बहुत-से बाण बरसाये ॥ १३—१६ ॥

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम्।
ब्रह्मास्त्रेणान्तराच्छित्त्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ॥

प्रद्युम्नने शाल्वको अति शक्तिशाली दैत्यास्त्रका प्रयोग करता जानकर ब्रह्मास्त्रके द्वारा उसे बीचमें ही काट डाला और अन्य बहुत-से बाण बरसाये ॥ १७ ॥

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

वे सभी बाण शत्रुओंका रक्त पीनेवाले थे। उन बाणोंने शाल्वके अस्त्रोंका नाश करके उसके मस्तक, छाती और मुखको बींध डाला, जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते।
रौक्मिणेयो परं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥

क्षुद्र स्वभाववाले राजा शाल्वके बाणविद्ध होकर गिर जानेपर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने अपने धनुषपर एक उत्तम बाणका संधान किया, जो शत्रुका नाश कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

तमर्चितं सर्वदशार्हपूगै-
राशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम्।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं
बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥

वह बाण समस्त यादवसमुदायके द्वारा सम्मानित, विषैले सर्पके समान विषाक्त तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान था। उस बाणको प्रत्यञ्चापर रखा जाता हुआ देख अन्तरिक्षलोकमें हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ॥ २१ ॥

तब इन्द्र और कुबेरसहित सम्पूर्ण देवताओंने देवर्षि नारद तथा मनके समान वेगवाले वायुदेवको भेजा ॥

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम्।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ॥ २२ ॥

उन दोनोंने रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके पास आकर देवताओंका यह संदेश सुनाया—'वीरवर ! यह राजा शाल्व युद्धमें कदापि तुम्हारा वध्य नहीं है ॥ २२ ॥

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे।
एतस्य च शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान् क्वचित् ॥ २३ ॥

'तुम अपने इस बाणको फिरसे लौटा लो; क्योंकि यह शाल्व तुम्हारे द्वारा अवध्य है। तुम्हारे इस बाणका प्रयोग होनेपर युद्धमें कोई भी पुरुष बिना मरे नहीं रह सकता ॥

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्मिथ्या न भवेदिति ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! विधाताने युद्धमें देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके हाथसे ही इसकी मृत्यु निश्चित की है। उनका वह संकल्प मिथ्या नहीं होना चाहिये' ॥ २४ ॥

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम्।
संजहार धनुःश्रेष्ठात् तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५ ॥

यह सुनकर प्रद्युम्न बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषसे उस उत्तम बाणको उतार लिया और पुनः तरकसमें रख दिया ॥ २५ ॥

तत उत्थाय राजेन्द्रः शाल्वः परमदुर्मनाः।
व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर शाल्व उठकर अत्यन्त दुःखितचित्त हो प्रद्युम्नके बाणोंसे पीड़ित होनेके कारण अपनी सेनाके साथ तुरंत भाग गया ॥ २६ ॥

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरार्दितः।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७ ॥

महाराज ! उस समय वृष्णिवंशियोंसे पीड़ित हो क्रूर स्वभाववाला शाल्व द्वारकाको छोड़कर अपने सौभ नामक विमानका आश्रय ले आकाशमें जा पहुँचा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और शाल्वका भीषण युद्ध

वासुदेव उवाच

आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! आपका राजसूय महायज्ञ समाप्त होनेपर मैं शाल्वसे विमुक्त आनर्तनगर (द्वारका) में गया॥ १॥

अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम्।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम्॥ २॥

महाराज! मैंने वहाँ पहुँचकर देखा, द्वारका श्रीहीन हो रही है। वहाँ न तो स्वाध्याय होता है, न वषट्कार। वह पुरी आभूषणोंसे रहित सुन्दरी नारीकी भाँति उदास लग रही थी॥ २॥

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम्॥ ३॥

द्वारकाके वन-उपवन तो ऐसे हो रहे थे, मानो पहचाने ही न जाते हों। यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी शंका हुई और मैंने कृतवर्मासे पूछा—॥ ३॥

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम्।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ ४॥

'नरश्रेष्ठ! इस वृष्णिवंशके प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अस्वस्थ दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ'॥ ४॥

एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत्।
रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम॥ ५॥

नृपश्रेष्ठ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर कृतवर्माने शाल्वके द्वारकापुरीपर घेरा डालने और फिर छोड़कर भाग जानेका सब समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाया॥ ५॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम्॥ ६॥

भरतवंशशिरोमणे! यह सब वृत्तान्त पूर्णरूपसे सुनकर मैंने शाल्वराजके विनाशका पूर्ण निश्चय कर लिया॥ ६॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम्।
राजानमाहुकं चैव तथैवानकदुन्दुभिम्॥ ७॥
सर्वान् वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा।
अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः॥ ८॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैं नगरनिवासियोंको आश्वासन देकर राजा उग्रसेन, पिता वसुदेव तथा सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंका हर्ष बढ़ाते हुए बोला—'यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुषो! आपलोग नगरकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें॥ ७-८॥

शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत।
नाहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति॥ ९॥

'मैं शाल्वराजका नाश करनेके लिये यहाँसे प्रस्थान करता हूँ। आप यह निश्चय जानें; मैं शाल्वका वध किये बिना द्वारकापुरीको नहीं लौटूँगा॥ ९॥

सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः।
त्रिः समाहन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा॥ १०॥

'शाल्वसहित सौभनगरका नाश कर लेनेपर ही मैं पुनः आपलोगोंका दर्शन करूँगा। अब शत्रुओंको भयभीत करनेवाले इस नगाड़ेको तीन बार बजाइये'॥ १०॥

ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद् भरतर्षभ।
सर्वे मामब्रुवन् हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान्॥ ११॥

भरतकुलभूषण! मेरे इस प्रकार आश्वासन देनेपर सभी यदुवंशी वीरोंने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'जाइये और शत्रुओंका विनाश कीजिये'॥ ११॥

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीभिरभिनन्दितः।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् प्रणम्य शिरसा भवम्॥ १२॥
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन् दिशः।
प्रध्माप्य शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप॥ १३॥
प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः।
क्लृप्तेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना॥ १४॥

प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंके द्वारा आशीर्वादसे अभिनन्दित होकर मैंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और मस्तक झुकाकर भगवान् शिवको प्रणाम किया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए अपने रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए श्रेष्ठ शङ्ख पाञ्चजन्यको बजाकर मैंने विशाल सेनाके साथ रणके लिये प्रस्थान किया। मेरी उस व्यूहरचनासे युक्त और अनियन्त्रित सेनामें हाथी, घोड़े, रथी और पैदल—चारों ही अङ्ग मौजूद थे। उस समय वह सेना विजयसे सुशोभित हो रही थी॥ १२–१४॥

समतीत्य बहून् देशान् गिरींश्च बहुपादपान्।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम्॥ १५॥

तब मैं बहुत-से देशों और असंख्य वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतों, सरोवरों और सरिताओंको लाँघता हुआ मार्तिकावतमें जा पहुँचा॥ १५॥

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात्।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम्॥ १६॥

नरव्याघ्र ! वहाँ मैंने सुना कि शाल्व सौभ विमानपर बैठकर समुद्रके निकट जा रहा है । तब मैं उसीके पीछे लग गया ॥ १६ ॥

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत् सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥१७॥

शत्रुनाशन ! फिर समुद्रके निकट पहुँचकर उत्ताल तरङ्गोंवाले महासागरकी कुक्षिके अन्तर्गत उसके नाभिदेश (एक द्वीप) में जाकर राजा शाल्व सौभ विमानपर ठहरा हुआ था ॥ १७ ॥

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! वह दुष्टात्मा दूरसे ही मुझे देखकर मुसकराता हुआ-सा बारंबार युद्धके लिये ललकारने लगा ॥ १८ ॥

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥ १९ ॥

मेरे शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए बहुत-से मर्मभेदी बाण शाल्वके विमानतक नहीं पहुँच सके । इससे मैं रोषमें भर गया ॥

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ २० ॥

राजन् ! नीच दैत्य दुर्धर्ष राजा शाल्व स्वभावसे ही पापाचारी था । उसने मेरे ऊपर सहस्रों बाणधाराएँ बरसायीं ॥ २० ॥

सैनिकान् मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान् वयं युध्याम भारत ॥ २१ ॥

मेरे सारथि, घोड़ों तथा सैनिकोंपर उसने भी बाणोंकी झड़ी लगा दी । भारत ! उसके बाणोंकी बौछारको कुछ न समझकर मैं युद्धमें ही लगा रहा ॥ २१ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर शाल्वके अनुगामी वीरोंने युद्धमें मेरे ऊपर झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाण बरसाये ॥ २२ ॥

ते हयांश्च रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥

उस समय उन असुरोंने अपने मर्मवेधी बाणोंद्वारा मेरे घोड़ोंको, रथको और दारुकको भी ढक दिया ॥ २३ ॥

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥ २४ ॥

वीरवर ! उस समय मेरे घोड़े, रथ, मेरा सारथि दारुक, मैं तथा मेरे सारे सैनिक—सभी बाणोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान् बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! तब मैंने भी अपने धनुषद्वारा दिव्य विधिसे अभिमन्त्रित किये हुए कई हजार बाण बरसाये ॥२५॥

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥ २६ ॥

भारत ! शाल्वका सौभविमान आकाशमें इस प्रकार प्रवेश कर गया था कि मेरे सैनिकोंकी दृष्टिमें आता ही नहीं था, मानो एक कोस दूर चला गया हो ॥ २६ ॥

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २७ ॥

तब वे सैनिक रंगशालामें बैठे हुए दर्शकोंकी भाँति केवल मेरे युद्धका दृश्य देखते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद और करतलध्वनि करके मेरा हर्ष बढ़ाने लगे ॥ २७ ॥

मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुचिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ॥ २८ ॥

तब मेरे हाथोंसे छूटे हुए मनोहर पंखवाले बाण दानवोंके अङ्गोंमें शलभोंकी भाँति घुसने लगे ॥ २८ ॥

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २९ ॥

इससे सौभ विमानमें मेरे तीखे बाणोंसे मरकर महासागरमें गिरनेवाले दानवोंका कोलाहल बढ़ने लगा ॥ २९ ॥

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान् नादान् निपतन्ति स्म दानवाः॥ ३० ॥

कंधे और भुजाओंके कट जानेसे कबन्धकी आकृतिमें दिखायी देनेवाले वे दानव भयंकर नाद करते हुए समुद्रमें गिरने लगे ॥ ३० ॥

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ॥ ३१ ॥
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ।
तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः॥ ३२ ॥
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।
ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ॥ ३३ ॥
असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ॥ ३४ ॥

जो गिरते थे, उन्हें समुद्रमें रहनेवाले जीव-जन्तु निगल जाते थे। तत्पश्चात् मैंने गोदुग्ध, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, मृणाल तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले पाञ्चजन्य नामक शङ्खको बड़े जोरसे फूँका । उन दानवोंको समुद्रमें गिरते देख सौभराज शाल्व महान् मायायुद्धके द्वारा मेरा सामना करने

लगा। फिर तो मेरे ऊपर गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति, फरसे, खड्ग, शक्ति, वज्र, पाश, ऋष्टि, कनप, बाण, पट्टिश और भुशुण्डी आदि शस्त्रास्त्रोंकी निरन्तर वर्षा होने लगी ॥ ३१–३४ ॥

तामहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम्।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३५ ॥

शाल्वकी उस मायाको मैंने मायाद्वारा ही नियन्त्रित करके नष्ट कर दिया। उस मायाका नाश होनेपर वह पर्वतके शिखरोंद्वारा युद्ध करने लगा ॥ ३५ ॥

ततोऽभवत् तम इव प्रकाश इव चाभवत्।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ॥ ३६ ॥
अङ्गारपांशुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत।
एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कभी अन्धकार-सा हो जाता; कभी प्रकाश-सा हो जाता, कभी मेघोंसे आकाश घिर जाता और कभी बादलोंके छिन्न-भिन्न होनेसे सुन्दर दिन प्रकट हो जाता था। कभी सर्दी और कभी गर्मी पड़ने लगती थी। अङ्गार और धूलिकी वर्षाके साथ-साथ शस्त्रोंकी भी वृष्टि होने लगती। इस प्रकार शत्रुने मेरे साथ मायाका प्रयोग करते हुए युद्ध आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम्।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३८ ॥

वह सब जानकर मैंने मायाद्वारा ही उसकी मायाका नाश कर दिया। यथासमय युद्ध करते हुए मैंने बाणोंद्वारा शाल्वकी सेनाको सब ओरसे संतप्त कर दिया ॥ ३८ ॥

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत्।
शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ॥ ३९ ॥

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर! इसके बाद आकाश सौ सूर्योंसे उद्भासित-सा दिखायी देने लगा। उसमें सैकड़ों चन्द्रमा और करोड़ों तारे दिखायी देने लगे ॥ ३९ ॥

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ॥ ४० ॥

उस समय यह नहीं जान पड़ता था कि यह दिन है या रात्रि! दिशाओंका भी ज्ञान नहीं होता था; इससे मोहित होकर मैंने प्रज्ञास्त्रका संधान किया ॥ ४० ॥

ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवानिलैः।
तथा तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ४१ ॥

कुन्तीकुमार! तब उस अस्त्रने उस सारी मायाको उसी प्रकार उड़ा दिया, जैसे हवा रूईको उड़ा देती है। इसके बाद शाल्वके साथ हमलोगोंका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। राजेन्द्र! सब ओर प्रकाश हो जानेपर मैंने पुनः शत्रुसे युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका शाल्वकी मायासे मोहित होकर पुनः सजग होना

वासुदेव उवाच

एवं स पुरुषव्याघ्र शाल्वराजो महारिपुः।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यगमत् पुनः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषसिंह! इस प्रकार मेरे साथ युद्ध करनेवाला महाशत्रु शाल्वराज पुनः आकाशमें चला गया ॥ १ ॥

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च
दीप्तांश्च शूलान् मुसलानसींश्च।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः
शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी ॥ २ ॥

महाराज! वहाँसे विजयकी इच्छा रखनेवाले मन्द-बुद्धि शाल्वने क्रोधमें भरकर मेरे ऊपर शतघ्नियाँ, बड़ी-बड़ी गदाएँ, प्रज्वलित शूल, मुसल और खड्ग फेंके ॥ २ ॥

तानाशुगैरापततोऽहमाशु
निवार्य हन्तुं खगमान् ख एव।
द्विधा त्रिधा चाच्छिदमाशुमुक्तै-
स्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥ ३ ॥

उनके आते ही मैंने तुरंत शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उन्हें रोककर उन गगनचारी शत्रुओंको आकाशमें ही मार डालनेका निश्चय किया और शीघ्र छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबके दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर डाले। इससे अन्तरिक्षमें बड़ा भारी आर्त्त-नाद हुआ ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम्।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर शाल्वने झुकी हुई गाँठोंवाले लाखों बाणोंका प्रहार करके मेरे सारथि दारुक, घोड़ों तथा रथको आच्छा-दित कर दिया ॥ ४ ॥

ततो मामब्रवीद् वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ॥ ५ ॥

वीरवर ! तब दारुक व्याकुल-सा होकर मुझसे बोला—'प्रभो ! युद्धमें डटे रहना चाहिये' इस कर्तव्यका स्मरण करके ही मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ; किंतु शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझमें खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी है । मेरा अङ्ग शिथिल होता जा रहा है' ॥५॥

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥

सारथिका यह करुण वचन सुनकर मैंने उसकी ओर देखा । उसे बाणोंद्वारा बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ ६ ॥

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ॥ ७ ॥
स तु बाणवरोत्पीडाद् विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! उसकी छातीमें, मस्तकपर, शरीरके अन्य अवयवोंमें तथा दोनों भुजाओंमें थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं दिखायी देता था, जिसमें बाण न चुभे हुए हों । जैसे मेघके वर्षा करनेपर गेरू आदि धातुओंसे युक्त पर्वत लाल पानीकी धारा बहाने लगता है, वैसे ही वह बाणोंसे छिदे हुए अपने अङ्गोंसे भयंकर रक्तकी धारा बहा रहा था ॥ ७-८ ॥

अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तम्भयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उस युद्धमें हाथमें बागडोर लिये सारथिको शाल्वके बाणोंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते देख मैंने उसे ढाढ़स बँधाया ॥ ९ ॥

अथ मां पुरुषः कश्चिद् द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमभ्येत्य सौहृदादिव भारत ॥ १० ॥
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

भरतवंशी वीरवर ! इतनेमें ही कोई द्वारकावासी पुरुष आकर तुरंत मेरे रथपर चढ़ गया और सौहार्द दिखाता हुआ-सा बोला । वह राजा उग्रसेनका सेवक था और दुखी होकर उसने गद्‌गदकण्ठसे उनका जो संदेश सुनाया, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ १०-११ ॥

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेहि विजानीष्व यत् त्वां पितृसखोऽब्रवीत्॥ १२ ॥

(दूत बोला—) 'वीर ! द्वारकानरेश उग्रसेनने आपको यह एक संदेश दिया है । केशव ! वे आपके पिताके सखा हैं; उन्होंने आपसे कहा है कि यहाँ आ जाओ और जान लो ॥ १२ ॥

उपयायाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

'दुर्द्धर्ष वृष्णिनन्दन ! आपके युद्धमें आसक्त होनेपर शाल्वने अभी द्वारकापुरीमें आकर शूरनन्दन वसुदेवजीको बलपूर्वक मार डाला है ॥ १३ ॥

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत् तव ॥ १४ ॥

'जनार्दन ! अब युद्ध करके क्या लेना है ? लौट आओ, द्वारकाकी ही रक्षा करो । तुम्हारे लिये यही सबसे महान् कार्य है ॥ १४ ॥

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ॥ १५ ॥

दूतका यह वचन सुनकर मेरा मन उदास हो गया । मैं कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाता था ॥ १५ ॥

सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ॥ १६ ॥

वीर युधिष्ठिर ! वह महान् अप्रिय वृत्तान्त सुनकर मैं मन-ही-मन सात्यकि, बलरामजी तथा महारथी प्रद्युम्नकी निन्दा करने लगा ॥ १६ ॥

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! मैं द्वारका तथा पिताजीकी रक्षाका भार उन्हीं लोगोंपर रखकर सौभविमानका नाश करनेके लिये चला था ॥ १७ ॥

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ।
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ॥ १९ ॥
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ।
हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ॥ २० ॥
बलदेवमुखाः सर्व इति मे निश्चिता मतिः ।
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
अविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २१ ॥

क्या शत्रुहन्ता महाबली बलरामजी जीवित हैं ? क्या सात्यकि, रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, महाबली चारुदेष्ण तथा साम्ब आदि जीवन धारण करते हैं ? इन बातोंका विचार करते-करते मेरा मन बहुत उदास हो गया । नरश्रेष्ठ ! इन

वीरोंके जीते-जी साक्षात् इन्द्र भी मेरे पिता वसुदेवजीको किसी प्रकार मार नहीं सकते थे। अवश्य ही शूरनन्दन वसुदेवजी मारे गये और यह भी स्पष्ट है कि बलरामजी आदि सभी प्रमुख वीर प्राणत्याग कर चुके हैं—यह मेरा निश्चित विचार हो गया। महाराज! इस प्रकार सबके विनाशका बारंबार चिन्तन करके भी मैं व्याकुल न होकर राजा शाल्वसे पुनः युद्ध करने लगा॥ १८–२१॥

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत्॥ २२॥

वीर महाराज! इसी समय मैंने देखा, सौभ-विमानसे मेरे पिता वसुदेवजी नीचे गिर रहे हैं। इससे शाल्वकी मायासे मुझे मूर्च्छा-सी आ गयी॥ २२॥

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम्॥ २३॥

नरेश्वर! उस विमानसे गिरते हुए मेरे पिताका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गसे पृथ्वीतल-पर गिरनेवाले राजा ययातिका शरीर हो॥ २३॥

विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः।
प्रपतन् दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः॥ २४॥

उनकी मलिन पगड़ी बिखर गयी थी, शरीरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे और बाल बिखर गये थे। वे गिरते समय पुण्यहीन ग्रहकी भाँति दिखायी देते थे॥ २४॥

ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात् प्रपतितं मम।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम्॥ २५॥

कुन्तीनन्दन! उनकी यह अवस्था देख धनुषोंमें श्रेष्ठ शार्ङ्ग मेरे हाथसे छूटकर गिर गया और मैं शाल्वकी मायासे मोहित-सा होकर रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया॥ २५॥

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम्।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत॥ २६॥

भारत! फिर तो मुझे रथके पिछले भागमें प्राणरहितके समान पड़ा देख मेरी सारी सेना हाहाकार कर उठी। सबकी चेतना लुप्त-सी हो गयी॥ २६॥

प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा॥ २७॥

हाथों और पैरोंको फैलाकर गिरते हुए मेरे पिताका शरीर मरकर गिरनेवाले पक्षीके समान जान पड़ता था॥ २७॥

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो ह्यकम्पयन्॥ २८॥

वीरवर महाबाहो! गिरते समय शत्रु-सैनिक हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये उनके ऊपर बारंबार प्रहार कर रहे थे। उनके इस क्रूर कृत्यने मेरे हृदयको कम्पित-सा कर दिया॥

ततो मुहूर्तात् प्रतिलभ्य संज्ञा-
महं तदा वीर महाविमर्दे।
न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं
पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि॥ २९॥

वीरवर! तदनन्तर दो घड़ीके बाद जब मैं सचेत होकर देखता हूँ, तब उस महासमरमें न तो सौभ विमानका पता है, न मेरा शत्रु शाल्व ही दिखायी देता है और न मेरे बूढ़े पिता ही दृष्टिगोचर होते हैं॥ २९॥

ततो ममासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम्।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरं शरान्॥ ३०॥

तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया कि यह वास्तवमें माया ही थी। तब मैंने सजग होकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

शाल्ववधोपाख्यानकी समाप्ति और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा अन्य सब राजाओंका अपने-अपने नगरको प्रस्थान

वासुदेव उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम्॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तब मैं अपना सुन्दर धनुष उठाकर बाणोंद्वारा सौभ विमानसे देवद्रोही दानवोंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगा॥ १॥

शरांश्चाशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान् सुवाससः॥ २॥

तत्पश्चात् शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान प्रतीत होनेवाले, सुन्दर पङ्खोंसे सुशोभित, प्रचण्ड तेजस्वी तथा अनेक ऊर्ध्वगामी बाण मैंने राजा शाल्वपर चलाये॥ २॥

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह।

अन्तर्हितं माययाभूत् ततोऽहं विस्मितोऽभवम्॥ ३ ॥

कुरुकुलशिरोमणे ! परंतु उस समय सौभ विमान मायासे अदृश्य हो गया। अतः किसी प्रकार दिखायी नहीं देता था। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३ ॥

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः।
उदक्रोशन् महाराज विष्ठिते मयि भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी महाराज ! तदनन्तर जब मैं निर्भय और अचलभावसे स्थित हुआ तथा उनपर शस्त्रप्रहार करने लगा, तब विकृत मुख और केशवाले सौभनिवासी दानवगण जोर-जोरसे चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥

तब मैंने उनके वधके लिये उस महान् संग्राममें बड़ी उतावलीके साथ शब्दवेधी बाणका संधान किया। यह देख उनका कोलाहल शान्त हो गया ॥ ५ ॥

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः।
शरैरादित्यसंकाशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥

जिन दानवोंने पहले कोलाहल किया था, वे सब सूर्यके समान तेजस्वी शब्दवेधी बाणोंद्वारा मारे गये ॥ ६ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत्।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरैः ॥ ७ ॥

महाराज ! वह कोलाहल शान्त होनेपर फिर दूसरी ओर उनका शब्द सुनायी दिया। तब मैंने उधर भी बाणोंका प्रहार किया ॥ ७ ॥

एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥

भारत ! इस तरह वे असुर इधर-उधर ऊपर-नीचे दसों दिशाओंमें कोलाहल करते और मेरे हाथसे मारे जाते थे ॥८॥

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥

तदनन्तर इच्छानुसार चलनेवाला सौभ विमान प्राग्ज्योतिषपुरके निकट जाकर मेरे नेत्रोंको भ्रममें डालता हुआ फिर दिखायी दिया ॥ ९ ॥

ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् लोकान्तकारी भयंकर आकृतिवाले दानवने आकर सहसा पत्थरोंकी भारी वर्षाके द्वारा मुझे आवृत कर दिया ॥ १० ॥

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! शिलाखण्डोंकी उस निरन्तर वृष्टिसे बार-बार आहत होकर मैं पर्वतोंसे आच्छादित बाँबी-सा प्रतीत होने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः।
अप्रख्यातिमियां राजन् सर्वतः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥

राजन् ! मेरे चारों ओर शिलाखण्ड जमा हो गये थे। मैं घोड़ों और सारथिसहित प्रस्तरखण्डोंसे चुना-सा गया था, जिससे दिखायी नहीं देता था ॥ १२ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन् सैनिकास्तदा।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥

यह देख वृष्णिकुलके श्रेष्ठ वीर जो मेरे सैनिक थे, भयसे आर्त हो सहसा चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतमभूत् सर्वं किल विशाम्पते।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवादृश्यमाने तथा मयि ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! मेरे अदृश्य हो जानेपर भूलोक, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक—सभी स्थानोंमें हाहाकार मच गया ॥ १४ ॥

ततो विषण्णमनसो मम राजन् सुहृज्जनाः।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥

राजन् ! उस समय मेरे सभी सुहृद् खिन्नचित्त हो दुःख-शोकमें डूबकर रोने-चिल्लाने लगे ॥ १५ ॥

द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाद्विषतामपि।
एवं विजितवान् वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥

शत्रुओंमें उल्लास छा गया और मित्रोंमें शोक। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले वीर युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा शाल्व एक बार मुझपर विजयी हो चुका था। यह बात मैंने सचेत होनेपर पीछे सारथिके मुँहसे सुनी थी ॥ १६ ॥

ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम्।
वज्रमुद्यम्य तान् सर्वान् पर्वतान् समशातयम् ॥ १७ ॥

तब मैंने सब प्रकारके प्रस्तरोंको विदीर्ण करनेवाले इन्द्रके प्रिय आयुध वज्रका प्रहार करके उन समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ॥ १७ ॥

ततः पर्वतभारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ॥ १८ ॥

महाराज ! उस समय पर्वतखण्डोंके भारसे पीड़ित हुए मेरे घोड़े कम्पित-से हो रहे थे। उनकी बलसाध्य चेष्टाएँ बहुत कम हो गयी थीं ॥ १८ ॥

मेघजालमिवाकाशे विदार्याभ्युदितं रविम्।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन् पुनः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें बादलोंके समुदायको छिन्न-भिन्न करके सूर्य उदित होता है, उसी प्रकार शिलाखण्डोंको हटाकर

मुझे प्रकट हुआ देख मेरे सभी बन्धु-बान्धव पुनः हर्षसे खिल उठे ॥ १९ ॥

ततः पर्वतभारार्त्तान् मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान् संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ॥ २० ॥

तब प्रस्तरखण्डोंके भारसे पीड़ित तथा धीरे-धीरे प्राण-साध्य चेष्टा करनेवाले घोड़ोंको देखकर सारथिने मुझसे यह समयोचित बात कही—॥ २० ॥

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥ २१ ॥

'वार्ष्णेय ! वह देखिये, सौभराज शाल्व वहाँ खड़ा है । श्रीकृष्ण ! इसकी उपेक्षा करनेसे कोई लाभ नहीं । इसके वधका कोई उचित उपाय कीजिये ॥ २१ ॥

मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥ २२ ॥

'महाबाहु केशव ! अब शाल्वकी ओरसे कोमलता और मित्रभाव हटा लीजिये । इसे मार डालिये, जीवित न रहने दीजिये ॥ २२ ॥

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ २३ ॥

'शत्रुहन्ता वीरवर ! आपको सारा पराक्रम लगाकर इस शत्रुका वध कर डालना चाहिये । कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ॥ २४ ॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः ।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ॥ २५ ॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता ।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ॥ २६ ॥
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥ २७ ॥

'कोई शत्रु अपने घरमें आसनपर बैठा हो (युद्ध न करना चाहता हो), तो भी उसे नष्ट करनेमें नहीं चूकना चाहिये; फिर जो संग्राममें युद्ध करनेके लिये खड़ा हो, उसकी तो बात ही क्या है ? अतः पुरुषसिंह ! प्रभो ! आप सभी उपायोंसे इस शत्रुको मार डालिये । वृष्णिवंशावतंस ! इस कार्यमें आपको पुनः विलम्ब नहीं करना चाहिये । यह मृदुतापूर्ण उपायसे वशमें आनेवाला नहीं । वास्तवमें यह आपका मित्र भी नहीं है; क्योंकि वीर ! इसने आपके साथ युद्ध किया और द्वारकापुरीको तहस-नहस कर दिया, अतः इसको शीघ्र मार डालना चाहिये ।' कुन्तीनन्दन ! सारथिके मुखसे इस तरहकी बातें सुनकर मैंने सोचा, यह ठीक ही तो कहता है । यह विचारकर मैंने शाल्वराजका वध करने और सौभ विमानको मार गिरानेके लिये युद्धमें मन लगा दिया ॥ २४–२७ ॥

दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ॥ २८ ॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥ २९ ॥

वीर तत्पश्चात् मैंने दारुकसे कहा—'सारथे ! दो घड़ी और ठहरो (फिर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी) ।' तदनन्तर मैंने कहीं भी कुण्ठित न होनेवाले, दिव्य, अभेद्य, अत्यन्त शक्तिशाली, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ, प्रिय तथा परम कान्तिमान् आग्नेयास्त्रका अपने धनुषपर संधान किया । वह अस्त्र-युद्धमें दानवोंका अन्त करनेवाला था ॥

यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे ।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वह यक्षों, राक्षसों दानवों तथा विपक्षी राजाओंको भी भस्म कर डालनेवाला और महान् था ॥ ३० ॥

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥ ३१ ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ ३२ ॥

वह आग्नेयास्त्र (सुदर्शन) चक्रके रूपमें था । उसके परिधिभागमें सब ओर तीखे छुरे लगे हुए थे । वह उज्ज्वल अस्त्र काल, यम और अन्तकके समान भयंकर था । उस शत्रु-नाशक अनुपम अस्त्रको अभिमन्त्रित करके मैंने कहा—'तुम अपनी शक्तिसे सौभ विमान और उसपर रहनेवाले मेरे शत्रुओंको मार डालो ।' ऐसा कहकर अपने बाहुबलसे रोषपूर्वक मैंने वह अस्त्र सौभ विमानकी ओर चलाया ॥

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥ ३३ ॥

आकाशमें जाते ही उस सुदर्शन चक्रका स्वरूप प्रलयकालमें उगनेवाले द्वितीय सूर्यके समान प्रकाशित हो उठा ॥ ३३ ॥

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥ ३४ ॥

उस दिव्यास्त्रने सौभनगरमें पहुँचकर उसे श्रीहीन कर दिया और जैसे आरा ऊँचे काठको चीर डालता है, उसी प्रकार सौभ विमानको बीचसे काट डाला ॥ ३४ ॥

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३५ ॥

सुदर्शन चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकड़ोंमें बँटा हुआ सौभ विमान महादेवजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए त्रिपुरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३५ ॥

तस्मिन् निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३६ ॥

सौभ विमानके गिरनेपर चक्र फिर मेरे हाथमें आ गया । मैंने फिर उसे लेकर वेगपूर्वक चलाया और कहा—'अबकी बार शाल्वको मारनेके लिये तुम्हें छोड़ रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३७ ॥

तब उस चक्रने महासमरमें बड़ी भारी गदा घुमानेवाले शाल्वके सहसा दो टुकड़े कर दिये और वह तेजसे

प्रज्वलित हो उठा ॥ ३७ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ॥ ३८ ॥

वीर शाल्वके मारे जानेपर दानवोंके मनमें भय समा गया। वे मेरे बाणोंसे पीड़ित हो हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८ ॥

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३९ ॥

तब मैंने सौभ विमानके समीप अपने रथको खड़ा करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाकर सभी सुहृदोंको हर्षमें निमग्न कर दिया ॥ ३९ ॥

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

मेरुपर्वतके शिखरके समान आकृतिवाले सौभनगरकी अट्टालिका और गोपुर सभी नष्ट हो गये । उसे जलते देख उसपर रहनेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर भाग गयीं ॥ ४० ॥

एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४१ ॥

धर्मराज! इस प्रकार युद्धमें सौभ विमान तथा राजा शाल्वको नष्ट करके मैं पुनः आनर्तनगर (द्वारका) में लौट आया और सुहृदोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ४१ ॥

तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ॥ ४२ ॥
मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥ ४३ ॥

राजन् ! यही कारण है, जिससे मैं उन दिनों हस्तिनापुरमें न आ सका। शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले धर्मराज ! मेरे आनेपर या तो जूआ नहीं होता या दुर्योधन जीवित नहीं रह पाता। जैसे बाँध टूट जानेपर पानीको कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आज जब कि सब कुछ बिगड़ चुका है, तब मैं क्या कर सकूँगा ॥ ४२-४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीमान् मधुसूदन कुरुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर द्वारकाकी ओर चले ॥ ४४ ॥

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥ ४५ ॥

महाबाहु श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया। राजा युधिष्ठिर तथा भीमने बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृष्णका सिर सूँघा ॥ ४५ ॥

परिष्वक्तश्चार्जुनेन यमाभ्यां चाभिवादितः ।
सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः ॥ ४६ ॥

अर्जुनने उनको हृदयसे लगाया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया । पुरोहित धौम्यजीने उनका सम्मान किया तथा द्रौपदीने अपने आँसुओंसे उनकी अर्चना की ॥ ४६ ॥

सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४७ ॥

पाण्डवोंसे सम्मानित श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्युको अपने सुवर्णमय रथपर बैठाकर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ॥ ४७ ॥

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४८ ॥

उस रथमें शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़े जुते हुए थे और वह सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। युधिष्ठिरको आश्वासन देकर श्रीकृष्ण उसी रथके द्वारा द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ ४८ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णके चले जानेपर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने भी द्रौपदी-कुमारोंको साथ ले अपनी राजधानीको प्रस्थान किया ॥ ४९ ॥

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ५० ॥

चेदिराज धृष्टकेतु भी अपनी बहिन करेणुमतीको, जो नकुलकी भार्या थी, साथ ले पाण्डवोंसे मिल-जुलकर अपनी सुरम्य राजधानी शुक्तिमतीपुरीको चले गये ॥५०॥

केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! केकयराजकुमार भी अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पा समस्त पाण्डवोंसे विदा लेकर अपने नगरको चले गये ॥ ॥ ५१ ॥

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥५२॥

युधिष्ठिरके राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मण तथा वैश्य बारंबार विदा करनेपर भी पाण्डवोंको छोड़कर जाना नहीं चाहते थे ।५२।

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

भरतवंशभूषण महाराज जनमेजय ! उस समय काम्यक-वनमें उन महात्माओंका बड़ा अद्भुत सम्मेलन जुटा था ॥५३॥

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान् काले रथान् योजयतेति वै ॥ ५४ ॥

तदनन्तर महामना युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपने सेवकोंको समयपर आज्ञा दी--'रथोंको जोतकर तैयार करो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैतवनमें जानेके लिये उद्यत होना और प्रजावर्गकी व्याकुलता

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च
रथान् महार्हान् परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय
प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च
प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! यादवकुलके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए बहुमूल्य रथोंपर बैठे । फिर भूतनाथ भगवान् शङ्करके समान सुशोभित होनेवाले वे सभी वीर एक साथ दूसरे वनमें जानेके लिये उद्यत हुए । वेद-वेदाङ्ग और मन्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेकी मुद्राएँ, वस्त्र तथा गौएँ प्रदान करके उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ १-२ ॥

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा
धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान् ।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च
सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बीस सेवक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो धनुष, तेजस्वी बाण, शस्त्र, डोरी, यन्त्र और अनेक प्रकारके सायक लेकर पहले ही पश्चिम दिशामें स्थित द्वारकापुरीकी ओर चले गये थे ॥ ३ ॥

ततस्तु वासांसि च राजपुत्र्या
धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य
जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥

तदनन्तर सारथि इन्द्रसेन राजकुमारी सुभद्राके वस्त्र, आभूषण, धायों तथा दासियोंको लेकर तुरंत ही रथके द्वारा द्वारकापुरीको चल दिया ॥ ४ ॥

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन् प्रसन्ना
मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥

इसके बाद उदार हृदयवाले पुरवासियोंने कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उनकी परिक्रमा की । कुरुजाङ्गलदेशके

ब्राह्मणों तथा सभी प्रमुख लोगोंने उनसे प्रसन्नतापूर्वक बातचीत की ॥ ५ ॥

स चापि तानभ्यवदत् प्रसन्नः
सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा
दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥

अपने भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने भी प्रसन्न होकर उन सबसे वार्तालाप किया। कुरुजाङ्गलदेशके उस जन-समुदायको देखकर महात्मा राजा युधिष्ठिर थोड़ी देरके लिये वहाँ ठहर गये ॥ ६ ॥

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं
चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चापि तस्मिन् भरतप्रवर्हे
तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥

जैसे पिताका अपने पुत्रोंपर वात्सल्यभाव होता है, उसी प्रकार कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिरने उन सबके प्रति अपने आन्तरिक स्नेहका परिचय दिया। वे भी उन भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरके प्रति वैसे ही अनुरक्त थे, जैसे पुत्र अपने पितापर ॥ ७ ॥

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः
कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा
भीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ॥ ८ ॥
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां
पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥

उस महान् जनसमुदाय (प्रजा) के लोग कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरके पास जा उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। राजन्! उस समय उन सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे वियोगके भयसे भीत हो हा नाथ! हा धर्म! इस प्रकार पुकारते हुए कह रहे थे—'कुरुवंशके श्रेष्ठ अधिपति, प्रजाजनोंपर पिताका-सा स्नेह रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर हम सब पुत्रों, पुरवासियों-तथा समस्त देशवासियोंको छोड़कर अब कहाँ चले जा रहे हैं? ॥ ८-९ ॥

धिग् धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं
धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा
ये धर्मनित्यस्य सतस्तवैवम् ॥ १० ॥

'क्रूरबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धिक्कार है। सुबलपुत्र शकुनि तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले कर्णको भी धिक्कार है, जो पापी सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले आपका इस प्रकार अनर्थ करना चाहते हैं ॥ १० ॥

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा
पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ११ ॥

'जिन महात्माने स्वयं ही पुरुषार्थ करके महादेवजीके नगर कैलासकी-सी सुषमावाले अनुपम इन्द्रप्रस्थ नामक नगरको बसाया था, वे अचिन्त्यकर्मा धर्मराज युधिष्ठिर अपनी उस पुरीको छोड़कर अब कहाँ जा रहे हैं? ॥ ११ ॥

चकार यामप्रतिमां महात्मा
सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ १२ ॥

'महामना मयदानवने देवताओंकी सभाके समान सुशोभित होनेवाली जिस अनुपम सभाका निर्माण किया था, देवताओं-द्वारा रक्षित देवमायाके समान उस सभाका परित्याग करके धर्मराज युधिष्ठिर कहाँ चले जा रहे हैं?' ॥ १२ ॥

तान् धर्मकामार्थविदुत्तमौजा
बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य
वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ १३ ॥

धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता उत्तम पराक्रमी अर्जुनने उन सब प्रजाजनोंको सम्बोधित करके उच्चस्वरसे कहा—'राजा युधिष्ठिर इस वनवासकी अवधि पूर्ण करके शत्रुओंका यश छीन लेंगे ॥ १३ ॥

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक् च
भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या
यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ १४ ॥

'आपलोग एक साथ या अलग-अलग श्रेष्ठ ब्राह्मणों, तपस्वियों तथा धर्म-अर्थके ज्ञाता महापुरुषोंको प्रसन्न करके उन सबसे यह प्रार्थना करें, जिससे हमलोगोंके अभीष्ट मनोरथकी उत्तम सिद्धि हो' ॥ १४ ॥

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन
ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन् सहिताश्च चक्रुः
प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ १५ ॥

राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणों तथा अन्य सब वर्णके लोगोंने एक स्वरसे प्रसन्नतापूर्वक उनकी बातका

अभिनन्दन किया तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरकी परिक्रमा की ॥ १५ ॥

आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च
धनंजयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा
युधिष्ठिरेणानुमता यथाश्वम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सब लोग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवसे विदा ले एवं युधिष्ठिरकी अनुमति प्राप्त करके उदास होकर अपने राष्ट्रको प्रस्थित हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैत वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसंगरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर प्रजाजनोंके चले जानेपर सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥

'हमलोगोंको इन आगामी बारह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करना है, अतः इस महान् वनमें कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ो, जहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हों ॥ २ ॥

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥

'जहाँ फल-फूलोंकी अधिकता हो, जो देखनेमें रमणीय एवं कल्याणकारी हो तथा जहाँ बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों, वह स्थान इस योग्य होना चाहिये, जहाँ हम सब लोग इन बारह वर्षोंतक सुखपूर्वक रह सकें' ॥ ३ ॥

एवमुक्तं प्रत्युवाच धर्मराजं धनंजयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन मनस्वी मानवगुरु युधिष्ठिरका गुरुतुल्य सम्मान करके उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—आर्य ! आप स्वयं ही बड़े-बड़े ऋषियों तथा वृद्ध पुरुषोंका सङ्ग करनेवाले हैं। इस मनुष्यलोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ५ ॥

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपने सदा द्वैपायन आदि बहुत-से ब्राह्मणों तथा महातपस्वी नारदजीकी उपासना की है ॥ ६ ॥

यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।
देवलोकाद् ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा-सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते रहते हैं देवलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंमें भी उनकी पहुँच है ॥

अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥

राजन् ! आप सभी ब्राह्मणोंके अनुभाव और प्रभावको जानते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥

राजन् ! आप ही श्रेय (मोक्ष) के कारणका ज्ञान रखते हैं। महाराज ! आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं हम-लोग निवास करेंगे ॥ ९ ॥

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥

यह जो पवित्र जलसे भरा हुआ सरोवर है, इसका नाम द्वैतवन है । यहाँ फल और फूलोंकी बहुलता है । देखनेमें यह स्थान रमणीय तथा अनेक ब्राह्मणोंसे सेवित है ॥

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥

मेरी इच्छा है कि वहीं हमलोग इन बारह वर्षोंतक निवास करें। राजन् ! यदि आपकी अनुमति हो तो द्वैतवनके समीप रहा जाय । अथवा आप दूसरे किस स्थानको उत्तम मानते हैं ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पार्थ ! तुमने जैसा बताया है, वही मेरा भी मत है। हमलोग पवित्र जलके कारण प्रसिद्ध द्वैतवन नामक विशाल सरोवरके समीप चलें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे सभी धर्मात्मा पाण्डव बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र द्वैतवन नामक सरोवरको चले गये ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥ १४ ॥
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम्।
तपःसिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥

वहाँ बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणों, निरग्निकों, स्वाध्याय-परायण ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियों, सैकड़ों कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपःसिद्ध महात्माओं तथा अन्य अनेक ब्राह्मणोंने महाराज युधिष्ठिरको घेर लिया ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र ब्राह्मणैर्बहुभिः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥

वहाँ पहुँचकर भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र एवं रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

तमालतालाम्रमधूकनीप-
कदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं
महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरने देखा; वह महान् वन तमाल, ताल, आम, महुआ, नीप, कदम्ब, साल, अर्जुन और कनेर आदि वृक्षोंसे, जो ग्रीष्म ऋतु बीतनेपर फूल धारण करते हैं, सम्पन्न है ॥ १७ ॥

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थु-
र्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसङ्घा-
स्तस्मिन् वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥ १८ ॥

उस वनमें बड़े-बड़े वृक्षोंकी ऊँची शाखाओंपर मयूर, चातक, चकोर, बर्हिण तथा कोकिल आदि पक्षी मनको भानेवाली मीठी बोली बोलते हुए बैठे थे ॥ १८ ॥

करेणुयूथैः सह यूथपानां
मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां
तस्मिन् वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥

राष्ट्रपति युधिष्ठिरको उस वनमें पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले मदोन्मत्त गजराजोंके, जो एक-एक यूथके अधिपति थे, हथिनियोंके साथ विचरनेवाले कितने ही भारी-भारी झुंड दिखायी दिये ॥ १९ ॥

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य
पूतात्मनां चीरजटाधराणाम्।
तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे
ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ २० ॥

मनोरम भोगवती (सरस्वती) नदीमें स्नान करके जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये हैं, जो वल्कल और जटा धारण करते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके निवासभूत उस वनमें राजाने सिद्ध-महर्षियोंके अनेक समुदाय देखे ॥ २० ॥

ततः स यानादवरुह्य राजा
सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठ-
स्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ एवं अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकों और भाइयोंसहित रथसे उतरकर स्वर्गमें इन्द्रके समान उस वनमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

तं सत्यसंधं सहसाभिपेतु-
र्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं
मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ॥ २२ ॥

उस समय उन सत्यप्रतिज्ञ मनस्वी राजसिंह युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे सहसा बहुत-से चारण, सिद्ध एवं वनवासी महर्षि आये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्
प्रत्यर्चितो राजवद् देववच्च।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः
कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २३ ॥

वहाँ आये हुए समस्त सिद्धोंको प्रणाम करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उनके द्वारा भी राजा तथा देवताके समान पूजित हुए एवं दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वनके भीतर पदार्पण किया ॥ २३ ॥

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा
तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले
महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥

उस वनमें रहनेवाले धर्मपरायण तपस्वियोंने उन पुण्यशील महात्मा राजाके पास जाकर उनका पिताकी भाँति सम्मान किया। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर फूलोंसे लदे हुए एक महान् वृक्षके नीचे उसकी जड़के समीप बैठे ॥ २४ ॥

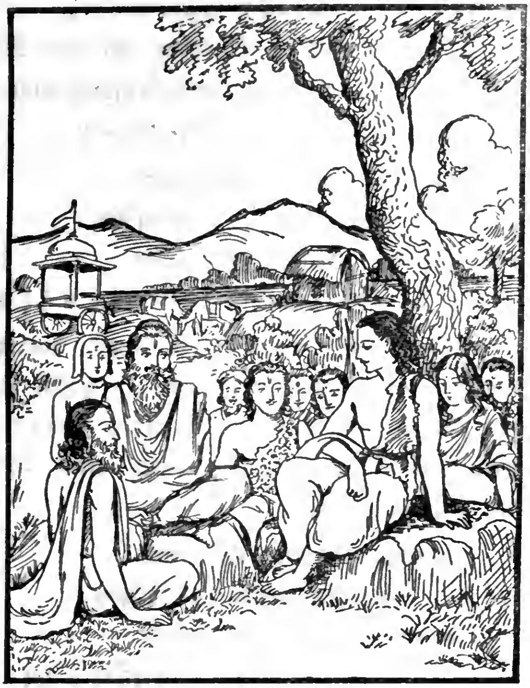

भीमश्च कृष्णा च धनंजयश्च
यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम्।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे
तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पराधीन-दशामें पड़े हुए भीम, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सेवकगण सवारी छोड़कर उतर गये। वे सभी भरतश्रेष्ठ वीर महाराज युधिष्ठिरके समीप जा बैठे ॥ २५ ॥

लतावतानावनतः स पाण्डवै-
र्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभि-
र्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥

जैसे महान् पर्वत यूथपति गजराजोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार लतासमूहसे झुका हुआ वह महान् वृक्ष वहाँ निवासके लिये आये हुए पाँच धनुर्धर महात्मा पाण्डवोंद्वारा शोभा पाने लगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

महर्षि मार्कण्डेयका पाण्डवोंको धर्मका आदेश देकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत् काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः
सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु
सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सुख भोगनेके योग्य राजकुमार पाण्डव इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे वनवासके संकटमें पड़कर द्वैतवनमें प्रवेश करके वहाँ सरस्वती-तटवर्ती सुखद शालवनोंमें विहार करने लगे ॥ १ ॥

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वा-
स्तस्मिन् वने मूलफलैरुदग्रैः।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां
संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥
इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च
महावने वसतां पाण्डवानाम्।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजा-
श्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम्॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ महानुभाव राजा युधिष्ठिरने उस वनमें रहनेवाले सम्पूर्ण यतियों, मुनियों और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम फल-मूलोंके द्वारा तृप्त किया। अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्य पिताकी भाँति उस महावनमें रहनेवाले राजकुमार पाण्डवोंके यज्ञ-याग, पितृ-श्राद्ध तथा अन्य सत्कर्म करते-कराते रहते थे।२-३।

अपेत्य राष्ट्राद् वसतां तु तेषा-
मृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा
मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम्॥ ४ ॥

राज्यसे दूर होकर वनमें निवास करनेवाले श्रीमान् पाण्डवोंके उस आश्रमपर उद्दीप्त तेजस्वी पुरातन महर्षि मार्कण्डेयजी अतिथिके रूपमें आये ॥ ४ ॥

तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः।
अपूजयत् सुरऋषिमानवार्चितं
महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान्॥ ५ ॥

उनकी अङ्ग-कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रही थी। देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्योंद्वारा पूजित महामुनि मार्कण्डेयको आया देख अनुपम धैर्य और पराक्रमसे

सम्पन्न महामनस्वी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर उनकी यथावत् पूजा की ॥ ५ ॥

ससर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां
युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा
तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ॥ ६ ॥

अमित तेजस्वी तथा सर्वज्ञ महात्मा मार्कण्डेयजी द्रुपद-कुमारी कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन (और नकुल-सहदेव) को देखकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके तपस्वियोंके बीचमें मुसकराने लगे ॥ ६ ॥

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत्
सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्ट-
स्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥ ७ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने उदासीन-से होकर पूछा—'मुने ! ये सब तपस्वी तो मेरी अवस्था देखकर कुछ संकुचित-से हो रहे हैं, परंतु क्या कारण है कि आप इन सब महात्माओंके सामने मेरी ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक यों मुसकराते-से दिखायी देते हैं ?' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

न तात हृष्यामि न च स्मयामि
प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं
सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—तात ! न तो मैं हर्षित होता हूँ और न मुसकराता ही हूँ । हर्षजनित अभिमान कभी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता । आज तुम्हारी यह विपत्ति देखकर मुझे सत्यप्रतिज्ञ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण हो आया ॥ ८ ॥

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन
वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन् पार्थ मयैव दृष्टो
गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालकी बात है—राजा रामचन्द्रजी भी अपने पिताकी आज्ञासे ही केवल धनुष हाथमें लिये लक्ष्मणके साथ वनमें निवास एवं भ्रमण करते थे । उस समय ऋष्यमूकपर्वतके शिखरपर मैंने ही उनका भी दर्शन किया था ॥

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा
यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता ।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं
वासं वने दाशरथिश्चकार ॥ १० ॥

दशरथनन्दन श्रीराम सर्वथा निष्पाप थे । इन्द्र उनके दूसरे स्वरूप थे । वे यमराजके भी नियन्ता और नमुचि-जैसे दानवोंके नाशक थे, तो भी उन महात्माने पिताकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर वनमें निवास किया ॥ १० ॥

स चापि शक्रस्य समप्रभावो
महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद् वनेषु
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥

जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनका अनुभव महान् था तथा जो युद्धमें सर्वदा अजेय थे, उन्होंने भी सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके वनमें निवास किया था । इसलिये अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

भूपाश्च नाभागभगीरथादयो
महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥

नाभाग और भगीरथ आदि राजाओंने भी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीतकर सत्यके द्वारा उत्तम लोकोंपर विजय पायी । इसलिये तात ! अपनेको बलका स्वामी मानकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं
सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! काशी और करूषदेशके राजा अलर्कको सत्य-प्रतिज्ञ संत बताया गया है । उन्होंने राज्य और धन त्यागकर धर्मका आश्रय लिया है । अतः अपनेको अधिक शक्तिशाली समझकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणै-
स्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! विधाताने पुरातन वेद-वाक्योंद्वारा जो अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान किया है, उसका समादर करनेके कारण ही साधु सप्तर्षिगण देवलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । अतः अपनेको शक्तिशाली मानकर कभी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

महाबलान् पर्वतकूटमात्रान्
विषाणिनः पश्य गजान् नरेन्द्र ।
स्थितान् निदेशे नरवर्य धातु-
र्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! पर्वतशिखरके समान ऊँचे और बड़े-बड़े दाँतोंवाले इन महाबली गजराजोंकी ओर तो देखो। ये भी विधाताके आदेशका पालन करनेमें लगे हैं। इसलिये मैं शक्तिका स्वामी हूँ ऐसा समझकर कभी अधर्माचरण न करे ॥ १५ ॥

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य
तथा यथावद् विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदा चरन्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १६ ॥

नरेन्द्र ! देखो, ये समस्त प्राणी विधाताके विधानके अनुसार अपनी योनिके अनुरूप सदा कार्य करते रहते हैं, अतः अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म न करे ॥१६॥

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या
ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं
विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम अपने सत्य, धर्म, यथायोग्य बर्ताव तथा लज्जा आदि सद्गुणोंके कारण समस्त प्राणियोंसे ऊँचे उठे हुए हो। तुम्हारा यश और तेज अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १७ ॥

यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव
कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्ता-
मादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १८ ॥

महानुभाव नरेश ! तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इस कष्टसाध्य वनवासकी अवधि पूरी करके कौरवोंके हाथसे अपनी तेजस्विनी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लोगे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षि-
स्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्था-
स्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपस्वी महात्माओंके बीचमें अपने सुहृदोंके साथ बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर महर्षि मार्कण्डेय धौम्य एवं समस्त पाण्डवोंसे विदा ले उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

दल्भपुत्र बकका युधिष्ठिरको ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्वैतवनमें जब महात्मा पाण्डव निवास करने लगे, उस समय वह विशाल वन ब्राह्मणोंसे भर गया ॥ १ ॥

ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥

सरोवरसहित द्वैतवन सदा और सब ओर उच्चारित होनेवाले वेदमन्त्रोंके घोषसे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था ॥

यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥

यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद तथा गद्य-भागके उच्चारणसे जो ध्वनि होती थी, वह हृदयको प्रिय जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥

कुन्तीपुत्रोंके धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार-शब्द और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोंका घोष दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वका सुन्दर संयोग हो रहा था ॥ ४ ॥

अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
संध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥ ५ ॥

एक दिन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर ऋषियोंसे घिरे हुए संध्योपासना कर रहे थे। उस समय दल्भके पुत्र बक नामक महर्षिने उनसे कहा—॥ ५ ॥

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ सम्प्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥

'कुरुश्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! देखो, द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणोंकी होमवेलाका कैसा सुन्दर दृश्य है। सब ओर वेदियोंपर अग्नि प्रज्वलित हो रही है ॥ ६ ॥

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥

आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥

'आपके द्वारा सुरक्षित हो व्रत धारण करनेवाले ब्राह्मण इस पुण्य वनमें धर्मका अनुष्ठान कर रहे हैं । भार्गव, आङ्गिरस, वासिष्ठ, काश्यप, महान् सौभाग्यशाली अगस्त्य वंशी तथा श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले आत्रेय आदि सम्पूर्ण जगत्के श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ आकर तुमसे मिले हैं ॥ ७-८ ॥

इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत्त्वा वक्ष्यामि कौरव ॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! भाइयोंसहित तुमसे मैं जो एक बात कह रहा हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ १० ॥

'जब ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे मिल जाय तो दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओंको भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वनको जला देते हैं ॥ १० ॥

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषे-
दिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं
लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११ ॥

तात ! इहलोक और परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाला राजा किसी ब्राह्मणको साथ लिये विना अधिक कालतक न रहे । जिसे धर्म और अर्थकी शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह दूर हो गया हो, ऐसे ब्राह्मणको पाकर राजा अपने शत्रुओंका नाश कर देता है ॥ ११ ॥

चरन् नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद् बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥

'राजा बलिको प्रजापालनजनित कल्याणकारी धर्मका आचरण करनेके लिये ब्राह्मणका आश्रय लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं जान पड़ा था ॥ १२ ॥

अनूनमासीदसुरस्य कामै-
र्वैरोचनेः श्रीरपि चाक्षयाऽऽसीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसम्प्रयोगात्
तेष्वाचरन् दुष्टमथो व्यनश्यत् ॥ १३ ॥

'ब्राह्मणके सहयोगसे पृथ्वीका राज्य पाकर विरोचन-पुत्र बलि नामक असुरका जीवन सम्पूर्ण आवश्यक कामोपभोगकी सामग्रीसे सम्पन्न हो गया और अक्षय राज्यलक्ष्मी भी प्राप्त हो गयी । परंतु वह उन ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर नष्ट हो गया—उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग हो गया* ॥ १३ ॥

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूति-
र्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै
यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ॥ १४ ॥

'जिसे ब्राह्मणका सहयोग नहीं प्राप्त है, ऐसे क्षत्रियके पास यह ऐश्वर्यपूर्ण भूमि दीर्घ कालतक नहीं रहती । जिस नीतिज्ञ राजाको श्रेष्ठ ब्राह्मणका उपदेश प्राप्त है, उसके सामने समुद्रपर्यन्त पृथिवी नतमस्तक होती है ॥ १४ ॥

कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥

'जैसे संग्राममें हाथीसे महावतको अलग कर देनेपर उसकी सारी शक्ति व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मण-रहित क्षत्रियका सारा बल क्षीण हो जाता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥ १६ ॥

'ब्राह्मणोंके पास अनुपम दृष्टि (विचारशक्ति) होती है और क्षत्रियके पास अनुपम बल होता है । ये दोनों जब साथ-साथ कार्य करते हैं, तब सारा जगत् सुखी होता है ॥ १६ ॥

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥ १७ ॥

'जैसे प्रचण्ड अग्नि वायुका सहारा पाकर सूखे जंगलको जला डालती है, उसी प्रकार ब्राह्मणकी सहायतासे राजा अपने शत्रुको भस्म कर देता है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥ १८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये ब्राह्मणोंसे बुद्धि ग्रहण करे ॥ १८ ॥

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये
यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं
बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ॥ १९ ॥

'राजन् ! अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये यथायोग्य उपाय बतानेके निमित्त तुम अपने यहाँ यशस्वी, बहुश्रुत एवं वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणको बसाओ ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारे हृदयमें सदा उत्तम भाव है, इसीलिये सब लोकोंमें तुम्हारा यश विख्यात एवं प्रकाशित है' ॥ २० ॥

* बलिके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग होनेका प्रसङ्ग शान्तिपर्वके २२५ वें अध्यायमें आता है ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर युधिष्ठिरकी बड़ाई करनेपर उन सब ब्राह्मणोंने बकका आदर-सत्कार किया और उन सब ब्राह्मणोंका चित्त प्रसन्न हो गया ॥ २१ ॥

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूणकर्णश्च अग्निवेश्योऽथशौनकः ॥ २३ ॥
कृतवाक् च सुवाक् चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरंदरमिवर्षयः ॥ २५ ॥

द्वैपायन व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात्, कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, विभावसु, ऊर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र तथा होत्रवाहन—ये सब ब्रह्मर्षि तथा राजर्षिगण और दूसरे कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण अजातशत्रु युधिष्ठिरका उसी प्रकार आदर करते थे, जैसे महर्षि लोग देवराज इन्द्रका ॥ २२—२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वमें अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरसे उनके शत्रुविषयक क्रोधको उभाड़नेके लिये संतापपूर्ण वचन

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वनमें गये हुए पाण्डव एक दिन सायंकालमें द्रौपदीके साथ बैठकर दुःख और शोकमें मग्न हो कुछ बातचीत करने लगे ॥ १ ॥

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पतिव्रता द्रौपदी पाण्डवोंकी प्रिया, दर्शनीया और विदुषी थी । उसने धर्मराजसे इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

द्रौपद्युवाच

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! मैं समझती हूँ, उस क्रूर स्वभाववाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र पापी दुर्योधनके मनमें हमलोगोंके लिये तनिक भी दुःख नहीं हुआ होगा ॥ ३ ॥

यस्त्वां राजन् मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥

महाराज ! उस नीच बुद्धिवाले दुष्टात्माने आपको भी मृगछाला पहनाकर मेरे साथ वनमें भेज दिया; किंतु इसके लिये उसे थोड़ा भी पश्चात्ताप नहीं हुआ ॥ ४ ॥

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत् तदा ॥ ५ ॥

अवश्य ही उस कुकर्मीका हृदय लोहेका बना है, क्योंकि उसने आप-जैसे धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुषको भी उस समय कटु वचन सुनाये थे ॥ ५ ॥

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥

आप सुख भोगनेके योग्य हैं । दुःखके योग्य कदापि नहीं हैं, तो भी आपको ऐसे दुःखमें डालकर वह पापाचारी दुरात्मा अपने मित्रोंके साथ आनन्दित हो रहा है ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥ ७ ॥

भारत ! जब आप वल्कल-वस्त्र धारण करके वनमें जानेके लिये निकले, उस समय केवल चार ही पापात्माओंके नेत्रोंसे आँसू नहीं गिरा था ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥

दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा उग्र स्वभाववाले दुष्ट भ्राता दुःशासन—इन्हींकी आँखोंमें आँसू नहीं थे ॥

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अन्य सभी कुरुवंशी दुःखमें डूबे हुए थे और उनके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा हो रही थी ॥ ९ ॥

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत् ते पुरातनम्।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम्॥ १०॥

महाराज! आज आपकी यह शय्या देखकर मुझे पहलेकी राजोचित शय्याका स्मरण हो आता है और मैं आपके लिये शोकमें मग्न हो जाती हूँ; क्योंकि आप दुःखके अयोग्य और सुखके ही योग्य हैं॥ १०॥

दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम्।
दृष्ट्वा कुशबृसीं चेमां शोको मां प्रदहत्ययम्॥ ११॥

सभाभवनमें जो रत्नजटित हाथीदाँतका सिंहासन है, उसका स्मरण करके जब मैं इस कुशकी चटाईको देखती हूँ, तब शोक मुझे दग्ध किये देता है॥ ११॥

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम्।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे॥ १२॥

राजन्! मैं इन्द्रप्रस्थकी सभामें आपको राजाओंसे घिरा हुआ देख चुकी हूँ, अतः आज वैसी अवस्थामें आपको न देखकर मेरे हृदयको क्या शान्ति मिल सकती है?॥१२॥

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम्।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत॥ १३॥

भारत! जो पहले आपको चन्दनचर्चित एवं सूर्यके समान तेजस्वी देखती रही हूँ, वही मैं आपको कीचड़ एवं मैलसे मलिन देखकर मोहके कारण दुःखित हो रही हूँ॥१३॥

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम्॥१४॥

राजेन्द्र! जो मैं पहले आपको उज्ज्वल रेशमी वस्त्रोंसे आच्छादित देख चुकी हूँ, वही आज वल्कल-वस्त्र पहिने देखती हूँ॥ १४॥

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम्॥ १५॥

एक दिन वह था कि आपके घरसे सहस्रों ब्राह्मणोंके लिये सोनेकी थालियोंमें सब प्रकारकी रुचिके अनुकूल तैयार किया हुआ सुन्दर भोजन परोसा जाता था॥ १५॥

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम्।
दीयते भोजनं राजन्नतीवगुणवत् प्रभो॥ १६॥

शक्तिशाली महाराज! उन दिनों प्रतिदिन यतियों, ब्रह्मचारियों और गृहस्थ ब्राह्मणोंको भी अत्यन्त गुणकारी भोजन अर्पित किया जाता था॥ १६॥

सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान्॥ १७॥

पहले आपके राजभवनमें सहस्रों (सुवर्णमय) पात्र थे, जो सम्पूर्ण इच्छानुकूल भोज्य पदार्थोंसे भरे-पूरे रहते थे और उनके द्वारा आप समस्त अभीष्ट मनोरथोंकी पूर्ति करते हुए प्रतिदिन ब्राह्मणोंका सत्कार करते थे॥ १७॥

तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे।
यत् ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः॥ १८॥
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः।
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः॥ १९॥

राजन्! आज वह सब न देखनेके कारण मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी? महाराज! आपके जिन भाइयोंको कानोंमें सुन्दर कुण्डल पहने हुए तरुण रसोइये अच्छे प्रकारसे बनाये हुए स्वादिष्ट अन्न परोसकर भोजन कराया करते थे, उन सबको आज वनमें जंगली फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते देख रही हूँ॥ १८-१९॥

अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः।
भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम्॥ २०॥
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते।
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम्॥ २१॥
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते।

नरेन्द्र! आपके भाई दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं; आज इन्हें दुःखमें देखकर मेरा चित्त किसी प्रकार शान्त नहीं हो पाता है। महाराज! वनमें रहकर दुःख भोगते हुए इन अपने भाई भीमसेनका स्मरण करके समय आनेपर क्या शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं बढ़ेगा? मैं पूछती हूँ—युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले और सुख भोगनेके योग्य भीमसेनको स्वयं अपने हाथोंसे सब काम करते और दुःख उठाते देखकर शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं भड़क उठता?॥ २०—२१½॥

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा॥ २२॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते।

विविध सवारियाँ और नाना प्रकारके वस्त्रोंसे जिनका सत्कार होता था, उन्हीं भीमसेनको वनमें कष्ट उठाते देख शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध प्रज्वलित क्यों नहीं होता?॥२२½॥

अयं कुरून् रणे सर्वान् हन्तुमुत्सहते प्रभुः॥ २३॥
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः।

ये शक्तिशाली भीमसेन युद्धमें समस्त कौरवोंको नष्ट कर देनेका उत्साह रखते हैं, परंतु आपकी प्रतिज्ञा-पूर्तिकी प्रतीक्षा करनेके कारण अबतक शत्रुओंके अपराधको सहन करते हैं॥ २३½॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना॥ २४॥
शरावमर्दे शीघ्रत्वात् कालान्तकयमोपमः।
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः॥ २५॥
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे।

तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ॥ २६ ॥
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद् राजन् न कुप्यसि।

राजन्! आपके जो भाई अर्जुन दो ही भुजाओंसे युक्त होनेपर भी सहस्र भुजाओंसे विभूषित कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, बाण चलानेमें अत्यन्त फुर्ती रखनेके कारण जो शत्रुओंके लिये काल, अन्तक और यमके समान भयंकर हैं; महाराज! जिनके शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूपाल नतमस्तक हो आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये उपस्थित हुए थे, उन्हीं इन देव-दानवपूजित पुरुषसिंह अर्जुनको चिन्तामग्न देखकर आप शत्रुओंपर क्रोध क्यों नहीं करते ?॥ २४–२६½ ॥

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ॥ २७ ॥
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत।

भारत ! दुःखके अयोग्य और सुख भोगनेके योग्य अर्जुनको वनमें दुःख भोगते देखकर भी जो शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं उमड़ता, इससे मैं मोहित हो रही हूँ॥२७½॥

यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ॥ २८ ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे देवताओं, मनुष्यों और नागोंपर विजय पायी है, उन्हीं अर्जुनको वनवासका दुःख भोगते देख आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता ?॥२८½॥

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ॥ २९ ॥
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परंतप ।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्चबाणशतानि यः ॥ ३० ॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते।

परंतप ! जिन्होंने पराजित नरेशोंके दिये हुए अद्भुत आकारवाले रथों, घोड़ों और हाथियोंसे घिरे हुए कितने ही राजाओंसे बलपूर्वक धन लिये थे, जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंका प्रहार करते हैं, उन्हीं अर्जुनको वनवासका कष्ट भोगते देख शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता ?॥ २९–३०½ ॥

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ॥ ३१ ॥
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते।

जो युद्धमें ढाल और तलवारसे लड़नेवाले वीरोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं; जिनकी कद ऊँची है तथा जो श्यामवर्णके तरुण हैं, उन्हीं नकुलको आज वनमें कष्ट उठाते देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं होता ?॥ ३१½ ॥

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ॥ ३२ ॥
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।

महाराज युधिष्ठिर ! माद्रीके परम सुन्दर पुत्र शूरवीर सहदेवको वनवासका दुःख भोगते देखकर आप शत्रुओंको क्षमा कैसे कर रहे हैं ?॥ ३२½ ॥

नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ॥ ३३ ॥
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र ! नकुल और सहदेव दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इन दोनोंको आज दुखी देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ रहा है ?॥ ३३½ ॥

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ॥ ३४ ॥
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ॥ ३५ ॥

मैं द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन तथा वीरशिरोमणि पाण्डवोंकी पतिव्रता पत्नी हूँ। महाराज ! मुझे इस प्रकार वनमें कष्ट उठाती देखकर भी आप शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव कैसे धारण करते हैं ?॥ ३४-३५ ॥

नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत् ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! निश्चय ही आपके हृदयमें क्रोध नहीं है, क्योंकि मुझे और अपने भाइयोंको भी कष्टमें पड़ा देख आपके मनमें व्यथा नहीं होती है ! ॥ ३६ ॥

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥३७॥

संसारमें कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है। * परंतु आज आप-जैसे क्षत्रियमें मुझे यह क्रोधका अभाव क्षत्रियत्वके विपरीत-सा दिखायी देता है॥ ३७ ॥

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो क्षत्रिय समय आनेपर अपने प्रभावको नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं ३८

तत् त्वया न क्षमा कार्या शत्रून् प्रति कथंचन।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ॥ ३९ ॥

महाराज ! आपको शत्रुओंके प्रति किसी प्रकार भी क्षमाभाव नहीं धारण करना चाहिये। तेजसे ही उन सबका वध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥३९॥

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ४० ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करनेके योग्य समय आनेपर शान्त नहीं होता, वह सब प्राणियोंके लिये अप्रिय हो जाता है और इह लोक तथा परलोकमें भी उसका विनाश ही होता है॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीके अनुतापपूर्णवचनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७॥

---

* क्षरते इति क्षत्रम्—जो दुष्टोंका क्षरण—नाश करता है, वह क्षत्रिय है।

अष्टाविंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा प्रह्लाद-बलि-संवादका वर्णन—तेज और क्षमाके अवसर

द्रौपद्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—महाराज ! इस विषयमें प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलिके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥

असुरोंके स्वामी परम बुद्धिमान् दैत्यराज प्रह्लाद सभी धर्मोंके रहस्यको जाननेवाले थे । एक समय बलिने उन अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा ॥ २ ॥

बलिरुवाच

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥

बलिने पूछा—तात ! क्षमा और तेजमेंसे क्षमा श्रेष्ठ है अथवा तेज ? यह मेरा संशय है । मैं इसका समाधान पूछता हूँ । आप इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय कीजिये ॥ ३ ॥

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

धर्मज्ञ ! इनमें जो श्रेष्ठ है, वह मुझे अवश्य बताइये, मैं आपके सब आदेशोंका यथावत् पालन करूँगा ॥ ४ ॥

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित् प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥

बलिके इस प्रकार पूछनेपर समस्त सिद्धान्तोंके ज्ञाता विद्वान् पितामह प्रह्लादने संदेह निवारण करनेके लिये पूछनेवाले पौत्रके प्रति इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥

प्रह्लाद बोले—तात ! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। इन दोनोंके विषयमें मेरा ऐसा ही निश्चय जानो, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः ॥ ७ ॥
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता ॥ ८ ॥

वत्स ! जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं । उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं । कोई भी प्राणी कभी उसके सामने विनयपूर्ण बर्ताव नहीं करते, अतः तात ! सदा क्षमा करना विद्वानोंके लिये भी वर्जित है ॥ ७-८ ॥

अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥

सेवकगण उसकी अवहेलना करके बहुत-से अपराध करते रहते हैं । इतना ही नहीं, वे मूर्ख भृत्यगण उसके धनको भी हड़प लेनेका हौसला रखते हैं ॥ ९ ॥

यानं वस्त्राण्यलंकाराञ्छयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥

विभिन्न कार्योंमें नियुक्त किये हुए मूर्ख सेवक अपने इच्छानुसार क्षमाशील स्वामीके रथ, वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन, भोजन, पान तथा समस्त सामग्रियोंका उपयोग करते रहते हैं तथा स्वामीकी आज्ञा होनेपर भी किसीको देनेय वस्तुएँ नहीं देते हैं ॥ १०-११ ॥

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥

स्वामीका जितना आदर होना चाहिये, उतना आदर वे किसी प्रकार भी नहीं करते । इस संसारमें सेवकोंद्वारा अपमान तो मृत्युसे भी अधिक निन्दित है ॥ १२ ॥

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥

तात ! उपर्युक्त क्षमाशीलको अपने सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्तिके लोग कटुवचन भी सुनाया करते हैं ॥ १३ ॥

अथास्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, वे क्षमाशील स्वामीकी अवहेलना करके उसकी स्त्रियोंको भी हस्तगत करना चाहते हैं और वैसे पुरुषकी मूर्ख स्त्रियाँ भी स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥

तथा च नित्यमुदिता यदि नाल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥

यदि उन्हें अपने स्वामीसे तनिक भी दण्ड नहीं मिलता तो वे सदा मौज उड़ाती हैं और आचारसे दूषित हो जाती

हैं। दुष्टा होनेपर वे अपने स्वामीका अपकार भी कर बैठती हैं ॥ १५ ॥

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम्।
अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥

सदा क्षमा करनेवाले पुरुषोंको ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं। विरोचनकुमार! अब क्षमा न करनेवालोंके दोषोंको सुनो ॥ १६ ॥

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा ॥ १७ ॥

क्रोधी मनुष्य रजोगुणसे आवृत होकर योग्य या अयोग्य अवसरका विचार किये बिना ही अपने उत्तेजित स्वभावसे लोगोंको नाना प्रकारके दण्ड देता रहता है ॥ १७ ॥

मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ॥ १८ ॥

तेज (उत्तेजना) से व्याप्त मनुष्य मित्रोंसे विरोध पैदा कर लेता है तथा साधारण लोगों और स्वजनोंका द्वेषपात्र बन जाता है ॥ १८ ॥

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम्।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥

वह मनुष्य दूसरोंका अपमान करनेके कारण सदा धन-की हानि उठाता है। उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है। इतना ही नहीं, वह संताप, द्वेष, मोह तथा नये-नये शत्रु पैदा कर लेता है ॥ १९ ॥

क्रोधाद् दण्डान्मनुष्येषु विविधान् पुरुषोऽनयात्।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥

मनुष्य क्रोधवश अन्यायपूर्वक दूसरे लोगोंपर नाना प्रकारके दण्डका प्रयोग करके अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनोंसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २० ॥

योपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥

जो उपकारी मनुष्यों और चोरोंके साथ भी उत्तेजनायुक्त बर्ताव ही करता है, उससे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न होते हैं, जैसे घरमें रहनेवाले सर्पसे ॥ २१ ॥

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत्।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

जिससे सब लोग उद्विग्न होते हैं, उसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसका थोड़ा-सा भी छिद्र देखकर लोग निश्चय ही उसकी बुराई करने लगते हैं ॥ २२ ॥

तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत्।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् ॥ २३ ॥

इसलिये न तो सदा उत्तेजनाका ही प्रयोग करे और न सर्वदा कोमल ही बना रहे। समय-समयपर आवश्यकताके अनुसार कभी कोमल और कभी तेजस्वभाववाला बन जाय ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥

जो मौका देखकर कोमल होता है और उपयुक्त अवसर आनेपर भयंकर भी बन जाता है, वही इहलोक और पर-लोकमें सुख पाता है ॥ २४ ॥

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान्।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २५ ॥

अब मैं तुम्हें क्षमाके योग्य अवसर बताता हूँ, उन्हें विस्तारपूर्वक सुनो, जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, उन अवसरोंका तुम्हें कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाय, तो भी पहलेके उपकारका स्मरण करके उस अपराधीके अपराधको तुम्हें क्षमा कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम्।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥

जिन्होंने अनजानमें अपराध कर डाला हो, उनका वह अपराध क्षमाके ही योग्य है; क्योंकि किसी भी पुरुषके लिये सर्वत्र विद्वत्ता (बुद्धिमानी) ही सुलभ हो, यह सम्भव नहीं है ॥

अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम्।
पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथानृजून् ॥ २८ ॥

परंतु जो जान-बूझकर किये हुए अपराधको भी उसे कर लेनेके बाद अनजानमें किया हुआ बताते हों, उन उद्दण्ड पापियोंको थोड़े-से अपराधके लिये भी अवश्य दण्ड देना चाहिये ॥ २८ ॥

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत्।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २९ ॥

सभी प्राणियोंका एक अपराध तो तुम्हें क्षमा ही कर देना चाहिये। यदि उससे फिर दुबारा अपराध बन जाय तो थोड़े-से अपराधके लिये भी उसे दण्ड देना आवश्यक है ॥

अजानता भवेत् कश्चिदपराधः कृतो यदि।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करनेपर यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक अपराध अनजानमें ही हो गया है, तो उसे क्षमाके ही योग्य बताया गया है ॥ ३० ॥

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ॥ ३१ ॥

मनुष्य कोमलभाव (सामनीति) के द्वारा उग्र स्वभाव तथा शान्त स्वभावके शत्रुका भी नाश कर देता है; मृदुतासे कुछ भी असाध्य नहीं है। अतः मृदुतापूर्ण नीतिको तीव्रतर (उत्तम) समझे ॥ ३१ ॥

देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम् ।
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ ३२ ॥

देश, काल तथा अपने बलाबलका विचार करके ही मृदुता (सामनीति) का प्रयोग करना चाहिये। अयोग्य देश अथवा अनुपयुक्त कालमें उसके प्रयोगसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता; अतः उपयुक्त देश-कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। कहीं लोकके भयसे भी अपराधीको क्षमादान देनेकी आवश्यकता होती है ॥ ३२ ॥

एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अतोऽन्यथानुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ये क्षमाके अवसर बताये गये हैं। इनके विपरीत बर्ताव करनेवालोंको राहपर लानेके लिये तेज (उत्तेजनापूर्ण बर्ताव) का अवसर कहा गया है ॥ ३३ ॥

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥ ३४ ॥

(द्रौपदी कहती है—) नरेश्वर ! धृतराष्ट्रके पुत्र लोभी तथा सदा आपका अपकार करनेवाले हैं; अतः उनके प्रति आपके तेजके प्रयोगका यह अवसर आया है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३४ ॥

न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति ।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ३५ ॥

कौरवोंके प्रति अब क्षमाका कोई अवसर नहीं है। अब तेज प्रकट करनेका अवसर प्राप्त है; अतः उनपर आपको अपने तेजका ही प्रयोग करना चाहिये ॥ ३५ ॥

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद् यो वेद स महीपतिः ॥ ३६ ॥

कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवालेकी सब लोग अवहेलना करते हैं और तीक्ष्ण स्वभाववाले पुरुषसे सबको उद्वेग प्राप्त होता है। जो उचित अवसर आनेपर इन दोनोंका प्रयोग करना जानता है, वही सफल भूपाल है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा क्रोधकी निन्दा और क्षमाभावकी विशेष प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—परम बुद्धिमती द्रौपदी ! क्रोध ही मनुष्योंको मारनेवाला है और क्रोध ही यदि जीत लिया जाय तो अभ्युदय करनेवाला है। तुम यह जान लो कि उन्नति और अवनति दोनों क्रोधमूलक ही हैं (क्रोधको जीतनेसे उन्नति और उसके वशीभूत होनेसे अवनति होती है) ॥ १ ॥

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥

सुशोभने ! जो क्रोधको रोक लेता है, उसकी उन्नति होती है और जो मनुष्य क्रोधके वेगको कभी सहन नहीं कर पाता, उसके लिये वह परम भयंकर क्रोध विनाशकारी बन जाता है ॥

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इस जगत्‌में क्रोधके कारण लोगोंका नाश होता दिखायी देता है; इसलिये मेरे-जैसा मनुष्य लोकविनाशक क्रोधका उपयोग दूसरोंपर कैसे करेगा ? ॥ ३ ॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥

क्रोधी मनुष्य पाप कर सकता है, क्रोधके वशीभूत मानव गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है और क्रोधमें भरा हुआ पुरुष अपनी कठोर वाणीद्वारा श्रेष्ठ मनुष्योंका भी अपमान कर देता है ॥ ४ ॥

वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥

क्रोधी मनुष्य कभी यह नहीं समझ पाता कि क्या कहना चाहिये और क्या नहीं। क्रोधीके लिये कुछ भी अकार्य अथवा अवाच्य नहीं है ॥ ५ ॥

हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ॥ ६ ॥

क्रोधवश वह अवध्य पुरुषोंकी भी हत्या कर सकता है और वधके योग्य मनुष्योंकी भी पूजामें तत्पर हो सकता है। इतना ही नहीं, क्रोधी मानव (आत्महत्याद्वारा) अपने आपको भी यमलोकका अतिथि बना सकता है ॥ ६ ॥

एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥

इन दोषोंको देखनेवाले मनस्वी पुरुषोंने, जो इहलोक और परलोकमें भी परम उत्तम कल्याणकी इच्छा रखते हैं, क्रोधको जीत लिया है ॥ ७ ॥

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ८ ॥

अतः धीर पुरुषोंने जिसका परित्याग कर दिया है। उस क्रोधको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे उपयोगमें ला सकता है ? द्रुपदकुमारी ! यही सोचकर मेरा क्रोध कभी बढ़ता नहीं है ॥८॥

आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥

क्रोध करनेवाले पुरुषके प्रति जो बदलेमें क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरोंको भी महान् भयसे बचा लेता है। वह अपने और पराये दोनोंके दोषोंको दूर करनेके लिये चिकित्सक बन जाता है ॥ ९ ॥

मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान् नरः।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १० ॥

यदि मूढ़ एवं असमर्थ मनुष्य दूसरोंके द्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं भी बलिष्ठ मनुष्योंपर क्रोध करता है तो वह अपने ही द्वारा अपने आपका विनाश कर देता है ॥१०॥

तस्यात्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

अपने चित्तको वशमें न रखनेके कारण क्रोधवश देहत्याग करनेवाले उस मनुष्यके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। अतः द्रुपदकुमारी ! असमर्थके लिये अपने क्रोधको रोकना ही अच्छा माना गया है ॥ ११ ॥

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥

इसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष शक्तिशाली होकर भी दूसरोंद्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं क्रोध नहीं करता, वह क्लेश देनेवालेका नाश न करके परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ १२ ॥

तस्माद् बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥

इसलिये बलवान् या निर्बल सभी विज्ञ मनुष्योंको सदा आपत्ति-कालमें भी क्षमाभावका ही आश्रय लेना चाहिये ॥

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥

कृष्णे ! साधु पुरुष क्रोधको जीतनेकी ही प्रशंसा करते हैं। संतोंका यह मत है कि इस जगत्में क्षमाशील साधु पुरुषकी सदा जय होती है ॥ १४ ॥

सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंस्याच्चानृशंसता।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १५ ॥
मादृशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि।

झूठसे सत्य श्रेष्ठ है। क्रूरतासे दयालुता श्रेष्ठ है, अतः दुर्योधन मेरा वध कर डाले तो भी इस प्रकार अनेक दोषोंसे भरे हुए और सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त क्रोधका मेरे-जैसा पुरुष कैसे उपयोग कर सकता है ? ॥ १५½ ॥

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम्।

दूरदर्शी विद्वान् जिसे तेजस्वी कहते हैं, उसके भीतर क्रोध नहीं होता; यह निश्चित बात है ॥ १६½ ॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ॥ १७ ॥
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः।

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिसे दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं ॥ १७½ ॥

क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति।
नाकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

सुन्दरी ! क्रोधी मनुष्य किसी कार्यको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। वह यह भी नहीं जानता कि मर्यादा क्या है (अर्थात् क्या करना चाहिये) और क्या नहीं करना चाहिये ॥

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि।
तस्मात् तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

क्रोधी मनुष्य अवध्य पुरुषोंका वध कर देता है। क्रोधी मनुष्य गुरुजनोंको कटु वचनोंद्वारा पीड़ा पहुँचाता है। इसलिये जिसमें तेज हो, उस पुरुषको चाहिये कि वह क्रोधको अपनेसे दूर रखे ॥ १९ ॥

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः।

गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २० ॥

दक्षता, अमर्ष, शौर्य और शीघ्रता—ये तेजके गुण हैं। जो मनुष्य क्रोधसे दबा हुआ है, वह इन गुणोंको सहजमें ही नहीं पा सकता ॥ २० ॥

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥

क्रोधका त्याग करके मनुष्य भलीभाँति तेज प्राप्त कर लेता है। महाप्राज्ञे! क्रोधी पुरुषोंके लिये समयके उपयुक्त तेज अत्यन्त दुःसह है ॥ २१ ॥

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत् तेज इत्यभिनिश्चितम् ।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२ ॥

मूर्खलोग क्रोधको ही सदा तेज मानते हैं। परंतु रजोगुणजनित क्रोधका यदि मनुष्योंके प्रति प्रयोग हो तो वह लोगोंके नाशका कारण होता है ॥ २२ ॥

तस्माच्छश्वत् त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान् स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥

अतः सदाचारी पुरुष सदा क्रोधका परित्याग करे। अपने वर्णधर्मके अनुसार न चलनेवाला मनुष्य (अपेक्षाकृत) अच्छा, किंतु क्रोधी नहीं अच्छा—यह निश्चय है ॥ २३ ॥

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथंस्वित् स्यादनिन्दिते ॥ २४ ॥

साध्वी द्रौपदी! यदि मूर्ख और अविवेकी मनुष्य क्षमा आदि सद्गुणोंका उल्लङ्घन कर जाते हैं तो मेरे-जैसा विज्ञ पुरुष उनका अतिक्रमण कैसे कर सकता है? ॥ २४ ॥

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात् संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥

यदि मनुष्योंमें पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवोंमें कभी सन्धि हो ही नहीं सकती; क्योंकि झगड़ेकी जड़ तो क्रोध ही है ॥ २५ ॥

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि कोई अपनेको सतावे तो स्वयं भी उसको सतावे। औरोंकी तो बात ही क्या है, यदि गुरुजन अपनेको मारें तो उन्हें भी मारे विना न छोड़े; ऐसी धारणा रखनेके कारण सब प्राणियोंका ही विनाश हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है ॥

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥

यदि सभी क्रोधके वशीभूत हो जायँ तो एक मनुष्य दूसरेके द्वारा गाली खाकर स्वयं भी बदलेमें उसे गाली दे सकता है। मार खानेवाला मनुष्य बदलेमें मार सकता है। एकका अनिष्ट होनेपर वह दूसरेका भी अनिष्ट कर सकता है ॥ २७ ॥

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥

पिता पुत्रोंको मारेंगे और पुत्र पिताको; पति पत्नियोंको मारेंगे और पत्नियाँ पतिको ॥ २८ ॥

एवं संकुपिते लोके शमः कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां संधिमूलं हि शमं विद्धि शुभानने ॥ २९ ॥

कृष्णे! इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के क्रोधका शिकार हो जानेपर तो कहीं शान्ति नहीं रहती। शुभानने! तुम यह जान लो कि सम्पूर्ण प्रजाकी शान्ति सन्धिमूलक ही है ॥ २९ ॥

ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३० ॥

द्रौपदी! यदि राजा तुम्हारे कथनानुसार क्रोधी हो जाय तो सारी प्रजाओंका शीघ्र ही नाश हो जायगा। अतः यह समझ लो कि क्रोध प्रजावर्गके नाश और अवनतिका कारण है ॥ ३० ॥

यस्मात् तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष भी देखे जाते हैं, इसीलिये प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती रहती है ॥ ३१ ॥

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

सुशोभने! पुरुषको सभी आपत्तियोंमें क्षमाभाव रखना चाहिये। क्षमाशील पुरुषसे ही समस्त प्राणियोंका जीवन बताया गया है ॥ ३२ ॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥

जो बलवान् पुरुषके गाली देने या कुपित होकर मारनेपर भी क्षमा कर जाता है तथा जो सदा अपने क्रोधको काबूमें रखता है, वही विद्वान् है और वही श्रेष्ठ पुरुष है ॥ ३३ ॥

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥

वही मनुष्य प्रभावशाली कहा जाता है। उसीको सनातन लोक प्राप्त होते हैं। क्रोधी मनुष्य अल्पज्ञ होता है। वह इस लोक और परलोक दोनोंमें विनाशका ही भागी होता है ॥ ३४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५ ॥

इस विषयमें जानकार लोग क्षमावान् पुरुषोंकी गाथाका उदाहरण देते हैं। कृष्णे! क्षमावान् महात्मा काश्यपने इस गाथाका गान किया है ॥ ३५ ॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ क्षमा करनेके योग्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७ ॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमाने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रक्खा है ॥ ३७ ॥

अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च।
अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३८ ॥

क्षमाशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषोंसे भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं ॥ ३८ ॥

अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ३९ ॥

(सकामभावसे) यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके लोक दूसरे हैं एवं (सकामभावसे) वापी, कूप, तडाग और दान आदि कर्म करनेवाले मनुष्योंके लोक दूसरे हैं। परंतु क्षमावानोंके लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत है; जो अत्यन्त पूजित हैं ॥ ३९ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ ४० ॥

क्षमा तेजस्वी पुरुषोंका तेज है, क्षमा तपस्वियोंका ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषोंका सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा शम (मनोनिग्रह) है ॥ ४० ॥

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥ ४१ ॥

कृष्णे! जिसका महत्त्व ऐसा बताया गया है, जिसमें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक सभी प्रतिष्ठित हैं, उस क्षमाको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ॥ ४१ ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको सदा क्षमाका ही आश्रय लेना चाहिये। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४३ ॥

क्षमावानोंके लिये ही यह लोक है। क्षमावानोंके लिये ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत्‌में सम्मान और परलोकमें उत्तम गति पाते हैं ॥ ४३ ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता ॥ ४४ ॥

जिन मनुष्योंका क्रोध सदा क्षमाभावसे दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है ॥ ४४ ॥

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम्।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार काश्यपजीने नित्य क्षमाशील पुरुषोंकी इस गाथाका गान किया है। द्रौपदी! क्षमाकी यह गाथा सुनकर संतुष्ट हो जाओ, क्रोध न करो ॥ ४५ ॥

पितामहः शान्तनवः शमं सम्पूजयिष्यति।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं सम्पूजयिष्यति ॥ ४६ ॥

मेरे पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म शान्तिभावका ही आदर करेंगे। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भी शान्तिभावका ही आदर करेंगे ॥ ४६ ॥

आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४७ ॥

आचार्य द्रोण और विदुर भी शान्तिको ही अच्छा कहेंगे। कृपाचार्य और संजय भी शान्त रहना ही अच्छा बतायेंगे ॥ ४७ ॥

सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४८ ॥

सोमदत्त, युयुत्सु, अश्वत्थामा तथा हमारे पितामह व्यास भी सदा शान्तिका ही उपदेश देते हैं ॥ ४८ ॥

एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४९ ॥

ये सब लोग यदि राजा धृतराष्ट्रको सदा शान्तिके लिये प्रेरित करते रहेंगे तो वे अवश्य मुझे राज्य दे देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यदि नहीं देंगे तो लोभके कारण नष्ट हो जायँगे ॥ ४९ ॥

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये।
निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भाविनि ॥ ५० ॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति।
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ५१ ॥

इस समय भरतवंशके विनाशके लिये यह बड़ा भयंकर समय आ गया है। भामिनि ! मेरा पहलेसे ही ऐसा निश्चित मत है कि सुयोधन कभी भी इस प्रकार क्षमाभावको नहीं अपना सकता, वह इसके योग्य नहीं है। मैं इसके योग्य हूँ, इसलिये क्षमा मेरा ही आश्रय लेती है ॥ ५०-५१॥

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कर्तास्म्यहमञ्जसा ॥ ५२ ॥

क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषोंका सदाचार है और यही सनातनधर्म है, अतः मैं यथार्थ रूपसे क्षमा और दयाको ही अपनाऊँगा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीयुधिष्ठिरसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-युधिष्ठिरसंवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

दुःखसे मोहित द्रौपदीका युधिष्ठिरकी बुद्धि, धर्म एवं ईश्वरके न्यायपर आक्षेप

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥

द्रौपदीने कहा—राजन् ! उस धाता (ईश्वर) और विधाता (प्रारब्ध) को नमस्कार है, जिन्होंने आपकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न कर दिया। पिता-पितामहोंके आचारका भार वहन करनेमें भी आपका विचार विपरीत दिखायी देता है ॥ १ ॥

कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः।
तस्मात् कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ॥२॥
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥

कर्मोंके अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम योनिमें भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतलायी गयी है, अतः कर्म नित्य हैं (भोगे बिना उन कर्मोंका क्षय नहीं होता)। मूर्ख लोग लोभसे ही मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हैं। इस जगत्‌में धर्म, कोमलता, क्षमा, विनय और दयासे कोई भी मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं कर सकता ॥ २-३ ॥

त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम्।
यत् त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥

भारत ! इसी कारण तो आपपर भी यह दुःसह संकट आ गया, जिसके योग्य न तो आप हैं और न आपके महातेजस्वी ये भाई ही हैं ॥ ४ ॥

न हि तेऽध्यगमज्जातु तदानीं नाद्य भारत।
धर्मात् प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ॥ ५ ॥

भरतकुलतिलक ! आपके भाइयोंने न तो पहले कभी और न आज ही धर्मसे अधिक प्रिय दूसरी किसी वस्तुको समझा है। अपितु धर्मको जीवनसे भी बढ़कर माना है ॥५॥

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥

आपका राज्य धर्मके लिये ही है, आपका जीवन भी धर्मके लिये ही है। ब्राह्मण, गुरुजन और देवता सभी इस बातको जानते हैं ॥ ६ ॥

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥

मुझे विश्वास है कि आप मेरेसहित भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवको भी त्याग देंगे, किंतु धर्मका त्याग नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥

मैंने आर्योंके मुँहसे सुना है कि यदि धर्मकी रक्षा की जाय तो वह धर्म रक्षक राजाकी स्वयं भी रक्षा करता है। किंतु मुझे मालूम होता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है॥

अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते।
बुद्धिः सततमन्वेतिच्छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे अपनी छाया सदा मनुष्यके पीछे चलती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि सदा अनन्यभावसे धर्मका ही अनुसरण करती है ॥ ९ ॥

नावमंस्था हि सदृशान् नावराञ्छ्रेयसः कुतः।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ १० ॥

आपने अपने समान और अपनेसे छोटोंका भी कभी अपमान नहीं किया। फिर अपनेसे बड़ोंका तो करते ही कैसे ? सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी आपका प्रभुताविषयक अहङ्कार कभी नहीं बढ़ा ॥ १० ॥

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान्।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ११ ॥

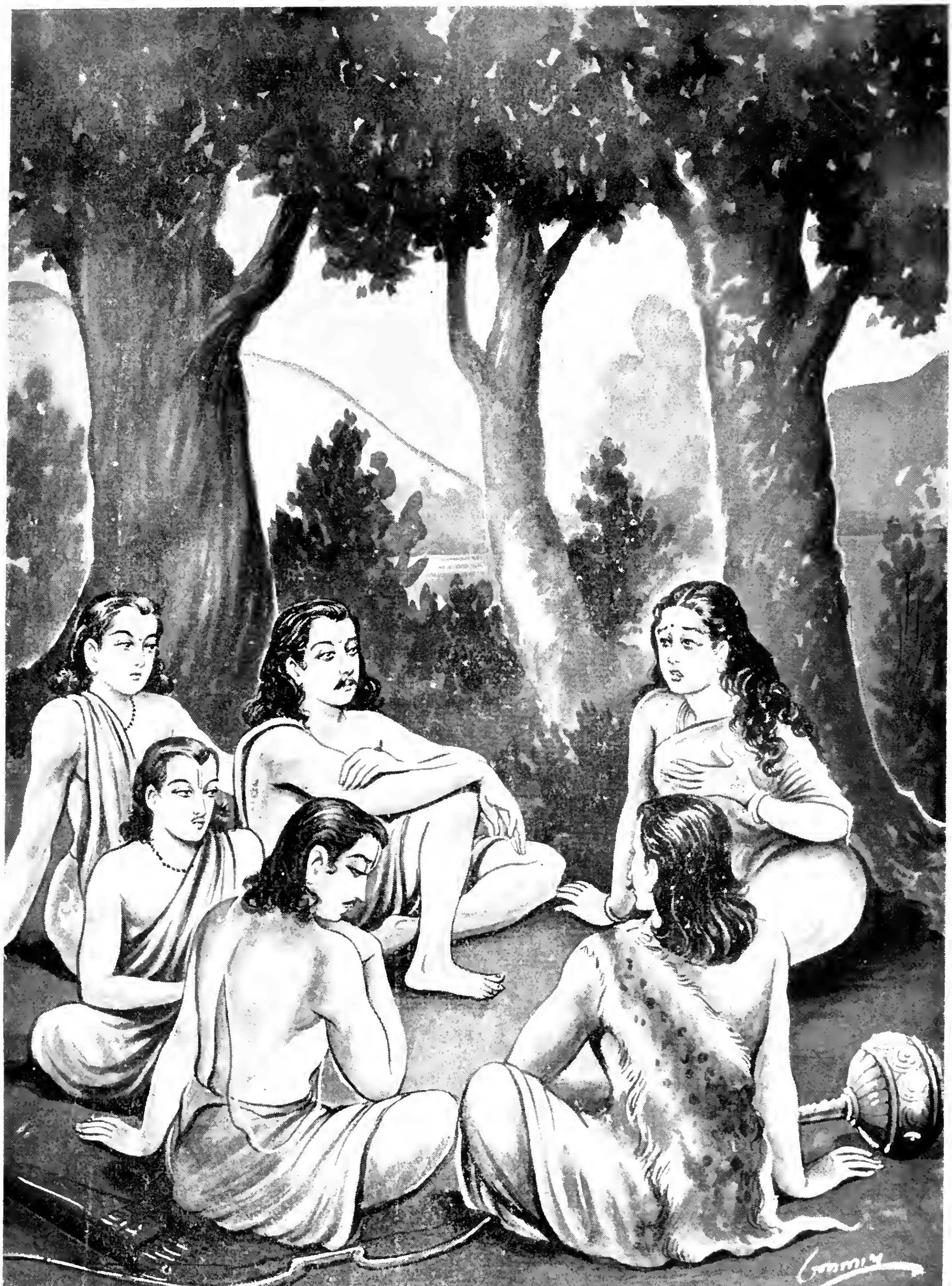

द्रौपदी और भीमसेनका युधिष्ठिरसे संवाद

कुन्तीनन्दन ! आप स्वाहा, स्वधा और पूजाके द्वारा देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करते रहते हैं ॥

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ॥ १२ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भाजनानि प्रयच्छसि ।
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ॥ १३ ॥

पार्थ ! आपने ब्राह्मणोंकी समस्त कामनाएँ पूरी करके सदा उन्हें तृप्त किया है । भारत ! आपके यहाँ मोक्षाभिलाषी संन्यासी तथा गृहस्थ ब्राह्मण सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे । जहाँ स्वयं मैं अपने हाथों उनकी सेवा-टहल करती थी । वानप्रस्थोंको भी आप सोनेके पात्र दिया करते थे । आपके घरमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ १२-१३ ॥

यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ।
तत् दत्त्वातिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ॥ १४ ॥

राजन् ! आपके द्वारा शान्तिके लिये जो घरमें यह वैश्वदेव कर्म किया जाता है, उसमें अतिथियों और प्राणियोंके लिये अन्न देकर आप अवशिष्ट अन्नके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ १४ ॥

इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ॥ १५ ॥

इष्टि (पूजा), पशुबन्ध (पशुओंको बाँधना), काम्य याग, नैमित्तिक याग, पाकयज्ञ तथा नित्ययज्ञ—ये सब भी आपके यहाँ बराबर चलते रहते हैं ॥ १५ ॥

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्तेनावसीदति ॥ १६ ॥

आप राज्यसे निकलकर लुटेरोंद्वारा सेवित इस निर्जन महावनमें निवास कर रहे हैं, तो भी आपका धर्मकार्य कभी शिथिल नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ॥ १७ ॥

अश्वमेध, राजसूय, पुण्डरीक तथा गोसव इन सभी महायज्ञोंका आपने प्रचुर दक्षिणादानपूर्वक अनुष्ठान किया है ॥ १७ ॥

राजन् परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन् मां चासि निर्जितः॥ १८ ॥

परंतु महाराज ! उस कपट द्यूतजनित पराजयके समय आपकी बुद्धि विपरीत हो गयी, जिसके कारण आप राज्य, धन, आयुध तथा भाइयोंको और मुझे भी दाँवपर रखकर हार गये ॥ १८ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ॥ १९ ॥

आप सरल, कोमल, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी हैं । न जाने कैसे आपकी बुद्धिमें जूआ खेलनेका व्यसन आ गया ॥ १९ ॥

अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम् ॥ २० ॥

आपके इस दुःख और भयंकर विपत्तिको विचारकर मुझे अत्यन्त मोह प्राप्त हो रहा है और मेरा मन दुःखसे पीडित हो रहा है ॥ २० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ २१ ॥

इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि सब लोग ईश्वरके वशमें हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है ॥ २१ ॥

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २२ ॥

विधाता ईश्वर ही सबके पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राणियोंके लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रियकी व्यवस्था करते हैं ॥ २२ ॥

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ २३ ॥

नरवीर नरेश ! जैसे कठपुतली सूत्रधारसे प्रेरित हो अपने अङ्गोंका संचालन करती है, उसी प्रकार यह सारी प्रजा ईश्वरकी प्रेरणासे अपने हस्त-पाद आदि अङ्गोंद्वारा विविध चेष्टाएँ करती है ॥ २३ ॥

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥ २४ ॥

भारत ! ईश्वर आकाशके समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त होकर उनके कर्मानुसार सुख-दुःखका विधान करते हैं॥२४॥

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥ २५ ॥

जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह डोरेमें बँधे हुए पक्षीकी भाँति कर्मके बन्धनमें बँधा होनेसे परतन्त्र है । वह ईश्वरके ही वशमें होता है । उसका न दूसरोंपर वश चलता है; न अपने ऊपर॥

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ॥ २६ ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ॥ २७ ॥

सूतमें पिरोयी हुई मणि, नाकमें नथे हुए बैल और किनारेसे टूटकर धाराके बीचमें गिरे हुए वृक्षकी भाँति यह

जीव सदा ईश्वरके आदेशका ही अनुसरण करता है; क्योंकि वह उसीसे व्याप्त और उसीके अधीन है। यह मनुष्य स्वाधीन होकर समयको नहीं बिताता ॥ २६-२७ ॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २८ ॥

यह जीव अज्ञानी तथा अपने सुख-दुःखके विधानमें भी असमर्थ है। यह ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग एवं नरकमें जाता है ॥ २८ ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ २९ ॥

भारत ! जैसे क्षुद्र तिनके बलवान् वायुके वशमें हो उड़ते-फिरते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी ईश्वरके अधीन हो आवागमन करते हैं ॥ २९ ॥

आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ ३० ॥

कोई श्रेष्ठ कर्ममें लगा हुआ हो चाहे पापकर्ममें, ईश्वर सभी प्राणियोंमें व्याप्त होकर विचरते हैं; किंतु वे यही हैं इस प्रकार उनका लक्ष्य नहीं होता ॥ ३० ॥

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम्।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३१ ॥

यह क्षेत्रसंज्ञक शरीर ईश्वरका साधनमात्र है, जिसके द्वारा वे सर्वव्यापी परमेश्वर प्राणियोंसे स्वेच्छाप्रारब्धरूप शुभाशुभ फल भुगतानेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करवाते हैं ॥ ३१ ॥

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ॥ ३२ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार इस मायाके प्रभावका विस्तार किया है, उसे देखिये। वे अपनी मायाद्वारा मोहित करके प्राणियोंसे ही प्राणियोंका वध करवाते हैं ॥ ३२ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३३ ॥

तत्त्वदर्शी मुनियोंने वस्तुओंके स्वरूप कुछ और प्रकारसे देखे हैं; किंतु अज्ञानियोंके सामने किसी और ही रूपमें भासित होते हैं। जैसे आकाशचारी सूर्यकी किरणें मरुभूमिमें पड़कर जलके रूपमें प्रतीत होने लगती हैं ॥ ३३ ॥

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३४ ॥

लोग भिन्न-भिन्न वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपोंमें मानते हैं; परंतु शक्तिशाली परमेश्वर उन्हें और ही रूपमें बनाते और बिगाड़ते हैं ॥ ३४ ॥

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाश्मना पुनः।
अयसा चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३५ ॥

एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः।
हिनस्ति भूतैर्भूतानिच्छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! जैसे अचेतन एवं चेष्टारहित काठ, पत्थर और लोहेको मनुष्य काठ, पत्थर और लोहेसे ही काट देता है, उसी प्रकार सबके प्रपितामह स्वयम्भू भगवान् श्रीहरि मायाकी आड़ लेकर प्राणियोंसे ही प्राणियोंका विनाश करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३७ ॥

जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार स्वेच्छानुसार कर्म (भाँति-भाँतिकी लीलाएँ) करनेवाले शक्तिशाली भगवान् सब प्राणियोंके साथ उनका परस्पर संयोग-वियोग कराते हुए लीला करते रहते हैं ॥ ३७ ॥

न मातृपितृवत् राजन् धाता भूतेषु वर्तते।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! मैं समझती हूँ, ईश्वर समस्त प्राणियोंके प्रति माता-पिताके समान दया एवं स्नेहयुक्त बर्ताव नहीं कर रहे हैं, वे तो दूसरे लोगोंकी भाँति मानो रोषसे ही व्यवहार कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान्।
अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ॥ ३९ ॥

क्योंकि जो लोग श्रेष्ठ, शीलवान् और संकोची हैं, वे तो जीविकाके लिये कष्ट पा रहे हैं; किंतु जो अनार्य (दुष्ट) हैं, वे सुख भोगते हैं; यह सब देखकर मेरी उक्त धारणा पुष्ट होती है और मैं चिन्तासे विह्वल-सी हो रही हूँ ॥ ३९ ॥

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ४० ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी इस आपत्तिको तथा दुर्योधनकी समृद्धिको देखकर मैं उस विधाताकी निन्दा करती हूँ, जो विषम दृष्टिसे देख रहा है अर्थात् सज्जनको दुःख और दुर्जनको सुख देकर उचित विचार नहीं कर रहा है ॥ ४० ॥

आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४१ ॥

जो आर्यशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला, क्रूर, लोभी तथा धर्मकी हानि करनेवाला है, उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धन देकर विधाता क्या फल पाता है ? ॥ ४१ ॥

कर्म चेत् कृतमन्वेति कर्तारं नान्यमृच्छति।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥ ४२ ॥

यदि किया हुआ कर्म कर्ताका ही पीछा करता है,

दूसरेके पास नहीं जाता, तब तो ईश्वर भी उस पापकर्मसे अवश्य लिप्त होंगे ॥ ४२ ॥

अथ कर्म कृतं पापं न चेत् कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ॥ ४३ ॥

इसके विपरीत, यदि किया हुआ पाप-कर्म कर्ताको नहीं प्राप्त होता तो इसका कारण यहाँ बल ही है (ईश्वर शक्तिशाली हैं, इसीलिये उन्हें पापकर्मका फल नहीं मिलता होगा)। उस दशामें मुझे दुर्बल मनुष्योंके लिये शोक हो रहा है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभार वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा द्रौपदीके आक्षेपका समाधान तथा ईश्वर, धर्म और महापुरुषोंके आदरसे लाभ और अनादरसे हानि

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—यज्ञसेनकुमारी ! तुमने जो बात कही है, वह सुननेमें बड़ी मनोहर, विचित्र पदावलीसे सुशोभित तथा बहुत सुन्दर है, मैंने उसे बड़े ध्यानसे सुना है। परंतु इस समय तुम (अज्ञानसे) नास्तिक मतका प्रतिपादन कर रही हो ॥ १ ॥

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥

राजकुमारी ! मैं कर्मोंके फलकी इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता; अपितु 'देना कर्तव्य है' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञको भी कर्तव्य मानकर ही उसका अनुष्ठान करता हूँ ॥ २ ॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥

कृष्णे ! यहाँ उस कर्मका फल हो या न हो, गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले पुरुषका जो कर्तव्य है, मैं उसीका यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धिसे पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥ ५ ॥

सुश्रोणि ! मैं धर्मका फल पानेके लोभसे धर्मका आचरण नहीं करता, अपितु साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारको देखकर शास्त्रीय मर्यादाका उल्लङ्घन न करके स्वभावसे ही मेरा मन धर्मपालनमें लगा है। द्रौपदी ! जो मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे धर्मका व्यापार करता है, वह धर्मवादी पुरुषोंकी दृष्टिमें हीन और निन्दनीय है ॥ ४-५ ॥

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥ ६ ॥

जो पापात्मा मनुष्य नास्तिकतावश, धर्मका अनुष्ठान करके उसके विषयमें शङ्का करता है अथवा धर्मको दुहना चाहता है अर्थात् धर्मके नामपर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसे धर्मका फल बिल्कुल नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अतिवादाद् वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ७ ॥

मैं सारे प्रमाणोंसे ऊपर उठकर केवल शास्त्रके आधारपर यह जोर देकर कह रहा हूँ कि तुम धर्मके विषयमें शङ्का न करो; क्योंकि धर्मपर संदेह करनेवाला मानव पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७ ॥

धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात् ॥ ८ ॥

जो धर्मके विषयमें संदेह रखता है, अथवा जो दुर्बलात्मा पुरुष वेदादि शास्त्रोंपर अविश्वास करता है, वह जरा-मृत्युरहित परमधामसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे शूद्र वेदोंके अध्ययनसे ॥ ८ ॥

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजर्षिर्धर्मचारिभिः ॥ ९ ॥

मनस्विनि ! जो वेदका अध्ययन करनेवाला, धर्मपरायण और कुलीन हो, उस राजर्षिकी गणना धर्मात्मा पुरुषोंको वृद्धोंमें करनी चाहिये (वह आयुमें छोटा हो तो भी उसका वृद्ध पुरुषके समान आदर करना चाहिये) ॥ ९ ॥

पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥ १० ॥

जो मन्दबुद्धि पुरुष शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके धर्मके विषयमें आशङ्का करता है, वह शूद्रों और चोरोंसे भी बढ़कर पापी है ॥ १० ॥

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन् महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ॥ ११ ॥

तुमने अमेयात्मा महातपस्वी मार्कण्डेयजीको जो अभी यहाँसे गये हैं, प्रत्यक्ष देखा है । उन्हें धर्मपालनसे ही चिरजीविता प्राप्त हुई है ॥ ११ ॥

व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥ १२ ॥

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्य सब महर्षि धर्मके पालनसे ही शुद्ध हृदयवाले हुए हैं ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान् दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान् देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥ १३ ॥

तुम अपनी आँखों इन सबको देखती हो, ये दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न, शाप और अनुग्रहमें समर्थ तथा देवताओंसे भी अधिक गौरवशाली हैं ॥ १३ ॥

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदानघे ।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १४ ॥

अनघे ! ये अमरोंके समान विख्यात तथा वेदगम्य विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाले महर्षि धर्मको ही सबसे प्रथम आचरणमें लाने योग्य बताते हैं ॥ १४ ॥

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥ १५ ॥

अतः कल्याणमयी महारानी द्रौपदी ! तुम्हें मूर्खतायुक्त मनके द्वारा ईश्वर और धर्मपर आक्षेप एवं आशङ्का नहीं करनी चाहिये ॥

उन्मत्तान् मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्की नान्यस्मात् प्रमाणमधिगच्छति ॥ १६ ॥

धर्मके विषयमें संशय रखनेवाला बालबुद्धि मानव जिन्हें धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया है, उन समस्त ज्ञानीजनोंको उन्मत्त समझता है; अतः वह बालबुद्धि दूसरे किसीसे कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं ग्रहण करता ॥ १६ ॥

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ।
इन्द्रियप्रीतिसम्बद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १७ ॥

केवल अपनी बुद्धिको ही प्रमाण माननेवाला उद्दण्ड मानव श्रेष्ठ पुरुषों एवं उत्तम धर्मकी अवहेलना करता है; क्योंकि वह मूढ़ इन्द्रियोंकी आसक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस लोकप्रत्यक्ष दृश्य जगत्की ही सत्ता स्वीकार करता है । अप्रत्यक्ष वस्तुके विषयमें उसकी बुद्धि मोहमें पड़ जाती है ॥

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

जो धर्मके प्रति संदेह करता है, उसकी शुद्धिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है । वह धर्मविरोधी चिन्तन करनेवाला दीन पापात्मा पुरुष उत्तम लोकोंको नहीं पाता अर्थात् अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

जो मूर्ख प्रमाणोंकी ओरसे मुँह मोड़ लेता है, वेद और शास्त्रोंके सिद्धान्तकी निन्दा करता है तथा काम एवं लोभके अत्यन्त परायण है, वह नरकमें पड़ता है ॥ १९ ॥

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ २० ॥

कल्याणी ! जो सदा धर्मके विषयमें पूर्ण निश्चय रखनेवाला है और सब प्रकारकी आशङ्काएँ छोड़कर धर्मकी ही शरण लेता है, वह परलोकमें अक्षय अनन्त सुखका भागी होता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ॥ २१ ॥

जो मूढ़ मानव आर्ष ग्रन्थोंके प्रमाणकी अवहेलना करके समस्त शास्त्रोंके विपरीत आचरण करते हुए धर्मका पालन नहीं करता, वह जन्म-जन्मान्तरोंमें भी कभी कल्याणका भागी नहीं होता ॥ २१ ॥

यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि ।
न वै तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः ॥ २२ ॥

भाविनि ! जिसकी दृष्टिमें ऋषियोंके वचन और शिष्ट पुरुषोंके आचार प्रमाणभूत नहीं हैं, उसके लिये न यह लोक है और न परलोक, यह तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका निश्चय है ॥

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २३ ॥

कृष्णे ! सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित पुरातन धर्मपर शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ २३ ॥

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥ २४ ॥

द्रुपदकुमारी ! जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाले वणिक्के

लिये जहाजकी आवश्यकता है, वैसे ही स्वर्गमें जानेवालोंके लिये धर्माचरण ही जहाज है, दूसरा नहीं ॥ २४ ॥

अफलो यदि धर्मःस्याच्चरितो धर्मचारिभिः।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥ २५ ॥

साध्वी द्रौपदी ! यदि धर्मपरायण पुरुषोंद्वारा पालित धर्म निष्फल होता तो सम्पूर्ण जगत् असीम अन्धकारमें निमग्न हो जाता ॥ २५ ॥

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम्।
विद्यां ते नैव युज्येयुर्न चार्थं केचिदाप्नुयुः ॥ २६ ॥

यदि धर्म निष्फल होता तो धर्मात्मा पुरुष मोक्ष नहीं पाते, कोई विद्याकी प्राप्तिमें नहीं लगते, कोई भी प्रयोजन-सिद्धिके लिये प्रयत्न नहीं करते और सभी पशुओंका-सा जीवन व्यतीत करते ॥ २६ ॥

तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २७ ॥
नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २८ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २९ ॥

यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान और सरलता आदि धर्म निष्फल होते तो पहले जो श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुष हुए हैं वे धर्मका आचरण नहीं करते । यदि धार्मिक क्रियाओंका कुछ फल नहीं होता, वे सब निरी ठगविद्या होतीं तो ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस प्रभावशाली होते हुए भी किसलिये आदरपूर्वक धर्मका आचरण करते ॥

फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम्।
धर्मं ते व्यचरन् कृष्णे तद्धि श्रेयः सनातनम् ॥ ३० ॥

कृष्णे ! यहाँ धर्मका फल देनेवाले ईश्वर अवश्य हैं, यह बात जानकर ही उन ऋषि आदिकोंने धर्मका आचरण किया है । धर्म ही सनातन श्रेय है ॥ ३० ॥

स नायमफलो धर्मो नाधर्मोऽफलवानपि।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ ३१ ॥
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम्।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

धर्म निष्फल नहीं होता । अधर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता । विद्या और तपस्याके भी फल देखे जाते हैं । कृष्णे ! तुम अपने जन्मके प्रसिद्ध वृत्तान्तको ही स्मरण करो । तुम्हारा प्रतापी भाई धृष्टद्युम्न जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, यह भी तुम जानती हो ॥ ३१-३२ ॥

एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३३ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी ! इतना ही दृष्टान्त देना पर्याप्त है । धीर पुरुष कर्मोंका फल पाता है और थोड़े-से फलसे भी संतुष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

बहुनापि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः।
तेषां न धर्मजं किंचित् प्रेत्य शर्मास्ति वा पुनः ॥ ३४ ॥

परंतु बुद्धिहीन अज्ञानी मनुष्य बहुत पाकर भी संतुष्ट नहीं होते । उन्हें परलोकमें धर्मजनित थोड़ा सा भी सुख नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः।
प्रभवश्चात्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ॥ ३५ ॥

भामिनि ! वेदोक्त पुण्य देनेवाले सत्कर्मों और अनिष्ट-कारी पापकर्मोंका फलोदय तथा उत्पत्ति और प्रलय—ये सब देवगुह्य हैं (देवता ही उन्हें जानते हैं) ॥ ३५ ॥

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्तेऽत्र प्रजा इमाः।
अपि कल्पसहस्रेण न स श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ३६ ॥

इन देवगुह्य विषयोंमें साधारणलोग मोहित हो जाते हैं । जो इन सबको तात्त्विकरूपसे नहीं जानता है, वह सहस्रों कल्पोंमें भी कल्याणका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः।
कृशाशाश्च व्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः।
प्रसादैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ॥ ३७ ॥

इन सब विषयोंको देवतालोग गुप्त रखते हैं । देवताओंकी माया भी गूढ़ (दुर्बोध) है । जो आशाका परित्याग करके सात्त्विक हितकर एवं पवित्र आहार करनेवाले हैं । तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं तथा जो मानसिक प्रसन्नतासे युक्त हैं वे द्विज ही इन देवगुह्य विषयोंको देख पाते हैं ॥ ३७ ॥

न फलादर्शनाद् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चानसूयता ॥ ३८ ॥

धर्मका फल तुरंत दिखायी न दे तो इसके कारण धर्म एवं देवताओंपर आशङ्का नहीं करनी चाहिये । दोषदृष्टि न रखते हुए यत्नपूर्वक यज्ञ और दान करते रहने चाहिये ॥

कर्मणां फलमस्तीह तथैतद् धर्मशासनम्।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ॥ ३९ ॥

कर्मोंका फल यहाँ अवश्य प्राप्त होता है, यह धर्म-शास्त्रका विधान है । यह बात ब्रह्माजीने अपने पुत्रोंसे कही है, जिसे कश्यपऋषि जानते हैं ॥ ३९ ॥

तस्मात् ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ॥ ४० ॥

इसलिये कृष्णे ! सब कुछ सत्य है, ऐसा निश्चय करके तुम्हारा धर्मविषयक संदेह कुहरेकी भाँति नष्ट हो जाना चाहिये। तुम अपने इस नास्तिकतापूर्ण विचारको त्याग दो ॥

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ४१ ॥

और समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करनेवाले ईश्वरपर आक्षेप बिल्कुल न करो। तुम शास्त्र और गुरुजनोंके उपदेशानुसार ईश्वरको समझनेकी चेष्टा करो और उन्हींको नमस्कार करो। आज जैसी तुम्हारी बुद्धि है, वैसी नहीं रहनी चाहिये ॥ ४१ ॥

यस्य प्रसादात् तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम्।
उत्तमां देवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथंचन ॥ ४२ ॥

कृष्णे ! जिनके कृपाप्रसादसे उनके प्रति भक्तिभाव रखनेवाला मरणधर्मा मनुष्य अमरत्वको प्राप्त हो जाता है, उन परमदेव परमेश्वरकी तुमको किसी प्रकार अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

द्रौपदीका पुरुषार्थको प्रधान मानकर पुरुषार्थ करनेके लिये जोर देना

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—कुन्तीनन्दन ! मैं धर्मकी अवहेलना तथा निन्दा किसी प्रकार नहीं कर सकती। फिर समस्त प्रजाओंका पालन करनेवाले परमेश्वरकी अवहेलना तो कर ही कैसे सकती हूँ ॥ १ ॥

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥ २ ॥

भारत ! आप ऐसा समझ लें कि मैं शोकसे आर्त होकर प्रलाप कर रही हूँ। मैं इतनेसे ही चुप नहीं रहूँगी और भी विलाप करूँगी। आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी बात सुनिये ॥ २ ॥

कर्म खल्विह कर्तव्यं जानतामित्रकर्शन।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥

शत्रुनाशन ! ज्ञानी पुरुषको भी इस संसारमें कर्म अवश्य करना चाहिये। पर्वत और वृक्ष आदि स्थावर भूत ही बिना कर्म किये जी सकते हैं, दूसरे लोग नहीं ॥ ३ ॥

यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात्।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! गौओंके बछड़े भी माताका दूध पीते और छायामें जाकर विश्राम करते हैं। इस प्रकार सभी जीव कर्म करके ही जीवननिर्वाह करते हैं ॥ ४ ॥

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जंगम जीवोंमें विशेषरूपसे मनुष्य कर्मके द्वारा ही इहलोक और परलोकमें जीविका प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥

भारत ! सभी प्राणी अपने उत्थानको समझते हैं और कर्मोंके प्रत्यक्ष फलका उपभोग करते हैं, जिसका साक्षी सारा जगत् है ॥ ६ ॥

सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ॥ ७ ॥

यह जलके समीप जो बगुला बैठकर (मछलीके लिये) ध्यान लगा रहा है, उसीके समान ये सभी प्राणी अपने उद्योगका आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं। धाता और विधाता भी सदा सृष्टिपालनके उद्योगमें लगे रहते हैं ॥ ७ ॥

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ॥ ८ ॥

कर्म न करनेवाले प्राणियोंकी कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती। अतः (प्रारब्धका भरोसा करके) कभी कर्मका परित्याग न करे। सदा कर्मका ही आश्रय ले ॥ ८ ॥

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च ॥९॥

अतः आप अपना कर्म करें। उससे ग्लानि न करें, कर्मका कवच पहने रहें। जो कर्म करना अच्छी तरह जानता है, ऐसा मनुष्य हजारोंमें एक भी है या नहीं ? यह बताना कठिन है ॥ ९ ॥

तस्य चापि भवेत् कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि ॥ १० ॥

धनकी वृद्धि और रक्षाके लिये भी कर्मकी आवश्यकता है। यदि धनका उपभोग (व्यय) होता रहे और आय न हो तो हिमालय-जैसी धनराशिका भी क्षय हो सकता है।१०।

उत्सीदेरन् प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद् भुवि।
तथा ह्येता न वर्धेरन् कर्म चेदफलं भवेत् ॥ ११ ॥

यदि समस्त प्रजा इस भूतलपर कर्म करना छोड़ दे तो सबका संहार हो जाय। यदि कर्मका कुछ फल न हो तो इन प्रजाओंकी वृद्धि ही न हो ॥ ११ ॥

अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान्।
नान्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ॥ १२ ॥

हम देखती हैं कि लोग व्यर्थ कर्ममें भी लगे रहते हैं, कर्म न करनेपर तो लोगोंकी किसी प्रकार जीविका ही नहीं चल सकती ॥ १२ ॥

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ १३ ॥

संसारमें जो केवल भाग्यके भरोसे कर्म नहीं करता अर्थात् जो ऐसा मानता है कि पहले जैसा किया है वैसा ही फल अपने आप ही प्राप्त होगा तथा जो हठवादी है--बिना किसी युक्तिके हठपूर्वक यह मानता है कि कर्म करना अनावश्यक है, जो कुछ मिलना होगा, अपने आप मिल जायगा, वे दोनों ही मूर्ख हैं। जिसकी बुद्धि कर्म (पुरुषार्थ) में रुचि रखती है, वही प्रशंसाका पात्र है ॥ १३ ॥

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत्।
अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥ १४ ॥

जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य प्रारब्ध (भाग्य) का भरोसा रखकर उद्योगसे मुँह मोड़ लेता और सुखसे सोता रहता है, उसका जलमें रखे हुए कच्चे घड़ेकी भाँति विनाश हो जाता है ॥ १४ ॥

तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत्।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो हठी और दुर्बुद्धि मानव कर्म करनेमें समर्थ होकर भी कर्म नहीं करता, बैठा रहता है, वह दुर्बल एवं अनाथकी भाँति दीर्घजीवी नहीं होता ॥ १५ ॥

अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः।।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १६ ॥

जो कोई पुरुष इस जगत्में अकस्मात् कहींसे धन पा लेता है, उसे लोग हठसे मिला हुआ मान लेते हैं; क्योंकि उसके लिये किसीके द्वारा प्रयत्न किया हुआ नहीं दीखता ॥ १६ ॥

यच्चापि किंचित् पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत।
दैवेन विधिना पार्थ तद् दैवमिति निश्चितम् ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! मनुष्य जो कुछ भी देवाराधनकी विधिसे अपने भाग्यके अनुसार पाता है, उसे निश्चितरूपसे दैव (प्रारब्ध) कहा गया है ॥ १७ ॥

यत् स्वयं कर्मणा किंचित् फलमाप्नोति पूरुषः।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत् पौरुषमिति श्रुतम् ॥ १८ ॥

तथा मनुष्य स्वयं कर्म करके जो कुछ फल प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है॥ १८ ॥

स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात्।
तत् स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो स्वभावसे ही कर्ममें प्रवृत्त होकर धन प्राप्त करता है, किसी कारणवश नहीं, उसके उस धनको स्वाभाविक फल समझना चाहिये ॥ १९ ॥

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणस्तथा।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत् फलं पूर्वकर्मणाम् ॥ २० ॥

इस प्रकार हठ, दैव, स्वभाव तथा कर्मसे मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंको पाता है, वे सब उसके पूर्वकर्मोंके ही फल हैं ॥ २० ॥

धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ २१ ॥

जगदाधार परमेश्वर भी उपर्युक्त हठ आदि हेतुओंसे जीवोंके अपने-अपने कर्मको ही विभक्त करके मनुष्योंको उनके पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपसे यहाँ प्राप्त कराता है ॥ २१ ॥

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित् कुरुते वै शुभाशुभम्।
तद् धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ २२ ॥

पुरुष यहाँ जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसे ईश्वरद्वारा विहित उसके पूर्वकर्मोंके फलका उदय समझिये ॥ २२ ॥

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्तते।
स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ॥ २३ ॥

यह मानव-शरीर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह ईश्वरके कर्मफलसम्पादन-कार्यका साधन है। वे इसे जैसी प्रेरणा देते हैं, यह विवश होकर (स्वेच्छा-प्रारब्धभोगके लिये) वैसा ही करता है ॥ २३ ॥

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! परमेश्वर ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कार्योंमें लगाते और स्वभावके परवश हुए उन प्राणियोंसे कर्म कराते हैं ॥ २४ ॥

मनसार्थान् विनिश्चित्य पश्चात् प्राप्नोति कर्मणा।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ २५ ॥

किंतु वीर ! मनमें अभीष्ट वस्तुओंका निश्चय करके फिर कर्मद्वारा मनुष्य स्वयं बुद्धिपूर्वक उन्हें प्राप्त करता है। अतः पुरुष ही उसमें कारण है ॥ २५ ॥

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥ २६ ॥
तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चास्य सिद्धये ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ ! कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती। गृह एवं नगर आदि सभीकी प्राप्तिमें पुरुष ही कारण है। विद्वान् पुरुष पहले बुद्धिद्वारा यह निश्चय करे कि तिलमें तेल है, गायके भीतर दूध है और काष्ठमें अग्नि है, तत्पश्चात् उसकी सिद्धिके उपायका निश्चय करे ॥ २६-२७ ॥

ततः प्रवर्तते पश्चात् कारणैस्तस्य सिद्धये।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥ २८ ॥

तदनन्तर उन्हीं उपायोंद्वारा उस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। सभी प्राणी इस जगत्में उस कर्मजनित सिद्धिका सहारा लेते हैं ॥ २८ ॥

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम्।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २९ ॥

योग्य कर्ताके द्वारा किया गया कर्म अच्छे ढंगसे सम्पादित होता है। यह कार्य किसी अयोग्य कर्ताके द्वारा किया गया है, यह बात कार्यकी विशेषतासे अर्थात् परिणामसे जानी जाती है ॥ २९ ॥

इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत्।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ ३० ॥

यदि कर्मसाध्य फलोंमें पुरुष (एवं उसका प्रयत्न) कारण न होता अर्थात् वह कर्ता नहीं बनता तो किसीको यज्ञ और कूपनिर्माण आदि कर्मोंका फल नहीं मिलता। फिर तो न कोई किसीका शिष्य होता और न गुरु ही ॥ ३० ॥

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात् कथं त्विह ॥ ३१ ॥

कर्ता होनेके कारण ही कार्यकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रशंसा की जाती है और जब कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब उसकी निन्दा की जाती है। यदि कर्मका सर्वथा नाश ही हो जाय, तो यहाँ कार्यकी सिद्धि ही कैसे हो ॥ ३१ ॥

सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३२ ॥

कोई तो सब कार्योंको हठसे ही सिद्ध होनेवाला बतलाते हैं। कुछ लोग दैवसे कार्यकी सिद्धिका प्रतिपादन करते हैं तथा कुछ लोग पुरुषार्थको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं। इस तरह ये तीन प्रकारके कारण बताये जाते हैं ॥ ३२ ॥

न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चापरे।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥ ३३ ॥

दूसरे लोगोंकी मान्यता इस प्रकार है कि मनुष्यके प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृश्य दैव (प्रारब्ध) तथा हठ—ये दो ही सब कार्योंके कारण हैं ॥ ३३ ॥

दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य संततिः।
किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वभावतः॥३४॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम्।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ॥ ३५ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि हठ तथा दैवसे सब कार्योंकी धारावाहिक रूपसे सिद्धि हो रही है। जो लोग तत्त्वज्ञ एवं कुशल हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य कुछ फल दैवसे, कुछ हठसे और कुछ स्वभावसे प्राप्त करता है। इस विषयमें इन तीनोंके सिवा कोई चौथा कारण नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३६ ॥

क्योंकि यदि ईश्वर सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्टरूप फल नहीं देते तो उन प्राणियोंमेंसे कोई भी दीन नहीं होता ॥

यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः।
तत्तत् सफलमेव स्याद् यदि न स्यात् पुरा कृतम्॥३७॥

यदि पूर्वकृत प्रारब्ध कर्म प्रभाव डालनेवाला न होता तो मनुष्य जिस-जिस प्रयोजनके अभिप्रायसे कर्म करता, वह सब सफल ही हो जाता ॥ ३७ ॥

त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नानुपश्यन्ति ये नराः।
तथैवानर्थसिद्धिं च यथा लोकास्तथैव ते ॥ ३८ ॥

अतः जो लोग अर्थसिद्धि तथा अनर्थकी प्राप्तिमें दैव, हठ और स्वभाव—इन तीनोंको कारण नहीं समझते, वे वैसे ही हैं, जैसे कि साधारण अज्ञ लोग होते हैं ॥ ३८ ॥

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३९ ॥

किंतु मनुका यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिये, जो बिल्कुल कर्म छोड़कर निश्चेष्ट हो बैठ रहता है, वह पुरुष पराभवको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ४० ॥

(इसलिये मेरा तो कहना यह है कि) महाराज युधिष्ठिर ! कर्म करनेवाले पुरुषको यहाँ प्रायः फलकी सिद्धि प्राप्त होती

ही है। परंतु जो आलसी है, जिससे ठीक-ठीक कर्तव्यका पालन नहीं हो पाता, उसे कभी फलकी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ ४० ॥

असम्भवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत्।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्नुते ॥ ४१ ॥

यदि कर्म करनेपर भी फलकी उत्पत्ति न हो तो कोई-न-कोई कारण है; ऐसा मानकर प्रायश्चित्त (उसके दोषके समाधान) पर दृष्टि डाले। राजेन्द्र ! कर्मको साङ्गोपाङ्ग कर लेनेपर कर्ता उऋण (निर्दोष) हो जाता है ॥ ४१ ॥

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम्।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य आलस्यके वशमें पड़कर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ ४२ ॥

अनर्थाः संशयावस्थाः सिद्ध्यन्ते मुक्तसंशयाः।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥ ४३ ॥

कर्मका फल होगा या नहीं, इस संशयमें पड़े हुए मनुष्य अर्थसिद्धिसे वञ्चित रह जाते हैं और जो संशयरहित हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। कर्मपरायण और संशयरहित धीर मनुष्य निश्चय ही कहीं बिरले देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु साम्प्रतम्।
स तु निःसंशयं न स्यात् त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४४ ॥

इस समय हमलोगोंपर राज्यापहरणरूप भारी विपद् आ पड़ी है, यदि आप कर्म (पुरुषार्थ) में तत्परतासे लग जायँ तो निश्चय ही यह आपत्ति टल सकती है ॥ ४४ ॥

अथवा सिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४५ ॥

अथवा यदि कार्यकी सिद्धि ही हो जाय, तो वह आपके, भीमसेन और अर्जुनके तथा नकुल-सहदेवके लिये भी विशेष गौरवकी बात होगी ॥ ४५ ॥

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथाफलम् ॥ ४६ ॥

कर्मोंके कर लेनेपर अन्तमें कर्ताको जैसा फल मिलता है, उसके अनुसार ही यह जाना जा सकता है कि दूसरोंका कर्म सफल हुआ है या हमारा ॥ ४६ ॥

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥ ४७ ॥
वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात् तत् कृतं सफलं मया ॥ ४८ ॥
तच्चेदं फलमस्माकमपराधो न मे क्वचित्।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ॥ ४९ ॥

किसान हलसे पृथ्वीको चीरकर उसमें बीज बोता है और फिर चुपचाप बैठा रहता है; क्योंकि उसे सफल बनानेमें मेघ कारण हैं। यदि वृष्टिने अनुग्रह नहीं किया तो उसमें किसानका कोई दोष नहीं है। वह किसान मन-ही-मन यह सोचता है कि दूसरे लोग जोतने-बोनेका जो सफल कार्य जैसे करते हैं, वह सब मैंने भी किया है। उस दशामें यदि मुझे ऐसा प्रतिकूल फल मिला तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है—ऐसा विचार करके उस असफलताके लिये वह बुद्धिमान् किसान अपनी निन्दा नहीं करता ॥ ४७–४९ ॥

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत।
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥ ५० ॥

भारत ! पुरुषार्थ करनेपर भी यदि अपनेको सिद्धि न प्राप्त हो तो इस बातको लेकर मन-ही-मन खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि फलकी सिद्धिमें पुरुषार्थके सिवा दो और भी कारण हैं—प्रारब्ध और ईश्वर-कृपा ॥ ५० ॥

सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिद्ध्यति ॥ ५१ ॥

महाराज ! कार्यमें सिद्धि प्राप्त होगी या असिद्धि, ऐसा संदेह मनमें लेकर आप कर्ममें प्रवृत्त ही न हों, यह उचित नहीं है; क्योंकि बहुत-से कारण एकत्र होनेपर ही कर्ममें सफलता मिलती है ॥ ५१ ॥

गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च।
अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥ ५२ ॥

कर्मोंमें किसी अङ्गकी कमी रह जानेपर थोड़ा फल हो सकता है। यह भी सम्भव है कि फल हो ही नहीं। परंतु कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तब तो न कहीं फल दिखायी देगा और न कर्ताका कोई गुण (शौर्य आदि) ही दृष्टिगोचर होगा ॥ ५२ ॥

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ५३ ॥

धीर मनुष्य मङ्गलमय कल्याणकी वृद्धिके लिये अपनी बुद्धिके द्वारा शक्ति तथा बलका विचार करते हुए देश-कालके अनुसार साम-दाम आदि उपायोंका प्रयोग करे ॥ ५३ ॥

अप्रमत्तेन तत् कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृष्ट एव पराक्रमः ॥ ५४ ॥

सावधान होकर देश-कालके अनुरूप कार्य करे। इसमें पराक्रम ही उपदेशक (प्रधान) है। कार्यकी समस्त युक्तियोंमें पराक्रम ही सबसे श्रेष्ठ समझा गया है ॥ ५४ ॥

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत् कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

जहाँ बुद्धिमान् पुरुष शत्रुको अनेक गुणोंसे श्रेष्ठ देखे

वहाँ सामनीतिसे ही काम बनानेकी इच्छा करे और उसके लिये जो सन्धि आदि आवश्यक कर्तव्य हो, करे ॥ ५५ ॥

व्यसनं वास्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५६ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! अथवा शत्रुपर कोई भारी संकट आने या देशसे उसके निकाले जानेकी प्रतीक्षा करे; क्योंकि अपना विरोधी यदि समुद्र अथवा पर्वत हो तो उसपर भी विपत्ति लानेकी इच्छा रखनी चाहिये, फिर जो मरणधर्मा मनुष्य है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ५६ ॥

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ॥ ५७ ॥

शत्रुओंके छिद्रका अन्वेषण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे । ऐसा करनेसे वह अपनी और दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें भी निर्दोष होता है ॥ ५७ ॥

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥ ५८ ॥

मनुष्य कभी अपने आपका अनादर न करे—अपने आपको छोटा न समझे । जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५८ ॥

एवंसंस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥ ५९ ॥

भारत ! लोकको इसी प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त होती है—कार्यसिद्धिकी यही व्यवस्था है । काल और अवस्थाके विभागके अनुसार शत्रुकी दुर्बलताके अन्वेषणका प्रयत्न ही सिद्धिका मूल कारण है ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥ ६० ॥
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन् मेऽग्राहयत् पुरा।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें मेरे पिताजीने अपने घरपर एक विद्वान् ब्राह्मणको ठहराया था। उन्होंने ही पिताजीसे बृहस्पतिजीकी बतायी हुई इस सम्पूर्ण नीतिका प्रतिपादन किया था और मेरे भाइयोंको भी इसीकी शिक्षा दी थी। उस समय अपने भाइयोंके निकट रहकर घरमें ही मैंने भी उस नीतिको सुना था ॥ ६०-६१ ॥

स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥ ६२ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! मैं उस समय किसी कार्यसे पिताके पास आयी थी और यह सब सुननेकी इच्छासे उनकी गोदमें बैठ गयी थी। तभी उन ब्राह्मण देवताने मुझे सान्त्वना देते हुए इस नीतिका उपदेश किया था ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पुरुषार्थकी प्रशंसा करना और युधिष्ठिरको उत्तेजित करते हुए क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध छेड़नेका अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रुपदकुमारीका वचन सुनकर अमर्षमें भरे हुए भीमसेन क्रोधपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए राजाके पास आये और इस प्रकार कहने लगे—॥ १ ॥

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥

'महाराज ! श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित और धर्मके अनुकूल जो राज्य-प्राप्तिका मार्ग (उपाय) हो, उसका आश्रय लीजिये । धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंसे वञ्चित होकर इस तपोवनमें निवास करनेपर हमारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २ ॥

नैव धर्मेण तद् राज्यं नार्जवेन न चौजसा।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥ ३ ॥

'दुर्योधनने धर्मसे, सरलतासे और बलसे भी हमारे राज्यको नहीं लिया है; उसने तो कपटपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उसका हरण कर लिया है ॥ ३ ॥

गोमायुमेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वद् राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥

'बचे हुए अन्नको खानेवाले दुर्बल गीदड़ जैसे अत्यन्त बलिष्ठ सिंहोंका भोजन हर लें, उसी प्रकार शत्रुओंने हमारे राज्यका अपहरण किया है ॥ ४ ॥

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन् दुःखेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

'महाराज ! धर्म और कामके उत्पादक राज्य और धनको खोकर लेशमात्र धर्मसे आवृत हुए अब आप क्यों दुःखसे संतप्त हो रहे हैं ? ॥ ५ ॥

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हमारे राज्यको इन्द्र भी नहीं छीन सकते थे, परंतु आपकी असावधानीसे वह हमारे देखते-देखते छिन गया ॥ ६ ॥

कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥

'जैसे लूलोंके पाससे उनके बेल-फल और पंगुओंके निकटसे उनकी गायें छिन जाती हैं और वे जीवित रहकर भी कुछ कर नहीं पाते, उसी प्रकार आपके कारण जीते जी हमारे राज्यका अपहरण कर लिया गया ॥ ७ ॥

भवतः प्रियमित्येवं महद् व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥ ८ ॥

'भारत ! आप धर्मकी इच्छा रखनेवाले हैं; इस रूपमें आपकी प्रसिद्धि है । अतः आपकी प्रिय अभिलाषा सिद्ध हो, इसीलिये हमलोग ऐसे महान् संकटमें पड़ गये हैं ॥ ८ ॥

कर्शयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥

'भरतकुलभूषण ! आपके शासनसे अपने-आपको नियन्त्रणमें रखकर आज हमलोग अपने मित्रोंको दुखी और शत्रुओंको सुखी बना रहे हैं ॥ ९ ॥

यद् वयं न तदैवैतान् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥

'आपके शासनको मानकर जो हमलोगोंने उसी समय इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार नहीं डाला, वह दुष्कर्म हमें आज भी संताप दे रहा है ॥ १० ॥

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवात्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन् न बलस्थैर्निषेविताम् ॥ ११ ॥

'राजन् ! मृगोंके समान अपनी इस वनचर्यापर ही दृष्टिपात कीजिये । दुर्बल मनुष्य ही इस प्रकार वनमें रहकर समय बिताते हैं । बलवान् मनुष्य वनवासका सेवन नहीं करते ॥ ११ ॥

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृंजयाः ।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥ १२ ॥

'श्रीकृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, सृञ्जयवंशी वीर, मैं और ये नकुल-सहदेव—कोई भी इस वनचर्याको पसंद नहीं करते ॥ १२ ॥

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद् राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥ १३ ॥

'राजन् ! आप 'यह धर्म है, यह धर्म है' ऐसा कहकर सदा व्रतोंका पालन करके कष्ट उठाते रहते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप वैराग्यके कारण साहसशून्य हो नपुंसकोंका-सा जीवन व्यतीत करने लगे हों ? ॥ १३ ॥

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥ १४ ॥

'अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मीका उद्धार करनेमें असमर्थ दुर्बल मनुष्य ही निष्फल और स्वार्थनाशक वैराग्यका आश्रय लेते हैं और उसीको प्रिय मानते हैं ॥ १४ ॥

स भवान् दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन् नानर्थमवबुध्यसे ॥ १५ ॥

'राजन् ! आप समझदार, दूरदर्शी और शक्तिशाली हैं, हमारे पुरुषार्थको देख चुके हैं; तो भी इस प्रकार दयाको अपनाकर इससे होनेवाले अनर्थको नहीं समझ रहे हैं ॥ १५ ॥

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वधः ॥ १६ ॥

'हम शत्रुओंके अपराधको क्षमा करते जा रहे हैं; इसलिये समर्थ होते हुए भी हमें ये धृतराष्ट्रके पुत्र निर्बल-से मानने लगे हैं, यही हमारे लिये महान् दुःख है; युद्धमें मारा जाना कोई दुःख नहीं है ॥ १६ ॥

तत्र चेद् युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान् प्रेत्य लोकान् लभेमहि ॥ १७ ॥

'ऐसी दशामें यदि हम पीठ न दिखाकर युद्धमें निष्कपट भावसे लड़ते रहें और उसमें हमारा वध भी हो जाय, तो वह कल्याणकारक है; क्योंकि युद्धमें मरनेसे हमें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ॥ १७ ॥

अथवा वयमेवैतान् निहत्य भरतर्षभ ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥

'अथवा भरतश्रेष्ठ ! यदि हम ही इन शत्रुओंको मारकर सारी पृथ्वी ले लें तो वही हमारे लिये कल्याणकर है ॥ १८ ॥

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥ १९ ॥

'हम अपने क्षत्रिय-धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हो वैरका बदला लेना चाहते हैं और संसारमें महान् यशका विस्तार करनेकी अभिलाषा रखते हैं, अतः हमारे लिये सब प्रकारसे युद्ध करना ही उचित है ॥ १९ ॥

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥

'शत्रुओंने हमारे राज्यको छीन लिया है, ऐसे अवसरपर यदि हम अपने कर्तव्यको समझकर अपने लाभके लिये ही युद्ध करें तो भी इसके लिये जगत्‌में हमारी प्रशंसा ही होगी, निन्दा नहीं होगी ॥ २० ॥

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः स कुधर्म तत् ॥ २१ ॥

'महाराज ! जो धर्म अपने तथा मित्रोंके लिये क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो, वह तो संकट ही है। वह धर्म नहीं, कुधर्म है ॥ २१ ॥

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे तथा ॥ २२ ॥

'तात ! जैसे मुर्दोंको दुःख और सुख दोनों नहीं होते, उसी प्रकार जो सर्वथा और सर्वदा धर्ममें ही तत्पर रहकर उसके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गया है, उसे धर्म और अर्थ दोनों त्याग देते हैं ॥ २२ ॥

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥ २३ ॥

जिसका धर्म केवल धर्मके लिये ही होता है, वह धर्मके नामपर केवल क्लेश उठानेवाला मानव बुद्धिमान् नहीं है। जैसे अन्धा सूर्यकी प्रभाको नहीं जानता, उसी प्रकार वह धर्मके अर्थको नहीं समझता है ॥ २३ ॥

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षेत मृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥ २४ ॥

'जिसका धन केवल धनके ही लिये है, दान आदिके लिये नहीं है, वह धनके तत्त्वको नहीं जानता। जैसे सेवक (ग्वालिया) वनमें गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धनका दूसरेके लिये रक्षकमात्र है ॥ २४ ॥

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥

'जो केवल अर्थके ही संग्रहकी अत्यन्त इच्छा रखनेवाला है और धर्म एवं कामका अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म-हत्यारेके समान घृणाका पात्र है और सभी प्राणियोंके लिये वध्य है ॥ २५ ॥

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥ २६ ॥

'इसी प्रकार जो निरन्तर कामकी ही अभिलाषा रखकर धर्म और अर्थका सम्पादन नहीं करता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं (उसको त्यागकर चल देते हैं) और वह धर्म एवं अर्थ दोनोंसे वञ्चित ही रह जाता है ॥ २६ ॥

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ॥ २७ ॥

'जैसे पानी सूख जानेपर उसमें रहनेवाली मछलीकी मृत्यु निश्चित है, उसी प्रकार जो धर्म-अर्थसे हीन होकर केवल काममें ही रमण करता है, उस काम (भोगसामग्री) की समाप्ति होनेपर उसकी भी अवश्य मृत्यु हो जाती है ॥२७॥

तस्माद् धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ॥ २८ ॥

'इसलिये विद्वान् पुरुष कभी धर्म और अर्थके सम्पादनमें प्रमाद नहीं करते हैं। धर्म और अर्थ कामकी उत्पत्तिके स्थान हैं (अर्थात् धर्म और अर्थसे ही कामकी सिद्धि होती है) जैसे अरणि अग्निका उत्पत्तिस्थान है ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥

'अर्थका कारण है धर्म और धर्मसिद्ध होता है अर्थ-संग्रहसे । जैसे मेघसे समुद्रकी पुष्टि होती है और समुद्रसे मेघकी पूर्ति। इस प्रकार धर्म और अर्थको एक-दूसरेके आश्रित समझना चाहिये ॥ २९ ॥

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ॥ ३० ॥

'स्त्री, माला, चन्दन आदि द्रव्योंके स्पर्श और सुवर्ण आदि धनके लाभसे जो प्रसन्नता होती है, उसके लिये जो चित्तमें संकल्प उठता है, उसीका नाम काम है। उस कामका शरीर नहीं देखा जाता (इसीलिये वह 'अनङ्ग' कहलाता है)।३०।

अर्थार्थी पुरुषो राजन् बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ॥ ३१ ॥

'राजन् ! धनकी इच्छा रखनेवाला पुरुष महान् धर्मकी अभिलाषा रखता है और कामार्थी मनुष्य धन चाहता है। जैसे धर्मसे धनकी और धनसे कामकी इच्छा करता है, उस प्रकार वह कामसे किसी दूसरी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है ॥

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत्।
उपयोगात् फलस्यैव काष्ठाद् भस्मेव पण्डितैः ॥ ३२ ॥

'जैसे फल उपभोगमें आकर कृतार्थ हो जाता है, उससे दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता तथा जिस प्रकार काष्ठसे भस्म बन सकता है, परंतु उस भस्मसे दूसरा कोई पदार्थ नहीं बन सकता; इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष एक कामसे किसी दूसरे कामकी सिद्धि नहीं मानते, क्योंकि वह साधन नहीं, फल ही है ॥ ३२ ॥

इमाञ्छकुनकान् राजन् हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद् रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥ ३३ ॥

कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रवृत्तिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥

'राजन् ! जैसे पक्षियोंको मारनेवाला व्याध इन पक्षियोंको मारता है, यह विशेष प्रकारकी हिंसा ही अधर्मका स्वरूप है (अतः वह हिंसक सबके लिये वध्य है)। वैसे ही जो खोटी बुद्धि-वाला मनुष्य काम और लोभके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपको नहीं जानता, वह इहलोक और परलोकमें भी सब प्राणियोंका वध्य होता है ॥ ३३-३४ ॥

व्यक्तं ते विदितो राजन्नर्थो द्रव्यपरिग्रहः ।
प्रकृतिं चापि वेत्थास्य विकृतिं चापि भूयसीम् ॥ ३५ ॥

'राजन् ! आपको यह अच्छी तरह ज्ञात है कि धनसे ही भोग्य-सामग्रीका संग्रह होता है। धनका जो कारण है, उससे भी आप परिचित हैं और धनके द्वारा जो बहुत-से कार्य सिद्ध होते हैं, उसे भी आप जानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥

'उस धनका अभाव होनेपर अथवा प्राप्त हुए धनका नाश होनेपर अथवा स्त्री आदि धनके जरा-जीर्ण एवं मृत्यु-ग्रस्त होनेपर मनुष्यकी जो दशा होती है, उसीको सब लोग अनर्थ मानते हैं। वही इस समय हमलोगोंको भी प्राप्त हुआ है।

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥ ३७ ॥
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।

'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिकी अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेके समय जो प्रीति होती है, वही मेरी समझमें काम है। वह कर्मोंका उत्तम फल है ॥ ३७½ ॥

एवमेव पृथग् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ॥ ३८ ॥
न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ॥ ३९ ॥
धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४० ॥

'इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम तीनोंको पृथक्-पृथक् समझकर मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल कामके ही सेवनमें तत्पर न रहे। उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे, जिससे इनमें विरोध न हो। इस विषयमें शास्त्रोंका यह विधान है कि दिनके पूर्वभागमें धर्मका, दूसरे भागमें अर्थका और अन्तिम भागमें कामका सेवन करे ॥ ३८-४० ॥

कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत् ।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४१ ॥

'इसी प्रकार अवस्था-क्रममें शास्त्रका विधान यह है कि आयुके पूर्वभागमें (युवावस्थामें) कामका, मध्यभाग (प्रौढ़-अवस्था) में धनका तथा अन्तिमभाग (वृद्ध-अवस्था) में धर्मका पालन करे ॥ ४१ ॥

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥ ४२ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! उचित कालका ज्ञान रखनेवाला विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथावत् विभाग करके उपयुक्त समयपर उन सबका सेवन करे ॥ ४२ ॥

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
तद् वाऽऽशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ॥ ४४ ॥

'कुरुनन्दन ! निरतिशय सुखकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके लिये यह मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है। राजन् ! इसी प्रकार लौकिक सुखकी इच्छावालोंके लिये धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्ति ही परम श्रेय है। अतः महाराज ! भक्ति और योगसहित ज्ञानका आश्रय लेकर आप शीघ्र ही या तो मोक्षकी प्राप्ति कर लीजिये अथवा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्तिके उपायका अवलम्बन कीजिये। जो इन दोनोंके बीचमें रहता है, उसका जीवन तो आर्त मनुष्यके समान दुःखमय ही है ॥ ४३-४४ ॥

विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥ ४५ ॥

'मुझे मालूम है कि आपने सदा धर्मका ही आचरण किया है, इस बातको जानते हुए भी आपके हितैषी, सगे सम्बन्धी आपको (धर्मयुक्त) कर्म एवं पुरुषार्थके लिये ही प्रेरित करते हैं ॥ ४५ ॥

दानं यज्ञः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन् बलवान् प्रेत्य चेह च ॥ ४६ ॥

'महाराज ! इहलोक और परलोकमें भी दान, यज्ञ, संतोंका आदर, वेदोंका स्वाध्याय और सरलता आदि ही उत्तम एवं प्रबल धर्म माने गये हैं ॥ ४६ ॥

एष नार्थविहीनेन शक्यो राजन् निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४७ ॥

'पुरुषसिंह राजन् ! यद्यपि मनुष्यमें दूसरे सभी गुण मौजूद हों तो भी यह यज्ञ आदि रूप धर्म धनहीन पुरुषके द्वारा नहीं सम्पादित किया जा सकता ॥ ४७ ॥

धर्ममूलं जगद् राजन् नान्यद् धर्माद् विशिष्यते ।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन् निषेवितुम् ॥ ४८ ॥

'महाराज ! इस जगत्‌का मूल कारण धर्म ही है। इस जगत्‌में धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उस धर्मका अनुष्ठान भी महान् धनसे ही हो सकता है ॥ ४८ ॥

न चार्थो भैक्ष्यचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४९ ॥

'राजन् ! भीख माँगनेसे, कायरता दिखानेसे अथवा केवल धर्ममें ही मन लगाये रहनेसे धनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

प्रतिषिद्धा हि ते याञ्च्या यया सिद्ध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥५०॥

'नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण जिस याचनाके द्वारा कार्यसिद्धि कर लेता है वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियके लिये उसका निषेध है । अतः आप अपने तेजके द्वारा ही धन पानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ५० ॥

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५१ ॥

'क्षत्रियके लिये न तो भीख माँगनेका विधान है और न वैश्य और शूद्रकी जीविका करनेका ही । उसके लिये तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म हैं ॥ ५१ ॥

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान् ।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥ ५२ ॥

'पार्थ ! अपने धर्मका आश्रय लीजिये, प्राप्त हुए शत्रुओंका वध कीजिये । मेरे तथा अर्जुनके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्ररूपी जंगलको कटवा डालिये ॥ ५२ ॥

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ॥ ५३ ॥

'मनीषी विद्वान् दानशीलताको ही धर्म कहते हैं, अतः आप उस दानशीलताको ही प्राप्त कीजिये । आपको इस दयनीय अवस्थामें नहीं रहना चाहिये ॥ ५३ ॥

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनान् ।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५४ ॥

'महाराज ! आप सनातन धर्मोंको जानते हैं, आप कठोर कर्म करनेवाले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे सब लोग भयभीत रहते हैं; अतः अपने स्वरूप और कर्तव्यकी ओर ध्यान दीजिये ॥ ५४ ॥

प्रजापालनसम्भूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन् धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥

'जब आप राज्य प्राप्त कर लेंगे, उस समय प्रजापालनरूप धर्मसे आपको जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होगी, वह आपके लिये गर्हित नहीं होगा । महाराज ! विधाताने आप-जैसे क्षत्रियका यही सनातन धर्म नियत किया है ॥ ५५ ॥

तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

'पार्थ ! उस धर्मसे हीन होनेपर तो संसारमें आप उपहासके पात्र हो जायँगे । मनुष्योंका अपने धर्मसे भ्रष्ट होना कुछ प्रशंसाकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५७ ॥

'कुरुनन्दन ! अपने हृदयको क्षत्रियोचित उत्साहसे भरकर मनकी इस शिथिलताको दूर करके पराक्रमका आश्रय ले आप एक धुरन्धर वीर पुरुषकी भाँति युद्धका भार वहन कीजिये ॥

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद् राजन् न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५८ ॥

'महाराज ! केवल धर्ममें ही लगे रहनेवाले किसी भी नरेशने आजतक न तो कभी पृथ्वीपर विजय पायी है और न ऐश्वर्य तथा लक्ष्मीको ही प्राप्त किया है ॥ ५८ ॥

जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५९ ॥

'जैसे बहेलिया लुब्ध हृदयवाले छोटे-छोटे मृगोंको कुछ खानेकी वस्तुओंका लोभ देकर छलसे उन्हें पकड़ लेता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा शत्रुओंके प्रति कूटनीतिका प्रयोग करके उनसे राज्यको प्राप्त कर लेता है ॥ ५९ ॥

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ॥ ६० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! आप जानते हैं कि असुरगण देवताओंके बड़े भाई हैं, उनसे पहले उत्पन्न हुए हैं और सब प्रकारसे समृद्धिशाली हैं तो भी देवताओंने छलसे उन्हें जीत लिया ॥ ६० ॥

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून् महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥ ६१ ॥

'महाराज ! महाबाहो ! इस प्रकार बलवान्का ही सबपर अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीतिका आश्रय ले अपने शत्रुओंको मार डालिये ॥ ६१ ॥

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद् युधि योद्धा धनुर्धरः ।
भविता वा पुमान् कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥ ६२ ॥

'युद्धमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर अथवा मेरे समान गदाधारी योद्धा न तो है और न आगे होनेकी ही सम्भावना है ॥ ६२ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
अप्रमादी महोत्साही सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥ ६३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, इसलिये आप सावधानीपूर्वक महान् उत्साह और आत्मबलका आश्रय लीजिये ॥ ६३ ॥

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६४ ॥

'आत्मबल ही धनका मूल है, इसके विपरीत जो कुछ है, वह मिथ्या है, क्योंकि हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी छायाके समान वह आत्माकी दुर्बलता किसी भी कामकी नहीं है ॥ ६४ ॥

अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ॥ ६५ ॥

'कुन्तीकुमार ! जैसे किसान अधिक अन्नराशि उपजानेकी लालसासे धान्य आदिके अल्प बीजोंका भूमिमें परित्याग कर देता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ अर्थ पानेकी इच्छासे अल्प अर्थका त्याग किया जा सकता है। आपको इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

अर्थेन तु समो नार्थो यत्र लभ्येत नोदयः।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत् ॥ ६६ ॥

जहाँ अर्थका उपयोग करनेपर उससे अधिक या समान अर्थकी प्राप्ति न हो वहाँ उस अर्थको नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि वह (परस्पर) गधोंके शरीरको खुजलानेके समान व्यर्थ है ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥ ६७ ॥

'नरेश्वर ! इसी प्रकार जो मनुष्य अल्प धर्मका परित्याग करके महान् धर्मकी प्राप्ति करता है, वह निश्चय ही बुद्धिमान् है ॥ ६७ ॥

अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुर्वते वशम् ॥ ६८ ॥

'मित्रोंसे सम्पन्न शत्रुको विद्वान् पुरुष अपने मित्रोंद्वारा भेदनीतिसे उसमें और उसके मित्रोंमें फूट डाल देते हैं, फिर भेदभाव होनेपर मित्र जब उसको त्याग देते हैं, तब वे उस दुर्बल शत्रुको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ६८ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥ ६९ ॥

'राजन् ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, वह किसी अन्य प्रयत्नसे या प्रशंसाद्वारा सब प्रजाको अपने वशमें नहीं करता ॥ ६९ ॥

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ७० ॥

'जैसे मधुमक्खियाँ संगठित होकर मधु निकालनेवालेको मार डालती हैं, उसी प्रकार सर्वथा संगठित रहनेवाले दुर्बल मनुष्योंद्वारा बलवान् शत्रु भी मारा जा सकता है ॥ ७० ॥

तथा राजन् प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥ ७१ ॥

राजन् ! जैसे भगवान् सूर्य पृथ्वीके रसको ग्रहण करते और अपनी किरणोंद्वारा वर्षा करके उन सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी प्रजाओंसे कर लेकर उनकी रक्षा करते हुए सूर्यके ही समान हो जाइये ॥ ७१ ॥

एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम्।
विधिना पालनं भूमेर्यत् कृतं नः पितामहैः ॥ ७२ ॥

'राजेन्द्र ! हमारे बाप-दादोंने जो किया है, वह धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन भी प्राचीन कालसे चला आनेवाला तप ही है; ऐसा हमने सुना है ॥ ७२ ॥

न तथा तपसा राजँल्लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥ ७३ ॥

'धर्मराज ! क्षत्रिय तपस्याके द्वारा वैसे पुण्यलोकोंको नहीं प्राप्त होता, जिन्हें वह अपने लिये विहित युद्धके द्वारा विजय अथवा मृत्युको अङ्गीकार करनेसे प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

अपेयात् किल भाः सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥ ७४ ॥

'आपपर जो यह संकट आया है, इस असम्भव-सी घटनाको देखकर लोग यह निश्चयपूर्वक मानने लगे हैं कि सूर्यसे उसकी प्रभा और चन्द्रमासे उसकी चाँदनी भी दूर हो सकती है ॥ ७४ ॥

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग् राजन् समागताः ॥ ७५ ॥

'राजन् ! साधारण लोग भिन्न-भिन्न सभाओंमें सम्मिलित होकर अथवा अलग-अलग समूह-के-समूह इकट्ठे होकर आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दासे ही सम्बन्ध रखनेवाली बातें करते हैं ॥ ७५ ॥

इदमभ्यधिकं राजन् ब्राह्मणाः कुरवश्च ते।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसंधताम् ॥ ७६ ॥

'महाराज ! इसके सिवा, यह भी सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और कुरुवंशी एकत्र होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी सत्यप्रतिज्ञताका वर्णन करते हैं ॥ ७६ ॥

यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नार्थकारणात् ॥ ७७ ॥

'उनका कहना है कि आपने कभी न तो मोहसे, न दीनतासे, न लोभसे, न भयसे, न कामनासे और न धनके ही कारणसे किंचिन्मात्र भी असत्य भाषण किया है ॥ ७७ ॥

यदेनः कुरुते किंचिद् राजा भूमिमवाप्नुवन्।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद् यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७८ ॥

'राजा पृथ्वीको अपने अधिकारमें करते समय युद्धजनित हिंसा आदिके द्वारा जो कुछ पाप करता है, वह सब राज्य-प्राप्तिके पश्चात् भारी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा नष्ट कर देता है ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान् गाश्च राजन् सहस्रशः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७९ ॥

'जनेश्वर ! ब्राह्मणोंको बहुत-से गाँव और सहस्रों गौएँ दानमें देकर राजा अपने समस्त पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा अन्धकारसे ॥ ७९ ॥

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

'कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! प्रायः नगर और जनपदमें निवास करनेवाले आबालवृद्ध सब लोग आपकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८० ॥

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ८१ ॥

'कुत्तेके चमड़ेकी कुप्पीमें रक्खा हुआ दूध, शूद्रमें स्थित वेद, चोरमें सत्य और नारीमें स्थित बल जैसे अनुचित है, उसी प्रकार दुर्योधनमें स्थित राजत्व भी संगत नहीं है ॥ ८१ ॥

इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत ।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ॥ ८२ ॥

'भारत ! लोकमें यह उपर्युक्त सत्य प्रवाद पहलेसे चला आ रहा है । स्त्रियाँ और बच्चेतक इसे नित्य किये जानेवाले पाठकी तरह दुहराते रहते हैं ॥ ८२ ॥

इमामवस्थां च गते सहास्माभिररिंदम ।
हन्त नष्टा स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥ ८३ ॥

'शत्रुदमन ! बड़े दुःखकी बात है कि हमारे साथ ही आज आप इस दुरवस्थामें पहुँच गये हैं और आपहीके कारण ऐसा उपद्रव आया कि हम सब लोग नष्ट हो गये ॥ ८३ ॥

स भवान् रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ॥ ८४ ॥

'महाराज ! आप विजयमें प्राप्त हुए धनका ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये अस्त्र-शस्त्र आदि सभी आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित रथपर बैठकर शीघ्र यहाँसे युद्धके लिये निकलिये ॥

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ।
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ॥ ८५ ॥
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ।
अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा ।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान्महाबल ॥ ८६ ॥

'जैसे सर्पोंके समान भयंकर शूरवीर देवताओंसे घिरे हुए वृत्रनाशक इन्द्र असुरोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार अस्त्र-विद्याके ज्ञाता और सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले हम सब भाइयोंसे घिरे हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर आज ही हस्तिनापुरपर चढ़ाई कीजिये । महाबली कुन्तीकुमार ! जैसे इन्द्र अपने तेजसे दैत्योंको मिट्टीमें मिला देते हैं, उसी प्रकार आप अपने प्रभावसे शत्रुओंको मिट्टीमें मिलाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे अपनी राजलक्ष्मीको ले लीजिये ॥ ८५-८६ ॥

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥ ८७ ॥

'मनुष्योंमें कोई ऐसा नहीं है, जो गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान भयंकर गृध्रपङ्खयुक्त बाणोंका स्पर्श सह सके ॥ ८७ ॥

न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ८८ ॥

'भारत ! इसी प्रकार जगत्में ऐसा कोई अश्व या गजराज या कोई वीर पुरुष भी नहीं है, जो रणभूमिमें क्रोधपूर्वक विचरनेवाले मुझ भीमसेनकी गदाका वेग सह सके ॥

सृंजयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथंस्विद् युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥ ८९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सृंजय और कैकयवंशी वीरों तथा वृष्णिवंशावतंस भगवान् श्रीकृष्णके साथ होकर हम संग्राममें अपना राज्य कैसे नहीं प्राप्त कर लेंगे ? ॥ ८९ ॥

शत्रुहस्तगतां राजन् कथंस्विन्नाहरेर्महीम् ।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महतान्वितः ॥ ९० ॥

'राजन् ! आप विशाल सेनासे सम्पन्न हो यहाँ प्रयत्नपूर्वक युद्ध ठानकर शत्रुओंके हाथमें गयी हुई पृथ्वीको उनसे छीन क्यों नहीं लेते ?' ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धर्म और नीतिकी बात कहते हुए युधिष्ठिरकी अपनी प्रतिज्ञाके पालनरूप धर्मपर ही डटे रहनेकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु महानुभावः
सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा ।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै
धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेन जब

इस प्रकार अपनी बात पूरी कर चुके, तब महानुभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं भारत सत्यमेतद्
यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव
ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतकुलनन्दन ! तुम मुझे पीड़ा देते हुए अपने वाग्बाणोंद्वारा मेरे हृदयको जो विदीर्ण कर रहे हो, यह निःसंदेह ठीक ही है । मेरे प्रतिकूल होनेपर भी इन बातोंके लिये मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता; क्योंकि मेरे ही अन्यायसे तुमलोगोंपर यह विपत्ति आयी है ॥

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्
राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात्।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्
सुयोधनार्थे सुबलस्य पुत्रः ॥ ३ ॥

उन दिनों धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके हाथसे उसके राष्ट्र तथा राजपदका अपहरण करनेकी इच्छा रखकर ही मैं द्यूतक्रीड़ामें प्रवृत्त हुआ था; किंतु उस समय धूर्त जुआरी सुबलपुत्र शकुनि दुर्योधनके लिये उसकी ओरसे मेरे विपक्षमें आकर जूआ खेलने लगा ॥ ३ ॥

महामायः शकुनिः पर्वतीयः
सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान्।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्
ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ॥ ४ ॥

भीमसेन ! पर्वतीय प्रदेशका निवासी शकुनि बड़ा मायावी है । उसने द्यूतसभामें पासे फेंककर अपनी मायाद्वारा मुझे जीत लिया; क्योंकि मैं माया नहीं जानता था; इसीलिये मुझे यह संकट देखना पड़ा है ॥ ४ ॥

अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्
कामानुकूलानयुजो युजश्च।
शक्यो नियन्तुमभविष्यदात्मा
मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम् ॥ ५ ॥

शकुनिके सम और विषम सभी पासोंको उसकी इच्छाके अनुसार ही ठीक-ठीक पड़ते देखकर यदि अपने मनको जूएकी ओरसे रोका जा सकता, तो यह अनर्थ न होता, परंतु क्रोधावेश मनुष्यके धैर्यको नष्ट कर देता है (इसीलिये मैं जूएसे अलग न हो सका)॥ ५ ॥

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण
मानेन वार्येण च तात नद्धः।
न ते वाचो भीमसेनाभ्यसूये
मन्ये तथा तद् भवितव्यमासीत् ॥ ६ ॥

तात भीमसेन ! किसी विषयमें आसक्त हुए चित्तको पुरुषार्थ, अभिमान अथवा पराक्रमसे नहीं रोका जा सकता (अर्थात् उसे रोकना बहुत ही कठिन है), अतः मैं तुम्हारी बातोंके लिये बुरा नहीं मानता । मैं समझता हूँ, वैसी ही भवितव्यता थी ॥ ६ ॥

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न्यपातयद् व्यसने राज्यमिच्छन्।
दास्यं च नोऽगमयद् भीमसेन
यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः ॥ ७ ॥

भीमसेन ! धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्य पानेकी इच्छासे हम लोगोंको विपत्तिमें डाल दिया । हमें दासतक बना लिया था, किंतु उस समय द्रौपदी हमलोगोंकी रक्षक हुई ॥

त्वं चापि तद् वेत्थ धनंजयश्च
पुनर्द्यूतायागतानां सभां नः।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र
एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥ ८ ॥

तुम और अर्जुन दोनों इस बातको जानते हो कि जब हम पुनः द्यूतके लिये बुलाये जानेपर उस सभामें आये तो उस समय समस्त भरतवंशियोंके समक्ष धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने मुझसे एक ही दाँव लगानेके लिये इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

वने समा द्वादश राजपुत्र
यथाकामं विदितमजातशत्रो।
अथापरं चाविदितं चरेथाः
सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥ ९ ॥

'राजकुमार अजातशत्रो ! (यदि आप हार जायँ तो) आपको बारह वर्षोंतक इच्छानुसार सबकी जानकारीमें और पुनः एक वर्षतक गुप्त वेषमें छिपे रहकर अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करना पड़ेगा ॥ ९ ॥

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्त-
मवभोत्स्यन्ते भरतानां चराश्च।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं
निश्चित्य तत् प्रतिजानीहि पार्थ ॥ १० ॥

'कुन्तीकुमार ! यदि भरतवंशियोंके गुप्तचर आपके गुप्त निवासका समाचार सुनकर पता लगाने लगें और उन्हें यह मालूम हो जाय कि आपलोग अमुक जगह अमुक रूपमें रह रहे हैं, तब आपको पुनः उतने (बारह) ही वर्षोंतक वनमें रहना पड़ेगा । इस बातको निश्चय करके इसके विषयमें प्रतिज्ञा कीजिये ॥ १० ॥

चरेश्चेन्मोऽविदितः कालमेतं
युक्तो राजन् मोहयित्वा मदीयान्।

ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह
तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ॥ ११ ॥

'भरतवंशी नरेश ! यदि आप सावधान रहकर इतने समय-तक मेरे गुप्तचरोंको मोहित करके अज्ञातभावसे ही विचरते रहें तो मैं यहाँ कौरवोंकी सभामें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस सारे पञ्चनदप्रदेशपर फिर तुम्हारा ही अधिकार होगा ॥

वयं चैतद् भारत सर्व एव
त्वया जिताः कालमपास्य भोगान् ।
वसेम इत्याह पुरा स राजा
मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥ १२ ॥

'भारत ! यदि आपने ही हम सब लोगोंको जीत लिया तो हम भी उतने ही समयतक सारे भोगोंका परित्याग करके उसी प्रकार वास करेंगे ।' राजा दुर्योधनने जब समस्त कौरवों-के बीच इस प्रकार कहा, तब मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥ १२ ॥

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं
तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे ।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो
वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १३ ॥

फिर वहाँ हमलोगोंका अन्तिम बार निन्दनीय जूआ हुआ । उसमें हम सब लोग हार गये । और घर छोड़कर वनमें निकल आये । इस प्रकार हम कष्टप्रद वेष धारण करके कष्टदायक वनों और विभिन्न प्रदेशोंमें घूम रहे हैं ॥ १३ ॥

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन्
भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत् ।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्
ये चास्य केचिद् वशमन्वगच्छन् ॥ १४ ॥

उधर दुर्योधन भी शान्तिकी इच्छा न रखकर और भी क्रोधके वशीभूत हो गया है । उसने हमें तो कष्टमें डाल दिया और दूसरे समस्त कौरवोंको जो उसके वंशमें होकर उसीका अनुसरण करते रहे हैं, (देशशासक और दुर्गरक्षक आदि) ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित कर दिया है ॥ १४ ॥

तं संधिमास्थाय सतां सकाशे
को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः ।
आर्यस्य मन्ये मरणाद् गरीयो
यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ॥ १५ ॥

कौरव-सभामें साधु पुरुषोंके समीप वैसी सन्धिका आश्रय लेकर यानी प्रतिज्ञा करके अब यहाँ राज्यके लिये उसे कौन तोड़े ? धर्मका उल्लङ्घन करके पृथ्वीका शासन करना तो किसी श्रेष्ठ पुरुषके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःख-दायक है—ऐसा मेरा मत है ॥ १५ ॥

तदैव चेद् वीर कर्माकरिष्यो
यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन् वारितः फाल्गुनेन
किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत् ॥ १६ ॥
प्रागेव चैवं समयक्रियायाः
किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्
किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ॥ १७ ॥

वीर भीमसेन ! द्यूतके समय जब तुमने मेरी दोनों बाँहोंको जला देनेकी इच्छा प्रकट की और अर्जुनने तुम्हें रोका, उस समय तुम शत्रुओंपर आघात करनेके लिये अपनी गदापर हाथ फेरने लगे थे । यदि उसी समय तुमने शत्रुओंपर आघात कर दिया होता तो कितना अनर्थ हो जाता । तुम अपना पुरुषार्थ तो जानते ही थे । जब मैं पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही तुमने ऐसी बात क्यों नहीं कही ? जब प्रतिज्ञाके अनुसार वनवास-का समय स्वीकार कर लिया, तब पीछे चलकर इस समय क्यों मुझसे अत्यन्त कठोर बातें कहते हो ? ॥ १६-१७ ॥

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन
दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा ।
यद् याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां
संदृश्य तत् क्षान्तमिति स्म भीम ॥ १८ ॥

भीमसेन ! मुझे इस बातका भी बड़ा दुःख है कि द्रौपदीको शत्रुओंद्वारा क्लेश दिया जा रहा था और हमने अपनी आँखों देखकर भी उसे चुपचाप सह लिया । जैसे कोई विष घोलकर पी ले और उसकी पीड़ासे कराहने लगे, वैसी ही वेदना इस समय मुझे हो रही है ॥ १८ ॥

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर
कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य
पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १९ ॥

भरतवंशके प्रमुख वीर ! कौरव वीरोंके बीच मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे स्वीकार कर लेनेके बाद अब इस समय आक्रमण नहीं किया जा सकता । जैसे बीज बोनेवाला किसान अपनी खेतीके फलोंके पकनेकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार तुम भी उस समयकी प्रतीक्षा करो जो हमारे लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १९ ॥

यदा हि पूर्वं विकृतो निकृन्तेद्
वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा ।
महागुणं हरति हि पौरुषेण
तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ २० ॥

जब पहले शत्रुके द्वारा धोखा खाया हुआ वीर पुरुष

उसे फूलता-फलता जानकर अपने पुरुषार्थके द्वारा उसका मूलोच्छेद कर डालता है, तभी उस शत्रुके महान् गुणोंका अपहरण कर लेता है और इस जगत्में सुखपूर्वक जीवित रहता है ॥ २० ॥

श्रियं च लोके लभते समग्रां
मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमचिराद् भजन्ते
देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ॥ २१ ॥

वह वीर पुरुष लोकमें सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। मैं यह भी मानता हूँ कि सभी शत्रु उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। फिर थोड़े ही दिनोंमें उसके बहुत-से मित्र बन जाते हैं और जैसे देवता इन्द्रके सहारे जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार वे मित्रगण उस वीरकी छत्रछायामें रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २१ ॥

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ २२ ॥

किंतु भीमसेन ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो ! मैं जीवन और अमरत्वकी अपेक्षा भी धर्मको ही बढ़कर समझता हूँ। राज्य, पुत्र, यश और धन—ये सब-के-सब सत्यधर्मकी सोलहवीं कलाको भी नहीं पा सकते ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

दुखित भीमसेनका युधिष्ठिरको युद्धके लिये उत्साहित करना

भीमसेन उवाच

संधिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्रिणा ।
अनन्तेनाप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन् कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—महाराज ! आप फेनके समान नश्वर, फलके समान पतनशील तथा कालके बन्धनमें बँधे हुए मरणधर्मा मनुष्य हैं तो भी आपने सबका अन्त और संहार करनेवाले, बाणके समान वेगवान्, अनन्त, अप्रमेय एवं जलस्रोतके समान प्रवाहशील लंबे कालको बीचमें देकर दुर्योधनके साथ सन्धि करके उस कालको अपनी आँखोंके सामने आया हुआ मानते हैं ॥ १-२ ॥

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते ।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

किंतु कुन्तीकुमार! सलाईसे थोड़ा-थोड़ा करके उठाये जानेवाले अञ्जनचूर्ण (सुरमे) की भाँति एक-एक निमेषमें जिसकी आयु क्षीण हो रही है, वह क्षणभङ्गुर मानव समयकी प्रतीक्षा क्या कर सकता है ? ॥ ३ ॥

यो नूनममितायुः स्यादथवापि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥

अवश्य ही जिसकी आयुकी कोई माप नहीं है अथवा जो आयुकी निश्चित संख्याको जानता है तथा जिसने सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया है, वही समयकी प्रतीक्षा कर सकता है ॥

प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥

राजन् ! तेरह वर्षोंतक हमें जिसकी प्रतीक्षा करनी है, वह काल हमारी आयुको क्षीण करके हम सबको मृत्युके निकट पहुँचा देगा ॥ ५ ॥

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात् तस्माद् राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥

देहधारीकी मृत्यु सदा उसके शरीरमें ही निवास करती है, अतः मृत्युके पहले ही हमें राज्य-प्राप्तिके लिये चेष्टा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

यो न याति प्रसंख्यानमस्पष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥

जिसका प्रभाव छिपा हुआ है, वह भूमिके लिये भाररूप ही है, क्योंकि वह जनसाधारणमें ख्याति नहीं प्राप्त कर सकता। वह वैरका प्रतिशोध न लेनेके कारण बैलकी भाँति दुःख उठाता रहता है ॥ ७ ॥

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥

जिसका बल और उद्यम बहुत कम है, जो वैरका बदला नहीं ले सकता, उस पुरुषका जन्म अत्यन्त घृणित है। मैं तो उसके जन्मको निष्फल मानता हूँ ॥ ८ ॥

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुजितं वसु ॥ ९ ॥

महाराज ! आपकी दोनों भुजाएँ सुवर्णकी अधिकारिणी हैं। आपकी कीर्ति राजा पृथुके समान है । आप युद्धमें शत्रुका संहार करके अपने बाहुबलसे उपार्जित धनका उपभोग कीजिये ॥ ९ ॥

हत्वा वै पुरुषो राजन् निकर्तारमरिंदम।
अह्नाय नरकं गच्छेत् स्वर्गेणास्य स सम्मितः ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश ! यदि मनुष्य अपनेको धोखा देनेवाले शत्रुका वध करके तुरंत ही नरकमें पड़ जाय तो उसके लिये वह नरक भी स्वर्गके तुल्य है ॥ १० ॥

अमर्षजो हि संतापः पावकाद् दीप्तिमत्तरः।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥

अमर्षसे जो संताप होता है, वह आगसे भी बढ़कर जलानेवाला है। जिससे संतप्त होकर मुझे न तो रातमें नींद आती है और न दिनमें ॥ ११ ॥

अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाशये ॥ १२ ॥

ये हमारे भाई अर्जुन धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेमें सबसे श्रेष्ठ हैं; परंतु ये भी निश्चय ही अपनी गुफामें दुखी होकर बैठे हुए सिंहकी भाँति सदा अत्यन्त संतप्त होते रहते हैं ॥ १२ ॥

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वान् लोके धनुर्भृतः।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥

जो अकेले ही संसारके समस्त धनुर्धर वीरोंका सामना कर सकते हैं, वे ही अर्जुन महान् गजराजकी भाँति अपने मानसिक क्रोधजनित संतापको किसी प्रकार रोक रहे हैं ॥ १३ ॥

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

नकुल, सहदेव तथा वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली हमारी बूढ़ी माता कुन्ती—ये सबके सब आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर ही मूर्खों और गूँगोंकी भाँति चुप रहते हैं ॥ १४ ॥

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥

आपके सभी बन्धु-बान्धव और सृञ्जयवंशी योद्धा भी आपका प्रिय करना चाहते हैं। केवल हम दो व्यक्तियोंको ही विशेष कष्ट है। एक तो मैं संतप्त होता हूँ और दूसरी प्रतिविन्ध्यकी माता द्रौपदी ॥ १५ ॥

प्रियमेव तु सर्वेषां यद् ब्रवीम्युत किंचन।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥

मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सबको प्रिय है ! हम सब लोग संकटमें पड़े हैं और सभी युद्धका अभिनन्दन करते हैं ॥

नातः पापीयसी काचिदापद् राजन् भविष्यति।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥

राजन् ! इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखदायिनी विपत्ति और क्या होगी कि नीच और दुर्बल शत्रु हम बलवानोंका राज्य छीनकर उसका उपभोग कर रहे हैं ॥ १७ ॥

शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात् परंतप।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन् नान्यः कश्चित् प्रशंसति ॥ १८ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! आप शीलस्वभावके दोष और कोमलतासे एवं दयाभावसे युक्त होनेके कारण इतने क्लेश सह रहे हैं, परंतु महाराज ! इसके लिये आपकी कोई प्रशंसा नहीं करता है ॥ १८ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥

राजन् ! आपकी बुद्धि अर्थज्ञानसे रहित वेदोंके अक्षरमात्रको रटनेवाले मन्दबुद्धि श्रोत्रियकी तरह केवल गुरुकी वाणीका अनुसरण करनेके कारण नष्ट हो गयी है । यह तात्त्विक अर्थको समझने या समझानेवाली नहीं है ॥ १९ ॥

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेऽभ्यजायथाः।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ २० ॥

आप दयालु ब्राह्मणरूप हैं। पता नहीं, क्षत्रियकुलमें कैसे आपका जन्म हो गया; क्योंकि क्षत्रिय योनिमें तो प्रायः क्रूर बुद्धिके ही पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ २० ॥

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान् यथा वै मनुरब्रवीत्।
क्रूरान् निकृतिसम्पन्नान् विहितानशमात्मकान् ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान् महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः।
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ॥ २२ ॥
बुद्ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च।

महाराज ! आपने राजधर्मका वर्णन तो सुना ही होगा, जैसा मनुजीने कहा है । फिर क्रूर, मायावी, हमारे हितके विपरीत आचरण करनेवाले तथा अशान्त चित्तवाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंका अपराध आप क्यों क्षमा करते हैं ? पुरुषसिंह ! आप बुद्धि, पराक्रम, शास्त्रज्ञान तथा उत्तम कुलसे सम्पन्न होकर भी जहाँ कुछ काम करना है, वहाँ अजगरकी भाँति चुपचाप क्यों बैठे हैं ? ॥ २१-२२-॥

तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ॥ २३½ ॥
छन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मान् संवर्तुमिच्छसि।

कुन्तीनन्दन ! आप अज्ञातवासके समय जो हमलोगोंको छिपाकर रखना चाहते हैं इससे जान पड़ता है कि आप एक मुट्ठी तिनकेसे हिमालय पर्वतको ढक देना चाहते हैं ॥

अज्ञातचर्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ॥ २४ ॥

दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्याचरितुं त्वया ।

पार्थ ! आप इस भूमण्डलमें विख्यात हैं, जैसे सूर्य आकाशमें छिपकर नहीं रह सकते, उसी प्रकार आप भी कहीं छिपे रहकर अज्ञातवासका नियम नहीं पूरा कर सकते ॥ २४½ ॥

बृहच्छाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ॥ २५ ॥
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।

जहाँ जलकी अधिकता हो, ऐसे प्रदेशमें शाखा, पुष्प और पत्तोंसे सुशोभित विशाल शालवृक्षके समान अथवा श्वेत गजराज ऐरावतके सदृश ये अर्जुन कहीं भी अज्ञात कैसे रह सकेंगे ? ॥ २५½ ॥

इमौ च सिंहसंकाशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ॥ २६ ॥
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ।

कुन्तीकुमार ! ये दोनों भाई बालक नकुल-सहदेव सिंहके समान पराक्रमी हैं। ये दोनों कैसे छिपकर विचर सकेंगे ? ॥ २६½ ॥

पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ॥ २७ ॥
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ।

पार्थ ! यह वीरजननी पवित्रकीर्ति राजकुमारी द्रौपदी सारे संसारमें विख्यात है। भला, यह अज्ञातवासके नियम कैसे निभा सकेगी ॥ २७½ ॥

मां चापि राजञ्जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः ॥ २८ ॥
नाज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ।

महाराज ! मुझे भी प्रजावर्गके बच्चेतक पहचानते हैं, जैसे मेरुपर्वतको छिपाना असम्भव है, उसी प्रकार मुझे अपनी अज्ञातचर्या भी सम्भव नहीं दिखायी देती ॥ २८½ ॥

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ॥ २९ ॥
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ।
न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ॥ ३० ॥

राजन् ! इसके सिवा एक बात और है, हमलोगोंने भी बहुत-से राजाओं तथा राजकुमारोंको उनके राज्यसे निकाल दिया है। वे सब आकर राजा धृतराष्ट्रसे मिल गये होंगे, हमने जिनको राज्यसे वञ्चित किया अथवा निकाला है, वे कदापि हमारे प्रति शान्तभाव नहीं धारण कर सकते ॥ २९-३० ॥

अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ।
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन् प्रच्छन्नान् सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात् सुमहद्भयम् ॥ ३१ ॥

अवश्य ही दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर वे राजालोग भी हमलोगोंको धोखा देना उचित समझकर हमलोगोंकी खोज करनेके लिये बहुत-से छिपे हुए गुप्तचर नियुक्त करेंगे और पता लग जानेपर निश्चय ही दुर्योधनको सूचित कर देंगे। उस दशामें हमलोगोंपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो जायगा ॥ ३१ ॥

अस्माभिरुषिताः सम्यग् वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३२ ॥

हमने अबतक वनमें ठीक ठीक तेरह महीने व्यतीत कर लिये हैं, आप इन्हींको परिमाणमें तेरह वर्ष समझ लीजिये ॥

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३३ ॥

मनीषी पुरुषोंका कहना है कि मास संवत्सरका प्रतिनिधि है। जैसे पूतिका सोमलताके स्थानपर यज्ञमें काम देती है, उसी प्रकार आप इन तेरह मासोंको ही तेरह वर्षोंका प्रतिनिधि स्वीकार कर लीजिये ॥ ३३ ॥

अथवानडुहे राजन् साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३४ ॥

राजन् ! अथवा अच्छी तरह बोझ ढोनेवाले उत्तम बैलको भरपेट भोजन दे देनेपर इस पापसे आपको छुटकारा मिल सकता है ॥ ३४ ॥

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥ ३५ ॥

अतः महाराज ! आप शत्रुओंका वध करनेका निश्चय कीजिये; क्योंकि समस्त क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाना, व्यासजीका आगमन और युधिष्ठिरको प्रतिस्मृतिविद्याप्रदान तथा पाण्डवोंका पुनः काम्यकवनगमन

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः सम्प्रदध्यौ परंतपः ॥ १ ॥
श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी

बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन विचार करने लगे—'मैंने राजाओंके धर्म एवं वर्णोंके सुनिश्चित सिद्धान्त भी सुने हैं, परंतु जो भविष्य और वर्तमान दोनोंपर दृष्टि रखता है, वही यथार्थदर्शी है ॥ १-२ ॥

धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम्।
कथं बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥ ३ ॥

'धर्मकी श्रेष्ठ गति अत्यन्त दुर्बोध है, उसे जानता हुआ भी मैं कैसे बलपूर्वक मेरु पर्वतके समान महान् उस धर्मका मर्दन करूँगा' ॥ ३ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् अपनेको क्या करना है, इसका निश्चय करके युधिष्ठिरने भीमसेनसे अविलम्ब यह बात कही ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
इदमन्यत् समादत्स्व वाच्यं मे वाक्यकोविद ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भरतकुलतिलक वाक्य-विशारद भीम ! तुम जैसा कह रहे हो, वह ठीक है, तथापि मेरी यह दूसरी बात भी मानो ॥ ५ ॥

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात्।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन भीमसेन ! जो महान् पापमय कर्म केवल साहसके भरोसे आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी कष्टदायक होते हैं ॥

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥ ७ ॥

महाबाहो ! अच्छी तरहसे सलाह और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूपसे जो कार्य किये जाते हैं, वे सफल होते हैं और उसमें दैव भी अनुकूल हो जाता है ॥ ७ ॥

यत् तु केवलचापल्याद् बलदर्पोत्थितः स्वयम्।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ८ ॥

तुम स्वयं बलके घमण्डसे उन्मत्त हो जो केवल चपलतावश स्वयं इस युद्धरूपी कार्यको अभी आरम्भ करनेके योग्य मान रहे हो, उसके विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ८ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसंधश्च वीर्यवान्।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाततायिनः ॥ १० ॥
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल, पराक्रमी जलसंध, भीष्म, द्रोण, कर्ण, बलवान् अश्वत्थामा तथा सदाके आततायी दुर्योधन आदि दुर्धर्ष धृतराष्ट्रपुत्र—ये सभी अस्त्र-विद्याके ज्ञाता हैं एवं हमने जिन राजाओं तथा भूमिपालोंको युद्धमें कष्ट पहुँचाया है, वे सभी कौरवपक्षमें मिल गये हैं और उधर ही उनका स्नेह हो गया है ॥ ९–११ ॥

दुर्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत।
पूर्णकोशा बलोपेताः प्रयतिष्यन्ति संगरे ॥ १२ ॥

भारत ! वे दुर्योधनके हितमें ही संलग्न होंगे; हम-लोगोंके प्रति उनका वैसा सद्भाव नहीं हो सकता। उनका खजाना भरा-पूरा है और वे सैनिक-शक्तिसे भी सम्पन्न हैं, अतः वे युद्ध छिड़नेपर हमारे विरुद्ध ही प्रयत्न करेंगे ॥ १२ ॥

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्त्रियों और पुत्रोंके सहित कौरवसेनाके सभी सैनिकोंको दुर्योधनकी ओरसे पूरे वेतन और सब प्रकारकी उपभोग-सामग्रीका वितरण किया गया है ॥ १३ ॥

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, दुर्योधनने उन वीरोंका विशेष आदर-सत्कार भी किया है। अतः मेरा यह विश्वास है कि वे उसके लिये संग्राममें (हँसते-हँसते) प्राण दे देंगे ॥ १४ ॥

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥ १५ ॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः।
तस्मात् त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥ १६ ॥

महाबाहो ! यद्यपि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा महामना कृपाचार्यका आन्तरिक स्नेह धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा हम-लोगोंपर एक-सा ही है, तथापि वे राजा दुर्योधनका दिया हुआ अन्न खाते हैं, अतः उसका ऋण अवश्य चुकायेंगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। युद्ध छिड़नेपर वे भी दुर्योधनके पक्षसे ही लड़कर अपने दुस्त्यज प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ॥ १५-१६ ॥

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १७ ॥

वे सब-के-सब दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और धर्मपरायण हैं। मेरी बुद्धिमें तो यहाँतक आता है कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥ १८ ॥

उस पक्षमें महारथी कर्ण भी है, जो हमारे प्रति सदा

अमर्ष और क्रोधसे भरा रहता है। वह सब अस्त्रोंका ज्ञाता, अजेय तथा अभेद्य कवचसे सुरक्षित है॥ १८॥

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान्।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया॥ १९॥

इन समस्त वीर पुरुषोंको युद्धमें परास्त किये बिना तुम अकेले दुर्योधनको नहीं मार सकते॥ १९॥

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर।
अतिसर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम्॥ २०॥

वृकोदर! सूतपुत्र कर्णके हाथोंकी फुर्ती समस्त धनुर्धरोंसे बढ़-चढ़कर है। उसका स्मरण करके मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आती है॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन उदास और शङ्कायुक्त हो गये। फिर उनके मुँहसे कोई बात नहीं निकली॥ २१॥

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः॥ २२॥

दोनों पाण्डवोंमें इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास वहाँ आ पहुँचे॥ २२॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः॥ २३॥

पाण्डवोंने उठकर उनकी अगवानी की और यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजी युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २३॥

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम्।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ॥ २४॥

व्यासजीने कहा—नरश्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर! मैं ध्यानके द्वारा तुम्हारे मनका भाव जान चुका हूँ। इसलिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ॥ २४॥

भीष्माद् द्रोणात् कृपात् कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत।
दुर्योधनान्नृपसुतात् तथा दुःशासनादपि॥ २५॥
यत् ते भयममित्रघ्न हृदि सम्परिवर्तते।
तत् तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा॥ २६॥

शत्रुहन्ता भारत! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और दुःशासनसे भी जो तुम्हारे मनमें भय समा गया है, उसे मैं शास्त्रीय उपायसे नष्ट कर दूँगा॥ २५-२६॥

तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि॥ २७॥

राजेन्द्र! उस उपायको सुनकर धैर्यपूर्वक प्रयत्नद्वारा उसका अनुष्ठान करो। उसका अनुष्ठान करके शीघ्र ही अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो॥ २७॥

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम्।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिमं वाक्यविशारदः॥ २८॥

तदनन्तर प्रवचनकुशल पराशरनन्दन व्यासजी युधिष्ठिरको एकान्तमें ले गये और उनसे यह युक्तियुक्त वचन बोले—॥

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम।
येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनुर्धरः॥ २९॥

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे कल्याणका सर्वश्रेष्ठ समय आया है, जिससे धनुर्धर अर्जुन युद्धमें शत्रुओंको पराजित कर देंगे।२९।

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते॥ ३०॥

'मेरी दी हुई इस प्रतिस्मृति नामक विद्याको ग्रहण करो, जो मूर्तिमती सिद्धिके समान है। तुम मेरे शरणागत हो, इसलिये मैं तुम्हें इस विद्याका उपदेश करता हूँ॥ ३०॥

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु॥ ३१॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च॥ ३२॥

'जिसे तुमसे पाकर महाबाहु अर्जुन अपना सब कार्य सिद्ध करेंगे। पाण्डुनन्दन! ये अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये देवराज इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर तथा धर्मराजके पास जायँ। ये अपनी तपस्या और पराक्रमसे देवताओंको प्रत्यक्ष देखनेमें समर्थ होंगे॥ ३१-३२॥

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान्।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः॥ ३३॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति॥ ३४॥

'भगवान् नारायण जिनके सखा हैं, वे पुरातन महर्षि महातेजस्वी नर ही अर्जुन हैं। सनातन देव, अजेय, विजयशील तथा अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले हैं। महाबाहु अर्जुन इन्द्र, रुद्र तथा अन्य लोकपालोंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके महान् कार्य करेंगे॥ ३३-३४॥

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद् विचिन्त्यताम्।
निवासार्थाय यद् युक्तं भवेद् वः पृथिवीपते॥ ३५॥

कुन्तीकुमार! पृथिवीपते! अब तुम अपने निवासके लिये इस वनसे किसी दूसरे वनमें, जो तुम्हारे लिये उपयोगी हो, जानेकी बात सोचो॥ ३५॥

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३६ ॥

'एक ही स्थानपर अधिक दिनोंतक रहना प्रायः रुचिकर नहीं होता । इसके सिवा, यहाँ तुम्हारा चिरनिवास समस्त तपस्वी महात्माओंके लिये तपमें विघ्न पड़नेके कारण उद्वेग-कारक होगा ॥ ३६ ॥

मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून् विप्रान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३७ ॥

'यहाँके हिंसक पशुओंके उपयोग—मारनेका काम हो चुका है तथा तुम बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करते हो (और हवन करते हो), इसलिये यहाँ लता-गुल्म और ओषधियोंका क्षय हो गया है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान् प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥ ३८ ॥
धर्मराजाय धीमान् स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर 'लोकतत्त्वके ज्ञाता एवं शक्तिशाली योगी परम बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजीने अपनी शरणमें आये हुए पवित्र धर्मराज युधिष्ठिरको उस अत्युत्तम विद्याका उपदेश किया और कुन्तीकुमारकी अनुमति लेकर फिर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३८-३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद् ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ॥ ४० ॥

धर्मात्मा मेधावी संयतचित्त युधिष्ठिरने उस वेदोक्त मन्त्र-को मनसे धारण किया और समय-समयपर सदा उसका अभ्यास करने लगे ॥ ४० ॥

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात् ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वे व्यासजीकी आज्ञासे प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनसे काम्यक-वनमें चले गये, जो सरस्वतीके तटपर सुशोभित है ॥

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥ ४२ ॥

महाराज ! जैसे महर्षिगण देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, वैसे ही वेदादि शास्त्रोंकी शिक्षा तथा अक्षर ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानमें निपुण बहुत-से तपस्वी ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरके साथ उस वनमें गये ॥ ४२ ॥

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभ ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे काम्यकवनमें आकर मन्त्रियों और सेवकोंसहित वे महात्मा पाण्डव पुनः वहीं बस गये ॥ ४३ ॥

तत्र ते न्यवसन् राजन् किंचित् कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

राजन् ! वहाँ धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर हो उत्तम वेद-मन्त्रोंका उद्घोष सुनते हुए उन मनस्वी पाण्डवोंने कुछ कालतक निवास किया ॥ ४४ ॥

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४५ ॥

वे प्रतिदिन हिंसक पशुओंको मारनेके लिये शुद्ध (शास्त्रानुकूल) बाणोंद्वारा शिकार खेलते थे एवं शास्त्रकी विधिके अनुसार नित्य पितरों तथा देवताओंको अपना-अपना भाग देते थे अर्थात् नित्य श्राद्ध और नित्य होम करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनगमने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें काम्यकवनगमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनका सब भाई आदिसे मिलकर इन्द्रकील पर्वतपर जाना एवं इन्द्रका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभ ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिंदमः ।
धनंजयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! कुछ कालके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरको व्यासजीके संदेशका स्मरण हो आया । तब उन्होंने परम बुद्धिमान् अर्जुनसे एकान्तमें वार्तालाप किया । शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्म-राज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक वनवासके विषयमें चिन्तन करके किंचित् मुसकराते हुए अर्जुनके शरीरको हाथसे स्पर्श किया और एकान्तमें उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ १-३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः॥ ४॥

युधिष्ठिरने कहा—भारत! आजकल पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा—इन सबमें चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है॥ ४॥

दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम्।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च अभिजानन्ति कृत्स्नशः॥ ५॥

वे दैव, ब्राह्म और मानुष तीनों पद्धतियोंके अनुसार सम्पूर्ण अस्त्रोंके प्रयोगकी सारी कलाएँ जानते हैं। उन अस्त्रोंके ग्रहण और धारणरूप प्रयत्नसे तो वे परिचित हैं ही, शत्रुओं-द्वारा प्रयुक्त हुए अस्त्रोंकी चिकित्सा (निवारणके उपाय) को भी जानते हैं॥ ५॥

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत् तेषु वर्तते॥ ६॥

उन सबको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने बड़े आश्वासनके साथ रखा है और उपभोगकी सामग्री देकर संतुष्ट किया है। इतना ही नहीं, वह उनके प्रति गुरुजनोचित बर्ताव करता है॥ ६॥

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत॥ ७॥

अन्य सम्पूर्ण योद्धाओंपर भी दुर्योधन सदा ही बहुत प्रेम रखता है। उसके द्वारा सम्मानित और संतुष्ट किये हुए आचार्यगण उसके लिये सदा शान्तिका प्रयत्न करते हैं॥ ७॥

शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा॥ ८॥
सग्राम‌नगरा पार्थ ससागरवनाकरा।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः॥ ९॥

जो लोग उसके द्वारा समय-समयपर समादृत हुए हैं, वे कभी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होने देंगे। पार्थ! आज यह सारी पृथ्वी ग्राम, नगर, समुद्र, वन तथा खानोंसहित दुर्योधन-के वशमें है। तुम्हीं हम सब लोगोंके अत्यन्त प्रिय हो। हमारे उद्धारका सारा भार तुमपर ही है॥ ८-९॥

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिंदम।
कृष्णद्वैपायनात् तात गृहीतोपनिषन्मया॥ १०॥

शत्रुदमन! अब इस समयके योग्य जो कर्तव्य मुझे उचित दिखायी देता है, उसे सुनो। तात! मैंने श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीसे एक रहस्यमयी विद्या प्राप्त की है॥ १०॥

तया प्रयुक्तया सम्यग् जगत् सर्वं प्रकाशते।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः॥ ११॥

देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय।
तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ॥ १२॥
धनुष्मान् कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः।
न कस्यचिद् ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम्॥ १३॥

उसका विधिवत् प्रयोग करनेपर समस्त जगत् अच्छी प्रकारसे ज्यों-का-त्यों स्पष्ट दीखने लगता है। तात! उस मन्त्र-विद्यासे युक्त एवं एकाग्रचित्त होकर तुम यथासमय देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्त करो। भरतश्रेष्ठ! अपने-आपको उग्र तपस्यामें लगाओ। धनुष, कवच और खड्ग धारण किये साधु-व्रतके पालनमें स्थित हो मौनावलम्बनपूर्वक किसीको आक्रमणका मार्ग न देते हुए उत्तर दिशाकी ओर जाओ॥ ११-१३॥

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनंजय।
वृत्राद् भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम्॥ १४॥

धनंजय! इन्द्रको समस्त दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। वृत्रासुरसे डरे हुए सम्पूर्ण देवताओंने उस समय अपनी सारी शक्ति इन्द्रको ही समर्पित कर दी थी॥ १४॥

तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे।
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति॥ १५॥
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरंदरम्।

वे सब दिव्यास्त्र एक ही स्थानमें हैं, तुम उन्हें वहींसे प्राप्त कर लोगे; अतः तुम इन्द्रकी ही शरण लो। वही तुम्हें सब अस्त्र प्रदान करेंगे। आज ही दीक्षा ग्रहण करके तुम देवराज इन्द्रके दर्शनकी इच्छासे यात्रा करो॥ १५½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः॥ १६॥
दीक्षितं विधिनानेन धृतवाक्कायमानसम्।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शक्तिशाली धर्मराज युधिष्ठिरने मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर दीक्षा ग्रहण करनेवाले अर्जुनको विधिपूर्वक पूर्वोक्त प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश किया। तदनन्तर बड़े भाई युधिष्ठिरने अपने वीर भाई अर्जुनको वहाँसे प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी॥ १६-१७॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरंदरम्।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्ये महेषुधी॥ १८॥
कवची सतलत्राणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
हुत्वाग्निं ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः॥ १९॥
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च॥ २०॥

धर्मराजकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका दर्शन करनेकी इच्छा मनमें रखकर महाबाहु धनंजयने अग्निमें आहुति दी और

स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया तथा गाण्डीव धनुष और दो महान् अक्षय तूणीर साथ ले कवच, तलत्राण (जूते) तथा अङ्गुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चमड़ेका बना हुआ अङ्गुलित्र धारण किया । इसके बाद ऊपरकी ओर देख लंबी साँस खींचकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके वधके लिये महाबाहु अर्जुन धनुष हाथमें लिये वहाँसे प्रस्थित हुए ॥

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ॥ २१ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको वहाँ धनुष लिये जाते देख सिद्धों, ब्राह्मणों तथा अदृश्य भूतोंने कहा—॥ २१ ॥

क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद् यदिच्छसि ।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ॥ २२ ॥
संसाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव ।

'कुन्तीकुमार ! तुम अपने मनमें जो-जो इच्छा रखते हो, वह सब तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो ।' इसके बाद ब्राह्मणोंने अर्जुनको विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए कहा—'कुन्तीपुत्र ! तुम अपना अभीष्ट साधन करो, तुम्हें अवश्य विजय प्राप्त हो' ॥

तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ॥ २३ ॥
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ।

शाल वृक्षके समान कंधे और जाँघोंसे सुशोभित वीर अर्जुनको इस प्रकार सबके चित्तको चुराकर प्रस्थान करते देख द्रौपदी इस प्रकार बोली ॥ २३½ ॥

कृष्णोवाच

यत् ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद् धनंजय ॥ २४ ॥
तत् तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ।

द्रौपदीने कहा—कुन्तीकुमार महाबाहु धनंजय ! आपके जन्म लेनेके समय आर्या कुन्तीने अपने मनमें आपके लिये जो-जो इच्छाएँ की थीं तथा आप स्वयं भी अपने हृदयमें जो-जो मनोरथ रखते हों, वे सब आपको प्राप्त हों ॥

मास्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका ।

हमलोगोंमेंसे कोई भी क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न न हो । उन ब्राह्मणोंको नमस्कार है, जिनका भिक्षासे ही निर्वाह हो जाता है ॥ २५½ ॥

इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन् राजसंसदि ।

नाथ ! मुझे सबसे बढ़कर दुःख इस बातसे हुआ है कि उस पापी दुर्योधनने राजाओंसे भरी हुई सभामें मेरी ओर देखकर और मुझे 'गाय' (अनेक पुरुषोंके उपभोगमें आनेवाली) कहकर मेरा उपहास किया ॥ २६½ ॥

तस्माद् दुःखादिदं दुःखं [illegible] इति मे मतिः ॥ २७ ॥
यत् तत् परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत ।

उस दुःखसे भी बढ़कर महान् कष्ट मुझे इस बातसे हुआ कि उसने भरी सभामें मेरे प्रति बहुत-सी अनुचित बातें कहीं ॥ २७½ ॥

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ॥ २८ ॥
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः ।
नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ॥ २९ ॥
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ।
त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ॥ ३० ॥
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च ।
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ ३१ ॥

वीरवर ! निश्चय ही आपके चले जानेके बाद आपके सभी भाई जागते समय आपहीके पराक्रमकी चर्चा बार-बार करते हुए अपना मन बहलायेंगे । पार्थ ! दीर्घकालके लिये आपके प्रवासी हो जानेपर हमारा मन न तो भोगोंमें लगेगा और न धनमें ही । इस जीवनमें भी कोई रस नहीं रह जायगा । आपके बिना हम इन वस्तुओंसे संतोष नहीं पा सकेंगे । पार्थ ! हम सबके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा राज्य-ऐश्वर्य आपपर ही निर्भर हैं । भरतकुलतिलक ! कुन्तीकुमार ! मैंने आपको विदा दी; आप कल्याणको प्राप्त हों ॥ २८—३१ ॥

बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत् त्वयानघ ।
प्रयाह्यविघ्नेनैवाशु विजयाय महाबल ।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ॥ ३२ ॥

निष्पाप महाबली आर्यपुत्र ! आप बलवानोंसे विरोध न करें, यह मेरा अनुरोध है । विघ्न-बाधाओंसे रहित हो विजय-प्राप्तिके लिये शीघ्र यात्रा कीजिये । धाता और विधाताको नमस्कार है । आप कुशल और स्वस्थतापूर्वक प्रस्थान कीजिये ॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिर्द्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती ।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय ॥ ३३ ॥

धनंजय ! ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती—ये सब देवियाँ मार्गमें जाते समय आपकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः ।
प्रपद्येऽहं वसून् रुद्रानादित्यान् समरुद्गणान् ॥ ३४ ॥
विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत॥ ३५ ॥
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः ।

आप बड़े भाईका आदर करनेवाले हैं, उनकी आज्ञाके पालक हैं । भरतश्रेष्ठ ! मैं आपकी शान्तिके लिये वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्य देवताओंकी शरण

लेती हूँ। भारत! भौम, आन्तरिक्ष तथा दिव्य भूतोंसे और दूसरे भी जो मार्गमें विघ्न डालनेवाले प्राणी हैं, उन सबसे आपका कल्याण हो॥ ३४-३५½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसी मङ्गलकामना करके यशस्विनी द्रौपदी चुप हो गयी॥ ३६॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः॥ ३७॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुनने अपना सुन्दर धनुष हाथमें लेकर सभी भाइयों और धौम्यमुनिको दाहिने करके वहाँसे प्रस्थान किया॥ ३७॥

तस्य मार्गादपाक्रामन् सर्वभूतानि गच्छतः।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः॥ ३८॥

महान् पराक्रमी और महाबली अर्जुनके यात्रा करते समय उनके मार्गसे समस्त प्राणी दूर हट जाते थे; क्योंकि वे इन्द्रसे मिला देनेवाली प्रतिस्मृतिनामक योगविद्यासे युक्त थे॥

सोऽगच्छत् पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान्।
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परंतपः॥ ३९॥

परंतप अर्जुन तपस्वी महात्माओंद्वारा सेवित पर्वतोंके मार्गसे होते हुए दिव्य, पवित्र तथा देवसेवित हिमालय पर्वतपर जा पहुँचे॥ ३९॥

अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः॥ ४०॥

महामना अर्जुन योगयुक्त होनेके कारण मनके समान तीव्र वेगसे चलनेमें समर्थ हो गये थे, अतः वे वायुके समान एक ही दिनमें उस पुण्य पर्वतपर पहुँच गये॥ ४०॥

हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च।
अत्यक्रामत् स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः॥ ४१॥

हिमालय और गन्धमादन पर्वतको लाँघकर उन्होंने आलस्यरहित हो दिन-रात चलते हुए और भी बहुत-से दुर्गम स्थानोंको पार किया॥ ४१॥

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनंजयः।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा॥ ४२॥

तदनन्तर इन्द्रकील पर्वतपर पहुँचकर अर्जुनने आकाशमें उच्च स्वरसे गूँजती हुई एक वाणी सुनी—'तिष्ठ (यहीं ठहर जाओ)!' तब वे वहीं ठहर गये॥ ४२॥

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः।
अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम्॥ ४३॥

वह वाणी सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने चारों ओर दृष्टिपात किया। इतनेहीमें उन्हें वृक्षके मूलभागमें बैठे हुए एक तपस्वी महात्मा दिखायी दिये॥ ४३॥

ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम्।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः॥ ४४॥

वे अपने ब्रह्मतेजसे उद्भासित हो रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति पिङ्गलवर्णकी थी। सिरपर जटा बढ़ी हुई थी और शरीर अत्यन्त कृश था। उन महातपस्वीने अर्जुनको वहाँ खड़े हुए देखकर पूछा—॥ ४४॥

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी।
निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः॥ ४५॥
नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामेष आलयः।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम्॥ ४६॥

'तात! तुम कौन हो? जो धनुष-बाण, कवच, तलवार तथा दस्तानेसे सुसज्जित हो क्षत्रियधर्मका अनुगमन करते हुए यहाँ आये हो। यहाँ अस्त्र-शस्त्रकी आवश्यकता नहीं है। यह तो क्रोध और हर्षको जीते हुए तपस्यामें तत्पर शान्त ब्राह्मणोंका स्थान है॥ ४५-४६॥

नेहास्ति धनुषा कार्यं न संग्रामोऽत्र कर्हिचित्।
निक्षिपैतद् धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम्॥ ४७॥

'यहाँ कभी कोई युद्ध नहीं होता, इसलिये यहाँ तुम्हारे धनुषका कोई काम नहीं है। तात! यह धनुष यहीं फेंक दो, अब तुम उत्तम गतिको प्राप्त हो चुके हो॥ ४७॥

ओजसा तेजसा वीर यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत्।
न चैनं चालयामास धैर्यात् सुधृतनिश्चयम्॥ ४८॥

'वीर! ओज और तेजमें तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है!' इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिने हँसते हुए-से बार-बार अर्जुनसे धनुषको त्याग देनेकी बात कही! परंतु अर्जुन धनुष न त्यागनेका दृढ़ निश्चय कर चुके थे; अतः ब्रह्मर्षि उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं कर सके॥ ४८॥

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन॥ ४९॥

तब उन ब्राह्मण देवताने पुनः प्रसन्न होकर उनसे हँसते हुए-से कहा—'शत्रुसूदन! तुम्हारा भला हो, मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, मुझसे कोई वर माँगो'॥ ४९॥

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनंजयः।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः॥ ५०॥

यह सुनकर कुरुकुलरत्न शूर-वीर अर्जुनने सहस्र नेत्र-धारी इन्द्रसे हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक कहा—॥ ५०॥

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम्॥ ५१॥

भगवन् ! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, यही मेरा अभीष्ट मनोरथ है; अतः मुझे यही वर दीजिये' ॥ ५१ ॥

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनंजय ॥ ५२ ॥
कामान् वृणीष्व लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनंजयः ॥ ५३ ॥
न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ॥ ५४ ॥
भ्रातॄंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ५५ ॥

तब महेन्द्रने प्रसन्नचित्त हो हँसते हुए से कहा—'धनंजय ! जब तुम यहाँतक आ पहुँचे तब तुम्हें अस्त्रोंको लेकर क्या करना है ? अब इच्छानुसार उत्तम लोक माँग लो; क्योंकि तुम्हें उत्तम गति प्राप्त हुई है ।' यह सुनकर धनंजयने पुनः देवराजसे कहा—'देवेश्वर ! मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड़कर (शत्रुओंसे) वैरका बदला लिये बिना लोभ अथवा कामनाके वशीभूत हो न तो देवत्व चाहता हूँ, न सुख और न सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेनेकी ही मेरी इच्छा है । यदि मैंने वैसा किया तो उसके लिये सम्पूर्ण लोकोंमें मुझे महान् अपयश प्राप्त होगा' ॥ ५२-५५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ५६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर विश्ववन्दित, वृत्रविनाशक इन्द्रने मधुर वाणीमें अर्जुनको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ५६ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥ ५७ ॥

'तात ! जब तुम्हें तीन नेत्रोंसे विभूषित त्रिशूलधारी भूतनाथ भगवान् शिवका दर्शन होगा, तब मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा ॥ ५७ ॥

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।
दर्शनात् तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ५८ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम उन परमेश्वर महादेवजीका दर्शन पानेके लिये प्रयत्न करो । उनके दर्शनसे पूर्णतः सिद्ध हो जानेपर तुम स्वर्गलोकमें पधारोगे' ॥ ५८ ॥

इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ५९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र पुनः अदृश्य हो गये । तत्पश्चात् अर्जुन योगयुक्त हुए वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें इन्द्रदर्शनविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

(कैरातपर्व)

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनकी उग्र तपस्या और उसके विषयमें ऋषियोंका भगवान् शङ्करके साथ वार्तालाप

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनकी यह कथा मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ; उन्होंने किस प्रकार अस्त्र प्राप्त किये ? ॥ १ ॥

यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनंजयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥

पुरुषसिंह महाबाहु तेजस्वी धनंजय उस निर्जन वनमें निर्भयके समान कैसे चले गये थे ? ॥ २ ॥

किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ।
कथं च भगवान् स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! उस वनमें रहकर पार्थने क्या किया ? भगवान् शंकर तथा देवराज इन्द्रको कैसे संतुष्ट किया ? ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥

विप्रवर ! मैं आपकी कृपासे ये सब बातें सुनना चाहता हूँ । सर्वज्ञ ! आप दिव्य और मानुष सभी वृत्तान्तोंको जानते हैं ॥ ४ ॥

अत्यद्भुततमं ब्रह्मन् रोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामं चकाराप्रतिमं किल ॥ ५ ॥
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥ ६ ॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ।
यद् यच्च कृतवानन्यत् पार्थस्तदखिलं वद ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने सुना है, कभी संग्राममें परास्त न होनेवाले,

योद्धाओंमें श्रेष्ठ अर्जुनने कि... भगवान् शङ्करके साथ अत्यन्त अद्भुत, अनुपम और रोमाञ्चकारी युद्ध किया था, जिसे सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके हृदयोंमें भी दैन्य, हर्ष और विस्मयके कारण कँपकँपी छा गयी थी। अर्जुनने और भी जो-जो कार्य किये हों, वे सब भी मुझे बताइये ॥ ५–७ ॥

न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ८ ॥

शूरवीर अर्जुनका अत्यन्त सूक्ष्म चरित्र भी ऐसा नहीं दिखायी देता है, जिसमें थोड़ी-सी भी निन्दाके लिये स्थान हो; अतः वह सब मुझसे कहिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! पौरवश्रेष्ठ ! महात्मा अर्जुनकी यह कथा दिव्य, अद्भुत और महत्त्वपूर्ण है; इसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

गात्रसंस्पर्शसम्बद्धां त्र्यम्बकेण सहानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक् समागमम् ॥ १० ॥

अनघ ! देवदेव महादेवजीके साथ अर्जुनके शरीरका जो स्पर्श हुआ था, उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा है। तुम उन दोनोंके मिलनका यह वृत्तान्त भली-भाँति सुनो ॥

युधिष्ठिरनियोगात् स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ ११ ॥
दिव्यं तद् धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥ १२ ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् सर्वलोकमहारथः ॥ १३ ॥

राजन्! अमित पराक्रमी, महाबली, महाबाहु, कुरुकुलभूषण, इन्द्रपुत्र अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी और सुस्थिर चित्तवाले थे, युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र तथा देवाधिदेव भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये कार्यकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर अपने उस दिव्य (गाण्डीव) धनुष और सोनेकी मूँठवाले खड्गको हाथमें लिये उत्तर दिशामें हिमालय पर्वतकी ओर चले॥

त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ॥ १४ ॥

तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके बड़ी उतावलीके साथ जाते हुए वे अकेले ही एक भयंकर कण्टकाकीर्ण वनमें पहुँचे ॥ १४ ॥

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १५ ॥

जो नाना प्रकारके फल-फूलोंसे भरा था, भाँति-भाँतिके पक्षी जहाँ कलरव कर रहे थे, अनेक जातियोंके मृग उस वनमें सब ओर विचरते रहते थे तथा कितने ही सिद्ध और चारण निवास कर रहे थे ॥ १५ ॥

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद् दिवि ॥ १६ ॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन अर्जुनके उस निर्जन वनमें पहुँचते ही आकाशमें शङ्खों और नगाड़ोंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥

पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १७ ॥
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि संनिकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १८ ॥

पृथ्वीपर फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। मेघोंकी घटा घिरकर आकाशमें सब ओर छा गयी। उन दुर्गम वनस्थलियोंको लाँघकर अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें एक महान् पर्वतके निकट निवास करते हुए शोभा पाने लगे ॥ १७-१८ ॥

तत्रापश्यद् द्रुमान् फुल्लान् विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ॥ १९ ॥

वहाँ उन्होंने फूलोंसे सुशोभित बहुत-से वृक्ष देखे, जो पक्षियोंके मधुर शब्दसे गुञ्जायमान हो रहे थे । उन्होंने वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई शोभामयी कितनी ही नदियाँ देखीं, जिनमें बहुत-सी भँवरें उठ रही थीं ॥ १९ ॥

हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥ २० ॥

हंस, कारण्डव तथा सारस आदि पक्षी वहाँ मीठी बोली बोलते थे । तटवर्ती वृक्षोंपर कोयल मनोहर शब्द बोल रही थी। क्रौंचके कलरव और मयूरोंकी केकाध्वनि भी वहाँ सब ओर गूँजती रहती थी ॥ २० ॥

मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन् प्रीतमनाभवत् ॥ २१ ॥

उन नदियोंके आसपास मनोहर वनश्रेणी सुशोभित होती थी। हिमालयके उस शिखरपर पवित्र, शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई उन सुन्दर सरिताओंका दर्शन करके अतिरथी अर्जुनका मन प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ २१ ॥

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २२ ॥

उग्र तेजस्वी महामना अर्जुन वहाँ वनके रमणीय प्रदेशोंमें घूम-फिरकर बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥

दर्भचीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २३ ॥

कुशाका ही चीर धारण किये तथा दण्ड और मृगचर्मसे

विभूषित अर्जुन पृथ्वीपर गिरे हुए सूखे पत्तोंका ही भोजनके स्थानमें उपयोग करते थे ॥ २३ ॥

पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥ २४ ॥

एक मासतक वे तीन-तीन रातके बाद केवल फलाहार करके रहे । दूसरे मासको उन्होंने पहलेकी अपेक्षा दूने-दूने समयपर अर्थात् छः-छः रातके बाद फलाहार करके व्यतीत किया ॥ २४ ॥

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरन् ।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥ २५ ॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत् पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥ २६ ॥

तीसरा महीना पंद्रह-पंद्रह दिनमें भोजन करके बिताया । चौथा महीना आनेपर भरतश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे । वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी सहारेके पैरके अंगूठेके अग्रभागके बलपर खड़े रहे ॥ २५-२६ ॥

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

अमित तेजस्वी महात्मा अर्जुनके सिरकी जटाएँ नित्य स्नान करनेके कारण विद्युत् और कमलोंके समान हो गयी थीं ॥ २७ ॥

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रं समास्थितम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर भयंकर तपस्यामें लगे हुए अर्जुनके विषयमें कुछ निवेदन करनेकी इच्छासे वहाँ रहनेवाले सभी महर्षि पिनाकधारी महादेवजीकी सेवामें गये ॥ २८ ॥

तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः॥ २९ ॥
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन् दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥ ३० ॥

उन्होंने महादेवजीको प्रणाम करके अर्जुनका वह तपरूप कर्म कह सुनाया । वे बोले—'भगवन् ! ये महातेजस्वी कुन्ती-पुत्र अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागपर स्थित हो अपार एवं उग्र तपस्यामें संलग्न हैं और सम्पूर्ण दिशाओंको धूमाच्छादित कर रहे हैं । देवेश्वर ! वे क्या करना चाहते हैं, इस विषयमें हमलोगोंमेंसे कोई कुछ नहीं जानता है ॥ २९-३० ॥

संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३१ ॥
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।

'वे अपनी तपस्याके संतापसे हम सब महर्षियोंको संतप्त कर रहे हैं । अतः आप उन्हें तपस्यासे सद्भावपूर्वक निवृत्त कीजिये ।' पवित्र चित्तवाले उन महर्षियोंका यह वचन सुनकर भूतनाथ भगवान् शंकर इस प्रकार बोले ॥ ३१½ ॥

महादेव उवाच

न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ॥ ३२ ॥
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ ३३ ॥

महादेवजीने कहा—महर्षियो ! तुम्हें अर्जुनके विषयमें किसी प्रकारका विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम आलस्यरहित हो शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये हो, वैसे ही लौट जाओ । अर्जुनके मनमें जो संकल्प है, मैं उसे भलीभाँति जानता हूँ ॥ ३२-३३ ॥

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः।
यत् तस्य काङ्क्षितं सर्वं तत् करिष्येऽहमद्य वै ॥ ३४ ॥

उन्हें स्वर्गलोककी कोई इच्छा नहीं है, वे ऐश्वर्य तथा आयु भी नहीं चाहते । वे जो कुछ पाना चाहते हैं, वह सब मैं आज ही पूर्ण करूँगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान् पुनरालयान् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर वे सत्यवादी महर्षि प्रसन्नचित्त हो फिर अपने आश्रमोंको लौट गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशङ्करसंवादे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महर्षियों तथा भगवान् शङ्करके संवादसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्कर और अर्जुनका युद्ध, अर्जुनपर उनका प्रसन्न होना एवं अर्जुनके द्वारा भगवान् शङ्करकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः॥ १॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम्।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन सब तपस्वी महात्माओंके चले जानेपर सर्वपापहारी, पिनाकपाणि, भगवान् शङ्कर किरातवेष धारण करके सुवर्णमय वृक्षके सदृश दिव्य कान्तिसे उद्भासित होने लगे। उनका शरीर दूसरे मेरुपर्वतके समान दीप्तिमान् और विशाल था॥ १-२॥

श्रीमद् धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान्।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव॥ ३॥

वे एक शोभायमान धनुष और सर्पोंके समान विषाक्त बाण लेकर बड़े वेगसे चले। मानो साक्षात् अग्निदेव ही देह धारण करके निकले हों॥ ३॥

देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेषया।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा॥ ४॥
किरातवेषसंच्छन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः।
अशोभत तदा राजन् स देशोऽतीव भारत॥ ५॥

उनके साथ भगवती उमा भी थीं, जिनका व्रत और वेष भी उन्हींके समान था। अनेक प्रकारके वेष धारण किये भूतगण भी प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे हो लिये थे। इस प्रकार किरातवेषमें छिपे हुए श्रीमान् शिव सहस्रों स्त्रियोंसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे। भरतवंशी राजन्! उस समय वह प्रदेश उन सबके चलने-फिरनेसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था॥ ४-५॥

क्षणेन तद् वनं सर्वं निःशब्दमभवत् तदा।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाप्युपारमत्॥ ६॥

एक ही क्षणमें वह सारा वन शब्दरहित हो गया। झरनों और पक्षियोंतककी आवाज बंद हो गयी॥ ६॥

स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः।
मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम्॥ ७॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम्।
हन्तुं परं दीप्यमानं तमुवाचाथ फाल्गुनः॥ ८॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान्।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन्॥ ९॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनके निकट आकर भगवान् शङ्करने अद्भुत दीखनेवाले मूकनामक अद्भुत दानवको देखा, जो सूअरका रूप धारण करके अत्यन्त तेजस्वी अर्जुनको मार डालनेका उपाय सोच रहा था; उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुष और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाण हाथमें ले धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकारसे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके कहा—॥ ७—९॥

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम्।
तस्मात् त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम्॥ १०॥

'अरे! तू यहाँ आये हुए मुझ निरपराधको मारनेकी घातमें लगा है, इसीलिये मैं आज पहले ही तुझे यमलोक भेज दूँगा'॥ १०॥

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम्।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः॥ ११॥

सुदृढ़ धनुषवाले अर्जुनको प्रहारके लिये उद्यत देख किरातरूपधारी भगवान् शङ्करने उन्हें सहसा रोका॥ ११॥

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रकीलसमप्रभः।
अनादृत्य च तद् वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः॥ १२॥

और कहा—'इन्द्रकील पर्वतके समान कान्तिवाले इस सूअरको पहलेसे ही मैंने अपना लक्ष्य बना रखा है, अतः तुम न मारो।' परंतु अर्जुनने किरातके वचनकी अवहेलना करके उसपर प्रहार कर ही दिया॥ १२॥

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम्॥ १३॥

साथ ही महातेजस्वी किरातने भी उसी एकमात्र लक्ष्यपर बिजली और अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाण छोड़ा॥ १३॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा॥ १४॥

उन दोनोंके छोड़े हुए वे दोनों बाण एक ही साथ मूक दानवके पर्वत-सदृश विशाल शरीरमें लगे॥ १४॥

यथाशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत् तदा॥ १५॥

जैसे पर्वतपर बिजलीकी गड़गड़ाहट और वज्रपातका भयंकर शब्द होता है, उसी प्रकार उन दोनों बाणोंके आघातका शब्द हुआ॥ १५॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम्॥ १६॥

इस प्रकार प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान अनेक बाणोंसे घायल होकर वह दानव फिर अपने भयानक राक्षसरूपको प्रकट करते हुए मर गया॥ १६॥

स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेषसंच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥ १७ ॥
तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥ १८ ॥

इसी समय शत्रुनाशक अर्जुनने सुवर्णके समान कान्तिमान् एक तेजस्वी पुरुषको देखा, जो स्त्रियोंके साथ आकर अपनेको किरातवेषमें छिपाये हुए थे । तब कुन्तीकुमारने प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए-से कहा—'आप कौन हैं जो इस सूने वनमें स्त्रियोंसे घिरे हुए घूम रहे हैं ? ॥ १७-१८ ॥

न त्वमस्मिन् वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥ १९ ॥

'सुवर्णके समान दीप्तिमान् पुरुष ! क्या आपको इस भयानक वनमें भय नहीं लगता ? यह सूअर तो मेरा लक्ष्य था, आपने क्यों उसपर बाण मारा ? ॥ १९ ॥

मयाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः ।
कामात् परिभवाद् वापि न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ २० ॥

'यह राक्षस पहले यहीं मेरे पास आया था और मैंने इसे काबूमें कर लिया था । आपने किसी कामनासे इस शूकरको मारा हो या मेरा तिरस्कार करनेके लिये । किसी दशामें भी मैं आपको जीवित नहीं छोड़ूँगा ॥ २० ॥

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रयम् ॥ २१ ॥

'यह मृगयाका धर्म नहीं है, जो आज आपने मेरे साथ किया है । आप पर्वतके निवासी हैं तो भी उस अपराधके कारण मैं आपको जीवनसे वञ्चित कर दूँगा' ॥ २१ ॥

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर जोर-जोरसे हँस पड़े और सव्यसाची पाण्डवसे मधुर वाणीमें बोले—॥ २२ ॥

न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
इयं भूमिः सदास्माकमुचिता वसतां वने ॥ २३ ॥

'वीर ! तुम हमारे लिये वनके निकट आनेके कारण भय न करो । हम तो वनवासी हैं, अतः हमारे लिये इस भूमिपर विचरना सदा उचित ही है ॥ २३ ॥

त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन् निवसामस्तपोधन ॥ २४ ॥

'किंतु तुमने यहाँका दुष्कर निवास कैसे पसंद किया ? तपोधन ! हम तो अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें सदा ही रहते हैं ॥ २४ ॥

भवांस्तु कृष्णवर्त्माभ[illegible]ः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥ २५ ॥

'तुम्हारे अङ्गोंकी प्रभा प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती है । तुम सुकुमार हो और सुख भोगनेके योग्य प्रतीत होते हो । इस निर्जन प्रदेशमें किसलिये अकेले विचर रहे हो ? ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच

गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाग्निसंनिभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ॥ २६ ॥

अर्जुनने कहा—मैं गाण्डीव धनुष और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका आश्रय लेकर इस महान् वनमें द्वितीय कार्तिकेयकी भाँति (निर्भय) निवास करता हूँ ॥ २६ ॥

एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चागतः ॥ २७ ॥

यह प्राणी हिंसक पशुका रूप धारण करके मुझे ही मारनेके लिये यहाँ आया था, अतः इस भयंकर राक्षसको मैंने मार गिराया है ॥ २७ ॥

किरात उवाच

मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥ २८ ॥

किरातरूपधारी शिव बोले—मैंने अपने धनुषद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे पहले ही इसे घायल कर दिया था । मेरे ही बाणोंकी चोट खाकर यह सदाके लिये सो रहा है और यमलोकमें पहुँच गया ॥ २८ ॥

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद् व्यपरोपितः ॥ २९ ॥

मैंने ही पहले इसे अपने बाणोंका निशाना बनाया, अतः तुमसे पहले इसपर मेरा अधिकार स्थापित हो चुका था । मेरे ही तीव्र प्रहारसे इस दानवको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा है ॥ २९ ॥

दोषान् स्वान् नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ३० ॥

मन्दबुद्धे ! तुम अपने बलके घमंडमें आकर अपने दोष दूसरेपर नहीं मढ़ सकते । तुम्हें अपनी शक्तिपर बड़ा गर्व है; अतः अब तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकते ॥

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥ ३१ ॥

धैर्यपूर्वक सामने खड़े रहो, मैं वज्रके समान भयानक बाण छोड़ूँगा । तुम भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीतनेका प्रयास करो । मेरे ऊपर अपने बाण छोड़ो ॥ ३१ ॥

अर्जुनकी तपस्या

अर्जुनका किरातवेषधारी भगवान् शिवपर बाण चलाना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥ ३२ ॥

किरातकी वह बात सुनकर उस समय अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने बाणोंसे उसपर प्रहार आरम्भ किया ॥

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयो भूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ॥ ३३ ॥
प्रहरस्व शरानेतान् नाराचान् मर्मभेदिनः ।

तब किरातने प्रसन्न चित्तसे अर्जुनके छोड़े हुए सभी बाणोंको पकड़ लिया और कहा—'ओ मूर्ख ! और बाण मार और बाण मार, इन मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार कर' ॥३३½॥

इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ॥ ३४ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अर्जुनने सहसा बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ३४ ॥

ततस्तौ तत्र संरब्धौ राजमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वे दोनों क्रोधमें भरकर बारंबार सर्पाकार बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे । उस समय उन दोनोंकी बड़ी शोभा होने लगी ॥ ३५ ॥

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत् प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने किरातपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की; परंतु भगवान् शङ्करने प्रसन्नचित्तसे उन सब बाणोंको ग्रहण कर लिया ॥ ३६ ॥

मुहूर्तं शरवर्षं तत् प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ३७ ॥

पिनाकधारी शिव दो ही घड़ीमें सारी बाणवर्षाको अपनेमें लीन करके पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे । उनके शरीरपर तनिक भी चोट या क्षति नहीं पहुँची थी ॥ ३७ ॥

स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनंजयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ३८ ॥

अपनी की हुई सारी बाणवर्षा व्यर्थ हुई देख धनंजयको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे किरातको साधुवाद देने लगे और बोले—॥ ३८ ॥

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।
गाण्डीवमुक्तान् नाराचान् प्रतिगृह्णात्यविह्वलः॥ ३९ ॥

'अहो ! हिमालयके शिखरपर निवास करनेवाले इस किरातके अङ्ग तो बड़े सुकुमार हैं, तो भी यह गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंको ग्रहण कर लेता है और तनिक भी व्याकुल नहीं होता ॥ ३९ ॥

कोऽयं देवो भवेत् साक्षाद् रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥ ४० ॥

'यह कौन है ? साक्षात् भगवान् रुद्रदेव, यक्ष, देवता अथवा असुर तो नहीं है ! इस श्रेष्ठ पर्वतपर देवताओंका आना-जाना होता रहता है ॥ ४० ॥

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥ ४१ ॥

'मैंने सहस्रों बार जिन बाण-समूहोंकी वृष्टि की है, उनका वेग पिनाकधारी भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कोई नहीं सह सकता ॥ ४१ ॥

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ४२ ॥

'यदि यह रुद्रदेवसे भिन्न व्यक्ति है तो यह देवता हो या यक्ष—मैं इसे तीखे बाणोंसे मारकर अभी यमलोक भेजता हूँ' ॥ ४२ ॥

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान् मर्मभेदिनः ।
व्यसृजच्छतधा राजन् मयूखानिव भास्करः ॥ ४३ ॥

राजन् ! यह सोचकर प्रसन्नचित्त अर्जुनने सहस्रों किरणोंको फैलानेवाले भगवान् भास्करकी भाँति सैकड़ों मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार किया ॥ ४३ ॥

तान् प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः ।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ॥ ४४ ॥

परंतु त्रिशूलधारी भूतभावन भगवान् भवने हर्षभरे हृदयसे उन सब नाराचोंको उसी प्रकार आत्मसात् कर लिया, जैसे पर्वत पत्थरोंकी वर्षाको ॥ ४४ ॥

क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।
भीश्चैनमाविशत् तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ४५ ॥

उस समय एक ही क्षणमें अर्जुनके सारे बाण समाप्त हो चले। उन बाणोंका इस प्रकार विनाश देखकर उनके मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ४५ ॥

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम्।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ॥ ४६ ॥

विजयी अर्जुनने उस समय भगवान् अग्निदेवका चिन्तन किया, जिन्होंने खाण्डववनमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें दो अक्षय तूणीर प्रदान किये थे ॥ ४६ ॥

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान् ग्रसति सर्वशः ॥ ४७ ॥
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम्।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ४८ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे, 'मेरे सारे बाण नष्ट हो गये, अब मैं धनुषसे क्या चलाऊँगा। यह कोई अद्भुत पुरुष है, जो मेरे सारे बाणोंको खाये जा रहा है। अच्छा, अब मैं शूलके अग्रभागसे घायल किये जानेवाले हाथीकी भाँति इसे धनुषकी कोटि (नोक) से मारकर दण्डधारी यमराजके लोकमें पहुँचा देता हूँ' ॥ ४७-४८ ॥

प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनावकृष्य च।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥ ४९ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी अर्जुनने किरातको अपने धनुषकी कोटिसे पकड़कर उसकी प्रत्यञ्चामें उसके शरीरको फँसाकर खींचा और वज्रके समान दुःसह मुष्टिप्रहारसे पीडित करना प्रारम्भ किया ॥ ४९ ॥

सम्प्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥ ५० ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनने जब धनुषकी कोटिसे प्रहार किया, तब उस पर्वतीय किरातने अर्जुनके उस दिव्य धनुषको भी अपनेमें लीन कर लिया ॥

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत।
युद्धस्यान्तमभीप्सन् वै वेगेनाभिजगाम तम् ॥ ५१ ॥

तदनन्तर धनुषके ग्रस्त हो जानेपर अर्जुन हाथमें तलवार लेकर खड़े हो गये और युद्धका अन्त कर देनेकी इच्छासे वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥ ५२ ॥

उनकी वह तलवार पर्वतोंपर भी कुण्ठित नहीं होती थी। कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाओंकी पूरी शक्ति लगाकर किरातके मस्तकपर उस तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे वार किया ॥ ५२ ॥

तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥ ५३ ॥

परंतु उसके मस्तकसे टकराते ही वह उत्तम तलवार टूक-टूक हो गयी। तब अर्जुनने वृक्षों और शिलाओंसे युद्ध करना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

तदा वृक्षान् महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥ ५४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन् मुखे।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥ ५५ ॥

तब विशालकाय किरातरूपी भगवान् शंकरने उन वृक्षों और शिलाओंको भी ग्रहण कर लिया। यह देखकर महाबली कुन्तीकुमार अपने वज्रतुल्य मुक्कोंसे दुर्धर्ष किरात सदृश रूपवाले भगवान् शिवपर प्रहार करने लगे। उस समय क्रोधके आवेशसे अर्जुनके मुखसे धूम प्रकट हो रहा था ॥ ५४-५५ ॥

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः।
किरातरूपी भगवानर्दयामास फाल्गुनम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर किरातरूपी भगवान् शिव भी अत्यन्त दारुण और इन्द्रके वज्रके समान दुःसह मुक्कोंसे मारकर अर्जुनको पीड़ा देने लगे ॥ ५६ ॥

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥ ५७ ॥

फिर तो घमासान युद्धमें लगे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा किरातरूपी शिवके मुक्कोंका एक दूसरेके शरीरपर प्रहार होनेसे बड़ा भयंकर 'चट-चट' शब्द होने लगा ॥ ५७ ॥

सुमुहूर्तं तु तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ५८ ॥

वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनोंका वह रोमाञ्चकारी बाहुयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ॥ ५८ ॥

जघानाथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली।
पाण्डवं च विचेष्टं तं किरातोऽप्यहनद् बली ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् बलवान् वीर अर्जुनने अपनी छातीसे किरातको बड़े जोरसे मारा, तब महाबली किरातने भी विपरीत चेष्टा करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनपर आघात किया ॥ ५९ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषात् संघर्षेणोरसोस्तथा।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ६० ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके टकराने और वक्षःस्थलोंके संघर्षसे उनके अङ्गोंमें धूम और चिनगारियोंके साथ आग प्रकट हो जाती थी ॥ ६० ॥

तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम्।
तेजसा व्यक्रमद् रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर महादेवजीने अपने अङ्गोंसे दबाकर अर्जुनको अच्छी तरह पीड़ा दी और उनके चित्तको मूर्च्छित-सा करते

हुए उन्होंने तेज तथा रोषसे उनके ऊपर अपना पराक्रम प्रकट किया ॥ ६१ ॥

ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाबभौ ।
फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥ ६२ ॥

भारत ! तदनन्तर देवाधिदेव महादेवजीके अङ्गोंसे अवरुद्ध हो अर्जुन अपने पीड़ित अवयवोंके साथ मिट्टीके लौंदे-से दिखायी देने लगे ॥ ६२ ॥

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।
पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत् ॥ ६३ ॥

महात्मा भगवान् शंकरके द्वारा भलीभाँति नियन्त्रित हो जानेके कारण अर्जुनकी श्वासक्रिया बंद हो गयी । वे निष्प्राणकी भाँति चेष्टाहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६३ ॥

स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ।
रुधिरेणाप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ॥ ६४ ॥

दो घड़ीतक उसी अवस्थामें पड़े रहनेके पश्चात् जब अर्जुनको चेत हुआ, तब वे उठकर खड़े हो गये । उस समय उनका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था और वे बहुत दुखी हो गये थे ॥ ६४ ॥

शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद् भवम्॥ ६५ ॥

तब वे शरणागतवत्सल पिनाकधारी भगवान् शिवकी शरणमें गये और मिट्टीकी वेदी बनाकर उसीपर पार्थिव शिवकी स्थापना करके पुष्पमालाके द्वारा उनका पूजन किया ॥

तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम् ।
अपश्यत् पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ॥ ६६ ॥

कुन्तीकुमारने जो माला पार्थिव शिवपर चढ़ायी थी, वह उन्हें किरातके मस्तकपर पड़ी दिखायी दी । यह देखकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन हर्षसे उल्लसित हो अपने आपेमें आ गये ॥

पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद् भवः ।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ।
जातविस्मयमालोक्य तपःक्षीणाङ्गसंहतिम् ॥ ६७ ॥

और किरातरूपी भगवान् शंकरके चरणोंमें गिर पड़े । उस समय तपस्याके कारण उनके समस्त अवयव क्षीण हो रहे थे और वे महान् आश्चर्यमें पड़ गये थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर सर्वपापहारी भगवान् भव उनपर बहुत प्रसन्न हुए और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले ॥ ६७ ॥

भव उवाच

भो भोः फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥ ६८ ॥

भगवान् शिवने कहा—फाल्गुन ! मैं तुम्हारे इस अनुपम पराक्रम, शौर्य और धैर्यसे बहुत संतुष्ट हूँ । तुम्हारे समान दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं है ॥ ६८ ॥

समं तेजश्च वीर्यं च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ॥ ६९ ॥

अनघ ! तुम्हारा तेज और पराक्रम आज मेरे समान सिद्ध हुआ है । महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । मेरी ओर देखो ॥ ६९ ॥

ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान् दिवौकसः ॥ ७० ॥

विशाललोचन ! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ । तुम पहलेके 'नर' नामक ऋषि हो । तुम युद्धमें अपने शत्रुओंपर, वे चाहे सम्पूर्ण देवता ही क्यों न हों, विजय पाओगे ॥ ७० ॥

प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥ ७१ ॥

मैं तुम्हारे प्रेमवश तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दूँगा, जिसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । तुम क्षणभरमें मेरे उस अस्त्रको धारण करनेमें समर्थ हो जाओगे ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनने शूलपाणि महातेजस्वी महादेवजीका देवी पार्वतीसहित दर्शन किया ॥ ७२ ॥

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरंजयः ॥ ७३ ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमारने उनके आगे पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और सिरसे प्रणाम करके शिवजीको प्रसन्न किया ॥ ७३ ॥

अर्जुन उवाच

कपर्दिन् सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर ॥ ७४ ॥

अर्जुन बोले—जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर देवदेव महादेव ! आप भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले हैं । आपकी ग्रीवामें नील चिह्न शोभा पा रहा है । आप अपने मस्तकपर सुन्दर जटा धारण करते हैं ॥ ७४ ॥

कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ॥ ७५ ॥

प्रभो ! मैं आपको समस्त कारणोंमें सर्वश्रेष्ठ कारण मानता हूँ । आप त्रिनेत्रधारी तथा सर्वव्यापी हैं । सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हैं । देव ! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७५ ॥

अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः ।
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ॥ ७६ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी आपको पराजित नहीं कर सकते । आप ही विष्णुरूप शिव तथा शिवस्वरूप विष्णु हैं, आपको नमस्कार है ॥ ७६ ॥

दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः ।
ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ॥ ७७ ॥

दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले हरिहररूप आप भगवान्‌को नमस्कार है । आपके ललाटमें तृतीय नेत्र शोभा पाता है । आप जगत्‌का संहारक होनेके कारण शर्व कहलाते हैं । भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंकी वर्षा करनेके कारण आपका नाम मीढ्वान् (वर्षणशील) है । अपने हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ७७ ॥

पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मङ्गल्याय च वेधसे ।
प्रसादये त्वां भगवान् सर्वभूतमहेश्वर ॥ ७८ ॥

पिनाकरक्षक, सूर्यस्वरूप, मङ्गलकारक और सृष्टिकर्ता आप परमेश्वरको नमस्कार है । भगवन् ! सर्वभूतमहेश्वर ! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ ७८ ॥

गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् ।
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ॥ ७९ ॥

आप भूतगणोंके स्वामी, सम्पूर्ण जगत्‌का कल्याण करनेवाले तथा जगत्‌के कारणके भी कारण हैं । प्रकृति और पुरुष दोनोंसे परे अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप तथा भक्तोंके पापोंको हरनेवाले हैं ॥

व्यतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हसि शंकर ।
भगवन् दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ॥ ८० ॥

कल्याणकारी भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा कीजिये । भगवन् ! मैं आपहीके दर्शनकी इच्छा लेकर इस महान् पर्वतपर आया हूँ ॥ ८० ॥

दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम् ।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ८१ ॥

देवेश्वर ! यह शैल-शिखर तपस्वियोंका उत्तम आश्रय तथा आपका प्रिय निवासस्थान है । प्रभो ! सम्पूर्ण जगत् आपके चरणोंमें वन्दना करता है । मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ८१ ॥

न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात् ।
कृतो मयायमज्ञानाद् विमर्दो यस्त्वया सह ।
शरणं प्रतिपन्नाय तत् क्षमस्वाद्य शंकर ॥ ८२ ॥

महादेव ! अत्यन्त साहसवश मैंने जो आपके साथ यह युद्ध किया है, इसमें मेरा अपराध नहीं है । यह अनजानमें मुझसे बन गया है । शङ्कर ! मैं अब आपकी शरणमें आया हूँ । आप मेरी उस धृष्टताको क्षमा करें ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! तब महातेजस्वी भगवान् वृषभध्वजने अर्जुनका सुन्दर हाथ पकड़कर उनसे हँसते हुए कहा—'मैंने तुम्हारा अपराध पहलेसे ही क्षमा कर दिया' ॥ ८३ ॥

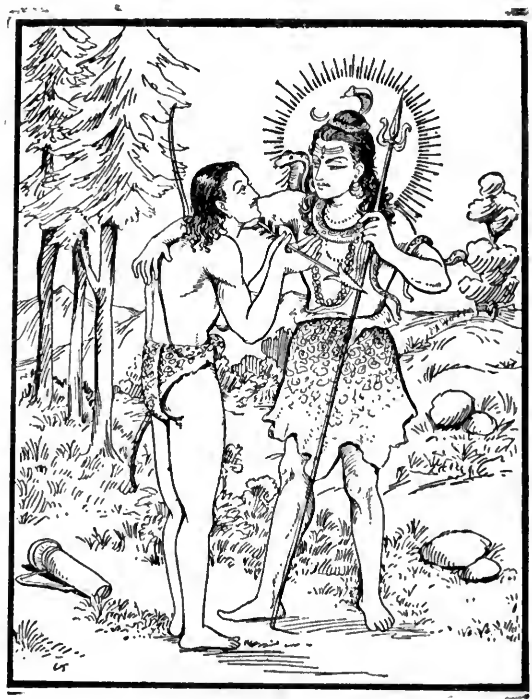

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान् हरः ।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥ ८४ ॥

फिर उन्हें दोनों भुजाओंसे खींचकर हृदयसे लगाया और प्रसन्नचित्त हो वृषके चिह्नसे अङ्कितध्वजा धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने पुनः कुन्तीकुमारको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महादेवजीकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाला उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शङ्करका अर्जुनको वरदान देकर अपने धामको प्रस्थान

देवदेव उवाच

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून् ॥ १ ॥

देवदेव महादेवजी बोले—अर्जुन ! तुम पूर्वशरीरमें 'नर' नामक सुप्रसिद्ध ऋषि थे। नारायण तुम्हारे सखा हैं। तुमने बदरिकाश्रममें अनेक सहस्र वर्षोंतक उग्र तपस्या की है ॥ १ ॥

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ॥ २ ॥

तुममें अथवा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुमें उत्कृष्ट तेज है। तुम दोनों पुरुषरत्नोंने अपने तेजसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है ॥ २ ॥

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥ ३ ॥

प्रभो ! तुमने और श्रीकृष्णने इन्द्रके अभिषेकके समय मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले महान् धनुषको हाथमें लेकर बहुत-से दानवोंका वध किया था ॥ ३ ॥

तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम् ।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर पार्थ ! तुम्हारे हाथमें रहनेयोग्य यही वह गाण्डीव धनुष है, जिसे मैंने मायाका आश्रय लेकर अपनेमें विलीन कर लिया था ॥ ४ ॥

तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! और ये रहे तुम्हारे दोनों अक्षय तूणीर, जो सर्वथा तुम्हारे ही योग्य हैं। कुन्तीकुमार ! तुम्हारे शरीरमें जो चोट पहुँची है, वह सब दूर होकर तुम नीरोग हो जाओगे ॥ ५ ॥

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम ॥ ६ ॥

पार्थ ! तुम्हारा पराक्रम यथार्थ है, इसलिये मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । पुरुषोत्तम ! तुम मुझसे मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो ॥ ६ ॥

न त्वया पुरुषः कश्चित् पुमान् मर्त्येषु मानद ।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिंदम ॥ ७ ॥

मानद ! मर्त्यलोक अथवा स्वर्गलोकमें भी कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं है । शत्रुदमन ! क्षत्रिय-जातिमें तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद् घोरं पाशुपतं प्रभो ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! वृषध्वज ! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे इच्छानुसार वर देते हैं तो प्रभो ! मैं उस भयंकर दिव्यास्त्र पाशुपतको प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥ ९ ॥

जिसका नाम ब्रह्मशिर है, आप भगवान् रुद्र ही जिसके देवता हैं, जो भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाला तथा दारुण प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्का संहारक है ॥ ९ ॥

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः ।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान् यथा युधि ॥ १० ॥

महादेव ! कर्ण, भीष्म, कृप, द्रोणाचार्य आदिके साथ मेरा महान् युद्ध होनेवाला है, उस युद्धमें मैं आपकी कृपासे उन सबपर विजय पा सकूँ, इसीके लिये दिव्यास्त्र चाहता हूँ ॥ १० ॥

दहेयं येन संग्रामे दानवान् राक्षसांस्तथा ।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥ ११ ॥
यस्मिञ्छूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाशीविषाकाराः सम्भवन्त्यनुमन्त्रिते ॥ १२ ॥

मुझे वह अस्त्र प्रदान कीजिये, जिससे संग्राममें दानवों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों, गन्धर्वों तथा नागोंको भस्म कर सकूँ । जिस अस्त्रके अभिमन्त्रित करते ही सहस्रों शूल, देखनेमें भयंकर गदाएँ और विषैले सर्पोंके समान बाण प्रकट हों ।११-१२।

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥ १३ ॥

उस अस्त्रको पाकर मैं भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा सदा कटु भाषण करनेवाले सूतपुत्र कर्णके साथ भी युद्धमें लड़ सकूँ ॥ १३ ॥

एष मे प्रथमः कामो भगवन् भगनेत्रहन् ।
त्वत्प्रसादाद् विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥ १४ ॥

भगदेवताकी आँखें नष्ट करनेवाले भगवन् ! आपके समक्ष यह मेरा सबसे पहला मनोरथ है, जो आपहीके कृपा-प्रसादसे पूर्ण हो सकता है । आप ऐसा करें, जिससे मैं सर्वथा शत्रुओंको परास्त करनेमें समर्थ हो सकूँ ॥ १४ ॥

भव उवाच

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव ॥ १५ ॥

महादेवजीने कहा—पराक्रमशाली पाण्डुकुमार ! मैं अपना परम प्रिय पाशुपतास्त्र तुम्हें प्रदान करता हूँ । तुम इसके धारण, प्रयोग और उपसंहारमें समर्थ हो ॥ १५ ॥

नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १६ ॥

इसे देवराज इन्द्र, यम, यक्षराज कुबेर, वरुण अथवा वायुदेवता भी नहीं जानते । फिर साधारण मानव तो जान ही कैसे सकेंगे ? ॥ १६ ॥

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥ १७ ॥

परंतु कुन्तीकुमार ! तुम सहसा किसी पुरुषपर इसका प्रयोग न करना । यदि किसी अल्पशक्ति योद्धापर इसका प्रयोग किया गया तो यह सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगा ॥

अवध्यो नाम नास्त्यत्र त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ॥ १८ ॥

चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो इस अस्त्रद्वारा मारा न जा सके । इसका प्रयोग करनेवाला पुरुष अपने मानसिक संकल्पसे, दृष्टिसे, वाणीसे तथा धनुष-बाणद्वारा भी शत्रुओंको नष्ट कर सकता है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन तुरंत ही पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो शिष्य-भावसे भगवान् विश्वेश्वरकी शरण गये और बोले—'भगवन् ! मुझे इस पाशुपतास्त्रका उपदेश कीजिये' ॥ १९ ॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ॥ २० ॥
उपतस्थे च तत् पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ २१ ॥

तब भगवान् शिवने रहस्य और उपसंहारसहित पाशुपतास्त्रका उन्हें उपदेश दिया । उस समय वह अस्त्र जैसे पहले त्रिनेत्रधारी उमापति शिवकी सेवामें उपस्थित हुआ था, उसी प्रकार मूर्तिमान् यमराजतुल्य पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके पास आ गया । तब अर्जुनने बहुत प्रसन्न होकर उसे ग्रहण किया ॥ २०-२१ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २२ ॥

अर्जुनके पाशुपतास्त्र ग्रहण करते ही पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, वनस्थली, ग्राम, नगर तथा आकरों (खानों) सहित सारी पृथ्वी काँप उठी ॥ २२ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते निर्घातश्च महानभूत् ॥ २३ ॥

उस शुभ मुहूर्तके आते ही शङ्ख और दुन्दुभियोंके शब्द होने लगे । सहस्रों भेरियाँ बज उठीं । आकाशमें वायुके टकरानेका महान् शब्द होने लगा ॥ २३ ॥

अथास्त्रं जाज्वलद् घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद् वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥ २४ ॥

तदनन्तर वह भयंकर अस्त्र मूर्तिमान् हो अग्निके समान प्रज्वलित तेजस्वी रूपसे अमित पराक्रमी पाण्डुनन्दन अर्जुनके पार्श्वभागमें खड़ा हो गया । यह बात देवताओं और दानवोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २४ ॥

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाथ फाल्गुनस्यामितौजसः ।
यत् किंचिदशुभं देहे तत् सर्वं नाशमीयिवत् ॥ २५ ॥

भगवान् शङ्करके स्पर्श करनेसे अमिततेजस्वी अर्जुनके शरीरमें जो कुछ भी अशुभ था, वह नष्ट हो गया ॥ २५ ॥

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदार्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २६ ॥

उस समय भगवान् त्रिलोचनने अर्जुनको यह आज्ञा दी कि 'तुम स्वर्गलोकको जाओ ।' राजन् ! तब अर्जुनने भगवान्के चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखने लगे ॥ २६ ॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी
महामतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद् दितिजपिशाचसूदनं
ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् देवताओंके स्वामी, जितेन्द्रिय एवं परम बुद्धिमान् कैलासवासी उमावल्लभ भगवान् शिवने पुरुषप्रवर अर्जुनको वह महान् गाण्डीव-धनुष दे दिया, जो दैत्यों और पिशाचोंका संहार करनेवाला था ॥ २७ ॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा
सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं
जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यत ॥ २८ ॥

जिसके तट, शिखर और कन्दराएँ हिमाच्छादित होनेके कारण श्वेत दिखायी देती हैं, पक्षी और महर्षिगण सदा जिसका सेवन करते हैं, उस मङ्गलमय गिरिश्रेष्ठ इन्द्रकीलको छोड़कर भगवान् शङ्कर भगवती उमादेवीके साथ अर्जुनके देखते-देखते आकाशमार्गसे चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें शिवप्रस्थानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनके पास दिक्पालोंका आगमन एवं उन्हें दिव्यास्त्र-प्रदान तथा इन्द्रका उन्हें स्वर्गमें चलनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्य सम्पश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमीयिवान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके देखते-देखते पिनाकधारी भगवान् वृषभध्वज अदृश्य हो गये मानो भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अस्त हो गये हों॥ १॥

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत॥ २॥

भारत! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मुझे महादेवजीका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ है॥ २॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना॥ ३॥

मैं धन्य हूँ! भगवान्‌का मुझपर बड़ा अनुग्रह है कि त्रिनेत्रधारी, सर्वपापहारी एवं अभीष्ट वर देनेवाले पिनाकपाणि भगवान् शंकरने मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दिया और अपने करकमलोंसे मेरे अङ्गोंका स्पर्श किया॥ ३॥

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमाहवे।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तं च प्रयोजनम्॥ ४॥

आज मैं अपने-आपको परम कृतार्थ मानता हूँ, साथ ही यह विश्वास करता हूँ कि महासमरमें अपने समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा। अब मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो गया॥ ४॥

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन् सर्वतो दिशः।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः॥ ५॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए अमिततेजस्वी कुन्ती-कुमार अर्जुनके पास जलके स्वामी श्रीमान् वरुणदेव जल-जन्तुओंसे घिरे हुए आ पहुँचे। उनकी अङ्गकान्ति वैदूर्य मणिके समान थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे॥ ५॥

नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत्॥ ६॥

नागों, नद और नदियोंके देवताओं, दैत्यों तथा साध्यदेवताओंके साथ जलजन्तुओंके स्वामी जितेन्द्रिय वरुणदेवने उस स्थानको अपने शुभागमनसे सुशोभित किया॥ ६॥

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः॥ ७॥

तदनन्तर स्वर्णके समान शरीरवाले भगवान् कुबेर महा-तेजस्वी विमानद्वारा वहाँ आये। उनके साथ बहुत-से यक्ष भी थे॥ ७॥

विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः॥ ८॥

वे अपने तेजसे आकाशमण्डलको प्रकाशित-से कर रहे थे। उनका दर्शन अद्भुत एवं अनुपम था। परम सुन्दर श्रीमान् धनाध्यक्ष कुबेर अर्जुनको देखनेके लिये वहाँ पधारे थे॥ ८॥

तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान् यमः साक्षात् प्रतापवान्।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः॥ ९॥

इसी प्रकार समस्त जगत्‌का अन्त करनेवाले श्रीमान् प्रतापी यमराजने प्रत्यक्षरूपमें वहाँ दर्शन दिया। उनके साथ मानव-शरीरधारी विश्वभावन पितृगण भी थे॥ ९॥

दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत्।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन्॥ १०॥
त्रीँल्लोकान् गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान्।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते॥ ११॥

उनके हाथमें दण्ड शोभा पा रहा था। सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले अचिन्त्यात्मा सूर्यपुत्र धर्मराज अपने (तेजस्वी) विमानसे तीनों लोकों, गुह्यकों, गन्धर्वों तथा नागोंको प्रकाशित कर रहे थे। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर दिखायी देनेवाले द्वितीय सूर्यकी भाँति उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी॥ १०-११॥

ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः।
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम्॥ १२॥

उन सब देवताओंने उस महापर्वतके विचित्र एवं तेजस्वी शिखरोंपर पहुँचकर वहाँ तपस्वी अर्जुनको देखा॥ १२॥

ततो मुहूर्ताद् भगवानैरावतशिरोगतः।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः॥ १३॥

तत्पश्चात् दो ही घड़ीके बाद भगवान् इन्द्र इन्द्राणीके साथ ऐरावतकी पीठपर बैठकर वहाँ आये। देवताओंके समुदायने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था॥ १३॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिव स्थितः॥ १४॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे शुभ्र वर्णके मेघखण्डसे आच्छादित चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे। बहुत-से तपस्वी-ऋषि तथा गन्धर्वगण उनकी स्तुति करते थे। वे उस पर्वतके शिखरपर आकर ठहर गये, मानो वहाँ सूर्य प्रकट हो गये हों ॥ १४-१५ ॥

अथ मेघस्वनो धीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १६ ॥

तदनन्तर मेघके समान गम्भीर स्वरवाले परम धर्मज्ञ एवं बुद्धिमान् यमराज दक्षिण दिशामें स्थित हो यह शुभ वचन बोले—॥ १६ ॥

अर्जुनार्जुन पश्यास्माँल्लोकपालान् समागतान् ।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ॥ १७ ॥
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ॥ १८ ॥

अर्जुन ! हम सब लोकपाल यहाँ आये हुए हैं। तुम हमें देखो। हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं। तुम हमारे दर्शनके अधिकारी हो। तुम महामना एवं महाबली पुरातन महर्षि नर हो। तात ! ब्रह्माजीकी आज्ञासे तुमने मानव-शरीर ग्रहण किया है ॥ १७-१८ ॥

त्वया च वसुसम्भूतो महावीर्यः पितामहः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ॥ १९ ॥
क्षत्रं चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ॥ २० ॥
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ।
पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ॥ २१ ॥
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनंजय ।

'अनघ ! वसुओंके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी और परम धर्मात्मा पितामह भीष्मको तुम संग्राममें जीत लोगे। भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित क्षत्रियसमुदाय भी, जिसका स्पर्श अग्निके समान भयंकर है, तुम्हारेद्वारा पराजित होगा। कुरुनन्दन ! मानव-शरीरमें उत्पन्न हुए महाबली दानव तथा निवातकवच नामक दैत्य भी तुम्हारे हाथसे मारे जायँगे। धनंजय ! सम्पूर्ण जगत्को उष्णता प्रदान करनेवाले मेरे पिता भगवान् सूर्यदेवके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी कर्ण भी तुम्हारा वध्य होगा ॥ १९—२१½ ॥

अंशाश्च क्षितिसम्प्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ॥ २२ ॥
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथास्वमरिकर्षण ॥ २३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार ! देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंके जो अंश पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं, वे युद्धमें तुम्हारेद्वारा मारे जाकर अपने कर्मफलके अनुसार यथोचित गति प्राप्त करेंगे ॥ २२-२३ ॥

अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ॥ २४ ॥

'फाल्गुन ! संसारमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। तुमने यहाँ महासमरमें साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया है ॥

लघ्वी वसुमती चापि कर्तव्या विष्णुना सह ।
गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत् त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मिलकर तुम्हें इस पृथ्वीका भार ही हल्का करना है, अतः यह मेरा दण्डास्त्र ग्रहण करो। इसका वेग कहीं भी कुण्ठित नहीं होता। इसी अस्त्रके द्वारा तुम बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करोगे' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिजग्राह तत् पार्थो विधिवत् कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने विधिपूर्वक मन्त्र, उपचार, प्रयोग और उपसंहारसहित उस अस्त्रको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन् प्रभुः ॥ २७ ॥

इसके बाद जलजन्तुओंके स्वामी मेघके समान श्याम-कान्तिवाले प्रभावशाली वरुण पश्चिम दिशामें खड़े हो इस प्रकार बोले—॥ २७ ॥

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २८ ॥

'पार्थ ! तुम क्षत्रियोंमें प्रधान एवं क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो। विशाल तथा लाल नेत्रोंवाले अर्जुन ! मेरी ओर देखो। मैं जलका स्वामी वरुण हूँ ॥ २८ ॥

मया समुद्यतान् पाशान् वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनम् ॥ २९ ॥

'कुन्तीकुमार ! मेरे दिये हुए इन वरुण-पाशोंको रहस्य और उपसंहारसहित ग्रहण करो। इनके वेगको कोई भी रोक नहीं सकता ॥ २९ ॥

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ ३० ॥

'वीर ! मैंने इन पाशोंद्वारा तारकामय संग्राममें सहस्रों महाकाय दैत्योंको बाँध लिया था ॥ ३० ॥

तस्मादिमान् महासत्त्व मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ ३१ ॥

'अतः महाबली पार्थ ! मेरे कृपाप्रसादसे प्रकट हुए इन पाशोंको तुम ग्रहण करो। इनके द्वारा आक्रमण करनेपर मृत्यु भी तुम्हारे हाथसे नहीं छूट सकती ॥ ३१ ॥

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३२ ॥

'इस अस्त्रके द्वारा जब तुम संग्रामभूमिमें विचरण करोगे, उस समय यह सारी वसुन्धरा क्षत्रियोंसे शून्य हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३३ ॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वरुण और यमके दिव्यास्त्र प्रदान कर चुकनेपर कैलासनिवासी धनाध्यक्ष कुबेरने कहा—'महाबली बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन ! मैं भी तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अपराजित वीर हो। तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ३३-३४ ॥

सव्यसाचिन् महाबाहो पूर्वदेव सनातन ।
सहास्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥ ३५ ॥
दर्शनात् ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ ।
अमनुष्यान् महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ॥ ३६ ॥

'सव्यसाचिन्! महाबाहो! पुरातन देव! सनातन पुरुष! पूर्वकल्पोंमें मेरे साथ तुमने सदा तपके द्वारा परिश्रम उठाया है। नरश्रेष्ठ ! आज तुम्हें देखकर यह दिव्यास्त्र प्रदान करता हूँ। महाबाहो ! इसके द्वारा तुम दुर्जय मानवेतर प्राणियोंको भी जीत लोगे ॥ ३५-३६ ॥

मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम् ।
अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥ ३७ ॥

'तुम मुझसे शीघ्र ही इस अत्युत्तम अस्त्रको ग्रहण कर लो। तुम इसके द्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालोगे ॥ ३७ ॥

तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥ ३८ ॥

'यह मेरा परम प्रिय अन्तर्धान नामक अस्त्र है। इसे ग्रहण करो। यह ओज, तेज और कान्ति प्रदान करनेवाला, शत्रुसेनाको सुला देनेवाला और समस्त वैरियोंका विनाश करनेवाला है ॥ ३८ ॥

महात्मना शङ्करेण त्रिपुरं निहतं यदा ।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥ ३९ ॥

'परमात्मा शङ्करने जब त्रिपुरासुरके तीनों नगरोंका विनाश किया था, उस समय इस अस्त्रका उनके द्वारा प्रयोग किया गया था; जिससे बड़े-बड़े असुर दग्ध हो गये थे ॥ ३९ ॥

त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम ।
त्वमर्हो धारणे चास्य मेरुप्रतिमगौरव ॥ ४० ॥

'सत्यपराक्रमी और मेरुके समान गौरवशाली पार्थ ! तुम्हारे लिये यह अस्त्र मैंने उपस्थित किया है। तुम इसे धारण करनेके योग्य हो' ॥ ४० ॥

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत् कुरुनन्दनः ।
कौबेरमधिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ४१ ॥

तब कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु महाबली अर्जुनने कुबेरके उस 'अन्तर्धान' नामक दिव्य अस्त्रको ग्रहण किया ॥ ४१ ॥

ततोऽब्रवीद् देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिःस्वनः॥ ४२ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनको मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरसे कहा ॥४२॥

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद् देवगतिं गतः ॥ ४३ ॥

'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम पुरातन शासक हो। तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है। तुम साक्षात् देवगतिको प्राप्त हुए हो ॥ ४३ ॥

देवकार्यं तु सुमहत् त्वया कार्यमरिंदम ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥ ४४ ॥

'शत्रुदमन ! तुम्हें देवताओंका बड़ा भारी कार्य सिद्ध करना है। महाद्युते ! तैयार हो जाओ। तुम्हें स्वर्गलोकमें चलना है ॥ ४४ ॥

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥ ४५ ॥

'मातलिके द्वारा जोता हुआ दिव्य रथ तुम्हें लेनेके लिये पृथ्वीपर आनेवाला है। कुरुनन्दन ! वहीं (स्वर्गमें) मैं तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा' ॥ ४५ ॥

तान् दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान् गिरिमूर्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४६ ॥

उस पर्वतशिखरपर एकत्र हुए उन सभी लोकपालोंका दर्शन करके परम बुद्धिमान् धनंजयको बड़ा विस्मय हुआ ॥

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान् समागतान्।
पूजयामास विधिवद् वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी अर्जुनने वहाँ पधारे हुए लोकपालोंका मीठे वचन, जल और फलोंके द्वारा भी विधिपूर्वक पूजन किया ॥

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनंजयम्।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४८ ॥

इसके बाद इच्छानुसार मनके समान वेगवाले समस्त देवता अर्जुनके प्रति सम्मान प्रकट करके जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ ४८ ॥

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥ ४९ ॥

तदनन्तर देवताओंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके पुरुषोत्तम अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने अपने-आपको कृतार्थ एवं पूर्णमनोरथ माना ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थाने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें देवप्रस्थानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका हिमालयसे विदा होकर मातलिके साथ स्वर्गलोकको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! लोकपालोंके चले जानेपर शत्रुसंहारक अर्जुनने देवराज इन्द्रके रथका चिन्तन किया ॥ १ ॥

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥

निद्राविजयी बुद्धिमान् पार्थके चिन्तन करते ही मातलि-सहित महातेजस्वी रथ वहाँ आ गया ॥ २ ॥

नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान् पाटयन्निव।
दिशः सम्पूरयन् नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥

वह रथ आकाशको अन्धकारशून्य मेघोंकी घटाको विदीर्ण और महान् मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्दसे दिशाओंको परिपूर्ण-सा कर रहा था ॥ ३ ॥

असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥
तथैवाशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ॥ ५ ॥

उस रथमें तलवार, भयंकर शक्ति, उग्र गदा, दिव्य प्रभावशाली प्रास, अत्यन्त कान्तिमती विद्युत्, अशनि एवं चक्रयुक्त भारी वजनवाले प्रस्तरके गोले रखे हुए थे, जो चलाते समय हवामें सनसनाहट पैदा करते थे तथा जिनसे वज्रगर्जन और महामेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान शब्द होते थे ॥ ४-५ ॥

तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥ ६ ॥

उस स्थानमें अत्यन्त भयंकर तथा प्रज्वलित मुखवाले विशालकाय सर्प मौजूद थे। श्वेत बादलोंके समूहकी भाँति ढेर-के-ढेर युद्धमें फेंकने योग्य पत्थर भी रखे हुए थे ॥ ६ ॥

दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम्।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥ ७ ॥

वायुके समान वेगशाली दस हजार श्वेत-पीत रंगवाले घोड़े नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करनेवाले उस दिव्य मायामय रथको वहन करते थे ॥ ७ ॥

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम्।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने उस रथपर अत्यन्त नीलवर्णवाले महातेजस्वी 'वैजयन्त' नामक इन्द्रध्वजको फहराता देखा। उसकी श्याम सुषमा नील कमलकी शोभाको तिरस्कृत कर रही थी। उस ध्वजके दण्डमें सुवर्ण मढ़ा हुआ था ॥ ८ ॥

तस्मिन् रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम्।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ॥ ९ ॥

महाबाहु कुन्तीकुमारने उस रथपर बैठे हुए सारथिकी ओर देखा, जो तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित था। उसे देखकर उन्होंने कोई देवता ही समझा ॥ ९ ॥

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः।
संनतः प्रस्थितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ १० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए अर्जुनके सम्मुख उपस्थित हो मातलिने विनीतभावसे कहा ॥ १० ॥

मातलिरुवाच

भो भोः शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ॥ ११ ॥

मातलि बोला—इन्द्रकुमार ! श्रीमान् देवराज इन्द्र आपको देखना चाहते हैं। यह उनका प्रिय रथ है। आप इसपर शीघ्र आरूढ़ होइये ॥ ११ ॥

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥
एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥

आपके पिता देवेश्वर शतक्रतुने मुझसे कहा है कि 'तुम कुन्तीनन्दन अर्जुनको यहाँ ले आओ, जिससे सब देवता उन्हें देखें।' देवताओं, महर्षियों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे घिरे हुए इन्द्र आपको देखनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥१२-१३॥

अस्माल्लोकाद् देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥

आप देवराजकी आज्ञासे इस लोकसे मेरे साथ देवलोकको चलिये। वहाँसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके लौट आइयेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥

अर्जुनने कहा—मातले ! आप जल्दी चलिये। अपने इस उत्तम रथपर पहले आप चढ़िये। यह सैकड़ों राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १५ ॥

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, महान् सौभाग्यशाली, यज्ञपरायण भूमिपालों, देवताओं अथवा दानवोंके लिये भी इस उत्तम रथपर आरूढ़ होना कठिन है ॥ १६ ॥

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥ १७ ॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे इस महान् दिव्य रथका दर्शन या स्पर्श भी नहीं कर सकते, फिर इसपर आरूढ़ होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥

साधु सारथे ! आप इस रथपर स्थिरतापूर्वक बैठकर जब घोड़ोंको काबूमें कर लें, तब जैसे पुण्यात्मा सन्मार्गपर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार पीछे मैं भी इस रथपर आरूढ़ होऊँगा॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान् येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह वचन सुनकर इन्द्रसारथि मातलि शीघ्र ही रथपर जा बैठा और बागडोर खींचकर घोड़ोंको काबूमें किया ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः ॥ २० ॥

तदनन्तर कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने प्रसन्नमनसे गङ्गामें स्नान किया और पवित्र हो विधिपूर्वक जपने योग्य मन्त्रका जप किया ॥ २० ॥

ततः पितॄन् यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

फिर विधिपूर्वक न्यायोचित रीतिसे पितरोंका तर्पण करके विस्तृत शैलराज हिमालयसे विदा लेनेका उपक्रम किया ॥२१॥

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ॥ २२ ॥

'गिरिराज ! तुम साधु महात्माओं, पुण्यात्मा मुनियों तथा स्वर्गमार्गकी अभिलाषा रखनेवाले पुण्यकर्मा मनुष्योंके सदा शुभ आश्रय हो ॥ २२ ॥

त्वत्प्रसादात् सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥

'गिरिराज ! तुम्हारे कृपाप्रसादसे सदा कितने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्वर्गमें जाकर व्यथारहित हो देवताओंके साथ विचरते हैं ॥ २३ ॥

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयामि त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥ २४ ॥

'अद्रिराज ! महाशैल ! मुनियोंके निवासस्थान ! तीर्थोंसे विभूषित हिमालय ! मैं तुम्हारे शिखरपर सुखपूर्वक रहा हूँ, अतः तुमसे आज्ञा माँगकर यहाँसे जा रहा हूँ ॥ २४ ॥

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥

'तुम्हारे शिखर, कुञ्जवन, नदियाँ, झरने और परम पुण्यमय तीर्थस्थान मैंने अनेक बार देखे हैं ॥ २५ ॥

फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥ २६ ॥
अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।

'यहाँके विभिन्न स्थानोंसे सुगन्धित फल लेकर भोजन किये हैं। तुम्हारे शरीरसे प्रकट हुए परम सुगन्धित प्रचुर जलका सेवन किया है। तुम्हारे झरनेका अमृतके समान स्वादिष्ट जल मैंने प्रतिदिन पान किया है ॥ २६½ ॥

शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ॥ २७ ॥
तथा तवाङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।

'प्रभो नगराज ! जैसे शिशु अपने पिताके अङ्कमें बड़े सुखसे रहता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारी गोदमें आमोद-पूर्वक क्रीड़ाएँ की हैं ॥२७½ ॥

अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥ २८ ॥
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।

'शैलराज ! अप्सराओंसे व्याप्त और वैदिक मन्त्रोंके उच्च घोषसे प्रतिध्वनित तुम्हारे शिखरोंपर मैंने प्रतिदिन बड़े सुखसे निवास किया है' ॥ २८½ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥ २९ ॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन शैल-राजसे आज्ञा माँगकर उस दिव्य रथको देदीप्यमान करते हुए-से उसपर आरूढ़ हो गये, मानो सूर्य सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे हों ॥ २९½ ॥

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान् प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥ ३१ ॥

परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन अर्जुन बड़े प्रसन्न होकर उस अद्भुत चालसे चलनेवाले सूर्यस्वरूप दिव्य रथके द्वारा ऊपरकी ओर जाने लगे। धीरे-धीरे धर्मात्मा मनुष्योंके दृष्टि-पथसे दूर हो गये ॥ ३०-३१ ॥

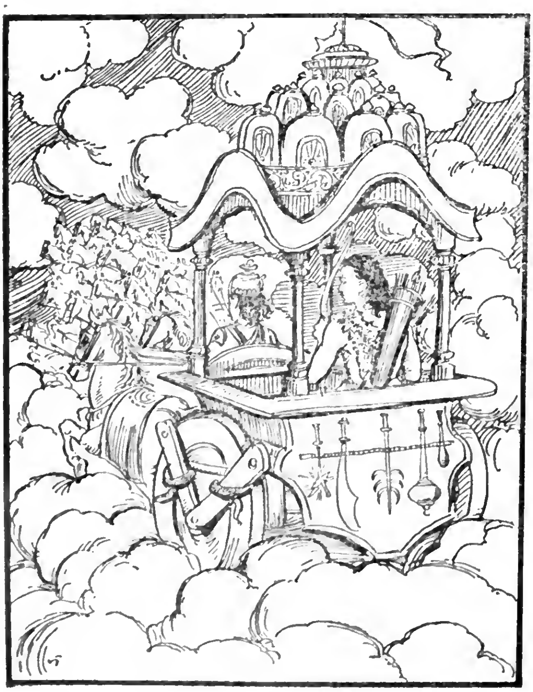

ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥ ३२ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने सहस्रों अद्भुत विमान देखे । वहाँ न सूर्य प्रकाशित होते हैं, न चन्द्रमा । अग्निकी प्रभा भी वहाँ काम नहीं देती है ॥ ३२ ॥

स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥ ३३ ॥
दीपवद् विप्रकृष्टत्वात् तनूनि सुमहान्त्यपि ।
तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्तः स्वयार्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥ ३५ ॥

वहाँ स्वर्गके निवासी अपने पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुई अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होते हैं । यहाँ प्रकाशमान तारोंके रूपमें जो दूर होनेके कारण दीपककी भाँति छोटे और बड़े प्रकाशपुञ्ज दिखायी देते हैं, उन सभी प्रकाशमान स्वरूपोंको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा । जो अपने-अपने अधिष्ठानोंमें अपनी ही ज्योतिसे देदीप्यमान हो रहे थे । उन लोकोंमें वे सिद्ध राजर्षि वीर निवास करते थे, जो युद्धमें प्राण देकर वहाँ पहुँचे थे॥३३–३५॥

तपसा च जितं स्वर्गं सम्पेतुः शतसङ्घशः ।
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥ ३६ ॥
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान् पश्यन् फाल्गुनो विस्मयान्वितः॥३७॥

सैकड़ों झुंड-के-झुंड तपस्वी पुरुष स्वर्गमें जा रहे थे, जिन्होंने तपस्याद्वारा उसपर विजय पायी थी । सूर्यके समान प्रकाशमान सहस्रों गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों तथा अप्सराओं-के समूहोंको और उनके स्वतः प्रकाशित होनेवाले लोकोंको देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ३६-३७ ॥

पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥ ३८ ॥
तान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।

अर्जुनने प्रसन्नतापूर्वक मातलिसे उनके विषयमें पूछा, तब मातलिने उनसे कहा—'कुन्तीकुमार ! ये वे ही पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो अपने-अपने लोकोंमें निवास करते हैं। विभो ! उन्हीं-को भूतलपर आपने तारोंके रूपमें चमकते देखा है' ॥ ३८½ ॥

ततोऽपश्यत् स्थितं द्वारि शुभ्रं वैजयिनं गजम् ॥ ३९ ॥
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥ ४० ॥
व्यरोचत यथापूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अभिचक्राम लोकान् स राज्ञां राजीवलोचनः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर अर्जुनने स्वर्गद्वारपर खड़े हुए सुन्दर विजय

गजराज ऐरावतको देखा, जिसके चार दाँत बाहर निकले हुए थे। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक शिखरोंसे सुशोभित कैलास पर्वत हो। कुरु-पाण्डवशिरोमणि अर्जुन सिद्धोंके मार्गपर आकर वैसे ही शोभा पाने लगे, जैसे पूर्वकालमें भूपालशिरोमणि मान्धाता सुशोभित होते थे। कमलनयन अर्जुनने उन पुण्यात्मा राजाओंके लोकोंमें भ्रमण किया॥ ३९-४१॥

एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम्॥ ४२॥

इस प्रकार महायशस्वी पार्थने स्वर्गलोकमें विचरते हुए आगे जाकर इन्द्रपुरी अमरावतीका दर्शन किया॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा देवराज इन्द्रका दर्शन तथा इन्द्रसभामें उनका स्वागत

वैशम्पायन उवाच

ददर्श स पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम्।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनने सिद्धों और चारणोंसे सेवित उस रम्य अमरावतीपुरीको देखा, जो सभी ऋतुओंके कुसुमोंसे विभूषित पुण्यमय वृक्षोंसे सुशोभित थी॥

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम्।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना॥ २॥

वहाँ सुगन्धयुक्त कमल तथा पवित्र गन्धवाले अन्य पुष्पोंकी पवित्र गन्धसे मिली हुई वायु मानो व्यजन डुला रही थी॥

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम्।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः॥ ३॥

अप्सराओंसे सेवित दिव्य नन्दनवनका भी उन्होंने दर्शन किया, जो दिव्य पुष्पोंसे भरे हुए वृक्षोंद्वारा मानो उन्हें अपने पास बुला रहा था॥ ३॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः॥ ४॥

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, जो अग्निहोत्रसे दूर रहे हैं तथा जिन्होंने युद्धमें पीठ दिखा दी है, वैसे लोग पुण्यात्माओंके उस लोकका दर्शन भी नहीं कर सकते॥ ४॥

नायज्वभिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः॥ ५॥

जिन्होंने यज्ञ नहीं किया है, व्रतका पालन नहीं किया है, जो वेद और श्रुतियोंके स्वाध्यायसे दूर रहे हैं, जिन्होंने तीर्थोंमें स्नान नहीं किया है तथा जो यज्ञ और दान आदि सत्कर्मोंसे वञ्चित रहे हैं, ऐसे लोगोंको भी उस पुण्यलोकका दर्शन नहीं हो सकता॥ ५॥

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः॥ ६॥

जो यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले नीच, शराबी, गुरुपत्नीगामी, मांसाहारी तथा दुरात्मा हैं, वे तो किसी भी प्रकार उस दिव्य लोकका दर्शन नहीं पा सकते॥ ६॥

स तद् दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम्।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम्॥ ७॥

जहाँ सब ओर दिव्य सङ्गीत गूँज रहा था, उस दिव्य वनका दर्शन करते हुए महाबाहु अर्जुनने देवराज इन्द्रकी प्रिय नगरी अमरावतीमें प्रवेश किया॥ ७॥

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा॥ ८॥
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः॥ ९॥

वहाँ स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले देवताओंके सहस्रों विमान स्थिरभावसे खड़े थे और हजारों इधर-उधर आते-जाते थे। उन सबको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा। उस समय गन्धर्व और अप्सराएँ उनकी स्तुति कर रही थीं। फूलोंकी सुगन्धका भार वहन करनेवाली पवित्र मन्द-मन्द वायु मानो उनके लिये चँवर डुला रही थी॥ ८-९॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
हृष्टाः सम्पूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम्॥ १०॥

तदनन्तर देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनका स्वागत-सत्कार किया॥ १०॥

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम्॥ ११॥
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम्।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः॥ १२॥

कहीं उन्हें आशीर्वाद मिलता और कहीं स्तुति-प्रशंसा प्राप्त होती थी। स्थान-स्थानपर दिव्य वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे उनका स्वागत हो रहा था। इस प्रकार महाबाहु अर्जुन शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर नादसे गूँजते हुए 'सुरवीथी' नामसे प्रसिद्ध विस्तृत नक्षत्र-मार्गपर चलने लगे। इन्द्रकी आज्ञासे कुन्तीकुमारका सब ओर स्तवन हो रहा था और इस प्रकार वे गन्तव्य मार्गपर बढ़ते चले जा रहे थे ॥११-१२॥

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनौ तथा।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हहाहुहूः ॥ १४ ॥

वहाँ साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र तथा विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण और अनेक राजर्षिगण एवं दिलीप आदि बहुत-से राजा, तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्वगण विराजमान थे ॥ १३-१४ ॥

तान् स सर्वान् समागम्य विधिवत् कुरुनन्दनः।
ततोऽपश्यद् देवराजं शतक्रतुमरिंदमः ॥ १५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उन सबसे विधिपूर्वक मिलकर अन्तमें सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्रका दर्शन किया ॥ १५ ॥

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात्।
ददर्श साक्षाद् देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥

उन्हें देखते ही महाबाहु पार्थ उस उत्तम रथसे उतर पड़े और देवेश्वर पिता पाकशासन (इन्द्र) को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिसमें मनोहर स्वर्णमय दण्ड शोभा पा रहा था। उनके उभय पार्श्वमें दिव्य सुगन्धसे वासित चँवर डुलाये जा रहे थे ॥ १७ ॥

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दनैः।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसम्भवैः ॥ १८ ॥

विश्वावसु आदि गन्धर्व स्तुति और वन्दनापूर्वक उनके गुण गाते थे। श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिगण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके इन्द्रदेवतासम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन कर रहे थे ॥ १८ ॥

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यगमद् बली।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥

तदनन्तर बलवान् कुन्तीकुमारने निकट जाकर देवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक रख दिया और उन्होंने अपनी गोल-गोल मोटी भुजाओंसे उठाकर अर्जुनको हृदयसे लगा लिया ॥ १९ ॥

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥ २० ॥

तत्पश्चात् इन्द्रने अर्जुनका हाथ पकड़कर अपने देवर्षिगणसेवित पवित्र सिंहासनपर उन्हें पास ही बिठा लिया।२०।

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥ २१ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देवराजने विनीतभावसे आये हुए अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें अपनी गोदमें बिठा लिया ॥ २१ ॥

सहस्राक्षनियोगात् स पार्थः शक्रासनं गतः।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥ २२ ॥

उस समय सहस्रनेत्रधारी देवेन्द्रके आदेशसे उनके सिंहासनपर बैठे हुए अपरिमित प्रभावशाली कुन्तीकुमार दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २२ ॥

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम्।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥ २३ ॥

इसके बाद वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने पवित्र गन्धयुक्त हाथसे बड़े प्रेमके साथ अर्जुनको सब प्रकारसे आश्वासन देते हुए उनके सुन्दर मुखका स्पर्श किया ॥ २३ ॥

प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥ २४ ॥

अर्जुनकी सुन्दर विशाल भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचकर बाण चलानेकी रगड़से कठोर हो गयी थीं। वे देखनेमें सोनेके खंभे-जैसे जान पड़ती थीं। देवराज उन भुजाओंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे ॥ २४ ॥

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन्।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चास्फोटयच्छनैः ॥ २५ ॥

वज्रधारी इन्द्र वज्रधारणजनित चिह्नसे सुशोभित दाहिने हाथसे अर्जुनको बार-बार सान्त्वना देते हुए उनकी भुजाओंको धीरे-धीरे थपथपाने लगे ॥ २५ ॥

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक्।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥

सहस्र नयनोंसे सुशोभित वृत्रसूदन इन्द्र निद्राविजयी अर्जुनको मुसकराते हुए-से देख रहे थे। उस समय इन्द्रकी आँखें हर्षसे खिल उठी थीं। वे उन्हें देखनेसे तृप्त नहीं होते थे ॥

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयांचक्रतुः सभाम्।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७ ॥

जैसे कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार एक सिंहासनपर बैठे हुए देवराज इन्द्र और कुन्तीकुमार अर्जुन देवसभाको सुशोभित कर रहे थे ॥ २७ ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ सामगानमें निपुण तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वगण सामगानके नियमानुसार अत्यन्त मधुर स्वरमें गाथागान करने लगे ॥ २८ ॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ॥ ३० ॥
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥ ३२ ॥

घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा और मधुरस्वरा—ये तथा और भी सहस्रों अप्सराएँ वहाँ इन्द्रसभामें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर नृत्य करने लगीं। वे कमललोचना अप्सराएँ सिद्ध पुरुषोंके भी चित्तको प्रसन्न करनेमें संलग्न थीं। उनके कटि-प्रदेश और नितम्ब विशाल थे। नृत्य करते समय उनके उन्नत स्तन कम्पमान हो रहे थे। उनके कटाक्ष, हाव-भाव तथा माधुर्य आदि मन, बुद्धि एवं चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अपहरण कर लेते थे ॥ २९—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें इन्द्रसभादर्शनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनको अस्त्र और सङ्गीतकी शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम्।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रका अभिप्राय जानकर देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तम अर्घ्य लेकर कुन्तीकुमार अर्जुनका यथोचित पूजन किया॥

पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम्।
प्रवेशयामासुरथो पुरंदरनिवेशनम् ॥ २ ॥

राजकुमार अर्जुनको पाद्य, (अर्घ्य,) आचमनीय आदि उपचार अर्पित करके देवताओंने उन्हें इन्द्रभवनमें पहुँचा दिया॥

एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः।
उपशिक्षन् महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥

इस प्रकार देवसमुदायसे पूजित हो पाण्डुकुमार अर्जुन अपने पिताके घरमें रहने और उनसे उपसंहारसहित महान् अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करने लगे ॥ ३ ॥

शक्रस्य हस्ताद् दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम्।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

उन्होंने इन्द्रके हाथसे उनके प्रिय एवं दुःसह अस्त्र वज्र और भारी गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली उन अशनियोंको ग्रहण किया, जिनका प्रयोग करनेपर जगत्‌में मेघोंकी घटा घिर आती और मयूर नृत्य करने लगते हैं ॥ ४ ॥

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः।
पुरंदरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी ॥ ५ ॥

सब अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेपर पाण्डुपुत्र पार्थने अपने भाइयोंका स्मरण किया। परंतु पुरन्दरके विशेष अनुरोधसे वे (मानव-गणनाके अनुसार) पाँच वर्षोंतक वहाँ सुखपूर्वक ठहरे रहे ॥ ५ ॥

ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं कृतास्त्रं काल आगते।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥

तदनन्तर इन्द्रने अस्त्रशिक्षामें निपुण कुन्तीकुमारसे उपयुक्त अवसर आनेपर कहा—'कुन्तीनन्दन! तुम चित्रसेनसे नृत्य और गीतकी शिक्षा ग्रहण कर लो ॥ ६ ॥

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मनुष्यलोकमें जो अबतक प्रचलित नहीं है, देवताओंकी उस वाद्यकलाका ज्ञान प्राप्त कर लो। इससे तुम्हारा भला होगा' ॥ ७ ॥

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरंदरः।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥

पुरन्दरने अर्जुनको सङ्गीतकी शिक्षा देनेके लिये उन्हींके मित्र चित्रसेनको नियुक्त कर दिया। मित्रसे मिलकर दुःख-शोकसे रहित अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह।
तथापि नालभच्छर्म तपस्वी द्यूतकारितम् ॥ ९ ॥

चित्रसेनने उन्हें गीत, वाद्य और नृत्यकी बारम्बार शिक्षा दी तो भी द्यूतजनित अपमानका स्मरण करके तपस्वी अर्जुनको तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ९ ॥

दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च।
ततस्तेनातुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित् क्वचित्।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ॥ १० ॥

उन्हें दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिके वधके लिये मनमें बड़ा रोष होता था तथा चित्रसेनके सहवाससे कभी-कभी उन्हें अनुपम प्रसन्नता प्राप्त होती थी, जिससे उन्होंने गीत, नृत्य और वाद्यकी उस अनुपम कलाको (पूर्णरूपसे) उपलब्ध कर लिया ॥ १० ॥

स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्
वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान्।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता
भ्रातॄन् स्मरन् मातरं चैव कुन्तीम् ॥ ११ ॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले वीर अर्जुनने नृत्यसम्बन्धी अनेक गुणोंकी शिक्षा पायी। वाद्य और गीतविषयक सभी गुण सीख लिये। तथापि भाइयों और माता कुन्तीका स्मरण करके उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें अर्जुनकी अस्त्रादिशिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

चित्रसेन और उर्वशीका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

आदावेवाथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत्।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक समय इन्द्रने अर्जुनके नेत्र उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर चित्रसेन गन्धर्वको बुलाया और प्रथम ही एकान्तमें उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम्।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्र सोपातिष्ठतु फाल्गुनम् ॥ २ ॥

गन्धर्वराज ! तुम मेरे भेजनेसे आज अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीके पास जाओ। पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हें वहाँ भेजनेका उद्देश्य यह है कि उर्वशी अर्जुनकी सेवामें उपस्थित हो ॥ २ ॥

यथार्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः।
तथा त्वया विधातव्यं स्त्रीषु संगविशारदः ॥ ३ ॥

'जैसे अस्त्रविद्या सीख लेनेके पश्चात् अर्जुनको मेरी आज्ञासे तुमने सङ्गीतविद्याद्वारा सम्मानित किया है, उसी प्रकार वे स्त्रीसङ्गविशारद हो सकें, ऐसा प्रयत्न करो' ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात्।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥ ४ ॥

इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर 'तथास्तु' कहकर उनसे आज्ञा ले गन्धर्वराज चित्रसेन सुन्दरी अप्सरा उर्वशीके पास गये ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तया।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

उससे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उर्वशीने चित्रसेनको आया जान स्वागतपूर्वक उनका सत्कार किया। जब वे आरामसे बैठ गये, तब सुखपूर्वक सुन्दर आसनपर बैठी हुई उर्वशीसे मुसकराकर बोले—॥ ५ ॥

विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि प्रहितोऽहमिहागतः।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥ ६ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वर्गके एकमात्र सम्राट् इन्द्रने, जो तुम्हारे कृपाप्रसादका अभिनन्दन करते हैं, मुझे तुम्हारे पास भेजा है । उन्हींकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ ॥ ६ ॥

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ।
प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ॥ ७ ॥
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ॥ ८ ॥
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम् ।
ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ॥ ९ ॥
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ।
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ॥ १० ॥
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ।
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ॥ ११ ॥
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगरः ।
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ॥ १२ ॥
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ।
त्वं तु शक्राभ्यनुज्ञाता तस्य पादान्तिकं व्रज ।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रसन्नस्त्वां धनंजयः ॥ १३ ॥

'सुन्दरी ! जो अपने स्वाभाविक सद्गुण, श्री, शील (स्वभाव), मनोहर रूप, उत्तम व्रत और इन्द्रियसंयमके कारण देवताओं तथा मनुष्योंमें विख्यात हैं । बल और पराक्रमके द्वारा जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है; जो सबके प्रिय, प्रतिभाशाली, वर्चस्वी, तेजस्वी, क्षमाशील तथा ईर्ष्यारहित हैं, जिन्होंने छहों अङ्गोंसहित चारों वेदों, उपनिषदों और पञ्चम वेद (इतिहास-पुराण) का अध्ययन किया है । जिन्हें गुरुशुश्रूषा तथा आठ गुणों[1]से युक्त मेधाशक्ति प्राप्त है, जो ब्रह्मचर्यपालन, कार्य-दक्षता, संतान तथा युवावस्थाके द्वारा अकेले ही देवराज इन्द्रकी भाँति स्वर्गलोककी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, जो अपने मुँहसे अपने गुणोंकी कभी प्रशंसा नहीं करते, दूसरोंको सम्मान देते, अत्यन्त सूक्ष्म विषयको भी स्थूलकी भाँति शीघ्र ही समझ लेते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, जो अपने सुहृदोंके लिये नाना प्रकारके अन्न-पानकी वर्षा करते और सदा सत्य बोलते हैं, जिनका सर्वत्र आदर होता है; जो अच्छे वक्ता तथा मनोहर रूपवाले होकर भी अहंकारशून्य हैं, जिनके हृदयमें अपने प्रेमी भक्तोंके लिये अत्यन्त कृपा भरी हुई है, जो कान्तिमान्, प्रिय तथा प्रतिज्ञापालन एवं युद्धमें स्थिरतापूर्वक डटे रहनेवाले हैं, जिनके सद्गुणोंकी दूसरे लोग स्पृहा रखते हैं और उन्हीं गुणोंके कारण जो महेन्द्र और वरुणके समान आदरणीय माने जाते हैं, उन वीरवर अर्जुनको तुम अच्छी तरह जानती हो । उन्हें स्वर्गमें आनेका फल अवश्य मिलना चाहिये । तुम देवराजके आज्ञाके अनुसार आज अर्जुनके चरणोंके समीप जाओ । कल्याणि ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कुन्तीकुमार धनंजय तुमपर प्रसन्न हों' ॥ ७—१३ ॥

एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहुमन्य च ।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीता चित्रसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

चित्रसेनके ऐसा कहनेपर उर्वशीके अधरोंपर मुसकान दौड़ गयी । उसने इस आदेशको अपने लिये बड़ा सम्मान समझा । अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर चित्रसेनसे इस प्रकार बोली—॥ १४ ॥

यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम ।
तं श्रुत्वाव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥ १५ ॥

'गन्धर्वराज ! तुमने जो अर्जुनके लेशमात्र गुणोंका मेरे सामने वर्णन किया है, वह सब सत्य है । मैं दूसरे लोगोंके मुखसे भी उनकी प्रशंसा सुनकर उनके लिये व्यथित हो उठी हूँ । अतः इससे अधिक मैं अर्जुनका क्या वरण करूँ ? ॥ १५ ॥

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः सम्प्रणयेन च ।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा ।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥ १६ ॥

'महेन्द्रकी आज्ञासे, तुम्हारे प्रेमपूर्ण बर्तावसे तथा अर्जुनके सद्गुण-समुदायसे मेरा उनके प्रति कामभाव हो गया है । अतः अब तुम जाओ । मैं इच्छानुसार सुखपूर्वक उनके स्थानपर यथासमय आऊँगी' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें चित्रसेन-उर्वशीसंवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उर्वशीका कामपीड़ित होकर अर्जुनके पास जाना और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देकर लौट आना

वैशम्पायन उवाच

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थदर्शनलालसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कृतकृत्य हुए गन्धर्वराज चित्रसेनको विदा करके पवित्र मुसकानवाली उर्वशीने अर्जुनसे मिलनेके लिये उत्सुक हो स्नान किया ॥ १ ॥

[1] शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान तथा तत्त्वविज्ञान—ये बुद्धिके आठ गुण हैं ।

स्नानालंकरणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः।
धनंजयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ॥ २ ॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥ ३ ॥
चित्तसंकल्पभावेन सुचित्तानन्यमानसा।
मनोरथेन सम्प्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ॥ ४ ॥

धनंजयके रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित उसका हृदय कामदेवके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो चुका था। वह मदनाग्निसे दग्ध हो रही थी। स्नानके पश्चात् उसने चमकीले और मनोभिराम आभूषण धारण किये। सुगन्धित दिव्य पुष्पोंके हारोंसे अपनेको अलंकृत किया। फिर उसने मन-ही-मन संकल्प किया—दिव्य बिछौनोंसे सजी हुई एक सुन्दर विशाल शय्या बिछी हुई है। उसका हृदय सुन्दर तथा प्रियतमके चिन्तनमें एकाग्र था। उसने मनकी भावनाद्वारा ही यह देखा कि कुन्तीकुमार अर्जुन उसके पास आ गये हैं और वह उनके साथ रमण कर रही है॥ २—४॥

निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥ ५ ॥

संध्याको चन्द्रोदय होनेपर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, उस समय वह विशाल नितम्बोंवाली अप्सरा अपने भवनसे निकलकर अर्जुनके निवासस्थानकी ओर चली॥५॥

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुमुदोत्करधारिणा।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ॥ ६ ॥

उसके कोमल, घुँघराले और लम्बे केशोंका समूह वेणीके रूपमें आबद्ध था। उनमें कुमुदपुष्पोंके गुच्छे लगे हुए थे। इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुनके गृहकी ओर बढ़ी जा रही थी॥ ६॥

भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति॥ ७ ॥

भौंहोंकी भंगिमा, वार्तालापकी मधुरिमा, उज्ज्वल कान्ति और सौम्यभावसे सम्पन्न अपने मनोहर मुखचन्द्रद्वारा वह चन्द्रमाको चुनौती-सी देती हुई इन्द्रभवनके पथपर चल रही थी॥ ७॥

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥ ८ ॥

चलते समय सुन्दर हारोंसे विभूषित उर्वशीके उठे हुए स्तन जोर-जोरसे हिल रहे थे। उनपर दिव्य अङ्गराग लगाये गये थे। उनके अग्रभाग अत्यन्त मनोहर थे। वे दिव्य चन्दनसे चर्चित हो रहे थे॥ ८॥

स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनातीवशोभिना ॥ ९ ॥

स्तनोंके भारी भारको वहन करनेके कारण थककर वह पग-पगपर झुकी जाती थी। उसका अत्यन्त सुन्दर मध्यभाग (उदर) त्रिवलीरेखासे विचित्र शोभा धारण करता था॥

अधो भूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम्।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम्॥ १० ॥
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम्।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥ ११ ॥

सुन्दर महीन वस्त्रोंसे आच्छादित उसका जघनप्रदेश अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हो रहा था। वह कामदेवका उज्ज्वल मन्दिर जान पड़ता था। नाभिके नीचेके भागमें पर्वतके समान विशाल नितम्ब ऊँचा और स्थूल प्रतीत होता था। कटिमें बँधी हुई करधनीकी लड़ियाँ उस जघनप्रदेशको सुशोभित कर रही थीं। वह मनोहर अङ्ग (जघन) देवलोकवासी महर्षियोंके भी चित्तको क्षुब्ध कर देनेवाला था॥१०-११॥

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुली।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ॥ १२ ॥

उसके दोनों चरणोंके गुल्फ (टखने) मांससे छिपे हुए थे। उसके विस्तृत तलवे और अँगुलियाँ लाल रंगकी थीं। वे दोनों पैर कछुएकी पीठके समान ऊँचे होनेके साथ ही घुँघुरुओंके चिह्नसे सुशोभित थे॥ १२॥

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्ट्याथ मदनेन च।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥ १३ ॥

वह अल्प सुरापानसे, संतोषसे, कामसे और नाना प्रकारकी विलासिताओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी॥ १३॥

सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥ १४ ॥
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छति ॥ १५ ॥

जाती हुई उस विलासिनी अप्सराकी आकृति अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए स्वर्गलोकमें भी सिद्ध, चारण और गन्धर्वोंके लिये देखनेके ही योग्य हो रही थी। अत्यन्त महीन मेघके समान श्याम रंगकी सुन्दर ओढ़नी ओढ़े तन्वङ्गी उर्वशी आकाशमें बादलोंसे ढकी हुई चन्द्रलेखा-सी चली जा रही थी॥ १४-१५॥

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥ १६ ॥

मन और वायुके समान तीव्र वेगसे चलनेवाली वह पवित्र मुसकानसे सुशोभित अप्सरा क्षणभरमें पाण्डुकुमार अर्जुनके महलमें जा पहुँची॥ १६॥

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥ १७ ॥

उपातिष्ठत तद् वेश्म निर्मलं सुमनोहरम्।
सशङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥ १८ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय! महलके द्वारपर पहुँचकर वह ठहर गयी। उस समय द्वारपालोंने अर्जुनको उसके आगमनकी सूचना दी। तब सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी रात्रिमें अर्जुनके अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवनमें उपस्थित हुई। राजन्! अर्जुन सशङ्क हृदयसे उसके सामने गये॥१७ १८॥

दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥

उर्वशीको आयी देख अर्जुनके नेत्र लज्जासे मुँद गये। उस समय उन्होंने उसके चरणोंमें प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—देवि! श्रेष्ठ अप्सराओंमें भी तुम्हारा सबसे ऊँचा स्थान है। मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। बताओ, मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये उपस्थित हूँ॥ २० ॥

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर उर्वशीके होश-हवास गुम हो गये, उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं॥ २१ ॥

उर्वश्युवाच

यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता ॥ २२ ॥

उर्वशीने कहा—पुरुषोत्तम! चित्रसेनने मुझे जैसा संदेश दिया है और उसके अनुसार जिस उद्देश्यको लेकर मैं यहाँ आयी हूँ, वह सब मैं तुम्हें बता रही हूँ॥ २२ ॥

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे।
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम ॥ २४ ॥
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥ २६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्रके इस मनोरम निवासस्थानमें तुम्हारे शुभागमनके उपलक्ष्यमें एक महान् उत्सव मनाया गया। यह उत्सव स्वर्गलोकका सबसे बड़ा उत्सव था। उसमें रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और वसुगण—इन सबका सब ओरसे समागम हुआ था। नरश्रेष्ठ! महर्षिसमुदाय, राजर्षिप्रवर, सिद्ध, चारण, यक्ष तथा बड़े-बड़े नाग—ये सभी अपने पद, सम्मान और प्रभावके अनुसार योग्य आसनोंपर बैठे थे। इन सबके शरीर अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी थे और ये समस्त देवता अपनी अद्भुत समृद्धिसे प्रकाशित हो रहे थे। विशाल नेत्रोंवाले इन्द्रकुमार! उस समय गन्धर्वोंद्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थीं। दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। कुरुकुलनन्दन पार्थ! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनोंसे निहार रहे थे॥ २३–२८ ॥

तत्र चावभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम्।
तव पित्राभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २९ ॥
तथैवाप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः।
अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ॥ ३० ॥

देवसभामें जब उस महोत्सवकी समाप्ति हुई, तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा लेकर सब देवता अपने-अपने भवनको चले गये। शत्रुदमन! इसी प्रकार आपके पितासे विदा लेकर सभी प्रमुख अप्सराएँ तथा दूसरी साधारण अप्सराएँ भी अपने-अपने घरको चली गयीं॥ २९-३० ॥

ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममान्तिकम्।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदथ ॥ ३१ ॥

कमलनयन! तदनन्तर देवराज इन्द्रका संदेश लेकर गन्धर्वप्रवर चित्रसेन मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—॥

त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह ॥ ३२ ॥

'वरवर्णिनि! देवेश्वर इन्द्रने तुम्हारे लिये एक संदेश देकर मुझे भेजा है। तुम उसे सुनकर महेन्द्रका, मेरा तथा मुझसे अपना भी प्रिय कार्य करो॥ ३२ ॥

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम्।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुश्रोणि! जो संग्राममें इन्द्रके समान पराक्रमी और उदारता आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न हैं, उन कुन्तीनन्दन अर्जुनकी सेवा तुम स्वीकार करो।' इस प्रकार चित्रसेनने मुझसे कहा था॥ ३३ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिंदम ॥ ३४ ॥

अनघ ! शत्रुदमन ! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ ॥ ३४ ॥

त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥

तुम्हारे गुणोंने मेरे चित्तको अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेवके वशमें हो गयी हूँ। वीर ! मेरे हृदयमें भी चिरकालसे यह मनोरथ चला आ रहा था ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जाऽऽवृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वर्गलोकमें उर्वशीकी यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जासे गड़ गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले—॥ ३६ ॥

दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥

'सौभाग्यशालिनि ! भाविनि ! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है। वरानने ! निश्चय ही तुम मेरी दृष्टिमें गुरुपत्नियोंके समान पूजनीया हो ॥

यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

'कल्याणि ! मेरे लिये जैसी महाभागा कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं, वैसी ही तुम भी हो। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥

'शुभे ! पवित्र मुसकानवाली उर्वशी ! मैंने जो उस समय सभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था, उसका एक विशेष कारण था, उसे सत्य बताता हूँ, सुनो ॥ ३९ ॥

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥
न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ॥ ४१ ॥

'यह आनन्दमयी उर्वशी ही पूरुवंशकी जननी है, ऐसा समझकर मेरे नेत्र खिल उठे और इस पूज्य भावको लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ देखा था। कल्याणमयी अप्सरा ! तुम मेरे विषयमें कोई अन्यथा भाव मनमें न लाओ। तुम मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाली हो, अतः गुरुसे भी अधिक गौरवशालिनी हो'॥

उर्वश्युवाच

अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ४२ ॥

उर्वशीने कहा—वीर देवराजनन्दन ! हम सब अप्सराएँ स्वर्गवासियोंके लिये अनावृत हैं—हमारा किसीके साथ कोई पर्दा नहीं है। अतः तुम मुझे गुरुजनके स्थानपर नियुक्त न करो ॥ ४२ ॥

पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहागताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥ ४३ ॥
तत् प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संतप्तां भक्तां च भज मानद ॥ ४४ ॥

पूरुवंशके कितने ही पोते-नाती तपस्या करके यहाँ आते हैं और वे हम सब अप्सराओंके साथ रमण करते हैं। इसमें उनका कोई अपराध नहीं समझा जाता। मानद ! मुझपर प्रसन्न होओ। मैं कामवेदनासे पीडित हूँ, मेरा त्याग न करो। मैं तुम्हारी भक्त हूँ और मदनाग्निसे दग्ध हो रही हूँ; अतः मुझे अङ्गीकार करो ॥ ४३-४४ ॥

अर्जुन उवाच

शृणु सत्यं वरारोहे यत् त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥

अर्जुनने कहा—वरारोहे ! अनिन्दिते ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस सत्य वचनको सुनो। ये दिशा, विदिशा तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी सुन लें ॥४५॥

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४६ ॥

अनघे ! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंशकी जननी होनेके कारण आज मेरे लिये परम गुरुस्वरूप हो ॥ ४६ ॥

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया॥ ४७ ॥

वरवर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्रा शशापाथ धनंजयम् ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर उर्वशी क्रोधसे व्याकुल हो उठी। उसका शरीर

उर्वशीका अर्जुनको शाप देना

काँपने लगा और भौंहें टेढ़ी हो गयीं। उसने अर्जुनको शाप देते हुए कहा ॥ ४८ ॥

उर्वश्युवाच

तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम्।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम् ॥ ४९ ॥
तस्मात् त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद् विचरिष्यसि ॥ ५० ॥

उर्वशी बोली—अर्जुन ! तुम्हारे पिता इन्द्रके कहनेसे मैं स्वयं तुम्हारे घरपर आयी और कामबाणसे घायल हो रही हूँ, फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिंजड़ोंके ही समान होगा ॥ ४९-५० ॥

एवं दत्त्वार्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ॥ ५१ ॥

फड़कते हुए ओठोंसे इस प्रकार शाप देकर उर्वशी लंबी साँसें खींचती हुई पुनः शीघ्र ही अपने घरको लौट गयी॥

ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिंदमः ।
सम्प्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथातथम् ॥ ५२ ॥
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ।
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर शत्रुदमन पाण्डुकुमार अर्जुन बड़ी उतावलीके साथ चित्रसेनके समीप गये तथा रातमें उर्वशीके साथ जो घटना जिस प्रकार घटित हुई, वह सब उन्होंने उस समय चित्रसेनको ज्यों-की-त्यों कह सुनायी। साथ ही उसके शाप देनेकी बात भी उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥ ५२-५३ ॥

अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ।
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ॥ ५४ ॥
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
सुपुत्राद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ॥ ५५ ॥

चित्रसेनने भी सारी घटना देवराज इन्द्रसे निवेदन की। तब इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनको बुलाकर एकान्तमें कल्याणमय वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मुसकराकर उनसे कहा— 'तात ! तुम सत्पुरुषोंके शिरोमणि हो, तुम-जैसे पुत्रको पाकर कुन्ती वास्तवमें श्रेष्ठ पुत्रवाली है ॥ ५४-५५ ॥

ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज ।
यत् तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ॥ ५६ ॥
स चापि तेऽर्थकृत् तात साधकश्च भविष्यति॥ ५७ ॥
अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तत्र त्वं क्षपयिष्यसि ॥ ५८ ॥

'महाबाहो ! तुमने अपने धैर्य (इन्द्रियसंयम) के द्वारा ऋषियोंको भी पराजित कर दिया है। मानद ! उर्वशीने जो तुम्हें शाप दिया है, वह तुम्हारे अभीष्ट अर्थका साधक होगा। अनघ ! तुम्हें भूतलपर तेरहवें वर्षमें अज्ञात वास करना है। वीर ! उर्वशीके दिये हुए शापको तुम उसी वर्षमें पूर्ण कर दोगे ॥ ५६—५८ ॥

तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च ।
वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ॥ ५९ ॥

'नर्तक वेष और नपुंसक भावसे एक वर्षतक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुरुषत्व प्राप्त कर लोगे' ५९

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ॥ ६० ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर तो उन्हें शापकी चिन्ता छूट गयी ॥ ६० ॥

चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ६१ ॥

पाण्डुपुत्र धनंजय महायशस्वी गन्धर्व चित्रसेनके साथ स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ६१ ॥

इदं यः शृणुयाद् वृत्तं नित्यं पाण्डुसुतस्य वै।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते ॥ ६२ ॥

जो मनुष्य पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस चरित्रको प्रतिदिन सुनता है, उसके मनमें पापपूर्ण विषयभोगोंकी इच्छा नहीं होती ॥ ६२ ॥

इदममरवरात्मजस्य घोरं
शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य।
व्यपगतमददम्भरागदोषा-
स्त्रिदिवगता विरमन्ति मानवेन्द्राः ॥६३॥

देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनके इस अत्यन्त दुष्कर पवित्र चरित्रको सुनकर मद, दम्भ तथा विषयासक्ति आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ मानव स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि उर्वशीशापो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें उर्वशीशाप नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

लोमश मुनिका स्वर्गमें इन्द्र और अर्जुनसे मिलकर उनका संदेश ले काम्यकवनमें आना

वैशम्पायन उवाच

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः।
ददर्शार्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक समयकी बात है, महर्षि लोमश इधर-उधर घूमते हुए इन्द्रसे मिलनेकी इच्छा लेकर स्वर्गलोकमें गये। उन महामुनिने देवराज इन्द्रसे मिलकर उन्हें नमस्कार किया और देखा, पाण्डुनन्दन अर्जुन इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हैं ॥ १-२ ॥

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥

तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे एक उत्तम सिंहासनपर, जहाँ ऊपर कुशका आसन बिछा हुआ था, महर्षियोंसे पूजित द्विजवर लोमशजी बैठे ॥ ३ ॥

तस्य दृष्ट्वाभवद् बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ ४ ॥

इन्द्रके सिंहासनपर बैठे हुए कुन्तीकुमार अर्जुनको देखकर लोमशजीके मनमें यह विचार हुआ कि 'क्षत्रिय होकर भी कुन्तीकुमारने इन्द्रका आसन कैसे प्राप्त कर लिया ?॥ ४॥

किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः।
स एवमनुसम्प्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥

'इनका पुण्य-कर्म क्या है ? इन्होंने किन-किन लोकोंपर विजय पायी है ? किस पुण्यके प्रभावसे इन्होंने यह देववन्दित स्थान प्राप्त किया है ?' ॥ ५ ॥

तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः।
लोमशं प्रहसन् वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥

लोमश मुनिके संकल्पको जानकर वृत्रहन्ता शचीपति इन्द्रने हँसते हुए उनसे कहा—॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत् ते मनसैतद् विवक्षितम्।
नायं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आपके मनमें जो प्रश्न उठा है, उसका समाधान कर रहा हूँ, सुनिये। ये अर्जुन मानवयोनिमें उत्पन्न हुए केवल मरणधर्मा मनुष्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित् कारणान्तरात् ॥ ८ ॥
अहो नैनं भवान् वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम्।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् योऽयं यच्चास्य कारणम् ॥ ९ ॥

'महर्षे ! ये महाबाहु धनंजय कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं और कुछ कारणवश अस्त्रविद्या सीखनेके लिये यहाँ आये हैं। आश्चर्य है कि आप इन पुरातन ऋषिप्रवरको नहीं जानते हैं। ब्रह्मन् ! इनका जो स्वरूप है और इनके अवतार-ग्रहणका जो कारण है, वह सब मैं बता रहा हूँ। आप मेरे मुँहसे यह सब सुनिये ॥ ८-९ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनंजयौ ॥ १० ॥

'नर-नारायण नामसे प्रसिद्ध जो पुरातन मुनीश्वर हैं, वे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह बात आप जान लें ॥ १० ॥

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥

'तीनों लोकोंमें विख्यात नर-नारायण ऋषि ही देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पुण्यके आधाररूप भूतलपर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ११ ॥

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ॥ १२ ॥
स निवासोऽभवद् विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥

'देवता अथवा महात्मा महर्षि भी जिसे देखनेमें समर्थ नहीं, वह बदरी नामसे विख्यात पुण्यतीर्थ इनका आश्रम है। वही पूर्वकालमें इन श्रीकृष्ण और अर्जुनका (नारायण और

नरका) निवासस्थान था । जहाँसे सिद्ध-चारणसेवित गङ्गाका प्राकट्य हुआ है ॥ १२-१३ ॥

तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! ये दोनों महातेजस्वी नर और नारायण मेरे अनुरोधसे पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं । इनकी शक्ति महान् है, ये दोनों इस पृथ्वीका भार उतारेंगे ॥ १४ ॥

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥

'इन दिनों निवातकवच नामसे प्रसिद्ध कुछ असुरगण बड़े उद्दण्ड हो रहे हैं, वे वरदानसे मोहित होकर हमारा अनिष्ट करनेमें लगे हुए हैं ॥ १५ ॥

तर्कयन्ते सुरान् हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान् न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥

'उनमें बल तो है ही, बली होनेका अभिमान भी है । वे देवताओंको मार डालनेका विचार करते हैं । देवताओंको तो वे लोग कुछ गिनते ही नहीं; क्योंकि उन्हें वैसा ही वरदान प्राप्त हो चुका है ॥ १६ ॥

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वदेवनिकाया हि नालं योधयितुं हि तान् ॥ १७ ॥
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिषूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ १८ ॥

'वे महाबली भयंकर दानव पातालमें निवास करते हैं । सम्पूर्ण देवता मिलकर भी उनके साथ युद्ध नहीं कर सकते । इस समय भूतलपर जिनका अवतार हुआ है, वे श्रीमान् मधुसूदन विष्णु ही कपिल नामसे प्रसिद्ध देवता हुए हैं । वे ही भगवान् अपराजित हरि हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥ १९ ॥

'महर्षे ! पूर्वकालमें रसातलको खोदनेवाले सगरके महामना पुत्र उन्हीं कपिलकी दृष्टिमात्र पड़नेसे भस्म हो गये थे ॥ १९ ॥

तेन कार्यं महत् कार्यमस्माकं द्विजसत्तम ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! वे भगवान् श्रीहरि हमारा महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं । कुन्तीकुमार अर्जुनसे भी हमारा कार्य सिद्ध हो सकता है । यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन किसी महायुद्धमें एक दूसरेसे मिल जायँ तो वे दोनों एक साथ होकर महान्-से-महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

सोऽसुरान् दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान् ।
निवातकवचान् सर्वान् नागानिव महाह्रदे ॥ २१ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण तो दृष्टिनिक्षेपमात्रसे ही महान् कुण्डमें निवास करनेवाले नागोंकी भाँति समस्त 'निवातकवच' नामक दानवोंको उनके अनुयायियोंसहित मार डालनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

किं तु नाल्पेन कार्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः ।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥ २२ ॥

'परंतु किसी छोटे कार्यके लिये भगवान् मधुसूदनको सूचना देनी उचित नहीं जान पड़ती । वे तेजके महान् राशि हैं; यदि प्रज्वलित हों तो सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर सकते हैं ॥ २२ ॥

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान् निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २३ ॥

'ये शूरवीर अर्जुन अकेले ही उन समस्त निवातकवचोंका संहार करनेमें समर्थ हैं । उन सबको युद्धमें मारकर ये फिर मनुष्यलोकको लौट जायँगे ॥ २३ ॥

भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

'मुने ! आप मेरे अनुरोधसे कृपया भूलोकमें जाइये और काम्यकवनमें निवास करनेवाले युधिष्ठिरसे मिलिये ॥ २४ ॥

स वाच्यो मम संदेशाद् धर्मात्मा सत्यसंगरः ।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति॥ २५ ॥

'वे बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं । उनसे मेरा यह संदेश कहियेगा—'राजन् ! आप अर्जुनके वापस लौटनेके विषयमें उत्कण्ठित न हों । वे अस्त्रविद्या सीखकर शीघ्र ही लौट आयेंगे ॥ २५ ॥

नाशुद्धबाहुवीर्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे ।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ २६ ॥

'जिसका बाहुबल पूर्ण अस्त्रशिक्षाके अभावसे त्रुटिपूर्ण हो तथा जिसने अस्त्रविद्याका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त किया हो, वह युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिका सामना नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः ।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥ २७ ॥

'महाबाहु महामना अर्जुन अस्त्रविद्याकी पूरी शिक्षा पा चुके हैं । वे दिव्य नृत्य, वाद्य एवं गीतकी कलामें भी पारङ्गत हो गये हैं ॥ २७ ॥

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिंदम ॥ २८ ॥
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः ।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥ २९ ॥

'मनुजेश्वर ! शत्रुदमन ! आप भी अपने सभी भाइयोंके साथ

पवित्र तीर्थोंका दर्शन कीजिये। राजेन्द्र ! पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाप-तापसे रहित हो सुखी एवं निष्कलंक जीवन बिताते हुए आप राज्यभोग करेंगे' ॥ २८-२९ ॥

भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतलम्।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥ ३० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आप भी भूतलपर विचरनेवाले राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करते रहें; क्योंकि आप तपोबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३० ॥

गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥ ३१ ॥

'पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें तथा ऊँची-नीची भूमियोंमें भयंकर राक्षस निवास करते हैं; उनसे आप भाइयोंसहित युधिष्ठिरकी रक्षा कीजियेगा' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम्।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥ ३२ ॥

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर अर्जुनने भी विनीत होकर लोमश मुनिसे कहा—'मुने ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी भाइयों-सहित रक्षा कीजिये ॥ ३२ ॥

यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत् तीर्थानि सत्तम।
दानं दद्याद् यथा चैव तथा कुरु महामुने ॥ ३३ ॥

'साधुशिरोमणे ! महामुने ! आपसे सुरक्षित रहकर राजा युधिष्ठिर तीर्थोंमें भ्रमण करें और दान दें—ऐसी कृपा कीजिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति सम्प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी लोमशजीने उनका अनुरोध मान लिया और काम्यकवनमें जानेके लिये भूलोककी ओर प्रस्थान किया ॥ ३४ ॥

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिंदमम्।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने शत्रुदमन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको भाइयों तथा तपस्वी मुनियोंसे घिरा हुआ देखा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें लोमशगमनविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

दुःखित धृतराष्ट्रका संजयके सम्मुख अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करना

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्यामिततेजसः।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अमिततेजस्वी कुन्ती-कुमार अर्जुनका यह कर्म तो अत्यन्त अद्भुत है। परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने भी यह सब अवश्य सुना होगा। उसे सुनकर उन्होंने क्या कहा था ? यह बतलाइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात् संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने ऋषि द्वैपायन व्यासके मुखसे अर्जुनके इन्द्रलोकगमनका समाचार सुनकर संजयसे यह बात कही ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रुतं मे सूत कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः।
कच्चित् तवापि विदितं याथातथ्येन सारथे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूत ! मैंने परम बुद्धिमान् कुन्ती-कुमार अर्जुनका सारा वृत्तान्त सुना है। सारथे ! क्या तुम्हें भी इस विषयमें यथार्थ बातें ज्ञात हुई हैं ? ॥ ३ ॥

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥

मेरा मूढ़बुद्धि पुत्र तो विषयभोगोंमें फँसा हुआ है। उसका विचार सदा पापपूर्ण ही बना रहता है। प्रमादमें पड़ा हुआ वह अत्यन्त दुर्बुद्धि दुर्योधन एक दिन सारे भूमण्डलका नाश करा देगा ॥ ४ ॥

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ॥ ५ ॥

जिन महात्माके मुखसे हँसीमें भी सदा सत्य ही बातें निकलती हैं और जिनकी ओरसे लड़नेवाले धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके लिये इस कौरव-राज्यको जीतनेकी तो बात ही क्या है, वे तीनों लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं ॥ ५ ॥

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान्।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥

जो पत्थरपर रगड़कर तेज किये गये हैं, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं, उन कर्णिनामक नाराचोंका प्रहार करनेवाले अर्जुनके आगे कौन योद्धा ठहर सकता है? जराविजयी मृत्यु भी उनका सामना नहीं कर सकती ॥ ६ ॥

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥

मेरे सभी दुरात्मा पुत्र मृत्युके वशमें हो गये हैं; क्योंकि उनके सामने दुधर्ष वीर पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेका अवसर उपस्थित हुआ है ॥ ७ ॥

तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद् रथी ॥ ८ ॥

मैं दिन-रात विचार करनेपर भी यह नहीं समझ पाता कि युद्धमें 'गाण्डीवधन्वा' अर्जुनका सामना कौन रथी कर सकता है? ॥ ८ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे।
महान् स्यात् संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम्॥९॥

द्रोण और कर्ण उस अर्जुनका सामना कर सकते हैं। भीष्म भी युद्धमें उनसे लोहा ले सकते हैं; परंतु तो भी मेरे मनमें महान् संशय ही बना हुआ है। मुझे इस लोकमें अपने पक्षकी जीत नहीं दिखायी देती ॥ ९ ॥

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः।
अमर्षी बलवान् पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥
सम्भवेत् तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम्।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः ॥ ११ ॥

कर्ण दयालु और प्रमादी है। आचार्य द्रोण वृद्ध एवं गुरु हैं। उधर कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए और बलवान् हैं। उद्योगी और दृढ़ पराक्रमी हैं। सब ओरसे घमासान युद्ध छिड़नेकी सम्भावना हो गयी है। युद्धमें पाण्डवोंकी पराजय नहीं हो सकती; क्योंकि उनकी ओर सभी अस्त्रविद्याके विद्वान् शूरवीर और महान् यशस्वी हैं ॥ १०-११ ॥

अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥

और वे पराजित न होकर सर्वेश्वर सम्राट् बननेकी इच्छा रखते हैं। इन कर्ण आदि योद्धाओंका वध हो जाय अथवा अर्जुन ही मारे जायँ तो इस विवादकी शान्ति हो सकती है॥

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति समुत्थितः॥ १३ ॥

परंतु अर्जुनको मारनेवाला या जीतनेवाला कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनका बढ़ा हुआ क्रोध कैसे शान्त हो सकता है? ॥ १३ ॥

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत्।
जिगाय पार्थिवान् सर्वान् राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥

अर्जुन इन्द्रके समान वीर हैं। उन्होंने खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया तथा राजसूय महायज्ञमें समस्त राजाओंपर विजय पायी ॥ १४ ॥

शेषं कुर्याद् गिरेर्वज्रो निपतन् मूर्ध्नि संजय।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ॥ १५ ॥

संजय! पर्वतके शिखरपर गिरनेवाला वज्र भले ही कुछ बाकी छोड़ दे; किंतु तात! किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण कुछ भी शेष नहीं छोड़ेंगे ॥ १५ ॥

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम्।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान्॥ १६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें चराचर जगत्‌को संतप्त करती हैं, उसी प्रकार अर्जुनकी भुजाओंद्वारा चलाये गये बाण मेरे पुत्रों-को संतप्त कर देंगे ॥ १६ ॥

अपि तद्रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥ १७ ॥

मुझे तो आज भी सव्यसाची अर्जुनके रथकी घर-घराहटसे सारी कौरव-सेना भयातुर हो छिन्न-भिन्न-सी होती प्रतीत हो रही है ॥ १७ ॥

यदोद्वहन् प्रवपंश्चैव बाणान्
स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
भवेद् यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८ ॥

जब किरीटधारी अर्जुन हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये (तूणीरसे)

बाण निकालते और चलाते हुए समरभूमिमें खड़े होंगे, उस समय उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा। वे ऐसे जान पड़ेंगे, मानो विधाताने किसी दूसरे सर्वसंहारकारी यमराजकी सृष्टि कर दी हो ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयके द्वारा धृतराष्ट्रकी बातोंका अनुमोदन और धृतराष्ट्रका संताप

संजय उवाच

यदेतत् कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ॥ १ ॥

संजय बोला—राजन्! आपने दुर्योधनके विषयमें जो बातें कही हैं, वे सभी यथार्थ हैं। महीपते! आपका वचन मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ २ ॥
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः।
कर्णस्य च महाराज जुगुप्सन्तीति मे मतिः ॥ ३ ॥

महातेजस्वी वे पाण्डव अपनी धर्मपत्नी यशस्विनी कृष्णाको सभामें लायी गयी देखकर क्रोधसे भरे हुए हैं और महाराज! दुःशासन तथा कर्णकी वे कठोर बातें सुनकर पाण्डव आपलोगोंकी निन्दा करते हैं, ऐसा मुझे विश्वास है ॥ २-३ ॥

श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! मैंने यह भी सुना है कि कुन्तीकुमार अर्जुनने एकादश मूर्तिधारी भगवान् शंकरको भी अपने धनुष-बाणकी कलाद्वारा संतुष्ट किया है ॥ ४ ॥

कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम्।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान् स्वयम् ॥ ५ ॥

जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर भगवान् शंकरने स्वयं ही अर्जुनके बलकी परीक्षा लेनेके लिये किरातवेष धारण करके उनके साथ युद्ध किया था ॥ ५ ॥

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरर्जुनम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ ६ ॥

वहाँ अस्त्रप्राप्तिके लिये विशेष उद्योगशील कुरुकुलरत्न अर्जुनको उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन लोकपालोंने भी दर्शन दिया था ॥ ६ ॥

नैतदुत्सहते चान्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात्।
साक्षाद् दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ ७ ॥

इस संसारमें अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है, जो इन लोकेश्वरोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सके ॥ ७ ॥

महेश्वरेण यो राजन् न जीर्णो ह्यष्टमूर्तिना।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ ८ ॥

राजन्! अष्टमूर्ति[1] भगवान् महेश्वर भी जिसे युद्धमें पराजित न कर सके, उन्हीं वीरवर अर्जुनको दूसरा कौन वीर पुरुष जीतनेका साहस कर सकता है ॥ ८ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ ९ ॥

भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचकर पाण्डवोंको कुपित करनेवाले आपके पुत्रोंने स्वयं ही इस रोमाञ्चकारी, अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्धको निमन्त्रित किया है ॥ ९ ॥

यत् तु प्रस्फुरमाणौष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत्।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ १० ॥

जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दोनों जाँघें दिखायी थीं उस समय यह देखकर भीमसेनने फड़कते हुए ओठोंसे जो बात कही थी, वह व्यर्थ नहीं हो सकती ॥ १० ॥

ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था—'पापी दुर्योधन! मैं तेरहवें वर्षके अन्तमें अपनी भयानक वेगवाली गदासे तुझ कपटी जुआरीकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ ११ ॥

सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चामिततेजसः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ १२ ॥

सभी पाण्डव प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। सभी अपरिमित तेजसे सम्पन्न हैं तथा सबको सभी अस्त्रोंका परिज्ञान है, अतः वे देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हैं ॥

मन्ये मन्युसमुद्धूताः पुत्राणां तव संयुगे।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति भार्यामर्षसमन्विताः॥ १३ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अपनी पत्नीके अपमान-जनित अमर्षसे युक्त और रोषसे उत्तेजित हो समस्त कुन्तीपुत्र संग्राममें आपके पुत्रोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

[1] १. सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण तथा चन्द्रमा—ये शिवजीकी आठ मूर्तियाँ हैं। (विष्णुपुराण १।८।८)

धृतराष्ट्र उवाच

किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः ।
पर्याप्तं वैरमेतावद् यत् कृष्णा सा सभां गता ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूत ! कर्णने कठोर बातें कहकर क्या किया, पूरा वैर तो इतनेसे ही बढ़ गया कि द्रौपदीको सभामें (केश पकड़कर) लाया गया ॥ १४ ॥

अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन् मन्दचेतसः ।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नावतिष्ठते ॥ १५ ॥

अब भी मेरे मूर्ख पुत्र चुपचाप बैठे हैं। उनका बड़ा भाई दुर्योधन विनय एवं नीतिके मार्गपर नहीं चलता ॥१५॥

ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक् ।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ॥ १६ ॥

सूत ! वह मन्दभागी दुर्योधन मुझे अन्धा, अकर्मण्य और अविवेकी समझकर मेरी बात भी नहीं सुनना चाहता ॥

ये चास्य सचिवा मन्दाः कर्णसौबलकादयः ।
ते तस्य भूयसो दोषान् वर्धयन्ति विचेतसः ॥ १७ ॥

कर्ण और शकुनि आदि जो उसके मूर्ख मन्त्री हैं, वे भी विचारशून्य होकर उसके अधिक-से-अधिक दोष बढ़ानेकी ही चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनामिततेजसा ।
निर्दहेयुर्मम सुतान् किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥ १८ ॥

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक छोड़े हुए बाण भी मेरे पुत्रोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं, फिर क्रोधपूर्वक छोड़े हुए बाणोंके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥

पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः ।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ १९ ॥

अर्जुनके बाहु-बलद्वारा चलाये और उनके महान् धनुषसे छूटे हुए दिव्यास्त्रमन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाण देवताओंका भी संहार कर सकते हैं ॥ १९ ॥

यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः ।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥ २० ॥

जिनके मन्त्री, संरक्षक और सुहृद् त्रिभुवननाथ, जनार्दन श्रीहरि हैं, वे किसे नहीं जीत सकते ? ॥ २० ॥

इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह संजय ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत् समेत इति श्रुतिः ॥ २१ ॥

संजय ! अर्जुनका यह पराक्रम तो बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि उन्होंने महादेवजीके साथ बाहुयुद्ध किया, यह मेरे सुननेमें आया है ॥ २१ ॥

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत् कृतं पुरा ।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ २२ ॥

आजसे पहले खाण्डववनमें अग्निदेवकी सहायताके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ किया है, वह तो सम्पूर्ण जगत्की आँखोंके सामने है ॥ २२ ॥

सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः ।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ॥ २३ ॥

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन, भीमसेन और यदुकुलतिलक वासुदेव श्रीकृष्ण क्रोधमें भरे हुए हैं, तब मुझे यह विश्वास कर लेना चाहिये कि शकुनि तथा अन्य मन्त्रियोंसहित मेरे सभी पुत्र सर्वथा जीवित नहीं रह सकते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रखेदविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वनमें पाण्डवोंका आहार

जनमेजय उवाच

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने ।
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! वीर पाण्डवोंको वनमें निर्वासित करके राजा धृतराष्ट्रने जो इतना शोक किया, यह सब व्यर्थ था ॥ १ ॥

कथं च राजा पुत्रं तमुपेक्षेताल्पचेतसम् ।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान् कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥

उस मन्दबुद्धि राजकुमार दुर्योधनको ही किसी तरह त्याग देना उनके लिये सर्वथा उचित था, जो महारथी पाण्डवोंको अपने दुर्व्यवहारसे कुपित करता जा रहा था ॥२॥

किमासीत् पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम् ।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ॥ ३ ॥

विप्रवर ! बताइये, पाण्डवलोग वनमें क्या भोजन करते थे ? जंगली फल-मूल या खेतीसे पैदा हुआ ग्रामीण अन्न ? इसका आप स्पष्ट वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

वानेयांश्च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान् ।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन् पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जंगली फल-मूल और खेतीसे पैदा हुए अन्नादि भी पहले ब्राह्मणोंको निवेदन करके फिर स्वयं खाते थे एवं सब लोगोंकी रक्षाके लिये केवल बाणोंके द्वारा ही हिंसक पशुओंको मारा करते थे ॥ ४ ॥

तांस्तु शूरान् महेष्वासांस्तदा निवसतो वने।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

राजन्! उन दिनों वनमें निवास करनेवाले महाधनुर्धर शूरवीर पाण्डवोंके साथ बहुत-से साग्निक (अग्निहोत्री) और निरग्निक (अग्निहोत्ररहित) ब्राह्मण भी रहते थे ॥५॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
दश मोक्षविदां तत्र यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिर जिनका पालन करते थे, वे महात्मा, स्नातक मोक्षवेत्ता ब्राह्मण दस हजारकी संख्यामें थे ॥ ६ ॥

रुरून् कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान् वनेचरान्।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

वे रुरुमृग, कृष्णमृग तथा अन्य जो मेध्य (पवित्र)* हिंसक वनजन्तु थे, उन सबको विविध बाणोंद्वारा मारकर उनके चर्म ब्राह्मणोंको आसनादि बनानेके लिये अर्पित कर देते थे ॥

न तत्र कश्चिद् दुर्वर्णो व्याधितो वापि दृश्यते।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥ ८ ॥

वहाँ उन ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके शरीरका रंग दूषित हो अथवा जो किसी रोगसे ग्रस्त हो। उनमेंसे कोई कृशकाय, दुर्बल, दीन अथवा भयभीत भी नहीं जान पड़ता था ॥ ८ ॥

पुत्रानिव प्रियान् भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान्।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

कुरुकुलतिलक धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंका प्रिय पुत्रोंकी भाँति तथा ज्ञातिजनोंका सहोदर भाइयोंके समान पालन पोषण करते थे ॥ ९ ॥

पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातींश्च यशस्विनी।
मातृवद् भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत् तदा ॥१०॥

इसी प्रकार यशस्विनी द्रौपदी भी पतियों तथा समस्त द्विजातियोंको माताके समान पहले भोजन कराकर पीछे बचा-खुचा आप खाती थी ॥ १० ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
यमौ प्रतीचीमथ वाप्युदीचीम्।
धनुर्धराणां सहितो मृगाणां
क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥११॥

राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशामें, भीमसेन दक्षिण दिशामें तथा नकुल-सहदेव पश्चिम एवं उत्तर दिशामें और कभी सब मिलकर नित्य वनमें निकल जाते और धनुषधारी (डाकुओं) तथा हिंसक पशुओंका संहार किया करते थे ॥ ११ ॥

तथा तेषां वसतां काम्यके वै
विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम्।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयु-
रधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥१२॥

इस प्रकार काम्यकवनमें अर्जुनसे वियुक्त एवं उनके लिये उत्कण्ठित होकर निवास करनेवाले पाण्डवोंके पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इतने समयतक उनका स्वाध्याय, जप और होम सदा पूर्ववत् चलता रहा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें पाण्डवोंके भोजनका वर्णनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके प्रति श्रीकृष्णादिके द्वारा की हुई दुर्योधनादिके वधकी प्रतिज्ञाका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम्।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
अब्रवीत् संजयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषरत्न जनमेजय! पाण्डवोंका वह अद्भुत एवं अलौकिक चरित्र सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रका मन चिन्ता और शोकमें डूब गया। वे अत्यन्त खिन्न हो उठे और लंबी एवं गरम साँसें खींचकर अपने सारथि संजयको निकट बुलाकर बोले—॥१-२॥

न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम्।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ॥ ३ ॥

'सूत! मैं बीते हुए द्यूतजनित घोर अन्यायका स्मरण करके दिन तथा रातमें क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता ॥३॥

तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम्।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥

* सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जानवरोंको मार देनेसे वे मारनेवालेको पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये उनको पवित्र कहा गया है।

'मैं देखता हूँ, पाण्डवोंके पराक्रम असह्य हैं। उनमें शौर्य, धैर्य तथा उत्तम धारणाशक्ति है। उन सब भाइयोंमें परस्पर अलौकिक प्रेम है ॥ ४ ॥

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

'देवपुत्र महाभाग नकुल सहदेव देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। वे दोनों ही पाण्डव युद्धमें प्रचण्ड हैं ॥ ५ ॥

दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥

'उनके आयुध दृढ़ हैं। वे दूरतक निशाना मारते हैं। युद्धके लिये उनका भी दृढ़ निश्चय है। वे दोनों ही बड़ी शीघ्रतासे हस्तसंचालन करते हैं। उनका क्रोध भी अत्यन्त दृढ़ है। वे सदा उद्योगशील और बड़े वेगवान् हैं ॥ ६ ॥

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥ ७ ॥
न शेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य संजय।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥

'जिस समय भीमसेन और अर्जुनको आगे रखकर वे दोनों सिंहके समान पराक्रमी और अश्विनीकुमारोंके समान दुःसह वीर युद्धके मुहानेपर खड़े होंगे, उस समय मुझे अपनी सेनाका कोई वीर शेष रहता नहीं दिखायी देता है। संजय! देवपुत्र महारथी नकुल-सहदेव युद्धमें अनुपम हैं। कोई भी रथी उनका सामना नहीं कर सकता ॥ ७-८ ॥

द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥
युधि सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥

'अमर्षमें भरे हुए माद्रीकुमार द्रौपदीको दिये गये उस कष्टको कभी क्षमा नहीं करेंगे। महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी, महातेजस्वी पाञ्चाल योद्धा और युद्धमें सत्यप्रतिज्ञ वासुदेव श्रीकृष्णसे सुरक्षित कुन्तीपुत्र निश्चय ही मेरे पुत्रोंकी सेनाको भस्म कर डालेंगे ॥ ९-१० ॥

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥

'सूतनन्दन! बलराम और श्रीकृष्णसे प्रेरित वृष्णिवंशी योद्धाओंके वेगको युद्धमें समस्त कौरव मिलकर भी नहीं सह सकते ॥ ११ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥

'उनके बीचमें जब भयानक पराक्रमी महान् धनुर्धर भीमसेन बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाली आकाशमें ऊपर उठी हुई गदा लिये विचरेंगे तब उन भीमकी गदाके वेगको तथा वज्रगर्जनके समान गाण्डीव धनुषकी टंकारको भी कोई नरेश नहीं सह सकता ॥ १२-१३ ॥

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १४ ॥

'उस समय मैं दुर्योधनके वशमें होनेके कारण अपने हितैषी सुहृदोंकी उन याद रखनेयोग्य बातोंको याद करूँगा, जिनका पालन मैंने पहले नहीं किया' ॥ १४ ॥

संजय उवाच

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः।
समर्थेनापि यन्मोहात् पुत्रस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजन्! आपके द्वारा यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है, जिसकी आपने जान-बूझकर उपेक्षा की है। (उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की है); वह यह है कि आपने समर्थ होते हुए भी मोहवश अपने पुत्रको कभी रोका नहीं ॥

श्रुत्वा हि निर्जितान् द्यूते पाण्डवान् मधुसूदनः।
त्वरितः काम्यके पार्थान् समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥

भगवान् मधुसूदनने ज्यों ही सुना कि पाण्डव द्यूतमें पराजित हो गये, त्यों ही वे काम्यकवनमें पहुँचकर कुन्तीपुत्रोंसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया ॥ १६ ॥

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार द्रुपदके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथी कैकय—इन सबने पाण्डवोंसे भेंट की ॥ १७ ॥

तैश्च यत् कथितं राजन् दृष्ट्वा पार्थान् पराजितान्।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ॥ १८ ॥

राजन्! पाण्डवोंको जूएमें पराजित देखकर उन सबने जो बातें कहीं, उन्हें गुप्तचरोंद्वारा जानकर मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया था ॥ १८ ॥

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः।
सारथ्ये फाल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान् हरिः ॥ १९ ॥

पाण्डवोंने मिलकर मधुसूदन श्रीकृष्णको युद्धमें अर्जुनका सारथि होनेके लिये वरण किया और श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १९ ॥

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथा गतान्।
कृष्णाजिनोत्तरासंगानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी कुन्तीपुत्रोंको उस अवस्थामें काला मृगचर्म ओढ़कर आये हुए देख उस समय अमर्षमें भर गये और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥ २१ ॥

'इन्द्रप्रस्थमें कुन्तीकुमारोंके पास जो समृद्धि थी तथा राजसूय-यज्ञके समय जिसे मैंने अपनी आँखों देखा था, वह अन्य नरेशोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ थी ॥ २१ ॥

यत्र सर्वान् महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान्।
सवङ्गाङ्गान् सपौण्ड्रोड्रान् सचोलद्राविडान्ध्रकान्॥२२॥
सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः।
सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लङ्कानिवासिनः॥२३॥
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान्।
पह्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनाञ्छकान्॥२४॥
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा।
जागुडान् रामठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान्॥२५॥
केकयान् मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि।
अद्राक्षमहमाहूतान् यज्ञे ते परिवेषकान् ॥ २६ ॥

'उस समय सब भूमिपाल पाण्डवोंके शस्त्रोंके तेजसे भयभीत थे। अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, उड्र, चोल द्राविड़, आन्ध्र, सागरतटवर्ती द्वीप तथा समुद्रके समीप निवास करनेवाले जो राजा थे, वे सभी राजसूय-यज्ञमें उपस्थित थे। सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लङ्कानिवासी, पश्चिमके राष्ट्र, सागरके निकटवर्ती सैकड़ों प्रदेश, पह्लव, दरद, समस्त किरात, यवन, शक, हार-हूण, चीन, तुषार, सैन्धव, जागुड़, रामठ, मुण्ड, स्त्रीराज्य, तङ्गण, केकय, मालव तथा काश्मीरदेशके नरेश भी राजसूय-यज्ञमें बुलाये गये थे और मैंने उन सबको आपके यज्ञमें रसोई परोसते देखा था ॥ २२–२६ ॥

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ॥ २७ ॥

'सब ओर फैली हुई आपकी उस चञ्चल समृद्धिको जिन लोगोंने छलसे छीन लिया है, उनके प्राण लेकर भी मैं उसे पुनः वापस लाऊँगा ॥ २७ ॥

रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च ॥ २८ ॥
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ॥ २९ ॥
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते।
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ॥ ३० ॥
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्।

'कुरुनन्दन! भरतकुलतिलक! बलराम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, वीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतुके साथ आक्रमण करके युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन एवं शकुनिको तथा और जो कोई योद्धा सामना करने आयेगा, उसे भी शीघ्र ही मारकर मैं आपकी सम्पत्ति लौटा लाऊँगा! तदनन्तर आप भाइयोंसहित हस्तिनापुरमें निवास करते हुए धृतराष्ट्रकी राज्यलक्ष्मीको पाकर इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये' ॥ २८–३०½ ॥

अथैनमब्रवीद् राजा तस्मिन् वीरसमागमे ॥ ३१ ॥
शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च।

तब राजा युधिष्ठिरने उस वीरसमुदायमें इन धृष्टद्युम्न आदि शूरवीरोंके सुनते हुए श्रीकृष्णसे कहा ॥ ३१½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जनार्दन! मैं आपकी सत्य वाणीको शिरोधार्य करता हूँ ॥ ३२ ॥

अमित्रान् मे महाबाहो सानुबन्धान् हनिष्यसि।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ॥ ३३ ॥
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम्।

महाबाहो! केशव! तेरहवें वर्षके बाद आप मेरे सम्पूर्ण शत्रुओंको उनके बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट कीजियेगा। ऐसा करके आप मेरे सत्य (वनवासके लिये की गयी प्रतिज्ञा) की रक्षा कीजिये। मैंने राजाओंकी मण्डलीमें वनवासकी प्रतिज्ञा की है ॥ ३३½ ॥

तद् धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ॥ ३४ ॥
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा।
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ॥ ३५ ॥

धर्मराजकी वह बात सुनकर धृष्टद्युम्न आदि सभासदोंने समयोचित मधुर वचनोंद्वारा अमर्षमें भरे हुए श्रीकृष्णको शीघ्र ही शान्त किया ॥ ३४-३५ ॥

पाञ्चालीं प्राहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः।
दुर्योधनस्तव क्रोधाद् देवि त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने क्लेशरहित हुई द्रौपदीसे भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए कहा—'देवि! दुर्योधन तुम्हारे क्रोधसे निश्चय ही प्राण त्याग देगा ॥ ३६ ॥

प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि।
ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा।
मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः ॥ ३७ ॥

'वरवर्णिनि! हम यह सच्ची प्रतिज्ञा करते हैं, तुम शोक न करो। कृष्णे! उस समय तुम्हें जूएमें जीती हुई देखकर जिन लोगोंने हँसी उड़ायी है, उनके मांस भेड़िये और गीध खायँगे और नोच-नोचकर ले जायँगे ॥ ३७ ॥

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टासि सभातले ॥ ३८ ॥

'इसी प्रकार जिन्होंने तुम्हें सभाभवनमें घसीटा है, उनके कटे हुए सिरोंको घसीटते हुए गीध और गीदड़ उनके रक्त पीयेंगे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत्॥ ३९ ॥

'पाञ्चालराजकुमारि ! तुम देखोगी कि उन दुष्टोंके शरीर इस पृथ्वीपर मांसाहारी गीदड़-गीध आदि पशु-पक्षियोंद्वारा बार-बार घसीटे और खाये जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चासि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ४० ॥

'जिन लोगोंने तुम्हें सभामें क्लेश पहुँचाया और जिन्होंने चुपचाप रहकर उस अन्यायकी उपेक्षा की है, उन सबके कटे हुए मस्तकोंका रक्त यह पृथ्वी पीयेगी' ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभ ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहतलक्षणाः ॥ ४१ ॥

भरतकुलतिलक ! इस प्रकार उन वीरोंने अनेक प्रकारकी बातें कही थीं । वे सब-के-सब तेजस्वी और शूरवीर हैं । उनके शुभ लक्षण अमिट हैं ॥ ४१ ॥

ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥ ४२ ॥

धर्मराजने तेरहवें वर्षके बाद युद्ध करनेके लिये उनका वरण किया है । वे महारथी वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे रखकर आक्रमण करेंगे ॥ ४२ ॥

रामश्च कृष्णश्च धनंजयश्च
प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः
पाञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥ ४३ ॥

एतान् सर्वान् लोकवीरानजेयान्
महात्मनः सानुबन्धान् ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्
क्रुद्धान् सिंहान् केसरिणो यथैव ॥ ४४ ॥

बलराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, केकयराजकुमार, द्रुपद और उनके पुत्र तथा मत्स्यनरेश विराट—ये सब-के-सब विश्व-विख्यात अजेय वीर हैं । ये महामना जब अपने सगे-सम्बन्धियों और सेनाके साथ धावा करेंगे, उस समय क्रोधमें भरे हुए केसरी सिंहोंके समान उन महावीरोंका समरमें जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष सामना करेगा ? ४३-४४

धृतराष्ट्र उवाच

यन्माब्रवीद् विदुरो द्यूतकाले
त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो
महाभयो भविता शोणितौघः ॥ ४५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जब जूआ खेला जा रहा था, उस समय विदुरने मुझसे जो यह बात कही थी कि नरेन्द्र ! यदि आप पाण्डवोंको जूएमें जीतेंगे तो निश्चय ही यह कौरवोंके लिये खूनकी धारासे भरा हुआ अत्यन्त भयंकर विनाश काल होगा ॥ ४५ ॥

मन्ये तथा तद् भवितेति सूत
यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्
गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४६ ॥

सूत ! विदुरने पहले जो बात कही थी, वह अवश्य ही उसी प्रकार होगी, ऐसा मेरा विश्वास है । वनवासका समय व्यतीत होनेपर पाण्डवोंके कथनानुसार यह घोर युद्ध होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(नलोपाख्यानपर्व)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन-युधिष्ठिर-संवाद, बृहदश्वका आगमन तथा युधिष्ठिरके पूछनेपर बृहदश्वके द्वारा नलोपाख्यानकी प्रस्तावना

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! अस्त्रविद्याके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक जानेपर भरतकुलभूषण पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यकवनमें निवास करने लगे ॥ २ ॥

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ ३ ॥
धनंजयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।
तद्वियोगार्दितान् सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक दिन एकान्त एवं पवित्र स्थानमें, जहाँ छोटी-छोटी हरी दूर्वा आदि घास उगी हुई थी, वे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष दुःखसे पीड़ित हो द्रौपदीके साथ बैठे और धनंजय अर्जुनके लिये चिन्ता करते हुए अत्यन्त दुःखमें भरे अश्रुगद्गद कण्ठसे उन्हींकी बातें करने लगे। अर्जुनके वियोगसे पीड़ित उन समस्त पाण्डवोंको शोक-सागरने अपनी लहरोंमें डुबो दिया ॥ ३-४ ॥

धनंजयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

पाण्डव राज्य छिन जानेसे तो दुखी थे ही। अर्जुनके विरहसे वे और भी क्लेशमें पड़ गये थे। उस समय महाबाहु भीमने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५ ॥

निदेशात् ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन् प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ ६ ॥

'महाराज ! आपकी आज्ञासे भरतवंशका रत्न अर्जुन तपस्याके लिये चला गया। हम सब पाण्डवोंके प्राण उसीमें बसते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन् विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ॥ ७ ॥

'यदि कहीं अर्जुनका नाश हुआ तो पुत्रोंसहित पाञ्चाल, हम पाण्डव, सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण——ये सब-के-सब नष्ट हो जायँगे ॥ ७ ॥

योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
भवन्नियोगाद् बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ८ ॥

'जो धर्मात्मा अर्जुन अनेक प्रकारके क्लेशोंका चिन्तन करते हुए आपकी आज्ञासे तपस्याके लिये गया, उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ? ॥ ८ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ ९ ॥

'जिस महापराक्रमी अर्जुनके बाहुबलका आश्रय लेकर हम संग्राममें शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई समझते हैं ॥ ९ ॥

यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १० ॥

'जिस धनुर्धर वीरके प्रभावसे प्रभावित होकर मैंने सभामें शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्रपुत्रोंको तुरंत ही यमलोक नहीं भेज दिया ॥ १० ॥

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥

'हम सब लोग बाहुबलसे सम्पन्न हैं और भगवान् वासुदेव हमारे रक्षक हैं तो भी हम आपके कारण अपने उठे हुए क्रोधको चुपचाप सह लेते हैं ॥ ११ ॥

वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान् परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ हमलोग कर्ण आदि शत्रुओंको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ १२ ॥

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥

'आपके जूएके दोषसे हमलोग पुरुषार्थयुक्त होकर भी दीन बन गये हैं और वे मूर्ख दुर्योधन आदि भेंटमें मिले हुए हमारे धनसे सम्पन्न हो इस समय अधिक बलशाली बन गये हैं ॥ १३ ॥

क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥

'महाराज ! आप क्षत्रियधर्मकी ओर तो देखिये। इस प्रकार वनमें रहना कदापि क्षत्रियोंका धर्म नहीं है ॥ १४ ॥

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद् राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥ १५ ॥

'विद्वानोंने राज्यको ही क्षत्रियका सर्वोत्तम धर्म माना है। आप क्षत्रियधर्मके ज्ञाता नरेश हैं। धर्मके मार्गसे विचलित न होइये ॥ १५ ॥

प्राग् द्वादशसमा राजन् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

'राजन् ! हमलोग बारह वर्ष बीतनेके पहले ही अर्जुनको वनसे लौटाकर और भगवान् श्रीकृष्णको बुलाकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार कर सकते हैं ॥ १६ ॥

व्यूढानीकान् महाराज जवेनैव महामते ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशाम्पते ॥ १७ ॥

सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान् ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ १८ ॥

'महाराज ! महामते ! धृतराष्ट्रके पुत्र कितनी ही सेनाओंकी मोर्चाबन्दी क्यों न कर लें, हम उन्हें शीघ्र यमलोकका पथिक बनाकर ही छोड़ेंगे । मैं स्वयं ही शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँगा । दुर्योधन, कर्ण अथवा दूसरा जो कोई योद्धा मेरा सामना करेगा, उसे भी अवश्य मारूँगा ॥१७-१८॥

मया प्रशमिते पश्चात् त्वमेष्यसि वनात् पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशाम्पते ॥ १९ ॥

'मेरे द्वारा शत्रुओंका संहार हो जानेपर आप फिर तेरह वर्षके बाद वनसे चले आइयेगा । प्रजानाथ ! ऐसा करनेपर आपको दोष नहीं लगेगा ॥ १९ ॥

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिंदम ।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥

'तात ! शत्रुदमन ! महाराज ! हम नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने किये हुए पापको धो-बहाकर उत्तम स्वर्गलोकमें चलेंगे ॥ २० ॥

एवमेतद् भवेद् राजन् यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद् भवान् धर्मपरायणः ॥ २१ ॥

'राजन् ! यदि ऐसा हो तो आप हमारे धर्मपरायण राजा अविवेकी और दीर्घसूत्री नहीं समझे जायँगे ॥ २१ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥

'शठता करने या जाननेवाले शत्रुओंको शठताके द्वारा ही मारना चाहिये, यह एक सिद्धान्त है । जो स्वयं दूसरोंपर छल-कपटका प्रयोग करता है, उसे छलसे भी मार डालनेमें पाप नहीं बताया गया है ॥ २२ ॥

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ॥ २३ ॥

'भरतवंशी महाराज ! धर्मशास्त्रमें इसी प्रकार धर्मपरायण धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा यहाँ एक दिन-रात एक संवत्सरके समान देखा जाता है ॥ २३ ॥

तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥

'प्रभो ! महाराज ! इसी प्रकार सदा यह वैदिक वचन सुना जाता है कि कृच्छ्रव्रतके अनुष्ठानसे एक वर्षकी पूर्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥

'अच्युत ! यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं तो तेरहवें दिनके बाद ही तेरह वर्षोंका समय बीत गया, ऐसा समझ लीजिये ॥ २५ ॥

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिंदम ।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ॥ २६ ॥

'शत्रुदमन ! यह दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालनेका अवसर आया है। राजन् ! वह सारी पृथ्वीको जबतक एक सूत्रमें बाँध ले, उसके पहले ही यह कार्य कर लेना चाहिये ॥

द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद् भवता कृतम् ।
प्रायेणाज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र ! जूएके खेलमें आसक्त होकर आपने ऐसा अनर्थ कर डाला कि प्रायः हम सब लोगोंको अज्ञातवासके संकटमें लाकर पटक दिया ॥ २७ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान् सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥

अधिगम्य च सर्वान् नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याधमपूरुषः ॥ २९ ॥

'मैं ऐसा कोई देश या स्थान नहीं देखता, जहाँ अत्यन्त दुष्टचित्त, दुरात्मा दुर्योधन अपने गुप्तचरोंद्वारा हमलोगोंका पता न लगा ले । वह नीच नराधम हम सब लोगोंका गुप्त निवास जान लेनेपर पुनः अपनी कपटपूर्ण नीतिद्वारा हमें इस वनवासमें ही डाल देगा ॥ २८-२९ ॥

यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान् दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥

'यदि वह पापी किसी प्रकार यह समझ ले कि हम अज्ञातवासकी अवधि पार कर गये हैं, तो वह उस दशामें हमें देखकर पुनः आपको ही जूआ खेलनेके लिये बुलायेगा ॥३०॥

द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवापनेष्यति ॥ ३१ ॥

'महाराज ! आप एक बार जूएके संकटसे बचकर दुबारा द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये थे, अतः मैं समझता हूँ, यदि पुनः आपका द्यूतके लिये आवाहन हो तो आप उससे पीछे न हटेंगे ३१

स तथाक्षेषु कुशलो निश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥

'नरेश्वर ! वह विवेकशून्य शकुनि जूआ फेंकनेकी कलामें कितना कुशल है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं, फिर तो उसमें हारकर आप पुनः वनवास ही भोगेंगे ॥ ३२ ॥

यद्यस्मान् सुमहाराज कृपणान् कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥

'महाराज ! यदि आप हमें दीन, हीन, कृपण ही बनाना चाहते हैं तो जबतक जीवन है, तबतक सम्पूर्ण वेदोक्त धर्मोंके पालनपर ही दृष्टि रखिये ॥ ३३ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥ ३४ ॥
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥

'अपना निश्चय तो यही है कि कपटीको कपटसे ही मारना चाहिये। यदि आपकी आज्ञा हो तो जैसे तृणकी राशिमें डाली हुई आग हवाका सहारा पाकर उसे भस्म कर डालती है, वैसे ही मैं जाकर अपनी शक्तिके अनुसार उस मूढ दुर्योधनका वध कर डालूँ; अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेनका मस्तक सूँघकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ३६ ॥

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ३७ ॥

'महाबाहो ! इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम तेरहवें वर्षके बाद गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जाकर युद्धमें सुयोधनको मार डालोगे ॥ ३७ ॥

यत् त्वमाभाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥ ३८ ॥

'किंतु शक्तिशाली वीर कुन्तीकुमार ! तुम जो यह कहते हो कि सुयोधनके वधका अवसर आ गया है, वह ठीक नहीं है। मैं झूठ नहीं बोल सकता, मुझमें यह आदत नहीं है ॥

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ ३९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम दुर्धर्ष वीर हो, छल-कपटका आश्रय लिये बिना भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले सुयोधनको सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट कर सकते हो ॥ ३९ ॥

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ ४० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर जब भीमसेनसे ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महाभाग महर्षि बृहदश्व वहाँ आ पहुँचे ॥ ४० ॥

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा सम्प्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने धर्मानुष्ठान करनेवाले उन महात्माको आया देख शास्त्रीय विधिके अनुसार मधुपर्कद्वारा उनका पूजन किया ॥ ४१ ॥

आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ४२ ॥

जब वे आसनपर बैठकर थकावटसे निवृत्त हो चुके अर्थात् विश्राम कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उनके पास ही बैठकर उन्हींकी ओर देखते हुए अत्यन्त दीनतापूर्ण वचन बोले—॥ ४२ ॥

अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ४३ ॥

'भगवन् ! पासे फेंककर खेले जानेवाले जूएके लिये मुझे बुलाकर छल-कपटमें कुशल तथा पासा डालनेकी कलामें निपुण धूर्त जुआरियोंने मेरे सारे धन तथा राज्यका अपहरण कर लिया है ॥ ४३ ॥

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ४४ ॥

'मैं जूएका मर्मज्ञ नहीं हूँ। फिर भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले उन दुष्टोंके द्वारा मेरी प्राणोंसे भी अधिक गौरवशालिनी पत्नी द्रौपदी केश पकड़कर भरी सभामें लायी गयी ॥ ४४ ॥

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन्महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥ ४५ ॥

'एक बार जूएके संकटसे बच जानेपर पुनः द्यूतका आयोजन करके उन्होंने मुझे जीत लिया और मृगचर्म पहिनाकर वनवासका अत्यन्त दारुण कष्ट भोगनेके लिये इस महान् वनमें निर्वासित कर दिया ॥ ४५ ॥

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणाः ॥ ४६ ॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥ ४७ ॥

'मैं अत्यन्त दुखी हो बड़ी कठिनाईसे वनमें निवास करता हूँ। जिस सभामें जूआ खेलनेका आयोजन किया गया था, वहाँ प्रतिपक्षी पुरुषोंके मुखसे मुझे अत्यन्त कठोर बातें सुननी पड़ी हैं। इसके सिवा द्यूत आदि कार्योंका उल्लेख करते हुए मेरे दुःखातुर सुहृदोंने जो संतापसूचक बातें कही हैं, वे सब मेरे हृदयमें स्थित हैं। मैं उन सब बातोंको याद करके सारी रात चिन्तामें निमग्न रहता हूँ ॥ ४६-४७ ॥

यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ॥ ४८ ॥

'इधर जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनमें हम सबके प्राण बसते हैं, वह भी हमसे अलग है। महात्मा अर्जुनके बिना मैं निष्प्राण-सा हो गया हूँ ॥ ४८ ॥

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितः ॥ ४९ ॥

'मैं सदा निरालस्य भावसे यही सोचा करता हूँ कि श्रेष्ठ,

दयालु और प्रियवादी अर्जुन कब अस्त्रविद्या सीखकर फिर यहाँ आयेगा और मैं उसे भर आँख देखूँगा ॥ ४९ ॥

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ५० ॥

'क्या मेरे-जैसा अत्यन्त भाग्यहीन राजा इस पृथ्वीपर कोई दूसरा भी है ? अथवा आपने कहीं मेरे-जैसे किसी राजाको पहले कभी देखा या सुना है । मेरा तो यह विश्वास है कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त दुखी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है'॥

बृहदश्व उवाच

यद् ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥ ५१ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥ ५२ ॥

बृहदश्व बोले—महाराज पाण्डुनन्दन ! तुम जो यह कह रहे हो कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त भाग्यहीन कोई पुरुष कहीं भी नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा । अनघ ! पृथ्वीपते ! यदि तुम सुनना चाहो तो मैं उस व्यक्तिका परिचय दूँगा, जो इस पृथ्वीपर तुमसे भी अधिक दुखी राजा था ॥ ५१-५२ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथैनमब्रवीद् राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मुनिसे कहा—'भगवन् ! अवश्य कहिये । जो मेरी-जैसी संकटपूर्ण स्थितिमें पहुँचा हुआ हो, उस राजाका चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच

शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ॥ ५४ ॥

बृहदश्वने कहा—राजन् ! अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले भूपाल ! तुम भाइयोंसहित सावधान होकर सुनो । इस पृथ्वीपर जो तुमसे भी अधिक दुखी राजा था, उसका परिचय देता हूँ ॥ ५४ ॥

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥ ५५ ॥

निषधदेशमें वीरसेन नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल हो गये हैं । उन्हींके पुत्रका नाम नल था । जो धर्म और अर्थके तत्त्वज्ञ थे ॥ ५५ ॥

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ॥ ५६ ॥

हमने सुना है कि राजा नलको उनके भाई पुष्करने छलसे ही जूएके द्वारा जीत लिया था और वे अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अपनी पत्नीके साथ वनवासका दुःख भोगने लगे थे ॥ ५६ ॥

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ५७ ॥

राजन्! उनके साथ न सेवक थे न रथ, न भाई थे न बान्धव। वनमें रहते समय उनके पास ये वस्तुएँ कदापि शेष नहीं थीं ॥

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसम्मितैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥ ५८ ॥

तुम तो देवतुल्य पराक्रमी वीर भाइयोंसे घिरे हुए हो । ब्रह्माजीके समान तेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं । अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुने ! मैं उत्तम महामना राजा नलका चरित्र विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ । आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वयुधिष्ठिरसंवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नल-दमयन्तीके गुणोंका वर्णन, उनका परस्पर अनुराग और हंसका दमयन्ती और नलको एक दूसरेके संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

आसीद् राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥

बृहदश्वने कहा—धर्मराज ! निषधदेशमें वीरसेनके पुत्र नल नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा हो गये हैं । वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, रूपवान् और अश्वसंचालनकी कलामें कुशल थे ॥ १ ॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥

जैसे देवराज इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके शिरमौर हैं, उसी प्रकार राजा नलका स्थान समस्त राजाओंके ऊपर था । वे तेजमें भगवान् सूर्यके समान सर्वोपरि थे । निषध देशके महाराज नल बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, शूरवीर, द्यूत-क्रीड़ाके प्रेमी, सत्यवादी, महान् और एक अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे ॥ २-३ ॥

ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥

वे श्रेष्ठ स्त्रियोंको प्रिय थे और उदार, जितेन्द्रिय, प्रजाजनों-के रक्षक तथा साक्षात् मनुके समान धनुर्धरोंमें उत्तम थे ॥४॥

तथैवासीद् विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार उन दिनों विदर्भदेशमें भयानक पराक्रमी भीम नामक राजा राज्य करते थे । वे शूरवीर और सर्व-सद्गुणसम्पन्न थे । उन्हें कोई संतान नहीं थी । अतः संतान-प्राप्तिकी कामना उनके हृदयमें सदा बनी रहती थी ॥ ५ ॥

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत् सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥ ६ ॥

भारत ! राजा भीमने अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर संतान-प्राप्तिके लिये महान् प्रयत्न किया । उन्हीं दिनों उनके यहाँ दमन नामक ब्रह्मर्षि पधारे ॥ ६ ॥

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ तथा संतानकी इच्छावाले उस भीमने अपनी रानीसहित उन महातेजस्वी मुनिको पूर्ण सत्कार करके संतुष्ट किया । महायशस्वी दमन मुनिने प्रसन्न होकर पत्नी-सहित राजा भीमको एक कन्या और तीन उदार पुत्र प्रदान किये ॥ ७-८ ॥

दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥

कन्याका नाम था दमयन्ती और पुत्रोंके नाम थे—दम, दान्त तथा दमन । ये सभी बड़े तेजस्वी थे । राजाके तीनों पुत्र गुणसम्पन्न, भयंकर वीर और भयानक पराक्रमी थे ॥९॥

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली दमयन्ती रूप, तेज, यश, श्री और सौभाग्यके द्वारा तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्विनी हुई ॥

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृताम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ॥ ११ ॥

जब उसने युवावस्थामें प्रवेश किया, उस समय सौ दासियाँ और सौ सखियाँ वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सदा उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं । मानो देवाङ्गनाएँ शची-की उपासना करती हों ॥ ११ ॥

तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १२ ॥

अनिन्द्य सुन्दर अङ्गोंवाली भीमकुमारी दमयन्ती सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंकी मण्डलीमें वैसी ही शोभा पाती थी, जैसे मेघमालाके बीच विद्युत् प्रकाशित हो रही हो ॥ १२ ॥

अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग् रूपवती क्वचित् ॥ १३ ॥

वह लक्ष्मीके समान अत्यन्त सुन्दर रूपसे सुशोभित थी । उसके नेत्र विशाल थे । देवताओं और यक्षोंमें भी वैसी सुन्दरी कन्या कहीं देखनेमें नहीं आती थी ॥ १३ ॥

मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वाथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १४ ॥

मनुष्यों तथा अन्य वर्गके लोगोंमें भी वैसी सुन्दरी पहले न तो कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी । उस बालाको देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता था । वह देववर्गमें भी श्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाती थी ॥ १४ ॥

नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ नल भी इस भूतलके मनुष्योंमें अनुपम सुन्दर थे । उनका रूप देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो नलके आकारमें स्वयं मूर्तिमान् कामदेव ही उत्पन्न हुआ हो ॥१५॥

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १६ ॥

लोग कौतूहलवश दमयन्तीके समीप नलकी प्रशंसा करते थे और निषधराज नलके निकट बार-बार दमयन्तीके सौन्दर्यकी सराहना किया करते थे ॥ १६ ॥

तयोरदृष्टः कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार निरन्तर एक दूसरेके गुणोंको सुनते-सुनते उन दोनोंमें बिना देखे ही परस्पर काम (अनुराग) उत्पन्न हो गया । उनकी वह कामना दिन-दिन बढ़ती ही चली गयी ॥ १७ ॥

अशक्नुवन् नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १८ ॥

जब राजा नल उस कामवेदनाको हृदयके भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये, तब वे अन्तःपुरके समीपवर्ती उपवनमें जाकर एकान्तमें बैठ गये ॥ १८ ॥

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उनकी दृष्टि कुछ हंसोंपर पड़ी, जो सुवर्णमय पंखोंसे विभूषित थे । वे उसी उपवनमें विचर रहे थे । राजाने उनमेंसे एक हंसको पकड़ लिया ॥ १९ ॥

ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम् ॥ २० ॥

तब आकाशचारी हंसने उस समय नलसे कहा—'राजन् ! आप मुझे न मारें । मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा ॥ २० ॥

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'निषधनरेश ! मैं दमयन्तीके निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें कभी स्थान न देगी' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २२ ॥

हंसके ऐसा कहनेपर राजा नलने उसे छोड़ दिया । फिर वे हंस वहाँसे उड़कर विदर्भ देशमें गये ॥ २२ ॥

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदान्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान् खगान् ॥ २३ ॥

तब विदर्भनगरीमें जाकर वे सभी हंस दमयन्तीके निकट उतरे । दमयन्तीने भी उन अद्भुत पक्षियोंको देखा ॥ २३ ॥

सा तानद्भुतरूपान् वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २४ ॥

सखियोंसे घिरी हुई राजकुमारी दमयन्ती उन अपूर्व पक्षियोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और तुरंत ही उन्हें पकड़नेकी चेष्टा करने लगी ॥ २४ ॥

अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान् हंसान् समुपाद्रवन् ॥ २५ ॥

तब हंस उस प्रमदावनमें सब ओर विचरण करने लगे । उस समय सभी राजकन्याओंने एक-एक करके उन सभी हंसोंका पीछा किया ॥ २५ ॥

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ २६ ॥

दमयन्ती जिस हंसके निकट दौड़ रही थी, उसने उससे मानवी वाणीमें कहा—॥ २६ ॥

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ॥ २७ ॥

'राजकुमारी दमयन्ती ! सुनो, निषधदेशमें नल नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो अश्विनीकुमारोंके समान सुन्दर हैं । मनुष्योंमें तो कोई उनके समान है ही नहीं ॥ २७ ॥

कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ।
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ॥ २८ ॥

सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ।
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ॥ २९ ॥

दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ।
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः ॥ ३० ॥
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत् ।

'सुन्दरि ! रूपकी दृष्टिसे तो वे मानो स्वयं मूर्तिमान् कामदेव-से ही प्रतीत होते हैं । सुमध्यमे ! यदि तुम उनकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और यह मनोहर रूप सफल हो जाय । हमलोगोंने देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा

राक्षसोंको भी देखा है; परंतु हमारी दृष्टिमें अबतक उनके जैसा कोई भी पुरुष पहले कभी नहीं आया है। तुम रमणियोंमें रत्नस्वरूपा हो और नल पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। यदि किसी विशिष्ट नारीका विशिष्ट पुरुषके साथ संयोग हो तो वह विशेष गुणकारी होता है ॥ २८–३०½ ॥

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशांपते ॥ ३१ ॥
अब्रवीत् तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद।
तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशाम्पते।
पुनरागम्य निषधान् नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

राजन्! हंसके इस प्रकार कहनेपर दमयन्तीने उससे कहा—'पक्षिराज! तुम नलके निकट भी ऐसी ही बातें कहना।' राजन्! विदर्भराजकुमारी दमयन्तीसे 'तथास्तु' कहकर वह हंस पुनः निषधदेशमें आया और उसने नलसे सब बातें निवेदन कीं ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें हंसदमयन्तीसंवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और इन्द्रकी बातचीत, दमयन्तीके स्वयंवरके लिये राजाओं तथा लोकपालोंका प्रस्थान

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! दमयन्तीने जबसे हंसकी बातें सुनीं, तबसे राजा नलके प्रति अनुरक्त हो जानेके कारण वह अस्वस्थ रहने लगी ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके मनमें सदा चिन्ता बनी रहती थी। स्वभावमें दैन्य आ गया। चेहरेका रंग फीका पड़ गया और दमयन्ती दिन-दिन दुबली होने लगी। उस समय वह प्रायः लम्बी साँसें खींचती रहती थी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥ ३ ॥

ऊपरकी ओर निहारती हुई सदा नलके ध्यानमें परायण रहती थी। देखनेमें उन्मत्त-सी जान पड़ती थी। उसका शरीर पाण्डुवर्णका हो गया। कामवेदनाकी अधिकतासे उसकी चेतना क्षण-क्षणमें विलुप्त-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित्।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥ ४ ॥

उसकी शय्या, आसन तथा भोग-सामग्रियोंमें कहीं भी प्रीति नहीं होती थी। वह न तो रातमें सोती और न दिनमें ही। बारंबार 'हाय-हाय' करके रोती ही रहती थी ॥ ४ ॥

तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ॥ ५ ॥
न्यवेदयत् तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् स्वां सुतां प्रति।
किमर्थं दुहिता मेऽद्य नातिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥ ७ ॥

उसकी वैसी आकृति और अस्वस्थ-अवस्थाका क्या कारण है, यह सखियोंने संकेतसे जान लिया। तदनन्तर दमयन्तीकी सखियोंने विदर्भनरेशको उसकी उस अस्वस्थ-अवस्थाके विषयमें सूचना दी। सखियोंके मुखसे दमयन्तीके विषयमें वैसी बात सुनकर राजा भीमने बहुत सोचा-विचारा, परंतु अपनी पुत्रीके लिये कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य उन्हें नहीं सूझ पड़ा। वे सोचने लगे कि 'क्यों मेरी पुत्री आजकल स्वस्थ नहीं दिखायी देती है?' ॥ ५–७ ॥

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम्।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम्॥ ८॥

राजाने बहुत सोचने-विचारनेके बाद यह निश्चय किया कि मेरी पुत्री अब युवावस्थामें प्रवेश कर चुकी, अतः दमयन्तीके लिये स्वयंवर रचाना ही उन्हें अपना विशेष कर्तव्य दिखायी दिया॥ ८॥

स संनिमन्त्रयामास महीपालान् विशाम्पतिः।
एषोऽनुभूयतां वीराः स्वयंवर इति प्रभो॥ ९॥

राजन्! विदर्भनरेशने सब राजाओंको इस प्रकार निमन्त्रित किया—'वीरो! मेरे यहाँ कन्याका स्वयंवर है। आपलोग पधारकर इस उत्सवका आनन्द लें'॥ ९॥

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात्॥ १०॥
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम्।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः॥ ११॥

दमयन्तीका स्वयंवर होने जा रहा है, यह सुनकर सभी नरेश विदर्भराज भीमके आदेशसे हाथी, घोड़ों तथा रथोंकी तुमुल ध्वनिसे पृथ्वीको गुँजाते हुए उनकी राजधानीमें गये। उस समय उनके साथ विचित्र माला एवं आभूषणोंसे विभूषित बहुत-से सैनिक देखे जा रहे थे॥ १०-११॥

तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम्।
यथार्हमकरोत् पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः॥ १२॥

महाबाहु राजा भीमने वहाँ पधारे हुए उन महामना नरेशोंका यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वे उनसे पूजित हो वहीं रहने लगे॥ १२॥

एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ॥ १३॥
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ॥ १४॥

इसी समय देवर्षिप्रवर महान् व्रतधारी महाप्राज्ञ नारद और पर्वत दोनों महात्मा इधरसे घूमते हुए इन्द्रलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देवराजके भवनमें प्रवेश किया। उस भवनमें उनका विशेष आदर-सत्कार एवं पूजन किया गया। १३-१४।

तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम्।
पप्रच्छानामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः॥ १५॥

उन दोनोंकी पूजा करके भगवान् इन्द्रने उनसे उन दोनोंके तथा सम्पूर्ण जगत्के कुशल-मङ्गल एवं स्वस्थताका समाचार पूछा॥ १५॥

नारद उवाच

आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर।
लोके च मघवन् कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो॥ १६॥

तब नारदजीने कहा—प्रभो! देवेश्वर! हमलोगोंकी सर्वत्र कुशल है और समस्त लोकमें भी राजालोग सकुशल हैं॥ १६॥

बृहदश्व उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः॥ १७॥
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक्॥ १८॥

बृहदश्व कहते हैं—राजन्! नारदकी बात सुनकर बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रने उनसे पूछा—'मुने! जो धर्मज्ञ भूपाल अपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हैं और पीठ न दिखाकर लड़ते समय किसी शस्त्रके आघातसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनके लिये हमारा यह स्वर्गलोक अक्षय हो जाता है और मेरी ही तरह उन्हें भी यह मनोवाञ्छित भोग प्रदान करता है॥ १७-१८॥

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम्।
आगच्छतो महीपालान् दयितानतिथीन् मम॥ १९॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत।

'वे शूरवीर क्षत्रिय कहाँ हैं? अपने उन प्रिय अतिथियोंको आजकल मैं यहाँ आते नहीं देख रहा हूँ' इन्द्रके ऐसा पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया॥ १९½॥

नारद उवाच

शृणु मे मघवन् येन न दृश्यन्ते महीक्षितः॥ २०॥
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः॥ २१॥

नारद बोले—मघवन्! मैं वह कारण बताता हूँ, जिससे राजालोग आजकल यहाँ नहीं दिखायी देते, सुनिये। विदर्भनरेश भीमके यहाँ दमयन्ती नामसे प्रसिद्ध एक कन्या उत्पन्न हुई है, जो मनोहर रूप-सौन्दर्यमें पृथ्वीकी सम्पूर्ण युवतियोंको लाँघ गयी है॥ २०-२१॥

तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता न चिरादिव।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥ २२॥

इन्द्र! अब शीघ्र ही उसका स्वयंवर होनेवाला है, उसीमें सब राजा तथा राजकुमार जा रहे हैं॥ २२॥

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन॥ २३॥

बल और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र! दमयन्ती सम्पूर्ण जगत्का एक अद्भुत रत्न है। इसलिये सब राजा उसे पानेकी विशेष अभिलाषा रखते हैं॥ २३॥

एतस्मिन् कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः॥ २४॥

यह बात हो ही रही थी कि देवश्रेष्ठ लोकपालगण अग्नि-सहित देवराजके समीप आये ॥ २४ ॥

ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत्।
श्रुत्वैव चाब्रुवन् हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन सबने नारदजीकी ये विशिष्ट बातें सुनीं। सुनते ही वे सब-के-सब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण हो बोले--हमलोग भी उस स्वयंवरमें चलें ॥ २५ ॥

ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ॥ २६ ॥

महाराज ! तदनन्तर वे सब देवता अपने सेवकगणों और वाहनोंके साथ विदर्भदेशमें गये, जहाँ समस्त भूपाल एकत्र हुए थे ॥ २६ ॥

नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम्।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥२७॥

कुन्तीनन्दन ! उदारहृदय राजा नल भी विदर्भनगरमें समस्त राजाओंका समागम सुनकर दमयन्तीमें अनुरक्त हो वहाँ गये ॥ २७ ॥

अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम्।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसम्पदा ॥ २८ ॥

उस समय देवताओंने पृथ्वीपर मार्गमें खड़े हुए राजा नलको देखा। रूप-सम्पत्तिकी दृष्टिसे वे साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव-से जान पड़ते थे ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम्।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसम्पदा ॥ २९ ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले महाराज नलको देखकर वे लोकपाल उनके रूप-वैभवसे चकित हो दमयन्तीको पानेका संकल्प छोड़ बैठे ॥ २९ ॥

ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः।
अब्रुवन् नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ॥ ३० ॥

राजन् ! तब उन देवताओंने अपने विमानोंको आकाशमें रोक दिया और वहाँसे नीचे उतरकर निषधनरेशसे कहा--॥

भो भो निषधराजेन्द्र नल सत्यव्रतो भवान्।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ॥ ३१ ॥

'निषधदेशके महाराज नरश्रेष्ठ नल ! आप सत्यव्रती हैं, हमलोगोंकी सहायता कीजिये। हमारे दूत बन जाइये' ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि इन्द्रनारदसंवादे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें इन्द्रनारदसंवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दूत बनकर राजमहलमें जाना और दमयन्तीको देवताओंका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत।
अथैतान् परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १ ॥
के वै भवन्तः कश्चासौ यस्याहं दूत ईप्सितः।
किं च तद् वो मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत ! देवताओंसे उनकी सहायता करनेकी प्रतिज्ञा करके राजा नलने हाथ जोड़ पास जाकर उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं ? और वह कौन व्यक्ति है, जिसके पास जानेके लिये आपने मुझे दूत बनानेकी इच्छा की है तथा आपलोगोंका वह कौन-सा कार्य है, जो मेरेद्वारा सम्पन्न होने योग्य है, ठीक-ठीक बताइये' ॥ १-२ ॥

एवमुक्तो नैषधेन मघवानभ्यभाषत।
अमरान् वै निबोधास्मान् दमयन्त्यर्थमागतान् ॥ ३ ॥

निषधराज नलके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रने कहा—'भूपाल ! तुम हमें देवता समझो, हम दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ ३ ॥

अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च तथैवायमपां पतिः।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ॥ ४ ॥
त्वं वै समागतानस्मान् दमयन्त्यै निवेदय।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायान्ति दिदृक्षवः ॥ ५ ॥

'मैं इन्द्र हूँ, ये अग्निदेव हैं, ये जलके स्वामी वरुण और ये प्राणियोंके शरीरका नाश करनेवाले साक्षात् यमराज हैं। आप दमयन्तीके पास जाकर उसे हमारे आगमनकी सूचना दे दीजिये और कहिये—महेन्द्र आदि लोकपाल तुम्हें देखनेके लिये आ रहे हैं ॥ ४-५ ॥

प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ॥ ६ ॥

'इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम—ये देवता लोग तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। तुम उनमेंसे किसी एक देवताको पतिरूपमें चुन लो' ॥

एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
एकार्थं समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥ ७ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर नल हाथ जोड़कर बोले—'देवताओ ! मेरा भी एकमात्र यही प्रयोजन है, जो आपलोगोंका है; अतः एक ही प्रयोजनके लिये आये हुए मुझे दूत बनाकर न भेजिये' ॥ ७ ॥

कथं तु जातसंकल्पः स्त्रियमुत्सृजते पुमान्।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत् क्षमन्तु महेश्वराः ॥ ८ ॥

'देवेश्वरो! जिसके मनमें किसी स्त्रीको प्राप्त करनेका संकल्प हो गया है, वह पुरुष उसी स्त्रीको दूसरेके लिये कैसे छोड़ सकता है? अतः आपलोग ऐसी बात कहनेके लिये मुझे क्षमा करें' ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध।
न करिष्यसि कस्मात् त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥ ९ ॥

देवताओंने कहा—निषधनरेश! तुम पहले हमलोगोंसे हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हो, फिर तुम उस प्रतिज्ञाका पालन कैसे नहीं करोगे? इसलिये निषधराज! तुम शीघ्र जाओ; देर न करो ॥ ९ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत्।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ १० ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! उन देवताओंके ऐसा कहनेपर निषधनरेशने पुनः उनसे पूछा—'विदर्भराजके सभी भवन (पहरेदारोंसे) सुरक्षित हैं। मैं उनमें कैसे प्रवेश कर सकता हूँ?' ॥ १० ॥

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥ ११ ॥

तब इन्द्रने पुनः उत्तर दिया—'तुम वहाँ प्रवेश कर सकोगे।' तत्पश्चात् राजा नल 'तथास्तु' कहकर दमयन्तीके महलमें गये ॥ ११ ॥

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम्।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ १२ ॥

वहाँ उन्होंने देखा, सखियोंसे घिरी हुई परम सुन्दरी विदर्भराजकुमारी दमयन्ती अपने सुन्दर शरीर और दिव्य कान्तिसे अत्यन्त उद्भासित हो रही है ॥ १२ ॥

अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम्।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १३ ॥

उसके अङ्ग परम सुकुमार हैं, कटिके ऊपरका भाग अत्यन्त पतला है और नेत्र बड़े सुन्दर हैं एवं वह अपने तेजसे चन्द्रमाकी प्रभाको भी तिरस्कृत-सी कर रही है ॥१३॥

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम्।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १४ ॥

उस मनोहर मुसकानवाली राजकुमारीको देखते ही नलके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; तथापि अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे उन्होंने उस कामवेदनाको मनमें ही रोक लिया ॥ १४ ॥

ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः परमाङ्गनाः।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १५ ॥

निषधराजको वहाँ आये देख अन्तःपुरकी सारी सुन्दरी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और उनके तेजसे तिरस्कृत हो अपने आसनोंसे उठकर खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥

अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यचकित होकर उन सबने राजा नलके सौन्दर्यकी प्रशंसा की। उन्होंने उनसे वार्तालाप नहीं किया; परंतु मन-ही-मन उनका बड़ा आदर किया ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ॥ १७ ॥

वे सोचने लगीं—'अहो! इनका रूप अद्भुत है, कान्ति बड़ी मनोहर है तथा इन महात्माका धैर्य भी अनूठा है। न जाने ये हैं कौन? सम्भव है, देवता, यक्ष अथवा गन्धर्व हों' ॥ १७ ॥

न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १८ ॥

नलके तेजसे प्रतिहत हुई वे लजीली सुन्दरियाँ उनसे कुछ बोल भी न सकीं ॥ १८ ॥

अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १९ ॥

तब मुसकराकर बातचीत करनेवाली दमयन्तीने विस्मित होकर मुसकराते हुए वीर नलसे इस प्रकार पूछा—॥ १९ ॥

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन।
प्राप्तोऽस्यमरवद् वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥ २० ॥
कथमागमनं चेह कथं चासि न लक्षितः।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह।

'आप कौन हैं? आपके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष एवं परम सुन्दर हैं। आप मेरे हृदयकी कामाग्निको बढ़ा रहे हैं। निष्पाप वीर! आप देवताओंके समान यहाँ आ पहुँचे हैं। मैं आपका परिचय पाना चाहती हूँ। आपका इस रनिवासमें आना कैसे सम्भव हुआ? आपको किसीने देखा कैसे नहीं? मेरा यह महल अत्यन्त सुरक्षित है और यहाँके राजाका शासन बड़ा कठोर है—वे अपराधियोंको बड़ा कठोर दण्ड देते हैं।' विदर्भराजकुमारीके ऐसा पूछनेपर नलने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २०-२१½ ॥

नल उवाच

नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ॥ २२ ॥
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥ २३ ॥

नलने कहा—कल्याणि ! तुम मुझे नल समझो । मैं देवताओंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ । इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं । शोभने ! तुम उनमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ॥ २२-२३ ॥

तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाप्यवारयत् ॥ २४ ॥

उन्हीं देवताओंके प्रभावसे मैं इस महलके भीतर आया हूँ और मुझे कोई देख न सका है । भीतर प्रवेश करते समय न तो किसीने मुझे देखा है और न रोका ही है ।२४।

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥ २५ ॥

भद्रे ! इसीलिये श्रेष्ठ देवताओंने मुझे यहाँ भेजा है । शुभे ! इसे सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा निश्चय करो॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलके देवदूत बनकर दमयन्तीके पास जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दमयन्तीसे वार्तालाप करना और लौटकर देवताओंको उसका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत्।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दमयन्तीने अपनी श्रद्धाके अनुसार देवताओंको नमस्कार करके नलसे हँसकर कहा—'महाराज ! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ १ ॥

अहं चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किंचन।
तत् सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ॥ २ ॥

'नरेश्वर ! मैं तथा मेरा जो कुछ दूसरा धन है, वह सब आपका है। आप पूर्ण विश्वस्त होकर मेरे साथ विवाह कीजिये॥

हंसानां वचनं यत् तु तन्मां दहति पार्थिव।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥

'भूपाल ! हंसोंकी जो बात मैंने सुनी, वह (मेरे हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित करके सदा) मुझे दग्ध करती रहती है। वीर ! आपहीको पानेके लिये मैंने यहाँ समस्त राजाओंका सम्मेलन कराया है ॥ ३ ॥

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥ ४ ॥

'मानद ! आपके चरणोंमें भक्ति रखनेवाली मुझ दासीको यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा फाँसीको निमित्त बनाकर अपना प्राण त्याग दूँगी' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर राजा नलने उससे पूछा—'(तुम्हें पानेके लिये उत्सुक) लोकपालोंके होते हुए तुम एक साधारण मनुष्यको कैसे पति बनाना चाहती हो ? ॥ ५ ॥

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम्।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥

'जिन लोकस्रष्टा महामना ईश्वरोंके चरणोंकी धूलके समान भी मैं नहीं हूँ, उन्हींकी ओर तुम्हें मन लगाना चाहिये ॥ ६ ॥

विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! देवताओंके विरुद्ध चेष्टा करनेवाला मानव मृत्युको प्राप्त हो जाता है; अतः तुम मुझे बचाओ और उन श्रेष्ठ देवताओंका ही वरण करो ॥७॥

विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान् प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥ ८ ॥

तथा देवताओंको ही पाकर निर्मल वस्त्र, दिव्य एवं विचित्र पुष्पहार तथा मुख्य-मुख्य आभूषणोंका सुख भोगो ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ९ ॥

'जो इस सारी पृथ्वीको संक्षिप्त करके पुनः अपना ग्रास बना लेते हैं, उन देवेश्वर अग्निको कौन नारी अपना पति न चुनेगी ? ॥ ९ ॥

यस्य दण्डभयात् सर्वे भूतग्रामाः समागताः।
धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम् ॥ १० ॥

'जिनके दण्डके भयसे संसारमें आये हुए समस्त प्राणि-समुदाय धर्मका ही पालन करते हैं, उन यमराजको कौन अपना पति नहीं वरेगी ? ॥ १० ॥

धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम् ।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ११ ॥

'दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाले धर्मात्मा महामना सर्वदेवेश्वर महेन्द्रका कौन नारी पतिरूपमें वरण न करेगी ? ॥

क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे ।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ॥ १२ ॥

'यदि तुम ठीक समझती हो तो लोकपालोंमें प्रसिद्ध वरुणको निःशङ्क होकर अपना पति बनाओ । यह एक हितैषी सुहृद्का वचन है, इसे सुनो' ॥ १२ ॥

नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाथ वारिणा ॥ १३ ॥

तदनन्तर निषधराज नलके ऐसा कहनेपर दमयन्ती शोकाश्रुओंसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा देखती हुई इस प्रकार बोली—॥ १३ ॥

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते ।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

'पृथ्वीपते ! मैं सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार करके आपहीको अपना पति चुनती हूँ । यह मैंने आपसे सच्ची बात कही है' ॥ १४ ॥

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
दौत्येनागत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १५ ॥

ऐसा कहकर दमयन्ती दोनों हाथ जोड़े थर-थर काँपने लगी । उस अवस्थामें राजा नलने उससे कहा—'कल्याणि ! मैं इस समय दूतका कार्य करनेके लिये आया हूँ; अतः भद्रे ! इस समय वही करो जो मेरे स्वरूपके अनुरूप हो ॥

कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः ।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ॥ १६ ॥

'मैं देवताओंके सामने प्रतिज्ञा करके विशेषतः परोपकारके लिये प्रयत्न आरम्भ करके अब यहाँ स्वार्थ-साधनके लिये कैसे उत्साहित हो सकता हूँ ? ॥ १६ ॥

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः ।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १७ ॥

'यदि यह धर्म सुरक्षित रहे तो उससे मेरे स्वार्थकी भी सिद्धि हो सकती है । भद्रे ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मैं इस प्रकार धर्मयुक्त स्वार्थकी सिद्धि करूँ' ॥ १७ ॥

ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ।
येन दोषो न भविता तव राजन् कथंचन ॥ १९ ॥

यह सुनकर पवित्र मुसकानवाली दमयन्ती राजा नलसे धीरे-धीरे अश्रुगद्गद वाणीमें बोली—'नरेश्वर ! मैंने उस निर्दोष उपायको ढूँढ़ निकाला है, राजन् ! जिससे आपको किसी प्रकार दोष नहीं लगेगा ॥ १८-१९ ॥

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ॥ २० ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप और इन्द्र आदि सब देवता एक ही साथ उस रङ्गमण्डपमें पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ॥ २० ॥

ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ॥ २१ ॥

'नरेश्वर ! नरव्याघ्र ! तदनन्तर मैं उन लोकपालोंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी । ऐसा करनेसे (आपको कोई) दोष नहीं लगेगा' ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशाम्पते ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! विदर्भराजकुमारीके ऐसा कहनेपर राजा नल पुनः वहीं लौट आये, जहाँ देवताओंसे उनकी भेंट हुई थी ॥ २२ ॥

तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः ।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन् वृत्तान्तं सर्वमेव तम् ॥ २३ ॥

महान् शक्तिशाली लोकपालोंने इस प्रकार राजा नलको लौटते देखा और उन्हें देखकर उनसे सारा वृत्तान्त पूछा—।२३।

कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती शुचिस्मिता ।
किमब्रवीच्च नः सर्वान् वद भूमिप तेऽनघ ॥ २४ ॥

'राजन् ! क्या तुमने पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीको देखा है ? पापरहित भूपाल ! हम सब लोगोंको उसने क्या संदेश दिया, बताओ' ॥ २४ ॥

नल उवाच

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम् ।
प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ॥ २५ ॥

नलने कहा—देवताओ ! आपकी आज्ञा पाकर मैं दमयन्तीके महलमें गया । उसकी ड्योढ़ी विशाल थी और दण्डधारी बूढ़े रक्षक उसे घेरकर पहरा दे रहे थे ॥ २५ ॥

प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान् नरः ।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ॥ २६ ॥

आपलोगोंके प्रभावसे उसमें प्रवेश करते समय मुझे वहाँ उस राजकन्या दमयन्तीके सिवा दूसरे किसी मनुष्यने नहीं देखा ॥ २६ ॥

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः।
विस्मिताश्चाभवन् सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ॥ २७ ॥

दमयन्तीकी सखियोंको भी मैंने देखा और उन सखियोंने भी मुझे देखा। देवेश्वरो ! वे सब मुझे देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ २७ ॥

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना।
मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ देवताओ ! जब मैं आपलोगोंके प्रभावका वर्णन करने लगा, उस समय सुमुखी दमयतीने मुझमें ही अपना मानसिक संकल्प रखकर मेरा ही वरण किया ॥ २८ ॥

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः।
त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयंवरः ॥ २९ ॥

उस बालाने मुझसे यह भी कहा कि 'नरव्याघ्र ! सब देवता आपके साथ उस स्थानपर पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ॥ २९ ॥

तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥

'निषधराज ! मैं उन देवताओंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। महाबाहो ! ऐसा होनेपर आपको दोष नहीं लगेगा' ॥ ३० ॥

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम्।
मयाशेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ ३१ ॥

देवताओ ! दमयन्तीके महलका इतना ही वृत्तान्त है, जिसे मैंने ठीक-ठीक निवेदन कर दिया। देवेश्वरगण ! अब इस सम्पूर्ण विषयमें आप सब देवतालोग ही प्रमाण हैं, अर्थात् आप ही साक्षी हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्तृकदेवदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकर्तृक देवदौत्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वयंवरमें दमयन्तीद्वारा नलका वरण, देवताओंका नलको वर देना, देवताओं और राजाओंका प्रस्थान, नल-दमयन्तीका विवाह एवं नलका यज्ञानुष्ठान और संतानोत्पादन

बृहदश्व उवाच

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा।
आजुहाव महीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर शुभ समय, उत्तम तिथि तथा पुण्यदायक अवसर आनेपर राजा भीमने समस्त भूपालोंको स्वयंवरके लिये बुलाया ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥

यह सुनकर सब भूपाल कामपीड़ित हो दमयन्तीको पानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ २ ॥

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम्।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाचलम् ॥ ३ ॥

रङ्गमण्डप सोनेके खम्भोंसे सुशोभित था। तोरणसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी। जैसे बड़े-बड़े सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन नरेशोंने रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

वहाँ सब भूपाल भिन्न-भिन्न आसनोंपर बैठ गये। सबने सुगन्धित फूलोंकी माला धारण कर रक्खी थी और सबके कानोंमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥ ४ ॥

तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥

व्याघ्रोंसे भरी हुई पर्वतकी गुफा तथा नागोंसे सुशोभित भोगवती पुरीकी भाँति वह पुण्यमयी राजसभा नरश्रेष्ठ भूपालोंसे भरी दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ६ ॥

वहाँ भूमिपालोंकी (पाँच अँगुलियोंसे युक्त) परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ आकार-प्रकार और रंगमें अत्यन्त सुन्दर तथा पाँच मस्तकवाले सर्पके समान दिखायी देती थीं ॥ ६ ॥

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ७ ॥

जैसे आकाशमें तारे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार सुन्दर केशान्त भागसे विभूषित एवं रुचिर नासिका, नेत्र और भौंहोंसे युक्त राजाओंके मनोहर मुख सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ८ ॥

नलकी पहचानके लिये दमयन्तीकी लोकपालोंसे प्रार्थना

तदनन्तर अपनी प्रभासे राजाओंके नयनोंको लुभाती और चित्तको चुराती हुई सुन्दर मुखवाली दमयन्तीने रङ्ग-भूमिमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ ९ ॥

वहाँ आते ही दमयन्तीके अङ्गोंपर उन महामना नरेशोंकी दृष्टि पड़ी । उसे देखनेवाले राजाओंमेंसे जिसकी दृष्टि दमयन्तीके जिस अङ्गपर पड़ी, वहीं लग गयी, वहाँसे हट न सकी ॥ ९ ॥

ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह ॥ १० ॥

भारत ! तत्पश्चात् राजाओंके नाम, रूप, यश और पराक्रम आदिका परिचय दिया जाने लगा । भीमकुमारी दमयन्तीने आगे बढ़कर देखा, यहाँ तो एक जगह पाँच पुरुष एक ही आकृतिके बैठे हुए हैं ॥ १० ॥

तान् समीक्ष्य ततः सर्वान् निर्विशेषाकृतीन् स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम् ॥ ११ ॥

उन सबके रूप-रङ्ग आदिमें कोई अन्तर नहीं था । वे पाँचों नलके ही समान दिखायी देते थे । उन्हें एक जगह स्थित देखकर संदेह उत्पन्न हो जानेसे विदर्भराजकुमारी वास्तविक राजा नलको पहचान न सकी ॥ ११ ॥

यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ।
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याथ तर्कयामास भाविनी ॥ १२ ॥

वह उनमेंसे जिस-जिस व्यक्तिपर दृष्टि डालती, उसी-उसीको राजा नल समझने लगती थी । वह भाविनी राजकन्या बुद्धिसे सोच विचारकर मन-ही-मन तर्क करने लगी ॥ १२ ॥

कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १३ ॥

अहो ! मैं कैसे देवताओंको जानूँ और किस प्रकार राजा नलको पहिचानूँ ।' इस चिन्तामें पड़कर विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १३ ॥

श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १४ ॥
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्यापि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ॥ १५ ॥
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।

भारत ! उसने अपने सुने हुए देवचिह्नोंपर भी विचार किया । वह मन-ही-मन कहने लगी 'मैंने बड़े बूढ़े पुरुषोंसे देवताओंकी पहचान करानेवाले जो लक्षण या चिह्न सुन रक्खे हैं, उन्हें यहाँ भूमिपर बैठे हुए इन पाँच पुरुषोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं देख पाती हूँ ।' उसने अनेक प्रकारसे निश्चय और बार-बार विचार करके देवताओंकी शरणमें जाना ही समयोचित कर्तव्य समझा ॥ १४-१५½ ॥

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १६ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् मन एवं वाणीद्वारा देवताओंको नमस्कार करके दोनों हाथ जोड़कर काँपती हुई वह इस प्रकार बोली—'मैंने हंसोंकी बात सुनकर निषधनरेश नलका पतिरूपमें वरण कर लिया है । इस सत्यके प्रभावसे देवता लोग स्वयं ही मुझे राजा नलकी पहचान करा दें ॥ १६-१७ ॥

मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥

'यदि मैं मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी सदाचारसे च्युत नहीं हुई हूँ तो उस सत्यके प्रभावसे देवतालोग मुझे राजा नलकी ही प्राप्ति करावें ॥ १८ ॥

यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १९ ॥

'यदि देवताओंने उन निषधनरेश नलको ही मेरा पति निश्चित किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता लोग मुझे उन्हींको बतला दें ॥ १९ ॥

यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ २० ॥

'यदि मैंने नलकी आराधनाके लिये ही यह व्रत आरम्भ किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता मुझे उन्हींको बतला दें ॥ २० ॥

स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः ।
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २१ ॥

'महेश्वर लोकपालगण अपना रूप प्रकट कर दें, जिससे मैं पुण्यश्लोक महाराज नलको पहचान सकूँ' ॥ २१ ॥

निशम्य दमयन्त्यास्तत् करुणं प्रतिदेवितम् ।
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ॥ २२ ॥
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च नैषधे ।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ॥ २३ ॥

दमयन्तीका वह करुण विलाप सुनकर तथा उसके अन्तिम निश्चय, नलविषयक वास्तविक अनुराग, विशुद्ध हृदय, उत्तम बुद्धि तथा नलके प्रति भक्ति एवं प्रेम देखकर देवताओंने दमयन्तीके भीतर वह यथार्थ शक्ति उत्पन्न कर दी, जिससे उसे देवसूचक लक्षणोंका निश्चय हो सके ॥ २२-२३ ॥

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥ २४ ॥

अब दमयन्तीने देखा—सम्पूर्ण देवता स्वेदरहित हैं—उनके किसी अङ्गमें पसीनेकी बूँद नहीं दिखायी देती, उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती हैं। उन्होंने जो पुष्पमालाएँ पहन रक्खी हैं, वे नूतन विकाससे युक्त हैं—कुम्हलाती नहीं हैं। उनपर धूलकण नहीं पड़ रहे हैं। वे सिंहासनोंपर बैठे हैं, किंतु अपने पैरोंसे पृथ्वीतलका स्पर्श नहीं करते हैं और उनकी परछाई नहीं पड़ती है ॥ २४ ॥

छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २५ ॥

उन पाँचोंमें एक पुरुष ऐसे हैं, जिनकी परछाई पड़ रही है। उनके गलेकी पुष्पमाला कुम्हला गयी है। उनके अङ्गोंमें धूलकण और पसीनेकी बूँदें भी दिखायी पड़ती हैं। वे पृथ्वीका स्पर्श किये बैठे हैं और उसके नेत्रोंकी पलकें गिरती हैं। इन लक्षणोंसे दमयन्तीने निषधराज नलको पहचान लिया ॥ २५ ॥

सा समीक्ष्य तु तान् देवान् पुण्यश्लोकं च भारत।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन ! राजकुमारी दमयन्तीने उन देवताओं तथा पुण्यश्लोक नलकी ओर पुनः दृष्टिपात करके धर्मके अनुसार निषधराज नलका ही वरण किया ॥२६॥

विलज्जमाना वस्त्रान्तं जग्राहायतलोचना।
स्कन्धदेशेऽसृजत् तस्य स्रजं परमशोभनाम् ॥ २७ ॥
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी।

विशाल नेत्रोंवाली दमयन्तीने लजाते-लजाते नलके वस्त्रका छोर पकड़ लिया और उनके गलेमें परम सुन्दर फूलोंका हार डाल दिया। इस प्रकार वरवर्णिनी दमयन्तीने राजा नलका पतिरूपमें वरण कर लिया ॥ २७½ ॥

ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ॥ २८ ॥

फिर तो दूसरे राजाओंके मुखसे सहसा 'हाहाकार' का शब्द निकल पड़ा ॥ २८ ॥

देवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥ २९ ॥

भारत ! देवता और महर्षि वहाँ साधुवाद देने लगे। सबने विस्मित होकर राजा नलकी प्रशंसा करते हुए इनके सौभाग्यको सराहा ॥ २९ ॥

दमयन्तीं तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः।
आश्वासयद् वरारोहां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! वीरसेनकुमार नलने उल्लसित हृदयसे सुन्दरी दमयन्तीको आश्वासन देते हुए कहा—॥ ३० ॥

यत् त्वं भजसि कल्याणि पुमांसं देवसंनिधौ।
तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेवं ते वचने रतम् ॥ ३१ ॥

'कल्याणी ! तुम देवताओंके समीप जो मुझ-जैसे पुरुषका वरण कर रही हो, इस अलौकिक अनुरागके कारण अपने इस पतिको तुम सदा अपनी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें तत्पर समझो ॥ ३१ ॥

यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते।
तावत् त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३२ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! मेरे इस शरीरमें जबतक प्राण रहेंगे, तबतक तुममें मेरा अनन्य अनुराग बना रहेगा, यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ ३२ ॥

दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः।
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ॥ ३३ ॥
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा।

इसी प्रकार दमयन्तीने भी हाथ जोड़कर विनीत वचनोंद्वारा महाराज नलका अभिनन्दन किया। वे दोनों एक-दूसरेको पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामने अग्नि आदि देवताओंको देखकर मन-ही मन उनकी ही शरण ली ॥३३½॥

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ॥ ३४ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान् ददुः।

दमयन्तीने जब नलका वरण कर लिया, तब उन सब महातेजस्वी लोकपालोंने प्रसन्नचित्त होकर नलको आठ वरदान दिये ॥ ३४½ ॥

प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमां शुभाम् ॥ ३५ ॥
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ।

शचीपति इन्द्रने प्रसन्न होकर निषधराज नलको यह वर दिया कि 'मैं यज्ञमें तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा और अन्तमें सर्वोत्तम शुभगति प्रदान करूँगा' ॥ ३५½ ॥

अग्निरात्मभवं प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३६ ॥
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ।

हविष्यभोक्ता अग्निदेवने नलको अपने ही समान तेजस्वी लोक प्रदान किये और यह भी कहा कि 'राजा नल जहाँ चाहेंगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा' ॥३६½॥

यमस्त्वन्नरसं प्रादाद् धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३७ ॥

यमराजने यह कहा कि 'राजा नलकी बनायी हुई रसोईमें उत्तमोत्तम रस एवं स्वाद उपलब्ध होगा और धर्ममें इनकी दृढ़ निष्ठा बनी रहेगी' ॥ ३७ ॥

अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ।
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ॥ ३८ ॥

जलके स्वामी वरुणने नलकी इच्छाके अनुसार जल प्रकट होनेका वर दिया और यह भी कहा कि 'तुम्हारी पुष्प-मालाएँ सदा उत्तम गन्धसे सम्पन्न होंगी ।' इस प्रकार सब देवताओंने दो दो वर दिये ॥ ३८ ॥

वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ।
पार्थिवाश्चानुभूयास्य विवाहं विस्मयान्विताः ॥ ३९ ॥
दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।

इस प्रकार राजा नलको वरदान देकर वे देवतालोग स्वर्ग-लोकको चले गये । स्वयंवरमें आये हुए राजा भी विस्मयविमुग्ध हो नल और दमयन्तीके विवाहोत्सवका-सा अनुभव करते हुए प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ ३९½ ॥

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ॥ ४० ॥
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ।

सब नरेशोंके विदा हो जानेपर महामना भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नल-दमयन्तीका शास्त्रविधिके अनुसार विवाह कराया ॥ ४०½ ॥

उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ॥ ४१ ॥
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ निषधनरेश नल अपनी इच्छाके अनुसार कुछ दिनोंतक ससुरालमें रहे, फिर विदर्भनरेश भीमकी आज्ञा ले (दमयन्तीसहित) अपनी राजधानीको चले गये ॥४१½॥

अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ॥ ४२ ॥
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ।

राजन् ! पुण्यश्लोक महाराज नलने भी उस रमणी-रत्नको पाकर उसके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे शचीके साथ इन्द्र करते हैं ॥ ४२½ ॥

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ॥ ४३ ॥
अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ।

राजा नल सूर्यके समान प्रकाशित होते थे । वीरवर नल अत्यन्त प्रसन्न रहकर अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए उसे प्रसन्न रखते थे ॥ ४३½ ॥

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ॥ ४४ ॥
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान् क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

उन बुद्धिमान् नरेशने नहुषनन्दन ययातिकी भाँति अश्वमेध तथा पर्याप्त दक्षिणावाले दूसरे बहुत-से यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया ॥ ४४½ ॥

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ॥ ४५ ॥
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ।

तदनन्तर देवतुल्य राजा नलने दमयन्तीके साथ रमणीय वनों और उपवनोंमें विहार किया ॥ ४५½ ॥

जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ॥ ४६ ॥

महामना नलने दमयन्तीके गर्भसे इन्द्रसेन नामक एक पुत्र और इन्द्रसेना नामवाली एक कन्याको जन्म दिया ॥४६॥

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः।
ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सुखपूर्वक विहार करते हुए महाराज नलने धन-धान्यसे सम्पन्न वसुन्धराका पालन किया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत दमयन्ती-स्वयंवरविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओंके द्वारा नलके गुणोंका गान और उनके निषेध करनेपर भी नलके विरुद्ध कलियुगका कोप

बृहदश्व उवाच

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! भीमकुमारी दमयन्तीद्वारा निषधनरेश नलका वरण हो जानेपर जब महातेजस्वी लोकपालगण स्वर्गलोकको जा रहे थे, उस समय मार्गमें उन्होंने देखा कि कलियुगके साथ द्वापर आ रहा है ॥ १ ॥

अथाब्रवीत् कलिं शक्रः सम्प्रेक्ष्य बलवृत्रहा।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क्व यास्यसि ॥ २ ॥

कलियुगको देखकर बल और वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने पूछा—'कले! बताओ तो सही द्वापरके साथ कहाँ जा रहे हो?' ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीत् कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
गत्वा हि वरयिष्येतां मनो हि मम तां गतम् ॥ ३ ॥

तब कलिने इन्द्रसे कहा—'देवराज! मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें जाकर उसका वरण करूँगा; क्योंकि मेरा मन उसके प्रति आसक्त हो गया है' ॥ ३ ॥

तमब्रवीत् प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥

तब इन्द्रने हँसकर कहा—'वह स्वयंवर तो हो गया। हमारे समीप ही दमयन्तीने राजा नलको अपना पति चुन लिया ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः।
देवानामन्त्र्य तान् सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर कलियुगको क्रोध चढ़ आया और उसी समय उसने उन सब देवताओंको सम्बोधित करके यह बात कही—॥ ५ ॥

देवानां मानुषं मध्ये यत् सा पतिमविन्दत।
ततस्तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

'दमयन्तीने देवताओंके बीचमें मनुष्यका पतिरूपमें वरण किया है। अतः उसे बड़ा भारी दण्ड देना उचित प्रतीत होता है' ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥

कलियुगके ऐसा कहनेपर देवताओंने उत्तर दिया—'दमयन्तीने हमारी आज्ञा लेकर नलका वरण किया है ॥ ७ ॥

का च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम्।
यो वेद धर्मानखिलान् यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥
योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपञ्चमान्।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः।
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ॥ ९ ॥
यस्मिन् दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः।
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ॥ १० ॥
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले।
आत्मानं च शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'राजा नल सर्वगुणसम्पन्न हैं। कौन स्त्री उनका वरण नहीं करेगी? जिन्होंने भलीभाँति ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके चारों वेदों तथा पञ्चम वेद समस्त इतिहास-पुराणका भी अध्ययन किया है, जो सब धर्मोंको जानते हैं, जिनके घरपर पञ्चयज्ञोंमें धर्मके अनुसार सम्पूर्ण देवता नित्य तृप्त होते हैं, जो अहिंसापरायण, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जिन नरश्रेष्ठ लोकपाल-सदृश तेजस्वी नलमें दक्षता, धैर्य, ज्ञान, तप, शौच, शम और दम आदि गुण नित्य निवास करते हैं। कले! ऐसे राजा नलको जो मूढ़ शाप देनेकी इच्छा रखता है, वह मानो अपनेको ही शाप देता है। अपनेद्वारा अपना ही विनाश करता है ॥ ८—११ ॥

एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले।
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ १२ ॥

'ऐसे सद्गुणसम्पन्न महाराज नलको जो शाप देनेकी कामना करेगा, वह कष्टसे भरे हुए अगाध एवं विशाल नरककुण्डमें निमग्न होगा!' कलियुग और द्वापरसे ऐसा कहकर देवतालोग स्वर्गमें चले गये ॥ १२ ॥

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥ १३ ॥

भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

तदनन्तर देवताओंके चले जानेपर कलियुगने द्वापरसे कहा—'द्वापर ! मैं अपने क्रोधका उपसंहार नहीं कर सकता । नलके भीतर निवास करूँगा और उन्हें राज्यसे वञ्चित कर दूँगा । जिससे वे दमयन्तीसे रमण नहीं कर सकेंगे । तुम्हें भी जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करनी चाहिये' ॥ १३-१४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलि-देवता-संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

नलमें कलियुगका प्रवेश एवं नल और पुष्करकी द्यूतक्रीडा, प्रजा और दमयन्तीके निवारण करनेपर भी राजाका द्यूतसे निवृत्त नहीं होना

बृहदश्व उवाच

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार द्वापरके साथ संकेत करके कलियुग उस स्थानपर आया, जहाँ निषधराज नल रहते थे ॥ १ ॥

स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥

वह प्रतिदिन राजा नलका छिद्र देखता हुआ निषध देशमें दीर्घकालतक टिका रहा । बारह वर्षोंके बाद एक दिन कलिको एक छिद्र दिखायी दिया ॥ २ ॥

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥

राजा नल उस दिन लघुशङ्का करके आये और हाथ-मुँह धोकर आचमन करनेके पश्चात् संध्योपासना करने बैठ गये; पैरोंको नहीं धोया । यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥

नलमें आविष्ट होकर कलियुगने दूसरा रूप धारण करके पुष्करके पास जाकर कहा—'चलो, राजा नलके साथ जूआ खेलो ॥ ४ ॥

अक्षद्यूते नलं जेता भवान् हि सहितो मया ।
निषधान् प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥ ५ ॥

मेरे साथ रहकर तुम जूएमें अवश्य राजा नलको जीत लोगे । इस प्रकार महाराज नलको उनके राज्यसहित जीतकर निषध देशको अपने अधिकारमें कर लो' ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥

कलिके ऐसा कहनेपर पुष्कर राजा नलके पास गया । कलि भी साँड़ बनकर पुष्करके साथ हो लिया ॥ ६ ॥

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुष्करने वीरवर नलके पास जाकर उनसे बार-बार कहा—'हम दोनों धर्मपूर्वक जूआ खेलें ।' पुष्कर राजा नलका भाई लगता था ॥ ७ ॥

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥

महामना राजा नल द्यूतके लिये पुष्करके आह्वानको न सह सके । विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके देखते-देखते उसी क्षण जूआ खेलनेका उपयुक्त अवसर समझ लिया ॥ ८ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स नलस्तदा ॥ ९ ॥
तमक्षमदसम्मत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिंदमम् ॥ १० ॥

तब कलियुगसे आविष्ट होकर राजा नल हिरण्य, सुवर्ण, रथ आदि वाहन और बहुमूल्य वस्त्र दाँवपर लगाते तथा हार जाते थे । सुहृदोंमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो द्यूतक्रीडाके मदसे उन्मत्त शत्रुदमन नलको उस समय जूआ खेलनेसे रोक सके ॥ ९-१० ॥

ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन् निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥

भारत ! तदनन्तर समस्त पुरवासी मनुष्य मन्त्रियोंके साथ राजासे मिलने तथा उन आतुर नरेशको द्यूतक्रीडासे रोकनेके लिये वहाँ आये ॥ ११ ॥

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥

इसी समय सारथिने महलमें जाकर महारानी दमयन्तीसे निवेदन किया—'देवि! ये पुरवासीलोग कार्यवश राजद्वारपर खड़े हैं ॥ १२ ॥

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥

'आप निषधराजसे निवेदन कर दें। धर्म-अर्थका तत्त्व जाननेवाले महाराजके भावी संकटको सहन न कर सकनेके कारण मन्त्रियोंसहित सारी प्रजा द्वारपर खड़ी है' ॥ १३ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥

यह सुनकर दुःखसे दुर्बल हुई दमयन्तीने शोकसे अचेत-सी होकर आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें निषध-नरेशसे कहा—

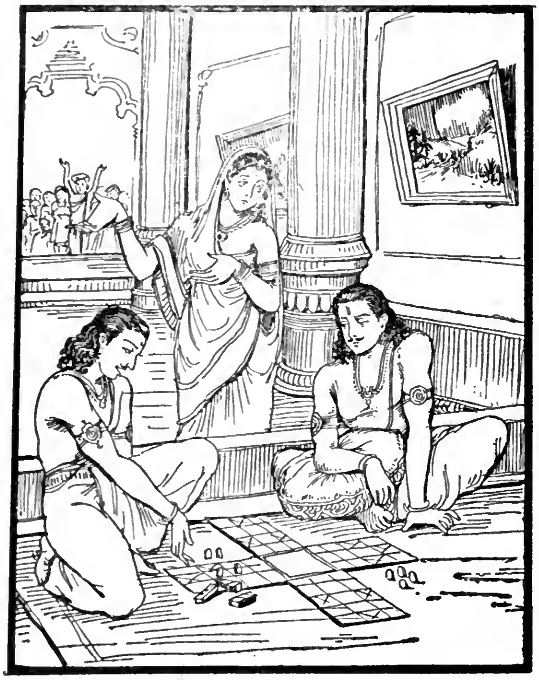

राजन् पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥ १५ ॥
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ।
तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ॥ १६ ॥
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किंचन।
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ॥ १७ ॥
नायमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान्।
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च।
युधिष्ठिर बहून् मासान् पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

'महाराज ! पुरवासी प्रजा राजभक्तिपूर्वक आपसे मिलनेके लिये समस्त मन्त्रियोंके साथ द्वारपर खड़ी है। आप उन्हें दर्शन दें।' दमयन्तीने इन वाक्योंको बार-बार दुहराया। मनोहर नयनप्रान्तवाली विदर्भकुमारी इस प्रकार विलाप करती रह गयी, परंतु कलियुगसे आविष्ट हुए राजाने उससे कोई बाततक न की। तब वे सब मन्त्री और पुरवासी दुःखसे आतुर और लज्जित हो यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि 'यह राजा नल अब राज्यपर अधिक समयतक रहनेवाला नहीं है।' युधिष्ठिर ! पुष्कर और नलकी वह द्यूतक्रीडा कई महीनोंतक चलती रही। पुण्यश्लोक महाराज नल उसमें हारते जा ही रहे थे ॥ १५-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलद्यूतविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

दुःखित दमयन्तीका वार्ष्णेयके द्वारा कुमार-कुमारीको कुण्डिनपुर भेजना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम्।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥
भयशोकसमाविष्टा राजन् भीमसुता ततः।
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दमयन्तीने देखा कि पुण्यश्लोक महाराज नल उन्मत्तकी भाँति द्यूतक्रीडामें आसक्त हैं। वह स्वयं सावधान थी। उनकी वैसी अवस्था देख भीमकुमारी भय और शोकसे व्याकुल हो गयी और महाराजके हितके लिये किसी महत्त्वपूर्ण कार्यका चिन्तन करने लगी ॥ १-२ ॥

सा शङ्कमाना तत् पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम्।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उसके मनमें यह आशङ्का हो गयी कि राजापर बहुत बड़ा कष्ट आनेवाला है। वह उनका प्रिय एवं हित करना चाहती थी। अतः महाराजके सर्वस्वका अपहरण होता जान धायको बुलाकर (इस प्रकार बोली) ॥ ३ ॥

बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम्।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥

उसकी धायका नाम बृहत्सेना था। वह अत्यन्त यशस्विनी और परिचर्याके कार्यमें निपुण थी। समस्त कार्योंके साधनमें कुशल, हितैषिणी, अनुरागिणी और मधुरभाषिणी थी ॥ ४ ॥

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात्।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद् वसु ॥ ५ ॥

(दमयन्तीने उससे कहा)—'बृहत्सेने ! तुम मन्त्रियोंके पास जाओ तथा राजा नलकी आज्ञासे उन्हें बुला लाओ। फिर उन्हें यह बताओ कि अमुक-अमुक द्रव्य हारा जा चुका है और अमुक धन अभी अवशिष्ट है' ॥ ५ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम्।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥

तब वे सब मन्त्री राजा नलका आदेश जानकर 'हमारा अहोभाग्य है', ऐसा कहते हुए नलके पास आये ॥ ६ ॥

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः।
न्यवेदयद् भीमसुता न च तत् प्रत्यनन्दत ॥ ७ ॥

वे सारी (मन्त्री आदि) प्रकृतियाँ दूसरी बार राजद्वारपर उपस्थित हुईं। दमयन्तीने इसकी सूचना महाराज नलको दी, परंतु उन्होंने इस बातका अभिनन्दन नहीं किया ॥ ७ ॥

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
निशम्य सततं चाक्षान् पुण्यश्लोकपराङ्मुखान्।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥
बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात्।
सूतमानय कल्याणि महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥

पतिको अपनी बातका प्रसन्नतापूर्वक उत्तर देते न देख दमयन्ती लज्जित हो पुनः महलके भीतर चली गयी। वहाँ फिर उसने सुना कि सारे पासे लगातार पुण्यश्लोक राजा नलके विपरीत पड़ रहे हैं और उनका सर्वस्व अपहृत हो रहा है। तब उसने पुनः धायसे कहा—'बृहत्सेने ! फिर राजा नलकी आज्ञासे जाओ और वार्ष्णेय सूतको बुला लाओ। कल्याणि ! एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है' ॥८—१०॥

बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम्।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥

बृहत्सेनाने दमयन्तीकी बात सुनकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा वार्ष्णेयको बुलाया। तब अनिन्द्य स्वभाववाली और देश-कालको जाननेवाली भीमकुमारी दमयन्तीने वार्ष्णेयको मधुर वाणीमें सान्त्वना देते हुए यह समयोचित बात कही—॥ ११-१२ ॥

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग् वृत्तः सदा त्वयि।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'सूत ! तुम जानते हो कि महाराज तुम्हारे प्रति कैसा अच्छा बर्ताव करते थे। आज वे विषम संकटमें पड़ गये हैं, अतः तुम्हें भी उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ १३ ॥

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणैव जीयते।
तथा तथास्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १४ ॥

'राजा जैसे-जैसे पुष्करसे पराजित हो रहे हैं, वैसे-ही-वैसे जूएमें उनकी आसक्ति बढ़ती जा रही है ॥ १४ ॥

यथा च पुष्करस्याक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः।
तथा विपर्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥

'जैसे पुष्करके पासे उसकी इच्छाके अनुसार पड़ रहे हैं, वैसे ही नलके पासे विपरीत पड़ते देखे जा रहे हैं ॥ १५ ॥

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च।
ममापि च तथा वाक्यं नाभिनन्दति मोहितः ॥ १६ ॥
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः।
यत् तु मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ॥ १७ ॥

'वे सुहृदों और स्वजनोंके वचन अच्छी तरह नहीं सुनते हैं। जूएने उन्हें ऐसा मोहित कर रखा है कि इस समय वे मेरी बातका भी आदर नहीं कर रहे हैं। मैं इसमें महामना नैषधका निश्चय ही कोई दोष नहीं मानती। जूएसे मोहित होनेके कारण ही राजा मेरी बातका अभिनन्दन नहीं कर रहे हैं ॥ १६-१७ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद् विनशेदपि ॥ १८ ॥

'सारथे ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ, मेरी बात मानो। मेरे मनमें अशुभ विचार आते हैं, इससे अनुमान होता है कि राजा नलका राज्यसे च्युत होना सम्भव है ॥ १८ ॥

नलस्य दयितानश्वान् योजयित्वा मनोजवान्।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'तुम महाराजके प्रिय, मनके समान वेगशाली अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर इन दोनों बच्चोंको बिठा लो और कुण्डिनपुरको चले जाओ' ॥ १९ ॥

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा।
अश्वांश्चेमान् यथाकामं वस वान्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥

'वहाँ इन दोनों बालकोंको, इस रथको और इन घोड़ोंको भी मेरे भाई-बन्धुओंकी देख-रेखमें सौंपकर तुम्हारी इच्छा हो तो वहीं रह जाना या अन्यत्र कहीं चले जाना' ॥ २० ॥

दमयन्त्यास्तु तद् वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१ ॥

दमयन्तीकी यह बात सुनकर नलके सारथि वार्ष्णेयने नलके मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंसे यह सारा वृत्तान्त निवेदित किया ॥२१॥

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २२ ॥

राजन् ! उनसे मिलकर इस विषयपर भलीभाँति विचार

करके उन मन्त्रियोंकी आज्ञा ले सारथि वार्ष्णेयने दोनों बालकोंको रथपर बैठाकर विदर्भ देशको प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम्।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २३ ॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन् नलं नृपम्।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने घोड़ोंको, उस श्रेष्ठ रथको तथा उस बालिका इन्द्रसेनाको एवं राजकुमार इन्द्रसेनको वहीं रख दिया तथा राजा भीमसे विदा ले आर्तभावसे राजा नलकी दुर्दशाके लिये शोक करता हुआ घूमता-घामता अयोध्या नगरीमें चला गया ॥ २३-२४ ॥

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! वह अत्यन्त दुखी हो राजा ऋतुपर्णकी सेवामें उपस्थित हुआ और उनका सारथि बनकर जीविका चलाने लगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनं प्रति कुमारयोः प्रस्थापने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी कन्या और पुत्रको कुण्डिनपुर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

नलका जूएमें हारकर दमयन्तीके साथ वनको जाना और पक्षियोंद्वारा आपद्ग्रस्त नलके वस्त्रका अपहरण

बृहदश्व उवाच

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद् वसु किंचन ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वार्ष्णेयके चले जानेपर जूआ खेलनेवाले पुण्यश्लोक महाराज नलके सारे राज्य और जो कुछ धन था, उन सबका जूएमें पुष्करने अपहरण कर लिया ॥ १ ॥

हृतराज्यं नलं राजन् प्रहसन् पुष्करोऽब्रवीत्।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥

राजन् ! राज्य हार जानेपर नलसे पुष्करने हँसते हुए कहा कि 'क्या फिर जूआ आरम्भ हो ? अब तुम्हारे पास दाँवपर लगानेके लिये क्या है ?' ॥ २ ॥

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

'तुम्हारे पास केवल दमयन्ती शेष रह गयी है और सब वस्तुएँ तो मैंने जीत ली हैं, यदि तुम्हारी राय हो तो दमयन्तीको दाँवपर रखकर एक बार फिर जूआ खेला जाय' ॥ ३ ॥

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥

पुष्करके ऐसा कहनेपर पुण्यश्लोक महाराज नलका हृदय शोकसे विदीर्ण-सा हो गया, परंतु उन्होंने उससे कुछ कहा नहीं ॥ ४ ॥

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान्।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥ ५ ॥
एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर महायशस्वी नलने अत्यन्त दुःखित हो पुष्करकी ओर देखकर अपने सब अङ्गोंके आभूषण उतार दिये और केवल एक अधोवस्त्र धारण करके चादर ओढ़े बिना ही अपनी विशाल सम्पत्तिको त्यागकर सुहृदोंका शोक बढ़ाते हुए वे राजभवनसे निकल पड़े ॥ ५-६ ॥

दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात्।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७ ॥

दमयन्तीके शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वह जाते हुए राजा नलके पीछे हो ली। वे उसके साथ नगरसे बाहर तीन राततक टिके रहे ॥ ७ ॥

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे।
नले यः सम्यगातिष्ठेत् स गच्छेद् वध्यतां मम ॥ ८ ॥

महाराज ! पुष्करने उस नगरमें यह घोषणा करा दी—डुग्गी पिटवा दी कि 'जो नलके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, वह मेरा वध्य होगा' ॥ ८ ॥

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! पुष्करके उस वचनसे और नलके प्रति पुष्करका द्वेष होनेसे पुरवासियोंने राजा नलका कोई सत्कार नहीं किया ॥ ९ ॥

स यथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥

इस प्रकार राजा नल अपने नगरके समीप तीन राततक

केवल जलमात्रका आहार करके टिके रहे। वे सर्वथा सत्कारके योग्य थे तो भी उनका सत्कार नहीं किया गया ॥ १० ॥

पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन्।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात्॥ ११॥

वहाँ भूखसे पीड़ित हो फल-मूल आदि जुटाते हुए राजा नल वहाँसे अन्यत्र चले गये। केवल दमयन्ती उनके पीछे-पीछे गयी ॥ ११ ॥

क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि।
अपश्यच्छकुनान् कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान्॥ १२॥

इसी प्रकार नल बहुत दिनोंतक क्षुधासे पीड़ित रहे। एक दिन उन्होंने कुछ ऐसे पक्षी देखे, जिनकी पाँखें सोनेकी-सी थीं ॥ १२ ॥

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली।
अस्ति भक्ष्यो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति॥ १३॥

उन्हें देखकर (क्षुधातुर और आपत्तिग्रस्त होनेके कारण) बलवान् निषध नरेशके मनमें यह बात आयी कि 'यह पक्षियोंका समुदाय ही आज मेरा भक्ष्य हो सकता है और इनकी ये पाँखें मेरे लिये धन हो जायँगी' ॥ १३ ॥

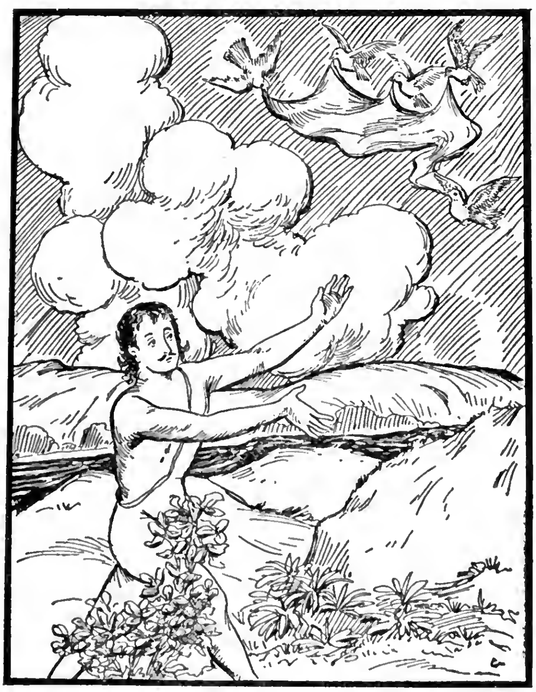

ततस्तान् परिधानेन वाससा स समावृणोत्।
तस्य तद् वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा॥ १४॥

तदनन्तर उन्होंने अपने अधोवस्त्रसे उन पक्षियोंको ढँक दिया। किंतु वे सब पक्षी उनका वह वस्त्र लेकर आकाशमें उड़ गये ॥ १४ ॥

उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम्।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम्॥ १५॥

उड़ते हुए उन पक्षियोंने राजा नलको दीनभावसे नीचें मुँह किये धरतीपर नग्न खड़ा देख उनसे कहा—॥ १५ ॥

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि॥ १६॥

'ओ खोटी बुद्धिवाले नरेश! हम (पक्षी नहीं,) पासे हैं और तुम्हारा वस्त्र अपहरण करनेकी इच्छासे ही यहाँ आये थे। तुम वस्त्र पहने हुए ही वहाँसे चले आये थे, इससे हमें प्रसन्नता नहीं हुई थी' ॥ १६ ॥

तान् समीपगतानक्षानात्मानं च विवाससम्।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन् दमयन्तीमथाब्रवीत्॥ १७॥
येषां प्रकोपादैश्वर्याद् प्रच्युतोऽहमनिन्दिते।
प्राणयात्रां न विन्देयं दुःखितः क्षुधयान्वितः॥ १८॥
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन् मयि नैषधाः।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु हरन्ति मे॥ १९॥

राजन्! उन पासोंको नजदीकसे जाते देख और अपने आपको नग्नावस्थामें पाकर पुण्यश्लोक नलने उस समय दमयन्तीसे कहा—'सती साध्वी रानी! जिनके क्रोधसे मेरा ऐश्वर्य छिन गया, मैं क्षुधापीड़ित एवं दुःखित होकर जीवन-निर्वाहके लिये अन्ततक नहीं पा रहा हूँ और जिनके कारण निषध देशकी प्रजाने मेरा सत्कार नहीं किया, भीरु! वे ही ये पासे हैं, जो पक्षी होकर मेरा वस्त्र लिये जा रहे हैं ॥ १७–१९ ॥

वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः॥ २०॥

'मैं बड़ी विषम परिस्थितिमें पड़ गया हूँ। दुःखके मारे मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है। मैं तुम्हारा पति हूँ, अतः तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ, इसे सुनो—॥ २० ॥

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम्॥ २१॥

'ये बहुत-से मार्ग हैं, जो दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं। यह मार्ग ऋक्षवान् पर्वतको लाँघकर अवन्तीदेशको जाता है ॥ २१ ॥

एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा।
आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः॥ २२॥
एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोसलान्।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः॥ २३॥

'यह महान् पर्वत विन्ध्य दिखायी दे रहा है और यह समुद्रगामिनी पयोष्णी नदी है। यहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं, जहाँ प्रचुर मात्रामें फल-मूल उपलब्ध हो सकते

हैं। यह विदर्भ देशका मार्ग है और वह कोसल देशको जाता है। दक्षिण दिशामें इसके बादका देश दक्षिणापथ कहलाता है' ॥ २२-२३ ॥

एतद् वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः।
उवाचासकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ॥ २४ ॥

भारत! राजा नलने एकाग्रचित्त होकर बड़ी आतुरताके साथ दमयन्तीसे उपर्युक्त बातें बार-बार कहीं ॥ २४ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २५ ॥

तब दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे दुर्बल हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें राजा नलसे यह करुण वचन बोली—॥ २५ ॥

उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २६ ॥
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम्।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ॥ २७ ॥

'महाराज! आपका मानसिक संकल्प क्या है, इसपर जब मैं बार-बार विचार करती हूँ, तब मेरा हृदय उद्विग्न हो उठता है और सारे अङ्ग शिथिल हो उठते हैं। आपका राज्य छिन गया। धन नष्ट हो गया। आपके शरीरपर वस्त्रतक नहीं रह गया तथा आप भूख और परिश्रमसे कष्ट पा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें इस निर्जन वनमें आपको असहाय छोड़कर मैं कैसे जा सकती हूँ? ॥ २६-२७ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम्।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥

'महाराज! जब आप भयंकर वनमें थके-माँदे भूखसे पीड़ित हो अपने पूर्व सुखका चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुखी होने लगेंगे, उस समय मैं सान्त्वनाद्वारा आपके संतापका निवारण करूँगी ॥ २८ ॥

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

'चिकित्सकोंका मत है कि समस्त दुःखोंकी शान्तिके लिये पत्नीके समान दूसरी कोई औषध नहीं है; यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ' ॥ २९ ॥

नल उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ ३० ॥

नलने कहा—सुमध्यमा दमयन्ती! तुम जैसा कहती हो वह ठीक है। दुखी मनुष्यके लिये पत्नीके समान दूसरा कोई मित्र या औषध नहीं है ॥ ३० ॥

न चाहं त्यक्तकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ॥ ३१ ॥

भीरु! मैं तुम्हें त्यागना नहीं चाहता, तुम इतनी अधिक शङ्का क्यों करती हो? अनिन्दिते! मैं अपने शरीरका त्याग कर सकता हूँ, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता ॥ ३१ ॥

दमयन्त्युवाच

यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।
तत् किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥

दमयन्तीने कहा—महाराज! यदि आप मुझे त्यागना नहीं चाहते तो विदर्भदेशका मार्ग क्यों बता रहे हैं? ॥ ३२ ॥

अवैमि चाहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३३ ॥

राजन्! मैं जानती हूँ कि आप स्वयं मुझे नहीं त्याग सकते, परंतु महीपते! इस घोर आपत्तिने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, इस कारण आप मेरा त्याग भी कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम।
अतो निमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ! आप बार-बार जो मुझे विदर्भदेशका मार्ग बता रहे हैं। देवोपम आर्यपुत्र! इसके कारण आप मेरा शोक ही बढ़ा रहे हैं ॥ ३४ ॥

यदि चायमभिप्रायस्तव ज्ञातीन् व्रजेदिति।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान् यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥

यदि आपका यह अभिप्राय हो कि दमयन्ती अपने बन्धु-बान्धवोंके यहाँ चली जाय तो आपकी सम्मति हो तो हम दोनों साथ ही विदर्भदेशको चलें ॥ ३५ ॥

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद।
तेन त्वं पूजितो राजन् सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥ ३६ ॥

मानद! वहाँ विदर्भनरेश आपका पूरा आदर-सत्कार करेंगे। राजन्! उनसे पूजित होकर आप हमारे घरमें सुखपूर्वक निवास कीजियेगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायामेकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी वनयात्राविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलकी चिन्ता और दमयन्तीको अकेली सोती छोड़कर उनका अन्यत्र प्रस्थान

नल उवाच

यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन ॥ १ ॥

नलने कहा—प्रिये ! इसमें संदेह नहीं कि विदर्भराज्य जैसे तुम्हारे पिताका है, वैसे मेरा भी है, तथापि आपत्तिमें पड़ा हुआ मैं किसी तरह वहाँ नहीं जाऊँगा ॥ १ ॥

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्धनः।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः ॥ २ ॥

एक दिन मैं भी समृद्धिशाली राजा था। उस अवस्थामें वहाँ जाकर मैंने तुम्हारे हर्षको बढ़ाया था और आज उस राज्यसे वञ्चित होकर केवल तुम्हारे शोककी वृद्धि कर रहा हूँ, ऐसी दशामें वहाँ कैसे जाऊँगा ? ॥ २ ॥

बृहदश्व उवाच

इति ब्रुवन् नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम्॥३॥
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः ॥ ४ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! आधे वस्त्रसे ढकी हुई कल्याणमयी दमयन्तीसे बार-बार ऐसा कहकर राजा नलने उसे सान्त्वना दी, क्योंकि वे दोनों एक ही वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर इधर-उधर घूम रहे थे। भूख और प्याससे थके-माँदे वे दोनों दम्पति किसी सभाभवन (धर्मशाला) में जा पहुँचे ॥ ३-४ ॥

तां सभामुपसम्प्राप्य तदा स निषधाधिपः।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥

तब उस धर्मशालामें पहुँचकर निषधनरेश राजा नल वैदर्भीके साथ भूतलपर बैठे ॥ ५ ॥

स वै विवस्त्रो विकटो मलिनः पांसुगुण्ठितः।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले ॥ ६ ॥

वे वस्त्रहीन, चटाई आदिसे रहित, मलिन एवं धूलि-धूसरित हो रहे थे। दमयन्तीके साथ थककर भूमिपर ही सो गये ॥ ६ ॥

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ॥ ७ ॥

सुकुमारी तपस्विनी कल्याणमयी दमयन्ती भी सहसा दुःखमें पड़ गयी थी। वहाँ आनेपर उसे भी निद्राने घेर लिया ॥

सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशाम्पते।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते तथा पुरा ॥ ८ ॥

राजन् ! राजा नलका चित्त शोकसे मथा जा रहा था। वे दमयन्तीके सो जानेपर भी स्वयं पहलेकी भाँति सो न सके ॥

स तद् राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ॥ ९ ॥

राज्यका अपहरण, सुहृदोंका त्याग और वनमें प्राप्त होनेवाले नाना प्रकारके क्लेशपर विचार करते हुए वे चिन्ताको प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ॥ १० ॥

वे सोचने लगे 'ऐसा करनेसे मेरा क्या होगा और यह कार्य न करनेसे भी क्या होगा ! मेरा मर जाना अच्छा है कि अपनी आत्मीया दमयन्तीको त्याग देना ॥ १० ॥

मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति ॥ ११ ॥

'यह मुझसे इस प्रकार अनुरक्त होकर मेरे ही लिये दुःख उठा रही है। यदि मुझसे अलग हो जाय तो यह कदाचित् अपने स्वजनोंके पास जा सकती है ॥ ११ ॥

मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता।
उत्सर्गे संशयः स्यात् तु विन्देतापि सुखं क्वचित्। १२।

'मेरे पास रहकर तो यह पतिव्रता नारी निश्चय ही केवल दुःख भोगेगी। यद्यपि इसे त्याग देनेपर एक संशय बना रहेगा तो भी यह सम्भव है कि इसे कभी सुख मिल जाय' ॥

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप ॥ १३ ॥

राजन् ! नल अनेक प्रकारसे बार-बार विचार करके एक निश्चयपर पहुँच गये और दमयन्तीका परित्याग कर देनेमें ही उसकी भलाई मानने लगे ॥ १३ ॥

न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद् धर्षयितुं पथि।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता ॥ १४ ॥

'यह महाभागा यशस्विनी दमयन्ती मेरी भक्त और पतिव्रता है। पातिव्रत-तेजके कारण मार्गमें कोई इसका सतीत्व नष्ट नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने ॥ १५ ॥

ऐसा सोचकर उनकी बुद्धि दमयन्तीको अपने साथ रखनेके विचारसे निवृत्त हो गयी। बल्कि दुष्ट स्वभाववाले

कलियुगसे प्रभावित होनेके कारण दमयन्तीको त्याग देनेमें ही उनकी बुद्धि प्रवृत्त हुई ॥ १५ ॥

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम्।
चिन्तयित्वाध्यगाद् राजा वस्त्रार्धस्यावकर्तनम्॥ १६ ॥

तदनन्तर राजाने अपनी वस्त्रहीनता और दमयन्तीकी एकवस्त्रताका विचार करके उसके आधे वस्त्रको फाड़ लेना ही उचित समझा ॥ १६ ॥

कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा ॥ १७ ॥

फिर यह सोचकर कि 'मैं कैसे वस्त्रको काटूँ, जिससे मेरी प्रियाकी नींद न टूटे।' राजा नल धर्मशालामें (नंगे ही) इधर-उधर घूमने लगे ॥ १७ ॥

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥ १८ ॥

भारत ! इधर-उधर दौड़-धूप करनेपर राजा नलको उस सभाभवनमें एक अच्छी-सी नंगी तलवार मिल गयी ॥

तेनार्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परंतपः।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद् गतचेतनाम् ॥ १९ ॥

उसीसे दमयन्तीका आधा वस्त्र काटकर परंतप नलने उसके द्वारा अपना शरीर ढँक लिया और अचेत सोती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको वहीं छोड़कर वे शीघ्रतासे चले गये ॥ १९ ॥

ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम्।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥ २० ॥

कुछ दूर जानेपर उनके हृदयका विचार पलट गया और वे पुनः उसी सभाभवनमें लौट आये। वहाँ उस समय दमयन्तीको देखकर निषधनरेश नल फूट-फूटकर रोने लगे ॥

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम्।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥ २१ ॥

(वे विलाप करते हुए कहने लगे—) 'पहले जिस मेरी प्रियतमा दमयन्तीको वायु तथा सूर्य देवता भी नहीं देख पाते थे, वही आज इस धर्मशालेमें भूमिपर अनाथकी भाँति सो रही है ॥ २१ ॥

इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥ २२ ॥

'यह मनोहर हास्यवाली सुन्दरी वस्त्रके आधे टुकड़ेसे लिपटी हुई सो रही है। जब इसकी नींद खुलेगी, तब पगली-सी होकर न जाने यह कैसी दशाको पहुँच जायगी ॥ २२ ॥

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥ २३ ॥

'यह भयंकर वन हिंसक पशुओं और सर्पोंसे भरा है। मुझसे बिछुड़कर शुभलक्षणा सती दमयन्ती अकेली इस वनमें कैसे विचरण करेगी ? ॥ २३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणासि समावृता ॥ २४ ॥

'महाभागे ! तुम धर्मसे आवृत हो, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण—ये सब देवता तुम्हारी रक्षा करें' ॥

एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥ २५ ॥

इस भूतलपर रूप-सौन्दर्यमें जिसकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी, उसी अपनी प्यारी पत्नी दमयन्तीके प्रति इस प्रकार कहकर राजा नल वहाँसे उठे और चल दिये। उस समय कलिने इनकी विवेकशक्ति हर ली थी।२५।

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ॥ २६ ॥

राजा नलको एक ओर कलियुग खींच रहा था और दूसरी ओर दमयन्तीका सौहार्द। अतः वे बार-बार जाकर फिर उस धर्मशालेमें ही लौट आते थे ॥ २६ ॥

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत् तदा।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥ २७ ॥

उस समय दुखी राजा नलका हृदय मानो दुविधामें पड़ गया था। जैसे झूला बार-बार नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है, उसी प्रकार उनका हृदय कभी बाहर जाता, कभी सभा-भवनमें लौट आता था ॥ २७ ॥

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २८ ॥

अन्तमें कलियुगने प्रबल आकर्षण किया, जिससे मोहित होकर राजा नल बहुत देरतक करुण विलाप करके अपनी सोती हुई पत्नीको छोड़कर शीघ्रतासे चले गये ॥ २८ ॥

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत् तद् विगणयन् नृपः ।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥ २९ ॥

कलियुगके स्पर्शसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी; अतः वे अत्यन्त दुखी हो विभिन्न बातोंका विचार करते हुए उस सूने वनमें अपनी पत्नीको अकेली छोड़कर चल दिये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीपरित्यागविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप तथा अजगर एवं व्याधसे उसके प्राण एवं सतीत्वकी रक्षा तथा दमयन्तीके पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे व्याधका विनाश

बृहदश्व उवाच

अपक्रान्ते नले राजन् दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! नलके चले जानेपर जब दमयन्तीकी थकावट दूर हो गयी, तब उनकी आँख खुली। उस निर्जन वनमें अपने स्वामीको न देखकर सुन्दरी दमयन्ती भयातुर और दुःख-शोकसे व्याकुल हो गयी। उसने भयभीत होकर निषधनरेश नलको 'महाराज! आप कहाँ हैं?' यह कहकर बड़े जोरसे पुकारा ॥ १-२ ॥

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन् किं जहासि माम् ।
हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ॥ ३ ॥

'हा नाथ! हा महाराज! हा स्वामिन्! आप मुझे क्यों त्याग रहे हैं? हाय! मैं मारी गयी, नष्ट हो गयी, इस जनशून्य वनमें मुझे बड़ा भय लग रहा है ॥ ३ ॥

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥

'महाराज! आप तो धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं; फिर वैसी सच्ची प्रतिज्ञा करके आज आप इस जंगलमें मुझे सोती छोड़कर कैसे चले गये? ॥ ४ ॥

कथमुत्सृज्य गन्तासि दक्षां भार्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ५ ॥

'मैं आपकी सेवामें कुशल और अनुरक्त भार्या हूँ। विशेषतः मेरेद्वारा आपका कोई अपराध भी नहीं हुआ है। यदि कोई अपराध हुआ है, तो वह दूसरेके ही द्वारा, मुझसे नहीं; तो भी आप मुझे त्यागकर क्यों चले जा रहे हैं? ॥ ५ ॥

शक्यसे ता गिरः सम्यक् कर्तुं मयि नरेश्वर ।
यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥

'नरेश्वर! आपने पहले स्वयंवरसभामें उन लोकपालोंके निकट जो बातें कही थीं, क्या आप उन्हें आज मेरे प्रति सत्य सिद्ध कर सकेंगे? ॥ ६ ॥

नाकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ ।
तत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७ ॥

'पुरुषशिरोमणे! मनुष्योंकी मृत्यु असमयमें नहीं होती, तभी तो आपकी यह प्रियतमा आपसे परित्यक्त होकर दो घड़ी भी जी रही है ॥ ७ ॥

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ ।
भीताहमतिदुर्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ॥ ८ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ! यहाँ इतना ही परिहास बहुत है। अत्यन्त दुर्धर्ष वीर! मैं बहुत डर गयी हूँ। प्राणेश्वर! अब मुझे अपना दर्शन दीजिये ॥ ८ ॥

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ९ ॥

'राजन्! निषधनरेश! आप दीख रहे हैं, दीख रहे हैं, यह दिखायी दिये। लताओंद्वारा अपनेको छिपाकर आप मुझसे बात क्यों नहीं कर रहे हैं? ॥ ९ ॥

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समागम्य नाश्वासयसि पार्थिव ॥ १० ॥

'राजेन्द्र! मैं इस प्रकार भय और चिन्तामें पड़कर यहाँ विलाप कर रही हूँ और आप आकर आश्वासन भी नहीं देते! भूपाल! यह तो आपकी बड़ी निर्दयता है ॥ १० ॥

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥ ११ ॥

'नरेश्वर! मैं अपने लिये शोक नहीं करती। मुझे दूसरी

किसी बातका भी शोक नहीं है। मैं केवल आपके लिये शोक कर रही हूँ कि आप अकेले कैसी शोचनीय दशामें पड़ जायँगे ! ॥ ११ ॥

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि ॥ १२ ॥

'राजन् ! आप भूखे-प्यासे और परिश्रमसे थके-माँदे होकर जब सायंकाल किसी वृक्षके नीचे आकर विश्राम करेंगे, उस समय मुझे अपने पास न देखकर आपकी कैसी दशा हो जायगी ?' ॥ १२ ॥

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥ १३ ॥

तदनन्तर प्रचण्ड शोकसे पीड़ित हो क्रोधाग्निसे दग्ध होती हुई-सी दमयन्ती अत्यन्त दुखी हो रोने और इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १३ ॥

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥ १४ ॥

दमयन्ती बार-बार उठती और बार-बार विह्वल होकर गिर पड़ती थी। वह कभी भयभीत होकर छिपती और कभी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगती थी ॥ १४ ॥

अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥ १५ ॥

अत्यन्त शोकसंतप्त हो बार-बार लम्बी साँसें खींचती हुई व्याकुल पतिव्रता दमयन्ती दीर्घ निःश्वास लेकर रोती हुई बोली—॥ १५ ॥

यस्याभिशापाद् दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद् दुःखमप्यधिकं भवेत् ॥ १६ ॥

'जिसके अभिशापसे निषधनरेश नल दुःखसे पीड़ित हो क्लेश-पर-क्लेश उठाते जा रहे हैं, उस प्राणीको हम-लोगोंके दुःखसे भी अधिक दुःख प्राप्त हो ॥ १६ ॥

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान् नलम् ।
तस्माद् दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥ १७ ॥

'जिस पापीने पुण्यात्मा राजा नलको इस दशामें पहुँचाया है, वह उनसे भी भारी दुःखमें पड़कर दुःखकी ही जिंदगी बितावे' ॥ १७ ॥

एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥ १८ ॥
उन्मत्तवद् भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती तथा हिंस्र जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पतिको ढूँढ़ती हुई महामना राजा नलकी पत्नी भीमकुमारी दमयन्ती उन्मत्त हुई रोती-बिलखती और 'हा राजन्, हा महाराज' ऐसा बार-बार कहती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी ॥ १८-१९ ॥

तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥
सहसाभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥ २१ ॥

वह कुररी पक्षीकी भाँति जोर-जोरसे करुण क्रन्दन कर रही थी और अत्यन्त शोक करती हुई बार-बार विलाप कर रही थी । वहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विशालकाय भूखा अजगर बैठा था । उसने बार-बार चक्कर लगाती सहसा निकट आयी हुई भीमकुमारी दमयन्तीको (पैरोंकी ओरसे) निगलना आरम्भ कर दिया ॥ २०-२१ ॥

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥ २२ ॥

शोकमें डूबी हुई वैदर्भीको अजगर निगल रहा था, तो भी वह अपने लिये उतना शोक नहीं कर रही थी, जितना शोक उसे निषध-नरेश नलके लिये था ॥ २२ ॥

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विजने किमर्थं नानुधावसि ॥ २३ ॥

(वह विलाप करती हुई कहने लगी—) 'हा नाथ ! इस निर्जन वनमें यह अजगर सर्प मुझे अनाथकी भाँति निगल रहा है । आप मेरी रक्षाके लिये दौड़कर आते क्यों नहीं हैं ? ॥

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवाञ्जगामाद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ॥ २४ ॥

'निषधनरेश ! यदि मैं मर गयी, तो मुझे बार-बार याद करके आपकी कैसी दशा हो जायगी ? प्रभो ! आज मुझे वनमें छोड़कर आप क्यों चले गये ? ॥ २४ ॥

पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ॥ २५ ॥

'निष्पाप निषधनरेश ! इस संकटसे मुक्त होनेपर जब आपको पुनः शुद्ध बुद्धि, चेतना और धन आदिकी प्राप्ति होगी, उस समय मेरे बिना आपकी क्या दशा होगी ? नृपप्रवर ! जब आप भूखसे पीड़ित हो थके-माँदे एवं अत्यन्त खिन्न होंगे, उस समय आपकी उस थकावटको कौन दूर करेगा ?' ॥२५॥

ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन् गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाभिससार ह ॥ २६ ॥

इसी समय कोई व्याध उस गहन वनमें विचर रहा था । वह दमयन्तीका करुण क्रन्दन सुनकर बड़े वेगसे उधर आया ॥ २६ ॥

तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ॥ २७ ॥
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥ २८ ॥
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ॥ २९ ॥

उस विशाल नयनोंवाली युवतीको अजगरके द्वारा उस प्रकार निगली जाती हुई देख व्याधने बड़ी उतावलीके साथ वेगसे दौड़कर तीखे शस्त्रसे शीघ्र ही उस अजगरका मुख फाड़ दिया। वह अजगर छटपटाकर चेष्टारहित हो गया। मृगोंको मारकर जीविका चलानेवाले उस व्याधने सर्पके टुकड़े-टुकड़े करके दमयन्तीको छुड़ाया। फिर जलसे उसके सर्पग्रस्त शरीरको धोकर उसे आश्वासन दे उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दी। भारत! जब वह भोजन कर चुकी, तब व्याधने उससे पूछा—॥ २७—२९ ॥

कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाभ्यागता वनम्।
कथं चेदं महत् कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ॥ ३० ॥

'मृगलोचने! तुम किसकी स्त्री हो और कैसे वनमें चली आयी हो? भामिनि! किस प्रकार तुम्हें यह महान् कष्ट प्राप्त हुआ है?' ॥ ३० ॥

दमयन्ती तथा तेन पृच्छ्यमाना विशाम्पते ।
सर्वमेतद् यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ॥ ३१ ॥

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया ॥ ३१ ॥

तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ३२ ॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ॥ ३३ ॥

स्थूल नितम्ब और स्तनोंवाली विदर्भकुमारीने आधे वस्त्रसे ही अपने अङ्गोंको ढँक रखा था। पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दमयन्तीका एक-एक अङ्ग सुकुमार एवं निर्दोष था। उसकी आँखें तिरछी बरौनियोंसे सुशोभित थीं और वह बड़े मधुर स्वरमें बोल रही थी। इन सब बातोंकी ओर लक्ष्य करके वह व्याध कामके अधीन हो गया ॥ ३२-३३ ॥

तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ॥ ३४ ॥

वह मधुर एवं कोमल वाणीसे उसे अपने अनुकूल बनानेके लिये भाँति-भाँतिके आश्वासन देने लगा। वह व्याध उस समय कामवेदनासे पीड़ित हो रहा था। सती दमयन्तीने उसके दूषित मनोभावको समझ लिया ॥ ३४ ॥

दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३५ ॥

पतिव्रता दमयन्ती भी उसकी दुष्टताको समझकर तीव्र क्रोधके वशीभूत हो मानो रोषाग्निसे प्रज्वलित हो उठी ॥ ३५ ॥

स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३६ ॥

यद्यपि वह नीच पापात्मा व्याध उसपर बलात्कार करनेके लिये व्याकुल हो गया था, परंतु दमयन्ती अग्नि-शिखाकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी; अतः उसका स्पर्श करना उसको अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हुआ ॥ ३६ ॥

दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ॥ ३७ ॥

पति तथा राज्य दोनोंसे वञ्चित होनेके कारण दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही थी। इधर व्याधकी कुचेष्टा वाणीद्वारा रोकनेपर रुक सके, ऐसी प्रतीत नहीं होती

थी। तब (उस व्याधपर अत्यन्त रुष्ट हो) उसने उसे शाप दे दिया—॥ ३७ ॥

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः॥ ३८॥

'यदि मैं निषधराज नलके सिवा दूसरे किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती होऊँ, तो इसके प्रभावसे यह तुच्छ व्याध प्राणशून्य होकर गिर पड़े' ॥ ३८ ॥

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः॥ ३९॥

दमयन्तीके इतना कहते ही वह व्याध आगसे जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप और प्रलाप, तपस्वियोंद्वारा दमयन्तीको आश्वासन तथा उसकी व्यापारियोंके दलसे भेंट

बृहदश्व उवाच

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम्॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! व्याधका विनाश करके वह कमलनयनी राजकुमारी झिल्लियोंकी झंकारसे गूँजते हुए निर्जन एवं भयंकर वनमें आगे बढ़ी ॥ १ ॥

सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम्।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम्॥ २॥

वह वन सिंह, चीतों, रुरुमृग, व्याघ्र, भैंसों तथा रीछ आदि पशुओंसे युक्त एवं भाँति-भाँतिके पक्षिसमुदायसे व्याप्त था। वहाँ म्लेच्छ और तस्करोंका निवास था ॥ २ ॥

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेङ्गुदकिंशुकैः।
अर्जुनारिष्टसंछन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः॥ ३॥
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम्।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम्॥ ४॥
बदरीबिल्वसंछन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम्।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकबिभीतकैः॥ ५॥

शाल, वेणु धव, पीपल, तिन्दुक, इंगुद, पलाश, अर्जुन, अरिष्ट, स्यन्दन (तिनिश), सेमल, जामुन, आम, लोध, खैर, साखू, बेंत, पद्मक, आँवला, पाकर, कदम्ब, गूलर, बेर, बेल, बरगद, प्रियाल, ताल, खजूर, हर्रे तथा बहेड़े आदि वृक्षोंसे वह विशाल वन परिपूर्ण हो रहा था॥ ३—५॥

नानाधातुशतैर्नद्धान् विविधानपि चाचलान्।
निकुञ्जान् परिसंघुष्टान् दरीश्चाद्भुतदर्शनाः॥ ६॥

दमयन्तीने वहाँ सैकड़ों धातुओंसे संयुक्त नाना प्रकारके पर्वत, पक्षियोंके कलरवोंसे गुंजायमान कितने ही निकुंज और अद्भुत कन्दराएँ देखीं ॥ ६ ॥

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान्।
सा बहून् भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान्॥ ७॥
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान्॥ ८॥

कितनी ही नदियों, सरोवरों, बावलियों तथा नाना प्रकारके मृगों और पक्षियोंको देखा। उसने बहुत-से भयानक रूपवाले पिशाच, नाग तथा राक्षस देखे। कितनी ही गड्ढों, पोखरों और पर्वतशिखरोंका अवलोकन किया। सरिताओं और अद्भुत झरनोंको देखा ॥ ७-८ ॥

सती दमयन्तीके तेजसे पापी व्याधका विनाश

यूथशो ददृशे चात्र विदर्भाधिपनन्दिनी।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान्॥ ९॥
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा॥ १०॥

विदर्भराजनन्दिनीने उस वनमें झुंड-के-झुंड भैंसे, सूअर, रीछ और जंगली साँप देखे। तेज, यश, शोभा और परम धैर्यसे युक्त विदर्भकुमारी उस समय अकेली विचरती और नलको ढूँढ़ती थी॥ ९-१०॥

नाबिभ्यत् सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित्।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता॥ ११॥

वह पतिके विरहरूपी संकटसे संतप्त थी। अतः राजकुमारी दमयन्ती उस भयंकर वनमें प्रवेश करके भी किसी जीव-जन्तुसे भयभीत नहीं हुई॥ ११॥

विदर्भतनया राजन् विललाप सुदुःखिता।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाश्रिता॥ १२॥

राजन्! विदर्भकुमारी दमयन्तीके अङ्ग-अङ्गमें पतिके वियोगका शोक व्याप्त हो गया था, इसलिये वह अत्यन्त दुःखित हो एक शिलाके नीचे भागमें बैठकर बहुत विलाप करने लगी—॥ १२॥

दमयन्त्युवाच

व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप।
क्व नु राजन् गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने॥ १३॥
अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे॥ १४॥

दमयन्ती बोली—चौड़ी छातीवाले महाबाहु निषधनरेश महाराज! आज इस निर्जन वनमें (मुझ अकेलीको) छोड़कर आप कहाँ चले गये? नरश्रेष्ठ! वीरशिरोमणे! प्रचुर दक्षिणावाले अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी आप मेरे साथ मिथ्या बर्ताव क्यों कर रहे हैं?॥ १३-१४॥

यत् त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ तत् समक्षं महाद्युते।
स्मर्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ॥ १५॥

महातेजस्वी कल्याणमय राजाओंमें उत्तम नरश्रेष्ठ! आपने मेरे सामने जो बात कही थी, अपनी उस बातका स्मरण करना उचित है॥ १५॥

यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप।
मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि॥ १६॥

भूमिपाल! आकाशचारी हंसोंने आपके समीप तथा मेरे सामने जो बातें कही थीं, उनपर विचार कीजिये॥ १६॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः॥ १७॥

नरसिंह! एक ओर अङ्ग और उपाङ्गोंसहित विस्तारपूर्वक चारों वेदोंका स्वाध्याय हो और दूसरी ओर केवल सत्यभाषण हो तो वह निश्चय ही उससे बढ़कर है॥ १७॥

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर।
उक्तवानसि यद् वीर मत्सकाशे पुरा वचः॥ १८॥

अतः शत्रुहन्ता नरेश्वर! वीर! आपने पहले मेरे समीप जो बातें कही हैं, उन्हें सत्य करना चाहिये॥ १८॥

हा वीर नल नामाहं नष्टा किल तवानघ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे॥ १९॥

हा निष्पाप वीर नल! आपकी मैं दमयन्ती इस भयंकर वनमें नष्ट हो रही हूँ, आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते?॥ १९॥

कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि॥ २०॥

यह भयानक आकृतिवाला क्रूर सिंह भूखसे पीड़ित हो मुँह बाये खड़ा है और मुझपर आक्रमण करना चाहता है, क्या आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते?॥ २०॥

न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियास्तीत्यब्रवीः सदा।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप॥ २१॥

कल्याणमय नरेश! पहले जो सदा यह कहते थे कि तुम्हारे सिवा दूसरी कोई भी स्त्री मुझे प्रिय नहीं है, अपनी उस बातको सत्य कीजिये॥ २१॥

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे॥ २२॥

महाराज! मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ और आप मेरे प्रियतम पति हैं, ऐसी दशामें भी मैं यहाँ उन्मत्त विलाप कर रही हूँ तो भी आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते?॥ २२॥

कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत्॥ २३॥
यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन॥ २४॥

पृथ्वीनाथ! मैं दीन, दुर्बल, कान्तिहीन और मलिन होकर आधे वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढककर अकेली अनाथ-सी विलाप कर रही हूँ। विशाल नेत्रोंवाले शत्रुसूदन आर्य! मेरी दशा अपने झुंडसे बिछुड़ी हुई हरिणीकी-सी हो रही है। मैं यहाँ अकेली रो रही हूँ। परंतु आप मेरा मान नहीं रखते हैं॥ २३-२४॥

महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे॥ २५॥

महाराज! इस महान् वनमें मैं सती दमयन्ती अकेली

आपको पुकार रही हूँ, आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देते ? ॥ २५ ॥

कुलशीलोपसम्पन्न चारुसर्वाङ्गशोभन ।
नाद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन् नरोत्तम ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप उत्तम कुल और श्रेष्ठ शीलस्वभावसे सम्पन्न हैं। आप अपने सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित होते हैं। आज इस पर्वत-शिखरपर मैं आपको नहीं देख पाती हूँ॥

वने चास्मिन् महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ॥ २७ ॥

निषधनरेश ! इस महाभयंकर वनमें जहाँ सिंह-व्याघ्र रहते हैं, आप कहीं सोये हैं, बैठे हैं अथवा खड़े हैं ? ॥ २७ ॥

प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ।
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता ॥ २८ ॥

मेरे शोकको बढ़ानेवाले नरश्रेष्ठ ! आप यहीं हैं या कहीं अन्यत्र चल दिये, यह मैं किससे पूछूँ ? आपके लिये शोकसे दुर्बल होकर मैं अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही हूँ ॥ २८ ॥

कच्चिद् दृष्टस्त्वयारण्ये संगत्येह नलो नृपः ।
को नु मे वाथ प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन् प्रस्थितं नलम्॥ २९ ॥

'क्या तुमने इस वनमें राजा नलसे मिलकर उन्हें देखा है ?' ऐसा प्रश्न अब मैं इस वनमें प्रस्थान करनेवाले नलके विषयमें किससे करूँ ? ॥ २९ ॥

अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ।

'शत्रुओंके व्यूहका नाश करनेवाले जिन परम सुन्दर कमल-नयन महात्मा राजा नलको तू खोज रही है, वे यहीं तो हैं, ऐसी मधुर वाणी आज मैं किसके मुखसे सुनूँगी ? ॥ ३०½ ॥

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता ।
भवान् मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन् कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥

यह वनका राजा कान्तिमान् सिंह मेरे सामने चला आ रहा है, इसके चार दाढ़ें और विशाल ठोढ़ी है । मैं निःशङ्क होकर इसके सामने जा रही हूँ और कहती हूँ, 'आप मृगोंके राजा और इस वनके स्वामी हैं ॥ ३१-३२ ॥

विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्यामित्रघातिनः ॥ ३३ ॥

'मैं विदर्भराजकुमारी दमयन्ती हूँ। मुझे शत्रुघाती निषध-नरेश नलकी पत्नी समझिये ॥ ३३ ॥

पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥

'मृगेन्द्र ! मैं इस वनमें अकेली पतिकी खोजमें भटक रही हूँ तथा शोकसे पीडित एवं दीन हो रही हूँ । यदि आपने नलको यहाँ कहीं देखा हो तो उनका कुशल-समाचार बताकर मुझे आश्वासन दीजिये ॥ ३४ ॥

अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद् विमोचय ॥ ३५ ॥

'अथवा वनराज मृगश्रेष्ठ ! यदि आप नलके विषयमें कुछ नहीं बताते हैं तो मुझे खा जायँ और इस दुःखसे छुटकारा दे दें' ॥ ३५ ॥

श्रुत्वारण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यात्येतां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३६ ॥

अहो ! इस घोर वनमें मेरा विलाप सुनकर भी यह सिंह मुझे सान्त्वना नहीं देता । यह तो स्वादिष्ट जलसे भरी हुई इस समुद्रगामिनी नदीकी ओर जा रहा है ॥ ३६ ॥

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ।
विराजद्भिरिवानेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥

अच्छा, इस पवित्र पर्वतसे ही पूछती हूँ । यह बहुत-से ऊँचे-ऊँचे शोभाशाली बहुरंगे एवं मनोरम शिखरोंद्वारा सुशोभित है ॥ ३७ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥

अनेक प्रकारके धातुओंसे व्याप्त और भाँति-भाँतिके शिला-खण्डोंसे विभूषित है । यह पर्वत इस महान् वनकी ऊपर उठी हुई पताकाके समान जान पड़ता है ॥ ३८ ॥

सिंहशार्दूलमातङ्गवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥

यह सिंह, व्याघ्र, हाथी, सूअर, रीछ और मृगोंसे परिपूर्ण है । इसके चारों ओर अनेक प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं ॥ ३९ ॥

किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ॥ ४० ॥

पलाश, अशोक, बकुल, पुन्नाग, कनेर, धव तथा प्लक्ष आदि सुन्दर फूलोंवाले वृक्षोंसे वह पर्वत सुशोभित हो रहा है ॥ ४० ॥

सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।
गिरिराजमिमं तावत् पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥

यह पर्वत अनेक सरिताओं, सुन्दर पक्षियों और शिखरोंसे परिपूर्ण है । अब मैं इसी गिरिराजसे महाराज नलका समाचार पूछती हूँ ॥ ४१ ॥

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥

'भगवन् ! अचलप्रवर ! दिव्य दृष्टिवाले ! विख्यात ! सबको शरण देनेवाले परम कल्याणमय महीधर ! आपको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

प्रणमाम्यभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३ ॥

'मैं निकट आकर आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ । आप मेरा परिचय इस प्रकार जानें, मैं राजाकी पुत्री, राजाकी पुत्रवधू तथा राजाकी ही पत्नी हूँ । मेरी 'दमयन्ती' नामसे प्रसिद्धि है ॥ ४३ ॥

राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४ ॥

'विदर्भदेशके स्वामी महारथी भीम नामक राजा मेरे पिता हैं । वे पृथ्वीके पालक तथा चारों वर्णोंके रक्षक हैं ॥

राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥

'उन्होंने (प्रचुर) दक्षिणावाले राजसूय तथा अश्वमेध नामक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । वे भूमिपालोंमें श्रेष्ठ हैं । उनके नेत्र बड़े, चञ्चल और सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥

ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान् वीर्यसम्पन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥

'वे ब्राह्मणभक्त, सदाचारी, सत्यवादी, किसीके दोषको न देखनेवाले, शीलवान्, पराक्रमी, प्रचुर सम्पत्तिके स्वामी, धर्मज्ञ तथा पवित्र हैं ॥ ४६ ॥

सम्यग् गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥

'वे विदर्भदेशकी जनताका अच्छी तरह पालन करनेवाले हैं । उन्होंने समस्त शत्रुओंको जीत लिया है, वे बड़े शक्तिशाली हैं । भगवन् ! मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये । मैं आपकी सेवामें (एक जिज्ञासा लेकर) उपस्थित हुई हूँ ॥ ४७ ॥

निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥

'निषधदेशके महाराज मेरे श्वशुर थे, वे प्रातःस्मरणीय नरश्रेष्ठ वीरसेनके नामसे विख्यात थे ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ॥ ४९ ॥

'उन्हीं महाराज वीरसेनके एक वीर पुत्र हैं, जो बड़े ही सुन्दर और सत्यपराक्रमी हैं । वे वंशपरम्परासे प्राप्त अपने पिताके राज्यका पालन करते हैं ॥ ४९ ॥

नलो नामारिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद् वाग्मी पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान्॥५०॥

'उनका नाम नल है । शत्रुदमन, श्यामसुन्दर राजा नल पुण्यश्लोक कहे जाते हैं। वे बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, वक्ता, पुण्यात्मा, सोमपान करनेवाले और अग्निहोत्री हैं ॥ ५० ॥

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक् चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहागताम् ॥ ५१ ॥
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥ ५२ ॥

'वे एक अच्छे यज्ञकर्ता, उत्तम दाता, शूरवीर योद्धा और श्रेष्ठ शासक हैं, आप मुझे उन्हींकी श्रेष्ठ पत्नी समझ लीजिये । मैं अबला नारी आपके निकट यहाँ उन्हींकी कुशल पूछनेके लिये आयी हूँ । गिरिराज! (मेरे स्वामी मुझे छोड़कर कहीं चले गये हैं) । मैं धन-सम्पत्तिसे वञ्चित, पतिदेवसे रहित, अनाथ और सङ्कटोंकी मारी हुई हूँ । इस वनमें अपने पतिकी ही खोज कर रही हूँ ॥ ५१-५२ ॥

समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन् दारुणे नलः॥ ५३ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! क्या आपने इन सैकड़ों गगनचुम्बी शिखरोंद्वारा इस भयानक वनमें कहीं राजा नलको देखा है ?॥५३॥

गजेन्द्रविक्रमो धीमान् दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान् वीरो भर्ता मम महायशाः ॥ ५४ ॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।
विलपतीं किमेकां मां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥ ५५ ॥
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।

'मेरे महायशस्वी स्वामी निषधराज नल गजराजकी-सी चालसे चलते हैं । वे बड़े बुद्धिमान्, महाबाहु, अमर्षशील (दुःखको न सह सकनेवाले), पराक्रमी, धैर्यवान् तथा वीर हैं । क्या आपने कहीं उन्हें देखा है ? गिरिश्रेष्ठ ! मैं आपकी पुत्रीके समान हूँ और (पतिके वियोगसे बहुत ही) दुखी हूँ । क्या आप व्याकुल होकर अकेली विलाप करती हुई मुझ अबलाको आज अपनी वाणीद्वारा आश्वासन न देंगे ?' ॥ ५४-५५½ ॥

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसंध महीपते ॥ ५६ ॥
यद्यस्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।

वीर ! धर्मज्ञ ! सत्यप्रतिज्ञ और पराक्रमी महीपाल ! यदि आप इसी वनमें हैं तो राजन् ! अपने-आपको प्रकट करके मुझे दर्शन दीजिये ॥ ५६½ ॥

कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ॥ ५७ ॥
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचं तामभृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥ ५८ ॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।

मैं कब निषधराज नलकी मेघ-गर्जनाके समान स्निग्ध,

गम्भीर, अमृतोपम वह मधुर वाणी सुनूँगी। उन महामना राजाके मुखसे 'वैदर्भि !' इस सम्बोधनसे युक्त शुभ, स्पष्ट, वेदके अनुकूल, सुन्दर पद और अर्थसे युक्त तथा मेरे शोकका विनाश करनेवाली वाणी मुझे कब सुनायी देगी ॥५७-५८½॥

भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ॥ ५९ ॥

धर्मवत्सल नरेश्वर ! मुझ भयभीत अबलाको आश्वासन दीजिये ॥ ५९ ॥

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार उस श्रेष्ठ पर्वतसे कहकर वह राजकुमारी दमयन्ती फिर वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर चल दी ॥ ६० ॥

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥ ६१ ॥

लगातार तीन दिन और तीन रात चलनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नारीने तपस्वियोंसे युक्त एक वन देखा, जो अनुपम तथा दिव्य वनसे सुशोभित था ॥ ६१ ॥

वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ६२ ॥

तथा वसिष्ठ, भृगु और अत्रिके समान नियम-परायण, मिताहारी तथा (शम,) दम, शौच आदिसे सम्पन्न तपस्वियोंसे वह शोभायमान हो रहा था ॥ ६२ ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ६३ ॥

वहाँ कुछ तपस्वीलोग केवल जल पीकर रहते थे और कुछ लोग वायु पीकर। कितने ही केवल पत्ते चबाकर रहते थे। वे जितेन्द्रिय महाभाग स्वर्गलोकके मार्गका दर्शन करना चाहते थे ॥ ६३ ॥

वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ६४ ॥

वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाले उन जितेन्द्रिय मुनियोंसे सेवित एक रमणीय आश्रममण्डल दिखायी दिया, जिसमें प्रायः तपस्वीलोग ही निवास करते थे ॥ ६४ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ॥ ६५ ॥

उस आश्रममें नाना प्रकारके मृगों और वानरोंके समुदाय भी विचरते रहते थे। तपस्वी महात्माओंसे भरे हुए उस आश्रमको देखते ही दमयन्तीको बड़ी सान्त्वना मिली ॥६५॥

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ॥ ६६ ॥

उसकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। केश मनोहर जान पड़ते थे। नितम्बभाग, स्तन, दन्तपंक्ति और मुख सभी सुन्दर थे। उसके मनोहर कजरारे नेत्र विशाल थे। वह तेजस्विनी और प्रतिष्ठित थी ॥ ६६ ॥

सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ॥ ६७ ॥

महाराज वीरसेनकी पुत्रवधू रमणीशिरोमणि महाभागा तपस्विनी उस दमयन्तीने आश्रमके भीतर प्रवेश किया ॥६७॥

साभिवाद्य तपोवृद्धान् विनयावनता स्थिता।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ॥ ६८ ॥

वहाँ तपोवृद्ध महात्माओंको प्रणाम करके वह उनके समीप विनीत भावसे खड़ी हो गयी। तब वहाँके सभी श्रेष्ठ तपस्वीजनोंने उससे कहा—'देवि ! तुम्हारा स्वागत है' ।६८।

पूजां चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६९ ॥

तदनन्तर वहाँ दमयन्तीका यथोचित आदर-सत्कार करके उन तपोधनोंने कहा—'शुभे ! बैठो, बताओ, हम तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करें' ॥ ६९ ॥

तानुवाच वरारोहा कच्चिद् भगवतामिह ।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ॥ ७० ॥
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ॥ ७१ ॥

उस समय सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्तीने उनसे कहा—'भगवन् ! निष्पाप महाभागगण ! यहाँ तप, अग्निहोत्र, धर्म, मृग और पक्षियोंके पालन तथा अपने धर्मके आचरण आदि विषयोंमें आपलोग सकुशल हैं न ?' तब उन महात्माओंने कहा—'भद्रे ! यशस्विनि ! सर्वत्र कुशल है ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ॥ ७२ ॥
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः।
अस्यारण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ॥ ७३ ॥

'सर्वाङ्गसुन्दरी ! बताओ, तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ? तुम्हारे उत्तम रूप और परम सुन्दर कान्तिको यहाँ देखकर हमें बड़ा विस्मय हो रहा है। धैर्य धारण करो, शोक न करो। तुम इस वनकी देवी हो या इस पर्वतकी अधिदेवता ॥ ७२-७३ ॥

अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते।
साब्रवीत् तानृषीन् नाहमरण्यस्यास्य देवता ॥ ७४ ॥
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ॥ ७५ ॥

'अनिन्दिते ! कल्याणि ! अथवा तुम इस नदीकी अधिष्ठात्री देवी हो, सच-सच बताओ।' दमयन्तीने उन ऋषियोंसे कहा—'तपस्याके धनी ब्राह्मणो ! न तो मैं इस वनकी देवी हूँ, न पर्वतकी अधिदेवता और न इस नदीकी ही देवी हूँ। आप सब लोग मुझे मानवी समझें ॥ ७४-७५ ॥

विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ॥ ७६ ॥

'मैं विस्तारपूर्वक अपना परिचय दे रही हूँ, आपलोग सुनें। विदर्भदेशमें भीम नामसे प्रसिद्ध एक भूमिपाल हैं ॥

तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः।
निषधाधिपतिर्धीमान् नलो नाम महायशाः ॥ ७७ ॥
वीरः संग्रामजिद् विद्वान् मम भर्ता विशाम्पतिः।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ॥ ७८ ॥

'द्विजवरो ! आप सब महात्मा जान लें, मैं उन्हीं महाराजकी पुत्री हूँ। निषध देशके स्वामी, संग्रामविजयी, वीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रजापालक महायशस्वी राजा नल मेरे पति हैं। वे देवताओंके पूजनमें संलग्न रहते हैं और ब्राह्मणोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ा स्नेह है ॥ ७७-७८ ॥

गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः।
सत्यवान् धर्मवित् प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान् परपुरंजयः।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ॥ ८० ॥
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ८१ ॥

'वे निषधकुलके रक्षक, महातेजस्वी, महाबली, सत्यवादी, धर्मज्ञ, विद्वान्, सत्यप्रतिज्ञ, शत्रुमर्दन, ब्राह्मणभक्त, देवोपासक, शोभा और सम्पत्तिसे युक्त तथा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले हैं। मेरे स्वामी नृपश्रेष्ठ नल देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। उनके नेत्र विशाल हैं, उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले, बड़े-बड़े यज्ञोंके आयोजक और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ७९-८१ ॥

सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ ८२ ॥
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ॥ ८३ ॥

'युद्धमें उन्होंने कितने ही शत्रुओंका संहार किया है। वे सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी और कान्तिमान् हैं। एक दिन कुछ कपटकुशल, अजितेन्द्रिय, अनार्य, कुटिल तथा द्यूतनिपुण जुआरिओंने उन सत्यधर्मपरायण महाराज नलको जूएके लिये आवाहन करके उनके सारे राज्य और धनका अपहरण कर लिया ॥ ८२-८३ ॥

तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तुर्दर्शनलालसाम् ॥ ८४ ॥

'आप दमयन्ती नामसे विख्यात मुझे उन्हीं नृपश्रेष्ठ नलकी पत्नी जानें। मैं अपने स्वामीके दर्शनके लिये उत्सुक हो रही हूँ॥

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा।
पल्वलानि च सर्वाणि तथारण्यानि सर्वशः ॥ ८५ ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम्।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८६ ॥

'मेरे पति महामना नल युद्धकलामें कुशल और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् हैं। मैं उन्हींकी खोज करती हुई वन, पर्वत, सरोवर, नदी, गड्ढे और सभी जंगलोंमें दुखी होकर घूमती हूँ ॥ ८५-८६ ॥

कच्चित् भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः।
भवेत् प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८७ ॥
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन् प्रपन्ना भृशदारुणम्।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८८ ॥

'भगवन् ! क्या आपके इस रमणीय तपोवनमें निषध-नरेश नल आये थे ? ब्रह्मन् ! जिनके लिये मैं व्याघ्र, सिंह आदि पशुओंसे सेवित अत्यन्त दारुण, भयंकर, घोर वनमें आयी हूँ ॥ ८७-८८ ॥

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम्।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ॥ ८९ ॥

'यदि कुछ ही दिन-रातमें मैं राजा नलको नहीं देखूँगी तो इस शरीरका परित्याग करके आत्माका कल्याण करूँगी ॥

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम्।
कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ९० ॥

'उन पुरुषरत्न नलके बिना जीवन धारण करनेसे मेरा क्या प्रयोजन है ? अब मैं पतिशोकसे पीडित होकर न जाने कैसी हो जाऊँगी ?' ॥ ९० ॥

तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम्।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार वनमें अकेली विलाप करती हुई भीमनन्दिनी दमयन्तीसे सत्यका दर्शन करनेवाले उन तपस्वियोंने कहा—॥

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ९२ ॥

'कल्याणि ! शुभे ! हम अपने तपोबलसे देख रहे हैं, तुम्हारा भविष्य परम कल्याणमय होगा। तुम शीघ्र ही निषध-नरेश नलका दर्शन प्राप्त करोगी ॥ ९२ ॥

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम्।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ९३ ॥

'भीमकुमारी ! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले निषध देशके अधिपति और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा नलको सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित देखोगी ॥ ९३ ॥

विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम्।
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिंदमम् ॥ ९४ ॥
द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम्।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ॥ ९५ ॥

'तुम्हारे पति सब प्रकारके पापजनित दुःखोंसे मुक्त और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न होंगे। शत्रुदमन राजा नल फिर उसी श्रेष्ठ नगरका शासन करेंगे। वे शत्रुओंके लिये भयदायक और सुहृदोंके लिये शोकका नाश करनेवाले होंगे। कल्याणि ! इस प्रकार सत्कुलमें उत्पन्न अपने पतिको तुम (नरेशके पदपर प्रतिष्ठित) देखोगी' ॥ ९४-९५ ॥

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम्।
अन्तर्हितास्तापसास्ते साग्निहोत्राश्रमास्तथा ॥ ९६ ॥

नलकी प्रियतमा महारानी राजकुमारी दमयन्तीसे ऐसा कहकर वे सभी तपस्वी अग्निहोत्र और आश्रमसहित अदृश्य हो गये ॥ ९६ ॥

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत् तदा।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९७ ॥

उस समय राजा वीरसेनकी पुत्रवधू सर्वाङ्गसुन्दरी दमयन्ती वह महान् आश्चर्यकी बात देखकर बड़े विस्मयमें पड़ गयी ।९७।

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत्।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ॥ ९८ ॥

(उसने सोचा—) 'क्या मैंने कोई स्वप्न देखा है ? यहाँ यह कैसी अद्भुत घटना हो गयी ? वे सब तपस्वी कहाँ चले गये और वह आश्रममण्डल कहाँ है ? ॥ ९८ ॥

क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता।
क्व नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९९ ॥

'वह पुण्यसलिला रमणीय नदी, जिसपर पक्षी निवास कर रहे थे, कहाँ चली गयी ? फल और फूलोंसे सुशोभित वे मनोरम वृक्ष कहाँ विलीन हो गये' ॥ ९९ ॥

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ॥१००॥

पवित्र मुसकानवाली भीमपुत्री दमयन्ती बहुत देरतक इन सब बातोंपर विचार करती रही। तत्पश्चात् वह पति-शोक-परायण और दीन हो गयी तथा उसके मुखपर उदासी छा गयी ॥ १०० ॥

सा गत्वाथापरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा।
विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुं ततः ॥१०१॥

उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहङ्गैरनुनादितम् ॥१०२॥

तदनन्तर वह दूसरे स्थानपर जाकर अश्रुगद्गद वाणीसे विलाप करने लगी। उसने आँसू भरे नेत्रोंसे देखा, वहाँसे कुछ ही दूरपर एक अशोकका वृक्ष था। दमयन्ती उसके पास गयी। वह तरुवर अशोक फूलोंसे भरा था। उस वनमें पल्लवोंसे लदा हुआ और पक्षियोंके कलरवोंसे गुञ्जायमान वह वृक्ष बड़ा ही मनोरम जान पड़ता था ॥ १०१-१०२ ॥

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन् वनान्तरे।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान् पर्वतराडिव ॥१०३॥

(उसे देखकर वह मन ही मन कहने लगी—) 'अहो ! इस वनके भीतर यह अशोक बड़ा ही सुन्दर है। यह अनेक प्रकारके फल, फूल आदि अलङ्कारोंसे अलंकृत सुन्दर गिरिराजकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ १०३ ॥

विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित् त्वं दृष्टवान् नृपम् ॥१०४॥
नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम्।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥१०५॥

(अब उसने अशोकसे कहा—)'प्रियदर्शन अशोक ! तुम शीघ्र ही मेरा शोक दूर कर दो। क्या तुमने शोक, भय और बाधासे रहित शत्रुदमन राजा नलको देखा है ? क्या मेरे प्रियतम, दमयन्तीके प्राणवल्लभ, निषधनरेश नलपर तुम्हारी दृष्टि पड़ी है ? ॥ १०४-१०५ ॥

एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम्।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥१०६॥

'उन्होंने एक साड़ीके आधे टुकड़ेसे अपने शरीरको ढँक रक्खा है, उनके अङ्गोंकी त्वचा बड़ी सुकुमार है। वे वीरवर नल भारी संकटसे पीड़ित होकर इस वनमें आये हैं ॥

यथा विशोका गच्छेयमशोकनग तत् कुरु।
सत्यनामा भवाशोक अशोकः शोकनाशनः ॥१०७॥

'अशोक वृक्ष ! तुम ऐसा करो, जिससे मैं यहाँसे शोकरहित होकर जाऊँ। अशोक उसे कहते हैं, जो शोकका नाश करनेवाला हो, अतः अशोक ! तुम अपने नामको सत्य एवं सार्थक करो' ॥ १०७ ॥

एवं साशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥१०८॥

इस प्रकार शोकार्त हुई सुन्दरी दमयन्ती उस अशोक वृक्षकी परिक्रमा करके वहाँसे अत्यन्त भयंकर स्थानकी ओर गयी ॥

सा ददर्श नगान् नैकान् नैकांश्च सरितस्तथा।
नैकांश्च पर्वतान् रम्यान् नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥१०९॥

कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान् भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥११०॥
गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥१११॥
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥११२॥

उसने अनेक प्रकारके वृक्ष, अनेकानेक सरिताओं, बहुसंख्यक रमणीय पर्वतों, अनेक मृग-पक्षियों, पर्वतकी कन्दराओं तथा उनके मध्य भागों और अद्भुत नदियोंको देखा। पतिका अन्वेषण करनेवाली दमयन्तीने उस समय पूर्वोक्त सभी वस्तुओंको देखा। इस तरह बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीने एक बहुत बड़े सार्थ (व्यापारियोंके दल) को देखा, जो हाथी, घोड़े तथा रथसे व्याप्त था। वह व्यापारियोंका समूह स्वच्छ जलसे सुशोभित एक सुन्दर रमणीय नदीको पार कर रहा था। नदीका जल बहुत ठंडा था। उसका पाट चौड़ा था। उसमें कई कुण्ड थे और वह किनारेपर उगे हुए बेंतके वृक्षोंसे आच्छादित हो रही थी॥

प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥११३॥

उसके तटपर क्रौञ्च, कुरर और चक्रवाक आदि पक्षी कूज रहे थे। कछुए, मगर और मछलियोंसे भरी हुई वह नदी विस्तृत टापूसे सुशोभित हो रही थी॥ ११३ ॥

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥११४॥

उस बहुत बड़े समूहको देखते ही यशस्विनी नलपत्नी सुन्दरी दमयन्ती उसके पास पहुँच कर लोगोंकी भीड़में घुस गयी॥

उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥११५॥

उसका रूप उन्मत्त स्त्रीका-सा जान पड़ता था, वह शोकसे पीड़ित, दुर्बल, उदास और मलिन हो रही थी। उसने आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढक रक्खा था और उसके केशोंपर धूल जम गयी थी॥ ११५ ॥

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित् तत्र विचुक्रुशुः ॥११६॥

वहाँ दमयन्तीको सहसा देखकर कितने ही मनुष्य भयसे भाग खड़े हुए। कोई-कोई भारी चिन्तामें पड़ गये और कुछ लोग तो चीखने-चिल्लाने लगे॥ ११६ ॥

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चापरे ।
अकुर्वत दयां केचित् पप्रच्छुश्चापि भारत ॥११७॥

कुछ लोग उसकी हँसी उड़ाते थे और कुछ उसमें दोष देख रहे थे। भारत! उन्हींमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसका समाचार पूछा—॥

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित् त्वमसि मानुषी॥११८॥

'कल्याणि! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो और इस वनमें क्या खोज रही हो? तुम्हें देखकर हम बहुत दुखी हैं। क्या तुम मानवी हो?॥ ११८ ॥

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथवा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥११९॥

'कल्याणि! सच बताओ, तुम इस वन, पर्वत अथवा दिशाकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं॥ ११९ ॥

यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष वास्माननिन्दिते ॥१२०॥
यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत्॥१२१॥

'तुम यक्षी हो या राक्षसी अथवा कोई श्रेष्ठ देवाङ्गना हो? अनिन्दिते! सर्वथा हमारा कल्याण एवं संरक्षण करो। कल्याणी! यह हमारा समूह शीघ्र कुशलपूर्वक यहाँसे चला जाय और हमलोगोंका सब प्रकारसे भला हो, ऐसी कृपा करो'॥

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ॥१२२॥

उस यात्रीदलके द्वारा जब ऐसी बात कही गयी, तब पतिके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित साध्वी राजकुमारी दमयन्तीने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२२ ॥

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥१२३॥
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥१२४॥

'इस जनसमुदायके जो सरदार हों, उनसे, इस जनसमूहसे तथा इसके (भीतर रहनेवाले और) आगे चलनेवाले जो बाल-वृद्ध और युवक मनुष्य हों, उन सबसे मेरा यह कहना है कि आप सब लोग मुझे मानवी समझें। मैं एक नरेशपुत्री, महाराजकी पुत्रवधू तथा राजपत्नी हूँ। अपने स्वामीके दर्शनकी इच्छासे इस वनमें भटक रही हूँ १२३-१२४

विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मृग्याम्यपराजितम् ॥१२५॥

'विदर्भराज भीम मेरे पिता हैं, निषधनरेश महाभाग राजा नल मेरे पति हैं। मैं उन्हीं अपराजित वीर नलकी खोज कर रही हूँ॥ १२५ ॥

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम्।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥१२६॥

'यदि आपलोग शत्रुसमूहका संहार करनेवाले मेरे प्रियतम पुरुषसिंह महाराज नलके विषयमें कुछ जानते हों तो शीघ्र बतावें' ॥ १२६ ॥

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः।
सार्थवाहः शुचिर्नाम श‍ृणु कल्याणि मद्वचः ॥१२७॥

उस महान् समूहका मालिक और समस्त यात्रीदलका संचालक (वणिक्) शुचिनामसे प्रसिद्ध था। उसने उस सुन्दरीसे कहा—'कल्याणि ! मेरी बात सुनो ॥ १२७ ॥

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥१२८॥

'शुचिस्मिते ! मैं इस दलका नेता और संचालक हूँ। यशस्विनि ! मैंने नल नामधारी किसी मनुष्यको इस वनमें नहीं देखा है ॥ १२८ ॥

कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि।
पश्याम्यस्मिन् वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥१२९॥

'यह सम्पूर्ण वन मनुष्येतर प्राणियोंसे भरा है। इसके भीतर हाथियों, चीतों, भैंसों, सिंहों, रीछों और मृगोंको ही मैं देखता आ रहा हूँ ॥ १२९ ॥

ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥१३०॥

'तुम-जैसी मानव-कन्याके सिवा और किसी मनुष्यको मैं इस विशाल वनमें नहीं देख रहा हूँ। इसलिये यक्षराज मणिभद्र आज हमपर प्रसन्न हों' ॥ १३० ॥

साब्रवीद् वणिजः सर्वान् सार्थवाहं च तं ततः।
क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१३१॥

तब दमयन्तीने उन सब व्यापारियों तथा दलके संचालकसे कहा—'आपका यह दल कहाँ जायगा ? यह मुझे बताइये' ॥ १३१ ॥

सार्थवाह उवाच

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥१३२॥

सार्थवाहने कहा—राजकुमारी ! हमारा यह दल शीघ्र ही सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुके जनपद (नगर) में विशेष लाभके उद्देश्यसे जायगा ॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीकी सार्थवाहसे भेंटविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

जंगली हाथियोंद्वारा व्यापारियोंके दलका सर्वनाश तथा दुःखित दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें सुखपूर्वक निवास

बृहदश्व उवाच

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! दलके संचालककी वह बात सुनकर निर्दोष एवं सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्ती पतिदेवके दर्शनके लिये उत्सुक हो व्यापारियोंके उस दलके साथ ही यात्रा करने लगी ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम्।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर बहुत समयके बाद एक भयंकर विशाल वनमें पहुँचकर उन व्यापारियोंने एक महान् सरोवर देखा, जिसका नाम था पद्म-सौगन्धिक। वह सब ओरसे कल्याणप्रद जान पड़ता था। उस रमणीय सरोवरके पास घास और ईन्धनकी अधिकता थी, फूल और फल भी वहाँ प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते थे। उस तालाबपर बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥ २-३ ॥

निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम्।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥

सरोवरका जल स्वच्छ और स्वादु था, वह देखनेमें बड़ा ही मनोहर और अत्यन्त शीतल था, व्यापारियोंके वाहन बहुत थक गये थे। इसलिये उन्होंने वहीं पड़ाव डालनेका निश्चय किया ॥ ४ ॥

सम्मते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम्।
उवास सार्थः सुमहान् वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥ ५ ॥

समूहके अधिपतिसे अनुमति लेकर सब लोगोंने उस उत्तम वनमें प्रवेश किया और वह महान् जनसमुदाय सरोवरके पश्चिम तटपर ठहर गया ॥ ५ ॥

अथार्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥ ६ ॥
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथापश्यत सार्थं तं सार्थजान् सुबहून् गजान् ॥७॥

तत्पश्चात् आधी रातके समय जब कहींसे भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता था और उस दलके सभी लोग थककर सो गये थे, उस समय गजराजोंके मदकी धारासे मलिन जलवाली पहाड़ी नदीमें पानी पीनेके लिये (जंगली) हाथियोंका एक झुंड आ निकला । उस झुंडने व्यापारियोंके सोये हुए दलको और उसके साथ आये हुए बहुत-से हाथियोंको भी देखा ॥ ६-७ ॥

ते तान् ग्राम्यगजान् दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥ ८ ॥

तब वनमें रहनेवाले उन सभी मदोन्मत्त गजोंने उन ग्रामीण हाथियोंको देखकर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे उनपर वेगपूर्वक आक्रमण किया ॥ ८ ॥

तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गाणां पततां क्षितौ ॥ ९ ॥

पर्वतकी चोटीसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाले बड़े-बड़े शिखरोंके समान उन आक्रमणकारी जंगली हाथियोंका वेग (उस यात्रीदलके लिये) अत्यन्त दुःसह था ॥ ९ ॥

स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥१०॥

ग्रामीण हाथियोंपर आक्रमण करनेकी चेष्टावाले उन वनवासी गजराजोंके वन्य मार्ग अवरुद्ध हो गये थे । सरोवरके तटपर व्यापारियोंका महान् समुदाय उनका मार्ग रोककर सो रहा था ॥ १० ॥

ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥ ११ ॥
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद् दन्तैः करैः केचित् केचित् पद्भ्यां हता गजैः ॥

उन हाथियोंने सहसा पहुँचकर समूचे दलको कुचल दिया । कितने ही मनुष्य धरतीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे । उस दलके कितने ही पुरुष हाहाकार करते हुए बचावकी जगह खोजते हुए जंगलके पौधोंके समूहमें भाग गये । बहुत-से मनुष्य तो नींदके मारे अन्धे हो रहे थे । हाथियोंने किन्हींको दाँतोंसे, किन्हींको सूँडोंसे और कितनोंको पैरोंसे घायल कर दिया ॥ ११-१२ ॥

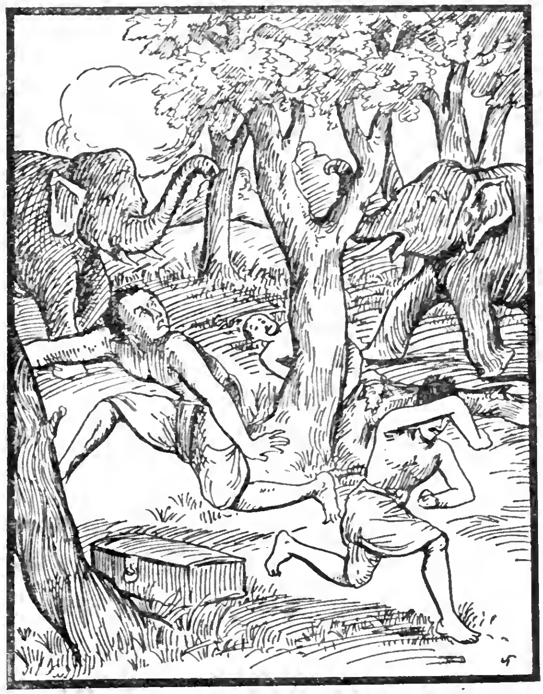

निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ॥ १३ ॥
घोरान् नादान् विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥ १४ ॥

उनके बहुत-से ऊँट और घोड़े मारे गये और उस समुदायमें बहुत-से पैदल लोग भी थे । वे सब लोग उस समय भयसे चारों ओर भागते हुए एक दूसरेसे टकराकर चोट खा जाते थे । घोर आर्तनाद करते हुए सभी लोग धरतीपर गिरने लगे । कुछ लोग बड़े वेगसे वृक्षोंपर चढ़ते हुए नीचेकी विषम भूमियोंपर गिर पड़ते थे ॥ १३-१४ ॥

एवं प्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन् विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार दैववश बहुतेरे जंगली हाथियोंने आक्रमण करके (प्रायः) उस सम्पूर्ण समृद्धिशाली व्यापारियोंके समुदायको नष्ट कर दिया ॥ १५ ॥

आरावः सुमहांश्चासीत् त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताधुना ॥ १६ ॥
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।

उस समय वहाँ तीनों लोकोंको भयमें डालनेवाला महान् आर्तनाद एवं चीत्कार हो रहा था । कोई कहता—'अरे ! इधर बड़े जोरकी आग प्रज्वलित हो उठी है । यह भारी संकट आ गया (अब) दौड़ो और बचाओ ।' दूसरा कहता—'अरे ! ये ढेर-के-ढेर रत्न बिखरे पड़े हैं, इन्हें सम्हालकर रक्खो । इधर-उधर भागते क्यों हो ?' ॥ १६½ ॥

सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्यावचनं मम ॥ १७ ॥

तीसरा कहता था—'भाई ! इस धनपर सबका समान अधिकार है, मेरी यह बात झूठी नहीं है' ॥ १७ ॥

एवमेवाभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात् तदा।
पुनरेवाभिधास्यामि चिन्तयध्वं सुकातराः ॥ १८ ॥

कोई कहता—'ऐ कायरो ! मैं फिर तुमसे बात करूँगा, अभी अपनी रक्षाकी चिन्ता करो।' इस तरहकी बातें करते हुए सब लोग भयसे भाग रहे थे ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने दारुणे जनसंक्षये।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब वहाँ भयानक नर-संहार हो रहा था, उसी समय दमयन्ती भी जाग उठी। उसका हृदय भयसे संत्रस्त हो उठा ॥ १९ ॥

अपश्यद् वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम्।
अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥ २० ॥
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात् केचिदविक्षताः ॥ २१ ॥
तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम्।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥ २२ ॥
तथा यक्षाधिपः श्रीमान् न वै वैश्रवणः प्रभुः।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ॥ २३ ॥
शकुनानां फलं वाथ विपरीतमिदं ध्रुवम्।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥ २४ ॥

वहाँ उसने वह महासंहार अपनी आँखों देखा, जो सब लोगोंके लिये भयंकर था। उसने ऐसी दुर्घटना पहले कभी नहीं देखी थी। वह सब देखकर वह कमलनयनी बाला भयसे व्याकुल हो उठी। उसको कहींसे कोई सान्त्वना नहीं मिल रही थी। वह इस प्रकार स्तब्ध हो रही थी, मानो धरतीसे सट गयी हो। तदनन्तर वह किसी प्रकार उठकर खड़ी हुई। दलके जो लोग उस संकटसे मुक्त हो आघातसे बचे हुए थे, वे सब एकत्र हो कहने लगे कि 'यह हमारे किस कर्मका फल है ? निश्चय ही हमने महायशस्वी मणिभद्रका पूजन नहीं किया है। इसी प्रकार हमने श्रीमान् यक्षराज कुबेरकी भी पूजा नहीं की है अथवा विघ्नकर्ता विनायकोंकी भी पहले पूजा नहीं कर ली थी। अथवा हमने पहले जो-जो शकुन देखे थे, उसका यह विपरीत फल है। यदि हमारे ग्रह विपरीत न होते तो और किस हेतुसे यह संकट हमारे ऊपर कैसे आ सकता था ?' ॥ २०—२४ ॥

अपरे त्वब्रुवन् दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥ २५ ॥
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम्।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥ २६ ॥

दूसरे लोग जो अपने कुटुम्बीजनों और धनके विनाशसे दीन हो रहे थे, वे इस प्रकार कहने लगे—'आज हमारे विशाल जनसमूहके साथ वह जो उन्मत्त-जैसी दिखायी देनेवाली नारी आ गयी थी, वह विकराल आकारवाली राक्षसी थी तो भी अलौकिक सुन्दर रूप धारण करके हमारे दलमें घुस गयी थी। उसीने पहलेसे ही यह अत्यन्त भयंकर माया फैला रक्खी थी ॥ २५-२६ ॥

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी।
तस्याः सर्वमिदं पापं नात्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥
पश्यामो यदि तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम्।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥ २८ ॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम्।

'निश्चय ही वह राक्षसी, यक्षी अथवा भयंकर पिशाची थी—इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह सारा पापपूर्ण कृत्य उसीका किया हुआ है। उसने हमें अनेक प्रकारका दुःख दिया और प्रायः सारे दलका विनाश कर डाला। वह पापिनी समूचे सार्थके लिये अवश्य ही कृत्या बनकर आयी थी। यदि हम उसे देख लेंगे तो ढेलोंसे, धूल और तिनकोंसे, लकड़ियों और मुक्कोंसे भी अवश्य मार डालेंगे ॥ २७-२८½ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥ २९ ॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद् यत्र काननम्।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥ ३० ॥

उनका वह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दमयन्ती लज्जासे गड़ गयी और भयसे व्याकुल हो उठी। उनके पापपूर्ण संकल्पके संघटित होनेकी आशङ्का करके वह उसी ओर भाग गयी, जहाँ घना जंगल था। वहाँ जाकर अपनी इस परिस्थितिपर विचार करके वह विलाप करने लगी—॥ २९-३० ॥

अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान्।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३१ ॥

'अहो ! मुझपर विधाताका अत्यन्त भयानक और महान् कोप है, जिससे मुझे कहीं भी कुशल-क्षेमकी प्राप्ति नहीं होती। न जाने, यह हमारे किस कर्मका फल है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यशुभं किंचित् कृतं कस्यचिदण्वपि।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ३२ ॥

'मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसीका थोड़ा-सा भी अमङ्गल किया हो, इसकी याद नहीं आती, फिर यह मेरे किस कर्मका फल मिल रहा है ? ॥ ३२ ॥

नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत्।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥ ३३ ॥

'निश्चय ही यह मेरे दूसरे जन्मोंके किये हुए पापका महान् फल प्राप्त हुआ है, जिससे मैं इस अनन्त कष्टमें पड़ गयी हूँ ॥ ३३ ॥

भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ॥३४॥

'मेरे स्वामीके राज्यका अपहरण हुआ, उन्हें आत्मीय-जनसे ही पराजित होना पड़ा, मेरा अपने पतिदेवसे वियोग हुआ और अपनी संतानोंके दर्शनसे भी वञ्चित हो गयी हूँ ।३४।

निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते।

'इतना ही नहीं, असंख्य सर्प आदि जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें मुझे अनाथकी-सी दशामें रहना पड़ता है, ॥३४½॥

अथापरेद्युः सम्प्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥३५॥
देशात् तस्माद् विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम्।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ॥३६॥

तदनन्तर दूसरा दिन प्रारम्भ होनेपर मरनेसे बचे हुए लोग उस स्थानसे निकलकर उस विकट संहारके लिये शोक करने लगे। राजन् ! कोई भाईके लिये दुखी था, कोई पिताके लिये; किसीको पुत्रका शोक था और किसीको मित्रका ॥ ३५-३६ ॥

अशोचत् तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम्।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये सम्प्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥३७॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत्।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्यापि वै मया ॥३८॥

विदर्भराजकुमारी दमयन्ती भी इसके लिये शोक करने लगी कि 'मैंने कौन-सा पाप किया है, जिससे इस निर्जन वनमें मुझे जो यह समुद्रके समान जनसमुदाय प्राप्त हो गया था, वह भी मेरे ही दुर्भाग्यसे हाथियोंके झुंडद्वारा मारा गया। निश्चय ही मुझे अभी दीर्घकालतक दुःख-ही-दुःख भोगना है ॥ ३७-३८ ॥

नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम्।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥३९॥

'जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह इच्छा होते हुए भी मर नहीं सकता। वृद्ध पुरुषोंका यह जो उपदेश मैंने सुन रक्खा है, यह ठीक ही जान पड़ता है, तभी तो आज मैं दुःखित होनेपर भी हाथियोंके झुंडसे कुचलकर मर न सकी।३९।

न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते।
न च मे बालभावेऽपि किंचित् पापकृतं कृतम् ॥४०॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम्।

मनुष्योंको इस जगत्‌में कोई भी सुख या दुःख ऐसा नहीं मिलता, जो विधाताका दिया हुआ न हो। मैंने बचपनमें भी मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा ऐसा पाप नहीं किया है, जिससे मुझे यह दुःख प्राप्त होता ॥ ४०½ ॥

मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ॥४१॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥४२॥
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥४३॥

'मैं समझती हूँ, स्वयंवरके लिये जो लोकपाल देवगण पधारे थे, नलके कारण मैंने उनका तिरस्कार कर दिया था। अवश्य उन्हीं देवताओंके प्रभावसे आज मुझे वियोगका कष्ट प्राप्त हुआ है।' इस प्रकार दुःखसे आतुर हुई सुन्दरी पतिव्रता दमयन्तीने उस समय अनेक प्रकारसे विलाप एवं प्रलाप किये ॥ ४१–४३ ॥

हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
अगच्छद् राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥४४॥
गच्छन्ती साचिराद् बाला पुरमासादयन्महत्।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥४५॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर मरनेसे बचे हुए वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ यात्रा करती हुई शरत्कालके चन्द्रमाकी कलाके समान वह सुन्दरी युवती थोड़े ही समयमें संध्या होते-होते सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची ॥ ४४-४५ ॥

अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम्।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥४६॥

शरीरमें आधी साड़ीको लपेटे हुए ही उसने उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया। वह विह्वल, दीन और दुर्बल हो रही थी। उसके सिरके बाल खुले हुए थे। उसने स्नान नहीं किया था ॥ ४६ ॥

उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥४७॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात्।
सा तैः परिवृतागच्छत् समीपं राजवेश्मनः ॥४८॥

पुरवासियोंने उसे उन्मत्ताकी भाँति जाते देखा। चेदिनरेश-की राजधानीमें उसे प्रवेश करते देख उस समय बहुत-से ग्रामीण बालक कौतूहलवश उसके साथ हो लिये थे। उनसे घिरी हुई दमयन्ती राजमहलके समीप गयी ॥ ४७-४८ ॥

तां प्रासादगतापश्यद् राजमाता जनैर्वृताम्।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममान्तिकम् ॥४९॥

उस समय राजमाताने उसे महलपरसे देखा। वह जनसाधारणसे घिरी हुई थी। राजमाताने धायसे कहा—'जाओ, इस युवतीको मेरे पास ले आओ ॥ ४९ ॥

जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी।
तादृग् रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥५०॥

'इसे लोग तंग कर रहे हैं। यह दुःखिनी युवती कोई आश्रय चाहती है। मुझे इसका रूप ऐसा दिखायी देता है, जो मेरे घरको प्रकाशित कर देगा ॥ ५० ॥

उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवायतलोचना।
सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥५१॥
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥५२॥

'इसका वेष तो उन्मत्तके समान है, परंतु यह विशाल-नेत्रोंवाली युवती कल्याणमयी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है।' धाय उन सब लोगोंको हटाकर उसे उत्तम राजमहलकी अट्टालिकापर चढ़ा ले आयी। राजन्! तत्पश्चात् विस्मित होकर राजमाताने दमयन्तीसे पूछा—'अहो! तुम इस प्रकार दुःखसे दबी होनेपर भी इतना सुन्दर रूप कैसे धारण करती हो?॥५१-५२॥

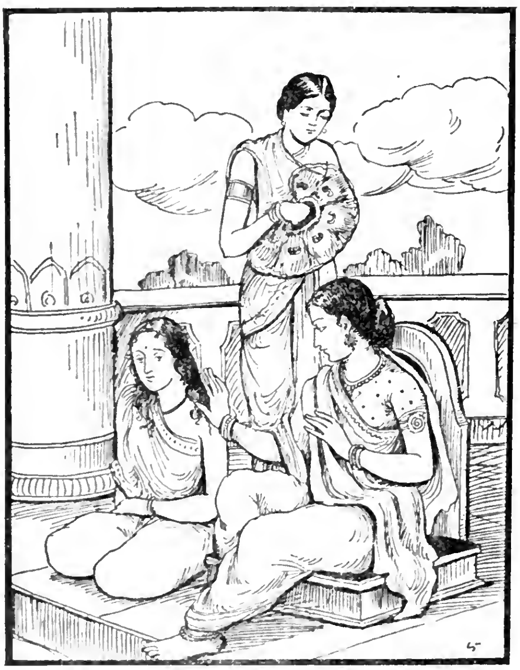

भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥५३॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे।

'मेघमालामें प्रकाशित होनेवाली बिजलीकी भाँति तुम इस दुःखमें भी कैसी तेजस्विनी दिखायी देती हो। मुझसे बताओ, तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? यद्यपि तुम्हारे शरीरपर कोई आभूषण नहीं है तो भी तुम्हारा यह रूप मानव-जगत्का नहीं जान पड़ता। देवताकी-सी दिव्य कान्ति धारण करनेवाली वत्से! तुम असहाय-अवस्थामें होकर भी लोगोंसे डरती क्यों नहीं हो?' ॥ ५३½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ॥५४॥

उसकी वह बात सुनकर भीमकुमारीने कहा—॥ ५४ ॥

मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम्।
सैरन्ध्रीजातिसम्पन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ॥५५॥

'माताजी! आप मुझे मानव-कन्या ही समझिये। मैं अपने पतिके चरणोंमें अनुराग रखनेवाली एक नारी हूँ। मेरी अन्तःपुरमें काम करनेवाली सैरन्ध्री जाति है। मैं सेविका हूँ और जहाँ इच्छा होती है, वहीं रहती हूँ ॥ ५५ ॥

फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम्।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ॥५६॥

'मैं अकेली हूँ, फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करती हूँ और जहाँ साँझ होती है, वहीं टिक जाती हूँ। मेरे स्वामीमें असंख्य गुण हैं, उनका मेरे प्रति सदा अत्यन्त अनुराग है ॥ ५६ ॥

भक्ताहमपि तं वीरं छायेवानुमता पथि।
तस्य दैवात् प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥५७॥

'जैसे छाया राह चलनेवाले पथिकके पीछे-पीछे चलती है, उसी प्रकार मैं भी अपने वीर पतिदेवमें भक्तिभाव रखकर सदा उन्हींका अनुसरण करती हूँ। दुर्भाग्यवश एक दिन मेरे पतिदेव जूआ खेलनेमें अत्यन्त आसक्त हो गये ॥

द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान्।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥५८॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम्।
स कदाचिद् वने वीरः कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥५९॥

'और उसीमें अपना सब कुछ हारकर वे अकेले ही वनकी ओर चल दिये। एक वस्त्र धारण किये उन्मत्त और विह्वल हुए अपने वीर स्वामीको सान्त्वना देती हुई मैं भी उनके साथ वनमें चली आयी। एक दिनकी बात है, मेरे वीर स्वामी किसी कारणवश वनमें गये ॥ ५८-५९ ॥

क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत्।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥६०॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ॥६१॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान् मामनागसम्।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥६२॥

'उस समय वे भूखसे पीड़ित और अनमने हो रहे थे। अतः उन्होंने अपने उस एक वस्त्रको भी कहीं वनमें ही छोड़ दिया। मेरे शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वे नग्न, उन्मत्त-जैसे और अचेत हो रहे थे। उसी दशामें सदा उनका अनुसरण करती हुई अनेक रात्रियोंतक कभी सो

न सकी। तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् एक दिन जब मैं सो गयी थी, उन्होंने मेरी आधी साड़ी फाड़ ली और मुझ निरपराधिनी पत्नीको वहीं छोड़कर वे कहीं चल दिये। मैं दिन-रात वियोगाग्निमें जलती हुई निरन्तर उन्हीं पतिदेवको ढूँढ़ती फिरती हूँ ॥ ६०–६२ ॥

साहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम्।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥

'मेरे प्रियतमकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान है। वे देवताओंके समान तेजस्वी, मेरे प्राणोंके स्वामी और शक्तिशाली हैं। बहुत खोजनेपर भी मैं अपने प्रियको न तो देख सकी हूँ और न उनका पता ही पा रही हूँ'॥६३॥

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु।
राजमाताब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ॥ ६४ ॥
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ६५ ॥

भीमकुमारी दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे एवं वह आर्तस्वरसे बहुत विलाप कर रही थी। राजमाता स्वयं भी उसके दुःखसे दुखी हो बोली—'कल्याणि! तुम मेरे पास रहो। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। भद्रे! मेरे सेवक तुम्हारे पतिकी खोज करेंगे ॥ ६४-६५ ॥

अपि वा स्वयमागच्छेद् परिधावन्नितस्ततः।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ६६ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है, वे इधर-उधर भटकते हुए स्वयं ही इधर आ निकलें। भद्रे! तुम यहीं रहकर अपने पतिको प्राप्त कर लोगी' ॥ ६६ ॥

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत्।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ६७ ॥

राजमाताकी यह बात सुनकर दमयन्तीने कहा—'वीरमातः! मैं एक नियमके साथ आपके यहाँ रह सकती हूँ ॥

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम्।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन ॥ ६८ ॥

'मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी ॥ ६८ ॥

प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यस्ते स पुमान् भवेत्।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥ ६९ ॥

'यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो और बार-बार ऐसे अपराध करनेवाले मूढ़को आप प्राणदण्ड भी दें, यही मेरा निश्चित व्रत है ॥

भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम्।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥ ७० ॥

'मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ। यदि यहाँ ऐसी व्यवस्था हो सके तो निश्चय ही आपके निकट निवास करूँगी। इसमें संशय नहीं है ॥ ७० ॥

अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित्।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

'यदि इसके विपरीत कोई बात हो तो कहीं भी रहनेका मेरे मनमें संकल्प नहीं हो सकता।' यह सुनकर राजमाता प्रसन्नचित्त होकर उससे बोली—॥ ७१ ॥

सर्वमेतत् करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम्।
एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ॥ ७२ ॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥ ७३ ॥

'बेटी! मैं यह सब करूँगी। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा व्रत ऐसा उत्तम है।' राजा युधिष्ठिर! दमयन्तीसे ऐसा कहकर राजमाता अपनी पुत्री सुनन्दासे बोली—'सुनन्दे! इस सैरन्ध्रीको तुम देवीस्वरूपा समझो ॥ ७२-७३ ॥

वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम्।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥ ७४ ॥

'यह अवस्थामें तुम्हारे समान है, अतः तुम्हारी सखी होकर रहे। तुम इसके साथ सदा प्रसन्नचित्त एवं आनन्दमग्न रहो' ॥ ७४ ॥

ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत्।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥ ७५ ॥

तब सखियोंसे घिरी हुई सुनन्दा अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरकर दमयन्तीको साथ ले अपने भवनमें आयी ॥ ७५ ॥

स तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगावसत् तदा ॥ ७६ ॥

सुनन्दा दमयन्तीके इच्छानुसार सब प्रकारकी व्यवस्था करके उसे बड़े आदर-सत्कारके साथ रखने लगी। इससे दमयन्तीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह वहाँ उद्वेगरहित हो रहने लगी ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें निवासविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजा नलके द्वारा दावानलसे कर्कोटक नागकी रक्षा तथा नागद्वारा नलको आश्वासन

बृहदश्व उवाच

उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशाम्पते।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! दमयन्तीको छोड़कर जब राजा नल आगे बढ़ गये, तब एक गहन वनमें उन्होंने महान् दावानल प्रज्वलित होते देखा॥ १॥

तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित्।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत्॥ २॥
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम्।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम्॥ ३॥

उसीके बीचमें उन्हें किसी प्राणीका यह शब्द सुनायी पड़ा—'पुण्यश्लोक महाराज नल ! दौड़िये, मुझे बचाइये।' उच्चस्वरसे बार-बार दुहरायी गयी इस वाणीको सुनकर राजा नलने कहा—'डरो मत'। इतना कहकर वे आगके भीतर घुस गये। वहाँ उन्होंने देखा, एक नागराज कुण्डलाकार पड़ा हुआ सो रहा है॥ २-३॥

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा।
उवाच मां विद्धि राजन् नागं कर्कोटकं नृप॥ ४॥
मया प्रलब्धो ब्रह्मर्षिर्नारदः सुमहातपाः।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप॥ ५॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित्।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात्॥ ६॥

उस नागने हाथ जोड़कर काँपते हुए नलसे उस समय इस प्रकार कहा—'राजन् ! मुझे कर्कोटक नाग समझिये। नरेश्वर ! एक दिन मेरे द्वारा महातपस्वी ब्रह्मर्षि नारद ठगे गये, अतः मनुजेश्वर ! उन्होंने क्रोधसे आविष्ट होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम स्थावर वृक्षकी भाँति एक जगह पड़े रहो, जब कभी राजा नल आकर तुम्हें यहाँसे अन्यत्र ले जायँगे, तभी तुम मेरे शापसे छुटकारा पा सकोगे'॥ ४—६॥

तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद् विचलितुं पदम्।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान्॥ ७॥

'राजन् ! नारदजीके उस शापसे मैं एक पग भी चल नहीं सकता; आप मुझे बचाइये, मैं आपको कल्याणकारी उपदेश दूँगा॥ ७॥

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम्॥ ८॥

'साथ ही मैं आपका मित्र हो जाऊँगा। सर्पोंमें मेरे-जैसा प्रभावशाली दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके लिये हलका हो जाऊँगा। आप शीघ्र मुझे लेकर यहाँसे चल दीजिये'॥ ८॥

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद् देशं दावविवर्जितम्॥ ९॥

इतना कहकर नागराज कर्कोटक अँगूठेके बराबर हो गया। उसे लेकर राजा नल वनके उस प्रदेशकी ओर चले गये, जहाँ दावानल नहीं था॥ ९॥

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत्॥ १०॥

अग्निके प्रभावसे रहित आकाश देशमें पहुँचनेपर जब नलने उस नागको छोड़नेका विचार किया, उस समय कर्कोटकने फिर कहा—॥ १०॥

पदानि गणयन् गच्छ स्वानि नैषध कानिचित्।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत् परम्॥ ११॥

'नैषध ! आप अपने कुछ पैंड गिनते हुए चलिये। महाबाहो ! ऐसा करनेपर मैं आपके लिये परम कल्याणका साधन करूँगा'॥ ११॥

ततः संख्यातुमारब्धमदशद् दशमे पदे।
तस्य दष्टस्य तद् रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत॥ १२॥

तब राजा नलने अपने पैंड गिनने आरम्भ किये। पैंड गिनते-गिनते जब राजा नलने 'दश' कहा, तब नागने उन्हें डँस लिया। उसके डँसते ही उनका पहला रूप तत्काल अन्तर्हित (होकर श्याम-वर्ण) हो गया॥ १२॥

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः॥ १३॥

अपने रूपको इस प्रकार विकृत (गौरवर्णसे श्यामवर्ण) हुआ देख राजा नलको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने पूर्वस्वरूपको धारण करके खड़े हुए कर्कोटक नागको देखा॥

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन् नलमब्रवीत्।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति॥ १४॥

तब कर्कोटक नागने राजा नलको सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन् ! मैंने आपके पहले रूपको इसलिये अदृश्य कर दिया है कि लोग आपको पहचान न सकें॥ १४॥

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति॥ १५॥

'महाराज नल ! जिस कलियुगके कपटसे आपको महान्

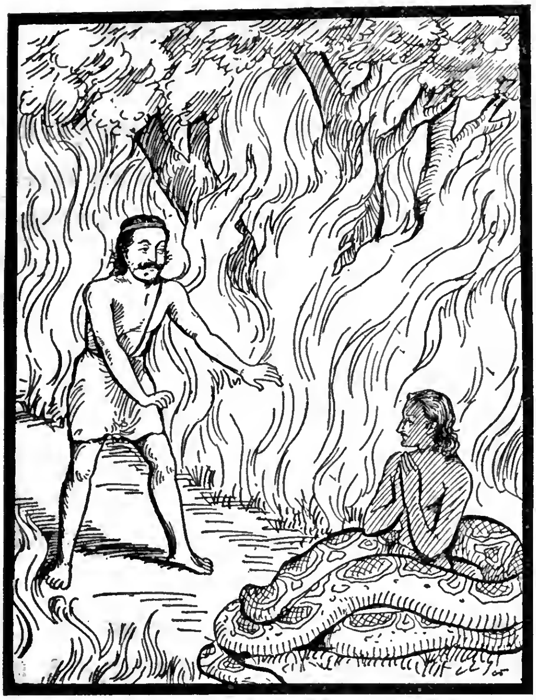

दुःखका सामना करना पड़ा है, वह मेरे विषसे दग्ध होकर आपके भीतर बड़े कष्टसे निवास करेगा ॥ १५ ॥

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत् त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत् त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १६ ॥

'कलियुगके सारे अङ्ग मेरे विषसे व्याप्त हो जायँगे । महाराज ! वह जबतक आपको छोड़ नहीं देगा, तबतक आपके भीतर बड़े दुःखसे निवास करेगा ॥ १६ ॥

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १७ ॥

'नरेश्वर ! आप छल-कपटद्वारा सताये जाने योग्य नहीं थे, तो भी जिसने बिना किसी अपराधके आपके साथ कपटका व्यवहार किया है, उसीके प्रति क्रोधसे दोषदृष्टि रखकर मैंने आपकी रक्षा की है ॥ १७ ॥

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १८ ॥

'नरव्याघ्र महाराज ! मेरे प्रसादसे आपको दाढ़ोंवाले जन्तुओं और शत्रुओंसे तथा वेदवेत्ताओंके शाप आदिसे भी कभी भय नहीं होगा ॥ १८ ॥

राजन् विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपको विषजनित पीड़ा कभी नहीं होगी । राजेन्द्र ! आप युद्धमें भी सदा विजय प्राप्त करेंगे ॥ १९ ॥

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाक्षनैपुणः ॥ २० ॥

'राजन् ! अब आप यहाँसे अपनेको बाहुक नामक सूत बताते हुए राजा ऋतुपर्णके समीप जाइये । वे द्यूत-विद्यामें बड़े निपुण हैं ॥ २० ॥

अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥ २२ ॥

'निषधेश्वर ! आप आज ही रमणीय अयोध्यापुरीको चले जाइये । इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण आपसे अश्वविद्याका रहस्य सीखकर बदलेमें आपको द्यूत-क्रीडाका रहस्य बतलायेंगे और आपके मित्र भी हो जायँगे । जब आप द्यूतविद्याके ज्ञाता होंगे, तब पुनः कल्याण-भागी हो जायँगे ॥ २१-२२ ॥

सममेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

मैं सच कहता हूँ, आप एक ही साथ अपनी पत्नी, दोनों संतानों तथा राज्यको प्राप्त कर लेंगे; अतः अपने मनमें चिन्ता न कीजिये ॥ २३ ॥

स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! जब आप अपने (पहलेवाले) रूपको देखना चाहें, उस समय मेरा स्मरण करें और इस कपड़ेको ओढ़ लें ॥

अनेन वाससाच्छन्नः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यसे ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २५ ॥

'इस वस्त्रसे आच्छादित होते ही आप अपना पहला रूप प्राप्त कर लेंगे ।' ऐसा कहकर नागने उन्हें दो दिव्य वस्त्र प्रदान किये ॥ २५ ॥

एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस प्रकार राजा नलको संदेश और वस्त्र देकर नागराज कर्कोटक वहीं अन्तर्धान हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल-कर्कोटकसंवादविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलका ऋतुपर्णके यहाँ अश्वाध्यक्षके पदपर नियुक्त होना और वहाँ दमयन्तीके लिये निरन्तर चिन्तित रहना तथा उनकी जीवलसे बातचीत

बृहदश्व उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः ।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद् दशमेऽहनि ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—कर्कोटक नागके अन्तर्धान हो जानेपर निषधनरेश नलने दसवें दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

स राजानमुपातिष्ठद् बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥

वे बाहुक नामसे अपना परिचय देते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ उपस्थित हुए और बोले—'घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें इस पृथ्वीपर मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च ।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥

'मैं इन दिनों अर्थसंकटमें हूँ। आपको किसी भी कलाकी निपुणताके विषयमें सलाह लेनी हो, तो मुझसे पूछ सकते हैं। अन्न-संस्कार (भाँति-भाँतिकी रसोई बनानेका कार्य) भी मैं दूसरोंकी अपेक्षा विशेष जानता हूँ ॥ ३ ॥

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम् ।
सर्वं यतिष्ये तत् कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥

'इस जगत्‌में जितनी भी शिल्पकलाएँ हैं तथा दूसरे भी जो अत्यन्त कठिन कार्य हैं, मैं उन सबको अच्छी तरह करनेका प्रयत्न कर सकता हूँ। महाराज ऋतुपर्ण ! आप मेरा भरण-पोषण कीजिये' ॥ ४ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत् करिष्यसि ।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥ ५ ॥

ऋतुपर्णने कहा—बाहुक ! तुम्हारा भला हो। तुम मेरे यहाँ निवास करो। ये सब कार्य तुम्हें करने होंगे। मेरे मनमें सदा यही विचार विशेषतः रहता है कि मैं शीघ्रतापूर्वक कहीं भी पहुँच सकूँ ॥ ५ ॥

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शतम् ॥ ६ ॥

अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे मेरे घोड़े शीघ्रगामी हो जायँ। आजसे तुम हमारे अश्वाध्यक्ष हो। दस हजार मुद्राएँ तुम्हारा वार्षिक वेतन है ॥ ६ ॥

त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥

वार्ष्णेय और जीवल—ये दोनों सारथि तुम्हारी सेवामें रहेंगे। बाहुक ! इन दोनोंके साथ तुम बड़े सुखसे रहोगे। तुम मेरे यहाँ रहो ॥ ७ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत् तत्र पूजितः ।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! राजाके ऐसा कहनेपर नल वार्ष्णेय और जीवलके साथ सम्मानपूर्वक ऋतुपर्णके नगरमें निवास करने लगे ॥ ८ ॥

स वै तत्रावसद् राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन् ।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥

वे दमयन्तीका निरन्तर चिन्तन करते हुए वहाँ रहने लगे। वे प्रतिदिन सायंकाल इस एक श्लोकको पढ़ा करते थे— ॥ ९ ॥

क्व नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी ।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ॥१०॥

'भूख-प्याससे पीड़ित और थकी माँदी वह तपस्विनी उस मन्दबुद्धि पुरुषका स्मरण करती हुई कहाँ सोती होगी तथा अब वह किसके समीप रहती होगी ?' ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत्।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥

एक दिन रात्रिके समय जब राजा इस प्रकार बोल रहे थे 'जीवलने पूछा—बाहुक ! तुम प्रतिदिन किस स्त्रीके लिये शोक करते हो, मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

आयुष्मन् कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
आसीद् बहुमता नारी तस्याद्दढतरं वचः।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥ १३ ॥

'आयुष्मन् ! वह किसकी पत्नी है, जिसके लिये तुम इस प्रकार निरन्तर शोकमग्न रहते हो।' तब राजा नलने उससे कहा—'किसी अल्पबुद्धि पुरुषके एक स्त्री थी, जो उसके अत्यन्त आदरकी पात्र थी। किंतु उस पुरुषकी बात अत्यन्त दृढ़ नहीं थी। वह अपनी प्रतिज्ञासे फिसल गया। किसी विशेष प्रयोजनसे विवश होकर वह भाग्यहीन पुरुष अपनी पत्नीसे बिछुड़ गया ॥ १२-१३ ॥

विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १४ ॥

'पत्नीसे विलग होकर वह मन्दबुद्धि मानव दिन-रात शोकाग्निसे दग्ध एवं दुःखसे पीड़ित होकर आलस्यसे रहित हो इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १४ ॥

निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स्म गायति।
स विभ्रमन् महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ॥ १५ ॥
वसत्यनर्हस्तद् दुःखं भूय एवानुसंस्मरन्।

'रातमें उसीका स्मरण करके वह एक श्लोकको गाया करता है। सारी पृथ्वीका चक्कर लगाकर वह कभी किसी स्थानमें पहुँचा और वहीं निरन्तर उस प्रियतमाका स्मरण करके दुःख भोगता रहता है। यद्यपि वह उस दुःखको भोगनेके योग्य है नहीं॥ १५½॥

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ॥ १६ ॥
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति।
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ॥ १७ ॥

'वह नारी इतनी पतिव्रता थी कि संकटकालमें भी उस पुरुषके पीछे-पीछे वनमें चली गयी; किंतु उस अल्प पुण्यवाले पुरुषने उसे वनमें ही त्याग दिया ! अब तो यदि वह जीवित होगी तो बड़े कष्टसे उसके दिन बीतते होंगे। वह स्त्री अकेली थी। उसे मार्गका ज्ञान नहीं था। जिस संकटमें वह पड़ी थी, उसके योग्य वह कदापि नहीं थी ॥ १६-१७ ॥

क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति।
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ॥ १८ ॥
त्यक्ता तेनाल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष।
इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ॥
अज्ञातवासं न्यवसद् राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ १९ ॥

'भूख और प्याससे उसके अङ्ग व्याप्त हो रहे थे। उस दशामें परित्यक्त होकर वह यदि जीवित भी हो तो भी उसका जीवित रहना बहुत कठिन है। आर्यजीवन ! अत्यन्त भयंकर विशाल वनमें जहाँ नित्य-निरन्तर हिंसक जन्तु विचरते रहते हैं, उस मन्दबुद्धि एवं मन्दभाग्य पुरुषने उसका त्याग कर दिया था।' इस प्रकार निषधनरेश राजा नल दमयन्तीका निरन्तर स्मरण करते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलविलापविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

विदर्भराजका नल-दमयन्तीकी खोजके लिये ब्राह्मणोंको भेजना, सुदेव ब्राह्मणका चेदिराजके भवनमें जाकर मन-ही-मन दमयन्तीके गुणोंका चिन्तन और उससे भेंट करना

बृहदश्व उवाच

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये च वनं गते।
द्विजान् प्रस्थापयामास नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन् ! राज्यका अपहरण हो जानेपर जब राजा नल पत्नीसहित वनमें चले गये, तब विदर्भ-नरेश भीमने नलका पता लगानेके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको इधर-उधर भेजा ॥ १ ॥

संदिदेश च तान् भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम्।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥

राजा भीमने प्रचुर धन देकर ब्राह्मणोंको यह संदेश दिया—'आपलोग राजा नल और मेरी पुत्री दमयन्तीकी खोज करें ॥ २ ॥

अस्मिन् कर्मणि सम्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥ ३ ॥

'निषधनरेश नलका पता लग जानेपर जब यह कार्य सम्पन्न हो जायगा, तब मैं आपलोगोंमेंसे जो भी नल-दमयन्तीको यहाँ ले आयेगा, उसे एक हजार गौएँ दूँगा ॥ ३ ॥

अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसम्मितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥ ४ ॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।

'साथ ही जीविकाके लिये अग्रहार (करमुक्त भूमि) दूँगा और ऐसा गाँव दे दूँगा, जो आयमें नगरके समान होगा । यदि नल-दमयन्तीमेंसे किसी एकको या दोनोंको ही यहाँ ले आना सम्भव न हो सके तो केवल उनका पता लग जानेपर भी मैं एक हजार गोधन दान करूँगा' ॥ ४½ ॥

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ॥ ५ ॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।
नैव क्वापि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥ ६ ॥
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद् राजवेश्मनि ॥ ७ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण बड़े प्रसन्न होकर सब दिशाओंमें चले गये और नगर तथा राष्ट्रोंमें पत्नीसहित निषधनरेश नलका अनुसंधान करने लगे; परंतु कहीं भी वे नल अथवा भीमकुमारी दमयन्तीको नहीं देख पाते थे । तदनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मणने पता लगाते हुए रमणीय चेदिनगरीमें जाकर वहाँ राजमहलमें विदर्भकुमारी दमयन्तीको देखा ॥५-७॥

पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम् ॥ ८ ॥
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ।
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ९ ॥

वह राजाके पुण्याहवाचनके समय सुनन्दाके साथ खड़ी थी । उसका अनुपम रूप (मैलसे आवृत होनेके कारण) मन्द-मन्द प्रकाशित हो रहा था, मानो अग्निकी प्रभा धूमसमूहसे आवृत हो रही हो । विशाल नेत्रोंवाली उस राजकुमारीको अधिक मलिन और दुर्बल देख उपर्युक्त कारणोंसे उसकी पहचान करते हुए सुदेवने निश्चय किया कि यह भीमकुमारी दमयन्ती ही है ॥ ८-९॥

सुदेव उवाच

यथेयं मे पुरः दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ॥१०॥

सुदेव मन-ही-मन बोले—मैंने पहले जिस रूपमें इस कल्याणमयी राजकन्याको देखा है, वैसी ही यह आज भी है । लोककमनीय लक्ष्मीकी भाँति इस भीमकुमारीको देखकर आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ ॥ १० ॥

पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ ११ ॥

यह श्यामा युवती पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमती है । इसके स्तन बड़े मनोहर और गोल-गोल हैं । यह देवी अपनी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित कर रही है ॥

चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ १२ ॥

उसके बड़े-बड़े नेत्र मनोहर कमलोंकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं । यह कामदेवकी रति-सी जान पड़ती है । पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीके समान यह सब लोगोंके लिये प्रिय है ॥ १२ ॥

विदर्भसरसस्तस्माद् दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १३ ॥
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १४ ॥

विदर्भरूपी सरोवरसे यह कमलिनी मानो प्रारब्धके दोषसे निकाल ली गयी है । इसके मलिन अङ्ग कीचड़ लिपटी हुई नलिनीके समान प्रतीत होते हैं । यह उस पूर्णिमाकी रजनीके समान जान पड़ती है, जिसके चन्द्रमापर मानो राहुने ग्रहण लगा रक्खा हो । पति-शोकसे व्याकुल और दीन होनेके कारण यह सूखे जल-प्रवाहवाली सरिताके समान प्रतीत होती है ॥ १३-१४ ॥

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहंगमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥

इसकी दशा उस पुष्करिणीके समान दिखायी देती है, जिसे हाथियोंने अपने शुण्डदण्डसे मथ डाला हो तथा जो नष्ट हुए पत्तोंवाले कमलसे युक्त हो एवं जिसके भीतर निवास करनेवाले पक्षी अत्यन्त भयभीत हो रहे हों । यह दुःखसे अत्यन्त व्याकुल-सी प्रतीत हो रही है ॥ १५ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥ १६ ॥

मनोहर अङ्गोंवाली यह सुकुमारी राजकन्या उन महलोंमें रहनेयोग्य है, जिनका भीतरी भाग रत्नोंका बना हुआ है । (इस समय दुःखने इसे ऐसा दुर्बल कर दिया है कि) यह सरोवरसे निकाली और सूर्यकी किरणोंसे जलायी हुई कमलिनीके समान प्रतीत हो रही है ॥ १६ ॥

रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १७ ॥

यह रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न है । शृङ्गार धारण करनेके योग्य होनेपर भी यह शृङ्गारशून्य है, मानो आकाशमें मेघोंकी काली घटासे आवृत नूतन चन्द्रकला हो ॥

कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च।
देहं संधारयन्तीं हि भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १८ ॥

यह राजकन्या प्रिय कामभोगोंसे वञ्चित है। अपने बन्धु-जनोंसे बिछुड़ी हुई है और पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने (दीन-दुर्बल) शरीरको धारण कर रही है ॥ १८ ॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥ १९ ॥

वास्तवमें पति ही नारीका सबसे श्रेष्ठ आभूषण है। उसके होनेसे वह बिना आभूषणोंके सुशोभित होती है; परंतु यह पतिरूप आभूषणसे रहित होनेके कारण शोभामयी होकर भी सुशोभित नहीं हो रही है ॥ १९ ॥

दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनापि सीदति ॥ २० ॥

इससे विलग होकर राजा नल यदि अपने शरीरको धारण करते हैं और शोकसे शिथिल नहीं हो रहे हैं तो यह समझना चाहिये कि वे अत्यन्त दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २० ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम्।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ॥ २१ ॥

काले-काले केशों और कमलके समान विशाल नेत्रोंसे सुशोभित इस राजकन्याको, जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, दुःखित देखकर मेरे मनमें भी बड़ी व्यथा हो रही है ॥ २१ ॥

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा।
भर्तुः समागमात् साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २२ ॥

जैसे रोहिणी चन्द्रमाके संयोगसे सुखी होती है, उसी प्रकार यह शुभलक्षणा साध्वी राजकुमारी अपने पतिके समागमसे (संतुष्ट हो) कब इस दुःखके समुद्रसे पार हो सकेगी ॥

अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ॥ २३ ॥

जैसे कोई राजा एक बार अपने राज्यसे च्युत होकर फिर उसी राज्यभूमिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है, उसी प्रकार पुनः इसके मिल जानेपर निषधनरेश नलको निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ २३ ॥

तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम्।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ २४ ॥

विदर्भकुमारी दमयन्ती राजा नलके समान शील और अवस्थासे युक्त है, उन्हींके तुल्य उत्तम कुलसे सुशोभित है। निषधनरेश नल विदर्भकुमारीके योग्य हैं और यह कजरारे नेत्रोंवाली वैदर्भी नलके योग्य है ॥ २४ ॥

युक्तं तस्याप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ॥ २५ ॥

राजा नलका पराक्रम और धैर्य असीम है। उनकी यह पत्नी पतिदर्शनके लिये लालायित और उत्कण्ठित है, अतः मुझे इससे मिलकर इसे आश्वासन देना चाहिये ॥ २५ ॥

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २६ ॥

इस पूर्णचन्द्रमुखी राजकुमारीने पहले कभी दुःखको नहीं देखा था। इस समय दुःखसे आतुर हो पतिके ध्यानमें परायण है, अतः मैं इसे आश्वासन देनेका विचार कर रहा हूँ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम्।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा।
भीमस्य वचनाद् राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ॥ २८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार भाँति-भाँतिके कारणों और लक्षणोंसे दमयन्तीको पहचानकर और अपने कर्तव्यके विषयमें विचार करके सुदेव ब्राह्मण उसके समीप गये और इस प्रकार बोले—'विदर्भराजकुमारी !

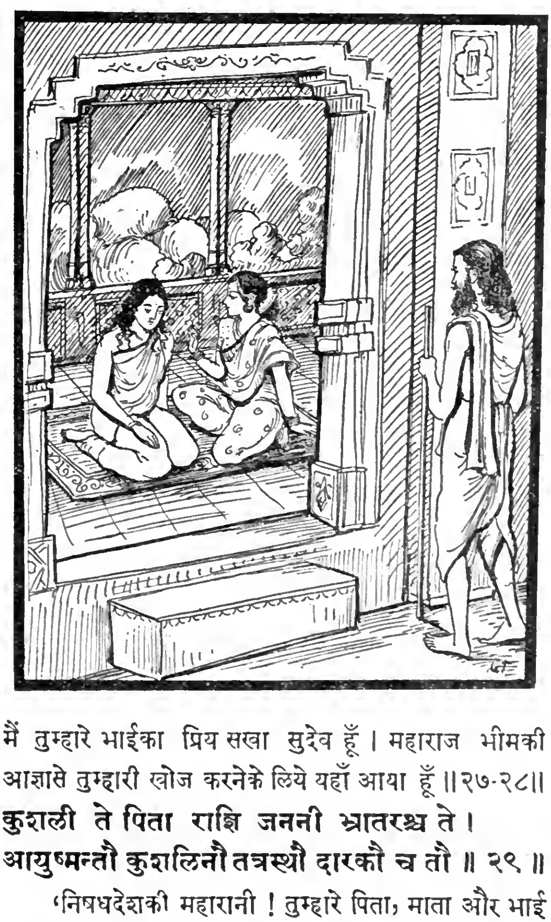

मैं तुम्हारे भाईका प्रिय सखा सुदेव हूँ। महाराज भीमकी आज्ञासे तुम्हारी खोज करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ २७-२८ ॥

कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥ २९ ॥

'निषधदेशकी महारानी ! तुम्हारे पिता, माता और भाई सब सकुशल हैं और कुण्डिनपुरमें जो तुम्हारे बालक हैं, वे भी कुशलसे हैं ॥ २९ ॥

त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥ ३० ॥

'तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारी ही चिन्तासे मृतक-तुल्य हो रहे हैं। (तुम्हारी खोज करनेके लिये) सैकड़ों ब्राह्मण इस पृथ्वीपर घूम रहे हैं' ॥ ३० ॥

बृहदश्व उवाच

अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।
पर्यपृच्छत तान् सर्वान् क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ ३१ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं--युधिष्ठिर ! सुदेवको पहचानकर दमयन्तीने क्रमशः अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३१ ॥

रुरोद च भृशं राजन् वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३२ ॥
रुदतीं तामथो दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्शिता ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३३ ॥

राजन् ! अपने भाईके प्रिय मित्र द्विजश्रेष्ठ सुदेवको सहसा आया देख दमयन्ती शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी। भारत ! तदनन्तर उसे सुदेवके साथ एकान्तमें बात करती तथा रोती देख सुनन्दा शोकसे व्याकुल हो उठी ॥ ३२-३३ ॥

जनित्र्यै कथयामास सैरन्ध्री रोदितीति च ।
ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥

उसने अपनी मातासे जाकर कहा—'माँ ! सैरन्ध्री एक ब्राह्मणसे मिलकर बहुत रो रही है। यदि तुम ठीक समझो तो इसका कारण जाननेकी चेष्टा करो' ॥ ३४ ॥

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात् तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर चेदिराजकी माता उस समय अन्तःपुरसे निकलकर उसी स्थानपर गयीं, जहाँ राजकन्या दमयन्ती ब्राह्मणके साथ खड़ी थी ॥ ३५ ॥

ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशाम्पते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ॥ ३६ ॥
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! तब राजमाताने सुदेवको बुलाकर पूछा—'विप्रवर ! जान पड़ता है, तुम इसे जानते हो। बताओ, यह सुन्दरी युवती किसकी पत्नी अथवा किसकी पुत्री है ? यह सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरी अपने भाई-बन्धुओं अथवा पतिसे किस प्रकार विलग हुई है ? यह सती-साध्वी नारी ऐसी दुरवस्थामें क्यों पड़ गयी ? ॥ ३६-३७ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ।
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन् ! इस देवरूपिणी नारीके विषयमें यह सारा वृत्तान्त मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहती हूँ। मैं जो कुछ पूछती हूँ, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! राजमाताके इस प्रकार पूछनेपर वे द्विजश्रेष्ठ सुदेव सुखपूर्वक बैठकर दमयन्तीका यथार्थ वृत्तान्त बताने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्ती-सुदेव-संवादविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीका अपने पिताके यहाँ जाना और वहाँसे नलको ढूँढ़नेके लिये अपना संदेश देकर ब्राह्मणोंको भेजना

सुदेव उवाच

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥

सुदेवने कहा—देवि ! विदर्भदेशके राजा महातेजस्वी भीम बड़े धर्मात्मा हैं। यह उन्हींकी पुत्री है। इस कल्याण-स्वरूपा राजकन्याका नाम दमयन्ती है ॥ १ ॥

राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः॥ २॥

वीरसेनपुत्र नल निषधदेशके सुप्रसिद्ध राजा हैं। उन्हीं (परम) बुद्धिमान् पुण्यश्लोक नलकी यह कल्याणमयी पत्नी है॥

स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित्॥ ३॥

एक दिन राजा नल अपने भाईके द्वारा जूएमें हार गये। उसीमें उनका सारा राज्य चला गया। वे दमयन्तीके साथ वनमें चले गये। तबसे अबतक किसीको उनका पता नहीं लगा॥ ३॥

ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम्।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने॥ ४॥

हम अनेक ब्राह्मण दमयन्तीको ढूँढ़नेके लिये इस पृथ्वीपर विचर रहे हैं। आज आपके पुत्रके महलमें मुझे यह राजकुमारी मिली है॥ ४॥

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः॥ ५॥

रूपमें इसकी समानता करनेवाली कोई भी मानवकन्या नहीं है। इसके दोनों भौंहोंके बीच एक जन्मजात उत्तम तिलका चिह्न है॥ ५॥

श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः॥ ६॥

मैंने देखा है, इस श्यामा राजकुमारीके ललाटमें वह कमलके समान चिह्न छिपा हुआ है। मेघमालासे ढँके हुए चन्द्रमाकी भाँति उसका वह चिह्न मैलसे ढक गया है॥ ६॥

चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः।
प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नातिविराजते॥ ७॥
न चास्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम्।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम्॥ ८॥
अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन सूचिता।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा॥ ९॥

विधाताके द्वारा निर्मित यह चिह्न इसके भावी ऐश्वर्यका सूचक है। इस समय यह प्रतिपदाकी मलिन चन्द्रकलाके समान अधिक शोभा नहीं पा रही है। इसका सुवर्ण-जैसा सुन्दर शरीर मैलसे व्याप्त और संस्कारशून्य (मार्जन आदिसे रहित) होनेपर भी स्पष्ट रूपसे उद्भासित हो रहा है। इसका रूप-सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। जैसे छिपी हुई आग अपनी गर्मीसे पहचान ली जाती है, उसी प्रकार यद्यपि देवी दमयन्ती मलिन शरीरसे युक्त है तो भी इस ललाटवर्ती तिलके चिह्नसे ही मैंने इसे पहचान लिया है॥ ७–९॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशाम्पते।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम्॥ १०॥

युधिष्ठिर! सुदेवका यह वचन सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके ललाटवर्ती चिह्नको ढँकनेवाली मैल धो दी॥ १०॥

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः॥ ११॥

मैल धुल जानेपर उसके ललाटका वह चिह्न उसी प्रकार चमक उठा, जैसे बादलरहित आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है॥ ११॥

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत।
रुदत्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः॥ १२॥

भारत! उस चिह्नको देखकर सुनन्दा और राजमाता दोनों रोने लगीं और दमयन्तीको हृदयसे लगाये दो घड़ीतक स्तब्ध खड़ी रहीं॥ १२॥

उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत्।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता॥ १३॥

तत्पश्चात् राजमाताने आँसू बहाते हुए धीरेसे कहा—'बेटी! तुम मेरी बहिनकी पुत्री हो। इस चिह्नके कारण मैंने भी तुम्हें पहचान लिया॥ १३॥

अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने॥ १४॥

'सुन्दरी! मैं और तुम्हारी माता दोनों दशार्णदेशके स्वामी महामना राजा सुदामाकी पुत्रियाँ हैं॥ १४॥

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे॥ १५॥

'तुम्हारी माँका ब्याह राजा भीमके साथ हुआ और मेरा चेदिराज वीरबाहुके साथ। तुम्हारा जन्म दशार्णदेशमें मेरे पिताके ही घरपर हुआ और मैंने अपनी आँखों देखा॥

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भामिनि।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव॥ १६॥

'भामिनि! तुम्हारे लिये जैसा पिताका घर है, वैसा ही मेरा घर है। दमयन्ती! यह सारा ऐश्वर्य जैसे मेरा है, उसी प्रकार तुम्हारा भी है'॥ १६॥

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशाम्पते।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत्॥ १७॥

युधिष्ठिर! तब दमयन्तीने प्रसन्न हृदयसे अपनी मौसीको प्रणाम करके कहा—॥ १७॥

अज्ञायमानापि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया॥ १८॥

'माँ! यद्यपि तुम मुझे पहचानती नहीं थीं, तब भी मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रही हूँ। तुमने मेरे इच्छानुसार सारी सुविधाएँ कर दीं और सदा तुम्हारे द्वारा रक्षा मेरी होती रही॥

सुखात् सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि॥ १९ ॥

'अब यदि मैं यहाँ रहूँ तो यह मेरे लिये अधिक-से अधिक सुखदायक होगा, इसमें संशय नहीं है, किंतु मैं बहुत दिनोंसे प्रवासमें भटक रही हूँ, अतः माताजी ! मुझे विदर्भ जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ १९ ॥

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ॥ २० ॥

'मैंने अपने बच्चोंको पहले ही कुण्डिनपुर भेज दिया था । वे वहीं रहते हैं । पितासे तो उनका वियोग हो ही गया है; मुझसे भी वे बिछुड़ गये हैं, ऐसी दशामें वे शोकार्त बालक कैसे रहते होंगे ? ॥ २० ॥

यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान् यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥ २१ ॥
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ॥ २२ ॥
प्रास्थापयद् राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम्॥ २३ ॥

'माँ ! यदि तुम मेरा कुछ भी प्रिय करना चाहती हो तो मेरे लिये शीघ्र किसी सवारीकी व्यवस्था कर दो। मैं विदर्भदेश जाना चाहती हूँ।' राजन् ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर दमयन्तीकी मौसीने प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रकी राय लेकर सुन्दरी दमयन्तीको पालकीपर बिठाकर विदा किया। उसकी रक्षाके लिये बहुत बड़ी सेना दे दी। भरतश्रेष्ठ ! राजमाताने दमयन्तीके साथ खाने-पीनेकी तथा अन्य आवश्यक सामग्रियोंकी अच्छी व्यवस्था कर दी ॥ २१-२३ ॥

ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत् पुनः ।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वहाँसे विदा हो वह थोड़े ही दिनोंमें विदर्भदेशकी राजधानीमें जा पहुँची । उसके आगमनसे माता-पिता आदि सभी बन्धु-बान्धव बड़े प्रसन्न हुए और सबने उसका स्वागत-सत्कार किया ॥ २४ ॥

सर्वान् कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान् दारकौ च तौ ।
मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम्॥ २५॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशाम्पते ॥ २६ ॥

राजन् ! समस्त बन्धु-बान्धवों, दोनों बच्चों, माता-पिता और सम्पूर्ण सखियोंको सकुशल देखकर यशस्विनी देवी दमयन्तीने उत्तम विधिके साथ देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २५-२६ ॥

अतर्पयत् सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥ २७ ॥

राजा भीम अपनी पुत्रीको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने एक हजार गौ, एक गाँव तथा धन देकर सुदेव ब्राह्मणको संतुष्ट किया ॥ २७ ॥

सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! भाविनी दमयन्तीने उस रातमें पिताके घरमें विश्राम किया । सबेरा होनेपर उसने मातासे कहा—॥ २८ ॥

दमयन्त्युवाच

मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नलस्य नरवीरस्य यतस्वानयने पुनः ॥ २९ ॥

दमयन्ती बोली—माँ ! यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मैं तुमसे सच कहती हूँ, नरवीर महाराज नलकी खोज करानेका पुनः प्रयत्न करो ॥ २९ ॥

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।
बाष्पेणापिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥ ३० ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं । वे अत्यन्त दुखी हो गयीं और तत्काल उसे कोई उत्तर न दे सकीं ॥ ३० ॥

तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा ।
हाहाभूतमतीवासीद् भृशं च प्ररुरोद ह ॥ ३१ ॥

तब महारानीकी यह दयनीय अवस्था देख उस समय सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया । सब-के-सब फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३१ ॥

ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महाराज भीमसे उनकी पत्नीने कहा—'प्राणनाथ ! आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पतिके लिये निरन्तर शोकमें डूबी रहती है॥ ३२ ॥

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।
प्रयतन्तां तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥ ३३ ॥

'नरेश्वर ! उसने लाज छोड़कर स्वयं अपने मुँहसे कहा है, अतः आपके सेवक पुण्यश्लोक महाराज नलका पता लगानेका प्रयत्न करें ॥ ३३ ॥

तया प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान् वशवर्तिनः ।
प्रास्थापयद् दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥ ३४ ॥

महारानीसे प्रेरित हो राजा भीमने अपने अधीनस्थ ब्राह्मणोंको यह कहकर सब दिशाओंमें भेजा कि 'आपलोग नलको ढूँढ़नेकी चेष्टा करें' ॥ ३४ ॥

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद् ब्राह्मणास्तदा ।
दमयन्तीमथो दृष्ट्वा प्रस्थिताःस्मेत्यथाब्रुवन् ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् विदर्भनरेशकी आज्ञासे ब्राह्मणलोग प्रस्थित हो दमयन्तीके पास जाकर बोले—'राजकुमारी ! हम सब नलका पता लगाने जा रहे हैं (क्या आपको कुछ कहना है ?)' ॥

अथ तानब्रवीद् भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रुवध्वं जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

तब भीमकुमारीने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'सब राष्ट्रोंमें घूम-घूमकर जनसमुदायमें आपलोग बार-बार मेरी यह बात बोलें—॥ ३६ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ ३७ ॥

'ओ जुआरी प्रियतम ! तुम वनमें सोयी हुई और अपने पतिमें अनुराग रखनेवाली मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये ? ॥ ३७ ॥

सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ ३८ ॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्निमें निरन्तर जल रही है ॥ ३८ ॥

तस्या रुदत्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं ददस्व च ॥ ३९ ॥

'वीर भूमिपाल ! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उस प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मुझे मेरी बातका उत्तर दो' ॥ ३९ ॥

एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद् यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥ ४० ॥

'ब्राह्मणो ! ये तथा और भी बहुत-सी ऐसी बातें आप कहें, जिससे वे मुझपर कृपा करें । वायुकी सहायतासे प्रज्वलित आग सारे वनको जला डालती है (इसी प्रकार विरहकी व्याकुलता मुझे जला रही है) ॥ ४० ॥

भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी पत्या हि सर्वदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद् धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥ ४१ ॥

'प्राणनाथ ! पतिको उचित है कि वह सदा अपनी पत्नीका भरण-पोषण एवं संरक्षण करे । आप धर्मज्ञ और साधु पुरुष हैं, आपके ये दोनों कर्तव्य सहसा नष्ट कैसे हो गये ? ॥

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान् सदा ।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ४२ ॥

'आप विख्यात विद्वान्, कुलीन और सदा सबके प्रति दयाभाव रखनेवाले हैं; परंतु मेरे हृदयमें यह संदेह होने लगा है कि आप मेरा भाग्य नष्ट होनेके कारण मेरे प्रति निर्दय हो गये हैं ॥ ४२ ॥

तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ॥ ४३ ॥

'नरव्याघ्र ! नरोत्तम ! मुझपर दया करो । मैंने तुम्हारे ही मुखसे सुन रक्खा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है' ॥

एवं ब्रुवाणान् यदि वः प्रतिब्रूयात् कथंचन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क नु वर्तते ॥ ४४ ॥

'ब्राह्मणो ! यदि आपके ऐसी बातें कहनेपर कोई किसी प्रकार भी आपको उत्तर दे तो उस मनुष्यका सब प्रकारसे परिचय प्राप्त कीजियेगा कि वह कौन है और कहाँ रहता है, इत्यादि ॥ ४४ ॥

यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात् प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचस्तस्य ममावेद्यं द्विजोत्तमाः ॥ ४५ ॥

'विप्रवरो ! आपके इन वचनोंको सुनकर जो कोई मनुष्य जैसा भी उत्तर दे, उसकी वह बात याद रखकर आपलोग मुझे बतावें ॥ ४५ ॥

तथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात् ।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ४६ ॥

'किसीको भी यह नहीं मालूम होना चाहिये कि आपलोग मेरी आज्ञासे ये बातें कह रहे हैं । जब कोई उत्तर मिल जाय, तब आप आलस्य छोड़कर पुनः यहाँ तुरंत लौट आवें ॥ ४६ ॥

यदि वासौ समृद्धः स्याद् यदि वाप्यधनो भवेत् ।
यदि वाप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥ ४७ ॥

'उत्तर देनेवाला पुरुष धनवान् हो या निर्धन, समर्थ हो या असमर्थ; वह क्या करना चाहता है, इस बातको जाननेका प्रयत्न कीजिये' ॥ ४७ ॥

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम्।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥४८॥
ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान् घोषांस्तथाऽऽश्रमान्।
अन्वेषन्तो नलं राजन् नाधिजग्मुर्द्विजातयः ॥४९॥

राजन्! दमयन्तीके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण संकटमें पड़े हुए राजा नलको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंकी ओर चले गये। युधिष्ठिर! उन ब्राह्मणोंने नगरों, राष्ट्रों, गाँवों, गोष्ठों तथा आश्रमोंमें भी नलका अन्वेषण किया; किंतु उन्हें कहीं भी उनका पता न लगा ॥ ४८-४९ ॥

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशाम्पते।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥५०॥

महाराज! दमयन्तीने जैसा बताया था, उस वाक्यको सभी ब्राह्मण भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंको सुनाया करते थे ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी खोजविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

पर्णादका दमयन्तीसे बाहुकरूपधारी नलका समाचार बताना और दमयन्तीका ऋतुपर्णके यहाँ सुदेव नामक ब्राह्मणको स्वयंवरका संदेश देकर भेजना

बृहदश्व उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् पर्णादनामक ब्राह्मण विदर्भदेशकी राजधानीमें लौटकर आये और दमयन्तीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

नैषधं मृगयानेन दमयन्ति मया नलम्।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ २ ॥

'दमयन्ती! मैं निषधनरेश नलको ढूँढ़ता हुआ अयोध्या नगरीमें गया और वहाँ राजा ऋतुपर्णके दरबारमें उपस्थित हुआ ॥ २ ॥

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥
तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत् किंचिदृतुपर्णो नराधिपः।
न च पारिषदः कश्चिद् भाष्यमाणो मयासकृत्॥ ४ ॥

'वहाँ बहुत लोगोंकी भीड़में मैंने तुम्हारा वाक्य महाभाग ऋतुपर्णको सुनाया। वरवर्णिनि! उस बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछ न बोले। मेरे बार-बार कहनेपर भी उनका कोई सभासद् भी इसका उत्तर न दे सका ॥ ३-४ ॥

अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत्।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥

'परंतु ऋतुपर्णके यहाँ बाहुक नामधारी एक पुरुष है, उसने जब मैं राजासे विदा लेकर लौटने लगा, तब मुझसे एकान्तमें आकर तुम्हारी बातोंका उत्तर दिया ॥ ५ ॥

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥

'वह महाराज ऋतुपर्णका सारथि है। उसकी भुजाएँ छोटी हैं तथा वह देखनेमें कुरूप भी है। वह घोड़ोंको शीघ्र हाँकनेमें कुशल है और अपने बनाये हुए भोजनमें बड़ा मिठास उत्पन्न कर देता है ॥ ६ ॥

स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः।
कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥

'बाहुकने बार-बार लम्बी साँसें खींचकर अनेक बार रोदन किया और मुझसे कुशल-समाचार पूछकर फिर वह इस प्रकार कहने लगा—॥ ७ ॥

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः॥ ८ ॥

'उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी सङ्कटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ ९ ॥

'श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ ९ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ १० ॥

'वह पुरुष बड़े संकटमें था, सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ ११ ॥

'जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम्।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ १२ ॥

'पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार—उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥ १३ ॥

'बाहुककी वह बात सुनकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह सब सुनकर अब कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हीं प्रमाण हो। (तुम्हारी इच्छा हो तो) महाराजको भी ये बातें सूचित कर दो' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशाम्पते।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! पर्णादका यह कथन सुनकर दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उसने एकान्तमें जाकर अपनी मातासे कहा—॥ १४ ॥

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥ १५ ॥
यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम्।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत् प्रियमिच्छसि ॥ १६ ॥

'माँ ! पिताजीको यह बात कदापि मालूम न होनी चाहिये। मैं तुम्हारे ही सामने विप्रवर सुदेवको इस कार्यमें लगाऊँगी। तुम ऐसी चेष्टा करो, जिससे पिताजीको मेरा विचार ज्ञात न हो। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहती हो तो तुम्हें इसके लिये सचेष्ट रहना होगा ॥ १५-१६ ॥

यथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान्।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु मा चिरम् ॥ १७ ॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः।

'जैसे सुदेवने मुझे यहाँ लाकर बन्धु-बान्धवोंसे शीघ्र मिला दिया, उसी मङ्गलमय उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सुदेव ब्राह्मण फिर शीघ्र ही यहाँसे अयोध्या जायँ, देर न करें। माँ ! वहाँ जानेका उद्देश्य है, महाराज नलको यहाँ ले आना' ॥ १७½ ॥

विश्रान्तं तु ततः पश्चात् पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥ १८ ॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनातीव भाविनी।
नले चेहागते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥ १९ ॥

इतनेहीमें विप्रवर पर्णाद जब विश्राम कर चुके, तब विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने बहुत धन देकर उनका सत्कार किया और यह भी कहा—'महाराज नलके यहाँ पधारनेपर मैं आपको और भी धन दूँगी ॥ १८-१९ ॥

त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति।
यद् भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥ २० ॥

'विप्रवर ! आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया, जो दूसरा नहीं कर सकता; क्योंकि अब मैं अपने स्वामीसे शीघ्र ही मिल सकूँगी' ॥ २० ॥

स एवमुक्तोऽथाश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥ २१ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अत्यन्त उदार हृदयवाले पर्णाद अपने परम मङ्गलमय आशीर्वादोंद्वारा उसे आश्वासन दे कृतार्थ हो अपने घर चले गये ॥ २१ ॥

ततः सुदेवमाभाष्य दमयन्ती युधिष्ठिर।
अब्रवीत् संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर दमयन्तीने सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर अपनी माताके समीप दुःख-शोकसे पीड़ित होकर कहा—॥ २२ ॥

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः ॥ २३ ॥

'सुदेवजी ! आप इच्छानुसार चलनेवाले द्रुतगामी पक्षीकी भाँति शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरीमें जाकर वहाँके निवासी राजा ऋतुपर्णसे कहिये—॥ २३ ॥

आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥

'भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी । वहाँ बहुत-से राजा और राजकुमार सब ओरसे जा रहे हैं ॥ २४ ॥

तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति ।
यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिंदम ॥ २५ ॥

'उसके लिये समय नियत हो चुका है । कल ही स्वयंवर होगा । शत्रुदमन ! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये ॥ २५ ॥

सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति ।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥ २६ ॥

'कल सूर्योदय होनेके बाद वह दूसरे पतिका वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है' ॥ २६ ॥

एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत् ।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥ २७ ॥

महाराज ! दमयन्तीके इस प्रकार बतानेपर सुदेव ब्राह्मणने राजा ऋतुपर्णके पास जाकर वही बात कही ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीके पुनः स्वयंवरकी चर्चासे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा ऋतुपर्णका विदर्भदेशको प्रस्थान, राजा नलके विषयमें वार्ष्णेयका विचार और बाहुककी अद्भुत अश्वसंचालन-कलासे वार्ष्णेय और ऋतुपर्णका प्रभावित होना

बृहदश्व उवाच

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुदेवकी वह बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने मधुर वाणीसे सान्त्वना देते हुए बाहुकसे कहा—॥ १ ॥

विदर्भान् यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥

'बाहुक ! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ' ॥२॥

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्यत मनो दुःखात् प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजा ऋतुपर्णके ऐसा कहनेपर राजा नलका मन अत्यन्त दुःखसे विदीर्ण होने लगा । महामना नल बहुत देरतक किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥३॥

दमयन्ती वदेदेतद् कुर्यात् दुःखेन मोहिता ।
अस्मदर्थे भवेद् वायमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥

वे सोचने लगे—'क्या दमयन्ती ऐसी बात कह सकती है ? अथवा सम्भव है, दुःखसे मोहित होकर वह ऐसा कार्य कर ले । कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसने मेरी प्राप्तिके लिये यह महान् उपाय सोच निकाला हो ? ॥ ४ ॥

नृशंसं बत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥ ५ ॥
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्यात् सा विवासाद् गतसौहृदा ॥ ६ ॥

'तपस्विनी एवं दीन विदर्भराजकुमारीको मुझ नीच एवं पापबुद्धि पुरुषने धोखा दिया है, इसीलिये वह ऐसा निष्ठुर कार्य करनेको उद्यत हो गयी । संसारमें स्त्रीका चञ्चल स्वभाव प्रसिद्ध है । मेरा अपराध भी भयंकर है । सम्भव है मेरे प्रवाससे उसका हार्दिक स्नेह कम हो गया हो, अतः वह ऐसा भी कर ले ॥ ५-६ ॥

मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात् तनुमध्यमा ।
नैवं सा कर्हिचित् कुर्यात् सापत्या च विशेषतः ॥ ७ ॥

'क्योंकि पतली कमरवाली वह युवती मेरे शोकसे अत्यन्त उद्विग्न हो उठी होगी और मेरे मिलनेकी आशा न होनेके कारण उसने ऐसा विचार कर लिया होगा, परंतु मेरा हृदय कहता है कि वह कभी ऐसा नहीं कर सकती । विशेषतः वह संतानवती है । इसलिये भी उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती ॥ ७ ॥

यदत्र सत्यं वासत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम्।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ८ ॥

'इसमें कितना सत्य या असत्य है—इसे मैं वहाँ जाकर ही निश्चितरूपसे जान सकूँगा; अतः मैं अपने लिये ही ऋतुपर्णकी इस कामनाको पूर्ण करूँगा' ॥ ८ ॥

इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ॥ ९ ॥
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥१०॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके दीनहृदय बाहुकने दोनों हाथ जोड़कर राजा ऋतुपर्णसे इस प्रकार कहा—'नरेश्वर! पुरुषसिंह! मैंने आपकी आज्ञा सुनी है, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें आपके साथ जा पहुँचूँगा' ॥ ९-१० ॥

ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन् स बाहुकः।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिनृपाज्ञया ॥११॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर बाहुकने अश्वशालामें जाकर राजा ऋतुपर्णकी आज्ञासे अश्वोंकी परीक्षा की ॥ ११ ॥

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः।
अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः।
अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान्॥१२॥

ऋतुपर्ण बाहुकको बार-बार उत्तेजित करने लगे, अतः उसने अच्छी तरह विचार करके अश्वोंकी परीक्षा कर ली और ऐसे अश्वोंको चुना, जो देखनेमें दुबले होनेपर भी मार्ग तय करनेमें शक्तिशाली एवं समर्थ थे ॥ १२ ॥

तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान्।
वर्जिताँल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान् महाहनून् ॥१३॥

वे तेज और बलसे युक्त थे। वे अच्छी जातिके और अच्छे स्वभावके थे। उनमें अशुभ लक्षणोंका सर्वथा अभाव था। उनकी नाक मोटी और थूथन (ठोड़ी) चौड़ी थी१३

शुद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः।
दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित् कोपसमन्वितः ॥१४॥

वे वायुके समान वेगशाली सिन्धुदेशके घोड़े थे। वे दस आवर्त (भँवरियों) के चिह्नोंसे युक्त होनेके कारण निर्दोष थे। उन्हें देखकर राजा ऋतुपर्णने कुछ कुपित होकर कहा—॥१४॥

किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम्।
कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम।
महदध्वानमपि च गन्तव्यं कथमीदृशैः ॥१५॥

'क्या तुमसे ऐसे ही घोड़े चुननेके लिये कहा था, तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो। ये अल्प बल और शक्तिवाले घोड़े कैसे मेरा इतना बड़ा रास्ता तय कर सकेंगे? ऐसे घोड़ोंसे इतनी दूरतक रथ कैसे ले जाया जायगा?' ॥ १५ ॥

बाहुक उवाच

एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥१६॥

बाहुकने कहा—राजन्! ललाटमें एक, मस्तकमें दो, पार्श्वभागमें दो, उपपार्श्वभागमें भी दो, छातीमें दोनों ओर दो दो और पीठमें एक—इस प्रकार कुल बारह भँवरियोंको पहचानकर घोड़े रथमें जोतने चाहिये ॥ १६ ॥

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान् नात्र संशयः।
यानन्यान् मन्यसे राजन् ब्रूहि तान् योजयामि ते ॥१७॥

ये मेरे चुने हुए घोड़े अवश्य विदर्भदेशकी राजधानीतक पहुँचेंगे, इसमें संशय नहीं है। महाराज! इन्हें छोड़कर आप जिनको ठीक समझें, उन्हींको मैं रथमें जोत दूँगा ॥ १७ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक।
यान् मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥१८॥

ऋतुपर्ण बोले—बाहुक! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ और कुशल हो, अतः तुम जिन्हें इस कार्यमें समर्थ समझो, उन्हींको शीघ्र जोतो ॥ १८ ॥

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान्।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान् रथे नलः ॥१९॥

तब चतुर एवं कुशल राजा नलने अच्छी जाति और उत्तम स्वभावके चार वेगशाली घोड़ोंको रथमें जोता ॥१९॥

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत् त्वरान्वितः।
अथ पर्यपतन् भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥२०॥

जुते हुए रथपर राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ सवार हुए। इसलिये उनके चढ़ते ही वे उत्तम घोड़े घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २० ॥

ततो नरवरः श्रीमान् नलो राजा विशाम्पते।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥२१॥

युधिष्ठिर! तब नरश्रेष्ठ श्रीमान् राजा नलने तेज और बलसे सम्पन्न उन घोड़ोंको पुचकारा ॥ २१ ॥

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥२२॥
ते चोद्यमाना विधिवद् बाहुकेन हयोत्तमाः।
समुत्पेतुरथाकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥२३॥

फिर अपने हाथमें बागडोर ले उन्हें काबूमें करके रथको आगे बढ़ानेकी इच्छा की। वार्ष्णेय सारथिको रथपर बैठाकर अत्यन्त वेगका आश्रय ले उन्होंने रथ हाँक दिया। बाहुकके द्वारा विधिपूर्वक हाँके जाते हुए वे उत्तम अश्व

रथीको मोहित-से करते हुए इतने तीव्र वेगसे चले, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ॥ २२-२३ ॥

तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान् वहतो वातरंहसः ।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् विस्मयं परमं ययौ ॥२४॥

उस प्रकार वायुके समान वेगसे रथका वहन करनेवाले उन अश्वोंको देखकर श्रीमान् अयोध्यानरेशको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २४ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत् ।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥२५॥
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः ।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥२६॥

रथकी आवाज सुनकर और घोड़ोंको काबूमें करनेकी वह कला देखकर वार्ष्णेयने बाहुकके अश्व-विज्ञानपर सोचना आरम्भ किया। 'क्या यह देवराज इन्द्रका सारथि-मातलि है ? इस वीर बाहुकमें मातलिका-सा ही महान् लक्षण देखा जाता है ॥ २५-२६ ॥

शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥२७॥

'अथवा घोड़ोंकी जाति और उनके विषयकी तात्त्विक बातें जाननेवाले ये आचार्य शालिहोत्र तो नहीं हैं, जो परम सुन्दर मानव शरीर धारण करके यहाँ आ पहुँचे हैं ॥ २७ ॥

उताहोस्विद् भवेद् राजा नलः परपुरंजयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥२८॥

'अथवा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले साक्षात् राजा नल ही तो इस रूपमें नहीं आ गये हैं ? अवश्य वे ही हैं, इस प्रकार वार्ष्णेयने चिन्तन करना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥२९॥

'राजा नल इस जगत्में जिस विद्याको जानते हैं, उसीको बाहुक भी जानता है । बाहुक और नल दोनोंका ज्ञान मुझे एक-सा दिखायी देता है ॥ २९ ॥

अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च ।
नायं नलो महावीर्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ॥३०॥

'इसी प्रकार बाहुक और नलकी अवस्था भी एक है। यह महापराक्रमी राजा नल नहीं है तो भी उनके ही समान विद्वान् कोई दूसरा महापुरुष होगा ॥ ३० ॥

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥३१॥

'बहुत-से महात्मा प्रच्छन्न रूप धारण करके देवोचित विधि तथा शास्त्रोक्त नियमोंसे युक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ३१ ॥

भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात् परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥३२॥

'इसके शरीरकी रूपहीनताको लक्ष्य करके मेरी बुद्धिमें यह भेद नहीं पैदा होता कि यह नल नहीं है, परंतु राजा नलकी जो मोटाई है, उससे यह कुछ दुबला-पतला है । उससे मेरे मनमें यह विचार होता है कि सम्भव है, यह नल न हो ॥

वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ॥३३॥

'इसकी अवस्थाका प्रमाण तो उन्हींके समान है, परंतु रूपकी दृष्टिसे तो अन्तर पड़ता है । फिर भी अन्ततः मैं इसी निर्णयपर पहुँचता हूँ कि मेरी रायमें बाहुक सर्वगुणसम्पन्न राजा नल ही हैं' ॥ ३३ ॥

एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥३४॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार पुण्यश्लोक नलके सारथि वार्ष्णेयने बार-बार उपर्युक्त रूपसे विचार करते हुए मन-ही-मन उक्त धारणा बना ली ॥ ३४ ॥

ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन् मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥३५॥

महाराज ऋतुपर्ण भी बाहुकके अश्वसंचालनविषयक ज्ञानपर विचार करके वार्ष्णेय सारथिके साथ बहुत प्रसन्न हुए ॥

ऐकाग्र्यं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।

परं यत्नं च सम्प्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥ ३६ ॥

उसकी वह एकाग्रता, वह उत्साह, घोड़ोंको काबूमें रखनेकी वह कला और वह उत्तम प्रयत्न देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका विदर्भदेशमें गमनविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णके उत्तरीय वस्त्र गिरने और बहेड़ेके वृक्षके फलोंको गिननेके विषयमें नलके साथ ऋतुपर्णकी बातचीत, ऋतुपर्णसे नलको द्यूतविद्याके रहस्यकी प्राप्ति और उनके शरीरसे कलियुगका निकलना

बृहदश्व उवाच

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जैसे पक्षी आकाशमें उड़ता है, उसी प्रकार बाहुक (बड़े वेगसे) शीघ्रतापूर्वक कितनी ही नदियों, पर्वतों, वनों और सरोवरोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ने लगा ॥ १ ॥

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद् भ्रष्टं परपुरंजयः ॥ २ ॥

जब रथ इस प्रकार तीव्र गतिसे दौड़ रहा था, उसी समय शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले राजा ऋतुपर्णने देखा, उनका उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर गया है ॥ २ ॥

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान् महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ॥ ४ ॥

उस समय वस्त्र गिर जानेपर उन महामना नरेशने बड़ी उतावलीके साथ नलसे कहा—'महामते ! इन वेगशाली घोड़ोंको (थोड़ी देरके लिये) रोक लो । मैं अपनी गिरी हुई चादर लूँगा । जबतक यह वार्ष्णेय उतरकर मेरे उत्तरीय वस्त्रको ला दे, तबतक रथको रोके रहो' ॥ ३-४॥

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाहर्तुं शक्यते पुनः ॥ ५ ॥

यह सुनकर नलने उसे उत्तर दिया—'महाराज ! आपका वस्त्र बहुत दूर गिरा है । मैं उस स्थानसे चार कोस आगे आ गया हूँ । अब फिर वह नहीं लाया जा सकता' ॥ ५ ॥

एवमुक्तो नलेनाथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥

राजन् ! नलके ऐसा कहनेपर राजा ऋतुपर्ण चुप हो गये । अब वे एक वनमें एक बहेड़ेके वृक्षके पास आ पहुँचे, जिसमें बहुत-से फल लगे थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥

उस वृक्षको देखकर राजा ऋतुपर्णने तुरंत ही बाहुकसे कहा—'सूत ! तुम देखो, मुझमें भी गणना करने (हिसाब लगाने) की कितनी अद्भुत शक्ति है ॥ ७ ॥

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥

'सब लोग सभी बातें नहीं जानते । संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तथा एक ही पुरुषमें सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है ॥ ८ ॥

वृक्षेऽस्मिन् यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥ ९ ॥
एकपत्राधिकं चात्र फलमेकं च बाहुक ।
पञ्चकोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥ १० ॥
प्रचिनुह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ ११ ॥

'बाहुक ! इस वृक्षपर जितने पत्ते और फल हैं, उन सबको मैं बताता हूँ । पेड़के नीचे जो पत्ते और फल गिरे हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ अधिक है, इसके सिवा एक पत्र तथा एक फल और भी अधिक है; अर्थात् नीचे गिरे हुए पत्तों और फलोंकी संख्या वृक्षमें लगे हुए पत्तों और फलोंसे एक सौ दो अधिक है । इस वृक्षकी दोनों शाखाओंमें पाँच करोड़ पत्ते हैं । तुम्हारी इच्छा हो तो इन दोनों शाखाओं तथा इसकी अन्य प्रशाखाओं (को काटकर उन) के पत्ते गिन लो । इसी प्रकार इन शाखाओंमें दो हजार पञ्चानबे फल लगे हुए हैं ॥ ९-११ ॥

ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ १२ ॥
प्रत्यक्षमेतत् कर्तास्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथात्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये बिभीतकम् ।
अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ॥ १४ ॥

यह सुनकर बाहुकने रथ खड़ा करके राजासे कहा—'शत्रुसूदन नरेश ! आप जो कह रहे हैं, वह संख्या परोक्ष है। मैं इस बहेड़ेके वृक्षको काटकर उसके फलोंकी संख्याको प्रत्यक्ष करूँगा । महाराज ! आपकी आँखोंके सामने इस बहेड़ेको काटूँगा । इस प्रकार गणना कर लेनेपर वह संख्या परोक्ष नहीं रह जायगी । बिना ऐसा किये मैं तो नहीं समझ सकता कि (फलोंकी) संख्या इतनी है या नहीं ॥ १२-१४ ॥

संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन् यच्छतु वाजिनाम्॥ १५ ॥

'जनेश्वर ! यदि वार्ष्णेय दो घड़ीतक भी इन घोड़ोंकी लगाम सँभाले तो मैं आपके देखते देखते इसके फलोंको गिन लूँगा' ॥ १५ ॥

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम् ।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥ १७ ॥

तब राजाने सारथिसे कहा—'यह विलम्ब करनेका समय नहीं है।' बाहुक बोला—'मैं प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही गणना समाप्त कर दूँगा । आप दो ही घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये । अथवा यदि आपको बड़ी जल्दी हो तो यह विदर्भदेशका मङ्गलमय मार्ग है; वार्ष्णेयको सारथि बनाकर चले जाइये' ॥

अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन् कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! तब ऋतुपर्णने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बाहुक ! तुम्हीं इन घोड़ोंको हाँक सकते हो । इस कलामें पृथ्वीपर तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान् हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'घोड़ोंके रहस्यको जाननेवाले बाहुक ! तुम्हारे ही प्रयत्नसे मैं विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ । देखो, तुम्हारी शरणमें आया हूँ । इस कार्यमें विघ्न न डालो ॥ १९ ॥

कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक ।
विदर्भान् यदि यात्वाद्य सूर्यं दर्शयितासि मे ॥ २० ॥

'बाहुक ! यदि आज विदर्भदेशमें पहुँचकर तुम मुझे सूर्यका दर्शन करा सको तो तुम जो कहोगे, तुम्हारी वही इच्छा पूर्ण करूँगा' ॥ २० ॥

अथाब्रवीद् बाहुकस्तं संख्याय च बिभीतकम् ।
ततो विदर्भान् यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥ २१ ॥

यह सुनकर बाहुकने कहा—'मैं बहेड़ेके फलोंको गिनकर विदर्भदेशको चलूँगा । आप मेरी यह बात मान लीजिये' ॥२१॥

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयानघ ॥ २२ ॥
गणयस्वाश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २३ ॥

राजाने मानो अनिच्छासे कहा—'अच्छा, गिन लो । अश्वविद्याके तत्त्वको जाननेवाले निष्पाप बाहुक ! मेरे बताये अनुसार तुम शाखाके एक ही भागको गिनो । इससे तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी' । बाहुकने रथसे उतरकर तुरंत ही उस वृक्षको काट डाला ॥ २२-२३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ॥ २४ ॥

गिननेसे उसे उतने ही फल मिले । तब उसने विस्मित होकर राजा ऋतुपर्णसे कहा—॥ २४ ॥

अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम् ।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां ययैतज्ज्ञायते नृप ॥ २५ ॥
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २६ ॥

'राजन् ! आपमें गणितकी यह अद्भुत शक्ति मैंने देखी है । नराधिप ! जिस विद्यासे यह गिनती जान ली जाती है, मैं उसे सुनना चाहता हूँ ।' राजा तुरंत जानेके लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने बाहुकसे कहा—'तुम मुझे द्यूत-विद्याका मर्मज्ञ और गणितमें अत्यन्त निपुण समझो' ॥ २५-२६ ॥

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

बाहुकने कहा—'पुरुषश्रेष्ठ ! तुम यह विद्या मुझे बतला दो और बदलेमें मुझसे भी अश्व-विद्याका रहस्य ग्रहण कर लो' ॥ २७ ॥

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद् वचः ॥ २८ ॥

तब राजा ऋतुपर्णने कार्यकी गुरुता और अश्वविज्ञानके लोभसे बाहुकको आश्वासन देते हुए कहा—'तथास्तु' ॥ २८ ॥

यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।

निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ॥ २९ ॥

'बाहुक ! तुम मुझसे द्यूत-विद्याका गूढ़ रहस्य ग्रहण करो और अश्वविज्ञानको मेरे लिये अपने ही पास धरोहरके रूपमें रहने दो।' ऐसा कहकर ऋतुपर्णने नलको अपनी विद्या दे दी॥

तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः।
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात् सततमुद्वमन् ॥ ३० ॥
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः।
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ॥ ३१ ॥

द्यूत-विद्याका रहस्य जाननेके अनन्तर नलके शरीरसे कलियुग निकला। वह कर्कोटक नागके तीखे विषको अपने मुखसे बार-बार उगल रहा था। उस समय कष्टमें पड़े हुए कलियुगकी वह शापाग्नि भी दूर हो गयी। राजा नलको उसने दीर्घकालतक कष्ट दिया था और उसीके कारण वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे॥ ३०-३१ ॥

ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत् कलिः।
तं शप्तुमैच्छत् कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विषके प्रभावसे मुक्त होकर कलियुगने अपने स्वरूपको प्रकट किया। उस समय निषधनरेश नलने कुपित हो कलियुगको शाप देनेकी इच्छा की॥ ३२ ॥

तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ॥ ३३ ॥

तब कलियुग भयभीत हो काँपता हुआ हाथ जोड़ उनसे बोला—'महाराज ! अपने क्रोधको रोकिये। मैं आपको उत्तम कीर्ति प्रदान करूँगा॥ ३३ ॥

इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत् पुरा।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ॥ ३४ ॥

'इन्द्रसेनकी माता दमयन्तीने, पहले जब उसे आपने वनमें त्याग दिया था, कुपित होकर मुझे शाप दे दिया। उससे मैं बड़ा कष्ट पाता रहा हूँ॥ ३४ ॥

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३५ ॥

'किसीसे पराजित न होनेवाले महाराज ! मैं आपके शरीरमें अत्यन्त दुःखित होकर रहता था। नागराज कर्कोटकके विषसे मैं दिन-रात झुलसता जा रहा था (इस प्रकार मुझे अपने कियेका कठोर दण्ड मिल गया है)॥ ३५ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम।
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद् भविष्यति ॥ ३६ ॥
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत् कोपमात्मनः ॥ ३७ ॥

'अब मैं आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी यह बात सुनिये। यदि भयसे पीड़ित और शरणमें आये हुए मुझको आप शाप नहीं देंगे तो संसारमें जो मनुष्य आलस्यरहित हो आपकी कीर्ति-कथाका कीर्तन करेंगे, उन्हें मुझसे कभी भय नहीं होगा।' कलियुगके ऐसा कहनेपर राजा नलने अपने क्रोधको रोक लिया॥ ३६-३७ ॥

ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम्।
कलिस्त्वन्यैस्तदादृश्यः कथयन् नैषधेन वै ॥ ३८ ॥

तदनन्तर कलियुग भयभीत हो तुरंत ही बहेड़ेके वृक्षमें समा गया। वह जिस समय निषधराज नलके साथ बात कर रहा था, उस समय दूसरे लोग उसे नहीं देख पाते थे॥ ३८ ॥

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा।
सम्प्रणष्टे कलौ राजा संख्यायास्य फलान्युत ॥ ३९ ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाथ परेण वै।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ॥ ४० ॥

तदनन्तर कलियुगके अदृश्य हो जानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले निषधनरेश राजा नल सारी चिन्ताओंसे मुक्त हो गये। बहेड़ेके फलोंको गिनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम तेजसे युक्त तेजस्वी रूप धारण करके रथपर चढ़े और वेगशाली घोड़ोंको हाँकते हुए विदर्भदेशको चल दिये॥

बिभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात्।
हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
नलः संचोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ॥ ४२ ॥

कलियुगके आश्रय लेनेसे बहेड़ेका वृक्ष निन्दित हो गया। तदनन्तर राजा नलने प्रसन्नचित्तसे पुनः घोड़ोंको हाँकना आरम्भ किया। वे उत्तम अश्व पक्षियोंकी तरह बार-बार उड़ते हुए-से प्रतीत हो रहे थे। अब महायशस्वी राजा नल विदर्भदेशकी ओर (बड़े वेगसे बढ़े) जा रहे थे॥४१-४२॥

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद् गृहम्।
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत् पृथिवीपतिः।
विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ॥ ४३ ॥

नलके चले जानेपर कलि अपने घर चले गये। राजन् !

कलिसे मुक्त हो भूमिपाल राजा नल सारी चिन्ताओंसे छुटकारा पा गये; किंतु अभीतक उन्हें अपना पहला रूप नहीं प्राप्त हुआ था। उनमें केवल इतनी ही कमी रह गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलियुगनिर्गमनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णका कुण्डिनपुरमें प्रवेश, दमयन्तीका विचार तथा भीमके द्वारा ऋतुपर्णका स्वागत

बृहदश्व उवाच

ततो विदर्भान् सम्प्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम्।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर शाम होते-होते सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्ण विदर्भराज्यमें जा पहुँचे। लोगोंने राजा भीमको इस बातकी सूचना दी ॥ १ ॥

स भीमवचनाद् राजा कुण्डिनं प्राविशत् पुरम्।
नादयन् रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ॥ २ ॥

भीमके अनुरोधसे राजा ऋतुपर्णने अपने रथकी घर्घराहटद्वारा सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए कुण्डिनपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥

नलके घोड़े वहीं रहते थे, उन्होंने रथका वह घोष सुना। सुनकर वे उतने ही प्रसन्न और उत्साहित हुए, जितने कि पहले नलके समीप रहा करते थे ॥ ३ ॥

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम्।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥

दमयन्तीने भी नलके रथकी वह घर्घराहट सुनी, मानो वर्षाकालमें गरजते हुए मेघोंका गम्भीर घोष सुनायी देता हो ॥

परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम्।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ५ ॥

वह महाभयंकर रथनाद सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। पूर्वकालमें राजा नल जब घोड़ोंकी बाग सँभालते थे, उन दिनों उनके रथसे जैसी गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी, वैसी ही उस समयके रथकी घर्घराहट भी दमयन्ती और उसके घोड़ोंको जान पड़ी ॥ ५ ॥

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ॥ ६ ॥

महलपर बैठे हुए मयूरों, गजशालामें बँधे हुए गजराजों तथा अश्वशालाके अश्वोंने राजाके रथका वह अद्भुत घोष सुना ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ॥ ७ ॥

राजन् ! रथकी उस आवाजको सुनकर हाथी और मयूर अपना मुँह ऊपर उठाकर उसी प्रकार उत्कण्ठापूर्वक अपनी बोली बोलने लगे, जैसे वे मेघोंकी गर्जना होनेपर बोला करते हैं ॥ ७ ॥

दमयन्त्युवाच

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम्।
ममाह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ८ ॥

(उस समय) दमयन्तीने (मन-ही-मन) कहा—अहो ! रथकी वह घर्घराहट इस पृथ्वीको गुँजाती हुई जिस प्रकार मेरे मनको आह्लाद प्रदान कर रही है, उससे जान पड़ता है, ये महाराज नल ही पधारे हैं ॥ ८ ॥

अद्य चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि।
असंख्येयगुणं वीरं विनङ्क्ष्यामि न संशयः ॥ ९ ॥

आज यदि असंख्य गुणोंसे विभूषित तथा चन्द्रमाके समान मुखवाले वीरवर नलको न देखूँगी तो अपने इस जीवनका अन्त कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम्।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥ १० ॥

आज यदि मैं इन वीरशिरोमणि नलकी दोनों भुजाओंके मध्यभागमें, जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखद है, प्रवेश न कर सकी तो अवश्य जीवित न रह सकूँगी ॥ १० ॥

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ ११ ॥

यदि रथद्वारा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले निषधदेशके स्वामी महाराज नल आज मेरे पास नहीं पधारेंगे तो मैं सुवर्णके समान देदीप्यमान दहकती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥ ११ ॥

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनङ्क्ष्यामि न संशयः॥ १२ ॥

यदि सिंहके समान पराक्रमी और मतवाले हाथीके समान

मस्तानी चालसे चलनेवाले राजराजेश्वर नल मेरे पास नहीं आयेंगे तो आज अपने जीवनको नष्ट कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम्।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ॥ १३ ॥

मुझे याद नहीं कि स्वेच्छापूर्वक अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैं कभी झूठ बोली हूँ, स्मरण नहीं कि कभी किसीका मेरेद्वारा अपकार हुआ हो तथा यह भी स्मरण नहीं कि मैंने प्रतिज्ञा की हुई बातका उल्लङ्घन किया हो ॥ १३ ॥

प्रभुः क्षमावान् वीरश्च दाता चाप्यधिको नृपैः।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ॥ १४ ॥

मेरे निषधराज नल शक्तिशाली, क्षमाशील, वीर, दाता, सब राजाओंसे श्रेष्ठ; एकान्तमें भी नीच कर्मसे दूर रहनेवाले तथा परायी स्त्रियोंके लिये नपुंसकतुल्य हैं ॥ १४ ॥

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम्।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात् प्रियविनाकृतम् ॥ १५ ॥

मैं (सदा) उन्हींके गुणोंका स्मरण करती और दिन-रात उन्हींके परायण रहती हूँ। प्रियतम नलके बिना मेरा यह हृदय उनके विरहशोकसे विदीर्ण-सा होता रहता है ॥ १५ ॥

एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत।
आरुरोह महद् वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १६ ॥

भारत ! इस प्रकार विलाप करती हुई दमयन्ती अचेत-सी हो गयी। वह पुण्यश्लोक नलके दर्शनकी इच्छासे ऊँचे महलकी छतपर जा चढ़ी ॥ १६ ॥

ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम्।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १७ ॥

वहाँसे उसने देखा, वार्ष्णेय और बाहुकके साथ रथपर बैठे हुए महाराज ऋतुपर्ण मध्यम कक्षा (परकोटे) में पहुँच गये हैं ॥ १७ ॥

ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात्।
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामास वै रथम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर वार्ष्णेय और बाहुकने उस उत्तम रथसे उतरकर घोड़े खोल दिये और रथको एक जगह खड़ा कर दिया ॥

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १९ ॥

इसके बाद राजा ऋतुपर्ण रथके पिछले भागसे उतरकर भयानक पराक्रमी महाराज भीमसे मिले ॥ १९ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ॥ २० ॥

तदनन्तर भीमने बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया और राजा ऋतुपर्णका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः।
न च किंचित् तदापश्यत् प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः।
स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ॥ २१ ॥
अकस्मात् सहसा प्राप्तं स्त्रीमन्त्रं न स विन्दति।

भूपाल ऋतुपर्ण रमणीय कुण्डिनपुरमें ठहर गये। उन्हें बार-बार देखनेपर भी वहाँ (स्वयंवर-जैसी) कोई चीज नहीं दिखायी दी। वे विदर्भनरेशसे मिलकर सहसा इस बातको न जान सके कि यह स्त्रियोंकी अकस्मात् गुप्त मन्त्रणामात्र थी ॥ २१½ ॥

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! विदर्भराजने स्वागतपूर्वक ऋतुपर्णसे पूछा—'आपके यहाँ पधारनेका क्या कारण है ?'॥

नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम्।
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

राजा भीम यह नहीं जानते थे कि दमयन्तीके लिये ही इनका शुभागमन हुआ है। राजा ऋतुपर्ण भी बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ २३ ॥

राजानं राजपुत्रं वा न स पश्यति कंचन।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ॥ २४ ॥
ततो व्यगणयद् राजा मनसा कोसलाधिपः।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥ २५ ॥

उन्होंने वहाँ किसी भी राजा या राजकुमारको नहीं देखा। ब्राह्मणोंका भी वहाँ समागम नहीं हो रहा था। स्वयंवरकी तो कोई चर्चातक नहीं थी। तब कोशलनरेशने मन-ही-मन कुछ विचार किया और विदर्भराजसे कहा—'राजन्! मैं आपका अभिवादन करनेके लिये आया हूँ' ॥

राजापि च स्मयन् भीमो मनसा समचिन्तयत्।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ॥ २६ ॥
ग्रामान् बहूनतिक्रम्य नाध्यगच्छद् यथातथम्।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् ॥ २७ ॥

यह सुनकर राजा भीम भी मुसकरा दिये और मन-ही-मन सोचने लगे—'ये बहुत-से गाँवोंको लाँघकर सौ योजनसे भी अधिक दूर चले आये हैं, किंतु कार्य इन्होंने बहुत साधारण बतलाया है। फिर इनके आगमनका क्या कारण है, इसे मैं ठीक-ठीक न जान सका ॥ २६-२७ ॥

पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद् भविष्यति।
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ॥ २८ ॥

'अच्छा, जो भी कारण होगा पीछे मालूम कर लूँगा। ये जो कारण बता रहे हैं, इतना ही इनके आगमनका हेतु नहीं

है।' ऐसा विचारकर राजाने उन्हें सत्कारपूर्वक विश्रामके लिये विदा किया ॥ २८ ॥

विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः।
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ॥ २९॥

और कहा—'आप बहुत थक गये होंगे, अतः विश्राम कीजिये।' विदर्भनरेशके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार पाकर राजा ऋतुपर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २९ ॥

राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत्।
ऋतुपर्णे गते राजन् वार्ष्णेयसहिते नृपे ॥ ३० ॥
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत्।
स मोचयित्वा तानश्वानुपचर्य च शास्त्रतः ॥ ३१ ॥
स्वयं चैतान् समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत्।

फिर वे राजसेवकोंके साथ गये और बताये हुए भवनमें विश्रामके लिये प्रवेश किया। राजन्! वार्ष्णेयसहित ऋतुपर्णके चले जानेपर बाहुक रथ लेकर रथशालामें गया। उसने उन घोड़ोंको खोल दिया और अश्वशास्त्रकी विधिके अनुसार उनकी परिचर्या करनेके बाद घोड़ोंको पुचकारकर उन्हें धीरज देनेके पश्चात् वह स्वयं भी रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ ३०-३१½ ॥

दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ॥ ३२ ॥
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम्।
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ॥ ३३ ॥

दमयन्ती भी शोकसे आतुर हो राजा ऋतुपर्ण, सूतपुत्र वार्ष्णेय तथा पूर्वोक्त बाहुकको देखकर सोचने लगी—'यह किसके रथकी घर्घराहट सुनायी पड़ती थी ॥ ३२-३३ ॥

नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम्।
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ॥ ३४ ॥
तेनाद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत्।
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा।
यथायं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३५ ॥

'वह गम्भीर घोष तो महाराज नलके रथ-जैसा था; परंतु इन आगन्तुकोंमें मुझे निषधराज नल नहीं दिखायी देते। वार्ष्णेयने भी नलके समान ही अश्वविद्या सीख ली हो, निश्चय ही यह सम्भावना की जा सकती है। तभी आज रथकी आवाज बड़े जोरसे सुनायी दे रही थी, जैसे नलके रथ हाँकते समय हुआ करती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि राजा ऋतुपर्ण भी वैसे ही अश्वविद्यामें निपुण हों, जैसे राजा नल हैं; क्योंकि नलके ही समान इनके रथका भी गम्भीर घोष लक्षित होता है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशाम्पते।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार विचार करके शुभलक्षणा दमयन्तीने नलका पता लगानेके लिये अपनी दूतीको भेजा ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्य भीमपुरप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका राजा भीमके नगरमें प्रवेशविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

बाहुक-केशिनी-संवाद

दमयन्त्युवाच

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली—केशिनी! जाओ और पता लगाओ कि यह छोटी-छोटी बाँहोंवाला कुरूप रथवाहक, जो रथके पिछले भागमें बैठा है, कौन है? ॥ १ ॥

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥

भद्रे! इसके निकट जाकर सावधानीके साथ मधुर वाणीमें कुशल पूछना। अनिन्दिते! साथ ही इस पुरुषके विषयमें ठीक-ठीक बातें जाननेकी चेष्टा करना ॥ २ ॥

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥

इसके विषयमें मुझे बड़ी भारी शङ्का है। सम्भव है, इस वेषमें राजा नल ही हों। मेरे मनमें जैसा संतोष है और हृदयमें जैसी शान्ति है, इससे मेरी उक्त धारणा पुष्ट हो रही है ॥ ३ ॥

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥

सुश्रोणि! तुम बातचीतके सिलसिलेमें इसके सामने पर्णाद ब्राह्मणवाली बात कहना और अनिन्दिते! यह जो उत्तर दे, उसे अच्छी तरह समझना ॥ ४ ॥

ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत्।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥ ५ ॥

तब वह दूती बड़ी सावधानीसे वहाँ जाकर बाहुकसे वार्तालाप करने लगी और कल्याणी दमयन्ती भी महलमें

उसके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठी रही ॥ ५ ॥

केशिन्युवाच

स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम्।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥

केशिनीने कहा—नरेन्द्र ! आपका स्वागत है ! मैं आपका कुशलसमाचार पूछती हूँ। पुरुषश्रेष्ठ ! दमयन्तीकी कही हुई ये उत्तम बातें सुनिये ॥ ६ ॥

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः।
तत् त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥

विदर्भराजकुमारी यह सुनना चाहती हैं कि आपलोग अयोध्यासे कब चले हैं और किस लिये यहाँ आये हैं ? आप न्यायके अनुसार ठीक-ठीक बतायें ॥ ७ ॥

बाहुक उवाच

श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कोसलेन महात्मना।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥ ८ ॥

बाहुक बोला—महात्मा कोसलराजने एक ब्राह्मणके मुखसे सुना था कि कल दमयन्तीका द्वितीय स्वयंवर होनेवाला है ॥ ८ ॥

श्रुत्वैतत् प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥

यह सुनकर राजा हवाके समान वेगवाले और सौ योजनतक दौड़नेवाले अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो विदर्भदेशके लिये प्रस्थित हो गये। इस यात्रामें मैं ही इनका सारथि था ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

केशिनीने पूछा—आपलोगोंमेंसे जो तीसरा व्यक्ति है, वह कहाँसे आया है अथवा किसका सेवक है ? ऐसे ही आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और आपपर इस कार्यका भार कैसे आया है ? ॥ १० ॥

बाहुक उवाच

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥ ११ ॥

बाहुक बोला—भद्रे ! उस तीसरे व्यक्तिका नाम वार्ष्णेय है। वह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथि है। नलके वनमें निकल जानेपर वह ऋतुपर्णकी सेवामें चला गया है ॥

अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

मैं भी अश्वविद्यामें कुशल हूँ और सारथिके कार्यमें भी निपुण हूँ, इसलिये राजा ऋतुपर्णने स्वयं ही मुझे वेतन देकर सारथिके पदपर नियुक्त कर लिया ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच

अथ जानाति वार्ष्णेयः क्व नु राजा नलो गतः।
कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात् तु बाहुक ॥ १३ ॥

केशिनीने पूछा—बाहुक ! क्या वार्ष्णेय यह जानता है कि राजा नल कहाँ चले गये, उसने आपसे महाराजके सम्बन्धमें कैसी बात बतायी है ? ॥ १३ ॥

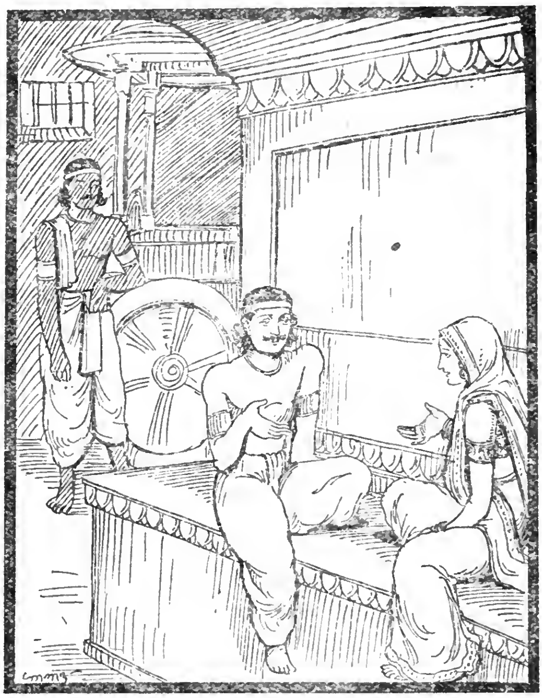

बाहुक उवाच

इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥

बाहुक बोला—भद्रे ! पुण्यकर्मा नलके दोनों बालकोंको यहीं रखकर वार्ष्णेय अपनी रुचिके अनुसार अयोध्या चला गया था। यह नलके विषयमें कुछ नहीं जानता है ॥

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन् नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥

यशस्विनि ! दूसरा कोई पुरुष भी नलको नहीं जानता। राजा नलका पहला रूप अदृश्य हो गया है। वे इस जगत्में गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १५ ॥

आत्मैव तु नलं वेद या चास्य तदनन्तरा।
न हि वै स्वानि लिङ्गानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

परमात्मा ही नलको जानते हैं तथा उसकी जो अन्तरात्मा है, वह उन्हें जानती है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि राजा नल

अपने लक्षणों या चिह्नोंको कभी दूसरोंके सामने नहीं प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥

केशिनीने कहा—पहली बार अयोध्यामें जब वे ब्राह्मण-देवता गये थे, तब उन्होंने स्त्रियोंकी सिखायी हुई निम्नाङ्कित बातें बार-बार कही थीं ॥ १७ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥

'ओ जुआरी प्रियतम ! तुम अपने प्रति अनुराग रखनेवाली वनमें सोयी हुई मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये ? ॥ १८ ॥

सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ १९ ॥

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है ! आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर वह युवती दिन-रात तुम्हारी विरहाग्निमें जल रही है ॥ १९ ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥ २० ॥

'वीर भूमिपाल ! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उसी प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मेरी बातका उत्तर दो' ॥ २० ॥

तस्यास्तत् प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥

'महामते ! इसके उत्तरमें आप दमयन्तीको प्रिय लगनेवाली कोई बात कहिये। साध्वी विदर्भकुमारी आपकी उसी बातको पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल।
यत् पुरा तत् पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ २२ ॥

बाहुक ! ब्राह्मणके मुखसे यह वचन सुनकर पहले आपने जो उत्तर दिया था, उसीको वैदर्भी आपके मुँहसे पुनः सुनना चाहती हैं ॥ २२ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन।
हृदयं व्यथितं चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! केशिनीके ऐसा कहनेपर राजा नलके हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उनकी दोनों आँखें आँसुओंसे भर गयीं ॥ २३ ॥

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

निषधनरेश शोकाग्निसे दग्ध हो रहे थे, तो भी उन्होंने अपने दुःखके वेगको रोककर अश्रुगद्गद वाणीमें पुनः यों कहना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

बाहुक उवाच

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः॥ २५ ॥

बाहुक बोला—उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी संकटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे स्वर्ग और सत्य दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदा सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ॥ २६ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥

वह पुरुष बड़े संकटमें था तथा सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है, तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २८ ॥

जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम्।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २९ ॥

पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार; उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वञ्चित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवाणस्तद् वाक्यं नलः परमदुर्मनाः।
न बाष्पमशकत् सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ ३० ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त बातें कहते हुए नलका मन अत्यन्त उदास हो गया। भारत ! वे अपने उमड़ते हुए आँसुओंको रोक न सके तथा रोने लगे ॥ ३० ॥

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत्।

तत् सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर केशिनीने भीतर जाकर दमयन्तीसे यह सब निवेदन किया। उसने बाहुककी कही हुई सारी बातों और उसके मनोविकारोंको भी यथावत् कह सुनाया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल-केशिनीसंवादविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीके आदेशसे केशिनीद्वारा बाहुककी परीक्षा तथा बाहुकका अपने लड़के-लड़कियोंको देखकर उनसे प्रेम करना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सब सुनकर दमयन्ती अत्यन्त शोकमग्न हो गयी। उसके हृदयमें निश्चित-रूपसे बाहुकके नल होनेका संदेह हो गया और वह केशिनी-से इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥

'केशिनि! फिर जाओ और बाहुककी परीक्षा करो। अबकी बार तुम कुछ बोलना मत। निकट रहकर उसके चरित्रोंपर दृष्टि रखना ॥ २ ॥

यदा च किंचित् कुर्यात् स कारणं तत्र भामिनि।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

'भामिनि! जब वह कोई काम करे तो उस कार्यको करते समय उसकी प्रत्येक चेष्टा और उसके कारणपर लक्ष्य रखना ॥ ३ ॥

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥ ४ ॥

'केशिनि! वह आग्रह करे तो भी उसे आग न देना और माँगनेपर भी किसी प्रकार जल्दीमें आकर पानी भी न देना ॥ ४ ॥

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय।
निमित्तं यत् त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ५ ॥
यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम।

'बाहुकके इन सब चरित्रोंकी समीक्षा करके फिर मुझे सब बात बताना। बाहुकमें यदि तुम्हें कोई दिव्य अथवा मानवोचित विशेषता दिखायी दे तथा और भी जो कोई विशेषता दृष्टिगोचर हो तो उसपर भी दृष्टि रखना और मुझे आकर बताना' ॥ ५½ ॥

दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथ च केशिनी ॥ ६ ॥
निशम्याथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत्।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर केशिनी पुनः वहाँ गयी और अश्वविद्याविशारद बाहुकके लक्षणोंका अवलोकन करके वह फिर लौट आयी ॥ ६½ ॥

सा तत् सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत्।
निमित्तं यत् तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥ ७ ॥

उसने बाहुकमें जो दिव्य अथवा मानवोचित विशेषताएँ देखीं, उनका यथावत् समाचार पूर्णरूपसे दमयन्तीको बताया ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित्।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ॥ ८ ॥

केशिनीने कहा—दमयन्ती! उसका प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त पवित्र है। ऐसा मनुष्य तो मैंने कहीं भी पहले न तो देखा है और न सुना ही है ॥ ८ ॥

ह्रस्वमासाद्य संचारं नासौ विनमते क्वचित्।
तं तु दृष्ट्वा यथासंगमुत्सर्पति यथासुखम् ॥ ९ ॥

किसी छोटे-से-छोटे दरवाजेपर जाकर भी वह झुकता नहीं है। उसे देखकर बड़ी आसानीके साथ दरवाजा ही इस प्रकार ऊँचा हो जाता है कि जिससे मस्तकका उससे स्पर्श न हो ॥ ९ ॥

संकटेऽप्यस्य सुमहान् विवरो जायतेऽधिकः।
ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयमनेकशः ॥ १० ॥
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं चैव प्रभूतवत्।
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

संकुचित स्थानमें भी उसके लिये बहुत बड़ा अवकाश बन जाता है। राजा भीमने ऋतुपर्णके लिये अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ भेजे थे। उसमें प्रचुर मात्रामें केला आदि फलोंका गूदा भी था।* उसको धोनेके लिये वहाँ खाली घड़े रख दिये थे ॥ १०-११ ॥

* 'मांस' शब्दका अर्थ 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में फलका गूदा किया गया है।

ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः ।
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ॥ १२ ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ।
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

परंतु बाहुकके देखते ही वे सारे घड़े पानीसे भर गये । उससे खाद्य पदार्थोंको धोकर बाहुकने चूल्हेपर चढ़ा दिया । फिर एक मुट्ठी तिनका लेकर सूर्यकी किरणोंसे ही उसे उद्दीप्त किया । फिर तो देखते-ही-देखते सहसा उसमें आग प्रज्वलित हो गयी ॥ १२-१३ ॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ।
अन्यच्च तस्मिन् सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ॥ १४ ॥

यह अद्भुत बात देखकर मैं आश्चर्यचकित होकर यहाँ आयी हूँ । बाहुकमें एक और भी बड़े आश्चर्यकी बात देखी है ॥ १४ ॥

यदग्निमपि संस्पृश्य नैवासौ दह्यते शुभे ।
छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ॥ १५ ॥

शुभे ! वह अग्निका स्पर्श करके भी जलता नहीं है । पात्रमें रक्खा हुआ थोड़ा-सा जल भी उसकी इच्छाके अनुसार तुरंत ही प्रवाहित हो जाता है ॥ १५ ॥

अतीव चान्यत् सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम् ।
यत् स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ॥ १६ ॥
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नान्यथा ।
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि ।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ॥ १७ ॥

एक और भी अत्यन्त आश्चर्यजनक बात मुझे उसमें दिखायी दी है । वह फूल लेकर उन्हें हाथोंसे धीरे-धीरे मसलता था । हाथोंसे मसलनेपर भी वे फूल विकृत नहीं होते थे अपितु और भी सुगन्धित और विकसित हो जाते थे । ये अद्भुत लक्षण देखकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आयी हूँ ॥ १६-१७ ॥

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम् ।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १८ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! दमयन्तीने पुण्यश्लोक महाराज नलकी-सी बाहुककी सारी चेष्टाओंको सुनकर मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि महाराज नल ही आये हैं । अपने कार्यों और चेष्टाओंद्वारा वे पहचान लिये गये हैं ॥ १८ ॥

सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः ।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ १९ ॥
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाद् द्रुतं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥ २० ॥
सा गत्वा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च ।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात् प्रियकारिणी ॥ २१ ॥

चेष्टाओंद्वारा उसके मनमें यह प्रबल आशङ्का जम गयी कि बाहुक मेरे पति ही हैं । फिर तो वह रोने लगी और मधुर वाणीमें केशिनीसे बोली—'सखि ! एक बार फिर जाओ और जब बाहुक असावधान हो तो उसके द्वारा विशेषविधिसे उबालकर तैयार किया हुआ फलोंका गूदा रसोई घरमेंसे शीघ्र उठा लाओ ।' केशिनी दमयन्तीकी प्रियकारिणी सखी थी । वह तुरंत गयी और जब बाहुकका ध्यान दूसरी ओर गया तब उसके उबाले हुए गरम-गरम फलोंके गूदेमेंसे थोड़ा-सा निकालकर तत्काल ले आयी ॥ १९-२१ ॥

दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनी कुरुनन्दन ।
सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! केशिनीने वह फलोंका गूदा दमयन्तीको दे दिया । उसे पहले अनेक बार नलके द्वारा उबाले हुए फलोंके गूदेके स्वादका अनुभव था ॥ २२ ॥

प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता ।
वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ॥ २३ ॥
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ।
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ॥ २४ ॥
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत् ।
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ॥ २५ ॥
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ।
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत् तदा ।
उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उसे खाकर वह पूर्णरूपसे इस निश्चयपर पहुँच गयी कि बाहुक सारथि वास्तवमें राजा नल हैं । फिर तो वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी । उस समय उसकी व्याकुलता बहुत बढ़ गयी । भारत ! फिर उसने मुँह धोकर केशिनीके साथ अपने बच्चोंको बाहुकके पास भेजा । बाहुकरूपी राजा नलने इन्द्रसेना और उसके भाई इन्द्रसेनको पहचान लिया और दौड़कर दोनों बच्चोंको छातीसे लगाकर गोदमें ले लिया । देवकुमारोंके समान उन दोनों सुन्दर बालकोंको

पाकर निषधराज नल अत्यन्त दुःखमग्न हो जोर-जोरसे रोने लगे । उन्होंने बार-बार अपने मनोविकार दिखाये और सहसा दोनों बच्चोंको छोड़कर केशिनीसे इस प्रकार कहा—॥ २३–२६ ॥

इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः ।
अतो दृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ॥ २७ ॥

'भद्रे ! ये दोनों बालक मेरे पुत्र और पुत्रीके समान हैं, इसीलिये इन्हें देखकर सहसा मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे ॥ २७ ॥

बहुशः सम्पतन्तीं त्वां जनः संकेतदोषतः ।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम् ॥ २८ ॥

'भद्रे ! तुम बार-बार आती-जाती हो, लोग किसी दोषकी आशङ्का कर लेंगे और हमलोग इस देशके अतिथि हैं; अतः तुम सुखपूर्वक महलमें चली जाओ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलका अपनी पुत्री और पुत्रके देखनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्ती और बाहुककी बातचीत, नलका प्राकट्य और नल-दमयन्ती-मिलन

बृहदश्व उवाच

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! परम बुद्धिमान् पुण्यश्लोक राजा नलके सम्पूर्ण विकारोंको देखकर केशिनीने दमयन्तीको आकर बताया ॥ १ ॥

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया ॥ २ ॥

अब दमयन्ती नलके दर्शनकी अभिलाषासे दुःखातुर हो गयी। उसने केशिनीको पुनः अपनी माँके पास भेजा ॥२॥

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

(और यह कहलाया—) 'माँ ! मेरे मनमें बाहुकके ही नलके होनेका संदेह था, जिसकी मैंने बार-बार परीक्षा करा ली है । और सब लक्षण तो मिल गये हैं । केवल नलके रूपमें संदेह रह गया है । इस संदेहका निवारण करनेके लिये मैं स्वयं पता लगाना चाहती हूँ ॥ ३ ॥

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाथवा ज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥ ४ ॥

'माताजी ! या तो बाहुकको महलमें बुलाओ या मुझे ही बाहुकके निकट जानेकी आज्ञा दो । तुम अपनी रुचिके अनुसार पिताजीसे सूचित करके अथवा उन्हें इसकी सूचना दिये बिना इसकी व्यवस्था कर सकती हो' ॥ ४ ॥

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात् स पार्थिवः ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीने विदर्भनरेश भीमसे अपनी पुत्रीका यह अभिप्राय बताया । सब बातें सुनकर महाराजने आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ॥ ६ ॥
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः ।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाश्रुपरिप्लुतः ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण ! पिता और माताकी आज्ञा ले दमयन्तीने नलको राजभवनके भीतर जहाँ वह स्वयं रहती

थी, बुलवाया। दमयन्तीको सहसा सामने उपस्थित देख राजा नल शोक और दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ ६-७ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ८ ॥

उस समय नलको उस अवस्थामें देखकर सुन्दरी दमयन्ती भी तीव्र शोकसे व्याकुल हो गयी ॥ ८ ॥

ततः काषायवसना जटिला मलपङ्किनी।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

महाराज ! तदनन्तर मलिन वस्त्र पहने, जटा धारण किये, मैल और पङ्कसे मलिन दमयन्तीने बाहुकसे पूछा—॥ ९ ॥

पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद् धर्मज्ञो नाम बाहुक।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥१०॥

'बाहुक! तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुषको देखा है, जो अपनी सोयी हुई पत्नीको वनमें अकेली छोड़कर चले गये थे ॥ १० ॥

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम्।
अपहाय तु को गच्छेत् पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥११॥

'पुण्यश्लोक महाराज नलके सिवा दूसरा कौन होगा, जो एकान्तमें थकावटके कारण अचेत सोयी हुई अपनी निर्दोष प्रियतमा पत्नीको छोड़कर जा सकता हो ॥ ११ ॥

किमु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान् निद्रयार्दिताम् ॥१२॥

'न जाने उन महाराजका मैंने बचपनसे ही क्या अपराध किया था, जो नींदकी मारी हुई मुझ असहाय अबलाको जंगलमें छोड़कर चल दिये ॥ १२ ॥

साक्षाद् देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान् कथम् ॥१३॥

'पहले स्वयंवरके समय साक्षात् देवताओंको छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। मैं उनकी अनुगत भक्त, निरन्तर उन्हें चाहनेवाली और पुत्रवती हूँ, तो भी उन्होंने कैसे मुझे त्याग दिया? ॥ १३ ॥

अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क तद् गतम् ॥१४॥

'अग्निके समीप और देवताओंके समक्ष मेरा हाथ पकड़कर और 'मैं तेरा ही अनुगत होकर रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिन्होंने मुझे अपनाया था, उनका वह सत्य कहाँ चला गया?' १४

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिंदम।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद् बहु ॥१५॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर ! दमयन्ती जब ये सब बातें कह रही थी, उस समय नलके नेत्रोंसे शोकजनित दुःखपूर्ण आँसुओंकी अजस्र धारा बहती जा रही थी ॥ १५ ॥

अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत्।
परिस्रवन् नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ॥१६॥

उनकी आँखोंकी पुतलियाँ काली थीं और नेत्रके किनारे कुछ-कुछ लाल थे। उनसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए नलने दमयन्तीको शोकसे आतुर देख इस प्रकार कहा—॥१६॥

मम राज्यं प्रणष्टं यन्नाहं तत् कृतवान् स्वयम्।
कलिना तत् कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥१७॥

'भीरु ! मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुगकी करतूत थी। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया था ॥ १७ ॥

यत् त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाभिहतः पुरा।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥१८॥
स मच्छरीरे त्वच्छापाद् दह्यमानोऽवसत् कलिः।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाहितः ॥१९॥

'पहले जब तुम वनमें दुखी होकर दिन-रात मेरे लिये शोक करती थी और उस समय धर्मसंकटमें पड़नेपर तुमने जिसे शाप दे दिया था, वही कलियुग मेरे शरीरमें तुम्हारी शापाग्निसे दग्ध होता हुआ निवास करता था, जैसे आगमें रक्खी हुई आग हो; उसी प्रकार वह कलि तुम्हारे शापसे दग्ध हो सदा मेरे भीतर रहता था ॥ १८-१९ ॥

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥२०॥

'शुभे ! मेरे व्यवसाय (उद्योग) तथा तपस्यासे कलियुग परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखोंका अन्त हो जाना चाहिये ॥ २० ॥

विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चागतः।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत् प्रयोजनम् ॥२१॥

'विशाल नितम्बवाली सुन्दरी ! पापी कलियुग मुझे छोड़कर चला गया, इसीसे मैं तुम्हारी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यहाँ आया हूँ। इसके सिवा, मेरे आगमनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २१ ॥

कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम्।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥२२॥

'भीरु ! कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त एवं भक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है; जैसा कि तुम करने जा रही हो ॥ २२ ॥

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात्।
भैमी किल स्म भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥२३॥

'विदर्भनरेशकी आज्ञासे सारी पृथ्वीपर दूत विचरते हैं और यह घोषणा कर रहे हैं कि दमयन्ती द्वितीय पतिका वरण करेगी ॥ २३ ॥

स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥ २४ ॥

'दमयन्ती स्वेच्छाचारिणी है और अपनी रुचिके अनुसार किसी अनुरूप पतिका वरण कर सकती है', यह सुनकर ही राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ यहाँ उपस्थित हुए हैं' ॥२४॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

दमयन्ती नलका यह विलाप सुनकर काँप उठी और भयभीत हो हाथ जोड़कर यह वचन बोली ॥ २५ ॥

दमयन्त्युवाच

न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥ २६ ॥

दमयन्तीने कहा—कल्याणमय निषधनरेश ! आपको मुझपर दोषारोपण करते हुए मेरे चरित्रपर संदेह नहीं करना चाहिये। (आपके प्रति अनन्य प्रेमके कारण ही) मैंने देवताओंको छोड़कर आपका वरण किया है ॥ २६ ॥

तवाभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥ २७ ॥

आपका पता लगानेके लिये ही चारों ओर ब्राह्मणलोग भेजे गये और वे मेरी कही हुई बातोंको सब दिशाओंमें गाथाके रूपमें गाते फिरे ॥ २७ ॥

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान् पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत् कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥ २८ ॥

राजन् ! इसी योजनाके अनुसार पर्णाद नामक विद्वान् ब्राह्मण अयोध्यापुरीमें ऋतुपर्णके राजभवनमें गये थे ॥ २८ ॥

तेन वाक्ये कृते सम्यक् प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ॥ २९ ॥

उन्होंने वहाँ मेरी बात उपस्थित की और वहाँसे आपके द्वारा प्राप्त हुआ ठीक-ठीक उत्तर वे ले आये। निषधराज ! इसके बाद आपको यहाँ बुलानेके लिये मुझे यह उपाय सूझा (कि एक ही दिनके बाद होनेवाले स्वयंवरका समाचार देकर ऋतुपर्णको बुलाया जाय) ॥ २९ ॥

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! पृथ्वीनाथ ! मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि इस जगत्में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो एक ही दिनमें घोड़े जुते हुए रथकी सवारीसे सौ योजन दूरतक जानेमें समर्थ हो ॥ ३० ॥

स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नासत्कृतं किंचिन्मनसापि चराम्यहम् ॥ ३१ ॥

महीपते ! मैं मनसे भी कभी कोई असदाचरण नहीं करती हूँ और इसी सत्यकी शपथ खाकर आपके इन दोनों चरणोंका स्पर्श करती हूँ ॥ ३१ ॥

अयं चरति लोकेऽस्मिन् भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

ये सदा गतिशील वायुदेवता इस जगत्में निरन्तर विचरते रहते हैं, अतः ये सम्पूर्ण भूतोंके साक्षी हैं। यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३२ ॥

यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३३ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव समस्त भुवनोंके ऊपर विचरते हैं, (अतः वे भी सबके शुभाशुभ कर्म देखते रहते हैं) । यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३३ ॥

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ ३४ ॥

चित्तके अभिमानी देवता चन्द्रमा समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विचरते हैं। यदि मैंने पाप किया है तो वे मेरे प्राणोंका हरण कर लें ॥ ३४ ॥

एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै ।
विब्रुवन्तु यथा सत्यमेतद् देवास्त्यजन्तु माम् ॥ ३५ ॥

ये पूर्वोक्त तीन देवता सम्पूर्ण त्रिलोकीको धारण करते हैं। मेरे कथनमें कितनी सचाई है, इसे देवतालोग स्वयं स्पष्ट करें। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो देवता मेरा त्याग कर दें ॥३५॥

एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अन्तरिक्षलोकसे वायुदेवताने कहा—'नल ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है ॥ ३६ ॥

राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन् परिवत्सरान्॥ ३७ ॥

'राजन्! दमयन्तीने अपने शीलकी उज्ज्वल निधिको सदा सुरक्षित रक्खा है। हमलोग तीन वर्षोंतक निरन्तर इसके रक्षक और साक्षी रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥ ३८ ॥

'तुम्हारी प्राप्तिके लिये दमयन्तीने यह अनुपम उपाय ढूँढ़ निकाला था; क्योंकि इस जगत्‌में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है, जो एक दिनमें सौ योजन (रथद्वारा) जा सके ॥

उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नात्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥ ३९ ॥

राजन् ! भीमकुमारी दमयन्ती तुम्हारे योग्य है और तुम दमयन्तीके योग्य हो। तुम्हें इसके चरित्रके विषयमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिये । तुम अपनी पत्नीसे निःशङ्क होकर मिलो' ॥ ३९ ॥

तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ ४० ॥

वायुदेवके ऐसा कहते समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा हो रही थी, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज रही थीं और मङ्गलमय पवन चलने लगा ॥ ४० ॥

तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिंदमः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! यह अद्भुत दृश्य देखकर शत्रुसूदन राजा नलने दमयन्तीके विरुद्ध होनेवाली शङ्काको त्याग दिया ॥४१॥

ततस्तद् वस्त्रमजरं प्रावृणोद् वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन भूपालने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उसके दिये हुए अजीर्ण वस्त्रको ओढ़ लिया। उससे उन्हें अपने पूर्वस्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥ ४२ ॥

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ ४३ ॥

अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हुए अपने पतिदेव पुण्यश्लोक महाराज नलको देखकर सती साध्वी दमयन्ती उनके हृदयसे लगकर उच्च स्वरसे रोने लगी ॥ ४३ ॥

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत् प्रत्यनन्दत ॥ ४४ ॥

राजा नलका रूप पहलेकी ही भाँति प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने भी दमयन्तीको छातीसे लगा लिया और अपने दोनों बालकोंको भी प्यार-दुलार करके प्रसन्न किया ॥ ४४ ॥

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासायतेक्षणा ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् सुन्दर मुख और विशाल नेत्रोंवाली दमयन्ती नलके मुखको अपने वक्षःस्थलपर रखकर दुःखसे व्याकुल हो लंबी साँसें खींचने लगी ॥ ४५ ॥

तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम्।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार पवित्र मुसकान तथा मैलसे भरे हुए अङ्गोंवाली दमयन्तीको हृदयसे लगाकर पुरुषसिंह नल बहुत देरतक शोकमग्न खड़े रहे ॥ ४६ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत् प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ ४७ ॥

'राजन्! तदनन्तर (दमयन्तीके द्वारा मालूम होनेपर) दमयन्तीकी माताने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजा भीमसे नल-दमयन्तीका सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया ॥ ४७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥ ४८ ॥

तब महाराज भीमने कहा—'आज नलको सुखपूर्वक यहीं रहने दो। कल सबेरे स्नान आदिसे शुद्ध हुए दमयन्तीसहित नलसे मैं मिलूँगा' ॥ ४८ ॥

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम्।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ ४९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वे दोनों दम्पति रातभर वनमें रहनेकी पुरानी घटनाओंको एक-दूसरेसे कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक एक साथ रहे ॥ ४९ ॥

गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥ ५० ॥

एक दूसरेको सुख देनेकी इच्छा रखनेवाले दमयन्ती और नल राजा भीमके महलमें प्रसन्नचित्त होकर रहे ॥ ५० ॥

नलका अपने पूर्वरूपमें प्रकट होकर दमयन्तीसे मिलना

स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम्॥ ५१॥

चौथे वर्षमें अपनी प्यारी पत्नीसे मिलकर सम्पूर्ण कामनाओंसे सफलमनोरथ हो नल अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये॥ ५१॥

दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याप्यायिता भृशम्।
अर्धसंजातसस्येव तोयं प्राप्य वसुंधरा॥ ५२॥

जैसे आधी जमी हुई खेतीसे भरी वसुधा वर्षाका जल पाकर उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार दमयन्ती भी अपने पतिको पाकर बहुत संतुष्ट हुई॥ ५२॥

सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां
शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा।
रराज भैमी समवाप्तकामा
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन॥ ५३॥

जैसे चन्द्रोदयसे रात्रिकी शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार भीमकुमारी दमयन्ती पतिसे मिलकर आलस्यका त्याग करके निश्चिन्त और हर्षोल्लसित हृदयसे पूर्णकाम होकर अत्यन्त शोभा पाने लगी॥ ५३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलदमयन्तीसमागमविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७६॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

नलके प्रकट होनेपर विदर्भनगरमें महान् उत्सवका आयोजन, ऋतुपर्णके साथ नलका वार्तालाप और ऋतुपर्णका नलसे अश्वविद्या सीखकर अयोध्या जाना

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम्॥ १॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर वह रात बीतनेपर राजा नल वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो दमयन्तीके साथ यथासमय राजा भीमसे मिले॥ १॥

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा॥ २॥

स्नानादिसे पवित्र हुए नलने विनीतभावसे श्वशुरको प्रणाम किया। तत्पश्चात् शुभलक्षणा दमयन्तीने भी पिताकी वन्दना की॥ २॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत् परया मुदा।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः॥ ३॥
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम्।

राजा भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नलको पुत्रकी भाँति अपनाया और नलसहित पतिव्रता दमयन्तीका यथायोग्य आदर-सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया॥ ३½॥

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि॥ ४॥
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत् प्रत्यवेदयत्।
ततो बभूव नगरे सुमहान् हर्षजः स्वनः॥ ५॥
जनस्य सम्प्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथाऽऽगतम्।

राजा नलने उस पूजाको विधिपूर्वक स्वीकार करके अपनी ओरसे भी श्वशुरका सेवा-सत्कार किया। तदनन्तर विदर्भनगरमें राजा नलको इस प्रकार आया देख हर्षोल्लासमें भरी हुई जनताका महान् आनन्दजनित कोलाहल होने लगा॥

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम्॥ ६॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गः प्रकल्पितः॥ ७॥

विदर्भनरेशने ध्वजा, पताकाओंकी पङ्क्तियोंसे कुण्डिनपुरको अद्भुत शोभासे सम्पन्न किया। सड़कोंको खूब झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। फूलोंसे उन्हें अच्छी तरह सजाया गया था। पुरवासियोंके द्वार-द्वारपर सुगंध फैलानेके लिये राशि-राशि फूल बिखेरे गये थे॥ ६-७॥

अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम्॥ ८॥
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः।

सम्पूर्ण देवमन्दिरोंकी सजावट और देवमूर्तियोंकी पूजा की गयी थी। राजा ऋतुपर्णने भी जब यह सुना कि बाहुकके वेषमें राजा नल ही थे और अब वे दमयन्तीसे मिले हैं, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ॥ ८½॥

तमानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम्॥ ९॥

उन्होंने राजा नलको बुलवाकर उनसे क्षमा माँगी॥ ९॥

स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मितः।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः॥ १०॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः।

बुद्धिमान् नलने भी अनेक युक्तियोंद्वारा उनसे क्षमा-याचना की। नलसे आदर-सत्कार पाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं तत्त्वज्ञ राजा ऋतुपर्ण मुसकराते हुए मुखसे बोले—॥ १०½॥

दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

'निषधनरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप अपनी बिछुड़ी हुई पत्नीसे मिले।' ऐसा कहकर उन्होंने नलका अभिनन्दन किया ॥ ११ ॥

किंचित् तु नापराधं ते कृतवानस्मि नैषध।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥ १२ ॥

(और पुनः कहा -) 'नैषध ! भूपालशिरोमणे ! आप मेरे घरपर जब अज्ञातवासकी अवस्थामें रहते थे, उस समय मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया है ? ॥ १२ ॥

यदि वाबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित्।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'उन दिनों यदि मैंने बिना जाने या जान-बूझकर आपके साथ अनुचित बर्ताव किये हों तो उन्हें आप क्षमा कर दें' ॥ १३ ॥

नल उवाच

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १४ ॥

नलने कहा—राजन् ! आपने मेरा कभी थोड़ा-सा भी अपराध नहीं किया है और यदि किया भी हो तो उसके लिये मेरे हृदयमें क्रोध नहीं है। मुझे आपके प्रत्येक बर्तावको क्षमा ही करना चाहिये ॥ १४ ॥

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि सम्बन्धी च जनाधिप।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! आप पहले भी मेरे सखा और सम्बन्धी थे और इसके बाद भी आपको मुझपर अधिक-से-अधिक प्रेम रखना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ॥ १६ ॥

राजन् ! मेरी समस्त कामनाएँ यहाँ अच्छी तरह पूर्ण की गयीं और इसके कारण मैं सदा आपके यहाँ सुखी रहा। महाराज ! आपके भवनमें मुझे जैसा आराम मिला, वैसा अपने घरमें भी नहीं मिला ॥ १६ ॥

इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति।
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ॥ १७ ॥

आपका अश्वविज्ञान मेरे पास धरोहरके रूपमें पड़ा है। राजन् ! यदि आप ठीक समझें तो मैं उसे आपको देनेकी इच्छा रखता हूँ। ऐसा कहकर निषधराज नलने ऋतुपर्णको अश्वविद्या प्रदान की ॥ १७ ॥

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा।
गृहीत्वा चाश्वहृदयं राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ॥ १८ ॥
निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाक्षहृदयं नृपः।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! ऋतुपर्णने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उनसे अश्वविद्या ग्रहण की। अश्वोंका रहस्य ग्रहण करके और निषधनरेश नलको पुनः द्यूतविद्याका रहस्य समझाकर दूसरा सारथि साथ ले राजा ऋतुपर्ण अपने नगरको चले गये ॥ १८-१९ ॥

ऋतुपर्णे गते राजन् नलो राजा विशाम्पते।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवावसत् ॥ २० ॥

राजन् ! ऋतुपर्णके चले जानेपर राजा नल कुण्डिनपुरमें कुछ समयतक रहे। वह काल उन्हें थोड़े समयके समान ही प्रतीत हुआ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका स्वदेशगमनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

राजा नलका पुष्करको जूएमें हराना और उसको राजधानीमें भेजकर अपने नगरमें प्रवेश करना

बृहदश्व उवाच

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान् प्रति ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! निषधनरेश एक मासतक कुण्डिनपुरमें रहकर राजा भीमकी आज्ञा ले थोड़े-से सेवकोंसहित वहाँसे निषधदेशकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे सोलह हाथियोंद्वारा घिरा हुआ एक सुन्दर रथ, पचास घोड़े और छः सौ पैदल सैनिक थे ॥

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः।
प्रविवेशाथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥

महामना राजा नलने इन सबके द्वारा पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए बड़ी उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे वेगपूर्वक निषधदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयार्जितम् ॥ ४ ॥
दमयन्ती च यच्चान्यन्मम किंचन विद्यते।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥

तदनन्तर वीरसेनपुत्र नलने पुष्करके पास जाकर कहा—'अब हम दोनों फिरसे जूआ खेलें। मैंने बहुत धन प्राप्त किया है। दमयन्ती तथा अन्य जो कुछ भी मेरे पास है, यह सब मेरी ओरसे दाँवपर लगाया जायगा और पुष्कर ! तुम्हारी ओरसे सारा राज्य ही दाँवपर रखा जायगा। इस एक पणके साथ हम दोनोंमें फिर जूएका खेल प्रारम्भ हो, यह मेरा निश्चित विचार है। तुम्हारा भला हो, यदि ऐसा न कर सको तो हम दोनों अपने प्राणोंकी बाजी लगावें ॥

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥ ७ ॥

'जूएके दाँवमें दूसरेका राज्य या धन जीतकर रख लिया जाय तो उसे यदि वह पुनः खेलना चाहे तो प्रतिपण (बदलेका दाव) देना चाहिये, यह परम धर्म कहा गया है ॥ ७ ॥

न चेद् वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम्।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥

'यदि तुम पासोंसे जूआ खेलना न चाहो तो बाणोंद्वारा युद्धका जूआ प्रारम्भ होना चाहिये। राजन् ! द्वैरथ युद्धके द्वारा तुम्हारी अथवा मेरी शान्ति हो जाय ॥ ८ ॥

वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथा तथा।
येन केनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥

'यह राज्य हमारी वंशपरम्पराके उपभोगमें आनेवाला है। जिस-किसी उपायसे भी जैसे-तैसे इसका उद्धार करना चाहिये; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ॥ ९ ॥

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर।
कैतवेनाक्षवत्यां तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥ १० ॥

'पुष्कर ! आज तुम दोमेंसे एकमें मन लगाओ। छलपूर्वक जूआ खेलो अथवा युद्धके लिये धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ १० ॥

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥

निषधराज नलके ऐसा कहनेपर पुष्करने अपनी विजयको अवश्यम्भावी मानकर हँसते हुए उनसे कहा— ॥ ११ ॥

दिष्ट्या त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥ १२ ॥

'नैषध ! सौभाग्यकी बात है कि तुमने दाँवपर लगानेके लिये धनका उपार्जन कर लिया है। यह भी आनन्दकी बात है कि दमयन्तीके दुष्कर्मोंका क्षय हो गया ॥ १२ ॥

दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज।
धनेनानेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥ १३ ॥
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ॥ १४ ॥

'महाबाहु नरेश ! सौभाग्यसे तुम पत्नीसहित अभी जीवित हो। इसी धनको जीत लेनेपर दमयन्ती शृङ्गार करके निश्चय ही मेरी सेवामें उपस्थित होगी, ठीक उसी तरह, जैसे स्वर्गलोककी अप्सरा देवराज इन्द्रकी सेवामें जाती है। नैषध ! मैं प्रतिदिन तुम्हारी याद करता हूँ और तुम्हारी राह भी देखा करता हूँ ॥ १३-१४ ॥

देवनेन मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि।

शत्रुओंके साथ जूआ खेलनेसे मुझे कभी तृप्ति ही नहीं होती। आज श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी दमयन्तीको

जीतकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा; क्योंकि वह सदा मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करती है' ॥ १५½ ॥

श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥ १६ ॥
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥ १७ ॥

इस प्रकार बहुत-से असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले पुष्करकी वे बातें सुनकर राजा नलको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तलवारसे उसका सिर काट लेनेकी इच्छा की। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयीं तो भी राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—॥

पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥ १८ ॥
एकपाणेन वीरेण नलेन स पराजितः।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥ १९ ॥

'अब हम दोनों जूआ प्रारम्भ करें, तुम अभी व्यर्थ बकवाद क्यों करते हो? हार जानेपर ऐसी बातें न कर सकोगे।' तदनन्तर पुष्कर तथा राजा नलमें एक ही दाँव लगानेकी शर्त रखकर जूएका खेल प्रारम्भ हुआ। तब वीर नलने पुष्करको हरा दिया। पुष्करने रत्न, खजाना तथा प्राणोंतककी बाजी लगा दी थी ॥ १८-१९ ॥

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत्।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥ २० ॥
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम्।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥ २१ ॥

पुष्करको परास्त करके राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—'नृपाधम! अब यह शान्त और अकण्टक सारा राज्य मेरे अधिकारमें आ गया। विदर्भकुमारी दमयन्तीकी ओर तू आँख उठाकर देख भी नहीं सकता। मूर्ख! आजसे तू परिवारसहित दमयन्तीका दास हो गया ॥ २०-२१ ॥

न त्वया तत् कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा।
कलिना तत् कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ॥ २२ ॥

'पहले तेरे द्वारा जो मैं पराजित हो गया था, उसमें तेरा कोई पुरुषार्थ नहीं था। मूढ़! वह सब कलियुगकी करतूत थी, जिसे तू नहीं जानता है ॥ २२ ॥

नाहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ॥ २३ ॥

'दूसरे (कलियुग) के किये हुए अपराधको मैं किसी तरह तेरे मत्थे नहीं मढ़ूँगा। तू सुखपूर्वक जीवित रह। मैं तेरे प्राण तुझे वापस देता हूँ ॥ २३ ॥

तथैव सर्वसम्भारं स्वमंशं वितरामि ते।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥ २४ ॥

'तेरा सारा सामान और तेरे हिस्सेका धन भी तुझे लौटाये देता हूँ। वीर! तेरे ऊपर मेरा पूर्ववत् प्रेम बना रहेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित् प्रहास्यति।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम् ॥ २५ ॥

'तेरे प्रति जो मेरा सौहार्द रहा है, वह कभी मेरे हृदयसे दूर नहीं होगा। पुष्कर! तू मेरा भाई है, जा, सौ वर्षोंतक जीवित रह' ॥ २५ ॥

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥

इस प्रकार सत्यपराक्रमी राजा नलने अपने भाई पुष्करको सान्त्वना दे बार-बार हृदयसे लगाकर उसकी राजधानीको भेज दिया ॥ २६ ॥

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम्।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २७ ॥
कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षशतं सुखी।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥ २८ ॥

राजन्! निषधराजके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर

पुष्करने पुण्यश्लोक नलको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'पृथ्वीनाथ! आप जो मुझे प्राण और निवासस्थान भी वापस दे रहे हैं, इससे आपकी अक्षय कीर्ति बनी रहे। आप सौ वर्षोंतक जीयें और सुखी रहें' ।२७-२८।

स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृप।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥ २९ ॥

महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः।
भ्राजमान इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर! राजा नलके द्वारा इस प्रकार सत्कार पाकर पुष्कर एक मासतक वहाँ टिका रहा और फिर आत्मीय जनोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानीको चला गया। उसके साथ विशाल सेना और विनयशील सेवक भी थे। वह शरीरसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥ २९-३० ॥

प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम्।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥ ३१ ॥

पुष्करको धन--वित्तके साथ सकुशल घर भेजकर श्रीमान् राजा नलने अपने अत्यन्त शोभासम्पन्न नगरमें प्रवेश किया ॥

प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः।
पौरा जानपदाश्चापि सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ॥ ३२ ॥

प्रवेश करके निषधनरेशने पुरवासियोंको सान्त्वना दी। नगर और जनपदके लोग बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३२ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥ ३३ ॥

मन्त्री आदि सब लोगोंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आज हम नगर और जनपदके निवासी संतोषसे साँस ले सके हैं। जैसे देवता-देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार अब हमें पुनः आपकी उपासना करने--आपके पास बैठनेका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकं राज्यप्रत्यानयने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें पुष्करको हराकर राजा नलके अपने नगरमें आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

राजा नलके आख्यानके कीर्तनका महत्त्व, बृहदश्व मुनिका युधिष्ठिरको आश्वासन देना तथा द्यूतविद्या और अश्वविद्याका रहस्य बताकर जाना

बृहदश्व उवाच

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे सम्प्रवृत्ते महोत्सवे।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! जब नगरमें शान्ति छा गयी और सब लोग प्रसन्न हो गये, सर्वत्र महान् उत्सव होने लगा, उस समय राजा नल विशाल सेनाके साथ जाकर दमयन्तीको विदर्भदेशसे बुला लाये ॥ १ ॥

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा।
प्रास्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥

दमयन्तीके पिता भयंकर पराक्रमी भीम अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे, शत्रुपक्षके वीरोंका हनन करनेमें समर्थ थे। उन्होंने अपनी पुत्री दमयन्तीको बड़े सत्कारके साथ विदा किया ॥ २ ॥

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥
तथा प्रकाशतां यातो जम्बूद्वीपे स राजसु।
पुनः शशास तद् राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥

पुत्र और पुत्रीसहित दमयन्तीके आ जानेपर राजा नल सब बर्ताव-व्यवहार बड़े आनन्दसे सम्पन्न करने लगे। जैसे नन्दनवनमें देवराज इन्द्र शोभा पाते हैं, उसी प्रकार वे जम्बूद्वीपके समस्त राजाओंमें प्रकाशमान हो रहे थे। वे महायशस्वी नरेश अपने राज्यको पुनः वापस लेकर उसका न्यायपूर्वक शासन करने लगे ॥ ३-४ ॥

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाप्तदक्षिणैः।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद् यक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥

उन्होंने पर्याप्त दक्षिणासे युक्त विविध प्रकारके यज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक भगवान्का यजन किया। राजेन्द्र! इसी प्रकार तुम भी पुनः अपना राज्य पाकर सुहृदोंसहित शीघ्र ही यज्ञका अनुष्ठान करोगे ॥ ५ ॥

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! पुरुषोत्तम! शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज नल जूआ खेलनेके कारण अपनी पत्नीसहित इस प्रकारके महान् संकटमें पड़ गये थे ॥ ६ ॥ ७ ॥

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥

पृथ्वीपते! राजा नलने अकेले ही यह भयंकर और महान् दुःख प्राप्त किया था; उन्हें पुनः अभ्युदयकी प्राप्ति हुई ॥

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव।
रमसेऽस्मिन् महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम तो अपने सभी भाइयों और महारानी द्रौपदीके साथ इस महान् वनमें भ्रमण करते हो और निरन्तर धर्मके ही चिन्तनमें लगे रहते हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

राजन् ! महान् भाग्यशाली वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण सदा तुम्हारे साथ रहते हैं; फिर तुम्हारे लिये इस परिस्थितिमें शोककी क्या बात है ? ॥ ९ ॥

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥ १० ॥

कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्णकी चर्चा कलियुगके दोषका नाश करनेवाली है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशाम्पते ॥ ११ ॥

महाराज ! तुम्हारे-जैसे लोगोंको यह कलिनाशक इतिहास सुनकर आश्वासन प्राप्त हो सकता है ॥ ११ ॥

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पुरुषको प्राप्त होनेवाले सभी विषय सदा अस्थिर एवं विनाशशील हैं । यह सोचकर उनके मिलने या नष्ट होनेपर तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥ १३ ॥

नरेश ! इस इतिहासको सुनकर तुम धैर्य धारण करो, शोक न करो, महाराज ! तुम्हें संकटमें पड़नेपर विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ १३ ॥

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥ १४ ॥

जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने मनमें विषाद नहीं लाते ॥ १४ ॥

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति १५
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।

जो राजा नलके इस महान् चरित्रका वर्णन करेंगे अथवा निरन्तर सुनेंगे, उन्हें दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी । उनके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे और वे संसारमें धन्य हो जायँगे ॥ १५½ ॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥ १६ ॥
पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चापि लभते नृषु चाग्र्यताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

इस प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका सदा ही श्रवण करके मनुष्य पुत्र, पौत्र, पशु तथा मानवोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है । साथ ही, वह नीरोग और प्रसन्न होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६–१७ ॥

भयात् त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत् तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन् ! तुम जो इस भयसे डर रहे हो, कि कोई द्यूतविद्याका ज्ञाता मनुष्य पुनः मुझे जूएके लिये बुलायेगा (उस दशामें पुनः पराजयका कष्ट देखना पड़ेगा) । तुम्हारे उस भयको मैं दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन ! मैं द्यूतविद्याके सम्पूर्ण हृदय (रहस्य) को जानता हूँ, तुम उसे ग्रहण कर लो । मैं प्रसन्न होकर तुम्हें बतलाता हूँ ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त हो बृहदश्वसे कहा—'भगवन् ! मैं द्यूतविद्याके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥

ततोऽक्षहृदयं प्रादात् पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ २१ ॥

तब महातपस्वी मुनिने महात्मा पाण्डुनन्दनको द्यूतविद्याका रहस्य बताया और उन्हें अश्वविद्याका भी उपदेश देकर वे स्नान आदि करनेके लिये चले गये ॥ २१ ॥

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत् सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ २२ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः सम्पतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ २३ ॥
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २४ ॥

बृहदश्व मुनिके चले जानेपर दृढव्रती राजा युधिष्ठिरने इधर-उधरके तीर्थों, पर्वतों और वनोंसे आये हुए तपस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे सव्यसाची अर्जुनका यह समाचार सुना कि 'मनीषी अर्जुन वायुका आहार करके कठोर तपस्यामें लगे हैं । महाबाहु कुन्तीकुमार बड़ी दुष्कर तपस्यामें स्थित हैं । ऐसा कठोर तपस्वी आजसे पहले दूसरा कोई नहीं देखा गया है ॥ २२-२४ ॥

यथा धनंजयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान् धर्मो विग्रहवानिव ॥ २५ ॥

'कुन्तीकुमार धनंजय जिस प्रकार नियम और व्रतका पालन करते हुए तपस्यामें संलग्न हैं, वह अद्भुत है । वे मौनभावसे रहते और अकेले ही विचरते हैं। श्रीमान् अर्जुन धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं' ॥ २५ ॥

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥ २६ ॥

राजन् ! उस महान् वनमें अपने प्रिय भाई अर्जुनको तपस्या करते सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर उनके लिये बार-बार शोक करने लगे ॥ २६ ॥

दह्यमानेन तु हृदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान् विविधज्ञानान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥

अर्जुनके वियोगमें संतप्त हृदयवाले वे युधिष्ठिर निर्भय आश्रयकी इच्छा रखते हुए उस महान् वनमें रहते थे और अनेक प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मणोंसे अपना मनोगत अभिप्राय पूछा करते थे ॥ २७ ॥

(प्रतिगृह्याक्षहृदयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आसीद्धृष्टमना राजन् भीमसेनादिभिर्युतः ॥

राजन् ! द्यूतविद्याका रहस्य जानकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर भीमसेन आदिके साथ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

स्वभ्रातॄन् सहितान् पश्यन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अपश्यन्नर्जुनं तत्र बभूवाश्रुपरिप्लुतः ।
संतप्यमानः कौन्तेयो भीमसेनमुवाच ह ॥

उन्होंने एक साथ बैठे हुए सब भाइयोंकी ओर देखा, उस समय वहाँ अर्जुनको न देखकर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त संतप्त हो भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

कदा द्रक्ष्यामि वै भीम पार्थमत्र तवानुजम् ।
मत्कृते हि कुरुश्रेष्ठस्तप्यते दुश्चरं तपः ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन ! मैं तुम्हारे छोटे भाई अर्जुनको कब देखूँगा ? कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरे ही लिये अत्यन्त कठोर तपस्या करते हैं ॥

तस्याक्षहृदयज्ञानमाख्यास्यामि कदा न्वहम् ।
स हि श्रुत्वाक्षहृदयं समुपात्तं मया विभो ॥
प्रहृष्टः पुरुषव्याघ्रो भविष्यति न संशयः ।)

मैं उन्हें अक्षहृदय (द्यूतविद्याके रहस्य) का ज्ञान कब कराऊँगा । भीम ! मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए अक्षहृदयको सुनकर पुरुषसिंह अर्जुन बहुत प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वगमनविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

(तीर्थयात्रापर्व)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके लिये द्रौपदीसहित पाण्डवोंकी चिन्ता

जनमेजय उवाच

भगवन् काम्यकात् पार्थे गते मे प्रपितामहे ।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! मेरे प्रपितामह अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर उनसे अलग रहते हुए शेष पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥

वे सैन्यविजयी, महान् धनुर्धर अर्जुन ही उन सबके आश्रय थे । जैसे आदित्योंमें विष्णु हैं, वैसे ही पाण्डवोंमें मुझे धनंजय जान पड़ते हैं ॥ २ ॥

तेनेन्द्रसमवीर्येण संग्रामेष्वनिवर्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन् पितामहाः ॥ ३ ॥

वे संग्रामसे कभी पीछे न हटनेवाले और इन्द्रके समान पराक्रमी थे । उनके बिना मेरे अन्य वीर पितामह वनमें कैसे रहते थे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे ।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात ! सत्यपराक्रमी पाण्डुकुमार अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर सभी पाण्डव उनके लिये दुःख और शोकमें मग्न रहने लगे ॥ ४ ॥

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥

जैसे मणियोंकी मालाका सूत टूट जाय अथवा पक्षियोंके पंख कट जायँ, वैसी दशामें उन मणियों और पक्षियोंकी जो

अवस्था होती है, वैसी ही अर्जुनके बिना पाण्डवोंकी थी । उन सबके मनमें तनिक भी प्रसन्नता नहीं थी ॥ ५ ॥

वनं तु तदभूत् तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके बिना वह वन उसी प्रकार शोभाशून्य-सा हो गया, जैसे कुबेरके बिना चैत्ररथ वन ॥ ६ ॥

तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥

जनमेजय ! अर्जुनके बिना वे नरश्रेष्ठ पाण्डव आनन्द-शून्य हो काम्यकवनमें रह रहे थे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान् बहुविधान् मृगान् ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे महारथी वीर शुद्ध बाणोंद्वारा ब्राह्मणोंके (बाघम्बर आदिके) लिये पराक्रम करके नाना प्रकारके पवित्र* मृगोंको मारा करते थे ॥ ८ ॥

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिंदमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥

वे नरश्रेष्ठ और शत्रुदमन पाण्डव प्रतिदिन ब्राह्मणोंके लिये जंगली फल-मूलका आहार संगृहीत करके उन्हें अर्पित करते थे ॥ ९ ॥

सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनंजये ॥ १० ॥

राजन् ! धनंजयके चले जानेपर वे सभी नरश्रेष्ठ वहाँ खिन्न-चित्त हो उन्हींके लिये उत्कण्ठित होकर रहते थे ।१०।

विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

विशेषतः पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी अपने मझले पति अर्जुनका स्मरण करती हुई सदा उद्विग्न रहनेवाले पाण्डव-शिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोली—॥ ११ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ॥ १२ ॥

'पाण्डवश्रेष्ठ ! जो दो भुजावाले अर्जुन सहस्रबाहु अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, उनके बिना यह वन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १२ ॥

शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ।
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ॥ १३ ॥
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ।
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ॥ १४ ॥
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे ।
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाशनिस्वनः ।
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥

'मैं यत्र-तत्र यहाँकी जिस-जिस भूमिपर दृष्टि डालती हूँ, सबको सूनी-सी ही पाती हूँ । यह अनेक आश्चर्यसे भरा हुआ और विकसित कुसुमोंसे अलंकृत वृक्षोंवाला काम्यकवन भी सव्यसाची अर्जुनके बिना पहले-जैसा रमणीय नहीं जान पड़ता है। नीलमेघके समान कान्ति और मतवाले गजराजकी-सी गतिवाले उन कमलनयन अर्जुनके बिना यह काम्यकवन मुझे तनिक भी नहीं भाता है । राजन् ! जिनके धनुषकी टङ्कार बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देती है, उन सव्यसाचीकी याद करके मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता' ॥ १३–१५ ॥

तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

महाराज ! इस प्रकार विलाप करती हुई द्रौपदीकी बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भीमसेनने उससे इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

भीम उवाच

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद् ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे ! सुमध्यमे ! तुम जो कुछ कहती हो, वह मेरे मनको प्रसन्न करनेवाला है । तुम्हारी बात मेरे हृदयको अमृतपानके तुल्य तृप्ति प्रदान करती है ॥१७॥

यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ॥ १८ ॥
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

जिनकी दोनों भुजाएँ लम्बी, मोटी, बराबर-बराबर तथा परिघके समान सुशोभित होनेवाली हैं, जिनपर प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न बन गया है, जो गोलाकार हैं और जिनमें खड्ग एवं धनुष सुशोभित होते हैं, सोनेके भुजबन्दोंसे विभूषित होकर जो पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान प्रतीत होती हैं उन पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दोनों भुजाओंसे विभूषित नरश्रेष्ठ अर्जुनके बिना आज यह वन सूर्यहीन आकाशके समान श्रीहीन दिखलायी देता है ॥ १८-१९ ॥

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि मत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।

* जिनके मारनेपर मारनेवाला पवित्र हो जाय, ऐसे हिंसक सिंह-व्याघ्रादि पशुओंको पवित्र मृग कहा जाता है ।

पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणावृता इव ।

जिन महाबाहु अर्जुनका आश्रय लेकर पाञ्चाल और कुरुवंशके वीर युद्धके लिये उद्यत देवताओंकी सेनाका सामना करनेसे भी भयभीत नहीं होते हैं, जिन महात्माके बाहुबलके भरोसे हम सब लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीका राज्य अपने अधिकारमें आया हुआ मानते हैं, उन वीरवर अर्जुनके बिना हमें काम्यकवनमें धैर्य नहीं प्राप्त हो रहा है। मुझे सारी दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न-सी दिखायी देती हैं ॥ २०-२१½ ॥

ततोऽब्रवीत् साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ॥ २२ ॥

भीमसेनकी यह बात सुनकर पाण्डुनन्दन नकुल अश्रु-गद्गद कण्ठसे बोले ॥ २२ ॥

नकुल उवाच

यस्मिन् दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २३ ॥

नकुलने कहा—जिन महावीर अर्जुनके विषयमें रण-प्राङ्गणके भीतर देवताओंके द्वारा भी दिव्य कर्मोंका वर्णन किया जाता है, उन योद्धाओंमें श्रेष्ठ धनंजयके बिना अब इस वनमें हमें क्या प्रसन्नता है ? ॥ २३ ॥

उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ॥ २४ ॥

जिन महातेजस्वीने उत्तर दिशामें जाकर महाबली मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंको युद्धमें परास्त करके उनसे सैकड़ों घोड़े प्राप्त किये ॥ २४ ॥

राज्ञे तित्तिरिकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद् भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २५ ॥

जिन्होंने महायज्ञ राजसूयमें अपने प्यारे भाई धर्मराज युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक वायुके समान वेगशाली तित्तिरिकल्माष नामक सुन्दर घोड़े भेंट किये थे ॥ २५ ॥

तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २६ ॥

भीमके छोटे भाई उन भयंकर धनुर्धर देवोपम अर्जुनके बिना इस समय मुझे इस काम्यकवनमें रहनेकी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

सहदेव उवाच

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २७ ॥
यः समेतान् मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य सम्मते ॥ २८ ॥

सहदेवने कहा—जिन महारथी वीरने पहले राजसूय महायज्ञके अवसरपर युद्धमें जीतकर बहुत धन और कन्याएँ महाराज युधिष्ठिरको भेंट की थीं, जिन अनन्त तेजस्वी धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिसे युद्धके लिये एकत्र हुए समस्त यादवोंको अकेले ही जीतकर सुभद्राका हरण कर लिया था ॥

तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २९ ॥
वनादस्मात् विवासं तु रोचयेऽहमरिंदम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३० ॥

महाराज ! उन्हीं विजयी भ्राता धनंजयके आसनको अब अपनी कुटियामें सूना देखकर मेरे हृदयको कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः शत्रुदमन ! मैं इस वनसे अन्यत्र चलना पसंद करता हूँ। वीरवर अर्जुनके बिना अब यह वन रमणीय नहीं लगता ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें अर्जुनके लिये पाण्डवोंका अनुतापविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८०॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास देवर्षि नारदका आगमन और तीर्थयात्राके फलके सम्बन्धमें पूछनेपर नारदजीद्वारा भीष्म-पुलस्त्य-संवादकी प्रस्तावना

वैशम्पायन उवाच

धनंजयोत्सुकानां तु भ्रातृणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धनंजयके लिये उत्सुक द्रौपदीसहित सब भाइयोंके पूर्वोक्त वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरका भी मन बहुत उदास हो गया ॥ १ ॥

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या हुतार्चिषमिवानलम् ॥ २ ॥

इतनेमें ही उन्होंने देखा, महात्मा देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हैं, जो अपने ब्राह्म तेजसे देदीप्यमान हो घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख भाइयोंसहित धर्मराजने उठकर उन महात्माका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ३ ॥

स तैः परिवृतः श्रीमान् भ्रातृभिः कुरुसत्तमः।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥

अपने भाइयोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ श्रीमान् युधिष्ठिर देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

यथा च वेदान् सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन्।
न जहौ धर्मतः पार्थान् मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

जैसे गायत्री चारों वेदोंका और सूर्यकी प्रभा मेरु पर्वतका त्याग नहीं करती, उसी प्रकार याज्ञसेनी द्रौपदीने भी धर्मतः अपने पति कुन्तीकुमारोंका परित्याग नहीं किया ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः।
आश्वासयद् धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ॥ ६ ॥

निष्पाप जनमेजय ! उनकी वह पूजा ग्रहण करके देवर्षि भगवान् नारदने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको उचित सान्त्वना दी ॥

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वे महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! बोलो, तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता है ? मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥ ७ ॥

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसम्मितम् ॥ ८ ॥

तब भाइयोंसहित धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरने देवतुल्य नारदजीको प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—॥ ८ ॥

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात् तव सुव्रत ॥ ९ ॥

'महाभाग ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! सम्पूर्ण विश्वके द्वारा पूजित आप महात्माके संतुष्ट होनेपर मैं ऐसा समझता हूँ कि आपकी कृपासे मेरा सब कार्य पूरा हो गया ॥ ९ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'निष्पाप मुनिश्रेष्ठ ! यदि भाइयोंसहित मैं आपकी कृपाका पात्र होऊँ तो आप मेरे संदेहको सम्यक् प्रकारसे नष्ट कर दीजिये ॥ १० ॥

प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः।
किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ११ ॥

'जो मनुष्य तीर्थयात्रामें तत्पर होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है ? यह आप पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ११ ॥

नारद उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता।
पुलस्त्यस्य सकाशाद् वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! सावधान होकर सुनो,

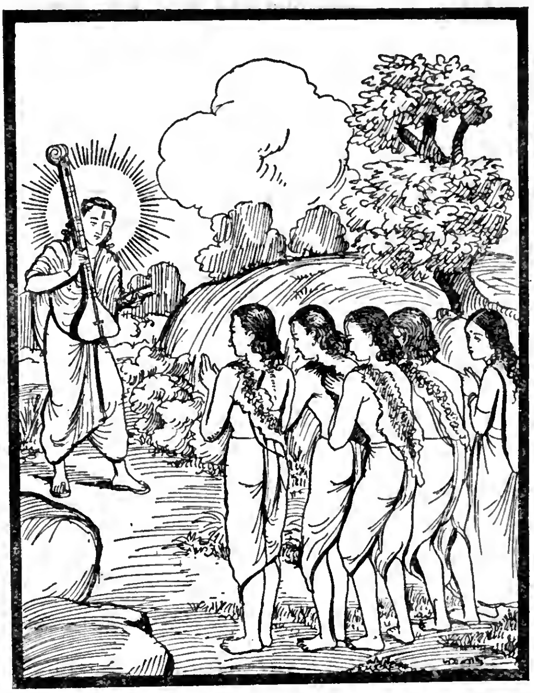

बुद्धिमान् भीष्मजीने महर्षि पुलस्त्यके मुखसे ये सब बातें जिस प्रकार सुनी थीं; वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १२ ॥

पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ॥ १३ ॥
शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥

महाभाग ! पहलेकी बात है, देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित गङ्गाद्वार (हरिद्वार) तीर्थमें भागीरथीके पवित्र, शुभ एवं देवर्षिसेवित तट-प्रदेशमें श्रेष्ठ धर्मात्मा भीष्मजी पितृसम्बन्धी (श्राद्ध, तर्पण आदि) व्रतका आश्रय ले महर्षियोंके साथ रहते थे ॥ १३-१४ ॥

स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

परम तेजस्वी भीष्मजीने वहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ॥ १५ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य जपन्नेव महायशाः।
ददर्शाद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

कुछ समयके बाद जब महायशस्वी भीष्मजी जपमें लगे हुए थे, अपने पास ही उन्होंने अद्भुत तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको देखा ॥ १६ ॥

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥

वे उग्र तपस्वी महर्षि तेजसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्हें देखकर भीष्मजीको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई तथा वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १७ ॥

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

भारत ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मने वहाँ उपस्थित हुए महाभाग महर्षिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन किया ॥ १८ ॥

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन् ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १९ ॥

उन्होंने पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर (पुलस्त्यजीके दिये हुए) अर्घ्यको सिरपर धारण करके उन ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको अपने नामका इस प्रकार परिचय दिया—॥ १९ ॥

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ २० ॥

'सुव्रत ! आपका भला हो, मैं आपका दास भीष्म हूँ। आपके दर्शनमात्रसे मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया' ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद् युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ एवं वाणीको संयममें रखनेवाले भीष्म ऐसा कहकर हाथ जोड़े चुप हो गये ॥ २१ ॥

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम्।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ॥ २२ ॥

कुरुकुलशिरोमणि भीष्मको नियम, स्वाध्याय तथा वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे दुर्बल हुआ देख पुलस्त्य मुनि मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरनारदसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीके पूछनेपर पुलस्त्यजीका उन्हें विभिन्न तीर्थोंकी यात्राका माहात्म्य बताना

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥ १ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—धर्मज्ञ ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महाभाग ! तुम्हारे इस विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यपालनसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥ १ ॥

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २ ॥

निष्पाप वत्स ! तुम्हारे द्वारा पितृभक्तिके आश्रित जो ऐसे उत्तम धर्मका पालन हो रहा है, इसीके प्रभावसे तुम मेरा दर्शन कर रहे हो और तुमपर मेरा बहुत प्रेम हो गया है २

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ॥ ३ ॥

निष्पाप कुरुश्रेष्ठ भीष्म ! मेरा दर्शन अमोघ है। बोलो, मैं तुम्हारे किस मनोरथकी पूर्ति करूँ ? तुम जो माँगोगे, वही दूँगा ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—महाभाग ! आप सम्पूर्ण लोकोंद्वारा पूजित हैं। आपके प्रसन्न हो जानेपर मुझे क्या नहीं मिला ? आप-जैसे शक्तिशाली महर्षिका मुझे दर्शन हुआ, इतनेहीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ ॥ ४ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! यदि मैं आपकी कृपाका पात्र हूँ तो मैं आपके सामने अपना संशय रखता हूँ। आप उसका निवारण करें ॥ ५ ॥

अस्ति मे हृदये कश्चित् तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

मेरे मनमें तीर्थोंसे होनेवाले धर्मके विषयमें कुछ संशय हो गया है, मैं उसीका समाधान सुनना चाहता हूँ, आप बतानेकी कृपा करें ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ ७ ॥

देवतुल्य ब्रह्मर्षे ! जो (तीर्थोंके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है ? यह निश्चित करके मुझे बताइये ॥ ७ ॥

पुलस्त्य उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम्।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत् फलम् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—वत्स ! तीर्थयात्रा ऋषियोंके लिये बहुत बड़ा आश्रय है । मैं इसके विषयमें तुम्हें बताऊँगा । तीर्थोंके सेवनसे जो फल होता है, उसे एकाग्र होकर सुनो ॥८॥

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ९ ॥

जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबूमें हों तथा जो विद्या, तप और कीर्तिसे सम्पन्न हो, वही तीर्थसेवनका फल पाता है ॥ ९ ॥

प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित् ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥

जो प्रतिग्रहसे दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसीसे संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकारका अभाव हो, वही तीर्थका फल पाता है ॥ १० ॥

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ११ ॥

जो दम्भ आदि दोषोंसे दूर, कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापोंसे विमुक्त हो तीर्थके वास्तविक फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ १२ ॥

राजन् ! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला हो तथा जो सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थके फलका भागी होता है ॥ १२ ॥

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १३ ॥

ऋषियोंने देवताओंके उद्देश्यसे यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञोंका यथावत् फल भी बताया है, जो इहलोक और परलोकमें भी सर्वथा प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥ १४ ॥

परंतु भूपाल ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर सकते; क्योंकि उनमें बहुत-सी सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है । नाना प्रकारके साधनोंका संग्रह होनेसे उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है ॥ १४ ॥

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥ १५ ॥

अतः राजालोग अथवा कहीं-कहीं कुछ समृद्धिशाली मनुष्य ही यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकते हैं । जिनके पास धनकी कमी और सहायकोंका अभाव है, जो अकेले और साधनशून्य हैं, उनके द्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ १६ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो सत्कर्म दरिद्रलोग भी कर सकें और जो अपने पुण्योंद्वारा यज्ञोंके समान फलप्रद हो सके, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह ऋषियोंका परम गोपनीय रहस्य है । तीर्थयात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है । वह यज्ञोंसे भी बढ़कर है ॥

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ १८ ॥

मनुष्य इसीलिये दरिद्र होता है कि वह (तीर्थोंमें) तीन राततक उपवास नहीं करता, तीर्थोंकी यात्रा नहीं करता और सुवर्ण-दान और गोदान नहीं करता ॥ १८ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ १९ ॥

मनुष्य तीर्थयात्रासे जिस फलको पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी नहीं पा सकता ॥ १९ ॥

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥ २० ॥

मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है । उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है ॥ २० ॥

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसंध्यं कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

महामते कुरुनन्दन ! पुष्करमें तीनों समय दस सहस्र कोटि (दस खरब) तीर्थोंका निवास रहता है ॥ २१ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ॥ २२ ॥

विभो ! वहाँ आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, गन्धर्व और अप्सराओंकी भी नित्य संनिधि रहती है ॥२२॥

यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ॥ २३ ॥

महाराज ! वहाँ तप करके देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो दिव्य योगसे युक्त होते हैं ॥ २३ ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ २४ ॥

जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्कर तीर्थमें जानेकी इच्छा करता है, उसके स्वर्गके प्रतिबन्धक सारे पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २४ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ॥ २५ ॥

महाराज ! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥ २५ ॥

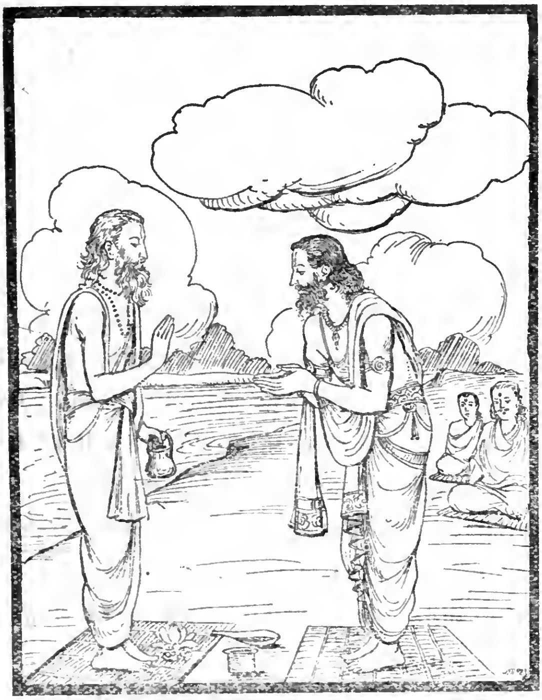

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥ २६ ॥

महाभाग ! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ २६ ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद् दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥ २७ ॥

जो वहाँ स्नान करता तथा देवताओं और पितरोंकी पूजामें संलग्न रहता है, उस पुरुषको अश्वमेधसे दस गुना फल प्राप्त होता है; ऐसा मनीषीगण कहते हैं ॥ २७ ॥

अप्येकं भोजयेद् विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥ २८ ॥

भीष्म ! पुष्करमें जाकर कम से कम एक ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराये। उस पुण्यकर्मसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ २८ ॥

शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।
तद् वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥ २९ ॥

मनुष्य साग, फल तथा मूल जिसके द्वारा स्वयं प्राणयात्राका निर्वाह करता है, वही श्रद्धाभावसे दूसरोंके दोष न देखते हुए ब्राह्मणको दान करे ॥ २९ ॥

तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ॥ ३० ॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

उसीसे विद्वान् पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता है । नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्माजीके तीर्थमें स्नान कर लेते हैं, वे फिर किसी योनिमें जन्म नहीं लेते हैं ॥ ३०½ ॥

कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥ ३१ ॥
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।

विशेषतः कार्तिकमासकी पूर्णिमाको जो पुष्करतीर्थमें स्नानके लिये जाता है, वह मनुष्य ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ३१½ ॥

सायं प्रातः स्मरेद् यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
उपस्पृष्टं भवेत् तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।

भारत ! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोड़कर तीनों पुष्करोंका स्मरण करता है, उसने मानो सब तीर्थोंमें स्नान एवं आचमन कर लिया ॥ ३२½ ॥

जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥ ३३ ॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।

स्त्री अथवा पुरुषने जन्मसे लेकर वर्तमान अवस्थातक जितने भी पाप किये हैं, पुष्करतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३½ ॥

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।

राजन् ! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओंके आदि हैं वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है ॥

उष्ट्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ॥ ३५ ॥
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।

पुष्करमें पवित्रतापूर्वक संयम-नियमके साथ बारह वर्षोंतक निवास करके मानव सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाता और ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ३५½ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥ ३६ ॥
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ॥ ३७ ॥

जो पूरे सौ वर्षोंतक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिककी एक ही पूर्णिमाको पुष्करमें वास करता है, दोनोंका फल बराबर है ॥ ३६-३७ ॥

त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ॥ ३८ ॥

तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर— ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारणसे तीर्थ माने गये ? इसका हमें पता नहीं है ॥ ३८ ॥

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥ ३९ ॥

पुष्करमें जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें दान देनेका सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवासका सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ३९ ॥

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥ ४० ॥

वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थकी परिक्रमा करनेके पश्चात् जम्बूमार्ग-को जाय ॥ ४० ॥

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ॥ ४१ ॥

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न हो अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ४१ ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥ ४२ ॥

वहाँ पाँच रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है ॥ ४२ ॥

जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ४३ ॥

जम्बूमार्गसे लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रमको जाय। इससे वह दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अन्तमें ब्रह्मलोकको चला जाता है ॥ ४३ ॥

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ४४ ॥

राजन् ! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ४४ ॥

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥ ४५ ॥

जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेयके लोक) में जाता है। वहाँसे लोकपूजित कण्वके आश्रममें जाय, जो भगवती लक्ष्मी-के द्वारा सेवित है ॥ ४५ ॥

धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४६ ॥

अर्चयित्वा पितॄन् देवान् नियतो नियताशनः।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥ ४७ ॥

जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरों-की पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न यज्ञ-का फल पाता है ॥ ४७ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उस तीर्थकी परिक्रमा करके वहाँसे ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे यात्रीको अवश्य ही अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥ ४८ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥ ४९ ॥

वहाँसे महाकालतीर्थको जाय। वहाँ नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। वहाँ कोटितीर्थमें आचमन (एवं स्नान) करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ५० ॥

वहाँसे धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव) के उस तीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें 'भद्रवट'के नामसे प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत्।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ॥ ५१ ॥
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः।

वहाँ भगवान् शिवका निकटसे दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदानका फल पाता है और महादेवजीके प्रसादसे वह गणोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधासे रहित होता है ॥ ५१½ ॥

नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ॥ ५२ ॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदीके तटपर जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ५३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति।

इन्द्रियोंको काबूमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दक्षिण समुद्रकी यात्रा करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल और विमानपर बैठनेका सौभाग्य पाता है ॥ ५३½ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ॥५४॥

इन्द्रियसंयम या शौच-संतोष आदिके पालनपूर्वक नियमित आहारका सेवन करते हुए चर्मण्वती (चंबल) नदीमें स्नान आदि करनेसे राजा रन्तिदेवद्वारा अनुमोदित अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम्।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ॥५५॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! वहाँसे आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू) की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वीमें विवर था ॥५५॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥५६॥

वहाँ महर्षि वसिष्ठका त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥५७॥

नरश्रेष्ठ ! पिङ्गतीर्थमें स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओंके दानका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥५८॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थमें जाय। वीर ! उस तीर्थमें देवताओंके मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं ॥ ५८½ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥५९॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः।

उस तीर्थमें स्नान करके शुद्ध एवं संयतचित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञोंका फल पाता है ॥ ५९½ ॥

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ॥६०॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ ॥६१॥

तदनन्तर सरस्वती और समुद्रके संगममें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल और स्वर्गलोक पाता है। भरतश्रेष्ठ ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेजसे सदा अग्निकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ६०-६१ ॥

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥६२॥

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलोंके स्वामी वरुणके तीर्थ(समुद्र) में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६२ ॥

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम ॥६३॥

ऐसा करनेवाला यात्री चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है। साथ ही उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। भरतश्रेष्ठ ! वहाँसे वरदानतीर्थमें जाय ॥ ६३ ॥

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥६४॥

युधिष्ठिर ! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने श्रीकृष्णको वरदान दिया था[1]। वरदानतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ६४ ॥

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥६५॥

वहाँसे तीर्थयात्रीको द्वारका जाना चाहिये। वह नियमसे रहे और नियमित भोजन करे। पिण्डारकतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अधिकाधिक सुवर्णकी प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिंदम ॥६६॥

महाभाग ! उस तीर्थमें आज भी कमलके चिह्नोंसे चिह्नित सुवर्णमुद्राएँ देखी जाती हैं। शत्रुदमन ! यह एक अद्भुत बात है ॥ ६६ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन।
महादेवस्य सांनिध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥६७॥

पुरुषरत्न कुरुनन्दन ! जहाँ त्रिशूलसे अङ्कित कमल दृष्टिगोचर होते हैं, वहीं महादेवजीका निवास है ॥ ६७ ॥

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥६८॥
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥६९॥

भारत ! सागर और सिंधु नदीके संगममें जाकर वरुण-तीर्थमें स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करे। भरतकुलतिलक ! ऐसा करनेसे मनुष्य दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥

शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥७०॥

युधिष्ठिर ! वहाँ शङ्कुकर्णेश्वर शिवकी पूजा करनेसे मनीषी पुरुष अश्वमेधसे दस गुने पुण्यफलकी प्राप्ति बताते हैं ॥

१. यद्यपि यहाँ पुलस्त्यजी भीष्मजीको यह प्रसङ्ग सुना रहे हैं, तथापि इस संवादको नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष उपस्थित किया है; अतः नारदजी युधिष्ठिरको सम्बोधित करें, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ७१ ॥
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥ ७२ ॥

भरतवंशावतंस कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिक्रमा करके त्रिभुवन विख्यात 'दमी' नामक तीर्थमें जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है । वहाँ ब्रह्मा आदि देवता भगवान् महेश्वर-की उपासना करते हैं ॥ ७१-७२ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति ॥ ७३ ॥

वहाँ स्नान, जलपान और देवताओंसे घिरे हुए रुद्रदेवका दर्शन-पूजन करनेसे स्नानकर्ता पुरुषके जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

नरश्रेष्ठ ! भगवान् दमीका सभी देवता स्तवन करते हैं । पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना ।
पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ७५ ॥

महाप्राज्ञ नरेश ! सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने पहले दैत्यों-दानवोंका वध करके इसी तीर्थमें जाकर (लोकसंग्रहके लिये) शुद्धि की थी ॥ ७५ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम् ।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥ ७६ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे वसुधारातीर्थमें जाय, जो सबके द्वारा प्रशंसित है । वहाँ जानेमात्रसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ७६ ॥

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः ।
तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ७७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके शुद्ध और समाहितचित्त होकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य विष्णु-लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ७७ ॥

तीर्थं चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत् ॥ ७८ ॥
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद् बहु सुवर्णकम् ॥ ७९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें वसुओंका पवित्र सरोवर है । उसमें स्नान और जलपान करनेसे मनुष्य वसु देवताओंका प्रिय होता है । नरश्रेष्ठ ! वहीं सिन्धूत्तम नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है । उसमें स्नान करनेसे प्रचुर स्वर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ७८-७९ ॥

भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ८० ॥

भद्रतुङ्गतीर्थमें जाकर पवित्र एवं सुशील पुरुष ब्रह्म-लोकमें जाता और वहाँ उत्तम गति पाता है ॥ ८० ॥

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

शक्रकुमारिका-तीर्थ सिद्ध पुरुषोंद्वारा सेवित है । वहाँ स्नान करके मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद् विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥ ८२ ॥

वहीं सिद्धसेवित रेणुकातीर्थ है, जिसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल होता है ॥ ८२ ॥

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ८३ ॥

तदनन्तर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन और नियमित भोजन करते हुए पञ्चनद तीर्थमें जाकर मनुष्य पञ्चमहायज्ञोंका फल पाता है जो कि शास्त्रोंमें क्रमशः बतलाये गये हैं ॥ ८३ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ ८४ ॥
देव्याः पुत्रो भवेद् राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे भीमाके उत्तम स्थानकी यात्रा करे । भरतश्रेष्ठ ! वहाँ योनितीर्थमें स्नान करके मनुष्य देवीका पुत्र होता है । उसकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णकुण्डलके समान होती है । राजन् ! उस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ८४-८५ ॥

श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

त्रिभुवनविख्यात श्रीकुण्डमें जाकर ब्रह्माजीको नमस्कार करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ ८७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम विमलतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ आज भी सोने और चाँदीके रंगकी मछलियाँ दिखायी देती हैं ॥ ८७ ॥

तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

उसमें स्नान करनेसे मनुष्य शीघ्र ही इन्द्रलोकको प्राप्त होता है और सब पापोंसे शुद्ध हो परमगति प्राप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥ ८९ ॥

भारत ! वितस्तातीर्थ (झेलम) में जाकर वहाँ देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ९० ॥

काश्मीरमें ही नागराज तक्षकका वितस्ता नामसे प्रसिद्ध भवन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ९० ॥

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ ९१ ॥

वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही वाजपेययज्ञका फल प्राप्त करता है और सब पापोंसे शुद्ध हो उत्तम गतिका भागी होता है ॥ ९१ ॥

ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु संध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ९२ ॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितृणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ९३ ॥

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात वडवातीर्थको जाय । वहाँ पश्चिम संध्याके समय विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके अग्निदेवको यथाशक्ति चरु निवेदन करे । वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ९२-९३ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥ ९४ ॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम् ॥ ९५ ॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥ ९६ ॥

राजन् ! वहाँ देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा—इन सबने नियमपूर्वक सहस्र वर्षोंके लिये उत्तम दीक्षा ग्रहण करके भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये चरु अर्पण किया । ऋग्वेदके सात-सात मन्त्रोंद्वारा सबने चरुकी सात-सात आहुतियाँ दीं और भगवान् केशवको प्रसन्न किया ॥ ९४–९६ ॥

ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान् कामान् दत्त्वा महीपते ॥ ९७ ॥
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥ ९८ ॥
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिषे चरुः ॥ ९९ ॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०० ॥

उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अष्टगुण-ऐश्वर्य अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं । महाराज ! तत्पश्चात् उनकी इच्छाके अनुसार अन्यान्य वर देकर भगवान् केशव वहाँसे उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली तिरोहित हो जाती है । भारत ! इसीलिये वह तीर्थ तीनों लोकोंमें सप्तचरुके नामसे विख्यात है । वहाँ अग्निके लिये दिया हुआ चरु एक लाख गोदान, सौ राजसूय यज्ञ और सहस्र अश्वमेधयज्ञसे भी अधिक कल्याणकारी है । राजेन्द्र ! वहाँसे लौटकर रुद्रपद नामक तीर्थमें जाय । वहाँ महादेवजीकी पूजा करके तीर्थयात्री पुरुष अश्वमेधका फल पाता है ॥ ९७–१०० ॥

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०१ ॥

राजन् ! एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक मणिमान् तीर्थमें जाय और वहाँ एक रात निवास करे । इससे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१ ॥

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ १०२ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! राजेन्द्र ! वहाँसे लोकविख्यात देविकातीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है ॥ १०२ ॥

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥ १०३ ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १०४ ॥

वहाँ त्रिशूलपाणि भगवान् शिवका स्थान है, जिसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है । देविकामें स्नान करके भगवान् महेश्वरका पूजन और उन्हें यथाशक्ति चरु निवेदन करके सम्पूर्ण कामनाओंसे समृद्ध यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है । १०३-१०४ ।

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ॥ १०५ ॥

वहाँ भगवान् शङ्करका देवसेवित कामतीर्थ है । भारत ! उनमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १०५ ॥

यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्म वालुकाम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ १०६ ॥

वहाँ यजन, याजन तथा वेदोंका स्वाध्याय करके अथवा वहाँकी बालू, पुष्प एवं जलका स्पर्श करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष शोकसे पार हो जाता है ॥ १०६ ॥

अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती वेदिका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥१०७॥

वहाँ पाँच योजन लंबी और आधा योजन चौड़ी पवित्र वेदिका है, जिसका देवता तथा ऋषि-मुनि भी सेवन करते हैं ॥ १०७ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१०८॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे क्रमशः 'दीर्घसत्र' नामक तीर्थमें जाय । वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं ॥१०८॥

दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ॥१०९॥

वे नियमपूर्वक व्रतका पालन करते हुए दीक्षा लेकर दीर्घसत्रकी उपासना करते हैं ॥ १०९ ॥

गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिंदम ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥११०॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भरतवंशी राजेन्द्र ! वहाँकी यात्रा करने मात्रसे मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके समान फल पाता है ॥ ११० ॥

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ॥१११॥

तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन और नियमित आहार ग्रहण करते हुए विनशनतीर्थमें जाय, जहाँ मेरु-पृष्ठपर रहनेवाली सरस्वती अदृश्य भावसे बहती है ॥ १११ ॥

चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ।
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥११२॥

वहाँ चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थमें सरस्वतीका दर्शन होता है । चमसोद्भेदमें स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ॥११३॥

शिवोद्भेदमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नागोद्भेदतीर्थमें स्नान करनेसे उसे नागलोककी प्राप्ति होती है ॥ ११३ ॥

शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ॥११४॥
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ।
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा ॥११५॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा ।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ॥११६॥

राजेन्द्र ! शशयान नामक तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है । उसमें जाकर स्नान करे । महाराज भारत ! वहाँ सरस्वती नदीमें प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको शश (खरगोश) के रूपमें छिपे हुए पुष्कर तीर्थ देखे जाते हैं । भरतश्रेष्ठ ! नरव्याघ्र ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है । भरतकुलतिलक ! उसे सहस्र गोदानका फल भी मिलता है ॥ ११४–११६ ॥

कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥११७॥

कुरुनन्दन ! वहाँसे कुमारकोटि तीर्थमें जाकर वहाँ नियमपूर्वक स्नान करे और देवता तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहे ॥ ११७ ॥

गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ॥११८॥
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया ॥११९॥
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।
एवं सम्प्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ॥१२०॥

ऐसा करनेसे मनुष्य दस हजार गोदानका फल पाता है और अपने कुलका उद्धार कर देता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे एकाग्रचित्त हो रुद्रकोटितीर्थमें जाय । महाराज ! रुद्रकोटि वह स्थान है, जहाँ पूर्वकालमें एक करोड़ मुनि बड़े हर्षमें भरकर भगवान् रुद्रके दर्शनकी अभिलाषासे आये थे । भारत ! 'भगवान् वृषभध्वजका दर्शन पहले मैं करूँगा, मैं करूँगा' ऐसा संकल्प करके वे महर्षि वहाँके लिये प्रस्थित हुए थे ॥ ११८–१२० ॥

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ॥१२१॥
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ॥१२२॥
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ।
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ॥१२३॥

राजन् ! तब योगेश्वर भगवान् शिवने भी योगका आश्रय ले, उन शुद्धात्मा महर्षियोंके शोककी शान्तिके लिये करोड़ों शिवलिङ्गोंकी सृष्टि कर दी, जो उन सभी ऋषियोंके आगे उपस्थित थे; इससे उन सबने अलग-अलग भगवान्‌का दर्शन किया है । राजन् ! उन शुद्धचेता मुनियोंकी उत्तम भक्तिसे संतुष्ट हो महादेवजीने उन्हें वर दिया ॥१२१–१२३॥

अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः ॥१२४॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

महर्षियो ! आजसे तुम्हारे धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी । नरश्रेष्ठ ! उस रुद्रकोटिमें स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १२४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १२५॥
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२६॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम पुण्यमय लोकविख्यात सरस्वती-संगम तीर्थमें जाय, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता और तपस्याके धनी महर्षि भगवान् केशवकी उपासना करते हैं ॥ १२५-१२६ ॥

अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१२७॥

राजेन्द्र ! वहाँ लोग चैत्र शुक्ला चतुर्दशीको विशेषरूपसे जाते हैं । पुरुषसिंह ! वहाँ स्नान करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है और सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर मनुष्य ब्रह्मलोकको जाता है ॥ १२७ ॥

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
तत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥

नरेश्वर ! जहाँ ऋषियोंके सत्र समाप्त हुए हैं, वहाँ अवसान तीर्थमें जाकर मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥१२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकथिततीर्थयात्राविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रकी सीमामें स्थित अनेक तीर्थोंकी महत्ताका वर्णन

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर ऋषियोंद्वारा प्रशंसित कुरुक्षेत्रकी यात्रा करे, जिसके दर्शनमात्रसे सब जीव पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा ।' इस प्रकार जो सदा कहा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ३ ॥

वायुद्वारा उड़ाकर लायी हुई कुरुक्षेत्रकी धूल भी शरीरपर पड़ जाय, तो वह पापी मनुष्यको भी परमगतिकी प्राप्ति करा देती है ॥ ३ ॥

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥

जो सरस्वतीके दक्षिण और दृषद्वतीके उत्तर कुरुक्षेत्रमें वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें ही रहते हैं ॥ ४ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ५ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ६ ॥

(नारदजी कहते हैं—) युधिष्ठिर ! वहाँ सरस्वतीके तटपर धीर पुरुष एक मासतक निवास करे, क्योंकि महाराज ! ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं ॥

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो मनसे भी कुरुक्षेत्रमें जानेकी इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ७ ॥

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! श्रद्धासे युक्त होकर कुरुक्षेत्रकी यात्रा करनेपर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है ॥ ८ ॥

ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर, वहाँ मचक्रुक नामवाले द्वारपाल महाबली यक्षको नमस्कार करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल मिल जाता है ॥ ९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥ १० ॥

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुके परम उत्तम

सतत नामक तीर्थस्थानमें जाय, जहाँ श्रीहरि सदा निवास करते हैं ॥ १० ॥

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ११ ॥
ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥ १२ ॥

वहाँ स्नान और त्रिलोकभावन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । इसके बाद त्रिभुवन-विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय । भारत ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥ ११-१२ ॥

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥ १३ ॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥ १४ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥ १५ ॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥ १६ ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥ १७ ॥

महाराज ! वहाँसे पृथिवीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है । राजन् ! वहाँसे तीर्थसेवी मनुष्य शालूकिनीमें जाकर दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करनेसे उसी फलका भागी होता है । सर्पदेवीमें जाकर उत्तम नागतीर्थका सेवन करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमका फल पाता और नागलोकमें जाता है । धर्मज्ञ ! वहाँसे तरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है । वहाँसे नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए पञ्चनदतीर्थमें जाय और वहाँ कोटितीर्थमें स्नान करे । इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है । अश्विनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य रूपवान् होता है ॥ १३–१७ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥ १८ ॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

धर्मज्ञ ! वहाँसे परम उत्तम वाराहतीर्थको जाय, जहाँ भगवान् विष्णु पहले वाराहरूपसे स्थित हुए थे । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १८½ ॥

ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥ १९ ॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर जयन्तीमें सोमतीर्थके निकट जाय, वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य राजसूययज्ञका फल पाता है ॥ १९½ ॥

एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २० ॥
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥ २१ ॥

एकहंसतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । नरेश्वर ! कृतशौचतीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य पुण्डरीकयागका फल पाता और शुद्ध हो जाता है ॥ २०-२१ ॥

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

तदनन्तर महात्मा स्थाणुके मुञ्जवट नामक स्थानमें जाय। वहाँ एक रात रहनेसे मानव गणपतिपद प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ २३ ॥

महाराज ! वहीं लोकविख्यात यक्षिणीतीर्थ है । राजेन्द्र ! उसमें जानेसे और स्नान करनेसे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति होती है ॥ २३ ॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥ २४ ॥
सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत् सुमहात्मना ॥ २५ ॥
कृतकृत्यो भवेद् राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।

भरतश्रेष्ठ ! वह कुरुक्षेत्रका विख्यात द्वार है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मनुष्य एकाग्रचित्त हो पुष्करतीर्थके तुल्य उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करे । राजन् ! इससे तीर्थयात्री कृतकृत्य होता और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त करता है । उत्तम श्रेणीके महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने उस तीर्थका निर्माण किया है ॥ २४-२५½ ॥

ततो रामह्रदान् गच्छेत् तीर्थसेवी समाहितः ॥ २६ ॥

तदनन्तर तीर्थयात्री एकाग्रचित्त हो परशुरामकुण्डोंपर जाय ॥ २६ ॥

तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! वहाँ उद्दीप्त तेजस्वी वीरवर परशुरामने सम्पूर्ण क्षत्रियकुलका वेगपूर्वक संहार करके पाँच कुण्ड स्थापित किये थे ॥ २७ ॥

पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह ! उन कुण्डोंको उन्होंने रक्तसे भर दिया था, ऐसा सुना जाता है । उसी रक्तसे परशुरामजीने अपने पितरों और प्रपितामहोंका तर्पण किया ॥ २८ ॥

ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।

राजन्! तब वे पितर अत्यन्त प्रसन्न हो परशुरामजीसे इस प्रकार बोले ॥ २८½ ॥

पितर ऊचुः

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥२९॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥३०॥

पितरोंने कहा—महाभाग राम! परशुराम! भृगुनन्दन! विभो! हम तुम्हारी इस पितृभक्तिसे और तुम्हारे पराक्रमसे भी बहुत प्रसन्न हुए हैं। महाद्युते! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर मागो। बोलो, क्या चाहते हो? ॥ २९-३० ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान्॥३१॥
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र! उनके ऐसा कहनेपर योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामने हाथ जोड़कर आकाशमें खड़े हुए उन पितरोंसे कहा—'पितृगण! यदि आपलोग मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मैं आपका अनुग्रहपात्र होऊँ तो मैं आपका कृपा प्रसाद चाहता हूँ। पुनः मेरी तपस्या पूरी हो जाय ॥ ३१-३२ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम् ॥ ३३ ॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।

'मैंने जो रोषके वशीभूत होकर सारे क्षत्रियकुलका संहार कर दिया है, आपके प्रभावसे मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ तथा मेरे ये कुण्ड भूमण्डलमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ॥३३½॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥ ३४ ॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥ ३५ ॥

परशुरामजीका यह शुभ वचन सुनकर उनके पितर बड़े प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले—'वत्स! तुम्हारी तपस्या इस विशेष पितृभक्तिसे पुनः बढ़ जाय ॥ ३४-३५ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥ ३६ ॥

'तुमने जो रोषमें भरकर क्षत्रियकुलका संहार किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो गये। वे क्षत्रिय अपने ही कर्मसे मरे हैं ॥ ३६ ॥

ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् संतर्पयिष्यति ॥ ३७ ॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥ ३८ ॥

'तुम्हारे बनाये हुए ये कुण्ड तीर्थस्वरूप होंगे, इसमें संशय नहीं है। जो इन कुण्डोंमें नहाकर पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें तृप्त हुए पितर ऐसा वर देंगे, जो इस भूतलपर दुर्लभ है। वे उसके लिये मनोवाञ्छित कामना और सनातन स्वर्गलोक सुलभ कर देंगे' ॥ ३७-३८ ॥

एवं दत्त्वा वरान् राजन् रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः ॥ ३९ ॥
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥ ४० ॥
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद् बहुसुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥ ४१ ॥
स्ववंशमुद्धरेद् राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥ ४२ ॥
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥ ४३ ॥

राजन्! इस प्रकार वर देकर परशुरामजीके पितर प्रसन्नतापूर्वक उनसे अनुमति ले वहीं अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भृगुनन्दन महात्मा परशुरामके वे कुण्ड बड़े पुण्यमय माने गये हैं। राजन्! जो उत्तम व्रत एवं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए परशुरामजीके उन कुण्डोंके जलमें स्नान करके उनकी पूजा करता है, उसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है। कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य वंशमूलकतीर्थमें जाय। राजन्! वंशमूलकमें स्नान करके मनुष्य अपने कुलका उद्धार कर देता है। भरतश्रेष्ठ! कायशोधनतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है, इसमें संशय नहीं। शरीर शुद्ध होनेपर मनुष्य परम उत्तम कल्याणमय लोकोंमें जाता है ॥३९–४३॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४४ ॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान् ॥ ४५ ॥

धर्मज्ञ! तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात लोकोद्धारतीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें पूजित है। वहाँ पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने कितने ही लोकोंका उद्धार किया था। राजन्! लोकोद्धारमें जाकर उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य आत्मीय जनोंका उद्धार करता है ॥४४-४५॥

श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम् ॥४६॥

मनको वशमें करके श्रीतीर्थमें जाकर स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य उत्तम सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि॥ ४७ ॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।

कपिला-तीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करके मानव सहस्र कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है ॥ ४७½ ॥

सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ ४८ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ४९ ॥

मनको वशमें करके सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान और देवता-पितरोंका अर्चन करके उपवास करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोम-यज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ४८-४९ ॥

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥

तदनन्तर तीर्थसेवी क्रमशः गोभवन तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे। इससे उसको सहस्र गोदानका फल मिलता है॥५०॥

शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तीर्थयात्री पुरुष शङ्खिनीतीर्थमें जाकर वहाँ देवीतीर्थमें स्नान करनेसे उत्तम रूप प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ५२ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर अरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय । महात्मा यक्षराज कुबेरका वह तीर्थ सरस्वती नदीमें है। राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ॥ ५३ ॥
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर श्रेष्ठ मानव ब्रह्मावर्ततीर्थको जाय । ब्रह्मावर्तमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ५३½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ ५५ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! वहाँसे परम उत्तम सुतीर्थमें जाय । वहाँ देवतालोग पितरोंके साथ सदा विद्यमान रहते हैं। वहाँ पितरों और देवताओंके पूजनमें तत्पर हो स्नान करे । इससे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और पितृलोकमें जाता है ॥ ५४-५५½ ॥

ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥ ५६ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे अम्बुमतीमें, जो परम उत्तम तीर्थ है, जाय।५६।

काशीश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! काशीश्वरके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता और ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥५७॥

मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते ॥ ५८ ॥

भरतवंशी महाराज ! वहीं मातृतीर्थ है, जिसमें स्नान करनेवाले पुरुषकी संतति बढ़ती है और वह कभी क्षीण न होनेवाली सम्पत्तिका उपभोग करता है ॥ ५८ ॥

ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर नियमसे रहकर नियमित भोजन करते हुए सीतवनमें जाय । महाराज ! वहाँ महान् तीर्थ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ॥ ५९ ॥

पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत ॥ ६० ॥

नरेश्वर ! वह तीर्थ एक बार जाने या दर्शन करनेसे ही पवित्र कर देता है । भारत ! उसमें केशोंको धो लेने मात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥ ६० ॥

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥ ६१ ॥
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥ ६२ ॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥

महाराज ! वहाँ श्वाविल्लोमापह नामक तीर्थ है । नरव्याघ्र ! उसमें तीर्थपरायण हुए विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके बड़े प्रसन्न होते हैं। भरतसत्तम ! श्वाविल्लोमापनयनतीर्थमें प्राणायाम (योगकी क्रिया) करनेसे श्रेष्ठ द्विज अपने रोएँ झाड़ देते हैं तथा राजेन्द्र ! वे शुद्धचित्त होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ६१–६३ ॥

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥

भूपाल ! वहीं दशाश्वमेधिक तीर्थ भी है। पुरुषसिंह ! उसमें स्नान करके मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है ॥ ६४॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ॥ ६५ ॥
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात मानुषतीर्थमें जाय

राजन् ! वहाँ व्याधके बाणोंसे पीड़ित हुए कृष्णमृग उस सरोवरमें गोते लगाकर मनुष्यशरीर पा गये थे, इसीलिये उसका नाम मानुषतीर्थ है । ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मानव सब पापोंसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ६५-६६½ ॥

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ॥६७॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः ॥६८॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥६९॥

राजन् ! मानुषतीर्थसे पूर्व एक कोसकी दूरीपर आपगा नामसे विख्यात एक नदी है, जो सिद्धपुरुषोंसे सेवित है । जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे भोजन कराते समय श्यामाक (साँवा) नामक अन्न देता है, उसे महान् धर्मफलकी प्राप्ति होती है । वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल मिलता है।६७–६९।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् वै दैवतानि च ।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥७०॥

वहाँ स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनपूर्वक एक रात निवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ॥७१॥

भरतवंशी राजेन्द्र ! तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्तम स्थानमें जाय, जो इस पृथ्वीपर ब्रह्मोदुम्बरतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ७१ ॥

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव ।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ॥७२॥
ब्रह्माणमधिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥७३॥
कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्लभम् ।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥७४॥

वहाँ सप्तर्षिकुण्ड है । नरश्रेष्ठ महाराज ! उन कुण्डोंमें तथा महात्मा कपिलके केदारतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है । वह मनुष्य ब्रह्माजीके निकट जाकर उनका दर्शन करनेसे शुद्ध, पवित्रचित्त एवं सब पापोंसे रहित होकर ब्रह्मलोकमें जाता है । कपिलका केदार भी अत्यन्त दुर्लभ है । वहाँ जानेसे तपस्याद्वारा सब पाप नष्ट हो जानेके कारण मनुष्यको अन्तर्धानविद्याकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७२--७४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम् ।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम् ॥७५॥
लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर लोकविख्यात सरकतीर्थमें जाय । वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको भगवान् शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७५½ ॥

तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ॥ ७६ ॥

कुरुनन्दन ! सरकमें तीन करोड़ तीर्थ हैं ॥ ७६ ॥

रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते ।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ ७७ ॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ ७८ ॥

राजन् ! ये सब तीर्थ रुद्रकोटिमें, कूपमें और कुण्डोंमें हैं । भरतशिरोमणे ! वहीं इलास्पदतीर्थ है, जिसमें स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ७७-७८ ॥

किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ॥ ७९ ॥

महीपते ! वहाँ किंदान और किंजप्य नामक तीर्थ भी हैं । भारत ! उनमें स्नान करनेसे मनुष्य दान और जपका असीम फल पाता है ॥ ७९ ॥

कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८० ॥

कलशीतीर्थमें जलका आचमन करके श्रद्धालु और जितेन्द्रिय मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ८० ॥

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ॥ ८१ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ ! सरकतीर्थके पूर्वमें महात्मा नारदका तीर्थ है, जो अम्बाजन्मके नामसे विख्यात है ॥ ८१ ॥

तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत ।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ८२ ॥

भारत ! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य प्राणत्यागके पश्चात् नारदजीकी आज्ञाके अनुसार परम उत्तम लोकोंमें जाता है ॥ ८२ ॥

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ८३ ॥

शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको पुण्डरीक तीर्थमें प्रवेश करे । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको पुण्डरीकयागका फल प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ॥ ८४ ॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात त्रिविष्टपतीर्थमें जाय ।

वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है ॥ ८४ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ८५ ॥

उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त हो परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः ॥ ८६ ॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहु वर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८७ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥ ८८ ॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥ ८९ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ॥ ९० ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे फलकीवन नामक उत्तम तीर्थकी यात्रा करे। राजन् ! देवतालोग फलकीवनमें सदा निवास करते हैं और अनेक सहस्र वर्षोंतक वहाँ भारी तपस्यामें लगे रहते हैं। भारत ! दृषद्वतीमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है। भरतसत्तम राजेन्द्र ! सर्वदेवतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है। भारत ! पाणिखाततीर्थमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र-यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त कर लेता है; साथ ही वह राजसूययज्ञका फल पाता एवं ऋषिलोकमें जाता है ॥८६–९०॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ९१ ॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ९२ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् परम उत्तम मिश्रकतीर्थमें जाय। महाराज ! वहाँ महात्मा व्यासने द्विजोंके लिये सभी तीर्थोंका सम्मिश्रण किया है; यह बात मेरे सुननेमें आयी है। जो मनुष्य मिश्रकतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान सभी तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है ॥ ९१-९२ ॥

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् नियमपूर्वक रहते हुए मिताहारी होकर व्यास-वनकी यात्रा करे। वहाँ मनोजवतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९३ ॥

गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः ॥ ९४
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।

मधुवटीमें जाकर देवीतीर्थमें स्नान करके पवित्र हुआ मानव वहाँ देवता-पितरोंकी पूजा करके देवीकी आज्ञाके अनुसार सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ९४½ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्यांश्च भारत ॥ ९५ ॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

भारत ! कौशिकी और दृषद्वतीके संगममें जो नियमित भोजन करते हुए स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥९५½ ॥

ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥ ९६ ॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥ ९७ ॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् व्यासस्थलीमें जाय, जहाँ परम बुद्धिमान् व्यासने पुत्रशोकसे संतप्त हो शरीर त्याग देनेका विचार किया था। राजेन्द्र ! उस समय उन्हें देवताओंने पुनः उठाया था। उस स्थलमें जानेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥९६-९७½॥

किं दत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥ ९८ ॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९९ ॥

किंदत्त नामक कूपके समीप जाकर एक प्रस्थ अर्थात् सोलह मुट्ठी तिल दान करे। कुरुश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त होता है। वेदीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥९८-९९॥

अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥१००॥

अहन् और सुदिन—ये दो लोकविख्यात तीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ ! उन दोनोंमें स्नान करके मनुष्य सूर्यलोकमें जाता है ॥ १०० ॥

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥१०१॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात मृगधूमतीर्थमें जाय और वहाँ गङ्गाजीमें स्नान करे ॥ १०१ ॥

अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०२॥

वहाँ महादेवजीकी पूजा करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। देवीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०२ ॥

ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ॥१०३॥

सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥१०४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकविख्यात वामनतीर्थमें जाय । वहाँ विष्णुपदमें स्नान और वामनदेवताका पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है । कुलम्पुन-तीर्थमें स्नान करके मानव अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ॥१०५॥

नरव्याघ्र ! तदनन्तर पवनह्रदमें स्नान करे । वह मरुद्गणोंका उत्तम तीर्थ है । वहाँ स्नान करनेसे मानव विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०५ ॥

अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते ॥१०६॥

अमरह्रदमें स्नान करके अमरेश्वर इन्द्रका पूजन करे । ऐसा करके मनुष्य अमरोंके प्रभावसे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥

शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०७॥

नरश्रेष्ठ ! शालिहोत्रके शालिसूर्यनामक तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ १०७ ॥

श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०८॥

भरतसत्तम नरश्रेष्ठ ! श्रीकुञ्जनामक सरस्वती-तीर्थमें स्नान करनेसे मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ १०८ ॥

ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥१०९॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥११०॥

कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् नैमिषकुञ्जकी यात्रा करे । राजेन्द्र ! कहते हैं, नैमिषारण्यके निवासी तपस्वी ऋषि पहले कभी तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुरुक्षेत्रमें गये थे । भरतश्रेष्ठ ! उसी समय उन्होंने सरस्वतीकुञ्जका निर्माण किया था (वही नैमिषकुञ्ज कहलाता है) ॥ १०९-११० ॥

ऋषीणामवकाशः स्याद् यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन् कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१११॥

वह ऋषियोंका स्थान है, जो उनके लिये महान् संतोष-जनक है । उस कुञ्जमें स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १११ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥११२॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर परम उत्तम कन्यातीर्थकी यात्रा करे । कन्यातीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ११२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥११३॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मतीर्थमें जाय । वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणेतर वर्णका मनुष्य भी ब्राह्मणत्वलाभ करता है । ब्राह्मण होनेपर शुद्धचित्त हो वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ११३½ ॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥११४॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।

नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उत्तम सोमतीर्थकी यात्रा करे । राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मानव सोमलोकको जाता है ॥ ११४½ ॥

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥११५॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥११६॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥११७॥

नरेश्वर ! इसके बाद सप्तसारस्वत नामक तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात महर्षि मङ्कणकको सिद्धि प्राप्त हुई थी । राजन् ! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी महर्षि मङ्कणकके हाथमें कुशका अग्रभाग गड़ गया, जिससे उनके हाथमें घाव हो गया । महाराज ! उस समय उस हाथसे शाकका रस चूने लगा । शाकका रस चूता देख महर्षि हर्षावेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे ॥ ११५–११७ ॥

ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते तु स्थावरं जंगमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥११८॥

वीर ! उनके नृत्य करते समय उनके तेजसे मोहित हो सारा चराचर जगत् नृत्य करने लगा ॥ ११८ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरैः राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरथ नराधिप ॥११९॥

राजन् ! नरेश्वर ! उस समय ब्रह्मा आदि देवता तथा तपोधन महर्षिगण—सबने मङ्कणक मुनिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया—॥ ११९ ॥

नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥१२०॥

'देव ! आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे इनका यह नृत्य बंद हो जाय ।' महादेवजी देवताओंके हितकी इच्छासे

हर्षावेशसे नाचते हुए मुनिके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ १२० ॥

भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान्।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ॥१२१॥

'धर्मज्ञ महर्षे ! मुनिप्रवर ! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं ? आज आपके इस हर्षातिरेकका क्या कारण है ?'

ऋषिरुवाच

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम्॥१२२॥
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः ।

ऋषिने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मन् ! मैं धर्मके मार्गपर स्थिर रहनेवाला तपस्वी हूँ। मेरे हाथसे यह शाकका रस चू रहा है। क्या आप इसे नहीं देखते ? इसीको देखकर मैं महान् हर्षसे नाच रहा हूँ॥ १२२½ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद् देव ऋषिं रागेण मोहितम्॥१२३॥

महर्षि रागसे मोहित हो रहे थे। महादेवजीने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहा—॥ १२३ ॥

अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम्।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता॥१२४॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वाङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम्॥१२५॥

'विप्रवर ! मुझे तो यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है। मेरी ओर देखिये।'

नरश्रेष्ठ ! निष्पाप राजेन्द्र ! ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महादेवजीने अंगुलीके अग्रभागसे अपने अँगूठेको ठोंका। राजन् ! उनके चोट करनेपर उस अँगूठेसे बर्फके समान सफेद भस्म गिरने लगा॥ १२४-१२५ ॥

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः।
नान्यद् देवात् परं मेने रुद्रात् परतरं महत्॥१२६॥

महाराज ! यह अद्भुत बात देखकर मुनि लज्जित हो महादेवजीके चरणोंमें पड़ गये और उन्होंने दूसरे किसी देवताको महादेवजीसे बढ़कर नहीं माननेका निश्चय किया॥ १२६ ॥

सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक्।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥१२७॥

वे बोले—'भगवन् ! देवता और असुरोंसहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रय आप ही हैं। त्रिशूलधारी महेश्वर ! आपने ही चराचर जीवोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको उत्पन्न किया है।१२७।

त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया॥१२८॥

'फिर प्रलयकाल आनेपर आप ही सब जीवोंको अपना ग्रास बना लेते हैं। देवता भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते, फिर मेरी तो बात ही क्या ?॥ १२८ ॥

त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह॥१२९॥

'अनघ ! ब्रह्मा आदि सब देवता आपहीमें दिखायी देते हैं। इस जगत्के करने और करानेवाले सब कुछ आप ही हैं॥

त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत्॥१३०॥

'आपके प्रसादसे सब देवता यहाँ निर्भय और प्रसन्न रहते हैं।' इस प्रकार स्तुति करके ऋषिने फिर महादेवजीसे कहा—॥ १३० ॥

त्वत्प्रसादान् महादेव तपो मे न क्षरेत वै।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत्॥१३१॥

'महादेव ! आपकी कृपासे मेरी तपस्या नष्ट न हो।' तब महादेवजीने प्रसन्नचित्त हो महर्षिसे कहा—॥ १३१ ॥

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने॥१३२॥

'ब्रह्मन् ! मेरे प्रसादसे आपकी तपस्या हजारगुनी बढ़े। महामुने ! मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें रहूँगा॥ १३२ ॥

सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम्।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिहलोके परत्र च॥१३३॥

'जो सप्तसारस्वत तीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनके लिये इहलोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी॥ १३३ ॥

सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत॥१३४॥

'इतना ही नहीं, वे सरस्वतीके लोकमें जायँगे, इसमें संशय नहीं है।' ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १३४॥

ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः॥१३५॥

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात औशनस तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि रहते हैं॥

कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसंध्यं किल भारत।
सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया॥१३६॥

भारत ! शुक्राचार्यजीका प्रिय करनेके लिये भगवान् कार्तिकेय भी वहाँ सदा तीनों संध्याओंके समय उपस्थित रहते हैं॥ १३६ ॥

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥१३७॥

भगवान् शङ्करका मङ्कणक मुनिको नृत्य करनेसे रोकना

कपालमोचनतीर्थ सब पापोंसे छुड़ानेवाला है ! नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३७ ॥

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत् तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! वहाँसे अग्नितीर्थको जाय । उसमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १३८ ॥

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ॥ १३९ ॥

भरतसत्तम ! वहीं विश्वामित्रतीर्थ है । नरश्रेष्ठ ! वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १३९ ॥

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ १४० ॥
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ।

नरश्रेष्ठ ! ब्रह्मयोनितीर्थमें जाकर पवित्र एवं जितात्मा पुरुष वहाँ स्नान करनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है । साथ ही अपने कुलकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४०½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १४१ ॥
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १४२ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर कार्तिकेयके त्रिभुवनविख्यात पृथूदक-तीर्थकी यात्रा करे और वहाँ स्नान करके देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें संलग्न रहे ॥ १४१-१४२ ॥

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत् किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥ १४३ ॥
तत् सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चास्य स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १४४ ॥

भारत ! स्त्री हो या पुरुष, उसने मानव-बुद्धिसे अनजानमें या जान-बूझकर जो कुछ भी पापकर्म किया है वह सब पृथूदकतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है और तीर्थसेवी पुरुषको अश्वमेधयज्ञके फल एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १४३-१४४ ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ १४५ ॥

कुरुक्षेत्र तीर्थको सबसे पवित्र कहते हैं, कुरुक्षेत्रसे भी पवित्र है सरस्वती नदी, सरस्वतीसे भी पवित्र हैं उसके तीर्थ और उन तीर्थोंसे भी पवित्र है पृथूदक ॥ १४५ ॥

उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत् ॥ १४६ ॥

वह सब तीर्थोंमें उत्तम है, जो पृथूदक तीर्थमें जपपरायण होकर अपने शरीरका त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्युका भय नहीं होता ॥ १४६ ॥

गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम् ॥ १४७ ॥

यह बात भगवान् सनत्कुमार तथा महात्मा व्यासने कही है । राजन् ! इस प्रकार तीर्थयात्री नियमपूर्वक पृथूदक तीर्थकी यात्रा करे ॥ १४७ ॥

पृथूदकात् तीर्थतमं नान्यत् तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत् पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥ १४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! पृथूदकसे श्रेष्ठतम तीर्थ दूसरा कोई नहीं है । वही मेध्य, पवित्र और पावन है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४८ ॥

तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ॥ १४९ ॥

नरश्रेष्ठ ! पापी मनुष्य भी वहाँ पृथूदक तीर्थमें स्नान करनेसे स्वर्गलोकमें चले जाते हैं, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥

मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं मधुस्रव तीर्थ है । राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १५० ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यरुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १५१ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर क्रमशः लोकविख्यात सरस्वती-अरुणासंगम नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करे ॥ १५१ ॥

त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥ १५२ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।

वहाँ स्नान करके तीन रात उपवास करनेसे ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल जाता है । इतना ही नहीं, वह मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको भी पा लेता है। भरतश्रेष्ठ! वह अपने कुलकी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ॥

अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ॥ १५३ ॥
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाप्युपवासेन वाप्युत ॥ १५४ ॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद् विद्वान् दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥ १५५ ॥

कुरुकुलशिरोमणे ! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, जिसे पूर्वकालमें दर्भी मुनिने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये प्रकट किया था । वहाँ व्रत, उपनयन और उपवास करनेसे मनुष्य कर्मकाण्ड और मन्त्रोंका ज्ञाता ब्राह्मण होता है, इसमें संशय नहीं है । नरश्रेष्ठ ! क्रियाविहीन और

मन्त्रहीन पुरुष भी उसमें स्नान करके व्रतका पालन करनेसे विद्वान् होता है, यह बात प्राचीन महर्षियोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१५६॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः।

दर्भीमुनि वहाँ चार समुद्रोंको भी ले आये हैं। नरश्रेष्ठ ! उनमें स्नान करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। और उसे चार हजार गोदानका भी फल मिलता है ॥ १५६½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥१५७॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५८॥
दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत्।

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे शतसहस्र और साहस्रक तीर्थोंकी यात्रा करे। वे दोनों लोकविख्यात तीर्थ हैं। उनमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है। वहाँ किये हुए दान अथवा उपवासका महत्त्व अन्यत्रसे सहस्रगुना अधिक है ॥ १५७-१५८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥१५९॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१६०॥

राजेन्द्र ! वहाँसे उत्तम रेणुकातीर्थकी यात्रा करे। पहले उस तीर्थमें स्नान करे; फिर देवताओं और पितरोंकी पूजामें तत्पर हो जाय। इससे तीर्थयात्री सब पापोंसे शुद्ध हो अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ १५९-१६० ॥

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥१६१॥

विमोचनतीर्थमें स्नान और आचमन करके क्रोध और इन्द्रियोंको काबूमें रखनेवाला मनुष्य प्रतिग्रहजनित सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥१६२॥

तदनन्तर ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय पुरुष पञ्चवटीतीर्थमें जाकर महान् पुण्यसे युक्त हो सत्पुरुषोंके लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १६२ ॥

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥१६३॥

वहाँ योगेश्वर एवं वृषभध्वज स्वयं भगवान् शिव निवास करते हैं। उन देवेश्वरकी पूजा करके मनुष्य वहाँ जानेमात्रसे सिद्ध हो जाता है ॥ १६३ ॥

तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥१६४॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥१६५॥

वहीं तैजस नामक वरुणदेवतासम्बन्धी तीर्थ है, जो अपने तेजसे प्रकाशित होता है। जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपस्वी ऋषियोंने कार्तिकेयको देवसेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था। कुरुश्रेष्ठ ! तैजसतीर्थके पूर्वभागमें कुरुतीर्थ है ॥ १६४-१६५ ॥

कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१६६॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर ब्रह्मलोकमें जाता है ॥१६६ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१६७॥

तदनन्तर नियमपरायण हो नियमित भोजन करते हुए स्वर्गद्वारको जाय। उस तीर्थके सेवनसे मनुष्य स्वर्गलोक पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १६७ ॥

ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१६८॥
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमः ॥१६९॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष अनरकतीर्थमें जाय। राजन् ! उसमें स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। महीपते ! पुरुषसिंह ! वहाँ स्वयं ब्रह्मा नारायण आदि देवताओंके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ १६८-१६९ ॥

सांनिध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१७०॥

कुरुश्रेष्ठ ! महाराज ! वहाँ रुद्रपत्नी दुर्गाजीका स्थान भी है। उस देवीके निकट जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ॥ १७० ॥

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम्।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७१॥

महाराज ! वहीं विश्वनाथ उमावल्लभ महादेवजीका स्थान है। वहाँकी यात्रा करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिंदम।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥१७२॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥१७३॥

शत्रुदमन महाराज ! पद्मनाभ भगवान् नारायणके निकट जाकर (उनका दर्शन करके) मनुष्य तेजस्वी रूप धारण करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। पुरुषरत्न ! सब

देवताओंके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १७२-१७३ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१७४॥

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरमें जाय, उसकी परिक्रमा करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥

पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥१७५॥

तत्पश्चात् पावनतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे। भारत! ऐसा करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १७५ ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते॥१७६॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक कूप है। भूपाल ! उस कूपमें तीन करोड़ तीर्थोंका वास है ॥ १७६ ॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम्॥१७७॥
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजन् ! उसमें स्नान करके मानव स्वर्गलोकमें जाता है। जो मनुष्य आपगामें स्नान करके महादेवजीकी पूजा करता है, वह गणपति-पद पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १७७½ ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम ॥१७८॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात स्थाणुवटतीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करके रातभर निवास करनेवाला मनुष्य रुद्रलोकमें जाता है ॥

बदरीपाचनं गच्छेद् वसिष्ठस्याश्रमं ततः ॥१७९॥
बदरीं भक्षयेत् तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
सम्यग् द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत् तु यः ॥१८०॥
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत् तुल्यो नराधिप ।
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ॥१८१॥
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ।

तदनन्तर बदरीपाचन नामसे प्रसिद्ध वशिष्ठके आश्रमपर जाय और वहाँ तीन रात उपवासपूर्वक रहकर बेरका फल खाय। जो मनुष्य वहाँ बारह वर्षोंतक भलीभाँति त्रिरात्रोपवासपूर्वक बेरका फल खाता है, वह उन्हीं वशिष्ठके समान होता है। राजन्! नरेश्वर! तीर्थसेवी मनुष्य रुद्रमार्गमें जाकर एक दिन-रात उपवास करे। इससे वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १७९-१८१½ ॥

एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ॥१८२॥
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ।

तदनन्तर एकरात्रतीर्थमें जाकर मनुष्य नियमपूर्वक और सत्यवादी होकर एक रात निवास करनेपर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ १८२½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१८३॥
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम्॥१८४॥
आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् उस त्रैलोक्यविख्यात तीर्थमें जाय, जहाँ तेजोराशि महात्मा सूर्यका आश्रम है। उसमें स्नान करके सूर्यदेवकी पूजा करनेसे मनुष्य सूर्यके लोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १८३-१८४½ ॥

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ॥१८५॥
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

नरेश्वर ! सोमतीर्थमें स्नान करके तीर्थसेवी मानव सोमलोकको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ॥१८६॥
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ॥१८७॥

धर्मज्ञ राजन् ! तदनन्तर महात्मा दधीचके लोकविख्यात परम पुण्यमय, पावन तीर्थकी यात्रा करे। जहाँ तपस्याके भण्डार सरस्वतीपुत्र अङ्गिराका जन्म हुआ ॥ १८६-१८७ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः ॥१८८॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और सरस्वतीलोकको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १८८ ॥

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् नियतो नियताशनः ॥१८९॥
लभेत् कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ।

तदनन्तर नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कन्याश्रम तीर्थमें जाय। राजन् ! वहाँ तीन रात उपवास करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करनेसे सौ दिव्य कन्याओंकी प्राप्ति होती है और वह मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १८९½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ॥१९०॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर वहाँसे संनिहतीतीर्थकी यात्रा करे ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः॥१९१॥

उस तीर्थमें ब्रह्मा आदि देवता और तपोधन महर्षि प्रतिमास महान् पुण्यसे सम्पन्न होकर जाते हैं ॥ १९१ ॥

संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ॥१९२॥

सूर्यग्रहणके समय संनिहतीमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेध

यज्ञोंका अभीष्ट एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है ॥ १९२ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ॥१९३॥
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ॥१९४॥
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ।
तीर्थसंनिहनादेव संनिहत्येति विश्रुता ॥१९५॥

पृथ्वीपर और आकाशमें जितने तीर्थ, नदी, ह्रद, तड़ाग, सम्पूर्ण झरने, उदपान, बावली, तीर्थ और मन्दिर हैं, वे प्रत्येक मासकी अमावस्याको संनिहतीमें अवश्य पधारेंगे । तीर्थोंका संघात या समूह होनेके कारण ही वह संनिहती नामसे विख्यात है ॥ १९३–१९५ ॥

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१९६॥
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत् फलम् ॥१९७॥
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ।
यत् किंचिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥१९८॥
स्नातमात्रस्य तत् सर्वं नश्यते नात्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१९९॥

राजन् ! उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है । जो सूर्यग्रहणके समय अमावस्याको वहाँ पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो–। भलीभाँति सम्पन्न किये हुए सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका जो फल होता है, उसे मनुष्य उस तीर्थमें स्नानमात्र करके अथवा श्राद्ध करके पा लेता है । स्त्री या पुरुषने जो कुछ भी दुष्कर्म किया हो, वह सब वहाँ स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है; इसमें संशय नहीं है । वह पुरुष कमलके समान रंगवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १९६–१९९ ॥

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद् बहुसुवर्णकम् ॥२००॥

तदनन्तर मचक्रुक नामक द्वारपाल यक्षको प्रणाम करके कोटितीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ २०० ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ॥२०१॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।

धर्मज्ञ भरतश्रेष्ठ ! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो स्नान करे, इससे मनुष्यको राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंद्वारा मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ २०१½ ॥

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ॥२०२॥
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ॥२०३॥
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ॥२०४॥
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।

भूमण्डलके निवासियोंके लिये नैमिष, अन्तरिक्ष-निवासियोंके लिये पुष्कर और तीनों लोकोंके निवासियोंके लिये कुरुक्षेत्र विशिष्ट तीर्थ हैं । कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल भी पापी-से-पापी मनुष्यपर भी पड़ जाय तो उसे परमगतिको पहुँचा देती है । सरस्वतीसे दक्षिण, दृषद्वतीसे उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो लोग निवास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें बसते हैं ॥ २०२–२०४½ ॥

कुरुक्षेत्रे गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ॥२०५॥
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा' ऐसी बात एक बार मुँहसे कह देनेपर भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २०५½ ॥

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ॥२०६॥
तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन॥२०७॥

कुरुक्षेत्र ब्रह्माजीकी वेदी है, इस पुण्यक्षेत्रका ब्रह्मर्षिगण सेवन करते हैं । जो मानव उसमें निवास करते हैं, वे किसी प्रकार शोकजनक अवस्थामें नहीं पड़ते ॥ २०६-२०७ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥२०८॥

तरन्तुक और अरन्तुकके तथा रामह्रद और मचक्रुकके बीचका जो भूभाग है, यही कुरुक्षेत्र एवं समन्तपञ्चक है । इसे ब्रह्माजीकी उत्तरवेदी कहते हैं ॥ २०८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यतीर्थयात्राविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

भगवान् शिवका आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको अपने सिरपर धारण करना

चतुरशीतितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके तीर्थोंकी महिमा

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर परम उत्तम धर्मतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ महाभाग धर्मने उत्तम तपस्या की थी ॥ १ ॥

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ॥ २ ॥
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नात्र संशयः ।

राजन् ! उन्होंने ही अपने नामसे विख्यात पुण्य तीर्थकी स्थापना की है । वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य धर्मशील एवं एकाग्रचित्त होता है और अपने कुलकी सातवीं पीढ़ी तकके लोगोंको पवित्र कर देता है; इसमें संशय नहीं है ॥ २½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥ ३ ॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर उत्तम ज्ञानपावन तीर्थमें जाय । वहाँ जानेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और मुनिलोकमें जाता है ॥ ३½ ॥

सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥ ४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् मानव सौगन्धिक वनमें जाय ॥ ४ ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः ॥ ५ ॥

वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते हैं ॥ ५ ॥

तद् वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥ ६ ॥
प्लक्षाद्देवी स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥ ७ ॥

उस वनमें प्रवेश करते ही मानव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । उससे आगे सरिताओंमें श्रेष्ठ और नदियोंमें उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वतीदेवीका उद्गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पकड़ी) नामक वृक्षकी जड़से टपक रही हैं । राजन् ! वहाँ बाँबीसे निकले हुए जलमें स्नान करना चाहिये।

अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत् ।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

वहाँ देवताओं तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है । वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है ॥ ८ ॥

षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ॥ ९ ॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः ।

जहाँ बाँबीका जल है,वहाँसे इसकी दूरी छः शम्यानिपात[1] है। यह निश्चित माप बताया गया है । नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिलादान और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है; इसे प्राचीन ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत ॥ १० ॥
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।

भारत ! पुरुषरत्न ! सुगन्धा, शतकुम्भा तथा पञ्चयज्ञा तीर्थमें जाकर मानव स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०½ ॥

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥ ११ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १२ ॥

भरतकुलतिलक ! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है; वहाँ जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । ऐसा करनेवाला मनुष्य देहत्यागके अनन्तर गणपति-पद प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है । ११-१२।

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे परमदुर्लभ देवीस्थानकी यात्रा करे, वह देवी तीनों लोकोंमें शाकम्भरीके नामसे विख्यात हैं ॥ १३ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १४ ॥
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! कहते हैं, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस देवीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक एक-एक महीनेपर केवल शाकका आहार किया था । देवीकी भक्तिसे प्रभावित होकर बहुत-से तपोधन महर्षि वहाँ आये । भारत ! उस देवीने उन महर्षियोंका आतिथ्य-सत्कार भी शाकके ही द्वारा किया ॥

ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ १६ ॥

---

१. शम्याका अर्थ है डंडा । कोई बलवान् पुरुष डंडेको खूब जोर लगाकर फेंके तो वह जहाँ गिरे, उतनी दूरके स्थानको एक शम्यानिपात कहते हैं । ऐसे ही छः शम्यानिपातकी दूरी समझ लेनी चाहिये ।

त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत् किंचिद् वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥ १७ ॥
तत् फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।

भारत ! तबसे उस देवीका 'शाकम्भरी' ही नाम प्रसिद्ध हो गया । शाकम्भरीके समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त और पवित्र हो वहाँ तीन राततक शाक खाकर रहे तो बारह वर्षोंतक शाकाहारी मनुष्यको जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उसे देवीकी इच्छासे (तीन ही दिनोंमें) मिल जाता है ॥ १६-१७½ ॥

ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १८ ॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा ।
वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात सुवर्णतीर्थकी यात्रा करे । वहाँ पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने रुद्रदेवकी प्रसन्नताके लिये उनकी आराधना की और उनसे अनेक देवदुर्लभ उत्तम वर प्राप्त किये ॥ १८-१९ ॥

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥ २० ॥
त्वन्मुखं च जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥ २१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
धूमावतीं ततो गच्छेत् त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २२ ॥
मनसा प्रार्थितान् कामाँल्लभते नात्र संशयः ।

भारत ! उस समय संतुष्टचित्त त्रिपुरारि शिवने श्रीविष्णुसे कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मुझे लोकमें अत्यन्त प्रिय होओगे । संसारमें सर्वत्र तुम्हारी ही प्रधानता होगी, इसमें संशय नहीं है ।' राजेन्द्र ! उस तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है । वहाँसे मनुष्य धूमावतीतीर्थको जाय और तीन रात उपवास करे । इससे वह निःसंदेह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ २०—२२½ ॥

देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ॥ २३ ॥
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! देवीसे दक्षिणार्ध भागमें रथावर्त नामक तीर्थ है । धर्मज्ञ ! जो श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थकी यात्रा करता है, वह महादेवजीके प्रसादसे परम गति प्राप्त कर लेता है ॥ २३-२४ ॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर महाप्राज्ञ पुरुष उस तीर्थकी परिक्रमा करके धाराकी यात्रा करे, जो सब पापोंसे छुड़ानेवाली है ॥ २५ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।

नरव्याघ्र ! नराधिप ! वहाँ स्नान करके मनुष्य कभी शोकमें नहीं पड़ता है ॥ २५½ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥ २६ ॥
स्वर्गद्वारेण यत् तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥ २७ ॥

धर्मज्ञ ! वहाँसे महापर्वत हिमालयको नमस्कार करके गङ्गाद्वार (हरिद्वार) की यात्रा करे, जो स्वर्गद्वारके समान है; इसमें संशय नहीं है । वहाँ एकाग्रचित्त हो कोटितीर्थमें स्नान करे ॥ २६-२७ ॥

पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २८ ॥

ऐसा करनेवाला मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है । वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ २८ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्ये लोके महीयते ॥ २९ ॥

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और शक्रावर्ततीर्थमें विधिपूर्वक देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य पुण्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २९ ॥

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३० ॥

तदनन्तर कनखलमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ३० ॥

कपिलावटं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! उसके बाद तीर्थसेवी मनुष्य कपिलावट तीर्थमें जाय । वहाँ रातभर उपवास करनेसे उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३१ ॥

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ ! वही नागराज महात्मा कपिलका तीर्थ है, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है ॥ ३२ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ नागतीर्थमें स्नान करना चाहिये । इससे मनुष्यको सहस्र कपिलादानका फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुके उत्तम तीर्थ ललितकमें जाय। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता॥ ३४॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥ ३५॥

जो मनुष्य गङ्गा-यमुनाके बीच संगम (प्रयाग) में स्नान करता है, उसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है॥ ३५॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धां लोकविश्रुताम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते॥ ३६॥

राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सुगन्धातीर्थकी यात्रा करे। इससे सब पापोंसे विशुद्धचित्त हुआ मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है॥ ३६॥

रुद्रावर्तं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं च गच्छति॥ ३७॥

नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्ततीर्थमें जाय। राजन्! वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है॥३७॥

गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥ ३८॥

नरश्रेष्ठ! गङ्गा और सरस्वतीके संगममें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है॥ ३८॥

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते॥ ३९॥

भगवान् भद्रकर्णेश्वरके समीप जाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और स्वर्गलोकमें पूजित होता है॥ ३९॥

ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥ ४०॥

नरेन्द्र! तत्पश्चात् तीर्थसेवी मानव कुब्जाम्रक तीर्थमें जाय। वहाँ उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और अन्तमें वह स्वर्गलोकको जाता है॥ ४०॥

अरुन्धतीवटं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः॥ ४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः।
गोसहस्रफलं विद्यात् कुलं चैव समुद्धरेत्॥ ४२॥

नरपते! तत्पश्चात् तीर्थसेवी अरुन्धती-वटके समीप जाय और सामुद्रकतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात उपवास करे। इससे मनुष्य अश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदानका फल पाता तथा अपने कुलका उद्धार कर देता है॥ ४१-४२॥

ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति॥ ४३॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चित्तको एकाग्र करके ब्रह्मावर्ततीर्थमें जाय। इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है॥ ४३॥

यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम्।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते॥ ४४॥

यमुनाप्रभव नामक तीर्थमें जाकर यमुनाजलमें स्नान करके अश्वमेधयज्ञका फल पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ४४॥

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥ ४५॥

दर्वीसंक्रमण नामक त्रिभुवनपूजित तीर्थमें जानेसे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है॥४५॥

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम्।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद् बहुसुवर्णकम्॥ ४६॥

सिंधुके उद्गमस्थानमें, जो सिद्ध-गन्धर्वोंद्वारा सेवित है, जाकर पाँच रात उपवास करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है॥

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥ ४७॥

तदनन्तर मनुष्य परम दुर्गम वेदीतीर्थमें जाकर अश्वमेध यज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है॥ ४७॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः॥ ४८॥

भरतनन्दन! ऋषिकुल्या एवं वासिष्ठतीर्थमें जाकर स्नान आदि करके वासिष्ठीको लाँघकर जानेवाले क्षत्रिय आदि सभी वर्णोंके लोग द्विजाति हो जाते हैं॥ ४८॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते॥ ४९॥

ऋषिकुल्यामें जाकर स्नान करके पापरहित मानव देवताओं और पितरोंकी पूजा करके ऋषिलोकमें जाता है॥

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत्॥ ५०॥

नरेश्वर! यदि मनुष्य भृगुतुङ्गमें जाकर शाकाहारी हो वहाँ एक मासतक निवास करे तो उसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है॥ ५०॥

गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत॥ ५१॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः।
तत्र संध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम्॥ ५२॥

उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद् रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥ ५३ ॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।

वीरप्रमोक्षतीर्थमें जाकर मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है । भारत ! कृत्तिका और मघाके तीर्थमें जाकर मानव अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है । वहीं प्रातः-संध्याके समय परम उत्तम विद्यातीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य जहाँ-कहीं भी विद्या प्राप्त कर लेता है । जो सब पापोंसे छुड़ानेवाले महाश्रमतीर्थमें एक समय उपवास करके एक रात वहीं निवास करता है, उसे शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५१–५३½ ॥

षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥ ५४ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
दशापरान् दश पूर्वान् नरानुद्धरते कुलम् ॥ ५५ ॥

जो छठे समय उपवासपूर्वक एक मासतक महालय-तीर्थमें निवास करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त करता है । साथ ही दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ५४-५५ ॥

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीके द्वारा सेवित वेतसिकातीर्थमें जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और शुक्राचार्यके लोकमें जाता है ॥ ५६ ॥

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर सिद्धसेवित सुन्दरिकातीर्थमें जाकर मनुष्य रूपका भागी होता है, यह बात प्राचीन ऋषियोंने देखी है ॥

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ५८ ॥

इसके बाद इन्द्रियसंयम और ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक ब्राह्मणीतीर्थमें जानेसे मनुष्य कमलके समान कान्तिवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ५८ ॥

ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥ ५९ ॥

तदनन्तर सिद्धसेवित पुण्यमय नैमिष (नैमिषारण्य) तीर्थमें जाय । वहाँ देवताओंके साथ ब्रह्माजी नित्य निवास करते हैं ॥ ५९ ॥

नैमिषं मृगयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

नैमिषकी खोज करनेवाले पुरुषका आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है और उसमें प्रवेश करते ही वह सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६० ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥ ६१ ॥

धीर पुरुष तीर्थसेवनमें तत्पर हो एक मासतक नैमिषमें निवास करे । पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी नैमिषमें विद्यमान हैं ॥ ६१ ॥

कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ ६२ ॥

भारत ! जो वहाँ स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ६२ ॥

पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥ ६३ ॥
स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥ ६४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुलकी सात पीढ़ियोंका भी वह उद्धार कर देता है । जो नैमिषमें उपवासपूर्वक प्राणत्याग करता है, वह सब लोकोंमें आनन्दका अनुभव करता है; ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है । नृपश्रेष्ठ ! नैमिषतीर्थ नित्य, पवित्र और पुण्यजनक है ॥ ६३-६४ ॥

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा ॥ ६५ ॥

गङ्गोद्भेदतीर्थमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सदाके लिये ब्रह्मीभूत हो जाता है ॥ ६५ ॥

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ॥ ६६ ॥

सरस्वतीतीर्थमें जाकर देवता और पितरोंका तर्पण करे । इससे तीर्थयात्री सारस्वतलोकोंमें जाकर आनन्दका भागी होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥ ६७ ॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।

तदनन्तर बाहुदा-तीर्थमें जाय और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक रात उपवास करे; इससे वह स्वर्ग-लोकमें प्रतिष्ठित होता है । कुरुनन्दन ! उसे देवसत्र यज्ञका भी फल प्राप्त होता है ॥ ६७½ ॥

ततः क्षीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥ ६८ ॥
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात् ।

वहाँसे क्षीरवती नामक पुण्यतीर्थमें जाय, जो अत्यन्त पुण्यात्मा पुरुषोंसे भरी हुई है। वहाँ स्नान करके देवता और पितरोंके पूजनमें लगा हुआ मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६८½ ॥

विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥६९॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते।

वहीं विमलाशोक नामक उत्तम तीर्थ है, वहाँ जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक रात निवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ६९½ ॥

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥७१॥

वहाँसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतारमें जाय। महाराज! वहाँ अपने सेवकों, सैनिकों और वाहनोंके साथ गोते लगाकर उस तीर्थके प्रभावसे वे वीर श्रीरामचन्द्रजी अपने नित्यधामको पधारे थे ॥ ७०-७१ ॥

रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥७२॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते।

भरतनन्दन! नरेश्वर! उस सरयूके गोप्रतारतीर्थमें स्नान करके मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और उद्योगसे सब पापोंसे शुद्ध होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ७२½

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥७३॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः।

कुरुनन्दन! गोमतीके रामतीर्थमें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७३½ ॥

शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥७४॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥७५॥

भरतकुलभूषण! वहीं शतसाहस्रकतीर्थ है। उसमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए मनुष्य सहस्र गोदानका पुण्यफल प्राप्त करता है ॥ ७४-७५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम्।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७६॥

राजेन्द्र! वहाँसे परम उत्तम भर्तृस्थानको जाय। वहाँ जानेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप।
गोसहस्रफलं विद्यात् तेजस्वी च भवेन्नरः ॥७७॥

राजन्! मनुष्य कोटितीर्थमें स्नान करके कार्तिकेयजीका पूजन करनेसे सहस्र गोदानका फल पाता और तेजस्वी होता है ॥ ७७ ॥

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥७८॥

तदनन्तर वाराणसी(काशी)तीर्थमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा करे और कपिलाह्रदमें गोता लगाये; इससे मनुष्यको राजसूययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥७९॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः।

कुरुश्रेष्ठ! अविमुक्त तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य देवदेव महादेवजीका दर्शनमात्र करके ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। वहीं प्राणोत्सर्ग करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ७९½ ॥

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥८०॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८१॥

राजेन्द्र! गोमती और गङ्गाके लोकविख्यात संगमके समीप मार्कण्डेयजीका दुर्लभ तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८०-८१ ॥

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८२॥

तदनन्तर गयातीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८२ ॥

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥८३॥

वहाँ तीनों लोकोंमें विख्यात अक्षयवट हैं। उनके समीप पितरोंके लिये दिया हुआ सब कुछ अक्षय बताया जाता है ॥ ८३ ॥

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
अक्षयान् प्राप्नुयाल्लोकान् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥८४॥

महानदीमें स्नान करके जो देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, वह अक्षय लोकोंको प्राप्त होता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ८४ ॥

ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम्।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥८५॥

तदनन्तर धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसरोवरकी यात्रा करके वहाँ एक रात प्रातःकालतक निवास करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ८५ ॥

ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥८६॥

ब्रह्माजीने उस सरोवरमें एक श्रेष्ठ यूपकी स्थापना की थी। उसकी परिक्रमा करनेसे मानव वाजपेययज्ञका फल पा लेता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम्।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत् तिलधेनुकाम् ॥८७॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम्।

राजेन्द्र ! वहाँसे लोकविख्यात धेनुतीर्थमें जाय । महाराज ! वहाँ एक रात रहकर तिलकी गौका दान करे* । इससे तीर्थयात्री पुरुष सब पापोंसे शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोकमें जाता है ॥ ८७½ ॥

तत्र चिह्नं महद् राजन्नद्यापि सुमहद् भृशम् ॥८८॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम्।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥८९॥

राजन् ! वहाँ एक पर्वतपर चरनेवाली बछड़ेसहित कपिला गौका विशाल चरणचिह्न आज भी अङ्कित है। भरतनन्दन ! बछड़ेसहित उस गौके चरणचिह्न आज भी वहाँ देखे जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम।
यत् किंचिदशुभं कर्म तत् प्रणश्यति भारत ॥९०॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! उन चरणचिह्नोंका स्पर्श करके मनुष्यका जो कुछ भी अशुभ कर्म शेष रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है ॥ ९० ॥

ततो गृध्रवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥९१॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् महादेवजीके गृध्रवट नामक स्थानकी यात्रा करे और वहाँ भगवान् शङ्करके समीप जाकर भस्मसे स्नान करे (अपने शरीरमें भस्म लगाये) ॥ ९१ ॥

ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥९२॥

वहाँ यात्रा करनेसे ब्राह्मणको बारह वर्षोंतक व्रतके पालन करनेका फल प्राप्त होता है और अन्य वर्णके लोगोंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

उद्यन्तं च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम्।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥९३॥

भरतकुलभूषण ! तदनन्तर संगीतकी ध्वनिसे गूँजते हुए उदयगिरिपर जाय। वहाँ सावित्रीका चरणचिह्न आज भी दिखायी देता है ॥ ९३ ॥

तत्र संध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः।
तेन ह्युपास्ता भवति संध्या द्वादशवार्षिकी ॥९४॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण वहाँ संध्योपासना करे। इससे उसके द्वारा बारह वर्षोंतककी संध्योपासना सम्पन्न हो जाती है ॥ ९४ ॥

योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ॥९५॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं विख्यात योनिद्वारतीर्थ है, जहाँ जाकर मनुष्य योनिसंकटसे मुक्त हो जाता है—उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ९५ ॥

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥९६॥

राजन् ! जो मानव कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें गयातीर्थमें निवास करता है, वह अपने कुलकी सातवीं पीढ़ीतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९६ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥९७॥

बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करे। सम्भव है, उनमेंसे एक भी गयामें जाय या अश्वमेधयज्ञ करे अथवा नील वृषका उत्सर्ग ही करे ॥ ९७ ॥

ततः फल्गुं व्रजेद् राजंस्तीर्थसेवी नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥९८॥

राजन् ! नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी मानव फल्गुतीर्थमें जाय । वहाँ जानेसे उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९८ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥९९॥

महाराज ! तदनन्तर एकाग्रचित्त हो मनुष्य धर्मप्रस्थकी यात्रा करे । युधिष्ठिर ! वहाँ धर्मराजका नित्य निवास है ॥ ९९ ॥

तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा।
पितॄन् देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥१००॥

वहाँ कुएँका जल लेकर उससे स्नान करके पवित्र हो देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यके सारे पाप छूट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १०० ॥

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥१०१॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥१०२॥

वहीं भावितात्मा महर्षि मतङ्गका आश्रम है। श्रम और शोकका विनाश करनेवाले उस सुन्दर आश्रममें प्रवेश करनेसे मनुष्य गवायनयज्ञका फल पाता है । वहाँ धर्मके निकट जा उनके श्रीविग्रहका दर्शन और स्पर्श करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०१-१०२ ॥

* तिलोंसे गौकी आकृति बनाकर उसका दान करे।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ ॥१०३॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।

राजेन्द्र ! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मस्थानको जाय। महाराज ! पुरुषोत्तम ! वहाँ ब्रह्माजीके समीप जाकर मनुष्य राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल पाता है ॥ १०३½ ॥

ततो राजगृहं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ॥१०४॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ॥१०५॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया।

नरेश्वर ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य राजगृहको जाय। वहाँ स्नान करके वह कक्षीवान्‌के समान प्रसन्न होता है। उस तीर्थमें पवित्र होकर पुरुष यक्षिणीदेवीका नैवेद्य भक्षण करे। यक्षिणीके प्रसादसे वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ १०४-१०५½ ॥

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥

तदनन्तर मणिनागतीर्थमें जाकर तीर्थयात्री सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥ १०६ ॥

तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ॥१०७॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्।

भरतनन्दन ! जो मणिनागका तीर्थप्रसाद (नैवेद्य, चरणामृत आदि) का भक्षण करता है, उसे साँप काट ले तो भी उसपर विषका असर नहीं होता। वहाँ एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०७½ ॥

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥१०८॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम्।
अभिगम्याश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९॥

तत्पश्चात् ब्रह्मर्षि गौतमके प्रिय वनकी यात्रा करे। वहाँ अहल्याकुण्डमें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है। राजन् ! गौतमके आश्रममें जाकर मनुष्य अपने लिये लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ॥ १०८-१०९ ॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥११०॥

धर्मज्ञ ! वहाँ एक त्रिभुवनविख्यात कूप है, जिसमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ११० ॥

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११॥

राजर्षि जनकका एक कूप है, जिसका देवता भी सम्मान करते हैं। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है ॥ १११ ॥

ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥११२॥

तत्पश्चात् सब पापोंसे छुड़ानेवाले विनशन तीर्थको जाय, जिससे मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ॥ ११२ ॥

गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम्।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥११३॥

गण्डकी नदी सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न हुई है। वहाँ जाकर तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ॥ ११३ ॥

ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११४॥

तत्पश्चात् त्रिलोकीमें विख्यात विशल्या नदीके तटपर जाकर स्नान करे। इससे वह अग्निष्टोमयज्ञ-का फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ११४ ॥

ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम्।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ॥११५॥

धर्मज्ञ महाराज ! तदनन्तर वङ्गदेशीय तपोवनमें प्रवेश करके तीर्थयात्री इस शरीरके अन्तमें गुह्यकलोकमें जाकर निःसंदेह आनन्दका भागी होता है ॥ ११५ ॥

कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥११६॥

तत्पश्चात् सिद्धसेवित कम्पना नदीमें पहुँचकर मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥११६॥

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य धराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥११७॥

राजन् ! तत्पश्चात् माहेश्वरी धाराकी यात्रा करनेसे तीर्थयात्रीको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ११७ ॥

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधं च विन्दति ॥११८॥

नरेश्वर ! फिर देवपुष्करिणीमें जाकर मानव कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥

अथ सोमपदं गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥११९॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो सोमपद तीर्थमें जाय। वहाँ माहेश्वरपदमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ ११९ ॥

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥१२०॥
ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ॥१२१॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।

भरतकुलतिलक ! वहाँ तीर्थोंकी विख्यात श्रेणीको एक

दुरात्मा असुर कूर्मरूप धारण करके हरकर लिये जाता था। राजन्! यह देख सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने उस तीर्थश्रेणीका उद्धार किया। युधिष्ठिर! वहाँ उस तीर्थकोटिमें स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेवाले यात्रीको पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है और वह विष्णुलोकको जाता है॥ १२०-१२१½॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च॥१२२॥
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः॥१२३॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः॥१२४॥

राजेन्द्र! तदनन्तर नारायणस्थानको जाय। भरतनन्दन! वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु तथा रुद्र भी वहाँ रहकर जनार्दनकी उपासना करते हैं। उस तीर्थमें अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णु शालग्रामके नामसे प्रसिद्ध हैं॥

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम्।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति॥१२५॥

तीनों लोकोंके स्वामी उन वरदायक अविनाशी भगवान् विष्णुके समीप जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता और विष्णुलोकमें जाता है॥ १२५॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम्।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा॥१२६॥

धर्मज्ञ! वहाँ एक कूप है, जो सब पापोंको दूर करनेवाला है। उसमें सदा चारों समुद्र निवास करते हैं॥ १२६॥

तत्रापस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम्॥१२७॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः॥१२८॥

राजेन्द्र! उसमें निवास करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। सबको वर देनेवाले अविनाशी महादेव रुद्रके समीप जाकर मनुष्य मेघोंके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होता है। नरेश्वर! वहीं जातिस्मर तीर्थ है; जिसमें स्नान करके मनुष्य पवित्र एवं शुद्धचित्त हो जाता है। अर्थात् उसके शरीर और मनकी शुद्धि हो जाती है॥ १२७-१२८॥

जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्॥१२९॥
ईप्सितांल्लभते कामानुपवासान्न संशयः।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम्॥१३०॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्॥१३१॥

उस तीर्थमें स्नान करनेसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। माहेश्वरपुरमें जाकर भगवान् शङ्करकी पूजा और उपवास करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तत्पश्चात् सब पापोंको दूर करनेवाले वामनतीर्थकी यात्रा करके भगवान् श्रीहरिके निकट जाय। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इसके बाद सब पापोंसे छुड़ानेवाले कुशिकाश्रमकी यात्रा करे॥ १२९-१३१॥

कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम्।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥१३२॥

वहीं बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली कौशिक (कोशी) नदी है। उसके तटपर जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला मानव राजसूययज्ञका फल पाता है॥ १३२॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्॥१३३॥

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम चम्पकारण्य (चम्पारन) की यात्रा करे। वहाँ एक रात निवास करनेसे तीर्थयात्रीको सहस्र गोदानका फल मिलता है॥ १३३॥

अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्॥१३४॥

तत्पश्चात् परम दुर्लभ ज्येष्ठिल तीर्थमें जाकर एक रात निवास करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है॥१३४॥

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम्।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ॥१३५॥
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत्।

पुरुषरत्न! वहाँ पार्वतीदेवीके साथ महातेजस्वी भगवान् विश्वेश्वरका दर्शन करनेसे तीर्थयात्रीको मित्र और वरुण-देवताके लोकोंकी प्राप्ति होती है। वहाँ तीन रात उपवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है॥ १३५½॥

कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः॥१३६॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत॥१३७॥
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः।

पुरुषश्रेष्ठ! इसके बाद नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए तीर्थयात्रीको कन्यासंवेद्य नामक तीर्थमें जाना चाहिये। इससे वह प्रजापति मनुके लोक प्राप्त कर लेता है। भरतनन्दन! जो लोग कन्यासंवेद्य तीर्थमें थोड़ा-सा भी दान देते हैं, उनके उस दानको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अक्षय बताते हैं॥ १३६-१३७½॥

निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥१३८॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासंगमे नराः ॥१३९॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥१४०॥

तदनन्तर त्रिलोकविख्यात निश्चीरा नदीकी यात्रा करे। इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है और तीर्थयात्री पुरुष भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। नरश्रेष्ठ ! जो मानव निश्चीरासंगममें दान देते हैं, वे रोग-शोकसे रहित इन्द्रलोकमें जाते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठ-आश्रम है ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥१४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है। तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देवकूट तीर्थमें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १४१½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥१४२॥
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथकौशिकः।
तत्र मासं वसेद् वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ॥१४३॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् कौशिक मुनिके कुण्डमें स्नानके लिये जाय, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। वीर ! भरतकुलभूषण ! उस तीर्थमें कौशिकी नदीके तटपर एक मासतक निवास करे ॥ १४२-१४३ ॥

अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति ।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ॥१४४॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद् बहु सुवर्णकम् ।

ऐसा करनेसे एक मासमें ही अश्वमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त हो जाता है। जो सब तीर्थोंमें उत्तम महाह्रदमें स्नान करता है, वह कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता और प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त कर लेता है ॥ १४४½ ॥

कुमारमभिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम् ॥१४५॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

तदनन्तर वीराश्रमनिवासी कुमार कार्तिकेयके निकट जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४५½ ॥

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥१४६॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।

अग्निधारातीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ जाकर स्नान करनेवाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है॥१४६½॥

अधिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ॥१४७॥

वहाँ वर देनेवाले महान् देवता अविनाशी भगवान् विष्णुके निकट जाकर उनका दर्शन और पूजन करे ॥१४७॥

पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥१४८॥

गिरिराज हिमालयके निकट पितामहसरोवरमें जाकर स्नान करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥

पितामहस्य सरसः प्रस्रुता लोकपावनी ।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥१४९॥

पितामहसरोवरसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करनेवाली एक धारा प्रवाहित होती है, जो तीनों लोकोंमें कुमारधाराके नामसे विख्यात है ॥ १४९ ॥

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१५०॥

उसमें स्नान करके मनुष्य अपने आपको कृतार्थ मानने लगता है। वहाँ रहकर छठे समय उपवास करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छुटकारा पा जाता है ॥ १५० ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१५१॥

धर्मज्ञ ! तदनन्तर तीर्थसेवनमें तत्पर मानव महादेवी गौरीके शिखरपर जाय, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥१५१॥

समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ॥१५२॥

नरश्रेष्ठ ! उस शिखरपर चढ़कर मानव स्तनकुण्डमें स्नान करे। स्तनकुण्डमें अवगाहन करनेसे वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १५२ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥१५३॥

उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और इन्द्रलोकमें पूजित होता है ॥ १५३ ॥

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥१५४॥

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो ताम्रारुण-तीर्थकी यात्रा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १५४ ॥

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥१५५॥

नन्दिनीतीर्थमें देवताओंद्वारा सेवित एक कूप है। नरेश्वर ! वहाँ जाकर स्नान करनेसे मानव नरमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त करता है॥ १५५ ॥

कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१५६॥

राजन्! कौशिकी-अरुणा-संगम और कालिका-संगममें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १५६ ॥

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥१५७॥

तदनन्तर उर्वशीतीर्थ, सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रमकी यात्रा करके मनुष्य इस भूतलपर पूजित होता है ॥ १५७ ॥

कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५८॥

कोकामुखतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्य एवं संयम-नियमका पालन करनेवाला पुरुष पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह बात प्राचीन पुरुषोंने प्रत्यक्ष देखी है ॥ १५८ ॥

प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति॥१५९॥

प्राङ्नदी तीर्थमें जानेसे द्विज कृतार्थ हो जाता है। वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १५९ ॥

ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौञ्चनिषूदनम्।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥१६०॥

तीर्थसेवी मनुष्य पवित्र ऋषभद्वीप और क्रौञ्चनिषूदन-तीर्थमें जाकर सरस्वतीमें स्नान करनेसे विमानपर विराजमान होता है ॥ १६० ॥

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६१॥

महाराज! मुनियोंसे सेवित औद्दालकतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६१ ॥

धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६२॥

परम पवित्र ब्रह्मर्षिसेवित धर्मतीर्थमें जाकर स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और विमानपर बैठकर पूजित होता है ॥ १६२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन और गङ्गाका माहात्म्य

पुलस्त्य उवाच

अथ संध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम्।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः ॥ १ ॥

पुलस्त्यजी कहते हैं—भीष्म! तदनन्तर प्रातःसंध्याके समय उत्तम संवेद्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य विद्यालाभ करता है; इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥

राजन्! पूर्वकालमें श्रीरामके प्रभावसे जो तीर्थ प्रकट हुआ, उसका नाम लौहित्यतीर्थ है। उसमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको बहुत सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है ॥ २ ॥

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥ ३ ॥

करतोयामें जाकर स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। यह ब्रह्माजीद्वारा की हुई व्यवस्था है ॥ ३ ॥

गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! वहाँ गङ्गासागरसंगममें स्नान करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥

गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

राजन्! जो मानव गङ्गासागरसंगममें गङ्गाके दूसरे पार पहुँचकर स्नान करता है और तीन रात वहाँ निवास करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ५ ॥

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम्।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥

तदनन्तर सब पापोंसे छुड़ानेवाली वैतरणीकी यात्रा करे। वहाँ विरजतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥ ७ ॥

उसका पुण्यमय कुल संसारसागरसे तर जाता है। वह अपने सब पापोंका नाश कर देता है और सहस्र गोदानका फल प्राप्त करके अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ७ ॥

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ८ ॥

शोण और ज्योतिरथ्याके संगममें स्नान करके जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुष यदि देवताओं और पितरोंका तर्पण करे तो वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ॥ ८ ॥

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! शोण और नर्मदाके उत्पत्तिस्थान वंशगुल्मतीर्थमें स्नान करके तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ९ ॥

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोसलायां नराधिप।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥१०॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत्।

नरेश्वर ! कोसला (अयोध्या) में ऋषभतीर्थमें जाकर स्नानपूर्वक तीन रात उपवास करनेवाला मानव वाजपेययज्ञका फल पाता है। इतना ही नहीं, वह सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलका भी उद्धार कर देता है ॥ १०½ ॥

कोसलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ॥११॥
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥१२॥
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप।

कोसला नगरी (अयोध्या) में जाकर कालतीर्थमें स्नान करे। ऐसा करनेसे ग्यारह वृषभ-दानका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है। पुष्पवतीमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ११-१२½ ॥

ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ॥१३॥
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति।

भरतकुलभूषण ! तदनन्तर बदरिकातीर्थमें स्नान करके मनुष्य दीर्घायु पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १३½ ॥

अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ॥१४॥
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत्।

तत्पश्चात् चम्पामें जाकर भागीरथीमें तर्पण करे और दण्ड-नामक तीर्थमें जाकर सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ॥ १४½ ॥

लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ॥१५॥
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते।

तदनन्तर पुण्यशोभिता पुण्यमयी लपेटिकामें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेसे तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होता है ॥ १५½ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ॥१६॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।

इसके बाद परशुरामसेवित महेन्द्रपर्वतपर जाकर वहाँके रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ॥ १६½ ॥

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ॥१७॥
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत्।

कुरुश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! वहीं मतङ्गका केदार है, उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥१७½ ॥

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ॥१८॥
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम्।

श्रीपर्वतपर जाकर वहाँकी नदीके तटपर स्नान करे। वहाँ भगवान् शङ्करकी पूजा करके मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १८½ ॥

श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ॥१९॥
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥२०॥
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये दैवतपूजितम्।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ॥२१॥

श्रीपर्वतपर देवी पार्वतीके साथ महातेजस्वी महादेवजी बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं। देवताओंके साथ ब्रह्माजी भी वहाँ रहते हैं। वहाँ देवकुण्डमें स्नान करके पवित्र हो जितात्मा पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम सिद्धि लाभ करता है। पाड्यदेशमें देवपूजित ऋषभ पर्वतपर जाकर तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १९–२१ ॥

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥२२॥

राजन् ! तदनन्तर अप्सराओंसे आवृत कावेरीनदीकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ २२ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२३॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् समुद्रके तटपर विद्यमान कन्यातीर्थ (कन्याकुमारी) में जाकर स्नान करे। उस तीर्थमें स्नान करते ही मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥२४॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥२५॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा ।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥२६॥

महाराज ! इसके बाद समुद्रके मध्यमें विद्यमान त्रिभुवन-विख्यात अखिल लोकवन्दित गोकर्णतीर्थमें जाकर स्नान करे। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन, महर्षि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महानाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी, समुद्र और पर्वत—ये सभी उमावल्लभ भगवान् शंकरकी उपासना करते हैं ॥ २४–२६ ॥

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥२७॥

वहाँ भगवान् शिवकी पूजा करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपति-पद प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः ।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ॥२८॥

वहाँ बारह रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वहीं गायत्रीका त्रिलोकपूजित स्थान है॥२८॥

त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ॥२९॥

वहाँ तीन रात निवास करनेवाला पुरुष सहस्र गोदान-का फल प्राप्त करता है । नरेश्वर ! ब्राह्मणोंकी पहचानके लिये वहाँ प्रत्यक्ष उदाहरण है ॥ २९ ॥

गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा ।
गाथा च गाथिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप ॥३०॥

राजन् ! जो वर्णसंकर योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह यदि गायत्रीमन्त्रका पाठ करता है, तो उसके मुखसे वह गाथा या गीतकी तरह स्वर और वर्णोंके नियमसे रहित होकर निकलती है अर्थात् वह गायत्रीका उच्चारण ठीक नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति ।

जो सर्वथा ब्राह्मण नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि वहाँ गायत्रीमन्त्रका पाठ करे तो वहाँ वह मन्त्र लुप्त हो जाता है अर्थात् उसे भूल जाता है ॥ ३०½ ॥

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ॥३१॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजापते ।

राजन् ! वहाँ ब्रह्मर्षि संवर्तकी दुर्लभ बावली है। उसमें स्नान करके मनुष्य सुन्दर रूपका भागी और सौभाग्यशाली होता है।३१½।

ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥३२॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ।

तदनन्तर वेणा नदीके तटपर जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य (मृत्युके पश्चात्) मोर और हंसोंसे जुता हुआ विमानको प्राप्त करता है ॥ ३२½ ॥

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ॥३३॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम् ।
वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥३४॥

तत्पश्चात् सदा सिद्ध पुरुषोंसे सेवित गोदावरीके तटपर जाकर स्नान करनेसे तीर्थयात्री गोमेधयज्ञका फल पाता और वासुकिके लोकमें जाता है। वेणासंगममें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधके फलका भागी होता है ॥ ३३-३४ ॥

वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥३५॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकं च गच्छति ।

वरदासंगमतीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। ब्रह्मस्थानमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है।

कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥३६॥
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

कुशप्लवनतीर्थमें जाकर स्नान करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात निवास करनेवाला पुरुष अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ३६½ ॥

ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ॥३७॥
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ।

तदनन्तर कृष्णवेणाके जलसे उत्पन्न हुए रमणीय देवकुण्डमें, जिसे जातिस्मर ह्रद कहते हैं, स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य जातिस्मर (पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति-वाला) होता है ॥ ३७½ ॥

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ॥३८॥
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद् गमनादेव भारत ।
सर्वदेवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥३९॥

वहीं सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवराज इन्द्र स्वर्गके सिंहासनपर आसीन हुए थे। भरतनन्दन ! वहाँ जानेमात्रसे यात्री अग्निष्टोमयज्ञका फल पा लेता है। तत्पश्चात् सर्वदेवह्रदमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ३८-३९ ॥

ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम् ।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥४०॥

तदनन्तर परम पुण्यमयी वापी और सरिताओंमें श्रेष्ठ पयोष्णीमें जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंके

पूजनमें तत्पर रहे, ऐसा करनेसे तीर्थसेवीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ४० ॥

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत्।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ॥ ४१ ॥

राजन्! भरतनन्दन! जो दण्डकारण्यमें जाकर स्नान करता है, उसे स्नान करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ४२ ॥

शरभङ्ग मुनि तथा महात्मा शुकके आश्रमपर जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ॥ ४२ ॥

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम्।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद् बहुसुवर्णकम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर परशुरामसेवित शूर्पारकतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४४ ॥

सप्तगोदावरतीर्थमें स्नान करके नियम-पालनपूर्वक नियमित भोजन करनेवाला पुरुष महान् पुण्यलाभ करता और देवलोकमें जाता है ॥ ४४ ॥

ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः।
देवसत्रस्य यत् पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् नियमपालनके साथ-साथ नियमित आहार ग्रहण करनेवाला मानव देवपथमें जाकर देवसत्रका जो पुण्य है, उसे पा लेता है ॥ ४५ ॥

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
वेदानध्यापयत् तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४६ ॥

तुङ्गकारण्यमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे। प्राचीन कालमें वहाँ सारस्वत ऋषिने अन्य ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया था ॥ ४६ ॥

तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ॥ ४७ ॥

एक समय उन ऋषियोंको सारा वेद भूल गया। इस प्रकार वेदोंके नष्ट होने (भूल जाने) पर अङ्गिरा मुनिका पुत्र ऋषियोंके उत्तरीय वस्त्रों (चादरों) में छिपकर सुखपूर्वक बैठ गया (और विधिपूर्वक ॐकारका उच्चारण करने लगा)॥

ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह।
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत् सर्वं समुपस्थितम् ॥ ४८ ॥

नियमके अनुसार ॐकारका ठीक-ठीक उच्चारण होनेपर, जिसने पूर्वकालमें जिस वेदका अध्ययन एवं अभ्यास किया था, उसे वह सब स्मरण हो आया ॥ ४८ ॥

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ बहुतसे ऋषि, देवता, वरुण, अग्नि, प्रजापति, भगवान् नारायण और महादेवजी भी उपस्थित हुए॥

पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ५० ॥

महातेजस्वी भगवान् ब्रह्माने देवताओंके साथ जाकर परम कान्तिमान् भृगुको यज्ञ करानेके कामपर नियुक्त किया ॥

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत् तदा।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर भगवान् भृगुने वहाँ सब ऋषियोंके यहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार पुनः भलीभाँति अग्निस्थापन कराया। उस समय आज्यभागके द्वारा विधिपूर्वक अग्निको तृप्त करके सब देवता और ऋषि क्रमशः अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ५१-५२ ॥

तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ! उस तुङ्गकारण्यमें प्रवेश करते ही स्त्री या पुरुष सबके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र मासं वसेद् धीरो नियतो नियताशनः।
ब्रह्मलोकं व्रजेद् राजन् कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५४ ॥

धीर पुरुषको चाहिये कि वह नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए एक मासतक वहाँ रहे। राजन्! ऐसा करनेवाला तीर्थयात्री ब्रह्मलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ ५४ ॥

मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् मेधाविकतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे; ऐसा करनेवाला पुरुष अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्मृति एवं बुद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम्।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥

इस तीर्थमें कालञ्जर नामक लोकविख्यात पर्वत है, वहाँ देवह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

यो स्नातः साधयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५७ ॥

राजन् ! जो कालञ्जर पर्वतपर स्नान करके वहाँ साधन करता है, वह मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ५७ ॥

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ५८ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! तदनन्तर पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूटमें सब पापोंका नाश करनेवाली मन्दाकिनीके तटपर पहुँचकर उसमें स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय । इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
यत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृप ॥ ६० ॥
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ।

धर्मज्ञनरेश ! तत्पश्चात् तीर्थयात्री परम उत्तम भर्तृस्थानकी यात्रा करे, जहाँ महासेन कार्तिकेयजी निवास करते हैं। नृपश्रेष्ठ ! वहाँ जानेमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है ॥६०½ ॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ६२ ॥

कोटि-तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है । उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मानव ज्येष्ठस्थानको जाय । वहाँ महादेवजीका दर्शन-पूजन करनेसे वह चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ ६१-६२ ॥

तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर ! वहाँ एक कूप है, जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं ॥ ६३ ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६४ ॥

राजेन्द्र ! उसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाला जितात्मा पुरुष पवित्र हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६५ ॥

राजेन्द्र ! वहाँसे महान् शृङ्गवेरपुरकी यात्रा करे । महाराज ! पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने वहीं गङ्गा पार की थी ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ६६ ॥
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।

महाबाहो ! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्र हो गङ्गाजीमें स्नान करके मनुष्य पापरहित होता तथा वाजपेययज्ञका फल पाता है ॥ ६६½ ॥

ततो मुञ्जवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः ॥ ६७ ॥
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६८ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।

तदनन्तर तीर्थयात्री परम बुद्धिमान् महादेवजीके मुञ्जवट नामक तीर्थको जाय । भरतनन्दन ! उस तीर्थमें महादेवजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके परिक्रमा करनेसे मनुष्य गणपतिपद प्राप्त कर लेता है । उक्त तीर्थमें जाकर गङ्गामें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६७-६८½ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥ ६९ ॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसम्मताः ॥ ७० ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७१ ॥
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ ७२ ॥
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ॥ ७३ ॥
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ७४ ॥
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ॥ ७५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् महर्षियोंद्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थमें जाय । जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकसम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं । वहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं, जिनके बीचसे सब तीर्थोंसे सम्पन्न गङ्गा वेगपूर्वक बहती है । त्रिभुवनविख्यात सूर्यपुत्री लोकपावनी यमुनादेवी वहाँ गङ्गाजीके साथ मिली हैं । गङ्गा और यमुनाका मध्यभाग पृथ्वीका जघन माना गया है ॥ ६९–७५ ॥

प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ॥ ७६ ॥

तीर्थं भोगवतो चैव वेदिरेषा प्रजापतेः।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ॥ ७७ ॥
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ॥ ७८ ॥
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ॥ ७९ ॥
गमनात् तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ८० ॥

ऋषियोंने प्रयागको जघनस्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवतीतीर्थ यह ब्रह्माजीकी वेदी है। युधिष्ठिर! उस तीर्थमें वेद और यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं और प्रजापतिकी उपासना करते हैं। तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहाँ यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं। भरतनन्दन! इसीलिये तीनों लोकोंमें प्रयागको सब तीर्थोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं। उस तीर्थमें जानेसे अथवा उसका नाम लेनेमात्रसे भी मनुष्य मृत्युकालके भय और पापसे मुक्त हो जाता है॥ ७६—८०॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८१ ॥

वहाँके विश्वविख्यात संगममें जो स्नान करता है, वह राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका पुण्यफल प्राप्त कर लेता है॥

एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद् भवति भारत ॥ ८२ ॥

भरतनन्दन! यह देवताओंकी संस्कार की हुई यज्ञभूमि है। यहाँ दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् होता है॥

न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ८३ ॥

तात! तुम्हें किसी वैदिक वचनसे या लौकिक वचनसे भी प्रयागमें मरनेका विचार नहीं त्यागना चाहिये॥ ८३॥

दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ८४ ॥
चतुर्विधे च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत्।
स्नान एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसंगमे ॥ ८५ ॥

कुरुनन्दन! साठ करोड़ दस हजार तीर्थोंका निवास केवल इस प्रयागमें ही बताया गया है। चारों विद्याओंके ज्ञानसे जो पुण्य होता है तथा सत्य बोलनेवाले व्यक्तियोंको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वह सब गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है॥ ८४-८५॥

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८६ ॥

प्रयागमें भोगवती नामसे प्रसिद्ध वासुकि नागका उत्तम तीर्थ है। जो वहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है॥ ८६॥

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८७ ॥

कुरुनन्दन! वहीं त्रिलोकविख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है और गङ्गाके तटपर दशाश्वमेधिक तीर्थ है॥ ८७॥

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥ ८८ ॥

गङ्गामें जहाँ कहीं भी स्नान किया जाय, वह कुरुक्षेत्रके समान पुण्यदायिनी है। कनखलमें गङ्गाका स्नान विशेष माहात्म्य रखता है और प्रयागमें गङ्गा-स्नानका माहात्म्य सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है॥ ८८॥

यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम्।
सर्वं तत् तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ८९ ॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम्।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ॥ ९० ॥
पुष्करे तु तपस्तप्येद् दानं दद्यान्महालये।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ॥ ९१ ॥

जैसे अग्नि ईंधनको जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गङ्गा-स्नान किया जाय तो उसका जल उन सब पापोंको भस्म कर देता है। सत्ययुगमें सभी तीर्थ पुण्यदायक होते हैं। त्रेतामें पुष्करका महत्त्व है। द्वापरमें कुरुक्षेत्र विशेष पुण्यदायक है और कलियुगमें गङ्गाकी अधिक महिमा बतायी गयी है। पुष्करमें तप करे, महालयमें दान दे, मलय पर्वतमें अग्निपर आरूढ हो और भृगुतुङ्गमें उपवास करे॥ ८९—९१॥

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ॥ ९२ ॥

पुष्करमें, कुरुक्षेत्रमें, गङ्गामें तथा प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है॥ ९२॥

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥ ९३ ॥

गङ्गाजीका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है। दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है॥ ९३॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ॥ ९४ ॥

राजन्! मनुष्यकी हड्डी जबतक गङ्गाजलका स्पर्श करती है, तबतक वह पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ ९४ ॥

यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ ९५ ॥

जितने पुण्य-तीर्थ हैं और जितने पुण्य मन्दिर हैं, उन सबकी उपासना (सेवन) से पुण्यलाभ करके मनुष्य देवलोकका भागी होता है ॥ ९५ ॥

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥ ९६ ॥

गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है; ऐसा ब्रह्माजीका कथन है ॥ ९६ ॥

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत् तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ९७ ॥

महाराज! जहाँ गङ्गा बहती हैं, वही उत्तम देश है और वही तपोवन है। गङ्गाके तटवर्ती स्थानको सिद्धिक्षेत्र समझना चाहिये ॥ ९७ ॥

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ९८ ॥

इस सत्य सिद्धान्तको ब्राह्मण आदि द्विजों, साधु पुरुषों, पुत्र, सुहृदों, शिष्यवर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्योंके कानमें कहना चाहिये ॥ ९८ ॥

इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ॥ ९९ ॥

यह गङ्गा-माहात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्गप्रद और परम उत्तम है। यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उत्तम, धर्मसंगत और श्रेष्ठ है ॥ ९९ ॥

महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ १०० ॥

यह महर्षियोंका गोपनीय रहस्य है। सब पापोंका नाश करनेवाला है। द्विजमण्डलीमें इस गङ्गा-माहात्म्यका पाठ करके मनुष्य निर्मल हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाता है ॥ १०० ॥

श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ॥ १०१ ॥

यह तीर्थसमूहोंकी महिमाका वर्णन परम उत्तम, सम्पत्तिदायक, स्वर्गप्रद, पुण्यकारक, शत्रुओंका निवारण करनेवाला, कल्याणकारक तथा मेधाशक्तिको उत्पन्न करनेवाला है ॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ॥ १०२ ॥

इस तीर्थ-माहात्म्यका पाठ करनेसे पुत्रहीनको पुत्र प्राप्त होता है, धनहीनको धन मिलता है, राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है और वैश्यको व्यापारमें धन मिलता है ॥

शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन् ।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ॥ १०३ ॥
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ॥ १०४ ॥

शूद्र मनोवाञ्छित वस्तुएँ पाता है और ब्राह्मण इसका पाठ करे तो वह समस्त शास्त्रोंका पारंगत विद्वान् होता है। जो मनुष्य तीर्थोंके इस पुण्य माहात्म्यको प्रतिदिन सुनता है, वह पवित्र हो पहलेके अनेक जन्मोंकी बातें याद कर लेता है और देहत्यागके पश्चात् स्वर्गलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। भीष्म! मैंने यहाँ गम्य और अगम्य सभी प्रकारके तीर्थोंका वर्णन किया है ॥ १०३-१०४ ॥

मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥ १०५ ॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ॥ १०६ ॥
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ॥ १०७ ॥
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ।
नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ॥ १०८ ॥
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ॥ १०९ ॥
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ॥ ११० ॥
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ॥ १११ ॥

सम्पूर्ण तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जहाँ जाना सम्भव न हो, उन अगम्य तीर्थोंमें मनसे यात्रा करे अर्थात् मनसे उन तीर्थोंका चिन्तन करे। वसुगण, साध्यगण, आदित्यगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार तथा देवोपम महर्षियोंने भी पुण्य-लाभकी इच्छासे उन तीर्थोंमें स्नान किया है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुनन्दन! इसी प्रकार तुम भी विधिपूर्वक शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते और पुण्यसे पुण्यको बढ़ाते हुए उन तीर्थोंकी यात्रा करो। आस्तिकता और वेदोंके अनुशीलनसे पहले अपनी इन्द्रियोंको पवित्र करके शास्त्रज्ञ साधु पुरुष ही उन तीर्थोंको प्राप्त करते हैं। कुरुनन्दन! जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन नहीं करता, जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया, जो अपवित्र आचार-विचारवाला और चोर है, जिसकी बुद्धि वक्र है, ऐसा मनुष्य श्रद्धा न होनेके कारण तीर्थोंमें स्नान नहीं

करता। तुम धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा नित्य सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हो। धर्मज्ञ! तुमने पिता-पितामह-प्रपितामह, ब्रह्मा आदि देवता तथा महर्षिगण इन सबको सदा स्वधर्म-पालनसे संतुष्ट किया है, अतः इन्द्रके समान तेजस्वी नरेश! तुम वसुओंके लोकमें जाओगे। भीष्म! तुम्हें इस पृथ्वीपर विशाल एवं अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी॥ १०५-१११॥

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत॥११२॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भीष्मजीकी अनुमति ले संतुष्ट हुए भगवान् पुलस्त्य मुनि प्रसन्न मनसे वहीं अन्तर्धान हो गये॥ ११२॥

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान्।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे॥११३॥

कुरुश्रेष्ठ! शास्त्रके तात्त्विक अर्थको जाननेवाले भीष्मने महर्षि पुलस्त्यके वचनसे (तीर्थयात्राके लिये) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की॥ ११३॥

एवमेषा महाभाग प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी॥११४॥

महाभाग! इस प्रकार यह सब पापोंको दूर करनेवाली महापुण्यमयी तीर्थयात्रा प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) में प्रतिष्ठित है॥ ११४॥

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति।
अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति॥११५॥

जो इस विधिसे (तीर्थयात्राके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करेगा, वह सौ अश्वमेधयज्ञोंसे भी उत्तम पुण्य-फल पाकर देहत्यागके पश्चात् उसका उपभोग करेगा॥११५॥

ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम्।
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान्॥११६॥

कुन्तीनन्दन! कुरुप्रवर भीष्मने पहले जिस प्रकार तीर्थयात्राजनित पुण्य प्राप्त किया था, उससे भी आठगुने उत्तम धर्मकी उपलब्धि तुम्हें होगी॥ ११६॥

नेता च त्वमृषीन् यस्मात् तेन तेऽष्टगुणं फलम्।
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन॥११७॥

तुम अपने साथ इन सब ऋषियोंको ले जाओगे, इसीलिये तुम्हें आठगुना पुण्यफल प्राप्त होगा। भरतकुल-भूषण कुरुनन्दन! इन सभी तीर्थोंमें राक्षसोंके समुदाय फैले हुए हैं। तुम्हारे सिवा, दूसरे नरेशोंने वहाँकी यात्रा नहीं की है॥ ११७॥

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम्।
यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते॥११८॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर देवर्षि पुलस्त्यद्वारा वर्णित सम्पूर्ण तीर्थोंके माहात्म्यसे संयुक्त इस प्रसङ्गका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ११८॥

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः।
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः॥११९॥
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा॥१२०॥
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः॥१२१॥
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज॥१२२॥

महाराज! ऋषिप्रवर वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक तथा पुत्रसहित तपोधनप्रवर व्यास, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी जाबालि—ये सभी महर्षि, जो तपस्याके धनी हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन सबके साथ उक्त तीर्थोंमें जाओ॥ ११९-१२२॥

एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज॥१२३॥

महाराज! ये अमिततेजस्वी महर्षि लोमश तुम्हारे पास आनेवाले हैं, उन्हें साथ लेकर यात्रा करो॥ १२३॥

मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात्।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः॥१२४॥

धर्मज्ञ! इस यात्रामें मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा। प्राचीन राजा महाभिषके समान तुम भी क्रमशः इन तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए महान् यश प्राप्त करोगे॥ १२४॥

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे॥१२५॥
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव॥१२६॥

नृपश्रेष्ठ! जैसे धर्मात्मा ययाति तथा राजा पुरूरवा थे वैसे ही तुम भी अपने धर्मसे सुशोभित हो रहे हो। जैसे राजा भगीरथ तथा विख्यात महाराज श्रीराम हो गये हैं, उसी प्रकार तुम भी सूर्यकी भाँति सब राजाओंसे अधिक शोभा पा रहे हो॥ १२५-१२६॥

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः॥१२७॥
यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान् निर्दहन् पुरा।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः॥१२८॥

तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ॥१२९॥
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ॥१३०॥

महाराज ! जैसे मनु, जैसे इक्ष्वाकु, जैसे महायशस्वी पूरु और जैसे वेननन्दन पृथु हो गये हैं, वैसी ही तुम्हारी भी ख्याति है । पूर्वकालमें वृत्रासुरविनाशक देवराज इन्द्रने जैसे सब शत्रुओंका संहार करते हुए निश्चिन्त होकर तीनों लोकोंका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंका नाश करके प्रजाका पालन करोगे । कमलनयन नरेश ! तुम अपने धर्मसे जीती हुई पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त करके स्वधर्मपालनद्वारा कार्तवीर्य अर्जुनके समान विख्यात होओगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत ॥१३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— महाराज जनमेजय ! देवर्षि नारद इस प्रकार राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर उनकी आज्ञा ले वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १३१ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥१३२॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी इसी विषयका चिन्तन करते हुए अपने पास रहनेवाले महर्षियोंसे तीर्थयात्रासम्बन्धी महान् पुण्यके विषयमें निवेदन किया ॥ १३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें महर्षि पुलस्त्यकी तीर्थयात्राके सम्बन्धमें नारदवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धौम्य मुनिसे पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदिके विषयमें पूछना

वैशम्पायन उवाच

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने भाइयों तथा परम बुद्धिमान् देवर्षि नारदकी सम्मति जानकर राजा युधिष्ठिरने पितामहके समान प्रभावशाली पुरोहित धौम्यजीसे कहा—॥१॥

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने अस्त्रप्राप्तिके लिये विजयी सत्यपराक्रमी, महामना एवं प्रतापी पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनको निर्वासित कर रखा है॥

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥

'वह वीर मुझमें अनुराग रखनेवाला, सामर्थ्यशाली, तपस्याका धनी, पुण्यात्मा और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान्॥ ४ ॥

'विप्रवर ! मैं इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंको शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ और महापराक्रमी समझता हूँ । महाप्रतापी वेदव्यासजीकी भी यही धारणा है ॥ ४ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनंजयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम ॥ ५ ॥

'कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन तीन युगोंसे सदा साथ रहते आये हैं । नारदजी भी इन दोनोंको इसी रूपमें जानते हैं और सदा मुझसे इस बातकी चर्चा करते रहते हैं ॥ ५ ॥

तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥ ६ ॥
इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥ ८ ॥

'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन सुप्रसिद्ध नर-नारायण ऋषि हैं । अर्जुनको शक्तिशाली समझकर ही मैंने उसे दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये भेजा है । देवपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं हैं । यह जानकर ही मैंने उसे देवराज इन्द्रका दर्शन करने और उनसे दिव्यास्त्रोंको प्राप्त करनेके लिये भेजा है । भीष्म और द्रोण अतिरथी वीर हैं । कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाको भी जीतना कठिन है । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने इन सभी महारथियोंको युद्धके लिये वरण कर लिया है ॥ ६–८ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ।
स च दिव्यास्त्रवित् कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ ९ ॥

'वे सब-के-सब वेदज्ञ, शूरवीर, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता,

महाबली और सदा अर्जुनके साथ युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। वह सूतपुत्र महारथी कर्ण भी दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है ॥ ९ ॥

योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः।
रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ १० ॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान्।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ ११ ॥

'कालने उसे प्रलयकालीन संवर्तक नामक महान् अग्निके समान उत्पन्न किया है। अस्त्रोंका वेग ही उसका वायुतुल्य बल है। बाण ही उसकी ज्वाला है। हथेलीसे होनेवाली आवाज़ ही उस दाहक अग्निका शब्द है। युद्धमें उठनेवाली धूल ही उस कर्णरूपी अग्निका धूम है। अस्त्रोंकी वर्षा ही उसकी लपटोंका लगना है। धृतराष्ट्रपुत्ररूपी वायुका सहारा पाकर वह और भी उद्धत एवं प्रज्वलित हो उठा है। इसमें संदेह नहीं कि वह मेरी सेनाको सूखे तिनकोंकी राशिके समान भस्म कर डालेगा ॥ १०-११ ॥

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान्।
श्वेतवाजिबलाकाभृद् गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ॥ १२ ॥
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम्।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ॥ १३ ॥
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरंजयः।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ॥ १४ ॥

'उस आगको युद्धमें अर्जुननामक महामेघ ही बुझा सकेगा। श्रीकृष्णरूपी वायुका सहारा पाकर ही वह मेघ उठेगा। दिव्यास्त्रोंका प्रकाश ही उसमें बिजलीकी चमक होगी। रथके श्वेत घोड़े ही उसके निकट उड़नेवाली बकपंक्तियोंकी भाँति सुशोभित होंगे। गाण्डीव धनुष ही इन्द्रधनुषके समान दुःसह दृश्य उपस्थित करनेवाला होगा। वह क्रोधमें भरकर बाणरूपी जलकी धारासे कर्णरूपी प्रज्वलित अग्निको निश्चय ही शान्त कर देगा। शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाला अर्जुन साक्षात् इन्द्रसे सारे दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा ॥

अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १५ ॥

'धृतराष्ट्र-पक्षके उक्त सभी महारथियोंको जीतनेके लिये वह अकेला ही पर्याप्त होगा; ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अन्यथा अत्यन्त कृतार्थताका अनुभव करनेवाले शत्रुओंको दबानेका और कोई उपाय नहीं है ॥ १५ ॥

ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिंदमम्।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १६ ॥

'अतः हम शत्रुहन्ता पाण्डुनन्दन अर्जुनको अवश्य ही सब दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके आया हुआ देखेंगे; क्योंकि वह वीर किसी कार्य-भारको उठाकर उसे पूर्ण किये बिना कभी श्रान्त नहीं होता ॥ १६ ॥

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १७ ॥

'नरश्रेष्ठ! इस काम्यकवनमें वीर अर्जुनके बिना द्रौपदी-सहित हम सब पाण्डवोंका मन बिल्कुल नहीं लग रहा है ॥

भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १८ ॥

'इसलिये आप हमें किसी ऐसे रमणीय वनका पता बतायें जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फलसे सम्पन्न तथा पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित हो ॥ १८ ॥

यत्र कंचिद् वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम्।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम् ॥ १९ ॥

जहाँ हमलोग कुछ काल रहकर सत्यपराक्रमी वीर अर्जुनके आगमनकी उसी प्रकार प्रतीक्षा करें जैसे वृष्टिकी इच्छा रखनेवाले किसान बादलोंकी राह देखते हैं ॥ १९ ॥

विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान्।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ २० ॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम्।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥

'ब्रह्मन्! आप दूसरे ब्राह्मणोंसे सुने हुए नाना प्रकारके कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतोंका पता बताइये। अर्जुनके बिना अब काम्यकवनमें रहना हमें अच्छा नहीं लगता; इसलिये अब दूसरी दिशाको चलेंगे' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यकी तीर्थयात्राविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पूर्वदिशाके तीर्थोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंका

चित्त अर्जुनके लिये अत्यन्त दीन हो रहा था। वे सब-के-सब उनसे मिलनेको उत्सुक थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर बृहस्पतिके समान तेजस्वी महर्षि धौम्यने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'पापरहित भरतकुलभूषण! ब्राह्मणलोग जिन्हें आदर देते हैं, उन पुण्य आश्रमों, दिशाओं, तीर्थों और पर्वतोंका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १-२ ॥

याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥ ३ ॥

'नरेश्वर! राजन्! मेरे मुखसे उन सबका वर्णन सुनकर तुम द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ शोकरहित हो जाओगे ॥ ३ ॥

श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! उनका श्रवण करनेमात्रसे तुम्हें उनके सेवनका पुण्य प्राप्त होगा और वहाँ जानेसे सौगुने पुण्यकी प्राप्ति होगी ॥ ४ ॥

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन् राजर्षिगणसेविताम्।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ५ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! मैं अपनी स्मरणशक्तिके अनुसार सबसे पहले राजर्षिगणोंद्वारा सेवित रमणीय प्राची दिशाका वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन! देवर्षिसेवित प्राची दिशामें नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओंके अलग-अलग पुण्यतीर्थ हैं ॥ ६ ॥

यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ७ ॥

जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओंकी यज्ञभूमि और सूर्यका यज्ञपात्र विद्यमान है ॥

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ८ ॥

'प्राची दिशामें ही पुण्य पर्वतश्रेष्ठ गय है, जो राजर्षि गयके द्वारा सम्मानित हुआ है। वहाँ कल्याणमय ब्रह्मसरोवर है, जिसका देवर्षिगण सेवन करते हैं ॥ ८ ॥

यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ९ ॥
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान् दशावरान् ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह! उस गयाके विषयमें ही प्राचीनलोग यह कहा करते हैं कि 'बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये; सम्भव है, उनमेंसे एक भी गया जाय या अश्वमेध-यज्ञ करे अथवा नीलवृषका* उत्सर्ग करे। ऐसा पुरुष अपनी संततिद्वारा दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है' ॥

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥ ११ ॥

'राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्ष तीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणोंने अक्षयवटकी स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते ॥ ११ ॥

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुर्नाम महानदी ॥ १२ ॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद् यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥ १३ ॥

'प्रभो! वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। भरतश्रेष्ठ! वहीं फल्गु नामवाली पुण्यसलिला महानदी है और वहीं बहुत-से फल-मूलोंवाली कौशिकी नदी प्रवाहित होती है जहाँ तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥ १२-१३ ॥

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत् तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १४ ॥

'पूर्वदिशामें ही पुण्यनदी गङ्गा बहती है, जिसके तटपर राजा भगीरथने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १४ ॥

पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद् यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥ १५ ॥

'कुरुनन्दन! पञ्चालदेशमें ऋषिलोग उत्पलावन बतलाते हैं, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने अपने पुत्रके साथ यज्ञ किया था ॥ १५ ॥

यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥ १६ ॥

'उसी यज्ञमें विश्वामित्रका अलौकिक वैभव देखकर जमदग्निनन्दन परशुरामने उनके वंशके अनुरूप यशका वर्णन किया था ॥ १६ ॥

कान्यकुब्जेऽपिबत् सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ १७ ॥

'विश्वामित्रजीने कान्यकुब्जदेशमें इन्द्रके साथ सोमपान किया; वहीं वे क्षत्रियत्वसे ऊपर उठ गये और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बात घोषित कर दी ॥ १७ ॥

---

* लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥

जिसका रंग तो लाल हो पर पूछका अग्रभाग सफेद हो एवं खुर और सींग भी सफेद हों, वह नील वृष कहा जाता है।

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम्॥ १८॥

'वीरवर! गङ्गा और यमुनाका परम उत्तम पुण्यमय पवित्र संगम सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात है और बड़े-बड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं॥ १८॥

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम॥ १९॥

'जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही यज्ञ किया था। भरतकुलभूषण! ब्रह्माजीके उस प्रकृष्टयागसे ही उस स्थानका नाम 'प्रयाग' हो गया॥ १९॥

अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप।
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम्॥ २०॥

'राजेन्द्र! वहाँ महर्षि अगस्त्यका श्रेष्ठ आश्रम है। इसी प्रकार तापसारण्य तपस्वीजनोंसे सुशोभित है॥ २०॥

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान्।
आगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः॥ २१॥

'कालञ्जर पर्वतपर हिरण्यबिन्दु नामसे प्रसिद्ध महान् तीर्थ बताया गया है। आगस्त्यपर्वत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याणस्वरूप है॥ २१॥

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः।
अयजत् तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः॥ २२॥

'कुरुनन्दन! महात्मा भार्गवका निवासस्थान महेन्द्रपर्वत है। कुन्तीनन्दन! वहाँ ब्रह्माजीने पूर्वकालमें यज्ञ किया था॥

यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद् युधिष्ठिर।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते॥ २३॥
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम्।

'युधिष्ठिर! जहाँ पुण्यसलिला भागीरथी गङ्गा सरोवरमें स्थित थी। महाराज! जहाँपर उन्हें 'ब्रह्मशाला' यह पवित्र नाम दिया गया है, वह पुण्यतीर्थ निष्पाप मनुष्योंसे व्याप्त है। उसका दर्शन पुण्यमय बताया गया है॥ २३½॥

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः॥ २४॥
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः॥ २५॥
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान्।

'वहीं महात्मा मतंगऋषिका महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है। वह परम पवित्र, मङ्गलकारी और लोकमें विख्यात है। कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत बहुत फल-मूल और जलसे सम्पन्न है, जहाँ प्यासे हुए निषधनरेशको जल और शान्तिकी उपलब्धि हुई थी॥ २४-२५½॥

यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम्॥ २६॥
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि।

'वहीं तपस्वीजनोंसे सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्यक्षेत्र है, जहाँ पर्वतके शिखरपर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं॥ २६½॥

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च॥ २७॥
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव।
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च॥ २८॥

'महाराज! पूर्वदिशामें जो बहुत-से तीर्थ, नदियाँ, पर्वत और पुण्यमन्दिर आदि हैं, उनका मैंने तुमसे (संक्षेपमें) वर्णन किया है। अब शेष तीन दिशाओंके सरिताओं, पर्वतों और पुण्यस्थानोंका वर्णन करता हूँ, सुनो'॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

धौम्यमुनिके द्वारा दक्षिणदिशावर्ती तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै॥ १॥

धौम्यजी कहते हैं—भरतवंशी युधिष्ठिर! अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार दक्षिणदिशावर्ती पुण्यतीर्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, सुनो॥ १॥

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा॥ २॥

दक्षिणमें पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है, जिसके तटपर अनेक बगीचे सुशोभित हैं। उसके भीतर अगाध जल भरा हुआ है। बहुत-से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिये कल्याणस्वरूपा है॥ २॥

वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते॥ ३॥

वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिणमें ही हैं, जो समस्त पापभयका नाश करनेवाली हैं। उसके दोनों तट

अनेक प्रकारके पशु-पक्षियोंसे व्याप्त और तपस्वीजनोंके आश्रमोंसे विभूषित हैं ॥ ३ ॥

राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥

भरतकुलभूषण ! राजा नृगकी नदी पयोष्णी भी उधर ही है, जो रमणीय तीर्थों और अगाध जलसे सुशोभित है। द्विज उसका सेवन करते हैं ॥ ४ ॥

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम्।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम्।
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ॥ ७ ॥

इस विषयमें हमारे सुननेमें आया है कि महायोगी एवं महायशस्वी मार्कण्डेयने यजमान राजा नृगके सामने उनके वंशके योग्य यशोगाथाका वर्णन इस प्रकार किया था--'पयोष्णीके तटपर उत्तम वाराहतीर्थमें यज्ञ करनेवाले राजा नृगके यज्ञमें इन्द्र सोमपान करके मस्त हो गये थे और प्रचुर दक्षिणा पाकर ब्राह्मणलोग भी हर्षोल्लाससे पूर्ण हो गये थे।' पयोष्णीका जल हाथसे उठाया गया हो या धरतीपर पड़ा हो अथवा वायुके वेगसे उछलकर अपने ऊपर पड़ गया हो, वह जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त किये हुए समस्त पापोंको हर लेता है ॥ ५–७ ॥

स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ॥ ८ ॥

जहाँ भगवान् शङ्करका स्वयं ही अपने लिये बनाया हुआ श्रृंगनामक वाद्यविशेष स्वर्गसे भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाममें चला जाता है ॥ ८ ॥

एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ॥ ९ ॥

एक ओर अगाध जलराशिसे भरी हुई गङ्गा आदि सम्पूर्ण नदियाँ हों और दूसरी ओर केवल पुण्यसलिला पयोष्णी नदी हो तो वही अन्य सब नदियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; ऐसा मेरा विचार है ॥ ९ ॥

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम्।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! दक्षिणमें पवित्र माठर-वन है, जो प्रचुर फल-मूलसे सम्पन्न और कल्याणस्वरूप है। वहाँ वरुणस्रोतस नामक पर्वतपर माठर (सूर्यके पार्श्ववर्ती देवता) का विजय-स्तम्भ सुशोभित होता है ॥ १० ॥

प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ ११ ॥

यह स्तम्भ प्रवेणी-नदीके उत्तरवर्ती मार्गमें कण्वके पुण्यमय आश्रममें है। इस प्रकार जैसा कि मैंने सुन रखा था, तपस्वी महात्माओंके निवास योग्य वनोंका वर्णन किया है ॥ ११ ॥

वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ॥ १२ ॥

तात ! शूर्पारकक्षेत्रमें महात्मा जमदग्निकी वेदी है। भारत ! वहीं रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ-विशेष हैं ॥ १२ ॥

अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम्।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसी क्षेत्रमें अशोकतीर्थ है, जहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं। युधिष्ठिर ! पाण्ड्यदेशमें अगस्त्यतीर्थ और वारुणतीर्थ है। नरश्रेष्ठ ! पाण्ड्यदेशके भीतर पवित्र कुमारी कन्याएँ (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गयी हैं। कुन्तीकुमार ! अब मैं तुमसे ताम्रपर्णी नदीकी महिमाका वर्णन करूँगा, सुनो १३-१४

यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ मोक्ष पानेकी इच्छासे देवताओंने आश्रममें रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँका गोकर्ण-तीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ १५ ॥

शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥

तात ! गोकर्णतीर्थमें शीतल जल भरा रहता है। उसकी जलराशि अनन्त है। वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये गोकर्णतीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १६ ॥

तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान्।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः॥ १७ ॥

वहाँ अगस्त्यके शिष्यका पुण्यमय आश्रम है, जो वृक्षों और तृण आदिसे सम्पन्न एवं फल-मूलोंसे परिपूर्ण है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है ॥ १७ ॥

वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १८ ॥

वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्यपर्वत है, जो शिवस्वरूप है। उसीपर महर्षि अगस्त्यका आश्रम है, जो प्रचुर फल-मूल और जलसे सम्पन्न है ॥ १८ ॥

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च।
आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! अब मैं सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) देशीय पुण्यस्थानों, मन्दिरों, आश्रमों, सरिताओं और सरोवरोंका वर्णन करता हूँ ॥

चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ २० ॥

विप्रगण ! वहीं चमसोद्भेदतीर्थकी चर्चा की जाती है। युधिष्ठिर ! सुराष्ट्रमें ही समुद्रके तटपर प्रभासक्षेत्र है, जो देवताओंका तीर्थ कहा गया है ॥ २० ॥

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम्।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ २१ ॥

वहीं पिण्डारक नामक तीर्थ है, जो तपस्वी जनोंद्वारा सेवित और कल्याणस्वरूप है। उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत है, जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है ॥ २१ ॥

तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! उसके विषयमें देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीके द्वारा कहा हुआ एक प्राचीन श्लोक सुना जाता है, उसको मुझसे सुनो ॥ २२ ॥

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २३ ॥

सुराष्ट्र देशमें मृगों और पक्षियोंसे सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वतपर तपस्या करनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २३ ॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥

उज्जयन्तके ही आस-पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं। वे ही सनातन धर्मस्वरूप हैं ॥ २४ ॥

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २५ ॥

जो वेदवेत्ता और अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्णको ही सनातन धर्मरूप बताते हैं ॥ २५ ॥

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥ २६ ॥
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २७ ॥

भगवान् गोविन्द पवित्रोंको भी पावन करनेवाले परमपवित्र कहे जाते हैं। वे पुण्योंके भी पुण्य और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं। कमलनयन देवाधिदेव सनातन श्रीहरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा (क्षरपुरुष), क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन वहीं द्वारकापुरीमें विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पश्चिम दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥

धौम्यजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अब मैं पश्चिम दिशाके आनर्तदेशमें जो-जो पवित्र तीर्थ और पुण्यस्वरूप देवालय हैं, उन सबका वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

प्रियङ्ग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! पश्चिम दिशामें पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है, जिसकी धारा पूर्वसे पश्चिमकी ओर है। उसके तटपर प्रियङ्गु और आमके वृक्षोंका वन है। बेंत तथा फलवाले वृक्षोंकी श्रेणियाँ भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ २ ॥

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः ॥ ३ ॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन कुरुश्रेष्ठ ! त्रिलोकीमें जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओंके समूह हैं, वे सब सदा नर्मदाके जलमें स्नान करनेके लिये आया करते हैं ॥ ३-४ ॥

निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ५ ॥

वहीं मुनिवर विश्रवाका पवित्र आश्रम सुना जाता है, जहाँ नरवाहन धनाध्यक्ष कुबेरका जन्म हुआ था ॥ ५ ॥

वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ६ ॥

वैदूर्यशिखरनामक मङ्गलमय पवित्र पर्वत भी नर्मदा-तटपर है, वहाँ हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित सदा फल और फूलोंके भारसे लदे हुए वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ७ ॥

राजन् ! उस पर्वतके शिखरपर एक पुण्य सरोवर है, जिसमें सदा कमल खिले रहते हैं । महाराज ! देवता और गन्धर्व भी उस पुण्यतीर्थका सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥ ८ ॥

राजन् ! देवर्षिगणोंसे सेवित वह पुण्यपर्वत स्वर्गके समान सुन्दर एवं सुखद है । वहाँ अनेक आश्चर्यकी बातें देखी जाती हैं ॥ ८ ॥

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरंजय ॥ ९ ॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान् सनातनान् ॥ १० ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले नरेश ! वहाँ राजर्षि विश्वामित्रकी तपस्यासे प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम पवित्र तीर्थ मानी गयी है । उसीके तटपर नहुष-नन्दन राजा ययाति स्वर्गसे साधु पुरुषोंके बीचमें गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकोंमें चले गये थे ॥ ९-१० ॥

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥ ११ ॥

वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न असित नामक पर्वत है ॥ ११ ॥

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! उसी पर्वतपर कक्षसेनका पुण्यदायक आश्रम है । पाण्डुनन्दन ! महर्षि च्यवनका सुविख्यात आश्रम भी वहीं है ॥ १२ ॥

तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ १३ ॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।

प्रभो ! वहाँ थोड़ी ही तपस्यासे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । महाराज ! पश्चिम दिशामें ही जम्बूमार्ग है, जहाँ शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका आश्रम है । शान्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वह आश्रम पशु-पक्षियोंसे सेवित है ॥ १३½ ॥

ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥ १४ ॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १५ ॥

राजन् ! उधर ही सदा तपस्वी जनोंसे भरे हुए पुण्यतम तीर्थ–केतुमाला, मेध्या और गङ्गाद्वार (हरिद्वार) हैं। भूपाल ! द्विजोंसे सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है ॥ १४-१५॥

पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणाश्रमः प्रियः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीका पुण्यदायक सरोवर पुष्कर भी पश्चिम दिशामें ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियोंका प्रिय आश्रम है ॥

अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १७ ॥

पुण्यवानोंमें प्रधान कुरुश्रेष्ठ ! पुष्करमें निवास करनेके लिये प्रजापति ब्रह्माजीने एक गाथा गायी है, जो इस प्रकार है ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १८ ॥

'जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्करतीर्थमें निवास करने-की इच्छा करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा उत्तर दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥ २ ॥

धौम्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! उत्तर दिशामें जो पुण्यप्रद तीर्थ और देवालय आदि हैं, उनका तुमसे वर्णन करता हूँ । प्रभो ! तुम सावधान होकर वह सब मेरे मुखसे

सुनो । वीरवर ! तीर्थोंकी कथाका प्रसंग उनके प्रति मङ्गलमयी श्रद्धा उत्पन्न करता है ॥ १-२ ॥

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ ३ ॥

तीर्थोंकी पंक्तिसे सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है । पाण्डुनन्दन ! समुद्रमें मिलनेवाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशामें ही हैं ॥ ३ ॥

यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥ ४ ॥

उधर ही अत्यन्त पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मङ्गलकारक तीर्थ है; जहाँ ब्राह्मणगण यज्ञ करके सरस्वतीके जलसे अवभृथस्नान करते और अपने स्थानको जाते हैं ॥ ४ ॥

पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद् यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ५ ॥

उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ बताया जाता है । निष्पाप भरतनन्दन ! उसी तीर्थमें सहदेवने शमीका डंडा फेंकवाकर, जितनी दूरीमें वह डंडा पड़ा था उतनी दूरीमें मण्डप बनवाकर उसमें यज्ञ किया ॥

एतस्मिन्नेव चार्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! इसी विषयमें इन्द्रकी गायी हुई एक गाथा लोकमें प्रचलित है, जिसे ब्राह्मण गाया करते हैं ॥ ६ ॥

अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! सहदेवने यमुना-तटपर लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देकर अग्निकी उपासना की थी* ॥ ७ ॥

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ८ ॥

वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने पैंतीस अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ८ ॥

कामकृद् यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥ ९ ॥

तात ! प्राचीनकालमें राजा भरत ब्राह्मणोंकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेवाला राजा सुना गया है । उत्तराखण्डमें ही महर्षि शरभङ्गका अत्यन्त पुण्यदायक आश्रम विख्यात है ॥

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
बालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! साधु पुरुषोंने सरस्वती नदीकी सदा उपासना की है । महाराज ! पूर्वकालमें बालखिल्य ऋषियोंने वहाँ यज्ञ किया था ॥ १० ॥

दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वर॥ ११ ॥

दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मनः ।
कौन्तेयानन्तयशसः सुव्रतस्यामितौजसः ॥ १२ ॥

आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

युधिष्ठिर ! परम पुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही बतायी गयी है । मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वहीं न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य—ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रतका पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्डमें ही बताया जाता है, जो पृथ्वीपर रहकर भी तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ११-१२½ ॥

एतावर्णाववर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! उत्तराखण्डमें ही विख्यात मुनि नर और नारायण हैं, जो एतावर्ण (श्यामवर्ण—साकार) होते हुए भी वास्तवमें अवर्ण (निराकार) ही हैं ॥ १३ ॥

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये दोनों मुनि वेदज्ञ, वेदके मर्मज्ञ तथा वेदविद्याके पूर्ण जानकार हैं । इन्होंने पुण्यदायक उत्तम यज्ञोंद्वारा शङ्करका यजन किया है ॥ १४ ॥

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें इन्द्र, वरुण आदि बहुत-से देवताओंने मिलकर विशाखयूप नामक स्थानमें तप किया था, अतः वह अत्यन्त पुण्यप्रद स्थान है ॥ १५ ॥

ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥ १६ ॥

महाभाग, महायशस्वी और महाप्रभावशाली महर्षि जमदग्निने परम सुन्दर तथा पुण्यप्रद पलाशवनमें यज्ञ किया था ॥ १६ ॥

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात् तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७ ॥

जिसमें सब श्रेष्ठ नदियाँ मूर्तिमती हो अपना-अपना जल लेकर उन मुनिश्रेष्ठके पास आयीं और उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी हुई थीं ॥ १७ ॥

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥ १८ ॥

---

* ये सहदेव सुप्रसिद्ध राजा संजयके पुत्र थे—'सहदेवः संजयपुत्रः' इति नीलकण्ठी ।

वीर महाराज ! यहाँ महात्मा जमदग्निकी वह यज्ञदीक्षा देखकर स्वयं गन्धर्वराज विश्वावसुने इस श्लोकका गान किया था ॥ १८ ॥

यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन् ॥ १९ ॥

'महात्मा जमदग्नि जब यज्ञद्वारा देवताओंका यजन कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञमें सरिताओंने आकर मधुसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया' ॥ १९ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥ २० ॥
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत् ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरोंका निवासस्थान है । गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराएँ उसका सदा सेवन करती हैं । गङ्गाजी अपने वेगसे उस शैलराजको फोड़कर जहाँ प्रकट हुई हैं, वह पुण्यस्थान गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के नामसे विख्यात है। राजन् ! उस तीर्थका ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते हैं ॥ २०-२१ ॥

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! पुण्यमय कनखलमें पहले सनत्कुमारने यात्रा की थी । वहीं पुरु नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ पूर्वकालमें पुरूरवाने यात्रा की थी ॥ २२ ॥

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥ २३ ॥

राजन् ! महर्षियोंसे सेवित जिस महान् पर्वतपर भृगुने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रमके नामसे विख्यात है ॥२३॥

यः स भूतं भविष्यश्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥२४॥
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरिकी पुण्यमयी विशालापुरी बदरीवनके निकट है । वह नर-नारायणका आश्रम कहा गया है । वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ २४-२५ ॥

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ॥ २६ ॥

राजन् ! पूर्वकालसे ही विशाला बदरीके समीप गङ्गा कहीं गर्म जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती हैं । उनकी बालू सुवर्णकी भाँति चमकती रहती है ॥ २६ ॥

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥ २७ ॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥ २८ ॥

वहाँ महाभाग एवं महातेजस्वी देवता तथा महर्षि प्रतिदिन जाकर अमित प्रभावशाली भगवान् नारायणको नमस्कार करते हैं । जहाँ सनातन परमात्मा भगवान् नारायण विराजमान हैं, वहाँ सम्पूर्ण जगत् है और समस्त तीर्थ तथा देवालय हैं ॥ २७-२८ ॥

तत् पुण्यं परमं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ॥ २९ ॥

वह बदरिकाश्रम पुण्यक्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है । वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतोंका परमदेव परमेश्वर है ॥ २९ ॥

शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः ॥ ३० ॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।

वही सनातन परमधाता एवं परमपद है, जिसे जान लेनेपर शास्त्रदर्शी विद्वान् कभी शोक नहीं करते हैं । वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते हैं ॥ ३०½ ॥

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ ३१ ॥
पुण्यानामपि तत् पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥ ३३ ॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान् मधुसूदन विराजमान हैं वह स्थान पुण्योंका भी पुण्य है । इस विषयमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये । राजन् ! पृथ्वीपते ! नरश्रेष्ठ ! ये भूमण्डलके पुण्यतीर्थ और आश्रम आदि कहे गये वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा देवोपम महात्मा मुनि इन सब तीर्थोंका सेवन करते हैं । कुन्तीनन्दन !

तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महान् सौभाग्यशाली भाइयोंके साथ इन तीर्थोंमें विचरते रहोगे तो अर्जुनके लिये तुम्हारी मिलनेकी उत्कट इच्छा अर्थात् विरहव्याकुलता शान्त हो जायगी ॥ ३१–३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशका आगमन और युधिष्ठिरसे अर्जुनके पाशुपत आदि दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर्णन तथा इन्द्रका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ॥ १ ॥
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कौरवनन्दन ! जब धौम्य ऋषि इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी महर्षि लोमश वहाँ आये। जैसे स्वर्गमें इन्द्रके आनेपर समस्त देवता उठकर खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्येष्ठ पाण्डव राजा युधिष्ठिर, उनके समुदायके अन्य लोग तथा वे ब्राह्मण भी उन महाभाग लोमशको आया देख उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ १-२ ॥

समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

धर्मनन्दन युधिष्ठिरने यथायोग्य उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया और वहाँ आने तथा वनमें घूमनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महामना महर्षि लोमश बड़े प्रसन्न हुए और अपनी मधुर वाणीद्वारा पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए-से बोले—॥ ४ ॥

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वाँल्लोकान् यदृच्छया।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! मैं यों ही इच्छानुसार सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करता हूँ। एक दिन मैं इन्द्रके भवनमें गया और वहाँ देवराज इन्द्रसे मिला ॥ ५ ॥

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम्।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥ ६ ॥

वहाँ मैंने तुम्हारे वीर भ्राता सव्यसाची अर्जुनको भी देखा, जो इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हुए थे। वहाँ उन्हें इस दशामें देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम्।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! तुम्हारे भाई अर्जुनको इन्द्रके सिंहासनपर बैठा देख जब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था, उसी समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'मुने ! तुम पाण्डवोंके पास जाओ' ॥ ७ ॥

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम्।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥

'उन इन्द्रके आदेशसे मैं भाइयोंसहित तुम्हें देखनेके लिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ। इसके लिये इन्द्रने तो मुझसे कहा ही था, महात्मा अर्जुनने भी अनुरोध किया था ॥

आख्यास्ये ते प्रियं तात महत् पाण्डवनन्दन।
ऋषिभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ॥ ९ ॥

यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो॥ १०॥

'तात! पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! मैं तुम्हें बड़ा प्रिय समाचार सुनाऊँगा। राजन्! तुम इन महर्षियों और द्रौपदीके साथ मेरी बात सुनो। भरतकुलभूषण विभो! तुमने महाबाहु अर्जुनको दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये जो आदेश दिया था, उसके विषयमें यह निवेदन करना है कि अर्जुनने भगवान् शङ्करसे उनका अनुपम अस्त्र (पाशुपत) प्राप्त कर लिया है॥ ९-१०॥

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत्।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना॥ ११॥

'जो ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अमृतसे प्रकट होकर तपस्याके प्रभावसे भगवान् शङ्करको मिला था, वही पाशुपतास्त्र सव्यसाची अर्जुनने प्राप्त कर लिया है॥ ११॥

तत् समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम्।
वज्रमस्त्राणि चान्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर॥ १२॥

युधिष्ठिर! रुद्र देवताका वह वज्रके समान दुर्भेद्य अस्त्र मन्त्र, उपसंहार, प्रायश्चित्त और मङ्गलसहित अर्जुनने पा लिया है। साथ ही, दण्ड आदि अन्य अस्त्र भी उन्होंने हस्तगत कर लिये हैं॥ १२॥

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः॥ १३॥

'कुरुनन्दन! अमित पराक्रमी अर्जुनने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रसे दिव्यास्त्रोंका अध्ययन किया है॥ १३॥

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि॥ १४॥

'इतना ही नहीं, उन्होंने विश्वावसुके पुत्रसे नृत्य, गीत, सामगान और वाद्यकलाकी भी विधिपूर्वक यथोचित शिक्षा प्राप्त कर ली है॥ १४॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान्।
सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव॥ १५॥

इस प्रकार अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करके कुन्तीकुमारने गान्धर्ववेद (संगीतविद्या) को भी प्राप्त कर लिया है। अब तुम्हारे छोटे भाई भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन वहाँ बड़े सुखसे रह रहे हैं॥ १५॥

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत्।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे॥ १६॥

'युधिष्ठिर! देवश्रेष्ठ इन्द्रने मुझसे तुम्हारे लिये जो संदेश कहा था, उसे अब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो॥ १६॥

भवान् मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः।
ब्रूयाद् युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम॥ १७॥
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः।
सुरकार्यं महत् कृत्वा यदशक्यं दिवौकसाम्॥ १८॥
तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत्॥ १९॥

'उन्होंने मुझसे कहा—द्विजोत्तम! इसमें संदेह नहीं कि आप घूमते-घामते मनुष्यलोकमें भी जायँगे; अतः मेरे अनुरोधसे आप राजा युधिष्ठिरके पास जाकर यह बात कह दीजियेगा—राजन्! तुम्हारे भाई अर्जुन अस्त्रविद्यामें निपुण हो चुके हैं। अब वे देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य, जिसे देवता स्वयं नहीं कर सकते, सिद्ध करके शीघ्र तुम्हारे पास आ जायँगे; तबतक तुम भी अपने भाइयोंके साथ स्वयंको तपस्यामें लगाओ; क्योंकि तपस्यासे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। तपस्यासे महान् फलकी प्राप्ति होती है॥ १७—१९॥

अहं च कर्णं जानामि यथावद् भरतर्षभ।
सत्यसंधं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम्॥ २०॥

''भरतश्रेष्ठ! मैं कर्णको अच्छी तरह जानता हूँ। वह सत्यप्रतिज्ञ, अत्यन्त उत्साही, महापराक्रमी और महाबली है॥

महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम्।
महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम्॥ २१॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम्।
तथार्जुनमतिस्कन्दं सहजोल्बणपौरुषम्॥ २२॥
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम्।
यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिंदम॥ २३॥
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते।
यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति।
स महर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम्॥ २४॥

''बड़े-बड़े संग्रामोंमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। वह महान् युद्धविशारद, महाधनुर्धर, अस्त्र-शस्त्रोंका महान् ज्ञाता, श्रेष्ठ, सुन्दर महेश्वरपुत्र कार्तिकेयके समान पराक्रमी, सूर्यदेवताका पुत्र और शक्तिशाली वीर है। इसी प्रकार मैं अर्जुनको भी जानता हूँ। वह कार्तिकेयसे भी बढ़कर है, उसमें स्वभावसे ही दुःसह पुरुषार्थ भरा हुआ है। युद्धमें कर्ण अर्जुनकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है। शत्रुदमन! तुम्हारे मनमें जिस बातको लेकर कर्णसे भय बना रहता है, मैं अर्जुनके लौटनेपर तुम्हारे उस भयको भी दूर कर दूँगा। वीरवर! तीर्थयात्राके विषयमें जो तुम्हारा मानसिक संकल्प है, उसके विषयमें महर्षि लोमश निश्चय ही तुमसे सब कुछ बतावेंगे॥ २१—२४॥

यच्च किंचित् तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात् ते तच्छ्रद्धेयं न चान्यथा॥ २५॥

''भरतनन्दन ! तीर्थोंमें जो कुछ तपस्यायुक्त फल प्राप्त होता है, वह सब ये ब्रह्मर्षि लोमश तुम्हें बतायेंगे, तुम्हें उसपर विश्वास करना चाहिये । उसमें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये'' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरलोमश-संवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशके मुखसे इन्द्र और अर्जुनका संदेश सुनकर युधिष्ठिरका प्रसन्न होना और तीर्थयात्राके लिये उद्यत हो अपने अधिक साथियोंको विदा करना

लोमश उवाच

धनंजयेन चाप्युक्तं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥
त्वं हि धर्मान् परान् वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥ २ ॥

लोमश मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब मैं आने लगा, तब अर्जुनने भी मुझसे जो बात कही थी, वह सुनो ! वे बोले—तपोधन ! आप मेरे बड़े भैया युधिष्ठिरको धर्मानुकूल राजलक्ष्मीसे संयुक्त कीजिये । आप उत्कृष्ट धर्मों और तपस्याओंको जानते हैं। श्रीसम्पन्न राजाओंका जो सनातन धर्म है, उसका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ १-२ ॥

स भवान् परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

'पुरुषको पवित्र बनानेवाला जो उत्तम साधन है, उसे आप जानते हैं। अतः आप पाण्डवोंको तीर्थयात्राजनित पुण्यसे सम्पन्न कीजिये ॥ ३ ॥

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात् स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर जिस प्रकार तीर्थोंमें जायँ और वहाँ गोदान करें, वैसा सब प्रकारसे प्रयत्न कीजियेगा।' यह बात अर्जुनने मुझसे कही थी ॥ ४ ॥

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत् तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी कहा—महाराज युधिष्ठिर आपसे सुरक्षित रहकर सब तीर्थोंमें विचरण करें। दुर्गम स्थानों और विषम अवसरोंमें आप राक्षसोंसे उनकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यङ्गिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान् राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! जैसे दधीचने देवराज इन्द्रकी और महर्षि अङ्गिराने सूर्यकी रक्षा की है, उसी प्रकार आप राक्षसोंसे कुन्तीकुमारोंकी रक्षा कीजिये ॥ ६ ॥

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्तेयुरन्तिकम् ॥ ७ ॥

'बहुत-से पिशाच तथा राक्षस, जो पर्वतोंके समान विशालकाय हैं, आपसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिरके पास नहीं आ सकेंगे' ॥

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैं इन्द्रके कथन और अर्जुनके अनुरोधसे सब प्रकारके भयसे तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ-साथ तीर्थोंमें विचरण करूँगा ॥ ८ ॥

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! पहले दो बार मैंने सब तीर्थोंके दर्शन कर लिये; अब तीसरी बार तुम्हारे साथ पुनः उसका दर्शन करूँगा ॥

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! यह तीर्थयात्रा सब प्रकारके भय नाश करनेवाली है। मनु आदि पुण्यात्मा राजर्षियोंने इस तीर्थयात्रारूपी धर्मका पालन किया है ॥ १० ॥

नानृजुर्नाकृतात्मा च नाविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! जो सरल नहीं है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, जो विद्याहीन और पापात्मा है तथा जिसकी बुद्धि कुटिलतासे भरी हुई है, ऐसा मनुष्य (श्रद्धा न होनेके कारण) तीर्थोंमें स्नान नहीं करता ॥ ११ ॥

त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥ १२ ॥

तुम तो सदा धर्ममें मन लगाये रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे शून्य हो और आगे भी तुममें अधिकाधिक इन गुणोंका विकास होगा ॥ १२ ॥

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥ १३ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन ! जैसे राजा भगीरथ हो गये हैं, जैसे गय आदि राजर्षि हो चुके हैं तथा जैसे महाराज ययाति हुए हैं, वैसे ही तुम भी विख्यात हो ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात् सम्प्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—महर्षे ! आपके दर्शन और आपकी बातोंके सुननेसे मुझे इतना अधिक हर्ष हुआ है कि मुझे इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं सूझता । देवराज इन्द्र जिसका स्मरण करते हों, उससे बढ़कर इस संसारमें कौन है ? ॥ १४॥

भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनंजयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१५॥

जिसे आपका संग प्राप्त हो, जिसके अर्जुन-जैसा भाई हो और जिसे इन्द्र याद करते हों, उससे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है ? ॥ १५ ॥

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥१६॥

भगवन् ! आपने मुझे तीर्थोंके दर्शनके लिये जो उत्साह प्रदान किया है, वह ठीक है । मैंने पहलेसे ही धौम्यजीके आदेशसे तीर्थोंमें जानेका विचार कर रखा है ॥ १६ ॥

तद् यदा मन्यसे ब्रह्मन् गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ॥१७॥

अतः ब्रह्मन् ! आप जब ठीक समझें तभी मैं तीर्थोंके दर्शनके लिये चल दूँगा; यही मेरा अन्तिम निश्चय है ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच

गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तीर्थयात्राके लिये जिन्होंने निश्चित विचार कर लिया था, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे महर्षि लोमशने कहा—'महाराज ! लोकसमूहसे आप हल्के हो जाइये—थोड़े ही लोगोंको साथ रखिये; क्योंकि थोड़े संगी-साथी होनेपर आप इच्छानुसार सर्वत्र जा सकेंगे' ॥

युधिष्ठिर उवाच

भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—जो भिक्षाभोजी ब्राह्मण और संन्यासी हैं तथा जो भूख-प्यास, परिश्रम-थकावट और सर्दीकी पीड़ा सहन न कर सकें, उन्हें लौट जाना चाहिये ॥ १९ ॥

ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ॥२०॥

जो द्विज मिष्टान्नभोजी हैं, वे भी लौट जायँ । जो पक्वान्न, चटनी, पेय पदार्थ और मांस आदि खानेवाले मनुष्य हों, वे भी लौट जायँ ॥ २० ॥

तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ॥२१॥

जो लोग रसोइयोंकी अपेक्षा रखनेवाले हैं तथा जिन्हें मैंने अलग-अलग बाँट कर उचित-उचित आजीविकाकी व्यवस्था कर दी है, वे सब लोग घर लौट जायँ ॥ २१ ॥

ये चाप्यनुरताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ॥२२॥
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद् यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ॥२३॥
अस्मत्प्रियहितार्थाय पाञ्चाल्यो वः प्रदास्यति ॥२४॥

जो पुरवासी राजभक्तिवश मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं, वे अब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायँ । वे उनके लिये यथा-समय समुचित आजीविका प्रदान करेंगे । यदि राजा धृतराष्ट्र उचित जीविकाकी व्यवस्था न करें तो पाञ्चालनरेश द्रुपद हमारा प्रिय और हित करनेके लिये अवश्य आपलोगोंको जीविका देंगे ॥ २२–२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब बहुत-से नागरिक, ब्राह्मण और यति मानसिक दुःखके भारी भारसे पीडित हो हस्तिनापुरको चले गये ॥ २५ ॥

तान् सर्वान् धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद् धनैश्च समतर्पयत् ॥२६॥

अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके स्नेहवश उन सबको विधिपूर्वक अपनाया और उन्हें धन देकर तृप्त किया ॥ २६ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥२७॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर थोड़े-से ब्राह्मणों और लोमशजीके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तीन राततक काम्यक वनमें टिके रहे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

ऋषियोंको नमस्कार करके पाण्डवोंका तीर्थयात्राके लिये विदा होना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको तीर्थयात्राके लिये उद्यत जान काम्यकवनके निवासी ब्राह्मण उनके निकट आकर इस प्रकार बोले—॥ १॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना॥ २॥

'महाराज! आप अपने भाइयों तथा महात्मा लोमश मुनिके साथ पुण्यतीर्थोंमें जानेवाले हैं॥ २॥

अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव॥ ३॥

'कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन! हमें भी अपने साथ ले चलें। महाराज! आपके बिना हमलोग उन तीर्थोंकी यात्रा नहीं कर सकते॥ ३॥

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर॥ ४॥

'मनुजेश्वर! वे सभी तीर्थ हिंसक जन्तुओंसे भरे पड़े हैं, दुर्गम और विषम भी हैं। थोड़े-से मनुष्य वहाँकी यात्रा नहीं कर सकते॥ ४॥

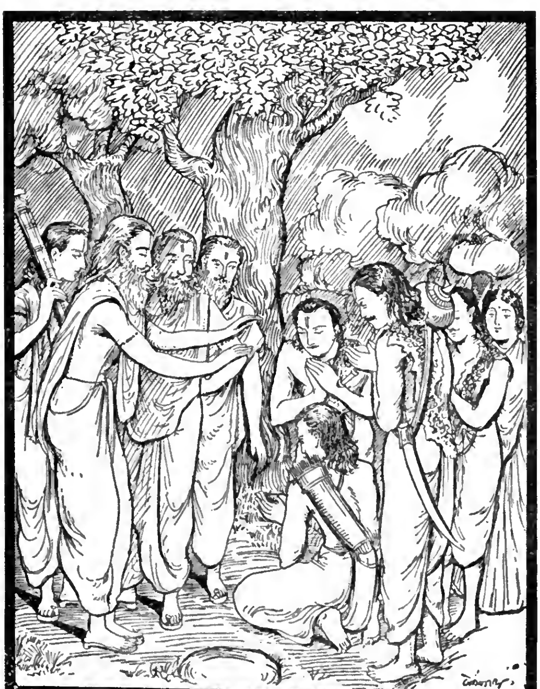

भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत॥ ५॥

'आपके भाई शूरवीर हैं और सदा श्रेष्ठ धनुष धारण किये रहते हैं। आप-जैसे शूरवीरोंसे सुरक्षित होकर हम भी उन तीर्थोंकी यात्रा पूरी कर लेंगे॥ ५॥

भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयाम सुखं फलम्।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशाम्पते॥ ६॥

'भूपाल! प्रजानाथ! आपके प्रसादसे हमलोग भी उन तीर्थों और वनोंकी यात्राका फल अनायास ही पा लेंगे॥ ६॥

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप॥ ७॥

'नरेश्वर! आपके बल-पराक्रमसे सुरक्षित हो हम भी तीर्थोंमें स्नान करके शुद्ध हो जायँगे और उन तीर्थोंके दर्शनसे हमारे सब पाप धुल जायँगे॥ ७॥

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह॥ ८॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव।
ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्राँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः॥ ९॥

'भूपाल! भरतनन्दन! आप भी तीर्थोंमें नहाकर राजा कार्तवीर्य अर्जुन, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और भूमण्डलमें सर्वत्र विदित सम्राट् वीरवर भरतको मिलनेवाले दुर्लभ लोकोंको अवश्य प्राप्त कर लेंगे॥ ८-९॥

प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान्।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन्॥ १०॥
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम्।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित् प्रीतिर्जनाधिप॥ ११॥
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे।

'महीपाल! प्रभास आदि तीर्थों, महेन्द्र आदि पर्वतों, गङ्गा आदि नदियों तथा प्लक्ष आदि वृक्षोंका हम आपके साथ दर्शन करना चाहते हैं। जनेश्वर! यदि आपके मनसे ब्राह्मणोंके प्रति कुछ प्रेम है तो आप हमारी बात शीघ्र मान लीजिये; इससे आपका कल्याण होगा॥ १०-११½॥

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा॥ १२॥
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि।

'महाबाहो! तपस्यामें विघ्न डालनेवाले बहुत-से राक्षस उन तीर्थोंमें भरे पड़े हैं, उनसे आप हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं॥ १२½॥

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ॥ १३ ॥
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ।
विधिवत् तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ॥ १४ ॥
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेनाभिपालितः ।

'नरेश्वर ! आप पापरहित हैं, धौम्य मुनि, परम बुद्धिमान् नारदजी तथा महातपस्वी देवर्षि लोमशने जिन-जिन तीर्थोंका वर्णन किया है, उन सबमें आप महर्षि लोमशजीसे सुरक्षित हो हमारे साथ विधिपूर्वक भ्रमण करें ॥ १३-१४½ ॥

स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ॥ १५ ॥
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वांस्तानृषीन् पाण्डवर्षभः ॥ १६ ॥
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने वीर भ्राता भीमसेन आदिसे घिरकर खड़े थे। उन ब्राह्मणोंद्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू भर आये। उन्होंने देवर्षि लोमश तथा पुरोहित धौम्यजीकी आज्ञा लेकर उन सब ऋषियोंसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ १५-१६½ ॥

ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ॥ १७ ॥
द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ।

तदनन्तर मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों तथा सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीके साथ यात्रा करनेका मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १७½ ॥

अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ॥ १८ ॥
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ॥ १९ ॥

इतनेहीमें महाभाग व्यास, पर्वत और नारद आदि मनीषीजन काम्यकवनमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये आये। राजा युधिष्ठिरने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। उनसे सत्कार पाकर वे महाभाग महर्षि महाराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ॥ १८-१९ ॥

ऋषय ऊचुः

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥ २० ॥

ऋषियोंने कहा—युधिष्ठिर ! भीमसेन ! नकुल ! और सहदेव ! तुमलोग तीर्थोंके प्रति मनसे श्रद्धापूर्वक सरलभाव रक्खो। मनसे शुद्धिका सम्पादन करके शुद्धचित्त होकर तीर्थोंमें जाओ ॥ २० ॥

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणलोग शरीर-शुद्धिके नियमको 'मानुषव्रत' बताते हैं और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको 'दैवव्रत' कहते हैं ॥

मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! यदि मन राग-द्वेषसे दूषित न हो तो वह शुद्धिके लिये पर्याप्त माना गया है। सब प्राणियोंके प्रति मैत्री-बुद्धिका आश्रय ले शुद्धभावसे तीर्थोंका दर्शन करो ॥ २२ ॥

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥ २३ ॥

तुम मानसिक और शारीरिक नियमव्रतोंसे शुद्ध हो, दैवव्रतका आश्रय ले यात्रा करोगे तो तीर्थोंका तुम्हें यथावत् फल प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥ २४ ॥

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर द्रौपदीसहित पाण्डवोंने 'बहुत अच्छा' कहकर (उनकी आज्ञाएँ शिरोधार्य कीं और उनके बताये हुए नियमोंका पालन करनेकी) प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् उन दिव्य और मानव महर्षियोंने उन सबके लिये स्वस्तिवाचन किया ॥ २४ ॥

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥ २५ ॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर महर्षि लोमश, द्वैपायन, व्यास, देवर्षि नारद और पर्वतके चरणोंका स्पर्श करके वनवासी ब्राह्मणों, पुरोहित धौम्य और लोमश आदिके साथ वीर पाण्डव तीर्थ-यात्राके लिये निकले। मार्गशीर्षकी पूर्णिमा व्यतीत होनेपर जब पुष्य नक्षत्र आया, तब उसी नक्षत्रमें उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ॥ २५-२६ ॥

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ॥ २७ ॥

उन सबने शरीरपर फटे-पुराने वस्त्र या मृगचर्म धारण कर रखे थे। उनके मस्तकपर जटाएँ थीं। उनके अङ्ग अभेद्य कवचोंसे ढके हुए थे। वे सूर्यप्रदत्त बटलोई आदि पात्र लेकर वहाँ तीर्थोंमें विचरण करने लगे ॥ २७ ॥

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः ॥ २८ ॥

उनके साथ इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक रथ लिये पीछे-पीछे जा रहे थे । रसोईके काममें संलग्न रहनेवाले अन्यान्य सेवक भी उनके साथ थे ॥ २८ ॥

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः ।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥ २९ ॥

जनमेजय ! वीर पाण्डव आवश्यक अस्त्र-शस्त्र ले कमरमें तलवार बाँधकर पीठपर तरकस कसे हुए हाथोंमें बाण लिये पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

देवताओं और धर्मात्मा राजाओंका उदाहरण देकर महर्षि लोमशका युधिष्ठिरको अधर्मसे हानि बताना और तीर्थयात्राजनित पुण्यकी महिमाका वर्णन करते हुए आश्वासन देना

युधिष्ठिर उवाच

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथास्मि दुःखसंतप्तो यथा नान्यो महीपतिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षिप्रवर लोमश ! मेरी समझसे मैं अपनेको सात्त्विक गुणोंसे हीन नहीं मानता तो भी दुःखोंसे इतना संतप्त होता रहता हूँ, जितना दूसरा कोई राजा नहीं हुआ होगा ॥ १ ॥

परांश्च निर्गुणान् मन्ये न च धर्मगतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥

इसके सिवा, दुर्योधनादि शत्रुओंको सात्त्विक गुणोंसे रहित समझता हूँ । साथ ही यह भी जानता हूँ कि वे धर्म-परायण नहीं हैं तो भी वे इस लोकमें उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होते जा रहे हैं, इसका क्या कारण है ? ॥ २ ॥

लोमश उवाच

नात्र दुःखं त्वया राजन् कार्यं पार्थ कथंचन ।
यदधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! कुन्तीनन्दन ! अधर्ममें रुचि रखनेवाले लोग यदि उस अधर्मके द्वारा बढ़ रहे हों तो इसके लिये तुम्हें किसी प्रकार दुःख नहीं मानना चाहिये ॥ ३ ॥

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥

पहले अधर्मद्वारा मनुष्य बढ़ सकता है, फिर अपने मनोऽनुकूल सुख-सम्पत्तिरूप अभ्युदयको देख सकता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओंपर विजय पा सकता है और अन्तमें जड़-मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥

महीपाल ! मैंने दैत्यों और दानवोंको अधर्मके द्वारा बढ़ते और पुनः नष्ट होते भी देखा है ॥ ५ ॥

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।
अरोचयन् सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥

प्रभो ! पहले देवयुगमें ही मैंने यह सब अपनी आँखों देखा है । देवताओंने धर्मके प्रति अनुराग किया और असुरोंने उसका परित्याग कर दिया ॥ ६ ॥

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन् भारतासुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! देवताओंने स्नानके लिये तीर्थोंमें प्रवेश किया, परंतु असुर उनमें नहीं गये । अधर्मजनित दर्प असुरोंमें पहलेसे ही समा गया था ॥ ७ ॥

दर्पान्मानः समभवन्मानात् क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥ ८ ॥

दर्पसे मान हुआ और मानसे क्रोध उत्पन्न हुआ । क्रोधसे निर्लज्जता आयी और निर्लज्जताने उनके सदाचारको नष्ट कर दिया ॥

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान् ।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात् प्रजहुस्ततः ॥ ९ ॥
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान् नृप ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दर्पोपहतचेतसः ॥ १० ॥
दैतेयान् दानवांश्चैव कलिरप्याविशत् ततः ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दानवान् कलिना हतान् ॥ ११ ॥
दर्पाभिभूतान् कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ।
मानाभिभूतानचिराद् विनाशः समपद्यत ॥ १२ ॥

इस प्रकार लज्जा, संकोच और सदाचारसे हीन एवं निष्फल व्रतका आचरण करनेवाले उन असुरोंको क्षमा, लक्ष्मी और स्वधर्मने शीघ्र त्याग दिया । राजन् ! लक्ष्मी देवताओंके पास चली गयी और अलक्ष्मी असुरोंके यहाँ । अलक्ष्मीके आवेशसे युक्त होनेपर उनका चित्त दर्प और अभिमानसे दूषित हो

गया । उस दशामें उन दैत्यों और दानवोंमें कलिका भी प्रवेश हो गया । जब वे दानव अलक्ष्मीसे संयुक्त, कलिसे तिरस्कृत और अभिमानसे अभिभूत हो सत्कर्मोंसे शून्य, विवेकरहित और मानसे उन्मत्त हो गये, तब शीघ्र ही उनका विनाश हो गया ॥ ९--१२ ॥

निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ १३ ॥
अभ्यगच्छन् धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥ १४ ॥
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
तीर्थान्यगच्छन् विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम् ।
(यत्र धर्मेण वर्तन्ते राजानो राजसत्तम ।
सर्वान् सपत्नान् बाधन्ते राज्यं चैषां विवर्धते ॥)
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥ १६ ॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।

यशोहीन दैत्य पूर्णतः विनष्ट हो गये । किंतु धर्मशील देवताओंने पवित्र समुद्रों, सरिताओं, सरोवरों और पुण्यप्रद आश्रमोंकी यात्रा की । पाण्डुनन्दन ! वहाँ तपस्या, यज्ञ और दान आदि करके महात्माओंके आशीर्वादसे वे सब पापोंसे मुक्त हो कल्याणके भागी हुए । इस प्रकार उत्तम नियम ग्रहण करके किसीसे भी कोई प्रतिग्रह न लेकर देवताओंने तीर्थोंमें विचरण किया; इससे उन्हें उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई । नृपश्रेष्ठ ! जहाँ राजा धर्मके अनुसार बर्ताव करते हैं, वहाँ वे सब शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं और उनका राज्य भी बढ़ता रहता है । राजेन्द्र ! इसलिये तुम भी भाइयोंसहित तीर्थोंमें स्नान करके खोयी हुई राजलक्ष्मी प्राप्त कर लोगे । यही सनातन मार्ग है ॥ १३—१६½ ॥

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते ॥ १८ ॥
तीर्थाभिगमनात् पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशाम्पते ॥ १९ ॥
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्धासि विपुलां श्रियम् ।

जैसे राजा नृग, उशीनरपुत्र शिबि, भगीरथ, वसुमना, गय, पूरु तथा पुरूरवा आदि नरेशोंने सदा तपस्यापूर्वक तीर्थयात्रा करके वहाँके जलके स्पर्श और महात्माओंके दर्शनसे पावन यश और प्रचुर धन प्राप्त किये थे; उसी प्रकार तुम भी तीर्थ-यात्राके पुण्यसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त कर लोगे ॥ १७—१९½ ॥

यथा चेक्ष्वाकुरभवत् सपुत्रजनबान्धवः ॥ २० ॥
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ॥ २१ ॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ।
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद् वै विनङ्क्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥ २२ ॥

जैसे पुत्र, सेवक तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, मान्धाता तथा महाराज मरुत्तने पुण्यकीर्ति प्राप्त की थी, जैसे देवताओं और देवर्षियोंने तपोबलसे यश और ऐश्वर्य प्राप्त किया था; उसी प्रकार तुम भी पूर्णरूपसे यश और धन-सम्पत्ति प्राप्त करोगे । धृतराष्ट्रके पुत्र पाप और मोहके वशीभूत हैं; अतः वे दैत्योंकी भाँति शीघ्र नष्ट हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका नैमिषारण्य आदि तीर्थोंमें जाकर प्रयाग तथा गयातीर्थमें जाना और गय राजाके महान् यज्ञोंकी महिमा सुनना

वैशम्पायन उवाच

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार वे वीर पाण्डव विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हुए क्रमशः नैमिषारण्य तीर्थमें आये ॥ १ ॥

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! तदनन्तर गोमतीके पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाण्डवोंने वहाँ गोदान और धनदान किया ॥*

* यहाँ पाण्डवोंके द्वारा गोदान और धनदान करनेके विषयमें यह शङ्का होती है कि इनके पास ये सब कहाँसे आये, पर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वनपर्वके बारहवें अध्यायमें आता है कि काम्यकवनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण एवं भोजवंशी, वृष्णिवंशी और अन्धक कुलके राजागण तथा द्रुपद, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु एवं केकयराजकुमार आये थे । उनका पाण्डवोंसे मिलकर

**तव देवान् पितॄन् विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ।
कालकोट्यां वृषप्रस्थे गिरावुष्य च पाण्डवाः ॥ ३ ॥
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ।
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ॥ ४ ॥
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः ॥ ५ ॥**

भारत ! भूपाल! वहाँ देवताओं, पितरों तथा ब्राह्मणोंको बार-बार तृप्त करके कन्यातीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थ, कालकोटि तथा वृषप्रस्थगिरिमें निवास करते हुए उन सब पाण्डवोंने बाहुदा नदीमें स्नान किया । पृथ्वीपते ! तदनन्तर उन्होंने देवताओंकी यज्ञभूमि प्रयागमें पहुँचकर वहाँ गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान किया । सत्यप्रतिज्ञ पाण्डव वहाँ स्नान करके कुछ दिनोंतक उत्तम तपस्यामें लगे रहे ॥ ३—५ ॥

**विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ।
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः ॥ ६ ॥
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ।
तत्र ते न्यवसन् वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम् ॥ ७ ॥
संतर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ।**

उन पापरहित महात्माओंने (त्रिवेणीतटपर) ब्राह्मणोंको धन दान किया ।* भरतनन्दन ! तत्पश्चात् पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्माजीकी वेदीपर गये, जो तपस्वीजनोंसे सेवित है । वहाँ उन वीरोंने उत्तम तपस्या करते हुए निवास किया । वे सदा कन्द-मूल-फल आदि वन्य हविष्यद्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करते रहते थे ॥ ६—७½ ॥

**ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसंस्कृतम् ॥ ८ ॥
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ।**

अनुपम तेजस्वी जनमेजय ! प्रयागसे चलकर पाण्डव पुण्यात्मा एवं धर्मज्ञ राजर्षि गयके द्वारा यज्ञ करके शुद्ध किये हुए उत्तम पर्वतसे उपलक्षित गयातीर्थमें गये ॥ ८½ ॥

**नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ॥ ९ ॥
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ।**

जहाँ गयशिर नामक पर्वत और बेंतकी पंक्तियोंसे घिरी हुई रमणीय महानदी है, जो अपने दोनों तटोंसे विशेष शोभा पाती है ॥ ९½ ॥

**दिव्यं पवित्रकूटं च पवित्रं धरणीधरम् ॥ १० ॥
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत् तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ।
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ॥ ११ ॥**

वहाँ महर्षियोंसे सेवित, पावन शिखरोंवाला, दिव्य एवं पवित्र दूसरा पर्वत भी है, जो अत्यन्त पुण्यदायक तीर्थ है । वहीं उत्तम ब्रह्मसरोवर है, जहाँ भगवान् अगस्त्यमुनि वैवस्वत यमसे मिलनेके लिये पधारे थे ॥ १०-११ ॥

**उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ।
सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशाम्पते ॥ १२ ॥**

क्योंकि सनातन धर्मराज वहाँ स्वयं निवास करते हैं । राजन् ! वहाँ सम्पूर्ण नदियोंका प्राकट्य हुआ है ॥ १२ ॥

**यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ।
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ॥ १३ ॥
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ।**

पिनाकपाणि भगवान् महादेव उस तीर्थमें नित्य निवास करते हैं । वहाँ वीर पाण्डवोंने उन दिनों चातुर्मास्यव्रत ग्रहण करके महान् ऋषियज्ञ अर्थात् वेदादि सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा भगवान्‌की आराधना की । वहीं महान् अक्षय-वट है ॥ १३½ ॥

अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ॥ १४ ॥

देवताओंकी वह यज्ञभूमि अक्षय है और वहाँ किये हुए प्रत्येक सत्कर्मका फल अक्षय होता है ॥ १४ ॥

**ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ।
ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ १५ ॥**

अविचल चित्तवाले पाण्डवोंने उस तीर्थमें कई उपवास किये । उस समय वहाँ सैकड़ों तपस्वी ब्राह्मण पधारे ॥ १५ ॥

**चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ।
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १६ ॥**

उन्होंने शास्त्रोक्त विधिपूर्वक चातुर्मास्य यज्ञ किया । वहाँ आये हुए ब्राह्मण विद्या और तपस्यामें बढ़े-चढ़े तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् थे । उन्होंने परस्पर मिलकर सभामें बैठकर महात्मा पुरुषोंकी पवित्र कथाएँ कहीं ॥ १६ ॥

**तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद् राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १७ ॥**

उनमें शमठ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे, जो विद्या-ध्ययनका व्रत समाप्त करके स्नातक हो चुके थे । उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालनका व्रत ले रखा था । राजन् ! शमठने वहाँ अमूर्तरयाके पुत्र महाराज गयकी कथा इस प्रकार कही ॥ १७ ॥

शमठ उवाच

**अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ॥ १८ ॥**

अपने-अपने राज्यमें लौट जानेका भी वर्णन वनपर्वके बाईसवें अध्यायमें आया है । इससे अनुमान होता है कि इन राजाओंने पाण्डवोंको भेंटमें प्रचुर धन दिया होगा ।

शमठ बोले—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! अमूर्तरयाके पुत्र गय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ थे। उनके कर्म बड़े ही पवित्र एवं पावन थे। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो—॥ १८ ॥

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः।
यत्रान्नपर्वता राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः॥ १९॥
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः॥ २०॥

राजन् ! यहाँ राजा गयने बड़ा भारी यज्ञ किया था। उसमें बहुत अन्न खर्च हुआ था और असंख्य दक्षिणा बाँटी गयी थी। उस यज्ञमें अन्नके सैकड़ों और हजारों पर्वत लग गये थे, घीके कई सौ कुण्ड और दहीकी नदियाँ बहती थीं। सहस्रों प्रकारके उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंकी बाढ़-सी आ गयी थी॥ १९-२०॥

अहन्यहनि चाप्येवं याचतां सम्प्रदीयते।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम्॥ २१॥

याचकोंको प्रतिदिन इसी प्रकार भोजन और दान दिया जाता था। राजन् ! अन्यान्य ब्राह्मण भी वहाँ उत्तम रीतिसे तैयारकी हुई रसोई जीमते थे॥ २१॥

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः।
न च प्रज्ञायते किंचिद् ब्रह्मशब्देन भारत॥ २२॥

भरतनन्दन ! उस यज्ञमें दक्षिणा देते समय जो वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि होती थी, वह स्वर्गलोकतक गूँज उठती थी। उस वेदध्वनिके सामने दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था॥ २२॥

पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम्॥ २३॥
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः॥ २४॥

राजन् ! वहाँ सब ओर फैले हुए पुण्यमय शब्दसे पृथ्वी, दिशाएँ, स्वर्ग और आकाश परिपूर्ण हो गये। यह बड़ी ही अद्भुत बात थी। भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञमें सब मनुष्य यह गाथा गाते रहते थे कि 'इस यज्ञमें देश-देशके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष उत्तम अन्नपानसे तृप्त हो रहे हैं॥ २३-२४॥

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः॥ २५॥

'गयके यज्ञमें लोग यही पूछते फिरते थे कि 'कौन-कौन ऐसे प्राणी रह गये हैं, जो अभी भोजन करना चाहते हैं?' वहाँ खानेसे बचे हुए अन्नके पचीस पर्वत शेष रह गये थे॥ २५॥

न तत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
गयो यदकरोद् यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः॥ २६॥

'अमिततेजस्वी राजर्षि गयने अपने यज्ञमें जो व्यय किया था, वह पहलेके राजाओंने भी नहीं किया था और भविष्यमें भी कोई दूसरे कर सकेंगे, ऐसा सम्भव नहीं है॥ २६॥

कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित्॥ २७॥

'गयने सम्पूर्ण देवताओंको हविष्यसे भलीभाँति तृप्त कर दिया है, अब वे दूसरोंके दिये हुए हविष्यको कैसे ग्रहण कर सकेंगे ?॥ २७॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित्।
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः॥ २८॥

'जैसे लोकमें बालूके कण, आकाशके तारे और बरसते हुए बादलोंकी जलधाराएँ किसीके द्वारा भी गिनी नहीं जा सकतीं, उसी प्रकार गयके यज्ञमें दी हुई दक्षिणाओंकी भी कोई गणना नहीं कर सकता था'॥ २८॥

एवं विधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन॥ २९॥

कुरुनन्दन ! महाराज गयके ऐसे ही बहुत-से यज्ञ इस ब्रह्मसरोवरके समीप सम्पन्न हुए हैं॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः॥ ९५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें 'गयके यज्ञका वर्णन' विषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९५॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

इल्वल और वातापिका वर्णन, महर्षि अगस्त्यका पितरोंके उद्धारके लिये विवाह करनेका विचार तथा विदर्भराजका महर्षि अगस्त्यसे एक कन्या पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने गयासे प्रस्थान किया और अगस्त्याश्रममें जाकर दुर्जय मणिमती नगरीमें निवास किया ॥ १ ॥

तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥

वहीं वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'ब्रह्मन्! अगस्त्यजीने यहाँ वातापिको किसलिये नष्ट किया? ॥ २ ॥

आसीद्वा किं प्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'मनुष्योंका विनाश करनेवाले उस दैत्यका प्रभाव कैसा था? और महात्मा अगस्त्यजीके मनमें क्रोधका उदय कैसे हुआ'? ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

इल्वलो नाम दैतेय आसीत् कौरवनन्दन।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ॥ ४ ॥

लोमशजीने कहा—कौरवनन्दन! पूर्वकालकी बात है, इस मणिमती नगरीमें इल्वल नामक दैत्य रहता था। वातापि उसीका छोटा भाई था ॥ ४ ॥

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
तस्मै स ब्राह्मणो नादात् पुत्रं वासवसम्मितम्।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महासुरः।
मन्युमान् भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत् ततः ॥ ७ ॥
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत् क्षणात्।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥ ८ ॥

एक दिन दितिनन्दन इल्वलने एक तपस्वी ब्राह्मणसे कहा—'भगवन्! आप मुझे ऐसा पुत्र दें, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हो।' उन ब्राह्मणदेवताने इल्वलको इन्द्रके समान पुत्र नहीं दिया। इससे वह असुर उन ब्राह्मणदेवतापर बहुत कुपित हो उठा। राजन्! तभीसे इल्वल दैत्य क्रोधमें भरकर ब्राह्मणोंकी हत्या करने लगा। वह मायावी अपने भाई वातापिको मायासे बकरा बना देता था। वातापि भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ था! अतः वह क्षणभरमें भेड़ा और बकरा बन जाता था। फिर इल्वल उस भेड़ या बकरेको पकाकर उसका मांस राँधता और किसी ब्राह्मणको खिला देता था। इसके बाद वह ब्राह्मणको मारनेकी इच्छा करता था॥

स चाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम्।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन् स प्रत्यदृश्यत ॥ ९ ॥

इल्वलमें यह शक्ति थी कि वह जिस किसी भी यमलोकमें गये हुए प्राणीको उसका नाम लेकर बुलाता, वह पुनः शरीर धारण करके जीवित दिखायी देने लगता था ॥ ९ ॥

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम्।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ १० ॥

उस दिन वातापि दैत्यको बकरा बनाकर इल्वल उसके मांसका संस्कार किया और उन ब्राह्मणदेवको वह मांस खिलाकर पुनः अपने भाईको पुकारा ॥ १० ॥

तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम्।
श्रुत्वातिमायो बलवान् क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥ ११ ॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः।
वातापिः प्रहसन् राजन् निश्चक्राम विशाम्पते ॥ १२ ॥

राजन्! इल्वलके द्वारा उच्च स्वरसे बोली हुई वाणी सुनकर वह अत्यन्त मायावी ब्राह्मणशत्रु बलवान् महादैत्य वातापि उस ब्राह्मणकी पसलीको फाड़कर हँसता हुआ निकल आया ॥

एवं स ब्राह्मणान् राजन् भोजयित्वा पुनः पुनः।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ॥ १३ ॥

राजन्! इस प्रकार दुष्टहृदय इल्वल दैत्य बार-बार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर अपने भाईद्वारा उनकी हिंसा करा देता था (इसीलिये अगस्त्यमुनिने वातापिको नष्ट किया था)॥

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु।
पितॄन् ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥ १४ ॥

इन्हीं दिनों भगवान् अगस्त्यमुनि कहीं चले जा रहे थे। उन्होंने एक जगह अपने पितरोंको देखा, जो एक गड्ढेमें नीचे मुँह किये लटक रहे थे ॥ १४ ॥

सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इव कम्पिताः।
(किमर्थं चेह लम्बध्वं गर्ते यूयमधोमुखाः।)
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः॥१५॥

तब उन लटकते हुए पितरोंसे अगस्त्यजीने पूछा—'आपलोग यहाँ किसलिये नीचे मुँह किये काँपते हुए-से लटक रहे हैं ?' यह सुनकर उन वेदवादी पितरोंने उत्तर दिया—'संतानपरम्पराके लोपकी सम्भावनाके कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है' ॥ १५ ॥

ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः॥ १६ ॥

उन्होंने अगस्त्यके पूछनेपर बताया कि 'हम तुम्हारे ही पितर हैं। संतानके इच्छुक होकर इस गड्ढेमें लटक रहे हैं ॥

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम्।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राप्नुया गतिम्॥ १७॥

'अगस्त्य ! यदि तुम हमारे लिये उत्तम संतान उत्पन्न कर सको तो हम इस नरकसे छुटकारा पा सकते हैं और बेटा ! तुम्हें भी सद्गति प्राप्त होगी' ॥ १७ ॥

स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः॥ १८ ॥

तब सत्यधर्मपरायण तेजस्वी अगस्त्यने उनसे कहा—'पितरो ! मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ॥ १८ ॥

ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन् भगवानृषिः।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत् सदृशीं स्त्रियम् ॥ १९ ॥

तब भगवान् महर्षि अगस्त्यने संतानोत्पादनकी चिन्ता करते हुए अपने अनुरूप संतानको गर्भमें धारण करनेके लिये योग्य पत्नीका अनुसंधान किया परंतु उन्हें कोई योग्य स्त्री दिखायी नहीं दी ॥ १९ ॥

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत् तदङ्गमनुत्तमम्।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥ २० ॥

तब उन्होंने एक-एक जन्तुके उत्तमोत्तम अङ्गोंका भावना-द्वारा संग्रह करके उन सबके द्वारा एक परम सुन्दर स्त्रीका निर्माण किया ॥ २० ॥

स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः॥ २१ ॥

उन दिनों विदर्भराज पुत्रके लिये तपस्या कर रहे थे। महातपस्वी अगस्त्यमुनिने अपने लिये निर्मित की हुई वह स्त्री राजाको दे दी ॥ २१ ॥

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत् सौदामनी यथा।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना॥ २२ ॥

उस सुन्दरी कन्याका उस राजभवनमें बिजलीके समान प्रादुर्भाव हुआ। वह शरीरसे प्रकाशमान हो रही थी। उसका मुख बहुत सुन्दर था, वह राजकन्या वहाँ दिनोंदिन बढ़ने लगी॥२२॥

जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! राजा विदर्भने उस कन्याके उत्पन्न होते ही हर्षमें भरकर ब्राह्मणोंको यह शुभ संवाद सुनाया ॥ २३ ॥

अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः॥ २४ ॥

राजन् ! उस समय सब ब्राह्मणोंने राजाका अभिनन्दन किया और उस कन्याका नाम 'लोपामुद्रा' रख दिया ॥२४॥

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम्।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा॥ २५ ॥

महाराज ! उत्तम रूप धारण करनेवाली वह राजकुमारी जलमें कमलिनी तथा यज्ञवेदीपर प्रज्वलित शुभ्र अग्निशिखाकी भाँति शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी ॥ २५ ॥

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! जब उसने युवावस्थामें पदार्पण किया, उस समय उस कल्याणी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सौ सुन्दरी कन्याएँ और सौ दासियाँ उसकी आज्ञाके अधीन होकर घेरे रहतीं और उसकी सेवा किया करती थीं ॥ २६ ॥

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा॥ २७ ॥

सौ दासियों और सौ कन्याओंके बीचमें वह तेजस्विनी कन्या आकाशमें सूर्यकी प्रभा तथा नक्षत्रोंमें रोहिणीके समान सुशोभित होती थी ॥ २७ ॥

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम्।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद् भयात् तस्य महात्मनः॥ २८ ॥

यद्यपि वह युवती और शील एवं सदाचारसे सम्पन्न थी तो भी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसी राजकुमारने उसका वरण नहीं किया ॥ २८ ॥

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा॥ २९ ॥

वह सत्यवती राजकुमारीरूपमें अप्सराओंसे भी बढ़कर थी। उसने अपने शील-स्वभावसे पिता तथा स्वजनोंको संतुष्ट कर दिया था ॥ २९ ॥

वैदर्भीं तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता।

मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥३०॥

पिता विदर्भराजकुमारीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख मन-ही-मन यह विचार करने लगे कि 'इस कन्याका किसके साथ विवाह करूँ' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यका लोपामुद्रासे विवाह, गङ्गाद्वारमें तपस्या एवं पत्नीकी इच्छासे धनसंग्रहके लिये प्रस्थान

लोमश उवाच

यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब मुनिवर अगस्त्यजीको यह मालूम हो गया कि विदर्भराजकुमारी मेरी गृहस्थी चलानेके योग्य हो गयी है, तब वे विदर्भनरेशके पास जाकर बोले—॥

राजन् निवेशे बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥

'राजन्! पुत्रोत्पत्तिके लिये मेरा विवाह करनेका विचार है। अतः महीपाल! मैं आपकी कन्याका वरण करता हूँ। आप लोपामुद्राको मुझे दे दीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ॥ ३ ॥

मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विदर्भराजके होश उड़ गये। वे न तो अस्वीकार कर सके और न उन्होंने अपनी कन्या देनेकी इच्छा ही की ॥ ३ ॥

ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥

तब विदर्भनरेश अपनी पत्नीके पास जाकर बोले—'प्रिये! ये महर्षि अगस्त्य बड़े शक्तिशाली हैं। यदि कुपित हों तो हमें शापकी अग्निसे भस्म कर सकते हैं' ॥ ४ ॥

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

रानीसहित महाराजको इस प्रकार दुखी देख लोपामुद्रा उनके पास गयी और समयके अनुसार इस प्रकार बोली—॥

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

'राजन्! आपको मेरे लिये दुःख नहीं मानना चाहिये। पिताजी! आप मुझे अगस्त्यजीकी सेवामें दे दें और मेरे द्वारा अपनी रक्षा करें' ॥ ६ ॥

दुहितुर्वचनाद् राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद् विधिपूर्वं विशाम्पते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! पुत्रीकी यह बात सुनकर राजाने महात्मा अगस्त्यमुनिको विधिपूर्वक अपनी कन्या लोपामुद्रा ब्याह दी ॥

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

लोपामुद्राको पत्नीरूपमें पाकर महर्षि अगस्त्यने उससे कहा—'ये तुम्हारे वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इन्हें उतार दो' ॥ ८ ॥

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरुर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवायतलोचना ॥ १० ॥

तब कदलीके समान जाँघ तथा विशाल नेत्रोंवाली लोपामुद्राने अपने बहुमूल्य, महीन एवं दर्शनीय वस्त्र उतार दिये और फटे-पुराने वस्त्र तथा वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिये। वह विशालनयनी बाला पतिके समान ही व्रत और आचारका पालन करनेवाली हो गयी ॥ ९-१० ॥

गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्य अपनी अनुकूल पत्नीके साथ गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में आकर घोर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ११ ॥

सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत् तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत् प्रभुः ॥ १२ ॥

लोपामुद्रा बड़ी ही प्रसन्नता और विशेष आदरके साथ पतिदेवकी सेवा करने लगी। शक्तिशाली महर्षि अगस्त्यजी भी अपनी पत्नीपर बड़ा प्रेम रखते थे ॥ १२ ॥

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ॥ १४ ॥

राजन्! जब इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन भगवान् अगस्त्यमुनिने ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई पत्नी लोपामुद्राको देखा। वह तपस्याके तेजसे प्रकाशित हो रही थी। महर्षिने अपनी पत्नीकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रिय-संयम, शोभा तथा रूप-सौन्दर्यसे प्रसन्न होकर उसे मैथुनके लिये पास बुलाया॥ १३-१४॥

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी।
तदा सप्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत्॥ १५॥

तब अनुरागिणी लोपामुद्रा कुछ लज्जित-सी हो हाथ जोड़कर बड़े प्रेमसे भगवान् अगस्त्यसे बोली—॥ १५॥

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि॥ १६॥

'महर्षे! इसमें संदेह नहीं कि पतिदेवने अपनी इस पत्नीको संतानके लिये ही ग्रहण किया है, परंतु आपके प्रति मेरे हृदयमें जो प्रीति है, वह भी आपको सफल करनी चाहिये॥ १६॥

यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि॥ १७॥

'ब्रह्मन्! मैं अपने पिताके घर उनके महलमें जैसी शय्यापर सोया करती थी, वैसी ही शय्यापर आप मेरे साथ समागम करें॥

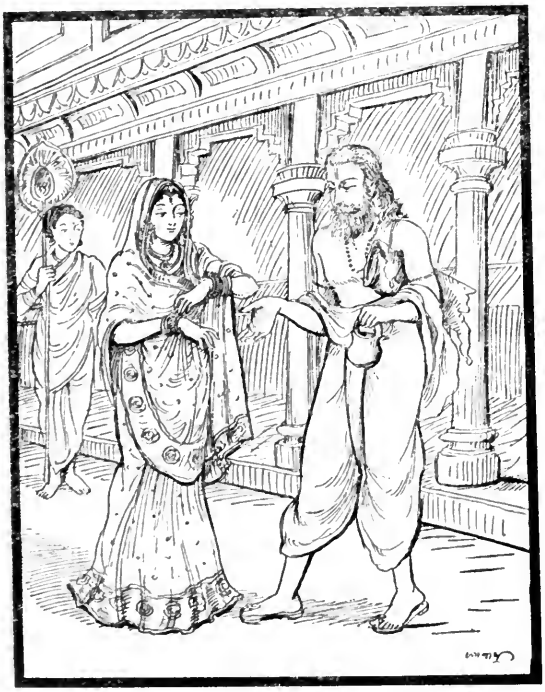

इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम्।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता॥ १८॥

'मैं चाहती हूँ कि आप सुन्दर हार और आभूषणोंसे विभूषित हों और मैं भी दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हो इच्छानुसार आपके साथ समागम-सुखका अनुभव करूँ॥

अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी।
नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन॥ १९॥

'अन्यथा मैं यह जीर्ण-शीर्ण काषाय-वस्त्र पहनकर आपके साथ समागम नहीं करूँगी। ब्रह्मर्षे! तपस्वीजनोंका यह पवित्र आभूषण किसी प्रकार सम्भोग आदिके द्वारा अपवित्र नहीं होना चाहिये'॥ १९॥

अगस्त्य उवाच

न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे॥ २०॥

अगस्त्यजीने कहा—सुन्दर कटिप्रदेशवाली कल्याणी लोपामुद्रे! तुम्हारे पिताके घरमें जैसे धन-वैभव हैं, वे न तो तुम्हारे पास हैं और न मेरे ही पास (फिर ऐसा कैसे हो सकता है?)॥ २०॥

लोपामुद्रोवाच

ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन।
क्षणेन जीवलोके यद् वसु किंचन विद्यते॥ २१॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! इस जीव-जगत्में जो कुछ भी धन है, वह सब क्षणभरमें आप अपनी तपस्याके प्रभावसे जुटा लेनेमें समर्थ हैं॥ २१॥

अगस्त्य उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत्।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय॥ २२॥

अगस्त्यजीने कहा—प्रिये! तुम्हारा कथन ठीक है। परंतु ऐसा करनेसे तपस्याका क्षय होगा। मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे मेरी तपस्या क्षीण न हो॥ २२॥

लोपामुद्रोवाच

अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन॥ २३॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! मेरे ऋतुकालका थोड़ा ही समय शेष रह गया है। मैं जैसा बता चुकी हूँ, उसके सिवा और किसी तरह आपसे समागम नहीं करना चाहती॥ २३॥

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन।
एवं तु मे यथाकामं सम्पादयितुमर्हसि॥ २४॥

साथ ही मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि किसी प्रकार आपके धर्मका लोप हो। इस प्रकार अपने तप एवं धर्मकी रक्षा करते हुए जिस तरह सम्भव हो उसी तरह आप मेरी इच्छा पूर्ण करें॥ २४॥

अगस्त्य उवाच

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ॥ २५ ॥

अगस्त्यजीने कहा—सुभगे ! यदि तुमने अपनी बुद्धिसे यही मनोरथ पानेका निश्चय कर लिया है तो मैं धन लानेके लिये जाता हूँ, तुम यहीं रहकर इच्छानुसार धर्माचरण करो ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

धन प्राप्त करनेके लिये अगस्त्यका श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु आदिके पास जाना

लोमश उवाच

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! तदनन्तर अगस्त्यजी धन माँगनेके लिये महाराज श्रुतर्वाके पास गये, जिन्हें वे सब राजाओंसे अधिक वैभवसम्पन्न समझते थे ॥ १ ॥

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णाद् सुसत्कृतम् ॥ २ ॥

राजाको जब यह मालूम हुआ कि महर्षि अगस्त्य मेरे यहाँ आ रहे हैं, तब वे मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर चले आये और बड़े आदर-सत्कारसे उन्हें अपने साथ लिवा ले गये ॥ २ ॥

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥

भूपाल श्रुतर्वाने उनके लिये यथायोग्य अर्घ्य निवेदन करके विनीत भावसे हाथ जोड़कर उनके पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ॥ ४ ॥

तब अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धन माँगनेके लिये आपके यहाँ आया हूँ । दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका जितना अंश मुझे दे सकें, दे दें ॥ ४ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजा श्रुतर्वाने महर्षिके सामने अपने आय-व्ययका पूरा ब्योरा रख दिया और कहा—'ज्ञानी महर्षे ! इस धनमेंसे जो आप ठीक समझें, वह ले लें' ॥ ५ ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षि अगस्त्यकी बुद्धि सम थी । उन्होंने आय और व्यय दोनोंको बराबर देखकर यह विचार किया कि इसमेंसे थोड़ा-सा भी धन लेनेपर दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ६ ॥

स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत् ततः ।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ ७ ॥

तब वे श्रुतर्वाको साथ लेकर राजा ब्रध्नश्वके पास गये । उन्होंने भी अपने राज्यकी सीमापर आकर उन दोनों सम्माननीय अतिथियोंकी अगवानी की और विधिपूर्वक उन्हें अपनाया ॥ ७ ॥

तयोरर्घ्यं च पाद्यं च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥

ब्रध्नश्वने उन दोनोंको अर्घ्य और पाद्य निवेदन किये, फिर उनकी आज्ञा ले अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नौ ॥ ९ ॥

अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते ! आपको विदित हो कि हम दोनों आपके यहाँ धनकी इच्छासे आये हैं । दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए जो धन आपके पास बचता हो, उसमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें भी दीजिये ॥ ९ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजा ब्रध्नश्वने भी उन दोनोंके सामने आय और व्ययका पूरा विवरण रख दिया और कहा—आप दोनोंको इसमें जो धन अधिक जान पड़ता हो, वह ले लें' ॥ १० ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥११॥

तब समान बुद्धिवाले ब्रह्मर्षि अगस्त्यने उस विवरणमें आय और व्यय बराबर देखकर यह निश्चय किया कि इसमें-से यदि थोड़ा-सा भी धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ ११ ॥

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम्।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥१२॥

तब अगस्त्य, श्रुतर्वा और ब्रध्नश्व—तीनों पुरुकुत्सनन्दन महाधनी त्रसदस्युके पास गये ॥ १२ ॥

त्रसदस्युस्तु तान् दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥१३॥
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत् प्रयोजनमुपक्रमे ॥१४॥

महाराज ! भूपालोंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी महामना त्रसदस्यु-ने उन्हें आते देख राज्यकी सीमापर पहुँचकर विधिपूर्वक उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन सबसे अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ॥ १३-१४ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामानिह प्राप्तान् विद्धि नः पृथिवीपते।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः॥१५॥

अगस्त्यने कहा—पृथ्वीपते ! आपको विदित हो कि हम धनकी कामनासे यहाँ आये हैं। आप दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका कुछ भाग हम सब-को दीजिये ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत्।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१६॥
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥१७॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उन्हें अपने आय-व्ययका पूरा विवरण दे दिया और कहा—'इसे समझकर जो धन शेष बचता हो, वह आपलोग ले लें।' समबुद्धिवाले महर्षि अगस्त्यने वहाँ भी आय-व्ययका लेखा बराबर देखकर यही माना कि इसमेंसे धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ॥ १६-१७ ॥

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम्।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥१८॥

महाराज ! तब वे सब राजा परस्पर मिलकर एक दूसरे-की ओर देखते हुए महामुनि अगस्त्यसे इस प्रकार बोले—॥१८॥

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान् भुवि।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चार्थामहे वसु ॥१९॥

'ब्रह्मन् ! यह इल्वल दानव इस पृथ्वीपर सबसे अधिक धनी है। हम सब लोग उसीके पास चलकर आज धन माँगें' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम्।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥२०॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय उन सबको इल्वलके यहाँ याचना करना ही ठीक जान पड़ा, अतः वे एक साथ होकर इल्वलके यहाँ शीघ्रतापूर्वक गये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यान-विषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इल्वलके यहाँ धनके लिये जाना, वातापि तथा इल्वलका वध, लोपामुद्राको पुत्रकी प्राप्ति तथा श्रीरामके द्वारा हरे हुए तेजकी परशुरामको तीर्थस्नानद्वारा पुनः प्राप्ति

लोमश उवाच

इल्वलस्तान् विदित्वा तु महर्षिसहितान् नृपान्।
उपस्थितान् सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इल्वलने महर्षिसहित उन राजाओंको आता जान मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर उपस्थित होकर उन सबका पूजन किया ॥ १ ॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत् तदा।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना यदा ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय असुरश्रेष्ठ इल्वलने अपने भाई वातापिका मांस राँधकर उसके द्वारा उन सबका आतिथ्य किया ॥ २ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥

भेड़के रूपमें महान् दैत्य वातापिको ही राँधा गया देख उन सभी राजर्षियोंका मन खिन्न हो गया और वे अचेत-से हो गये ॥ ३ ॥

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान् राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥
धुर्यासनमथासाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद् दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥ ५ ॥

तब ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यने उन राजर्षियोंसे (आश्वासन देते हुए) कहा—'तुमलोगोंको चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं ही इस महादैत्यको खा जाऊँगा ।' ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य प्रधान आसनपर जा बैठे और दैत्यराज इल्वलने हँसते हुए-से उन्हें वह मांस परोस दिया ॥ ४-५ ॥

अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोऽऽह्वानमकरोत् तस्य चेल्वलः ॥ ६ ॥

अगस्त्यजी ही वातापिका सारा मांस खा गये; जब वे भोजन कर चुके, तब असुर इल्वलने वातापिका नाम लेकर पुकारा ॥ ६ ॥

ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ॥ ७ ॥

तात ! उस समय महात्मा अगस्त्यकी गुदासे गर्जते हुए मेघकी भाँति भारी आवाजके साथ अधोवायु निकली ॥ ७ ॥

वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याब्रवीद् राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥

इल्वल बार-बार कहने लगा—'वातापे ! निकलो-निकलो ।' राजन् ! तब मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने उससे हँसकर कहा—॥ ८ ॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ९ ॥

'अब वह कैसे निकल सकता है, मैंने (लोकहितके लिये) उस असुरको पचा लिया है ।' महादैत्य वातापिको पच गया देख इल्वलको बड़ा खेद हुआ ॥ ९ ॥

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥ १० ॥

उसने मन्त्रियोंसहित हाथ जोड़कर उन अतिथियोंसे यह बात पूछी—'आपलोग किस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ १० ॥

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥ ११ ॥

तब महर्षि अगस्त्यने हँसकर इल्वलसे कहा—'असुर ! हम सब लोग तुम्हें शक्तिशाली शासक एवं धनका स्वामी समझते हैं ॥ ११ ॥

एते च नातिधनिनो धनार्थश्च महान् मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ॥ १२ ॥

'ये नरेश अधिक धनवान् नहीं हैं और मुझे बहुत धनकी आवश्यकता आ पड़ी है । अतः दूसरे जीवोंको कष्ट न देते हुए अपने धनमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें दो' ॥ १२ ॥

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥ १३ ॥

तब इल्वलने महर्षिको प्रणाम करके कहा—'मैं कितना धन देना चाहता हूँ ? यह बात यदि आप जान लें तो मैं आपको धन दूँगा' ॥ १३ ॥

अगस्त्य उवाच

गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥ १४ ॥

अगस्त्यजीने कहा—महान् असुर ! तुम इनमेंसे एक-एक राजाको दस-दस हजार गौएँ तथा इतनी ही (दस-दस हजार) सुवर्णमुद्राएँ देना चाहते हो ॥ १४ ॥

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥ १५ ॥

इन राजाओंकी अपेक्षा दूनी गौएँ और सुवर्णमुद्राएँ तुमने मेरे लिये देनेका विचार किया है । महादैत्य ! इसके सिवा एक स्वर्णमय रथ, जिसमें मनके समान तीव्रगामी दो घोड़े जुते हों, तुम मुझे और देना चाहते हो ॥ १५ ॥

(*लोमश उवाच*

इल्वलस्तु मुनिं प्राह सर्वमस्ति यथाऽऽत्थ माम् ।
रथं तु यमवोचो मां नैनं विद्मो हिरण्मयम् ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इसपर इल्वलने अगस्त्य मुनिसे कहा कि 'आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है; किंतु आपने जो मुझसे रथकी बात कही है, उस रथको हमलोग सुवर्णमय नहीं समझते हैं' ॥

अगस्त्य उवाच

न मे वागनृता काचिदुक्तपूर्वा महासुर ।)
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।

अगस्त्यजीने कहा—महादैत्य ! मेरे मुँहसे पहले कभी कोई बात झूठी नहीं निकली है, अतः शीघ्र पता लगाओ, यह रथ निश्चय ही सोनेका है ॥

लोमश उवाच

जिज्ञास्यमानः स रथः कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥ १६ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पता लगानेपर वह रथ सोनेका ही निकला, तब मनमें (भाई-की मृत्युसे) व्यथित हुए उस दैत्यने महर्षिको बहुत अधिक धन दिया ॥ १६ ॥

विरावश्च सुरावश्च तस्मिन् युक्तौ रथे हयौ।
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ॥ १७ ॥
सर्वान् राज्ञः सहागस्त्यान् निमेषादिव भारत।
(इल्वलस्त्वनुगम्यैनमगस्त्यं हन्तुमैच्छत।
भस्म चक्रे महातेजा हुंकारेण महासुरम् ॥
मुनेराश्रममश्वौ तौ निन्यतुर्वातरंहसौ।)
अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥ १८ ॥

उस रथमें विराव और सुराव नामक दो घोड़े जुते हुए थे। वे धनसहित राजाओं तथा अगस्त्य मुनिको शीघ्र ही मानो पलक मारते ही अगस्त्याश्रमकी ओर ले भागे। उस समय इल्वल असुरने अगस्त्य मुनिके पीछे जाकर उनको मारनेकी इच्छा की, परंतु महातेजस्वी अगस्त्यमुनिने उस महादैत्य इल्वलको हुंकारसे ही भस्म कर दिया। तदनन्तर उन वायुके समान वेगवाले घोड़ोंने उन सबको मुनिके आश्रमपर पहुँचा दिया। भरतनन्दन ! फिर अगस्त्यजीकी आज्ञा ले वे राजर्षिगण अपनी-अपनी राजधानीको चले गये और महर्षिने लोपामुद्राकी सभी इच्छाएँ पूर्ण कीं ॥ १७-१८ ॥

लोपामुद्रोवाच

कृतवानसि तत् सर्वं भगवन् मम काङ्क्षितम्।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥ १९ ॥

लोपामुद्रा बोली—भगवन् ! मेरी जो-जो अभिलाषा थी, वह सब आपने पूर्ण कर दी। अब मुझसे एक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न कीजिये ॥ १९ ॥

अगस्त्य उवाच

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥ २० ॥

अगस्त्यजीने कहा—शोभामयी कल्याणी ! तुम्हारे सद्व्यवहारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। पुत्रके सम्बन्धमें तुम्हारे सामने एक विचार उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम्।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥ २१ ॥

क्या तुम्हारे गर्भसे एक हजार या एक सौ पुत्र उत्पन्न हों, जो दसके ही समान हों ? अथवा दस ही पुत्र हों, जो सौ पुत्रोंकी समानता करनेवाले हों ? अथवा एक ही पुत्र हो, जो हजारोंको जीतनेवाला हो ? ॥ २१ ॥

लोपामुद्रोवाच

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन।
एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ॥ २२ ॥

लोपामुद्रा बोली—तपोधन ! मुझे सहस्रोंकी समानता करनेवाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो; क्योंकि बहुत-से दुष्ट पुत्रोंकी अपेक्षा एक ही विद्वान् एवं श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ॥ २३ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब 'तथास्तु' कहकर श्रद्धालु महात्मा अगस्त्यने समान शील-स्वभाववाली श्रद्धालु पत्नी लोपामुद्राके साथ यथासमय समागम किया ॥ २३ ॥

तत आधाय गर्भं तमगमद् वनमेव सः।
तस्मिन् वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ॥ २४ ॥

गर्भाधान करके अगस्त्यजी फिर वनमें ही चले गये। उनके वनमें चले जानेपर वह गर्भ सात वर्षोंतक माताके पेटमें ही पलता और बढ़ता रहा ॥ २४ ॥

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत् स महाकविः।
ज्वलन्निव प्रभावेण दृढस्युर्नाम भारत ॥ २५ ॥

भारत ! सात वर्ष बीतनेपर अपने तेज और प्रभावसे प्रज्वलित होता हुआ वह गर्भ उदरसे बाहर निकला। वही महाविद्वान् दृढस्युके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

साङ्गोपनिषदान् वेदाञ्जपन्निव महातपाः।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥ २६ ॥

महर्षिका वह महातपस्वी और तेजस्वी पुत्र जन्मकालसे ही अङ्ग और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय-सा करता जान पड़ा। दृढस्यु ब्राह्मणोंमें महान् माने गये ॥ २६ ॥

स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥ २७ ॥

पिताके घरमें रहते हुए तेजस्वी दृढस्यु बाल्यकालसे ही इध्म (समिधा) का भार वहन करके लाने लगे; अतः 'इध्मवाह' नामसे विख्यात हो गये ॥ २७ ॥

तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ॥ २८ ॥

अपने पुत्रको स्वाध्याय और समिधानयन कार्यमें संलग्न देख महर्षि अगस्त्य उस समय बहुत प्रसन्न हुए। भारत ! इस प्रकार अगस्त्यजीने उत्तम संतान उत्पन्न की ॥ २८ ॥

लेभिरे पितरश्चास्य लोकान् राजन् यथेप्सितान्।
तत ऊर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याश्रमो भुवि ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर उनके पितरोंने मनोवाञ्छित लोक प्राप्त कर लिये। उसके बादसे यह स्थान इस पृथ्वीपर अगस्त्याश्रमके नामसे विख्यात हो गया ॥ २९ ॥

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः।
तस्यायमाश्रमो राजन् रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥ ३० ॥

वातापि प्रह्लादके गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अगस्त्यजीने इस प्रकार शान्त कर दिया। राजन्! यह उन्हींका रमणीय गुणोंसे युक्त आश्रम है ॥ ३० ॥

एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता ।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥ ३१ ॥

इसके समीप यह वही देवगन्धर्वसेवित पुण्यसलिला भागीरथी है, जो आकाशमें वायुकी प्रेरणासे फहरानेवाली श्वेत पताकाके समान सुशोभित हो रही है ॥ ३१ ॥

प्रतार्यमाणा कूटेषु यथा निम्नेषु नित्यशः।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥ ३२ ॥

यह क्रमशः नीचे-नीचेके शिखरोंपर गिरती हुई सदा तीव्रगतिसे बहती है और शिलाखण्डोंके नीचे इस प्रकार समायी जाती है, मानो भयभीत सर्पिणी बिलमें घुसी जा रही हो ॥

दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत्।
पूर्वं शम्भोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ ३३ ॥

पहले भगवान् शङ्करकी जटासे गिरकर प्रवाहित होनेवाली समुद्रकी प्रियतमा महारानी गङ्गा सम्पूर्ण दक्षिण दिशाको इस प्रकार आप्लावित कर रही है, मानो माता अपनी संतानको नहला रही हो। इस परम पवित्र नदीमें तुम इच्छानुसार स्नान करो ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इधर ध्यान दो, यह महर्षिगणसेवित भृगुतीर्थ है जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ३४ ॥

यत्रोपस्पृष्टवान् रामो हृतं तेजस्तदाऽऽप्तवान्।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥ ३५ ॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि ।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥ ३६ ॥

जहाँ परशुरामजीने स्नान किया और उसी क्षण अपने खोये हुए तेजको पुनः प्राप्त कर लिया। पाण्डुनन्दन ! तुम अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ इसमें स्नान करके दुर्योधन-द्वारा छीने हुए अपने तेजको पुनः प्राप्त कर सकते हो। जैसे दशरथनन्दन श्रीरामसे वैर करनेपर उनके द्वारा अपहृत हुए तेजको परशुरामने यहाँ स्नानके प्रभावसे पुनः पा लिया था ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः।
स्नात्वा देवान् पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया ॥ ३७ ॥

तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद् दीप्ततरं बभौ।
अप्रधृष्यतरश्चासीच्छात्रवाणां नरर्षभ ॥ ३८ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें स्नान कर लेनेपर राजा युधिष्ठिरका रूप अत्यन्त तेजोयुक्त हो प्रकाशमान हो गया। अब वे शत्रुओंके लिये परम दुर्धर्ष हो गये ॥ ३८ ॥

अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः।
भगवन् किमर्थं रामस्य हृतमासीद् वपुः प्रभो।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र ! उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—'भगवन् ! परशुरामजीके तेजका अपहरण किसलिये किया गया था और प्रभो ! वह इन्हें पुनः किस प्रकार प्राप्त हो गया ? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप कृपा करके इस प्रसंगका वर्णन करें' ॥ ३९ ॥

लोमश उवाच

शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः।
जातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः ॥ ४० ॥
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥ ४१ ॥

लोमशजीने कहा—राजेन्द्र ! तुम दशरथनन्दन श्रीराम तथा परम बुद्धिमान् भृगुनन्दन परशुरामजीका चरित्र सुनो। पूर्वकालमें महात्मा राजा दशरथके यहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु अपने ही सच्चिदानन्दमय विग्रहसे श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए थे। उनके अवतारका उद्देश्य था—पापी रावणका

विनाश । अयोध्यामें प्रकट हुए दशरथनन्दन श्रीरामका हम लोग प्रायः दर्शन करते रहते थे ॥ ४०-४१ ॥

ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४२ ॥
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत् पुनः ।
धनुरादाय तद् दिव्यं क्षत्रियाणां निबर्हणम् ॥ ४३ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले दशरथकुमार श्रीरामका भारी पराक्रम सुनकर भृगु तथा ऋचीकके वंशज रेणुकानन्दन परशुराम उन्हें देखनेके लिये उत्सुक हो क्षत्रियसंहारक दिव्य धनुष लिये अयोध्यामें आये ॥ ४२-४३ ॥

जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ॥ ४४ ॥
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ॥ ४५ ॥
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ॥ ४६ ॥
समारोपय यत्नेन यदि शक्तोऽसि पार्थिव ।

उनके शुभागमनका उद्देश्य था दशरथनन्दन श्रीरामके बल-पराक्रमकी परीक्षा करना । महाराज दशरथने जब सुना कि परशुरामजी हमारे राज्यकी सीमापर आ गये हैं, तब उन्होंने मुनिकी अगवानीके लिये अपने पुत्र श्रीरामको भेजा । कुन्तीनन्दन ! श्रीरामचन्द्रजी धनुष-बाण हाथमें लिये आकर खड़े हैं, यह देखकर परशुरामजीने हँसते हुए कहा—'राजेन्द्र ! प्रभो ! भूपाल ! यदि तुममें शक्ति हो तो यत्नपूर्वक इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ । यह वह धनुष है, जिसके द्वारा मैंने क्षत्रियोंका संहार किया है ॥ ४४—४६½ ॥

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाधिक्षेप्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'भगवन् ! आपको इस तरह आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

नाहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्ये न कत्थनम् ॥ ४८ ॥

'मैं भी समस्त द्विजातियोंमें क्षत्रिय-धर्मका पालन करनेमें अधम नहीं हूँ । विशेषतः इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय अपने बाहुबलकी प्रशंसा नहीं करते' ॥ ४८ ॥

तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर परशुरामजी बोले—'रघुनन्दन ! बातें बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं । यह धनुष लो और इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ॥ ४९ ॥

ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद् रामस्य कार्मुकम् ॥ ५० ॥
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ॥ ५१ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामजीने रोषपूर्वक परशुरामका वह वीर क्षत्रियोंका संहारक दिव्य धनुष उनके हाथसे ले लिया । भारत ! उन्होंने लीलापूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । तत्पश्चात् पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराते हुए धनुषकी टंकार फैलायी ॥ ५०-५१ ॥

तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसन्त्यशनेरिव ।
अथाब्रवीत् तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥ ५२ ॥
इदमारोपितं ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥ ५३ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान उस टंकार-ध्वनिको सुनकर सब प्राणी घबरा उठे । उस समय दशरथनन्दन श्रीरामने परशुरामजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! यह धनुष तो मैंने चढ़ा दिया अब और आपका कौन-सा कार्य करूँ?' तब जमदग्निनन्दन परशुरामने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको एक दिव्य बाण दे दिया और कहा—'इसे धनुषपर रखकर अपने कानके पासतक खींचिये' ॥ ५२-५३ ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद् रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ ५४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी मानो क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे और बोले—'भृगुनन्दन ! तुम बड़े घमण्डी हो । मैं तुम्हारी कठोर बातें सुनता हूँ फिर क्षमा कर लेता हूँ ॥ ५४ ॥

त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ ५५ ॥

'तुमने अपने पितामह ऋचीकके प्रभावसे क्षत्रियोंको जीतकर विशेष तेज प्राप्त किया है, निश्चय ही, इसीलिये मुझपर आक्षेप करते हो ॥ ५५ ॥

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ॥ ५६ ॥
आदित्यान् सवसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ ५७ ॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो बालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ॥ ५८ ॥
देवर्षयश्च कात्स्न्र्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ॥ ५९ ॥
चेतोवन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ॥ ६० ॥

'लो ! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ । उसके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका दर्शन करो ।' तब भृगुवंशी परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्य देवता, उनचास मरुद्गण, पितृगण, अग्निदेव, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदियाँ, तीर्थ, सनातन ब्रह्मभूत बालखिल्य ऋषि, देवर्षि, सम्पूर्ण समुद्र, पर्वत, उपनिषदोंसहित वेद, वषट्कार, यज्ञ, साम और धनुर्वेद, इन सभीको चेतनरूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष देखा । भरतनन्दन युधिष्ठिर ! मेघोंके समूह, वर्षा और विद्युत्का भी उनके भीतर दर्शन हो रहा था ॥ ५६—६० ॥

ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ।
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ॥ ६१ ॥
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम् ।
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ॥ ६२ ॥

तदनन्तर भगवान् विष्णुरूप श्रीरामचन्द्रजीने उस बाणको छोड़ा । भारत ! उस समय सारी पृथ्वी बिना बादलकी बिजली और बड़ी-बड़ी उल्काओंसे व्याप्त-सी हो उठी । बड़े जोरकी आँधी उठी और सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी । फिर मेघोंकी घटा घिर आयी और भूतलपर मूसलाधार वर्षा होने लगी । बारबार भूकम्प होने लगा । मेघगर्जन तथा अन्य भयानक उत्पातसूचक शब्द गूँजने लगे ॥ ६१-६२ ॥

स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम् ।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ॥ ६३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंसे प्रेरित हुआ वह प्रज्वलित बाण परशुरामजीको व्याकुल करके केवल उनके तेजको छीनकर पुनः लौट आया ॥ ६३ ॥

स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद् विष्णुतेजसम् ॥ ६४ ॥
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत् पुनः ।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ॥ ६५ ॥

परशुरामजी एक बार मूर्च्छित होकर जब पुनः होशमें आये, तब मरकर जी उठे हुए मनुष्यकी भाँति उन्होंने विष्णुतेज धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामको नमस्कार किया । तत्पश्चात् भगवान् विष्णु श्रीरामकी आज्ञा लेकर वे पुनः महेन्द्र पर्वतपर चले गये । वहाँ भयभीत और लज्जित हो महान् तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ततः संवत्सरेऽतीते हतौजसमवस्थितम् ।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥ ६६ ॥

तदनन्तर एक वर्ष व्यतीत होनेपर तेजोहीन और अभिमानशून्य होकर रहनेवाले परशुरामको दुखी देखकर उनके पितरोंने कहा ॥ ६६ ॥

पितर ऊचुः

न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ ६७ ॥

पितर बोले—तुमने भगवान् विष्णुके पास जाकर जो बर्ताव किया है वह ठीक नहीं था । वे तीनों लोकोंमें सर्वदा पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६७ ॥

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥ ६८ ॥

बेटा ! अब तुम वधूसर नामक पुण्यमयी नदीके तटपर जाओ । वहाँ तीर्थोंमें स्नान करके पूर्ववत् अपना तेजोमय शरीर पुनः प्राप्त कर लोगे ॥ ६८ ॥

दीप्तोदं नाम तत् तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः ।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥ ६९ ॥

राम ! वह दीप्तोदक नामक तीर्थ है, जहाँ देवयुगमें तुम्हारे प्रपितामह भृगुने उत्तम तपस्या की थी ॥ ६९ ॥

तत् तथा कृतवान् रामः कौन्तेय वचनात् पितुः ।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ॥ ७० ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! पितरोंके कहनेसे परशुरामजीने वैसा ही किया । पाण्डुनन्दन ! इस तीर्थमें नहाकर पुनः उन्होंने अपना तेज प्राप्त कर लिया ॥ ७० ॥

एतदीदृशकं तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥ ७१ ॥

तात महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार पूर्वकालमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुराम विष्णुस्वरूप श्रीरामचन्द्र-जीसे भिड़कर इस दशाको प्राप्त हुए थे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जामदग्न्यतेजोहानिकथने एकोनशततमोऽध्यायः ॥९९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें परशुरामके तेजकी हानिविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

वृत्रासुरसे त्रस्त देवताओंको महर्षि दधीचका अस्थिदान एवं वज्रका निर्माण

युधिष्ठिर उवाच

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं पुनः बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम्।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—महाराज ! अमिततेजस्वी महर्षि अगस्त्यकी कथा दिव्य, अद्भुत और अलौकिक है । उनका प्रभाव महान् है । मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥ ३ ॥

सत्युगकी बात है, दैत्योंके बहुत-से भयंकर दल थे, जो कालकेय नामसे विख्यात थे । उनका स्वभाव अत्यन्त निर्दय था । वे युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते थे ॥ ३ ॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः।
समन्तात् पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान् ॥ ४ ॥

उन सबने एक दिन वृत्रासुरकी शरण ले उसकी अध्यक्षतामें नाना प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हो महेन्द्र आदि देवताओंपर चारों ओरसे आक्रमण किया ॥ ४ ॥

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा।
पुरंदरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥ ५ ॥

तब समस्त देवता वृत्रासुरके वधके प्रयत्नमें लग गये । वे देवराज इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५ ॥

कृताञ्जलींस्तु तान् सर्वान् परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद् वः कार्यं चिकीर्षितम्॥ ६ ॥

वहाँ पहुँचकर सब देवता हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'देवताओ ! तुम जो कार्य सिद्ध करना चाहते हो, वह सब मुझे मालूम है ॥ ६ ॥

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥ ७ ॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

'मैं तुम्हें एक उपाय बता रहा हूँ, जिससे तुम वृत्रासुरका वध कर सकोगे । दधीच नामसे विख्यात जो उदारचेता महर्षि हैं, उनके पास जाकर तुम सब लोग एक साथ एक ही वर माँगो । वे बड़े धर्मात्मा हैं । अत्यन्त प्रसन्न मनसे तुम्हें मुँहमाँगी वस्तु देंगे ॥ ७-८ ॥

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ॥ ९ ॥

'जब वे वर देना स्वीकार कर लें, तब विजयकी अभिलाषा रखनेवाले तुम सब लोग उनसे एक साथ यों कहना—'महात्मन् ! आप तीनों लोकोंके हितके लिये अपने शरीरकी हड्डियाँ प्रदान करें' ॥ ९ ॥

स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम् ॥ १० ॥

'तुम्हारे माँगनेपर वे शरीर त्यागकर अपनी हड्डियाँ दे देंगे । उनकी उन हड्डियोंद्वारा तुमलोग सुदृढ़ एवं अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण करो ॥ १० ॥

महच्छत्रुहणं घोरं षडस्रं भीमनिःस्वनम्।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ॥ ११ ॥

'उसकी आकृति षट्कोणके समान होगी । वह महान् एवं घोर शत्रुनाशक अस्त्र भयंकर गड़गड़ाहट पैदा करनेवाला होगा । उस वज्रके द्वारा इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुरका वध कर डालेंगे ॥ ११ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम्।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ॥ १२ ॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याश्रमं ययुः।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १३ ॥

'ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी हैं । अतः अब शीघ्रता करो ।' ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर सब देवता उनकी आज्ञा ले भगवान् नारायणको आगे करके दधीचके आश्रमपर गये । वह आश्रम सरस्वती नदीके उस पार था । अनेक प्रकारके वृक्ष और लताएँ उसे घेरे हुए थीं ॥ १२-१३ ॥

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवं जीवकनादितम् ॥ १४ ॥

भ्रमरोंके गीतोंकी ध्वनिसे वह स्थान इस प्रकार गूँज रहा था, मानो सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंद्वारा सामवेदका पाठ हो रहा हो । कोकिलके कलरवोंसे कूजित और दूसरे जन्तुओं (पशु-पक्षियों) के शब्दोंसे कोलाहलपूर्ण बना हुआ वह आश्रम सजीव-सा जान पड़ता था ॥ १४ ॥

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः ॥ १५ ॥

देवताओंद्वारा वृत्रासुरके वधके लिये दधीचिसे उनकी अस्थियोंकी याचना

देवराज इन्द्रका वज्रके प्रहारसे वृत्रासुरका वध करना

भैंसे, सूअर, बाल मृग और चवँरी गायें बाघ-सिंहोंके भयसे रहित हो उस आश्रमके आस-पास विचर रही थीं ॥ १५ ॥

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोऽवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १६ ॥

अपने कपोलोंसे मदकी धारा बहानेवाले हाथी और हथिनियाँ वहाँ सरोवरके जलमें गोते लगाकर क्रीड़ाएँ कर रहे थे, जिससे आश्रमके चारों ओर कोलाहल-सा हो रहा था ॥

सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥ १७ ॥

पर्वतोंकी गुफाओं तथा कन्दराओंमें लेटे, झाडियोंमें छिपे और वनमें विचरते हुए जोर-जोरसे दहाड़नेवाले सिंहों और व्याघ्रोंकी गर्जनासे वह स्थान गूँज रहा था ॥ १७ ॥

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १८ ॥

विभिन्न स्थानोंमें अधिक शोभा पानेवाला महर्षि दधीचका वह मनोरम आश्रम स्वर्गके समान प्रतीत होता था। देवता लोग वहाँ आ पहुँचे ॥ १८ ॥

तत्रापश्यन् दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥ १९ ॥

उन्होंने देखा, महर्षि दधीच भगवान् सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं । अपने शरीरकी दिव्य कान्तिसे साक्षात् ब्रह्माजीके समान जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

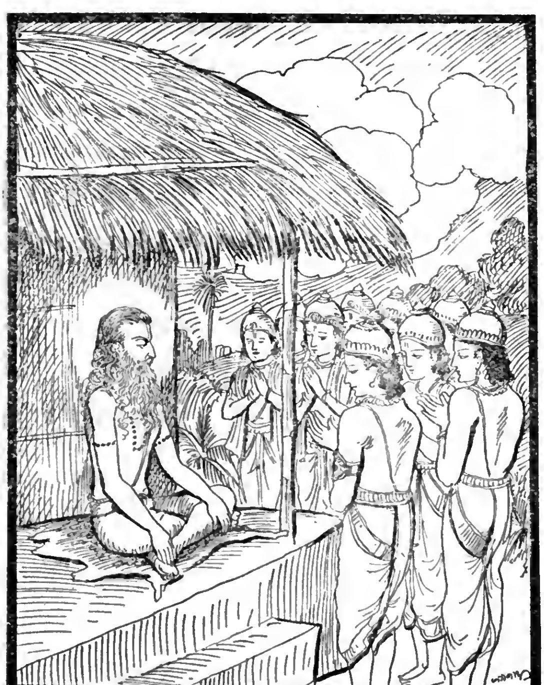

तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय सब देवताओंने महर्षिके चरणोंमें अभिवादन एवं प्रणाम करके ब्रह्माजीने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनसे वर माँगा ॥ २० ॥

ततो दधीचः परमप्रतीतः
सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद् वो हितमद्य देवाः
स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥ २१ ॥

तब महर्षि दधीचने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण ! आज मैं वही करूँगा, जिससे आपलोगोंका हित हो । अपने इस शरीरको मैं स्वयं ही त्याग देता हूँ' ॥ २१ ॥

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः
प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासो-
रस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय महर्षि दधीचने सहसा अपने प्राणोंका त्याग कर दिया । तब देवताओंने ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं ॥ २२ ॥

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवा-
स्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य
प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २३ ॥
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं
कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव
भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २४ ॥

इसके बाद वे हर्षोल्लाससे भरकर विजयकी आशा लिये त्वष्टा प्रजापतिके पास आये और उनसे अपना प्रयोजन बताया। देवताओंकी बात सुनकर त्वष्टा प्रजापति बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने एकाग्रचित्त हो प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया । तत्पश्चात् वे हर्षमें भरकर इन्द्रसे बोले—'देव ! इस उत्तम वज्रसे आप आज ही भयंकर देवद्रोही वृत्रासुरको भस्म कर डालिये ॥ २३-२४ ॥

ततो हतारिः सगणः सुखं वै
प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरंदरस्तद्
वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ॥ २५ ॥

'इस प्रकार शत्रुके मारे जानेपर आप देवगणोंके साथ

स्वर्गमें रहकर सुखपूर्वक सम्पूर्ण स्वर्गका शासन एवं पालन कीजिये।' त्वष्टा प्रजापतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने शुद्धचित्त होकर उनके हाथसे वह वज्र ले लिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वज्रनिर्माणकथनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और असुरोंकी भयंकर मन्त्रणा

लोमश उवाच

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओंसे सुरक्षित हो वृत्रासुरके पास गये। वह असुर भूलोक और आकाशको घेरकर खड़ा था ॥ १ ॥

कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम्।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥

कालकेय नामवाले विशालकाय दैत्य, जो हाथोंमें हथियार लिये होनेके कारण शृङ्गयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे, चारों ओरसे उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

ततो युद्धं समभवद् देवानां दानवैः सह।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन्द्रके आते ही देवताओंका दानवोंके साथ दो घड़ीतक बड़ा भीषण युद्ध हुआ, जो तीनों लोकोंको त्रस्त करनेवाला था ॥ ३ ॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः।
आसीत् सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥

वीरोंकी भुजाओंके साथ उठे हुए खड्ग शत्रुके शरीरोंपर पड़ते और विपक्षी योद्धाओंके घातक प्रहारोंसे टूटकर चूर-चूर हो जाते थे, उस समय उनका अत्यन्त भयंकर शब्द सुन पड़ता था ॥ ४ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाप्यन्तरिक्षान्महीतलम्।
तालैरिव महाराज वृन्ताद् भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥

महाराज! अपने मूल-स्थानसे टूटकर गिरे हुए तालफलोंके समान आकाशसे गिरते हुए योद्धाओंके मस्तकोंद्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ॥ ६ ॥

कालकेयोंने सोनेके कवच धारण करके हाथोंमें परिघ लिये देवताओंपर धावा किया। उस समय वे दानव दावानलसे दग्ध हुए पर्वतोंकी भाँति दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम्।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ७ ॥

अभिमानपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन वेगशाली दैत्योंका वेग देवताओंके लिये असह्य हो गया। वे अपने दलसे बिछुड़कर भयसे भागने लगे ॥ ७ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतो भीतान् सहस्राक्षः पुरंदरः।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥

देवताओंको डरकर भागते देख वृत्रासुरकी प्रगतिका अनुमान करके सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रपर महान् मोह छा गया ॥

कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात् पुरंदरः।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ॥ ९ ॥

कालेयोंके भयसे त्रस्त हुए साक्षात् इन्द्रदेवने सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणकी शीघ्रतापूर्वक शरण ली ॥ ९ ॥

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः।
स्वतेजो व्यदधाच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥ १० ॥

इन्द्रको इस प्रकार मोहाच्छन्न होते देख सनातन भगवान् विष्णुने उनका बल बढ़ाते हुए उनमें अपना तेज स्थापित कर दिया ॥ १० ॥

विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ११ ॥

देवताओंने देखा इन्द्र भगवान् विष्णुके द्वारा सुरक्षित हो गये हैं, तब उन सबने तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षियोंने भी देवराज इन्द्रमें अपना-अपना तेज भर दिया ॥ ११ ॥

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान् समपद्यत ॥ १२ ॥

ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु
ननाद वृत्रो महतो निनादान्।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च
खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥ १३ ॥

देवताओंसहित श्रीविष्णु तथा महाभाग महर्षियोंके तेजसे परिपूर्ण हो देवराज इन्द्र अत्यन्त बलशाली हो गये। देवेश्वर इन्द्रको बलसे सम्पन्न जान वृत्रासुरने बड़ी विकट

गर्जना की। उसके सिंहनादसे भूलोक, सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्गलोक तथा पर्वत सब-के-सब काँप उठे ॥ १२-१३॥

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः
श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम्।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच
वज्रं महत् तस्य वधाय राजन् ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय उस अत्यन्त भयानक गर्जनाको सुनकर देवराज इन्द्र बहुत संतप्त हो उठे और भयभीत होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ वृत्रासुरके वधके लिये अपने महान् वज्रका प्रहार किया ॥ १४ ॥

स शक्रवज्राभिहतः पपात
महासुरः काञ्चनमाल्यधारी।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्
स मन्दरो विष्णुकराद् विमुक्तः॥ १५ ॥

इन्द्रके वज्रसे आहत होकर सुवर्णमालाधारी वह महान् असुर पूर्वकालमें भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए महान् पर्वत मन्दरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

तस्मिन् हते दैत्यवरे भयार्तः
शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम्।
वज्रं स मेने न कराद् विमुक्तं
वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ॥ १६ ॥

महादैत्य वृत्रके मारे जानेपर भी इन्द्र भयसे पीड़ित हो (छिपनेकी इच्छासे) तालाबमें प्रवेश करने दौड़े। उन्हें भयके कारण यह विश्वास नहीं होता था कि वज्र मेरे हाथसे छूट चुका है और वृत्रासुर भी अवश्य मारा गया है ॥ १६ ॥

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा
महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य
जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥ १७ ॥

उस समय सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। महर्षिगण भी हर्षोल्लासमें भरकर इन्द्रदेवकी स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् सब देवताओंने मिलकर वृत्रासुरके वधसे संतप्त हुए समस्त दैत्योंको तुरंत मार भगाया ॥ १७ ॥

तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः
समुद्रमेवाविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं
झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ॥ १८ ॥

तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रु-
स्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञा-
स्तांस्तानुपायाननुवर्णयन्ति ॥ १९ ॥

संगठित देवताओंद्वारा त्रास दिये जानेपर वे सब दैत्य भयसे आतुर हो समुद्रमें ही प्रवेश कर गये। मत्स्यों और मगरोंसे भरे हुए उस अपार महासागरमें प्रविष्ट हो वे सम्पूर्ण दानव तीनों लोकोंका नाश करनेके लिये बड़े गर्वसे एक साथ मन्त्रणा करने लगे। उनमेंसे कुछ दैत्य जो अपनी बुद्धिके निश्चयको स्पष्टरूपसे जाननेवाले थे। (जगत्के विनाशके लिये) उपयोगी विभिन्न उपायोंका वर्णन करने लगे ॥

तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्
घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्ना-
स्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥ २० ॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते
तस्मात् त्वरध्वं तपसः क्षयाय।
ये सन्ति केचिच्च वसुंधरायां
तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ॥ २१ ॥
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव
तेषु प्रणष्टेषु जगत् प्रणष्टम्।
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा
जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ॥ २२ ॥
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं
रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ॥ २३ ॥

वहाँ क्रमशः दीर्घकालतक उपायचिन्तनमें लगे हुए उन असुरोंने यह घोर निश्चय किया कि जो लोग विद्वान् और तपस्वी हों, सबसे पहले उन्हींका विनाश करना चाहिये। सम्पूर्ण लोक तपसे ही टिके हुए हैं। अतः तुम सब लोग तपस्याके विनाशके लिये शीघ्रतापूर्वक कार्य करो। भूमण्डलमें जो कोई भी तपस्वी, धर्मज्ञ एवं उन्हें जानने-माननेवाले लोग हों, उन सबका तुरंत वध कर डालो। उनके नष्ट होनेपर सारा जगत् नष्ट हो जायगा। इस प्रकार बुद्धि और विचारसे हीन वे समस्त दैत्य संसारके विनाशकी बात सोचकर अत्यन्त हर्षका अनुभव करने लगे। उत्ताल तरंगोंसे भरे हुए वरुणके निवासस्थान रत्नाकर समुद्ररूप दुर्गका आश्रय लेकर वे उसमें निर्भय होकर रहने लगे ॥ २०—२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वृत्रवधोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

कालेयोंद्वारा तपस्वियों, मुनियों और ब्रह्मचारियों आदिका संहार तथा देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति

लोमश उवाच

समुद्रं ते समाश्रित्य वारुणं निधिमम्भसः।
कालेयाः सम्प्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! वरुणके निवासस्थान जलनिधि समुद्रका आश्रय लेकर कालेय नामक दैत्य तीनों लोकोंके विनाश-कार्यमें लग गये ॥ १ ॥

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन्।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥

वे सदा रातमें कुपित होकर आते और आश्रमों तथा पुण्य-स्थानोंमें जो निवास करते थे, उन मुनियोंको खा जाते थे ॥ २ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥

उन दुरात्माओंने वसिष्ठके आश्रममें निवास करनेवाले एक सौ अठासी ब्राह्मणों तथा नौ दूसरे तपस्वियोंको अपना आहार बना लिया ॥ ३ ॥

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम्।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥

च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें, जहाँ बहुत-से द्विज निवास करते थे, जाकर उन दैत्योंने फल-मूलका आहार करनेवाले सौ मुनियोंको भक्षण कर लिया ॥ ४ ॥

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ॥ ५ ॥
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान् दानवास्तदा ॥ ६ ॥
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात्।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान् बहून् ॥ ७ ॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम।
एवं प्रवृत्तान् दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे रातमें तपस्वी मुनियोंका संहार करते और दिनमें समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाते थे। भरद्वाज मुनिके आश्रममें वायु और जल पीकर संयम-नियमके साथ रहनेवाले बीस ब्रह्मचारियोंको कालेयोंने कालके गालमें डाल दिया। इस तरह क्रमशः सभी आश्रमोंमें जाकर अपने बाहुबलके भरोसे उन्मत्त रहनेवाले दानव रातमें वहाँके निवासियोंको सर्वथा कष्ट पहुँचाया करते थे। नरश्रेष्ठ! कालेय दानव कालके अधीन हो रहे थे; इसीलिये वे असंख्य ब्राह्मणोंकी हत्या करते चले जा रहे थे। मनुष्योंको उनके इस षड्यन्त्रका पता नहीं लगता था। इस प्रकार वे तपस्याके धनी तापसोंके संहारमें प्रवृत्त हो रहे थे ॥ ५—८ ॥

प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्शिताः।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ९ ॥

प्रातःकाल आनेपर नियमित आहारसे दुर्बल मुनिगण अपने अस्थिमात्रावशिष्ट निष्प्राण शरीरोंसे पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥ १० ॥

राक्षसोंके द्वारा भक्षण करनेके कारण उनके शरीरोंका मांस तथा रक्त क्षीण हो चुका था। वे मज्जा, आँतें और संधि-स्थानों (घुटने आदि) से रहित हो गये थे। इस तरह सब ओर फैली हुई सफेद हड्डियोंके कारण वहाँकी भूमि शंखराशिसे आच्छादित-सी प्रतीत होती थी ॥ १० ॥

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥ ११ ॥

उलटे-पुलटे पड़े हुए कलशों, टूटे-फूटे स्रुवों तथा बिखरी पड़ी हुई अग्निहोत्रकी सामग्रियोंसे उन आश्रमोंकी भूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ११ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम्।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥ १२ ॥

स्वाध्याय और वषट्कार बंद हो गये। यज्ञोत्सव आदि कार्य नष्ट हो गये। कालेयोंके भयसे पीड़ित हुए सम्पूर्ण जगत्में कहीं कोई उत्साह नहीं रह गया था ॥ १२ ॥

एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥ १३ ॥

नरेश्वर! इस प्रकार दिन-दिन नष्ट होनेवाले मनुष्य भयभीत हो अपनी रक्षाके लिये चारों दिशाओंमें भाग गये ॥

केचिद् गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे तथा।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात् प्राणान् समुत्सृजन् ॥ १४ ॥

कुछ लोग गुफाओंमें जा छिपे। कितने ही मानव झरनोंके आसपास रहने लगे और कितने ही मनुष्य मृत्युसे इतने घबरा गये कि भयसे ही उनके प्राण निकल गये ॥ १४ ॥

केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

इस भूतलपर कुछ महान् धनुर्धर शूरवीर भी थे, जो अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे युक्त हो दानवोंके स्थानका पता लगाते हुए उनके दमनके लिये भारी प्रयत्न करने लगे ॥

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥ १६ ॥

परंतु समुद्रमें छिपे हुए दानवोंको वे पकड़ नहीं पाते । उन्होंने बहुत परिश्रम किया और अन्तमें थककर वे पुनः अपने घरको ही लौट आये ॥ १६ ॥

जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥ १७ ॥

मनुजेश्वर ! यज्ञोत्सव आदि कार्योंके नष्ट हो जानेपर जब जगत्‌का विनाश होने लगा, तब देवताओंको बड़ी पीड़ा हुई ॥

समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥ १८ ॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥ १९ ॥

इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर भयसे मुक्त होनेके लिये मन्त्रणा की । फिर वे समस्त देवता सबको शरण देनेवाले, शरणागतवत्सल, अजन्मा एवं सर्वव्यापी, अपराजित वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायणदेवकी शरणमें गये और नमस्कार करके उन मधुसूदनसे बोले—॥ १८-१९ ॥

त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ २० ॥

'प्रभो ! आप ही हमारे स्रष्टा और पालक हैं । आप ही सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेवाले हैं । इस स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि आपने ही की है ॥ २० ॥

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात् पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ॥ २१ ॥

'कमलनयन ! पूर्वकालमें आपने वराहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये समुद्रके जलसे इस खोयी हुई पृथ्वीका उद्धार किया था ॥ २१ ॥

आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

'पुरुषोत्तम ! प्राचीनकालमें आपने ही नृसिंह-शरीर धारण करके महापराक्रमी आदिदैत्य हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥ २२ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद् भ्रंशितस्त्वया ॥ २३ ॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य महादैत्य बलिको भी आपने ही वामनरूप धारण करके त्रिलोकीके राज्यसे वञ्चित किया ॥ २३ ॥

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥ २४ ॥

'यज्ञोंका नाश करनेवाले क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जम्भ नामसे विख्यात असुरको भी आपने ही मार गिराया था ॥

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ २५ ॥

'ऐसे-ऐसे आपके अनेक कर्म हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं है । मधुसूदन ! हम भयभीत देवताओंके एकमात्र आश्रय आप ही हैं ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥ २६ ॥

'देवदेवेश्वर ! इसीलिये लोकहितके उद्देश्यसे हम यह निवेदन कर रहे हैं कि आप सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणियों, देवताओं और इन्द्रकी भी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥'

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां विष्णुस्तवे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें विष्णुस्तुतिविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके आदेशसे देवताओंका महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर जाकर उनकी स्तुति करना

देवा ऊचुः

तव प्रसादाद् वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥

देवता कहते हैं—प्रभो ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार भेदोंवाली सम्पूर्ण प्रजा आपकी कृपासे ही वृद्धिको प्राप्त होती है । अभ्युदयशील होनेपर वे (मानव) प्रजाएँ ही हव्य और कव्योंद्वारा देवताओंका भरण-पोषण करती हैं ॥ १ ॥

लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार सब लोग एक-दूसरेके सहारे उन्नति करते हैं। आपकी ही कृपासे सब प्राणी उद्वेगरहित जीवन बिताते और आपके द्वारा ही सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। भगवन्! मनुष्योंके समक्ष यह बड़ा भारी भय उपस्थित हुआ है। न जाने कौन रातमें आकर इन ब्राह्मणोंका वध कर रहा है ॥ २-३ ॥

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके नष्ट होनेपर सारी पृथ्वी नष्ट हो जायगी और पृथ्वीका नाश होनेपर स्वर्ग भी नष्ट हो जायगा ॥ ४ ॥

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥

महाबाहो! जगत्पते! आप ऐसी कृपा करें, जिससे आपके द्वारा सुरक्षित होकर सब लोग विनाशको न प्राप्त हों ॥

विष्णुरुवाच

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम्।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! प्रजाके विनाशका जो कारण उपस्थित हुआ है, वह सब मुझे ज्ञात है! मैं तुमलोगोंको भी बता रहा हूँ; निश्चिन्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत् सर्वं प्रमाथितम् ॥ ७ ॥

दैत्योंका एक अत्यन्त भयंकर दल है, जो कालेय नामसे विख्यात है। उन दैत्योंने वृत्रासुरका सहारा लेकर सारे संसारमें तहलका मचा दिया था ॥ ७ ॥

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥

परम बुद्धिमान् इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरको मारा गया देख वे अपने प्राण बचानेके लिये समुद्रमें जाकर छिप गये हैं ॥ ८ ॥

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम्।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥ ९ ॥

नाक और ग्राहोंसे भरे हुए भयंकर समुद्रमें घुसकर वे सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये रातमें निकलते तथा यहाँ ऋषियोंकी हत्या करते हैं ॥ ९ ॥

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम् ॥ १० ॥

उन दानवोंका संहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे दुर्गम समुद्रके आश्रयमें रहते हैं। अतः तुमलोगोंको समुद्रको सुखानेका विचार करना चाहिये ॥ १० ॥

अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ।११।

महर्षि अगस्त्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समुद्रका शोषण करनेमें समर्थ हो। समुद्रको सुखाये बिना वे दानव काबूमें नहीं आ सकते ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम्।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ॥ १२ ॥

भगवान् विष्णुकी कही हुई यह बात सुनकर देवता ब्रह्माजीकी आज्ञा ले अगस्त्यके आश्रमपर गये ॥ १२ ॥

तत्रापश्यन् महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम्।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १३ ॥

वहाँ उन्होंने मित्रावरुणके पुत्र महात्मा अगस्त्यजीको देखा। उनका तेज उद्भासित हो रहा था। जैसे देवतालोग ब्रह्माजीके पास बैठते हैं, उसी प्रकार बहुत-से ऋषि-मुनि उनके निकट बैठे थे ॥ १३ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम्।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १४ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रावरुण-नन्दन तपोराशि महात्मा अगस्त्य आश्रममें ही विराजमान थे। देवताओंने समीप जाकर उनके अद्भुत कर्मोंका वर्णन करते हुए स्तुति प्रारम्भ की ॥ १४ ॥

देवा ऊचुः

नहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात् स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ॥ १५ ॥

देवता बोले—भगवन् ! पूर्वकालमें राजा नहुषके अन्यायसे संतप्त हुए लोकोंकी आपने ही रक्षा की थी। आपने ही उस लोककण्टक नरेशको देवेन्द्रपद तथा स्वर्गसे नीचे गिरा दिया था ॥ १५ ॥

क्रोधात् प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः।
वचस्त्वानतिक्रामन् विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥ १६ ॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यदेवपर क्रोध करके जब सहसा बढ़ने लगा, तब आपने ही उसे रोका था। आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए विन्ध्यगिरि आज भी बढ़ नहीं रहा है ॥ १६ ॥

तमसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृत्तिं परमां गताः ॥ १७ ॥

विन्ध्यगिरिके बढ़नेसे जब सारे जगत्‌में अन्धकार छा गया और सारी प्रजा मृत्युसे पीड़ित होने लगी। उस समय आपको ही अपना रक्षक पाकर सबने अत्यन्त हर्षका अनुभव किया था ॥ १७ ॥

अस्माकं भवभीतानां नित्यशो भगवान् गतिः।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥ १८ ॥

सदा आप ही हम भयभीत देवताओंके लिये आश्रय होते आये हैं। अतः इस समय भी संकटमें पड़कर हम आपसे वर माँग रहे हैं; क्योंकि आप ही वर देनेके योग्य हैं ॥ १८ ॥

इस श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका विन्ध्यपर्वतको बढ़नेसे रोकना और देवताओंके साथ सागर-तटपर जाना

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने ! विन्ध्यपर्वत किस लिये क्रोधसे मूर्छित हो सहसा बढ़ने लगा था ? मैं इस प्रसंगको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम्।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! सूर्यदेव सुवर्णमय महान् पर्वत गिरिराज मेरुकी उदय और अस्तके समय परिक्रमा किया करते हैं ॥ २ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाब्रवीत्।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥ ३ ॥
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
नाहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम्।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥ ५ ॥

उन्हें ऐसा करते देख विन्ध्यगिरिने उनसे कहा—'भास्कर ! जैसे आप मेरुकी प्रतिदिन परिक्रमा करते हैं, उसी तरह मेरी भी कीजिये ।' यह सुनकर भगवान् सूर्यने गिरिराज विन्ध्यसे कहा—'गिरिश्रेष्ठ ! मैं अपनी इच्छासे मेरुगिरिकी परिक्रमा नहीं करता हूँ। जिन्होंने इस संसारकी सृष्टि की है, उन विधाताने मेरे लिये यही मार्ग निश्चित किया है' ॥ ३—५ ॥

एवमुक्तस्ततः क्रोधात् प्रवृद्धः सहसाचलः।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन् परंतप ॥ ६ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर विन्ध्य-पर्वत सहसा कुपित हो सूर्य और चन्द्रमाका मार्ग रोक लेनेकी इच्छासे बढ़ने लगा ॥ ६ ॥

ततो देवाः सहिताः सर्व एव
विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम्।
निवारयामासुरुपायतस्तं
न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ७ ॥

यह देख सब देवता एक साथ मिलकर महान् पर्वत-राज विन्ध्यके पास गये और अनेक उपायोंद्वारा उसके क्रोधका निवारण करने लगे; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ ७ ॥

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं
तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं
तं चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥ ८ ॥

तब वे सब देवता मिलकर अपने आश्रमपर विराजमान धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तपस्वी अगस्त्य मुनिके पास गये, जो अद्भुत प्रभावशाली थे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना प्रयोजन कह सुनाया ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा।
शैलराजो वृणोत्येष विन्ध्यः क्रोधवशानुगः॥ ९॥
तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चिद् द्विजोत्तम।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय॥ १०॥

देवता बोले--द्विजश्रेष्ठ ! यह पर्वतराज विन्ध्य क्रोधके वशीभूत होकर सूर्य और चन्द्रमाके मार्ग तथा नक्षत्रोंकी गतिको रोक रहा है। महाभाग ! आपके सिवा दूसरा कोई इसका निवारण नहीं कर सकता। अतः आप चलकर इसे रोकिये॥ ९-१०॥

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात्।
सोऽभिगम्याब्रवीद् विन्ध्यं सदारः समुपस्थितः॥११॥

देवताओंकी यह बात सुनकर विप्रवर अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्राके साथ विन्ध्यपर्वतके समीप गये और वहाँ उपस्थित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

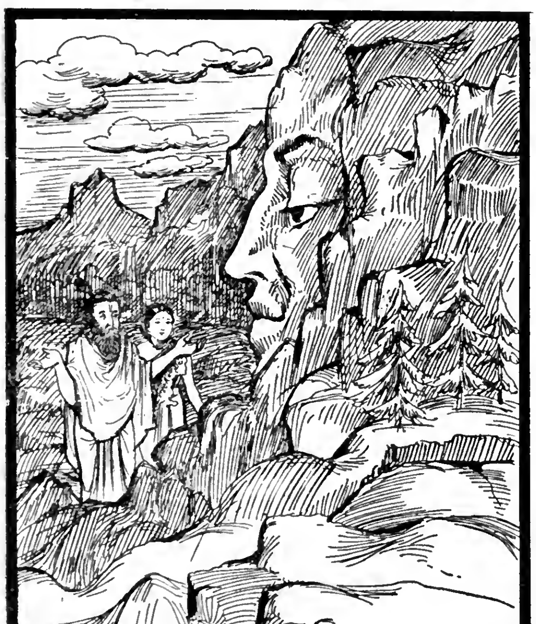

मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम।
दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्येण केनचित्॥ १२॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! मैं किसी कार्यसे दक्षिण दिशाको जा रहा हूँ, मेरी इच्छा है, तुम मुझे मार्ग प्रदान करो॥ १२॥

यावदागमनं मह्यं तावत् त्वं प्रतिपालय।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः॥ १३॥

'जबतक मैं पुनः लौटकर न आऊँ, तबतक मेरी प्रतीक्षा करते रहो। शैलराज ! मेरे लौट आनेपर तुम पुनः इच्छानुसार बढ़ते रहना'॥ १३॥

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्शन।
अद्यापि दक्षिणाद् देशाद् वारुणिर्न निवर्तते॥ १४॥

शत्रुसूदन ! विन्ध्यके साथ ऐसा नियम करके मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यजी चले गये और आजतक दक्षिण प्रदेशसे नहीं लौटे॥ १४॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्धते।
अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ १५॥

राजन् ! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, वह सब प्रसंग मैंने कह दिया। महर्षि अगस्त्यके ही प्रभावसे विन्ध्यपर्वत बढ़ नहीं रहा है॥ १५॥

कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः।
अगस्त्याद् वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु॥ १६॥

राजन् ! सब देवताओंने अगस्त्यसे वर पाकर जिस प्रकार कालेय नामक दैत्योंका संहार किया, वह बता रहा हूँ, सुनो—॥ १६॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत्।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन्॥ १७॥
(सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा पुरंदरपुरोगमाः।)

देवताओंकी बात सुनकर मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यने पूछा—'देवताओ ! आपलोग किसलिये यहाँ पधारे हैं और मुझसे कौन-सा वर चाहते हैं ?' उनके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रको आगे करके सब देवताओंने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा॥—

एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्यं
महार्णवं पीयमानं महात्मन्।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्
कालेयसंज्ञान् सुरविद्विषस्तान्॥ १८॥

'महात्मन् ! हम आपके द्वारा यह सम्पन्न कराना चाहते हैं कि आप सारे महासागरके जलको पी जायँ। तदनन्तर हमलोग देवद्रोही कालेय नामक दानवोंका उनके बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालेंगे'॥ १८॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत्।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत् सुखम्॥ १९॥

देवताओंका यह कथन सुनकर महर्षि अगस्त्यने कहा—'बहुत अच्छा' मैं आपलोगोंका मनोरथ पूर्ण करूँगा। इससे सम्पूर्ण लोकोंको महान् सुख प्राप्त होगा'॥ १९॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत् समुद्रं सरितां पतिम्।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रत॥ २०॥

सुव्रत ! ऐसा कहकर अगस्त्यजी देवताओं तथा तपःसिद्ध ऋषियोंके साथ नदीपति समुद्रके तटपर गये ॥ २० ॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २१ ॥

उस समय मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर सभी उस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये उन महात्माके पीछे चल दिये ॥ २१ ॥

ततोऽभ्यगच्छन् सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥ २२॥

फिर वे सब लोग एक साथ भयंकर गर्जना करनेवाले समुद्रके समीप गये, जो अपने उत्ताल तरङ्गोंद्वारा मानो नृत्य कर रहा था और वायुके द्वारा उछलता-कूदता-सा जान पड़ता था ॥ २२॥

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥ २३ ॥

वह फेनोंके समुदायद्वारा मानो अपनी हास्य-छटा बिखेर रहा था और कन्दराओंसे टकराता-सा जान पड़ता था। उसमें नाना प्रकारके ग्राह आदि जलजन्तु भरे हुए थे तथा बहुत-से पक्षी निवास करते थे ॥ २३ ॥

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ॥ २४ ॥

अगस्त्यजीके साथ देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग और महाभाग ऋषिगण सभी महासागरके तटपर जा पहुँचे ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योदधिगमने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यका समुद्रतटपर गमनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीके द्वारा समुद्रपान और देवताओंका कालेय दैत्योंका वध करके ब्रह्माजीसे समुद्रको पुनः भरनेका उपाय पूछना

लोमश उवाच

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान् देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! समुद्रके तटपर जाकर मित्रावरुण-नन्दन भगवान् अगस्त्यमुनि वहाँ एकत्र हुए देवताओं तथा समागत ऋषियोंसे बोले—'मैं लोकहितके लिये समुद्रका जल पी लेता हूँ । फिर आपलोगोंको जो कार्य करना हो, उसे शीघ्र पूरा कर लें' ॥ १-२ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रावरुणकुमार अगस्त्यजी कुपित हो सब लोगोंके देखते-देखते समुद्रको पीने लगे ॥ ३ ॥

पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदामराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ॥ ४ ॥

उन्हें समुद्रपान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता

बड़े विस्मित हुए और स्तुतियोंद्वारा उनका समादर करने लगे ॥

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात् समुच्छेदं न गच्छेत् सामरं जगत्॥ ५ ॥

'लोकभावन महर्षे ! आप हमारे रक्षक तथा सम्पूर्ण लोकोंके विधाता हैं। आपकी कृपासे अब देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको नहीं प्राप्त होगा' ॥ ५ ॥

स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा
गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो
महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥

इस प्रकार जब देवता महात्मा अगस्त्यकी प्रशंसा कर रहे थे, सब ओर गन्धर्वोंके वाद्योंकी ध्वनि फैल रही थी और अगस्त्यजीपर दिव्य फूलोंकी बौछार हो रही थी, उसी समय अगस्त्यजीने सम्पूर्ण महासागरको जलशून्य कर दिया ॥

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं
सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि
तान् दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥

उस महासमुद्रको निर्जल हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने दिव्य एवं श्रेष्ठ आयुध लेकर अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न हो दानवोंपर आक्रमण किया ॥७॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभि-
र्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां
वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

महान् बलवान् वेगशाली और महाबुद्धिमान् देवता जब सिंहगर्जना करते हुए दैत्योंको मारने लगे, उस समय वे उन वेगवान् महामना देवताओंका वेग न सह सके ॥ ८ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिःस्वनाः।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! देवताओंकी मार पड़नेपर दानवोंने भी भयंकर गर्जना करते हुए दो घड़ीतक उनके साथ घोर युद्ध किया ॥ ९ ॥

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥ १० ॥

उन दैत्योंको शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंने अपनी तपस्याद्वारा पहलेसे ही दग्ध-सा कर रखा था, अतः पूरी शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक प्रयास करनेपर भी देवताओंद्वारा वे मार डाले गये ॥ १० ॥

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥

सोनेकी मोहरोंकी मालाओंसे भूषित तथा कुण्डल एवं बाजूबंदधारी दैत्य वहाँ मारे जाकर खिले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति अधिक शोभा पा रहे थे ॥ ११ ॥

हतशेषास्ततः केचित् कालेया मनुजोत्तम।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! मरनेसे बचे हुए कुछ कालेय दैत्य वसुन्धरा देवीको विदीर्ण करके पातालमें चले गये ॥ १२ ॥

निहतान् दानवान् दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम्।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

सब दानवोंको मारा गया देख देवताओंने नाना प्रकारके वचनोंद्वारा मुनिवर अगस्त्यजीका स्तवन किया और यह बात कही—॥ १३ ॥

त्वत्प्रसादान्महाभाग लोकैः प्राप्तं महत् सुखम्।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥

'महाभाग ! आपकी कृपासे समस्त लोकोंने महान् सुख प्राप्त किया है; क्योंकि क्रूरतापूर्ण पराक्रम दिखानेवाले कालेय दैत्य आपके तेजसे दग्ध हो गये ॥ १४ ॥

पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन।
यत् त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन् पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥

'मुने ! आपकी बाँहें बड़ी हैं। आप नूतन संसारकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं। अब आप समुद्रको फिर भर दीजिये। आपने जो इसका जल पी लिया है, उसे फिर इसीमें छोड़ दीजिये ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान् मुनिपुङ्गवः।
(तांस्तदा सहितान् देवानगस्त्यः सपुरन्दरान्।)
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ॥ १६ ॥
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ॥ १७ ॥
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः।
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिप्रवर भगवान् अगस्त्यने वहाँ एकत्र हुए इन्द्र आदि समस्त देवताओंसे उस समय यों कहा— 'देवगण ! वह जल तो मैंने पचा लिया, अतः समुद्रको भरनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहकर आपलोग कोई दूसरा ही उपाय सोचें।' शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका यह वचन सुनकर सब देवता बड़े विस्मित हो गये; उनके मनमें विषाद छा गया। वे आपसमें सलाह करके मुनिवर अगस्त्यजीको प्रणाम कर वहाँसे चल दिये ॥ १६-१८ ॥

प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम्।
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर सारी प्रजा जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी। देवतालोग भगवान् विष्णुके साथ ब्रह्माजीके पास गये ॥

पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः।
(ते धातारमुपागम्य त्रिदशाः सह विष्णुना।)
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ॥ २० ॥

समुद्रको भरनेके उद्देश्यसे बार-बार आपसमें सलाह करके श्रीविष्णुसहित सब देवता ब्रह्माजीके निकट जा हाथ जोड़कर यह पूछने लगे कि 'समुद्रको पुनः भरनेके लिये क्या उपाय किया जाय' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

राजा सगरका संतानके लिये तपस्या करना और शिवजीके द्वारा वरदान पाना

लोमश उवाच

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! तब लोकपितामह ब्रह्माजीने अपने पास आये हुए सब देवताओंसे कहा—'देवगण ! इस समय तुम सब लोग इच्छानुसार अभीष्ट स्थानको चले जाओ ॥ १ ॥

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः ॥ २ ॥
पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।

'अब दीर्घकालके पश्चात् समुद्र फिर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें आ जायगा । महाराज भगीरथ अपने कुटुम्बी जनों (प्रपितामहों) के उद्धारका उद्देश्य लेकर जलनिधि समुद्रको पुनः अगाध जल-राशिसे भर देंगे' ॥ २½ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन् कारणं चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन् ! भगीरथके कुटुम्बीजन समुद्रकी पूर्तिमें निमित्त क्योंकर बने ? मुने ! उनके निमित्त बननेका कारण क्या है और भगीरथके आश्रयसे किस प्रकार समुद्रकी पूर्ति हुई ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ५ ॥

तपोधन ! विप्रवर ! मैं यह प्रसङ्ग, जिसमें राजाओंके उत्तम चरित्रका वर्णन है, आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर लोमशने महात्मा राजा सगरका माहात्म्य बतलाया ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ॥ ७ ॥

लोमशजी बोले—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें सगर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे रूप, धैर्य और बलसे सम्पन्न तथा बड़े प्रतापी थे, परंतु उनके कोई पुत्र न था ॥ ७ ॥

स हैहयान् समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ॥ ८ ॥

भारत ! उन्होंने हैहय तथा तालजङ्घनामक क्षत्रियोंका संहार करके सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया और अपने राज्यका शासन करने लगे ॥ ८ ॥

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा सगरके दो पत्नियाँ थीं, वैदर्भी और शैब्या । उन दोनोंको ही अपने रूप और यौवनका बड़ा अभिमान था ॥ ९ ॥

स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स्म महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ १० ॥
स तप्यमानः सुमहत् तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ ११ ॥
शंकरं भवमीशानं शूलपाणिं पिनाकिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! राजा सगर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कैलास पर्वतपर जाकर पुत्रकी इच्छासे बड़ी भारी तपस्या

करने लगे । योगयुक्त होकर महान् तपमें लगे हुए महाराज सगरको त्रिपुरनाशक, त्रिनेत्रधारी, शंकर, भव, ईशान, शूलपाणि, पिनाकी, त्र्यम्बक, उग्रेश, बहुरूप और उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध महात्मा भगवान् शिवका दर्शन हुआ ॥

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थं समयाचत ॥ १३ ॥
तं प्रीतिमान् हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन् वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १४ ॥

वरदायक भगवान् शिवको देखते ही महाबाहु राजा सगरने दोनों पत्नियोंसहित प्रणाम किया और पुत्रके लिये

याचना की । तब भगवान् शिवने प्रसन्न होकर पत्नीसहित नृपश्रेष्ठ सगरसे कहा—'राजन् ! तुमने यहाँ जिस मुहूर्तमें वर माँगा है, उसका परिणाम यह होगा ॥ १३-१४ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां सम्भविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥ १५ ॥
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां सम्भविष्यति ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम्हारी एक पत्नीके गर्भसे अत्यन्त अभिमानी साठ हजार शूरवीर पुत्र होंगे, परंतु वे सब-के-सब एक ही साथ नष्ट हो जायँगे । भूपाल ! तुम्हारी जो दूसरी पत्नी है, उसके गर्भसे एक ही शूरवीर वंशधर पुत्र उत्पन्न होगा' ॥

एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥ १८ ॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ सम्बभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ॥ १९ ॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर भगवान् शङ्कर वहीं अन्तर्धान हो गये । राजा सगर भी अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो पत्नियोंसहित अपने निवासस्थानको चले गये । नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनकी वे दोनों कमलनयनी पत्नियाँ वैदर्भी और शैब्या गर्भवती हुईं । फिर समय आनेपर वैदर्भीने अपने गर्भसे एक तूँबी उत्पन्न की और शैब्याने देवताके समान सुन्दर रूपवाले एक पुत्रको जन्म दिया । राजा सगरने उस तूँबीको फेंक देनेका विचार किया ॥ १७—२० ॥

अथान्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान् न त्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥ २२ ॥

इसी समय आकाशसे एक गम्भीर वाणी सुनायी दी—'राजन् ! ऐसा दुःसाहस न करो । अपने इन पुत्रोंका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है । इस तूँबीमेंसे एक-एक बीजको निकालकर घीसे भरे हुए गरम घड़ोंमें अलग-अलग रक्खो और यत्नपूर्वक इन सबकी रक्षा करो ॥ २१-२२ ॥

ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि पार्थिव ।
महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २३ ॥

'पृथ्वीपते ! ऐसा करनेसे तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे । नरश्रेष्ठ ! महादेवजीने तुम्हारे लिये इसी क्रमसे पुत्र-जन्म होनेका निर्देश किया है; अतः तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सगरसंततिकथने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सगरसंततिवर्णनविषयक एक सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति, साठ हजार सगरपुत्रोंका कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्म होना, असमञ्जसका परित्याग, अंशुमान्‌के प्रयत्नसे सगरके यज्ञकी पूर्ति, अंशुमान्‌से दिलीपको और दिलीपसे भगीरथको राज्यकी प्राप्ति

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वान्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्दधद् भरतर्षभ ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह आकाशवाणी सुनकर भूपालशिरोमणि राजा सगरने उसपर विश्वास करके उसके कथनानुसार सब कार्य किया ॥ १ ॥

एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः ॥ २ ॥

नरेशने एक-एक बीजको अलग करके उन सबको घीसे भरे हुए घड़ोंमें रक्खा ॥ २ ॥

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥ ३ ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः।
रुद्रप्रसादाद् राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ ४ ॥

फिर पुत्रोंकी रक्षाके लिये तत्पर हो सबके लिये पृथक्-पृथक् धायें नियुक्त कर दीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस अनुपम तेजस्वी नरेशके साठ हजार महाबली पुत्र उन घड़ोंमेंसे निकल आये। युधिष्ठिर ! राजर्षि सगरके वे सभी पुत्र भगवान् शिवकी कृपासे ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३-४ ॥

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः।
बहुत्वाच्चावजानन्तः सर्वाँल्लोकान् सहामरान् ॥ ५ ॥

वे सब-के-सब भयंकर स्वभाववाले और क्रूरकर्मा थे। आकाशमें भी सब ओर घूम-फिर सकते थे। उनकी संख्या अधिक होनेके कारण वे देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंकी अवहेलना करते थे ॥ ५ ॥

त्रिदशांश्चाप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान्।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ६ ॥

समरभूमिमें शोभा पानेवाले वे शूरवीर राजकुमार देवताओं, गन्धर्वों, राक्षसों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको कष्ट दिया करते थे ॥ ६ ॥

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ७ ॥

मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंद्वारा सताये हुए सब लोग सम्पूर्ण देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ७ ॥

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ८ ॥

उस समय सर्वलोकपितामह महाभाग ब्रह्माने उनसे कहा—'देवताओ ! तुम सभी इन सब लोगोंके साथ जैसे आये हो, वैसे लौट जाओ ॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान्।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ९ ॥

'अब थोड़े ही दिनोंमें अपने ही किये हुए अपराधोंद्वारा इन सगरपुत्रोंका अत्यन्त घोर और महान् संहार होगा' ॥ ९ ॥

एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उनके ऐसा कहनेपर सब देवता तथा अन्य लोग ब्रह्माजीकी आज्ञा ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ १० ॥

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर पराक्रमी राजा सगरने अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली ॥ ११ ॥

तस्याश्वो व्यचरद् भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः।
(सर्वैरेव महोत्साहैः स्वच्छन्दप्रचरो नृप।)
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥ १२ ॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥ १३ ॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम्।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ १४ ॥
(ससमुद्रवनद्वीपां विचरन्तो वसुन्धराम्।)

राजन् ! उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही सभी पुत्रोंद्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्दगतिसे पृथ्वीपर विचरने लगा। जब वह अश्व भयंकर दिखायी देनेवाले जलशून्य समुद्रके तटपर आया, तब प्रयत्नपूर्वक रक्षित होनेपर भी वहाँ सहसा अदृश्य हो गया। तात ! तब उस उत्तम अश्वको अपहृत जानकर सगरपुत्रोंने पिताके पास आकर कहा—'हमारे यज्ञिय अश्वको किसीने चुरा लिया, अब वह दिखायी नहीं देता।' यह सुनकर राजा सगरने कहा—'तुम सब लोग समुद्र, वन और द्वीपोंसहित सारी पृथ्वीपर विचरते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें जाकर उस अश्वका पता लगाओ' ॥ १२—१४ ॥

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम्।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १५ ॥

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥ १६ ॥

महाराज ! तदनन्तर वे पिताकी आज्ञा ले इस सम्पूर्ण भूतलमें सभी दिशाओंमें अश्वकी खोज करने लगे । खोजते-खोजते सभी सगरपुत्र एक-दूसरेसे मिले, परंतु वे अश्व तथा अश्वहर्ताका पता न लगा सके ॥ १५-१६ ॥

आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥ १७ ॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजञ्छासनात् तव पार्थिव ॥ १८ ॥
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥ २० ॥
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥ २१ ॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥ २२ ॥

तब वे पिताके पास आकर उनके आगे हाथ जोड़कर बोले—'महाराज ! हमने आपकी आज्ञासे समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वन्य प्रदेशोंसहित सारी पृथ्वी खोज डाली, परंतु हमें न तो अश्व मिला न उसका चुरानेवाला ही ।' युधिष्ठिर ! उनकी यह बात सुनकर राजा सगर क्रोधसे मूर्च्छित हो उठे और उस समय दैववश उन सबसे इस प्रकार बोले—'जाओ, लौटकर न आना । पुनः घोड़ेका पता लगाओ । पुत्रो ! उस यज्ञके अश्वको लिये विना वापस न आना ।' पिताका वह संदेश शिरोधार्य करके सगरपुत्रोंने फिर सारी पृथ्वीपर अश्वको ढूँढ़ना आरम्भ किया । तदनन्तर उन वीरोंने एक स्थानपर पृथ्वीमें दरार पड़ी हुई देखी ॥ १७—२२ ॥

समासाद्य बिलं तच्चाप्यखनन् सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्ह्रेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ॥ २३ ॥

उस बिलके पास पहुँचकर सगरपुत्रोंने कुदालों और फावड़ोंसे समुद्रको प्रयत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत् परमामार्तिं दीर्यमाणः समन्ततः ॥ २४ ॥
असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥ २५ ॥

एक साथ लगे हुए सगरकुमारोंके खोदनेपर सब ओरसे विदीर्ण होनेवाले समुद्रको बड़ी पीड़ाका अनुभव होता था । सगरपुत्रोंके हाथों मारे जाते हुए असुर, नाग, राक्षस और नाना प्रकारके जन्तु बड़े जोरसे आर्तनाद करते थे ॥ २४-२५ ॥

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २६ ॥

सैकड़ों और हजारों ऐसे प्राणी दिखायी देने लगे, जिनके मस्तक कट गये थे, शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे, चमड़े छिल गये थे तथा हड्डियोंके जोड़ टूट गये थे ॥ २६ ॥

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान् कालो न चाश्वः समदृश्यत ॥ २७ ॥

इस प्रकार वरुणके निवासभूत समुद्रकी खुदाई करते-करते उनका बहुत समय बीत गया, परंतु वह अश्व कहीं दिखायी नहीं दिया ॥ २७ ॥

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥ २८ ॥
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ॥ २९ ॥

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सगरपुत्रोंने समुद्रके पूर्वोत्तर प्रदेशमें पाताल फोड़कर प्रवेश किया और वहाँ उस यज्ञिय अश्वको पृथ्वीपर विचरते देखा । वहीं तेजकी परम उत्तम राशि महात्मा कपिल बैठे थे, जो अपने दिव्य तेजसे उसी प्रकार उद्भासित हो रहे थे, जैसे लपटोंसे अग्नि ॥

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ॥ ३० ॥
संक्रुद्धाः सम्प्रधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

राजन् ! उस अश्वको देखकर उनके शरीरमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया । वे कालसे प्रेरित हो क्रोधमें भरकर महात्मा कपिलका अनादर करके उस अश्वको पकड़नेके लिये दौड़े ।

महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें सगरपुत्रोंका भस्म होना

महर्षि अगस्त्यका समुद्रपान

महाराज ! तब मुनिश्रेष्ठ कपिल कुपित हो उठे ॥ ३०-३१ ॥

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम् ।
स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ॥ ३२ ॥
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान् ।

मुनिप्रवर कपिल वे ही भगवान् विष्णु हैं, जिन्हें वासुदेव कहते हैं । उन महातेजस्वीने विकराल आँखें करके अपना तेज उनपर छोड़ दिया और मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंको जला दिया ॥ ३२½ ॥

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद् भूतान् नारदः सुमहातपाः ॥ ३३ ॥
सगरान्तिकमागच्छत् तच्च तस्मै न्यवेदयत् ।
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ॥ ३४ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
(स पुत्रनिधनोद्भूतदुःखेन समभिप्लुतः ।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य हयमेवान्वचिन्तयत् ॥)
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ॥ ३५ ॥
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ॥ ३६ ॥
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ।
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥ ३७ ॥

उन्हें भस्म हुआ देख महातपस्वी नारदजी राजा सगरके समीप आये और उनसे सब समाचार निवेदित किया । मुनिके मुखसे निकले हुए इस घोर वचनको सुनकर राजा सगर दो घड़ीतक अनमने हो महादेवजीके कथनपर विचार करते रहे । पुत्रकी मृत्युजनित वेदनासे अत्यन्त दुखी हो स्वयं ही अपने आपको सान्त्वना दे उन्होंने अश्वको ही ढूँढ़नेका विचार किया । भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर असमञ्जसके पुत्र अपने पौत्र अंशुमान्‌को बुलाकर यह बात कही—'तात ! मेरे अमिततेजस्वी साठ हजार पुत्र मेरे ही लिये महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें पड़कर नष्ट हो गये । अनघ ! पुरवासियोंके हितकी रक्षा रखकर धर्मकी रक्षा करते हुए मैंने तुम्हारे पिताको भी त्याग दिया है' ॥ ३३—३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान् दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन ! नृपश्रेष्ठ सगरने किसलिये अपने दुस्त्यज वीर पुत्रका त्याग किया था, यह मुझे बताइये ॥

लोमश उवाच

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ॥ ३९ ॥
(क्रीडतः सहसाऽऽसाद्य तत्र तत्र महीपते ।)
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥ ४० ॥
सगरं चाभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥ ४१ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! सगरका वह पुत्र जिसे रानी शैब्याने उत्पन्न किया था, असमञ्जसके नामसे विख्यात हुआ । वह जहाँ-तहाँ खेल-कूदमें लगे हुए पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंके समीप सहसा पहुँच जाता और चीखते-चिल्लाते रहनेपर भी उनका गला पकड़कर उन्हें नदीमें फेंक देता था । तब समस्त पुरवासी भय और शोकमें मग्न हो राजा सगरके पास आये और हाथ जोड़े खड़े हो इस प्रकार कहने लगे—'महाराज ! आप शत्रुसेना आदिके भयसे हमारी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ३९—४१ ॥

असमञ्जोभयाद् घोरात् ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ॥ ४३ ॥

'अतः असमञ्जसके घोर भयसे आप हमारी रक्षा करें ।' पुरवासियोंका यह भयंकर वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ सगर दो घड़ीतक अनमने होकर बैठे रहे । फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आज मेरे पुत्र असमञ्जसको मेरे घरसे बाहर निकाल दो ॥ ४२-४३ ॥

यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ॥ ४४ ॥
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान् नृपः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ॥ ४५ ॥
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ।
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ४६ ॥

'यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है तो मेरी इस आज्ञाका शीघ्र पालन होना चाहिये ।' राजन् ! महाराज सगरके ऐसा कहनेपर मन्त्रियोंने शीघ्र वैसा ही किया, जैसा उनका आदेश था । युधिष्ठिर ! पुरवासियोंके हित चाहनेवाले महात्मा सगरने जिस प्रकार अपने पुत्रको निर्वासित किया था, वह सब प्रसंग मैंने तुमसे कह सुनाया । अब महाधनुर्धर अंशुमान्‌से राजा सगरने जो कुछ कहा, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, मेरे मुखसे सुनो ॥ ४४—४६ ॥

सगर उवाच

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥ ४७ ॥

सगर बोले—बेटा ! तुम्हारे पिताको त्याग देनेसे, अन्य पुत्रोंकी मृत्यु हो जानेसे तथा यज्ञसम्बन्धी अश्वके न मिलनेसे मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ॥ ४७ ॥

तस्माद् दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्यानयनात् पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥ ४८ ॥

अतः पौत्र ! यज्ञमें विघ्न पड़ जानेसे मैं मोहित और दुःखसे संतप्त हूँ, तुम अश्वको ले आकर नरकसे मेरा उद्धार करो ॥ ४८ ॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात् तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥ ४९ ॥

महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर अंशुमान् बड़े दुःखसे उस स्थानपर गये, जहाँ पृथ्वी विदीर्ण की गयी थी ॥ ४९ ॥

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥ ५० ॥

उन्होंने उसी मार्गसे समुद्रमें प्रवेश किया और महात्मा कपिल तथा यज्ञिय अश्वको देखा ॥ ५० ॥

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

तेजोराशि मुनिप्रवर पुराणपुरुष कपिलजीका दर्शन करके अंशुमान्‌ने धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया और उनसे अपना कार्य बताया ॥ ५१ ॥

ततः प्रीतो महाराज कपिलोऽंशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥ ५२ ॥

भरतवंशी महाराज ! इससे धर्मात्मा कपिलजी अंशुमान्‌पर प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं तुम्हें वर देनको उद्यत हूँ' ॥ ५२ ॥

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ॥ ५३ ॥

अंशुमान्‌ने पहले तो यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ उस अश्वके लिये प्रार्थना की और दूसरा वर अपने पितरोंको पवित्र करनेकी इच्छासे माँगा ॥ ५३ ॥

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद् यत् प्रार्थयसेऽनघ ॥ ५४ ॥
त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥ ५५ ॥

तब मुनिश्रेष्ठ महातेजस्वी कपिलने अंशुमान्‌से कहा—'अनघ ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम जो कुछ माँगते हो वह सब तुम्हें दूँगा । तुममें क्षमा, धर्म और सत्य सब कुछ प्रतिष्ठित है । तुम-जैसे पौत्रको पाकर राजा सगर कृतार्थ हैं और तुम्हारे पिता तुम्हींसे वस्तुतः पुत्रवान् हैं ॥ ५४-५५ ॥

तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
(शलभत्वं गता ह्येते मम क्रोधहुताशने ।)
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ॥ ५६ ॥
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ।
हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुङ्गव ॥ ५७ ॥

'तुम्हारे ही प्रभावसे सगरके सारे पुत्र जो मेरी क्रोधाग्निमें शलभकी भाँति भस्म हो गये हैं, स्वर्गलोकमें चले जायँगे । तुम्हारा पौत्र भगवान् शङ्करको संतुष्ट करके सगरपुत्रोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गलोकसे यहाँ गङ्गाजीको ले आयेगा । नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । तुम इस यज्ञिय अश्वको ले जाओ ॥ ५६-५७ ॥

यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ।
अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ॥ ५८ ॥
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
मूर्ध्नि तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथा दृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ॥ ६० ॥
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ॥ ६१ ॥

तात ! महात्मा सगरका यज्ञ पूर्ण करो ।' महात्मा कपिलके ऐसा कहनेपर अंशुमान् उस अश्वको लेकर महामना सगरके यज्ञमण्डपमें आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे सब समाचार निवेदन किया । सगरने भी स्नेहसे अंशुमान्‌का मस्तक सूँघा । अंशुमान्‌ने सगरपुत्रोंका विनाश जैसा देखा और सुना था, वह सब बताया, साथ

ही यह भी कहा कि 'यज्ञिय अश्व यज्ञमण्डपमें आ गया है।' यह सुनकर राजा सगरने पुत्रोंके मरनेका दुःख त्याग दिया ॥ ५८–६१ ॥

अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम्।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ॥ ६२ ॥

और अंशुमान्‌की प्रशंसा करते हुए अपने उस यज्ञको पूर्ण किया। यज्ञ पूर्ण हो जानेपर सब देवताओंने सगरका बड़ा सत्कार किया ॥ ६२ ॥

पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम्।
प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ॥ ६३ ॥
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ॥ ६४ ॥
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः।
तस्य पुत्रः समभवत् दिलीपो नाम धर्मवित् ॥ ६५ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले सगरने वरुणालय समुद्रको अपना पुत्र माना और दीर्घकालतक राज्यशासन करके अन्तमें अपने पौत्र अंशुमान्‌पर राज्यका सारा भार रखकर वे स्वर्गलोकको चले गये। महाराज! धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामह सगरके समान ही समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधाका पालन करते रहे। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम दिलीप था। वह भी धर्मका ज्ञाता था ॥ ६३–६५ ॥

तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ॥ ६६ ॥
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत्।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ॥ ६७ ॥

दिलीपको राज्य देकर अंशुमान् भी परलोकवासी हुए। दिलीपने जब अपने पितरोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब वे दुःखसे संतप्त हो उठे और उनकी सद्‌गतिका उपाय सोचने लगे। राजा दिलीपने गङ्गाजीको इस भूतलपर उतारनेके लिये महान् प्रयत्न किया ॥ ६६-६७ ॥

न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम्।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान् धर्मपरायणः ॥ ६८ ॥
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ॥ ६९ ॥
(भगीरथं महात्मानं सत्यधर्मपरायणम्।)

यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी वे गङ्गाको पृथ्वीपर उतार न सके। दिलीपके भगीरथ नामसे विख्यात एक पुत्र हुआ, जो परम कान्तिमान्, धर्मपरायण, सत्यवादी और अदोषदर्शी था। सत्यधर्मपरायण महात्मा भगीरथका राज्याभिषेक करके दिलीप वनमें चले गये ॥ ६८-६९ ॥

तपःसिद्धिसमायोगात् स राजा भरतर्षभ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेग भारत ॥ ७० ॥

भरतश्रेष्ठ! राजा दिलीप तपस्याजनक सिद्धिसे संयुक्त हो अन्तकाल आनेपर वनसे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यवर्णनविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ७३½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

भगीरथका हिमालयपर तपस्याद्वारा गङ्गा और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे वर प्राप्त करना

लोमश उवाच

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! महान् धनुर्धर महारथी राजा भगीरथ चक्रवर्ती नरेश थे। वे सब लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले थे ॥ १ ॥

स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ॥ ३ ॥

नरेश्वर! उन महाबाहुने जब यह सुना कि महात्मा कपिलद्वारा हमारे (साठ हजार) पितरोंकी भयंकर मृत्यु हुई है और वे स्वर्ग-प्राप्तिसे वञ्चित रह गये हैं, तब उन्होंने व्यथित हृदयसे अपना राज्य मन्त्रीको सौंप दिया और स्वयं हिमालयके शिखरपर तपस्या करनेके लिये प्रस्थान किया ॥ २-३ ॥

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम्।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ! तपस्यासे सारा पाप नष्ट करके वे गङ्गाजीकी आराधना करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि गिरिराज हिमालय विविध धातुओंसे विभूषित नाना प्रकारके शिखरों-

से अलंकृत है। वायुके आधारपर उड़नेवाले मेघ चारों ओरसे उसका अभिषेक कर रहे हैं ॥ ४-५ ॥

नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनैः सिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥

अनेकानेक नदियों, निकुञ्जों, घाटियों और प्रासादों (मन्दिरों) से इसकी बड़ी शोभा हो रही है। गुफाओं और कन्दराओंमें छिपे हुए सिंह तथा व्याघ्रोंसे यह पर्वत सदा सेवित होता है ॥ ६ ॥

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवंजीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥

भाँति-भाँतिके कलरव करते हुए विचित्र अङ्गोंवाले पक्षी, भृङ्गराज, हंस, चातक, जलमुर्ग, मोर, शतपत्र नामक पक्षी, चक्रवाक, कोकिल, चकोर, असितापाङ्ग और पुत्रप्रिय आदि इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७-८ ॥

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥
किंनरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपम् ॥ १० ॥
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजंगैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥
क्वचित् कनकसंकाशं क्वचिद् रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥
स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसम्भक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ १३ ॥
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥

वहाँके रमणीय जलाशयोंमें पद्मसमूह भरे हुए हैं। सारसोंके मधुर कलरव उस पर्वतीय प्रदेशको सुशोभित कर रहे हैं। हिमालयकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सराएँ बैठी हैं। वहाँके वृक्षोंपर चारों ओरसे दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़ दिखायी देती है। हिमालयके इन शिखरोंपर विद्याधर-गण विचर रहे हैं। नाना प्रकारके रत्न सब ओर व्याप्त हैं। प्रज्वलित जिह्वावाले भयंकर विषधर सर्प इस गिरिप्रदेशका सेवन करते हैं। यह शैलराज कहीं तो सुवर्णके समान उद्भासित होता है, कहीं चाँदीके समान चमकता है और कहीं कज्जलराशिके समान काला दिखायी देता है। नरश्रेष्ठ भगीरथ उस हिमवान् पर्वतपर गये और घोर तपस्यामें लग गये। उन्होंने सहस्र वर्षोंतक फल, मूल और जलका आहार किया। एक हजार दिव्य वर्ष बीत जानेपर महानदी गङ्गाने स्वयं साकार होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ९–१४ ॥

गङ्गोवाच

किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद् ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज ! तुम मुझसे क्या चाहते हो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? नरश्रेष्ठ ! बताओ, मैं तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगी ॥ १५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
(नदीं भगीरथो राजन् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।)
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ॥ १६ ॥
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥
यावत् तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ।
तावत् तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ॥ १९ ॥
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन् सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने हिमालय-नन्दिनी गङ्गाको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार

कहा—'वरदायिनी महानदी ! मेरे पितामह यज्ञसम्बन्धी अश्वका पता लगाते हुए कपिलके कोपसे यमलोकको जा पहुँचे हैं। वे सब महात्मा सगरके पुत्र थे और उनकी संख्या साठ हजार थी। भगवान् कपिलके निकट जाकर वे सब-के-सब क्षणभरमें भस्म हो गये। इस प्रकार दुर्मृत्युसे

मरनेके कारण उन्हें स्वर्गमें निवास नहीं प्राप्त हुआ है। महानदी ! जबतक तुम अपने जलसे उनके भस्म हुए शरीरोंको सींच न दोगी, तबतक उन सगरपुत्रोंकी सद्गति नहीं हो सकती ! महाभागे ! मेरे पितामह सगरकुमारोंको स्वर्गमें पहुँचा दो । महानदी ! मैं उन्हींके उद्धारके लिये तुमसे याचना करता हूँ' ॥ १६–२० ॥

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथकी यह बात सुनकर विश्ववन्दिता गङ्गा अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उनसे इस प्रकार बोलीं-॥ २१ ॥

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद् भुवम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! मैं तुम्हारी बात मानूँगी, इसमें संशय नहीं है; परंतु आकाशसे पृथ्वीपर गिरते समय मेरे वेगको रोकना बहुत कठिन है ॥ २२ ॥

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद् धारयितुं नृप।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥

'राजन्! देवश्रेष्ठ महेश्वर नीलकण्ठको छोड़कर तीनों लोकोंमें कोई भी मेरा वेग धारण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम्।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! तुम तपस्याद्वारा उन्हीं वरदायक भगवान् शिवको संतुष्ट करो। स्वर्गसे गिरते समय वे ही मुझे अपने मस्तकपर धारण करेंगे ॥ २४ ॥

स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया।
(तपसाऽऽराधितः शम्भुर्भगवाँल्लोकभावनः।)

'विश्वभावन भगवान् शंकर तपस्याद्वारा आराधना करनेपर तुम्हारे पितरोंके हितकी इच्छासे अवश्य तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे' ॥ २४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ॥ २५ ॥
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम्।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥ २६ ॥

राजन् ! यह सुनकर महाराज भगीरथ कैलासपर्वतपर गये और वहाँ उन्होंने तीव्र तपस्या करके कुछ समयके बाद भगवान् शंकरको प्रसन्न किया ॥ २५-२६ ॥

अगृह्णाच्च वरं तस्माद् गङ्गाया धारणे नृप।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् गङ्गाजीकी प्रेरणाके अनुसार नरश्रेष्ठ भगीरथने अपने पितरोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे महादेवजीसे गङ्गाजीके वेगको धारण करनेके लिये वरकी याचना की ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

पृथ्वीपर गङ्गाजीके उतरने और समुद्रको जलसे भरनेका विवरण तथा सगरपुत्रोंका उद्धार

लोमश उवाच

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम्।
एवमस्त्विति राजानं भगवान् प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धारयिष्ये महाभाग गगनात् प्रच्युतां शिवाम्।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथकी बात सुनकर देवताओंका प्रिय करनेके लिये भगवान् शिवने कहा–'एवमस्तु' महाभाग ! मैं तुम्हारे लिये आकाशसे गिरती हुई कल्याणमयी पुण्यस्वरूपा दिव्य देवनदी गङ्गाको अवश्य धारण करूँगा' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत्।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥

महाबाहो ! ऐसा कहकर भगवान् शिव भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपने भयंकर पार्षदोंसे घिरे हुए हिमालयपर आये ॥ ३ ॥

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥ ४ ॥
(पितॄणां पावनार्थं ते तामहं मनुजाधिप।)
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात्।

वहाँ ठहरकर उन्होंने नरश्रेष्ठ भगीरथसे कहा—'महाबाहो ! गिरिराजनन्दिनी महानदी गङ्गासे भूतलपर उतरनेके लिये प्रार्थना करो। नरेश्वर ! मैं तुम्हारे पितरोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गसे उतरती हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाको सिरपर धारण करूँगा' ॥ ४½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥ ५ ॥

प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ।
ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥ ६ ॥
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात् सहसा च्युता ।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ॥ ७ ॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
ततः पपात गगनाद् गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ८ ॥

भगवान् शङ्करकी कही हुई यह बात सुनकर राजा भगीरथने एकाग्रचित्त हो प्रणाम करके गङ्गाजीका चिन्तन किया। राजाके चिन्तन करनेपर भगवान् शङ्करको खड़ा हुआ देख पुण्यसलिला रमणीय नदी गङ्गा सहसा आकाशसे नीचे गिरीं। उन्हें गिरती देख दर्शनके लिये उत्सुक हो महर्षियों-सहित देवता, गन्धर्व, नाग और यक्ष वहाँ आ गये। तदनन्तर हिमालयनन्दिनी गङ्गा आकाशसे वहाँ आ गिरीं ॥ ५–८ ॥

समुद्धूतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥ ९ ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।

उस समय उनके जलमें बड़ी-बड़ी भँवरें और तरङ्गें उठ रही थीं। मत्स्य और ग्राह भरे हुए थे। राजन्! आकाशकी मेखलारूप गङ्गाको भगवान् शिवने अपने ललाटदेशमें पड़ी हुई मोतियोंकी मालाकी भाँति धारण कर लिया ॥ ९½ ॥

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ॥ १० ॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित् ॥ ११ ॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ १२ ॥
एवंप्रकारान् सुबहून् कुर्वती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज! नीचे गिरती हुई फेनपुञ्जसे व्याप्त हुए जल-वाली समुद्रगामिनी गङ्गा तीन धाराओंमें बँटकर हंसोंकी पंक्तियोंके समान सुशोभित होने लगी। वह मतवाली स्त्रीकी भाँति इस प्रकार आयी कि कहीं तो सर्प-शरीरकी भाँति कुटिल गतिसे बहती थी और कहीं-कहीं ऊँचेसे नीचे गिरकर चट्टानों-से टकराती जाती थी एवं श्वेत वस्त्रोंके समान प्रतीत होनेवाले फेनपुञ्ज उसे आच्छादित किये हुए थे। कहीं-कहीं वह जलके कल-कल नादसे उत्तम संगीत-सा गा रही थी। इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाली गङ्गा आकाशसे गिरी और भूतलपर पहुँचकर राजा भगीरथसे बोली—॥ १०–१३ ॥

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १४ ॥

'महाराज! रास्ता दिखाओ, मैं किस मार्गसे चलूँ? पृथ्वीपते! तुम्हारे लिये ही मैं इस भूतलपर उतरी हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १५ ॥
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ।

यह सुनकर राजा भगीरथ जहाँ महात्मा सगरपुत्रोंके शरीर पड़े थे, वहाँ गङ्गाजीके पावन जलसे उन शरीरोंको प्लावित करनेके लिये उस स्थानसे प्रस्थित हुए ॥ १५½ ॥

गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ॥ १६ ॥
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ।
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ॥ १७ ॥
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ॥ १८ ॥

विश्ववन्दित भगवान् शंकर गङ्गाजीको सिरपर धारण करके देवताओंके साथ पर्वतश्रेष्ठ कैलासको चले गये। राजा भगीरथने गङ्गाजीके साथ समुद्रतटपर जाकर वरुणालय समुद्रको बड़े वेगसे भर दिया और गङ्गाजीको अपनी पुत्री बना लिया ॥ १६–१८ ॥

पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ उन्होंने पितरोंके लिये जलदान किया और पितरोंका उद्धार होनेसे वे सफलमनोरथ हो गये। युधिष्ठिर! जिस प्रकार गङ्गा त्रिपथगा (स्वर्ग, पाताल और पृथ्वीपर गमन करनेवाली) हुई, वह सब प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ १९ ॥

पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
(कालेयाश्च यथा राजंस्त्रिदशैर्विनिपातिताः ।)
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थे महात्मना ॥ २० ॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

महाराज! समुद्रको भरनेके लिये ही गङ्गा पृथ्वीपर उतारी गयी थी। राजन्! देवताओंने कालेयनामक दैत्योंको जिस प्रकार मार गिराया और कारणवश महात्मा अगस्त्यने जिस प्रकार समुद्र पी लिया तथा उन्होंने ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि नामक दैत्यको जिस प्रकार नष्ट किया, वह सब प्रसंग, जिसके विषयमें तुमने पूछा था, मैंने बता दिया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यकथनविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

नन्दा तथा कौशिकीका माहात्म्य, ऋष्यशृङ्ग मुनिका उपाख्यान और उनको अपने राज्यमें लानेके लिये राजा लोमपादका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ने लगे। उन्होंने पाप और भयका निवारण करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा—इन दो नदियोंकी यात्रा की॥ १॥

पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम्।
अचिन्त्यानद्भुतान् भावान् ददर्श सुबहून् नृपः॥ २॥

तत्पश्चात् रोग-शोकसे रहित हेमकूट पर्वतपर पहुँचकर राजा युधिष्ठिरने वहाँ बहुत-सी अचिन्त्य एवं अद्‌भुत बातें देखीं॥ २॥

वाताबद्धा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः॥ ३॥

वहाँ वायुका सहारा लिये बिना ही बादल उत्पन्न हो जाते और अपने-आप हजारों पत्थर (ओले) पड़ने लगते थे। जिनके मनमें खेद भरा होता था ऐसे मनुष्य उस पर्वतपर चढ़ नहीं सकते थे॥ ३॥

वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते॥ ४॥
सायं प्रातश्च भगवान् दृश्यते हव्यवाहनः।
मक्षिकाश्चादशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः॥ ५॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः।
एवं बहुविधान् भावानद्भुतान् वीक्ष्य पाण्डवः।
लोमशं पुनरेवाथ पर्यपृच्छत् तदद्भुतम्॥ ६॥

वहाँ प्रतिदिन हवा चलती और रोज-रोज मेघ वर्षा करता था। वेदोंके स्वाध्यायकी ध्वनि तो सुनायी पड़ती; परंतु स्वाध्याय करनेवालेका दर्शन नहीं होता था। सायंकाल और प्रातःकाल भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते थे। तपस्यामें विघ्न डालनेवाली मक्खियाँ वहाँ लोगोंको डंक मारती रहती थीं, अतः वहाँ विरक्ति होती और लोग घरोंकी याद करने लगते थे। इस प्रकार बहुत-सी अद्भुत बातें देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने लोमशजीसे पुनः इस अद्भुत अवस्थाके विषयमें पूछा॥ ४–६॥

(युधिष्ठिर उवाच

यदेतद् भगवंश्चित्रं पर्वतेऽस्मिन् महौजसि।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महाद्युते॥)

युधिष्ठिरने कहा—महातेजस्वी भगवन्! इस परम तेजोमय पर्वतपर जो ये आश्चर्यजनक बातें होती हैं, इसका क्या रहस्य है? यह सब विस्तारपूर्वक मुझे बताइये॥

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन।
तदेकाग्रमना राजन् निबोध गदतो मम॥ ७॥

तब लोमशजीने कहा—शत्रुसूदन! हमने पूर्वकालमें जैसा सुन रखा है, वैसा बताया जाता है। तुम एकाग्रचित्त हो मेरे मुखसे इसका रहस्य सुनो॥ ७॥

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूद् ऋषभो नाम तापसः।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम्॥ ८॥

पहलेकी बात है, इस ऋषभकूटपर ऋषभनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी रहते थे। उनकी आयु कई सौ वर्षोंकी थी। वे तपस्वी होनेके साथ ही बड़े क्रोधी थे॥ ८॥

स वै सम्भाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद् गिरिमुवाच ह।
य इह व्याहरेत् कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा॥ ९॥
वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते॥ १०॥
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा।
कृतानि कानिचित् क्रोधात् प्रतिषिद्धानि कानिचित्॥ ११॥

उन्होंने दूसरोंके बुलानेपर कुपित होकर उस पर्वतसे कहा—'जो कोई यहाँपर बातचीत करे, उसपर तू ओले बरसा।' इसी प्रकार वायुको भी बुलाकर उन तपस्वी मुनिने कहा—'देखो, यहाँ किसी प्रकारका शब्द नहीं होना चाहिये।' तबसे जो कोई पुरुष यहाँ बोलता है, उसे मेघकी गर्जनाद्वारा रोका जाता है। राजन्! इस प्रकार उन महर्षिने ही ये अद्‌भुत कार्य किये हैं। उन्होंने क्रोधवश कुछ कार्योंका विधान और कुछ बातोंका निषेध कर दिया है॥ ९–११॥

नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः॥ १२॥

राजन्! यह सुना जाता है कि प्राचीन कालमें देवतालोग नन्दाके तटपर आये थे, उस समय उनके दर्शनकी इच्छासे बहुतेरे मनुष्य सहसा वहाँ आ पहुँचे॥ १२॥

ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम्॥ १३॥

इन्द्र आदि देवता उन्हें दर्शन देना नहीं चाहते थे, अतः विघ्नस्वरूप इस पर्वतीय प्रदेशको उन्होंने जनसाधारणके लिये दुर्गम बना दिया॥ १३॥

तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ॥१४॥

कुन्तीनन्दन ! तभीसे साधारण मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, चढ़ना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग् भव ॥१५॥

कुन्तीकुमार ! जिसने तपस्या नहीं की है, वह मनुष्य इस महान् पर्वतको न तो देख सकता है और न चढ़ ही सकता है; अतः तुम मौन व्रत धारण करो ॥ १५ ॥

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान्।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥१६॥

उन दिनों सम्पूर्ण देवताओंने यहाँ आकर उत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। भारत ! उनके ये चिह्न आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ॥ १६ ॥

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तृतेव च भूरियम्।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ॥१७॥

यह दूर्वा कुशके आकारकी दिखायी देती है और यह भूमि ऐसी लगती है, मानो इसपर कुश बिछाये गये हों। महाराज ! ये वृक्ष भी यज्ञ-यूपके समान जान पड़ते हैं ॥१७॥

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥१८॥

भारत ! आज भी यहाँ देवता तथा ऋषि निवास करते हैं। सायंकाल और प्रातःकाल यहाँ उनके द्वारा प्रज्वलित की हुई अग्निका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माभिहन्यते।
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात् कुरु सहानुजः ॥१९॥

कुन्तीनन्दन ! इस तीर्थमें गोता लगानेवाले मानवोंका सारा पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ स्नान करो ॥ १९ ॥

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ॥२०॥

नन्दामें गोता लगानेके पश्चात् तुम्हें कौशिकीके तटपर चलना होगा, जहाँ महर्षि विश्वामित्रजीने उत्तम एवं उग्र तपस्या की थी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने दल-बलके साथ नन्दामें गोता लगाकर रमणीय एवं शीतल जलवाली शुभ पुण्यमयी कौशिकीके तटपर गये ॥२१॥

लोमश उवाच

एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते ॥२२॥

वहाँ लोमशजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! यह देवताओंकी नदी पुण्यसलिला कौशिकी है और यह विश्वामित्रका रमणीय आश्रम है, जो यहाँ प्रकाशित हो रहा है ॥ २२ ॥

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः।
ऋष्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥२३॥
तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम्।
अनावृष्ट्यां भयाद् यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥२४॥

यही कश्यपगोत्रीय महात्मा विभाण्डकका 'पुण्य' नामक आश्रम है। इन्हींके तपस्वी एवं जितेन्द्रिय पुत्र महात्मा ऋष्यशृङ्ग हैं, जिन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे इन्द्रद्वारा वर्षा करवायी थी। उन दिनों देशमें घोर अनावृष्टि फैल रही थी, वैसे समयमें ऋष्यशृङ्ग मुनिके भयसे बल और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्रने उस देशमें वर्षा की थी ॥२३-२४॥

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ॥२५॥

वे तेजस्वी एवं शक्तिशाली मुनि मृगीके पेटसे पैदा हुए थे और कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र थे। उन्होंने राजा लोमपादके राज्यमें अत्यन्त अद्भुत कार्य किया था ॥ २५ ॥

निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥२६॥

जब वर्षासे खेती अच्छी तरह लहलहा उठी, तब राजा लोमपादने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृङ्गको ब्याह दी; ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यदेवने अपनी बेटी सावित्रीका ब्रह्माजीके साथ ब्याह किया था ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋष्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥२७॥
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥२८॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र ऋष्यशृङ्ग मृगीके पेटसे कैसे उत्पन्न हुए ? मनुष्यका पशुयोनिसे संसर्ग करना तो शास्त्र और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे विरुद्ध है। ऐसे विरुद्ध योनि-संसर्गसे उत्पन्न हुआ बालक तपस्वी कैसे हो सका ? उस बुद्धिमान् बालकके भयसे बल और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले देवराज इन्द्रने अनावृष्टिके समय वर्षा कैसे की ? ॥ २७-२८ ॥

कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥२९॥

लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत् पाकशासनः ॥३०॥

नियम और व्रतका पालन करनेवाली राजकुमारी शान्ता भी कैसी थी, जिसने मृगस्वरूप मुनिका भी मन मोह लिया। राजर्षि लोमपाद तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं, फिर उनके राज्यमें इन्द्र वर्षा क्यों नहीं करते थे ? ॥ २९-३० ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं विस्तरेण यथातथम्।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋष्यशृङ्गस्य चेष्टितम् ॥३१॥

भगवन् ! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक यथार्थरूपसे बताइये। मैं महर्षि ऋष्यशृङ्गके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ॥

लोमश उवाच

विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥३२॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋष्यशृङ्गः प्रतापवान्।
महाह्रस्य महातेजा बालः स्थविरसम्मतः ॥३३॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! ब्रह्मर्षि विभाण्डकका अन्तःकरण तपस्यासे पवित्र हो गया था। वे प्रजापतिके समान तेजस्वी और अमोघवीर्य महात्मा थे। उनके प्रतापी पुत्र ऋष्यशृङ्गका जन्म कैसे हुआ यह बताता हूँ, सुनो। जैसे विभाण्डक मुनि परम पूजनीय थे, वैसे ही उनका पुत्र भी बड़ा तेजस्वी हुआ। वह बाल्यावस्थामें भी वृद्ध पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता था ॥ ३२-३३ ॥

महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ॥३४॥

कश्यपगोत्रीय विभाण्डक मुनि देवताओंके समान सुन्दर थे। वे एक बहुत बड़े कुण्डमें प्रविष्ट होकर तपस्या करने लगे। उन्होंने दीर्घकालतक महान् क्लेश सहन किया ॥३४॥

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
अप्सूपस्पृशतो राजन् मृगी तच्चापिबत् तदा ॥३५॥
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाभवत् ततः।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ॥३६॥
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे।
अमोघत्वाद् विधेश्चैव भावित्वाद् दैवनिर्मितात् ॥३७॥
तस्यां मृग्यां समभवत् तस्य पुत्रो महानृषिः।
ऋष्यशृङ्गस्तपोनित्यो वन एवाभ्यवर्तत ॥३८॥

राजन् ! एक दिन जब वे जलमें स्नान कर रहे थे, उर्वशी अप्सराको देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसी समय प्याससे व्याकुल हुई एक मृगी वहाँ आयी और पानीके साथ उस वीर्यको भी पी गयी। इससे उसके गर्भ रह गया। वह पूर्वजन्ममें एक देवकन्या थी। लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने उसे यह वचन दिया था कि तू मृगी होकर एक मुनिको जन्म देनेके पश्चात् उस योनिसे मुक्त हो जायगी। ब्रह्माजीकी वाणी अमोघ है और दैवके विधानको कोई टाल नहीं सकता, इसलिये विभाण्डकके पुत्र महर्षि ऋष्यशृङ्गका जन्म मृगीके ही पेटसे हुआ। वे सदा तपस्यामें संलग्न रहकर वनमें ही निवास करते थे ॥ ३५-३८ ॥

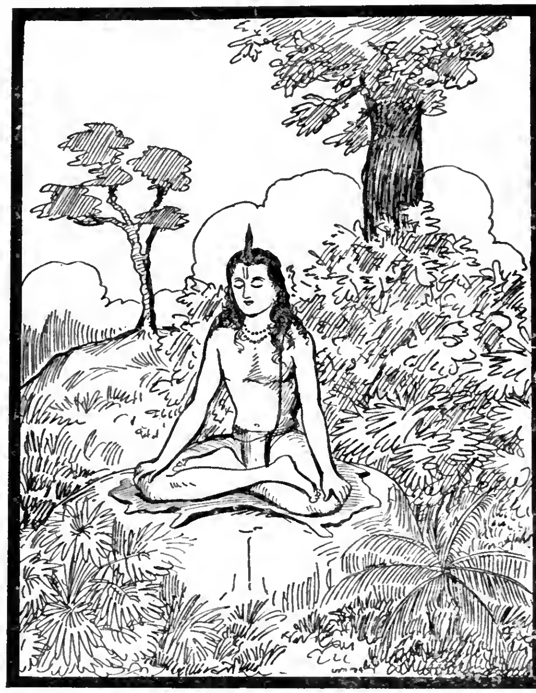

तस्यर्षेः शृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः।
तेनर्ष्यशृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥३९॥

राजन् ! उन महात्मा मुनिके सिरपर एक सींग था, इसलिये उस समय उनका ऋष्यशृङ्ग नाम प्रसिद्ध हुआ ॥३९॥

न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः।
तस्मात् तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥४०॥

नरेश्वर ! उन्होंने अपने पिताके सिवा दूसरे किसी मनुष्यको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उनका मन सदा स्वभावसे ही ब्रह्मचर्यमें संलग्न रहता था ॥ ४० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यङ्गानामीश्वरोऽभवत् ॥४१॥

इन्हीं दिनों राजा दशरथके मित्र लोमपाद अङ्गदेशके राजा हुए ॥ ४१ ॥

तेन कामात् कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ॥४२॥
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥४३॥

उन्होंने जान-बूझकर एक ब्राह्मणके साथ मिथ्या व्यवहार किया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। इसी अपराधके कारण ब्राह्मणोंने राजा लोमपादको त्याग दिया था। राजाने पुरोहितपर मनमाना दोषारोपण किया था, इसलिये इन्द्रने उनके राज्यमें वर्षा बंद कर दी। इस अनावृष्टिके कारण प्रजाको बड़ा कष्ट होने लगा॥ ४२-४३॥

स ब्राह्मणान् पर्यपृच्छत् तपोयुक्तान् मनीषिणः।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान् पृथिवीपते॥४४॥

युधिष्ठिर! तब राजाने तपस्वी, मेधावी और इन्द्रसे वर्षा करवानेमें समर्थ ब्राह्मणोंको बुलाकर इस संकटके निवारणका उपाय पूछा॥ ४४॥

कथं प्रवर्षेत् पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम्।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः॥४५॥

'विप्रगण! मेघ कैसे वर्षा करे—यह उपाय सोचिये।' उनके पूछनेपर मनीषी महात्माओंने अपना-अपना विचार बताया॥ ४५॥

तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर॥४६॥

उन्हीं ब्राह्मणोंमें एक श्रेष्ठ महर्षि भी थे। उन्होंने राजासे कहा—'राजेन्द्र! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण कुपित हैं; इसके लिये तुम प्रायश्चित्त करो॥ ४६॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम्॥४७॥
स चेदवतरेद् राजन् विषयं ते महातपाः।
सद्यः प्रवर्षेत् पर्जन्य इति मे नात्र संशयः॥४८॥

'भूपाल! साथ ही हम तुम्हें यह सलाह देते हैं कि अपने राज्यमें महर्षि विभाण्डकके पुत्र वनवासी ऋष्यशृङ्गको बुलाओ। वे स्त्रियोंसे सर्वथा अपरिचित हैं और सदा सरल व्यवहारमें ही तत्पर रहते हैं। महाराज! वे महातपस्वी ऋष्यशृङ्ग यदि आपके राज्यमें पदार्पण करें तो तत्काल ही मेघ वर्षा करेगा, इस विषयमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है'॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन् कृत्वा निष्कृतिमात्मनः।
स गत्वा पुनरागच्छत् प्रसन्नेषु द्विजातिषु॥४९॥

राजन्! यह सुनकर राजा लोमपाद अपने अपराधका प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणोंके पास गये और जब वे प्रसन्न हो गये, तब पुनः अपनी राजधानीको लौट आये॥ ४९॥

राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान् मन्त्रकोविदान्॥५०॥
ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाच्युतः॥५१॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः।
ततश्चानाययामास वारमुख्या महीपतिः॥५२॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः।
ऋष्यशृङ्गमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः॥५३॥

राजाका आगमन सुनकर प्रजाजनोंको बड़ा हर्ष हुआ। तदनन्तर अङ्गराज मन्त्रकुशल मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे सलाह करके एक निश्चयपर पहुँच जानेके बाद मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको अपने यहाँ ले आनेके प्रयत्नमें लग गये। राजाके मन्त्री शास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्रके विद्वान् और नीतिनिपुण थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेशने उन मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक उपाय जान लिया। तत्पश्चात् भूपाल लोमपादने दूसरोंको लुभानेकी सब कलाओंमें कुशल प्रधान-प्रधान वेश्याओंको बुलाया और कहा—'तुमलोग कोई उपाय करके मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको यहाँ ले आओ॥ ५०—५३॥

लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः।
ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः॥५४॥
अशक्यमूचुस्तत् कार्यं विवर्णा गतचेतसः।
तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत्॥५५॥

'सुन्दरियो! तुम लुभाकर उन्हें सब प्रकारसे सुख-सुविधाका विश्वास दिलाकर मेरे राज्यमें ले आना।' महाराजकी यह बात सुनते ही वेश्याओंका रंग फीका पड़ गया। वे अचेत-सी हो गयीं। एक ओर तो उन्हें राजाका भय था। और दूसरी ओर वे मुनिके शापसे डरी हुई थीं; अतः उन्होंने इस कार्यको असम्भव बताया। उन सबमें एक बूढ़ी स्त्री थी। उसने राजासे इस प्रकार कहा—॥५४-५५॥

प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम्।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि॥५६॥
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृष्यशृङ्गमृषेः सुतम्।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात् स पार्थिवः॥५७॥

'महाराज! मैं उन तपोधन मुनिकुमारको लानेका प्रयत्न करूँगी; परंतु आप यह आज्ञा दें कि मैं इसके लिये मनचाही व्यवस्था कर सकूँ। यदि मेरी इच्छा पूर्ण हुई तो मैं मुनिपुत्र ऋष्यशृङ्गको यहाँ लानेमें सफल हो सकूँगी।' राजाने उसकी इच्छाके अनुसार व्यवस्था करनेकी आज्ञा दे दी॥ ५६-५७॥

धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च।
ततो रूपेण सम्पन्ना वयसा च महीपते।
स्त्रिय आदाय काश्चित् सा जगाम वनमञ्जसा॥५८॥

साथ ही उसे प्रचुर धन और नाना प्रकारके रत्न भी दिये । युधिष्ठिर ! तदनन्तर वह वेश्या रूप और यौवनसे सम्पन्न कुछ सुन्दरी स्त्रियोंको साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक वनकी ओर चल दी ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यश्रृङ्गोपाख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यश्रृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

वेश्याका ऋष्यश्रृङ्गको लुभाना और विभाण्डक मुनिका आश्रमपर आकर अपने पुत्रकी चिन्ताका कारण पूछना

लोमश उवाच

सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन ! उस वेश्याने राजाकी आज्ञाके अनुसार और अपनी बुद्धिसे भी उनका कार्य सिद्ध करनेके लिये नावपर एक सुन्दर आश्रम बनाया ॥

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥

वह आश्रम भाँति-भाँतिके पुष्प और फलोंसे सुशोभित कृत्रिम वृक्षोंसे घिरा हुआ था । उन वृक्षोंपर नाना प्रकारके गुल्म और लतासमूह फैले हुए थे और वे वृक्ष स्वादिष्ठ एवं वाञ्छनीय फल देनेवाले थे ॥ २ ॥

अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उन वृक्षोंके कारण वह आश्रम अत्यन्त रमणीय और परम मनोहर दिखायी देता था । वेश्याने उस नावपर जिस सुन्दर आश्रमका निर्माण किया था, वह देखनेमें अद्भुत-सा था ॥ ३ ॥

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उसने अपनी उस नावको काश्यपगोत्रीय विभाण्डक मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर बाँध दिया और गुप्तचरोंको भेजकर यह पता लगा लिया कि इस समय विभाण्डक मुनि अपनी कुटियासे बाहर गये हैं ॥ ४ ॥

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसम्मताम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर विभाण्डक मुनिको दूर गया देख उस वेश्याने अपनी परम बुद्धिमती पुत्रीको, जो उसीकी भाँति वेश्यावृत्ति अपनाये हुए थी, कर्तव्यकी शिक्षा देकर मुनिके आश्रमपर भेजा ॥ ५ ॥

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

वह भी कार्यसाधनमें कुशल थी । उसने वहाँ जाकर निरन्तर तपस्यामें लगे रहनेवाले ऋषिकुमार ऋष्यश्रृङ्गके समीप उस आश्रममें पहुँचकर उनको देखा ॥ ६ ॥

वेश्योवाच

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां
कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद् भवान् रमते चाश्रमेऽस्मिं-
स्त्वां वै द्रष्टुं साम्प्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात्' वेश्याने कहा—मुने ! तपस्वीलोग कुशलसे तो हैं न ? आपलोगोंको पर्याप्त फल-मूल तो मिल जाते हैं न ? आप इस आश्रममें प्रसन्न तो हैं न ? मैं इस समय आपके दर्शनके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ७ ॥

कच्चित् तपो वर्धते तापसानां
पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित् त्वया प्रीयते चैव विप्र
कच्चित् स्वाध्यायः क्रियते चर्ष्यश्रृङ्ग ॥ ८ ॥

क्या तपस्वीलोगोंकी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है ? आपके पिताका तेज क्षीण तो नहीं हो रहा है ? ब्रह्मन् ! आप मजेमें हैं न ? ऋष्यश्रृङ्गजी ! आपके स्वाध्यायका क्रम चल रहा है न ? ॥ ८ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग उवाच

ऋद्ध्या भवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशते
मन्ये चाहं त्वामभिवादनीयम् ।
पाद्यं वै ते सम्प्रदास्यामि कामाद्
यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग बोले—ब्रह्मन् ! आप अपनी समृद्धिसे ज्योतिकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं । मैं आपको अपने लिये वन्दनीय मानता हूँ और स्वेच्छासे धर्मके अनुसार आपके लिये पाद्य-अर्घ्य एवं फल-मूल अर्पण करता हूँ ॥ ९ ॥

कौश्यां वृष्यामास्स्व यथोपजोषं
कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क्व चाश्रमस्तव किं नाम चेदं
व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत् त्वम् ॥ १० ॥

इस कुशासनपर आप सुखपूर्वक बैठें। इसपर काला मृगचर्म बिछाया गया है, इसलिये इसपर बैठनेमें आराम रहेगा। आपका आश्रम कहाँ है? और आपका नाम क्या है? ब्रह्मन्! आप देवताके समान यह किस व्रतका आचरण कर रहे हैं? ॥ १० ॥

वेश्योवाच

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्य-
स्त्रियोजनं शैलमिमं परेण।
तत्र स्वधर्मो नाभिवादनं मे
न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥ ११ ॥

वेश्या बोली—काश्यपनन्दन! मेरा आश्रम बड़ा मनोहर है। वह इस पर्वतके उस पार तीन योजनकी दूरीपर स्थित है। वहाँ मेरा जो अपना धर्म है, उसके अनुसार आपको मेरा अभिवादन (प्रणाम) नहीं करना चाहिये। मैं आपके दिये हुए अर्घ्य और पाद्यका स्पर्श नहीं करूँगी॥

भवता नाभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान् मया।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन् परिष्वज्यो भवान् मया ॥ १२ ॥

मैं आपके लिये वन्दनीय नहीं हूँ। आप ही मेरे वन्दनीय हैं। ब्रह्मन्! मेरा यह नियम है, जिसके अनुसार मुझे आपका आलिङ्गन करना चाहिये॥ १२ ॥

ऋष्यशृङ्ग उवाच

फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं
भल्लातकान्यामलकानि चैव।
करूषकाणीङ्गुदधन्वनानि
पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥ १३ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—ब्रह्मन्! मैं तुम्हें पके फल दे रहा हूँ। ये भिलावा, आँवले, करूषक (फालसा), इङ्गुद (हिंगोट), धन्वन (धामिन) और पीपलके फल प्रस्तुत हैं—इन सबका इच्छानुसार उपयोग कीजिये॥ १३ ॥

लोमश उवाच

सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा
भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य।
तान्यृष्यशृङ्गस्य महारसानि
भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १४ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वेश्याने उन सब फलोंको छोड़कर स्वयं ऋष्यशृङ्गको अत्यन्त सुन्दर और अमूल्य भक्ष्य पदार्थ (फल आदि) दिये। उन परम सरस फलोंने उनकी रुचिको बढ़ाया॥ १४ ॥

ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति
चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद
चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १५ ॥

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले
विभज्यमाना फलिता लतेव।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा
समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् ॥ १६ ॥

साथ ही सुगन्धित मालाएँ तथा विचित्र एवं चमकीले वस्त्र प्रदान किये। इतना ही नहीं, उसने मुनिकुमारको अच्छी श्रेणीके पेय पिलाये, जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए। वे उसके साथ खेलने और जोर-जोरसे हँसने लगे। वेश्या ऋष्यशृङ्गके पास ही गेंद खेलने लगी। वह अपने अङ्गोंको मोड़ती हुई फलोंके भारसे लदी लताकी भाँति झुक जाती और ऋष्यशृङ्ग मुनिको बार-बार अपने अङ्कमें भर लेती थी। साथ ही अपने अङ्गोंसे उनके अङ्गोंको इस प्रकार दबाती, मानो उनके भीतर समा जायगी॥ १५-१६ ॥

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्
सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य।
विलज्जमानेव मदाभिभूता
प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १७ ॥

वहाँ शाल, अशोक और तिलकके वृक्ष खूब फूले हुए थे। उनकी डालियोंको झुकाकर वह मदोन्मत्त वेश्या लज्जाका नाट्य-सा करती हुई महर्षिके उस पुत्रको लुभाने लगी॥

अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य
पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य।
अवेक्ष्यमाणा शनकैर्जगाम
कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ॥ १८ ॥

ऋष्यशृङ्गकी आकृतिमें किञ्चित् विकार देखकर उसने बार-बार उनके शरीरको आलिङ्गनके द्वारा दबाया और अग्निहोत्रका बहाना बनाकर वह उनके द्वारा देखी जाती हुई धीरे-धीरे वहाँसे चली गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो
विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्ये
विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर उसके अनुरागसे उन्मत्त मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग अचेत-से हो गये । उस निर्जन स्थानमें उनकी मनोवृत्ति उसीकी ओर लगी रही और वे लम्बी साँस खींचते हुए अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ १९ ॥

ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः
प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान् वृत्तसमाधियुक्तो
विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर दो घड़ीके बाद हरे-पीले नेत्रोंवाले काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि वहाँ आ पहुँचे । वे सिरसे लेकर पैरोंके नखोंतक रोमावलियोंसे भरे हुए थे । महात्मा विभाण्डक स्वाध्यायशील, सदाचारी तथा समाधिनिष्ठ महर्षि थे ॥ २० ॥

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं
ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं
विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २१ ॥
न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात
कच्चिद्धुतं चाग्निहोत्रं त्वयाद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः
कच्चित् सवत्साद्य कृता त्वया च ॥ २२ ॥
न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र
चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु
पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत् ॥ २३ ॥

निकट आनेपर उन्होंने अपने पुत्रको अकेला उदासीन भावसे चिन्तामग्न होकर बैठा देखा । उसके चित्तकी दशा विपरीत थी । वह बार-बार ऊपरकी ओर दृष्टि किये उच्छ्वास ले रहा था । इस दयनीय दशामें पुत्रको देखकर विभाण्डक मुनिने पूछा—'तात ! आज तुम अग्निकुण्डमें समिधाएँ क्यों नहीं रख रहे हो ! क्या तुमने अग्निहोत्र कर लिया ? स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंको भलीभाँति शुद्ध करके रक्खा है न ? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने हवनके लिये दूध देनेवाली गायका बछड़ा खोल दिया हो जिससे वह सारा दूध पी गया हो । बेटा ! आज तुम पहले-जैसे दिखायी नहीं देते । किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो, अपनी सुध-बुध खो बैठे हो । क्या कारण है जो आज तुम अत्यन्त दीन हो रहे हो । मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, आज यहाँ कौन आया था ?' ॥ २१–२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने एकादशाधिकशततमोऽध्यायः । १११ ।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृङ्गका पिताको अपनी चिन्ताका कारण बताते हुए ब्रह्मचारीरूपधारी वेश्याके स्वरूप और आचरणका वर्णन

ऋष्यशृङ्ग उवाच

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी
न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः
सुतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

ऋष्यशृङ्गने कहा—पिताजी ! यहाँ एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था । वह न तो छोटा था और न बहुत बड़ा ही । उसका हृदय बहुत उदार था । उसके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी और बड़ी-बड़ी आँखें कमलोंके सदृश जान पड़ती थीं । वह स्वयं देवताओंके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १ ॥

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः
सुश्लक्ष्णकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा
हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥

उसका रूप बड़ा सुन्दर था । वह सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहा था । उसके नेत्र स्वच्छ, चिकने एवं कजरारे थे । वह बड़ा गोरा दिखायी देता था । उसकी

जटाएँ बहुत लम्बी, साफ-सुथरी और नीले रंगकी थीं। उनसे बड़ी मधुर गन्ध फैल रही थी। वे सारी जटाएँ एक सुनहरी रस्सीसे गुँथी हुई थीं ॥ २ ॥

आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे
विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठा-
दजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥

उसके गलेमें एक ऐसा आश्चर्यरूप आभूषण (कण्ठा) था, जो आकाशमें बिजलीकी भाँति चमक रहा था। उसके गलेसे नीचे (वक्षःस्थलपर) दो मांसपिण्ड थे, जिनपर रोएँ नहीं उगे थे। वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे
कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति
हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मचारीके नाभिदेशके समीप जो शरीरका मध्य भाग था, वह बहुत पतला था और उसका नितम्बभाग अत्यन्त स्थूल था। जैसे मेरे कौपीनके नीचे यह मूँजकी मेखला बँधी है; इसी प्रकार उसके कटि-प्रदेशमें भी एक सोनेकी मेखला (करधनी) थी, जो उसके चीरके भीतरसे चमकती रहती थी ॥ ४ ॥

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं
विकूजितं पादयोः सम्प्रभाति।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ
कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥

उसकी अन्य सब बातें भी अद्भुत एवं दर्शनीय थीं। पैरोंमें (पायलकी) छम-छम ध्वनि बड़ी मधुर प्रतीत होती थी। इसी प्रकार हाथोंकी कलाइयोंमें मेरी इस रुद्राक्षकी मालाकी भाँति उसने दो कलापक (कंगन) बाँध रखे थे, उनसे भी बड़ी मधुर ध्वनि होती रहती थी ॥ ५ ॥

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि
कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि
नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥

वह ब्रह्मचारी जब तनिक भी चलता-फिरता या हिलता-डुलता था, उस समय उसके आभूषण बड़ी मनोहर झनकार उत्पन्न करते थे, मानो सरोवरमें मतवाले हंस कलरव कर रहे हों। उसके चीर भी अद्भुत दिखायी देते थे। मेरी कौपीनके ये वल्कलवस्त्र वैसे सुन्दर नहीं हैं ॥ ६ ॥

वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं
प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी
तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥ ७ ॥

उसका मुख भी देखने ही योग्य था। उसकी अद्भुत शोभा थी। ब्रह्मचारीकी एक-एक बात मनको आनन्द-सिन्धुमें निमग्न-सा कर देती थी। उसकी वाणी कोकिलके समान थी, जिसे एक बार सुन लेनेपर अब पुनः सुननेके लिये मेरी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी है ॥ ७ ॥

यथा वनं माधवमासि मध्ये
समीरितं श्वसनेनेव भाति।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी
निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥

तात ! जैसे माधवमास (वैशाख या वसंत ऋतु) में (सौरभयुक्त मलय-) समीरसे सेवित वन-उपवनकी शोभा होती है, उसी प्रकार पवनदेवसे सेवित वह ब्रह्मचारी उत्तम एवं पवित्र गन्धसे सुवासित और सुशोभित हो रहा था ॥ ८ ॥

सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता
द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः
समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥

उसकी जटा सटी हुई और अच्छी प्रकार बँधी हुई थी, जो ललाटप्रदेशमें दो भागोंमें विभक्त थी; किंतु बराबर नहीं थी। उसके कुण्डलमण्डित कान सुन्दर एवं विचित्र चक्रवाकोंसे घिरे हुए-से जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं
समाहरत् पाणिना दक्षिणेन।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च
समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥

उसके पास एक विचित्र गोलाकार फल (गेंद) था, जिसपर वह अपने दाहिने हाथसे आघात करता था। वह फल (गेंद) पृथ्वीपर जाकर बार-बार ऊँचेकी ओर उछलता था; उस समय उसका रूप अद्भुत दिखायी देता था ॥ १० ॥

तच्चाभिहत्य परिवर्ततेऽसौ
वातेरितो वृक्ष इवावघूर्णन्।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां
प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥ ११ ॥

उस फल (गेंद) को मारकर वह चारों ओर घूमने लगता था, मानो वृक्ष हवाका झोंका खाकर झूम रहा हो। तात ! देवपुत्रके समान उस ब्रह्मचारीको देखते समय मेरे हृदयमें बड़ा प्रेम और आनन्द उमड़ रहा था और मेरी उसके प्रति आसक्ति हो गयी है ॥ ११ ॥

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं
जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम्।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं
चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् ॥ १२ ॥

वह बार-बार मेरे शरीरका आलिङ्गन करके मेरी जटा पकड़ लेता और मेरे मुखको झुकाकर उसपर अपना मुख रख देता था, इस प्रकार मुखसे मुख मिलाकर उससे एक ऐसा शब्द किया, जिसने मेरे हृदयमें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न कर दिया ॥ १२ ॥

न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ
फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्
फलानि चान्यानि समाददन्मे ॥ १३ ॥

मैंने जो पाद्य अर्पण किया, उसको उसने बहुत महत्त्व नहीं दिया। मेरे दिये हुए ये फल भी उसने स्वीकार नहीं किये और मुझसे कहा—'मेरा ऐसा ही नियम है।' साथ ही उसने मेरे लिये दूसरे-दूसरे फल दिये ॥ १३ ॥

मयोपयुक्तानि फलानि यानि
नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चापि तेषां त्वगियं यथैषां
साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥ १४ ॥

मैंने उसके दिये हुए जिन फलोंका उपयोग किया है, उनके समान रस हमारे इन फलोंमें नहीं है। उन फलोंके छिलके भी ऐसे नहीं थे, जैसे इस जंगली फलोंके हैं। इन फलोंके गूदे जैसे हैं, वैसे उसके दिये हुए फलोंके नहीं थे (वे सर्वथा विलक्षण थे) ॥ १४ ॥

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं
प्रादात् स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो
ममाभवद् भूश्चलितेव चासीत् ॥ १५ ॥

उदारताके मूर्तिमान् स्वरूप उस ब्रह्मचारीने मुझे पीनेके लिये अत्यन्त स्वादिष्ट जल भी दिया था। उस जलको पीते ही मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुझे यह धरती डोलती-सी जान पड़ने लगी ॥ १५ ॥

इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति
माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव
स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥

ये विचित्र सुगन्धित मालाएँ उसीने रेशमी डोरोंसे गूँथकर बनायी थीं, जिन्हें यहाँ बिखेरकर तपस्यासे प्रकाशित होनेवाला वह ब्रह्मचारी अपने आश्रमको चला गया था ॥

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता
गात्रं च मे सम्परिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं
तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥ १७ ॥

उसके चले जानेसे मैं अचेत हो गया हूँ। मेरा शरीर जलता-सा जान पड़ता है। मैं चाहता हूँ, शीघ्र उसके पास ही चला जाऊँ अथवा वही यहाँ नित्य मेरे पास रहे ॥ १७ ॥

गच्छामि तस्यान्तिकमेव तात
का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं
यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ॥ १८ ॥

पिताजी ! मैं उसीके पास जाता हूँ, देखूँ, उसकी ब्रह्मचर्यकी साधना कैसी है ? वह आर्यधर्मका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी जिस प्रकार तप करता है, उसके साथ रहकर मैं भी वैसी ही तपस्या करना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

चर्तुं तथेच्छा हृदये ममास्ति
दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥ १९ ॥

वैसा ही तप करनेकी इच्छा मेरे हृदयमें भी है। यदि उसे नहीं देखूँगा तो मेरा यह चित्त संतप्त होता रहेगा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यश्रृङ्गोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यश्रृङ्गोपाख्यानविषयक एकसौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यश्रृङ्गका अङ्गराज लोमपादके यहाँ जाना, राजाका उन्हें अपनी कन्या देना, राजाद्वारा विभाण्डक मुनिका सत्कार तथा उनपर मुनिका प्रसन्न होना

विभाण्डक उवाच

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र
रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति
विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥

विभाण्डकने कहा—बेटा ! इस प्रकार अद्भुत दर्शनीय रूप धारण करके तो राक्षस ही इस वनमें विचरा करते हैं। ये अनुपम पराक्रमी और मनोहर रूप धारण करनेवाले होते हैं तथा ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें सदा विघ्न डालनेका ही उपाय सोचते रहते हैं ॥ १ ॥

सुरूपरूपाणि च तानि तात
प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति
तान्युग्ररूपाणि मुनीन् वनेषु ॥ २ ॥

तात ! वे मनोहर रूपधारी राक्षस नाना प्रकारके उपायोंद्वारा मुनिलोगोंको प्रलोभनमें डालते रहते हैं। फिर वे ही भयानक रूप धारण करके वनमें निवास करनेवाले मुनियोंको आनन्दमय लोकोंसे नीचे गिरा देते हैं ॥ २ ॥

न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा
सतां लोकान् प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते
पापाचारास्तापसस्तान् न पश्येत् ॥ ३ ॥

अतः जो साधु पुरुषोंको मिलनेवाले पुण्यलोकोंको पाना चाहता है, वह मुनि मनको संयममें रखकर उन राक्षसोंका (जो मोहक रूप बनाकर धोखा देनेके लिये आते हैं) किसी प्रकार सेवन न करे। वे पापाचारी निशाचर तपस्वी मुनियोंके तपमें विघ्न डालकर प्रसन्न होते हैं, अतः तपस्वीको चाहिये कि वह उनकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं ॥

असज्जनेनाचरितानि पुत्र
पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां
स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥ ४ ॥

वत्स ! जिसे तुम जल समझते थे, वह मद्य था। वह पापजनक और अपेय है, उसे कभी नहीं पीना चाहिये। दुष्ट पुरुष उसका उपयोग करते हैं तथा ये विचित्र, उज्ज्वल और सुगन्धित पुष्पमालाएँ भी मुनियोंके योग्य नहीं बतायी गयी हैं ॥ ४ ॥

रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं
विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव ।
नासादयामास यदा त्र्यहेण
तदा स पर्यावव्रतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥

'ऐसी वस्तुएँ लानेवाले राक्षस ही हैं।' ऐसा कहकर विभाण्डक मुनिने पुत्रको उससे मिलने-जुलनेसे मना कर दिया और स्वयं उस वेश्याकी खोज करने लगे। तीन दिनोंतक ढूँढ़नेपर भी जब वे उसका पता न लगा सके, तब आश्रमपर लौट आये ॥ ५ ॥

यदा पुनः काश्यपो वै जगाम
फलान्याहर्तुं विधिनाऽऽश्रमात् सः ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम
सा वेशयोषा मुनिमृष्यशृङ्गम् ॥ ६ ॥

जब काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि आश्रमसे पुनः विधिके अनुसार फल लानेके लिये वनमें गये, तब वह वेश्या ऋष्यशृङ्ग मुनिको लुभानेके लिये फिर उनके आश्रमपर आयी ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तामृष्यशृङ्गः प्रहृष्टः
सम्भ्रान्तरूपोऽभ्यपतत् तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतः श्रमाय
गच्छाव यावन्न पिता ममेति ॥ ७ ॥

उसे देखते ही ऋष्यशृङ्ग मुनि हर्ष-विभोर हो उठे और घबराकर तुरंत उसके पास दौड़ गये। निकट जाकर उन्होंने कहा—'ब्रह्मन् ! मेरे पिताजी जबतक लौटकर नहीं आते, तभीतक मैं और आप—दोनों आपके आश्रमकी ओर चल दें' ॥ ७ ॥

ततो राजन् काश्यपस्यैकपुत्रं
प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायै-
राजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको युक्तिसे नावमें ले जाकर वेश्याने नाव खोल दी। फिर सभी युवतियाँ भाँति-भाँतिके उपायोंद्वारा उनका मनोरञ्जन करती हुई अङ्गराजके समीप आयीं ॥ ८ ॥

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु
संतारितां नावमथातिशुभ्राम् ।
नीरादुपादाय तथैव चक्रे
नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥

नाविकोंद्वारा संचालित उस अत्यन्त उज्ज्वल नौकाको जलसे बाहर निकालकर राजाने एक स्थानपर स्थापित कर दिया और जितनी दूरीसे वह नौकागत आश्रम दिखायी देता था, उतनी दूरीके विस्तृत मैदानमें उन्होंने ऋष्यशृङ्ग मुनिके आश्रम-जैसे ही एक विचित्र वनका निर्माण करा दिया, जो 'नाव्याश्रम'के नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा
विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्ट-
मापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥

राजा लोमपादने विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको महलके भीतर रनवासमें ठहरा दिया और देखा, सहसा उसी क्षण इन्द्रदेवने वर्षा आरम्भ कर दी तथा सारा जगत् जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ १० ॥

स लोमपादः परिपूर्णकामः
सुतां ददावृष्यशृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे
गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥ ११ ॥

लोमपादकी कामना पूरी हुई। उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृङ्ग मुनिको ब्याह दी। फिर विभाण्डक मुनिके क्रोधके निवारणका भी उपाय कर दिया। जिस रास्तेसे महर्षि आनेवाले थे, उसमें स्थान-स्थानपर बहुत-से गाय-बैल रखवा दिये और किसानोंद्वारा खेतोंकी जुताई आरम्भ करा दी॥ ११॥

विभाण्डकस्यावजतः स राजा
पशून् प्रभूतान् पशुपांश्च वीरान्।
समादिशत् पुत्रगृद्धी महर्षि-
र्विभाण्डकः परिपृच्छेद् यदा वः॥ १२॥
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः
पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे
दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः॥ १३॥

राजाने विभाण्डक मुनिके आगमन-पथमें बहुत-से पशु तथा वीर पशुरक्षक भी नियुक्त कर दिये और सबको यह आदेश दे दिया था कि जब पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले महर्षि विभाण्डक तुमसे पूछें, तब हाथ जोड़कर उन्हें इस प्रकार उत्तर देना—'ये सब आपके पुत्रके ही पशु हैं, ये खेत भी उन्हींके जोते जा रहे हैं। महर्षे! आज्ञा दें, हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम सब लोग आपके आज्ञापालक दास हैं'॥ १२-१३॥

अथोपायात् स मुनिश्चण्डकोपः
स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं
ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः॥ १४॥

इधर प्रचण्ड कोपधारी महात्मा विभाण्डक फल-मूल लेकर अपने आश्रमपर आये। वहाँ बहुत खोज करनेपर भी जब अपना पुत्र उन्हें दिखायी न दिया, तब वे अत्यन्त क्रोधमें भर गये॥ १४॥

ततः स कोपेन विदीर्यमाण
आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम्।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाण-
स्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम्॥ १५॥

कोपसे उनका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा। उनके मनमें यह संदेह हुआ कि कहीं राजा लोमपादकी तो यह करतूत नहीं है। तब वे चम्पानगरीकी ओर चल दिये, मानो अङ्गराजको उनके राष्ट्र और नगरसहित जला देना चाहते हों॥ १५॥

स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्
घोषान् समासादितवान् समृद्धान्।
गोपैश्च तैर्विधिवत् पूज्यमानो
राजेव तां रात्रिमुवास तत्र॥ १६॥

थककर भूखसे पीड़ित होनेपर विभाण्डक मुनि सायंकालमें उन्हीं समृद्धिशाली गोष्ठोंमें गये। गोपगणोंने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। वे राजाकी भाँति सुख-सुविधाके साथ वहीं रातभर रहे॥ १६॥

अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः
प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे
धनं तवेदं विहितं सुतस्य॥ १७॥

गोपगणोंसे अत्यन्त सत्कार पाकर मुनिने पूछा—'तुम किसके गोपालक हो?' तब उन सबने निकट आकर कहा—'यह सारा धन आपके पुत्रका ही है'॥ १७॥

देशेषु देशेषु स पूज्यमान-
स्तांश्चैव शृण्वन् मधुरान् प्रलापान्।
प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः
समाससादाङ्गपतिं पुरस्थम्॥ १८॥

देश-देशमें सम्मानित हो वे ही मधुर वचन सुनते-सुनते मुनिका रजोगुणजनित अत्यधिक क्रोध बिल्कुल शान्त हो गया। वे प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें जाकर अङ्गराजसे मिले॥

स पूजितस्तेन नरर्षभेण
ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम्।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र
सौदामनीमुच्चरन्तीं यथैव॥ १९॥

नरश्रेष्ठ लोमपादसे पूजित हो मुनिने अपने पुत्रको उसी प्रकार ऐश्वर्यसम्पन्न देखा, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गलोकमें देखे जाते हैं। पुत्रके पास ही उन्होंने बहू शान्ताको भी देखा, जो विद्युत्के समान उद्भासित हो रही थी ॥ १९ ॥

ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा
शान्तां च शान्तोऽस्य परः स कोपः।
चकार तस्यैव परं प्रसादं
विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥ २० ॥

अपने पुत्रके अधिकारमें आये हुए ग्राम, घोष और बहू शान्ताको देखकर उनका महान् कोप शान्त हो गया। युधिष्ठिर ! उस समय विभाण्डक मुनिने राजा लोमपादपर बड़ी कृपा की ॥ २० ॥

स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षि-
रुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः।
जाते च पुत्रे वनमेवाव्रजेथा
राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा॥ २१ ॥

सूर्य और अग्निके समान प्रभावशाली महर्षिने अपने पुत्रको वहीं छोड़ दिया और कहा—'बेटा ! पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इन अङ्गराजके सारे प्रिय कार्य सिद्ध करके फिर वनमें ही आ जाना' ॥ २१ ॥

स तद्वचः कृतवानृष्यशृङ्गो
ययौ च यत्रास्य पिता बभूव।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र
खे रोहिणी सोममिवानुकूला ॥ २२ ॥

ऋष्यशृङ्गने पिताकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया। अन्तमें वे पुनः उसी आश्रममें चले गये, जहाँ उनके पिता रहते थे। नरेन्द्र ! शान्ता उसी प्रकार अनुकूल रहकर उनकी सेवा करती थी, जैसे आकाशमें रोहिणी चन्द्रमाकी सेवा करती है ॥ २२ ॥

अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं
लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम्।
नलस्य वै दमयन्ती यथाभूद्
यथा शची वज्रधरस्य चैव ॥ २३ ॥

अथवा जैसे सौभाग्यशालिनी अरुन्धती वसिष्ठजीकी, लोपामुद्रा अगस्त्यजीकी, दमयन्ती नलकी तथा शची वज्रधारी इन्द्रकी सेवा करती है ॥ २३ ॥

नारायणी चेन्द्रसेना बभूव
वश्या नित्यं मुद्गलस्याजमीढ।
(यथा सीता दाशरथेर्महात्मनो
यथा तव द्रौपदी पाण्डुपुत्र।)
तथा शान्ता ऋष्यशृङ्गं वनस्थं
प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! जैसे नारायणी इन्द्रसेना सदा महर्षि मुद्गलके अधीन रहती थी तथा पाण्डुनन्दन ! जैसे सीता महात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अधीन रही हैं और द्रौपदी सदा तुम्हारे वशमें रहती आयी है, उसी प्रकार शान्ता भी सदा अधीन रहकर वनवासी ऋष्यशृङ्गकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा करती थी ॥२४॥

तस्याश्रमः पुण्य एषोऽवभाति
महाह्रदं शोभयन् पुण्यकीर्तिः।
अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्ध-
स्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ॥२५॥

उनका यह पुण्यमय आश्रम, जो पवित्र कीर्तिसे युक्त है, इस महान् कुण्डकी शोभा बढ़ाता हुआ प्रकाशित हो रहा है, राजन् ! यहाँ स्नान करके शुद्ध एवं कृतकृत्य होकर अन्य तीर्थोंकी यात्रा करो ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृङ्गोपाख्यानविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका कौशिकी, गङ्गासागर एवं वैतरणीनदी होते हुए महेन्द्रपर्वतपर गमन

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ॥ १ ॥
स सागरं समासाद्य गङ्गायाः संगमे नृप।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कौशिकी नदीके तटवर्ती सभी तीर्थों और मन्दिरोंकी क्रमशः यात्रा की। राजन् ! उन्होंने गङ्गा-सागरसङ्गमतीर्थमें समुद्रतटपर पहुँचकर पाँच सौ नदियोंके जलमें स्नान किया ॥ १-२ ॥

ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान् प्रति भारत ॥ ३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् वीर भूपाल युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ कलिङ्ग देश (उड़ीसा) में गये ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी।
यत्रायजत धर्मोऽपि देवाञ्छरणमेत्य वै ॥ ४ ॥

तब लोमशजीने कहा—कुन्तीकुमार ! यह कलिङ्ग देश है, जिसमें वैतरणी नदी बहती है। जहाँ धर्मने भी देवताओंकी शरणमें जाकर यज्ञ किया था ॥ ४ ॥

ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम्।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥

यह पर्वतमालाओंसे सुशोभित वैतरणीका वही उत्तर तट है, जहाँ यज्ञका आयोजन किया गया था। बहुत-से ऋषि तथा ब्राह्मणलोग सदा इस उत्तर तटका सेवन करते आये हैं ॥

समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥

स्वर्गलोककी प्राप्ति करनेवाले पुण्यात्मा मनुष्यके लिये यह स्थान 'देवयान' मार्गके समान है। प्राचीन कालमें ऋषियों तथा अन्य लोगोंने भी यहाँ बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ६ ॥

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान् मखे।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! यहीं रुद्रदेवने यज्ञमें पशुको ग्रहण कर लिया था। उस पशुको ग्रहण करके उन्होंने कहा—'यह तो मेरा हिस्सा है' ॥ ७ ॥

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ।
मापरस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पशुका अपहरण हो जानेपर देवताओंने उनसे कहा—'आप दूसरोंके धनसे द्रोह न करें (दूसरोंके हिस्सेको न लें) धर्मके साधनभूत समस्त यज्ञभागोंको लेनेकी इच्छा न करें' ॥८॥

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन्।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयांचक्रिरे तदा ॥ ९ ॥

यों कहकर उन्होंने कल्याणमय वचनोंद्वारा भगवान् रुद्रका स्तवन किया और इष्टिद्वारा उन्हें तृप्त करके उस समय उनका विशेष सम्मान किया ॥ ९ ॥

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान्।
तत्रानुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥

तब वे उस पशुको वहीं छोड़कर देवयान-मार्गसे चले गये। युधिष्ठिर ! यज्ञमें भगवान् रुद्रकी भागपरम्पराका बोधक एक श्लोक है, उसे बताता हूँ, सुनो—॥ १० ॥

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम्।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम् ॥ ११ ॥

'देवताओंने रुद्रदेवके भयसे उनके लिये शीघ्र ही सब भागोंकी अपेक्षा उत्तम एवं सनातन भाग देनेका संकल्प किया' ॥ ११ ॥

इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाभिप्रकाशते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य यहाँ इस गाथाका गान करते हुए वैतरणीके जलका स्पर्श करता है, उसकी दृष्टिमें देवयान-मार्ग प्रकाशित हो जाता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयांचक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महान् भाग्यशाली समस्त पाण्डवों और द्रौपदीने वैतरणीके जलमें उतरकर अपने पितरोंका तर्पण किया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात्।
मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥

उस समय युधिष्ठिर बोले—लोमशजी ! देखिये, इस वैतरणी नदीमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मुझे तपोबल प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभावसे मैं मानवीय विषयोंसे दूर हो गया हूँ ॥ १४ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि प्रसादात् तव सुव्रत।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥

सुव्रत ! आपकी कृपासे इस समय मुझे सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन हो रहा है। यह जप और स्वाध्यायमें लगे हुए महात्मा वैखानस ऋषियोंका शब्द है ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्स्व विशाम्पते ॥ १६ ॥

लोमशजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! जहाँसे आती हुई इस ध्वनिको तुम सुन रहे हो, वह स्थान यहाँसे तीन लाख योजन दूर है; अतः अब चुप रहो ॥ १६ ॥

एतत् स्वयम्भुवो राजन् वनं दिव्यं प्रकाशते।
यत्रायजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥

राजन् ! यह ब्रह्माजीका दिव्य वन प्रकाशित हो रहा है; राजेन्द्र ! यहीं प्रतापी विश्वकर्माने यज्ञ किया है ॥ १७ ॥

यस्मिन् यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा ॥ १८ ॥

उस यज्ञमें ब्रह्माजीने पर्वत और वनप्रान्तसहित यह सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपमें दे दी थी ॥१८॥

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा ।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥
न मां मर्त्याय भगवन् कस्मैचिद् दातुमर्हसि ।
प्रदानं मोघमेतत् ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार ! उनके द्वारा अपना दान होते ही पृथ्वी बहुत दुखी हो गयी और कुपित हो लोकनाथ प्रभु ब्रह्मासे इस प्रकार बोली—'भगवन् ! आप मुझे किसी मनुष्यको न सौंपें। यदि मुझे मनुष्यको सौंपेंगे तो वह व्यर्थ होगा, क्योंकि मैं अभी रसातलको चली जाऊँगी' ॥ १९-२० ॥

विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः ।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशाम्पते ॥ २१ ॥

राजन् ! पृथ्वी देवीको विषाद करती देख महर्षि भगवान् कश्यपने प्रार्थनाद्वारा उन्हें प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव ।
पुनरुन्नह्य सलिलाद् वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! उनकी तपस्यासे प्रसन्न हुई पृथ्वी पुनः जलसे ऊपर उठकर वेदीके रूपमें स्थित हो गयी ॥ २२ ॥

सैषा प्रकाशते राजन् वेदी संस्थानलक्षणा ।
आरुह्यात्र महाराज वीर्यवान् वै भविष्यसि ॥ २३ ॥

राजन् ! वह पृथ्वी देवी ही यहाँ इस मिट्टीकी वेदीके रूपमें प्रकाशित हो रही है। महाराज ! इसपर आरुढ़ होकर तुम बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ २३ ॥

सैषा सागरमासाद्य राजन् वेदी समाश्रिता ।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! वही यह वेदीस्वरूपा पृथ्वी समुद्रका आश्रय लेकर स्थित है; तुम्हारा कल्याण हो। तुम अकेले ही इसपर चढ़कर समुद्रको पार करो ॥ २४ ॥

अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये
यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य ।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्र-
मेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २५ ॥

मैं तुम्हारे लिये स्वस्तिवाचन करूँगा, जिससे तुम आज इस वेदीपर चढ़ सको; अजमीढकुलनन्दन ! नहीं तो मनुष्यके द्वारा स्पर्श हो जानेपर यह वेदी समुद्रमें प्रवेश कर जाती है॥

ॐ नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते ।
सांनिध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥ २६ ॥

(समुद्रमें स्नान करते समय उसकी प्रार्थनाके लिये निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व लीन होता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ हैं उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। देवेश्वर ! आप खारे समुद्रमें निवास करें ॥ २६ ॥

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो
विष्णो रेतस्त्वममृतस्य नाभिः ।
एवं ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं
वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ॥ २७ ॥

'हे समुद्र ! अग्नि, मित्र (सूर्य) और दिव्य जल—ये सब तुम्हारी योनि (उत्पत्ति कारण) हैं। तुम सर्वव्यापी परमात्माके रेतस (वीर्य या शक्ति) हो और तुम्हीं अमृतकी उत्पत्तिके स्थान हो।' पाण्डुनन्दन ! इस सत्य वाक्यका उच्चारण करते हुए तुम शीघ्रतापूर्वक इस वेदीपर आरूढ हो जाओ ॥ २७ ॥

अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो
रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एवं जपन् पाण्डव सत्यवाक्यं
ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥ २८ ॥

'हे महासागर ! अग्नि तुम्हारी योनि (कारण) है और यज्ञ शरीर है, तुम भगवान् विष्णुकी शक्तिके आधार और मोक्षके साधन हो।' पाण्डुपुत्र ! इस सत्य वचनको बोलते हुए नदियोंके स्वामी समुद्रमें स्नान करना चाहिये ॥ २८ ॥

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपां पतिः ।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जलका स्वामी समुद्र देवताओंका अधिष्ठान है। कुन्तीनन्दन ! ऊपर बतायी हुई रीतिके सिवा, दूसरे किसी प्रकारसे इस महासागरका कुशके अग्रभागद्वारा भी स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा
युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत् ।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं
महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर लोमशजीके स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने उनकी बतायी हुई सारी विधियोंका पालन करते हुए समुद्रमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। इसके बाद महेन्द्रपर्वतपर जाकर रात्रि बितायी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें महेन्द्राचलगमनविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रणके द्वारा युधिष्ठिरसे परशुरामजीके उपाख्यानके प्रसङ्गमें ऋचीक मुनिका गाधिकन्या-के साथ विवाह और भृगुऋषिकी कृपासे जमदग्निकी उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस पर्वतपर एक रात निवास करके भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने तपस्वी मुनियोंका बहुत सत्कार किया ॥ १ ॥

लोमशस्तस्य तान् सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान्।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वसिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥

लोमशजीने युधिष्ठिरसे उन सभी तपस्वी महात्माओंका परिचय कराया। उनमें भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ तथा कश्यप-गोत्रके अनेक संत महात्मा थे ॥ २ ॥

तान् समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥
कदा तु रामो भगवांस्तापसान् दर्शयिष्यति।
तेनैवाहं प्रसंगेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥

उन सबसे मिलकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और परशुरामजीके सेवक वीरवर अकृतव्रणसे पूछा—'भगवान् परशुरामजी इन तपस्वी महात्माओंको कब दर्शन देंगे ? उसी निमित्तसे मैं भी उन भगवान् भार्गवका दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ ३-४ ॥

अकृतव्रण उवाच

आयानेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥
चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ॥ ६ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! आत्मज्ञानी परशुरामजीको पहले ही यह ज्ञात हो गया था कि आप आ रहे हैं ! आपपर उनका बहुत प्रेम है, अतः वे शीघ्र ही आपको दर्शन देंगे। ये तपस्वीलोग प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीको परशुरामजीका दर्शन करते हैं। आजकी रात बीत जानेपर कल सबेरे चतुर्दशी हो जायगी ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम्।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! आप महाबली परशुरामजी-के अनुगत भक्त हैं। उन्होंने पहले जो-जो कार्य किये हैं, उन सबको आपने प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७ ॥

स भवान् कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥

अतः हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि परशुरामजीने किस प्रकार और किस कारणसे समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें पराजित किया था। आप वह सब वृत्तान्त आज मुझे बताइये ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥ ९ ॥

अकृतव्रणने कहा—भरतकुलभूषण नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भृगुवंशी परशुरामजीकी कथा बहुत बड़ी और उत्तम है, मैं आपसे उसका वर्णन करूँगा ॥ ९ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसम्मितम्।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ॥ १० ॥

भारत ! जमदग्निकुमार परशुराम तथा हैहयराज कार्त-वीर्यका चरित्र देवताओंके तुल्य है ॥ १० ॥

रामेण चार्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! परशुरामजीने अर्जुन नामसे प्रसिद्ध जिस हैहयराज कार्तवीर्यका वध किया था, उसके एक हजार भुजाएँ थीं ॥ ११ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ १२ ॥

पृथ्वीपते ! श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था और भूतलके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था ॥ १२ ॥

अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ममर्द देवान् यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥ १४ ॥

महामना कार्तवीर्यके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था। उस रथ और वरके प्रभावसे शक्तिसम्पन्न हुआ कार्तवीर्य अर्जुन सब ओर घूमकर सदा देवताओं, यक्षों तथा ऋषियोंको रौंदता फिरता था और सम्पूर्ण प्राणियोंको भी सब प्रकारसे पीड़ा देता था ॥ १३-१४ ॥

ततो देवा समेत्याहुर्ऋषयश्च महाव्रताः।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम्॥ १५॥
भगवन् भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः॥ १६॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम्।
ततस्तु भगवान् देवः शक्रेण सहितस्तदा।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत॥ १७॥

कार्तवीर्यका ऐसा अत्याचार देख देवता तथा महान् व्रतका पालन करनेवाले ऋषि मिलकर दैत्योंका विनाश करनेवाले सत्यपराक्रमी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके पास जा इस प्रकार बोले—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये कृतवीर्यकुमार अर्जुनका वध कीजिये।' एक दिन शक्तिशाली हैहयराजने दिव्य विमानद्वारा शचीके साथ क्रीड़ा करते हुए देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया। भारत! तब भगवान् विष्णुने कीर्तवीर्य अर्जुनका नाश करनेके सम्बन्धमें इन्द्रके साथ विचार-विनिमय किया॥ १५—१७॥

यत् तद् भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम्।
सम्प्रतिश्रुत्य तत् सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः॥ १८॥
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाश्रममण्डलम्।

समस्त प्राणियोंके हितके लिये जो कार्य करना आवश्यक था, उसे देवेन्द्रने बताया। तत्पश्चात् विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने वह सब कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके अत्यन्त रमणीय बदरीतीर्थकी यात्रा की, जहाँ उनका अपना ही विस्तृत आश्रम था॥ १८½॥

एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः॥ १९॥
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह॥ २०॥
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत॥ २१॥

इसी समय इस भूतलपर कान्यकुब्ज देशमें एक महाबली महाराज शासन करते थे, जो गाधिके नामसे विख्यात थे। वे राजधानी छोड़कर वनमें गये और वहीं रहने लगे। उनके वनवासकालमें ही एक कन्या उत्पन्न हुई, जो अप्सराके समान सुन्दरी थी। भारत! विवाहके योग्य होनेपर भृगुपुत्र ऋचीक मुनिने उसका वरण किया॥ १९-२१॥

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम्।
उचितं नः कुले किंचित् पूर्वैर्यत् सम्प्रवर्तितम्॥ २२॥
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम्।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम॥ २३॥

उस समय राजा गाधिने कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि ऋचीकसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! हमारे कुलमें पूर्वजोंने जो कुछ शुल्क लेनेका नियम चला रक्खा है, उसका पालन करना हमलोगोंके लिये भी उचित है। अतः आप यह जान लें कि इस कन्याके लिये एक सहस्र वेगशाली अश्व शुल्करूपमें देने पड़ेंगे, जिनके शरीरका रंग तो सफेद और पीला मिला हुआ-सा और कान एक ओरसे काले रंगके हों॥

न चापि भगवान् वाच्यो दीयतामिति भार्गव।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने॥ २४॥

'भृगुनन्दन! आप कोई निन्दनीय तो हैं नहीं, यह शुल्क चुका दीजिये, फिर आप-जैसे महात्माको मैं अवश्य अपनी कन्या ब्याह दूँगा'॥ २४॥

ऋचीक उवाच

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम्।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते॥ २५॥

ऋचीक बोले—राजन्! मैं आपको एक ओरसे श्याम कर्णवाले पाण्डुरंगके वेगशाली अश्व एक हजारकी संख्यामें अर्पित करूँगा। आपकी पुत्री मेरी धर्मपत्नी बने॥

अकृतव्रण उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन् वरुणमब्रवीत्।
एकतःश्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम्॥ २६॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम्।
तस्मै प्रादात् सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा॥ २७॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शुल्क देनेकी प्रतिज्ञा करके ऋचीक मुनिने वरुणके पास जाकर कहा—'देव! मुझे शुल्कमें देनेके लिये एक हजार ऐसे अश्व प्रदान करें, जिनके शरीरका रंग पाण्डुर और कान एक ओरसे श्याम हों। साथ ही वे सभी अश्व तीव्रगामी होने चाहिये।' उस समय वरुणने उनकी इच्छाके अनुसार एक हजार श्यामकर्ण घोड़े दे दिये॥ २६-२७॥

तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा॥ २८॥
ततो गाधिः सुतां चास्मै जन्याश्चासन् सुरास्तदा।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः॥ २९॥

जहाँ वे श्यामकर्ण घोड़े प्रकट हुए थे, वह स्थान अश्वतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् राजा गाधिने शुल्करूपमें एक हजार श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त करके गङ्गातटपर कान्यकुब्ज नगरमें ऋचीक मुनिको अपनी पुत्री सत्यवती ब्याह दी। उस समय देवता बराती बने थे। देवता उन सबको देखकर वहाँसे चले गये॥२८-२९॥

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ ३० ॥

विप्रवर ऋचीकने धर्मपूर्वक सत्यवतीको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उस सुन्दरीके साथ अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक रमण किया ॥ ३० ॥

तं विवाहे कृते राजन् सभार्यमवलोककः।
आजगाम भृगुः श्रेष्ठं पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥ ३१ ॥

राजन्! विवाह करनेके पश्चात् पत्नीसहित ऋचीकको देखनेके लिये महर्षि भृगु उनके आश्रमपर आये और अपने श्रेष्ठ पुत्रको विवाहित देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम्।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ ३२ ॥

उन दोनों पति-पत्नीने पवित्र आसनपर विराजमान देववृन्दवन्दित गुरु (पिता एवं श्वसुर) का पूजन किया और उनकी उपासनामें संलग्न हो वे हाथ जोड़े खड़े रहे ॥ ३२ ॥

ततः स्नुषां स भगवान् प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत्।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ ३४ ॥

भगवान् भृगुने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी पुत्रवधूसे कहा—'सौभाग्यवती बहू! कोई वर माँगो, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुरूप वर प्रदान करूँगा' ॥ ३३ ॥

सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात्।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ ३४ ॥

सत्यवतीने श्वसुरको अपने और अपनी माताके लिये पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्रसन्न किया। तब भृगुजीने उसपर कृपादृष्टि की ॥ ३४ ॥

भृगुरुवाच

ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै।
आलिङ्गेतां पृथग् वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ ३५ ॥

भृगुजी बोले—बहू! ऋतुकालमें स्नान करनेके पश्चात् तुम और तुम्हारी माता पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे दो भिन्न-भिन्न वृक्षोंका आलिङ्गन करो। तुम्हारी माता तो पीपलका और तुम गूलरका आलिङ्गन करना ॥ ३५ ॥

चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च।
विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥ ३६ ॥

भद्रे! मैंने विराटपुरुष परमात्माका चिन्तन करके तुम्हारे और तुम्हारी माताके लिये यत्नपूर्वक दो चरु तैयार किये हैं ॥

प्राशितव्यं प्रयत्नेन चेत्युक्त्वादर्शनं गतः।
आलिङ्गने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ॥ ३७ ॥

तुम दोनों प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने चरुका भक्षण करना ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये। इधर सत्यवती और उसकी माताने वृक्षोंके आलिङ्गन और चरु-भक्षणमें उलट-फेर कर दिया ॥ ३७ ॥

ततः पुनः स भगवान् काले बहुतिथे गते।
दिव्यज्ञानाद् विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर बहुत दिन बीतनेपर भगवान् भृगु अपनी दिव्य ज्ञानशक्तिसे सब बातें जानकर पुनः वहाँ आये ॥ ३८ ॥

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम्।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चालिङ्गनं कृतम् ॥ ३९ ॥
विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवासि वञ्चिता।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ ४० ॥

उस समय महातेजस्वी भृगु अपनी पुत्रवधू सत्यवतीसे बोले—'भद्रे! तुमने जो चरुभक्षण और वृक्षोंका आलिङ्गन किया है; उसमें उलट-फेर करके तुम्हारी माताने तुम्हें ठग लिया। सुभ्रू! इस भूलके कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित आचार-विचारवाला होगा ॥ ३९-४० ॥

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान्।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ ४१ ॥

'और तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित आचार-विचारका पालन करनेवाला होगा। वह महापराक्रमी बालक साधु-महात्माओंके मार्गका अवलम्बन करेगा' ॥ ४१ ॥

ततः प्रसादयामास श्वसुरं सा पुनः पुनः।
न मे पुत्रो भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब सत्यवतीने बारंबार प्रार्थना करके पुनः अपने श्वशुर-को प्रसन्न किया और कहा—'भगवन् ! मेरा पुत्र ऐसा न हो । भले ही, पौत्र क्षत्रियस्वभावका हो जाय' ॥ ४२ ॥

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥ ४३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तब 'एवमस्तु' कहकर भृगुजीने अपनी पुत्रवधूका अभिनन्दन किया । तत्पश्चात् प्रसवका समय आनेपर सत्यवतीने जमदग्निनामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४३ ॥

तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
बहूनृषीन् महातेजाः पाण्डवेयात्यवर्तत ।

भार्गवनन्दन जमदग्नि तेज और ओज (बल) दोनोंसे सम्पन्न थे । युधिष्ठिर ! बड़े होनेपर महातेजस्वी जमदग्नि मुनि वेदाध्ययनद्वारा अन्य बहुत-से ऋषियोंसे आगे बढ़ गये ॥ ४४½ ॥

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद् भरतर्षभ ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सूर्यके समान तेजस्वी जमदग्निकी बुद्धिमें सम्पूर्ण धनुर्वेद और चारों प्रकारके अस्त्र स्वतः स्फुरित हो गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे परशुरामजीका अपनी माताका मस्तक काटना और उन्हींके वरदानसे पुनः जिलाना, परशुरामजीद्वारा कार्तवीर्य-अर्जुनका वध और उसके पुत्रोंद्वारा जमदग्नि मुनिकी हत्या

अकृतव्रण उवाच

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।
तपस्तेपे ततो देवान् नियमाद् वशमानयत् ॥ १ ॥

अकृतव्रण कहते हैं—राजन् ! महातपस्वी जमदग्निने वेदाध्ययनमें तत्पर होकर तपस्या आरम्भ की । तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंको अपने वशमें कर लिया* ॥ १ ॥

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! फिर राजा प्रसेनजित्के पास जाकर जमदग्नि मुनिने उनकी पुत्री रेणुकाके लिये याचना की और राजाने मुनिको अपनी कन्या ब्याह दी ॥ २ ॥

रेणुकां त्वथ सम्प्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥

भृगुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले जमदग्नि राजकुमारी रेणुकाको पत्नीरूपमें पाकर आश्रमपर ही रहते हुए उसके साथ तपस्या करने लगे । रेणुका सदा सब प्रकारसे पतिके अनुकूल चलनेवाली स्त्री थी ॥ ३ ॥

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥

उसके गर्भसे क्रमशः चार पुत्र हुए, फिर पाँचवें पुत्र परशुरामजीका जन्म हुआ । अवस्थाकी दृष्टिसे भाइयोंमें छोटे होनेपर भी वे गुणोंमें उन सबसे बढ़े-चढ़े थे ॥ ४ ॥

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत् कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥

एक दिन जब सब पुत्र फल लानेके लिये वनमें चले गये, तब नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली रेणुका स्नान करनेके लिये नदी-तटपर गयी ॥ ५ ॥

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥ ६ ॥

---

* यहाँ कुछ प्रतियोंमें 'देवान्' की जगह 'वेदान्' पाठ मिलता है । उस दशामें यह अर्थ होगा कि 'वेदोंको वशमें कर लिया ।' परंतु वेदोंको वशमें करनेकी बात असंगत-सी लगती है । देवताओंको वशमें करना ही सुसंगत जान पड़ता है, इसलिये हमने 'देवान्' यही पाठ रखा है । काश्मीरकी देवनागरी लिपिवाली हस्तलिखित पुस्तकमें यहाँ तीन श्लोक अधिक मिलते हैं । उनसे भी 'देवान्' पाठका ही समर्थन होता है । वे श्लोक इस प्रकार हैं—

तं तप्यमानं ब्रह्मर्षिमूचुर्देवाः सबान्धवाः ।
किमर्थं तप्यसे ब्रह्मन् कः कामः प्रार्थितस्तव ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच देवान् ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
स्वर्गहेतोस्तपस्तप्ये लोकाश्च स्युर्ममाक्षयाः ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य तदा देवास्तमूचिरे ।
नासंततेर्भवेल्लोपः कृत्वा धर्मशतान्यपि ॥
स श्रुत्वा वचनं तेषां त्रिदशानां कुरूद्वह ॥

इन श्लोकोंद्वारा देवताओंके प्रकट होकर वरदान देनेका प्रसंग सूचित होता है, अतः '⋯ततो देवान् नियमाद् वशमानयत्' यही पाठ ठीक है ।

क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम्।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥

राजन्! जब वह स्नान करके लौटने लगी, उस समय अकस्मात् उसकी दृष्टि मार्तिकावत देशके राजा चित्ररथपर पड़ी, जो कमलोंकी माला धारण करके अपनी पत्नीके साथ जलमें क्रीड़ा कर रहा था। उस समृद्धिशाली नरेशको उस अवस्थामें देखकर रेणुकाने उसकी इच्छा की ॥ ६-७ ॥

व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि विचेतना।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत ॥ ८ ॥

उस समय इस मानसिक विकारसे द्रवित हुई रेणुका जलमें बेहोश-सी हो गयी। फिर त्रस्त होकर उसने आश्रमके भीतर प्रवेश किया। परंतु पतिदेव उसकी सब बातें जान गये ॥८॥

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद् ब्राह्म्या लक्ष्म्या विवर्जिताम्।
धिक्छब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

उसे धैर्यसे च्युत और ब्रह्मतेजसे वञ्चित हुई देख उन महातेजस्वी शक्तिशाली महर्षिने धिक्कारपूर्ण वचनोंद्वारा उसकी निन्दा की ॥ ९ ॥

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान् नाम नामतः।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥

इसी समय जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्र रुमण्वान् वहाँ आ गये। फिर क्रमशः सुषेण, वसु और विश्वावसु भी आ पहुँचे ॥

तानानुपूर्व्याद् भगवान् वधे मातुरचोदयत्।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥

भगवान् जमदग्निने बारी-बारीसे उन सभी पुत्रोंको यह आज्ञा दी कि तुम अपनी माताका वध कर डालो, परंतु मातृस्नेह उमड़ आनेसे वे कुछ भी बोल न सके—बेहोश-से खड़े रहे ॥ ११ ॥

ततः शशाप तान् क्रोधात् ते शप्ताश्चेतनां जहुः।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥

तब महर्षिने कुपित हो उन सब पुत्रोंको शाप दे दिया। शापग्रस्त होनेपर वे अपनी चेतना (विचार-शक्ति) खो बैठे और तुरंत मृग एवं पक्षियोंके समान जड-बुद्धि हो गये ॥

ततो रामोऽभ्ययात् पश्चादाश्रमं परवीरहा।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥

तदनन्तर शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेवाले परशुरामजी सबसे पीछे आश्रमपर आये। उस समय महातपस्वी महाबाहु जमदग्निने उनसे कहा—॥१३ ॥

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥

'बेटा! अपनी इस पापिनी माताको अभी मार डालो और

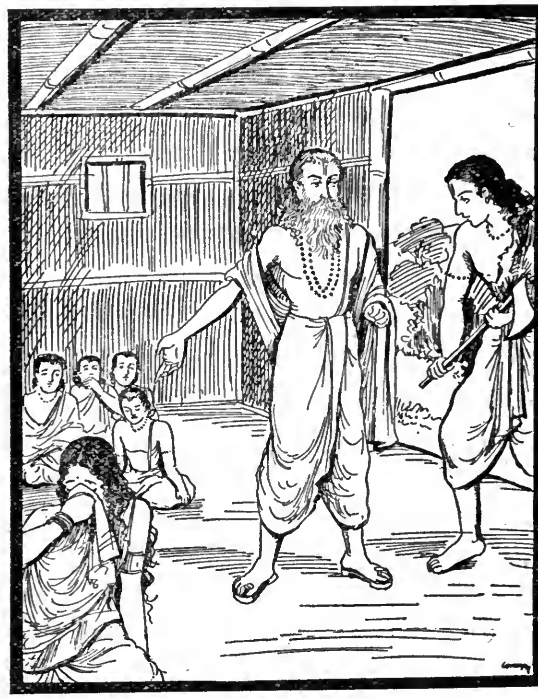

इसके लिये मनमें किसी प्रकारका खेद न करो।'

तब परशुरामजीने फरसा लेकर उसी क्षण माताका मस्तक काट डाला ॥ १४ ॥

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः।
कोपोऽभ्यगच्छत् सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम्॥ १५ ॥

महाराज! इससे महात्मा जमदग्निका कोप सहसा शान्त हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—॥ १५ ॥

ममेदं वचनात् तात कृतं ते कर्म दुष्करम्।
वृणीष्व कामान् धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत।
ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥

'तात! तुमने मेरे कहनेसे वह कार्य किया है, जिसे करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। तुम धर्मके ज्ञाता हो। तुम्हारे मनमें जो-जो कामनाएँ हों, उन सबको माँग लो।' तब परशुरामजीने कहा— पिताजी, मेरी माता जीवित हो उठें; उन्हें मेरेद्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे, वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके, मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ।' भारत! महातपस्वी जमदग्निने वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं ॥ १६—१८ ॥

कदाचित् तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो।
अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! एक दिन इसी तरह उनके सब पुत्र बाहर गये हुए थे । उसी समय अनूपदेशका वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन उधर आ निकला ॥ १९ ॥

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत्।
स युद्धमदसम्मत्तो नाभ्यनन्दत् तथार्चनम् ॥ २० ॥
प्रमथ्य चाश्रमात् तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात्।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥

आश्रममें आनेपर ऋषिपत्नी रेणुकाने उसका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया । कार्तवीर्य अर्जुन युद्धके मदसे उन्मत्त हो रहा था । उसने उस सत्कारको आदरपूर्वक ग्रहण नहीं किया। उलटे मुनिके आश्रमको तहस-नहस करके वहाँसे डकराती हुई होमधेनुके बछड़ेको बलपूर्वक हर लिया और आश्रमके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी तोड़ डाला ॥ २०-२१ ॥

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम्।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥

जब परशुरामजी आश्रममें आये, तब स्वयं जमदग्निने उनसे सारी बातें कहीं । बारंबार डकराती हुई होमकी धेनुपर भी उनकी दृष्टि पड़ी । इससे वे अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ २२ ॥

स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत्।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून् परिघसंनिभान्।
सहस्रसम्मितान् राजन् प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥

और कालके वशीभूत हुए कार्तवीर्य अर्जुनपर धावा बोल दिया । शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीने अपना सुन्दर धनुष ले युद्धमें महान् पराक्रम दिखाकर पैने बाणों-द्वारा उसकी परिघसदृश सहस्र भुजाओंको काट डाला ॥

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा।
अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥ २५ ॥

इस प्रकार परशुरामजीसे परास्त हो कार्तवीर्य अर्जुन कालके गालमें चला गया । पिताके मारे जानेसे अर्जुनके पुत्र परशुरामजीपर कुपित हो उठे ॥ २५ ॥

आश्रमस्थं विना रामं जगदग्निमुपाद्रवन्।
ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥ २६ ॥

और एक दिन परशुरामजीकी अनुपस्थितिमें जब आश्रमपर केवल जमदग्निजी ही रह रहे थे, वे उन्हींपर चढ़ आये । यद्यपि जमदग्निजी महान् शक्तिशाली थे तो भी तपस्वी ब्राह्मण होनेके कारण युद्धमें प्रवृत्त नहीं हुए। इस दशामें भी कार्तवीर्यके पुत्र उनपर प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

असकृद् रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत्।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिंदमाः।
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथा गते ॥ २८ ॥
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः।
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम्।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! वे महर्षि अनाथकी भाँति 'राम ! राम !!' की रट लगा रहे थे, उसी अवस्थामें कार्तवीर्य अर्जुनके पुत्रोंने उन्हें बाणोंसे घायल करके मार डाला । इस प्रकार मुनिकी हत्या करके वे शत्रुसंहारक क्षत्रिय जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये । जमदग्निके इस तरह मारे जानेके बाद जब वे कार्तवीर्य-पुत्र भाग गये, तब भृगुनन्दन परशुरामजी हाथोंमें समिधा लिये आश्रममें आये । वहाँ अपने पिताको इस प्रकार दुर्दशापूर्वक मरा देख उन्हें बड़ा दुःख हुआ । उनके पिता इस प्रकार मारे जानेके योग्य कदापि नहीं थे, परशुरामजी उन्हें याद करके विलाप करने लगे ॥ २७-२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानमें जमदग्निवधविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

जमदग्निका परशुरामसे कार्तवीर्य-अर्जुनका अपराध बताना

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

परशुरामजीका पिताके लिये विलाप और पृथ्वीको इक्कीस बार निःक्षत्रिय करना एवं महाराज युधिष्ठिरके द्वारा परशुरामजीका पूजन

राम उवाच

ममापराधात् तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः ।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ॥ १ ॥

परशुरामजी बोले—हा तात ! मेरे अपराधका बदला लेनेके लिये कार्तवीर्यके उन नीच और पामर पुत्रोंने वनमें बाणोंद्वारा मारे जानेवाले मृगकी भाँति आपकी हत्या की है ॥ १ ॥

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे ।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ॥ २ ॥

पिताजी ! आप तो धर्मज्ञ होनेके साथ ही सन्मार्गपर चलनेवाले थे, कभी किसी भी प्राणीके प्रति कोई अपराध नहीं करते थे, फिर आपकी ऐसी मृत्यु कैसे उचित हो सकती है ? ॥ २ ॥

किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः ।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः ॥ ३ ॥

आप तपस्यामें संलग्न, युद्धसे विरत और वृद्ध थे तो भी जिन्होंने सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा आपकी हत्या की है, उन्होंने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३ ॥

किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च ।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः ॥ ४ ॥

वे निर्लज्ज राजकुमार युद्धसे दूर रहनेवाले आप-जैसे धर्मज्ञ एवं असहाय पुरुषको मारकर अपने सुहृदों और मन्त्रियोंके सामने क्या कहेंगे ? ॥ ४ ॥

विलप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥ ५ ॥
ददाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरंजयः ।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥ ६ ॥

राजन् ! इस प्रकार भाँति-भाँतिसे अत्यन्त करुणाजनक विलाप करके शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महातपस्वी परशुरामजीने अपने पिताके समस्त प्रेतकर्म किये। भारत ! पहले तो उन्होंने विधिपूर्वक अग्निमें पिताका दाह-संस्कार किया, तत्पश्चात् सम्पूर्ण क्षत्रियोंके वधकी प्रतिज्ञा की ॥५-६॥

संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान् ।
जघ्निवान् कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ॥ ७ ॥

अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी परशुरामजी क्रोधके आवेशमें साक्षात् यमराजके समान हो गये। उन्होंने युद्धमें शस्त्र लेकर अकेले ही कीर्तवीर्यके सब पुत्रोंको मार डाला॥७॥

तेषां चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद् रामः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! उस समय जिन-जिन क्षत्रियोंने उनका साथ दिया, उन सबको भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने मिट्टीमें मिला दिया ॥ ८ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ९ ॥

इस प्रकार भगवान् परशुरामने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे सूनी करके उनके रक्तसे समन्तपञ्चक क्षेत्रमें पाँच रुधिर कुण्ड भर दिये ॥ ९ ॥

स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः ।
साक्षाद् ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत् ॥ १० ॥

भृगुकुलभूषण रामने उन कुण्डोंमें भृगुवंशी पितरोंका तर्पण किया और उस समय साक्षात् प्रकट हुए महर्षि ऋचीकको देखा। उन्होंने परशुरामको इस घोर कर्मसे रोका ॥ १० ॥

ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रतापी जमदग्निकुमारने एक महान् यज्ञ करके देवराज इन्द्रको तृप्त किया तथा ऋत्विजोंको दक्षिणा-रूपमें भूमि दी ॥ ११ ॥

वेदीं चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने ।
दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी वेदी प्रदान की, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दस-दस व्याम (चालीस-चालीस हाथ) की थी। ऊँचाईमें भी वह वेदी नौ व्याम (छत्तीस हाथ) की थी ॥ १२ ॥

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय कश्यपजीकी आज्ञासे ब्राह्मणोंने उस स्वर्णवेदीको खण्ड-खण्ड करके बाँट लिया, अतः वे खाण्डवायन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन् महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको देकर अमित-पराक्रमी परशुरामजी इस पर्वतराज महेन्द्रपर निवास करते हैं ॥ १४ ॥

एवं वैरमभूत् तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामिततेजसा ॥ १५ ॥

इस तरह उनका सम्पूर्ण जगत्के क्षत्रियोंके साथ वैर हुआ था और उसी समय अमिततेजस्वी परशुरामजीने सारी पृथ्वी जीती थी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान् विप्रान् धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! तदनन्तर चतुर्दशी तिथिको निश्चित समयपर महामना परशुरामजीने उस पर्वतपर रहनेवाले उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंसहित युधिष्ठिरको दर्शन दिया ॥ १६ ॥

स तमानर्च राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रभावशाली नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ श्रद्धापूर्वक भगवान् परशुरामजीकी पूजा की तथा अन्य ब्राह्मणोंका भी बहुत आदर-सत्कार किया ॥१७॥

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा सम्मानित हो वे इन्हींकी आज्ञासे उस रातको महेन्द्रपर्वतपर ही रहे, फिर सबेरे उठकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विभिन्न तीर्थोंमें होते हुए प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर तपस्यामें प्रवृत्त होना और यादवोंका पाण्डवोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः
पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि
क्वचित् क्वचिद् भारत सागरस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! आगे जाते

हुए महानुभाव राजा युधिष्ठिरने समुद्रतटके समस्त पुण्य तीर्थोंका दर्शन किया। वे सभी तीर्थ परम मनोहर थे। उनमें कहीं-कहीं ब्राह्मणलोग निवास करते थे, जिससे उन तीर्थोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १ ॥

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः
सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां
जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥

परीक्षितनन्दन! सदाचारी पाण्डुकुमार युधिष्ठिर कश्यपपुत्र सूर्यदेवके पौत्र थे (क्योंकि उनकी उत्पत्ति सूर्यकुमार धर्मसे हुई थी)। वे भाइयोंसहित उन तीर्थोंमें स्नान करके समुद्रगामिनी पुण्यमयी प्रशस्ता नदीके तटपर गये ॥ २ ॥

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः
संतर्पयामास पितॄन् सुरांश्च।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य
गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥

महानुभाव युधिष्ठिरने वहाँ भी स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करके सागरगामिनी गोदावरी नदीकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्
समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम्।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं
नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥

जनमेजय! गोदावरीमें स्नान करके पवित्र हो वे वहाँसे द्रविड़देशमें घूमते हुए संसारके पुण्यमय तीर्थ समुद्रके तटपर गये। वहाँ स्नानादि करनेके पश्चात् वीर पाण्डुकुमारने आगे बढ़कर परम पवित्र अगस्त्य-तीर्थ तथा नारी-तीर्थोंका[1] दर्शन किया ॥ ४ ॥

तत्रार्जुनस्याग्र्यधनुर्धरस्य
निशम्य तत् कर्म नरैरशक्यम्।
सम्पूज्यमानः परमर्षिसङ्घैः
परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः
कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च।
सम्पूजयन् विक्रममर्जुनस्य
रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ॥ ६ ॥

वहाँ श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुनके उस पराक्रमको, जो दूसरे मनुष्योंके लिये असम्भव था, सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन तीर्थोंमें बड़े-बड़े ऋषिगण भी उनका सत्कार करते थे। जनमेजय! द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिरने उन पाँचों तीर्थोंमें स्नान करके अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए बड़े हर्षका अनुभव किया ॥ ५-६ ॥

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय
तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य
संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर समुद्रतटवर्ती उन सभी तीर्थोंमें सहस्रों गोदान करके भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके द्वारा किये हुए गोदानका बारंबार वर्णन किया ॥ ७ ॥

स तानि तीर्थानि च सागरस्य
पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन्।
क्रमेण गच्छन् परिपूर्णकामः
शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥

राजन्! समुद्र-सम्बन्धी तथा अन्य बहुत-से पुण्य तीर्थोंमें क्रमशः भ्रमण करते हुए पूर्णकाम राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त पुण्यमय शूर्पारकतीर्थका दर्शन किया ॥ ८ ॥

तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं
ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद।
तप्तं सुरैस्तत्र तपः पुरस्ता-
दिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥

वहाँ समुद्रके कुछ भागको लाँघकर वे एक ऐसे वनमें आये, जो भूमण्डलमें सर्वत्र विख्यात था। वहाँ पूर्वकालमें देवताओंने तपस्या की थी और पुण्यात्मा नरेशोंने यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ९ ॥

स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य
वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसङ्घैः
समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥

लम्बी और मोटी भुजाओंवाले युधिष्ठिरने उस वनमें धनुर्धरशिरोमणि ऋचीकवंशी परशुरामजीकी वेदी देखी, जो पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये पूजनीय थी तथा तपस्वियोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे ॥ १० ॥

ततो वसूनां वसुधाधिपः स
मरुद्गणानां च तथाश्विनोश्च।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणा-
मिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य
पतेरपां साध्यगणस्य चैव।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा
रुद्रस्य राजन् सगणस्य चैव ॥ १२ ॥

[1] पाँच अप्सराओंके तीर्थ।

सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव
पुण्याश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये ।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां
ददर्श राजा सुमनोहराणि ॥ १३ ॥

राजन्! तत्पश्चात् उन महात्मा नरेशने वसु, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, यम, आदित्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, भगवान् सविता, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, धाता, पितृगण, अपने गणोंसहित रुद्र, सरस्वती, सिद्ध-समुदाय तथा अन्य पुण्यमय देवताओंके परम पवित्र और मनोहर मन्दिरोंके दर्शन किये ॥ ११–१३ ॥

तेषूपवासान् विबुधानुपोष्य
दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः
पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥

उन तीर्थोंके निकट निवास करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे आच्छादित एवं विभूषित करके उन्हें बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट दे वहाँके सभी तीर्थोंमें स्नान करके महाराज युधिष्ठिर पुनः शूर्पारकक्षेत्रमें लौट आये ॥ १४ ॥

स तेन तीर्थेन तु सागरस्य
पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भि-
स्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥

वहाँसे प्रस्थित हो वे भाइयोंसहित सागरतटवर्ती तीर्थोंके मार्गसे होते हुए फिर प्रभासक्षेत्र आये, जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके कारण भूमण्डलमें अधिक प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः
सहानुजैर्देवगणान् पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा
ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥

वहाँ भाइयोंसहित स्नान करके विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले राजा युधिष्ठिरने देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। इसी प्रकार द्रौपदीने, साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंने तथा महर्षि लोमशने भी वहाँ स्नान एवं तर्पण किये ॥ १६ ॥

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः
कुर्वन् क्षपाहःसु तदाभिषेकम् ।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा
तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर वहाँ बारह दिनोंतक केवल जल और वायु पीकर रहते हुए दिनमें और रातमें भी स्नान करते तथा अपने चारों ओर आग जलाकर तपस्यामें लगे रहते थे ॥ १७ ॥

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं
शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ
युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥

इसी समय वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने सुना कि महाराज युधिष्ठिर प्रभासक्षेत्रमें उग्र तपस्या कर रहे हैं; तब वे अपने सैनिकोंसहित अजमीढकुल-भूषण युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान् समीक्ष्य
भूमौ शयानान् मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा
सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥

वहाँ जाकर वृष्णिवंशियोंने देखा, पाण्डवलोग पृथ्वीपर सो रहे हैं, उनके सारे अङ्ग धूलसे सने हुए हैं तथा कष्ट सहनेके अयोग्य द्रौपदी भी भारी दुर्दशा भोग रही है। यह सब देखकर वे बड़े दुखी हुए और आर्त स्वरसे रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः स रामं च जनार्दनं च
कार्ष्णिं च साम्बं च शिनेश्च पौत्रम् ।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां
चक्रे यथाधर्ममहीनसत्त्वः ॥ २० ॥

(उस महान् संकटमें भी) महाराज युधिष्ठिरने अपना धैर्य नहीं छोड़ा था। उन्होंने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि तथा अन्यान्य वृष्णिवंशियोंके पास जा-जाकर धर्मानुसार उन सबका आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

ते चापि सर्वान् प्रतिपूज्य पार्थां-
स्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं सम्परिवार्य राज-
न्नुपाविशन् देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥

राजन्! पाण्डुपुत्रोंद्वारा सत्कृत होकर यादवोंने भी उन सबका यथोचित सत्कार किया और फिर देवता जैसे इन्द्रके चारों ओर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार वे धर्मराज युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २१ ॥

तेषां स सर्वं चरितं परेषां
वने च वासं परमप्रतीतः ।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं
निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त विश्वस्त होकर यादवोंसे शत्रुओंकी सारी करतूतें कह सुनायीं और अपने वनवासका भी सब समाचार बताया। साथ ही बड़ी प्रसन्नताके साथ यह भी सूचित किया कि अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये इन्द्रलोकमें गये हैं ॥ २२ ॥

भगवान् परशुरामद्वारा सहस्रार्जुनका वध

प्रभासक्षेत्रमें पाण्डवोंकी यादवोंसे भेंट

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीता-
स्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव।
नेत्रोद्भवं सम्मुमुचुर्महार्हा
दुःखार्तिजं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर उन्हें कुछ सान्त्वना मिली। परंतु पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर वे परम पूजनीय महानुभाव यादव वीर दुःख और वेदनासे पीड़ित हो आँसू बहाने लगे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासे यादवपाण्डवसमागमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें प्रभासक्षेत्रके भीतर यादव-पाण्डव-समागमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रभासतीर्थमें बलरामजीके पाण्डवोंके प्रति सहानुभूतिसूचक दुःखपूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा।
किमकुर्वन् कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ॥ १ ॥
ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! प्रभासतीर्थमें पहुँचकर पाण्डवों तथा वृष्णिवंशियोंने क्या किया? वहाँ उनमें कैसी बातचीत हुई? वे सब महात्मा यादव और पाण्डव सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे, (अतः उनमें क्या बात हुई? यह मैं जानना चाहता हूँ) ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रभासतीर्थं सम्प्राप्य पुण्यं तीर्थं महोदधेः।
वृष्णयः पाण्डवान् वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! प्रभासक्षेत्र समुद्र-तटवर्ती एक पुण्यमय तीर्थ है। वहाँ जाकर वृष्णिवंशी वीर पाण्डवोंको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ३ ॥

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर गोदुग्ध, कुन्दकुसुम, चन्द्रमा, मृणाल (कमल-नाल) तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले वनमालाविभूषित हलधर बलरामने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ ४ ॥

बलदेव उवाच

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय
जन्तोरधर्मश्च पराभवाय।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा
वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥

बलदेवजी बोले—श्रीकृष्ण! जान पड़ता है, आचरणमें लाया हुआ धर्म भी प्राणियोंके अभ्युदयका कारण नहीं होता और उनका किया हुआ अधर्म भी पराजयकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता; क्योंकि महात्मा युधिष्ठिरको (जो सदा धर्मका ही पालन करते हैं) जटाधारी होकर वल्कल वस्त्र पहने वनमें रहते हुए महान् क्लेश भोगना पड़ रहा है ॥ ५ ॥

दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति
न चास्य भूमिर्विवरं ददाति।
धर्मादधर्मश्चरितो वरीया-
निति मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
युधिष्ठिरे चासुखमात्तराज्ये।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः
शङ्का मिथः संजनिता नराणाम् ॥ ७ ॥

उधर, दुर्योधन (अधर्मपरायण होनेपर भी) पृथ्वीका शासन कर रहा है। उसके लिये यह पृथ्वी भी नहीं फटती है। इससे तो मन्द बुद्धिवाले मनुष्य यही समझेंगे कि धर्माचरणकी अपेक्षा अधर्मका आचरण ही श्रेष्ठ है। दुर्योधन

निरन्तर उन्नति कर रहा है और युधिष्ठिर छलसे राज्य छिन जानेके कारण दुःख उठा रहे हैं । (युधिष्ठिर और दुर्योधनके दृष्टान्तको सामने रखकर) मनुष्योंमें परस्पर महान् संदेह खड़ा हो गया है । प्रजा यह सोचने लगी है कि हमें क्या करना चाहिये—हमें धर्मका आश्रय लेना चाहिये या अधर्मका ? ॥ ६-७ ॥

अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो
धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो
धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥

ये राजा युधिष्ठिर साक्षात् धर्मके पुत्र हैं । धर्म ही इनका आधार है । ये सदा सत्यका आश्रय लेते और दान देते रहते हैं । कुन्तीकुमार युधिष्ठिर राज्य और सुख छोड़ सकते हैं, (परंतु धर्मका त्याग नहीं कर सकते) भला, धर्मसे दूर होकर कोई कैसे अभ्युदयका भागी हो सकता है ? ॥ ८ ॥

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो
द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रव्राज्य पार्थान् सुखमाप्नुवन्ति
धिक् पापबुद्धीन् भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥

पितामह भीष्म, ब्राह्मण कृपाचार्य, द्रोण तथा कुलके बड़े-बूढ़े राजा धृतराष्ट्र—ये कुन्तीके पुत्रोंको राज्यसे निकालकर कैसे सुख पाते हैं ? भरतकुलके इन प्रधान व्यक्तियोंको धिक्कार है ! क्योंकि इनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है ॥ ९ ॥

किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः
पितॄन् समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक् चरितं मयेति
पुत्रानपापान् व्यपरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥

पापी राजा धृतराष्ट्र परलोकमें पितरोंसे मिलनेपर उनके सामने कैसे यह कह सकेगा कि 'मैंने अपने और भाई पाण्डुके पुत्रोंके साथ न्याययुक्त बर्ताव किया है ।' जब कि उसने इन निर्दोष पुत्रोंको राज्यसे वञ्चित कर दिया है ॥ १० ॥

नासौ धिया सम्प्रति पश्यति स्म
किं नाम कृत्वाहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु
प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ॥ ११ ॥

वह अब भी अपने बुद्धिरूप नेत्रोंसे यह नहीं देख पाता कि कौन-सा पाप करनेके कारण मुझे इस प्रकार अन्धा होना पड़ा है और आगे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राज्यसे निकालकर जब मैं भूतलके राजाओंमें फिरसे जन्म लूँगा, तब मेरी दशा कैसी होगी ? ॥ ११ ॥

नूनं समृद्धान् पितृलोकभूमौ
चामीकराभान् क्षितिजान् प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः
कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यका पुत्र धृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुर्योधन आदि यह क्रूर कर्म करके (स्वप्नमें) निश्चय ही पितृलोककी भूमिमें सुवर्णके समान चमकनेवाले समृद्धिशाली एवं पुष्पित वृक्षोंको देख रहे हैं* ॥ १२ ॥

व्यूढोत्तरांसान् पृथुलोहिताक्षान्
नेमान् स पृच्छन् स शृणोति नूनम् ।
प्रास्थापयद् यत् स वनं सशङ्को
युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र सुदृढ़ कंधे तथा विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले इन भीष्म आदिसे कोई बात पूछता तो है, परंतु निश्चय ही उनकी बात सुनकर मानता नहीं है, तभी तो भाइयोंसहित शस्त्रधारी युधिष्ठिरके प्रति भी मनमें शङ्का रखकर इन्हें उसने वनमें भेज दिया है ॥ १३ ॥

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां
निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य
मुञ्चन्ति सैन्यानि शकृत् समूत्रम् ॥ १४ ॥

(भला ! वे कौरव इन पाण्डवोंका सामना कैसे कर सकते हैं ?) ये बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले भीमसेन बिना अस्त्र-शस्त्रोंके ही शत्रुओंकी शक्तिशाली सेनाका संहार कर सकते हैं । भीमका तो सिंहनाद सुनकर ही विरोधी दलके सैनिक मल-मूत्र करने लगते हैं ॥ १४ ॥

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी
समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वने स्मरन् वासमिमं सुघोरं
शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५ ॥

वे ही वेगशाली भीम इन दिनों भूख-प्यास और रास्ता चलनेकी थकावटसे दुर्बल हो गये हैं । इस भयंकर वनवासका स्मरण करते हुए जब ये हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस समय किसीको भी जीता न छोड़ेंगे—यह मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्
समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः ।
स शीतवातातपकर्शिताङ्गो
न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६ ॥

इनके समान पराक्रमी और बलवान् वीर इस पृथ्वीपर

* इस प्रकारके वृक्षोंको देखना मृत्युसूचक माना गया है ।

कोई नहीं है। इस समय सर्दी-गर्मी और वायुके कष्टसे यद्यपि इनका शरीर दुबला हो गया है तो भी समरमें शत्रुओंमेंसे किसीको भी ये शेष नहीं रहने देंगे ॥ १६ ॥

प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा
वृकोदरः सानुचरान् रणेषु ।
स्वस्त्यागमद् योऽतिरथस्तरस्वी
सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः॥ १७ ॥
यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्
समागतान् दाक्षिणात्यान् महीपान् ।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य
तरस्विनं तापसवेषरूपम् ॥ १८ ॥

जो पूर्व दिशामें (दिग्विजयकी यात्राके समय) केवल एक रथ लेकर युद्धमें बहुत-से राजाओंको सेवकोंसहित परास्त करके सकुशल लौट आये थे, वे ही अतिरथी और वेगशाली वीर वृकोदर आज वनमें वल्कल वस्त्र पहनकर कष्ट भोग रहे हैं। जिसने समुद्र-तटपर सामना करनेके लिये आये हुए दक्षिण दिशाके सम्पूर्ण राजाओंपर विजय पायी थी, उसी वेगवान् वीर इस सहदेवको देखो—यह आज तपस्वीकी-सी वेष-भूषा धारण किये हुए दुःख पा रहा है ॥ १७-१८ ॥

यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये
दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः ।
सोऽयं वने मूलफलेन जीव-
ञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ॥ १९ ॥

जिस युद्धकुशल नकुलने एकमात्र रथकी सहायतासे पश्चिम दिशाके समस्त भूपालोंको जीत लिया था, वही आज वनमें फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सिरपर जटा धारण किये मलिन शरीरसे विचर रहा है ॥ १९ ॥

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो
वेदीतलादुत्पतिता सुता या ।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं
कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥

जो अतिरथी राजा द्रुपदके समृद्धिशाली यज्ञमें वेदीसे प्रकट हुई थी, वही यह सुख भोगनेके योग्य सती-साध्वी द्रौपदी वनवासके इस महान् दुःखको कैसे सहन करती है ? ॥

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य
देवेश्वरस्याप्यथवाश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु
वनेऽचरन् ह्यस्तसुखाः सुखार्हाः ॥ २१ ॥

धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों जैसे देवताओंके ये पुत्र सुख भोगनेके योग्य होते हुए भी आज सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित हो वनमें कैसे विचरण कर रहे हैं ? ॥ २१ ॥

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये
सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥

पत्नीसहित धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें हार गये और भाइयों एवं सेवकोंसहित राज्यसे बाहर कर दिये गये; उधर दुर्योधन (अनीतिपरायण होकर भी दिनोंदिन) बढ़ रहा है; ऐसी दशामें पर्वतोंसहित यह पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती ? ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्ये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें बलरामवाक्यविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके शौर्यपूर्ण उद्गार तथा युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका अनुमोदन एवं पाण्डवोंका पयोष्णी नदीके तटपर निवास

सात्यकिरुवाच

न राम कालः परिदेवनाय
यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे ।
समाचरामो ह्यनतीतकालं
युधिष्ठिरो यद्यपि नाह किंचित् ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! यह समय बैठकर विलाप करनेका नहीं है। अब आगे जो कुछ करना है, उसीको हम सब लोग मिलकर करें। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर हमसे कुछ नहीं कहते हैं तो भी हमें अब व्यर्थ समय न बिताकर कौरवोंको उचित उत्तर देना चाहिये ॥ १ ॥

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके
ते नात्मना कर्म समारभन्ते ।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः
शिब्यादयो राम यथा ययातेः ॥ २ ॥

इस संसारमें जो लोग सनाथ हैं—जिनके बहुत-से सहायक हैं—वे स्वयं कोई कार्य आरम्भ नहीं करते हैं। उनके सभी कार्योंमें वे सहायक एवं सुहृद् ही सहयोगी होते हैं, जैसे ययातिके उद्धार-कार्यमें शिबि आदि उनके नातियोंने योगदान किया था ॥ २ ॥

येषां तथा राम समारभन्ते
कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा
नानाथवत् कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

बलरामजी ! जगत्में जिनके कार्य उनके सहायक अपने ही विचारसे प्रारम्भ करते हैं, वे पुरुषश्रेष्ठ सनाथ माने जाते हैं। वे अनाथकी भाँति कभी कष्टमें नहीं पड़ते ॥ ३ ॥

कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च
प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ।
वसन्त्यरण्ये सहसोदरीयै-
स्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः ॥ ४ ॥

आप दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण, मेरेसहित ये प्रद्युम्न और साम्ब सब-के-सब मौजूद हैं। इन त्रिभुवन-पतियोंसे मिलकर भी ये कुन्तीके पुत्र अभीतक अपने भाइयोंके साथ वनमें क्यों निवास करते हैं ? ॥ ४ ॥

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना
प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः
सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥ ५ ॥
त्वं ह्येव कोपात् पृथिवीमपीमां
संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा।
स धार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं
वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ॥ ६ ॥

उत्तम तो यह है कि आज ही यदुवंशियोंकी सेना नाना प्रकारके प्रचुर अस्त्र-शस्त्र और विचित्र कवच धारण करके युद्धके लिये प्रस्थान करे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन वृष्णिवंशियों-के पराक्रमसे पराजित हो बन्धु-बान्धवोंसहित यमलोक चला जाय। बलरामजी ! भगवान् श्रीकृष्ण अलग खड़े रहें, केवल आप ही चाहें तो इस समूची पृथ्वीको भी अपनी क्रोधाग्निकी लपटोंमें लपेट सकते हैं। जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालिये ॥ ५-६ ॥

भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च
जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः।
यदर्थमैच्छन् मनुजाः सुपुत्रं
शिष्यं गुरुश्चाप्रतिकूलवादम् ॥ ७ ॥

जो मेरे भाई, सखा और गुरु हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके आत्मतुल्य सुहृद् हैं, वे कुन्तीकुमार अर्जुन भी अलग रहें। मनुष्य जिस उद्देश्यसे अच्छे पुत्रकी और गुरु प्रतिकूल न बोलनेवाले शिष्यकी कामना करते हैं, उसे सफल करनेका समय आ गया है ॥ ७ ॥

यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्
करोति कर्मोग्र्यमपारणीयम्।
तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रै-
र्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ॥ ८ ॥

जिसके लिये सुयोग्य शिष्य या पुत्र उत्तम अस्त्र-शस्त्र उठाता है तथा युद्धमें श्रेष्ठ एवं अपार पराक्रम कर दिखाता है, उसकी पूर्तिका यही अवसर है। मैं संग्रामभूमिमें अपने उत्तम आयुधोंद्वारा शत्रुओंकी सारी अस्त्र-वर्षाको नष्ट करके उनके समस्त सैनिकोंको परास्त कर दूँगा ॥ ८ ॥

कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः
शरोत्तमैरुन्मथितास्मि राम।
खड्गेन चाहं निशितेन संख्ये
कायाच्छिरस्तस्य बलात् प्रमथ्य ॥ ९ ॥

बलरामजी ! सर्प, विष एवं अग्निके समान भयंकर उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुके सिरको धड़से अलग कर दूँगा; साथ ही उस समराङ्गणमें शत्रुमण्डलीको मैं बलपूर्वक रौंदकर तीखी तलवारद्वारा उसका मस्तक उड़ा दूँगा ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सर्वाननुगान् हनिष्ये
दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान्।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय
पश्यन्तु भौमा युधि जातहर्षाः ॥ १० ॥

तदनन्तर उसके समस्त सेवकोंसहित दुर्योधन और समस्त कौरवोंको भी मार डालूँगा। रोहिणीनन्दन ! युद्धमें भयानक पराक्रम दिखानेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहमें भर-कर आज मुझे हाथमें अस्त्र लिये पूर्वोक्त पराक्रम करते हुए प्रत्यक्ष देखें ॥ १० ॥

निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्या-
नग्निं महाकक्षमिवान्तकाले।
प्रद्युम्नमुक्तान् निशितान् न शक्ताः
सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ॥ ११ ॥

जैसे प्रलयकालीन अग्नि सूखे घासकी राशिको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार मैं अकेला ही कौरवदलके प्रधान वीरोंका संहार कर डालूँगा और ऐसा करते हुए सब लोग मुझे प्रत्यक्ष देखेंगे। प्रद्युम्नके छोड़े हुए तीखे बाणोंको सहन करनेकी शक्ति कृपाचार्य, द्रोणाचार्य विकर्ण और कर्ण—किसीमें नहीं है ॥ ११ ॥

जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य
कार्ष्णिर्भवत्येष यथा रणस्थः ।
साम्बः ससूतं सरथं भुजाभ्यां
दुःशासनं शास्तु बलात् प्रमथ्य ॥ १२ ॥

मैं अर्जुनकुमार अभिमन्युके भी पराक्रमको जानता हूँ । वह समरभूमिमें खड़ा होनेपर साक्षात् श्रीकृष्णनन्दन प्रद्युम्नके ही समान जान पड़ता है । वीरवर साम्ब बलपूर्वक शत्रुसेनाको मथकर अपनी दोनों भुजाओंसे रथ और सारथिसहित दुःशासनका दमन करें ॥ १२ ॥

न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य
रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।
एतेन बालेन हि शम्बरस्य
दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ॥ १३ ॥

जाम्बवतीनन्दन साम्ब रणभूमिमें बड़े प्रचण्ड पराक्रमशाली बन जाते हैं । उस समय इनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सहसा शम्बरासुरकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था ॥ १३ ॥

वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहु-
रेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम साम्बस्य महारथस्य
रणे समक्षं रथमभ्युदीयात् ॥ १४ ॥

इनकी जाँघें गोल हैं, भुजाएँ लंबी और मोटी हैं; इन्होंने युद्धमें अश्वारोहियोंकी कितनी ही सेनाओंका संहार किया है । भला, संग्रामभूमिमें महारथी साम्बके रथके सम्मुख कौन आ सकता है ? ॥ १४ ॥

यथा प्रविश्यान्तरमन्तकस्य
काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्यान्तरमस्य संख्ये
को नाम जीवन् पुनराव्रजेत ॥ १५ ॥

जैसे अन्तकाल आनेपर यमराजकी भुजाओंमें पड़ा हुआ मनुष्य कदापि वहाँसे निकल नहीं सकता, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें वीरवर साम्बके वशमें आया हुआ कौन ऐसा योद्धा होगा, जो पुनः जीवित लौट सके ॥ १५ ॥

द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ
सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः
प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १६ ॥

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चाहें तो अपने बाणरूपी अग्निकी लपटोंसे द्रोण और भीष्म—इन दोनों प्रसिद्ध महारथियोंको, पुत्रोंसहित सोमदत्तको तथा सारी कौरव-सेनाको भी भस्म कर डालेंगे ॥ १६ ॥

किं नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति
कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणे-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ १७ ॥

देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो हाथोंमें हथियार, उत्तम बाण तथा चक्र धारण करके युद्धमें अनुपम पराक्रम प्रकट करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिये असह्य हो ॥ १७ ॥

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणि-
र्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु
कीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु ॥ १८ ॥

गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः
शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ
कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १९ ॥

ढाल-तलवार लिये हुए वीरवर अनिरुद्ध भी, जैसे यज्ञोंमें कुशाओंद्वारा यज्ञकी वेदी ढक दी जाती है, उसी प्रकार युद्धमें सिर कटाकर मरे और अचेत पड़े हुए धृतराष्ट्र-पुत्रोंद्वारा इस भूमिको ढक दें । गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ, युद्धमें शूरवीर कुमार निशठ तथा रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रमी सारण और चारुदेष्ण—ये सब लोग अपने कुलके अनुरूप पराक्रम प्रकट करें ॥ १८-१९ ॥

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या
समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रपुत्राँ-
ल्लोके यशः स्फीतमुपाकरोतु ॥ २० ॥

यदुवंशियोंकी शौर्यपूर्ण सेना, जिसमें वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी योद्धाओंकी प्रधानता है, आक्रमण करके युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार डाले और संसारमें अपने उज्ज्वल यशका विस्तार करे ॥ २० ॥

ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु
यावद् व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा
द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर जबतक अपने उस व्रतको, जिसे इन कुरुकुलभूषणने जूएके समय प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार किया था, पूर्ण न कर लें, तबतक अभिमन्यु इस पृथ्वीका शासन करे ॥ २१ ॥

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारि-
स्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रा-
मेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर अपना व्रत समाप्त करके हमारे द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे ही शत्रुओंपर विजय पाकर धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे । उस समयतक यह पृथ्वी धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे रहित हो जायगी और सूतपुत्र कर्ण भी मर जायगा। यदि ऐसा हुआ तो यह हमारे लिये महान् यशोवर्धक कार्य योगा ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्
गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व ।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं
नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित्॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—उदारहृदय मधुकुलभूषण सात्यके ! तुम्हारी यह बात सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । हम तुम्हारे इन वचनोंको स्वीकार करते हैं; परंतु ये कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर किसी भी ऐसी भूमिको किसी तरह लेना नहीं चाहेंगे, जिसे इन्होंने अपनी भुजाओंद्वारा न जीता हो ॥ २३ ॥

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात् स्वधर्मम् ।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ च
तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २४ ॥

कामना, भय अथवा लोभ किसी भी कारणसे युधिष्ठिर अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ सकते । उसी तरह अतिरथी वीर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती ॥ २४ ॥

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासे-
न्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम्॥ २५ ॥

भीमसेन और अर्जुन—ये दोनों वीर युद्धमें इस पृथ्वीपर अपना सानी नहीं रखते। इनसे और दोनों माद्रीकुमारोंसे संयुक्त होनेपर ये युधिष्ठिर सारी पृथ्वीका शासन कैसे नहीं कर सकते ? ॥ २५ ॥

यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा
सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेता-
स्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः॥ २६ ॥

जब महात्मा पाञ्चालराज, केकय, चेदिराज और हम सब लोग एक साथ होकर रणमें पराक्रम दिखायेंगे, उसी समय हमारे सारे शत्रुओंका अस्तित्व मिट जायगा ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नेदं चित्रं माधव यद् ब्रवीषि
सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम् ।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः
कृष्णं च वेदाहमथो यथावत् ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सात्यके ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह तुम्हारे-जैसे वीरके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु मेरे लिये सत्यकी रक्षा ही प्रधान है, राज्यकी प्राप्ति नहीं । केवल श्रीकृष्ण ही मुझे अच्छी तरह जानते हैं और मैं भी श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानता हूँ ॥ २७ ॥

यदैव कालं पुरुषप्रवीरो
वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर
सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २८ ॥

शिनिवंशके प्रधान वीर माधव ! ये पुरुषरत्न श्रीकृष्ण जभी पराक्रम दिखानेका अवसर आया समझेंगे, तभी तुम और भगवान् केशव मिलकर युद्धमें दुर्योधनको जीत सकोगे ॥ २८ ॥

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा
दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया
द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २९ ॥

अब ये यदुवंशी वीर द्वारकाको लौट जायँ । आपलोग मेरे नाथ या सहायक तो हैं ही, सम्पूर्ण मनुष्य-लोकके भी रक्षक हैं; आपलोगोंसे मिलना हो गया, यह बड़े आनन्दकी बात है। अनुपम शक्तिशाली वीरो ! आपलोग धर्मपालनकी ओरसे सदा सावधानी रखें । मैं पुनः आप सभी सुखी मित्रोंको एकत्र हुआ देखूँगा ॥ २९ ॥

तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाभिवाद्य
वृद्धान् परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मु-
स्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् वे यादव-पाण्डव वीर एक दूसरेकी अनुमति ले, वृद्धोंको प्रणाम करके, बालकोंको हृदयसे लगाकर तथा अन्य सबसे यथायोग्य मिलकर अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये । यादववीर अपने घर गये और पाण्डवलोग पूर्ववत् तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ ३० ॥

विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो
विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं
सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णको विदा करके धर्मराज युधिष्ठिर लोमशजी, भाइयों और सेवकोंके साथ विदर्भनरेशद्वारा पूजित, उत्तम तीर्थोंवाली पुण्य नदी पयोष्णीके तटपर गये ॥ ३१ ॥

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां
पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास ।
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा
संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः ॥ ३२ ॥

उसके जलमें यज्ञसम्बन्धी सोमरस मिला हुआ था। पयोष्णीके तटपर जा उन्होंने उसका जल पीकर वहाँ निवास किया। उस समय प्रसन्नतासे भरे हुए श्रेष्ठ द्विज उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन महात्मा नरेशकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसङ्गमें यादवगमनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा गयके यज्ञकी प्रशंसा, पयोष्णी, वैदूर्य पर्वत और नर्मदाके माहात्म्य तथा च्यवन-सुकन्याके चरित्रका आरम्भ

लोमश उवाच

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरंदरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन् स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुना जाता है कि इस पयोष्णी नदीके तटपर राजा नृगने यज्ञ करके सोमरसके द्वारा देवराज इन्द्रको तृप्त किया था। उस समय इन्द्र पूर्णतः तृप्त होकर आनन्दमग्न हो गये थे ॥ १ ॥

इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥

यहीं इन्द्रसहित देवताओंने और प्रजापतियोंने भी प्रचुर दक्षिणासे युक्त अनेक प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया है ॥ २ ॥

आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम् ।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥

अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयने भी यहाँ सात अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोमरसके द्वारा वज्रधारी इन्द्रको संतुष्ट किया था ॥ ३ ॥

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम् ।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥

यज्ञमें जो वस्तुएँ नियमित रूपसे काष्ठ और मिट्टीकी बनी हुई होती हैं, वे सब-की-सब राजा गयके उक्त सातों यज्ञोंमें सुवर्णसे बनायी गयी थीं ॥ ४ ॥

चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः ।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥ ५ ॥

प्रायः यज्ञोंमें चषाल[1], यूप[2], चमस[3], स्थाली[4], पात्री[5], स्रुक्[6] और स्रुवा[7]—ये सात साधन उपयोगमें लाये जाते हैं। राजा गयके पूर्वोक्त सातों यज्ञोंमें ये सभी उपकरण सुवर्णके ही थे, ऐसा सुना जाता है ॥ ५ ॥

सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः ।
तस्य स्म यूपान् यज्ञेषु भ्राजमानान् हिरण्मयान् ॥ ६ ॥
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥ ७ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
प्रसंख्यानानसंख्येयान् प्रत्यगृह्णन् द्विजातयः ॥ ८ ॥

सात यूपोंमेंसे प्रत्येकके ऊपर सात-सात चषाल थे। युधिष्ठिर ! उन यज्ञोंमें जो चमकते हुए सुवर्णमय यूप थे, उन्हें इन्द्र आदि देवताओंने स्वयं खड़ा किया था। राजा गयके उन उत्तम यज्ञोंमें इन्द्र सोमपान करके और ब्राह्मण बहुत-सी दक्षिणा पाकर हर्षोन्मत्त हो गये थे। ब्राह्मणोंने दक्षिणामें जो बहुसंख्यक धनराशि प्राप्त की थी, उसकी गणना नहीं की जा सकती थी ॥ ६—८ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥ ९ ॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत् प्रददौ गयः ।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ १० ॥

महाराज ! राजा गयने सातों यज्ञोंमें सदस्योंको जो असंख्य धन प्रदान किया था, उसकी गणना उसी प्रकार

---

१. यूपके ऊपरका गोलाकार काष्ठ । २. यूप—यज्ञ-स्तम्भ । ३. चमस—सोमपानका पात्र । ४. बटलोई । ५. पकी-पकायी सामग्री रखनेका पात्र । ६. हविष्य अर्पण करनेका उपकरण । ७. घृत आदिकी आहुति डालनेका साधन ।

नहीं हो सकती थी, जैसे इस जगत्‌में कोई बालूके कणों, आकाशके तारों और वर्षाकी धाराओंको नहीं गिन सकता ॥ ९-१० ॥

भवेत् संख्येयमेतद्धि यदेतत् परिकीर्तितम्।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः ॥ ११ ॥

उपर्युक्त बालूके कण आदि कदाचित् गिने भी जा सकते हैं; परंतु दक्षिणा देनेवाले राजा गयकी दक्षिणाकी गणना करना सम्भव नहीं है ॥ ११ ॥

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १२ ॥
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १३ ॥

उन्होंने विश्वकर्माकी बनायी हुई सुवर्णमयी गौएँ देकर विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया था। युधिष्ठिर ! भिन्न-भिन्न स्थानोंमें यज्ञ करनेवाले महामना राजा गयके राज्यकी थोड़ी ही भूमि ऐसी बच गयी थी, जहाँ यज्ञके मण्डप न हों ॥ १२-१३ ॥

स लोकान् प्राप्तवानैन्द्रान् कर्मणा तेन भारत।
स लोकतां तस्य गच्छेत् पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ॥ १४॥

भारत ! उस यज्ञ-कर्मके प्रभावसे गयने इन्द्रादि लोकोंको प्राप्त किया। जो इस पयोष्णी नदीमें स्नान करता है, वह भी राजा गयके समान पुण्यलोकका भागी होता है ॥ १४ ॥

तस्मात् त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १५ ॥

अतः राजेन्द्र ! तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ॥ १६ ॥
(उद्दिश्य पाण्डवश्रेष्ठः स प्रतस्थे महीपतिः।)
समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
तत्रास्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च।
यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह।
तत्र तत्राददाद् वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय ! पाण्डवप्रवर नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित पयोष्णी-नदीमें स्नान करके वैदूर्यपर्वत और महानदी नर्मदाके तटपर जानेका उद्देश्य लेकर वहाँसे चल दिये और वे तेजस्वी नरेश सब भाइयोंको साथ लिये यथासमय अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच गये। वहाँ भगवान् लोमश मुनिने उनसे समस्त रमणीय तीर्थों और पवित्र देवस्थानोंका परिचय कराया। तत्पश्चात् राजाने अपनी सुविधा और प्रसन्नताके अनुसार सहस्रों ब्राह्मणोंको धनका दान किया और भाइयों-सहित उन सब स्थानोंकी यात्रा की ॥ १६–१८ ॥

लोमश उवाच

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम्।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १९ ॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! वैदूर्यपर्वतका दर्शन करके नर्मदामें उतरनेसे मनुष्य देवताओं तथा पुण्यात्मा राजाओंके समान पवित्र लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेतायां द्वापरस्य च।
एनमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! यह वैदूर्यपर्वत त्रेता और द्वापरकी सन्धिमें प्रकट हुआ है, इसके निकट जाकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते।
साक्षाद् यत्रापिबत् सोममश्विभ्यां सह कौशिकः ॥ २१ ॥

तात ! यह राजा शर्यातिके यज्ञका स्थान प्रकाशित हो रहा है, जहाँ साक्षात् इन्द्रने अश्विनीकुमारोंके साथ बैठकर सोम-पान किया था ॥ २१ ॥

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः।
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २२ ॥
(नासत्यौ च महाभाग कृतवान् सोमपीथिनौ।)

महाभाग ! यहीं महातपस्वी भृगुनन्दन भगवान् च्यवन देवराज इन्द्रपर कुपित हुए थे और यहीं उन्होंने इन्द्रको स्तम्भित भी कर दिया था। इतना ही नहीं, मुनिवर च्यवन-ने यहीं अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी बनाया था। और इसी स्थानपर राजकुमारी सुकन्या उन्हें पत्नी-रूपमें प्राप्त हुई थी ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान् पाकशासनः।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! महातपस्वी भृगुपुत्र महर्षि च्यवनने भगवान् इन्द्रका स्तम्भन कैसे किया ? उन्हें इन्द्रपर क्रोध किस लिये हुआ ? ॥ २३ ॥

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन् कृतवान् सोमपीथिनौ ।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान् मम ॥ २४ ॥

तथा ब्रह्मन् ! उन्होंने अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी किस प्रकार बनाया ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे मुझे बतावें ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीथयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनको सुकन्याकी प्राप्ति

लोमश उवाच

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत ।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव ।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशाम्पते ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन मुनि हुए, जो महान् तेजस्वी थे । उन्होंने उस सरोवरके समीप तपस्या आरम्भ की । पाण्डुनन्दन ! परम तेजस्वी महात्मा च्यवन वीरासनसे बैठकर ठूँठे काठके समान जान पड़ते थे । राजन् ! वे एक ही स्थानपर दीर्घकालतक अविचल भावसे बैठे रहे ॥ १-२ ॥

स वल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः ।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥

धीरे-धीरे अधिक समय बीतनेपर उनका शरीर चींटियोंसे व्याप्त हो गया । वे महर्षि लताओंसे आच्छादित हो गये और बाँबीके समान प्रतीत होने लगे ॥ ३ ॥

तथा स संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वशः ।
तप्यते स तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार लता-वेलोंसे आच्छादित हो बुद्धिमान् च्यवन मुनि सब ओरसे केवल मिट्टीके लोंदेके समान जान पड़ने लगे । दीमकोंद्वारा जमा की हुई मिट्टीके ढेरसे ढके हुए वे बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः ।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेपर राजा शर्याति इस उत्तम एवं रमणीय सरोवरके तटपर विहारके लिये आये ॥५॥

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन् परिग्रहे ।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! उनके अन्तःपुरमें चार हजार स्त्रियाँ थीं; परंतु संतानके नामपर केवल एक ही सुन्दरी पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था ॥ ६ ॥

सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता ।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥

वह कन्या दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंसे घिरी हुई वनमें इधर-उधर घूमने लगी । घूमती-घामती वह भृगुनन्दन च्यवनकी बाँबीके पास जा पहुँची ॥ ७ ॥

सा वै वसुमतीं तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम् ।
वनस्पतीन् विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥

वहाँकी भूमि उसे बड़ी मनोहर दिखायी दी । वह सखियोंके साथ वृक्षोंके फल-फूल तोड़ती हुई चारों ओर घूमने लगी ॥ ८ ॥

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥
तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम् ।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥

सुन्दर रूप, नयी अवस्था, काम-भावके उदय और यौवनके मदसे प्रेरित हो सुकन्याने उत्तम फूलोंसे भरी हुई वनवृक्षोंकी बहुत-सी शाखाएँ तोड़ लीं । वह सखियोंका साथ छोड़कर अकेली टहलने लगी । उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था और वह भाँति-भाँतिके अलङ्कारोंसे अलङ्कृत थी । बुद्धिमान् च्यवन मुनिने उसे देखा । वह चमकती हुई विद्युत्के समान चारों ओर विचर रही थी ॥ ९-१० ॥

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः ।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमन्वितः ॥ ११ ॥

उसे एकान्तमें देखकर परम कान्तिमान्, तपोबलसम्पन्न एवं दुर्बल कण्ठवाले ब्रह्मर्षि च्यवनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ११ ॥

तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै ।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥ १२ ॥
कौतूहलात् कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता ।
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ॥ १३ ॥
अक्रुध्यत् स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान् ।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ॥ १४ ॥

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत् स पार्थिवः ॥ १५ ॥
तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद् द्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने उस कल्याणमयी राजकन्याको पुकारा; परंतु वह (ब्रह्मर्षिका कण्ठ दुर्बल होनेके कारण) उनकी आवाज नहीं सुनती थी। उस बाँबीमें मुनिवर च्यवनकी चमकती हुई आँखोंको देखकर उसे बहुत कौतूहल हुआ। उसकी बुद्धिपर मोह छा गया और उसने विवश होकर यह कहती हुई कि 'देखूँ यह क्या है ?' एक काँटेसे उन्हें छेद दिया।

उसके द्वारा आँखें बिंध जानेके कारण परम क्रोधी ब्रह्मर्षि च्यवन अत्यन्त कुपित हो उठे। फिर तो उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये। मल-मूत्रका द्वार बंद हो जानेसे मलावरोधके कारण सारी सेनाको बहुत दुःख होने लगा। सैनिकोंकी ऐसी अवस्था देखकर राजाने सबसे पूछा—'यहाँ नित्य-निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले वयोवृद्ध महामना च्यवन रहते हैं। वे स्वभावतः बड़े क्रोधी हैं। उनका जानकर या बिना जाने आज किसने अपकार किया है ? जिन लोगोंने भी ब्रह्मर्षिका अपराध किया हो, वे तुरंत सब कुछ बता दें, विलम्ब न करें।'

तब सम्पूर्ण सैनिकोंने उनसे कहा—'महाराज ! हम नहीं जानते कि किसके द्वारा उनका अपराध हुआ है ? ॥१२–१७॥

सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥ १८ ॥
पर्यपृच्छत् सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
आनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ॥ १९ ॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाब्रवीत् ।
मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ॥ २० ॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥ २१ ॥
तत्रापश्यत् तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

'आप अपनी रुचिके अनुसार सभी उपायोंद्वारा इसका पता लगावें।' तब राजा शर्यातिने साम और उग्रनीतिके द्वारा सभी सुहृदोंसे पूछा; परंतु वे भी इसका पता न लगा सके। तदनन्तर सुकन्याने सारी सेनाको मलावरोधके कारण दुःखसे पीड़ित और पिताको भी चिन्तित देख इस प्रकार कहा—'तात ! मैंने इस वनमें घूमते समय एक बाँबीके भीतर कोई चमकीली वस्तु देखी, जो जुगनूके समान जान पड़ती थी। उसके निकट जाकर मैंने उसे काँटेसे बींध दिया।' यह सुनकर शर्याति तुरंत ही बाँबीके पास गये। वहाँ उन्होंने तपस्यामें बढ़े-चढ़े वयोवृद्ध महात्मा च्यवनको देखा और हाथ जोड़कर अपने सैनिकोंका कष्ट निवारण करनेके लिये याचना की—॥ १८–२२ ॥

अज्ञानाद् बालया यत् ते कृतं तत् क्षन्तुमर्हसि ।
ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥ २३ ॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २४ ॥
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २५ ॥

'भगवन् ! मेरी बालिकाने अज्ञानवश जो आपका अपराध किया है, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा करें।' उनके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवनने राजासे कहा—'राजन् ! तुम्हारी इस पुत्रीने अहंकारवश अपमानपूर्वक मेरी आँखें फोड़ी हैं, अतः रूप और उदारता आदि गुणोंसे युक्त तथा लोभ और मोहके वशीभूत हुई तुम्हारी इस कन्याको पत्नी-रूपमें प्राप्त करके ही मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ। भूपाल ! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ २३–२५ ॥

लोमश उवाच

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २६ ॥

लोमशजी कहते हैं—च्यवन ऋषिका यह वचन सुनकर राजा शर्यातिने बिना कुछ विचार किये ही महात्मा च्यवनको अपनी पुत्री दे दी ॥ २६ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥ २७ ॥

उस राजकन्याको पाकर भगवान् च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये। तत्पश्चात् उनका कृपाप्रसाद प्राप्त करके राजा शर्याति सेनासहित सकुशल अपनी राजधानीको लौट आये ॥ २७ ॥

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २८ ॥

सुकन्या भी तपस्वी च्यवनको पतिरूपमें पाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक तप और नियमका पालन करती हुई उनकी परिचर्या करने लगी ॥ २८ ॥

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २९ ॥

सुमुखी सुकन्या किसीके गुणोंमें दोष नहीं देखती थी। वह विविध अग्नियों और अतिथियोंकी सेवामें तत्पर हो शीघ्र ही महर्षि च्यवनकी आराधनामें लग गयी ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंकी कृपासे महर्षि च्यवनको सुन्दर रूप और युवावस्थाकी प्राप्ति

लोमश उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥
तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कुछ कालके बाद जब एक समय सुकन्या स्नान कर चुकी थी, उस समय उसके सब अङ्ग ढके हुए नहीं थे। इसी अवस्थामें दोनों अश्विनीकुमार देवताओंने उसे देखा। साक्षात् देवराज इन्द्रकी पुत्रीके समान दर्शनीय अङ्गोंवाली उस राजकन्याको देखकर नासत्यसंज्ञक अश्विनीकुमारोंने उसके पास जा यह बात कही—॥ १-२ ॥

कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन् किं करोषि च।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥

'वामोरु ! तुम किसकी पुत्री और किसकी पत्नी हो ? इस वनमें क्या करती हो। भद्रे ! हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। शोभने ! तुम सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३ ॥

ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ॥ ४ ॥

तब सुकन्याने लज्जित होकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे कहा—'देवेश्वरो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं राजा शर्यातिकी पुत्री और महर्षि च्यवनकी पत्नी हूँ ॥ ४ ॥

(नाम्ना चाहं सुकन्याऽस्मि नृलोकेऽस्मिन् प्रतिष्ठिता।
साहं सर्वात्मना नित्यं पतिं प्रति सुनिष्ठिता ॥)

अथाश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥
भ्राजसेऽस्मिन् वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ॥ ६ ॥

'मेरा नाम इस जगत्‌में सुकन्या प्रसिद्ध है। मैं सम्पूर्ण हृदयसे सदा अपने पतिदेवके प्रति निष्ठा रखती हूँ।' यह सुनकर अश्विनीकुमारोंने पुनः हँसते हुए कहा—'कल्याणि ! तुम्हारे पिताने इस अत्यन्त बूढ़े पुरुषके साथ तुम्हारा विवाह कैसे कर दिया ? भीरु ! इस वनमें तुम विद्युत्‌की भाँति प्रकाशित हो रही हो। भामिनि ! देवताओंके यहाँ भी तुम-जैसी सुन्दरीको हम नहीं देख पाते हैं ॥ ५-६ ॥

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे अङ्गोंपर आभूषण नहीं हैं। तुम उत्तम वस्त्रोंसे भी वञ्चित हो और तुमने कोई शृङ्गार भी नहीं धारण किया है तो भी इस वनकी अधिकाधिक शोभा बढ़ा रही हो ॥ ७ ॥

सर्वाभरणसम्पन्ना परमाम्बरधारिणी।
शोभसे त्वनवद्याङ्गि न त्वेवं मलपङ्किनी ॥ ८ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम समस्त भूषणोंसे भूषित हो जाओ और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन लो, तो उस समय तुम्हारी जो शोभा होगी, वैसी इस मल और पङ्कसे युक्त मलिन वेशमें नहीं हो रही है ॥ ८ ॥

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम्।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ९ ॥

'कल्याणि ! तुम ऐसी अनुपम सुन्दरी होकर काम-भोगसे शून्य इस जरा-जर्जर बूढ़े पतिकी उपासना कैसे करती हो?॥९॥

असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः॥१०॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! वह बूढ़ा तो तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषणमें भी समर्थ नहीं है । अतः तुम च्यवनको छोड़कर हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ॥१०॥

पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत्॥११॥

'देवकन्याके समान सुन्दरी राजकुमारी ! बूढ़े पतिके लिये अपनी इस जवानीको व्यर्थ न गँवाओ ।'

उनके ऐसा कहनेपर सुकन्याने उन दोनों देवताओंसे कहा—॥११॥

रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशङ्कतम्।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ॥१२॥
युवानं रूपसम्पन्नं करिष्यावः पतिं तव।
ततस्तस्यावयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम्॥१३॥
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे।

'देवेश्वरो ! मैं अपने पतिदेव च्यवनमुनिमें ही पूर्ण अनुराग रखती हूँ, अतः आप मेरे विषयमें इस प्रकारकी अनुचित आशङ्का न करें ।' तब उन दोनोंने पुनः सुकन्यासे कहा—'शुभे ! हम देवताओंके श्रेष्ठ वैद्य हैं । तुम्हारे पतिको तरुण और मनोहर रूपसे सम्पन्न बना देंगे । तब तुम हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लेना । इस शर्तके साथ तुम चाहो तो अपने पतिको यहाँ बुला लो' ॥१२-१३½॥

सा तयोर्वचनाद् राजन्नुपसंगम्य भार्गवम्॥१४॥
उवाच वाक्यं यत् ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति॥१५॥

राजन् ! उन दोनोंकी यह बात सुनकर सुकन्या च्यवन मुनिके पास गयी और अश्विनीकुमारोंने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया । यह सुनकर च्यवनने अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये ! देववैद्योंने जैसा कहा है, वैसा करो' ॥१४-१५॥

(सा भर्त्रा समनुज्ञाता क्रियतामिति चाब्रवीत्।
श्रुत्वा तदश्विनौ वाक्यं तस्यास्तत् क्रियतामिति॥)
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह॥१६॥

पतिकी यह आज्ञा पाकर सुकन्याने अश्विनीकुमारोंसे कहा—'आप मेरे पतिको रूप और यौवनसे सम्पन्न बना दें ।' उसका यह कथन सुनकर अश्विनीकुमारोंने राजकुमारी सुकन्यासे कहा—'तुम्हारे पतिदेव इस जलमें प्रवेश करें ।' तब च्यवन मुनिने सुन्दर रूपकी अभिलाषा लेकर शीघ्रतापूर्वक उस सरोवरके जलमें प्रवेश किया ॥१६॥

अश्विनावपि तद् राजन् सरः प्राविशतां तदा।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा॥१७॥
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः॥१८॥

राजन् ! उनके साथ ही दोनों अश्विनीकुमार भी उस सरोवरमें प्रवेश कर गये । तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् वे सब-के-सब दिव्य रूप धारण करके सरोवरसे बाहर निकले । उन सबकी युवावस्था थी । उन्होंने कानोंमें चमकीले कुण्डल धारण कर रक्खे थे । वेष-भूषा भी उनकी एक-सी ही थी और वे सभी मनकी प्रीति बढ़ानेवाले थे ॥१७-१८॥

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि॥१९॥

सरोवरसे बाहर आकर उन सबने एक साथ कहा—'शुभे ! भद्रे ! वरवर्णिनि ! हममेंसे किसी एकको, जो तुम्हारी रुचिके अनुकूल हो, अपना पति बना लो ॥१९॥

यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने।
सा समीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान्॥२०
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम्।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम्॥२१
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः।
यथाहं रूपसम्पन्नो वयसा च समन्वितः॥२२

सुकन्याकी अश्विनीकुमारोंसे अपने पतिको बतला देनेकी प्रार्थना

कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्यां च प्राप्तवानिमाम्।
तस्माद् युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम्॥२३॥

'अथवा शोभने ! जिसको भी तुम मनसे चाहती होओ, उसीको पति बनाओ ।' देवी सुकन्याने उन सबको एक-जैसा रूप धारण किये खड़े देख मन और बुद्धिसे निश्चय करके अपने पतिको ही स्वीकार किया । महातेजस्वी च्यवन मुनिने अनुकूल पत्नी, तरुण अवस्था और मनोवाञ्छित रूप पाकर बड़े हर्षका अनुभव किया और दोनों अश्विनी कुमारोंसे कहा—'आप दोनोंने मुझ बूढ़ेको रूपवान् और तरुण बना दिया, साथ ही मुझे अपनी यह भार्या भी मिल गयी; इसलिये मैं प्रसन्न होकर आप दोनोंको यज्ञमें देवराज इन्द्रके सामने ही सोमपानका अधिकारी बना दूँगा । यह मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ' ॥ २०—२३ ॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः॥ २४॥

यह सुनकर दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त हो देवलोकको लौट गये और च्यवन तथा सुकन्या देवदम्पतिकी भाँति विहार करने लगे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शर्यातिके यज्ञमें च्यवनका इन्द्रपर कोप करके वज्रको स्तम्भित करना और उसे मारनेके लिये मदासुरको उत्पन्न करना

लोमश उवाच

ततः शुश्राव शर्यातिर्वयःस्थं च्यवनं कृतम्।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद् भार्गवाश्रमम्॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजा शर्यातिने सुना कि महर्षि च्यवन युवावस्थाको प्राप्त हो गये; इस समाचारसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । वे सेनाके साथ महर्षि च्यवनके आश्रमपर आये ॥ १ ॥

च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव॥ २ ॥
ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः॥ ३ ॥

च्यवन और सुकन्याको देवकुमारोंके समान सुखी देखकर पत्नीसहित शर्यातिको महान् हर्ष हुआ, मानो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल गया हो । च्यवन ऋषिने रानियोंसहित राजाका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनके पास बैठकर मनको प्रिय लगनेवाली कल्याणमयी कथाएँ सुनायीं ॥ २-३ ॥

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन्।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां सम्भारानवकल्पय॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् भृगुनन्दन च्यवनने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन् ! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा । आप सामग्री जुटाइये' ॥ ४ ॥

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः।
च्यवनस्य महाराज तद् वाक्यं प्रत्यपूजयत्॥ ५ ॥

महाराज ! यह सुनकर राजा शर्याति बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने च्यवन मुनिके उस वचनकी बड़ी सराहना की ॥

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत्।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम्॥ ६ ॥

तदनन्तर यज्ञके लिये उपयोगी शुभ दिन आनेपर शर्यातिने एक उत्तम यज्ञ-मण्डप तैयार करवाया, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित समृद्धियोंसे सम्पन्न था ॥ ६ ॥

तत्रैनं च्यवनो राजन् याजयामास भार्गवः।
अद्भुतानि च तत्रासन् यानि तानि निबोध मे॥ ७ ॥

राजन् ! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजासे यज्ञ करवाया । उस यज्ञमें जो अद्भुत बातें हुईं थीं, उन्हें मुझसे सुनो ॥ ७ ॥

अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम्॥ ८ ॥

महर्षि च्यवनने उस समय दोनों अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग हाथमें लिया । उन दोनोंके लिये सोमका भाग ग्रहण करते समय इन्द्रने मुनिको मना किया ॥

इन्द्र उवाच

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः॥ ९ ॥

इन्द्र बोले—मुने ! मेरा यह सिद्धान्त है कि ये दोनों अश्विनीकुमार यज्ञमें सोमपानके अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि ये द्युलोकनिवासी देवताओंके वैद्य हैं और उस वैद्यवृत्तिके कारण ही इन्हें यज्ञमें सोमपानका अधिकार नहीं रह गया है ॥

च्यवन उवाच

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान् कथं वै नार्हतः सवम्।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरंदर ॥ ११ ॥

च्यवनने कहा—मघवन् ! ये दोनों अश्विनीकुमार बड़े उत्साही और महान् बुद्धिमान् हैं । रूप-सम्पत्तिमें भी सबसे बढ़-चढ़कर हैं । इन्होंने ही मुझे देवताओंके समान दिव्य रूपसे युक्त और अजर बनाया है । देवराज ! फिर तुम्हारे या अन्य देवताओंके सिवा इन्हें यज्ञमें सोमरसका भाग पानेका अधिकार क्यों नहीं है ? पुरंदर ! इन अश्विनीकुमारोंको भी देवता ही समझो ॥ १०-११ ॥

इन्द्र उवाच

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले—ये दोनों चिकित्सा-कार्य करते हैं और मनमाना रूप धारण करके मृत्युलोकमें भी विचरते रहते हैं, फिर इन्हें इस यज्ञमें सोमपानका अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥

लोमश उवाच

एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब देवराज इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे । तब भृगुनन्दन च्यवनने उनकी अवहेलना करके अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग ग्रहण किया ॥ १३ ॥

ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद् देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उस समय देववैद्योंके लिये उत्तम सोमरस ग्रहण करते देख इन्द्रने च्यवन मुनिसे इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि तुम इन दोनोंके लिये स्वयं सोमरस ग्रहण करोगे तो मैं तुमपर अपना परम उत्तम भयंकर वज्र छोड़ दूँगा' ॥

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत् सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनिने मुसकराते हुए इन्द्रकी ओर देखकर अश्विनीकुमारोंके लिये विधिपूर्वक उत्तम सोमरस हाथमें लिया ॥ १६ ॥

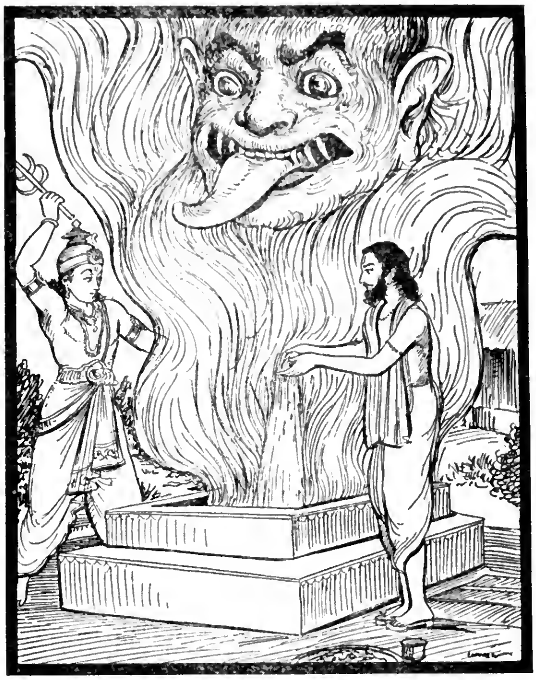

ततोऽस्मै प्राहरद् वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

तब शचीपति इन्द्र उनके ऊपर भयंकर वज्र छोड़ने लगे, परंतु वे जैसे ही प्रहार करने लगे, भृगुनन्दन च्यवनने उनकी भुजाको स्तम्भित कर दिया ॥ १७ ॥

तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥

इस प्रकार उनकी भुजा स्तम्भित करके महातेजस्वी च्यवन ऋषिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें आहुति दी । वे देवराज इन्द्रको मार डालनेके लिये उद्यत होकर कृत्या उत्पन्न करना चाहते थे ॥ १८ ॥

ततः कृत्याथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥ १९ ॥
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः ।
तस्यास्यमभवद् घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥ २० ॥
हनुरेका स्थिता त्वस्य भूमावेका दिवं गता ।
चतस्रश्चायता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥ २१ ॥

च्यवन ऋषिके तपोबलसे वहाँ कृत्या प्रकट हो गयी । उस कृत्याके रूपमें महापराक्रमी विशालकाय महादैत्य मदका प्रादुर्भाव हुआ । जिसके शरीरका वर्णन देवता तथा असुर भी नहीं कर सकते । उस असुरका विशाल मुख बड़ा भयंकर था । उसके आगेके दाँत बड़े तीखे दिखायी देते थे । उसका ठोड़ीसहित नीचेका ओष्ठ धरतीपर टिका हुआ

था और दूसरा स्वर्गलोकतक पहुँच गया था। उसकी चार दाढ़ें सौ-सौ योजनतक फैली हुई थीं ॥ १९—२१ ॥

इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः ।
प्रासादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २२ ॥

उस दैत्यके दूसरे दाँत भी दस-दस योजन लम्बे थे। उनकी आकृति महलोंके कँगूरोंके समान थी। उनका अग्रभाग शूलके समान तीखा दिखलायी देता था ॥ २२ ॥

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसंनिभम् ॥ २३ ॥
लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया ।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद् बलात् ॥ २४ ॥
स भक्षयिष्यन् संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत् ।
महता घोररूपेण लोकाञ्छब्देन नादयन् ॥ २५ ॥

दोनों भुजाएँ दो पर्वतोंके समान प्रतीत होती थीं। दोनोंकी लंबाई एक समान दस-दस हजार योजनकी थी। उसके दोनों नेत्र चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे। उसका मुख प्रलयकालकी अग्निके समान जाज्वल्यमान जान पड़ता था। उसकी लपलपाती हुई चञ्चल जीभ विद्युत्के समान चमक रही थी और उसके द्वारा वह अपने जबड़ोंको चाट रहा था। उसका मुख खुला हुआ था और दृष्टि भयंकर थी; ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सारे जगत्को बलपूर्वक निगल जायगा। वह दैत्य कुपित हो अपनी अत्यन्त भयंकर गर्जनासे सम्पूर्ण जगत्को गुँजाता हुआ इन्द्रको खा जानेके लिये उनकी ओर दौड़ा ॥ २३-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंका यज्ञमें भाग स्वीकार कर लेनेपर इन्द्रका संकट-मुक्त होना तथा लोमशजीके द्वारा अन्यान्य तीर्थोंके महत्त्वका वर्णन

लोमश उवाच

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः ।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ १ ॥
भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः ।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद् वचो विप्रः प्रसीद मे ॥ ३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मुँह बाये हुए यमराजकी भाँति भयंकर मुखवाले उस मदासुरको निगलनेके लिये आते देख देवराज इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये। जिनकी भुजाएँ स्तब्ध हो गयी थीं, वे इन्द्र मृत्युके डरसे घबराकर बार-बार ओष्ठ-प्रान्त चाटने लगे। उसी अवस्थामें उन्होंने महर्षि च्यवनसे कहा—'भृगुनन्दन! ये दोनों अश्विनीकुमार आजसे सोमपानके अधिकारी होंगे। मेरी यह बात सत्य है, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ १–३ ॥

न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः ।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा वाद्य कृतौ त्वया ।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥
सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति ।
अतो मयैतद् विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि ।

'आपके द्वारा किया हुआ यह यज्ञका आयोजन मिथ्या न हो। आपने जो कर दिया, वही उत्तम विधान हो। ब्रह्मर्षे! मैं जानता हूँ, आप अपना संकल्प कभी मिथ्या न होने देंगे! आज आपने इन अश्विनीकुमारोंको जैसे सोमपानका अधिकारी बनाया है, उसी प्रकार मेरा भी कल्याण कीजिये। भृगुनन्दन! आपकी अधिक-से-अधिक शक्ति प्रकाशमें आवे तथा जगत्में सुकन्या और इसके पिताकी कीर्तिका विस्तार हो। इस उद्देश्यसे मैंने यह आपके बल-वीर्यको प्रकाशित करनेवाला कार्य किया है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करें। आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा' ॥ ४—६½ ॥

एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥ ७ ॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरंदरम् ।
मदं च व्यभजद् राजन् पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ॥ ९ ॥
अश्विभ्यां सहितान् देवान् याजयित्वा च तं नृपम् ।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥ १० ॥
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुकूलया ।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन् प्रकाशते ॥ ११ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन महामना च्यवनका

क्रोध शीघ्र शान्त हो गया और उन्होंने देवेन्द्रको (उसी क्षण सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त कर दिया। राजन्! उन शक्तिशाली ऋषिने मदको, जिसे पहले उन्होंने ही उत्पन्न किया था, मद्यपान, स्त्री, जूआ और मृगया (शिकार)—इन चार स्थानोंमें पृथक्-पृथक् बाँट दिया। इस प्रकार मदको दूर हटाकर उन्होंने देवराज इन्द्र और अश्विनीकुमारोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको सोमरससे तृप्त किया तथा राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण कराकर समस्त लोकोंमें अपनी अद्भुत शक्तिको विख्यात करके वक्ताओंमें श्रेष्ठ च्यवन ऋषि अपनी मनोनुकूल पत्नी सुकन्याके साथ वनमें विहार करने लगे। युधिष्ठिर! यह जो पक्षियोंके कलरवसे गूँजता हुआ सरोवर सुशोभित हो रहा है, महर्षि च्यवनका ही है ॥ ७–११ ॥

अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पय।
एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत ॥ १२ ॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम्।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १३ ॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन् सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥ १४ ॥

तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करो। भूपाल! भरतनन्दन! इस सरोवरका और सिकताक्षतीर्थका दर्शन करके सैन्धवारण्यमें पहुँचकर वहाँकी छोटी-छोटी नदियोंके दर्शन करना। महाराज! यहाँके सभी तालाबमें जाकर जलका स्पर्श करो। भारत! स्थाणु (शिव) के मन्त्रोंका जप करते हुए उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। नरश्रेष्ठ! यह त्रेता और द्वापरकी संधिके समय प्रकट हुआ तीर्थ है ॥ १२–१४ ॥

अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः।
अत्रोपस्पृश्य चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर! यह सब पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ दिखायी देता है। इस सर्वपापनाशन तीर्थमें स्नान करके तुम शुद्ध हो जाओगे ॥ १५ ॥

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम्।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥ १६ ॥

इसके आगे आर्चीक पर्वत है, जहाँ मनीषी पुरुष निवास करते हैं। वहाँ सदा फल लगे रहते हैं और निरन्तर पानीके झरने बहते हैं। इस पर्वतपर अनेक देवताओंके उत्तम स्थान हैं ॥ १६ ॥

चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते।
वैखानसा वालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ॥ १७ ॥
शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! ये देवताओंके अनेकानेक मन्दिर दिखायी देते हैं, जो नाना प्रकारके हैं। यह चन्द्रतीर्थ है, जिसकी बहुत-से ऋषिलोग उपासना करते हैं। यहाँ वालखिल्य नामक वैखानस महात्मा रहते हैं, जो वायुका आहार करनेवाले और परम पावन हैं। यहाँ तीन पवित्र शिखर और तीन झरने हैं। इन सबकी इच्छानुसार परिक्रमा करके स्नान करो ॥ १७-१८ ॥

शान्तनुश्चात्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १९ ॥

राजेन्द्र! यहाँ राजा शान्तनु, शुनक और नर-नारायण—ये सभी नित्य धाममें गये हैं ॥ १९ ॥

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान् यजस्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥

युधिष्ठिर! इस आर्चीक पर्वतपर नित्य निवास करते हुए महर्षियोंसहित जिन देवताओं और पितरोंने तपस्या की है, तुम उन सबकी पूजा करो ॥ २० ॥

इह ते वै चरून् प्राश्नन्नृषयश्च विशाम्पते।
यमुना चाक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ २१ ॥
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्शन।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ॥ २२ ॥
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २३ ॥

राजन्! यहाँ देवताओं और ऋषियोंने चरुभोजन किया था। इसके पास ही अक्षय प्रवाहवाली यमुना नदी बहती है। यहीं भगवान् कृष्णने भी तपस्या की है! शत्रुदमन! नकुल, सहदेव, भीमसेन, द्रौपदी और हम सब लोग तुम्हारे साथ इसी स्थानपर चलेंगे। पाण्डुनन्दन! यह इन्द्रका पवित्र झरना है। नरेश्वर! यह वही स्थान है, जहाँ धाता, विधाता और वरुण ऊर्ध्वलोक गये हैं ॥ २१–२३ ॥

इह तेऽप्यवसन् राजन् क्षान्ताः परमधर्मिणः।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २४ ॥

राजन्! वे क्षमाशील और परम धर्मात्मा पुरुष यहीं रहते थे। सरल बुद्धि तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये यह श्रेष्ठ पर्वत शुभ आश्रय है ॥ २४ ॥

एषा सा यमुना राजन् महर्षिगणसेविता।
नानायज्ञचिता राजन् पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम्।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको ददतां वरः ॥ २६ ॥

राजन्! यही वह महर्षिगणसेवित पुण्यमयी यमुना

है, जिसके तटपर अनेक यज्ञ हो चुके हैं। यह पापके भयको दूर भगानेवाली है। कुन्तीनन्दन ! यहीं महान् धनुर्धर राजा मान्धाताने स्वयं यज्ञ किया था। दानिशिरोमणि सहदेव-कुमार सोमकने भी इसीके तटपर यज्ञानुष्ठान किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा मान्धाताकी उत्पत्ति और संक्षिप्त चरित्र

युधिष्ठिर उवाच

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
कथं जातो महाब्रह्मन् यौवनाश्वो नृपोत्तमः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! युवनाश्वके पुत्र नृपश्रेष्ठ मान्धाता तीनों लोकोंमें विख्यात थे। उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी ? ॥ १ ॥

कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ॥ २ ॥

अमित तेजस्वी मान्धाताने यह सर्वोच्च स्थिति कैसे प्राप्त कर ली थी ? सुना है, परमात्मा विष्णुके समान महाराज मान्धाताके वशमें तीनों लोक थे ॥ २ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः।
(सत्यकीर्तेर्हि मान्धातुः कथ्यमानं त्वयानघ।)
यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः।
जन्म चाप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम्॥ ३ ॥

निष्पाप महर्षे ! मैं आपके मुखसे उन सत्यकीर्ति एवं बुद्धिमान् राजा मान्धाताका वह सब चरित्र सुनना चाहता हूँ। इन्द्रके समान तेजस्वी और अनुपम पराक्रमी उन नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे हुआ ? और उनके जन्मका वृत्तान्त क्या है ? बताइये; क्योंकि आप ये सब बातें बतानेमें कुशल हैं ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ॥ ४ ॥

लोमशजीने कहा—राजन् ! लोकमें उन महामना नरेशका 'मान्धाता' नाम कैसे प्रचलित हुआ ? यह बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः।
सोऽयजत् पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकुवंशमें युवनाश्व नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भूपाल युवनाश्वने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत् स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ६ ॥

वे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करके बहुत दक्षिणाके साथ दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा भी भगवान्‌की आराधना की ॥ ६ ॥

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः।
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं वननित्यो बभूव ह ॥ ७ ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मवान्।
स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः ॥ ८ ॥
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ॥ ९ ॥
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात्।
सम्भृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ॥ १० ॥

वे महामना राजर्षि महान् व्रतका पालन करनेवाले थे तो भी उनके कोई संतान नहीं हुई। तब वे मनस्वी नरेश राज्यका भार मन्त्रियोंपर रखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने आपको परमात्म-चिन्तनमें लगाकर सदा वनमें ही रहने लगे। एक दिनकी बात है, राजा युवनाश्व उपवासके कारण दुःखित हो गये। प्याससे उनका हृदय सूखने लगा। उन्होंने जल पीनेकी इच्छासे रातके समय महर्षि भृगुके आश्रममें प्रवेश किया। राजेन्द्र ! उसी रातमें महात्मा भृगुनन्दन महर्षि च्यवनने सुद्युम्नकुमार युवनाश्वको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये एक इष्टि की थी। उस इष्टिके समय महर्षिने मन्त्रपूत जलसे एक बहुत बड़े कलशको भरकर रख दिया था ॥ ७–१० ॥

तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः।
यत् प्राश्य प्रसवेत् तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ॥ ११ ॥

महाराज ! वह कलशका जल पहलेसे ही आश्रमके भीतर इस उद्देश्यसे रखा गया था कि उसे पीकर राजा युवनाश्वकी रानी इन्द्रके समान शक्तिशाली पुत्रको जन्म दे सके ॥ ११ ॥

तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः।
रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान् सौद्युम्निः समतीत्य तान्॥ १२॥

उस कलशको वेदीपर रखकर सभी महर्षि सो गये थे। रातमें देरतक जागनेके कारण वे सब-के-सब थके हुए थे। युवनाश्व उन्हें लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १२ ॥

शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः।
तं प्रविश्याश्रमं शान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ॥ १३ ॥

वे प्याससे पीड़ित थे। उनका कण्ठ सूख गया था। पानी पीनेकी अत्यन्त अभिलाषासे वे उस आश्रमके भीतर गये और शान्तभावसे जलके लिये याचना करने लगे ॥ १३ ॥

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा।
नाश्रौषीत् कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ॥ १४ ॥

राजा थककर सूखे कण्ठसे पानीके लिये चिल्ला रहे थे, परंतु उस समय चें-चें करनेवाले पक्षीकी भाँति उनकी चीख-पुकार कोई भी न सुन सका ॥ १४ ॥

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर जलसे भरे हुए पूर्वोक्त कलशपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखते ही वे बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े और (इच्छानुसार) पीकर उन्होंने बचे हुए जलको वहीं गिरा दिया ॥ १५ ॥

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः।
निर्वाणमगमद् धीमान् सुसुखी चाभवत् तदा ॥ १६ ॥

राजा युवनाश्व प्याससे बड़ा कष्ट पा रहे थे। वह शीतल जल पीकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली। वे बुद्धिमान् नरेश उस समय जल पीनेसे बहुत सुखी हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् तपोधन च्यवन मुनिके सहित सब मुनि जाग उठे। उन सबने उस कलशको जलसे शून्य देखा ॥ १७ ॥

कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन् समागताः।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ॥ १८ ॥

फिर तो वे सब एकत्र हो गये और एक दूसरेसे पूछने लगे—'यह किसका काम है ?' युवनाश्वने सामने आकर कहा—'यह मेरा ही कर्म है।' इस प्रकार उन्होंने सत्यको स्वीकार कर लिया ॥ १८ ॥

न युक्तमिति तं प्राह भगवान् भार्गवस्तदा।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव सम्भृताः ॥ १९ ॥
मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम्।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ॥ २० ॥

तब भगवान् च्यवनने कहा—'महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न राजर्षि युवनाश्व ! यह तुमने ठीक नहीं किया। इस कलशमें मैंने तुम्हें ही पुत्र प्रदान करनेके लिये तपस्यासे संस्कारयुक्त किया हुआ जल रखा था और कठोर तपस्या करके उसमें ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी ॥ १९-२० ॥

महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद् यमसादनम् ॥ २१ ॥
अनेन विधिना राजन् मयैतदुपपादितम्।
अब्भक्षणं त्वया राजन् न युक्तं कृतमद्य वै ॥ २२ ॥

'राजन् ! उक्त विधिसे इस जलको मैंने ऐसा शक्ति-सम्पन्न कर दिया था कि इसको पीनेसे एक महाबली, महा-पराक्रमी और तपोबलसम्पन्न पुत्र उत्पन्न हो, जो अपने बल-पराक्रमसे देवराज इन्द्रको भी यमलोक पहुँचा सके; उसी जलको तुमने आज पी लिया, यह अच्छा नहीं किया ॥२१-२२॥

न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत् कर्तुमतोऽन्यथा।
नूनं दैवकृतं ह्येतद् यदेवं कृतवानसि ॥ २३ ॥

'अब हमलोग इसके प्रभावको टालने या बदलनेमें असमर्थ हैं। तुमने जो ऐसा कार्य कर डाला है, इसमें निश्चय ही दैवकी प्रेरणा है ॥ २३ ॥

पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसम्भृताः ॥ २४ ॥
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ॥ २५ ॥
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान्।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

'महाराज ! तुमने प्याससे व्याकुल होकर जो मेरे तपो-बलसे संचित तथा विधिपूर्वक मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लिया है, उसके कारण तुम अपने ही पेटसे तथाकथित इन्द्र-विजयी पुत्रको जन्म दोगे। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम तुम्हारी इच्छाके अनुरूप अत्यन्त अद्भुत यज्ञ करायेंगे, जिससे तुम स्वयं भी शक्तिशाली रहकर इन्द्रके समान पराक्रमी पुत्र उत्पन्न कर सकोगे और गर्भधारणजनित कष्टका भी तुम्हें अनुभव न होगा' ॥ २४—२६ ॥

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ॥ २७ ॥
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत्।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर पूरे सौ वर्ष बीतनेपर उन महात्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फाड़कर एक सूर्यके समान महातेजस्वी बालक बाहर निकला तथा राजाकी मृत्यु भी नहीं हुई। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २७-२८ ॥

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत्।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन् धास्यतीति किम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी इन्द्र उस बालकको देखनेके लिये वहाँ आये । उस समय देवताओंने महेन्द्रसे पूछा—'यह बालक क्या पीयेगा ?'॥ २९ ॥

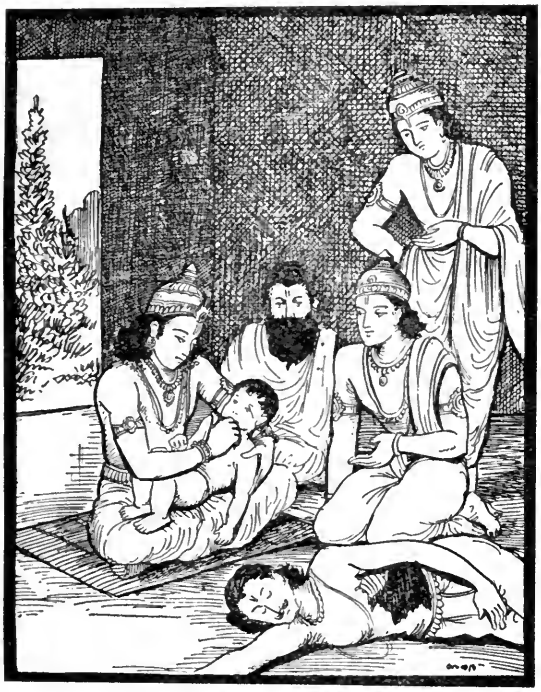

प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसंदधे ।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ॥ ३० ॥
मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥ ३१ ॥
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महातेजाः किष्कून् राजंस्त्रयोदश ॥ ३२ ॥

तब इन्द्रने अपनी तर्जनी अंगुली बालकके मुँहमें डाल दी और कहा—'माम् अयं धाता ।' 'अर्थात् यह मुझे ही पीयेगा' वज्रधारी इन्द्रके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया । राजन् ! इन्द्रकी दी हुई प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलिका रसास्वादन करके वह महातेजस्वी शिशु तेरह बित्ता बढ़ गया ॥ ३०–३२ ॥

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ॥ ३३ ॥

महाराज ! उस समय शक्तिशाली मान्धाताके चिन्तन करने मात्रसे ही धनुर्वेदसहित सम्पूर्ण वेद और दिव्य अस्त्र (ईश्वरकी कृपासे) उपस्थित हो गये ॥ ३३ ॥

आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥ ३४ ॥

आजगव नामक धनुष, सींगके बने हुए बाण और अभेद्य कवच—सभी तत्काल उनकी सेवामें आ गये ॥ ३४ ॥

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३५ ॥

भारत ! साक्षात् देवराज इन्द्रने मान्धाताका राज्याभिषेक किया । भगवान् विष्णुने जैसे तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया था, उसी प्रकार मान्धाताने भी धर्मके द्वारा तीनों लोकोंको जीत लिया ॥ ३५ ॥

तस्याप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३६ ॥

उन महात्मा नरेशका शासनचक्र सर्वत्र बेरोक-टोक चलने लगा । सारे रत्न राजर्षि मान्धाताके यहाँ स्वयं उपस्थित हो जाते थे ॥ ३६ ॥

तस्यैवं वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार उनके लिये यह सारी पृथ्वी धन-रत्नोंसे परिपूर्ण थी । उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके बहुसंख्यक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की समाराधना की ॥ ३७ ॥

चितचैत्यो महातेजा धर्मान् प्राप्य च पुष्कलान् ।
शक्रस्यार्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३८ ॥

राजन् ! महातेजस्वी एवं परम कान्तिमान् राजा मान्धाताने यज्ञमण्डलोंका निर्माण करके पर्याप्त धर्मका सम्पादन किया और उसीके फलसे स्वर्गलोकमें इन्द्रका आधा सिंहासन प्राप्त कर लिया ॥ ३८ ॥

एकाहात् पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३९ ॥

उन धर्मपरायण बुद्धिमान् नरेशने केवल शासनमात्रसे एक ही दिनमें समुद्र, खान और नगरोंसहित सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ३९ ॥

तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किंचिदनावृतम् ॥ ४० ॥

महाराज ! उनके दक्षिणायुक्त यज्ञोंके चैत्यों (यज्ञमण्डपों) से चारों ओरकी पृथ्वी भर गयी थी, कहीं कोई भी स्थान ऐसा नहीं था, जो उनके यज्ञमण्डपोंसे घिरा न हो ॥ ४० ॥

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

महाराज ! महात्मा राजा मान्धाताने दस हजार पद्म गौएँ ब्राह्मणोंको दानमें दी थीं, ऐसा जानकार लोग कहते हैं ॥ ४१ ॥

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ४२ ॥

उन महामना नरेशने बारह वर्षोंतक होनेवाली अनावृष्टिके समय वज्रधारी इन्द्रके देखते-देखते खेतीकी उन्नतिके लिये स्वयं पानीकी वर्षा की थी ॥ ४२ ॥

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४३ ॥

उन्होंने महामेघके समान गर्जते हुए महापराक्रमी चन्द्रवंशी गान्धारराजको बाणोंसे घायल करके मार डाला था ॥ ४३ ॥

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन् कृतात्मना ।
तेनात्मतपसा लोकास्तापिताश्चातितेजसा ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिर! वे अपने मनको वशमें रखते थे। उन्होंने अपने तपोबलसे देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर—चार प्रकारकी प्रजाकी रक्षा की थी; साथ ही अपने अत्यन्त तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको संतप्त कर दिया था ॥ ४४ ॥

तस्यैतद् देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४५ ॥
(तथा त्वमपि राजेन्द्र मान्धातेव महीपतिः ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्षन् स्वर्गलोकमवाप्स्यसि ॥)

सूर्यके समान तेजस्वी उन्हीं महाराज मान्धाताके देवयज्ञका यह स्थान है, जो कुरुक्षेत्रकी सीमाके भीतर परम पवित्र प्रदेशमें स्थित है, इसका दर्शन करो। राजेन्द्र! महाराज मान्धाताकी भाँति तुम भी धर्मपूर्वक पृथ्वीकी रक्षा करते रहनेपर अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे ॥ ४५ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मान्धातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४६ ॥

भूपाल! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह मान्धाताका उत्तम जन्म-वृत्तान्त और उनका महान् चरित्र सब कुछ तुम्हें सुना दिया ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छानन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! महर्षि लोमशके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने पुनः सोमकके विषयमें प्रश्न किया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मान्धातोपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें मान्धातोपाख्यानविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमक और जन्तुका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः स राजाभूत् सोमको वदतां वर ।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! राजा सोमकका बल-पराक्रम कैसा था? मैं उनके कर्म और प्रभावका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।
तस्य भार्याशतं राजन् सदृशीनामभूत् तदा ॥ २ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर! सोमक नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उनकी सौ रानियाँ थीं। वे सभी रूप-अवस्था आदिमें प्रायः एक समान थीं ॥ २ ॥

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कंचिन्नासादयामास कालेन महता ह्यपि ॥ ३ ॥

परंतु दीर्घकालतक महान् प्रयत्न करते रहनेपर भी वे अपनी उन रानियोंके गर्भसे कोई पुत्र न प्राप्त कर सके ॥ ३ ॥

कदाचित् तस्य वृद्धस्य घटमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन् स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥

राजा सोमक वृद्धावस्थामें भी इसके लिये निरन्तर यत्नशील थे; अतः किसी समय उनकी सौ स्त्रियोंमेंसे किसी एकके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था जन्तु ॥ ४ ॥

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासत ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान् विशाम्पते ॥ ५ ॥

राजन्! उसके जन्म लेनेके पश्चात् सभी माताएँ कामभोगकी ओरसे मुँह मोड़कर सदा उसी बच्चेके पास उसे सब ओरसे घेरकर बैठी रहती थीं ॥ ५ ॥

ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत् स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदन्नादं तेन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥

एक दिन एक चींटीने जन्तुके कटिभागमें डँस लिया। चींटीके काटनेपर उसकी पीड़ासे विकल हो जन्तु सहसा रोने लगा ॥ ६ ॥

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन् भृशदुःखिताः ।
प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥

इससे उसकी सब माताएँ भी सहसा जन्तुके शरीरसे चींटीको हटाकर अत्यन्त दुःखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं। उनके रोदनकी वह सम्मिलित ध्वनि बड़ी भयंकर प्रतीत हुई ॥

तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥ ८ ॥

उस समय राजा सोमक पुरोहितके साथ मन्त्रियोंकी सभामें बैठे थे। उन्होंने अकस्मात् वह आर्तनाद सुना ॥ ८ ॥

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥

सुनकर राजाने 'यह क्या हो गया?' इस बातका पता लगानेके लिये द्वारपालको भेजा। द्वारपालने लौटकर राजकुमारसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त घटनाका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ९ ॥

त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः।
प्रविश्यान्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिंदमः ॥ १० ॥

तब शत्रुदमन राजा सोमकने मन्त्रियोंसहित उठकर बड़ी उतावलीके साथ अन्तःपुरमें प्रवेश किया और पुत्रको आश्वासन दिया ॥ १० ॥

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः।
ऋत्विजा सहितो राजन् सहामात्य उपाविशत्॥ ११ ॥

बेटेको सान्त्वना देकर राजा अन्तःपुरसे बाहर निकले और पुरोहित तथा मन्त्रियोंके साथ पुनः मन्त्रणागृहमें जा बैठे ॥

सोमक उवाच

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत्।
नित्यातुरत्वाद् भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥

उस समय सोमकने कहा—इस संसारमें किसी पुरुषके एक ही पुत्रका होना धिक्कारका विषय है। एक पुत्र होनेकी अपेक्षा तो पुत्रहीन रह जाना ही अच्छा है। एक ही संतान हो तो सब प्राणी उसके लिये सदा आकुल-व्याकुल रहते हैं, अतः एक पुत्रका होना शोक ही है ॥१२॥

इदं भार्याशतं ब्रह्मन् परीक्ष्य सदृशं प्रभो।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! मैंने अच्छी तरह जाँच-बूझकर पुत्रकी इच्छासे अपने योग्य सौ स्त्रियोंके साथ विवाह किया, किंतु उनके कोई संतान नहीं हुई ॥ १३ ॥

एकः कथंचिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम।
यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥

यद्यपि मेरी सभी रानियाँ संतानके लिये यत्नशील थीं, तथापि किसी तरह मेरे यही एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम जन्तु है। इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?॥

वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ! मेरी तथा इन रानियोंकी अधिक अवस्था बीत गयी, किंतु अभीतक मेरे और उन पत्नियोंके प्राण केवल इस एक पुत्रमें ही बसते हैं ॥ १५ ॥

स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत्।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

क्या कोई ऐसा उपयोगी कर्म हो सकता है, जिससे मेरे सौ पुत्र हो जायँ। भले ही वह कर्म महान् हो, लघु हो अथवा अत्यन्त दुष्कर हो ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच

अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत् कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

पुरोहितने कहा—सोमक! ऐसा कर्म है, जिससे तुम्हें सौ पुत्र हो सकते हैं। यदि तुम उसे कर सको तो बताऊँगा॥

सोमक उवाच

कार्यं वा यदि वाकार्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेवेति तद् विद्धि भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

सोमकने कहा—भगवन्! आप वह कर्म मुझे बताइये, जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं। वह करने योग्य हो या न हो, मेरेद्वारा उसे किया हुआ ही जानिये ॥ १८ ॥

ऋत्विगुवाच

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद् भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥

पुरोहितने कहा—राजन्! मैं एक यज्ञ आरम्भ करवाऊँगा, उसमें तुम अपने पुत्र जन्तुकी आहुति देकर यजन करो। इससे शीघ्र ही तुम्हें सौ परम सुन्दर पुत्र प्राप्त होंगे ॥ १९ ॥

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥

जिस समय उसकी चर्बीकी आहुति दी जायगी, उस समय उसके धूएँको सूँघ लेनेपर सब माताएँ (गर्भवती हो) आपके लिये अत्यन्त पराक्रमी पुत्रोंको जन्म देंगी ॥ २० ॥

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥

आपका पुत्र जन्तु पुनः अपनी माताके ही पेटसे उत्पन्न होगा। उस समय उसकी बायीं पसलीमें एक सुनहरा चिह्न होगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमकको सौ पुत्रोंकी प्राप्ति तथा सोमक और पुरोहितका समानरूपसे नरक और पुण्यलोकोंका उपभोग करना

सोमक उवाच

ब्रह्मन् यद् यद् यथा कार्यं तत् कुरुष्व तथा तथा।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥

सोमकने कहा—ब्रह्मन्! जो-जो कार्य जैसे-जैसे करना हो, वह उसी प्रकार कीजिये। मैं पुत्रकी कामनासे आपकी समस्त आज्ञाओंका पालन करूँगा ॥ १ ॥

लोमश उवाच

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना।
मातरस्तु बलात् पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ॥ २ ॥
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः।
रुदन्त्यः करुणं चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ ३ ॥
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति।
कुररीणामिवार्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥ ४ ॥
विशस्य चैनं विधिवद् वपामस्य जुहाव सः।
वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥ ५ ॥
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥ ६ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पुरोहितने राजा सोमकसे जन्तुकी बलि देकर किये जानेवाले यज्ञको प्रारम्भ करवाया। उस समय करुणामयी माताएँ अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो 'हाय! हम मारी गयीं' ऐसा कहकर रोती हुई अपने पुत्र जन्तुको बलपूर्वक अपनी ओर खींच रही थीं। वे करुण स्वरमें रोती हुई बालकके दाहिने हाथको पकड़कर खींचती थीं और पुरोहितजी उसके बायें हाथको पकड़कर अपनी ओर खींच रहे थे। सब रानियाँ शोकसे आतुर हो कुररी पक्षीकी भाँति विलाप कर रही थीं और पुरोहितने उस बालकको छीनकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा विधिपूर्वक उसकी चर्बियोंकी आहुति दी। कुरुनन्दन! चर्बीकी आहुतिके समय बालककी माताएँ धूमकी गन्ध सूँघकर सहसा शोकपीडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। तदनन्तर वे सब सुन्दरी रानियाँ गर्भवती हो गयीं ॥ २–६ ॥

ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशाम्पते।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर दस मास बीतनेपर उन सबके गर्भसे राजा सोमकके सौ पुत्र हुए ॥ ७ ॥

जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव।
स तासामिष्ट एवासीन्न तथा ते निजाः सुताः ॥ ८ ॥

राजन्! सोमकका ज्येष्ठ पुत्र जन्तु अपनी माताके ही गर्भसे प्रकट हुआ, वही उन सब रानियोंको विशेष प्रिय था। उन्हें अपने पुत्र उतने प्यारे नहीं लगते थे ॥ ८ ॥

तच्च लक्षणमस्यासीत् सौवर्णं पार्श्वं उत्तरे।
तस्मिन् पुत्रशते चाग्र्यः स बभूव गुणैरपि ॥ ९ ॥

उसकी दाहिनी पसलीमें पूर्वोक्त सुनहरा चिह्न स्पष्ट दिखायी देता था। राजाके सौ पुत्रोंमें अवस्था और गुणोंकी दृष्टिसे भी वही श्रेष्ठ था ॥ ९ ॥

ततः स लोकमगमत् सोमकस्य गुरुः परम्।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत् परम् ॥ १० ॥
अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः।
तमपृच्छत् किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ ११ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् सोमकके पुरोहित परलोकवासी हो गये। थोड़े दिनोंके बाद राजा सोमक भी परलोकवासी हो गये। यमलोकमें जानेपर सोमकने देखा, पुरोहितजी घोर नरककी आगमें पकाये जा रहे हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर सोमकने पूछा—'ब्रह्मन्! आप नरककी आगमें कैसे पकाये जा रहे हैं?' ॥ १०-११ ॥

तमब्रवीद् गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम्।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ १२ ॥
एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजमथाब्रवीत्।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ॥ १३ ॥
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना।
(सोऽहमात्मानमाधास्ये नरकान्मुच्यतां गुरुः।)

तब नरकाग्निसे अधिक संतप्त होते हुए पुरोहितने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हें जो (तुम्हारे पुत्रकी आहुति देकर) यज्ञ करवाया था, उसी कर्मका यह फल है।' यह सुनकर राजर्षि सोमकने धर्मराजसे कहा—'भगवन्! मैं इस नरकमें प्रवेश करूँगा। आप मेरे पुरोहितको छोड़ दीजिये। वे महाभाग मेरे ही कारण नरकाग्निमें पक रहे हैं। अतः मैं अपने आपको नरकमें रखूँगा, परंतु मेरे गुरुजीको उससे छुटकारा मिल जाना चाहिये' ॥ १२-१३½ ॥

धर्म उवाच

नान्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदतां वर ॥ १४ ॥

धर्मने कहा—राजन्! कर्ताके सिवा दूसरा कोई उसके किये हुए कर्मोंका फल कभी नहीं भोगता है। वक्ताओंमें

श्रेष्ठ महाराज ! तुम्हें अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप जो ये पुण्य लोक प्राप्त हुए हैं, प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

सोमक उवाच

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम् ।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १५ ॥
नरके वा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम् ।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १६ ॥

सोमक बोले—धर्मराज ! मैं अपने वेदवेत्ता पुरोहितके बिना पुण्यलोकोंमें जानेकी इच्छा नहीं रखता । स्वर्गलोक हो या नरक—मैं कहीं भी इन्हींके साथ रहना चाहता हूँ । देव ! मेरे पुण्यकर्मोंपर इनका मेरे समान ही अधिकार है । हम दोनोंको यह पुण्य और पापका फल समानरूपसे मिलना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

धर्मराज उवाच

यद्येवमीप्सितं राजन् भुङ्क्ष्वास्य सहितः फलम् ।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात् प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १७ ॥

धर्मराज बोले—राजन् ! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो इनके साथ रहकर उतने ही समयतक तुम भी पापकर्मों-का फल भोगो, इसके बाद तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी । १७ ।

लोमश उवाच

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।
क्षीणपापश्च तस्मात् स विमुक्तो गुरुणा सह ॥ १८ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब कमलनयन राजा सोमकने धर्मराजके कथनानुसार सब कार्य किया और भोगद्वारा पाप नष्ट हो जानेपर वे पुरोहितके साथ ही नरकसे छूट गये ॥ १८ ॥

लेभे कामाञ्शुभान् राजन् कर्मणा निर्जितान् स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उन गुरुप्रेमी नरेशने अपने गुरुके साथ ही पुण्यकर्मोंद्वारा स्वयं प्राप्त किये हुए पुण्य-लोकके शुभ भोगोंका उपभोग किया ॥ १९ ॥

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।
क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ २० ॥

यह उन्हीं राजा सोमकका पवित्र आश्रम है, जो सामने ही सुशोभित हो रहा है । यहाँ क्षमाशील होकर छः रात निवास करनेसे मनुष्य उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! हम सब लोग इस आश्रममें छः राततक मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते हुए निश्चिन्त होकर निवास करेंगे । तुम इसके लिये तैयार हो जाओ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याया पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २१½ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रके द्वारभूत प्लक्षप्रस्रवण नामक सरस्वतीतीर्थकी महिमा

लोमश उवाच

अस्मिन् किल स्वयं राजन्निष्टवान् वै प्रजापतिः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें यहाँ साक्षात् प्रजापतिने इष्टीकृत नामक सत्रका एक सहस्र वर्षोंतक चालू रहनेवाला अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

अम्बरीषश्च नाभाग इष्टवान् यमुनामनु ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ॥ २ ॥
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ।

यहीं यमुनाके तटपर नाभाग-पुत्र अम्बरीषने भी यज्ञ किया था और यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् सदस्योंको दस पद्म मुद्राएँ दान की थीं तथा यज्ञों और तपस्याद्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर ली थीं ॥ २½ ॥

देशश्च नाहुषस्यायं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यह नहुषकुमार ययातिका देश है, जो पुण्यकर्मा, याज्ञिक, महातेजस्वी और सार्वभौम सम्राट् थे । वे सदा इन्द्रके साथ ईर्ष्या रखते थे । यहाँ यह उन्हींकी यज्ञभूमि है ॥ ३-४ ॥

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥

देखो, यहाँ अग्नियोंसे युक्त नाना प्रकारकी वेदियाँ हैं, जिनसे यह सारी भूमि व्याप्त हो रही है, मानो पृथ्वी ययाति-के यज्ञ-कर्मोंसे आक्रान्त हो उनकी पुण्य-धारामें डूबी जा रही है ॥ ५ ॥

एषा शम्येकपत्रा या सरकं चैतदुत्तमम् ।

पश्य रामह्रदानेतान् पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥

यह एक पत्तेवाली शमीका अवशेष अंश है तथा यह उत्तम सरोवर है। देखो, ये परशुरामजीके कुण्ड हैं और यह नारायणाश्रम है ॥ ६ ॥

एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम्।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥

महाराज ! योगशक्तिसे सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले महातेजस्वी ऋचीकनन्दन जमदग्निका प्रसर्पण (घूमने-फिरनेका स्थान) तीर्थ है, जो रौप्या नामक नदीके समीप सुशोभित है ॥ ७ ॥

अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! इस तीर्थके विषयमें एक परम्परा-प्राप्त कथाको सूचित करनेवाले कुछ श्लोक हैं, जिन्हें मैं पढ़ता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो—(प्राचीन कालकी बात है, कोई स्त्री अपने पुत्रके साथ इस तीर्थमें निवास करनेके लिये आयी थी, उससे) एक भयंकर पिशाचीने, जिसने ओखली-जैसे आभूषण पहन रक्खे थे, उन श्लोकोंको कहा था—॥ ८ ॥

युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले।
तद्वद् भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

श्लोक (का भाव) इस प्रकार है—'अरी ! तू युगन्धरमें दही खाकर* अच्युतस्थलमें निवास करके† और भूतलयमें नहाकर‡ यहाँ पुत्रसहित निवास करनेकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है ? ॥ ९ ॥

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि।
एतद् वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ॥ १० ॥

(अच्छा, आयी है तो एक रात रह ले,) यदि एक रात यहाँ रह लेनेके पश्चात् दूसरी रातमें भी रहेगी तो दिनमें तो तेरा यह हाल है (आज दिनमें तो तुमको यह कष्ट दिया गया है) और रातमें तेरे साथ अन्यथा बर्ताव होगा (विशेष कष्ट दिया जायगा)' ॥ १० ॥

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम।
द्वारमेतत् तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! (इस किंवदन्तीके अनुसार किसीको भी यहाँ एक ही रात रहना चाहिये) अतः हमलोग केवल आजकी रातमें ही यहाँ निवास करेंगे। युधिष्ठिर ! यह तीर्थ कुरुक्षेत्रका द्वार बताया गया है ॥ ११ ॥

अत्रैव नाहुषो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान्।
ययातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ॥ १२ ॥

राजन् ! नहुषनन्दन राजा ययातिने यहीं प्रचुर रत्नराशिकी दक्षिणासे युक्त अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया था। उन यज्ञोंमें इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई थी ॥ १२ ॥

एतत् प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम्।
एतद् वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

यह यमुनाजीका प्लक्षावतरण नामक उत्तम तीर्थ है। मनीषी पुरुष इसे स्वर्गलोकका द्वार बताते हैं ॥ १३ ॥

अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ॥ १४ ॥

यहीं यूप और ओखली आदि यज्ञ-साधनोंका संग्रह करनेवाले महर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान किया था ॥ १४ ॥

अत्र वै भरतो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान्।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥ १५ ॥
असकृत् कृष्णसारङ्गं धर्मेणाप्य च मेदिनीम्।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ॥ १६ ॥
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः।
अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यति।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥ १७ ॥

राजन् ! राजा भरतने धर्मपूर्वक वसुधाका राज्य पाकर यहीं बहुत-से यज्ञ किये थे और यहीं अश्वमेध यज्ञके उद्देश्यसे उन्होंने अनेक बार कृष्णमृगके समान रंगवाले यज्ञसम्बन्धी श्यामकर्ण अश्वको भूतलपर भ्रमणके लिये छोड़ा था। नरश्रेष्ठ ! इसी तीर्थमें ऋषिप्रवर संवर्तसे सुरक्षित हो महाराज मरुत्तने उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया। राजेन्द्र ! यहाँ स्नान

---

* युगन्धर एक पर्वत या प्रदेशका नाम है, जहाँके लोग ऊँटनी और गदहीतकके दूधका दही जमा लेते हैं। उस स्त्रीने कभी वहाँ जाकर दही खाया था। धर्म-शास्त्रमें ऊँट और एक खुरवाले पशुओंके दूधको मदिराके तुल्य बताया गया है—'औष्ट्रमेकशफं क्षीरं सुरातुल्यम्।' इति।

† प्राचीन कालमें अच्युतस्थल नामक गाँव वर्णसंकरजातीय अन्त्यजों एवं चाण्डालोंका निवासस्थान था। उस स्त्रीने उस गाँवमें किसी समय निवास किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार वर्णसंकरीके संसर्गमें आनेपर प्रायश्चित्तरूपसे प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये—'संसृज्य संकरैः सार्धं प्राजापत्यं व्रतं चरेत्।' इति।

‡ 'भूतलय' नामक गाँव चोरों और डाकुओंका अड्डा था। वहाँ एक नदी थी, जिसमें मुर्दे बहाये जाते थे। उस स्त्रीने उसी दूषित जलमें स्नान किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार उस गाँवमें रहनेमात्रसे प्राजापत्य व्रत करनेकी आवश्यकता है—'प्रोष्य भूतलये विप्रः प्राजापत्यं व्रतं चरेत्।' इति ॥ इन तीनों दोषोंसे युक्त होनेके कारण वह स्त्री तीर्थवासकी अधिकारिणी नहीं रह गयी थी।

करके शुद्ध हुआ मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता है और पापसे मुक्त हो पवित्र हो जाता है; अतः तुम इसमें भी स्नान करो ॥ १५–१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भाइयोंसहित स्नान करके महर्षियोंद्वारा प्रशंसित हो पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने लोमशजीसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ १९ ॥

'मुनीश्वर ! तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण वस्तुतः आप ही यथार्थ पराक्रमी हैं। आपकी कृपासे आज मैं इस प्लक्षावतरणके जलमें स्थित होकर सब लोकोंको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। यहींसे मुझे पाण्डवश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन भी दिखायी देते हैं' ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः।
(इह स्नात्वा तपोयुक्तांस्त्रीँल्लोकान् सचराचरान्)
सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ॥ २० ॥

लोमशजीने कहा—महाबाहो ! तुम ठीक कहते हो। यहाँ स्नान करके तपःशक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ ऋषिगण इसी प्रकार चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका दर्शन करते हैं। अब इस पुण्यसलिला सरस्वतीका दर्शन करो, जो एकमात्र पुण्यका ही आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे घिरी हुई है ॥ २० ॥

यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि।
इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! इसमें स्नान करनेसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे। कुन्तीनन्दन ! यहाँ अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥ २१ ॥

वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात् पञ्चयोजना।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥

यह सब ओर पाँच योजन फैली हुई प्रजापतिकी यज्ञ-वेदी है। यही यज्ञपरायण महात्मा राजा कुरुका क्षेत्र है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामेकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २२½ श्लोक हैं)

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंकी महिमा और राजा उशीनरकी कथाका आरम्भ

लोमश उवाच

इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत।
मर्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भारत ! यहाँ शरीर छूट जानेपर मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं; इसलिये हजारों इस तीर्थमें मरनेके लिये आकर निवास करते हैं ॥ १ ॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजितो नराः ॥ २ ॥
एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी।
एतद् विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्राचीन कालमें प्रजापति दक्षने यज्ञ करते समय यह आशीर्वाद दिया था कि जो मनुष्य यहाँ मरेंगे, वे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे। यह रमणीय, दिव्य और तीव्र प्रवाहवाली सरस्वती नदी है और यह सरस्वतीका विनशन नामक तीर्थ है ॥ २-३ ॥

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥

यह निषादराजका द्वार है। वीर युधिष्ठिर ! उन निषादोंके ही संसर्गदोषसे सरस्वती नदी यहाँ इसलिये पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हो गयी कि निषाद मुझे जान न सकें। यह चमसोद्भेदतीर्थ है; जहाँ सरस्वती पुनः प्रकट हो गयी है। यहाँ समुद्रमें मिलनेवाली सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ इसके सम्मुख आयी हैं ॥ ४-५ ॥

एतत् सिन्धोर्महत् तीर्थं यत्रागस्त्यमरिंदम।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! यह सिन्धुका महान् तीर्थ है; जहाँ जाकर लोपामुद्राने अपने पति अगस्त्यमुनिका वरण किया था ॥ ६ ॥

एतत् प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी नरेश ! यह प्रभासतीर्थ* प्रकाशित

* 'प्रभास' की जगह 'हाटक' पाठ भेद भी मिलता है।

हो रहा है, जो इन्द्रको बहुत प्रिय है। यह पुण्यमय क्षेत्र सब पापोंका नाश करनेवाला और परम पवित्र है ॥ ७ ॥

एतद् विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः।
बद्ध्वाऽऽत्मानं निपतितो विपाशःपुनरुत्थितः॥ ९ ॥

यह विष्णुपद नामवाला उत्तम तीर्थ दिखायी देता है तथा वह परम पावन और मनोरम विपाशा (व्यास) नदी है। यहीं भगवान् वसिष्ठ मुनि पुत्रशोकसे पीड़ित हो अपने शरीरको पाशोंसे बाँधकर कूद पड़े थे, परंतु पुनः विपाश (पाशमुक्त) होकर जलसे बाहर निकल आये ॥ ८-९ ॥

काश्मीरमण्डलं चैतत् सर्वपुण्यमरिंदम।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥
यत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च।
अग्नेश्चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥

शत्रुदमन ! यह पुण्यमय काश्मीरमण्डल है, जहाँ बहुत-से महर्षि निवास करते हैं। तुम भाइयोंसहित इसका दर्शन करो। भारत ! यह वही स्थान है, जहाँ उत्तरके समस्त ऋषि, नहुषकुमार ययाति, अग्नि और काश्यपका संवाद हुआ था ॥ १०-११ ॥

एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह मानसरोवरका द्वार प्रकाशित हो रहा है। इस पर्वतके मध्यभागमें परशुरामजीने अपना आश्रम बनाया था ॥ १२ ॥

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः।
नात्यवर्तत यद्द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! परशुरामजी सर्वत्र विख्यात हैं। वे सत्यपराक्रमी हैं। उनके इस आश्रमका द्वार विदेह देशसे उत्तर है। यह बवंडर (वायुका तूफान) भी उनके इस द्वारका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता है (फिर औरोंकी तो बात ही क्या है) ॥ १३ ॥

इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन् पुरुषर्षभ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥ १४ ॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः।
अस्मिन् सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥ १५ ॥
यजन्ते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥
क्षीणपापः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुते नात्र संशयः।
एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शान्तवान्।
अरुन्धतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस देशमें दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि यहाँ निवास करनेवाले साधकको युगके अन्तमें पार्षदों तथा पार्वतीसहित इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस सरोवरके तटपर चैत्र मासमें कल्याणकामी याजक पुरुष अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा परिवारसहित पिनाकधारी भगवान् शिवकी आराधना करते हैं। इस तालाबमें श्रद्धापूर्वक स्नान एवं आचमन करके पाप-मुक्त हुआ जितेन्द्रिय पुरुष शुभ लोकोंमें जाता है; इसमें संशय नहीं है। यह सरोवर उज्जानक नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ भगवान् स्कन्द तथा अरुन्धतीसहित महर्षि वसिष्ठने साधना करके सिद्धि एवं शान्ति प्राप्त की है ॥ १४–१७ ॥

ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम्।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ॥ १८ ॥

यह कुशवान् नामक ह्रद है, जिसमें कुशेशय नामवाले कमल खिले रहते हैं। यहीं रुक्मिणीदेवीका आश्रम है, जहाँ उन्होंने क्रोधको जीतकर शान्तिका लाभ किया था ॥ १८ ॥

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ॥ १९ ॥

पाण्डुनन्दन ! महाराज ! तुमने जिसके विषयमें यह सुन रखा है कि वह योग-सिद्धिका संक्षिप्त स्वरूप है—जिसके दर्शनमात्रसे समाधिरूप फलकी प्राप्ति हो जाती है, उस भृगु-तुङ्ग नामक महान् पर्वतका अब तुम दर्शन करोगे ॥ १९ ॥

वितस्तां पश्य राजेन्द्र सर्वपापप्रमोचनीम्।
महर्षिभिश्चाध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! वितस्ता (झेलम) नदीका दर्शन करो, जो सब पापोंसे मुक्त करनेवाली है। इसका जल बहुत शीतल और अत्यन्त निर्मल है। इसके तटपर बहुत-से महर्षिगण निवास करते हैं ॥ २० ॥

जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम्।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ २१ ॥

यमुना नदीके दोनों पार्श्वमें जला और उपजला नामकी दो नदियोंका दर्शन करो, जहाँ राजा उशीनरने यज्ञ करके इन्द्रसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त किया था ॥ २१ ॥

तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशाम्पते।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! नृपश्रेष्ठ उशीनरके महत्त्वको समझनेके लिये किसी समय इन्द्र और अग्नि उनकी राज-सभामें गये ॥ २२ ॥

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम्।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥ २३ ॥

वे दोनों वरदायक महात्मा उस समय उशीनरकी परीक्षा लेना चाहते थे; अतः इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निने कबूतरका। इस प्रकार वे राजाके यज्ञमण्डपमें गये ॥ २३ ॥

ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद् भयात्।
शरणार्थी तदा राजन् निलिल्ये भयपीडितः ॥ २४ ॥

अपनी रक्षाके लिये आश्रय चाहनेवाला कबूतर बाजके भयसे डरकर राजाकी गोदीमें जा छिपा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा उशीनरद्वारा बाजको अपने शरीरका मांस देकर शरणमें आये हुए कबूतरके प्राणोंकी रक्षा करना

श्येन उवाच

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन् महीक्षितः।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात् कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥
विहितं भक्षणं राजन् पीड्यमानस्य मे क्षुधा।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥

तब बाजने कहा—राजन्! समस्त भूपाल केवल आपको ही धर्मात्मा बताते हैं। फिर आप यह सम्पूर्ण धर्मोंसे विरुद्ध कर्म कैसे करना चाहते हैं। महाराज! मैं भूखसे कष्ट पा रहा हूँ और कबूतर मेरा आहार नियत किया गया है। आप धर्मके लोभसे इसकी रक्षा न करें। वास्तवमें इसे आश्रय देकर आपने धर्मका परित्याग ही किया है ॥ १-२ ॥

राजोवाच

संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥ ४ ॥

राजा बोले—पक्षिराज! यह कबूतर तुमसे डरकर घबराया हुआ है और अपने प्राण बचानेकी इच्छासे मेरे समीप आया है। यह अपनी रक्षा चाहता है। बाज! इस प्रकार अभय चाहनेवाले इस कबूतरको यदि मैं तुमको नहीं सौंप रहा हूँ, यह तो परम धर्म है। इसे तुम कैसे नहीं देख रहे हो?॥

प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः॥ ५ ॥
यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम्।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ ६ ॥

बाज! देखो तो यह बेचारा कबूतर किस प्रकार भयसे व्याकुल हो थर-थर काँप रहा है। इसने अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ही मेरी शरण ली है। ऐसी दशामें इसे त्याग देना बड़ी ही निन्दाकी बात है। जो मनुष्य ब्राह्मणोंकी हत्या करता है, जो जगन्माता गौका वध करता है तथा जो शरणमें आये हुएको त्याग देता है, इन तीनोंको समान पाप लगता है ॥ ५-६ ॥

श्येन उवाच

आहारात् सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ७ ॥

बाजने कहा—महाराज! सब प्राणी आहारसे ही उत्पन्न होते हैं, आहारसे ही उनकी वृद्धि होती है और आहारसे ही जीवित रहते हैं ॥ ७ ॥

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम्।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ८ ॥

जिसको त्यागना बहुत कठिन है, उस अर्थके बिना भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीवित रह सकता है, परंतु भोजन छोड़ देनेपर कोई भी अधिक समयतक जीवन धारण नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

भक्ष्याद् वियोजितस्याद्य मम प्राणा विशाम्पते।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥ ९ ॥
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नङ्क्ष्यति।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान् न रक्षसि ॥ १० ॥

प्रजानाथ! आज आपने मुझे भोजनसे वंचित कर दिया है, इसलिये मेरे प्राण इस शरीरको छोड़कर अकुतोभय-पथ (मृत्यु) को प्राप्त हो जायँगे। धर्मात्मन्! इस प्रकार मेरी मृत्यु हो जानेपर मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी (असहाय होनेके कारण) नष्ट हो जायँगे। इस तरह आप एक कबूतरकी रक्षा करके बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं ॥

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ११ ॥

सत्यपराक्रमी नरेश! जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक हो वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो दूसरे किसी धर्मका विरोध न करके प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक धर्म है ॥ ११ ॥

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥ १२ ॥

परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंमें गौरव-लाघवका विचार करके, जिसमें दूसरोंके लिये बाधा न हो, उसी धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥ १३ ॥

राजन् ! धर्म और अधर्मका निर्णय करते समय पुण्य और पापके गौरव-लाघवपर ही दृष्टि रखकर विचार कीजिये तथा जिसमें अधिक पुण्य हो, उसीको आचरणमें लाने योग्य धर्म ठहराइये ॥ १३ ॥

राजोवाच

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।
सुवर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम् ॥ १४ ॥

राजाने कहा—पक्षिश्रेष्ठ ! तुम्हारी बातें अत्यन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त हैं । तुम साक्षात् पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो ? इसमें संदेह नहीं कि तुम धर्मके ज्ञाता हो ॥१४॥

तथा हि धर्मसंयुक्तं बहु चित्रं च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम्॥१५॥

तुम जो बातें कह रहे हो, वे बड़ी ही विचित्र और धर्मसंगत हैं । मुझे लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो ॥ १५ ॥

शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहंगम ॥ १६ ॥

तो भी तुम शरणागतके त्यागको कैसे अच्छा मानते हो ? यह मेरी समझमें नहीं आता । विहङ्गम ! वास्तवमें तुम्हारा यह उद्योग केवल भोजन प्राप्त करनेके लिये है ॥ १६ ॥

शक्यश्चाप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चान्यदिह काङ्क्षसि ॥ १७ ॥

परंतु तुम्हारे लिये आहारका प्रबन्ध तो दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है और वह इस कबूतरकी अपेक्षा अधिक हो सकता है । सूअर, हिरन, भैंसा या कोई उत्तम पशु अथवा अन्य जो कोई भी वस्तु तुम्हें अभीष्ट हो, वह तुम्हारे लिये प्रस्तुत की जा सकती है ॥ १७ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान् विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममान्येन केनचित् ॥ १८ ॥

बाज बोला—महाराज ! मैं न सूअर खाऊँगा, न कोई उत्तम पशु और न भाँति-भाँतिके मृगोंका ही आहार करूँगा । दूसरी किसी वस्तुसे भी मुझे क्या लेना है ? ॥ १८ ॥

यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुङ्गव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १९ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! विधाताने मेरे लिये जो भोजन नियत किया है, वह तो यह कबूतर ही है; अतः भूपाल ! इसीको मेरे लिये छोड़ दीजिये ॥ १९ ॥

श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रय ॥ २० ॥

यह सनातन कालसे चला आ रहा है कि बाज कबूतरोंको खाता है । राजन् ! धर्मके सारभूत तत्त्वको न जानकर आप केलेके खम्भे (जैसे सारहीन धर्म) का आश्रय न लीजिये ॥ २० ॥

राजोवाच

राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥ २१ ॥

राजाने कहा—विहङ्गम ! मैं शिबिदेशका समृद्धिशाली राज्य तुम्हें सौंप दूँगा, और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा होगी वह सब दे सकता हूँ ॥ २१ ॥

विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम्॥ २२ ॥

किंतु शरण लेनेकी इच्छासे आये हुए इस पक्षीको नहीं त्याग सकता । पक्षिश्रेष्ठ श्येन ! जिस कामके करनेसे तुम इसे छोड़ सको, वह मुझे बताओ, मैं वही करूँगा, किंतु इस कबूतरको तो नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

श्येन उवाच

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २३ ॥
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २४ ॥

बाज बोला—महाराज उशीनर ! यदि आपका इस कबूतरपर स्नेह है तो इसीके बराबर अपना मांस काटकर तराजूमें रखिये । नृपश्रेष्ठ ! जब वह तौलमें इस कबूतरके बराबर हो जाय तब वही मुझे दे दीजियेगा, उससे मेरी तृप्ति हो जायगी ॥ २३-२४ ॥

राजोवाच

अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे ।
तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥२५॥

राजाने कहा—बाज ! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो, इसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा मानता हूँ, अतः मैं अभी अपना मांस तराजूपर रखकर तुम्हें दिये देता हूँ ॥ २५ ॥

लोमश उवाच

उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित् ।
तोलयामास कौन्तेय कपोतेन समं विभो ॥ २६ ॥

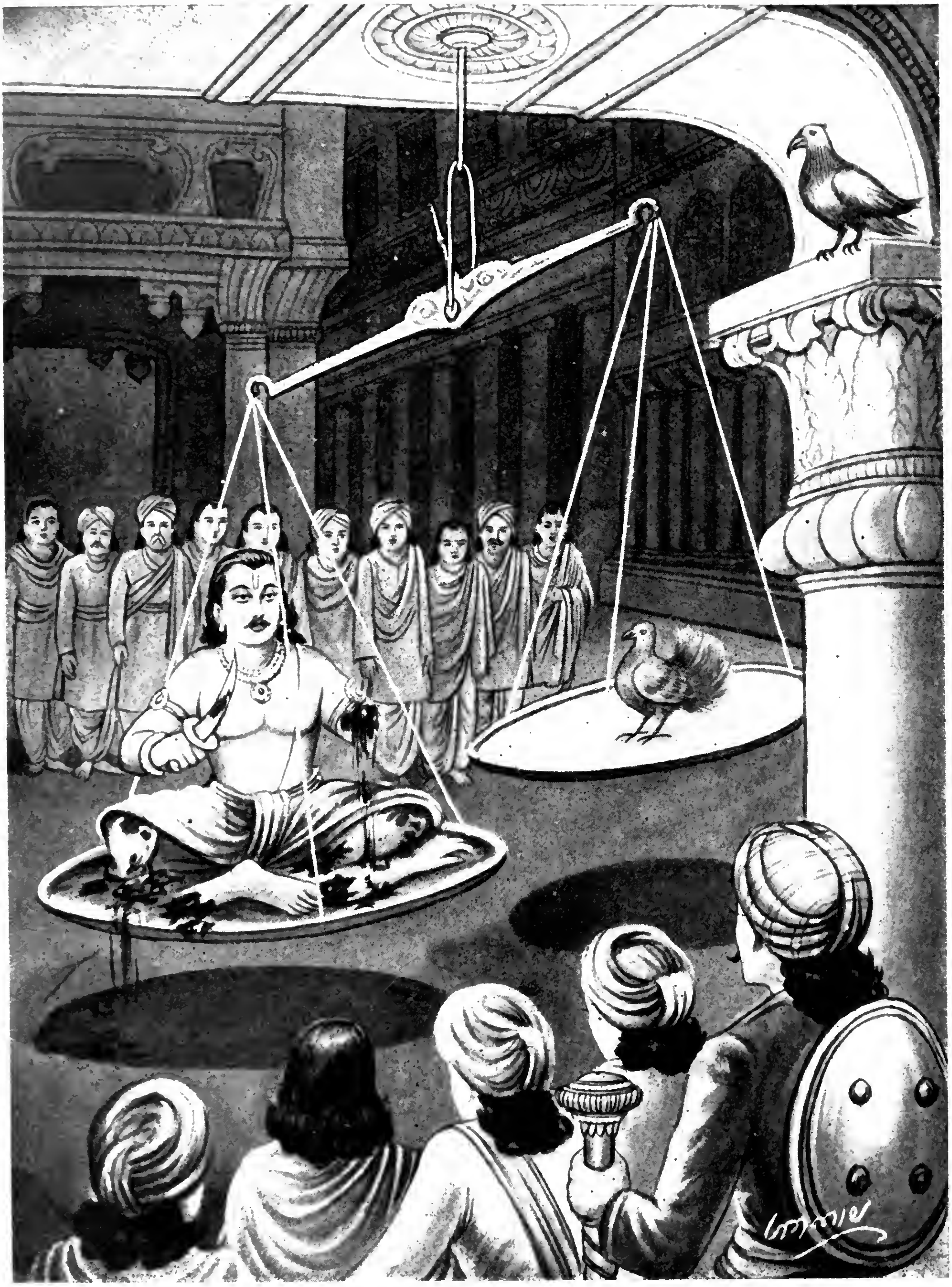

राजा शिबिका कबूतरकी रक्षाके लिये बाजको अपने शरीरका मांस काटकर देना

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् परम धर्मज्ञ राजा उशीनरने स्वयं अपना मांस काटकर उस कबूतरके साथ तौलना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

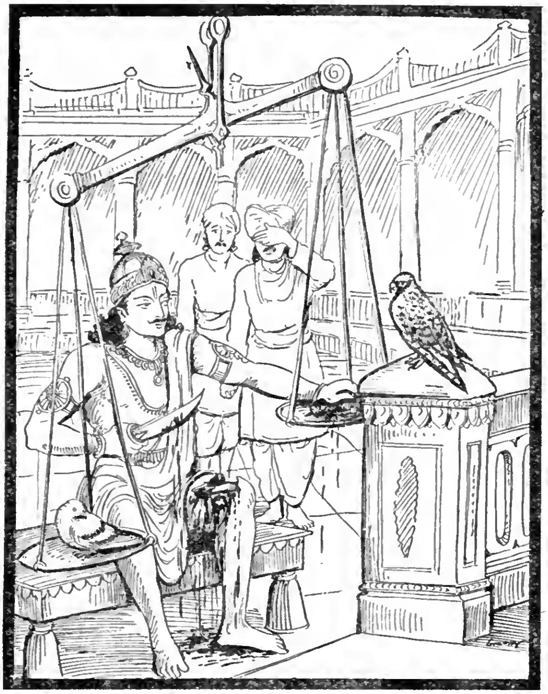

ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनात्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २७ ॥
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २८ ॥

किंतु दूसरे पलड़ेमें रखा हुआ कबूतर उस मांसकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तब महाराज उशीनरने पुनः अपना मांस काटकर चढ़ाया। इस प्रकार बार-बार करनेपर भी जब वह मांस कबूतरके बराबर न हुआ, तब सारा मांस काट लेनेके पश्चात् वे स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥ २७-२८ ॥

श्येन उवाच

इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्मं त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २९ ॥

बाज बोला—धर्मज्ञ नरेश ! मैं इन्द्र हूँ और यह कबूतर साक्षात् अग्निदेव हैं । हम दोनों आपके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस यज्ञशालामें आपके निकट आये थे ॥ २९ ॥

यत् ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशाम्पते ।
एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! आपने अपने अङ्गोंसे जो मांस काटकर चढ़ाये हैं, उससे फैली हुई आपकी प्रकाशमान कीर्ति सम्पूर्ण लोगोंसे बढ़कर होगी ॥ ३० ॥

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव ।
तावत् कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ॥ ३१ ॥

राजन् ! संसारके मनुष्य इस जगत्में जबतक आपकी चर्चा करेंगे, तबतक आपकी कीर्ति और सनातन लोक स्थिर रहेंगे ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ ३२ ॥
विभ्राजमानो वपुषाप्यारुरोह त्रिविष्टपम् ।
तदेतत् सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥ ३४ ॥

राजासे ऐसा कहकर इन्द्र फिर देवलोकमें चले गये तथा धर्मात्मा राजा उशीनर भी अपने धर्मसे पृथ्वी और आकाश-को व्याप्त कर देदीप्यमान शरीर धारण करके स्वर्गलोकमें चले गये । राजन् ! यही उन महात्मा राजा उशीनरका आश्रम है, जो पुण्यजनक होनेके साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है । तुम मेरे साथ इस पवित्र आश्रमका दर्शन करो । महाराज ! वहाँ पुण्यात्मा महात्मा ब्राह्मणोंको सदा सनातन देवता तथा मुनियोंका दर्शन होता रहता है ॥ ३२—३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रके जन्मका वृत्तान्त और उनका राजा जनकके दरबारमें जाना

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्र्यबुद्धि-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं
सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु हो गये हैं, जो इस भूतलपर मन्त्र-शास्त्रमें अत्यन्त

निपुण कहे जाते थे, देखो यह पवित्र आश्रम उन्हींका है। जो सदा फल देनेवाले वृक्षोंसे हरा-भरा दिखायी देता है ॥ १ ॥

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श
सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम्।
वेत्स्यामि वाणीमिति सम्प्रवृत्तां
सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥

इस आश्रममें श्वेतकेतुने मानवरूपधारिणी सरस्वती देवीका प्रत्यक्ष दर्शन किया था और अपने निकट आयी हुई उन सरस्वतीसे यह कहा था कि 'मैं वाणीस्वरूपा आपके तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ २ ॥

तस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठा-
वास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनु-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्॥ ३ ॥

उस युगमें कहोड मुनिके पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक-नन्दन श्वेतकेतु ये दोनों महर्षि समस्त भूमण्डलके वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। वे आपसमें मामा और भानजा लगते थे (इनमें श्वेतकेतु ही मामा था) ॥ ३ ॥

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ
विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे
बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ॥ ४ ॥

एक समय वे दोनों मामा-भानजे विदेहराजके यज्ञमण्डपमें गये। दोनों ही ब्राह्मण अनुपम विद्वान् थे। वहाँ शास्त्रार्थ होनेपर उन दोनोंने अपने (विपक्षी) बन्दीको जीत लिया ॥ ४ ॥

उपास्स्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं
तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहु-
र्योऽसौ बन्दिं जनकस्याथ यज्ञे ॥ ५ ॥
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाभिगम्य
वादे भङ्क्त्वा मज्जयामास नद्याम् ॥६॥

कुन्तीनन्दन! विप्रशिरोमणि अष्टावक्र वाद-विवादमें बड़े निपुण थे। उन्होंने बाल्यावस्थामें ही महाराज जनकके यज्ञ-मण्डपमें पधारकर अपने प्रतिवादी बन्दीको पराजित करके नदीमें डलवा दिया था। वे अष्टावक्र मुनि जिन महात्मा उद्दालक-के दौहित्र (नाती) बताये जाते हैं, उन्हींका यह परम पवित्र आश्रम है। तुम अपने भाइयोंसहित इसमें प्रवेश करके कुछ देरतक उपासना (भगवच्चिन्तन) करो ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथंप्रभावः स बभूव विप्र-
स्तथाभूतं यो निजग्राह बन्दिम्।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव
तत् सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम्॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—लोमशजी! उन ब्रह्मर्षिका कैसा प्रभाव था, जिन्होंने बन्दी-जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान्को भी जीत लिया। वे किस कारणसे अष्टावक्र (आठों अङ्गोंसे टेढ़े-मेढ़े) हो गये। ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ७ ॥

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको
नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत्।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती
दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ८ ॥

लोमशजीने कहा—राजन्! महर्षि उद्दालकका कहोड नामसे विख्यात एक शिष्य था, जो बड़े संयम नियमसे रहकर आचार्यकी सेवा किया करता था। उसने गुरुकी आज्ञाके अंदर रहकर दीर्घकालतक अध्ययन किया ॥ ८ ॥

तं वै विप्रः पर्यचरत् सशिष्य-
स्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः।
तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतं च
भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्॥ ९ ॥

विप्रवर 'कहोड' एक विनीत शिष्यकी भाँति उद्दालक मुनिकी परिचर्यामें संलग्न रहते थे। गुरुने शिष्यकी उस सेवा-के महत्त्वको समझकर शीघ्र ही उन्हें सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान करा दिया और अपनी पुत्री सुजाताको भी उन्हें पत्नी-रूपसे समर्पित कर दिया ॥ ९ ॥

तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः
सोऽधीयानं पितरं चाप्युवाच।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि
नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ १० ॥*

कुछ कालके बाद सुजाता गर्भवती हुई, उसका वह गर्भ अग्निके समान तेजस्वी था। एक दिन स्वाध्यायमें लगे हुए अपने पिता कहोड मुनिसे उस गर्भस्थ बालकने कहा, 'पिताजी! आप रातभर वेदपाठ करते हैं तो भी आपका वह अध्ययन अच्छी प्रकारसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक नहीं हो पाता' ॥ १० ॥

उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः
स तं कोपादुदरस्थं शशाप।
यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि
तस्माद् वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ११ ॥

शिष्योंके बीचमें बैठे हुए महर्षि कहोड इस प्रकार उलाहना सुनकर अपमानका अनुभव करते हुए कुपित हो उठे और उस गर्भस्थ बालकको शाप देते हुए बोले, 'अरे! तू अभी पेटमें रहकर ऐसी टेढ़ी बातें बोलता है, अतः तू आठों अङ्गोंसे टेढ़ा हो जायगा' ॥ ११ ॥

---

* किसी-किसी पुस्तकमें यहाँ एक श्लोक अधिक मिलता है, जो इस प्रकार है—

वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रैरुपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात्।
इहैव गर्भे तेन पितर्ब्रवीमि नेदं त्वत्तः सम्यगिवोपवर्तते ॥

स वै तथा वक्र एवाभ्यजाय-
दष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः।
अस्यासीद् वै मातुलः श्वेतकेतुः
स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १२ ॥

उस शापके अनुसार वे महर्षि आठों अङ्गोंसे टेढ़े होकर पैदा हुए। इसलिये अष्टावक्र नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। श्वेतकेतु उनके मामा थे, परंतु अवस्थामें उन्हींके बराबर थे॥

सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता
सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता
प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ १३ ॥

जब पेटमें गर्भ बढ़ रहा था, उस समय सुजाताने उससे पीड़ित होकर एकान्तमें अपने निर्धन पतिसे धनकी इच्छा रखकर कहा— ॥ १३ ॥

कथं करिष्याम्यधुना महर्षे
मासश्चायं दशमो वर्तते मे।
नैवास्ति ते वसु किंचित् प्रजाता
येनाहमेतामापदं निस्तरेयम् ॥ १४ ॥

'महर्षे! यह मेरे गर्भका दसवाँ महीना चल रहा है। मैं धनहीन नारी खर्चकी कैसे व्यवस्था करूँगी। आपके पास थोड़ा-सा भी धन नहीं है, जिससे मैं प्रसवकालके इस संकटसे पार हो सकूँ' ॥ १४ ॥

उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो
वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत्।
स वै तदा वादविदा निगृह्य
निमज्जितो वन्दिनेहाप्सु विप्रः ॥ १५ ॥

पत्नीके ऐसा कहनेपर कहोड मुनि धनके लिये राजा जनकके दरबारमें गये। उस समय शास्त्रार्थी पण्डित बन्दीने उन ब्रह्मर्षिको विवादमें हराकर जलमें डुबो दिया ॥ १५ ॥

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य
सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा।
उवाच तां तत्र ततः सुजाता-
मष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १६ ॥

जब उद्दालकको यह समाचार मिला कि 'कहोड मुनि शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर सूत (बन्दी) के द्वारा जलमें डुबो दिये गये।' तब उन्होंने सुजातासे सब कुछ बता दिया और कहा, 'बेटी! अपने बच्चेसे इस वृत्तान्तको सदा ही गुप्त रखना' ॥ १६ ॥

ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं
जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने
तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १७ ॥

सुजाताने भी अपने पुत्रसे उस गोपनीय समाचारको गुप्त ही रक्खा। इसीसे जन्म लेनेके बाद भी उस ब्राह्मण-बालकको इसके विषयमें कुछ भी पता न लगा। अष्टावक्र अपने नाना उद्दालकको ही पिताके समान मानते थे और श्वेतकेतुको अपने भाईके समान समझते थे ॥ १७ ॥

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतु-
रष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम्।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं
नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन, जब अष्टावक्रकी आयु बारह वर्षकी थी और वे पितृतुल्य उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतकेतु वहाँ आये और रोते हुए अष्टावक्रका हाथ पकड़कर उन्हें दूर खींच ले गये। इस प्रकार अष्टावक्रको दूर हटाकर श्वेतकेतुने कहा—'यह तेरे बापकी गोदी नहीं है' ॥ १८ ॥

यत् तेनोक्तं दुरुक्तं तत् तदानीं
हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत्।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य
पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति ॥ १९ ॥

श्वेतकेतुकी उस कटूक्तिने उस समय अष्टावक्रके हृदयमें गहरी चोट पहुँचायी। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने घरमें माताके पास जाकर पूछा—'माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं?' ॥ १९ ॥

ततः सुजाता परमार्तरूपा
शापाद् भीता सर्वमेवाचचक्षे।
तद् वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रा-
वित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ २० ॥

गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो
बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवाद-
मन्नं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ॥ २१ ॥

बालकके इस प्रश्नसे सुजाताके मनमें बड़ी व्यथा हुई, उसने शापके भयसे घबराकर सब बात बता दी। यह सब रहस्य जानकर उन्होंने रातमें श्वेतकेतुसे इस प्रकार कहा—'हम दोनों राजा जनकके यज्ञमें चलें। सुना जाता है, उस यज्ञमें बड़े आश्चर्यकी बातें देखनेमें आती हैं। हम दोनों वहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंका शास्त्रार्थ सुनेंगे और वहीं उत्तम पदार्थ भोजन करेंगे ॥ २०-२१ ॥

विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ
शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ॥ २२ ॥

'वहाँ जानेसे हमलोगोंकी प्रवचनशक्ति एवं जानकारी बढ़ेगी और हमें सुमधुर स्वरमें वेद-मन्त्रोंका कल्याणकारी घोष सुननेका अवसर मिलेगा' ॥ २२ ॥

तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ
यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य
प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे दोनों मामा-भानजे राजा जनकके समृद्धिशाली यज्ञमें गये । अष्टावक्रकी यज्ञमण्डपके मार्गमें ही राजासे भेंट हो गयी। उस समय राजसेवक उन्हें रास्तेसे दूर हटाने लगे, तब वे इस प्रकार बोले ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रका द्वारपाल तथा राजा जनकसे वार्तालाप

अष्टावक्र उवाच

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः
स्त्रियः पन्था भारवहस्य पन्थाः।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य
समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जबतक ब्राह्मणसे सामना न हो, तबतक अंधेका मार्ग, बहरेका मार्ग, स्त्रीका मार्ग, बोझ ढोनेवालेका मार्ग तथा राजाका मार्ग उस-उसके जानेके लिये छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाय तो सबसे पहले उसीको मार्ग देना चाहिये ॥ १ ॥

राजोवाच

पन्था अयं तेऽद्य मयातिदिष्टो
येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीया-
निन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

राजाने कहा—ब्राह्मणकुमार! लो, मैंने तुम्हारे लिये आज यह मार्ग दे दिया है। तुम जिससे जाना चाहो उसी मार्गसे इच्छानुसार चले जाओ। आग कभी छोटी नहीं होती। देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणोंके आगे मस्तक झुकाते हैं ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू
कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं
काङ्क्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम् ॥ ३ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! हम दोनों आपका यज्ञ देखनेके लिये आये हैं। नरेन्द्र! इसके लिये हम दोनोंके हृदयमें प्रबल उत्कण्ठा है। हम दोनों यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हैं और इस यज्ञमें प्रवेश करनेके लिये हम तुम्हारे द्वारपालकी आज्ञा चाहते हैं ॥ ३ ॥

ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां
विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमाना-
वयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ॥ ४ ॥

इन्द्रद्युम्नकुमार जनक! हम दोनों यहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हैं और आप जनकराजसे मिलना तथा बात करना चाहते हैं, परंतु यह द्वारपाल हमें रोकता है; अतः हम क्रोध-रूप व्याधिसे दग्ध हो रहे हैं ॥ ४ ॥

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म
निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम्।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा
वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः ॥ ५ ॥

द्वारपाल बोला—ब्राह्मणकुमार! सुनो, हम बन्दीके आज्ञापालक हैं। आप हमारी कही हुई बात सुनिये। इस यज्ञशालामें बालक ब्राह्मण नहीं प्रवेश करने पाते हैं। जो बूढ़े और बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, उन्हींका यहाँ प्रवेश होता है ॥ ५ ॥

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च
वेदप्रभावेण समन्विताश्च ॥ ६ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! यदि यहाँ वृद्ध ब्राह्मणोंके लिये प्रवेशका द्वार खुला है, तब तो हमारा प्रवेश होना भी उचित ही है; क्योंकि हमलोग वृद्ध ही हैं, हमने ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया है तथा हम वेदके प्रभावसे भी सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च
ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम्।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहु-
र्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥

साथ ही, हम गुरुजनोंके सेवक, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानशास्त्रमें परिनिष्ठित भी हैं। अवस्थामें बालक होनेके कारण ही किसी

ब्राह्मणको अपमानित करना उचित नहीं बताया गया है; क्योंकि आगकी छोटी-सी चिनगारी भी यदि छू जाय तो वह जला डालती है ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टा-
मेकाक्षरां बहुरूपां विराजम्।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं
किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ॥ ८ ॥

द्वारपालने कहा—ब्राह्मणकुमार ! तुम वेदप्रतिपादित, एकाक्षरब्रह्मका बोध करानेवाली, अनेक रूपवाली, सुन्दर वाणीका उच्चारण करो और अपने आपको बालक ही समझो, स्वयं ही अपनी प्रशंसा क्यों करते हो ? इस जगत्‌में ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धि-
र्यथाष्ठीला शाल्मलेः सम्प्रवृद्धा।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो
यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल ! केवल शरीर बढ़ जानेसे किसीकी बढ़ती नहीं समझी जाती है । जैसे सेमलके फलकी गाँठ बढ़नेपर भी सारहीन होनेके कारण वह व्यर्थ ही है । छोटा और दुबला-पतला वृक्ष भी यदि फलोंके भारसे लदा है तो उसे ही वृद्ध (बड़ा) जानना चाहिये । जिसमें फल नहीं लगते, उस वृक्षका बढ़ना भी नहींके बराबर है ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला
गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं
कस्माद् बालः स्थविर इव प्रभाषसे॥१०॥

द्वारपालने कहा—बालक बड़े-बूढ़ोंसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और समयानुसार वे भी वृद्ध होते हैं । थोड़े समयमें ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है, अतः तुम बालक होकर भी क्यों वृद्धकी-सी बातें करते हो ? ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले—अमुक व्यक्तिके सिरके बाल पक गये हैं, इतने ही मात्रसे वह बूढ़ा नहीं होता है, अवस्थामें बालक होनेपर भी जो ज्ञानमें बढ़ा-चढ़ा है, उसीको देवगण वृद्ध मानते हैं ॥ ११ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

अधिक वर्षोंकी अवस्था होनेसे, बाल पकनेसे, धन बढ़ जानेसे और अधिक भाई-बन्धु हो जानेसे भी कोई बड़ा हो नहीं सकता; ऋषियोंने ऐसा नियम बनाया है कि हम ब्राह्मणोंमें जो अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय करनेवाला तथा वक्ता है, वही बड़ा है ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरस्मि सम्प्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥

द्वारपाल ! मैं राजसभामें बन्दीसे मिलनेके लिये आया हूँ । तुम कमलपुष्पकी माला धारण किये हुए महाराज जनकको मेरे आगमनकी सूचना दे दो ॥ १३ ॥

द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः।
सह वादे विवृद्धे तु वन्दिनं चापि निर्जितम् ॥ १४ ॥

द्वारपाल ! आज तुम हमें विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करते देखोगे, साथ ही विवाद बढ़ जानेपर बंदीको परास्त हुआ पाओगे ॥ १४ ॥

पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः
सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा
तूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य ॥ १५ ॥

आज सम्पूर्ण सभासद् चुपचाप बैठे रहें तथा राजा और उनके प्रधान पुरोहितोंके साथ पूर्णतः विद्वान् ब्राह्मण मेरी लघुता अथवा श्रेष्ठताको प्रत्यक्ष देखें ॥ १५ ॥

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं
विनीतानां विदुषां सम्प्रवेशम्।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं
प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १६ ॥

द्वारपालने कहा—जहाँ सुशिक्षित विद्वानोंका प्रवेश होता है, उस यज्ञमण्डपमें तुम-जैसे दस वर्षके बालकका प्रवेश होना कैसे सम्भव है । तथापि मैं किसी उपायसे तुम्हें उसके भीतर प्रवेश करानेका प्रयत्न करूँगा; तुम भी भीतर जानेके लिये यथोचित प्रयत्न करो ॥ १६ ॥

(एष राजा संश्रवणे स्थितस्ते
स्तुह्येनं त्वं वचसा संस्कृतेन।
स चानुज्ञां दास्यति प्रीतियुक्तः
प्रवेशने यच्च किंचित् तवेष्टम् ॥)

ये नरेश तुम्हारी बात सुन सकें, इतनी ही दूरीपर यज्ञमण्डपमें स्थित हैं, तुम अपने शुद्ध वचनोंद्वारा इनकी स्तुति करो । इससे ये प्रसन्न होकर तुम्हें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे देंगे तथा तुम्हारी और भी कोई कामना हो तो वे पूरी करेंगे ॥

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ
त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम्।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां
ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ॥ १७ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! आप जनकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, सम्राट् हैं। आपके यहाँ सभी प्रकारके ऐश्वर्य परिपूर्ण हैं, वर्तमान समयमें केवल आप ही उत्तम यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं अथवा पूर्वकालमें एकमात्र राजा ययाति ऐसे हो चुके हैं ॥ १७ ॥

वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य
वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः।
त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भि-
र्जले सर्वान् मज्जयतीति नः श्रुतम्॥ १८ ॥

हमने सुना है कि आपके यहाँ बन्दी नामसे प्रसिद्ध कोई विद्वान् हैं, जो वाद-विवादके मर्मको जाननेवाले कितने ही वृद्ध ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें हराकर वशमें कर लेते हैं और फिर आपके ही दिये हुए विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन सबको निःशंक होकर पानीमें डुबवा देते हैं ॥ १८ ॥

सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद्
ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि ।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य
नक्षत्राणीव सविता नाशयामि ॥ १९ ॥

मैं ब्राह्मणोंके समीप यह समाचार सुनकर अद्वैत ब्रह्मके विषयमें वर्णन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। वे बन्दी कहाँ हैं ? मैं उनसे मिलकर उनके तेजको उसी प्रकार शान्त कर दूँगा, जैसे सूर्य ताराओंकी ज्योतिको विलुप्त कर देते हैं॥ १९ ॥

राजोवाच

नाशंससे बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं
दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः ॥ २० ॥

राजा बोले – ब्राह्मणकुमार ! तुम अपने विपक्षीकी प्रवचन-शक्तिको जाने बिना ही बन्दीको जीतनेकी इच्छा रखते हो। जो प्रतिवादीके बलको जानते हों, वे ही ऐसी बातें कह सकते हैं। वेदोंका अनुशीलन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण बन्दीका प्रभाव देख चुके हैं ॥ २० ॥

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय तु बलं बन्दिनोऽस्य ।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं
न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः ॥ २१ ॥

तुम्हें इस बन्दीकी शक्तिका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसे जीतनेकी इच्छा कर रहे हो। आजसे पहले कितने ही विद्वान् ब्राह्मण बन्दीसे मिले हैं और जैसे सूर्यके सामने ताराओंका प्रकाश फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार वे बन्दीके हतप्रभ हो गये हैं ॥ २१ ॥

आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामा-
स्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात
कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः ॥ २२ ॥

तात ! कितने ही ज्ञानोन्मत्त ब्राह्मण बन्दीको जीतनेकी अभिलाषा रखकर शास्त्रार्थकी घोषणा करते हुए आये हैं; किंतु उनके निकट पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं, वे पराजित एवं तिरस्कृत हो चुपचाप राजसभासे निकल गये हैं। फिर वे अन्य सदस्योंके साथ वार्तालाप ही कैसे कर सकते हैं ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि
सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य
मार्गे भग्नं शकटमिवाचलाक्षम् ॥ २३ ॥

अष्टावक्र बोले—महाराज ! अभी बन्दीको हम-जैसोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका अवसर नहीं मिला है, इसीलिये वह सिंह बना हुआ है और निडर होकर बातें करता है। आज मुझसे जब उसकी भेंट होगी, उस समय वह पराजित होकर

मुर्देकी भाँति सो जायगा। ठीक उसी तरह, जैसे रास्तेमें टूटा हुआ छकड़ा जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है—उसका पहिया एक पग भी आगे नहीं बढ़ता है॥ २३॥

राजोवाच

त्रिंशकद्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः॥ २४॥

तब राजाने परीक्षा लेनेके लिये कहा—जो पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरोंवाले पदार्थको जानता है—उसके प्रयोजनको समझता है, वह उच्चकोटिका ज्ञानी है॥ २४॥

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि।
तत् त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति॥ २५॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जिसमें बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमारूपी चौबीस पर्व, ऋतुरूप छः नाभि, मासरूप बारह अंश और दिनरूप तीन सौ साठ अरे हैं, वह निरन्तर घूमनेवाला संवत्सररूप कालचक्र आपकी रक्षा करे॥

राजोवाच

बडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम्।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम्॥ २६॥

राजाने पूछा—जो दो घोड़ियोंकी भाँति संयुक्त रहती हैं एवं जो बाज पक्षीकी भाँति हठात् गिरनेवाली हैं, उन दोनोंके गर्भको देवताओंमेंसे कौन धारण करता है तथा वे दोनों किस गर्भको उत्पन्न करती हैं?

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्छात्रवाणामपि ध्रुवम्।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम्॥ २७॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! वे दोनों तुम्हारे शत्रुओंके घरपर भी कभी न गिरें। वायु जिसका सारथि है, वह मेघरूप देव ही इन दोनोंके गर्भको धारण करनेवाला है और ये दोनों उस मेघरूप गर्भको उत्पन्न करनेवाले हैं*॥ २७॥

राजोवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते॥ २८॥

राजाने पूछा—सोते समय कौन नेत्र नहीं मूँदता, जन्म लेनेके बाद किसमें गति नहीं होती; किसके हृदय नहीं होता और कौन वेगसे बढ़ता है?॥ २८॥

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते॥ २९॥

अष्टावक्र बोले—मछली सोते समय भी आँख नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होनेपर चेष्टा नहीं करता, पत्थरके हृदय नहीं होता और नदी वेगसे बढ़ती है॥ २९॥

राजोवाच

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्वं
न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे
तस्माद् द्वारं वितराम्येष बन्दी॥ ३०॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! आपकी शक्ति तो देवताओंके समान है, मैं आपको मनुष्य नहीं मानता; आप बालक भी नहीं हैं। मैं तो आपको वृद्ध ही समझता हूँ। वाद-विवाद करनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है, अतः आपको यज्ञ-मण्डपमें जानेके लिये द्वार प्रदान करता हूँ। यही बन्दी हैं (जिनसे आप मिलना चाहते थे)॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

---

* यहाँ अष्टावक्रजीने परोक्षरूपमें ही प्रश्नका उत्तर दिया है। भाव यह है कि दो तत्त्व, जिनको वैदिक भाषामें रयि और प्राणके नामसे कहा है (देखिये प्रश्नोपनिषद् १। ४) एवं अंग्रेजीमें जिनको पोजिटिव (अनुलोम) और निगेटिव (प्रतिलोम) कहते हैं, स्वभावसे ही संयुक्त रहनेवाले हैं। इनका ही व्यक्त रूप विद्युत्-शक्ति है। उसे गर्भकी भाँति मेघ धारण किये रहता है। संघर्षसे वह प्रकट होती है और आकर्षण होनेपर बाजकी भाँति गिरती है। जहाँ गिरती है वहाँ सबको भस्म कर देती है; इसलिये यह कहा गया कि वह कभी आपके शत्रुओंके घरपर भी न पड़े। इन दो तत्त्वोंकी संयुक्त शक्तिसे ही मेघकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यह कहा गया कि उस मेघरूप गर्भको ये उत्पन्न करते हैं।

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्दी और अष्टावक्रका शास्त्रार्थ, बन्दीकी पराजय तथा समङ्गामें स्नानसे अष्टावक्रके अङ्गोंका सीधा होना

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन्
समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां
महाजले हंसमिवाददामि ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले—भयंकर सेनाओंसे युक्त महाराज जनक ! इस सभामें सब ओरसे अप्रतिम प्रभावशाली राजा आकर एकत्र हुए हैं; परंतु मैं इन सबके बीचमें वादियोंमें प्रधान बन्दीको नहीं पहचान पाता हूँ। यदि पहचान लूँ तो अगाध जलमें हंसकी भाँति उन्हें अवश्य पकड़ लूँगा ॥ १ ॥

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्
ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः
स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन् ॥ २ ॥

अपनेको अतिवादी माननेवाले बन्दी ! तुमने पराजित हुए पण्डितोंको पानीमें डुबवा देनेका नियम कर रखा है, किंतु आज मेरे सामने तुम्हारी बोली बंद हो जायगी। जैसे प्रलयकालके प्रज्वलित अग्निके समीप नदियोंका प्रवाह सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने आनेपर तुम भी सूख जाओगे—तुम्हारी वादशक्ति नष्ट हो जायगी। बन्दी ! आज मेरे सामने स्थिर होकर बैठो ॥ २ ॥

बन्द्युवाच

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय
आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम्।
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य
नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥

बन्दीने कहा—मुझे सोता हुआ सिंह समझकर न जगाओ (न छेड़ो), अपने जबड़ोंको चाटता हुआ विषैला सर्प मानो। तुमने पैरोंसे ठोकर मारकर मेरे मस्तकको कुचल दिया है। अब जबतक तुम डँस लिये नहीं जाते तबतक तुम्हें छुटकारा नहीं मिल सकता, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ३ ॥

यो वै दर्पात् संहननोपपन्नः
सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते
न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥

जो देहधारी अत्यन्त दुर्बल होकर भी अहंकारवश अपने हाथसे पर्वतपर चोट करता है, उसीके हाथ और नख विदीर्ण हो जाते हैं; उस चोटसे पर्वतमें घाव होता नहीं देखा जाता है ॥ ४ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा ॥ ५ ॥

अष्टावक्र बोले—जैसे सब पर्वत मैनाकसे छोटे हैं, सारे बछड़े बैलोंसे लघुतर हैं; उसी प्रकार भूमण्डलके समस्त राजा मिथिलानरेश महाराज जनककी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें हैं ॥५॥

यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां
नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको
बन्दिं समभ्यानय मत्सकाशम् ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे देवताओंमें महेन्द्र श्रेष्ठ हैं और नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब राजाओंमें एकमात्र आप ही उत्तम हैं। अब बन्दीको मेरे निकट बुलवाइये ॥ ६ ॥

लोमश उवाच

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जञ्-
जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन्।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि
वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! (बन्दीके सामने आ जानेपर) राजसभामें गर्जते हुए अष्टावक्रने बन्दीसे कुपित होकर इस प्रकार कहा—'मेरी पूछी हुई बातका उत्तर तुम दो और तुम्हारी बातका उत्तर मैं देता हूँ' ॥ ७ ॥

बन्द्युवाच

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता
यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ८ ॥

तब बन्दीने कहा—अष्टावक्र ! एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है। शत्रुओंका नाश करनेवाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरोंका स्वामी यमराज भी एक ही है ॥

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ
द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे
भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले—जो दो मित्रोंकी भाँति सदा साथ विचरते हैं, वे इन्द्र और अग्नि दो देवता हैं। परस्पर मित्रभाव

रखनेवाले देवर्षि नारद और पर्वत भी दो ही हैं। अश्विनी-कुमारोंकी भी संख्या दो ही है, रथके पहिये भी दो ही होते हैं तथा विधाताने (एक दूसरेके जीवनसंगी) पति और पत्नी भी दो ही बनाये हैं ॥ ९ ॥

बन्द्युवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं
त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते
त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः॥ १०॥

बन्दीने कहा—यह सम्पूर्ण प्रजा कर्मवश देवता, मनुष्य और तिर्यक्रूप तीन प्रकारका जन्म धारण करती है, ऋक्, साम, और यजु—ये तीन वेद ही परस्पर संयुक्त हो वाजपेय आदि यज्ञ-कर्मोंका निर्वाह करते हैं। अध्वर्युलोग भी प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवनके भेदसे तीन सवनों (यज्ञों) का ही अनुष्ठान करते हैं। (कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंके लिये) स्वर्ग, मृत्यु और नरक—ये लोक भी तीन ही बताये गये हैं और मुनियोंने सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ही प्रकारकी ज्योतियाँ बतलायी हैं ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं
चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च
चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले—ब्राह्मणोंके लिये आश्रम[1] चार हैं। वर्ण[2] भी चार ही हैं, जो इस यज्ञका भार वहन करते हैं। मुख्य दिशाएँ[3] भी चार ही हैं। वर्ण[4] भी चार ही हैं तथा गो अर्थात् वाणी भी सदा चार ही चरणोंसे[5] युक्त बतायी गयी है॥

बन्द्युवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्ति-
र्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि।
दृष्टा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च
लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ॥ १२ ॥

बन्दीने कहा—यज्ञकी अग्नि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्यके भेदसे पाँच प्रकारकी कही गयी हैं। पंक्ति[6] छन्द भी पाँच पादोंसे ही बनता है, यज्ञ भी पाँच ही हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी संख्या भी पाँच ही हैं[7]। वेदमें पाँच वेणीवाली (पञ्चचूड़ा[8]) अप्सराका वर्णन देखा गया है तथा लोकमें पाँच[9] नदियोंसे विशिष्ट पुण्यमय पञ्चनद प्रदेश विख्यात है ॥ १२ ॥

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके
षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम्।
षडिन्द्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च
षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः॥ १३॥

अष्टावक्र बोले—कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्निकी स्थापनाके समय दक्षिणामें छः गौ ही देनी चाहिये। ये छः ऋतुएँ ही संवत्सररूप कालचक्रकी सिद्धि करती हैं। मन-सहित ज्ञानेन्द्रियाँ भी छः ही हैं। कृत्तिकाओंकी संख्या छः ही है तथा सम्पूर्ण वेदोंमें साद्यस्क नामक यज्ञ भी छः ही देखे गये हैं ॥ १३ ॥

बन्द्युवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः
सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति।

१—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। २—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ३—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर। ४—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल्। ५—परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी—ये वाणीके चार पैर हैं। ६—आठ-आठ अक्षरके पाँच पादोंसे पंक्तिछन्दकी सिद्धि होती है। ७—त्वचा, श्रोत्र, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ८—पञ्चचूड़ा अप्सराका उल्लेख महाभारतके अनुशासनपर्वमें ३८ वें अध्यायमें भी आया है। ९—विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चनाव) और शतद्रू (शतलज)—ये ही पञ्चनद प्रदेशकी पाँच नदियाँ हैं।

सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि
सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १४ ॥

बन्दीने कहा—ग्राम्य पशु सात हैं (जिनके नाम इस प्रकार हैं)—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, घोड़ा, कुत्ता और गदहा। जंगली पशु भी सात हैं (यथा—सिंह, बाघ, भेड़िया, हाथी, वानर, भालू और मृग[1])। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये सात ही छन्द एक-एक यज्ञका निर्वाह करते हैं। सप्तर्षि नामसे प्रसिद्ध ऋषियोंकी[2] संख्या भी सात ही है (यथा—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अङ्गिरा और वसिष्ठ), पूजनके संक्षिप्त उपचार भी सात हैं (यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल) तथा वीणाके भी सात ही तार विख्यात हैं ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणः शतमानं वहन्ति
तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु
यूपश्चाष्टास्त्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ॥ १५ ॥

अष्टावक्र बोले—तराजूमें लगी हुई सनकी डोरियाँ भी आठ ही होती हैं, जो सैकड़ोंका मान (तौल) करती हैं। सिंहको भी मार गिरानेवाले शरभके आठ ही पैर होते हैं। देवताओंमें वसुओंकी* संख्या भी आठ ही सुनी गयी है और सम्पूर्ण यज्ञोंमें आठ कोणके ही यूपका निर्माण किया जाता है ॥ १५ ॥

बन्द्युवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां
तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम्।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा
नवयोगो गणनामेति शश्वत् ॥ १६ ॥

बन्दीने कहा—पितृयज्ञमें समिधा देकर अग्निको उद्दीप्त करनेके लिये जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन्हें सामिधेनी ऋचा कहते हैं, उनकी संख्या नौ ही बतायी गयी है। यह जो नाना प्रकारकी सृष्टि दिखायी देती है, इसमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन नौ पदार्थोंका संयोग कारण है, ऐसा विज्ञ पुरुषोंका कथन है। बृहती-छन्दके प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर बताये गये हैं और एकसे लेकर नौ अङ्कोंका योग ही सदा गणनाके उपयोगमें आता है ॥ १६ ॥

अष्टावक्र उवाच

दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके
सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि।
दशैव मासान् बिभ्रति गर्भवत्यो
दशैरका दश दाशा दशार्हाः ॥ १७ ॥

अष्टावक्रने कहा—पुरुषके लिये संसारमें दस दिशाएँ बतायी गयी हैं। दस सौ मिलकर ही पूरा एक सहस्र कहा जाता है, गर्भवती स्त्रियाँ दस मासतक ही गर्भ धारण करती हैं, निन्दक भी दस[1] ही होते हैं, शरीरकी अवस्थाएँ भी दस[2] हैं तथा पूजनीय पुरुष भी दस[3] ही बताये गये हैं ॥ १७ ॥

बन्द्युवाच

एकादशैकादशिनः पशूना-
मेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः।
एकादश प्राणभृतां विकारा
एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १८ ॥

बन्दीने कहा—प्राणधारी पशुओं (जीवों) के लिये ग्यारह विषय[4] हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ भी

१—हिरन, शूकर, खरगोश, गीदड़ आदि जन्तुओंका ग्रहण मृग नामसे ही हो जाता है। २—सप्तर्षि ये हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

('भगवान्ने स्वयं ब्रह्माजीसे कहा है कि) मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।'

* धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
(महा० आदि० ६६ । १८)

'धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं।'

१—यथा रोगी, दरिद्र, शोकार्त्त, राजदण्डित, शठ, खल, वृत्तिसे वञ्चित, उन्मत्त, ईर्ष्यापरायण और कामी—ये दस निन्दक होते हैं। जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोकसे सिद्ध होता है—'आमयी दुर्मतः शोकी दण्डितश्च शठः खलः। नष्टवृत्तिर्मदी चेर्ष्यी कामी च दश निन्दकाः ॥' (इति नीतिशास्त्रोक्तिः) २—उन दसों अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्द्धक्य तथा मृत्यु। ३—अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मामा, श्वशुर, नाना, दादा, अपनेसे बड़ी अवस्थावाले कुटुम्बी तथा पितृव्य (चाचा-ताऊ)—ये दस पूजनीय पुरुष माने गये हैं। जैसा कि कूर्मपुराणका वचन है—उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः। मातुलः श्वशुरश्चैव मातामहपितामहौ ॥ बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ॥ ४—वाक्य बोलना, ग्रहण करना, चलना-फिरना, मलत्याग करना और मैथुनजनित सुखका अनुभव करना—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं और इन सबका मनन—मनका विषय है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह विषय हैं।

ग्यारह ही हैं, यज्ञ, याग आदिमें यूप भी ग्यारह ही होते हैं, प्राणियोंके विकार[1] भी ग्यारह हैं, तथा स्वर्गीय देवताओंमें जो रुद्र[2] कहलाते हैं; उनकी संख्या भी ग्यारह ही है ॥ १८ ॥

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादशमासमाहु-
र्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो
द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः ॥ १९ ॥

अष्टावक्र बोले—एक संवत्सरमें बारह महीने बताये गये हैं, जगती छन्दका प्रत्येक पाद बारह अक्षरोंका होता है, प्राकृत यज्ञ बारह दिनोंका माना गया है, ज्ञानी पुरुष यहाँ बारह[3] आदित्योंका वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

बन्द्युवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता
त्रयोदशद्वीपवती मही च ।

बन्दीने कहा—त्रयोदशी तिथि उत्तम बतायी गयी है तथा यह पृथ्वी तेरह द्वीपोंसे युक्त है ।

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी
श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः ।

लोमशजी कहते हैं—इतना कहकर बन्दी चुप हो गया । तब शेष आधे श्लोककी पूर्ति अष्टावक्रने इस प्रकार की ।

अष्टावक्र उवाच

त्रयोदशाहानि ससार केशी
त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः ॥ २० ॥

अष्टावक्र बोले—केशी नामक दानवने भगवान् विष्णुके साथ तेरह[1] दिनोंतक युद्ध किया था । वेदमें जो अतिशब्द-विशिष्ट छन्द बताये गये हैं, उनका एक-एक पाद तेरह आदि अक्षरोंसे सम्पन्न होता है (अर्थात् अतिजगती छन्दका एक पाद तेरह अक्षरोंका, अतिशक्करीका एक पाद पंद्रह अक्षरोंका, अत्यष्टिका प्रत्येक पाद सत्रह अक्षरोंका तथा अतिधृतिका हर-एक पाद उन्नीस अक्षरोंका होता है) ॥

ततो महानुदतिष्ठन्निनाद-
स्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानी-
मष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ॥ २१ ॥

लोमशजी कहते हैं—इतना सुनते ही सूतपुत्र बन्दी चुप हो गया और मुँह नीचा किये किसी भारी सोच-विचारमें पड़ गया । इधर अष्टावक्र बोलते ही रहे, यह सब देख दर्शकों और श्रोताओंमें महान् कोलाहल मच गया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने
स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयु-
र्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥

महाराज जनकके उस समृद्धिशाली यज्ञमें जब कि चारों ओर कोलाहल व्याप्त हो रहा था, सब ब्राह्मण हाथ जोड़े हुए श्रद्धापूर्वक अष्टावक्रके समीप आये और उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच

अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो
वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक् ।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी
प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् अष्टावक्रने कहा—महाराज ! इसी बन्दीने पहले बहुत-से शास्त्रज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके पानीमें डुबवाया है, अतः इसकी भी वही गति होनी चाहिये, जो इसके द्वारा दूसरोंकी हुई । इसलिये इसे पकड़कर शीघ्र पानीमें डुबवा दीजिये ॥ २३ ॥

१—काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, हर्ष-शोक, राग-द्वेष और अहंकार—ये ग्यारह विकार होते हैं ।

२—एकादश रुद्र ये हैं—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥

(महा० आदि० ६६ । २—३)

'मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, शत्रु-संतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परमकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ।

३—द्वादश आदित्य ये हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।

(महा० आदि० ६५ । १५—१६)

'धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं ।'

१—नृसिंहपुराणमें यही बात कही गयी है—'युयुधे विष्णुना सार्धं त्रयोदश दिनान्यसौ ।'

बन्धुवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञ-
स्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं
तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥

बन्दी बोला—महाराज जनक ! मैं राजा वरुणका पुत्र हूँ। मेरे पिताके यहाँ भी आपके इस यज्ञके समान ही बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञके अनुष्ठानके लिये ही (जलमें डुबानेके बहाने) कुछ चुने हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मैंने वरुणलोकमें भेज दिया था ॥ २४ ॥

ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं
द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं
यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥

वे सब-के-सब वरुणका यज्ञ देखनेके लिये गये हैं और अब पुनः लौटकर आ रहे हैं। मैं पूजनीय ब्राह्मण अष्टावक्रजीका सत्कार करता हूँ; जिनके कारण मेरा अपने पिताजीसे मिलना होगा ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये
वाचा जिता मेधया वा विदानाः।
तां मेधया वाचमथोज्जहार
यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—राजन् ! बन्दीने अपनी जिस वाणी (प्रवचनपटुता अथवा मेधा–बुद्धिबल) से विद्वान् ब्राह्मणोंको भी परास्त किया और समुद्रके जलमें डुबोया है, उसकी उस वाक्शक्तिको मैंने अपनी बुद्धिसे किस प्रकार उखाड़ फेंका है, यह सब इस सभामें बैठे हुए विद्वान् पुरुष मेरी बातें सुनकर ही जान गये होंगे ॥ २६ ॥

अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्
विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत्।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु
तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २७ ॥

अग्नि स्वभावसे ही दहन करनेवाला है तो भी वह ज्ञेय विषयको तत्काल जाननेमें समर्थ है। इस कारण परीक्षाके समय जो सदाचारी और सत्यवादी होते हैं, उनके घरोंको (शरीरोंको) छोड़ देता है, जलाता नहीं। वैसे ही संत लोग भी विनम्रभावसे बोलनेवाले बालक पुत्रोंके वचनोंमेंसे जो सत्य और हितकर बात होती है, उसे चुन लेते हैं—(उसे मान लेते हैं, उनकी अवहेलना नहीं करते)। भाव यह कि तुमको मेरे वचनोंका भाव समझकर उन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि
उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो
न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥ २८ ॥

राजन् ! जान पड़ता है, तुमने लसोड़ेके पत्तोंपर भोजन किया है या उसका फल खा लिया है, इसीसे तुम्हारा तेज क्षीण हो गया है; अतः तुम बन्दीकी बात सुन रहे हो, अथवा इस बन्दीद्वारा की गयी स्तुतियाँ तुम्हें उन्मत्त कर रही हैं, यही कारण है कि अंकुशकी मार खाकर भी न माननेवाले मतवाले हाथीकी भाँति तुम मेरी इन बातोंको नहीं सुन रहे हो ॥ २८ ॥

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपा-
ममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात्।
अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं विवादे
निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! मैं आपकी दिव्य एवं अलौकिक वाणी सुन रहा हूँ, आप साक्षात् दिव्यस्वरूप हैं, आपने शास्त्रार्थमें बन्दीको जीत लिया है। आपकी इच्छा अभी पूरी की जा रही है। देखिये यह है आपके द्वारा जीता हुआ बन्दी ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

अष्टावक्र बोले—महाराज! इस बन्दीके जीवित रहनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यदि इसके पिता वरुणदेव हैं तो उनके पास जानेके लिये इसे निश्चय ही जलाशयमें डुबो दीजिये ॥ ३० ॥

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो
न मे भयं विद्यते मज्जितस्य।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽय-
मष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

बन्दीने कहा—राजन् ! मैं वास्तवमें राजा वरुणका पुत्र हूँ, अतः जलमें डुबाये जानेका मुझे कोई भय नहीं है। ये अष्टावक्र दीर्घकालसे नष्ट हुए अपने पिता कहोडको इसी समय देखेंगे ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना ।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर महामना वरुणद्वारा पूजित हुए वे समस्त ब्राह्मण (जो बन्दीद्वारा जलमें डुबोये गये थे,) सहसा राजा जनकके समीप प्रकट हो गये ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा ।
यदहं नाशकं कर्तुं तत् पुत्रः कृतवान् मम ॥ ३३ ॥

उस समय कहोडने कहा—जनकराज ! लोग इसीलिये अच्छे कर्मोंद्वारा पुत्र पानेकी इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो कार्य मैं नहीं कर सका, उसे मेरे पुत्रने कर दिखाया॥

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः ।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥

जनकराज ! कभी-कभी निर्बलके भी बलवान्, मूर्खके भी पण्डित तथा अज्ञानीके भी ज्ञानी पुत्र उत्पन्न हो जाता है ॥

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरत्वाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो, युद्धमें स्वयं ही यमराज तीखे फरसेसे आपके शत्रुओंके मस्तक काटते रहें ॥ ३५ ॥

महदौक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं
सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे ।
शुचीन् भागान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः
साक्षाद् देवा जनकस्योत राज्ञः ॥ ३६ ॥

महाराज जनकके इस यज्ञमें उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण और औक्थ्य[1] सामका गान किया जाता है, विधिपूर्वक सोमरसका पान हो रहा है, देवगण प्रत्यक्ष दर्शन देकर बड़े हर्षके साथ अपने-अपने पवित्र भाग ग्रहण कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्
विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा
विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७ ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! बन्दीद्वारा जलमें डुबोये हुए वे सभी ब्राह्मण जब वहाँ अधिक तेजस्वी रूपसे प्रकट हो गये, तब राजाकी आज्ञा लेकर बन्दी स्वयं ही समुद्रके जलमें समा गया ॥ ३७ ॥

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा
सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं
जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥

अष्टावक्र अपने पिताकी पूजा करके स्वयं भी दूसरे ब्राह्मणोंद्वारा यथोचित रूपसे सम्मानित हुए और इस प्रकार बन्दीपर विजय पाकर पिता एवं मामाके साथ अपने श्रेष्ठ आश्रमपर ही लौट आये ॥ ३८ ॥

ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता
नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व ।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश
समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर पिता कहोडने अष्टावक्रकी माता सुजाताके निकट पुत्र अष्टावक्रसे कहा—'बेटा ! तुम शीघ्र ही इस 'समङ्गा' नदीमें स्नानके लिये प्रवेश करो ।' पिताकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने उस नदीमें स्नानके लिये प्रवेश किया । उसके जलका स्पर्श होनेपर तत्काल ही उनके सब अङ्ग सीधे हो गये ॥ ३९ ॥

नदी समङ्गा च बभूव पुण्या
यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि ।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः
सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! इसीसे समङ्गा नदी पुण्यमयी हो गयी । इसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । तुम भी स्नान, पान (आचमन) और अवगाहनके लिये अपनी पत्नी और भाइयोंके साथ इस नदीमें प्रवेश करो ॥ ४० ॥

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं
सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्ति-
र्मया सार्धं चरितस्याजमीढ ॥ ४१ ॥

अजमीढकुलभूषण कुन्तीनन्दन ! तुम विश्वासपूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणोंके साथ यहाँ एक रात सुखसे रहकर कलसे पुनः मेरे साथ पवित्र कर्मोंमें अविचल श्रद्धा-भक्ति रखते हुए दूसरे-दूसरे पुण्यतीर्थोंकी यात्रा करना ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

१—उक्थ नाम यज्ञविशेषमें गाये जाने योग्य सामको औक्थ्य कहते हैं ।

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्दमिलक्षेत्र आदि तीर्थोंकी महिमा, रैभ्य एवं भरद्वाजपुत्र यवक्रीत मुनिकी कथा तथा ऋषियोंका अनिष्ट करनेके कारण मेधावीकी मृत्यु

लोमश उवाच

एषा मधुविला राजन् समङ्गा सम्प्रकाशते।
एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम्॥ १॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! यह मधुविला नदी प्रकाशित हो रही है। इसीका दूसरा नाम समङ्गा है और यह कर्दमिल नामक क्षेत्र है, जहाँ राजा भरतका अभिषेक किया गया था॥ १॥

अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समङ्गायां व्यमुच्यत॥ २॥

कहते हैं, वृत्रासुरका वध करके जब शचीपति इन्द्र श्रीहीन हो गये थे, उस समय उस समङ्गा नदीमें गोता लगाकर ही वे अपने सब पापोंसे छुटकारा पा सके थे॥ २॥

एतद् विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत् पुरा॥ ३॥

नरश्रेष्ठ! मैनाक पर्वतके कुक्षि-भागमें यह विनशन नामक तीर्थ है, जहाँ पूर्वकालमें अदिति देवीने पुत्र-प्राप्तिके लिये साध्य देवताओंके उद्देश्यसे अन्न[1] तैयार किया था॥ ३॥

एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ॥ ४॥

भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुषो! इस पर्वतराज हिमालयपर आरूढ़ होकर तुम सब अयश फैलानेवाली और नाम लेनेके अयोग्य अपनी श्रीहीनताको शीघ्र ही दूर भगा दोगे॥ ४॥

एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी॥ ५॥

युधिष्ठिर! ये कनखलकी पर्वत-मालाएँ हैं, जो ऋषियोंको बहुत प्रिय लगती हैं। ये महानदी गङ्गा सुशोभित हो रही हैं॥

सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात् पुरा।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे॥ ६॥

यहीं पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने सिद्धि प्राप्त की थी। अजमीढनन्दन! इस गङ्गामें स्नान करके तुम सब पापोंसे छुटकारा पा जाओगे॥ ६॥

अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गं च पर्वतम्।
उष्णीगङ्गं च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश॥ ७॥

कुन्तीकुमार! जलके इस पुण्य सरोवर, भृगुतुङ्ग पर्वतपर तथा 'उष्णीगङ्ग' नामक तीर्थमें जाकर तुम अपने मन्त्रियोंसहित स्नान और आचमन करो॥ ७॥

आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय॥ ८॥

यह स्थूलशिरा मुनिका रमणीय आश्रम शोभा पा रहा है। कुन्तीनन्दन! यहाँ अहंकार और क्रोधको त्याग दो॥८॥

एष रैभ्याश्रमः श्रीमान् पाण्डवेय प्रकाशते।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत॥ ९॥

पाण्डुनन्दन! यह रैभ्यका सुन्दर आश्रम प्रकाशित हो रहा है, जहाँ विद्वान् भरद्वाजपुत्र यवक्रीत नष्ट हो गये थे॥९॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान्।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः॥ १०॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! प्रतापी भरद्वाज मुनि कैसे योगयुक्त हुए थे और उनके पुत्र यवक्रीत किसलिये नष्ट हो गये थे?॥ १०॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे॥ ११॥

ये सब बातें मैं यथार्थरूपसे ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। उन देवोपम मुनियोंके चरित्रोंका वर्णन सुनकर मेरे मनको बड़ा सुख मिलता है॥ ११॥

लोमश उवाच

भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ सम्बभूवतुः।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमाणावनन्तरम्॥ १२॥

लोमशजीने कहा—राजन्! भरद्वाज तथा रैभ्य दोनों एक दूसरेके सखा थे और निरन्तर इसी आश्रममें बड़े प्रेमसे रहा करते थे॥ १२॥

रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू।
आसीद् यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत॥ १३॥

रैभ्यके दो पुत्र थे—अर्वावसु और परावसु। भारत! भरद्वाजके पुत्रका नाम 'यवक्री' अथवा 'यवक्रीत' था॥१३॥

रैभ्यो विद्वान् सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत्।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात् प्रभृति भारत॥ १४॥

भारत! पुत्रोंसहित रैभ्य बड़े विद्वान् थे।

---

[1] इस अन्नको ब्रह्मौदन कहते हैं, जैसा कि श्रुतिका कथन है—'साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्' इति।

परंतु भरद्वाज केवल तपस्यामें संलग्न रहते थे । युधिष्ठिर ! बाल्यावस्थासे ही इन दोनों महात्माओंकी अनुपम कीर्ति सब ओर फैल रही थी ॥ १४ ॥

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहानघ ॥ १५ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यवक्रीतने देखा, मेरे तपस्वी पिताका लोग सत्कार नहीं करते हैं; परंतु पुत्रोंसहित रैभ्यका ब्राह्मणोंद्वारा बड़ा आदर होता है ॥ १५ ॥

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ॥ १६ ॥

यह देख तेजस्वी यवक्रीतको बड़ा संताप हुआ । पाण्डुनन्दन ! वे क्रोधसे आविष्ट हो वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोर तपस्यामें लग गये ॥ १६ ॥

स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास संतापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥

उन महातपस्वीने अत्यन्त प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको तपाते हुए इन्द्रके मनमें संताप उत्पन्न कर दिया ॥

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! तब इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले—'तुम किसलिये यह उच्चकोटिकी तपस्या कर रहे हो ?' ॥ १८ ॥

यवक्रीत उवाच

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥

यवक्रीतने कहा—देववृन्दपूजित महेन्द्र ! मैं यह उच्चकोटिकी तपस्या इसलिये करता हूँ कि द्विजातियोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ॥ १९ ॥

स्वाध्यायार्थं समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥

पाकशासन ! मेरा यह आयोजन स्वाध्यायके लिये ही है । कौशिक ! मैं तपस्याद्वारा सब बातोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ २० ॥

कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद् विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥

प्रभो ! गुरुके मुखसे दीर्घकालके पश्चात् वेदोंका ज्ञान हो सकता है । अतः मेरा यह महान् प्रयत्न शीघ्र ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२ ॥

इन्द्र बोले—विप्रर्षे ! तुम जिस राहसे जाना चाहते हो, वह अध्ययनका मार्ग नहीं है । स्वाध्यायके समुचित मार्गको नष्ट करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? अतः जाओ गुरुके मुखसे ही अध्ययन करो ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद् यत्नं तपस्यमितविक्रमः ॥ २३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये; तब अत्यन्त पराक्रमी यवक्रीतने भी पुनः तपस्याके लिये ही घोर प्रयास आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत् तपः ।
संतापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥

राजन् ! उसने घोर तपस्याद्वारा महान् तपका संचय करते हुए देवराज इन्द्रको अत्यन्त संतप्त कर दिया; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद् देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥

महामुनि यवक्रीतको इस प्रकार तपस्या करते देख इन्द्रने उनके पास जाकर पुनः मना किया और कहा—'मुने ! तुमने ऐसे कार्यका आरम्भ किया है, जिसकी सिद्धि होनी असम्भव है । तुम्हारा यह (द्विजमात्रके लिये बिना पढ़े वेदका ज्ञान होनेका) आयोजन बुद्धि संगत नहीं है; किंतु केवल तुमको और तुम्हारे पिताको ही वेदोंका ज्ञान होगा ॥२५-२६॥

यवक्रीत उवाच

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥

यवक्रीतने कहा—देवराज ! यदि इस प्रकार आप मेरे इष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं करते हैं, तो मैं और भी कठोर नियम लेकर अत्यन्त भयंकर तपस्यामें लग जाऊँगा ॥ २७ ॥

समिद्धेऽग्नावुपकृत्याङ्गमङ्गं
होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं
ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८ ॥

देवराज इन्द्र ! यदि आप यहाँ मेरी सारी मनोवाञ्छित कामना पूरी नहीं करते हैं, तो मैं प्रज्वलित अग्निमें अपने एक-एक अङ्गको होम दूँगा । इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २८ ॥

लोमश उवाच

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥

तत इन्द्रोऽकरोद् रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः॥ ३०॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उन महामुनिके उस निश्चयको जानकर बुद्धिमान् इन्द्रने उन्हें रोकनेके लिये बुद्धिपूर्वक कुछ विचार किया और एक ऐसे तपस्वी ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया, जिसकी उम्र कई सौ वर्षोंकी थी तथा जो यक्ष्माका रोगी और दुबल दिखायी देता था॥ २९-३०॥

यवक्रीतस्य यत् तीर्थमुचितं शौचकर्मणि।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः॥ ३१॥

गङ्गाके जिस तीर्थमें यवक्रीत मुनि स्नान आदि किया करते थे, उसीमें वे ब्राह्मण देवता बालूद्वारा पुल बनाने लगे॥ ३१॥

यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन्॥ ३२॥

द्विजश्रेष्ठ यवक्रीतने जब इन्द्रका कहना नहीं माना, तब वे बालूसे गङ्गाजीको भरने लगे॥ ३२॥

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत्।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन्॥ ३३॥

वे निरन्तर एक-एक मुट्ठी बालू गङ्गाजीमें छोड़ते थे और इस प्रकार उन्होंने यवक्रीतको दिखाकर पुल बाँधनेका कार्य आरम्भ कर दिया॥ ३३॥

तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने।
प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः॥ ३४॥

मुनिवर यवक्रीतने देखा, ब्राह्मण देवता पुल बाँधनेके लिये बड़े यत्नशील हैं, तब उन्होंने हँसते हुए इस प्रकार कहा—॥ ३४॥

किमिदं वर्तते ब्रह्मन् किं च ते ह चिकीर्षितम्।
अतीव हि महान् यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः॥ ३५॥

'ब्रह्मन्! यह क्या है? आप क्या करना चाहते हैं? आप प्रयत्न तो महान् कर रहे हैं, परंतु यह व्यर्थ है'॥ ३५॥

इन्द्र उवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति।
क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः॥ ३६॥

इन्द्र बोले—तात! मैं गङ्गाजीपर पुल बाँधूँगा। इससे पार जानेके लिये सुखद मार्ग बन जायगा; क्योंकि पुलके न होनेसे इधर आने-जानेवाले लोगोंको बार-बार तैरनेका कष्ट उठाना पड़ता है॥ ३६॥

यवक्रीत उवाच

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन।
अशक्याद् विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ॥ ३७॥

यवक्रीतने कहा—तपोधन! यहाँ अगाध जलराशि भरी है; अतः तुम पुल बाँधनेमें सफल नहीं हो सकोगे। इसलिये इस असम्भव कार्यसे मुँह मोड़ लो और ऐसे कार्यमें हाथ डालो, जो तुमसे हो सके॥ ३७॥

इन्द्र उवाच

यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम्।
अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः॥ ३८॥

इन्द्र बोले—मुने! जैसे आपने बिना पढ़े वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यह तपस्या प्रारम्भ की है, जिसकी सफलता असम्भव है, उसी प्रकार मैंने भी यह पुल बाँधनेका भार उठाया है॥ ३८॥

यवक्रीत उवाच

यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर।
तथा यदि ममापीदं मन्यसे पाकशासन॥ ३९॥
क्रियतां यद् भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर।
वरांश्च मे प्रयच्छान्यान् यैरन्यान् भवितास्म्यति॥ ४०॥

यवक्रीतने कहा—देवेश्वर पाकशासन! जैसे आपका वह पुल बाँधनेका आयोजन व्यर्थ है, उसी प्रकार यदि मेरी इस तपस्याको भी आप निरर्थक मानते हैं तो वही कार्य कीजिये जो सम्भव हो; मुझे ऐसे उत्तम वर प्रदान कीजिये, जिनके द्वारा मैं दूसरोंसे बढ़-चढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूँ॥

लोमश उवाच

तस्मै प्रादाद् वरानिन्द्र उक्तवान् यान् महातपाः।
प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः॥ ४१॥
यच्चान्यत् काङ्क्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति।
स लब्धकामः पितरं समेत्याथेदमब्रवीत्॥ ४२॥

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तब इन्द्रने महातपस्वी यवक्रीतके कथनानुसार उन्हें वर देते हुए कहा—'यवक्रीत! तुम्हारे पितासहित तुम्हें वेदोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जायगा। साथ ही और भी जो तुम्हारी कामना हो, वह पूर्ण हो जायगी। अब तुम तपस्या छोड़कर अपने आश्रमको लौट जाओ।'

इस प्रकार पूर्णकाम होकर, यवक्रीत अपने पिताके पास गये और इस प्रकार बोले॥ ४१-४२॥

यवक्रीत उवाच

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः।
अति चान्यान् भविष्यावो वरा लब्धास्तदा मया॥ ४३॥

यवक्रीतने कहा—पिताजी! आपको और मुझे दोनोंको ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान हो जायगा। साथ ही हम दोनों दूसरोंसे ऊँची स्थितिमें हो जायँगे—ऐसा वर मैंने प्राप्त किया है॥ ४३॥

भरद्वाज उवाच

दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान्।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यसि ॥ ४४ ॥

भरद्वाज बोले—तात ! इस तरह मनोवाञ्छित वर प्राप्त करनेके कारण तुम्हारे मनमें अहंकार उत्पन्न हो जायगा और अहंकारसे युक्त होनेपर तुम कृपण होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ ४४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः।
मुनिरासीत् पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

इस विषयमें विज्ञजन देवताओंकी कही हुई यह गाथा सुनाया करते हैं—प्राचीनकालमें बालधि नामसे प्रसिद्ध एक शक्तिशाली मुनि थे ॥ ४५ ॥

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम्।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ॥ ४६ ॥

उन्होंने पुत्र-शोकसे संतप्त होकर अत्यन्त कठोर तपस्या की। तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे देवोपम पुत्र प्राप्त हो। अपनी उस अभिलाषाके अनुसार बालधिको एक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४६ ॥

तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ४७ ॥

देवताओंने उनपर कृपा अवश्य की, परंतु उनके पुत्रको देवतुल्य नहीं बनाया और वरदान देते हुए यह कहा 'कि मरण-धर्मा मनुष्य कभी देवताके समान अमर नहीं हो सकता। अतः उसकी आयु निमित्त (कारण) के अधीन होगी' ॥

बालधिरुवाच

यथेमे पर्वताः शश्वत् तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्यायुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

बालधि बोले—देववरो ! जैसे ये पर्वत सदा अक्षय भावसे खड़े रहते हैं, वैसे ही मेरा पुत्र भी सदा अक्षय बना रहे। ये पर्वत ही उसकी आयुके निमित्त होंगे। अर्थात् जब-तक ये पर्वत यहाँ बने रहें तबतक मेरा पुत्र भी जीवित रहे ॥ ४८ ॥

भरद्वाज उवाच

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा।
स तच्छ्रुत्वाकरोद् दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ॥ ४९ ॥

भरद्वाज कहते हैं—यवक्रीत ! तदनन्तर बालधिके पुत्रका जन्म हुआ, जो मेधायुक्त होनेके कारण मेधावी नामसे विख्यात था। वह स्वभावका बड़ा क्रोधी था। अपनी आयुके विषयमें देवताओंके वरदानकी बात सुनकर मेधावी घमण्डमें भर गया और ऋषियोंका अपमान करने लगा ॥ ४९ ॥

विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत् स महीमिमाम्।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, वह ऋषि-मुनियोंको सतानेके उद्देश्यसे ही इस पृथ्वीपर सब ओर विचरा करता था। एक दिन मेधावी महान् शक्तिशाली एवं मनीषी धनुषाक्षके पास जा पहुँचा ॥ ५० ॥

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान्।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ५१ ॥

और उनका तिरस्कार करने लगा। तब तपोबलसम्पन्न ऋषि धनुषाक्षने उसे शाप देते हुए कहा—'अरे, तू जलकर भस्म हो जा।' परंतु उनके कहनेपर भी वह भस्म नहीं हुआ ॥

धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम्।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ ५२ ॥

शक्तिशाली धनुषाक्षने ध्यानमें देखा कि मेधावी रोग एवं मृत्युसे रहित है। तब उसकी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंको उन्होंने भैंसोंद्वारा विदीर्ण करा दिया ॥ ५२ ॥

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ५३ ॥

निमित्तका नाश होते ही उस मुनिकुमारकी सहसा मृत्यु हो गयी। तदनन्तर पिता उस मरे हुए पुत्रको लेकर अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ५३ ॥

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्तवत्।
ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ॥ ५४ ॥

अधिक पीड़ित मनुष्योंकी भाँति उन्हें विलाप करते देख वहाँके समस्त वेदवेत्ता मुनिगण एकत्र हो जिस गाथाको गाने लगे, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ ५५ ॥

'मरणधर्मा मनुष्य किसी तरह दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, तभी तो धनुषाक्षने उस बालककी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंका भैंसोंद्वारा भेदन करा दिया' ॥ ५५ ॥

एवं लब्ध्वा वरान् बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात् तथा भवान् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार बालक तपस्वी वर पाकर घमण्डमें भर जाते हैं और (अपने दुर्व्यवहारोंके कारण) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारी भी यही अवस्था न हो (इसलिये सावधान किये देता हूँ) ॥ ५६ ॥

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चास्य तथाविधौ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥ ५७ ॥

ये रैभ्य मुनि महान् शक्तिशाली हैं। इनके दोनों पुत्र

भी इन्हींके समान हैं । बेटा ! तुम उन रैभ्यमुनिके पास कदापि न जाना और आलस्य छोड़कर इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना ॥ ५७ ॥

स हि क्रुद्धः समर्थस्त्वां पुत्र पीडयितुं रुषा ।
रैभ्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ ५८ ॥

बेटा ! तुम्हें सावधान करनेका कारण यह है कि शक्तिशाली तपस्वी महर्षि रैभ्य बड़े क्रोधी हैं । वे कुपित होकर रोषसे तुम्हें पीड़ा दे सकते हैं ॥ ५८ ॥

यवक्रीत उवाच

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथंचन ।
यथा हि मे भवान् मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥ ५९ ॥

यवक्रीत बोले—पिताजी ! मैं ऐसा ही करूँगा, आप किसी तरह मनमें संताप न करें । जैसे आप मेरे माननीय हैं, वैसे रैभ्यमुनि मेरे लिये पिताके समान हैं ॥ ५९ ॥

लोमश उवाच

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत् परया मुदा ॥ ६० ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पितासे यह मीठी बातें कहकर यवक्रीत निर्भय विचरने लगे । दूसरे ऋषियोंको सतानेमें उन्हें अधिक सुख मिलता था । वैसा करके वे बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यवक्रीतका रैभ्यमुनिकी पुत्रवधूके साथ व्यभिचार और रैभ्यमुनिके क्रोधसे उत्पन्न राक्षसके द्वारा उसकी मृत्यु

लोमश उवाच

चङ्क्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन दिनों यवक्रीत सर्वथा भयशून्य होकर चारों ओर चक्कर लगाता था । एक दिन वैशाखमासमें वह रैभ्यमुनिके आश्रममें गया ॥ १ ॥

स ददर्शाश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह आश्रम खिले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित हो अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता था । उस आश्रममें रैभ्य मुनिकी पुत्रवधू किन्नरीके समान विचर रही थी । यवक्रीतने उसे देखा ॥ २ ॥

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥

देखते ही वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी विचारशक्ति खो बैठा और लजाती हुई उस मुनिवधूसे निर्लज्ज होकर बोला—'सुन्दरी ! तू मेरी सेवामें उपस्थित हो' ॥ ३ ॥

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वाऽऽजगाम ह ॥ ४ ॥

वह यवक्रीतके शील-स्वभावको जानकर भी उसके शापसे डरती थी । साथ ही उसे रैभ्य मुनिकी तेजस्विताका भी स्मरण था । अतः 'बहुत अच्छा' कहकर उसके पास चली आयी ॥ ४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुविनाशन भारत ! तब यवक्रीतने उसे एकान्तमें ले जाकर पापके समुद्रमें डुबो दिया । (उसके साथ रमण किया) । इतनेहीमें रैभ्य मुनि अपने आश्रममें आ गये ॥ ५ ॥

रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ॥ ७ ॥

आकर उन्होंने देखा कि मेरी पुत्रवधू एवं परावसुकी पत्नी आर्तभावसे रो रही है । युधिष्ठिर ! यह देखकर रैभ्यने मधुर वाणीद्वारा उसे सान्त्वना दी तथा रोनेका कारण पूछा । उस शुभलक्षणा बहूने यवक्रीतकी कही हुई सारी बातें श्वशुरके सामने कह सुनायीं एवं स्वयं उसने भलीभाँति सोच-विचारकर यवक्रीतकी बातें माननेसे जो अस्वीकार कर दिया था, वह सारा वृत्तान्त भी बता दिया ॥ ६-७ ॥

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रीतविचेष्टितम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥

यवक्रीतकी यह कुचेष्टा सुनते ही रैभ्यके हृदयमें क्रोधकी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जो उनके अन्तःकरणको मानो भस्म किये दे रही थी ॥ ८ ॥

स तदा मन्युनाऽऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम्।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ॥ ९ ॥

तपस्वी रैभ्य स्वभावसे ही बड़े क्रोधी थे, तिसपर भी उस समय उनके ऊपर क्रोधका आवेश छा रहा था। अतः उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़कर संस्कारपूर्वक स्थापित की हुई अग्निमें होम दी ॥ ९ ॥

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण सम्मिता।
अवलुच्यापरां चापि जुहावाग्नौ जटां पुनः ॥ १० ॥

उससे एक नारीके रूपमें कृत्या प्रकट हुई, जो रूपमें उनकी पुत्रवधूके ही समान थी। तत्पश्चात् एक दूसरी जटा उखाड़कर उन्होंने पुनः उसी अग्निमें डाल दी ॥ १० ॥

ततः समभवद् रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम्।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवावहै ॥ ११ ॥

उससे एक राक्षस प्रकट हुआ, जिसकी आँखें बड़ी डरावनी थीं। वह देखनेमें बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उस समय उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे पूछा—'हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें?' ॥ ११ ॥

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए महर्षिने कहा—'यवक्रीतको मार डालो।' उस समय 'बहुत अच्छा' कहकर वे दोनों यवक्रीतके वधकी इच्छासे उसका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वेव भारत ॥ १३ ॥

भारत! महामना रैभ्यकी रची हुई कृत्यारूप सुन्दरी नारीने पहले यवक्रीतके पास उपस्थित हो उसे मोहमें डालकर उसका कमण्डलु हर लिया ॥ १३ ॥

उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम्।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥

कमण्डलु खो जानेसे यवक्रीतका शरीर उच्छिष्ट (जूठा या अपवित्र) रहने लगा। उस दशामें वह राक्षस हाथमें त्रिशूल उठाये यवक्रीतकी ओर दौड़ा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद् येन वै सरः ॥ १५ ॥

राक्षस शूल हाथमें लिये मुझे मार डालनेकी इच्छासे मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, यह देखकर यवक्रीत सहसा उठे और उस मार्गसे भागे, जो एक सरोवरकी ओर जाता था ॥

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन् विशोषिताः ॥ १६ ॥

इसके जाते ही सरोवरका पानी सूख गया। सरोवरको जलहीन हुआ देख यवक्रीत फिर तुरंत ही समस्त सरिताओंके पास गया; परंतु इसके जानेपर वे सब भी सूख गयीं ॥ १६ ॥

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

तब हाथमें शूल लिये उस भयानक राक्षसके खदेड़नेपर यवक्रीत अत्यन्त भयभीत हो सहसा अपने पिताके अग्निहोत्र-गृहमें घुसने लगा ॥ १७ ॥

स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवतिष्ठत पार्थिव ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय अग्निहोत्रगृहके अंदर एक शूद्र-जातीय रक्षक नियुक्त था, जिसकी दोनों आँखें अंधी थीं। उसने दरवाजेके भीतर घुसते ही यवक्रीतको बलपूर्वक पकड़ लिया और यवक्रीत वहीं खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥

शूद्रके द्वारा पकड़े गये यवक्रीतपर उस राक्षसने शूलसे प्रहार किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह प्राण-शून्य होकर वहीं गिर पड़ा ॥ १९ ॥

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत्।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहावसत् ॥ २० ॥

इस प्रकार यवक्रीतको मारकर राक्षस रैभ्यके पास लौट आया और उनकी आज्ञा ले उस कृत्यास्वरूपा रमणीके साथ उनकी सेवामें रहने लगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाजका पुत्रशोकसे विलाप करना, रैभ्यमुनिको शाप देना एवं अग्निमें प्रवेश करना

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम्।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः।
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ॥ २ ॥

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! भरद्वाज मुनि

प्रतिदिनका स्वाध्याय पूरा करके बहुत-सी समिधाएँ लिये आश्रममें आये। उस दिनसे पहले सभी अग्नियाँ उनको देखते ही उठकर स्वागत करती थीं; परंतु उस समय उनका पुत्र मारा गया था, इसलिये अशौचयुक्त होनेके कारण उनका अग्नियोंने पूर्ववत् खड़े होकर स्वागत नहीं किया॥ १-२॥

वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत्॥ ३॥

अग्निहोत्रगृहमें यह विकृति देखकर उन महातपस्वी भरद्वाजने वहाँ बैठे हुए अन्धे गृहरक्षक शूद्रसे पूछा—॥३॥

किं नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम्।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित् क्षेममिहाश्रमे॥ ४॥
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुद्ध्यति मे मनः॥ ५॥

'दास! क्या कारण है कि आज अग्नियाँ पूर्ववत् मेरा दर्शन करके प्रसन्नता नहीं प्रकट करती हैं। इधर तुम भी पहले-जैसे समादरका भाव नहीं दिखाते हो। इस आश्रममें कुशल तो है न? कहीं मेरा मन्दबुद्धि पुत्र रैभ्यके पास तो नहीं चला गया? यह बात मुझे शीघ्र बताओ; क्योंकि मेरा मन शान्त नहीं हो रहा है'॥ ४-५॥

शूद्र उवाच

रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा॥ ६॥

शूद्र बोला—भगवन्! अवश्य ही आपका यह मन्दमति पुत्र रैभ्यके यहाँ गया था। उसीका यह फल है कि एक महाबली राक्षसके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है॥ ६॥

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसा।
अग्न्यागारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः॥ ७॥

राक्षस अपने हाथमें शूल लेकर इसका पीछा कर रहा था और यह अग्निशालामें घुसा जा रहा था। उस समय मैंने दोनों हाथोंसे पकड़कर इसे द्वारपर ही रोक लिया॥ ७॥

ततः स विहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम्।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा॥ ८॥

निश्चय ही अपवित्र होनेके कारण यह शुद्धिके लिये जल लेनेकी इच्छा रखकर यहाँ आया था, परंतु मेरे रोक देनेसे यह हताश हो गया। उस दशामें उस शूलधारी राक्षसने इसके ऊपर बड़े वेगसे प्रहार करके इसे मार डाला॥ ८॥

भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत्।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः॥ ९॥

शूद्रका कहा हुआ यह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरद्वाज बड़े दुखी हो गये और अपने प्राणशून्य पुत्रको लेकर विलाप करने लगे॥ ९॥

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः।
द्विजानामनधीता वै वेदाः सम्प्रतिभान्त्विति॥ १०॥

भरद्वाजने कहा—बेटा! तुमने ब्राह्मणोंके हितके लिये भारी तपस्या की थी। तुम्हारी तपस्याका यह उद्देश्य था कि द्विजोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय॥ १०॥

तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान्॥ ११॥

इस प्रकार महात्मा ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कल्याणकारी था। किसी भी प्राणीके प्रति तुम कोई अपराध नहीं करते थे। फिर भी तुम्हारा स्वभाव कुछ कठोर हो गया था॥ ११॥

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात्।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम्॥ १२॥
यः स जानन् महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम्।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः॥ १३॥

तात! मैंने तुम्हें बार-बार मना किया था कि तुम रैभ्यके आश्रमकी ओर न देखना, परंतु तुम उसे देखने चले ही गये और वह तुम्हारे लिये काल, अन्तक एवं यमराजके समान हो गया। महान् तेजस्वी होनेपर भी उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। वह जानता था कि मुझ बूढ़ेके तुम एक ही पुत्र हो तो भी वह दुष्ट क्रोधके वशीभूत हो ही गया॥ १२-१३॥

पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान् भुवि॥ १४॥

बेटा! आज रैभ्यके इस कठोर कर्मसे मुझे पुत्रशोक प्राप्त हुआ है। तुम्हारे बिना मैं इस पृथ्वीपर अपने परम प्रिय प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा॥ १४॥

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम्॥ १५॥

जैसे मैं पापी अपने पुत्रके शोकसे व्याकुल हो अपने शरीरका त्याग कर रहा हूँ, उसी प्रकार रैभ्यका ज्येष्ठ पुत्र अपने निरपराध पिताकी शीघ्र हत्या कर डालेगा॥ १५॥

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते।
ते पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम्॥ १६॥

संसारमें वे मनुष्य सुखी हैं, जिन्हें पुत्र पैदा ही नहीं हुआ है; क्योंकि वे पुत्रशोकका अनुभव न करके सदा सुखपूर्वक विचरते हैं॥ १६॥

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद् भृशं व्याकुलचेतसः।
शपन्तीष्टान् सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः॥ १७॥

जो पुत्रशोकसे मन-ही-मन व्याकुल हो गहरी व्यथाका

अनुभव करते हुए अपने प्रिय मित्रोंको भी शाप दे डालते हैं, उनसे बढ़कर महापापी दूसरा कौन हो सकता है ? ॥१७॥

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

मैंने अपने पुत्रकी मृत्यु देखी और प्रिय मित्रको शाप दे दिया। मेरे सिवा संसारमें दूसरा कौन-सा मनुष्य है, जो ऐसी विपत्तिका अनुभव करेगा ॥ १८ ॥

लोमश उवाच

विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत् सुतम्।
सुसमिद्धं ततः पश्चात् प्रविवेश हुताशनम् ॥१९॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस तरह भाँति-भाँतिके विलाप करके भरद्वाजने अपने पुत्रका दाह-संस्कार किया तत्पश्चात् स्वयं भी वे जलती आगमें प्रवेश कर गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ सेंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्वावसुकी तपस्याके प्रभावसे परावसुका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना और रैभ्य, भरद्वाज तथा यवक्रीत आदिका पुनर्जीवित होना

लोमश उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्द्युम्नो महीपतिः।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्हीं दिनों महान् सौभाग्यशाली एवं प्रतापी नरेश बृहद्द्युम्नने एक यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया। वे रैभ्यके यजमान थे ॥ १ ॥

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थं बृहद्द्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥

बुद्धिमान् बृहद्द्युम्नने यज्ञकी पूर्तिके लिये रैभ्यके दोनों पुत्र अर्वावसु तथा परावसुको सहयोगी बनाया ॥ २ ॥

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः।
आश्रमे त्वभवद् रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥
अथावलोककोऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! पिताकी आज्ञा पाकर वे दोनों भाई राजाके यज्ञमें चले गये। आश्रममें केवल रैभ्य मुनि तथा उनके पुत्र परावसुकी पत्नी रह गयी। एक दिन घरकी देख-भाल करनेके लिये परावसु अकेले ही आश्रमपर आये। उस समय उन्होंने काले मृगचर्मसे ढके हुए अपने पिताको वनमें देखा ॥ ३-४ ॥

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

रातका पिछला पहर बीत रहा था और अभी अन्धकार शेष था। परावसु नींदसे अन्धे हो रहे थे, अतः उन्होंने गहन वनमें विचरते हुए अपने पिताको हिंसक पशु ही समझा ॥ ५ ॥

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥

और उसे हिंसक पशु समझकर धोखेसे ही उन्होंने अपने पिताकी हत्या कर डाली। यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, तथापि हिंसक पशुसे अपने शरीरकी रक्षाके लिये उनके द्वारा यह क्रूरतापूर्ण कार्य बन गया ॥ ६ ॥

तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत।
पुनरागम्य तत् सत्रमब्रवीद् भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन।
मया तु हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम्।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥

भारत ! उसने पिताके समस्त प्रेत-कर्म करके पुनः यज्ञमण्डपमें आकर अपने भाई अर्वावसुसे कहा—'भैया ! वह यज्ञकर्म तुम अकेले किसी प्रकार निभा नहीं सकते। इधर मैंने हिंसक पशु समझकर धोखेसे पिताजीकी हत्या कर डाली है; इसलिये तात ! तुम तो मेरे लिये ब्रह्महत्यानिवारणके हेतु व्रत करो और मैं राजाका यज्ञ कराऊँगा। मुने ! मैं अकेला भी इस कार्यका सम्पादन करनेमें समर्थ हूँ' ॥७–९॥

अर्वावसुरुवाच

करोतु वै भवान् सत्रं बृहद्द्युम्नस्य धीमतः।
ब्रह्मवध्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

अर्वावसु बोले—भाई ! आप परम बुद्धिमान् राजा

बृहद्द्युम्नका यज्ञकार्य सम्पन्न करें और मैं आपके लिये इन्द्रियसंयमपूर्वक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करूँगा ॥ १० ॥

लोमश उवाच

स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्द्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ॥ १२ ॥
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत् त्वामसंशयम् ॥ १३ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अर्वावसु मुनि भाईके लिये ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त पूरा करके पुनः उस यज्ञमें आये । परावसुने अपने भाईको वहाँ उपस्थित देखकर राजा बृहद्द्युम्नसे हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'राजन् ! यह ब्रह्महत्यारा है । अतः इसे आपका यज्ञ देखनेके लिये इस मण्डपमें प्रवेश नहीं करना चाहिये । ब्रह्मघाती मनुष्य अपनी दृष्टिमात्रसे भी आपको महान् कष्टमें डाल सकता है, इसमें संशय नहीं है' ॥ ११–१३ ॥

लोमश उवाच

तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पते ।
प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ॥ १४ ॥
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।
उच्यमानोऽसकृत् प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ॥ १५ ॥

लोमशजी कहते हैं—प्रजानाथ ! परावसुकी यह बात सुनते ही राजाने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी कि 'अर्वावसुको भीतर न आने दो ।' राजन् ! उस समय सेवकोंद्वारा हटाये जानेपर अर्वावसुने बार-बार यह कहा कि 'मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है ।' भारत ! तो भी राजाके सेवक उन्हें ब्रह्महत्यारा कहकर ही सम्बोधित करते थे ॥ १४-१५ ॥

नैव स प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ॥ १६ ॥

अर्वावसु किसी तरह उस ब्रह्महत्याको अपनी की हुई स्वीकार नहीं करते थे । उन्होंने बार-बार यही बतानेकी चेष्टा की कि 'मेरे भाईने ब्रह्महत्या की है । मैंने तो प्रायश्चित्त करके उन्हें पापसे छुड़ाया है' ॥ १६ ॥

स तथा प्रवदन् क्रोधात् तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।
तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी राजाके सेवकोंने उन्हें क्रोधपूर्वक फटकार दिया । तब वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि चुपचाप वनको ही चले गये ॥ १७ ॥

उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाश्रितः ।
रहस्यवेदं कृतवान् सूर्यस्य द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥
मूर्तिमांस्तं ददर्शाथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।

वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् सूर्यकी शरण ली और बड़ी उग्र तपस्या करके उन ब्राह्मणशिरोमणिने सूर्यसम्बन्धी रहस्यमय वैदिक मन्त्रका अनुष्ठान किया । तदनन्तर अग्रभोजी एवं अविनाशी साक्षात् भगवान् सूर्यने साकाररूपमें प्रकट हो अर्वावसुको दर्शन दिया ॥ १८½ ॥

लोमश उवाच

प्रीतास्तस्याभवन् देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ॥ १९ ॥
तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।
ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ॥ २० ॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! अर्वावसुके उस कार्यसे सूर्य आदि सब देवता उसपर प्रसन्न हो गये । उन्होंने अर्वावसुका यज्ञमें वरण कराया एवं परावसुको निकलवा दिया । तत्पश्चात् अग्नि-सूर्य आदि देवताओंने उन्हें वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ १९-२० ॥

स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।
अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ॥ २१ ॥

तब अर्वावसुने यह वर माँगा कि 'मेरे पिताजी जीवित हो जायँ । मेरे भाई निर्दोष हों और उन्हें पिताके वधकी बात भूल जाय' ॥ २१ ॥

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान् ददुः ॥ २२ ॥

साथ ही उन्होंने यह भी माँगा कि 'भरद्वाज तथा यवक्रीत दोनों जी उठें और इस सूर्यदेवतासम्बन्धी रहस्यमय वेदमन्त्रकी प्रतिष्ठा हो ।' द्विजश्रेष्ठ अर्वावसुके इस प्रकार वर माँगनेपर देवता बोले—'ऐसा ही हो ।' इस प्रकार उन्होंने पूर्वोक्त सभी वर दे दिये ॥ २२ ॥

ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाब्रवीद् यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ २३ ॥
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ॥ २४ ॥
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।

युधिष्ठिर ! इसके बाद पूर्वोक्त सभी मुनि जीवित हो गये । उस समय यवक्रीतने अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओंसे पूछा—'देवेश्वरो ! मैंने वेदका अध्ययन किया है, वेदोक्त व्रतोंका अनुष्ठान भी किया है । मैं स्वाध्यायशील और तपस्वी भी हूँ, तो भी रैभ्यमुनि इस प्रकार अनुचित रीतिसे मेरा वध करनेमें कैसे समर्थ हो सके' ॥ २३-२४½ ॥

देवा ऊचुः

मैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २५ ॥

अनेन तु गुरून् दुःखात् तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा।
कालेन महता क्लेशाद् ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ॥२६॥

देवताओंने कहा—मुनि यवक्रीत ! तुम जैसी बात कहते हो, वैसा न समझो। तुमने पूर्वकालमें बिना गुरुके ही सुखपूर्वक सब वेद पढ़े हैं और इन रैभ्यमुनिने बड़े क्लेश उठाकर अपने व्यवहारसे गुरुजनोंको संतुष्ट करके दीर्घकाल-तक कष्टसहनपूर्वक उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है। २५-२६।

लोमश उवाच

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः साग्निपुरोगमाः।
संजीवयित्वा तान् सर्वान् पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥२७॥

लोमशजी कहते हैं—राजन् ! अग्नि आदि देवताओंने यवक्रीतसे ऐसा कहकर उन सबको नूतन जीवन प्रदान करके पुनः स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ॥ २७ ॥

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ॥ २८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह उन्हीं रैभ्यमुनिका पवित्र आश्रम है। यहाँके वृक्ष सदा फूल और फलोंसे लदे रहते हैं। यहाँ एक रात निवास करके तुम सब पापोंसे छूट जाओगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १३८

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी उत्तराखण्ड-यात्रा और लोमशजीद्वारा उसकी दुर्गमताका कथन

लोमश उवाच

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! अब तुम उशीरबीज, मैनाक, श्वेत और कालशैल नामक पहाड़ोंको लाँघकर आगे बढ़ आये ॥ १ ॥

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह देखो गङ्गाजी सात धाराओंसे सुशोभित हो रही हैं। यह रजोगुणरहित पुण्यतीर्थ है, जहाँ सदा अग्निदेव प्रज्वलित रहते हैं ॥ २ ॥

एतद् वै मानुषेणाद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम्।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥

यह अद्भुत तीर्थ कोई मनुष्य नहीं देख सकता, अतः तुम सब लोग एकाग्रचित्त हो जाओ। व्यग्रताशून्य हृदयसे तुम इन सब तीर्थोंका दर्शन कर सकोगे ॥ ३ ॥

एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम्।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम् ॥ ४ ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम्।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चैव यक्षराट् ॥ ५ ॥

यह देवताओंकी क्रीडास्थली है, जो उनके चरणचिह्नोंसे अंकित है। एकाग्रचित्त होनेपर तुम्हें इसका भी दर्शन होगा। कुन्तीकुमार ! अब तुम कालशैल पर्वतको लाँघकर आगे बढ़ आये। इसके बाद हम श्वेतगिरि (कैलास) तथा मन्दराचल पर्वतमें प्रवेश करेंगे, जहाँ माणिवर यक्ष और यक्षराज कुबेर निवास करते हैं ॥ ४-५ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ६ ॥
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ७ ॥

राजन् ! वहाँ तीव्रगतिसे चलनेवाले अट्ठासी हजार गन्धर्व और उनसे चौगुने किन्नर तथा यक्ष रहते हैं। उनके रूप एवं आकृति अनेक प्रकारकी हैं। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं और यक्षराज माणिभद्रकी उपासनामें संलग्न रहते हैं ॥ ६-७ ॥

तेषामृद्धिरतीवात्र गतौ वायुसमाश्च ते।
स्थानात् प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यहाँ उनकी समृद्धि अतिशय बढ़ी हुई है। तीव्रगतिमें वे वायुकी समानता करते हैं। वे चाहें तो देवराज इन्द्रको भी निश्चय ही अपने स्थानसे हटा सकते हैं ॥ ८ ॥

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ९ ॥

तात युधिष्ठिर ! उन बलवान् यक्ष और राक्षसोंसे सुरक्षित रहनेके कारण ये पर्वत बड़े दुर्गम हैं। अतः तुम विशेषरूपसे एकाग्रचित्त हो जाओ ॥ ९ ॥

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ॥ १० ॥

कुबेरके सचिवगण तथा अन्य रौद्र और मैत्रनामक राक्षसोंका हमें सामना करना पड़ेगा; अतः तुम पराक्रमके लिये तैयार रहो ॥ १० ॥

कैलासः पर्वतो राजन् षड्योजनसमुच्छ्रितः।
यत्र देवा समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ ११ ॥

राजन्! उधर छः योजन ऊँचा कैलासपर्वत दिखायी देता है, जहाँ देवता आया करते हैं। भारत! उसीके निकट विशालापुरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) है ॥ ११ ॥

असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन! कुबेरके भवनमें अनेक यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण तथा गन्धर्व निवास करते हैं ॥ १२ ॥

तान् विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च।
रक्ष्यमाणो मया राजन् भीमसेनबलेन च ॥ १३ ॥

महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भीमसेनके बल और मेरी तपस्यासे सुरक्षित हो तप एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए आज उन तीर्थोंमें स्नान करो ॥ १३ ॥

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १४ ॥

राजा वरुण, युद्धविजयी यमराज, गङ्गा-यमुना तथा यह पर्वत तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥ १४ ॥

मरुतश्च सहाश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ॥ १५ ॥

महाद्युते! मरुद्गण, अश्विनीकुमार, सरिताएँ और सरोवर भी तुम्हारा मङ्गल करें। देवताओं, असुरों तथा वसुओंसे भी तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति हो ॥ १५ ॥

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताद् वै
शृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे।
गोपायैनं त्वं सुभगे गिरिभ्यः
सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम् ॥ १६ ॥

देवि गङ्गे! मैं इन्द्रके सुवर्णमय मेरुपर्वतसे तुम्हारा कल-कलनाद सुन रहा हूँ। सौभाग्यशालिनि! ये राजा युधिष्ठिर अजमीढवंशी क्षत्रियोंके लिये आदरणीय हैं। तुम पर्वतोंसे इनकी रक्षा कराओ ॥ १६ ॥

दद्स्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य
शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य।
उक्त्वा तथा सागरगां स विप्रो
यत्तो भवस्वेति शशास पार्थम् ॥ १७ ॥

'शैलपुत्रि! ये इन पर्वतमालाओंमें प्रवेश करना चाहते हैं। तुम इन्हें कल्याण प्रदान करो।' समुद्रगामिनी गङ्गानदीसे ऐसा कहकर विप्रवर लोमशने कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यह आदेश दिया कि 'अब तुम एकाग्रचित्त हो जाओ' ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य
कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम्।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य
तस्मात् परं शौचमिहाचरध्वम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! आज महर्षि लोमशको बड़ी घबराहट हो रही है। यह एक अभूतपूर्व घटना है। अतः तुम सब लोग सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करो। प्रमाद न करना। लोमशजीका मत है कि यह प्रदेश अत्यन्त दुर्गम है। अतः यहाँ अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भीममुदारवीर्यं
कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन।
शून्येऽर्जुनेऽसंनिहिते च तात
त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर महाबली भीमसे इस प्रकार बोले—भैया भीमसेन! तुम सावधान रहकर द्रौपदीकी रक्षा करो। तात! किसी निर्जन प्रदेशमें जब कि अर्जुन हमारे समीप नहीं हैं, भयका अवसर उपस्थित होनेपर द्रौपदी तुम्हारा ही आश्रय लेती है' ॥ १९ ॥

ततो महात्मा स यमौ समेत्य
मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा
मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥ २० ॥

तत्पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवके पास जाकर उनका मस्तक सूँघा और शरीरपर हाथ फेरा। फिर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कहा—'भैया! तुम दोनों भय न करो और सावधान होकर आगे बढ़ो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें पाण्डवोंका कैलास आदि पर्वतमालाओंमें प्रवेशविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्साह तथा पाण्डवोंका कुलिन्दराज सुबाहुके राज्यमें होते हुए गन्धमादन और हिमालय पर्वतको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! यहाँ बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस छिपे रहते हैं; अतः अग्निहोत्र एवं तपस्याके प्रभावसे ही हमलोग यहाँसे आगे बढ़ सकते हैं॥१॥

संनिवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात्।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर॥ २॥

वृकोदर! तुम बलका आश्रय लेकर अपनी भूख-प्यास मिटा दो। फिर शारीरिक शक्ति और चतुरताका सहारा लो॥ २॥

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति॥ ३॥

भैया! कैलास पर्वतके विषयमें महर्षिने जो बात कही है, वह तुमने भी सुना ही है; अब स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखो, द्रौपदी इस दुर्गम प्रदेशमें कैसे चल सकेगी?॥ ३॥

अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः॥ ४॥
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वायतेक्षण॥ ५॥

अथवा विशालनेत्रोंवाले भीम! तुम सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइये, समस्त सेवकगण, रथ, घोड़े तथा मार्गके कष्टको सहन न कर सकनेवाले जो अन्य ब्राह्मण हैं, उन सबके साथ यहींसे लौट जाओ॥ ४-५॥

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः॥ ६॥
ममागमनमाकाङ्क्षन् गङ्गाद्वारे समाहितः।
वसेह द्रौपदीं रक्षन् यावदागमनं मम॥ ७॥

केवल मैं, नकुल तथा महातपस्वी लोमशजी—ये तीन व्यक्ति ही संयम और व्रतका पालन करते हुए यहाँसे आगेकी यात्रा करेंगे। हम तीनों ही स्वल्पाहारसे जीवन-निर्वाह करेंगे। तुम गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में एकाग्रचित्त हो मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करो और जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक द्रौपदीकी रक्षा करते हुए वहीं निवास करो॥ ६—७॥

भीम उवाच

राजपुत्री श्रमेणार्ता दुःखार्ता चैव भारत।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया॥ ८॥

भीमसेनने कहा—भारत! राजकुमारी द्रौपदी यद्यपि रास्तेकी थकावटसे और मानसिक दुःखसे भी पीड़ित है तो भी यह कल्याणमयी देवी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे उत्साहपूर्वक हमारे साथ चल ही रही है॥ ८॥

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम्॥ ९॥

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले निद्राविजयी महात्मा अर्जुनको न देखनेके कारण आपके मनमें भी अत्यन्त खिन्नता हो रही है॥ ९॥

किं पुनः सहदेवं च मां च कृष्णां च भारत।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः॥ १०॥
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान्।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित्॥ ११॥
शैलेऽस्मिन् राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता॥ १२॥
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद् विनिवर्तितुम्।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः॥ १३॥
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया॥ १४॥
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद् यास्यामहे सह।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः॥ १५॥
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन् विमना भव।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति॥ १६॥

फिर सहदेवके, मेरे तथा द्रौपदीके लिये तो कहना ही क्या है? भारत! ये ब्राह्मणलोग चाहें तो यहाँसे लौट सकते हैं। समस्त सेवक, सारथि, रसोइये तथा हममेंसे और जिस-जिसको आप लौटाना उचित समझें—वे सभी जा सकते हैं। राक्षसोंसे भरे हुए इस पर्वतपर तथा ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेशोंमें मैं आपको कदापि अकेला छोड़ना नहीं चाहता। नरश्रेष्ठ! यह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकुमारी कृष्णा भी आपको छोड़कर लौटनेको कभी तैयार न होंगी। इसी प्रकार यह सहदेव भी आपमें सदा अनुराग रखनेवाला है, आपको छोड़कर कभी नहीं लौटेगा। मैं इसके मनकी बात जानता हूँ। महाराज! सव्यसाची अर्जुनको देखनेकी इच्छासे हम सभी लालायित हो रहे हैं; अतः सब साथ ही चलेंगे। राजन्! अनेक कन्दराओंसे युक्त इस पर्वतपर यदि रथोंके द्वारा यात्रा सम्भव न हो तो हम पैदल ही चलेंगे। आप इसके लिये उदास न हों। जहाँ-जहाँ द्रौपदी

नहीं चल सकेगी, वहाँ-वहाँ मैं स्वयं इसे कंधेपर चढ़ाकर ले जाऊँगा ॥ १०—१६ ॥

इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन् विमना भव।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ।
दुर्गे संतारयिष्यामि यत्राशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥

राजन्! मेरा ऐसा ही विचार है, आप उदास न हों। वीर माद्रीकुमार नकुल और सहदेव दोनों सुकुमार हैं। जहाँ कहीं दुर्गम स्थानमें ये असमर्थ हो जायँगे, वहाँ मैं इन्हें पार लगाऊँगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्धताम्।
यत् त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम्॥ १८ ॥
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ॥ १९ ॥
यत् त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! इस प्रकार (उत्साहपूर्ण) बातें करते हुए तुम्हारा बल बढ़े, क्योंकि तुम यशस्विनी द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवको भी वहन करके ले चलनेका उत्साह रखते हो। तुम्हारा कल्याण हो। यह साहस तुम्हारे सिवा और किसीमें नहीं है। तुम्हारे बल, यश, धर्म और कीर्तिका विस्तार हो। महाबाहो! तुम द्रौपदीसहित दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी स्वयं ही ले चलनेकी शक्ति रखते हो, इसलिये कभी तुम्हें ग्लानि न हो तथा किसीसे भी तुम्हें तिरस्कृत न होना पड़े ॥ १८—२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णाब्रवीद् वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुन्दरी द्रौपदीने हँसते हुए कहा—'भारत! मैं आपके साथ ही चलूँगी; आप मेरे लिये चिन्ता न करें' ॥ २१ ॥

लोमश उवाच

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतो गन्धमादनः।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ॥ २२ ॥
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम्॥ २३ ॥

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन! गन्धमादन पर्वतपर तपस्याके बलसे ही जाया जा सकता है। हम सब लोगोंको तपःशक्तिका संचय करना होगा। महाराज! नकुल, सहदेव, भीमसेन, मैं और तुम सभी लोग तपोबलसे ही अर्जुनको देख सकेंगे ॥ २२—२३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत्।
ददृशुर्मुदिता राजन् प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २४ ॥
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम्।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम्।
सुबाहुश्चापि तान् दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ॥ २५ ॥
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम्।
ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बातचीत करते हुए वे सब लोग आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर उन्हें कुलिन्दराज सुबाहुका विशाल राज्य दिखायी दिया, जहाँ हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत थी और सैकड़ों किरात, तङ्गण एवं कुलिन्द आदि जंगली जातियोंके लोग निवास करते थे। वह देवताओंसे सेवित देश हिमालयके अत्यन्त समीप था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखायी देती थीं। सुबाहुका वह राज्य देखकर उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। कुलिन्दोंके राजा सुबाहुको जब यह पता लगा कि मेरे राज्यमें पाण्डव आये हैं, तब उसने राज्यकी सीमापर जाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया। उसके द्वारा प्रेमसे पूजित होकर वे सब लोग बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ २४—२६ ॥

प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान् पौरोगवांस्तथा ॥ २७ ॥
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ॥ २८ ॥
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः।
ते शनैः प्राद्रवन् सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः।
तस्माद् देशात् सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम्॥ २९ ॥

दूसरे दिन निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर उन सबने हिमालय पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। जनमेजय! इन्द्रसेन आदि सेवकों, रसोइयों और पाकशालाके अध्यक्षको तथा द्रौपदीके सारे सामानोंको कुलिन्दराज सुबाहुके यहाँ सौंपकर वे महापराक्रमी महारथी कुरुकुलनन्दन पाण्डव द्रौपदीके साथ धीरे-धीरे पैदल ही चल दिये। उनके मनमें अर्जुनको देखनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। अतः वे बड़े हर्ष और उल्लासके साथ उस देशसे प्रस्थित हुए ॥ २७—२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनसे अर्जुनको न देखनेके कारण मानसिक चिन्ता प्रकट करना एवं उनके गुणोंका स्मरण करते हुए गन्धमादन पर्वतपर जानेका दृढ़ निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान् वनेचरान्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो। यह निश्चय है कि पूर्वकृत कर्मोंका बिना भोगे कभी नाश नहीं होता। देखो, उन्हींके कारण आज हम राजकुमार होकर भी वन-वनमें भटक रहे हैं॥ १॥

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रुवामेतरेतरम्।
अशक्येऽपि व्रजामो यद् धनंजयदिदृक्षया॥ २॥

यद्यपि हमलोग दुर्बल हैं, क्लेशमें पड़े हुए हैं, तथापि जो एक-दूसरेसे उत्साहपूर्वक बातें करते हैं और जहाँ जाना सम्भव नहीं, उस मार्गपर भी आगे बढ़ते जा रहे हैं उसमें एक ही कारण है, हम सबके हृदयमें अर्जुनको देखनेके लिये प्रबल उत्कण्ठा है॥ २॥

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपान्तिकात्॥ ३॥

इतना प्रयास करनेपर भी मैं वीर धनंजयको जो अबतक अपने समीप नहीं देख पा रहा हूँ, इसकी चिन्ता मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको उसी प्रकार दग्ध कर रही है, जैसे आग रूईके ढेरको जलाती रहती है॥ ३॥

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम्।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत॥ ४॥

उसीके दर्शनकी प्यास लेकर मैं भाइयोंसहित इस वनमें आया हूँ। वीर भीमसेन! दुःशासनने जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये थे, वह घटना याद आकर मुझे और भी शोकसे दग्ध कर देती है॥ ४॥

नकुलात् पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ ५॥

वृकोदर! भयंकर धनुष धारण करनेवाले अजेय वीर अमित तेजस्वी अर्जुनको, जो नकुलसे पहले उत्पन्न हुआ है, मैं अबतक नहीं देख रहा हूँ, इसके कारण मुझे बड़ा संताप हो रहा है॥ ५॥

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया॥ ६॥

अर्जुनको देखनेकी ही अभिलाषासे मैं तुमलोगोंके साथ विभिन्न तीर्थोंमें, रमणीय वनोंमें और सुन्दर सरोवरोंके तटपर विचर रहा हूँ॥ ६॥

पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसंधं धनंजयम्।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ७॥

भीमसेन! आज पाँच वर्ष हो गये, मैं अपने वीर भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके दर्शनसे वञ्चित हो गया हूँ। इसके कारण मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है॥ ७॥

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर॥ ८॥

वृकोदर! सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले निद्राविजयी, श्यामवर्ण, महाबाहु अर्जुनको नहीं देख पा रहा हूँ, इसलिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है॥ ८॥

कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम्।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठ तेन तप्ये वृकोदर॥ ९॥

कुरुश्रेष्ठ भीमसेन! अस्त्रविद्यामें प्रवीण, युद्धकुशल और अनुपम धनुर्धर उस अर्जुनको नहीं देखता हूँ, इस कारण मुझे बड़ा कष्ट होता है॥ ९॥

चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम्।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनंजयम्॥ १०॥

जो युद्धके समय शत्रुओंके समूहमें कुपित यमराजकी भाँति विचरता है, जिसके कंधे सिंहके समान हैं तथा जो मदकी धारा बहानेवाले मत्त गजराजके समान शोभा पाता है, उस वीर धनंजयसे अबतक भेंट न हो सकी; इसका मुझे बड़ा दुःख है॥ १०॥

यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः॥ ११॥
दुःखेन महताविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर॥ १२॥

वृकोदर! जो पराक्रम और सम्पत्तिमें देवराज इन्द्रसे तनिक भी कम नहीं है, जिसके रथके घोड़े श्वेत रंगके हैं, जो नकुल-सहदेवसे अवस्थामें बड़ा है, जिसके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो उग्रधनुर्धर एवं अजेय है, उस वीरवर अर्जुनके दर्शनसे मैं वञ्चित हूँ; इसके लिये मुझे महान् कष्ट हो रहा है। मैं चिन्ताकी आगमें जला जा रहा हूँ॥ ११-१२॥

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च॥ १३॥
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाभिजिघांसतः।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत् कालविषोपमः॥ १४॥

जो छोटे लोगोंके आक्षेप करनेपर भी सदा क्षमाशील होनेके कारण उस आक्षेपको सह लेता है तथा सरल मार्गसे

अपनी शरणमें आनेवाले लोगोंको सुख पहुँचाकर उन्हें अभयदान देता है, वही अर्जुन, जब कोई कुटिल मार्गका आश्रय ले छल-कपटसे उसपर आघात करना चाहता है, तब वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिये काल और विषके समान भयंकर हो जाता है ॥ १३-१४ ॥

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान्।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥

यदि शत्रु भी शरणमें आ जाय तो वह प्रतापी वीर उसके प्रति दयालु हो जाता और उसे निर्भय कर देता है। वह महाबली महामना अर्जुन ही हमलोगोंका सहारा है। वही समराङ्गणमें हमारे शत्रुओंको रौंद डालनेकी शक्ति रखता है। उसीने हमारे लिये सब प्रकारके रत्न लाकर सुलभ किये थे और वही हम सबको सदा सुख पहुँचानेवाला है ॥ १५-१६ ॥

रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन् पुरा मम।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥

जिसके पराक्रमसे हमारे पास पहले अनेक प्रकारकी असंख्य रत्नराशि संचित हो गयी थी, जिसे सुयोधनने ले लिया ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलाद् वीर सभा चासीत् पुरा मम।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥ १८ ॥

वीर भीमसेन ! जिसके बाहुबलसे पहले मेरे अधिकारमें सम्पूर्ण रत्नोंकी बनी हुई त्रिभुवनविख्यात सभा थी ॥ १८ ॥

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्ण और युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है तथा जो समरभूमिमें एक होकर भी असंख्य-सा प्रतीत होता है, उस अजेय वीर अर्जुनको मैं बहुत दिनोंसे नहीं देख पाता हूँ ॥ १९ ॥

संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमापराजितम्।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥

भीमसेन ! शत्रुनाशक अर्जुन अपने पराक्रमसे महाबली बलरामकी; तुझ अपराजित वीरकी और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी समानता कर सकता है ॥ २० ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरंदरः।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जो बाहुबल और प्रभावमें देवराज इन्द्रके समान है, जिसके वेगमें वायु, मुखमें चन्द्रमा और क्रोधमें सनातन मृत्युका निवास है, उसी नरश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये उत्सुक होकर हम सब लोग आज गन्धमादन पर्वतकी घाटियोंमें प्रवेश करेंगे ॥ २१-२२ ॥

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥
कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम्।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत् तपः ॥ २४ ॥

गन्धमादन वही है, जहाँ विशाल बदरीका वृक्ष और भगवान् नर-नारायणका आश्रम है; उस उत्तम पर्वतपर सदा यक्षगण निवास करते हैं; हमलोग उसका दर्शन करेंगे। इसके सिवा, राक्षसोंद्वारा सेवित कुबेरकी सुरम्य पुष्करिणी भी है, जहाँ हमलोग भारी तपस्या करते हुए पैदल ही चलेंगे ॥ २३-२४ ॥

न च यानवता शक्यो गन्तुं देशो वृकोदर।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! वृकोदर! उस प्रदेशमें किसी सवारीसे नहीं जाया जा सकता तथा जो क्रूर, लोभी और अशान्त है, ऐसे मनुष्यके लिये श्रद्धाकी कमीके कारण उस स्थानपर जाना असम्भव है॥

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥

भीमसेन ! हम सब लोग अर्जुनकी खोज करते हुए तलवार बाँधकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो इन महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंके साथ वहाँ चलेंगे ॥ २६ ॥

मक्षिकादंशमशकान् सिंहान् व्याघ्रान् सरीसृपान्।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान् न पश्यति ॥ २७ ॥

भीमसेन ! जो अपने मन और इन्द्रियोंपर संयम नहीं रखता, ऐसे मनुष्यको वहाँ जानेपर मक्खी, डाँस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र और सर्पोंका सामना करना पड़ता है, परंतु जो संयम-नियमसे रहनेवाला है, उसे उन जन्तुओंका दर्शन तक नहीं होता ॥ २७ ॥

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम्।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥

अतः हमलोग भी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे अपने मनको संयममें रखकर स्वल्पाहार करते हुए गन्धमादनकी पर्वतमालाओंमें प्रवेश करेंगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा गङ्गाजीकी वन्दना, लोमशजीका नरकासुरके वध और भगवान् वाराहद्वारा वसुधाके उद्धारकी कथा कहना

लोमश उवाच

द्रष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः॥ १॥

लोमशजीने कहा—तीर्थदर्शी पाण्डुकुमारो ! तुमने सब पर्वतोंके दर्शन कर लिये। नगरों और वनोंसहित नदियोंका भी अवलोकन किया। शोभाशाली तीर्थोंके भी दर्शन किये और उन सबके जलका अपने हाथोंसे स्पर्श भी कर लिया॥ १॥

पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः॥ २॥
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम्॥ ३॥

पाण्डवो ! यह मार्ग दिव्य मन्दराचलकी ओर जायगा। अब तुम सब लोग उद्वेगशून्य और एकाग्रचित्त हो जाओ। यह देवताओंका निवासस्थान है, जिसपर तुम्हें चलना होगा। यहाँ पुण्यकर्म करनेवाले दिव्य ऋषियोंका भी निवास है॥ २-३॥

एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी।
बदरीप्रभवा राजन् देवर्षिगणसेविता॥ ४॥

सौम्य स्वभाववाले नरेश ! यह कल्याणमय जलसे भरी हुई पुण्यस्वरूपा महानदी अलकनन्दा (गङ्गा) प्रवाहित होती है, जो देवर्षियोंके समुदायसे सेवित है। इसका प्रादुर्भाव बदरिकाश्रमसे ही हुआ है॥ ४॥

एषा वैहायसैर्नित्यं बालखिल्यैर्महात्मभिः।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥ ५॥

आकाशचारी महात्मा बालखिल्य तथा महामना गन्धर्वगण भी नित्य इसके तटपर आते-जाते हैं और इसकी पूजा करते हैं॥ ५॥

अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाङ्गिरास्तथा॥ ६॥

सामगान करनेवाले विद्वान् वेदमन्त्रोंकी पुण्यमयी ध्वनि फैलाते हुए यहाँ सामवेदकी ऋचाओंका गान करते हैं। मरीचि, पुलह, भृगु तथा अङ्गिरा भी यहाँ जप एवं स्वाध्याय करते हैं॥ ६॥

अत्राह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः।
साध्याश्चैवाश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा॥ ७॥

देवश्रेष्ठ इन्द्र भी मरुद्गणोंके साथ यहाँ आकर प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करते हैं। उस समय साध्य तथा अश्विनीकुमार भी उनकी परिचर्यामें रहते हैं॥ ७॥

चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन्॥ ८॥

चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र भी दिन-रातके विभागपूर्वक इस पुण्य नदीकी यात्रा करते हैं॥ ८॥

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषाङ्कः पर्यधारयत्।
गङ्गाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत्॥ ९॥

महाभाग ! गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में साक्षात् भगवान् शंकरने इसके पावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया है, जिससे जगत्की रक्षा हो॥ ९॥

एतां भगवतीं देवीं भवन्तः सर्व एव हि।
प्रयतेनात्मना तात प्रतिगम्याभिवादत॥ १०॥

तात ! तुम सब लोग मनको संयममें रखते हुए इस ऐश्वर्यशालिनी दिव्य नदीके तटपर चलकर इसे सादर प्रणाम करो॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः।
आकाशगङ्गां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन्॥ ११॥

महात्मा लोमशका यह वचन सुनकर सब पाण्डवोंने संयतचित्तसे भगवती आकाशगङ्गा (अलकनन्दा) को प्रणाम किया॥ ११॥

अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह॥ १२॥

प्रणाम करके धर्मका आचरण करनेवाले वे समस्त पाण्डव पुनः सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंके साथ हर्षपूर्वक आगे बढ़े॥ १२॥

ततो दूरात् प्रकाशन्तं पाण्डुरं मेरुसंनिभम्।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम्॥ १३॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक श्वेत पर्वत-सा देखा, जो मेरुगिरिके समान दूरसे ही प्रकाशित हो रहा था। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरा जान पड़ता था॥ १३॥

तान् प्रष्टुकामान् विज्ञाय पाण्डवान् स तु लोमशः।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः॥ १४॥

लोमशजी ताड़ गये कि पाण्डवलोग उस श्वेत पर्वताकार

वस्तुके विषयमें कुछ पूछना चाहते हैं, तब प्रवचनकी कला जाननेवाले उन महर्षिने कहा—'पाण्डवो ! सुनो ॥ १४ ॥

एतद् विकीर्णं सुश्रीमत् कैलासशिखरोपमम्।
यत् पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ॥ १५ ॥
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यह जो सब ओर बिखरी हुई कैलास-शिखरके समान सुन्दर प्रकाशयुक्त पर्वताकार वस्तु देख रहे हो, ये सब विशालकाय नरकासुरकी हड्डियाँ हैं। पर्वत और शिलाखण्डोंपर स्थित होनेके कारण ये भी पर्वतके समान ही प्रतीत होती हैं ॥ १५-१६ ॥

पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना।
दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ॥ १७ ॥

'पुरातन परमात्मा श्रीविष्णुदेवने देवराज इन्द्रका हित करनेकी इच्छासे उस दैत्यका वध किया था ॥ १७ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन् महामनाः।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ॥ १८ ॥

'वह महामना दैत्य दस हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करके तप, स्वाध्याय और पराक्रमसे इन्द्रका स्थान लेना चाहता था ॥ १८ ॥

तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन् स दितेः सुतः ॥ १९ ॥

अपने महान् तपोबल तथा वेगयुक्त बाहुबलसे वह देवताओंके लिये सदा अजेय बना रहता था और स्वयं सब देवताओंको सताया करता था ॥ १९ ॥

स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितव्रतम्।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत् तदानघ ॥ २० ॥

'निष्पाप युधिष्ठिर ! नरकासुर बलवान् तो था ही, धर्मके लिये भी उसने कितने ही उत्तम व्रतोंका आचरण किया था, यह सब जानकर इन्द्रको बड़ा भय हुआ, वे घबरा उठे ॥ २० ॥

तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ॥ २१ ॥

'तब उन्होंने मन-ही-मन अविनाशी भगवान् विष्णुका चिन्तन किया, उनके स्मरण करते ही सर्वव्यापी भगवान् श्रीपति वहाँ उपस्थित हो प्रकाशित हुए ॥ २१ ॥

ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान् हव्यवाहनः ॥ २२ ॥
नष्टतेजाः समभवत् तस्य तेजोऽभिभर्त्सितः।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ॥ २३ ॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत्।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ॥ २४ ॥

'उस समय सभी देवताओं तथा ऋषियोंने उनकी स्तुति की। उन्हें देखते ही प्रज्वलित कान्तिसे सुशोभित भगवान् अग्निदेवका तेज नष्ट-सा हो गया। वे श्रीहरिके तेजसे तिरस्कृत हो गये। समस्त देवसमुदायके स्वामी एवं वरदायक भगवान् विष्णुका दर्शन करके वज्रधारी इन्द्रने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बार-बार मस्तक झुकाया। तदनन्तर वे सारी बातें भगवान्से कह सुनायीं, जिनके कारण उन्हें उस दैत्यसे भय हो रहा था' ॥ २२–२४ ॥

विष्णुरुवाच

जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात् ततः।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ॥ २५ ॥

तब भगवान् विष्णुने कहा—इन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम्हें दैत्यराज नरकासुरसे भय प्राप्त हुआ है। वह अपने तपः-सिद्ध कर्मोंद्वारा इन्द्रपदको लेना चाहता है ॥ २५ ॥

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम्।
वियुनज्मि देहाद् देवेन्द्र मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २६ ॥

देवेन्द्र ! यद्यपि तपस्याद्वारा उसे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है तो भी मैं तुम्हारे प्रेमवश निश्चय ही उस दैत्यको मार डालूँगा, तुम थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥

तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत्।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाहतः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् विष्णुने हाथसे मारकर उस दैत्यके प्राण हर लिये और वह वज्रके मारे हुए गिरिराजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै ।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ॥ २८ ॥

इस प्रकार मायाद्वारा मारे गये उस दैत्यकी हड्डियोंका यह समूह दिखायी देता है । अब मैं भगवान् विष्णुका यह दूसरा पराक्रम बता रहा हूँ, जो सर्वत्र प्रकाशमान है ॥ २८ ॥

नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता ।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृङ्गिणा ॥ २९ ॥

एक समय सारी पृथ्वी एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी, पातालमें डूब गयी । उस समय भगवान् विष्णुने पर्वतशिखरके सदृश एक दाँतवाले वाराहका रूप धारण करके पुनः इसका उद्धार किया था ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः ।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ॥ ३० ॥
योजनानां शतं ब्रह्मन् पुनरुद्धरिता तदा ।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! देवेश्वर भगवान् विष्णुने पातालमें सैकड़ों योजन नीचे डूबी हुई इस पृथ्वीका पुनरुद्धार किस प्रकार किया ? आप इस कथाको यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक कहिये । जगत्का भार धारण करनेवाली इस अचला पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये उन्होंने किस उपायका अवलम्बन किया ? ॥ ३०-३१ ॥

शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी ।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण सस्योंका उत्पादन करनेवाली यह कल्याणमयी महाभागा वसुधादेवी किसके प्रभावसे सैकड़ों योजन नीचे धँस गयी थी ॥ ३२ ॥

केन तद् वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम ।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ॥ ३३ ॥

परमात्माके उस अद्भुत पराक्रमका दर्शन (ज्ञान) किसने कराया था ? द्विजश्रेष्ठ ! यह सब मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप इस वृत्तान्तके आश्रय (ज्ञाता) हैं ॥ ३३ ॥

लोमश उवाच

यत् तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर ।
तत् सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ॥ ३४ ॥

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वह कथा—वह सारा वृत्तान्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३४ ॥

पुरा कृतयुगे तात वर्तमाने भयंकरे ।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ॥ ३५ ॥

तात ! इस कल्पके प्रथम सत्ययुगकी बात है, एक समय बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी । उस समय आदिदेव पुरातन पुरुष भगवान् श्रीहरि ही यमराजका भी कार्य सम्पन्न करते थे ॥ ३५ ॥

यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाप्युत ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर ! परम बुद्धिमान् देवदेव भगवान् श्रीहरिके यमराजका कार्य सँभालते समय किसी भी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती थी; परंतु उत्पत्तिका कार्य पूर्ववत् चलता रहा ॥ ३६ ॥

वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम् ।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ॥ ३७ ॥

फिर तो पक्षियोंके समूह बढ़ने लगे । गाय, बैल, भेड़-बकरे आदि पशु, घोड़े, मृग तथा मांसाहारी जीव सभी बढ़ने लगे ॥ ३७ ॥

तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप ।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धन्ते सलिलं यथा ॥ ३८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ ! जैसे बरसातमें पानी बढ़ता है, उसी प्रकार मनुष्य भी हजार एवं दस हजार गुनी संख्यामें बढ़ने लगे ॥ ३८ ॥

एतस्मिन् संकुले तात वर्तमाने भयंकरे ।
अतिभाराद् वसुमती योजनानां शतं गता ॥ ३९ ॥

तात ! इस प्रकार सब प्राणियोंकी वृद्धि होनेसे जब बड़ी भयंकर अवस्था आ गयी, तब अत्यन्त भारसे दबकर यह पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी ॥ ३९ ॥

सा वै व्यथितसर्वाङ्गी भारेणाक्रान्तचेतना ।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ॥ ४० ॥

भारी भारके कारण पृथ्वी देवीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें बड़ी पीड़ा हो रही थी । उसकी चेतना लुप्त होती जा रही थी । अतः वह सर्वश्रेष्ठ देवता भगवान् नारायणकी शरणमें गयी ॥

पृथिव्युवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह ।
भारेणास्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ॥ ४१ ॥

पृथ्वी बोली—भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं दीर्घ कालतक यहाँ स्थिर रह सकूँ । इस समय मैं भारसे इतनी दब गयी हूँ कि जीवन धारण नहीं कर सकती ॥ ४१ ॥

ममेमं भगवन् भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि।
शरणागतास्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ४२ ॥

भगवन्! मेरे इस भारको आप दूर करनेकी कृपा करें। देव! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। विभो! मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये ॥ ४२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वीका यह वचन सुनकर अविनाशी भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर श्रवणमधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें कहा ॥

विष्णुरुवाच

न ते महि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणि।
अहमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ॥ ४४ ॥

भगवान् विष्णु बोले—वसुधे! तू भारसे पीडित है; किंतु अब उसके लिये भय न कर। मैं अभी ऐसा उपाय करता हूँ, जिससे तू हल्की हो जायगी ॥ ४४ ॥

लोमश उवाच

स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम्।
ततो वराहः संवृत्त एकशृङ्गो महाद्युतिः ॥ ४५ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पर्वतरूपी कुण्डलोंसे विभूषित वसुधादेवीको विदा करके महातेजस्वी भगवान् विष्णुने वाराहका रूप धारण कर लिया। उस समय उनके एक ही दाँत था, जो पर्वत-शिखरके समान सुशोभित होता था ॥

रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ॥ ४६ ॥

वे अपने लाल-लाल नेत्रोंसे मानो भय उत्पन्न कर रहे थे और अपनी अङ्गकान्तिसे धूम प्रकट करते हुए उस स्थानपर बढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

स गृहीत्वा वसुमतीं शृङ्गेणैकेन भास्वता।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ॥ ४७ ॥

वीर युधिष्ठिर! अविनाशी भगवान् विष्णुने अपने एक ही तेजस्वी दाँतके द्वारा पृथ्वीको थामकर उसे सौ योजन ऊपर उठा दिया ॥ ४७ ॥

तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ४८ ॥

पृथ्वीको उठाते समय सब ओर भारी हलचल मच गयी। सम्पूर्ण देवता तथा तपस्वी ऋषि क्षुब्ध हो उठे ॥ ४८ ॥

हाहाभूतमभूत् सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा।
न पर्यवस्थितः कश्चिद् देवो वा मानुषोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ॥ ५० ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूलोक सबमें अत्यन्त हाहाकार मच गया। कोई भी देवता या मनुष्य स्थिर नहीं रह सका। तब अनेक देवता और ऋषि ब्रह्माजीके समीप गये। उस समय वे अपने आसनपर बैठकर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४९-५० ॥

उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम्।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ॥ ५१ ॥

लोकसाक्षी देवेश्वर ब्रह्माके निकट पहुँचकर सबने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—॥ ५१ ॥

लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम्।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ॥ ५२ ॥

देवेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंमें हलचल मच गयी है। चर और अचर सभी प्राणी व्याकुल हैं। समुद्रोंमें बड़ा भारी क्षोभ दिखायी दे रहा है ॥ ५२ ॥

सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता।
किमेतद् किं प्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत्।
आख्यातु नो भवाञ्शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ॥ ५३ ॥

'यह सारी पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, अब यह किसके प्रभावसे कौन-सी अद्भुत घटना घटित हो रही है, जिससे सारा संसार व्याकुल हो उठा है। आप शीघ्र हमें इसका कारण बताइये। हम सब लोग अचेत-से हो रहे हैं' ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित् क्वचित्।
श्रूयतां यत्कृतेष्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ॥ ५४ ॥
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः।
तस्य प्रभावात् संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! तुम्हें असुरोंसे कभी और कोई भय नहीं है। यह जो चारों ओर क्षोभ फैल रहा है, इसका क्या कारण है? वह सुनो। वे जो सर्वव्यापी अक्षरस्वरूप श्रीमान् भगवान् नारायण हैं, उन्हींके प्रभावसे यह स्वर्गलोकमें क्षोभ प्रकट हो रहा है ॥ ५४-५५ ॥

यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ॥ ५६ ॥

यह सारी पृथ्वी, जो सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, इसे परमात्मा श्रीविष्णुने पुनः ऊपर उठाया है ॥ ५६ ॥

तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीका उद्धार करते समय ही सब ओर यह महान् क्षोभ प्रकट हुआ है। इस प्रकार तुम्हें इस विश्वव्यापी हलचलका यथार्थ कारण ज्ञात होना और तुम्हारा आन्तरिक संशय दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

देवा ऊचुः

क तद् भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत्।
तं देशं भगवन् ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥

देवता बोले—भगवन् ! वे वराहरूपधारी भगवान् प्रसन्न-से होकर कहाँ पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं, उस प्रदेशका पता हमें बताइये; हम सब लोग वहाँ जायँगे ।५८।

ब्रह्मोवाच

हन्त गच्छत भद्रं वो नन्दने पश्यत स्थितम्।
एषोऽत्र भगवाञ्श्रीमान् सुपर्णः सम्प्रकाशते ॥ ५९ ॥
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोकभावनः।
कालानल इवाभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ॥ ६० ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! बड़े हर्षकी बात है, जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। भगवान् नन्दनवनमें विराजमान हैं। वहीं उनका दर्शन करो। उस वनके निकट ये स्वर्णके समान सुन्दर रोमवाले परम कान्तिमान् विश्वभावन भगवान् श्रीविष्णु वाराहरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। भूतलका उद्धार करते हुए वे प्रलयकालीन अग्निके समान उद्भासित होते हैं ॥

एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ॥ ६१ ॥

इनके वक्षःस्थलमें स्पष्टरूपसे श्रीवत्सचिह्न प्रकाशित हो रहा है। देवताओ ! ये रोग-शोकसे रहित साक्षात् भगवान् ही वाराहरूपसे प्रकट हुए हैं, तुम सब लोग इनका दर्शन करो ॥

लोमश उवाच

ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चामन्त्र्य चामराः।
पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ॥ ६२ ॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर देवताओंने जाकर वाराहरूपधारी परमात्मा श्रीविष्णुका दर्शन किया, उनकी महिमा सुनी और उनकी आज्ञा लेकर वे ब्रह्माजीको आगे करके जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय।
लोमशादेशितेनाशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह कथा सुनकर सब पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और लोमशजीके बताये हुए मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ गये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेश-विषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

गन्धमादनकी यात्राके समय पाण्डवोंका आँधी-पानीसे सामना

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥ १ ॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम्।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य वे अमिततेजस्वी शूरवीर पाण्डव धनुष, बाण, तरकश, ढाल और तलवार लिये, हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने दस्ताने पहने और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे किये द्रौपदीके साथ गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हुए ॥१-२॥

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्धनि ॥ ३ ॥

पर्वतके शिखरपर उन्होंने बहुत-से सरोवर, सरिताएँ, पर्वत, वन तथा घनी छायावाले वृक्ष देखे ॥ ३ ॥

नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान्।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ॥ ४ ॥
चेरुरुच्चावचाकारान् देशान् विषमसंकटान्।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥ ५ ॥

उन्हें कितने ही ऐसे स्थान दृष्टिगोचर हुए, जहाँ सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती थी। उन प्रदेशोंमें देवर्षियोंके समुदाय निवास करते थे। वीर पाण्डव अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगाकर फलमूलका आहार करते हुए ऊँचे-नीचे विषम-संकटपूर्ण स्थानोंमें विचर रहे थे। मार्गमें उन्हें नाना प्रकारके मृगसमूह दिखायी देते थे, जिनकी संख्या बहुत थी ॥ ४-५ ॥

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम्।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वों और अप्सराओंकी प्रिय भूमि, किन्नरोंकी क्रीडास्थली तथा ऋषियों, सिद्धों और देवताओंके निवासस्थान गन्धमादन पर्वतकी घाटीमें प्रवेश किया ॥ ६ ॥

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद् वर्षं प्रादुरासीद् विशाम्पते ॥ ७ ॥

राजन् ! वीर पाण्डवोंके गन्धमादन पर्वतपर पदार्पण करते ही प्रचण्ड आँधीके साथ बड़े जोरकी वर्षा होने लगी ॥

ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ॥ ८ ॥

फिर धूल और पत्तोंसे भरा हुआ बड़ा भारी बवंडर (आँधी) उठा, जिसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गको भी सहसा आच्छादित कर दिया ॥ ८ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत् कर्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ॥ ९ ॥
न चापश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसावृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ १० ॥

धूलसे आकाशके ढक जानेसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था; इसीलिये वे एक दूसरेसे बातचीत भी नहीं कर पाते थे; अन्धकारने आँखोंपर पर्दा डाल दिया था। जिससे पाण्डवलोग एक दूसरेके दर्शनसे भी वञ्चित हो गये थे। भारत ! पत्थरोंका चूर्ण बिखेरती हुई वायु उन्हें कहीं-से-कहीं खींच लिये जाती थी ॥ ९-१० ॥

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ ११ ॥

प्रचण्ड वायुके वेगसे टूटकर निरन्तर धरतीपर गिरनेवाले वृक्षों तथा अन्य झाड़ोंका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ ११ ॥

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥ १२ ॥

हवाके झोंकेसे मोहित होकर वे सब-के-सब मन-ही-मन सोचने लगे कि आकाश तो नहीं फट पड़ा है। पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो रही है अथवा कोई पर्वत तो नहीं फटा जा रहा है ॥ १२ ॥

ते यथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् वे रास्तेके आस-पासके वृक्षों, मिट्टीके ढेरों और ऊँचे-नीचे स्थानोंको हाथोंसे टटोलते हुए हवासे डरकर यत्र-तत्र छिपने लगे ॥ १३ ॥

ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥ १४ ॥

उस समय महाबली भीमसेन हाथमें धनुष लिये द्रौपदीको अपने साथ रखकर एक वृक्षके सहारे खड़े हो गये ॥१४॥

धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर और पुरोहित धौम्य अग्निहोत्रकी सामग्री लिये उस महान् वनमें कहीं जा छिपे। सहदेव पर्वतपर ही (कहीं सुरक्षित स्थानमें) छिप गये ॥ १५ ॥

नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ १६ ॥

नकुल, अन्यान्य ब्राह्मणलोग तथा महातपस्वी लोमशजी भी भयभीत होकर जहाँ-तहाँ वृक्षोंकी आड़ लेकर छिपे रहे ॥

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन् रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १७ ॥
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ॥ १८ ॥

थोड़ी देरमें जब वायुका वेग कुछ कम हुआ और धूल उड़नी बंद हो गयी, उस समय बड़ी भारी जलधारा बरसने लगी। तदनन्तर वज्रपातके समान मेघोंकी गड़गड़ाहट होने लगी और मेघमालाओंमें चारों ओर चञ्चल चमकवाली बिजलियाँ संचरण करने लगीं ॥ १७-१८ ॥

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् तीव्र वायुसे प्रेरित हो समस्त दिशाओंको आच्छादित करती हुई ओलोंसहित जलकी धाराएँ अविराम गतिसे गिरने लगीं ॥ १९ ॥

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशाम्पते ॥ २० ॥

महाराज ! वहाँ चारों ओर बिखरी हुई जलराशि समुद्रगामिनी नदियोंके रूपमें प्रकट हो गयी, जो मिट्टी मिल जानेसे मलिन दीख पड़ती थी। उसमें झाग उठ रहे थे ॥ २० ॥

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ २१ ॥

फेनरूपी नौकासे व्याप्त अगाध जलसमूहको बहाती हुई सरिताएँ टूट कर गिरे हुए वृक्षोंको अपनी लहरोंसे समेटकर जोर-जोरसे 'हर-हर' ध्वनि करती हुई बह रही थीं ॥ २१ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २२ ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २३ ॥

भारत ! थोड़ी देर बाद जब तूफानका कोलाहल शान्त हुआ, वायुका वेग कम एवं सम हो गया, पर्वतका सारा जल बहकर नीचे चला गया और बादलोंका आवरण दूर हो जानेसे सूर्यदेव प्रकाशित हो उठे, उस समय वे समस्त वीर पाण्डव धीरे-धीरे अपने स्थानसे निकले और गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ २२–२३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीकी मूर्छा, पाण्डवोंके उपचारसे उसका सचेत होना तथा भीमसेनके स्मरण करनेपर घटोत्कचका आगमन

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत्॥ १॥
श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली सम्मुमोह तपस्विनी॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा पाण्डव अभी कोसभर ही गये होंगे कि पाञ्चालराजकुमारी तपस्विनी द्रौपदी सुकुमारताके कारण थककर बैठ गयी। वह पैदल चलने योग्य कदापि नहीं थी। उस भयानक वायु और वर्षासे पीडित हो दुःखमग्न होकर वह मूर्छित होने लगी थी॥ १-२॥

सा कम्पमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत॥ ३॥

घबराहटसे काँपती हुई कजरारे नेत्रोंवाली कृष्णाने अपने गोल-गोल और सुन्दर हाथोंसे दोनों जाँघोंको थाम लिया॥

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा॥ ४॥
तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान्॥ ५॥

हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली परस्पर सटी हुई जाँघोंका सहारा ले केलेके वृक्षकी भाँति काँपती हुई वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताकी भाँति गिरती देख बलशाली नकुलने दौड़कर थाम लिया॥ ४-५॥

नकुल उवाच

राजन् पञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत॥ ६॥

तत्पश्चात् नकुलने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! यह श्याम नेत्रवाली पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी थककर धरतीपर गिर पड़ी है, आप आकर इसे देखिये॥ ६॥

अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम्॥ ७॥

राजन्! यह मन्दगतिसे चलनेवाली देवी दुःख सहन करनेके योग्य नहीं है; तो भी इसपर महान् दुःख आ पड़ा है। रास्तेके परिश्रमसे यह दुर्बल हो गयी है। आप आकर इसे सान्त्वना दें॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

राजा तु वचनात् तस्य भृशं दुःखसमन्वितः।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन्॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नकुलकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखी हो गये और भीम तथा सहदेवके साथ सहसा वहाँ दौड़े आये॥ ८॥

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम्।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः॥ ९॥

धर्मात्मा कुन्तीनन्दनने देखा—द्रौपदीके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और उसका शरीर कृश हो गया है। तब वे उसे अङ्कमें लेकर शोकातुर हो विलाप करने लगे॥ ९॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी॥ १०॥

युधिष्ठिर बोले—अहो! जो सुरक्षित सदनोंमें सुसज्जित सुकोमल शय्यापर शयन करने योग्य है, वह सुख भोगनेकी अधिकारिणी परम सुन्दरी कृष्णा आज पृथ्वीपर कैसे सो रही है?॥

सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम्।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम्॥ ११॥

जो सुखके श्रेष्ठ साधनोंका उपभोग करनेयोग्य है, उसी द्रौपदीके ये दोनों सुकुमार चरण और कमलकी कान्तिसे सुशोभित मुख आज मेरे कारण कैसे काले पड़ गये हैं ? ॥ ११ ॥

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥

मुझ मूर्खने द्यूतक्रीड़ाकी कामनामें फँसकर यह क्या कर डाला ? अहो ! सहस्रों मृगसमूहोंसे भरे हुए इस भयानक वनमें द्रौपदीको साथ लेकर हमें विचरना पड़ा है ॥ १२ ॥

सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान् प्राप्य वै पतीन्।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ॥ १३ ॥
तत् सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥

इसके पिता राजा द्रुपदने इस विशाललोचना द्रौपदीको यह कहकर हमें प्रदान किया था कि 'कल्याणि ! तुम पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर सुखी होगी ।' परंतु मुझ पापीकी करतूतोंसे वह सब न पाकर यह परिश्रम, शोक और मार्गके कष्टसे कृश होकर आज पृथ्वीपर पड़ी सो रही है ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय धौम्य आदि समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन्।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥

उन्होंने महाराजको आश्वासन दिया और अनेक प्रकारके आशीर्वाद देकर उन्हें सम्मानित किया । तत्पश्चात् वे राक्षसोंका विनाश करनेवाले मन्त्रोंका जप तथा शान्तिकर्म करने लगे ॥ १६ ॥

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

महर्षियोंद्वारा शान्तिके लिये मन्त्रपाठ होते समय पाण्डवोंने अपने शीतल हाथोंसे बार-बार द्रौपदीके अङ्गोंको सहलाया ॥ १७ ॥

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥

जलका स्पर्श करके बहती हुई शीतल वायुने भी उसे सुख पहुँचाया । इस प्रकार कुछ आराम मिलनेपर पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको धीरे-धीरे चेत हुआ ॥ १८ ॥

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥

होशमें आनेपर दीनावस्थामें पड़ी हुई तपस्विनी द्रौपदीको पकड़कर पाण्डवोंने मृगचर्मके विस्तरपर सुलाया और उसे विश्राम कराया । नकुल और सहदेवने धनुषकी रगड़के चिह्नसे सुशोभित दोनों हाथोंद्वारा उसके लाल तलवोंसे युक्त और उत्तम लक्षणोंसे अलङ्कृत दोनों चरणोंको धीरे-धीरे दबाया ॥ १९-२० ॥

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥ २१ ॥

फिर कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने भी द्रौपदीको बहुत आश्वासन दिया और भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥

'महाबाहु भीम ! यहाँ बहुत-से ऊँचे-नीचे पर्वत हैं, जिनपर चलना बर्फके कारण अत्यन्त कठिन है । उनपर द्रौपदी कैसे जा सकेगी ?' ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच

त्वां राजन् राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥

भीमसेनने कहा—पुरुषरत्न ! महाराज ! आप मनमें खेद न करें । मैं स्वयं राजकुमारी द्रौपदी, नकुल-सहदेव और आपको भी ले चलूँगा ॥ २३ ॥

हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥

हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच भी महान् पराक्रमी है । वह मेरे ही समान बलवान् है और आकाशमें चल-फिर सकता है । अनघ ! आपकी आज्ञा होनेपर वह हम सबको अपनी पीठपर बिठाकर ले चलेगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम्।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ॥ २५ ॥
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान्।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ॥ २६ ॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम्।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ॥ २७ ॥
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम्।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञा पाकर भीमसेनने अपने राक्षसपुत्रका स्मरण किया ।

पिताके स्मरण करते ही धर्मात्मा घटोत्कच हाथ जोड़े हुए वहाँ उपस्थित हुआ। उस महाबाहु वीरने पाण्डवों तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनके द्वारा सम्मानित हो अपने भयंकर पराक्रमी पिता भीमसेनसे कहा—महाबाहो! आपने मेरा स्मरण किया है और मैं शीघ्र ही सेवाकी भावनासे आया हूँ, आज्ञा कीजिये; मैं आपका सब कार्य अवश्य ही पूर्ण करूँगा।' यह सुनकर भीमसेनने राक्षस घटोत्कचको हृदयसे लगा लिया॥ २५–२८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः १४४

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४४॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और उसके साथियोंकी सहायतासे पाण्डवोंका गन्धमादन पर्वत एवं बदरिकाश्रममें प्रवेश तथा बदरीवृक्ष, नरनारायणाश्रम और गङ्गाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञो बलवाञ्शूरः सत्यो राक्षसपुङ्गवः।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु मा चिरम्॥ १॥
तव भीम सुतेनाहमतिभीमपराक्रम।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम्॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—अत्यन्त भयानक पराक्रम दिखानेवाले भीम! तुम्हारा औरस पुत्र राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच धर्मज्ञ, बलवान्, शूरवीर, सत्यवादी तथा हमलोगोंका भक्त है। यह हमें शीघ्र उठा ले चले। जिससे भीमसेन! तुम्हारे पुत्र घटोत्कचद्वारा शरीरसे किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही मैं द्रौपदीसहित गन्धमादन पर्वतपर पहुँच जाऊँ॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम्।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भाईकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके नरश्रेष्ठ भीमसेनने अपने पुत्र शत्रुसूदन घटोत्कचको इस प्रकार आज्ञा दी॥ ३॥

भीमसेन उवाच

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजित।
त्वं च कामगमस्तात बलवान् वह तां खग॥ ४॥

भीमसेन बोले—अपराजित और आकाशचारी हिडिम्बानन्दन! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत थक गयी है। तुम बलवान् एवं इच्छानुसार सर्वत्र जानेमें समर्थ हो; अतः इसे (आकाशमार्गसे) ले चलो॥ ४॥

स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः॥ ५॥

बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। इसे कंधेपर बैठाकर हम लोगोंके बीच रहते हुए आकाशमार्गसे इस प्रकार धीरे-धीरे ले चलो, जिससे इसे तनिक भी कष्ट न हो॥ ५॥

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान्॥ ६॥
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः।
सर्वान् वो ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहितानघ॥ ७॥

घटोत्कच बोला—अनघ! मैं अकेला रहूँ तो भी धर्मराज युधिष्ठिर, पुरोहित धौम्य, माता द्रौपदी और चाचा नकुल-सहदेवको भी वहन कर सकता हूँ; फिर आज तो मेरे और भी बहुत-से संगी साथी मौजूद हैं। इस दशामें आप लोगोंको ले चलना कौन बड़ी बात है? मेरे सिवा दूसरे भी सैकड़ों शूरवीर, आकाशचारी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मेरे साथ हैं। वे ब्राह्मणोंसहित आप सब लोगोंको एक साथ वहन करेंगे॥ ६-७॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे॥ ८॥

ऐसा कहकर वीर घटोत्कच तो द्रौपदीको लेकर

पाण्डवोंके बीचमें चलने लगा और दूसरे राक्षस पाण्डवोंको भी (अपने-अपने कंधेपर बिठाकर) ले चले ॥ ८ ॥

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ॥ ९ ॥

अनुपम तेजस्वी महर्षि लोमश अपने ही प्रभावसे दूसरे सूर्यकी भाँति सिद्धमार्ग अर्थात् आकाशमार्गसे चलने लगे ॥

ब्राह्मणांश्चापि तान् सर्वान् समुपादाय राक्षसाः।
नियोगाद् राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ १० ॥

राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे अन्य सब ब्राह्मणोंको भी अपने-अपने कंधेपर चढ़ाकर वे भयंकर पराक्रमी राक्षस साथ-साथ चलने लगे ॥ १० ॥

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ ११ ॥

इस प्रकार अत्यन्त रमणीय वन और उपवनोंका अवलोकन करते हुए वे सब लोग विशाला बदरी (बदरिकाश्रम तीर्थ) की ओर प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं दीर्घमध्वानमल्पवत् ॥ १२ ॥

उन महावेगशाली और तीव्र गतिसे चलनेवाले राक्षसोंपर सवार हो वीर पाण्डवोंने उस विशाल मार्गको इतनी शीघ्रतासे तय कर लिया, मानो वह बहुत छोटा हो ॥ १२ ॥

देशान् म्लेच्छजनाकीर्णान् नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १३ ॥
विद्याधरसमाकीर्णान् युतान् वानरकिन्नरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ॥ १४ ॥

उस यात्रामें उन्होंने म्लेच्छोंसे भरे हुए बहुत-से ऐसे देश देखे, जो नाना प्रकारकी रत्नोंकी खानोंसे युक्त थे। वहाँ उन्हें नाना प्रकारके धातुओंसे व्याप्त कितने ही शाखापर्वत दृष्टिगोचर हुए। उन पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से विद्याधर, वानर, किन्नर, किम्पुरुष और गन्धर्व चारों ओर निवास करते थे ॥ १३-१४॥

मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ॥ १५ ॥

मोर, चमरी गाय, बंदर, रुरुमृग, सूअर, गवय* और भैंस आदि पशु वहाँ विचर रहे थे ॥ १५ ॥

नदीजालसमाकीर्णान् नानापक्षियुतान् बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान् वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १६ ॥

वहाँ सब ओर बहुत-सी नदियाँ बह रही थीं। अनेक प्रकारके असंख्य पक्षी विचर रहे थे। वह स्थान नाना प्रकारके मृगोंसे सेवित और वानरोंसे सुशोभित था ॥ १६ ॥

* गौके समान एक प्रकारका जंगली पशु, जिसके गलकंबल नहीं होता।

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितांस्तथा ।
तेऽवतीर्य बहून् देशानुत्तमर्द्धिसमन्वितान् ॥ १७ ॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।
तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥ १८ ॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥ १९ ॥
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ॥ २० ॥

वह पर्वतीय प्रदेश मतवाले विहंगों और अगणित वृक्षोंसे युक्त था। पाण्डवोंने उत्तम समृद्धिसे सम्पन्न बहुत-से देशोंको लाँघकर भाँति-भाँतिके आश्चर्यजनक दृश्योंसे सुशोभित पर्वतश्रेष्ठ कैलासका दर्शन किया। उसीके निकट उन्हें भगवान् नर-नारायणका आश्रम दिखायी दिया, जो नित्य फल-फूल देनेवाले दिव्य वृक्षोंसे अलंकृत था। वहीं वह विशाल एवं मनोरम बदरी भी दिखायी दी, जिसका स्कन्ध (तना) गोल था। वह वृक्ष बहुत ही चिकना, घनी छायासे युक्त और उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उस शुभ वृक्षके सघन कोमल पत्ते भी बहुत चिकने थे ॥ १७–२० ॥

विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ॥ २१ ॥
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ २२ ॥

उसकी डालियाँ बहुत बड़ी और बहुत दूरतक फैली हुई थीं। वह वृक्ष अत्यन्त कान्तिसे सम्पन्न था। उसमें अत्यन्त स्वादिष्ट दिव्य फल अधिक मात्रामें लगे हुए थे। उन फलोंसे मधुकी धारा बहती रहती थी। उस दिव्य वृक्षके नीचे महर्षियोंका समुदाय निवास करता था। वह वृक्ष सदा मदोन्मत्त एवं आनन्दविभोर पक्षियोंसे परिपूर्ण रहता था ॥

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २३ ॥
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ॥ २४ ॥

उस प्रदेशमें डाँस और मच्छरोंका नाम नहीं था। फल-मूल और जलकी बहुतायत थी। वहाँकी भूमि हरी-हरी घाससे ढकी हुई थी। देवता और गन्धर्व वहाँ वास करते थे। उस प्रदेशका भूभाग स्वभावतः समतल और मङ्गलमय था। उस हिमाच्छादित भूमिका स्पर्श अत्यन्त मृदु था। उस देशमें काँटोंका कहीं नाम नहीं था। ऐसे पावन प्रदेशमें वह विशाल बदरी वृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ २३-२४ ॥

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २५ ॥

उसके पास पहुँचकर ये सब महात्मा पाण्डव उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ राक्षसोंके कंधोंसे धीरे-धीरे उतरे ॥ २५ ॥

ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम्।
ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुङ्गवैः ॥ २६ ॥

राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणोंसहित पाण्डवोंने एक साथ भगवान् नर-नारायणके उस रमणीय स्थानका दर्शन किया॥

तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २७ ॥

जो अन्धकार एवं तमोगुणसे रहित तथा पुण्यमय था। (वृक्षोंकी सघनताके कारण) सूर्यकी किरणें उसका स्पर्श नहीं कर पाती थीं। वह आश्रम भूख, प्यास, सर्दी और गर्मी आदि दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण शोकोंका नाश करनेवाला था॥

महर्षिगणसम्बाधं ब्राह्मया लक्ष्म्या समन्वितम्।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ॥ २८ ॥

महाराज! वह पावन तीर्थ महर्षियोंके समुदायसे भरा हुआ और ब्राह्मी श्रीसे सुशोभित था। धर्महीन मनुष्योंका वहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था॥ २८॥

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसम्मृष्टानुलेपनम्।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २९ ॥

वह दिव्य आश्रम देव-पूजा और होमसे अर्चित था। उसे झाड़-बुहारकर अच्छी तरह लीपा गया था। दिव्य पुष्पोंके उपहार सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ २९॥

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ॥ ३० ॥

विशाल अग्निहोत्रगृहों और स्रुक, स्रुवा आदि सुन्दर यज्ञ-पात्रोंसे व्याप्त वह पावन आश्रम जलसे भरे हुए बड़े-बड़े कलशों और बर्तनोंसे सुशोभित था॥ ३०॥

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम्।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३१ ॥

वह सब प्राणियोंके शरण लेने योग्य था। वहाँ वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। वह दिव्य आश्रम सबके रहने योग्य और थकावटको दूर करनेवाला था॥ ३१॥

श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम्।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ॥ ३२ ॥
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन् प्रयतः शुचिः ॥ ३४ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः।
आशीर्वादान् प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३६ ॥
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३७ ॥

वह शोभासम्पन्न आश्रम अवर्णनीय था। देवोचित कार्योंका अनुष्ठान उसकी शोभा बढ़ाता था। उस आश्रममें फल-मूल खाकर रहनेवाले, कृष्णमृगचर्मधारी, जितेन्द्रिय, अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी और तपःपूत अन्तःकरणवाले महर्षि, मोक्षपरायण, इन्द्रिय-संयमी संन्यासी तथा महान् सौभाग्यशाली ब्रह्मवादी ब्रह्मभूत महात्मा निवास करते थे। महातेजस्वी, बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर पवित्र और एकाग्र-चित्त होकर भाइयोंके साथ उन आश्रमवासी महर्षियोंके पास गये। युधिष्ठिरको आश्रममें आया देख वे दिव्यज्ञानसम्पन्न सब महर्षि अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे मिले और उन्हें अनेक प्रकारके आशीर्वाद देने लगे। सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले उन अग्नितुल्य तेजस्वी महात्माओंने प्रसन्न होकर युधिष्ठिरका विधिपूर्वक सत्कार किया और उनके लिये पवित्र फल-मूल, पुष्प और जल आदि सामग्री प्रस्तुत की॥ ३२—३७॥

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥

महर्षियोंद्वारा प्रेमपूर्वक प्रस्तुत किये हुए उस आतिथ्य-सत्कारको शुद्ध हृदयसे ग्रहण करके धर्मराज युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए॥ ३८॥

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम्।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३९ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ॥ ४० ॥

उन्होंने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ इन्द्रभवनके समान मनोरम और दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण उस स्वर्गसदृश शोभा-शाली पुण्यमय नर-नारायण आश्रममें प्रवेश किया। अनघ! उनके साथ ही वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् सहस्रों ब्राह्मण भी प्रविष्ट हुए॥ ३९-४०॥

तत्रापश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम्।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने वहाँ भगवान् नर-नारायणका स्थान देखा, जो देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित तथा भागीरथी* गङ्गासे सुशोभित था॥ ४१॥

* हिमालयपर गिरनेके बाद भागीरथी गङ्गा अनेक धाराओंमें विभक्त होकर बहने लगीं। उनकी सीधी धारा तो गङ्गोत्तरीसे देवप्रयाग होती हुई हरिद्वार आयी है और अन्य धाराएँ अन्य मार्गोंसे प्रवाहित होकर पुनः गङ्गामें ही मिल गयी हैं। उन्हींकी जो धारा कैलास और बदरिकाश्रमके मार्गसे बहती आयी है, उसका नाम अलकनन्दा है, वह देवप्रयागमें आकर सीधी धारामें मिल गयी है। इस प्रकार यद्यपि नर-नारायणका स्थान अलकनन्दाके ही तटपर है, तथापि वह मूलतः भागीरथीसे अभिन्न ही है; इसीलिये यहाँ मूलमें 'भागीरथी' नामसे ही उसका उल्लेख किया गया है।

पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ४२ ॥
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन् ब्राह्मणैः सह।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ॥ ४३ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव उस स्थानका दर्शन करते हुए वहाँ सब ओर सुखपूर्वक घूमने-फिरने लगे। ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित जो अपने फलोंसे मधुकी धारा बहानेवाला दिव्य वृक्ष था उसके निकट जाकर महात्मा पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ वहाँ निवास करने लगे। उस समय वे सब महात्मा बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४२-४३ ॥

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम्।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ॥ ४४ ॥
तस्मिन् विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया।
मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ॥ ४५ ॥

वहाँ सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे युक्त मैनाक पर्वत था। वहीं शीतल जलसे सुशोभित बिन्दुसर नामक तालाब था। वह सब देखते हुए पाण्डव द्रौपदीके साथ उस मनोहर उत्तम वनमें विचरने लगे, जो सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ४४-४५ ॥

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥ ४६ ॥

उस वनमें सब ओर सुरम्य वृक्ष दिखायी देते थे, जो विकसित फूलोंसे युक्त थे। उनकी शाखाएँ फलोंके बोझसे झुकी हुई थीं। कोकिल पक्षियोंसे युक्त बहुसंख्यक वृक्षोंके कारण उस वनकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ४६ ॥

स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त वृक्षोंके पत्ते चिकने और सघन थे। उनकी छाया शीतल थी। वे मनको बड़े ही रमणीय लगते थे। उस वनमें कितने ही विचित्र सरोवर भी थे, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥ ४७ ॥

कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४८ ॥

खिले हुए उत्पल और कमल सब ओरसे उनकी शोभा-का विस्तार करते थे। उन मनोहर सरोवरोंका दर्शन करते हुए पाण्डव वहाँ सानन्द विचरने लगे ॥ ४८ ॥

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः।
ह्लादयन् पाण्डवान् सर्वान् द्रौपद्या सहितान् प्रभो ॥ ४९ ॥

जनमेजय! गन्धमादन पर्वतपर पवित्र सुगन्धसे वासित सुखदायिनी वायु चल रही थी, जो द्रौपदीसहित पाण्डवोंको आनन्द-निमग्न किये देती थी ॥ ४९ ॥

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतां विमलपङ्कजाम्।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ५० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धिनीम्।
वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ॥ ५१ ॥
तस्मिन् देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयांचक्रिरे तदा ॥ ५२ ॥
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन् पुरुषर्षभाः।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त विशाल बदरीवृक्षके समीप उत्तम तीर्थोंसे सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी गङ्गा बह रही थी; उसमें सुन्दर कमल खिले हुए थे। उसके घाट मणियों और मूँगोंसे आबद्ध थे। अनेक प्रकारके वृक्ष उसके तटप्रान्तकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित हो हृदयके हर्षोल्लासकी वृद्धि कर रही थी। उसका दर्शन करके महात्मा पाण्डवोंने उस अत्यन्त दुर्गम देवर्षिसेवित प्रदेशमें भागीरथीके पवित्र जलमें स्थित हो परम पवित्रताके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया। इस प्रकार प्रतिदिन तर्पण और जप आदि करते हुए वे पुरुषश्रेष्ठ कुरुकुलशिरोमणि वीर पाण्डव वहाँ ब्राह्मणोंके साथ रहने लगे। देवताओंके समान कान्तिमान् नरश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ द्रौपदीकी विचित्र क्रीड़ाएँ देखते हुए सुखपूर्वक रमण करने लगे ॥ ५०—५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥

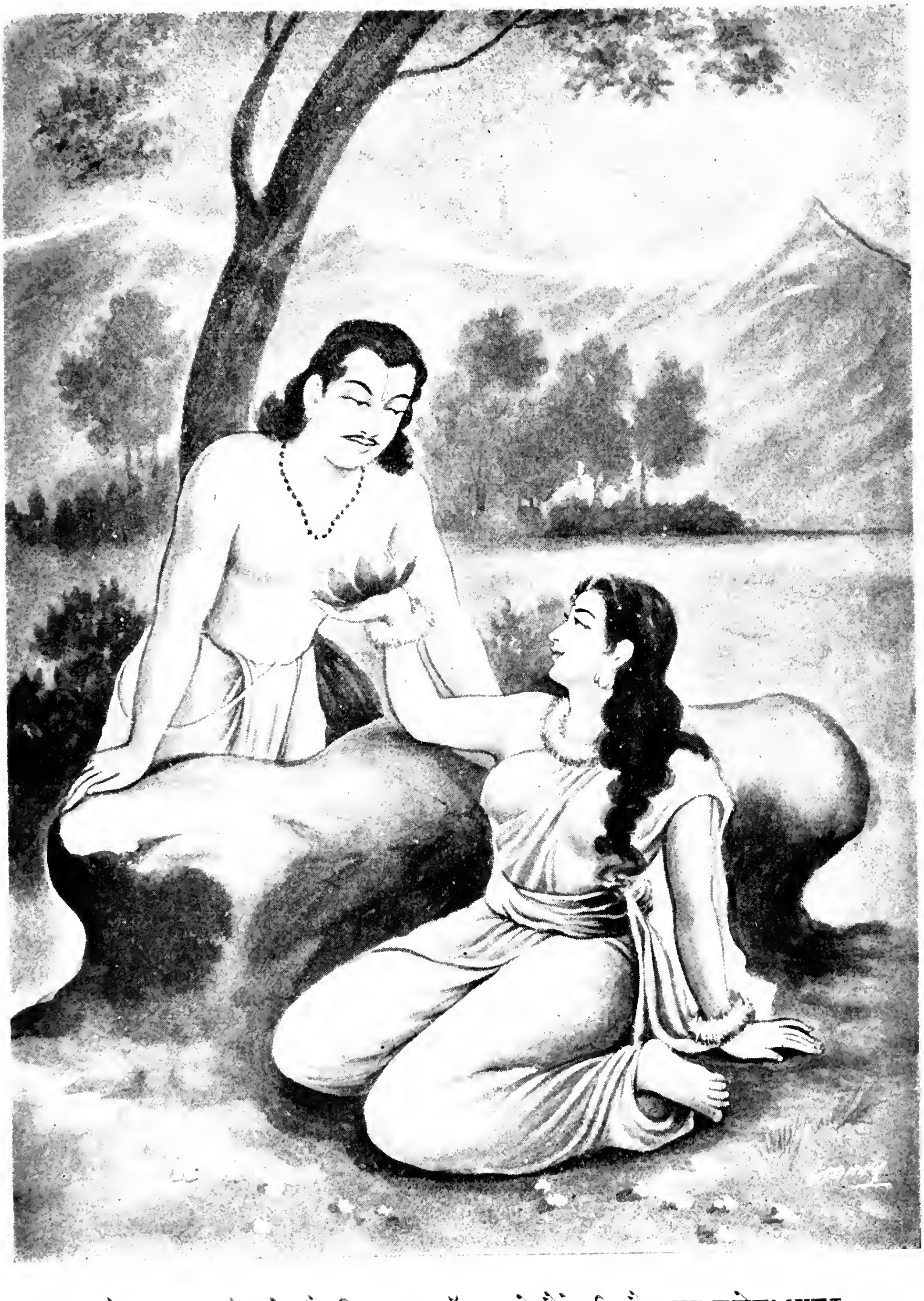

द्रौपदीका भीमसेनको सौगन्धिक पुष्प भेंट करके वैसे ही और पुष्प लानेका आग्रह

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक कमल लानेके लिये जाना और कदलीवनमें उनकी हनुमान्‌जीसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनंजयदिदृक्षवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुनके दर्शनके लिये उत्सुक हो वहाँ परम पवित्रताके साथ छः रात रहे ॥ १ ॥

ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ॥ २ ॥

तदनन्तर ईशानकोणकी ओरसे अकस्मात् वायु चली । उसने सूर्यके समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर वहाँ डाल दिया ॥ २ ॥

तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ३ ॥

तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

जनमेजय ! वह कमल बड़ा मनोरम था, उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी । शुभलक्षणा द्रौपदीने उसे देखा और वायुके द्वारा लाकर पृथ्वीपर डाले हुए उस पवित्र, शुभ एवं परम उत्तम सौगन्धिक कमलके पास पहुँचकर अत्यन्त प्रसन्न हो भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ३-४ ॥

पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ५ ॥

इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परंतप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ ६ ॥

'भीम ! देखो तो, यह दिव्य पुष्प कितना अच्छा और कैसा सुन्दर है ! मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है । यह मेरे मनको आनन्द प्रदान कर रहा है । परंतप ! मैं इसे धर्मराज-को भेंट करूँगी । तुम मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये काम्यकवनके आश्रममें इसे ले चलो ॥ ५-६ ॥

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा (विशेष) प्रेम है, तो मेरे लिये ऐसे ही बहुत-से फूल ले आओ । मैं इन्हें काम्यक वनमें अपने आश्रमपर ले चलना चाहती हूँ' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत् तदा ॥ ८ ॥

उस समय मनोहर नेत्रप्रान्तवाली अनिन्द्य सुन्दरी (सती-साध्वी) द्रौपदी भीमसेनसे ऐसा कहकर और वह पुष्प लेकर धर्मराज युधिष्ठिरको देनेके लिये चली गयी ॥ ८ ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः ॥ ९ ॥

पुरुषशिरोमणि महाबली भीम अपनी प्यारी रानीके मनोभावको जानकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥ ९ ॥

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १० ॥

वे उसी तरहके और भी फूल ले आनेकी अभिलाषासे तुरंत पूर्वोक्त वायुकी ओर मुख करके उसी ईशान कोणमें आगे बढ़े, जिधरसे वह फूल आया था ॥ १० ॥

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ११ ॥

उन्होंने हाथमें वह अपना धनुष ले लिया, जिसके पृष्ठ-भागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था । साथ ही विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण भी तरकसमें रख लिये । फिर क्रोधमें भरे हुए सिंह तथा मदकी धारा बहानेवाले मतवाले गजराजकी भाँति निर्भय होकर आगे बढ़े ॥ ११ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम्।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः॥ १२॥
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः।

महान् धनुष-बाण लेकर जाते हुए भीमसेनको उस समय सब प्राणियोंने देखा। उन वायुपुत्र कुन्तीकुमारको कभी ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट नहीं होती थी॥१२½॥

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः॥ १३॥
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली।
स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम्॥ १४॥
गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम्।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः॥ १५॥

द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने बाहुबलका भरोसा करके भय और मोहसे रहित बलवान् भीमसेन सामनेके शैल-शिखरपर चढ़ गये। वह पर्वत वृक्षों, लताओं और झाड़ियोंसे आच्छादित था। उसकी शिलाएँ नीले रंगकी थीं। वहाँ किन्नरलोग भ्रमण करते थे। शत्रुसंहारी भीमसेन उस सुन्दर पर्वतपर विचरने लगे। बहुरंगे धातुओं, वृक्षों, मृगों और पक्षियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी॥ १३–१५॥

सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम्।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु॥ १६॥
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन्।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च॥ १७॥
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः।

वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथिवीके समस्त आभूषणोंसे विभूषित ऊँचे उठी हुई भुजा हो। गन्धमादनके शिखर सब ओरसे रमणीय थे। वहाँ कोयल पक्षियोंकी शब्दध्वनि हो रही थी और झुंड-के-झुंड भौंरे मड़रा रहे थे। भीमसेन उन्हींमें आँखें गड़ाये मन-ही-मन अभिलषित कार्यका चिन्तन करते जाते थे। अमितपराक्रमी भीमके कान, नेत्र और मन उन्हीं शिखरोंमें अटके रहे अर्थात् उनके कान वहाँके विचित्र शब्दोंको सुननेमें लग गये; आँखें वहाँके अद्भुत दृश्योंको निहारने लगीं और मन वहाँकी अलौकिक विशेषताके विषयमें सोचने लगा और वे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर अग्रसर होते चले गये॥ १६-१७½॥

आजिघ्रन् स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम्॥ १८॥
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना॥ १९॥
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः॥ २०॥

वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार सभी ऋतुओंके फूलोंके उत्कट सुगन्धका आस्वादन करते हुए वनमें उद्दामगतिसे विचरनेवाले मदोन्मत्त गजराजकी भाँति चले जा रहे थे। नाना प्रकारके कुसुमोंसे सुवासित गन्धमादनकी परम पवित्र वायु उन्हें पंखा झल रही थी। जैसे पिताको पुत्रका स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है, वैसा ही सुख भीमसेनको उस पर्वतीय वायुके स्पर्शसे मिल रहा था। उनके पिता पवन-देव उनकी सारी थकावट हर लेते थे। उस समय हर्षातिरेकसे भीमके शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था॥ १८–२०॥

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम्।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिंदमः॥ २१॥

शत्रुदमन भीमसेनने उस समय (पूर्वोक्त पुष्पकी प्राप्तिके लिये एक बार) यक्ष, गन्धर्व, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस विशाल पर्वतपर (सब ओर) दृष्टिपात किया॥ २१॥

विषमच्छदैरचितैरनुलिप्त इवाङ्गुलैः।
बलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः॥ २२॥

उस समय अनेक धातुओंसे रँगे हुए सप्तपर्ण (छितवन) के पत्तोंद्वारा उनके ललाटमें विभिन्न धातुओंके काले, पीले और सफेद रंग लग गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानो अंगुलियोंद्वारा त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाया गया हो। उस पर्वत-शिखरके उभय पार्श्वमें लगे हुए मेघोंसे उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वह पुनः पंखधारी होकर नृत्य कर रहा है॥ २२॥

मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम्॥ २३॥

निरन्तर झरनेवाले झरनोंके जल उस पहाड़के कण्ठदेशमें अवलम्बित मोतियोंके हार-से प्रतीत हो रहे थे। उस पर्वतकी गुफा, कुञ्ज, निर्झर, सलिल और कन्दराएँ सभी मनोहर थे॥ २३॥

अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम्।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम्॥ २४॥

वहाँ अप्सराओंके नूपुरोंकी मधुर ध्वनिके साथ सुन्दर मोर नाच रहे थे। उस पर्वतके एक-एक रत्न और शिलाखण्डपर दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़का चिह्न अङ्कित था॥ २४॥

स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः॥ २५॥
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः।
चालयन्नूरुवेगेन लताजालान्यनेकशः॥ २६॥
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः॥ २७॥

निम्नगामिनी नदियोंसे निकला हुआ क्षोभरहित जल नीचेकी ओर इस प्रकार बह रहा था, मानो उस पर्वतका वस्त्र

खिसककर गिरा जाता हो। भयसे अपरिचित और स्वस्थ हरिण मुँहमें हरे घासका कौर लिये पास ही खड़े होकर भीमसेनकी ओर कौतूहलभरी दृष्टिसे देख रहे थे। उस समय मनोहर नेत्रोंवाले शोभाशाली वायुपुत्र भीम अपने महान् वेगसे अनेक लतासमूहोंको विचलित करते हुए हर्षपूर्ण हृदयसे खेल-सा करते जा रहे थे। वे अपनी प्रिया द्रौपदीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेको सर्वथा उद्यत थे॥ २५ २७॥

प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान्॥ २८॥

उनकी कद बहुत ऊँची थी। शरीरका रंग स्वर्ण-सा दमक रहा था। उनके सम्पूर्ण अङ्ग सिंहके समान सुदृढ़ थे। उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया था। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनका वेग मदोन्मत्त गजराजके समान था॥ २८॥

मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः॥ २९॥
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः।
नवावतारो रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः॥ ३०॥
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु।
संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून्॥ ३१॥
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः।
सोऽचिन्तयद् गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते॥ ३२॥
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद् बलस्य च॥ ३३॥
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन्॥ ३४॥
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु॥ ३५॥

मतवाले हाथीके समान ही उनकी लाल-लाल आँखें थीं। वे समरभूमिमें मदोन्मत्त हाथियोंको भी पीछे हटानेमें समर्थ थे। अपने प्रियतमके पार्श्वभागमें बैठी हुई यक्ष और गन्धर्वोंकी युवतियाँ सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो स्वयं अलक्षित रहकर भीमसेनकी ओर देख रही थीं। वे उन्हें सौन्दर्यके नूतन अवतार-से प्रतीत होते थे। इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीम गन्धमादनके रमणीय शिखरोंपर खेल-सा करते हुए विचरने लगे। वे दुर्योधनद्वारा दिये गये नाना प्रकारके असंख्य क्लेशोंका स्मरण करते हुए वनवासिनी द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'अर्जुन स्वर्गलोकमें चले गये हैं और मैं फूल लेनेके लिये इधर चला आया हूँ। ऐसी दशामें आर्य युधिष्ठिर कोई कार्य कैसे करेंगे? नरश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नकुल और सहदेवपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उन दोनोंके बलपर उन्हें विश्वास नहीं है। अतः वे निश्चय ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे; अर्थात् कहीं नहीं भेजेंगे। अब कैसे मुझे शीघ्र वह फूल प्राप्त हो जाय—यह चिन्ता करते हुए नरश्रेष्ठ भीम पक्षिराज गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़े। उनके मन और नेत्र फूलोंसे भरे हुए पर्वतीय शिखरोंपर लगे हुए थे॥ २९–३५॥

द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ।
कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु॥ ३६॥
त्रासयन् गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः॥ ३७॥
उन्मूलयन् महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः॥ ३८॥

द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनका पाथेय (मार्गका कलेवा) था, वे उसीको लेकर शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। वायुके समान वेगशाली वृकोदर पर्वकालमें होनेवाले उत्पात (भूकम्प और बिजली गिरने) के समान अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित और हाथियोंके समूहोंको आतङ्कित करते हुए चलने लगे। वे महाबली कुन्तीकुमार सिंहों, व्याघ्रों और मृगोंको कुचलते तथा अपने वेगसे बड़े-बड़े वृक्षोंको जड़से उखाड़ते और विनाश करते हुए आगे बढ़ने लगे। पाण्डुनन्दन भीम अपने वेगसे लताओं और बल्लरियोंको खींचे लिये जाते थे। वे ऊपर-ऊपर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कोई गजराज पर्वतकी सबसे ऊँची चोटीपर चढ़ना चाहता हो॥ ३६–३८॥

विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः॥ ३९॥
गुहां संतत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः॥ ४०॥

वे बिजलियोंसे सुशोभित मेघकी भाँति बड़े जोरसे गर्जना करने लगे। भीमसेनकी उस भयंकर गर्जनासे जगे हुए व्याघ्र अपनी गुफा छोड़कर भाग गये, वनवासी प्राणी वनमें ही छिप गये, डरे हुए पक्षी आकाशमें उड़ गये और मृगोंके झुंड दूरतक भागते चले गये॥ ३९–४०॥

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम्।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन्॥ ४१॥

रीछोंने वृक्षोंका आश्रय छोड़ दिया, सिंहोंने गुफाएँ त्याग दीं, बड़े-बड़े सिंह जँभाई लेने लगे और जंगली भैंसे दूरसे ही उनकी ओर देखने लगे॥ ४१॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
तद् वनं स परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम्॥ ४२॥

भीमसेनकी उस गर्जनासे डरे हुए हाथी उस वनको छोड़कर हथिनियोंसे घिरे हुए दूसरे विशाल वनमें चले गये ॥ ४२ ॥

वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ॥ ४३ ॥
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाःक्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ।४४।

सूअर, मृगसमूह, जंगली भैंसे, बाघों तथा गीदड़ोंके समुदाय और गवय—ये सब-के-सब एक साथ चीत्कार करने लगे । चक्रवाक, चातक, हंस, कारण्डव, प्लव, शुक, कोकिल और क्रौञ्च आदि पक्षियोंने अचेत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली ॥ ४३-४४ ॥

तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।
सिंहव्याघ्रांश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन् ॥ ४५ ॥
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान् रवान्॥४६॥

तथा हथिनियोंके कटाक्ष-बाणसे पीड़ित हुए दूसरे बलोन्मत्त गजराज सिंह और व्याघ्र क्रोधमें भरकर भीमसेनपर टूट पड़े । वे मल-मूत्र छोड़ते हुए मन-ही-मन भयसे घबरा रहे थे और मुँह बाये हुए अत्यन्त भयानक रूपसे भैरव-गर्जना कर रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

ततो वायुसुतः क्रोधात् स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनान्यान् गजाञ्छ्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः॥४७॥
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ॥ ४८ ॥
भयाद् विसस्रुजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ॥ ४९ ॥
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन् दिशः ।

तब अपने बाहु-बलका भरोसा रखनेवाले श्रीमान् वायुपुत्र भीमने कुपित हो एक हाथीसे दूसरे हाथियोंको और एक सिंहसे दूसरे सिंहोंको मार भगाया तथा उन महाबली पाण्डुकुमारने कितनोंको तमाचोंके प्रहारसे मार डाला । भीमसेनकी मार खाकर सिंह, व्याघ्र और चीते (बघेरे) भयसे उन्हें छोड़कर भाग चले तथा घबराकर मल-मूत्र करने लगे । तदनन्तर महान् शक्तिशाली पाण्डुनन्दन भीमसेनने शीघ्र उन सबको छोड़कर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए एक वनमें प्रवेश किया ॥ ४७—४९½ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ॥ ५० ॥
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद् वेगेन क्षोभयिष्यन् महाबलः ॥ ५१ ॥
महागज इवास्रावी प्रभञ्जन् विविधान् द्रुमान् ।
उत्पाट्य कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान् ॥ ५२ ॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनां वरः ।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ॥ ५३ ॥
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद् बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ॥ ५४ ॥
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५५ ॥

इसी समय गन्धमादनके शिखरोंपर महाबाहु भीमने एक परम सुन्दर केलेका बगीचा देखा, जो कई योजन दूरतक फैला हुआ था । मदकी धारा बहानेवाले महाबली गजराजकी भाँति उस कदलीवनमें हलचल मचाते और भाँति-भाँतिके वृक्षोंको तोड़ते हुए वे बड़े वेगसे वहाँ गये । वहाँके केलेके वृक्ष खम्भोंके समान मोटे थे । उनकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी । बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने बड़े वेगसे उन्हें उखाड़-उखाड़कर सब ओर फेंकना आरम्भ किया । वे महान् तेजस्वी तो थे ही, अपने बल और पराक्रमपर गर्व भी रखते थे; अतः भगवान् नृसिंहकी भाँति विकट गर्जना करने लगे । तत्पश्चात् और भी बहुत-से बड़े-बड़े जन्तुओंपर आक्रमण किया । रुरु, वानर, सिंह, भैंसे तथा जल-जन्तुओंपर भी धावा किया । उन पशु-पक्षियोंके एवं भीमसेनके उस भयंकर शब्दसे दूसरे वनमें रहनेवाले मृग और पक्षी भी थर्रा उठे ॥ ५०—५५ ॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५६ ॥

मृगों और पक्षियोंके उस भयसूचक शब्दको सहसा सुनकर सहस्रों पक्षी आकाशमें उड़ने लगे । उन सबकी पाँखें जलसे भीगी हुई थीं ॥ ५६ ॥

तानौदकान् पक्षिगणान् निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन् रम्यं ददर्श सुमहत् सरः ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ भीमने यह देखकर कि ये तो जलके पक्षी हैं, उन्हींके पीछे चलने लगे और आगे जानेपर एक अत्यन्त रमणीय विशाल सरोवर देखा ॥ ५७ ॥

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात् तीरविसर्पिभिः ॥ ५८ ॥

उस सरोवरके एक तीरसे लेकर दूसरे तीरतक फैले हुए सुवर्णमय केलेके वृक्ष मन्द वायुसे विकम्पित होकर मानो उस अगाध जलाशयको पंखा झल रहे थे ॥ ५८ ॥

तत् सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद् बली ॥ ५९ ॥

उसमें प्रचुर कमल और उत्पल खिले हुए थे । बन्धनरहित महान् गजके समान बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन सहसा उस सरोवरमें उतरकर जल-क्रीड़ा करने लगे ॥ ५९ ॥

विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः।
ततोऽध्यगन्तुं वेगेन तद् वनं बहुपादपम्॥ ६०॥

दीर्घ कालतक उस सरोवरमें क्रीडा करनेके पश्चात् अमित तेजस्वी भीम जलसे बाहर निकले और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित उस कदलीवनमें वेगपूर्वक जानेको उद्यत हुए॥ ६०॥

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः।
आस्फोटयच्च बलवान् भीमः संनादयन् दिशः॥ ६१॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः॥ ६२॥

उस समय बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया और सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ताल ठोंका। उस शङ्खकी ध्वनि, भीमसेन-की गर्जना और उनके ताल ठोंकनेके भयंकर शब्दसे मानो-पर्वतोंकी कन्दराएँ गूँज उठीं॥ ६१-६२॥

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम्।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः॥ ६३॥

पर्वतोंपर वज्रपात होनेके समान उस ताल ठोंकनेके भयानक शब्दको सुनकर गुफाओंमें सोये हुए सिंहोंने भी जोर-जोरसे दहाड़ना आरम्भ किया॥ ६३॥

सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः॥ ६४॥

भारत! उन सिंहोंका दहाड़ना सुनकर भयसे डरे हुए हाथी भी चीत्कार करने लगे, जिससे वह विशाल पर्वत शब्दायमान हो उठा॥ ६४॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान् कपिः॥ ६५॥

बड़े-बड़े गजराजोंका वह चीत्कार सुनकर कपिप्रवर हनुमान्‌जी, जो उस समय कदलीवनमें ही रहते थे, यह समझ गये कि मेरे भाई भीमसेन इधर आये हैं॥ ६५॥

दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात्।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः॥ ६६॥
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै॥ ६७॥

तब उन्होंने भीमसेनके हितके लिये स्वर्गकी ओर जाने-वाला मार्ग रोक दिया। हनुमान्‌जीने यह सोचकर कि भीमसेन इसी मार्गसे स्वर्गलोककी ओर न चले जायँ, एक मनुष्यके आने-जाने योग्य उस संकुचित मार्गपर बैठ गये। वह मार्ग केलेके वृक्षोंसे घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था। उन्होंने अपने भाई भीमकी रक्षाके लिये ही यह राह रोकी थी॥ ६६-६७॥

मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं संचिन्त्य वानरः॥ ६८॥
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान् नाम वानरः।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा॥ ६९॥
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
आस्फोटयच्च लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम्॥ ७०॥

कदलीवनमें आये हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनको इस मार्गपर आनेके कारण किसीसे शाप या तिरस्कार न प्राप्त हो जाय, यह विचारकर ही कपिप्रवर हनुमान्‌जी उस वनके भीतर स्वर्गका रास्ता रोककर सो गये। उस समय उन्होंने अपने शरीरको बड़ा कर लिया था। निद्राके वशीभूत होकर जब वे जँभाई लेते और इन्द्रकी ध्वजाके समान ऊँचे तथा विशाल लंगूरको फटकारते, उस समय वज्रकी गड़-गड़ाहटके समान आवाज होती थी॥ ६८–७०॥

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः॥ ७१॥

वह पर्वत उनकी पूँछकी फटकारके उस महान् शब्दको सुन्दर कन्दरारूपी मुखोंद्वारा सब ओर प्रतिध्वनिके रूपमें दुहराता था, मानो कोई साँड़ जोर-जोरसे गर्जना कर रहा हो॥ ७१॥

लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्यशीर्यत॥ ७२॥
स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम्।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु॥ ७३॥

पूँछके फटकारनेकी आवाजसे वह महान् पर्वत हिल उठा। उसके शिखर झूमते-से जान पड़े और वह सब ओरसे टूट-फूटकर बिखरने लगा। वह शब्द मतवाले हाथीके चिग्घाड़नेकी आवाजको भी दबाकर विचित्र पर्वत-शिखरोंपर चारों ओर फैल गया॥ ७२-७३॥

स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम्॥ ७४॥

उसे सुनकर भीमसेनके रोंगटे खड़े हो गये और उसके कारणको ढूँढ़नेके लिये वे उस केलेके बगीचेमें घूमने लगे॥

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा॥ ७५॥

उस समय विशाल भुजाओंवाले भीमसेनने कदली-वनके भीतर ही एक मोटे शिलाखण्डपर लेटे हुए वानरराज हनुमान्‌जीको देखा॥ ७५॥

विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ॥ ७६ ॥

विद्युत्पातके समान चकाचौंध पैदा करनेके कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था । उनकी अङ्गकान्ति गिरती हुई बिजलीके समान पिङ्गल वर्णकी थी । उनका गर्जन-तर्जन वज्रपातकी गड़गड़ाहटके समान था । वे विद्युत्पात-के सदृश चञ्चल प्रतीत होते थे ॥ ७६ ॥

बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात् तनुमध्यकटीतटम् ॥ ७७ ॥
किंचिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ७८ ॥

उनके कंधे चौड़े और पुष्ट थे । अतः उन्होंने बाँहके मूल-भागको तकिया बनाकर उसीपर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवाको रख छोड़ा था और उनके शरीरका मध्यभाग एवं कटिप्रदेश पतला था । उनकी लंबी पूँछका अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था । उसकी रोमावलि घनी थी तथा वह पूँछ ऊपरकी ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा-सी सुशोभित होती थी ॥७७-७८॥

ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ॥ ७९ ॥
अपश्यद् वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ॥ ८० ॥

उनके ओठ छोटे थे । जीभ और मुखका रंग ताँबेके समान था । कान भी लाल रंगके ही थे और भौंहें चञ्चल हो रही थीं । उनके खुले हुए मुखमें श्वेत चमकते हुए दाँत और दाढ़ें अपने सफेद और तीखे अग्रभागके द्वारा अत्यन्त शोभा पा रही थीं । इन सबके कारण उनका मुख किरणोंसे प्रकाशित चन्द्रमाके समान दिखायी देता था । मुखके भीतर-की श्वेत दन्तावलि उसकी शोभा बढ़ानेके लिये आभूषणका काम दे रही थी ॥ ७९-८० ॥

केसरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ॥ ८१ ॥

सुवर्णमय कदली-वृक्षोंके बीच विराजमान महातेजस्वी हनुमान्‌जी ऐसे जान पड़ते थे, मानो केसरोंकी क्यारीमें अशोकपुष्पोंका गुच्छ रख दिया गया हो ॥ ८१ ॥

दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ८२ ॥

वे शत्रुसूदन वानरवीर अपने कान्तिमान् शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे और अपनी मधुके समान पीली आँखोंसे इधर-उधर देख रहे थे ॥ ८२ ॥

तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ ८३ ॥
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली ॥ ८४ ॥
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ८५ ॥

परम बुद्धिमान् बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वनमें विशालकाय महाबली वानरराज हनुमान्‌जीको अकेले ही स्वर्ग-का मार्ग रोककर हिमालयके समान स्थित देख निर्भय होकर वेगपूर्वक उनके पास गये और वज्र-गर्जनाके समान भयंकर सिंहनाद करने लगे । भीमसेनके उस सिंहनादसे वहाँके मृग और पक्षी थर्रा उठे ॥ ८३-८५ ॥

हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

तब महान् धैर्यशाली हनुमान्‌जीने आँखें कुछ खोलकर अपने मधुपिंगल नेत्रोंद्वारा अवहेलनापूर्वक उनकी ओर देखा और उन्हें निकट पाकर उनसे मुसकराते हुए इस प्रकार कहा—॥ ८६ ॥

हनूमानुवाच

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।
ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ॥ ८७ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भाई ! मैं तो रोगी हूँ और यहाँ सुखसे सो रहा था। तुमने क्यों मुझे जगा दिया ? तुम समझदार हो। तुम्हें सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये ॥ ८७ ॥

वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ॥ ८८ ॥

हमलोग तो पशु-योनिके प्राणी हैं, अतः धर्मकी बात नहीं जानते; परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, अतः वे सब जीवोंपर दया करते हैं ॥ ८८ ॥

क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ८९ ॥

किंतु पता नहीं, तुम्हारे-जैसे बुद्धिमान् लोग धर्मका नाश करनेवाले तथा मन, वाणी और शरीरको भी दूषित कर देनेवाले क्रूर कर्मोंमें कैसे प्रवृत्त होते हैं ? ॥ ८९ ॥

न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान् ॥ ९० ॥

तुम्हें धर्मका बिल्कुल ज्ञान नहीं है। मालूम होता है, तुमने विद्वानोंकी सेवा नहीं की है। मन्दबुद्धि होनेके कारण अज्ञानवश तुम यहाँके मृगोंको कष्ट पहुँचाते हो ॥ ९० ॥

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ॥ ९१ ॥

बोलो तो, तुम कौन हो ? इस वनमें तुम क्यों और किस लिये आये हो ? यहाँ तो न कोई मानवीय भाव हैं और न मनुष्योंका ही प्रवेश है ॥ ९१ ॥

क्व च त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ॥ ९२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ठीक-ठीक बतलाओ, तुम्हें आज इधर कहाँतक जाना है ? यहाँसे आगे तो यह पर्वत अगम्य है। इसपर चढ़ना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ९२ ॥

विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ॥ ९३ ॥

वीर ! सिद्ध पुरुषोंके सिवा और किसीकी यहाँ गति नहीं है। यह देवलोकका मार्ग है, जो मनुष्योंके लिये सदा अगम्य है ॥ ९३ ॥

कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे।
नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ॥ ९४ ॥

वीरवर ! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जानेसे रोकता हूँ। मेरी बात सुनो। प्रभो ! यहाँसे आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते। इसपर विश्वास करो ॥ ९४ ॥

स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ॥ ९५ ॥
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम्।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ॥ ९६ ॥

मानवशिरोमणे ! आज यहाँ सब प्रकारसे तुम्हारा स्वागत है। ये अमृतके समान मीठे फल-मूल खाकर यहींसे लौट जाओ, अन्यथा व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे। नरपुङ्गव ! यदि मेरा कथन हितकर जान पड़े, तो इसे अवश्य मानो ॥ ९५-९६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें भीमसेनका कदलीवनमें प्रवेशविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान् और भीमसेनका संवाद

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय परम बुद्धिमान् वानरराज हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर शत्रुसूदन वीरवर भीमसेनने इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

भीम उवाच

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ॥ २ ॥

भीमसेनने पूछा—आप कौन हैं और किसलिये वानरका रूप धारण कर रक्खा है ? मैं ब्राह्मणके बादका वर्ण—क्षत्रिय हूँ और मैं आपसे आपका परिचय पूछता हूँ ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥ ३ ॥

मेरा परिचय इस प्रकार है—मैं चन्द्रवंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा जन्म कुरुकुलमें हुआ है। माता कुन्तीने मुझे गर्भमें धारण किया था। मैं वायुपुत्र पाण्डव हूँ। मेरा नाम भीमसेन है ॥ ३ ॥

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत्।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥

कुरुवीर भीमसेनका यह वचन मन्द मुसकानके साथ सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने वायुके ही पुत्र भीमसेनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

हनूमानुवाच

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम्।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥ ५ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भैया ! मैं वानर हूँ। तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार मार्ग नहीं दूँगा। अच्छा तो यह होगा कि तुम यहींसे लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे ॥ ५ ॥

भीमसेन उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम् ॥ ६ ॥

भीमसेनने कहा—वानर ! मेरे प्राण संकटमें पड़ें या और कोई दुष्परिणाम भोगना पड़े, इसके विषयमें तुमसे कुछ नहीं पूछता हूँ। उठो और मुझे आगे जानेके लिये रास्ता दो। ऐसा होनेपर तुमको मेरे हाथोंसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा ॥ ६ ॥

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥ ७ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भाई ! मैं रोगसे कष्ट पा रहा हूँ। मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं है। यदि तुम्हें जाना अवश्य है, तो मुझे लाँघकर चले जाओ ॥ ७ ॥

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ॥ ८ ॥

भीमसेनने कहा—निर्गुण परमात्मा समस्त प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं। वे ज्ञानसे ही जाननेमें आते हैं। मैं उनका अपमान या उल्लङ्घन नहीं करूँगा ॥ ८ ॥

यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम्।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम् ॥ ९ ॥

यदि शास्त्रोंके द्वारा मुझे उन भूतभावन भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होता, तो मैं तुम्हींको क्या इस पर्वतको भी उसी प्रकार लाँघ जाता, जैसे हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ गये थे ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच

क एष हनुमान् नाम सागरो येन लङ्घितः।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

हनुमान्‌जी बोले—नरश्रेष्ठ ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, वह हनुमान् कौन था ? जो समुद्रको लाँघ गया था। उसके विषयमें यदि तुम कुछ कह सको तो कहो ॥ १० ॥

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः ॥ ११ ॥

भीमसेनने कहा—वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जी मेरे बड़े भाई हैं ! वे अपने सद्गुणोंके कारण सबके लिये प्रशंसनीय हैं। वे बुद्धि, बल, धैर्य एवं उत्साहसे युक्त हैं। रामायणमें उनकी बड़ी ख्याति है ॥ ११ ॥

रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥ १२ ॥

वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीकी खोज करनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको एक ही छलाँगमें लाँघ गये थे ॥ १२ ॥

स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥

वे महापराक्रमी वानरवीर मेरे भाई लगते हैं। मैं भी उन्हींके समान तेजस्वी, बलवान् और पराक्रमी हूँ तथा युद्धमें तुम्हें परास्त कर सकता हूँ ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम्।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥

उठो और मुझे रास्ता दो तथा आज मेरा पराक्रम अपनी आँखों देख लो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे, तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम्।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनको बलके अभिमानसे उन्मत्त तथा अपनी भुजाओंके पराक्रमसे घमंडमें भरा हुआ जान हनुमान्‌जीने मन-ही-मन उनका उपहास करते हुए उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

हनूमानुवाच

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ।
ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—अनघ ! मुझपर कृपा करो। बुढ़ापेके कारण मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। इसलिये मेरे ऊपर दया करके इस पूँछको हटा दो और निकल जाओ ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाचिन्तयद् भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर अपने बाहुबलका घमंड रखनेवाले भीमने मन-ही-मन उन्हें बल और पराक्रमसे हीन समझा ॥ १७ ॥

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ॥ १८ ॥

और भीतर-ही-भीतर यह संकल्प किया कि 'आज मैं इस बल और पराक्रमसे शून्य वानरको वेगपूर्वक इसकी पूँछ पकड़कर यमराजके लोकमें भेज देता हूँ' ॥ १८ ॥

सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १९ ॥

ऐसा सोचकर उन्होंने बड़ी लापरवाही दिखाते और मुसकराते हुए अपने बायें हाथसे उस महाकपिकी पूँछ पकड़ी, किंतु वे उसे हिला-डुला भी न सके ॥ १९ ॥

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ २० ॥

तब महाबली भीमसेनने उनकी इन्द्र-धनुषके समान ऊँची पूँछको दोनों हाथोंसे उठानेका पुनः प्रयत्न किया, परंतु दोनों हाथ लगा देनेपर भी वे उसे उठा न सके ॥ २० ॥

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद् भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम्॥ २१ ॥

फिर तो उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें फटी-सी रह गयीं, मुखमण्डलमें भ्रुकुटी स्पष्ट दिखायी देने लगी और उनके सारे अङ्ग पसीनेसे तर हो गये । फिर भी भीमसेन हनुमान्‌जीकी पूँछको किञ्चित् भी हिला न सके ॥ २१ ॥

यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ॥ २२ ॥
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २३ ॥

यद्यपि श्रीमान् भीमसेन उस पूँछको उठानेमें सर्वथा समर्थ थे और उसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया, तथापि सफल न हो सके । इससे उनका मुँह लज्जासे झुक गया और वे कुन्तीकुमार भीम हनुमान्‌जीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए खड़े होकर बोले—'कपिप्रवर ! मैंने जो कठोर बातें कही हों, उन्हें क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न होइये ॥ २२-२३ ॥

सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन् काम्यया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २४ ॥

आप कोई सिद्ध हैं या देवता ? गन्धर्व हैं या गुह्यक ? मैं परिचय जाननेकी इच्छासे पूछ रहा हूँ । बतलाइये, इस प्रकार वानरका रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं ? ॥२४॥

न चेद् गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद् भवेन्मम ।
शिष्यवत्त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! यदि कोई गुप्त बात न हो और वह मेरे सुनने-योग्य हो, तो बताइये । अनघ ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ और शिष्यभावसे पूछता हूँ । अतः अवश्य बतानेकी कृपा करें' ॥ २५ ॥

हनूमानुवाच

यत् ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
तत् सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन ॥ २६ ॥

हनुमान्‌जी बोले—शत्रुदमन पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे मनमें मेरा परिचय प्राप्त करनेके लिये जो कौतूहल हो रहा है, उसकी शान्तिके लिये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनो ॥ २६ ॥

अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान् नाम वानरः ॥ २७ ॥

कमलनयन भीम ! मैं वानरश्रेष्ठ केसरीके क्षेत्रमें जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुदेवसे उत्पन्न हुआ हूँ । मेरा नाम हनुमान् वानर है ॥ २७ ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ॥ २८ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा ॥ २९ ॥

पूर्वकालमें सभी वानरराज और वानरयूथपति, जो महान् पराक्रमी थे, सूर्यनन्दन सुग्रीव तथा इन्द्रकुमार वाली-की सेवामें उपस्थित रहते थे । शत्रुसूदन भीम ! उन दिनों सुग्रीवके साथ मेरी वैसी ही प्रेमपूर्ण मित्रता थी, जैसी वायुकी अग्निके साथ मानी गयी है ॥ २८-२९ ॥

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ ३० ॥

किसी कारणान्तरसे वालीने अपने भाई सुग्रीवको घरसे निकाल दिया, तब बहुत दिनोंतक वे मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहे ॥ ३० ॥

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ॥ ३१ ॥

उस समय महाबली वीर दशरथनन्दन श्रीराम, जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, मनुष्यरूप धारण करके इस भूतलपर विचर रहे थे ॥ ३१ ॥

स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ ३२ ॥

वे अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये पत्नी सीता

और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें चले आये। धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ रघुनाथजी सदा धनुष-बाण लिये रहते थे॥

तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात्।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना॥ ३३॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदानघ॥ ३४॥

अनघ! दण्डकारण्यमें आकर वे जनस्थानमें रहा करते थे। एक दिन अत्यन्त बलवान् दुरात्मा राक्षसराज रावण मायासे सुवर्ण-रत्नमय विचित्र मृगका रूप धारण करनेवाले मारीच नामक राक्षसके द्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामको धोखेमें डालकर उनकी पत्नी सीताको छल-बलपूर्वक हर ले गया॥ ३३-३४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें हनुमान्जी और भीमसेनका संवाद-विषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४७॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्जीका भीमसेनको संक्षेपसे श्रीरामका चरित्र सुनाना

हनूमानुवाच

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः।
दृष्टवाञ्छैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ १॥

हनुमान्जी कहते हैं—भीमसेन! इस प्रकार स्त्रीका अपहरण हो जानेपर अपने भाईके साथ उसकी खोज करते हुए श्रीरघुनाथजी जनस्थानसे आगे बढ़े। उन्होंने ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे भेंट की॥१॥

तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान्॥ २॥

वहाँ सुग्रीवके साथ महात्मा श्रीरघुनाथजीकी मित्रता हो गयी। तब उन्होंने वालीको मारकर किष्किन्धाके राज्यपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया॥ २॥

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः॥ ३॥

राज्य पाकर सुग्रीवने सीताजीकी खोजके लिये सौ-सौ तथा हजार-हजार वानरोंकी टोली इधर-उधर भेजी॥ ३॥

ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम्॥ ४॥

नरश्रेष्ठ! महाबाहो! उस समय करोड़ों वानरोंके साथ मैं भी सीताजीका पता लगाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर गया॥ ४॥

ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने॥ ५॥

तदनन्तर गृध्रजातीय महाबुद्धिमान् सम्पातिने सीताजीके सम्बन्धमें यह समाचार दिया कि वे रावणके नगरमें विद्यमान हैं॥ ५॥

ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाऽऽप्लुतः॥ ६॥

तब मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये सहसा सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ गया॥ ६॥

अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम्।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम्॥ ७॥
दृष्टवान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम्॥ ८॥
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम्।
प्रत्यागतश्चापि पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ! मगर और ग्राह आदिसे भरे हुए उस समुद्रको अपने पराक्रमसे पार करके मैं रावणके नगरमें देवकन्याके समान तेजस्विनी जनकराजनन्दिनी सीतासे मिला। रघुनाथजीकी प्रियतमा विदेहराजकुमारी सीतादेवीसे भेंट करके अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वारसहित समूची लङ्कापुरीको जलाकर वहाँ श्रीराम नामकी घोषणा करके मैं पुनः लौट आया॥ ७–९॥

मद्वाक्यं चावधार्याशु रामो राजीवलोचनः।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बद्ध्वा सेतुं महोदधौ॥ १०॥
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम्।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान्॥ ११॥
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम्।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम्॥ १२॥

मेरी बात मानकर कमलनयन भगवान् श्रीरामने बुद्धिपूर्वक विचार करके सैनिकोंकी सलाहसे महासागरपर पुल बँधवाया और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वे महासमुद्रको पार करके लङ्कापर जा चढ़े। तदनन्तर वीरवर श्रीरामने उन समस्त राक्षसोंको मारकर युद्धमें समस्त लोकोंको रुलानेवाले राक्षसराज रावणको भी भाई, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला॥ १०–१२॥

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ॥ १३ ॥
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः ॥ १४ ॥
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः।
अध्यावसत् ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः॥ १५ ॥
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ॥ १६ ॥
यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा, भक्तिमान् तथा भक्तों और सेवकोंपर स्नेह रखनेवाले राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया और खोयी हुई वैदिकी श्रुतिकी भाँति अपनी पत्नीका वहाँसे उद्धार करके महायशस्वी रघुनन्दन श्रीराम अपनी उस साध्वी पत्नीके साथ ही बड़ी उतावलीके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौट आये। इसके बाद शत्रुओं-को भी वशमें करनेवाले नृपश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम अवधके राज्यसिंहासनपर आसीन हो उस अजेय अयोध्यापुरीमें रहने लगे। उस समय मैंने कमलनयन श्रीरामसे यह वर माँगा कि 'शत्रुसूदन! जबतक आपकी यह कथा संसारमें प्रचलित रहे, तबतक मैं अवश्य जीवित रहूँ'। भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १३-१७ ॥

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ॥ १८ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेन! श्रीसीताजीकी कृपासे यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः ॥ १९ ॥

श्रीरामजीने ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर राज्य किया, फिर वे अपने परम धामको चले गये ॥ १९ ॥

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ २० ॥

निष्पाप भीम! इस स्थानपर गन्धर्व और अप्सराएँ वीरवर रघुनाथजीके चरित्रोंको गाकर मुझे आनन्दित करते रहते हैं ॥ २० ॥

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम् ॥ २१ ॥
धर्षयेद् वा शपेद् वापि मा कश्चिदिति भारत।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः।
यदर्थमागतश्चासि अत एव सरश्च तत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्योंके लिये अगम्य है। अतः इस देवसेवित पथको मैंने इसीलिये तुम्हारे लिये रोक दिया था, कि इस मार्गसे जानेपर कोई तुम्हारा तिरस्कार न कर दे या शाप न दे दे; क्योंकि यह दिव्य देवमार्ग है। इसपर मनुष्य नहीं जाते हैं। भारत! तुम जहाँ जानेके लिये आये हो, वह सरोवर तो यहीं है ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें हनुमान्जी और भीमसेनका संवादनामक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्जीके द्वारा चारों युगोंके धर्मोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान्।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ॥ १ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम्।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर प्रतापी वीर महाबाहु भीमसेनके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने भाई वानरराज हनुमान्-को प्रणाम करके मधुर वाणीमें कहा—'अहा! आज मेरे समान बड़भागी दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि आज मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राताका दर्शन हुआ है ॥ १-२ ॥

अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात्।
एकं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः ॥ ३ ॥

'आर्य! आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। आपके दर्शनसे मुझे बड़ा सुख मिला है। अब मैं पुनः आपके द्वारा अपना एक और प्रिय कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

यत् ते तदाऽऽसीत् प्लवतः सागरं मकरालयम्।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ४ ॥

एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ५ ॥

'वीरवर ! मकरालय समुद्रको लाँघते समय आपने जो अनुपम रूप धारण किया था, उसका दर्शन करनेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है । उसे देखनेसे मुझे संतोष तो होगा ही, आपकी बातपर श्रद्धा भी हो जायगी ।' भीमसेनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी हनुमान्‌जीने हँसकर कहा—॥ ४-५ ॥

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

'भैया ! तुम उस स्वरूपको नहीं देख सकते, कोई दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं देख सकता । उस समयकी अवस्था कुछ और ही थी, अब वह नहीं है ॥ ६ ॥

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद् रूपमस्ति मे ॥ ७ ॥
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे ॥ ८ ॥
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च ।
तदलं बत तद् रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥

'सत्ययुगका समय दूसरा था तथा त्रेता और द्वापरका दूसरा ही है । यह काल सभी वस्तुओंको नष्ट करनेवाला है। अब मेरा वह रूप है ही नहीं । पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी कालका अनुसरण करते हैं । प्रत्येक युगके अनुसार सभी वस्तुओंके शरीर, बल और प्रभावमें न्यूनाधिकता होती रहती है । अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम उस स्वरूपको देखनेका आग्रह न करो । मैं भी युगका अनुसरण करता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है' ॥ ७–९ ॥

भीम उवाच

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्यं भवाभवौ ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर ! आप मुझे युगोंकी संख्या बताइये और प्रत्येक युगमें जो आचार, धर्म, अर्थ एवं कामके तत्त्व, शुभाशुभ कर्म, उन कर्मोंकी शक्ति तथा उत्पत्ति और विनाशादि भाव होते हैं, उनका भी वर्णन कीजिये॥

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जी बोले—तात ! सबसे पहला कृतयुग है । उसमें सनातन धर्मकी पूर्ण स्थिति रहती है । उसका कृतयुग नाम इसलिये पड़ा है, कि उस उत्तम युगके लोग अपना सब कर्तव्य कर्म सम्पन्न ही कर लेते थे । उनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता था (अतः 'कृतम् एव सर्वं शुभं यस्मिन् युगे' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह 'कृतयुग' कहलाया)॥११॥

न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ १२ ॥

उस समय धर्मका ह्रास नहीं होता था । प्रजाका अर्थात् (माता-पिताके रहते हुए) संतानका नाश नहीं होता था । तदनन्तर कालक्रमसे उसमें गौणता आ गयी ॥ १२ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ॥ १३ ॥

तात ! कृतयुगमें देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग नहीं थे अर्थात् ये परस्पर भेद-भाव नहीं रखते थे । उस समय क्रय-विक्रयका व्यवहार भी नहीं था ॥ १३ ॥

न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी ।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रवर्णोंका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं था । कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी । उस समय चिन्तन करनेमात्रसे सबको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती थी । सत्ययुगमें एक ही धर्म था, स्वार्थका त्याग ॥ १४ ॥

न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ॥ १५ ॥

उस युगमें बीमारी नहीं होती थी । इन्द्रियोंमें भी क्षीणता नहीं आने पाती थी । कोई किसीके गुणोंमें दोष-दर्शन नहीं करता था । किसीको दुःखसे रोना नहीं पड़ता था और न किसीमें घमंड था तथा न कोई अन्य विकार ही होता था ॥

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम् ।
न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥ १६ ॥

कहीं लड़ाई-झगड़ा नहीं था, आलसी भी नहीं थे । द्वेष, चुगली, भय, संताप, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था* ॥

ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा ।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १७ ॥

उस समय योगियोंके परम आश्रय और सम्पूर्ण भूतोंकी अन्तरात्मा परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका वर्ण शुक्ल था॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १८ ॥

* सत्ययुगके मनुष्य आदि प्राणियोंमें दोषोंका अभाव बतलाया है, उसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि अधिकांशमें उनमें इन दोषोंका अभाव था ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शम-दम आदि स्वभावसिद्ध शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। सत्ययुगमें समस्त प्रजा अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंमें तत्पर रहती थी ॥ १८ ॥

समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १९ ॥

उस समय परब्रह्म परमात्मा ही सबके एकमात्र आश्रय थे! उन्हींकी प्राप्तिके लिये सदाचारका पालन किया जाता था। सब लोग एक परमात्माका ही ज्ञान प्राप्त करते थे। सभी वर्णोंके मनुष्य परब्रह्म परमात्माके उद्देश्यसे ही समस्त सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते थे और इस प्रकार उन्हें उत्तम धर्म-फलकी प्राप्ति होती थी ॥ १९ ॥

एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ २० ॥

सब लोग सदा एक परमात्मदेवमें ही चित्त लगाये रहते थे। सब लोग एक परमात्माके ही नामका जप और उन्हींकी सेवा-पूजा किया करते थे। सबके वर्णाश्रमानुसार पृथक्-पृथक् धर्म होनेपर भी वे एकमात्र वेदको ही माननेवाले थे और एक ही सनातनधर्मके अनुयायी थे ॥ २० ॥

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना।
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २१ ॥

सत्ययुगके लोग समय-समयपर किये जानेवाले चार आश्रमसम्बन्धी सत्कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्मफलकी कामना और आसक्ति न होनेके कारण परम गति प्राप्त कर लेते थे ॥

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २२ ॥

चित्तवृत्तियोंको परमात्मामें स्थापित करके उनके साथ एकताकी प्राप्ति करानेवाला यह योग नामक धर्म सत्ययुगका सूचक है। सत्ययुगमें चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म चारों चरणोंसे सम्पन्न—सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान था ॥ २२ ॥

एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्तते ॥ २३ ॥

यह तीनों गुणोंसे रहित सत्ययुगका वर्णन हुआ। अब त्रेताका वर्णन सुनो, जिसमें यज्ञ-कर्मका आरम्भ होता है ॥२३॥

पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २४ ॥

उस समय धर्मके एक चरणका ह्रास हो जाता है और भगवान् अच्युतका स्वरूप लाल वर्णका हो जाता है। लोग सत्यमें तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञक्रिया तथा धर्मके पालनमें परायण रहते हैं ॥ २४ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः।
त्रेतायां भावसंकल्पाः क्रियादानफलोपगाः ॥ २५ ॥

त्रेतायुगमें ही यज्ञ, धर्म तथा नाना प्रकारके सत्कर्म आरम्भ होते हैं। लोगोंको अपनी भावना तथा संकल्पके अनुसार वेदोक्त कर्म तथा दान आदिके द्वारा अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपोदानपरायणाः।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २६ ॥

त्रेतायुगके मनुष्य तप और दानमें तत्पर रहकर अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं होते थे। सभी स्वधर्मपरायण तथा क्रियावान् थे ॥ २६ ॥

द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २७ ॥

द्वापरमें हमारे धर्मके दो ही चरण रह जाते हैं, उस समय भगवान् विष्णुका स्वरूप पीले वर्णका हो जाता है और वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन) चार भागोंमें बँट जाता है ॥ २७ ॥

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे ॥ २८ ॥

उस समय कुछ द्विज चार वेदोंके ज्ञाता, कुछ तीन वेदोंके विद्वान्, कुछ दो ही वेदोंके जानकार, कुछ एक ही वेदके पण्डित और कुछ वेदकी ऋचाओंके ज्ञानसे सर्वथा शून्य होते हैं ॥ २८ ॥

एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २९ ॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके होनेसे उनके बताये हुए कर्मोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं तथा प्रजा तप और दान—इन दो ही धर्मोंमें प्रवृत्त होकर राजसी हो जाती है ॥ २९ ॥

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३० ॥

द्वापरमें सम्पूर्ण एक वेदका भी ज्ञान न होनेसे वेदके बहुत-से विभाग कर लिये गये हैं। इस युगमें सात्त्विक बुद्धिका क्षय होनेसे कोई विरला ही सत्यमें स्थित होता है ॥ ३० ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन्।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ॥ ३१ ॥

सत्यसे भ्रष्ट होनेके कारण द्वापरके लोगोंमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ पैदा होती हैं और वे बहुत-से दैवी उपद्रवोंसे भी पीड़ित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ॥ ३२ ॥

उन सबसे अत्यन्त पीड़ित होकर लोग तप करने लगते हैं। कुछ लोग भोग और स्वर्गकी कामनासे यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ३२ ॥

एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः॥ ३३॥

इस प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अधर्मके कारण प्रजा क्षीण होने लगती है। (तत्पश्चात् कलियुगका आगमन होता है।) कुन्तीनन्दन! कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे स्थित होता है॥ ३३॥

तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा॥ ३४॥

इस तमोगुणी युगको पाकर भगवान् विष्णुके श्रीविग्रहका रंग काला हो जाता है। वैदिक सदाचार, धर्म तथा यज्ञ-कर्म नष्ट हो जाते हैं॥ ३४॥

ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा।
उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा॥ ३५॥

ईति, व्याधि, आलस्य, क्रोध आदि दोष, मानसिक रोग तथा भूख-प्यासका भय—ये सभी उपद्रव बढ़ जाते हैं॥३५॥

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः॥ ३६॥

युगोंके परिवर्तन होनेपर आनेवाले युगोंके अनुसार धर्मका भी ह्रास होता जाता है। इस प्रकार धर्मके क्षीण होनेसे लोक (की सुख-सुविधा) का भी क्षय होने लगता है॥ ३६॥

लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते॥ ३७॥

लोकके क्षीण होनेपर उसके प्रवर्तक भावोंका भी क्षय हो जाता है। युग-क्षयजनित धर्म मनुष्यकी अभीष्ट कामनाओं-के विपरीत फल देते हैं॥ ३७॥

एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्तते।
युगानुवर्तनं त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः॥ ३८॥

यह कलियुगका वर्णन किया गया, जो शीघ्र ही आने-वाला है। चिरजीवीलोग भी इस प्रकार युगका अनुसरण करते हैं॥ ३८॥

यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः॥ ३९॥

शत्रुदमन! तुम्हें मेरे पुरातन स्वरूपको देखने या जाननेके लिये जो कौतूहल हुआ है, वह ठीक नहीं है। किसी भी समझदार मनुष्यका निरर्थक विषयोंके लिये आग्रह क्यों होना चाहिये?॥ ३९॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम्॥ ४०॥

महाबाहो! तुमने युगोंकी संख्याके विषयमें मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैंने यह सब बातें बतायी हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम लौट जाओ॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कदलीवनके भीतर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४९॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीके द्वारा भीमसेनको अपने विशाल रूपका प्रदर्शन और चारों वर्णोंके धर्मोंका प्रतिपादन

भीमसेन उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथंचन।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना॥ १॥

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर! मैं आपका वह पूर्वरूप देखे बिना किसी प्रकार नहीं जाऊँगा। यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ, तो आप स्वयं ही अपने आपको मेरे सामने प्रकट कर दीजिये॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवंगमः।
तद् रूपं दर्शयामास यद् वै सागरलङ्घने॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने मुसकराकर उन्हें अपना वह रूप दिखाया, जो उन्होंने समुद्र-लङ्घनके समय धारण किया था॥

भ्रातुः प्रियमभीप्सन् वै चकार सुमहद् वपुः।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः॥ ३॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः॥ ४॥

उन्होंने अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे अत्यन्त विशाल शरीर धारण किया। उनका शरीर लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाईमें बहुत बड़ा हो गया। वे अमिततेजस्वी वानरवीर वृक्षोंसहित समूचे कदलीवनको आच्छादित करते हुए गन्धमादन पर्वतकी ऊँचाईको भी लाँघकर वहाँ खड़े हो गये॥ ३-४॥

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भ्रूकुटीकुटिलाननः॥ ५॥

उनका वह उन्नत विशाल शरीर दूसरे पर्वतके समान

प्रतीत होता था। लाल आँखों, तीखी दाढ़ों और टेढ़ी भौंहोंसे युक्त उनका मुख था ॥ ५ ॥

दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः।
तद् रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ॥ ६ ॥
विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ॥ ७ ॥
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत्।
आबभाषे च हनुमान् भीमसेनं स्मयन्निव ॥ ८ ॥

वे वानरवीर अपनी विशाल पूँछको हिलाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंको घेरकर खड़े थे। भाईके उस विराट् रूपको देखकर कौरवनन्दन भीमको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके शरीरमें बार-बार हर्षसे रोमाञ्च होने लगा। हनुमान्जी तेजमें सूर्यके समान दिखायी देते थे। उनका शरीर सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान था और उनकी प्रभासे सारा आकाश-मण्डल प्रज्वलित-सा जान पड़ता था। उनकी ओर देखकर भीमसेनने दोनों आँखें बंद कर लीं। तब हनुमान्जी उनसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ६—८ ॥

एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम्।
भीमशत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥

'अनघ! तुम यहाँ मेरे इतने ही बड़े रूपको देख सकते हो, परंतु मैं इससे भी बड़ा हो सकता हूँ। मेरे मनमें जितने बड़े स्वरूपकी भावना होती है, उतना ही मैं बढ़ सकता हूँ। भयानक शत्रुओंके समीप मेरी मूर्ति अत्यन्त ओजके साथ बढ़ती है' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसंनिभम्।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्जीका वह विन्ध्य पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर और अद्भुत शरीर देखकर वायुपुत्र भीमसेन घबरा गये। उनके शरीर-में रोंगटे खड़े होने लगे। उस समय उदारहृदय भीमने हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए हनुमान्जीसे कहा—॥

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥

'प्रभो! आपके इस शरीरका विशाल प्रमाण प्रत्यक्ष देख लिया। महापराक्रमी वीर! अब आप स्वयं ही अपने शरीर-को समेट लीजिये ॥ १२ ॥

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥

'आप तो सूर्यके समान उदित हो रहे हैं। मैं आपकी ओर देख नहीं सकता। आप अप्रमेय तथा दुर्धर्ष मैनाक पर्वतके समान खड़े हैं ॥ १३ ॥

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वै।
यद् रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥

'वीर! आज मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके निकट रहते हुए भी भगवान् श्रीरामने स्वयं ही रावणका सामना किया ॥ १४ ॥

त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम्।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥

'आप तो अकेले ही अपने बाहुबलका आश्रय लेकर योद्धाओं और वाहनोंसहित समूची लङ्काको अनायास नष्ट कर सकते थे ॥ १५ ॥

न हि ते किंचिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥

'मारुतनन्दन! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। समर-भूमिमें अपने सैनिकोंसहित रावण अकेले आपका ही सामना करनेमें समर्थ नहीं था' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्जीने स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७ ॥

हनूमानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः ॥ १८ ॥

हनुमान्‌जी बोले—भारत ! महाबाहु भीमसेन ! तुम जैसा कहते हो, ठीक ही है । वह अधम राक्षस वास्तवमें मेरा सामना नहीं कर सकता था ॥ १८ ॥

मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके।
कीर्तिर्नश्येद् राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ॥ १९ ॥

किंतु सम्पूर्ण लोकोंको काँटेके समान कष्ट देनेवाला रावण यदि मेरे ही हाथों मारा जाता, तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्ति नष्ट हो जाती । इसीलिये मैंने उसकी उपेक्षा कर दी ॥ १९ ॥

तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम्।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाख्यापिता नृषु ॥ २० ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित उस अधम राक्षसका वध करके सीताजीको अपनी अयोध्यापुरीमें ले आये। इससे मनुष्योंमें उनकी कीर्तिका भी विस्तार हुआ ॥ २० ॥

तद् गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ॥ २१ ॥

अच्छा, महाप्राज्ञ ! अब तुम अपने भाईके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर वायुदेवतासे सुरक्षित हो क्लेशरहित मार्गसे कुशलपूर्वक जाओ ॥ २१ ॥

एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ॥ २२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मार्ग सौगन्धिक वनको जाता है । इससे जानेपर तुम्हें कुबेरका बगीचा दिखायी देगा, जो यक्षों तथा राक्षसोंसे सुरक्षित है ॥ २२ ॥

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम्।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ॥ २३ ॥

वहाँ जाकर तुम जल्दीसे स्वयं ही उसके फूल न तोड़ने लगना । मनुष्योंको तो विशेषरूपसे देवताओंका सम्मान ही करना चाहिये ॥ २३ ॥

बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्रजप तथा भक्तिभावसे देवता प्रसन्न होकर कृपा करते हैं ॥ २४ ॥

मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ॥ २५ ॥

तात ! तुम दुःसाहस न कर बैठना, अपने धर्मका पालन करना, स्वधर्ममें स्थित रहकर तुम श्रेष्ठ धर्मको समझो और उसका पालन करो ॥ २५ ॥

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ २६ ॥

क्योंकि धर्मको जाने बिना और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा किये बिना बृहस्पति-जैसे विद्वानोंके लिये भी धर्म और अर्थके तत्त्वको समझना सम्भव नहीं है ॥ २६ ॥

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ॥ २७ ॥

कहीं अधर्म ही धर्म कहलाता है और कहीं धर्म भी अधर्म कहा जाता है । अतः धर्म और अधर्मके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । बुद्धिहीनलोग इसमें मोहित हो जाते हैं ॥ २७ ॥

आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥

आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है । धर्ममें वेदोंकी प्रतिष्ठा है । वेदोंसे यज्ञ प्रकट हुए हैं और यज्ञोंसे देवताओंकी स्थिति है ॥ २८ ॥

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः ॥ २९ ॥

वेदोक्त आचारके विधानसे बतलाये हुए यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आजीविका चलती है और बृहस्पति तथा शुक्राचार्यकी कही हुई नीतियाँ मनुष्योंके जीवन-निर्वाहकी आधारभूमि हैं ॥ २९ ॥

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोजाविपोषणैः।
विद्यया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥ ३० ॥

हाट-बाजार करना, कर (लगान या टैक्स) लेना, व्यापार, खेती, गोपालन, भेड़ और बकरोंका पोषण तथा विद्या पढ़ना-पढ़ाना—इन धर्मानुकूल वृत्तियोंद्वारा द्विजगण सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम्।
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ॥ ३१ ॥

वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि) और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं (इनमें वेदाध्ययन ब्राह्मणकी, वार्ता वैश्यकी और दण्डनीति क्षत्रियकी जीविकावृत्ति है) । विज्ञ पुरुषोंद्वारा इन वृत्तियोंका ठीक-ठीक प्रयोग होनेसे लोकयात्राका निर्वाह होता है ॥ ३१ ॥

सा चेद् धर्मक्रिया न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ॥ ३२ ॥

यदि लोकयात्रा धर्मपूर्वक न चलायी जाय, इस पृथ्वीपर वेदोक्त धर्मका पालन न हो और दण्डनीति भी उठा दी जाय तो यह सारा जगत् मर्यादाहीन हो जाय ॥ ३२ ॥

वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयन्ति वै प्रजाः ॥ ३३ ॥

यदि यह प्रजा वार्ता-धर्म (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) में प्रवृत्त न हो तो नष्ट हो जायगी । इन तीनोंकी सम्यक् प्रवृत्ति होनेसे प्रजा धर्मका सम्पादन करती है ॥ ३३ ॥

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः ।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सद्भाव) । यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है । यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन धर्म द्विजमात्रके सामान्य धर्म माने गये हैं ॥ ३४ ॥

याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः ।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ॥ ३५ ॥

यज्ञ कराना, वेद और शास्त्रोंको पढ़ाना तथा दान ग्रहण करना—यह ब्राह्मणका ही आजीविकाप्रधान धर्म है । प्रजा-पालन क्षत्रियोंका और पशु-पालन वैश्योंका धर्म है ॥३५॥

शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते ।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका धर्म बताया गया है । तीनों वर्णोंकी सेवामें रहनेवाले शूद्रोंके लिये भिक्षा, होम और व्रत मना है ॥ ३६ ॥

क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम् ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! सबकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है, अतः तुम्हारा धर्म भी यही है । अपने धर्मका पालन करो । विनयशील बने रहो और इन्द्रियोंको वशमें रक्खो ॥ ३७ ॥

वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः ।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते ॥ ३८ ॥

वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, बुद्धिमान् तथा बड़े-बूढ़े श्रेष्ठ पुरुषोंसे सलाह करके उनका कृपापात्र बना हुआ राजा ही दण्डनीतिके द्वारा शासन कर सकता है । जो राजा दुर्व्यसनोंमें आसक्त होता है, उसका पराभव हो जाता है ॥ ३८ ॥

निग्रहानुग्रहैः सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहके द्वारा प्रजावर्गके साथ यथोचित बर्ताव करता है, तभी लोककी सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती हैं ॥ ३९ ॥

तस्माद् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च ।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ॥ ४० ॥

इसलिये राजाको उचित है कि वह देश और दुर्गमें अपने शत्रु और मित्रोंके सैनिकोंकी स्थिति, वृद्धि और क्षयका गुप्तचरोंद्वारा सदा पता लगाता रहे ॥ ४० ॥

राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः ।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ॥ ४१ ॥

साम, दान, दण्ड, भेद ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओंके लिये कार्य-सिद्धिके साधन हैं ॥४१॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ॥ ४२ ॥

साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियोंमें-से एक-दोके द्वारा या सबके एक साथ प्रयोगद्वारा राजाओंको अपने कार्य सिद्ध करने चाहिये ॥ ४२ ॥

मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सारी नीतियों और गुप्तचरोंका मूल आधार है मन्त्रणाको गुप्त रखना । उत्तम मन्त्रणा या विचारसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिये द्विजोंके साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये ॥ ४३ ॥

स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा ।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ॥ ४४ ॥

स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषोंके साथ तथा जिसमें उन्मादका लक्षण दिखायी दे, उसके साथ भी गुप्त परामर्श न करे ॥ ४४ ॥

मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्जयेत् ॥४५॥

विद्वानोंके साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये । जो शक्तिशाली हों, उन्हींसे कार्य कराने चाहिये । जो स्नेही (सुहृद्) हों, उन्हींके द्वारा नीतिके प्रयोगका काम कराना चाहिये । मूर्खोंको तो सभी कार्योंसे अलग रखना चाहिये ॥ ४५ ॥

धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान् नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु ॥ ४६ ॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मके कार्योंमें धार्मिक पुरुषोंको, अर्थसम्बन्धी कार्योंमें अर्थ-शास्त्रके पण्डितोंको, स्त्रियोंकी देख-भालके लिये नपुंसकोंको और कठोर कार्योंमें क्रूर स्वभावके मनुष्योंको लगावे ॥ ४६ ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा ।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ॥ ४७ ॥

बहुत-से कार्योंको आरम्भ करते समय अपने तथा शत्रु-पक्षके लोगोंसे भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करने योग्य है या नहीं । साथ ही, शत्रुकी प्रबलता और दुर्बलताको भी जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४७ ॥

बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात् साधुष्वनुग्रहम् ।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥

बुद्धिसे सोच-विचारकर अपनी शरणमें आये हुए श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुषोंपर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा भङ्ग करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देना चाहिये ॥ ४८ ॥

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥

जब राजा निग्रह और अनुग्रहमें ठीक तौरसे प्रवृत्त होता है, तभी लोककी मर्यादा सुरक्षित रहती है ॥ ४९ ॥

एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥

कुन्तीनन्दन ! यह मैंने तुम्हें कठोर राज्य-धर्मका उपदेश दिया है । इसके मर्मको समझना अत्यन्त कठिन है । तुम अपने धर्मके विभागानुसार विनीत भावसे इसका पालन करो ॥

तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।
सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः ।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम् ॥ ५२ ॥

जैसे तपस्या, धर्म, इन्द्रिय-संयम और यज्ञानुष्ठानके द्वारा ब्राह्मण उत्तम लोकमें जाते हैं तथा जिस प्रकार वैश्य दान और आतिथ्यरूप धर्मोंसे उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें निग्रह और अनुग्रहके यथोचित प्रयोगसे क्षत्रिय स्वर्गलोकमें जाता है । जिनके द्वारा दण्डनीतिका उचित रीतिसे प्रयोग किया गया है, जो राग-द्वेषसे रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन हैं; वे क्षत्रिय सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंमें जाते हैं ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीका भीमसेनको आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद् वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अपनी इच्छासे बढ़ाये हुए उस विशाल शरीरका उपसंहार कर वानरराज हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओंद्वारा भीमसेनको हृदयसे लगा लिया ॥ १ ॥

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम् ॥ २ ॥

भारत ! भाईका आलिङ्गन प्राप्त होनेपर भीमसेनकी सारी थकावट तत्काल नष्ट हो गयी और सब कुछ उन्हें अनुकूल प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

बलं चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ॥ ३ ॥
भीममाभाष्य सौहार्दाद् बाष्पगद्गदया गिरा ।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलशाली भीमसेनको यह अनुभव हुआ कि मेरा बल बहुत बढ़ गया । अब मेरे समान दूसरा कोई महान् नहीं है । फिर हनुमान्‌जीने अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर सौहार्दसे गद्गदवाणीद्वारा भीमसेनको सम्बोधित करके कहा—

'वीर ! अब तुम अपने निवासस्थानपर जाओ । बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण करते रहना ॥ ३-४ ॥

इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।

धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ॥ ५ ॥
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम् ॥ ६ ॥
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम् ॥ ७ ॥
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते ॥ ८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं इस स्थानपर रहता हूँ, यह बात कभी किसीसे न कहना । महाबली वीर ! अब कुबेरके भवनसे भेजी हुई देवाङ्गनाओं तथा गन्धर्व-सुन्दरियोंके यहाँ आनेका समय हो गया है । भीम ! तुम्हें देखकर मेरी भी आँखें सफल हो गयीं । तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारे मानवशरीरका स्पर्श करके मुझे उन भगवान् रामचन्द्रजीका स्मरण हो आया है, जो श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध साक्षात् विष्णु हैं । जगत्के हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले, मिथिलेश-नन्दिनी सीताके मुखारविन्दको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान तेजस्वी तथा दशमुख रावणरूपी अन्धकारराशिको नष्ट करनेके लिये साक्षात् भुवन-भास्कररूप हैं । वीर कुन्तीकुमार ! तुमने जो मेरा दर्शन किया है, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ॥ ५-८ ॥

भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ॥ ९ ॥
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वापि मर्दितव्यं मया यदि ॥ १० ॥
बद्ध्वा दुर्योधनं चाद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल ॥ ११ ॥

'भारत ! तुम मुझे अपना बड़ा भाई समझकर कोई वर माँगो । यदि तुम्हारी इच्छा हो कि मैं हस्तिनापुरमें जाकर तुच्छ धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँ तो मैं यह भी कर सकता हूँ अथवा यदि तुम चाहो कि मैं पत्थरोंकी वर्षासे सारे नगरको रौंदकर धूलमें मिला दूँ अथवा दुर्योधनको बाँधकर अभी तुम्हारे पास ला दूँ तो यह भी कर सकता हूँ । महाबली वीर ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही पूर्ण कर दूँगा' ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १२ ॥
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा हनुमान्जीका यह वचन सुनकर भीमसेनने हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे हनुमान्जीको इस प्रकार उत्तर दिया—'वानरशिरोमणे ! आपने मेरा यह सब कार्य कर दिया । आपका कल्याण हो । महाबाहो ! अब आपसे मेरी इतनी ही कामना है कि आप मुझपर प्रसन्न रहिये—मुझपर आपकी कृपा बनी रहे ॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान् ॥ १४ ॥

'शक्तिशाली वीर ! आप-जैसे नाथ (संरक्षक) को पाकर सब पाण्डव सनाथ हो गये । आपके ही प्रभावसे हमलोग अपने सब शत्रुओंको जीत लेंगे' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ॥ १५ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्जीने उनसे कहा—'तुम मेरे भाई और सुहृद् हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा ॥ १५ ॥

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ॥ १६ ॥
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान् ॥ १७ ॥
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ॥ १८ ॥
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ १९ ॥

'महाबली वीर ! जब तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल हुई शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे तुम्हारे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा । उसके सिवा अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भीषण गर्जना करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी, जिससे तुमलोग उन्हें सुगमतासे मार सकोगे ।' पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले भीमसेनसे ऐसा कहकर हनुमान्जीने उन्हें जानेके लिये मार्ग बता दिया और स्वयं वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे हनुमद्भीमसंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें गन्धमादन पर्वतपर हनुमान्जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक वनमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद् गन्धमादनम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन कपिप्रवर हनुमान्‌जीके चले जानेपर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी उनके बताये हुए मार्गसे विशाल गन्धमादन पर्वतपर विचरने लगे॥

अनुस्मरन् वपुस्तस्य श्रियं चाप्रतिमां भुवि।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन् दाशरथेर्ययौ॥ २॥

मार्गमें वे हनुमान्‌जीके उस अद्भुत विशाल विग्रह और अनुपम शोभाका तथा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके अलौकिक माहात्म्य एवं प्रभावका बारंबार स्मरण करते जाते थे॥ २॥

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया॥ ३॥
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च॥ ४॥

सौगन्धिक वनको प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने उस समय वहाँके सभी रमणीय वनों और उपवनोंका अवलोकन किया। विकसित वृक्षोंके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले कितने ही सरोवर और सरिताओंपर दृष्टिपात किया तथा अनेक प्रकारके कुसुमोंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले खिले फूलोंसे युक्त काननोंका भी निरीक्षण किया॥ ३-४॥

मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा॥ ५॥

भारत! उस समय बहते हुए मदके पङ्कसे भीगे मतवाले गजराजोंके अनेकानेक यूथ वर्षा करनेवाले मेघोंके समूहके समान दिखलायी देते थे॥ ५॥

हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम्।
सशष्पकवलैः श्रीमान् पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ॥ ६॥

शोभाशाली भीमसेन मुँहमें हरी घासका कौर लिये हुए चञ्चल नेत्रोंवाले हरिणों और हरिणियोंसे युक्त उस वनकी शोभा देखते हुए बड़े वेगसे चले जा रहे थे॥ ६॥

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम्।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद् भीमसेनो व्यगाहत॥ ७॥

उन्होंने अपनी अद्भुत शूरतासे निर्भय होकर भैंसों, वराहों और सिंहोंसे सेवित गहन वनमें प्रवेश किया॥ ७॥

कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः।
याच्यमान इवारण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः॥ ८॥

फूलोंकी अनन्त सुगन्धसे वासित तथा लाल-लाल पल्लवोंके कारण कोमल प्रतीत होनेवाले वृक्ष हवाके वेगसे हिल-हिलकर मानो उस वनमें भीमसेनसे याचना कर रहे थे॥ ८॥

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन्॥ ९॥

मार्गमें उन्हें अनेक ऐसी पुष्करिणियोंको लाँघना पड़ा, जिनके घाट और वन देखनेमें बहुत प्रिय लगते थे। मतवाले भ्रमर उनका सेवन करते थे तथा वे सम्पुटित कमलकोषोंसे अलंकृत हो ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उन्होंने कमलोंकी अञ्जलि बाँध रक्खी थी॥ ९॥

मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ॥ १०॥

भीमसेनका मन और उनके नेत्र कुसुमोंसे अलंकृत पर्वतीय शिखरोंपर लगे थे। द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनके लिये पाथेय था और इस अवस्थामें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे॥ १०॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम्॥ ११॥

दिन बीतते-बीतते भीमसेनने एक वनमें, जहाँ चारों ओर बहुतसे हरिण विचर रहे थे, सुन्दर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित विशाल नदी देखी॥ ११॥

हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम्।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम्॥ १२॥

उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी निवास करते थे। चक्रवाक उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह नदी क्या थी उस पर्वतके लिये स्वच्छ सुन्दर कमलोंकी माला-सी रची गयी थी॥ १२॥

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत्।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति॥ १३॥

महान् धैर्य और उत्साहसे सम्पन्न वीरवर भीमसेनने उसी नदीमें विशाल सौगन्धिक वन देखा, जो उनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला था। उस वनसे प्रभातकालीन सूर्यकी भाँति प्रभा फैल रही थी॥ १३॥

तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम्॥ १४॥

उस वनको देखकर पाण्डुनन्दन भीमने मन-ही-मन यह अनुभव किया कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। फिर उन्हें वनवासके क्लेशोंसे पीड़ित अपनी प्रियतमा द्रौपदीकी याद आ गयी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सौगन्धिक कमलको लानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

क्रोधवश नामक राक्षसोंका भीमसेनसे सरोवरके निकट आनेका कारण पूछना

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम्।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ॥ १ ॥
कुबेरभवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरैः।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आगे बढ़नेपर भीमसेनने कैलास पर्वतके निकट कुबेरभवनके समीप एक रमणीय सरोवर देखा, जिसके आस-पास सुन्दर वनस्थली शोभा पा रही थी। बहुतसे राक्षस उनकी रक्षाके लिये नियुक्त थे। वह सरोवर पर्वतीय झरनोंके जलसे भरा था। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, घनी छायासे सुशोभित तथा अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त था ॥ १-२ ॥

हरिताम्बुजसंच्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम्।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ३ ॥

हरे रङ्गके कमलोंसे वह दिव्य सरोवर ढका हुआ था। उसमें सुवर्णमय कमल खिले थे। वह नाना प्रकारके पक्षियों-से युक्त था। उसका किनारा बहुत सुन्दर था और उसमें कीचड़ नहीं था ॥ ३ ॥

अतीवरम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ४ ॥

यह सरोवर अत्यन्त रमणीय, सुन्दर जलसे परिपूर्ण, पर्वतीय शिखरोंके झरनोंसे उत्पन्न, देखनेमें विचित्र, लोकके लिये मङ्गलकारक तथा अद्भुत दृश्यसे सुशोभित था ॥ ४ ॥

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम्।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥ ५ ॥

उस सरोवरमें कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीमने अमृतके समान स्वादिष्ट, शीतल, हल्का, शुभकारक और निर्मल जल देखा तथा उसे भरपेट पीया ॥ ५ ॥

तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम्।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ६ ॥
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥ ७ ॥

वह सरोवर दिव्य सौगन्धिक कमलोंसे आवृत तथा रमणीय था। परम सुगन्धित सुवर्णमय कमल उसे ढँके हुए थे। उन कमलोंकी नाल उत्तम वैदूर्यमणिमय थी। वे कमल देखनेमें अत्यन्त विचित्र और मनोरम थे। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उन कमलोंको हिलाते रहते थे, जिससे वे निर्मल पराग प्रकट किया करते थे ॥ ६-७ ॥

आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ८ ॥

वह सरोवर राजाधिराज महाबुद्धिमान् कुबेरका क्रीडा-स्थल था। गन्धर्व, अप्सरा और देवता भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे ॥ ८ ॥

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा।
राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ९ ॥

दिव्य ऋषि-मुनि, यक्ष, किम्पुरुष, राक्षस और किन्नर उसका सेवन करते थे तथा साक्षात् कुबेरके द्वारा उसके संरक्षणकी व्यवस्था की जाती थी ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत् सरः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन महाबली भीमसेन उस दिव्य सरोवरको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥ १० ॥

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात्।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ ११ ॥

महाराज कुबेरके आदेशसे क्रोधवश नामक राक्षस, जिनकी संख्या एक लाख थी, विचित्र आयुध और वेश-भूषासे सुसज्जित हो उसकी रक्षा करते थे ॥ ११ ॥

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम्।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १२ ॥
सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिंदमम्।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १३ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी कुन्तीकुमार वीरवर भीम

अपने अङ्गोंमें मृगचर्म लपेटे हुए थे। भुजाओंमें सोनेके अङ्गद (बाजूबंद) पहन रक्खे थे। वे धनुष और गदा आदि आयुधोंसे युक्त थे। उन्होंने कमरमें तलवार बाँध रक्खी थी। वे शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ और निर्भीक थे। उन्हें कमल लेनेकी इच्छासे वहाँ आते देख वे पहरा देनेवाले राक्षस आपसमें कोलाहल करने लगे ॥ १२-१३ ॥

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत् सम्प्रष्टुमिहार्हथ ॥ १४ ॥

उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई—'देखो यह नरश्रेष्ठ मृगचर्मसे आच्छादित होनेपर भी हाथमें आयुध लिये हुए है। यह यहाँ जिस कार्यके लिये आया है, उसे पूछो' ॥ १४ ॥

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम्।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १५ ॥

तब वे सब राक्षस परम तेजस्वी महाबाहु भीमसेनके पास आकर पूछने लगे—'तुम कौन हो ?' यह बताओ ॥ १५ ॥

मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे।
यदर्थमभिसम्प्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ॥ १६ ॥

'महामते ! तुमने वेष तो मुनियोंका-सा धारण कर रक्खा है; परंतु आयुधोंसे सम्पन्न दिखायी देते हो। तुम किसलिये यहाँ आये हो ?' बताओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा क्रोधवश नामक राक्षसोंकी पराजय और द्रौपदीके लिये सौगन्धिक कमलोंका संग्रह करना

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम्।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो ! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ और भाइयोंके साथ विशाला बदरी नामक तीर्थमें आकर ठहरा हूँ। वहाँ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीने सौगन्धिक नामक एक परम उत्तम कमल देखा। उसे देखकर वह उसी तरहसे और भी बहुत-से पुष्प प्राप्त करना चाहती है, जो निश्चय ही यहींसे हवामें उड़कर वहाँ पहुँचा होगा ॥ १-२ ॥

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम्।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥

निशाचरो ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं उसी अनिन्द्य सुन्दरी धर्मपत्नीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उद्यत हो बहुत से सौगन्धिक पुष्पोंका अपहरण करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ३ ॥

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ॥ ४ ॥

राक्षसोंने कहा—नरश्रेष्ठ ! यह सरोवर कुबेरकी परम प्रिय क्रीडास्थली है। इसमें मरणधर्मा मनुष्य विहार नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥

वृकोदर ! देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबेरकी अनुमति लेकर ही यहाँका जल पीते और इसमें विहार करते हैं। पाण्डुनन्दन ! गन्धर्व और अप्सराएँ भी इसी नियमके अनुसार यहाँ विहार करती हैं ॥ ५ ॥

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमान्य धनेश्वरम्।
विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ॥ ६ ॥

जो कोई दुराचारी पुरुष धनाध्यक्ष कुबेरकी अवहेलना करके अन्यायपूर्वक यहाँ विहार करना चाहेगा, वह नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादितः।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥

भीमसेन ! तुम अपने बलके घमंडमें आकर कुबेरकी अवहेलना करके यहाँसे कमलपुष्पोंका अपहरण करना चाहते हो। ऐसी दशामें अपने-आपको धर्मराजका भाई कैसे बता रहे हो ? ॥ ७ ॥

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित् पुष्करमीक्षितुम् ॥

पहले यक्षराजकी आज्ञा ले लो, उसके बाद इस सरोवरका जल पीओ और यहाँसे कमलके फूल ले जाओ। ऐसा किये बिना तुम यहाँके किसी कमलकी ओर देख भी नहीं सकते।

भीमसेन उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥ ९ ॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथंचन ॥ १० ॥

भीमसेन बोले—राक्षसो ! प्रथम तो मैं यहाँ आस-पास कहीं भी धनाध्यक्ष कुबेरको देख नहीं रहा हूँ, दूसरे यदि मैं उन महाराजको देख भी लूँ तो भी उनसे याचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रिय किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं, यही उनका सनातन धर्म है । मैं किसी तरह क्षात्र-धर्मको छोड़ना नहीं चाहता ॥ ९-१० ॥

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

यह रमणीय सरोवर पर्वतीय झरनोंसे प्रकट हुआ है, यह महामना कुबेरके घरमें नहीं है ॥ ११ ॥

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ १२ ॥

अतः इसपर अन्य सब प्राणियोंका और कुबेरका भी समान अधिकार है । ऐसी सार्वजनिक वस्तुओंके लिये कौन किससे याचना करेगा ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सभी राक्षसोंसे ऐसा कहकर अमर्षमें भरे हुए महाबली महाबाहु भीमसेन उस सरोवरमें प्रवेश करने लगे ॥ १३ ॥

ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १४ ॥

उस समय क्रोधमें भरे राक्षस चारों ओरसे प्रतापी भीमको फटकारते हुए वाणीद्वारा रोकने लगे—'नहीं-नहीं, ऐसा न करो' ॥ १४ ॥

कदर्थीकृत्य तु स तान् राक्षसान् भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १५ ॥

परंतु भयंकर पराक्रमी महातेजस्वी भीम उन सब राक्षसोंकी अवहेलना करके उस जलाशयमें उतर ही गये । यह देख सब राक्षस उन्हें रोकनेकी चेष्टा करते हुए चिल्ला उठे—॥ १५ ॥

गृह्णीत बध्नीत विकर्ततेमं
पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते
शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥ १६ ॥

'अरे ! इसे पकड़ो, बाँध लो, काट डालो, हम सब लोग इस भीमको पकायेंगे और खा जायँगे ।' क्रोधपूर्वक उपर्युक्त बातें कहते और आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए वे सभी राक्षस शस्त्र उठाकर तुरंत उनकी ओर दौड़े ॥ १६ ॥

ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां
महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत् तरस्वी
ततोऽब्रवीत् तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १७ ॥

तब भीमसेनने यमदण्डके समान विशाल और भारी गदा उठा ली, जिसपर सोनेका पत्र मढ़ा हुआ था । उसे लेकर वे बड़े वेगसे उन राक्षसोंपर टूट पड़े और ललकारते हुए बोले—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ १७ ॥

ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यै-
र्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा
भीमं समन्तात् परिवव्रुरुग्राः ॥ १८ ॥
वातेन कुन्त्यां बलवान् सुजातः
शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव
पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १९ ॥

यह देख वे भयंकर क्रोधवश नामक राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे शत्रुओंके शस्त्रोंको नष्टकर देनेवाले तोमर, पट्टिश आदि आयुधोंको लेकर सहसा उनकी ओर दौड़े और उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये । वे सब-के-सब

बड़े उग्र स्वभावके थे। इधर भीमसेन कुन्तीदेवीके गर्भसे वायु देवताके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण बड़े बलवान्, शूर-वीर, वेगशाली एवं शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे। वे सदा ही सत्य एवं धर्ममें रत थे। पराक्रमी तो वे ऐसे थे कि अनेक शत्रु मिलकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते थे॥१८-१९॥

तेषां स मार्गान् विविधान् महात्मा
विहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम्।
यथा प्रवीरान् निजघान भीमः
परं शतं पुष्करिणीसमीपे॥ २०॥

महामना भीमने शत्रुओंके भाँति-भाँतिके पैंतरों तथा अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करके उनके सौसे भी अधिक प्रमुख वीरोंको उस सरोवरके समीप मार गिराया॥ २०॥

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा
विद्याबलं बाहुबलं तथैव।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद्
हतप्रवीराः सहसा निवृत्ताः॥ २१॥

भीमसेनका पराक्रम, शारीरिक बल, विद्याबल और बाहु-बल देखकर वे वीर राक्षस एक साथ संगठित होकर भी उनका वेग सहनेमें असमर्थ हो गये और सहसा सब ओरसे युद्ध छोड़कर निवृत्त हो गये॥ २१॥

विदीर्यमाणास्तत एव तूर्ण-
माकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते
भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः॥ २२॥

भीमसेनकी मारसे क्षत-विक्षत एवं पीड़ित हो वे क्रोधवश नामक राक्षस अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। अतः उनके पाँव उखड़ गये और वे तुरंत वहाँसे आकाशमें उड़कर कैलासके शिखरोंपर भाग गये॥ २२॥

स शक्रवद् दानवदैत्यसङ्घान्
विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान्।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः
कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि॥ २३॥

शत्रुविजयी भीम इन्द्रकी भाँति पराक्रम करके दानव और दैत्योंके दलको युद्धमें हराकर उस सरोवरमें प्रविष्ट हो इच्छानुसार कमलोंका संग्रह करने लगे॥ २३॥

ततः स पीत्वामृतकल्पमम्भो
भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि
सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति॥ २४॥

तदनन्तर उस सरोवरका अमृतके समान मधुर जल पीकर वे पुनः उत्तम बल और तेजसे सम्पन्न हो गये और श्रेष्ठ सुगन्धसे युक्त सौगन्धिक कमलोंको उखाड़-उखाड़कर संगृहीत करने लगे॥ २४॥

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य
धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये
यथावदाचख्युरतीव भीताः॥ २५॥

तब भीमसेनके बलसे पीड़ित और अत्यन्त भयभीत हुए क्रोधवशोंने धनाध्यक्ष कुबेरके पास जाकर युद्धमें भीमके बल और पराक्रमका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया॥ २५॥

तेषां वचस्तत् तु निशम्य देवः
प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्
कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत्॥ २६॥

उनकी बातें सुनकर देवप्रवर कुबेरने हँसकर उन राक्षसोंसे कहा—'मुझे यह मालूम है। भीमसेनको द्रौपदीके लिये इच्छानुसार कमल ले लेने दो'॥ २६॥

ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते
जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां
यथोपजोषं विहरन्तमेकम्॥ २७॥

तब धनाध्यक्षकी आज्ञा पाकर वे राक्षस रोषरहित हो कुरुप्रवर भीमके पास गये और उन्हें अकेले ही उस सरोवरमें इच्छानुसार विहार करते देखा॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५४॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भयंकर उत्पात देखकर युधिष्ठिर आदिकी चिन्ता और सबका गन्धमादनपर्वतपर सौगन्धिकवनमें भीमसेनके पास पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर भीमसेनने अनेक प्रकारके बहुमूल्य, दिव्य और निर्मल बहुतसे सौगन्धिक कमल संगृहीत कर लिये॥ १॥

ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः।
प्रादुरासीद् खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन्॥ २॥

इसी समय गन्धमादन पर्वतपर तीव्र वेगसे बड़े जोरकी आँधी उठी, जो नीचे कंकड़-बालूकी वर्षा करनेवाली थी। उसका स्पर्श तीक्ष्ण था। वह किसी भारी संग्रामकी सूचना देनेवाली थी॥ २॥

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया।
निष्प्रभश्चाभवत् सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः॥ ३॥

वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ अत्यन्त भयदायक भारी उल्कापात होने लगा। सूर्य अन्धकारसे आवृत्त हो प्रभा-शून्य हो गये। उनकी किरणें आच्छादित हो गयीं॥ ३॥

निर्घातश्चाभवद् भीमो भीमे विक्रममास्थिते।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च॥ ४॥

जिस समय भीम राक्षसोंके साथ युद्धमें भारी पराक्रम दिखा रहे थे, उस समय पृथ्वी हिलने लगी, आकाशमें भीषण गर्जना होने लगी और धूलकी वर्षा आरम्भ हो गयी॥ ४॥

सलोहिता दिशश्चासन् खरवाचो मृगद्विजाः।
तमोवृतमभूत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन॥ ५॥

सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो गयीं, मृग और पक्षी कठोर शब्द करने लगे, सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और किसीको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था॥ ५॥

अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥ ६॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः॥ ७॥
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षांचक्रे समन्ततः॥ ८॥

इसके सिवा और भी बहुत-से भयानक उत्पात वहाँ प्रकट होने लगे। यह अद्भुत घटना देखकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'कौन हम लोगोंको पराजित कर सकेगा? रणोन्मत्त पाण्डवो! तुम्हारा भला हो, तुम युद्धके लिये तैयार हो जाओ। मैं जैसे लक्षण देख रहा हूँ, उससे पता लगता है कि हमारे लिये पराक्रम दिखानेका समय अत्यन्त निकट आ गया है।' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने चारों ओर दृष्टिपात किया॥ ६—८॥

अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिंदमः॥ ९॥
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे।
कच्चित् क भीमः पाञ्चालि किंचित् कृत्यं चिकीर्षति॥ १०॥

जब भीम नहीं दिखायी दिये, तब शत्रुदमन धर्मनन्दन युधिष्ठिरने द्रौपदी तथा पास ही बैठे हुए नकुल-सहदेवसे अपने भाई भीमके सम्बन्धमें, जो रण-भूमिमें भयानक कर्म करनेवाले थे, पूछा—'पाञ्चालराजकुमारी! भीमसेन कहाँ है? क्या वे कोई काम करना चाहते हैं?॥ ९-१०॥

कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः॥ ११॥

'अथवा साहसप्रेमी वीरवर भीमने कोई साहसका कार्य तो नहीं कर डाला? यह अकस्मात् प्रकट हुए उत्पात महान् युद्धके सूचक हैं॥ ११॥

दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः।
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी॥ १२॥

'ये चारों ओर तीव्र भयका प्रदर्शन करते हुए प्रकट हो रहे हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मनोहर मुस्कानवाली मनस्विनी महारानी पतिप्रिया द्रौपदीने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२॥

द्रौपद्युवाच

यत् तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम्॥ १३॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति॥ १४॥

द्रौपदी बोली—राजन्! आज जो सौगन्धिक पुष्प वायु उड़ा लायी थी, उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक भीमसेनको दिया और उन वीर-शिरोमणिसे यह भी कहा कि 'यदि इसी तरहके बहुत-से पुष्प तुम्हें दिखायी दें, तो उन सबको लेकर शीघ्र यहाँ लौट आना'॥ १३-१४॥

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः॥ १५॥

महाराज! मालूम होता है कि वे महाबाहु पाण्डुकुमार निश्चय ही मेरा प्रिय करनेके लिये उन्हीं फूलोंको लानेके निमित्त यहाँसे पूर्वोत्तर दिशाको गये हैं॥ १५॥

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत्।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः॥ १६॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवसे इस प्रकार कहा—'अब हम लोग भी एक साथ शीघ्र ही उसी मार्गपर चलें' जिससे भीमसेन गये हैं॥ १६॥

वहन्तु राक्षसा विप्रान् यथाश्रान्तान् यथाकृशान्।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच॥ १७॥

'देवताओंके समान तेजस्वी घटोत्कच! तुम्हारे साथी राक्षस लोग इन ब्राह्मणोंको, जो जैसे थके और दुर्बल हों,

उसके अनुसार कंधेपर बिठाकर ले चलें और तुम भी द्रौपदीको ले चलो॥ १७॥

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे॥ १८॥
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने।
उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम्॥ १९॥

'यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भीमसेन यहाँसे बहुत दूर चले गये हैं, मेरा यही विश्वास है। क्योंकि उनको गये बहुत समय हो गया है तथा वे वेगमें वायुके समान हैं और इस पृथ्वीको लाँघनेमें गरुड़के समान शीघ्रगामी हैं। आकाशमें छलाँग मार सकते हैं और इच्छानुसार कहीं भी कूद सकते हैं॥ १८-१९॥

तमन्वियाम भवतां प्रभावाद् रजनीचराः।
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम्॥ २०॥

'निशाचरो! भीमसेन ब्रह्मवादी सिद्धोंका कुछ अपराध न कर पावें, इसके पहले ही तुम्हारे प्रभावसे हम उन्हें ढूँढ़ निकालें'॥ २०॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ॥ २१॥
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः॥ २२॥

जनमेजय! तब कुबेरके उस सरोवरका पता जाननेवाले उन घटोत्कच आदि सब राक्षसोंने 'तथास्तु' कहकर पाण्डवों तथा उन अनेकानेक ब्राह्मणोंको कंधेपर बैठाकर लोमशजीके साथ वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया॥ २१-२२॥

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम्।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम्॥ २३॥

उन सबने शीघ्रतापूर्वक जाकर सुन्दर वनस्थलीसे सुशोभित वह अत्यन्त मनोरम सरोवर देखा, जिसमें सौगन्धिक कमल थे॥ २३॥

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम्।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान्॥ २४॥
भिन्नकायाक्षिबाहूरून् संचूर्णितशिरोधरान्।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम्॥ २५॥

उसके तटपर मनस्वी महामना भीमको तथा उनके द्वारा मारे गये बड़े-बड़े नेत्रोंवाले यक्षोंको भी देखा, जिनके शरीर, नेत्र, भुजाएँ और जाँघें छिन्न-भिन्न हो गयी थीं, गर्दन कुचल दी गयी थी, महात्मा भीम उस सरोवरके तटपर खड़े थे॥ २४-२५॥

सक्रोधं स्तब्धनयनं संदष्टदशनच्छदम्।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरेष्ववस्थितम्॥ २६॥

उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। उनकी आँखें स्तब्ध हो रही थीं। वे दोनों हाथोंसे गदा उठाये और दाँतोंसे ओठ दबाये नदीके तटपर खड़े थे॥ २६॥

प्रजासंक्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम्।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः॥ २७॥

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रजाके संहार-कालमें दण्ड हाथमें लिये यमराज खड़े हों। भीमसेनको उस अवस्थामें देखकर धर्मराजने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया॥

उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम्।
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाप्रियम्॥ २८॥

और मधुर वाणीमें कहा—'कुन्तीनन्दन! यह तुमने क्या कर डाला? तुम्हारा कल्याण हो। खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह कार्य साहसपूर्ण है और देवताओं-के लिये अप्रिय है॥ २८॥

पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम्।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च॥ २९॥
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः॥ ३०॥
प्रादुरासन् महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चापि लोमशम्॥ ३१॥
नकुलं सहदेवं च तथान्यान् ब्राह्मणर्षभान्।
विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत॥ ३२॥
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः॥ ३३॥
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु॥ ३४॥

'यदि मेरा प्रिय करना चाहते हो तो फिर ऐसा काम न करना।' भीमसेनको ऐसा उपदेश देकर उन्होंने पूर्वोक्त सौगन्धिक कमल ले लिये और वे देवोपम पाण्डव उसी सरोवरके तटपर इधर-उधर भ्रमण करने लगे। इसी समय शिलाओंको आयुधरूपमें ग्रहण किये, बहुत-से विशालकाय उद्यानरक्षक वहाँ प्रकट हो गये। भारत! उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल-सहदेव तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको विनयपूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम किया। फिर धर्मराज युधिष्ठिरने उन्हें सान्त्वना दी। इससे वे निशाचर (राक्षस) प्रसन्न हो गये। तदनन्तर वे कुरु-प्रवर पाण्डव धनाध्यक्ष कुबेरकी जानकारीमें कुछ कालतक वहाँ आनन्दपूर्वक टिके रहे और गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहे॥ २९-३४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आकाशवाणीके आदेशसे पुनः नरनारायणाश्रममें लौटना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृष्णया सहितान् भ्रातॄनित्युवाच सहद्विजान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस सौगन्धिक सरोवरके तटपर निवास करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने एक दिन ब्राह्मणों तथा द्रौपदीसहित अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥

दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च ।
मनसो ह्लादनीयानि वनानि च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

'हम लोगोंने अनेक पुण्यदायक एवं कल्याणस्वरूप तीर्थोंके दर्शन किये । मनको आह्लाद प्रदान करनेवाले भिन्न-भिन्न वनोंका भी अवलोकन किया ॥ २ ॥

देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः ।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः सम्पूजितानि च ॥ ३ ॥

'वे तीर्थ और वन ऐसे थे, जहाँ पूर्वकालमें देवता और महात्मा मुनि विचरण कर चुके हैं तथा क्रमशः अनेक द्विजोंने उनका समादर किया है ॥ ३ ॥

ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्म विचेष्टितम् ।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः ॥ ४ ॥
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च ।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः ॥ ५ ॥

'हमने ऋषियोंके पूर्वचरित्र, कर्म और चेष्टाओंकी कथा सुनी है । राजर्षियोंके भी चरित्र और भाँति-भाँतिकी शुभ कथाएँ सुनते हुए मङ्गलमय आश्रमोंमें विशेषतः ब्राह्मणोंके साथ तीर्थस्नान किया है ॥ ४-५ ॥

अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः ।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ६ ॥

'हमने सदा फूल और जलसे देवताओंकी पूजा की है और यथाप्राप्त फल-मूलसे पितरोंको भी तृप्त किया है ॥ ६ ॥

पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरस्सु च ।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः ॥ ७ ॥

'रमणीय पर्वतों और समस्त सरोवरोंमें विशेषतः परम पुण्यमय समुद्रके जलमें इन महात्माओंके साथ भली-भाँति स्नान एवं आचमन किया है ॥ ७ ॥

इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा ।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः ॥ ८ ॥

'इला, सरस्वती, सिंधु, यमुना तथा नर्मदा आदि नाना रमणीय तीर्थोंमें भी ब्राह्मणोंके साथ विधिवत् स्नान और आचमन किया है ॥ ८ ॥

गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः ।
हिमवान् पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः ॥ ९ ॥

'गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को लाँघकर बहुत-से मङ्गलमय पर्वत देखे तथा बहुसंख्यक ब्राह्मणोंसे युक्त हिमालय पर्वत-का भी दर्शन किया ॥ ९ ॥

विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः ।
दिव्या पुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता ॥ १० ॥

'विशाल बदरीतीर्थ, भगवान् नर-नारायणके आश्रम तथा सिद्धों और देवर्षियोंसे पूजित इस दिव्य सरोवरका भी दर्शन किया ॥ १० ॥

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च ।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना ॥ ११ ॥

'विप्रवरो ! महात्मा लोमशजीने हमें सभी पुण्यस्थानोंके क्रमशः दर्शन कराये हैं ॥ ११ ॥

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम् ॥ १२ ॥

'भीमसेन ! यह सिद्धसेवित पुण्य-प्रदेश कुबेरका निवासस्थान है । अब हम कुबेरके भवनमें कैसे प्रवेश करेंगे ? इसका उपाय सोचो' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी ।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिरके ऐसा कहते ही आकाशवाणी बोल उठी—'कुबेरके इस आश्रमसे आगे जाना सम्भव नहीं है । यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है ॥

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम् ।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम् ॥ १४ ॥

'राजन् ! जिससे तुम आये हो, उसी मार्गसे विशाला बदरीके नामसे विख्यात भगवान् नर-नारायणके स्थानको लौट जाओ ॥ १४ ॥

तस्माद् यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः ॥ १५ ॥

'कुन्तीकुमार ! वहाँसे तुम प्रचुर फल-फूलसे सम्पन्न वृषपर्वाके रमणीय आश्रमपर जाओ, जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं ॥ १५ ॥

अतिक्रम्य च तं पार्थ त्वार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः ।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च ॥ १६ ॥

'उस आश्रमको भी लाँघकर आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना और वहीं निवास करना। तदनन्तर तुम्हें धनदाता कुबेरके निवासस्थानका दर्शन होगा' ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ॥ १७॥

इसी समय दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण पवित्र वायु चलने लगी, जो शीतल तथा सुख और आह्लाद देनेवाली थी। साथ ही वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तु दिव्यमाकाशाद् वाचं सर्वे विसिस्मियुः।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ॥ १८॥

वह दिव्य आकाशवाणी सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ। ऋषियों, ब्राह्मणों और विशेषतः राजर्षियोंको अधिक आश्चर्य हुआ ॥ १८ ॥

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत् तदा।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ॥ १९॥

वह महान् आश्चर्यजनक बात सुनकर विप्रर्षि धौम्यने कहा—'भारत! इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। ऐसा ही होना चाहिये' ॥ १९ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद् वचः।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ॥ २०॥
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसन्त सुखं तदा ॥ २१॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने वह आकाशवाणी स्वीकार कर ली और पुनः नर-नारायणके आश्रममें लौटकर भीमसेन आदि सब भाइयों और द्रौपदीके साथ वहीं रहने लगे। उस समय साथ आये हुए ब्राह्मण लोग भी वहीं सुखपूर्वक निवास करने लगे ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नरनारायणाश्रमागमने षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें पाण्डवोंका पुनः नर-नारायणके आश्रममें आगमनविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(जटासुरवधपर्व)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जटासुरके द्वारा द्रौपदीसहित युधिष्ठिर, नकुल, सहदेवका हरण तथा भीमसेनद्वारा जटासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान्।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ॥ १ ॥
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च।
रहितान् भीमसेनेन कदाचित् तान् यदृच्छया ॥ २ ॥
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ॥ ३ ॥
इति ब्रुवन् पाण्डवेयान् पर्युपास्ते स्म नित्यदा।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ॥ ४ ॥
अन्तरं सम्परिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पर्वतराज गन्धमादनपर सब पाण्डव अर्जुनके आनेकी प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मणोंके साथ निःशङ्क रहने लगे। उन्हें पहुँचानेके लिये आये हुए राक्षस चले गये। भीमसेनका पुत्र घटोत्कच भी विदा हो गया। तत्पश्चात् एक दिनकी बात है, भीमसेनकी अनुपस्थितिमें अकस्मात् एक राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीको हर लिया। वह ब्राह्मणके वेषमें प्रतिदिन उन्हींके साथ रहता था और सब पाण्डवोंसे कहता था कि 'मैं सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ और मन्त्र-कुशल ब्राह्मण हूँ।' वह कुन्ती-कुमारोंके तरकस और धनुषको भी हर लेना चाहता था और द्रौपदीका अपहरण करनेके लिये सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था। उस दुष्टात्मा एवं पापबुद्धि राक्षसका नाम जटासुर था ॥ १—५ ॥

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६ ॥

जनमेजय! पाण्डवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले युधिष्ठिर अन्य ब्राह्मणोंकी तरह उसका भी पालन-पोषण करते थे। परंतु राखमें छिपी हुई आगकी भाँति उस पापीके असली स्वरूपको वे नहीं जानते थे ॥ ६ ॥

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिन्दम।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ॥ ७ ॥
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान्।
स्नातुं विनिर्गतान् दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान् ॥ ८ ॥
रूपमन्यत् समास्थाय विकृतं भैरवं महत्।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ॥ ९ ॥
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन् गृहीत्वा च पाण्डवान्।
सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ॥ १० ॥

विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः।
आक्रन्दद् भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! हिंसक पशुओंको मारनेके लिये भीमसेनके आश्रमसे बाहर चले जानेपर उस राक्षसने देखा कि घटोत्कच अपने सेवकोंसहित किसी अज्ञात दिशाको चला गया, लोमश आदि महर्षि ध्यान लगाये बैठे हैं तथा दूसरे तपोधन स्नान करने और फूल लानेके लिये कुटियासे बाहर निकल गये हैं तब उस दुष्टात्माने विशाल, विकराल एवं भयंकर दूसरा रूप धारण करके पाण्डवोंके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र, द्रौपदी तथा तीनों पाण्डवोंको भी लेकर वहाँसे प्रस्थान कर दिया।

उस समय पाण्डु-कुमार सहदेव प्रयत्न करके उस राक्षसकी पकड़से छूट गये और पराक्रम करके म्यानसे निकली हुई अपनी तलवारको भी उससे छुड़ा लिया। फिर वे महाबली भीमसेन जिस मार्गसे गये थे, उधर ही जाकर उन्हें जोर-जोरसे पुकारने लगे ॥ ७–११ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥ १२ ॥

इधर जिन्हें वह जटासुर हरकर लिये जा रहा था, वे धर्मराज युधिष्ठिर उससे इस प्रकार बोले—'अरे मूर्ख ! इस प्रकार (विश्वासघात करनेसे) तो तेरे धर्मका ही नाश हो रहा है। किंतु उधर तेरी दृष्टि नहीं जाती है ॥ १२ ॥

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये।
धर्मं ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः ॥ १३ ॥

'दूसरे भी जहाँ कहीं मनुष्य अथवा पशु-पक्षीकी योनिमें स्थित प्राणी हैं, वे सभी धर्मपर दृष्टि रखते हैं। राक्षस तो (पशु-पक्षीकी अपेक्षा भी) विशेषरूपसे धर्मका विचार करते हैं।

धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम्।
एतत् परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ॥ १४ ॥
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चापि राक्षस।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ १५ ॥
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ॥ १६ ॥

'राक्षस धर्मके मूल हैं। वे उत्तम धर्मका ज्ञान रखते हैं। इन सब बातोंका विचार करके तुझे हमलोगोंके समीप ही रहना चाहिये। राक्षस ! देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पशु, पक्षी, तिर्यग्योनिके सभी प्राणी और कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि भी मनुष्योंके आश्रित हो जीवन-निर्वाह करते हैं। इस दृष्टिसे तू भी मनुष्योंसे ही जीविका चलाता है ॥ १४–१६ ॥

समृद्ध्या ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति।
इमं च लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः ॥ १७ ॥

'इस मनुष्यलोककी समृद्धिसे ही तुम सब लोगोंका लोक समृद्धिशाली होता है। यदि इस लोककी दशा शोचनीय हो तो देवता भी शोकमें पड़ जाते हैं ॥ १७ ॥

पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ॥ १८ ॥

'क्योंकि मनुष्यद्वारा हव्य और कव्यसे विधिपूर्वक पूजित होनेपर उनकी वृद्धि होती है। राक्षस ! हमलोग राष्ट्रके पालक और संरक्षक हैं ॥ १८ ॥

राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम्।
न च राजावमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ॥ १९ ॥

'हमारे द्वारा रक्षित न होनेपर राष्ट्रको कैसे समृद्धि प्राप्त होगी और कैसे उसे सुख मिलेगा ? राक्षसको भी उचित है कि वह बिना अपराधके कभी किसी राजाका अपमान न करे ॥ १९ ॥

अणुरप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन।
विघसाशान् यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ॥ २० ॥

'नरभक्षी निशाचर ! तेरे प्रति हमलोगोंकी ओरसे थोड़ा-सा भी अपराध नहीं हुआ है। हम देवता आदिको समर्पित करके बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्नका यथाशक्ति गुरुजनों और ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं ॥ २० ॥

गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रणामप्रवणाः सदा।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

'गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके सम्मुख हमारा मस्तक सदा

झुका रहता है। किसी भी पुरुषको कभी अपने मित्रों और विश्वासी पुरुषोंके साथ द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ॥ २२ ॥

'जिनका अन्न खाये और जहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनके साथ भी द्रोह या विश्वासघात करना उचित नहीं है। तू हमारे आश्रयमें हमलोगोंसे सम्मानित होकर सुखपूर्वक रहा है ॥ २२ ॥

भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि।
एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ॥ २३ ॥

'खोटी बुद्धिवाले राक्षस! तू हमारा अन्न खाकर हमें ही हर ले जानेकी इच्छा कैसे करता है? इस प्रकार तो अबतक तूने ब्राह्मणरूपसे जो आचार दिखाया था, वह सब व्यर्थ ही था। तेरा बढ़ना या वृद्ध होना भी व्यर्थ ही है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है ॥ २३ ॥

वृथामरणमर्हश्च वृथाद्य न भविष्यसि।
अथ चेद् दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ॥ २४ ॥
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर।
अथ चेत् त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ॥ २५ ॥
अधर्मं चाप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम्।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ॥ २६ ॥
विषमेतत् समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ॥ २७ ॥

'ऐसी दशामें तू व्यर्थ मृत्युका ही अधिकारी है और आज व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण नष्ट हो जायँगे। यदि तेरी बुद्धि दुष्टतापर ही उतर आयी है और तू सम्पूर्ण धर्मोंको भी छोड़ बैठा है, तो हमें हमारे अस्त्र देकर युद्ध कर तथा उसमें विजयी होनेपर द्रौपदीको ले जा। यदि तू अज्ञानवश यह विश्वासघात या अपहरण कर्म करेगा, तो संसारमें तुझे केवल अधर्म और अकीर्ति ही प्राप्त होगी। निशाचर! आज तूने इस मानव-जातिकी स्त्रीका स्पर्श करके जो पाप किया है, यह भयंकर विष है, जिसे तूने घड़ेमें घोलकर पी लिया है।' इतना कहकर युधिष्ठिर उसके लिये बहुत भारी हो गये ॥

स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत्।
अथाब्रवीद् द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

भारसे उसका शरीर दबने लगा, इसलिये अब वह पहलेकी तरह शीघ्रतापूर्वक न चल सका। तब युधिष्ठिरने नकुल और द्रौपदीसे कहा—॥ २८ ॥

मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद् गतिरस्य मया हृता।
नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ॥ २९ ॥

'तुमलोग इस मूढ़ राक्षससे डरना मत। मैंने इसकी गति कुण्ठित कर दी है। वायुपुत्र महाबाहु भीमसेन यहाँसे अधिक दूर नहीं होंगे ॥ २९ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते न भविष्यति राक्षसः।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतनम् ॥ ३० ॥
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
राजन् किं नाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम् ॥ ३१ ॥
यद् युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा।
एष चास्मान् वयं चैनं युद्ध्यमानाः परंतप ॥ ३२ ॥
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ॥ ३३ ॥

'इस आगामी मुहूर्तके आते ही इस राक्षसके प्राण नहीं रहेंगे।' इधर सहदेवने उस मूढ़ राक्षसकी ओर देखते हुए कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! क्षत्रियके लिये इससे अधिक सत्कर्म क्या होगा कि वह युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए प्राणोंका त्याग कर दे अथवा शत्रुको ही जीत ले। राजन्! इस प्रकार यह हमें अथवा हम इसे युद्ध करते हुए मार डालें। परंतप महाबाहु नरेश! यह क्षत्रियधर्मके अनुकूल देश-काल प्राप्त हुआ है। यह समय यथार्थ पराक्रम प्रकट करनेके लिये है ॥ ३०—३३ ॥

जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम्।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद् यदि ॥ ३४ ॥
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः ॥ ३५ ॥
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि।
तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यद् गदाहस्तः सवज्र इव वासवः।
सोऽपश्यद् भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ॥ ३७ ॥

'भारत! हम विजयी हों या मारे जायँ, सभी दशाओंमें उत्तम गति प्राप्त कर सकते हैं। यदि इस राक्षसके जीते-जी सूर्य डूब गये, तो मैं फिर कभी अपनेको क्षत्रिय नहीं कहूँगा। अरे ओ निशाचर! खड़ा रह, मैं पाण्डुकुमार सहदेव हूँ, या तो तू मुझे मारकर द्रौपदीको ले जा या स्वयं मेरे हाथों मारा जाकर आज यहीं सदाके लिये सो जा।' माद्रीनन्दन सहदेव जब ऐसी बात कह रहे थे, उसी समय अकस्मात् गदा हाथमें लिये भीमसेन दिखायी दिये, मानो वज्रधारी इन्द्र आ पहुँचे हों। उन्होंने वहाँ (राक्षसके अधिकारमें पड़े हुए) अपने दोनों भाइयों तथा यशस्विनी द्रौपदीको देखा ॥ ३४—३७ ॥

क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ॥ ३८ ॥
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम्।
भ्रातॄंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ॥ ३९ ॥

क्रोधमाहारयद् भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत्।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ॥ ४० ॥

उस समय सहदेव धरतीपर खड़े होकर राक्षसपर आक्षेप कर रहे थे और वह मूढ़ राक्षस मार्गसे भ्रष्ट होकर वहीं चक्कर काट रहा था। कालसे उसकी बुद्धि मारी गयी थी। दैवने ही उसे वहाँ रोक रक्खा था। भाइयों और द्रौपदीका अपहरण होता देख महाबली भीमसेन कुपित हो उठे और जटासुरसे बोले—'ओ पापी! पहले जब तू शस्त्रोंकी परीक्षा कर रहा था, तभी मैंने तुझे पहचान लिया था॥ ३८-४०॥

आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम्॥ ४१॥

'तुझपर मेरा विश्वास नहीं रह गया था। तो भी तू ब्राह्मणके रूपमें अपने असली स्वरूपको छिपाये हुए था और हमलोगोंसे कोई अप्रिय बात नहीं कहता था। इसीलिये मैंने तुम्हें तत्काल नहीं मार डाला॥ ४१॥

प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम्।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम्॥ ४२॥
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत्।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते॥ ४३॥

'तू हमारे प्रिय कार्योंमें मन लगाता था। जो हमें प्रिय न लगे, ऐसा काम नहीं करता था। ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आया था और कभी कोई अपराध नहीं किया था। ऐसी दशामें मैं तुझे कैसे मारता? जो राक्षसको राक्षस जानते हुए भी बिना किसी अपराधके उसका वध करता है, वह नरकमें जाता है। अभी तेरा समय पूरा नहीं हुआ था, इसलिये भी आजसे पहले तेरा वध नहीं किया जा सकता था॥४२-४३॥

नूनमद्यासि सम्पक्वो यथा ते मतिरीदृशी।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा॥ ४४॥

'आज निश्चय ही तेरी आयु पूरी हो चुकी है, तभी तो अद्भुत कर्म करनेवाले कालने तुझे इस प्रकार द्रौपदीके अपहरणकी बुद्धि दी है॥ ४४॥

बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि॥ ४५॥

'कालरूपी डोरेसे लटकाया हुआ वंशीका काँटा तूने निगल लिया है। तेरा मुँह जलकी मछलीके समान उस काँटेमें गुँथ गया है, अतः अब तू कैसे जीवन धारण करेगा?

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः॥ ४६॥

जिस देशकी ओर तू प्रस्थित हुआ है और जहाँ तेरा मन पहलेसे ही जा पहुँचा है, वहाँ अब तू न जा सकेगा। तुझे तो बक और हिडिम्बके मार्गपर जाना है॥ ४६॥

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः॥ ४७॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर वह राक्षस भयभीत हो उन सबको छोड़कर कालकी प्रेरणासे युद्धके लिये उद्यत हो गया॥

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम्॥ ४८॥

उस समय रोषसे उसके ओठ फड़क रहे थे। उसने भीमसेनको उत्तर देते हुए कहा—'ओ पापी! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ था। मैंने तेरे ही लिये विलम्ब किया था॥४८॥

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम्॥ ४९॥

'तूने जिन-जिन राक्षसोंको युद्धमें मारा है, उन सबके नाम मैंने सुने हैं। आज तेरे रक्तसे ही मैं उनका तर्पण करूँगा'॥ ४९॥

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन्।
स्मयमान इव क्रोधात् साक्षात् कालान्तकोपमः॥ ५०॥
(ब्रुवन् वै तिष्ठ तिष्ठेति क्रोधसंरक्तलोचनः।)
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम्।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम्॥ ५१॥
मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्किणी परिसंलिहन्।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा॥ ५२॥

राक्षसके ऐसा कहनेपर भीमसेन अपने मुखके दोनों कोने चाटते हुए कुछ मुस्कराते-से प्रतीत हुए। फिर क्रोधसे साक्षात् काल और यमराजके समान जान पड़ने लगे। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयी थीं और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए ताल ठोंककर राक्षसकी ओर दृष्टि गड़ाये उसपर टूट पड़े। राक्षस भी उस समय भीमसेनको युद्धके लिये उपस्थित देख बार-बार मुँह फैलाकर मुँहके दोनों कोने चाटने लगा और जैसे बलिराजा वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार कुपित हो उसने भीमसेनपर धावा किया॥ ५०-५२॥

(भीमसेनोऽप्यवष्टब्धो नियुद्धायाभवत् स्थितः।
राक्षसोऽपि च विस्रब्धो बाहुयुद्धमकाङ्क्षत)॥
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम्॥ ५३॥

भीमसेन भी स्थिर होकर उससे युद्धके लिये खड़े हो गये और वह राक्षस भी निश्चिन्त हो उनके साथ बाहु-युद्धकी इच्छा करने लगा। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भयंकर बाहु-युद्ध होने लगा। यह देख माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसकी ओर दौड़े ॥ ५३ ॥

न्यवारयत् तौ प्रहसन् कुन्तीपुत्रो वृकोदरः।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ॥ ५४ ॥

परंतु कुन्तीकुमार भीमसेनने हँसकर उन दोनोंको रोक दिया और कहा—'मैं अकेला ही इस राक्षसके लिये पर्याप्त हूँ। तुमलोग चुप-चाप देखते रहो' ॥ ५४ ॥

आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च।
इष्टेन च शपे राजन् सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ५५ ॥

फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—'महाराज ! मैं अपनी, सब भाइयोंकी, धर्मकी, पुण्य कर्मोंकी तथा यज्ञकी शपथ खाकर कहता हूँ, इस राक्षसको अवश्य मार डालूँगा' ॥ ५५ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम्।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ५६ ॥

ऐसा कहकर वे दोनों वीर राक्षस और भीम एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए बाहोंसे बाहें मिलाकर गुथ गये ॥ ५६ ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः।
अमृष्यमाणयोः सङ्ख्ये देवदानवयोरिव ॥ ५७ ॥

भीमसेन तथा राक्षस दोनोंमें देवताओं और दानवोंके समान युद्ध होने लगा। दोनों ही रोष और अमर्षमें भरकर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ५७ ॥

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ॥ ५८ ॥

दोनोंका बल महान् था। वे गर्जते हुए दो मेघोंकी भाँति सिंहनाद करके वृक्षोंको तोड़-तोड़कर परस्पर चोट करते थे ॥ ५८ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ।
अन्योन्येनाभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ५९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अपनी जाँघोंके धक्केसे बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ डालते थे और परस्पर कुपित हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे ॥ ५९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकाङ्क्षिणोर्यथा ॥ ६० ॥

जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी इच्छावाले दो भाई बालि और सुग्रीवमें भयंकर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार भीमसेन और राक्षसमें होने लगा। उन दोनोंका वह वृक्षयुद्ध उस वनके वृक्षसमूहोंके लिये महान् विनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ ६० ॥

आविध्याविध्य तौ वृक्षान् मुहूर्तमितरेतरम्।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

वे दोनों बड़े-बड़े वृक्षोंको हिला-हिलाकर बार-बार विकट गर्जना करते हुए दो घड़ीतक एक दूसरेपर प्रहार करते रहे॥६१॥

तस्मिन् देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ६२ ॥
ततः शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ॥ ६३ ॥
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम्।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ६४ ॥

भारत ! जब उस प्रदेशके सारे वृक्ष गिरा दिये गये, तब एक दूसरेका वध करनेकी इच्छासे उन महाबली वीरोंने वहाँ ढेर-की-ढेर पड़ी हुई सैकड़ों शिलाएँ लेकर दो घड़ीतक इस प्रकार युद्ध किया, मानो दो पर्वतराज बड़े-बड़े मेघखण्डोंद्वारा परस्पर युद्ध कर रहे हों। वहाँकी शिलाएँ विशाल और अत्यन्त भयंकर थीं। वे देखनेमें महान् वेगशाली वज्रोंके समान जान पड़ती थीं। अमर्षमें भरे हुए वे दोनों योद्धा उन्हीं शिलाओंद्वारा एक दूसरेको मारने लगे ॥ ६२—६४ ॥

अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यं बलदर्पितौ।
भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् अपने-अपने बलके घमंडमें भरे हुए वे दोनों वीर एक दूसरेकी ओर झपटकर पुनः अपनी भुजाओंसे कसते हुए विपक्षीको उसी प्रकार खींचने लगे, जैसे दो गजराज परस्पर भिड़कर एक दूसरेको खींच रहे हों ॥ ६५ ॥

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ६६ ॥

अपने अत्यन्त भयानक मुक्कोंद्वारा वे परस्पर चोट करने लगे। तब उन दोनों महाकाय वीरोंमें जोर-जोरसे कटकटानेकी आवाज होने लगी ॥ ६६ ॥

ततः संहत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम्।
वेगेनाभ्यहनद् भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पाँच सिरवाले सर्पकी भाँति अपने

पाँच अङ्गुलियोंसे युक्त हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे राक्षसकी गर्दनपर बड़े वेगसे दे मारा ॥ ६७ ॥

ततः श्रान्तं तु तद् रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।
सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥

भीमसेनकी भुजाओंके आघातसे वह राक्षस थक गया था । तदनन्तर उसे अधिक थका हुआ देख भीमसेन आगे बढ़ते गये ॥ ६८ ॥

तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।
समुत्क्षिप्य बलाद् भीमो विनिष्पिष्य महीतले ॥ ६९ ॥

तत्पश्चात् देवताओंके समान तेजस्वी महाबाहु भीमसेनने उस राक्षसको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक उठा लिया और उसे पृथ्वीपर पटककर पीस डाला ॥ ६९ ॥

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७० ॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमने उसके सारे अङ्गोंको दबाकर चूर-चूर कर दिया और थप्पड़ मारकर उसके सिरको धड़से अलग कर दिया ॥ ७० ॥

संदष्टौष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम् ॥ ७१ ॥

भीमसेनके बलसे कटकर अलग हुआ जटासुरका वह सिर वृक्षसे टूटकर गिरे हुए फलके समान जान पड़ता था । उसका ओठ दाँतोंसे दबा हुआ था और आँखें बहुत फैली हुई थीं ॥ ७१ ॥

पपात रुधिरादिग्धं संदष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ॥ ७२ ॥

दाँतोंसे दबे हुए ओठवाला वह मस्तक खूनसे लथपथ होकर गिर पड़ा था । इस प्रकार जटासुरको मारकर महान् धनुर्धर भीमसेन युधिष्ठिरके पास आये । उस समय श्रेष्ठ द्विज उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, मानो मरुद्गण देवराज इन्द्रके गुण गा रहे हों ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जटासुरवधपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जटासुरवधपर्वमें एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

॥ समाप्तं जटासुरवधपर्व ॥

(यक्षयुद्धपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नर-नारायण-आश्रमसे वृषपर्वाके यहाँ होते हुए राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना

वैशम्पायन उवाच

निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस राक्षसके मारे जानेपर कुन्तीकुमार शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर पुनः नर-नारायण-आश्रममें आकर रहने लगे ॥ १ ॥

स समानीय तान् सर्वान् भ्रातृनित्यब्रवीद् वचः।
द्रौपद्या सहितान् काले संस्मरन् भ्रातरं जयम् ॥ २ ॥

एक दिन उन्होंने द्रौपदीसहित सब भाइयोंको एकत्र करके अपने प्रियबन्धु अर्जुनका स्मरण करते हुए कहा—॥ २ ॥

समाश्वतस्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम् ॥ ३ ॥

'हमलोगोंको कुशलपूर्वक वनमें विचरते हुए चार वर्ष हो गये। अर्जुनने यह संकेत किया था कि मैं पाँचवें वर्षमें लौट आऊँगा ॥ ३ ॥

प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम्।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ॥ ४ ॥
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम्।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा ॥ ५ ॥
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम्।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ॥ ६ ॥
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम् ॥ ७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ गिरिराज कैलासपर आकर अर्जुनसे मिलनेके शुभ अवसरकी प्रतीक्षामें हमने यहाँ डेरा डाला है। (क्योंकि वहीं मिलनेका उनकी ओरसे संकेत प्राप्त हुआ था।) वह श्वेत कैलास-शिखर पुष्पित वृक्षावलियोंसे सुशोभित है। वहाँ मतवाले कोकिलोंकी काकली, भ्रमरोंके गुञ्जारव तथा मोर और पपीहोंकी मीठी वाणीसे नित्य उत्सव-सा होता रहता है, जो उस पर्वतकी शोभाको बढ़ा देता है। वहाँ व्याघ्र, वराह, महिष, गवय, हरिण, हिंसक जन्तु, सर्प तथा रुरुमृग निवास करते हैं। खिले हुए सहस्रदल, शतदल, उत्पल, प्रफुल्ल कमल तथा नीलोत्पल आदिसे उस पर्वतकी रमणीयता और भी बढ़ गयी है। वह परम पुण्यमय और पवित्र है। देवता और असुर दोनों ही उसका सेवन करते हैं॥ ४–७ ॥

तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा ॥ ८ ॥
पञ्चवर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि।

अमिततेजस्वी अर्जुनने वहाँ भी अपना आगमन देखनेके लिये उत्सुक हुए हमलोगोंके साथ संकेतपूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अस्त्रविद्याका अध्ययन करनेके लिये पाँच वर्षोंतक देवलोकमें निवास करूँगा ॥ ८½ ॥

अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम् ॥ ९ ॥
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान् सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः ॥ १० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन अस्त्र-विद्या प्राप्त करके पुनः देवलोकसे इस मनुष्यलोकमें आनेवाले हैं। हमलोग शीघ्र ही उनसे मिलेंगे' ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको आमन्त्रित किया ॥ ९-१० ॥

कारणं चैव तत् तेषामाचचक्षे तपस्विनाम्।
तानुग्रतपसः प्रीतान् कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

और उन तपस्वियोंके सामने उन्हें बुला भेजनेका कारण बताया। उन कठोर तपस्वियोंको प्रसन्न करके कुन्तीकुमारोंने उनकी परिक्रमा की ॥ ११ ॥

ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद् भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तब उन ब्राह्मणोंने कुशल मङ्गलके साथ उन सबके अभीष्ट मनोरथकी पूर्तिका अनुमोदन किया और कहा—'भरतश्रेष्ठ! आजका यह क्लेश शीघ्र ही सुखद भविष्यके रूपमें परिणत हो जायगा ॥ १२ ॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि।
तत् तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ॥ १३ ॥
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परंतपः।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाभिरक्षितः ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ! तुम क्षत्रियधर्मके अनुसार इस संकटसे पार होकर सारी पृथ्वीका पालन करोगे।' राजा युधिष्ठिरने उन तपस्वी ब्राह्मणोंका यह आशीर्वाद शिरोधार्य किया और वे परंतप नरेश उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए। घटोत्कच आदि राक्षस भी उनकी सेवाके लिये पीछे-पीछे चले। राजा युधिष्ठिर महर्षि लोमशके द्वारा सर्वथा सुरक्षित थे।१३-१४।

क्वचित् पद्भ्यां ततोऽगच्छद् राक्षसैरुह्यते क्वचित्।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ॥ १५ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महातेजस्वी भूपाल कहीं तो भाइयोंसहित पैदल चलते और कहीं राक्षसलोग उन्हें पीठपर बैठाकर ले जाते थे। इस प्रकार वे अनेक स्थानोंमें गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अनेक क्लेशोंका चिन्तन करते

हुए सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरी हुई उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ॥ १७ ॥
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥ १८ ॥

कैलास, मैनाकपर्वत, गन्धमादनकी घाटियों और श्वेत (हिमालय) पर्वतका दर्शन करते हुए उन्होंने पर्वतमालाओंके ऊपर-ऊपर बहुत-सी कल्याणमयी सरिताएँ देखीं तथा सत्रहवें दिन वे हिमालयके एक पावन पृष्ठभागपर जा पहुँचे ॥ १७-१८ ॥

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ॥ १९ ॥
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥ २० ॥
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ॥ २१ ॥

राजन्! वहाँ पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतका निकटसे दर्शन किया। हिमालयका वह पावन पृष्ठभाग नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे आवृत था। वहाँ जलके आवर्तोंसे सींचकर उत्पन्न हुए फूलवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ वृषपर्वाका परम पवित्र आश्रम था। शत्रुदमन पाण्डवोंने उन धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वाके पास जाकर क्लेशरहित हो उन्हें प्रणाम किया ॥

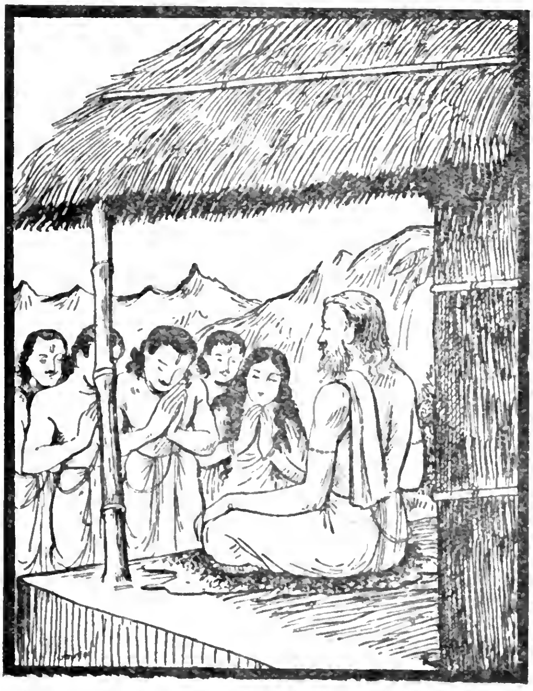

अभ्यनन्दत् स राजर्षिः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।
पूजिताश्चावसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥ २२ ॥

उन राजर्षिने भरतकुलभूषण पाण्डवोंका पुत्रके समान अभिनन्दन किया और उनसे सम्मानित होकर वे शत्रुदमन पाण्डव वहाँ सात रात ठहरे रहे ॥ २२ ॥

अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥ २३ ॥

आठवें दिन उन विश्वविख्यात राजर्षि वृषपर्वाकी आज्ञा ले उन्होंने वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया ॥ २३ ॥

एकैकशश्च तान् विप्रान् निवेद्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान् यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् ॥ २४ ॥
पारिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ॥ २५ ॥
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।

अपने साथ आये हुए ब्राह्मणोंको उन्होंने एक-एक करके वृषपर्वाके यहाँ धरोहरकी भाँति सौंपा। उन सबका पाण्डवोंने समय-समयपर सगे बन्धुकी भाँति सत्कार किया था। ब्राह्मणों-को सौंपनेके पश्चात् पाण्डवोंने अपनी शेष सामग्री भी उन्हीं महामनाको दे दी। तदनन्तर पाण्डुपुत्रोंने वृषपर्वाके ही आश्रममें अपने यज्ञपात्र तथा रत्नमय आभूषण भी रख दिये ॥ २४-२५½ ॥

अतीतानागते विद्वान् कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ २६ ॥
अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥ २७ ॥

वृषपर्वा भूत और भविष्यके ज्ञाता, कार्यकुशल और सम्पूर्ण धर्मोंके मर्मज्ञ थे। उन धर्मज्ञ नरेशने भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंको पुत्रकी भाँति उपदेश दिया। उनकी आज्ञा पाकर महामना पाण्डव उत्तरदिशाकी ओर चले ॥ २६-२७ ॥

तान् प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पाण्डवांस्तदा ॥ २८ ॥
अनुसंसार्य कौन्तेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ॥ २९ ॥

उस समय उनके प्रस्थान करनेपर महातेजस्वी राजर्षि वृषपर्वाने पाण्डवोंको (उस देशके जानकार अन्य) ब्राह्मणों-

के सुपुर्द कर दिया और कुछ दूर पीछे-पीछे जाकर उन कुन्तीकुमारोंको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया। तत्पश्चात् उन्हें रास्ता बताकर वृषपर्वा लौट आये ॥ २८-२९ ॥

नानामृगगणैर्जुष्टं कौन्तेयः सत्यविक्रमः।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥

फिर सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयों-के साथ पैदल ही (वृषपर्वाके बताये हुए मार्गपर) चले, जो अनेक जातिके मृगोंके झुंडोंसे भरा हुआ था ॥ ३० ॥

नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु।
पर्वतं विविशुः श्वेतं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम्।
मणिकाञ्चनरूप्यस्य शिलानां च समुच्चयम् ॥ ३२ ॥
(रूपं हिमवतः प्रस्थं बहुकन्दरनिर्झरम्।
शिलाविभङ्गविकटं लतापादपसंकुलम् ॥)
ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान् नगान् ॥ ३३ ॥

वे सभी पाण्डव नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालते हुए चौथे दिन श्वेत (हिमालय) पर्वतपर जा पहुँचे, जो महामेघके समान शोभा पाता था। वह सुन्दर शैल शीतल सलिलराशिसे सम्पन्न था और मणि, सुवर्ण, रजत तथा शिलाखण्डोंका समुदायरूप था। हिमालयका वह रमणीय प्रदेश अनेकानेक कन्दराओं और निर्झरोंसे सुशोभित शिलाखण्डोंके कारण दुर्गम तथा लताओं और वृक्षोंसे व्याप्त था। पाण्डव वृषपर्वाके बताये हुए मार्गका आश्रय ले नाना प्रकारके वृक्षोंका अवलोकन करते हुए अपने अभीष्ट स्थानकी ओर अग्रसर हो रहे थे ॥ ३१–३३ ॥

उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून् सुखेनैवाभिचक्रमुः ॥ ३४ ॥
धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः।
अगच्छन् सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ॥ ३५ ॥

उस पर्वतके ऊपर बहुत-सी अत्यन्त दुर्गम गुफाएँ थीं और अनेक दुर्गम्य प्रदेश थे। पाण्डव उन सबको सुखपूर्वक लाँघकर आगे बढ़ गये। पुरोहित धौम्य, द्रौपदी, चारों पाण्डव तथा महर्षि लोमश—ये सब लोग एक साथ चल रहे थे। कोई पीछे नहीं छूटता था ॥ ३४-३५ ॥

ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम्।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ॥ ३६ ॥
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम्।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ॥ ३७ ॥

आगे बढ़ते हुए वे महाभाग पाण्डव पुण्यमय माल्यवान् नामक महान् पर्वतपर जा पहुँचे, जो अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अत्यन्त मनोरम था। वहाँ मृगोंके झुंड विचरते और भाँति-भाँतिके पक्षी कलरव कर रहे थे। बहुतसे वानर भी उस पर्वतका सेवन करते थे। उसके शिखरपर कमलमण्डित सरोवर, छोटे-छोटे जलकुण्ड और विशाल वन थे ॥ ३६-३७ ॥

ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३८ ॥

वहाँसे उन्हें गन्धमादन पर्वत दिखायी दिया, जो किम्पुरुषों-का निवासस्थान है। सिद्ध और चारण उसका सेवन करते हैं। उसे देखकर पाण्डवोंका रोम-रोम हर्षसे खिल उठा ॥ ३८ ॥

विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च।
गजसङ्घसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ॥ ३९ ॥

उस पर्वतपर विद्याधर विहार करते थे। किन्नरियाँ क्रीड़ा करती थीं। झुंड-के-झुंड हाथी, सिंह और व्याघ्र निवास करते थे ॥ ३९ ॥

शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम्।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ॥ ४० ॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम्।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ॥ ४१ ॥

शरभोंके सिंहनादसे वह पर्वत गूँजता रहता था। नाना प्रकारके मृग वहाँ निवास करते थे। गन्धमादन पर्वतका वह वन नन्दनवनके समान मन और हृदयको आनन्द देनेवाला था। वे वीर पाण्डुकुमार बड़े प्रसन्न होकर क्रमशः उस सुन्दर काननमें प्रविष्ट हुए, जो सबको शरण देनेवाला था ॥ ४० ४१ ॥

द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून् मदकलाञ्छुभान् ॥ ४२ ॥
श्रोत्ररम्यान् सुमधुराञ्छब्दान् खगमुखेरितान्।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ॥ ४३ ॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान्।
आम्रानाम्रातकान् भव्यान् नारिकेलान् सतिन्दुकान् ॥
मुञ्जातकांस्तथाजीरान् दाडिमान् बीजपूरकान्।

पनसाँल्लकुचान् मोचान् खर्जूरानम्लवेतसान् ॥ ४५ ॥
पारावतांस्तथा क्षौद्रान् नीपांश्चापि मनोरमान् ।
बिल्वान् कपित्थाञ्जम्बूंश्च काश्मरीर्बदरीस्तथा ॥ ४६ ॥
प्लक्षानुदुम्बरवटानश्वत्थान् क्षीरिकांस्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबिभीतकान् ॥ ४७ ॥
इङ्गुदान् करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाफलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान् गन्धमादनसानुषु ॥ ४८ ॥
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान् स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् बकुलांस्तथा ॥ ४९ ॥
पुन्नागान् सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान् सकेतकान् ।
पाटलान् कुटजान् रम्यान् मन्दारेन्दीवरांस्तथा॥ ५० ॥
पारिजातान् कोविदारान् देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान् हिङ्गुकांस्तथा॥५१॥
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्शिंशपाः सरलांस्तथा।

उनके साथ द्रौपदी तथा पूर्वोक्त महामना ब्राह्मण भी थे। वे सब लोग विहंगोंके मुखसे निकले हुए अत्यन्त मधुर सुन्दर, श्रवण-सुखद मादक एवं मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए तथा सभी ऋतुओंके पुष्पों और फलोंसे सुशोभित एवं उनके भारसे झुके वृक्षोंको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे। आम, आमड़ा, भव्य नारियल, तेंदू, मुञ्जातक, अञ्जीर, अनार, नीबू, कटहल, लकुच (बड़हर), मोच (केला), खजूर, अम्लवेंत, पारावत, क्षौद्र, सुन्दर कदम्ब, बेल, कैथ, जामुन, गम्भारी, बेर, पाकड़, गूलर, बरगद, पीपल, पिंड खजूर, भिलावा, आँवला, हर्रें, बहेड़ा, इङ्गुद, करौंदा तथा बड़े-बड़े फलवाले तिंदुक—ये और दूसरे भी नाना प्रकारके वृक्ष गन्धमादनके शिखरोंपर लहलहा रहे थे, जो अमृतके समान स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए थे। (इन सबको देखते हुए पाण्डव लोग आगे बढ़ने लगे।) इसी प्रकार चम्पा, अशोक, केतकी, बकुल (मौलशिरी), पुन्नाग (सुल्ताना चंपा), सप्तपर्ण (छितवन), कनेर, केवड़ा, पाटल (पाड़रि या गुलाब) कुटज, सुन्दर, मन्दार, इन्दीवर (नीलकमल), पारिजात, कोविदार, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, पिप्पल, हिङ्गुक (हींगका वृक्ष), सेमल, पलाश, अशोक, शीशम तथा सरल आदि वृक्षोंको देखते हुए पाण्डव-लोग अग्रसर हो रहे थे ॥ ४२—५१½ ॥

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ॥ ५२ ॥
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारीतैर्जीवजीवकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः ॥ ५३ ॥
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५४ ॥
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥ ५५ ॥
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ॥ ५६ ॥
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ॥ ५७ ॥

इन वृक्षोंपर निवास करनेवाले चकोर, मोर, भृङ्गराज, तोते, कोयल, कलविङ्क (गौरैया-चिड़िया), हारीत (हारिल), चकवा, प्रियक, चातक तथा दूसरे नाना प्रकारके पक्षी, श्रवणसुखद मधुर शब्द बोल रहे थे। वहाँ चारों ओर जलचर जन्तुओंसे भरे हुए मनोहर सरोवर दृष्टिगोचर होते थे। जिनमें कुमुद, पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल, कह्लार और कमल सब ओर व्याप्त थे। कादम्ब, चक्रवाक, कुरर, जल-कुक्कुट, कारण्डव, प्लव, हंस, बक, मद्गु तथा अन्य कितने ही जलचर पक्षी कमलोंके मकरन्दका पान करके मदसे मतवाले और हर्षसे मुग्ध हुए उन सरोवरोंमें सब ओर फैले थे ॥५२—५७॥

पद्मोदरच्युतरजःकिंजल्कारुणरञ्जितैः ।
मञ्जुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान् कमलाकरान् ॥ ५८ ॥

कमलोंसे भरे हुए तालाबोंमें मीठे स्वरसे बोलनेवाले भ्रमरोंके शब्द गूँज रहे थे। वे भ्रमर कमलके भीतरसे निकली हुई रज तथा केसरोंसे लाल रंगमें रँगे-से जान पड़ते थे ॥ ५८ ॥

अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार वे नरश्रेष्ठ गन्धमादनके शिखरोंपर पद्मषण्ड-मण्डित तालाबोंको सब ओर देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान् भृशम् ॥ ६० ॥
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान् कलापान् विस्तीर्य सविलासान् मदालसान्६१
मयूरान् ददृशुर्हृष्टान् नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित् प्रियाभिः सहितान् रममाणान् कलापिनः॥६२॥
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।
कांश्चिच्च कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ॥ ६३ ॥
कलापरुचिराटोपनिचितान् मुकुटानिव ।

विवरेषु तरूणां च रुचिरान् ददृशुश्च ते ॥ ६४ ॥

वहाँ लता-मण्डपोंमें मोरिनियोंके साथ नाचते हुए मोर दिखायी देते थे। जो मेघोंकी मृदङ्गतुल्य गम्भीर गर्जना सुनकर उद्दाम कामसे अत्यन्त उन्मत्त हो रहे थे। वे अपनी मधुर केकाध्वनिका विस्तार करके मीठे स्वरमें संगीतकी रचना करते थे और अपनी विचित्र पाँखें फैलाकर विलासयुक्त मदालस भावसे वनविहारके लिये उत्सुक हो प्रसन्नताके साथ नाच रहे थे। कुछ मोर लतावल्लरियोंसे व्याप्त कुटज वृक्षोंके कुञ्जोंमें स्थित हो अपनी प्यारी मोरिनियोंके साथ रमण करते थे और कुछ कुटजोंकी डालियोंपर मदमत्त होकर बैठे थे तथा अपनी सुन्दर पाँखोंके घटाटोपसे युक्त हो मुकुटके समान जान पड़ते थे। कितने ही सुन्दर मोर वृक्षोंके कोटरोंमें बैठे थे। पाण्डवोंने उन सबको देखा ॥ ६०—६४ ॥

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान् ।
सुवर्णवर्णकुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च ॥ ६५ ॥

पर्वतोंके शिखरोंपर अधिकाधिक संख्यामें सुनहरे कुसुमोंसे सुशोभित सुन्दर शेफा[1]लिकाके पौधे दिखायी देते थे, जो कामदेवके तोमर नामक बाण-से प्रतीत होते थे ॥ ६५ ॥

कर्णिकारान् विकसितान् कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
तथापश्यन् कुरवकान् वनराजिषु पुष्पितान् ॥ ६६ ॥
कामवश्यौत्सुक्यकरान् कामस्येव शरोत्करान्।
तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव ॥ ६७ ॥
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथानङ्गशराकारान् सहकारान् मनोरमान् ॥ ६८ ॥
अपश्यन् भ्रमराराबान् मञ्जरीभिर्विराजितान् ।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ॥ ६९ ॥
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ७० ॥

खिले हुए कनेरके फूल उत्तम कर्णपूरके समान प्रतीत होते थे। इसी प्रकार वन-श्रेणियोंमें विकसित कुरबक नामक वृक्ष भी उन्होंने देखे, जो कामासक्त पुरुषोंको उत्कण्ठित करनेवाले कामदेवके बाण-समूहोंके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार उन्हें तिलकके वृक्ष दृष्टिगोचर हुए, जो वन-श्रेणियोंके ललाटमें रचित सुन्दर तिलकके समान शोभा पा रहे थे। कहीं मनोहर मञ्जरियोंसे विभूषित मनोरम आम्र वृक्ष दीख पड़ते थे, जो कामदेवके बाणोंकी-सी आकृति धारण करते थे। उनकी डालियोंपर भौंरोंकी भीड़ गूँजती रहती थी। उन पर्वतोंके शिखरोंपर कितने ही ऐसे वृक्ष थे, जिनमें सुवर्णके समान सुन्दर पुष्प खिले थे। कुछ वृक्षोंके पुष्प देखनेमें दावानलका भ्रम उत्पन्न करते थे। किन्हीं वृक्षोंके फूल लाल, काले तथा वैदूर्य-मणिके सदृश धूमिल थे। इस प्रकार पर्वतीय शिखरोंपर विभिन्न प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित वृक्ष बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६६—७० ॥

तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान् बकुलानपि ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ७१ ॥

इसी तरह शाल, तमाल, पाटल और बकुल आदि वृक्ष उन शैल-शिखरोंपर धारण की हुई मालाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ७१ ॥

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ७२ ॥
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु ।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ॥ ७३ ॥

पाण्डवोंने पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से ऐसे सरोवर देखे, जो निर्मल स्फटिकमणिके समान सुशोभित थे। उनमें सफेद पाँखवाले पक्षी कलहंस आदि विचरते तथा सारस कलरव करते थे। कमल और उत्पल पुष्पोंसे संयुक्त उन सरोवरोंमें सुखद एवं शीतल जल भरा था ॥ ७२-७३ ॥

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ७४ ॥
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चातिमनोरमान् ।
विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार वे वीर पाण्डव चारों ओर सुगन्धित पुष्प-मालाएँ, सरस फल, मनोहर सरोवर और मनोरम वृक्षावलियोंको क्रमशः देखते हुए गन्धमादन पर्वतके वनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ पहुँचनेपर उन सबकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं ॥ ७४-७५ ॥

[1] सिन्धुवार शब्दका अर्थ आचार्य नीलकण्ठने कमल माना है। आधुनिक कोषकारोंने 'सिन्धुवार' को शेफालिका या निर्गुण्डीका पर्याय माना है। उसके फूल मञ्जरीके आकारमें केसरिया रङ्गके होते हैं, अतः तोमरसे उनकी उपमा ठीक बैठती है। इसीलिये यहाँ शेफालिका अर्थ लिया गया।

कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ॥ ७६ ॥

उस समय कमल, उत्पल, कह्लार और पुण्डरीककी सुन्दर गन्ध लिये मन्द मधुर वायु उस वनमें मानो उन्हें व्यजन डुलाती थी ॥ ७६ ॥

ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद् वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने भीमसेनसे प्रसन्नतापूर्ण यह बात कही—'भीम ! यह गन्धमादन कानन कितना सुन्दर और कैसा अद्भुत है ? ॥ ७७ ॥

वने ह्यस्मिन् मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७८ ॥

'इस मनोरम वनके वृक्ष और नाना प्रकारकी लताएँ दिव्य हैं । इन सबमें पत्र, पुष्प और फलोंकी बहुतायत है ॥ ७८ ॥

भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ॥ ७९ ॥

'ये सभी वृक्ष फूलोंसे लदे हैं । कोकिल कुलसे अलंकृत हैं । इस वनमें कोई भी वृक्ष ऐसे नहीं हैं, जिनमें काँटे हों और जो खिले न हों ॥ ७९ ॥

स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ॥ ८० ॥

गन्धमादनके शिखरोंपर जितने वृक्ष हैं, उन सबके पत्र और फल चिकने हैं । सभी भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारवसे मनोहर जान पड़ते हैं । यहाँके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं ॥ ८० ॥

विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चान्यां कमलोत्पलमालिनीम् ॥ ८१ ॥
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ॥ ८२ ॥
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् समन्ततः ॥ ८३ ॥

'देखो, हथिनियोंसहित हाथी इन तालाबोंमें घुसकर इन्हें मथे डालते हैं और इस दूसरी पुष्करिणीपर दृष्टिपात करो, जो कमल और उत्पलकी मालाओंसे अलंकृत है । यह कमलमालाधारिणी साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान मानो साकार विग्रह धारण करके प्रकट हुई है । गन्धमादनके इस उत्तम वनमें नाना प्रकारके कुसुमोंकी सुगन्धसे सुवासित ये छोटी-छोटी वनश्रेणियाँ भ्रमरोंके गीतोंसे मुखरित हो कैसी शोभा पा रही हैं ? भीमसेन ! देखो, यहाँके सुन्दर प्रदेशोंमें चारों ओर देवताओंकी क्रीडास्थली है ॥ ८१-८३ ॥

अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ॥ ८४ ॥
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।

'वृकोदर ! हमलोग ऐसे स्थानपर आ गये हैं, जो मानवोंके लिये अगम्य है । जान पड़ता है, हम सिद्ध हो गये हैं । कुन्तीनन्दन ! गन्धमादनके शिखरोंपर ये फूलोंसे भरे हुए उत्तम वृक्ष इन पुष्पित लताओंसे अलंकृत होकर कैसी शोभा पा रहे हैं ! ॥ ८४½ ॥

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ॥ ८५ ॥
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।

'भीम ! इन पर्वत-शिखरोंपर मोरिनियोंके साथ विचरते बोलते हुए मोरोंका यह मधुर केकारव तो सुनो ॥ ८५½ ॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ८६ ॥
पत्रिणः पुष्पितानेतान् सम्पतन्ति महाद्रुमान् ।

'ये चकोर, शतपत्र, मदोन्मत्त कोकिल और सारिका आदि पक्षी इन पुष्पमण्डित विशाल वृक्षोंकी ओर कैसे उड़े जा रहे हैं ! ॥ ८६½ ॥

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ॥ ८७ ॥
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।

'पार्थ ! वृक्षोंकी ऊँची शिखाओंपर बैठे हुए लाल, गुलाबी और पीले रङ्गके चकोर पक्षी एक दूसरेकी ओर देख रहे हैं ॥ ८७½ ॥

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ॥ ८८ ॥
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।

'उधर हरी और लाल घासोंके समीप पर्वतीय झरनोंके पास सारस दिखायी देते हैं ॥ ८८½ ॥

वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ॥ ८९ ॥
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्त्रिणः ।

'भृङ्गराज, उपचक्र (चक्रवाक) और लोहपृष्ठ (कङ्क) नामक पक्षी ऐसी मीठी बोली बोलते हैं, जो समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेती है ॥ ८९½ ॥

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ॥ ९० ॥
एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत् सरः ।

'इधर देखो, ये कमलके समान कान्तिवाले गजराज, जिनके चार दाँत शोभा पा रहे हैं, हथिनियोंके साथ आकर वैदूर्यमणिके समान सुशोभित इस महान् सरोवरको मथे डालते हैं ॥ ९०½ ॥

बहुतालसमुत्सेधा शैलशृङ्गपरिच्युताः ॥ ९१ ॥
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।

'अनेक झरनोंसे जलकी धाराएँ गिर रही हैं। जिनकी ऊँचाई कई ताड़के बराबर है और ये पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे नीचे गिरती हैं ॥ ९१½ ॥

भास्कराभाः प्रभाभिश्च शारदाभ्रघनोपमाः ॥ ९२ ॥
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।
क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित् काञ्चनसंनिभाः ॥ ९३ ॥

'नाना प्रकारके रजतमय धातु इस महान् पर्वतकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इनमेंसे कुछ तो अपनी प्रभाओंसे भगवान् भास्करके समान प्रकाशित होते हैं और कुछ शरद् ऋतुके श्वेत बादलोंके समान सुशोभित हो रहे हैं। कहीं काजलके समान काले और सुवर्णके समान पीले रङ्गके धातु दीख पड़ते हैं ॥ ९२-९३ ॥

धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ॥ ९४ ॥

'कहीं हरितालसम्बन्धी धातु हैं और कहीं हिङ्गुलसम्बन्धी। कहीं मैनसिलकी गुफाएँ हैं, जो संध्याकालीन लाल बादलोंके समान जान पड़ती हैं ॥ ९४ ॥

शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ॥ ९५ ॥

'कहीं गेरु नामक धातु हैं, जिनकी कान्ति लाल खरगोशके समान दिखायी देती है। कोई धातु श्वेत बादलोंके समान हैं, तो कोई काले मेघोंके समान। कोई प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रङ्गके हैं ॥ ९५ ॥

एते बहुविधाः शैलं शोभयन्ति महाप्रभाः ।
गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ॥ ९६ ॥
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किम्पुरुषैः सह ।

'ये नाना प्रकारकी परम कान्तिमान् धातु समूचे शैलकी शोभा बढ़ाती हैं। पार्थ ! जिस प्रकार वृषपर्वाने कहा था उसी प्रकार इन पर्वतीय शिखरोंपर अपनी प्रेयसी अप्सराओं तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धर्व दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ९६½ ॥

गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ॥९७॥
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ॥ ९८ ॥

'भीमसेन ! यहाँ सम तालसे गाते हुए गीतों तथा साम-मन्त्रोंका विविध स्वर सुनायी पड़ता है, जो सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला है। यह परम पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी महागङ्गा हैं, इनका दर्शन करो ॥ ९७-९८ ॥

कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ॥ ९९ ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ॥१००॥
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिन्दम ।

'यहाँ हंसोंके समुदाय निवास करते हैं तथा ऋषि एवं किन्नरगण सदा इन (गङ्गाजी)का सेवन करते हैं। शत्रुदमन भीम! भाँति-भाँतिके धातुओं, नदियों, किन्नरों, मृगों, पक्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मनोरम काननों तथा सौ मस्तकवाले भाँति-भाँतिके सर्पोंसे सम्पन्न इस पर्वतराजका दर्शन करो' ॥ ९९-१००½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥१०१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार वे शूरवीर पाण्डव हर्षपूर्ण हृदयसे अपने परम उत्तम लक्ष्य स्थानको पहुँच गये ॥ १०१ ॥

नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परंतपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ॥१०२॥
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।

गिरिराज गन्धमादनका दर्शन करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। तदनन्तर परंतप पाण्डवोंने पुष्पमालाओं तथा फलवान् वृक्षोंसे सम्पन्न राजर्षि आर्ष्टिषेणका आश्रम देखा ॥ १०२½ ॥

ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥१०३॥

फिर वे कठोर तपस्वी दुर्बलकाय तथा नस-नाड़ियोंसे ही व्याप्त राजर्षि आर्ष्टिषेणके समीप गये, जो सम्पूर्ण धर्मोंके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गन्धमादनप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

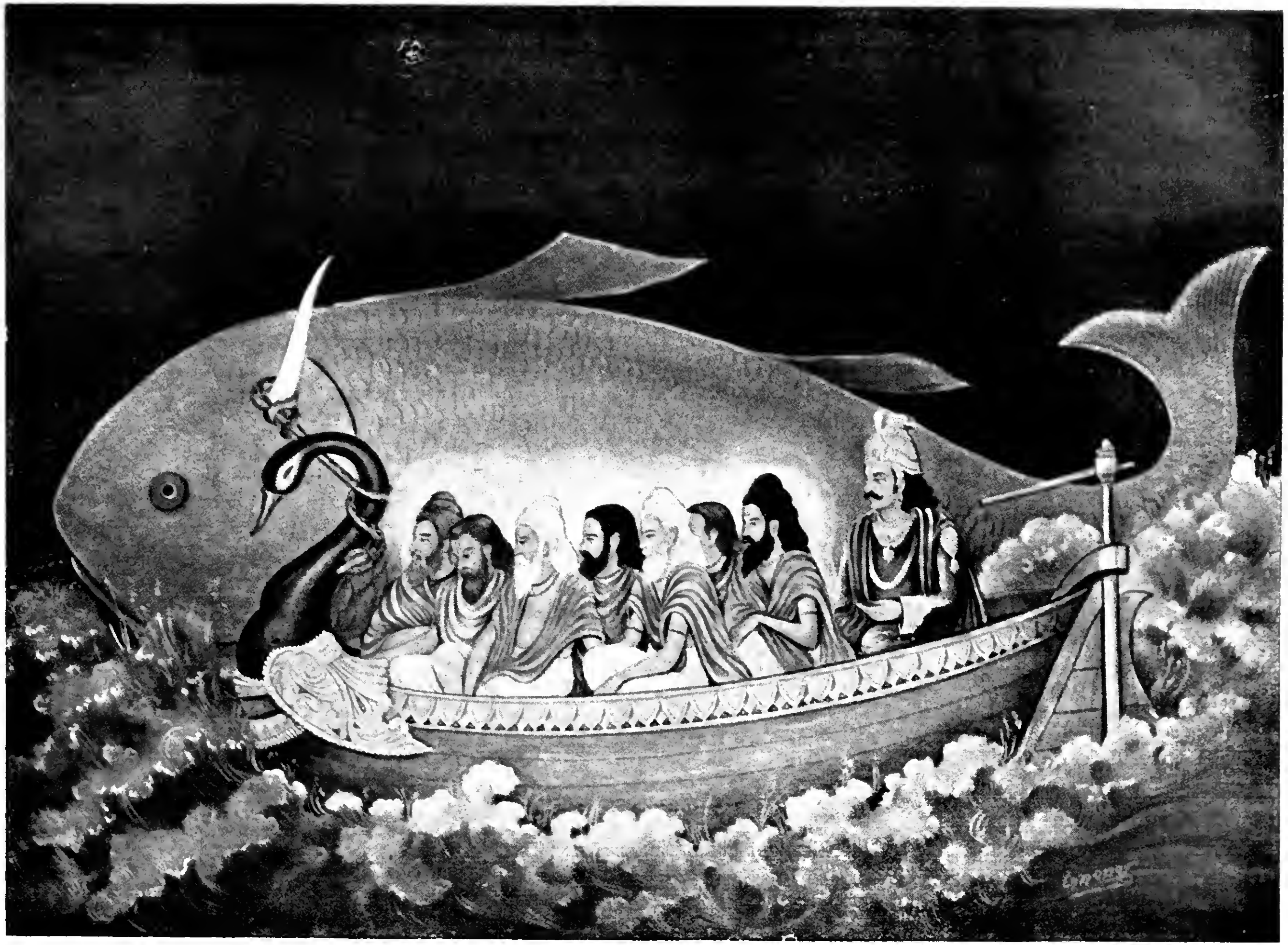

महाप्रलयके समय भगवान् मत्स्यके सींगमें बँधी हुई मनु और सप्तर्षियोंसहित नौका

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रश्नके रूपमें आर्ष्टिषेणका युधिष्ठिरके प्रति उपदेश

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम्।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजर्षि आर्ष्टिषेणने तपस्याद्वारा अपने सारे पाप दग्ध कर दिये थे। राजा युधिष्ठिरने उनके पास जाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ॥ १ ॥

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे॥ २ ॥

तदनन्तर द्रौपदी, भीमसेन और परम तपस्वी नकुल-सहदेव—ये सभी मस्तक झुकाकर उन राजर्षिको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २ ॥

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम्॥ ३ ॥

उसी प्रकार पाण्डवोंके पुरोहित धर्मज्ञ धौम्यजी कठोर व्रतका पालन करनेवाले राजर्षि आर्ष्टिषेणके पास यथोचित शिष्टाचारके साथ उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

अन्वजानात् स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
पाण्डोः पुत्रान् कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत्॥ ४ ॥

उन धर्मज्ञ मुनि आर्ष्टिषेणने अपनी दिव्यदृष्टिसे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको जान लिया और कहा, 'आप सब लोग बैठें'॥४॥

कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम्॥ ५ ॥

महातपस्वी आर्ष्टिषेणने भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर-का यथोचित आदर-सत्कार किया और जब वे बैठ गये, तब उनसे कुशल-समाचार पूछा—॥ ५ ॥

नानृते कुरुषे भावं कच्चिद् धर्मे प्रवर्तसे।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति॥ ६ ॥

'कुन्तीनन्दन ! कभी झूठकी ओर तो तुम्हारा मन नहीं जाता ? तुम धर्ममें लगे रहते हो न ? माता-पिताके प्रति जो तुम्हारी सेवा-वृत्ति होनी चाहिये, वह है न ? उसमें शिथिलता तो नहीं आती है ? ॥ ६ ॥

कच्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु॥ ७ ॥

'क्या तुमने समस्त गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों और विद्वानोंका सदा समादर किया है ? पार्थ ! कभी पापकर्मोंमें तो तुम्हारी रुचि नहीं होती ? ॥ ७ ॥

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं न दुष्कृतम्।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे॥ ८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! क्या तुम अपने उपकारीको उसके उपकारका यथोचित बदला देना जानते हो ? क्या तुम्हें अपना अपकार करनेवाले मनुष्यकी उपेक्षा कर देनेकी कलाका ज्ञान है ? तुम अपनी बड़ाई तो नहीं करते ? ॥ ८ ॥

यथार्हं मानिताः कच्चित् त्वया नन्दन्ति साधवः।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद् धर्ममेवानुवर्तसे॥ ९ ॥

'क्या तुमसे यथायोग्य सम्मानित होकर साधु पुरुष तुमपर प्रसन्न रहते हैं ? क्या तुम वनमें रहते हुए भी सदा धर्मका ही अनुसरण करते हो ? ॥ ९ ॥

कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया॥ १० ॥
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित् पार्थानुवर्तसे।
कच्चिद् राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव॥ ११ ॥

'पार्थ ! तुम्हारे आचार-व्यवहारसे पुरोहित धौम्यजीको क्लेश तो नहीं पहुँचता है ? कुन्तीनन्दन ! क्या तुम दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और क्षमा आदिके द्वारा अपने बाप-दादोंमें आचार-व्यवहारका अनुसरण करते हो ? पाण्डु-नन्दन ! प्राचीन राजर्षि जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम भी चलते हो न ? ॥ १०-११ ॥

स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च॥ १२ ॥
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः सम्प्राप्तव्यं भविष्यति।
किं चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम्॥ १३ ॥

'कहते हैं, जब-जब अपने-अपने कुलमें पुत्र अथवा नाती-का जन्म होता है, तब-तब पितृलोकमें रहनेवाले पितर शोक-मग्न होते हैं और हँसते भी हैं। शोक तो उन्हें यह सोचकर होता है कि 'क्या हमें इसके पापमें हिस्सा बँटाना पड़ेगा ?' और हँसते इसलिये हैं कि 'क्या हमें इसके पुण्यका कुछ भाग मिलेगा ? यदि ऐसा हो तो बड़ी अच्छी बात है' ॥ १२-१३ ॥

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ॥ १४ ॥

'पार्थ ! जिसके द्वारा पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा—इन पाँचोंका आदर होता है, वह यह लोक और परलोक दोनोंको जीत लेता है' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्नार्य माहैतद् यथावद् धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन्! आर्यचरण! आपने मुझे यह धर्मका निचोड़ बताया है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक इसका पालन करता हूँ ॥ १५ ॥

आर्ष्टिषेण उवाच

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ॥ १६ ॥

आर्ष्टिषेण बोले—पार्थ! पर्वोंकी संधिवेलामें (पूर्णिमा तथा प्रतिपदाकी संधिमें) बहुत-से ऋषिगण आकाश-मार्गसे उड़ते हुए आते हैं और इस श्रेष्ठ पर्वतका सेवन करते हैं। उनमेंसे कितने तो केवल जल पीकर जीवन-निर्वाह करते हैं और कितने केवल वायु पीकर रहते हैं ॥ १६ ॥

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ॥ १७ ॥

राजन्! कितने ही किम्पुरुष जातिके कामी अपनी कामिनियोंके साथ परस्पर अनुरक्तभावसे यहाँ क्रीडाके लिये आते हैं और पर्वतके शिखरोंपर घूमते दिखायी देते हैं॥१७॥

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १८ ॥

कुन्तीकुमार! गन्धर्वों और अप्सराओंके बहुत-से गण यहाँ देखनेमें आते हैं, उनमेंसे कितने ही स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और कितने ही रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित होते हैं ॥ १८ ॥

विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥ १९ ॥

विद्याधरोंके गण भी सुन्दर फूलोंके हार पहने अत्यन्त मनोहर दिखायी देते हैं। इनके सिवा बड़े-बड़े नागगण, सुपर्णजातीय पक्षी तथा सर्प आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं॥१९॥

अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः ॥ २० ॥

पर्वोंकी संधि-वेलामें इस पर्वतके ऊपर भेरी, पणव, शङ्ख और मृदङ्गोंकी ध्वनि सुनायी देती है ॥ २० ॥

इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः।
न कार्या वः कथंचित् स्यात् तत्राभिगमने मतिः॥ २१ ॥

भरतकुलभूषण पाण्डवो! तुम्हें यहीं रहकर वह सब कुछ देखना या सुनना चाहिये। वहाँ पर्वतके ऊपर जानेका विचार तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इससे आगे जाना असम्भव है। वहाँ देवताओं-कीविहारस्थली है। वहाँ मनुष्योंकी गति नहीं हो सकती ॥२२॥

ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः ॥ २३ ॥

भारत! यहाँ थोड़ी-सी भी चपलता करनेवाले मनुष्यसे सब प्राणी द्वेष करते हैं तथा राक्षसलोग उसपर प्रहार कर बैठते हैं ॥ २३ ॥

अस्यातिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! इस कैलासके शिखरको लाँघ जानेपर परम सिद्ध देवर्षियोंकी गति प्रकाशित होती है ॥ २४ ॥

चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम्।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ॥ २५ ॥

शत्रुसूदन पार्थ! चपलतावश इससे आगेके मार्गपर जाने वाले मनुष्यको राक्षसगण लोहेके शूल आदिसे मारते हैं ॥२५॥

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसंधिषु दृश्यते ॥ २६ ॥

तात! पर्वोंकी संधिके समय यहाँ मनुष्योंपर सवार होने-वाले कुबेर-अप्सराओंसे घिरकर अपने अतुल वैभवके साथ दिखायी देते हैं ॥ २६ ॥

शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम्।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥ २७ ॥

यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति कुबेर जब इस कैलाश-शिखरपर विराजमान होते हैं, उस समय उदित हुए सूर्यकी भाँति शोभा पाते हैं उस अवसरपर सब प्राणी उनका दर्शन करते हैं ॥ २७ ॥

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! पर्वतका यह शिखर देवताओं, दानवों, सिद्धों तथा कुबेरका क्रीड़ा-कानन है ॥ २८ ॥

उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥ २९ ॥

तात! पर्व-संधिके समय गन्धमादन पर्वतपर कुबेरकी सेवामें उपस्थित हुए तुम्बुरु गन्धर्वके साम-गानका स्वर स्पष्ट सुनायी पड़ता है ॥ २९ ॥

एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसंधिषु ॥ ३० ॥

तात युधिष्ठिर! इस प्रकार पर्वसंधिकालमें सब प्राणी यहाँ अनेक बार ऐसे-ऐसे अद्भुत दृश्योंका दर्शन करते हैं ॥ ३० ॥

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥ ३१ ॥

श्रेष्ठ पाण्डवो ! जबतक तुम्हारी अर्जुनसे भेंट न हो, तबतक मुनियोंके भोजन करनेयोग्य सरस फलोंका उपभोग करते हुए तुम सब लोग यहाँ (सानन्द) निवास करो ॥ ३१ ॥

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथंचन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥ ३२ ॥

तात ! यहाँ आनेवाले लोगोंको किसी प्रकार चपल नहीं होना चाहिये। तुम यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार रहकर और श्रद्धाके अनुसार घूम-फिरकर लौट जाओगे और शस्त्रोंद्वारा जीती हुई पृथ्वीका पालन करोगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें आर्ष्टिषेण-युधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आर्ष्टिषेणके आश्रमपर निवास, द्रौपदीके अनुरोधसे भीमसेनका पर्वतके शिखरपर जाना और यक्षों तथा राक्षसोंसे युद्ध करके मणिमान्‌का वध करना

जनमेजय उवाच

आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन् मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ॥ १ ॥
कियन्तं कालमवसन् पर्वते गन्धमादने ।
किं च चक्रुर्महावीर्याः सर्वेऽतिबलपौरुषाः ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! गन्धमादन पर्वतपर आर्ष्टिषेणके आश्रममें मेरे समस्त पूर्वपितामह दिव्य पराक्रमी महामना पाण्डव कितने समयतक रहे ? वे सभी महान् पराक्रमी और अत्यन्त बल-पौरुषसे सम्पन्न थे। वहाँ रहकर उन्होंने क्या किया ? ॥ १-२ ॥

कानि चाभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ॥ ३ ॥

साधुशिरोमणे ! वहाँ निवास करते समय विश्वविख्यात वीर महामना पाण्डवोंके भोज्य पदार्थ क्या थे ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यद् यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन् हैमवते गिरौ ॥ ४ ॥

आप मुझसे भीमसेनका पराक्रम विस्तारपूर्वक बतावें। उन महाबाहुने हिमालय पर्वतके शिखरपर रहते समय कौन-कौन-सा कार्य किया था ? ॥ ४ ॥

न खल्वासीत् पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ।
कच्चित् समागमस्तेषामासीद् वैश्रवणस्य च ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उनका यक्षोंके साथ फिर कोई युद्ध हुआ था या नहीं। क्या कुबेरके साथ कभी उनकी भेंट हुई थी ? ॥ ५ ॥

तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाब्रवीत् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ॥ ६ ॥
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ।

क्योंकि आर्ष्टिषेणने जैसा बताया था, उसके अनुसार वहाँ कुबेर अवश्य आते रहे होंगे। तपोधन ! मैं यह सब विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ; क्योंकि पाण्डवोंका चरित्र सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याप्रतिमतेजसः ॥ ७ ॥
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! अप्रतिम तेजस्वी आर्ष्टिषेणका यह अपने लिये हितकर वचन सुनकर भरत-कुल-भूषण पाण्डवोंने सदा उनके आदेशका उसी प्रकार पालन किया ॥ ७½ ॥

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ८ ॥
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च ।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पाण्डवा भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

वे हिमालयके शिखरपर निवास करते हुए मुनियोंके खाने योग्य सरस फलोंका और नाना प्रकारके पवित्र (बिना हिंसाके प्राप्त) मधुका भी भोजन करते थे। इस प्रकार भरतश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ निवास करते थे ॥ ८-९ ॥

तथा निवसतां तेषां पञ्चमं वर्षमभ्यगात् ।
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ॥ १० ॥

वहाँ निवास करते हुए उनका पाँचवाँ वर्ष बीत गया। उन दिनों वे लोमशजीकी कही हुई नाना प्रकारकी कथाएँ सुना करते थे ॥ १० ॥

कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः ।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्वमेव गतः प्रभो ॥ ११ ॥

राजन् ! घटोत्कच यह कहकर कि 'मैं आवश्यकताके

समय स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा' सब राक्षसोंके साथ पहले ही चला गया था ॥ ११ ॥

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन् बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ॥ १२ ॥

आर्ष्टिषेणके आश्रममें रहकर अत्यन्त अद्भुत दृश्योंका अवलोकन करते हुए महामना पाण्डवोंके अनेक मास व्यतीत हो गये ॥ १२ ॥

तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पाण्डवैः ।
प्रीतिमन्तो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ॥ १३ ॥

वहाँ रहकर क्रीडा-विहार करते हुए उन पाण्डवोंसे महाभाग मुनि और चारण बहुत प्रसन्न थे ॥ १३ ॥

आजग्मुः पाण्डवान् द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः ।
ते तैः सह कथां चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ॥ १४ ॥

उनका अन्तःकरण शुद्ध था और वे संयम-नियमके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे । एक दिन वे भी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आये । भरतशिरोमणि पाण्डवोंने उनके साथ दिव्य चर्चाएँ कीं ॥ १४ ॥

ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ।
ऋद्धिमन्तं महानागं सुपर्णः सहसाऽऽहरत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक महान् जलाशयमें निवास करनेवाले महानाग ऋद्धिमान्‌को गरुडने सहसा झपाटा मारकर पकड़ लिया ॥ १५ ॥

प्राकम्पत महाशैलः प्रामृद्यन्त महाद्रुमाः ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाण्डवाश्च तदद्भुतम् ॥ १६ ॥

उस समय वह महान् पर्वत हिलने लगा । बड़े-बड़े वृक्ष मिट्टीमें मिल गये । वहाँके समस्त प्राणियों तथा पाण्डवोंने उस अद्भुत घटनाको प्रत्यक्ष देखा ॥ १६ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रात् पाण्डवान् प्रति मारुतः ।
अवहत् सर्वमाल्यानि गन्धवन्ति शुभानि च ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् उस उत्तम पर्वतके शिखरसे पाण्डवोंकी ओर हवाका एक झोंका आया, जिसने वहाँ सब प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी हुई बहुत-सी सुन्दर मालाएँ लाकर बिखेर दीं ॥ १७ ॥

तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पाण्डवाः ।
ददृशुः पञ्चवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ॥ १८ ॥

पाण्डवोंने अपने सुहृदोंके साथ जाकर उन मालाओंमें गूँथे हुए दिव्य पुष्प देखे, जो पाँच रंगके थे । यशस्विनी द्रौपदीने भी उन फूलोंको देखा था ॥ १८ ॥

भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ।
विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर उसने समय पाकर पर्वतके एकान्त प्रदेशमें सुखपूर्वक बैठे हुए महाबाहु भीमसेनने कहा— ॥ १९ ॥

सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाचलात् ।
पञ्चवर्णानि पात्यन्ते पुष्पाणि भरतर्षभ ॥ २० ॥
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति ।
खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव महात्मना ॥ २१ ॥
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः ।
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गाण्डिवम् ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! गरुडके पङ्खसे उठी हुई वायुके वेगसे उस दिन उस महान् पर्वतसे जो पाँच रंगके फूल अश्वरथा नदीके तटपर गिराये गये थे, उन्हें सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा । मुझे याद है, खाण्डव वनमें तुम्हारे महामना भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा देवराज इन्द्रको भी युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया था । बहुत-से भयंकर मायावी राक्षस उनके हाथों मारे गये और उन्होंने गाण्डीव नामक धनुष भी प्राप्त कर लिया ॥ २०–२२ ॥

तवापि सुमहत् तेजो महद् बाहुबलं च ते ।
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यपराक्रम ॥ २३ ॥

'आर्यपुत्र ! तुम्हारा पराक्रम भी इन्द्रके ही समान है । तुम्हारा तेज और बाहुबल भी महान् है । वह दूसरोंके लिये दुःसह एवं दुर्धर्ष है ॥ २३ ॥

त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः ।
हित्वा शैलं प्रपद्यन्तां भीमसेन दिशो दश ॥ २४ ॥

'भीमसेन ! मैं चाहती हूँ कि तुम्हारे बाहुबलके वेगसे थर्राकर सम्पूर्ण राक्षस इस पर्वतको छोड़ दें और दसों दिशाओंकी शरण लें ॥ २४ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम् ।
व्यपेतभयसम्मोहाः पश्यन्तु सुहृदस्तव ॥ २५ ॥
एवं प्रणिहितं भीम चिरात् प्रभृति मे मनः ।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ॥ २६ ॥

'तत्पश्चात् विचित्र मालाधारी एवं शिवस्वरूप इस उत्तम शैल-शिखरको तुम्हारे सब सुहृद् भय और मोहसे रहित होकर देखें । भीम ! दीर्घकालसे मैं अपने मनमें यही सोच रही हूँ । मैं तुम्हारे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस शैल-शिखरका दर्शन करना चाहती हूँ' ॥ २५-२६ ॥

ततः क्षिप्तमिवात्मानं द्रौपद्या स परंतपः ।
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ॥ २७ ॥

द्रौपदीकी यह बात सुनकर परंतप महाबाहु भीमसेनने इसे अपने ऊपर आक्षेप हुआ—सा समझा । जैसे अच्छा बैल अपने ऊपर चाबुककी मार नहीं सह सकता, उसी प्रकार यह आक्षेप उनसे नहीं सहा गया ॥ २७ ॥

सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः ।
मनस्वी बलवान् दृप्तो मानी शूरश्च पाण्डवः ॥ २८ ॥

उनकी चाल श्रेष्ठ सिंहके समान थी। वे सुन्दर, उदार और कनकके समान कान्तिमान् थे। पाण्डुनन्दन भीम मनस्वी, बलवान्, अभिमानी, मानी और शूर-वीर थे॥ २८॥

लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कन्धः शालपोत इवोद्गतः॥ २९॥

उनकी आँखें लाल थीं। दोनों कंधे हृष्ट-पुष्ट थे। उनका पराक्रम मतवाले गजराजके समान था। दाँत सिंहकी दाढ़ोंकी समानता करते थे। कंधे विशाल थे। वे शालवृक्ष-की भाँति ऊँचे जान पड़ते थे॥ २९॥

महात्मा चारुसर्वाङ्गः कम्बुग्रीवो महाभुजः।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत्॥ ३०॥

उनका हृदय महान् था, सभी अङ्ग मनोहर जान पड़ते थे, ग्रीवा शङ्खके समान थी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वे सुवर्णकी पीठवाले धनुष, खड्ग तथा तरकसपर बार-बार हाथ फेरते थे॥ ३०॥

स केसरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली॥ ३१॥

बलवान् भीमसेन मदोन्मत्त सिंह और मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति भय और मोहसे रहित हो उस पर्वतपर चढ़ने लगे॥ ३१॥

तं मृगेन्द्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम्।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम्॥ ३२॥

मदवर्षी कुञ्जर और मृगराजकी भाँति आते हुए धनुष-बाणधारी भीमसेनको उस समय सब भूतोंने देखा॥ ३२॥

द्रौपद्या वर्धयन् हर्षं गदामादाय पाण्डवः।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलराजं समाश्रितः॥ ३३॥

पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर द्रौपदीका हर्ष बढ़ाते हुए भय और घबराहट छोड़कर उस पर्वतराजपर चढ़ गये॥ ३३॥

न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः॥ ३४॥

वायु-पुत्र कुन्तीकुमार भीमसेनको कभी ग्लानि, कातरता, व्याकुलता और मत्सरता आदि भाव नहीं छूते थे॥ ३४॥

तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम्।
बहुतालोच्छ्रयं शृङ्गमारुरोह महाबलः॥ ३५॥

वह पर्वत ऊँची-नीची भूमियोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर था। उसकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी और उसपर चढ़नेके लिये एक ही मार्ग था, तो भी महाबली भीमसेन उसके शिखरपर चढ़ गये॥ ३५॥

सकिन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान्।
हर्षयन् पर्वतस्याग्रमारुह्य स महाबलः॥ ३६॥

पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो महाबली भीम किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व तथा राक्षसोंका हर्ष बढ़ाने लगे॥ ३६॥

ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः।
काञ्चनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम्॥ ३७॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने कुबेरका निवासस्थान देखा, जो सुवर्ण और स्फटिक मणिके बने हुए भवनोंसे विभूषित था॥ ३७॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समन्ततः।
सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा॥ ३८॥
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना।
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंवाहशोभिना॥ ३९॥

उसके चारों ओर सोनेकी चहारदीवारी बनी थी। उसमें सब प्रकारके रत्न जड़े होनेसे उनकी प्रभा फैलती रहती थी। चहारदीवारीके सब ओर सुन्दर बगीचे थे। उस चहारदीवारीकी ऊँचाई पर्वतसे भी अधिक थी। बहुत-से भवनों और अट्टालिकाओंसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। द्वार, तोरण (गोपुर), बुर्ज और ध्वजसमुदाय उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ३८-३९॥

विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यन्तीभिः समन्ततः।
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम्॥ ४०॥

उस भवनमें सब ओर कितनी ही विलासिनी अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और हवासे फहराती हुई पताकाएँ उस भवनका अलंकार बनी हुई थीं॥ ४०॥

धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना।
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम्॥ ४१॥

अपनी तिरछी की हुई बाहुसे धनुषकी नोकको स्थिर करके भीमसेन उस धनाध्यक्ष कुबेरके नगरको बड़े खेदके साथ देख रहे थे॥ ४१॥

मोदयन् सर्वभूतानि गन्धमादनसम्भवः।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ॥ ४२॥

गन्धमादनसे उठी हुई वायु सम्पूर्ण सुगन्धकी राशि लेकर समस्त प्राणियोंको आनन्दित करती हुई सुखद मन्द गतिसे बह रही थी॥ ४२॥

चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमञ्जरिधारिणः।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः॥ ४३॥
रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम्।
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददर्श भरतर्षभः॥ ४४॥

वहाँके अत्यन्त शोभाशाली विविध वृक्ष नाना प्रकारकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे। उनकी मञ्जरियाँ विचित्र दिखायी देती थीं। वे सब-के-सब अद्भुत और अकथनीय जान पड़ते थे। भरतश्रेष्ठ भीमने राक्षसराज कुबेरके उस

स्थानको रत्नोंके समुदायसे सुशोभित तथा विचित्र मालाओंसे विभूषित देखा ॥ ४३-४४ ॥

गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४५ ॥
ततः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलशब्दं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ॥ ४६ ॥

उनके हाथमें गदा, खड्ग और धनुष शोभा पा रहे थे। उन्होंने अपने जीवनका मोह सर्वथा छोड़ दिया था। वे महाबाहु भीमसेन वहाँ पर्वतकी भाँति अविचल भावसे कुछ देर खड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने बड़े जोरसे शङ्ख बजाया, जिसकी आवाज शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। फिर धनुषकी टंकार करके समस्त प्राणियोंको मोहित कर दिया ॥ ४५-४६ ॥

ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ॥ ४७ ॥

तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्व रोमाञ्चित होकर उस शब्दको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके समीप दौड़े आये ॥ ४७ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४८ ॥

उस समय गदा, परिघ, खड्ग, शूल, शक्ति और फरसे आदि अस्त्र-शस्त्र उन यक्षों तथा राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़ी चमक पैदा कर रहे थे ॥ ४८ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
तैः प्रयुक्तान् महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ॥ ४९ ॥
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ।
अन्तरिक्षगतानां च भूमिष्ठानां च गर्जताम् ॥ ५० ॥
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ।
सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम् ॥ ५१ ॥
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसम्भवाः ।
कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समन्ततः ॥ ५२ ॥

भारत ! तदनन्तर उन यक्षों और गन्धर्वोंका भीमसेनके साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। वे यक्ष और राक्षस बड़े मायावी थे। उनके चलाये हुए शूल, शक्ति और फरसोंको भीमसेनने भयानक वेगशाली भल्ल नामक बाणोंद्वारा काट गिराया। वे राक्षस आकाशमें उड़कर तथा भूतलपर खड़े होकर जोर-जोरसे गर्जना कर रहे थे। महाबली भीमने बाणों-की झड़ी लगाकर उनके शरीरोंको अच्छी प्रकार छेद डाला। गदा और परिघ हाथमें लिये हुए राक्षसोंके शरीरसे महाबली भीमपर खूनकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी तथा चारों ओर राक्षसोंके शरीरसे रक्तकी कितनी ही धाराएँ बह चलीं ॥ ४९-५२ ॥

भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ।
विनिकृत्तानि दृश्यन्ते शरीराणि शिरांसि च ॥ ५३ ॥

भीमके बाहुबलसे छूटे हुए अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा यक्षों तथा राक्षसोंके शरीर और सिर कटे दिखायी दे रहे थे ॥ ५३ ॥

प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पाण्डवं प्रियदर्शनम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ॥ ५४ ॥

जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार प्रियदर्शन पाण्डुपुत्र भीमको राक्षस ढके लेते हैं, यह सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा ॥ ५४ ॥

स रश्मिभिरिवादित्यः शरैररिनिघातिभिः ।
सर्वानाच्छेन्महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः ॥ ५५ ॥

तब सत्यपराक्रमी बलवान् महाबाहु भीमसेनने अपने शत्रुनाशक बाणोंद्वारा समस्त शत्रुओंको उसी प्रकार ढक लिया, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे संसारको ढक लेते हैं ॥ ५५ ॥

अभितर्जयमानाश्च रुवन्तश्च महारवान् ।
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ॥ ५६ ॥

सब ओरसे गर्जन-तर्जन करते हुए तथा बड़ी भयानक आवाजसे चिग्घाड़ते हुए सब राक्षसोंने भीमसेनके चित्तमें तनिक भी घबराहट नहीं देखी ॥ ५६ ॥

यक्षा विकृतसर्वाङ्गा भीमसेनभयार्दिताः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ॥ ५७ ॥

जिनके सारे अङ्ग विकृत एवं विकराल थे, वे यक्ष भीमसेनके भयसे पीड़ित हो अपने बड़े-बड़े आयुधोंको इधर-उधर फेंककर भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ ५७ ॥

उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना ॥ ५८ ॥

सुदृढ़ धनुषवाले भीमसेनसे आतङ्कित हो वे यक्ष-राक्षस आदि योद्धा गदा, शूल, खड्ग, शक्ति तथा परशु आदि अस्त्रोंको वहीं छोड़कर दक्षिण दिशाकी ओर भाग गये ॥ ५८ ॥

तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ।
सखा वैश्रवणस्यासीन्मणिमान्नाम राक्षसः ॥ ५९ ॥

वहाँ कुबेरके सखा राक्षसप्रवर मणिमान् भी मौजूद थे। उनके हाथोंमें त्रिशूल और गदा शोभा पा रही थी उनकी छाती चौड़ी और बाहें विशाल थीं ॥ ५९ ॥

अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः ।
स तान् दृष्ट्वा परावृत्तान् स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ६० ॥

उन महाबली वीरने वहाँ अपने अधिकार और पौरुष दोनोंको प्रकट किया। उस समय अपने सैनिकोंको रणसे विमुख होते देख वे मुसकराते हुए उनसे बोले—॥ ६० ॥

एकेन बहवः सङ्ख्ये मानुषेण पराजिताः ।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ॥ ६१ ॥

'अरे तुम बहुत बड़ी संख्यामें होकर भी आज एक मनुष्यद्वारा युद्धमें पराजित हो गये। कुबेर-भवनमें धना-ध्यक्षके पास जाकर क्या कहोगे?' ॥ ६१ ॥

एवमाभाष्य तान् सर्वानभ्यवर्तत राक्षसः।
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत् स पाण्डवम् ॥ ६२ ॥

ऐसा कहकर राक्षस मणिमान्‌ने उन सबको लौटाया और हाथोंमें शक्ति, शूल तथा गदा लेकर भीमसेनपर धावा किया ॥ ६२ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम्।
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत् ॥ ६३ ॥

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति मणिमान्‌को बड़े वेगसे आता देख भीमसेनने वत्सदन्त नामक तीन बाणोंद्वारा उनकी पसलीमें प्रहार किया ॥ ६३ ॥

मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम्।
प्राहिणोद् भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः ॥ ६४ ॥

यह देख महाबली मणिमान् भी रोषसे आगबबूला हो उठे और बहुत बड़ी गदा लेकर उन्होंने भीमसेनपर चलायी॥

विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम्।
शरैर्बहुभिरभ्याच्छेद् भीमसेनः शिलाशितैः ॥ ६५ ॥

वह विशाल एवं महाभयंकर गदा आकाशमें विद्युत्‌की भाँति चमक उठी। यह देख भीमसेनने पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए बहुत-से बाणोंद्वारा उसपर आघात किया॥

प्रत्यहन्यन्त ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ॥ ६६ ॥

परंतु वे सभी बाण मणिमान्‌की गदासे टकराकर नष्ट हो गये। यद्यपि वे बड़े वेगसे छूटे थे, तथापि गदा चलानेके अभ्यासी मणिमान्‌की गदाके वेगको न सह सके॥

गदायुद्धसमाचारं बुद्ध्यमानः स वीर्यवान्।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ॥ ६७ ॥

भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन गदायुद्धकी कलाको जानते थे। अतः उन्होंने शत्रुके उस प्रहारको व्यर्थ कर दिया ॥ ६७ ॥

ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदण्डामयस्मयीम्।
तस्मिन्नेवान्तरे धीमान् प्रजहाराथ राक्षसः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् राक्षसने उसी समय स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एवं लोहेकी बनी हुई बड़ी भयानक शक्तिका प्रहार किया ॥ ६८ ॥

सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्त्वा भीमस्य दक्षिणम्।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ॥ ६९ ॥

वह अग्निकी ज्वालाके समान अत्यन्त भयंकर शक्ति भयानक गड़गड़ाहटके साथ भीमकी दाहिनी भुजाको छेदकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६९ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्यामितपराक्रमः।
गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ७० ॥

रुक्मपट्टपिनद्धां तां शत्रूणां भयवर्धिनीम्।
प्रगृह्याथ नदन् भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम् ॥ ७१ ॥
तरसा चाभिदुद्राव मणिमन्तं महाबलम्।

शक्तिकी गहरी चोट लगनेसे महान् धनुर्धर एवं अत्यन्त पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमके नेत्र क्रोधसे व्याकुल हो उठे और उन्होंने एक ऐसी गदा हाथमें ली, जो शत्रुओंका भय बढ़ानेवाली थी। उसके ऊपर सोनेके पत्र जड़े थे। वह सारी-की-सारी लोहेकी बनी हुई और शत्रुओंको नष्ट करनेमें समर्थ थी। उसे लेकर भीमसेन विकट गर्जना करते हुए बड़े वेगसे महाबली मणिमान्‌की ओर दौड़े ॥ ७०-७१½ ॥

दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि ॥ ७२ ॥
प्राहिणोद् भीमसेनाय वेगेन महता नदन्।

उधर मणिमान्‌ने भी सिंहनाद करते हुए एक चमचमाता हुआ महान् त्रिशूल हाथमें लिया और बड़े वेगसे भीमसेनपर चलाया ॥ ७२½ ॥

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ॥ ७३ ॥
अभिदुद्राव तं हन्तुं गरुत्मानिव पन्नगम्।

परंतु गदा-युद्धमें कुशल भीमने गदाके अग्रभागसे उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े करके मणिमान्‌को मारनेके लिये उसी प्रकार धावा किया, जैसे किसी सर्पके प्राण लेनेके लिये गरुड उसपर टूट पड़ते हैं ॥ ७३½ ॥

सोऽन्तरिक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ॥ ७४ ॥

प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ।
सेन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विसृष्टा वातरंहसा ॥ ७५ ॥

महाबाहु भीमने युद्धके मुहानेपर गर्जना करते हुए सहसा आकाशमें उछलकर गदा घुमायी और उसे वायुके समान वेगसे मणिमान्‌पर दे मारा, मानो देवराज इन्द्रने किसी दैत्यपर वज्रका प्रहार किया हो ॥ ७४ ॥

हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ।
तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ॥ ७६ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि सिंहेनेव गवां पतिम् ।
तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥ ७७ ॥

वह गदा उस राक्षसके प्राण लेकर भूमिपर मूर्तिमती कृत्याके समान गिर पड़ी। भीमसेनके द्वारा मारे गये उस भयानक शक्तिशाली राक्षसको सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा, मानो सिंहने किसी साँड़को मार गिराया हो। उसे मरकर पृथ्वीपर गिरा देख मरनेसे बचे हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करते हुए पूर्व दिशाकी ओर भाग चले ॥ ७६-७७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मणिमद्वधे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मणिमान्-वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका गन्धमादन पर्वतपर आगमन और युधिष्ठिरसे उनकी भेंट

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ १ ॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय उस पर्वतकी गुफा नाना प्रकारके शब्दोंसे प्रतिध्वनित हो रही थी। वह प्रतिध्वनि सुनकर अजातशत्रु कुन्ती-कुमार युधिष्ठिर, दोनों माद्री-पुत्र नकुल सहदेव, पुरोहित धौम्य, द्रौपदी और समस्त ब्राह्मण तथा सुहृद्—ये सभी भीमसेनको न देखनेके कारण बहुत उदास हो गये ॥ १-२ ॥

द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय सम्प्रधार्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ॥ ३ ॥

तब वे महारथी शूर-वीर द्रौपदीको आर्ष्टिषेणकी देख-रेखमें सौंपकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये एक साथ पर्वतपर चढ़ गये ॥ ३ ॥

ततः सम्प्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमाः ॥ ४ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे महाधनुर्धर एवं महारथी वीर उस पर्वतके शिखरपर पहुँचकर जब इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे, तब उन्हें भीमसेन दिखायी दिये ॥ ४ ॥

स्फुरतश्च महाकायान् गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान् महासत्त्वान् भीमसेनेन पातितान् ॥ ५ ॥

साथ ही उन्होंने भीमसेनके द्वारा मार गिराये हुए महान् शक्तिशाली तथा परम उत्साही विशालकाय राक्षस भी देखे, जिनमेंसे कुछ छटपटा रहे थे और कुछ मरे पड़े थे ॥ ५ ॥

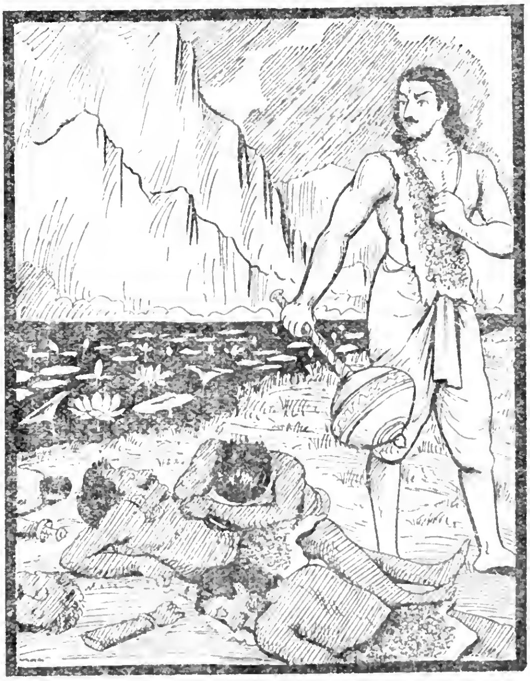

शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान् दानवान् मघवानिव ॥ ६ ॥

उस समय गदा, खड्ग और धनुष धारण किये महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार करके खड़े हुए देवराज इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ६ ॥

ततस्ते भ्रातरं दृष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तब वे उत्तम आश्रयको प्राप्त हुए महारथी पाण्डव भाई भीमसेनको हृदयसे लगाकर उनके पास ही बैठ गये ॥

तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिश्रृङ्गमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥ ८ ॥

जैसे महान् भाग्यशाली देवश्रेष्ठ इन्द्र आदि लोकपालोंके द्वारा स्वर्गलोककी शोभा होती है, उसी प्रकार उन चार महाधनुर्धर बन्धुओंसे उस समय वह पर्वत-शिखर सुशोभित हो रहा था ॥ ८ ॥

कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत् पृथिवीपतिः ॥ ९ ॥

राजा युधिष्ठिरने कुबेरका भवन देखकर और मारे गये राक्षसोंकी ओर दृष्टिपात करके अपने पास बैठे हुए भाई भीमसेनसे कहा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

साहसाद् यदि वा मोहाद् भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत् ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वधः ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर भीमसेन ! तुमने दुःसाहसवश अथवा मोहके कारण जो यह पापकर्म किया है, वह मुनिवृत्तिसे रहनेवाले तुम्हारे अनुरूप नहीं है। राक्षसोंका यह संहार व्यर्थ ही किया गया है ॥ १० ॥

राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥ ११ ॥

भीमसेन ! धर्मज्ञ पुरुष यह जानते और मानते हैं कि राजद्रोहका कार्य नहीं करना चाहिये; परंतु तुमने तो न केवल राजद्रोहका अपितु देवताओंके भी द्रोहका कार्य किया है॥

अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १२ ॥

पार्थ ! जो अर्थ और धर्मका अनादर करके पापमें मन लगाता है, उसे अपने पापकर्मोंका फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि तुम वही कार्य करना चाहते हो जो मुझे प्रिय लगे, तो आजसे फिर कभी ऐसा काम तुम्हें नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
विरराम महातेजास्तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्मा भाई महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्थतत्त्वके विभागको ठीक-ठीक जाननेवाले थे। वे धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई भीमसेनसे उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये और उसी विषयपर बार-बार विचार करने लगे ॥ १३½ ॥

ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ॥ १४ ॥
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ।

उधर भीमसेनकी मारसे बचे हुए राक्षस एक साथ हो कुबेरके भवनमें गये ॥ १४½ ॥

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ॥ १५ ॥
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ।
न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लान्ताः शोणिताक्ततनुच्छदाः॥१६॥

वे महान् वेगशाली तो थे ही, तीव्र गतिसे धनाध्यक्षके महलमें पहुँचकर भयंकर आर्तनाद करने लगे। भीमसेनका भय उस समय भी उन्हें पीड़ा दे रहा था। वे अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़ चुके थे एवं थके हुए थे। उनके कवच खूनसे लथपथ हो गये थे ॥ १५-१६ ॥

प्रकीर्णमूर्धजा राजन् यक्षाधिपतिमब्रुवन् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ॥ १७ ॥
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ।

राजन् ! अपने सिरके बाल बिखेरे हुए वे राक्षस यक्षराज कुबेरसे इस प्रकार बोले—'देव ! आपके भी सभी राक्षस, जो युद्धमें सदा आगे रहते और गदा, परिघ, खड्ग, तोमर तथा प्रास आदिके युद्धमें कुशल थे, मार डाले गये ॥१७½॥

प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ॥ १८ ॥
एकेन सहिताः सङ्ख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ।

'धनेश्वर ! एक मनुष्यने बलपूर्वक इस पर्वतको रौंद डाला है और युद्धमें क्रोधवश नामक राक्षसगणोंको मार भगाया है ॥ १८½ ॥

प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च नराधिप ॥ १९ ॥
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ।
लब्धशेषा वयं युक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! राक्षसों और यक्षोंमें जो प्रमुख वीर थे, वे आज उत्साहशून्य तथा निष्प्राण होकर रणभूमिमें सो रहे हैं। हमलोग उसके कृपा-प्रसादसे छूट गये हैं; परंतु आपके सखा राक्षस मणिमान् मार डाले गये हैं ॥ १९-२० ॥

मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ॥ २१ ॥
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद् वचः ।

'यह सब कार्य एक मनुष्यने किया है। इसके बाद जो करना उचित हो, वह कीजिये।' राक्षसोंकी यह बात सुनकर समस्त यक्षगणोंके स्वामी कुबेर कुपित हो उठे। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। वे सहसा बोल उठे 'यह कैसे सम्भव हुआ ?' ॥ २१½ ॥

द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ॥ २२ ॥
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाब्रवीत् ।

भीमने यह दूसरा अपराध किया है, यह सुनकर धनाध्यक्ष यक्षराजके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने तुरंत आज्ञा दी, 'रथ जोतकर ले आओ' ॥ २२½ ॥

अथाभ्रघनसंकाशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ॥ २३ ॥
रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ।
तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ॥ २४ ॥
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ।
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाशुगाः ॥ २५ ॥

फिर तो सेवकोंने सुनहरे बादलोंकी घटाके सदृश विशाल पर्वत-शिखरके समान ऊँचा रथ जोतकर तैयार किया। उसमें सुवर्णमालाओंसे विभूषित गन्धर्वदेशीय घोड़े जुते हुए थे। वे सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अश्व तेजस्वी, बलवान् और अश्वोचित गुणोंसे युक्त थे। उनकी आँखें निर्मल थीं और उन्हें नाना प्रकारके रत्नमय आभूषण पहनाये गये थे। रथमें जुते हुए वे शोभाशाली अश्व शीघ्रगामी थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे अभी सब कुछ लाँघ जायँगे ॥

हेषयामासुरन्योन्यं हेषितैर्विजयावहैः ।
स तमास्थाय भगवान् राजराजो महारथम् ॥ २६ ॥
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ।

उन अश्वोंके हिनहिनानेकी आवाज विजयकी सूचना देनेवाली थी। उनमेंसे प्रत्येक अश्व स्वयं हिनहिनाकर दूसरेको भी इसके लिये प्रेरणा देता था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो महातेजस्वी राजाधिराज भगवान् कुबेर देवताओं और गन्धर्वोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए चले ॥ २६½ ॥

तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ॥ २७ ॥

धनाध्यक्ष महामना कुबेरके प्रस्थान करनेपर समस्त यक्ष भी उसके साथ चले ॥ २७ ॥

रक्ताक्षा हेमसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतावराः ॥ २८ ॥

उन सबके नेत्र लाल थे। शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी। वे सभी महाकाय और महाबली थे। वे सब तलवार बाँधे अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थे। उनकी संख्या एक हजारसे कम नहीं थी ॥ २८ ॥

ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ।
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्बरम् ॥ २९ ॥

वे महान् वेगशाली यक्ष आकाशमें उड़ते हुए गन्धमादन पर्वतपर आये, मानो समूचे आकाश-मण्डलको खींचे ले रहे हों॥

तत् केसरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
कुबेरं च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ॥ ३० ॥
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ।
कुबेरस्तु महासत्त्वान् पाण्डोः पुत्रान् महारथान् ॥ ३१ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान् दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत् तदा ।
देवकार्यं चिकीर्षन् स हृदयेन तुतोष ह ॥ ३२ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके द्वारा पालित घोड़ोंके उस महासमुदायको तथा यक्ष-राक्षसोंसे घिरे हुए प्रियदर्शन महामना कुबेरको भी पाण्डवोंने देखा। देखकर उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया। इधर कुबेर भी धनुष और तलवार लिये शक्तिशाली महारथी पाण्डु-पुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। कुबेर देवताओंका कार्य सिद्ध करना चाहते थे, इसलिये मन-ही-मन पाण्डवोंसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३०—३२ ॥

ते पक्षिण इवापेतुर्गिरिशृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशे धनेश्वरपुरःसराः ॥ ३३ ॥

वे कुबेर आदि तीव्र वेगशाली यक्ष-राक्षस पक्षीकी तरह उड़कर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर आये और पाण्डवोंके समीप खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान् प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवस्थिताः ॥ ३४ ॥

जनमेजय ! पाण्डवोंके प्रति कुबेरका मन प्रसन्न देखकर यक्ष और गन्धर्व निर्विकार-भावसे खड़े रहे ॥ ३४ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ॥ ३५ ॥
अपराद्धमिवात्मानं मन्यमाना महारथाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ॥ ३६ ॥

धर्मज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव—ये महारथी महामना पाण्डव भगवान् कुबेरको प्रणाम करके अपनेको

अपराधी-सा मानते हुए उन्हें सब ओरसे घेरकर हाथ जोड़े खड़े रहे ॥ ३५-३६ ॥

स ह्यासनवरं श्रीमत् पुष्पकं विश्वकर्मणा ।
विहितं चित्रपर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ॥ ३७ ॥

धनाध्यक्ष कुबेर विश्वकर्माके बनाये हुए सुन्दर एवं श्रेष्ठ विमान पुष्पकपर विराजमान थे । वह विमान विचित्र निर्माणकौशलकी पराकाष्ठा था ॥ ३७ ॥

तमासीनं महाकायाः शङ्कुकर्णा महाजवाः ।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३८ ॥
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ।
परिवार्योपतिष्ठन्त यथा देवाः शतक्रतुम् ॥ ३९ ॥

विमानपर बैठे हुए कुबेरके पास कील-जैसी कानवाले तीव्र वेगशाली विशालकाय सहस्रों यक्ष-राक्षस भी बैठे थे । जैसे देवता इन्द्रको घेरकर खड़े होते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों गन्धर्व और अप्सराओंके गण कुबेरको सब ओरसे घेरकर खड़े थे ॥ ॥ ३८-३९ ॥

काञ्चनीं शिरसा बिभ्रद् भीमसेनः स्रजं शुभाम् ।
पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ॥ ४० ॥

अपने मस्तकपर सुवर्णकी सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें खड्ग, पाश तथा धनुष लिये भीमसेन धनाध्यक्ष कुबेरकी ओर देख रहे थे ॥ ४० ॥

भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्यापि राक्षसैः ।
आसीत् तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ॥ ४१ ॥

भीमसेनको राक्षसोंने बहुत घायल कर दिया था । उस अवस्थामें भी कुबेरको देखकर उनके मनमें तनिक भी ग्लानि नहीं होती थी ॥ ४१ ॥

आददानं शितान् बाणान् योद्धुकाममवस्थितम् ।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ॥ ४२ ॥

भीमसेन हाथोंमें तीखे बाण लिये उस समय भी युद्धके लिये तैयार खड़े थे । यह देख नरवाहन कुबेरने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥ ४२ ॥

विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ॥ ४३ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम सदा सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हो, यह बात सब प्राणी जानते हैं । अतः तुम अपने भाइयोंके साथ इस शैल-शिखरपर निर्भय होकर रहो ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव ।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ॥ ४४ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हें भीमसेनपर क्रोध नहीं करना चाहिये । ये यक्ष और राक्षस कालके द्वारा पहले ही मारे गये थे । तुम्हारे भाई तो इसमें निमित्तमात्र हुए हैं ॥ ४४ ॥

व्रीडा चात्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ॥ ४५ ॥

'भीमसेनने जो यह दुःसाहसका कार्य किया है, इसके लिये तुम्हें लज्जित नहीं होना चाहिये; क्योंकि यक्ष तथा राक्षसोंका यह विनाश देवताओंको पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका था ॥

न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणा भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत् पुरा ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! भीमसेनपर मेरा क्रोध नहीं है । मैं इनपर प्रसन्न हूँ । भीमसेनके कार्यसे मुझे पहले भी प्रसन्नता प्राप्त हो चुकी है' ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ॥ ४७ ॥
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ।
मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ॥ ४८ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादद्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर कुबेरने भीमसेनसे कहा—'तात ! कुरुश्रेष्ठ भीम ! तुमने द्रौपदीके लिये जो यह साहसपूर्ण कार्य किया है, इसके लिये मेरे मनमें कोई विचार नहीं है । तुमने मेरी तथा देवताओंकी अवहेलना करके अपने बाहुबलके भरोसे यक्षों तथा राक्षसोंका विनाश किया है, इससे तुमपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ । वृकोदर ! आज मैं एक भयंकर शापसे छूट गया हूँ ॥

अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित् तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ५० ॥
दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पाण्डवनन्दन ।
न तवात्रापराधोऽस्ति कथंचिदपि पाण्डव ॥ ५१ ॥

'पूर्वकालकी बात है, महर्षि अगस्त्यने किसी अपराधपर कुपित हो मुझे शाप दे दिया था; उसका तुम्हारे द्वारा निराकरण हुआ । पाण्डव-नन्दन ! मुझे पूर्वकालसे ही यह दुःख देखना बदा था । इसमें तुम्हारा किसी तरह भी कोई अपराध नहीं है' ॥ ५०-५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! महात्मा अगस्त्यने आपको कैसे शाप दे दिया ? देव ! आपको शाप मिलनेका क्या कारण है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ५२ ॥

इदं चाश्चर्यभूतं मे यत् क्रोधात् तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥ ५३ ॥

मुझे इस बातके लिये बड़ा आश्चर्य होता है कि उन बुद्धिमान् महर्षिके क्रोधसे आप उसी समय अपने सेवकों और सैनिकोंसहित जलकर भस्म क्यों नहीं हो गये ? ॥५३॥

धनेश्वर उवाच

देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ॥ ५४ ॥

कुबेर बोले—नरेश्वर ! प्राचीन कालमें कुशवतीमें देवताओंकी मन्त्रणा-सभा बैठी थी । उसमें मुझे भी बुलाया गया था । मैं तीन सौ महापद्म यक्षोंके साथ वहाँ गया ॥५४॥

यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ।
अध्वन्यहमथापश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ ५५ ॥
उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं पुष्पितद्रुमशोभितम् ॥ ५६ ॥

वे भयानक यक्ष नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे । रास्तेमें मुझे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी दिखायी दिये, जो यमुनाके तटपर कठोर तपस्या कर रहे थे । वह प्रदेश भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे व्याप्त और विकसित वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ॥

तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वैव सूर्यस्याभिमुखे स्थितम् ।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ॥ ५७ ॥

महर्षि अगस्त्य अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाये सूर्यकी ओर मुँह करके खड़े थे । वे तेजोराशि महात्मा प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥

राक्षसाधिपतिः श्रीमान् मणिमान्नाम मे सखा ।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ॥ ५८ ॥
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ।
स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव ॥ ५९ ॥

राजन् ! उन्हें देखकर ही मेरे एक मित्र राक्षसराज श्रीमणिमान्ने मूर्खता, अज्ञान, अभिमान एवं मोहके कारण आकाशसे उन महर्षिके मस्तकपर थूक दिया । तब वे क्रोधसे मानो सारी दिशाओंको दग्ध करते हुए मुझसे इस प्रकार बोले—॥५८-५९॥

मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ॥ ६० ॥
तस्मात् सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ।
त्वं चाप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद् विप्रमोक्ष्यसे ॥ ६१ ॥

धनेश्वर ! तुम्हारे इस दुष्टात्मा सखाने मेरी अवहेलना करके तुम्हारे देखते-देखते जो मेरा इस प्रकार तिरस्कार किया है, उसके फल-स्वरूप इन समस्त सैनिकोंके साथ यह एक मनुष्यके हाथसे मारा जायगा । तुम्हारी बुद्धि खोटी हो गयी है, अतः इन सब सैनिकोंके मारे जानेपर उनके लिये दुःख उठानेके पश्चात् तुम फिर उसी मनुष्यका दर्शन करके मेरे शाप एवं पापसे छुटकारा पा सकोगे ॥ ६०-६१ ॥

सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम् ।
न शापं प्राप्स्यते घोरं तत् तवाज्ञां करिष्यति ॥ ६२ ॥

'इन सैनिकोंमेंसे जो तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा, वह पुत्र, पौत्र तथा सेनापर लागू होनेवाले इस भयंकर शापके प्रभावसे अलग रहेगा' ॥ ६२ ॥

एष शापो मया प्राप्तः प्राक् तस्मादृषिसत्तमात् ।
स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ॥ ६३ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे यही शाप मुझे प्राप्त हुआ था, जिससे तुम्हारे भाई भीमसेनने छुटकारा दिलाया है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरदर्शने एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेरदर्शनविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका युधिष्ठिर आदिको उपदेश और सान्त्वना देकर अपने भवनको प्रस्थान

धनद उवाच

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ॥ १ ॥

कुबेर बोले—युधिष्ठिर ! धैर्य, दक्षता, देश, काल और पराक्रम—ये पाँच लौकिक कार्योंकी सिद्धिके हेतु हैं ॥ १ ॥

धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नरा कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥

भारत ! सत्ययुगमें सब मनुष्य धैर्यवान्, अपने-अपने कार्यमें कुशल तथा पराक्रम-विधिके ज्ञाता थे ॥ २ ॥

धृतिमान् देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियश्रेष्ठ ! जो क्षत्रिय धैर्यवान्, देश-कालको समझनेवाला तथा सम्पूर्ण धर्मोंके विधानका ज्ञाता है, वह दीर्घकालतक इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३ ॥

य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥
देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।
सम्प्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥ ५ ॥

वीर पार्थ ! जो पुरुष इसी प्रकार सब कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह लोकमें सुयश और परलोकमें उत्तम गति पाता है । देश-कालके अन्तरपर दृष्टि रखनेवाले वृत्रासुरविनाशक इन्द्रने वसुओंसहित पराक्रम करके स्वर्गका राज्य प्राप्त किया है ॥ ४-५ ॥

यस्तु केवलसंरम्भात् प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवानुवर्तते ॥ ६ ॥

जो केवल क्रोधके वशीभूत हो अपने पतनको नहीं देखता है, वह पापबुद्धि पापात्मा पुरुष पापका ही अनुसरण करता है ॥ ६ ॥

कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित् ॥ ७ ॥

जो कर्मोंके विभागको नहीं जानता, समयको नहीं पहचानता और कार्योंके वैशिष्ट्यको नहीं समझता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य इह लोक तथा परलोकमें भी नष्ट ही होता है ॥ ७ ॥

वृथाऽऽचारसमारम्भः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ॥ ८ ॥

साहसके कार्योंमें लगे हुए ठग एवं दुरात्मा पुरुषोंके उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान इस लोक और परलोकमें भी व्यर्थ नष्टप्राय ही है ॥ ८ ॥

सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।
अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः ॥ ९ ॥
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।

सब प्रकारकी (सांसारिक) सामर्थ्यके इच्छुक मनुष्योंका निश्चय पापपूर्ण होता है । पुरुषरत्न युधिष्ठिर ! ये भीमसेन धर्मको नहीं जानते, इन्हें अपने बलका बड़ा अभिमान है, इनकी बुद्धि अभी बालकोंकी-सी है तथा ये अत्यन्त क्रोधी और निर्भय हैं, अतः तुम इन्हें उपदेश देकर काबूमें रक्खो ॥ ९½ ॥

आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ॥ १० ॥
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।

नरेश्वर ! अब पुनः तुम यहाँसे राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाकर कृष्णपक्ष भर शोक और भयसे रहित होकर रहो ॥ १०½ ॥

अलकाः सह गन्धर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ॥ ११ ॥
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यन्ति महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥ १२ ॥

महाबाहु नरश्रेष्ठ ! वहाँ अलकानिवासी यक्ष तथा इस पर्वतपर रहनेवाले सभी प्राणी मेरी आज्ञाके अनुसार गन्धर्वों और किन्नरोंके साथ सदा इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसहित तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ११-१२ ॥

साहसादनुसम्प्राप्तः प्रतिबुध्य वृकोदरः ।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ॥ १३ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! भीमसेन यहाँ दुःसाहसपूर्वक आये हैं, यह बात समझाकर इन्हें अच्छी तरह मना कर दो, (जिससे ये पुनः कोई अपराध न कर बैठें) ॥ १३ ॥

अतः परं च वो राजन् द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यन्ति वो राजन् रक्षिष्यन्ते च वः सदा ॥ १४ ॥

राजन् ! अबसे इस वनमें रहनेवाले सब यक्ष तुमलोगोंकी देख-भाल करेंगे, तुम्हारी सेवामें उपस्थित होंगे और सदा तुम सब लोगोंके संरक्षणमें तत्पर रहेंगे ॥ १४ ॥

तथैव चान्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
आहरिष्यन्ति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥

पुरुषरत्न पाण्डवो ! इसी प्रकार हमारे सेवक तुम्हारे लिये वहाँ सदा स्वादिष्ठ अन्न-पान प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत करते रहेंगे ॥

यथा जिष्णुर्महेन्द्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ॥ १६ ॥
आत्मजावात्मसम्पन्नौ यमौ चोभौ यथाश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्ममापीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

तात युधिष्ठिर ! जैसे अर्जुन देवराज इन्द्रके, भीमसेन वायुदेवके और तुम धर्मराजके योगबलसे उत्पन्न किये हुए निजी पुत्र होनेके कारण उनके द्वारा रक्षणीय हो तथा ये दोनों आत्मबलसम्पन्न नकुल-सहदेव जैसे दोनों अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न होनेके कारण उनके पालनीय हैं, उसी प्रकार यहाँ मेरे लिये भी तुम सब लोग रक्षणीय हो ॥ १६-१७ ॥

अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशली दिवि ॥ १८ ॥

अर्थतत्त्वकी विधिके ज्ञाता और सम्पूर्ण धर्मोंके विधानमें कुशल अर्जुन, जो भीमसेनसे छोटे हैं, इस समय कुशलपूर्वक स्वर्गलोकमें विराज रहे हैं ॥ १८ ॥

याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसम्पदः ।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये ॥ १९ ॥

तात ! संसारमें जो कोई भी स्वर्गीय श्रेष्ठ सम्पत्तियाँ मानी गयी हैं, वे सब अर्जुनमें जन्म-कालसे ही स्थित हैं ॥

दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्त्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥ २० ॥

अमित तेजस्वी और महान् सत्त्वशाली अर्जुनमें दम (इन्द्रिय-संयम), दान, बल, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज—ये सभी सद्गुण विद्यमान हैं ॥ २० ॥

न मोहात् कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयन्ति नरा नृषु ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे भाई अर्जुन कभी मोहवश निन्दित कर्म नहीं करते । मनुष्य आपसमें कभी अर्जुनके मिथ्या-भाषणकी चर्चा नहीं करते हैं ॥ २१ ॥

स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले अर्जुन इन्द्रभवनमें देवताओं, पितरों तथा गन्धर्वोंसे सम्मानित हो अस्त्र-विद्याका अभ्यास करते हैं ॥ २२ ॥

योऽसौ सर्वान् महीपालान् धर्मेण वशमानयत् ।
स शान्तनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ॥ २३ ॥
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गाण्डीवधन्वना ।
सम्यक् चासौ महावीर्यः कुलधुर्येण पार्थिवः ॥ २४ ॥

पार्थ ! जिन्होंने सब राजाओंको धर्मपूर्वक अपने अधीन कर लिया था, वे महातेजस्वी, महापराक्रमी तथा सदाचारपरायण महाराज शान्तनु, जो तुम्हारे पिताके पितामह थे, स्वर्गलोकमें कुरुकुलधुरीण गाण्डीवधारी अर्जुनसे बहुत प्रसन्न रहते हैं ॥ २३-२४ ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् पूजयित्वा महातपाः ।
सप्त मुख्यान् महामेधानाहरद् यमुनां प्रति ॥ २५ ॥
अधिराजः स राजंस्त्वां शान्तनुः प्रपितामहः ।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥ २६ ॥

महातपस्वी शान्तनुने देवताओं, पितरों, ऋषियों तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करके यमुना-तटपर सात बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था । राजन् ! वे तुम्हारे प्रपितामह राजाधिराज शान्तनु स्वर्गलोकको जीतकर उसीमें निवास करते हैं । उन्होंने मुझसे तुम्हारी कुशल पूछी थी ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम् ।
पाण्डवाश्च ततस्तेन बभूवुः सम्प्रहर्षिताः ॥ २७ ॥
ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभः ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुबेरकी कही हुई ये बातें सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । तदनन्तर भरतकुल-भूषण भीमसेनने उठायी हुई शक्ति, गदा, खड्ग और धनुषको नीचे करके कुबेरको नमस्कार किया ॥ २७-२८ ॥

ततोऽब्रवीद् धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम् ।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नन्दिवर्धनः ॥ २९ ॥

तब शरण देनेवाले धनाध्यक्ष कुबेरने अपनी शरणमें आये हुए भीमसेनसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम शत्रुओंका मान मर्दन और सुहृदोंका आनन्द वर्धन करनेवाले बनो ॥ २९ ॥

स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसतामित्रतापनाः ।
कामान्न परिहास्यन्ति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥ ३० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुल-भूषण पाण्डवो ! तुम सब लोग अपने रमणीय आश्रमोंमें निवास करो । यक्ष लोग तुम्हारी अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा नहीं डालेंगे ॥

शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति ।
साक्षान्मघवता सृष्टः सम्प्राप्स्यति धनंजयः ॥ ३१ ॥

'निद्राविजयी अर्जुन अस्त्र-विद्या सीखकर साक्षात् इन्द्रके भेजनेपर शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और तुम सब लोगोंसे मिलेंगे'

एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।
श्वेतं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाले युधिष्ठिरको उपदेश देकर यक्षराज कुबेर गिरिश्रेष्ठ कैलासको चले गये ॥ ३२ ॥

तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३३ ॥

उनके पीछे सहस्रों यक्ष और राक्षस भी अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ हो चल दिये । उनके वे वाहन नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे और उनकी पीठपर बहुरंगे कम्बल आदि कसे हुए थे ॥ ३३ ॥

पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ॥ ३४ ॥

जैसे इन्द्रपुरीके मार्गपर चलनेवाले विविध वाहनोंका कोलाहल सुनायी पड़ता है, उसी प्रकार कुबेरभवनके प्रति यात्रा करनेवाले उत्तम अश्वोंका शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो पक्षी उड़ रहे हों ॥ ३४ ॥

ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः।
प्रकर्षन्त इवाभ्राणि पिबन्त इव मारुतम् ॥ ३५ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके वे घोड़े अपने साथ बादलोंको खींचते और वायुको पीते हुए-से तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ चले ॥

ततस्तानि शरीराणि गतसत्त्वानि रक्षसाम्।
अपाकृष्यन्त शैलाग्राद् धनाधिपतिशासनात् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर कुबेरकी आज्ञासे राक्षसोंके वे निर्जीव शरीर उस पर्वत-शिखरसे दूर हटा दिये गये ॥ ३६ ॥

तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता।
समरे निहतास्तस्माच्छापस्यान्तोऽभवत् तदा ॥ ३७ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु तां क्षपाम्।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ॥ ३८ ॥

बुद्धिमान् अगस्त्यने यक्षोंके लिये शापकी वही अवधि निश्चित की थी। जब वे युद्धमें मारे गये, तब उनके शापका अन्त हो गया। महामना पाण्डव अपने उन आश्रमोंमें सम्पूर्ण राक्षसोंसे पूजित एवं उद्वेग-शून्य होकर सुखसे रात्रि व्यतीत करने लगे ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेरवाक्य-विषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धौम्यका युधिष्ठिरको मेरु पर्वत तथा उसके शिखरोंपर स्थित ब्रह्मा, विष्णु आदिके स्थानोंका लक्ष्य कराना और सूर्य-चन्द्रमाकी गति एवं प्रभावका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाऽऽह्निकमरिंदम।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन नरेश! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर आर्ष्टिषेणसहित धौम्यजी नित्यकर्म पूरा करके पाण्डवोंके पास आये ॥ १ ॥

तेऽभिवाद्यार्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥ २ ॥

तब समस्त पाण्डवोंने आर्ष्टिषेण तथा धौम्यके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर सब ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २ ॥

ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महर्षि धौम्यने युधिष्ठिरका दाहिना हाथ पकड़कर पूर्व दिशाकी ओर देखते हुए कहा—॥ ३ ॥

असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽति विराजते ॥ ४ ॥

'महाराज! वह पर्वतराज मन्दराचल प्रकाशित हो रहा है, जो समुद्रतककी भूमिको घेरकर खड़ा है ॥ ४ ॥

इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभिताम् ॥ ५ ॥

'पाण्डुनन्दन! पर्वतों, वनान्त प्रदेशों और काननोंसे सुशोभित इस पूर्व दिशाकी रक्षा इन्द्र और कुबेर करते हैं ॥ ५ ॥

एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ॥ ६ ॥
अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ॥ ७ ॥

'तात! सब धर्मोंके ज्ञाता मनीषी महर्षि इस दिशाको देवराज इन्द्र तथा कुबेरका निवासस्थान कहते हैं। इधरसे ही उदित होनेवाले सूर्यदेवकी समस्त प्रजा, धर्मज्ञ ऋषि, सिद्ध महात्मा तथा साध्य देवता उपासना करते हैं ॥ ६-७ ॥

यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः।
प्रेतसत्त्वगतिं ह्येनां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ८ ॥

'समस्त प्राणियोंके ऊपर प्रभुत्व रखनेवाले धर्मज्ञ राजा यम इस दक्षिण दिशाका आश्रय लेकर रहते हैं। इसमें मरे हुए प्राणी ही जा सकते हैं ॥ ८ ॥

एतत् संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम्।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ ९ ॥

'प्रेतराजका यह निवासस्थान अत्यन्त समृद्धिशाली, परम पवित्र तथा देखनेमें अद्भुत है। राजन्! इसका नाम संयमन (या संयमनीपुरी) है ॥ ९ ॥

यं प्राप्य सविता राजन् सत्येन प्रतितिष्ठति।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम्।
आवसन् वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥ ११ ॥

'राजन्! जहाँ जाकर भगवान् सूर्य सत्यसे प्रतिष्ठित होते हैं, उस पर्वतराजको मनीषी पुरुष अस्ताचल कहते हैं। गिरि-

राज अस्ताचल और महान् जलराशिसे भरे हुए समुद्रमें रहकर राजा वरुण समस्त प्राणियोंकी रक्षा करते हैं॥ १०-११ ॥

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान्।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः॥ १२॥

'महाभाग ! यह अत्यन्त प्रकाशमान महामेरु पर्वत दिखायी देता है, जो उत्तर दिशाको उद्भासित करता हुआ खड़ा है। इस कल्याणकारी पर्वतपर ब्रह्मवेत्ताओंकी ही पहुँच हो सकती है॥ १२॥

यस्मिन् ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चावतिष्ठते।
प्रजापतिः सृजन् सर्वं यत् किंचिज्जङ्गमागमम्॥ १३॥

'इसीपर ब्रह्माजीकी सभा है, जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा ब्रह्मा स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हुए नित्य निवास करते हैं॥ १३॥

यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान्।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम्॥ १४॥

'जिन्हें ब्रह्माजीका मानसपुत्र बताया जाता है और जिनमें दक्षप्रजापतिका स्थान सातवाँ है, उन समस्त प्रजापतियोंका भी यह महामेरु पर्वत ही रोग-शोकसे रहित सुखद स्थान है॥ १४॥

अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरेवोदयन्ति च।
सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखाः सदा॥ १५॥

'तात ! वसिष्ठ आदि सात देवर्षि इन्हीं प्रजापतिमें लीन होते और पुनः इन्हींसे प्रकट होते हैं॥ १५॥

देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम्।
यत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः॥ १६॥

'युधिष्ठिर ! मेरुका वह उत्तम शिखर देखो, जो रजोगुण-रहित प्रदेश है, वहाँ अपने आपमें तृप्त रहनेवाले देवताओंके साथ पितामह ब्रह्मा निवास करते हैं॥ १६॥

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम्।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम्॥ १७॥
ब्रह्मणः सदनात् तस्य परं स्थानं प्रकाशते।
देवा अपि न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम्॥ १८॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः।
स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः॥ १९॥

'जो समस्त प्राणियोंकी पञ्चभूतमयी प्रकृतिके अक्षय उपादान हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष अनादि अनन्त दिव्य-स्वरूप परम प्रभु नारायण कहते हैं, उनका उत्तम स्थान उस ब्रह्मलोकसे भी ऊपर प्रकाशित हो रहा है। देवता भी उन सर्वतेजोमय शुभस्वरूप भगवान्‌का सहज ही दर्शन नहीं कर पाते। राजन् ! परमात्मा विष्णुका वह स्थान सूर्य और अग्निसे भी अधिक तेजस्वी है और अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होता है। देवताओं और दानवोंके लिये उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है॥ १७—१९॥

प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावतिविराजते।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः॥ २०॥
भासयन् सर्वभूतानि सुश्रियाभिविराजते।
नात्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः॥ २१॥
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां भावितात्मनाम्।
न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव॥ २२॥

'तात ! पूर्व दिशामें मेरुपर ही भगवान् नारायणका स्थान सुशोभित हो रहा है, जहाँ सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा सबके उपादान कारण स्वयंभू भगवान् विष्णु अपने उत्कृष्ट तेजसे सम्पूर्ण भूतोंको प्रकाशित करते हुए विराजमान होते हैं। वहाँ यत्नशील ज्ञानी महात्माओंकी ही पहुँच हो सकती है। उस नारायण-धाममें ब्रह्मर्षियोंकी भी गति नहीं है। फिर महर्षि तो वहाँ जा ही कैसे सकते हैं। पाण्डुनन्दन ! सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ भगवान्‌के निकट जाकर अपना तेज खो बैठते हैं—उनमें पूर्ववत् प्रकाश नहीं रह जाता है॥ २०—२२॥

स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते।
यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम्॥ २३॥

'साक्षात् अचिन्त्यस्वरूप भगवान् विष्णु ही वहाँ विराजित होते हैं। यत्नशील महात्मा भक्तिके प्रभावसे वहाँ भगवान् नारायणको प्राप्त होते हैं॥ २३॥

परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः।
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः॥ २४॥
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत।
स्वयम्भुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम्॥ २५॥

'भारत ! जो उत्तम तपस्यासे युक्त हैं और पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे पवित्र हो गये हैं, वे अज्ञान और मोहसे रहित योग-सिद्ध महात्मा उस नारायण-धाममें जाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं। अपि तु स्वयंभू एवं सनातन परमात्मा देवदेव विष्णुमें लीन हो जाते हैं॥ २४-२५॥

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर॥ २६॥

'महाभाग युधिष्ठिर ! यह परमेश्वरका नित्य, अविनाशी और अविकारी स्थान है। तुम यहींसे इसको प्रणाम करो॥

एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन॥ २७॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम्॥ २८॥

'कुरुनन्दन ! सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन इस निश्चल मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं । पापशून्य महाराज ! सम्पूर्ण नक्षत्र भी गिरिराज मेरुकी सर्वतोभावेन परिक्रमा करते हैं ॥ २७-२८ ॥

एतं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन् भगवानपि ।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ॥२९॥

'अन्धकारका निवारण करना ही जिनका मुख्य कर्म है, वे भगवान् सूर्य भी सम्पूर्ण ज्योतियोंको अपनी ओर खींचते हुए इस मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते हैं ॥ २९ ॥

अस्तं प्राप्य ततः संध्यामतिक्रम्य दिवाकरः ।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेष विभावसुः ॥३०॥
स मेरुमनुवृत्तः सन् पुनर्गच्छति पाण्डव ।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ॥३१॥

'तदनन्तर अस्ताचलको पहुँचकर संध्याकालकी सीमाको लाँघकर ये भगवान् सूर्य उत्तर दिशाका आश्रय लेते हैं। पाण्डुनन्दन ! मेरु पर्वतका अनुसरण करके उत्तर दिशाकी सीमातक पहुँचकर ये समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् सूर्य पुनः पूर्वाभिमुख होकर चलते हैं ॥ ३०-३१ ॥

स मासान् विभजन् काले बहुधा पर्वसंधिषु ।
तथैव भगवान् सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥३२॥

'उसी प्रकार भगवान् चन्द्रमा भी नक्षत्रोंके साथ मेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और पर्वसंधिके समय विभिन्न मासोंका विभाग करते रहते हैं ॥ ३२ ॥

एवमेतं त्वतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन् सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥३३॥
तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत् ।
मार्गमेतदसम्बाधमादित्यः परिवर्तते ॥३४॥

'इस तरह आलस्यरहित हो इस महामेरुका उल्लङ्घन करके समस्त प्राणियोंका पोषण करते हुए वे पुनः मन्दराचलको चले जाते हैं। उसी प्रकार अन्धकारनाशक भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हुए इस बाधारहित मार्गपर सदा चक्कर लगाते रहते हैं ॥ ३३-३४ ॥

सिसृक्षुः शिशिराण्येव दक्षिणां भजते दिशम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कालोऽभ्यच्छति शैशिरः ॥३५॥
स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ॥३६॥
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान् ।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ॥३७॥
एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान् भावयन् प्रजाः ॥३८॥

'शीतकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ही सूर्यदेव दक्षिण दिशाका आश्रय लेते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंपर शीतकालका प्रभाव पड़ने लगता है। दक्षिणायनसे निवृत्त होनेपर वे भगवान् सूर्य स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका तेज अपने तेजसे हर लेते हैं, यही कारण है कि मनुष्योंको पसीना, थकावट, आलस्य और ग्लानिका अनुभव होता है यथा प्राणी सदा निद्राका ही बार-बार सेवन करते हैं। इस प्रकार इस अन्तरिक्ष मार्गको आवृत करके समस्त प्रजाकी पुष्टि करते हुए भगवान् सूर्य पुनः वर्षाकी सृष्टि करते हैं ॥ ३५–३८ ॥

वृष्टिमारुतसंतापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्धयन् सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ॥३९॥

'महातेजस्वी सूर्यदेव वृष्टि, वायु और तापद्वारा सुखपूर्वक चराचर जीवोंकी पुष्टि करते हुए पुनः अपने स्थानपर लौट आते हैं ॥ ३९ ॥

एवमेष चरन् पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः ।
प्रकर्षन् सर्वभूतानि सविता परिवर्तते ॥४०॥

'कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार ये भगवान् सूर्य सावधान हो समस्त प्राणियोंका आकर्षण और पोषण करते हुए विचरते और कालचक्रका संचालन करते हैं ॥ ४० ॥

संतता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥४१॥
विभजन् सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।
अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ॥४२॥

'युधिष्ठिर ! यह सूर्यदेवकी निरन्तर चलनेवाली गति है। सूर्य कभी एक क्षणके लिये भी रुकते नहीं हैं । वे सम्पूर्ण भूतोंके रसमय तेजको ग्रहण करके पुनः उसे वर्षाकालमें बरसा देते हैं। भारत ! ये भगवान् सविता सम्पूर्ण भूतोंकी आयु और कर्मका विभाग करते हुए दिन-रात, कला-काष्ठा आदि समयकी निरन्तर सृष्टि करते रहते हैं' ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मेरुदर्शनविषयक

एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी अर्जुनके लिये उत्कण्ठा और अर्जुनका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् नगेन्द्रे वसतां तु तेषां
महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषा-
माकाङ्क्षतां दर्शनमर्जुनस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस पर्वतराज गन्धमादनपर उत्तम व्रतका आश्रय ले निवास करते हुए अर्जुनके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले महामना पाण्डवोंके मनमें अत्यन्त प्रेम और आनन्दका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १ ॥

तान् वीर्ययुक्तान् सुविशुद्धकामां-
स्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
सम्प्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मु-
र्गन्धर्वसङ्घाश्च महर्षयश्च ॥ २ ॥

वे सब के सब बड़े पराक्रमी थे । उनकी कामनाएँ अत्यन्त विशुद्ध थीं । वे तेजस्वी तो थे ही, सत्य और धैर्य उनके प्रधान गुण थे, अतः बहुत-से गन्धर्व तथा महर्षिगण उनसे प्रेमपूर्वक मिलने-जुलनेके लिये आने लगे ॥ २ ॥

तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं
नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव
यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ॥ ३ ॥

वह श्रेष्ठ पर्वत विकसित वृक्षावलियोंसे विभूषित था । वहाँ पहुँच जानेसे महारथी पाण्डवोंके मनमें बड़ी प्रसन्नता रहने लगी । ठीक उसी तरह, जैसे मरुद्गणोंको स्वर्गलोकमें पहुँचनेपर प्रसन्नता होती है ॥ ३ ॥

मयूरहंसस्वननादितानि
पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना
गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ॥ ४ ॥

उस महान् पर्वतके शिखर मयूरों और हंसोंके कलनादसे गूँजते रहते थे । वहाँ सब ओर सुन्दर पुष्प व्याप्त हो रहे थे । उन मनोहर शिखरोंको देखते हुए पाण्डवलोग बड़े हर्षके साथ वहाँ रहने लगे ॥ ४ ॥

साक्षात् कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्
नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः
पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ॥ ५ ॥

उस श्रेष्ठ शैलपर साक्षात् भगवान् कुबेरने अनेक सुन्दर सरोवर बनवाये थे, जो कमल-समूहसे आच्छादित रहते थे । उनके जल शैवाल आदिसे ढके होते थे और उन सबमें हंस, कारण्डव आदि पक्षी सानन्द निवास करते थे । पाण्डवोंने उन सरोवरोंको देखा ॥ ५ ॥

क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्
सुचित्रमाल्यावृतजातशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च
यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥ ६ ॥

धनाध्यक्ष राजा कुबेरके लिये जैसे होने चाहिये, वैसे ही समृद्धिशाली क्रीडा-प्रदेश वहाँ बने हुए थे । विचित्र मालाओंसे समावृत होनेके कारण उनकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी । उनको मणि तथा रत्नोंसे अलंकृत किया गया था, जिससे वे क्रीडा स्थल मनको मोहे लेते थे ॥ ६ ॥

अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च
महाद्रुमैः संततमभ्रजालैः ।
तपःप्रधानाः सततं चरन्तः
शृङ्गं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ॥ ७ ॥

अनेक वर्णवाले विशाल सुगन्धित वृक्षों तथा मेघ-समूहोंसे व्याप्त उस पर्वत-शिखरपर विचरते हुए सदा तपस्यामें ही संलग्न रहनेवाले पाण्डव उस पर्वतकी महत्ताका चिन्तन नहीं कर पाते थे ॥ ७ ॥

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य
महौषधीनां च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चि-
दहोनिशानां पुरुषप्रवीर ॥ ८ ॥

वीरवर जनमेजय ! पर्वतराज गन्धमादनके अपने तेजसे तथा वहाँकी तेजस्विनी महौषधियोंके प्रभावसे वहाँ सदा प्रकाश व्याप्त रहनेके कारण दिन-रातका कोई विभाग नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

यमास्थितः स्थावरजङ्गमानि
विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।
तस्योदयं चास्तमनं च वीरा-
स्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ॥ ९ ॥

जिन भगवान् सूर्यका आश्रय लेकर अमित तेजस्वी अग्निदेव सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका पोषण करते हैं, उनके उदय और अस्तकी लीलाको पुरुषसिंह वीर पाण्डव वहाँ रहकर स्पष्ट देखते थे ॥ ९ ॥

रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते
तथोदयं चास्तमनं च वीराः।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य
गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ॥ १० ॥
स्वाध्यायवन्तः सततक्रियाश्च
धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य
सत्यव्रतस्यागमनप्रतीक्षाः ॥ ११ ॥

वे वीर पाण्डव वहाँसे अन्धकारके आगमन और निर्गमनको, अन्धकारविनाशक भगवान् सूर्यके उदय और अस्तकी लीलाको तथा उनके किरणसमूहोंसे व्याप्त हुई सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको देखकर स्वाध्यायमें संलग्न रहते थे। सदा शुभ-कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहकर प्रधानरूपसे धर्मका ही आश्रय लेते थे। उनका आचार-व्यवहार अत्यन्त पवित्र था। वे सत्यमें स्थित होकर सत्यव्रतपरायण महारथी अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे ॥ १०-११ ॥

इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां
क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनंजयेन।
इति ब्रुवन्तः परमाशिषस्ते
पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥ १२ ॥

'इस पर्वतपर आये हुए हम सब लोगोंको यहीं अस्त्र-विद्या सीखकर पधारे हुए अर्जुनके दर्शनसे शीघ्र ही अत्यन्त हर्षकी प्राप्ति हो;' इस प्रकार परस्पर शुभ-कामना प्रकट करते हुए वे सभी कुन्तीपुत्र तप और योगके साधनमें संलग्न रहते थे ॥

दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि
किरीटिनं चिन्तयतामभीक्ष्णम्।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां
संवत्सरेणैव समानरूपः ॥ १३ ॥

उस पर्वतपर विचित्र वन-कुञ्जोंकी शोभा देखते और निरन्तर अर्जुनका चिन्तन करते हुए पाण्डवोंको एक दिन-रातका समय एक वर्षके समान प्रतीत होता था ॥ १३ ॥

यदैव धौम्यानुमते महात्मा
कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः
कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥ १४ ॥

जबसे धौम्य मुनिकी आज्ञा लेकर महामना अर्जुन सिरपर जटा धारण करके तपस्याके लिये प्रस्थित हुए थे, तभीसे उन पाण्डवोंके मनमें रञ्चमात्र भी हर्ष नहीं रह गया था। उनका मन निरन्तर अर्जुनमें ही लगा रहता था। ऐसी दशामें उन्हें सुख कैसे प्राप्त हो सकता था? ॥ १४ ॥

भ्रातुर्नियोगात् तु युधिष्ठिरस्य
वनादसौ वारणमत्तगामी।
यत् काम्यकात् प्रव्रजितः स जिष्णु-
स्तदैव ते शोकहता बभूवुः ॥ १५ ॥

गजराजके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले वे अर्जुन जब बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर काम्यक वनसे प्रस्थित हुए थे, तभी समस्त पाण्डव शोकसे पीडित हो गये थे ॥ १५ ॥

तथैव तं चिन्तयतां सिताश्व-
मस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ॥
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीत-
स्तस्मिन् नगे भारत भारतानाम् ॥ १६ ॥

जनमेजय! अस्त्र-विद्याकी अभिलाषासे देवराज इन्द्रके समीप गये हुए श्वेतवाहन अर्जुनका चिन्तन करनेवाले पाण्डवोंका एक मास उस पर्वतपर बड़ी कठिनाईसे व्यतीत हुआ ॥ १६ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥ १७ ॥
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम्।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ॥ १८ ॥
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ॥ १९ ॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ॥ २० ॥

इधर अर्जुनने इन्द्र-भवनमें पाँच वर्ष रहकर देवेश्वर इन्द्रसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। इस प्रकार अग्नि, वरुण, सोम, वायु, विष्णु, इन्द्र, पशुपति, ब्रह्मा, परमेष्ठी, प्रजापति, यम, धाता, सविता, त्वष्टा तथा कुबेरसम्बन्धी अस्त्रोंको भी देवेन्द्रसे ही प्राप्त करके उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर उनसे अपने भाइयोंके पास लौटनेकी आज्ञा पाकर उनकी परिक्रमा करके अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और हर्षोल्लासमें भरकर गन्धमादनपर आये ॥ १७–२० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वण्यर्जुनाभिगमने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें अर्जुनाभिगमनविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

(निवातकवचयुद्धपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गन्धमादनपर्वतपर आकर अपने भाइयोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद्धरिसम्प्रयुक्तं
महेन्द्रवाहं सहसोपयातम्।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां
हर्षोऽर्जुनं चिन्तयतां बभूव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! तदनन्तर किसी समय हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ सहसा आकाशमें प्रकट हुआ, मानो बिजली चमक उठी हो। उसे देखकर अर्जुनका चिन्तन करते हुए महारथी पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १ ॥

स दीप्यमानः सहसान्तरिक्षं
प्रकाशयन् मातलिसंगृहीतः।
बभौ महोल्केव घनान्तरस्था
शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ॥ २ ॥

उस रथका संचालन मातलि कर रहे थे। वह दीप्तिमान् रथ सहसा अन्तरिक्षलोकको प्रकाशित करता हुआ इस प्रकार सुशोभित होने लगा; मानो बादलोंके भीतर बड़ी भारी उल्का प्रकट हुई हो अथवा अग्निकी धूमरहित ज्वाला प्रज्वलित हो उठी हो ॥ २ ॥

तमास्थितः संददृशे किरीटी
स्रग्वी नवान्याभरणानि बिभ्रत्।
धनंजयो वज्रधरप्रभावः
श्रिया ज्वलन् पर्वतमाजगाम ॥ ३ ॥

उस दिव्य रथपर बैठे हुए किरीटधारी अर्जुन स्पष्ट दिखायी देने लगे। उनके कण्ठमें दिव्य हार शोभा पा रहा था और उन्होंने स्वर्गलोकके नूतन आभूषण धारण कर रक्खे थे। उस समय धनंजयका प्रभाव वज्रधारी इन्द्रके समान जान पड़ता था। वे अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होते हुए गन्धमादन पर्वतपर आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स शैलमासाद्य किरीटमाली
महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात्।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमा-
नजातशत्रोस्तदनन्तरं च ॥ ४ ॥
वृकोदरस्यापि च वन्द्यपादौ
माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां
प्रह्वोऽभवद् भ्रातुरुपह्वरे सः ॥ ५ ॥

पर्वतपर पहुँचकर बुद्धिमान् किरीटधारी अर्जुन देवराज इन्द्रके उस दिव्य रथसे उतर पड़े। उस समय सबसे पहले उन्होंने

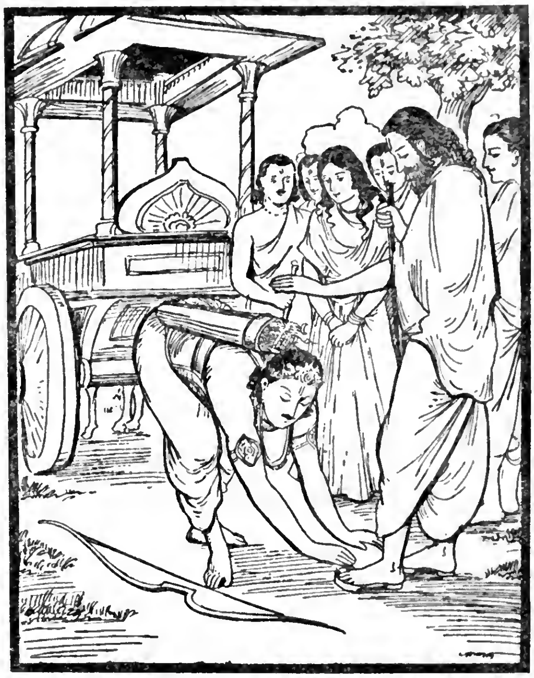

महर्षि धौम्यके दोनों चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर अजातशत्रु युधिष्ठिर तथा भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम किया। इसके बाद नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया। तत्पश्चात् द्रौपदीसे मिलकर अर्जुनने उसे बहुत आश्वासन दिया और अपने भाई युधिष्ठिरके समीप आकर वे विनीत भावसे खड़े हो गये ॥ ४-५ ॥

बभूव तेषां परमः प्रहर्ष-
स्तेनाप्रमेयेण समागतानाम्।
स चापि तान् प्रेक्ष्य किरीटमाली
ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ॥ ६ ॥

अप्रमेय वीर अर्जुनसे मिलकर सब पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अर्जुन भी उन सबसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए तथा राजा युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

यमास्थितः सप्त जघान पूगान्
दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥

स्वर्गसे लौटकर अर्जुन धर्मराजको प्रणाम कर रहे हैं

नमुचिनाशक इन्द्रने जिसपर बैठकर दैत्योंके सात यूथोंका संहार किया था, उस इन्द्ररथके समीप जाकर उदार हृदयवाले कुन्तीपुत्रोंने उसकी परिक्रमा की ॥ ७ ॥

ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः
सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान् यथावच्च दिवौकसस्ते
पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ॥ ८ ॥

साथ ही, उन्होंने अत्यन्त हर्षमें भरकर मातलिका देवराज इन्द्रके समान सर्वोत्तम विधिसे सत्कार किया। इसके बाद उन पाण्डवोंने मातलिसे सम्पूर्ण देवताओंका यथावत् कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

तानप्यसौ मातलिरभ्यनन्दत्
पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाप्रतिमप्रभेण
पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥ ९ ॥

मातलिने भी पाण्डवोंका अभिनन्दन किया और जैसे पिता पुत्रको उपदेश देता है, उसी प्रकार पाण्डवोंको कर्तव्य-की शिक्षा देकर वे पुनः अपने अनुपम कान्तिशाली रथके द्वारा स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्रके समीप चले गये ॥ ९ ॥

गते तु तस्मिन् नरदेववर्यः
शक्रात्मजः शक्ररिपुप्रमाथी ।
(साक्षात् सहस्राक्ष इव प्रतीतः
श्रीमान् स्वदेहादवमुच्य जिष्णुः ।)
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा
महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ॥ १० ॥
दिवाकराभाणि विभूषणानि
प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।

मातलिके चले जानेपर इन्द्रशत्रुओंका संहार करनेवाले देवेन्द्रकुमार नृपश्रेष्ठ महात्मा श्रीमान् अर्जुनने, जो साक्षात् सहस्रलोचन इन्द्रके समान प्रतीत होते थे, अपने शरीरसे उतारकर इन्द्रके दिये हुए बहुमूल्य, उत्तम तथा सूर्यके समान देदीप्यमान दिव्य आभूषण अपनी प्रियतमा सुतसोमकी माता द्रौपदीको समर्पित कर दिये ॥ १०½ ॥

ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां
तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ॥ ११ ॥
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये
सर्वं यथावत् कथयांबभूव ।
एवं मयास्त्राण्युपशिक्षितानि
शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंके बीचमें बैठकर अर्जुनने अपना सब समाचार यथावत् रूपसे कह सुनाया। 'मैंने अमुक प्रकारसे इन्द्र, वायु और साक्षात् शिवसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है ॥ ११–१२ ॥

तथैव शीलेन समाधिनाथ
प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेन्द्राः ।
संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा
तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवासम् ॥ १३ ॥
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी
सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः ॥ १४ ॥

'मेरे शील-स्वभाव तथा चित्तकी एकाग्रतासे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मुझपर बहुत प्रसन्न रहते थे।' निर्दोष कर्म करनेवाले अर्जुनने अपने स्वर्गीय प्रवासका सब समाचार उन सबको संक्षेपसे बताकर नकुल-सहदेवके साथ निश्चिन्त होकर उस आश्रममें शयन किया ॥ १३–१४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनसमागमे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अर्जुनसमागमविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर १४½ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रका पाण्डवोंके पास आना और युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर स्वर्गको लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवन्दत धनंजयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर समस्त भाइयोंसहित अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिःस्वनः ।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वन्तरिक्षे दिवौकसाम् ॥ २ ॥

इसी समय अन्तरिक्षमें देवताओंके सम्पूर्ण वाद्योंकी तुमुल ध्वनि गूँज उठी ॥ २ ॥

रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग् व्यालमृगाणां च पक्षिणामिव सर्वशः ॥ ३ ॥

भारत! रथके पहियोंकी घर्घराहट, घंटानाद तथा सर्प, मृग एवं पक्षियोंके कोलाहल सब ओर पृथक्-पृथक् सुनायी दे रहे थे ॥ ३ ॥

(रवोन्मुखास्ते ददृशुः प्रीयमाणाः कुरूद्वहाः ।
मरुद्भिरन्वितं शक्रमापतन्तं विहायसा ॥)
ते समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्यसंकाशैर्देवराजमरिंदमम् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक उस ध्वनिकी ओर आँख उठाकर देखा, तो उन्हें देवराज इन्द्र दृष्टिगोचर हुए जो सम्पूर्ण मरुद्गण आदि देवताओंके साथ आकाशमार्गसे आ रहे थे। गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंद्वारा शत्रुदमन देवराजको चारों ओरसे घेरकर उन्हींके पथका अनुसरण कर रहे थे ॥ ४ ॥

ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ५ ॥
पार्थानभ्याजगामाथ देवराजः पुरंदरः ।

थोड़ी ही देरमें हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए, मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले, जाम्बूनद नामक सुवर्णसे अलंकृत रथपर आरूढ़ देवराज इन्द्र पाण्डवोंके पास आ पहुँचे। उस समय वे अपनी उत्कृष्ट प्रभासे अत्यन्त उद्भासित हो रहे थे ॥ ५½ ॥

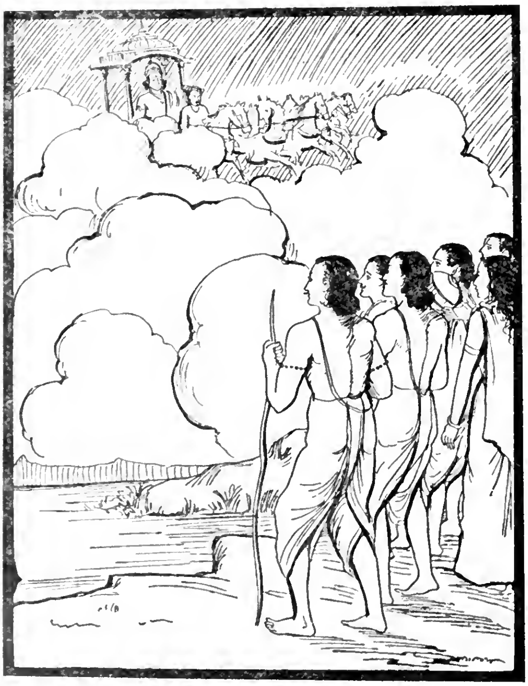

आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् देवराजमुपागमत् ॥ ७ ॥

निकट आनेपर सहस्रलोचन इन्द्र रथसे उतर गये। उन महामना देवराजको देखते ही भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके पास गये ॥ ६-७ ॥

पूजयामास चैवाथ विधिवद् भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिरने शास्त्रवर्णित पद्धतिसे अमितबुद्धि इन्द्रका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया ॥

धनंजयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरंदरम् ।
भृत्यवत् प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥ ९ ॥

तेजस्वी अर्जुन भी इन्द्रको प्रणाम करके उनके समीप सेवककी भाँति विनीत भावसे खड़े हो गये ॥ ९ ॥

आप्यायत महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनंजयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ॥ १० ॥
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।
हर्षेण महताऽऽविष्टः फाल्गुनस्याथ दर्शनात् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्जुनको देवराजके समीप विनीतभावसे स्थित देख बड़े प्रसन्न हुए। अर्जुनके सिरपर जटा बँध गयी थी। वे देवराजके आदेशके अनुसार तपस्यामें लगे रहते थे; अतः सर्वथा निष्पाप हो गये थे। अर्जुनको देखनेसे उन्हें महान् हर्ष हुआ था ॥ १०—११ ॥

बभूव परमप्रीतो देवराजं च पूजयन् ।
तं तथादीनमनसं राजानं हर्षसम्प्लुतम् ॥ १२ ॥
उवाच वचनं धीमान् देवराजः पुरंदरः ।
त्वमिमां पृथिवीं राजन् प्रशासिष्यसि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ १३ ॥

अतः देवराजका पूजन करके वे बड़े प्रसन्न हुए। उदारचित्त राजा युधिष्ठिरको इस प्रकार हर्षमें मग्न देखकर परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रने कहा—'पाण्डुनन्दन! तुम इस पृथ्वीका शासन करोगे। कुन्तीकुमार! अब तुम पुनः काम्यक वनके कल्याणकारी आश्रममें चले जाओ ॥१२-१३॥

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन
सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चास्मि धनंजयेन
जेतुं न शक्यस्त्रिभिरेष लोकैः ॥ १४ ॥

'राजन्! पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर मुझसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये हैं। साथ ही इन्होंने मेरा बड़ा प्रिय कार्य सम्पन्न किया है। तीनों लोकोंके समस्त प्राणी इन्हें युद्धमें परास्त नहीं कर सकते' ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर इन्द्र महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सानन्द स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५ ॥

धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम् ।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ॥ १६ ॥

संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः ।
स जीवेद्धि निराबाधः स सुखी शरदां शतम् ॥ १७ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके घरमें टिके हुए पाण्डवोंका जो इन्द्रके साथ समागम हुआ था, उस प्रसङ्गको जो विद्वान् एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन पढ़ता है और संयम-नियमसे रहकर कठोर व्रतका आश्रय ले एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित हो सौ वर्षोंतक सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि इन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें इन्द्रागमनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी तपस्या-यात्राके वृत्तान्तका वर्णन, भगवान् शिवके साथ संग्राम और पाशुपतास्त्र-प्राप्तिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह सङ्गतः ।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराज इन्द्रके चले जानेपर भाइयों तथा द्रौपदीके साथ मिलकर अर्जुनने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १ ॥

अभिवादयमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनको प्रणाम करते देख युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए एवं उनका मस्तक सूँघकर हर्षगद्गद वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव ।
कथं चास्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

'अर्जुन ! स्वर्गमें तुम्हारा यह समय किस प्रकार बीता ? कैसे तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त किये और कैसे देवराज इन्द्रको संतुष्ट किया ? ॥ ३ ॥

सम्यग् वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव ।
कच्चित् सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वास्त्राण्यदात् तव ॥ ४ ॥

'पाण्डुनन्दन ! क्या तुमने सभी अस्त्र अच्छी तरह सीख लिये ? क्या देवराज इन्द्र अथवा भगवान् रुद्रने प्रसन्न होकर तुम्हें अस्त्र प्रदान किये हैं ? ॥ ४ ॥

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान् वा पिनाकधृक् ।
यथैवास्त्राण्यवाप्तानि यथैवाराधितश्च ते ॥ ५ ॥

यथोक्तवांस्त्वां भगवान् शतक्रतुररिंदम ।
कृतप्रियस्त्वयास्मीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन ! तुमने जिस प्रकार देवराज इन्द्रका दर्शन किया है अथवा जैसे पिनाकधारी भगवान् शिवको देखा है, जिस प्रकार तुमने सब अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है और जैसे तुम्हारेद्वारा देवाराधनका कार्य सम्पादित हुआ है, वह सब बताओ । भगवान् इन्द्रने अभी-अभी कहा था कि 'अर्जुनने मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न किया है' सो वह उनका कौन-सा प्रिय कार्य था, जिसे तुमने सम्पन्न किया है ? ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथानघ ॥ ७ ॥
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिंदम ।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनंजय ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी वीर ! मैं ये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप अर्जुन ! जिस प्रकार तुम्हारे ऊपर महादेवजी तथा देवराज इन्द्र संतुष्ट हुए और वज्रधारी इन्द्रका जो प्रिय कार्य तुमने सम्पन्न किया है, वह सब पूर्णरूपसे बताओ' ॥ ७-८ ॥

अर्जुन उवाच

शृणु हन्त महाराज विधिना येन दृष्टवान् ।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शङ्करम् ॥ ९ ॥
विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन ।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ॥ १० ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! मैंने जिस विधिसे देवराज इन्द्र तथा भगवान् शङ्करका दर्शन किया था, वह सब बतलाता हूँ, सुनिये ! शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश ! आपकी बतायी हुई विद्याको ग्रहण करके आपहीके आदेशसे मैं तपस्या करनेके लिये वनकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ ९-१० ॥

भृगुतुङ्गमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः।
एकरात्रोषितः कश्चिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ॥ ११ ॥

काम्यक वनसे चलकर तपस्यामें पूरी आशा रखकर मैं भृगुतुङ्ग पर्वतपर पहुँचा और वहाँ एक रात रहकर जब आगे बढ़ा, तब मार्गमें किसी ब्राह्मणदेवताका मुझे दर्शन हुआ ॥

स मामपृच्छत् कौन्तेय क्वासि गन्ता ब्रवीहि मे।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनन्दन ॥ १२ ॥

उन्होंने मुझसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! कहाँ जाते हो ? मुझे ठीक-ठीक बताओ।' कुरुनन्दन ! तब मैंने उनसे सब कुछ सच-सच बता दिया ॥ १२ ॥

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमांश्चाभवन्मयि ॥ १३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मणदेवताने मेरी यथार्थ बातें सुनकर मेरी प्रशंसा की और मुझपर बड़े प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

ततो मामब्रवीत् प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत।
तपस्वी नचिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'भारत ! तुम तपस्याका आश्रय लो ! तपमें प्रवृत्त होनेपर तुम्हें शीघ्र ही देवराज इन्द्रका दर्शन होगा ॥' १४ ॥

ततोऽहं वचनात् तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम्।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥ १५ ॥

महाराज ! उनके इस आदेशको मानकर मैं हिमालय पर्वतपर आरूढ़ हो तपस्यामें संलग्न हो गया और एक मासतक केवल फल-फूल खाकर रहा ॥ १५ ॥

द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पाण्डवनन्दन ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार मैंने दूसरा महीना भी केवल जल पीकर बिताया। पाण्डवनन्दन ! तीसरे महीनेमें मैं पूर्णतः निराहार रहा ! चौथे महीनेमें मैं ऊपरको हाथ उठाये खड़ा रहा। इतनेपर भी मेरा बल क्षीण नहीं हुआ, यह एक आश्चर्यकी-सी बात हुई ॥ १६-१७ ॥

पञ्चमे त्वथ सम्प्राप्ते प्रथमे दिवसे गते।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ॥ १८ ॥

पाँचवाँ महीना प्रारम्भ होनेपर जब एक दिन बीत गया तब दूसरे दिन एक शूकर रूपधारी जीव मेरे निकट आया ॥ १८ ॥

निघ्नन् प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि।
सम्मार्जञ्जठरेणोर्वीं विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥

वह अपनी थूथुनसे पृथ्वीपर चोट करता और पैरोंसे धरती खोदता था। बार-बार लेटकर वह अपने पेटसे वहाँकी भूमिको ऐसी स्वच्छ कर देता था, मानो उसपर झाड़ दिया गया हो ॥ १९ ॥

अनु तस्यापरं भूतं महत् कैरातसंस्थितम्।
धनुर्बाणासिमत् प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥ २० ॥

उसके पीछे किरात-जैसी आकृतिमें एक महान् पुरुषका दर्शन हुआ। उसने धनुष-बाण और खड्ग ले रखे थे। उसके साथ स्त्रियोंका एक समुदाय भी था ॥ २० ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी।
अताडयं शरेणाथ तद् भूतं लोमहर्षणम् ॥ २१ ॥

तब मैंने धनुष तथा अक्षय तरकस लेकर एक बाणके द्वारा उस रोमाञ्चकारी सूकरपर आघात किया ॥ २१ ॥

युगपत् तं किरातस्तु विकृष्य बलवद् धनुः।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥ २२ ॥

साथ ही किरातने भी अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर उसपर गहरी चोट की, जिससे मेरा हृदय कम्पित-सा हो उठा ॥

स तु मामब्रवीद् राजन् मम पूर्वपरिग्रहः।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥ २३ ॥

राजन् ! फिर वह किरात मुझसे बोला—'यह सूअर तो पहले मेरा निशाना बन चुका था, फिर तुमने आखेटके नियमको छोड़कर उसपर प्रहार क्यों किया ?' ॥ २३ ॥

एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव।
स धनुष्मान् महाकायस्ततो मामभ्यभाषत ॥ २४ ॥

इतना ही नहीं उस विशालकाय एवं धनुर्धर किरातने उस समय मुझसे यह भी कहा—'अच्छा, ठहर जाओ। मैं अपने पैने बाणोंसे अभी तुम्हारा घमंड चूर-चूर किये देता हूँ' ॥ २४ ॥

ततो गिरिमिवात्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः।
तं चाहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर उस भीलने जैसे पर्वतपर वर्षा हो, उस प्रकार महान् बाणोंकी बौछार करके मुझे सब ओरसे ढक दिया; तब मैंने भी भारी बाणवर्षा करके उसे सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ २५ ॥

ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमन्त्रितैः।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर जैसे वज्रसे पर्वतपर आघात किया जाय, उसी

प्रकार प्रज्वलित मुखवाले अभिमन्त्रित और खूब खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा मैंने उसे बार-बार घायल किया ॥२६॥

तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा।
तानि चास्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ॥ २७ ॥

उस समय उसके सैकड़ों और सहस्रों रूप प्रकट हुए और मैंने उसके सभी शरीरोंपर बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥

पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥ २८ ॥

भारत ! फिर उसके वे सारे शरीर एकरूप दिखायी दिये। महाराज ! उस एकरूपमें भी मैंने उसे पुनः अच्छी तरह घायल किया ॥ २८ ॥

अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः।
एकीभूतस्तदा राजन् सोऽभ्यवर्तत मां युधि ॥ २९ ॥
यदाभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे।
ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥ ३० ॥

कभी उसका शरीर तो बहुत छोटा हो जाता, परंतु मस्तक बहुत बड़ा दिखायी देता था। फिर वह विशाल शरीर धारण कर लेता और मस्तक बहुत छोटा बना लेता था। राजन् ! अन्तमें वह एक ही रूपमें प्रकट होकर युद्धमें मेरा सामना करने लगा। भरतर्षभ ! जब मैं बाणोंकी वर्षा करके भी युद्धमें उसे परास्त न कर सका, तब मैंने महान् वायव्यास्त्र-का प्रयोग किया ॥ २९-३० ॥

न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाभवत्।
तस्मिन् प्रतिहते चास्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ॥ ३१ ॥

किंतु उससे भी उसका वध न कर सका। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई। वायव्यास्त्रके निष्फल हो जानेपर मुझे महान् आश्चर्य हुआ ॥ ३१ ॥

भूय एव महाराज सविशेषमहं ततः।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! तब मैंने पुनः विशेष प्रयत्न करके रणभूमिमें किरातरूपधारी उस अद्भुत पुरुषपर महान् अस्त्रसमूहकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्बणम्।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाहमभ्ययाम् ॥ ३३ ॥

स्थूणाकर्ण[1], वारुणास्त्र[2], भयंकर शरवर्षास्त्र[3], शलभास्त्र[4] तथा अश्मवर्ष[5] इन अस्त्रोंका सहारा ले मैं उस किरातपर टूट पड़ा ॥ ३३ ॥

जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रं महदादिशम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! उसने मेरे उन सभी अस्त्रोंको बलपूर्वक अपना ग्रास बना लिया। उन सबके भक्षण कर लिये जानेपर मैंने महान् ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३४ ॥

ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धत ॥ ३५ ॥

तब प्रज्वलित बाणोंद्वारा वह अस्त्र सब ओर बढ़ने लगा। मेरे महान् अस्त्रसे बढ़नेकी प्रेरणा पाकर वह ब्रह्मास्त्र अधिक वेगसे बढ़ चला ॥ ३५ ॥

ततः संतापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा।
क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतो हि विदीपितम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर मेरे द्वारा प्रकट किये हुए ब्रह्मास्त्रके तेजसे वहाँके सब लोग संतप्त हो उठे। एक ही क्षणमें सम्पूर्ण दिशाएँ और आकाश सब ओरसे आगकी लपटोंसे उद्दीप्त हो उठे ॥ ३६ ॥

तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत्।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन् भयं मां महदाविशत् ॥ ३७ ॥

परंतु उस महान् तेजस्वी वीरने क्षणभरमें ही मेरे उस ब्रह्मास्त्रको भी शान्त कर दिया। राजन् ! उस ब्रह्मास्त्रके नष्ट होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ॥ ३७ ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी।
सहसाभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥ ३८ ॥

तब मैं धनुष और दोनों अक्षय तरकस लेकर सहसा उस दिव्य पुरुषपर आघात करने लगा, किंतु उसने उन सबको भी अपना आहार बना लिया ॥ ३८ ॥

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥

जब मेरे सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट होकर उसके आहार बन गये, तब मेरा उस अलौकिक प्राणीके साथ मल्लयुद्ध प्रारम्भ हो गया ॥ ३९ ॥

व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः।
अपारयंश्च तद् भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ॥ ४० ॥

---

१. आचार्य नीलकण्ठके मतसे स्थूणाकर्ण नाम है शङ्कुकर्णका, जो भगवान् रुद्रके एक अवतार हैं। वे जिस अस्त्रके देवता हैं, उसका नाम भी स्थूणाकर्ण है।

२. मूलमें जाल शब्द आया है, जिसका अर्थ है, जालसम्बन्धी। यह जलवर्षक अस्त्र ही वारुणास्त्र है।

३. जैसे बादल पानीकी वर्षा करता है, उसी प्रकार निरन्तर बाणवर्षा करनेवाला अस्त्र शरवर्ष कहलाता है।

४. जैसे असंख्य टिड्डियाँ आकाशमें मँडराती और पौधोंपर टूट पड़ती हैं, उसी प्रकार जिस अस्त्रसे असंख्य बाण आकाशको आच्छादित करते और शत्रुको अपना लक्ष्य बनाते हैं, उसीका नाम शलभास्त्र है।

५. पत्थरोंकी वर्षा करनेवाले अस्त्रको अश्मवर्ष कहते हैं

ततः प्रहस्य तद् भूतं तत्रैवान्तरधीयत।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥ ४१ ॥

पहले मुक्कों और थप्पड़ोंसे मैंने उससे टक्कर लेनेकी चेष्टा की, परंतु उसपर मेरा कोई वश नहीं चला और मैं निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। महाराज! तब वह अलौकिक प्राणी हँसकर मेरे देखते-देखते स्त्रियोंसहित वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ४०-४१ ॥

एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद् रूपमास्थितः।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमम्बरम् ॥ ४२ ॥
हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥ ४३ ॥

राजन्! वास्तवमें वे भगवान् शङ्कर थे। उन्होंने पूर्वोक्त वर्ताव करके दूसरा रूप धारण कर लिया। देवताओंके स्वामी भगवान् महेश्वर किरातरूप छोड़कर दिव्य स्वरूपका आश्रय ले अलौकिक एवं अद्भुत वस्त्र धारण किये वहाँ खड़े हो गये ॥ ४२-४३ ॥

अदृश्यत ततः साक्षाद् भगवान् गोवृषध्वजः।
उमासहायो व्यालधृग् बहुरूपः पिनाकधृक् ॥ ४४ ॥
स मामभ्येत्य समरे तथैवाभिमुखं स्थितम्।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परंतप ॥ ४५ ॥

इस प्रकार उमासहित साक्षात् भगवान् वृषभध्वजका दर्शन हुआ। उन्होंने अपने अङ्गोंमें सर्प और हाथमें पिनाक धारण कर रक्खे थे। अनेक रूपधारी भगवान् शूलपाणि उस रणभूमिमें मेरे निकट आकर पूर्ववत् सामने खड़े हो गये और बोले--'परंतप! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ' ॥ ४४-४५ ॥

ततस्तद् धनुरादाय तूणौ चाक्षय्यसायकौ।
प्रादान्ममैव भगवान् धारयस्वेति चाब्रवीत् ॥ ४६ ॥
तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते।
यत् ते मनोगतं वीर तद् ब्रूहि वितराम्यहम् ॥ ४७ ॥
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत् ते मनोगतम्।

तदनन्तर मेरे धनुष और अक्षय बाणोंसे भरे हुए दोनों तरकस लेकर भगवान् शिवने मुझे ही दे दिये और कहा—'परंतप! ये अपने अस्त्र ग्रहण करो।' कुन्तीकुमार! मैं तुमसे संतुष्ट हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ? वीर! तुम्हारे मनमें जो कामना हो, बताओ। मैं उसे पूर्ण कर दूँगा। अमरत्वको छोड़कर और तुम्हारे मनमें जो भी कामना हो, बताओ' ॥ ४६-४७½ ॥

ततः प्राञ्जलिरेवाहमस्त्रेषु गतमानसः ॥ ४८ ॥
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे।
भगवान् मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ॥ ४९ ॥
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित्।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत् त्र्यम्बकश्च माम् ॥ ५० ॥

मेरा मन तो अस्त्र-शस्त्रोंमें लगा हुआ था। उस समय मैंने हाथ जोड़कर मन-ही-मन भगवान् शङ्करको प्रणाम किया और यह बात कही—'यदि मुझपर भगवान् प्रसन्न हैं, तो मेरा मनोवाञ्छित वर इस प्रकार है—देवताओंके पास जो कोई भी दिव्यास्त्र हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूँ।' यह सुनकर भगवान् शङ्करने मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर देता हूँ ॥ ४८–५० ॥

रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पाण्डव।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ॥ ५१ ॥

'पाण्डुकुमार! मेरा रौद्रास्त्र स्वयं तुम्हें प्राप्त हो जायगा।' यह कहकर भगवान् पशुपतिने बड़ी प्रसन्नताके साथ मुझे अपना महान् पाशुपतास्त्र प्रदान किया ॥ ५१ ॥

उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम्।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथञ्चन ॥ ५२ ॥

अपना सनातन अस्त्र मुझे देकर महादेवजी फिर बोले—'तुम्हें मनुष्योंपर किसी प्रकार इस अस्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ५२ ॥

जगद् विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम्।
पीड्यमानेन बलवत् प्रयोज्यं स्याद् धनंजय ॥ ५३ ॥
अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत्।

अपनेसे अल्पशक्तिवाले विपक्षीपर यदि इसका प्रहार किया जाय, तो यह सम्पूर्ण विश्वको दग्ध कर देगा। धनंजय! जब शत्रुके द्वारा अपनेको बहुत पीड़ा प्राप्त होने लगे, उस दशामें आत्मरक्षाके लिये इसका प्रयोग करना चाहिये। शत्रुके अस्त्रोंका विनाश करनेके लिये सर्वथा इसका प्रयोग उचित है' ॥

तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ॥ ५४ ॥
मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे।

इस प्रकार भगवान् वृषभध्वजके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करनेवाला और कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला दिव्य पाशुपतास्त्र मूर्तिमान् हो मेरे पास आकर खड़ा हो गया ॥ ५४½ ॥

उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम् ॥ ५५ ॥
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ॥ ५६ ॥
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५७ ॥

वह शत्रुओंका संहारक और विपक्षियोंकी सेनाका

विध्वंसक है। उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है। देवता, दानव तथा राक्षस किसीके लिये भी उसका वेग सहन करना अत्यन्त कठिन है। फिर भगवान् शिवकी आज्ञा होनेपर मैं वहीं बैठ गया और वे मेरे देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥५५-५७॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि गन्धमादनवासे युधिष्ठिरार्जुनसंवादे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें गन्धमादननिवासकालिक युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा स्वर्गलोकमें अपनी अस्त्रशिक्षा और निवातकवच दानवोंके साथ युद्धकी तैयारीका कथन

अर्जुन उवाच

ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत।
प्रसादाद् देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥ १ ॥

अर्जुन कहते हैं—भारत! देवाधिदेव परमात्मा भगवान् त्रिलोचनके कृपाप्रसादसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक वह रात वहीं व्यतीत की ॥ १ ॥

व्युषितो रजनीं चाहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥ २ ॥

सवेरा होनेपर पूर्वाह्णकालकी क्रिया पूरी करके मैंने पुनः उन्हीं श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपने समक्ष पाया, जिनका दर्शन मुझे पहले भी हो चुका था ॥ २ ॥

तस्मै चाहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम्।
भगवन्तं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण! उनसे मैंने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया और बताया कि 'मैं भगवान् महादेवजीसे मिल चुका हूँ' ॥ ३ ॥

स मामुवाच राजेन्द्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नान्येन केनचित् ॥ ४ ॥

राजेन्द्र! तब वे विप्रवर बड़े प्रसन्न होकर मुझसे बोले—'कुन्तीकुमार! जिस प्रकार तुमने महादेवजीका दर्शन किया है, वैसा दर्शन और किसीने नहीं किया है ॥ ४ ॥

समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः।
द्रष्टास्यनघ देवेन्द्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥ ५ ॥

'अनघ! अब तुम यम आदि सम्पूर्ण लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्रका दर्शन करोगे और वे भी तुम्हें अस्त्र प्रदान करेंगे' ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः।
अगच्छत् स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसंनिभः ॥ ६ ॥

राजन्! ऐसा कहकर सूर्यके समान तेजस्वी ब्राह्मण देवताने मुझे बार-बार हृदयसे लगाया और फिर वे इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ६ ॥

अथापराह्णे तस्याह्नः प्रावात् पुण्यः समीरणः।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ॥ ७ ॥
दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन् समीपतः ॥ ८ ॥

शत्रुविजयी नरेश! तदनन्तर जब वह दिन ढलने लगा, तब पुनः इस जगत्‌में नूतन जीवनका संचार-सा करती हुई पवित्र वायु चलने लगी और उस हिमालयके पार्श्ववर्ती प्रदेशमें दिव्य, नवीन और सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ ७-८ ॥

वादित्राणि च दिव्यानि सुघोराणि समन्ततः।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥ ९ ॥

चारों ओर अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले दिव्य वाद्यों और इन्द्रसम्बन्धी स्तोत्रोंके मनोहर शब्द सुनायी देने लगे ॥

गणाश्चाप्सरसां तत्र गन्धर्वाणां तथैव च।
पुरस्ताद् देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥ १० ॥

सब गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह वहाँ देवराज इन्द्रके आगे रहकर गीत गा रहे थे ॥ १० ॥

मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन्।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ॥ ११ ॥

देवताओंके अनेक गण भी दिव्य विमानोंपर बैठकर वहाँ आये थे। जो महेन्द्रके सेवक थे और जो इन्द्रभवनमें ही निवास करते थे, वे भी वहाँ पधारे ॥ ११ ॥

ततो मरुत्वान् हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलङ्कृतैः।
शचीसहायस्तत्रायात् सह सर्वैस्तदामरैः ॥ १२ ॥

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें विविध आभूषणोंसे विभूषित हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए एक सुन्दर रथके द्वारा शचीसहित इन्द्रने सम्पूर्ण देवताओंके साथ वहाँ पदार्पण किया ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥ १३ ॥

राजन् ! इसी समय सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न नरवाहन कुबेरने भी मुझे दर्शन दिया ॥ १३ ॥

दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ॥ १४ ॥

दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टिपात करनेपर मुझे साक्षात् यमराज खड़े दिखायी दिये ! वरुण और देवराज इन्द्र भी क्रमशः पश्चिम और पूर्व दिशामें यथास्थान खड़े हो गये ॥

ते मामूचुर्महाराज सान्त्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन् निरीक्षास्माँल्लोकपालानवस्थितान्॥१५॥

महाराज ! नरश्रेष्ठ ! उन सब लोकपालोंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—'सव्यसाची अर्जुन ! देखो, हम सब लोकपाल यहाँ खड़े हैं ॥ १५ ॥

सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शङ्करम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समन्ततः ॥ १६ ॥

'देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये ही तुम्हें भगवान् शंकरका दर्शन प्राप्त हुआ था । अब तुम चारों ओर घूमकर हमलोगोंसे भी दिव्यास्त्र ग्रहण करो' ॥ १६ ॥

ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदास्त्राणि महान्ति विधिवद् विभो॥ १७ ॥

प्रभो ! तब मैंने एकाग्रचित्त हो उन उत्तम देवताओंको प्रणाम करके उन सबसे विधिपूर्वक महान् दिव्यास्त्र प्राप्त किये ॥ १७ ॥

गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ॥ १८ ॥

भारत ! जब मैं अस्त्र ग्रहण कर चुका, तब देवताओंने मुझे जानेकी आज्ञा दी । शत्रुदमन ! तदनन्तर सब देवता जैसे आये थे, वैसे अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ १८ ॥

मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान् स्वर्गं गन्तव्यं फाल्गुन त्वया ॥ १९ ॥

देवेश्वर भगवान् इन्द्रने भी अपने अत्यन्त प्रकाशपूर्ण रथपर आरूढ़ हो मुझसे कहा—'अर्जुन ! तुम्हें स्वर्गलोककी यात्रा करनी होगी ॥ १९ ॥

पुरैवागमनादस्माद् वेदाहं त्वां धनंजय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥ २० ॥

'भरतश्रेष्ठ धनंजय ! यहाँ आनेसे पहले ही मुझे तुम्हारे विषयमें सब कुछ ज्ञात हो गया था । इसके बाद मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ २० ॥

त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत् तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव ॥ २१ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुमने पहले अनेक बार बहुत-से तीर्थोंमें स्नान किया है और इस समय इस महान् तपका भी अनुष्ठान कर लिया है, अतः तुम स्वर्गलोकमें सशरीर जानेके अधिकारी हो गये हो ॥ २१ ॥

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।
स्वर्गे त्ववश्यं गन्तव्यं त्वया शत्रुनिषूदन ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन ! अभी तुम्हें और भी उत्तम तपस्या करनी है और स्वर्गलोकमें अवश्य पदार्पण करना है ॥ २२ ॥

मातलिर्मन्नियोगात् त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनां च महात्मनाम् ॥ २३ ॥
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठ तपः कुर्वन् सुदुष्करम् ।

'मेरी आज्ञासे मातलि तुम्हें स्वर्गमें पहुँचा देगा । पाण्डवश्रेष्ठ ! यहाँ रहकर जो तुम अत्यन्त दुष्कर तप कर रहे हो, इसके कारण देवताओं तथा महात्मा मुनियोंमें तुम्हारी ख्याति बहुत बढ़ गयी है' ॥ २३½ ॥

ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन् मम ।
आचार्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥ २४ ॥

तब मैंने देवराज इन्द्रसे कहा—'भगवन् ! आप मुझपर प्रसन्न होइये । देवेश्वर ! मैं अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये आपको अपना आचार्य बनाता हूँ' ॥ २४ ॥

इन्द्र उवाच

क्रूरकर्मास्त्रवित् तात भविष्यसि परंतप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पाण्डवाप्नुहि ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—परंतप तात अर्जुन ! दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर तुम भयंकर कर्म करने लगोगे । अतः पाण्डुनन्दन ! मेरी इच्छा है कि तुम जिसके लिये अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करना चाहते हो, तुम्हारा वह उद्देश्य पूर्ण हो ॥ २५ ॥

ततोऽहमब्रुवं नाहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनास्त्रप्रतिघातनात् ॥ २६ ॥

यह सुनकर मैंने उत्तर दिया—'शत्रुघाती देवेश्वर ! मैं शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंका निवारण करनेके सिवा अन्य किसी अवसरपर मनुष्योंके ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग नहीं करूँगा ॥ २६ ॥

तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चास्त्रजितान् पश्चाल्लभेयं सुरपुङ्गव ॥ २७ ॥

'देवराज ! सुरश्रेष्ठ ! आप मुझे वे दिव्य अस्त्र प्रदान करें । अस्त्रविद्या सीखनेके पश्चात् मैं उन्हीं अस्त्रोंके द्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ २७ ॥

इन्द्र उवाच

परीक्षार्थं मयैतत् ते वाक्यमुक्तं धनंजय ।
ममात्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ॥ २८ ॥

इन्द्र बोले—धनंजय ! मैंने तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये उपर्युक्त बात कही थी। तुमने जो अस्त्रविद्याके प्रति अत्यन्त उत्सुकता प्रकट की है, वह तुम्हारे-जैसे मेरे पुत्रके अनुरूप ही है ॥ २८ ॥

शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात् समरुद्गणात् ॥ २९ ॥
साध्यं पैतामहं चैव गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ॥ ३० ॥
मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३१ ॥

भारत ! तुम मेरे भवनमें चलकर सम्पूर्ण अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करो। कुरुश्रेष्ठ ! वायु, अग्नि, वसु, वरुण, मरुद्गण, साध्यगण, ब्रह्मा, गन्धर्वगण, नाग, राक्षस, विष्णु तथा निर्ऋतिके और स्वयं मेरे भी सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करो, मुझसे ऐसा कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९–३१ ॥

अथापश्यं हरियुतं रथमैन्द्रमुपस्थितम्।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥ ३२ ॥

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें मुझे हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ वहाँ उपस्थित दिखायी दिया। राजन् ! वह दिव्य मायामय पवित्र रथ मातलिके द्वारा नियन्त्रित था ॥ ३२ ॥

लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाथ मातलिः।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥ ३३ ॥

जब सभी लोकपाल चले गये, तब मातलिने मुझसे कहा—'महातेजस्वी वीर ! देवराज इन्द्र तुमसे मिलना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

संसिद्ध्यस्व महाबाहो कुरु कार्यमनन्तरम्।
पश्य पुण्यकृताँल्लोकान् सशरीरो दिवं व्रज ॥ ३४ ॥

'महाबाहो ! तुम उनसे मिलकर कृतार्थ होओ और अब आवश्यक कार्य करो। इसी शरीरसे देवलोकमें चलो तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके लोकोंका दर्शन करो ॥ ३४ ॥

देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामन्त्र्य शैशिरम् ॥ ३५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम्।

'भरतनन्दन ! सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र तुम्हें देखना चाहते हैं।' मातलिके ऐसा कहनेपर मैं हिमालयसे आज्ञा ले रथकी परिक्रमा करके उस श्रेष्ठ रथमें सवार हुआ ॥ ३५½ ॥

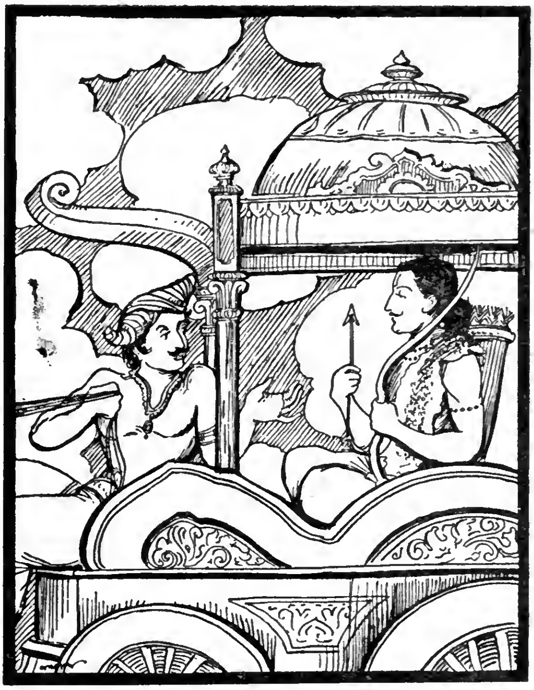

चोदयामास स हयान् मनोमारुतरंहसः ॥ ३६ ॥
मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद् भूरिदक्षिणः।

मातलि अश्वसंचालनकी कलाके मर्मज्ञ थे। सारथिके कार्यमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने मन तथा वायुके समान वेगशाली अश्वोंको यथोचित रीतिसे आगे बढ़ाया ॥ ३६½ ॥

अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याथ स सारथिः ॥ ३७ ॥
तथा भ्रान्ते रथे राजन् विस्मितश्चेदमब्रवीत्।

राजन् ! उस समय देवसारथि मातलिने आकाशमें चक्कर लगाते हुए रथपर स्थिरतापूर्वक बैठे हुए मेरे मुखकी ओर दृष्टिपात किया और आश्चर्यचकित होकर कहा—॥ ३७½ ॥

अत्यद्भुतमिदं त्वद्य विचित्रं प्रतिभाति मे ॥ ३८ ॥
यदास्थितो रथं दिव्यं पदान्न चलितः पदम्।

'भरतश्रेष्ठ ! आज मुझे यह बड़ी विचित्र और अद्भुत बात दिखायी दे रही है कि इस दिव्य रथपर बैठकर तुम अपने स्थानसे तनिक भी हिल डुल नहीं रहे हो ॥ ३८½ ॥

देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ॥ ३९ ॥
विचलन् प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ।
त्वं पुनः स्थित एवात्र रथे भ्रान्ते कुरूद्वह ॥ ४० ॥

'कुरुकुलभूषण भरतश्रेष्ठ ! जब घोड़े पहली बार उड़ान भरते हैं' उस समय मैंने सदा यह देखा है कि देवराज इन्द्र भी विचलित हुए बिना नहीं रह पाते, परंतु तुम चक्कर काटते हुए रथपर भी स्थिर भावसे बैठे हो ॥ ३९-४० ॥

अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे।
इत्युक्त्वाऽऽकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान्॥४१॥
दर्शयामास मे राजन् विमानानि च भारत।
स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः॥४२॥

'कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हारी ये सब बातें मुझे इन्द्रसे भी बढ़कर प्रतीत हो रही हैं।' भरतकुलभूषण नरेश ! ऐसा कहकर मातलिने अन्तरिक्षलोकमें प्रविष्ट होकर मुझे देवताओंके घरों और विमानोंका दर्शन कराया, फिर हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ वह रथ वहाँसे भी ऊपरकी ओर बढ़ चला ॥ ४१-४२ ॥

ऋषयो देवताश्चैव पूजयन्ति नरोत्तम।
ततः कामगमाँल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम्॥४३॥

नरश्रेष्ठ ! ऋषि और देवता भी उस रथका समादर करते थे। तदनन्तर मैंने देवर्षियोंके अनेक समुदायोंका दर्शन किया, जो अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते हैं ॥ ४३ ॥

गन्धर्वाप्सरसां चैव प्रभावममितौजसाम्।
नन्दनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च॥४४॥
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः।
ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम्॥४५॥
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलङ्कृताम्।
न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः॥४६॥

अमित तेजस्वी गन्धर्वों और अप्सराओंका प्रभाव भी मुझे प्रत्यक्ष दिखायी दिया। फिर इन्द्रसारथि मातलिने मुझे शीघ्र ही देवताओंके नन्दन आदि वन और उपवन दिखाये। तत्पश्चात् मैंने अमरावती पुरी तथा इन्द्रभवनका दर्शन किया। वह पुरी इच्छानुसार फल देनेवाले दिव्य वृक्षों तथा रत्नोंसे सुशोभित थी। वहाँ सूर्यका ताप नहीं होता, सर्दी या गर्मीका कष्ट नहीं रहता और न किसीको थकावट ही होती है ॥ ४४-४६ ॥

न बाधते तत्र रजस्तत्रास्ति न जरा नृप।
न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते॥४७॥

नरेश्वर ! वहाँ रजोगुणजनित विकार नहीं सताते, बुढ़ापा नहीं आता; शोक, दीनता और दुर्बलताका दर्शन नहीं होता ॥ ४७ ॥

दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन।
न क्रोधलोभौ तत्रास्तां सुरादीनां विशाम्पते॥४८॥

महाराज ! शत्रुसूदन ! स्वर्गवासी देवताओंको कभी ग्लानि नहीं होती। उनमें क्रोध और लोभका भी अभाव होता है॥४८॥

नित्यतुष्टाश्च ते राजन् प्राणिनः सुरवेश्मनि।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः॥४९॥

राजन् ! स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणी सदा संतुष्ट रहते हैं। वहाँके वृक्ष सर्वदा फलफूलसे सम्पन्न और हरे पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ ४९ ॥

पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः।
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धी जीवनः शुचिः॥५०॥

वहाँ सहस्रों सौगन्धिक कमलोंसे अलङ्कृत नाना प्रकारके सरोवर शोभा पाते हैं और शीतल, पवित्र, सुगन्धित एवं नवजीवनदायक वायु सदा बहती रहती है ॥ ५० ॥

सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता।
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः॥५१॥
विमानगामिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽम्बरे।
ततोऽपश्यं वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान्॥५२॥
आदित्यानश्विनौ चैव तान् सर्वान् प्रत्यपूजयम्।
ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च॥५३॥
अस्त्रैश्चाप्यन्वजानन्त संग्रामे विजयेन च।

वहाँकी भूमि सब प्रकारके रत्नोंसे विचित्र शोभा धारण करती है और (सब ओर बिखरे हुए) पुष्प उस भूमिके लिये आभूषणका काम देते हैं। स्वर्गलोकमें बहुत-से मनोहर पशु और पक्षी देखे जाते हैं, जिनकी बोली बड़ी मधुर प्रतीत होती है। वहाँ अनेक देवता आकाशमें विमानोंपर विचरते दिखायी देते हैं। तदनन्तर मुझे वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, आदित्य और अश्विनीकुमारोंके दर्शन हुए। मैंने उन सबके आगे मस्तक झुकाकर उनका सम्मान किया। उन सबने मुझे पराक्रमी, यशस्वी, तेजस्वी, बलवान्, अस्त्रवेत्ता और संग्राम-विजयी होनेका आशीर्वाद दिया ॥ ५१–५३½ ॥

प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम्॥५४॥
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृताञ्जलिः।
ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः॥५५॥

तत्पश्चात् देवगन्धर्वपूजित दिव्य अमरावतीपुरीमें प्रवेश करके मैंने हाथ जोड़कर सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रको प्रणाम किया। दाताओंमें श्रेष्ठ देवराज इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझे अपने आधे सिंहासनपर स्थान दिया ॥ ५४-५५ ॥

बहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः।
तत्राहं देवगन्धर्वैः सहितो भूरिदक्षिण॥५६॥
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत।
विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत् सखा॥५७॥

इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े आदरके साथ मेरे अङ्गोंपर हाथ फेरा। यज्ञोंमें पूरी दक्षिणा देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! उस स्वर्गलोकमें मैं देवताओं और गन्धर्वोंके साथ अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये रहने लगा और प्रतिदिन अस्त्रोंका अभ्यास करने लगा। उस समय गन्धर्वराज विश्वावसुके पुत्र चित्रसेनके साथ मेरी मैत्री हो गयी थी ॥ ५६-५७ ॥

स च गान्धर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप।
तत्राहमवसं राजन् गृहीतास्त्रः सुपूजितः ॥ ५८ ॥
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः।
शृण्वन् वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम्।
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यन्तीर्भरतर्षभ ॥ ५९ ॥

नरेश्वर! उन्होंने मुझे सम्पूर्ण गान्धर्ववेद (संगीत-विद्या) का अध्ययन कराया। राजन्! वहाँ इन्द्रभवनमें अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करते हुए मैं बड़े सम्मान और सुखसे रहने लगा। वहाँ सभी मनोवाञ्छित पदार्थ मेरे लिये सुलभ थे। भरतश्रेष्ठ! मैं वहाँ कभी मनोहर गीत सुनता, कभी पर्याप्त रूपसे दिव्य वाद्योंका आनन्द लेता और कभी-कभी श्रेष्ठ अप्सराओंका नृत्य भी देख लेता था॥ ५८-५९॥

तत् सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत।
अत्यर्थं प्रतिगृह्याहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ॥ ६० ॥

भारत! इन समस्त सुख सुविधाओंकी अवहेलना न करते हुए उन्हें स्वीकार करके भी मैं इनके असली रूपको जानकर—इनकी निःसारताको भलीभाँति समझकर अधिकतर अस्त्रोंके अभ्यासमें ही संलग्न रहता था। (गीत आदिमें कभी आसक्त नहीं हुआ)॥ ६०॥

ततोऽतुष्यत् सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः।
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद् दिवि ॥ ६१ ॥

अस्त्र-विद्याकी ओर मेरी ऐसी अभिरुचि होनेसे सहस्र नेत्रधारी भगवान् इन्द्र मुझपर बहुत संतुष्ट रहते थे। राजन्! इस प्रकार स्वर्गमें रहकर मेरा यह समय सुखपूर्वक बीतने लगा॥

कृतास्त्रमतिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः।
संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

धीरे-धीरे मैं अस्त्र-विद्यामें निपुण हो गया। मेरी विज्ञतापर सबको अधिक विश्वास था। एक दिन भगवान् इन्द्रने अपने दोनों हाथोंसे मेरे मस्तकका स्पर्श करते हुए मुझसे इस प्रकार कहा—॥

न त्वमद्य युधाजेतुं शक्यः सुरगणैरपि।
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ॥ ६३ ॥

'अर्जुन! अब तुम्हें युद्धमें देवता भी परास्त नहीं कर सकते। फिर मर्त्यलोकमें रहनेवाले बेचारे असंयमी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?॥ ६३॥

अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा।
अजेयस्त्वं हि संग्रामे सर्वैरपि सुरासुरैः।
अथाब्रवीत् पुनर्देवः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ॥ ६४ ॥

'तुम युद्धमें अप्रमेय, अजेय और अनुपम हो। संग्राम-भूमिमें सम्पूर्ण देवता और असुर भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते।' इतना कहते-कहते देवराजके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। तदनन्तर वे फिर बोले—॥ ६४॥

अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद् भविष्यति।
अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ ६५ ॥
ब्रह्मण्यश्चास्त्रविच्चासि शूरश्चासि कुरूद्वह।
अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पञ्च च ॥ ६६ ॥
पञ्चभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः।
प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनंजय ॥ ६७ ॥
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतीघातं च सर्वशः।
ततो गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परंतप ॥ ६८ ॥

'वीर! अस्त्र-युद्धमें तुम्हारा सामना कर सके, ऐसा कोई योद्धा नहीं होगा। कुरुश्रेष्ठ! तुम सर्वदा सावधान रहते हो, प्रत्येक कार्यमें कुशल हो, जितेन्द्रिय, सत्यवादी और ब्राह्मण-भक्त हो; तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान है और तुम अद्भुत शौर्यसे सम्पन्न हो। पार्थ! तुमने पाँच विधियोंसहित पंद्रह अस्त्र प्राप्त किये हैं, अतः इस भूतलपर तुम्हारे-जैसा शूर दूसरा कोई नहीं है। परंतप धनंजय! प्रयोग, उपसंहार, आवृत्ति, प्रायश्चित्त[1] और प्रतिघात[2]—ये अस्त्रोंकी पाँच विधियाँ हैं; तुम इन सबका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके हो। अतः अब गुरुदक्षिणा देनेका समय आ गया है॥ ६५—६८॥

प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्स्याम्यहं परम्।
ततोऽहमब्रुवं राजन् देवराजमिदं वचः ॥ ६९ ॥
विषह्यं यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत्।
ततो मामब्रवीद् राजन् प्रहसन् बलवृत्रहा ॥ ७० ॥

'तुम उसे देनेकी प्रतिज्ञा करो, तब मैं अपने महान् कार्यको तुम्हें बताऊँगा।' राजन्! यह सुनकर मैंने देवराजसे कहा—'भगवन्! जो कुछ मैं कर सकता हूँ, उसे किया हुआ ही समझिये।' नरेश्वर! तब बल और वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने मुझसे हँसते हुए कहा—॥ ६९-७०॥

नाविषह्यं तवाद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किंचन।
निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ॥ ७१ ॥

'वीरवर! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो तुम्हारे लिये असाध्य हो। निवातकवच नामक दानव मेरे शत्रु हैं॥ ७१॥

समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत।
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ॥ ७२ ॥
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति।
ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ॥ ७३ ॥
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम्।
बबन्ध चैव मे मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ॥ ७४ ॥

'वे समुद्रके भीतर दुर्गम स्थानका आश्रय लेकर रहते हैं। उनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती है और उन सभीके रूप, बल और तेज एक समान हैं। कुन्तीनन्दन! तुम उन दानवोंका संहार कर डालो। इतनेसे ही तुम्हारी

१. निर्दोष प्राणीका वध हो जाय, तो उसे पुनः संजीवित करनेकी विद्याको प्रायश्चित्त कहते हैं।

२. शत्रुके अस्त्रसे पराभवको प्राप्त हुए अपने अस्त्रको पुनः शक्तिशाली बनाना प्रतिघात कहलाता है।

गुरु-दक्षिणा पूरी हो जायगी।' ऐसा कहकर इन्द्रने मुझे एक अत्यन्त कान्तिमान् दिव्य रथ प्रदान किया, जिसे मातलि जोतकर लाये थे। उसमें मयूरोंके समान रोमवाले घोड़े जुते हुए थे। रथ आ जानेपर देवराजने यह उत्तम किरीट मेरे मस्तकपर बाँध दिया ॥ ७२–७४ ॥

स्वरूपसदृशं चैव प्रादादङ्गविभूषणम्।
अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ॥ ७५ ॥

फिर उन्होंने मेरे स्वरूपके अनुरूप प्रत्येक अङ्गमें आभूषण पहना दिये। इसके बाद यह अभेद्य उत्तम कवच धारण कराया, जिसका स्पर्श तथा रूप मनोहर है ॥ ७५ ॥

अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत्।
ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ॥ ७६ ॥
येनाजयद् देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा।
ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ॥ ७७ ॥
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशाम्पते।
दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किं करिष्यसि फाल्गुन ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् मेरे गाण्डीव धनुषमें उन्होंने यह अटूट प्रत्यञ्चा जोड़ दी। इस प्रकार युद्धकी सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर उस तेजस्वी रथके द्वारा मैं संग्रामके लिये प्रस्थित हुआ, जिसपर आरूढ़ होकर पूर्वकालमें देवराजने विरोचनकुमार बलिको परास्त किया था। महाराज! तब उस रथकी घर्घराहटसे सजग हो सब देवता मुझे देवराज समझकर मेरे पास आये और मुझे देखकर पूछने लगे—'अर्जुन! तुम क्या करनेकी तैयारीमें हो?' ॥ ७६–७८ ॥

तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्तास्मि संयुगे।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ॥ ७९ ॥
निबोधत महाभागाः शिवं चाशास्त मेऽनघाः।
ततो वाग्भिः प्रशस्ताभिस्त्रिदशाः पृथिवीपते।
तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरंदरम् ॥ ८० ॥

तब मैंने उनसे सब बातें बताकर कहा—'मैं युद्धमें यही करने जा रहा हूँ। आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं निवातकवच नामक दानवोंके वधकी इच्छासे प्रस्थित हुआ हूँ। अतः निष्पाप एवं महाभाग देवताओ! आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मेरा मङ्गल हो।' राजन्! तब वे देवतालोग प्रसन्न हो देवराज इन्द्रकी भाँति श्रेष्ठ एवं मधुर वाणीद्वारा मेरी स्तुति करते हुए बोले—॥ ७९-८० ॥

रथेनानेन मघवा जितवान् शम्बरं युधि।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ॥ ८१ ॥

इस रथके द्वारा इन्द्रने युद्धमें शम्बरासुरपर विजय पायी है। नमुचि, बल, वृत्र, प्रह्लाद और नरकासुरको परास्त किया है ॥ ८१ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदान्यपि।
रथेनानेन दैत्यानां जितवान् मघवा युधि ॥ ८२ ॥

इनके सिवा अन्य बहुत-से दैत्योंको भी इस रथके द्वारा पराजित किया है, जिनकी संख्या सहस्रों, लाखों और अरबोंतक पहुँच गयी है ॥ ८२ ॥

त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान् रणे।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवा वशी ॥ ८३ ॥

'कुन्तीनन्दन! जैसे पूर्वकालमें सबको वशमें करनेवाले इन्द्रने असुरोंपर विजय पायी थी, उसी प्रकार तुम भी इस रथके द्वारा युद्धमें पराक्रम करके निवातकवचोंको परास्त करोगे ॥ ८३ ॥

अयं च शङ्खप्रवरो येन जेतासि दानवान्।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ॥ ८४ ॥

'यह श्रेष्ठ शङ्ख है, जिसे बजानेसे तुम्हें दानवोंपर विजय प्राप्त हो सकती है। महामना इन्द्रने भी इसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ८४ ॥

प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम्।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदामरैः ॥ ८५ ॥
स शङ्खी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥ ८६ ॥

वही यह शङ्ख है, जिसे मैंने अपनी विजयके लिये ग्रहण किया था। देवताओंने उसे दिया था, इसलिये इसका नाम

देवदत्त है। शङ्ख लेकर देवताओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ मैं कवच, बाण तथा धनुषसे सज्जित हो युद्धकी इच्छासे अत्यन्त भयंकर दानवोंके नगरकी ओर चल दिया ॥ ८५-८६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनवाक्ये अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पातालमें प्रवेश और निवातकवचोंके साथ युद्धारम्भ

अर्जुन उवाच

ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः।
अपश्यमुदधिं भीममपां पतिमथाव्ययम् ॥ १ ॥
फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुत्थिताः।
ऊर्मयश्चात्र दृश्यन्ते वल्गन्त इव पर्वताः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! तदनन्तर मार्गमें जहाँ-तहाँ महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए मैंने जलके स्वामी समुद्रके पास पहुँचकर उसका निरीक्षण किया। वह देखनेमें अत्यन्त भयंकर था। उसका पानी कभी घटता-बढ़ता नहीं है। उसमें फेनसे मिली हुई पहाड़ोंके समान ऊँची-ऊँची लहरें उठकर नृत्य करती-सी दिखायी दे रही थीं। वे कभी इधर-उधर फैल जाती थीं और कभी आपसमें टकरा जाती थीं ॥ १-२ ॥

नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्ततः।
नभसीव विमानानि विचरन्त्यो विरेजिरे।
तिमिङ्गिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिङ्गिलाः ॥ ३ ॥
मकराश्चात्र दृश्यन्ते जले मग्ना इवाद्रयः।
शङ्खानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ॥ ४ ॥

वहाँ सब ओर रत्नोंसे भरी हुई हजारों नावें चल रही थीं जो आकाशमें विचरते हुए विमानोंकी-सी शोभा पाती थीं तथा तिमिङ्गिल[1], तिमितिमिङ्गिल[2], कछुए और मगर पानीमें डूबे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर होते थे। सहस्रों शङ्ख सब ओर जलमें निमग्न थे ॥ ३-४ ॥

दृश्यन्ते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः।
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसङ्घाः प्लवन्त्युत ॥ ५ ॥

जैसे रातमें झीने बादलोंके आवरणसे सहस्रों तारे चमकते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार समुद्रके जलमें स्थित हजारों रत्नसमूह तैरते हुए-से प्रतीत हो रहे थे ॥ ५ ॥

वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाभवत्।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वाम्भोनिधिमुत्तमम् ॥ ६ ॥
अपश्यं दानवाकीर्णं तद् दैत्यपुरमन्तिकात्।
तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ॥ ७ ॥
रथं तं तु समाश्लिष्य* प्राद्रवद् रथयोगवित्।
त्रासयन् रथघोषेण तत् पुरं समुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

औरोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ भयानक वायु भी पथ-भ्रान्तकी भाँति भटकने लगती है। वायुका वह चक्कर काटना अद्भुत-सा प्रतीत हो रहा था। इस प्रकार अत्यन्त वेगशाली जलराशि महासागरको देखकर उसके पास ही मैंने दानवोंसे भरा हुआ वह दैत्यनगर भी देखा। रथ-संचालनमें कुशल सारथि मातलि तुरंत वहाँ पहुँचकर पातालमें उतरे तथा रथपर सावधानीसे बैठकर आगे बढ़े। उन्होंने रथकी घर्घराहटसे सबको भयभीत करते हुए उस दैत्यपुरकी ओर धावा किया ॥ ६—८ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाम्बरे।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाभवन् ॥ ९ ॥

आकाशमें होनेवाली मेघ-गर्जनाके समान उस रथका शब्द सुनकर दानवलोग मुझे देवराज इन्द्र समझकर भयसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे ॥ ९ ॥

सर्वे सम्भ्रान्तमनसः शरचापधराः स्थिताः।
तथासिशूलपरशुगदामुसलपाणयः ॥ १० ॥

सभी मन-ही-मन घबरा गये। सभी अपने हाथोंमें धनुष-बाण, तलवार, शूल, फरसा, गदा और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो गये ॥ १० ॥

ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥ ११ ॥

दानवोंके मनमें आतंक छा गया था। इसलिये उन्होंने नगरकी रक्षाका प्रबन्ध करके सारे दरवाजे बंद कर लिये। नगरके बाहर कोई भी दिखायी नहीं देता था ॥ ११ ॥

---

१. एक विशेष प्रकारके मत्स्यका नाम 'तिमि' है, जो उसे निगल जाता है, उस महामत्स्यको 'तिमिङ्गिल' कहते हैं।

२. जो तिमिङ्गिलको भी निगल जाता है, उस महामहामत्स्यका नाम 'तिमितिमिङ्गिल' है।

* नीलकण्ठी टीकामें लिखा है कि पृथ्वीमें उतरकर निम्न-स्थलमें गये हुए रथके चक्केको दृढ़तापूर्वक पकड़कर ऊँचा किया।

ततः शङ्खमुपादाय देवदत्तं महास्वनम्।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमं तं शनैरहम् ॥१२॥

तब मैंने बड़ी भयंकर ध्वनि करनेवाले देवदत्त नामक शङ्खको हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो धीरे-धीरे उसे बजाया ॥

स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत्।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहान्त्यपि ॥१३॥

वह शङ्ख-नाद स्वर्गलोकसे टकराकर प्रतिध्वनि उत्पन्न करने लगा। उसकी आवाज सुनकर बड़े-बड़े प्राणी भी भयभीत हो इधर-उधर छिप गये ॥ १३ ॥

ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ॥१४॥
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥१५॥
शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन् सहस्रशः ॥१६॥

भारत! तदनन्तर निवातकवच नामक सभी दैत्य आभूषणोंसे विभूषित हो भाँति-भाँतिके कवच धारण किये, हाथोंमें विचित्र आयुध लिये, लोहेके बने हुए बड़े-बड़े शूल, गदा, मुसल, पट्टिश, करवाल, रथ-चक्र, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डि (बंदूक) तथा रत्नजटित विचित्र खड्ग आदि लेकर सहस्रोंकी संख्यामें नगरसे बाहर आये ॥ १४—१६ ॥

ततो विचार्य बहुशो रथमार्गेषु तान् हयान्।
प्राचोदयत् समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥१७॥
तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम्।
नान्वपश्यं तदा किंचित् तन्मेऽद्भुतमिवाभवत् ॥१८॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय मातलिने बहुत सोच-विचारकर समतल प्रदेशमें रथ जाने योग्य मार्गोंपर अपने उन घोड़ोंको हाँका। उनके हाँकनेपर उन शीघ्रगामी अश्वोंकी चाल इतनी तेज हो गयी कि मुझे उस समय कुछ भी दिखायी नहीं देता था। यह एक अद्भुत बात थी ॥ १७-१८ ॥

ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यनादयन् ॥१९॥

तदनन्तर उन दानवोंने वहाँ भीषण स्वर और विकराल आकृतिवाले विभिन्न प्रकारके सहस्रों बाजे जोर-जोरसे बजाने आरम्भ किये ॥ १९ ॥

तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः।
आप्लवन्त गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥२०॥

वाद्योंकी उस तुमुल-ध्वनिसे सहसा समुद्रके लाखों बड़े-बड़े पर्वताकार मत्स्य मर गये और उनकी लाशें पानीके ऊपर तैरने लगीं ॥ २० ॥

ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन्।
विमुञ्चन्तः शितान् बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः २१

तत्पश्चात् उन सब दानवोंने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे मुझपर आक्रमण किया ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तेषां च मम भारत।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचान्तकः ॥२२॥

भारत! तब उन दानवोंका और मेरा महाभयंकर तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया, जो निवातकवचोंके लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

ततो देवर्षयश्चैव तथान्ये च महर्षयः।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥२३॥
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः।
अस्तुवन् मुनयो वाग्भिर्यथेन्द्रं तारकामये ॥२४॥

उस समय बहुत-से देवर्षि तथा अन्य महर्षि एवं ब्रह्मर्षि और सिद्धगण उस महायुद्धमें (देखनेके लिये) आये। वे सब-के-सब मेरी विजय चाहते थे। अतः उन्होंने जैसे तारकामय संग्रामके अवसरपर इन्द्रकी स्तुति की थी, उसी प्रकार अनुकूल एवं मधुर वचनोंद्वारा मेरा भी स्तवन किया ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि युद्धारम्भे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें युद्धारम्भविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और निवातकवचोंका युद्ध

अर्जुन उवाच

ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत।
अभ्यद्रवन् मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—भारत! तदनन्तर सारे निवातकवच संगठित हो हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये युद्धभूमिमें वेगपूर्वक मेरे ऊपर टूट पड़े ॥ १ ॥

आच्छाद्य रथपन्थानमुत्क्रोशन्तो महारथाः।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २ ॥

ततोऽपरे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः।
शूलानि च भुशुण्डीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥ ३ ॥

उन महारथी दानवोंने मेरे रथका मार्ग रोककर भीषण गर्जना करते हुए मुझे सब ओरसे घेर लिया और मुझपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। फिर कुछ अन्य महापराक्रमी दानव शूल और पट्टिश आदि हाथोंमें लिये मेरे सामने आये और मुझपर शूल तथा भुशुण्डियोंका प्रहार करने लगे ॥ २-३ ॥

तच्छूलवर्षं सुमहद् गदाशक्तिसमाकुलम्।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥ ४ ॥
अन्ये मामभ्यधावन्त निवातकवचा युधि।
शितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥ ५ ॥

दानवोंद्वारा की गयी वह शूलोंकी बड़ी भारी वर्षा निरन्तर मेरे रथपर होने लगी। उसके साथ ही गदा और शक्तियोंका भी प्रहार हो रहा था। कुछ दूसरे निवातकवच हाथोंमें तीखे अस्त्र-शस्त्र लिये उस युद्धके मैदानमें मेरी ओर दौड़े। वे प्रहार करनेमें कुशल थे। उनकी आकृति बड़ी भयंकर थी और देखनेमें वे कालरूप जान पड़ते थे ॥ ४-५ ॥

तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः।
गाण्डीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ॥ ६ ॥

तब मैंने उनमेंसे एक-एकको युद्धमें गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सीधे जानेवाले विविध प्रकारके दस-दस वेगवान् बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ६ ॥

ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते सम्प्रचोदिताः ॥ ७ ॥

मेरे छोड़े हुए बाण पत्थरपर तेज किये हुए थे। उनकी मार खाकर सभी दानव युद्धभूमिसे भाग चले। तब मातलि उस रथके घोड़ोंको तुरंत ही तीव्र वेगसे हाँका ॥ ७ ॥

मार्गान् बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ॥ ८ ॥

सारथिसे प्रेरित होकर वे अश्व नाना प्रकारकी चालें दिखाते हुए वायुके समान वेगसे चलने लगे। मातलिने उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर रक्खा था। उन सबने वहाँ दितिके पुत्रोंको रौंद डाला ॥ ८ ॥

शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन् युक्ता महारथे।
शान्ता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥ ९ ॥

अर्जुनके उस विशाल रथमें दस हजार घोड़े जुते हुए थे, तो भी मातलिने उन्हें इस प्रकार वशमें कर रखा था कि वे अल्पसंख्यक अश्वोंकी भाँति शान्त-भावसे विचरते थे ॥

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥ १० ॥

उन घोड़ोंके पैरोंकी मार पड़नेसे, रथके पहियेकी घर्घराहट होनेसे तथा मेरे बाणोंकी चोट खानेसे सैकड़ों दैत्य मर गये ॥ १० ॥

गतासवस्तथैवान्ये प्रगृहीतशरासनाः।
हतसारथयस्तत्र व्यकृष्यन्त तुरंगमैः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वहाँ दूसरे बहुत-से असुर हाथमें धनुष-बाण लिये प्राणरहित हो गये थे और उनके सारथि भी मारे गये थे, उस दशामें सारथिशून्य घोड़े उनके निर्जीव शरीरको खींचे लिये जाते थे ॥ ११ ॥

ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः।
अभ्यघ्नन् विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥ १२ ॥

तब वे समस्त दानव सारी दिशाओं और विदिशाओंको रोककर भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मुझपर घातक प्रहार करने लगे। इससे मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १२ ॥

ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम्।
अश्वांस्तथा वेगवतो यदयत्नादधारयत् ॥ १३ ॥

उस समय मैंने मातलिकी अत्यन्त अद्भुत शक्ति देखी। उन्होंने वैसे वेगशाली अश्वोंको बिना किसी प्रयासके ही काबूमें कर लिया ॥ १३ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान् रणे।
चिच्छेद सायुधान् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः॥ १४ ॥
एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन्।
प्रीतिमानभवद् वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥ १५ ॥

राजन्! तब मैंने उस रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रधारी सैकड़ों तथा सहस्रों असुरोंको विचित्र एवं शीघ्रगामी बाणोंद्वारा मार गिराया। शत्रुदमन नरेश! इस प्रकार पूर्ण प्रयत्नपूर्वक युद्धमें विचरते हुए मेरे ऊपर इन्द्रसारथि वीरवर मातलि बड़े प्रसन्न हुए ॥

वध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च।
अगमन् प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तन्त तथा परे ॥ १६ ॥

मेरे उन घोड़ों तथा उस दिव्य रथसे कुचल जानेके कारण भी कितने ही दानव मारे गये और बहुत-से युद्ध छोड़कर भाग गये।

स्पर्धमाना इवास्माभिर्निवातकवचा रणे।
शरवर्षैः शरार्तं मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ॥ १७ ॥
ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमन्त्रितैः।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

निवातकवचोंने संग्राममें हमलोगोंसे होड़-सी लगा रखी थी। मैं बाणोंके आघातसे पीड़ित था, तो भी उन्होंने बड़ी भारी बाणवर्षा करके मेरी प्रगतिको रोकनेकी चेष्टा की। तब मैंने अद्भुत और शीघ्रगामी बाणोंको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित करके चलाया और उनके द्वारा शीघ्र ही सैकड़ों तथा हजारों दानवोंका संहार करने लगा ॥ १७-१८ ॥

ततः सम्पीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महारथाः।
अपीडयन् मां सहिताः शरशूलासिवृष्टिभिः॥ १९॥

तदनन्तर मेरे बाणोंसे पीड़ित होकर वे महारथी दैत्य क्रोधसे आग-बबूला हो उठे और एक साथ संगठित हो खड्ग, शूल तथा बाणोंकी वर्षाद्वारा मुझे घायल करने लगे॥ १९॥

ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतेजसम्।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत॥ २०॥

भारत! यह देख मैंने देवराज इन्द्रके परम प्रिय माधव नामक प्रचण्ड तेजस्वी अस्त्रका आश्रय लिया॥ २०॥

ततः खड्गांस्त्रिशूलांश्च तोमरांश्च सहस्रशः।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिदम्॥ २१॥

तब उस अस्त्रके प्रभावसे मैंने दैत्योंके चलाये हुए सहस्रों खड्ग, त्रिशूल और तोमरोंके सौ-सौ टुकड़े कर डाले॥ २१॥

छित्त्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद् दशभिर्दशभिः शरैः॥ २२॥

तत्पश्चात् उन दानवोंके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंका उच्छेद करके मैंने रोषवश उन सबको भी दस-दस बाणोंसे घायल करके बदला चुकाया॥ २२॥

गाण्डीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपङ्क्तयः।
निष्पतन्ति महाबाणास्तन्मातलिरपूजयत्॥ २३॥

उस समय मेरे गाण्डीव धनुषसे बड़े-बड़े बाण उस युद्ध-भूमिमें इस प्रकार छूटते थे, मानो वृक्षसे झुंड-के-झुंड भौंरे उड़ रहे हों। मातलिने मेरे इस कार्यकी बड़ी प्रशंसा की॥

तेषामपि तु बाणास्ते तन्मातलिरपूजयत्।
अवाकिरन् मां बलवत् तानहं व्यधमं शरैः॥ २४॥

तदनन्तर उन दानवोंके भी बाण मेरे ऊपर जोर-जोरसे गिरने लगे। मातलिने उनकी उस बाण-वर्षाकी भी सराहना की। फिर मैंने अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके उन सब बाणोंको छिन्न-भिन्न कर डाला॥ २४॥

वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात् पर्यवारयन्॥ २५॥

इस प्रकार मार खाते और मरते रहनेपर भी निवातकवचोंने पुनः भारी बाण-वर्षाके द्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया॥ २५॥

शरवेगान्निहत्याहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः॥ २६॥

तब मैंने अस्त्र-विनाशक अस्त्रोंद्वारा उनकी बाण-वर्षाके वेगको शान्त करके अत्यन्त शीघ्रगामी एवं प्रज्वलित बाणोंद्वारा सहस्रों दैत्योंको घायल कर दिया॥ २६॥

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम्।
प्रावृषीवाभिवृष्टानि शृङ्गाण्यथ धराभृताम्॥ २७॥

उनके कटे हुए अङ्ग उसी प्रकार रक्तकी धारा बहाते थे, जैसे वर्षा-ऋतुमें वृष्टिके जलसे भीगे हुए पर्वतोंके शिखर (गेरू आदि धातुओंसे मिश्रित) जलकी धारा बहाते हैं॥ २७॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः॥ २८॥

मेरे बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था। वे बड़े वेगसे छूटते और सीधे जाकर शत्रुको अपना निशाना बनाते थे। उनकी चोट खाकर वे समस्त दानव भयसे व्याकुल हो उठे॥ २८॥

शतधा भिन्नदेहास्ते क्षीणप्रहरणौजसः।
ततो निवातकवचा मामयुध्यन्त मायया॥ २९॥

उन दैत्योंके शरीरके सौ-सौ टुकड़े हो गये थे। उनके अस्त्र-शस्त्र कट गये और उत्साह नष्ट हो गया था। ऐसी अवस्थामें निवातकवचोंने मेरे साथ माया-युद्ध आरम्भ कर दिया॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७०॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

दानवोंके मायामय युद्धका वर्णन

अर्जुन उवाच

ततोऽश्मवर्षं सुमहत् प्रादुरासीत् समन्ततः।
नगमात्रैः शिलाखण्डैस्तन्मां दृढमपीडयत्॥ १॥

अर्जुन बोले—महाराज! तदनन्तर चारों ओरसे पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा आरम्भ हो गयी। वृक्षोंके बराबर ऊँचे शिलाखण्ड रणभूमिमें गिरने लगे, इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई॥ १॥

तदहं वज्रसंकाशैर्महेन्द्रास्त्रप्रचोदितैः।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे॥ २॥

तब मैंने महेन्द्रास्त्रसे अभिमन्त्रित वज्रतुल्य वेगवान्

बाणोंद्वारा उस महासमरमें गिरनेवाले समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ॥ २ ॥

चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राश्मचूर्णान्यपतन् पावकप्रकरा इव ॥ ३ ॥

पत्थरोंकी वर्षाके चूर्ण होते ही सब ओर आग प्रकट हो गयी । फिर तो वहाँ आगकी चिनगारियोंके समूहकी भाँति पत्थरका चूर्ण पड़ने लगा ॥ ३ ॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममान्तिके ॥ ४ ॥

तदनन्तर मेरे बाणोंसे वह पत्थरोंकी वर्षा शान्त होनेपर महत्तर जल-वृष्टि आरम्भ हो गयी । मेरे पास ही सर्पों[1]के समान मोटी जलधाराएँ गिरने लगीं ॥ ४ ॥

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन् सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ ५ ॥

आकाशसे प्रचण्ड शक्तिशालिनी सहस्रों धाराएँ बरसने लगीं, जिन्होंने न केवल आकाशको ही, अपितु सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको भी सब ओरसे ढक लिया ॥ ५ ॥

धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

धाराओंकी वर्षा, हवाके झकोरों और दैत्योंकी गर्जनासे कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

धारा दिवि च सम्बद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयन्त मां तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥ ७ ॥

स्वर्गसे लेकर पृथ्वीतक एक सूत्रमें आबद्ध-सी होकर पृथ्वीपर सब ओर जलकी धाराएँ लगातार गिर रही थीं, जिन्होंने वहाँ मुझे मोहमें डाल दिया था ॥ ७ ॥

तत्रोपदिष्टमिन्द्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत् तेन तज्जलम् ॥ ८ ॥

तब मैंने वहाँ देवराज इन्द्रके द्वारा प्राप्त हुए दिव्य विशोषणास्त्रका प्रयोग किया, जो अत्यन्त तेजस्वी और भयंकर था । उससे वर्षाका वह सारा जल सूख गया ॥ ८ ॥

हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! जब मैंने पत्थरोंकी वर्षा शान्त कर दी और पानीकी वर्षाको भी सोख लिया, तब दानवलोग मुझपर मायामय अग्नि और वायुका प्रयोग करने लगे ॥ ९ ॥

ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥ १० ॥

फिर तो मैंने वारुणास्त्रसे वह सारी आग बुझा दी और महान् शैलास्त्रका प्रयोग करके मायामय वायुका वेग कुण्ठित कर दिया ॥ १० ॥

तस्यां प्रतिहतायां ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन् विविधां मायां यौगपद्येन भारत ॥ ११ ॥

भारत ! उस मायाका निवारण हो जानेपर वे रणोन्मत्त दानव एक ही समय अनेक प्रकारकी मायाका प्रयोग करने लगे ॥ ११ ॥

ततो वर्षं प्रादुरभूत् सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाश्मनाम् ॥ १२ ॥

फिर तो भयानक अस्त्रोंकी तथा अग्नि, वायु और पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी ॥ १२ ॥

सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ १३ ॥

उस मायामयी वर्षाने युद्धमें मुझे बड़ी पीड़ा दी । तदनन्तर चारों ओर महाभयानक अन्धकार छा गया ॥ १३ ॥

तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
हरयो विमुखाश्चासन् प्रास्खलच्चापि मातलिः ॥ १४ ॥

घोर एवं दुःसह तिमिरराशिसे सम्पूर्ण लोकोंके आच्छादित हो जानेपर मेरे रथके घोड़े युद्धसे विमुख हो गये और मातलि भी लडखड़ाने लगे ॥ १४ ॥

हस्ताद्धि रश्मयश्चास्य प्रतोदः प्रापतद् भुवि ।
असकृच्चाह मां भीतः क्वासीति भरतर्षभ ॥ १५ ॥

उनके हाथसे घोड़ोंके लगाम और चाबुक पृथ्वीपर गिर पड़े और वे भयभीत होकर बार-बार मुझसे पूछने लगे— 'भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन ! तुम कहाँ हो ?' ॥ १५ ॥

मां च भीराविशत् तीव्रा तस्मिन् विगतचेतसि ।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्तमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

मातलिके बेसुध होनेपर मेरे मनमें भी अत्यन्त भय समा गया । तब सुध-बुध खोये हुए मातलिने मुझ भयभीत योद्धासे इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत् ।
अमृतार्थे पुरा पार्थ स च दृष्टो मयानघ ॥ १७ ॥

'निष्पाप कुन्तीकुमार ! प्राचीन कालमें अमृतकी प्राप्तिके लिये देवताओं और दैत्योंमें अत्यन्त घोर संग्राम हुआ था, जिसे मैंने अपनी आँखों देखा है ॥ १७ ॥

शम्बरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत् ।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥ १८ ॥

'शम्बरासुरके वधके समय भी अत्यन्त भयानक युद्ध

[1] कोषोंमें 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'सर्प' भी मिलता है।

हुआ था। उसमें भी मैंने देवराज इन्द्रके सारथिका कार्य सँभाला था ॥ १८ ॥

तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ॥ १९ ॥

'इसी प्रकार वृत्रासुरके वधके समय भी मैंने ही घोड़ोंकी बागडोर हाथमें ली थी । विरोचनकुमार बलिका अत्यन्त भयंकर महासंग्राम भी मेरा देखा हुआ है ॥ १९ ॥

एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः।
न चापि विगतज्ञानोऽभूतपूर्वोऽस्मि पाण्डव ॥ २० ॥

'ये बड़े-बड़े भयानक युद्ध मैंने देखे हैं, उनमें भाग लिया है, परंतु पाण्डुनन्दन ! आजसे पहले कभी भी मैं इस प्रकार अचेत नहीं हुआ था ॥ २० ॥

पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम्।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है, विधाताने आज समस्त प्रजाका संहार निश्चित किया है, अवश्य ऐसी ही बात है। जगत्के संहारके अतिरिक्त अन्य समयमें ऐसे भयानक युद्धका होना सम्भव नहीं है' ॥ २१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
मोहयिष्यन् दानवानामहं मायाबलं महत् ॥ २२ ॥
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम्।
अस्त्राणां च प्रभावं वै धनुषो गाण्डिवस्य च ॥ २३ ॥
अद्यास्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम्।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ॥ २४ ॥

मातलिका यह वचन सुनकर मैंने स्वयं ही अपने-आपको सम्हाला और दानवोंके उस महान् मायाबलका निवारण करते हुए भयभीत मातलिसे कहा—'सूत ! आप डरें मत । स्थिरतापूर्वक रथपर बैठे रहें और देखें, मेरी इन भुजाओंमें कितना बल है ? मेरे गाण्डीव धनुष तथा अस्त्रोंका कैसा प्रभाव है ? आज मैं अपने अस्त्रोंकी मायासे इन दानवोंकी इस भयंकर माया तथा घोर अन्धकारका विनाश किये देता हूँ' ॥ २२–२४ ॥

एवमुक्त्वाहमसृजमस्त्रमायां नराधिप।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! ऐसा कहकर मैंने देवताओंके हितके लिये अस्त्रसम्बन्धिनी मायाकी सृष्टि की, जो समस्त प्राणियोंको मोहमें डालनेवाली थी ॥ २५ ॥

पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ॥ २६ ॥

उससे असुरोंकी वे सारी मायाएँ नष्ट हो गयीं । तब उन अमित तेजस्वी दानवराजाओंने पुनः नाना प्रकारकी मायाएँ प्रकट कीं ॥ २६ ॥

पुनः प्रकाशमभवत् तमसा ग्रस्यते पुनः।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥

इससे कभी तो प्रकाश छा जाता था और कभी सब कुछ अन्धकारमें विलीन हो जाता था । कभी सम्पूर्ण जगत् अदृश्य हो जाता और कभी जलमें डूब जाता था ॥ २७ ॥

सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः।
व्यचरत् स्यन्दनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २८ ॥

तदनन्तर प्रकाश होनेपर मातलिने घोड़ोंको काबूमें करके अपने श्रेष्ठ रथके द्वारा उस रोमाञ्चकारी संग्राममें विचरना प्रारम्भ किया ॥ २८ ॥

ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥ २९ ॥

तब भयानक निवातकवच चारों ओरसे मेरे ऊपर टूट पड़े । उस समय मैंने अवसर देख-देखकर उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ २९ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचान्तके।
नापश्यं सहसा सर्वान् दानवान् माययाऽऽवृतान् ॥ ३० ॥

वह युद्ध निवातकवचोंके लिये विनाशकारी था । अभी युद्ध हो ही रहा था कि सहसा सारे दानव अन्तर्धानी मायासे छिप गये । अतः मैं किसीको भी देख न सका ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें मायायुद्धविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

निवातकवचोंका संहार

अर्जुन उवाच

अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयन्ति स्म मायया।
अदृश्येनास्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—राजन् ! इस प्रकार अदृश्य रहकर ही वे दैत्य मायाद्वारा युद्ध करने लगे तथा मैं भी अपने अस्त्रोंकी अदृश्य शक्तिके द्वारा ही उनका सामना करने लगा ॥ १ ॥

गाण्डीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः ।
अच्छिन्दन्नुत्तमाङ्गानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ॥ २ ॥

मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाण विधिवत् प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंसे प्रेरित हो जहाँ-जहाँ वे दैत्य थे, वहीं जाकर उनके सिर काटने लगे ॥ २ ॥

ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन् पुरमात्मनः ॥ ३ ॥

जब मैं इस प्रकार युद्धक्षेत्रमें उनका संहार करने लगा, तब वे निवातकवच दानव अपनी मायाको समेटकर सहसा नगरमें घुस गये ॥ ३ ॥

व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवांस्तत्र हतान् शतसहस्रशः ॥ ४ ॥

दैत्योंके भाग जानेसे जब वहाँ सब कुछ स्पष्ट दिखायी देने लगा, तब मैंने देखा, लाखों दानव वहाँ मरे पड़े थे ॥ ४ ॥

विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यन्ते गात्राणि कवचानि च ॥ ५ ॥
हयानां नान्तरं ह्यासीत् पदाद् विचलितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरन्तरिक्षगमास्ततः ॥ ६ ॥

उनके अस्त्र-शस्त्र और आभूषण भी पिसकर चूर्ण हो गये थे। दानवोंके शरीरों और कवचोंके सौ-सौ टुकड़े दिखायी देते थे। वहाँ दैत्योंकी इतनी लाशें पड़ी थीं कि घोड़ोंके लिये एकके बाद दूसरा पैर रखनेके लिये कोई स्थान नहीं रह गया था। अतः वे अन्तरिक्षचारी अश्व वहाँसे सहसा उछलकर आकाशमें खड़े हो गये ॥ ५-६ ॥

ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यत्यवर्तन्त विसृजन्तः शिलोच्चयान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर निवातकवचोंने अदृश्यरूपसे ही आक्रमण किया और केवल आकाशको आच्छादित करके पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगताश्चान्ये हयानां चरणानथ ।
व्यगृह्णन् दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! कुछ भयंकर दानवोंने, जो पृथ्वीके भीतर घुसे हुए थे, मेरे घोड़ोंके पैर तथा रथके पहिये पकड़ लिये ॥ ८ ॥

विनिगृह्य हरीनश्वान् रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यन्त सरथं धरणीधरैः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते समय मेरे हरे रङ्गके घोड़ों तथा रथको पकड़कर उन दानवोंने रथसहित मेरे ऊपर सब ओरसे शिला-खण्डोंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ ९ ॥

पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथापरैः ।
स देशो यत्र वर्ताम गुहेव समपद्यत ॥ १० ॥

नीचे पर्वतोंके ढेर लग रहे थे और ऊपरसे नयी-नयी चट्टानें पड़ रही थीं। इससे वह प्रदेश जहाँ हमलोग मौजूद थे, एक गुफाके समान बन गया ॥ १० ॥

पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ॥ ११ ॥

एक ओर तो मैं शिला-खण्डोंसे आच्छादित हो रहा था, दूसरी ओर मेरे घोड़े पकड़ लिये जानेसे रथकी गति कुण्ठित हो गयी थी। इस विवशताकी दशामें मुझे बड़ी पीड़ा होने लगी, जिसे मातलिने जान लिया ॥ ११ ॥

लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनार्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥ १२ ॥

इस प्रकार मुझे भयभीत हुआ देख मातलिने कहा—'अर्जुन ! अर्जुन ! तुम डरो मत। इस समय वज्रास्त्रका प्रयोग करो' ॥ १२ ॥

ततोऽहं तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ॥ १३ ॥

महाराज ! मातलिका वह वचन सुनकर मैंने देवराजके परम प्रिय तथा भयंकर अस्त्र वज्रका प्रयोग किया ॥ १३ ॥

अचलं स्थानमासाद्य गाण्डीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुञ्चं वज्रसंस्पर्शानायसान् निशितान् शरान् ॥ १४ ॥

अविचल स्थानका आश्रय ले गाण्डीव धनुषको वज्रास्त्रसे अभिमन्त्रित करके मैंने लोहेके तीखे बाण छोड़े, जिनका स्पर्श वज्रके समान कठोर था ॥ १४ ॥

ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वज्रास्त्रसे प्रेरित हुए वे वज्रस्वरूप बाण पूर्वोक्त सारी मायाओं तथा निवातकवच दानवोंके भीतर घुस गये ॥ १५ ॥

ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन् पृथिवीतले ॥ १६ ॥

फिर तो वज्रके वेगसे मारे गये वे पर्वताकार दानव एक दूसरेका आलिङ्गन करते हुए धराशायी हो गये ॥ १६ ॥

अन्तर्भूमौ च येऽगृह्णन् दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान् बाणाः प्राहिण्वन् यमसादनम् ॥ १७ ॥

पृथ्वीके भीतर घुसकर जिन दानवोंने मेरे रथके घोड़ोंको पकड़ रक्खा था, उनके शरीरमें भी घुसकर मेरे बाणोंने उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ १७ ॥

हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ १८ ॥

वहाँ मरकर गिरे हुए पर्वताकार निवातकवच इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। वहाँका सारा प्रदेश उनकी लाशोंसे पट गया था ॥ १८ ॥

न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः।
मम चादृश्यत तदा तदद्भुतमिवाभवत्॥ १९॥

उस समयके युद्धमें न तो घोड़ोंको कोई हानि पहुँची, न रथका ही कोई सामान टूटा, न मातलिको ही चोट लगी और न मेरे ही शरीरमें कोई आघात दिखायी दिया, यह एक अद्भुत-सी बात थी॥ १९॥

ततो मां प्रहसन् राजन् मातलिः प्रत्यभाषत।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्ष्यते॥ २०॥

तब मातलिने हँसते हुए मुझसे कहा—'अर्जुन! तुममें जो पराक्रम दिखायी देता है, वह देवताओंमें भी नहीं है'॥

हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः।
प्राक्रोशन् नगरे तस्मिन् यथा शरदि सारसाः॥ २१॥

उन असुरसमूहोंके मारे जानेपर उनकी सारी स्त्रियाँ उस नगरमें जोर-जोरसे करुण-क्रन्दन करने लगीं, मानो शरत्कालमें सारस पक्षी बोल रहे हों॥ २१॥

ततो मातलिना सार्धमहं तत् पुरमभ्ययाम्।
त्रासयन् रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः॥ २२॥

तब मैं मातलिके साथ रथकी घर्घराहटसे निवातकवचोंकी स्त्रियोंको भयभीत करता हुआ उस दैत्य-नगरमें गया॥२२॥

तान् दृष्ट्वा दशसाहस्रान् मयूरसदृशान् हयान्।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन् गणशः स्त्रियः॥ २३॥

मोरके समान सुन्दर उन दस हजार घोड़ोंको तथा सूर्यके समान तेजस्वी उस दिव्य रथको देखते ही झुंड-की-झुंड दानव-स्त्रियाँ इधर-उधर भाग चलीं॥ २३॥

ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत् तदा॥ २४॥

उन डरी हुई निशाचरियोंके आभूषणोंके द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द पर्वतोंपर पड़ती हुई शिलाओंके समान जान पड़ता था॥

वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन्।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च॥ २५॥

तत्पश्चात् वे भयभीत हुई दैत्यनारियाँ अपने-अपने घरोंमें घुस गयीं। उनके महल सोनेके बने हुए थे और अनेक प्रकारके रत्नोंसे उनकी विचित्र शोभा होती थी॥ २५॥

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम्।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः॥ २६॥

वह उत्तम एवं अद्भुत नगर देवपुरीसे भी श्रेष्ठ दिखायी देता था। तब उसे देखकर मैंने मातलिसे पूछा—॥ २६॥

इदमेवंविधं कस्माद् देवा नावासयन्त्युत।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये॥ २७॥

'सारथे! देवतालोग ऐसा नगर क्यों नहीं बसाते हैं? यह नगर तो मुझे इन्द्रपुरीसे भी बढ़कर दिखायी देता है"॥ २७॥

मातलिरुवाच

आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम्।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः॥ २८॥

मातलि बोले—पार्थ! पूर्वकालमें यह नगर हमारे देवराजके ही अधिकारमें था। फिर निवातकवचोंने आकर देवताओंको यहाँसे निकाल दिया॥ २८॥

तपस्तप्त्वा महत् तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम्।
इदं वृतं निवासाय देवेभ्यश्चाभयं युधि॥ २९॥

उन्होंने अत्यन्त तीव्र तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया और उनसे अपने रहनेके लिये यही नगर माँग लिया। साथ ही यह भी माँगा कि 'हमें युद्धमें देवताओं-से भय न हो'॥ २९॥

ततः शक्रेण भगवान् स्वयंभूरिति चोदितः।
विधत्तां भगवानन्तमात्मनो हितकाम्यया॥ ३०॥

तब इन्द्रने भगवान् ब्रह्माजीसे इस प्रकार निवेदन किया—'प्रभो! अपने (और हमारे) हितके लिये आप ही इन दानवोंका अन्त कीजिये'॥ ३०॥

तत उक्तो भगवता दिष्टमत्रेति भारत।
भवितान्तस्त्वमप्येषां देहेनान्येन शत्रुहन्॥ ३१॥

भरत-नन्दन! उनके ऐसा कहनेपर भगवान् ब्रह्माने कहा—'शत्रुदमन देवराज! इसमें दैवका यही विधान है कि तुम्हीं दूसरा शरीर धारण करके इन दानवोंका अन्त कर सकोगे'॥ ३१॥

तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव।
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया॥ ३२॥

(अर्जुन! तुम्हीं इन्द्रके दूसरे स्वरूप हो।) इन दैत्योंके वधके लिये ही इन्द्रने तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान किये हैं। आज जो ये दानव तुम्हारे हाथों मारे गये हैं, इन्हें देवता नहीं मार सकते थे॥ ३२॥

कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत।
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत् त्वया च कृतं तथा॥ ३३॥

भारत! समयके फेरसे ही तुम इनका विनाश करनेके लिये यहाँ आ पहुँचे हो और तुमने जैसा दैवका विधान था, उसके अनुसार इनका संहार कर डाला है॥ ३३॥

दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम्।
ग्राहितस्त्वं महेन्द्रेण पुरुषेन्द्र तदुत्तमम्॥ ३४॥

पुरुषोत्तम! देवराज इन्द्रने इन दानवोंके विनाशके उद्देश्य-से ही तुम्हें परम उत्तम अस्त्र-बलकी प्राप्ति करायी है॥३४॥

अर्जुन उवाच

ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान्।
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ॥ ३५ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार उन दानवोंका संहार करके नगरमें शान्ति स्थापित करनेके पश्चात् मैं मातलिके साथ पुनः उस देवलोकको लौट आया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचयुद्धे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें निवातकवचयुद्धविषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा हिरण्यपुरवासी पौलोम तथा कालकेयोंका वध और इन्द्रद्वारा अर्जुनका अभिनन्दन

अर्जुन उवाच

निवर्तमानेन मया महद् दृष्टं ततोऽपरम्।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम्॥ १ ॥

अर्जुन बोले—राजन् ! तत्पश्चात् लौटते समय मार्गमें मैंने एक दूसरा दिव्य एवं विशाल नगर देखा, जो अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। वह अपने निवासियोंकी इच्छाके अनुसार सर्वत्र आ-जा सकता था ॥ १ ॥

रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्त्रिभिः।
पौलोमैः कालकञ्जैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥

विचित्र रत्नमय वृक्ष और मधुर स्वरमें बोलनेवाले पक्षी उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे। पौलोम और कालकञ्ज नामक दानव सदा प्रसन्नतापूर्वक वहाँ निवास करते थे ॥२॥

गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम्।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

उस नगरमें ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंसहित सुन्दर अट्टालिकाएँ सुशोभित थीं। उसमें चारों दिशाओंमें एक-एक करके चार फाटक लगे थे। शत्रुओंके लिये उस नगरमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था। सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित वह दिव्य नगर अद्भुत दिखायी देता था ॥ ३ ॥

द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम्।
तथा पतत्त्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ॥ ४ ॥

फल और फूलोंसे भरे हुए सर्वरत्नमय वृक्ष उस नगरको सब ओरसे घेरे हुए थे तथा वह नगर दिव्य एवं अत्यन्त मनोहर पक्षियोंसे युक्त था ॥ ४ ॥

असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥ ५ ॥

सदा प्रसन्न रहनेवाले बहुत-से असुर गलेमें सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें शूल, ऋष्टि, मुसल, धनुष तथा मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र लिये सब ओरसे घेरकर उस नगरकी रक्षा करते थे ॥ ५ ॥

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां पुरमद्भुतदर्शनम्।
अपृच्छं मातलिं राजन् किमिदं वर्ततेऽद्भुतम् ॥ ६ ॥

राजन् ! दैत्योंके उस अद्भुत दिखायी देनेवाले नगरको देखकर मैंने मातलिसे पूछा—'सारथे ! यह कौन-सा अद्भुत नगर है ?' ॥ ६ ॥

मातलिरुवाच

पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी।
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ॥ ७ ॥
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयम्भूरददद् वरम्।
अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ॥ ८ ॥

मातलिने कहा—पार्थ ! दैत्यकुलकी कन्या पुलोमा तथा महान् असुरवंशकी कन्या कालका—उन दोनोंने एक हजार दिव्य वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। तदनन्तर तपस्या पूर्ण होनेपर भगवान् ब्रह्माजीने उन दोनोंको वर दिया। उन्होंने यही वर माँगा कि 'हमारे पुत्रोंका दुःख दूर हो जाय' ॥ ७-८ ॥

अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः।
पुरं सुरमणीयं च खचरं सुमहाप्रभम् ॥ ९ ॥
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि।
महर्षियक्षगन्धर्वपन्नगासुरराक्षसैः ॥ १० ॥
सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम्।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥ ११ ॥
तदेतत् खपुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम्।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकञ्जैश्च दानवैः ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! उन दोनोंने यह भी प्रार्थना की कि 'हमारे पुत्र देवता, राक्षस तथा नागोंके लिये भी अवध्य हों। इनके रहनेके लिये एक सुन्दर नगर होना चाहिये, जो अपने महान् प्रभा-पुञ्जसे जगमगा रहा हो। वह नगर विमानकी

भाँति आकाशमें विचरनेवाला होना चाहिये, उसमें सब प्रकारके रत्नोंका संचय रहना चाहिये, देवता, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, असुर तथा राक्षस कोई भी उसका विध्वंस न कर सके। वह नगर समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न, शोकशून्य तथा रोग आदिसे रहित होना चाहिये।' भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने कालकेयोंके लिये वैसे ही नगरका निर्माण किया था। यह वही आकाशचारी दिव्य नगर है, जो सर्वत्र विचरता है। इसमें देवताओंका प्रवेश नहीं है। वीरवर! इसमें पौलोम और कालकञ्ज नामक दानव ही निवास करते हैं॥ ९–१२॥

हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः॥ १३॥

यह विशाल नगर हिरण्यपुरके नामसे विख्यात है। कालकेय तथा पौलोम नामक महान् असुर इसकी रक्षा करते हैं॥ १३॥

त एते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः।
निवसन्त्यत्र राजेन्द्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः॥ १४॥

राजन्! ये वे ही दानव हैं, जो सम्पूर्ण देवताओंसे अवध्य रहकर उद्वेग तथा उत्कण्ठासे रहित हो यहाँ प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं॥ १४॥

मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणो पुरा।
एतानपि रणे पार्थ कालकञ्जान् दुरासदान्।
वज्रास्त्रेण नयस्वाशु विनाशं सुमहाबलान्॥ १५॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मनुष्यके हाथसे इनकी मृत्यु निश्चित की थी। कुन्तीकुमार! ये कालकञ्ज और पौलोम अत्यन्त बलवान् तथा दुर्धर्ष हैं। तुम युद्धमें वज्रास्त्रके द्वारा इनका भी शीघ्र ही संहार कर डालो॥ १५॥

अर्जुन उवाच

सुरासुरैरवध्यं तदहं ज्ञात्वा विशाम्पते।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत् पुरमञ्जसा॥ १६॥

अर्जुन बोले—राजन्! उस हिरण्यपुरको देवताओं और असुरोंके लिये अवध्य जानकर मैंने मातलिसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'आप यथाशीघ्र इस नगरमें अपना रथ ले चलिये॥ १६॥

त्रिदशेशद्विषो यावत् क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम्।
न कथञ्चिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः॥ १७॥

'जिससे देवराजके द्रोहियोंको मैं अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट कर डालूँ? जो देवताओंसे द्वेष रखते हैं, उन पापियोंको मैं किसी प्रकार मारे बिना नहीं छोड़ सकता'॥ १७॥

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमन्तिकात्।
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः॥ १८॥

मेरे ऐसा कहनेपर मातलिने घोड़ोंसे युक्त उस दिव्य रथके द्वारा मुझे शीघ्र ही हिरण्यपुरके निकट पहुँचा दिया॥

ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणाम्बराः।
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः॥ १९॥

मुझे देखते ही विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वे दैत्य कवच पहनकर अपने रथोंपर जा बैठे और बड़े वेगसे मेरे ऊपर टूट पड़े॥ १९॥

ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः।
प्रत्यघ्नन् दानवेन्द्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः॥ २०॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए उन प्रचण्ड पराक्रमी दानवेन्द्रोंने नालीक, नाराच, भल्ल, शक्ति, ऋष्टि तथा तोमर आदि अस्त्रोंद्वारा मुझे मारना आरम्भ किया॥ २०॥

तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम्।
शस्त्रवर्षं महद् राजन् विद्याबलमुपाश्रितः॥ २१॥
व्यामोहयं च तान् सर्वान् रथमार्गैश्चरन् रणे।
तेऽन्योन्यमभिसम्मूढाः पातयन्ति स्म दानवान्॥ २२॥

राजन्! उस समय मैंने विद्या-बलका आश्रय लेकर महती बाण-वर्षाके द्वारा उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी बौछारको रोका और युद्ध-भूमिमें रथके विभिन्न पैंतरें बदलकर विचरते हुए उन सबको मोहमें डाल दिया। वे ऐसे किंकर्तव्य-विमूढ हो रहे थे कि आपसमें ही लड़कर एक-दूसरे दानवोंको धराशायी करने लगे॥ २१ २२॥

तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम्।
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्न्यहनं शतसङ्घशः॥ २३॥

इस प्रकार मूढ़चित्त हो आपसमें ही एक-दूसरेपर धावा करनेवाले उन दानवोंके सौ-सौ मस्तकोंको मैं अपने प्रज्वलित बाणोंद्वारा काट-काटकर गिराने लगा॥ २३॥

ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत् पुनः।
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम्॥ २४॥

वे दैत्य जब इस प्रकार मारे जाने लगे, तब पुनः अपने उस नगरमें ही घुस गये और दानवी मायाका सहारा ले नगर-सहित आकाशमें ऊँचे उड़ गये॥ २४॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनन्दन।
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम्॥ २५॥

कुरुनन्दन! तब मैंने बाणोंकी भारी बौछार करके दैत्योंका मार्ग रोक लिया और उनकी गति कुण्ठित कर दी॥

तत् पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम्।
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम्॥ २६॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला दैत्योंका वह आकाशचारी दिव्य नगर उनकी इच्छाके अनुसार चलने-

वाला था और दैत्यलोग वरदानके प्रभावसे उसे सुखपूर्वक आकाशमें धारण करते थे ॥ २६ ॥

अन्तर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते।
पुनस्तिर्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥

वह दिव्य पुर कभी पृथ्वीपर अथवा पातालमें चला जाता, कभी ऊपर उड़ जाता, कभी तिरछी दिशाओंमें चलता और कभी शीघ्र ही जलमें डूब जाता था ॥ २७ ॥

अमरावतिसंकाशं तत् पुरं कामगं महत्।
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं परंतप ॥ २८ ॥

परंतप ! इच्छानुसार विचरनेवाला वह विशाल नगर अमरावतीके ही तुल्य था; परंतु मैंने नाना प्रकारके अस्त्रों-द्वारा उसे सब ओरसे रोक लिया ॥ २८ ॥

ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रनुदितेन च।
व्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत् पुरं पुरुषर्षभ ॥ २९ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणसमूहोंकी वृष्टि करते हुए मैंने दैत्योंसहित उस नगरको क्षत-विक्षत करना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

विक्षतं चायसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः।
महीमभ्यपतद् राजन् प्रभग्नं पुरमासुरम् ॥ ३० ॥

राजन् ! मेरे चलाये हुए लोहनिर्मित बाण सीधे लक्ष्य-तक पहुँचनेवाले थे। उनसे क्षतिग्रस्त हुआ वह दैत्य-नगर तहस-नहस होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३० ॥

ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः।
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ॥ ३१ ॥

महाराज ! लोहेके बने हुए मेरे बाणोंका वेग वज्रके समान था। उनकी मार खाकर वे कालप्रेरित असुर चारों ओर चक्कर काटने लगते थे ॥ ३१ ॥

ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव।
महीमवातरत् क्षिप्रं रथेनादित्यवर्चसा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर मातलि आकाशमें ऊँचे चढ़कर सूर्यके समान तेजस्वी रथद्वारा उन राक्षसोंके सामने गिरते हुए-से शीघ्र ही पृथ्वीपर उतरे ॥ ३२ ॥

ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम्।
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तन्त भारत।
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रराजितैः ॥ ३३ ॥

भरतनन्दन ! उस समय युद्धकी इच्छासे अमर्षमें भरे हुए उन दानवोंके साठ हजार रथ मेरे साथ लड़नेके लिये डट गये। यह देख मैंने गृद्धपङ्खसे सुशोभित तीखे बाणोंद्वारा उन सबको घायल करना आरम्भ किया ॥ ३३ ॥

ते युद्धे सन्न्यवर्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः।
नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिन्त्य तत् ॥ ३४ ॥
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम्।

परंतु वे दानव युद्धके लिये इस प्रकार मेरी ओर चढ़े आ रहे थे, मानो समुद्रकी लहरें उठ रही हों। तब मैंने यह सोचकर कि मानवोचित युद्धके द्वारा इनपर विजय नहीं पायी जा सकती, क्रमशः दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ३४½ ॥

ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ॥ ३५ ॥
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नन् शनकैरिव।

परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले वे सहस्रों रथारूढ़ दानव धीरे-धीरे मेरे दिव्यास्त्रोंका भी निवारण करने लगे ॥ ३५½ ॥

रथमार्गान् विचित्रांस्ते विचरन्तो महाबलाः ॥ ३६ ॥
प्रत्यदृश्यन्त संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः।

वे महान् बलवान् तो थे ही, रथके विचित्र पैंतरे बदलकर रण-भूमिमें विचर रहे थे। उस युद्धके मैदानमें उनके सौ-सौ और हजार-हजारके झुंड दिखायी देते थे ॥ ३६½ ॥

विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ॥ ३७ ॥
विचित्राभरणाश्चैव नन्दयन्तीव मे मनः।

उनके मस्तकोंपर विचित्र मुकुट और पगड़ी देखी जाती थी। उनके कवच और ध्वज भी विचित्र ही थे। वे अद्भुत आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे लिये मनोरञ्जनकी-सी वस्तु बन गये थे ॥ ३७½ ॥

अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितै रणे ॥ ३८ ॥
नाशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां प्रत्यपीडयन्।

उस युद्धमें दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करके भी मैं उन्हें पीड़ित न कर सका; परन्तु वे मुझे बहुत पीड़ा देने लगे ॥ ३८½ ॥

तैः पीड्यमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ॥ ३९ ॥
व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चागान्महन्मम।

वे अस्त्रोंके ज्ञाता तथा युद्धकुशल थे, उनकी संख्या भी बहुत थी। उस महान् संग्राममें उन दानवोंसे पीड़ित होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ॥ ३९½ ॥

ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे ॥ ४० ॥
(प्रयतः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य महात्मने।)
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम्।

तब मैंने एकाग्रचित्त हो मस्तक झुकाकर देवाधिदेव महात्मा रुद्रको प्रणाम किया और 'समस्त भूतोंका कल्याण हो', ऐसा कहकर उनके महान् पाशुपतास्त्रका प्रयोग किया ॥

यत् तद् रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम् ॥ ४१ ॥

(महत् पाशुपतं दिव्यं सर्वलोकनमस्कृतम् ।)
ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ।
त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम् ॥ ४२ ॥

उसीको 'रौद्रास्त्र' भी कहते हैं। वह समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला है। वह महान् एवं दिव्य पाशुपतास्त्र सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय है। उसका प्रयोग करते ही मुझे एक दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ, जिनके तीन मस्तक, तीन मुख, नौ नेत्र तथा छः भुजाएँ थीं। उनका स्वरूप बड़ा तेजस्वी था। उनके मस्तकके बाल सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

लेलिहानैर्महानागैः कृतचीरममित्रहन् ।
(भक्तानुकम्पिनं देवं नागयज्ञोपवीतिनम् ।)
विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम् ॥ ४३ ॥
दृष्ट्वा गाण्डीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ।
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायामिततेजसे ॥ ४४ ॥
मुक्तवान् दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत ।
मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन् रूपाण्यासन् सहस्रशः ॥ ४५ ॥

शत्रुदमन नरेश ! लपलपाती जीभवाले बड़े-बड़े नाग उन दिव्य पुरुषके लिये चीर (वस्त्र) बने हुए थे। भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले उन महादेवजीने सर्पोंका ही यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा था। उनके दर्शनसे मेरा सारा भय जाता रहा। भरतश्रेष्ठ ! फिर तो मैंने उस भयंकर एवं सनातन पाशुपतास्त्रको गाण्डीव धनुषपर संयोजित करके अमित तेजस्वी त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्करको नमस्कार किया और उन दानवेन्द्रोंके विनाशके लिये उनपर चला दिया। उस अस्त्रके छूटते ही उससे सहस्रों रूप प्रकट हो गये४३-४५

मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशाम्पते ।
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम् ॥ ४६ ॥
शरभाणां गजानां च वानराणां च सङ्घशः ।
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च ॥ ४७ ॥
शालावृकाणां प्रेतानां भुरुण्डानां च सर्वशः ।
गृध्राणां गरुडानां च चमराणां तथैव च ॥ ४८ ॥
देवानां च ऋषीणां च गन्धर्वाणां च सर्वशः ।
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥
गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च ।
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च ॥ ५० ॥
मीनवाजिसरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम् ।
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ॥ ५१ ॥

महाराज ! मृग, सिंह, व्याघ्र, रीछ, भैंस, नाग, गौ, शरभ, हाथी, वानर, बैल, सूअर, बिलाव, भेड़िये, प्रेत, भुरुण्ड, गिद्ध, गरुड, चमरी गाय, देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, देवद्रोही राक्षस, गुह्यक, निशाचर, मत्स्य, गजमुख, उल्लू, मीन तथा अश्व-जैसे रूपवाले नाना प्रकारके जीवोंका प्रादुर्भाव हुआ। उन सबके हाथमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र एवं खड्ग थे। इसी प्रकार गदा और मुद्गर धारण किये बहुत-से यातुधान भी प्रकट हुए ॥ ४६—५१ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा ।
सर्वमासीज्जगद् व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ॥ ५२ ॥
त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः ।
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः ॥ ५३ ॥

इन सबके साथ दूसरे भी बहुत-से जीवोंका प्राकट्य हुआ, जिन्होंने नाना प्रकारके रूप धारण कर रक्खे थे। उन सबके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त-सा हो गया था। पाशुपतास्त्रका प्रयोग होते ही कोई तीन मस्तक, कोई चार दाढ़ें, कोई चार मुख और कोई चार भुजावाले अनेक रूपधारी प्राणी प्रकट हुए, जो मांस, मेदा, वसा और हड्डियोंसे संयुक्त थे ॥

अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः ।
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः ॥ ५४ ॥
अद्रिसारमयैश्चान्यैर्बाणैरपि निबर्हणैः ।
न्यहनं दानवान् सर्वान् मुहूर्तेनैव भारत ॥ ५५ ॥

उन सबके द्वारा गहरी मार पड़नेसे वे सारे दानव नष्ट हो गये। भारत ! उस समय सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी तथा वज्र और अशनिके समान प्रकाशित होनेवाले शत्रु-विनाशक लोहमय बाणोंद्वारा भी मैंने दो ही घड़ीमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार कर डाला ॥ ५४-५५ ॥

गाण्डीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान् गतासून् नभसश्च्युतान् ।
दृष्ट्वाहं प्राणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ॥ ५६ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए अस्त्रोंद्वारा क्षत-विक्षत हो समस्त दानव प्राण त्यागकर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हैं। यह देखकर मैंने पुनः त्रिपुरनाशक भगवान् शङ्करको प्रणाम किया ॥ ५६ ॥

तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान् दिव्याभरणभूषितान् ।
निशम्य परमं हर्षमगमद् देवसारथिः ॥ ५७ ॥

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित दानव पाशुपतास्त्रसे पिस गये हैं, यह देखकर देवसारथि मातलिको बड़ा हर्ष हुआ ॥

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ।
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ॥ ५८ ॥

जो कार्य देवताओंके लिये भी दुष्कर और असह्य था, वह मेरेद्वारा पूरा हुआ देख इन्द्रसारथि मातलिने मेरा बड़ा सम्मान किया ॥ ५८ ॥

उवाच वचनं चेदं प्रीयमाणः कृताञ्जलिः ।
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत् साधितं त्वया ॥ ५९ ॥

और अत्यन्त प्रसन्न हो हाथ जोड़कर कहा—'अर्जुन !

आज तुमने वह कार्य कर दिखाया है, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असाध्य था ॥ ५९ ॥

न ह्येतत् संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ।
(ध्रुवं धनंजय प्रीतस्त्वयि शक्रः पुरार्दन ।)
सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत् खगं महत् ॥ ६० ॥
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्यतपसो बलाद् ।

'साक्षात् देवराज इन्द्र भी युद्धमें यह सब कार्य करनेकी शक्ति नहीं रखते हैं । हिरण्यपुरका विनाश करनेवाले वीरवर धनंजय ! निश्चय ही देवराज इन्द्र आज तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे । वीर! तुमने अपने पराक्रम और तपस्याके बलसे इस आकाशचारी विशाल नगरको तहस-नहस कर डाला, जिसे सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकते थे' ॥ ६०½ ॥

विध्वस्ते खपुरे तस्मिन् दानवेषु हतेषु च ॥ ६१ ॥
विनदन्त्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद् बहिः ।
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुःखिताः ॥ ६२ ॥

उस आकाशवर्ती नगरका विध्वंस और दानवोंका संहार हो जानेपर वहाँकी सारी स्त्रियाँ विलाप करती हुई नगरसे बाहर निकल आयीं । उनके केश बिखरे हुए थे । वे दुःख और व्यथामें डूबी हुई कुररीकी भाँति करुण-क्रन्दन करती थीं ॥ ६१-६२ ॥

पेतुः पुत्रान् पितॄन् भ्रातॄन् शोचमाना महीतले ।
रुदत्यो दीनकण्ठ्यस्तु निनदन्त्यो हतेश्वराः ॥ ६३ ॥
उरांसि परिनिघ्नन्त्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः ।

अपने पुत्र, पिता और भाइयोंके लिये शोक करती हुई वे सब-की-सब पृथ्वीपर गिर पड़ीं । जिनके पति मारे गये थे, वे अनाथ अबलाएँ दीनतापूर्ण कण्ठसे रोती-चिल्लाती हुई छाती पीट रही थीं । उनके हार और आभूषण इधर-उधर गिर पड़े थे ॥ ६३½ ॥

तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ॥ ६४ ॥
न बभौ दानवपुरं हतत्विट्कं हतेश्वरम् ।
गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ॥ ६५ ॥
शुष्कवृक्षमिवारण्यमदृश्यमभवत् पुरम् ।

दानवोंका वह नगर शोकमग्न हो अपनी सारी शोभा खो चुका था । वहाँ दुःख और दीनता व्याप्त हो रही थी । अपने प्रभुओंके मारे जानेसे वह दानव-नगर निष्प्रभ और अशोभनीय हो गया था । गन्धर्व-नगरकी भाँति उसका अस्तित्व अयथार्थ जान पड़ता था । जिसका हाथी मर गया हो, उस सरोवर और जहाँके वृक्ष सूख गये हों, उस वनके समान वह नगर अदर्शनीय हो गया था ॥ ६४-६५½ ॥

मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ॥ ६६ ॥
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ।

मेरे मनमें तो हर्ष और उत्साह भरा हुआ था ! मैंने देवताओंका कार्य पूरा कर दिया था । अतः मातलि उस रण-भूमिसे मुझे शीघ्र ही देवराज इन्द्रके भवनमें ले आये ॥

हिरण्यपुरमुत्सृज्य निहत्य च महासुरान् ॥ ६७ ॥
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ।

इस प्रकार मैं निवातकवच नामक महादानवोंको (तथा पौलोम और कालकेयोंको) मारकर तथा उजड़े हुए हिरण्यपुरको उसी अवस्थामें छोड़कर वहाँसे इन्द्रके पास आया ॥

मम कर्म च देवेन्द्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ॥ ६८ ॥
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ।

महाद्युते ! मातलिने मेरा सारा कार्य, जो कुछ जैसे हुआ था, देवराज इन्द्रसे विस्तारपूर्वक कह सुनाया ॥ ६८½ ॥

हिरण्यपुरघातं च मायानां च निवारणम् ॥ ६९ ॥
निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम् ।
तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ॥ ७० ॥
मरुद्भिः सहितः श्रीमान् साधु साध्वित्यथाब्रवीत् ।
(परिष्वज्य च मां प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय सस्मितम् ।)
ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ॥ ७१ ॥
अब्रवीद् विबुधैः सार्धमिदं स मधुरं वचः ।
अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ॥ ७२ ॥

हिरण्यपुरका विध्वंस, दानवी मायाका निवारण तथा महाबलवान् निवातकवचोंका युद्धमें वध सुनकर मरुत आदि देवताओंसहित भगवान् सहस्रलोचन इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो मुझे साधुवाद देने लगे और मुझे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर मुसकराते हुए मेरा मस्तक सूँघा । तत्पश्चात् देवराजने बार-बार मुझे सान्त्वना देते हुए देवताओंके साथ यह मधुर वचन कहा—'पार्थ ! तुमने युद्धमें वह कार्य किया है, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असम्भव है ॥ ६९-७२ ॥

गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून् घ्नता मम ।
एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाजौ धनंजय ॥ ७३ ॥
असम्मूढेन चास्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम् ।
अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ॥ ७४ ॥

'आज तुमने मेरे महान् शत्रुओंका संहार करके गुरु-दक्षिणा चुका दी है । धनंजय ! इसी प्रकार तुम्हें सदा युद्धभूमिमें अविचल रहना चाहिये और मोहशून्य होकर अस्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये । देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी युद्धमें तुम्हारा सामना नहीं कर सकता ॥ ७३-७४ ॥

सयक्षासुरगन्धर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः ।
वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम् ।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७५ ॥

'यक्ष, असुर, गन्धर्व, पक्षी तथा नाग भी तुम्हारे सामने नहीं टिक सकते । कुन्तीकुमार ! धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हारे बाहु-बलसे जीती हुई पृथ्वीका पालन करेंगे' ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें हिरण्यपुरवासी दैत्योंके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके मुखसे यात्राका वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिरद्वारा उनका अभिनन्दन और दिव्यास्त्रदर्शनकी इच्छा प्रकट करना

अर्जुन उवाच

ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम् ।
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अर्जुन कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर मैं देवराजका अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया । धीरे-धीरे मेरे शरीरके सब घाव भर गये । तब एक दिन देवराज इन्द्रने मेरा हाथ पकड़कर कहा—॥ १ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठन्ति भारत ।
न त्वाभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥ २ ॥

'भरतनन्दन ! तुममें सब दिव्यास्त्र विद्यमान हैं । भूमण्डलका कोई भी मनुष्य तुम्हें पराजित नहीं कर सकता ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः ।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३ ॥

'बेटा ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा राजाओंसहित शकुनि—ये सब-के-सब संग्राममें खड़े होनेपर तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते' ॥ ३ ॥

इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान् प्रभुः ।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ॥ ४ ॥

महाराज ! उन देवेश्वर इन्द्रने स्वयं मेरे शरीरकी रक्षा करनेवाला यह अभेद्य दिव्य कवच और यह सुवर्णमयी माला मुझे दी ॥ ४ ॥

देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम् ।
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने बड़े जोरकी आवाज करनेवाला यह देवदत्त नामक शङ्ख प्रदान किया । स्वयं देवराज इन्द्रने ही यह दिव्य किरीट मेरे मस्तकपर रक्खा था ॥ ५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहन्ति च ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् देवराजने मुझे ये मनोहर एवं विशाल दिव्य वस्त्र तथा दिव्य आभूषण दिये ॥ ६ ॥

एवं सम्पूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप ।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गन्धर्वशिशुभिः सह ॥ ७ ॥

महाराज ! इस प्रकार सम्मानित होकर मैं उस पवित्र इन्द्र-भवनमें गन्धर्वकुमारोंके साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह ।
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरन्ति ते ॥ ८ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'अर्जुन ! अब तुम्हारे जानेका समय आ गया है; क्योंकि तुम्हारे भाई तुम्हें बहुत याद करते हैं' ॥ ८ ॥

एवमिन्द्रस्य भवने पञ्च वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन् स्मरता द्यूतजं कलिम् ॥ ९ ॥

भारत ! इस प्रकार द्यूतजनित कलहका स्मरण करते मैंने इन्द्र-भवनमें पाँच वर्ष व्यतीत किये हैं ॥ ९ ॥

ततो भवन्तमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्यास्य मूर्धनि ॥ १० ॥

इसके बाद इस गन्धमादनकी शाखाभूत इस पर्वतके शिखरपर भाइयोंसहित आपका दर्शन किया है ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनंजयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ॥ ११ ॥
दिष्ट्या च भगवान् स्थाणुर्देव्या सह परंतप ।
साक्षाद् दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयानघ ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये । भारत ! यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुमने देवताओंके स्वामी राजराजेश्वर इन्द्रको आराधनाद्वारा प्रसन्न कर लिया । निष्पाप परंतप ! सबसे बड़ी सौभाग्यकी बात तो यह है कि तुमने देवी पार्वतीके साथ

साक्षात् भगवान् शंकरका दर्शन किया और उन्हें अपनी युद्धकलासे संतुष्ट कर लिया ॥ ११-१२ ॥

दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ।
दिष्ट्या वर्धामहे पार्थ दिष्ट्यासि पुनरागतः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! समस्त लोकपालोंके साथ तुम्हारी भेंट हुई, यह भी हमारे लिये सौभाग्यका सूचक है। हमारा अहोभाग्य है कि हम उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहे हैं। अर्जुन हमारे भाग्यसे ही तुम पुनः हमारे पास लौट आये ॥ १३ ॥

अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम्।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥ १४ ॥

आज मुझे यह विश्वास हो गया कि हम नगरोंसे सुशोभित समूची वसुधादेवीको जीत लेंगे। अब हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भी अपने वशमें पड़ा हुआ ही मानते हैं ॥ १४ ॥

इच्छामि तानि चास्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत।
यैस्तथा वीर्यवन्तस्ते निवातकवचा हताः ॥ १५ ॥

भारत ! अब मेरी इच्छा उन दिव्यास्त्रोंको देखनेकी हो रही है, जिनके द्वारा तुमने उस प्रकारके उन महापराक्रमी निवातकवचोंका विनाश किया है ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच

श्वः प्रभाते भवान् द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! कल सवेरे आप उन सब दिव्यास्त्रोंको देखियेगा, जिनके द्वारा मैंने भयानक निवातकवचोंको मार गिराया है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वै रजनीं तामुवास ह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपने आगमनका वृत्तान्त सुनाकर सब भाइयोंसहित अर्जुनने वहाँ वह रात व्यतीत की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शनसंकेते चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनके लिये संकेतविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारद आदिका अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उत्थायावश्यकार्याणि कृतवान् भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब वह रात बीत गयी, तब धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर आवश्यक नित्य-कर्म पूरे किये ॥ १ ॥

ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम्।
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने भाइयोंको सुख पहुँचानेवाले अर्जुनको आज्ञा दी—'कुन्तीनन्दन ! अब तुम उन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कराओ, जिनसे तुमने दानवोंपर विजय पायी है' ॥ २ ॥

ततो धनंजयो राजन् देवैर्दत्तानि पाण्डवः।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥ ३ ॥

राजन् ! तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने देवताओंके दिये हुए उन दिव्य अस्त्रोंको दिखानेका आयोजन किया ॥ ३ ॥

यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः।
(नमस्कृत्य त्रिनेत्राय वासवाय च पाण्डवः।)
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणु त्रिवेणुमत् ॥ ४ ॥

पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः।
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ॥ ५ ॥

धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं स वारिजम्।
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभुजः ॥ ६ ॥

अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे।
अथ प्रयोक्ष्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ॥ ७ ॥

समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकम्पत सद्रुमा।
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी अर्जुन पहले तो विधिपूर्वक स्नान करके शुद्ध हुए। फिर त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर और इन्द्रको नमस्कार करके उन्होंने वह अत्यन्त तेजस्वी दिव्य कवच धारण किया। तत्पश्चात् वे पृथ्वीरूपी रथपर आरूढ़ हो बड़ी शोभा पाने लगे। पर्वत ही उस रथका कूबर था, दोनों पैर ही पहिये थे और सुन्दर बाँसोंका वन ही त्रिवेणु (रथके अङ्गविशेष) का काम देता था। तदनन्तर महाबाहु कुन्तीनन्दन अर्जुनने एक हाथमें गाण्डीव धनुष और दूसरेमें देवदत्त शङ्ख ले लिया। इस प्रकार वीरोचित वेशसे सुशोभित हो उन्होंने क्रमशः उन दिव्यास्त्रोंको दिखाना आरम्भ किया। जिस समय उन

दिव्यास्त्रोंका प्रयोग प्रारम्भ होने जा रहा था, उसी समय अर्जुनके पैरोंसे दबी हुई पृथ्वी वृक्षोंसहित काँपने लगी। नदियों और समुद्रोंमें उफान आ गया ४-८ ॥

शैलाश्चापि व्यदीर्यन्त न ववौ च समीरणः।
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः॥ ९ ॥

पर्वत विदीर्ण होने लगे और हवाकी गति रुक गयी। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और आगका जलना बंद हो गया ॥ ९ ॥

न वेदाः प्रतिभान्ति स्म द्विजातीनां कथंचन।
अन्तर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय॥ १० ॥
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन्।
वेपमानाः प्राञ्जलयस्ते सर्वे विकृताननाः॥ ११ ॥
दह्यमानास्तदास्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनंजयम्।
ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः॥ १२ ॥
जङ्गमानि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे।
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः॥ १३ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वास्तथैव च पतत्रिणः।
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे॥ १४ ॥

द्विजातियोंको किसी प्रकार भी वेदोंका भान नहीं हो पाता था। जनमेजय! भूमिके भीतर जो प्राणी निवास करते थे, वे भी पीड़ित हो उठे और अर्जुनको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उन सबके मुखपर विकृति आ गयी थी। वे हाथ जोड़े हुए थर-थर काँप रहे थे। और अस्त्रोंके तेजसे संतप्त हो धनंजयसे प्राणोंकी भिक्षा माँग रहे थे। इसी समय ब्रह्मर्षि, सिद्ध, महर्षि, समस्त जङ्गम प्राणी, श्रेष्ठ देवर्षि, देवता यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पक्षी तथा आकाशचारी प्राणी सभी वहाँ आकर उपस्थित हो गये ॥ १०-१४ ॥

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा॥ १५ ॥

इसके बाद ब्रह्माजी, समस्त लोकपाल तथा भगवान् महादेव अपने गणोंसहित वहाँ आये ॥ १५ ॥

ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः सुगन्धिभिः।
अभितः पाण्डवं चित्रैरवचक्रे समन्ततः॥ १६ ॥

महाराज! तदनन्तर वायुदेव पाण्डुनन्दन अर्जुनपर सब ओरसे विचित्र सुगन्धित दिव्य मालाओंकी वृष्टि करने लगे॥ १६॥

जगुश्च गाथा विविधा गन्धर्वाः सुरचोदिताः।
ननृतुः सङ्घशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः॥ १७ ॥

राजन्! देवप्रेरित गन्धर्व नाना प्रकारकी गाथाएँ गाने लगे और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ १७ ॥

तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः।
आगम्याह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप॥ १८ ॥
अर्जुनार्जुन मा युङ्क्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यन्ते कथंचन॥ १९ ॥

नराधिप! उस समय देवताओंके कहनेसे देवर्षि नारद अर्जुनके पास आये और उनसे यह सुनने योग्य बात कहने लगे—'अर्जुन! अर्जुन! इस समय दिव्यास्त्रोंका प्रयोग न

करो। भारत! ये दिव्य अस्त्र किसी लक्ष्यके बिना कदापि नहीं छोड़े जाते ॥ १८-१९ ॥

अधिष्ठाने न वानार्तः प्रयुञ्जीत कदाचन।
प्रयोगेषु महान् दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन॥ २० ॥

'कोई लक्ष्य मिल जाय तो भी ऐसा मनुष्य कभी इनका प्रयोग न करे, जो स्वयं संकटमें न पड़ा हो। कुरुनन्दन! इन दिव्यास्त्रोंका अनुचितरूपमें प्रयोग करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है ॥२० ॥

एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम्।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यन्ति न संशयः॥ २१ ॥

'धनंजय! शास्त्रके अनुसार सुरक्षित रखे जानेपर ही ये अस्त्र सबल और सुखदायक होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव।
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित्॥ २२ ॥
अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने॥ २३ ॥

पाण्डुपुत्र! इनकी समुचित रक्षा न होनेपर ये दिव्यास्त्र तीनों लोकोंके विनाशके कारण बन जाते हैं। अतः फिर कभी इस तरह इनके प्रदर्शनका साहस न करना।

अजातशत्रु युधिष्ठिर! (आप भी इस समय इन्हें देखनेका आग्रह छोड़ दें।) जब रणक्षेत्रमें शत्रुओंके संहारका अवसर आयगा, उस समय अर्जुनके द्वारा प्रयोगमें लाये जानेपर इन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कीजियेगा' ॥ २२-२३ ॥

वैशम्पायन उवाच

निवार्याथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम्।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! इस प्रकार अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोककर सम्पूर्ण देवता तथा अन्य सभी प्राणी जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ २४ ॥

तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन! उन सबके चले जानेपर सब पाण्डव द्रौपदीके साथ बड़े हर्षपूर्वक उसी वनमें रहने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(आजगरपर्व)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनकी युधिष्ठिरसे बातचीत और पाण्डवोंका गन्धमादनसे प्रस्थान

जनमेजय उवाच

तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे
प्रत्यागते भवनाद् वृत्रहन्तुः।
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः
समेत्य शूरेण धनंजयेन ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! रथियोंमें श्रेष्ठ महावीर अर्जुन जब इन्द्रभवनसे दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके लौट आये, तब उनसे मिलकर कुन्तीकुमारोंने पुनः कौन-सा कार्य किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः
सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये
धनेश्वराक्रीडगता विजह्रुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव इन्द्रतुल्य पराक्रमी अर्जुनके साथ उस परम रमणीय शैल-शिखरपर कुबेरकी क्रीडाभूमिके अन्तर्गत उन्हीं वनोंमें सुखसे विहार करने लगे ॥ २ ॥

वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्
क्रीडाश्च नानाद्रुमसंनिबद्धाः।
चचार धन्वी बहुधा नरेन्द्रः
सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी ॥ ३ ॥

वहाँ कुबेरके अनुपम भवन बने हुए थे। नानाप्रकारके वृक्षोंके निकट अनेक प्रकारके खेल होते रहते थे। उन सबको देखते हुए किरीटधारी अर्जुन बहुधा वहाँ विचरा करते और हाथमें धनुष लेकर सदा अस्त्रोंके अभ्यासमें संलग्न रहते थे ॥ ३ ॥

अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः
प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः।
न प्राणिनां ते स्पृहयन्ति राजन्
शिवश्च कालः स बभूव तेषाम् ॥ ४ ॥

राजन्! राजकुमार पाण्डवको राजाधिराज कुबेरकी कृपासे वहाँका निवास प्राप्त हुआ था। वे वहाँ रहकर भूतलके अन्य प्राणियोंके ऐश्वर्य-सुखकी अभिलाषा नहीं रखते थे। उनका वह समय बड़े सुखसे बीत रहा था ॥ ४ ॥

समेत्य पार्थेन यथैकरात्र-
मूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः।
पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां
शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥ ५ ॥

वे अर्जुनके साथ वहाँ चार वर्षोंतक रहे, परंतु उनको वह समय एक रातके समान ही प्रतीत हुआ। पहलेके छः वर्ष तथा वहाँके चार वर्ष इस प्रकार सब मिलाकर पाण्डवोंके वनवासके दस वर्ष आनन्दपूर्वक बीत गये ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद् वायुसुतस्तरस्वी
जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पा-
वेकान्तमास्थाय हितं प्रियं च ॥ ६ ॥

तदनन्तर एक दिन अर्जुन तथा वीरवर नकुल-सहदेव, जो देवराजके समान पराक्रमी थे, एकान्तमें राजा युधिष्ठिरके पास बैठे थे। उस समय वेगशाली वायुपुत्र भीमसेन यह हितकर एवं प्रिय वचन बोले— ॥ ६ ॥

तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां
चिकीर्षमाणास्तदनु प्रियं च ।
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य
सुयोधनं सानुचरं निहन्तुम् ॥ ७ ॥

'कुरुराज ! आपकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे और आपका प्रिय करनेकी अभिलाषा रखनेके कारण हमलोग यह वनवास छोड़कर दुर्योधनका अनुचरोंसहित वध करने नहीं जा रहे हैं ॥ ७ ॥

एकादशं वर्षमिदं वसामः
सुयोधनेनात्तसुखाः सुखार्हाः ।
तं वञ्चयित्वाधमबुद्धिशील-
मज्ञातवासं सुखमाप्नुयाम ॥ ८ ॥

'अब हमारे निवासका यह ग्यारहवाँ वर्ष चल रहा है। हमलोग सुख भोगनेके अधिकारी थे परंतु दुर्योधनने हमारा सुख छीन लिया। उसकी बुद्धि तथा स्वभाव अत्यन्त अधम है। उस दुष्टको धोखा देकर हम अपने अज्ञातवासका समय भी सुखपूर्वक बिता लेंगे ॥ ८ ॥

तवाज्ञया पार्थिव निर्विशङ्का
विहाय मानं विचरन् वनानि ।
समीपवासेन विलोभितास्ते
ज्ञास्यन्ति नास्मानप्रकृष्टदेशान् ॥ ९ ॥

'भूपशिरोमणे ! आपकी आज्ञासे हम मानापमानका विचार छोड़कर निःशङ्क हो वनमें विचरते रहेंगे। पहले किसी निकटवर्ती स्थानमें रहकर दुर्योधन आदिके मनमें वहीं खोज करनेका लोभ उत्पन्न करेंगे और फिर वहाँसे दूर देशमें चले जायँगे; जिससे उन्हें हमारा पता न लग सकेगा ॥ ९ ॥

संवत्सरं तत्र विहृत्य गूढं
नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं
तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय ॥ १० ॥
सुयोधनायानुचरैर्वृताय
ततो महीमावस धर्मराज ।
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः
शक्यो विहन्तुं नरदेव शोकः ॥ ११ ॥

'वहाँ एक वर्षतक गुप्तरूपसे निवास करके जब हम लौटेंगे, तब अनायास ही उस नराधम दुर्योधनकी जड़ उखाड़ देंगे। नरेन्द्र ! नीच दुर्योधन आज अपने अनुचरोंसे घिरकर सुखी हो रहा है। उसने जो वैरका वृक्ष लगा रक्खा है, उसे हम फूल-फलसहित उखाड़ फेंकेंगे और उससे वैरका बदला लेंगे। अतः धर्मराज ! आप यहाँसे चलकर पृथ्वीपर निवास करें। नरदेव ! इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग इस स्वर्गतुल्य प्रदेशमें विचरते रहनेपर भी अपना सारा शोक अनायास ही निवृत्त कर सकते हैं ॥ १०-११ ॥

कीर्तिस्तु ते भारत पुण्यगन्धा
नश्येद्धि लोकेषु चराचरेषु ।
तत् प्राप्य राज्यं कुरुपुङ्गवानां
शक्यं महत् प्राप्तुमथ क्रियाश्च ॥ १२ ॥
इदं तु शक्यं सततं नरेन्द्र
प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिं द्विषतां वधाय
कृतागसां भारत निग्रहे च ॥ १३ ॥

'परंतु ऐसा होनेपर चराचर जगत्में आपकी पुण्यमयी कीर्ति नष्ट हो जायगी। इसलिये कुरुवंशशिरोमणि अपने पूर्वजोंके उस महान् राज्यको प्राप्त करके ही हम और कोई सत्कर्म करने योग्य हो सकते हैं। भरतकुलभूषण महाराज ! आप कुबेरसे जो सम्मान या अनुग्रह प्राप्त कर रहे हैं, इसे तो सदा ही प्राप्त कर सकते हैं। इस समय तो अपराधी शत्रुओंको मारने और दण्ड देनेका निश्चय कीजिये॥ १२-१३ ॥

तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्
समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः ।
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ
समेत्य देवैरपि धर्मराज ॥ १४ ॥
तवार्थसिद्ध्यर्थमपि प्रवृत्तौ
सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता ।
तथैव कृष्णोऽप्रतिमो बलेन
तथैव चाहं नरदेववर्य ॥ १५ ॥
तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो
यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चाहं नरदेववर्य
यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ॥ १६ ॥

'राजन् ! साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी आपसे भिड़कर आपके भयंकर तेजको नहीं सह सकते। धर्मराज ! आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये दो वीर सदा प्रयत्न करते हैं ! गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्ण और शिनिके नाती वीरवर सात्यकि—ये दोनों आपके लिये देवताओंसे भी युद्ध करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करेंगे। नरदेवशिरोमणे ! इन्हीं दोनोंके समान अर्जुन भी बल और पराक्रममें अपना सानी नहीं रखते। इसी प्रकार मैं भी बलमें किसीसे कम नहीं हूँ। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यादवोंके साथ आपके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उद्यत रहते हैं, उसी प्रकार मैं, अर्जुन तथा अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल वीर नकुल-सहदेव भी आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहा करते हैं ॥

त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः
शर्म करिष्याम परान् समेत्य । १६½ ।

आपको धनकी प्राप्ति हो और आपका ऐश्वर्य बढ़े, यही हमारा प्रधान लक्ष्य है । अतः हमलोग शत्रुओंसे भिड़कर वैरकी शान्ति करेंगे ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
तेषां च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं
चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ।
आमन्त्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि
सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ॥ १८ ॥
यथागतं मार्गमवेक्षमाणः
पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः ।
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः
सम्प्रार्थयामास नगेन्द्रवर्यम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उत्तम ओजसे सम्पन्न श्रेष्ठ महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उस समय उन सबके अभिप्रायको जानकर कुबेरके निवास-स्थान उस गन्धमादन पर्वतकी प्रदक्षिणा की । फिर उन्होंने वहाँके भवनों, नदियों, सरोवरों तथा समस्त राक्षसोंसे विदा ली । इसके बाद वे जिस मार्गसे आये थे, उसकी ओर देखने लगे । तदनन्तर उन विशुद्ध-बुद्धि महात्मा युधिष्ठिरने पुनः गन्धमादन पर्वतकी ओर देखते हुए उस श्रेष्ठ गिरिराजसे इस प्रकार प्रार्थना की ॥१७–१९॥

समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भि-
र्जित्वा सपत्नान् प्रतिलभ्य राज्यम् ।
शैलेन्द्र भूयस्तपसे जितात्मा
द्रष्टा तवास्मीति मतिं चकार ॥ २० ॥

'शैलेन्द्र ! अब अपने मन और बुद्धिको संयममें रखनेवाला मैं शत्रुओंको जीतकर अपना खोया हुआ राज्य पानेके बाद सुहृदोंके साथ अपना सब कार्य सम्पन्न करके पुनः तपस्याके लिये लौटनेपर आपका दर्शन करूँगा ।' इस प्रकार युधिष्ठिरने निश्चय किया ॥ २० ॥

वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च
तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैतान् गणशस्तथैव
घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् समस्त भाइयों और ब्राह्मणोंसे घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर उसी मार्गसे नीचे उतरने लगे । जहाँ दुर्गम पर्वत और झरने पड़ते थे, वहाँ घटोत्कच अपने गणों-सहित आकर पहलेकी तरह इन सबको पीठपर बिठा वहाँसे पार कर देता था ॥ २१ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमना महर्षिः
पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान् ।
स लोमशः प्रीतमना जगाम
दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥ २२ ॥

महर्षि लोमशने जब पाण्डवोंको वहाँसे प्रस्थान करते देखा; तब जिस प्रकार दयालु पिता अपने पुत्रोंको उपदेश देता है, वैसे ही उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर सबको उत्तम उपदेश दिया । फिर मन-ही-मन प्रसन्नताका अनुभव करते हुए वे देवताओंके परम पवित्र स्थानको चले गये ॥ २२ ॥

तेनार्ष्टिषेणेन तथानुशिष्टा-
स्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महान्ति चान्यानि सरांसि पार्थाः
सम्पश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः ॥ २३ ॥

इसी प्रकार राजर्षि आर्ष्टिषेणने भी उन सबको उपदेश दिया । तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ पाण्डव पवित्र तीर्थों, मनोहर तपोवनों और अन्य बड़े-बड़े सरोवरोंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि गन्धमादनप्रस्थाने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें गन्धमादनसे प्रस्थानविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धमादनसे बदरिकाश्रम, सुबाहुनगर और विशाखयूप वनमें होते हुए सरस्वती-तटवर्ती द्वैतवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं
दिशां गजैः किन्नरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां
न प्रीतिरासीद् भरतर्षभाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पर्वतश्रेष्ठ

गन्धमादन अनेकानेक निर्झरोंसे सुशोभित तथा दिग्गजों, किन्नरों और पक्षियोंसे सुसेवित होनेके कारण भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंके लिये एक सुखदायक निवास था, उसे छोड़ते समय उनका मन प्रसन्न नहीं था ॥ १ ॥

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः
कैलासमालोक्य महान् बभूव।
कुबेरकान्तं भरतर्षभाणां
महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् कुबेरके प्रिय भूधर कैलासको, जो श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहा था, देखकर भरतकुलभूषण पाण्डुपुत्रोंको पुनः महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

समुच्छ्रयान् पर्वतसंनिरोधान्
गोष्ठान् हरीणां गिरिसेतुमालाः।
बहून् प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः
स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ॥ ३ ॥
तथैव चान्यानि महावनानि
मृगद्विजानेकपसेवितानि ।
आलोकयन्तोऽभिययुः प्रतीता-
स्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव अपने हाथोंमें खड्ग और धनुष लिये हुए थे। वे ऊँचाई, पर्वतोंके सकरे स्थान, सिंहोंकी मादें, पर्वतीय नदियोंको पार करनेके लिये बने हुए पुल, बहुत-से झरने और नीची भूमियोंको जहाँ-तहाँ देखते हुए तथा मृग, पक्षी एवं हाथियोंसे सेवित दूसरे-दूसरे विशाल वनोंका अवलोकन करते हुए विश्वासपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ ३-४ ॥

वनानि रम्याणि नद्यः सरांसि
गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि।
एते निवासाः सततं बभूवु-
र्दिवानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥ ५ ॥

पुरुषरत्न पाण्डव कभी रमणीय वनोंमें, कभी सरोवरोंके किनारे, कभी नदियोंके तटपर और कभी पर्वतोंकी छोटी-बड़ी गुफाओंमें दिन या रातके समय ठहरते जाते थे। सदा ऐसे ही स्थानोंमें उनका निवास होता था ॥ ५ ॥

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य
व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम्।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते
तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥ ६ ॥

अनेक बार दुर्गम स्थानोंमें निवास करके अचिन्त्यरूप कैलासपर्वतको पीछे छोड़कर वे पुनः वृषपर्वाके अत्यन्त मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें आ पहुँचे ॥ ६ ॥

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते
प्रत्यर्चितास्तेन च वीतमोहाः।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं
गिरौ यथावद् वृषपर्वणस्ते ॥ ७ ॥

वहाँ राजा वृषपर्वासे मिलकर और उनसे भलीभाँति पूजित होकर उन सबका शोक-मोह दूर हो गया। फिर उन्होंने वृषपर्वासे गन्धमादन पर्वतपर अपने रहनेके वृत्तान्तका यथार्थरूपसे एवं विस्तारपूर्वक वर्णन किया ॥ ७ ॥

सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं
पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां
सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ॥ ८ ॥

उस पवित्र आश्रममें देवता और महर्षि निवास किया करते थे। वहाँ एक रात सुखपूर्वक रहकर वे वीर पाण्डव फिर विशालापुरीके बदरिकाश्रमतीर्थमें चले आये और वहाँ बड़े आनन्दसे रहे ॥ ८ ॥

ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा
नारायणस्थानगताः समग्राः।
कुबेरकान्तां नलिनीं विशोकाः
सम्पश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ भगवान् नर-नारायणके क्षेत्रमें आकर सभी महानुभाव पाण्डवोंने सुखपूर्वक निवास किया और शोकरहित हो कुबेरकी उस प्रिय पुष्करिणीका दर्शन किया, जिसका सेवन देवता और सिद्ध पुरुष किया करते हैं ॥ ९ ॥

तां चाथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः
पाण्डोः सुताः सर्वनरप्रधानाः।
ते रेमिरे नन्दनवासमेत्य
द्विजर्षयो वीतमला यथैव ॥ १० ॥

सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे पाण्डु-पुत्र उस पुष्करिणीका दर्शन करके शोकरहित हो वहाँ इस प्रकार आनन्दका अनुभव करने लगे, मानो निर्मल ब्रह्मर्षिगण इन्द्रके नन्दनवनमें सानन्द विचर रहे हों ॥ १० ॥

ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा
यथागतेनैव पथा समग्राः।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां
किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ॥ ११ ॥

इसके बाद वे सारे नरवीर जिस मार्गसे आये थे, क्रमशः उसी मार्गसे चल दिये। बदरिकाश्रममें एक मासतक सुखपूर्वक विहार करके उन्होंने किरातनरेश सुबाहुके राज्यकी ओर प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

पीनांस्तुषारान् दरदांश्च सर्वान्
देशान् कुलिन्दस्य च भूमिरत्नान्।

अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं
पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥ १२ ॥

कुलिन्दके तुषार, दरद आदि धनधान्यसे युक्त और प्रचुर रत्नोंसे सम्पन्न देशोंको लाँघते हुए हिमालयके दुर्गम स्थानोंको पार करके उन नरवीरोंने राजा सुबाहुका नगर देखा ॥ १२ ॥

श्रुत्वा च तान् पार्थिवपुत्रपौत्रान्
प्राप्तान् सुबाहुर्विषये समग्रान् ।
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा
तं चाभ्यनन्दन् वृषभाः कुरूणाम् ॥ १३ ॥

राजा सुबाहुने जब सुना कि मेरे राज्यमें राजपुत्र पाण्डवगण पधारे हुए हैं, तब बहुत प्रसन्न होकर नगरसे बाहर आ उसने उन सबकी अगवानी की। फिर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदिने भी उनका बड़ा समादर किया ॥ १३ ॥

समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते
सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वे ।
सहेन्द्रसेनैः परिचारिकैश्च
पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥ १४ ॥

राजा सुबाहुसे मिलकर वे विशोक आदि अपने सारथियों, इन्द्रसेन आदि परिचारकों, अग्रगामी सेवकों तथा रसोइयोंसे भी मिले ॥ १४ ॥

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं
सूतान् समादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य
ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥ १५ ॥

वहाँ उन सबने एक रात बड़े सुखसे निवास किया। पाण्डवोंने अपने सारे सारथियों तथा रथोंको साथ ले लिया और अनुचरोंसहित घटोत्कचको विदा करके वहाँसे पर्वतराजको प्रस्थान किया, जहाँ यमुनाका उद्गम-स्थान है ॥ १५ ॥

तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्न-
हिमोत्तरीयारुणपाण्डुसानौ ।
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रु-
स्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः ॥ १६ ॥

झरनोंसे युक्त हिमराशि उस पर्वतरूपी पुरुषके लिये उत्तरीयका काम करती थी और उसका अरुण एवं श्वेत रंगका शिखर बालसूर्यकी किरणें पड़नेसे सफेद एवं लाल पगड़ीके समान शोभा पाता था। उसके ऊपर विशाखयूप नामक वनमें पहुँचकर नरवीर पाण्डवोंने उस समय निवास किया ॥ १६ ॥

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं
महावनं चैत्ररथप्रकाशम् ।
शिवेन पार्था मृगयाप्रधानाः
संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥ १७ ॥

वह विशाल वन चैत्ररथ वनके समान शोभायमान था। वहाँ सूअर, नाना प्रकारके मृग तथा पक्षी निवास करते थे। उन दिनों पाण्डवोंका वहाँ हिंस्र जीवोंको मारना ही प्रधान काम था। वहाँ वे एक वर्षतक बड़े सुखसे विचरते रहे ॥

तत्राससादातिबलं भुजङ्गं
क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् ।
वृकोदरः पर्वतकन्दरायां
विषादमोहव्यथितान्तरात्मा ॥ १८ ॥

उसी यात्रामें भीमसेन एक दिन पर्वतकी कन्दरामें भूखसे पीड़ित एक अजगरके पास जा पहुँचे, जो अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही मृत्युके समान भयानक था। उस समय उनकी अन्तरात्मा विषाद एवं मोहसे व्यथित हो उठी ॥ १८ ॥

द्वीपोऽभवद् यत्र वृकोदरस्य
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
अमोक्षयद् यस्तमनन्ततेजा
ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम् ॥ १९ ॥

उस अवसरपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अत्यन्त तेजस्वी युधिष्ठिर भीमसेनके लिये द्वीपकी भाँति अवलम्ब हो गये। अजगरने भीमसेनके सम्पूर्ण शरीरको लपेट लिया था, परंतु युधिष्ठिरने (अजगरको उसके प्रश्नोंके उत्तरद्वारा संतुष्ट करके) उन्हें छुड़ा दिया ॥

ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं
वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः ।
तस्माद् वनाच्चैत्ररथप्रकाशात्
श्रिया ज्वलन्तस्तपसा च युक्ताः ॥ २० ॥
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं
सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः
सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥ २१ ॥

अब इन पाण्डवोंके वनवासका बारहवाँ वर्ष आ पहुँचा था। उसे भी वनमें सानन्द व्यतीत करनेके लिये उनके मनमें बड़ा उत्साह था। अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित होते हुए तपस्वी पाण्डव चैत्ररथ वनके समान शोभा पानेवाले उस वनसे निकलकर मरुभूमिके पास सरस्वतीके तटपर गये और वहीं निवास करनेकी इच्छासे द्वैतवनके द्वैत सरोवरके समीप गये। उस समय पाण्डवोंका विशेष प्रेम सदा धनुर्वेदमें ही लक्षित होता था ॥ २०-२१ ॥

समीक्ष्य तान् द्वैतवने निविष्टान्
निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः ।
तपोदमाचारसमाधियुक्ता-
स्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः ॥ २२ ॥

उन्हें द्वैतवनमें आया देख वहाँके निवासी उनके दर्शनके लिये निकट आये । वे सब-के-सब तपस्या, इन्द्रिय-संयम, सदाचार और समाधिमें तत्पर रहनेवाले थे । तिनकेकी चटाई, जलपात्र, ओढ़नेका कपड़ा और सिल लोढ़े—यही उनके पास सामग्री थी ॥ २२ ॥

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च तथा बदर्यः खदिराः शिरीषाः ।
बिल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ॥ २३ ॥

तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्तामागारभूतामिव देवतानाम् ।
सरस्वतीं प्रीतियुताश्चरन्तः सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः ॥ २४ ॥

सरस्वतीके तटपर पाकड़, बहेड़ा, रोहितक, बेंत, बेर, खैर, सिरस, बेल, इङ्गुदी, पीलु, शमी और करीर आदिके वृक्ष खड़े थे । वह नदी यक्ष, गन्धर्व और महर्षियोंको प्रिय थी । देवताओंकी तो वह मानो बस्ती ही थी । राजपुत्र पाण्डव बड़ी प्रसन्नता और सुखसे वहाँ विचरने और निवास करने लगे ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि पुनर्द्वैतवनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें पाण्डवोंका पुनः द्वैतवनमें प्रवेशविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

महाबली भीमसेनका हिंसक पशुओंको मारना और अजगरद्वारा पकड़ा जाना

जनमेजय उवाच

कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः ।
भयमाहारयत् तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भयानक पराक्रमी भीमसेनमें तो दस हजार हाथियोंका बल था । फिर उन्हें उस अजगरसे इतना तीव्र भय कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ १ ॥

पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः ।
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

जो बलके घमंडमें आकर पुलस्त्यनन्दन कुबेरको भी युद्धके लिये ललकारते थे, जिन्होंने कुबेरकी पुष्करिणीके तटपर कितने ही यक्षों तथा राक्षसोंका संहार कर डाला था, उन्हीं शत्रुसूदन भीमसेनको आप भयभीत (और विपत्तिग्रस्त) बताते हैं । अतः मैं इस प्रसङ्गको विस्तारसे सुनना चाहता हूँ । इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच

बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम् ।
प्राप्तानामाश्रमाद् राजन् राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! राजर्षि वृषपर्वाके आश्रमसे आकर उग्र धनुर्धर पाण्डव अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उस द्वैतवनमें निवास करते थे ॥ ४ ॥

यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद् वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ५ ॥

भीमसेन तलवार बाँधकर हाथमें धनुष लिये अकस्मात् घूमने निकल जाते और देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित उस रमणीय वनकी शोभा निहारते थे ॥ ५ ॥

स ददर्श शुभान् देशान् गिरेर्हिमवतस्तदा ।
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥ ६ ॥

उन्होंने हिमालय पर्वतके उन शुभ प्रदेशोंका अवलोकन किया, जहाँ देवर्षि और सिद्ध पुरुष विचरण करते थे तथा अप्सराएँ जिनका सदा सेवन करती थीं ॥ ६ ॥

चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः ।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ॥ ७ ॥

वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानोंमें चकोर, उपचक्र, जीवजीवक, कोकिल और भृङ्गराज आदि पक्षी कलरव करते थे ॥ ७ ॥

नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान् बहुलच्छायैर्मनोनयननन्दनैः ॥ ८ ॥

वहाँके वृक्ष सदा फूल और फल देते थे । हिमके स्पर्शसे उनमें कोमलता आ गयी थी । उनकी छाया बहुत घनी थी और वे दर्शनमात्रसे मन एवं नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे ॥

स सम्पश्यन् गिरिनदीर्वैदूर्यमणिसंनिभैः ।
सलिलैर्हिमसंकाशैर्हंसकारण्डवायुतैः ॥ ९ ॥

उन वृक्षोंसे सुशोभित प्रदेशों तथा वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, हिमसदृश स्वच्छ, शीतल सलिलसमूहसे संयुक्त पर्वतीय नदियोंकी शोभा निहारते हुए वे सब ओर घूमते थे । नदियोंकी उस जलराशिमें हंस और कारण्डव आदि सहस्रों पक्षी किलोलें करते थे ॥ ९ ॥

वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः।
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि ॥ १० ॥

हरिचन्दन, तुङ्ग और कालीयक आदि वृक्षोंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे देवदारुके वन ऐसे जान पड़ते थे, मानो बादलोंको फँसानेके लिये फंदे हों ॥ १० ॥

मृगयां परिधावन् स समेषु मरुधन्वसु।
विध्यन् मृगान् शरैः शुद्धैश्चचार स महाबलः ॥ ११ ॥

महाबली भीम सारे मरु-प्रदेशमें शिकारके लिये दौड़ते और केवल बाणोंद्वारा हिंसक पशुओंको घायल करते हुए विचरा करते थे ॥ ११ ॥

भीमसेनस्तु विख्यातो महान्तं दंष्ट्रिणं बलात्।
निघ्नन् नागशतप्राणो वने तस्मिन् महाबलः ॥ १२ ॥

भीमसेन अपने महान् बलके लिये विख्यात थे। उनमें सैकड़ों हाथियोंकी शक्ति थी। वे उस वनमें विकराल दाढ़ों-वाले बड़े-से-बड़े सिंहको भी पछाड़ देते थे ॥ १२ ॥

मृगाणां स वराहाणां महिषाणां महाभुजः।
विनिघ्नंस्तत्र तत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ॥ १३ ॥

भीमसेनका पराक्रम भी उनके नामके अनुसार ही भयानक था। उनकी भुजाएँ विशाल थीं। वे मृगयामें प्रवृत्त होकर जहाँ-तहाँ हिंसक पशुओं, वराहों और भैंसोंको भी मारा करते थे ॥ १३ ॥

स मातङ्गशतप्राणो मनुष्यशतवारणः।
सिंहशार्दूलविक्रान्तो वने तस्मिन् महाबलः ॥ १४ ॥
वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभञ्ज च।
पृथिव्याश्च प्रदेशान् वै नादयंस्तु वनानि च ॥ १५ ॥

उनमें सैकड़ों मतवाले गजराजोंके समान बल था। वे एक साथ सौ-सौ मनुष्योंका वेग रोक सकते थे। उनका पराक्रम सिंह और शार्दूलके समान था। महाबली भीम उस वनमें वृक्षोंको उखाड़ते और उन्हें वेगपूर्वक पुनः तोड़ डालते थे। वे अपनी गर्जनासे उस वन्य भूमिके प्रदेशों तथा समूचे वनको गुँजाते रहते थे ॥ १४-१५ ॥

पर्वताग्राणि वै मृद्नन् नादयानश्च विज्वरः।
प्रक्षिपन् पादपांश्चापि नादेनापूरयन् महीम् ॥ १६ ॥

वे पर्वतशिखरोंको रौंदते, वृक्षोंको तोड़कर इधर-उधर बिखेरते और निश्चिन्त होकर अपने सिंहनादसे भूमण्डलको प्रतिध्वनित किया करते थे ॥ १६ ॥

वेगेन न्यपतद् भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः।
आस्फोटयन् क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ॥ १७ ॥

वे निर्भय होकर बार-बार वेगपूर्वक कूदते-फाँदते, ताल ठोंकते, सिंहनाद करते और तालियाँ बजाते थे ॥ १७ ॥

चिरसम्बद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा।
गजेन्द्राश्च महासत्त्वा मृगेन्द्राश्च महाबलाः ॥ १८ ॥
भीमसेनस्य नादेन व्यमुञ्चन्त गुहा भयात्।

वनमें घूमते हुए भीमसेनका बलाभिमान दीर्घकालसे बहुत बढ़ा हुआ था। उस समय उनकी सिंहगर्जनासे महान् बलशाली गजराज और मृगराज भी भयसे अपना स्थान छोड़कर भाग गये ॥ १८½ ॥

क्वचित् प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपविशंस्तथा ॥ १९ ॥
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः।
स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ॥ २० ॥
पद्भ्यामभिसमापेदे भीमसेनो महाबलः।
स प्रविष्टो महारण्ये नादान् नदति चाद्भुतान् ॥ २१ ॥
त्रासयन् सर्वभूतानि महासत्त्वपराक्रमः।

वे कहीं दौड़ते, कहीं खड़े होते और कहीं बैठते हुए शिकार पानेकी अभिलाषासे उस महाभयंकर वनमें निर्भय विचरते रहते थे। वे नरश्रेष्ठ महाबली भीम उस वनमें वनचर भीलोंकी भाँति पैदल ही चलते थे, उनका साहस और पराक्रम महान् था। वे गहन वनमें प्रवेश करके समस्त प्राणियोंको डराते हुए अद्भुत गर्जना करते थे ॥ १९—२१½ ॥

ततो भीमस्य शब्देन भीताः सर्पा गुहाशयाः ॥ २२ ॥
अतिक्रान्तास्तु वेगेन जगामानुसृतः शनैः।
ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
स ददर्श महाकायं भुजङ्गं लोमहर्षणम्।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर एक दिनकी बात है, भीमसेनके सिंहनादसे भयभीत हो गुफाओंमें रहनेवाले सारे सर्प बड़े वेगसे भागने लगे और भीमसेन धीरे-धीरे उन्हींका पीछा करने लगे। श्रेष्ठ देवताओंके समान कान्तिमान् महाबली भीमसेनने आगे जाकर एक विशाल-काय अजगर देखा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। वह अपने शरीरसे एक (विशाल) कन्दराको घेरकर पर्वतके एक दुर्गम स्थानमें रहता था ॥ २२—२४ ॥

पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महाबलम्।
चित्राङ्गमङ्गजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥ २५ ॥
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता।
दीप्ताक्षेणातिताम्रेण लिहानं सृक्किणी मुहुः ॥ २६ ॥
त्रासनं सर्वभूतानां कालान्तकयमोपमम्।
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयन्तमिव स्थितम् ॥ २७ ॥

उसका शरीर पर्वतके समान विशाल था। वह महाकाय होनेके साथ ही अत्यन्त बलवान् भी था। उसका प्रत्येक अङ्ग शारीरिक विचित्र चिह्नोंसे चिह्नित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था। उसका रंग हल्दीके समान पीला था।

प्रकाशमान चारों दाढ़ोंसे युक्त उसका मुख गुफा-सा जान पड़ता था। उसकी आँखें अत्यन्त लाल और आग उगलती-सी प्रतीत होती थीं। वह बार-बार अपने दोनों गलफरोंको चाट रहा था। कालान्तक तथा यमके समान समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला वह भयानक भुजङ्ग अपने उच्छ्वास और सिंहनादसे दूसरोंकी भर्त्सना करता-सा प्रतीत होता था ॥ २५–२७ ॥

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम्।
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥ २८ ॥

वह अजगर अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ था। (मनुष्योंको) जकड़नेवाले उस सर्पने सहसा भीमसेनके निकट पहुँचकर उनकी दोनों बाँहोंको बलपूर्वक जकड़ लिया ॥ २८ ॥

तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ॥ २९ ॥

उस समय भीमसेनके शरीरका उससे स्पर्श होते ही वे भीमसेन सहसा अचेत हो गये। ऐसा इसलिये हुआ कि उस सर्पको वैसा ही वरदान मिला था ॥ २९ ॥

दशनागसहस्राणि धारयन्ति हि यद् बलम्।
तद् बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥ ३० ॥

दस हजार गजराज जितना बल धारण करते हैं, उतना ही बल भीमसेनकी भुजाओंमें विद्यमान था। उनके बलकी और कहीं समता नहीं थी ॥ ३० ॥

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः।
विस्फुरन् शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ३१ ॥

ऐसे तेजस्वी भीम भी उस अजगरके वशमें पड़ गये। वे धीरे-धीरे छटपटाते रहे, परंतु छूटनेकी अधिक चेष्टा करनेमें सफल न हो सके ॥ ३१ ॥

नागायुतसमप्राणः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
गृहीतो व्यजहात् सत्त्वं वरदानविमोहितः ॥ ३२ ॥

उनकी प्राणशक्ति दस सहस्र हाथियोंके समान थी। दोनों कंधे सिंहके कंधोंके समान थे और भुजाएँ बहुत बड़ी थीं। फिर भी सर्पको मिले हुए वरदानके प्रभावसे मोहित हो जानेके कारण सर्पकी पकड़में आकर वे अपना साहस खो बैठे ॥ ३२ ॥

स हि प्रयत्नमकरोत् तीव्रमात्मविमोक्षणे।
न चैनमशकद् वीरः कथंचित् प्रतिबाधितुम् ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपनेको छुड़ानेके लिये घोर प्रयत्न किया, किंतु वीरवर भीमसेन किसी प्रकार भी उस सर्पको पराजित करनेमें सफलता नहीं प्राप्त कर सके ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि अजगरग्रहणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनका अजगरद्वारा ग्रहणसम्बन्धी एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और सर्परूपधारी नहुषकी बातचीत, भीमसेनकी चिन्ता तथा युधिष्ठिरद्वारा भीमकी खोज

वैशम्पायन उवाच

स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः।
चिन्तयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार सर्पके वशमें पड़े हुए वे तेजस्वी भीमसेन उस अजगरकी अत्यन्त अद्भुत शक्तिके विषयमें विचार करने लग गये ॥ १ ॥

उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥ २ ॥

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥ ३ ॥
सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा ।
समागताश्च शतशो निहताश्च मया युधि ॥ ४ ॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः ।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥ ५ ॥
किं नु विद्याबलं किं नु वरदानमथो तव ।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥ ६ ॥
असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः ।
यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ॥ ७ ॥

फिर उन्होंने उस महान् सर्पसे कहा—'भुजङ्गप्रवर ! आप स्वेच्छापूर्वक बताइये । आप कौन हैं ? और मुझे पकड़कर क्या करेंगे ? मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ । मुझमें दस हजार हाथियोंका बल है, फिर भी न जाने कैसे आपने मुझे अपने वशमें कर लिया ! मेरे सामने सैकड़ों केसरी, सिंह, व्याघ्र, महिष और गजराज आये, किंतु मैंने सबको युद्धमें मार गिराया । पन्नगश्रेष्ठ ! राक्षस, पिशाच और महाबली नाग भी मेरी (इन) भुजाओंका वेग नहीं सह सकते थे । परंतु छूटनेके लिये मेरे उद्योग करनेपर भी आपने मुझे वशमें कर लिया, इसका क्या कारण है ? क्या आपमें किसी विद्याका बल है अथवा आपको कोई अद्भुत वरदान मिला है ? नागराज ! आज मेरी बुद्धिमें यही सिद्धान्त स्थिर हो रहा है कि मनुष्योंका पराक्रम झूठा है । जैसा कि इस समय आपने मेरे इस महान् बलको कुण्ठित कर दिया है' ॥ २–७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।
भोगेन महता गृह्य समन्तात् पर्यवेष्टयत् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें करनेवाले वीरवर भीमसेनको, जो अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले थे, उस अजगरने अपने विशाल शरीरसे जकड़कर चारों ओरसे लपेट लिया ॥ ८ ॥

निगृह्यैनं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा ।
विमुच्यास्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब इस प्रकार महाबाहु भीमसेनको अपने वशमें करके उस भुजङ्गमने उनकी दोनों मोटी-मोटी भुजाओंको छोड़ दिया और इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्टस्त्वं क्षुधितस्याद्य देवैर्भक्षो महाभुज ।
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् १०

'महाबाहो ! मैं दीर्घकालसे भूखा बैठा था, आज सौभाग्यवश देवताओंने तुम्हें ही मेरे लिये भोजनके रूपमें भेज दिया है । सभी देहधारियोंको अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्परूपमरिंदम ।
तथावश्यं मया ख्याप्यं तवाद्य शृणु सत्तम ॥ ११ ॥

'शत्रुदमन ! जिस प्रकार मुझे यह सर्पका शरीर प्राप्त हुआ है, वह आज अवश्य तुमसे बतलाना है । सज्जन-शिरोमणे ! तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तो ह्यहं कोपान्मनीषिणाम् ।
शापस्यान्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत् कथयामि ते ॥ १२ ॥

'मैं मनीषी महात्माओंके कोपसे इस दुर्दशाको प्राप्त हुआ हूँ और इस शापके निवारणकी प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहता हूँ । शापका क्या कारण है ? यह सब तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ॥ १३ ॥

'मैं राजर्षि नहुष हूँ, अवश्य ही यह मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा । मैं तुम्हारे पूर्वजोंका भी पूर्वज हूँ । महाराज आयुका वंशप्रवर्तक पुत्र हूँ ॥ १३ ॥

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥ १४ ॥

'मैं ब्राह्मणोंका अनादर करके महर्षि अगस्त्यके शापसे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ । मेरे इस दुर्भाग्यको अपने आँखों देख लो ॥ १४ ॥

त्वां चेदवध्यं दायादमतीव प्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥ १५ ॥

'तुम यद्यपि अवध्य हो; क्योंकि मेरे ही वंशज हो । देखनेमें अत्यन्त प्रिय लगते हो तथापि आज तुम्हें अपना आहार बनाऊँगा । देखो, विधाताका कैसा विधान है ! ॥ १५ ॥

न हि मे मुच्यते कश्चित् कथंचित् प्रग्रहं गतः ।
गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम ॥ १६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! दिनके छठे भागमें कोई भैंसा अथवा हाथी ही क्यों न हो, मेरी पकड़में आ जानेपर किसी तरह छूट नहीं सकता ॥ १६ ॥

नासि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥ १७ ॥

'कौरवश्रेष्ठ ! तुम तिर्यग् योनिमें पड़े हुए किसी साधारण सर्पकी पकड़में नहीं आये हो । किंतु मुझे ऐसा ही वरदान मिला है (इसीलिये मैं तुम्हें पकड़ सका हूँ) ॥ १७ ॥

पतता हि विमानाग्र्यान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान् मुनिसत्तमः ॥ १८ ॥

'जब मैं इन्द्रके सिंहासनसे भ्रष्ट हो शीघ्रतापूर्वक श्रेष्ठ विमानसे नीचे गिरने लगा, उस समय मैंने मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्यसे प्रार्थना की कि प्रभो ! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये ॥ १८ ॥

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन् कस्माच्चित् कालपर्ययात् ॥ १९ ॥

'उस समय उन तेजस्वी महर्षिने दयासे द्रवित होकर मुझसे कहा—'राजन्! कुछ कालके पश्चात् तुम इस शापसे मुक्त हो जाओगे' ॥ १९ ॥

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात् स्मृतिः ।
स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाधिगतं तथा ॥ २० ॥

'उनके इतना कहते ही मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा । परंतु आज भी वह पुरानी स्मरण-शक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है । यद्यपि यह वृत्तान्त बहुत पुराना हो चुका है तथापि जो कुछ जैसे हुआ था, वह सब मुझे ज्यों-का-त्यों स्मरण है ॥ २० ॥

यस्तु ते व्याहृतान् प्रश्नान् प्रतिब्रूयाद् विभागवित् ।
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ॥२१॥

महर्षिने मुझसे कहा था कि 'जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका विभागपूर्वक उत्तर दे दे, वही तुम्हें शापसे छुड़ा सकता है ॥ २१ ॥

गृहीतस्य त्वया राजन् प्राणिनोऽपि बलीयसः ।
सत्त्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याशु भविष्यति ॥ २२ ॥

'राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे वह बलवान्-से-बलवान् प्राणी क्यों न हो, उसका भी धैर्य छूट जायगा । एवं तुमसे अधिक शक्तिशाली पुरुष क्यों न हो, सबका साहस शीघ्र ही खो जायगा' ॥ २२ ॥

इति चाप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥ २३ ॥

'इस प्रकार मेरे प्रति हार्दिक दयाभाव उत्पन्न हो जानेके कारण उन दयालु महर्षियोंने जो बात कही थी, वह भी मैंने स्पष्ट सुनी । तत्पश्चात् वे सारे महर्षि अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकाङ्क्षी महाद्युते ॥ २४ ॥

'महाद्युते! इस प्रकार मैं अत्यन्त दुष्कर्मी होनेके कारण इस अपवित्र नरकमें निवास करता हूँ । इस सर्पयोनिमें पड़कर इससे छूटनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हूँ' ॥ २४ ॥

तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजङ्गमम् ।
न च कुप्ये महासर्प न चात्मानं विगर्हये ॥ २५ ॥

तब महाबाहु भीमने उस अजगरसे कहा —'महासर्प! न तो मैं आपपर क्रोध करता हूँ और न अपनी ही निन्दा करता हूँ ॥ २५ ॥

यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः ।
आगमे यदि वापाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ २६ ॥

'क्योंकि मनुष्य सुख-दुःखकी प्राप्ति अथवा निवृत्तिमें कभी असमर्थ होता है और कभी समर्थ । अतः किसी भी दशामें अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये ॥ २६ ॥

दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति ।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥ २७ ॥

कौन ऐसा मनुष्य है, जो पुरुषार्थके बलसे दैवको वञ्चित कर सके । मैं तो दैवको ही बड़ा मानता हूँ, पुरुषार्थ व्यर्थ है ॥ २७ ॥

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम् ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तमनिमित्तमिहाद्य माम् ॥ २८ ॥

'देखिये, दैवके आघातसे आज मैं अकारण ही यहाँ इस दशाको प्राप्त हो गया हूँ । नहीं तो मुझे अपने बाहुबलका बड़ा भरोसा था ॥ २८ ॥

किंतु नाद्यानुशोचामि तथाऽऽत्मानं विनाशितम् ।
यथा तु विपिने न्यस्तान् भ्रातॄन् राज्यपरिच्युतान् ॥

परंतु आज मैं अपनी मृत्युके लिये उतना शोक नहीं करता हूँ, जितना कि राज्यसे वञ्चित हो वनमें पड़े हुए अपने भाइयोंके लिये मुझे शोक हो रहा है ॥ २९ ॥

हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः ।
मां समुद्वीक्षमाणास्ते प्रपतिष्यन्ति विह्वलाः॥ ३० ॥

'यक्षों तथा राक्षसोंसे भरा हुआ यह हिमालय अत्यन्त दुर्गम है, मेरे भाई व्याकुल होकर जब मुझे खोजेंगे, तब अवश्य कहीं खंदकमें गिर पड़ेंगे ॥ ३० ॥

विनष्टमथ मां श्रुत्वा भविष्यन्ति निरुद्यमाः ।
धर्मशीला मया ते हि बाध्यन्ते राज्यगृद्धिना ॥ ३१ ॥

'मेरी मृत्यु हुई सुनकर वे राज्य-प्राप्तिका सारा उद्योग छोड़ बैठेंगे । मेरे सभी भाई स्वभावतः धर्मात्मा हैं । मैं ही राज्यके लोभसे उन्हें युद्धके लिये बाध्य करता रहता हूँ ॥ ३१ ॥

अथवा नार्जुनो धीमान् विषादमुपयास्यति ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥ ३२ ॥

'अथवा बुद्धिमान् अर्जुन विषादमें नहीं पड़ेंगे, क्योंकि वे सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता हैं । देवता, गन्धर्व तथा राक्षस भी उन्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात् प्रच्यावयितुमञ्जसा ॥ ३३ ॥

'महाबली महाबाहु अर्जुन अकेले ही देवराज इन्द्रको भी अनायास ही अपने स्थानसे हटा देनेमें समर्थ हैं ॥ ३३ ॥

किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दम्भमोहपरायणम् ॥ ३४ ॥

'फिर उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको जीतना उनके लिये

कौन बड़ी बात है, जो कपटद्यूतका सेवन करनेवाला, लोकद्रोही, दम्भी तथा मोहमें डूबा हुआ है ॥ ३४ ॥

मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्।
यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ॥ ३५ ॥

'मैं पुत्रोंके प्रति स्नेह रखनेवाली अपनी उस दीन माताके लिये शोक करता हूँ, जो सदा यह आशा रखती है कि हम सभी भाइयोंका महत्त्व शत्रुओंसे बढ़-चढ़कर हो ॥ ३५ ॥

तस्याः कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद् भुजङ्गम।
सफलास्ते भविष्यन्ति मयि सर्वे मनोरथाः ॥ ३६ ॥

'भुजङ्गम ! मेरे मरनेसे मेरी अनाथ माताके वे सभी मनोरथ जो मुझपर अवलम्बित थे, कैसे सफल हो सकेंगे ? ॥ ३६ ॥

नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्तिनौ।
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥ ३७ ॥

'एक साथ जन्म लेनेवाले नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी आज्ञाके पालनमें लगे रहते हैं। मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो वे दोनों भाई सर्वदा अपने पौरुषपर अभिमान रखते हैं ॥ ३७ ॥

भविष्यतो निरुत्साहौ भ्रष्टवीर्यपराक्रमौ।
मद्विनाशात् परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ॥ ३८ ॥

'वे मेरे विनाशसे उत्साहशून्य हो जायँगे, अपने बल और पराक्रम खो बैठेंगे और सर्वथा शक्तिहीन हो जायँगे, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ ३८ ॥

एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः।
भुजङ्गभोगसंरुद्धो नाशकच्च विचेष्टितुम् ॥ ३९ ॥

जनमेजय ! उस समय भीमसेनने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर देरतक विलाप किया। वे सर्पके शरीरसे इस प्रकार जकड़ गये थे कि हिल-डुल भी नहीं सकते थे ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः।
अनिष्टदर्शनान् घोरानुत्पातान् परिचिन्तयन् ॥ ४० ॥

उधर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अनिष्टसूचक भयंकर उत्पातोंको देखकर बड़ी चिन्तामें पड़े। वे व्याकुल हो गये ॥ ४० ॥

दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याश्रमस्य ह ॥ ४१ ॥

उनके आश्रमसे दक्षिण दिशामें, जहाँ आग लगी हुई थी, एक डरी हुई सियारिन खड़ी हो दारुण अमङ्गलसूचक आर्तनाद करने लगी ॥ ४१ ॥

एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना।
रक्तं वमन्ती ददृशे प्रत्यादित्यमभासुरा ॥ ४२ ॥

एक पाँख, एक आँख तथा एक पैरवाली भयंकर और मलिन वर्तिका (बटेर चिड़ियाँ) सूर्यकी ओर रक्त उगलती हुई दिखायी दी ॥ ४२ ॥

प्रववौ चानिलो रूक्षश्चण्डः शर्करकर्षणः।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥ ४३ ॥

उस समय कंकड़ बरसानेवाली रूखी और प्रचण्ड वायु बह रही थी और पशु-पक्षियोंके सम्पूर्ण शब्द दाहिनी ओर हो रहे थे ॥ ४३ ॥

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ॥ ४४ ॥

पीछेकी ओरसे काला कौवा 'जाओ-जाओ' की रट लगा रहा था और उनकी दाहिनी बाँह बार-बार फड़क उठती थी ॥ ४४ ॥

हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परितप्यति।
सव्यस्याक्ष्णो विकारश्चाप्यनिष्टः समपद्यत ॥ ४५ ॥

उनके हृदय तथा बायें पैरमें पीड़ा होने लगी। बायीं आँखमें अनिष्टसूचक विकार उत्पन्न हो गया ॥ ४५ ॥

धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद् भयम्।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥ ४६ ॥

भारत ! परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने भी अपने मनमें महान् भय मानते हुए द्रौपदीसे पूछा—'भीमसेन कहाँ है ?' ॥ ४६ ॥

शशंस तस्मै पाञ्चाली चिरयातं वृकोदरम्।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥ ४७ ॥

द्रौपदीने उत्तर दिया—'उनको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी'—यह सुनकर महाबाहु महाराज युधिष्ठिर महर्षि धौम्यके साथ उनकी खोजके लिये चल दिये ॥ ४७ ॥

द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनंजयम्।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान् प्रति ॥ ४८ ॥

जाते समय उन्होंने अर्जुनसे कहा—'द्रौपदीकी रक्षा करना।' फिर उन्होंने नकुल और सहदेवको ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये आज्ञा दी ॥ ४८ ॥

स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाश्रमात् प्रभुः।
मृगयामास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ॥ ४९ ॥

शक्तिशाली कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उस महान् वनमें भीमसेनके पदचिह्न देखते हुए उस आश्रमसे निकलकर सब ओर खोजा ॥ ४९ ॥

स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान्।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्नितान् ॥ ५० ॥

पहले पूर्व दिशामें जाकर हाथियोंके बड़े-बड़े यूथपतियोंको देखा। वहाँकी भूमि भीमसेनके पद-चिह्नोंसे चिह्नित थी ॥ ५० ॥

ततो मृगसहस्राणि मृगेन्द्राणां शतानि च।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याविशन्नृपः॥ ५१॥

वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने वनमें सैकड़ों सिंह और हजारों अन्य हिंसक पशु पृथ्वीपर पड़े देखे। देखकर भीमसेनके मार्गका अनुसरण करते हुए राजाने उसी वनमें प्रवेश किया॥ ५१॥

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः।
ऊरुवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्जिताः पथि॥ ५२॥

वायुके समान वेगशाली वीरवर भीमसेनके शिकारके लिये दौड़नेपर मार्गमें उनकी जाँघोंके आघातसे टूटकर पड़े हुए बहुत-से वृक्ष दिखायी दिये॥ ५२॥

स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले॥ ५३॥
ईरिणे निर्जले देशे कण्टकिद्रुमसंकुले।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे।
गृहीतं भुजगेन्द्रेण निश्चेष्टमनुजं तदा॥ ५४॥

तब उन्हीं पद-चिह्नोंके सहारे जाकर उन्होंने पर्वतकी कन्दरामें अपने भाई भीमसेनको देखा, जो अजगरकी पकड़में आकर चेष्टाशून्य हो गये थे। उक्त पर्वतकी कन्दरामें विशेष रूपसे रूक्ष वायु चलती थी। वह गुफा ऐसे वृक्षोंसे ढकी थी, जिनमें नाममात्रके लिये भी पत्ते नहीं थे। इतना ही नहीं, वह स्थान ऊसर, निर्जल, काँटेदार वृक्षोंसे भरा हुआ, पत्थर, ठूँठ और छोटे वृक्षोंसे व्याप्त, अत्यन्त दुर्गम और ऊँचा-नीचा था॥ ५३—५४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरभीमदर्शने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरको भीमसेनके दर्शनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७९॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनके पास पहुँचना और सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम्।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सर्पके शरीरसे बँधे हुए अपने प्रिय भाई भीमसेनके पास पहुँचकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने इस प्रकार पूछा—॥ १॥

कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान्।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः॥ २॥
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
कथयामास तत् सर्वं ग्रहणादि विचेष्टितम्॥ ३॥

'कुन्तीनन्दन! तुम कैसे इस विपत्तिमें फँस गये? और यह पर्वतके समान लम्बा-चौड़ा श्रेष्ठ नाग कौन है?' अपने बड़े भ्राता धर्मराज युधिष्ठिरको वहाँ उपस्थित देख भाई भीमसेनने अपने पकड़े जाने आदिकी सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं॥ २-३॥

भीम उवाच

अयमार्य महासत्त्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान्।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः॥ ४॥

भीम बोले—आर्य! ये वायुभक्षी सर्पके रूपमें बैठे हुए महान् शक्तिशाली साक्षात् राजर्षि नहुष हैं, इन्होंने मुझे अपना आहार बनानेके लिये पकड़ रक्खा है॥ ४॥

युधिष्ठिर उवाच

मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽमितविक्रमः।
वयमाहारमन्यं ते दास्यामः क्षुन्निवारणम्॥ ५॥

तब युधिष्ठिरने सर्पसे कहा—आयुष्मन् ! आप मेरे इस अनन्त पराक्रमी भाईको छोड़ दें। हमलोग आपकी भूख मिटानेके लिये दूसरा भोजन देंगे ॥ ५ ॥

सर्प उवाच

आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत्॥ ६ ॥

सर्प बोला—राजन्! यह राजकुमार मेरे मुखके पास स्वयं आकर मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है। तुम जाओ, यहाँ ठहरना उचित नहीं है; अन्यथा कलतक तुम भी मेरे आहार बन जाओगे ॥ ६ ॥

व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत्।
स मे भक्षो भवेत् तात त्वं चापि विषये मम॥ ७ ॥

महाबाहो! मेरा यह नियम है कि मेरी अधिकृत भूमिके भीतर जो भी आ जायगा, वह मेरा भक्ष्य बन जायगा। तात! इस समय तुम भी मेरे अधिकारकी सीमामें ही आ गये हो ॥ ७ ॥

चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकाङ्क्षये॥ ८ ॥

दीर्घकालतक उपवास करनेके बाद आज यह तुम्हारा छोटा भाई मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है, अतः न तो मैं इसे छोड़ूँगा और न इसके बदलेमें दूसरा आहार ही लेना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान् यदि।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः।
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजङ्गम॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प! तुम कोई देवता हो या दैत्य, अथवा वास्तवमें सर्प ही हो? सच बताओ, तुमसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहा है। भुजङ्गम! किस लिये तुमने भीमसेनको ही अपना ग्रास बनाया है? ॥ ९ ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद् भुजङ्गम।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद् भवानिमम्॥ १० ॥

बोलो, तुम्हारे लिये क्या ला दिया जाय? अथवा तुम्हें किस बातका ज्ञान करा दिया जाय? जिससे तुम प्रसन्न होओगे। मैं कौन-सा आहार दे दूँ अथवा किस उपायका अवलम्बन करूँ, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो? ॥ १० ॥

सर्प उवाच

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप॥ ११ ॥

सर्प बोला—निष्पाप नरेश! मैं पूर्वजन्ममें तुम्हारा विख्यात पूर्वज नहुष नामका राजा था। चन्द्रमासे पाँचवीं पीढ़ीमें जो आयु नामक राजा हुए थे, उन्हींका मैं पुत्र हूँ ॥ ११ ॥

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥ १२ ॥

मैंने अनेक यज्ञ किये, तपस्या की, स्वाध्याय किया तथा अपने मन और इन्द्रियोंके संयमरूप योगका अभ्यास किया। इन सत्कर्मोंसे तथा अपने पराक्रमसे भी मुझे तीनों लोकोंका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त हुआ था ॥ १२ ॥

तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत् तदा।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम॥ १३ ॥
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान्।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते॥ १४ ॥
न तु मामजहात् प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव।
तस्यैवानुग्रहाद् राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः॥ १५ ॥

तब उस ऐश्वर्यको पाकर मेरा अहङ्कार बढ़ गया। मैंने सहस्रों ब्राह्मणोंसे अपनी पालकी ढुलवायी। तदनन्तर ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो मैंने बहुत-से ब्राह्मणोंका अपमान किया। पृथ्वीपते! इससे कुपित हुए महर्षि अगस्त्यने मुझे इस अवस्थाको पहुँचा दिया। पाण्डुनन्दन नरेश! उन्हीं महात्मा अगस्त्यकी कृपासे आजतक मेरी स्मरणशक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है। (मेरी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है) ॥ १३—१५ ॥

षष्ठे काले मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये॥ १६ ॥

महर्षिके शापके अनुसार दिनके छठे भागमें तुम्हारा यह छोटा भाई मुझे भोजनके रूपमें प्राप्त हुआ है। अतः मैं न तो इसे छोड़ूँगा और न इसके बदले दूसरा आहार लेना चाहता हूँ ॥ १६ ॥

प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम।
अथ पश्चाद् विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम्॥ १७ ॥

परंतु एक बात है, यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नोंका अभी उत्तर दे दोगे, तो उसके बाद मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको छोड़ दूँगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजङ्गम॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प! तुम इच्छानुसार प्रश्न करो। मैं तुम्हारी बातका उत्तर दूँगा। भुजङ्गम! यदि हो सका, तो तुम्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा ॥ १८ ॥

वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद् भवान् वेत्ति केवलम्।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः॥ १९ ॥

सर्पराज ! ब्राह्मणको इस जीवनमें जो कुछ जानना चाहिये, वह केवल तत्त्व तुम जानते हो या नहीं। यह सुनकर मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा ॥ १९ ॥

सर्प उवाच

ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ २० ॥

सर्प बोला—राजा युधिष्ठिर ! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिये जानने योग्य तत्त्व क्या है ? तुम्हारी बातें सुननेसे मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तुम अतिशय बुद्धिमान् हो ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—नागराज ! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरताका अभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है ॥ २१ ॥

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत्।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

सर्प ! जानने योग्य तत्त्व तो परम ब्रह्म ही है, जो दुःख और सुखसे परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोकके पार हो जाता है। बताओ, तुम्हें अब इस विषयमें क्या कहना है ? ॥ २२ ॥

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

सर्प बोला—युधिष्ठिर ! सत्य एवं प्रमाणभूत ब्रह्म तो चारों वर्णोंके लिये हितकर है। सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरताका अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्गुण तो शूद्रोंमें भी रहते हैं ॥ २३ ॥

वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप।
ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! तुमने यहाँ जो जानने योग्य तत्त्वको दुःख और सुखसे परे बताया है, सो दुःख और सुखसे रहित किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता ही मैं नहीं देखता हूँ ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २५ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—यदि शूद्रमें सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प ! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये ॥

यत् पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदमस्तीति चेदपि ॥ २७ ॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २८ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं क्वचित्।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २९ ॥

अब तुमने जो यह कहा कि सुख-दुःखसे रहित कोई दूसरा वेद्य तत्त्व है ही नहीं, सो तुम्हारा यह मत ठीक है। सुख-दुःखसे शून्य कोई पदार्थ नहीं है। किंतु एक ऐसा पद है भी। जिस प्रकार बर्फमें उष्णता और अग्निमें शीतलता कहीं नहीं रहती, उसी प्रकार जो वेद्य-पद है, वह वास्तवमें सुख-दुःखसे रहित ही है। नागराज ! मेरा तो यही विचार है, फिर आप जैसा मानें ॥ २७–२९ ॥

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ ३० ॥

सर्प बोला—आयुष्मन् नरेश ! यदि आचारसे ही ब्राह्मणकी परीक्षा की जाय, तब तो जबतक उसके अनुसार कर्म न हो जाति व्यर्थ ही है ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महासर्प ! महामते ! मनुष्योंमें जातिकी परीक्षा करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि इस समय सभी वर्णोंका परस्पर संकर (सम्मिश्रण) हो रहा है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ३१ ॥

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ ३२ ॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥

सभी मनुष्य सदा सब जातियोंकी स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न कर रहे हैं। वाणी, मैथुन तथा जन्म और मरण—ये सब मनुष्योंमें एक-से देखे जाते हैं। इस विषयमें यह आर्षप्रमाण भी मिलता है—'ये यजामहे' यह श्रुति जातिका निश्चय न होनेके कारण ही जो हमलोग यज्ञ कर रहे हैं, ऐसा सामान्यरूपसे निर्देश करती है। इसलिये जो तत्त्वदर्शी विद्वान् हैं, वे शीलको ही प्रधानता देते हैं और उसे ही अभीष्ट मानते हैं ॥ ३२-३३ ॥

प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ ३४ ॥

जब बालकका जन्म होता है, तब नालच्छेदनके पूर्व उसका जातकर्म-संस्कार किया जाता है । उसमें उसकी माता सावित्री कहलाती है और पिता आचार्य ॥ ३४ ॥

तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद् वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ॥ ३६ ॥

जबतक बालकका संस्कार करके उसे वेदका स्वाध्याय न कराया जाय, तबतक वह शूद्रहीके समान है । जाति-विषयक संदेह होनेपर स्वायम्भुव मनुने यही निर्णय दिया है । नागराज ! यदि वैदिक संस्कार करके वेदाध्ययन करने-पर भी ब्राह्मणादि वर्णोंमें अपेक्षित शील और सदाचारका उदय नहीं हुआ तो उसमें प्रबल वर्णसंकरता है, ऐसा विचार-पूर्वक निश्चय किया गया है ॥ ३५-३६ ॥

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥ ३७ ॥

महासर्प ! भुजङ्गमप्रवर ! इस समय जिसमें संस्कारके साथ-साथ सदाचारकी उपलब्धि हो, वही ब्राह्मण है । यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ ॥ ३७ ॥

सर्प उवाच

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद् भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३८ ॥

सर्प बोला—युधिष्ठिर ! तुम जानने योग्य सभी बातें जानते हो ! मैंने तुम्हारी बात अच्छी तरह सुन ली । अब मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको कैसे खा सकता हूँ ? ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरसर्पसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरसर्पसंवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने प्रश्नोंका उचित उत्तर पाकर संतुष्ट हुए सर्परूपधारी नहुषका भीमसेनको छोड़ देना तथा युधिष्ठिरके साथ वार्तालाप करनेके प्रभावसे सर्पयोनिसे मुक्त होकर स्वर्ग जाना

युधिष्ठिर उवाच

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद् गतिरनुत्तमा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तुम सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी हो । लोकमें तुम्हारी ऐसी ही ख्याति है । बताओ, किस कर्मके आचरणसे सर्वोत्तम गति प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

सर्प उवाच

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

सर्पने कहा—भारत ! इस विषयमें मेरा विचार यह है कि मनुष्य सत्पात्रको दान देनेसे, सत्य और प्रिय वचन बोलनेसे तथा अहिंसा-धर्ममें तत्पर रहनेसे स्वर्ग (उत्तम गति) पा सकता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दानाद् वा सर्प सत्याद् वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नागराज ! दान और सत्यमें किसका पलड़ा भारी देखा जाता है ? अहिंसा और प्रिय-भाषण—इनमेंसे किसका महत्त्व अधिक है और किसका कम ? यह बताओ ॥ ३ ॥

सर्प उवाच

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥

सर्पने कहा—महाराज ! दान, सत्य-तत्त्व, अहिंसा और प्रियभाषण—इनकी गुरुता और लघुता कार्यकी महत्ताके अनुसार देखी जाती है ॥ ४ ॥

कस्माच्चिद् दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किंचिद् दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! किसी दानसे सत्यका ही महत्त्व बढ़ जाता है और कोई-कोई दान ही सत्यभाषणसे अधिक महत्त्व रखता है ॥५॥

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥

महान् धनुर्धर भूपाल ! इसी प्रकार कहीं तो प्रिय वचनकी अपेक्षा अहिंसाका गौरव अधिक देखा जाता है और कहीं अहिंसासे भी बढ़कर प्रियभाषणका महत्त्व दृष्टिगोचर होता है॥

एवमेतद् भवेद् राजन् कार्यापेक्षमनन्तरम्।
यदभिप्रेतमन्यत् ते ब्रूहि यावद् ब्रवीम्यहम्॥ ७॥

राजन्! इस प्रकार इनके गौरव-लाघवका निश्चय कार्यकी अपेक्षासे ही होता है। अब और जो कुछ भी प्रश्न तुम्हें अभीष्ट हो, वह पूछो। मैं यथासाध्य उत्तर देता हूँ॥ ७॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम्।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे॥ ८॥

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प! मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति और कर्मोंका निश्चयरूपसे मिलनेवाला फल किस प्रकार देखनेमें आता है एवं देहाभिमानसे रहित पुरुषकी गति किस प्रकार होती है? इन विषयोंको मुझसे भलीभाँति कहिये॥ ८॥

सर्प उवाच

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः।
मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत् त्रिधा॥ ९॥

सर्पने कहा—राजन्! अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जीवोंकी तीन प्रकारकी गतियाँ देखी जाती हैं—स्वर्गलोककी प्राप्ति, मनुष्ययोनिमें जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें (तथा नरकोंमें) उत्पन्न होना।* बस, ये ही तीन योनियाँ हैं॥ ९॥

तत्र वै मानुषाल्लोकाद् दानादिभिरतन्द्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते॥ १०॥

इनमेंसे जो जीव मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होता है, पर यदि आलस्य और प्रमादका त्याग करके अहिंसाका पालन करते हुए दान आदि शुभ कर्म करता है, तो उसे इन पुण्य कर्मोंके कारण स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है॥ १०॥

विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत्।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥ ११॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते॥ १२॥

राजेन्द्र! इसके विपरीत कारण उपस्थित होनेपर मनुष्ययोनिमें तथा पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म लेना पड़ता है। तात! पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेनेका जो विशेष कारण है, उसे भी यहाँ बतलाया जाता है। जो काम, क्रोध, लोभ और हिंसामें तत्पर होकर मानवतासे भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मनुष्य होनेकी योग्यताको भी खो देता है, वही पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म पाता है॥ ११-१२॥

तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते॥ १३॥

फिर मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिके लिये उसका तिर्यक्-योनिसे उद्धार होता है। गौओं तथा अश्वोंको भी उस योनिसे छुटकारा मिलकर देवत्वकी प्राप्ति होती है, यह बात देखी जाती है॥

सोऽयमेता गतीस्तात जन्तुश्चरति कार्यवान्।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः॥ १४॥
जातो जातश्च बलवद् भुङ्क्ते चात्मा स देहवान्।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजापालनभावनः॥ १५॥

तात! प्रयोजनवश वही यह जीव इन्हीं तीन गतियोंमें भटकता रहता है। कर्मफलको चाहनेवाला देहाभिमानी जीव परवशतासे बार-बार जन्म लेता और दुःख-सुखका उपभोग करता है। किंतु तात! जो कर्म-फलमें आसक्त नहीं है, वह प्रजाजनोंके पालनकी भावनावाला द्विज अपने आत्माको नित्य परब्रह्म परमात्मामें भलीभाँति स्थित कर देता है॥ १४-१५॥

युधिष्ठिर उवाच

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम्॥ १६॥

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प! शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इनका आधार क्या है? आप शान्तचित्त होकर इसे यथार्थरूपसे बताइये॥ १६॥

किं न गृह्णाति विषयान् युगपच्च महामते।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम॥ १७॥

महामते! पन्नगश्रेष्ठ! मन विषयोंका एक ही साथ ग्रहण क्यों नहीं करता? इन उपर्युक्त सब बातोंको बताइये॥१७॥

सर्प उवाच

यदात्मद्रव्यमायुष्मन् देहसंश्रयणान्वितम्।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि॥ १८॥

सर्पने कहा—आयुष्मन्! स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंका आश्रय लेनेवाला और इन्द्रियोंसे युक्त जो आत्मा नामक द्रव्य है, वही विधिपूर्वक नाना प्रकारके भोगोंको भोगता है॥ १८॥

ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे॥ १९॥

भरतश्रेष्ठ! ज्ञान, बुद्धि और मन—ये ही शरीरमें उसके करण समझो॥ १९॥

मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान्।
विषयायतनस्थो हि भूतात्मा क्षेत्रमास्थितः॥ २०॥

---

* ये ही क्रमशः ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिके नामसे प्रसिद्ध हैं।

तात ! पाँचों विषयोंके आधारभूत पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें स्थित जीवात्मा इस शरीरमें स्थित हुआ ही मनके द्वारा क्रमशः इन पाँचों विषयोंका उपभोग करता है ॥२०॥

तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते ।
तस्माद् युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! विषयोंके उपभोगके समय (बुद्धिके द्वारा) इस जीवात्माका मन किसी एक ही विषयमें नियन्त्रित कर दिया जाता है । इसीलिये उसके द्वारा एक ही साथ अनेक विषयोंका ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है ॥ २१ ॥

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः ।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! वही आत्मा दोनों भौंहोंके बीच स्थित होकर उत्तम-अधम बुद्धिको भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी ओर प्रेरित करता है॥

बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः ।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥

बुद्धिकी क्रियाके उत्तर-कालमें भी विद्वान् पुरुषोंको एक अनुभूति दिखायी देती है । नृपश्रेष्ठ ! यही क्षेत्रज्ञ आत्माको प्रकाशित करनेवाली विधि है ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम् ।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सर्प ! मुझे मन और बुद्धिका उत्तम लक्षण बतलाओ । अध्यात्म-शास्त्रके विद्वानोंके लिये इनको जानना परम कर्तव्य कहा गया है ॥ २४ ॥

सर्प उवाच

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि संज्ञैषा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत् ॥ २५ ॥
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि ।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद् भवेत् ॥ २६ ॥

तात ! आत्माके भोग और मोक्षका सम्पादन करना ही बुद्धिका प्रयोजन है तथा आत्माका आश्रय लेकर ही बुद्धि विषयोंकी ओर जाती है । इस कारण वह आत्माका अनुसरण करनेवाली मानी जाती है । वह भी आत्माकी चेतनशक्तिके सम्बन्धसे ही है तथा बुद्धिके गुणविधानसे अर्थात् उसकी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे ही मन उस गुणसे सम्पन्न होता है यानी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है । अतः बुद्धि तो कार्यके आरम्भसे प्रकट होती है और मन सदैव प्रकट रहता है । (कार्यको देखकर ही कारणकी सत्ता व्यक्त होती है—यह न्याय है) ॥ २५-२६ ॥

एतद् विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदन्तरम् ।
त्वमप्यत्राभिसम्बुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ॥ २७ ॥

तात ! मन और बुद्धिकी यह विशेषता ही उन दोनोंका अन्तर है । तुम भी तो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हो, अतः बताओ, तुम्हारी कैसी मान्यता है ? ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात् समनुपृच्छसि ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारी यह बुद्धि बड़ी उत्तम है । तुम तो जाननेयोग्य वस्तुको जान चुके हो । फिर मुझसे क्यों पूछते हो ? ॥ २८ ॥

सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत् स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥ २९ ॥

तुम तो सर्वज्ञ तथा स्वर्गके निवासी थे । तुमने बड़े अद्भुत कर्म किये थे । भला, तुम्हें कैसे मोह हो गया ? (अर्थात् ब्राह्मणोंका अपमान कैसे कर बैठे ?) इस बातको लेकर मेरे मनमें बड़ा संशय हो रहा है ॥ २९ ॥

सर्प उवाच

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥

सर्पने कहा—राजन् ! यह धन-संपत्ति बड़े-बड़े बुद्धिमान् और शूरवीर मनुष्यको भी मोहमें डाल देती है । मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुख-विलासमें डूबे हुए सभी लोग मोहित हो जाते हैं ॥ ३० ॥

सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसम्बुद्धस्त्वां तु सम्बोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! इसी तरह मैं भी ऐश्वर्यके मोहसे मदोन्मत्त हो गया और मुझे उस समय चेत हुआ, जब कि मेरा अधःपतन हो चुका । अतः अब तुम्हें सचेत कर रहा हूँ ॥ ३१ ॥

कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया सम्भाष्य साधुना॥३२॥

परंतप महाराज ! आज तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य किया । इस समय तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषसे वार्तालाप करनेके कारण मेरा वह अत्यन्त कष्टदायक शाप निवृत्त हो गया ॥ ३२ ॥

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन् कंचिन्नान्यमचिन्तयम् ॥ ३३ ॥

पूर्वकालमें (जब मैं स्वर्गका राजा था,) दिव्य विमानपर चढ़कर आकाशमें विचरता रहता था । उस समय अभिमानसे मत्त होकर मैं दूसरे किसीको कुछ नहीं समझता था ॥३३॥

ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
करान् मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि, जो भी इस त्रिलोकीमें निवास करनेवाले प्राणी थे, वे सब मुझे कर देते थे ॥ ३४ ॥

चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम ॥ ३५ ॥

राजन्! उन दिनों मैं जिस प्राणीकी ओर आँख उठाकर देखता था, उसका तेज तत्काल हर लेता था। यह थी मेरी दृष्टिकी शक्ति ॥ ३५ ॥

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम।
स मामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः ॥ ३६ ॥

हजारों ही ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोते थे। महाराज! मेरे इसी अत्याचारने मुझे स्वर्गकी राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट कर दिया ॥

तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तः सर्पस्त्वं च भवेति ह ॥ ३७ ॥

स्वर्गमें मुनिवर अगस्त्य जब मेरी पालकी ढो रहे थे, तब मैंने उन्हें लात मारी, इसलिये उन्होंने मुझे ऐसा कहा कि 'तू निश्चय ही सर्प हो जा' ॥ ३७ ॥

ततस्तस्माद् विमानाग्र्यात् प्रच्युतश्च्युतलक्षणः।
प्रपतन् बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम्।
अयाचं तमहं विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ३८ ॥

उनके इतना कहते ही मेरे सभी राज-चिह्न लुप्त हो गये। मैं (सर्प होकर) उस उत्तम विमानसे नीचे गिरा। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं सर्प होकर नीचे मुँह किये गिर रहा हूँ; तब मैंने शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन ब्रह्मर्षिसे याचना करते हुए कहा ॥ ३८ ॥

सर्प उवाच

प्रमादात् सम्प्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुमर्हसि।
ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ॥ ३९ ॥

सर्पने कहा—भगवन्! मैं प्रमादवश विवेकशून्य हो गया था। इसीलिये मुझसे यह घोर अपराध हुआ है। आप कृपया क्षमा करें। तब मुझे गिरते देख वे महर्षि दयासे द्रवित होकर बोले—॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात् त्वां मोक्षयिष्यति।
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ॥ ४० ॥
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि।
ततो मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम् ॥ ४१ ॥

'राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त करेंगे। महाराज! जब तुम्हारे इस अभिमान और घोर पापका फल क्षीण हो जायगा, तब तुम्हें फिर तुम्हारे पुण्योंका फल प्राप्त होगा'। उस समय मुझे उनकी तपस्याका महान् बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४०-४१ ॥

ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम्।
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ॥ ४२ ॥
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।
अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४३ ॥

राजन्! उनका ब्रह्म-ज्ञान और ब्राह्मणत्व देखकर भी मुझे बड़ा विस्मय हुआ। इसीलिये इस विषयमें मैंने तुमसे पहले प्रश्न किया था। राजन्! सत्य, इन्द्रियसंयम, तपस्या, दान, अहिंसा और धर्मपरायणता—ये सद्गुण ही सदा मनुष्योंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले हैं, जाति और कुल नहीं। ये रहे तुम्हारे भाई महाबली भीमसेन, जो सर्वथा सकुशल हैं। महाराज! तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोकको जाऊँगा ॥ ४२-४३ ॥

(स चायं पुरुषव्याघ्र कालः पुण्य उपागतः।
तदस्मात् कारणात् पार्थ कार्यं मम महत् कृतम्।)

पुरुषसिंह! पार्थ! तुम्हारे शुभागमनसे ही यह पुण्यकाल प्राप्त हुआ है, इस कारण तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तस्मिन् मुहूर्ते तु विमानं कामगामि वै।
अवपातेन महता तत्रावाप तदुत्तमम् ॥)
इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उसी मुहूर्तमें एक इच्छानुसार चलनेवाला उत्तम विमान बड़े जोरकी उड़ानके साथ वहाँ आ पहुँचा। युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके वे पुनः स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत् ॥ ४५ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर भी भाई भीमसेनसे मिलकर उनके और धौम्यमुनिके साथ फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने वहाँ एकत्र हुए सब ब्राह्मणोंको भीमसेनके सर्पके चंगुलसे छूटनेका वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४६ ॥

तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः ।
आसन् सुव्रीडिता राजन् द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ४७ ॥

राजन् ! यह सुनकर सब ब्राह्मण, उनके तीनों भाई और यशस्विनी द्रौपदी सब-के-सब बड़े लज्जित हुए ॥ ४७ ॥

ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पाण्डवानां हितेप्सया ।
मैवमित्यब्रुवन् भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम् ॥ ४८ ॥

तब पाण्डवोंके हितकी इच्छासे वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण भीमसेनको उनके दुःसाहसकी निन्दा करते हुए बोले-'अब कभी ऐसा न करना' ॥ ४८ ॥

पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम् ।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः ॥ ४९ ॥

पाण्डवलोग महाबली भीमसेनको भयसे मुक्त हुआ देख हर्षसे उल्लसित हो उठे और प्रसन्नतापूर्वक वहाँ विचरने लगे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनके सर्पके भयसे छूटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्षा और शरद्-ऋतुका वर्णन एवं युधिष्ठिर आदिका पुनः द्वैतवनसे काम्यकवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः ।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर ग्रीष्म ऋतुकी समाप्ति सूचित करनेवाला वर्षाकाल आया, जो समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाला था । पाण्डव अभी द्वैतवनमें ही थे, उसी समय वर्षा ऋतु आ गयी ॥ १ ॥

छादयन्तो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः ।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ॥ २ ॥

तब काले-काले मेघ जोर-जोरसे गर्जना करते हुए आकाश और दिशाओंमें छा गये और दिन-रात निरन्तर जलकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ॥ ३ ॥

वे वर्षामें तम्बूके समान जान पड़ते थे । उनकी संख्या सैकड़ों और हजारोंतक पहुँच गयी थी । उन्होंने सूर्यके प्रभापुञ्जको तो ढँक दिया था और विद्युत्की निर्मल प्रभा धारण कर ली थी ॥ ३ ॥

विरूढशष्पा धरणी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्वमनोरमा ॥ ४ ॥

धरतीपर घास जम गयी । मतवाले डाँस और सर्प आदि विचरने लगे । पृथ्वी जलसे अभिषिक्त होकर शान्त और सबके लिये मनोरम हो गयी ॥ ४ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदम्भसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वापि नद्यो वा स्थावराणि च ॥ ५ ॥

सब ओर इतना पानी भर गया कि ऊँचा-नीचा, समतल, नदी अथवा पेड़-पौधे आदिका पता नहीं चलता था ॥ ५ ॥

क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः ।
सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये ॥ ६ ॥

वर्षा ऋतुकी नदियाँ बड़े वेगसे छूटनेवाले शीघ्रगामी बाणोंकी भाँति सन-सनाती हुई चलती थीं । उनके जलमें हिलोरें उठती रहती थीं और वे कितने ही काननोंकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ ६ ॥

नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

वनके भीतर वर्षाकी बौछारोंसे भीगते और बोलते हुए वराह, मृग और पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोलियाँ सुनायी देती थीं॥

स्तोकका: शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥ ८ ॥

पपीहा और मोर नर-कोकिलोंके साथ आनन्दोन्मत्त होकर इधर-उधर उड़ने लगे और मेढक भी घमण्डमें आकर इधर-उधर कूदते और टर्र-टर्र करते थे ॥ ८ ॥

तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ९ ॥

पाण्डव अभी मरु-प्रदेशमें ही विचरते थे, तभी मेघोंकी गर्जनासे गूँजती तथा अनेक प्रकारके रूप-रंग लिये प्रकट हुई मङ्गलमयी वर्षा ऋतु भी बीत गयी ॥ ९ ॥

क्रौञ्चहंससमाकीर्णा शरत् प्रमुदिताभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥ १० ॥
विमलाकाशनक्षत्रा शरत् तेषां शिवाभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् आनन्दमयी शरद्-ऋतुका शुभागमन हुआ । क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी चारों ओर विचरने लगे । वनोंमें और पर्वतीय शिखरोंपर कास, कुश आदि बहुत बढ़ गये थे । नदियोंका जल स्वच्छ हो गया । आकाश निर्मल होनेसे नक्षत्रोंका आलोक और उज्ज्वल हो उठा । सब ओर मृग और पक्षी किलोल करने लगे । महात्मा पाण्डवोंके लिये यह शरद्-ऋतु अत्यन्त सुखदायिनी थी ॥ १०–११ ॥

दृश्यन्ते शान्तरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसङ्घैश्च सोमेन च विराजिताः ॥ १२ ॥

उस समयकी रातें धूलरहित एवं निर्मल दिखायी देती थीं । बादलोंके समान उनमें शीतलता थी । ग्रहों और नक्षत्रोंके समुदाय तथा चन्द्रमा उनकी शोभा बढ़ाते थे ॥१२॥

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंने देखा, नदियाँ और पोखरियाँ कुमुदों तथा कमल-पुष्पोंसे अलंकृत हैं । उनमें शीतल जल भरा हुआ है और वे सबके लिये सुखदायिनी प्रतीत होती हैं ॥ १३ ॥

आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसंकुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥ १४ ॥

पावन तीर्थोंसे विभूषित सरस्वती नदीका तट आकाशके समान निर्मल दिखायी देता था । उसके दोनों किनारे बेंतकी लहलहाती हुई लताओंसे आच्छादित थे । यहाँ विचरते हुए पाण्डवोंको बड़ा,आनन्द मिलता था ॥ १४ ॥

ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यन्तो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥

वीर पाण्डव सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले थे । उन्होंने स्वच्छ जलसे भरी हुई कल्याणमयी सरस्वतीका दर्शन करके बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ १५ ॥

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उनके वहीं रहते समय पर्वकी संधि-वेलामें कार्तिककी शरत्-पूर्णिमाकी परम पुण्यमयी रात्रि आयी ॥१६॥

पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पाण्डवाः ।
तत् सर्वे भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥ १७ ॥

उस समय भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, पुण्यात्मा, तपस्वी मुनियोंके साथ स्नान-दानादिके द्वारा उस उत्तम योगको पूर्णतः सफल बनाया ॥ १७ ॥

तमिस्राभ्युदये तस्मिन् धौम्येन सह पाण्डवाः ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १८ ॥

फिर कृष्ण-पक्षका उदय होनेपर पाण्डवलोग धौम्यमुनि, सारथिगण तथा पाकशालाध्यक्षके साथ काम्यकवनकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि काम्यकवनप्रवेशे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें काम्यकवनगमनविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

काम्यकवनमें पाण्डवोंके पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारदजीका आगमन एवं युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा कर्मफल-भोगका विवेचन

वैशम्पायन उवाच

काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥ १ ॥

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतः पाण्डुनन्दनान् ।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २ ॥
अथाब्रवीद् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा ।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ॥ ३ ॥

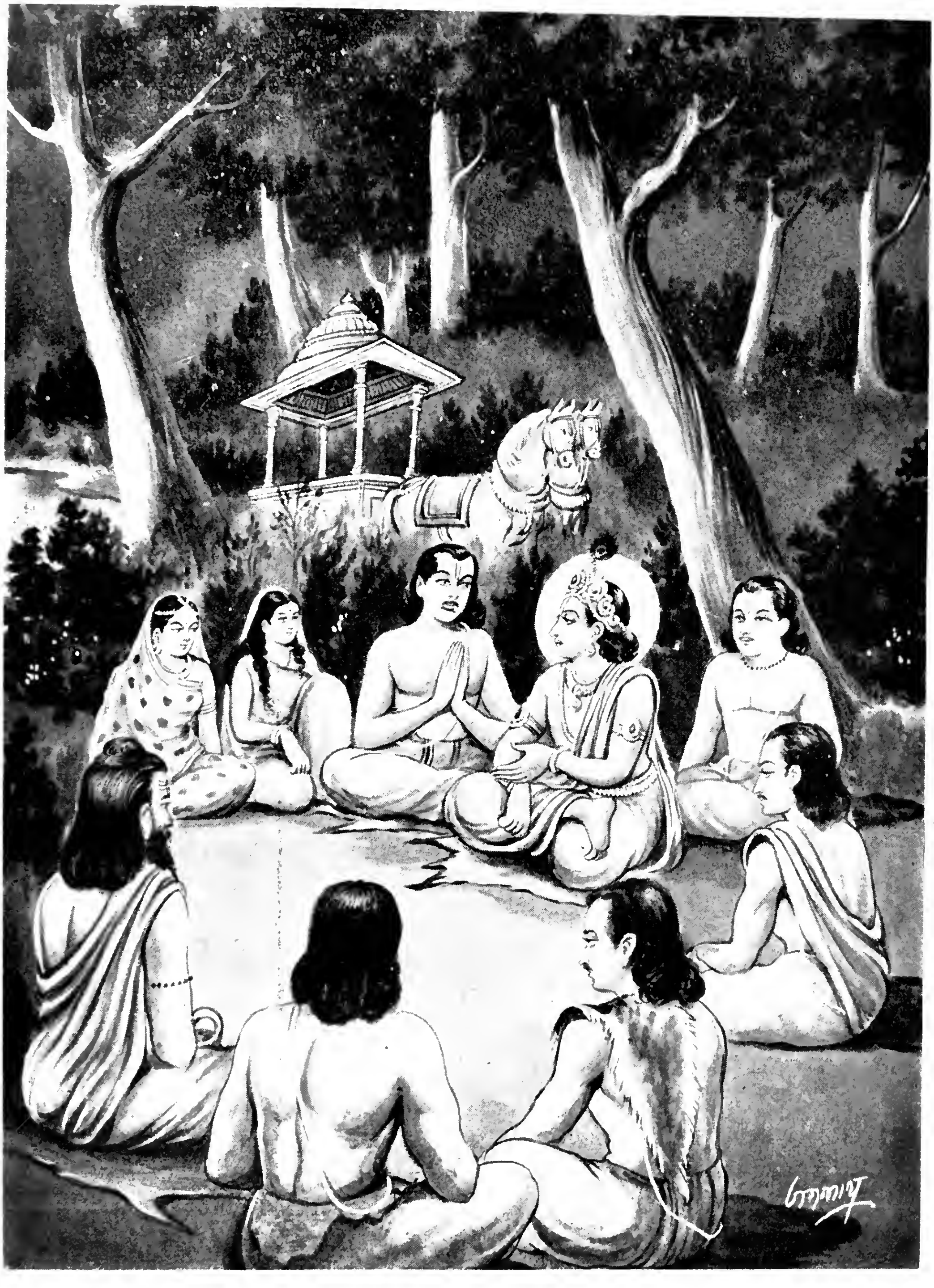

वनमें पाण्डवोंसे श्रीकृष्ण-सत्यभामाका मिलना

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन जनमेजय ! काम्यकवनमें पहुँचनेपर वहाँके मुनियोंने युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका यथोचित आदर-सत्कार किया। फिर वे द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे। जब वे विश्वासपात्र पाण्डव वहाँ निवास करने लगे, तब बहुत-से ब्राह्मणोंने आकर सब ओरसे उन्हें घेर लिया (और उन्हींके साथ रहने लगे)। तदनन्तर एक दिन एक ब्राह्मण आया। उसने यह सूचना दी कि सबको वशमें रखनेवाले उदारबुद्धि महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, जो अर्जुनके प्रिय सखा हैं, अभी यहाँ पधारेंगे ॥ १-३ ॥

विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः।
सदा हि दर्शनाकाङ्क्षी श्रेयोऽन्वेषी च वो हरिः॥ ४ ॥

कुरुश्रेष्ठ पाण्डवो ! आपलोगोंका यहाँ आना भगवान् श्रीकृष्णको ज्ञात हो चुका है। वे सदा आपलोगोंको देखनेके लिये उत्सुक रहते हैं और आपके कल्याणकी बात सोचते रहते हैं ॥ ४ ॥

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान् समेष्यति ॥ ५ ॥

एक शुभ समाचार और है, चिरंजीवी महातपस्वी मार्कण्डेयमुनि, जो स्वाध्याय और तपस्यामें संलग्न रहा करते हैं, शीघ्र ही आपलोगोंसे मिलेंगे ॥ ५ ॥

तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः॥ ६ ॥
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया।
उपायाद् देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण इस प्रकारकी बातें कह ही रहा था कि शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वोंसे जुते हुए रथद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आते हुए दिखायी दिये। जैसे शचीके साथ इन्द्र आये हों, उसी प्रकार सत्यभामाके साथ देवकीनन्दन श्रीहरि उन कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंसे मिलने वहाँ आये ॥ ६-७ ॥

अवतीर्य रथात् कृष्णो धर्मराजं यथाविधि।
ववन्दे मुदितो धीमान् भीमं च बलिनां वरम् ॥ ८ ॥

परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णने रथसे उतरकर बड़ी प्रसन्नताके साथ धर्मराज युधिष्ठिर तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ८ ॥

पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ॥ ९ ॥
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम्।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिंदमः॥ १० ॥

फिर धौम्यमुनिका पूजन किया। तत्पश्चात् नकुल-सहदेवने आकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाये। इसके बाद निद्राविजयी अर्जुनको हृदयसे लगाकर श्रीकृष्णने द्रौपदीको भलीभाँति सान्त्वना दी। परमप्रिय वीरवर अर्जुनको दीर्घकालके बाद आया देख शत्रुदमन श्रीकृष्णने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ॥ ९-१० ॥

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषस्वजे।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामाने भी पाण्डवोंकी प्रियपत्नी पाञ्चालीका आलिङ्गन किया ॥ ११ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः॥ १२ ॥

तदनन्तर पत्नी और पुरोहितसहित समस्त पाण्डवोंने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया और सब-के-सब उन्हें घेरकर बैठ गये ॥ १२ ॥

कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्
धनंजयेनासुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा
समेत्य साक्षाद् भगवान् गुहेन ॥ १३ ॥

सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण असुरोंको भयभीत करनेवाले

कुन्तीनन्दन अर्जुनसे मिलकर उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे परम महात्मा साक्षात् भगवान् भूतनाथ शङ्कर कार्तिकेयसे मिलकर शोभा पाते हैं ॥ १३ ॥

ततः समस्तानि किरीटमाली
वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत् पुनरन्वपृच्छत्
कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः ॥ १४ ॥

तदनन्तर किरीटधारी अर्जुनने गदके बड़े भाई भगवान् श्रीकृष्णको वनवासके सारे वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताकर पुनः उनसे पूछा—'सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं' ॥ १४ ॥

स पूजयित्वा मधुहा यथावत्
पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्
युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥ १५ ॥

भगवान् मधुसूदनने अर्जुन, द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्यका सम्मान करके सबके साथ बैठकर राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १५ ॥

धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं
जितस्त्वयायं च परश्च लोकः ॥ १६ ॥

'राजन् ! पाण्डुनन्दन ! राज्यलाभकी अपेक्षा धर्म महान् है । धर्मकी वृद्धिके लिये तपको ही प्रधान साधन बताया गया है । आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणोंके साथ-साथ स्वधर्मका पालन करते हैं, अतः आपने इस लोक और परलोक दोनोंको जीत लिया है ॥ १६ ॥

अधीतमग्रे चरता व्रतानि
सम्यग् धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा
सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ॥ १७ ॥
न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति
कामान्न किंचित् कुरुषे नरेन्द्र ।
न चार्थलोभात् प्रजहासि धर्मं
तस्मात् प्रभावादसि धर्मराजः ॥ १८ ॥

'आपने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है । तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है । इसके बाद क्षत्रिय-धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करके समस्त प्राचीन यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । नरेश्वर ! जिसमें गँवारोंकी आसक्ति हुआ करती है, उस स्त्री-सम्बन्धी भोगमें आपका अनुराग नहीं है । आप कामनासे प्रेरित होकर कुछ नहीं करते हैं और धनके लोभसे धर्मका त्याग नहीं करते हैं । इसी प्रभावसे धर्मराज कहलाते हैं ॥ १७-१८ ॥

दानं च सत्यं च तपश्च राजन्
श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगा-
नेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपने राज्य, धन और भोगोंको पाकर भी सदा दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा तथा धृति—इन सद्गुणोंसे ही प्रेम किया है ॥ १९ ॥

यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां
कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं
सहेत तत् पाण्डव कस्त्वदन्यः ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! कुरुजाङ्गल देशकी जनताने द्यूतसभामें द्रौपदीको जिस विवश-अवस्थामें देखा था और उस समय उसके साथ जो पापपूर्ण बर्ताव किया गया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था ? ॥ २० ॥

असंशयं सर्वसमृद्धकामः
क्षिप्रं प्रजाः पालयितासि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां
यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ॥ २१ ॥

धर्मराज ! अब शीघ्र ही आपके सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और आप राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । यदि आपकी वनवासविषयक प्रतिज्ञा पूरी हो जाय, तो हम सब लोग आपके विरोधी कौरवोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हैं' ॥ २१ ॥

धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च
यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन
प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः ॥ २२ ॥

तदनन्तर यदुकुलसिंह भगवान् श्रीकृष्णने धौम्य, युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदीकी ओर देखते हुए कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंद्वारा की हुई मङ्गलकामनासे किरीटधारी अर्जुन अस्त्रविद्याके पारंगत विद्वान् होकर सानन्द लौट आये हैं' ॥ २२ ॥

प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं
दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
दिष्ट्या समग्रासि धनंजयेन
समागतेत्येवमुवाच कृष्णः ॥ २३ ॥
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधाना-
स्तवात्मजास्ते शिशवः सुशीलाः ।

सद्भिः सदैवाचरितं सुहृद्भि-
श्चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥ २४ ॥

इसके बाद दशार्हकुलके स्वामी श्रीकृष्ण, जो अपने सुहृदोंसे घिरे हुए थे, यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीसे बोले—'कृष्णे ! अर्जुनसे मिलकर तेरी सारी कामना सफल हो गयी, यह बड़े आनन्दकी बात है। तेरे पुत्र बड़े सुशील हैं। धनुर्वेदमें उनका विशेष अनुराग है। वे अपने सुहृदोंसहित सत्पुरुषोंद्वारा आचरित सदाचार और धर्मका पालन करते हैं ॥ २३–२४ ॥

राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणाः
पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां
गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति ॥ २५ ॥

'कृष्णे ! तुम्हारे पिता और भाइयोंने राज्य तथा राजकीय उपकरणों—यान-वाहन आदिकी सुविधा दिखाकर अनेक बार आमन्त्रित किया, तो भी तुम्हारे बच्चे अपने नाना यज्ञसेन और मामा धृष्टद्युम्न आदिके घरोंमें रहना पसंद नहीं करते हैं—वहाँ उनका मन नहीं लगता है ॥ २५ ॥

आनर्तमेवाभिमुखाः शिवेन
गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य
न दैवतेभ्यः स्पृहयन्ति कृष्णे ॥ २६ ॥

'कृष्णे ! उनका धनुर्वेदमें विशेष प्रेम है। वे आनर्त देशमें ही कुशलपूर्वक जाकर वृष्णिपुरी द्वारिकामें रहते हैं। वहाँ रहकर उन्हें देवताओंके लोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं होती ॥ २६ ॥

यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तं
प्रयोक्तुमार्या च तथैव कुन्ती ।
तेष्वप्रमादेन तथा करोति
तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा ॥ २७ ॥

उन बालकोंको तुम सदाचारकी जैसी शिक्षा दे सकती हो, आर्या कुन्ती भी उन्हें जैसा सदाचार सिखा सकती हैं, वैसी शिक्षा देनेकी योग्यता सुभद्रामें भी है। वह बड़ी सावधानीके साथ वैसी ही शिक्षा देकर उन सब बालकोंको सदाचारमें प्रतिष्ठित करती है ॥ २७ ॥

यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्यो-
र्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे
तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः ॥ २८ ॥

'कृष्णे ! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न जिस प्रकार अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानुको धनुर्वेदकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे तुम्हारे पुत्रोंके भी शिक्षक और संरक्षक हैं ॥ २८ ॥

गदासिचर्मग्रहणेषु शूरा-
नस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग् विनेता विनयत्यतन्द्र-
स्तांश्चाभिमन्युः सततं कुमारः ॥ २९ ॥

'शिक्षा देनेमें निपुण और आलस्यरहित कुमार अभिमन्यु तुम्हारे शूर-वीर पुत्रोंको गदा और ढाल-तलवारके दाँव-पेंच सिखाते हैं। अन्यान्य अस्त्रोंकी भी शिक्षा देते हैं। साथ ही रथ चलाने और घोड़े हाँकनेकी कला भी सिखाते हैं। वे सदा उनकी शिक्षा-दीक्षामें संलग्न रहते हैं ॥ २९ ॥

स चापि सम्यक् प्रणिधाय शिक्षां
शस्त्राणि चैषां विधिवत् प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाभिमन्योः
पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ॥ ३० ॥

'अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगकी उत्तम शिक्षा दे उनके लिये उन्होंने विधिपूर्वक नाना प्रकारके शस्त्र भी दे रक्खे हैं। तुम्हारे पुत्रों और अभिमन्युके पराक्रम देखकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न बहुत संतुष्ट रहते हैं ॥ ३० ॥

यदा विहारं प्रसमीक्षमाणाः
प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र
रथाश्च यानानि च दन्तिनश्च ॥ ३१ ॥

'याज्ञसेनी ! तुम्हारे पुत्र जब नगरकी शोभा देखनेके लिये घूमने निकलते हैं, उस समय उनमेंसे प्रत्येकके लिये रथ, घोड़े, हाथी और पालकी आदि सवारियाँ पीछे-पीछे जाती हैं' ॥ ३१ ॥

अथाब्रवीद् धर्मराजं तु कृष्णो
दशार्हयोधाः कुकुरान्धकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयन्त-
स्तिष्ठन्तु यत्रेच्छसि तत्र राजन् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! दशार्ह, कुकुर और अंधकवंशके योद्धा जहाँ आप चाहें, वहीं आपकी आज्ञाका पालन करते हुए खड़े रह सकते हैं ॥ ३२ ॥

आवर्ततां कार्मुकवेगवाता
हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता
ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ॥ ३३ ॥

'नरेन्द्र ! जिसके धनुषका वेग वायु-वेगके समान है, हल धारण करनेवाले बलरामजी जिसके सेनापति हैं, वह सवारोंसहित हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई मथुरा-प्रान्तवासी गोपोंकी चतुरङ्गिणी सेना सदा युद्धके लिये संनद्ध हो आपकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये निरन्तर तत्पर रहती है ॥ ३३ ॥

प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्तराष्ट्रः
सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः।
स सानुबन्धः ससुहृद्गणश्च
भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ॥ ३४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अब आप पापात्माओंके शिरोमणि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको उसके सुहृदों और सम्बन्धियों-सहित उसी मार्गपर भेज दीजिये, जहाँ भौमासुर और शाल्व गये हैं ॥ ३४ ॥

कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन्
यथा कृतस्ते समयः सभायाम्।
दाशार्हयोधैस्तु हतारियोधं
प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम् ॥ ३५ ॥

'महाराज ! आप चाहें तो सभामें जो प्रतिज्ञा आपने की है, उसीके पालनमें लगे रहें। यदि आपकी आज्ञा हो तो यदुवंशी योद्धा आपके समस्त शत्रुओंको मार डालें और हस्तिनापुर नगर आपके शुभागमनकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ ३५ ॥

व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा
विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम्।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः
प्रपत्स्यसे नागपुरं सुराष्ट्रम् ॥ ३६ ॥

'राजन् ! आप क्रोध, दीनता और दुःखसे दूर रहकर जहाँ-जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ-वहाँ घूम लीजिये। तत्पश्चात् शोकरहित हो अपनी प्रसिद्ध और उत्तम राजधानी हस्तिना-पुरमें प्रवेश कीजियेगा' ॥ ३६ ॥

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः
कृताञ्जलिः केशवमित्युवाच ॥ ३७ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत अच्छी तरह व्यक्त कर दिया था। उसे जानकर महात्मा धर्मराजने भगवान् केशवकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखते हुए कहा—॥ ३७ ॥

असंशयं केशव पाण्डवानां
भवान् गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः
कर्ता भवान् कर्म न संशयोऽस्ति ॥ ३८ ॥

'केशव ! इसमें संदेह नहीं कि आप ही पाण्डवोंके अवलम्ब हैं। कुन्तीके हम सभी पुत्र आपकी ही शरणमें हैं। जब समय आयेगा, तब आप पुनः अपने इस कथनके अनुसार सब कार्य करेंगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३८ ॥

यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः
सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु।
अज्ञातचर्यां विधिवत् समाप्य
भवद्गताः केशव पाण्डवेयाः ॥ ३९ ॥
एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां
सत्ये स्थिताः केशव पाण्डवेयाः।
सदानधर्माः सजनाः सदाराः
सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः ॥ ४० ॥

'भगवन् ! हमने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बारह वर्षोंका सारा समय निर्जन वनोंमें घूमकर बिता दिया है। अब अज्ञातवास-की अवधि भी विधिपूर्वक पूर्ण कर लेनेपर हम समस्त पाण्डव आपकी आज्ञाके अधीन हो जायँगे। नाथ ! आपकी भी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। ये पाण्डव सदा सत्यके पालनमें संलग्न रहे हैं। प्रभो ! दान-धर्मसे युक्त हम सभी कुन्ती-पुत्र सेवक, परिजन, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित केवल आपकी ही शरणमें हैं' ॥ ३९-४० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत।
अथ पश्चात् तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ॥ ४१ ॥
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः।
अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः ॥ ४२ ॥
व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय अनेक सहस्र वर्षोंकी अवस्थावाले तपोवृद्ध धर्मात्मा महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि आते दिखायी दिये। वे रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा अजर-अमर थे। वैसे बड़े बूढ़े होनेपर भी वे ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो पच्चीस वर्षकी अवस्थाके तरुण हों ॥ ४१-४२½ ॥

तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ॥ ४३ ॥
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम्।
ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानां च केशवः ॥ ४४ ॥

हजारों वर्षोंकी अवस्थावाले उन वृद्ध महर्षिके पधारनेपर पाण्डवोंसहित भगवान् श्रीकृष्ण तथा समस्त ब्राह्मणोंने उनका पूजन किया। पूजित होनेपर जब वे अत्यन्त विश्वास करने योग्य मुनिश्रेष्ठ आसनपर विराजमान हो गये, तब वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और पाण्डवोंकी सम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—॥ ४३-४४ ॥

कृष्ण उवाच

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः ॥ ४५ ॥

पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान् ।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—मार्कण्डेयजी ! आपके उपदेश सुननेकी इच्छासे यहाँ पाण्डवोंके साथ-साथ बहुत-से ब्राह्मण भी पधारे हुए हैं । द्रौपदी, सत्यभामा तथा मैं, सब लोग आपकी उत्तम वाणीका रसास्वादन करना चाहते हैं । आप प्राचीन कालके नरेशों, नारियों तथा महर्षियोंकी पुरातन पुण्य कथाएँ सुनाइये और हमलोगोंसे सनातन सदाचारका वर्णन कीजिये ॥ ४५-४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब लोग वहाँ बैठे ही थे कि विशुद्ध अन्तःकरणवाले देवर्षि नारद भी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये वहाँ आये ॥ ४७ ॥

तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः ।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः ॥ ४८ ॥

तब उन सभी श्रेष्ठ मनीषी पुरुषोंने उन महात्मा नारदजीको भी पाद्य और अर्घ्य आदि देकर उनका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ४८ ॥

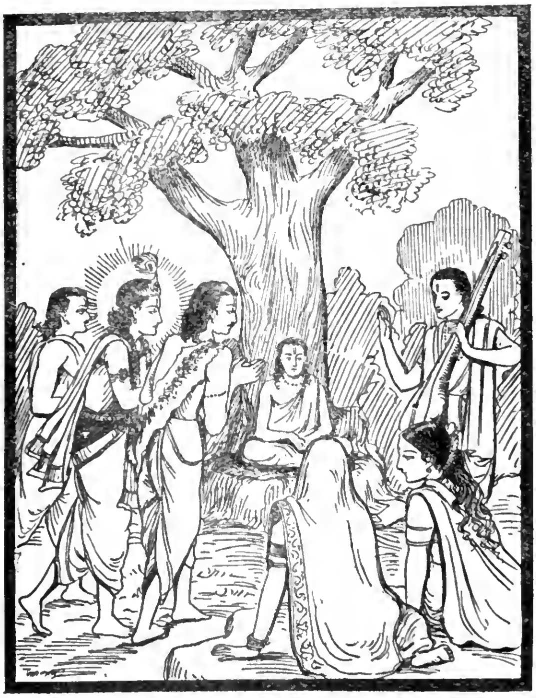

नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ॥ ४९ ॥

तब देवर्षि नारदने उन सबको कथा सुननेके लिये अवसर निकालकर तैयार हुआ जान वक्ता मार्कण्डेय मुनिकी उस कथा सुननेके विचारका अनुमोदन किया ॥ ४९ ॥

उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः ।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत् ते पाण्डवेषु विवक्षितम् ॥ ५० ॥

उस समय उपर्युक्त अवसरके ज्ञाता सनातन भगवान् श्रीकृष्णने मार्कण्डेयजीसे मुसकराते हुए कहा—'महर्षे ! आप पाण्डवोंसे जो कुछ कहना चाहते थे, वह कहिये' ॥ ५० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः ।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ॥ ५१ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी मार्कण्डेय मुनिने कहा—'पाण्डवो ! तुम सब लोग क्षणभरके लिये चुप हो जाओ; क्योंकि मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है' ॥ ५१ ॥

एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः ।
मध्यन्दिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ॥ ५२ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उन ब्राह्मणोंसहित पाण्डव मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी उन महामुनिको देखते हुए उनके वक्तव्यको सुननेके लिये चुप हो गये ॥५२॥

वैशम्पायन उवाच

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ।
कथासंजननार्थाय चोदयामास पाण्डवः ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामुनि मार्कण्डेयजीको बोलनेके लिये उद्यत देख कुरुराज पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिरने कथाप्रारम्भ करनेके लिये इस प्रकार प्रेरित किया ॥

भवान् दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम् ।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ॥ ५४ ॥

'महामुने ! आप देवताओं, दैत्यों, ऋषियों, महात्माओं तथा समस्त राजर्षियोंके चरित्रोंको जाननेवाले प्राचीन महर्षि हैं ॥ ५४ ॥

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः काङ्क्षितश्चिरम् ।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ॥ ५५ ॥

'हमारे मनमें दीर्घकालसे यह इच्छा थी कि हमें आपकी सेवा और सत्सङ्गका शुभ अवसर मिले । ये देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी हमसे मिलनेके लिये यहाँ पधारे हैं ॥ ५५ ॥

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम् ।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ॥ ५६ ॥

'ब्रह्मन् ! जब मैं अपनेको सुखसे वञ्चित पाता हूँ और दुराचारी धृतराष्ट्रपुत्रोंको सब प्रकारसे समृद्धिशाली होते देखता हूँ, तब स्वभावतः ही मेरे मनमें एक विचार उठता है ॥

कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा ।
स फलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ॥ ५७ ॥
कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर ।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः ॥ ५८ ॥

'मैं सोचता हूँ, शुभ और अशुभ कर्म करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने उन कर्मोंका फल कैसे भोगता है तथा ईश्वर उन कर्मफलोंका रचयिता कैसे होता है ? ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर ! सुख और दुःखकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति कैसे होती है ? मनुष्यका किया कर्म इस लोकमें ही उसका अनुसरण करता है अथवा पारलौकिक शरीरमें भी ? ॥ ५७-५८ ॥

देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥ ५९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! देहधारी जीव अपने शरीरका त्याग करके जब परलोकमें चला जाता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसको कैसे प्राप्त करते हैं और इहलोक और परलोकमें जीवका उन कर्मोंके फलसे किस प्रकार संयोग होता है ? ॥

ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन ! कर्मोंका फल इसी लोकमें प्राप्त होता है या परलोकमें ? प्राणीकी मृत्यु हो जानेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं ?' ॥ ६० ॥

मार्कण्डेय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद् वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि॥ ६१ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह प्रश्न यथार्थ और युक्तिसंगत है । तुम्हें जाननेयोग्य सभी बातोंका ज्ञान है; तो भी तुम केवल लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये यह प्रश्न उपस्थित करते हो ॥ ६१ ॥

अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६२ ॥

मनुष्य इहलोक या परलोकमें जिस प्रकार सुख और दुःख भोगता है, इसके विषयमें तुम्हें अपना विचार बताऊँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ६२ ॥

निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।
ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥

सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । उन्होंने जीवोंके लिये निर्मल तथा विशुद्ध शरीर बनाये । साथ ही धर्मका ज्ञान करानेवाले धर्मशास्त्रोंको प्रकट किया ॥ ६३ ॥

अमोघफलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ॥ ६४ ॥

उस समयके सब मनुष्य उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा सत्यवादी थे । उनका अभीष्ट-फलविषयक संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता था । कुरुश्रेष्ठ ! वे सभी मनुष्य ब्रह्मस्वरूप, पुण्यात्मा और चिरजीवी थे ॥ ६४ ॥

सर्वे देवैः समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिणः ॥ ६५ ॥
स्वच्छन्दमरणाश्चासन् नराः स्वच्छन्दचारिणः ।
अल्पबाधा निरातङ्काः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ॥ ६६ ॥

सभी स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमार्गसे उड़कर देवताओंसे मिलने जाते और स्वच्छन्दचारी होनेके कारण इच्छा होते ही पुनः वहाँसे लौट आते थे । वे अपनी इच्छा होनेपर ही मरते और इच्छाके अनुसार ही जीवित रहते थे । स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र विचरण करते थे । उनके मार्गमें बाधाएँ बहुत कम आती थीं । उन्हें कोई भय नहीं होता था । वे उपद्रवशून्य तथा पूर्णकाम थे ॥ ६५-६६ ॥

द्रष्टारो देवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम् ।
प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सराः ॥ ६७ ॥

देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंके समुदायका उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता था । वे सभी धर्मोंको प्रत्यक्ष करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा ईर्ष्यासे रहित होते थे ॥ ६७ ॥

आसन् वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः ।

उनकी आयु हजारों वर्षोंकी होती थी और वे हजार-हजार पुत्र उत्पन्न करते थे ॥ ६७½ ॥

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवीतलचारिणः ॥ ६८ ॥
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नराः ॥ ६९ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् भूतलपर विचरनेवाले मनुष्य काम और क्रोधके वशीभूत हो गये । वे छल-कपट और दम्भसे जीविका चलाने लगे । उनके मनको लोभ और मोहने दबा लिया । इन दोषोंके कारण उन्हें इच्छा न होते हुए भी अपना शरीर त्यागनेके लिये विवश होना पड़ा ॥

अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः ।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ७० ॥

वे पापपरायण हो अपने अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जाने और नरकमें गिरने लगे । विचित्र सांसारिक योनियोंमें बारंबार जन्म लेकर दुःखसे संतप्त होने लगे ॥ ७० ॥

मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।
सर्वाभिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ॥ ७१ ॥

उनकी कामनाएँ, उनके संकल्प और उनके ज्ञान सभी निष्फल थे । उनकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो गयी थी । वे सभी परस्पर संदेह करते हुए एक दूसरेके लिये क्लेशदायक बन गये ॥ ७१ ॥

अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ।
दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ॥ ७२ ॥

उनके शरीरमें प्रायः उनके अशुभ कर्मोंके चिह्न (कोढ़ आदि) प्रकट होने लगे । कोई अधम-कुलमें जन्म लेते, कोई बहुत-से रोगोंके शिकार बने रहते और कोई दुष्ट स्वभावके हो जाते थे । उनमेंसे कोई भी प्रतापी नहीं होता था ॥ ७२ ॥

भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेवाले पापियोंकी आयु उनके कर्मानुसार बहुत कम हो गयी । उनके पापकर्मोंके भयंकर फल प्रकट होने लगे । वे अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओंके लिये दूसरोंके सामने हाथ फैलाकर याचना करने लगे । कितने ही नास्तिक और विचलितचित्त हो गये ॥७३॥

जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति ॥ ७४ ॥
क्वस्थस्तत् समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु ॥ ७५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें मृत्युके पश्चात् जीवकी गति उनके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही होती है । परंतु मरनेके बाद ज्ञानी और अज्ञानीकी कर्मराशि कहाँ रहती है ? कहाँ रहकर वह पुण्य अथवा पापका फल भोगता है ? इस दृष्टिसे जो तुमने प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैं सिद्धान्त बता रहा हूँ, सुनो ॥ ७४-७५ ॥

अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ॥ ७६ ॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः ॥ ७७ ॥

यह मनुष्य ईश्वरके रचे हुए पूर्व शरीरके द्वारा (अन्तःकरणमें) शुभ और अशुभ कर्मोंकी बहुत बड़ी राशि संचित कर लेता है । फिर आयु पूरी होनेपर वह इस जरा-जर्जर स्थूल शरीरका त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है । एक शरीरको छोड़ने और दूसरेको ग्रहण करनेके बीचमें क्षणभरके लिये भी वह असंसारी नहीं होता ॥ ७६-७७ ॥

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा ।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते ॥ ७८ ॥
कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ ७९ ॥

वहाँ दूसरे स्थूल शरीरमें उसके पूर्वजन्मका किया हुआ कर्म छायाकी भाँति सदा उसके पीछे लगा रहता और यथा-समय अपना फल देता है । इसलिये जीव सुख अथवा दुःख भोगनेके योग्य होकर जन्म लेता है । यमराजके विधान (पुण्य और पापके फल-भोग) में नियुक्त हुआ जीव अपने शुभ अथवा अशुभ लक्षणोंद्वारा अपनेको मिले हुए सुख अथवा दुःखका निवारण करनेमें असमर्थ है । यह बात ज्ञान-दृष्टिवाले महात्मा पुरुषोंद्वारा देखी जाती है ॥ ७८-७९ ॥

एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर ! यह तत्त्वज्ञानशून्य मूढ़ मनुष्योंकी स्वर्ग-नरकरूप गति बतायी गयी है । अब इसके बाद विवेकी पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली उत्तम गतिका वर्णन सुनो ॥ ८० ॥

मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ८१ ॥
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः ।
शुचियोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः ॥ ८२ ॥

ज्ञानी मनुष्य तपस्वी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर, स्थिरतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, सत्यपरायण, गुरुसेवामें संलग्न, सुशील, शुक्लजातीय (सात्त्विक), क्षमाशील, जितेन्द्रिय और अत्यन्त तेजस्वी होते हैं । वे शुद्ध योनिमें जन्म लेते और प्रायः शुभ लक्षणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

जितेन्द्रियत्वाद् वशिनः शुक्लत्वान्मन्दरोगिणः ।
अल्पाबाधपरित्रासाद् भवन्ति निरुपद्रवाः ॥ ८३ ॥
च्यवन्तं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यन्ते ज्ञानचक्षुषा ॥ ८४ ॥

जितेन्द्रिय होनेके कारण वे मनको वशमें रखते हैं और सात्त्विक अन्तःकरणके होनेके कारण नीरोग होते हैं । दुःख और त्रासके क्षीण होनेके कारण वे उपद्रवरहित होते हैं । विवेकी पुरुष गर्भसे गिरते, जन्म लेते अथवा गर्भमें ही रहते समय भी ज्ञान-दृष्टिसे अपने-आपका और परमात्माका सर्वथा यथार्थ अनुभव करते हैं ॥ ८३-८४ ॥

ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ॥ ८५ ॥

लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले वे महामना ऋषि इस कर्मभूमिमें आकर फिर देवलोकमें चले जाते हैं ॥ ८५ ॥

किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन् मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ।८६।

राजन् ! विवेकी मनुष्य कर्मोंका कुछ फल प्रारब्धवश प्राप्त करते हैं, कुछ कर्मोंका फल हठात् प्राप्त होता है और कुछ कर्मोंका फल अपने उद्योगसे ही प्राप्त होता है । इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥८६॥

इमामत्रोपमां चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर ॥ ८७ ॥

इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह वामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ॥ ८८ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मनुष्यलोकमें मैं जिसे परम कल्याणकी बात समझता हूँ, उसके विषयमें यह उदाहरण सुनो । कोई मनुष्य इस लोकमें ही परम सुख पाता है, परलोकमें नहीं । किसीको परलोकमें ही परम कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस लोकमें नहीं । किसीको इहलोक और परलोक दोनोंमें परम श्रेयकी प्राप्ति होती है तथा किसीको न तो परलोकमें उत्तम सुख मिलता है और न इस लोकमें ही ॥

धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥ ८९ ॥

जिनके पास बहुत धन होता है, वे अपने शरीरको हर तरहसे सजाकर नित्य विषयोंमें रमण करते अर्थात् विषय-सुख भोगते हैं । शत्रुसूदन ! सदा अपने शरीरके ही सुखमें आसक्त हुए उन मनुष्योंको केवल इसी लोकमें सुख मिलता है, परलोकमें उनके लिये सुखका सर्वथा अभाव है ॥ ८९ ॥

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान् ।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ता-
स्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥ ९० ॥

शत्रुसूदन ! जो लोग इस लोकमें योगसाधन करते हैं, तपस्यामें संलग्न होते हैं और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं तथा इस प्रकार प्राणियोंकी हिंसासे दूर रहकर इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए (तपस्याद्वारा) अपने शरीरको दुर्बल कर देते हैं, उनके लिये इस लोकमें सुख नहीं है । वे परलोकमें ही परम कल्याणके भागी होते हैं ॥ ९० ॥

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति
धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते
तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ९१ ॥

जो लोग कर्तव्य-बुद्धिसे पहले धर्मका ही आचरण करते हैं और उस धर्मसे ही (न्याययुक्त) धनका उपार्जन कर यथासमय स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ यज्ञ-याग और ईश्वरभक्ति आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद हैं ॥ ९१ ॥

ये नैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति ।
न चानुगच्छन्ति सुखानि भोगां-
स्तेषामयं नैव परश्च लोकः ॥ ९२ ॥

जो मूढ़ न विद्याके लिये, न तपके लिये और न दानके लिये ही प्रयत्न करते हैं एवं न धर्मपूर्वक संतानोत्पादनके लिये ही यत्नशील होते हैं, वे न तो सुख पाते हैं और न भोग ही भोगते हैं । उनके लिये न तो इस लोकमें सुख है और न परलोकमें ॥ ९२ ॥

सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा
दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः
स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ॥ ९३ ॥

राजा युधिष्ठिर ! तुम सब लोग बड़े पराक्रमी और धैर्यवान् हो । तुममें अलौकिक ओज भरा है । तुम सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हो और देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये परलोकसे इस पृथिवीपर अवतीर्ण हुए हो । यही कारण है कि तुमने सभी उत्तम विद्याएँ सीख ली हैं ॥ ९३ ॥

कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरा-
स्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन् प्रेतगणांश्च सर्वान्
संतर्पयित्वा विधिना परेण ॥ ९४ ॥
स्वर्गं परं पुण्यकृतो निवासं
क्रमेण सम्प्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद् विशङ्का तव कौरवेन्द्र
दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम् ॥ ९५ ॥

तुम सभी शूर-वीर तथा तपस्या, इन्द्रियसंयम और उत्तम आचार-व्यवहारमें सदा ही तत्पर रहनेवाले हो । अतः (इस संसारमें बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करके) देवताओं, ऋषियों और समस्त पितरोंको उत्तम विधिसे तृप्त करोगे । तत्पश्चात् अपने सत्कर्मोंके फलस्वरूप तुम सब लोग क्रमसे पुण्यात्माओंके निवासस्थान परम स्वर्गलोकको चले जाओगे । इसलिये कौरवराज ! तुम (अपने वर्तमान कष्टको देखकर) मनमें किसी प्रकारकी शंकाको स्थान न दो । यह क्लेश तो तुम्हारे भावी सुखका ही सूचक है ॥ ९४-९५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी तथा स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय पाण्डुपुत्रोंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे कहा—'मुने ! हम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका माहात्म्य सुनना चाहते हैं, आप उसका वर्णन कीजिये' ॥ १ ॥

एवमुक्तः स भगवान् मार्कण्डेयो महातपाः ।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी, महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् भगवान् मार्कण्डेयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद् बली ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—हैहयवंशी क्षत्रियोंकी वंशपरम्पराको बढ़ानेवाला राजा परपुरंजय, जो अभी कुमारावस्थामें था, बड़ा ही सुन्दर और बलवान् था, एक दिन वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गया ॥ ३ ॥

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ॥ ४ ॥

तृण और लताओंसे भरे हुए उस वनमें घूमते-घूमते उस राजकुमारने एक मुनिको देखा, जो काले हिंसक-पशुके चर्मकी ओढ़नी ओढ़े थोड़ी ही दूरपर बैठे थे ॥ ४ ॥

स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥ ५ ॥

राजकुमारने उन्हें हिंसक पशु ही समझा और उस वनमें अपने बाणोंसे उन्हें मार डाला । अज्ञानवश यह पापकर्म करके वह राजकुमार व्यथित हो शोकसे मूर्च्छित हो गया ॥ ५ ॥

जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ।
तेषां च तद् यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आकर वह सुविख्यात हैहयवंशी राजाओंके पास गया । वहाँ पृथ्वीका पालन करनेवाले उस कमलनयन राजकुमारने उन सबके सामने इस दुर्घटनाका यथावत् समाचार कहा ॥ ६ ॥

तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥ ७ ॥

तात ! फल-मूलका आहार करनेवाले एक मुनिकी हिंसा हो गयी, यह सुनकर और देखकर वे सभी क्षत्रिय मन-ही-मन बहुत दुखी हुए ॥ ७ ॥

कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ।
जग्मुश्चारिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ॥ ८ ॥

फिर वे सब-के-सब जहाँ-तहाँ यह पता लगाते हुए कि ये मुनि किसके पुत्र हैं, शीघ्र ही कश्यप-नन्दन अरिष्टनेमिके आश्रमपर गये ॥ ८ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम् ।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ॥ ९ ॥

वहाँ नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन महात्मा मुनिको प्रणाम करके वे सब खड़े हो गये । तब मुनिने उनके लिये अर्घ्य आदि पूजन-सामग्री अर्पित की ॥ ९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ॥ १० ॥

यह देखकर उन्होंने उन महात्मासे कहा—'मुने ! हम अपने दूषित कर्मके कारण आपसे सत्कार पानेयोग्य नहीं रह गये हैं । हमसे एक ब्राह्मणकी हत्या हो गयी है' ॥ १० ॥

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।
क्व चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर उन ब्रह्मर्षिने कहा—'आपलोगोंसे ब्राह्मणकी हत्या कैसे हुई ? और वह मरा हुआ ब्राह्मण कहाँ है ? बताइये । फिर सब लोग एक साथ मेरी तपस्याका बल देखियेगा' ॥ ११ ॥

ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम् ।
नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ॥ १२ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर क्षत्रियोंने मुनिके वधका सारा समाचार उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया और उन्हें साथ लेकर सभी उस स्थानपर आये, जहाँ मुनिकी हत्या हुई थी । किंतु उन्होंने वहाँ मरे हुए मुनिकी लाश नहीं देखी ॥ १२ ॥

अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ।
तानब्रवीत् तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय ॥ १३ ॥
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः ।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ॥ १४ ॥

फिर तो वे लज्जित होकर इधर-उधर उसकी खोज करने लगे। स्वप्नकी भाँति उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। तब मुनिवर अरिष्टनेमिने उनसे कहा—'परपुरंजय ! तुम लोगोंने जिसे मार डाला था, वह यही ब्राह्मण तो नहीं है ? राजाओ ! यह मेरा तपोबलसम्पन्न पुत्र है' ॥ १३-१४ ॥

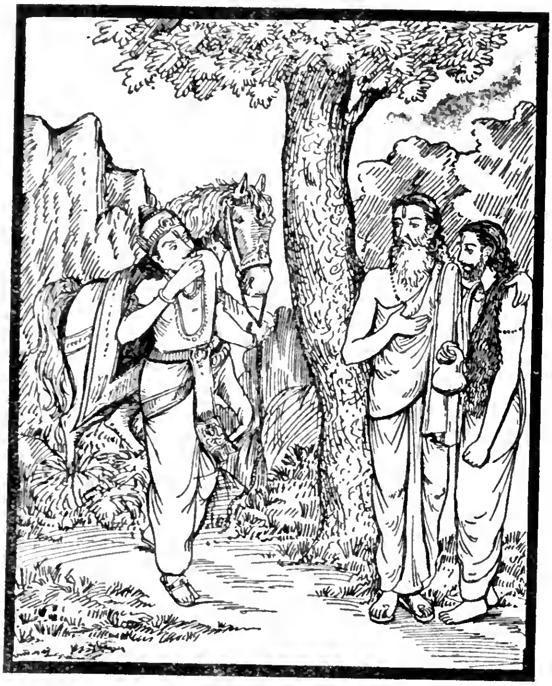

ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ॥ १५ ॥

राजन् ! उन महर्षिको जीवित हुआ देख वे सभी क्षत्रिय बड़े विस्मित हुए और कहने लगे 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १५ ॥

मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान्।
किमेतत् तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः ॥ १६ ॥

'ये मरे हुए मुनि यहाँ कैसे लाये गये और किस प्रकार इन्हें जीवन मिला ? क्या यह तपस्याकी ही शक्ति है, जिससे फिर ये जीवित हो गये ? ॥ १६ ॥

श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत।
स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ॥ १७ ॥

'ब्रह्मन् ! हम यह सब रहस्य सुनना चाहते हैं। यदि सुनने योग्य हो तो कहिये'। तब महर्षिने उन क्षत्रियोंसे कहा—'राजाओ ! हम लोगोंपर मृत्युका वश नहीं चलता ॥ १७ ॥

कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः।
(मृत्युः प्रभवते येन नास्माकं नृपसत्तमाः।
शुद्धाचारा अनलसाः संध्योपासनतत्पराः ॥
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः।)
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १८ ॥

'इसका क्या कारण है ? यह मैं तर्क और युक्तिके साथ संक्षेपसे बता रहा हूँ। श्रेष्ठ नृपतिगण ! हमलोगोंपर मृत्युका प्रभाव क्यों नहीं पड़ता—यह बताते हैं' सुनिये—हम शुद्ध आचार-विचारसे रहते हैं, आलस्यसे रहित हैं, प्रतिदिन संध्योपासनके परायण रहते हैं, शुद्ध अन्न खाते हैं और शुद्ध रीतिसे न्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हैं; यही नहीं हमलोग सदा ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें लगे रहते हैं। हमलोग केवल सत्यको ही जानते हैं। कभी झूठमें मन नहीं लगाते और सदा अपने धर्मका पालन करते रहते हैं। इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है ॥ १८ ॥

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १९ ॥
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च।
सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २० ॥

'ब्राह्मणोंके जो शुभ कर्म हैं, उन्हींकी हम चर्चा करते हैं। उनके दोषोंका बखान नहीं करते हैं। इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है। हम अतिथियोंको अन्न और जलसे तृप्त करते हैं। हमारे ऊपर जिनके भरण-पोषणका भार है, उन्हें हम पूरा भोजन देते हैं और उन्हें भोजन करानेसे बचा हुआ अन्न हम स्वयं भोजन करते हैं अतः हमें मृत्युसे भय नहीं है ॥ १९-२० ॥

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ २१ ॥

'हम सदा शम, दम, क्षमा, तीर्थ-सेवन और दानमें तत्पर रहनेवाले हैं तथा पवित्र देशमें निवास करते हैं। इसलिये भी हमें मृत्युसे भय नहीं है। इतना ही नहीं, हमलोग तेजस्वी पुरुषोंके देशमें निवास करते हैं अर्थात् सत्पुरुषोंके समीप रहा करते हैं। इस कारणसे भी हमें मृत्युसे भय नहीं होता है ॥ २१ ॥

एतद् वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः।
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद् भयमस्ति वः ॥ २२ ॥

'ईर्ष्यारहित राजाओ ! ये सब बातें मैंने तुम्हें संक्षेपसे सुनायी हैं। अब तुम सब लोग एक साथ यहाँसे जाओ, तुम्हें ब्रह्महत्याके पापसे भय नहीं रहा' ॥ २२ ॥

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम्।
स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर उन हैहयवंशी क्षत्रियोंने 'एवमस्तु' कहकर महामुनि अरिष्टनेमिका सम्मान एवं पूजन किया और प्रसन्न होकर अपने स्थानको चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्यकथने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी महिमाके विषयमें अत्रिमुनि तथा राजा पृथुकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मणोंका और भी माहात्म्य मुझसे सुनो । पूर्वकालमें वेनके पुत्र राजर्षि पृथुने, जो यहाँ वैन्यके नामसे प्रसिद्ध थे, किसी समय अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ली ॥ १ ॥

तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम्।
भूयोऽर्थं नानुरुध्यत् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥ २ ॥

उन दिनों महात्मा अत्रिने धन माँगनेकी इच्छासे उनके पास जानेका विचार किया, यह बात हमारे सुननेमें आयी है; परंतु ऐसा करनेसे उनको अपना धर्मात्मापन प्रकट करना पड़ता । इसलिये फिर उन्होंने धनके लिये अनुरोध नहीं किया ॥ २ ॥

स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत्।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

महातेजस्वी अत्रिने मन-ही-मन कुछ सोच-विचारकर (तपस्याके लिये) वनमें ही जानेका निश्चय किया और अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्रोंको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम्।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥ ४ ॥

'हमलोग वनमें रहकर (तपद्वारा) धर्मका बहुत अधिक उपद्रवशून्य फल पा सकते हैं । अतः शीघ्र वनमें चलनेका विचार तुम सब लोगोंको रुचिकर होना चाहिये; क्योंकि ग्राम्य-जीवनकी अपेक्षा वनमें रहना अधिक लाभप्रद है' ॥ ४ ॥

तं भार्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥ ५ ॥

अत्रिकी पत्नी भी धर्मका ही अनुसरण करनेवाली थी । उसने यज्ञ-यागादिके रूपमें धर्मके ही विस्तारपर दृष्टि रखकर पतिको उत्तर दिया—'प्राणनाथ ! आप धर्मात्मा राजा वैन्यके पास जाकर अधिक धनकी याचना कीजिये ॥ ५ ॥

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम्।
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥ ६ ॥
भृत्यान् सुतान् संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम्।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥ ७ ॥

'वे राजर्षि इन दिनों यज्ञ कर रहे हैं, अतः इस अवसरपर यदि आप उनसे माँगेंगे तो वे आपको अधिक धन देंगे । ब्रह्मर्षे ! वहाँसे प्रचुर धन लाकर भरण-पोषण करने योग्य इन पुत्रोंको बाँट दीजिये; फिर इच्छानुसार वनको चलिये । धर्मज्ञ महात्माओंने यही परम धर्म बताया है' ।६-७।

अत्रिरुवाच

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥ ८ ॥

अत्रि बोले—महाभागे ! महात्मा गौतमने मुझसे कहा है कि 'वेनपुत्र राजा पृथु धर्म और अर्थके साधनमें संलग्न रहते हैं । वे सत्यव्रती हैं' ॥ ८ ॥

द्वेष्टारः किंतु नः सन्ति वसन्तस्तत्र वै द्विजाः।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥ ९ ॥

परंतु एक बात विचारणीय है । वहाँ उनके यज्ञमें जितने ब्राह्मण रहते हैं, वे सभी मुझसे द्वेष रखते हैं, यही बात गौतमने भी कही है । इसीलिये मैं वहाँ जानेका विचार नहीं कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम्।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ॥ १० ॥

यदि मैं वहाँ जाकर धर्म, अर्थ और कामसे युक्त कल्याणमयी वाणी भी बोलूँगा तो वे उसे धर्म और अर्थके विपरीत ही बतायेंगे; निरर्थक सिद्ध करेंगे ॥ १० ॥

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसंचयम् ॥ ११ ॥

तथापि महाप्राज्ञे ! मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, मुझे तुम्हारी बात ठीक जँचती है । राजा पृथु मुझे बहुत-सी गौएँ तो देंगे ही, पर्याप्त धन भी देंगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥ १२ ॥
वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद् वचः ।

ऐसा कहकर महातपस्वी अत्रि शीघ्र ही राजा पृथुके यज्ञमें गये । यज्ञमण्डपमें पहुँचकर उन्होंने उस राजाका माङ्गलिक वचनोंद्वारा स्तवन किया और उनका समादर करते हुए इस प्रकार कहा ॥ १२½ ॥

अत्रिरुवाच

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ॥ १३ ॥

अत्रि बोले—राजन् ! तुम इस भूतलके सर्वप्रथम राजा हो; अतः धन्य हो, सब प्रकारके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो ॥ १३ ॥

स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित् ।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ॥ १४ ॥

महर्षिगण तुम्हारी स्तुति करते हैं । तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नरेश धर्मका ज्ञाता नहीं है ।

उनकी यह बात सुनकर महातपस्वी गौतम मुनिने कुपित होकर कहा ॥ १४ ॥

गौतम उवाच

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ॥ १५ ॥

गौतम बोले—अत्रे ! फिर कभी ऐसी बात मुँहसे न निकालना । तुम्हारी बुद्धि एकाग्र नहीं है । यहाँ हमारे प्रथम प्रजापतिके रूपमें साक्षात् इन्द्र उपस्थित हैं ॥ १५ ॥

अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत ।
अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः ।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! तब अत्रिने भी गौतमको उत्तर देते हुए कहा—'मुने ! ये पृथु ही विधाता हैं, ये ही प्रजापति इन्द्र-के समान हैं । तुम्हीं मोहसे मोहित हो रहे हो; तुम्हें उत्तम बुद्धि नहीं प्राप्त है' ॥ १६ ॥

गौतम उवाच

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्र विमुह्यसे ।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ॥ १७ ॥

गौतम बोले—मैं नहीं मोहमें पड़ा हूँ, तुम्हीं यहाँ आकर मोहित हो रहे हो । मैं खूब समझता हूँ, तुम राजा-से मिलनेकी इच्छा लेकर ही भरी सभामें स्वार्थवश उनकी स्तुति कर रहे हो ॥ १७ ॥

न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥ १८ ॥

उत्तम धर्मका तुम्हें बिल्कुल ज्ञान नहीं है । तुम धर्मका प्रयोजन भी नहीं समझते हो । मेरी दृष्टिमें तुम मूढ हो, बालक हो; किसी विशेष कारणसे बूढ़े बने हुए हो अर्थात् केवल अवस्थासे बूढ़े हो ॥ १८ ॥

विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ ॥ १९ ॥

मुनियोंके सामने खड़े होकर जब वे दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर जिनका यज्ञमें पहलेसे वरण हो चुका था, वे ब्राह्मण पूछने लगे—'ये दोनों कैसे लड़ रहे हैं ! ॥ १९ ॥

प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि ।
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥ २० ॥
ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥ २१ ॥

'किसने इन दोनोंको महाराज पृथुके यज्ञमण्डपमें घुसने दिया है ? ये दोनों जोर-जोरसे बातें करते और झगड़ते यहाँ किस कामसे खड़े हैं ?' उस समय परम धर्मात्मा एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता कणादने सब सदस्योंको बताया कि ये दोनों किसी विषयको लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और उसीके निर्णयके लिये यहाँ आये हैं' ॥ २०-२१ ॥

अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान् ।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥
वैन्यं विधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान् ।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम् ॥ २३ ॥
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।
प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥ २४ ॥

तब गौतमने सदस्यरूपसे बैठे हुए उन श्रेष्ठ मुनियोंसे कहा—'श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! हम दोनोंके प्रश्नको आपलोग सुनें । अत्रिने राजा पृथुको विधाता कहा है । इस बातको लेकर हम दोनोंमें महान् संशय एवं विवाद उपस्थित हो गया है ।' यह सुनकर वे महात्मा मुनि उक्त संशयका निवारण करनेके लिये तुरंत ही धर्मज्ञ सनत्कुमारजीके पास दौड़े गये । उन महातपस्वीने इनकी सब बातें यथार्थरूपसे सुनकर उनसे यह धर्म एवं अर्थयुक्त वचन कहा ॥ २२—२४ ॥

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥ २५ ॥
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥ २६ ॥

सनत्कुमार बोले—ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे संयुक्त हो जायँ तो वे दोनों मिलकर शत्रुओंको उसी प्रकार दग्ध कर डालते हैं, जैसे अग्नि और वायु परस्पर सहयोगी होकर कितने ही वनोंको भस्म कर डालते हैं। राजा धर्मरूपसे विख्यात है। वही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता और बृहस्पति भी है ॥ २५-२६ ॥

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ २७ ॥
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः।
स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते ॥ २८ ॥
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥ २९ ॥

जिस राजाकी प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दोंद्वारा स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन नहीं करेगा ? पुरायोनि (प्रथम कारण), युधाजित् (संग्रामविजयी), अभिया (रक्षाके लिये सर्वत्र गमन करनेवाला), मुदित (प्रसन्न), भव (ईश्वर), स्वर्णेता (स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला), सहजित् (तत्काल विजय करनेवाला) तथा बभ्रु (विष्णु)—इन नामोंद्वारा राजाका वर्णन किया जाता है। राजा सत्यका कारण, प्राचीन बातोंको जाननेवाला तथा सत्यधर्ममें प्रवृत्ति करानेवाला है। अधर्मसे डरे हुए ऋषियोंने अपना ब्राह्मबल भी क्षत्रियोंमें स्थापित कर दिया था ॥ २७-२९ ॥

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥ ३० ॥

जैसे देवलोकमें सूर्य अपने तेजसे सम्पूर्ण अन्धकारका नाश करता है, उसी प्रकार राजा इस पृथ्वीपर रहकर अधर्मोंको सर्वथा हटा देता है ॥ ३० ॥

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात्।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥ ३१ ॥

अतः शास्त्र-प्रमाणपर दृष्टिपात करनेसे राजाकी प्रधानता सूचित होती है। इसलिये जिसने राजाको प्रजापति बतलाया है, उसीका पक्ष उत्कृष्ट सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः।
तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ॥ ३२ ॥
यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे सम्मितं श्रेष्ठमेव च ॥ ३३ ॥
तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ॥ ३४ ॥
दशकोटीर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश।
एतद् ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥ ३५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर एक पक्षकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जानेपर महामना राजा पृथु बड़े प्रसन्न हुए और जिन्होंने उनकी पहले स्तुति की थी, उन अत्रि मुनिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मर्षे ! आपने यहाँ मुझे मनुष्योंमें प्रथम (भूपाल) श्रेष्ठ, ज्येष्ठ तथा सम्पूर्ण देवताओंके समान बताया है, इसलिये मैं आपको प्रचुरमात्रामें नाना प्रकारके रत्न और धन दूँगा, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित, सहस्रों युवती दासियाँ अर्पित करूँगा तथा दस करोड़ स्वर्णमुद्रा और दस भार सोना भी दूँगा। विप्रर्षे ! ये सब वस्तुएँ आपको अभी दे रहा हूँ, मैं समझता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं' ॥ ३२-३५ ॥

तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥ ३६ ॥

तब महान् तपस्वी और तेजस्वी अत्रि मुनि राजासे समादृत हो न्यायपूर्वक मिले हुए उस सम्पूर्ण धनको लेकर अपने घरको चले गये ॥ ३६ ॥

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान्।
तपः समभिसंधाय वनमेवान्वपद्यत ॥ ३७ ॥

फिर मनपर संयम रखनेवाले वे महामुनि पुत्रोंको प्रसन्नतापूर्वक वह सारा धन बाँटकर तपस्याका शुभ संकल्प मनमें लेकर वनमें ही चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

तार्क्ष्यमुनि और सरस्वतीका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डुनन्दन ! इसी विषयमें परम बुद्धिमान् तार्क्ष्य मुनिने सरस्वतीदेवीसे कुछ प्रश्न किया था, उसके

उत्तरमें सरस्वतीदेवीने जो कुछ कहा था, वह तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो ॥ १ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे
कथं कुर्वन् न च्यवते स्वधर्मात्।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां
त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥ २ ॥

तार्क्ष्यने पूछा—भद्रे ! इस संसारमें मनुष्यका कल्याण करनेवाली वस्तु क्या है ? किस प्रकार आचरण करनेवाला पुरुष अपने धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता है ? सर्वाङ्ग सुन्दरी देवि ! तुम मुझसे इसका वर्णन करो । मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा । मुझे विश्वास है कि तुमसे उपदेश ग्रहण करके मैं अपने धर्मसे गिर नहीं सकता ॥ २ ॥

कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा
कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत्।
एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि
यथा लोकान् विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥

मैं कैसे और किस समय अग्निमें हवन अथवा उसका पूजन करूँ ? क्या करनेसे धर्मका नाश नहीं होता है ? सुभगे ! तुम ये सारी बातें मुझसे बताओ । जिससे मैं रजोगुणरहित होकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करूँ ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन
शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च
सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! उनके इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूछनेपर सरस्वतीदेवीने ब्रह्मर्षि तार्क्ष्यको धर्मात्मा, उत्तम बुद्धिसे युक्त एवं श्रवणके लिये उत्सुक देखकर उनसे यह हितकर वचन कहा ॥ ४ ॥

सरस्वत्युवाच

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं
स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै पारं देवलोकस्य गन्ता
सहामरैः प्राप्नुयात् प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥

सरस्वती बोली—मुने ! जो प्रमाद छोड़कर पवित्र भावसे नित्य स्वाध्याय करता है और अर्चि आदि मार्गोंसे प्राप्त होने योग्य सगुण ब्रह्मको जान लेता है, वह देवलोकसे उठकर ब्रह्मलोकमें जाता है और देवताओंके साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है ॥ ५ ॥

तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः
सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था
हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ॥ ६ ॥

वहाँ सुन्दर, विशाल, शोकरहित, अत्यन्त पवित्र तथा सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित छोटे-छोटे सरोवर हैं । उनमें कीचड़का नाम नहीं है । उनमें मछलियाँ निवास करती हैं । उन सरोवरोंमें उतरनेके लिये मनोहर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और वे सभी सरोवर सुवर्णमय कमल-पुष्पोंसे आच्छादित रहते हैं ॥ ६ ॥

तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो
महीयमानाः पृथगप्सरोभिः ।
सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभि-
र्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥ ७ ॥

उनके तटोंपर पूजनीय पुण्यात्मा पुरुष पृथक्-पृथक् अप्सराओंके साथ सानन्द प्रतिष्ठित होते हैं । वे अप्सराएँ अत्यन्त पवित्र सुगन्धसे सुवासित, विविध आभूषणोंसे विभूषित तथा स्वर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होती हैं ॥ ७ ॥

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति
दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।
वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं
दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥ ८ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्य उत्तम लोकमें जाते हैं । छकड़े ढोनेवाले बलवान् बैलोंका दान करनेसे दाताओंको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है । वस्त्रदानसे चन्द्रलोक और सुवर्णदानसे अमरत्वकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

धेनुं दत्त्वा सुप्रभां सुप्रदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यासते देवलोके ॥ ९ ॥

जो अच्छे रंगकी हो, सुगमतासे दूध दुहा लेती हो, सुन्दर बछड़े देनेवाली हो और बन्धन तुड़ाकर भागनेवाली न हो, ऐसी गौका जो लोग दान करते हैं, वे गौके शरीरमें जितने रोएँ हों, उतने वर्षतक देवलोकमें निवास करते हैं ॥ ९ ॥

अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम् ।
धुरन्धरं बलवन्तं युवानं
प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य ॥ १० ॥

जो मनुष्य अच्छे स्वभाववाले, अत्यन्त शक्तिशाली, हल खींचनेवाले, गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ, बलवान् और तरुण अवस्थावाले बैलका दान करता है, वह धेनुदान करनेवाले पुरुषसे दसगुने पुण्यलोक प्राप्त करता है ॥ १० ॥

तार्क्ष्यको सरस्वतीका उपदेश

ददाति यो वै कपिलां सचैलां
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ ११ ॥

जो काँसेकी दोहनी, वस्त्र, उत्तरकालिक दक्षिणाद्रव्यके साथ कपिला गौका दान करता है, उसकी दी हुई वह गौ उन-उन गुणोंके साथ कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँच जाती है ॥ ११ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावत् फलं भवति गोप्रदाने ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र ॥ १२ ॥

उस धेनुके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता गोदानके पुण्य-फलका उपभोग करता है । साथ ही वह गौ परलोकमें दाताके पुत्रों, पौत्रों एवं सात पीढ़ीतकके समूचे कुलका उद्धार करती है ॥ १२ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय
लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥ १३ ॥
स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे
तीव्रान्धकारे नरके सम्पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता
दानं गवां तारयते परत्र ॥ १४ ॥

जो सोनेके बने हुए सुन्दर सींग काँसेके दुग्धपात्र, द्रव्य तथा ओढ़नेके वस्त्र और दक्षिणासहित तिलकी धेनुका ब्राह्मणको दान करता है, उसके लिये वसुओंके लोक सुलभ हो जाते हैं । जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्यको अनुकूल वायुके सहयोगसे चलनेवाली नाव बचा लेती है, उसी प्रकार जो अपने कर्मोंद्वारा काम, क्रोध आदि दानवोंसे घिरे हुए घोर अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण नरकमें गिर रहा है, उसे गोदानजनित पुण्य परलोकमें उबार लेता है ॥ १३–१४ ॥

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति दानं विधिना च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ १५ ॥

जो ब्राह्म विवाहकी विधिसे दान करने योग्य कन्याका (श्रेष्ठ वरको) दान करता है, ब्राह्मणको भूदान देता है और विधिपूर्वक अन्यान्य वस्तुओंका दान सम्पन्न करता है वह इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १५ ॥

यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य
हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशीलः ।
सप्तावरान् सप्त पूर्वान् पुनाति
पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ॥ १६ ॥

तार्क्ष्य ! जो सदाचारी पुरुष संयम—नियमका पालन करते हुए सात वर्षोंतक अग्निमें आहुति देता है, वह अपने सत्कर्मोंद्वारा अपने साथ ही सात पीढ़ीतककी भावी संतानोंको और सात पीढ़ी पूर्वतकके पितामहोंको भी पवित्र कर देता है ॥ १६ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराण-
माचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां
यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥ १७ ॥

तार्क्ष्यने पूछा— मनोहर रूपवाली देवि ! मैं पूछता हूँ कि अग्निहोत्रका प्राचीन नियम क्या है ? यह बताओ । तुम्हारे उपदेश करनेपर आज मुझे यहाँ अग्निहोत्रके प्राचीन नियमका ज्ञान हो जाय ॥ १७ ॥

सरस्वत्युवाच

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणि-
र्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुत्सवः शुचिकामा हि देवा
नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति ॥ १८ ॥

सरस्वतीने कहा—मुने ! जो अपवित्र है, जिसने हाथ-पैर (भी) नहीं धोये हैं, जो वेदके ज्ञानसे वञ्चित है, जिसे वेदार्थका कोई अनुभव नहीं है, ऐसे पुरुषको अग्निमें आहुति

नहीं देनी चाहिये। देवता दूसरोंके मनोभावको जाननेकी इच्छा रखते हैं, वे पवित्रता चाहते हैं, अतः श्रद्धाहीन मनुष्यके दिये हुए हविष्यको ग्रहण नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्या-
न्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि ।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह ताक्ष्र्य
न वै तादृग् जुहुयादग्निहोत्रम् ॥ १९ ॥

वेद-मन्त्रोंका ज्ञान न रखनेवाले पुरुषको देवताओंके लिये हविष्य प्रदान करनेके कार्यमें नियुक्त न करे; क्योंकि वैसा मनुष्य जो हवन करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। ताक्ष्र्य ! अश्रोत्रिय पुरुषको वेदमें अपूर्व (कुल-शीलसे अपरिचित) कहा गया है*। अतः वैसा पुरुष अग्निहोत्रका अधिकारी नहीं है ॥ १९ ॥

कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः
सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं
पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम् ॥२०॥

जो तपसे कृश हो सत्य व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं और हवनसे बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, वे पवित्र सुगन्धसे भरे हुए गौओंके लोकमें जाते हैं और वहाँ परम सत्य परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ २० ॥

ताक्ष्र्य उवाच

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे
कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य
पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥ २१ ॥

ताक्ष्र्यने पूछा—सुन्दर रूपवाली सौभाग्यशालिनी देवि ! तुम आत्मस्वरूपा हो तथा परलोकके विषयमें एवं कर्मफलके विचारमें प्रविष्ट हुई अत्यन्त उत्कृष्ट बुद्धि हो। प्रज्ञा देवी भी तुम्हीं हो। तुम्हींको इन दोनों रूपोंमें जानकर मैं पूछता हूँ, बताओ, वास्तवमें तुम क्या हो? ॥ २१ ॥

सरस्वत्युवाच

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि
विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं
भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥ २२ ॥

सरस्वती बोली—मुने ! मैं [विद्यारूपा सरस्वती हूँ और] श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रसे यहाँ तुम्हारे संशयका निवारण करनेके लिये आयी हूँ। (तुम श्रद्धालु हो) तुम्हारा सांनिध्य पाकर ही मैंने यहाँ ये पूर्वोक्त सत्य बातें यथार्थरूपसे बतायी हैं; क्योंकि आन्तरिक श्रद्धाभावमें ही मेरी स्थिति है ॥ २२ ॥

ताक्ष्र्य उवाच

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति
विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमनन्तकान्ति
प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥ २३ ॥

ताक्ष्र्यने पूछा—सुभगे ! तुम्हारी-जैसी दूसरी कोई नारी नहीं है। तुम साक्षात् लक्ष्मीजीकी भाँति अत्यन्त प्रकाशमान दिखायी देती हो। तुम्हारा यह परम कान्तिमान् स्वरूप अत्यन्त दिव्य है। साथ ही तुम दिव्य प्रज्ञा भी धारण करती हो (इसका क्या कारण है?) ॥ २३ ॥

सरस्वत्युवाच

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ
यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति ।
तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि
चाप्यायिता रूपवती च विप्र ॥ २४ ॥

सरस्वती बोली—नरश्रेष्ठ ! विद्वन् ! याज्ञिकलोग यज्ञोंमें जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं अथवा श्रेष्ठ वस्तुओंका संकलन करते हैं, उन्हींसे मेरी पुष्टि तथा तृप्ति होती है और विप्रवर ! उन्हींसे मैं रूपवती होती हूँ ॥ २४ ॥

यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह
वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च
तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥ २५ ॥

विद्वन् ! उन यज्ञोंमें जो समिधा-स्रुवा आदि वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ, सुवर्ण आदि तैजस वस्तुएँ तथा व्रीहि आदि पार्थिव वस्तुएँ उपयोगमें लायी जाती हैं, उन्हींके द्वारा दिव्य रूप तथा प्रज्ञासे सम्पन्न मेरे स्वरूपकी पुष्टि होती है, यह बात तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ २५ ॥

ताक्ष्र्य उवाच

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना
व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः ।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं
मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः ।
सांख्या योगा परमं यं विदन्ति
परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥ २६ ॥

ताक्ष्र्यने पूछा—देवि ! जिसे परम कल्याणस्वरूप मानते हुए मुनिजन अत्यन्त विश्वासपूर्वक इन्द्रियों आदिका निग्रह करते हैं तथा जिस परम मोक्ष-स्वरूपमें धीर पुरुष

* जैसे मनुष्य अपरिचित पुरुषका दिया हुआ अन्न नहीं खाता, उसी प्रकार अश्रोत्रियका दिया हुआ हविष्य देवता नहीं स्वीकार करते हैं।

प्रवेश करते हैं, उस शोकरहित परम मोक्षपदका वर्णन करो; क्योंकि जिस परम मोक्षपदको सांख्ययोगी और कर्मयोगी जानते हैं, उस सनातन मोक्ष-तत्त्वको मैं नहीं जानता ॥ २६ ॥

सरस्वत्युवाच

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः
परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम्।
स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगै-
स्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥ २७ ॥

सरस्वती बोली—स्वाध्यायरूप योगमें लगे हुए तथा तपको ही धन माननेवाले योगी व्रत-पुण्य और योगके साधनोंसे जिस प्रख्यात, परात्पर एवं पुरातन पदको प्राप्तकर शोकरहित तथा मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन ब्रह्मपद है। वेदवेत्ता उसी परमपदका आश्रय लेते हैं ॥ २७ ॥

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः
सहस्रशाखो विपुलो विभाति।
तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति
मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ॥ २८ ॥

उस परब्रह्ममें ब्रह्माण्डरूपी एक विशाल बेंतका वृक्ष है, जो भोग-स्थानरूपी अनन्त शाखाओंसे युक्त तथा शब्दादि विषयरूपी पवित्र सुगन्धसे सम्पन्न है। (उस ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष-का मूल अविद्या है।) उस अविद्यारूपी मूलसे भोगवासनामयी निरन्तर बहनेवाली अनन्त नदियाँ उत्पन्न होती हैं। वे नदियाँ ऊपरसे तो रमणीय और पवित्र सुवाससे युक्त प्रतीत होती हैं तथा मधुके समान मधुर एवं जलके समान तृप्ति-कारक विषयोंको बहाया करती हैं ॥ २८ ॥

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥ २९ ॥

परंतु वास्तवमें वे सब भूने हुए जौके समान फल देनेमें असमर्थ, पूओंके समान अनेक छिद्रोंवाली, हिंसासे मिल सकनेवाली अर्थात् मांसके समान अपवित्र, सूखे शाकके समान सारशून्य और खीरके समान रुचिकर लगनेवाली होनेपर भी कीचड़के समान चित्तमें मलिनता उत्पन्न करनेवाली हैं। बालूके कणोंके समान परस्पर विलग एवं ब्रह्माण्डरूपी बेंतके वृक्षकी शाखाओंमें बहनेवाली हैं ॥ २९ ॥

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत् पदं परमं मम ॥ ३० ॥

मुने! इन्द्र, अग्नि और पवन आदि मरुद्गणोंके साथ देवता लोग जिस ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा उसका पूजन करते हैं, वह मेरा परमपद है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सरस्वती-तार्क्ष्यसंवादविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुका चरित्र तथा मत्स्यावतारकी कथा

वैशम्पायन उवाच

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे कहा—'अब आप हमसे वैवस्वत मनुके चरित्र कहिये' ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान्।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—नरश्रेष्ठ नरेश! विवस्वान् (सूर्य) के एक अत्यन्त प्रतापी पुत्र हुआ, जो प्रजापतिके समान कान्तिमान् और महान् ऋषि था ॥ २ ॥

ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥ ३ ॥

वह बालक मनु ओज, तेज, कान्ति और विशेषतः तपस्या-द्वारा अपने पिता भगवान् सूर्य तथा पितामह महर्षि कश्यपसे भी आगे बढ़ गया ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिप।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत् तपः ॥ ४ ॥
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम्।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ ५ ॥

महाराज! उसने बदरिकाश्रममें जाकर दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा हो दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय उसका सिर नीचेकी ओर झुका हुआ था और वह एकटक नेत्रोंसे निरन्तर देखता रहता था। इस प्रकार बड़ी दृढ़ताके साथ उस बालकने घोर तप किया ॥ ४-५ ॥

तं कदाचित् तपस्यन्तमार्द्रचीरजटाधरम्।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

(वही बालक वैवस्वत मनुके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।) एक दिनकी बात है, मनु भीगे चीर और जटा धारण किये चीरिणी नदीके तटपर तपस्या कर रहे थे । उस समय एक मत्स्य आकर इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं एक छोटा-सा मत्स्य हूँ । मुझे (अपनी जातिके) बलवान् मत्स्योंसे बराबर भय बना रहता है । अतः उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! आप उससे मेरी रक्षा करें॥

दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।
आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ॥ ८ ॥

'बलवान् मत्स्य विशेषतः दुर्बल मत्स्यको अपना आहार बना लेते हैं, यह सदासे हमारी मत्स्य जातिकी नियत वृत्ति है ॥

तस्माद् भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः ।
त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥ ९ ॥

'इसलिये भयके महान् समुद्रमें मैं डूब रहा हूँ । आप विशेष प्रयत्न करके मुझे बचानेका कष्ट करें । आपके इस उपकारके बदले मैं भी प्रत्युपकार करूँगा' ॥ ९ ॥

स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात् तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥ १० ॥
उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत् तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ॥ ११ ॥

मत्स्यकी यह बात सुनकर वैवस्वत मनुको बड़ी दया आयी । उन्होंने स्वयं अपने हाथसे चन्द्रमाकी किरणोंके समान

श्वेत रंगवाले उस मत्स्यको उठा लिया और पानीके बाहर लाकर मटकेमें डाल दिया ॥ १०-११ ॥

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥ १२ ॥
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलिञ्जरे यथा चैव नासौ समभवत् किल ॥ १३ ॥

राजन् ! वहाँ उन्होंने बड़े आदरके साथ उसका पालन-पोषण किया और वह दिन दिन बढ़ने लगा । मनुने उसके प्रति पुत्रके समान विशेष वात्सल्य भाव प्रकट किया । तदनन्तर दीर्घकाल बीतनेपर वह मत्स्य इतना बड़ा हो गया कि मटकेमें उसका रहना असम्भव हो गया ॥ १२-१३ ॥

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।
भगवन् साधु मेऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय ॥ १४ ॥

तब एक दिन मत्स्यने मनुको देखकर फिर कहा—'भगवन् ! अब आप मेरे लिये इससे अच्छा कोई दूसरा स्थान दीजिये' ॥ १४ ॥

उद्धृत्यालिञ्जरात् तस्मात् ततः स भगवान् मनुः ।
तं मत्स्यमनयद् वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥ १५ ॥

तब वे भगवान् मनु उस मत्स्यको उस मटकेसे निकालकर एक बहुत बड़ी बावलीके पास ले गये ॥ १५ ॥

तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।
अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान् बहून् ॥ १६ ॥

शत्रुविजयी युधिष्ठिर ! मनुने उसे वहीं डाल दिया । अब वह मत्स्य अनेक वर्षोंतक उसीमें क्रमशः बढ़ता रहा ॥१६॥

द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ॥ १७ ॥

कमलनयन ! उस बावलीकी लम्बाई दो योजन और चौड़ाई एक योजनकी थी; परंतु उसमें भी उस मत्स्यका रहना कठिन हो गया ॥ १७ ॥

विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १८ ॥

नराधिप कुन्तीनन्दन ! वह उस बावलीमें हिल-डुल भी नहीं पाता था । अतः मनुको देखकर वह पुनः बोला ॥१८॥

नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥ १९ ॥
निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ॥ २० ॥

'भगवन् ! साधुबाबा ! अब आप मुझे समुद्रकी प्यारी पटरानी गङ्गाजीमें ले चलिये । मैं वहीं निवास करूँगा । अथवा तात ! आप जहाँ उचित समझें, ले चलें । अनघ ! मुझे दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा आपके आज्ञापालनमें स्थिर रहना है; क्योंकि आपके कारण ही मैं भलीभाँति पुष्ट होकर इतना बड़ा हुआ हूँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद् भगवान् वशी ।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥ २१ ॥

मत्स्यके ऐसा कहनेपर जितेन्द्रिय, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् मनुने उसे स्वयं ले जाकर गङ्गामें डाल दिया ॥ २१ ॥

स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥ २३ ॥
उद्धृत्य गङ्गासलिलात् ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥ २४ ॥

शत्रुदमन ! फिर वह मत्स्य वहाँ कुछ कालतक बढ़ता रहा । फिर एक दिन मनुको देखकर उसने कहा—'प्रभो ! मेरा शरीर अब इतना बड़ा हो गया है कि मैं गङ्गाजीमें हिल-डुल नहीं सकता । अतः मुझे शीघ्र ही समुद्रमें ले चलिये । भगवन् ! आप प्रसन्न होकर मुझपर इतनी कृपा अवश्य कीजिये ।' कुन्तीनन्दन ! तब मनुने स्वयं उस मत्स्यको गङ्गाजीके जलसे निकालकर समुद्रतक पहुँचाया और उसमें छोड़ दिया ॥ २२–२४ ॥

सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद् यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखश्च वै ॥ २५ ॥

राजन् ! यद्यपि वह मत्स्य बहुत विशाल था, तो भी जब मनु उसे ले जाने लगे, तब वह ऐसा बन गया, जिससे आसानीसे ले जाया जा सके । उसका स्पर्श और गन्ध दोनों मनुके लिये बड़े सुखकर थे ॥ २५ ॥

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ २६ ॥

जब मनुने उस मत्स्यको समुद्रमें डाल दिया, तब इसने उनसे मुसकराते हुए-से कहा—॥ २६ ॥

भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत् कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥ २७ ॥

'भगवन् ! आपने विशेष मनोयोगके साथ सब प्रकारसे मेरी रक्षा की है, अब आपके लिये जिस कार्यका अवसर प्राप्त हुआ है, वह बताता हूँ, सुनिये—॥ २७ ॥

अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥ २८ ॥

'भगवन् ! यह सारा-का-सारा चराचर पार्थिव जगत् शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है । महाभाग ! सम्पूर्ण जगत्का प्रलय हो जायगा ॥ २८ ॥

सम्प्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात् त्वां बोधयाम्यद्य यत् ते हितमनुत्तमम् ॥ २९ ॥

'यह सब लोकोंके सम्प्रक्षालन (एकार्णवके जलसे धुलकर नष्ट होने) का समय आ गया है । इसलिये मैं आपको सचेत करता हूँ और आपके लिये जो परम उत्तम हितकी बात है, उसे बताता हूँ ॥ २९ ॥

त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ॥ ३० ॥

'सम्पूर्ण जङ्गमों तथा स्थावर पदार्थोंमें जो हिल डुल सकते हैं और जो हिलने-डुलनेवाले नहीं हैं, उन सबके लिये अत्यन्त भयंकर समय आ पहुँचा है ॥ ३० ॥

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥ ३१ ॥

'आपको एक मजबूत नाव बनवानी चाहिये, जिसमें (मजबूत) रस्सी जुटी हो । महामुने ! फिर आप सप्तर्षियोंके साथ उस नावपर बैठ जाइये ॥ ३१ ॥

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।
तस्यामारोहयेर्नावि सुसंगुप्तानि भागशः ॥ ३२ ॥

'पूर्वकालमें ब्राह्मणोंने जो सब प्रकारके बीज बताये हैं, उनका पृथक्-पृथक् संग्रह करके उन्हें सुरक्षितरूपसे उस नावपर रख लें ॥ ३२ ॥

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ॥ ३३ ॥
एवमेतत् त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना ॥ ३४ ॥

'मुनिजनोंके प्रेमी तपस्वी नरेश ! उस नावमें बैठे रहकर आप मेरी प्रतीक्षा कीजियेगा । मैं आपके पास अपने मस्तकमें सींग धारण किये आऊँगा । उसीसे आप मुझे पहचान लेंगे । इस प्रकार यह सब कार्य आपको करना है । अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ और यहाँसे जाता हूँ । उस महान् जलराशिको आपलोग मेरी सहायताके बिना पार नहीं कर सकेंगे ॥ ३३-३४ ॥

नाभिशङ्क्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! आप मेरी इस बातमें तनिक भी संदेह न करें ।' तब राजाने उस मत्स्यसे कहा—'बहुत अच्छा ! मैं ऐसा ही करूँगा' ॥ ३५ ॥

जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।
ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥ ३६ ॥
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ॥ ३७ ॥

शत्रुदमन ! वे दोनों एक दूसरेसे विदा लेकर इच्छानुसार वहाँसे चले गये । महाराज ! तदनन्तर मनु मत्स्यभगवान्के

कथनानुसार सम्पूर्ण बीज लेकर एक सुन्दर नौकाद्वारा उत्ताल तरङ्गोंसे भरे हुए महासागरमें तैरने लगे ॥ ३६-३७ ॥

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय ॥ ३८ ॥
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ॥ ३९ ॥
शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम्।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ॥ ४० ॥

शत्रुनगरविजयी नरेश्वर! तदनन्तर मनुने भगवान् मत्स्य-का चिन्तन किया। यह जानकर शृङ्गधारी भगवान् मत्स्य वहाँ शीघ्र आ पहुँचे। नरश्रेष्ठ भरतकुलशिरोमणे! समुद्रमें अपने पूर्वकथित रूपसे ऊँचे पर्वतकी भाँति शृङ्गधारी मत्स्य भगवान्को आया देख उनके मस्तकवर्ती सींगमें उन्होंने बँटी हुई रस्सी बाँध दी ॥ ३८—४० ॥

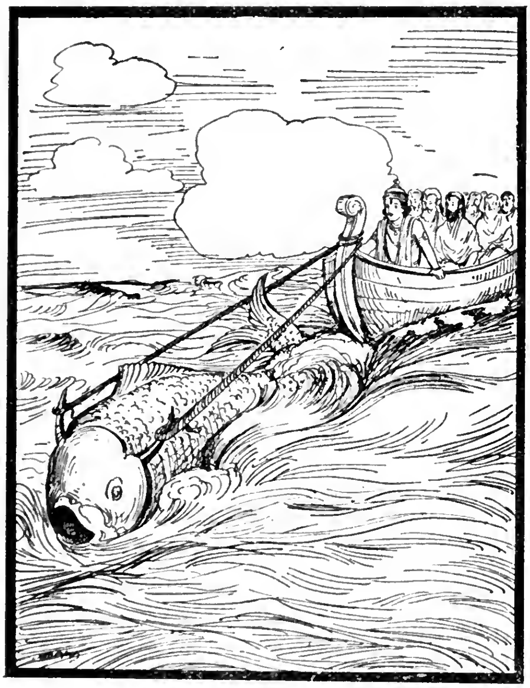

मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत्।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय ॥ ४१ ॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि।
स च तांस्तारयन् नावा समुद्रं मनुजेश्वर ॥ ४२ ॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन् महोदधौ ॥ ४३ ॥
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥ ४४ ॥

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले पुरुषसिंह! मनुने वह नाव उस सींगमें अटका दी। रस्सीसे बँधे हुए मत्स्यभगवान् उन सबको नौकाद्वारा पार उतारनेके लिये उस खारे पानीके समुद्रमें बड़े वेगसे नाव खींचने लगे। मनुजेश्वर! उस समय समुद्र अपनी लहरोंसे नृत्य करता-सा जान पड़ता था। पानीके हिलोरोंसे भयंकर गर्जना-सी कर रहा था। शत्रुविजयी नरेश्वर! उस महासागरमें प्रचण्ड वायुके झोंकोंसे विक्षुब्ध होकर हिलती-डुलती हुई वह नौका चञ्चल चित्तवाली मतवाली स्त्रीके समान झूम रही थी। उस समय न तो भूमिका पता लगता था और न दिशाओं तथा विदिशाओंका ही भान होता था ॥ ४१—४४ ॥

सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च।
एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥ ४६ ॥
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसंचये।
ततो हिमवतः शृङ्गं यत् परं भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन।
अथाब्रवीत् तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः ॥४८॥
अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम्।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा।
तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम् ॥ ५० ॥

भरतकुलभूषण नरेश्वर! आकाश और द्युलोक सब कुछ जलमय ही प्रतीत होता था। इस प्रकार जब सारा विश्व एकार्णवके जलमें डूबा हुआ था, उस समय केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य भगवान्—ये ही नौ व्यक्ति दृष्टिगोचर होते थे। राजन्! इस तरह बहुत वर्षोंतक भगवान् मत्स्य आलस्यरहित होकर उस अगाध जल-राशिमें उस नौकाको खींचते रहे। भरतकुलतिलक! तदनन्तर हिमालयका जो सर्वोच्च शिखर था, वहाँ मत्स्य भगवान् उस नावको खींचकर ले गये। कुरुनन्दन! तब वे धीरे-धीरे हँसते हुए उन समस्त ऋषियोंसे बोले—'आपलोग हिमालयके इस शिखरमें इस नावको शीघ्र बाँध दें।' भरतश्रेष्ठ! मत्स्यका वह वचन सुनकर उन महर्षियोंने तुरंत वहाँ हिमालयके शिखरमें वह नौका बाँध दी। तभीसे हिमालयका वह उत्तम शिखर 'नौका-बन्धन' के नामसे विख्यात हुआ ॥ ४५—५० ॥

ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ।
अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन् सहितस्तदा ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि वह शिखर आज भी उसी नामसे प्रसिद्ध है। तदनन्तर एकटक दृष्टिवाले भगवान् मत्स्य एक साथ उन सब ऋषियोंसे बोले—॥

अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ॥ ५२ ॥
मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ ५३ ॥

'मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं उपलब्ध होती। मैंने ही मत्स्यरूप धारण करके इस महान् भयसे तुमलोगोंकी रक्षा की है। अब मनुको चाहिये कि ये देवता, असुर और मनुष्य आदि समस्त प्रजाकी, सब लोकोंकी और सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि करें ॥ ५२-५३॥

तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति।
मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥ ५४ ॥

'इन्हें तीव्र तपस्याके द्वारा जगत्की सृष्टि करनेकी प्रतिभा प्राप्त हो जायगी। मेरी कृपासे प्रजाकी सृष्टि करते समय इन्हें मोह नहीं होगा' ॥ ५४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥ ५५ ॥
प्रमूढोऽभूत् प्रजासर्गे तपस्तेपे महत् ततः।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ५६ ॥

ऐसा कहकर भगवान् मत्स्य क्षणभरमें अदृश्य हो गये। तदनन्तर स्वयं वैवस्वत मनुको प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, किंतु प्रजाकी सृष्टि करनेमें उनकी बुद्धि मोहाच्छन्न हो गयी थी। तब उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की और महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर उन्होंने सृष्टिका कार्य प्रारम्भ किया ॥ ५५-५६ ॥

सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥

भरतकुलभूषण! फिर वे पूर्वकल्पके अनुसार सारी प्रजाकी यथावत् सृष्टि करने लगे। इस प्रकार यह संक्षेपसे मत्स्यपुराणका वृत्तान्त बताया गया है ॥ ५७ ॥

आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया।
य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः सर्वलोकमियान्नरः ॥ ५८ ॥

मेरे द्वारा वर्णित यह उपाख्यान सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रारम्भसे ही मनुके इस चरित्रको सुनता है, वह सुखी हो सम्पूर्ण मनोरथोंको पा लेता और सब लोकोंमें जा सकता है ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेय-समास्यापर्वमें मत्स्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों युगोंकी वर्ष-संख्या एवं कलियुगके प्रभावका वर्णन, प्रलयकालका दृश्य और मार्कण्डेयजीको बालमुकुन्दजीके दर्शन, मार्कण्डेयजीका भगवान्‌के उदरमें प्रवेशकर ब्रह्माण्डदर्शन करना और फिर बाहर निकलकर उनसे वार्तालाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम्।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विनयशील धर्मराज युधिष्ठिरने यशस्वी मार्कण्डेय मुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥ १ ॥

नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्टा महामुने।
न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव ॥ २ ॥

'महामुने! आपने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयके दृश्य देखे हैं। इस संसारमें आपके समान बड़ी आयुवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं दिखायी देता ॥ २ ॥

वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! परमेष्ठी महात्मा ब्रह्माजीको छोड़कर दूसरा कोई आपके समान दीर्घायु नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्जिते।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥ ४ ॥

ब्रह्मन्! जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदि लोकोंसे शून्य हो जाता है उस प्रलयकालमें केवल आप ही ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥ ५ ॥
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे! फिर प्रलयकाल व्यतीत होनेपर जब पितामह ब्रह्मा जागते हैं, तब सम्पूर्ण दिशाओंमें वायुको फैलाकर उसके द्वारा समस्त जलराशिको इधर-उधर छितराकर (सूखे स्थानोंमें) ब्रह्माजीके द्वारा जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज नामक चार प्रकारके प्राणी रचे जाते हैं, उन्हें एकमात्र आप ही (सबसे पहले) अच्छी तरह देख पाते हैं ॥

त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥ ७ ॥
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके सम्पूर्ण लोकोंके पितामह साक्षात् लोकगुरु ब्रह्माजीकी आराधना की है । विप्रवर ! आपने अनेक बार इस जगत्की प्रारम्भिक सृष्टिको प्रत्यक्ष किया है और घोर तपस्याद्वारा (मरीचि आदि) प्रजापतियोंको भी जीत लिया है ॥ ७-८ ॥

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्पराये‌ऽतिपठ्यसे ।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत् ॥ ९ ॥
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥ १० ॥

आप भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं । परलोकमें आपकी महिमाका सर्वत्र गान होता है । आपने पहले स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले सर्वव्यापक ब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका (योगकी कलासे) अलौकिक उद्घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्यदृष्टिद्वारा विश्वरचयिता भगवान्का अनेक बार साक्षात्कार किया है ॥ ९-१० ॥

तस्मात् त्वान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥ ११ ॥

इसीलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा आपका स्पर्श नहीं करती है । ब्रह्मर्षे ! इसमें भगवान् परमेष्ठीका कृपाप्रसाद ही कारण है ॥ ११ ॥

यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः ।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ॥ १२ ॥
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥ १३ ॥
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥ १४ ॥

(महाप्रलयके समय) जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष और पृथ्वी आदिमेंसे कोई भी शेष नहीं रह जाता, समस्त चराचर जगत् उस एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो जाता है, देवता और असुर नष्ट हो जाते हैं तथा बड़े-बड़े नागोंका संहार हो जाता है, उस समय कमल और उत्पलमें निवास तथा शयन करनेवाले सर्वभूतेश्वर अमितात्मा ब्रह्माजीके पास रहकर केवल आप ही उनकी उपासना करते हैं॥१२-१४॥

एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ॥१५॥

द्विजोत्तम ! यह सारा पुरातन इतिहास आपका प्रत्यक्ष देखा हुआ है । इसलिये मैं आपके मुखसे सबके हेतुभूत कालका निरूपण करनेवाली कथा सुनना चाहता हूँ ॥१५॥

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् सर्वलोकेषु नित्यदा॥१६॥

विप्रवर ! केवल आपने ही अनेक कल्पोंकी श्रेष्ठ रचनाका बहुत बार अनुभव किया है । सम्पूर्ण लोकोंमें कभी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो' ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥ १७ ॥
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥ १८ ॥
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः ।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी बोले--राजन् ! मैं स्वयं प्रकट होनेवाले सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, सूक्ष्म, निर्गुण एवं गुणस्वरूप पुराणपुरुषको नमस्कार करके तुम्हें वह कथा अभी सुनाता हूँ । पुरुषसिंह ! ये जो हमलोगोंके पास बैठे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन हैं, ये ही संसारकी सृष्टि और संहार करनेवाले हैं । ये ही भगवान् समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी आत्मा और उनके रचयिता हैं । ये पवित्र, अचिन्त्य एवं महान् आश्चर्यमय तत्त्व कहे जाते हैं ॥ १७–१९ ॥

अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥ २० ॥

इनका न आदि है, न अन्त । ये सर्वभूतस्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं । ये ही सबके कर्ता हैं, इनका कोई कर्ता नहीं है । पुरुषार्थकी प्राप्तिमें भी ये ही कारण हैं ॥ २० ॥

यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निवृत्तं राजसत्तम ॥ २१ ॥
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।

ये अन्तर्यामी आत्मा होनेसे सबको जानते हैं, परंतु इन्हें वेद भी नहीं जानते हैं । नृपशिरोमणे ! नरश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण जगत्का प्रलय होनेके पश्चात् इन आदिभूत परमेश्वरसे ही यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् पुनः उत्पन्न हो जाता है ॥ २१½ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम् ॥ २२ ॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।

चार हजार दिव्य वर्षोंका एक सत्ययुग बताया गया है, उतने ही सौ वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके होते हैं (इस प्रकार कुल अड़तालीस सौ दिव्य वर्ष सत्ययुगके हैं) ॥ २२½ ॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥ २३ ॥
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च ततः परम् ।

तीन हजार दिव्य वर्षोंका त्रेतायुग बताया जाता है, उसकी संध्या और संध्यांशके भी उतने ही (तीन-तीन) सौ दिव्य वर्ष होते हैं (इस तरह यह युग छत्तीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥ २३½ ॥

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥ २४ ॥
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।

द्वापरका मान दो हजार दिव्य वर्ष है तथा उतने ही सौ दिव्य वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके हैं (अतः सब मिलकर चौबीस सौ दिव्य वर्ष द्वापरके हैं) ॥ २४½ ॥

सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ॥ २५ ॥
तस्य वर्षशतं संधिः संध्यांशश्च ततः परम् ।
संधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥ २६ ॥

तदनन्तर एक हजार दिव्य वर्ष कलियुगका मान कहा गया है, सौ वर्ष उसकी संध्याके और सौ वर्ष संध्यांशके बताये गये हैं (इस प्रकार कलियुग बारह सौ दिव्य वर्षोंका होता है)। संध्या और संध्यांशका मान बराबर-बराबर ही समझो ॥ २५-२६ ॥

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम् ।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता ॥ २७ ॥

कलियुगके क्षीण हो जानेपर पुनः सत्ययुगका आरम्भ होता है । इस तरह बारह हजार दिव्य वर्षोंकी एक चतुर्युगी बतायी गयी है ॥ २७ ॥

एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥ २८ ॥
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ।

नरश्रेष्ठ ! एक हजार चतुर्युग बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है । यह सारा जगत् ब्रह्माके दिनभर ही रहता है (और वह दिन समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है ।) इसीको विद्वान् पुरुष लोकोंका प्रलय मानते हैं ॥ २८½ ॥

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ ॥ २९ ॥
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ।
यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥ ३० ॥
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्तते ।

भरतश्रेष्ठ ! सहस्र युगकी समाप्तिमें जब थोड़ा-सा ही समय शेष रह जाता है, उस समय कलियुगके अन्तिम भागमें प्रायः सभी मनुष्य मिथ्यावादी हो जाते हैं । पार्थ ! उस समय यज्ञ, दान और व्रतके प्रतिनिधि कर्म चालू हो जाते हैं अर्थात् यज्ञ, दान, तप मुख्य विधिसे न होकर गौण विधिसे नाममात्र होने लगते हैं ॥ २९-३०½ ॥

ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥ ३१ ॥
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे ।

युगकी समाप्तिके समय ब्राह्मण शूद्रोंके कर्म करते हैं और शूद्र वैश्योंकी भाँति धनोपार्जन करने लगते हैं अथवा क्षत्रियोंके कर्मसे जीविका चलाने लगते हैं ॥ ३१½ ॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिताः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ॥ ३३ ॥

(सहस्र चतुर्युगके अन्तिम) कलियुगके अन्तिम भागमें ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, दण्ड और मृगचर्मका त्याग कर देंगे और (भक्ष्याभक्ष्यका विचार छोड़कर) सब कुछ खाने-पीनेवाले हो जायँगे । तात ! ब्राह्मण तो जपसे दूर भागेंगे और शूद्र वैदिक मन्त्रोंके जपमें संलग्न होंगे ॥ ३२-३३ ॥

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार जब लोगोंके विचार और व्यवहार विपरीत हो जाते हैं, तब प्रलयका पूर्वरूप आरम्भ हो जाता है । उस समय इस पृथ्वीपर बहुत-से म्लेच्छ राजा राज्य करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥ ३५ ॥
काम्बोजा वाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम ।
न तदा ब्राह्मणः कश्चित् स्वधर्ममुपजीवति ॥ ३६ ॥

छलसे शासन करनेवाले, पापी और असत्यवादी आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लीक तथा शौर्यसम्पन्न आभीर इस देशके राजा होंगे । नरश्रेष्ठ ! उस समय कोई ब्राह्मण अपने धर्मके अनुसार जीविका चलानेवाला न होगा ॥ ३५-३६ ॥

क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।
अल्पायुषः स्वल्पबलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! क्षत्रिय और वैश्य भी अपना अपना धर्म छोड़कर दूसरे वर्णोंके कर्म करने लगेंगे । सबकी आयु कम होगी, सबके बल, वीर्य और पराक्रम घट जायँगे ॥ ३७ ॥

अल्पसारात्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥ ३८ ॥

युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः ॥ ३९ ॥

मनुष्य नाटे कदके होंगे। उनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम हो जायगी और उनकी बातोंमें सत्यका अंश बहुत कम होगा। बहुधा सारे जनपद जनशून्य होंगे। सम्पूर्ण दिशाएँ पशुओं और सर्पोंसे भरी होंगी। युगान्तकाल उपस्थित होनेपर अधिकांश मनुष्य (अनुभव न होते हुए भी) वृथा ही ब्रह्मज्ञानकी बातें कहेंगे। शूद्र द्विजातियोंको भो (ऐ) कहकर पुकारेंगे और ब्राह्मणलोग शूद्रोंको आर्य अर्थात् आप कहकर सम्बोधन करेंगे ॥ ३८-३९ ॥

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते ॥ ४० ॥

पुरुषसिंह राजन्! युगान्तकालमें बहुतसे जीव-जन्तु उत्पन्न हो जायँगे। सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ नासिकाको उतने गन्धयुक्त नहीं प्रतीत होंगे ॥ ४० ॥

रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः।
मुखे भगाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४१ ॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४२ ॥

नरव्याघ्र! इसी प्रकार रसीले पदार्थ भी जैसे चाहिये वैसे स्वादिष्ट नहीं होंगे। राजन्! उस समयकी स्त्रियाँ नाटे कदकी और बहुत संतान (बच्चा) पैदा करनेवाली होंगी। उनमें शील और सदाचारका अभाव होगा। युगान्तकालमें स्त्रियाँ मुखसे भगसम्बन्धी यानी व्यभिचारकी ही बातें करनेवाली होंगी। राजन्! युगान्तकालमें हर देशके लोग अन्न बेचनेवाले होंगे। ब्राह्मण वेद बेचनेवाले तथा (प्रायः) स्त्रियाँ वेश्यावृत्तिको अपनानेवाली होंगी* ॥ ४१-४२ ॥

अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ॥ ४३ ॥
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम्।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः ॥ ४४ ॥

जनेश्वर! युगान्तकालमें गायोंके थनोंमें बहुत कम दूध होगा। वृक्षपर फल और फूल बहुत कम होंगे और उनपर (अच्छे पक्षियोंकी अपेक्षा) कौए ही अधिक बसेरे लेंगे। भूपाल! ब्राह्मणलोग (लोभवश) ब्रह्महत्या-जैसे पापोंसे लिप्त और मिथ्यावादी नरेशोंसे ही दान-दक्षिणा लेंगे ॥ ४३-४४ ॥

लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः ॥ ४५ ॥

राजन्! वे ब्राह्मण लोभ और मोहमें फँसकर झूठे धर्मका ढोंग रचनेवाले होंगे, इतना ही नहीं, वे भिक्षाके लिये सारी दिशाओंके लोगोंको पीड़ित करते रहेंगे ॥ ४५ ॥

करभारभयाद् भीता गृहस्थाः परिमोषकाः।
मुनिच्छद्मकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ॥ ४६ ॥
मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः।

गृहस्थलोग करके भारसे डरकर लुटेरे बन जायँगे। ब्राह्मण मुनियों-जैसी कपटपूर्ण आकृति धारण किये वैश्यवृत्तिसे जीविका चलायेंगे और झूठे दिखावेके लिये नख तथा दाढ़ी-मूँछ धारण करेंगे ॥ ४६½ ॥

अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ॥ ४७ ॥
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः।
इह लौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ॥ ४८ ॥

नरश्रेष्ठ! धनके लोभसे ब्रह्मचारी भी आश्रमोंमें दम्भपूर्ण आचारको अपनायेंगे और मद्यपान करके गुरुपत्नीगमन करेंगे। लोग अपने शरीरके मांस और रक्त बढ़ानेवाले इहलौकिक कर्मोंमें ही लगे रहेंगे ॥ ४७-४८ ॥

बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४९ ॥

नरश्रेष्ठ! युगान्तकालमें सभी आश्रम अनेक प्रकारके पाखण्डोंसे व्याप्त और दूसरोंसे मिले हुए भोजनका ही गुणगान करनेवाले होंगे ॥ ४९ ॥

यथर्तुवर्षी भगवान् न तथा पाकशासनः।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग् रोहन्ति भारत ॥ ५० ॥

भगवान् इन्द्र भी ठीक वर्षाऋतुके समय जलकी वर्षा नहीं करेंगे। भारत! भूमिमें बोये हुए सभी बीज ठीकसे नहीं जमेंगे ॥ ५० ॥

हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ॥ ५१ ॥

कलियुगमें सब लोग हिंसामें ही सुख माननेवाले तथा अपवित्र रहेंगे। निष्पाप! उस समय अधर्मका फल बहुत अधिक मात्रामें मिलेगा ॥ ५१ ॥

तदा च पृथिवीपाल यो भवेद् धर्मसंयुतः।
अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ ५२ ॥

भूपाल! उस समय जो भी धर्ममें तत्पर रहेगा, उसकी आयु बहुत थोड़ी देखनेमें आयेगी; क्योंकि उस समय कोई भी धर्म टिक नहीं सकेगा ॥ ५२ ॥

भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ॥ ५३ ॥

लोग बाजारमें झूठे माप-तौल बनाकर बहुत-सा माल बेचते रहेंगे। नरश्रेष्ठ! उस समयके बनिये भी बहुत माया जाननेवाले (धूर्त) होंगे ॥ ५३ ॥

---

* अट्टमन्नं शिवो वेदो ब्राह्मणाश्च चतुष्पथाः।
केशो भगं समाख्यातं शूलं तद् विक्रयं विदुः ॥ (नीलकण्ठकृत टीका)

धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ५४ ॥

धर्मात्मा पुरुष हानि उठाते दीखेंगे और बड़े बड़े पापी लौकिक दृष्टिसे उन्नतिशील होंगे । धर्मका बल घटेगा और अधर्म बलवान् होगा ॥ ५४ ॥

अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ५५ ॥

युगान्तकालमें धर्मिष्ठ मानव अल्पायु तथा दरिद्र देखे जायँगे और अधर्मी मनुष्य दीर्घायु तथा समृद्धिशाली देखे जायँगे ॥ ५५ ॥

नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ॥ ५६ ॥

युगान्तके समय नगरोंके उद्यानोंमें पापी पुरुष अड्डा जमायेंगे और पापपूर्ण उपायोंद्वारा प्रजाके साथ दुर्व्यवहार करेंगे ॥ ५६ ॥

संचयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः ।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥ ५७ ॥
हर्तुं व्यवसिता राजन् पापाचारसमन्विताः ।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तन्ते निरपत्रपाः ॥ ५८ ॥

राजन् ! थोड़ेसे धनका संग्रह हो जानेपर लोग धनाढ्यताके मदसे उन्मत हो उठेंगे । यदि किसीने विश्वास करके अपने धनको धरोहरके रूपमें रख दिया तो अधिकांश पापाचारी और निर्लज्ज मनुष्य उस धरोहरको हड़प लेनेकी चेष्टा करेंगे और उससे साफ कह देंगे कि हमारे यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५९ ॥

मनुष्यका मांस खानेवाले हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी नागरिकोंके बगीचों और देवालयोंमें भी शयन करेंगे ॥५९॥

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ६० ॥

राजन् ! युगान्तकालमें सात-आठ वर्षकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करेंगी और दस-बारह वर्षकी अवस्थावाले पुरुषोंके भी पुत्र होंगे ॥ ६० ॥

भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।
आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥ ६१ ॥

सोलहवें वर्षमें मनुष्योंके बाल पक जायँगे और उनकी आयु शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ॥ ६१ ॥

क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।
तरुणानां च यच्छीलं तद् वृद्धेषु प्रजायते ॥ ६२ ॥

महाराज ! उस समयके तरुणोंकी आयु क्षीण होगी और उनका शील-स्वभाव बूढ़ोंका-सा हो जायगा और तरुणोंका जो शील-स्वभाव होना चाहिये, वह बूढ़ोंमें प्रकट होगा ।६२।

विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वार्हतः पतीन् ।
व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥ ६३ ॥

उस समयकी विपरीत स्वभाववाली स्त्रियाँ अपने योग्य पतियोंको भी धोखा देकर बुरे शील-स्वभावकी हो जायँगी और सेवकों तथा पशुओंके साथ भी व्यभिचार करेंगी॥६३ ॥

वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयन्ति नरान् नृप ।
भर्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन्त्युत ॥ ६४ ॥

राजन् ! वीर पुरुषोंकी पत्नियाँ भी परपुरुषोंका आश्रय लेंगी और पतिके जीते हुए भी दूसरोंसे व्यभिचार करेंगी ॥ ६४॥

तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चायुषः क्षये ।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥ ६५ ॥

महाराज ! इस प्रकार आयुको क्षीण करनेवाले सहस्र युगोंके अन्तिम भागकी समाप्ति होनेपर बहुत वर्षोंतक वृष्टि बंद हो जाती है ॥ ६५ ॥

ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै ।
प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ६६ ॥

पृथ्वीपते ! इससे भूतलके थोड़ी शक्तिवाले अधिकांश प्राणी भूखसे व्याकुल होकर मर जाते हैं ॥ ६६ ॥

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥ ६७ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर प्रचण्ड तेजवाले सात सूर्य उदित होकर सरिताओं और समुद्रोंका सारा जल सोख लेते हैं ।६७।

यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत ।
सर्वं तद् भस्मसाद् भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥ ६८ ॥

भरतकुलभूषण ! उस समय जो भी तृण-काष्ठ अथवा सूखे-गीले पदार्थ होते हैं, वे सभी भस्मीभूत दिखायी देने लगते हैं ॥ ६८ ॥

ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥ ६९ ॥

भारत ! इसके बाद 'संवर्तक' नामकी प्रलयकालीन अग्नि वायुके साथ उन सम्पूर्ण लोकोंमें फैल जाती है, जहाँका जल पहले सात सूर्योंद्वारा सोख लिया गया है ॥ ६९ ॥

ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम् ।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् पृथ्वीका भेदन कर वह अग्नि रसातलतक पहुँच जाती है तथा देवता, दानव और यक्षोंके लिये महान् भय उपस्थित कर देती है ॥ ७० ॥

निर्दहन् नागलोकं च यच्च किंचित् क्षिताविह।
अधस्तात् पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥ ७१ ॥

राजन्! वह नागलोकको जलाती हुई इस पृथ्वीके नीचे जो कुछ भी है, उस सबको क्षणभरमें नष्ट कर देती है ॥ ७१ ॥

ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥ ७२ ॥

इसके बाद वह मङ्गलकारी प्रचण्ड वायु और वह संवर्तक अग्नि बाईस हजार योजन तकके लोगोंको भस्म कर डालती है ॥ ७२ ॥

सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद् विभुः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई वह प्रज्वलित अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण विश्वको भस्म कर डालती है ॥ ७३ ॥

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः।
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥ ७४ ॥

इसके बाद आकाशमें महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है, जो अद्भुत दिखायी देती है। उनमेंसे प्रत्येक मेघ-समूह हाथियोंके झुंडकी भाँति विशालकाय और श्यामवर्ण तथा बिजलीकी मालाओंसे विभूषित होता है ॥ ७४ ॥

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसंनिभाः।
केचित् किञ्जल्कसंकाशाः केचित् पीताः पयोधराः॥७५॥
केचिद्धारिद्रसंकाशाः कारण्डवनिभास्तथा।
केचित् कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसप्रभा ॥ ७६ ॥

कुछ बादल नील कमलके समान श्याम और कुछ कुमुद-कुसुमके समान सफेद होते हैं। कुछ जलधरोंकी कान्ति केशरोंके समान दिखायी देती है। कुछ मेघ हल्दीके सदृश पीले और कुछ कारण्डव पक्षीके समान दृष्टिगोचर होते हैं। कोई-कोई कमलदलके समान और कुछ हिङ्गुल-जैसे जान पड़ते हैं ॥ ७५-७६ ॥

केचित् पुरवराकाराः केचिद् गजकुलोपमाः।
केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मकरसंनिभाः ॥ ७७ ॥

कुछ श्रेष्ठ नगरोंके समान, कुछ हाथियोंके झुंड-जैसे, कुछ काजलके रंगवाले और कुछ मगरोंकी-सी आकृतिवाले होते हैं ॥ ७७ ॥

विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ॥ ७८ ॥

वे सभी बादल विद्युन्मालाओंसे अलंकृत होकर घिर आते हैं। महाराज! भयंकर गर्जना करनेके कारण उनका स्वरूप बड़ा भयानक जान पड़ता है। धीरे-धीरे वे सभी जलधर समूचे आकाशमण्डलको ढक लेते हैं ॥ ७८ ॥

तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥ ७९ ॥

महाराज! उनके वर्षा करनेपर पर्वत, वन और खानों-सहित यह सारी पृथ्वी अगाध जल-राशिमें डूबकर सब ओरसे भर जाती है ॥ ७९ ॥

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥ ८० ॥

पुरुषरत्न! तदनन्तर विधातासे प्रेरित हो गर्जन-तर्जन करनेवाले वे भयंकर मेघ शीघ्र सब ओर वर्षा करके सबको जलसे आप्लावित कर देते हैं ॥ ८० ॥

वर्षमाणा महत् तोयं पूरयन्तो वसुंधराम्।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ॥ ८१ ॥

महान् जल-समूहकी वर्षा करके वसुन्धराको जलमें डुबोनेवाले वे समस्त मेघ उस अत्यन्त घोर, अमङ्गलकारी और भयानक अग्निको बुझा देते हैं ॥ ८१ ॥

ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना ॥ ८२ ॥

तदनन्तर प्रलयकालके वे पयोधर महात्मा ब्रह्माजीकी प्रेरणा पाकर पृथ्वीको परिपूर्ण करनेके लिये बारह वर्षोंतक धारावाहिक वृष्टि करते हैं ॥ ८२ ॥

ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत।
पर्वताश्च विदीर्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति ॥ ८३ ॥

भारत! तदनन्तर समुद्र अपनी सीमाको लाँघ जाता है, पर्वत फट जाते और पृथ्वी पानीमें डूब जाती है ॥ ८३ ॥

सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम्।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् समस्त आकाशको घेरकर सब ओर फैले हुए वे मेघ वायुके प्रचण्ड वेगसे छिन्न-भिन्न होकर सहसा अदृश्य हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ॥ ८५ ॥

नरेश्वर! इसके बाद कमलमें निवास करनेवाले आदिदेव स्वयं ब्रह्माजी उस भयंकर वायुको पीकर सो जाते हैं ।८५।

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥ ८६ ॥
निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् भ्रमाम्येकोऽहमाहतः॥ ८७ ॥

मार्कण्डेय मुनिको [illegible]की शाखापर बालमुकुन्दका दर्शन

इस प्रकार चराचर प्राणियों, देवताओं तथा असुर आदिके नष्ट हो जानेपर यक्ष, राक्षस, मनुष्य, हिंसक जीव, वृक्ष तथा अन्तरिक्षसे शून्य उस घोर एकार्णवमय जगत्‌में मैं अकेला ही इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ ॥ ८६-८७ ॥

एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ॥ ८८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! एकार्णवके उस भयंकर जलमें विचरते हुए जब मैंने किसी भी प्राणीको नहीं देखा, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई ॥ ८८ ॥

ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ॥ ८९ ॥

नरेश्वर ! उस समय आलस्यशून्य होकर सुदीर्घ कालतक तैरता हुआ मैं दूर जाकर बहुत थक गया। परंतु कहीं भी मुझे कोई आश्रय नहीं मिला ॥ ८९ ॥

ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसंचये।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ॥ ९० ॥

राजन् ! तदनन्तर एक दिन एकार्णवकी उस अगाध जलराशिमें मैंने एक बहुत विशाल बरगदका वृक्ष देखा ॥९०॥

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ९१ ॥
उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम्।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥ ९२ ॥

नराधिप ! उस वृक्षकी चौड़ी शाखापर एक पलंग था, जिसके ऊपर दिव्य बिछौने बिछे हुए थे। महाराज! उस पलंगपर एक सुन्दर बालक बैठा दिखायी दिया, जिसका मुख कमलके समान कमनीय शोभा धारण करनेवाला तथा चन्द्रमाके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला था। उसके नेत्र प्रफुल्ल पद्मदलके समान विशाल थे ॥ ९१-९२ ॥

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत्।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥ ९३ ॥

पृथ्वीनाथ ! उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं सोचने लगा—'सारे संसारके नष्ट हो जानेपर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है ?' ॥ ९३ ॥

तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ॥ ९४ ॥

नरेश्वर ! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञाता होनेपर भी तपस्यासे भलीभाँति चिन्तन करता (ध्यान लगाता) रहा, तो भी उस शिशुके विषयमें कुछ न जान सका ॥ ९४ ॥

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे ॥ ९५ ॥

उसकी अङ्ग-कान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी ! उसका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे विभूषित था। वह उस समय मुझे साक्षात् लक्ष्मीका निवासस्थान-सा प्रतीत होता था ॥ ९५ ॥

ततो मामब्रवीद् बालः स पद्मनिभलोचनः।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥ ९६ ॥
जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम्।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥ ९७ ॥

मुझे विस्मयमें पड़ा देख कमलके समान नेत्रवाले उस श्रीवत्सधारी कान्तिमान् बालकने मुझसे इस प्रकार श्रवण-

सुखद वचन कहा—'भृगुवंशी मार्कण्डेय ! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम बहुत थक गये हो और विश्राम चाहते हो। तुम्हारी जबतक इच्छा हो यहाँ बैठो ॥ ९६-९७ ॥

अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥ ९८ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! मैंने तुमपर कृपा की है। तुम मेरे शरीरके भीतर प्रवेश करके विश्राम करो। वहाँ तुम्हारे रहनेके लिये व्यवस्था की गयी है' ॥ ९८ ॥

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥ ९९ ॥

उस बालकके ऐसा कहनेपर उस समय मुझे अपने दीर्घ-जीवन और मानव-शरीरपर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ ॥९९॥

ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः ॥ १०० ॥

तदनन्तर उस बालकने सहसा अपना मुख खोला और मैं दैवयोगसे परवशकी भाँति उसमें प्रवेश कर गया ॥१००॥

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ॥१०१॥

राजन्! उसमें प्रवेश करते ही मैं सहसा उस बालकके उदरमें जा पहुँचा। वहाँ मुझे समस्त राष्ट्रों और नगरोंसे भरी हुई यह सारी पृथ्वी दिखायी दी ॥ १०१ ॥

गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकम्।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम् ॥१०२॥
सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ॥१०३॥
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम्।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥१०४॥
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम्।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ॥१०५॥
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥१०६॥

नरश्रेष्ठ! फिर तो मैं उस महात्मा बालकके उदरमें घूमने लगा। घूमते हुए मैंने वहाँ गङ्गा, सतलज, सीता, यमुना, कोसी, चम्बल, वेत्रवती चिनाव, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी पुण्यतोया, सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता, (झेलम), महानदी कावेरी, शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना—इन सबको तथा इस पृथ्वीपर जो अन्य नदियाँ हैं, उनको भी देखा ॥ १०२—१०६ ॥

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम्।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥१०७॥

शत्रुसूदन! इसके बाद जलजन्तुओंसे भरे हुए अगाध जलके भण्डार परम उत्तम रत्नाकर समुद्रको भी देखा ॥ १०७ ॥

तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम्।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥१०८॥

वहीं मुझे चन्द्रमा और सूर्यसे सुशोभित आकाशमण्डल दिखायी दिया, जो अनन्त तेजसे प्रज्वलित तथा अग्नि एवं सूर्यके समान देदीप्यमान था ॥ १०८ ॥

पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम्।
(सपर्वतवनद्वीपां निमग्नाशतसङ्कुलाम्।)
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ॥१०९॥

राजन्! वहाँकी भूमि विविध काननोंसे सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपोंसे उपलक्षित तथा सैकड़ों सरिताओंसे संयुक्त दिखायी देती थी। ब्राह्मणलोग नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते थे ॥ १०९ ॥

क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरञ्जनैः।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ॥११०॥

नरेश्वर! क्षत्रिय राजा सब वर्णोंकी प्रजाका अनुरञ्जन करते—सबको सुखी और प्रसन्न रखते थे। वैश्य न्यायपूर्वक खेतीका काम और व्यापार करते थे ॥ ११० ॥

शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा।
ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥१११॥
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम्।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ॥११२॥
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम्।
मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ॥११३॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम्।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ॥११४॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम्।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ॥११५॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वे रत्नविभूषिताः।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥११६॥

शूद्र तीनों द्विजातियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे। राजन्! यह सब देखते हुए जब मैं उस महात्मा बालकके उदरमें भ्रमण करता आगे बढ़ा, तब हिमवान्, हेमकूट, निषध, रजतयुक्त श्वेतगिरि, गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय पर्वत मेरु, महेन्द्र, उत्तम विन्ध्यगिरि, मलय तथा पारियात्र पर्वत देखे। ये तथा और भी बहुत-से पर्वत मुझे उस बालकके उदरमें दिखायी दिये। वे सब-के-सब नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे। राजन्! वहाँ घूमते हुए मैंने सिंह, व्याघ्र और वाराह आदि पशु भी देखे ॥ १११—११६ ॥

पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा ॥११७॥

पृथ्वीपते! भूमण्डलमें जितने प्राणी हैं, उन सबको देखते हुए मैं उस समय उस बालकके उदरमें विचरता रहा ॥

कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन् दिशः।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ॥११८॥

नरश्रेष्ठ! उस शिशुके उदरमें प्रविष्ट हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते हुए मुझे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंके भी दर्शन हुए ॥ ११८ ॥

साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान् गुह्यकान् पितरस्तदा।
सर्पान् नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥११९॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते।
दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥१२०॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥१२१॥

सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥१२२॥

पृथ्वीपते ! साध्य, रुद्र, आदित्य, गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियोंका भी मैंने दर्शन किया । दैत्य-दानवसमूह, नाग, सिंहिकाके पुत्र (राहु आदि) तथा अन्य देवशत्रुओंको भी देखा । राजन् ! इस लोकमें मैंने जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखे थे, वे सब मुझे उस महात्माकी कुक्षिमें दृष्टिगोचर हुए । महाराज ! मैं प्रतिदिन फलाहार करता और इस सम्पूर्ण जगत्में घूमता रहता ॥ ११९–१२२ ॥

अन्तःशरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ॥१२३॥

उस बालकके शरीरके भीतर मैं सौ वर्षसे अधिक कालतक घूमता रहा, तो भी कभी उसके शरीरका अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ १२३ ॥

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते ।
(भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून् ।)
आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः ॥१२४॥
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥१२५॥

युधिष्ठिर ! मैं निरन्तर दौड़ लगाता और चिन्तामें पड़ा रहता था । महाराज ! जब बहुत वर्षोंतक भ्रमण करनेपर भी उस महात्माके शरीरका अन्त नहीं मिला, तब मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन वरदायक एवं वरेण्य देवताकी ही विधिपूर्वक शरण ली ॥ १२४-१२५ ॥

ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः ।
महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम ॥१२६॥

पुरुषरत्न युधिष्ठिर ! उनकी शरण लेते ही मैं वायुके समान वेगसे उक्त महात्मा बालकके खुले हुए मुखकी राहसे सहसा बाहर निकल आया ॥ १२६ ॥

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥१२७॥
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥१२८॥

नरश्रेष्ठ राजन् ! बाहर आकर देखा तो उसी बरगदकी शाखापर उसी बाल-वेषसे सम्पूर्ण जगत्को अपने उदरमें लेकर श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित वह अमित तेजस्वी बालक पूर्ववत् बैठा हुआ है ॥ १२७-१२८ ॥

ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः ॥१२९॥

तब महातेजस्वी पीताम्बरधारी श्रीवत्सभूषित कान्तिमान् उस बालकने प्रसन्न होकर हँसते हुए-से मुझसे कहा—॥१२९॥

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥१३०॥

'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय ! क्या तुम मेरे इस शरीरमें रहकर विश्राम कर चुके ? मुझे बताओ' ॥ १३० ॥

मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥१३१॥

फिर दो ही घड़ीमें मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे मैं अपने आपको मायासे मुक्त और सचेत अनुभव करने लगा ॥

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ ॥१३२॥
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ।

तात ! तदनन्तर मैंने कोमल और लाल रंगकी अँगुलियोंसे सुशोभित लाल-लाल तलवेवाले उस बालकके सुन्दर एवं सुप्रतिष्ठित चरणोंको प्रयत्नपूर्वक पकड़कर उन्हें अपने मस्तकसे प्रणाम किया ॥ १३२½ ॥

दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥१३३॥
विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥१३४॥

उस अमित तेजस्वी शिशुका अनन्त प्रभाव देखकर मैं यत्नपूर्वक उसके समीप गया और विनीत भावसे हाथ जोड़कर सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा उस कमलनयन देवताका दर्शन किया ॥ १३३-१३४ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम् ॥१३५॥

फिर हाथ जोड़े नमस्कार करके मैंने उससे इस प्रकार कहा—देव ! मैं आपको और आपकी इस उत्तम मायाको जानना चाहता हूँ ॥ १३५ ॥

आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते ॥१३६॥

'भगवन् ! मैंने आपके मुखकी राहसे शरीरमें प्रवेश करके आपके उदरमें समस्त सांसारिक पदार्थोंका अवलोकन किया है ॥ १३६ ॥

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥१३७॥

'देव ! आपके शरीरमें देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत् विद्यमान है ॥ १३७ ॥

त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥१३८॥

'प्रभो ! आपकी कृपासे आपके शरीरके भीतर निरन्तर शीघ्र गतिसे घूमते रहनेपर भी मेरी स्मरणशक्ति नष्ट नहीं हुई है ॥

निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम् ॥१३९॥

'महाप्रभो! मैं अपनी अभिलाषा न रहनेपर भी केवल आपकी इच्छासे बाहर निकल आया हूँ। कमलनयन! आप सर्वोत्कृष्ट देवताको मैं जानना चाहता हूँ॥ १३९॥

इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१४०॥

'आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को पी करके यहाँ साक्षात् बालकवेषमें क्यों विराजमान हैं? यह सब बतानेकी कृपा करें॥ १४०॥

किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥१४१॥

'अनघ! यह सारा संसार आपके शरीरमें किसलिये स्थित है? शत्रुदमन! आप कितने समयतक यहाँ इस रूपमें रहेंगे?॥ १४१॥

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥१४२॥

'देवेश्वर! कमलनयन! ब्राह्मणमें जो सहज जिज्ञासा होती है, उससे प्रेरित होकर मैं आपसे यह सब बातें यथाविधि विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ॥ १४२॥

महद्ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो।
इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवो महाद्युतिः।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥१४३॥

'प्रभो! मैंने जो कुछ देखा है, यह अगाध और अचिन्त्य है।' मेरे इस प्रकार पूछनेपर वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी देवाधिदेव श्रीभगवान् मुझे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले॥ १४३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् बालमुकुन्दका मार्कण्डेयको अपने स्वरूपका परिचय देना तथा मार्कण्डेयद्वारा श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन और पाण्डवोंका श्रीकृष्णकी शरणमें जाना

देव उवाच

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥ १ ॥

भगवान् बोले—विप्रवर! देवता भी मेरे स्वरूपको यथेष्ट और यथार्थरूपसे नहीं जानते। मैं जिस प्रकार इस जगत्‌की रचना करता हूँ, वह तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हें बताऊँगा॥

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः।
ततो दृष्टोऽसि ते साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत् ॥ २ ॥

ब्रह्मर्षे! तुम पितृभक्त हो, मेरी शरणमें आये हो और तुमने महान् ब्रह्मचर्यका पालन किया है। इन्हीं सब कारणोंसे तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूपका दर्शन हुआ॥ २॥

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें मैंने ही जलका 'नारा' नाम रक्खा था। वह 'नारा' मेरा सदा अयन (वासस्थान) है, इसलिये मैं 'नारायण' नामसे विख्यात हूँ॥ ३॥

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥ ५ ॥

मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। द्विजश्रेष्ठ! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ॥ ४-५॥

अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

विप्रवर! मैं ही शिव, चन्द्रमा, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ॥ ६॥

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने।
द्यौर्मूर्धा खं दिशःश्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसम्भवाः॥ ७ ॥
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ८ ॥

अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। द्युलोक मेरा मस्तक है। आकाश और दिशाएँ मेरे कान हैं तथा जल मेरे शरीरके पसीनेसे प्रकट हुआ है। दिशाओंसहित आकाश मेरा शरीर है। वायु मेरे मनमें स्थित है। मैंने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक शत यज्ञोंद्वारा यजन किया है॥ ७-८॥

यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम्।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः॥ ९ ॥

यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ॥ १० ॥
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुंधराम् ।

वेदवेत्ता ब्राह्मण देवयज्ञमें स्थित मुझ यज्ञपुरुषका यजन करते हैं । पृथ्वीका पालन करनेवाले क्षत्रियनरेश स्वर्गप्राप्तिकी अभिलाषासे इस भूतलपर यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करते हैं । इसी प्रकार वैश्य भी स्वर्गलोकपर विजय पानेकी इच्छासे मेरी सेवा-पूजा करते हैं । मैं ही शेषनाग होकर मेरुमन्दरसे विभूषित तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई इस वसुन्धराको अपने सिरपर धारण करता हूँ ॥ ९-१०½ ॥

वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥ ११ ॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धृता ।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम ॥ १२ ॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विसृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ॥ १३ ॥

विप्रवर ! पूर्वकालमें जब यह पृथ्वी जलमें डूब गयी थी, उस समय मैंने ही वाराहरूप धारण करके इसे बलपूर्वक जलसे बाहर निकाला था । विद्वन् ! मैं ही बड़वामुख अग्नि होकर सदा समुद्रके जलको पीता हूँ और फिर उस जलको बरसा देता हूँ । ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ हैं और वैश्य मेरी दोनों जाँघोंके रूपमें स्थित हैं ॥ ११-१३ ॥

पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥ १४ ॥
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ।

ये शूद्र मेरे दोनों चरण हैं । मेरी शक्तिसे क्रमशः इनका प्रादुर्भाव हुआ है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १४½ ॥

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥ १५ ॥
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः ।
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ॥ १६ ॥
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ।

शान्तिपरायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेषरहित आसक्तिशून्य, निष्पाप, सात्त्विक, नित्य अहंकारशून्य तथा अध्यात्मज्ञानकुशल यति एवं ब्राह्मण सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं ॥ १५-१६½ ॥

अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ॥ १७ ॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ॥ १८ ॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ॥ १९ ॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे ।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये ॥ २० ॥

मैं ही संवर्तक (प्रलयका कारण) वह्नि हूँ । मैं ही संवर्तक अनल हूँ । मैं ही संवर्तक सूर्य हूँ और मैं ही संवर्तक वायु हूँ । द्विजश्रेष्ठ ! आकाशमें जो ये तारे दिखायी देते हैं, उन सबको मेरे ही रोमकूप समझो । रत्नाकर समुद्र और चारों दिशाओंको मेरे वस्त्र, शय्या और निवासस्थान जानो । मैंने ही देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये इनकी पृथक्-पृथक् रचना की है ॥ १७–२० ॥

कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥ २१ ॥

साधुशिरोमणे ! काम, क्रोध, हर्ष, भय और मोह—इन सभी विकारोंको मेरी ही रोमावली समझो ॥ २१ ॥

प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु ॥ २२ ॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥ २३ ॥

ब्रह्मन् ! जिन शुभ कर्मोंके आचरणसे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, उग्र तपस्या और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेका स्वभाव—ये सब मेरे ही विधानसे निर्मित हुए हैं और मेरे ही शरीरमें विहार करते हैं । मैं समस्त प्राणियोंके ज्ञानको जब प्रकट कर देता हूँ, तभी वे चेष्टाशील होते हैं, अन्यथा अपनी इच्छासे वे कुछ नहीं कर सकते ॥ २२-२३ ॥

सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः ।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः ॥ २४ ॥

जो द्विजाति अच्छी तरह वेदोंका अध्ययन करके शान्तचित्त और क्रोधशून्य होकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा मेरी आराधना करते हैं, उन्हें ही मेरी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ २५ ॥
तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम् ॥ २६ ॥

विद्वन् ! पापकर्मा, लोभी, कृपण, अनार्य और अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी नहीं पा सकते, वह महान् फल मुझे ही समझो । मैं ही शुद्ध अन्तःकरणवाले मानवोंको सुलभ होनेवाला योगसेवित मार्ग हूँ । मूढ मनुष्योंके लिये मैं सर्वथा दुर्लभ हूँ ॥ २५-२६ ॥

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ २७ ॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥

महर्षे ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका उत्थान

होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओंके लिये अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसारमें उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके घरोंपर मानव-शरीरमें प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसोंका सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ॥ २७—२९॥

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया॥ ३०॥

मैं ही अपनी मायासे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियोंकी सृष्टि करके समय आनेपर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ॥ ३०॥

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम्।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात्॥ ३१॥

फिर सृष्टि-रचनाके समय मैं अचिन्त्यस्वरूप धारण करता हूँ तथा मर्यादाकी स्थापना एवं रक्षाके लिये मानव-शरीरसे अवतार लेता हूँ॥ ३१॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा॥ ३२॥

सत्ययुगमें मेरे शरीरका रंग श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला होता है॥ ३२॥

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च।
अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः॥ ३३॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्।

उस कलिकालमें तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रहता है। प्रलयकाल आनेपर मैं ही अत्यन्त दारुण काल-रूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीका नाश करता हूँ॥ ३३½॥

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः॥ ३४॥
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम्॥ ३५॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम्।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन॥ ३६॥

मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाला और सबको उद्योगशील बनानेवाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका संचालन केवल मैं ही करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूप-भूत आत्मा ही सर्वत्र सब प्राणियोंके भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतनेपर भी मुझे कोई जानता नहीं है॥ ३४—३६॥

सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः।
यच्च किंचित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज॥ ३७॥
सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ।
यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ३८॥
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः॥ ३९॥

समस्त जगत्‌में भक्त पुरुष सब प्रकारसे मेरी आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुखका साधक है। अनघ! लोकमें तुमने जो कोई भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अङ्ग है॥ ३७-३९॥

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात्॥ ४०॥
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन्।
एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम॥ ४१॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद् ब्रह्मा न बुध्यते।

ब्रह्मर्षे! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला विश्वात्मा नारायण हूँ, सहस्र युगके अन्तमें जो प्रलय होता है वह जबतक रहता है, तबतक सब प्राणियोंको (महानिद्रा-रूप मायासे) मोहित करके मैं (जलमें) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते, तबतक सदा इसी प्रकार बालकरूप धारण करके यहाँ रहता हूँ॥ ४०-४१½॥

मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा॥ ४२॥
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ४३॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत्।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम॥ ४४॥
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया॥ ४५॥

विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियोंद्वारा पूजित हो। मैंने ही ब्रह्मरूपसे तुम्हारे ऊपर बार-बार संतुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को नष्ट तथा एकार्णवमें निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें पुनः जगत्‌का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीरके भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसारको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरंत तुम्हें मुखसे बाहर निकाल दिया था॥ ४२—४५॥

आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः॥ ४६॥

यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः।
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम्॥४७॥

ब्रह्मर्षे! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूपका उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरोंके लिये भी कठिन है। जबतक महातपस्वी भगवान् ब्रह्माका जागरण न हो तबतक तुम श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सुखसे विचरते रहो॥४६-४७॥

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम॥४८॥

द्विजश्रेष्ठ! सर्वलोकपितामह ब्रह्माके जागनेपर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरोंकी सृष्टि करूँगा॥४८॥

आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम्॥४९॥

आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जलका तथा इस संसारमें जो अन्य चराचर वस्तुएँ अवशिष्ट हैं, उन सबका निर्माण करूँगा॥४९॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः॥५०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तात युधिष्ठिर! ऐसा कहकर वे परम अद्भुत देवता भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गयी है॥५०॥

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर॥५१॥

सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत-कुल-तिलक युधिष्ठिर! इस प्रकार उस प्रलयकालके आनेपर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था॥५१॥

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥५२॥

नरश्रेष्ठ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन कमलदल-लोचन देवता भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं॥५२॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम॥५३॥

कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्व जन्मकी स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द-मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है॥५३॥

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः॥५४॥

ये वृष्णिकुल-भूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी, अचिन्त्यस्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि हैं, जो पहले बालरूपमें मुझे दिखायी दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए-से दीख रहे हैं॥५४॥

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः॥५५॥

श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं॥५५॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम्॥५६॥

इन आदिदेवस्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष, वृष्णि-कुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे इस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है॥५६॥

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥५७॥

कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं। ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरणमें जाओ॥५७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेय मुनिके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव—इन सबने द्रौपदीसहित उठकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया॥५८॥

स चैतान् पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि॥५९॥

नरश्रेष्ठ! फिर सम्माननीय श्रीकृष्णने भी इन सबका विधिपूर्वक समादर करते हुए परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा इन्हें सब प्रकारसे आश्वासन दिया॥५९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यकथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८९॥

होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओंके लिये अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसारमें उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके घरोंपर मानव-शरीरमें प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसोंका सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ॥ २७—२९॥

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया॥ ३०॥

मैं ही अपनी मायासे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियोंकी सृष्टि करके समय आनेपर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ॥ ३०॥

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम्।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात्॥ ३१॥

फिर सृष्टि-रचनाके समय मैं अचिन्त्यस्वरूप धारण करता हूँ तथा मर्यादाकी स्थापना एवं रक्षाके लिये मानव-शरीरसे अवतार लेता हूँ॥ ३१॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा॥ ३२॥

सत्ययुगमें मेरे शरीरका रंग श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला होता है॥ ३२॥

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च।
अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः॥ ३३॥
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्।

उस कलिकालमें तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रहता है। प्रलयकाल आनेपर मैं ही अत्यन्त दारुण काल-रूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीका नाश करता हूँ॥ ३३½॥

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः॥ ३४॥
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम्॥ ३५॥
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम्।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन॥ ३६॥

मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाला और सबको उद्योगशील बनानेवाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका संचालन केवल मैं ही करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूप-भूत आत्मा ही सर्वत्र सब प्राणियोंके भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतनेपर भी मुझे कोई जानता नहीं है॥ ३४—३६॥

सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः।
यच्च किंचित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज॥ ३७॥
सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ।
यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ३८॥
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः॥ ३९॥

समस्त जगत्में भक्त पुरुष सब प्रकारसे मेरी आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुखका साधक है। अनघ! लोकमें तुमने जो कोई भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अङ्ग है॥ ३७-३९॥

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात्॥ ४०॥
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन्।
एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम॥ ४१॥
अशिशुः शिशुरूपेण यावद् ब्रह्मा न बुध्यते।

ब्रह्मर्षे! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला विश्वात्मा नारायण हूँ, सहस्र युगके अन्तमें जो प्रलय होता है वह जबतक रहता है, तबतक सब प्राणियोंको (महानिद्रा-रूप मायासे) मोहित करके मैं (जलमें) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते, तबतक सदा इसी प्रकार बालकरूप धारण करके यहाँ रहता हूँ॥ ४०-४१½॥

मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा॥ ४२॥
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ४३॥
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत्।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम॥ ४४॥
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया॥ ४५॥

विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियोंद्वारा पूजित हो। मैंने ही ब्रह्मरूपसे तुम्हारे ऊपर बार-बार संतुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्को नष्ट तथा एकार्णवमें निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें पुनः जगत्का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीरके भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसारको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरंत तुम्हें मुखसे बाहर निकाल दिया था॥ ४२—४५॥

आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः॥ ४६॥

यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥ ४७॥

ब्रह्मर्षे ! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूपका उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरोंके लिये भी कठिन है । जबतक महातपस्वी भगवान् ब्रह्माका जागरण न हो तबतक तुम श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सुखसे विचरते रहो ॥ ४६-४७ ॥

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥४८॥

द्विजश्रेष्ठ ! सर्वलोकपितामह ब्रह्माके जागनेपर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरोंकी सृष्टि करूँगा ॥ ४८ ॥

आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ॥ ४९ ॥

आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जलका तथा इस संसारमें जो अन्य चराचर वस्तुएँ अवशिष्ट हैं, उन सबका निर्माण करूँगा ॥ ४९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ॥५०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तात युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर वे परम अद्भुत देवता भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये । उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गयी है ॥ ५० ॥

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥ ५१ ॥

सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत-कुल-तिलक युधिष्ठिर ! इस प्रकार उस प्रलयकालके आनेपर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था ॥ ५१ ॥

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥ ५२॥

नरश्रेष्ठ ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन कमलदल-लोचन देवता भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं ॥ ५२ ॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥ ५३॥

कुन्तीनन्दन ! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्व जन्मकी स्मृति भूलती नहीं है । मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द-मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है ॥ ५३ ॥

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५४ ॥

ये वृष्णिकुल-भूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी, अचिन्त्यस्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि हैं, जो पहले बालरूपमें मुझे दिखायी दिये थे । वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए-से दीख रहे हैं ॥ ५४ ॥

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५५ ॥

श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५६॥

इन आदिदेवस्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष, वृष्णि-कुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे इस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है ॥ ५६ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ५७ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो ! ये माधव ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं । ये ही सबको शरण देनेवाले हैं । अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥ ५८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मार्कण्डेय मुनिके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव—इन सबने द्रौपदीसहित उठकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ५८ ॥

स चैतान् पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ॥ ५९ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर सम्माननीय श्रीकृष्णने भी इन सबका विधिपूर्वक समादर करते हुए परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा इन्हें सब प्रकारसे आश्वासन दिया ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यकथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

युगान्तकालिक कलियुगके समयके बर्तावका तथा कल्कि-अवतारका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम् ।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेयसे अपने साम्राज्यमें जगत्‌की भावी गतिविधिके विषयमें पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर ।
मुने भार्गव यद् वृत्तं युगादौ प्रभवात्ययम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! भृगुवंशविभूषण महर्षे ! हमने आपके मुखसे युगके आदिमें संघटित हुई उत्पत्ति और प्रलयके सम्बन्धमें बड़े आश्चर्यकी बातें सुनी हैं ॥ २ ॥

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम ।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति ॥ ३ ॥

अब मुझे इस कलियुगके विषयमें पुनः विशेषरूपसे सुननेका कुतूहल हो रहा है । जब सारे धर्मोंका उच्छेद हो जायगा, उस समय क्या शेष रह जायगा ? ॥ ३ ॥

किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः ।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ४ ॥

युगान्तकालमें कलियुगके मनुष्योंका बल-पराक्रम कैसा होगा ? उनके आहार-विहार कैसे होंगे ? उनकी आयु कितनी होगी और उनके परिधान—वस्त्राभूषण कैसे होंगे ॥ ४ ॥

कां च काष्ठां समासाद्य पुनः सम्पत्स्यते कृतम् ।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥ ५ ॥

कलियुगके किस सीमातक पहुँच जानेपर पुनः सत्ययुग आरम्भ हो जायगा ? मुने ! इन सब बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि आपकी कथा बड़ी विचित्र होती है ॥५॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत ।
रमयन् वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महानृषिः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ महर्षि मार्कण्डेयने वृष्णिप्रवर श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंको आनन्दित करते हुए पुनः इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् मया दृष्टं यत् पुरा श्रुतमेव च ।
अनुभूतं च राजेन्द्र देवदेवप्रसादजम् ॥ ७ ॥

भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय बोले—भरतश्रेष्ठ राजन् ! मैंने देवाधिदेव भगवान् बालमुकुन्दकी कृपासे पूर्वकालमें, निकृष्ट कलिकालके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण लोकोंके भावी वृत्तान्तके विषयमें जो कुछ देखा-सुना या अनुभव किया है, वह बताता हूँ, सुनो और समझो ॥ ७-८ ॥

कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुगमें मनुष्योंके भीतर वृषरूप धर्म अपने चारों पादोंसे युक्त होनेके कारण सम्पूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित होता है । उसमें छल-कपट या दम्भ नहीं होता ॥ ९ ॥

अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥ १० ॥

किंतु त्रेतामें वह धर्म अधर्मके एक पादसे अभिभूत होकर अपने तीन अंशोंसे ही प्रतिष्ठित होता है । द्वापरमें धर्म आधा ही रह जाता है । आधेमें अधर्म आकर मिल जाता है ॥ १० ॥

त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ॥११॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पाण्डव ॥१२॥
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ।
राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ॥१३॥
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः ।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ॥१४॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! कलियुग आनेपर अधर्म अपने तीन अंशोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको आक्रान्त करके स्थित होता है और धर्म केवल एक पादसे मनुष्योंमें प्रतिष्ठित होता है । पाण्डुनन्दन ! प्रत्येक युगमें मनुष्योंकी आयु, वीर्य, बुद्धि, बल तथा तेज क्रमशः घटते जाते हैं । युधिष्ठिर ! अब कलियुगके समयका वर्णन सुनो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी जातियोंके लोग कपटपूर्वक धर्मका आचरण करेंगे और धर्मका जाल बिछाकर दूसरे लोगोंको ठगते रहेंगे । अपनेको पण्डित माननेवाले लोग सत्यका त्याग कर देंगे ॥ ११–१४ ॥

सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
आयुषः प्रक्षयाद् विद्यां न शक्ष्यन्त्युपजीवितुम् ॥१५॥

सत्यकी हानि होनेसे उनकी आयु थोड़ी हो जायगी ।

और आयुकी कमी होनेके कारण वे अपने जीवन-निर्वाहके योग्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ १५ ॥

विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ॥ १६ ॥
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधैषिणः ।

विद्याके बिना ज्ञान न होनेसे उन सबको लोभ दबा लेगा। फिर लोभ और क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ मनुष्य कामनाओंमें फँसकर आपसमें वैर बाँध लेंगे और एक दूसरेके प्राण लेनेकी घातमें लगे रहेंगे ॥ १६½ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यन्तः परस्परम् ॥ १७ ॥
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः ।
अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्त्या न संशयः ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये आपसमें संतानोत्पादन करके वर्णसंकर हो जायँगे। वे सभी तपस्या और सत्यसे रहित हो शूद्रोंके समान हो जायँगे। अन्त्यज (चाण्डाल आदि) क्षत्रिय-वैश्य आदिके कर्म करेंगे और क्षत्रिय-वैश्य आदि चाण्डालोंके कर्म अपना लेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १७-१८ ॥

ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते ।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः ॥ १९ ॥

युगान्तकाल आनेपर लोगोंकी ऐसी ही दशा होगी। वस्त्रोंमें सनके बने हुए वस्त्र अच्छे समझे जायँगे। धानोंमें कोदोका आदर होगा ॥ १९ ॥

भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ।
मत्स्यामिषेण जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम् ॥ २० ॥
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २१ ॥

उस युगक्षयके समय पुरुष केवल स्त्रियोंसे ही मित्रता करनेवाले होंगे। कितने ही लोग मछलीके मांससे जीविका चलायेंगे। गायोंके नष्ट हो जानेके कारण मनुष्य भेड़ और बकरीका भी दूध दुहकर पीयेंगे। जो लोग सदा व्रत धारण करके रहनेवाले हैं, वे भी युगान्त कालमें लोभी हो जायँगे ॥ २०-२१ ॥

अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २२ ॥

लोग एक दूसरेको लूटेंगे और मारेंगे। युगान्तकालके मनुष्य जपरहित, नास्तिक और चोरी करनेवाले होंगे ॥२२॥

सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः ।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २३ ॥

नदियोंके किनारेकी भूमिको कुदालोंसे खोदकर लोग वहाँ अनाज बोयेंगे। उन अनाजोंमें भी युगान्तकालके प्रभावसे बहुत कम फल लगेंगे ॥ २३ ॥

श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम् ॥ २४ ॥

जो सदा (परान्नका त्याग करके) व्रतका पालन करनेवाले लोग हैं, वे भी उस समय लोभवश देवयज्ञ तथा श्राद्धमें एक दूसरेके यहाँ भोजन करेंगे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २५ ॥

कलियुगके अन्तिम भागमें पिता पुत्रकी और पुत्र पिताकी शय्या आदिका उपभोग करने लगेंगे। उस समय त्याज्य (अभक्ष्य) पदार्थ भी भोजनके योग्य समझे जायँगे ॥ २५ ॥

न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ।
निम्नेष्वीहां करिष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणलोग व्रत और नियमोंका पालन तो करेंगे नहीं, उलटे वेदोंकी निन्दा करने लग जायँगे। कोरे तर्कवादसे मोहित होकर वे यज्ञ और होम छोड़ बैठेंगे। वे केवल तर्कवादसे मोहित होकर नीच-से-नीच कर्म करनेके लिये प्रयत्नशील रहेंगे ॥ २६ ॥

निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यन्ति मानवाः ॥ २७ ॥

मनुष्य नीची भूमिमें (अर्थात् गायोंके जल पीने और चरनेकी जगहमें) खेती करेंगे। दूध देनेवाली गायोंको भी बोझ ढोनेके काममें लगा देंगे और सालभरके बछड़ोंको भी हलमें जोतेंगे ॥ २७ ॥

पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ॥ २८ ॥

पुत्र पिताका और पिता पुत्रका वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे। अपनी प्रशंसाके लिये लोग बड़ी-बड़ी बातें बनायेंगे; किंतु समाजमें उनकी निन्दा नहीं होगी ॥ २८ ॥

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम् ।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ॥ २९ ॥

सारा संसार म्लेच्छोंकी भाँति शुभ कर्म और यज्ञ-यागादि छोड़ देगा तथा आनन्दशून्य और उत्सवरहित हो जायगा ॥ २९ ॥

प्रायशः कृपणानां हि तथाबन्धुमतामपि ।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः ॥ ३० ॥

लोग प्रायः दीनों, असहायों तथा विधवाओंका भी धन हड़प लेंगे ॥ ३० ॥

स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः ।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ॥ ३१ ॥

परिग्रहं करिष्यन्ति मायाचारपरिग्रहाः ।
समाह्वयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ॥ ३२ ॥
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः ॥ ३३ ॥

उनके शारीरिक बल और पराक्रम क्षीण हो जायँगे। वे उद्दण्ड होकर लोभ और मोहमें डूबे रहेंगे। वैसे ही लोगोंकी चर्चा करने और उनसे दान लेनेमें प्रसन्नताका अनुभव करेंगे। कपटपूर्ण आचारको अपनाकर वे दुष्टोंके दिये हुए दानको भी ग्रहण कर लेंगे। कुन्तीनन्दन! पापबुद्धि राजा एक दूसरेको युद्धके लिये ललकारते हुए परस्पर एक दूसरेके प्राण लेनेको उतारू रहेंगे और मूर्ख होते हुए अपनेको पण्डित मानेंगे। इस प्रकार युगान्तकालके सभी क्षत्रिय जगत्के लिये काँटे बन जायँगे ॥ ३१—३३ ॥

अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहङ्कारदर्पिताः ।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ३४ ॥

कलियुगकी समाप्तिके समय वे प्रजाकी रक्षा तो करेंगे नहीं, उनसे रुपये ऐंठनेके लिये लोभ अधिक रक्खेंगे। सदा मान और अहंकारके मदमें चूर रहेंगे। वे केवल प्रजाको दण्ड देनेके कार्यमें ही रुचि रक्खेंगे ॥ ३४ ॥

आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ।
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ॥ ३५ ॥

भारत! लोग इतने निर्दयी हो जायँगे कि सज्जन पुरुषोंपर भी बार-बार आक्रमण करके उनके धन और स्त्रियोंका बलपूर्वक उपभोग करेंगे तथा उनके रोने-बिलखनेपर भी दया नहीं करेंगे ॥ ३५ ॥

न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते ।
स्वयंग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥ ३६ ॥

कलियुगका अन्त आनेपर न तो कोई किसीसे कन्याकी याचना करेगा और न कोई कन्यादान ही करेगा। उस समयके वर-कन्या स्वयं ही एक-दूसरेको चुन लेंगे ॥ ३६ ॥

राजानश्चाप्यसंतुष्टाः परार्थान् मूढचेतसः ।
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३७ ॥

कलियुगकी समाप्तिके समय असंतोषी तथा मूढ़-चित्त राजा भी सब तरहके उपायोंसे दूसरोंके धनका अपहरण करेंगे।३७।

म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद् युगान्ते समुपस्थिते ॥ ३८ ॥

उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा—इसमें संशय नहीं। एक हाथ दूसरे हाथको लूटेगा—सगा भाई भी भाईके धनको हड़प लेगा ॥ ३८ ॥

सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ॥ ३९ ॥

अपनेको पण्डित माननेवाले मनुष्य संसारमें सत्यको मिटा देंगे। बूढ़ोंकी बुद्धि बालकों-जैसी होगी और बालकोंकी बूढ़ों-जैसी ॥ ३९ ॥

भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ।
न विश्वसन्ति चान्योन्यं युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४० ॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर कायर अपनेको शूर-वीर मानेंगे और शूर-वीर कायरोंकी भाँति विषादमें डूबे रहेंगे। कोई एक दूसरेका विश्वास नहीं करेंगे ॥ ४० ॥

एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

युगके सब लोग लोभ और मोहमें फँसकर भक्ष्याभक्ष्यका विचार किये बिना ही एक साथ सम्मिलित होकर भोजन करने लगेंगे। अधर्म बढ़ेगा और धर्म विदा हो जायगा ।४१।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप ।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ॥ ४२ ॥

नरेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नाम भी नहीं रह जायगा। युगान्तकालमें सारा विश्व एक वर्ण, एक जातिका हो जायगा ॥ ४२ ॥

न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यन्ति संक्षये ॥ ४३ ॥

युगक्षय-कालमें पिता पुत्रके अपराधको क्षमा नहीं करेंगे और पुत्र भी पिताकी बात नहीं सहेगा। स्त्रियाँ अपने पतियोंकी सेवा छोड़ देंगी ॥ ४३ ॥

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४४ ॥

युगान्तकाल आनेपर (लोग) उन प्रदेशोंमें चले जायँगे जहाँ जौ और गेहूँ आदि अनाज अधिक पैदा होते हैं (चाहे वह देश निषिद्ध ही क्यों न हो) ॥ ४४ ॥

स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशाम्पते ।
अन्योन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४५ ॥

महाराज! युगान्तकाल आनेपर पुरुष और स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी होकर एक दूसरेके कार्य और विचारको नहीं सहेंगे ॥ ४५ ॥

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति दैवतानीह मानवाः ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर! उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा। मनुष्य श्राद्ध और यज्ञ-कर्मोंद्वारा पितरों और देवताओंको संतुष्ट नहीं करेंगे ॥ ४६ ॥

न कश्चित् कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित् कस्यचिद् गुरुः ।
तमोग्रस्तस्तदा लोको भविष्यति जनाधिप ॥ ४७ ॥

राजन् ! उस समय कोई किसीका उपदेश नहीं सुनेगा और न कोई किसीका गुरु ही होगा । सारा जगत् अज्ञानमय अन्धकारसे आच्छादित हो जायगा ॥ ४७ ॥

परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश ।
ततः प्राणान् विमोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥ ४८ ॥
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते ।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा ॥ ४९ ॥

उस समय युगान्तकाल उपस्थित होनेपर लोगोंकी आयु अधिक-से-अधिक सोलह वर्षकी होगी, उसके बाद वे प्राणत्याग कर देंगे । पाँचवें या छठे वर्षमें स्त्रियाँ बच्चे पैदा करने लगेंगी और सात-आठ वर्षके पुरुष संतानोत्पादनमें प्रवृत्त हो जायँगे ॥

पत्यौ स्त्री तु तदा राजन् पुरुषो वा स्त्रियं प्रति ।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! युगान्तकाल आनेपर स्त्री अपने पतिसे और पति अपनी स्त्रीसे संतुष्ट नहीं होंगे ॥ ५० ॥

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति ।
न कश्चित् कस्यचिद् दाता भविष्यति युगक्षये ॥ ५१ ॥

कलियुगके अन्तभागमें लोगोंके पास धन थोड़ा रहेगा और लोग दिखावेके लिये साधुवेष धारण करेंगे । हिंसाका जोर बढ़ेगा और कोई किसीको कुछ देनेवाला नहीं रहेगा ॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ५२ ॥

युगक्षयकालमें सभी देशोंके लोग अन्न बेचेंगे । ब्राह्मण वेदविक्रय करेंगे और स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपना लेंगी ॥ ५२ ॥

म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु ।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः ॥ ५३ ॥

युगान्तकालके मनुष्य म्लेच्छों-जैसे आचारवाले और सर्वभक्षी यानी अभक्ष्यका भी भक्षण करनेवाले हो जायँगे । वे प्रत्येक कर्ममें अपनी क्रूरताका परिचय देंगे, इसमें संशय नहीं है ॥

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम् ।
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात् करिष्यति ॥ ५४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! युगान्तकालमें धनके लोभसे क्रय-विक्रयके समय सभी सबको ठगेंगे ॥ ५४ ॥

ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा ।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते युगान्ते समुपस्थिते ॥ ५५ ॥

क्रियाके तत्त्वको न जानकर भी लोग उसे करनेमें प्रवृत्त होंगे । युगान्तकालके सभी मानव स्वेच्छाचारी हो जायँगे ॥

स्वभावात् क्रूरकर्माणश्चान्योन्यमभिशंसिनः ।
भवितारो जनाः सर्वे सम्प्राप्ते तु युगक्षये ॥ ५६ ॥
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः ।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम् ॥ ५७ ॥

सभी स्वभावतः क्रूर और एक दूसरेपर मिथ्या कलङ्क लगानेवाले होंगे । युगान्तकाल उपस्थित होनेपर सब लोग बगीचों और वृक्षोंको कटवा देंगे और ऐसा करते समय उनके मनमें पीड़ा नहीं होगी । प्रत्येक मनुष्यके जीवन-धारणमें भी शंका हो जायगी । अर्थात् प्रत्येक मनुष्यका जीवन धारण करना कठिन हो जायगा ॥ ५६-५७ ॥

तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यन्ति नरा नृप ।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यन्ति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः ॥ ५८ ॥

राजन् ! सब लोग लोभके वशीभूत होंगे और ब्राह्मणोंका धन उपभोग करनेका जिनका स्वभाव पड़ गया है, वे धनके लिये ब्राह्मणोंको मार भी डालेंगे ॥ ५८ ॥

हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥ ५९ ॥

शूद्रोंके सताये हुए ब्राह्मण भयसे पीड़ित हो हाहाकार करने लगेंगे और अपने लिये कोई रक्षक न मिलनेके कारण सारी पृथ्वीपर निश्चय ही भटकते फिरेंगे ॥ ५९ ॥

जीवितान्तकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ।
यदा भविष्यन्ति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ६० ॥

जब दूसरोंके जीवनका विनाश करनेवाले क्रूर, भयंकर तथा जीवहिंसक मनुष्य पैदा होने लगें, तब समझ लेना चाहिये कि युगान्तकाल उपस्थित हो गया ॥ ६० ॥

आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान् विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ॥ ६१ ॥

कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर ! अत्याचारियोंसे डरे हुए ब्राह्मण इधर-उधर भागकर नदियों, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानोंका आश्रय लेंगे ॥ ६१ ॥

दस्युभिः पीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः ।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥ ६२ ॥
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ॥ ६३ ॥

राजन् ! श्रेष्ठ ब्राह्मण भी लुटेरोंसे पीड़ित होकर कौओंकी तरह काँव-काँव करते फिरेंगे । दुष्ट राजाओंके लगाये हुए करोंके भारसे सदा पीड़ित होनेके कारण वे धैर्य छोड़कर चल देंगे और शूद्रोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहकर धर्मविरुद्ध कार्य करेंगे । भूपाल ! भयंकर कलियुगके अन्तमें जगत्की यही दशा होगी ॥ ६२-६३ ॥

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥ ६४ ॥
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ॥ ६५ ॥

शूद्र धर्मोपदेश करेंगे और ब्राह्मणलोग उनकी सेवामें रहकर उसे सुनेंगे तथा उसीको प्रामाणिक मानकर उसका

पालन करेंगे। समस्त लोकका व्यवहार विपरीत और उलट-पुलट हो जायगा। ऊँच नीच और नीच ऊँच हो जायँगे। लोग हड्डी जड़ी हुई दीवारोंकी तो पूजा करेंगे और देवविग्रहोंको त्याग देंगे ॥ ६४-६५ ॥

शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ॥ ६६ ॥
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ॥ ६७ ॥

युगान्तकालमें शूद्र द्विजातियोंकी सेवा नहीं करेंगे। वह समय आनेपर महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणोंके घरोंमें, देवस्थानोंमें, चैत्यवृक्षोंके आस-पास और नागालयोंमें जो भूमि होगी उसपर हड्डी जड़ी हुई दीवारोंका चिह्न तो उपलब्ध होगा; परंतु देवमन्दिर उस भूमिकी शोभा नहीं बढ़ायेंगे ॥

भविष्यति युगे क्षीणे तद् युगान्तस्य लक्षणम्।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ॥ ६८ ॥
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम्।

यह सब युगान्तका लक्षण समझना चाहिये। जब सब मानव सदा भयंकर स्वभाववाले, धर्महीन, मांसखोर और शराबी हो जायँगे, उस समय युगका संहार होगा ॥ ६८½ ॥

पुष्पं पुष्पे यदा राजन् फले वा फलमाश्रितम्॥ ६९ ॥
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम्।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ॥ ७० ॥

महाराज! जब फूलमें फूल, फलमें फल लगने लगेगा, उस समय युगका संहार होगा। युगान्तकालमें मेघ असमयमें ही वर्षा करेंगे ॥ ६९-७० ॥

अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह ॥ ७१ ॥

मनुष्योंकी सारी क्रियाएँ क्रमसे विपरीत होंगी। शूद्र ब्राह्मणोंके साथ विरोध करेंगे ॥ ७१ ॥

मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात्।
करभारभयाद् विप्रा भजिष्यन्ति दिशो दश ॥७२॥

सारी पृथ्वी थोड़े ही समयमें म्लेच्छोंसे भर जायगी। ब्राह्मणलोग करोंके भारसे भयभीत होकर दसों दिशाओंकी शरण लेंगे ॥ ७२ ॥

निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः।
आश्रमानुपलप्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः ॥ ७३ ॥

सारे जनपद एक-जैसे आचार और वेशभूषा बना लेंगे। लोग बेगार लेनेवालों और कर लेनेवालोंसे पीड़ित हो एकान्त आश्रमोंमें चले जायँगे और फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करेंगे ॥ ७३ ॥

एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति।
न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ॥ ७४ ॥

इस तरह उथल-पुथल मच जानेपर संसारमें कोई मर्यादा नहीं रह जायगी। शिष्य गुरुके उपदेशपर नहीं चलेंगे। वे उलटे उनका अहित करेंगे ॥ ७४ ॥

आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनन्तरम्।
अर्थयुक्त्या प्रवत्स्यन्ति मित्रसम्बन्धिबान्धवाः॥७५॥

अपने कुलका आचार्य भी यदि निर्धन हो तो उसे निरन्तर शिष्योंकी डाट-फटकार सुननी पड़ेगी। मित्र, सम्बन्धी या भाई-बन्धु धनके लालचसे ही अपने पास रहेंगे ॥ ७५ ॥

अभावः सर्वभूतानां युगान्ते सम्भविष्यति।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च ॥ ७६ ॥

युगान्तकाल आनेपर समस्त प्राणियोंका अभाव हो जायगा। सारी दिशाएँ प्रज्वलित हो उठेंगी और नक्षत्रोंकी प्रभा विलुप्त हो जायगी ॥ ७६ ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ॥७७॥

ग्रह उलटी गतिसे चलने लगेंगे। हवा इतनी जोरसे चलेगी कि लोग व्याकुल हो उठेंगे। महान् भयकी सूचना देनेवाले उल्कापात बार-बार होते रहेंगे ॥ ७७ ॥

षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ॥७८॥

एक सूर्य तो है ही, छः और उदय होंगे और सातों एक साथ तपेंगे। सब ओर बिजलीकी भयानक गड़गड़ाहट होगी, सब दिशाओंमें आग लगेगी ॥ ७८ ॥

कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा।
अकालवर्षी भगवान् भविष्यति सहस्रदृक् ॥७९॥

उदय और अस्तके समय सूर्य राहुसे ग्रस्त दिखायी देगा। भगवान् इन्द्र समयपर वर्षा नहीं करेंगे ॥ ७९ ॥

सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते।
अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ॥८०॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बोयी हुई खेती उगेगी ही नहीं; स्त्रियाँ कठोर स्वभाववाली और सदा कटुवादिनी होंगी। उन्हें रोना ही अधिक पसंद होगा ॥ ८० ॥

भर्तॄणां वचने चैव न स्थास्यन्ति ततः स्त्रियः।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये ॥८१॥

वे पतिकी आज्ञामें नहीं रहेंगी। युगान्तकालमें पुत्र माता-पिताकी हत्या करेंगे ॥ ८१ ॥

सूदयिष्यन्ति च पतीन् स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ॥८२॥

नारियाँ अपने बेटोंसे मिलकर पतिकी हत्या करा देंगी। महाराज! अमावस्याके बिना ही राहु सूर्यपर ग्रहण लगायेगा ॥

युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगाः ॥ ८३ ॥
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ।

युगान्तकाल आनेपर सब ओर आग भी जल उठेगी । उस समय पथिकोंको माँगनेपर कहीं अन्न, जल या ठहरनेके लिये स्थान नहीं मिलेगा । वे सब ओरसे कोरा जवाब पाकर निराश हो सड़कोंपर ही सो रहेंगे ॥ ८३½ ॥

निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ॥ ८४ ॥
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
मित्रसम्बन्धिनश्चापि संत्यक्ष्यन्ति नरास्तदा ॥ ८५ ॥
जनं परिजनं चापि युगान्ते पर्युपस्थिते ।

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बिजलीकी कड़कके समान कड़वी बोली बोलनेवाले कौवे, हाथी, शकुन, पशु और पक्षी आदि बड़ी कठोर वाणी बोलेंगे । उस समयके मनुष्य अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सेवकों तथा कुटुम्बीजनोंको भी अकारण त्याग देंगे ॥ ८४-८५½ ॥

अथ देशान् दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ॥ ८६ ॥
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ॥ ८७ ॥
विक्रोशमानश्चान्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ।
ततस्तुमुलसङ्घाते वर्तमाने युगक्षये ॥ ८८ ॥

प्रायः लोग स्वदेश छोड़कर दूसरे देशों, दिशाओं, नगरों और गाँवोंका आश्रय लेंगे और हा तात ! हा पुत्र ! इत्यादि रूपसे अत्यन्त दुःखद वाणीमें एक-दूसरेको पुकारते हुए इस पृथ्वीपर विचरेंगे । युगान्तकालमें संसारकी यही दशा होगी । उस समय एक ही साथ समस्त लोकोंका भयंकर संहार होगा ॥ ८६—८८ ॥

द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।
ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पुनर्लोकविवृद्धये ॥ ८९ ॥
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ॥ ९० ॥
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ॥ ९१ ॥

तदनन्तर कालान्तरमें सत्ययुगका आरम्भ होगा और फिर क्रमशः ब्राह्मण आदि वर्ण प्रकट होकर अपने प्रभावका विस्तार करेंगे । उस समय लोकके अभ्युदयके लिये पुनः अनायास दैव अनुकूल होगा । जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति एक साथ पुष्य नक्षत्र एवं तदनुरूप एक राशि कर्कमें पदार्पण करेंगे, तब सत्ययुगका प्रारम्भ होगा । उस समय मेघ समयपर वर्षा करेगा । नक्षत्र शुभ एवं तेजस्वी हो जायँगे ॥ ८९—९१ ॥

प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः ।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥ ९२ ॥

ग्रह प्रदक्षिणाभावसे अनुकूल गतिका आश्रय ले अपने पथपर अग्रसर होंगे । उस समय सबका मङ्गल होगा । देशमें सुकाल आ जायगा । आरोग्यका विस्तार होगा तथा रोग-व्याधिका नाम भी नहीं रहेगा ॥ ९२ ॥

कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः ।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ९३ ॥
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे ।
(महात्मा वृत्तसम्पन्नः प्रजानां हितकृन्नृप ।)

राजन् ! युगान्तके समय कालकी प्रेरणासे सम्भल नामक ग्राममें किसी ब्राह्मणके मङ्गलमय गृहमें एक महान् शक्तिशाली बालक प्रकट होगा, जिसका नाम होगा विष्णुयशा कल्की । वह महान् बुद्धि एवं पराक्रमसे सम्पन्न महात्मा, सदाचारी तथा प्रजावर्गका हितैषी होगा । (वह बालक ही भगवान्का कल्की अवतार कहलायेगा) ॥ ९३½ ॥

मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ॥ ९४ ॥
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ॥ ९५ ॥

मनके द्वारा चिन्तन करते ही उसके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायँगे । वह धर्म-विजयी चक्रवर्ती राजा होगा ॥ ९४-९५ ॥

स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ॥ ९६ ॥

वह उदारबुद्धि, तेजस्वी ब्राह्मण, दुःखसे व्याप्त हुए इस जगत्को आनन्द प्रदान करेगा । कलियुगका अन्त करनेके लिये ही उसका प्रादुर्भाव होगा ॥ ९६ ॥

संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ।
स सर्वत्र गतान् क्षुद्रान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान् द्विजः ॥ ९७ ॥

वही सम्पूर्ण कलियुगका संहार करके नूतन सत्ययुगका प्रवर्तक होगा । वह ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ सर्वत्र विचरेगा और भूमण्डलमें सर्वत्र फैले हुए नीच स्वभाववाले सम्पूर्ण म्लेच्छोंका संहार कर डालेगा ॥ ९७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यवर्णनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ९७½ श्लोक हैं)

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् कल्कीके द्वारा सत्ययुगकी स्थापना और मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश

मार्कण्डेय उवाच

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम्।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय चोर-डाकुओं एवं म्लेच्छोंका विनाश करके भगवान् कल्की अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे और उसमें यह सारी पृथ्वी विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको दे डालेंगे॥ १॥

स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति॥ २॥

उनका यश तथा कर्म सभी परम पावन होंगे। वे ब्रह्माजीकी चलायी हुई मङ्गलमयी मर्यादाओंकी स्थापना करके (तपस्याके लिये) रमणीय वनमें प्रवेश करेंगे॥ २॥

तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः।
विप्रैश्चोरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति॥ ३॥

फिर इस जगत्के निवासी मनुष्य उनके शील-स्वभावका अनुकरण करेंगे। इस प्रकार सत्ययुगमें ब्राह्मणोंद्वारा दस्यु-दलका विनाश हो जानेपर संसारका मङ्गल होगा॥ ३॥

कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च।
स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च॥ ४॥
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान्।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः॥ ५॥

द्विजश्रेष्ठ कल्की सदा दस्युवधमें तत्पर रहकर समस्त भूतलपर विचरते रहेंगे और अपनेद्वारा जीते हुए देशोंमें काले मृगचर्म, शक्ति, त्रिशूल तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी स्थापना करते हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा अपनी स्तुति सुनेंगे और स्वयं भी उन ब्राह्मणशिरोमणियोंको यथोचित सम्मान देंगे॥ ४-५॥

हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः।
विक्रोशमानान् सुभृशं दस्यून् नेष्यति संक्षयम्॥ ६॥
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा॥ ७॥

उस समय चोर और लुटेरे दर्दभरी वाणीमें 'हाय मैया' 'हाय बप्पा' और 'हाय बेटा' इत्यादि कहकर जोर-जोरसे चीत्कार करेंगे और उन सबका भगवान् कल्की विनाश कर डालेंगे। भारत! दस्युओंके नष्ट हो जानेपर अधर्मका भी नाश हो जायगा और धर्मकी वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार सत्ययुग आ जानेपर सब मनुष्य सत्यकर्मपरायण होंगे॥ ६-७॥

आरामाश्चैव चैत्याश्च तटाकावसथास्तथा।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च॥ ८॥
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः॥ ९॥

उस युगमें नये-नये बगीचे लगाये जायँगे। चैत्यवृक्षोंकी स्थापना होगी। पोखरों और धर्मशालाओंका निर्माण होगा। भाँति-भाँतिकी पोखरियाँ तैयार होंगी। कितने ही देवमन्दिर बनेंगे और नाना प्रकारके यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान होगा। ब्राह्मण साधु-स्वभावके होंगे। मुनिलोग तपस्यामें तत्पर रहेंगे॥ ८-९॥

आश्रमा हतपाखण्डाः स्थिताः सत्यरताः प्रजाः।
जनिष्यन्ते च बीजानि रोप्यमाणानि चैव ह॥ १०॥

आश्रम पाखण्डियोंसे रहित होंगे और सारी प्रजा सत्य-परायण होगी। खेतोंमें बोये जानेवाले सब प्रकारके बीज अच्छी तरह उगेंगे॥ १०॥

सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च॥ ११॥

राजेन्द्र! सभी ऋतुओंमें सभी प्रकारके अनाज पैदा होंगे। सब लोग दान, व्रत और नियमोंमें लगे रहेंगे॥ ११॥

जपयज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः।
पालयिष्यन्ति राजानो धर्मेणेमां वसुन्धराम्॥ १२॥

ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक जपयज्ञमें तत्पर रहेंगे और धर्ममें ही उनकी रुचि होगी। क्षत्रियनरेश धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करेंगे॥ १२॥

व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः॥ १३॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च।

सत्ययुगके वैश्य सदा न्यायपूर्वक व्यापार करनेवाले होंगे। ब्राह्मण यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें तत्पर रहेंगे। क्षत्रिय बल-पराक्रममें अनुराग रखेंगे तथा शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवामें लगे रहेंगे॥ १३½॥

एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा॥ १४॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते सम्प्रकीर्तितः।
सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पाण्डव॥ १५॥

धर्मका यह स्वरूप सत्ययुगमें अक्षुण्ण रहेगा। त्रेता, द्वापर तथा कलियुगमें धर्मकी जैसी स्थिति रहेगी, उसका वर्णन तुमसे किया जा चुका है। पाण्डुनन्दन! तुम्हें सम्पूर्ण लोककी युग-संख्याका ज्ञान भी हो चुका है॥ १४-१५॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्॥ १६॥

राजन्! ऋषियोंद्वारा प्रशंसित तथा वायुदेवद्वारा वर्णित पुराणकी बातोंका स्मरण करके मैंने तुमसे यह भूत-भविष्यका सारा वृत्तान्त बताया है ॥ १६ ॥

एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार चिरजीवी होनेके कारण मैंने संसारके मार्गोंका अनेक बार दर्शन और अनुभव किया है, जिनका तुम्हारे समक्ष वर्णन कर दिया है ॥ १७ ॥

इदं चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १८ ॥

धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयोंसहित यह मेरी एक बात और सुनो। धर्म-विषयक संदेहका निवारण करनेके लिये मेरे वचनको ध्यान देकर सुनो ॥ १८ ॥

धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज! तुम्हें अपने आपको सदा धर्ममें ही लगाये रखना चाहिये; क्योंकि धर्मात्मा मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी बड़े सुखसे रहता है ॥ १९ ॥

निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ॥ २० ॥
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया ।

निष्पाप नरेश! मेरी इस कल्याणमयी वाणीको समझो, जिसे मैं अभी तुम्हें सुना रहा हूँ। युधिष्ठिर! तुम्हें कभी किसी ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये; क्योंकि यदि ब्राह्मण कुपित हो जाय और किसी बातकी प्रतिज्ञा कर ले, तो वह उस प्रतिज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर सकता है ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ॥ २१ ॥
उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजीकी यह बात सुनकर परम तेजस्वी और बुद्धिमान् कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरने यह उत्तम वचन कहा—॥ २१½ ॥

कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ॥ २२ ॥
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः ।

'मुने! प्रजाकी रक्षा करते हुए किस धर्ममें स्थित रहना चाहिये। मेरा व्यवहार और बर्ताव कैसा हो, जिससे मैं स्वधर्मसे कभी च्युत न होऊँ?॥ २२½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ॥ २३ ॥
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः ।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय ॥ २४ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! तुम सब प्राणियोंपर दया करो। सबके हितैषी बने रहो। सबपर प्रेमभाव रखो और किसीमें दोषदृष्टि मत करो। सत्यवादी, कोमलस्वभाव, जितेन्द्रिय और प्रजापालनमें तत्पर रहकर धर्मका आचरण करो। अधर्मको दूरसे ही त्याग दो तथा देवता और पितरोंकी आराधना करते रहो ॥ २३-२४ ॥

प्रमादाद् यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय ।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव ॥ २५ ॥

यदि प्रमादवश तुम्हारे द्वारा किसीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसे अच्छी प्रकार दानसे संतुष्ट करके वशमें करो। मैं सबका स्वामी हूँ, ऐसे अहंकारको कभी पासमें न आने दो। तुम अपनेको सदा पराधीन समझते रहो ॥ २५ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः ॥ २६ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं भुवि ।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ॥ २७ ॥

सारी पृथ्वीको जीतकर सदा सानन्द और सुखी रहो। तात युधिष्ठिर! मैंने तुम्हें जो यह धर्म बताया है, इसका पालन भूतकालमें भी हुआ है और भविष्यकालमें भी इसका पालन होना चाहिये। भूत और भविष्यकी ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो; अतः इस समय जो यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ है, इसके लिये हृदयमें कोई विचार न करो ॥ २६-२७ ॥

प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः ।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ॥ २८ ॥

तात! विद्वान् पुरुष कालसे पीड़ित होनेपर भी कभी मोहमें नहीं पड़ते। महाबाहो! यह काल सम्पूर्ण देवताओंपर भी अपना प्रभाव डालता है ॥ २८ ॥

मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः ।
मा च तत्र विशङ्काभूद् यन्मयोक्तं तवानघ ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर! कालसे प्रेरित होकर ही यह सारी प्रजा मोह-ग्रस्त होती है। अनघ! मैंने तुम्हारे सामने जो कुछ भी कहा है उसमें तुम्हें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ २९ ॥

आशङ्क्य मद्वचो ह्येतद् धर्मलोपो भवेत् तव ।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर ।

मेरे इस वचनमें संदेह करनेपर तुम्हारे धर्मका लोप होगा। भरतकुलभूषण! तुम कौरवोंके प्रख्यात कुलमें उत्पन्न हुए हो; अतः मन, वाणी और क्रियाद्वारा इन सब बातोंका पालन करो ॥ ३०½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ॥ ३१ ॥
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ।
न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः ॥ ३२ ॥
करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत् ते मयि प्रभो ।

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपने मुझे जो उपदेश दिया है, वह मेरे कानोंको मधुर एवं मनको प्रिय लगा है । विभो ! मैं आपकी आज्ञाका यत्नपूर्वक पालन करूँगा । ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मेरे मनमें लोभ, भय और ईर्ष्या नहीं है । प्रभो ! आपने मेरे लिये जो कहा है, इसका अवश्य पालन करूँगा ॥ ३१-३२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
संहृष्टाः पाण्डवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना ।
विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागताः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन परम बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीका वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णसहित पाँचों पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए । साथ ही जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीके मुखसे वह मङ्गलमयी कथा सुनकर पुराणोक्त बातोंका ज्ञान हो जानेसे सब लोग बड़े ही विस्मित और प्रसन्न हुए ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें युधिष्ठिरके लिये उपदेशविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशी परीक्षित्का मण्डूकराजकी कन्यासे विवाह, शल और दलके चरित्र तथा वामदेव मुनिकी महत्ता

वैशम्पायन उवाच

भूय एव ब्राह्मणमहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत् पाण्डवेयो मार्कण्डेयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मुनिवर मार्कण्डेयसे कहा—'ब्रह्मन् ! पुनः ब्राह्मणोंकी महिमाका वर्णन कीजिये' ॥ १ ॥

अथाचष्ट मार्कण्डेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम् ॥ २ ॥

तब मार्कण्डेयजीने कहा—'राजन् ! ब्राह्मणोंके इस अद्भुत चरित्रका श्रवण करो ॥ २ ॥

अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः परिक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥ ३ ॥

'अयोध्यापुरीमें इक्ष्वाकुकुलके धुरंधर वीर राजा परीक्षित् रहते थे । वे एक दिन शिकार खेलनेके लिये गये ॥ ३ ॥

तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ॥ ४ ॥

'उन्होंने एकमात्र अश्वकी सहायतासे एक हिंसक पशुका पीछा किया । वह पशु उन्हें बहुत दूर हटा ले गया ॥ ४ ॥

अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन् देशे नीलं गहनं वनखण्डमपश्यत् ॥ ५ ॥

'मार्गमें उन्हें बड़ी थकावट हुई और वे भूख-प्याससे व्याकुल हो गये । उसी समय उन्हें एक ओर नीले रंगका एक दूसरा वन दिखायी दिया, जो और भी घना था ॥ ५ ॥

तच्च विवेश ततस्तस्य वनखण्डस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥ ६ ॥

'तत्पश्चात् राजाने उसके भीतर प्रवेश किया । उस वनस्थलीके मध्यभागमें एक अत्यन्त रमणीय सरोवर था । उसे देखकर राजा घोड़ेसहित सरोवरके जलमें घुस गये ॥ ६ ॥

अथाश्वस्तः स बिसमृणालमश्वायाग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश । ततः शयानो मधुरं गीतमशृणोत् ॥ ७ ॥

'जल पीकर जब वे कुछ आश्वस्त हुए, तब घोड़ेके आगे कुछ कमलकी नालें डालकर स्वयं उस सरोवरके तटपर लेट गये । लेटे-ही-लेटे उनके कानोंमें कहींसे मधुर गीतकी ध्वनि सुनायी पड़ी ॥ ७ ॥

स श्रुत्वाचिन्तयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ॥ ८ ॥

'उसे सुनकर राजा सोचने लगे कि 'यहाँ मनुष्योंकी गति तो नहीं दिखायी देती । फिर यह किसके गीतका शब्द सुनायी देता है' ॥ ८ ॥

अथापश्यत् कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वन्तीं गायन्तीं च। अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥ ९ ॥

'इतनेहीमें उनकी दृष्टि एक कन्यापर पड़ी, जो अपने परम सुन्दर रूपके कारण देखने ही योग्य थी। वह वनके फूल चुनती हुई गीत गा रही थी। धीरे-धीरे भ्रमण करती हुई वह राजाके समीप आ गयी ॥ ९ ॥

तामब्रवीद् राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति। सा प्रत्युवाच कन्यास्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाहमिति ॥ १० ॥

तब राजाने उससे पूछा—'कल्याणी! तुम कौन और किसकी हो?' उसने उत्तर दिया—'मैं कन्या हूँ—अभी मेरा विवाह नहीं हुआ है।' तब राजाने उससे कहा—'भद्रे! मैं तुझे चाहता हूँ' ॥ १० ॥

अथोवाच कन्या समयेनाहं शक्या त्वया लब्धुं नान्यथेति राजा तां समयमपृच्छत्। कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ॥ ११ ॥

'कन्या बोली—तुम मुझे एक शर्तके साथ पा सकते हो अन्यथा नहीं।' राजाने उससे वह शर्त पूछी। कन्याने कहा—'मुझे कभी जलका दर्शन न कराना' ॥ ११ ॥

स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परिक्षित् क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं सङ्गम्य तया सहास्ते ॥ १२ ॥

'तब राजाने उससे 'बहुत अच्छा' कहकर उससे (गान्धर्व) विवाह किया। विवाहके पश्चात् राजा परीक्षित् अत्यन्त आनन्दपूर्वक उसके साथ क्रीड़ा-विहार करने लगे और एकान्तमें मिलकर उसके साथ चुपचाप बैठे रहे ॥ १२ ॥

ततस्तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् ॥ १३ ॥

'राजा अभी वहीं बैठे थे, इतनेहीमें उनकी सेना आ पहुँची ॥ १३ ॥

सा सेनोपविष्टं राजानं परिवार्यातिष्ठत्। पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादवघोटितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया सहास्ते ॥ १४ ॥

'वह सेना अपने बैठे हुए राजाको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयी। अच्छी तरह सुस्ता लेनेके पश्चात् राजा एक साफ-सुथरी चिकनी पालकीमें उसीके साथ बैठकर अपने नगरको चल दिये और वहाँ पहुँचकर उस नवविवाहिता सुन्दरीके साथ एकान्तवास करने लगे ॥ १४ ॥

तत्राभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नापश्यदथ प्रधानामात्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत् ॥ १५ ॥

'वहाँ निकट होते हुए भी कोई उनका दर्शन नहीं कर पाता था। तब एक दिन प्रधान मन्त्रीने राजाके पास रहनेवाली स्त्रियोंसे पूछा—॥ १५ ॥

किमत्र प्रयोजनं वर्तते इत्यथाब्रुवंस्ताः स्त्रियः ॥ १६ ॥

'यहाँ तुम्हारा क्या काम है?' उनके ऐसा पूछनेपर उन स्त्रियोंने कहा—॥ १६ ॥

अपूर्वमिव पश्याम उदकं नात्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्पफलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् ॥ १७ ॥

'हमें यहाँ एक अद्भुत-सी बात दिखायी देती है। महाराजके अन्तःपुरमें पानी नहीं जाने पाता है। (हमलोग इसीकी चौकसी करती हैं।)' उनकी यह बात सुनकर प्रधान मन्त्रीने एक बाग लगवाया, जिसमें प्रत्यक्षरूपसे कोई जलाशय नहीं था। उसमें बड़े सुन्दर और ऊँचे-ऊँचे वृक्ष लगवाये गये थे। वहाँ फल-फूल और कन्द-मूलकी भी बहुतायत थी। उस उपवनके मध्यभागमें एक किनारेकी ओर सुधाके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई एक बावली भी बनवायी थी, जो मोतियोंके जालसे निर्मित थी। उस बावलीको (लताओंद्वारा) बाहरसे ढक दिया गया था। उस उद्यानके तैयार हो जानेपर मन्त्रीने किसी दिन राजासे मिलकर कहा—॥ १७ ॥

वनमिदमुदारकं साध्वत्र रम्यतामिति ॥ १८ ॥

'महाराज! यह वन बहुत सुन्दर है, आप इसमें भलीभाँति विहार करें' ॥ १८ ॥

स तस्य वचनात् तयैव सह देव्या तद् वनं प्राविशत्। स कदाचित् तस्मिन् कानने रम्ये तयैव सह व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्तकागारमपश्यत् ॥ १९ ॥

'मन्त्रीके कहनेसे राजाने उसी नवविवाहिता रानीके साथ उस वनमें प्रवेश किया। एक दिन महाराज परीक्षित् उस रमणीय उद्यानमें अपनी उसी प्रियतमाके साथ विहार कर रहे थे। विहार करते-करते जब वे थक गये और भूख-प्याससे बहुत पीड़ित हो गये, तब उन्हें वासन्ती लताद्वारा निर्मित एक मनोहर मण्डप दिखायी दिया ॥ १९ ॥

तत् प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २० ॥

'उस मण्डपमें प्रियासहित प्रवेश करके राजाने सुधाके समान स्वच्छ जलसे परिपूर्ण वह बावली देखी ॥ २० ॥

दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्यावातिष्ठत् ॥ २१ ॥

'उसे देखकर वे अपनी रानीके साथ उसीके तटपर खड़े हुए ॥ २१ ॥

अथ तां देवीं स राजाब्रवीत् साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुदमज्जत् ॥ २२ ॥

'उस समय राजाने उस रानीसे कहा—'देवि ! सावधानीके साथ इस बावलीके जलमें उतरो।' राजाकी यह बात सुनकर उसने बावलीमें घुसकर गोता लगाया और फिर बाहर नहीं निकली ॥ २२ ॥

तां स मृगयमाणो राजा नापश्यद् वापीमथ निःस्राव्य मण्डूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ॥ २३ ॥

सर्वत्र मण्डूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमण्डूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ॥ २४ ॥

'राजाने उस वापीमें रानीकी बहुत खोज की, परंतु वह कहीं दिखायी न दी। तब उन्होंने बावलीका सारा जल निकलवा दिया। इसके बाद एक बिलके मुँहपर कोई मेढक दीख पड़ा। इससे राजाको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने आज्ञा दे दी कि 'सर्वत्र मेढकोंका वध किया जाय। जो मुझसे मिलना चाहे, वह मरे हुए मेढकका ही उपहार लेकर मेरे पास आवे' ॥ २३-२४ ॥

अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान् भयमाविवेश। ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ २५ ॥

इस आज्ञाके अनुसार चारों ओर मेढकोंका भयंकर संहार आरम्भ हो गया। इससे सब दिशाओंके मेढकोंके मनमें भय समा गया। वे डरकर मण्डूकराजके पास गये और उनसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ २५ ॥

ततो मण्डूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्यगच्छदुपेत्य चैनमुवाच ॥ २६ ॥

'तब मण्डूकराज तपस्वीका वेष धारण करके राजाके पास गया और निकट पहुँचकर उससे इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

मा राजन् क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नार्हसि मण्डूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति । श्लोकौ चात्र भवतः—॥ २७ ॥

'राजन् ! आप क्रोधके वशीभूत न हों। हमपर कृपा करें। निरपराध मेढकोंका वध न करावें।' इस विषयमें ये दो श्लोक भी प्रसिद्ध हैं— ॥ २७ ॥

मा मण्डूकान् जिघांस त्वं कोपं संधारयाच्युत।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥ २८ ॥

'अच्युत ! आप मेढकोंको मारनेकी इच्छा न करें। अपने क्रोधको रोकें; क्योंकि अविवेकसे काम लेनेवाले मनुष्योंके धनकी वृद्धि नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥

प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि।
अलं कृत्वा तवाधर्मं मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ॥ २९ ॥

'प्रतिज्ञा करें कि इन मेढकोंको पाकर आप क्रोध नहीं करेंगे; यह अधर्म करनेसे आपको क्या लाभ है; मण्डूकोंकी हत्यासे आपको क्या मिलेगा ?' ॥ २९ ॥

तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजा-थोवाच ॥ ३० ॥

राजाका हृदय अपनी प्यारी रानीके विनाशके शोकसे दग्ध हो रहा था। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले मण्डूकराजसे कहा—॥ ३० ॥

न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता सर्वथैव मे वध्या मण्डूका नार्हसि विद्वन् मामुपरोद्धुमिति ॥ ३१ ॥

'मैं क्षमा नहीं कर सकता। इन मेढकोंको अवश्य मारूँगा। इन दुरात्माओंने मेरी प्रियतमाको खा लिया है। अतः ये मेढक मेरे लिये सर्वथा वध्य ही हैं। विद्वन् ! आप मुझे उनके वधसे न रोकें' ॥ ३१ ॥

स तद् वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मण्डूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम तस्या हि दौःशील्यमेतद् बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ॥ ३२ ॥

'राजाकी बात सुनकर मण्डूकराजका मन और इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं। वह बोला—'महाराज ! प्रसन्न होइये। मेरा नाम आयु है। मैं मेढकोंका राजा हूँ। जिसे आप अपनी प्रियतमा कहते हैं, वह मेरी ही पुत्री है। उसका नाम सुशोभना है। वह आपको छोड़कर चली गयी; यह उसकी दुष्टता है। उसने पहले भी बहुत-से राजाओंको धोखा दिया है' ॥ ३२ ॥

तमब्रवीद् राजा तया समर्थी सा मे दीयतामिति ॥

तब राजाने मण्डूकराजसे कहा—'मैं तुम्हारी उस पुत्रीको चाहता हूँ, उसे मुझे समर्पित कर दो' ॥ ३३ ॥

अथैनां राज्ञे पितादादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३४ ॥

स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात् त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्माद‌ब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यन्त्यानृतिकत्वात् तवेति ॥ ३५ ॥

'तब पिता मण्डूकराजने अपनी पुत्री सुशोभना महाराज परीक्षित्‌को समर्पित कर दी और उससे कहा—'बेटी ! सदा

तपस्वीके वेशमें मण्डूकराजका राजाको आश्वासन

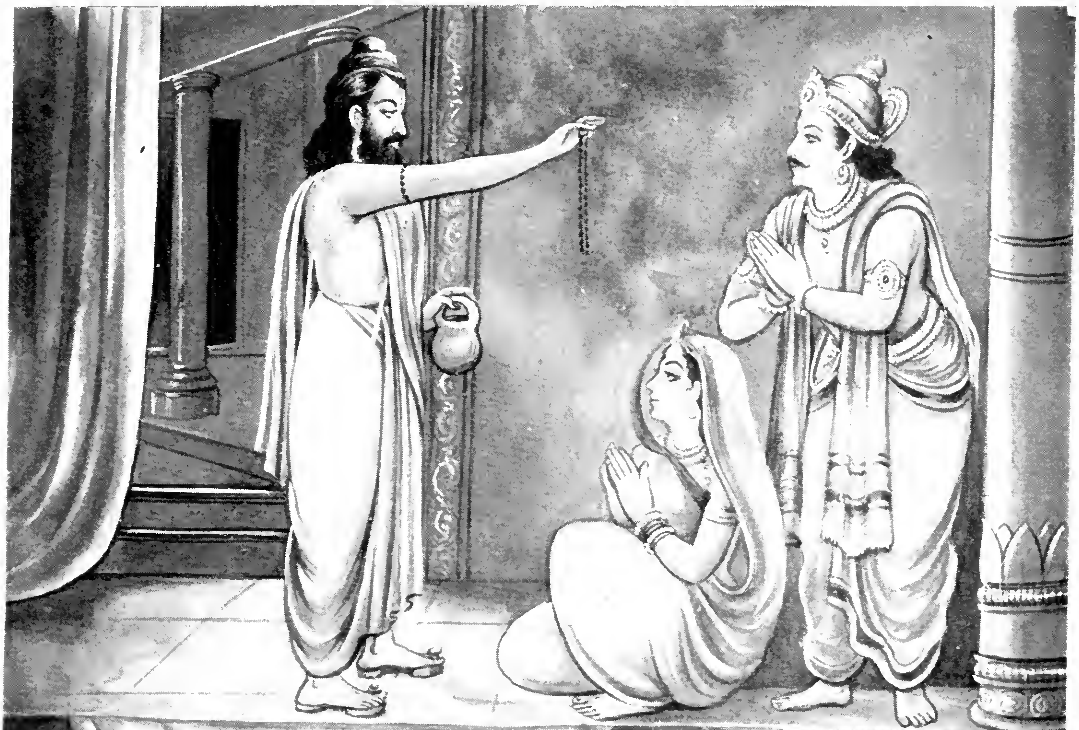

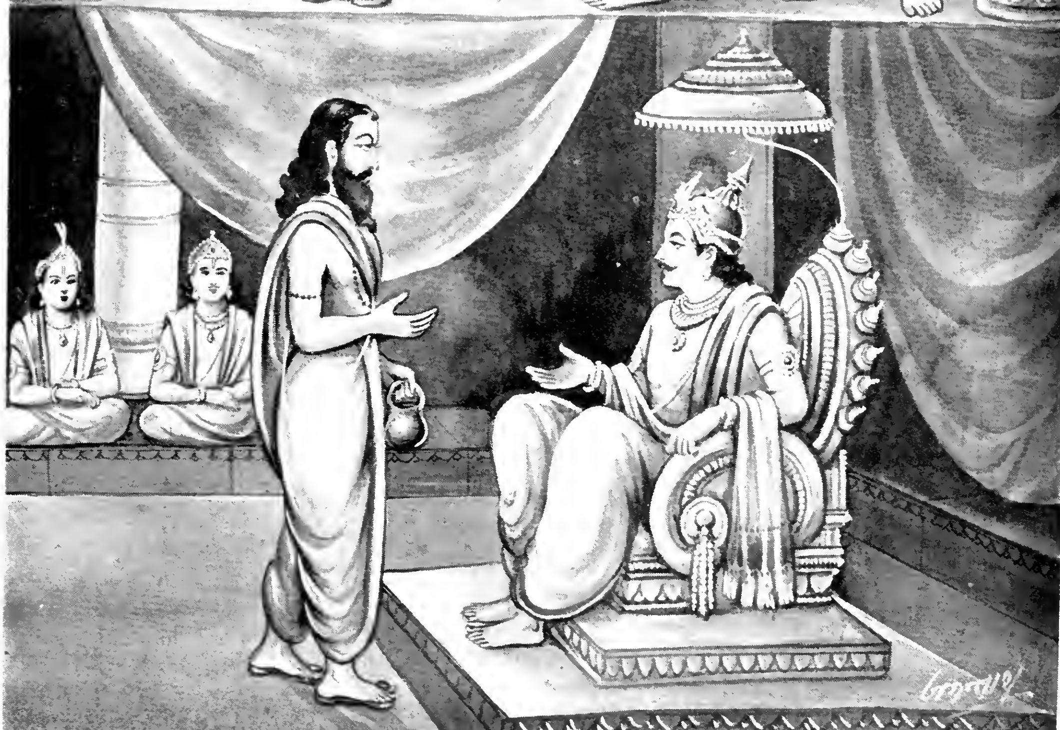

ययातिसे ब्राह्मणकी याचना

राजाकी सेवा करती रहना।' ऐसा कहकर मण्डूकराजने जब अपनी पुत्रीके अपराधको याद किया, तब उसे क्रोध हो आया और उसने उसे शाप देते हुए कहा—'अरी! तूने बहुत-से राजाओंको धोखा दिया है, इसलिये तेरी संतानें ब्राह्मण-विरोधी होंगी; क्योंकि तू बड़ी झूठी है' ॥ ३४-३५ ॥

स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डूकराजमब्रवीदनुगृहीतोऽस्मीति ॥ ३६ ॥

'सुशोभनाके रतिकलासम्बन्धी गुणोंने राजाके मनको बाँध लिया था। वे उसे पाकर ऐसे प्रसन्न हुए, मानो उन्हें तीनों लोकोंका राज्य मिल गया हो। उन्होंने आनन्दके आँसू बहाते हुए मण्डूकराजको प्रणाम किया और उसका यथोचित सत्कार करते हुए हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'मण्डूकराज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की है' ॥ ३६ ॥

स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ३७ ॥

'तत्पश्चात् कन्यासे विदा लेकर मण्डूकराज जैसे आया था, वैसे ही अपने स्थानको चला गया ॥ ३७ ॥

अथ कस्यचित् कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति। ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ३८ ॥

'कुछ कालके पश्चात् सुशोभनाके गर्भसे राजा परीक्षित्‌के तीन पुत्र हुए—शल, दल और बल। इनमें शल सबसे बड़ा था। समय आनेपर पिताने शलका राज्याभिषेक करके स्वयं तपस्यामें मन लगाये तपोवनको प्रस्थान किया ॥ ३८ ॥

अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन् मृगमासाद्य रथेनान्वधावत् ॥ ३९ ॥

सूतं चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ॥ ४० ॥

न क्रियतामनुबन्धो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुं यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति। ततोऽब्रवीद् राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि च त्वामिति। स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेवशापभीतश्च सन् नाचख्यौ राज्ञे। ततः पुनः स राजा खड्गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति तमाह हनिष्ये त्वामिति। स तदाऽऽह राजभयभीतः सूतो वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥ ४१ ॥

तदनन्तर एक दिन महाराज शल शिकार खेलनेके लिये वनको गये। वहाँ उन्होंने एक हिंसक पशुको सामने पाकर रथके द्वारा ही उसका पीछा किया और सारथिसे कहा—'शीघ्र मुझे मृगके निकट पहुँचाओ'। उनके ऐसा कहनेपर सारथि बोला—'महाराज! आप इस पशुको पकड़नेका आग्रह न करें। यह आपकी पकड़में नहीं आ सकता। यदि आपके रथमें दोनों वाम्य घोड़े जुते होते, तब आप इसे पकड़ लेते।' यह सुनकर राजाने सूतसे पूछा—'सारथे! बताओ, वाम्य घोड़े कौन हैं, अन्यथा मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा।' राजाके ऐसा कहनेपर सारथि भयसे काँप उठा। उधर घोड़ोंका परिचय देनेपर उसे वामदेव ऋषिके शापका भी डर था। अतः उसने राजासे कुछ नहीं कहा। तब राजाने पुनः तलवार उठाकर कहा—'अरे! शीघ्र बता, नहीं तो तुझे अभी मार डालूँगा।' तब उसने राजाके भयसे त्रस्त होकर कहा—'महाराज! वामदेव मुनिके पास दो घोड़े हैं जिन्हें 'वाम्य' कहते हैं। वे मनके समान वेगशाली हैं' ॥ ३९—४१ ॥

अथैनमेवं ब्रुवाणमब्रवीत् राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

'सारथिके ऐसा कहनेपर राजाने उसे आज्ञा दी, 'चलो वामदेवके आश्रमपर।' वामदेवके आश्रमपर पहुँचकर राजाने उन महर्षिसे कहा—॥ ४२ ॥

भगवन् मृगो मे विद्धः पलायते सम्भावयितुमर्हसि वाम्यौ दातुमिति। तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति। स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद् वामीप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाब्रवीत् सूतमश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत् ॥ ४३ ॥

'भगवन्! मेरे बाणोंसे घायल हुआ हिंसक पशु भागा जा रहा है। आप अपने वाम्य अश्व मुझे देनेकी कृपा करें।' तब महर्षिने कहा—'मैं तुम्हें वाम्य अश्व दिये देता हूँ। परंतु जब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाय, तब तुम शीघ्र ही ये दोनों अश्व मुझे लौटा देना।' राजाने दोनों अश्व पाकर ऋषिकी आज्ञा ले वहाँसे प्रस्थान किया। वामी घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा हिंसक पशुका पीछा करते हुए वे सारथिसे बोले—'सूत! ये दोनों अश्वरत्न ब्राह्मणोंके पास रहने योग्य नहीं। अतः इन्हें वामदेवके पास लौटानेकी आवश्यकता नहीं है।' ऐसा कहकर राजा हिंसक पशुको साथ ले अपनी राजधानीको चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उन दोनों अश्वोंको अन्तःपुरमें बाँध दिया ॥ ४३ ॥

अथर्षिश्चिन्तयामास तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ॥ ४४ ॥

उधर वामदेव मुनि मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो ! वह तरुण राजकुमार मेरे अच्छे घोड़ोंको लेकर मौज कर रहा है, उन्हें लौटानेका नाम ही नहीं लेता है। यह तो बड़े कष्टकी बात है !' ॥ ४४ ॥

स मनसा विचिन्त्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥

गच्छात्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं निर्यातयोपाध्यायवाम्याविति । स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत् तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ॥ ४६ ॥

'मन-ही-मन सोच-विचार करते हुए जब एक मास पूरा हो गया, तब वे अपने शिष्यसे बोले—'आत्रेय ! जाकर राजासे कहो कि यदि काम पूरा हो गया हो तो गुरुजीके दोनों वाम्य अश्व लौटा दीजिये।' शिष्यने जाकर राजासे यही बात दुहरायी। तब राजाने उसे उत्तर देते हुए कहा—'यह सवारी राजाओंके योग्य है। ब्राह्मणोंको ऐसे रत्न रखनेका अधिकार नहीं है। भला, ब्राह्मणोंको घोड़े लेकर क्या करना है ? अब आप सकुशल पधारिये' ॥ ४५ ४६ ॥

स गत्वैतदुपाध्यायायाचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याश्वार्थमचोदयन्न चाददद् राजा ॥ ४७ ॥

'शिष्यने लौटकर ये सारी बातें उपाध्यायसे कहीं। वह अप्रिय वचन सुनकर वामदेव मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे और स्वयं ही उस राजाके पास जाकर उन्हें घोड़े लौटा देनेके लिये कहा। परंतु राजाने वे घोड़े नहीं दिये' ॥ ४७ ॥

वामदेव उवाच

प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं
कृतं हि ते कार्यमाभ्यामशक्यम्।
मा त्वा वधीद् वरुणो घोरपाशै-
र्ब्रह्मक्षत्रस्यान्तरे वर्तमानम् ॥ ४८ ॥

तब वामदेवने कहा—राजन् ! मेरे वाम्य अश्वोंको अब मुझे लौटा दो। निश्चय ही उन घोड़ोंद्वारा तुम्हारा असाध्य कार्य पूरा हो गया है। इस समय तुम ब्राह्मण और क्षत्रियके बीचमें विद्यमान हो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी असत्य-वादिताके कारण राजा वरुण तुम्हें अपने भयंकर पाशोंसे बाँध लें ॥ ४८ ॥

राजोवाच

अनड्वाहौ सुव्रतौ साधु दान्ता-
वेतद् विप्राणां वाहनं वामदेव।
ताभ्यां याहि त्वं तत्र कामो महर्षे
छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ॥ ४९ ॥

राजा बोले—वामदेवजी ! ये दो अच्छे स्वभावके सीखे-सिखाये हृष्ट-पुष्ट बैल हैं, जो गाड़ी खींच सकते हैं; ये ही ब्राह्मणोंके लिये उचित वाहन हो सकते हैं। अतः महर्षे ! इन्हींको गाड़ीमें जोतकर आप जहाँ चाहें जायँ। आप-जैसे महात्माका भार तो वेद-मन्त्र ही वहन करते हैं ॥ ४९ ॥

वामदेव उवाच

छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति
लोकेऽमुष्मिन् पार्थिव यानि सन्ति।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेत-
दस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ५० ॥

वामदेवने कहा—राजन् ! इसमें संदेह नहीं कि हम-जैसे लोगोंके लिये वेदके मन्त्र ही वाहनका काम देते हैं। परंतु वे परलोकमें ही उपलब्ध होते हैं। इस लोकमें तो हम-जैसे लोगोंके तथा दूसरोंके लिये भी ये अश्व ही वाहन होते हैं ॥ ५० ॥

राजोवाच

चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहन्तु
श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो
ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥ ५१ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! तब चार गधे, अच्छी जाति-की खचरियाँ या वायुके समान वेगशाली दूसरे घोड़े आपकी सवारीके लिये प्रस्तुत हो सकते हैं। इन्हीं वाहनोंद्वारा आप यात्रा करें। यह वाहन, जिसे आप माँगने आये हैं, क्षत्रिय नरेशके ही योग्य हैं। इसलिये आप यह समझ लें कि ये वाम्य अश्व मेरे ही हैं, आपके नहीं हैं ॥ ५१ ॥

वामदेव उवाच

घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहु-
रेतद् राजन् यदिहाजीवमानः।
अयस्मया घोररूपा महान्त-
श्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः।
मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना
वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ५२ ॥

वामदेव बोले—राजन् ! तुम ब्राह्मणोंके इस धनको हड़प-कर जो अपने उपयोगमें लाना चाहते हो, यह बड़ा भयंकर कर्म कहा गया है। यदि मेरे घोड़े वापस न दोगे तो मेरी आज्ञा पाकर विकराल रूपधारी तथा लौह-शरीरवाले अत्यन्त भयंकर चार बड़े-बड़े राक्षस हाथोंमें तीखे त्रिशूल लिये तुम्हारे वधकी इच्छासे टूट पड़ेंगे और तुम्हारे शरीरके चार टुकड़े करके उठा ले जायँगे ॥ ५२ ॥

राजोवाच

ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव
वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा ।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु
मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः ॥ ५३ ॥

राजाने कहा—वामदेवजी ! आप ब्राह्मण हैं तो भी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा मुझे मारनेको उद्यत हैं; इसका पता हमारे जिन सेवकोंको चल गया है, वे मेरी आज्ञा पाते ही हाथोंमें तीखे त्रिशूल तथा तलवार लेकर शिष्योंसहित आपको पहले ही यहाँ मार गिरावेंगे ॥ ५३ ॥

वामदेव उवाच

ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन्
पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम् ।
प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ
यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात् ॥ ५४ ॥

वामदेव बोले—राजन् ! तुमने जब ये मेरे दोनों घोड़े लिये थे, उस समय यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं इन्हें पुनः लौटा दूँगा । ऐसी दशामें यदि अपने आपको तुम जीवित रखना चाहते हो, तो मेरे दोनों वाम्यसंज्ञक घोड़े वापस दे दो ॥ ५४ ॥

राजोवाच

न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता
न त्वानुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम् ।
तवैवाज्ञां सम्प्रणिधाय सर्वां
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ५५ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! (ये घोड़े शिकारके उपयोगमें आने योग्य हैं और) ब्राह्मणोंके लिये शिकार खेलनेकी विधि नहीं है । यद्यपि आप मिथ्यावादी हैं, तो भी मैं आपको दण्ड नहीं दूँगा और आजसे आपके सारे आदेशोंका पालन करूँगा, जिससे मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो (परंतु ये घोड़े आपको नहीं मिल सकते) ॥ ५५ ॥

वामदेव उवाच

नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति
वाचा राजन् मनसा कर्मणा वा ।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसान्वेति विद्वां-
स्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥ ५६ ॥

वामदेवने कहा—राजन् ! मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा कोई भी अनुशासन या दण्ड ब्राह्मणोंपर लागू नहीं हो सकता । जो इस प्रकार जानकर कष्टसहनपूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करता है, वह उस ब्राह्मण-सेवारूप कर्मसे ही श्रेष्ठ होता और जीवित रहता है ॥ ५६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ते वामदेवेन राजन्
समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः ।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा
प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ॥ ५७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवकी यह बात पूर्ण होते ही विकराल रूपधारी चार राक्षस वहाँ प्रकट हो गये । उनके हाथमें त्रिशूल थे । जब वे राजापर चोट करने लगे, तब राजाने उच्च स्वरसे यह बात कही—॥ ५७ ॥

इक्ष्वाकवो यदि वा मां त्यजेयु-
र्विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि ।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ
नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति ॥ ५८ ॥

'यदि ये इक्ष्वाकुवंशके लोग तथा मेरे आज्ञापालक प्रजावर्गके मनुष्य भी मेरा त्याग कर दें, तो भी मैं वामदेवके इन वाम्य संज्ञक घोड़ोंको कदापि नहीं दूँगा; क्योंकि इनके-जैसे लोग धर्मात्मा नहीं होते हैं ॥ ५८ ॥

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानै-
र्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः ।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातित-
मिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन् ॥ ५९ ॥

ऐसा कहते ही राजा शल उन राक्षसोंसे मारे जाकर तुरंत धराशायी हो गये । इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंको जब यह मालूम हुआ कि राजा मार गिराये गये, तब उन्होंने उनके छोटे भाई दलका राज्याभिषेक कर दिया ॥ ५९ ॥

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः
प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः ।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देय-
मेवं राजन् सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥ ६० ॥

तब पुनः उस राज्यमें जाकर विप्रवर वामदेवने राजा दलसे यह बात कही—'महाराज ! ब्राह्मणोंकी वस्तु उन्हें दे दी जाय, यह बात सभी धर्मोंमें देखी गयी है ॥ ६० ॥

बिभेषि चेत् त्वमधर्मान्नरेन्द्र
प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ ।
एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं
स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ॥ ६१ ॥

'नरेन्द्र ! यदि तुम अधर्मसे डरते हो तो मुझे अभी शीघ्रतापूर्वक मेरे वाम्य अश्वोंको लौटा दो ।' वामदेवकी यह बात सुनकर राजाने रोषपूर्वक अपने सारथिसे कहा—॥ ६१ ॥

एकं हि मे सायकं चित्ररूपं
दिग्धं विषेणाहर संगृहीतम् ।
येन विद्धो वामदेवः शयीत
संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ॥ ६२ ॥

'सूत ! एक अद्भुत बाण ले आओ, जो विषमें बुझाकर रखा गया हो, जिससे घायल होकर यह वामदेव धरतीपर लोट जाय। इसे कुत्ते नोच-नोचकर खायँ और यह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा पीड़ासे छटपटाता रहे' ॥ ६२ ॥

वामदेव उवाच

जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं
जातं महिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र ।
तं जहि त्वं मद्वचनात् प्रणुन्न-
स्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ६३ ॥

वामदेवने कहा—नरेन्द्र ! मैं जानता हूँ, तुम्हारी रानीके गर्भसे श्येनजित् नामक एक पुत्र पैदा हुआ है, जो तुम्हें बहुत प्रिय है और जिसकी अवस्था दस वर्षकी हो गयी है। तुम मेरी आज्ञासे प्रेरित होकर इन भयंकर बाणोंद्वारा अपने उसी पुत्रका शीघ्र वध करोगे ॥ ६३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो वामदेवेन राज-
न्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः
श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं बभाषे ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवके ऐसा कहते ही उस प्रचण्ड तेजस्वी बाणने धनुषसे छूटकर रनवास-के भीतर जा राजकुमारका वध कर डाला। यह समाचार सुनकर दलने वहाँ पुनः इस प्रकार कहा ॥ ६४ ॥

राजोवाच

इक्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं
निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य ।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः
पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ६५ ॥

राजाने कहा—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो ! मैं अभी तुम्हारा प्रिय करता हूँ। आज इस ब्राह्मणको रौंदकर मार डालूँगा। एक दूसरा तेजस्वी बाण ले आओ और आज मेरा पराक्रम देखो ॥ ६५ ॥

वामदेव उवाच

यत् त्वमेनं सायकं घोररूपं
विषेण दिग्धं मम संदधासि ।
न त्वेतं त्वं शरवर्यं विमोक्तुं
संधातुं वा शक्ष्यसे मानवेन्द्र ॥ ६६ ॥

वामदेवजीने कहा—नरेश्वर ! तुम विषके बुझाये हुए इस विकराल बाणको मुझे मारनेके लिये धनुषपर चढ़ा रहे हो, परंतु मैं कहे देता हूँ 'इस बाणको न तो तुम धनुष-पर रख सकोगे और न छोड़ ही सकोगे' ॥ ६६ ॥

राजोवाच

इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं
न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् ।
न चास्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि
आयुष्मान् वै जीवतु वामदेवः ॥ ६७ ॥

राजा बोले—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो ! देखो, मैं फँस गया। अब यह बाण नहीं छोड़ सकूँगा। इसलिये वामदेवको नष्ट करनेका उत्साह जाता रहा। अतः यह महर्षि दीर्घायु होकर जीवित रहे ॥ ६७ ॥

वामदेव उवाच

संस्पृश्यैनां महिषीं सायकेन
ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ।
ततस्तथा कृतवान् पार्थिवस्तु
ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ॥ ६८ ॥

वामदेवजीने कहा—राजन् ! तुम इस बाणसे अपनी रानीका स्पर्श कर लेनेपर ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाओगे। तब राजाने ऐसा ही किया। तदनन्तर राजपुत्रीने मुनिसे कहा ॥ ६८ ॥

राजपुत्र्युवाच

यथा युक्ता वामदेवाहमेनं
दिने दिने संदिशन्ती नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ६९ ॥

राजपुत्री बोली—वामदेवजी ! मैं इन कठोर स्वभाववाले अपने स्वामीको प्रतिदिन सावधान रहकर मीठे वचन बोलनेकी सलाह देती रहती हूँ और स्वयं ब्राह्मणोंकी सेवाका अवसर ढूँढ़ती हूँ। ब्रह्मन् ! इन सत्कर्मोंके कारण मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो ॥

वामदेव उवाच

त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे
वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददानि ते ।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि
इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिन्द्ये ॥ ७० ॥

वामदेवने कहा—शुभ दृष्टिवाली अनिन्द्य राजकुमारी ! तुमने इस राजकुलको ब्राह्मणके कोपसे बचा लिया। इसके लिये कोई अनुपम वर माँगो। मैं तुम्हें अवश्य दूँगा। तुम

इन स्वजनोंके हृदय और विशाल इक्ष्वाकु-राज्यपर शासन करो ॥ ७० ॥

राजपुत्र्युवाच

वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेष
विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता।
शिवेन चाध्याहि सपुत्रबान्धवं
वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य ॥ ७१ ॥

राजकुमारी बोली—भगवन्! मैं यही चाहती हूँ कि मेरे ये पति आज सब पापोंसे छुटकारा पा जायँ। आप यह आशीर्वाद दें कि ये पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित सुखसे रहें। विप्रवर! मैंने आपसे यही वर माँगा है ॥ ७१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्या-
स्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर।
ततः स राजा मुदितो बभूव
वाम्यौ चास्मै प्रददौ सम्प्रणम्य ॥ ७२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! राजपुत्रीकी यह बात सुनकर वामदेव मुनिने कहा—'ऐसा ही होगा।' तब राजा दल बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने महर्षिको प्रणाम करके वे दोनों वाम्य अश्व उन्हें लौटा दिये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मण्डूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें मण्डूकोपाख्यानविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बक मुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः केन दीर्घायुरासीद् बको मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन ऋषियों, ब्राह्मणों तथा युधिष्ठिरने मार्कण्डेय मुनिसे पूछा—'ब्रह्मन्! महर्षि बक कैसे दीर्घायु हुए थे?' तब मार्कण्डेयजीने उन सबसे कहा—॥ १ ॥

महातपा दीर्घायुश्च बको राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥ २ ॥

'राजन्! बक महान् तपस्वी होनेके कारण दीर्घायु हुए थे। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत।
मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन जनमेजय! मार्कण्डेयजीका यह कथन सुनकर भाइयोंसहित कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः पूछा—॥ ३ ॥

श्रूयते हि महाभाग बको दाल्भ्यो महातपाः।
प्रियः सखा च शक्रस्य चिरजीवी च सत्तम ॥ ४ ॥

महाभाग मुनिश्रेष्ठ! दल्भके पुत्र महातपस्वी बक ऋषि चिरजीवी तथा देवराज इन्द्रके प्रिय मित्र सुने जाते हैं ॥ ४ ॥

एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम्।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ५ ॥

'भगवन्! बक और इन्द्रका यह समागम (चिरजीवी पुरुषोंके) सुख और दुःखकी वार्तासे युक्त कहा गया है। मैं इसे सुनना चाहता हूँ; आप यथार्थरूपसे इसका वर्णन करें' ॥

मार्कण्डेय उवाच

वृत्ते देवासुरे राजन् संग्रामे लोमहर्षणे।
त्रयाणामपि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपोऽभवत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! जब रोंगटे खड़े कर देनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, उस समय लोकपाल इन्द्र तीनों लोकोंके अधिपति बना दिये गये ॥ ६ ॥

सम्यग् वर्षति पर्जन्ये सस्यसम्पद उत्तमाः।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ॥ ७ ॥

इन्द्रके शासनकालमें मेघ ठीक समयपर अच्छी वर्षा करते और खेतीकी उपज अच्छी होती थी। सारी प्रजा रोग-व्याधिसे रहित, धर्ममें स्थित तथा धर्मको ही अपना परम आश्रय माननेवाली थी ॥ ७ ॥

मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ॥ ८ ॥
ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन् मुदिताः प्रजाः ॥ ९ ॥

सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने धर्मोंमें स्थित रहते थे। अपनी उन सारी प्रजाको आनन्दित देखकर बलासुरके शत्रु देवराज इन्द्र बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। एक दिनकी बात है, इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो चैनसे दिन बिताती हुई अपनी प्रजाको देखनेके लिये भ्रमण करने लगे॥ ८-९ ॥

आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः।
नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा॥ १०॥
प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः।
उदपानं प्रपा वापी तडागानि सरांसि च॥ ११॥
नाना ब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः॥ १२॥

राजन्! विचित्र आश्रमों, नाना प्रकारकी कल्याणकारिणी नदियों, समृद्धिशाली नगरों, गाँवों, जनपदों, प्रजापालनकुशल धर्मात्मा नरेशों, कुओं, पौंसलों, बावलियों, तालाबों तथा ब्रह्मचर्य-परायण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा सेवित अनेकानेक सरोवरोंका अवलोकन करते हुए शतक्रतु इन्द्र एक रमणीय भूभागमें उतरे॥ १०—१२॥

तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप॥ १३॥
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम्।
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट्॥ १४॥

राजन्! परम सुन्दर पूर्वदेशामें समुद्रके निकट एक मनोहर एवं सुखद स्थानमें, जो बहुत-से वृक्षोंसे घिरा हुआ था, एक रमणीय आश्रम दिखायी दिया, जहाँ बहुत-से पशु और पक्षी निवास करते थे। देवराज इन्द्रने उस रमणीय आश्रममें जाकर बक मुनिका दर्शन किया॥ १३-१४॥

बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत्।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथार्चयत्॥ १५॥

देवराज इन्द्रको उपस्थित देख बकके हृदयमें दृढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ। उन्होंने पाद्य, आसन, अर्घ्य और फल-मूलादि देकर देवराजका पूजन किया॥ १५॥

सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः॥ १६॥

सबको वर देनेवाले बलनिषूदन देवेश्वर इन्द्र जब सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये, तब वे मुनिवर बकसे इस प्रकार बोले—॥ १६॥

शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम्॥ १७॥

'निष्पाप मुने! आपकी अवस्था एक लाख वर्षकी हो गयी। ब्रह्मन्! आप अपने अनुभवके आधारपर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या दुःख होता है'?॥ १७॥

बक उवाच

अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः।
असद्भिः सम्प्रयोगश्च तद् दुःखं चिरजीविनाम्॥ १८॥

बकने कहा—देवेश्वर! अप्रिय मनुष्योंके साथ रहना पड़ता है। प्रिय जनोंकी मृत्यु हो जानेसे उनके वियोगका दुःख सहते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ता है और दुष्ट मनुष्योंका सङ्ग प्राप्त होता है। चिरजीवी मनुष्योंके लिये यही महान् दुःख है॥ १८॥

पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि।
परेष्वायत्तताकृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः॥ १९॥

अपनी आँखोंके सामने स्त्री और पुत्रोंकी मृत्यु होती है। भाई-बन्धु आदि जातिके लोगों और सुहृदोंका सदाके लिये वियोग हो जाता है तथा जीवन-निर्वाहके लिये दूसरोंके अधीन रहकर उनके तिरस्कारका कष्ट भोगना पड़ता है। इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है?॥ १९॥

नान्यद् दुःखतरं किंचिल्लोकेषु प्रतिभाति मे।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः सम्परिभूयते॥ २०॥

निर्धन मनुष्यको जो दूसरोंसे तिरस्कृत होना पड़ता है, इससे बढ़कर महान् कष्टकी बात संसारमें मुझे और कोई नहीं जान पड़ती है ॥ २० ॥

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यन्ति चिरजीविनः ॥ २१ ॥

चिरजीवी मनुष्य अकुलीनोंके कुलकी उन्नति, कुलीनोंके कुलका संहार तथा संयोग और वियोग देखते रहते हैं ॥२१॥

अपि प्रत्यक्षमेवैतत् तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ॥ २२ ॥

देव शतक्रतो ! आप भी तो यह प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि किस प्रकार समृद्धिशाली अकुलीन मनुष्योंके कुलमें उलट-फेर हो जाता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवन्ति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ॥ २३ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा राक्षस—ये सभी विपरीत अवस्थामें पहुँचकर क्यासे क्या हो जाते हैं ! इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा ? ॥ २३ ॥

कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राश्चाक्रान्ताः किं नु दुःखतरं ततः ॥ २४ ॥

कुलीन मनुष्य भी नीच कुलके लोगोंके वशमें पड़कर क्लेश उठा रहे हैं और धनीलोग दरिद्रोंको सताते हैं। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ २४ ॥

लोके वैधर्म्यमेतत् तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च हृष्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ॥ २५ ॥
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।

लोकमें यह विपरीत अवस्था बहुत अधिक दिखायी देती है। ज्ञानहीन मूढ़ मनुष्य तो मौज करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य क्लेश भोग रहे हैं । यहाँ मानवयोनिमें दुःख और क्लेशकी अधिकता ही दृष्टिगोचर होती है ॥ २५½ ॥

इन्द्र उवाच

पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ॥ २६ ॥
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।

इन्द्रने पूछा—महाभाग ! देवता तथा ऋषियोंके समुदाय आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं । ब्रह्मन् ! अब मुझसे फिर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या सुख मिलता है ॥ २६½ ॥

बक उवाच

'अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे ॥ २७ ॥
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।
यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ॥ २८ ॥

बकने कहा—जो दिनके आठवें या बारहवें भागमें अपने घरपर भोजनके लिये केवल शाक पका लेता है परंतु कुमित्रोंकी शरणमें नहीं जाता, उस पुरुषको जो सुख प्राप्त है, उससे बढ़कर सुख और क्या हो सकता है ? जहाँ दिन नहीं गिने जाते—जहाँ प्रतिदिन अन्नकी प्राप्तिके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती है; वही सुखी है । उसे लोग अधिक खानेवाला अथवा पेटू नहीं कहते हैं ॥ २७-२८ ॥

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कंचन ॥ २९ ॥

इन्द्र ! जो अपने पराक्रमसे उपार्जन करके घरमें केवल शाक बनाकर खाता है, परंतु दूसरे किसीका सहारा नहीं लेता, उसे ही सुख है ॥ २९ ॥

फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ॥ ३० ॥
सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।
श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ॥ ३१ ॥
धिगस्तु तस्य तद् भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।

दूसरेके सामने दीनता न दिखाकर अपने घरमें फल और शाक खाकर रहना अच्छा है । परंतु दूसरेके घरमें सदा तिरस्कार सहकर मीठे पकवान खाना भी अच्छा नहीं है; अतः दूसरेके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेके सम्बन्धमें साधु पुरुषोंका सदासे ही विरोध रहा है । जो पराया अन्न खाना चाहता है, वह कुत्तेकी भाँति खून चाटता है । उस दुरात्मा और कृपणके वैसे भोजन-को धिक्कार है ॥ ३०-३१½ ॥

यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥
शिष्टान्यन्नानि यो भुङ्क्ते किं वै सुखतरं ततः ।
अतो मृष्टतरं नान्यत् पूतं किंचिच्छतक्रतो ॥ ३३ ॥

जो श्रेष्ठ द्विज सदा अतिथियों, भूत प्राणियों तथा पितरोंको अर्पण करके अर्थात् बलि-वैश्वदेव करके शेष अन्न स्वयं भोजन करता है, उससे बढ़कर महान् सुख और क्या हो सकता है ? देवेन्द्र ! इस यज्ञशेष अन्नसे बढ़कर अत्यन्त मधुर और पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है ॥ ३२-३३ ॥

दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः ॥ ३४ ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत् सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको देकर शेष अन्नसे ही भोजनका काम चलाता है, उसके अन्नके जितने ग्रास अतिथि ब्राह्मण नित्य भोजन करता है, उतने ही हजार गौओंके दानका पुण्य उस दाताको प्राप्त होता है तथा उसके द्वारा

युवावस्थामें जो पाप हुए होते हैं, वे सब निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम्।
यद् वारि वारिणा सिञ्चेत् तद्व्येनस्तरते क्षणात्॥३६॥

ब्राह्मणके भोजन कर लेनेपर जो उसे दक्षिणा दी जाती है, उस समय उसके हाथमें जो प्रतिग्रहका जल रहता है, उसे दाता पुनः उत्सर्गके जलसे सींचे। ऐसा करनेसे वह तत्काल सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३६ ॥

एताश्चान्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः।
बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छय त्रिदिवं गतः॥ ३७॥

इस प्रकार देवराज इन्द्र बकके साथ ये तथा और बहुत-सी उत्तम कथा-वार्ताएँ करके उनसे आज्ञा लेकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणोंके माहात्म्यके सम्बन्धमें बक-इन्द्रसंवादविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

क्षत्रिय राजाओंका महत्त्व—सुहोत्र और शिविकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

ततः पाण्डवाः पुनर्मार्कण्डेयमूचुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डवोंने पुनः मार्कण्डेयजीसे प्रश्न किया— ॥ १ ॥

कथितं ब्राह्मणमहाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कण्डेयो महर्षिः श्रूयतामिति इदानीं राजन्यानां महाभाग्यमिति। कुरूणामन्यतमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरं शिबिं ददर्शाभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयःपूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वान्योन्यस्य पन्थानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत् किमिदं भवन्तौ परस्परस्य पन्थानमावृत्य तिष्ठत इति ॥ २ ॥

'मुनिवर ! आपने ब्राह्मणोंके माहात्म्यका तो वर्णन किया, अब हम क्षत्रियोंकी महत्ताके विषयमें इस समय कुछ सुनना चाहते हैं।' यह बात सुनकर महर्षि मार्कण्डेयने कहा—'अच्छा सुनो ! अब मैं क्षत्रियोंके माहात्म्यका वर्णन करता हूँ। कुरुवंशी क्षत्रियोंमें सुहोत्र नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। एक दिन वे महर्षियोंका सत्संग करके जब वहाँसे लौट रहे थे, उस समय उन्होंने अपने सामने ही रथपर बैठे हुए उशीनरपुत्र राजा शिबिको देखा। निकट आनेपर उन दोनोंने अवस्थाके अनुसार एक दूसरेका सम्मान किया। परंतु गुणमें अपनेको बराबर समझकर एकने दूसरेके लिये राह नहीं दी। इतनेहीमें वहाँ देवर्षि नारदजी प्रकट हो गये और पूछ बैठे 'यह क्या बात है, जो कि तुम दोनों इस तरह एक दूसरेका मार्ग रोककर खड़े हो ?'॥ २ ॥

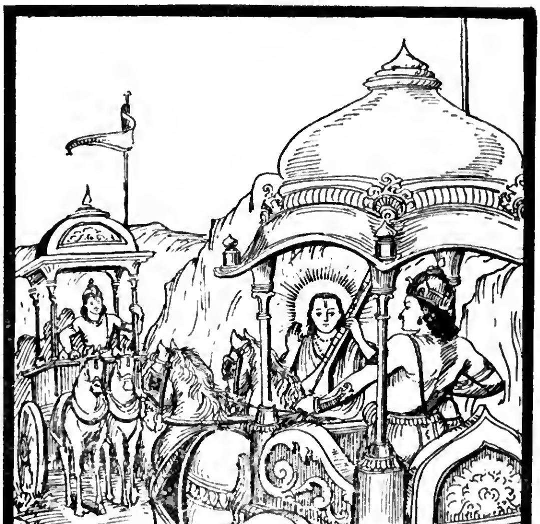

तावूचतुर्नारदं नैतद् भगवन् पूर्वकर्मकर्त्रादिभिर्विशिष्टस्य पन्था उपदिश्यते समर्थाय वा आवां च सख्यं परस्परेणोपगतौ तच्चावधानतोऽत्युत्कृष्टमधरोत्तरं परिभ्रष्टं नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत्—॥३॥

'तब उन दोनोंने नारदजीसे कहा—'भगवन् ! ऐसी बात नहीं है। पहलेके कर्म-कर्ताओं (धर्म-व्यवस्थापकों) ने यह उपदेश दिया है कि जो अपनेसे सभी बातोंमें बढ़ा-चढ़ा हो या अधिक शक्तिशाली हो, उसीको मार्ग देना चाहिये। हम दोनों एक दूसरेसे मित्रभाव रखकर मिले हैं। विचार करनेपर हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि हम दोनोंमेंसे कौन अत्यन्त श्रेष्ठ है

और कौन उसकी अपेक्षा अधिक छोटा है ?' उनके ऐसा कहनेपर नारदजीने तीन श्लोक पढ़े ॥ ३ ॥

क्रूरः कौरव्य मृदवे
मृदुः क्रूरे च कौरव।
साधुश्चासाधवे साधुः
साधवे नाप्नुयात् कथम् ॥ ४ ॥

'उनका सारांश इस प्रकार है—कौरव ! अपने साथ कोमलताका बर्ताव करनेवालेके लिये क्रूर मनुष्य भी कोमल बन जाता है। क्रूरतापूर्ण बर्ताव तो वह क्रूर मनुष्योंके प्रति ही करता है। परंतु साधु पुरुष दुष्टोंके प्रति भी साधुताका ही बर्ताव करता है। फिर वह साधु पुरुषोंके साथ साधुताका बर्ताव कैसे नहीं अपनायेगा ? ॥ ४ ॥

कृतं शतगुणं कुर्या-
न्नास्ति देवेषु निर्णयः।
औशीनरः साधुशीलो
भवतो वै महीपतिः ॥ ५ ॥

'मनुष्य भी चाहे तो वह अपने ऊपर किये हुए उपकारका बदला सौगुना करके चुका सकता है। देवताओंमें ही यह प्रत्युपकारका भाव होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। सुहोत्र ! उशीनरपुत्र राजा शिबिका शील-स्वभाव तुमसे कहीं अच्छा है ॥ ५ ॥

जयेत् कदर्यं दानेन
सत्येनानृतवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माण-
मसाधुं साधुना जयेत् ॥ ६ ॥

'नीच प्रकृतिवाले मनुष्यको दान देकर वशमें करे। असत्यवादीको सत्य भाषणसे जीते। क्रूरको क्षमासे और दुष्टको उत्तम व्यवहारसे अपने वशमें करे ॥ ६ ॥

तदुभावेव भवन्तावुदारौ य इदानीं भवद्भ्यामन्यतमः सोऽपसर्पतु एतत् वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव। एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पन्थानं दत्त्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ॥ ७॥

'अतः तुम दोनों ही उदार हो; इस समय तुम दोनोंमेंसे एक, जो अधिक उदार हो, वह मार्ग छोड़कर हट जाय; यही उदारताका आदर्श है !' ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये। यह सुनकर कुरुवंशी राजा सुहोत्रने शिबिको अपनी दायीं ओर करके मार्ग दे दिया और उनके अनेक सत्कर्मोंका उल्लेख करके उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये ॥ ७ ॥

तदेतद् राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान् नारदः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार साक्षात् नारदजीने राजा शिबिकी महत्ताका अपने मुखसे वर्णन किया' ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरितविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९४॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिद्वारा ब्राह्मणको सहस्र गौओंका दान

मार्कण्डेय उवाच

इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसांचक्रे गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याब्रवीद् भो राजन् गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अब एक दूसरे क्षत्रियनरेशका महत्त्व सुनो—नहुषके पुत्र राजा ययाति जब पुरवासी मनुष्योंसे घिरे हुए राजसिंहासनपर विराजमान थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, एक ब्राह्मण गुरुदक्षिणा देनेके लिये भिक्षा माँगनेकी इच्छासे उनके पास आकर बोला—'राजन् ! मैं गुरु-दक्षिणा देनेके लिये भिक्षा चाहता हूँ, किंतु उसके साथ एक शर्त है' ॥ १ ॥

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान् समयमिति ॥ २ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! आप अपनी शर्त बताइये ।२।

ब्राह्मण उवाच

विद्वेषणं परमं जीवलोके
कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः।
तं त्वां पृच्छामि कथं नु राजन्
दद्याद् भवान् दयितं च मेऽद्य ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोला—भूपाल ! इस संसारमें प्रायः देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यसे कोई वस्तु माँगी जाती है, तब वह उस माँगनेवालेसे अत्यन्त द्वेष करने लगता है। अतः राजन् ! मैं आपसे पूछता हूँ कि आज आप मुझे मेरी प्रिय वस्तु कैसे दे सकते हैं ? ॥ ३ ॥

राजोवाच

न चानुकीर्तयेदद्य दत्त्वा
अयाच्यमर्थं न च संशृणोमि।

प्राप्यमर्थं च संश्रुत्य
तं चापि दत्त्वा सुसुखी भवामि ॥ ४ ॥

राजाने कहा—दान लेनेके अधिकारी ब्राह्मणदेव ! मैं कोई वस्तु देकर उसकी बार-बार चर्चा नहीं करता और यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपके माँगने योग्य न हो। जो वस्तु प्राप्त हो सकती है, उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर उसे देकर ही अधिक सुखी होता हूँ ॥ ४ ॥

ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं
प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः।
न मे मनः कुप्यति याचमाने
दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ॥ ५ ॥

मैं आपको लाल रंगकी एक हजार गौएँ देता हूँ; क्योंकि न्याययुक्त याचना करनेवाला ब्राह्मण मुझे बहुत प्रिय है। मेरे मनमें याचकपर कभी क्रोध नहीं आता है और न मैं कभी दिये हुए धनके लिये पश्चात्ताप ही करता हूँ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ।
प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक हजार गौएँ दे दीं और ब्राह्मणने उन सहस्रों गौओंको ग्रहण कर लिया ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरिते पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ययातिचरितविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेदुक और वृषदर्भका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः यह अनुरोध किया—'भगवन् ! फिर मुझे क्षत्रियोंका माहात्म्य सुनाइये' ॥ १ ॥

अथाचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीतिमार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ॥२॥

तब मार्कण्डेयजीने कहा—'महाराज ! पूर्वकालमें वृषदर्भ और सेदुक ये दो राजा थे। दोनों ही नीतिके मार्गपर चलनेवाले और अस्त्र तथा उपास्त्रोंकी विद्यामें निपुण थे॥

सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशुव्रतमभ्यजानात् कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ॥ ३ ॥

'वृषदर्भने बचपनसे ही एक गुप्त व्रत ले रखा था कि 'ब्राह्मणको सोना-चाँदीके सिवा और कुछ नहीं देना चाहिये (तात्पर्य यह कि उसे सुवर्ण तथा रजत ही प्रदान करना चाहिये)'। उनके इस व्रतको सेदुक जानते थे ॥३ ॥

अथ तं सेदुकं ब्राह्मणः कश्चिद् वेदाध्ययनसम्पन्न आशिषं दत्त्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ॥ ४ ॥

अश्वसहस्रं मे भवान् ददात्विति तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ ५ ॥

नास्ति सम्भवो गुर्वर्थं दातुमिति ॥ ६ ॥

'एक दिन कोई वेदाध्ययनसम्पन्न ब्राह्मण राजा सेदुकके पास आया और उन्हें आशीर्वाद देकर गुरुदक्षिणाके लिये भिक्षा माँगता हुआ बोला—'राजन्! आप मुझे एक हजार घोड़े दीजिये।' तब सेदुकने उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्रह्मन् ! आपकी अभीष्ट गुरु-दक्षिणा देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥४—६॥

स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशम्। राजा परमधर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व। स ते दास्यति तस्यैतदुपांशुव्रतमिति ॥ ७ ॥

'अतः आप वृषदर्भके पास चले जाइये। ब्राह्मण ! राजा वृषदर्भ बड़े धर्मज्ञ हैं। आप उन्हींसे याचना कीजिये। वे आपकी अभीष्ट वस्तु अवश्य दे देंगे। यह उनका गुप्त नियम है' ॥ ७ ॥

अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत्। स राजा तं कशेनाताडयत् ॥ ८ ॥

'तब ब्राह्मण देवताने वृषदर्भके पास जाकर एक हजार घोड़े माँगे। यह सुनकर राजा उन्हें कोड़ेसे पीटने लगे ॥८॥

तं ब्राह्मणोऽब्रवीत्। किं हिंस्यनागसं मामिति ॥९॥

'यह देख ब्राह्मणने उनसे पूछा—'राजन् ! मुझ निरपराधको आप क्यों मार रहे हैं' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तं शपन्तं राजाऽऽह। विप्र किं यो न ददाति तुभ्यमुताहोस्विद् ब्राह्मण्यमेतत् ॥ १० ॥

'ऐसा कहकर ब्राह्मण देवता शाप देनेको उद्यत हो गये। तब राजाने उनसे कहा—'विप्रवर ! क्या जो आपको अपना धन न दे, उसको शाप देना ही उचित है? अथवा यही ब्राह्मणोचित कर्म है ?' ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितु-मागतः। तेनानुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ॥ ११ ॥

ब्राह्मणने कहा—'राजाधिराज ! आपके पास राजा सेदुकने मुझे भेजा है, तभी आपसे गुरु-दक्षिणा माँगने आया हूँ। उनके उपदेशके अनुसार ही मैंने आपसे याचना की है' ॥

राजोवाच

पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति। यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ॥ १२ ॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! आज जो भी राजकीय कर मेरे पास आयेगा, उसे कल पूर्वाह्णमें ही आपको दे दूँगा। जिसे कोड़ेसे पीटा जाय, उसे खाली हाथ कैसे लौटाया जा सकता है ? ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात्। अधिकस्याश्वसहस्रस्य मूल्यमेवाददिति ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक दिनकी आय दे दी। इस प्रकार उन्होंने एक हजारसे अधिक घोड़ोंका मूल्य ही दिया* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सेदुकवृषदर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सेदुकवृषदर्भचरितविषयक एक सौ छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और अग्निद्वारा राजा शिबिकी परीक्षा

मार्कण्डेय उवाच

देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं शिबिमौशीनरं साध्वेनं शिबिं जिज्ञास्याम इति। एवं भो इत्युक्त्वा अग्नीन्द्रावुपतिष्ठेताम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! एक समय देवताओंमें परस्पर यह बातचीत हुई कि 'पृथ्वीपर चलकर हम उशीनरके पुत्र राजा शिबिकी श्रेष्ठताकी परीक्षा करें।' 'ऐसा ही हो' यह कहकर अग्नि और इन्द्र वहाँ जानेके लिये उद्यत हुए॥

अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषार्थमिन्द्रः श्येनरूपेण ॥ २ ॥

अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके मानो अपने प्राण बचानेके लिये राजाके पास भागते हुए गये और इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारणकर मांसके लिये उस कबूतरका पीछा किया॥

अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्योत्सङ्गं न्यपतत् ॥ ३ ॥

राजा शिबि अपने दिव्य सिंहासनपर बैठे हुए थे। कबूतर उनकी गोदमें जा गिरा ॥ ३ ॥

अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत्। प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्यते ॥ ४ ॥

यह देखकर पुरोहितने राजासे कहा—'महाराज ! यह कबूतर बाजके डरसे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये आपकी शरणमें आया है। किसी तरह प्राण बच जायँ—यही इसका प्रयोजन है ॥ ४ ॥

वसु ददातु अन्तवान् पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्याद् घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ॥ ५ ॥

'परंतु विद्वान् पुरुष कहते हैं कि 'इस तरह कबूतरका आकर गिरना भयंकर अनिष्टका सूचक है।' आपकी मृत्यु निकट जान

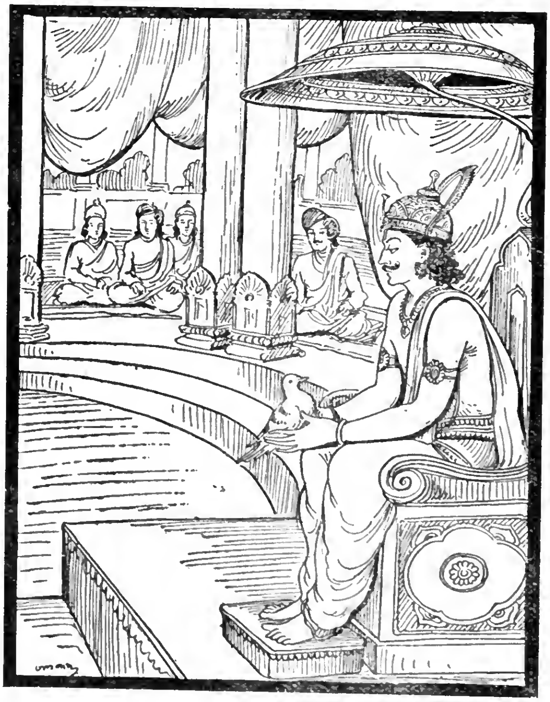

* राजाका यह कठोर नियम था कि वे सोना-चाँदीके सिवा और कुछ ब्राह्मणको नहीं देते थे, जो उनसे ये ही वस्तुएँ माँगता, उसे प्रसन्नतापूर्वक देते थे। जो दूसरी कोई चीज माँगता, उसे यह समझकर कि यह मेरा नियम भङ्ग करना चाहता है, दण्ड देते थे। ब्राह्मण देवता दूसरेके भेजनेसे आये थे, इसलिये राजाने एक हजार अश्वोंके मूल्यसे अधिक सोना-चाँदी उन्हें दिया।

पड़ती है; अतः आपको इस उत्पातकी शान्ति करनी चाहिये। आप धन दान करें' ॥ ५ ॥

अथ कपोतो राजानमब्रवीत्। प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्ये अङ्गैरङ्गानि प्राप्यार्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥

तदनन्तर कबूतरने राजासे कहा—'महाराज! मैं बाजके डरसे प्राण बचानेके लिये प्राणार्थी होकर आपकी शरणमें आया हूँ। मैं वास्तवमें कबूतर नहीं, ऋषि हूँ। मैंने स्वेच्छा-से पूर्व शरीरसे यह शरीर बदल लिया है। प्राणरक्षक होनेके कारण आप ही मेरे प्राण हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ, मुझे बचाइये ॥ ६ ॥

स्वाध्यायेन कर्शितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि। तपसा दमेन युक्तमाचार्यस्याप्रतिकूलभाषिणम्। एवं युक्तमपापं मां विद्धि ॥ ७ ॥

'मुझे ब्रह्मचारी समझिये। मैंने वेदोंका स्वाध्याय करते हुए अपने शरीरको दुर्बल किया है। मैं तपस्वी और जितेन्द्रिय हूँ। आचार्यके प्रतिकूल कभी कोई बात नहीं करता। इस प्रकार मुझे योगयुक्त और निष्पाप जानिये ॥ ७ ॥

गदामि वेदान् विचिनोमि छन्दः
सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः।
न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं
माप्रादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि ॥ ८ ॥

'मैं वेदोंका प्रवचन और छन्दोंका संग्रह करता हूँ। मैंने सम्पूर्ण वेदोंके एक-एक अक्षरका अध्ययन किया है। मैं श्रोत्रिय विद्वान् हूँ। मुझ-जैसे व्यक्तिको किसी भूखे प्राणीकी भूख बुझानेके लिये उसके हवाले कर देना उत्तम दान नहीं है। अतः आप मुझे बाजको न सौंपिये। मैं कबूतर नहीं हूँ' ॥ ८ ॥

अथ श्येनो राजानमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पर्यायेण वसतिर्वा भवेषु
सर्गे जातः पूर्वमस्मात् कपोतात्।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं
मा त्वं राजन् विघ्नकर्ता भवेथाः ॥ १० ॥

तदनन्तर बाजने राजासे कहा—'महाराज! प्रायः सभी जीवोंको बारी-बारीसे विभिन्न योनियोंमें जन्म लेकर रहना पड़ता है। मालूम होता है, आप इस सृष्टि-परम्परामें पहले कभी इस कबूतरसे जन्म ग्रहण कर चुके हैं; तभी तो इसे अपने आश्रयमें ले रहे हैं। राजन्! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, आप इस कबूतरको लेकर मेरे भोजनके कार्यमें विघ्न न डालें' ॥ ९-१० ॥

राजोवाच

केनेदृशी जातु पुरा हि दृष्टा
वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता।
यां वै कपोतो वदते यां च श्येन
उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ॥ ११ ॥

राजा बोले—अहो! आजसे पहले किसने कभी भी किसी पक्षीके मुखसे ऐसी उत्तम संस्कृत भाषाका उच्चारण देखा या सुना है, जैसी कि ये कबूतर और बाज बोल रहे हैं! किस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप जानकर इनके प्रति न्यायोचित बर्ताव किया जा सकता है? ॥ ११ ॥

नास्य वर्षं वर्षति वर्षकाले
नास्य बीजं रोहति काल उप्तम्।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
न त्राणं लभेत् त्राणमिच्छन् स काले ॥ १२ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसके देशमें समयपर वर्षा नहीं होती। उसके बोये हुए बीज भी समयपर नहीं उगते हैं। वह कभी संकटके समय जब अपनी रक्षा चाहता है, तब उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १२ ॥

जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते
सदा न वासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
नास्य देवाः प्रतिगृह्णन्ति हव्यम् ॥ १३ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसकी पैदा हुई संतान छोटी अवस्थामें ही मर जाती है। उसके पितरोंको कभी पितृलोकमें रहनेके लिये स्थान नहीं मिलता और देवता उसका दिया हुआ हविष्य नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १३ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्रचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति शीघ्रमेव।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ॥ १४ ॥

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका खाना-पीना निष्फल है। वह अनुदार हृदयका मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हो जाता है और इन्द्र आदि देवता उसके ऊपर वज्रका प्रहार करते हैं ॥ १४ ॥

उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन
अस्मात् कपोतात् प्रति ते नयन्तु।
यस्मिन् देशे रमसेऽतीव श्येन
तत्र मांसं शिबयस्ते वहन्तु ॥ १५ ॥

'अतः बाज ! इस कबूतरके बदले मेरे सेवक तुम्हारी पुष्टिके लिये भातके साथ ऋषभकन्द पकाकर ले जायँ। तुम जिस स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रह सको, वहीं चलकर रहो ! ये शिबिवंशी क्षत्रिय वहीं तुम्हारे लिये भात और ऋषभकन्दका गूदा पहुँचा दें ॥ १५ ॥

श्येन उवाच

नोक्षाणं राजन् प्रार्थयेयं न चान्य-
दस्मान्मांसमधिकं वा कपोतात्।
देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्ष-
स्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ॥ १६ ॥

बाज बोला—राजन् ! मैं आपसे ऋषभकन्द नहीं माँगता और न मुझे इस कबूतरसे अधिक कोई दूसरा मांस ही चाहिये। आज दूसरे पक्षियोंके अभावमें यह कबूतर ही मेरे लिये देवताओंका दिया हुआ भोजन है। अतः यही मेरा आहार होगा। इसे ही मुझे दे दीजिये ॥ १६ ॥

राजोवाच

उक्षाणं वेहतमनूनं नयन्तु
ते पश्यन्तु पुरुषा ममैव।
भयाहितस्य दायं ममान्तिकात् त्वां
प्रत्याम्नायं तु त्वं ह्येनं मा हिंसीः ॥ १७ ॥

राजाने कहा—बाज ! उक्षा (ऋषभकन्द) अथवा वेहत नामक ओषधियाँ बड़ी पुष्टिकारक होती हैं। मेरे सेवक जाकर उनकी खोज करें और पर्याप्त मात्रामें भातके साथ उन्हें पकाकर तुम्हारे पास पहुँचा दें। भयभीत कपोतके बदलेमें मेरे पाससे मिलनेवाला यह उचित मूल्य होगा। इसे ले लो, किंतु इस कबूतरको न मारो ॥ १७ ॥

त्यजे प्राणान् नैव दद्यां कपोतं
सौम्यो ह्ययं किं न जानासि श्येन।
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य
नाहं कपोतमर्पयिष्ये कथंचित् ॥ १८ ॥

मैं अपने प्राण दे दूँगा, किंतु इस कबूतरको नहीं दूँगा। बाज ! क्या तुम नहीं जानते, यह कितना सुन्दर स्वयं कैसा भोला-भाला है ? सौम्य ! अब तुम यहाँ व्यर्थ कष्ट न उठाओ। मैं इस कबूतरको किसी तरह तुम्हारे हाथमें नहीं दूँगा ॥ १८ ॥

यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः
प्रशंसेयुः शिबयः कर्मणा तु।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां
प्रशाधि मां यद् वदेस्तत् करोमि ॥ १९ ॥

बाज ! जिस कर्मसे शिबिदेशके लोग प्रसन्न होकर मुझे साधुवाद देते हुए मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करें और जिससे मेरेद्वारा तुम्हारा भी प्रिय कार्य बन सके, वह बताओ। उसीके लिये मुझे आज्ञा दो। मैं वही करूँगा ॥ १९ ॥

श्येन उवच

ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद् राजन् यावन्मांसं कपोतेन समम्। तथा तस्मात् साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिबयः कृतं च प्रियं स्यान्ममेति ॥ २० ॥

बाज बोला—राजन् ! अपनी दायीं जाँघसे उतना ही मांस काटकर दो, जितना इस कबूतरके बराबर हो सके। ऐसा करनेसे कबूतरकी भली-भाँति रक्षा हो सकती है। इसीसे शिबि देशकी प्रजा आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेगी और मेरा भी प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ॥ २० ॥

अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलयाऽऽधारयत्। गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २१ ॥

तब राजाने अपनी दायीं जाँघसे मांस काटकर उसे तराजूके एक पलड़ेपर रक्खा। किंतु कबूतरके साथ तौलनेपर वही अधिक भारी निकला ॥ २१ ॥

पुनरन्यमुच्चकर्त गुरुतर एव कपोतः। एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास। तत् तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् ॥ २२ ॥

राजाने फिर दूसरी बार अपने शरीरका मांस काटकर रक्खा, तो भी कबूतरका ही पलड़ा भारी रहा। इस प्रकार क्रमशः उन्होंने अपने सभी अङ्गोंका मांस काट-काटकर तराजूपर चढ़ाया तो भी कबूतर ही भारी रहा ॥ २२ ॥

अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह। न च व्यलीकमासीद् राज्ञ एतद् वृत्तान्तं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनोऽथ राजा अब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब राजा स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये। ऐसा करते समय उनके मनमें क्लेश नहीं हुआ। यह घटना देखकर बाज बोल उठा—'हो गयी कबूतरकी प्राणरक्षा।' ऐसा कहकर वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अब राजा शिबि कबूतरसे बोले—॥ २३ ॥

कपोतं विद्युः शिबयस्त्वां कपोत
पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः।
नानीश्वर ईदृशं जातु कुर्या-
देतं प्रश्नं भगवन् मे विचक्ष्व ॥ २४ ॥

'कपोत ! ये शिबिलोग तो तुम्हें कबूतर ही समझते थे। पक्षिप्रवर ! मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, यह बाज कौन था ? ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कभी ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। भगवन् ! मेरे इस प्रश्नका यथावत् उत्तर दो' ॥ २४ ॥

कपोत उवाच

वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतु-
रथैव श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः।

साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेय
नौ जिज्ञासयात्वत्सकाशं प्रपन्नौ ॥ २५ ॥

कबूतर बोला—राजन्! मैं धूममयी ध्वजासे विभूषित वैश्वानर अग्नि हूँ और उस बाजके रूपमें साक्षात् वज्रधारी शचीपति इन्द्र थे। सुरथानन्दन! तुम एक श्रेष्ठ पुरुष हो। हम दोनों तुम्हारी श्रेष्ठताकी परीक्षाके लिये यहाँ आये थे॥ २५॥

यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय
प्रादाद् भवानसिनोत्कृत्य राजन्।
एतद् वो लक्ष्म शिवं करोमि
हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ॥ २६ ॥

राजन्! तुमने मेरी रक्षाके लिये जो तलवारसे काटकर अपना यह मांस दिया है, इसके घावको मैं अभी अच्छा कर देता हूँ। यहाँकी चमड़ीका रंग सुन्दर और सुनहला हो जायगा तथा इससे बड़ी पवित्र सुगन्ध फैलती रहेगी, यह तुम्हारा राजचिह्न होगा॥ २६॥

एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी
सुरर्षीणामथ सम्मतो भृशम्।
एतस्मात् पार्श्वात् पुरुषो जनिष्यति
कपोतरोमेति च तस्य नाम ॥ २७ ॥

तुम्हारे इस दक्षिण पार्श्वसे एक पुत्र उत्पन्न होगा, जो इन प्रजाओंका पालक और यशस्वी होनेके साथ ही देवर्षियोंके अत्यन्त आदरका पात्र होगा। उसका नाम होगा, 'कपोतरोमा'॥ २७॥

कपोतरोमाणं शिबिनोद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यसि नृप वृषसंहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टासि शूरमृषभं सौरथानाम् ॥ २८ ॥

राजन्! तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किया हुआ वह पुत्र, जिसे तुम भविष्यमें प्राप्त करोगे, तुम्हारी जाँघका भेदन करके प्रकट होगा; इसीलिये औद्भिद कहलायेगा। उसके शरीरके रोएँ कबूतरके समान होंगे। उसका शरीर साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट होगा। तुम देखोगे कि वह सुयशसे प्रकाशित हो रहा है। सुरथाके वंशजोंमें वह सर्वश्रेष्ठ शूरवीर होगा॥ २८॥

(इतना कहकर अग्निदेव अन्तर्धान हो गये।)

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९७॥

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवर्षि नारदद्वारा शिबिकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवो मार्कण्डेयम्। अथाचष्ट मार्कण्डेयः। अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः प्रार्थना की—'मुने! क्षत्रिय नरेशोंके माहात्म्यका पुनः वर्णन कीजिये।' तब मार्कण्डेयजी-ने कहा—'धर्मराज! विश्वामित्रके पुत्र अष्टकके अश्वमेधयज्ञमें सब राजा पधारे थे॥ १॥

भ्रातरश्चास्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनर इति। स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात्। ते च नारदमागच्छन्तमभिवाद्यारोहतु भवान् रथमित्यब्रुवन् ॥ २ ॥

'अष्टकके तीन भाई प्रतर्दन, वसुमना तथा उशीनर-पुत्र शिबि भी उस यज्ञमें आये थे। यज्ञ समाप्त होनेपर एक दिन अष्टक अपने भाइयोंके साथ रथपर आरूढ़ हो (स्वर्गकी ओर) जा रहे थे। इसी समय रास्तेमें देवर्षि नारदजी आते दिखायी दिये। तब उन तीनोंने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप भी रथपर आ जाइये'॥ २॥

तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह। अथ तेषामेकः सुरर्षिं नारदमब्रवीत्। प्रसाद्य भगवन्तं किंचिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ॥ ३ ॥

'तब नारदजी 'तथास्तु' कहकर उस रथपर बैठ गये। तदनन्तर उनमेंसे एकने देवर्षि नारदसे कहा—भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करके कुछ पूछना चाहता हूँ'॥ ३॥

पृच्छेत्यब्रवीदृषिः। सोऽब्रवीदायुष्मन्तः सर्वगुणप्रमुदिताः। अथायुष्मन्तं स्वर्गस्थानं चतुर्भिर्यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत्। अयमष्टकोऽवतरेदित्यब्रवीदृषिः ॥ ४ ॥

'देवर्षिने कहा—'पूछो' तब उसने इस प्रकार कहा—'भगवन्! हम सब लोग दीर्घायु तथा सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण सदा प्रसन्न रहते हैं। हम चारोंको दीर्घकालतक उपभोगमें आनेवाले स्वर्गलोकमें जाना है, किंतु वहाँसे सर्व-प्रथम कौन इस भूतलपर उतर आयेगा?' देवर्षिने कहा—'सबसे पहले अष्टक उतरेगा'॥ ४॥

किं कारणमित्यपृच्छत्। अथाचष्टाष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनानुप्रावहदथापश्यमनेकानि

गोसहस्राणि वर्णशो विविक्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीत्। मया निसृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन। एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं साम्प्रतं कोऽवतरेत्॥

'फिर उसने पूछा—'क्या कारण है कि अष्टक ही उतरेगा ?' तब नारदजीने कहा—'एक दिन मैं अष्टकके घर ही ठहरा था। उस दिन अष्टक मुझे रथपर बिठाकर भ्रमणके लिये ले जा रहे थे। मैंने रास्तेमें देखा, भिन्न-भिन्न रंगकी कई हजार गौएँ पृथक्-पृथक् चर रही हैं। उन्हें देखकर मैंने अष्टकसे पूछा—'ये किसकी गौएँ हैं ?' इन्होंने उत्तर दिया—'ये मेरी दान की हुई गौएँ हैं।' इस प्रकार ये स्वयं अपने किये हुए दानका बखान करके आत्मश्लाघा करते हैं। इसी लिये इन्हें स्वर्गसे पहले उतरना पड़ेगा। तत्पश्चात् उन लोगोंने पुनः प्रश्न किया—'यदि हम शेष तीनों भाई स्वर्गमें जायँ, तो सबसे पहले किसको उतरना पड़ेगा ?' ॥ ५ ॥

प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः। तत्र किं कारणं प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितं स मां रथेनानुप्रावहत्॥६॥

अथैनं ब्राह्मणोऽभिक्षताश्वं मे ददातु भवान् निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद् ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणं त्वरितमेव स ब्राह्मणस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत्॥ ७ ॥

'देवर्षिने उत्तर दिया—'प्रतर्दनको।' 'इसमें क्या कारण है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर देवर्षिने उत्तर दिया—'एक दिन मैं प्रतर्दनके घर भी ठहरा था। ये मुझे रथसे ले जा रहे थे। उस समय एक ब्राह्मणने आकर इनसे याचना की—'आप मुझे एक अश्व दे दीजिये।' तब उन्होंने ब्राह्मणको उत्तर दिया—'लौटनेपर दे दूँगा।' ब्राह्मणने कहा—'नहीं, तुरंत दे दीजिये।' 'अच्छा तो तुरंत ही लीजिये' यों कहकर इन्होंने रथके दाहिने पार्श्वका घोड़ा खोलकर उसे दे दिया' ॥ ६-७ ॥

अथान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत्। तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रायात् पुनरपि चान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् त्वरितोऽथ तस्मै अपनह्य वामं धुर्यमददत्॥ ८ ॥

'इतनेहीमें एक दूसरा ब्राह्मण आया। उसे भी घोड़ेकी ही आवश्यकता थी। जब उसने याचना की, तब राजाने पूर्ववत् उससे भी यही कहा—'लौटनेपर दूँगा।' परंतु उसके आग्रह करनेपर उन्होंने रथके वाम पार्श्वका एक घोड़ा दिया। फिर वे आगे बढ़ गये। तदनन्तर एक घोड़ा माँगनेवाला दूसरा ब्राह्मण आया। उसने भी जल्दी ही माँगा। तब राजाने उसे बायें धुरेका बोझ ढोनेवाला अश्व खोल करके दे दिया॥

अथ प्रायात् पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदतियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्तस्मै दत्त्वाश्वं रथधुरं गृह्णता व्याहृतं ब्राह्मणानां साम्प्रतं नास्ति किंचिदिति॥

'तत्पश्चात् जब वे आगे बढ़े, तब फिर एक अश्वका इच्छुक ब्राह्मण आ पहुँचा। उसके माँगनेपर राजाने कहा—'मैं शीघ्र ही अपने लक्ष्यतक पहुँचकर घोड़ा दे दूँगा।' ब्राह्मण बोला—'मुझे तुरंत दीजिये।' तब उन्होंने ब्राह्मणको अश्व देकर स्वयं रथका धुरा पकड़ लिया और कहा—'ब्राह्मणोंके लिये ऐसा करना सर्वथा उचित नहीं है' ॥ ९ ॥

य एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथावतरेत्। अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति कोऽवतरेत्॥ १० ॥

'ये प्रतर्दन दान देते हैं और ब्राह्मणकी निन्दा भी करते हैं, अतः वह निन्दायुक्त वचन बोलनेके कारण पहले इन्हींको स्वर्गसे उतरना पड़ेगा।' तब पुनः प्रश्न किया गया, 'हम शेष दो भाई जा रहे हैं, उनमेंसे कौन पहले स्वर्गसे नीचे उतरेगा ?'

वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः॥ ११ ॥

'देवर्षिने उत्तर दिया—'वसुमना पहले उतरेंगे' ॥११॥

किं कारणमित्यपृच्छदथाचष्ट नारदः। अहं परिभ्रमन् वसुमनसो गृहमुपस्थितः॥ १२ ॥

'तब उन्होंने पूछा—'इसका क्या कारण है ?' नारदजी बोले—'एक दिन मैं घूमता-घामता वसुमनाके घरपर जा पहुँचा ॥ १२ ॥

स्वस्तिवचनमासीत् पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमहमन्वगच्छं स्वस्तिवाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः॥ १३ ॥

'उस दिन उनके यहाँ स्वस्तिवाचन हो रहा था। राजाके यहाँ एक ऐसा रथ था, जो पर्वत, आकाश और समुद्र आदि दुर्गम स्थानोंपर भी सुगमतासे आ-जा सकता था। उसका नाम था 'पुष्परथ'। मैं उसीके प्रयोजनसे राजाके यहाँ गया था। जब ब्राह्मणलोग स्वस्तिवाचन कर चुके, तब राजाने ब्राह्मणोंको अपना वह रथ दिखाया॥ १३ ॥

तमहं रथं प्राशंसमथ राजाब्रवीद् भगवता रथः प्रशस्तः। एष भगवतो रथ इति॥ १४ ॥

'उस समय मैंने उस रथकी बड़ी प्रशंसा की।' राजा बोले—'भगवन्! आपने इस रथकी प्रशंसा की है। अतः यह रथ आपहीका है' ॥ १४ ॥

अथ कदाचित् पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च रथप्रयोजनमासीत्। सम्यगयमेष भगवत इत्येवं राजाब्रवीदिति पुनरेव तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन् मामभि-

प्रेक्ष्याब्रवीत्। अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु सम्भावितानि एतेन द्रोहवचनेनावतरेत्॥ १५॥

'तदनन्तर एक दिन और मैं राजाके यहाँ उपस्थित हुआ। पुनः मेरे जानेका उद्देश्य पुष्परथको प्राप्त करना ही था। उस दिन भी राजाने बड़ी आवभगतके साथ कहा—'भगवन्! यह रथ आपका ही है।' फिर तीसरी बार मैंने उनके यहाँ जाकर स्वस्तिवाचनका कार्य सम्पन्न किया। राजाने ब्राह्मणोंको उस रथका दर्शन कराते हुए मेरी ओर देखकर कहा—'भगवन्! आपने पुष्परथके लिये अच्छे स्वस्तिवाचन किये।' (ऐसा कहकर भी उन्होंने रथ नहीं दिया।) इस (छलयुक्त) वचनसे वसुमना ही पहले स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरेंगे'॥

अथैकेन यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् पुनर्नारद आह शिबिर्यायादहमवतरेयमत्र किं कारणमित्यब्रवीत्। असावहं शिबिना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः कश्चिदेनमब्रवीत्॥ १६॥

शिबे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिबिः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानीति॥ १७॥

'यदि आपके साथ हममेसे एकमात्र शिबिको ही स्वर्गलोकमें जाना हो, तो वहाँसे पहले कौन उतरेगा?' ऐसा प्रश्न होनेपर नारदजीने फिर कहा—'शिबि जायँगे और मैं उतरूँगा।' 'इसमें क्या कारण है?' यह पूछे जानेपर देवर्षि नारदने कहा—'मैं राजा शिबिके समान नहीं हूँ, क्योंकि एक दिन एक ब्राह्मणने शिबिसे कहा—'शिबे! मैं भोजन करना चाहता हूँ।' राजाने पूछा—'आपके लिये क्या रसोई बनायी जाय, आज्ञा कीजिये'॥ १६-१७॥

अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीद् य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमातव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति। ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणममृगयत्॥ १८॥

'तब इनसे ब्राह्मणने कहा—'यह जो तुम्हारा पुत्र बृहद्गर्भ है, इसे मार डालो। फिर उसका दाह-संस्कार करो। तत्पश्चात् अन्न तैयार करो और मेरी प्रतीक्षा करो।' तब राजाने पुत्रको मारकर उसका दाह-संस्कार कर दिया और फिर विधिपूर्वक अन्न तैयार करके उसे बटलोईमें डालकर (और ढक्कनसे ढककर) अपने सिरपर रख लिया, फिर वे उस ब्राह्मणकी खोज करने लगे॥ १८॥

अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति॥१९॥

'खोज करते समय किसी मनुष्यने उनके पास आकर कहा—'राजन्! आपका ब्राह्मण इधर है। यह नगरमें प्रवेश करके आपके भवन, कोषागार, शस्त्रागार, अन्तःपुर, अश्वशाला और गजशाला सबमें कुपित होकर आग लगा रहा है।'

अथ शिबिस्तथैवाविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत् सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद् व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चासीत्॥ २०॥

'यह सब सुनकर भी राजा शिबिके मुखकी कान्ति पूर्ववत् बनी रही। उसमें तनिक भी विकार न आया। वे नगरमें घुसकर ब्राह्मणसे बोले- 'भगवन्! आपका भोजन तैयार है।' ब्राह्मण कुछ न बोला। वह आश्चर्यसे मुँह नीचा किये देखता रहा॥ २०॥

ततः प्रासादयद् ब्राह्मणं भगवन् भुज्यतामिति। मुहूर्तादुद्वीक्ष्य शिबिमब्रवीत्॥ २१॥

'तब राजाने ब्राह्मणको मनाते हुए कहा—'भगवन्! भोजन कर लीजिये।' ब्राह्मणने दो घड़ीतक ऊपरकी ओर देखनेके पश्चात् शिबिसे कहा—॥ २१॥

त्वमेवैतदशानेति तत्राह तथेति शिबिस्तथैवाविमना महित्वा कपालमभ्युद्धार्य भोक्तुमैच्छत्॥२२॥

'तुम्हीं यह सब खा जाओ।' शिबिने उसी प्रकार मनको प्रसन्न रखते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणकी आज्ञा स्वीकार की और उनका पूजन करके (सिरपर रखे हुए) ढक्कनको उघाड़कर वह सब खानेकी इच्छा की॥ २२॥

अथास्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात्। अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किंचिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं सभाजयत्॥ २३॥

'तब ब्राह्मणने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—'राजन्! तुमने क्रोधको जीत लिया है। तुम्हारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुम ब्राह्मणके लिये न दे सको।' ऐसा कहकर ब्राह्मणने भी उन महाभाग नरेशका समादर किया॥

स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यदग्रे तिष्ठन्तं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलङ्कृतं सर्वं च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोऽन्तरधीयत॥ २४॥

'राजाने जब आँख उठाकर देखा, तब उनका पुत्र आगे खड़ा था। वह देवकुमारकी भाँति दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित था। उसके शरीरसे पवित्र सुगन्ध निकल रही थी। ब्राह्मण देवता सब वस्तुओंको पूर्ववत् ठीक करके अन्तर्धान हो गये॥

तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव वेषेण परीक्षार्थमागत इति तस्मिन्नन्तर्हिते अमात्या राजानमूचुः। किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति॥ २५॥

साक्षात् विधाता ब्राह्मणके वेशमें राजर्षि शिबिकी परीक्षा

लेने आये थे। उनके अन्तर्धान हो जानेपर राजाके मन्त्रियोंने उनसे पूछा—'महाराज! आप क्या चाहते हैं? जिसके लिये सब कुछ जानते हुए भी ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है?'॥

शिबिरुवाच

नैवाहमेतद् यशसे ददानि
न चार्थहेतोर्न च भोगतृष्णया।
पापैरनासेवित एष मार्ग
इत्येवमेतत् सकलं करोमि ॥ २६ ॥

शिबि बोले—मैं यशके लिये यह दान नहीं देता। धनके लिये अथवा भोगकी लिप्सासे भी दान नहीं करता। यह धर्मात्माओंका मार्ग है। पापी मनुष्य इसपर नहीं चल सकते। ऐसा समझकर ही मैं यह सब कुछ करता रहता हूँ ॥ २६ ॥

सद्भिः सदाध्यासितं तु प्रशस्तं
तस्मात् प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे।
एतन्महाभाग्यवरं शिबेस्तु
तस्मादहं वेद यथावदेतत् ॥ २७ ॥

श्रेष्ठ पुरुष सदा जिस मार्गसे चले हैं, वही उत्तम मार्ग है। इसीलिये मेरी बुद्धि सदा उस उत्तम पथका ही आश्रय लेती है। यह है राजा शिबिकी सर्वश्रेष्ठ महिमा, जिसे मैं (अच्छी तरह) जानता हूँ। इसीलिये इन सब बातोंका यथावत् वर्णन किया है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्ये शिबिचरिते अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें क्षत्रियमाहात्म्यके प्रकरणमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा इन्द्रद्युम्न तथा अन्य चिरजीवी प्राणियोंकी कथा

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयः पाण्डवाः पर्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद् भवतश्चिरजाततर इति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऋषियों तथा पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीसे पूछा—'भगवन्! कोई आपसे भी पहलेका उत्पन्न चिरजीवी इस जगत्में है या नहीं?' ॥ १ ॥

स तानुवाचास्ति खलु राजर्षिरिन्द्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात् प्रच्युतः कीर्तिस्ते व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति॥

मार्कण्डेयजीने कहा—'है क्यों नहीं, सुनो। एक समय राजर्षि इन्द्रद्युम्न अपना पुण्य क्षीण हो जानेके कारण यह कहकर स्वर्गलोकसे नीचे गिरा दिये गये थे कि 'जगत्में तुम्हारी कीर्ति नष्ट हो गयी है।' स्वर्गसे गिरनेपर वे मेरे पास आये और बोले—'क्या आप मुझे पहचानते हैं?' ॥ २ ॥

तमहमब्रुवं कार्यचेष्टाकुलत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासिनो न प्रत्यभिजानीमोऽप्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनात्मनः समारम्भामोऽर्थानामनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

'मैंने उनसे कहा—'हमलोग तीर्थयात्रा आदि भिन्न-भिन्न पुण्य कार्योंकी चेष्टाओंमें व्यग्र रहते हैं, अतः किसी एक स्थानपर सदा नहीं रहते। एक गाँवमें केवल एक रात निवास करते हैं। अपने कार्योंका अनुष्ठान भी हमें भूल जाता है। व्रत-उपवास आदिमें लगे रहनेसे अपने शरीरको सदा कष्ट पहुँचानेके कारण आवश्यक कार्योंका आरम्भ भी हमसे नहीं हो पाता है, ऐसी दशामें हम आपको कैसे जान सकते हैं?' ॥ ३ ॥

(एवमुक्तो राजर्षिरिन्द्रद्युम्नः पुनर्मामब्रवीद् अथास्ति कश्चित् त्वत्तश्चिरं जाततर इति ॥)

'मेरे ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः मुझसे पूछा—'क्या आपसे भी पहलेका पैदा हुआ कोई पुरातन प्राणी है?' ॥

(तं पुनः प्रत्यब्रवम्) अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः प्रतिवसति। स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवांस्तत्रासौ प्रतिवसतीति ॥ ४ ॥

'तब मैंने उन्हें पुनः उत्तर दिया—'हिमालय पर्वतपर प्रावारकर्ण नामसे प्रसिद्ध एक उलूक निवास करता है। वह मुझसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ है। सम्भव है, वह आपको जानता हो। यहाँसे बहुत दूरकी यात्रा करनेपर हिमालय पर्वत मिलेगा। वहीं वह रहता है' ॥ ४ ॥

ततः स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद् यत्र बभूवोलूकः अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ॥

तब इन्द्रद्युम्न अश्व बनकर मुझे वहाँतक ले गये, जहाँ उलूक रहता था। वहाँ जाकर राजाने उससे पूछा—'क्या आप मुझे जानते हैं?' ॥ ५ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वाब्रवीदेनं नाभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इन्द्रद्युम्नः पुनस्तमुलूक मब्रवीद् राजर्षिः ॥ ६ ॥

'उसने दो घड़ीतक सोच-विचारकर उनसे कहा—'मैं आपको नहीं जानता हूँ।' उलूकके ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः उससे पूछा—॥ ६ ॥

अथास्ति कश्चिद् भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विन्द्रद्युम्नं नाम सरस्तस्मिन् नाडीजङ्घो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इन्द्रद्युम्नो मां चोलूकमादाय तत् सरोऽगच्छद् यात्रासौ नाडीजङ्घो नाम बको बभूव ॥ ७ ॥

'क्या आपसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ कोई चिरजीवी प्राणी है ?' उनके ऐसा पूछनेपर उलूकने कहा—इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है। वहाँ नाडीजङ्घ नामसे प्रसिद्ध एक बक निवास करता है। वह हमसे बहुत पहलेका उत्पन्न हुआ है। उससे पूछिये।' तब इन्द्रद्युम्न मुझको और उलूकको भी साथ लेकर उस सरोवरपर गये, जहाँ नाडीजङ्घ बक निवास करता था ॥ ७ ॥

सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति स एवं मुहूर्तं ध्यात्वाब्रवीन्नाभिजानाम्यहमिन्द्रद्युम्नं राजानमिति । ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद् भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति । स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजाततरः । स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ॥ ८ ॥

'हमलोगोंने उस बकसे पूछा—'क्या आप राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं ?' उसने दो घड़ीतक सोचकर उत्तर दिया—'मैं राजा इन्द्रद्युम्नको नहीं जानता हूँ।' तब हमलोगोंने उससे पूछा—'क्या दूसरा कोई प्राणी ऐसा है ? जिसका जन्म आपसे भी पहले हुआ हो ?' उसने हमसे कहा —'है; इसी सरोवरमें अकूपार नामक एक कछुआ रहता है। वह मुझसे भी पहले उत्पन्न हुआ है। आपलोग उस अकूपारसे ही पूछिये। सम्भव है, वह इन राजर्षिको किसी तरह जानता हो' ॥ ८ ॥

ततः स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्माकमभिप्रेतं भवन्तं किंचिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात् सरस उत्थायाभ्यगच्छद् यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ॥ ९ ॥

'तब उस बकने अकूपार नामक कछुएको यह सूचना दी कि 'हमलोग आपसे कुछ अभीष्ट प्रश्न पूछना चाहते हैं। कृपया आइये।' यह संदेश सुनकर वह कछुआ उस सरोवरसे निकलकर वहीं आया, जहाँ हमलोग तटपर खड़े थे। आनेपर उससे हमलोगोंने पूछा—'क्या आप राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं ?' ॥ ९ ॥

स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पसम्पूर्णनयन उद्विग्नहृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत्। किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्रकृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ॥ १० ॥

'उसने दो घड़ीतक ध्यान करके नेत्रोंमें आँसू भरकर उद्विग्न हृदयसे काँपते हुए अचेतकी-सी दशामें हाथ जोड़कर कहा—'मैं इन्हें क्यों नहीं पहचानूँगा। इन्होंने एक हजार बार अग्निस्थापनके समय यज्ञ-यूपोंकी स्थापना की है ॥ १० ॥

सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः कृतम्। अत्र चाहं प्रतिवसामीति ॥ ११ ॥

'इनके द्वारा दक्षिणामें दी हुई गौओंके आने-जानेसे यह सरोवर बन गया है, जिसमें मैं निवास कर रहा हूँ' ॥ ११ ॥

अथैतत् सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनन्तरं देवलोकाद् देवरथः प्रादुरासीद् वाचश्चाश्रूयन्तेन्द्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ॥ १२ ॥

'कच्छपके मुँहसे ये सारी बातें सुन लेनेके पश्चात् देवलोकसे एक दिव्य रथ आकर प्रकट हुआ और उसमेंसे इन्द्रद्युम्नके प्रति कही हुई कुछ बातें सुनायी देने लगीं—'राजन्! आपके लिये स्वर्गलोक प्रस्तुत है। वहाँ चलकर यथोचित स्थान ग्रहण करें। आप कीर्तिमान् हैं। अतः निश्चिन्त होकर स्वर्गलोककी यात्रा करें' ॥ १२ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

'इस विषयमें ये श्लोक हैं—'जबतक मनुष्यके पुण्यकर्मका शब्द भूलोक और देवलोकका स्पर्श करता है, जबतक दोनों लोकोंमें उसकी कीर्ति बनी रहती है, तभीतक वह पुरुष स्वर्गलोकका निवासी बताया जाता है ॥ १३ ॥

अकीर्तिः कीर्त्यते लोके यस्य भूतस्य कस्यचित्।
स पतत्यधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥

'संसारमें जिस किसी प्राणीकी अपकीर्ति कही जाती है—

जबतक उसके अपयशका शब्द गूँजता रहता है, तबतकके लिये वह नीचेके लोकोंमें गिर जाता है ॥ १४ ॥

तस्मात् कल्याणवृत्तः स्या-
दनन्ताय नरः सदा ।
विहाय चित्तं पापिष्ठं
धर्ममेव समाश्रयेत् ॥ १५ ॥

'इसलिये मनुष्यको सदा कल्याणकारी सत्कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये । इससे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है । पाप-पूर्ण चित्त (चिन्तन या विचार) का परित्याग करके सदा धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये' ॥ १५ ॥

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाब्रवीत् तिष्ठ तावद् यावदिमौ वृद्धौ यथास्थानं प्रतिपादयामीति ॥ १६ ॥

'देवदूतकी यह बात सुनकर राजाने कहा—'जबतक इन दोनों वृद्धोंको इनके स्थानपर पहुँचा न दूँ । तबतक ठहरे रहो' ॥ १६ ॥

स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे । तन्मयानुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः ॥ १७ ॥

'यह कहकर राजाने मुझे तथा प्रावारकर्ण नामक उलूकको यथोचित स्थानपर पहुँचा दिया और उसी रथसे स्वर्गकी ओर प्रस्थान करके वहाँ यथोचित स्थान प्राप्त कर लिया । इस प्रकार मैंने चिरजीवी होकर अनुभव किया है'—यह बात पाण्डवोंसे मार्कण्डेयजीने कही ॥ १७ ॥

पाण्डवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात् कृच्छ्रात् पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति ॥ १८ ॥

पाण्डव बोले—आपने यह बहुत अच्छा किया कि स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हुए राजा इन्द्रद्युम्नको पुनः अपने स्थानकी प्राप्ति करवा दी ।' तब इनसे मार्कण्डेयजीने कहा—'देवकी-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णने भी नरकमें डूबते हुए राजर्षि नृगको उस भारी संकटसे छुड़ाकर फिर स्वर्गमें पहुँचा दिया' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि इन्द्रद्युम्नोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें इन्द्रद्युम्नोपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

निन्दित दान, निन्दित जन्म, योग्य दानपात्र, श्राद्धमें ग्राह्य और अग्राह्य ब्राह्मण, दानपात्रके लक्षण, अतिथि-सत्कार, विविध दानोंका महत्त्व, वाणीकी शुद्धि, गायत्री-जप, चित्तशुद्धि तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि विविध विषयोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तदा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाभाग मार्कण्डेयजीके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गकी प्राप्तिका वृत्तान्त सुनकर राजा युधिष्ठिरने उन मुनीश्वरसे फिर प्रश्न किया ॥ १½ ॥

कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्त्वा दानं महामुने ॥ २ ॥
इन्द्रलोकं त्वनुभवेत् पुरुषस्तद् ब्रवीहि मे ।

'महामुने ! किन अवस्थाओंमें दान देकर मनुष्य इन्द्रलोकका सुख भोगता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ २½ ॥

गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थविरेऽपि वा ।
यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ॥ ३ ॥

'मनुष्य बाल्यावस्था या गृहस्थाश्रममें, जवानीमें अथवा बुढ़ापेमें दान देनेसे जैसा फल पाता है ? उसका मुझसे वर्णन कीजिये' ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ॥ ४ ॥
परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थं च पचेत् तु यः ।
पर्यश्नन्ति वृथा ये च तदसत्यं प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—(नीचे लिखे अनुसार) चार प्रकारके जीवन व्यर्थ हैं और सोलह प्रकारके दान व्यर्थ हैं । जो पुत्र-हीन हैं, जो धर्मसे बहिष्कृत (भ्रष्ट) हैं, जो सदा दूसरोंकी ही रसोईमें भोजन किया करते हैं तथा जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते एवं देवता और अतिथियोंको न देकर अकेले ही भोजन कर लेते हैं, उनका वह भोजन असत् कहा गया है । अतः उनका

जन्म वृथा है। (इस प्रकार इन चार प्रकारके मनुष्योंका जन्म व्यर्थ है) ॥ ४-५ ॥

आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत्।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ॥ ६ ॥

जो वानप्रस्थ या संन्यास-आश्रमसे पुनः गृहस्थ-आश्रममें लौट आया हो, उसे 'आरूढ़-पतित' कहते हैं। उसको दिया हुआ दान व्यर्थ होता है। अन्यायसे कमाये हुए धनका दान भी व्यर्थ ही है। पतित ब्राह्मण तथा चोरको दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है ॥ ६ ॥

गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ॥ ७ ॥
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ॥ ८ ॥
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।

पिता आदि गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम-पुरोहित, वेदविक्रय करनेवाले, शूद्रसे यज्ञ करानेवाले, नीच ब्राह्मण, शूद्राके पति ब्राह्मण, साँपको पकड़कर व्यवसाय करने वाले तथा सेवकों और स्त्री-समूहको दिया हुआ दान व्यर्थ है* इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये गये हैं ॥ ७-८½ ॥

तमोवृतस्तु यो दद्याद् भयात् क्रोधात् तथैव च ॥ ९ ॥
भुङ्क्ते च दानं तत् सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा।
ददद् दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ॥ १० ॥

जो तमोगुणसे आवृत हो भय और क्रोधपूर्वक दान देता है, वह मनुष्य वैसे सब प्रकारके दानोंका फल भावी जन्ममें गर्भावस्थामें भोगता है, अर्थात् तामसी दान करनेके कारण वह उसका फल दुःखके रूपमें भोगता है तथा (श्रेष्ठ) ब्राह्मणोंको दान देनेवाला मानव उस दानका फल बड़ा होनेपर (कामनाके अनुसार) भोगता है ॥ ९-१० ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ॥ ११ ॥

राजन्! इसीलिये मनुष्यको चाहिये कि वह स्वर्ग-मार्गपर अधिकार पानेकी इच्छासे सभी अवस्थाओंमें (श्रेष्ठ) ब्राह्मणों-को ही सब प्रकारके दान दे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे।
केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! जो ब्राह्मण चारों वर्णोंमें-से सभीके दान ग्रहण करते हैं, वे किस विशेष धर्मका पालन करनेसे दूसरोंको तारते और स्वयं भी तरते हैं? ॥ १२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च ॥ १३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण जप, मन्त्र, (पाठ,) होम, स्वाध्याय और वेदाध्ययनके द्वारा वेदमयी नौका-का निर्माण करके दूसरोंको भी तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणांस्तोषयेद् यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः।
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मणोंको संतुष्ट करता है, उसपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणोंके वचनसे अर्थात् आशीर्वादसे भी मनुष्य स्वर्गलोक पा सकता है ॥ १४ ॥

पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च।
अनन्तं पुण्यलोकं तु गन्तासि त्वं न संशयः ॥ १५ ॥

राजन्! तुम पितरों और देवताओंकी पूजासे तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेसे अक्षय पुण्यलोकमें जाओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः।
ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता ॥ १६ ॥

जिसका शरीर कफ आदिसे भर गया हो, जो मर रहा हो और अचेत हो गया हो, उसे पुण्यमय स्वर्गलोककी प्राप्ति अभीष्ट हो तो ब्राह्मणोंकी पूजा भी करनी चाहिये ॥

श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकौ ॥ १७ ॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन काण्डपृष्ठाश्च देहिनः।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ १८ ॥

श्राद्धकालमें प्रयत्न करके उत्तम ब्राह्मणोंको ही भोजन कराना चाहिये। जिनके शरीरका रंग घृणाजनक हो, नख काले पड़ गये हों, जो कोढ़ी और धूर्त हो, पिताकी जीवित-अवस्थामें ही माताके व्यभिचारसे जिनका जन्म हुआ हो अथवा जो विधवा माताके पेटसे पैदा हुए हों और जो पीठपर तरकस बाँधे क्षत्रियवृत्तिसे जीविका चलाते हों ऐसे ब्राह्मणोंको श्राद्धमें प्रयत्नपूर्वक त्याग दे, क्योंकि उनको भोजन करानेसे श्राद्ध निन्दित हो जाता है और निन्दित श्राद्ध यजमानको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि काष्ठको जला डालती है ॥ १७-१८ ॥

ये ये श्राद्धे न युज्यन्ते मूकान्धबधिरादयः।
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ १९ ॥

* यहाँ जो पिता आदि गुरुजन, सेवक और स्त्रियोंको दिया दान व्यर्थ कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा करना तथा स्त्री और नौकरोंका पालन-पोषण करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। अतः उनको देना तो अपने कर्तव्यका ही पालन है, इसलिये वह उनको देना दानकी श्रेणीमें नहीं है।

किंतु अंधे, गूँगे, बहरे आदि जिन-जिन ब्राह्मणोंको श्राद्धमें वर्जित बताया गया है, उन सबको वेद-पारंगत ब्राह्मणोंके साथ श्राद्धमें सम्मिलित किया जा सकता है ॥ १९ ॥

प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान्॥ २०॥

युधिष्ठिर! अब मैं तुम्हें यह बताता हूँ कि कैसे व्यक्तिको दान देना चाहिये। जो दाताको और अपने-आपको भी तारनेकी शक्ति रखता हो ॥ २० ॥

तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान्॥२१॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मणको दान दे, जो दाताका तथा अपना भी संसारसागरसे उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण है ॥ २१ ॥

न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने॥ २२॥

कुन्तीनन्दन! अतिथियोंको भोजन करानेसे अग्निदेव जितने संतुष्ट होते हैं, उतना संतोष उन्हें हविष्यका हवन करने तथा पुष्प और चन्दन चढ़ानेसे भी नहीं होता ॥

तस्मात् त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम्॥ २३॥
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम्।

इसलिये तुम सभी उपायोंसे अतिथियोंको भोजन देनेका प्रयत्न करो। राजन्! जो लोग अतिथिको चरण धोनेके लिये जल, पैरमें मलनेके लिये तेल, उजालेके लिये दीपक, भोजनके लिये अन्न तथा रहनेके लिये स्थान देते हैं, वे कभी यमराजके यहाँ नहीं जाते ॥ २३½ ॥

देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम्॥ २४॥
आकल्पः परिचर्या च गात्रसंवाहनानि च।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते॥ २५॥

नृपश्रेष्ठ! देवविग्रहोंपर चढ़े हुए चन्दन-पुष्प आदिको यथासमय उतारना, ब्राह्मणोंकी जूठन साफ करना, उन्हें चन्दन-माला आदिसे अलङ्कृत करना, उनकी सेवा-पूजा करना और उनके पैर आदि अङ्गोंको दबाना, इनमेंसे एक-एक कार्य गोदानसे भी अधिक महत्त्व रखता है ॥

कपिलायाः प्रदानात् तु मुच्यते नात्र संशयः।
तस्मादलंकृतां दद्यात् कपिलां तु द्विजातये॥ २६॥

कपिला गौका दान करनेसे मनुष्य निःसंदेह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। इसलिये कपिला गौको अलंकृत करके ब्राह्मणको दान करना चाहिये ॥ २६ ॥

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे॥ २७॥

दान लेनेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रताके कारण जिसे स्त्री और पुत्रोंके तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाताने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होनेकी सम्भावना ही हो ॥ २७ ॥

एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम्॥ २८॥

भारत ऐसे ही लोगोंको गोदान करना चाहिये, धनवानोंको नहीं। भरतश्रेष्ठ! धनवानोंको देनेसे क्या लाभ है? ॥ २८ ॥

एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम्॥ २९॥
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु।

एक गौ एक ही ब्राह्मणको देनी चाहिये; बहुतोंको कभी नहीं (क्योंकि एक ही गौ यदि बहुतोंको दी गयी, तो वे उसे बेचकर उसकी कीमत बाँट लेंगे)। दान की हुई गौ यदि बेच दी गयी, तो वह दाताकी तीन पीढ़ियोंको हानि पहुँचाती है वह न तो दाताको ही पार उतारती है न ब्राह्मणको ही ॥ २९½ ॥

सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति॥ ३०॥
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम्।

जो उत्तम वर्णवाले विशुद्ध ब्राह्मणको सुवर्ण-दान करता है, उसे निरन्तर सौ स्वर्णमुद्राओंके दानका फल प्राप्त होता है ॥ ३०½ ॥

अनड्वाहं तु यो दद्याद् बलवन्तं धुरंधरम्॥ ३१॥
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति।

जो लोग कंधेपर जुआ उठानेमें समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणोंको दान करते हैं, वे दुःख और संकटोंसे पार होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३१½ ॥

वसुन्धरां तु यो दद्याद् द्विजाय विदुरात्मने॥ ३२॥
दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः।

जो विद्वान् ब्राह्मणको भूमिदान करता है, उस दाताके पास सभी मनोवाञ्छित भोग स्वतः आ जाते हैं ॥ ३२½ ॥

पृच्छन्ति चात्र दातारं वदन्ति पुरुषा भुवि॥ ३३॥
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुण्ठिताः।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद् बुधः॥ ३४॥
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः।

यदि कोई रास्तेके थके-माँदे, दुबले-पतले पथिक धूलभरे पैरोंसे भूखे-प्यासे आ जायँ और पूछें कि क्या यहाँ

कोई भोजन देनेवाला है ? उस समय उन्हें जो विद्वान् अन्न मिलनेका पता बता देता है, वह भी अन्नदाताके समान ही कहा जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३३-३४½ ॥

तस्मात् त्वं सर्वदानानि हित्वान्नं सम्प्रयच्छह ॥ ३५ ॥
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते ।

अतः युधिष्ठिर ! तुम सारे दानोंको छोड़कर केवल अन्नदान करते रहो । इस संसारमें अन्नदानके समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है ॥ ३५½ ॥

यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम् ॥ ३६ ॥
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम् ।

जो अपनी शक्तिके अनुसार अच्छे ढंगसे तैयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणोंको अर्पित करता है, वह उस पुण्यकर्मके प्रभावसे प्रजापतिके लोकमें जाता है ॥ ३६½ ॥

अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात् परतरं न च ॥ ३७ ॥
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः ।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥

अतः अन्न ही सबसे महत्त्वकी वस्तु है । उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । वेदोंमें अन्नको प्रजापति कहा गया है । प्रजापति संवत्सर माना गया है । संवत्सर यज्ञरूप है और यज्ञमें सबकी स्थिति है ॥ ३७-३८ ॥

तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ॥ ३९ ॥

यज्ञसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं । अतः अन्न ही सब पदार्थोंसे श्रेष्ठ है । यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ३९ ॥

येषां तटाकानि महोदकानि
वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ॥ ४० ॥

जो लोग अगाध जलसे भरे हुए तालाब और पोखरे खुदवाते हैं, बावली, कुएँ तथा धर्मशालाएँ तैयार कराते हैं, अन्नका दान करते और मीठी बातें बोलते हैं, उन्हें यमराजकी बात भी नहीं सुननी पड़ती है अर्थात् यमराज उसे वचनमात्रसे भी दण्ड नहीं दे सकते ॥ ४० ॥

धान्यं श्रमेणार्जितवित्तसंचितं
विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः ।
वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा
धारां वसूनां प्रतिमुञ्चतीव ॥ ४१ ॥

जो अपने परिश्रमसे उपार्जित और संचित किया हुआ धन-धान्य सुशील ब्राह्मणको दान करता है, उसके ऊपर वसुधा देवी अत्यन्त संतुष्ट होती और उसके लिये धनकी धारा-सी बहाती हैं ॥ ४१ ॥

अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक् तदनन्तरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः ॥ ४२ ॥

अन्न-दान करनेवाले पुरुष पहले स्वर्गमें प्रवेश करते हैं । उसके बाद सत्यवादी जाता है । फिर बिना माँगे ही दान करनेवाला पुरुष जाता है । इस प्रकार ये तीनों पुण्यात्मा मानव समान गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ।
मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ॥ ४३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४३ ॥

यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किम्प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरन्ति पुरुषाश्चैव केनोपायेन शंस मे ॥ ४४ ॥

'महामुने ! इस मनुष्य-लोकसे यमलोक कितनी दूर है, कैसा है, कितना बड़ा है ? और किस उपायसे मनुष्य वहाँके संकटोंसे पार हो सकते हैं ? ये मुझे बतलाइये' ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन् धर्म्यं धर्मभृतां वर ॥ ४५ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने ऐसे विषयके लिये प्रश्न किया है, जो सबसे अधिक गोपनीय, पवित्र, धर्मसम्मत तथा ऋषियोंके लिये भी आदरणीय है । सुनो, मैं इस विषयका वर्णन करता हूँ ॥ ४५ ॥

षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ॥ ४६ ॥

महाराज ! मनुष्यलोक और यमलोकके मार्गमें छियासी हजार योजनोंका अन्तर है ॥ ४६ ॥

आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ॥ ४७ ॥
विश्रमेद् यत्र वै श्रान्तः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः ।

उसके मार्गमें जलरहित शून्य आकाशमात्र है । वह देखनेमें बड़ा भयानक और दुर्गम है । वहाँ न तो वृक्षोंकी छाया है, न पानी है और न कोई ऐसा स्थान ही है, जहाँ रास्तेका थका-माँदा जीव क्षणभर भी विश्राम कर सके ॥ ४७½ ॥

नीयते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात् ॥ ४८ ॥
नराः स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।

यमराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले यमदूत इस पृथ्वी-

पर आकर यहाँके पुरुषों, स्त्रियों तथा अन्य जीवोंको बलपूर्वक पकड़ ले जाते हैं ॥ ४८½ ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ॥ ४९ ॥
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यान्ति वै नराः ।
संनिवार्यातपं यान्ति छत्रेणैव हि छत्रदाः ॥ ५० ॥

राजन्! जिनके द्वारा यहाँ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके अश्व आदि वाहनोंका उत्कृष्ट दान किया गया है, वे उस मार्गपर (उन्हीं वाहनोंद्वारा सुखसे) यात्रा करते हैं। छत्र-दान करनेवाले मनुष्य वहाँ प्राप्त हुए छत्रके द्वारा ही धूपका निवारण करते हुए चलते हैं ॥ ४९-५० ॥

तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः ।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यान्त्यवस्त्रदाः ॥ ५१ ॥

अन्न-दान करनेवाले जीव वहाँ भोजनसे तृप्त होकर यात्रा करते हैं; किंतु जिन्होंने अन्नदान नहीं किया है, वे भूखका कष्ट सहते हुए चलते हैं। वस्त्र देनेवाले लोग कपड़े पहनकर जाते हैं और जिन्होंने वस्त्रदान नहीं किया है, उन्हें नंगे होकर जाना पड़ता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषास्त्वभ्यलंकृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः ॥ ५२ ॥

सुवर्णका दान करनेवाले मनुष्य उस मार्गपर नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो बड़े सुखसे यात्रा करते हैं। भूमिका दान करनेवाले दाता सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे तृप्त हो वहाँ बड़े आनन्दसे जाते हैं ॥ ५२ ॥

यान्ति चैवापरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यान्ति विमानेषु गृहप्रदाः ॥ ५३ ॥

खेतमें लगी हुई खेती दान करनेवाले मनुष्य बिना किसी कष्टके जाते हैं। गृहदान करनेवाले मानव विमानोंपर बैठकर अत्यन्त सुख-सुविधाके साथ जाते हैं ॥ ५३ ॥

पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पन्थानं द्योतयन्तश्च यान्ति दीपप्रदाः सुखम् ॥ ५४ ॥

जिन्होंने जल-दान किया है, उन्हें प्यासका कष्ट नहीं भोगना पड़ता, वे लोग प्रसन्नचित्त होकर वहाँ जाते हैं। दीपदान करनेवाले मनुष्य उस मार्गको प्रकाशित करते हुए सुखसे यात्रा करते हैं ॥ ५४ ॥

गोप्रदास्तु सुखं यान्ति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोपवासिनः ॥ ५५ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक जाते हैं। एक मासतक उपवास व्रत करनेवाले लोग हंस जुते हुए विमानोंद्वारा यात्रा करते हैं ॥ ५५ ॥

तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव ॥ ५६ ॥
अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः ।

जो लोग छठी राततक उपवास करते हैं, वे मोर जुते हुए विमानोंद्वारा जाते हैं। पाण्डुनन्दन! जो लोग एक बार भोजन करके उसीपर तीन रात काट ले जाते हैं और बीचमें भोजन नहीं करते, उन्हें रोग-शोकसे रहित पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ॥ ५६½ ॥

पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ॥ ५७ ॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतोपमम् ॥ ५८ ॥

जलदान करनेका प्रभाव अत्यन्त अलौकिक है। वह परलोकमें सुख पहुँचानेवाला है। जो जलदान करते हैं, उन पुण्यात्माओंके लिये उस मार्गमें पुष्पोदका नामवाली नदी प्राप्त होती है। वे उसका शीतल और अमृतके समान मधुर जल पीते हैं ॥ ५७-५८ ॥

ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।
एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ॥ ५९ ॥

महाराज! इस प्रकार वह नदी सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली है, किंतु जो पापी जीव हैं, उनके लिये उस नदीका जल पीब बन जाता है ॥ ५९ ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि ।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः ॥ ६० ॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया ।
तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥ ६१ ॥

अतः राजेन्द्र! तुम भी इन ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करो। जो रास्ता चलनेसे थककर दुबला हो गया है, जिसका शरीर धूलसे भरा है और जो अन्नदाताका पता पूछता हुआ भोजनकी आशासे घरपर आ जाता है, उसका तुम यत्नपूर्वक सत्कार करो; क्योंकि वह अतिथि है, इसलिये ब्राह्मण ही है अर्थात् ब्राह्मणके ही तुल्य है ॥ ६०-६१ ॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः ।
तस्मिन् सम्पूजिते प्रीता निराशा यान्त्यपूजिते ॥ ६२ ॥

ऐसा अतिथि जब किसीके घरपर जाता है, तब उसके पीछे इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता भी वहाँतक जाते हैं। यदि वहाँ उस अतिथिका आदर होता है, तो वे देवता भी प्रसन्न होते हैं और यदि आदर नहीं होता, तो वे देवगण भी निराश लौट जाते हैं ॥ ६२ ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत् ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६३ ॥

अतः राजेन्द्र! तुम भी अतिथिका विधिपूर्वक सत्कार करते रहो। यह बात मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ, अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुनः पुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम्।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ विभो ! आपके द्वारा कही हुई पुण्यमय धर्मकी चर्चा मैं बारंबार सुनना चाहता हूँ ॥ ६४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

धर्मान्तरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वावहितो मम ॥ ६५ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन् ! अब मैं धर्मसम्बन्धी दूसरी बातें बता रहा हूँ, जो सदा सब पापोंका नाश करनेवाली हैं। तुम सावधान होकर सुनो ॥ ६५ ॥

कपिलायां तु दत्तायां यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे।
तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ॥ ६६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ज्येष्ठपुष्करतीर्थमें कपिला गौ दान करनेसे जो फल मिलता है, वही ब्राह्मणोंका चरण धोनेसे प्राप्त होता है ॥ ६६ ॥

द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत् तिष्ठति मेदिनी।
तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणोंके चरण पखारनेके जलसे जबतक पृथ्वी भीगी रहती है, तबतक पितर लोग कमलके पत्तेसे जल पीते हैं ॥ ६७ ॥

स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मणका स्वागत करनेसे अग्नि, उसे आसन देनेसे इन्द्र, उसके पैर धोनेसे पितर और उसको भोजनके योग्य अन्न प्रदान करनेसे ब्रह्माजी तृप्त होते हैं ॥ ६८ ॥

यावद् वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते।
तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयत्नेनान्तरात्मना ॥ ६९ ॥

गर्भिणी गौ जिस समय बच्चा दे रही हो और उस बछड़ेका केवल मुख तथा दो पैर ही बाहर निकले दिखायी देते हों, उसी समय पवित्र भावसे प्रयत्नपूर्वक उस गौका दान कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥

अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद् योन्यां प्रदृश्यते।
तावद् गौ पृथिवी ज्ञेया यावद् गर्भं न मुञ्चति ॥ ७० ॥

जबतक बछड़ा योनिसे निकलते समय आकाशमें ही लटकता दिखायी दे, जबतक गाय अपने बछड़ेको पूर्णतः योनिसे अलग न कर दे, तबतक उस गौको पृथ्वीरूप ही समझना चाहिये ॥ ७० ॥

यावन्ति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर।
तावद् युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर ! उसका दान करनेसे उस गौ तथा बछड़ेके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार युगोंतक दाता स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ७१ ॥

सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम्।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ ७२ ॥
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! जो सोनेकी नाक और सुन्दर चाँदीके खुरोंसे विभूषित, सब प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत, काली गौको तिलोंसे प्रच्छादित करके उसका दान करता है और जो उस दानको लेकर पुनः किसी दूसरे श्रेष्ठ पुरुषको अर्पित कर देता है, वह सर्वोत्तम फलका भागी होता है ॥ ७२-७३ ॥

ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना।
चतुरन्ता भवेद् दत्ता पृथिवी नात्र संशयः ॥ ७४ ॥

उस गौके दानसे समुद्र, गुफा, पर्वत, वन और काननों सहित चारों दिशाओंकी भूमिके दानका पुण्य प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७४ ॥

अन्तर्जानुशयो यस्तु भुङ्क्ते संसक्तभाजनः।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ॥ ७५ ॥

जो द्विज अपने हाथोंको घुटनोंके भीतर किये मौनभावसे पात्रमें एक हाथ लगाये रखकर भोजन करता है, वह अपनेको और दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है ॥ ७५ ॥

अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः।
जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः ॥ ७६ ॥

जो मदिरा नहीं पीते, जिनपर किसी प्रकारका दोष नहीं लगाया गया है तथा जो अन्य द्विज विधिपूर्वक वेदोंकी संहिताका पाठ करते हैं, वे सदा दूसरोंको तारनेमें समर्थ होते हैं ॥ ७६ ॥

हव्यं कव्यं च यत् किंचित् सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथा हुतम् ॥ ७७ ॥

हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध) की जितनी भी वस्तुएँ हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण उन सबको पानेका अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ दान उतना ही सफल होता है, जैसे प्रज्वलित अग्निमें दी हुई आहुति ॥ ७७ ॥

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणोंका क्रोध ही अस्त्र-शस्त्र है। ब्राह्मण लोहेके हथियारोंसे नहीं लड़ा करते हैं। जैसे हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण क्रोधसे ही अपराधीको नष्ट कर देते हैं ॥ ७८ ॥

धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवानघ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ॥ ७९ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यह मैंने धर्मयुक्त कथा कही है। इसे सुनकर नैमिषारण्यनिवासी मुनि बड़े प्रसन्न हुए थे ॥

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन् न भवन्तीह मानवाः ॥ ८० ॥

राजन् ! इस कथाको सुनकर मनुष्य शोक, भय, क्रोध और पापसे रहित हो फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं तच्छौचं भवेद् येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत्।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाप्राज्ञ महर्षे ! वह शौच क्या है ? जिससे ब्राह्मण सदा शुद्ध बना रहता है। मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥ ८१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम्।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः ॥ ८२ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! शौच तीन प्रकारका होता है—वाक्शौच (वाणीकी पवित्रता), कर्मशौच (क्रिया-की पवित्रता) तथा जलशौच (जलसे शरीरकी शुद्धि)। जो इस तीन प्रकारके शौचसे सम्पन्न है, वह स्वर्गलोकका अधिकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ८२ ॥

सायं प्रातश्च संध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥ ८३ ॥
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ॥ ८४ ॥

जो ब्राह्मण प्रातः और सायं—इन दोनों समयकी संध्या और सबको पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री देवीके मन्त्रका जप करता है, वह ब्राह्मण उन्हीं गायत्री देवीकी कृपासे परम पवित्र और निष्पाप हो जाता है। वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका भी दान ग्रहण कर ले, तो भी किसी संकटमें नहीं पड़ता ॥ ८३-८४ ॥

ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा ॥ ८५ ॥

इतना ही नहीं, आकाशके सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो कोई भी उसके लिये भयंकर होते हैं, वे उपर्युक्त गायत्री-जपके प्रभावसे उसके लिये सदा सौम्य, सुखद एवं परम मङ्गलकारी हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

सर्वे नानुगतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ॥ ८६ ॥

भयंकर रूप और विशाल शरीरवाले, समस्त क्रूरकर्मा, मांसभक्षी राक्षस भी गायत्रीजपपरायण उस श्रेष्ठ द्विजपर आक्रमण नहीं कर सकते ॥ ८६ ॥

नाध्यापनाद् याजनाद् वा अन्यस्माद् वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ॥ ८७ ॥

वे संध्योपासक ब्राह्मण प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। पढ़ाने, यज्ञ कराने अथवा दूसरेसे दान लेनेके कारण भी उन्हें दोष नहीं छू सकता (क्योंकि वे उनकी जीविकाके कर्म हैं) ॥ ८७ ॥

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण अच्छी तरह वेद पढ़े हों या न पढ़े हों, उत्तम संस्कारोंसे युक्त हों या प्राकृत मनुष्योंकी भाँति संस्कारशून्य हों, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे राखमें छिपी हुई आगके समान हैं ॥ ८८ ॥

यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ८९ ॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होती, उसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, उसे महान् देवता ही मानना चाहिये ॥ ८९ ॥

प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ९० ॥

चहारदीवारियों, नगरद्वारों और भिन्न-भिन्न महलोंसे भी नगरोंकी तबतक शोभा नहीं होती, जबतक वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मण न रहें ॥ ९० ॥

वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ॥ ९१ ॥

राजन् ! वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों, उसीका नाम नगर है ॥ ९१ ॥

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः।
तत् तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद् भवेत् ॥ ९२ ॥

कुन्तीनन्दन ! व्रज (गौओंके रहनेका स्थान) हो या वन, जहाँ बहुश्रुत विद्वान् रहते हों, उसे 'नगर' कहा गया है, वह तीर्थ भी माना गया है ॥ ९२ ॥

रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम्।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ ९३ ॥

प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजा और तपस्वी ब्राह्मणके पास जाकर उनकी सेवा-पूजा करके मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९३ ॥

पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम्।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ॥ ९४ ॥

पुण्यतीर्थोंमें स्नान, पवित्र मन्त्रोंका कीर्तन और श्रेष्ठ पुरुषोंसे वार्तालाप—इन सबको विद्वान् पुरुषोंने उत्तम बताया है ॥ ९४ ॥

साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा।
पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः ॥ ९५ ॥

सत्सङ्गसे पवित्र किये हुए वाणीके सुन्दर सम्भाषणरूप जलसे अभिषिक्त श्रेष्ठ पुरुष अपनेको सदा पवित्र हुआ मानते हैं ॥ ९५ ॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम् ॥ ९६ ॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ॥ ९७ ॥

त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, सिरपर जटाका बोझ ढोना, मूँड़ मुँड़ाना, शरीरमें वल्कल और मृगचर्म लपेटे रहना, व्रतका आचरण करना, नहाना, अग्निहोत्र करना, वनमें रहना और शरीरको सुखा देना—ये सभी यदि भाव शुद्ध न हो तो व्यर्थ हैं ॥ ९६-९७ ॥

न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रियगामिनाम् ॥ ९८ ॥
विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करकरं मनः ।

राजेन्द्र ! चक्षु आदि इन्द्रियोंके आहारको छोड़ देना कठिन नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंके छहों विषयोंका उपभोग न करनेसे वह अपने-आप सुगमतासे हो जाता है, परंतु उनमेंसे मन बड़ा विकारी है, इस कारण भावकी शुद्धिके बिना उसको वशमें करना अत्यन्त दुष्कर है ॥ ९८½ ॥

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥ ९९ ॥

जो मन, वाणी, क्रिया और बुद्धिके द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं । शरीरको सुखा देना ही तपस्या नहीं है ॥ ९९ ॥

न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः ।
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ॥ १०० ॥

जिसने व्रत, उपवास आदिके द्वारा शरीरको तो शुद्ध कर लिया और जो नाना प्रकारके पापकर्म भी नहीं करता, किंतु जिसके मनमें अपने कुटुम्बीजनोंके प्रति दया नहीं आती, उसकी वह निर्दयता उसके तपका नाश करनेवाली है; केवल भोजन छोड़ देनेका ही नाम तपस्या नहीं है ॥ १०० ॥

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः ।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०१ ॥

जो निरन्तर घरपर रहकर भी पवित्रभावसे रहता है, सद्गुणोंसे विभूषित होता है और जीवनभर सब प्राणियोंपर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये; वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०१ ॥

न हि पापानि कर्माणि शुद्धयन्त्यनशनादिभिः ।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥ १०२ ॥

भोजन छोड़ने आदिसे पाप-कर्मोंका शोधन हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है । हाँ, भोजन त्याग देनेसे यह रक्त-मांससे लिपा हुआ शरीर अवश्य क्षीण हो जाता है ॥ १०२ ॥

अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् प्रहीयते ।
नाग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ॥ १०३ ॥

शास्त्रोंद्वारा जिनका विधान नहीं किया गया है, ऐसे कार्य करनेसे केवल क्लेश ही हाथ लगता है, उनसे पाप नष्ट नहीं किये जा सकते । अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म भावशून्य अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्यके पापकर्मोंको दग्ध नहीं कर सकते ।१०३।

पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुद्धयन्त्यनशनानि च ।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात् ॥ १०४ ॥
शिरसो मुण्डनाद् वापि न स्थानकुटिकासनात् ।
न जटाधारणाद् वापि न तु स्थण्डिलशय्यया ॥ १०५ ॥
नित्यं ह्यनशनाद् वापि नाग्निशुश्रूषणादपि ।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ॥ १०६ ॥

मनुष्य पुण्यके प्रभावसे ही उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं । उपवास भी पुण्यसे अर्थात् निष्कामभावसे ही शुद्धिका कारण होता है (बिना शुद्धभावके) केवल फल-मूल खाने, मौन रहने, हवा पीने, सिर मुँड़ाने, एक स्थानपर कुटी बनाकर रहने, सिरपर जटा रखाने, वेदीपर सोने, नित्य उपवास, अग्निसेवन, जलप्रवेश तथा भूमिशयन करनेसे भी शुद्धि नहीं होती है ॥ १०४—१०६ ॥

ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेव च ।
व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ॥ १०७ ॥

तत्त्वज्ञान या सत्कर्मसे ही जरा, मृत्यु तथा रोगोंका नाश होता है और उत्तम पद (मुक्ति) की प्राप्ति होती है ॥

बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः ॥ १०८ ॥

जैसे आगमें जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि क्लेशोंके नष्ट हो जानेपर आत्माका पुनः उनसे संयोग नहीं होता ॥ १०८ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ।
विनश्यन्ति न संदेहः फेनानीव महार्णवे ॥ १०९ ॥

जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर सारे शरीर काठ और दीवार-की भाँति जडवत् होकर महासागरमें उठे हुए फेनोंकी तरह नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १०९ ॥

आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥ ११० ॥

एक या आधे श्लोकसे भी यदि सम्पूर्ण भूतोंके हृदय-देशमें शयन करनेवाले परमात्माका ज्ञान हो जाय, तो उसके लिये सम्पूर्ण शास्त्रोंके अध्ययनका प्रयोजन समाप्त हो जाता है ॥

द्व्यक्षरादभिसंधाय केचिच्छ्लोकपदाङ्कितैः।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ १११॥

कोई 'तत्त्वम्' अथवा राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि दो अक्षरोंसे ही परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। कोई श्लोक और पदोंसे अङ्कित अन्य सैकड़ों तथा सहस्रों शास्त्र-वाक्योंसे परमात्माके स्वरूपको जानते हैं। जैसे भी हो, बोध ही मोक्षका लक्षण है ॥ १११ ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥ ११२॥

जिसके मनमें संशय भरा हुआ है, उसके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। 'ज्ञान ही मोक्ष-का लक्षण है'—यह वृद्ध, ज्ञानी पुरुषोंका कथन है ॥ ११२॥

विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम्।
उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ॥ ११३॥

जब मनुष्य वेदोंके वास्तविक प्रयोजनको जान जाता है, तब वह वेदवेत्ता मानव (कर्मविधायक) समस्त वेदोंसे उसी प्रकार उपरत हो जाता है, जैसे मनुष्य दावानलसे हट जाते हैं। ११३।

शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्।
एकाक्षराभिसम्बद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात् ॥ ११४॥

प्रणवसे सम्बन्ध रखनेवाले परमात्मतत्त्वको यदि तुम युक्तिपूर्वक अर्थात् निःसंदेहभावसे समझना चाहते हो, तो कोरा तर्कवाद छोड़कर श्रुति तथा स्मृतिके वचनोंका आश्रय लो; क्योंकि जो उपर्युक्त साधनका आश्रय नहीं लेता, उसकी बुद्धि तत्त्वका निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हो सकती ॥ ११४॥

वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्
तद् वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम्।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ
क्लीबस्त्वात्मा तत् स वेद्यस्य वेद्यम् ॥ ११५॥

इसलिये जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान वेदोंके द्वारा ही यत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि वह परमात्मतत्त्व वेदस्वरूप है। वेद उसका शरीर है। उस परमात्मतत्त्व-को सहजभावसे प्राप्त करानेमें वेद हेतु है। यह जीवात्मा स्वयं समर्थ नहीं है; क्योंकि वह तत्त्व वेद्यका भी वेद्य है अर्थात् जाननेमें बड़ा ही गहन है ॥ ११५ ॥

वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ११६॥

देवताओंकी आयु और कर्मोंका शुभाशुभ फल आदि बातें वेदमें कही गयी हैं। उसके अनुसार ही देहधारियोंका प्रभाव संसारमें प्रत्येक युगमें फलित होता है ॥ ११६ ॥

इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्जयेत्।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम् ॥ ११७॥

अतः मनुष्यको इन्द्रियोंकी शुद्धिके द्वारा इन विषय-भोगोंको त्याग देना चाहिये। यह इन्द्रियोंकी निर्मलता और निरोधसे होनेवाला अनशन (विषयोंका अग्रहण) दिव्य होता है ॥ ११७ ॥

तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ॥ ११८॥

तपसे स्वर्गलोकमें जानेका सौभाग्य प्राप्त होता है। दानसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, यह जानना चाहिये तथा तीर्थस्नानसे पापोंका क्षय हो जाता है ॥ ११८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः।
भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम् ॥ ११९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी युधिष्ठिर बोले—'भगवन्! अब मैं (दानकी) उत्तम एवं प्रधान विधि सुनना चाहता हूँ' ॥ ११९॥

मार्कण्डेय उवाच

यत् त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवतस्तथा ॥ १२०॥

मार्कण्डेयजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिस दान-धर्मको सुनना चाहते हो, वह गौरवयुक्त होनेके कारण मुझे सदा ही प्रिय है ॥ १२० ॥

शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च।
छायायां करिणः श्राद्धं तत् कर्णपरिवीजिते।
दश कल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ॥ १२१॥

श्रुतियों और स्मृतियोंमें जो दानके रहस्य बताये गये हैं, उनका वर्णन सुनो—युधिष्ठिर! गुरुवारको अमावस्याके योगमें पीपलके वृक्षकी छायाको गजच्छायापर्व कहते हैं। गजच्छायामें जहाँ पीपलके पत्तोंकी हवा लगती हो, उस प्रदेशमें जलके समीप जो श्राद्ध किया जाता है, वह एक लाख कल्पों-तक नष्ट नहीं होता ॥ १२१ ॥

जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्त्वा महीयते।
वैश्यं तु वासयेद् यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ॥ १२२॥

जो जीविकाके लिये राँधा हुआ अन्नका दान करता है, वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो आश्रयकी खोज करनेवाले राहगीर—अतिथिको ठहरनेके लिये जगह दे वह सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है ॥ १२२ ॥

प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसंचरन्।
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥ १२३॥
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च।

पूर्वकी ओर बहनेवाली नदीका प्रवाह जहाँ पश्चिमकी ओर मुड़ गया हो, वह प्रतिस्रोत तीर्थ कहलाता है, उसमें किया हुआ उत्तम अश्वोंका दान अक्षय पुण्यको देनेवाला होता है। अन्नके लिये विचरनेवाले अतिथिरूपी इन्द्रको यदि भोजनसे संतुष्ट किया जाय तो वह भी अक्षयपुण्यका जनक होता है। नदियोंके महान् प्रवाहमें ग्रहणके समय ब्राह्मणोंको दिये हुए दधिमण्ड तथा पूर्वोक्त पदार्थ भी अक्षय पुण्यकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। इसी प्रकार नदियोंके महान् प्रवाहमें स्नान करनेवाला पुरुष बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १२३½ ॥

पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ॥१२४॥
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥१२५॥

पर्वके अवसरपर दिया हुआ दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होनेके समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। उत्तरायण या दक्षिणायन आरम्भ होनेके दिन, विषुव-योग (तुला और मेषकी संक्रान्ति) में, मिथुन, कन्या, धनु और मीनकी संक्रान्तियोंमें तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है ॥ १२४-१२५ ॥

ऋतुषु दशगुणं वदन्ति दत्तं
शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम्।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहो-
र्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम् ॥१२६॥

विद्वान् पुरुष ऋतु प्रारम्भ होनेके दिन दिये हुए दानको दस गुना तथा अयन आदिके दिन सौ गुना बताते हैं। इसी प्रकार ग्रहणके दिन दिये हुए दानका फल सहस्रगुना होता है और विषुवयोगमें दान करनेसे मनुष्य उसके अक्षय पुण्य-फलका उपभोग करता है ॥ १२६ ॥

नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्
नायानदो यानमारुह्य याति।
यान् यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति
तांस्तान् कामान् जायमानः स भुङ्क्ते।१२७।

राजन्! जिसने भूमिदान नहीं किया है, वह परलोकमें पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता।' जिसने सवारीका दान नहीं किया है, वह सवारीपर चढ़कर नहीं जा सकता। इस जन्ममें मनुष्य जिन-जिन पदार्थोंका ब्राह्मणोंको दान करता है, भावी जन्ममें वह उन-उन पदार्थोंको उपभोगके लिये पाता है ॥ १२७ ॥

अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं
भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता
यः काञ्चनं गाश्च महीं च दद्यात्॥१२८॥

सुवर्ण अग्निकी प्रथम संतान है। भूमि भगवान् विष्णुकी पत्नी है तथा गौएँ भगवान् सूर्यकी कन्याएँ हैं, अतः जो कोई सुवर्ण, गौ और पृथ्वीका दान करता है, उसके द्वारा तीनों लोकोंका दान सम्पन्न हो जाता है ॥१२८॥

परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं
भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः।
तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं
वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः ॥१२९॥

त्रिलोकीमें दानसे बढ़कर शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा पहले कभी नहीं हुआ, अब कैसे हो सकता है ? इसीलिये उत्तम बुद्धिवाले पुरुष संसारमें दानको ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म बताते हैं ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें दानमाहात्म्य-विषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२००॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्ककी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌का उन्हें वरदान देना तथा इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्वका धुन्धुमार नाम पड़नेका कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तथा।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेय मुनिके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गप्राप्ति होनेका वृत्तान्त (तथा दानमाहात्म्य) सुनकर राजा युधिष्ठिरने पापरहित, दीर्घायु तथा तपोवृद्ध महात्मा मार्कण्डेयसे इस प्रकार पूछा—॥ १-२ ॥

विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ॥ ३ ॥

'धर्मज्ञ मुने! आप देवता, दानव तथा राक्षसोंको भी अच्छी तरह जानते हैं। आपको नाना प्रकारके राजवंशों तथा

ऋषियोंकी सनातन वंशपरम्पराका भी ज्ञान है ॥ ३ ॥

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम ।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ॥ ४ ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा ।

'द्विजश्रेष्ठ ! इस लोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपसे अज्ञात हो । मुने ! आप मनुष्य, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा अप्सराओंकी भी दिव्य कथाएँ जानते हैं ॥ ४½ ॥

इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नामविपर्यासाद् धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ६ ॥

'विप्रवर ! अब मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि इक्ष्वाकुवंशमें जो कुवलाश्व नामसे विख्यात विजयी राजा हो गये हैं, वे क्यों नाम बदलकर 'धुन्धुमार' कहलाने लगे ? ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ७ ॥

'भृगुश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके इस नाम-परिवर्तनका यथार्थ कारण मैं जानना चाहता हूँ' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भारत ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर महामुनि मार्कण्डेयने धुन्धुमारकी कथा प्रारम्भ की ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ९ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर ! सुनो । धुन्धुमारका आख्यान धर्ममय है । अब इसका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः ।
धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व महीपते ॥ १० ॥

महाराज ! इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व जिस प्रकार धुन्धुमार नामसे विख्यात हुए, वह सब श्रवण करो ॥ १० ॥

महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत ।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! कुरुकुलरत्न ! महर्षि उत्तङ्कका नाम बहुत प्रसिद्ध है । तात ! मरुके रमणीय प्रदेशमें उनका आश्रम है ॥

उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत् सुदुश्चरम् ।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून् वर्षगणान् विभुः ॥ १२ ॥

महाराज ! प्रभावशाली उत्तङ्कने भगवान् विष्णुकी आराधना की इच्छासे बहुत वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी ॥ १२ ॥

तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद् दर्शनमेयिवान् ।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ॥ १३ ॥

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया । उनका दर्शन पाते ही महर्षि नम्रतासे झुक गये और नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥

उत्तङ्क उवाच

त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः ।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ॥ १४ ॥

उत्तङ्क बोले—देव ! देवता, असुर, मनुष्य आदि सारी प्रजा आपसे ही उत्पन्न हुई है । समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि भी आपने ही की है ॥ १४ ॥

ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते ।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ॥ १५ ॥
निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत ।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥ १६ ॥
ऊरू ते पर्वता देव खं नाभिर्मधुसूदन ।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥ १७ ॥

महातेजस्वी परमेश्वर ! ब्रह्मा, वेद और जाननेयोग्य सभी वस्तुएँ आपने ही उत्पन्न की हैं । देव ! आकाश आपका मस्तक है । चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं । वायु श्वास है तथा अग्नि आपका तेज है । अच्युत ! सम्पूर्ण दिशाएँ आपकी भुजाएँ और महासागर आपका कुक्षिस्थान है । देव ! मधुसूदन ! पर्वत आपके ऊरु और अन्तरिक्ष लोक आपकी नाभि है । पृथ्वीदेवी आपके चरण तथा ओषधियाँ रोएँ हैं ॥ १५-१७ ॥

इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः॥ १८ ॥

भगवन् ! इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण देवता, असुर और बड़े-बड़े नाग—ये सब आपके सामने नतमस्तक हो, नाना प्रकारके स्तोत्र पढ़कर आपकी स्तुति करते हुए आपको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं ॥ १८ ॥

त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवन्ति त्वां महर्षयः ॥ १९ ॥

भुवनेश्वर ! आपने सम्पूर्ण भूतोंको व्याप्त कर रक्खा है । महान् शक्तिशाली योगी और महर्षि आपका स्तवन करते हैं॥

त्वयि तुष्टे जगत् स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद् भयम् ।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥

पुरुषोत्तम ! आपके संतुष्ट होनेपर ही संसार स्वस्थ एवं सुखी होता है और आपके कुपित होनेपर इसे महान् भयका सामना करना पड़ता है । एकमात्र आप ही सम्पूर्ण भयका निवारण करनेवाले हैं ॥ २० ॥

देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ॥ २१ ॥

देव ! आप देवताओं, मनुष्यों तथा सम्पूर्ण भूतोंको सुख पहुँचानेवाले हैं । आपने तीन पगोंद्वारा ही (बलिके हाथसे) तीनों लोक (दानद्वारा) हरण कर लिये थे ॥ २१ ॥

असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम् ॥ २२ ॥

आपने समृद्धिशाली असुरोंका संहार किया है । आपके ही पराक्रमसे देवता परम सुख-शान्तिके भागी हुए हैं ॥२२॥

पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ॥ २३ ॥
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः ।

महाद्युते ! आपके रुष्ट होनेसे ही दैत्यराज देवताओंके सामने पराजित हो जाते हैं । आप इस जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं। प्रभो ! आपकी आराधना करके ही सम्पूर्ण देवता सुख एवं समृद्धि-लाभ करते हैं ॥

एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तङ्केन महात्मना ॥ २४ ॥
उत्तङ्कमब्रवीद् विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ।

महात्मा उत्तङ्कके इस प्रकार स्तुति करनेपर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् विष्णुने उनसे कहा—'महर्षे ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुम कोई वर माँगो' ॥ २४½ ॥

उत्तङ्क उवाच

पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान् हरिम् ॥ २५ ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ।

उत्तङ्कने कहा—भगवन् ! समस्त संसारकी सृष्टि करनेवाले दिव्य सनातन पुरुष आप सर्वशक्तिमान् श्रीहरिका जो मुझे दर्शन मिला, यही मेरे लिये सबसे महान् वर है ॥ २५½ ॥

विष्णुरुवाच

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ॥ २६ ॥
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज ।

भगवान् विष्णु बोले—सज्जनशिरोमणे ! मैं तुम्हारी लोभशून्यता एवं उत्तम भक्तिसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । ब्रह्मन् ! तुम्हें मुझसे कोई वर अवश्य लेना चाहिये ॥ २६½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं स छन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ॥ २७ ॥
उत्तङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् विष्णुके द्वारा वर लेनेके लिये आग्रह होनेपर उत्तङ्कने हाथ जोड़कर इस प्रकार वर माँगा ॥ २७½ ॥

यदि मे भगवन् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण ॥ २८ ॥
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।
अभ्यासश्च भवेद् भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर ॥ २९ ॥

'भगवन् ! कमलनयन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रियनिग्रहमें लगी रहे । मेरे स्वामी ! आपके भजनका मेरा अभ्यास सदा बना रहे' ॥२८-२९॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात् तव द्विज ।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ॥ ३० ॥
त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्यं करिष्यसि ।

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! मेरी कृपासे यह सब कुछ तुम्हें प्राप्त हो जायगा । इसके सिवा तुम्हारे हृदयमें उस योगविद्याका प्रकाश होगा, जिससे युक्त होकर तुम देवताओं तथा तीनों लोकोंका महान् कार्य सिद्ध कर सकोगे ॥ ३०½ ॥

उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः ॥ ३१ ॥
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ।

विप्रवर ! धुन्धु नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर है, जो तीनों लोकोंका संहार करनेके लिये घोर तपस्या कर रहा है । जो वीर उस महान् असुरका वध करेगा, उसका परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ३१½ ॥

राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ॥ ३२ ॥
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ ३३ ॥

तात ! इक्ष्वाकुकुलमें बृहदश्व नामसे प्रसिद्ध एक महापराक्रमी और किसीसे पराजित न होनेवाले राजा उत्पन्न होंगे । उनका पवित्र और जितेन्द्रिय पुत्र कुवलाश्वके नामसे विख्यात होगा ॥ ३२-३३ ॥

स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः।
शासनात् तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरन्तरधीयत ॥ ३४ ॥

ब्रह्मर्षे ! तुम्हारे आदेशसे वे नृपश्रेष्ठ कुवलाश्व ही मेरे योगबलका आश्रय लेकर धुन्धु राक्षसका वध करेंगे और लोकमें धुन्धुमार नामसे विख्यात होंगे। उत्तङ्कसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्कका राजा बृहदश्वसे धुन्धुका वध करनेके लिये आग्रह

मार्कण्डेय उवाच

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम्।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! महाराज इक्ष्वाकुके देहावसानके पश्चात् उनके परम धर्मात्मा पुत्र शशाद इस पृथ्वीपर राज्य करने लगे। वे अयोध्यामें रहते थे ॥ १ ॥

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान्।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ॥ २ ॥

शशादके पुत्र पराक्रमी ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थके पुत्र अनेना और अनेनाके पृथु हुए ॥ २ ॥

विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान्।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥ ३ ॥

पृथुके विष्वगश्व और उनके पुत्र अद्रि हुए। अद्रिके पुत्रका नाम युवनाश्व था। युवनाश्वका पुत्र श्राव नामसे विख्यात हुआ ॥ ३ ॥

तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

श्रावका पुत्र श्रावस्त हुआ, जिसने श्रावस्तीपुरी बसायी थी। श्रावस्तके ही पुत्र महाबली बृहदश्व थे ॥ ४ ॥

बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५ ॥

बृहदश्वके हीपुत्रका नाम कुवलाश्व था। कुवलाश्वके इक्कीस हजार पुत्र हुए ॥ ५ ॥

सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे सब-के-सब सम्पूर्ण विद्याओंमें पारंगत, बलवान् और दुर्धर्ष वीर थे। कुवलाश्व उत्तम गुणोंमें अपने पितासे बढ़कर निकले ॥ ६ ॥

समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत्।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ७ ॥

महाराज ! राजा बृहदश्वने यथासमय अपने उत्तम धर्मात्मा शूरवीर पुत्र कुवलाश्वको राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ८ ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले बुद्धिमान् राजा बृहदश्व राजलक्ष्मीका भार पुत्रपर छोड़कर स्वयं तपस्याके लिये तपोवनमें चले गये ॥ ८ ॥

अथ शुश्राव राजर्षिं तमुत्तङ्को नराधिप।
वनं सम्प्रस्थितं राजन् बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥

राजन् ! तदनन्तर द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने यह सुना कि राजर्षि बृहदश्व वनको चले जा रहे हैं ॥ ९ ॥

तमुत्तङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम्।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ १० ॥

वे नरश्रेष्ठ नरेश सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें सर्वोत्तम थे। विशाल हृदयवाले महातेजस्वी उत्तङ्कने उनके पास जाकर उन्हें वनमें जानेसे रोका और इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत् तावत् कर्तुमर्हसि।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद् भवेमहि ॥ ११ ॥

उत्तङ्क बोले—महाराज ! प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। अतः पहले वही आपको करना चाहिये, जिससे आपके कृपाप्रसादसे हमलोग निर्भय हो जायँ ॥ ११ ॥

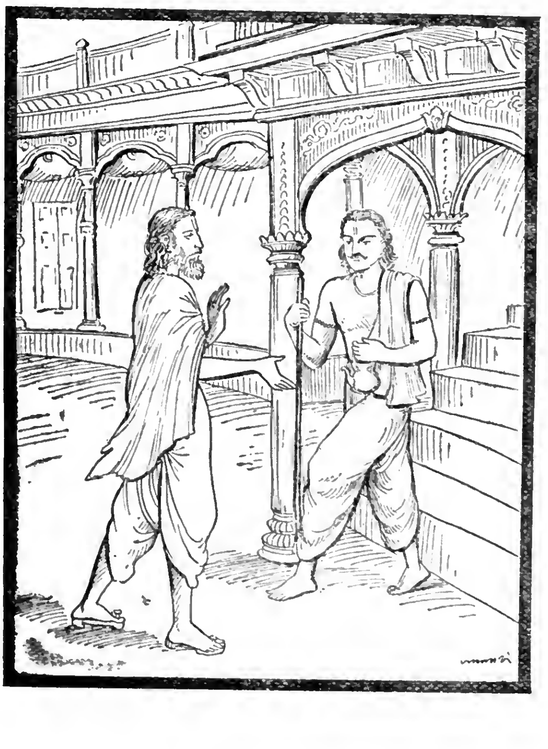

त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

राजन्! आप-जैसे महात्मा राजासे सुरक्षित होकर ही यह पृथ्वी सर्वथा भयशून्य हो जायगी। अतः आप वनमें न जाइये ॥ १२ ॥

पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत् ते बुद्धिरीदृशी ॥ १३ ॥

क्योंकि आपके लिये यहाँ रहकर प्रजाओंका पालन करनेमें जो महान् धर्म देखा जाता है, वैसा वनमें रहकर तपस्या करनेमें नहीं दिखायी देता। अतः आपकी ऐसी समझ नहीं होनी चाहिये ॥ १३ ॥

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र! पूर्वकालके राजर्षियोंने जिस धर्मका पालन किया है, वह प्रजाजनोंके पालनमें ही सुलभ है ऐसा धर्म और किसी कार्यमें नहीं दिखायी देता ॥ १४ ॥

रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ॥ १५ ॥

राजाके लिये प्रजाजनोंका पालन करना ही धर्म है। अतः आपको प्रजावर्गकी रक्षा ही करनी चाहिये। भूपाल! मैं शान्तिपूर्वक तपस्या नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १५ ॥

ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु।
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ॥ १६ ॥

मेरे आश्रमके समीप समस्त मरुप्रदेशमें एक बालूसे पूर्ण अर्थात् बालुकामय समुद्र है, उसका नाम है उज्जालक ॥ १६ ॥

बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः।
तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः ॥ १७ ॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः।
अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः ॥ १८ ॥

उसकी लम्बाई-चौड़ाई कई योजनकी है। वहाँ महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न एक भयंकर दानवराज रहता है, जो मधु और कैटभका पुत्र है। वह क्रूर-स्वभाववाला राक्षस धुन्धु नामसे प्रसिद्ध है। राजन्! वह अमित पराक्रमी दानव धरतीके भीतर छिपकर रहा करता है ॥ १७-१८ ॥

तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥ १९ ॥
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव।

महाराज! उसका नाश करके ही आपको वनमें जाना चाहिये। भूपाल! वह सम्पूर्ण लोकों और देवताओंके विनाशके लिये कठोर तपस्याका आश्रय लेकर (पृथ्वीमें) शयन करता है ॥ १९½ ॥

अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ॥ २० ॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः।
अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात् ॥ २१ ॥

राजन्! वह सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीसे वर पाकर देवताओं, दैत्यों, राक्षसों, नागों, यक्षों और समस्त गन्धर्वोंके लिये अवध्य हो गया है ॥ २०-२१ ॥

तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥ २२ ॥

महाराज! आपका कल्याण हो। आप उस दैत्यका विनाश कीजिये। इसके विपरीत आपको कोई विचार नहीं करना चाहिये। उसका वध करके आप सदा बनी रहनेवाली अक्षय एवं महान् कीर्ति प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

क्रूरस्य तस्य स्वपतो वालुकान्तर्हितस्य च।
संवत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः सम्प्रवर्तते ॥ २३ ॥

बालूके भीतर छिपकर रहनेवाला वह क्रूर राक्षस एक वर्षमें एक ही बार साँस लेता है ॥ २३ ॥

यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना।
तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ॥ २४ ॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम्।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ॥ २५ ॥

जिस समय वह साँस लेता है, उस समय पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी डोलने लगती है। उसके साँसकी आँधीसे धूलका इतना ऊँचा बवंडर उठता है कि वह सूर्यके मार्गको भी ढक लेता है और सात दिनोंतक वहाँ भूकम्प होता रहता है। आगकी चिनगारियाँ, ज्वालाएँ और धूआँ उठकर अत्यन्त भयंकर दृश्य उपस्थित करते हैं ॥

तेन राजन् न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥

राजन्! इस कारण मेरा अपने आश्रममें रहना कठिन हो गया है। महाराज! सब लोगोंके हितके लिये आप उस राक्षसको नष्ट कीजिये ॥ २६ ॥

लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ॥ २७ ॥

उस असुरके मारे जानेपर सब लोग स्वस्थ एवं सुखी हो जायँगे। मेरा विश्वास है कि आप अकेले ही उसका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ॥ २८ ॥
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ॥ २९ ॥

भूपाल! भगवान् विष्णु अपने तेजसे आपके तेजको बढ़ायेंगे। उन्होंने पूर्वकालमें मुझे यह वर दिया था कि जो राजा उस भयानक एवं महान् असुरका वध करनेको उद्यत होगा, उस दुर्धर्ष वीरके भीतर मेरा वैष्णव तेज प्रवेश करेगा ॥ २८-२९ ॥

तत् तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥ ३० ॥

महाराज! अतः आप भगवान्‌का दुःसह तेज धारण करके पृथ्वीपर रहनेवाले उस भयानक पराक्रमी दैत्यको नष्ट कीजिये ॥ ३० ॥

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥ ३१ ॥

राजन्! धुन्धु महातेजस्वी असुर है। साधारण तेजसे सौ वर्षोंमें भी कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति और भगवान् विष्णुके द्वारा मधु-कैटभका वध

मार्कण्डेय उवाच

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः ।
उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कौरवश्रेष्ठ! उत्तङ्कके इस प्रकार आग्रह करनेपर अपराजित वीर राजर्षि बृहदश्वने उनसे हाथ जोड़कर कहा—॥ १ ॥

न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद् भविष्यति ।
पुत्रो ममायं भगवन् कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ २ ॥
धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्येणाप्रतिमो भुवि ।

ब्रह्मन्! आपका यह आगमन निष्फल नहीं होगा। भगवन्! मेरा यह पुत्र कुवलाश्व भूमण्डलमें अनुपम वीर है। यह धैर्यवान् और फुर्तीला है ॥ २½ ॥

प्रियं च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन् न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४ ॥

परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले अपने समस्त शूरवीर पुत्रोंके साथ जाकर यह आपका सारा अभीष्ट कार्य सिद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है। ब्रह्मन्! आप मुझे छोड़ दीजिये। मैंने अब अस्त्र-शस्त्रोंको त्याग दिया है ॥ ३-४ ॥

तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ॥ ५ ॥
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ।

तब अमित तेजस्वी उत्तङ्क मुनिने 'तथास्तु' कहकर राजाको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् राजर्षि बृहदश्वने महात्मा उत्तङ्कको अपना वह पुत्र सौंप दिया और धुन्धुका वध करनेकी आज्ञा दे उत्तम तपोवनकी ओर प्रस्थान किया ॥ ५½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क एष भगवन् दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ॥ ६ ॥
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन! भगवन्! यह पराक्रमी दैत्य कौन था? किसका पुत्र और नाती था? मैं यह सब जानना चाहता हूँ ॥ ६½ ॥

एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ॥ ७ ॥
एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ८ ॥

तपस्याके धनी मुनीश्वर! ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना था, अतः भगवन्! मैं इसके विषयमें यथार्थ बातें जानना चाहता हूँ। महामते! आप यह सारी कथा विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ७-८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ॥ ९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। यह सारा वृत्तान्त मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ९ ॥

एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
प्रणष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ! बात उस समयकी है, जब सम्पूर्ण चराचर जगत् एकार्णवके जलमें डूबकर नष्ट हो चुका था। समस्त प्राणी कालके गालमें चले गये थे ॥ १० ॥

प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् ।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः ।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥

उस समय वे भगवान् विष्णु एकार्णवके जलमें अमिततेजस्वी शेषनागके विशाल शरीरकी शय्यापर योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन करते थे । उन्हीं भगवान्‌को सिद्ध, मुनिगण सबकी उत्पत्तिका कारण, लोकस्रष्टा, सर्वव्यापी, सनातन, अविनाशी तथा सर्वलोकमहेश्वर कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १३ ॥
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ॥ १४ ॥
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।

महाभाग ! अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले लोककर्ता भगवान् श्रीहरि नागके विशाल फणके द्वारा धारण की हुई इस पृथ्वीका सहारा लेकर (शेषनागपर) सो रहे थे, उस समय उन दिव्यस्वरूप नारायणकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था । उसीमें सम्पूर्ण लोकोंके गुरु साक्षात् पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए, जो सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ १३-१४½ ॥

चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ १५ ॥
स्वप्रभावाद् दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ।

वे चारों वेदोंके विद्वान् हैं । जरायुज आदि चतुर्विध जीव उन्हींके स्वरूप हैं । उनके चार मुख हैं । उनके बल और पराक्रम महान् हैं । वे अपने प्रभावसे दुर्धर्ष हैं ॥१५½॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ॥ १६ ॥
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम् ।

ब्रह्माजीके प्रकट होनेके कुछ काल बाद मधु और कैटभ नामक दो पराक्रमी दानवोंने सर्वसामर्थ्यवान् भगवान् श्रीहरि-को देखा ॥ १६½ ॥

शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ॥ १७ ॥
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ॥ १८ ॥

वे शेषनागके शरीरकी दिव्य शय्यापर शयन किये हुए थे । उनका तेज महान् है । वे जिस शय्यापर शयन करते हैं, उसकी लंबाई-चौड़ाई कई योजनोंकी है । भगवान्‌के मस्तकपर किरीट और कण्ठमें कौस्तुभमणिकी शोभा हो रही थी । उन्होंने रेशमी-पीताम्बर धारण कर रखा था ॥ १७-१८ ॥

दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ॥ १९ ॥

राजन् ! वे अपनी कान्ति और तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे । शरीरसे वे सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित होते थे । उनकी झाँकी अद्भुत और अनुपम थी ॥ १९ ॥

विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा ।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ २० ॥
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः ॥ २१ ॥
अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्यवत्तरौ ॥ २२ ॥

भगवान्‌को देखकर मधु और कैटभ दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । तत्पश्चात् उनकी दृष्टि कमलमें बैठे हुए कमलनयन पितामह ब्रह्माजीपर पड़ी । उन्हें देखकर वे दोनों दैत्य उन अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको डराने लगे । उन दोनोंके द्वारा बार-बार डराये जानेपर महायशस्वी ब्रह्माजीने उस कमलकी नालको हिलाया । इससे भगवान् गोविन्द जाग उठे । जागनेपर उन्होंने उन दोनों महापराक्रमी दानवोंको देखा ॥ २०-२२ ॥

दृष्ट्वा तावब्रवीद् देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥ २३ ॥

उन महाबली दानवोंको देखकर भगवान् विष्णुने कहा—'तुम दोनों बड़े बलवान् हो । तुम्हारा स्वागत है । मैं तुम दोनोंको उत्तम वर दे रहा हूँ; क्योंकि तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता होती है' ॥ २३ ॥

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ २४ ॥

महाराज ! वे दोनों महाबली दानव बड़े अभिमानी थे । उन्होंने हँसकर इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् मधुसूदनसे एक साथ कहा—॥ २४ ॥

आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ २५ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! हम दोनों तुम्हें वर देते हैं । देव ! तुम्हीं हमलोगोंसे वर माँगो ! हम दोनों तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार वर देंगे । तुम बिना सोचे-विचारे जो चाहो, माँग लो' ॥ २५ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥ २६ ॥

श्रीभगवान् बोले—वीरो ! मैं तुमसे अवश्य वर लूँगा । मुझे तुमसे वर प्राप्त करना अभीष्ट है; क्योंकि तुम दोनों बड़े पराक्रमी हो । तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ २६ ॥

वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ॥ २७ ॥

सत्यपराक्रमी वीरो ! तुम दोनों मेरे हाथसे मारे जाओ ।

भगवान् विष्णुके द्वारा मधुकैटभका जाँघोंपर वध

मैं सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये तुमसे यही मनोरथ प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ २७ ॥ ॥

मधुकैटभावूचतुः

अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २८ ॥

मधु और कैटभने कहा—पुरुषोत्तम ! हमलोगोंने पहले कभी स्वच्छन्द (मर्यादारहित) बर्तावमें भी झूठ नहीं कहा है, फिर और समयमें तो हम झूठ बोल ही कैसे सकते हैं ? आप हम दोनोंको सत्य और धर्ममें अनुरक्त मानिये ॥ २८ ॥

बले रूपे च शौर्ये च न शमे च समोऽस्ति नौ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २९ ॥

बल, रूप- शौर्य और मनोनिग्रहमें हमारी समता करनेवाला कोई नहीं है । धर्म, तपस्या, दान, शील, सत्त्व तथा इन्द्रियसंयममें भी हमारी कहीं तुलना नहीं है ॥ २९ ॥

उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥

किंतु केशव ! हमलोगोंपर यह महान् संकट आ पहुँचा है । अब आप भी अपनी कही हुई बात पूर्ण कीजिये । कालका उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है ॥ ३० ॥

आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥ ३१ ॥

देव ! सुरश्रेष्ठ ! विभो ! हम दोनों आपके द्वारा एक ही सुविधा चाहते हैं । वह यह है कि आप इस खुले आकाशमें ही हमारा वध कीजिये ॥ ३१ ॥

पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन।
वर एष वृतो देव तद् विद्धि सुरसत्तम ॥ ३२ ॥
अनृतं मा भवेद् देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा।

सुन्दर नेत्रोंवाले देवेश्वर ! हम दोनों आपके पुत्र हों । हमने आपसे यही वर माँगा है । आप इसे अच्छी तरह समझ लें । सुरश्रेष्ठ देव ! हमने जो प्रतिज्ञा की है, वह असत्य नहीं होनी चाहिये ॥ ३२½ ॥

श्रीभगवानुवाच

बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद् भविष्यति ॥ ३३ ॥

श्रीभगवान् बोले—बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा । यह सब कुछ (तुम्हारी इच्छाके अनुसार) होगा ॥ ३३ ॥

स विचिन्त्याथ गोविन्दो नापश्यद् यदनावृतम्।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ॥ ३४ ॥
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा।
मधुकैटभयो राजन् शिरसी मधुसूदनः।
चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः ॥ ३५ ॥

भगवान् विष्णुने बहुत सोचनेपर जब कहीं खुला आकाश न देखा और स्वर्ग अथवा पृथ्वीपर भी जब उन्हें कोई खुली जगह न दिखायी दी, तब महायशस्वी देवेश्वर मधुसूदनने अपनी दोनों जाँघोंको अनावृत (वस्त्ररहित) देखकर मधु और कैटभके मस्तकोंको उन्हींपर रखकर तीखी धारवाले चक्रसे काट डाला ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

धुन्धुकी तपस्या और वरप्राप्ति, कुवलाश्वद्वारा धुन्धुका वध और देवताओंका कुवलाश्वको वर देना

मार्कण्डेय उवाच

धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाराज ! उन्हीं दोनों मधु और कैटभका पुत्र धुन्धु है, जो बड़ा तेजस्वी और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न है । उसने बड़ी भारी तपस्या की ॥ १ ॥

अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ॥ २ ॥

वह दीर्घकालतक एक पैरसे खड़ा रहा । उसका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि नस-नाड़ियोंका जाल दिखायी देने लगा । ब्रह्माजीने उसकी तपस्यासे संतुष्ट होकर उसे वर दिया । धुन्धुने भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार वर माँगा— ॥ २ ॥

देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम्।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥

'भगवन् ! मैं देवता, दानव, यक्ष, सर्प, गन्धर्व और राक्षस किसीके हाथसे न मारा जाऊँ । मैंने आपसे यही वर माँगा है' ॥ ३ ॥

एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'ऐसा ही होगा । जाओ ।'

उनके ऐसा कहनेपर धुन्धुने मस्तक झुकाकर उनके चरणोंका स्पर्श किया और वहाँसे चला गया ॥ ४ ॥

स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः।
अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ॥ ५ ॥

जब धुन्धु वर पाकर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो गया, तब उसे अपने पिता मधु और कैटभके वधका स्मरण हो आया और वह शीघ्रतापूर्वक भगवान् विष्णुके पास गया ॥ ५ ॥

स तु देवान् सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः।
बबाध सर्वानसकृद् विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ॥ ६ ॥

धुन्धु अमर्षमें भरा हुआ था। उसने गन्धर्वसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीतकर भगवान् विष्णु तथा अन्य देवताओंको बार-बार महान् कष्ट देना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

समुद्रे बालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ॥ ७ ॥
बाधते स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं विभो।
अन्तर्भूमिगतस्तत्र बालुकान्तर्हितस्तथा ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह दुष्टात्मा बालुकामय प्रसिद्ध उज्जालक समुद्रमें आकर रहने और उस देशके निवासियोंको सताने लगा। राजन् ! वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर धरतीके भीतर बालूमें छिपकर वहाँ उत्तङ्कके आश्रममें भी उपद्रव करने लगा॥

मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः।
शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन् पावकार्चिषः।

मधु और कैटभका वह भयंकर पराक्रमी पुत्र धुन्धु तपोबलका आश्रय ले सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये वहाँ मरुप्रदेशमें शयन करता था। उत्तङ्कके आश्रमके पास साँस ले-लेकर वह आगकी चिनगारियाँ फैलाता था ॥ ९½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ॥ १० ॥
उत्तङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसी समय राजा कुवलाश्वने अपनी सेना, सवारी तथा पुत्रोंके साथ प्रस्थान किया। उनके साथ विप्रवर उत्तङ्क भी थे ॥ १०-११ ॥

सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥ १२ ॥

शत्रुमर्दन महाराज कुवलाश्व अपने इक्कीस हजार बलवान् पुत्रोंको साथ लेकर (सेनासहित) चले थे ॥ १२ ॥

तमाविशत् ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः।
उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १३ ॥

तदनन्तर उत्तङ्कके अनुरोधसे सम्पूर्ण जगत्‌का हित करनेके लिये सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुने अपने तेजोमय स्वरूपसे कुवलाश्वमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत्।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ॥ १४ ॥

उन दुर्धर्षवीर कुवलाश्वके यात्रा करनेपर देवलोकमें अत्यन्त हर्षपूर्ण कोलाहल होने लगा। देवता कहने लगे—'ये श्रीमान् नरेश अवध्य हैं, आज धुन्धुको मारकर ये 'धुन्धुमार' नाम धारण करेंगे ॥ १४ ॥

दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्यवारयन्।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ॥ १५ ॥

देवतालोग चारों ओरसे उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे। देवताओंकी दुन्दुभियाँ स्वयं बिना किसी प्रेरणाके बज उठीं ॥ १५ ॥

शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः।
विपांसुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १६ ॥

उन बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके यात्राकालमें शीतल वायु चलने लगी। देवराज इन्द्र धरतीकी धूल शान्त करनेके लिये वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

अन्तरिक्षे विमानादि देवतानां युधिष्ठिर।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! जहाँ महान् असुर 'धुन्धु' रहता था, वहीं आकाशमें देवताओंके विमान आदि दिखायी देने लगे ॥ १७ ॥

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन् महर्षयः ॥ १८ ॥

कुवलाश्व और धुन्धुका युद्ध देखनेके लिये उत्सुक हो देवताओं और गन्धर्वोंके साथ महर्षि भी आकर डट गये और वहाँकी सारी बातोंपर दृष्टिपात करने लगे ॥ १८ ॥

नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम् ॥ १९ ॥
अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः।

कुरुनन्दन ! उस समय भगवान् नारायणके तेजसे परिपुष्ट हो राजा कुवलाश्व अपने उन पुत्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचे और शीघ्र ही चारों ओरसे उस बालुकामय समुद्रको खुदवाने लगे ॥ १९½ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै वालुकार्णवे ॥ २० ॥
सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः।

कुवलाश्वके पुत्रोंने सात दिनोंतक खुदाई करनेके बाद उस बालुकामय समुद्रमें (छिपे हुए) महाबली धुन्धुको देखा ॥ २०½ ॥

आसीद् घोरं वपुस्तस्य बालुकान्तर्हितं महत् ॥ २१ ॥
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ।

बालूके भीतर छिपा हुआ उसका शरीर विशाल एवं भयंकर था। भरतश्रेष्ठ ! वह अपने तेजसे सूर्यके समान उद्दीप्त हो रहा था ॥ २१½ ॥

ततो धुन्धुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥ २२ ॥
सुप्तोऽभूद् राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः।

महाराज ! तदनन्तर धुन्धु पश्चिम दिशाको घेरकर सो गया। नृपश्रेष्ठ ! उसकी कान्ति प्रलयकालीन अग्निके समान जान पड़ती थी ॥ २२½ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ॥ २३ ॥
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥ २४ ॥
स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः।
क्रुद्धश्चाभक्षयत् तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २५ ॥

उस समय राजा कुवलाश्वके पुत्रोंने सब ओरसे घेरकर उसपर आक्रमण किया। तीखे बाण, गदा, मुसल, पट्टिश, परिघ, प्रास और चमचमाते हुए तेजधारवाले खड्ग—इन सबके द्वारा चोट खाकर महाबली धुन्धु क्रोधित हो गया और उनके चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको वह क्रोधी असुर खा गया ॥ २३–२५ ॥

आस्याद् वमन् पावकं स संवर्तकसमं तदा।
तान् सर्वान् नृपतेः पुत्रानदहत् स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उसने अपने मुँहसे प्रलयकालीन अग्निके समान आगकी चिनगारियाँ उगलना आरम्भ किया और उन समस्त राजकुमारोंको अपने तेजसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ २६ ॥

मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ॥ २७ ॥
सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत्।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे पूर्वकालमें भगवान् कपिलने कुपित होकर राजा सगरके सभी पुत्रोंको क्षणभरमें दग्ध कर दिया था, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए धुन्धुने, मानो वह सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट कर देना चाहता हो, अपने मुखसे आग प्रकट करके कुवलाश्वके पुत्रोंको जला दिया। यह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ॥ २७½ ॥

तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ॥ २८ ॥
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम्[1]।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब सभी राजकुमार धुन्धुकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, तब महातेजस्वी राजा कुवलाश्वने दूसरे कुम्भकर्णके समान जगे हुए उस महाकाय दानवपर आक्रमण किया ॥

तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः।
तदापीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ॥ ३० ॥
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा।

महाराज ! उस समय धुन्धुके शरीरसे बहुत-सा जल प्रवाहित होने लगा, किंतु राजा कुवलाश्वने योगी होनेके कारण योगबलसे उस जलमय तेजको पी लिया और जल प्रकट करके धुन्धुकी मुखाग्निको बुझा दिया ॥ ३०½ ॥

ब्रह्मास्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ॥ ३१ ॥
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम् ॥ ३२ ॥
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः।

राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिये राजर्षि कुवलाश्वने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके उस क्रूर पराक्रमी दैत्य धुन्धुको दग्ध कर दिया। इस प्रकार ब्रह्मास्त्र-द्वारा शत्रुनाशक, देववैरी महान् असुर धुन्धुको दग्ध करके राजा कुवलाश्व दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ ३१-३२½ ॥

धुन्धोर्वधात् तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ॥ ३३ ॥
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत्।

उस समय महामना राजा कुवलाश्व धुन्धुको मारनेके कारण 'धुन्धुमार' नामसे विख्यात हो गये। उनका सामना करनेवाला वीर कोई नहीं रह गया था ॥ ३३½ ॥

---

१. यह मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके प्रति द्वापरके समय कहा हुआ वचन है। उन्होंने त्रेतामें हुए कुम्भकर्णकी उपमा दी है।

प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ॥ ३४ ॥
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा ।
अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महर्षियोंसहित सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होकर वहाँ आये और राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजन्! उनकी बात सुनकर कुवलाश्व अत्यन्त प्रसन्न हुए और हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर इस प्रकार बोले—॥ ३४-३५ ॥

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः ।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद् भूतेष्वद्रोह एव च॥ ३६ ॥

'देवताओ ! मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करूँ, शत्रुओंके लिये दुर्जय बना रहूँ, भगवान् विष्णुके साथ सख्य-भावसे मेरा प्रेम हो और किसी भी प्राणीके प्रति मेरे मनमें द्रोह न रह जाय ॥ ३६ ॥

धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः ।
तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ॥ ३७ ॥

'धर्ममें मेरा सदा अनुराग हो और अन्तमें मेरा स्वर्ग-लोकमें नित्य निवास हो।' यह सुनकर देवताओंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा कुवलाश्वसे कहा—'महाराज ! ऐसा ही होगा' ॥ ३७ ॥

ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तङ्केन च धीमता ।
सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ॥ ३८ ॥

राजन् ! तदनन्तर ऋषियों, गन्धर्वों और बुद्धिमान् महर्षि उत्तङ्कने भी नाना प्रकारके आशीर्वाद देते हुए राजासे वार्तालाप किया ॥ ३८ ॥

देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन् ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर ! इसके बाद देवता और महर्षि अपने-अपने स्थानको चले गये। उस युद्धमें राजा कुवलाश्वके तीन ही पुत्र शेष रह गये थे ॥ ३९ ॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत ।
तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।

भारत ! उनके नाम थे दृढाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व। राजन् ! महाभाग ! उन्हींसे अमित तेजस्वी इक्ष्वाकुवंशी महामना नरेशोंकी वंश-परम्परा चालू हुई ॥ ४०½ ॥

एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ॥ ४१ ॥
धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः ।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः ॥ ४२ ॥

सज्जनशिरोमणे ! इस प्रकार मधुकैटभ-कुमार महादैत्य धुन्धु कुवलाश्वके हाथसे मारा गया और राजा कुवलाश्वकी धुन्धुमार नामसे प्रसिद्धि हुई ॥ ४१-४२ ॥

नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत् ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।

तभीसे वे नरेश अपने नामके अनुसार वीरता आदि गुणोंसे युक्त हो भूमण्डलमें विख्यात हो गये। युधिष्ठिर ! तुमने मुझसे जो पूछा था, वह सारा धुन्धुमारोपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। जिनके पराक्रमसे इस उपाख्यानकी प्रसिद्धि हुई है, उन नरेशका भी परिचय दे दिया ॥ ४३½ ॥

इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम् ॥ ४४ ॥
शृणुयाद् यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।
आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ।
न च व्याधिभयं किंचित्प्राप्नोति विगतज्वरः॥ ४५ ॥

जो मनुष्य भगवान् विष्णुके कीर्तनरूप इस पवित्र उपाख्यानको सुनता है, वह धर्मात्मा और पुत्रवान् होता है; जो पर्वोंपर इस कथाको सुनता है, वह दीर्घायु तथा ऐश्वर्यशाली होता है। उसे रोग आदिका कुछ भी भय नहीं होता। उसकी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्री तथा पिता-माताकी सेवाका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने महातेजस्वी मार्कण्डेय मुनिसे धर्मविषयक प्रश्न किया, जो समझनेमें अत्यन्त कठिन था ॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ॥ २ ॥

वे बोले—'भगवन् ! मैं आपके मुखसे (पतिव्रता) स्त्रियोंके सूक्ष्म, धर्मसम्मत एवं उत्तम माहात्म्यका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम।
यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ॥ ४ ॥

'भगवन्! श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे! इस जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता दिखायी देते हैं। भृगुनन्दन! इसके सिवा अन्य जो देवतारूपसे स्थापित देवविग्रह हैं, ये भी प्रत्यक्ष देवताओंकी ही कोटिमें हैं' ॥ ३-४ ॥

मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥

'समस्त गुरुजन और पतिव्रता नारियाँ भी समादरके योग्य हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतिकी जैसी सेवा-शुश्रूषा करती हैं; वह दूसरे किसीके लिये मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो।
निरुद्ध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ ॥ ६ ॥
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ॥ ७ ॥

'प्रभो! आप अब हमें पतिव्रता स्त्रियोंकी महिमा सुनावें। निष्पाप महर्षे! जो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई मनको वशमें करके अपने पतिका देवताके समान ही चिन्तन करती रहती हैं, वे नारियाँ धन्य हैं। प्रभो! भगवन्! उनका वह त्याग और सेवाभाव मुझे तो अत्यन्त कठिन जान पड़ता है ॥ ६-७ ॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! पुत्रोंद्वारा माता-पिताकी सेवा तथा स्त्रियोंद्वारा की हुई पतिकी सेवा बहुत कठिन है। स्त्रियोंके इस कठोर धर्मसे बढ़कर और कोई दुष्कर कार्य मुझे नहीं दिखायी देता है ॥ ८ ॥

साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरं च वै ॥ ९ ॥
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत।

'ब्रह्मन्! समाजमें सदा आदर पानेवाली सदाचारिणी स्त्रियाँ जो महान् कार्य करती हैं, वह अत्यन्त कठिन है। जो लोग पिता-माताकी सेवा करते हैं, उनका कर्म भी बहुत कठिन है। पतिव्रता तथा सत्यवादिनी स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर धर्मका पालन करती हैं ॥ ९½ ॥

कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं संधारयन्ति याः ॥ १० ॥
नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः।

'स्त्रियाँ अपने उदरमें दस महीनेतक जो गर्भ धारण करती हैं और यथासमय उसको जन्म देती हैं, इससे अद्भुत कार्य और कौन होगा? ॥ १०½ ॥

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ॥ ११ ॥
प्रजायन्ते सुतान् नार्यो दुःखेन महता विभो।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव ॥ १२ ॥

'भगवन्! अपनेको भारी प्राणसंकटमें डालकर और अतुल वेदनाको सहकर नारियाँ बड़े कष्टसे संतान उत्पन्न करती हैं! विप्रवर! फिर बड़े स्नेहसे उनका पालन भी करती हैं ॥ ११-१२ ॥

याश्च क्रूरेषु सत्त्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥ १३ ॥

'जो सती-साध्वी स्त्रियाँ क्रूर स्वभावके पतियोंकी सेवामें रहकर उनके तिरस्कारका पात्र बनकर भी सदा अपने सती-धर्मका पालन करती रहती हैं, वह तो मुझे और भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ॥ १४ ॥

'ब्रह्मन्! आप मुझे क्षत्रियोंके धर्म और आचारका तत्त्व भी विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर! जो क्रूर स्वभावके मनुष्य हैं, उनके लिये महात्माओंका धर्म अत्यन्त दुर्लभ है ॥

एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १५ ॥

भगवन्! भृगुकुलशिरोमणे! आप उत्तम व्रतके पालक और प्रश्नका समाधान करनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं। मैंने जो प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसीका उत्तर मैं आपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १६ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी मैं अब इसका यथावत् समाधान करूँगा। तुम मेरे मुखसे सुनो ॥ १६ ॥

मातॄस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥ १७ ॥

कुछ लोग माताओंको गौरवकी दृष्टिसे बड़ी मानते हैं। दूसरे लोग पिताको महत्त्व देते हैं। परंतु माता जो अपनी संतानोंको पाल-पोसकर बड़ा बनाती है, वह उसका कठिन कार्य है ॥ १७ ॥

तपसा देवतेज्याभिवन्दनेन तितिक्षया।
सुप्रशस्तैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान् ॥ १८ ॥

माता-पिता तपस्या, देवपूजा, वन्दना, तितिक्षा तथा अन्य श्रेष्ठ उपायोंद्वारा भी पुत्रोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १८ ॥

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥ १९ ॥

वीर ! इस प्रकार बड़ी कठिनाईसे परम दुर्लभ पुत्रको पाकर लोग सदा इस चिन्तामें डूबे रहते हैं कि न जाने यह किस तरहका होगा ॥ १९ ॥

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥ २० ॥

भारत ! पिता और माता अपने पुत्रोंके लिये यश, कीर्ति और ऐश्वर्य, संतान तथा धर्मकी शुभकामना करते हैं ॥ २० ॥

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ॥ २१ ॥
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।

राजेन्द्र ! जो उन दोनोंकी आशाको सफल करता है, वही पुत्र धर्मज्ञ है । जिसके माता-पिता उससे सदा संतुष्ट रहते हैं, उसे इहलोक और परलोकमें भी अक्षय कीर्ति और शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ २१½ ॥

नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ॥ २२ ॥
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

नारीके लिये किसी यज्ञकर्म, श्राद्ध और उपवासकी आवश्यकता नहीं है । वह जो पतिकी सेवा करती है, उसीके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लेती है ॥ २२½ ॥

एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ॥ २४ ॥

राजा युधिष्ठिर ! इसी प्रकरणमें पतिव्रताओंके नियत धर्मका वर्णन किया जायगा । तुम सावधान होकर सुनो ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रताके उपाख्यानके अन्तर्गत ब्राह्मणोंके धर्मका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कौशिक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था । जो वेदका अध्ययन करनेवाला, तपस्याका धनी और धर्मात्मा था । वह तपस्वी ब्राह्मण सम्पूर्ण द्विजातियोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था ॥ १ ॥

साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ कौशिकने सम्पूर्ण अङ्गोंसहित वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन किया था । एक दिनकी बात है, वह किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था ॥ २ ॥

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥

उस समय उस वृक्षके ऊपर एक बगुली छिपी बैठी थी । उसने ब्राह्मण देवताके ऊपर बीट कर दी ॥ ३ ॥

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले ।

यह देख ब्राह्मण क्रोधित हो गया और उस पक्षीकी ओर दृष्टि डालकर उसका अनिष्टचिन्तन करने लगा । उसने अत्यन्त कुपित होकर उस बगुलीको देखा और उसका]

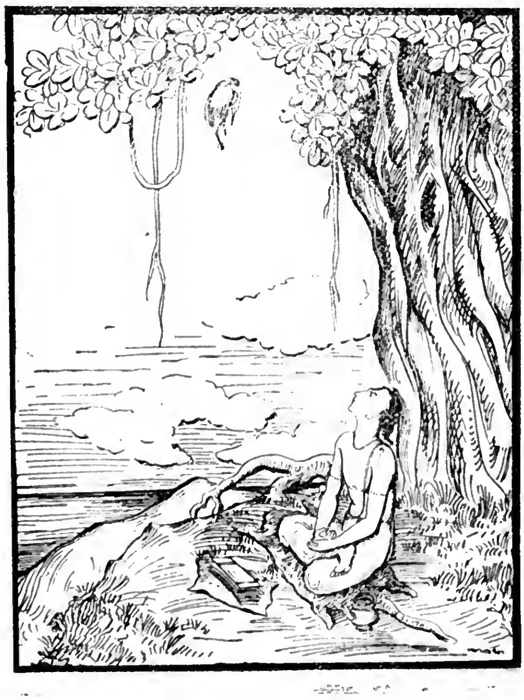

अनिष्टचिन्तन किया था अतः वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४½ ॥

बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ॥ ५ ॥
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ॥ ६ ॥

उस बगुलीको अचेत एवं निष्प्राण होकर पड़ी देख ब्राह्मणका हृदय दयासे द्रवित हो उठा । उसे अपने इस कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । वह इस प्रकार शोक प्रकट करता हुआ बोला—'ओह ! आज क्रोध और आसक्तिके वशीभूत होकर मैंने यह अनुचित कार्य कर डाला' ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ॥ ७ ॥
प्रविष्टस्तत् कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार बार-बार पछताकर वह विद्वान् ब्राह्मण गाँवमें भिक्षाके लिये गया । उस गाँवमें जो लोग शुद्ध और पवित्र आचरणवाले थे, उन्हींके घरोंपर भिक्षा माँगता हुआ वह एक ऐसे घरपर जा पहुँचा, जहाँ पहले भी कभी भिक्षा प्राप्त कर चुका था । दरवाजेपर पहुँचकर ब्राह्मण बोला—'भिक्षा दें !' भीतरसे किसी स्त्रीने उत्तर दिया—'ठहरो ! (अभी लाती हूँ)' ॥ ७-८ ॥

शौचं तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम् ॥ ९ ॥
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ।

राजन् ! वह घरकी मालकिन थी, जो जूँठे बर्तन माँज रही थी । ज्यों ही वह बर्तन साफ करके उधरसे निवृत्त हुई, त्यों ही उसके पतिदेव सहसा घरपर आ गये । भरतश्रेष्ठ ! वे भूखसे अत्यन्त पीडित थे ॥ ९½ ॥

सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ॥ १० ॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम् ।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ॥ ११ ॥

पतिको आया देख उस श्याम नेत्रोंवाली पतिव्रताने ब्राह्मणको तो उसी दशामें छोड़ दिया और अत्यन्त विनीत भावसे वह पतिकी सेवामें लग गयी । पानी लाकर उसने पतिके पैर धोये, हाथ-मुँह धुलाये और बैठनेको आसन दिया ॥ १०-११ ॥

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा ।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

फिर सुन्दर स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ परोसकर वह पतिको भोजन कराने लगी । युधिष्ठिर ! वह सती स्त्री प्रतिदिन पतिको भोजन कराकर उनके उच्छिष्टको प्रसाद मानकर बड़े आदर और प्रेमसे भोजन करती थी ॥ १२ ॥

दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम् ॥ १३ ॥

वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल ही चलती थी । उसका मन कभी पर-पुरुषकी ओर नहीं जाता था । वह मन, वाणी और क्रियासे पतिपरायणा थी ॥ १३ ॥

तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ॥ १४ ॥

अपने हृदयकी समस्त भावनाएँ, सम्पूर्ण प्रेम पतिके चरणोंमें चढ़ाकर वह अनन्य-भावसे उन्हींकी सेवामें लगी रहती थी । सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे शुद्ध-पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी ॥ १४ ॥

भर्तुश्चापि हितं यत् तत् सततं सानुवर्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ॥ १५ ॥
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ।

पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता, उसमें भी वह सदा संलग्न रहती थी । देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, भृत्योंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी वह सर्वदा तत्पर रहती थी । अपने मन और इन्द्रियोंपर वह निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी ॥ १५½ ॥

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम् ।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ॥ १६ ॥

पतिकी सेवा करते-करते उस मङ्गलमयी दृष्टिवाली देवीको भिक्षाके लिये खड़े हुए ब्राह्मणकी याद आयी ॥ १६ ॥

व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥ १७ ॥

भरतवंशविभूषण ! अपनी भूलके कारण वह यशस्विनी साध्वी स्त्री बहुत लज्जित हुई और ब्राह्मणके लिये भिक्षा लेकर घरसे बाहर निकली ॥ १७ ॥

ब्राह्मण उवाच

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८ ॥

उसे देखकर ब्राह्मणने कहा—सुन्दरी ! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है ? देख ! तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया ? मुझे जाने क्यों नहीं दिया ? ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मण क्रोधसे

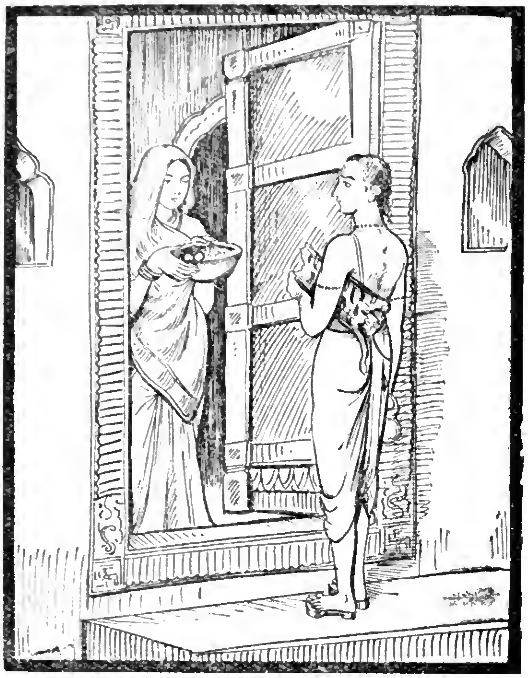

संतप्त हो अपने तेजसे जलता-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर उस पतिव्रता देवीने बड़ी शान्तिसे उत्तर दिया॥ १९॥

स्त्र्युवाच

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत्।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया॥ २०॥

स्त्री बोली—विद्वन्! क्षमा करें। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घरपर आये थे। (उन्हें छोड़कर कैसे आती?) उन्हींकी सेवामें लग गयी॥ २०॥

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे॥ २१॥

तब ब्राह्मण बोला—क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं; तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया? गृहस्थधर्ममें रहकर भी तुम ब्राह्मणोंका अपमान करती हो?॥ २१॥

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया॥ २२॥
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि।

अरी! (स्वर्गलोकके स्वामी) इन्द्र भी इन ब्राह्मणोंके आगे सिर झुकाते हैं, फिर भूतलके मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? घमंडमें भरी हुई स्त्री! क्या तुम ब्राह्मणोंका प्रभाव नहीं जानती? कभी बड़े-बूढ़ोंके मुखसे भी नहीं सुना? अरी! ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो इस पृथ्वीको भी जलाकर भस्म कर सकते हैं॥ २२½॥

स्त्र्युवाच

नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन॥ २३॥
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि।
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः॥ २४॥

स्त्री बोली—तपोधन! क्रोध न करो। ब्रह्मर्षे! मैं बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे? मैं ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करती। मनस्वी ब्राह्मण तो देवताके समान होते हैं॥ २३-२४॥

अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम्॥ २५॥

निष्पाप ब्राह्मण! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ॥ २५॥

अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम्॥ २६॥
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति।

ब्राह्मणोंके ही क्रोधका फल है कि समुद्रका पानी खारा एवं पीनेके अयोग्य बना दिया गया। इसी प्रकार जिनकी तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और जिनका अन्तःकरण परम पवित्र हो चुका था, ऐसे मुनियोंने भी जो क्रोधकी आग प्रज्वलित की थी, वह आज भी दण्डकारण्यमें बुझ नहीं पा रही है॥ २६½॥

ब्राह्मणानां परिभवाद् वातापिः सुदुरात्मवान्॥ २७॥
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः।

ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेसे ही क्रूर स्वभाववाला महान् असुर अत्यन्त दुरात्मा वातापि अगस्त्य मुनिके पेटमें जाकर पच गया॥ २७½॥

बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम्॥ २८॥
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम्।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ॥ २९॥

ब्रह्मन्! महात्मा ब्राह्मणोंके प्रभावको बतानेवाले बहुत-से चरित्र सुने जाते हैं। उन महात्माओंका क्रोध और कृपा दोनों ही महान् होते हैं। निष्पाप ब्रह्मन्! मेरे द्वारा जो तुम्हारा अपराध बन गया है, उसे क्षमा करो॥ २८-२९॥

पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्॥ ३०॥

विप्रवर! मुझे तो पतिकी सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। सम्पूर्ण देवताओंमें भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं॥ ३०॥

अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम्॥ ३१॥

द्विजश्रेष्ठ! मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। ब्राह्मणदेवता! इस पतिसेवाका जैसा फल है, उसे प्रत्यक्ष देख लो॥ ३१॥

बलाका हि त्वया दग्धा रोषात् तद् विदितं मया।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम॥ ३२॥

तुमने क्रोध करके जो एक बगुलीको जला दिया था, वह बात मुझे मालूम हो गयी। द्विजश्रेष्ठ! मनुष्योंका एक बहुत बड़ा शत्रु है। वह उनके शरीरमें ही रहता है। उसका नाम है 'क्रोध'॥ ३२॥

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च॥ ३३॥
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जो क्रोध और मोहको त्याग देता है, उसीको देवतागण ब्राह्मण मानते हैं। जो यहाँ सत्य बोले, गुरुको संतुष्ट रक्खे, किसीके द्वारा मार खाकर भी बदलेमें उसे न मारे, उसको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥ ३३½॥

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः॥ ३४॥
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायतत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिसके वशमें हैं, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥ ३४½॥

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः॥ ३५॥
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुषका सम्पूर्ण जगत्‌के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मोंपर जिसका समान अनुराग है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥ ३५½॥

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयीत वा॥ ३६॥
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जो पढ़े और पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये तथा यथाशक्ति दान दे, उसे देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं॥ ३६½॥

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः॥ ३७॥
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन करे, उदार बने, वेदोंका अध्ययन करे और सतत सावधान रहकर स्वाध्यायमें ही लगा रहे, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥ ३७½॥

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत्॥ ३८॥
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः।

ब्राह्मणके लिये जो हितकर कर्म हो, उसीका उनके सामने वर्णन करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले लोगोंका मन कभी असत्यमें नहीं लगता॥ ३८½॥

धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम्॥ ३९॥
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम।

द्विजश्रेष्ठ! स्वाध्याय, मनोनिग्रह, सरलता और इन्द्रियनिग्रह–ये ब्राह्मणके लिये सनातन धर्म कहे गये हैं॥ ३९½॥

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः॥ ४०॥
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम्॥ ४१॥

धर्मज्ञ पुरुष सत्य और सरलताको सर्वोत्तम धर्म बताते हैं। सनातनधर्मके स्वरूपको जानना तो अत्यन्त कठिन है, परंतु वह सत्यमें प्रतिष्ठित है। जो वेदोंके द्वारा प्रमाणित हो, वही धर्म है–यह वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है॥ ४०-४१॥

बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः॥ ४२॥

द्विजश्रेष्ठ! बहुधा धर्मका स्वरूप सूक्ष्म ही देखा जाता है। तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो॥ ४२॥

न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज॥ ४३॥
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम्।

भगवन्! तो भी मेरा विचार यह है कि तुम्हें धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है। विप्रवर! यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछो॥ ४३½॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥ ४४॥
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम॥ ४५॥

मिथिलामें एक व्याध रहता है, जो माता-पिताका सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें धर्मका उपदेश करेगा। द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी रुचिके अनुसार वहीं जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो॥ ४४-४५॥

अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः॥ ४६॥

अनिन्दनीय ब्राह्मण! यदि मेरे मुखसे कोई अनुचित बातें निकल गयी हों तो उन सबके लिये मुझे क्षमा करें; क्योंकि जो धर्मज्ञ पुरुष हैं, उन सबकी दृष्टिमें स्त्रियाँ अदण्डनीय हैं॥ ४६॥

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने।
उपालम्भस्त्वयाप्युक्तो मम निःश्रेयसं परम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने॥ ४७॥
(धन्या त्वमसि कल्याणि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम्।)

ब्राह्मण बोला—शुभे ! तुम्हारा भला हो । मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । मेरा सारा क्रोध दूर हो गया । तुमने जो उलाहना दिया है, वह अनुचित वचन नहीं, मेरे लिये परम कल्याणकारी है । शोभने ! तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं जाऊँगा और अपना कार्यसाधन करूँगा । कल्याणि ! तुम धन्य हो, जिसका सदाचार इतनी उच्चकोटिका है ॥ ४७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥ ४८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस साध्वी स्त्रीसे विदा लेकर वह द्विजश्रेष्ठ कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करता हुआ अपने घरको लौट गया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिकका धर्मव्याधके पास जाना, धर्मव्याधके द्वारा पतिव्रतासे प्रेषित जान लेनेपर कौशिकको आश्चर्य होना, धर्मव्याधके द्वारा वर्णधर्मका वर्णन, जनकराज्यकी प्रशंसा और शिष्टाचारका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस पतिव्रता देवीकी कही हुई सारी बातोंपर विचार करके कौशिक ब्राह्मण-को बड़ा आश्चर्य हुआ । वह अपने-आपको धिक्कारता हुआ अपराधी-सा जान पड़ने लगा ॥ १ ॥

चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥

फिर अपने धर्मकी सूक्ष्म गतिपर विचार करके वह मन-ही-मन बोला—'मुझे (उस सतीके कथनपर) श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये; अतः मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा ॥ २ ॥

कृतात्मा धर्मवित् तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ॥ ३ ॥

'कहते हैं, वहाँ एक पुण्यात्मा धर्मज्ञ व्याध निवास करता है । मैं, उस तपोधन व्याधसे धर्मकी बात पूछनेके लिये आज ही उसके पास जाऊँगा' ॥ ३ ॥

इति संचिन्त्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ॥ ४ ॥
सम्प्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वह कौतूहलवश मिथिला-पुरीकी ओर चल दिया । पतिव्रता स्त्री बगुली पक्षीवाली घटना स्वयं जान गयी थी और उसने धर्मानुकूल शुभ वचनोंद्वारा उपदेश दिया था, इन कारणोंसे उसकी बातोंपर कौशिक ब्राह्मणकी बड़ी श्रद्धा हो गयी थी ॥ ४½ ॥

अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ॥ ५ ॥
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ॥ ६ ॥

वह अनेकानेक जंगलों, गाँवों तथा नगरोंको पार करता हुआ राजा जनकके द्वारा सुरक्षित, धर्मकी मर्यादासे व्याप्त तथा यज्ञसम्बन्धी उत्सवोंसे सुशोभित– सुन्दर मिथिला-पुरीमें जा पहुँचा ॥ ५-६ ॥

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ॥ ७ ॥
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ॥ ८ ॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ॥ ९ ॥

बहुत-से गोपुर, अट्टालिकाएँ, महल और चहारदीवारियाँ उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं । वह रमणीय पुरी बहुत-से विद्वानोंसे युक्त थी तथा बहुत-सी दुकानें उस पुरीका सौन्दर्य बढ़ाती थीं । सुन्दर ढंगसे बनायी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें शोभा पा रही थीं । बहुसंख्यक घोड़े, रथ, हाथी और सैनिकोंसे संयुक्त मिथिलापुरी हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई थी । वहाँ नित्य नाना प्रकारके उत्सव होते रहते थे और अनेक प्रकारकी घटनाएँ घटित होती थीं । ब्राह्मणने उस पुरीमें प्रवेश करके सब ओर घूम-घामकर उसे अच्छी तरह देखा ॥ ७–९ ॥

धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत् तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ॥ १० ॥
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतॄणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ॥ ११ ॥

वहाँ उसने लोगोंसे धर्मव्याधका पता पूछा और ब्राह्मणोंने उसे उसका स्थान बता दिया । कौशिकने वहाँ जाकर देखा कि तपस्वी धर्मव्याध कसाईखानेमें बैठकर सूअर, भैंसे आदि पशुओंका मांस बेच रहा है । वहाँ ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी, इसलिये कौशिक एकान्तमें जाकर खड़ा हो गया ॥ १०-११ ॥

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको आया हुआ जानकर व्याध सहसा शीघ्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ और उस स्थानपर आ गया, जहाँ ब्राह्मण एकान्त स्थानमें खड़ा था ॥ १२ ॥

व्याध उवाच

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम्॥ १३ ॥

व्याध बोला—भगवन् ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । द्विजश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है ! मैं ही वह व्याध हूँ (जिसकी खोजमें आपने यहाँतक आनेका कष्ट किया है) । आपका भला हो, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ ? ॥१३॥

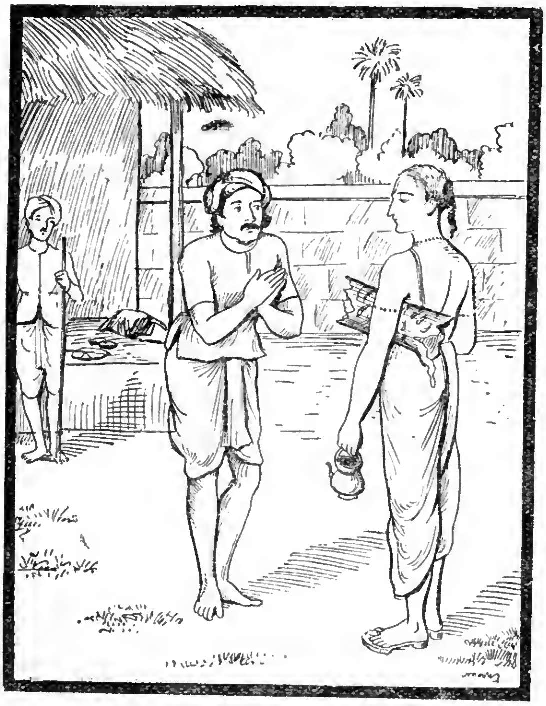

एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ १४ ॥

उस पतिव्रता देवीने जो आपसे यह कहकर भेजा है कि 'तुम मिथिलापुरीको जाओ ।' वह सब मैं जानता हूँ । आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह भी मुझे मालूम है ॥१४॥

श्रुत्वा च तस्य तद् वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजः ॥ १५ ॥

व्याधकी वह बात सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है' ॥ १५ ॥

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ॥ १६ ॥

इसके बाद व्याधने कहा—'भगवन् ! यह स्थान आपके ठहरनेयोग्य नहीं है । अनघ ! यदि आपकी रुचि हो तो हम दोनों हमारे घरपर चलें' ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ॥ १७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ । उसने व्याधसे कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करो ।' तब व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरकी ओर चला ॥ १७ ॥

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
अर्घ्येण च स वै तेन व्याधेन द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥

व्याधका घर बहुत सुन्दर था । वहाँ पहुँचकर उस व्याधने ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन दिया और अर्घ्य देकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आदरसहित पूजा की ॥ १८ ॥

ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद् वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १९ ॥

सुखपूर्वक बैठ जानेपर ब्राह्मणने व्याधसे कहा—'तात ! यह मांस बेचनेका काम निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है । मुझे तो तुम्हारे इस घोर कर्मसे बहुत संताप हो रहा है' ॥

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ २० ॥

व्याध बोला—ब्रह्मन् ! यह काम मेरे बाप-दादोंके समयसे होता चला आ रहा है । मेरे कुलके लिये जो उचित है, वही धंधा मैंने भी अपनाया है । मैं अपने धर्मका ही पालन कर रहा हूँ; अतः आप मुझपर क्रोध न करें ॥ २० ॥

विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! विधाताने इस कुलमें जन्म देकर मेरे लिये जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिताकी बड़े यत्नसे सेवा करता रहता हूँ ॥२१॥

सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ॥ २२ ॥

सत्य बोलता हूँ ! किसीकी निन्दा नहीं करता और अपनी शक्तिके अनुसार दान भी करता हूँ । देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनों तथा सेवकोंको भोजन देकर जो बचता है, उसीसे शरीरका निर्वाह करता हूँ ॥ २२ ॥

न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ॥ २३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! किसीके दोषोंकी चर्चा नहीं करता और अपनेसे बलिष्ठ पुरुषकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि पहलेके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम स्वयं कर्ताको ही भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ॥ २४ ॥

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, दण्डनीति और त्रयीविद्या—ऋक्, यजु, सामके अनुसार यज्ञादिका अनुष्ठान करना और कराना ये लोगोंकी जीविकाके साधन हैं। इनसे ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव होती है॥ २४॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ २५ ॥

शूद्रका कर्तव्य है सेवा कर्म, वैश्यका कार्य है खेती और युद्ध करना क्षत्रियका कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र-जप, वेदाध्ययन तथा सत्यभाषण–ये सदा ब्राह्मणके पालन करनेयोग्य धर्म हैं ॥ २५ ॥

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित् तान् युनक्ति स्वकर्मसु ॥ २६ ॥

राजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें लगी हुई प्रजाका धर्मपूर्वक शासन करता है और जो कोई अपने कर्मोंसे गिरकर विपरीत दिशामें जा रहे हों, उन्हें पुनः अपने कर्तव्यके पालनमें लगाता है ॥ २६ ॥

भेतव्यं हि सदा राज्ञः प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयन्ति विकर्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः ॥ २७ ॥

इसलिये राजाओंसे सदा डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे प्रजाके स्वामी हैं। जो लोग धर्मके विपरीत कार्य करते हैं, उन्हें राजा दण्डद्वारा उसी प्रकार पापसे रोकते हैं, जैसे बाणोंद्वारा वे हिंसक पशुओंको हिंसासे रोकते हैं ॥ २७ ॥

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २८ ॥

ब्रह्मर्षे ! यह राजा जनकका नगर है, यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है, जो वर्ण-धर्मके विरुद्ध आचरण करे। द्विजश्रेष्ठ ! यहाँ चारों वर्णोंके लोग अपना-अपना कर्म करते हैं ॥२८॥

स एव जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम् ।
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम्॥२९॥

ये राजा जनक दुराचारीको, वह अपना पुत्र ही क्यों न हो, दण्डनीय मानकर दण्ड देते ही हैं तथा किसी भी धर्मात्माको कष्ट नहीं पहुँचने देते हैं ॥ २९ ॥

सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥ ३० ॥

विप्रवर ! राजा जनकने सब ओर गुप्तचर लगा रक्खे हैं अतः उनके द्वारा वे धर्मानुसार सबपर दृष्टि रखते हैं। सम्पत्तिका उपार्जन, राज्यकी रक्षा तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं ॥ ३० ॥

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३१ ॥

राजालोग अपने धर्मका पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पानेकी इच्छा रखते हैं और राजा सभी वर्णोंका रक्षक होता है ॥ ३१ ॥

परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! मैं स्वयं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता। सदा दूसरोंके मारे हुए सूअर और भैंसोंका मांस बेचता हूँ ॥३२॥

न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ॥ ३३ ॥

मैं स्वयं मांस कभी नहीं खाता। ऋतुकाल प्राप्त होनेपर ही पत्नी समागम करता हूँ। द्विजप्रवर ! मैं दिनमें सदा ही उपवास और रातमें भोजन करता हूँ ॥ ३३ ॥

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ॥ ३४ ॥

शीलसे रहित पुरुष भी कभी शीलवान् हो जाता है। प्राणियोंकी हिंसामें अनुरक्त मनुष्य भी फिर धर्मात्मा हो जाता है ॥ ३४ ॥

व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ॥ ३५ ॥

राजाओंके व्यभिचार-दोषसे धर्म अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है, इससे प्रजामें वर्णसंकरता आ जाती है ॥ ३५ ॥

भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्तेऽत्युच्चलोचनाः ॥३६॥

उस दशामें भयंकर आकृतिवाले, बौने, कुबड़े, मोटे मस्तकवाले, नपुंसक, अंधे, बहरे और अधिक ऊँचे नेत्रोंवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ।
स एव राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ॥ ३७ ॥

राजाओंके अधर्मपरायण होनेसे प्रजाकी सदा अवनति होती है। हमारे ये राजा जनक समस्त प्रजाको धर्मपूर्ण दृष्टिसे ही देखते हैं ॥ ३७ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा।
(पात्येव राजा जनकः पितृवज्जनसत्तम।)
ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः॥ ३८॥
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम्।

नरश्रेष्ठ ! राजा जनक सदा स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाली सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह रखते हुए उसका पिताकी भाँति सदा पालन करते हैं। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं और जो निन्दा करते हैं, उन सबको अपने सद्व्यवहारसे संतुष्ट रखता हूँ॥

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः॥ ३९॥
न किंचिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः।

जो राजा अपने धर्मका पालन करते हुए जीवननिर्वाह करते हैं, धर्ममें ही संयुक्त रहते हैं, किसी दूसरेकी कोई वस्तु अपने उपयोगमें नहीं लाते तथा सदा अपनी इन्द्रियोंपर संयम रखते हैं, वे ही उन्नतिशील होते हैं॥ ३९½॥

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता॥ ४०॥
यथार्हं प्रति पूजा च सर्वभूतेषु वै सदा।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे॥ ४१॥

अपनी शक्तिके अनुसार सदा दूसरोंको अन्न देना, दूसरोंके अपराध तथा शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करना, सदा धर्ममें दृढतापूर्वक लगे रहना तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें सभी पूजनीय पुरुषोंका यथायोग्य पूजन करना—ये मनुष्योंके सद्गुण पुरुषमें स्वार्थत्यागके बिना नहीं रह पाते हैं॥ ४०-४१॥

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्॥ ४२॥

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे, काम, क्रोध तथा द्वेषसे भी कभी धर्मका परित्याग न करे॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत्॥ ४३॥

प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षसे फूल न उठे, अपने मनके विपरीत कोई बात हो जाय तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोहके वशीभूत हो घबराये नहीं और किसी भी अवस्थामें अपना धर्म न छोड़े॥ ४३॥

कर्म चेत्किंचिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत्।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत्॥ ४४॥

यदि भूलसे कभी कोई निन्दित कर्म बन जाय, तो फिर दुबारा वैसा काम न करे। अपने मन और बुद्धिसे विचार करनेपर जो कल्याणकारी प्रतीत हो, उसी कार्यमें अपनेको लगावे॥ ४४॥

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति॥ ४५॥

यदि कोई अपने साथ बुरा बर्ताव करे, तो स्वयं भी बदलेमें उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरोंका अहित करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है॥ ४५॥

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत्।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये॥ ४६॥
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा॥ ४७॥

यह (दूसरोंका अहित करना) तो दुराचारीकी भाँति दुर्व्यसनोंमें आसक्त हुए पापी पुरुषोंका ही कार्य है। 'धर्म कोई चीज नहीं है' ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचारवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी हँसी उड़ाते हैं, वे धर्मपर अश्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहारकी बड़ी धौंकनीके समान सदा ऊपरसे फूले दिखायी देते हैं (परंतु वास्तवमें सारहीन होते हैं)॥ ४६-४७॥

(साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम।)
मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत्।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान्॥ ४८॥

द्विजश्रेष्ठ ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है। अहंकारी मूढ मनुष्योंकी सोची हुई प्रत्येक बात निःसार होती है। जैसे सूर्य दिनके रूपको प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खोंकी अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूपका दर्शन करा देती है॥ ४८॥

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते॥ ४९॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसाके बलसे जगत्में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो, तो भी संसारमें उसकी ख्याति बढ़ जाती है॥ ४९॥

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते॥ ५०॥

किसी दूसरेकी निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठाकी प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष परनिन्दा और आत्मप्रशंसाका त्याग किये बिना इस भूमण्डलमें सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है॥ ५०॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥ ५१॥

जो मनुष्य पापकर्म बन जानेपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है, वह उस पापसे छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ निश्चय कर लेनेपर वह भविष्यमें होनेवाले दूसरे पापसे भी बच जाता है॥ ५१॥

कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते॥ ५२॥

विप्रवर ! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेपर पापसे छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन् ! धर्मके विषयमें ऐसी श्रुति देखी जाती है ॥ ५२ ॥

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि
प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात्।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां
यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५३ ॥

पहलेका धर्मशील पुरुष भी यदि अनजानमें यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्यकर्मद्वारा) उस पापको नष्ट कर देता है। राजन् ! मनुष्योंका धर्म ही यहाँ प्रमादवश किये हुए उनके पापोंको दूर कर देता है ॥ ५३ ॥

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ५४ ॥

जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ।' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पापको देखते हैं तथा उसीके भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है ॥ ५४ ॥

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ॥ ५५ ॥
(अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापः प्रेत्य नश्यति ॥)

श्रद्धालु मनुष्य दूसरोंके दोष देखना छोड़कर सदा सबके हितकी ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषोंकी ओरसे आँखें बंद करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंके दोषोंको ही कपड़ेके छेदोंकी भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्युके पश्चात् नष्ट हो जाता है—परलोकमें उसे कोई सुख नहीं मिलता है ॥ ५५ ॥

पापं चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ५६ ॥

यदि मनुष्य पाप करके भी कल्याणकारी कर्ममें लग जाता है, तो वह महामेघसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥

जैसे सूर्य उदय होनेपर पहलेके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार कल्याणकारी शुभ कर्मका निष्काम भावसे अनुष्ठान करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

विप्रवर ! लोभको ही पापोंका घर समझो। जिन्होंने अधिकतर शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया है, वे लोभी मनुष्य ही पाप करनेका विचार रखते हैं ॥ ५८ ॥

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५९ ॥

तिनकेसे ढके हुए कुँओंकी भाँति धर्मकी आड़में कितने ही अधर्म चल रहे हैं। धर्मात्माके वेशमें रहनेवाले इन अधार्मिक मनुष्योंमें इन्द्रिय-संयम, पवित्रता और धर्मसम्बन्धी चर्चा आदि सभी गुण तो होते हैं, परंतु उनमें शिष्टाचार (श्रेष्ठ पुरुषोंका-सा आचार-व्यवहार) अत्यन्त दुर्लभ है ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ॥ ६० ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर परम बुद्धिमान् कौशिकने धर्मव्याधसे पूछा—'नरश्रेष्ठ ! मुझे शिष्टाचारका ज्ञान कैसे हो ? ॥ ६० ॥

एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर।
त्वत्तो महामते व्याध तद् ब्रवीहि यथातथम् ॥ ६१ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महामते व्याध ! तुम्हारा भला हो, मैं ये सब बातें तुमसे सुनना चाहता हूँ। अतः यथार्थरूपसे इनका वर्णन करो' ॥ ६१ ॥

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ॥ ६२ ॥

व्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! यज्ञ, दान, तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय और सत्यभाषण— ये पाँच पवित्र वस्तुएँ शिष्ट पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें सदा देखी गयी हैं ॥ ६२ ॥

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम्।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ ६३ ॥

जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको ही अपनाकर संतुष्ट रहते हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं और उन्हींका शिष्ट पुरुष आदर करते हैं ॥६३॥

न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम्।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥ ६४ ॥

वे निरन्तर यज्ञ और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। उनमें स्वेच्छाचार नहीं होता। सदाचारका पालन शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है ॥ ६४ ॥

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६५ ॥

ब्रह्मन् ! शिष्टाचारी पुरुषोंमें गुरुकी सेवा, सत्यभाषण, क्रोधका अभाव तथा दान—ये चार सद्गुण सदा रहते हैं ॥

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ॥ ६६ ॥

मनुष्य शिष्ट पुरुषोंके उपर्युक्त आचारमें मनको सब प्रकारसे स्थापित करके जिस उत्तम स्थितिको प्राप्त करता है, उसकी उपलब्धि और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ॥६६॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥ ६७ ॥

वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है त्याग । यह त्याग शिष्ट पुरुषोंके आचारमें सदा विद्यमान रहता है ॥ ६७ ॥

ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य बुद्धिमोहसे युक्त होकर धर्ममें दोष देखते हैं, वे स्वयं तो कुमार्गगामी होते ही हैं, उनके पीछे चलनेवाला मनुष्य भी कष्ट पाता है ॥ ६८ ॥

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ६९ ॥

जो शिष्ट हैं, वे सदा ही नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और त्यागी होते हैं । धर्मके मार्गपर ही चलते हैं और सत्यधर्मको ही अपना परम आश्रय मानते हैं ॥ ६९ ॥

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ७० ॥

शिष्टाचारपरायण मनुष्य अपनी उत्तम बुद्धिको भी संयममें रखते हैं, गुरुके सिद्धान्तके अनुसार चलते हैं और मर्यादामें स्थित होकर धर्म और अर्थपर दृष्टि रखते हैं ॥७०॥

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान् ।
त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ७१ ॥

इसलिये तुम नास्तिक, धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले, क्रूर तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले पुरुषोंका साथ छोड़ दो और ज्ञानका आश्रय लेकर धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहो ॥

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ ७२ ॥

यह शरीर एक नदी है । पाँच इन्द्रियाँ इसमें जल हैं । काम और लोभरूपी मगर इसके भीतर भरे पड़े हैं । जन्म और मृत्युके दुर्गम प्रदेशमें यह नदी बह रही है । तुम धैर्यकी नावपर बैठो और इसके दुर्गम स्थानों—जन्म आदि क्लेशोंको पार कर जाओ ॥ ७२ ॥

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥ ७३ ॥

जैसे कोई भी रंग सफेद कपड़ेपर ही अच्छी तरह खिलता है, उसी प्रकार शिष्टाचारका पालन करनेवाले पुरुषमें ही क्रमशः संचित किया हुआ बुद्धियोगमय महान् धर्म भलीभाँति प्रकाशित होता है ॥ ७३ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ७४ ॥

अहिंसा और सत्यभाषण—ये समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर हैं । अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परंतु वह सत्यमें ही प्रतिष्ठित है । सत्यके ही आधारपर श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी कार्य आरम्भ होते हैं ॥ ७४ ॥

सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ।
आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥ ७५ ॥

अतः शिष्ट पुरुषोंके आचारमें गृहीत सत्य ही सबसे अधिक गौरवकी वस्तु है । सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म है । सदाचारसे ही संतोंकी पहचान होती है ॥ ७५ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ।
पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥७६॥

जिस जीवकी जैसी प्रकृति होती है, वह अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है । अपने मनको वशमें न रखनेवाला पापात्मा पुरुष ही काम, क्रोध आदि दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ ७७ ॥

'जो आरम्भ न्याययुक्त हो, वही धर्म कहा गया है । इसके विपरीत जो अनाचार है, वह अधर्म है'—ऐसा शिष्ट पुरुषोंका कथन है ॥ ७७ ॥

अक्रुद्ध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः ।
ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ॥ ७८ ॥

जिनमें क्रोधका अभाव है, जो दूसरोंके दोष नहीं देखते, जिनमें अहङ्कार और ईर्ष्याका अभाव है, जो सरल तथा मनोनिग्रहसे सम्पन्न हैं, वे शिष्टाचारी कहलाते हैं ॥ ७८ ॥

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः ।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ॥ ७९ ॥

'जो तीनों वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ, पवित्र, सदाचारी, मनस्वी, गुरुसेवक और जितेन्द्रिय हैं, वे शिष्टाचारी कहे जाते हैं ॥ ७९ ॥

तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ॥ ८० ॥

जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, जिनके आचार और कर्म

पापियोंके लिये कठिन हैं तथा जो संसारमें अपने सत्कर्मोंके द्वारा सत्कृत हैं, उनके हिंसा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं ॥

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यान्ति मनीषिणः ॥ ८१ ॥

जिसका श्रेष्ठ पुरुषोंने पालन किया है, जो अनादि, सनातन और नित्य है, उस धर्मको धर्मदृष्टिसे ही देखनेवाले मनीषी पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ८१ ॥

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः ॥ ८२ ॥

जो आस्तिक, अहंकारशून्य, ब्राह्मणोंका समादर करनेवाले, विद्वान् और सदाचारसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गमें निवास करते हैं ॥ ८२ ॥

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः ।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।

जिसका वेदोंमें वर्णन है, वह धर्मका पहला लक्षण है। धर्मशास्त्रोंमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वह धर्मका दूसरा लक्षण है और शिष्टाचार धर्मका तीसरा लक्षण है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषोंने धर्मके तीन लक्षण स्वीकार किये हैं ॥ ८२½ ॥

धारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ॥ ८३ ॥
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।

सब विद्याओंका अध्ययन, सब तीर्थोंमें स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच (पवित्रता)—ये श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारको लक्षित करानेवाले हैं ॥ ८३½ ॥

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ॥ ८४ ॥
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।

जो समस्त प्राणियोंपर दया करते, सदा अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर रहते और कभी किसीसे कटु वचन नहीं बोलते, ऐसे संत सदा समस्त द्विजोंके प्रिय होते हैं ॥ ८४½ ॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ॥ ८५ ॥
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फलसंचयसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणामको जानते हैं, वे शिष्ट कहे गये हैं और शिष्ट पुरुषोंमें उनका समादर होता है ॥ ८५½ ॥

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ॥ ८६ ॥
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे ।

जो न्यायपरायण, सद्गुणसम्पन्न, सब लोगोंका हित चाहनेवाले, हिंसारहित और सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गलोकपर विजय पाते है ॥ ८६½ ॥

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ॥ ८७ ॥
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ ८८ ॥

जो सबको दान देनेवाले, अपने कुटुम्बीजनोंमें प्रत्येक वस्तुको समानरूपसे बाँटकर उसका उपयोग करनेवाले, दीनजनोंपर कृपाभाव बनाये रखनेवाले, शास्त्रज्ञानके धनी, सबके लिये समादरणीय, तपस्वी और समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित शिष्ट कहे गये हैं ॥

दानशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम् ।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ॥ ८९ ॥
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः ।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ॥ ९० ॥

जो दानसे अवशिष्ट वस्तुका उपयोग करनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें सम्पत्ति और परलोकमें सुखमय लोक प्राप्त करते हैं। शिष्ट पुरुषोंके पास जब उत्तम पुरुष कुछ माँगनेके लिये पधारते हैं, उस समय वे अपनी स्त्री तथा कुटुम्बी जनोंको कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिसे अधिक दान देते हैं। न्यायपूर्वक लोकयात्राका निर्वाह कैसे हो? धर्मकी रक्षा और आत्माका कल्याण किस प्रकार हो? इन्हीं बातोंकी ओर उनकी दृष्टि रहती है ॥ ८९-९० ॥

एवं सन्तो वर्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः ।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ॥ ९१ ॥
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ॥ ९२ ॥
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः ।

ऐसा बर्ताव करनेवाले संत पुरुष अनन्त कालतक उन्नतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो अहिंसा, सत्य-भाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहङ्कारका त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम—इन गुणोंसे युक्त बुद्धिमान्, धैर्यवान्, समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेवाले तथा रागद्वेषसे रहित हैं, वे संत सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रमाणभूत हैं ॥९१-९२½॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ।

श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसीसे द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य ही बोले। यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सर्वोत्तम व्रत है ॥ ९३½ ॥

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ॥ ९४ ॥
गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥ ९५ ॥

जो सर्वत्र दया करते हैं, जिनके हृदयमें करुणाकी अनुभूति होती है, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें अत्यन्त संतुष्ट रहकर धर्मके उत्तम पथपर चलते हैं। जिन्होंने धर्मको अपनाये रखनेका दृढ निश्चय कर लिया है, वे ही महात्मा सदाचारी हैं॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता ।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९६ ॥
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।

दोषदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रियभाषण और काम-क्रोधका त्याग, शिष्टाचारका सेवन और शास्त्रके अनुकूल कर्म करना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका अति उत्तम मार्ग है ॥ ९६ ½॥

शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः ॥ ९७ ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ॥ ९८ ॥
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मात्मा पुरुष सदा शिष्टाचारका सेवन करते हैं और प्रज्ञारूपी प्रासादपर आरूढ़ हो भाँति-भाँतिके लोकचरित्रोंका निरीक्षण तथा अत्यन्त पुण्य एवं पापकर्मोंकी समीक्षा करते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ९७-९८½॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९९ ॥

ब्रह्मन् ! विप्रवर ! इस प्रकार शिष्टाचारके गुणोंके सम्बन्धमें मैंने जैसा जाना और सुना है, वह सब आपसे कह सुनाया है ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२०७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १००½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधद्वारा हिंसा और अहिंसाका विवेचन

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर धर्मव्याधने कौशिक ब्राह्मणसे कहा—'मैं जो यह मांस बेचनेका व्यवसाय कर रहा हूँ, वास्तवमें यह अत्यन्त घोर कर्म है, इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुरा कृतम् ।
पुरा कृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ॥ २ ॥
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् ।

'किंतु ब्रह्मन् ! दैव बलवान् है । पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मका ही नाम दैव है । उससे पार पाना बहुत कठिन है । यह जो कर्मदोषजनित व्याधके घर जन्म हुआ है, यह मेरे पूर्वजन्ममें किये हुए पापका ही फल है । ब्रह्मन् ! मैं इस दोषके निवारणके लिये प्रयत्नशील हूँ ॥ २½ ॥

विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ॥ ३ ॥

'क्योंकि विधाताके द्वारा पहलेसे ही जीवकी मृत्यु निश्चित की जाती है; किंतु घातक (कसाई अथवा व्याध) उसमें निमित्त बन जाता है अर्थात् जो स्वेच्छासे ज्ञानपूर्वक जीवहिंसा करता है, वह घातक व्यर्थ ही निमित्त बनकर दोषका भागी होता है ॥ ३ ॥

निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ॥ ४ ॥
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ॥ ५ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस कार्यमें हम निमित्तमात्र हैं । ब्रह्मन् ! मैं जिन मारे गये प्राणियोंका मांस बेचता हूँ, उनके जीते-जी यदि उनका सदुपयोग किया जाता तो बड़ा धर्म होता । मांस-भक्षणमें तो धर्मका नाम भी नहीं है (उलटे महान् अधर्म होता है) । देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन और पितरोंका पूजन (आदर-सत्कार) अवश्य धर्म है ॥ ४-५ ॥

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अनादिभूता भूतानामित्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ६ ॥

'ओषधियाँ, अन्न, तृण, लता, पशु, मृग और पक्षी आदि सभी वस्तुएँ सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादिकालसे उपयोगमें आती रहती हैं—ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ६ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! उशीनरके पुत्र क्षमाशील (और दयालु) राजा शिबिने (एक भूखे बाजको कबूतरके बदले) अपने शरीरका मांस अर्पित कर दिया था और उसीके प्रसादसे उन्हें परम दुर्लभ स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी ॥ ७ ॥

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥ ८ ॥

'विप्रवर ! मैं अपना स्वधर्म समझकर यह धंधा नहीं छोड़ रहा हूँ । पहलेसे मेरे पूर्वज यही करते आये हैं, ऐसा समझकर मैं इसी कर्मसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ ८ ॥

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! अपने कर्मका परित्याग करनेवालेको यहाँ अधर्मकी प्राप्ति देखी जाती है । जो अपने कर्ममें तत्पर है, उसीका बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति ।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥ १० ॥

'पहलेका किया हुआ कर्म देहधारी मनुष्यको नहीं छोड़ता है । बहुधा कर्मका निर्णय करते समय विधाताने इसी विधिको अपने सामने रक्खा है ॥ १० ॥

द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता ।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ॥ ११ ॥

'जो क्रूर कर्ममें लगा हुआ है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि 'मैं कैसे शुभ कर्म करूँ और किस प्रकार इस निन्दित कर्मसे छुटकारा पाऊँ' ॥ ११ ॥

कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ॥ १२ ॥
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा ।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

'बार-बार ऐसा करनेसे उस घोर कर्मसे छूटनेके विषयमें कोई निश्चित उपाय प्राप्त हो जाता है । द्विजश्रेष्ठ ! मैं दान, सत्यभाषण, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजन तथा धर्मपालनमें सदा तत्पर रहकर अभिमान और अतिवादसे दूर रहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता ।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् बहून् ।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १४ ॥

'कुछ लोग खेतीको उत्तम मानते हैं, परंतु उसमें भी बहुत बड़ी हिंसा होती है । हल चलानेवाले मनुष्य धरतीके भीतर शयन करनेवाले बहुत-से प्राणियोंकी हत्या कर डालते हैं । इनके सिवा और भी बहुत से जीवोंका वध वे करते रहते हैं । इस विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ १४ ॥

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १५ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! धान आदि जितने अन्नके बीज हैं, वे सब-के-सब जीव ही हैं; अतः इस विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च ।
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ॥ १६ ॥
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च ।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १७ ॥

'विप्रवर ! कितने ही मनुष्य पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें मारते और खाते हैं । वृक्षों तथा ओषधियों (अन्नके पौधों) को काटते हैं । वृक्षों और फलोंमें भी बहुत-से जीव रहते हैं । जलमें भी नाना प्रकारके जीव रहते हैं । ब्रह्मन् ! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ १६-१७ ॥

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १८ ॥

'जीवोंसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले जीवोंद्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है । मत्स्य मत्स्योंतकको अपना ग्रास बना लेते हैं । उनके विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ १८ ॥

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम ।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! बहुधा जीव जीवोंसे ही जीवन धारण करते हैं और प्राणी स्वयं ही एक-दूसरेको अपना आहार बना लेते हैं । उनके विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ १९ ॥

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून् ।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २० ॥

'मनुष्य चलते-फिरते समय धरतीके बहुत-से जीव-जन्तुओंको (असावधानीपूर्वक) पैरोंसे मार देते हैं । ब्रह्मन् ! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ २० ॥

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः ।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २१ ॥

'ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष भी (अनजानमें) बैठते-सोते समय अनेक जीवोंकी हिंसा कर बैठते हैं । उनके विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ २१ ॥

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २२ ॥

'आकाशसे लेकर पृथ्वीतक यह सारा जगत् जीवोंसे भरा हुआ है । कितने ही मनुष्य अनजानमें भी जीवहिंसा करते हैं । इस विषयमें आप क्या समझते हैं ? ॥ २२ ॥

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम ।
बहु संचिन्त्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ २३ ॥

'पूर्वकालके अभिमानशून्य श्रेष्ठ पुरुषोंने जो अहिंसाका उपदेश किया है (उसका तत्त्व समझना चाहिये; क्योंकि) द्विजश्रेष्ठ ! (स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो) इस संसारमें कौन जीवहिंसा नहीं करते हैं । बहुत सोच-विचारकर मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि कोई भी (क्रियाशील मनुष्य) अहिंसक नहीं है ॥ २३ ॥

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ॥ २४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! यतिलोग अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर होते हैं, परंतु वे भी हिंसा कर ही डालते हैं (अर्थात् उनके द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है) । अवश्य ही यत्नपूर्वक चेष्टा करनेसे हिंसाकी मात्रा बहुत कम हो सकती है ॥ २४ ॥

आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै द्विज ॥ २५ ॥

'ब्रह्मन्! उत्तम कुलमें उत्पन्न, परम सद्गुणसम्पन्न और श्रेष्ठ माने जानेवाले पुरुष भी अत्यन्त भयानक कर्म करके लज्जाका अनुभव करते ही हैं ॥ २५ ॥

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः।
सम्यक्प्रवृत्तान् पुरुषान् न सम्यगनुपश्यतः ॥ २६ ॥

'मित्र दूसरे मित्रोंको और शत्रु अपने शत्रुओंको, वे अच्छे कर्ममें लगे हुए हों तो भी अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते ॥

समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि।
गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ॥ २७ ॥

'बन्धु-बान्धव अपने समृद्धिशाली बान्धवोंसे भी प्रसन्न नहीं रहते। अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ मनुष्य गुरुजनोंकी भी निन्दा करते हैं ॥ २७ ॥

बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार जगत्में अनेक उल्टी बातें दिखायी देती हैं। अधर्म भी धर्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ॥ २८ ॥

वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥ २९ ॥

'धर्म और अधर्मसम्बन्धी कार्योंके विषयमें और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। अतएव जो अपने कुलोचित कर्ममें लगा हुआ है, वही महान् यशका भागी होता है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतवनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानके प्रसङ्गमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मकी सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्मकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याधने विप्रवर कौशिकसे पुनः कुशलतापूर्वक कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

व्याध उवाच

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ॥ २ ॥

व्याध बोला—वृद्ध पुरुषोंका कहना है कि 'धर्मके विषयमें केवल वेद ही प्रमाण है।' यह ठीक है, तो भी धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। उसके अनन्त भेद और अनेक शाखाएँ हैं ॥ २ ॥

प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ॥ ३ ॥

(वेदके अनुसार सत्य धर्म और असत्य अधर्म हैं, परंतु) यदि किसीके प्राणोंपर संकट आ जाय अथवा कन्या आदिका विवाह तै करना हो तो ऐसे अवसरोंपर प्राणरक्षा आदिके लिये झूठ बोलनेकी आवश्यकता पड़ जाय, तो वहाँ असत्यसे ही सत्यका फल मिलता है। इसके विपरीत (यदि सत्यभाषणसे किसीके प्राणोंपर संकट आ गया, तो वहाँ) सत्यसे ही असत्यका फल प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥

जिससे परिणाममें प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तवमें सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसीका अहित होता हो या दूसरोंके प्राण जाते हों, वह देखनेमें सत्य होनेपर भी वास्तवमें असत्य एवं अधर्म है।* इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्मकी गति कितनी सूक्ष्म है ॥ ४ ॥

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥ ५ ॥

* कर्णपर्वके उनहत्तरवें अध्यायमें छियालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकोंमें एक कथा आती है। कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने यह व्रत ले लिया कि 'मैं सदा सत्य बोलूँगा।' एक दिन कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उसके आश्रमके पासके वनमें घुस गये। खोज करते हुए लुटेरोंने सत्यवादी कौशिकसे पूछा। उनके पूछनेपर कौशिकने सच्ची बात कह दी। पता लग जानेपर उन निर्दयी डाकुओंने उन लोगोंको पकड़कर मार डाला। इस प्रकार सत्य बोलनेके कारण लोगोंकी हिंसा हो जानेसे उस पापके फलस्वरूप कौशिकको नरक जाना पड़ा।

सज्जनशिरोमणे ! मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

विषमां च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम्।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ॥ ६ ॥

मूर्ख मानव संकटकी दशामें पड़नेपर देवताओंको बहुत कोसता है, उनकी भरपेट निन्दा करता है, किंतु वह यह नहीं समझता कि यह अपने ही कर्मोंका दोषावह परिणाम है ॥ ६ ॥

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम।
सुखदुःखविपर्यासान् सदा समुपपद्यते ॥ ७ ॥
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम्।

द्विजश्रेष्ठ ! मूर्ख, शठ और चञ्चल चित्तवाला मनुष्य सदा ही भ्रमवश सुखमें दुःख और दुःखमें सुखबुद्धि कर लेता है। उस समय बुद्धि, उत्तम नीति (शिक्षा) तथा पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते ॥ ७½ ॥

योऽयमिच्छेद् यथा कामं तं तं कामं स आप्नुयात् ॥८॥
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम्।

यदि पुरुषार्थजनित कर्मका फल पराधीन न होता, तो जिसकी जो इच्छा होती, उसीको वह प्राप्त कर लेता ॥ ८½ ॥

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ॥ ९ ॥
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः।

किंतु बड़े-बड़े संयमी, कार्यकुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी अपना काम करते-करते थक जाते हैं, तो भी वे इच्छानुसार फलकी प्राप्तिसे वञ्चित ही देखे जाते हैं ॥ ९½ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ॥ १० ॥
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा।

तथा दूसरा मनुष्य, जो निरन्तर जीवोंकी हिंसाके लिये उद्यत रहता है और सदा लोगोंको ठगनेमें ही लगा रहता है, वह सुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है ॥ १०½ ॥

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ॥ ११ ॥
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति।

कोई बिना उद्योग किये चुपचाप बैठा रहता है और लक्ष्मी उसकी सेवामें उपस्थित हो जाती है और कोई सदा काम करते रहनेपर भी अपने उचित वेतनसे भी वञ्चित रह जाता है (ऐसा देखा जाता है) ॥ ११½ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ॥ १२ ॥
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः।

कितने ही दीन मनुष्य पुत्रकी कामना रखकर देवताओंको पूजते और कठिन तपस्या करते हैं, तो भी उनके द्वारा गर्भमें स्थापित तथा दस मासतक माताके उदरमें पालित होकर जो पुत्र पैदा होते हैं, वे कुलाङ्गार निकल जाते हैं * ॥ १२½ ॥

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ॥ १३ ॥
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः।

और दूसरे बहुत-से ऐसे भी हैं, जो अपने पिताके द्वारा जोड़कर रक्खे हुए धन-धान्य तथा भोग-विलासके प्रचुर साधनोंके साथ पैदा होते हैं और उनकी प्राप्ति भी उन्हीं माङ्गलिक कृत्योंके अनुष्ठानसे होती है ॥ १३½ ॥

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ॥ १४ ॥
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्योंके जो रोग होते हैं, वे उनके कर्मोंके ही फल हैं। जैसे बहेलिये छोटे मृगोंको पीडा देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और आधि-व्याधियाँ जीवोंको पीडा देती रहती हैं ॥ १४½ ॥

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः ॥ १५ ॥
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज।

ब्रह्मन् ! (उनका भोग पूरा होनेपर) ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्साकुशल चतुर चिकित्सक उन रोगव्याधियोंका उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे व्याध मृगोंको भगा देते हैं ॥ १५½ ॥

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ॥ १६ ॥
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कौशिक ! देखो, जिनके यहाँ भोजनका भण्डार भरा पड़ा है, उन्हें प्रायः संग्रहणी सता रही है, वे उसका उपभोग नहीं कर पाते ॥ १६½ ॥

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः ॥ १७ ॥
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम।

विप्रवर ! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भुजाओंमें बल है—जो स्वस्थ और अन्नको पचानेमें समर्थ हैं, परंतु उन्हें बड़ी कठिनाईसे भोजन मिल पाता है—वे सदा ही अन्नका कष्ट भोगते रहते हैं ॥ १७½ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ॥ १८ ॥
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा।

इस प्रकार यह संसार असहाय तथा मोह, शोकमें डूबा हुआ है। कर्मोंके अत्यन्त प्रबल प्रवाहमें पड़कर बार-बार उसकी आधि-व्याधिरूपी तरङ्गोंके थपेड़े सहता और विवश होकर इधर-से-उधर बहता रहता है ॥ १८½ ॥

---

*धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें विपरीतता दीखती है; किंतु वास्तवमें वह पूर्वकृत कर्मोंका फल है।

न म्रियेरुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः ॥ १९ ॥
नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत्।

यदि जीव अपने वशमें होते तो वे न मरते और न बूढ़े ही होते। सभी सब तरहकी मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेते। किसीको अप्रिय घटना नहीं देखनी पड़ती ॥ १९½ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ २० ॥

सब लोग सारे जगत्के ऊपर-ऊपर जानेकी इच्छा रखते हैं—सभी सबसे ऊँचा होना चाहते हैं और उसके लिये वे यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं, परंतु (सभी जगह) वैसा होता नहीं है ॥ २० ॥

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः।
महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ॥ २१ ॥

बहुत-से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्रमें हुआ है और जिनके लिये मङ्गल कृत्य भी समानरूप-से ही किये गये हैं, परंतु विभिन्न प्रकारके कर्मोंका संग्रह होनेके कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले फलमें महान् अन्तर दृष्टि-गोचर होता है ॥ २१ ॥

न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयंग्राह्यस्य सत्तम।
कर्मणां प्राक् कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कोई अपने हाथमें आयी हुई वस्तुका भी उपयोग करनेमें समर्थ नहीं है। इस जगत्में पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके ही फलकी प्राप्ति देखी जाती है ॥ २२ ॥

यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ २३ ॥

विप्रवर! श्रुतिके अनुसार यह जीवात्मा निश्चय ही सनातन है और इस संसारमें समस्त प्राणियोंका शरीर नश्वर है ॥ २३ ॥

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत।
जीवः सङ्क्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ॥ २४ ॥

शरीरपर आघात करनेसे उस शरीरका नाश तो हो जाता है; किंतु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्मोंके बन्धनमें बँधकर फिर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ॥ २५ ॥

ब्राह्मणने पूछा—धर्मज्ञों तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्याध! जीव सनातन कैसे है? मैं इस विषयको यथार्थस्वरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ २५ ॥

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्म्रियते किलेति।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! देहका नाश होनेपर जीवका नाश नहीं होता। मनुष्योंका यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किंतु जीव तो इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँचों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् पाँच भूतोंमें मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है ॥ २६ ॥

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्।
यत् तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥

इस मानवलोकमें मनुष्यके किये हुए कर्मको (उस कर्ताके सिवा) दूसरा कोई नहीं भोगता है। उसके द्वारा जो कुछ भी कर्म किया गया है, उसे वह स्वयं ही भोगेगा। किये हुए कर्मोंका कभी नाश नहीं होता ॥ २७ ॥

सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या
नराधमाः पापकृतो भवन्ति।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वै-
स्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ॥ २८ ॥

पुण्यात्मा मनुष्य पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और नीच मनुष्य पापमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ अपने किये हुए कर्म मनुष्यका अनुसरण करते हैं और उनसे प्रभावित होकर वह दूसरा जन्म धारण करता है ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं सम्भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥

ब्राह्मणने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! जीव दूसरी योनिमें कैसे जन्म लेता है, पाप और पुण्यसे उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है तथा उसे पुण्ययोनि और पापयोनिकी प्राप्ति कैसे होती है ॥ २९ ॥

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥

व्याधने कहा—विप्रवर! गर्भाधान आदि संस्कारसम्बन्धी ग्रन्थोंद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है 'कि यह जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब कर्मोंका ही परिणाम है।' अतः किस कर्मसे कहाँ जन्म होता है? इस विषयका मैं तुमसे संक्षिप्त वर्णन करता हूँ ॥ ३० ॥

यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ॥ ३१ ॥

जीव कर्मबीजोंका संग्रह करके जिस प्रकार पुनः जन्म ग्रहण करता है, वह बताया जा रहा है । शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य शुभ योनियोंमें और पापकर्म करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ ३१ ॥

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ॥ ३२ ॥

शुभकर्मोंके संयोगसे जीवको देवत्वकी प्राप्ति होती है । शुभ और अशुभ दोनोंके सम्मिश्रणसे उसका मनुष्ययोनिमें जन्म होता है । मोहमें डालनेवाले तामस कर्मोंके आचरणसे जीव पशु, पक्षी आदिकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है और जिसने केवल पापका ही संचय किया है, वह नरकगामी होता है ॥ ३२ ॥

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥

मनुष्य अपने ही किये हुए अपराधोंके कारण जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दुःखोंसे सदा पीडित हो बारंबार संसारमें पचता रहता है ॥ ३३ ॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जावाः सम्परिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥ ३४ ॥

कर्मबन्धनमें बँधे हुए (पापी) जीव सहस्रों प्रकारकी तिर्यक् योनियों तथा नरकोंमे चक्कर लगाया करते हैं ॥ ३४ ॥

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ ३५ ॥

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मोंसे ही मृत्युके पश्चात् दुःख भोगता है और उस दुःखका भोग करनेके लिये ही वह (चाण्डालादि) पापयोनिमे जन्म लेता है ॥ ३५ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ॥ ३६ ॥

वहाँ फिर नये-नये बहुत-से पापकर्म कर डालता है, जिसके कारण कुपथ्य खा लेनेवाले रोगीकी भाँति उसे नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः ।
ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि ॥ ३७ ॥
परिक्रामति संसारे चक्रवद् बहुवेदनः ।

इस प्रकार वह यद्यपि निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, तथापि अपनेको दुखी नहीं मानता । इस दुःखको ही वह सुखकी संज्ञा दे देता है । जबतक बन्धनमें डालनेवाले कर्मोंका भोग पूरा नहीं होता और नये-नये कर्म बनते रहते हैं, तबतक अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता हुआ वह चक्रकी तरह इस संसारमें चक्कर लगाता रहता है ॥ ३७½ ॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ॥ ३८ ॥
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम ।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ॥ ३९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब बन्धनकारक कर्मोंका भोग पूरा हो जाता है और सत्कर्मोंके द्वारा मनुष्यमें शुद्धि आ जाती है, तब वह तप और योगका आरम्भ करता है । अतः बहुत-से शुभकर्मोंके फलस्वरूप उसे उत्तम लोकोंका भोग प्राप्त होता है ॥ ३८-३९ ॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४० ॥

इस प्रकार बन्धनरहित तथा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य कर्मोंके प्रभावसे पुण्यलोक प्राप्त करता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता है ॥ ४० ॥

पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं यतेत् कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ॥ ४१ ॥

पाप करनेवाले मनुष्यको पापकी आदत हो जाती है, फिर उसके पापका अन्त नहीं होता; अतः मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्य कर्म करनेका ही प्रयत्न करे और पापको सर्वथा त्याग दे ॥ ४१ ॥

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ॥ ४२ ॥

पुण्यात्मा मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और कृतज्ञ होकर कल्याणकारी कर्मोंका सेवन करता है तथा उसे सुख, धर्म, अर्थ एवं स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४३ ॥

जो संस्कारसम्पन्न, जितेन्द्रिय, शौचाचारपरायण और मनको काबूमें रखनेवाला है, उस बुद्धिमान् पुरुषको इहलोक और परलोकमें भी सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४४ ॥

ब्रह्मन् ! अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सत्पुरुषोंके धर्मका पालन करे, शिष्ट पुरुषोंके समान बर्ताव करे और जगत्में किसी भी प्राणीको कष्ट दिये बिना जिससे जीवन-निर्वाह हो सके, ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ४४ ॥

सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ॥ ४५ ॥

संसारमें बहुत-से वेदवेत्ता और शास्त्रविचक्षण शिष्ट पुरुष विद्यमान हैं; उनके उपदेशके अनुसार स्वधर्मके पालनपूर्वक

प्रत्येक कार्य करना चाहिये, इससे कर्मोंका संकर नहीं हो पाता ॥ ४५ ॥

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्माद् धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
तस्यैव सिंचते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।

द्विजश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् पुरुष धर्मसे ही आनन्द मानता है, धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है और धर्मसे ही उपलब्ध किये हुए धनसे धनका ही मूल सींचता है अर्थात् धर्मका पालन करता है। वह धर्ममें ही गुण देखता है ॥४६½॥

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति ॥ ४७ ॥
स मित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ।

इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है, उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा मित्रजनोंसे संतुष्ट होकर वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है ॥ ४७½ ॥

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ॥ ४८ ॥
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।

सज्जनशिरोमणे ! धर्मात्मा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप और प्रिय गन्ध—सभी प्रकारके विषय तथा प्रभुत्व भी प्राप्त करता है। उसकी यह स्थिति धर्मका ही फल मानी गयी है॥ ४८½ ॥

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज ॥ ४९ ॥
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।

द्विजोत्तम ! कोई-कोई धर्मके फलरूपसे सांसारिक सुखको पाकर संतुष्ट नहीं होता । वह ज्ञानदृष्टिके कारण विषयभोगके सुखसे तृप्ति-लाभ न करके निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है ॥ ४९½ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते ॥ ५० ॥
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ।

इस जगत्में ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न पुरुष राग-द्वेष आदि दोषोंका अनुसरण नहीं करता । उसे यथेष्ट वैराग्य होता है तथा वह कभी धर्मका त्याग नहीं करता है ॥ ५०½ ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ॥ ५१ ॥
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ।

सम्पूर्ण जगत्को नश्वर समझकर वह सबको त्यागनेका प्रयत्न करता है । तत्पश्चात् उचित उपायसे मोक्षके लिये सचेष्ट होता है । अनुपाय (प्रारब्ध आदि) का अवलम्बन करके बैठ नहीं रहता ॥ ५१½ ॥

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ॥ ५२ ॥
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम्।

इस प्रकार वह वैराग्यको अपनाता और पापकर्मको छोड़ता जाता है । फिर सर्वथा धर्मात्मा हो जाता और अन्तमें परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ५२½ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ॥ ५३ ॥
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ।

जीवके कल्याणका साधन है तप और उसका मूल है शम (मनोनिग्रह) तथा दम (इन्द्रियसंयम) । मनुष्य मनके द्वारा जिन-जिन अभीष्ट पदार्थोंको पाना चाहता है, उन सबको वह उस तपके द्वारा प्राप्त कर लेता है ॥ ५३½ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह—इनके द्वारा मनुष्य ब्रह्मके परमपदको प्राप्त कर लेता है॥५४॥

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्याध ! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन-कौन हैं ? उनका निग्रह कैसे करना चाहिये ? और उस निग्रहका फल क्या है ? ॥ ५५ ॥

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ॥ ५६ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध ! उन इन्द्रियोंके निग्रहका फल कैसे प्राप्त होता है ? मैं इस इन्द्रिय-निग्रहरूपी धर्मको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ । तुम मुझे समझाओ ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९॥

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

विषयसेवनसे हानि, सत्सङ्गसे लाभ और ब्राह्मी विद्याका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर धर्मव्याधने उसे जैसा उत्तर दिया था, वह सब सुनाता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत् प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ २ ॥

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले मनुष्योंका मन प्रवृत्त होता है। उस विषयको प्राप्त कर लेनेपर मनका उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ॥ २ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ॥ ३ ॥

जब किसी विषयमें राग होता है, तब मनुष्य उसे पानेके लिये प्रयत्नशील होता है और उसके लिये बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। जब वे अभीष्ट रूप, गन्ध आदि विषय प्राप्त हो जाते हैं, तब वह उनका बारंबार सेवन करता है ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ४ ॥

उनके सेवनसे विषयोंके प्रति उत्कट राग प्रकट होता है। फिर उसकी प्रतिकूलतामें द्वेष होता है; द्वेषके अनन्तर अभीष्ट वस्तुके प्रति लोभका प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् बुद्धिपर मोह छा जाता है ॥ ४ ॥

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ॥ ५ ॥

इस प्रकार लोभसे आक्रान्त और राग-द्वेषसे पीड़ित मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती। यदि वह धर्म करता भी है, तो कोई बहाना लेकर ॥ ५ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ॥ ६ ॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।

जो किसी बहानेसे धर्माचरण करता है, वह वास्तवमें धर्मकी आड़ लेकर धन चाहता है। द्विजश्रेष्ठ ! जब धर्मके बहानेसे धनकी प्राप्ति होने लगती है, तब उसकी बुद्धि उसीमें रम जाती है और उसके मनमें पापकी इच्छा जाग उठती है ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ॥ ७ ॥
उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।

विप्रवर ! जब उसे हितैषी मित्र तथा विद्वान् पुरुष ऐसा करनेसे रोकते हैं, तब वह उसके समर्थनमें अशास्त्रीय उत्तर देते हुए भी उसे वेद-प्रतिपादित बताता है ॥ ७½ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ॥ ८ ॥
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ॥ ९ ॥

रागरूपी दोषके कारण उसके द्वारा तीन प्रकारके अधर्म होने लगते हैं—१. वह मनसे पापका चिन्तन करता है, २. वाणीसे पापकी ही बात बोलता है और ३. क्रियाद्वारा भी पापका ही आचरण करता है। इस प्रकार अधर्ममें लग जानेपर उसके सभी अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ८-९ ॥

एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ॥ १० ॥

वह अपने ही-जैसे स्वभाववाले पापपरायण मनुष्योंसे मित्रता स्थापित कर लेता है। उस पापसे इस लोकमें तो दुःख होता ही है, परलोकमें भी उसे बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है ॥ १० ॥

पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ॥ ११ ॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ॥ १२ ॥

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मकी प्राप्ति कैसे होती है, इसको मुझसे सुनो। जो दुःख और सुखके विवेचनमें कुशल है, वह अपनी बुद्धिसे इन विषयसम्बन्धी दोषोंको पहले ही समझ लेता है। अतः उनसे दूर हटकर श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करता है और उस श्रेष्ठसङ्गसे उसकी बुद्धि धर्ममें लग जाती है ॥ ११-१२ ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १३ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध ! तुम धर्मके विषयमें बड़ी मधुर और प्रिय बातें कह रहे हो। इन बातोंको बतानेवाला दूसरा कोई नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम कोई दिव्य प्रभावसे सम्पन्न महान् ऋषि ही हो ॥ १३ ॥

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १४ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन् ! महाभाग ब्राह्मण और पितर ये सदा प्रथम भोजनके अधिकारी माने गये हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस लोकमें सब प्रकारसे उनका प्रिय करना चाहिये ॥ १४ ॥

यत् तेषां च प्रियं तत् ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ॥ १५ ॥

विप्रवर ! उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उनके लिये जो प्रिय वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ। तुम मुझसे ब्राह्मी-विद्या श्रवण करो ॥ १५ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ॥ १६ ॥

पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सब प्रकारसे अजेय ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ १६ ॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ १७ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उनके विशेष गुण हैं ॥ १७ ॥

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम्।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ॥ १८ ॥

उन शब्द आदि गुणोंके भी अनेक गुण-भेद हैं, क्योंकि इन गुणोंका परस्पर संक्रमण भी देखा जाता है। पहले-पहलेके सभी गुण क्रमशः बादवाले तीन गुणवान् भूतों (अग्नि, जल और पृथ्वी) में उपलब्ध होते हैं अर्थात् अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाये जाते हैं ॥ १८ ॥

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥ १९ ॥

इन पाँच भूतोंके अतिरिक्त छठा तत्त्व है चित्त, इसीको मन कहते हैं। सातवाँ तत्त्व बुद्धि है और उसके बाद आठवाँ अहंकार है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्त्वं तमस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ २० ॥

इनके सिवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व, रज, तम—इन सत्रह तत्त्वोंका समूह अव्यक्त कहलाता है ॥ २० ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २१ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धिके जो व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं, जो बुद्धिरूपी गुहामें छिपे रहते हैं, उन्हें सम्मिलित करनेसे चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वोंका समुदाय ही व्यक्त और अव्यक्तरूप गुण है। (यह सब-का-सब ब्रह्मस्वरूप है।) ब्राह्मण ! इस प्रकार ये सब बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१०॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका और इन्द्रियनिग्रहका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत।
कथामकथयद् भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन ! धर्मव्याधके इस प्रकार उपदेश देनेपर कौशिक ब्राह्मणने पुनः मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वार्ता प्रारम्भ की ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मभृतां वर।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध ! जो पाँच महाभूत कहे जाते हैं, उन पाँचोंमेंसे प्रत्येकके गुणोंका मुझसे भलीभाँति वर्णन करो ॥ २ ॥

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन् ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब पूर्व-पूर्ववाले तत्त्व अपनेसे उत्तर-उत्तरवालोंके गुणोंसे युक्त हैं। मैं उनके गुणोंका वर्णन करता हूँ ॥ ३ ॥

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम्।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ॥ ४ ॥

विप्रवर ! पृथ्वीमें पाँच गुण हैं, जल चार गुणोंसे युक्त है, तेजमें तीन गुण होते हैं, वायुमें दो और आकाशमें एक गुण है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तरा ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये भूमिके पाँच गुण हैं। इस प्रकार भूमि अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती है ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ॥ ६ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जलके गुण हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण ! इनका वर्णन पहले भी आपसे किया गया है ॥ ६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु॥ ७॥

शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तेजके तीन गुण हैं, शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायुके हैं तथा आकाशमें एक ही गुण है—शब्द॥ ७॥

एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ ८॥

ब्रह्मन्! इस प्रकार पाँचों भूतोंमें ये पंद्रह गुण बताये गये हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं॥ ८॥

अन्योन्यं नातिवर्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः॥ ९॥
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः॥ १०॥

विप्रवर! ये पाँच भूत एक दूसरेके बिना नहीं रह सकते। परस्पर मिलकर ही भलीभाँति प्रकाशित होते हैं। जिस समय व्यक्त और अव्यक्त पाँचों भूत विषम-भावको प्राप्त होते हैं, उस समय यह जीव कालकी प्रेरणासे अपने संकल्पानुसार दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है। ये पाँचों भूत मृत्युकालमें प्रतिलोमक्रमसे विलीन हो जाते हैं और उत्पत्तिकालमें अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते हैं॥ ९-१०॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्॥ ११॥

विभिन्न शरीरोंमें जितने रक्त आदि धातु दिखायी देते हैं, वे सब पाँच भूतोंके ही परिणाम हैं, जिनसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है॥ ११॥

इन्द्रियैः सृज्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्मृतम्।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥ १२॥

बाह्य इन्द्रियोंसे जिस-जिसका संसर्ग होता है, वह-वह व्यक्त माना गया है; परंतु जो विषय इन्द्रियग्राह्य नहीं है, केवल अनुमानसे जाना जाता है, उसे अव्यक्त समझना चाहिये।१२।

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते॥ १३॥

अपने-अपने विषयोंका अतिक्रमण न करके इन शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन इन्द्रियोंको जब आत्मा अपने वशमें करता है, तब मानो वह तपस्या करता है॥ १३॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति।
परावरज्ञो यः शक्तः स तु भूतानि पश्यति॥ १४॥

वह सम्पूर्ण लोकोंमें अपनेको व्याप्त और अपनेमें सम्पूर्ण लोकोंको स्थित देखता है। इस प्रकार जो निर्गुण ब्रह्मको जाननेवाला समर्थ ज्ञानी पुरुष है, वह सम्पूर्ण भूतोंको आत्मरूपसे देखता है॥ १४॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते॥ १५॥

सब अवस्थाओंमें सदा समस्त भूतोंको आत्मरूपसे देखनेवाले उस ब्रह्मस्वरूप ज्ञानीका कभी भी अशुभ कर्मोंसे सम्पर्क होना सम्भव नहीं है॥ १५॥

अज्ञानमूलं तं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम्।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते॥ १६॥

उस (पूर्वोक्त) अज्ञानजनित क्लेशसे जो पार हो गया है, उस महापुरुषका प्रभाव उसके द्वारा की जानेवाली लौकिक चेष्टाओंसे ज्ञानमार्गके द्वारा जाना जा सकता है॥ १६॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम्।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान्॥ १७॥

बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने (अपने निःश्वासभूत वेदोंके द्वारा) मुक्त जीवको आदि-अन्तसे रहित, स्वयम्भू, अविकारी, अनुपम तथा निराकार बताया है॥ १७॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा॥ १८॥

विप्रवर! आप मुझसे जो कुछ पूछते हैं, उसके उत्तरमें मैं यह बता रहा हूँ कि इस सबका मूल तप है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही वह तपस्या सम्पन्न होती है, और किसी प्रकारसे नहीं॥ १८॥

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च॥ १९॥

स्वर्ग और नरक आदि जो कुछ भी है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ ही उनकी कारण हैं। वशमें की हुई इन्द्रियाँ स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं और जिन्हें विषयोंकी ओर खुला छोड़ दिया गया है, वे इन्द्रियाँ नरकमें डालनेवाली हैं॥ १९॥

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम्।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च॥ २०॥

योगका सम्पूर्णरूपसे अनुष्ठान यही है कि मनसहित समस्त इन्द्रियोंको काबूमें रक्खा जाय। यही सारी तपस्याका मूल है और इन्द्रियोंको वशमें न रखना ही नरकका हेतु है॥२०॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात्॥ २१॥

इन्द्रियोंके संसर्गसे ही मनुष्य निःसंदेह दुर्गुण-दुराचार आदि दोषोंको प्राप्त होते हैं। उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर लेनेपर उन्हें सर्वथा सिद्धि प्राप्त हो सकती है॥ २१॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः॥ २२॥

जो अपने शरीरमें ही सदा विद्यमान रहनेवाले मन-सहित छहों इन्द्रियोंपर अधिकार पा लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंमें नहीं लगता, फिर पापजनित अनर्थोंसे तो उसका संयोग ही कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २३ ॥

पुरुषका यह प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाला स्थूल शरीर रथ है । आत्मा (बुद्धि) सारथि है और इन्द्रियोंको अश्व बताया गया है । जैसे कुशल, सावधान एवं धीर रथी उत्तम घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उनके द्वारा सुखपूर्वक मार्ग तै करता है, उसी प्रकार सावधान धीर एवं साधन-कुशल पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके सुखसे जीवन-यात्रा पूर्ण करता है २३

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम्।
यो धीरो धारयेद् रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः॥ २४ ॥

जो धीर पुरुष अपने शरीरमें नित्य विद्यमान छः प्रमथन-शील इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोर सँभालता है, वही उत्तम सारथि हो सकता है ॥ २४ ॥

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥

सड़कपर दौड़नेवाले घोड़ोंकी तरह विषयोंमें विचरनेवाली इन इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये धैर्यपूर्वक प्रयत्न करे । धैर्यपूर्वक उद्योग करनेवालेको उनपर अवश्य विजय प्राप्त होती है ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ॥ २६ ॥

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ २६ ॥

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम्॥ २७ ॥

सभी मनुष्य इन छः इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयोंमें उनसे प्राप्त होनेवाले सुखरूप फल पानेके सम्बन्धमें मोहसे संशयमें पड़ जाते हैं । परंतु जो उनके दोषोंका अनुसंधान करनेवाला वीतराग पुरुष है, वह उनका निग्रह करके ध्यानजनित आनन्दका अनुभव करता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तीनों गुणोंके स्वरूप और फलका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार धर्म-व्याधके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण होनेपर कौशिक ब्राह्मणने एकाग्रचित्त होकर पुनः एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित किया ॥१॥

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोला—व्याध ! मैं यहाँ यथोचितरूपसे एक प्रश्न उपस्थित करता हूँ । वह यह है कि सत्त्व, रज और तमका गुण (स्वरूप) क्या है ? यह मुझे यथार्थरूपसे बताओ ॥ २ ॥

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन् ! आप मुझसे जो बात पूछ रहे हैं, मैं अब उसे कहूँगा । सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंके गुणोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥ ३ ॥

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥

इन तीनों गुणोंमें जो तमोगुण है, वह मोहात्मक—मोह उत्पन्न करनेवाला है । रजोगुण कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है । परंतु सत्त्वगुणमें प्रकाशकी बहुलता है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ४ ॥

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥ ५ ॥

जिसमें अज्ञानकी बहुलता है, जो मूढ (मोहग्रस्त) और अचेत होकर सदा नींद लेता रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्यको तमोगुणी जानना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षे ! जो प्रवृत्तिमार्गकी ही बातें करनेवाला, सलाह देनेमें कुशल और दूसरोंके गुणोंमें दोष न देखनेवाला है; जो सदा कुछ-न-कुछ करनेकी इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता और अभिमानकी अधिकता है, वह मनुष्योंपर रोब जमानेवाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है ॥ ६ ॥

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः ॥ ७ ॥

जिसमें प्रकाश (ज्ञान) की बहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करनेकी उत्सुकतासे रहित है, जिसमें दूसरोंके दोष देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव है, जो क्रोधशून्य, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है, वह मनुष्य सात्त्विक माना जाता है ॥ ७ ॥

सात्त्विकस्त्वथ सम्बुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥ ८ ॥

सात्त्विक पुरुष ज्ञानसम्पन्न हो रजोगुण और तमोगुणके कार्यभूत लौकिक व्यवहारमें पड़नेका कष्ट नहीं उठाता । वह जब जाननेयोग्य तत्त्वको जान लेता है, तब उसे सांसारिक व्यवहारसे ग्लानि हो जाती है ॥ ८ ॥

वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥ ९ ॥

सात्त्विक पुरुषमें वैराग्यका लक्षण पहले ही प्रकट हो जाता है । उसका अहंकार ढीला पड़ जाता है और सरलता प्रकाशमें आने लगती है ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चास्य संशयो नाम क्वचिद् भवति कश्चन ॥ १० ॥

तदनन्तर इसके राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व परस्पर शान्त हो जाते हैं । इसके हृदयमें कभी कोई संशय नहीं उठता ॥ १० ॥

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ॥ ११ ॥

ब्रह्मन् ! शूद्रयोनिमें उत्पन्न मनुष्य भी यदि उत्तम गुणोंका आश्रय ले, तो वह वैश्य तथा क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १२ ॥

जो 'सरलता' नामक गुणमें प्रतिष्ठित है, उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है । ब्रह्मन् ! इस प्रकार मैंने आपसे सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्राणवायुकी स्थितिका वर्णन तथा परमात्म-साक्षात्कारके उपाय

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

ब्राह्मणने पूछा—व्याध ! शरीरमें रहनेवाला अग्निस्वरूप प्राण पार्थिव धातुका अवलम्बन करके कैसे रहता है ? और प्राणवायु नाड़ियोंके मार्गविशेषके द्वारा किस प्रकार (रस-रक्तादिका) संचालन करता है ? ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके द्वारा उपस्थित किये गये इस प्रश्नको सुनकर धर्मव्याधने उन महामना ब्राह्मणसे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥

धर्मव्याध बोला—ब्रह्मन् ! प्राणीके शरीरको सुरक्षित रखता हुआ अग्निस्वरूप उदान वायु मस्तकका आश्रय लेकर शरीरमें रहता है एवं मुख्य प्राण मस्तक और उदानवायु—इन दोनोंमें स्थित हुआ समस्त शरीरमें जीवनका संचार करता है*॥ ३ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ॥ ४ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्य—सब कुछ प्राणके ही

* देखिये प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३ मन्त्र ९ ।

आश्रित है, वह प्राण ही समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ है।* अतः परब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणकी हम सब उपासना करते हैं† ॥ ४ ॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।
महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ॥ ५ ॥

वह प्राण ही जीव है, वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है, वही सनातन पुरुष है, महत्तत्त्व, बुद्धि और अहंकार तथा पाँचों भूतोंके कार्यरूप इन्द्रियाँ और उनके विषय सब कुछ वही है (क्योंकि इस शरीरमें सबकी स्थिति उसीके आश्रित है और भविष्यमें मिलनेवाले शरीरमें जाना-आना भी इसीके आश्रित रहकर होता है। इसलिये यह प्राणकी स्तुति की गयी है)‡ ॥ ५ ॥

(अव्यक्तं सत्त्वसंज्ञं च जीवः कालः स चैव हि।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव प्राण एव द्विजोत्तम ॥
जागर्ति स्वप्नकाले च स्वप्ने स्वप्नायते च सः।

द्विजश्रेष्ठ ! प्राण ही अव्यक्त, सत्त्व, जीव, काल, प्रकृति और पुरुष है। वही जाग्रत्-अवस्थामें जागता है। वही स्वप्नकालमें स्वप्न-जगत्का निर्माण करके स्वप्नावस्थाकी सारी चेष्टाएँ करता है ॥

जाग्रत्सु बलमाधत्ते चेष्टत्सु चेष्टयत्यपि ॥
तस्मिन् निरुद्धे विप्रेन्द्र मृत इत्यभिधीयते।
त्यक्त्वा शरीरं भूतात्मा पुनरन्यत् प्रपद्यते ॥)

वही जाग्रत्कालमें बलका आधान करता है और चेष्टाशील प्राणियोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है। विप्रवर ! उस प्राणका निरोध हो जानेपर ही प्रत्येक जीव मरा हुआ कहलाता है। भूतात्मा प्राण एक शरीरको छोड़कर फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ६ ॥

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र प्राणकी स्थिति है। प्राणके द्वारा ही सबका पालन होता है। पीछे वही प्राण जब समानवायुभावको प्राप्त होता है, तब अपनी-अपनी पृथक् गतिका आश्रय लेता है ॥ ६ ॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः।
वहन् मूत्रं पुरीषं वाप्यपानः परिवर्तते ॥ ७ ॥

समानवायुके रूपमें जठराग्निका आश्रय ले वह प्राण जब मूत्राशय और गुदामें स्थित होता है, उस समय मल और मूत्रका भार वहन करनेके कारण वह अपानवायुके नामसे विख्यात हो संचरण करता है ॥ ७ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले स एष त्रिषु वर्तते।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ८ ॥

वही प्राण जब प्रयत्न (काम करनेकी चेष्टा), कर्म (उत्क्षेपण और गमन आदि) तथा बल (बोझ उठानेकी शक्ति)—इन तीन विषयोंमें प्रवृत्त होता है, तब अध्यात्मवेत्ता मनुष्य उसे उदान कहते हैं ॥ ८ ॥

संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ९ ॥

वही जब मनुष्य-शरीरके प्रत्येक संधिस्थलमें व्याप्त होकर रहता है, तब उसे व्यान कहते हैं ॥ ९ ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन् परिधावति ॥ १० ॥

त्वचा आदि सब धातुओंमें जठरानल व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओंसे प्रेरित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं तथा पित्त आदि दोषोंको परिपक्व करता हुआ समूचे शरीरमें दौड़ा करता है ॥ १० ॥

प्राणानां संनिपातात् तु संनिपातः प्रजायते।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ ११ ॥

प्राण आदि वायुओंके परस्पर मिलनेसे एक संघर्ष उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होनेवाले उत्तापको ही जठरानल समझना चाहिये। वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ॥ ११ ॥

समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः ॥ १२ ॥

समान और उदान वायुओंके बीचमें प्राण और अपान वायुकी स्थिति है। उनके संघर्षसे उत्पन्न जठरानल अन्नको पचाता है और उसके रससे इस शरीरको भलीभाँति पुष्ट करता है* ॥ १२ ॥

अस्यापि पायुपर्यन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इस जठरानलका स्थान नाभिसे लेकर पायुतक है। इसीको 'गुदा' कहते हैं। उस गुदासे देहधारियोंके समस्त प्राणोंमें स्रोत (नाडीमार्ग) प्रकट होते हैं ॥ १३ ॥

---

* देखिये प्रश्नोपनिषद् २। २, ३ और उसके आगेका प्रकरण।

† देखिये प्रश्नोपनिषद् ३। ३ तथा २। ७।

‡ प्राणकी स्तुतिका वर्णन अथर्ववेदमें और प्रश्नोपनिषद्में बहुत आया है।

* तात्पर्य यह है कि हृदयमें रहनेवाला प्राण, नाभिमें रहनेवाले समानसे जाकर मिलता है। इसी तरह गुदामें रहनेवाला अपान कण्ठवर्ती उदानसे जा मिलता है, इस दशामें प्राण, अपान और समानका नाभिमें संघर्ष होनेसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही 'जठरानल' नाम दिया गया है। वही इस शरीरमें अन्नको पचाकर उसके रससे शरीरको पुष्ट करता है।

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १४ ॥

गुदासे प्राण अग्निके वेगको लेकर गुदान्तमें टकराता है, फिर वहाँसे ऊपरको उठकर वह जठराग्निको भी ऊपर उठाता है ॥ १४ ॥

पक्काशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥

नाभिके नीचे पक्वाशय (पके हुए भोजनका स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजनका स्थान) है। शरीरमें स्थित समस्त प्राण नाभिमें ही प्रतिष्ठित हैं—वही उनका केन्द्र-स्थान है ॥ १५ ॥

प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ॥ १६ ॥

नाड़ियाँ हृदयसे नीचे-ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दस प्राणवायुओंसे प्रेरित हो शरीरके सब भागोंमें अन्नके रसोंको पहुँचाता रहती हैं ॥ १६ ॥

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत् परम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ १७ ॥

जिन्होंने समस्त क्लेशोंको जीत लिया है, जो समदर्शी और धीर हैं, जिन्होंने (सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा) अपने प्राण-मय आत्माको मस्तक (वर्ती सहस्रारचक्र) में ले जाकर स्थापित किया है, उन योगियोंके लिये यह (मस्तकसे लेकर पायुतकका सुषुम्णामय) मार्ग है, जिससे वे उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार समस्त जीवात्माओंके शरीरोंमें ये प्राणवायु और अपानवायु व्याप्त हैं ॥ १७ ॥

(तावग्निसहितौ ब्रह्मन् विद्धि वै प्राणमात्मनि।)
एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम्॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! वे प्राण और अपान जठरानलके साथ रहते हैं। प्राणको आत्मामें स्थित जानिये। आत्मा एकादश इन्द्रियरूप विकारोंसे युक्त, षोडश[1] कलाओंके समूहसे सम्पन्न, शरीरको धारण करनेवाला तथा नित्य है। उसने योगबलसे मन-बुद्धिको अपने अधीन कर रक्खा है। इस प्रकार आत्माके सम्बन्धमें आपको जानना चाहिये ॥ १८ ॥

तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १९॥

जैसे बटलोईमें आग रक्खी गयी हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त कला-समूहरूप शरीरमें प्रकाशस्वरूप आत्मा सदा विद्यमान रहता है। आप उसे जानिये। वह नित्य तथा योग-शक्तिसे मन-बुद्धिको अपने अधीन रखनेवाला है ॥ १९ ॥

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ २० ॥

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद निर्लिप्त होती है, उसी प्रकार ये आत्मदेव कलात्मक शरीरमें असङ्गभावसे स्थित हैं। वे ही क्षेत्रज्ञ हैं; आप उन्हें जानिये। वे योगसे अपने मन और बुद्धिपर अधिकार प्राप्त करनेवाले तथा नित्य हैं ॥ २० ॥

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! आप यह जान लें कि सत्त्वगुण (प्रकाश), रजोगुण (प्रवृत्ति) और तमोगुण (मोह)—ये जीवात्मक हैं अर्थात् जीवात्माके अन्तःकरणके विकार हैं, जीव आत्माका गुण (सेवक) है और आत्मा परमात्मस्वरूप है। भाव यह कि परमात्माको ही यहाँ आत्मा कहा गया है ॥ २१ ॥

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २२ ॥

शरीर-तत्त्वके ज्ञाता महात्मा पुरुष जड शरीर आदिको जीवका भोग्य बताते हैं। वह जीव शरीरके भीतर रहकर स्वयं चेष्टाशील होता है तथा शरीर और इन्द्रिय आदि सबको चेष्टाओंमें लगाता है। जिन्होंने सातों भुवनोंका निर्माण किया है, उन परमात्माको ज्ञानी पुरुष जीवात्मासे उत्कृष्ट बताते हैं ॥ २२ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा सम्प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः॥ २३ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परमेश्वर समस्त प्राणियों-के भीतर प्रकाशित हो रहे हैं। ज्ञानी महात्मा अपनी श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ॥ २३ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥२४॥

मनुष्य अपने चित्तकी पवित्रताके द्वारा ही समस्त शुभा-शुभ कर्मोंको नष्ट (फल देनेमें असमर्थ) कर देता है। जिसका अन्तःकरण प्रसन्न (पवित्र) है, वह अपने आपमें ही स्थित होकर अक्षय सुख (मोक्ष) का भागी होता है ॥२४॥

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत्।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ॥ २५ ॥

जैसे भोजन आदिसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है

[1] १—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सोलह कलाएँ हैं (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६। ४)।

और जैसे वायुरहित स्थानमें चतुर मनुष्यके द्वारा जलाया हुआ दीप निश्चलभावसे प्रकाशित होता है; ऐसा ही लक्षण चित्तकी पवित्रताका भी है ॥ २५ ॥

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥ २७॥

मनुष्यको चाहिये कि वह हल्का भोजन करे और अन्तः-करणको शुद्ध रखे। रातके पहले और पिछले पहरमें सदा अपना मन परमात्माके चिन्तनमें लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदयमें परमात्माके साक्षात्कारका अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपकके समान प्रकाशित होनेवाले अपने मनोमय प्रदीपके द्वारा निराकार परमेश्वरका साक्षात्कार करके तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण उपायोंसे लोभ और क्रोधकी वृत्तियोंको दबाना चाहिये। संसारमें यही पवित्र तप है और यही सबके लिये भवसागरसे पार उतारनेवाला सेतु माना गया है ॥ २८ ॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ २९ ॥

सदा तपको क्रोधसे, धर्मको द्वेषसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपने आपको प्रमादसे बचाना चाहिये ॥ २९ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥ ३० ॥

क्रूरताका अभाव (दया) सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ३० ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम् ॥ ३१ ॥

सत्य बोलना सदा कल्याणकारी है। यथार्थ ज्ञान ही हितकारक होता है। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, उसे ही उत्तम सत्य माना गया है ॥ ३१ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥

जिसके सम्पूर्ण आयोजन कभी कामनाओंसे बँधे हुए नहीं होते तथा जिसने त्यागकी आगमें अपना सर्वस्व होम दिया है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है ॥ ३२ ॥

यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत्।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥

इसलिये दृश्य संसारसे वियोग करानेवाले और योग नामसे कहे जानेवाले इस ब्रह्मयोगको स्वयं जानना और सम्पादन करना चाहिये। गुरुको भी उचित है कि वह इसे अपात्र शिष्यके प्रति न सुनावे ॥ ३३ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥

किसी प्राणीकी हिंसा न करे। सबमें मित्रभाव रखते हुए विचरे। इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ ३४ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ३५ ॥

कुछ भी संग्रह न रखना, सभी दशाओंमें अत्यन्त संतुष्ट रहना तथा कामना और लोलुपताको त्याग देना—यही परम ज्ञान है और यही सत्यस्वरूप उत्तम आत्मज्ञान है ॥ ३५ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः।
अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥ ३६ ॥

इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंका एवं सब प्रकारके संग्रहका त्याग करके शोकरहित निश्चल परमधामको लक्ष्य बनाकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंका संयम करे ॥३६॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ ३७ ॥

जो जितेन्द्रिय है, जिसने मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा जो अजित पदको जीतनेकी इच्छा करता है, नित्य तपस्यामें संलग्न रहनेवाले उस मुनिको आसक्तिजनक भोगोंसे अलग—अनासक्त रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम्।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ३८ ॥

जो गुणमें रहता हुआ भी गुणोंसे रहित है, जो सर्वथा सङ्गसे रहित है तथा जो एकमात्र अन्तरात्माके द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धिमें अविद्याके सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्मका अद्वितीय नित्य सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है ॥ ३८ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य दुःख और सुख दोनोंको त्याग देता है, वही अनन्त ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। अनासक्तिके द्वारा भी उसी पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैंने यह सब जैसा सुना है, वैसा सब-का-सब थोड़ेमें आपसे कह सुनाया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

माता-पिताकी सेवाका दिग्दर्शन

मार्कण्डेय उवाच

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! धर्मव्याधने जब इस प्रकार पूर्णरूपसे मोक्ष-धर्मका वर्णन किया, तब कौशिक ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे यों बोला ॥ १ ॥

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम्।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥

'तात ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, यह सब न्याययुक्त है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ धर्मके विषयमें कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती, जो तुम्हें ज्ञात न हो' ॥ २ ॥

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ३ ॥

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर ! अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभावसे मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उसका भी दर्शन कर लीजिये ॥ ३ ॥

उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम्।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥

भगवन् ! आप धर्मके ज्ञाता हैं, उठिये और शीघ्र घरके भीतर चलकर मेरे माता-पिताका दर्शन कीजिये ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम्।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ॥ ५ ॥
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम्।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—धर्मव्याधके ऐसा कहनेपर कौशिक ब्राह्मणने भीतर प्रवेश करके देखा—एक बहुत सुन्दर साफ-सुथरा घर था, उसकी दीवारोंपर चूनेसे सफेदी की हुई थी। उसमें चार कमरे थे, वह भवन बहुत प्रिय और मनको लुभा लेनेवाला था, ऐसा जान पड़ता था, मानो देवताओंका निवासस्थान हो। देवता भी उसका आदर करते थे। एक ओर सोनेके लिये शय्या बिछी थी और दूसरी ओर बैठनेके लिये आसन रक्खे गये थे। वहाँ धूप और चन्दन,केसर आदिकी उत्तम गन्ध फैल रही थी ॥ ५-६ ॥

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ॥ ७ ॥

एक सुन्दर आसनपर धर्मव्याधके माता-पिता भोजन करके संतुष्ट हो बैठे हुए थे। उन दोनोंके शरीरपर श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे और पुष्प, चन्दन आदिसे उनकी पूजा की गयी थी। धर्मव्याधने उन दोनोंको देखते ही चरणोंमें मस्तक रख दिया और पृथ्वीपर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ७ ॥

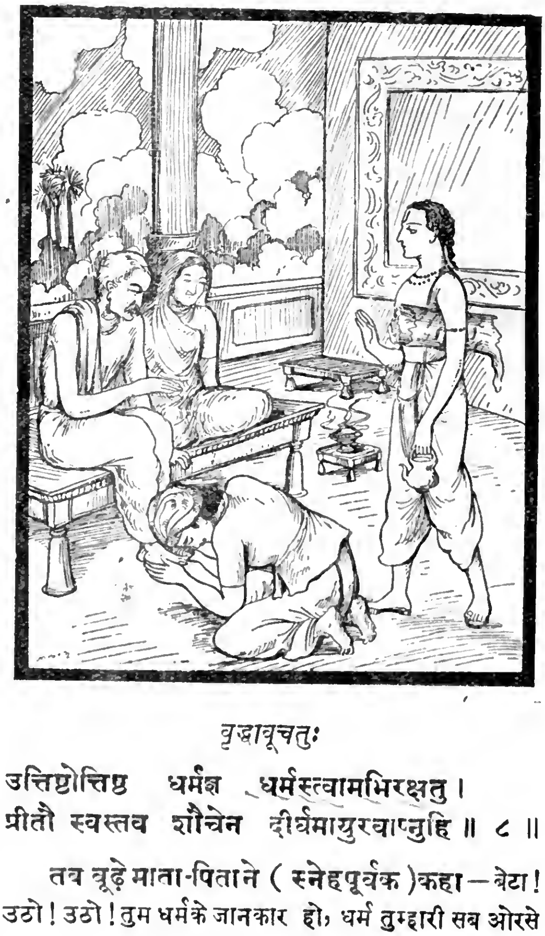

वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ ८ ॥

तब बूढ़े माता-पिताने (स्नेहपूर्वक)कहा—बेटा ! उठो ! उठो ! तुम धर्मके जानकार हो, धर्म तुम्हारी सब ओरसे

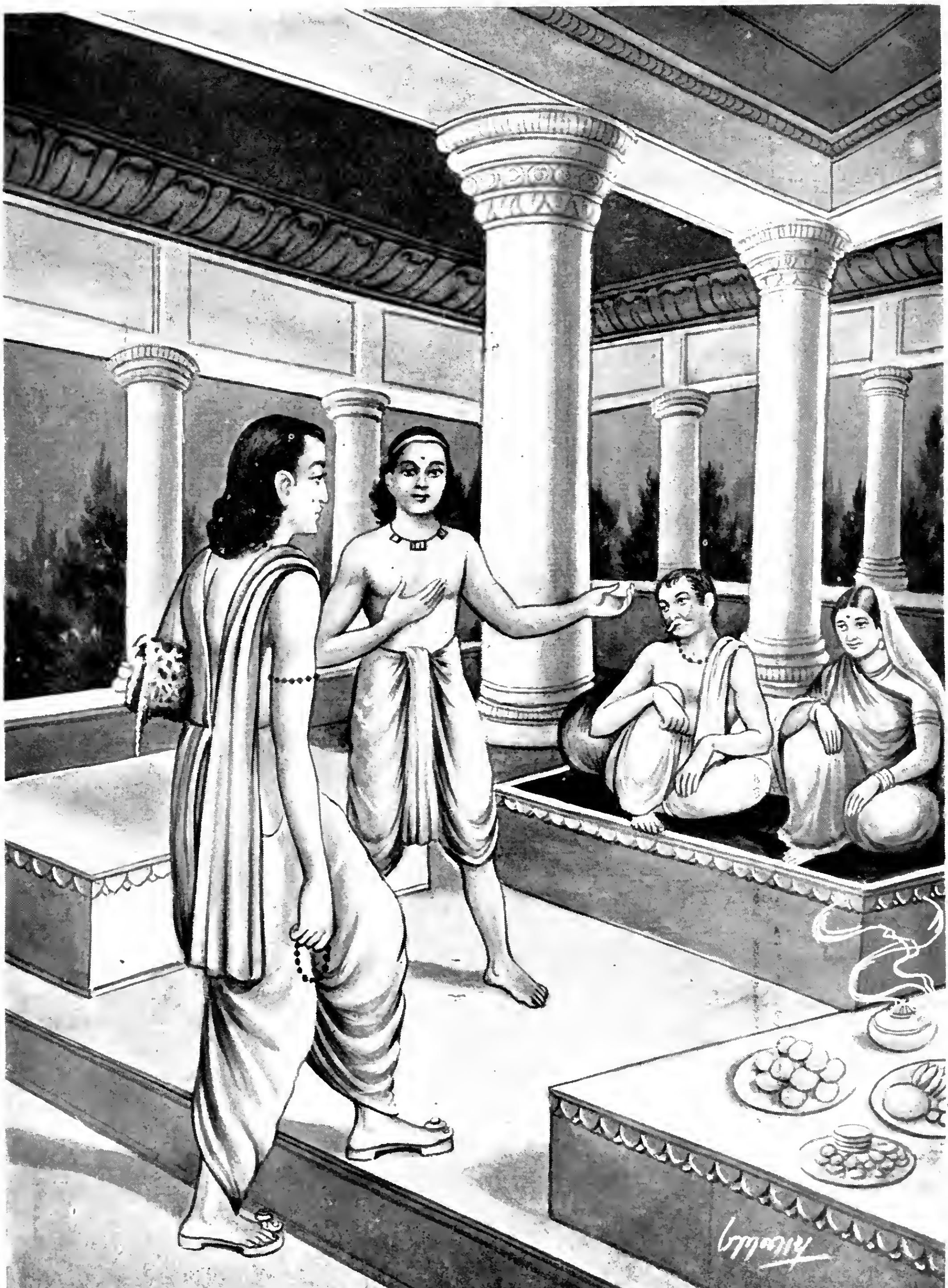

माता-पिताके भक्त धर्मव्याध और कौशिक ब्राह्मण

रक्षा करे। हम दोनों तुम्हारे शुद्ध आचार-विचार तथा सेवासे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बड़ी हो ॥ ८ ॥

गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ॥ ९ ॥

तुमने उत्तम गति, तप, ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त की है, बेटा! तुम सुपुत्र हो। तुमने नित्य नियमपूर्वक समयानुसार हमारा पूजन—आदर-सत्कार किया है ॥ ९ ॥

(सुखमावां वसावोऽत्र देवलोकगताविव)
न तेऽन्यद् दैवतं किंचिद् दैवतेष्वपि वर्तते।
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ॥ १० ॥

हम इस घरमें इस प्रकार सुखसे रहते हैं मानो देवलोकमें पहुँच गये हों। देवताओंमें भी तुम्हारे लिये हम दोनोंके सिवा और कोई देवता नहीं है। तुम हमें ही देवता मानते हो। अपने मनको पवित्र एवं संयममें रखनेके कारण तुम द्विजोचित शम-दमसे सम्पन्न हो ॥ १० ॥

पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया ॥ ११ ॥

वत्स! मेरे पिताके पितामह और प्रपितामह आदि सभी तुम्हारे इन्द्रियसंयमसे सदा प्रसन्न रहते हैं। हम दोनों भी तुम्हारे द्वारा की हुई पूजा-सेवासे बहुत संतुष्ट हैं ॥ ११ ॥

मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते।
न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ॥ १२ ॥

तुम मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी हम दोनोंकी सेवा नहीं छोड़ते। इस समय भी तुम्हारा विचार इसके प्रतिकूल नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ।
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ॥ १३ ॥

बेटा! जमदग्निनन्दन परशुरामने जिस प्रकार अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा-पूजा की थी, उसी प्रकार तथा उससे भी बढ़कर तुमने हमारी सब सेवाएँ की हैं ॥ १३ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत्।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ॥ १४ ॥

तदनन्तर धर्मव्याधने अपने माता-पिताको उस कौशिक ब्राह्मणका परिचय दिया। तब उन दोनोंने भी स्वागतपूर्वक ब्राह्मणका पूजन किया ॥ १४ ॥

प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ।
सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद् वां कुशलं गृहे ॥ १५ ॥
अनामयं च वां कच्चित् सद्यैवेह शरीरयोः।

ब्राह्मणने उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकट की और उनसे पूछा—'आप दोनों इस घरमें अपने सुयोग्य पुत्र तथा सेवकोंके साथ सकुशल तो हैं न? आप दोनों शरीरसे भी सदा नीरोग रहते हैं न?' ॥ १५½ ॥

वृद्धावूचतुः

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः।
कच्चित् त्वमप्यविघ्नेन सम्प्राप्तो भगवन्निति ॥ १६ ॥

उन वृद्धोंने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! इस घरमें हम दोनों सकुशल हैं। हमारे सेवक तथा कुटुम्बके लोग भी कुशलसे हैं। भगवन्! अपना समाचार कहें, आप यहाँ सकुशल पहुँच गये न? किसी विघ्न-बाधाका सामना तो नहीं करना पड़ा? ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब कौशिक ब्राह्मणने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।' तदनन्तर धर्मव्याधने अपने पिता-माताकी ओर देखते हुए कौशिक ब्राह्मणसे कहा ॥ १७ ॥

व्याध उवाच

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम्।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ १८ ॥

धर्मव्याध बोला—भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओंके लिये करना चाहिये, वह मैं इन्हीं दोनोंके लिये करता हूँ ॥ १८ ॥

त्रयस्त्रिंशद् यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
सम्पूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥ १९ ॥

जैसे समस्त संसारके लिये इन्द्र आदि तैंतीस* देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिये ये दोनों बूढ़े माता-पिता ही आराधनीय हैं ॥ १९ ॥

उपाहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ॥ २० ॥

द्विजलोग देवताओंके लिये जैसे नाना प्रकारके उपहार समर्पण करते हैं, उसी प्रकार मैं इनके लिये करता हूँ। इनकी सेवामें मुझे आलस्य नहीं होता ॥ २० ॥

एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! ये माता-पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। मैं सदा फूल, फल तथा रत्नोंसे इन्हींको संतुष्ट करता हूँ ॥ २१ ॥

एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥ २२ ॥

विप्रवर! जिन्हें विद्वान् लोग 'अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिये ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिये ये माता-पिता ही हैं ॥ २२ ॥

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्राः सुहृज्जनः।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥ २३ ॥

मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र और सुहृद् सब इन्हींकी सेवाके लिये हैं। मैं स्त्री और पुत्रोंके साथ प्रतिदिन इन्हींकी शुश्रूषामें लगा रहता हूँ ॥ २३ ॥

---

* आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ॥ २४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता हूँ, इनके चरण धोता हूँ और स्वयं ही भोजन परोसकर इन्हें जिमाता हूँ ॥

अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥ २५ ॥

मैं वही बात बोलता हूँ, जो इनके मनके अनुकूल हो, जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात मुँहसे कभी नहीं निकालता । इनको पसंद हो, तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ ॥

धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ॥ २६ ॥

विप्रवर ! इस प्रकार माता-पिताकी सेवारूप धर्मको ही महान् मानकर मैं उसका पालन करता हूँ । ब्रह्मन् ! आलस्य छोड़कर मैं सदा इन्हीं दोनोंकी सेवामें लगा रहता हूँ ॥ २६॥

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥ २७ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उन्नति चाहनेवाले पुरुषके पाँच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु ॥ २७ ॥

एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य एष धर्मः सनातनः ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ-धर्मका पालन करनेवालेके द्वारा सदा सब अग्नियोंकी सेवा सम्पन्न होती रहेगी । यही सनातन धर्म है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधका कौशिक ब्राह्मणको माता-पिताकी सेवाका उपदेश देकर अपने पूर्वजन्मकी कथा कहते हुए व्याध होनेका कारण बताना

मार्कण्डेय उवाच

गुरुं निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार धर्मात्मा व्याधने कौशिक ब्राह्मणको अपने माता पितारूप दोनों गुरुजनोंका दर्शन कराकर पुनः उससे इस प्रकार कहा—॥

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ॥ २ ॥
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ॥ ३ ॥

'ब्राह्मण ! माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्या है । इस तपस्याका प्रभाव देखिये । मुझे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी है, जिसके कारण उस पतिव्रता देवीने, जो सदा पतिकी ही सेवामें संलग्न रहनेवाली, जितेन्द्रिय तथा सत्य एवं सदाचारमें तत्पर है, आपको यह कहकर यहाँ भेजा था कि 'आप मिथिलापुरीको जाइये । वहाँ एक व्याध रहता है । वह आपको सब धर्मोंका उपदेश करेगा' ॥ २-३ ॥

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोला—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ व्याध ! उस सत्यपरायणा और सुशीला पतिव्रता देवीके वचनोंका स्मरण करके मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि तुम उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ४ ॥

व्याध उवाच

यत् तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥ ५ ॥

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! प्रभो ! उस पतिव्रता देवीने पहले आपसे मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है । इसमें संदेह नहीं कि उसने पातिव्रत्यके प्रभावसे सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है ॥ ५ ॥

त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद् दर्शितं मया ।
वाक्यं च शृणु मे तात यत् ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥ ६ ॥

विप्रवर ! आपपर अनुग्रह करनेके विचारसे ही मैंने ये सब बातें आपके सामने रक्खी हैं । तात ! आप मेरी बात सुनिये । ब्रह्मन् ! आपके लिये जो हितकर है, वही बात बताऊँगा ॥ ६ ॥

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दित ॥ ७ ॥
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम् ।
तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपने माता-पिताकी उपेक्षा की है । वेदाध्ययन करनेके लिये उन दोनोंकी आज्ञा लिये बिना ही आप घरसे निकल पड़े हैं । अनिन्द्य ब्राह्मण ! यह आपके द्वारा अनुचित कार्य हुआ है । आपके शोकसे वे दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं ॥ ७-८ ॥

तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम्।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ॥ ९ ॥

आप उन्हें प्रसन्न करनेके लिये घर जाइये। ऐसा करनेसे आपका धर्म नष्ट नहीं होगा। आप तपस्वी, महात्मा तथा निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ ९ ॥

सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय।
श्रद्धस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ॥ १० ॥

परंतु माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बातपर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिताकी सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिये परम कल्याणकी बात बता रहा हूँ ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम्।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित ॥ ११ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्म, सदाचार और सद्गुणोंसे सम्पन्न व्याध! आपका भला हो। आपने यह जो कुछ बताया है, सब निःसंदेह सत्य है। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ११ ॥

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

धर्मव्याधने कहा-विप्रवर! आप देवताओंके समान हैं; क्योंकि आपने उस धर्ममें मन लगाया है, जो पुरातन, सनातन, दिव्य तथा मनको न जीतनेवाले पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ॥

मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम्।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ! आप माता-पिताके पास जाकर आलस्य-रहित हो शीघ्र ही उनकी सेवामें लग जाइये। मैं इससे बढ़-कर और कोई धर्म नहीं देखता ॥ १३ ॥

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोला—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य था, जो यहाँ आया और सौभाग्यसे ही मुझे आपका सङ्ग प्राप्त हो गया। संसारमें आप-जैसे धर्मका मार्ग दिखानेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं ॥ १४ ॥

एको नरसहस्रेषु धर्मविद् विद्यते न वा।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ ॥ १५ ॥

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एक भी धर्मके तत्त्वको जानने-वाला है या नहीं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरुषर्षभ! आपका कल्याण हो। आज मैं आपके सत्यके कारण आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १५ ॥

पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयानघ ॥ १६ ॥

अनघ! मैं नरकमें गिर रहा था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इस प्रकार जब मुझे आपका दर्शन मिल गया, तब निश्चय ही आपके उपदेशके अनुसार भविष्यमें सब कुछ होगा ॥ १६ ॥

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विजः ॥ १७ ॥

राजा ययाति स्वर्गसे गिर गये थे; परंतु उनके उत्तम स्वभाववाले दौहित्रों (पुत्रीके पुत्रों) ने पुनः उनका उद्धार कर दिया—वे पूर्ववत् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हो गये। पुरुष-सिंह! इसी प्रकार आपने भी आज मुझ ब्राह्मणको नरकमें गिरनेसे बचाया है ॥ १७ ॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात् तव।
नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ॥ १८ ॥

मैं आपके कहनेके अनुसार माता-पिताकी सेवा करूँगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह धर्म-अधर्मके निर्णयको बतला नहीं सकता ॥ १८ ॥

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ॥ १९ ॥

आश्चर्य है कि यह सनातन धर्म, जिसके स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है शूद्रयोनिके मनुष्यमें भी विद्यमान है। मैं आपको शूद्र नहीं मानता। आपका जो शूद्रयोनिमें जन्म हो गया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये ॥

येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ॥ २० ॥

महामते! जिस विशेष कर्मके कारण आपको यह शूद्र-योनि प्राप्त हुई है, उसे मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। आप सत्य और पवित्र अन्तःकरणके विश्वासके अनुसार स्वेच्छापूर्वक मुझे सब कुछ बताइये ॥ २० ॥

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ॥ २१ ॥

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! मुझे ब्राह्मणोंका अपराध कभी नहीं करना चाहिये। अनघ! मेरे पूर्वजन्मके शरीर-द्वारा जो घटना घटित हुई है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारगः॥ २२॥

मैं पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका पुत्र और वेदाध्ययन-परायण ब्राह्मण था। वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् माना जाता था। मैं विद्याध्ययनमें अत्यन्त कुशल था॥ २२॥

आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम्।
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः॥ २३॥
संसर्गाद् धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज।

ब्राह्मण! अपने ही दोषोंके कारण मुझे इस दुरवस्थामें आना पड़ा है। पूर्वजन्ममें जब मैं ब्राह्मण था, एक धनुर्वेद-परायण राजाके साथ मेरी मित्रता हो गयी थी। उनके संसर्गसे मैं धनुर्वेदकी शिक्षा लेने लगा और धनुष चलानेकी कलामें मैंने श्रेष्ठ योग्यता प्राप्त कर ली॥ २३½॥

एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः॥ २४॥
सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः।
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति॥ २५॥

ब्रह्मन्! इसी समय राजा अपने मन्त्रियों तथा प्रधान योद्धाओंके साथ शिकार खेलनेके लिये निकले। उन्होंने एक ऋषिके आश्रमके निकट बहुत-से हिंसक पशुओंका वध किया॥ २४-२५॥

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा॥ २६॥

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने भी एक भयानक बाण छोड़ा। उसकी गाँठ कुछ झुकी हुई थी। उस बाणसे एक ऋषि मारे गये॥ २६॥

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन्।
नापराध्याम्यहं किंचित् केन पापमिदं कृतम्॥ २७॥

ब्रह्मन्! बाण लगते ही वे मुनि पृथिवीपर गिर पड़े और अपने आर्तनादसे उस वन्य प्रदेशको गुँजाते हुए बोले, 'आह! मैं तो किसीका कोई अपराध नहीं करता हूँ। फिर किसने यह पापकर्म कर डाला?'॥ २७॥

मन्वानस्तं मृगं चाहं सम्प्राप्तः सहसा प्रभो।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा॥ २८॥

प्रभो! मैंने उन्हें हिंसक पशु समझकर बाण मारा था। अतः सहसा उनके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि झुकी हुई गाँठवाले उस बाणसे एक ऋषि घायल होकर धरतीपर पड़े हैं॥ २८॥

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले॥ २९॥

यह न करनेयोग्य पाप कर डालनेके कारण मेरे मनमें उस समय बड़ी पीड़ा हुई। वे उग्र तपस्वी ब्राह्मण उस समय धरतीपर पड़े-पड़े कराह रहे थे॥ २९॥

अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम्।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः॥ ३०॥

मैंने साहस करके उन मुनीश्वरसे कहा—'भगवन्! अनजानमें मेरेद्वारा यह अपराध बन गया है। अतः आप यह सब क्षमा कर दें'॥ ३०॥

ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः।
व्याधस्त्वं भविता क्रूरशूद्रयोनाविति द्विज॥ ३१॥

मेरी बात सुनकर ऋषि क्रोधसे व्याकुल हो गये और उत्तर देते हुए बोले—'निर्दयी ब्राह्मण! तू शूद्रयोनिमें जन्म लेकर व्याध होगा'॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१५॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक-धर्मव्याध-संवादका उपसंहार तथा कौशिकका अपने घरको प्रस्थान

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा॥ १॥
अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्वं प्रसीद भगवन्निति॥ २॥

धर्मव्याध कहता है—विप्रवर! जब इस प्रकार ऋषिने मुझे शाप दे दिया, तब मैंने कहा—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे उबारिये। मुने! मैंने अनजानमें यह आज अनुचित काम कर डाला है। मेरा सब अपराध क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न हो जाइये।' ऐसा कहकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की॥ १-२॥

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम्।
आनृशंस्यात् त्वहं किञ्चित् कर्तानुग्रहमद्य ते॥ ३॥

ऋषिने कहा—यह शाप टल नहीं सकता। ऐसा होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। परंतु मेरा स्वभाव क्रूर नहीं है; इसलिये मैं तुझपर आज कुछ अनुग्रह करता हूँ ॥ ३ ॥

शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥

तू शूद्रयोनिमें रहकर धर्मज्ञ होगा और माता-पिताकी सेवा करेगा। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥

तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ॥ ५ ॥

उस सेवासे तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी। तू पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण रखनेवाला होगा और अन्तमें स्वर्गलोकमें जायगा ॥ ५ ॥

शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ॥ ६ ॥

शापका निवारण हो जानेपर तू फिर ब्राह्मण होगा। इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी महर्षिने पूर्वकालमें मुझे शाप दिया था ॥ ६ ॥

प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर।
शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत।

नरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ही मेरे ऊपर अनुग्रह किया। द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें उनके आश्रमपर पहुँचा दिया। परंतु उनके प्राण नहीं गये ॥ ७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ॥ ८ ॥
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥

विप्रवर! पूर्वजन्ममें मेरे ऊपर जो कुछ बीता था, वह सब मैंने आपसे कह सुनाया। अब इस जीवनके पश्चात् मुझे स्वर्गलोकमें जाना है ॥ ८-९ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

ब्राह्मण बोला—महामते! मनुष्य इसी प्रकार दुःख और सुख पाते रहते हैं। इसके लिये आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १० ॥

दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः।
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण ॥ ११ ॥

जिसके फलस्वरूप आपको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका ज्ञान बना हुआ है, वह पिता-माताकी सेवारूप कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर है; किंतु आपने उसे सम्पन्न कर लिया है। आप लोकवृत्तान्तका तत्त्व जानते हैं और सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं ॥ ११ ॥

कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन ते।
कञ्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ॥ १२ ॥

विद्वन्! आपको जो यह कर्मदोष (दूषित कर्म) प्राप्त हुआ है, वह आपके पूर्वजन्मके कर्मका फल है। इस जन्मके नहीं। अतः कुछ कालतक और इसी रूपमें रहें। फिर आप ब्राह्मण हो जायँगे ॥ १२ ॥

साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ॥ १३ ॥
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।

मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होनेमें संदेह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतनके गर्तमें गिरानेवाले पापकर्मोंमें फँसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्म-परायण तथा पाखंडी है, वह शूद्रके समान है ॥ १३½ ॥

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ॥ १४ ॥
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।

इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी (शम,) दम, सत्य तथा धर्मका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ; क्योंकि मनुष्य सदाचारसे ही द्विज होता है ॥ १४½ ॥

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ॥ १५ ॥
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम।

कर्मदोषसे ही मनुष्य विषम एवं भयंकर दुर्गतिमें पड़ जाता है। परंतु नरश्रेष्ठ! मैं तो समझता हूँ कि आपके सारे कर्मदोष सर्वथा नष्ट हो गये हैं ॥ १५½ ॥

कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १६ ॥

अतः आपको अपने विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आपके-जैसे ज्ञानी पुरुष, जो लोकवृत्तान्तके अनुवर्तनका रहस्य जाननेवाले तथा नित्य धर्मपरायण हैं, कभी विषादग्रस्त नहीं होते हैं ॥ १६ ॥

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १७ ॥

धर्मव्याधने कहा—ज्ञानी पुरुष शारीरिक कष्टका औषधसेवनद्वारा नाश करे और विवेकशील बुद्धिद्वारा मानसिक दुःखको नष्ट करे। यही ज्ञानकी शक्ति है। बुद्धिमान् मनुष्यको बालकोंके समान शोक या विलाप नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुके संयोग और प्रिय

वस्तुके वियोगमें मानसिक दुःखसे दुखी होते हैं ॥ १८ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १९ ॥

सभी प्राणी तीनों गुणोंके कार्यभूत विभिन्न वस्तु आदिसे जिस प्रकार संयुक्त होते हैं, वैसे ही वियुक्त भी होते रहते हैं। अतः किसी एकका संयोग और किसी एकका वियोग वास्तवमें शोकका कारण नहीं है ॥ १९ ॥

अनिष्टं चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात् ॥ २० ॥

यदि किसी कार्यमें अनिष्टका संयोग दिखायी देता है, तो मनुष्य शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है और यदि आरम्भ होनेसे पहले ही उस अनिष्टका पता लग जाता है, तो लोग उसके प्रतीकारका उपाय करने लगते हैं ॥ २० ॥

शोचतो न भवेत् किंचित् केवलं परितप्यते ।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः ॥ २१ ॥
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ २२ ॥

केवल शोक करनेसे कुछ नहीं होता, संतापमात्र ही हाथ लगता है। जो ज्ञानतृप्त मनीषी मानव सुख और दुःख दोनोंका परित्याग कर देते हैं, वे ही सुखी होते हैं। मूढ़ मनुष्य असंतोषी होते हैं और ज्ञानवानोंको संतोष प्राप्त होता है ॥ २१-२२ ॥

असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

असंतोषका अन्त नहीं है, अतः संतोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञानमार्गको पार करके परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते हैं ॥ २३ ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २४ ॥

मनको विषादकी ओर न जाने दे। विषाद उग्र विष है। वह क्रोधमें भरे हुए सर्पकी भाँति विवेकहीन अज्ञानी मनुष्यको मार डालता है ॥ २४ ॥

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २५ ॥

पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर जिसे विषाद घेर लेता है, उस तेजोहीन पुरुषका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता ॥ २५ ॥

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किंचित् प्राप्नोति शोभनम् ॥ २६ ॥

किये जानेवाले कर्मका फल अवश्य दृष्टिगोचर होता है। केवल खिन्न होकर बैठ रहनेसे कोई अच्छा परिणाम हाथ नहीं लगता ॥ २६ ॥

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २७ ॥

अतः दुःखसे छूटनेके उपायको अवश्य देखे। शोक और विषादमें न पड़कर आवश्यक कार्य आरम्भ कर दे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे मनुष्य निश्चय ही दुःखसे छूट जाता है और फिर किसी संकट या व्यसनमें नहीं फँसता ॥ २७ ॥

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २८ ॥

संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धिसे पार होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, वे ज्ञानी महापुरुष परमात्माका साक्षात्कार करते हुए कभी शोकमें नहीं पड़ते ॥ २८ ॥

न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन् नावसीदामि सत्तम ॥ २९ ॥

विद्वन्! मैं अन्तकालकी प्रतीक्षा करता हूँ। अतः कभी शोकमग्न नहीं होता। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! उपर्युक्त विचारोंका मनन करते रहनेसे मुझे कभी दुःख या अनुत्साह नहीं होता ॥ २९ ॥

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! आप ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धि विशाल है। आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं और ज्ञानानन्दसे तृप्त रहते हैं। अतः मैं आपके लिये शोक नहीं करता ॥ ३० ॥

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥

अब मैं जानेके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका कल्याण हो और धर्म सदा आपकी रक्षा करे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! आप धर्माचरणमें कभी प्रमाद न करें ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कौशिक ब्राह्मणकी बात सुनकर धर्मव्याधने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत अच्छा! अब आप अपने घरको पधारें।' तदनन्तर विप्रवर कौशिक धर्मव्याधकी परिक्रमा करके वहाँसे चल दिया ॥ ३२ ॥

स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः ॥ ३३ ॥

घर जाकर उस ब्राह्मणने अपने माता-पिताकी सब प्रकार-की सेवा-शुश्रूषा की और उन बूढ़े माता-पिताने प्रसन्न होकर उसकी यथायोग्य प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ३४ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तात युधिष्ठिर ! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने ये सब बातें कह सुनायीं ॥ ३४ ॥

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ॥ ३५ ॥

साधुश्रेष्ठ ! पतिव्रताका माहात्म्य और धर्मव्याधके द्वारा ब्राह्मणसे कही हुई माता-पिताकी सेवा आदिकी बातें बता दीं॥३५॥

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम्।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपने धर्मके विषयमें यह अत्यन्त अद्भुत और उत्तम उपाख्यान सुनाया है। मुनिवर ! आप समस्त धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३६ ॥

सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त इव मे गतः।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ॥ ३७ ॥

विद्वन् ! यह कथा सुननेमें इतनी सुखद थी कि मेरा बहुत-सा समय भी दो घड़ीके समान बीत गया। भगवन् ! आपके मुखसे यह धर्मकी उत्तम कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निका अङ्गिराको अपना प्रथम पुत्र स्वीकार करना तथा अङ्गिरासे बृहस्पतिकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम्।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयमिदं तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह धर्मयुक्त शुभ कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन मार्कण्डेयमुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथमग्निर्वनं यातः कथं चाप्यङ्गिराः पुरा।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुने ! पूर्वकालमें अग्निदेवने किस कारणसे जलमें प्रवेश किया था ? और अग्निके अदृश्य हो जानेपर महातेजस्वी अङ्गिरा ऋषिने किस प्रकार अग्नि होकर देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेका कार्य किया ? ॥ २ ॥

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चास्य कर्मसु।
दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

भगवन् ! जब अग्निदेव एक ही हैं, तब विभिन्न कर्मोंमें उनके अनेक रूप क्यों दिखायी देते हैं ? मैं यह सब कुछ जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत्।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥

कुमार कार्तिकेयकी उत्पत्ति कैसे हुई ? वे अग्निके पुत्र कैसे हुए ? भगवान् शङ्करसे तथा गङ्गादेवी और कृत्तिकाओंसे उनका जन्म कैसे सम्भव हुआ ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥

भृगुकुलतिलक महामुने ! मैं आपके मुखसे यह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासको दुहराया करते हैं, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार अग्निदेव कुपित हो तपस्याके लिये जलमें प्रविष्ट हुए थे ? ॥ ६ ॥

यथा च भगवानग्निः स्वयमेवाङ्गिराभवत्।
संतापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥

कैसे स्वयं महर्षि अङ्गिरा ही भगवान् अग्नि बन गये और अपनी प्रभासे अन्धकारका निवारण करते हुए जगत्को ताप देने लगे ? ॥ ७ ॥

पुराङ्गिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम्।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन्।
तथा स भूत्वा तु तदा जगत् सर्वं व्यकाशयत् ॥ ८ ॥

महाबाहो ! प्राचीन कालकी बात है, महाभाग अङ्गिरा ऋषि अपने आश्रममें ही रहकर उत्तम तपस्या करने लगे। वे अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होनेके लिये यत्नशील थे। अपने उद्देश्यमें सफल होकर वे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करने लगे ॥ ८ ॥

तपश्चरंस्तु हुतभुक् संतप्तस्तस्य तेजसा।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित् प्रजज्ञिवान् ॥ ९ ॥

उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे। वे तेजस्वी होकर भी अङ्गिराके तेजसे संतप्त हो अत्यन्त मलिन पड़ गये। परन्तु इसका कारण क्या है ? यह कुछ भी उनकी समझमें नहीं आया ॥ ९ ॥

अथ संचिन्तयामास भगवान् हव्यवाहनः।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा सम्प्रकल्पितः ॥ १० ॥

तब भगवान् अग्निने यह सोचा–'हो-न-हो, ब्रह्माजीने इस जगत्‌के लिये किसी दूसरे अग्निदेवताका निर्माण कर लिया है' ॥ १० ॥

अग्नित्वं विप्रणष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः।
कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ॥ ११ ॥
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम्।

'जान पड़ता है, तपस्यामें लग जानेसे मेरा अग्नित्व नष्ट हो गया। अब मैं पुनः किस प्रकार अग्नि हो सकता हूँ ?' यह विचार करते हुए उन्होंने देखा कि महामुनि अङ्गिरा अग्निकी ही भाँति प्रकाशित हो सम्पूर्ण जगत्‌को ताप दे रहे हैं ॥ ११½ ॥

सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाङ्गिराः ॥ १२ ॥
शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः।
विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १३ ॥

यह देख वे डरते-डरते धीरेसे उनके पास गये। उस समय उनसे अङ्गिरा मुनिने कहा–'देव ! आप पुनः शीघ्र ही लोकभावन अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हो जाइये; क्योंकि तीनों लोकों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें आपकी प्रसिद्धि है ॥ १२-१३ ॥

त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १४ ॥

'ब्रह्माजीने आपको ही अन्धकारनाशक प्रथम अग्निके रूपमें उत्पन्न किया है। तिमिरपुञ्जको दूर भगानेवाले देवता ! आप शीघ्र ही अपना स्थान ग्रहण कीजिये' ॥ १४ ॥

अग्निरुवाच

नष्टकीर्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः।
भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः ॥ १५ ॥

अग्निदेव बोले—मुने ! संसारमें मेरी कीर्ति नष्ट हो गयी है। अब आप ही अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हैं। आपको ही लोग अग्नि समझेंगे, आपके सामने मुझे कोई अग्नि नहीं मानेगा ॥ १५ ॥

निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव।
भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १६ ॥

मैं अपना अग्नित्व आपमें ही रख देता हूँ, आप ही प्रथम अग्निके पदपर प्रतिष्ठित होइये। मैं द्वितीय प्राजापत्य नामक अग्नि होऊँगा ॥ १६ ॥

अङ्गिरा उवाच

कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः।
मां च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ॥ १७ ॥

अङ्गिराने कहा—अग्निदेव ! आप प्रजाको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाला पुण्यकर्म (देवताओंके पास हविष्य पहुँचानेका कार्य) सम्पन्न कीजिये। और स्वयं ही अन्धकार-निवारक अग्निपदपर प्रतिष्ठित होइये, साथ ही मुझे अपना पहला पुत्र स्वीकार कर लीजिये ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथाकरोत्।
राजन् बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसः सुतः ॥ १८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! अङ्गिराका यह वचन सुनकर अग्निदेवने वैसा ही किया। उन्हें अपना प्रथम पुत्र मान लिया। फिर अङ्गिराके भी बृहस्पति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेराङ्गिरसं सुतम्।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! अङ्गिराको अग्निदेवका प्रथम पुत्र जानकर सब देवता उनके पास आये और इसका कारण पूछने लगे ॥ १९ ॥

स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत्।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद् वचोऽङ्गिरसस्तदा ॥ २० ॥

देवताओंके पूछनेपर अङ्गिराने उन्हें कारण बताया और देवताओंने अङ्गिराके उस कथनपर विश्वास करके उसे यथार्थ माना ॥ २० ॥

तत्र नानाविधानग्नीन् प्रवक्ष्यामि महाप्रभान्।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान् नानार्थान् ब्राह्मणेष्विह ॥ २१ ॥

अब मैं महान् कान्तिमान् विविध अग्नियोंका, जो ब्राह्मण-ग्रन्थोक्त विधि-वाक्योंमें अनेक कर्मोंद्वारा विभिन्न प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये विख्यात हैं, वर्णन करूँगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसके प्रसङ्गमें दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अङ्गिराकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याभवत् सुभा भार्या प्रजास्तस्यां च मे शृणु ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलधुरन्धर युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके जो तीसरे पुत्र अङ्गिरा हैं, उनकी पत्नीका नाम सुभा है । उसके गर्भसे जो संतानें उत्पन्न हुईं, उनका वर्णन करता हूँ सुनो ॥ १ ॥

बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन् बृहस्पतिः ॥ २ ॥

राजन् ! बृहत्कीर्ति, बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृहन्मन्त्र, बृहद्भास तथा बृहस्पति (ये अङ्गिरासे सुभाके सात पुत्र हुए) ॥ २ ॥

प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ॥ ३ ॥

अङ्गिराकी प्रथम पुत्रीका नाम देवी भानुमती है । वह उनकी संतानोंमें सबसे अधिक रूपवती है; उसके रूपकी कहीं तुलना ही नहीं है (भानु अर्थात् सूर्यसे युक्त होनेके कारण यह दिनकी अभिमानिनी है) ॥ ३ ॥

भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुता ॥ ४ ॥

अङ्गिरा मुनिकी दूसरी कन्या 'रागा' नामसे विख्यात है । उसपर समस्त प्राणियोंका विशेष अनुराग प्रकट हुआ था । इसीलिये उसका ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ । (यह रात्रिकी अभिमानिनी है) ॥ ४ ॥

यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात् सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ॥ ५ ॥

अङ्गिराकी तीसरी पुत्री 'सिनीवाली' (चतुर्दशीयुक्ता अमावास्या) है, जो अत्यन्त कृश होनेके कारण कभी दीखती है और कभी नहीं दीखती है; इसीलिये लोग उसे 'दृश्यादृश्या' कहते हैं । भगवान् रुद्र उसे ललाटमें धारण करते हैं, इस कारण उसे सब लोग 'रुद्रसुता' भी कहते हैं ।५।

पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमङ्गिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ॥ ६ ॥

उनकी चौथी पुत्री 'अर्चिष्मती' है, (यही पूर्ण चन्द्रमासे युक्त होनेके कारण शुद्ध पौर्णमासी कही जाती है) इसकी प्रभासे लोग रातमें भी सब वस्तुओंको स्पष्ट देखते हैं । पाँचवीं कन्या 'हविष्मती' (प्रतिपद्युक्ता पूर्णिमा 'राका') है, जिसके सांनिध्यमें हविष्यद्वारा देवताओंका यजन किया जाता है । अङ्गिरा मुनिकी जो छठी पुण्यात्मा कन्या है, उसे 'महिष्मती' कहते हैं (यही चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा है, जिसे 'अनुमति' भी कहते हैं) ॥ ६ ॥

महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥

महामते ! जो दीप्तिशाली सोमयाग आदि महायज्ञोंमें प्रकाशित होनेके कारण 'महामती' नामसे विख्यात है, वह (प्रतिपद्युक्त अमावास्या) अङ्गिरा मुनिकी सातवीं पुत्री कहलाती है ॥ ७ ॥

यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ॥ ८ ॥

जिस भगवती अमाको देखकर लोग 'कुहु-कुहु' ध्वनि कर उठते (चकित हो जाते) हैं, अङ्गिरा मुनिकी वह आठवीं पुत्री 'कुहू' नामसे विख्यात है । उसमें चन्द्रमाकी एकमात्र कला अत्यन्त सूक्ष्म अंशसे शेष रहती है । (यही शुद्ध अमावस्या है) ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

बृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्याऽऽसीद् या यशस्विनी ।
अग्नीन् साजनयत् पुण्यान् षडेकां चापि पुत्रिकाम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! बृहस्पतिजीकी जो यशस्विनी पत्नी चान्द्रमसी (तारा) नामसे विख्यात थी, उसने पुत्ररूपमें छः पवित्र अग्नियोंको तथा एक पुत्रीको भी जन्म दिया ॥ १ ॥

आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाज्यं विधीयते।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः॥ २॥

(दर्श-पौर्णमास आदिमें) प्रधान आहुतियोंको देते समय जिस अग्निके लिये सर्वप्रथम घीकी आहुति दी जाती है, वह महान् व्रतधारी अग्नि ही बृहस्पतिका 'शंयु' नामसे विख्यात (प्रथम) पुत्र है॥ २॥

चातुर्मास्येषु यस्येष्टमश्वमेधेऽग्रजः प्रभुः।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥

चातुर्मास्य-सम्बन्धी यज्ञोंमें तथा अश्वमेध-यज्ञमें जिसका पूजन होता है, जो सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला और सर्वसमर्थ है तथा जो अनेक वर्णकी ज्वालाओंसे प्रज्वलित होता है, वह अद्वितीय शक्तिशाली अग्नि ही शंयु है॥ ३॥

शंयोरप्रतिमा भार्या सत्या सत्याथ धर्मजा।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः॥ ४॥

शंयुकी पत्नीका नाम था सत्या। वह धर्मकी पुत्री थी। उसके रूप और गुणोंकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सदा सत्यके पालनमें तत्पर रहती थी। उसके गर्भसे शंयुके एक अग्निस्वरूप पुत्र तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली तीन कन्याएँ हुईं॥ ४॥

प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते॥ ५॥

यज्ञमें प्रथम आज्यभागके द्वारा जिस अग्निकी पूजा की जाती है, वही शंयुका ज्येष्ठ पुत्र 'भरद्वाज' नामक अग्नि बताया जाता है॥ ५॥

पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाऽऽज्यं स्रुवोद्यतम्।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः॥ ६॥

समस्त पौर्णमास यागोंमें स्रुवासे हविष्यके साथ घी उठाकर जिसके लिये 'प्रथम आघार' अर्पित किया जाता है, वह 'भरत' (ऊर्ज) नामक अग्नि शंयुका द्वितीय पुत्र है (इसका जन्म शंयुकी दूसरी स्त्रीके गर्भसे हुआ था)॥ ६॥

तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका॥ ७॥

शंयुके तीन कन्याएँ और हुईं, जिनका बड़ा भाई भरत ही पालन करता था। भरत (ऊर्ज) के 'भरत' नामवाला ही एक पुत्र तथा 'भरती' नामकी एक कन्या हुई॥ ७॥

भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम॥ ८॥

सबका भरण-पोषण करनेवाले प्रजापति भरत नामक अग्निसे 'पावक' की उत्पत्ति हुई। भरतश्रेष्ठ! वह अत्यन्त महनीय (पूज्य) होनेके कारण 'महान्' कहा गया है॥ ८॥

भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिण्डदा।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः॥ ९॥

शंयुके पहले पुत्र भरद्वाजकी पत्नीका नाम 'वीरा' था, जिसने वीर नामक पुत्रको शरीर प्रदान किया। ब्राह्मणोंने सोमकी ही भाँति वीरकी भी आज्यभागसे पूजा बतायी है *। इनके लिये आहुति देते समय मन्त्रका उपांशु उच्चारण किया जाता है॥ ९॥

हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते।
रथप्रभू रथध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते॥ १०॥

सोमदेवताके साथ इन्हींको द्वितीय आज्यभाग प्राप्त होता है। इन्हें 'रथप्रभु', 'रथध्वान' और 'कुम्भरेता' भी कहते हैं॥

सरय्वां जनयत् सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत्।
आग्नेयमानयन् नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते॥ ११॥

वीरने 'सरयू' नामवाली पत्नीके गर्भसे 'सिद्धि' नामक पुत्रको जन्म दिया। सिद्धिने अपनी प्रभासे सूर्यको भी आच्छादित कर लिया। सूर्यके आच्छादित हो जानेपर उसने अग्निदेवता-सम्बन्धी यज्ञका अनुष्ठान किया। आह्वान-मन्त्र (अग्निमग्न आवह इत्यादि) में इस सिद्धिनामक अग्निकी ही स्तुति की जाती है॥ ११॥

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम्॥ १२॥

बृहस्पतिके (दूसरे) पुत्रका नाम 'निश्च्यवन' है। ये यश, वर्चस् (तेज) और कान्तिसे कभी च्युत नहीं होते हैं। निश्च्यवन अग्नि केवल पृथ्वीकी स्तुति करते हैं†॥ १२॥

विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन्।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्मकृत्॥ १३॥

वे निष्पाप, निर्मल, विशुद्ध तथा तेजःपुञ्जसे प्रकाशित हैं। उनका पुत्र 'सत्य' नामक अग्नि है; सत्य भी निष्पाप तथा कालधर्मके प्रवर्तक हैं॥ १३॥

आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम्।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेविते॥ १४॥

वे वेदनासे पीडित होकर आर्तनाद करनेवाले प्राणियोंको उस कष्टसे निष्कृति (छुटकारा) दिलाते हैं, इसीलिये उन

---

* 'अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय' इस श्रुतिमें अग्नि और सोमको उपांशु मन्त्रोच्चारणपूर्वक आज्यभाग अर्पण करनेका विधान है। यहाँ सोमके साथ जिस अग्निको आज्यभागका अधिकारी बताया गया है, वह 'वीर' नामक अग्नि ही है।

† ये वाक्‌के अभिमानी देवता हैं। 'तस्य वाचा सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्च' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

अग्निका एक नाम निष्कृति भी है। वे ही प्राणियोंद्वारा सेवित गृह और उद्यान आदिमें शोभाकी सृष्टि करते हैं॥

अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः॥ १५॥

सत्यके पुत्रका नाम 'स्वन' है, जिनसे पीडित होकर लोग वेदनासे स्वयं कराह उठते हैं। इसीलिये उनका यह नाम पड़ा है। वे रोगकारक अग्नि हैं॥ १५॥

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम्॥ १६॥

(बृहस्पतिके तीसरे पुत्रका नाम 'विश्वजित्' है) वे सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिको अपने वशमें करके स्थित हैं, इसीलिये अध्यात्मशास्त्रके विद्वानोंने उन्हें 'विश्वजित्' अग्नि कहा है॥

अन्तराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम्।
स यज्ञे विश्वभुङ्नाम सर्वलोकेषु भारत॥ १७॥

भरतनन्दन! जो समस्त प्राणियोंके उदरमें स्थित हो उनके खाये हुए पदार्थोंको पचाते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें 'विश्वभुक्' नामसे प्रसिद्ध अग्नि बृहस्पतिके (चौथे) पुत्रके रूपमें प्रकट हुए हैं॥ १७॥

ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः।
ब्राह्मणाः पूजयन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम्॥ १८॥

ये विश्वभुक् अग्नि ब्रह्मचारी, जितात्मा तथा सदा प्रचुर व्रतोंका पालन करनेवाले हैं। ब्राह्मणलोग पाकयज्ञोंमें इन्हींकी पूजा करते हैं॥ १८॥

पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याभवत् प्रिया।
तस्मिन् कर्माणि सर्वाणि क्रियन्ते धर्मकर्तृभिः॥ १९॥

पवित्र गोमती नदी इनकी प्रिय पत्नी हुईं। धर्माचरण करनेवाले द्विजलोग विश्वभुक् अग्निमें ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं॥ १९॥

वडवाग्निः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः॥ २०॥

जो अत्यन्त भयंकर वडवानलरूपसे समुद्रका जल सोखते रहते हैं, वे ही शरीरके भीतर ऊर्ध्वगति—'उदान' नामसे प्रसिद्ध हैं। ऊपरकी ओर गतिशील होनेसे ही उनका नाम 'ऊर्ध्वभाक्' है। वे प्राणवायुके आश्रित एवं त्रिकालदर्शी हैं। (उन्हें बृहस्पतिका पाँचवाँ पुत्र माना गया है)॥ २०॥

उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमः स्मृतः॥ २१॥

प्रत्येक गृह्यकर्ममें जिस अग्निके लिये सदा घीकी ऐसी धारा दी जाती है, जिसका प्रवाह उत्तराभिमुख हो और इस प्रकार दी हुई वह घृतकी आहुति अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि करती है। इसीलिये उस उत्कृष्ट अग्निका नाम 'स्विष्टकृत्' है (उसे बृहस्पतिका छठा पुत्र समझना चाहिये)॥ २१॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः।
क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्युती चा पुत्रिका।
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति॥ २२॥

जिस समय अग्निस्वरूप बृहस्पतिका क्रोध प्रशान्त प्राणियोंपर प्रकट हुआ, उस समय उनके शरीरसे जो पसीना निकला वही उनकी पुत्रीके रूपमें परिणत हो गया। वह पुत्री अधिक क्रोधवाली थी। वह 'स्वाहा' नामसे प्रसिद्ध हुई। वह दारुण एवं क्रूर कन्या सम्पूर्ण भूतोंमें निवास करती है॥ २२॥

त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन।
अतुलत्वात् कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः॥ २३॥

स्वर्गमें भी कहीं तुलना न होनेके कारण जिसके समान रूपवान् दूसरा कोई नहीं है, उस स्वाहा-पुत्रको देवताओंने 'काम' नामक अग्नि कहा है॥ २३॥

संहर्षाद् धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः॥ २४॥

जो हृदयमें क्रोध धारण किये धनुष और मालासे विभूषित हो रथपर बैठकर हर्ष और उत्साहके साथ युद्धमें शत्रुओंका नाश करता है, उसका नाम है 'अमोघ' अग्नि॥ २४॥

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः।
महावाचं त्वजनयत् समाश्वासं हि यं विदुः॥ २५॥

महाभाग! ब्राह्मणलोग त्रिविध उक्थ मन्त्रोंद्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, जिसने महावाणी (परा) का आविष्कार किया है तथा ज्ञानी पुरुष जिसे आश्वासन देनेवाला समझते हैं, उस अग्निका नाम 'उक्थ' है॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१९॥

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाञ्चजन्य अग्निकी उत्पत्ति तथा उसकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः।
अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषु वर्चकः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कश्यपपुत्र

काश्यप, वसिष्ठपुत्र वासिष्ठ, प्राणपुत्र प्राणक, अङ्गिराके पुत्र च्यवन तथा त्रिवर्चा—ये पाँच अग्नि हैं ॥ १ ॥

अचरन्त तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेम धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥ २ ॥

इन्होंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये बहुत वर्षोंतक तीव्र तपस्या की। उनकी तपस्याका उद्देश्य यह था कि हम ब्रह्माजीके समान यशस्वी और धर्मिष्ठ पुत्र प्राप्त करें ॥ २ ॥

महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान् पञ्चवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त पाँच अग्निस्वरूप ऋषियोंने महाव्याहृतिसंज्ञक पाँच मन्त्रोंद्वारा* परमात्माका ध्यान किया, तब उनके समक्ष अत्यन्त तेजोमय, पाँच वर्णोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुआ, जो ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होता था। वह सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेमें समर्थ था ॥ ३ ॥

समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ॥ ४ ॥

भारत ! उसका मस्तक प्रज्वलित अग्निके समान जगमगा रहा था, दोनों भुजाएँ प्रभाकरकी प्रभाके समान थीं, दोनों आँखें तथा त्वचा—सुवर्णके समान देदीप्यमान हो रही थीं और उस पुरुषकी पिण्डलियाँ काले रंगकी दिखायी देती थीं ॥

पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः ।
पाञ्चजन्यः श्रुतो देवः पञ्चवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥

उपर्युक्त पाँच मुनिजनोंने अपनी तपस्याके प्रभावसे उस पाँच वर्णवाले पुरुषको प्रकट किया था, इसलिये उस देवोपम पुरुषका नाम पाञ्चजन्य हो गया। वह उन पाँचों ऋषियोंके वंशका प्रवर्तक हुआ ॥ ५ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत् पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥

फिर महातपस्वी पाञ्चजन्यने अपने पितरोंका वंश चलानेके लिये दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके भयंकर दक्षिणाग्निको उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

बृहद् रथन्तरं मूर्ध्नो वक्त्राद् वा तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥७॥

उन्होंने मस्तकसे बृहत् तथा मुखसे रथन्तर सामको प्रकट किया। ये दोनों वेगपूर्वक आयु आदिको हर लेते हैं, इसलिये 'तरसाहर' कहलाते हैं। फिर उन्होंने नाभिसे रुद्रको बलसे इन्द्रको तथा प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया ॥

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान् सृष्ट्वा ततः पञ्च पितॄणामसृजत् सुतान् ॥ ८ ॥

दोनों भुजाओंसे प्राकृत और वैकृत भेदवाले दोनों अनुदात्तोंको, मन और ज्ञानेन्द्रियोंके समस्त(छहों) देवताओंको तथा पाँच महाभूतोंको उत्पन्न किया। इन सबकी सृष्टि करनेके पश्चात् उन्होंने पाँचों पितरोंके लिये पाँच पुत्र और उत्पन्न किये ॥ ८ ॥

बृहद्रथस्य प्रणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥

(जिनके नाम इस प्रकार हैं—) वासिष्ठ बृहद्रथके अंशसे प्रणिधि, काश्यपके अंशसे महत्तर, अङ्गिरस च्यवनके अंशसे भानु तथा वर्चके अंशसे सौभर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ॥

प्राणस्य चानुदात्तस्तु व्याख्याताः पञ्चविंशतिः ।
देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजत् पञ्चदशोत्तरान् ॥१०॥
सुभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृजत् तपः ॥ ११ ॥

प्राणके अंशसे अनुदात्तकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पचीस पुत्रोंके नाम बताये गये। तत्पश्चात् 'तप' नामधारी पाञ्चजन्यने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले अन्य पंद्रह उत्तर देवों (विनायकों) की सृष्टि की। उनका विवरण इस प्रकार है–सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल और अबल—इन पाँच विनायकोंकी उत्पत्ति उन्होंने पहले की, जो देवताओंके यज्ञका विनाश करनेवाले हैं ॥ १०-११ ॥

सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत् तपः ॥ १२ ॥

इनके बाद पाञ्चजन्यने सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन और मित्रधर्मा—इन पाँचों देवरूपी विनायकोंको उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम् ।
सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत् तपः ॥ १३ ॥

तदनन्तर पाञ्चजन्यने सुरप्रवीर, वीर, सुरेश, सुवर्चा तथा सुरहन्ता—इन पाँचोंको प्रकट किया ॥ १३ ॥

त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक् ।
मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ॥ १४ ॥

इस प्रकार ये पंद्रह देवोपम प्रभावशाली विनायक पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच व्यक्तियोंके तीन दलोंमें विभक्त हैं। इस पृथ्वीपर ही रहकर स्वर्गलोकसे भी यज्ञकर्ता पुरुषोंकी यज्ञ-सामग्रीका अपहरण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्भविः ।
स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नन्त्येते हरन्ति च ॥ १५ ॥

* भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः—ये पाँच महाव्याहृतियाँ हैं। ध्यानके लिये मन्त्रप्रयोग इस प्रकार है—'ॐ भूरग्नमग्नये पृथिव्यै स्वाहा' इत्यादि।

ये विनायकगण अग्नियोंके लिये अभीष्ट महान् हविष्यका अपहरण तो करते ही हैं, उसे नष्ट भी कर डालते हैं। अग्निगणोंके साथ लाग-डाँट रखनेके कारण ही ये हविष्यका अपहरण और विध्वंस करते हैं ॥ १५ ॥

बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः सम्प्रवर्तितम्।
न्देते नोपसर्पन्ति यत्र चाग्निः स्थितो भवेत् ॥ १६ ॥

इसीलिये यज्ञनिपुण विद्वानोंने यज्ञशालाकी बाह्य वेदीपर इन विनायकोंके लिये देयभाग रख देनेका नियम चालू किया है; क्योंकि जहाँ अग्निकी स्थापना हुई हो, उस स्थानके निकट ये विनायक नहीं जाते हैं ॥ १६ ॥

चितोऽग्निरुद्वहन् यज्ञं पक्षाभ्यां तान् प्रबाधते।
मन्त्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णन्ति यज्ञियम् ॥ १७ ॥

मन्त्रद्वारा संस्कार करनेके पश्चात् प्रज्वलित अग्निदेव जिस समय आहुति ग्रहण करते हुए यज्ञका सम्पादन करते हैं, उस समय वे अपने दोनों पङ्खों (पार्श्ववर्ती शिखाओं) द्वारा उन विनायकोंको कष्ट पहुँचाते हैं; (इसीलिये वे उनके पास नहीं फटकते)। मन्त्रोंद्वारा शान्त कर देनेपर वे विनायक यज्ञसम्बन्धी हविष्यका अपहरण नहीं कर पाते हैं ॥

बृहदुक्थस्तपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ॥ १८ ॥

इस पृथ्वीपर जब अग्निहोत्र होने लगता है, उस समय तप (पाञ्चजन्य) के ही पुत्र बृहदुक्थ इस भूतलपर स्थित हो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पूजित होते हैं ॥ १८ ॥

रथन्तरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते।
मित्रविन्दाय वै तस्य हविरध्वर्यवो विदुः ॥ १९ ॥
मुमुदे परमप्रीतः सह पुत्रैर्महायशाः ॥ २० ॥

तपके पुत्र जो रथन्तर नामक अग्नि कहे जाते हैं, उनको दी हुई हवि मित्रविन्द देवताका भाग है, ऐसा यजुर्वेदी विद्वान् मानते हैं। महायशस्वी तप (पाञ्चजन्य) अपने इन सभी पुत्रोंके सहित अत्यन्त प्रसन्न हो आनन्दमग्न रहते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक

दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निस्वरूप तप एवं भानु (मनु) की संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

गुरुभिर्नियमैर्युक्तो भरतो नाम पावकः।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति।
भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पूर्वोक्त भरत नामक अग्नि (जो शंयुके पौत्र और ऊर्जके पुत्र हैं) गुरुतर नियमोंसे युक्त हैं। वे संतुष्ट होनेपर पुष्टि प्रदान करते हैं, इसलिये उनका एक नाम 'पुष्टिमति' भी है। समस्त प्रजाका भरण-पोषण करते हैं, इसलिये उन्हें भरत कहते हैं ॥ १ ॥

अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः।
दुःखार्तानां च सर्वेषां शिवकृत् सततं शिवः ॥ २ ॥

'शिव' नामसे प्रसिद्ध जो अग्नि हैं, वे शक्तिकी आराधनामें लगे रहते हैं। समस्त दुःखातुर मनुष्योंका सदा ही शिव (कल्याण) करते हैं, इसलिये उन्हें 'शिव' कहते हैं ॥

तपसस्तु फलं दृष्ट्वा सम्प्रवृद्धं तपो महत्।
उद्धर्तुकामो मतिमान् पुत्रो जज्ञे पुरंदरः ॥ ३ ॥

तप (पाञ्चजन्य) का तपस्याजनित फल (ऐश्वर्य) बढ़कर महान् हो गया है, यह देख उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे मानो बुद्धिमान् इन्द्र ही पुरंदर नामसे उनके पुत्र होकर प्रकट हुए ॥ ३ ॥*

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतस्य लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥ ४ ॥

उन्हीं पाञ्चजन्यसे 'ऊष्मा' नामक अग्निका प्रादुर्भाव हुआ। जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें ऊष्मा (गर्मी) के द्वारा परिलक्षित होते हैं तथा तपके जो 'मनु'नामक अग्निस्वरूप पुत्र हैं, उन्होंने 'प्राजापत्य' यज्ञ सम्पन्न कराया था ॥ ४ ॥

शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥ ५ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण 'शम्भु' तथा 'आवसथ्य'

* तप अर्थात् पाञ्चजन्यके जो पूर्वोक्त चालीस पुत्र बताये गये हैं, उनके सिवा, पाँच पुत्र और भी उन्होंने उत्पन्न किये थे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पुरंदर, ऊष्मा, मनु, शम्भु और आवसथ्य। उनका तीसरेसे छठे श्लोकतक वर्णन है।

नामक अग्निको देदीप्यमान तथा महान् तेजःपुञ्जसे सम्पन्न बताते हैं ॥ ५ ॥

ऊर्जस्करान् हव्यवाहान् सुवर्णसदृशप्रभान् ।
ततस्तपो ह्यजनयत् पञ्च यज्ञसुतानिह ॥ ६ ॥

इस प्रकार जिन्हें यज्ञमें सोमकी आहुति दी जाती है, ऐसे पाँच पुत्रोंको तपने पैदा किया। वे सब-के-सब सुवर्ण-सदृश कान्तिमान्, बल और तेजकी प्राप्ति करानेवाले तथा देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवां पतिः ।
असुरान् जनयन् घोरान् मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥

महाभाग ! अस्तकालमें परिश्रमसे थके-माँदे सूर्यदेव (अग्निमें प्रविष्ट होनेके कारण) अग्निस्वरूप हो जाते हैं।* भयंकर असुरों तथा नाना प्रकारके मरणधर्मा मनुष्योंको उत्पन्न करते हैं। (उन्हें भी तपकी ही संततिके अन्तर्गत माना गया है) ॥ ७ ॥

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाप्यङ्गिराः सृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥

तपके मनु (प्रजापति) स्वरूप पुत्र भानु नामक अग्निको अङ्गिराने भी (अपना प्रभाव अर्पित करके) नूतन जीवन प्रदान किया है। वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भानुको ही 'बृहद्भानु' कहते हैं ॥ ८ ॥

भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्रान् शृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥

भानुकी दो पत्नियाँ हुईं—सुप्रजा और बृहद्भासा। इनमें बृहद्भासा सूर्यकी कन्या थी। इन दोनोंने छः पुत्रोंको जन्म दिया। इनके द्वारा जो संतानोंकी सृष्टि हुई, उसका वर्णन सुनो ॥ ९ ॥

दुर्बलानां तु भूतानामसून् यः सम्प्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥

जो दुर्बल प्राणियोंको प्राण एवं बल प्रदान करते हैं, उन्हें 'बलद' नामक अग्नि बताया जाता है। ये भानुके प्रथम पुत्र हैं ॥ १० ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥

जो शान्त प्राणियोंमें भयंकर 'क्रोध' बनकर प्रकट होते हैं, वे 'मन्युमान्' नामक अग्नि भानुके द्वितीय पुत्र हैं ॥

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः॥ १२ ॥

यहाँ जिनके लिये दर्श तथा पौर्णमास यागोंमें हविष्य-समर्पणका विधान पाया जाता है, उन अग्निका नाम 'विष्णु' है। वे 'अङ्गिरा' गोत्रीय माने गये हैं। उन्हींका दूसरा नाम 'धृतिमान्' अग्नि है (ये भानुके तीसरे पुत्र हैं) ॥ १२ ॥*

इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १३ ॥

इन्द्रसहित जिनके लिये आग्रयण (नूतन अन्नद्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञ) कर्ममें हविष्य-अर्पणका विधान है, वे 'आग्रयण' नामक अग्नि भानुके ही (चौथे) पुत्र हैं ॥ १३ ॥

चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयः स्तुभः ॥ १४ ॥

चातुर्मास्य यज्ञोंमें नित्य विहित आग्नेय आदि आठ हविष्योंके जो उद्भवस्थान हैं, उनका नाम 'अग्रह' है। (वे ही वैश्वदेव पर्वमें प्रधान विश्वदेव नामक अग्नि हैं—ये भानुके पाँचवें पुत्र हैं) 'स्तुभ' नामक अग्नि भी भानुके ही पुत्र हैं। पहले कहे हुए चार पुत्रोंके साथ जो ये अग्रह (वैश्वदेव) और स्तुभ हैं, इन्हें मिलाकर भानुके छः पुत्र हैं ॥ १४ ॥

निशा त्वजनयत् कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाभवद् भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ॥ १५ ॥

मनु (भानु) की ही एक तीसरी पत्नी थी, जिसका नाम था निशा। उसने एक कन्या और दो पुत्रोंको जन्म दिया। (कन्याका नाम 'रोहिणी' तथा) पुत्रोंके नाम थे अग्नि और सोम, इनके सिवा, निशाने पाँच अग्निस्वरूप पुत्र और भी उत्पन्न किये (जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—वैश्वानर, विश्वपति, सन्निहित, कपिल और अग्रणी) ॥ १५ ॥

पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः ।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥

चातुर्मास्य यज्ञोंमें प्रधान हविष्यद्वारा पर्जन्यसहित जिसकी पूजा की जाती है, वे कान्तिमान् वैश्वानर नामक अग्नि (मनुके प्रथम पुत्र) हैं ॥ १६ ॥

अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपठ्यते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ॥ १७ ॥
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमस्तु सः ।

जो वेदोंमें 'सम्पूर्ण जगत्के पति' कहे गये हैं, वे विश्वपति नामक अग्नि मनुके द्वितीय पुत्र हैं। उन्हींके प्रभावसे हविष्यकी सुन्दर भावसे आहुति-क्रिया सम्पन्न होती है, अतः वे परम स्विष्टकृत् (उत्तम अभीष्टकी पूर्ति करनेवाले) कहे जाते हैं ॥ १७½ ॥

* श्रुति भी कहती है—'आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति।'

* बलद, मन्युमान् तथा विष्णु नामक अग्नि भानुकी भार्या सुप्रजासे उत्पन्न हैं। इसी प्रकार 'आग्रयण' 'अग्रह' और स्तुभ'—ये तीन अग्नि बृहद्भासाकी संतान हैं।

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ॥ १८॥
कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः।

मनुकी कन्या भी 'स्विष्टकृत्' ही मानी गयी है। उसका नाम रोहिणी है, वह मनुकी कुमारी पुत्री किसी अशुभ कर्मके कारण हिरण्यकशिपुकी पत्नी हुई थी। वास्तवमें 'मनु' ही वह्नि है और वे ही 'प्रजापति' कहे गये हैं ॥ १८½ ॥

प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्तयति देहिनाम्।
तस्य संनिहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥ १९ ॥

जो देहधारियोंके प्राणोंका आश्रय लेकर उनके शरीरको कार्यमें प्रवृत्त करते हैं, उनका नाम है 'संनिहित' अग्नि। ये मनुके तीसरे पुत्र हैं। इनके द्वारा शब्द तथा रूपको ग्रहण करनेमें सहायता मिलती है ॥ १९ ॥

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम्।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ॥ २१ ॥

जो दीप्तिमान् महापुरुष, शुक्ल और कृष्ण गतिके आधार हैं, जो अग्निका धारण-पोषण करते हैं, जिनमें किसी प्रकारका कल्मष अर्थात् विकार नहीं है तथापि जो समस्त विकारस्वरूप जगत्के कर्ता हैं, यति लोग जिनको सदा महर्षि कपिलके नामसे कहा करते हैं, जो सांख्ययोगके प्रवर्तक हैं वे क्रोधस्वरूप अग्निके आश्रय कपिल नामक अग्नि हैं। (ये मनुके चौथे पुत्र हैं) ॥ २०-२१ ॥

अग्रं यच्छन्ति भूतानां येन भूतानि नित्यदा।
कर्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ॥ २२ ॥

मनुष्य आदि समस्त भूत-प्राणी सर्वदा भाँति-भाँतिके कर्मोंमें जिनके द्वारा सब भूतोंके लिये अन्नका अग्रभाग अर्पण करते हैं, वे अग्रणी नामक अग्नि (मनुके पाँचवें पुत्र) कहलाते हैं ॥ २२ ॥

इमानन्यान् समसृजत् पावकान् प्रथितान् भुवि।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्बणान् ॥ २३ ॥

मनुने अग्निहोत्र कर्ममें की हुई त्रुटिके प्रायश्चित्त (समाधान) के लिये इन लोकविख्यात तेजस्वी अग्नियोंकी सृष्टि की, जो पूर्वोक्त अग्नियोंसे भिन्न हैं ॥ २३ ॥

संस्पृशेयुर्यदान्योन्यं कथञ्चिद् वायुनाग्नयः।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ॥ २४ ॥

यदि किसी प्रकार हवाके चलनेसे अग्नियोंका परस्पर स्पर्श हो जाय, तो अष्टाकपाल (आठ कपालों[1]में संस्कारपूर्वक तैयार किये हुए) पुरोडाशके द्वारा शुचि नामक अग्निके लिये इष्टि करनी (आहुति देनी) चाहिये ॥ २४ ॥

दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ॥ २५ ॥

जब दक्षिणाग्निका गार्हपत्य तथा आहवनीय नामक दो अग्नियोंसे संसर्ग हो जाय, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कार-पूर्वक तैयार किये हुए पुरोडाशद्वारा 'वीति' नामक अग्निके लिये आहुति देनी चाहिये ॥ २५ ॥

यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये ॥ २६ ॥

यदि गृहस्थित अग्नियोंका दावानलसे संसर्ग हो जाय, तो मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुद्वारा शुचि नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ २६ ॥

अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम्।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ॥ २७ ॥

यदि अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको कोई रजस्वला स्त्री छू दे, तो वसुमान् अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरु-द्वारा आहुति देनी चाहिये ॥ २७ ॥

मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरभिमतेऽग्नये ॥ २८ ॥

यदि किसी प्राणीका मृत्युसूचक विलाप आदि सुनायी दे अथवा कुक्कुर आदि पशु उस अग्निका स्पर्श कर लें, उस दशामें मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा सुरभिमान् नामक अग्निकी प्रसन्नताके लिये होम करना चाहिये ॥ २८ ॥

आर्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या स्यादुत्तराग्नये ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण किसी पीड़ासे आतुर होकर तीन राततक अग्निहोत्र न करे, उसे मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा 'उत्तर' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ २९ ॥

दर्शं च पौर्णमासं च यस्य तिष्ठेत् प्रतिष्ठितम्।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ॥ ३० ॥

जिसका चालू किया हुआ दर्श और पौर्णमास याग बीचमें ही बंद हो जाय अथवा बिना आहुति किये ही रह जाय, उसे 'पथिकृत्' नामक अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा होम करना चाहिये ॥ ३० ॥

सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशेदग्निहोत्रिकम्।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या चाग्निमतेऽग्नये ॥ ३१ ॥

जब सूतिकागृहकी अग्नि, अग्निहोत्रकी अग्निका स्पर्श कर ले, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा 'अग्निमान्' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें अङ्गिरसोपाख्यानविषयक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

१. मिट्टीके प्याले या पुरवेका नाम कपाल है।

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सह नामक अग्निका जलमें प्रवेश और अथर्वा अङ्गिराद्वारा पुनः उनका प्राकट्य

मार्कण्डेय उवाच

आपस्य मुदिता भार्या सहस्य परमा प्रिया।
भूपतिर्भुवभर्ता च जनयत् पावकं परम्॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! जलमें निवासके कारण प्रसिद्ध हुए 'सह' नामक अग्निके एक परम प्रिय पत्नी थी जिसका नाम था मुदिता। उसके गर्भसे भूलोक और भुवर्लोकके स्वामी सहने 'अद्भुत'[1] नामक उत्कृष्ट अग्निको उत्पन्न किया॥ १॥

भूतानां चापि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम्।
आत्मा भुवनभर्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु॥ २॥

ब्राह्मणलोगोंमें वंशपरम्पराके क्रमसे सभी यह मानते और कहते हैं कि 'अद्भुत' नामक अग्नि सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति हैं। वे ही सबके आत्मा और भुवन-भर्ता हैं॥ २॥

महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः।
भगवान् स महातेजा नित्यं चरति पावकः॥ ३॥

'वे ही इस जगत्के सम्पूर्ण महाभूतोंके पति हैं। उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य सुशोभित हैं। वे महातेजस्वी अग्निदेव सदा सर्वत्र विचरण करते हैं॥ ३॥

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः॥ ४॥

'जो 'अग्निगृहपति' नामसे सदा यज्ञमें पूजित होते हैं तथा हवन किये गये हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं, वे अद्भुत अग्नि ही इस जगत्को पवित्र करनेवाले हैं॥ ४॥

अपां गर्भो महाभागः सत्त्वभुग् यो महाद्भुतः।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते॥ ५॥

'जो 'आप' नामवाले सहके पुत्र हैं, जो महाभाग, सत्त्व-भोक्ता, भूलोकके पालक और भुवर्लोकके स्वामी हैं, वे अद्भुत नामक महान् अग्नि बुद्धितत्त्वके अधिपति बताये जाते हैं'॥५॥

दहन् मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत्।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु॥ ६॥

'उन्हीं 'अद्भुत' या गृहपतिके एक अग्निस्वरूप पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'भरत' है। ये मरे हुए प्राणियोंके शवका दाह करते हैं। भरतका अग्निष्टोम यज्ञमें नित्य निवास है, इसलिये उन्हें 'नियत' भी कहते हैं। नियतका संकल्प उत्तम है॥ ६॥

स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः।
आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात्॥ ७॥

'प्रथम अग्नि 'सह' बड़े प्रभावशाली हैं। एक समय देवतालोग उनको ढूँढ़ रहे थे। उनके साथ अपने पौत्र नियतको भी आता देख (उससे छू जानेके) भयसे वे समुद्रके भीतर घुस गये॥ ७॥

देवास्तत्रापि गच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम्।
दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत्॥ ८॥

तब देवतालोग सब दिशाओंमें उनकी खोज करते हुए वहाँ भी पहुँचने लगे। एक दिन अथर्वा (अङ्गिरा) को देखकर अग्निने उनसे कहा—॥ ८॥

देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः।
अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत् कुरुष्व मे॥ ९॥

'वीर! तुम देवताओंके पास उनका हविष्य पहुँचाओ। मैं अत्यन्त दुर्बल हो गया हूँ। अब केवल तुम्हीं अग्निपदपर प्रतिष्ठित हो जाओ और मेरा यह प्रिय कार्य सम्पन्न करो'॥९॥

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत्।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत्।
भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम्॥ १०॥

इस प्रकार अथर्वाको भेजकर अग्निदेव दूसरे स्थानमें चले गये। किंतु मत्स्योंने अथर्वासे उनकी स्थिति कहाँ है, यह बता दिया। इससे कुपित होकर अग्निने उन्हें शाप देते हुए कहा—'तुमलोग नाना प्रकारसे जीवोंके भक्ष्य बनोगे'॥ १०॥

अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद् वचः॥ ११॥
अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः।
नैच्छद् वोढुं हविः सोढुं शरीरं चापि सोऽत्यजत्॥ १२॥

तदनन्तर अग्निने अथर्वासे फिर वही बात कही। उस समय देवताओंके कहनेसे अथर्वा मुनिने सह नामक अग्निदेवसे अत्यन्त अनुनय-विनय की, परंतु उन्होंने न तो हविष्य ढोनेका भार लेनेकी इच्छा की और न वे अपने उस जीर्ण शरीरका ही भार सह सके। अन्ततोगत्वा उन्होंने शरीर त्याग दिया॥ ११-१२॥

स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा।
भूमिं स्पृष्ट्वासृजद् धातून् पृथक् पृथगतीव हि॥ १३॥

उस समय अपने उस शरीरको त्यागकर वे धरतीमें समा गये। भूमिका स्पर्श करके उन्होंने पृथक्-पृथक् बहुत-से धातुओंकी सृष्टि की॥ १३॥

पूयात् स गन्धं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा॥ १४॥

[1] १. 'सहसः पुत्रोऽद्भुतः' इति मन्त्रवर्णः।

'सह' नामक अग्निने अपने पीब तथा रक्तसे गन्धक एवं तैजस धातुओंको उत्पन्न किया। उनकी हड्डियोंसे देवदारु-के वृक्ष प्रकट हुए। कफसे स्फटिक तथा पित्तसे मरकत-मणिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १४ ॥

यकृत् कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभ्रुः प्रजाः।
नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ॥ १५ ॥

और उनका यकृत् (जिगर) ही काले रंगका लोहा बनकर प्रकट हुआ। काष्ठ, पाषाण और लोहा—इन तीनों-से ही प्रजाजनोंकी शोभा होती है। उनके नखमेघसमूहका रूप धारण करते हैं। नाडियाँ मूँगा बनकर प्रकट हुई हैं ॥

शरीराद् विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन् नृप।
एवं त्यक्त्वा शरीरं च परमे तपसि स्थितः ॥ १६ ॥

राजन्! सह अग्निके शरीरसे अन्य नाना प्रकारके धातु उत्पन्न हुए। इस प्रकार शरीर त्यागकर वे बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ १६ ॥

भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितःशिखी॥ १७ ॥

जब भृगु और अङ्गिरा आदि ऋषियोंने पुनः उनको तपस्यासे उपरत कर दिया, तब वे तपस्यासे पुष्ट हुए तेजस्वी अग्निदेव अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम्।
तस्मिन् नष्टे जगद् भीतमथर्वाणमथाश्रितम्।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ॥ १८ ॥

महर्षि अङ्गिराको सामने देख वे अग्नि भयके मारे पुनः महासागरके भीतर प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार अग्निके अदृश्य हो जानेपर सारा संसार भयभीत हो अथर्वा—अङ्गिराकी शरणमें आया तथा देवताओंने इन अथर्वाकी पूजा की ॥ १८ ॥

अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम्।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम्॥ १९ ॥

अथर्वाने सब प्राणियोंके देखते-देखते समुद्रको मथ डाला और अग्निदेवका दर्शन करके स्वयं ही सम्पूर्ण लोकों-की सृष्टि की ॥ १९ ॥

एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ २० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें अदृश्य हुए अग्निको भगवान् अङ्गिराने फिर बुलाया। जिससे प्रकट होकर वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंका हविष्य वहन करते हैं ॥ २० ॥

एवं त्वजनयद् धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विबुधान् बहून्।
विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २१ ॥

उस समुद्रके भीतर नाना स्थानोंमें विचरण एवं भ्रमण करते हुए सह अग्निने इसी प्रकार विविध भाँतिके बहुत-से वेदोक्त अग्निदेवों तथा उनके स्थानोंको उत्पन्न किया ॥ २१ ॥

सिन्धुनदं पञ्चनदं देविकाथ सरस्वती।
गङ्गा च शतकुम्भा च सरयूर्गण्डसाह्वया ॥ २२ ॥
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा।
ताम्रवती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ॥ २३ ॥
तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा।
वेणोपवेणा भीमा च वडवा चैव भारत ॥ २४ ॥
भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा।
तुङ्गवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ॥ २५ ॥
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः।

सिन्धुनद, पञ्चनद, देविका, सरस्वती, गङ्गा, शत-कुम्भा, सरयू, गण्डकी, चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रवती, वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणा, उपवेणा, भीमा, वडवा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुङ्गवेणा, कृष्णवेणा, कपिला तथा शोणभद्र—ये सब नदियाँ और नद हैं, जो अग्नियोंके उत्पत्ति-स्थान कहे गये हैं। २२–२५½

अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ॥ २६ ॥
यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव तु
अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः ॥ २७ ॥

अद्भुतकी जो प्रियतमा पत्नी है, उसके गर्भसे उनके 'विभूरसि' नामक पुत्र हुआ। अग्नियोंकी जितनी संख्या बतायी गयी है, सोमयागोंकी भी उतनी ही है। वे सब अग्नि ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे अत्रिके वंशमें उनकी संतानरूपसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २६–२७ ॥

अत्रिः पुत्रान् स्रष्टुकामस्तानेवात्मन्यधारयत् ॥ २८ ॥
तस्य तद्ब्रह्मणः कार्यान्निर्हरन्ति हुताशनाः।

अत्रिको जब प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने उन अग्नियोंको ही अपने हृदयमें धारण किया। फिर उन ब्रह्मर्षिके शरीरसे विभिन्न अग्नियोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २८½ ॥

एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ॥ २९ ॥
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः।

राजन्! इस प्रकार मैंने इन अप्रमेय, अन्धकारनिवारक तथा दीप्तिमान् महामना अग्नियोंकी जिस क्रमसे उत्पत्ति हुई है, उसका तुमसे वर्णन किया ॥ २९½ ॥

अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ॥ ३० ॥
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः।

वेदोंमें 'अद्भुत' नामक अग्निके माहात्म्यका जैसा वर्णन है, वैसा ही सब अग्नियोंका समझना चाहिये, क्योंकि इन सबमें एक ही अग्नितत्त्व विद्यमान है ॥ ३०½ ॥

एक एवैष भगवान् विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ॥ ३१ ॥
बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ।

ये प्रथम भगवान् अग्नि, जिन्हें अङ्गिरा भी कहते हैं, एक ही हैं, ऐसा जानना चाहिये । जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ उद्भिद् आदि अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ है, उसी प्रकार एक ही अग्नितत्त्व प्रजापतिके शरीरसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हुआ है ॥ ३१½ ॥

इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।
योऽर्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मेरेद्वारा अग्निदेवके महान् वंशका प्रतिपादन किया गया । वे भगवान् अग्नि विविध वेदमन्त्रोंद्वारा पूजित होकर देहधारियोंके दिये हुए हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्यानेऽग्निसमुद्भवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानविषयक अग्निप्रादुर्भावसम्बन्धी दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा केशीके हाथसे देवसेनाका उद्धार

वैशम्पायन उवाच

(श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयं तपस्विनम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह धर्मयुक्त कल्याणमयी कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उन तपस्वी मुनि मार्कण्डेयजीसे पूछा ॥

युधिष्ठिर उवाच

कुमारस्तु यथा जातो यथा चाग्नेःसुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कौतूहलमतीव मे ॥)

युधिष्ठिर बोले—मुने ! कुमार (स्कन्द) का जन्म कैसे हुआ ? वे अग्निके पुत्र किस प्रकार हुए ? भगवान् शिवसे उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? तथा वे गङ्गा और छहों कृत्तिकाओंके गर्भसे कैसे प्रकट हुए ? मैं यह सुनना चाहता हूँ । इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥

मार्कण्डेय उवाच

अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्तितास्ते मयानघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! मैंने तुमसे अग्नियोंके विविध वंशोंका वर्णन किया । अब तुम परम बुद्धिमान् कार्तिकेयके जन्मका वृत्तान्त सुनो ॥ १ ॥

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥

अद्भुत अग्निके अद्भुत पुत्र कार्तिकेयके बल और तेज असीम हैं । उनका जन्म ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके गर्भसे हुआ है । वे अपने उत्तम यशको बढानेवाले तथा ब्राह्मणभक्त हैं । मैं उनके जन्मका वृत्तान्त बता रहा हूँ, सुनो ॥ २ ॥

देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥

पूर्वकालकी बात है, देवता और असुर युद्धके लिये उद्यत हो एक-दूसरेको अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा चोट पहुँचाया करते थे । उस संघर्षके समय भयंकर रूपवाले दानव सदा ही देवताओंपर विजय पाते थे ॥ ३ ॥

वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः ।
स सैन्यनायकार्थाय चिन्तामाप भृशं तदा ॥ ४ ॥

जब इन्द्रने देखा कि दानव बार-बार देवताओंकी सेनाका वध कर रहे हैं, तब उन्हें एक सुयोग्य सेनापतिकी आवश्यकता हुई । इसके लिये वे बहुत चिंतित हुए ॥ ४ ॥

देवसेनां दानवैर्हि भग्नां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद् वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥

उन्होंने सोचा 'मुझे ऐसे पुरुषका पता लगाना चाहिये, जो महान् बलवान् हो और अपने पराक्रमका आश्रय ले देवताओंकी उस सेनाका, जिसका दानव नाश कर देते हैं, संरक्षण करे' ॥ ५ ॥

स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावार्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥

इसी बातका बार-बार विचार करते हुए इन्द्र मानसपर्वतपर गये । वहाँ उन्हें एक स्त्रीके मुखसे निकला हुआ भयंकर आर्तनाद सुनायी दिया ॥ ६ ॥

अभिधावतु मां कश्चित् पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥

वह कह रही थी 'कोई वीर पुरुष दौड़कर आये और मेरी रक्षा करे ! वह मेरे लिये पति प्रदान करे या स्वयं ही मेरा पति हो जाय' ॥ ७ ॥

पुरंदरस्तु तामाह मा भैर्नास्ति भयं तव।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत् केशिनं स्थितमग्रतः॥ ८॥

यह सुनकर इन्द्रने उससे कहा—'भद्रे ! डरो मत, अब तुम्हें कोई भय नहीं है।' ऐसा कहकर जब उन्होंने उधर दृष्टि डाली, तब केशी दानव सामने खड़ा दिखायी दिया॥

किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाचलम्।
हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत्॥ ९॥

उसने मस्तकपर किरीट धारण कर रक्खा था। उसके हाथमें गदा थी और वह एक कन्याका हाथ पकड़े विविध धातुओंसे विभूषित पर्वत-सा जान पड़ता था। यह देख इन्द्रने उससे कहा—॥ ९॥

अनार्यकर्मन् कस्मात् त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात्॥ १०॥

'रे नीच कर्म करनेवाले दानव ! तू कैसे इस कन्याका अपहरण करना चाहता है? समझ ले, मैं वज्रधारी इन्द्र हूँ। अब इस अबलाको सताना छोड़ दे॥ १०॥

केश्युवाच

विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया।
क्षमं ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन॥ ११॥

केशी बोला—इन्द्र ! तू ही इसे छोड़ दे। मैंने इसका वरण कर लिया है। पाकशासन ! ऐसा करनेपर ही तू जीता-जागता अपनी अमरावती पुरीको लौट सकता है॥ ११॥

एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेन्द्रवधाय वै।
तामापतन्तीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः॥ १२॥

ऐसा कहकर केशीने इन्द्रका वध करनेके लिये अपनी गदा चलायी। परंतु इन्द्रने अपने वज्रद्वारा उस आती हुई गदाको बीचसे ही काट डाला॥ १२॥

अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत्।
तदा पतन्तं सम्प्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः॥ १३॥
बिभेद राजन् वज्रेण भुवि तन्निपपात ह।
पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताडितः॥ १४॥

तब केशीने कुपित होकर इन्द्रपर पर्वतकी एक चट्टान फेंकी। राजन् ! उस शैलशिखरको अपने ऊपर गिरता देख इन्द्रने वज्रसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और वह चूर चूर होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय गिरते हुए उस शिलाखण्डने केशीको ही भारी चोट पहुँचायी॥ १३-१४॥

हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद् भृशपीडितः।
अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत्।
कासि कस्यासि किञ्चेह कुरुषे त्वं शुभानने॥ १५॥

उस आघातसे अत्यन्त पीडित हो वह दानव उस परम सौभाग्यशालिनी कन्याको छोड़कर भाग गया। उस असुरके भाग जानेपर इन्द्रने उस कन्यासे पूछा—'सुमुखि ! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? और यहाँ क्या करती हो?'॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानप्रकरणमें स्कन्दकी उत्पत्तिके विषयमें केशिपराभवविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रका देवसेनाके साथ ब्रह्माजीके पास तथा ब्रह्मर्षियोंके आश्रमपर जाना, अग्निका मोह और वनगमन

कन्योवाच

अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता।
भगिनी दैत्यसेना मे सा पूर्वं केशिना हृता॥ १॥

कन्या बोली—देवेन्द्र ! मैं प्रजापतिकी पुत्री हूँ। मेरा नाम देवसेना है। मेरी बहिनका नाम दैत्यसेना है, जिसे इस केशीने पहले ही हर लिया था॥ १॥

सदैवावां भगिन्यौ तु सखीभिः सह मानसम्।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम्॥ २॥

हम दोनों बहिनें अपनी सखियोंके साथ प्रजापतिकी आज्ञा लेकर सदा क्रीडाविहारके लिये इस मानसपर्वतपर आया करती थीं ॥ २ ॥

नित्यं चावां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाहं पाकशासन ॥ ३ ॥

पाकशासन ! महान् असुर केशी प्रतिदिन यहाँ आकर हम दोनोंको हर ले जानेके लिये फुसलाया करता था। दैत्यसेना इसे चाहती थी। परंतु मेरा इसपर प्रेम नहीं था।३।

सा हृतानेन भगवन् मुक्ताहं त्वद्बलेन तु।
त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥ ४ ॥

अतः दैत्यसेनाको तो यह हर ले गया, परंतु मैं आपके पराक्रमसे बच गयी। भगवन्! देवेन्द्र ! अब मैं आपके आदेशके अनुसार किसी दुर्जय वीरको अपना पति बनाना चाहती हूँ ॥

इन्द्र उवाच

मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम।
आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले–शुभे ! तुम मेरी मौसेरी बहिन हो। मेरी माता भी दक्षकी ही पुत्री हैं। मेरी इच्छा है कि तुम स्वयं ही अपने बलका परिचय दो ॥ ५ ॥

कन्योवाच

अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान् मम।
वरदानात् पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥ ६ ॥

कन्या बोली–महाबाहो ! मैं तो अबला हूँ। पिताजीके वरदानसे मेरे भावी पति बलवान् तथा देवदानववन्दित होंगे ॥६॥

इन्द्र उवाच

कीदृशं तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिन्दिते ॥ ७ ॥

इन्द्रने पूछा—देवि ! तुम्हारे पतिका बल कैसा होगा ? अनिन्दिते ! यह बात मैं तुम्हारे ही मुँहसे सुनना चाहता हूँ ॥७॥

कन्योवाच

देवदानवयक्षाणां किंनरोरगरक्षसाम्।
जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ॥ ८ ॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ॥ ९ ॥

कन्या बोली—देवराज ! जो देवता, दानव, यक्ष, किंनर, नाग, राक्षस तथा दुष्ट दैत्योंको जीतनेवाला हो; जिसका पराक्रम महान् और बल असाधारण हो तथा जो तुम्हारे साथ रहकर समस्त प्राणियोंपर विजय प्राप्त कर सके, वह ब्राह्मणहितैषी तथा अपने यशकी वृद्धि करनेवाला वीर पुरुष मेरा पति होगा ॥ ८-९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिन्तयद् भृशम्।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं सम्प्रभाषते ॥ १० ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! देवसेनाकी बात सुनकर इन्द्र अत्यन्त दुखी हो सोचने लगे 'इस देवीको जैसा यह बता रही है, वैसा पति मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता' ॥ १० ॥

अथापश्यत् स उदये भास्करं भास्करद्युतिः।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर सूर्यके समान तेजस्वी इन्द्रने देखा, सूर्य उदयाचलपर आ गये हैं। महाभाग चन्द्रमा भी सूर्यमें ही प्रवेश कर रहे हैं ॥ ११ ॥

अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहूर्ते रौद्र एव तु।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥ १२ ॥

अमावस्या आरम्भ हो गयी थी। उस रौद्र (भयंकर) मुहूर्तमें ही उदयगिरिके शिखरपर उन्हें देवासुर-संग्रामका लक्षण दिखायी दिया ॥ १२ ॥

लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः।
अपश्यल्लोहितोदं च भगवान् वरुणालयम् ॥ १३ ॥

ऐश्वर्यशाली इन्द्रने देखा, पूर्वसंध्या (प्रभात) का समय है, प्राचीके आकाशमें लाल रंगके घने बादल घिर आये हैं और समुद्रका जल भी लाल ही दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ १३ ॥

भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च हुतं मन्त्रैः पृथग्विधैः।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशन्तं दिवाकरम् ॥ १४ ॥

भृगु तथा अङ्गिरा गोत्रके ऋषियोंद्वारा पृथक्-पृथक् मन्त्र पढ़कर हवन किये हुए हविष्यको ग्रहण करके अग्निदेव भी सूर्यमें ही प्रवेश करते हैं ॥ १४ ॥

पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपस्थितम्।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ॥ १५ ॥

उस समय भगवान् सूर्यके निकट चौबीसवाँ पर्व उपस्थित था अर्थात् पहले जिस अमावस्यापर्वमें देवासुर-संग्राम हुआ था उससे पूरे एक वर्षके बाद पुनः वैसा अवसर आया था। धर्मकी अर्थात् होम और संध्याकी वेलामें वह रौद्र मुहूर्त उपस्थित था और चन्द्रमा सूर्यकी राशिमें स्थित हो गये थे ॥ १५ ॥

समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च।
समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिन्तयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यकी एकता (एक राशिपर स्थिति) तथा रौद्र मुहूर्तका संयोग देखकर इन्द्र मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करने लगे—॥ १६ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम्।
एतस्मिन्नेव रात्र्यन्ते महद् युद्धं तु शंसति ॥ १७ ॥

'अहो ! इस समय चन्द्रमा और सूर्यपर यह भयंकर घेरा दिखायी दे रहा है। इससे सूचित होता है कि रात बीतते-बीतते भारी युद्ध छिड़ जायगा ॥ १७ ॥

सरित्सिन्धुरपीयं तु प्रत्यसृग्वाहिनी भृशम्।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा च प्रत्यादित्यं विराविणी ॥ १८ ॥

'यह सिन्धु नदी भी उल्टी धारामें बहकर रक्तके स्रोत बहा रही है। सियारिन मुँहसे आग उगलती हुई-सी सूर्यकी ओर देखकर रोती है ॥ १८ ॥

एष रौद्रश्च सङ्घातो महान् युक्तश्च तेजसा।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ॥ १९ ॥

'अनेक योगोंका यह भयंकर तथा महान् संघात (सम्मेलन) तेजसे आलोकित हो रहा है। अग्नि और सूर्यके साथ चन्द्रमाका यह अद्भुत समागम दृष्टिगोचर होता है ।१९।

जनयेद् यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत्।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ॥ २० ॥

'जान पड़ता है, इस समय चन्द्रमा जिस पुत्रको जन्म देंगे, वही इस देवीका पति होगा अथवा अग्नि भी इन सभी अभीष्ट गुणोंसे युक्त हैं। वे भी देवकोटिमें ही हैं ॥ २० ॥

एष चेज्जनयेद् गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत्।
एवं संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मलोकं तदा गतः ॥ २१ ॥
गृहीत्वा देवसेनां तामवदत् स पितामहम्।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधुशूरं पतिं दिश ॥ २२ ॥

'अतः ये यदि किसी बालकको उत्पन्न करें, तो वही इस देवीका पति होगा।' ऐसा सोच-विचारकर ऐश्वर्यशाली इन्द्र उस समय उस देवसेनाको साथ ले ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—'भगवन्! आप इस देवीके लिये कोई अच्छे स्वभावका शूरवीर पति प्रदान कीजिये' ।२१-२२।

ब्रह्मोवाच

मयैतच्चिन्तितं कार्यं त्वया दानवसूदन।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—दानवसूदन! इस विषयमें तुमने जो विचार किया है, वही मैंने भी सोचा है। वैसा होनेपर ही एक महान् पराक्रमी बलवान् वीरका प्रादुर्भाव होगा ।२३।

स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान्॥ २४ ॥

शतक्रतो! वही तुम्हारे साथ रहकर देवसेनाका पराक्रमी सेनापति होगा और वही इस देवीका भी पति होगा ॥२४॥

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया।
तत्राभ्यगच्छद् देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ॥ २५ ॥
वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहाबलाः।

यह सुनकर देवराज इन्द्र ब्रह्माजीको नमस्कार करके उस कन्याको साथ ले जहाँ महान् शक्तिशाली वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं देवर्षि थे, वहाँ उनके आश्रमपर आये ।२५½।

भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमं तथाध्वरे ॥ २६ ॥
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः।

उन दिनों वे महर्षिगण जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें भाग लेनेके लिये तथा सोमपान करनेके लिये इन्द्र आदि सभी देवता वहाँ पधारे थे। उन सबके मनमें सोमपानकी इच्छा थी ॥२६½॥

इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ॥ २७ ॥
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम्।

उन महात्मा ऋषियोंने प्रज्वलित अग्निमें शास्त्रीय विधिसे इष्टिका सम्पादन करके सम्पूर्ण देवताओंके लिये हविष्यकी आहुति दी ॥ २७½ ॥

समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात् ॥ २८ ॥
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत् प्रभुः।
आगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ॥ २९ ॥
स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ! मन्त्रोंद्वारा आवाहन होनेपर वे अद्भुत नामक अग्नि सूर्यमण्डलसे निकलकर मौनभावसे वहाँ आये और ब्रह्मर्षियोंद्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक विधिवत् हवन किये हुए भाँति-भाँतिके हवनीय पदार्थोंको उन महर्षियोंसे प्राप्त करके उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंकी सेवामें अर्पित किया ॥२८–३० ॥

निष्क्रामंश्चाप्यपश्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम्।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपन्तीश्च तथा सुखम् ॥ ३१ ॥

देवताओंको हविष्य पहुँचाकर जब अग्निदेव वहाँसे जाने लगे, तब उनकी दृष्टि उन महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियोंपर पड़ी । उनमेंसे कुछ तो अपने आसनोंपर बैठी थीं और कुछ सुखपूर्वक सो रही थीं ॥ ३१ ॥

रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः ।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ॥ ३२ ॥

उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णमयी वेदीके समान गौर थी, वे चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल थीं, अग्निकी लपटोंके समान प्रभा बिखेर रही थीं और तारिकाओंके समान अद्भुत सौन्दर्यसे प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३२ ॥

स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः ।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ३३ ॥

इस प्रकार वहाँ (आसक्तियुक्त) मनसे उन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंको देखकर अग्निदेवकी सारी इन्द्रियाँ क्षोभसे चञ्चल हो उठीं । वे सर्वथा कामके अधीन हो गये ॥ ३३ ॥

भूयः संचिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम् ।
साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ॥

फिर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि 'मेरा यह कार्य कदापि उचित नहीं है । मेरे मनमें विकार आ गया है । इन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ पतिव्रता हैं । ये मुझे बिल्कुल नहीं चाहतीं, तो भी मैं इनकी कामना करता हूँ ॥ ३४ ॥

नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः ।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥ ३५ ॥

'मैं अकारण न तो इन्हें देख सकता हूँ और न इनका स्पर्श ही कर सकता हूँ । ऐसी दशामें यदि मैं गार्हपत्य अग्निमें प्रविष्ट हो जाऊँ, तो बार-बार इनके दर्शनका अवसर पा सकता हूँ' ॥ ३५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा निश्चय करके अग्निदेवने गार्हपत्य अग्निका आश्रय लिया और अपनी लपटोंसे स्वर्णकी-सी कान्तिवाली उन ऋषि-पत्नियोंका स्पर्श तथा दर्शन-सा करते हुए वे बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करने लगे ॥

निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक वहाँ टिके रहकर अग्निदेव कामके वशमें हो गये । वे अपना हृदय उन सुन्दरियोंपर निछावर करके उनसे मिलनेकी कामना कर रहे थे ॥ ३७ ॥

कामसंतप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ॥ ३८ ॥

उनका हृदय कामाग्निसे संतप्त हो रहा था । वे उन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके न मिलनेसे अपने शरीरको त्याग देनेका निश्चय कर चुके थे । अतः वनमें चले गये ॥ ३८ ॥

स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत् तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ॥ ३९ ॥

प्रजापति दक्षकी पुत्री स्वाहा पहलेसे ही अग्निदेवको अपना पति बनाना चाहती थी और इसके लिये बहुत दिनोंसे वह अग्निका छिद्र ढूँढ़ रही थी ॥ ३९ ॥

अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिन्दिता ।
सा तं ज्ञात्वा यथावत् तु वह्निं वनमुपागतम् ॥ ४० ॥
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भाविनी ।

परंतु अग्निदेवके सदा सावधान रहनेके कारण साध्वी स्वाहा उनका कोई दोष नहीं देख पाती थी । जब उसे अच्छी तरह मालूम हो गया कि अग्नि कामसंतप्त होकर वनमें चले गये हैं, तब उसने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया ॥ ४०३ ॥

अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ॥ ४१ ॥
कामयिष्यामि कामार्ता तासां रूपेण मोहितम् ।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत् ॥ ४२ ॥

'मैं अग्निके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ । अतः स्वयं ही सप्तर्षिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवकी कामना करूँगी; क्योंकि वे उनके रूपसे मोहित हो रहे हैं । ऐसा करनेसे उन्हें प्रसन्नता होगी और मेरी कामना भी पूर्ण हो जायगी' ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानप्रसङ्गमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

इन्द्रके द्वारा देवसेनाका स्कन्दको समर्पण

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वाहाका मुनिपत्नियोंके रूपोंमें अग्निके साथ समागम, स्कन्दकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा क्रौञ्च आदि पर्वतोंका विदारण

मार्कण्डेय उवाच

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप॥ १॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि॥ २॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय।
अहमङ्गिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम्॥ ३॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं— नरेश्वर! अङ्गिराकी पत्नी शिवा शील, रूप और सद्गुणोंसे सम्पन्न थी। सुन्दरी स्वाहादेवी पहले उसीका रूप धारण करके अग्निदेवके निकट गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'अग्ने! मैं कामवेदनासे संतप्त हूँ, तुम मुझे अपने हृदयमें स्थान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो यह निश्चय जान लो, मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। हुताशन! मैं अङ्गिराकी पत्नी हूँ। मेरा नाम शिवा है। दूसरी ऋषि-पत्नियोंने सलाह करके एक निश्चयपर पहुँचकर मुझे यहाँ भेजा है'॥ १–३॥

अग्निरुवाच

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम्।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः॥

अग्निने पूछा—देवि! तुम तथा दूसरी सप्तर्षियोंकी सभी प्यारी स्त्रियाँ, जिनके विषयमें अभी तुमने चर्चा की है, कैसे जानती हैं कि मैं तुम लोगोंके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ॥

शिवोवाच

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम्॥ ५॥
मैथुनायेह सम्प्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर।
जामयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन॥ ६॥

शिवा बोली—अग्निदेव! तुम हमें सदा ही प्रिय रहे हो; परंतु हमलोग तुमसे सदा डरती आ रही हैं। इन दिनों तुम्हारी चेष्टाओंसे मनकी बात जानकर मेरी सखियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। मैं समागमकी इच्छासे यहाँ आयी हूँ। तुम स्वतः प्राप्त हुए काम-सुखका शीघ्र उपभोग करो। हुताशन! वे भगिनीस्वरूपा सखियाँ मेरी राह देख रही हैं, अतः मैं शीघ्र चली जाऊँगी॥ ५-६॥

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना॥ ७॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब अग्निदेवने प्रेम और प्रसन्नताके साथ उस शिवाको हृदयमें लगाया। (शिवाके रूपमें) 'स्वाहा' देवीने प्रेमपूर्वक अग्निदेवसे समागम करके उनके वीर्यको हाथमें ले लिया॥ ७॥

अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावक॥ ८॥

तत्पश्चात् उसने कुछ सोचकर कहा—'अग्निकुलनन्दन! जो लोग वनमें मेरे इस रूपको देखेंगे, वे ब्राह्मण-पत्नियोंको झूठा दोष लगायेंगे॥ ८॥

तस्मादेतद् रक्ष्यमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम्।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति॥ ९॥

अतः मैं इस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये 'गरुडी' पक्षिणी-का रूप धारण कर लेती हूँ। इस प्रकार मेरा इस वनसे सुखपूर्वक निकलना सम्भव हो सकेगा'॥ ९॥

मार्कण्डेय उवाच

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात्।
अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम्॥ १०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर वह तत्काल गरुडीका रूप धारण करके उस महान् वनसे बाहर निकल गयी। आगे जानेपर उसने सरकंडोंके समूहसे आच्छादित श्वेतपर्वतके शिखरको देखा॥ १०॥

दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा॥ ११॥
राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः।

सात सिरोंवाले अद्भुत नाग, जिनकी दृष्टिमें ही विष भरा था, उस पर्वतकी रक्षा करते थे। इनके सिवा राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी-समुदाय तथा अनेक पशु-पक्षियोंसे भी वह पर्वत भरा हुआ था॥ ११½॥

(नदीप्रस्रवणोपेतं नानातरुसमाचितम्।)
सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम्॥ १२॥
प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा।

अनेकानेक नदी और झरने वहाँ बहते थे तथा नाना प्रकारके वृक्ष उस पर्वतकी शोभा बढ़ाते थे। शुभस्वरूपा स्वाहा देवीने सहसा उस दुर्गम शैलशिखरपर जाकर एक सुवर्णमय कुण्डमें शीघ्रतापूर्वक उस शुक्र (वीर्य) को डाल दिया॥ १२½॥

सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम्॥ १३॥

पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ।
दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ।
षट्कृत्वस्तत् तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस देवीने सातों महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियोंके समान रूप धारण करके अग्निदेवके साथ समागमकी इच्छा की थी; किंतु अरुन्धतीकी तपस्या तथा पति-शुश्रूषाके प्रभावसे वह उनका दिव्य रूप धारण न कर सकी, इसलिये छः बार ही अग्निके वीर्यको वहाँ डालनेमें सफल हुई ॥ १३–१५ ॥

तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ।
तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ॥ १६ ॥
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः ।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥

अग्निदेवकी कामना रखनेवाली स्वाहाने प्रतिपदाको उस कुण्डमें उनका वीर्य डाला था । स्कन्दित (स्खलित) हुए उस वीर्यने वहाँ एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया । ऋषियोंने उसका बड़ा सम्मान किया । वह स्कन्दित होनेके कारण स्कन्द कहलाया । उसके छः सिर, बारह कान, बारह नेत्र और बारह भुजाएँ थीं ॥ १६-१७ ॥

एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥

परंतु उस कुमारका कण्ठ और पेट एक-एक ही था । वह द्वितीयाको अभिव्यक्त हुआ और तृतीयाको शिशुरूपमें सुशोभित होने लगा ॥ १८ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद् गुहः ।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ।

चतुर्थीको वे कुमार स्कन्द सभी अङ्ग-उपाङ्गोंसे सम्पन्न हो गये । उस समय कुमार लाल रंगके विशाल बिजलीयुक्त बादलसे आच्छादित थे । अतः अरुण रंगके मेघोंकी विशाल घटाके भीतर उदित हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥

गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
न्यस्तं यत् त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् ।
तद् गृहीत्वा धनुः श्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ॥ २१ ॥

त्रिपुरनाशक भगवान् शिवने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले जिस विशाल तथा रोमाञ्चकारी श्रेष्ठ धनुषको रख छोड़ा था, उसे बलवान् स्कन्दने उठा लिया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २०-२१ ॥

सम्मोहयन्निवेमान् स त्रींल्लोकान् सचराचरान् ।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ।
तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चान्येन पाणिना ।
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २४ ॥
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद् भीमं चिक्रीड च महाभुजः ॥ २५ ॥

वे उस गर्जनाद्वारा चराचर प्राणियोंसहित इन तीनों लोकोंको मूर्छित-सा कर रहे थे । महान् मेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान उनकी उस गर्जनाको सुनकर चित्र और ऐरावत नामक दो महागज वहाँ दौड़े आये । कुमार स्कन्द सूर्यकी कान्तिके समान उद्भासित हो रहे थे । उन दोनों हाथियोंको आते देख उन अग्निकुमारने उन्हें दो हाथोंसे पकड़ लिया तथा एक हाथमें शक्ति और दूसरेमें अरुण शिखासे विभूषित और बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं विशाल शरीरवाले एक समीपवर्ती कुक्कुट (मुर्ग) को पकड़कर उन महाबाहु कुमारने भयंकर गर्जना की और (उन हाथी-मुर्गे आदिको लिये हुए) क्रीडा करने लगे ॥ २२–२५ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम् ।
प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने दोनों हाथोंमें उत्तम शंख लेकर बजाया, जो बलवान् प्राणियोंको भी भयभीत कर देनेवाला था ॥ २६ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह ।
क्रीडन् भाति महासेनस्त्रींल्लोकान् वदनैः पिबन् ॥

फिर वे दो भुजाओंसे आकाशको बार-बार पीटने लगे ।

इस प्रकार क्रीडा करते हुए कुमार महासेन ऐसे जान पड़ते थे, मानो वे अपने मुखोंसे तीनों लोकोंको पी जायँगे ॥२७॥

पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ।
स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥२८॥
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः ।
स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ॥२९॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः ।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥३०॥

अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न और अद्भुत पराक्रमी स्कन्द पर्वतके शिखरपर उदयकालमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे । फिर वे उस पर्वतकी चोटीपर बैठ गये और अपने अनेक मुखोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगे । भाँति-भाँतिकी वस्तुओंको देखकर वे अमेयात्मा स्कन्द पुनः बालोचित कोलाहल करने लगे । उनकी इस गर्जनाको सुनकर बहुत-से प्राणी पृथ्वीपर गिर गये । फिर भयभीत और उद्विग्नचित्त होकर उन सबने उन्हींकी शरण ली ॥ २८—३० ॥

ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः ।
तानप्याहुः पारिषदान् ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥३१॥

उस समय जिन-जिन नाना वर्णवाले जीवोंने उन स्कन्द-देवकी शरण ली, उन सबको ब्राह्मणोंने उनका महा-बलवान् पार्षद बताया है ॥ ३१ ॥

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च तान् जनान् ।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद् बाणान् श्वेते महागिरौ ॥३२॥

उन महाबाहुने उठकर उन सब प्राणियोंको सान्त्वना दी और महापर्वत श्वेतपर खड़े-खड़े धनुष खींचकर बाणों-की वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३२ ॥

बिभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम् ।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ॥३३॥

उन बाणोंद्वारा उन्होंने हिमालयके पुत्र क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर दिया । उसी छिद्रमें होकर हंस और गृध्र पक्षी मेरु पर्वतको जाते हैं ॥ ३३ ॥

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान् रुवन् ।
तस्मिन् निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ॥३४॥

स्कन्दके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वह क्रौञ्च पर्वत अत्यन्त आर्तनाद करता हुआ गिर पड़ा । उस समय उसके गिरनेपर दूसरे पर्वत भी जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३४ ॥

स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वापि बलिनां वरः ।
न प्राच्यवदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ॥ ३५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ और अमित आत्मबलसे सम्पन्न कुमार उन अत्यन्त आर्त पर्वतोंके उस चीत्कारको सुनकर भी विचलित नहीं हुए, अपितु हाथसे शक्तिको उठाकर सिंहनाद करने लगे ॥३५॥

सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना ।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥

उन महात्माने उस समय अपनी चमचमाती हुई शक्ति चलायी और उसके द्वारा श्वेत गिरिके भयानक शिखरको बड़े वेगसे विदीर्ण कर डाला ॥ ३६ ॥

स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह ।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतस्तस्मान्महात्मनः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कार्तिकेयद्वारा शक्तिके आघातसे विदीर्ण होकर श्वेत पर्वत उन महात्माके भयसे डर गया और (दूसरे) पर्वतोंके साथ इस पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें उड़ गया ॥३७॥

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः ।
आर्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥

इससे पृथ्वीको बड़ी पीड़ा हुई । वह सब ओरसे फट गयी और पीड़ित हो कार्तिकेयजीकी ही शरणमें जानेपर पुनः बलवती हो शोभा पाने लगी ॥ ३८ ॥

पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः ।
अथैनमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् पर्वतोंने भी उन्हींके चरणोंमें मस्तक झुकाया और वे फिर पृथ्वीपर आ गये । तभीसे लोग प्रत्येक मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमीको स्कन्ददेवका पूजन करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विश्वामित्रका स्कन्दके जातकर्मादि तेरह संस्कार करना और विश्वामित्रके समझानेपर भी ऋषियोंका अपनी पत्नियोंको स्वीकार न करना तथा अग्निदेव आदिके द्वारा बालक स्कन्दकी रक्षा करना

मार्कण्डेय उवाच

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले ।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उन महान् धैर्यशाली और महाबली महासेनके जन्म लेनेपर भाँति-भाँतिके बड़े भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वन्द्वानि यानि च।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम्॥ २॥

स्त्री-पुरुषोंका स्वभाव विपरीत हो गया। सर्दी आदि द्वन्द्वोंमें भी (अद्भुत) परिवर्तन दिखायी देने लगा। ग्रह, दिशाएँ और आकाश—ये सब मानो जलने लगे और पृथ्वी जोर-जोरसे गर्जना-सी करने लगी॥ २॥

ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः।
अकुर्वञ्छान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः॥ ३॥

लोकहितकी भावना रखनेवाले महर्षि चारों ओर अत्यन्त भयंकर उत्पात देखकर उद्विग्न हो उठे और जगत्‌में शान्ति बनाये रखनेके लिये शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे॥ ३॥

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहितो महान्॥ ४॥
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह।

उस चैत्ररथ नामक वनमें जो लोग निवास करते थे, वे कहने लगे, अग्निने सप्तर्षियोंकी छः पत्नियोंके साथ समागम करके हमलोगोंपर यह बहुत बड़ा अनर्थ लाद दिया है'॥४½॥

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः॥ ५॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती।
न तु तत् स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः॥ ६॥

दूसरे लोगोंने उस गरुडी पक्षिणीसे कहा—'तूने ही यह अनर्थ उपस्थित किया है।' यह उन लोगोंका विचार था, जिन्होंने स्वाहादेवीको गरुडीके रूपमें जाते देखा था। लोग यह नहीं जानते थे कि यह सारा कार्य स्वाहाने किया है॥

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव॥ ७॥

गरुडीने लोगोंकी बातें सुनकर कहा—'यह मेरा पुत्र है।' फिर उसने धीरेसे स्कन्दके पास जाकर कहा—'बेटा! मैं तुम्हें जन्म देनेवाली माता हूँ'॥ ७॥

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम्।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम्॥ ८॥

इधर सप्तर्षियोंने जब यह सुना कि हमारी छः पत्नियोंके सङ्गसे अग्निदेवके एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने अरुन्धती देवीके सिवा अन्य छः पत्नियोंको त्याग दिया॥ ८॥

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत॥ ९॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः।

क्योंकि उस वनके निवासियोंने उस समय छः पत्नियोंके गर्भसे ही उस बालककी उत्पत्ति बतायी थी। राजन्! यद्यपि स्वाहाने सप्तर्षियोंसे बार-बार कहा कि 'यह मेरा पुत्र है। मैं इसके जन्मका रहस्य जानती हूँ; लोग जैसी बात उड़ा रहे हैं, वैसी नहीं है।' (तो भी वे सहसा उसकी बातपर विश्वास न कर सके)॥ ९½॥

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः॥ १०॥
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात्।
तत् तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम्॥ ११॥

महामुनि विश्वामित्र जब सप्तर्षियोंकी इष्टि पूर्ण कर चुके, तब वे भी कामपीड़ित अग्निके पीछे-पीछे गुप्तरूपसे चल दिये थे, उस समय कोई उन्हें देख नहीं पाता था। अतः उन्होंने यह सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे जान लिया॥ १०-११॥

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः।
स्तवं दिव्यं सम्प्रचक्रे महासेनस्य चापि सः॥ १२॥

विश्वामित्रजी सबसे पहले कुमार कार्तिकेयकी शरणमें गये तथा उन्होंने महासेनकी दिव्य स्तोत्रोंद्वारा स्तुति भी की॥

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः॥ १३॥

उन महामुनिने कुमारके सारे माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किये। जातकर्म आदि तेरह क्रियाओंका भी अनुष्ठान किया॥ १३॥

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम्।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि॥ १४॥
विश्वामित्रश्चकारैतत् कर्म लोकहिताय वै।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः॥ १५॥

स्कन्दकी महिमा, उनके द्वारा कुक्कुट पक्षीका धारण, देवीके समान प्रभावशालिनी शक्तिका ग्रहण तथा पार्षदोंका वरण आदि कुमारके सभी कार्योंको विश्वामित्रने लोकहितके लिये आवश्यक सिद्ध किया। अतः विश्वामित्र मुनि कुमारके अधिक प्रिय हो गये॥ १४-१५॥

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः।
अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान् नापराध्यन्ति वै स्त्रियः॥ १६॥
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात् ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन्।

महामुनि विश्वामित्रने यह जान लिया था कि स्वाहाने अन्य ऋषिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवसे सम्बन्ध स्थापित किया था; इसलिये उन्होंने सब ऋषियोंसे कहा—'आपकी स्त्रियोंका कोई अपराध नहीं है' उनके मुखसे यथार्थ बात जानकर भी ऋषियोंने अपनी पत्नियोंको सर्वथा त्याग ही दिया॥ १६½॥

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन् ॥ १७ ॥
अविषह्यबलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम् ।
यदि वा न निहंस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति ॥ १८ ॥
त्रैलोक्यं संनिगृह्यास्मांस्त्वां च शक्र महाबल ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! उस समय स्कन्दके जन्म और बल-पराक्रमका समाचार सुनकर सब देवताओंने एकत्र हो इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर ! स्कन्दका बल असह्य है । शीघ्र उन्हें मार डालिये; विलम्ब न कीजिये । महाबली इन्द्र ! यदि आप इन्हें अभी नहीं मारते हैं, तो ये त्रिलोकीको, हम सबको तथा आपको भी अपने वशमें करके 'देवेन्द्र' बन बैठेंगे' ॥ १७-१८½ ॥

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ॥ १९ ॥
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते ॥ २० ॥

तब इन्द्रने व्यथित होकर उन देवताओंसे कहा—'देवताओ! यह बालक बड़ा बलवान् है । यह लोकस्रष्टा ब्रह्माको भी युद्धमें पराक्रम करके मार सकता है । अतः मुझमें इस बालकको मारनेका साहस नहीं है ।' इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे ॥ १९-२० ॥

तेऽब्रुवन् नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे ।
सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः॥ २१ ॥
कामवीर्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ।

यह सुनकर देवता बोले—'आपमें अब बल और पराक्रम नहीं रह गया है, इसीलिये ऐसी बातें कहते हैं । हमारी राय है कि सम्पूर्ण लोकमातृकाएँ स्कन्दके पास जायँ । ये इच्छानुसार पराक्रम प्रकट कर सकती हैं; अतः स्कन्दको मार डालें ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे मातृकाएँ वहाँसे चल दीं ॥ २१½ ॥

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ॥ २२ ॥
अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः ।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ॥ २३ ॥

परंतु स्कन्दका अप्रतिम बल देखकर उनके मुखपर उदासी छा गयी । वे सोचने लगीं—'इस वीरको पराजित करना असम्भव है ।' ऐसा निश्चय होनेपर वे उन्हींकी शरणमें गयीं और बोलीं—'महाबली कुमार ! तुम हमारे पुत्र हो जाओ, हमें माता मान लो ॥ २२-२३ ॥

अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ।
तासां तद् वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान् प्रभुः ॥ २४॥

'देखो, हम पुत्र-स्नेहसे विकल हो रही हैं, हमारे स्तनोंसे दूध झर रहा है, इसे पीकर हम सबको सम्मानित और आनन्दित करो ।' मातृकाओंकी यह बात सुनकर समर्थ स्कन्दके मनमें उनके स्तनपानकी इच्छा जाग्रत् हो गयी ॥

ताः सम्पूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनां बली ॥ २५ ॥

फिर महासेनने उन सबका समादर करके उनकी मनोवाञ्छा पूर्ण की । तदनन्तर बलवानोंमें बलिष्ठ वीर स्कन्दने अपने पिता अग्निदेवको आते देखा ॥ २५ ॥

स तु सम्पूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ॥ २६ ॥

कुमार महासेनके द्वारा पूजित हो मङ्गलकारी अग्निदेव मातृकागणोंके साथ उन्हें घेरकर खड़े हो गये और उनकी रक्षा करने लगे ॥ २६ ॥

सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत ॥ २७ ॥

उस समय सम्पूर्ण मातृकाओंके क्रोधसे जो एक नारीमूर्ति प्रकट हुई थी, वह हाथमें त्रिशूल ले धायकी भाँति अपने पुत्रके समान प्रिय स्कन्दकी सब ओरसे रक्षा करने लगी ॥ २७ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत् पर्यरक्षत ॥ २८ ॥

लाल सागरकी एक क्रूर स्वभाववाली कन्या थी, जिसका रक्त ही भोजन था । वह महासेनको पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाकर सर्वतोभावेन उनकी रक्षा करने लगी ॥२८॥

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव ॥ २९ ॥

वेदप्रतिपादित अग्नि बकरेका-सा मुख बनाकर अनेक संतानोंके साथ उपस्थित हो पर्वतशिखरपर निवास करनेवाले बालक स्कन्दका इस प्रकार मन बहलाने लगे, मानो उन्हें खिलौनोंसे खेला रहे हों ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराजित होकर शरणमें आये हुए इन्द्रसहित देवताओंको स्कन्दका अभयदान

मार्कण्डेय उवाच

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः॥ १॥
एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह॥ २॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, मातृकागण और मुखसे आग उगलनेवाले दर्पयुक्त पार्षदगण—ये तथा दूसरे बहुत-से भयंकर स्वर्गवासी प्राणी मातृकागणोंके साथ रहकर महासेनको सब ओरसे घेरे हुए उनकी रक्षाके लिये खड़े थे॥ १-२॥

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः।
आरुह्यैरावतस्कन्धं प्रययौ दैवतैः सह॥ ३॥

देवेश्वर इन्द्रको अपनी विजयके विषयमें संदेह ही दिखायी देता था, तो भी वे विजयकी अभिलाषासे ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो देवताओंके साथ आगे बढ़े॥ ३॥

आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ॥ ४॥

सब देवताओंसे घिरे हुए बलवान् इन्द्र महासेनको मार डालनेकी इच्छासे हाथमें वज्र ले बड़े वेगसे अग्रसर हो रहे थे॥ ४॥

उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम्।
विचित्रध्वजसंनाहं नानावाहनकार्मुकम्॥ ५॥
प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलङ्कृतम्।
विजिघांसुं तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात्॥ ६॥

देवताओंकी सेना बड़ी भयानक थी। उसमें जोर-जोरसे विकट गर्जना हो रही थी। उसकी प्रभाका विस्तार महान् था। उसके ध्वज और संनाह (कवच) विचित्र थे। सभी सैनिकोंके वाहन और धनुष नाना प्रकारके दिखायी देते थे। सबने श्रेष्ठ वस्त्रोंसे अपने शरीरको आच्छादित कर रक्खा था। सभी लोग श्रीसम्पन्न तथा विविध आभूषणोंसे विभूषित दिखायी देते थे। इन्द्रको अपने वधके लिये आते देख कुमारने भी उनपर धावा बोल दिया॥ ५-६॥

विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः।
संहर्षयन् देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम्॥ ७॥

युधिष्ठिर! महाबली देवराज इन्द्र अग्निनन्दन स्कन्दको मार डालनेकी इच्छासे देवताओंकी सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए तीव्र गतिसे विकट गर्जनाके साथ आगे बढ़ रहे थे॥ ७॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः।
समीपमथ सम्प्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः॥ ८॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितः सुरैः।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा॥ ९॥

उस समय सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनका बड़ा सम्मान कर रहे थे। जब देवराज इन्द्र कुमार कार्तिकेयके निकट पहुँचे, तब उन्होंने देवताओंके साथ सिंहके समान गर्जना की। उनका वह सिंहनाद सुनकर कुमार कार्तिकेय भी समुद्रके समान भयंकर गर्जना करने लगे॥ ८-९॥

तस्य शब्देन महता समुद्धूतोदधिप्रभम्।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम्॥ १०॥

देवताओंकी सेना उमड़ते हुए समुद्रके समान जान पड़ती थी। परंतु स्कन्दकी भारी गर्जनासे अचेत-सी होकर वहीं चक्कर काटने लगी॥ १०॥

जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः।
विससर्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः॥ ११॥

अग्निकुमार स्कन्द यह देखकर कि देवतालोग मेरा वध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं, कुपित हो उठे और अपने मुँहसे आगकी बढ़ती हुई लपटें छोड़ने लगे॥

अदहद् देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः॥ १२॥

इस प्रकार उन्होंने देवताओंकी सेनाको जलाना प्रारम्भ किया। सारे सैनिक पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे। किसीका शरीर जल गया, किसीका सिर, किसीके आयुध जल गये और किसीके वाहन॥ १२॥

प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम्॥ १३॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत्॥ १४॥

वे सब-के-सब सहसा तितर-बितर हो आकाशमें बिखरे हुए तारोंके समान जान पड़ते थे। इस तरह जलते हुए देवता वज्रधारी इन्द्रका साथ छोड़कर अग्निनन्दन स्कन्दकी ही शरणमें आये, तब उन्हें शान्ति मिली। देवताओंके त्याग देनेपर इन्द्रने स्कन्दपर अपने वज्रका प्रहार किया॥ १३-१४॥

तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम्।
बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः॥ १५॥

महाराज इन्द्रके छोड़े हुए उस वज्रने शीघ्र ही कुमार कार्तिकेयकी दायीं पसलीपर गहरी चोट पहुँचायी और उन महामना स्कन्दके पार्श्वभागको क्षत-विक्षत कर दिया ॥१५॥

वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा काञ्चनसंनाहः शक्तिधृग् दिव्यकुण्डलः ॥ १६ ॥

वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके (उस दक्षिण पार्श्वसे) एक दूसरा वीर पुरुष प्रकट हुआ, जिसकी युवावस्था थी । उसने सुवर्णमय कवच धारण कर रक्खा था । उसके एक हाथमें शक्ति चमक रही थी और कानोंमें दिव्य कुण्डल झलमला रहे थे॥ १६ ॥

यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ॥ १७ ॥
भयादिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः ।

वज्रके प्रविष्ट होनेसे उसकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिये वह विशाख नामसे प्रसिद्ध हुआ । प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी उस द्वितीय वीरको प्रकट हुआ देख इन्द्र भयसे थर्रा उठे और हाथ जोड़कर उन स्कन्ददेवकी शरणमें आये ॥ १७½ ॥

तस्याभयं ददौ स्कन्दः सह सैन्यस्य सत्तमः ।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १८ ॥

तब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ कुमार स्कन्दने सेनासहित इन्द्रको अभयदान दिया । इससे प्रसन्न होकर सब देवता (हर्षसूचक) बाजे बजाने लगे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें इन्द्र-स्कन्दसमागमविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्कन्दके पार्षदोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दपारिषदान् घोराञ्शृणुष्वाद्भुतदर्शनान् ।
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! अब तुम स्कन्दके भयंकर पार्षदोंका वर्णन सुनो, जो देखनेमें बड़े अद्भुत हैं । वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके शरीरसे वहाँ बहुत-से कुमार ग्रह उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

ये हरन्ति शिशूञ्जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ।
वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ॥ २ ॥

वे क्रूर स्वभाववाले कुमारग्रह नवजात तथा गर्भस्थ शिशुओंको भी हर ले जाते हैं । इन्द्रके वज्र-प्रहारसे स्कन्दके शरीरसे वहाँ अत्यन्त बलशालिनी कन्याएँ भी उत्पन्न हुई थीं ॥ २ ॥

कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ॥ ३ ॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।
मातॄणां प्रेक्षमाणानां भद्रशाखश्च कौसलः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त कुमार-ग्रहोंने विशाख (स्कन्द) को अपना पिता माना । भगवान् स्कन्द बकरेके समान मुख धारण करके समस्त कन्यागणों और अपने पुत्रोंसे घिरकर मातृकाओंके देखते-देखते युद्धमें अपने पक्षकी रक्षा करते हैं । वे ही 'भद्रशाख' तथा 'कौसल' नामसे प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ३-४ ॥

ततः कुमारपितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।
रुद्रमग्निमुमां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलाम् ॥ ५ ॥
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।

इसीलिये भूतलके मनुष्य स्कन्दको कुमार-ग्रहोंका पिता कहते हैं । भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पुत्रवान् तथा पुत्रकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य अग्निस्वरूप रुद्र और स्वाहास्वरूपा महाबलवती उमाकी सदा आराधना करते हैं ॥ ५½ ॥

यास्तास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः ॥ ६ ॥
किं करोमीति ताः स्कन्दं सम्प्राप्ताः समभाषयन् ।

तप नामक अग्निने जिन कन्याओंको जन्म दिया, वे सब स्कन्दके पास आयीं और पूछने लगीं—'हम क्या करें' ॥ ६½ ॥

कुमार्य ऊचुः

भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ॥ ७ ॥
प्रसादात् तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः ।

कुमारियाँ बोलीं—हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्की श्रेष्ठ माताएँ हों और आपकी कृपासे हम सदा पूजनीय मानी जायँ, यही हमारा प्रिय मनोरथ है, आप इसे पूर्ण कीजिये ।७½।

सोऽब्रवीद् बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ॥ ८ ॥
शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।
ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत् ॥ ९ ॥

तब उदारबुद्धि स्कन्दने बार-बार कहा—'बहुत अच्छा,

तुम सब लोग पृथक् पृथक् पूजनीया माता मानी जाओगी। तुम्हारे दो भेद होंगे—शिवा और अशिवा।' तदनन्तर स्कन्दको अपना पुत्र मानकर मातृकाएँ वहाँसे विदा हो गयीं ॥८-९॥

काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहता तथा।
आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहता, आर्या, पलाला और वैमित्रा—ये सातों शिशुकी माताएँ हैं ॥ १० ॥

एतासां वीर्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः।
स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ ११ ॥

भगवान् स्कन्दकी कृपासे इन्हें शिशु नामक एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जो अत्यन्त दारुण और भयंकर था। उसकी आँखें रक्तवर्णकी थीं ॥ ११ ॥

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥

शिशु और मातृगणोंको लेकर जो आठ व्यक्ति होते हैं, उन्हें 'वीराष्टक' कहा गया है। बकरेके-से मुखसे युक्त स्कन्दको सम्मिलित करनेसे यह समुदाय वीर-नवक कहा जाता है ॥ १२ ॥

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत्।
षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १३॥

युधिष्ठिर ! स्कन्दका ही छठा मुख छागमय है, यह जान लो। राजन् ! वह छः सिरोंके बीचमें स्थित है और मातृकाएँ सदा उसकी पूजा करती हैं ॥ १३ ॥

षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्द्यते।
शक्तिं येनासृजद् दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १४ ॥

स्कन्दके छहों मस्तकोंमें वही सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। उन्होंने दिव्यशक्तिका प्रयोग किया था, इसलिये उनका नाम भद्रशाख हुआ ॥ १४ ॥

इत्येतद् विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम्।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको विविध आकारवाले पार्षदोंकी सृष्टि हुई और षष्ठीको वहाँ अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दका इन्द्रके साथ वार्तालाप, देवसेनापतिके पदपर अभिषेक तथा देवसेनाके साथ उनका विवाह

मार्कण्डेय उवाच

उपविष्टं तु तं स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम्।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! स्कन्द सोनेका कवच, सोनेकी माला और सोनेकी कलँगीसे सुशोभित मुकुट धारण किये (सुन्दर आसनपर) बैठे थे। उनके नेत्रोंसे सुवर्ण-की-सी ज्योति छिटक रही थी और उनके शरीरसे महान् तेजःपुञ्ज प्रकट हो रहा था ॥ १ ॥

लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥ २ ॥

उन्होंने लाल रंगके वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आच्छादित कर रक्खा था। उनके दाँत बड़े तीखे थे और उनकी आकृति मनको लुभा लेनेवाली थी। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा तीनों लोकोंके लिये अत्यन्त प्रिय थे ॥ २ ॥

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम्।
अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥

तदनन्तर वर देनेमें समर्थ, शौर्यसम्पन्न, युवा-अवस्थासे सुशोभित तथा सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत कुमार कार्तिकेयका कमलके समान कान्तिवाली मूर्तिमती शोभाने स्वयं ही सेवन किया ॥ ३ ॥

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥

मूर्तिमती शोभासे सेवित हो वहाँ बैठे हुए महायशस्वी सुन्दर कुमारको उस समय सब प्राणी पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति देखते थे ॥ ४ ॥

अपूजयन् महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम्।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥

महामना ब्राह्मणोंने महाबली स्कन्दकी पूजा की और सब महर्षियोंने वहाँ आकर उनका इस प्रकार स्तवन किया ॥५॥

ऋषय ऊचुः

हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥

ऋषि बोले—हिरण्यगर्भ ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम समस्त जगत्के लिये कल्याणकारी बनो। तुम्हारे पैदा हुए अभी

छः रातें ही बीती होंगी। इतनेमें ही तुमने समस्त लोकोंको अपने वशमें कर लिया है ॥ ६ ॥

अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयंकरः ॥ ७ ॥

सुरश्रेष्ठ ! फिर तुम्हींने इन सब लोकोंको अभय दान दिया है। अतः आजसे तुम इन्द्र होकर रहो और तीनों लोकोंके भयका निवारण करो ॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥

स्कन्द बोले—तपोधनो ! इन्द्र इस पदपर रहकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये क्या करते हैं तथा वे देवेश्वर सदा समस्त देवताओंकी किस प्रकार रक्षा करते हैं ? ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः

इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम्।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥ ९ ॥

ऋषि बोले—देवराज इन्द्र संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको बल, तेज, संतान और सुखकी प्राप्ति कराते हैं तथा उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ९ ॥

दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥

वे दुष्टोंका संहार करते और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंको जीवन दान देते हैं। बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले इन्द्र सभी प्राणियोंको आवश्यक कार्योंमें लगनेका आदेश देते हैं ॥ १० ॥

असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथाचन्द्रे च चन्द्रमाः।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

सूर्यके अभावमें वे स्वयं ही सूर्य होते हैं और चन्द्रमाके न रहनेपर स्वयं ही चन्द्रमा बनकर उनका कार्य सम्पादन करते हैं। आवश्यकता पड़नेपर वे ही अग्नि, वायु, पृथिवी और जलका स्वरूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

एतदिन्द्रेण कर्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम्।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

यह सब इन्द्रका कार्य है। इन्द्रमें अपरिमित बल होता है। वीर ! तुम भी श्रेष्ठ बलवान् हो। अतः तुम्हीं हमारे इन्द्र हो जाओ ॥ १२ ॥

शक्र उवाच

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—महाबाहो ! तुम्हीं इन्द्र बनो और हम सबको सुख पहुँचाओ। सज्जनशिरोमणे ! तुम इस पदके सर्वथा योग्य हो। अतः आज ही इस पदपर अपना अभिषेक करा लो ॥ १३ ॥

स्कन्द उवाच

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः।
अहं ते किङ्करः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

स्कन्द बोले—इन्द्रदेव ! आप ही स्वस्थचित्त होकर तीनों लोकोंका शासन कीजिये और विजयप्राप्तिके कार्यमें संलग्न रहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। मुझे इन्द्र बननेकी इच्छा नहीं है ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥
इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम्।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—वीर ! तुम्हारा बल अद्भुत है, अतः तुम्हीं देव-शत्रुओंका संहार करो। वीरवर ! मैं तुम्हारे सामने पराजित होकर बलहीन सिद्ध हो गया हूँ। अतः तुम्हारे पराक्रमसे चकित होकर लोग मेरी अवहेलना करेंगे। यदि मैं इन्द्र पदपर स्थित रहूँ, तो भी सब लोग मेरा उपहास करेंगे और आलस्य छोड़कर हम दोनोंमें परस्पर फूट डालनेका प्रयत्न करेंगे ॥ १५-१६ ॥

भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥
विग्रहः सम्प्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥
तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय।

प्रभो ! यदि तुम फूट जाओगे, तो जगत्के प्राणी दो भागोंमें बट जायँगे। महाबलवान् वीर ! सम्पूर्ण लोकोंके निश्चय ही दो दलोंमें बट जाने तथा लोगोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न किये जानेपर हम लोगोंमें युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। तात ! उस युद्धमें जैसा कि मेरा विश्वास है, तुम्हीं विजयी होओगे। अतः तुम्हीं इन्द्र हो जाओ। इस विषयमें कोई दूसरी बात मत सोचो ॥ १७—१८ ॥

स्कन्द उवाच

त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥
करोमि किं च ते शक्र शासनं तद् ब्रवीहि मे।

स्कन्द बोले—देवेन्द्र ! आप ही देवराजके पदपर प्रतिष्ठित रहें। आपका कल्याण हो। आप ही तीनों लोकोंके तथा मेरे भी स्वामी हैं। आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १९ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २० ॥
यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद् भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कन्द कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥
अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ।

इन्द्रने कहा—महाबलवान् स्कन्द ! मैं तुम्हारे कहनेसे इन्द्र-पदपर प्रतिष्ठित रहूँगा । यदि वास्तवमें तुम मेरी आज्ञाका पालन करना चाहते हो, यदि तुमने यह निश्चित बात कही है अथवा यदि तुम्हारा यह कथन सत्य है, तो मेरी यह बात सुनो—महावीर ! तुम देवताओंके सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक करा लो ॥ २०-२१½ ॥

स्कन्द उवाच

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ।

स्कन्द बोले—देवराज ! दानवोंके विनाश, देवताओंके कार्यकी सिद्धि तथा गौओं और ब्राह्मणोंके हितके लिये आप सेनापतिके पदपर मेरा अभिषेक कीजिये । २२½ ।

मार्कण्डेय उवाच

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २३ ॥
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत्र तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥ २४ ॥
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त देवताओंसहित इन्द्रने कुमारका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया । उस समय वहाँ महर्षियोंद्वारा पूजित होकर स्कन्दकी बड़ी शोभा हुई । उनके ऊपर तना हुआ वह सुवर्णमय छत्र उद्भासित हो रहा था, मानो प्रज्वलित अग्निका अपना ही मण्डल प्रकाशित होता हो । २३-२४½ ।

विश्वकर्मकृता चास्य दिव्यमाला हिरण्मयी ॥ २५ ॥
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ परंतप युधिष्ठिर ! साक्षात् त्रिपुरनाशक यशस्वी भगवान् शिव तथा देवी पार्वतीने वहाँ पधारकर स्कन्दके गलेमें विश्वकर्माकी बनायी हुई सोनेकी दिव्य माला पहनायी ॥ २५-२६ ॥

अर्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७ ॥

भगवान् वृषध्वज (शिव) ने अत्यन्त प्रसन्न होकर स्कन्दका समादर किया । ब्राह्मणलोग अग्निको रुद्रका स्वरूप बताते हैं, इसलिये स्कन्द भगवान् रुद्रके ही पुत्र हैं ॥ २७ ॥

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥

रुद्रने जिस वीर्यका त्याग किया था, वही श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया । फिर कृत्तिकाओंने अग्निके वीर्यको श्वेत पर्वतपर पहुँचाया था ॥ २८ ॥

पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २९ ॥

भगवान् रुद्रके द्वारा गुणवानोंमें श्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयका सम्मान होता देख सब देवता कहने लगे, 'ये रुद्रके ही पुत्र हैं ॥ २९ ॥

अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥

'रुद्रने अग्निमें प्रवेश करके इस शिशुको जन्म दिया है । रुद्रस्वरूप अग्निसे उत्पन्न होनेके कारण स्कन्द रुद्रके ही पुत्र कहलाये' ॥ ३० ॥

रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भारत ! सुरश्रेष्ठ स्कन्दका जन्म रुद्रस्वरूप अग्निसे, स्वाहासे तथा छः स्त्रियोंसे हुआ था । इसलिये वे भगवान् रुद्रके पुत्र हुए ॥ ३१ ॥

अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ॥ ३२ ॥

अग्निनन्दन स्कन्द लाल रंगके दो स्वच्छ वस्त्र धारण किये कान्तिमान् एवं तेजस्वी शरीरसे ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो दो लाल बादलोंके साथ भगवान् अंशुमाली (सूर्य) सुशोभित हो रहे हों ॥ ३२ ॥

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥

अग्निदेवने स्कन्दके लिये कुक्कुटके चिह्नसे अलंकृत ऊँचा ध्वज प्रदान किया था, जो रथपर अपनी अरुण प्रभासे प्रलयाग्निके समान उद्भासित होता था ॥ ३३ ॥

या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा ।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें जो चेष्टा, प्रभा, शान्ति और बल है, वही कुमार कार्तिकेयके सम्मुख शक्तिरूपमें उपस्थित है । वह देवताओंकी विजयश्रीको बढ़ानेवाली है ॥ ३४ ॥

विवेश कवचं चास्य शरीरं सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ॥ ३५ ॥

तथा उन स्कन्ददेवके शरीरमें सहज (स्वाभाविक)

कवचका प्रवेश हो गया, जो सदा उनके युद्ध करते समय प्रकट होता था ॥ ३५ ॥

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्राह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥
निकृन्तनं च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥

राजन् ! शक्ति, धर्म, बल, तेज, कान्ति, सत्य, उन्नति, ब्राह्मणभक्ति, असम्मोह (विवेक), भक्तजनोंकी रक्षा, शत्रुओं-का संहार और समस्त लोकोंका पालन—ये सारे गुण स्कन्दके साथ ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३६-३७ ॥

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त देवताओंद्वारा सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होकर विविध आभूषणोंसे विभूषित, विशुद्ध एवं प्रसन्न हृदयवाले स्कन्द पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हुए ॥ ३८ ॥

इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥

उस समय अत्यन्त प्रिय लगनेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनि सब ओर गूँज उठी, देवताओंके उत्तम वाद्य भी बजने लगे, देव और गन्धर्व गीत गाने लगे और समस्त अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । ये तथा और भी बहुत-से देवगण एवं पिशाचसमूह विविध अलंकारोंसे अलंकृत, हर्षोत्फुल्ल और संतुष्ट हो स्कन्दको घेरकर खड़े थे ॥ ३९-४० ॥

क्रीडन् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ॥ ४१ ॥
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाभ्युदितं तथा ।

उस समय इन सबसे घिरे हुए अग्निनन्दन कार्तिकेय देवताओंद्वारा अभिषिक्त हो भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे । देवताओंने सेनापति-पदपर अभिषिक्त हुए कुमार महासेनको इस प्रकार देखा, मानो सूर्यदेव अन्धकारका नाश करके उदित हुए हों ॥ ४१½ ॥

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।

तदनन्तर सारी देवसेनाएँ सहस्रोंकी संख्यामें सब दिशाओं-से उनके पास आयीं और कहने लगीं—'आप ही हमारे पति हैं' ॥ ४२½ ॥

ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ।

समस्त भूतगणोंसे घिरे हुए भगवान् स्कन्दने उन देवसेनाओंको अपने समीप पाकर उन्हें सान्त्वना दी और स्वयं भी उनके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए ॥ ४३½ ॥

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।

उस समय इन्द्रने स्कन्दको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त करनेके पश्चात् उस कुमारी देवसेनाका स्मरण किया जिसका उन्होंने केशीके हाथसे उद्धार किया था ॥ ४४½ ॥

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥
विचिन्त्येत्यानयामास देवसेनां ह्यलंकृताम् ।

उन्होंने सोचा, स्वयं ब्रह्माजीने निश्चय ही कुमार कार्तिकेयको ही उसका पति नियत किया है । यह सोचकर वे देवसेनाको वस्त्राभूषणोंसे भूषित करके ले आये ॥ ४५½ ॥

स्कन्दं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा ।
तस्मात् त्वमस्या विधिवत् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।
एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥ ४८ ॥

फिर बलसंहारक इन्द्रने स्कन्दसे कहा—'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हारे जन्म लेनेके पहलेसे ही ब्रह्माजीने इस कन्याको तुम्हारी पत्नी नियत की है, अतः तुम वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक इसका विधिवत् पाणिग्रहण करो । अपने कमलकी-सी कान्ति-वाले हाथसे इस देवीका दायाँ हाथ पकड़ो ।' इन्द्रके ऐसा कहनेपर स्कन्दने विधिपूर्वक देवसेनाका पाणिग्रहण किया ॥

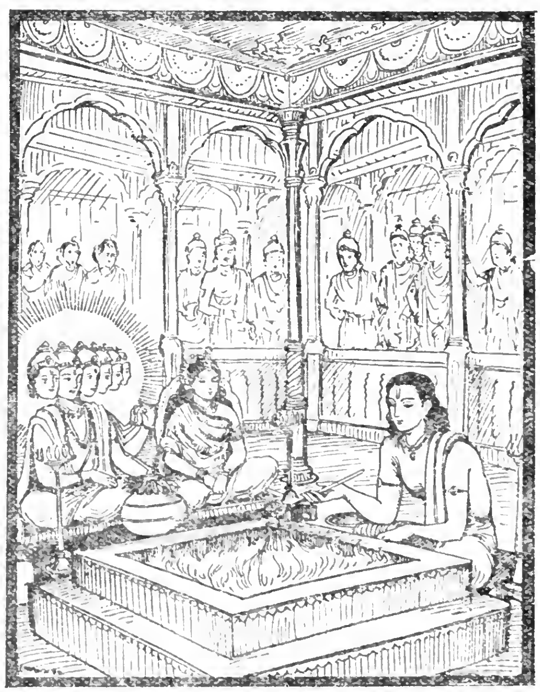

बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च।
एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः॥ ४९ ॥

उस समय मन्त्रवेत्ता बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंका जप और होम किया। इस प्रकार सब लोग यह जान गये कि देवसेना कुमार कार्तिकेयकी पटरानी है ॥ ४९ ॥

षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम्।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥

उसीको ब्राह्मणलोग षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली कुहू।' सद्वृत्ति तथा अपराजिता कहते हैं ॥ ५० ॥

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥

जब देवसेनाने स्कन्दको अपने सनातन पतिके रूपमें प्राप्त कर लिया, तब (शोभास्वरूपा) लक्ष्मीदेवीने स्वयं मूर्तिमती होकर उनका आश्रय लिया ॥ ५१ ॥

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद् यस्मात् तस्मात् षष्ठी महातिथिः ॥

पञ्चमी तिथिको स्कन्ददेव श्री अर्थात् शोभासे सेवित हुए, इसलिये उस तिथिको श्रीपञ्चमी कहते हैं और षष्ठीको कृतार्थ हुए थे, इसलिये षष्ठी महातिथि मानी गयी है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोपाख्याने एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कृत्तिकाओंको नक्षत्रमण्डलमें स्थानकी प्राप्ति तथा मनुष्योंको कष्ट देनेवाले विविध ग्रहोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम्।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! कुमार महासेनको श्रीसम्पन्न और देवताओंका सेनापति हुआ देख सप्तर्षियोंमेंसे छःकी पत्नियाँ उनके पास आयीं ॥ १ ॥

ऋषिभिः सम्परित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥

वे धर्मपरायणा तथा महान् पातिव्रत्यका पालन करनेवाली थीं, तो भी ऋषियोंने उन्हें त्याग दिया था। अतः उन्होंने देवसेनाके स्वामी भगवान् स्कन्दके पास शीघ्रतापूर्वक आकर कहा— ॥ २ ॥

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः।
अकारणाद् रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ॥ ३ ॥

'बेटा! हमारे देवतुल्य पतियोंने अकारण रुष्ट होकर हमें त्याग दिया है, इसलिये (हम) पुण्यलोकसे च्युत हो गयी हैं। ३।

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम्।
तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥

'उन्हें किसीने यह बता दिया है कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए हो, (परंतु ऐसी बात नहीं है।) अतः हमारे सत्य कथनको सुनकर तुम इस संकटसे हमारी रक्षा करो ॥ ४ ॥

अक्षयश्च भवेत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥

'प्रभो! तुम्हारी कृपासे हमें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है। इसके सिवा हम तुम्हें अपना पुत्र भी बनाये रखना चाहती हैं। यह सब कार्य सम्पन्न करके तुम हमसे उऋण हो जाओ' ॥ ५ ॥

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः।

यद्वापीच्छत तत् सर्वं सम्भविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥

स्कन्द बोले—वन्दनीय सतियो ! आपलोग मेरी माताएँ हैं और मैं आप सबका पुत्र हूँ । इसके सिवा यदि आप लोगोंकी और कोई इच्छा हो, तो वह भी पूर्ण हो जायगी ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच

विवक्षन्तं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद् वासवस्ततः ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर इन्द्रको कुछ कहनेके लिये उत्सुक देख स्कन्दने पूछा–'क्या काम है, कहिये ।' स्कन्दके इस प्रकार आदेश देनेपर इन्द्र बोले—॥ ७ ॥

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजा स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥

रोहिणीकी छोटी बहिन अभिजित् देवी स्पर्धाके कारण ज्येष्ठता पानेकी इच्छासे तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयी है ॥ ८ ॥

तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥ ९ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो, आकाशसे यह एक नक्षत्र च्युत हो गया है; (इसकी पूर्ति कैसे हो ?) इस प्रश्नको लेकर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ । स्कन्द ! तुम ब्रह्माजीके साथ मिलकर इस उत्तम काल (मुहूर्त या नक्षत्र) की पूर्तिके उपायका विचार करो ॥ ९ ॥

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥ १० ॥

'अभिजितका पतन होनेसे ब्रह्माजीने धनिष्ठासे ही (सत्ययुग आदि) कालकी गणनाका क्रम निश्चित किया (क्योंकि वही उस समय युगादि नक्षत्र था)। इसके पूर्व रोहिणीको ही युगादि नक्षत्र माना जाता था (क्योंकि उसीके प्रारम्भ-कालमें चन्द्रमा सूर्य तथा गुरुका योग होता था)—इस प्रकार नाक्षत्र मासकी दिन-संख्या उन दिनों सम थी' ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद् वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥

इन्द्रके उपर्युक्त प्रस्ताव करनेपर उनका आशय समझकर छहों कृत्तिकाएँ अभिजित्के स्थानकी पूर्ति करनेके लिये आकाशमें चली गयीं । वह अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्र सात सिरोंकी आकृतिमें प्रकाशित हो रहा है ॥ ११ ॥

विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम् ॥ १२ ॥

गरुड़जातीय विनताने स्कन्दसे कहा–'बेटा ! तुम मेरे पिण्डदाता पुत्र हो । मैं सदा तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

स्कन्द उवाच

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम् ।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥ १३ ॥

स्कन्दने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही हो), माँ ! तुम्हें नमस्कार है । तुम मेरे ऊपर पुत्रोचित स्नेह रखकर कर्तव्यका आदेश देती रहो । देवि ! तुम यहाँ सदा अपनी पुत्रवधू देवसेनाद्वारा सम्मानित होकर रहोगी ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत् ।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः ।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर समस्त मातृगणोंने आकर स्कन्दसे कहा—'बेटा ! विद्वानोंने हमें सम्पूर्ण लोकोंकी माताएँ कहकर हमारी स्तुति की है । अब हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं । तुम मातृभावसे हमारा पूजन करो' ॥ १४ ॥

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः ।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥

स्कन्दने कहा—आप मेरी माताएँ हैं । मैं आपलोगोंका पुत्र हूँ । मुझसे सिद्ध होने योग्य जो आपका अभीष्ट कार्य हो, उसे बताइये ॥ १५ ॥

मातर ऊचुः

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः ।
अस्माकं तु भवेत् स्थानं तासां चैव न तद् भवेत् ॥ १६ ॥

माताओंने कहा—(ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि) सुप्रसिद्ध लोकमाताएँ जो पहलेसे इस सम्पूर्ण जगत्की माताओंके स्थानपर प्रतिष्ठित हों (वे अपना पद छोड़ दें ।) उनके उस स्थानपर अब हमारा अधिकार हो जाय । उनका उसपर कोई अधिकार न रहे ॥ १६ ॥

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः॥ १७॥

सुरश्रेष्ठ ! हम सम्पूर्ण जगत्की पूजनीया हों । जो पहले मातृकाएँ थीं, उनकी अब पूजा न हो । उन्होंने तुम्हारे लिये हमपर मिथ्या अपवाद लगाकर हमारे पतियों-को कुपित करके हमारे संतानसुखको छीन लिया है । अतः तुम हमें संतान प्रदान करो (हमारे पतियोंको अनुकूल करके हमें संतान-सुखकी प्राप्ति कराओ) ॥ १७ ॥

स्कन्द उवाच

वृत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥ १८ ॥

स्कन्द बोले—माताओ ! जिन प्रजाओंकी उत्पत्तिका अवसर बीत गया, उन्हें आपलोग अब नहीं पा सकतीं। यदि दूसरी कोई प्रजा पानेकी आपके मनमें इच्छा हो, तो कहिये, मैं उसे प्रदान करूँगा ॥ १८ ॥

मातर ऊचुः

इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥

माताओंने कहा—यदि ऐसी बात है, तो हमें इन लोकमातओंकी संतानें सौंप दो। हम उन्हें खाना चाहती हैं। तुमसे पृथक् जो उन संतानोंके पिता आदि अभिभावक हैं, उन्हें भी हम खाना चाहती हैं ॥ १९ ॥

स्कन्द उवाच

प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ॥ २० ॥

स्कन्द बोले—देवियो ! आपलोगोंने यह दुःखकी बात कही है, तो भी मैं आपको पहलेकी मातृकाओंकी संतानोंको अर्पित कर देता हूँ; परंतु आपलोग उन सबकी रक्षा करें; इसीसे आपका भला होगा। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

माताओंने कहा—स्कन्द ! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार हम उन संतानोंकी रक्षा अवश्य करेंगी। शक्तिशाली कुमार ! हमें दीर्घकालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा है ॥ २१ ॥

स्कन्द उवाच

यावत् षोडश वर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥

स्कन्द बोले—संसारके मनुष्य जबतक सोलह वर्षके तरुण न हो जायँ, तबतक आप मानव प्रजाको पृथक्-पृथक् उतने ही रूप धारण करके संताप दे सकती हैं ॥ २२ ॥

अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मैं आपलोगोंको एक भयंकर एवं अविनाशी पुरुष प्रदान करूँगा, जो मेरा अभिन्न स्वरूप होगा। उसके साथ सम्मानपूर्वक रहकर आपलोग परम सुखकी भागिनी होंगी ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः शरीरात् स्कन्दस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजा स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ॥ २४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर स्कन्दके शरीरसे अग्निके समान तेजस्वी तथा परम कान्तिमान् एक पुरुष प्रकट हुआ, जो समस्त मानव-प्रजाको खा जानेकी इच्छा रखता था ॥ २४ ॥

अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५ ॥

वह पैदा होते ही भूखसे पीडित हो सहसा अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर स्कन्दकी आज्ञासे वह भयंकर रूपधारी ग्रह हो गया ॥ २५ ॥

स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ द्विज ! इस ग्रहको 'स्कन्दापस्मार' कहते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त रौद्र रूप धारण करनेवाली विनताको 'शकुनि-ग्रह' बताया जाता है ॥ २६ ॥

पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात् पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥

पूतनाको राक्षसी बताया गया है, उसे 'पूतनाग्रह' समझना चाहिये। वह भयंकर रूप धारण करनेवाली निशाचरी बड़ी क्रूरताके साथ बालकोंको कष्ट पहुँचाती है ॥ २७ ॥

पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान् सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २८ ॥

इसके सिवा भयानक आकारवाली एक पिशाची है, जिसे 'शीतपूतना' कहते हैं, वह देखनेमें बड़ी डरावनी है। वह मानवी स्त्रियोंका गर्भ हर ले जाती है ॥ २८ ॥

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥

लोग अदिति देवीको रेवती कहते हैं। रेवतीके ग्रहका नाम रैवत है। वह महाभयंकर महान् ग्रह भी बालकोंको बड़ा कष्ट देता है ॥ २९ ॥

दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमण्डिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन सम्प्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥

दैत्योंकी माता जो दिति है, उसे 'मुखमण्डिका' कहते हैं। वह छोटे बच्चोंके मांससे अधिक प्रसन्न होती है। उसे पराजित करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३० ॥

कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसम्भवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३१ ॥

कुरुनन्दन ! स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न हुए जिन कुमार एवं कुमारियोंका वर्णन किया गया है, वे सभी गर्भस्थ बालकोंका भक्षण करनेवाले महान् ग्रह हैं ॥ ३१ ॥

तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान् गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥

वे कुमार उन्हीं पत्नीस्वरूपा कुमारियोंके पति कहे गये हैं । उनके कर्म बड़े भयंकर हैं । वे जन्म लेनेके पहले ही बच्चोंको पकड़ ले जाते हैं ॥ ३२ ॥

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून् भुवि ॥ ३३ ॥

राजन् ! विद्वान् पुरुष जिसे गोमाता सुरभि कहते हैं, उसीपर आरूढ़ होकर शकुनिग्रह–विनता अन्य ग्रहोंके साथ भूमण्डलके बालकोंका भक्षण करती है ॥ ३३ ॥

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! कुत्तोंकी माता जो देवजातीय सरमा है, वह भी सदैव मानवीय स्त्रियोंके गर्भस्थ बालकोंका अपहरण करती रहती है ॥ ३४ ॥

पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सोम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ॥ ३५ ॥

जो वृक्षोंकी माता है, वह करञ्ज वृक्षपर निवास किया करती है । वह वर देनेवाली तथा सौम्य है और सदा समस्त प्राणियोंपर कृपा करती है ॥ ३५ ॥

करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।

इसीलिये पुत्रार्थी मनुष्य करञ्ज वृक्षपर रहनेवाली उस देवीको नमस्कार करते हैं । ये तथा दूसरे अठारह ग्रह मांस और मधुके प्रेमी हैं और दस राततक सूतिका-गृहमें निरन्तर टिके रहते हैं । कद्रू सूक्ष्म शरीर धारण करके गर्भिणी स्त्रीके शरीरके भीतर प्रवेश कर जाती है और वहाँ उस गर्भको खा जाती है । इससे वह गर्भिणी स्त्री सर्प पैदा करती है ।३६-३७½।

गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ॥ ३८ ॥
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।

जो गन्धर्वोंकी माता है, वह गर्भिणी स्त्रीके गर्भको लेकर चल देती है, जिससे उस मानवी स्त्रीका गर्भ विलीन हुआ देखा जाता है ॥ ३८½ ॥

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥
उपनष्टं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ।

जो अप्सराओंकी माता है, वह भी गर्भको पकड़ लेती है, जिससे बुद्धिमान् मनुष्य कहते हैं कि अमुक स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ॥ ३९½ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ॥ ४० ॥
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ।

लालसागरकी कन्याका नाम लोहितायनि है, जिसे स्कन्दकी धाय बताया गया है । उसकी कदम्ब वृक्षोंमें पूजा की जाती है ॥ ४०½ ॥

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥
आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥
यावत् षोडश वर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ।

जैसे पुरुषोंमें भगवान् रुद्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंमें आर्या उत्तम मानी गयी हैं । आर्या कुमार कार्तिकेयकी जननी हैं । लोग अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उनका उपर्युक्त ग्रहोंसे पृथक् पूजन करते हैं । इस प्रकार मैंने ये कुमारसम्बन्धी महान् ग्रह बताये हैं । जबतक सोलह वर्षकी अवस्था न हो जाय, जबतक ये बालकोंका अमङ्गल करनेवाले होते हैं ॥ ४१-४२½ ॥

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।

जो मातृगण और पुरुषग्रह बताये गये हैं, इन सबको समस्त देहधारी मनुष्य सदा 'स्कन्दग्रह'के नामसे जानें* ॥ ४३½ ॥

तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्याविशेषतः ॥ ४४ ॥

स्नान, धूप, अञ्जन, बलिकर्म, उपहार अर्पण तथा स्कन्ददेवकी विशेष पूजा करके इन स्कन्दग्रहोंकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेन्द्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार पूजित तथा विधिवत् पूजनद्वारा अभिवन्दित होनेपर वे सभी ग्रह मनुष्योंका मङ्गल करते हैं और उन्हें आयु तथा बल देते हैं ॥ ४५ ॥

ऊर्ध्वं तु षोडशाद् वर्षाद् ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥

* मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ये तामस स्कन्दग्रह भगवान् रुद्रके भूतप्रेतादि गणोंकी भाँति कुमार स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न तमोमय कुमारके साथी माने जाते हैं । इन ग्रहोंसे रक्षा पानेके लिये भगवान् महेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये । भय दिखाकर भी भगवान्-की भक्ति करानेमें हेतुभूत होनेके कारण इन ग्रहोंका वर्णन यहाँ किया गया है । भगवान्‌के भक्तोंको ये ग्रह छू भी नहीं सकते । तमोगुणी प्रजापर ही सब तामस ग्रहोंका बल काम करता है । और वही इनकी पूजा-अर्चना किया करते हैं ।

अब मैं भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके उन ग्रहोंका परिचय दूँगा, जो सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद मनुष्योंके लिये अनिष्टकारक होते हैं ॥ ४६ ॥

यः पश्यति नरो देवान् जाग्रत् वा शयितोऽपि वा।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य जागते या सोतेमें देवताओंको देखता और तुरंत पागल हो जाता है, उस कष्ट देनेवाले ग्रहको 'देवग्रह' कहते हैं ॥ ४७ ॥

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य बैठे-बैठे या सोते समय पितरोंको देखता और शीघ्र पागल हो जाता है, उस बाधा देनेवाले ग्रहको 'पितृग्रह' जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४९ ॥

जो सिद्ध पुरुषोंका अनादर करता है और क्रोधमें आकर वे सिद्ध पुरुष जिसे शाप दे देते हैं, जिसके कारण वह तुरंत पागल हो जाता है, उसे 'सिद्धग्रह' की बाधा प्राप्त हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

जो विभिन्न सुगन्धोंको सूँघता तथा रसोंका आस्वादन करता है एवं तत्काल ही उन्मत्त हो उठता है, उसपर प्रभाव डालनेवाले ग्रहको 'राक्षसग्रह' जानना चाहिये ॥ ५० ॥

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥ ५१ ॥

भूतलपर जिस मनुष्यमें दिव्य गन्धर्वोंका आवेश होता है, वह भी शीघ्र ही उन्मादग्रस्त हो जाता है। इसे 'गान्धर्व ग्रह' की ही बाधा समझनी चाहिये ॥ ५१ ॥

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥

जिस पुरुषपर सदा पिशाच चढ़े रहते हैं, वह भी शीघ्र पागल हो जाता है। अतः वह 'पिशाचग्रह'की ही बाधा है ॥

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेया यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५३ ॥

कालक्रमसे जिस पुरुषमें यक्षोंका आवेश होता है, उसे भी पागल होते देर नहीं लगती। इसे 'यक्षग्रह' की बाधा जाननी चाहिये ॥ ५३ ॥

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥

जिस देहधारी मनुष्यका चित्त वात, पित्त और कफ नामक दोषोंके कुपित होनेसे अपनी संज्ञा खो बैठता है, वह शीघ्र ही विक्षिप्त हो जाता है। उसकी वैद्यक शास्त्रके अनुसार चिकित्सा करानी चाहिये ॥ ५४ ॥

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं सान्त्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५५ ॥

जो घबराहट, भय तथा घोर वस्तुओंके दर्शनसे ही तत्काल पागल हो जाता है, उसके अच्छे होनेका उपाय केवल उसे सान्त्वना देना है ॥ ५५ ॥

कश्चित् क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५६ ॥

कोई ग्रह क्रीडा-विनोदकी, कोई भोजनकी और कोई कामोपभोगकी इच्छा रखता है, इस प्रकार ग्रहोंकी प्रकृति तीन प्रकारकी है ॥ ५६ ॥

यावद् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम्।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५७ ॥

जबतक सत्तर वर्षकी अवस्था पूरी होती है, तबतक ये ग्रह मनुष्योंको सताते हैं। उसके बाद तो सभी देहधारियोंका ज्वर आदि रोग ही ग्रहोंके समान सताने लगते हैं ॥ ५७ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम्।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥ ५८ ॥

जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरसे समेट लिया है, जो जितेन्द्रिय, पवित्र, नित्य आलस्यरहित, आस्तिक तथा श्रद्धालु है, उस पुरुषको ग्रह कभी नहीं छेड़ते हैं—उसे दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ५८ ॥

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः।
न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ॥ ५९ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने मनुष्योंको जो ग्रहोंकी बाधा प्राप्त होती है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो भगवान् महेश्वरके भक्त हैं, उन मनुष्योंको भी ये ग्रह नहीं छूते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ग्रहोंके वर्णनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दद्वारा स्वाहादेवीका सत्कार, रुद्रदेवके साथ स्कन्द और देवताओंकी भद्रवट-यात्रा, देवासुर-संग्राम, महिषासुर-वध तथा स्कन्दकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

यदा स्कन्देन मातॄणामेवमेतत् प्रियं कृतम्।
अथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब स्कन्दने इस प्रकार मातृगणोंका यह प्रिय मनोरथ पूर्ण किया, तब स्वाहाने आकर उनसे कहा—'तुम मेरे औरस पुत्र हो ॥१॥

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम्।
तामब्रवीत् ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम्॥२॥

'अतः मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे परम दुर्लभ प्रीति प्रदान करो।' तब स्कन्दने पूछा—'माँ ! तुम कैसी प्रीति पानेकी अभिलाषा रखती हो ?' ॥ २ ॥

स्वाहोवाच

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ॥ ३ ॥

स्वाहा बोली—महाबाहो ! मैं प्रजापति दक्षकी प्रिय पुत्री हूँ, मेरा नाम स्वाहा है। मैं बचपनसे ही सदा अग्निदेवके प्रति अनुराग रखती आयी हूँ ॥ ३ ॥

न स मां कामिनीं पुत्र सम्यग् जानाति पावकः।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना॥ ४ ॥

पुत्र ! परंतु अग्निदेवको इस बातका अच्छी तरह पता नहीं है कि मैं उन्हें चाहती हूँ। बेटा ! मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि मैं नित्य निरन्तर अग्निदेवके ही साथ निवास करूँ ॥ ४ ॥

स्कन्द उवाच

हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मन्त्रसंस्तुतम्।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम्॥ ५ ॥
अद्यप्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥

स्कन्द बोले—देवि ! आजसे सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी धर्मात्मा मनुष्य देवताओं तथा पितरोंके लिये हव्य और कव्यके रूपमें उठाकर ब्राह्मणोंद्वारा उच्चारित वेदमन्त्रोंके साथ अग्निमें जो कुछ आहुति देंगे, वह सब स्वाहाका नाम लेकर ही अर्पण करेंगे। शोभने ! इस प्रकार तुम्हारे साथ निरन्तर अग्निदेवका निवास बना रहेगा ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत् ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! स्कन्दके इस प्रकार कहने और आदर देनेपर स्वाहा बहुत संतुष्ट हुई। अपने स्वामी अग्निदेवका संयोग पाकर उसने भी स्कन्दका पूजन किया ॥ ७ ॥

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत्।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर प्रजापति ब्रह्माजीने महासेनसे कहा—'वत्स ! अब तुम अपने पिता त्रिपुरविनाशक महादेवजीसे मिलो ॥८॥

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥

'भगवान् रुद्रने अग्निमें और भगवती उमाने स्वाहामें प्रवेश करके समस्त लोकोंके हितके लिये तुम-जैसे अपराजित वीरको उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥

उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना।
अस्मिन् गिरौ निपतितं मिञ्जिकामिञ्जिकं यतः ॥ १० ॥
सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत्।
सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद् भुवि ॥ ११ ॥
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत्।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ॥ १२ ॥

'महात्मा रुद्रने उमाके गर्भमें जिस वीर्यकी स्थापना की थी, उसका कुछ भाग इसी पर्वतपर गिर पड़ा था, जिससे मिञ्जिका-मिञ्जिक नामक जोड़ेकी उत्पत्ति हुई। शेष शुक्रका कुछ अंश लोहित-सागरमें, कुछ सूर्यकी किरणोंमें, कुछ पृथ्वीपर और कुछ वृक्षोंपर गिर पड़ा। इस प्रकार वह पाँच भागोंमें विभक्त होकर गिरा था। उसीसे ये तुम्हारे विभिन्न आकृतिवाले, मांस-भक्षी एवं भयंकर पार्षद प्रकट हुए हैं; जिन्हें मनीषी पुरुष ही जान पाते हैं' ॥ १०-१२ ॥

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम्।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥ १३ ॥

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न एवं पितृभक्त कुमार महासेनने 'एवमस्तु' कहकर अपने पिता भगवान् महेश्वरका पूजन किया ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! धनार्थी पुरुषोंको आकके फूलोंसे उन पाँचों गणोंकी सेवा करनी चाहिये। रोगोंकी शान्तिके लिये भी उनका पूजन करना उचित है॥

मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम्।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता॥ १५॥

मिञ्जिका-मिञ्जिकका जोड़ा भी भगवान् शंकरसे उत्पन्न हुआ है। अतः बालकोंके हितकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा इस जोड़ेको नमस्कार करें॥ १५॥

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः॥ १६॥

वृक्षोंपरसे गिरे हुए शुक्रसे 'वृद्धिका' नामवाली स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो मनुष्यका मांस भक्षण करनेवाली हैं। संतानकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको इन देवियोंके आगे मस्तक झुकाना चाहिये॥ १६॥

एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः।
घण्टायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप॥ १७॥

इस प्रकार ये पिशाचोंके असंख्य गण बताये गये हैं। राजन्! अब तुम मुझसे स्कन्दके घण्टे और पताकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो॥ १७॥

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणानाय्य धीमता॥ १८॥

इन्द्रके ऐरावत हाथीके उपयोगमें आनेवाले जो दो 'वैजयन्ती' नामसे विख्यात घण्टे थे, उन्हें बुद्धिमान् इन्द्रने क्रमशः ले आकर स्वयं कुमार कार्तिकेयको अर्पण कर दिया॥

एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता॥ १९॥

उनमेंसे एक घण्टा विशाखने ले लिया और दूसरा स्कन्दके पास रह गया। कार्तिकेय और विशाख दोनोंकी पताकाएँ लाल रंगकी हैं॥ १९॥

यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः॥ २०॥

उस समय देवताओंने जो खिलौने इन्हें दिये थे, उन्हींसे महाबली महासेन खेलते और मन बहलाते हैं॥ २०॥

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा।
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः॥ २१॥

राजन्! अद्भुत शोभासे सम्पन्न और कान्तिमान् कुमार कार्तिकेय उस समय उस स्वर्णमय शिखरपर पिशाचों और देवताओंके समूहसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे॥ २१॥

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः।
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः॥ २२॥

जैसे अंशुमाली सूर्यके उदयसे मनोहर कन्दरावाले मन्दराचलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वीरवर स्कन्दके निवाससे सुन्दर वनवाले उस श्वेतगिरिकी शोभा बढ़ गयी थी॥ २२॥

संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा॥ २३॥
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः॥ २४॥

वहाँ कहीं फूलोंसे भरे हुए कल्पवृक्षके वन और कहीं कनेरके कानन सुशोभित होते थे। कहीं पारिजातके वन थे, तो कहीं जपा और अशोकके उपवन शोभा पाते थे। कहीं कदम्ब नामक वृक्षोंके समूह लहलहा रहे थे, तो कहीं दिव्य मृगगण विचर रहे थे। सब ओर दिव्य पक्षियोंके समुदाय कलरव कर रहे थे। इन सबसे उस श्वेत पर्वतकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी॥ २३-२४॥

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः॥ २५॥

वहाँ सम्पूर्ण देवता तथा देवर्षिगण आकर विराजमान हो गये। क्षुब्ध महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान मेघों और दिव्य वाद्योंका तुमुल घोष सब ओर गूँजने लगा॥२५॥

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान्॥ २६॥

'वहाँ दिव्य गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। हर्षमें भरे हुए प्राणियोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा॥२६॥

एवं सेन्द्रं जगत् सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम्।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात्॥ २७॥

इस प्रकार इन्द्रसहित सम्पूर्ण जगत् बड़ी प्रसन्नताके साथ श्वेत पर्वतपर विराजमान कुमार कार्तिकेयका दर्शन करने लगा। उनके दर्शनसे किसीका जी नहीं भरता था॥२७॥

मार्कण्डेय उवाच

यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः।
तदा सम्प्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः॥ २८॥
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः।
(अनुयातः सुरैः सर्वैः सहस्राक्षपुरोगमैः)
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे॥ २९॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! जब अग्निनन्दन भगवान् स्कन्दका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो गया, तब श्रीमान् भगवान् शिव देवी पार्वतीके साथ सूर्यके समान रथपर आरूढ़ हो प्रसन्नतापूर्वक भद्रवटकी ओर प्रस्थित हुए। उस समय इन्द्र आदि सब देवता उनके पीछे-पीछे चले।

भगवान् शिवके उस उत्तम रथमें एक हजार सिंह जुते हुए थे ॥ २८-२९ ॥

उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितम्।
ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ॥ ३० ॥
सिंहा नभस्यगच्छन्त नदन्तश्चारुकेसराः।

साक्षात् काल उस रथका संचालन कर रहा था। उसकी प्रेरणासे वह शुभ्र रथ आकाशमें उड़ चला। मनोहर केसरोंसे सुशोभित वे सिंह चराचर प्राणियोंको भयभीत करते और दहाड़ते हुए आकाशमें इस प्रकार चलने लगे, मानो उसे पी जायँगे ॥ ३०½ ॥

तस्मिन् रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ॥ ३१ ॥
विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा।

उस रथपर भगवती उमाके साथ बैठे हुए भगवान् शिव इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो इन्द्रधनुषयुक्त मेघोंकी घटामें विद्युत्‌के साथ भगवान् सूर्य प्रकाशित हो रहे हों ॥

अग्रतस्तस्य भगवान् धनेशो गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥
आस्थाय रुचिरं याति पुष्पकं नरवाहनः।

उनके आगे-आगे गुह्यकोंसहित नरवाहन धनाध्यक्ष भगवान् कुबेर मनोहर पुष्पक विमानपर बैठकर जा रहे थे ॥ ३२½ ॥

ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ॥ ३३ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम्।

देवताओंसहित इन्द्र भी ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो (भद्रवटको) जाते हुए वरदायक भगवान् वृषभध्वजके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३½ ॥

जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलङ्कृतः ॥ ३४ ॥
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः।

मालाधारी जृम्भकगण, यक्ष तथा राक्षसोंसे सुशोभित महायक्ष अमोघ भगवान् शंकरके दाहिने भागमें रहकर चल रहा था ॥ ३४½ ॥

तस्य दक्षिणतो देवा बहवश्चित्रयोधिनः ॥ ३५ ॥
गच्छन्ति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह सङ्गताः।

उसके दाहिने भागमें विचित्र प्रकारके युद्ध करनेवाले बहुत-से देवता वसुओं तथा रुद्रोंके साथ संगठित होकर चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ॥ ३६ ॥
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा।

मृत्युसहित यमराज अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके देवताओंके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्हें सैकड़ों भयानक रोगोंने मूर्तिमान् होकर चारों ओरसे घेर रक्खा था ॥ ३६½ ॥

यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ॥ ३७ ॥
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलङ्कृतः।

यमराजके पीछे-पीछे भगवान् शंकरका विजय नामक भयंकर त्रिशूल जा रहा था, जो तीन शिखरोंसे सुशोभित और तीक्ष्ण था। उस त्रिशूलको सिन्दूर आदिसे भली-भाँति सजाया गया था ॥ ३७½ ॥

तमुग्रपाशो वरुणो भगवान् सलिलेश्वरः ॥ ३८ ॥
परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः।

जलके स्वामी भगवान् वरुण हाथमें भयंकर पाश लिये उस त्रिशूलको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे चल रहे थे। उनके साथ नाना प्रकारकी आकृतिवाले जलजन्तु भी थे॥

पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ॥ ३९ ॥
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः।

विजयके पीछे भगवान् रुद्रका पट्टिश नामक शस्त्र जा रहा था, जिसे गदा, मुसल और शक्ति आदि उत्तम आयुधोंने घेर रक्खा था ॥ ३९½ ॥

पट्टिशं त्वन्वगाद् राजञ्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ॥ ४० ॥
कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः।

राजन् ! पट्टिशके पीछे भगवान् रुद्रका अत्यन्त प्रभापूर्ण छत्र जा रहा था और उसके पीछे महर्षियोंद्वारा सेवित कमण्डलु यात्रा कर रहा था ॥ ४०½ ॥

तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृतः ॥ ४१ ॥
भृग्वङ्गिरोभिः सहितो दैवतैश्चानुपूजितः।

कमण्डलुके दाहिने भागमें जाते हुए तेजस्वी दण्डकी बड़ी शोभा हो रही थी। उसके साथ भृगु और अङ्गिरा आदि महर्षि थे और देवता भी बार-बार उसका पूजन करते थे ॥

एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ॥ ४२ ॥
याति संहर्षयन् सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः।

इन सबके पीछे उज्ज्वल रथपर आरूढ़ हो रुद्रदेव यात्रा करते थे, जो अपने तेजसे सम्पूर्ण देवताओंका हर्ष बढ़ा रहे थे ॥ ४२½ ॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ॥ ४३ ॥
नद्यो ह्रदाः समुद्राश्च तथैवाप्सरसां गणाः।
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ॥ ४४ ॥

रुद्रदेवके पीछे ऋषि, देवता, गन्धर्व, नाग, नदियाँ, गहरे जलाशय, समुद्र, अप्सराएँ, नक्षत्र, ग्रह तथा देवकुमार चल रहे थे ॥ ४३-४४ ॥

स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः।
सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ॥ ४५ ॥

मनोहर रूप और भाँति-भाँतिकी आकृति धारण करनेवाली बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ फूलोंकी वर्षा करती हुई भगवान् रुद्रके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ ४५ ॥

पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम्।
छत्रं च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ॥ ४६ ॥

पिनाकधारी भगवान् शंकरको नमस्कार करके पर्जन्यदेव भी उनके पीछे-पीछे चले। चन्द्रमाने उनके मस्तकपर श्वेत छत्र लगा रक्खा था ॥ ४६ ॥

चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्ठितौ।
शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ॥ ४७ ॥
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम्।

राजन्! वायु और अग्नि चँवर लेकर दोनों ओर खड़े थे। तेजस्वी इन्द्र समस्त राजर्षियोंके साथ भगवान् वृषभध्वजकी स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ४७½ ॥

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ॥ ४८ ॥
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः।
तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः ॥ ४९ ॥

गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, मित्रा और सावित्री—ये सब पार्वतीदेवीके पीछे-पीछे चल रही थीं। विद्वानोंद्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण विद्याएँ भी उन्हींके साथ थीं ॥ ४८-४९ ॥

तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे।
गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

इन्द्र आदि देवता सेनाके मुहानेपर उपस्थित हो भगवान् शिवके आदेशका पालन करते थे। एक राक्षस ग्रह सेनाका झंडा लेकर आगे-आगे चलता था ॥ ५० ॥

व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा।
पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ॥ ५१ ॥

भगवान् रुद्रका सखा यक्षराज पिङ्गलदेव जो सदा श्मशानमें ही (उसकी रक्षाके लिये) निवास करता और सम्पूर्ण जगत्को आनन्द देनेवाला था, उस यात्रामें भगवान् शिवके साथ था ॥ ५१ ॥

एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम्।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ ५२ ॥

इन सबके साथ महादेवजी सुखपूर्वक भद्रवटकी यात्रा कर रहे थे। वे कभी सेनाके आगे रहते और कभी पीछे। उनकी कोई निश्चित गति नहीं थी ॥ ५२ ॥

रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम्।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ॥ ५३ ॥
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम्।

मरणधर्मा मनुष्य इस संसारमें सत्कर्मोंद्वारा रुद्रदेवकी ही पूजा करते हैं। इन्हींको शिव, ईश, रुद्र और पितामह कहते हैं। लोग नाना प्रकारके भावोंसे भगवान् महेश्वरकी पूजा करते हैं ॥ ५३½ ॥

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणहितैषी, देवसेनापति, कृत्तिकानन्दन स्कन्द भी देवताओंकी सेनासे घिरे हुए देवेश्वर भगवान् शिवके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ५४ ॥

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद् वचः।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर महादेवजीने कुमार महासेनसे यह उत्तम बात कही—'बेटा! तुम सदा सावधानीके साथ मारुतस्कन्ध नामक देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करना' ॥ ५५ ॥

स्कन्द उवाच

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद् वद माचिरम् ॥ ५६ ॥

स्कन्द बोले—प्रभो! मैं सातवें व्यूह मारुतस्कन्धकी अवश्य रक्षा करूँगा। देव! इसके सिवा और भी मेरा जो कुछ कर्तव्य हो, उसके लिये आप शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५६ ॥

रुद्र उवाच

कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि।
दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ ५७ ॥

रुद्रने कहा—पुत्र! काम पड़नेपर तुम सदा मुझसे मिलते रहना। मेरे दर्शनसे तथा मुझमें भक्ति करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥ ५७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः।
विसर्जिते ततः स्कन्दे बभूवौत्पातिकं महत् ॥ ५८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवान् महेश्वरने कार्तिकेयको हृदयसे लगाकर विदा किया। स्कन्दके विदा

होते ही बड़ा भारी उत्पात होने लगा ॥ ५८ ॥

सहसैव महाराज देवान् सर्वान् प्रमोहयत्।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥

महाराज! सहसा समस्त देवताओंको मोहमें डालता हुआ नक्षत्रोंसहित आकाश प्रज्वलित हो उठा। समस्त संसार अत्यन्त मूढ़-सा हो गया ॥ ५९ ॥

चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद् बभौ।
ततस्तद् दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शङ्करस्तदा ॥ ६० ॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः।

पृथ्वी हिलने लगी। उसमें गड़गड़ाहट पैदा हो गयी। सारा जगत् अन्धकारमें मग्न-सा जान पड़ता था। उस समय यह दारुण उत्पात देखकर भगवान् शंकर, महाभागा उमा, देवगण तथा महर्षिगण क्षुब्ध हो उठे ॥ ६०½ ॥

ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसंनिभम् ॥ ६१ ॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद् बलम्।
तद् वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥

जिस समय वे सब लोग मोह-ग्रस्त हो रहे थे, उसी समय पर्वतों और मेघमालाओंके समान दैत्योंकी विशाल एवं भयंकर सेना दिखायी दी। वह नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थी। उसके सैनिकोंकी संख्या गिनी नहीं जा सकती थी। वह भयंकर वाहिनी अनेक प्रकारकी बोली बोलती हुई भीषण गर्जना कर रही थी ॥ ६१-६२ ॥

अभ्यद्रवद् रणे देवान् भगवन्तं च शङ्करम्।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥

उसने रण-भूमिमें आकर देवताओं तथा भगवान् शंकर-पर धावा बोल दिया। दैत्योंने देवताओंके सैनिकोंपर कई बार बाण-वर्षा की ॥ ६३ ॥

पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥ ६४ ॥
क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखं चाप्यदृश्यत।

शिलाखण्ड, शतघ्नी (तोप), प्रास, खड्ग, परिघ और गदाओंके लगातार प्रहार हो रहे थे। इन भयंकर महान् अस्त्रोंकी मारसे देवताओंकी सारी सेना क्षणभरमें (पीठ दिखाकर) भाग चली। सारे सैनिक युद्धसे विमुख दिखायी देते थे ॥ ६४½ ॥

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ।

बहुत-से योद्धा, हाथी और घोड़े काट डाले गये। असंख्य आयुध और बड़े-बड़े रथ टूक-टूक कर दिये गये। इस प्रकार दानवोंद्वारा पीड़ित हुई देवताओंकी सेना युद्धसे विमुख हो गयी ॥ ६५½ ॥

असुरैर्वध्यमानं तत् पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥
अपतद् दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा।

जैसे आग समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार असुरोंने देवताओंकी सेनामें भारी मार-काट मचा दी। बड़े-बड़े वृक्षोंसे भरे हुए वनका अधिकांश भाग जल जानेपर उसकी जैसी दुरवस्था दिखायी देती है, उसी प्रकार दैत्योंकी अस्त्राग्निमें अधिकांश सैनिकोंके दग्ध हो जानेके कारण वह देव-सेना धराशायिनी हो रही थी ॥ ६६½ ॥

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ॥ ६७ ॥
न नाथमधिगच्छन्ति वध्यमाना महारणे।

उस महासमरमें असुरोंकी मार खाकर वे सब देवता भागते हुए कहीं कोई रक्षक नहीं पा रहे थे। किन्हींके सिर फट गये थे, तो किन्हींके सब अङ्गोंमें गहरे घाव हो गये थे ॥ ६७½ ॥

अथ तद् विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ॥ ६८ ॥
आश्वासयन्नुवाचेदं बलभिद् दानवार्दितम्।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद् व्यथा भवेत्।
जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान्।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥

तदनन्तर बलासुरविनाशक देवराज इन्द्रने अपनी उस सेनाको दानवोंसे पीड़ित होकर भागती देख उसे आश्वासन देते हुए कहा—'शूरवीरो! भय त्याग दो, इससे तुम्हारा मङ्गल होगा। हथियार उठाओ और पराक्रममें मन लगाओ। तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। इन भयंकर दिखायी देनेवाले दुराचारी दानवोंको जीतो। तुम्हारा कल्याण हो। तुम सब लोग मेरे साथ इन महाकाय दैत्योंपर टूट पड़ो।' इन्द्रकी यह बात सुनकर देवताओंको बड़ी सान्त्वना मिली ॥ ६८—७१ ॥

दानवान् प्रत्ययुध्यन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम्।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह।

उन्होंने इन्द्रको अपना आश्रय बनाकर दानवोंके साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् वे सभी देवता महाबली मरुद्गण तथा वसुओं एवं महाभाग साध्यगणसहित युद्धभूमिमें आगे बढ़ने लगे ॥ ७२½ ॥

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति रुधिरं बहु।

उन्होंने संग्राममें कुपित होकर दैत्योंकी सेनाओंके ऊपर जो अस्त्र-शस्त्र और बाण चलाये, वे उनके शरीरोंमें घुसकर प्रचुरमात्रामें रक्त पीने लगे ॥ ७३½ ॥

तेषां देहान् विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥ ७४ ॥

निपतन्तोऽभ्यदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ।

वे तीखे बाण उस समय दैत्योंके शरीरोंको विदीर्णकर रण-भूमिमें इस प्रकार गिरते दिखायी देते थे, मानो वृक्षोंसे सर्प गिर रहे हों ॥ ७४½ ॥

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥
अपतन् भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।

राजन् ! देवताओंके बाणोंसे विदीर्ण हुए वे दैत्योंके शरीर सब प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान धरतीपर गिरने लगे ॥ ७५½ ॥

ततस्तद् दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ।

तदनन्तर समस्त देवताओंने उस युद्धमें दानवसेनाको अपने विविध बाणोंके प्रहारसे भयभीत करके रणभूमिसे विमुख कर दिया ॥ ७६½ ॥

अथोत्कृष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यन्त ह्यनेकशः ।

फिर तो उस समय हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये सम्पूर्ण देवता हर्षमें भरकर कोलाहल करने लगे और अनेक प्रकारके विजय-वाद्य एक साथ बज उठे ॥ ७७½ ॥

एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ७८ ॥
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ।

इस प्रकार देवताओं और दानवोंमें परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध हो रहा था । रक्त और मांससे वहाँकी भूमिपर कीचड़ जम गयी थी । फिर सहसा बाजी पलट गयी । देवलोककी पराजय दिखायी देने लगी । भयंकर दानव देवताओंको मारने लगे ॥ ७८-७९½ ॥

ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनः ॥ ८० ॥
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

उस समय दानवेन्द्रोंके भयंकर सिंहनाद सुनायी पड़ते थे । उनके रणवाद्यों तथा भेरियोंका गम्भीर घोष सब ओर गूँज उठा ॥ ८०½ ॥

अथ दैत्यबलाद् घोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।

इतनेहीमें दैत्योंकी भयंकर सेनासे महाबली दानव 'महिष' हाथोंमें एक विशाल पर्वत लिये निकला और देवताओंपर टूट पड़ा ॥ ८१½ ॥

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा सम्परिवारितम् ॥ ८२ ॥
तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः ।

राजन् ! बादलोंसे घिरे हुए सूर्यकी भाँति पर्वत उठाये हुए उस दानवको देखकर सब देवता भाग चले ॥ ८२½ ॥

अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद् भुवि ॥ ८४ ॥

परंतु महिषासुरने देवताओंका पीछा करके उनके ऊपर वह पहाड़ पटक दिया । युधिष्ठिर ! उस भयानक पर्वतके गिरनेसे देवसेनाके दस हजार योद्धा कुचलकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ८३-८४ ॥

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् ।
अभ्यद्रवद् रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगोंको डराता हुआ उनपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार महिषासुरने अपने दानव-सैनिकोंके साथ रणभूमिमें समस्त देवताओंको भयभीत करते हुए उनपर शीघ्र ही प्रबल आक्रमण किया ॥ ८५ ॥

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।
व्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥

उस महिषासुरको आते देख इन्द्र आदि सब देवता भयभीत हो अपने अस्त्र-शस्त्र और ध्वजा फेंककर युद्धभूमिसे भागने लगे ॥ ८६ ॥

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ८७ ॥

तब क्रोधमें भरा हुआ महिषासुर तुरंत ही भगवान् रुद्रके रथकी ओर दौड़ा और पास जाकर उनके रथका कूबर[1] पकड़ लिया ॥ ८७ ॥

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥

जब क्रोधमें भरे हुए महिषासुरने सहसा भगवान् रुद्रके रथपर आक्रमण किया, उस समय पृथ्वी और आकाशमें भारी कोलाहल मच गया और महर्षिगण भी घबरा गये ॥ ८८ ॥

अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ८९ ॥

इधर विशालकाय दैत्य मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करने लगे । उन्हें यह निश्चय हो गया कि 'हमारी जीत होगी' ॥ ८९ ॥

तथाभूते तु भगवान् नावधीन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥

उस अवस्थामें भी भगवान् रुद्रने युद्धमें महिषासुरको

---

१. रथका वह अग्रभाग जहाँ जूआ बाँधा जाता है, कूबर कहलाता है । ग्राम्य भाषामें उसे 'नकेला' या 'सबुनी' कहते हैं ।

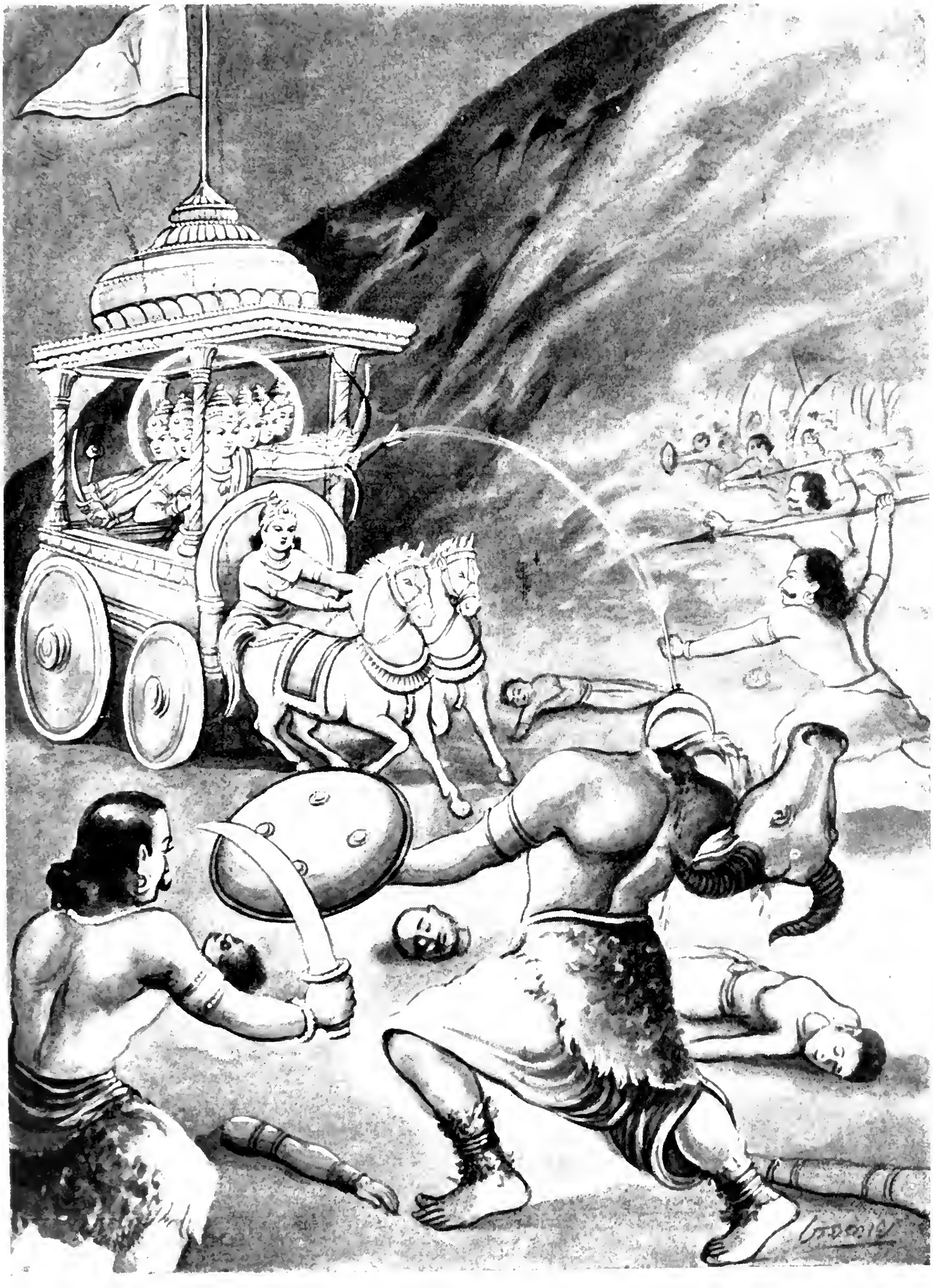

कार्तिकेयके द्वारा महिषासुरका वध

स्वयं नहीं मारा; किंतु उस दुरात्मा दानवकी मृत्यु जिनके हाथोंसे होनेवाली थी, उन कुमार कार्तिकेयका स्मरण किया ॥ ९० ॥

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चानदत् ।
देवान् संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ९१ ॥

भयानक महिषासुर रुद्रके रथको देखकर देवताओंको त्रास और दैत्योंको हर्ष प्रदान करता हुआ बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ ९१ ॥

ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।
आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥

देवताओंके लिये वह घोर भयका अवसर उपस्थित था । इसी समय जगमगाते हुए सूर्यकी भाँति कुमार महासेन क्रोधमें भरे हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ९२ ॥

लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ९३ ॥

उन्होंने अपने शरीरको लाल वस्त्रोंसे आच्छादित कर रक्खा था । उनके हार और आभूषण भी लाल रंगके ही थे । उनके घोड़ेका रंग भी लाल था । उन महाबाहु भगवान् स्कन्दने सुवर्णमय कवच धारण किया था ॥ ९३ ॥

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत् सहसा रणे ॥ ९४ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी रथपर विराजमान थे । उनकी अङ्गकान्ति भी सुवर्णके समान ही उद्भासित हो रही थी । उन्हें सहसा संग्राममें उपस्थित देख दैत्योंकी सेना रणभूमिसे भाग चली ॥ ९४ ॥

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥

राजेन्द्र ! महाबली महासेनने महिषासुरपर एक प्रज्वलित शक्ति चलायी, जो उसके शरीरको विदीर्ण करनेवाली थी ॥ ९५ ॥

सा मुक्ताभ्यहरत् तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥

कुमारके हाथसे छूटते ही उस शक्तिने महिषासुरके महान् मस्तकको काट गिराया । सिर कट जानेपर महिषासुर प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९६ ॥

पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन विहितं तदागम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७ ॥

उसके पर्वत-सदृश विशाल मस्तकने गिरकर (उत्तर-पूर्व देशके) सोलह योजन लम्बे द्वारको बंद कर दिया । अतः वह देश सर्वसाधारणके लिये अगम्य हो गया ॥ ९७ ॥

उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम् ।
क्षिप्ताक्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ ९८ ॥
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ।

उत्तर कुरुके निवासी अब उस मार्गसे सुखपूर्वक आते-जाते हैं । देवताओं और दानवोंने देखा, कुमार कार्तिकेय बार-बार शत्रुओंपर शक्तिका प्रहार करते हैं और वह सहस्रों योद्धाओंको मारकर पुनः उनके हाथमें लौट आती है ।९८½।

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥

परम बुद्धिमान् महासेनने अपने बाणोंद्वारा अधिकांश दैत्योंको समाप्त कर दिया, बचे-खुचे भयंकर दैत्य भी भय-भीत हो साहस खो चुके थे । स्कन्ददेवके दुर्धर्ष पार्षद उन सहस्रों दैत्योंको मारकर खा गये ॥९९-१०० ॥

दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥

उन सबने अत्यन्त हर्षमें भरकर दानवोंको खाते और उनके रक्त पीते हुए क्षणभरमें सारी रणभूमिको दानवोंसे खाली कर दिया ॥ १०१ ॥

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः ।
तथा स्कन्दोऽजयच्छत्रून् स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥ १०२ ॥

जैसे सूर्य अन्धकार मिटा देते हैं, आग वृक्षोंको जला डालती है और आकाशचारी वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही कीर्तिशाली कुमार कार्तिकेयने अपने पराक्रमद्वारा समस्त शत्रुओंको नष्ट करके उनपर विजय पायी ॥ १०२ ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम्।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् ॥१०३॥

उस समय देवतालोग कृत्तिकानन्दन स्कन्ददेवकी स्तुति और पूजा करने लगे। कुमार स्कन्द अपने पिता महेश्वरको प्रणाम करके सब ओर किरणें बिखेरनेवाले अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १०३ ॥

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम्।
तदाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥१०४॥

शत्रुओंका नाश करके जब कुमार कार्तिकेय भगवान् महेश्वरके पास पहुँचे, उस समय इन्द्रने उनको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १०४ ॥

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ॥१०५॥
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ॥१०६॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः।
तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसङ्घशः ॥१०७॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ स्कन्द! इस महिषासुरको ब्रह्माजीने वरदान दिया था, जिसके कारण इसके सामने सब देवता तिनकोंके समान हो गये थे। आज तुमने इसे मार गिराया है। महाबाहो! यह देवताओंके लिये बड़ा भारी काँटा था, जिसे तुमने निकाल फेंका है। यही नहीं, आज रणभूमिमें इस महिषके समान पराक्रमी एक सौ देवद्रोही दानव और तुम्हारे हाथसे मारे गये हैं, जो पहले हमें बहुत कष्ट दे चुके हैं। तुम्हारे पार्षद भी सैकड़ों दानवोंको खा गये हैं।१०५-१०७।

अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः।
एतत् ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥१०८॥
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव महाभुज ॥१०९॥

'देव! तुम भगवान् शंकरके समान ही युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। यह तुम्हारा प्रथम पराक्रम सर्वत्र विख्यात होगा। तुम्हारी अक्षय कीर्ति तीनों लोकोंमें फैल जायगी। महाबाहो! सब देवता तुम्हारे वशमें रहेंगे' ॥१०८-१०९॥

एवमुक्त्वा महासेनं निवृत्तः सह दैवतैः।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ॥११०॥

महासेनसे ऐसा कहकर शचीपति इन्द्र भगवान् शंकरकी आज्ञा ले देवताओंके साथ स्वर्गलोकको लौट गये ॥ ११० ॥

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ॥१११॥

भगवान् रुद्र भद्रवटके समीप गये और देवता अपने-अपने स्थानको लौटने लगे। उस समय भगवान् शङ्करने देवताओंसे कहा—'तुम सब लोग कुमार कार्तिकेयको मेरे ही समान मानना' ॥ १११ ॥

स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः।
एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ॥११२॥

अग्निनन्दन स्कन्दने सब दानवोंको मारकर महर्षियोंसे पूजित हो एक ही दिनमें समूची त्रिलोकीको जीत लिया ॥ ११२ ॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
स पुष्टिमिह सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥११३॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्मवृत्तान्तका पाठ करता है, वह संसारमें पुष्टिको प्राप्त हो अन्तमें भगवान् स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दकी उत्पत्ति तथा महिषासुरवधविषयक दो सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ११३½ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कार्तिकेयके प्रसिद्ध नामोंका वर्णन तथा उनका स्तवन

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! विप्रवर! तीनों लोकोंमें महामना कार्तिकेयके जो-जो नाम विख्यात हैं, मैं उन्हें सुनाना चाहता हूँ ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसंनिधौ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर महातपस्वी महात्मा भगवान् मार्कण्डेयने ऋषियोंके समीप इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आग्नेयश्चैव स्कन्दश्च दीप्तकीर्तिरनामयः।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः॥ ३॥
कामजित् कामदः कान्तः सत्यवाग् भुवनेश्वरः।
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः॥ ४॥
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा।
दीप्तशक्तिः प्रशान्तात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः॥ ५॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः॥ ६॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः॥ ७॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा॥ ८॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत्।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नात्र संशयः॥ ९॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्ति, अनामय, मयूरकेतु धर्मात्मा, भूतेश, महिषमर्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मात्मा, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बालक्रीडनकप्रिय, आकाशचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवणोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेव-प्रिय, प्रिय और प्रियकृत्—ये कार्तिकेयजीके दिव्य नाम हैं। जो इनका पाठ करता है, वह धन, कीर्ति तथा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है; इसमें संशय नहीं है॥ ३—९॥

स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं
शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम्।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं
निबोध चैतानि कुरुप्रवीर॥ १०॥

कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! अब मैं देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित, असंख्य नामों तथा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न, शक्ति नामक अस्त्र धारण करनेवाले वीरवर षडानन गुहकी स्तुति करता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो॥ १०॥

ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च
ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं
ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता॥ ११॥

स्कन्ददेव! आप ब्राह्मणहितैषी, ब्रह्मात्मज, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, ब्राह्मणप्रिय, ब्राह्मणोंके समान व्रतधारी, ब्रह्मज्ञ तथा ब्राह्मणोंके नेता हैं॥ ११॥

स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं
मन्त्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः।
संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै
मासार्धमासावयनं दिशश्च॥ १२॥

आप स्वाहा, स्वधा, परम पवित्र, मन्त्रोंद्वारा प्रशंसित और सुप्रसिद्ध षडर्चि (छः ज्वालाओंसे युक्त) अग्नि हैं। आप ही संवत्सर, छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, अयन और दिशाएँ हैं॥ १२॥

त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविन्दवक्त्रः
सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च
त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम्॥ १३॥

आप कमलनयन, कमलमुख, सहस्रवदन और सहस्र-बाहु हैं। आप ही लोकपाल, सर्वोत्तम हविष्य तथा सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके पालक हैं॥ १३॥

त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः
प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव
सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च॥ १४॥

आप ही सेनापति, अत्यन्त कोपवान्, प्रभु, विभु और शत्रुविजयी हैं। आप ही सहस्रभू और पृथ्वी हैं। आप ही सहस्रों प्राणियोंको संतोष देनेवाले तथा सहस्रभोक्ता हैं॥

सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः
सहस्रपात् त्वं गुह शक्तिधारी।
गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव
स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव॥ १५॥

आपके सहस्रों मस्तक हैं। आपके रूपका कहीं अन्त नहीं है। आपके सहस्रों चरण हैं। गुह! आप शक्ति धारण करते हैं। देव! आप अपने इच्छानुसार गङ्गा, स्वाहा, पृथ्वी तथा कृत्तिकाओंके पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं॥ १५॥

त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन
यथेष्टनानाविधकामरूपी।
दीक्षासि सोमो मरुतः सदैव
धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः॥ १६॥

षडानन! आप मुर्गेसे खेलते हैं तथा इच्छानुसार नाना प्रकारके कमनीय रूप धारण करते हैं। आप सदा ही दीक्षा, सोम, मरुद्गण, धर्म, वायु, गिरिराज तथा इन्द्र हैं॥१६॥

सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं
प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा।
ऋतस्य कर्ता दितिजान्तकस्त्वं
जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम्॥ १७॥

आप सनातनोंमें भी सनातन हैं। प्रभुओंके भी प्रभु हैं। आपका धनुष भयंकर है। आप सत्यके प्रवर्तक, दैत्योंका संहार करनेवाले, शत्रुविजयी तथा देवताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥१७॥

सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव
परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम्।
धर्मस्य कामस्य परस्य चैव
त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ॥ १८ ॥

जो सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्म तप है, वह आप ही हैं। आप ही कार्य-कारण-तत्त्वके ज्ञाता तथा कार्यकारणस्वरूप हैं। धर्म, काम तथा इन दोनोंसे परे जो मोक्षतत्त्व है, उसके भी आप ही ज्ञाता हैं। महात्मन्! यह सम्पूर्ण जगत् आपके तेजसे प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर
शक्त्या मया संस्तुत लोकनाथ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो
अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ॥ १९ ॥

समस्त देवताओंके प्रमुख वीर! आपकी शक्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। लोकनाथ! मैंने यथाशक्ति आपका स्तवन किया है। बारह नेत्रों और भुजाओंसे सुशोभित देव! आपको नमस्कार है। इससे परे आपका जो स्वरूप है, उसे मैं नहीं जानता ॥ १९ ॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
श्रावयेद् ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद् वा द्विजेरितम् ॥ २० ॥
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्छत्रुजयं तथा।
स पुष्टितुष्टी सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्म-वृत्तान्तको पढ़ता है, ब्राह्मणोंको सुनाता है अथवा स्वयं ब्राह्मणके मुखसे सुनता है, वह धन, आयु, उज्ज्वल यश, पुत्र, शत्रुविजय तथा तुष्टि-पुष्टि पाकर अन्तमें स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कार्तिकेयस्तुतिविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका सत्यभामाको सती स्त्रीके कर्तव्यकी शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम् ॥ १ ॥
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योन्यस्य प्रियंवदे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब महात्मा पाण्डव तथा ब्राह्मणलोग आसपास बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी और सत्यभामा भी एक ओर जाकर एक ही साथ सुखपूर्वक बैठीं और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक परस्पर हास्य-विनोद करने लगीं। राजेन्द्र! दोनोंने एक दूसरीको बहुत दिनों बाद देखा था, इसलिये परस्पर प्रिय लगनेवाली बातें करती हुई वहाँ सुखपूर्वक बैठी रहीं ॥ १-२ ॥

कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः।
अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा।
केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानधितिष्ठसि ॥ ४ ॥
लोकपालोपमान् वीरान् पुनः परमसंहतान्।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे ॥ ५ ॥

कुरुकुल और यदुकुलसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक विचित्र बातें उनकी चर्चाकी विषय थीं। भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी सत्राजित्कुमारी सुन्दरी सत्यभामाने एकान्तमें द्रौपदीसे इस प्रकार पूछा—'शुभे! द्रुपदकुमारि! किस बर्तावसे तुम हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले तथा लोकपालोंके समान वीर पाण्डवोंके हृदयपर अधिकार रखती हो? किस प्रकार तुम्हारे वशमें रहते हुए वे कभी तुमपर कुपित नहीं होते? ॥ ३–५ ॥

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥

'प्रियदर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सब-के-सब तुम्हारे मुँहकी ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे बताओ ॥ ६ ॥

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा ॥ ७ ॥
ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम्।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ८ ॥

द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

'पाञ्चालकुमारी कृष्णे ! आज मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति (जड़ी-बूटीका प्रभाव) जप, होम या दवा बताओ, जो यश और सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला हो तथा जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर यशस्विनी सत्यभामा चुप हो गयी। तब पतिपरायणा महाभागा द्रौपदीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ १० ॥

'सत्ये ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रही हो, वह साध्वी स्त्रियोंका नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियोंका आचरण है। जिस मार्गका दुराचारिणी स्त्रियोंने अवलम्बन किया है, उसके विषयमें हमलोग कोई चर्चा कैसे कर सकती हैं ? ॥ १० ॥

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत् त्वय्युपपद्यते।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

'इस प्रकारका प्रश्न अथवा स्वामीके स्नेहमें संदेह करना तुम्हारे-जैसी साध्वी स्त्रीके लिये कदापि उचित नहीं है; चूँकि तुम बुद्धिमती होनेके साथ ही श्यामसुन्दरकी प्रियतमा पटरानी हो ॥ ११ ॥

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम्।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १२ ॥

'जब पतिको यह मालूम हो जाय कि उसकी पत्नी उसे वशमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटीका प्रयोग कर रही है, तो वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न हो उठता है, जैसे अपने घरमें घुसे हुए सर्पसे लोग शङ्कित रहते हैं ॥ १२ ॥

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा ॥ १३ ॥

'उद्विग्नको शान्ति कैसी ? और अशान्तको सुख कहाँ ? अतः मन्त्र-तन्त्र करनेसे पति अपनी पत्नीके वशमें कदापि नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारुणान्।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः ॥ १४ ॥

'इसके सिवा, ऐसे अवसरोंपर धोखेसे शत्रुओंद्वारा भेजी हुई ओषधियोंको खिलाकर कितनी ही स्त्रियाँ अपने पतियोंको अत्यन्त भयंकर रोगोंका शिकार बना देती हैं। किसीको मारनेकी इच्छावाले मनुष्य उसकी स्त्रीके हाथमें यह प्रचार करते हुए विष दे देते हैं कि 'यह पतिको वशमें करनेवाली जड़ी-बूटी है' ॥ १४ ॥

जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥

'उनके दिये हुए चूर्ण ऐसे होते हैं कि उन्हें पति यदि जिह्वा अथवा त्वचासे भी स्पर्श कर ले, तो वे निःसंदेह उसी क्षण उसके प्राण ले लें ॥ १५ ॥

जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ॥ १६ ॥

'कितनी ही स्त्रियोंने अपने पतियोंको (वशमें करनेकी आशासे हानिकारक दवाएँ खिलाकर उन्हें) जलोदर और कोढ़का रोगी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, अंधा, गूँगा और बहरा बना दिया है ॥ १६ ॥

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १७ ॥

'इस प्रकार पापियोंका अनुसरण करनेवाली वे पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंमें डाल देती हैं। अतः साध्वी स्त्रीको चाहिये कि वह कभी किसी प्रकार भी पतिका अप्रिय न करे ॥ १७ ॥

वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १८ ॥

'यशस्विनी सत्यभामे ! मैं स्वयं महात्मा पाण्डवोंके

साथ जैसा बर्ताव करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ; सुनो ॥ १८ ॥

अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा।
सदारान् पाण्डवान् नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥

'मैं अहंकार और काम-क्रोधको छोड़कर सदा पूरी सावधानीके साथ सब पाण्डवोंकी और उनकी अन्यान्य स्त्रियोंकी भी सेवा करती हूँ ॥ १९ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥

अपनी इच्छाओंका दमन करके मनको अपने आपमें ही समेटे हुए केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥

'कभी मेरे मुखसे कोई बुरी बात न निकल जाय, इसकी आशङ्कासे सदा सावधान रहती हूँ। असभ्यकी भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्जकी तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगहपर नहीं बैठती। दुराचारसे बचती तथा चलने-फिरनेमें भी असभ्यता न हो जाय, इसके लिये सतत सावधान रहती हूँ। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूँ ॥ २१ ॥

सूर्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान् महारथान्।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ॥ २२ ॥

'कुन्तीदेवीके पाँचों पुत्र ही मेरे पति हैं। वे सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाले, महारथी, दृष्टिमात्रसे ही शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखनेवाले तथा भयंकर बल-पराक्रम एवं प्रतापसे युक्त हैं। मैं सदा उन्हींकी सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २२ ॥

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवक, बड़ी सजधजवाला धनवान् अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता ॥ २३ ॥

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥

'पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूँ तथा पतिदेव जबतक शयन न करें, तबतक मैं सोती भी नहीं हूँ ॥ २४ ॥

क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम्।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥

'खेतसे, वनसे अथवा गाँवसे जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत-सत्कारमें लग जाती हूँ ॥ २५ ॥

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥

'मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ। शुद्ध एवं स्वादिष्ट रसोई तैयार करके सबको ठीक समयपर भोजन कराती हूँ। मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर घरमें गुप्त-रूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहार, लीप-पोतकर सदा स्वच्छ एवं पवित्र बनाये रखती हूँ। २६।

अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥

'मैं कोई ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालती, जिससे किसी-का तिरस्कार होता हो। दुष्ट स्त्रियोंके सम्पर्कसे सदा दूर रहती हूँ। आलस्यको कभी पास नहीं आने देती और सदा पतियोंके अनुकूल बर्ताव करती हूँ ॥ २७ ॥

अनर्म चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥

'पतिके किये हुए परिहासके सिवा अन्य समयमें मैं नहीं हँसा करती, दरवाजेपर बार-बार नहीं खड़ी होती, जहाँ कूड़े-करकट फेंके जाते हों, ऐसे गंदे स्थानोंमें देरतक नहीं ठहरती और बगीचोंमें भी बहुत देरतक अकेली नहीं घूमती हूँ ॥

(अन्त्यालापमसंतोषं परव्यापारसंकथाम्।)
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये।
निरताहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥

'नीच पुरुषोंसे बात नहीं करती, मनमें असंतोषको स्थान नहीं देती और परायी चर्चासे दूर रहती हूँ। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। क्रोधका अवसर ही नहीं आने देती। सदा सत्य बोलती और पतियों-की सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २९ ॥

सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी।

'पतिदेवके बिना किसी भी स्थानमें अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। मेरे स्वामी जब कभी कुटुम्बके कार्यसे परदेश चले जाते हैं, उन दिनों मैं फूलोंका शृङ्गार नहीं धारण करती, अङ्गराग नहीं लगाती और निरन्तर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हूँ ॥ ३०½ ॥

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ॥ ३१ ॥
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम्।

'मेरे पतिदेव जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा नहीं सेवन करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूँ ॥ ३१½ ॥

यथोपदेशं नियता वर्तमाना वराङ्गने ॥ ३२ ॥
स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा॥ ३३ ॥
(अनुतिष्ठामि तत् सर्वं नित्यकालमतन्द्रिता ॥)

'सुन्दरी ! शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये जिन कर्तव्योंका उपदेश किया गया है, उन सबका मैं नियमपूर्वक पालन करती हूँ । अपने अङ्गोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रखकर पूरी सावधानीके साथ मैं पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें संलग्न रहती हूँ । मेरी सासने अपने परिवारके लोगोंके साथ बर्तावमें लाने योग्य जो धर्म पहले मुझे बताये थे, उन सबका मैं निरन्तर आलस्यरहित होकर पालन करती हूँ ॥ ३२-३३ ॥

भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ॥ ३४ ॥
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥

'मैं दिन-रात आलस्य त्यागकर भिक्षा-दान, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, मान्य पुरुषोंका आदर-सत्कार, विनय, नियम तथा अन्य जो-जो धर्म मुझे ज्ञात हैं, उन सबका सब प्रकारसे उद्यत होकर पालन करती हूँ ॥ ३४-३५ ॥

मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम्॥ ३६ ॥

'मेरे पति बड़े ही सज्जन और मृदुल स्वभावके हैं। सत्यवादी तथा सत्यधर्मका निरन्तर पालन करनेवाले हैं; तथापि क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पोंसे जिस प्रकार लोग डरते हैं, उसी प्रकार मैं अपने पतियोंसे डरती हुई उनकी सेवा करती हूँ ॥ ३६ ॥

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत्॥ ३७ ॥

'मैं यह मानती हूँ कि पतिके आश्रयमें रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है । पति ही उनका देवता है और पति ही उनकी गति है । पतिके सिवा नारीका दूसरा कोई सहारा नहीं है, ऐसे पतिदेवताका भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी ? ॥

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३८ ॥

'पतियोंके शयन करनेसे पहले मैं कभी शयन नहीं करती, उनसे पहले भोजन नहीं करती, उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई आभूषण नहीं पहनती, अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती और अपने-आपको सदा नियन्त्रणमें रखती हूँ ।३८।

अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥

'सौभाग्यशालिनी सत्यभामे ! मैं सावधानीसे सर्वदा सबेरे उठकर समुचित सेवाके लिये सन्नद्ध रहती हूँ । गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं ॥ ३९ ॥

नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४० ॥

'मैं वीरजननी सत्यवादिनी आर्या कुन्तीदेवीकी भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा स्वयं सेवा करती रहती हूँ ॥४०॥

नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥

'वस्त्र, आभूषण और भोजन आदिमें मैं कभी सासकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती । मेरी सास कुन्तीदेवी पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं । मैं कभी उनकी निन्दा नहीं करती ॥ ४१ ॥

अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥

'पहले महाराज युधिष्ठिरके महलमें प्रतिदिन आठ हजार ब्राह्मण सोनेकी थालियोंमें भोजन किया करते थे ॥ ४२ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ अठासी हजार ऐसे स्नातक गृहस्थ थे, जिनका वे भरण-पोषण करते थे । उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दासियाँ रहती थीं ॥ ४३ ॥

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४४ ॥

'इनके सिवा दूसरे दस हजार और ऊर्ध्वरेता यति उनके यहाँ रहते थे, जिनके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किया हुआ अन्न सोनेकी थालियोंमें परोसकर पहुँचाया जाता था ।४४।

तान् सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान् वेदवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥

'मैं उन सब वेदवादी ब्राह्मणोंको अग्रहार (बलिवैश्वदेवके अन्तमें अतिथिको दिये जानेवाले प्रथम अन्न) का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जलके द्वारा उनकी यथायोग्य पूजा करती थी ॥ ४५ ॥

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः॥४६॥

'कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख दासियाँ थीं, जो हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ, भुजाओंमें बाजूबंद और कण्ठमें सुवर्णके हार पहनकर बड़ी सज-धजके साथ रहती थीं ॥४६॥

महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥

'उनकी मालाएँ तथा आभूषण बहुमूल्य थे, अङ्गकान्ति बड़ी सुन्दर थी। वे चन्दनमिश्रित जलसे स्नान करती और चन्दनका ही अङ्गराग लगाती थीं, मणि तथा सुवर्णके गहने पहना करती थीं। नृत्य और गीतकी कलामें उनका कौशल देखने ही योग्य था ॥ ४७ ॥

तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४८ ॥

'उन सबके नाम, रूप तथा भोजन-आच्छादन आदि सभी बातोंकी मुझे जानकारी रहती थी। किसने क्या काम किया और क्या नहीं किया? यह बात भी मुझसे छिपी नहीं रहती थी ॥ ४८ ॥

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ ४९ ॥

'बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी पूर्वोक्त एक लाख दासियाँ हाथोंमें (भोजनसे भरी हुई) थाली लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती रहती थीं ॥ ४९ ॥

शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥

'जिन दिनों महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें रहकर इस पृथ्वीका पालन करते थे, उस समय प्रत्येक यात्रामें उनके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। मैं ही उनकी गणना करती, आवश्यक वस्तुएँ देती और उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी ॥ ५०-५१ ॥

अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥

'अन्तःपुरके, नौकरोंके तथा ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर समस्त सेवकोंके सभी कार्योंकी देखभाल मैं ही करती थी और किसने क्या काम किया अथवा कौन काम अधूरा रह गया—इन सब बातोंकी जानकारी भी रखती थी ॥ ५२ ॥

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ॥ ५३ ॥

'कल्याणी एवं यशस्विनी सत्यभामे! महाराज तथा अन्य पाण्डवोंको जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका हिसाब मैं अकेली ही रखती और जानती थी ॥

मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ॥ ५४ ॥

'वरानने! भरतश्रेष्ठ पाण्डव कुटुम्बका सारा भार मुझपर ही रखकर उपासनामें लगे रहते और तदनुरूप चेष्टा करते थे ॥ ५४ ॥

तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥

'मुझपर जो भार रक्खा गया था, उसे दुष्ट स्वभावके स्त्री-पुरुष नहीं उठा सकते थे। परंतु मैं सब प्रकारका सुख-भोग छोड़कर रात-दिन उस दुर्वह भारको वहन करनेकी चेष्टा किया करती थी ॥ ५५ ॥

अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥

'मेरे धर्मात्मा पतियोंका भरा-पूरा खजाना वरुणके भण्डार और परिपूर्ण महासागरके समान अक्षय एवं अगम्य था। केवल मैं ही उसके विषयकी ठीक जानकारी रखती थी ॥ ५६ ॥

अनिशायां निशायां च सहा या क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥

'रात हो या दिन, मैं सदा भूख-प्यासके कष्ट सहन करके निरन्तर कुरुकुलरत्न पाण्डवोंकी आराधनामें लगी रहती थी। इससे मेरे लिये दिन और रात समान हो गये थे ॥ ५७ ॥

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत् संवननं मम ॥ ५८ ॥

'सत्ये! मैं प्रतिदिन सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण मन्त्र है ॥ ५८ ॥

एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥

पतिको वशमें करनेका यही सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय मैं जानती हूँ। दुराचारिणी स्त्रियाँ जिन उपायोंका अवलम्बन करती हैं, उन्हें न तो मैं करती हूँ और न चाहती ही हूँ' ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥
अभिपन्नास्मि पाञ्चालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥ ६१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उस धर्मपरायणा पाञ्चालीका समादर करते हुए कहा—'पाञ्चालराजकुमारी! याज्ञसेनी! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ; (मैंने जो अनुचित प्रश्न किया है), उसके लिये मुझे क्षमा कर दो। सखियोंमें परस्पर स्वेच्छापूर्वक ऐसी हास-परिहासकी बातें हो जाया करती हैं ॥ ६०-६१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामा-संवादपर्वमें दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिदेवको अनुकूल करनेका उपाय—पतिकी अनन्यभावसे सेवा

द्रौपद्युवाच

इमं तु ते मार्गमपेतमोहं
वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः ।
अस्मिन् यथावत् सखि वर्तमाना
भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—सखी ! मैं स्वामीके मनका आकर्षण करनेके लिये तुम्हें एक ऐसा मार्ग बता रही हूँ, जिसमें भ्रम अथवा छल-कपटके लिये तनिक भी स्थान नहीं है । यदि तुम यथावत्‌रूपसे इसी पथपर चलती रहोगी, तो स्वामीके चित्तको अपनी सौतोंसे हटाकर अपनी ओर अवश्य खींच सकोगी ॥ १ ॥

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ॥ २ ॥

सत्ये ! स्त्रियोंके लिये देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें पतिके समान दूसरा कोई देवता नहीं है । पतिके प्रसादसे नारीकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं और यदि पति ही कुपित हो जाय, तो वह नारीकी सभी आशाओंको नष्ट कर सकता है ॥ २ ॥

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः
शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः
स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥ ३ ॥

सेवाद्वारा प्रसन्न किये हुए पतिसे स्त्रियोंको (उत्तम) संतान, भाँति-भाँतिके भोग, शय्या, आसन, सुन्दर दिखायी देनेवाले वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, स्वर्गलोक तथा महान् यशकी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन
प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
तथाऽऽसनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यै-
र्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः ।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा
त्वामेव संश्लिष्यति तद् विधत्स्व ॥ ५ ॥

सखी ! इस जगत्‌में कभी सुखके द्वारा सुख नहीं मिलता । पतिव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है । तुम सौहार्द, प्रेम, सुन्दर वेश-भूषा-धारण, सुन्दर आसन-समर्पण, मनोहर पुष्पमाला, उदारता, सुगन्धित द्रव्य एवं व्यवहारकुशलतासे श्यामसुन्दरकी निरन्तर आराधना करती रहो । उनके साथ ऐसा बर्ताव करो, जिससे वे यह समझकर कि 'सत्यभामाको मैं ही अधिक प्रिय हूँ' तुम्हें ही हृदयसे लगाया करें ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः
प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन
पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥

जब महलके द्वारपर पधारे हुए प्राणवल्लभका स्वर सुनायी पड़े, तब तुम उठकर घरके आँगनमें आ जाओ और उनकी प्रतीक्षामें खड़ी रहो । जब देखो कि वे भीतर आ गये, तब तुरंत आसन और पाद्यके द्वारा उनका यथावत् पूजन करो ॥ ६ ॥

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥

सत्ये ! यदि श्यामसुन्दर किसी कार्यके लिये दासीको भेजते हों, तो तुम्हें स्वयं उठकर वह सब काम कर लेना चाहिये; जिससे श्रीकृष्णको तुम्हारे इस सेवा-भावका अनुभव हो जाय कि सत्यभामा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सेवा करती है ॥ ७ ॥

त्वत्संनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते
यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं
प्रत्यादिशेत् तेन भवेद् विरागः ॥ ८ ॥

तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, वह छिपाने योग्य न हो, तो भी तुम्हें उसे गुप्त ही रखना चाहिये । अन्यथा तुम्हारे मुखसे उस बातको सुनकर यदि कोई सौत उसे श्यामसुन्दरके सामने कह दे, तो इससे उनके मनमें तुम्हारी ओरसे विरक्ति हो सकती है ॥ ८ ॥

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तु-
स्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः ।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य
भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥

पतिदेवके जो प्रिय, अनुरक्त एवं हितैषी सुहृद् हों, उन्हें तरह-तरहके उपायोंसे खिलाओ-पिलाओ तथा जो

उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करनेके लिये उद्यत रहते हों; उनसे सदा दूर रहो ॥ ९ ॥

मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा
संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ
नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥

दूसरे पुरुषोंके समीप घमंड और प्रमादका परित्याग करके मौन रहकर अपने मनोभावको प्रकट न होने दो। कुमार प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि तुम्हें एकान्तमें कभी उनके पास भी नहीं बैठना चाहिये ॥ १० ॥

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥

अत्यन्त ऊँचे कुलमें उत्पन्न और पापाचारसे दूर रहनेवाली सती स्त्रियोंके साथ ही तुम्हें सखीभाव स्थापित करना चाहिये। जो अत्यन्त क्रोधी, नशेमें चूर रहनेवाली, अधिक खानेवाली, चोरीकी लत रखनेवाली, दुष्ट और चञ्चल स्वभावकी स्त्रियाँ हों, उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥ ११ ॥

एतद् यशस्यं भगदैवतं च
स्वार्ग्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा
भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा ॥ १२ ॥

तुम बहुमूल्य हार, आभूषण और अङ्गराग धारण करके पवित्र सुगन्धित वस्तुओंसे सुवासित हो अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी आराधना करो। इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी। तुम्हारे मनोरथकी सिद्धि तथा शत्रुओंका नाश होगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें द्रौपदीद्वारा स्त्रीकर्तव्यकथनविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यभामाका द्रौपदीको आश्वासन देकर श्रीकृष्णके साथ द्वारिकाको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ अनुकूल बातें करते हुए कुछ कालतक वहाँ रहकर (द्वारिका जानेको उद्यत हुए) ॥ १ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥

मधुसूदन केशवने उन सबसे यथावत् वार्तालापके अनन्तर विदा लेकर रथपर चढ़नेकी इच्छासे सत्यभामाको बुलाया ॥ २ ॥

सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ॥ ३ ॥

तब सत्यभामा वहाँ द्रुपदकुमारीसे गले मिलकर अपने हार्दिक भावके अनुसार एकाग्रतापूर्वक मधुर वचन बोली—॥ ३ ॥

कृष्णे मा भूत् तवोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥

'सखी कृष्णे! तुम्हें उत्कण्ठित (राज्यके लिये चिन्तित) और व्यथित नहीं होना चाहिये। तुम इस प्रकार रात-रातभर जागना छोड़ दो। तुम्हारे देवतुल्य पतियोंद्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

न ह्येवं शीलसम्पन्ना नैवं पूजितलक्षणाः।
प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥

'श्यामलोचने! तुम्हें जैसा क्लेश सहन करना पड़ा है, वैसा कष्ट तुम्हारे-जैसी सुशीला तथा श्रेष्ठ लक्षणोंवाली देवियाँ अधिक दिनोंतक नहीं भोगा करती हैं ॥ ५ ॥

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकण्टका।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥

'मैंने (महात्माओंसे) सुना है कि तुम अपने पतियोंके साथ निश्चय ही इस पृथ्वीका निर्द्वन्द्व तथा निष्कण्टक राज्य भोगोगी ॥ ६ ॥

धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसि द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥

'द्रुपदकुमारी! तुम शीघ्र ही देखोगी कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और पहलेके वैरका भरपूर बदला चुकाकर तुम्हारे पतियोंने विजय पायी है और इस पृथ्वीपर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार हो गया है ॥ ७ ॥

यास्ताः प्रव्रजमानां त्वां प्राहसन् दर्पमोहिताः।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥

'तुम्हारे वन जाते समय अभिमानसे मोहित हो कुरुकुलकी जिन स्त्रियोंने तुम्हारी हँसी उड़ायी थी, उनकी आशाओंपर पानी फिर जायगा और तुम उन्हें शीघ्र ही दुरवस्थामें पड़ी हुई देखोगी ॥ ८ ॥

तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम्।
विद्धि सम्प्रस्थितान् सर्वांस्तान् कृष्णे यमसादनम्॥९॥

'कृष्णे! तुम दुःखमें पड़ी हुई थी, उस दशामें जिन लोगोंने तुम्हारा अप्रिय किया है, उन सबको तुम यमलोकमें गया हुआ ही समझो ॥ ९ ॥

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिरकुमार प्रतिविन्ध्य, भीमसेननन्दन सुतसोम, अर्जुनकुमार श्रुतकर्मा, नकुलनन्दन शतानीक तथा सहदेव-कुमार श्रुतसेन—तुम्हारे ये सभी वीर पुत्र शस्त्रविद्यामें निपुण हो गये हैं और कुशलपूर्वक द्वारिकापुरीमें रहते हैं ॥ १०-११ ॥

अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम्।
त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥ १२ ॥

'वे सबके सब अभिमन्युकी भाँति बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रहते हैं। द्वारिकामें उनका मन बहुत लगता है। सुभद्रादेवी तुम्हारी ही तरह उन सबके साथ सब प्रकारसे प्रेमपूर्ण बर्ताव करती हैं ॥ १२ ॥

प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥

'वे किसीके प्रति भेदभाव न रखकर उन सबके प्रति निश्छल स्नेह रखती हैं। वे उन बालकोंके दुःखसे ही दुखी और उन्हींके सुखसे सुखी होती हैं ॥ १३ ॥

भजेत् सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान् विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥

'प्रद्युम्नकी माताजी भी उनकी सब प्रकारसे सेवा और देखभाल करती हैं। श्यामसुन्दर अपने भानु आदि पुत्रोंसे भी बढ़कर तुम्हारे पुत्रोंको मानते हैं ॥ १४ ॥

भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः।
रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ॥ १५ ॥

'मेरे श्वशुरजी प्रतिदिन इनके भोजन-वस्त्र आदिकी समुचित व्यवस्थापर दृष्टि रखते हैं। बलरामजी आदि सभी अन्धकवंशी तथा वृष्णिवंशी यादव उनकी सुख-सुविधाका ध्यान रखते हैं ॥ १५ ॥

तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोऽनुगम् ॥ १६ ॥
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥

'भामिनि! उन सबका और प्रद्युम्नका भी तुम्हारे पुत्रोंपर समान प्रेम है।' इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले, सत्य एवं मनके अनुकूल वचन कहकर श्रीकृष्णमहिषी सत्यभामाने अपने स्वामीके रथकी ओर जानेका विचार किया और द्रौपदीकी परिक्रमा की ॥ १६-१७ ॥

आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामाथ भाविनी।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात् पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भामिनी सत्यभामा श्रीकृष्णके रथपर आरूढ़ हो गयी। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने मुसकराकर द्रौपदीको सान्त्वना दी और उसे लौटाकर शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा अपनी पुरी द्वारिकाको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारिकाको प्रस्थानविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

(घोषयात्रापर्व)

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रका खेद और चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः
शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं
ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार वनमें रहकर सर्दी, गर्मी, हवा और धूपका कष्ट सहनेके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे, उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने पवित्र द्वैतवनमें पूर्वोक्त सरोवरके पास पहुँचकर फिर कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा
जनं समुत्सृज्य विधाय वेश्म ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च
नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! उस (रमणीय) सरोवरपर आकर पाण्डवोंने वहाँ आये हुए जनसमुदायको विदा कर दिया और अपने रहनेके लिये कुटी बनाकर वे आस-पासके रमणीय वनों, पर्वतों तथा नदीके तटप्रदेशोंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

तथा वने तान् वसतः प्रवीरान्
स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणा-
स्तान् पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥

इस तरह वनमें रहते हुए उन वीरशिरोमणि पाण्डवोंके पास बहुत-से स्वाध्यायशील, वेदवेत्ता एवं पुरातन तपस्वी ब्राह्मण आते थे और वे नरश्रेष्ठ पाण्डव उनकी यथोचित सेवा-पूजा करते थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचित् कुशलः कथासु
विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव
वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर किसी समय कथावार्तामें कुशल एक ब्राह्मण उस वन्यभूमिमें पाण्डवोंके पास आया और उनसे मिलकर वह घूमता-घामता अकस्मात् राजा धृतराष्ट्रके दरबारमें जा पहुँचा ॥ ४ ॥

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च
वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयाम्बभूव
धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥ ५ ॥

कुरुकुलमें श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध राजा धृतराष्ट्रने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। जब वह आसनपर बैठ गया, तब महाराजके पूछनेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके समाचार सुनाने लगा ॥ ५ ॥

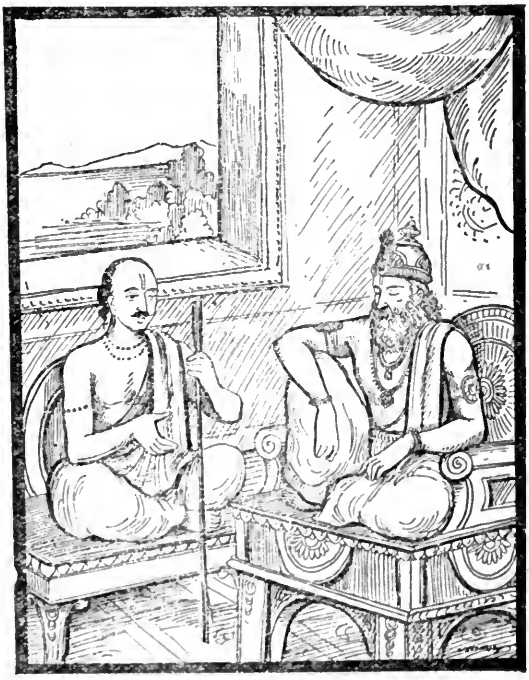

कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्
　　दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान्।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां
　　कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम्॥ ६ ॥

उसने बताया—'इस समय पाण्डव हवा और गर्मी आदिका कष्ट सहन करनेके कारण अत्यन्त कृश हो गये हैं, भयंकर दुःखके मुँहमें पड़ गये हैं और वीरपत्नी द्रौपदी भी अनाथकी भाँति सब ओरसे क्लेश-ही-क्लेश भोग रही है'॥ ६ ॥

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा
　　वैचित्रवीर्यः कृपयाभितप्तः।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्
　　श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान्॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा
　　निःश्वासवातोपहतस्तदानीम्।
वाचं कथंचित् स्थिरतामुपेत्य
　　तत् सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य॥ ८ ॥

ब्राह्मणकी ये बातें सुनकर विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र दयासे द्रवित हो बहुत दुखी हो गये। जब उन्होंने सुना कि राजाके पुत्र और पौत्र होकर भी पाण्डव इस प्रकार दुःखकी नदीमें डूबे हुए हैं, तब उनका हृदय करुणासे भर आया और वे लंबी-लंबी साँसें खींचते हुए किसी प्रकार धैर्य धारण करके सब कुछ अपनी ही करतूतका परिणाम समझकर यों बोले—॥ ७-८ ॥

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो
　　ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स
　　शेते पुरा राङ्कवकूटशायी॥ ९ ॥

'अहो! जो मेरे सभी पुत्रोंमें बड़े तथा सत्यवादी, पवित्र और सदाचारी हैं तथा जो पहले रङ्कु मृगके (नरम) रोओंसे बने हुए बिछौनोंपर सोया करते थे, वे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर आजकल भूमिपर कैसे शयन करते होंगे?॥ ९ ॥

प्रबोध्यते मागधसूतपूगै-
　　र्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः।
पतत्रिसङ्घैः स जघन्यरात्रे
　　प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः॥ १० ॥

'जिन्हें कभी मागधों और सूतोंका समुदाय प्रतिदिन स्तुति-पाठ करके जगाता था, जो साक्षात् इन्द्रके समान तेजस्वी और पराक्रमी हैं, वे ही राजा युधिष्ठिर निश्चय ही अब भूमिपर सोते और पक्षियोंके कलरव सुनकर रातके पिछले पहरमें जागते होंगे॥ १० ॥

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो
　　वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः।
शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः
　　कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः॥ ११ ॥

'भीमसेनका शरीर हवा और धूपका कष्ट सहन करनेसे अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। उनका अङ्ग-अङ्ग क्रोधसे काँपता और फड़कता होगा। वे द्रौपदीके सामने कैसे धरतीपर शयन करते होंगे? उनका शरीर ऐसा कष्ट भोगने योग्य नहीं है॥ ११ ॥

तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी
　　वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रै-
　　र्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात्॥ १२ ॥

'इसी प्रकार सुकुमार एवं मनस्वी अर्जुन, जो सदा धर्मराज युधिष्ठिरके अधीन रहते हैं, अमर्षके कारण उनके सारे अङ्गोंमें संताप हो रहा होगा और निश्चय ही उन्हें अपनी कुटियामें अच्छी तरह नींद नहीं आती होगी॥ १२ ॥

यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च
　　भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम्।
विनिःश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा
　　ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात्॥ १३ ॥

'अर्जुनका तेज बड़ा ही भयंकर है। वे नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर तथा भीमसेनको सुखसे वञ्चित देखकर सर्पके समान फुफकारते होंगे और अमर्षके कारण निश्चय ही उन्हें नींद नहीं आती होगी॥ १३ ॥

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ
　　समृद्धरूपावमरौ दिवीव।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ
　　धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार सुख भोगनेके योग्य नकुल और सहदेवका भी सुख छिन गया है। वे दोनों भाई स्वर्गके देवता अश्विनीकुमारोंकी भाँति रूपवान् हैं। वे भी निश्चय ही अशान्त भावसे सारी रात जागते हुए भूमिपर सोते होंगे। धर्म और सत्य ही उन्हें तत्काल आक्रमण करनेसे रोके हुए हैं॥ १४ ॥

समीरणेनाथ समो बलेन
　　समीरणस्यैव सुतो बलीयान्।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन
　　ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम्॥ १५ ॥

'जो बलमें वायुके समान हैं, वायुदेवताके ही अत्यन्त बलवान् पुत्र हैं, वे भीमसेन भी अपने बड़े भाईके द्वारा धर्मके बन्धनमें बाँध लिये गये हैं। निश्चय ही इसीलिये चुपचाप लम्बी साँसें खींचते हुए वे क्रोधको सहन करते हैं॥ १५ ॥

स चापि भूमौ परिवर्तमानो
वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः
कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः॥ १६॥

'रणभूमिमें भीमसेन दूसरोंकी अपेक्षा सदा अधिक पराक्रमी सिद्ध होते हैं। वे मेरे पुत्रोंके वधकी कामना करते हुए धरतीपर करवटें बदल रहे होंगे। सत्य और धर्मने ही उन्हें रोक रक्खा है; अतः वे भी अवसरकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ १६॥

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या
दुःशासनो यत् परुषाण्यवोचत्।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं
दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि॥ १७॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिरको जूएमें छलपूर्वक हरा दिये जानेपर दुःशासनने जो कड़वी बातें कही थीं, वे भीमसेनके शरीरमें घुसकर जैसे आग तृण और काष्ठके समूहको जला डालती है, उसी प्रकार उन्हें दग्ध कर रही होंगी॥ १७॥

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो
धनंजयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम्।
अरण्यवासेन विवर्धते तु
भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन॥ १८॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे अपराधपर ध्यान नहीं देंगे। अर्जुन भी उन्हींका अनुसरण करेंगे। परंतु इस वनवाससे भीमसेनका क्रोध तो उसी प्रकार बढ़ रहा होगा, जैसे हवा लगनेसे आग धधक उठती है॥ १८॥

स तेन कोपेन विदह्यमानः
करं करेणाभिनिपीड्य वीरः।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं
दहन्निवेमान् मम पुत्रपौत्रान्॥ १९॥

'उस क्रोधसे जलते हुए वीरवर भीमसेन हाथसे हाथ मलकर इस प्रकार अत्यन्त भयंकर गर्म-गर्म साँस खींच रहे होंगे, मानो मेरे इन पुत्रों और पौत्रोंको अभी भस्म कर डालेंगे॥ १९॥

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च
संरम्भिणावन्तककालकल्पौ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां
शरान् किरन्तावशनिप्रकाशान्॥ २०॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भीमसेन जब क्रोधमें भर जायँगे, उस समय यमराज और कालके समान हो जायँगे। वे रणभूमिमें विद्युत्के समान चमकनेवाले बाणोंकी वर्षा करके शत्रुसेनामेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ेंगे॥ २०॥

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो
दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं
यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम्॥ २१॥

'दुर्योधन, शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा दुःशासन—ये बड़े ही मूढ़बुद्धि हैं, क्योंकि जूएके सहारे दूसरेके राज्यका अपहरण कर रहे हैं। (ये अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखते हैं) इन्हें वृक्षकी शाखासे टपकता हुआ केवल मधु ही दिखायी देता है, वहाँसे गिरनेका जो भारी भय है, उधर उनकी दृष्टि नहीं है॥ २१॥

शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा
प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन
'मोक्षः कथं स्यात् पुरुषस्य तस्मात्॥ २२॥

मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करके उसके स्वर्ग-नरकरूप फलकी प्रतीक्षा करता है। वह उस फलसे विवश होकर मोहित होता है। ऐसी दशामें मूढ़ पुरुषका उस मोहसे कैसे छुटकारा हो सकता है?॥ २२॥

क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे
देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम्।
न स्यात् फलं तस्य कुतः प्रसिद्धि-
रन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि॥ २३॥

'मैं सोचता हूँ कि अच्छी तरह जोते हुए खेतमें बीज बोया जाय तथा ऋतुके अनुसार ठीक समयपर वर्षा भी हो, फिर भी उसमें फल न लगे, तो इसमें प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी सिद्धि कैसे की जा सकती है?॥ २३॥

कृतं मताक्षेण यथा न साधु
साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन
तथा कुरूणामयमन्तकालः॥ २४॥

'द्यूतप्रेमी शकुनिने जूआ खेलकर कदापि अच्छा नहीं किया। साधुतामें लगे हुए युधिष्ठिरने भी जो उसे तत्काल नहीं मार डाला, यह भी अच्छा नहीं किया। इसी प्रकार कुपुत्रके वशमें पड़कर मैंने भी कोई अच्छा काम नहीं किया है। इसीका फल है कि यह कौरवोंका अन्तकाल आ पहुँचा है॥ २४॥

ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि
ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या।
ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाश-
स्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः॥ २५॥

'निश्चय ही बिना किसी प्रेरणाके भी हवा चलेगी ही, जो गर्भिणी है, वह समयपर अवश्य ही बच्चा जनेगी। दिनके आदिमें रजनीका नाश अवश्यम्भावी है तथा रात्रिके प्रारम्भमें दिनका भी अन्त होना निश्चित है। (इसी प्रकार पापका फल भी किसीके टाले नहीं टल सकता) ॥ २५ ॥

क्रियेत कस्मात्परे च कुर्यु-
र्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित्।
प्राप्यार्थकालं च भवेदनर्थः
कथं न तत् स्यादिति तत् कुतः स्यात्॥२६॥

'यदि यह विश्वास हो जाय, तो हम लोभके वश होकर न करने योग्य काम क्यों करें और दूसरे भी क्यों करें एवं बुद्धिमान् मनुष्य भी उपार्जित धनका दान क्यों न करें? अर्थके उपयोगका समय प्राप्त होनेपर यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो वह अनर्थका हेतु हो जाता है। अतः विचार करना चाहिये कि वह धनका सदुपयोग क्यों नहीं होता और कैसे हो? ॥ २६ ॥

कथं न भिद्येत न च स्रवेत
न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम्।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद्
ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके॥ २७॥

'यदि प्राप्त हुए धनका यथावत् वितरण न किया जायगा, तो वह कच्चे घड़ेमें रक्खे हुए जलकी भाँति चूकर व्यर्थ नष्ट क्यों न होगा? यह सोचकर उसकी रक्षा करना ही कर्तव्य है। यदि यथायोग्य विभाजनके द्वारा धनकी रक्षा न की जायगी तो वह सैकड़ों प्रकारसे बिखर जायगा। जगत्में किये हुए कर्म-फलका नाश नहीं होता—यह निश्चित है। (इससे यही सिद्ध होता है कि उसका यथायोग्य वितरण कर देना ही उचित है) ॥ २७ ॥

गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं
धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि
ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः॥ २८॥

'देखो, अर्जुनमें कितनी शक्ति है! वे वनसे भी इन्द्रलोकको चले गये और वहाँसे चारों प्रकारके दिव्यास्त्र सीखकर पुनः इस लोकमें लौट आये ॥ २८ ॥

स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव
को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत्।
अन्यत्र कालोपहताननेकान्
समीक्षमाणस्तु कुरून् मुमूर्षून्॥ २९॥

'सदेह स्वर्गमें जाकर कौन मनुष्य इस संसारमें पुनः लौटना चाहेगा। अर्जुनके पुनः मर्त्यलोकमें लौटनेका कारण इसके सिवा दूसरा नहीं है कि ये बहुसंख्यक कौरव कालके वशीभूत हो मृत्युके निकट पहुँच गये हैं और अर्जुन इनकी इस अवस्थाको अच्छी तरह देख रहे हैं ॥ २९ ॥

धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची
धनुश्च तद् गाण्डिवं भीमवेगम्।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य
त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र॥ ३०॥

'सव्यसाची अर्जुन अद्वितीय धनुर्धर हैं। उनके उस गाण्डीव धनुषका वेग भी बड़ा भयानक है और अब तो अर्जुनको वे दिव्यास्त्र भी प्राप्त हो गये हैं। इस समय इन तीनोंके सम्मिलित तेजको यहाँ कौन सह सकता है?'॥३०॥

निशम्य तद् वचनं पार्थिवस्य
दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ।
अबोधयत् कर्णमुपेत्य सर्वं
स चाप्यहृष्टोऽभवदल्पचेताः॥ ३१॥

एकान्तमें कही हुई राजा धृतराष्ट्रकी उपर्युक्त सारी बातें सुनकर सुबलपुत्र शकुनिने दुर्योधन और कर्णके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह सुनायी। इससे मन्दमति दुर्योधन उदास एवं चिन्तित हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें धृतराष्ट्रके खेदयुक्त वचनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनि और कर्णका दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए उसे वनमें पाण्डवोंके पास चलनेके लिये उभाड़ना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तद् वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रके पूर्वोक्त वचन सुनकर उस समय कर्णसहित शकुनिने अवसर देखकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

प्रवाज्य पाण्डवान् वीरान् स्वेन वीर्येण भारत।
भुङ्क्ष्वेमां पृथ्वीमेको दिवि शम्बरहा यथा॥ २॥

'भरतनन्दन ! तुमने अपने पराक्रमसे पाण्डववीरोंको देशनिकाला देकर वनवासी बना दिया है। अब तुम स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति अकेले ही इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ २ ॥

(तवाद्य पृथिवी राजन्नखिला सागराम्बरा ।
सपर्वतवनारामा सह स्थावरजङ्गमा ॥)

'राजन् ! पर्वत, वन, उद्यान एवं स्थावर-जङ्गमोंसहित यह सारी समुद्रपर्यन्त पृथ्वी आज तुम्हारे अधिकारमें है ॥

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके सभी राजाओंको तुम्हारे लिये करदाता बना दिया गया है ॥ ३ ॥

या हि सा दीप्यमानेव पाण्डवानभजत् पुरा ।
साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह॥ ४ ॥

'राजन् ! जो दीप्तिमती श्री पहले पाण्डवोंकी सेवा करती थी, वही आज भाइयोंसहित तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है ॥

इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे ।
अपश्याम श्रियं राजन् दृश्यते सा तवाद्य वै ॥ ५ ॥

'महाराज ! इन्द्रप्रस्थमें जानेपर युधिष्ठिरके यहाँ हम लोग जिस राजलक्ष्मीको प्रकाशित होते देखते थे, वही आज तुम्हारे यहाँ उद्भासित होती दिखायी देती है ॥ ५ ॥

शात्रवस्तव राजेन्द्र न चिरं शोककर्शिताः ।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राजंस्तस्मात् युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥
त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते ।

'राजेन्द्र ! तुम्हारे शत्रु शीघ्र ही शोकसे दीन-दुर्बल हो गये हैं। महाबाहो ! तुमने राजा युधिष्ठिरसे इस लक्ष्मीको अपने बुद्धिबलसे छीन लिया है। अतः अब तुम्हारे यहाँ यह प्रकाशित होती-सी दिखायी दे रही है ॥ ६½ ॥

तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः ।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाराज ! इसी प्रकार सब राजा अपनेको किंकर बताते हुए आपकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ॥ ७½ ॥

तवेयं पृथिवी राजन् निखिला सागराम्बरा ॥ ८ ॥
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा ।
नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस समय यह सारी समुद्रवसना पृथ्वीदेवी पर्वत, वन, ग्राम, नगर तथा खानोंके साथ तुम्हारे अधिकार-में आ गयी है। यह नाना प्रकारके प्रदेशोंसे युक्त तथा पर्वतोंसे सुशोभित है ॥ ८-९ ॥

(नानाध्वजपताकाङ्का स्फीतराष्ट्रा महाबला)

'नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे चिह्नित इस भूतल-पर कितने ही समृद्धिशाली राष्ट्र हैं और वहाँ बहुत-सी विशाल सेनाएँ संगठित हैं ॥

वन्द्यमानो द्विजै राजन् पूज्यमानश्च राजभिः ।
पौरुषाद् दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम अपने पुरुषार्थसे द्विजोंद्वारा सम्मानित तथा राजाओंद्वारा पूजित होकर स्वर्ग एवं देवताओंमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति इस भूतलपर प्रकाशित हो रहे हो ॥

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः ।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन् भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥

'महाराज ! जिस प्रकार रुद्रोंसे यमराज, मरुद्गणोंसे इन्द्र तथा नक्षत्रोंसे उनके स्वामी चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार कौरवोंसे घिरे हुए तुम शोभा पा रहे हो ॥ ११ ॥

यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः ।
पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः॥१२॥

'जिन्होंने तुम्हारी आज्ञाका आदर नहीं किया था और जो तुम्हारे शासनमें नहीं थे, उन पाण्डवोंकी दशा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे राजलक्ष्मीसे वञ्चित हो वनमें निवास करते हैं ॥ १२ ॥

श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति ।
वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥

'महाराज ! सुननेमें आया है कि पाण्डवलोग द्वैतवन-में सरोवरके तटपर वनवासी ब्राह्मणोंके साथ रहते हैं ॥१३॥

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः।
तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १४ ॥

'महाराज! तुम उत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सुशोभित होकर वहाँ चलो और जैसे सूर्य अपने तेजसे जगत्‌को संतप्त करते हैं, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंको संताप दो ॥ १४ ॥

स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः।
असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान् नृप ॥ १५ ॥

'इस समय तुम राजाके पदपर प्रतिष्ठित हो और पाण्डव राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। तुम श्रीसम्पन्न हो और वे श्रीहीन हैं। तुम समृद्धिशाली हो और वे निर्धन हो गये हैं। नरेश्वर! तुम इसी दशामें चलकर पाण्डवोंको देखो ॥ १५ ॥

महाभिजनसम्पन्नं भद्रे महति संस्थितम्।
पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तां ययातिमिव नाहुषम् ॥ १६ ॥

'पाण्डव तुम्हें नहुषनन्दन ययातिकी भाँति महान् वंशमें उत्पन्न तथा परम मङ्गलमयी स्थितिमें प्रतिष्ठित देखें ॥१६॥

यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशाम्पते।
पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥

'प्रजापालक नरेश! पुरुषमें प्रकाशित होनेवाली जिस लक्ष्मीको उसके सुहृद् और शत्रु दोनों देखते हैं, वही सबल होती है ॥ १७ ॥

समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥

'जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य भूतलपर स्थित हुई सभी वस्तुओंको नीची और छोटी देखता है, उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं सुखमें रहकर शत्रुओंको संकटमें पड़ा हुआ देखता है, उसके लिये इससे बढ़कर सुखकी बात और क्या होगी? ॥ १८ ॥

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥ १९ ॥
किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम्।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ! मनुष्यको अपने शत्रुओंकी दुर्दशा देखनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह धन, पुत्र तथा राज्य मिलनेसे भी नहीं होती। हमलोगोंमेंसे जो भी स्वयं सिद्धमनोरथ होकर आश्रममें अर्जुनको वल्कल और मृगछाला पहने देखेगा, उसे कौन-सा सुख नहीं मिल जायगा? ॥ १९-२० ॥

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम्।
पश्यन्तु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥ २१ ॥

'तुम्हारी रानियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर चलें और वनमें वल्कल एवं मृगचर्म लपेटकर दुःखमें डूबी हुई द्रुपदकुमारी कृष्णाको देखें तथा द्रौपदी भी इन्हें देखकर बार-बार संताप करे ॥ २१ ॥

विनिन्दतां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम्।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ॥ २२ ॥

'वह धनसे वञ्चित हुए अपने आत्मा तथा जीवनकी निन्दा करे—उन्हें बार-बार धिक्कारे। सभामें उसके साथ जो बर्ताव किया गया था, उससे उसके हृदयमें इतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना कि तुम्हारी रानियोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित देखकर हो सकता है' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह।
तूष्णीम्बभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनि और कर्ण दोनों राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर (अपनी बात पूरी होनेपर) चुप हो गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्ण और शकुनिके वचनविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $24\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा कर्ण और शकुनिकी मन्त्रणा स्वीकार करना तथा कर्ण आदिका घोषयात्राको निमित्त बनाकर द्वैतवनमें जानेके लिये धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेने जाना

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर राजा दुर्योधनको पहले तो बड़ी प्रसन्नता हुई; फिर वह दीन होकर इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम्।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥ २ ॥

'कर्ण ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मेरे मनमें भी है। परंतु जहाँ पाण्डव रहते हैं, वहाँ जानेके लिये मैं पिताजीकी आज्ञा नहीं पा सकूँगा ॥ २ ॥

परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र उन वीर पाण्डवोंके लिये सदा विलाप करते रहते हैं। वे तपःशक्तिके संयोगसे पाण्डवोंको हमसे अधिक बलशाली भी मानते हैं ॥ ३ ॥

अथवाप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम्।
एवमप्यायतिं रक्षन् नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥

'अथवा यदि उन्हें इस बातका पता लग जाय कि हमलोग वहाँ जाकर क्या करना चाहते हैं, तब वे भावी संकटसे हमारी रक्षाके लिये ही हमें वहाँ जानेकी अनुमति नहीं देंगे ॥ ४ ॥

न हि द्वैतवने किंचिद् विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम्।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥

'महातेजस्वी कर्ण ! (पिताजीको यह समझते देर नहीं लगेगी कि) वनमें रहनेवाले पाण्डवोंको उखाड़ फेंकनेके अतिरिक्त हमलोगोंके द्वैतवनमें जानेका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ५ ॥

जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते।
अब्रवीद् यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ॥ ६ ॥

'जूएका अवसर उपस्थित होनेपर विदुरजीने मुझसे, तुमसे तथा (मामा) शकुनिसे जैसी बातें कही थीं, उन्हें तो तुम जानते ही हो ॥ ६ ॥

तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत् परिदेवितम्।
विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

'उन सब बातोंपर तथा और भी पाण्डवोंके लिये जो विलाप किया गया है, उसपर विचार करके मैं किसी निश्चय-पर नहीं पहुँच पाता कि द्वैतवनमें चलूँ या न चलूँ ॥ ७ ॥

ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥

'यदि मैं भीमसेन तथा अर्जुनको द्रौपदीके साथ वनमें क्लेश उठाते देख सकूँ, तो मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होगी ॥८॥

न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमावाप्य वसुधामिमाम्।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥

'पाण्डवोंको वल्कल वस्त्र पहने और मृगचर्म ओढ़े देखकर मुझे जितनी खुशी होगी, उतनी इस समूची पृथ्वीका राज्य पाकर भी नहीं होगी ॥ ९ ॥

किं नु स्यादधिकं तस्माद् यदहं द्रुपदात्मजाम्।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥

'कर्ण ! मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको वनमें गेरुए कपड़े पहने देखूँ, इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है ? ॥ १० ॥

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥

'यदि धर्मराज युधिष्ठिर तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन मुझे परमोत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देख लें, तो मेरा जीवन सफल हो जाय ॥ ११ ॥

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद् वनम्।
यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥ १२ ॥

'परंतु मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे हमलोग द्वैतवनमें जा सकें अथवा महाराज मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दे दें ॥ १२ ॥

स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद् वनम् ॥ १३ ॥

'अतः तुम मामा शकुनि तथा भाई दुःशासनके साथ सलाह करके कोई अच्छा-सा उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे हम-लोग द्वैतवनमें चल सकें ॥ १३ ॥

अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥ १४ ॥

'मैं भी आज ही जाने या न जानेके विषयमें कोई निश्चय करके कल सबेरा होते ही महाराजके पास जाऊँगा ॥

मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ॥ १५ ॥

'जब मैं वहाँ बैठ जाऊँ और कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी भी उपस्थित रहें, उस समय जो उपाय दिखायी दे, उसे तुम और शकुनि—दोनों बतलाना ॥ १५ ॥

वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥

'पितामह भीष्मजीकी तथा महाराजकी वहाँ जानेके विषयमें क्या सम्मति है; यह सुन लेनेपर पितामहको अनुनय-विनयसे राजी करके (उनकी आज्ञा लेकर ही) द्वैतवनमें चलनेका निश्चय करूँगा' ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान् प्रति।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥ १७ ॥

'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यह कहकर सब अपने-अपने विश्रामगृहमें चले गये। जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब कर्ण राजा दुर्योधनके पास गया ॥ १७ ॥

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत्।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥

वहाँ कर्णने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'जनेश्वर ! मुझे जो उपाय सूझा है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ आपके पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है, अतः घोषयात्रा (उन स्थानोंको देखने) के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे ॥ १९ ॥

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते ।
एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥

'राजन् ! अपनी गौओंको देखनेके लिये यात्रा करना सदा उचित ही है; ऐसा बहाना लेनेपर पिताजी तुम्हें अवश्य वहाँ जानेकी आज्ञा दे सकते हैं' ॥ २० ॥

तथा कथयमानौ तौ घोषयात्राविनिश्चयम् ।
गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥

घोषयात्राका निश्चय करनेके लिये इस प्रकारकी बातें करते हुए उन दोनों सुहृदोंसे गान्धारराज शकुनिने हँसते हुए-से कहा—॥ २१ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।
अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥

'द्वैतवनमें जानेका यह उपाय मुझे सर्वथा निर्दोष दिखायी दिया है । इसके लिये राजा धृतराष्ट्र हमें अवश्य आज्ञा दे देंगे और वहाँ जाकर हमें क्या-क्या करना चाहिये—इसके विषयमें कुछ समझायेंगे भी ॥ २२ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ तुम्हारे पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है; अतः घोषयात्राके बहाने हम वहाँ निःसंदेह चल सकेंगे' ॥ २३ ॥

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वे सबके सब अपनी योजनाको सफल होती देख हँसने और एक-दूसरेके हाथपर प्रसन्नतासे ताली देने लगे । फिर यही निश्चय करके वे तीनों कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे मिले ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि घोषयात्रामन्त्रणे अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें घोषयात्राके सम्बन्धमें परामर्शविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण आदिके द्वारा द्वैतवनमें जानेका प्रस्ताव, राजा धृतराष्ट्रकी अस्वीकृति, शकुनिका समझाना, धृतराष्ट्रका अनुमति देना तथा दुर्योधनका प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन जनमेजय ! तदनन्तर वे सब लोग राजा धृतराष्ट्रसे मिले । उन्होंने राजाकी कुशल पूछी तथा राजाने उनकी ॥ १ ॥

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम वल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥

उन लोगोंने समङ्ग नामक एक ग्वालेको पहलेसे ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर लिया था । उसने राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें निवेदन किया कि 'महाराज ! आजकल आपकी गौएँ समीप ही आयी हुई हैं' ॥ २ ॥

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥

जनमेजय ! इसके बाद कर्ण और शकुनिने राजाओंमें श्रेष्ठ जननायक धृतराष्ट्रसे कहा—॥ ३ ॥

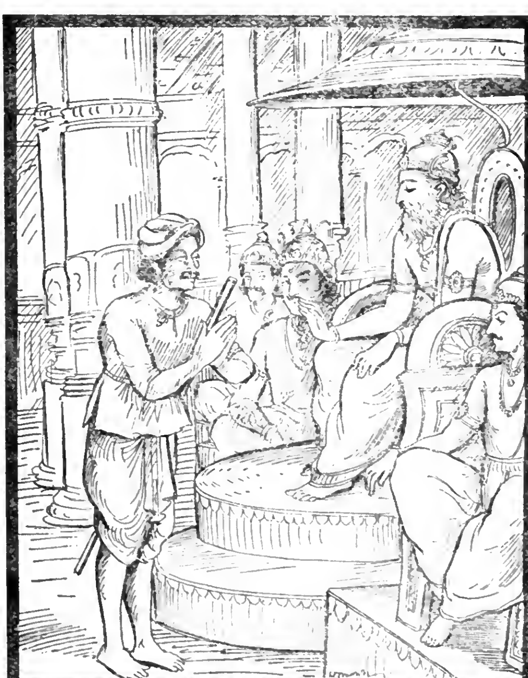

रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥ ४ ॥

'कुरुराज ! इस समय हमारी गौओंके स्थान रमणीय प्रदेशोंमें हैं। यह समय गौओं और बछड़ोंकी गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नामका ब्यौरा लिखनेके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है ॥ ४ ॥

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

'राजन् ! इस समय आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हिंसक पशुओंके शिकार करनेका भी उपयुक्त अवसर है। अतः आप इन्हें द्वैतवनमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम्।
विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो वल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेका प्रस्ताव सुन्दर है। गौओंकी देख-भालका काम भी अच्छा ही है; परंतु ग्वालोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये, यह नीतिका वचन है, जिसका मुझे स्मरण हो आया है ॥ ६ ॥

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम्।
अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥

मैंने सुना है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव भी इन दिनों वहीं कहीं आसपास ठहरे हुए हैं; अतः तुमलोगोंको मैं स्वयं वहाँ जानेकी आज्ञा नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥

राधानन्दन ! पाण्डव छलपूर्वक हराये गये हैं। महान् वनमें रहकर उन्हें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा है। वे निरन्तर तपस्या करते रहे हैं और अब विशेष शक्तिसम्पन्न हो गये हैं। महारथी तो वे हैं ही ॥ ८ ॥

धर्मराजो न संक्रुद्ध्येद् भीमसेनस्त्वमर्षणः।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥

माना कि धर्मराज युधिष्ठिर क्रोध नहीं करेंगे, परंतु भीमसेन तो सदा ही अमर्षमें भरे रहते हैं और राजा द्रुपदकी पुत्री कृष्णा भी साक्षात् अग्निकी ही मूर्ति है ॥ ९ ॥

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥

तुमलोग तो अहंकार और मोहमें चूर रहते ही हो; अतः उनका अपराध अवश्य करोगे। उस दशामें वे तुम्हें भस्म किये बिना नहीं छोड़ेंगे। क्योंकि उनमें तपःशक्ति विद्यमान है ॥ १० ॥

अथवा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥

अथवा, उन वीरोंके पास अस्त्र-शस्त्रोंकी भी कमी नहीं है। तुम्हारे प्रति उनका क्रोध सदा ही बना रहता है। वे तलवार बाँधे सदा एक साथ रहते हैं; अतः वे अपने शस्त्रोंके तेजसे भी तुम्हें दग्ध कर सकते हैं ॥ ११ ॥

अथ यूयं बहुत्वात् तानभियात कथंचन।
अनार्यं परमं तत् स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥

यदि संख्यासे अधिक होनेके कारण तुमने ही किसी प्रकार उनपर चढ़ाई कर दी, तो यह भी तुम्हारी बड़ी भारी नीचता ही समझी जायगी। मेरी समझमें तो तुमलोगोंका पाण्डवोंपर विजय पाना असम्भव ही है ॥ १२ ॥

उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनंजयः।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततःप्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥

महाबाहु धनंजय इन्द्रलोकमें रह चुके हैं और वहाँसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा लेकर वनमें लौटे हैं ॥ १३ ॥

अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद् वो महारथः ॥ १४ ॥

पहले जब अर्जुनको दिव्यास्त्र नहीं प्राप्त हुए, तभी उन्होंने सारी पृथ्वीको जीत लिया था। अब तो महारथी अर्जुन दिव्यास्त्रोंके विद्वान् हैं, ऐसी दशामें वे तुम्हें मार डालें, यह कौन बड़ी बात है ? ॥ १४ ॥

अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ।
उद्विग्नवासो विश्रम्भाद् दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥

अथवा मेरी बात सुनकर तुमलोग वहाँ यदि अपनेको काबूमें रखते हुए सावधानीके साथ रह सको, तो भी यह विश्वास करके कि ये लोग सत्यवादी होनेके कारण हमें कष्ट नहीं देंगे, वनवाससे उद्विग्न हुए पाण्डवोंके बीचमें निवास करना तुम्हारे लिये दुःखदायी ही होगा ॥ १५ ॥

अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम्।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुमलोगोंके कुछ सैनिक युधिष्ठिरका अपमान कर बैठें और तुम्हारे अनजानमें किया गया यह अपराध तुमलोगोंके लिये हानिकारक हो जाय ॥ १६ ॥

तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मरणायाप्तकारिणः।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥

अतः भरतनन्दन ! दूसरे विश्वसनीय पुरुष गौओंकी गणना करनेके लिये वहाँ चले जायँगे। स्वयं तुम्हारा वहाँ जाना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १७ ॥

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥

शकुनि बोला—भारत ! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्होंने भरी सभामें यह प्रतिज्ञा की है कि 'हमें बारह वर्षोंतक वनमें रहना है' ॥ १८ ॥

अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥

अन्य पाण्डव भी धर्मपर ही चलनेवाले हैं; अतः वे सबके सब युधिष्ठिरका ही अनुसरण करते हैं। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर हमलोगोंपर कदापि क्रोध नहीं करेंगे ॥ १९ ॥

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम्।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ॥ २० ॥

हमारी विशेष इच्छा केवल हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेकी है। हमलोग वहाँ स्मरणके लिये केवल गौओंकी गणना करना चाहते हैं। पाण्डवोंसे मिलनेकी हमारी इच्छा बिल्कुल नहीं है ॥ २० ॥

न चानार्यसमाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥

हमारी ओरसे वहाँ कोई भी नीचतापूर्ण व्यवहार नहीं होगा। जहाँ पाण्डवोंका निवास होगा, उधर हमलोग जायँगे ही नहीं ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने इच्छा न होते हुए भी मन्त्रियोंसहित दुर्योधनको वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी ॥ २२ ॥

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर गान्धारी-पुत्र भरतश्रेष्ठ दुर्योधन कर्ण और विशाल सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला ॥ २३ ॥

दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥

दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि, अन्यान्य भाइयों तथा सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुर्योधनने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २४ ॥

तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः।
पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥

द्वैतवन नामक सरोवर तथा वनको देखनेके लिये यात्रा करनेवाले महाबाहु दुर्योधनके पीछे समस्त पुरवासी भी अपनी स्त्रियोंको साथ ले गये ॥ २५ ॥

अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥

दुर्योधनके साथ आठ हजार रथ, तीस हजार हाथी, कई हजार पैदल और नौ हजार घोड़े गये ॥ २६ ॥

शकटापणवेशाश्च वणिजो वन्दिनस्तथा।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

बोझ ढोनेके लिये सैकड़ों छकड़े, दुकानें तथा वेष-भूषाकी सामग्रियाँ भी साथ चलीं। वणिक्, बंदीजन तथा आखेटप्रिय मनुष्य सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें साथ गये ॥ २७ ॥

ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत् स्वनः।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥

राजन् ! राजा दुर्योधनके प्रस्थानकालमें बड़े जोरका कोलाहल हुआ, मानो वर्षाकालमें प्रचण्ड वायुका भयंकर शब्द सुनायी दे रहा हो ॥ २८ ॥

गव्यूतिमात्रे न्यवसद् राजा दुर्योधनस्तदा।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥

नगरसे दो कोस दूर जाकर राजा दुर्योधनने पड़ाव डाल दिया। फिर वहाँसे समस्त वाहनोंके साथ द्वैतवन एवं सरोवरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थाने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतवनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रस्थानविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनासहित वनमें जाकर गौओंकी देखभाल करना और उसके सैनिक एवं गन्धर्वोंमें परस्पर कटु संवाद

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन्।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन जहाँ-तहाँ वनमें पड़ाव डालता हुआ उन घोषों (गोशालाओं) के पास पहुँच गया और वहाँ उसने अपनी छावनी डाली ॥ १ ॥

रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे।

देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान् पराः ॥ २ ॥

उसके साथ गये हुए लोगोंने भी उस सर्वगुणसम्पन्न, रमणीय, सुपरिचित, सजल तथा सघन वृक्षावलियोंसे युक्त प्रदेशमें अपने डेरे डाल दिये ॥ २ ॥

तथैव तत्समीपस्थान् पृथगावसथान् बहून्।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातृणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार दुर्योधनके डेरेके पास ही कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन आदि सब भाइयोंके लिये पृथक्-पृथक् बहुत-से खेमे पड़ गये ॥ ३ ॥

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिव ॥ ४ ॥

(रहनेकी व्यवस्था ठीक हो जानेपर) राजा दुर्योधनने अपनी सैकड़ों एवं हजारों गौओंका निरीक्षण करना आरम्भ किया। उन सबपर संख्या और निशानी डलवा दी ॥ ४ ॥

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥

फिर बछड़ोंपर भी संख्या और निशानी डलवायी और उनमेंसे जो नाथने योग्य थे, उन सबकी गणना कराकर उनपर पहचान डाल दी। जिन गौओंके बछड़े बहुत छोटे थे, उनकी भी अलग गणना करवायी ॥ ५ ॥

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान्।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत् कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

इस प्रकार जाँच-पड़तालका काम पूरा करके कुरुनन्दन दुर्योधनने तीन सालके बछड़ोंकी पृथक् गणना करवायी और स्मरणके लिये सब कुछ लिखकर वह बड़ी प्रसन्नताके साथ ग्वालोंसे घिरकर उस वनमें विहार करने लगे ॥ ६ ॥

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन् यथामराः ॥ ७ ॥

वे समस्त पुरवासी और सहस्रोंकी संख्यामें आये हुए सैनिक उस वनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार देवताओंके समान क्रीड़ा करने लगे ॥ ७ ॥

ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने।
धार्तराष्ट्रमुपातिष्ठन् कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

तदनन्तर नृत्य और वादनकी कलामें कुशल कुछ गवैये गोप तथा गहने-कपड़ोंसे सजी हुई उनकी कन्याएँ दुर्योधनके समीप आयीं ॥ ८ ॥

स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥

अपनी स्त्रियोंके साथ राजा दुर्योधन उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत-सा धन दिया तथा यथायोग्य नाना प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ ९ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान्।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन् ॥ १० ॥

तदनन्तर वे सब लोग तरक्षुओं (जरखों), जंगली भैंसों, गवयों, रीछों और शूकरों एवं अन्य जंगली हिंसक पशुओंका सब ओरसे शिकार करने लगे ॥ १० ॥

स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून् वने।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने वनके रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से हाथियोंको अपने बाणोंसे विदीर्ण करके अनेकानेक हिंस्र पशुओंको पकड़ लिया ॥ ११ ॥

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत।
पश्यन् स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! दुर्योधन अपने साथियोंसहित दूध आदि गोरसोंका उपयोग करता और भाँति-भाँतिके भोग भोगता हुआ वहाँके रमणीय वनों और उपवनोंकी शोभा देखने लगा। उनमें मतवाले भ्रमर गुंजार करते थे और मयूरोंकी मधुर वाणी सब ओर गूँज रही थी। इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह परम पवित्र द्वैतवन-नामक सरोवरके समीप जा पहुँचा ॥ १२-१३ ॥

मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकण्ठरवाकुलम्।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुन्नागबकुलैर्युतम् ॥ १४ ॥

वहाँ मधुमत्त भ्रमर कमलपुष्पोंका रस ले रहे थे। मयूरोंकी मधुर वाणीसे वह सारा प्रदेश व्याप्त हो रहा था। सप्तच्छद (छितवन) के वृक्षोंसे वह सरोवर आच्छादित-सा जान पड़ता था। उसके तटोंपर मौलसिरी और नागकेसरके वृक्ष शोभा पा रहे थे ॥ १४ ॥

ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत्।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
(विद्वद्भिः सहितो धीमान् ब्राह्मणैर्वनवासिभिः।)
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव।
द्रौपद्या सहितो धीमान् धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥

उसी सरोवरके तटपर वज्रधारी इन्द्रके समान उत्तम ऐश्वर्यसम्पन्न बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपनी धर्मपत्नी महारानी द्रौपदीके साथ साद्यस्क (एक दिनमें

पूर्ण होनेवाले) राजर्षियज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! उस यज्ञमें उनके साथ बहुत-से वनवासी विद्वान् ब्राह्मण भी थे। राजा वनमें सुलभ होनेवाली सामग्री-द्वारा दिव्य विधिसे यज्ञ कर रहे थे। वे उसी सरोवरके आस-पास कुटी बनाकर रहते थे ॥ १५-१७ ॥

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर दुर्योधनने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी—'तुमलोग बहुत-से क्रीडामण्डप तैयार करो'॥१८॥

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥

आज्ञाकारी सेवक दुर्योधनसे 'तथास्तु' कहकर क्रीडाभवन बनानेकी इच्छासे द्वैतवनके सरोवरके निकट गये ॥ १९ ॥

प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन्।
सेनाग्र्यं धार्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥

दुर्योधनका सेनानायक द्वैतवन सरोवरके अत्यन्त निकटतक पहुँच गया था, उस वनके द्वारपर पैर रखते ही उसको गन्धर्वोंने रोक दिया ॥ २० ॥

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशाम्पते।
कुबेरभवनाद् राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ गन्धर्वराज चित्रसेन पहलेसे ही अपने सेवकगणोंके साथ कुबेरभवनसे आये हुए थे ॥ २१ ॥

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथात्मजैः।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत् संवृतं सरः ॥ २२ ॥

वे उन दिनों अप्सराओं तथा देवकुमारोंके साथ विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते थे। उन्होंने स्वयं ही क्रीड़ाविहारके लिये उस सरोवरको सब ओरसे घेर लिया था ॥ २२ ॥

तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान्।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २४ ॥

राजन् ! उस सरोवरको गन्धर्वराजने घेर रक्खा है, यह देखकर वे राजसेवक जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ लौट गये। जनमेजय ! अपने सेवकोंका कथन सुनकर राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले सैनिकोंको यह आदेश देकर भेजा कि 'गन्धर्वोंको वहाँसे मार भगाओ' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ॥ २५ ॥

राजाका यह आदेश सुनकर उसकी सेनाके नायक द्वैतवन सरोवरके समीप जाकर गन्धर्वोंसे इस प्रकार बोले-॥ २५ ॥

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ॥ २६ ॥

'गन्धर्वो ! महाराज धृतराष्ट्रके बलवान् पुत्र राजा दुर्योधन यहाँ विहार करनेकी इच्छासे पधार रहे हैं। तुमलोग उनके लिये यह स्थान खाली करके दूर चले जाओ' ॥ २६ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशाम्पते।
प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर गन्धर्व जोर-जोरसे हँसने लगे और उन राजसेवकोंको उत्तर देते हुए उनसे इस प्रकार कठोर वाणीमें बोले-॥ २७ ॥

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥

'तुम्हारा राजा दुर्योधन मूर्ख है। उसे तनिक भी चेत नहीं है; क्योंकि वह हम देवलोकवासी गन्धर्वको भी बनियों-के समान समझकर इस प्रकार आज्ञा दे रहा है ॥ २८ ॥

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः।
ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचेतसः ॥ २९ ॥

तुमलोगोंकी भी बुद्धि मारी गयी है। इसमें संदेह नहीं कि तुम सबके सब मरना चाहते हो। तभी तो उस दुर्योधन-के कहनेसे तुम इस प्रकार हमसे विचारहीन होकर बातें कर रहे हो ॥ २९ ॥

गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥

'या तो तुम सब लोग तुरंत वहीं लौट जाओ, जहाँ तुम्हारा राजा दुर्योधन रहता है। या यदि ऐसा नहीं करना है, तो अभी धर्मराजके नगर (यमलोक) की राह लो' ॥ ३० ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सम्प्राद्रवन् यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर राजाके सेनानायक योद्धा वहीं भाग गये, जहाँ धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन स्वयं विराजमान था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौरवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध और कर्णकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर वे सब लोग एक साथ कुरुराज दुर्योधनके पास गये और गन्धर्वोंने राजासे कहनेके लिये जो-जो बातें कही थीं, उन्हें कह सुनाया ॥ १ ॥

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥

भारत ! गन्धर्वोंद्वारा अपनी सेनाके रोक दिये जानेपर प्रतापी राजा दुर्योधनने अमर्षमें भरकर समस्त सैनिकोंसे कहा—॥ २ ॥

शासतैनानधर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥

'अरे ! यदि समस्त देवताओंके साथ इन्द्र भी यहाँ आकर क्रीडा करते हों, तो वे भी मेरा अप्रिय करनेवाले हैं। तुमलोग इन सब पापात्माओंको दण्ड दो' ॥ ३ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर महाबली कौरव और उनके सहस्रों योद्धा सबके सब युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये ॥ ४ ॥

ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद् वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ॥ ५ ॥

तदनन्तर वे अपने महान् सिंहनादसे दसों दिशाओंको गुँजाते हुए उन समस्त गन्धर्वोंको रौंदकर बलपूर्वक द्वैतवनमें घुस गये ॥ ५ ॥

ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ॥ ६ ॥
ताननादृत्य गन्धर्वास्तद् वनं विविशुर्महत् ।
यदा वाचा न तिष्ठन्ति धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७ ॥
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ।

राजन् ! उस समय दूसरे-दूसरे गन्धर्वोंने शान्तिपूर्ण वचनोंद्वारा ही कौरव सैनिकोंको रोका। रोकनेपर भी उन गन्धर्वोंकी अवहेलना करके वे समस्त सैनिक उस महान् वनके भीतर प्रविष्ट हो गये। जब राजा दुर्योधनसहित समस्त कौरव वाणीद्वारा मना करनेपर न रुके, तब आकाशमें विचरनेवाले उन सभी गन्धर्वोंने राजा चित्रसेनसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ६-७½ ॥

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति ॥ ८ ॥
अनार्याञ्छासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।

यह सुनकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा अमर्ष हुआ। उन्होंने कौरवोंको लक्ष्य करके समस्त गन्धर्वोंको आज्ञा दी, 'अरे ! इन दुष्टोंका दमन करो' ॥ ८½ ॥

अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ॥ ९ ॥
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ।

भारत ! चित्रसेनकी आज्ञा पाते ही सब गन्धर्व अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौड़े ॥ ९½ ॥

तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रान् गन्धर्वानुद्यतायुधान् ॥ १० ॥
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।

गन्धर्वोंको अस्त्र-शस्त्र लिये तीव्र वेगसे अपनी ओर आते देख वे सभी कौरव सैनिक दुर्योधनके देखते-देखते चारों ओर भागने लगे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ॥ ११ ॥
राधेयस्तु तदा वीरो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ।

धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको युद्धसे विमुख हो भागते देखकर भी राधानन्दन वीर कर्णने वहाँ पीठ नहीं दिखायी ॥ ११½ ॥

आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ॥ १२ ॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ।

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख कर्णने भारी बाणवर्षा करके उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १२½ ॥

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथाऽऽयसैः ॥ १३ ॥
गन्धर्वाञ्छतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दनः ।

सूतपुत्र कर्णने अपने हाथोंकी फुर्तीके कारण लोहेके क्षुरप्र, विशिख, भल्ल और वत्सदन्त नामक बाणोंकी वर्षा करके सैकड़ों गन्धर्वोंको घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः ॥ १४ ॥
क्षणेन व्यधमत् सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् ।

गन्धर्वोंके मस्तक काटकर गिराते हुए महारथी कर्णने चित्रसेनकी सारी सेनाको क्षणभरमें छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १४½ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ॥ १५ ॥
भूय एवाभ्यवर्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।
गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ॥ १६ ॥

आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः।

परम बुद्धिमान् सूतपुत्र कर्णके द्वारा ज्यों-ज्यों गन्धर्वोंपर मार पड़ने लगी, त्यों-ही-त्यों वे सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें वहाँ आ-आकर एकत्र होने लगे। इस प्रकार चित्रसेनके अत्यन्त वेगशाली सैनिकोंके आनेसे क्षणभरमें वहाँकी सारी पृथ्वी गन्धर्वमयी हो गयी ॥ १५-१६½ ॥

अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः।
न्यहनंस्तत् तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ॥ १८ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण तथा अन्य जो धृतराष्ट्रपुत्र वहाँ आये थे, उन सबने गरुडके समान भयंकर शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंकी उस सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १७-१८ ॥

भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः।
महता रथसङ्घेन रथचारेण चाप्युत ॥ १९ ॥
वैकर्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान् समवाकिरन्।

उन्होंने कर्णको आगे करके पुनः बड़े वेगसे गन्धर्वोंका सामना किया। उनके साथ रथोंका विशाल समूह था। वे रथोंको विचित्र गतियोंसे चलाते हुए कर्णकी रक्षा करने और गन्धर्वोंपर बाण बरसाने लगे ॥ १९½ ॥

ततः संन्यपतन् सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ॥ २० ॥
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
ततस्ते मृदवोऽभूवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ॥ २१ ॥
उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीडितान्।

तत्पश्चात् सारे गन्धर्व संगठित हो कौरवोंके साथ भिड़ गये। उस समय उनमें घमासान युद्ध होने लगा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। तदनन्तर कौरवोंके बाणोंसे पीड़ित हो गन्धर्व कुछ ढीले पड़ने लगे और उन्हें कष्ट पाते देख कौरव-योद्धा जोर-जोरसे गरजने लगे ॥ २०-२१½ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ॥ २२ ॥
उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः।

गन्धर्वोंको भयभीत देखकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वे शत्रुओंके वधका दृढ़ संकल्प लेकर अपने आसनसे उछल पड़े ॥ २२½ ॥

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित्।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २३ ॥

वे युद्धकी विचित्र पद्धतियोंके ज्ञाता थे। उन्होंने मायामय अस्त्रका आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया। चित्रसेनकी उस मायासे समस्त कौरवोंपर मोह छा गया ॥ २३ ॥

एकैको हि तदा योधो धार्तराष्ट्रस्य भारत।
पर्यवर्तत गन्धर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥

भारत! उस समय दुर्योधनका एक-एक सैनिक दस-दस गन्धर्वोंके साथ लोहा ले रहा था ॥ २४ ॥

ततः सम्पीड्यमानास्ते बलेन महता तदा।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजञ्जिगीषवः ॥ २५ ॥

राजन्! तदनन्तर गन्धर्वोंकी विशाल सेनासे पीड़ित हो वे सभी योद्धा, जो पहले जीतनेका हौसला रखते थे, भयभीत हो युद्धसे भाग चले ॥ २५ ॥

भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥

जनमेजय! जब कौरवोंके सभी सैनिक युद्ध छोड़कर भागने लगे, उस समय भी सूर्यपुत्र कर्ण पर्वतकी भाँति अविचलभावसे उस युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ २६ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये उस समराङ्गणमें यद्यपि बहुत घायल हो गये थे, तथापि गन्धर्वोंसे युद्ध करते रहे ॥ २७ ॥

सर्वे एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ॥ २८ ॥

इसपर सभी गन्धर्व एक साथ संगठित हो कर्णको मार डालनेकी इच्छासे सौ-सौ तथा हजार-हजारका दल बाँधकर रणभूमिमें कर्णके ऊपर टूट पड़े ॥ २८ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवाकिरन् ॥ २९ ॥

उन महाबली वीरोंने सूतपुत्र कर्णके वधकी इच्छा रखकर उसके ऊपर चारों ओरसे तलवार, पट्टिश, शूल और गदाओंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ २९ ॥

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन्।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥

किन्हींने उसके रथका जुआ काट दिया, दूसरोंने ध्वजा काटकर गिरा दी। कुछ लोगोंने ईषादण्डके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। कुछ गन्धर्वोंने कर्णके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया तथा दूसरोंने सारथिको मार गिराया ॥ ३० ॥

अन्ये छत्रं वरूथं च बन्धुरं च तथापरे।
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम् ॥ ३१ ॥

किसी एकने छत्र, दूसरोंने वरूथ[1] और अन्य सैनिकोंने रथके बन्धन काट डाले। गन्धर्वोंकी संख्या कई हजार थी।

---

१. लोहेकी चद्दर या सीकड़ोंका बना हुआ आवरण वरूथ कहलाता है। पहले यह शत्रुके आघातसे रथको रक्षित रखनेके लिये उसके ऊपर डाला जाता था।

उन्होंने कर्णके रथको तिल-तिल करके काट दिया ॥ ३१ ॥

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत्।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ॥ ३२ ॥

तब सूतपुत्र कर्ण हाथमें तलवार और ढाल लिये अपने रथसे कूद पड़ा और विकर्णके रथपर बैठकर अपने प्राण बचानेके लिये उसके घोड़ोंको जोर-जोरसे हाँकने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णपराजयविषयक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ । २४१ ।

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गन्धर्वोंद्वारा दुर्योधन आदिकी पराजय और उनका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! गन्धर्वोंने जब महारथी कर्णको भगा दिया, तब दुर्योधनके देखते-देखते उसकी सारी सेना भाग चली ॥ १ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान्।
दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे पीठ दिखाकर भागते देखकर भी राजा दुर्योधन स्वयं वहीं डटा रहा । उसने पीठ नहीं दिखायी ॥ २ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम्।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर दुर्योधनने उसपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३ ॥

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम्।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

परंतु गन्धर्वोंने उस बाणवर्षाकी कुछ भी परवाह नहीं की । उन्होंने दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमञ्छरैः ॥ ५ ॥

और उसके युग, ईषादण्ड, वरूथ, ध्वजा, सारथि, घोड़ों, तीन वेणुदण्डवाले छत्र और तल्प (बैठनेके स्थान) को बाणोंद्वारा तिल-तिल करके काट डाला ॥ ५ ॥

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥ ६ ॥

उस समय दुर्योधन रथहीन होकर धरतीपर गिर पड़ा । यह देख महाबाहु चित्रसेन झटपट जाकर उसे जीते-जी ही बंदी बना लिया ॥ ६ ॥

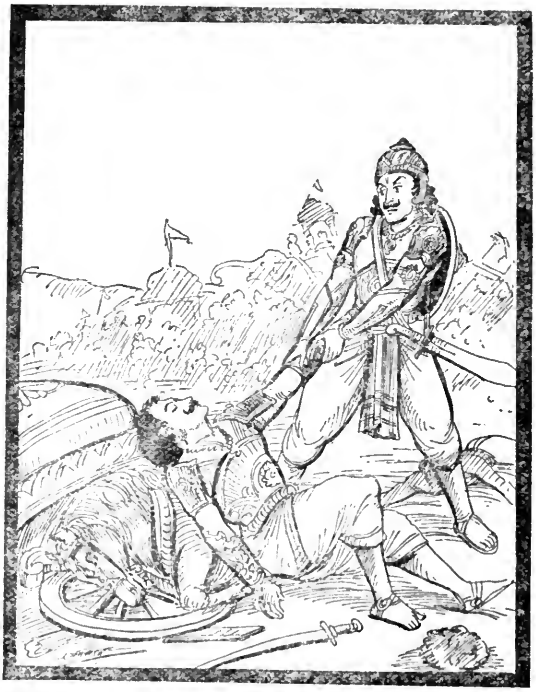

तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! दुर्योधनके कैद हो जानेपर गन्धर्वोंने रथपर बैठे हुए दुःशासनको भी सब ओरसे घेरकर पकड़ लिया ॥७॥

विविंशतिं चित्रसेनमादायान्ये विदुद्रुवुः।
विन्दानुविन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

अन्य कितने ही गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्र चित्रसेन और विविंशतिको बंदी बनाकर ले चले । कुछ अन्य गन्धर्वोंने विन्द और अनुविन्दको तथा राजकुलकी समस्त महिलाओंको भी अपने अधिकारमें ले लिया ॥ ८ ॥

सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुतम्।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥

गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी सेनाको मार भगाया था। वह सेना तथा उसके वे सैनिक, जो पहलेसे ही मैदान

छोड़कर भाग गये थे, सब एक साथ पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ ९ ॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः।
शरणं पाण्डवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥

गन्धर्व जब राजा दुर्योधनको बंदी बनाकर ले जाने लगे, उस समय छकड़े, रसदकी दूकान, वेष-भूषा, सवारी ढोने तथा कंधोंपर जुआ रखकर चलनेमें समर्थ बैल आदि सब उपकरणोंको साथ ले कौरव सैनिक पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ १० ॥

सैनिका ऊचुः

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

सैनिक बोले—कुन्तीकुमारो ! हमारे प्रियदर्शी महाबाहु महाबली धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधनको गन्धर्व (बाँधकर) लिये जाते हैं। आपलोग उनकी रक्षाके लिये दौड़िये। वे दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा कुरुकुलकी सब स्त्रियोंको भी कैद करके लिये जा रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥

राजाको हृदयसे चाहनेवाले दुर्योधनके सब मन्त्री आर्त एवं दीन होकर उपर्युक्त बातें जोर-जोरसे कहते हुए युधिष्ठिरके समीप गये ॥ १३ ॥

तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम्।
वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

दुर्योधनके उन बूढ़े मन्त्रियोंको इस प्रकार दीन एवं दुखी होकर युधिष्ठिरसे सहायताकी भीख माँगते देख भीमसेनने कहा—॥ १४ ॥

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥

'हमें हाथी-घोड़ों आदिके द्वारा बहुत प्रयत्न करके कमर कसकर जो काम करना चाहिये था, उसे गन्धर्वोंने ही पूरा कर दिया ॥ १५ ॥

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा।
दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥ १६ ॥

'ये कौरव कुछ और ही करना चाहते थे; परंतु इन्हें उलटा परिणाम देखना पड़ा। कपटद्यूत खेलनेवाले राजा दुर्योधनका यह दुर्मन्त्रणापूर्ण षड्यन्त्र था, जो सफल न हो सका ॥ १६ ॥

द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम्।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम् ॥ १७ ॥

'हमने सुना है, जो लोग असमर्थ पुरुषोंसे द्वेष करते हैं, उन्हें दूसरे ही लोग नीचा दिखा देते हैं। गन्धर्वोंने आज अलौकिक पराक्रम करके हमारी इस सुनी हुई बातको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १७ ॥

दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि संसारमें कोई ऐसा भी पुरुष है, जो हमलोगोंके प्रिय एवं हित-साधनमें लगा हुआ है। उसने हमलोगोंका भार उतार दिया और हमें बैठे-ही-बैठे सुख पहुँचाया है ॥ १८ ॥

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान्।
समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'हम सर्दी, गर्मी और हवाका कष्ट सहते हैं, तपस्यासे दुर्बल हो गये हैं और विषम परिस्थितिमें पड़े हैं, तो भी वह दुर्बुद्धि दुर्योधन, जो इस समय राजगद्दीपर बैठकर मौज उड़ा रहा है, हमें इस दुर्दशामें देखनेकी इच्छा रखता है। १९।

अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः।
ये शीलमनुवर्तन्ते ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

'उस पापाचारी दुरात्मा कौरवके स्वभावका जो लोग अनुसरण करते हैं, वे भी अपनी पराजय देखते हैं ॥ २० ॥

अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम्।
अनृशंसास्तु कौन्तेयास्तत् प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥

'जिसने दुर्योधनको यह सलाह दी है कि वह वनमें पाण्डवोंसे मिलकर उनकी हँसी उड़ावे, उसने बड़ा भारी पाप किया है। कुन्तीके पुत्र कभी क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करते, मैं यह बात आपलोगोंके सामने कह रहा हूँ' ॥ २१ ॥

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनमपस्वरम्।
न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्यभाषत ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन भीमसेनको इस प्रकार विकृत स्वरमें बात करते देख राजा युधिष्ठिरने कहा—'भैया ! यह कड़वी बातें कहनेका समय नहीं है' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधन आदिका अपहरणविषयक

दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको गन्धर्वोंके हाथसे कौरवोंको छुड़ानेका आदेश और इसके लिये अर्जुनकी प्रतिज्ञा

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतांस्तात भयार्ताञ्छरणैषिणः।
कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—तात! ये लोग भयसे पीड़ित हो शरण लेनेकी इच्छासे हमारे पास आये हैं। इस समय कौरव भारी संकटमें पड़ गये हैं। फिर तुम ऐसी कड़वी बात कैसे बोल रहे हो?॥ १॥

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति॥ २॥

भीमसेन! ज्ञाति अर्थात् भाई-बन्धुओंमें मतभेद और लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं। कभी-कभी उनमें वैर भी बँध जाते हैं; परंतु इससे कुलका धर्म यानी अपनापन नष्ट नहीं होता॥ २॥

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः पोथयते कुलम्।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम्॥ ३॥

जब कोई बाहरका मनुष्य उनके कुलपर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी मनुष्यके द्वारा होनेवाले अपने कुलके तिरस्कारको नहीं सहन करते हैं॥ ३॥

(परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते॥)
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान्।
स एवं परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम्॥ ४॥

दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग हैं। यह खोटी बुद्धिवाला गन्धर्व जानता है कि हम (पाण्डव) दीर्घकालसे यहाँ रह रहे हैं, तो भी इस प्रकार हमारा तिरस्कार करके इस चित्रसेन गन्धर्वने यह अप्रिय कार्य किया है॥४॥

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम्॥ ५॥

शक्तिशाली भीम! गन्धर्वके द्वारा बलपूर्वक दुर्योधनके पकड़े जानेसे और एक बाहरी पुरुषके द्वारा कुरुकुलकी स्त्रियोंका अपहरण होनेसे हमारे कुलका जो तिरस्कार हुआ है, वह कुलके लिये मृत्युके तुल्य है॥ ५॥

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च।
उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥ ६॥

नरश्रेष्ठ वीरो! शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र उठो और युद्धके लिये तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो॥ ६॥

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥ ७॥

वीर! अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो। नरवीरो! गन्धर्वोंद्वारा अपहृत होनेवाले दुर्योधनको छुड़ा लाओ॥ ७॥

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः॥ ८॥
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान् रथान्।
इन्द्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान्॥ ९॥
एतानास्थाय वै यत्ता गन्धर्वान् योद्धुमाहवे।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः॥ १०॥

नरसिंहो! कौरवोंके ये सुनहरी ध्वजावाले निर्मल रथ सामने खड़े हैं। इनमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं। इनके चलनेपर भारी आवाज होती है। ये रथ सदा सुसज्जित रहते हैं। शस्त्रविद्यामें निपुण इन्द्रसेन आदि सारथि इनपर बैठे हुए हैं। तुमलोग इन रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ और सावधान होकर दुर्योधनको छुड़ानेका प्रयत्न करो॥ ८–१०॥

य एव कश्चिद् राजन्यः शरणार्थमिहागतम्।
परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर॥ ११॥

भीमसेन! जो कोई साधारण क्षत्रिय भी क्यों न हो, शरण लेनेके लिये आये हुए मनुष्यकी यथाशक्ति रक्षा करता है। फिर तुम-जैसे वीर पुरुष शरणागतकी रक्षा करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है?॥ ११॥

(वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पुनर्वाक्यमभाषत।
कोपसंरक्तनयनः पूर्ववैरमनुस्मरन्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार भीमसेन पहलेके वैरका स्मरण करते हुए क्रोधसे आँखें लाल करके फिर इस प्रकार बोले॥

भीम उवाच

पुरा जतुगृहेऽनेन दग्धुमस्मान् युधिष्ठिर।
दुर्बुद्धिर्हि कृता वीर भृशं दैवेन रक्षिताः॥

भीमसेन बोले— वीरवर भैया युधिष्ठिर ! आपको याद होगा, पहले इसी दुर्योधनने लाक्षागृहमें हमलोगोंको जलाकर भस्म कर देनेका घृणित विचार किया था; परंतु दैवने हमारी रक्षा की ॥

कालकूटं विषं तीक्ष्णं भोजने मम भारत।
उप्त्वा गङ्गां लतापाशैर्बद्ध्वा च प्राक्षिपत् प्रभो ॥

भरतकुलभूषण प्रभो ! इसीने मेरे भोजनमें तीव्र कालकूट विष मिला दिया और मुझे लतापाशसे बाँधकर गङ्गाजीमें फेंक दिया था ॥

द्यूतकाले हि कौन्तेय वृजिनानि कृतानि वै।
द्रौपद्याश्च परामर्शः केशग्रहणमेव च ॥
वस्त्रापहरणं चैव सभामध्ये कृतानि वै।
पुरा कृतानां पापानां फलं भुङ्क्ते सुयोधनः ॥

कुन्तीनन्दन ! जूएके समय इसने बड़े-बड़े पाप किये हैं। द्रौपदीका स्पर्श, उसके केशोंको पकड़कर खींचना और भरी सभामें उसे नग्न करनेके लिये उसके वस्त्रोंका अपहरण करना—ये सब दुर्योधनके कुकृत्य हैं। पहलेके किये हुए पापोंका फल आज दुर्योधन भोग रहा है ॥

अस्माभिरेव कर्तव्यो धार्तराष्ट्रस्य निग्रहः।
अन्येन तु कृतं तच्च मैत्र्यमस्माभिरिच्छता ॥
उपकारी तु गन्धर्वो मा राजन् विमना भव ॥

इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको पकड़कर दण्ड देनेका काम तो हमलोगोंको ही करना चाहिये था; परंतु किसी दूसरेने हमारे साथ मैत्रीकी इच्छा रखकर स्वयं ही वह कार्य पूरा कर दिया। राजन् ! आप उदास न हों; गन्धर्व हमलोगोंका उपकारी ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजंश्चित्रसेनेन वै हृतः।
विललाप सुदुःखार्तो ह्रियमाणः सुयोधनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय चित्रसेनद्वारा अपहृत होता हुआ दुर्योधन अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो जोर-जोरसे विलाप करने लगा ॥

दुर्योधन उवाच

पाण्डुपुत्र महाबाहो पौरवाणां यशस्कर।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठ गन्धर्वेण हृतं बलात् ॥
रक्षस्व पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर महायशः ॥
भ्रातरं ते महाबाहो बद्ध्वा नयति मामयम्।
दुःशासनं दुर्विषहं दुर्मुखं दुर्जयं तथा ॥
बद्ध्वा हरन्ति गन्धर्वा अस्मद्दारांश्च सर्वशः।
अनुधावत मां क्षिप्रं रक्षध्वं पुरुषोत्तमाः ॥
वृकोदर महाबाहो धनंजय महायशः।
यमौ मामनुधावेतां रक्षार्थं मम सायुधौ ॥
कुरुवंशस्य तु महद्यशः प्राप्तमीदृशम्।
व्यपोहयध्वं गन्धर्वाञ्जित्वा वीर्येण पाण्डवाः ॥

दुर्योधन बोला—पूरुवंशका यश बढ़ानेवाले समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! मुझे गन्धर्व बलपूर्वक हरकर लिये जा रहा है। मेरी रक्षा करो। महाबाहो ! यह शत्रु तुम्हारे भाई मुझ दुर्योधनको बाँधे लिये जाता है। साथ ही ये सारे गन्धर्व दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा हमारी रानियोंको भी बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं। पुरुषोत्तम पाण्डवो ! शीघ्र इनका पीछा करो और मेरे प्राण बचाओ। महाबाहु वृकोदर और महायशस्वी धनंजय ! मेरी रक्षा करो। दोनों भाई नकुल और सहदेव भी अस्त्र-शस्त्र लिये मेरी रक्षाके लिये दौड़े आवें। पाण्डवो ! कुरुवंशके लिये यह बड़ा भारी अयश प्राप्त हो रहा है। तुम अपने पराक्रमसे इन गन्धर्वोंको जीतकर मार भगाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानस्य कौरवस्यार्तया गिरा।
श्रुत्वा विलापं सम्भ्रान्तो घृणयाभिपरिप्लुतः ॥
युधिष्ठिरः पुनर्वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आर्तवाणीमें विलाप करते हुए दुर्योधनका करुण क्रन्दन सुनकर माननीय युधिष्ठिर दयासे द्रवित हो गये। उन्होंने पुनः भीमसेनसे कहा— ॥

क इहार्यो भवेत् त्राणमभिधावेति नोदितः।
प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'इस जगत्‌में कौन ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है, जो हाथ जोड़कर शरणमें आये हुए शत्रुको भी देखकर और उसके द्वारा की हुई 'दौड़ो-बचाओ' की पुकार सुनकर उसकी रक्षाके लिये दौड़ नहीं पड़ेगा ? ॥ १२ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३॥

'पाण्डवो ! वरदान, राज्यप्रदान, पुत्रकी प्राप्ति कराना तथा शत्रुका संकटसे उद्धार करना—इन चार वस्तुओंमेंसे प्रारम्भके तीन और अन्तका एक समान हैं ॥ १३ ॥

किं चाप्यधिकमेतस्माद् यदापन्नः सुयोधनः।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥

'तुम्हारे लिये इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी कि दुर्योधन विपत्तिमें पड़कर तुम्हारे बाहुबलके भरोसे अपने जीवनकी रक्षा करना चाहता है ? ॥ १४ ॥

स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद् वृकोदर।
विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥

'वीर भीमसेन ! यदि मेरा यह यज्ञ प्रारम्भ न हो गया होता, तो मैं स्वयं ही दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ा जाता। इस विषयमें मेरे लिये कोई दूसरा विचार करना उचित नहीं है ॥ १५ ॥

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम्।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन भीम ! शान्तिपूर्ण ढंगसे समझा बुझाकर जिस तरह भी दुर्योधनको छुड़ा सको, सभी उपायोंसे वैसा ही प्रयत्न करना ॥ १६ ॥

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥

'यदि समझाने बुझानेसे वह गन्धर्वराज चित्रसेन तुम्हारी बात न माने, तो कोमलतापूर्ण पराक्रमके द्वारा दुर्योधनको छुड़ानेकी चेष्टा करना ॥ १७ ॥

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद् भीम कौरवान्।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥ १८ ॥

'भीम ! यदि कोमलतापूर्ण युद्धसे भी वह कौरवोंको न छोड़े, तो तुम सभी उपायोंसे उन लुटेरे गन्धर्वोंको कैद करके कौरवोंको छुड़ाना ॥ १८ ॥

एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १९ ॥

'भरतनन्दन वृकोदर ! इस समय मेरा यह यज्ञकर्म चालू है; अतः ऐसी स्थितिमें मैं तुम्हें इतना ही संदेश दे सकता हूँ' ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अजातशत्रु युधिष्ठिरका उपर्युक्त वचन सुनकर अर्जुनने अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अनुसार कौरवोंको छुड़ानेकी प्रतिज्ञा की ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे, तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी ॥ २१ ॥

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः।
कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥

राजन् ! सत्यवादी अर्जुनकी वह प्रतिज्ञा सुनकर कौरवोंके जीमें जी आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेकी आज्ञाविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी बात सुनकर भीमसेन आदि सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव युद्धके लिये उठ खड़े हुए। उन सबके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ १ ॥

अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥

भारत! तदनन्तर उन समस्त महारथियोंने जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित एवं विचित्र शोभा धारण करनेवाले अभेद्य कवच धारण किये ॥ २ ॥

आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समाददुः।
ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥
पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः।

फिर नाना प्रकारके दिव्य आयुध हाथमें लिये। कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो ध्वज और धनुषसे सुशोभित वे समस्त पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंके समान दिखायी देने लगे ॥ ३½ ॥

तान् रथान् साधुसम्पन्नान् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ॥ ४ ॥
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः।

उन रथोंमें तेज चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे। वे सभी रथ युद्धकी आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्णतः सम्पन्न थे। रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव उनपर आरूढ़ हो शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ ४½ ॥

ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥
प्रयातान् सहितान् दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान् महारथान्।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥
क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत्।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥

फिर तो कौरव-सैनिकोंकी बड़ी भयंकर गर्जना सुनायी देने लगी। महारथी पाण्डवोंको एक साथ धावा बोलते देख विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाले आकाशचारी महारथी गन्धर्व बड़ी उतावलीके साथ क्षणभरमें उस वनके भीतर ऐसे एकत्र हो गये, मानो उन्हें किसीका भय न हो। तदनन्तर अपनी विजयसे उल्लसित होते हुए सारे गन्धर्व शत्रुओंका सामना करनेके लिये लौट पड़े ॥ ५—७ ॥

दृष्ट्वा रथागतान् वीरान् पाण्डवांश्चतुरो रणे।
तांस्तु विभ्राजितान् दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान्॥ ८ ॥
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः।

उन्होंने देखा, चारों वीर पाण्डव युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे हुए आ रहे हैं और अपनी कान्तिसे लोकपालोंके समान उद्भासित हो रहे हैं। यह देखकर गन्धमादननिवासी गन्धर्व अपनी सेनाकी व्यूहरचना करके खड़े हो गये ॥ ८½ ॥

राज्ञस्तु वचनं स्मृत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रान्तं च भारत।

भारत! परम बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पूर्वोक्त वचनोंको स्मरण करके पाण्डवोंने कोमलतापूर्वक ही युद्ध आरम्भ किया ॥ ९½ ॥

न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ॥ १० ॥
शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा।

परंतु गन्धर्वराज चित्रसेनके मूढ़ सैनिक ऐसे नहीं थे, जिन्हें कोमलतापूर्ण बर्तावके द्वारा कल्याणके पथपर लाया जा सके ॥ १०½ ॥

ततस्तान् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परंतपः ॥ ११ ॥
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥

तो भी उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने रणदुर्जय आकाशचारी गन्धर्वोंको समझाते हुए इस प्रकार कहा– तुम सब लोग मेरे भाई राजा दुर्योधनको छोड़ दो' ॥ ११-१२ ॥

त एवमुक्ता गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

यशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वोंने मुसकराकर उनसे इस प्रकार कहा–॥ १३ ॥

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात् सुरेश्वरात् ॥ १५ ॥

'तात! हम भूमण्डलमें केवल एक व्यक्तिकी ही आज्ञाका पालन करते हैं। भारत! जिनके शासनको शिरोधार्य करके हम निश्चिन्त हो सर्वत्र विचरते हैं, हमारे उन्हीं एकमात्र स्वामीने जैसी आज्ञा दी है, वैसा बर्ताव हम कर रहे हैं। अतः इन देवेश्वरके सिवा दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हमलोगोंपर शासन कर सके' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन अर्जुनने पुनः उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १६ ॥

न तद् गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम्।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥

'गन्धर्वो! परायी स्त्रियोंका अपहरण और मनुष्योंके साथ युद्ध–ये घृणित कर्म गन्धर्वराज चित्रसेनको शोभा नहीं देते हैं ॥ १७ ॥

उत्सृज्यध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान्।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥

'अतः तुमलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे इन महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा इनकी स्त्रियोंको छोड़ दो ॥ १८ ॥

यदा साम्ना न मुञ्चध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥

'गन्धर्वो ! यदि इस प्रकार समझाने-बुझानेसे तुमलोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोड़ोगे, तो मैं स्वयं ही पराक्रम करके दुर्योधनको छुड़ा लूँगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः।
ससर्ज निशितान् बाणान् खचरान् खचरान् प्रति॥ २०॥

ऐसा कहकर सव्यसाची अर्जुनने गन्धर्वोंके एक-एक दलपर अपने तीखे आकाशगामी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तथैव शरवर्षेण गन्धर्वास्ते बलोत्कटाः।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः॥ २१॥

इसी प्रकार बलोन्मत्त गन्धर्व भी बाणोंकी बौछार करते हुए पाण्डवोंसे भिड़ गये। इधरसे पाण्डव भी गन्धर्वोंका डटकर सामना करने लगे ॥ २१ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम्।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत॥ २२॥

भारत ! तदनन्तर बलशाली गन्धर्वों तथा भयानक वेगवाले पाण्डवोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पाण्डवगन्धर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें पाण्डव-गन्धर्वयुद्धविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके द्वारा गन्धर्वोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो दिव्यास्त्रसम्पन्ना गन्धर्वा हेममालिनः।
विसृजन्तः शरान् दीप्तान् समन्तात् पर्यवारयन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न सुवर्णमालाधारी गन्धर्वोंने तेजोमय बाणोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे पाण्डवोंको घेर लिया ॥

चत्वारः पाण्डवा वीरा गन्धर्वाश्च सहस्रशः।
रणे संन्यपतन् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत्॥ २॥

राजन् ! वीर पाण्डव केवल चार थे, परंतु उस रणभूमिमें हजारों गन्धर्व उनपर एक साथ टूट पड़े थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ २ ॥

यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः।
गन्धर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे॥ ३॥

गन्धर्वोंने जैसे कर्ण तथा दुर्योधन दोनोंके रथोंको छिन्न-भिन्न करके उनके सैकड़ों टुकड़े कर दिये थे, उसी प्रकार वे पाण्डवोंके रथोंको भी टूक-टूक कर देनेकी चेष्टामें लग गये ॥ ३ ॥

तान् समापततो राजन् गन्धर्वाञ्छतशो रणे।
प्रत्यगृह्णन् नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः॥ ४॥

राजन् ! रणभूमिमें सैकड़ों गन्धर्वोंको अपने ऊपर आक्रमण करते देख नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने बारं-बार बाणोंकी झड़ी लगाकर उन सबको रोक दिया ॥ ४ ॥

ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः।
न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम्॥ ५॥

सब ओरसे बाणोंकी वर्षाका लक्ष्य होनेके कारण वे आकाशचारी गन्धर्व पाण्डवोंके समीप जानेका साहस न कर सके ॥ ५ ॥

अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे॥ ६॥

उस समय गन्धर्वोंको क्रोधमें भरे हुए देख अर्जुनने भी कुपित होकर महान् दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ६ ॥

सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद् यमसादनम्।
आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः॥ ७॥

वे अत्यन्त बलवान् थे। उन्होंने उस युद्धमें आग्नेयास्त्रका प्रयोग करके दस लाख गन्धर्वोंको यमलोक पहुँचा दिया॥

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः।
गन्धर्वाञ्छतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः॥ ८॥

राजन् ! इसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेनने अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा सैकड़ों गन्धर्वोंको मार गिराया ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ।
परिगृह्याग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान्॥ ९॥

उत्कट बलशाली माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने भी युद्धमें तत्पर हो सैकड़ों शत्रुओंको आगेसे पकड़कर मार डाला ॥ ९ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः॥ १०॥

महारथी पाण्डवोंके चलाये दिव्यास्त्रोंकी मार खाकर गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको लिये-दिये आकाशमें उड़ गये ॥ १० ॥

स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत्॥ ११॥

अर्जुन-चित्रसेन-युद्ध

कुन्तीनन्दन अर्जुनने उन्हें आकाशमें उड़ते देख चारों ओर बाणोंका विस्तृत जाल-सा फैलाकर गन्धर्वोंको घेरेमें डाल दिया ॥ ११ ॥

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद् गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

उस जालमें वे उसी प्रकार बँध गये, जैसे पिंजड़ेमें पक्षी । अतः वे अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनपर गदा शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाहनद् भल्लैर्गन्धर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥

तब उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अर्जुन उनकी गदा, शक्ति तथा ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाका निवारण करके भल्ल नामक बाणोंद्वारा गन्धर्वोंके अङ्गोंपर आघात करने लगे ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद् भयम् ॥ १४ ॥

गन्धर्वोंके मस्तक, बाहु तथा पैर कट-कटकर इस प्रकार गिरने लगे, मानो पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो । इससे शत्रुओं-को बड़ा भय होने लगा ॥ १४ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः पाण्डवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर आकाशमें स्थित हुए गन्धर्वोंने पृथ्वीपर खड़े हुए अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १५ ॥

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान् प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

तेजस्वी परंतप सव्यसाचीने अपने अस्त्रोंद्वारा गन्धर्वोंकी बाणवर्षा निवारण करके उन्हें फिरसे घायल कर दिया ॥

स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथार्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥

कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय तथा सौम्य नामक दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया ॥ १७ ॥

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् ॥ १८ ॥

कुन्तीकुमारके उन सायकोंसे गन्धर्व उसी प्रकार दग्ध होने लगे, जैसे इन्द्रके बाणोंद्वारा दैत्य । इससे उनको बड़ा विषाद हुआ ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यन्ते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥

जब वे ऊपरकी ओर उड़ने लगते, तब अर्जुनके बाणोंके जालसे उनकी गति रुक जाती थी और जब इधर-उधर भागने लगते, तब सव्यसाची अर्जुनके भल्ल नामक बाण उन्हें आगे बढ़नेसे रोकते थे ॥ १९ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥

भारत ! इस प्रकार कुन्तीकुमारके द्वारा गन्धर्वोंको त्रस्त हुआ देख गन्धर्वराज चित्रसेनने गदा लेकर सव्यसाची अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २० ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥

हाथमें गदा लिये बड़े वेगसे युद्धके लिये आते हुए चित्रसेनकी उस गदाके, जो सब-की-सब लोहेकी बनी हुई थी, अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा सात टुकड़े कर दिये ॥ २१ ॥

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पाण्डवम् ॥ २२ ॥

वेगशाली अर्जुनके बाणोंसे अपनी गदाके अनेक टुकड़े हुए देख चित्रसेन अन्तर्धानविद्याद्वारा अपने आपको छिपा-कर उन पाण्डुकुमारके साथ युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

अस्त्राणि तस्य दिव्यानि सम्प्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥

उस समय उन्होंने जिन-जिन दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया, उन सबको वीर अर्जुनने अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा शान्त कर दिया ॥ २३ ॥

स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
गन्धर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ॥ २४ ॥

महात्मा अर्जुनके उन अस्त्रोंसे रोके जानेपर बलवान् गन्धर्वराज मायासे अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

अन्तर्हितं तमालक्ष्य प्रहरन्तमथार्जुनः ।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ २५ ॥

उन्हें अदृश्य होकर प्रहार करते देख अर्जुनने दिव्यास्त्रों-द्वारा अभिमन्त्रित किये हुए आकाशचारी बाणोंसे बींध डाला ॥ २५ ॥

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २६ ॥

(रणभूमिमें सब ओर विचरनेके कारण) उस समय अर्जुन अनेक रूप धारण किये हुए जान पड़ते थे । उन्होंने कुपित होकर शब्दवेधका सहारा ले चित्रसेनकी अन्तर्धानरूप मायाको भी नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ॥ २७ ॥

चित्रसेन अर्जुनके प्यारे सखा थे । उन्होंने महात्मा अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर अपने-आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ॥ २७ ॥

चित्रसेनस्तथोवाच सखायं युधि विद्धि माम् ।
चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥
संजहारास्त्रमथ तत् प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ।
दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् ॥ २९ ॥
संजह्रुः प्रद्रुतानश्वाञ्छरवेगान् धनूंषि च ।

चित्रसेनने उनसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! इस युद्धमें मुझे तुम अपना सखा चित्रसेन समझो ।' यह सुनकर अर्जुनने चित्रसेनकी ओर दृष्टिपात किया । अपने सखाको युद्धमें अत्यन्त दुर्बल हुआ देख पाण्डवप्रवर अर्जुनने अपने धनुषपर प्रकट किये हुए उस दिव्यास्त्रका उपसंहार कर दिया । अर्जुनको अपना अस्त्र समेटते देख सब पाण्डवोंने भी दौड़ते हुए घोड़ोंको रोक लिया तथा वेगपूर्वक छूटनेवाले बाणों और धनुषोंका संचालन भी बंद कर दिया ॥ २८-२९½ ॥

चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् गन्धर्वराज चित्रसेन, भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सब लोग परस्पर कुशल-समाचार पूछकर अपने रथोंमें ही बैठे रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वपराजयविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

चित्रसेन, अर्जुन तथा युधिष्ठिरका संवाद और दुर्योधनका छुटकारा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर परम कान्तिमान् महाधनुर्धर अर्जुनने गन्धर्वोंकी सेनाके बीच चित्रसेनसे हँसते हुए पूछा—'वीर ! कौरवोंको बंदी बनानेमें तुम्हारा क्या उद्देश्य था ? स्त्रियोंसहित दुर्योधनको तुमने किसलिये कैद किया ?' ॥ १-२ ॥

चित्रसेन उवाच

विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान् द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ॥ ४ ॥
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥

चित्रसेनने कहा—धनंजय ! देवराज इन्द्रको स्वर्गमें बैठे ही-बैठे दुरात्मा दुर्योधन और पापी कर्णका यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आपलोगोंको वनमें रहकर अनाथकी भाँति क्लेश उठाते और विषम परिस्थितिमें पड़कर अस्थिरभावसे रहते हुए जानकर भी उस अवस्थामें आपको देखने और दुखी करनेका निश्चय कर चुके हैं । ये स्वयं सम (सुखपूर्ण) अवस्थामें स्थित हैं, फिर भी आप पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी उड़ानेके लिये वनमें आये हैं । इस प्रकार इनकी (आपलोगोंका अनिष्ट करनेकी) इच्छा जानकर देवेश्वर इन्द्रने मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३—५ ॥

गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सहामात्यमिहानय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डवः ।

'चित्रसेन ! तुम जाओ और दुर्योधनको उसके मन्त्रियोंसहित बाँधकर यहाँ ले आओ । युद्धमें तुम्हें भाइयोंसहित अर्जुनकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम्हारे प्रिय सखा तथा शिष्य हैं' ॥ ६½ ॥

वचनाद् देवराजस्य ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ॥ ७ ॥

अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम्।
नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात्॥ ८ ॥

वहाँसे देवराजकी यह आज्ञा मानकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह दुरात्मा दुर्योधन मेरी कैदमें आ गया है; अतः अब मैं देवलोकको जाऊँगा और पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुरात्माको भी वहीं ले जाऊँगा ॥ ७-८ ॥

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ ९ ॥

अर्जुन बोले—चित्रसेन ! दुर्योधन हमलोगोंका भाई है। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो धर्मराजके आदेशसे इसे छोड़ दो ॥ ९ ॥

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसंतुष्टो न विमोक्षणमर्हति।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ॥ १० ॥

चित्रसेनने कहा—धनंजय ! यह पापी सदा राज्य-सुख भोगनेके कारण हर्षसे मतवाला हो उठा है; अतः इसे छोड़ना उचित नहीं है। इसने धर्मराज युधिष्ठिर तथा द्रौपदीको धोखा दिया है ॥ १० ॥

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर इसके इस कुटिल अभिप्रायको नहीं जानते हैं; अतः यह सब सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम्।
अभिगम्य च तत् सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम्॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब लोग राजा युधिष्ठिरके पास गये। वहाँ जाकर गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी कुचेष्टा कह सुनायी ॥ १२ ॥

अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा।
मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च ॥१३॥

गन्धर्वोंका यह कथन सुनकर अजातशत्रु युधिष्ठिरने उस समय समस्त कौरवोंको बन्धनसे छुड़ा दिया और गन्धर्वोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की—॥ १३ ॥

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः।
दुर्वृत्तो धार्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः॥ १४ ॥

आप सब लोग बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। आपने मन्त्रियों तथा जातिभाइयोंसहित इस दुराचारी दुर्योधनका वध नहीं किया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १४ ॥

उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः॥ १५ ॥

'तात ! आकाशचारी गन्धर्वोंने यह मेरा बहुत बड़ा उपकार किया कि इस दुरात्माको छोड़ दिया, इसलिये मेरे कुलका अपमान नहीं हुआ ॥ १५ ॥

आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम्॥ १६ ॥

'गन्धर्वो ! अपनी अभीष्ट सेवाके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हैं। अपनी समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओंको प्राप्त करनेके पश्चात् यहाँसे शीघ्रता-पूर्वक प्रस्थान कीजियेगा ॥ १६ ॥

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
सहाप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः॥ १७॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर चित्रसेन आदि सब गन्धर्व अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे विदा हुए ॥ १७ ॥

(देवलोकं ततो गत्वा गन्धर्वैः सहितस्तदा।
न्यवेदयच्च तत् सर्वं चित्रसेनः शतक्रतोः ॥)
देवराडपि गन्धर्वान् मृतांस्तान् समजीवयत्।
दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि॥ १८॥

तदनन्तर गन्धर्वोंसहित चित्रसेनने देवलोकमें पहुँचकर देवराज इन्द्रके समक्ष सब समाचार निवेदन किया। युद्धमें कौरवोंद्वारा जो गन्धर्व मारे गये थे, उन सबको देवराज इन्द्रने दिव्य अमृतकी वर्षा करके जिला दिया।१८।

ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पाण्डवाः॥ १९ ॥
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाग्नयः॥ २० ॥

इस प्रकार उन सब भाई-बन्धुओं एवं राजकुलकी महिलाओंको गन्धर्वोंसे छुड़ाकर एवं दुष्कर पराक्रम करके प्रसन्न हुए महा-रथी महामना पाण्डव स्त्री-बालकोंसहित कौरवोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित हो यज्ञमण्डपमें प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १९-२० ॥

ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत्॥ २१ ॥

तदनन्तर बन्धनमुक्त हुए दुर्योधनसे भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक यह बात कही—॥ २१ ॥

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित्।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत॥ २२॥

'तात ! फिर कभी ऐसा दुःसाहस न करना। भारत !

दुःसाहस करनेवाले मनुष्य कभी सुखी नहीं होते ॥ २२ ॥

स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन।
गृहान् व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन ! अब तुम अपने सब भाइयोंके साथ कुशलपूर्वक इच्छानुसार घर जाओ। हमलोगोंके प्रति मनमें वैमनस्य न रखना ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा।
प्रणम्य धर्मपुत्रं तु गतेन्द्रिय इवातुरः ॥ २४ ॥
विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर राजा दुर्योधनने उन धर्मपुत्र अजातशत्रुको प्रणाम करके अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय जिसकी इन्द्रियाँ काम न देती हों उस रोगीकी भाँति उसका हृदय व्यथासे विदीर्ण हो रहा था। उसे अपने कुकृत्यपर बड़ी लज्जा हो रही थी ॥ २४½ ॥

तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ॥ २६ ॥
तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदा युतः ॥ २७ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर द्विजातियोंसे प्रशंसित होते हुए भाइयोंसहित वीर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वहाँके समस्त तपस्वी मुनियोंसे घिरे रहकर देवताओंके बीचमें बैठे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पाने और प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनमें विहार करने लगे ॥ २५–२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सेनासहित दुर्योधनका मार्गमें ठहरना और कर्णके द्वारा उसका अभिनन्दन

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥
कत्थनस्यावलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः।
सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहंकारवादिनः।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! दुर्योधनको शत्रुओंने जीता और बाँध लिया। फिर महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वोंके साथ युद्ध करके उसे छुड़ाया। ऐसी दशामें उस अभिमानी और दुरात्मा दुर्योधनका हस्तिनापुरमें प्रवेश करना मुझे तो अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि वह अपने शौर्यके विषयमें बहुत डींग हाँका करता था, घमंडमें भरा रहता था और सदा गर्वके नशेमें चूर रहा करता था। उसने अपने पौरुष और उदारताद्वारा सदा पाण्डवोंका अपमान ही किया था। पापी दुर्योधन सदा अहंकारकी ही बातें करता था। पाण्डवोंकी सहायतासे मेरे जीवनकी रक्षा हुई, यह सोचकर तो वह लज्जित हो गया होगा; उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा होगा। वैशम्पायनजी ! ऐसी स्थितिमें उसने अपनी राजधानीमें कैसे प्रवेश किया ? यह विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १–४ ॥

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! धर्मराजसे विदा होकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन लज्जासे मुँह नीचे किये अत्यन्त दुखी और खिन्न होकर वहाँसे चल दिया ॥ ५ ॥

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ॥ ६ ॥

राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे मारी गयी थी । वह अपने अपमानपर विचार करता हुआ चतुरङ्गिणी सेनाके साथ नगरकी ओर चल पड़ा ॥ ६ ॥

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ।

रास्तेमें एक ऐसा स्थान मिला, जहाँ घास और जलकी सुविधा थी । दुर्योधन अपने वाहनोंको वहीं छोड़कर एक सुन्दर एवं रमणीय भूभागमें अपनी रुचिके अनुसार ठहर गया । हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंको भी उसने यथास्थान ठहरनेकी आज्ञा दे दी ॥ ७½ ॥

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे ॥ ८ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।

राजा दुर्योधन अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले (सोनेके) पलंगपर बैठा हुआ था । रात्रिके अन्तमें चन्द्रमापर राहुद्वारा ग्रहण लग जानेपर जैसे उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, वही दशा उस समय दुर्योधनकी भी थी ॥ ८½ ॥

उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ९ ॥
दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः सङ्गमः पुनः ।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥

उस समय कर्णने समीप आकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'गान्धारीनन्दन ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो । सौभाग्यवश हमलोग पुनः एक दूसरेसे मिल गये । भाग्यसे तुमने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंपर विजय पायी, यह और भी प्रसन्नताकी बात है ॥ ९-१० ॥

दिष्ट्या समग्रान् पश्यामि भ्रातॄंस्ते कुरुनन्दन ।
विजिगीषून् रणे युक्तान् निर्जितारीन् महारथान् ॥ ११ ॥

'कुरुनन्दन ! मैं तुम्हारे सम्पूर्ण महारथी भाइयोंको, जो शत्रुओंपर विजय पा चुके हैं, युद्धके लिये उद्यत तथा पुनः विजयकी अभिलाषासे युक्त देख रहा हूँ, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ॥ ११ ॥

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव ।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥ १२ ॥

'मैं तो तुम्हारे देखते-देखते ही समस्त गन्धर्वोंसे पराजित होकर भाग गया था । तितर-बितर होकर भागती हुई सेनाको स्थिर न रख सका ॥ १२ ॥

शरक्षताङ्गश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद् युष्मानिह भारत ॥ १३ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् ।
विमुक्तान् सम्प्रपश्यामि युद्धात् तस्मादमानुषात् ॥ १४ ॥

'बाणोंके आघातसे मेरा सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था । समस्त अङ्गोंमें बड़ी वेदना हो रही थी; इसीलिये मुझे भागना पड़ा । भारत ! तुमलोग, जो उस अमानुषिक युद्धसे छूटकर यहाँ स्त्री, सेना और वाहनोंसहित सकुशल तथा क्षतिसे रहित दिखायी देते हो; यह बात मुझे बड़ी अद्भुत जान पड़ती है ॥ १३—१४ ॥

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् भारत विद्यते ।
यत् कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥

'भरतनन्दन महाराज ! इस युद्धमें भाइयोंसहित तुमने जो पराक्रम कर दिखाया है, उसे करनेवाला दूसरा कोई पुरुष इस संसारमें नहीं है' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाच चाङ्गराजानं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन उस समय अश्रुगद्गद वाणीद्वारा अङ्गराज (कर्णसे) इस प्रकार बोला ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदुर्योधनसंवादविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णको अपनी पराजयका समाचार बताना

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन ! तुम सब बातें जानते नहीं हो, इसीसे मैं तुम्हारे इस कथनको बुरा नहीं मानता । तुम समझते हो कि मैंने अपने शत्रुभूत गन्धर्वोंको अपने ही

पराक्रमसे हराया है; परंतु ऐसी बात नहीं है ॥ १ ॥

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥

महाबाहो! मेरे भाइयोंने मेरे साथ रहकर गन्धर्वोंके साथ बहुत देरतक युद्ध किया और उसमें दोनों पक्षके बहुत-से सैनिक मारे गये ॥ २ ॥

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सह ॥ ३ ॥

परंतु जब मायाके कारण अधिक शक्तिशाली शूरवीर गन्धर्व आकाशमें खड़े होकर युद्ध करने लगे, तब उनके साथ हमलोगोंका युद्ध समान स्थितिमें नहीं रह सका ॥ ३ ॥

पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बन्धनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥

युद्धमें हमारी पराजय हुई और हम सेवक, सचिव, पुत्र, स्त्री, सेना तथा सवारियोंसहित बंदी बना लिये गये ॥

उच्चैराकाशमार्गेण हृताःस्मस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥
उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवाञ्छरणप्रदान् ।

फिर गन्धर्व हमें ऊँचे आकाशमार्गसे ले चले । उस समय हमलोग अत्यन्त दुखी हो रहे थे । तदनन्तर हमारे कुछ सैनिकों और महारथी मन्त्रियोंने अत्यन्त दीन हो शरण-दाता पाण्डवोंके पास जाकर कहा—॥ ५½ ॥

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।

'कुन्तीकुमारो ! ये धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मन्त्रियों तथा स्त्रियोंके साथ यहाँ आये थे । इन्हें गन्धर्वगण आकाशमार्गसे हरकर लिये जाते हैं ॥६½॥

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥
पराभवो मा भविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः ।

'आपलोगोंका कल्याण हो । रानियोंसहित महाराजको छुड़ाइये । कहीं ऐसा न हो कि कुरुकुलकी स्त्रियोंका तिरस्कार हो जाय' ॥ ७½ ॥

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ॥ ८ ॥
प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।

उनके ऐसा कहनेपर ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने अन्य सब पाण्डवोंको राजी करके हम सब लोगोंको छुड़ानेके लिये आज्ञा दी ॥ ८½ ॥

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ।

तदनन्तर पुरुषसिंह महारथी पाण्डव उस स्थानपर आकर समर्थ होते हुए भी गन्धर्वोंसे सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें (हमें छोड़ देनेके लिये) याचना करने लगे ॥ ९½ ॥

यदा चास्मान् न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि॥१०॥
(आकाशचारिणो वीरा नदन्तो जलदा इव) ।
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्यनेकशः ॥ ११ ॥

उनके समझाने-बुझानेपर भी जब आकाशचारी वीर गन्धर्व हमें न छोड़ सके और बादलोंकी भाँति गर्जने लगे, तब अर्जुन, भीम तथा उत्कट बलशाली नकुल-सहदेवने उन असंख्य गन्धर्वोंकी ओर लक्ष्य करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १०-११ ॥

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान् मुदितमानसाः ॥ १२ ॥

फिर तो सारे गन्धर्व रणभूमि छोड़कर आकाशमें उड़ गये और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करते हुए हम दीन-दुःखियोंको अपनी ओर घसीटने लगे ॥ १२ ॥

ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चास्त्राणि प्रमुञ्चन्तं धनंजयम् ॥ १३ ॥

इसी समय हमने देखा, चारों ओर बाणोंका जाल-सा बन गया है और उससे वेष्टित हो अर्जुन अलौकिक अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥१३ ॥

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनंजयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे समस्त

दिशाओंको आच्छादित कर दिया है, यह देखकर उनके सखा चित्रसेनने अपने आपको उनके सामने प्रकट कर दिया॥

चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम्।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम्॥ १५॥

फिर तो चित्रसेन और अर्जुन दोनों एक-दूसरेसे मिले और कुशल-मङ्गल तथा स्वास्थ्यका समाचार पूछने लगे॥

ते समेत्य तथान्योन्यं सन्नाहान् विप्रमुच्य च।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ॥ १६॥

दोनोंने एक-दूसरेसे मिलकर अपना कवच उतार दिया। फिर समस्त वीर गन्धर्व पाण्डवोंके साथ मिलकर एक हो गये। तत्पश्चात् चित्रसेन और धनंजयने एक दूसरेका आदर-सत्कार किया॥ १६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १६½ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णसे अपनी ग्लानिका वर्णन करते हुए आमरण अनशनका निश्चय, दुःशासनको राजा बननेका आदेश, दुःशासनका दुःख और कर्णका दुर्योधनको समझाना

दुर्योधन उवाच

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा॥ १॥

दुर्योधन बोला—कर्ण! चित्रसेनसे मिलकर उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने हँसते हुए-से यह शूरोचित वचन कहा—॥ १॥

भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम।
अनर्हा धर्षणा हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु॥ २॥

'वीर गन्धर्वश्रेष्ठ! तुम्हें मेरे इन भाइयोंको मुक्त कर देना चाहिये। पाण्डवोंके जीते-जी ये इस प्रकार अपमान सहन करने योग्य नहीं हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना।
उवाच यत् कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः॥ ३॥
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पाण्डवानिति।

कर्ण! महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वने यह बात कह दी, जिसके लिये सलाह करके हमलोग घरसे चले थे। उसने बताया कि 'ये कौरव सुखसे वञ्चित हुए पाण्डवों तथा द्रौपदीकी दुर्दशा देखनेके लिये आये हैं'॥ ३½॥

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा॥ ४॥
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः।

जिस समय गन्धर्व उपर्युक्त बात कह रहा था, उस समय मैं (अत्यन्त) लज्जित हो गया। मेरी इच्छा हुई कि धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ॥ ४½॥

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः॥ ५॥
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान् न्यवेदयन्।

तत्पश्चात् गन्धर्वोंने पाण्डवोंके साथ युधिष्ठिरके पास आकर हमलोगोंकी दुर्मन्त्रणा उन्हें बतायी और हमें उनके सुपुर्द कर दिया। उस समय हम सब लोग बँधे हुए थे।५½।

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः॥ ६॥
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम्।

स्त्रियोंके सामने मैं दीनभावसे बँधकर शत्रुओंके वशमें पड़ गया और उसी दशामें युधिष्ठिरको अर्पित किया गया। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है?।६½।

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा॥ ७॥
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम्।

जिनका मैंने सदा तिरस्कार किया और जिनका मैं सर्वदा शत्रु बना रहा, उन्हीं लोगोंने मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके बन्धनसे छुड़ाया है और उन्होंने ही मुझे जीवनदान दिया है॥ ७½॥

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन् महारणे॥ ८॥
श्रेयस्तद् भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम्।

वीर! यदि मैं उस महायुद्धमें मारा गया होता, तो यह मेरे लिये कल्याणकारी होता; परंतु इस दशामें जीवित रहना कदापि अच्छा नहीं है॥ ८½॥

भवेद् यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात्॥ ९॥
प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः।

गन्धर्वके हाथसे मारे जानेपर इस भूमण्डलमें मेरा यश विख्यात हो जाता और इन्द्रलोकमें मुझे अक्षय पुण्यधाम प्राप्त होते॥ ९½॥

यत् त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः॥ १०॥
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान्।

नरश्रेष्ठ वीरो ! अब मैंने जो निश्चय किया है, उसे सुनो। मैं यहाँ आमरण अनशन करूँगा । तुम सब लोग घर लौट जाओ ॥ १०½ ॥

**भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ॥ ११ ॥
कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥**

मेरे सब भाई आज अपनी राजधानीको चले जायँ । कर्ण आदि मेरे मित्र तथा बान्धवगण भी दुःशासनको आगे करके आज ही हस्तिनापुरको लौट जायँ ॥ ११-१२ ॥

**न ह्यहं सम्प्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत् तथा ॥ १३ ॥**

शत्रुओंसे अपमानित होकर अब मैं अपने नगरको नहीं जाऊँगा । अबतक मैंने शत्रुओंका मानमर्दन किया है और सुहृदोंको सम्मान दिया है ॥ १३ ॥

**स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः ।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥**

परंतु आज मैं अपने सुहृदोंके लिये शोकदायक और शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला हो गया । हस्तिनापुर जाकर मैं राजासे क्या कहूँगा ? ॥ १४ ॥

**भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा ।
बाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चान्ये वृद्धसम्मताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम्॥ १६ ॥**

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, संजय, बाह्लीक, भूरिश्रवा तथा अन्य जो वृद्ध पुरुषोंके लिये आदरणीय महानुभाव हैं, वे तथा ब्राह्मण, प्रमुख वैश्यगण और उदासीन वृत्तिवाले लोग मुझसे क्या कहेंगे और मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १५-१६ ॥

**रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।
आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥**

मैं पराक्रम करके शत्रुओंके मस्तक तथा छातीपर खड़ा हो गया था; परंतु अब अपने ही दोषसे नीचे गिर गया । ऐसी दशामें उन आदरणीय पुरुषोंसे मैं किस प्रकार बार्तालाप करूँगा ? ॥ १७ ॥

**दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रं यथाहं मदगर्वितः ॥ १८ ॥**

उद्दण्ड मनुष्य लक्ष्मी, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी दीर्घकालतक कल्याणमय पदपर प्रतिष्ठित नहीं रह पाते हैं । जैसे मैं मद और अहंकारमें चूर होकर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा हूँ ॥ १८ ॥

**अहो नार्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद् येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥**

अहो ! यह कुकर्म मेरे योग्य नहीं था । मुझ दुर्बुद्धिने स्वयं ही मोहवश दुःखदायक दुष्कर्म कर डाला; जिससे (गन्धर्वोंका बंदी हो जानेके कारण) मेरा जीवन संदिग्ध हो गया ॥ १९ ॥

**तस्माद् प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम्।
चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ २० ॥**

इसलिये मैं(अवश्य)आमरण उपवास करूँगा। अब जीवित नहीं रह सकूँगा । जिसका शत्रुओंने संकटसे उद्धार किया हो, ऐसा कौन विचारशील पुरुष जीवित रहना चाहेगा ? ॥२०॥

**शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥**

शत्रुओंने मेरी हँसी उड़ायी है । मुझे अपने पौरुषका अभिमान था; किंतु यहाँ मैं कोई पुरुषार्थ न दिखा सका । पराक्रमी पाण्डवोंने अवहेलनापूर्ण दृष्टिसे मुझे देखा है । (ऐसी दशामें मुझे इस जीवनसे विरक्ति हो गयी है) ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

**एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार चिन्तामग्न हुए दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—'भरतनन्दन दुःशासन ! मेरी यह बात सुनो— ॥ २२ ॥

**प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥**

'मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ । तुम मेरे दिये हुए इस राज्यको ग्रहण करो और राजा बनो । कर्ण और शकुनिकी सहायतासे सुरक्षित एवं धन-धान्यसे समृद्ध इस पृथ्वीका शासन करो ॥ २३ ॥

**भ्रातॄन् पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बान्धवाश्चोपजीवन्तु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥**

'जैसे इन्द्र मरुद्गणोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम अपने अन्य भाइयोंका विश्वासपूर्वक पालन करना । जैसे देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे बान्धवजन भी तुम्हारा आश्रय लेकर जीविका चलावें ॥२४॥

**ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥**

'प्रमाद छोड़कर सदा ब्राह्मणोंकी जीविकाकी व्यवस्था एवं रक्षा करना । बन्धुओं तथा सुहृदोंको सदैव सहारा देते रहना ॥ २५ ॥

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान् यथा ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् शात्रवांश्चावभर्त्सयन् ।
कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥

'जैसे भगवान् विष्णु देवताओंपर कृपादृष्टि रखते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कुटुम्बीजनोंकी देखभाल करते रहना और गुरुजनोंका सदैव पालन करना। अच्छा, अब जाओ और समस्त सुहृदोंका आनन्द बढ़ाते तथा शत्रुओंकी भर्त्सना करते हुए अपनी अधिकृत भूमिकी रक्षा करो ।' ऐसा कहकर दुर्योधनने दुःशासनको गलेसे लगा लिया और गद्गद कण्ठसे कहा—'जाओ' ॥ २६-२७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ।
प्रसीदेत्यपतद् भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर दुःशासनका गला भर आया। वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो दीनभावसे हाथ जोड़कर अपने बड़े भाईके चरणोंमें गिर पड़ा और गद्गद वाणीमें व्यथित चित्तसे इस प्रकार बोला—'भैया ! आप प्रसन्न हों !' ऐसा कहकर वह धरतीपर लोट गया और दुःखसे कातर हो दुर्योधनके दोनों चरणोंमें अपने नेत्रोंका अश्रुजल चढ़ाता हुआ नरश्रेष्ठ दुःशासन यों बोला—'नहीं, ऐसा नहीं होगा ॥

विदीर्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात् सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत् तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३२ ॥
न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम् ।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥

'चाहे सारी पृथ्वी फट जाय, आकाशके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, सूर्य अपनी प्रभा और चन्द्रमा अपनी शीतलता त्याग दें, वायु अपनी तीव्र गति छोड़ दें, हिमालय अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर घूमने लगे, समुद्रका जल सूख जाय तथा अग्नि अपनी उष्णता त्याग दे; परंतु मैं आपके बिना इस पृथ्वीका शासन नहीं करूँगा। राजन् ! अब आप प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये ।' इस अन्तिम वाक्यको दुःशासनने बार-बार दुहराया और इस प्रकार कहा—॥ ३१—३३ ॥

त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः ।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
पादौ संस्पृश्य मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।

'भैया ! आप ही हमारे कुलमें सौ वर्षोंतक राजा बने रहेंगे ।' जनमेजय ! ऐसा कहकर दुःशासन अपने बड़े भाईके माननीय चरणोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा ॥ ३४½ ॥

तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ ॥ ३५ ॥
अधिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत ।

दुःशासन और दुर्योधनको इस प्रकार दुखी होते देख कर्णके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उसने निकट जाकर उन दोनोंसे कहा—॥ ३५½ ॥

विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात् प्राकृताविव ॥ ३६ ॥
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित् ।

'कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरो ! तुम दोनों गँवारोंकी तरह नासमझीके कारण इतना विषाद क्यों कर रहे हो ? शोकमें डूबे रहनेसे किसी मनुष्यका शोक कभी निवृत्त नहीं होता ॥ ३६½ ॥

यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ३७ ॥
सामर्थ्यं किं ततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः ।
धृतिं गृह्णीत मा शत्रून् शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ॥ ३८ ॥

जब शोक करनेवालेका शोक उसपर आये हुए संकटको टाल नहीं सकता है, तब उसमें क्या सामर्थ्य है ? यह तुम दोनों भाई शोक करके प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतः धैर्य धारण करो। शोक करके तो शत्रुओंका हर्ष ही बढ़ाओगे ॥ ३७-३८ ॥

कर्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम् ।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ॥ ३९ ॥

'राजन् ! पाण्डवोंने गन्धर्वोंके हाथसे तुम्हें छुड़ाकर अपने कर्तव्यका ही पालन किया है। राजाके राज्यमें रहनेवालोंको सदा ही उसका प्रिय करना चाहिये ॥ ३९ ॥

पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः ।
नार्हस्येवंगते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद् यथा ॥ ४० ॥

'तुमसे सुरक्षित होकर वे यहाँ निश्चिन्ततापूर्वक निवास कर रहे हैं। ऐसी दशामें तुम्हें निम्न कोटिके मनुष्योंकी तरह दीनतापूर्ण खेद नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते ।
(तदलं दुःखितानेतान् कर्तुं सर्वान् नराधिप ॥)
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ४१ ॥

'राजन् ! तुम आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठे हो और इधर तुम्हारे सगे भाई शोक एवं विषादमें डूबे हुए हैं। बस, इन सबको दुखी करनेसे कोई लाभ नहीं है। तुम्हारा भला हो। उठो, चलो और अपने भाइयोंको आश्वासन दो' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके समझानेपर भी दुर्योधनका आमरण अनशन करनेका ही निश्चय

कर्ण उवाच

राजन्नाद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम्।
किमत्र चित्रं यद् वीर मोक्षितः पाण्डवैररिसि ॥ १ ॥
सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन।

कर्ण बोला—राजन्! आज तुम जो यहाँ इतनी लघुताका अनुभव कर रहे हो, इसका कोई कारण मेरी समझमें नहीं आता। शत्रुनाशक वीर! यदि एक बार शत्रुओंके वशमें पड़ जानेपर पाण्डवोंने तुम्हें छुड़ाया है, तो इसमें कौन अद्भुत बात हो गयी? ॥ १½ ॥

सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ॥ २ ॥
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम्।

कुरुश्रेष्ठ! जो राजकीय सेनामें रहकर जीविका चलाते हैं तथा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, वे ज्ञात हों या अज्ञात; उनका कर्तव्य है कि वे सदा राजाका प्रिय करें ॥ २½ ॥

प्रायःप्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ॥ ३ ॥
निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चैव सैनिकैः।

प्रायः देखा जाता है कि प्रधान पुरुष लड़ते-लड़ते शत्रुओंकी सेनाको व्याकुल कर देते हैं। फिर उसी युद्धमें वे बंदी बना लिये जाते हैं और साधारण सैनिकोंकी सहायतासे छूट भी जाते हैं ॥ ३½ ॥

सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ॥ ४ ॥
तैः सङ्गम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम्।

जो मनुष्य सेनाजीवी हैं अथवा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, उन सबको मिलकर अपने राजाके हितके लिये यथोचित प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४½ ॥

यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः ॥ ५ ॥
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना।

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें निवास करनेवाले पाण्डवोंने इसी नीतिके अनुसार दैववश तुम्हें शत्रुओंके हाथसे छुड़ा दिया है, तो इसमें खेद करनेकी क्या बात है? ॥ ५½ ॥

न चैतत् साधु यद् राजन् पाण्डवास्त्वां नृपोत्तमम्॥
स्वसेनया सम्प्रयान्तं नानुयान्ति स्म पृष्ठतः।

राजन्! आप श्रेष्ठ नरेश हैं और अपनी सेनाके साथ वनमें पधारे हैं, ऐसी दशामें यहाँ रहनेवाले पाण्डव यदि आपके पीछे-पीछे न चलते—आपकी सहायता न करते, तो यह उनके लिये अच्छी बात न होती ॥ ६½ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ॥ ७ ॥
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः।

पाण्डव शौर्यसम्पन्न, बलवान् तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले हैं। वे आपके दास तो बहुत पहले ही हो चुके हैं, अतः उन्हें आपका सहायक होना ही चाहिये ॥ ७½ ॥

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुञ्जसे ॥ ८ ॥
सत्त्वस्थान् पाण्डवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन्।
(तदलं ते महाबाहो विषादं कर्तुमीदृशम्।)
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

पाण्डवोंके पास जितने रत्न थे, उन सबका उपभोग आज तुम्हीं कर रहे हो; तथापि देखो, पाण्डव कितने धैर्यवान् हैं कि उन्होंने कभी आमरण अनशन नहीं किया। अतः महाबाहो! तुम्हारे इस प्रकार विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। राजन्! उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब यहाँ अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥

नरेश्वर! राजाके राज्यमें निवास करनेवाले लोगोंको अवश्य ही उसके प्रिय कार्य करने चाहिये। अतः इसके लिये पछताने या विलाप करनेकी क्या बात है? ॥ १० ॥

मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥

शत्रुओंका मानमर्दन करनेवाले महाराज! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे, तो मैं भी तुम्हारे चरणोंकी सेवा करता हुआ यहीं रह जाऊँगा ॥ ११ ॥

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ! तुमसे अलग होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता। राजन्! आमरण अनशनके लिये बैठ जानेपर तुम समस्त राजाओंके उपहासपात्र हो जाओगे ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने स्वर्गलोकमें ही जानेका निश्चय करके उस समय उठनेका विचार नहीं किया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनके प्रसङ्गमें कर्णवाक्यसम्बन्धी दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १३½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनिके समझानेपर भी दुर्योधनको प्रायोपवेशनसे विचलित होते न देखकर दैत्योंका कृत्याद्वारा उसे रसातलमें बुलाना

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सान्त्वयन् राजञ्छकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अमर्षमें भरकर आमरण उपवासके लिये बैठे हुए राजा दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए सुबलपुत्र शकुनिने कहा ॥ १ ॥

शकुनिरुवाच

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहाय किम् ॥ २ ॥

शकुनि बोला—कुरुनन्दन ! कर्णने बहुत अच्छी बात कही है, जो तुमने सुनी ही है। मैंने पाण्डवोंसे तुम्हारे लिये जिस समृद्धशालिनी राजलक्ष्मीका अपहरण किया है, तुम उसे मोहवश क्यों त्याग रहे हो ? ॥ २ ॥

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि ।
अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! तुम अपनी अल्पबुद्धिके कारण ही आज प्राणत्याग करनेको उतारू हो गये हो अथवा मैं समझता हूँ कि तुमने कभी वृद्धपुरुषोंका सेवन नहीं किया है ॥ ३ ॥

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ॥ ४ ॥

जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोकपर नियन्त्रण नहीं रखता, वह राजलक्ष्मीको पाकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है; जैसे मिट्टीका कच्चा बर्तन पानीमें गल जाता है ॥४॥

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद् विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अत्यन्त डरपोक, बहुत कायर, दीर्घसूत्री (आलसी), प्रमादी और दुर्व्यसनवश विषयोंमें फँसा होता है, उसे प्रजा अपना स्वामी नहीं स्वीकार करती है ॥५॥

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् ।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालम्ब्य नाशय ॥ ६ ॥

पाण्डवोंने तुम्हारा सत्कार किया है, तो तुम्हें शोक हो रहा है। इसके विपरीत यदि उन्होंने तिरस्कार किया होता, तो न जाने तुम्हारी कैसी दशा हो जाती ? कुन्तीकुमारोंने जो सद्व्यवहार किया है, उसे तुम शोकका आश्रय लेकर नष्ट न कर दो ॥ ६ ॥

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः ।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! जहाँ तुम्हें हर्ष मनाना और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिये था, वहाँ तुम शोक कर रहे हो। तुम्हारा यह व्यवहार तो उल्टा ही है ॥ ७ ॥

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ८ ॥

अतः मनमें प्रसन्नता लाओ। शरीरका त्याग न करो। पाण्डवोंने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है, उसे स्मरण करो और संतुष्ट होकर उनका राज्य उन्हें लौटा दो। ऐसा करके यश और धर्मके भागी बनो ॥ ८ ॥

क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ॥ ९ ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि ।

मेरे इस प्रस्तावको समझकर ऐसा ही करो। इससे तुम कृतज्ञ माने जाओगे। पाण्डवोंके साथ उत्तम भाईचारेका बर्ताव करके उन्हें राज्यसिंहासनपर बिठा दो और उनका पैतृक राज्य उन्हें समर्पित कर दो। इससे तुम्हें सुख प्राप्त होगा ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ॥ १० ॥
पादयोः पतितं वीरं विकृतं भ्रातृसौहृदम् ।
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ॥ ११ ॥
उत्थाप्य सम्परिष्वज्य प्रीत्याजिघ्रत मूर्धनि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! शकुनिका यह वचन सुनकर दुर्योधनने अपने चरणोंमें पड़े हुए म्लान मुखवाले भ्रातृभक्त शत्रुदमन वीर दुःशासनकी ओर देखकर अपनी सुन्दर बाँहोंद्वारा उसे उठाया और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघा ॥ १०-११½ ॥

कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ॥ १२ ॥
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत् परम् ॥ १३ ॥

कर्ण और शकुनिकी भी बातें सुनकर राजा दुर्योधन अत्यन्त उदास हो गया तथा मन-ही-मन लज्जासे अभिभूत हो उसने बड़ी निराशाका अनुभव किया ॥ १२-१३ ॥

तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया ॥ १४ ॥

नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ।

सब सुहृदोंके वचन सुनकर दुर्योधनने उनसे कुपित हो इस प्रकार कहा—'मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य, शासन और भोग किसीकी भी आवश्यकता नहीं है । तुमलोग मेरे निश्चयमें बाधा न डालो । यहाँसे चले जाओ । आमरण अनशन करनेके सम्बन्धमें मेरी बुद्धिका निश्चय अटल है । तुम सब लोग नगरको जाओ और वहाँ मेरे गुरुजनोंका सदा आदर-सत्कार करो' ॥ १४-१५½ ॥

त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत ।
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तर पाकर सब सुहृदोंने शत्रुदमन राजा दुर्योधनसे कहा—'राजेन्द्र ! तुम्हारी जो गति होगी, वही हमारी भी होगी । भारत ! हम तुम्हारे बिना हस्तिनापुरमें कैसे प्रवेश करेंगे ?' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च ।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनको उसके सुहृद्, मन्त्री, भाई तथा स्वजनोंने बहुतेरा समझाया, परंतु कोई भी उसे अपने निश्चयसे विचलित न कर सका ॥ १८ ॥

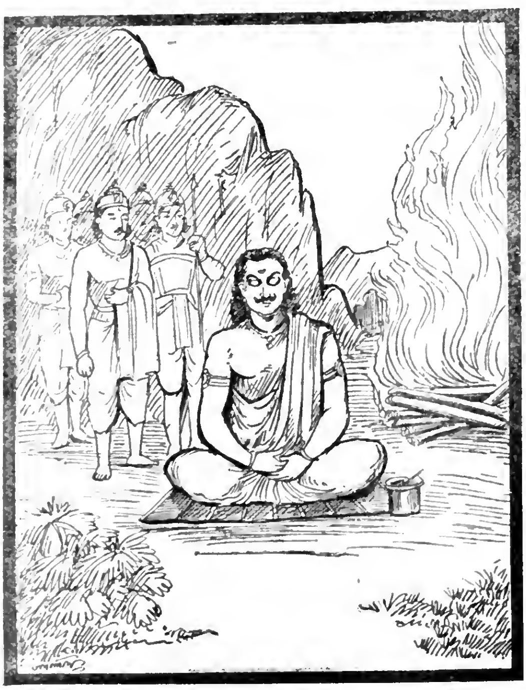

दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद् धृतराष्ट्रजः ।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥
कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः ।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥
मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः ।

धृतराष्ट्रपुत्र नृपश्रेष्ठ दुर्योधन अपने निश्चयपर अटल रहकर आचमन करके पवित्र हो पृथ्वीपर कुशका आसन बिछा कुश और वल्कलके वस्त्र धारण करके बैठा और स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे वाणीका संयम करके उपवासके उत्तम नियमोंका पालन करने लगा । उस समय उसने मनके द्वारा मरनेका ही निश्चय करके स्नान-भोजन आदि बाह्य क्रियाओंको सर्वथा त्याग दिया था ॥ १९-२०½ ॥

अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः ।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसम्भवम् ।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ॥ २३ ॥
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः ।
मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २४ ॥

दुर्योधनके इस निश्चयको जानकर पातालवासी भयंकर दैत्यों और दानवोंने, जो पूर्वकालमें देवताओंसे पराजित हो चुके थे, मन-ही-मन विचार किया कि इस प्रकार दुर्योधनका प्राणान्त होनेसे तो हमारा पक्ष ही नष्ट हो जायगा; अतः उसे अपने पास बुलानेके लिये मन्त्रविद्यामें निपुण दैत्योंने उस समय बृहस्पति और शुक्राचार्यके द्वारा वर्णित तथा अथर्ववेदमें प्रतिपादित मन्त्रोंद्वारा अग्निविस्तारसाध्य यज्ञकर्मका अनुष्ठान आरम्भ किया और उपनिषद् (आरण्यक) में जो मन्त्रजपसे युक्त हवनादि क्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनका भी सम्पादन किया ॥ २१–२४ ॥

जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत् सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणा वेदवेदाङ्गपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥

तब दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें घृत और खीरकी आहुति देने लगे ॥ २५ ॥

कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुता ।
कृत्या समुत्थिता राजन् किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

राजन् ! कर्मकी सिद्धि होनेपर वहाँ यज्ञकुण्डसे उस समय एक अत्यन्त अद्भुत कृत्या जँभाई लेती हुई प्रकट हुई और बोली—'मैं क्या करूँ ?' ॥ २६ ॥

आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनान्तरात्मना ।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहानय ॥ २७ ॥

तब दैत्योंने प्रसन्नचित्त होकर उससे कहा—'तू प्रायोपवेशन करते हुए धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको यहाँ ले आ' ॥ २७ ॥

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥

'जो आज्ञा' कहकर वह कृत्या तत्काल वहाँसे प्रस्थित हुई और पलक मारते-मारते जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ पहुँच गयी ॥ २८ ॥

समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम्।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत्।
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ॥ ३० ॥

फिर राजाको साथ ले दो ही घड़ीमें रसातल आ पहुँची और दानवोंको उसके लाये जानेकी सूचना दे दी। राजा दुर्योधनको लाया गया देख सब दानव रातमें एकत्र हुए। उनके मनमें प्रसन्नता भरी थी और नेत्र हर्षातिरेकसे कुछ खिल उठे थे। उन्होंने दुर्योधनसे अभिमानपूर्वक यह बात कही ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दानवोंका दुर्योधनको समझाना और कर्णके अनुरोध करनेपर दुर्योधनका अनशन त्याग करके हस्तिनापुरको प्रस्थान

दानवा ऊचुः

भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात् प्रायोपवेशनम्।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चायशस्करीम् ॥ २ ॥

दानव बोले—भरतवंशका भार वहन करनेवाले महाराज सुयोधन! आप सदा शूरवीरों तथा महामना पुरुषोंसे घिरे रहते हैं, फिर आपने यह आमरण उपवास करनेका साहस क्यों किया है? आत्महत्या करनेवाला पुरुष तो अधोगतिको प्राप्त होता है और लोकमें उसकी निन्दा होती है, जो अयश फैलानेवाली है ॥ १-२ ॥

न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्यन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३ ॥

जो अभीष्ट कार्योंके विरुद्ध पड़ते हों; जिनमें बहुत पाप भरे हों तथा जो जड़मूलसहित अपना विनाश करनेवाले हों, ऐसे आत्महत्या आदि अशुभ कर्मोंमें आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष नहीं प्रवृत्त होते हैं ॥ ३ ॥

नियच्छैनां मतिं राजन् धर्मार्थसुखनाशिनीम्।
यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥

राजन्! आपका यह आत्महत्यासम्बन्धी विचार धर्म, अर्थ तथा सुख, यश, प्रताप और पराक्रमका नाश करनेवाला तथा शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला है, अतः इसे रोकिये ॥४॥

श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चात्मनो नृप।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥

प्रभो! एक रहस्यकी बात सुनिये। नरेश्वर! आपका स्वरूप दिव्य है तथा आपके शरीरका निर्माण भी अद्भुत प्रकारसे हुआ है। यह हमलोगोंसे सुनकर धैर्य धारण कीजिये ॥ ५ ॥

पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो राजन् महेश्वरात्।

पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें हमलोगोंने तपस्याद्वारा भगवान् शंकरकी आराधना करके आपको प्राप्त किया था। आपके शरीरका पूर्वभाग—जो नाभिसे ऊपर है, वज्रसमूहसे बना हुआ है ॥ ६ ॥

अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधः कायश्च तेऽनघ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥

वह किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण नहीं हो सकता। अनघ ! उसी प्रकार आपका नाभिसे नीचेका शरीर पार्वती-देवीने पुष्पमय बनाया है, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे स्त्रियोंके मनको मोहनेवाला है ॥ ७ ॥

एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार आपका शरीर देवी पार्वतीके साथ साक्षात् भगवान् महेश्वरने संघटित किया है। अतः राजसिंह ! आप मनुष्य नहीं, दिव्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून्॥ ९ ॥

भगदत्त आदि महापराक्रमी क्षत्रिय दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा शौर्यसम्पन्न हैं। वे आपके शत्रुओंका संहार करेंगे ॥ ९ ॥

तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते।
साहाय्यार्थं च ते वीराःसम्भूता भुवि दानवाः॥ १० ॥

अतः आपको शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपको कोई भय नहीं है। आपकी सहायताके लिये बहुत-से वीर दानव भूतलपर प्रकट हो चुके हैं ॥ १० ॥

भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः॥ ११ ॥

दूसरे भी अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे, जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दयाको त्यागकर आपके शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ११ ॥

नैव पुत्रान् न च भ्रातॄन् न पितॄन् न च बान्धवान्।
नैव शिष्यान् न च ज्ञातीन् न बालान् स्थविरान् न च १२
युधि सम्प्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ! दानवोंका आवेश होनेपर भीष्म, द्रोण आदिकी अन्तरात्मापर भी उन दानवोंका ही अधिकार हो जायगा। उस दशामें युद्धमें स्नेहरहित हो प्रहार करते हुए वे लोग पुत्रों, भाइयों, पितृजनों, बान्धवों, शिष्यों, कुटुम्बीजनों, बालकों तथा बूढ़ोंको भी नहीं छोड़ेंगे ॥ १२-१३ ॥

प्रहरिष्यन्ति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः।
हृष्टाः पुरुषशार्दूला कलुषीकृतमानसाः।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥

वे पुरुषसिंह भीष्म आदि वीर (दानवोंके आवेशके कारण) विवश होकर अज्ञानसे मोहित हो जायँगे। उनके मनमें मलिनता आ जायगी और वे स्नेहको दूर छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे। इसमें विधिनिर्मित होनहार ही कारण है ॥ १४ ॥

व्याभाषमाणाश्चान्योन्यं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ॥ १५ ॥
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम्।

एक दूसरेके विरुद्ध भाषण करते हुए वे सब योद्धा कहेंगे—'आज तू मेरे हाथोंसे जीवित नहीं बच सकता।' कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए पराक्रमपर डटे रहेंगे और परस्पर होड़ लगाकर जनसंहार करेंगे ॥१५½॥

तेऽपि पञ्च महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पाण्डवाः॥ १६॥
वधं चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः।

वे दैवप्रेरित महाबली महात्मा पाँचों पाण्डव भी इन भीष्म आदिका सामना करते हुए इनका वध करेंगे ॥ १६½ ॥

दैत्यरक्षोगणाश्चैव सम्भूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥
योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥
(प्रहरिष्यन्ति ते वीरास्तवारिषु महाबलाः।)

राजन् ! दैत्यों तथा राक्षसोंके समुदाय क्षत्रिययोनिमें उत्पन्न हुए हैं, जो आपके शत्रुओंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करेंगे। वे महाबली वीर दैत्य आपके शत्रुओंपर गदा, मुसल, शूल तथा अन्य छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे ॥

यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसम्भवम्।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥

वीर ! आपके भीतर जो अर्जुनका भय समाया हुआ है, वह भी निकाल देना चाहिये, क्योंकि हमलोगोंने अर्जुनके वधका उपाय भी कर लिया है ॥ १९ ॥

हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः।
तद् वैरं संस्मरन् वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥

श्रीकृष्णके हाथों जो नरकासुर मारा गया है, उसकी आत्मा कर्णके शरीरमें घुस गयी है। वीरवर ! वह (नरकासुर) उस वैरको याद करके श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध करेगा ॥

स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन् महारथः ॥ २१ ॥

महारथी कर्ण योद्धाओंमें श्रेष्ठ और अपने पराक्रमपर

गर्व रखनेवाला है। वह रणभूमिमें अर्जुन तथा आपके अन्य सब शत्रुओंपर अवश्य विजयी होगा ॥ २१ ॥

ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः।
कुण्डले कवचं चैव कर्णस्यापहरिष्यति ॥ २२ ॥

इस बातको समझकर वज्रधारी इन्द्र अर्जुनकी रक्षाके लिये छल करके कर्णके कुण्डल और कवचका अपहरण कर लेंगे ॥ २२ ॥

तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ॥ २३ ॥
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यन्ति च मा शुचः।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥

इसीलिये हमलोगोंने भी एक लाख दैत्यों तथा राक्षसोंको इस काममें लगा रक्खा है, जो संशप्तक नामसे विख्यात हैं। वे वीर अर्जुनको मार डालेंगे। अतः आप शोक न करें। नरेश्वर! आपको इस पृथ्वीका निष्कंटक राज्य भोगना है ॥

मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते।
विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥

अतः कुरुनन्दन! आप विषाद न करें। यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके नष्ट हो जानेपर तो हमारे पक्षका ही नाश हो जायगा ॥ २५ ॥

गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथञ्चन।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पाण्डवाः ॥ २६ ॥

वीरवर! जाइये। अब आपको किसी तरह भी अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। देखिये, देवताओंने पाण्डवोंका आश्रय ले रक्खा है; परंतु हमारी गति तो सदा आप ही हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुञ्जरम्।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद् दानवर्षभाः ॥ २७ ॥
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दुर्धर्ष वीर नृपशिरोमणि दुर्योधनसे ऐसा कहकर दैत्यों तथा दानवेश्वरोंने उसे पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाया और आश्वासन देकर उसकी बुद्धिको स्थिर किया। भारत! तत्पश्चात् प्रिय वचन बोलकर उन्होंने दुर्योधनको जानेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—'अब आप जाइये और शत्रुओंपर विजय प्राप्त कीजिये' ॥ २७-२८ ॥

तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत् पुनः।
तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥

दैत्योंके विदा करनेपर उसी कृत्याने महाबाहु दुर्योधनको पुनः उसी स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ वह पहले आमरण उपवासके लिये बैठा था ॥ २९ ॥

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३० ॥

वीर राजा दुर्योधनको वहाँ रखकर कृत्याने उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और उससे आज्ञा लेकर जैसे आयी थी, वैसे ही अदृश्य हो गयी ॥ ३० ॥

गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयत भारत ॥ ३१ ॥
(सम्मृश्य तानि वाक्यानि दानवोक्तानि दुर्मतिः।)
विजेष्यामि रणे पाण्डूनिति चास्याभवन्मतिः।

भारत! कृत्याके चले जानेपर राजा दुर्योधनने इन सारी बातोंको स्वप्न समझा। दैत्योंके कहे हुए वचनोंपर विचार करके दुर्बुद्धि दुर्योधनके मनमें यह संकल्प उदित हुआ कि 'मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा' ॥ ३१½ ॥

कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ॥ ३२ ॥
अमन्यत वधे युक्तान् समर्थांश्च सुयोधनः।

दुर्योधनने यह मान लिया कि संशप्तकगण तथा कर्ण ये शत्रुघाती अर्जुनके वधमें लगे हुए हैं और इसके लिये वे समर्थ हैं ॥ ३२½ ॥

एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥
विनिर्जये पाण्डवानामभवद् भरतर्षभ।

जनमेजय! इस प्रकार उस खोटी बुद्धिवाले धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें पाण्डवोंपर विजय पानेकी दृढ़ आशा हो गयी ॥ ३३½ ॥

कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ॥ ३४ ॥
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम्।

इधर कर्ण भी नरकासुरकी अन्तरात्मासे आविष्टचित्त होनेके कारण अर्जुनका वध करनेके लिये क्रूरतापूर्ण संकल्प करने लगा ॥ ३४½ ॥

संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥
रजस्तमोभ्यामाक्रान्ताः फाल्गुनस्य वधैषिणः।

इसी प्रकार राक्षसोंसे आविष्टचित्त होकर वे संशप्तक वीर भी रजोगुण और तमोगुणसे आक्रान्त हो अर्जुनको मार डालनेकी इच्छा रखने लगे ॥ ३५½ ॥

भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रान्तचेतसः ॥ ३६ ॥
न तथा पाण्डुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशाम्पते।

राजन्! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके मनपर भी दानवोंने अधिकार कर लिया था। अतः पाण्डवोंके प्रति उनका भी वैसा स्नेह नहीं रह गया ॥ ३६½ ॥

(कृत्ययाऽऽनाय्य कथितं यत् तस्यां निशि दानवैः।)
न चाचचक्षे कस्मैचिदेतद् राजा सुयोधनः ॥ ३७ ॥

दानवोंने रातमें कृत्याद्वारा अपने यहाँ बुलाकर जो बातें कही थीं, उन्हें राजा दुर्योधनने किसीपर भी प्रकट नहीं किया ॥

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत्।
स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद् वचः ॥ ३८ ॥

वह रात बीतनेपर सूर्यपुत्र कर्णने आकर राजा दुर्योधनसे हाथ जोड़ मुसकराते हुए यह युक्तियुक्त वचन कहा—॥३८॥

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन् भद्राणि पश्यति ।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥ ३९ ॥

'कुरुनन्दन ! मरा हुआ मनुष्य कभी शत्रुओंपर विजय नहीं पाता । जो जीवित रहता है, वह कभी सुखके दिन भी देखता है । मरे हुएको कहाँ सुख और कहाँ विजय ? ॥

न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ।
परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥ ४० ॥

'यह समय शोक मनाने, भयभीत होने अथवा मरनेका नहीं है', यह कहकर महाबाहु कर्णने दोनों भुजाओंसे खींचकर दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—॥ ४० ॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन्।
शत्रून् प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥

'शत्रुघाती नरेश ! उठो, क्यों सो रहे हो ? किसलिये शोक करते हो ? अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करके अब मृत्युकी इच्छा क्यों करते हो ? ॥ ४१ ॥

अथवा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम् ।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ४२ ॥

'अथवा यदि तुम्हें अर्जुनका पराक्रम देखकर भय हो गया हो, तो मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्धमें अर्जुनको अवश्य मार डालूँगा ॥ ४२ ॥

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे ।
आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥

'महाराज ! मैं धनुष छूकर सचाईके साथ यह शपथ ग्रहण करता हूँ कि तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होते ही पाण्डवोंको तुम्हारे वशमें ला दूँगा' ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात् तथा ।
प्रणिपातेन चान्येषामुदतिष्ठत् सुयोधनः ॥ ४४ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर और इन दुःशासन आदि भाइयों-के प्रणामपूर्वक अनुनय विनय करनेपर दैत्योंके वचनोंका स्मरण करके दुर्योधन अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ ।४४।

दैत्यानां तद् वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् ।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम् ।
गङ्गौघप्रतिमा राजन् सा प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥

दैत्योंके पूर्वोक्त कथनको याद करके नरश्रेष्ठ दुर्योधनने पाण्डवोंसे युद्ध करनेका पक्का विचार कर लिया और फिर हस्तिनापुर जानेके लिये रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकों-से युक्त अपनी चतुरंगिणी सेनाको तैयार होनेकी आज्ञा दी । राजन् ! वह विशाल वाहिनी गङ्गाके प्रवाहके समान चलने लगी ॥ ४५-४६ ॥

श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः ।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ॥ ४७ ॥
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी।

श्वेत छत्र, पताका, शुभ्र चँवर, रथ, हाथी और पैदल योद्धाओंसे भरी हुई वह कौरव सेना शरत्कालमें कुछ-कुछ व्यक्त शारदीय सुषमासे सुशोभित आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ ४७½ ॥

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥४८॥
गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सम्राट्‌की भाँति श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके मुखसे विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ अपनी स्तुति सुनता तथा लोगोंकी प्रणामाञ्जलियोंको ग्रहण करता हुआ उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित हो आगे-आगे चला ॥ ४८-४९ ॥

कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना ।
दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५० ॥
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५१ ॥
प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः ।
कालेनाल्पेन राजेन्द्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥

राजेन्द्र ! कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिके साथ दुःशासन आदि सब भाई, भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लीक—ये सभी कुरुकुलरत्न नाना प्रकारके रथों, गजराजों तथा घोड़ोंपर बैठकर राजसिंह दुर्योधनके पीछे-पीछे चल रहे थे । जनमेजय ! थोड़े समयमें उन सबने अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ५०-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका नगरमें प्रवेशविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मका कर्णकी निन्दा करते हुए दुर्योधनको पाण्डवोंसे संधि करनेका परामर्श देना, कर्णके क्षोभपूर्ण वचन और दिग्विजयके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन् महात्मसु।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः॥ १॥

जनमेजय बोले—मुने! जब महात्मा पाण्डव उस वनमें निवास करते थे, उन दिनों महान् धनुर्धर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र-पुत्रोंने क्या किया?॥ १॥

कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि॥ २॥

सूर्यपुत्र कर्ण, महाबली शकुनि, भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य—इन सबने कौन-सा कार्य किया? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः॥ ३॥
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्तराष्ट्रमिदं वचः।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! पाण्डवोंद्वारा गन्धर्वोंसे छुटकारा मिल जानेपर जब दुर्योधन विदा होकर हस्तिनापुर पहुँच गया और पाण्डव जाकर पूर्ववत् बनमें ही रहने लगे, तब भीष्मजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यह बात कही—॥ ३½॥

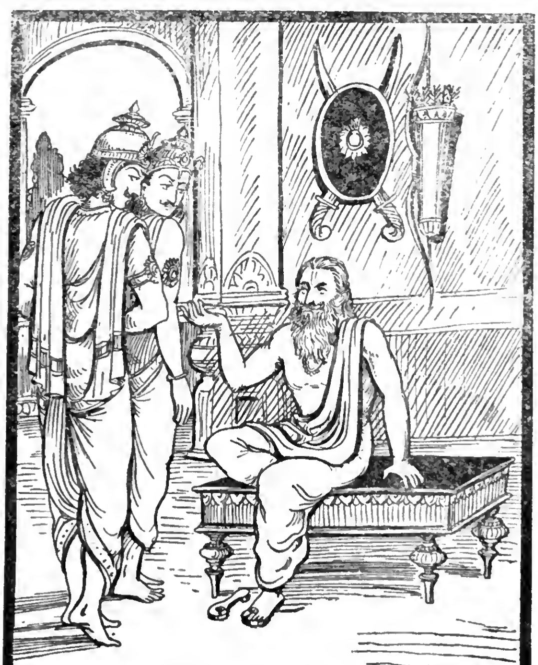

उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम्॥ ४॥
गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते।

'तात! तुम्हारे तपोवन जाते समय जैसा कि मैंने पहले ही कह दिया था, वही आज भी कह रहा हूँ। मुझे तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा नहीं लगा और वहाँ जाकर तुमने जो कुछ किया, वह भी पसंद नहीं आया॥ ४½॥

ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात्॥ ५॥
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे।

'वीर! शत्रुओंने तुम्हें वहाँ बलपूर्वक बंदी बना लिया और धर्मज्ञ पाण्डवोंने तुम्हें उस संकटसे छुड़ाया है। क्या अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती?॥ ५½॥

प्रत्यक्षं तव गान्धारे ससैन्यस्य विशाम्पते॥ ६॥
सूतपुत्रोऽपयाद् भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात्।

'गान्धारीनन्दन! सेनासहित तुम्हारे सामने ही सूतपुत्र कर्ण गन्धर्वोंसे भयभीत हो युद्धभूमिसे भाग निकला॥ ६½॥

क्रोशतस्तव राजेन्द्र ससैन्यस्य नृपात्मज॥ ७॥
दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम्।

राजेन्द्र! राजकुमार! जब सेनासहित तुम चीखते-चिल्लाते रहे उस समय महात्मा पाण्डवोंने जो पराक्रम कर दिखाया था वह भी तुमने प्रत्यक्ष देखा है॥ ७½॥

कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः॥ ८॥
न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल॥ ९॥

महाबाहो! उस समय खोटी बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णका पराक्रम भी तुमसे छिपा नहीं था। नृपश्रेष्ठ! धर्मवत्सल! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धनुर्वेद, शौर्य और धर्माचरणमें कर्ण पाण्डवोंकी अपेक्षा चौथाई योग्यता भी नहीं रखता है॥ ८-९॥

तस्मादहं क्षमं मन्ये पाण्डवैस्तैर्महात्मभिः।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्यास्य विवृद्धये॥ १०॥

'अतः संधिवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश! मैं तो इस कुलके अभ्युदयके लिये उन महात्मा पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ'॥ १०॥

एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः।
प्रहस्य सहसा राजन् विप्रतस्थे ससौबलः॥ ११॥

राजन्! भीष्मके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन हँस पड़ा

और शकुनिके साथ सहसा वहाँसे अन्यत्र चला गया ॥ ११ ॥

तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥

महाबली दुर्योधनको अन्यत्र गया जान कर्ण और दुःशासन आदि महान् धनुर्धरोंने उसका अनुसरण किया ॥ १२ ॥

तांस्तु सम्प्रस्थितान् दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥

राजन्! उन सबको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुरुकुल-पितामह भीष्म लज्जित होकर अपने आवासस्थानको चले गये ॥ १३ ॥

गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः।
पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥ १४ ॥

महाराज! भीष्मके चले जानेपर राजा दुर्योधन फिर उसी स्थानपर लौट आया और अपने मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगा— ॥ १४ ॥

किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते।
कथं च सुकृतं तत् स्यान्मन्त्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥

'मित्रो! क्या करनेसे हमलोगोंकी भलाई होगी? हमारे लिये कौन-सा कार्य शेष रह गया है? कैसे करनेसे हमारा कार्य शुभ परिणामजनक होगा? क्या करनेमें हमारा हित है? आज इसी विषयपर हमलोगोंको विचार करना है' ॥ १५ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
भीष्मोऽस्मान् निन्दति सदा पाण्डवांश्च प्रशंसति ॥ १६ ॥

कर्ण बोला—कुरुकुलरत्न दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसपर ध्यान दो। भीष्म सदा हमारी निन्दा और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

त्वद्द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥

महाबाहो! वे तुम्हारे प्रति द्वेष होनेसे मुझसे भी द्वेष रखते हैं। नरेश्वर! तुम्हारे सामने वे सदा मेरी निन्दा ही किया करते हैं ॥ १७ ॥

सोऽहं भीष्मवचस्तद् वै न मृष्यामीह भारत।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणामित्रकर्षण ॥ १८ ॥
पाण्डवानां यशो राजंस्तव निन्दां च भारत।
अनुजानीहि मां राजन् सभृत्यबलवाहनम् ॥ १९ ॥

भारत! तुम्हारे सामने भीष्मने जो कुछ कहा है, उसे मैं सहन नहीं कर सकता। शत्रुदमन! भरतकुलनन्दन! उन्होंने जो पाण्डवोंका यश गाया और तुम्हारी निन्दा की है, यह मेरे लिये असह्य है। अतः तुम मुझे सेवक, सेना तथा सवारियोंके साथ दिग्विजय करनेकी आज्ञा दो ॥ १८-१९ ॥

जेष्यामि पृथिवीं राजन् सशैलवनकाननाम्।
जिता च पाण्डवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः।
सम्पश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥

राजन्! मैं पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वीको जीत लूँगा। जिस भूमिपर चार बलशाली पाण्डवोंने मिलकर विजय पायी है, उसे मैं तुम्हारे लिये अकेला ही जीत लूँगा, इसमें संशय नहीं है। खोटी बुद्धिवाला कुरुकुलाधम भीष्म मेरे इस पराक्रमको अपनी आँखों देखे ॥ २०-२१ ॥

अनिन्द्यं निन्दते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ॥ २२ ॥

जो अनिन्दनीयकी निन्दा और अप्रशंसनीयकी प्रशंसा करता है, वह भीष्म आज मेरा बल देख ले और अपने आपको धिक्कारे ॥ २२ ॥

अनुजानीहि मां राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥

राजन्! मुझे आज्ञा दो। तुम्हारी विजय निश्चित है। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ और शस्त्र छूकर शपथ करता हूँ ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन् कर्णस्य भरतर्षभ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन्! कर्णकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधनने बड़ी प्रसन्नताके साथ उससे कहा— ॥ २४ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाद्य मे ॥ २५ ॥

'वीर! मैं धन्य हूँ, तुम्हारे अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि तुम-जैसे महाबली सुहृद् सदा मेरे हितसाधनमें लगे रहते हैं। आज मेरा जन्म सफल हो गया ॥ २५ ॥

यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥

'वीरवर! जब तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे द्वारा सब शत्रुओंका संहार हो सकता है, तब तुम दिग्विजयके लिये यात्रा करो। तुम्हारा कल्याण हो। मुझे आवश्यक व्यवस्थाके लिये आज्ञा दो ॥ २६ ॥

एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्तराष्ट्रेण धीमता।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिमकरिंदम ॥ २७ ॥

जनमेजय! बुद्धिमान् दुर्योधनके इस प्रकार कहनेपर कर्णने यात्रासम्बन्धी सारी आवश्यक तैयारीके लिये आज्ञा दे दी ॥ २७ ॥

प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २८॥
मङ्गलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः।
नादयन् रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २९॥

तदनन्तर महान् धनुर्धर कर्णने माङ्गलिक शुभ पदार्थोंसे जलके द्वारा स्नान करके द्विजातियोंकी आशीर्वादमय वाणीसे सम्मानित एवं प्रशंसित हो शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि और शुभ मुहूर्तमें यात्रा की। उस समय वह अपने रथकी घर्घराहटसे चराचर भूतोंसहित समस्त त्रिलोकीको प्रतिध्वनित कर रहा था॥ २८-२९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२५३॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा सारी पृथ्वीपर दिग्विजय और हस्तिनापुरमें उसका सत्कार

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर महाधनुर्धर कर्णने अपनी विशाल सेनाके साथ जाकर राजा द्रुपदके रमणीय नगरको चारों ओरसे घेर लिया॥ १॥

युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम्।
सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च॥ २॥
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम।
तं विनिर्जित्य राजेन्द्र राजानस्तस्य येऽनुगाः॥ ३॥
तान् सर्वान् वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत्।

फिर महान् युद्ध करके उसने वीर द्रुपदको अपने वशमें कर लिया और उन्हें सोना, चाँदी, भाँति-भाँतिके रत्न एवं कर देनेके लिये विवश किया। नृपश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! इस प्रकार द्रुपदको जीतकर कर्णने उनके अनुयायी नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया और उन सबसे भी कर वसूल किया॥ २—३½॥

अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान्॥ ४॥
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत्।
हिमवन्तं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः॥ ५॥
प्रययौ च दिशः सर्वान् नृपतीन् वशमानयत्।
स हैमवतिकाञ्जित्वा करं सर्वानदापयत्॥ ६॥

तत्पश्चात् उसने उत्तर-दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको अपने वशमें कर लिया। भगदत्तको जीतकर राधानन्दन कर्ण शत्रुओंसे युद्ध करता हुआ महान् पर्वत हिमालयपर आरूढ़ हुआ। वहाँसे सब दिशाओंमें जाकर उसने समस्त राजाओंको अपने अधीन किया और हिमालयप्रदेशके समस्त भूपालोंको जीतकर उनसे कर लिया॥ ४—६॥

नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत्।
अवतीर्य ततः शैलात् पूर्वां दिशमभिद्रुतः॥ ७॥

तदनन्तर नेपालदेशमें जो राजा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की, फिर हिमालय पर्वतसे उतरकर उसने पूर्व दिशाकी ओर धावा किया॥ ७॥

अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च शुण्डिकान् मिथिलानथ।
मागधान् कर्कखण्डांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः॥ ८॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत्।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथागमत्॥ ९॥

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुण्डिक, मिथिला, मगध और कर्कखण्ड—इन सब देशोंको अपने राज्यमें मिलाकर कर्णने आवशीर, योध्य और अहिक्षत्र देशको भी जीत लिया। इस प्रकार पूर्व दिशापर विजय प्राप्त करके उसने वत्सभूमिमें पदार्पण किया॥ ८-९॥

वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम्।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा॥ १०॥
एतान् सर्वान् विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः।

वत्सभूमिको जीतकर कर्णने केवला, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरी तथा कोसला—इन सब देशोंको अपने अधिकारमें किया और सबसे कर लेकर (दक्षिण दिशाकी ओर) प्रस्थान किया॥ १०½॥

दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान्॥ ११॥
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम्॥ १२॥

दक्षिण दिशामें पहुँचकर कर्णने बड़े-बड़े महारथियोंको जीता। दाक्षिणात्योंमें रुक्मीके साथ कर्णने युद्ध किया। रुक्मीने पहले तो बड़ा भयंकर युद्ध किया, फिर उसने सूतपुत्र कर्णसे कहा॥

प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र विक्रमेण बलेन च।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम्॥ १३॥

'राजेन्द्र! मैं तुम्हारे बल और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे कार्यमें विघ्न नहीं डालूँगा। थोड़ी देर युद्ध करके मैंने केवल क्षत्रिय धर्मका पालन किया है॥१३॥

प्रीत्या चाहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पाण्ड्यं शैलं च सोऽगमत् ॥ १४ ॥

'तुम जितना सोना ले जाना चाहो, उतना मैं प्रसन्नतापूर्वक दे रहा हूँ।' इस प्रकार रुक्मीसे मिलकर कर्णने पाण्ड्यदेश तथा श्रीशैलकी ओर प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चान्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥
दक्षिणस्यां दिशि नृपान् करान् सर्वानदापयत् ।

उसने रणभूमिमें केरल नरेश, राजा नील तथा वेणुदारिपुत्रको हराया और दक्षिण दिशामें अन्य जितने प्रमुख भूपाल थे, उन सबको जीतकर उनसे कर वसूल किया ॥ १५½ ॥

शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनन्दनः ॥ १६ ॥
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन् वशे चक्रे महाबलः ।

इसके बाद सूतपुत्र महाबली कर्णने चेदिदेशमें जाकर शिशुपालके पुत्रको हराया और उसके पार्श्ववर्ती नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ १६½ ॥

आवन्त्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उसने सामनीतिके द्वारा अवन्तीदेशके राजाओंको वशमें करके वृष्णिवंशी यादवोंसे हिल-मिलकर पश्चिम दिशापर भी विजय प्राप्त की ॥ १७ ॥

वारुणीं दिशमागम्य यवनान् बर्बरांस्तथा ।
नृपान् पश्चिमभूमिस्थान् दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥

इसके बाद पश्चिम दिशामें जाकर यवन तथा बर्बर राजाओंको, जो पश्चिम देशके ही निवासी थे, पराजित करके उनसे कर लिया ॥ १८ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां स पूर्वापरदक्षिणाम् ।
सम्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥
भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥ २० ॥
शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः ।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओंकी समूची पृथ्वीको जीतकर म्लेच्छ, वनवासी, पर्वतीय, भद्र, रोहितक, आग्नेय तथा मालव आदि समस्त गणराज्योंको परास्त किया। इसके बाद नीतिके अनुसार काम करनेवाले सूतनन्दन कर्णने हँसते-हँसते शशक और यवन राजाओंको भी जीत लिया ॥ १९-२०½ ॥

नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणाञ्जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः ।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह महारथी कर्ण नग्नजित् आदि महारथी नरेशसमुदायोंको जीतकर सारी पृथ्वीको पराजित करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् हस्तिनापुरको लौट आया ॥ २१-२२ ॥

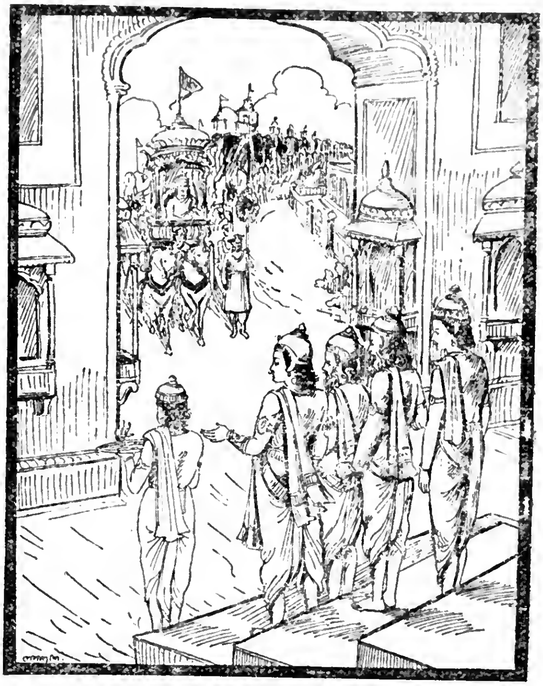

तमागतं महेष्वासं धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबान्धवः ॥ २३ ॥
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् ।
आश्रावयच्च तत् कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥ २४ ॥

महाराज! रणमें शोभा पानेवाले महाधनुर्धर कर्णको आया हुआ जान भाई, पिता तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधनने उसकी अगवानी की और विधिपूर्वक उसका स्वागत-सत्कार किया। तत्पश्चात् दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्णके दिग्विजयकी सब ओर घोषणा करा दी ॥ २३-२४ ॥

यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात् ।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उसने कर्णसे कहा—'वीरवर! तुम्हारा कल्याण हो। मुझे भीष्मजीसे, आचार्य द्रोणसे, कृपाचार्यसे तथा बाह्लिकसे भी जो वस्तु नहीं मिली थी, वह तुमसे प्राप्त हो गयी ॥ २५ ॥

बहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम ।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥ २६ ॥

'महाबाहु कर्ण! अधिक कहनेसे क्या लाभ? तुम मेरी बात सुनो। सत्पुरुषरत्न! तुम्हें अपना नाथ (सहायक) पाकर ही मैं सनाथ हूँ ॥ २६ ॥

न हि ते पाण्डवाः सर्वे कलामर्हन्ति षोडशीम्।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥

पुरुषसिंह ! वे समस्त पाण्डव अथवा अन्य श्रेष्ठतम नरेश तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

स भवान् धृतराष्ट्रं तं गान्धारीं च यशस्विनीम्।
पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद् यथा ॥ २८ ॥

'महाधनुर्धर कर्ण ! अब तुम मेरे पूज्य पिता धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी माता गान्धारीका उसी प्रकार दर्शन करो, जैसे वज्रधारी इन्द्र माता अदितिका दर्शन करते हैं' ॥२८॥

ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ॥ २९ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर हस्तिनापुर नगरमें सब ओर बड़ा भारी कोलाहल मच गया। अनेक प्रकारके हाहाकार सुनायी देने लगे ॥ २९ ॥

केचिदेनं प्रशंसन्ति निन्दन्ति स्म तथापरे।
तूष्णीमासंस्तथा चान्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥

राजन् ! कोई तो कर्णकी प्रशंसा करते थे और दूसरे उसकी निन्दा करते थे। अन्य कितने ही राजा निन्दा और प्रशंसा कुछ भी न करके मौन थे ॥ ३० ॥

एवं विजित्य राजेन्द्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥
देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि।
द्वीपैश्चानूपसम्पूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कालेन नातिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान्।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥

महाराज! इस प्रकार शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णने पर्वत, वन, खुले स्थान, समुद्र, उद्यान, ऊँचे-नीचे देश, पुर और नगर, द्वीप और जलयुक्त प्रदेशोंसे युक्त सारी पृथ्वीको जीतकर थोड़े ही समयमें समस्त राजाओंको वशमें कर लिया और उनसे अटूट धनराशि लेकर वह राजा धृतराष्ट्रके समीप आया ॥

प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यन्तरमरिंदम।
गान्धारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥
पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित्।
धृतराष्ट्रेण चाश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः ॥ ३५ ॥

शत्रुसूदन जनमेजय ! धर्मज्ञ वीर कर्णने अन्तःपुरमें प्रवेश करके गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका दर्शन किया और पुत्रकी भाँति उसने उनके दोनों चरण पकड़ लिये । धृतराष्ट्रने भी उसे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर विदा किया ॥ ३४-३५ ॥

तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः।
जानते निर्जितान् पार्थान् कर्णेन युधि भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तबसे राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि युद्धमें कर्णद्वारा पाण्डवोंको पराजित हुआ ही समझने लगे ॥ ३६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयसम्बन्धी दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण और पुरोहितकी सलाहसे दुर्योधनकी वैष्णवयज्ञके लिये तैयारी

वैशम्पायन उवाच

जित्वा तु पृथिवीं राजन् सूतपुत्रो जनाधिप।
अब्रवीत् परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सूतपुत्र कर्णने सारी पृथ्वीको जीतकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन दुर्योधन ! मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो। शत्रुदमन ! मेरी बात सुनकर उसके अनुसार सब कुछ करो ॥ २ ॥

तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥

वीर ! नृपश्रेष्ठ ! आज सारी पृथ्वी तुम्हारे लिये निष्कण्टक हो गयी है। जैसे महामना इन्द्र अपने शत्रुओंका संहार करके त्रिलोकीका पालन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीका पालन करो ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत् पुनः।
न किंचिद् दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं वै शृणु यथातथम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने पुनः उससे कहा—'पुरुषश्रेष्ठ !

जिसके सहायक तुम हो एवं जिसपर तुम्हारा अनुराग है, उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम सदा मेरे हितके लिये उद्यत रहते हो। मेरा एक मनोरथ है, जिसे यथार्थरूपसे बतलाता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

राजसूयं पाण्डवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत्।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां सम्पादय सूतज ॥ ६ ॥

सूतनन्दन! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके उस क्रतुश्रेष्ठ महान् राजसूय-यज्ञको देखकर मेरे मनमें भी उसे करनेकी इच्छा जाग उठी है। तुम इस इच्छाको पूर्ण करो' ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत्।
तवाद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥
आहूयन्तां द्विजवराः सम्भाराश्च यथाविधि।
सम्भ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर कर्णने उससे यह कहा— 'नृपश्रेष्ठ! इस समय भूपाल तुम्हारे वशमें हैं। कुरुकुलश्रेष्ठ! उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाओ और विधिपूर्वक यज्ञकी सामग्रियों तथा उपकरणोंको जुटाओ ॥ ७-८ ॥

ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः।
क्रियां कुर्वन्त ते राजन् यथाशास्त्रमरिंदम ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन नरेश! तुम्हारे द्वारा आमन्त्रित शास्त्रोक्त योग्यतासे सम्पन्न वेदज्ञ ऋत्विक् विधिके अनुसार सब कार्य करें ॥ ९ ॥

बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा महायज्ञ भी प्रचुर अन्नपानकी सामग्रीसे युक्त और अत्यन्त समृद्धिशाली गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्तराष्ट्रो विशाम्पते।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम्।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥

राजन्! कर्णके इस प्रकार अनुमोदन करनेपर दुर्योधनने अपने पुरोहितको बुलाकर यह बात कही—'ब्रह्मन्! आप मेरे लिये उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाइये' ॥ ११-१२ ॥

स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः।
(ब्राह्मणैः सहितो राजन् ये तत्रासन् समागताः।)
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ॥ १४ ॥
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम।

नरेश्वर! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर विप्रवर पुरोहितने वहाँ आये हुए अन्य ब्राह्मणोंके साथ इस प्रकार उत्तर दिया।— 'कौरवश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके जीते आपके कुलमें इस उत्तम क्रतु राजसूयका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। महाराज! अभी आपके दीर्घायु पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं, इसलिये भी यह यज्ञ आपके लिये अनुकूल नहीं पड़ता ॥ १३–१४½ ॥

अस्ति त्वन्यन्महत् सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥

प्रभो! एक दूसरा महान् यज्ञ है, जो राजसूयकी समानता रखता है ॥ १५ ॥

तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम।
य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥
ते करान् सम्प्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम्।
तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र! आप उसीके द्वारा भगवान्‌का यजन कीजिये और इसके सम्बन्धमें मेरी यह बात सुनिये। पृथ्वीनाथ! ये जो सब भूपाल आपको कर देते हैं, इन्हें आज्ञा दीजिये—ये लोग आपको सुवर्णके बने हुए आभूषण तथा सुवर्ण 'कर'के रूपमें अर्पण करें। नृपश्रेष्ठ! उसी सुवर्णसे आप एक हल तैयार करवाइये ॥ १६-१७ ॥

यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ॥ १८ ॥
प्रवर्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः।

'भारत! उसी हलसे आपके यज्ञमण्डपकी भूमि जोती जाय। नृपश्रेष्ठ! उस जोती हुई भूमिमें ही उत्तम संस्कारसे सम्पन्न, प्रचुर अन्नपानसे युक्त और सबके लिये खुला हुआ यज्ञ यथोचितरूपसे प्रारम्भ किया जाय ॥ १८½ ॥

एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ॥ १९ ॥
एतेन नेष्टवान् कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम्।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥

'यह मैंने आपको वैष्णव नामक यज्ञ बताया है जिसका अनुष्ठान सत्पुरुषोंके लिये सर्वथा उचित है। पुरातन पुरुष भगवान् विष्णुके सिवा और किसीने अबतक इस यज्ञका अनुष्ठान नहीं किया है। यह महायज्ञ क्रतुश्रेष्ठ राजसूयसे टक्कर लेनेवाला है ॥ १९-२० ॥

अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात् स्पृहा तव ॥ २१ ॥

'भारत! हमलोगोंको तो यही यज्ञ पसंद है और यही आपके लिये कल्याणकारी होगा। यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके सम्पन्न हो जाता है; अतः तुम्हारी यह यज्ञविषयक अभिलाषा भी इससे सफल होगी ॥ २१ ॥

(तस्मादेष महाबाहो तव यज्ञः प्रवर्तताम्।)
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'इसलिये महाबाहो ! तुम्हारा यह यज्ञ आरम्भ होना चाहिये ।' उन ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने कर्ण, शकुनि तथा अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात् प्रब्रूत मा चिरम् ॥ २३ ॥

'बन्धुओ ! मुझे तो इन ब्राह्मणोंकी सारी बातें रुचिकर जान पड़ती हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । यदि तुमलोगोंको भी यह बात अच्छी लगे, तो शीघ्र अपनी सम्मति प्रकट करो' ॥ २३ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान् यथाक्रमम् ॥ २४ ॥
हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर उन सबने राजासे 'तथास्तु' कहकर उसकी हाँमें हाँ मिला दी । तदनन्तर राजा दुर्योधनने काममें लगे हुए सब शिल्पियोंको क्रमशः हल बनानेकी आज्ञा दी । नृपश्रेष्ठ ! राजाकी आज्ञा पाकर सब शिल्पियोंने तदनुसार सारा कार्य क्रमशः सम्पन्न किया ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनयज्ञसमारम्भविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञका आरम्भ एवं समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्तराष्ट्रे न्यवेदयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर समस्त शिल्पियों, श्रेष्ठ मन्त्रियों तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने दुर्योधनको सूचना दी—॥ १ ॥

सज्जं क्रतुवरं राजन् प्राप्तकालं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लाङ्गलं च महाधनम् ॥ २ ॥

'भारत ! क्रतुश्रेष्ठ वैष्णवयज्ञकी सारी सामग्री जुट गयी है । यज्ञका नियत समय भी आ पहुँचा है और सोनेका बहुमूल्य हल भी पूर्णरूपसे बन गया है' ॥ २ ॥

एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्तराष्ट्रो विशाम्पते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्तनम् ॥ ३ ॥

राजन् ! यह सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने उस क्रतुराजको प्रारम्भ करनेकी आज्ञा दी ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतार्थः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

फिर तो उत्तम संस्कारसे युक्त और प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न वह वैष्णव यज्ञ आरम्भ हुआ । गान्धारीनन्दन दुर्योधनने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक उस यज्ञकी दीक्षा ली ॥

प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र, महायशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा यशस्विनी गान्धारीको इस यज्ञसे बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५ ॥

निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् ।
पार्थिवानां च राजेन्द्र ब्राह्मणानां तथैव च ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर समस्त भूपालों तथा ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करनेके लिये बहुत-से शीघ्रगामी दूत भेजे ॥ ६ ॥

ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः ।
तत्र कंचित् प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

दूतगण तेज चलनेवाले वाहनोंपर सवार हो जिन्हें जैसी आज्ञा मिली थी, उसके अनुसार कर्तव्यपालनके लिये प्रस्थित हुए । उन्हींमेंसे एक जाते हुए दूतसे दुःशासनने कहा—॥ ७ ॥

गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान् पापपूरुषान् ।
निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तांस्मिन् वने तदा ॥ ८ ॥

'तुम शीघ्रतापूर्वक द्वैतवनमें जाओ और पापात्मा पाण्डवों तथा उस वनमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे निमन्त्रण दे आओ' ॥ ८ ॥

स गत्वा पाण्डवान् सर्वानुवाचाभिप्रणम्य च ।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ९ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः ।
तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ १० ॥

उस दूतने समस्त पाण्डवोंके पास जाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाराज ! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष नृपतिशिरोमणि दुर्योधन अपने पराक्रमसे अतुल धनराशि प्राप्तकर एक यज्ञ कर रहे हैं । उसमें (विभिन्न स्थानोंसे) बहुत-से राजा और ब्राह्मण पधार रहे हैं ॥ ९-१० ॥

अहं तु प्रेषितो राजन् कौरवेण महात्मना ।
आमन्त्रयति वो राजा धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ११ ॥
मनोऽभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ ।

'राजन्! महामना दुःशासनने मुझे आपके पास भेजा है। जननायक महाराज दुर्योधन आपलोगोंको उस यज्ञमें बुला रहे हैं। आपलोग चलकर राजाके मनोवाञ्छित उस यज्ञका दर्शन कीजिये ॥ ११½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ १३ ॥

दूतका यह कथन सुनकर राजाओंमें सिंहके समान महाराज युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'सौभाग्यकी बात है कि पूर्वजोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा दुर्योधन श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा भगवान्का यजन कर रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन।
समयः परिपाल्यो नो यावद् वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४ ॥

'हम भी उस यज्ञमें चलते; परंतु इस समय यह किसी तरह सम्भव नहीं है। हमें तेरह वर्षतक वनमें रहनेकी अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना है' ॥ १४ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत्।
तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १६ ॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः।
आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥ १७ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर भीमसेनने दूतसे इस प्रकार कहा—'दूत! तुम राजा दुर्योधनसे जाकर यह कह देना कि सम्राट् धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष बीतनेके पश्चात् उस समय वहाँ पधारेंगे, जब कि रणयज्ञमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रज्वलित की हुई रोषाग्निमें वे तुम्हारी आहुति देंगे। जब रोषकी आगमें जलते हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पाण्डव अपने क्रोधरूपी घीकी आहुति डालनेको उद्यत होंगे उस समय मैं (भीमसेन) वहाँ पदार्पण करूँगा' ॥ १५–१७ ॥

शेषास्तु पाण्डवा राजन् नैवोचुः किंचिदप्रियम्।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

राजन्! शेष पाण्डवोंने कोई अप्रिय वचन नहीं कहा। दूतने भी लौटकर दुर्योधनसे सब समाचार ठीक-ठीक बता दिया ॥

अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः।
ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १९ ॥

महाभाग! तदनन्तर विभिन्न देशोंके अधिपति नरश्रेष्ठ भूपाल तथा ब्राह्मण दुर्योधनकी राजधानी हस्तिनापुरमें आये ॥१९॥

ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम्।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥ २० ॥

उन सबकी शास्त्रीय विधिसे यथोचित सेवा-पूजा की गयी। इससे वे नरेशगण अत्यन्त प्रसन्न हो मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥

राजेन्द्र! समस्त कौरवोंसे घिरे हुए धृतराष्ट्रको भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने विदुरसे कहा—॥ २१ ॥

यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः।
तुष्येत् तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥

'भैया! शीघ्र ऐसी व्यवस्था करो, जिससे इस यज्ञमण्डपमें पधारे हुए सभी लोग खानपानसे संतुष्ट एवं सुखी हों' ॥ २२ ॥

विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम।
यथा प्रमाणतो विद्वान् पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय! धर्मज्ञ एवं विद्वान् विदुरजीने सब मनुष्योंकी ठीक-ठीक संख्याका ज्ञान करके उन सबका यथोचित स्वागत-सत्कार किया ॥ २३ ॥

भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २४ ॥

वे बड़े हर्षके साथ सभी अतिथियोंको उत्तम भक्ष्य, पेय अन्न-पान, सुगन्धित पुष्पहार तथा नाना प्रकारके वस्त्र देने लगे ॥ २४ ॥

कृत्वा ह्यावसथान् वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम्।
सान्त्वयित्वा च राजेन्द्रो दत्त्वा च विविधं वसु ॥ २५ ॥

विसर्जयामास नृपान् ब्राह्मणांश्च सहस्रशः।

वीर राजा दुर्योधनने सभीको शास्त्रानुसार यथायोग्य निवासगृह बनवाकर उनमें ठहराया था। उसने सब प्रकारसे आश्वासन तथा भाँति-भाँतिके रत्न देकर सहस्रों राजाओं तथा ब्राह्मणोंको विदा किया ॥ २५½ ॥

विसृज्य च नृपान् सर्वान् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥

इस प्रकार सब राजाओंको विदा देकर भाइयोंसे घिरे हुए दुर्योधनने कर्ण और शकुनिके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका यज्ञविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञके विषयमें लोगोंका मत, कर्णद्वारा अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा, युधिष्ठिरकी चिन्ता तथा दुर्योधनकी शासननीति

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम्।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! राजश्रेष्ठ ! नगरमें प्रवेश करते समय सूतों तथा अन्य लोगोंने भी अटल निश्चयी और महान् धनुर्धर राजा दुर्योधनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १ ॥

लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥

तत्पश्चात् सब लोग लावा और चन्दनचूर्ण बिखेरकर कहने लगे—'महाराज ! आपका यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण हो गया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ॥ २ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम्।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥

वहीं कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनका मस्तिष्क वातरोगसे विकृत था—कब क्या कहना उचित है, इसको वे नहीं जानते थे, अतः राजा दुर्योधनको सम्बोधित करके कहने लगे—'राजन् ! आपका यह यज्ञ युधिष्ठिरके यज्ञके समान नहीं था' ॥ ३ ॥

नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम्।
एवं तत्राब्रुवन् केचिद् वातिकास्तं जनेश्वरम् ॥ ४ ॥

कुछ अन्य वायुरोगग्रस्त लोग राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहने लगे—'यह यज्ञ तो युधिष्ठिरके यज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है' ॥ ४ ॥

सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अति सर्वानयं क्रतुः।
ययातिर्नहुषश्चापि मान्धाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः।

जो राजाके सुहृद् थे, वे वहाँ इस प्रकार बोले—'यह यज्ञ पिछले सब यज्ञोंसे बढ़कर हुआ है। ययाति, नहुष, मान्धाता और भरत भी इस यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान करके पवित्र हो सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं' ॥ ५½ ॥

एता वाचः शुभाः शृण्वन् सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः।

भरतश्रेष्ठ ! सुहृदोंकी ये सुन्दर बातें सुनता हुआ राजा दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश करके अपने राजभवनमें गया ॥ ६½ ॥

अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशाम्पते ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनन्दनः ॥ ८ ॥

महाराज ! उसने सबसे पहले अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् क्रमशः भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिको तथा बुद्धिमान् विदुरजीको भी मस्तक झुकाया। तदनन्तर छोटे भाइयोंने आकर भ्राताओंका आनन्द बढ़ानेवाले दुर्योधनको प्रणाम किया ॥ ७-८ ॥

निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद् वचः ॥ ९ ॥

इसके बाद वह भाइयोंसे घिरा हुआ अपने प्रमुख राजसिंहासनपर विराजमान हुआ। उस समय सूतपुत्र कर्णने उठकर महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः।

'भरतश्रेष्ठ ! सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा यह महान् यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ। नरश्रेष्ठ ! जब युद्धमें पाण्डव मारे जायँगे, उस समय तुम्हारे द्वारा आयोजित राजसूययज्ञकी समाप्तिपर मैं पुनः इसी प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन करूँगा' ॥ १०½ ॥

तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥
सत्यमेतत् त्वयोक्तं हि पाण्डवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।

तब महायशस्वी महाराज दुर्योधनने उससे इस प्रकार कहा—'वीर ! तुम्हारा यह कथन सत्य है । नरश्रेष्ठ ! जब दुरात्मा पाण्डव मारे जायँगे, उस समय महायज्ञ राजसूयके समाप्त होनेपर तुम पुनः इसी प्रकार मेरा अभिनन्दन करोगे' ॥ ११-१२½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः ।

भरतकुलभूषण ! महाराज ! ऐसा कहकर दुर्योधनने कर्णको छातीसे लगा लिया और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका चिन्तन करने लगा ॥ १३½ ॥

सोऽब्रवीत् कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान् नृपसत्तमः॥१४॥
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम्।
निहत्य पाण्डवान् सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने अपने पास खड़े हुए कौरवोंको सम्बोधित करके कहा—'कुरुकुलके राजकुमारो ! कब ऐसा समय आयगा, जब मैं समस्त पाण्डवोंको मारकर प्रचुर धनसे सम्पन्न होनेवाले उस क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर ।
पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १६ ॥
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥ १७ ॥

उस समय कर्णने दुर्योधनसे कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—'जबतक अर्जुन मेरे हाथसे मारा नहीं जाता, तबतक मैं दूसरोंसे पैर नहीं धुलवाऊँगा, केवल जलसे उत्पन्न पदार्थ नहीं खाऊँगा और आसुरव्रत (क्रूरता आदि) नहीं धारण करूँगा । किसीके भी कुछ माँगनेपर 'नहीं है', ऐसी बात नहीं कहूँगा' ॥ १६-१७ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥

कर्णके द्वारा युद्धमें अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा करनेपर महान् धनुर्धर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ १८ ॥

विजितांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान् धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुङ्गवान् ॥ १९ ॥
प्रविवेश गृहं श्रीमान् यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥

उस दिनसे कौरव पाण्डवोंको पराजित ही मानने लगे । राजेन्द्र ! तदनन्तर जैसे देवराज इन्द्र चैत्ररथ नामक उद्यानमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार श्रीमान् राजा दुर्योधनने उन नरपुङ्गवोंको विदा करके अपने महलमें प्रवेश किया । भारत ! तदनन्तर वे सभी महाधनुर्धर वीर अपने-अपने भवनमें चले गये ॥ १९-२० ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥

इधर महाधनुर्धर पाण्डव दूतके वाक्यसे प्रेरित हो उसी विषयका चिन्तन करते हुए कभी चैन नहीं पाते थे ।२१।

भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥

महाराज ! फिर उन्होंने गुप्तचरोंद्वारा वह समाचार भी प्राप्त कर लिया, जिसमें अर्जुनके वधके लिये सूतपुत्र कर्णकी प्रतिज्ञा दुहरायी गयी थी ॥ २२ ॥

एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥
अनुस्मरंश्च संक्लेशान् न शान्तिमुपयाति सः ।

राजन् ! यह सब सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठे । वे विचारने लगे—'कर्णका कवच अभेद्य है और उसका पराक्रम भी अद्भुत है ।' यह मानकर तथा वनके क्लेशोंका स्मरण करके उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी ।२३½।

तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।

इस प्रकार चिन्तासे घिरे हुए महात्मा युधिष्ठिरके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अनेक प्रकारके सर्पों तथा मृगोंसे भरे हुए इस द्वैतवनको छोड़कर हम कहीं अन्यत्र चले चलें' ॥ २४½ ॥

धार्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुन्धराम् ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
सङ्गम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ॥ २६ ॥
(सततं प्रीयमाणो वै देविना सौबलेन च ।)

इधर राजा दुर्योधन भी अपने वीर भाइयोंके साथ रहकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, युद्धमें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिसे मिलकर निरन्तर प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ इस पृथ्वीका शासन करने लगा ।२५-२६।

दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥

दुर्योधन सदा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंका प्रिय करने लगा और प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका भी स्वागत-सत्कार करता रहा ॥ २७

भ्रातॄणां च प्रियं राजन् स चकार परंतपः।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥

राजन्! शत्रुओंको संताप देनेवाला वीर दुर्योधन निरन्तर अपने भाइयोंका प्रिय कार्य किया करता था। 'धनके दो ही फल हैं—दान और भोग' ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके वह इन्हींमें धनका उपयोग करता था ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिन्तायां सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें युधिष्ठिरकी चिन्तासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२५७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें गमन

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—दुर्योधनको गन्धर्वोंके बन्धनसे छुड़ाकर महाबली पाण्डवोंने उस वनमें कौन-सा कार्य किया? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तदनन्तर एक रातमें जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर सो रहे थे, स्वप्नमें द्वैतवनके सिंह-बाघ आदि हिंस्र पशुओंने उन्हें दर्शन दिया। उन सबके कण्ठ आँसुओंसे रुँधे हुए थे ॥ २ ॥

तानब्रवीत् स राजेन्द्रो वेपमानान् कृताञ्जलीन्।
ब्रूत यद् वक्तुकामाः स्थ के भवन्तः किमिष्यते ॥ ३ ॥

वे थर-थर काँपते हुए हाथ जोड़कर खड़े थे। महाराज युधिष्ठिरने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? क्या कहना चाहते हैं? आपकी क्या इच्छा है? बताइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना।
प्रत्यब्रुवन् मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

यशस्वी पाण्डव कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मरनेसे बचे हुए हिंसक पशुओंने उनसे कहा—॥४॥

वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥

'भारत! हम द्वैतवनके पशु हैं। आपलोगोंके मारनेसे हमारी इतनी ही संख्या शेष रह गयी है। महाराज! हमारा सर्वथा संहार न हो जाय, इसके लिये आप अपना निवासस्थान बदल दीजिये ॥ ५ ॥

भवतो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ॥ ६ ॥

'आपके सभी भाई शूरवीर एवं अस्त्रविद्याके पण्डित हैं। इन्होंने हम वनवासी हिंसक पशुओंके कुलोंको थोड़ी ही संख्यामें जीवित छोड़ा है ॥ ६ ॥

बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते।
विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात् ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

'महामते! हम सिंह, बाघ आदि पशु थोड़ी-सी संख्यामें अपने वंशके बीजमात्र शेष रह गये हैं। महाराज युधिष्ठिर! आपकी कृपासे हमारे वंशकी वृद्धि हो, यही हम निवेदन करते हैं' ॥ ७ ॥

तान् वेपमानान् वित्रस्तान् बीजमात्रावशेषितान्।
मृगान् दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥

वे सिंह-बाघ आदि पशु त्रस्त होकर थरथर काँप रहे थे और बीजमात्र ही शेष रह गये थे। उनकी यह दयनीय दशा देखकर धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो गये।८।

तांस्तथेत्यब्रवीद् राजा सर्वभूतहिते रतः।
यथा भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत् तथा ॥ ९ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'बहुत अच्छा, तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा' ॥ ९ ॥

इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः।
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् दयापन्नो मृगान् प्रति॥१०॥
उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः।
तन्तुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥

इस प्रकार रात बीतनेपर जब सबेरे उनकी नींद खुली, तब वे नृपतिशिरोमणि हिंसक पशुओंके प्रति दयाभावसे द्रवित हो अपने सब भाइयोंसे बोले—'बन्धुओ! रातको सपनेमें मरनेसे बचे हुए इस वनके पशुओंने मुझसे कहा

है—'राजन्! आपका भला हो। हम अपनी वंशपरम्पराके एक-एक तन्तुमात्र शेष रह गये हैं। अब हमलोगोंपर दया कीजिये' ॥ १०-११ ॥

ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम्।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेतदुपयुङ्क्ष्महे ॥ १२ ॥

'मेरी समझमें वे पशु ठीक कहते हैं। हमलोगोंको वनवासी हिंस्र जीवोंपर भी दया करनी चाहिये। अबतक हमलोगोंको इस द्वैतवनमें रहते हुए एक वर्ष आठ महीने बीत चुके हैं ॥ १२ ॥

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम्।
मरुभूमेः शिरःस्थानं तृणबिन्दुसरः प्रति ॥ १३ ॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि।

'अतः अब हम पुनः असंख्य मृगोंसे युक्त, रमणीय तथा उत्तम काम्यक वनमें तृणबिन्दु नामक सरोवरके पास चलें। काम्यकवन मरुभूमिके शीर्षक स्थानमें पड़ता है। वहीं विहार करते हुए हम वनवासके शेष दिन सुखपूर्वक बितायेंगे' ॥ १३½ ॥

ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणैः सहिता राजन् ये च तत्र सहोषिताः।
इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥

राजन्! तदनन्तर उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने वहाँ रहनेवाले ब्राह्मणोंके साथ शीघ्र ही उस वनसे प्रस्थान कर दिया। इन्द्रसेन आदि सेवक भी उस समय उन्हींके साथ चल दिये ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तापसायुतम् ॥ १६ ॥

वे सब लोग उत्तम अन्न और पवित्र जलकी सुविधासे सम्पन्न तथा सदा चालू रहनेवाले मार्गोंसे यात्रा करते हुए पुण्य एवं बहुतेरे तपस्वी जनोंसे युक्त काम्यक वनके आश्रममें पहुँचकर वहाँकी शोभा देखने लगे ॥ १६ ॥

विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद् वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥

जैसे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं, उसी प्रकार उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ काम्यक वनमें प्रवेश किया ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मृगस्वप्नोद्भवपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, व्यासजीका पाण्डवोंके पास आगमन और दानकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार वनमें रहते हुए उन महात्मा पाण्डवोंके ग्यारह वर्ष बड़े कष्टसे बीते ॥ १ ॥

फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम्।
प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहिरे वरपूरुषाः ॥ २ ॥

वे फल-मूल खाकर रहते थे। सुख भोगनेके योग्य होकर भी महान् कष्ट भोगते थे और यह सोचकर कि यह हमारे कष्टका समय है, इसे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, चुपचाप सब दुःख झेलते थे। उनमें ऐसा विवेक इसलिये था कि वे सबके सब श्रेष्ठ पुरुष थे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम्।
चिन्तयन् स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥

महाबाहु राजर्षि युधिष्ठिर सदा यही सोचते रहते थे कि 'मेरे भाइयोंपर जो यह महान् दुःख आ पड़ा है, मेरी ही करनीका फल है। मेरे ही अपराधसे इन्हें कष्ट भोगना पड़ रहा है' ॥ ३ ॥

न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत् काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥
संस्मरन् परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत् कोपविषं महत् ॥ ५ ॥

इसी चिन्तामें पड़े-पड़े राजा युधिष्ठिर रातमें सुखकी नींद नहीं सो पाते थे। ये बातें उनके हृदयमें चुभे हुए काँटोंके समान दुःख दिया करती थीं। जूआ खेलनेके कारणभूत शकुनि आदिकी दुष्टतापर दृष्टिपात करके तथा सूतपुत्र कर्णकी कठोर बातोंको स्मरण करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दीनभावसे लंबी साँसें लेते रहते और महान् क्रोधरूपी विषको अपने हृदयमें धारण करते थे ॥ ४-५ ॥

अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी।

स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।

अर्जुन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी तथा सर्वश्रेष्ठ बलवान् महातेजस्वी भीमसेन भी राजा युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए महान्-से-महान् दुःखको चुप-चाप सहते रहे ॥ ६½ ॥

अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥
वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।

'अब तो वनवासका थोड़ा-सा ही समय शेष रह गया है, ऐसा समझकर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उत्साह एवं अमर्षयुक्त चेष्टाओंसे अपने शरीरको किसी और ही प्रकारका बना लिया था ॥ ७½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः॥ ८ ॥
आजगाम महायोगी पाण्डवानवलोककः ।

तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।

तदनन्तर किसी समय महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास पाण्डवोंको देखनेके लिये वहाँ आये। उन महात्माको आया देख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनकी अगवानीके लिये कुछ दूर आगे बढ़ गये और विधिपूर्वक स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपने साथ लिवा लाये ॥ ८-९½ ॥

तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥
तोषयन् प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः ।

जब वे आसनपर बैठ गये, तब पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सेवाकी इच्छासे व्यासजीके पास ही बैठ गये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने महर्षिको संतुष्ट किया।१०½।

तानवेक्ष्य कृशान् पौत्रान् वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥
महर्षिरनुकम्पार्थमब्रवीद् बाष्पगद्गदम् ।

अपने पौत्रोंको वनवासके कष्टसे दुर्बल तथा जङ्गली फल-मूल खाकर जीवननिर्वाह करते देख महर्षि व्यासको बड़ी दया आयी। वे उनपर कृपा करनेके लिये नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे बोले—॥ ११½ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ॥ १२ ॥
नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् ।
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ! मेरी बात सुनो, संसारमें जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे महान् सुखकी उपलब्धि नहीं कर पाते हैं। मनुष्य बारी-बारीसे सुख और दुःख दोनोंका सेवन करता है ॥ १२–१३ ॥

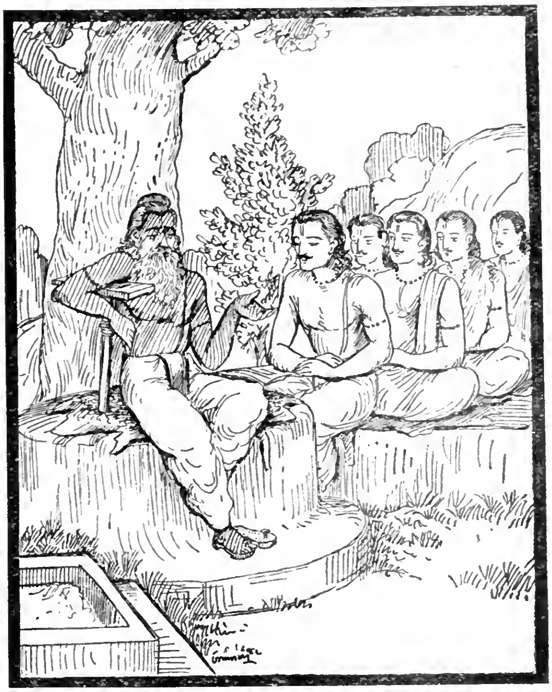

न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।

'नरश्रेष्ठ ! कोई भी इस जगत्में ऐसा सुख नहीं पाता, जिसका कभी अन्त न हो। उत्तम बुद्धिसे युक्त ज्ञानवान् पुरुष ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके अधिष्ठानरूप परमात्माको जानकर कभी हर्ष और शोक नहीं करता है ॥ १४½ ॥

सुखमापतितं सेवेद् दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।

'अतः विवेकी पुरुषको उचित है कि प्राप्त हुए सुखका (त्यागपूर्वक) सेवन करे और स्वतः आये हुए दुःखका भार भी (धैर्यपूर्वक) वहन करे। जैसे किसान बीज बोकर समयके अनुसार प्रारब्धवश जितना अन्न मिलता है, उसे ग्रहण करता है, उसी प्रकार मनुष्य समय-समयपर दैववश प्राप्त हुए सुख तथा दुःखको स्वीकार करें ॥१५½॥

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १६ ॥
नासाध्यं तपसः किंचिदिति बुद्ध्यस्व भारत ।

'भारत ! तपसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। तपसे मनुष्य महत्पद (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है। तुम इस बातको अच्छी तरह जान लो कि तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १६½ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥
अनसूयाविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १८ ॥

'महाराज ! सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, देवता और अतिथियोंको देकर अन्न आदि ग्रहण करना, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, दूसरोंके दोष न देखना, हिंसा न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रखना—ये पुण्यात्मा पुरुषोंके सद्गुण सबको पवित्र करनेवाले हैं ॥ १७-१८ ॥

अधर्मरुचयो मूढास्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विन्दते जनाः ॥ १९ ॥

'जो लोग अधर्ममें रुचि रखनेवाले हैं, वे मूढ़ मानव पशु-पक्षी आदि तिर्यग् योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं । उन कष्टदायक योनियोंमें पड़कर वे कभी सुख नहीं पाते हैं ।१९।

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥

'इस लोकमें जो कर्म किया जाता है, उसका फल परलोकमें भोगना पड़ता है । इसलिये अपने शरीरको तप और नियमोंके पालनमें लगावे ॥ २० ॥

यथाशक्ति प्रयच्छेत सम्पूज्याभिप्रणम्य च ।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन् विगतमत्सरः ॥ २१ ॥

'राजन् ! समयपर यदि कोई अतिथि आ जाय, तो क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे दान दे और विधिवत् पूजन करके उसे प्रणाम करे ॥

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २२ ॥

'सत्यवादी मनुष्य दीर्घ आयु, क्लेशशून्यता (सुख) तथा सरलता प्राप्त करता है । जो क्रोध नहीं करता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, उसे परमानन्दपदकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥

'जो सदा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर मनका निग्रह करता है, उसे कभी क्लेशका सामना नहीं करना पड़ता । जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरोंकी सम्पत्तिको देखकर संतप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥

संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान् नरः ।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥

'जो देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग समर्पित करता है, वह भोग सामग्रीसे सम्पन्न होता है । दान करनेवाला मनुष्य सुखी होता है । जो किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, उसे उत्तम आरोग्यकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

मान्यमानयिता जन्म कुले महति विन्दति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
(विन्दते सुखमत्यन्तमिह लोके परत्र च ।)

'जो माननीय पुरुषोंका सम्मान करता है, वह महान् कुलमें जन्म पाता है । जितेन्द्रिय पुरुष कभी दुर्व्यसनोंमें नहीं फँसता है, उसे इस लोक और परलोकमें भी अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात् कल्याणमतिरेव सः ॥ २६ ॥

'जिसकी बुद्धि शुभमें ही आसक्त होती है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर उस शुभके संयोगसे कल्याणबुद्धि होकर ही उत्पन्न होता है' ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद् बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! महामुने ! दानधर्म एवं तपस्या—इनमेंसे किसका फल परलोकमें अधिक माना गया है ? और इन दोनोंमें कौन दुष्कर बताया जाता है ?॥

व्यास उवाच

दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! दानसे बढ़कर दुष्कर कार्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है । लोगोंको धनका लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्टसे है ॥ २८ ॥

परित्यज्य प्रियान् प्राणान् धनार्थं हि महामते ।
प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २९ ॥

महामते ! कितने ही साहसी मनुष्य रत्नोंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर समुद्रमें गोते लगाते हैं और धनके लिये घोर जंगलोंमें भटकते फिरते हैं ॥ २९ ॥

कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य कृषि तथा गोरक्षाको अपनी जीविकाका साधन बनाते हैं, कुछ लोग धनकी इच्छासे नौकरी करनेके लिये दूर निकल जाते हैं ॥ ३० ॥

तस्माद् दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात् तस्माद् दानं मतं मम ॥ ३१ ॥

अतः दुःख सहकर कमाये हुए धनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है । दानसे बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नहीं है । इसलिये मेरे मतमें दान ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम्।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत्॥ ३२॥

यहाँ विशेष बात यह जाननी चाहिये कि मनुष्य न्यायसे कमाये गये धनको उत्तम देश, काल और पात्रका विचार करते हुए श्रेष्ठ पुरुषोंको दे॥ ३२॥

अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात्॥ ३३॥

अन्यायसे प्राप्त किये हुए धनके द्वारा जो दानधर्म किया जाता है, वह कर्ताकी महान् भयसे रक्षा नहीं कर पाता॥ ३३॥

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम्॥ ३४॥

युधिष्ठिर! यदि विशुद्ध मनसे उत्तम समयपर सत्पात्रको थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो, तो वह परलोकमें अनन्त फल देनेवाला माना गया है॥ ३४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद् यत् फलं प्राप मुद्गलः॥ ३५॥

इस विषयमें जानकार लोग इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं कि मुद्गल ऋषिने एक द्रोण धानका दान करके महान् फल प्राप्त किया था॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथने एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें दानकी दुष्करताका प्रतिपादनविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाद्वारा महर्षि मुद्गलके दानधर्म एवं धैर्यकी परीक्षा तथा मुद्गलका देवदूतसे कुछ प्रश्न करना

युधिष्ठिर उवाच

व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना।
कस्मै दत्तश्च भगवन् विधिना केन चात्थ मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महात्मा मुद्गलने एक द्रोण[1] धानका दान कैसे और किस विधिसे किया था तथा वह दान किसको दिया गया था? यह सब मुझे बताइये॥ १॥

प्रत्यक्षधर्मा भगवान् यस्य तुष्टो हि कर्मभिः।
सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः॥ २॥

मनुष्योंके धर्मको प्रत्यक्ष देखने और जाननेवाले भगवान् जिसके कर्मोंसे संतुष्ट होते हैं, उसी श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषका जन्म सफल है, ऐसा मैं मानता हूँ॥ २॥

व्यास उवाच

शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेन्द्रियः।
आसीद् राजन् कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः॥ ३॥

व्यासजी बोले—राजन्! कुरुक्षेत्रमें मुद्गलनामक एक ऋषि रहते थे। वे बड़े धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। शिल[2] तथा उञ्छवृत्तिसे ही जीविका चलाते थे तथा सदा सत्य बोलते और किसीकी भी निन्दा नहीं करते थे॥ ३॥

अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः॥ ४॥
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत्॥ ५॥

उन्होंने अतिथियोंकी सेवाका व्रत ले रक्खा था। वे बड़े कर्मनिष्ठ और तपस्वी थे तथा कापोती वृत्तिका आश्रय ले आवश्यकताके अनुरूप थोड़े से ही अन्नका संग्रह करते थे। वे मुनि स्त्री और पुत्रके साथ रहकर पंद्रह दिनमें जैसे कबूतर दाने चुगता है, उसी प्रकार चुनकर एक द्रोण धानका संग्रह कर पाते थे और उसके द्वारा इष्टीकृत नामक यज्ञका अनुष्ठान करते थे। इस प्रकार परिवारसहित उन्हें पंद्रह दिनपर भोजन प्राप्त होता था॥ ४-५॥

दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन् विगतमत्सरः।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम्॥ ६॥

उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं था वे प्रत्येक पक्षमें दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ करते हुए देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग अर्पित करके शेष अन्नसे जीवन-यापन करते थे॥ ६॥

तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात् त्रिभुवनेश्वरः।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि॥ ७॥

महाराज! प्रत्येक पर्वपर तीनों लोकोंके स्वामी साक्षात् इन्द्र देवताओंसहित पधारकर उनके यज्ञमें भाग ग्रहण करते थे॥ ७॥

१. कुछ विद्वानोंके मतसे यह सोलह सेरका होता है।

२. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्।' इस कोषवाक्यके अनुसार बाजार उठ जानेपर या खेत कटनेपर वहाँ बिखरे हुए अन्नके दाने बीनना 'उञ्छ' कहलाता है और खेत कट जानेपर वहाँ गिरी हुई गेहूँ-धान आदिकी बालें बीनना 'शिल' कहा गया है।

स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

मुद्गल ऋषि मुनिवृत्तिसे रहते हुए पर्वकालोचित कर्म, दर्श और पौर्णमास यज्ञ करके हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे अतिथियोंको भोजन देते थे ॥ ८ ॥

व्रीहिद्रोणस्य तद्द्रव्यस्य ददतोऽन्नं महात्मनः।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धतेऽतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥

ईर्ष्यासे रहित महात्मा मुद्गल एक द्रोण धानसे तैयार किये हुए अन्नमेंसे जब-जब दान करते थे, तब-तब देनेसे बचा हुआ अन्न मुद्गलके द्वारा दूसरे अतिथियोंका दर्शन करनेसे बढ़ जाया करता था ॥ ९ ॥

तच्छतान्यपि भुञ्जन्ति ब्राह्मणानां मनीषिणाम्।
मुनेस्त्यागविशुद्ध्या तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ॥ १० ॥

इस प्रकार उसमें सैकड़ों मनीषी ब्राह्मण एक साथ भोजन कर लेते थे। मुद्गल मुनिके विशुद्ध त्यागके प्रभावसे वह अन्न निश्चय ही बढ़ जाता था ॥ १० ॥

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम्।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥

राजन्! एक दिन दिगम्बर वेषमें भ्रमण करनेवाले महर्षि दुर्वासाने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मिष्ठ महात्मा मुद्गलका नाम सुना। उनके व्रतकी ख्याति सुनकर वे वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

बिभ्रच्चानियतं वेषमुन्मत्त इव पाण्डव।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन् विविधा मुनिः ॥ १२ ॥

पाण्डुनन्दन! दुर्वासा मुनि पागलोंकी तरह अटपटा वेष धारण किये, मूँड़ मुड़ाये और नाना प्रकारके कटु वचन बोलते हुए उस आश्रममें पधारे ॥ १२ ॥

अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥

ब्रह्मर्षि मुद्गलके पास पहुँचकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाने कहा—'विप्रवर! तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं भोजनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ' ॥ १३ ॥

स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १४ ॥
प्रादात् स तापसायान्नं क्षुधितायातिथिव्रती।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥
ततस्तदन्नं रसवत् स एव क्षुधयान्वितः।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात् तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥

मुद्गलने उनसे कहा—'महर्षे! आपका स्वागत है, ऐसा कहकर उन्होंने पाद्य, उत्तम अर्घ्य तथा आचमनीय आदि पूजनकी सामग्री भेंट की। तत्पश्चात् उन व्रतधारी अतिथिसेवी महर्षि मुद्गलने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्मत्तवेशधारी भूखे तपस्वी दुर्वासाको भोजन अर्पित किया। वह अन्न बड़ा स्वादिष्ट था। वे उन्मत्त मुनि भूखे तो थे ही, परोसी हुई सारी रसोई खा गये। तब महर्षि मुद्गलने उन्हें और भोजन दिया ॥ १४—१६ ॥

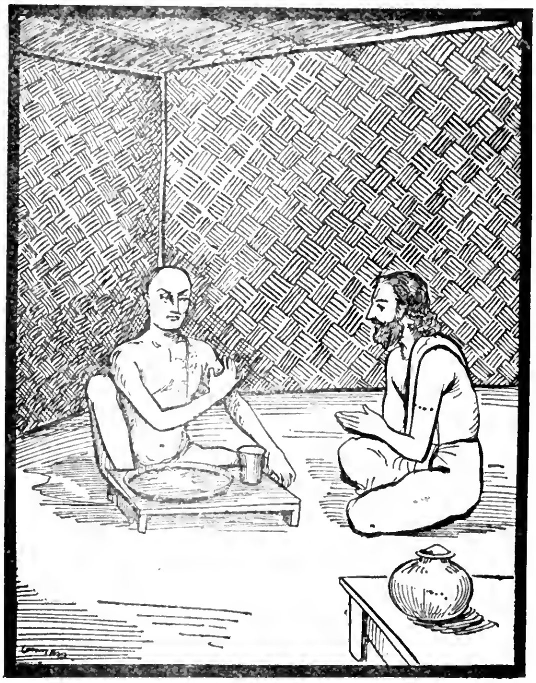

भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः।
अथाङ्गं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ॥ १७ ॥

इस तरह सारा भोजन उदरस्थ करके दुर्वासाजीने जूठन लेकर अपने सारे अङ्गोंमें लपेट ली और फिर जैसे आये थे, वैसे ही चल दिये ॥ १७ ॥

एवं द्वितीये सम्प्राप्ते यथाकाले मनीषिणः।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार दूसरा पर्वकाल आनेपर दुर्वासा ऋषिने पुनः आकर उञ्छवृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाले उन मनीषी महात्मा मुद्गलके यहाँका सारा अन्न खा लिया ॥ १८ ॥

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥

मुनि निराहार रहकर पुनः अन्नके दाने बीनने लगे। भूखका कष्ट उनके मनमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ न हो सका ॥ १९ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न सम्भ्रमः।
सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥

स्त्री-पुत्रसहित अन्नके दाने चुनते हुए विप्रवर मुद्गलके

हृदयमें क्रोध, द्वेष, घबराहट तथा अपमान प्रवेश नहीं कर सके ॥ २० ॥

तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् ।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उञ्छधर्मका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ मुद्गलके घरपर महर्षि दुर्वासा उनका धैर्य छुड़ानेका दृढ़ निश्चय लेकर लगातार छः बार ठीक पर्वके समय उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

न चास्य मनसा कंचिद् विकारं ददृशे मुनिः ।
शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥

किंतु उन्होंने उनके मनमें कभी कोई विकार नहीं देखा। शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि मुद्गलके मनको दुर्वासाने सदा शुद्ध और निर्मल ही पाया ॥ २२ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं ततः ।
त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः ॥ २३ ॥

तब वे प्रसन्न होकर मुद्गलसे बोले—'ब्रह्मन् ! इस संसारमें ईर्ष्यासे रहित होकर दान देनेवाला मनुष्य तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २३ ॥

क्षुद् धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च ।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति ॥ २४ ॥

'भूख (बड़े-बड़े लोगोंके) धर्मज्ञानको विलुप्त कर देती है, धैर्य हर लेती है तथा रसका अनुसरण करनेवाली रसना सदा रसीले पदार्थोंकी ओर मनुष्यको खींचती रहती है ॥ २४ ॥

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥

'भोजनसे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। चञ्चल मनको रोकना अत्यन्त कठिन होता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको ही निश्चित रूपसे तप कहा गया है ॥ २५ ॥

श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा ।
तत् सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥

'परिश्रमसे उपार्जित किये हुए धनका शुद्ध हृदयसे दान करना अत्यन्त दुष्कर है। परंतु श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने यह सब कुछ यथार्थरूपसे सिद्ध कर लिया है ॥ २६ ॥

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
(विशुद्धसत्त्वसम्पन्नो न त्वदन्योऽस्ति कश्चन ।)
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ २८ ॥

'तुमसे मिलकर हम बहुत प्रसन्न हैं और अपने ऊपर तुम्हारा अनुग्रह मानते हैं। इन्द्रियसंयम, धैर्य, संविभाग (दान), शम, दम, दया, सत्य और धर्म—ये सब गुण तुममें पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। तुम्हारे-जैसा पवित्र अन्तःकरणवाला दूसरा कोई नहीं है। तुमने अपने शुभ कर्मोंसे सभी लोकोंको जीत लिया; परमपदको प्राप्त कर लिया ॥ २७-२८ ॥

अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत् स्वर्गवासिभिः ।
सशरीरो भवान् गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥

'अहो ! स्वर्गवासी देवताओंने भी तुम्हारे महान् दानकी सर्वत्र घोषणा की है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे' ॥ २९ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः ।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥

दुर्वासा मुनि इस प्रकार कह ही रहे थे कि एक देवदूत विमानके साथ मुद्गल ऋषिके पास आ पहुँचा ॥ ३० ॥

हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ॥ ३१ ॥

उस विमानमें हंस एवं सारस जुते हुए थे। क्षुद्रघण्टिकाओंकी जालीसे उसे सुसज्जित किया गया था तथा उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। वह विमान देखनेमें बड़ा विचित्र और इच्छानुसार चलनेवाला था ॥ ३१ ॥

उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम् ।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥

देवदूतने ब्रह्मर्षि मुद्गलसे कहा—'मुने ! यह विमान आपको शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुआ है। इसपर बैठिये। आप परम सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं' ॥ ३२ ॥

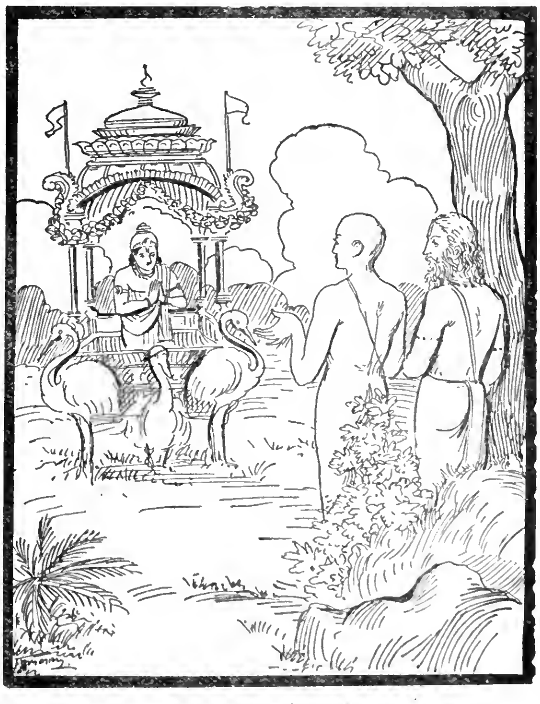

तमेवं वादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह ।
इच्छामि भवता प्रोक्तान् गुणान् स्वर्गनिवासिनाम् ॥ ३३ ॥

के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥

देवदूतके ऐसा कहनेपर महर्षि मुद्गलने उससे कहा— 'देवदूत ! मैं तुम्हारे मुखसे स्वर्गवासियोंके गुण सुनना चाहता हूँ। वहाँ रहनेवालोंमें कौन-कौनसे गुण होते हैं ? कैसी तपस्या होती है ? और उनका निश्चित विचार कैसा होता है ? स्वर्गमें क्या सुख है और वहाँ क्या दोष है ? ॥ ३३-३४ ॥

सतां साप्तपदं मैत्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! सत्पुरुषोंमें सात पग एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है, ऐसा कुलीन सत्पुरुषोंका कथन है। मैं उसी मैत्रीको सामने रखकर तुमसे उपर्युक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ ॥ ३५ ॥

यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन्।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥

'इसके उत्तरमें जो सत्य एवं हितकर बात हो, उसे बिना किसी हिचकिचाहटके कहो। तुम्हारी बात सुनकर उसीके द्वारा मैं अपने कर्तव्यका निश्चय करूँगा' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गलोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवदूतद्वारा स्वर्गलोकके गुण-दोषोंका तथा दोषरहित विष्णुधामका वर्णन सुनकर मुद्गलका देवदूतको लौटा देना एवं व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाकर अपने आश्रमको लौट जाना

देवदूत उवाच

महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम्।
सम्प्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥

देवदूत बोला— महर्षे ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी उत्तम है। जिस उत्तम स्वर्गीय सुखको दूसरे लोग बहुत बड़ी चीज समझते हैं, वह तुम्हें प्राप्त ही है, फिर भी तुम अनजान-से बनकर इसके सम्बन्धमें विचार करते हो—इसके गुण-दोषकी समीक्षा कर रहे हो ॥ १ ॥

उपरिष्टादसौ लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद् देवयानचरो मुने ॥ २ ॥

मुने ! जिसे स्वर्गलोक कहते हैं, वह यहाँसे बहुत ऊपर है। वहाँ पहुँचनेके लिये ऊपरको जाया जाता है, इसलिये उसका एक नाम ऊर्ध्वग भी है। वहाँ जानेके लिये जो मार्ग है, वह बहुत उत्तम है। वहाँके लोग सदा विमानोंपर विचरा करते हैं ॥ २ ॥

नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥ ३ ॥

मुद्गल ! जिन्होंने तपस्या नहीं की है, बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन नहीं किया है तथा जो असत्यवादी एवं नास्तिक हैं, वे उस लोकमें नहीं जा पाते हैं ॥ ३ ॥

धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥ ४ ॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम्।
लोकान् पुण्यकृतां ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! धर्मात्मा, मनको वशमें रखनेवाले, शम-दमसे सम्पन्न, ईर्ष्यारहित, दानधर्मपरायण तथा युद्धकलामें प्रसिद्ध शूरवीर मनुष्य ही वहाँ सब धर्मोंमें श्रेष्ठ इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रहरूपी योगको अपनाकर सत्पुरुषोंद्वारा सेवित पुण्यवानोंके लोकोंमें जाते हैं ॥ ४-५ ॥

देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः।
यामा धामाश्च मौद्गल्य* गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥

मुद्गल ! वहाँ देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षिगण, याम, धाम, गन्धर्व तथा अप्सरा—इन सब देवसमूहोंके अलग-अलग अनेक प्रकाशमान लोक हैं, जो इच्छानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंसे सम्पन्न, तेजस्वी तथा मङ्गलकारी हैं ।६-७।

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः।
मेरुः पर्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम्।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥ ९ ॥

स्वर्गमें तैंतीस हजार योजनका सुवर्णमय एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो मेरुगिरिके नामसे विख्यात है। मुद्गल ! वहीं देवताओंके नन्दन आदि पवित्र उद्यान तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके विहारस्थल हैं। वहाँ किसीको भूख-प्यास नहीं लगती, मनमें कभी ग्लानि नहीं होती, गर्मी और जाड़ेका कष्ट भी नहीं होता और न कोई भय ही होता है ॥ ८-९ ॥

बीभत्समशुभं वापि तत्र किंचिन्न विद्यते।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥

* मुद्गल ऋषिको ही 'मौद्गल्य' भी कहा है।

शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥ ११ ॥

वहाँ कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो घृणा करने योग्य एवं अशुभ हो। वहाँ सब ओर मनोरम सुगन्ध, सुखदायक स्पर्श तथा कानों और मनको प्रिय लगनेवाले मधुर शब्द सुननेमें आते हैं। मुने! स्वर्गलोकमें न शोक होता है, न बुढ़ापा। वहाँ थकावट तथा करुणाजनक विलाप भी श्रवण-गोचर नहीं होते ॥ १०-११ ॥

ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥

महर्षे! स्वर्गलोक ऐसा ही है। अपने सत्कर्मोंके फल-रूप ही उसकी प्राप्ति होती है। मनुष्य वहाँ अपने किये हुए पुण्यकर्मोंसे ही रह पाते हैं ॥ १२ ॥

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम्।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥

मुद्गल! स्वर्गवासियोंके शरीरमें तैजस तत्त्वकी प्रधानता होती है। वे शरीर पुण्यकर्मोंसे ही उपलब्ध होते हैं। माता-पिताके रजोवीर्यसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १३ ॥

न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥

उन शरीरोंमें कभी पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं आती तथा मल-मूत्रका भी अभाव होता है। मुने! उनके कपड़ोंमें कभी मैल नहीं बैठती है ॥ १४ ॥

न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥ १५ ॥

स्वर्गवासियोंकी जो (दिव्य कुसुमोंकी) मालाएँ होती हैं, वे कभी कुम्हलाती नहीं हैं। उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है तथा वे देखनेमें भी बड़ी मनोरम होती हैं। ब्रह्मन्! स्वर्गके सभी निवासी ऐसे ही विमानोंसे सम्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

ईर्ष्याशोकक्लमोपेता मोहमात्सर्यवर्जिताः।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयन्ते महामुने ॥ १६ ॥

महामुने! जो अपने सत्कर्मोंद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, वे वहाँ बड़े सुखसे जीवन बिताते हैं। उनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं होती, वे कभी शोक तथा थकावटका अनुभव नहीं करते एवं मोह तथा मात्सर्य (द्वेषभाव) से सदा दूर रहते हैं ॥ १६ ॥

तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ! देवताओंके जो पूर्वोक्त प्रकारके लोक हैं, उन सबसे ऊपर अन्य कितने ही विविध गुणसम्पन्न दिव्य लोक हैं ॥ १७ ॥

पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ॥

उन सबसे ऊपर ब्रह्माजीके लोक हैं, जो अत्यन्त तेजस्वी एवं मङ्गलकारी हैं। ब्रह्मन्! वहाँ अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र ऋषि, मुनि जाते हैं ॥ १८ ॥

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः।
तेषां लोकात् परतरे यान् यजन्तीह देवताः ॥ १९ ॥

वहीं ऋभु नामक दूसरे देवता रहते हैं, जो देवगणोंके भी आराध्यदेव हैं। देवताओंके लोकोंसे उनका स्थान उत्कृष्ट है। देवतालोग भी यज्ञोंद्वारा उनका यजन करते हैं ॥ १९ ॥

स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥

उनके उत्तम लोक स्वयंप्रकाश, तेजस्वी और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं। उन्हें स्त्रियोंके लिये संताप नहीं होता। लोकोंके ऐश्वर्यके लिये उनके मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती ॥ २० ॥

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१ ॥

वे देवताओंकी तरह आहुतियोंसे जीविका नहीं चलाते। उन्हें अमृत पीनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। उनके शरीर दिव्य ज्योतिर्मय हैं। उनकी कोई विशेष आकृति नहीं होती ॥ २१ ॥

न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥

वे सुखमें प्रतिष्ठित हैं, परंतु सुखकी कामना नहीं रखते। वे देवताओंके भी देवता और सनातन हैं। कल्पका अन्त होनेपर भी उनकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वे ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं ॥ २२ ॥

जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥

मुने! उनमें जरा-मृत्युकी सम्भावना तो हो ही कैसे सकती है? हर्ष, प्रीति तथा सुख आदि विकारोंका भी उनमें सर्वथा अभाव ही है। ऐसी स्थितिमें उनके भीतर दुःख-सुख तथा राग-द्वेषादि कैसे रह सकते हैं? ॥ २३ ॥

देवानामपि मौद्गल्य काङ्क्षिता सा गतिः परा।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥

मौद्गल्य! स्वर्गवासी देवता भी उस (ऋभु नामके देवताओंकी) परमगतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं।

वह परा सिद्धिकी अवस्था है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। विषय-भोगोंकी इच्छा रखनेवाले लोगोंकी वहाँतक पहुँच नहीं होती॥

त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः॥ २५॥

ये जो तैंतीस देवता हैं, उन्हींके लोकोंको मनीषी पुरुष उत्तम नियमोंके आचरणसे अथवा विधिपूर्वक दिये हुए दानोंसे प्राप्त करते हैं॥ २५॥

सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया।
तां भुङ्क्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः॥ २६॥

ब्रह्मन्! तुमने अपने दानके प्रभावसे अनायास ही वह स्वर्गीय सुख-सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। अपनी तपस्याके तेजसे देदीप्यमान होकर अब तुम अपने पुण्यसे प्राप्त हुए उस दिव्य वैभवका उपभोग करो॥ २६॥

एतत् स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे॥ २७॥

विप्रवर! यही स्वर्गका सुख है और ऐसे ही वहाँ भाँति-भाँतिके लोक हैं। यहाँतक मैंने तुम्हें स्वर्गके गुण बताये हैं; अब वहाँके दोष भी मुझसे सुन लो॥ २७॥

कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि।
न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते॥ २८॥

अपने किये हुए सत्कर्मोंका जो फल होता है, वही स्वर्गमें भोगा जाता है। वहाँ कोई नया कर्म नहीं किया जाता। अपना पुण्यरूप मूलधन गँवानेसे ही वहाँके भोग प्राप्त होते हैं॥ २८॥

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत्।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल॥ २९॥

मुद्गल! स्वर्गमें सबसे बड़ा दोष मुझे यह जान पड़ता है कि कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर एक दिन वहाँसे पतन हो ही जाता है। जिनका मन सुखभोगमें लगा हुआ है, उनको सहसा पतन कितना दुःखदायी होता है॥ २९॥

असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः।
यद् भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम्॥ ३०॥

स्वर्गमें भी जो लोग नीचेके स्थानोंमें स्थित हैं, उन्हें अपनेसे ऊपरके लोकोंकी समुज्ज्वल श्रीसम्पत्ति देखकर जो असंतोष और संताप होता है, उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है॥ ३०॥

संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम्।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम्॥ ३१॥

स्वर्गलोकसे गिरते समय वहाँके निवासियोंकी चेतना लुप्त हो जाती है। रजोगुणके आक्रमणसे उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है। पहले उनके गलेकी मालाएँ कुम्हला जाती हैं; इससे उन्हें पतनकी सूचना मिल जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी भय समा जाता है॥ ३१॥

आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम्॥ ३२॥

मौद्गल्य! ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं, उन सबमें ये भयंकर दोष देखे जाते हैं। स्वर्गलोकमें रहते समय तो पुण्यात्मा पुरुषोंमें सहस्रों गुण होते हैं॥ ३२॥

अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते॥ ३३॥

मुने! परंतु वहाँसे भ्रष्ट हुए जीवोंका भी यह एक अन्य श्रेष्ठ गुण देखा जाता है कि वे अपने शुभ कर्मोंके संस्कारसे युक्त होनेके कारण मनुष्ययोनिमें ही जन्म पाते हैं॥ ३३॥

तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते।
न चेत् सम्बुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः॥ ३४॥

वहाँ भी वह महाभाग मानव सुखके साधनोंसे सम्पन्न होकर ही उत्पन्न होता है। परंतु यदि मानवयोनिमें वह अपने कर्तव्यको न समझे, तो उससे भी नीची योनिमें चला जाता है॥ ३४॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥ ३५॥

इस मनुष्यलोकमें मानव-शरीरद्वारा जो कर्म किया जाता है, उसीको परलोकमें भोगा जाता है। ब्रह्मन्! यह कर्म-भूमि और वह फल-भोगकी भूमि मानी गयी है॥ ३५॥

मुद्गल उवाच

महान्तस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे॥ ३६॥

मुद्गल बोले—देवदूत! तुमने स्वर्गके महान् दोष बताये, परंतु स्वर्गकी अपेक्षा यदि कोई दूसरा लोक इन दोषोंसे सर्वथा रहित हो, तो मुझसे उसीका वर्णन करो॥

देवदूत उवाच

ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद् विष्णोः परमं पदम्।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद् विदुः॥ ३७॥

देवदूतने कहा—ब्रह्माजीके भी लोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम धाम है। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे परब्रह्म भी कहते हैं॥ ३७॥

न तत्र विप्र गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः।
दम्भलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः॥ ३८॥

विप्रवर! जिनका मन विषयोंमें रचा-पचा रहता है, वे लोग वहाँ नहीं जा सकते। दम्भ, लोभ, महाक्रोध, मोह और

पाण्डवोंके पास दुर्योधनका दूत

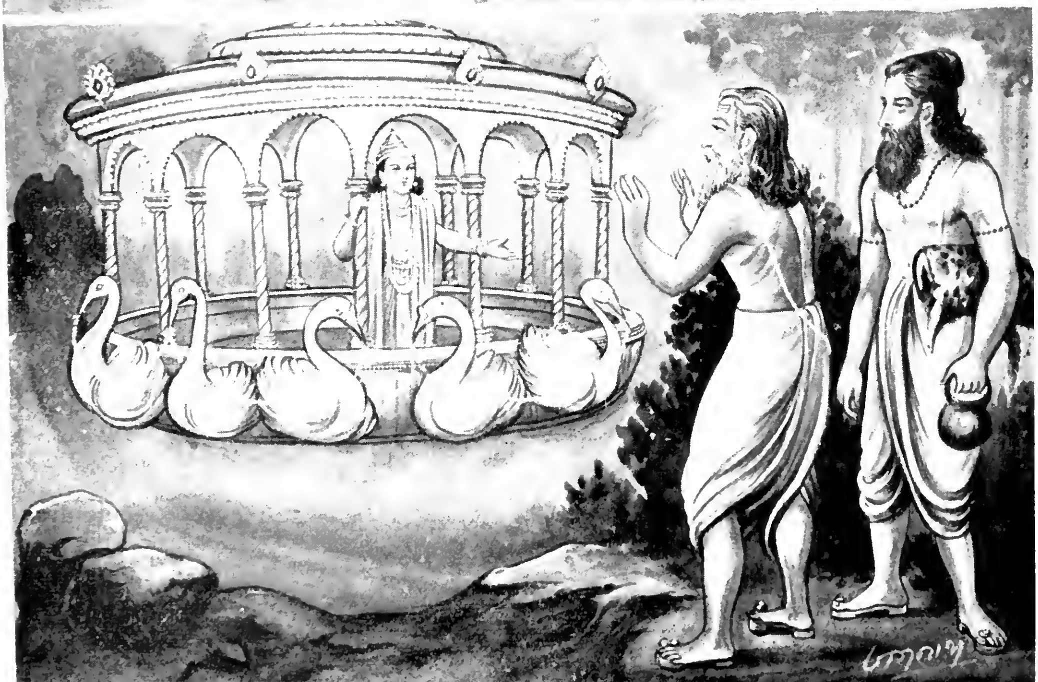

मुद्गलका स्वर्ग जानेसे इन्कार

द्रोहसे युक्त मनुष्य भी वहाँ नहीं पहुँच सकते ॥ ३८ ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः ।
ध्यानयोगपराश्चैव तत्र गच्छन्ति मानवाः ॥ ३९ ॥

जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठे हुए, जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोगमें तत्पर हैं, वे मनुष्य ही उस लोकमें जा सकते हैं ॥ ३९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल ।
तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम मा चिरम् ॥ ४० ॥

मुद्गल ! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया । साधो ! अब आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक स्वर्गकी यात्रा करें, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४० ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया ।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ४१ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! देवदूतकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ मुद्गलने उसपर बुद्धिपूर्वक विचार किया । विचार करके उन्होंने देवदूतसे कहा—॥ ४१ ॥

देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् ।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ॥ ४२ ॥

'देवदूत ! तुम्हें नमस्कार है । तात ! तुम सुखपूर्वक पधारो । स्वर्ग अथवा वहाँका सुख महान् दोषसे युक्त है; इसलिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥

पतनान्ते महद् दुःखं परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्चरन्तीह तस्मात् स्वर्गं न कामये ॥ ४३ ॥

'ओह ! पतनके बाद तो स्वर्गवासी मनुष्योंको अत्यन्त भयंकर महान् दुःख और अनुताप होता है और फिर वे इसी लोकमें विचरते रहते हैं, इसलिये मुझे स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं है ॥ ४३ ॥

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा ।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥ ४४ ॥

'जहाँ जाकर मनुष्य कभी शोक नहीं करते, व्यथित नहीं होते तथा जहाँसे विचलित नहीं होते हैं, केवल उसी अक्षय धामका मैं अनुसंधान करूँगा' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् ।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥

ऐसा कहकर मुद्गल मुनिने उस देवदूतको विदा कर दिया और शिल एवं उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले वे धर्मात्मा महर्षि उत्तम रीतिसे शम-दम आदि नियमोंका पालन करने लगे ॥ ४५ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥

उनकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान हो गयी । वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञानयोगके द्वारा नित्य ध्यानमें तत्पर रहने लगे ॥ ४६ ॥

ध्यानयोगाद् बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम् ।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ४७ ॥

ध्यानसे (परम वैराग्यका) बल पाकर उन्हें उत्तम बोध प्राप्त हुआ और उसके द्वारा उन्होंने सनातन मोक्षरूपा परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ ४७ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि ।
राज्यात् स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥ ४८ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसलिये तुम भी समृद्धिशाली राज्यसे भ्रष्ट होनेके कारण शोक न करो, तपस्याद्वारा तुम उसे प्राप्त कर लोगे ॥ ४८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव ॥ ४९ ॥

मनुष्यपर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख बारी-बारीसे आते रहते हैं । जैसे अरे नेमिसे जुड़े हुए ऊँचे-नीचे आते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यका दुःख-सुखसे सम्बन्ध होता रहता है ॥ ४९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥

अमितपराक्रमी युधिष्ठिर ! तुम तेरहवें वर्षके बाद अपने बाप-दादोंका राज्य प्राप्त कर लोगे, अतः अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्त्वा भगवान् व्यासः पाण्डवनन्दनम् ।
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं- जनमेजय ! परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तपस्याके लिये पुनः अपने आश्रमकी ओर चले गये ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गल-देवदूत-संवादविषयक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

(द्रौपदीहरणपर्व)

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका महर्षि दुर्वासाको आतिथ्यसत्कारसे संतुष्ट करके उन्हें युधिष्ठिरके पास भेजकर प्रसन्न होना

जनमेजय उवाच

वसत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥
सूर्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि।
ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चान्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः।
कथं तेष्वन्ववर्तन्त पापाचारा महामुने ॥ ३ ॥
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः।
एतदाचक्ष्व भगवन् वैशम्पायन पृच्छतः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुनि वैशम्पायनजी ! जब महात्मा पाण्डव इस प्रकार वनमें रहकर मुनियोंके साथ विचित्र कथावार्ताद्वारा मनोरञ्जन करते थे तथा जबतक द्रौपदी भोजन न कर ले, तबतक सूर्यके दिये हुए अक्षय पात्रसे प्राप्त होनेवाले अन्नसे वे उन ब्राह्मणोंको तृप्त करते थे, जो भोजनके लिये उनके पास आये होते थे, उन दिनों दुःशासन, कर्ण और शकुनिके मतके अनुसार चलनेवाले पापाचारी दुरात्मा दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंने उन पाण्डवोंके साथ कैसा बर्ताव किया ? भगवन् ! मेरे प्रश्नके अनुसार ये सब बातें कहिये ॥ १–४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव।
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! जब दुर्योधनने सुना कि पाण्डवलोग तो वनमें भी उसी प्रकार दान-पुण्य करते हुए आनन्दसे रह रहे हैं, जैसे नगरके निवासी रहा करते हैं, तब उसने उनका अनिष्ट करनेका विचार किया ॥ ५ ॥

तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः।
नानोपायैरघं तेषु चिन्तयत्सु दुरात्मसु ॥ ६ ॥
अभ्यागच्छत् स धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः।
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ॥ ७ ॥

इस प्रकार सोचकर छल-कपटकी विद्यामें निपुण कर्ण और दुःशासन आदिके साथ जब वे दुरात्मा धृतराष्ट्र-पुत्र भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाण्डवोंको संकटमें डालनेकी युक्तिका विचार कर रहे थे, उसी समय महायशस्वी धर्मात्मा तपस्वी महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लिये हुए वहाँ स्वेच्छासे ही आ पहुँचे ॥ ६-७ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम्।
दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ॥ ८ ॥
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमन्त्रयत्।

परम क्रोधी दुर्वासा मुनिको आया देख भाइयोंसहित श्रीमान् राजा दुर्योधनने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखकर नम्रतापूर्वक विनीतभावसे उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

विधिवत् पूजयामास स्वयं किङ्करवत् स्थितः ॥ ९ ॥
अहानि कतिचित् तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः।

दुर्योधनने स्वयं दासकी भाँति उनकी सेवामें खड़े रहकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कई दिनोंतक वहाँ ठहरे रहे ॥ ९½ ॥

तं च पर्यचरद् राजा दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १० ॥
दुर्योधनो महाराज शापात् तस्य विशङ्कितः।

महाराज जनमेजय ! राजा दुर्योधन (श्रद्धासे नहीं, अपितु) उनके शापसे डरता हुआ दिन-रात आलस्य छोड़कर उनकी सेवामें लगा रहा ॥ १०½ ॥

क्षुधितोऽस्मि ददस्वान्नं शीघ्रं मम नराधिप ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात्।
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम् ॥ १२ ॥

वे मुनि कभी कहते कि 'राजन् ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे शीघ्र भोजन दो' ऐसा कहकर वे स्नान करनेके लिये चले जाते और बहुत देरके बाद लौटते थे। लौटकर वे कह देते—'मैं नहीं खाऊँगा, आज मुझे भूख नहीं है' ऐसा कहकर अदृश्य हो जाते थे ॥ ११-१२ ॥

अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयास्मांस्त्वरान्वितः।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः ॥ १३ ॥
पूर्ववत् कारयित्वान्नं न भुङ्क्ते गर्हयन् स्म सः।

फिर कहींसे अकस्मात् आकर कहते—'हमलोगोंको जल्दी भोजन कराओ।' कभी आधी रातमें उठकर उसे नीचा दिखानेके लिये उद्यत हो पूर्ववत् भोजन बनवाकर उस भोजनकी निन्दा करते हुए भोजन करनेसे इन्कार कर देते थे ॥ १३½ ॥

वर्तमाने तथा तस्मिन् यदा दुर्योधनो नृपः ॥ १५ ॥
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ऐसा उन्होंने कई बार किया, तो भी जब राजा दुर्योधनके मनमें विकार या क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ, तब वे दुर्धर्ष मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥ १४-१५ ॥

दुर्वासा उवाच

वरं वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते ।
मयि प्रीते तु यद् धर्म्यं नालभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥

दुर्वासा बोले—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके लिये वर माँगो । मेरे प्रसन्न होनेपर जो धर्मानुकूल वस्तु होगी, वह तुम्हारे लिये अलभ्य नहीं रहेगी ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि दुर्वासाका यह वचन सुनकर दुर्योधनने मन-ही-मन ऐसा समझा, मानो उसका नया जन्म हुआ हो ॥ १७ ॥

प्रागेव मन्त्रितं चासीत् कर्णदुःशासनादिभिः ।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥ १८ ॥
अतिहर्षान्वितो राजन् वरमेनमयाचत ।
शिष्यैःसह मम ब्रह्मन् यथा जातोऽतिथिर्भवान्॥ १९॥
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २० ॥
गुणवान् शीलसम्पन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव ।

मुनि संतुष्ट हों, तो क्या माँगना चाहिये, इस बातके लिये कर्ण और दुःशासन आदिके साथ उसकी पहलेसे ही सलाह हो चुकी थी । राजन् ! उसी निश्चयके अनुसार दुर्बुद्धि दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह वर माँगा—'ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें महाराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं । इस समय वे धर्मात्मा पाण्डुकुमार अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करते हैं । युधिष्ठिर बड़े गुणवान् और सुशील हैं । जिस प्रकार आप मेरे अतिथि हुए, उसी तरह शिष्योंके सहित आप उनके भी अतिथि होइये ॥ १८-२०½ ॥

यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥ २१ ॥
भोजयित्वा द्विजान् सर्वान् पतींश्च वरवर्णिनी ।
विश्रान्ता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद् यदा॥ २२॥
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि ।

'यदि आपकी मुझपर कृपा हो तो मेरी प्रार्थनासे आप वहाँ ऐसे समयमें जाइयेगा, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पतियोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करनेके पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्राम कर रही हो' ॥ २१–२२½ ॥

तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥ २३ ॥
दुर्वासा अपि विप्रेन्द्रो यथागतमगात् ततः ।
कृतार्थमपि चात्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥

'तुमपर प्रेम होनेके कारण मैं वैसा ही करूँगा', दुर्योधनसे ऐसा कहकर विप्रवर दुर्वासा जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । उस समय दुर्योधनने अपने आपको कृतार्थ माना ॥ २३-२४ ॥

करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् ।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥

वह कर्णका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । कर्णने भी भाइयोंसहित राजा दुर्योधनसे बड़े हर्षके साथ इस प्रकार कहा ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

दिष्ट्या कामः सुसंवृत्तो दिष्ट्या कौरव वर्धसे ।
दिष्ट्या ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥ २६ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे हमारा काम बन गया । तुम्हारा अभ्युदय हो रहा है, यह भी भाग्यकी ही बात है । तुम्हारे शत्रु विपत्तिके अपार महासागरमें डूब गये, यह कितने सौभाग्यकी बात है ? ॥ २६ ॥

दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पाण्डुनन्दनाः ।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥

पाण्डव दुर्वासाकी क्रोधाग्निमें गिर गये हैं और अपने ही महापापोंके कारण वे दुस्तर नरकमें जा पड़े हैं ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन् दुर्योधनादयः ।
हसन्तः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! छल-कपटकी विद्यामें प्रवीण दुर्योधन आदि इस प्रकार बातें करते और हँसते हुए प्रसन्न मनसे अपने-अपने भवनोंमें गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाका उपाख्यानविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाका पाण्डवोंके आश्रमपर असमयमें आतिथ्यके लिये जाना, द्रौपदीके द्वारा स्मरण किये जानेपर भगवान्‌का प्रकट होना तथा पाण्डवोंको दुर्वासाके भयसे मुक्त करना और उनको आश्वासन देकर द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद् दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पाण्डवान्।
भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन् वने मुनिः॥१॥
अभ्यागच्छत् परिवृतः शिष्यैरयुतसम्मितैः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर एक दिन महर्षि दुर्वासा इस बातका पता लगाकर कि पाण्डवलोग भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हैं और द्रौपदी भी भोजनसे निवृत्त हो आराम कर रही है, दस हजार शिष्योंसे घिरे हुए उस वनमें आये ॥ १½ ॥

दृष्ट्वाऽऽयान्तं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः॥ २ ॥
जगामाभिमुखः श्रीमान् सह भ्रातृभिरच्युतः।
तस्मै बद्ध्वाञ्जलिं सम्यगुपवेश्य वरासने ॥ ३ ॥
विधिवत् पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमन्त्रयत्।
आह्निकं भगवन् कृत्वा शीघ्रमेहीति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्रीमान् राजा युधिष्ठिर अतिथिको आते देख भाइयोंसहित उनके सम्मुख गये। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं होते थे। उन्होंने उन अतिथिदेवताको लाकर श्रेष्ठ आसनपर आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया और कहा—'भगवन् ! अपना नित्य-नियम पूरा करके (भोजनके लिये) शीघ्र पधारिये'॥२—४॥

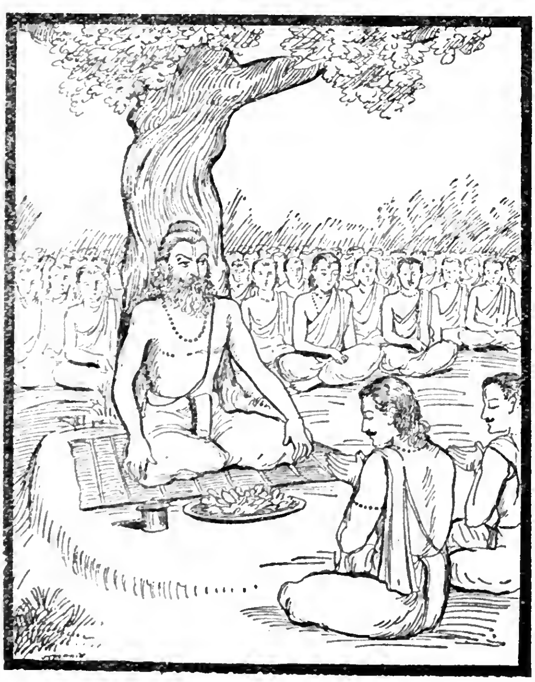

जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहानघः।
भोजयेत् सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन् ॥ ५ ॥
न्यमज्जत् सलिले चापि मुनिसङ्घः समाहितः।

यह सुनकर वे निष्पाप मुनि अपने शिष्योंके साथ स्नान करनेके लिये चले गये। उन्होंने इस बातका तनिक भी विचार नहीं किया कि ये इस समय शिष्योंसहित मुझे भोजन कैसे दे सकेंगे। सारी मुनिमण्डलीने जलमें गोता लगाया, फिर सब लोग एकाग्रचित्त होकर ध्यान करने लगे ।५½।

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषितां वरा ॥ ६ ॥
चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता।

राजन् ! इसी समय युवतियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई ॥ ६½ ॥

सा चिन्तयन्ती च यदा नान्नहेतुमविन्दत ॥ ७ ॥
मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिषूदनम्।

जब बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे अन्न मिलनेका कोई उपाय नहीं सूझा, तब वह मन-ही-मन कंसनिकन्दन आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण करने लगी—॥ ७½ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥ ८ ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥ ९ ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते ॥ १० ॥

'हे कृष्ण ! हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो ! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। आकूति (मन) और चित्ति (बुद्धि) के प्रेरक परमात्मन् ! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ ॥ ८—१० ॥

वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥ ११ ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥ १२ ॥

सागके एक पत्तेसे विश्वकी तृप्ति

'सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त ! आओ। जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहायता देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष ! प्राण और मनकी वृत्ति आदि तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच सकती। सबके साक्षी परमात्मन् ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। शरणागतवत्सल देव ! कृपा करके मुझे बचाओ॥ ११-१२॥

नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण॥ १३॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥ १४॥

'नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर ! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिमय आभूषण शोभा पाता है। प्रभो ! तुम्हीं समस्त प्राणियोंके आदि और अन्त हो। तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर ज्योतिर्मय सर्वात्मा एवं सब ओर मुखवाले परमेश्वर हो॥

त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥ १५॥

'ज्ञानी पुरुष तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। देवेश्वर ! यदि तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी मुझे उनसे भय नहीं है॥ १५॥

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥ १६॥

'भगवन् ! पहले कौरव-सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकट-से भी मेरा उद्धार करो'॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः॥ १७॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः॥ १८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्त-वत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है, फिर तो शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे॥

ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा।
अब्रवीद् वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम्॥ १९॥

भगवान्को आया देख द्रौपदीको बड़ा आनन्द हुआ। उसने उन्हें प्रणाम करके दुर्वासा मुनिके आने आदिका सारा समाचार कह सुनाया॥ १९॥

ततस्तामब्रवीत् कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात् सर्वं करिष्यसि॥ २०॥
निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत्।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि॥ २१॥
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते।

तब भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—'कृष्णे ! इस समय मुझे बड़ी भूख लगी है; मैं भूखसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। पहले मुझे जल्दी भोजन करा। फिर सारा प्रबन्ध करती रहना।' उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीको बड़ी लज्जा हुई। वह बोली—'भगवन् ! सूर्यनारायणकी दी हुई बटलोईसे तभीतक भोजन मिलता है, जबतक मैं भोजन न कर लूँ। देव ! आज तो मैं भी भोजन कर चुकी हूँ अतः अब उसमें अन्न नहीं रह गया है'॥ २०-२१½॥

ततः प्रोवाच भगवान् कृष्णां कमललोचनः॥ २२॥
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानीय त्वं प्रदर्शय॥ २३॥
इति निर्बन्धतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः॥ २४॥
उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्॥ २५॥

यह सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे फिर कहा—'कृष्णे ! मैं तो भूख और थकावटसे आतुर हो रहा हूँ और तुझे हँसी सूझती है। यह परिहासका समय नहीं है। जल्दी जा और बटलोई लाकर मुझे दिखा। इस प्रकार हठ करके भगवान्ने द्रौपदीसे बटलोई मँगवायी।

उसके गलेमें जरा-सा साग लगा हुआ था। उसे देखकर श्रीकृष्णने लेकर खा लिया और द्रौपदीसे कहा—'इस सागसे सम्पूर्ण विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों' ॥ २२–२५ ॥

आकारय मुनीन् शीघ्रं भोजनायेति चाब्रवीत् ।
सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः ॥ २६ ॥

इतना कहकर सबका क्लेश दूर करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण सहदेवसे बोले—तुम शीघ्र जाकर मुनियोंको भोजनके लिये बुला लाओ' ॥ २६ ॥

ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः ।
आकारितुं तु तान् सर्वान् भोजनार्थं नृपोत्तम॥ २७ ॥
स्नातुं गतान् देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन् मुनीन् ।

नृपश्रेष्ठ ! तब महायशस्वी सहदेव देवनदीमें स्नानके लिये गये हुए उन दुर्वासा आदि सब मुनियोंको भोजनके निमित्त बुलानेके लिये तुरंत गये ॥ २७½ ॥

ते चावतीर्णाः सलिले कृतवन्तोऽघमर्षणम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वोद्गारान् सान्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माद् दृष्टवन्तः परस्परम् ॥ २९ ॥
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन् ।
राज्ञा हि कारयित्वान्नं वयं स्नातुं समागताः ॥ ३० ॥
आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद् भुञ्जामहे वयम् ।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ॥ ३१ ॥

वे मुनिलोग उस समय जलमें उतरकर अघमर्षण मन्त्रका जप कर रहे थे। सहसा उन्हें पूर्ण तृप्तिका अनुभव हुआ; बार-बार अन्नरससे युक्त डकारें आने लगीं। यह देखकर

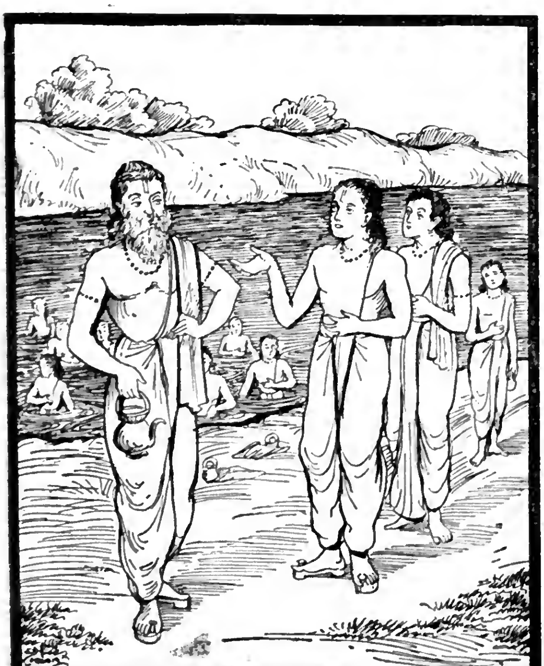

वे जलसे बाहर निकले और आपसमें एक दूसरेकी ओर देखने लगे। (सबकी एक-सी अवस्था हो रही थी।) वे सभी मुनि दुर्वासाकी ओर देखकर बोले—'ब्रह्मर्षे ! हमलोग राजा युधिष्ठिरको रसोई बनवानेकी आज्ञा देकर स्नान करनेके लिये आये थे, परंतु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठतक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है। अब हम कैसे भोजन करेंगे ? हमने जो रसोई तैयार करवायी है, वह व्यर्थ होगी। उसके लिये हमें क्या करना चाहिये' ॥ २८–३१ ॥

दुर्वासा उवाच

वृथा पाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ।
मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुषा ॥ ३२ ॥
स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः ।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ ३३ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः ॥ ३४ ॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः ।
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ॥ ३५ ॥

दुर्वासा बोले—वास्तवमें व्यर्थ ही रसोई बनवाकर हमने राजर्षि युधिष्ठिरका महान् अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टिसे देखकर हमें भस्म कर दें। ब्राह्मणो ! परम बुद्धिमान् राजा अम्बरीषके प्रभावको याद करके मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ, जिन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रखा है। सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी तथा तपस्वी हैं। वे सदा सदाचारपरायण तथा भगवान् वासुदेवको अपना परम आश्रय माननेवाले हैं। पाण्डव कुपित होनेपर हमको उसी प्रकार भस्म कर सकते हैं, जैसे रूईके ढेरको आग। अतः शिष्यो ! पाण्डवोंसे बिना पूछे ही तुरंत भाग चलो ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा ।
पाण्डवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गुरु दुर्वासा मुनिके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण पाण्डवोंसे अत्यन्त भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ३६ ॥

सहदेवो देवनद्यामपश्यन् मुनिसत्तमान् ।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ॥ ३७ ॥

सहदेवने जब देवनदीमें उन श्रेष्ठ मुनियोंको नहीं देखा, तब वे वहाँके तीर्थोंमें इधर-उधर खोजते हुए विचरने लगे ॥

तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान् ।
युधिष्ठिरमथाभ्येत्य तं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

वहाँ रहनेवाले तपस्वी मुनियोंके मुखसे उनके भागने

का समाचार सुनकर सहदेव युधिष्ठिरके पास लौट आये और सारा वृत्तान्त उनसे निवेदन कर दिया ॥ ३८ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे प्रत्यागमनकाङ्क्षिणः।
प्रतीक्षन्तः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥ ३९ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले सब पाण्डव उनके लौट आनेकी आशासे कुछ देरतक उनकी प्रतीक्षा करते रहे॥

निशीथेऽभ्येत्य चाकस्मादस्मान् स छलयिष्यति ।
कथं च निस्तरे मास्मात् कृच्छ्राद् दैवोपसादितात् ।४०।
इति चिन्तापरान् दृष्ट्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः ।
उवाच वचनं श्रीमान् कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥

पाण्डव सोचने लगे—'दुर्वासा मुनि अकस्मात् आधी रातको आकर हमें छलेंगे। दैववश प्राप्त हुए इस महान् संकटसे हमारा उद्धार कैसे होगा ?' इसी चिन्तामें पड़कर वे बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे। उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर आदि अन्य सब पाण्डवोंको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा ॥ ४०-४१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेः परमकोपनात्।
द्रौपद्या चिन्तितः पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥
न भयं विद्यते तस्मादृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम्।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीकुमारो ! परम क्रोधी महर्षि दुर्वासासे आपलोगोंपर संकट आता जानकर द्रौपदीने मेरा स्मरण किया था, इसीलिये मैं तुरंत यहाँ आ पहुँचा। अब आपलोगोंको दुर्वासा मुनिसे तनिक भी भय नहीं है। वे आपके तेजसे डरकर पहले ही भाग गये हैं ॥ ४२-४३ ॥

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्।
आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥

जो लोग सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे कभी कष्टमें नहीं पड़ते। अब मैं आपलोगोंसे जानेके लिये आज्ञा चाहता हूँ। यहाँसे द्वारकापुरीको जाऊँगा। आपलोगोंका निरन्तर कल्याण हो ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः।
द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥
त्वया नाथेन गोविन्द दुस्तरामापदं विभो।
तीर्णाः प्लवमिवासाद्य मज्जमाना महार्णवे ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर द्रौपदीसहित पाण्डवोंका चित्त स्वस्थ हुआ। उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे भगवान्‌से इस प्रकार बोले—'विभो ! गोविन्द ! तुम्हें अपना सहायक और संरक्षक पाकर हम बड़ी-बड़ी दुस्तर विपत्तियोंसे उसी प्रकार पार हुए हैं, जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्य जहाजका सहारा पाकर पार हो जाते हैं ॥ ४५-४६ ॥

स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम्।

'तुम्हारा कल्याण हो। इसी प्रकार भक्तोंका हितसाधन किया करो।' पाण्डवोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको चले गये ॥ ४६½ ॥

पाण्डवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ॥ ४७ ॥
ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरन्तो वनाद् वनम्।

महाभाग जनमेजय ! तत्पश्चात् द्रौपदीसहित पाण्डव प्रसन्नचित्त हो वहाँ एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते हुए सुखसे रहने लगे ॥ ४७½ ॥

इति तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ ४८ ॥
एवंविधान्यलीकानि धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः।
पाण्डवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाभवन् ॥ ४९ ॥

राजन् ! यहाँ तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया। इस प्रकार दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने वनवासी पाण्डवोंपर अनेक बार छल-कपटका प्रयोग किया, परंतु वह सब व्यर्थ हो गया ॥ ४८-४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाकी कथाविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथका द्रौपदीको देखकर मोहित होना और उसके पास कोटिकास्यको भेजना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! काम्यकवनमें नाना प्रकारके वन्यपशु रहते थे। वहाँ भरतकुलभूषण महारथी पाण्डव सब ओर घूमते हुए देवताओंके समान विहार करते थे ॥ १ ॥

प्रेक्ष्यमाणा बहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥

वे चारों ओर घूम-घूमकर नाना प्रकारके वन्य प्रदेशों

तथा ऋतुकालके अनुसार भलीभाँति खिले हुए फूलोंसे सुशोभित रमणीय वनश्रेणियोंकी शोभा देखते थे ॥ २ ॥

पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महद् वनम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः कञ्चित् कालमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय ! पाण्डवलोग बाघ-चीते आदि हिंसक पशुओंका शिकार किया करते थे। देवराज इन्द्रके समान वे उस महान् वनमें विचरते हुए कुछ कालतक विहार करते रहे ॥ ३ ॥

ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम्।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥

एक दिनकी बात है, शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह पाँचों पाण्डव उद्दीप्त तपस्वी पुरोहित धौम्य तथा महर्षि तृणबिन्दुकी आज्ञासे द्रौपदीको अकेली ही आश्रममें रखकर ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये हिंसक पशुओंको मारने एक साथ चारों दिशाओंमें (अलग-अलग) चले गये ॥ ४-५ ॥

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः।
विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवद् तदा॥ ६ ॥
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ॥ ७ ॥

उसी समय सिंधुदेशका महायशस्वी राजा जयद्रथ, जो वृद्धक्षत्रका पुत्र था, विवाहकी इच्छासे शाल्वदेशकी ओर जा रहा था । वह बहुमूल्य राजोचित ठाट-बाटसे सुसज्जित था । अनेक राजाओंके साथ यात्रा करता हुआ वह काम्यकवनमें आ पहुँचा ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् प्रियां भार्यां पाण्डवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥

वहाँ उसने पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदीको दूरसे देखा, जो निर्जन वनमें अपने आश्रमके दरवाजेपर खड़ी थी ॥ ८ ॥

विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम्।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥

वह परम सुन्दर रूप धारण किये अपनी अनुपम कान्तिसे उद्भासित हो रही थी और जैसे विद्युत् अपनी प्रभासे नीले मेघसमूहको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह सुन्दरी अपनी अङ्गच्छटासे उस वनप्रान्तको सब ओरसे देदीप्यमान कर रही थी ॥ ९ ॥

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ॥ १० ॥

जयद्रथ और उसके सभी साथियोंने उस अनिन्द्य सुन्दरीकी ओर देखा और वे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह विचार करने लगे—'यह कोई अप्सरा है या देवकन्या है अथवा देवताओंकी रची हुई माया है ?' ॥ १० ॥

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः।
विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली उस सुन्दरीको देखकर वृद्धक्षत्रकुमार सिन्धुराज जयद्रथ चकित रह गया । उसके मनमें दूषित भावनाका उदय हुआ ॥ ११ ॥

स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ॥ १२ ॥

उसने काममोहित होकर राजा कोटिकास्यसे कहा—'कोटिक ! जरा जाकर पता तो लगाओ, यह सर्वाङ्गसुन्दरी किसकी स्त्री है ? अथवा यह मनुष्यजातिकी स्त्री है भी या नहीं ? ॥

विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्यातिसुन्दरीम्।
एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥

'इस अत्यन्त सुन्दरी रमणीको पाकर मुझे और किसीसे विवाह करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। इसीको लेकर मैं अपने घर लौट जाऊँगा ॥ १३ ॥

गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वात्र कुतोऽपि वा।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ॥ १४ ॥

'सौम्य ! जाओ, पता लगाओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे इस वनमें आयी है ? यह सुन्दर भौंहोंवाली युवती काँटोंसे भरे हुए इस जंगलमें किसलिये आयी है ? ॥ १४ ॥

अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुन्दरी।
भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥

'क्या यह मनोहर कटिप्रदेशवाली विश्वसुन्दरी मुझे अङ्गीकार करेगी ? इसके नेत्रप्रान्त कितने विशाल हैं, दाँत कैसे सुन्दर हैं और शरीरका मध्यभाग कितना सूक्ष्म है ?॥१५॥

अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम्।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक॥ १६ ॥
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥

'यदि मैं इस सुन्दरीको पा जाऊँ, तो कृतार्थ हो जाऊँगा ॥ कोटिक ! जाओ और पता लगाओ कि इसका पति कौन है ?' जयद्रथका यह वचन सुनकर कुण्डलमण्डित कोटिकास्य रथसे उतर पड़ा और जैसे गीदड़ बाघकी स्त्रीसे बात करे उसी प्रकार उसने द्रौपदीके पास जाकर पूछा ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्टयधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथका आगमनविषयक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कोटिकास्यका द्रौपदीसे जयद्रथ और उसके साथियोंका परिचय देते हुए उसका भी परिचय पूछना

कोटिक उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखा-
मेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना।
देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं
व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः॥ १॥

कोटिक बोला—सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी! तुम कौन हो! जो कदम्बकी डाली झुकाकर उसके सहारे इस आश्रममें अकेली खड़ी हो, यहाँ तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। जैसे रातमें वायुसे आन्दोलित अग्निकी ज्वाला देदीप्यमान दिखायी देती है, उसी प्रकार तुम भी इस आश्रममें अपनी प्रभा बिखेर रही हो॥ १॥

अतीव रूपेण समन्विता त्वं
न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा
वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा॥ २॥

तुम बड़ी रूपवती हो। क्या इन जंगलोंमें भी तुम्हें डर नहीं लगता है? तुम किसी देवता, यक्ष, दानव अथवा दैत्यकी स्त्री तो नहीं हो या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो?॥ २॥

वपुष्मती वोरगराजकन्या
वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी
यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य॥ ३॥

क्या तुम दिव्यरूप धारण करनेवाली नागराजकुमारी हो अथवा वनमें विचरनेवाली किसी राक्षसकी पत्नी हो अथवा राजा वरुण, यमराज, चन्द्रमा एवं धनाध्यक्ष कुबेर—इनमेंसे किसीकी पत्नी हो?॥ ३॥

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा
शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना।
नह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म
न चापि जानीम तवेह नाथम्॥ ४॥

अथवा तुम धाता, विधाता, सविता, विभु या इन्द्रके भवनसे यहाँ आयी हो? न तो तुम्हीं हमारा परिचय पूछती हो और न हम ही यहाँ तुम्हारे पतिके विषयमें जानते हैं॥ ४॥

वयं हि मानं तव वर्धयन्तः
पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च
तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम्॥ ५॥

भद्रे! हम तुम्हारा सम्मान बढ़ाते हुए तुम्हारे पिता और पतिका परिचय पूछ रहे हैं। तुम अपने बन्धु-बान्धव, पति और कुलका यथार्थ परिचय दो और यह भी बताओ कि तुम यहाँ कौन-सा कार्य करती हो?॥ ५॥

अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः।
असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे
रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव॥ ६॥
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षि
क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः।

कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी! मैं राजा सुरथका पुत्र हूँ, जिसे साधारण जनता कोटिकास्यके नामसे जानती है और वे जो सुवर्णमय रथमें बैठे हैं तथा वेदीपर स्थापित एवं घीकी आहुति पड़नेसे प्रज्वलित हुए अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं, त्रिगर्तदेशके राजा हैं। ये वीर क्षेमङ्करके नामसे प्रसिद्ध हैं॥ ६½॥

अस्मात् परस्त्वेष महाधनुष्मान्
पुत्रः कुलिन्दाधिपतेर्वरिष्ठः॥ ७॥
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः
सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः।

इनके बाद जो ये महान् धनुष धारण किये सुन्दर फूलोंकी मालाएँ पहने विशाल नेत्रोंवाले वीर तुम्हें निहार रहे हैं, कुलिन्दराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। ये सदा पर्वतपर ही निवास करते हैं॥ ७½॥

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे
श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः॥ ८॥
इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः
स एव हन्ता द्विषतां सुगात्रि।

सुन्दराङ्गि! और वे जो पुष्करिणीके समीप श्यामवर्णके दर्शनीय नवयुवक खड़े हैं, इक्ष्वाकुवंशी राजा सुबलके पुत्र हैं। ये अकेले ही अपने शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं॥

यस्यानुचक्रं ध्वजिनः प्रयान्ति
सौवीरका द्वादश राजपुत्राः॥ ९॥
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे
मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः।
अङ्गारकः कुञ्जरो गुप्तकश्च
शत्रुंजयः संजयसुप्रवृद्धौ॥ १०॥
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च
शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम।

यं षट् सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति
नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते
सौवीरराजः सुभगे स एषः।

लाल रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर बैठकर यज्ञोंमें प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित होनेवाले अङ्गारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, संजय, सुप्रवृद्ध, भयंकर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप तथा कुहन—सौवीरदेशके ये बारह राजकुमार जिनके रथके पीछे हाथमें ध्वजा लिये चलते हैं तथा छः हजार रथी, हाथी, घोड़े और पैदल जिनका अनुगमन करते हैं, उन सौवीरराज जयद्रथका नाम तुमने सुना होगा। सौभाग्यशालिनि! ये वे ही राजा जयद्रथ दिखायी दे रहे हैं ॥ ९-११½ ॥

तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा
बलाहकानीकविदारणाद्याः ॥ १२ ॥

उनके दूसरे उदार हृदयवाले भाई बलाहक और अनीक-विदारण आदि भी उनके साथ हैं ॥ १२ ॥

सौवीरवीराः प्रवरा युवानो
राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति।
एतैः सहायैरुपयाति राजा
मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ॥ १३ ॥

सौवीरदेशके ये प्रमुख बलवान् नवयुवक वीर सदा राजा जयद्रथके साथ चलते हैं। राजा जयद्रथ इन सहायकोंसे सुरक्षित हो मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति यात्रा करते हैं ॥ १३ ॥

अजानतां ख्यापय नः सुकेशि
कस्यासि भार्या दुहिता च कस्य ॥ १४ ॥

सुकेशि! हम तुमसे सर्वथा अनजान हैं अतः हमें भी अपना परिचय दो; तुम किसकी पत्नी और किसकी पुत्री हो? ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें कोटिकास्यका प्रश्नविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका कोटिकास्यको उत्तर

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री
पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां
संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिबिदेशके प्रमुख वीर कोटिकास्यके इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारी द्रौपदी कदम्बकी वह डाली छोड़कर अपनी रेशमी ओढ़नीको सँभालती हुई संकोचपूर्वक उसकी ओर देखकर बोली— ॥ १ ॥

बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र
न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति।
न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्य-
मन्यो नरो वाप्यथवापि नारी ॥ २ ॥

'राजकुमार! मैं बुद्धिसे सोच-विचारकर भलीभाँति समझती हूँ कि मुझ-जैसी पतिपरायणास्त्रीको तुम-जैसे पर-पुरुषसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये; परंतु यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं है, जो तुम्हारी बातका उत्तर दे सके ॥ २ ॥

एका ह्यहं सम्प्रति तेन वाचं
ददामि वै भद्र निबोध चेदम्।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका
त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥

'मैं इस समय यहाँ अकेली ही हूँ। इसलिये विवश होकर तुमसे बोलना पड़ रहा है। भद्रपुरुष! मेरी इस बातपर ध्यान दो। मैं अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली हूँ। इस समय इस वनमें मैं अकेली हूँ और तुम भी अकेले पुरुष हो, ऐसी दशामें मैं तुम्हारे साथ कैसे वार्तालाप कर सकती हूँ? ॥

जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्य-
माख्यामि बन्धून् प्रथितं कुलं च ॥ ४ ॥

परंतु मैं तुम्हें पहचानती हूँ, तुम राजा सुरथके पुत्र हो, जिसे लोग कोटिकास्यके नामसे जानते हैं। शैब्य! इसीलिये मैं तुम्हें अपने बन्धुजनों तथा विश्वविख्यात वंशका परिचय देती हूँ ॥ ४ ॥

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः
कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः।
साहं वृणे पञ्च जनान् पतित्वे
ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥

'शिबिदेशके राजकुमार! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूँ। मनुष्य मुझे कृष्णाके नामसे जानते हैं। मैंने पाँचों पाण्डवोंका पतिरूपमें वरण किया है, जो खाण्डवप्रस्थमें रहते थे। उनका नाम तुमने अवश्य सुना होगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो
विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥

'युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीपुत्र नरवीर नकुल-सहदेव—ये ही मेरे पति हैं। वे सब-के-सब मुझे यहाँ रखकर हिंसक पशुओंको मारनेके लिये अलग-अलग बँटकर चारों दिशाओंमें गये हैं ॥ ६ ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम्।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां
कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥

'स्वयं राजा युधिष्ठिर पूर्वदिशामें गये हैं, भीमसेन दक्षिण दिशामें, अर्जुन पश्चिम दिशामें और नकुल-सहदेव उत्तर दिशामें गये हैं। मैं समझती हूँ, अब उन महारथियोंके सब ओरसे यहाँ पहुँचनेका समय हो गया है ॥ ७ ॥

सम्मानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं
विमुच्य वाहानवरोहयध्वम्।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा
प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥ ८ ॥

'अब तुमलोग अपनी सवारियोंसे उतरो और घोड़ोंको खोलकर विश्राम करो। मेरे पतियोंका आदर-सत्कार ग्रहण करके अपने अभीष्ट देशको जाना। महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे तुमलोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे' ॥

एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा
शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता।
विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां
संचिन्त्य तेषामतिथित्वमर्थे ॥ ९ ॥

शिबिदेशके राजकुमार कोटिकास्यसे ऐसा कहकर वह चन्द्रमुखी द्रौपदी अपनी उत्तम पर्णशालाके भीतर चली गयी। 'ये लोग हमारे अतिथि हैं' ऐसा सोचकर उसे उनपर विश्वास हो गया था। अतः वह प्रसन्नतापूर्वक उनके आतिथ्यकी व्यवस्थामें लग गयी ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथ और द्रौपदीका संवाद

वैशम्पायन उवाच

तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! पूर्वोक्त प्रकारसे रथपर बैठे हुए उन सब राजाओंके पास जाकर कोटिकास्यने द्रौपदीके साथ उसकी जो-जो बातें हुई थीं, वे सब कह सुनायीं ॥ १ ॥

कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत्।
यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः ॥ २ ॥
सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान्।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ॥ ३ ॥
प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ॥ ४ ॥
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी।

कोटिकास्यकी बात सुनकर सौवीरनरेश जयद्रथने उससे कहा—'शैब्य! सुन्दरियोंमें सर्वश्रेष्ठ वह युवती जब तुमसे बातचीत कर रही थी, उस समय मेरा मन उसीमें लगा हुआ था। तुम उसे साथ लिये बिना कैसे लौट आये? महाबाहो! मैं तुमसे यह सच कहता हूँ, इसे देखकर मुझे दूसरी स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो बंदरियाँ हों। उसने दर्शनमात्रसे ही मेरे मनको अच्छी तरह हर लिया है। शैब्य! यदि वह मानवी हो, तो उस कल्याणीके विषयमें ठीक-ठीक बताओ' ॥ २–४½ ॥

कोटिक उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ॥ ५ ॥
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी सम्मता भृशम्।
सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ॥ ६ ॥
तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज।

कोटिक बोला—सौवीरनरेश! यह यशस्विनी राजकुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा ही है, जो पाँचों पाण्डवोंकी अत्यन्त आदरणीया महारानी है। कुन्तीके सभी पुत्र इसे प्यार करते हैं। यह सती-साध्वी देवी अपने पतियोंके लिये बड़े सम्मानकी वस्तु है। तुम उससे मिलकर सौवीरदेशकी राह लो ॥ ५–६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ॥ ७ ॥
पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कोटिकास्यके ऐसा कहनेपर सौवीर और सिन्धु आदि देशोंके स्वामी जयद्रथने मनमें दुर्भावना लेकर उसे उत्तर दिया—'अच्छा, मैं भी द्रौपदीसे मिल लेता हूँ' ॥ ७½ ॥

स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ॥ ८ ॥
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत्।
कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥
येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः।

उसने अपने छः भाइयोंके साथ स्वयं सातवाँ बनकर द्रौपदीके पवित्र आश्रममें प्रवेश किया, मानो कोई भेड़िया सिंहकी माँदमें घुसा हो। वहाँ जाकर उसने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—'वरारोहे! तुम कुशलसे हो न? तुम्हारे पति नीरोग तो हैं न? इनके सिवा और जिन लोगोंको तुम सकुशल देखना चाहती हो, वे सभी स्वस्थ तो हैं न? ॥ ८-९½ ॥

द्रौपद्युवाच

अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोशे बले तथा ॥ १० ॥
कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिन्धुभिः।
अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चान्ये विजितास्त्वया ॥ ११ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! तुम स्वयं सकुशल हो न? तुम्हारे राज्य, खजाना और सैनिक तो कुशलसे हैं न? समृद्धिशाली शिवि, सौवीर, सिन्धु तथा अन्य जो-जो प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें आ गये हैं, उन सबकी प्रजाका तुम धर्मपूर्वक पालन तो करते हो न? ॥ १०-११ ॥

कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि ॥ १२ ॥
पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज।

मेरे पति कुरुकुलरत्न कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं। मैं, उनके चारों भाई तथा अन्य जिन लोगोंके विषयमें तुम पूछ रहे हो, वे सब कुशलसे हैं। राजकुमार! यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण करो और यह आसन है, इसपर बैठो ॥ १२½ ॥

जयद्रथ उवाच

एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १३ ॥
गतश्रीकांश्च्युतान् राज्यात् कृपणान् गतचेतसः।
अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १४ ॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १५ ॥

जयद्रथने कहा—आओ चलो, मेरे रथपर बैठो और अखण्ड सुखका उपभोग करो। अब पाण्डवोंके पास धन नहीं रहा। उनका राज्य छीन लिया गया। वे दीन और उत्साह-हीन हो गये हैं। अब इन वनवासी कुन्तीपुत्रोंका अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। विदुषी स्त्रियाँ निर्धन पतिकी उपासना नहीं करती हैं। स्वामीके पास जबतक लक्ष्मी रहे, तभीतक उसके साथ रहना चाहिये। जब उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाय, तो वहाँ कदापि न रहे ॥ १३—१५ ॥

श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
अलं ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १६ ॥

पाण्डव सदाके लिये श्रीहीन तथा राज्यभ्रष्ट हो गये हैं। अब तुम्हें पाण्डवोंके प्रति भक्ति रखकर कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १६ ॥

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि।
अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ १७ ॥

सुन्दरि! तुम मेरी भार्या बन जाओ। इन पाण्डवोंको छोड़ दो और मेरे साथ रहकर सुख भोगो। मेरे साथ रहनेसे तुम्हें सम्पूर्ण सिन्धु और सौवीरदेशका राज्य प्राप्त होगा, तुम महारानी बनोगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम्।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद् देशात् सभ्रुकुटीमुखी ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सिन्धुराज जयद्रथके मुखसे यह हृदय कँपा देनेवाली बात सुनकर द्रुपद-कुमारी कृष्णा उस स्थानसे दूर हट गयी। उसके मुखपर रोष छा गया और उसकी भौंहें तन गयीं ॥ १८ ॥

अवमत्यास्य तद् वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धव ॥ १९ ॥

उसके इस प्रस्तावका तिरस्कार करके सुन्दरी द्रौपदीने उसे कड़ी फटकार सुनायी और बोली—'खबरदार, फिर कभी ऐसी बात मुखसे मत निकालना। सिन्धुराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये थी ॥ १९ ॥

सा काङ्क्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिन्दिता।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥ २० ॥

पतिव्रता द्रौपदी चाहती थी कि मेरे पति अभी यहाँ आ जायँ। अतः वह जयद्रथसे वाद-विवाद करती हुई उसे बातोंमें फँसाये रखनेकी चेष्टा करने लगी ॥ २० ॥

(द्रौपद्युवाच

नैवं वद महाबाहो न्याय्यं त्वं न च बुध्यसे ॥
पाण्डूनां धार्तराष्ट्राणां स्वसा चैव कनीयसी।
दुःशला नाम तस्यास्त्वं भर्ता राजकुलोद्वह ॥
मम भ्राता च न्याय्येन त्वया रक्ष्या महारथ।
धर्मिष्ठानां कुले जातो न धर्मं त्वमवेक्षसे ॥

द्रौपदी बोली—महाबाहो! ऐसी पापकी बात न

बोलो। कौन-सा कार्य धर्मके अनुकूल और न्यायसंगत है, इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। तुम धृतराष्ट्रपुत्रों तथा पाण्डवोंकी छोटी बहन दुःशलाके पति हो। महारथी राजकुमार! इस नातेसे न्यायतः तुम मेरे भाई हो; अतः तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारा जन्म तो धर्मात्माओंके कुलमें हुआ है, परंतु तुम्हारी दृष्टि धर्मकी ओर नहीं है॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः सिन्धुराजोऽथ वाक्यमुत्तरमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके ऐसा कहनेपर सिन्धुराज जयद्रथने उसे इस प्रकार उत्तर दिया।

जयद्रथ उवाच

राज्ञां धर्मं न जानीषे स्त्रियो रत्नानि चैव हि।
साधारणानि लोकेऽस्मिन् प्रवदन्ति मनीषिणः॥)

जयद्रथ बोला—कृष्णे! तुम राजाओंका धर्म नहीं जानतीं। मनीषी पुरुषोंका कथन है कि इस संसारमें स्त्रियाँ तथा रत्न सर्वसाधारणकी वस्तुएँ हैं।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथद्रौपदीसंवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका जयद्रथको फटकारना और जयद्रथद्वारा उसका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

सरोषरागोपहतेन वल्गुना
सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं
ततोऽब्रवीत् तं द्रुपदात्मजा पुनः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जयद्रथकी बात सुनकर द्रौपदीका सुन्दर मुख क्रोधसे तमतमा उठा, आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी होकर तन गयीं और उसने सौवीरराज जयद्रथको फटकारकर पुनः इस प्रकार कहा—॥ १॥

यशस्विनस्तीक्ष्णविषान् महारथा-
नभिब्रुवन् मूढ न लज्जसे कथम्।
महेन्द्रकल्पान् निरतान् स्वकर्मसु
स्थितान् समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम्॥ २॥

'अरे मूढ़! मेरे पति पाण्डव महान् यशस्वी, सदा अपने धर्मके पालनमें स्थित, यक्षों तथा राक्षसोंके समूहमें भी युद्ध करनेमें समर्थ, देवराज इन्द्रके सदृश शक्तिशाली तथा महारथी वीर हैं। उनका क्रोध तीक्ष्ण विषवाले नागोंके समान भयंकर है। उनके सम्मानके विरुद्ध ऐसी ओछी बातें कहते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती?॥ २॥

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं सम्परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर॥ ३॥

'अच्छे लोग पूजनीय, तपस्वी तथा पूर्ण विद्वान् पुरुषके प्रति भले ही वह वनवासी हो या गृहस्थ कोई अनुचित बात नहीं कहते हैं। जयद्रथ! मनुष्योंमें जो तेरे-जैसे कुत्ते हैं, वे ही इस तरह भूँका करते हैं॥ ३॥

अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चि-
देतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे।
यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं
पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत॥ ४॥
नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्प-
मुपत्यकां हैमवतीं चरन्तम्।
दण्डीव यूथादपसेधसि त्वं
यो जेतुमाशंससि धर्मराजम्॥ ५॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस क्षत्रियमण्डलीमें कोई भी तेरा ऐसा हितैषी स्वजन नहीं है, जो आज तेरा हाथ पकड़कर तुझे पातालके गहरे गर्तमें गिरनेसे बचा ले। अरे! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य हिमालयकी उपत्यकामें विचरनेवाले पर्वतशिखरके समान ऊँचे एवं मदकी धारा बहानेवाले गजराजको हाथमें डंडा लेकर उसके यूथसे अलग हाँक लाना चाहे, उसी प्रकार तू धर्मराज युधिष्ठिरको जीतनेका हौसला रखता है ॥ ४-५ ॥

बाल्यात् प्रसुप्तस्य महाबलस्य
सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि।
पदा समाहत्य पलायमानः
क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ॥ ६ ॥

'तू मूर्खतावश (अपनी माँदमें) सोये हुए महाबली सिंहको लात मारकर उसके मुखके बाल नोंच रहा है। जिस समय तू क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको देखेगा, उस समय तुरंत भाग छूटेगा ॥ ६ ॥

महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं
जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि
यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ७ ॥

'यदि तू रोषमें भरे हुए भयंकर योद्धा अर्जुनसे जूझना चाहता है, तो समझ ले कि पर्वतकी कन्दराओंमें उत्पन्न हो वहीं पलकर बढ़े हुए अत्यन्त घोर और महाबली सोये हुए भयानक सिंहको तू पैरसे ठोकर मार रहा है ॥ ७ ॥

कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ
मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे।
यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां
जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ॥ ८ ॥

'यदि तू पुरुषरत्न दोनों छोटे पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखता है, तो यह मानना पड़ेगा कि मतवाला होकर तू मुखमें तीक्ष्ण विष धारण करनेवाले एवं दो जिह्वाओंसे युक्त दो काले नागोंकी पूँछको पैरसे कुचल रहा है ॥ ८ ॥

यथा च वेणुः कदली नलो वा
फलन्त्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणा-
मादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥ ९ ॥

'अरे मूर्ख! जैसे बाँस, केला और नरकुल—ये अपने विनाशके लिये ही फलते हैं, समृद्धिके लिये नहीं तथा जैसे केकड़ेकी मादा अपनी मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तू पाण्डवोंद्वारा सदा सुरक्षित मुझ द्रौपदीका अपनी मृत्युके लिये ही अपहरण करना चाहता है' ॥ ९ ॥

जयद्रथ उवाच

जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्
यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन
शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य ॥ १० ॥

जयद्रथने कहा—कृष्णे! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पति राजकुमार पाण्डव कैसे हैं? मुझे ये सब बातें मालूम हैं। परंतु इस समय इस विभीषिकाद्वारा तुम हमें डरा नहीं सकतीं ॥ १० ॥

वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे
कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्
मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान् ॥ ११ ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णे! हम सब लोग उन श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, जो सत्रह[1] गुणोंसे सम्पन्न हैं। इसके सिवा हम छः[2] गुणोंको पाकर पाण्डवोंसे बढ़े-चढ़े हैं; अतः उन्हें अपनेसे हीन मानते हैं ॥ ११ ॥

सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा
न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती
सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥

कृष्णे! तुम बड़ी-बड़ी बातें बनाकर हमें रोक नहीं सकतीं। अब तुम्हारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो सीधी तरहसे तुरंत चलकर मेरे हाथी या रथपर सवार हो जाओ; अथवा पाण्डवोंके हार जानेपर दीन वाणीमें विलाप करती हुई सौवीरराज जयद्रथसे कृपाकी भीख माँगो ॥ १२ ॥

द्रौपद्युवाच

महाबला किंत्विह दुर्बलेव
सौवीरराजस्य मताहमस्मि।
नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता
सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥

द्रौपदीने कहा—मैं महान् बल एवं शक्तिसे सम्पन्न हूँ, तो भी सौवीरराज जयद्रथकी दृष्टिमें यहाँ दुर्बल-सी

---

१. खेती, व्यापार, दुर्ग, पुल बनाना, हाथी बाँधना, खानोंकी रक्षा, कर वसूलना और निर्जन प्रदेशोंको बसाना—ये आठ संधान-कर्म तथा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मन्त्रोदय और उत्साहोदय—ये नौ मिलाकर सत्रह गुण होते हैं।

२. शौर्य, तेज, धृति, दाक्षिण्य, दान तथा ऐश्वर्य—ये छः गुण हैं।

प्रतीत हो रही हूँ। मुझे भगवान्पर विश्वास है, मैं जोर-जबर्दस्ती करनेसे यहाँ जयद्रथके सामने कभी दीन वचन नहीं बोल सकती॥ १३॥

यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां
समास्थितावेकरथे समेतौ।
इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथंचि-
न्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः॥ १४॥

एक रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ होकर जिसकी खोजमें निकलेंगे, उस द्रौपदीको देवराज इन्द्र भी किसी तरह हरकर नहीं ले जा सकते। फिर दूसरे किसी दीन-हीन मनुष्यकी तो बिसात ही क्या है ?॥ १४॥

यदा किरीटी परवीरघाती
निघ्नन् रथस्थो द्विषतां मनांसि।
मदन्तरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा
कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु॥ १५॥

जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंके मनोबलको नष्ट करते हुए मेरे लिये रथमें स्थित हो तेरी सेनामें प्रवेश करेंगे, उस समय जैसे गर्मियोंमें आग घास-फूसको जलाती है, उसी प्रकार तुझे और तेरी सेनाको भस्म कर डालेंगे॥ १५॥

जनार्दनः सान्धकवृष्णिवीरो
महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः
प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः॥ १६॥

अन्धक और वृष्णिवंशी वीरोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महान् धनुर्धर समस्त केकयराजकुमार मेरे रक्षक हैं। ये सभी राजपुत्र हर्ष और उत्साहमें भरकर मेरा पता लगानेके लिये निकल पड़ेंगे॥ १६॥

मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा
गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य
भीमाः शब्दं घोरतरं नदन्ति॥ १७॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए अत्यन्त वेगशाली बाण मेघोंके समान गर्जना करते हैं। वे भयानक बाण अर्जुनके हाथसे टकराकर अत्यन्त घोर शब्दकी सृष्टि करते हैं॥ १७॥

गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान्
पतंगसङ्घानिव शीघ्रवेगान्।
यदा द्रष्टास्यर्जुनं वीर्यशालिनं
तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिन्दितासि॥ १८॥

जब तू गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विशाल बाणसमूहोंको टिड्डियोंकी भाँति वेगसे उड़ते देखेगा और जब अद्भुत पराक्रमसे शोभा पानेवाले वीर अर्जुनपर तेरी दृष्टि पड़ेगी, उस समय अपने इस कुकृत्यको याद करके तू स्वयं ही अपनी बुद्धिको धिक्कारेगा॥ १८॥

सशङ्खघोषः सतलत्रघोषो
गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि
तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत्॥ १९॥

जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन शङ्खध्वनिके साथ दस्तानेकी आवाज फैलाते हुए बार-बार बाण उठा-उठाकर तेरी छातीपर चोट करेंगे, उस समय तेरे मनकी दशा कैसी होगी ? (इसे भी सोच ले)॥ १९॥

गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं
माद्रीपुत्रौ सम्पतन्तौ दिशश्च।
अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ
दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम॥ २०॥

अरे नीच ! जब भीमसेन हाथमें गदा लिये दौड़ेंगे और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव अमर्षजनित क्रोधरूपी विष उगलते हुए (तेरी सेनापर) सब दिशाओंसे टूट पड़ेंगे, तब उन्हें देखकर तू दीर्घकालतक संतापकी आगमें जलता रहेगा॥ २०॥

यथा चाहं नातिचरे कथंचित्
पतीन् महार्हान् मनसापि जातु।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम्॥ २१॥

यदि मैंने कभी मनसे भी अपने परम पूजनीय पतियोंका किसी तरह उल्लङ्घन नहीं किया हो, तो आज इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे जीतकर अपने वशमें करके जमीनपर घसीट रहे हैं॥ २१॥

न सम्भ्रमं गन्तुमहं हि शक्ये
त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा।
समागताहं हि कुरुप्रवीरैः
पुनर्वनं काम्यकमागतास्मि॥ २२॥

मैं जानती हूँ कि तू नृशंस है, अतः मुझे बलपूर्वक खींचकर ले जायगा। परंतु इससे मैं सम्भ्रम (घबराहट) में नहीं पड़ सकूँगी। मैं अपने पति कुरुवंशी वीर पाण्डवोंसे शीघ्र ही मिलूँगी और उनके साथ पुनः इसी काम्यकवनमें आकर रहूँगी॥ २२॥

वैशम्पायन उवाच

साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा
जिघृक्षमाणानवभर्त्सयन्ती।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता
धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा॥ २३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय जयद्रथके साथी आश्रममें प्रविष्ट होकर द्रौपदीको पकड़ लेना चाहते थे। यह देख विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी उन्हें डाँटकर बोली—'खबरदार, कोई मेरे शरीरका स्पर्श न करे।' फिर भयभीत होकर उसने अपने पुरोहित धौम्य मुनिको पुकारा ॥ २३ ॥

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥

इतनेमें ही जयद्रथने आगे बढ़कर द्रौपदीकी ओढ़नीका छोर पकड़ लिया। परंतु द्रौपदीने उसे जोरका धक्का दिया। उसका धक्का लगते ही पापी जयद्रथका शरीर जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह
धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २५ ॥

फिर बड़े वेगसे उठकर उसने राजकुमारी द्रौपदीको पकड़ लिया। तब बार-बार लँबी साँसें छोड़ती हुई द्रौपदीने धौम्य-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वह जयद्रथके द्वारा खींची जानेके कारण बाध्य होकर उसके रथपर बैठ गयी ॥ २५ ॥

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान्।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥

तब धौम्यने कहा—जयद्रथ ! तू क्षत्रियोंके प्राचीन धर्मपर दृष्टिपात कर। महारथी पाण्डवोंको परास्त किये बिना इसे ले जानेका तुझे कोई अधिकार नहीं है ॥ २६ ॥

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं त्वं प्राप्स्यसि न संशयः।
आसाद्य पाण्डवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥

तू धर्मराज आदि वीर पाण्डवोंके सामने पड़नेपर इस खोटे कर्मका बुरा फल प्राप्त करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धौम्य मुनि हरकर ले जायी जाती हुई यशस्विनी राजकुमारी द्रौपदीके पीछे-पीछे पैदल सेनाके बीचमें होकर चलने लगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आश्रमपर लौटना और धात्रेयिकासे द्रौपदीहरणका वृत्तान्त जानकर जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

ततो दिशः सम्प्रविहृत्य पार्था
मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां
पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भूमण्डलके श्रेष्ठतम धनुर्धर पाँचों कुन्तीकुमार सब दिशाओंमें घूम-फिरकर हिंसक पशुओं, वराहों और जंगली भैंसोंको मारकर पृथक्-पृथक् विचरते हुए एक साथ हो गये ॥ १ ॥

ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं
महावनं तद् विहगोपघुष्टम्।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद् युधिष्ठिरः
श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥

उस समय हिंसक पशुओं और साँपोंसे भरा हुआ वह महान् वन सहसा चिड़ियोंके चीत्कारसे गूँज उठा तथा वन्य पशु भी भयभीत होकर आर्तनाद करने लगे। उन सबकी आवाज सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा— ॥ २ ॥

आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य
मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयन्तो
महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥ ३ ॥

भाइयो ! देखो, ये मृग और पक्षी सूर्यके द्वारा प्रकाशित पूर्वदिशाकी ओर दौड़ते हुए अत्यन्त कठोर शब्द बोल रहे हैं और किसी भयंकर उत्पातकी सूचना देते हैं। जान पड़ता है, यह विशाल वन हमारे शत्रुओंद्वारा पीड़ित हो रहा है ॥ ३ ॥

क्षिप्रं निवर्तध्वमलं विलम्बै-
र्मनो हि मे दूयति दह्यते च।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्यु-
रुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥

'अब शीघ्र आश्रमकी ओर लौटो। हमें विलम्ब नहीं

करना चाहिये; क्योंकि मेरा मन बुद्धिकी विवेकशक्तिको आच्छादित करके व्यथित तथा चिन्तासे दग्ध हो रहा है तथा मेरे शरीरमें यह प्राणोंका स्वामी (जीव) भयभीत हुआ छटपटा रहा है ॥ ४ ॥

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा
राष्ट्रं यथाराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं
शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ॥ ५ ॥

'जैसे गरुड़के द्वारा सरोवरमें रहनेवाले महासर्पके पकड़ लिये जानेपर वह मथित-सा हो उठता है, जैसे बिना राजाका राज्य श्रीहीन हो जाता है तथा जिस प्रकार रससे भरा हुआ घड़ा धूर्तोंद्वारा (चुपकेसे) पी लिये जानेपर सहसा खाली दिखायी देता है; उसी प्रकार शत्रुओंद्वारा काम्यकवनकी भी दुरवस्था की गयी है, ऐसा मुझे जान पड़ता है' ॥ ५ ॥

ते सैन्धवैरत्यनिलोग्रवेगै-
र्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरा-
स्तदाऽऽश्रमायाभिमुखा बभूवुः॥ ६ ॥

तत्पश्चात् वे नरवीर पाण्डव हवासे भी अधिक तेज चलनेवाले सिन्धुदेशके महान् वेगशाली अश्वोंसे जुते हुए सुन्दर एवं विशाल रथोंपर बैठकर आश्रमकी ओर चले ॥६॥

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो
निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत् तत् प्रविमृश्य राजा
प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥

उस समय एक गीदड़ बड़े जोरसे रोता हुआ लौटते हुए पाण्डवोंके वामभागसे होकर निकल गया । इस अपशकुनपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और अर्जुनसे कहा—॥ ७ ॥

यथा वदत्येष विहीनयोनिः
शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः
कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥

'यह नीच योनिका गीदड़, जो हमलोगोंके वामभागसे होकर निकला है, जैसा शब्द कर रहा है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि पापी कौरवोंने यहाँ आकर हमारी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक भारी संहार मचा रक्खा है' ॥ ८ ॥

इत्येव ते तद् वनमाविशन्तो
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं
धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उस विशाल वनमें शिकार खेलकर लौटे हुए पाण्डव जब आश्रमके समीपवर्ती वनमें प्रवेश करने लगे, तब उन्होंने देखा कि उनकी प्रिया द्रौपदीकी दासी धात्रेयिका, जो उन्हींके एक सेवककी स्त्री थी, रो रही है ॥ ९ ॥

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य
रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र
धात्रेयिकामन्तिकतरस्तदानीम् ॥ १० ॥

राजा जनमेजय ! उसे रोती देख सारथि इन्द्रसेन तुरंत रथसे कूद पड़ा और वहाँसे दौड़कर धात्रेयिकाके अत्यन्त निकट जाकर उस समय इस प्रकार बोला—॥ १० ॥

किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां
किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः
प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥

'तू इस प्रकार धरतीपर पड़ी क्यों रो रही है ? तेरा मुँह दीन होकर क्यों सूख रहा है ? कहीं अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले पापी कौरवोंने यहाँ आकर राजकुमारी द्रौपदीका तिरस्कार तो नहीं किया ? ॥ ११ ॥

अचिन्त्यरूपा सुविशालनेत्रा
शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् ।
यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा
दिवं प्रपन्नाप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥

तस्या गमिष्यन्ति पदे हि पार्था
यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।

'धर्मराज युधिष्ठिर महारानीके लिये जिस प्रकार संतप्त हो रहे हैं, उसे देखते हुए यह निश्चय है कि समस्त कुन्ती-कुमार उनकी खोजमें अभी जायँगे। उनका रूप अचिन्त्य है। वे सुन्दर एवं विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती हैं तथा कुरुप्रवर पाण्डवोंको अपने शरीरके समान प्यारी हैं। वे द्रौपदीदेवी यदि पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हुई हों, स्वर्गलोकमें गयी हों अथवा समुद्रमें समा गयी हों, पाण्डव उन्हें अवश्य ढूँढ़ निकालेंगे ॥ १२½ ॥

को हीदृशानामरिमर्दनानां
क्लेशक्षमानामपराजितानाम् ॥ १३ ॥
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षे-
दनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।

'जो शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले हैं, जो सब प्रकारके क्लेश सहन करनेमें समर्थ हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सर्वोत्तम रत्नके समान स्पृहणीय तथा प्राणोंके समान प्रियतमा द्रौपदीका कौन मूर्ख अपहरण करना चाहेगा ? ॥ १३½ ॥

न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य
बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम् ॥ १४ ॥
कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा
महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्र्याः ।

'द्रौपदी बाहर प्रकट हुई पाण्डवोंकी अन्तरात्मा है। अपने पतियोंसे सनाथ महारानी द्रौपदीको यहाँ कौन मूर्ख नहीं जानता था ? आज पाण्डवोंके अत्यन्त भयंकर और तीक्ष्ण श्रेष्ठ बाण किसके शरीरको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस जायँगे ? ॥ १४½ ॥

मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि
यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ॥ १५ ॥
निहत्य सर्वान् द्विषतः समग्रान्
पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ।

'भीरु ! तू महारानी द्रौपदीके लिये शोक न कर। तू समझ ले कि अभी वे पुनः यहाँ आ जायँगी। कुन्तीके पुत्र अपने समस्त शत्रुओंका संहार करके द्रुपदकुमारीसे अवश्य मिलेंगे' ॥ १५½ ॥

अथाब्रवीच्चारु मुखं प्रमृज्य
धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य
पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा ।
तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि
वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ॥ १७ ॥

तब अपने सुन्दर मुखपर बहते हुए आँसुओंको (दोनों हाथोंसे) पोंछकर धात्रेयिकाने सारथि इन्द्रसेनसे कहा—'इन्द्रसेन ! इन्द्रके समान पराक्रमी इन पाँचों पाण्डवोंका अपमान करके जयद्रथने हठपूर्वक द्रौपदीका अपहरण किया है। देखो, उसके रथ और सैनिकोंके जानेसे जो ये नये मार्ग बन गये हैं, वे ज्यों-के-त्यों हैं, मिटे नहीं हैं तथा ये टूटे हुए वृक्ष भी अभी मुरझाये नहीं हैं ॥ १६-१७ ॥

आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं
न दूरयातैव हि राजपुत्री ।
संनह्यध्वं सर्वे एवेन्द्रकल्पा
महान्ति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी समस्त पाण्डववीरो ! आपलोग अपने रथोंको लौटाइये। शीघ्र शत्रुओंका पीछा कीजिये। अभी राजकुमारी द्रौपदी दूर नहीं गयी होगी। शीघ्र ही महान् एवं मनोहर कवच धारण कर लीजिये ॥ १८ ॥

गृह्णीत चापानि महाधनानि
शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ।
पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता
प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ॥ १९ ॥
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं
वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः
पुरा श्मशाने स्रगिवापविद्ध्यते ॥ २० ॥
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते
शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा
पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥

'बहुमूल्य धनुष और बाण ले लीजिये और शीघ्र ही शत्रुके मार्गका अनुसरण कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि डाँट-डपट और दण्डके भयसे मोहित व्याकुलचित्त हो अपना उदास मुख लिये द्रौपदी किसी अयोग्य पुरुषको आत्मसमर्पण कर दे। ऐसी घटना घटित होनेसे पहले ही वहाँ पहुँच जाइये। यदि राजकुमारी कृष्णा किसी पराये पुरुषके हाथमें पड़ गयी, तो समझ लीजिये, किसीने उत्तम घीसे भरी हुई स्रुवाको राखमें डाल दिया, हविष्यको भूसेकी आगमें होम दिया गया, (देवपूजाके लिये बनी हुई) सुन्दर माला श्मशानमें फेंक दी गयी, यज्ञमण्डपमें रखे हुए पवित्र सोमरसको वहाँके ब्राह्मणोंकी असावधानीसे किसी कुत्तेने चाट लिया और विशाल वनमें शिकार करके अशुद्ध हुए गीदड़ने किसी पवित्र सरोवरमें गोता लगाकर उसे अपवित्र कर दिया; अतः ऐसी अप्रिय घटना घटित होनेसे पहले ही आपलोगोंको वहाँ पहुँच जाना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं
चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम्।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी
श्वा वै पुरोडाशमिवाध्वरस्थम्।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं
मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद् वै ॥ २२ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि आपलोगोंकी प्रियाके सुन्दर नेत्र तथा मनोहर नासिकासे सुशोभित चन्द्ररश्मियोंके समान स्वच्छ, प्रसन्न एवं पवित्र मुखको कोई कुकर्मकारी पापात्मा पुरुष छू दे; ठीक उसी तरह, जैसे कुत्ता यज्ञके पुरोडाशको चाट ले। अतः जितना शीघ्र सम्भव हो, इन्हीं मार्गोंसे शत्रुका पीछा कीजिये। आपलोगोंका बहुमूल्य समय यहाँ अधिक नहीं बीतना चाहिये' ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं
मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा
बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर बोले—भद्रे! हट जाओ। अपनी जबान बंद करो। हमारे निकट द्रौपदीके सम्बन्धमें ऐसी अनुचित और कठोर बातें मुँहसे न निकालो। जिन्होंने अपने बलके घमंडमें आकर ऐसा निन्दनीय कार्य किया है, वे राजा हों या राजकुमार उन्हें अपने प्राण एवं सम्मानसे अवश्य वञ्चित होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं
तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो
ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर समस्त पाण्डव अपने विशाल धनुषकी डोरी खींचते और बार-बार सर्पोंके समान फुफकारते हुए उन्हीं मार्गोंपर चलते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ २४ ॥

ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणु-
मुद्धूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम्।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं
विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन्हें जयद्रथकी सेनाके घोड़ोंकी टापसे आहत होकर उड़ती हुई धूल दिखायी दी। उसके साथ ही पैदल सैनिकोंके बीचमें होकर चलते हुए पुरोहित धौम्य भी दृष्टिगोचर हुए, जो बार-बार पुकार रहे थे—'भीमसेन! दौड़ो' ॥ २५ ॥

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः
सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः।
श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता
जवेन तत् सैन्यमथाभ्यधावन् ॥ २६ ॥

तब असाधारण पराक्रमी राजकुमार पाण्डव धौम्य मुनिको सान्त्वना देते हुए बोले—'आप निश्चिन्त होकर चलिये, (हमलोग आ पहुँचे हैं।)' फिर जैसे बाज मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार पाण्डव जयद्रथकी सेनाके पीछे बड़े वेगसे दौड़े ॥ २६ ॥

तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां
संरब्धानां धर्षणाद् याज्ञसेन्याः।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च
दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ॥ २७ ॥

इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डव द्रौपदीके तिरस्कारकी बात सुनकर ही क्रोधातुर हो रहे थे; जब उन्होंने जयद्रथको और उसके रथपर बैठी हुई अपनी प्रिया द्रौपदीको देखा, तब तो उनकी क्रोधाग्नि प्रबल वेगसे प्रज्वलित हो उठी ॥ २७ ॥

प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरा-
स्ततो दिशः सम्मुमुहुः परेषाम् ॥ २८ ॥

फिर तो भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा राजा युधिष्ठिर—ये सभी महाधनुर्धर वीर सिन्धुराज जयद्रथको ललकारने लगे। उस समय शत्रुओंके सैनिकोंको इतनी घबराहट हुई कि उन्हें दिशाओंतकका ज्ञान न रहा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमने एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें पार्थागमनविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा जयद्रथके सामने पाण्डवोंके पराक्रमका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत् तदा।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उस वनमें भीमसेन और अर्जुनको देखकर अमर्षमें भरे हुए क्षत्रियोंका अत्यन्त घोर कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ १ ॥

तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा
स्वयं दुरात्मा नरपुङ्गवानाम्।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच
रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥

उन नरश्रेष्ठ वीरोंकी ध्वजाओंके अग्रभागोंको देखकर हतोत्साह हुए दुरात्मा राजा जयद्रथने अपने रथपर बैठी हुई तेजस्विनी द्रौपदीसे स्वयं कहा—॥ २ ॥

आयान्तीमे पञ्च रथा महान्तो
मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि
परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥

'सुन्दर केशोंवाली कृष्णे ! ये पाँच विशाल रथ आ रहे हैं। जान पड़ता है, इनमें तुम्हारे पति ही बैठे हैं। तुम तो सबको जानती ही हो। मुझे रथपर बैठे हुए इन पाण्डवोंमेंसे एक-एकका उत्तरोत्तर परिचय दो' ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरै-
रनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम्।
एते वीराः पतयो मे समेता
न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ॥ ४ ॥

द्रौपदी बोली—अरे मूढ़ ! आयुका नाश करनेवाला यह अत्यन्त भयंकर नीच कर्म करके अब तू इन महाधनुर्धर पाण्डव वीरोंका परिचय जानकर क्या करेगा ? ये मेरे सभी वीर पति जुट गये हैं। इनके साथ जो युद्ध होनेवाला है, उसमें तेरे पक्षका कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचेगा ॥ ४ ॥

आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षो-
र्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा
सम्पश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥

मैं भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरको सामने देख रही हूँ; अतः अब न मुझे दुःख है और न तेरा डर ही है। अब तू शीघ्र ही मरना चाहता है, अतः ऐसे समयमें तूने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसका उत्तर तुझे दे देना उचित है, यही धर्म है। (अतः मैं अपने पतियोंका परिचय देती हूँ) ॥ ५ ॥

यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ
नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं
सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ॥ ६ ॥
य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः
प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति
युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥

जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए नन्द और उपनन्द नामक दो सुन्दर मृदङ्ग मधुर स्वरमें बज रहे हैं, जिनका शरीर जाम्बूनद सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्णका है, जिनकी नासिका ऊँची और नेत्र बड़े-बड़े हैं, जो देखनेमें दुबले-पतले हैं, कुरुकुलके इन श्रेष्ठतम पुरुषको ही धर्मनन्दन युधिष्ठिर कहते हैं। ये मेरे पति हैं। ये अपने धर्म और अर्थके सिद्धान्तको अच्छी तरह जानते हैं, अतः आवश्यकता पड़नेपर लोग इनका सदा अनुसरण करते हैं ॥ ६-७ ॥

अप्येष शत्रोः शरणागतस्य
दद्यात् प्राणान् धर्मचारी नृवीरः।
परेह्येनं मूढ जवेन भूतये
त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥

ये धर्मात्मा नरवीर अपनी शरणमें आये हुए शत्रुको भी प्राणदान दे देते हैं। अरे मूर्ख ! यदि तू अपनी भलाई चाहता है, तो हथियार नीचे डाल दे और हाथ जोड़कर शीघ्र इनकी शरणमें जा ॥ ८ ॥

अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं
महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम्।
संदष्टोष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं
वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥
आजानेया बलिनः साधु दान्ता
महाबलाः शूरमुदावहन्ति।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि
भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥ १० ॥

ये जो शाल (साखू) के वृक्षकी तरह ऊँचे और विशाल भुजाओंसे सुशोभित वीर पुरुष तुझे रथमें बैठे दिखायी देते हैं, जो क्रोधके मारे भौंहें टेढ़ी करके दाँतोंसे अपने ओंठ चबा रहे हैं, ये मेरे दूसरे पति वृकोदर हैं। बड़े बलवान्, सुशिक्षित और शक्तिशाली आजानेय नामक अश्व इन शूरशिरोमणिके रथको खींचते हैं। इनके सभी कर्म प्रायः ऐसे होते हैं, जिन्हें मानवजगत् नहीं कर सकता। ये अपने भयंकर पराक्रमके कारण इस भूतलपर भीमके नामसे विख्यात हैं ॥ ९-१० ॥

नास्यापराद्धाः शेषमवाप्नुवन्ति
नायं वैरं विस्मरते कदाचित्।
वैरस्यान्तं संविधायोपयाति
पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥

इनके अपराधी कभी जीवित नहीं रह सकते। ये वैरको कभी नहीं भूलते हैं और वैरका बदला लेकर ही रहते हैं। बदला लेनेके बाद भी अच्छी तरह शान्त नहीं हो पाते ॥ ११ ॥

धनुर्धराग्र्यो धृतिमान् यशस्वी
जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य
धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्
त्यजेद् धर्मं न नृशंसं च कुर्यात्।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः
कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥

ये जो तीसरे वीर पुरुष दिखायी दे रहे हैं, वे मेरे पति धनंजय हैं। इन्हें समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ये धैर्यवान्, यशस्वी, जितेन्द्रिय, वृद्धपुरुषोंके सेवक तथा महाराज युधिष्ठिरके भाई और शिष्य हैं। अर्जुन कभी काम, भय अथवा लोभवश न तो अपना धर्म छोड़ सकते हैं और न कोई निष्ठुरतापूर्ण कार्य ही कर सकते हैं। इनका तेज अग्निके समान है। ये कुन्तीनन्दन धनंजय समस्त शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ और सभी दुष्टोंका दमन करनेमें दक्ष हैं॥ १२-१३ ॥

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो
भयार्तानां भयहर्ता मनीषी।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां
यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे ॥ १४ ॥
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै
स एष वीरो नकुलः पतिर्मे।

जो समस्त धर्म और अर्थके निश्चयको जानते हैं, भयसे पीड़ित मनुष्योंका भय दूर करते हैं, जो परम बुद्धिमान् हैं, इस भूमण्डलमें जिनका रूप सबसे सुन्दर बताया जाता है, जो अपने बड़े भाइयोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले और उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, समस्त पाण्डव जिनकी रक्षा करते हैं, वे ही ये मेरे वीरपति नकुल हैं॥ १४½ ॥

यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो
महांश्च धीमान् सहदेवोऽद्वितीयः॥ १५॥
यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व
शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान् मनस्वी
प्रियङ्करो धर्मसुतस्य राज्ञः॥ १६ ॥

जो खड्गद्वारा युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं, जिनका हाथ बड़ी फुर्तीसे अद्भुत पैंतरे दिखाता हुआ चलता है, जो परम बुद्धिमान् और अद्वितीय वीर हैं, वे सहदेव मेरे पाँचवें पति हैं। ओ मूढ़ प्राणी ! जैसे दैत्योंकी सेनामें देवराज इन्द्रका पराक्रम प्रकट होता है, उसी प्रकार युद्धमें तू आज सहदेवका महान् पौरुष देखेगा। वे शौर्यसम्पन्न, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले हैं॥ १५-१६ ॥

य एष चन्द्रार्कसमानतेजा
जघन्यजः पाण्डवानां प्रियश्च।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते
वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः॥ १७ ॥

इनका तेज चन्द्रमा और सूर्यके समान है। ये पाण्डवोंमें सबसे छोटे और सबके प्रिय हैं। बुद्धिमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। ये अच्छे वक्ता और सत्पुरुषोंकी सभामें सिद्धान्तके ज्ञाता माने गये हैं॥ १७ ॥

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च
धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे।
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं
न त्वेवैष व्याहरेद् धर्मबाह्यम्॥ १८ ॥
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च
कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः।

मेरे पति सहदेव शूरवीर, सदा ईर्ष्यारहित, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं। ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आगमें प्रवेश कर सकते हैं, परंतु धर्मके विरुद्ध कोई बात नहीं बोल सकते। नरवीर सहदेव सदा क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाले और मनस्वी हैं। आर्या कुन्तीको ये प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं॥ १८½ ॥

विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते
रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ॥ १९ ॥
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां
विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः।

(ओ मूढ़ !) रत्नोंसे लदी हुई नाव जैसे समुद्रके बीचमें जाकर किसी मगरमच्छकी पीठसे टकराकर टूट जाती है, उसी प्रकार पाण्डवलोग आज तेरे समस्त सैनिकोंका संहार करके तेरी इस सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे और तू अपनी आँखोंसे यह सब कुछ देखेगा॥ १९½ ॥

इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा
यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः।
यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः
पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने तुझे इन पाण्डवोंका परिचय दिया है, जिनका अपमान करके तू मोहवश इस नीच कर्ममें प्रवृत्त हुआ है। यदि आज तू इनके हाथोंसे जीवित बच जाय और तेरे शरीरपर कोई आँच नहीं आये, तो तुझे जीते-जी यह दूसरा जन्म प्राप्त हो॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा-
स्त्यक्त्वा त्रस्तान् प्राञ्जलींस्तान् पदातीन्।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं
चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रौपदी यह बात कह ही रही थी कि पाँच इन्द्रोंके समान पराक्रमी पाँचों पाण्डव भयभीत होकर हाथ जोड़नेवाले पैदल सैनिकोंको छोड़कर कुपित हो रथ, हाथी और घोड़ोंसे युक्त अवशिष्ट सेनाको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये और बाणोंकी ऐसी घनघोर वर्षा करने लगे कि चारों ओर अन्धकार छा गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवचनविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा जयद्रथकी सेनाका संहार, जयद्रथका पलायन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवके साथ युधिष्ठिरका आश्रमपर लौटना तथा भीम और अर्जुनका वनमें जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत।
इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान् नृपान्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब सिन्धुराज जयद्रथ 'ठहरो, मारो, जल्दी दौड़ो' कहकर अपने साथ आये हुए राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करने लगा ॥ १ ॥

ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत् तदा।
भीमार्जुनयमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान्॥ २ ॥

उस समय रणभूमिमें युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको देखकर जयद्रथके सैनिकोंमें बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ २ ॥

शिबिसौवीरसिन्धूनां विषादश्चाप्यजायत।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव बलोत्कटान्॥३॥

सिंहके समान उत्कट बलवान् पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर शिबि, सौवीर तथा सिन्धुदेशके राजाओंके मनमें भी अत्यन्त विषाद छा गया ॥ ३ ॥

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम्।
प्रगृह्याभ्यद्रवद् भीमः सैन्धवं कालचोदितम्॥ ४ ॥

जिसका ऊपरी भाग स्वर्णपत्रसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पाता था, जिसका सब कुछ शैक्य नामक लोहेसे बनाया गया था; उस विशाल गदाको हाथमें लेकर भीमसेन कालप्रेरित जयद्रथकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

तदन्तरमथावृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत्।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम्॥ ५ ॥

इतनेमें ही रथोंकी विशाल सेनाके द्वारा भीमसेनको सब ओरसे घेरकर कोटिकास्यने जयद्रथ और भीमसेनके बीचमें भारी व्यवधान डाल दिया ॥ ५ ॥

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकम्पत॥ ६ ॥

उस समय सब योद्धा भीमसेनपर अपनी भुजाओंके द्वारा चलाकर शक्ति, तोमर और नाराच आदि बहुत-से अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे; परंतु भीमसेन इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ६ ॥

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे॥ ७ ॥

उन्होंने जयद्रथकी सेनाके मुहानेपर जाकर अपनी गदाकी चोटसे सवारसहित एक हाथी और चौदह पैदलोंको मार डाला ॥ ७ ॥

पार्थः पञ्च शतान् शूरान् पर्वतीयान् महारथान्।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे॥ ८ ॥

इसी प्रकार अर्जुनने सौवीरराज जयद्रथको पकड़नेकी इच्छा रखकर सेनाके अग्रभागमें स्थित पाँच सौ शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको मार डाला ॥ ८ ॥

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम्।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा॥ ९ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने भी उस समय अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियोंके सौ प्रमुख वीरोंको पलक मारते-मारते समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ९ ॥

ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृक्।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन् मुहुः॥ १० ॥

महावीर नकुल हाथमें तलवार लिये रथसे कूद पड़े और पादरक्षक सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर बीजकी भाँति उन्हें बार-बार धरतीपर बोते दिखायी दिये ॥ १० ॥

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः॥ ११ ॥

सहदेव रथद्वारा आगे बढ़कर हाथीसवार योद्धाओंसे भिड़ गये और नाराच नामक बाणोंसे मार-मारकर उन्हें इस प्रकार नीचे गिराने लगे, मानो कोई व्याध वृक्षोंपरसे मोरोंको घायल करके गिरा रहा हो ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात्।
गदया चतुरो वाहान् राज्ञस्तस्य तदावधीत्॥ १२ ॥

तदनन्तर धनुष हाथमें लिये त्रिगर्तराजने अपने विशाल रथसे उतरकर राजा युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको गदासे मार डाला ॥ १२ ॥

तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुन्तिनन्दनः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥

उसे पैदल ही पास आया देख कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसकी छातीको छेद डाला ॥ १३ ॥

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताभिमुखः पार्थे छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥

तब हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वीर त्रिगर्तराज मुखसे रक्त वमन करता हुआ राजा युधिष्ठिरके सामने ही जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १४ ॥

इन्द्रसेनद्वितीयस्तु रथात् प्रस्कन्द्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥

इधर धर्मराज युधिष्ठिर अपने घोड़े मारे जानेके कारण सारथि इन्द्रसेनके साथ सहदेवके विशाल रथपर जा बैठे ॥ १५ ॥

नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमङ्करमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥

दूसरी ओर क्षेमङ्कर और महामुख नामक दो वीर (राजकुमार) नकुलको लक्ष्य करके दोनों ओरसे तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

तोमरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥

उस समय तोमरोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों योद्धा वर्षाऋतुके दो बादलोंके समान जान पड़ते थे। परंतु माद्रीनन्दन नकुलने एक-एक विपाठ नामक बाण मारकर उन दोनोंको धराशायी कर दिया ॥ १७ ॥

त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥

तदनन्तर हाथीका संचालन करनेमें निपुण त्रिगर्तराज सुरथने नकुलके रथके धुरेके पास पहुँचकर अपने हाथीके द्वारा उनके रथको दूर फेंकवा दिया ॥ १८ ॥

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद् रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १९ ॥

परंतु नकुलको इससे तनिक भी भय नहीं हुआ। वे हाथमें ढाल-तलवार लिये उस रथसे कूद पड़े और एक निरापद स्थानमें आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥ १९ ॥

सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥

तब सुरथने कुपित होकर अत्यन्त ऊँचे सूँड़ उठाये हुए उस गजराजको नकुलका वध करनेके लिये प्रेरित किया ॥ २० ॥

नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥

परंतु नकुलने खड्गद्वारा अपने निकट आये हुए उस हाथीकी सूँड़को दाँतोंसहित जड़से काट डाला ॥ २१ ॥

स विनद्य महानादं गजः किङ्किणिभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥

फिर तो घुँघुरुओंसे विभूषित वह गजराज बड़े जोरसे चीत्कार करके नीचे मस्तक किये पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते-गिरते उसने महावतको भी पृथ्वीपर दे मारा ॥ २२ ॥

स तत् कर्म महत् कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥

यह महान् पराक्रम प्रकट करके शूरवीर माद्रीनन्दन महारथी नकुल भीमसेनके रथपर चढ़ गये और वहीं पहुँचकर उन्हें शान्ति मिली ॥ २३ ॥

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य सङ्गरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

इधर भीमसेनने युद्धमें अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले राजा कोटिकास्यके सारथिका, जो उस समय घोड़ोंका संचालन कर रहा था, छुरेसे सिर उड़ा दिया ॥ २४ ॥

न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याश्वा व्यद्रवन् संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥

परंतु राजाको यह मालूम न हो सका कि बाहुशाली भीमके द्वारा मेरा सारथि मारा गया है। उसके मारे जानेसे कोटिकास्यके घोड़े रणभूमिमें इधर-उधर भागने लगे ॥ २५ ॥

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

सारथिके नष्ट हो जानेसे कोटिकास्यको रणसे विमुख हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसके पास जाकर प्रास नामक मूठदार शस्त्रसे उसे मार डाला ॥ २६ ॥

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥

अर्जुनने सौवीरदेशके जो बारह राजकुमार थे, उन सबके धनुष और मस्तक अपने भल्ल नामक तीखे बाणोंसे काट गिराये ॥ २७ ॥

शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान् सैन्धवानपि ।
जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥

उन अतिरथी वीरने युद्धमें बाणोंके लक्ष्य बने हुए

शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त और सिन्धुदेशके क्षत्रियोंको भी मार डाला ॥ २८ ॥

सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे या नष्ट किये गये पताका-सहित बहुतेरे हाथी और ध्वजायुक्त अनेक विशाल रथ दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २९ ॥

प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥

उस समय बिना सिरके धड़ और बिना धड़के सिर समस्त रणभूमिको आच्छादित करके बिखरे पड़े थे ॥ ३० ॥

श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥

वहाँ मारे गये वीरोंके मांस तथा रक्तसे कुत्ते, गीध, कङ्क (सफेद चीलें), काकोल (पहाड़ी कौए), चीलें, गीदड़ और कौए तृप्त हो रहे थे ॥ ३१ ॥

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ॥ ३२ ॥

उन वीरोंके मारे जानेपर सिन्धुराज जयद्रथ भयसे थर्रा उठा और द्रौपदीको वहीं छोड़कर उसने भाग जानेका विचार किया ॥ ३२ ॥

स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद् वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥

उस तितर-बितर हुई सेनाके बीच उस द्रौपदीको रथसे उतारकर नराधम जयद्रथ अपने प्राण बचानेके लिये वनकी ओर भागा ॥ ३३ ॥

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत् तदा ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि द्रौपदी धौम्य मुनिको आगे करके आ रही है, तो उन्होंने वीरवर माद्रीनन्दन सहदेवद्वारा उसे रथपर चढ़वा लिया ॥ ३४ ॥

ततस्तद् विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥

जयद्रथके भाग जानेपर सारी सेना इधर-उधर भाग चली, परंतु भीमसेन अपने नाराचोंद्वारा नाम बता-बताकर उन सैनिकोंका वध करने लगे ॥ ३५ ॥

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ॥ ३६ ॥

जयद्रथको भागते देख अर्जुनने उसके सैनिकोंके संहारमें लगे हुए भीमसेनको रोका ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात् प्राप्तोऽयमस्मान् क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—जिसके अत्याचारसे हमलोगोंको यह दुःसह क्लेश सहन करना पड़ा है, उस जयद्रथको तो मैं इस समरभूमिमें देखता ही नहीं हूँ ॥ ३७ ॥

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥

भैया ! आपका भला हो; आप जयद्रथकी ही खोज करें, इन (निरीह) सैनिकोंको मारनेसे क्या लाभ ? यह कार्य तो निष्फल दिखायी देता है अथवा आप इसे कैसा समझते हैं ? ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् अर्जुनके ऐसा कहनेपर बातचीतमें कुशल भीमसेनने युधिष्ठिरकी ओर देखकर कहा—॥ ३९ ॥

हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः ।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन् निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥

'राजन् ! शत्रुओंके प्रमुख वीर मारे जा चुके हैं और बहुत-से सैनिक सब दिशाओंमें भाग गये हैं । अब आप द्रौपदीको साथ लेकर यहाँसे आश्रमको लौटिये ॥ ४० ॥

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना ।
प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥ ४१ ॥

'महाराज ! आप नकुल, सहदेव तथा महात्मा धौम्यके साथ आश्रमपर पहुँचकर द्रौपदीको सान्त्वना दीजिये ॥ ४१ ॥

न हि मे मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥

'मूर्ख सिन्धुराज जयद्रथ यदि पातालमें घुस जाय अथवा इन्द्र भी उसके सारथि या सहायक होकर आ जायँ, तो भी आज वह मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता' ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है, तथापि बहिन दुःशला और यशस्विनी माता गान्धारीको स्मरण करके उसका वध न करना ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया ।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर द्रौपदीकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वह लज्जावती और बुद्धिमती होनेपर भी भीमसेन और अर्जुन दोनों पतियोंसे कुपित होकर बोली—॥ ४४ ॥

कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः।
सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥

'यदि आप लोगोंको मेरा प्रिय करना है, तो उस नराधमको अवश्य मार डालिये। वह पापी दुर्बुद्धि जयद्रथ सिन्धुदेशका कलङ्क और कुलाङ्गार है ॥ ४५ ॥

भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ॥ ४६ ॥

'जो अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाला तथा राज्यको हड़प लेनेवाला हो,ऐसे शत्रुको युद्धमें पाकर वह प्राणोंकी भीख माँगे, तो भी किसी तरह जीवित नहीं छोड़ना चाहिये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ॥ ४७ ॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ जिस ओर जयद्रथ गया था, उसी ओर चल दिये तथा राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको लेकर पुरोहित धौम्यके साथ आश्रमपर चल पड़े ॥ ४७ ॥

स प्रविश्याश्रमपदमपविद्धबृसीमठम्।
मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ ४८ ॥

उन्होंने आश्रममें प्रवेश करके देखा कि बैठनेके आसन और स्वाध्यायके लिये बनी हुई पर्णशालामें सब वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षि वहाँ इकट्ठे हो रहे थे ॥ ४८ ॥

द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥

वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो द्रौपदीके लिये ही बार-बार शोक कर रहे थे। इतनेमें ही पत्नीसहित परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर अपने भाई नकुल और सहदेवके बीचमें होकर चलते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ४९ ॥

ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम्।
जित्वा तान्सिन्धुसौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः॥५०॥

सिन्धु और सौवीरदेशके क्षत्रियोंको जीतकर महाराज लौटे हैं और द्रौपदीदेवी भी पुनः आश्रममें आ गयी हैं, यह देखकर उन ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५० ॥

स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह।
प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ॥ ५१ ॥

उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर वहीं बैठ गये और भामिनी कृष्णा नकुल-सहदेवके साथ आश्रमके भीतर चली गयी ॥ ५१ ॥

भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम्।
स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥

इधर भीमसेन और अर्जुनने जब सुना कि हमारा शत्रु जयद्रथ एक कोस आगे निकल गया है, तब वे स्वयं अपने घोड़ोंको हाँकते हुए बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े ॥ ५२ ॥

इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः।
क्रोशमात्रगतानश्वान् सैन्धवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥
स हि दिव्यास्त्रसम्पन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसम्भ्रमः।
अकरोद् दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ॥ ५४ ॥

यहाँ वीर पुरुष अर्जुनने एक अद्भुत पराक्रम दिखाया। यद्यपि जयद्रथके घोड़े एक कोस आगे निकल गये थे, तो भी उन्होंने दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मार डाला। अर्जुन दिव्यास्त्रसे सम्पन्न थे। संकटकालमें भी घबराते नहीं थे। इसीलिये उन्होंने वह दुष्कर कर्म कर दिखाया॥ ५३-५४ ॥

ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ।
हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों वीर भीम और अर्जुन जयद्रथके पीछे दौड़े। वह अकेला तो था ही, घोड़ोंके मारे जानेसे अत्यन्त भयभीत भी हो गया था। उसके हृदयमें व्याकुलता छा गयी थी ॥

सैन्धवस्तु हतान् दृष्ट्वा तथाश्वान् स्वान् सुदुःखितः।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ॥ ५६ ॥

सिन्धुराज अपने घोड़ोंको मारा गया देख और अलौकिक पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुनको आता जान अत्यन्त दुखी हो गया ॥ ५६ ॥

पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद् येन वै वनम्।
सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने ॥ ५७ ॥
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत्।

अब उसमें केवल भागनेका उत्साह रह गया था, अतः वह वनकी ओर भागा। सिन्धुराजको केवल भागनेमें ही पराक्रम दिखाता देख महाबाहु अर्जुन उसका पीछा करते हुए बोले।५७½।

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥ ५८ ॥
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम्।
कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५९ ॥

'राजकुमार ! लौटो, तुम्हें पीठ दिखाकर भागना शोभा नहीं देता। अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर कैसे भागे जा रहे हो ? क्या इसी बलसे तुम दूसरेकी स्त्रीको बलपूर्वक हरकर ले जाना चाहते थे ?' ॥ ५८-५९ ॥

इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत।

तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ॥ ६० ॥

अर्जुनके इस प्रकार ताने देनेपर भी सिन्धुराज नहीं लौटा, तब महाबली भीम 'ठहरो, ठहरो' कहते हुए सहसा उसके पीछे दौड़े। उस समय दयालु अर्जुनने उनसे कहा—'भैया! इसकी जान न मारना' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथपलायनविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ। २७१।

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीमद्वारा बंदी होकर जयद्रथका युधिष्ठिरके सामने उपस्थित होना, उनकी आज्ञासे छूटकर उसका गङ्गाद्वारमें तप करके भगवान् शिवसे वरदान पाना तथा भगवान् शिवद्वारा अर्जुनके सहायक भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

जयद्रथस्तु सम्प्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ।
प्राधावत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीम और अर्जुन दोनों भाइयोंको अपने वधके लिये तुले हुए देख जयद्रथ बहुत दुखी हुआ और घबराहट छोड़कर प्राण बचानेकी इच्छासे तुरंत तीव्र गतिसे भागने लगा ॥ १ ॥

तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य रथाद् बली।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥

उसे भागता देख अमर्षमें भरे हुए महाबली भीम भी रथसे उतर गये और बड़े वेगसे दौड़कर उन्होंने उसके केश पकड़ लिये ॥ २ ॥

समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् भीमने उसे ऊपर उठाकर धरतीपर पटक दिया और उसे रौंदने लगे। फिर उन्होंने राजा जयद्रथका सिर पकड़कर उसे कई थप्पड़ लगाये ॥ ३ ॥

पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ॥ ४ ॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥

इतनी मार खाकर भी वह अभी जीवित ही था और उठनेकी इच्छा कर रहा था। इसी समय महाबाहु भीमने उसके मस्तकपर एक लात मारी। इससे वह रोने-चिल्लाने लगा, तो भी भीमसेनने उसे गिराकर उसके शरीरपर अपने दोनों घुटने रख दिये और उसे घूँसोंसे मारने लगे। इस प्रकार बड़े जोरकी मार पड़नेसे पीड़ाके मारे राजा जयद्रथ मूर्छित हो गया ॥ ४-५ ॥

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः।
दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ॥ ६ ॥

इतनेपर भी भीमसेनका क्रोध कम नहीं हुआ। यह देख अर्जुनने उन्हें रोका और कहा—'कुरुनन्दन! दुःशलाके वैधव्यका खयाल करके महाराजने जो आज्ञा दी थी, उसका भी तो विचार कीजिये' ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—इसी नराधमने क्लेश पानेके अयोग्य द्रौपदीको कष्ट पहुँचाया है; अतः अब मेरे हाथसे इस पापाचारी जयद्रथका जीवित रहना ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ॥ ८ ॥

परंतु मैं क्या कर सकता हूँ? राजा युधिष्ठिर सदा दयालु ही बने रहते हैं और तुम भी अपनी बालबुद्धिके कारण मेरे ऐसे कामोंमें सदा बाधा पहुँचाया करते हो ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमने जयद्रथके लम्बे-लम्बे बालोंको अर्द्धचन्द्राकार बाणोंसे मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दीं। उस समय वह भयके मारे कुछ भी बोल नहीं पाता था ॥ ९ ॥

विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः।

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥

तदनन्तर कटुवचनोंसे सिन्धुराजका तिरस्कार करते हुए भीमने उससे कहा—'अरे मूढ़ ! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो जीवनरक्षाका हेतुभूत मेरा यह वचन सुन—॥

दासोऽस्मीति तथा वाच्यं संसत्सु च सभासु च।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥

'तू राजाओंकी सभा-समितियोंमें जाकर सदा अपनेको (महाराज युधिष्ठिरका) दास बताया कर । यह शर्त स्वीकार हो, तो तुझे जीवन-दान दे सकता हूँ । युद्धमें विजयी पुरुषकी ओरसे हारे हुएके लिये ऐसा ही विधान है' ॥ ११ ॥

एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥

उस समय सिन्धुराज जयद्रथ धरतीपर घसीटा जा रहा था । उसने उपर्युक्त शर्त स्वीकार कर ली और युद्धमें शोभा पानेवाले पुरुषसिंह भीमसेनसे अपनी स्वीकृति स्पष्ट बता दी ॥ १२ ॥

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह उठनेकी चेष्टा करने लगा । तब कुन्ती-कुमार वृकोदरने उसे बाँधकर रथपर डाल दिया । वह बेचारा धूलसे लथपथ और अचेत हो रहा था ॥ १३ ॥

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

उसे रथपर चढ़ाकर आगे-आगे भीम चले और पीछे-पीछे अर्जुन । आश्रमपर आकर भीमसेन वहाँ मध्यभागमें बैठे हुए राजा युधिष्ठिरके पास गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम्।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

भीमने उसी अवस्थामें जयद्रथको महाराजके सामने उपस्थित किया । उसे देखकर राजा युधिष्ठिर जोर-जोरसे हँसने लगे और बोले—'अब इसे छोड़ दो' ॥ १५ ॥

राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावगतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥

तब भीमसेनने भी राजासे कहा—'आप द्रौपदीको यह सूचित कर दीजिये कि यह पापात्मा जयद्रथ पाण्डवोंका दास हो चुका है॥'

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥

तब बड़े भाई युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक भीमसेनसे कहा—'यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको छोड़ दो' ॥

द्रौपदी चाब्रवीद् भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम्।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥

उस समय द्रौपदीने भी युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसेनसे कहा—'आपने इसका सिर मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दी हैं तथा यह महाराजका दास हो गया है; अतः अब इसे छोड़ दीजिये' ॥ १८ ॥

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम्।
ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥

राजन् ! तब जयद्रथ बन्धनसे मुक्त कर दिया गया । उसने विह्वल होकर राजा युधिष्ठिरके पास जा उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँ बैठे हुए अन्यान्य मुनियोंको भी देखकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १९ ॥

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥

उस समय (आदर देते हुए) अर्जुनने जयद्रथका हाथ थाम लिया । तब दयालु राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जयद्रथकी ओर देखकर कहा—॥ २० ॥

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥ २१ ॥
एवंविधं हि कः कुर्यात् त्वदन्यः पुरुषाधमः।
(कर्म धर्मविरुद्धं वै लोकदुष्टं च कर्म ते ।

सिंधुराज ! अब तू दास नहीं रहा, जा तुझे छोड़ दिया गया है फिर कभी ऐसा काम न करना । अरे ! तू परायी स्त्रीकी इच्छा करता है, तुझे धिक्कार है ! तू स्वयं तो

नीच है ही, तेरे सहायक भी अधम हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा नराधम है, जो ऐसा धर्मविरुद्ध कार्य कर सके ? तेरा यह कर्म सम्पूर्ण लोकमें निन्दित है' ॥ २१½ ॥

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥
सम्प्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ।

वह अशुभ कर्म करनेवाला जयद्रथ मृतप्राय-सा हो गया है, यह देख और समझकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उसपर कृपा की और कहा—'तेरी बुद्धि धर्ममें उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तू कभी अधर्ममें मन न लगाना। जयद्रथ! अपने रथ, घोड़े और पैदल सबको साथ लिये कुशलपूर्वक चला जा' ॥ २२-२३½ ॥

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥ २४ ॥
जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ॥ २६ ॥

राजन्! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ और नीचा मुँह किये वहाँसे चुपचाप चला गया। जनमेजय! वह पराजित होनेके महान् दुःखसे पीड़ित था; अतः वहाँसे घर न जाकर गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने तीन नेत्रोंवाले भगवान् उमापतिकी शरण ले बड़ी भारी तपस्या की। इससे भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गये। त्रिनेत्रधारी महादेवने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं दर्शन देकर उसकी पूजा ग्रहण की ॥ २४-२६ ॥

वरं चास्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु।
समस्तान् सरथान् पञ्च जयेयं युधि पाण्डवान् ॥ २७ ॥
इति राजाब्रवीद् देवं नेति देवस्तमब्रवीत्।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान् युधि ॥ २८ ॥
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम्।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २९ ॥

जनमेजय! भगवान्ने उसे वर दिया और जयद्रथने उसको ग्रहण किया। वह वर क्या था ? यह बताता हूँ, सुनो—'मैं रथसहित पाँचों पाण्डवोंको युद्धमें जीत लूँ', यही वर सिन्धुराजने महादेवजीसे माँगा। परंतु महादेवजीने उससे कहा—'ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्धमें महाबाहु अर्जुनको छोड़कर अन्य चार पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक सकते हो। देवेश्वर नर, जो बदरिकाश्रममें भगवान् नारायणके साथ रहकर तपस्या करते हैं, वे ही अर्जुन हैं ॥ २७-२९ ॥

अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम्।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम्।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स महाशरान् ॥ ३० ॥

'उन्हें तुम तो क्या, सम्पूर्ण लोक मिलकर भी जीत नहीं सकते। उनका सामना करना तो देवताओंके लिये भी कठिन है। मैंने उन्हें पाशुपत नामक दिव्य अस्त्र प्रदान किया है, जिसके जोड़का दूसरा कोई अस्त्र ही नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य लोकपालोंसे भी उन्होंने वज्र आदि महान् अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३० ॥

देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥ ३१ ॥

['अब मैं तुम्हें नरस्वरूप अर्जुनके सहायक भगवान् नारायणकी महिमा बताता हूँ, सुनो] भगवान् नारायण देवताओंके भी देवता, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं ॥ ३१ ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत्।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥

'प्रलयकाल उपस्थित होनेपर वे भगवान् विष्णु ही कालाग्निरूपसे प्रकट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर देते हैं ॥ ३२ ॥

निर्दहन् नागलोकांश्च पातालतलचारिणः।
अथान्तरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥

'फिर पातालतलमें विचरण करनेवाले नागलोकोंको

भी वे भस्म कर डालते हैं। कालाग्निद्वारा सब कुछ भस्म हो जानेपर आकाशमें अनेक रंगके महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है ॥ ३३ ॥

घोरस्वरा विनर्दिनस्तडिन्मालावलम्बिनः।
समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ॥ ३४ ॥

'भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए वे बादल बिजलियोंकी मालाओंसे प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते और सब ओर वर्षा करने लग जाते हैं ॥ ३४ ॥

ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ॥ ३५ ॥

'इससे प्रलयकालीन अग्नि बुझ जाती है। संवर्तक अग्निका नियन्त्रण करनेवाले वे महामेघ लंबे सर्पोंके समान मोटी धाराओंसे जल गिराते हुए सबको डुबो देते हैं ॥ ३५ ॥

एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे।
नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥ ३६ ॥

'उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें पानी भर जानेसे चारों ओर एकाकार जलमय समुद्र ही दृष्टिगोचर होता है। उस एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत् नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा, सूर्य और वायु भी विलीन हो जाते हैं। ग्रह और नक्षत्रोंका अभाव हो जाता है ॥ ३६ ॥

चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ॥ ३८ ॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम्।
कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥ ३९ ॥
तत्रासौ भगवान् देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४० ॥

'एक हजार चतुर्युगी समाप्त होनेपर उपर्युक्त एकार्णवके जलमें यह पृथ्वी डूब जाती है। तत्पश्चात् नारायण नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि उस एकार्णवके जलमें शयन करनेके हेतु अपने लिये निशाकालोचित अन्धकार (तमोगुण) से व्याप्त महारात्रिका निर्माण करते हैं। उन भगवान्‌के सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण और सहस्रों मस्तक हैं। वे अन्तर्यामी पुरुष हैं और इन्द्रियातीत होनेपर भी शयन करनेकी इच्छासे उन शेषनागको अपना पर्यङ्क बनाते हैं, जो सहस्रों फणोंसे विकटाकार दिखायी देते हैं। वे शेषनाग एक सहस्र प्रचण्ड सूर्योंके समूहकी भाँति अनन्त एवं असीम प्रभा धारण करते हैं। उनकी कान्ति कुन्द पुष्प, चन्द्रमा, मुक्ताहार, गोदुग्ध, कमलनाल तथा कुमुद-कुसुमके समान उज्ज्वल है। उन्हींकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं ॥ ३७–४० ॥

सत्त्वोद्रेकात् प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत।
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ४१ ॥

'तत्पश्चात् सृष्टिकालमें सत्त्वगुणके आधिक्यसे भगवान् योगनिद्रासे जाग उठे। जागनेपर उन्हें यह समस्त लोक सूना दिखायी दिया। महर्षिगण भगवान् नारायणके सम्बन्धमें यहाँ इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं—॥ ४१ ॥

आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम।
अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥ ४२ ॥

'जल भगवान्‌का शरीर है, इसीलिये उनका नाम 'नार' सुनते आये हैं। वह नार ही उनका अयन (गृह) है अथवा उसके साथ एक होकर वे रहते हैं, इसीलिये उन भगवान्‌को नारायण कहा गया है' ॥ ४२ ॥

प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३ ॥

'तत्पश्चात् प्रजाकी सृष्टिके लिये भगवान्‌ने चिन्तन किया। इस चिन्तनके साथ ही भगवान्‌की नाभिसे सनातन कमल प्रकट हुआ ॥ ४३ ॥

ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद् विनिःसृतः।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥
शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान्।
ततो मरीचिप्रमुखान् महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥

'उस नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। उस कमलपर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सहसा सम्पूर्ण जगत्‌को शून्य देखकर अपने मानसपुत्रके रूपमें अपने ही जैसे प्रभावशाली मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥ ४४-४५ ॥

तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥

'उन महर्षियोंने स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण भूतोंकी तथा यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग और मनुष्योंकी सृष्टि की ॥ ४६ ॥

सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्माजीके रूपसे भगवान् सृष्टि करते हैं। परमपुरुष नारायणरूपसे इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्रस्वरूपसे सबका संहार करते हैं। इस प्रकार प्रजापालक भगवान्‌की ये तीन अवस्थाएँ हैं ॥ ४७ ॥

न श्रुतं ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥

'सिन्धुराज! क्या तुमने वेदोंके पारङ्गत ब्रह्मर्षियोंके

मुखसे अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका चरित्र नहीं सुना है ? ॥ ४८ ॥

जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥ ४९ ॥
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ॥ ५० ॥

'समस्त भूमण्डल सब ओरसे जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकार्णवसे उपलक्षित एकमात्र आकाशमें पृथ्वीका पता लगानेके लिये भगवान् इस प्रकार विचर रहे थे, जैसे वर्षाकालकी रातमें जुगनू सब ओर उड़ता फिरता है। वे पृथ्वीको कहीं स्थिररूपसे स्थापित करनेके लिये उसकी खोज कर रहे थे ॥ ४९-५० ॥

जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१ ॥

'पृथ्वीको जलमें डूबी हुई देख भगवान्ने मन-ही-मन उसे बाहर निकालनेकी इच्छा की। वे सोचने लगे, 'कौन-सा रूप धारण करके मैं इस जलसे पृथ्वीका उद्धार करूँ'॥५१॥

एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥ ५२ ॥

'इस प्रकार मन-ही-मन चिन्तन करके उन्होंने दिव्य दृष्टि-से देखा कि जलमें क्रीड़ा करनेके योग्य तो वराहरूप है; अतः उन्होंने उसी रूपका स्मरण किया ॥ ५२ ॥

कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसम्मितम्।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत्।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसंनिभम् ॥ ५४ ॥

'वेदतुल्य वैदिक वाङ्मय वराहरूप धारण करके भगवान्-ने जलके भीतर प्रवेश किया। उनका वह विशाल पर्वताकार शरीर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा था। उनकी दाढ़ें बड़ी तीखी थीं। उनका शरीर देदीप्यमान हो रहा था। भगवान्का कण्ठस्वर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर था। उनकी अङ्गकान्ति नील जलधरके समान श्याम थी ॥ ५३-५४ ॥

भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः सम्प्राविशत् प्रभुः।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥ ५५ ॥

'इस प्रकार यज्ञवाराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया और एक ही दाँतसे पृथ्वीको उठाकर उसे अपने स्थानपर स्थापित कर दिया ॥ ५५ ॥

पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः।

'तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीहरिने एक अपूर्व शरीर धारण किया, जिसमें आधा अङ्ग तो मनुष्यका था और आधा सिंहका। इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके हाथसे हाथका स्पर्श किये हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सभामें गये। दैत्योंके आदिरूप और देवताओंके शत्रु दितिनन्दन हिरण्यकशिपुने उस अपूर्व पुरुषको देखकर क्रोधसे आँखें लाल कर लीं ॥ ५६-५७½ ॥

शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥

'उसने एक हाथमें शूल उठा रक्खा था। उसके गलेमें पुष्पोंकी माला शोभा पा रही थी। उस समय वीर हिरण्य-कशिपुने, जिसकी आवाज मेघकी गर्जनाके समान थी, जो नीले मेघोंके समूह-जैसा श्याम था तथा जो दितिके गर्भसे उत्पन्न होकर देवताओंका शत्रु बना हुआ था; भगवान् नृसिंहपर धावा किया ॥ ५८-५९ ॥

समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥ ६० ॥

'इसी समय अत्यन्त बलवान् मृगेन्द्रस्वरूप भगवान् नृसिंहने दैत्यके निकट जाकर उसे अपने तीखे नखोंद्वारा अत्यन्त विदीर्ण कर दिया ॥ ६० ॥

एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपुघातिनम्।
भूयोऽन्यः पुण्डरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥

'इस प्रकार शत्रुघाती दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध करके भगवान् कमलनयन श्रीहरि पुनः सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अन्य रूपमें प्रकट हुए ॥ ६१ ॥

कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे कश्यपजीके तेजस्वी पुत्र हुए। अदितिदेवी-ने उन्हें गर्भमें धारण किया था। पूरे एक हजार वर्षतक गर्भमें धारण करनेके पश्चात् अदितिने एक उत्तम बालकको जन्म दिया ॥ ६२ ॥

दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः।
दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ॥ ६३ ॥

'वह वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्णका था। उसके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे। वे वामनाकार, दण्ड और कमण्डलु धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित थे॥६३॥

जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक्।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा ॥ ६४ ॥

उनके सिरपर जटा थी और गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता था। उस समय वे बालरूपधारी श्रीमान् भगवान् दानवराज बलिकी यज्ञशालाके समीप गये ॥ ६४ ॥

बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥ ६५ ॥

'बृहस्पतिजीकी सहायतासे उनका बलिके यज्ञमण्डपमें प्रवेश हुआ । वामनरूपधारी भगवान्‌को देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और बोले—॥ ६५ ॥

प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥ ६७ ॥

'ब्रह्मन् ! आपका दर्शन पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी सेवाके लिये क्या दूँ ?' बलिके ऐसा कहनेपर भगवान् वामनने '(आपका) स्वस्ति (कल्याण हो)' ऐसा कहकर बलिको आशीर्वाद दिया और मुसकराते हुए कहा—'दानवराज ! मुझे तीन पग पृथ्वी दे दीजिये' ॥६६-६७॥

बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८ ॥

'बलिने प्रसन्नचित्त होकर उन अमित तेजस्वी ब्राह्मणदेवताको उनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी। तब भूमिको नापते समय श्रीहरिका अत्यन्त अद्भुत दिव्यरूप प्रकट हुआ ॥ ६८ ॥

विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम्।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥ ६९ ॥

'उन अक्षोभ्य सनातन विष्णुदेवने तीन पगद्वारा शीघ्र ही सारी वसुधा नाप ली और देवराज इन्द्रको समर्पित कर दी ॥ ६९ ॥

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः।
तेन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ७० ॥

'यह मैंने तुम्हें भगवान्‌के वामनावतारकी बात बतायी है। उन्हींसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई है। यह जगत् भी भगवान् विष्णुसे प्रकट होनेके कारण वैष्णव कहलाता है ॥ ७० ॥

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१ ॥
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२ ॥

राजन् ! वे ही भगवान् विष्णु दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण करनेके लिये मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं। वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्यस्वरूप, सर्वसमर्थ और विश्ववन्दित हैं ॥ ७१-७२ ॥

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ७३ ॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम्।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ ७४ ॥

'सिन्धुराज ! विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान्‌की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रोंका वर्णन करते हैं। उन्हींको अपराजित, शङ्ख-चक्र-गदाधारी पीतपट्टाम्बरविभूषित श्रीवत्सधारी भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं ॥७३-७४॥

सहायः पुण्डरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः।
समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अतुलपराक्रमी श्रीमान् कमलनयन श्रीकृष्ण एक ही रथपर अर्जुनके समीप बैठकर उनकी सहायता करते हैं ॥ ७५ ॥

न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥ ७६ ॥

'इस कारण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। उनका वेग सहन करना देवताओंके लिये भी कठिन है; फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें अर्जुनपर विजय पा सके ? ॥७६॥

तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम्।
चतुरः पाण्डवान् राजन् दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥ ७७ ॥

'राजन् ! केवल अर्जुनको छोड़कर एक दिन ही तुम युधिष्ठिरकी सारी सेनाको और अपने शत्रु चारों पाण्डवोंको भी जीत सकोगे' ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ७९ ॥
त्र्यम्बको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उमापति भगवान् हर समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले हैं। वे पशुरूपी जीवोंके पालक, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा त्रिपुरविनाशक हैं। उनके तीन नेत्र हैं और उन्हींके द्वारा भगदेवताके नेत्र नष्ट किये गये हैं। भगवती उमा सदा उनके साथ रहती हैं। नृपश्रेष्ठ ! भगवान् शिव सिन्धुराज जयद्रथसे पूर्वोक्त वचन कहकर भयंकर कानों और नेत्रोंवाले, भाँति-भाँतिके अस्त्र उठाये रहनेवाले अपने भयंकर पार्षदोंके साथ, जिनमें बौने, कुबड़े और विकट आकृतिवाले प्राणी भी थे,

भगवती पार्वतीसहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७८–८० ॥

जयद्रथोऽपि मन्दात्मा स्वमेव भवनं ययौ।
पाण्डवाश्च वने तस्मिन् न्यवसन् काम्यके तथा ॥ ८१॥

तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जयद्रथ भी अपने घर चला गया और पाण्डवगण उस काम्यकवनमें उसी प्रकार निवास करने लगे ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जयद्रथविमोक्षणपर्वमें दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८१½ श्लोक हैं)

(रामोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अपनी दुरवस्थासे दुखी हुए युधिष्ठिरका मार्कण्डेय मुनिसे प्रश्न करना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—इस प्रकार द्रौपदीका अपहरण होनेपर महान् क्लेश उठानेके पश्चात् मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम्।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! इस प्रकार जयद्रथको जीतकर द्रौपदीको छुड़ा लेनेके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर मुनिमण्डलीके साथ बैठे हुए थे ॥ २ ॥

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम्।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ॥ ३ ॥

महर्षिलोग भी पाण्डवोंपर आये हुए संकटको सुनते और उसके लिये बारंबार शोक प्रकट करते थे। उन्हींमेंसे मार्कण्डेयजीको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित्।
संशयं परिपृच्छामि छिन्धि मे हृदि संस्थितम् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आप भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता हैं। देवर्षियोंमें भी आपका नाम विख्यात है। अतः आपसे मैं अपने हृदयका एक संदेह पूछता हूँ उसका निवारण कीजिये ॥ ४ ॥

द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥ ५ ॥

यह परम सौभाग्यशालिनी द्रुपदकुमारी यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है; अतः अयोनिजा है (इसे गर्भवासका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा है)। इसे महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू होनेका गौरव भी मिला है ॥ ५ ॥

मन्ये कालश्च भगवान् दैवं च विधिनिर्मितम्।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ६ ॥

मेरी समझमें भगवान् काल, विधिनिर्मित दैव और समस्त प्राणियोंकी भवितव्यता अर्थात् उनके लिये होनेवाली घटना—ये तीनों ही प्रबल हैं; इनको कोई टाल नहीं सकता ॥ ६ ॥

इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम्।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ॥ ७ ॥

अन्यथा हमारी इस पत्नीको, जो धर्मको जाननेवाली तथा धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली है, ऐसा भाव (अपहृत होनेका लाञ्छन) कैसे स्पर्श कर सकता था ? यह तो ठीक वैसा ही है, जैसे किसी शुद्ध आचार-विचारवाले मनुष्यपर झूठे ही चोरीका कलङ्क लग जाय ॥ ७ ॥

न हि पापं कृतं किंचित् कर्म वा निन्दितं क्वचित्।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ८ ॥

इसने कभी कोई पाप या निन्दित कर्म नहीं किया है। द्रौपदीने ब्राह्मणोंके प्रति सेवा-सत्कार आदिके रूपमें महान् धर्मका आचरण किया है ॥ ८ ॥

तां जहार बलाद् राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः।
तस्याः संहरणात् पापः शिरसः केशपातनम् ॥ ९ ॥
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान्।
प्रत्याहृता तथास्माभिर्हत्वा तत् सैन्धवं बलम् ॥ १० ॥

ऐसी स्त्रीका भी मूढबुद्धि पापी राजा जयद्रथने बलपूर्वक अपहरण किया। इस अपहरणके ही कारण उसका सिर मूँड़ा गया, वह अपने सहायकोंसहित युद्धमें पराजित हुआ तथा हमलोग सिन्धुदेशकी सेनाका संहार करके पुनः द्रौपदीको लौटा लाये हैं ॥ ९-१० ॥

तद् दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम्।

ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार हमने जिसे कभी सोचा तक न था, वह अपनी पत्नीका अपहरणरूप अपमान हमें प्राप्त हुआ और मिथ्या व्यवसायमें लगे हुए बान्धवोंने हमें देशसे निर्वासित कर दिया है ॥ ११ ॥

अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १२ ॥

अतः मैं पूछता हूँ, क्या संसारमें मेरे-जैसा मन्दभाग्य मनुष्य कोई और भी है अथवा आपने पहले कभी मुझ-जैसे भाग्यहीनको कहीं देखा या सुना है ? ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम आदिका जन्म तथा कुबेरकी उत्पत्ति और उन्हें ऐश्वर्यकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! श्रीरामचन्द्रजीको भी वनवास तथा स्त्रीवियोगका अनुपम दुःख सहन करना पड़ा था। दुरात्मा राक्षसराज महाबली रावण अपना मायाजाल बिछाकर आश्रमसे उनकी पत्नी सीताको वेगपूर्वक हर ले गया था और अपने कार्यमें बाधा डालनेवाले गृध्रराज जटायुको उसने वहीं मार गिराया था ॥ १-२ ॥

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्रजी भी सुग्रीवकी सेनाका सहारा ले समुद्रपर पुल बाँधकर लङ्कामें गये और अपने तीखे (आग्नेय आदि) बाणोंसे उसको भस्म करके वहाँसे सीताको वापस लाये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् रामः कुले जातः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! श्रीरामचन्द्रजी किस कुलमें प्रकट हुए थे ? उनका बल और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था और उसका रामचन्द्रजीसे क्या वैर था ? ॥ ४ ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

भगवन् ! ये सभी बातें मुझे अच्छी प्रकार बताइये। मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अजो नामाभवद् राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें अज नामसे प्रसिद्ध एक महान् राजा हो गये हैं। उनके पुत्र थे दशरथ, जो सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले और पवित्र थे ॥ ६ ॥

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥

उनके चार पुत्र हुए। वे सब-के-सब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले थे। उनके नाम इस प्रकार हैं— राम, लक्ष्मण, महाबली भरत और शत्रुघ्न ॥ ७ ॥

रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी माताका नाम कौसल्या था, भरतकी माता कैकेयी थी तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ॥ ८ ॥

विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥

राजन् ! विदेहदेशके राजा जनककी एक पुत्री थी, जिसका नाम था सीता। उसे स्वयं विधाताने ही भगवान् श्रीरामकी प्यारी रानी होनेके लिये रचा था ॥ ९ ॥

एतद् रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम्।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥

जनेश्वर ! इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रीराम और सीताके

जन्मका वृत्तान्त बताया है। अब रावणके भी जन्मका प्रसङ्ग सुनाऊँगा ॥ १० ॥

पितामहो रावणस्य साक्षाद् देवः प्रजापतिः।
स्वयम्भूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, सबकी सृष्टि करनेवाले, प्रजापालक, महातपस्वी और स्वयम्भू साक्षात् भगवान् ब्रह्माजी ही रावणके पितामह थे ॥ ११ ॥

पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत् प्रभुः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीके एक परम प्रिय मानसपुत्र पुलस्त्यजी थे। उनसे उनकी गौ नामकी पत्नीके गर्भसे वैश्रवण नामक शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥

पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः।
तस्य कोपात् पिता राजन् ससर्जात्मानमात्मना ॥ १३ ॥
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्धेन वै द्विजः।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥

राजन्! वैश्रवण अपने पिताको छोड़कर पितामहकी सेवामें रहने लगे। इससे उनपर क्रोध करके पिता पुलस्त्यने स्वयं अपने आपको ही दूसरे रूपमें प्रकट कर लिया। पुलस्त्यके आधे शरीरसे जो दूसरा द्विज प्रकट हुआ, उसका नाम विश्रवा था। विश्रवा वैश्रवणसे बदला लेनेके लिये उनके ऊपर सदा कुपित रहा करते थे ॥ १३-१४ ॥

पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥

परंतु पितामह ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे; अतः उन्होंने वैश्रवणको अमरत्व प्रदान किया और धनका स्वामी तथा लोकपाल बना दिया ॥ १५ ॥

ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम्।
राजधानीनिवेशं च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥

पितामहने उनकी महादेवजीसे मैत्री करायी, उन्हें नलकूबर नामक पुत्र दिया तथा राक्षसोंसे भरी हुई लंकाको उनकी राजधानी बनायी ॥ १६ ॥

विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥

साथ ही उन्हें इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक नामका एक विमान दिया। इसके सिवा ब्रह्माजीने कुबेरको यक्षोंका स्वामी बना दिया और उन्हें 'राजराज' की पदवी प्रदान की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें राम-रावणजन्मकथनविषयक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, खर और शूर्पणखाकी उत्पत्ति, तपस्या और वरप्राप्ति तथा कुबेरका रावणको शाप देना

मार्कण्डेय उवाच

पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! पुलस्त्यके क्रोधसे उनके आधे शरीरसे जो 'विश्रवा' नामक मुनि प्रकट हुए थे, वे कुबेरको कुपित दृष्टिसे देखने लगे ॥ १ ॥

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ॥ २ ॥

युधिष्ठिर! राक्षसोंके स्वामी कुबेरको जब यह बात मालूम हो गयी कि मेरे पिता मुझपर रुष्ट रहते हैं, तब वे उन्हें प्रसन्न रखनेका यत्न करने लगे ॥ २ ॥

स राजराजो लङ्कायां न्यवसन्नरवाहनः।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥

राजराज कुबेर स्वयं लङ्कामें ही रहते थे। वे मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली पालकी आदिकी सवारीपर चलते थे, इसलिये नरवाहन कहलाते थे। उन्होंने अपने पिता विश्रवाकी सेवाके लिये तीन राक्षसकन्याओंको परिचारिकाओंके रूपमें नियुक्त कर दिया था ॥ ३ ॥

ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे तीनों ही नाचने और गानेकी कलामें निपुण थीं तथा सदा ही उन महात्मा महर्षिको संतुष्ट रखनेके लिये सचेष्ट रहती थीं ॥ ४ ॥

पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशाम्पते।
अन्योन्यस्पर्धया राजञ्श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥

महाराज! उनके नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी। वे तीनों सुन्दरियाँ अपना भला चाहती थीं।

इसलिये एक दूसरीसे स्पर्धा रखकर मुनिकी सेवा करती थीं ॥

स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान्।
लोकपालोपमान् पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥

वे ऐश्वर्यशाली महात्मा उनकी सेवाओंसे प्रसन्न हो गये और उनमेंसे प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया ॥ ६ ॥

पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥

पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। ये दोनों ही राक्षसोंके अधिपति थे। भूमण्डलमें इनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था ॥ ७ ॥

मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥

मालिनीने एक ही पुत्र विभीषणको जन्म दिया। राकाके गर्भसे एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रका नाम खर था और पुत्रीका नाम शूर्पणखा ॥ ८ ॥

विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥

इन सब बालकोंमें विभीषण ही सबसे अधिक रूपवान्, सौभाग्यशाली, धर्मरक्षक तथा कर्तव्यपरायण थे ॥ ९ ॥

दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुङ्गवः।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥

रावणके दस मस्तक थे। वही सबमें ज्येष्ठ तथा राक्षसोंका स्वामी था। उत्साह, बल, धैर्य और पराक्रममें भी वह महान् था ॥ १० ॥

कुम्भकर्णो बलेनासीत् सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि।
मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥

कुम्भकर्ण शारीरिक बलमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। युद्धमें भी वह सबसे बढ़कर था। मायावी और रणकुशल तो था ही, वह निशाचर बड़ा भयंकर भी था ॥ ११ ॥

खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तथा ॥ १२ ॥

खर धनुर्विद्यामें विशेष पराक्रमी था। वह ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला तथा मांसाहारी था। शूर्पणखाकी आकृति बड़ी भयानक थी। वह सिद्ध ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें विघ्न डाला करती थी ॥ १२ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः।
ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते ॥ १३ ॥

वे सभी बालक वेदवेत्ता, शूरवीर तथा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे और अपने पिताके साथ गन्धमादन पर्वतपर सुखपूर्वक रहते थे ॥ १३ ॥

ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम्।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥

एक दिन नरवाहन कुबेर अपने महान् ऐश्वर्यसे युक्त होकर पिताके साथ बैठे थे। उसी अवस्थामें रावण आदिने उनको देखा ॥ १४ ॥

जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥

उनका वैभव देखकर इन बालकोंके हृदयमें डाह पैदा हो गयी। अतः उन्होंने मन-ही-मन तपस्या करनेका निश्चय किया और घोर तपस्याके द्वारा उन्होंने ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया ॥ १५ ॥

अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान्।
वायुभक्षो दशग्रीव पञ्चाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥

रावण सहस्रों वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा। वह चित्तको एकाग्र रखकर पञ्चाग्निसेवन करता और वायु पीकर रहता था ॥ १६ ॥

अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णने भी आहारका संयम किया। वह भूमिपर सोता और कठोर नियमोंका पालन करता था। विभीषण केवल एक सूखा पत्ता खाकर रहते थे ॥ १७ ॥

उपवासरतिर्धीमान् सदा जप्यपरायणः।
तमेव कालमातिष्ठत् तीव्रं तप उदारधीः ॥ १८ ॥

उनका भी उपवासमें ही प्रेम था। बुद्धिमान् एवं उदारबुद्धि विभीषण सदा जप किया करते थे। उन्होंने भी उतने समयतक तीव्र तपस्या की ॥ १८ ॥

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥

खर और शूर्पणखा ये दोनों प्रसन्न मनसे तपस्यामें लगे हुए अपने भाइयोंकी परिचर्या तथा रक्षा करते थे ॥ १९ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर दुर्धर्ष दशाननने अपना मस्तक काटकर अग्निमें उसकी आहुति दे दी। उसके इस अद्भुत कर्मसे लोकेश्वर ब्रह्माजी बहुत संतुष्ट हुए ॥ २० ॥

ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान् न्यवारयत्।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने स्वयं जाकर उन सबको तपस्या

करनेसे रोका और प्रत्येकको पृथक्-पृथक् वरदानका लोभ देते हुए कहा ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः।
यद् यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजी बोले—पुत्रो ! मैं तुम सबपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो और तपस्यासे निवृत्त हो जाओ। केवल अमरत्वको छोड़कर जिसकी जो-जो इच्छा हो, उसके अनुसार वह वर माँगे। उसका वह मनोरथ पूर्ण होगा ॥ २२ ॥

यद् यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ॥ २३ ॥

(तत्पश्चात् उन्होंने रावणकी ओर लक्ष्य करके कहा—) तुमने महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करनेकी इच्छासे अपने जिन-जिन मस्तकोंकी अग्निमें आहुति दी है, वे सब-के-सब पूर्ववत् तुम्हारे शरीरमें इच्छानुसार जुड़ जायँगे ॥ २३ ॥

वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ॥ २४ ॥

तुम्हारे शरीरमें किसी प्रकारकी कुरूपता नहीं होगी, तुम इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजयी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

रावण उवाच

गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा।
सर्पकिन्नरभूतेभ्यो न मे भूयात् पराभवः ॥ २५ ॥

रावण बोला—भगवन् ! गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा भूतोंसे कभी मेरी पराजय न हो ॥

ब्रह्मोवाच

य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव।
ऋते मनुष्याद् भद्रं ते तथा तद् विहितं मया ॥ २६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जिन लोगोंका नाम लिया है, इनमेंसे किसीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा। केवल मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे निर्भय रहो। तुम्हारा भला हो। तुम्हारे लिये मनुष्यसे होनेवाले भयका विधान मैंने ही किया है ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत् तदा।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान् पुरुषादकः ॥ २७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण बहुत प्रसन्न हुआ। वह दुर्बुद्धि नरभक्षी राक्षस मनुष्योंकी अवहेलना करता था ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने कुम्भकर्णसे वर माँगनेको कहा। परंतु उसकी बुद्धि तमोगुणसे ग्रस्त थी, अतः उसने अधिक कालतक नींद लेनेका वर माँगा ॥ २८ ॥

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥

उसे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर ब्रह्माजी विभीषणके पास गये और इस प्रकार बोले—'बेटा ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः तुम भी वर माँगो।' ब्रह्माजीने यह बात बार-बार दुहरायी ॥ २९ ॥

विभीषण उवाच

परमापद्गतस्यापि नाधर्मो मे मतिर्भवेत्।
अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥

विभीषण बोले—भगवन् ! बहुत बड़ा संकट आनेपर भी मेरे मनमें कभी पापका विचार न उठे तथा बिना सीखे ही मेरे हृदयमें ब्रह्मास्त्रके प्रयोग और उपसंहारकी विधि स्फुरित हो जाय ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

यस्माद् राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्शन।
नाधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—शत्रुनाशन ! राक्षसयोनिमें जन्म लेकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं लगती है, इसलिये (तुम्हारे माँगे हुए वरके अतिरिक्त) मैं तुम्हें अमरत्व भी देता हूँ ॥

मार्कण्डेय उवाच

राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशाम्पते।
लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! राक्षस दशाननने वर प्राप्त कर लेनेपर सबसे पहले अपने भाई कुबेरको युद्धमें परास्त किया और उन्हें लङ्काके राज्यसे बहिष्कृत कर दिया॥

हित्वा स भगवाँल्लङ्कामाविशद् गन्धमादनम्।
गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिम्पुरुषैः सह॥ ३३॥

भगवान् कुबेर लङ्का छोड़कर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर आकर रहने लगे॥ ३३॥

विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद् वहिष्यति॥ ३४॥
यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद् वहिष्यति।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि॥ ३५॥

रावणने आक्रमण करके उनका पुष्पक विमान भी छीन लिया। तब कुबेरने कुपित होकर उसे शाप दिया—'अरे! यह विमान तेरी सवारीमें नहीं आ सकेगा। जो युद्धमें तुझे मार डालेगा, उसीका यह वाहन होगा। मैं तेरा बड़ा भाई होनेके कारण मान्य था, परंतु तूने मेरा अपमान किया है। इससे बहुत शीघ्र तेरा नाश हो जायगा'॥ ३४-३५॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन्।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः॥ ३६॥

महाराज! विभीषण धर्मात्मा थे। उन्होंने सत्पुरुषोंके मार्गका ध्यान रखकर सदा अपने भाई कुबेरका अनुसरण किया; अतः वे उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हुए॥ ३६॥

तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः।
सैनापत्यं ददौ धीमान् यक्षराक्षससेनयोः॥ ३७॥

बड़े भाई बुद्धिमान् भगवान् कुबेरने संतुष्ट होकर छोटे भाई विभीषणको यक्ष तथा राक्षसोंकी सेनाका सेनापति बना दिया॥ ३७॥

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन् दशाननम्॥ ३८॥

नरभक्षी राक्षस तथा महाबली पिशाच—सबने मिलकर दशमुख रावणको राक्षसराजके पदपर अभिषिक्त किया॥ ३८॥

दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः।
आक्रम्य रत्नान्यहरत् कामरूपी विहङ्गमः॥ ३९॥

बलोन्मत्त रावण इच्छानुसार रूप धारण करने और आकाशमें भी चलनेमें समर्थ था। उसने दैत्यों और देवताओंपर आक्रमण करके उनके पास जो रत्न या रत्नभूत वस्तुएँ थीं, उन सबका अपहरण कर लिया॥ ३९॥

रावयामास लोकान् यत् तस्माद् रावण उच्यते।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत्॥ ४०॥

उसने सम्पूर्ण लोकोंको रुला दिया था; इसलिये वह रावण कहलाता है। दशाननका बल उसके इच्छानुसार बढ़ जाता था; अतः वह सदा देवताओंको भयभीत किये रहता था॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावण आदिको वरप्राप्तिविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७५॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाकर रावणके अत्याचारसे बचानेके लिये प्रार्थना करना तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवताओंका रीछ और वानरयोनिमें संतान उत्पन्न करना एवं दुन्दुभी गन्धर्वीका मन्थरा बनकर आना

मार्कण्डेय उवाच

ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् रावणसे कष्ट पाये हुए ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा सिद्धगण अग्निदेवको आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें गये॥ १॥

अग्निरुवाच

योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥
स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः।
ततो नस्त्रातु भगवन् नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥

अग्निदेव बोले—भगवन् ! आपने पहले जो वरदान देकर विश्रवाके पुत्र महाबली रावणको अवध्य कर दिया है, वह महाबलवान् राक्षस अब संसारकी समस्त प्रजाको अनेक प्रकारसे सता रहा है; अतः आप ही उसके भयसे हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा हमारा दूसरा कोई रक्षक नहीं है ॥२-३॥

ब्रह्मोवाच

न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो।
विहितं तत्र यत् कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्ने ! देवता या असुर उसे युद्धमें नहीं जीत सकते। उसके विनाशके लिये जो आवश्यक कार्य था, वह कर दिया गया। अब सब प्रकारसे उस दुष्टका दमन हो जायगा ॥ ४ ॥

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥

उस राक्षसके निग्रहके लिये मैंने चतुर्भुज भगवान् विष्णुसे अनुरोध किया था। मेरी प्रार्थनासे वे भगवान् भूतलपर अवतार ले चुके हैं। वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं; अतः वे ही रावणके दमनका कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत्।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं सम्भव त्वं महीतले ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर ब्रह्माजीने उन देवताओंके समीप ही इन्द्रसे कहा—'तुम समस्त देवताओंके साथ भूतलपर जन्म ग्रहण करो ॥ ६ ॥

विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः।
जनयध्वं सुतान् वीरान् कामरूपबलान्वितान् ॥ ७ ॥

'वहाँ रीछों और वानरोंकी स्त्रियोंसे ऐसे वीर पुत्रको उत्पन्न करो, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, बलवान् तथा भूतलपर अवतीर्ण हुए भगवान् विष्णुके योग्य सहायक हों' ॥ ७ ॥

ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वपन्नगाः।
अवतर्तुं महीं सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ८ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नाग अपने-अपने अंश एवं अंशांशसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये परस्पर परामर्श करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥

फिर वरदायक देवता ब्रह्माजीने उन सबके सामने ही दुन्दुभी नामवाली गन्धर्वीको आज्ञा दी कि 'तुम भी देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भूतलपर जाओ ॥ ९ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः।
मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत् तदा ॥ १० ॥

पितामहकी बात सुनकर गन्धर्वी दुन्दुभी मनुष्यलोकमें आकर मन्थरा नामसे प्रसिद्ध कुबड़ी दासी हुई ॥ १० ॥

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥
तेऽन्ववर्तन् पितॄन् सर्वे यशसा च बलेन च।
भेत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥

इन्द्र आदि समस्त श्रेष्ठ देवता भी वानरों तथा रीछोंकी उत्तम स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न करने लगे। वे सब वानर और रीछ यश तथा बलमें अपने पिता देवताओंके समान ही हुए। वे पर्वतोंके शिखर तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे एवं शाल (साखू) और ताल (ताड़) के वृक्ष तथा पत्थरोंकी चट्टानें ही उनके आयुध थे ॥ ११-१२ ॥

वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा।
कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १३ ॥

उनका शरीर वज्रके समान दुर्भेद्य और सुदृढ़ था। वे सभी राशि-राशि बलके आश्रय थे। उनका बल और पराक्रम इच्छाके अनुसार प्रकट होता था। वे सबके सब युद्ध करनेकी कलामें दक्ष थे। ॥ १३ ॥

नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १४ ॥

उनके शरीरमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। तेज चलनेमें वे वायुके वेगको लजा देते थे। उनका कोई घर-बार नहीं था; जहाँ इच्छा होती, वहीं रह जाते थे। उनमेंसे कुछ लोग केवल वनोंमें ही रहते थे ॥ १४ ॥

एवं विधाय तत् सर्वं भगवाँल्लोकभावनः।
मन्थरां बोधयामास यद् यत् कार्यं यथा यथा ॥ १५॥

इस प्रकार सारी व्यवस्था करके लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने मन्थरा बनी हुई दुन्दुभीको जो-जो काम जैसे-जैसे करना था, वह सब समझा दिया ॥ १५ ॥

सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा।
इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसन्धुक्षणे रता ॥ १६ ॥

वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी। उसने ब्रह्माजीकी बातको अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार ही कार्य किया। वह इधर-उधर घूम-फिरकर वैरकी आग प्रज्वलित करनेमें लग गयी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें वानर आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७६॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी, रामवनगमन, भरतकी चित्रकूटयात्रा, रामके द्वारा खर-दूषण आदि राक्षसोंका नाश तथा रावणका मारीचके पास जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक्।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
सम्प्रस्थितौ वने ब्रह्मन् मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! आपने श्रीरामचन्द्रजी आदि सभी भाइयोंके जन्मकी कथा तो पृथक्-पृथक् सुना दी, अब मैं उनके वनवासका कारण सुनना चाहता हूँ; उसे कहिये। दशरथजीके वीर पुत्र दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण तथा मिथिलेशकुमारी यशस्विनी सीताको वनमें क्यों जाना पड़ा? ॥ १—२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! अपने पुत्रोंके जन्मसे महाराज दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सदा सत्कर्ममें तत्पर रहनेवाले, धर्मपरायण तथा बड़े-बूढ़ोंके सेवक थे ॥३॥

क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत् सुखी ॥ ५ ॥

राजाके वे महातेजस्वी पुत्र क्रमशः बढ़ने लगे। उन्होंने (उपनयनके पश्चात्) विधिवत् ब्रह्मचर्यका पालन किया और वेदों तथा रहस्यसहित धनुर्वेदके वे पारंगत विद्वान् हुए। समयानुसार जब उनका विवाह हो गया, तब राजा-दशरथ बड़े प्रसन्न तथा सुखी हुए ॥ ४—५ ॥

ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः।
मनोहरतया धीमान् पितुर्हृदयनन्दनः ॥ ६ ॥

चारों पुत्रोंमें बुद्धिमान् श्रीराम सबसे बड़े थे। वे अपने मनोहर रूप एवं सुन्दर स्वभावसे समस्त प्रजाको आनन्दित करते थे—सबका मन उन्हींमें रमता था। इसके सिवा वे पिताके मनमें भी आनन्द बढ़ानेवाले थे ॥ ६ ॥

ततः स राजा मतिमान् मत्वाऽऽत्मानं वयोऽधिकम्।
मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत।

युधिष्ठिर! राजा दशरथ बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने यह सोचकर कि अब मेरी अवस्था बहुत अधिक हो गयी; अतः श्रीरामको युवराजपदपर अभिषिक्त कर देना चाहिये, इस विषयमें अपने मन्त्री और धर्मज्ञ पुरोहितोंसे सलाह ली ॥ ७½ ॥

प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ९ ॥
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥
पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्धनम्।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत् कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

उन सभी श्रेष्ठ मन्त्रियोंने राजाके इस समयोचित प्रस्तावका अनुमोदन किया। श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर नेत्र कुछ-कुछ लाल थे और भुजाएँ बड़ी एवं घुटनोंतक लंबी थीं। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनकी ग्रीवा शङ्खके समान सुन्दर थी, उनकी छाती चौड़ी थी और उनके सिरपर काले-काले घुँघराले बाल थे। उनकी देह दिव्य दीप्तिसे दमकती रहती थी। युद्धमें उनका पराक्रम देवराज इन्द्रसे कम नहीं था। वे समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण तथा जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, साधुओंके संरक्षक, धर्मात्मा, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे। कुरुनन्दन! कौसल्याका आनन्द

बढ़ानेवाले अपने पुत्र श्रीरामको देख-देखकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता होती थी ॥ ८–१३ ॥

चिन्तयंश्च महातेजा गुणान् रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥
अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन् पुण्यं योगमुपैष्यति ।
सम्भाराःसम्भ्रियन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम्॥ १५ ॥

राजन् ! तुम्हारा भला हो । महातेजस्वी तथा परम पराक्रमी राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका स्मरण करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ पुरोहितसे बोले—'ब्रह्मन् ! आज पुष्य नक्षत्र है । रातमें इसे परम पवित्र योग प्राप्त होनेवाला है । आप राज्याभिषेककी सामग्री तैयार कीजिये और श्रीरामको भी इसकी सूचना दे दीजिये' ॥ १४-१५ ॥

इति तद् राजवचनं प्रतिश्रुत्याथ मन्थरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

राजाकी यह बात मन्थराने भी सुन ली । वह ठीक समयपर कैकेयीके पास जाकर यों बोली—॥ १६ ॥

अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशतु दुर्भगे ॥ १७॥

'केकयनन्दिनि ! आज राजाने तुम्हारे लिये महान् दुर्भाग्यकी घोषणा की है । खोटे भाग्यवाली रानी ! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम्हें क्रोधमें भरा हुआ प्रचण्ड विषधर सर्प डँस लेता ॥ १७ ॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥१८॥

'रानी कौसल्याका भाग्य अवश्य अच्छा है, जिनके पुत्रका राज्याभिषेक होगा । तुम्हारा ऐसा सौभाग्य कहाँ ? जिसका पुत्र राज्यका अधिकारी ही नहीं है' ॥ १८ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।
देवी विलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता ।
प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली देवी कैकेयी समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो परम सुन्दर रूप बनाकर एकान्तमें अपने पतिके पास गयी । उसकी मुसकराहटसे उसके शुद्ध भावकी सूचना मिल रही थी । वह हँसती और प्रेम जताती हुई-सी मधुर वाणीमें बोली—॥ १९-२० ॥

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् ।
उपाकुरुष्व तद् राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥२१॥

'सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले महाराज ! आपने पहले जो 'तेरा मनोरथ सफल करूँगा' ऐसा वर दिया था, उसे आज पूर्ण कीजिये और उस संकटसे मुक्त हो जाइये' ॥ २१ ॥

राजोवाच

वरं ददानि ते हन्त तद् गृहाण यदिच्छसि ।
अवध्यो बध्यतां कोऽद्य बध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् २२
धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः ।
ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत् किंचिद् वित्तमस्ति मे॥ २३ ॥

राजाने कहा—प्रिये ! यह तो बड़े हर्षकी बात है । मैं अभी तुम्हें वर देता हूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो, ले लो । आज मैं तुम्हारे कहनेसे किस कैद करनेके अयोग्यको कैद कर दूँ अथवा किस कैद करनेयोग्यको मुक्त कर दूँ ? किसे धन दे दूँ अथवा किसका सर्वस्व हरण कर लूँ ? ब्राह्मणधनके अतिरिक्त यहाँ अथवा अन्यत्र जो कुछ भी मेरे पास धन है, उसपर तुम्हारा अधिकार है ॥ २२-२३ ॥

पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम्॥२४॥

मैं इस समय इस भूमण्डलका राजराजेश्वर हूँ, चारों वर्णोंकी रक्षा करनेवाला हूँ । कल्याणि ! तुम्हारा जो भी अभिलषित मनोरथ हो, उसे बताओ, देर न करो ॥ २४ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् ।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥

राजाकी बातको समझकर और उन्हें सब प्रकारसे वचनबद्ध करके अपनी शक्तिको भी ठीक-ठीक जान लेनेके बाद कैकेयीने उनसे कहा—॥ २५ ॥

आभिषेचनिकं यत् ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥

'महाराज! आपने श्रीरामके लिये जो राज्याभिषेकका सामान तैयार कराया है, वह भरतको प्राप्त हो और राम वनमें चले जायँ' ॥ २६ ॥

स तद् राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम्।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद् व्याजहार ह ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ! कैकेयीका यह अप्रिय एवं भयानक परिणाम-वाला वचन सुनकर राजा दशरथ दुःखसे आतुर हो अपने मुँहसे कुछ भी बोल न सके ॥ २७ ॥

ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान्।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी शक्तिशाली होनेके साथ ही बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने पिताके पूर्वोक्त वरदानकी बात जानकर राजाके सत्यकी रक्षा हो, इस उद्देश्यसे स्वयं ही वनको प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान् धनुष्मॉंल्लक्ष्मणस्तदा।
सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। श्रीरामचन्द्रजीके वन जाते समय उत्तम शोभासे सम्पन्न उनके भाई धनुर्धर लक्ष्मणने तथा उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी जनकनन्दिनी सीताने भी उनका अनुसरण किया ॥ २९ ॥

ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर (उनके वियोगमें) राजा दशरथने शरीर त्याग दिया ॥ ३० ॥

रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथागतम्।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी वनमें चले गये तथा राजा परलोकवासी हो गये, यह देखकर कैकेयीने भरतको ननिहालसे बुलवाया और इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ३२ ॥

'बेटा! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ स्वर्गलोकको सिधार गये तथा श्रीराम और लक्ष्मण वनमें निवास करते हैं। अब यह विशाल राज्य सब प्रकारसे सुखद और निष्कण्टक हो गया है। तुम इसे ग्रहण करो ॥ ३२ ॥

तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम्।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥

भरत बड़े धर्मात्मा थे। वे माताकी बात सुनकर उससे बोले—'कुलकलङ्किनी जननी! तूने धनके लोभमें पड़कर यह कितनी बड़ी क्रूरताका काम किया है? पतिकी हत्या की और इस कुलका विनाश कर डाला! 'मेरे मस्तकपर कलङ्कका टीका लगाकर तू अपना मनोरथ पूर्ण कर ले।' ऐसा कहकर भरत फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३३-३४ ॥

स चारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसंनिधौ।
अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३५ ॥

उन्होंने सारी प्रजा और मन्त्रियों आदिके निकट अपनी सफाई दी तथा भाई श्रीरामको वनसे लौटा लानेकी लालसासे उन्हींके पथका अनुसरण किया ॥ ३५ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥

वे कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयीको सवारियोंद्वारा आगे भेजकर स्वयं अत्यन्त दुखी हो शत्रुघ्नके साथ (पैदल ही) वनको चले ॥ ३६ ॥

वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकाङ्क्षया ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेकी अभिलाषासे उन्होंने वसिष्ठ, वामदेव और दूसरे सहस्रों ब्राह्मणों तथा नगर एवं जनपदके लोगोंको साथ लेकर यात्रा की ॥ ३७ ॥

ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम्।
तापसानामलंकारं धारयन्तं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥

चित्रकूट पहुँचकर भरतने लक्ष्मणसहित श्रीरामको

धनुष हाथमें लिये तपस्वीजनोंकी वेष-भूषा धारण किये देखा ॥ ३८ ॥

(श्रीराम उवाच

गच्छ तात प्रजा रक्ष्याः सत्यं रक्षाम्यहं पितुः ।)
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कहा—तात भरत ! अयोध्याको लौट जाओ । तुम्हें प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये और मैं पिताके सत्यकी रक्षा कर रहा हूँ, ऐसा कहकर पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने (समझा-बुझाकर) उन्हें विदा कर दिया । तब वे (लौटकर) बड़े भाईकी चरणपादुकाओंको आगे रखकर नन्दिग्राममें ठहर गये और वहींसे राज्यकी देखभाल करने लगे ॥ ३९ ॥

रामस्तु पुनराशङ्क्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ नगर और जनपदके लोगोंके बराबर आने-जानेकी आशङ्कासे शरभङ्ग मुनिके आश्रमके पास विशाल वनमें प्रवेश किया ॥ ४० ॥

सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत् तदा ॥ ४१ ॥

वहाँ शरभङ्गमुनिका सत्कार करके वे दण्डकारण्यमें चले गये और वहाँ सुरम्य गोदावरी नदीके तटका आश्रय लेकर रहने लगे ॥ ४१ ॥

वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणासीन्महद् वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥

वहाँ रहते समय शूर्पणखाके (नाक, कान और ओंठ काटनेके) कारण श्रीरामचन्द्रजीका जनस्थाननिवासी खर नामक राक्षसके साथ महान् वैर हो गया ॥ ४२ ॥

रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि रक्षसाम् ॥ ४३ ॥
दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान् धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजीने तपस्वी मुनियोंकी रक्षाके लिये महाबली खर और दूषणको मारकर वहाँके चौदह हजार

राक्षसोंका संहार कर डाला तथा उन बुद्धिमान् रघुनाथजीने पुनः उस वनको क्षेमकारक धर्मारण्य बना दिया ॥ ४३-४४ ॥

हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥

उन राक्षसोंके मारे जानेपर शूर्पणखा, जिसकी नाक और ओंठ काट लिये गये थे, पुनः लङ्कामें अपने भाई रावणके घर गयी ॥ ४५ ॥

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्च्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४६ ॥

रावणके पास पहुँचकर वह राक्षसी दुःखसे मूर्छित हो भाईके चरणोंमें गिर पड़ी । उसके मुखपर रक्त बहकर सूख गया था ॥ ४६ ॥

तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥

बहिनका रूप इस प्रकार विकृत हुआ देखकर रावण क्रोधसे मूर्छित हो उठा और दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ रोषपूर्वक आसनसे उठकर खड़ा हो गया ॥ ४७ ॥

स्वानमात्यान् विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनास्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ॥ ४८ ॥

अपने मन्त्रियोंको विदा करके उसने एकान्तमें शूर्पणखासे पूछा—'भद्रे ! किसने मेरी परवा न करके—मेरी सर्वथा अवहेलना करके तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है ? ॥ ४८ ॥

कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम्॥४९॥

कौन तीखे शूलके पास जाकर उसे अपने सारे अङ्गोंमें चुभोना चाहता है ? कौन मूर्ख अपने सिरपर आग रखकर बेखटके सुखकी नींद सो रहा है ? ॥ ४९ ॥

आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति॥ ५०॥

'कौन अत्यन्त भयंकर विषधर सर्पको पैरसे कुचल रहा है ? तथा कौन केसरी सिंहकी दाढ़ोंमें हाथ डालकर निश्चिन्त खड़ा है ?' ॥ ५० ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तैजसोऽर्चिषः।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरन्ध्रतः॥ ५१॥

इस प्रकार बोलते हुए रावणके कान, नाक एवं आँख

आदि छिद्रोंसे उसी प्रकार आगकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, जिस प्रकार रातको जलते हुए वृक्षके छेदोंसे आगकी लपटें निकलती हैं ॥ ५१ ॥

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम्।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम्॥ ५२॥

तब रावणकी बहिन शूर्पणखाने श्रीरामके उस पराक्रम और खर-दूषणसहित समस्त राक्षसोंके संहारका (सारा) वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५२ ॥

स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम्॥ ५३॥

यह सुनकर रावणने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अपनी बहिनको सान्त्वना देकर नगर आदिकी रक्षाका प्रबन्ध करके वह आकाशमार्गसे उड़ चला ॥ ५३ ॥

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च।
ददर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम्॥ ५४॥

त्रिकूट और कालपर्वतको लाँघकर उसने मगरोंके निवास-स्थान गहरे महासागरको देखा ॥ ५४ ॥

तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद् दशाननः।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः॥ ५५॥

उसे ऊपर-ही-ऊपर लाँघकर दशमुख रावण गोकर्णतीर्थमें गया, जो परमात्मा शूलपाणि शिवका प्रिय एवं अविचल स्थान है॥ ५५ ॥

तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम्॥ ५६॥

वहाँ रावण अपने भूतपूर्व मन्त्री मारीचसे मिला, जो श्रीरामचन्द्रजीके भयसे ही पहलेसे उस स्थानमें आकर तपस्या करता था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामवनगमनविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृगरूपधारी मारीचका वध तथा सीताका अपहरण

मार्कण्डेय उवाच

मारीचस्त्वथ सम्भ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम्।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! रावणको आया देख मारीच सहसा उठकर खड़ा हो गया और उसने फल-मूल आदि अतिथिसत्कारकी सामग्रियोंद्वारा उसका विधिवत् पूजन किया ॥ १ ॥

विश्रान्तं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम्॥ २॥

जब रावण बैठकर विश्राम कर चुका, तब उसके पास बैठकर

बातचीत करनेमें कुशल राक्षस मारीचने वाक्यका मर्म समझनेमें निपुण रावणसे विनयपूर्वक कहा—॥ २ ॥

न ते प्रकृतिमान् वर्णः कच्चित् क्षेमं पुरे तव।
कच्चित् प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा॥ ३ ॥

'लंकेश्वर ! तुम्हारे शरीरका रंग ठीक हालतमें नहीं है। तुम उदास दिखायी देते हो। तुम्हारे नगरमें कुशल तो है न ? समस्त प्रजा और मन्त्री आदि पहलेकी भाँति तुम्हारी सेवा करते हैं न ?॥ ३ ॥

किमिहागमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर।
कृतमित्येव तद् विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्॥ ४ ॥

'राक्षसराज ! कौन-सा ऐसा कार्य आ गया है, जिसके लिये तुम्हें यहाँतक आना पड़ा ? यदि वह मेरेद्वारा साध्य है, तो कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे किया हुआ ही समझो' ॥ ४ ॥

शशंस रावणस्तस्मै तत् सर्वं रामचेष्टितम्।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः॥ ५ ॥

रावण क्रोध और अमर्षमें भरा हुआ था। उसने एक-एक करके रामद्वारा किये हुए सब कार्य संक्षेपसे कह सुनाये ॥ ५ ॥

मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम्।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै॥ ६ ॥

मारीचने सारी बातें सुनकर थोड़ेमें ही रावणको समझाते हुए कहा—'दशानन ! तुम श्रीरामसे भिड़नेका साहस न करो। मैं उनके पराक्रमको जानता हूँ ॥ ६ ॥

बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः।
प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः॥ ७ ॥
विनाशमुखमेतत् ते केनाख्यातं दुरात्मना।

'भला ! इस जगत्‌में कौन ऐसा वीर है, जो परमात्मा श्रीरामके बाणोंका वेग सह सके ? मैं जो यहाँ संन्यासी

बना बैठा हूँ, इसमें भी वे पुरुषरत्न श्रीराम ही कारण हैं। श्रीरामसे वैर मोल लेना विनाशके मुखमें जाना है, किस दुरात्माने तुम्हें ऐसी सलाह दी है ? ॥ ७½ ॥

तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन्॥ ८ ॥
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम्।

मारीचकी बात सुनकर रावण और भी कुपित हो उठा और उसे डाँटते हुए बोला—'मारीच ! यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा, तो भी तेरी मृत्यु निश्चित ही है' ॥ ८½ ॥

मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम्॥ ९ ॥
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम्।

मारीचने सोचा, 'यदि मृत्यु निश्चित ही है, तो श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे ही मरना अच्छा होगा; अतः रावणका जो अभीष्ट कार्य है, उसे अवश्य करूँगा' ॥ ९½ ॥

ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम्॥ १० ॥
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत्।

तदनन्तर उसने राक्षसराज रावणसे कहा—'अच्छा; बताओ, मुझे तुम्हारी क्या सहायता करनी होगी ? इच्छा न होनेपर भी मैं विवश होकर उसे करूँगा' ॥ १०½ ॥

तमब्रवीद् दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय॥ ११ ॥
रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति॥ १२ ॥

तब दशाननने उससे कहा—'तुम एक ऐसे मनोहर मृगका रूप धारण करो, जिसके सींग रत्नमय प्रतीत हों और शरीरके रोएँ भी रत्नोंके ही समान चित्र-विचित्र दिखायी दें। फिर रामके आश्रमपर जाओ और सीताको लुभाओ। सीता तुम्हें देख लेनेपर निश्चय ही रामसे यह अनुरोध करेगी कि 'आप इस मृगको पकड़ लाइये' ॥ ११-१२ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति।
तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति॥ १३ ॥
भार्यावियोगाद् दुर्बुद्धिरेतत् साह्यं कुरुष्व मे।

'तुम्हारे पीछे रामके अपने आश्रमसे दूर निकल जानेपर सीताको वशमें लाना सहज हो जायगा। मैं उसे आश्रमसे हरकर ले जाऊँगा और दुर्बुद्धि राम अपनी प्यारी पत्नीके वियोगसे व्याकुल होकर प्राण दे देगा। बस, मेरी इतनी ही सहायता कर दो' ॥ १३½ ॥

इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः॥ १४ ॥
रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत् सुदुःखितः।

रावणके ऐसा कहनेपर मारीच स्वयं ही अपना श्राद्ध-तर्पण करके अत्यन्त दुखी होकर आगे जाते हुए रावणके पीछे-पीछे चला ॥ १४½ ॥

ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥
चक्रतुस्तद् तथा सर्वमुभौ यत् पूर्वमन्त्रितम् ।

तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके समीप जाकर उन दोनोंने पहले जैसी सलाह कर रक्खी थी, उसके अनुसार सब कार्य किया ॥ १५½ ॥

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक् ॥ १६ ॥
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ॥ १७ ॥

रावण मूँड़ मुड़ाये, भिक्षापात्र हाथमें लिये एवं त्रिदण्डधारी संन्यासीका रूप धारण करके और मारीच मृग बनकर—दोनों उस स्थानपर गये। मारीचने विदेहनन्दिनी सीताके समक्ष अपना मृगरूप प्रकट किया ॥ १६-१७ ॥

चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता ।
रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन् धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।

विधिके विधानसे प्रेरित होकर सीताने उस मृगको लानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको भेजा। श्रीरामचन्द्रजी सीताका प्रिय करनेके लिये धनुष हाथमें ले लक्ष्मणको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर मृगको लानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ १८½ ॥

स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ १९ ॥
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।

वे धनुष-बाण ले, पीठपर तरकस बाँधकर, कटिमें कृपाण लटकाये तथा हाथोंमें दस्ताने पहने उस मृगके पीछे उसी प्रकार दौड़े, जैसे मृगशिरा नक्षत्रके पीछे भगवान् रुद्र दौड़े थे ॥ १९½ ॥

सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥ २० ॥
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।

मायावी राक्षस मारीच कभी छिप जाता और कभी नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो जाता था। इस प्रकार वह श्रीरामचन्द्रजीको आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया। तब श्रीरामचन्द्रजी यह ताड़ गये कि यह कोई मायावी राक्षस है। यह बात ध्यानमें आते ही प्रतिभाशाली श्रीरघुनाथजीने एक अमोघ बाण लेकर उस मृगरूपधारी निशाचरको मार डाला ॥

स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ॥ २२ ॥
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्तस्वरेण ह ।

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसे आहत हो मरते समय मारीचने उनके ही स्वरमें 'हा सीते, हा लक्ष्मण' कहकर आर्तनाद किया ॥ २२½ ॥

शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ॥ २३ ॥
सा प्राद्रवद् यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शङ्कया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥ २४ ॥
मुहूर्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्तारं त्वं शुचिस्मिते ।

विदेहनन्दिनी सीताने भी उसकी वह करुणाभरी पुकार सुनी। उसकी पुकार सुनते ही जिस ओरसे वह आवाज आयी थी, उसी ओर वे दौड़ पड़ीं। तब लक्ष्मणने उनसे कहा—'भीरु! डरनेकी कोई बात नहीं है। भला, कौन ऐसा है, जो भगवान् रामको मार सकेगा? शुचिस्मिते! तुम दो ही घड़ीमें अपने पति भगवान् श्रीरामको यहाँ उपस्थित देखोगी' ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशङ्कत लक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ॥ २६ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर रोती हुई सीताने उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखा। यद्यपि शुद्ध सदाचार ही उनका आभूषण था। वे साध्वी और पतिव्रता थीं; तथापि स्त्री-स्वभाववश उस समय उनकी बुद्धि मारी गयी। उन्होंने लक्ष्मणको कठोर बातें सुनानी आरम्भ कीं—॥ २५-२६ ॥

नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥ २७ ॥
पतेयं गिरिशृङ्गाद् वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ॥ २८ ॥
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।

'ओ मूढ़! तुम मन-ही-मन जिस वस्तुको पाना चाहते हो, तुम्हारा वह मनोरथ कभी पूर्ण न होगा। मैं स्वयं तलवार लेकर अपना गला काट लूँगी, पर्वतके शिखरसे कूद पड़ूँगी अथवा जलती हुई आगमें समा जाऊँगी; परंतु राम-जैसे स्वामीको छोड़कर तुम-जैसे नीच पुरुषका कदापि

वरण न करूँगी । जैसे सिंहिनी सियारको नहीं स्वीकार कर सकती, उसी प्रकार मैं तुम्हें नहीं ग्रहण करूँगी' ॥

एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ॥ २९ ॥
पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः ।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ ३० ॥
अवीक्षमाणो बिम्बोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ।

लक्ष्मण सदाचारी तथा श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी थे । उन्होंने सीताके ये कठोर वचन सुनकर अपने दोनों कान बंद कर लिये और उसी मार्गसे चल दिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी गये थे । उस समय लक्ष्मणके हाथमें धनुष था । उन्होंने बिम्बफलके समान अरुण अधरोंवाली सीताकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं । श्रीरामके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उन्होंने वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ २९–३०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः ।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३२ ॥

इसी समय अवसर पाकर राक्षस रावण साध्वी सीताको हर ले जानेकी इच्छासे वहाँ दिखायी दिया । वह भयानक निशाचर सुन्दर रूप धारण करके राखमें छिपी हुई आगके समान संन्यासीके वेषमें अपने यथार्थ रूपको छिपाये हुए था ॥

सा तमालक्ष्य सम्प्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३३ ॥

उस समय यतिको अपने आश्रमपर आया हुआ देख धर्मको जाननेवाली जनकनन्दिनी सीता फल-मूलके भोजन आदिसे अतिथिसत्कारके लिये उसे निमन्त्रित किया ॥ ३३ ॥

अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत ।
सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

राक्षसराज रावण सीताकी दी हुई उन सभी वस्तुओंकी अवहेलना करके अपने असली रूपमें प्रकट हो गया और विदेहराजकुमारीको इस प्रकार सान्त्वना देने लगा—॥ ३४ ॥

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लङ्का पुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥ ३५ ॥

'सीते ! मैं राक्षसोंका राजा हूँ । मेरा 'रावण' नाम सर्वत्र विख्यात है । समुद्रके पार बसी हुई रमणीय लङ्कापुरी मेरी राजधानी है ॥ ३५ ॥

तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३६ ॥

'वहाँ नर-नारियोंके बीच मेरे साथ रहकर तुम बड़ी शोभा पाओगी । अतः सुन्दरी ! तुम मेरी पत्नी हो जाओ और इस तपस्वी रामको छोड़ दो' ॥ ३६ ॥

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद् वचः ॥ ३७ ॥
प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥ ३८ ॥

रावणके ऐसे वचन सुनकर सुन्दरी जनककिशोरीने अपने दोनों कान बंद कर लिये और उससे इस प्रकार कहा—'बस, अब ऐसी बातें मुँहसे न निकाल । नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े, पृथ्वी टूक-टूक हो जाय और अग्नि अपनी उष्णताका त्याग करके शीतल हो जाय, परंतु मैं रघुकुल-नन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नहीं छोड़ सकती ॥ ३७-३८ ॥

कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ॥ ३९ ॥

'गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले पद्ममालामण्डित वनवासी गजराजकी सेवामें उपस्थित होकर कोई हथिनी किसी शूकरको कैसे छू सकती है ? ॥ ३९ ॥

कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम् ।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत् ॥ ४० ॥

'जो फूलोंके रससे बने हुए मधुर पेय तथा मधुमक्षिकाओंद्वारा तैयार किया हुआ मधु पी चुकी हो, ऐसी कोई भी नारी काँजीके रसका लोभ कैसे कर सकती है ?' ॥ ४० ॥

इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं ततः ।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः ॥ ४१ ॥

रावणसे इस प्रकार कहकर सीता अपने आश्रममें प्रवेश करने लगीं । उस समय क्रोधके मारे उनके ओंठ फड़क रहे थे और वे अपने दोनों हाथोंको बार-बार हिला रही थीं ॥

तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ॥ ४२ ॥

इसी समय रावणने दौड़कर उनका मार्ग रोक लिया और कठोर स्वरसे उन्हें डराना, धमकाना आरम्भ किया । इससे वे भयके मारे मूर्छित हो गयीं ॥ ४२ ॥

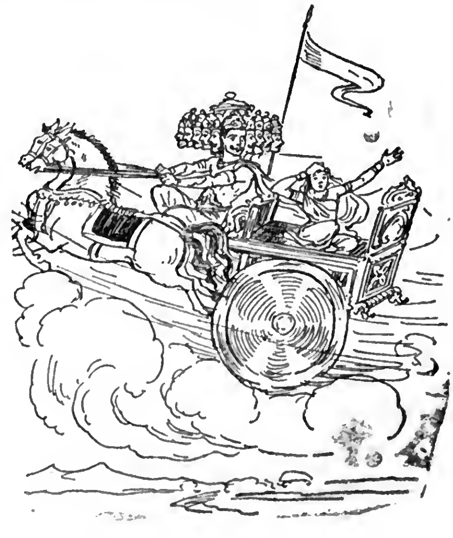

मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः ।
तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥

तब रावणने उनके केश पकड़ लिये और आकाश-मार्गसे लङ्काकी ओर प्रस्थान किया । उस समय वे तपस्विनी सीता 'हा राम-हा रामकी' रट लगाती हुई रो रही थीं और वह राक्षस उन्हें हरकर लिये जा रहा था ! इसी अवस्थामें एक पर्वतकी गुफामें रहनेवाले गृध्रराज जटायुने उन्हें देखा ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे च अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें मारीचवध तथा सीताहरणविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावणद्वारा जटायुका वध, श्रीरामद्वारा उसका अन्त्येष्टि-संस्कार, कबन्धका वध तथा उसके दिव्य स्वरूपसे वार्तालाप

मार्कण्डेय उवाच

सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महावीर गृध्रराज जटायु (सूर्यके सारथि) अरुणके पुत्र थे । उनके बड़े भाईका नाम सम्पाति था । राजा दशरथके साथ उनकी बड़ी मित्रता थी ॥१॥

स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम् ।
सक्रोधोऽभ्यद्रवद् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥

इसी नाते सीताको वे अपनी पुत्रवधू मानते थे । जब जटायुने उन्हें रावणकी गोदमें पराधीन होकर पड़ी हुई देखा, तब उनके क्रोधकी सीमा न रही । वे राक्षसराज रावणपर टूट पड़े ॥ २ ॥

अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३ ॥

और वे इस प्रकार बोले—'निशाचर ! मिथिलेशकुमारीको छोड़ दे, छोड़ दे । मेरे जीते-जी तू इन्हें कैसे हर ले जायगा ? ॥३॥

न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे वधूम् ।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ॥ ४ ॥

'यदि मेरी पुत्रवधू सीताको तू नहीं छोड़ेगा, तो मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकेगा ।' ऐसा कहकर जटायुने अपने नखोंसे राक्षसराज रावणको बहुत घायल कर दिया ॥ ४ ॥

पक्षतुण्डप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥

उन्होंने पंखों और चोंचसे मार-मारकर उसके सैकड़ों घाव कर दिये । रावणका सारा शरीर जर्जर हो गया तथा देहसे रक्तकी धाराएँ बह चलीं, मानो पर्वत अनेक झरनोंसे आर्द्र हो रहा हो॥५॥

स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजो तस्य पतत्त्रिणः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय एवं हित चाहनेवाले जटायुको इस प्रकार चोट करते देख रावणने तलवार लेकर उन पक्षिराजके दोनों पंख काट डाले ॥ ६ ॥

निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाङ्केन राक्षसः ॥ ७ ॥

बादलोंको भेदनेवाले पर्वत-शिखरके समान गृध्रराज जटायुको घायल करके रावण पुनः सीताको गोदमें लिये हुए आकाशमार्गसे चल दिया ॥ ७ ॥

यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम् ।
सरो वा सरितो वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ॥ ८ ॥

विदेहकुमारी सीता जहाँ-जहाँ कोई आश्रम, सरोवर या

नदी देखतीं, वहाँ-वहाँ अपना कोई-न-कोई आभूषण गिरा देती थीं ॥ ८ ॥

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ९ ॥

आगे जानेपर उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर बैठे हुए पाँच श्रेष्ठ वानरोंको देखा । वहाँ उन बुद्धिमती देवीने अपना एक अत्यन्त दिव्य वस्त्र गिरा दिया ॥ ९ ॥

तत् तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पञ्चानां विद्युन्मेघान्तरे यथा ॥ १० ॥

वह सुन्दर पीले रंगका वस्त्र आकाशमें उड़ता हुआ उन पाँचों वानरोंके मध्यभागमें जा गिरा, मानो मेघोंके बीचमें विद्युत् प्रकट हो गयी हो ॥ १० ॥

अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।
ददर्शाथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥

आकाशचारी पक्षीकी भाँति आकाशगामी रावण थोड़े ही समयमें अपना मार्ग तय करके लङ्काके निकट जा पहुँचा । उसने दूरसे ही अपनी रमणीय, एवं मनोहर पुरीको देखा, जो अनेक दरवाजोंसे सुशोभित हो रही थी ॥ ११ ॥

प्राकारवप्रसम्बाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

साक्षात् विश्वकर्माने उस पुरीका निर्माण किया था । वह सब ओरसे चहारदीवारी तथा खाइयोंद्वारा घिरी हुई थी । राक्षसराज रावणने सीताके साथ उसी लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ॥ १३ ॥

इस प्रकार सीताका अपहरण हो जानेपर बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी उस महामृगरूप मारीचको मारकर लौटे; उस समय मार्गमें उन्हें लक्ष्मण दिखायी दिये ॥ १३ ॥

कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥ १४ ॥

भाईको देखकर श्रीरामने उन्हें कोसते हुए कहा—'लक्ष्मण ! राक्षसोंसे भरे हुए इस घोर जंगलमें जानकीको अकेली छोड़कर तुम यहाँ कैसे चले आये ?' ॥ १४ ॥

मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिन्तयन् पर्यतप्यत ॥ १५ ॥

'मृगरूपधारी राक्षस मुझे आश्रमसे दूर खींच लाया और भाई भी आश्रमको अरक्षित छोड़कर मेरे पास आ गया', यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १५ ॥

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥

उपर्युक्तरूपसे लक्ष्मणकी निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी तुरंत उनके पास आ गये और कहने लगे—'लक्ष्मण ! मैं देखता हूँ, सीता जीवित भी है या नहीं ॥ १६ ॥

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥

तब लक्ष्मणने सीताकी वे सारी अनुचित एवं आक्षेपपूर्ण बातें, जिन्हें उन्होंने अन्तमें कहा था, कह सुनायीं ॥ १७ ॥

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका हृदय शोकाग्निसे दग्ध हो रहा था । वे शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर बढ़े । मार्गमें उन्हें पर्वताकार गृध्रराज जटायु दिखायी दिये, जो रावणके हाथसे घायल हुए पड़े थे ॥ १८ ॥

राक्षसं शङ्कमानस्तं विकृष्य बलवद् धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन्हें राक्षस समझकर अपने प्रबल धनुषको खींचा और उनपर धावा कर दिया ॥ १९ ॥

स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥

तब तेजस्वी जटायुने साथ आये हुए श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंसे कहा—'आप दोनोंका भला हो । मैं राजा दशरथका मित्र गृध्रराज जटायु हूँ' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥

उनकी ये बातें सुनकर उन्होंने अपने सुन्दर धनुष उतारकर हाथमें ले लिये और परस्पर पूछने लगे कि 'यह कौन है, जो हमारे पिताका नाम लेकर परिचय दे रहा है' ॥ २१ ॥

ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद् वधम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन्होंने पास आकर देखा—जटायुके दोनों पंख कटे हुए हैं । गृध्रने बताया कि 'सीताको छुड़ानेके लिये युद्ध करते समय मैं रावणके हाथसे अत्यन्त घायल कर दिया गया हूँ' ॥ २२ ॥

अपृच्छत् राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकम्पैराचचक्षे ममार च ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जटायुसे पूछा—'रावण किस दिशाकी

ओर गया है ?' गृध्रने सिर हिलाकर संकेतसे दक्षिण दिशा बतायी और अपने प्राण त्याग दिये ॥ २३ ॥

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः ॥ २४ ॥

उनके संकेतके अनुसार दक्षिण-दिशा समझ लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने पिताके मित्र होनेके नाते जटायुको आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २४ ॥

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धबृसीमठम्।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने देखा, कुशकी चटाई बाहर फेंकी हुई है, कुटी उजाड़ हो गयी है, घर सूना पड़ा है, कलश फूट पड़े हैं और सारे आश्रममें सैकड़ों गीदड़ भरे हुए हैं ॥ २५ ॥

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ।
जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २६ ॥

सीताका अपहरण हो जानेसे दोनों भाइयोंको बड़ी वेदना हुई। वे दुःख और शोकमें डूब गये। फिर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण दण्डकारण्यसे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ॥ २७ ॥

उस विशाल वनमें लक्ष्मणसहित श्रीरामने देखा कि मृगोंके झुंड सब ओर भाग रहे हैं ॥ २७ ॥

शब्दं च घोरं सत्त्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबन्धं घोरदर्शनम्।

वन-जन्तुओंका भयंकर शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँ सब ओर दावानल फैल रहा हो और उससे भयभीत हुए प्राणी आर्तनाद कर रहे हों। दो ही घड़ीमें उन दोनों भाइयोंने देखा, सामने एक 'कबन्ध' (धड़) प्रकट हुआ है, जो देखनेमें अत्यन्त भयंकर है ॥ २८ ॥

मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम्।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥

वह मेघके समान काला और पर्वतके समान विशालकाय था। साखूकी शाखाके समान उसके कंधे और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं। उसकी चौड़ी छातीमें दो बड़ी-बड़ी आँखें चमक रही थीं और लंबे-से पेटमें बहुत बड़ा मुख दिखायी दे रहा था ॥ २९ ॥

यदृच्छयाथ तद् रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम्।
विषादमगमत् सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ ३० ॥

वह एक राक्षस था। उसने सहसा आकर लक्ष्मणका एक हाथ पकड़ लिया। भारत! यह देख सुमित्रानन्दन लक्ष्मण तत्काल बहुत दुखी हो गये ॥ ३० ॥

स राममभिसम्प्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम्।
विषण्णश्चाब्रवीद् रामं पश्यावस्थामिमां मम ॥ ३१ ॥

जिस ओर उस राक्षसका मुख था, उसी ओर वे खिंचे चले जा रहे थे। तब श्रीरामकी ओर देखकर वे अत्यन्त विषादग्रस्त होकर बोले—'भैया! देखिये, मेरी यह क्या अवस्था हो रही है ? ॥ ३१ ॥

हरणं चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ ३२ ॥

'विदेहकुमारीका अपहरण, मेरा इस प्रकार असमयमें विपत्तिग्रस्त होना, आपका राज्यसे निर्वासन तथा पिताजीकी मृत्यु—(इस प्रकार संकटपर संकट आता जा रहा है) ॥ ३२ ॥

नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम्।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ३३ ॥

'जान पड़ता है, जब आप सीताके साथ अयोध्यामें लौटकर पिता पितामहोंकी परम्परासे प्राप्त हुए इस भूमण्डलके राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे, उस समय मैं आपका दर्शन न कर सकूँगा ॥ ३३ ॥

द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शान्तघनं यथा ॥ ३४ ॥

'जो लोग कुश, लाजा और शमीपत्र आदिके द्वारा

राज्यपर अभिषिक्त हुए आप आर्यके मेघोंके आवरणसे रहित शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मनोहर मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं' ॥ ३४ ॥

एवं बहुविधं धीमान् विललाप स लक्ष्मणः।
तमुवाचाथ काकुत्स्थः सम्भ्रमेष्वप्यसम्भ्रमः॥ ३५॥

बुद्धिमान् लक्ष्मण इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। भगवान् श्रीराम घबराहटके समय भी घबराते नहीं थे। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—॥ ३५ ॥

मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः॥ ३६॥

'नरश्रेष्ठ! तुम खेद न करो। मेरे रहते यह राक्षस कोई चीज नहीं है; इससे तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँच सकती। तुम इसकी दाहिनी बाँह काट डालो। मैं बायीं भुजा काट रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत्॥ ३७॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त तीखी तलवारसे उस राक्षसकी एक बाँह तिलके पौधेकी तरह काट गिरायी॥ ३७ ॥

ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाजघ्निवान् बली।
सौमित्रिरपि सम्प्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम्॥ ३८॥
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद् रक्षो लक्ष्मणो भृशम्।
गतासुरपतद् भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः॥ ३९॥

तदनन्तर बलवान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने भी अपने

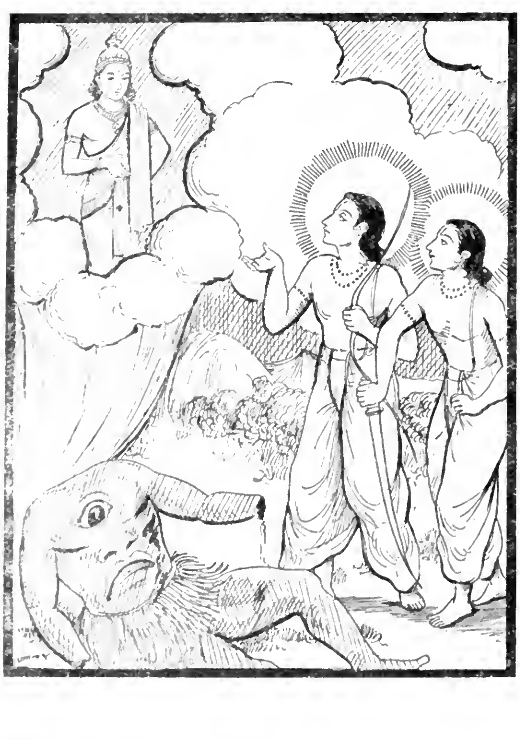

खड्गसे उसकी दाहिनी बाँह काट डाली और अपने भाई श्रीरामको खड़ा देखकर उन्होंने उसकी पसलीपर भी बड़े जोरसे प्रहार किया। फिर तो वह महान् राक्षस कबन्ध प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ३८-३९ ॥

तस्य देहाद् विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन्॥ ४०॥

उसकी देहसे एक दिव्यरूपधारी पुरुष निकलकर आकाशमें खड़ा दिखायी दिया। वह सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था॥ ४० ॥

पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे॥ ४१॥

तब कुशल वक्ता भगवान् श्रीरामने उससे पूछा—'तुम कौन हो? अपना परिचय दो। मेरे पूछनेपर अपनी इच्छाके अनुसार बताओ, यह कैसी अद्भुत एवं आश्चर्यमयी घटना प्रतीत हो रही है?॥ ४१ ॥

तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम्॥ ४२॥
रावणेन हृता सीता राज्ञा लङ्काधिवासिना।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति॥ ४३॥

उसने कहा—'राजन्! मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूँ। एक ब्राह्मणके शापसे इस राक्षसयोनिमें आ गया था—लङ्कावासी राक्षसराज रावणने आपकी पत्नी सीताका अपहरण किया है। आप वानरराज सुग्रीवसे मिलिये। वे आपकी सहायता करेंगे॥ ४२-४३॥

एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी॥ ४४॥

'यह थोड़ी ही दूरपर पवित्र जलसे भरा हुआ पम्पा-सरोवर है, जिसमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी चहक रहे हैं। वह सरोवर ऋष्यमूक पर्वतसे सटा हुआ है॥ ४४॥

वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः॥ ४५॥

'वहीं अपने चार मन्त्रियोंके साथ सुवर्णमालाधारी वानरराज वालीके भाई सुग्रीव निवास करते हैं॥ ४५॥

तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति॥ ४६॥

'उनसे मिलकर आप अपने दुःखका कारण बताइये। उनका शील-स्वभाव आपके ही समान है। वे निश्चय ही आपकी सहायता करेंगे॥ ४६॥

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम्।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः॥ ४७॥

'मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि आपकी जनकनन्दिनी सीतासे अवश्य भेंट होगी। वानरराज सुग्रीवको रावणके घरका पता निश्चय ही ज्ञात है ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥

ऐसा कहकर वह महातेजस्वी दिव्य पुरुष वहीं अन्तर्हित हो गया। वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको उसके दर्शन और वार्तालापसे बड़ा विस्मय हुआ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कबन्धहनने एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कबन्धवधविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और सुग्रीवकी मित्रता, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामके द्वारा वालीका वध तथा लङ्काकी अशोकवाटिकामें राक्षसियोंद्वारा डरायी हुई सीताको त्रिजटाका आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम्।
सीताहरणदुःखार्तः पम्पां रामः समासदत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सीताहरणके दुःखसे पीड़ित हो श्रीरामचन्द्रजी पम्पासरोवरपर गये, जो वहाँसे थोड़ी ही दूरपर था। उसमें बहुत-से कमल और उत्पल खिले हुए थे ॥ १ ॥

मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना।
सेव्यमानो वने तस्मिञ्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥

उस वनमें अमृतकी-सी सुगन्ध लिये मन्द गतिसे प्रवाहित होनेवाली सुखद शीतल वायुका स्पर्श पाकर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन अपनी प्रिया सीताका चिन्तन करने लगे ॥ २ ॥

विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन्।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

अपनी प्राणवल्लभाका बारंबार स्मरण करके कामबाणसे संतप्त हुए-से महाराज श्रीराम विलाप करने लगे। उस समय सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उनसे कहा—॥ ३ ॥

न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद।
आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥

'मानद! मनपर काबू रखनेवाले तथा वृद्धोंके समान संयम-नियमसे रहनेवाले पुरुषको जैसे कोई रोग नहीं छू सकता, उसी प्रकार आपको ऐसे दैन्यभावका स्पर्श होना उचित नहीं जान पड़ता है ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥

'आपको सीता तथा उनका अपहरण करनेवाले रावणका समाचार मिल ही गया है। अब आप अपने पुरुषार्थ और बुद्धिबलसे जानकीको प्राप्त कीजिये ॥ ५ ॥

अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुङ्गवम्।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥

'हम दोनों यहाँसे वानरराज सुग्रीवके पास चलें, जो ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहते हैं। मैं आपका शिष्य, सेवक और सहायक हूँ। मेरे रहते आपको धैर्य रखना चाहिये ॥ ६ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ॥ ७ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणद्वारा अनेक प्रकारके वचनोंसे धैर्य दिलाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी स्वस्थ हुए और आवश्यक कार्यमें लग गये ॥ ७ ॥

निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥

उन्होंने पम्पासरोवरके जलमें स्नान करके पितरोंका तर्पण किया। फिर उन दोनों वीर भ्राता श्रीराम और लक्ष्मणने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ८ ॥

तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम्।
गिर्यग्रे वानरान् पञ्च वीरौ ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥

प्रचुर फल, मूल और वृक्षोंसे भरे हुए ऋष्यमूक पर्वतपर पहुँचकर उन दोनों वीरोंने देखा, पर्वतके शिखरपर पाँच वानर बैठे हुए हैं ॥ ९ ॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः।
बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ १० ॥

सुग्रीवने हिमालयके समान गम्भीर भावसे बैठे हुए अपने बुद्धिमान् सचिव हनुमान्‌को उन दोनोंके पास भेजा ॥ १० ॥

तेन सम्भाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥

उनके साथ पहले बातचीत हो जानेपर वे दोनों भाई सुग्रीवके पास गये। राजन्! उस समय श्रीरामचन्द्रजीने वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की ॥ ११ ॥

तद् वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत् सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत्॥ १२ ॥

रामने सुग्रीवके समक्ष जब अपना कार्य निवेदन किया, तब उन्होंने श्रीरामको वह वस्त्र दिखाया, जिसे अपहरण-कालमें सीताने वानरोंके बीचमें डाल दिया था ॥ १२ ॥

तत् प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥

रावणद्वारा सीताके अपहृत होनेका यह विश्वासजनक प्रमाण पाकर श्रीरामने स्वयं ही वानरराज सुग्रीवको अखिल भूमण्डलके वानरोंके सम्राट्‌पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥१३॥

प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥

साथ ही उन्होंने युद्धमें वालीके वधकी भी प्रतिज्ञा की। राजन्! तब सुग्रीवने भी विदेहनन्दिनी सीताको पुनः ढूँढ़ लानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १४ ॥

इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकाङ्क्षिणः॥ १५॥

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक एक-दूसरेको विश्वास दिलाकर वे सब-के-सब किष्किन्धापुरीमें आये और युद्धकी अभिलाषासे डटकर खड़े हो गये ॥ १५ ॥

सुग्रीवः प्राप्य किष्किन्धां ननादौघनिभस्वनः ।
नास्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥

सुग्रीवने किष्किन्धामें जाकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो बहुत बड़े जनसमूहका शब्द गूँज उठा हो। वालीको यह सहन नहीं हो सका। जब वह युद्धके लिये निकलने लगा, तब उसकी स्त्री ताराने उसे मना करते हुए कहा—॥१६॥

यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाश्रयवान् प्राप्तो न त्वं निष्क्रान्तुमर्हसि॥ १७ ॥

'नाथ! आज सुग्रीव जिस प्रकार गर्जना कर रहा है, उससे मालूम होता है, इस समय उसका बल बढ़ा हुआ है। मेरी समझमें उसे कोई बलवान् सहायक मिल गया है, तभी वह यहाँतक आ सका है। अतः आप घरसे न निकलें॥

हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥

तब सुवर्णमालासे विभूषित तारापति वानरराज वाली, जो बातचीत करनेमें कुशल था, अपनी चन्द्रमुखी पत्नी तारासे इस प्रकार बोला— ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केन चाश्रयवान् प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ॥ १९ ॥

'प्रिये! तुम समस्त प्राणियोंकी बोली समझती हो, साथ ही बुद्धिमती भी हो। अतः सोचो तो सही, यह मेरा नाममात्रका भाई किसका सहारा लेकर यहाँ आया है? ।१९।

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत् प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥

तारा अपनी अङ्गकान्तिसे चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके समान उद्दीप्त हो रही थी। उस विदुषीने दो घड़ीतक विचार करके अपने पतिसे कहा—'कपीश्वर! मैं सब बातें बताती हूँ, सुनिये ॥ २० ॥

हृतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम महान् शक्तिशाली वीर हैं। उनकी पत्नीका किसीने अपहरण कर लिया है। उसकी खोजके लिये उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की है और दोनोंने एक दूसरेके शत्रुको शत्रु तथा मित्रको मित्र मान लिया है। श्रीरामचन्द्रजी बड़े धनुर्धर हैं ॥ २१ ॥

भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥

'उनके भाई महाबाहु सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी भी किसी-से परास्त होनेवाले नहीं हैं। उनकी बुद्धि प्रखर है। वे श्रीरामके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उनके साथ रहते हैं ॥२२॥

मैन्दश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥

'इनके सिवा, मैन्द, द्विविद, वायुपुत्र हनूमान् तथा ऋक्षराज जाम्बवान्—ये सुग्रीवके चार मन्त्री हैं ॥ २३ ॥

सर्वे एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥

'ये सब-के-सब महामनस्वी, बुद्धिमान् और महाबली हैं। श्रीरामचन्द्रजीके बल-पराक्रमका सहारा मिल जानेसे ये लोग आपको मार डालनेमें समर्थ हैं' ॥ २४ ॥

तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः।
पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥

यद्यपि ताराने वालीके हितकी बात कही थी; तो भी वानरराज वालीने उसके कथनपर आक्षेप किया और ईर्ष्यावश उसके मनमें यह शङ्का हो गयी कि तारा मन-ही-मन सुग्रीवको चाहती है ॥ २५ ॥

तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात्।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ॥ २६॥

ताराको कठोर बातें सुनाकर वाली किष्किन्धाकी गुफाके द्वारसे बाहर निकला और माल्यवान पर्वतके निकट खड़े हुए सुग्रीवसे इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

असकृत् त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥ २७ ॥

'अरे ! तू तो पहले अनेक बार युद्धमें मेरे द्वारा परास्त हो चुका है और जीवनका अधिक लोभ होनेके कारण भागकर जान बचाता फिरा है। मैंने भी अपना भाई समझकर तुझे जीवित छोड़ दिया है। फिर आज तुझे मरनेके लिये इतनी उतावली क्यों हो गयी है ?' ॥ २७ ॥

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद् वचः।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं सम्बोधयन्निव ॥ २८ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर शत्रुहन्ता सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको परिस्थितिका ज्ञान कराते हुए-से अपने उस भाईसे अवसरके अनुरूप युक्तियुक्त वचन बोले— ॥ २८ ॥

हृतराज्यस्य मे राजन् हृतदारस्य च त्वया।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥

'राजन् ! तुमने मेरा राज्य हर लिया है, मेरी स्त्रीको भी अपने अधिकारमें कर लिया है, ऐसी दशामें मुझमें जीवित रहनेकी शक्ति ही कहाँ है ? यही सोचकर मरनेके लिये चला आया हूँ। आप मेरे आगमनका यही उद्देश्य समझ लें' ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ संनिपेततुः।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें करके वाली और सुग्रीव दोनों एक दूसरेसे गुँथ गये। उस युद्धमें साखू और ताड़के वृक्ष तथा पत्थरकी चट्टानें—ये ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ ३० ॥

उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥

दोनों दोनोंपर प्रहार करते, दोनों जमीनपर गिर जाते, फिर दोनों ही उछल-कूदकर विचित्र ढंगसे पैंतरे बदलते तथा मुक्कों और घूँसोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥ ३१ ॥

उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥

दोनों नख और दाँतके आघातसे क्षत-विक्षत हो रक्तसे लथपथ हो रहे थे। उस समय वे दोनों वीर खिले हुए पलासके दो वृक्षोंकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ३२ ॥

न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनुमान् कण्ठ आसजत् ॥ ३३ ॥

जब युद्धमें उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवकी पहचानके लिये उनके गलेमें एक माला डाल दी ॥ ३३ ॥

स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥

कण्ठमें पड़ी हुई उस मालासे वीर सुग्रीव उस समय मेघपंक्तिसे सुशोभित महापर्वत मलयकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३४ ॥

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥
विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतोरसि ॥ ३६ ॥

महाधनुर्धर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको चिह्न धारण किये

देख वालीको लक्ष्य बनाकर अपना महान् धनुष खींचा। उस धनुषकी टंकार मशीनकी भयंकर आवाजके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर वाली भयभीत हो उठा। इतनेमें ही श्रीरामके बाणने उसकी छातीपर भारी चोट की॥ ३५-३६॥

स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन्।
ददर्शावस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह॥ ३७॥

इससे वालीका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह अपने मुँहसे रक्त वमन करने लगा। सामने ही उसे लक्ष्मणके साथ खड़े हुए श्रीराम दिखायी दिये॥ ३७॥

गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम्॥ ३८॥

तब वह (छिपकर आघात करनेके कारण) श्रीरामचन्द्रजीकी निन्दा करके पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। ताराने चन्द्रमाके समान तेजस्वी अपने वीर पति वालीको प्राणहीन होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा॥ ३८॥

हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम्॥ ३९॥

वालीके मारे जानेपर अनाथ हुई किष्किन्धापुरी तथा चन्द्रमुखी तारा सुग्रीवको प्राप्त हुई॥ ३९॥

रामस्तु चतुरो मासान् पृष्ठे माल्यवतः शुभे।
निवासमकरोद् धीमान् सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः॥ ४०॥

परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने माल्यवान् पर्वतकी सुन्दर घाटीमें वर्षाके चार महीनोंतक निवास किया। समय-समयपर सुग्रीव भी उनकी सेवामें उपस्थित होते रहते थे॥ ४०॥

रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात्कृतः।
सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे॥ ४१॥
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे।
भर्तृस्मरणतन्वङ्गी तापसीवेषधारिणी॥ ४२॥

इधर कामके वशीभूत हुए रावणने भी लङ्कापुरीमें पहुँचकर सीताको अशोकवाटिकाके निकट तपस्वी मुनियोंके आश्रमकी भाँति शान्तिपूर्ण तथा नन्दनवनके समान रमणीय भवनमें ठहराया। पतिका निरन्तर चिन्तन करते-करते सीताका शरीर दुर्बल हो गया था। वे तपस्विनीवेषमें वहाँ रहती थीं॥ ४१-४२॥

उपवासतपःशीला तत्रास पृथुलेक्षणा।
उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना॥ ४३॥

उपवास और तपस्या करनेका उनका स्वभाव-सा बन गया था। विशाल नेत्रोंवाली जानकी वहाँ फल-मूल खाकर बड़े दुःखसे दिन बिताती थीं॥ ४३॥

दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः॥ ४४॥

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये कुछ राक्षसियोंको नियुक्त कर दिया था, जो भाला, तलवार, त्रिशूल, फरसा, मुद्गर और जलती हुई लुआठी लिये वहाँ पहरा देती थीं॥ ४४॥

द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम्॥ ४५॥

उनमेंसे किसीके दो आँखें थीं, किसीके तीन। किसीके ललाटमें ही आँखें थीं, किसीके बहुत बड़ी जिह्वा थी, तो किसीके जीभ थी ही नहीं। किसीके तीन स्तन थे तो किसीका एक पैर। कोई अपने सिरपर तीन जटाएँ रखती थी, तो किसीके एक ही आँख थी॥ ४५॥

एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः।
परिवार्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः॥ ४६॥

ये तथा दूसरी बहुत-सी राक्षसियाँ निद्रा और आलस्यको छोड़कर दिन-रात सीताको घेरे रहती थीं। उनकी आँखें आगकी तरह प्रज्वलित होती थीं और सिरके बाल ऊँटोंके समान रूखे तथा भूरे थे॥ ४६॥

तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वराः।
तर्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनस्वराः॥ ४७॥

वे पिशाची स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी भयंकर थीं। उनका स्वर अत्यन्त दारुण था। उनके मुखसे जो स्वर और व्यञ्जन निकलते थे, वे बड़े कठोर होते थे। वे राक्षसियाँ निम्नाङ्कित बातें कहकर विशाल नेत्रोंवाली सीताको सदा डाँटती-फटकारती रहती थीं—॥ ४७॥

खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्य ताम्।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति॥ ४८॥

'अरी! यह हमारी स्वामीकी अवहेलना करके अबतक यहाँ जीवित कैसे है? हम इसे चीर डालें। इसे तिल-तिल काटकर खा जायँ'॥ ४८॥

इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः॥ ४९॥

इस तरह कठोर वचनोंद्वारा डराने-धमकानेवाली उन राक्षसियोंसे बार-बार डरायी जाती हुई सीता पतिवियोगके शोकसे संतप्त हो लंबी साँसें खींचती हुई बोलीं—॥ ४९॥

आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम्॥ ५०॥
अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा॥ ५१॥

न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५२ ॥

'बहिनो ! तुमलोग शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ । अब इस जीवनके लिये मुझे तनिक भी लोभ नहीं है । मैं काले घुँघराले केश-कलापसे सुशोभित अपने स्वामी कमलनयन भगवान् श्रीरामके बिना जीना ही नहीं चाहती । प्राणवल्लभ रघुनाथजीके दर्शनसे वञ्चित होनेके कारण निराहार ही रहकर ताड़के पेड़पर रहनेवाली नागिनकी तरह मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगी; परंतु श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषका सेवन कदापि नहीं करूँगी । मेरी इस बातको सत्य समझो और इसके बाद जो कुछ करना हो, करो' ॥ ५०—५२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत् सर्वमादृताः ॥ ५३ ॥

सीताकी यह बात सुनकर कठोर बोली बोलनेवाली वे राक्षसियाँ राक्षसराज रावणको आदरपूर्वक वह सब समाचार निवेदन करनेके लिये चली गयीं ॥ ५३ ॥

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥

वहाँ केवल धर्मको जाननेवाली प्रियवादिनी त्रिजटा नामकी राक्षसी रह गयी । अन्य सब राक्षसियोंके चले जानेपर उसने सीताको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ ५४ ॥

सीते वक्ष्यामि ते किंचिद् विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५५ ॥

'सखी सीते ! मैं तुमसे एक बात कहूँगी । तुम मुझपर विश्वास करो । वामोरु ! तुम भय छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥ ५५ ॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स मावदत् ॥ ५६ ॥

'यहाँ अविन्ध्य नामसे प्रसिद्ध एक बुद्धिमान्, वृद्ध और श्रेष्ठ राक्षस रहते हैं, जो सदा श्रीरामचन्द्रजीके हितका चिन्तन करते रहते हैं । उन्होंने तुमसे कहनेके लिये मेरेद्वारा यह संदेश भेजा है ॥ ५६ ॥

सीता मद्वचनाद् वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५७ ॥
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान् राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ॥ ६० ॥
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६१ ॥

'उनका कहना है कि त्रिजटे ! तुम मेरी ओरसे सीताको समझा-बुझाकर संतुष्ट करके यह कहना कि—'तुम्हारे स्वामी महाबली श्रीराम लक्ष्मणसहित सकुशल हैं । श्रीमान् रघुनाथजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की है और तुम्हें यहाँसे छुड़ानेके लिये उद्योग आरम्भ कर दिया है; अतः भीरु ! अब तुम्हें लोकनिन्दित रावणसे तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । नन्दिनी ! नलकूबरने रावणको जो शाप दे रक्खा है, उसीसे तुम सदा सुरक्षित रहोगी । कुछ समय पहलेकी बात है, इस पापी रावणने नलकूबरकी पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके तुल्य रम्भाका स्पर्श किया था, इसीसे उसको शाप प्राप्त हुआ है । यद्यपि यह रावण जितेन्द्रिय नहीं है, तो भी किसी अवशा—स्वतन्त्रतापूर्वक उसे न चाहनेवाली नारीके पास नहीं जा सकता है । सुग्रीवद्वारा सुरक्षित तुम्हारे स्वामी बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और तुम्हें यहाँसे छुड़ा ले जायँगे' ॥ ५७—६१ ॥

स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।
विनाशायास्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥

(अविन्ध्यका संदेश सुनाकर फिर त्रिजटाने अपनी ओरसे कहा—) 'सखी ! मैंने भी रातमें बड़े भयंकर स्वप्न देखे हैं, जो इस पुलस्त्यकुल-घातक दुर्बुद्धि रावणके विनाश एवं अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं ॥ ६२ ॥

दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६३ ॥

'यह दारुण दुष्टात्मा तथा क्षुद्रकर्म करनेवाला निशाचर अपने स्वभाव और शील दोषसे सब लोगोंका भय बढ़ा रहा है ॥ ६३ ॥

स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥

'कालसे इसकी बुद्धि मारी गयी है; अतः यह समस्त देवताओंसे ईर्ष्या रखता है । मैंने स्वप्नमें जो कुछ देखा है, वह सब इसके विनाशकी सूचना दे रहा है ॥ ६४ ॥

तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन् पङ्के दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥

'सपनेमें मैंने देखा है कि रावण तेलसे नहाये, मूड़ मुँड़ाये, कीचड़में डूब रहा है । फिर कई बार देखनेमें आया कि वह गदहोंसे जुते हुए रथपर खड़ा होकर नृत्य-सा कर रहा है ॥ ६५ ॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६६ ॥

'उसके साथ ही ये कुम्भकर्ण आदि राक्षस भी मूँड़

मुँड़ाये, लाल चन्दन लगाये, लाल फूलोंकी माला पहने, नंगे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं ॥ ६६ ॥

श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ॥ ६७ ॥

'केवल विभीषण ही श्वेत छत्र धारण किये, सफेद पगड़ी पहने एवं श्वेत पुष्पोंकी मालासे अलंकृत हो श्वेत चन्दन लगाये श्वेतपर्वतपर आरूढ दिखायी दिये ॥ ६७ ॥

सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥

'इनके चारों मन्त्री भी श्वेत पुष्पमाला और चन्दनसे चर्चित हो श्वेत पर्वतके शिखरपर बैठे थे; अतः विभीषणके साथ वे भी आनेवाले महान् भयसे मुक्त हो जायँगे ॥ ६८ ॥

रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥

'स्वप्नमें मुझे यह भी दिखायी दिया है कि भगवान् श्रीरामके बाणोंसे समुद्रसहित सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी है, अतः यह निश्चित है कि तुम्हारे पतिदेव अपने सुयशसे समस्त भूमण्डलको परिपूर्ण कर देंगे ॥ ६९ ॥

अस्थिसंचयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम्।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतो दिशम् ॥७० ॥

'इसी तरह मैंने लक्ष्मणको भी देखा है। वे हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए मधुमिश्रित खीर खा रहे थे और ऐसा जान पड़ता था, मानो वे समस्त दिशाओंको दग्ध कर देना चाहते हैं ॥ ७० ॥

रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता।
असकृत् त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम्॥ ७१ ॥

'सपनेमें मैंने तुमको भी कई बार देखा। तुम्हारे सारे अङ्ग खूनसे तर हो रहे थे। तुम रोती हुई उत्तर दिशाकी ओर जा रही थीं और एक व्याघ्र तुम्हारी रक्षा कर रहा था ॥

हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥

'विदेहनन्दिनी सीते! इस सपनेसे यही प्रतीत होता है कि तुम शीघ्र ही अपने स्वामीसे मिलकर हर्षका अनुभव करोगी। भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीसे तुम्हारी अवश्य भेंट होगी; इसमें अब अधिक विलम्ब नहीं है' ॥ ७२ ॥

इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः।
बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥

त्रिजटाकी यह बात सुनकर मृगशावक-से नेत्रोंवाली सीताको पुनः पतिदेवसे मिलनेकी आशा बँध गयी ॥ ७३ ॥

यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ॥ ७४ ॥

इतनेमें ही अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली वे भयंकर पिशाचिनियाँ रावणके दरबारसे वहाँ लौट आयीं। आकर उन्होंने देखा, सीता त्रिजटाके साथ पूर्ववत् अपने स्थानपर बैठी है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वने अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें त्रिजटाद्वारा सीताको आश्वासनविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण और सीताका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तां भर्तृशोकार्तां दीनां मलिनवाससम्।
मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले।
रावणः कामबाणार्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥
देवदानवगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन जब पतिव्रता सीता स्वामीके वियोगके दुःखसे पीड़ित हो मैले कपड़े पहने केवल चूड़ामणिमात्र आभूषण धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई एक शिलापर बैठी दीनभावसे रो रही थीं उसी समय देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और किम्पुरुष—किसीसे कभी युद्धमें परास्त न होनेवाला रावण कामबाणसे पीड़ित हो अशोकवाटिकामें गया। वहाँ उसने सीताको देखा और कामवेदनासे व्यथित होकर वह उनके समीप चला गया॥ १—३॥

दिव्याम्बरधरः श्रीमान् सुमृष्टमणिकुण्डलः।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥

रावणने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। उसके कानोंमें सुन्दर मणिमय कुण्डल झलक रहे थे। वह विचित्र माला और मुकुट पहने मूर्तिमान् वसन्तके समान शोभासम्पन्न जान पड़ता था॥ ४ ॥

न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः॥ ५॥

उसने बड़े यत्नसे अपने आपको वस्त्राभूषणोंद्वारा सजा रक्खा था; तो भी कल्पवृक्षके समान आह्लादजनक नहीं जान पड़ता था; अपितु श्मशानभूमिके चैत्यवृक्षकी भाँति भूषित होनेपर भी भयानक प्रतीत होता था॥ ५॥

स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः॥ ६॥

सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सीताके समीप खड़ा हुआ वह राक्षस रोहिणी नक्षत्रके निकट पहुँचे हुए शनैश्चर ग्रहके समान भयंकर दिखायी देता था॥ ६॥

स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः।
इदमित्यब्रवीद् वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाबलाम्॥ ७॥

कामदेवके बाणोंसे घायल हुआ रावण मृगीके समान भयभीत हुई उस सुन्दरी अबलाको सम्बोधित करके इस प्रकार बोला—॥ ७॥

सीते पर्याप्तमेतावत् कृतो भर्तुरनुग्रहः।
प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते॥ ८॥

'सीते! आजतक तुमने जो अपने पतिपर इतना अनुग्रह दिखाया, यह बहुत हुआ। तन्वङ्गि! अब मुझपर कृपा करो, जिससे तुम्हें शृङ्गार धारण कराया जाय॥ ८॥

भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी॥ ९॥

'वरारोहे! मुझे अङ्गीकार करो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित हो मेरी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ तथा सुन्दरी पटरानी बनो॥ ९॥

सन्ति मे देवकन्याश्च गन्धर्वाणां च योषितः।
सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः॥ १०॥

मेरे महलमें देवताओंकी कन्याएँ, गन्धर्वोंकी युवती स्त्रियाँ, दानवकिशोरियाँ तथा दैत्योंकी रमणियाँ मेरी भार्याओंके रूपमें विद्यमान हैं॥ १०॥

चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः।
द्विस्तावत् पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम्॥ ११॥

चौदह करोड़ पिशाच मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं। इनसे दूने नरभक्षी राक्षस मेरे सेवक हैं, जो अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले हैं॥ ११॥

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः॥ १२॥

'इनकी अपेक्षा तिगुनी संख्या मेरे आज्ञापालक यक्षोंकी है। यक्षोंमेंसे कुछ ही मेरे भाई धनाध्यक्ष कुबेरकी सेवामें रहते हैं॥ १२॥

गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा।
उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम॥ १३॥

भद्रे! वामोरु! जब मैं मधुपानकी गोष्ठीमें बैठता हूँ, उस समय मेरे भाईकी ही भाँति मेरी सेवामें भी गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उपस्थित होती हैं॥ १३॥

पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद् विश्रवसो मुनेः।
पञ्चमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः॥ १४॥

'मैं भी कुबेरके ही समान साक्षात् ब्रह्मर्षि विश्रवा मुनिका पुत्र हूँ। (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोकपालोंके सिवा) पाँचवें लोकपालके रूपमें मेरा सुयश सर्वत्र फैला हुआ है॥ १४॥

दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भामिनि॥ १५॥

'भामिनि! देवराज इन्द्रकी भाँति मुझे भी दिव्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा नाना प्रकारके पेय रस उपलब्ध होते हैं॥ १५॥

क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा॥ १६॥

'सुश्रोणि! वनवासका कष्ट प्रदान करनेवाले तुम्हारे पूर्वकृत दुष्कर्मकी समाप्ति हो जानी चाहिये, इसके लिये तुम मन्दोदरीकी भाँति मेरी भार्या हो जाओ'॥ १६॥

इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना।
तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम्॥ १७॥
अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती॥ १८॥
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता।

रावणके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर जाँघोंसे सुशोभित, पतिको ही देवता माननेवाली विदेहराजकुमारी सुमुखी सीता अपना मुँह फेरकर बीचमें तिनकेकी ओट करके राक्षसोंके लिये अमङ्गलसूचक आँसुओंद्वारा अपने पीन एवं उन्नत स्तनोंको निरन्तर भिगोती हुई उस नीच निशाचरसे इस प्रकार बोलीं—॥ १७-१८½॥

असकृद् वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर॥ १९॥
विषादयुक्तमेतत् ते मया श्रुतमभाग्यया।
तद् भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम्॥ २०॥

'राक्षसराज! तुम्हारे मुखसे ऐसी दुःखदायिनी बातें अनेक बार निकली हैं और मुझ अभागिनीको वे सारी बातें बार-बार सुननी पड़ी हैं। भद्रसुख! तुम्हारा भला हो। तुम अपना मन मेरी ओरसे हटा लो॥ १९-२०॥

परदारास्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता।
न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव॥ २१॥

'मैं परायी स्त्री हूँ, पतिव्रता हूँ। तुम कभी किसी तरह मुझे नहीं पा सकते। एक दीन मानवकन्या होनेके कारण मैं तुम-जैसे निशाचरकी भार्या होने योग्य नहीं हूँ ॥ २१ ॥

विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥

'मुझ विवश अबलाको बलपूर्वक अपमानित करके तुम्हें क्या सुख मिलेगा? तुम्हारे पिता ब्राह्मण हैं। ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे ब्रह्माके ही समान हैं ॥ २२ ॥

न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम्।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ॥ २३ ॥
धनेश्वरं व्यपदिशन् कथं त्विह न लज्जसे।

'तुम भी लोकपालोंके समान हो, फिर धर्मका पालन क्यों नहीं करते? महेश्वरके सखा राजराज धनाध्यक्ष प्रभु कुबेरको अपना भाई बता रहे हो, तो भी यहाँ ऐसा बर्ताव करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती?' ॥ २३½ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् सीता कम्पयन्ती पयोधरौ ॥ २४ ॥
शिरोधरां च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा।

ऐसा कहकर तन्वङ्गी सीता अपनी गर्दन और मुखको कपड़ेसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं। उस समय छाती धड़कनेके कारण उनके स्तन काँप रहे थे ॥ २४½ ॥

तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ॥ २५ ॥
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि।

अच्छी तरह रोती हुई भामिनी सीताके मस्तकपर बँधी हुई स्निग्ध, असित एवं विशाल वेणी काली नागिनके समान दिखायी देती थी ॥ २५½ ॥

श्रुत्वा तद् रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम् ॥ २६॥
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
काममङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ॥ २७ ॥
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम्।

सीताके मुखसे यह अत्यन्त निष्ठुर वचन सुनकर और उनके द्वारा कोरा उत्तर पाकर भी दुर्बुद्धि रावण पुनः इस प्रकार कहने लगा—'सीते! भले ही कामदेव मेरे शरीरको पीड़ा देता रहे, परंतु मैं तुम-जैसी मनोहर मुसकानवाली सुन्दरी युवतीको राजी किये बिना तुम्हारे साथ समागम नहीं करूँगा ॥ २६-२७½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमद्यापि मानुषम् ॥ २८ ॥
आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ॥ २९ ॥

'तुम आज भी उस मनुष्य रामके प्रति ही जो हम लोगोंका आहार है, अनुराग दिखाती जा रही हो; ऐसी दशामें मैं क्या कर सकता हूँ?' ॥ २८-२९ ॥

इत्युक्त्वा तामनिन्द्याङ्गीं स राक्षसमहेश्वरः।
तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ॥ ३० ॥

अनिन्द्य अङ्गोंवाली सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान हो अभीष्ट दिशाकी ओर चल दिया ॥ ३० ॥

राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत् तदा ॥ ३१ ॥

इधर शोकसे दुबली हुई सीता राक्षसियोंसे घिरकर त्रिजटासे सुसेवित हो अशोकवाटिकामें ही रहने लगी ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवादे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सीतारावणसंवादविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सुग्रीवपर कोप, सुग्रीवका सीताकी खोजमें वानरोंका भेजना तथा श्रीहनुमान्‌जीका लौटकर अपनी लङ्कायात्राका वृत्तान्त निवेदन करना

मार्कण्डेय उवाच

राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इधर श्रीराम और लक्ष्मण सुग्रीवसे सुरक्षित हो माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभाग-पर रहने लगे। कुछ कालके अनन्तर जब वर्षाऋतु बीत गयी, तब उन्हें आकाश निर्मल दिखायी दिया ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम्।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥
कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥

शरद्ऋतुके निर्मल आकाशमें ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं-सहित विमल चन्द्रमाका दर्शन करके शत्रुसंहारक श्रीराम अभी पर्वतपर सोये ही थे कि कुमुद, उत्पल और पद्मोंकी सुगन्ध लेकर बहती हुई शीतल एवं सुखद वायुने उन्हें सहसा जगा दिया ॥ २-३ ॥

प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

धर्मात्मा श्रीरामको प्रातःकाल राक्षसके भवनमें कैद हुई

सीताजीका रावणको फटकारना

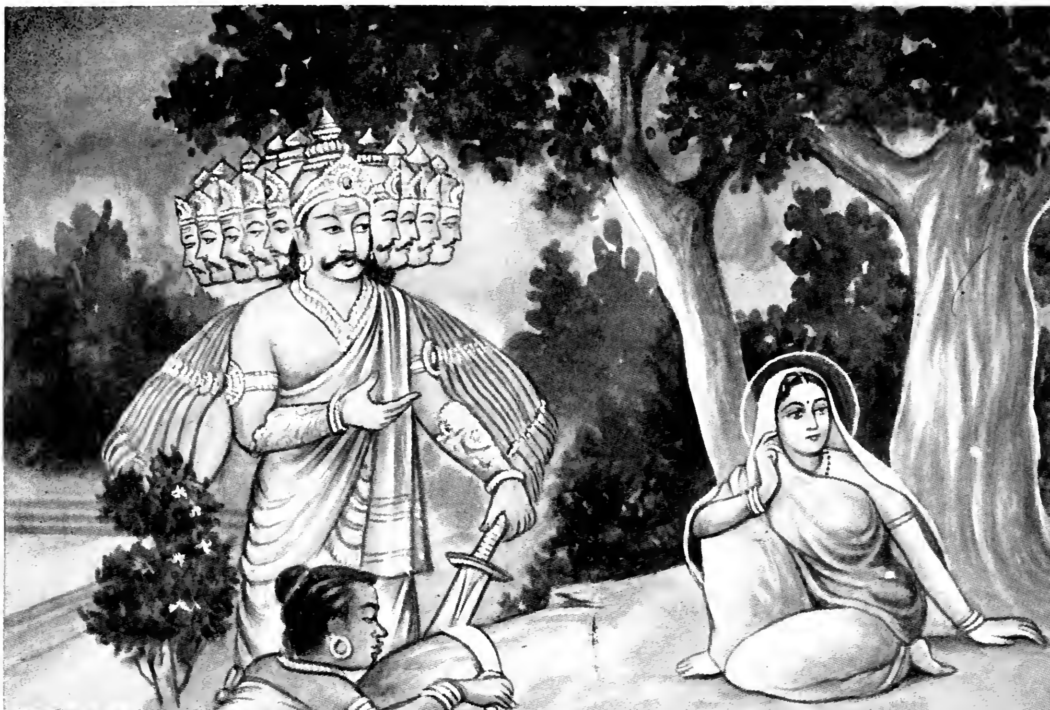

हनुमान्‌जीकी श्रीसीताजीसे भेंट

अपनी पत्नी सीताका स्मरण हो आया और वे खिन्नचित्त होकर वीरवर लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम्।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम्॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! जाओ और पता लगाओ कि किष्किन्धामें वानरराज सुग्रीव क्या कर रहा है ? जान पड़ता है, स्वार्थ-साधनकी कलामें पण्डित कृतघ्न सुग्रीव विषयभोगोंमें आसक्त हो अपने कर्तव्यको भूल गया है ॥ ५ ॥

योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै॥ ६ ॥

'उस वानरकुलकलंक मूर्खको मैंने ही राज्यपर अभिषिक्त किया है। इसके कारण सम्पूर्ण वानर, लंगूर तथा रीछ उसकी सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह।
त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा॥ ७ ॥

'रघुकुलतिलक महाबाहु लक्ष्मण ! इसी सुग्रीवके लिये उन दिनों मैंने तुम्हारे साथ किष्किन्धाके उद्यानमें जाकर वालीका वध किया था ॥ ७ ॥

कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण॥ ८ ॥

'सुमित्रानन्दन ! मैं तो उस नीच वानरको इस भूतलपर कृतघ्न मानता हूँ, क्योंकि वह मूर्ख इस अवस्थामें पहुँचकर मुझे भूल गया है ॥ ८ ॥

असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम्।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया॥ ९ ॥

'मैं तो समझता हूँ, वह अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करना नहीं जानता और अपनी मन्दबुद्धिके कारण मुझ उपकारीकी भी वह निश्चय ही अवहेलना कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया॥ १० ॥

'यदि वह विषयसुखमें ही आसक्त हो सीताकी खोजके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो, तो उसे भी तुम वालीके मार्गसे उसी लोकको पहुँचा देना, जहाँ एक-न-एक दिन सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है ॥ १० ॥

अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुङ्गवः।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान् भव माचिरम्॥ ११ ॥

लक्ष्मण ! यदि वानरराज हमारे कार्यके लिये कुछ चेष्टा कर रहा हो, तो उसे साथ लेकर तुरंत लौट आना, देर न लगाना' ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः॥ १२ ॥

भाईके ऐसा कहनेपर गुरुजनोंकी आज्ञाके पालन तथा हिताचरणमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण बाण और प्रत्यञ्चा-सहित सुन्दर धनुष हाथमें लेकर वहाँसे चल दिये ॥ १२ ॥

किष्किन्धाद्वारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः॥ १३ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर पहुँचकर वे बेरोक-टोक भीतर घुस गये। लक्ष्मण क्रोधमें भरे हुए आ रहे हैं, यह जानकर राजा सुग्रीव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आया ॥ १३ ॥

तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया॥ १४ ॥
तमब्रवीद् रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः।

पत्नीसहित वानरराज सुग्रीव विनीतभावसे लक्ष्मणजीकी पूजा करके उन्हें साथ लिवा ले गये। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उस पूजा (आदर-सत्कार) से प्रसन्न हो उनसे श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १४½ ॥

स तत् सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः॥ १५ ॥
सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम्॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! वह सब कुछ पूरा-पूरा सुनकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए भार्या तथा सेवकोंसहित वानरराज सुग्रीवने नरश्रेष्ठ लक्ष्मणसे सहर्ष निवेदन किया—॥ १५-१६ ॥

नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाकृतज्ञो न निर्घृणः।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः॥ १७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं न तो दुर्बुद्धि हूँ, न अकृतज्ञ हूँ और न निर्दय ही हूँ। मैंने सीताकी खोजके लिये जो प्रयत्न किया है, उसे सुनिये ॥ १७ ॥

दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनागमनं पुनः॥ १८॥

'मैंने सब दिशाओंमें सभी विनयशील वानरोंको भेज दिया है और उन सबके लिये एक महीनेके अंदर ही लौट आनेका समय निश्चित कर दिया है ॥ १८ ॥

यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा॥ १९॥

'वीर ! वे सब लोग वन, पर्वत, पुर, ग्राम, नगर तथा आकरोंसहित समुद्रवसना इस सारी पृथ्वीपर सीताकी खोज करेंगे ॥ १९ ॥

स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत् प्रियम्॥ २०॥

'वह एक मास, जिसके समाप्त होनेतक वानरोंको लौट आना है, पाँच रातमें पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् आप रामचन्द्रजीके साथ सीताका अत्यन्त प्रिय समाचार सुनेंगे' ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत्॥ २१॥

बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके ऐसा कहनेपर उदार हृदयवाले लक्ष्मणने रोष त्यागकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २१ ॥

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम्।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत्॥ २२॥

तत्पश्चात् वे सुग्रीवको साथ लेकर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके पास गये। वहाँ उन्होंने बताया कि सीताका अनुसंधानकार्य आरम्भ हो गया है ॥ २२ ॥

इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः।
दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः॥ २३॥

इसके बाद मास पूर्ण होनेपर तीन दिशाओंकी खोज करके सहस्रों वानरप्रमुख वहाँ आये। केवल वे ही नहीं आये, जो दक्षिण दिशामें पता लगाने गये थे ॥ २३ ॥

आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम्।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा॥ २४॥

आये हुए वानरोंने श्रीरामचन्द्रजीसे बताया कि समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वी हमने देख डाली, परंतु कहीं भी सीता अथवा रावणका दर्शन नहीं हुआ ॥ २४ ॥

गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत्॥ २५॥

जो प्रमुख वानर दक्षिण दिशाकी ओर गये थे, उन्हींसे सीताका वास्तविक समाचार मिलनेकी आशा बँधी हुई थी, इसीलिये व्यथित होनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी अपने प्राणोंको धारण किये रहे ॥ २५ ॥

द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन्॥ २६॥

दो मास व्यतीत हो जानेपर कुछ वानर बड़ी उतावलीके साथ सुग्रीवके पास आये और इस प्रकार कहने लगे—॥२६॥

रक्षितं वालिना यत् तत् स्फीतं मधुवनं महत्।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद् भुङ्क्ते पवनात्मजः॥ २७॥

'वानरराज ! वालीने तथा आपने भी जिस समृद्धिशाली महान् मधुवनकी रक्षा की थी, उसे पवननन्दन हनुमान्‌जी (राजाज्ञाके बिना ही) अपने उपभोगमें ला रहे हैं ॥ २७ ॥

वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन् प्रस्थापितास्त्वया॥ २८॥

'राजन् ! उनके साथ वालिपुत्र अङ्गद तथा अन्य सभी श्रेष्ठ वानर इस काममें भाग ले रहे हैं, जिन्हें आपने दक्षिण दिशामें सीताजीकी खोजके लिये भेजा था' ॥ २८ ॥

तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम्।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद् भवति चेष्टितम्॥ २९॥

उन वानरोंके अनुचित बर्तावका समाचार सुनकर सुग्रीवको यह विश्वास हो गया कि वे सब काम पूरा करके लौटे हैं; क्योंकि ऐसी धृष्टतापूर्ण चेष्टा उन्हीं सेवकोंकी होती है, जो अपने कार्यमें सफल हो जाते हैं ॥ २९ ॥

स तद् रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः।
रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम्॥ ३०॥

बुद्धिमान् वानरप्रवर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना निश्चय बताया। श्रीरामचन्द्रजीने भी अनुमानसे यह मान लिया कि उन वानरोंने अवश्य ही मिथिलेशकुमारी सीताका दर्शन किया होगा ॥ ३० ॥

हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवङ्गमाः।
अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं रामलक्ष्मणसंनिधौ॥ ३१॥

हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर विश्राम कर लेनेके पश्चात् श्रीराम और लक्ष्मणके समीप बैठे हुए उस वानरराज सुग्रीवके पास गये ॥ ३१ ॥

गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः।
अगमत् प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत॥ ३२॥

युधिष्ठिर ! हनुमान्‌जीकी चाल-ढाल और मुखकी कान्ति

देखकर श्रीरामचन्द्रजीको यह विश्वास हो गया कि इन्होंने सीताको देखा है ॥ ३२ ॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद् रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३३ ॥

सफलमनोरथ हुए हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंने श्रीराम, सुग्रीव तथा लक्ष्मणको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ३३॥

तानुवाचानतान् रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष-बाण लेकर उन प्रणाम करते हुए वानरोंसे पूछा—'क्या तुम लोग सीताका अमृतमय समाचार सुनाकर मुझे जीवनदान दोगे ? क्या तुमलोगोंको अपने कार्यमें सफलता मिली है ? ॥ ३४ ॥

अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥

'क्या मैं युद्धमें शत्रुओंको मारकर जनकनन्दिनी सीताको साथ ले पुनः अयोध्यामें रहकर राज्य करूँगा ? ॥ ३५ ॥

अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताको बिना छुड़ाये तथा समरभूमिमें शत्रुओंका बिना संहार किये पत्नीको खोकर और अवधूत बनकर मैं जीवित नहीं रह सकता' ॥ ३६ ॥

इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वायुपुत्र हनुमान्जीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीराम ! मैं आपको प्रिय समाचार सुना रहा हूँ । मैंने जनकनन्दिनी सीताका दर्शन किया है ॥ ३७ ॥

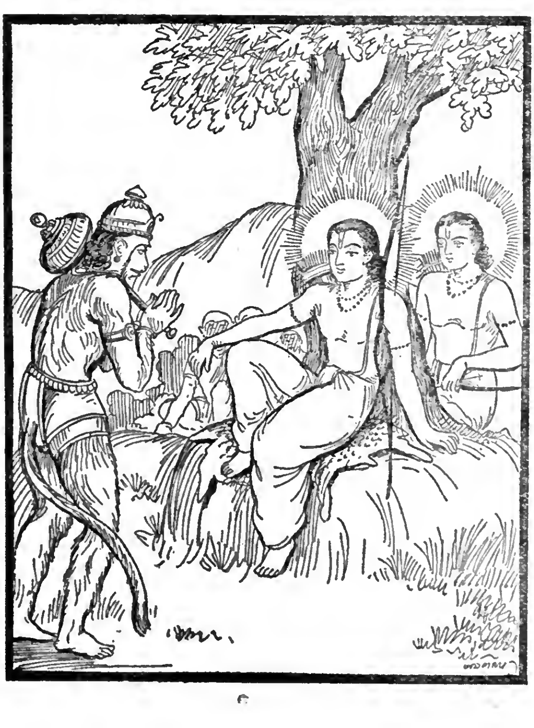

विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ॥ ३८ ॥

'पर्वत, वन तथा आकरोंसहित सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें श्रीसीताजीका अनुसंधान करके जब हमलोग थक गये और यहाँ लौटनेका समय व्यतीत हो गया, तब हमें एक बहुत बड़ी गुफा दिखायी दी ॥ ३८ ॥

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
सान्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ॥ ४० ॥

'वह कई योजन लंबी थी । उसमें अन्धकार भरा हुआ था । उसके भीतर घने जंगल थे । उस गहन गुफामें बहुत-से कीड़े रहा करते थे । उसमें प्रवेश करके हमने बहुत दूरतकका रास्ता पार कर लिया । तत्पश्चात् सूर्यके प्रकाशका दर्शन हुआ । उसी गुफाके अंदर एक दिव्य भवन शोभा पा रहा था ॥ ३९-४० ॥

मयस्य किल दैत्यस्य तदासीद् वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥

'रघुनन्दन ! वह सुन्दर भवन दैत्यराज मयका निवास-स्थान बताया जाता है । उसमें प्रभावती नामकी एक तपस्विनी तप कर रही थी ॥ ४१ ॥

तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥
निर्याय तस्मादुद्देशात् पश्यामो लवणाम्भसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४३ ॥

'उसने हमें अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ तथा भाँति-भाँतिके पीने योग्य रस दिये । उन्हें खाकर हमें नूतन बल प्राप्त हुआ । फिर उसीके बताये हुए मार्गसे जब हम गुफासे बाहर निकले, तब हमें लवणसमुद्रके निकटवर्ती सह्य, मलय और दर्दुर नामक महान् पर्वत दिखायी दिये ॥ ४२-४३ ॥

ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम् ॥ ४४ ॥

'फिर हमलोग मलयाचलपर चढ़कर समुद्रकी ओर देखने लगे । उसकी विशालता देखकर हमारा हृदय विषादसे भर गया । हम खिन्न और व्यथित हो गये । हमें जीवनकी कोई आशा न रही ॥ ४४ ॥

अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥

'उस महासागरका विस्तार कई सौ योजनोंमें था। उसमें तिमि, मगर और बड़े-बड़े मत्स्य निवास करते थे। उसके इस स्वरूपका स्मरण करके हम सब लोग बहुत दुखी हो गये ॥ ४५ ॥

तत्रानशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा।
ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत् कथा ॥ ४६ ॥

'अन्तमें अनशन करके प्राण त्याग देनेका संकल्प लेकर हम सब लोग वहाँ बैठ गये। फिर आपसमें बातचीत होने लगी और बीचमें जटायुका प्रसंग छिड़ गया ॥ ४६ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम्।
पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम् ॥ ४७ ॥

'इतनेमें ही हमने दूसरे गरुड़की भाँति एक भयंकर पक्षीको देखा, जो पर्वतशिखरके समान जान पड़ता था। उसका स्वरूप बड़ा डरावना था ॥ ४७ ॥

सोऽस्मानतर्कयद् भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥
सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः।
अन्योन्यस्पर्धयारूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥

'वह पक्षी हमें खा जानेकी युक्ति सोचने लगा। फिर हमारे पास आकर बोला—'अजी! कौन मेरे भाई जटायुकी बात कर रहा था। मैं उसका बड़ा भाई पक्षिराज सम्पाति हूँ। हम दोनों एक दूसरेसे होड़ लगाकर आकाशमें सूर्यमण्डलतक पहुँचनेके लिये उड़े थे ॥ ४८-४९ ॥

ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन् महागिरौ।

'इससे मेरी ये दोनों पाँखें जल गयीं; परंतु जटायुके पंख नहीं जले। तबसे दीर्घकाल व्यतीत हो गया। उन्हीं दिनों मैंने अपने प्रिय भाई गृध्रराज जटायुको देखा था। पंख जल जानेसे मैं इसी महान् पर्वतपर गिर पड़ा' ॥ ५०½ ॥

तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद् वै निवेदितम्।

'सम्पाति जब इस तरहकी बातें कह रहा था, उस समय हमलोगोंने बताया कि जटायु मारे गये। साथ ही हमने संक्षेपसे आपके ऊपर आये हुए इस संकटका समाचार भी निवेदन कर दिया ॥ ५१½ ॥

स सम्पातिस्तदा राजञ्छ्रुत्वा सुमहदप्रियम् ॥ ५२ ॥
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः।

'राजन्! यह अत्यन्त अप्रिय वृत्तान्त सुनकर उस सम्पातिके मनमें बड़ा खेद हुआ। शत्रुदमन! उसने पुनः हमलोगोंसे पूछा—'श्रेष्ठ वानरगण! वे श्रीराम कौन हैं, सीता कैसी है और जटायु किस प्रकार मारे गये? ये सब बातें मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ५२-५३½ ॥

तस्याहं सर्वमेवैतद् भवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम्।

'तब मैंने सम्पातिके समक्ष आपपर संकट आनेका यह सारा वृत्तान्त और अपने आमरण अनशनका कारण विस्तारपूर्वक बताया ॥ ५४½ ॥

सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥
रावणो विदितो मह्यं लङ्का चास्य महापुरी।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे ॥ ५६ ॥
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा।

'तब पक्षिराज सम्पातिने अपने निम्नाङ्कित वचनद्वारा हमें उत्साहित करके उठाया। 'वानरो! मैं रावणको जानता हूँ। उसकी महापुरी लङ्का भी मैंने देखी है। वह समुद्रके उस पार त्रिकूटगिरिकी कन्दरामें बसी है। विदेहकुमारी सीता अवश्य वहीं होंगी, इस विषयमें मुझे कोई अन्यथा विचार नहीं हो रहा है' ॥ ५५-५६½ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ॥ ५७ ॥
सागरक्रमणे मन्त्रं मन्त्रयामः परंतप।

'परंतप! उसकी यह बात सुनकर हमलोग तुरंत उठे और समुद्र पार करनेके विषयमें परस्पर सलाह करने लगे ॥ ५७½ ॥

नाध्यवास्यद् यदा कश्चित् सागरस्य विलङ्घनम् ॥ ५८ ॥
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम्।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥ ५९ ॥

'जब कोई भी समुद्रको लाँघनेका साहस न कर सका, तब मैं अपने पिता वायुके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर वह सौ योजन विस्तृत महासागर लाँघ गया। उस समय समुद्रके जलमें एक राक्षसी रहती थी, जिसे अपने मार्गमें विघ्न डालनेपर मैंने मार डाला था ॥ ५८-५९ ॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥

लङ्कामें पहुँचकर रावणके अन्तःपुरमें मैंने सती सीताका दर्शन किया, जो अपने पतिदेवताके दर्शनकी लालसासे निरन्तर उपवास और तपस्या किया करती हैं ॥ ६० ॥

जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥

उपसृत्याब्रुवं चार्यामभिगम्य रहोगताम्।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥

'उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये थे। अङ्ग-अङ्गमें मैल जम गयी थी। वे दीन, दुर्बल और तपस्विनी दिखायी देती थीं। कई भिन्न-भिन्न कारणोंसे उन्हें आर्या सीताके रूपमें पहचानकर मैं एकान्तमें उनके निकट गया और इस प्रकार बोला—'देवि सीते! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत पवनपुत्र हनुमान् नामक वानर हूँ॥ ६१-६२॥

त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा।
राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६३ ॥

'आपके दर्शनके लिये मैं आकाशमार्गसे यहाँ आया हूँ। दोनों भाई राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कुशलसे हैं॥६३॥

सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ।
कुशलं त्वाब्रवीद् रामः सीते सौमित्रिणा सह॥ ६४ ॥

'सम्पूर्ण वानरोंके अधीश्वर सुग्रीव इस समय उनकी रक्षामें तत्पर हैं। देवि! सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीरामने आपको अपने सकुशल होनेका समाचार कहलाया है॥ ६४॥

सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ॥ ६५ ॥
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः।

'उनके मित्र होनेके नाते सुग्रीव भी आपका कुशल-मङ्गल पूछते हैं। आपके स्वामी भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण वानरोंकी सेनाके साथ शीघ्र यहाँ पधारेंगे। देवि! मेरा विश्वास कीजिये। मैं राक्षस नहीं, वानर हूँ' ॥६५½॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम्।
अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसम्मतः ॥ ६७ ॥

'तदनन्तर सीताने दो घड़ीतक कुछ सोचकर मुझसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! मैं अविन्ध्यके कहनेसे यह विश्वास करती हूँ कि तुम हनुमान् हो। अविन्ध्य राक्षसकुलमें उत्पन्न होते हुए भी वृद्ध एवं आदरणीय हैं॥ ६६-६७॥

कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम्॥६८॥
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता।
प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ॥ ६९ ॥

'उन्होंने ही तुम्हारे-जैसे मन्त्रियोंसे युक्त सुग्रीवका परिचय दिया है। वत्स! अब तुम भगवान् श्रीरामके पास जाओ। ऐसा कहकर सती साध्वी सीताने अपनी पहचानके लिये यह एक मणि दी, जिसको धारण करके वे अबतक अपने प्राणोंकी रक्षा करती आयी हैं। जानकीने विश्वास दिलानेके लिये यह एक कथा भी सुनायी थी—॥ ६८-६९॥

क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ७० ॥
(एकाक्षिविकलः काकः सुदुष्टात्मा कृतश्च वै।)

'पुरुषसिंह! उस कथाका मुख्य विषय यह है कि आपने महापर्वत चित्रकूटपर रहते समय किसी कौएके ऊपर एक सींकका बाण चलाया था और उस दुष्टात्मा कौएको एक आँखसे वञ्चित कर दिया था। यह प्रसङ्ग उन्होंने केवल अपनी पहचान करानेके उद्देश्यसे प्रस्तुत किया था॥ ७०॥

ग्राहयित्वाहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम्।
सम्प्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥

'तदनन्तर मैंने जान-बूझकर अपने आपको राक्षसोंद्वारा पकड़वा दिया और लङ्कापुरीको जलाकर समुद्रके इस पार आ पहुँचा।' यह सब समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रियवादी हनुमान्का अत्यन्त आदर-सत्कार किया॥ ७१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनुमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें हनुमान्जीके लङ्कासे लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानर-सेनाका संगठन, सेतुका निर्माण, विभीषणका अभिषेक और लङ्काकी सीमामें सेनाका प्रवेश तथा अङ्गदको रावणके पास दूत बनाकर भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात् तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार बड़े-बड़े वानरवीर माल्यवान् पर्वतपर लक्ष्मण आदिके साथ बैठे हुए भगवान् श्रीरामके पास पहुँचने लगे॥

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्।
श्वशुरो वालिनःश्रीमान् सुषेणो राममभ्ययात्॥ २ ॥

सबसे पहले वालीके श्वशुर श्रीमान् सुषेण श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें उपस्थित हुए। उनके साथ वेगशाली वानरोंकी सहस्र कोटि (दस अरब) सेना थी ॥ २ ॥

कोटीशतवृतौ वापि गजो गवय एव च।
वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक् पृथगदृश्यताम्॥ ३ ॥

फिर महापराक्रमी वानरराज 'गज' और 'गवय' पृथक्-पृथक् एक-एक अरब सेनाके साथ आते दिखायी दिये ॥३॥

षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन् प्रत्यदृश्यत।
गोलाङ्गूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः॥ ४ ॥

महाराज ! गोलांगूल (लंगूर) जातिका वानर गवाक्ष, जो देखनेमें बड़ा भयंकर था, साठ सहस्र कोटि (छः खरब) वानर-सेना साथ लिये दृष्टिगोचर हुआ ॥ ४ ॥

गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत॥ ५ ॥

गन्धमादन पर्वतपर रहनेवाला गन्धमादन नामसे विख्यात वानर वानरोंकी दस खरब सेना साथ लेकर आया ॥ ५ ॥

पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत् पञ्च प्रकर्षति॥ ६ ॥

पनस नामक बुद्धिमान् तथा महाबली वानर सत्तावन करोड़ सेना साथ लेकर आया ॥ ६ ॥

श्रीमान् दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान्।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम्॥ ७ ॥

वानरोंमें वृद्ध तथा अत्यन्त पराक्रमी श्रीमान् दधिमुख भयंकर तेजसे सम्पन्न वानरोंकी विशाल सेना साथ लेकर आये ॥ ७ ॥

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम्।
कोटीशतसहस्रेण जाम्बवान् प्रत्यदृश्यत॥ ८ ॥

जिनके मुख (ललाट) पर तिलकका चिह्न शोभा पा रहा था तथा जो भयंकर पराक्रम करनेवाले थे, ऐसे काले रंगके शतकोटि सहस्र (दस खरब) रीछोंकी सेनाके साथ वहाँ जाम्बवान् दिखायी दिये ॥ ८ ॥

एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात्॥ ९ ॥

महाराज ! ये तथा और भी बहुत-से वानरयूथपतियोंके भी यूथपति, जिनकी कोई संख्या नहीं थी, श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे वहाँ एकत्र हुए ॥ ९ ॥

गिरिकूटनिभाङ्गानां सिंहानामिव गर्जताम्।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम्॥ १० ॥

उनके अङ्ग पर्वतोंके शिखरके सदृश जान पड़ते थे। वे सब-के-सब सिंहोंके समान गरजते और इधर-उधर दौड़ते थे। उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १० ॥

गिरिकूटनिभाः केचित् केचिन्महिषसंनिभाः।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिङ्गुलकाननाः॥ ११ ॥

कोई पर्वत-शिखरके समान ऊँचे थे, तो कोई भैंसोंके सदृश मोटे और काले। कितने ही वानर शरद् ऋतुके बादलोंकी तरह सफेद दिखायी देते थे, कितनोंके ही मुख सिन्दूरके समान लाल रंगके थे ॥ ११ ॥

उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः।
उद्धुन्वन्तोऽपरे रेणून् समाजग्मुः समन्ततः॥ १२ ॥

वे वानर सैनिक उछलते, गिरते-पड़ते, कूदते-फाँदते और धूल उड़ाते हुए चारों ओरसे एकत्र हो रहे थे ॥ १२ ॥

स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसंनिभः।
निवेशमकरोत् तत्र सुग्रीवानुमते तदा॥ १३ ॥

वानरोंकी वह विशाल सेना भरे-पूरे महासागरके समान दिखायी देती थी। सुग्रीवकी आज्ञासे उस समय माल्यवान् पर्वतके आस-पास ही उस समस्त सेनाका पड़ाव पड़ गया ॥ १३ ॥

ततस्तेषु हरीन्द्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाभिपूजिते॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव।
प्रययौ राघवः श्रीमान् सुग्रीवसहितस्तदा॥ १५ ॥

तदनन्तर उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंके सब ओरसे एकत्र हो जानेपर सुग्रीवसहित भगवान् श्रीरामने एक दिन शुभ तिथि, उत्तम नक्षत्र और शुभ मुहूर्तमें युद्धके लिये प्रस्थान किया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे उस व्यूह-रचनायुक्त सेनाके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करने जा रहे हैं ॥ १४-१५ ॥

मुखमासीत् तु सैन्यस्य हनूमान् मारुतात्मजः।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः॥ १६ ॥

उस सेनाके मुहानेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जी विद्यमान थे। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण उसके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ १६ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव॥ १७ ॥

दोनों रघुवंशी वीर श्रीराम और लक्ष्मण हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहने हुए थे। वे ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वानरजातीय मन्त्रियोंके बीचमें होकर चल रहे थे ॥ १७ ॥

**प्रबभौ हरिसैन्यं तत् सालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ॥ १८ ॥**

श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख साल, ताल और शिलारूपी आयुध लिये वे समस्त वानर सैनिक सूर्योदयके समय पके हुए धानके विशाल खेतोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

**नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥**

नल, नील, अङ्गद, क्राथ, मैन्द तथा द्विविदके द्वारा सुरक्षित हुई वह विशाल वानरसेना श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये आगे बढ़ती चली जा रही थी ॥ १९ ॥

**विविधेषु प्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमूलेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥ २० ॥
निवसन्ती निराबाधा मयैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥**

जहाँ फल-मूलकी बहुतायत होती, मधु और कन्द-मूल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते तथा जलकी अधिक सुविधा होती, ऐसे कल्याणकारी और उत्तम विविध पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालती हुई वह वानरसेना बिना किसी विघ्न-बाधाके खारे पानीवाले समुद्रके निकट जा पहुँची ॥ २०-२१ ॥

**द्वितीयसागरनिभं तद् बलं बहुलध्वजम् ।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत् तदा ॥ २२ ॥**

असंख्य ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित वह विशाल वाहिनी दूसरे महासागरके समान जान पड़ती थी। सागरके तटवर्ती वनमें पहुँचकर उसने अपना पड़ाव डाला ॥ २२ ॥

**ततो दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥**

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वानरोंके बीचमें बैठे हुए दशरथ-नन्दन भगवान् श्रीरामने सुग्रीवसे यह समयोचित बात कही—॥ २३ ॥

**उपायः को नु भवतां मतः सागरलङ्घने ।
इयं हि महती सेना सागरश्चातिदुस्तरः ॥ २४ ॥**

'मित्रो ! हमारी यह सेना बहुत बड़ी है और सामने अत्यन्त दुस्तर महासागर लहरें ले रहा है । ऐसी दशामें आपलोग समुद्रके पार जानेके लिये कौन-सा उपाय ठीक समझते हैं ?' ॥ २४ ॥

**तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानरा बहुमानिनः ।
समर्था लङ्घने सिन्धोर्न तु तत् कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥**

तब वहाँ बहुत-से दूसरे-दूसरे वानर, जो बड़े अभिमानी थे, कहने लगे—'हम तो समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हैं 'परंतु सब नहीं लाँघ सकते' ॥ २५ ॥

**केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामस्तु तान् सर्वान् सान्त्वयन् प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥**

कुछ वानर बड़ी-बड़ी नावोंके द्वारा समुद्रके पार जानेका निश्चय प्रकट करने लगे। कुछने नाव-डोंगी आदि विविध साधनोंद्वारा पार जानेकी बात बतायी। परंतु श्रीरामचन्द्र-जीने उनकी यह सलाह माननेसे इन्कार कर दिया और सबको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६ ॥

**शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥**

'वीरो ! सभी वानरोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ सकें; अतः तुम लोगोंका यह निर्णय सर्वमान्य सिद्धान्तके रूपमें ग्राह्य नहीं है ॥ २७ ॥

**नावो न सन्ति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥**

'इतनी बड़ी सेनाको पार उतारनेके लिये हमलोगोंके पास अधिक नौकाएँ भी नहीं हैं। (यदि कहें, व्यापारियोंके जहाजोंसे काम लिया जाय, तो) मेरे-जैसा पुरुष अपने स्वार्थके लिये व्यापारियोंके व्यवसायको हानि कैसे पहुँचा सकता है ? ॥

**विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते ॥ २९ ॥**

'इसके सिवा नौका आदिसे यात्रा करनेपर हमारी सेना छिट-फुट होकर बहुत दूरतक फैल जायगी। उस दशामें अवसर पाकर शत्रु इसका नाश भी कर सकता है। इसीलिये डोंगी और नाव आदिपर बैठकर पार उतरनेकी बात मुझे ठीक नहीं जँचती है ॥ २९ ॥

**अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन् दर्शयिष्यति मां ततः ॥ ३० ॥**

'मैं तो किसी उपायसे इस समुद्रकी ही आराधना आरम्भ करूँगा। इसके तटपर अन्न-जल छोड़कर धरना दूँगा। इससे यह अवश्य मुझे दर्शन देगा तथा कोई मार्ग दिखायेगा ॥ ३० ॥

**न चेद् दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥**

'यदि यह स्वयं प्रकट होकर कोई मार्ग नहीं दिखायेगा, तो मैं अग्नि और वायुसे भी अधिक तेजस्वी तथा कभी न चूकनेवाले महान् दिव्यास्त्रोंद्वारा इसे जलाकर भस्म कर डालूँगा' ॥ ३१ ॥

**इत्युक्त्वा सह सौमित्रिरुपस्पृश्याथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत् कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥**

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने आचमन करके समुद्रके तटपर कुशकी चटाई बिछाकर उसपर लेटकर विधिपूर्वक धरना दे दिया ॥ ३२ ॥

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम्।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान् यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥

तब नदों और नदियोंके स्वामी श्रीमान् समुद्रदेवने जल-जन्तुओंके साथ प्रकट होकर स्वप्नमें श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ ३३ ॥

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥

वह सैकड़ों रत्नके आकरोंसे घिरा हुआ था। उसने 'कौसल्यानन्दन' कहकर श्रीरामको सम्बोधित किया और मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ३४ ॥

ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! कहो, मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? सगरपुत्रोंसे संवर्धित होनेके कारण मैं भी इक्ष्वाकुवंशीय तथा तुम्हारा भाई-बन्धु हूँ।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा—॥

मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥

'नद-नदीश्वर ! मैं अपनी सेनाके लिये तुम्हारे द्वारा दिया हुआ मार्ग चाहता हूँ, जिससे जाकर पुलस्त्यकुलाङ्गार दशमुख रावणको मार सकूँ ॥ ३६ ॥

यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान्।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ ३७ ॥

'यदि इस प्रकार याचना करनेपर तुम मुझे मार्ग न दोगे, तो मैं दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा तुम्हें सुखा दूँगा॥

इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर वरुणालय समुद्र व्यथित हो उठा और खड़े हुए हाथ जोड़कर बोला—॥ ३८ ॥

नेच्छामि प्रतिघातं ते नास्मि विघ्नकरस्तव।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥

'श्रीराम ! मैं तुम्हारा सामना करना नहीं चाहता और न मैं तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेकी ही इच्छा रखता हूँ। मेरी यह बात सुनो और सुनकर जो कर्तव्य हो, उसे करो ॥ ३९ ॥

यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥

'यदि मैं इस समय तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें और लङ्का जाती हुई तुम्हारी सेनाको मार्ग दे दूँगा, तो दूसरे लोग भी इसी प्रकार धनुषके बलसे मुझपर हुक्म चलाया करेंगे ॥ ४० ॥

अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसम्मतः।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥

'तुम्हारी सेनामें एक नल नामक वानर है, जो शिल्पियोंके लिये भी आदरणीय है। बलवान् नल देवशिल्पी विश्वकर्माका पुत्र है ॥ ४१ ॥

स यत् काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि।
सर्वं तद् धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥

'वह अपने हाथसे उठाकर जो भी काठ, तिनका या पत्थर मेरे भीतर डाल देगा, वह सब मैं जलके ऊपर धारण किये रहूँगा। वही तुम्हारे लिये पुल हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् रामो नलमुवाच ह।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥

ऐसा कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया। तत्पश्चात् श्रीरामने उठकर नलसे कहा—'तुम समुद्रपर एक पुल तैयार करो। मैं जानता हूँ, तुममें यह कार्य करनेकी शक्ति है' ॥ ४३ ॥

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत्।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥

उसी उपायसे रघुनाथजीने समुद्रपर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा पुल तैयार कराया ॥ ४४ ॥

नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः ॥ ४५ ॥

वह आज भी भूमण्डलमें 'नलसेतु' के नामसे विख्यात है। श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर समुद्रने उस पर्वताकार पुलको अपने ऊपर धारण किया ॥ ४५ ॥

तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद् विभीषणः।
भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अभी समुद्रके किनारे ही थे कि राक्षस-राज रावणके भाई धर्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ४६ ॥

प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः ।
सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत् प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७॥

महामना श्रीरामने स्वागतपूर्वक उन्हें अपनाया । उस समय सुग्रीवके मनमें यह शङ्का हुई कि 'कहीं यह शत्रुका कोई गुप्तचर न हो' ॥ ४७ ॥

राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् च चरितेङ्गितैः ।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥

परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी सत्य चेष्टाओं, उत्तम आचरणों और मुख-नेत्र आदिके संकेतोंसे सूचित होनेवाले मनोभावोंकी सम्यक् समीक्षा करके जब अच्छी तरह संतोष प्राप्त कर लिया, तब विभीषणका बहुत आदर किया ॥ ४८ ॥

सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यषिञ्चद् विभीषणम् ।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥

साथ ही उन्हें समस्त राक्षसोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और लक्ष्मणका सुहृद् तथा अपना सलाहकार बना लिया ॥

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! विभीषणकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीने उसी सेतुद्वारा एक ही महीनेमें सेनासहित महासागरको पार कर लिया ॥ ५० ॥

ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने लङ्काकी सीमामें पहुँचकर वानरोंद्वारा वहाँके बहुत-से बड़े-बड़े उद्यानोंको छिन्न-भिन्न करा दिया ॥

ततस्तौ रावणामात्यौ मन्त्रिणौ शुकसारणौ ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ॥ ५२ ॥

उस सेनामें वानरोंका रूप धारण करके रावणके दो मन्त्री शुक और सारण गुप्तचरका काम करनेके लिये घुस आये थे । विभीषणने उन दोनोंको पहचानकर कैद कर लिया ॥ ५२ ॥

प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥

जब वे दोनों निशाचर अपने राक्षसरूपमें प्रकट हुए, तब श्रीरामने उन्हें अपनी सेनाका दर्शन कराकर छोड़ दिया ॥ ५३ ॥

निवेश्योपवने सैन्यं तत् पुरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

लङ्कापुरीके उपवनमें वानरसेनाको ठहराकर श्रीरघुनाथजीने बुद्धिमान् वानर अङ्गदको दूतके रूपमें रावणके यहाँ भेजा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सेतुबन्धविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अङ्गदका रावणके पास जाकर रामका संदेश सुनाकर लौटना तथा राक्षसों और वानरोंका घोर संग्राम

मार्कण्डेय उवाच

प्रभूतान्नोदके तस्मिन् बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत् पर्यरक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! लङ्काके उस वनमें अन्न और जलका बहुत सुभीता था । फल और मूल प्रचुर मात्रामें उपलब्ध थे; अतः वहीं सेनाकी छावनी डालकर श्रीरामचन्द्रजी विधिपूर्वक उसकी रक्षा करते रहे ॥ १ ॥

रावणः संविधिं चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मिताम् ।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥

इधर रावण लङ्कामें शास्त्रोक्त प्रकारसे बनी हुई युद्ध-सामग्री (मशीनगन आदि) का संग्रह करने लगा । लङ्काकी चहारदीवारी और नगर-द्वार अत्यन्त सुदृढ़ थे, अतः स्वभावसे ही यह दुर्धर्ष थी—किसी भी आक्रमणकारीका वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था ॥ २ ॥

अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शङ्कुभिश्चिताः ॥ ३ ॥

नगरके चारों ओर सात गहरी खाइयाँ थीं, जिनमें अगाध जल भरा रहता था और उनमें मत्स्य-मगर आदि जल-जन्तु निवास करते थे । इन खाइयोंमें सब ओर खैरके खूँटे गड़े हुए थे ॥ ३ ॥

कपाटयन्त्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटायोधाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥

'मजबूत किवाड़ लगे थे और गोला बरसानेवाले यन्त्र (मशीनें) यथास्थान लगे थे । इनके सिवा वहाँ बहुत-से शृङ्ग और गोले जमा किये गये थे । इन सब कारणोंसे इन खाइयोंको पार करना बहुत कठिन था । विषधर सर्पोंके समूह, सैनिक, सर्जरस (लाह) और धूल—इन सबसे संयुक्त और सुरक्षित होनेके कारण भी वे खाइयाँ दुर्गम थीं ॥

मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥

मुसल, अलात (बनैठी), बाण, तोमर, तलवार, फरसे, मोमके मुद्गर तथा तोप आदि अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहके कारण भी वे खाइयाँ दुर्लङ्घ्य थीं ॥ ५ ॥

पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥

नगरके सभी दरवाजोंपर छिपकर बैठनेके लिये बुर्ज बने हुए थे । वे स्थावर गुल्म कहलाते थे और घूम-फिरकर रक्षा करनेवाले जो सैनिक नियुक्त किये गये थे वे जङ्गम गुल्म कहे जाते थे । इनमें अधिकांश पैदल और बहुत-से हाथीसवार तथा घुड़सवार भी थे ॥ ६ ॥

अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥

(श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे) महाबली अङ्गद दूत बनकर लङ्कापुरीके द्वारपर आये । राक्षसराज रावणको उनके आगमनकी सूचना दी गयी । फिर अनुमति मिलनेपर उन्होंने निर्भय होकर पुरीमें प्रवेश किया । अनेक करोड़ राक्षसोंके बीचमें जाते हुए अङ्गद मेघोंकी घटासे घिरे हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७-८ ॥

स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥

मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पास पहुँचकर कुशल वक्ता अङ्गदने रावणको सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीका संदेश इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

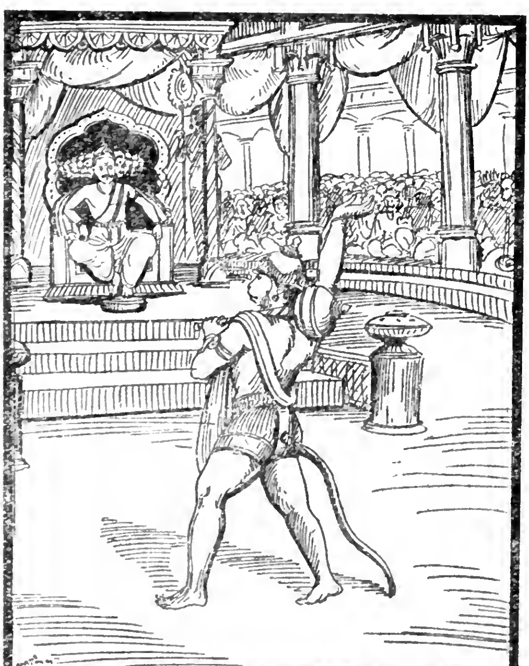

आह त्वां राघवो राजन् कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥

'राजन् ! कोसलदेशके महाराज महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीने तुमसे कहनेके लिये जो समयोचित संदेश भेजा है, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो ॥ १० ॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥

'जो राजा अपने मनको काबूमें न रखकर अन्यायमें तत्पर रहता है; उसका आश्रय लेकर उसके अधीन रहनेवाले नगर और देश भी अनीतिपरायण होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायानपराद्धानामन्येषां तद् भविष्यति ॥ १२ ॥

'सीताका बलपूर्वक अपहरण करके मेरा अपराध तो अकेले तुमने किया है, परंतु इसके कारण अन्य निर्दोष लोग भी मारे जायँगे ॥ १२ ॥

ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हृताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥

'तुमने बल और अहंकारसे उन्मत्त होकर पहले जिन वनवासी ऋषियोंकी हत्या की, देवताओंका अपमान किया, राजर्षियोंके प्राण लिये तथा रोती-बिलखती अबलाओंका भी अपहरण किया था, उन सब अत्याचारोंका फल अब तुम्हें प्राप्त होनेवाला है ॥ १३-१४ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥

'मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा । साहस हो, तो युद्ध करो और पौरुषका परिचय दो । निशाचर ! यद्यपि मैं मनुष्य हूँ; तो भी मेरे धनुषका बल देखना ॥ १५ ॥

मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥

'जनकनन्दिनी सीताको छोड़ दो, अन्यथा कभी मेरे हाथसे जीवित नहीं बचोगे । मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा इस संसारको राक्षसोंसे सूना कर दूँगा' ॥ १६ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दूतके मुखसे ऐसी कठोर बातें सुनकर राजा रावण सहन न कर सका । वह क्रोधसे मूर्छित हो उठा ॥ १७ ॥

इङ्गितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥

तब स्वामीके संकेतको समझनेवाले चार निशाचर अपनी जगहसे उठे और जिस प्रकार पक्षी सिंहको पकड़े, उसी प्रकार वे अङ्गदके चार अङ्गोंको पकड़ने लगे ॥ १८ ॥

तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान् ।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

अङ्गद इस प्रकार अपने अङ्गोंसे सटे हुए उन चारों राक्षसोंको लिये-दिये आकाशमें उछलकर महलकी छतपर जा चढ़े ॥ १९ ॥

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि सम्भिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥

उछलते समय उनके वेगसे छूटकर वे चारों राक्षस पृथ्वीपर जा गिरे । उन राक्षसोंकी छाती फट गयी और अधिक चोट लगनेके कारण उन्हें बड़ी पीड़ा हुई ॥ २० ॥

संसक्तो हर्म्यशिखरात् तस्मात् पुनरवापतत् ।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥

छतपर चढ़े हुए अङ्गद फिर उस महलके कँगूरेसे कूद पड़े और लङ्कापुरीको लाँघकर सुवेलपर्वतके समीप आ पहुँचे ॥ २१ ॥

कोसलेन्द्रमथागम्य सर्वमावेद्य वानरः ।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥

फिर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलकर तेजस्वी वानर अङ्गदने रावणके दरबारकी सारी बातें बतायीं । श्रीरामने अङ्गदकी बड़ी प्रशंसा की फिर वे विश्राम करने लगे ॥ २२ ॥

ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने वायुके समान वेगशाली वानरोंकी सम्पूर्ण सेनाके द्वारा एक साथ लङ्कापर धावा बोल दिया और उसकी चहारदीवारी तुड़वा डाली ॥ २३ ॥

विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद् दुरासदम् ॥ २४ ॥

नगरके दक्षिण द्वारमें प्रवेश करना बहुत कठिन था, परंतु लक्ष्मणने विभीषण और जाम्बवान्‌को आगे करके उसे भी धूलमें मिला दिया ॥ २४ ॥

करभारुणपाण्डूनां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपतत् तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने हथेलीके समान श्वेत और लाल रंगके युद्धकुशल वानरोंकी दस खरब सेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

प्रलम्बबाहूरुकरजङ्घान्तरविलम्बिनाम् ।
ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः ॥ २६ ॥

उनके भुजा, ऊरु, हाथ और जङ्घा (पिंडली)—ये सभी अङ्ग विशाल थे तथा अङ्गोंकी कान्ति धुएँके समान काली थी, ऐसे तीन करोड़ रीछ सैनिक भी उनके साथ लङ्कामें जाकर युद्धके लिये डटे हुए थे ॥ २६ ॥

उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः ।
नादृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥

उस समय वानरोंके उछलने-कूदने तथा गिरने-पड़नेसे इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्यकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी और उसका दीखना बंद हो गया ॥ २७ ॥

शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।
तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात् कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन् सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ॥ २९ ॥

राजन् ! धानके फूल-जैसे रंगवाले, मौलसिरीके पुष्प-सदृश कान्तिवाले, प्रातःकालके सूर्यके समान अरुण प्रभावाले तथा सनईके समान सफेद रंगवाले वानरोंसे व्याप्त होनेके कारण लङ्काकी चहारदीवारी चारों ओर कपिलवर्णकी दिखायी देती थी । स्त्रियों और वृद्धोंसहित समस्त लङ्कावासी राक्षस चारों ओर आश्चर्यचकित होकर इस दृश्यको देख रहे थे ॥ २८-२९ ॥

बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान् कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितशृङ्गाणि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३० ॥

वानर सैनिक वहाँके मणिनिर्मित खम्भों और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे महलोंके कंगूरोंको तोड़ने-फोड़ने लगे । गोलाबारी

करनेवाले जो तोप आदि यन्त्र लगे थे, उनके शिखरोंको चूर-चूर करके उन्होंने दूर फेंक दिया ॥ ३० ॥

परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ ॥

पहियोंवाली तोपों, शृङ्गों और गोलोंको ले-लेकर महान् कोलाहल करते हुए वानर अपनी भुजाओंके वेगसे उन्हें लङ्कामें फेंकने लगे ॥ ३१ ॥

प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२ ॥

जो कोई निशाचर चहारदीवारीकी रक्षाके लिये सैकड़ोंकी संख्यामें वहाँ खड़े थे, वे सब वानरोंद्वारा खदेड़े जानेपर भाग खड़े हुए ॥ ३२ ॥

ततस्तु राजवचनाद् राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसङ्घशः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस लाख-लाखकी टोली बनाकर नगरसे बाहर निकले । उन सबकी आकृति बड़ी विकराल थी ॥ ३३ ॥

शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥

वे चहारदीवारीकी शोभा बढ़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करके वनवासी वानरोंको खदेड़ने लगे और अपने उत्तम पराक्रमका परिचय देने लगे ॥ ३४ ॥

स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥

उड़दके ढेर-जैसे काले-कलूटे उन भयंकर निशाचरोंने लड़कर पुनः उस चहारदीवारीको वानरोंसे सूनी कर दिया ॥ ३५ ॥

पेतुः शूलविभिन्नाङ्गा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥

उनके शूलोंकी मारसे अङ्ग विदीर्ण हो जानेके कारण बहुत से श्रेष्ठ वानर धराशायी हो गये । इसी प्रकार वानरोंके हाथोंसे खम्भोंकी मार खाकर कितने ही निशाचर युद्धका मैदान छोड़कर भाग गये और कितने वहीं ढेर हो गये ॥३६॥

केशाकेश्यभवद् युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् वीर राक्षसोंका वानरोंके साथ सिरके बाल पकड़कर युद्ध होने लगा । वे नखों और दाँतोंसे भी एक-दूसरेको काट खाते थे ॥ ३७ ॥

निष्टनन्तो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम् ॥ ३८ ॥

दोनों ओरसे गर्जना करते हुए वानर तथा राक्षस इस प्रकार युद्ध करते थे कि मरकर पृथ्वीपर गिर जानेके बाद भी एक-दूसरेको छोड़ते नहीं थे ॥ ३८ ॥

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लङ्कां समासाद्य जघ्नुस्तान् रजनीचरान् ॥ ३९ ॥

उधर श्रीरामचन्द्रजी भी, जैसे बादल जल बरसाते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे और वे बाण लङ्कामें घुसकर वहाँ खड़े हुए निशाचरोंके प्राण लेने लगे ॥ ३९ ॥

सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान् पातयामास राक्षसान् ॥ ४० ॥

क्लेश और थकावटपर विजय पानेवाले सुदृढ़ धनुर्धर सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी सूचना दे-देकर नाराच नामक बाणोंद्वारा दुर्गके भीतर रहनेवाले राक्षसोंको भी मार गिराने लगे ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लङ्कायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार लङ्कामें भीषण मार-काट मचानेके बाद वानर सैनिक लक्ष्यसिद्धिपूर्वक विजय पाकर श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे युद्ध बंद करके शिविरकी ओर लौट गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लङ्काप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें लङ्कामें प्रवेशविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम और रावणकी सेनाओंका द्वन्द्वयुद्ध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निविशमानांस्तान् सैनिकान् रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥
पर्वणः पतनो जम्भः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब वानर-सैनिक

शिविरमें प्रवेश करने लगे, उस समय रावणकी सेवामें रहनेवाले पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज और प्रघस आदि पिशाच तथा अधम राक्षसोंके अनेक दलोंने आकर उनपर धावा बोल दिया ॥ १-२ ॥

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥

वे दुरात्मा निशाचर अन्तर्धानविद्यासे अदृश्य होकर आक्रमण कर रहे थे। विभीषण उस विद्याके जानकार थे, अतः उन्होंने उन राक्षसोंकी अन्तर्धानशक्तिको नष्ट कर दिया॥

ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन् महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥

फिर तो वे सभी राक्षस वानरोंकी दृष्टिमें आ गये। राजन् ! वानर बलवान् तो थे ही, वे दूरतक उछलकर जानेकी शक्ति रखते थे। वे सब ओरसे कूद-कूदकर उन्हें मारने लगे। उनकी मार खाकर वे सभी राक्षस प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४ ॥

अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ।
राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ॥ ५ ॥

रावणके लिये यह बात असह्य हो उठी। वह पिशाचों तथा राक्षसोंकी भयंकर सेनासे घिरा हुआ दल-बलके साथ लङ्कासे बाहर निकला ॥ ५ ॥

युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चापरः ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत् ॥ ६ ॥

वह दूसरे शुक्राचार्यके समान युद्धशास्त्रके विधानका ज्ञाता था। उसने शुक्राचार्यके मतके अनुसार व्यूह-रचना करके सब वानरोंको घेर लिया ॥ ६ ॥

राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब देखा कि दशमुख रावण व्यूहाकार सेनाको साथ ले नगरसे बाहर निकल रहा है, तब उन्होंने भी उस निशाचरके विरुद्ध बृहस्पतिकी बतायी हुई रीतिसे अपनी सेनाका व्यूह बनाया ॥ ७ ॥

समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ॥ ८ ॥

तदनन्तर वहाँ पहुँचकर रावण श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध करने लगा। दूसरी ओर लक्ष्मणने भी इन्द्रजित्के साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥ ८ ॥

विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ९ ॥

सुग्रीवने विरूपाक्षके साथ युद्ध किया। निखर्वट नामक राक्षस तार नामक वानरसे जा भिड़ा। नलने निशाचर तुण्डका सामना किया तथा पटुश नामक राक्षस पनस वानरके साथ युद्ध करने लगा ॥ ९ ॥

विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १० ॥

जो जिसे अपने जोड़का समझता था, उसीके साथ उसकी भिड़न्त हुई। सब लोग युद्धके समय अपने बाहुबलका आश्रय ले शत्रुका सामना करते थे ॥ १० ॥

स सम्प्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ ११ ॥

पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंमें जैसा भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार वानरों और निशाचरोंका वह युद्ध भयानकरूपसे बढ़ता जा रहा था। वह संग्राम कायरोंके भयको बढ़ानेवाला था ॥ ११ ॥

रावणो राममानर्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ १२ ॥
तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इन्द्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥

रावणने शक्ति, शूल और खड्गकी वर्षा करके श्रीरामचन्द्रजीको बहुत पीड़ा दी तथा श्रीरघुनाथजीने भी लोहेके बने हुए तीखे बाणोंद्वारा रावणको अत्यन्त पीड़ित किया। इसी प्रकार युद्धके लिये उद्यत रहनेवाले इन्द्रजित्को लक्ष्मणने मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल किया और इन्द्रजित्ने सुमित्रानन्दन लक्ष्मणको अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १२-१३ ॥

विभीषणः प्रहस्तं च प्रहस्तश्च विभीषणम् ।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद् गतव्यथः ॥ १४ ॥

इधर विभीषण प्रहस्तपर और प्रहस्त विभीषणपर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यथाका अनुभव नहीं करता था ॥ १४ ॥

तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े अस्त्र धारण करनेवाले उन बलवान् वीरोंका वह संग्राम इतना भयंकर था कि उससे तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी व्यथित हो उठे ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रामरावणद्वन्द्वयुद्धविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रहस्त और धूम्राक्षके वधसे दुखी हुए रावणका कुम्भकर्णको जगाना और उसे युद्धमें भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम्।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर युद्धमें निष्ठुर पराक्रम दिखानेवाले प्रहस्तने सहसा विभीषणके पास पहुँचकर गर्जना करते हुए उनपर गदासे आघात किया ॥ १ ॥

स तयाभिहतो धीमान् गदया भीमवेगया।
नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २ ॥

भयानक वेगवाली उस गदासे आहत होकर भी बुद्धिमान् महाबाहु विभीषण विचलित नहीं हुए। वे हिमालयके समान सुस्थिरभावसे खड़े रहे ॥ २ ॥

ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः।
अनुमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति॥ ३ ॥

तत्पश्चात् विभीषणने एक विशाल महाशक्ति हाथमें ली, जिसमें शोभाके लिये सौ घंटियाँ लगी हुई थीं। उसे अभिमन्त्रित करके उन्होंने प्रहस्तके मस्तकपर दे मारा ॥ ३ ॥

पतन्त्या स तया वेगाद् राक्षसोऽशनिवेगया।
हृतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ ४ ॥

विद्युत्के समान वेगवाली उस महाशक्तिका वेगपूर्वक आघात होते ही राक्षस प्रहस्तका मस्तक धड़से अलग हो गया और वह आँधीके द्वारा उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी दिखायी देने लगा ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम्।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन् ॥ ५ ॥

निशाचर प्रहस्तको युद्धमें मारा गया देख धूम्राक्ष बड़े वेगसे वानरोंकी ओर दौड़ा ॥ ५ ॥

तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद् भीमदर्शनम्।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः ॥ ६ ॥

मेघोंकी काली घटाके समान भयानक दिखायी देनेवाली उसकी सेनाको आते देख सभी श्रेष्ठ वानर सहसा भयभीत होकर युद्धसे भाग चले ॥ ६ ॥

ततस्तान् सहसा दीर्णान् दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान्।
निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ७ ॥

उन भयभीत प्रमुख वानरोंको सहसा पलायन करते देख कपिकेसरी मारुतनन्दन हनुमान्जी धूम्राक्षका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम्।
महत्या त्वरया राजन् संन्यवर्तन्त सर्वशः ॥ ८ ॥

राजन्! पवनकुमारको युद्धके लिये उपस्थित देख सभी वानर सब ओरसे बड़ी उतावलीके साथ लौट आये ॥ ८ ॥

ततः शब्दो महानासीत् तुमुलो लोमहर्षणः।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ९ ॥

फिर तो एक दूसरेपर धावा बोलती हुई श्रीराम तथा रावणकी सेनाओंका अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी कोलाहल आरम्भ हो गया ॥ ९ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः॥ १० ॥

उस घोर संग्राममें धरतीपर रक्तकी कीच जम गयी थी। इसी समय धूम्राक्ष अपने बाणोंसे उस वानरसेनाको खदेड़ने लगा ॥ १० ॥

तं स रक्षोमहामात्रमापतन्तं सपत्नजित्।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः ॥ ११ ॥

तब शत्रुविजयी पवननन्दन हनुमान्ने अपनी ओर आते हुए उस विशालकाय राक्षसको बड़े वेगसे धर दबाया ॥ ११ ॥

तयोर्युद्धमभूद् घोरं हरिराक्षसवीरयोः।
जिगीषतोर्युधान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ १२ ॥

उन दोनों वानर तथा राक्षसवीरोंमें भयंकर युद्ध छिड़ गया। वे इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति युद्ध करके एक दूसरेको जीतना चाहते थे ॥ १२ ॥

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान् कपिम्।
कपिश्च जघ्निवान् रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ १३ ॥

निशाचर धूम्राक्षने गदाओं तथा परिघोंद्वारा कपिवर हनुमान्जीको चोट पहुँचायी और हनुमान्जीने उस राक्षसपर तने और डालियोंसहित वृक्षोंसे प्रहार किया ॥ १३ ॥

ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम्।
धूम्राक्षमवधीत् क्रुद्धो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १४ ॥

तदनन्तर मारुतनन्दन हनुमान्जीने अत्यन्त कुपित हो घोड़े, रथ और सारथिसहित धूम्राक्षको मार डाला ॥ १४ ॥

ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम्।
हरयो जातविस्रम्भा जघ्नुरन्ये च सैनिकान् ॥ १५ ॥

राक्षसप्रवर धूम्राक्षको मारा गया देख अन्य वानर तथा भालुओंको अपनी शक्तिपर विश्वास हुआ और वे उत्साहपूर्वक राक्षसोंको मारने लगे ॥ १५ ॥

ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लङ्कामभ्यपतन् भयात्॥ १६॥

विजयसे उल्लसित हुए बलवान् वानर वीरोंकी मार खाकर राक्षस हताश हो गये और भयके मारे लङ्काकी ओर भाग चले॥ १६॥

तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन्॥ १७॥

मरनेसे बचे हुए उन निशाचरोंने भग्नमनोरथ होकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया तथा रावणके समीप जाकर युद्धका सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन कर दिया॥ १७॥

श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः॥ १८॥
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात्।
उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः॥ १९॥

उनके मुखसे श्रेष्ठ वानर वीरोंद्वारा युद्धमें सेनासहित प्रहस्त तथा महाधनुर्धर धूम्राक्षके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर रावण बड़ी देरतक शोकभरे उच्छ्वास लेता रहा। फिर वह अपने श्रेष्ठ सिंहासनसे उछलकर खड़ा हो गया और बोला—'अब यह कुम्भकर्णके पराक्रम दिखलानेका समय आ गया है'॥१८-१९॥

इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः।
शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत्॥ २०॥

ऐसा कहकर रावणने अत्यन्त उच्चस्वरसे बजनेवाले भाँति-भाँतिके बाजे बजवाकर अधिक नींद लेनेवाले सोये हुए कुम्भकर्णको जगाया॥ २०॥

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनागतसाध्वसः।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः॥ २१॥
ततोऽब्रवीद् दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम्।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी॥ २२॥

महान् प्रयत्नद्वारा उसे जगाकर भयभीत हुए राक्षसराज रावणने, जब महाबली कुम्भकर्ण स्वस्थ, शान्त तथा निद्रारहित होकर बैठ गया तब उससे इस प्रकार कहा—'भैया कुम्भकर्ण! तुम धन्य हो जिसे ऐसी नींद आती है॥ २१-२२॥

य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम्।
एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह॥ २३॥
अवमन्येह नः सर्वान् करोति कदनं महत्।
मया त्वपहृता भार्या सीता नामास्य जानकी॥ २४॥

हमलोगोंपर जो यह अत्यन्त दारुण एवं महान् भय उपस्थित हुआ है, इसका तुम्हें पता ही नहीं है। यह राम सेतुद्वारा समुद्रको लाँघकर हमलोगोंकी अवहेलना करके वानरोंके साथ यहाँ आ पहुँचा है और राक्षसोंका महासंहार कर रहा है। मैंने इसकी पत्नी जनककुमारी सीताका अपहरण किया था॥ २३-२४॥

तां नेतुं स इहायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान् नः स्वजनो हतः॥ २५॥

उसे वापस लेनेके लिये ही राम महासागरपर पुल बाँधकर यहाँ आया है। उसने हमारे प्रहस्त आदि प्रमुख स्वजनोंको मार डाला है॥ २५॥

तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वामृते शत्रुकर्शन।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर॥ २६॥
रामादीन् समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम।

'शत्रुसूदन! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसको मार सके। बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! तुम शत्रुओंका दमन करनेवाले हो। आज कवच धारण करके निकलो तथा राम आदि समस्त शत्रुओंका समरभूमिमें संहार कर डालो॥ २६½॥

दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ॥ २७॥
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः।

दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी अपनी विशाल सेनाके साथ तुम्हारा अनुसरण करेंगे'॥ २७½॥

इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुम्भकर्णं तरस्विनम्।
संदिदेशेतिकर्तव्यं वज्रवेगप्रमाथिनौ॥ २८॥

वेगशाली वीर कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने वज्रवेग और प्रमाथीको, युद्धमें क्या-क्या करना है, इन सब बातोंको समझाया और उनके पालनका आदेश दिया॥२८॥

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ।
कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात्॥ २९॥

दूषणके वे दोनों वीर भाई रावणसे 'तथास्तु' कहकर कुम्भकर्णको आगे करके तुरंत नगरसे बाहर निकले॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णनिर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्णका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक

दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८६॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कुम्भकर्ण, वज्रवेग और प्रमाथीका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निर्याय स्वपुरात् कुम्भकर्णः सहानुगः।
अपश्यत् कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम्॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं— युधिष्ठिर! सेवकोंसहित अपने नगरसे निकलकर कुम्भकर्णने अपने सामने खड़ी हुई वानर-सेनाको देखा, जो विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रही थी॥

स वीक्षमाणस्तत् सैन्यं रामदर्शनकाङ्क्षया।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम्॥ २॥

फिर जब उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे उस सेनामें इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उसे हाथमें धनुष लिये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण खड़े दिखायी दिये॥ २॥

तमभ्येत्याशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः॥ ३॥

इतनेमें ही वानरोंने चारों ओरसे आकर कुम्भकर्णको शीघ्रतापूर्वक घेर लिया और बहुत-से बड़े-बड़े पेड़ उखाड़-कर उन्हींके द्वारा उसपर प्रहार करने लगे॥ ३॥

करजैरतुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम्।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः॥ ४॥
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेन्द्रमताडयन्।

कुछ वानरोंने कुम्भकर्णसे प्राप्त होनेवाले महान् भयकी परवा न करके उसको नखोंसे पीड़ा देनी प्रारम्भ की। युद्धकी विभिन्न प्रणालियोंद्वारा अनेक प्रकारसे युद्ध करते हुए वानर-सैनिक भाँति-भाँतिके भयंकर आयुधोंद्वारा राक्षसराज कुम्भकर्ण-को चोट पहुँचाने लगे॥ ४१/२॥

स ताड्यमानः प्रहसन् भक्षयामास वानरान्॥ ५॥
बलं चण्डबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम्।

वानरोंके प्रहार करनेपर वह जोर-जोरसे हँसने और उन्हें पकड़-पकड़कर खाने लगा। देखते-देखते बल, चण्डबल और वज्रबाहु नामक वानर उसके मुखके ग्रास बन गये॥ ५१/२॥

तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुम्भकर्णस्य रक्षसः॥ ६॥
उदक्रोशन् परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा।

राक्षस कुम्भकर्णका यह दुःखदायी कर्म देखकर तार आदि वानर भयभीत हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे॥ ६१/२॥

तानुच्चैः क्रोशतः सैन्यांश्छ्रुत्वा स हरियूथपान्॥ ७॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णमपेतभीः।

अपने सैनिकों तथा वानरयूथपतियोंका वह उच्चस्वरसे किया जाता हुआ चीत्कार सुनकर सुग्रीव निर्भय हो कुम्भकर्णकी ओर दौड़े॥ ७१/२॥

ततो निपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः॥ ८॥
शालेन जघ्निवान् मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः।

महामना कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने बड़े वेगसे उछलकर एक शालवृक्षके द्वारा कुम्भकर्णके मस्तकपर बलपूर्वक प्रहार किया॥ ८१/२॥

स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि॥ ९॥
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत् कपिः।

कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका हृदय महान् था। उनका वेग भी महान् था। उन्होंने कुम्भकर्णके मस्तकपर पटककर उस शालवृक्षको दो टूक कर डाला, तथापि वे उसे व्यथा न पहुँचा सके॥ ९१/२॥

ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः॥ १०॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद् बलात्।

शालके स्पर्शसे कुम्भकर्ण कुछ सावधान हो गया। उसने सहसा गर्जना करके सुग्रीवको दोनों हाथोंसे बलपूर्वक धर दबाया और अपने साथ ले लिया॥ १०१/२॥

ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा॥ ११॥
अवेक्ष्याभ्यद्रवद् वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।

राक्षस कुम्भकर्णके द्वारा सुग्रीवका अपहरण होता देख मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार वीरवर लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े॥ १११/२॥

सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुङ्खं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत् कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने कुम्भकर्णके सामने जाकर उसको लक्ष्य करके सुवर्णमय पंखसे सुशोभित एक महावेगशाली महान् बाण चलाया ॥ १२½ ॥

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन् भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।

वह बाण उसके कवचको काटकर शरीरको छेदता हुआ रक्तरञ्जित हो धरतीको चीरकर उसमें समा गया ॥ १३½ ॥

तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
(वेगेन महताऽऽविष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।)
कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार छाती छिद जानेके कारण महाधनुर्धर कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको तो छोड़ दिया और बड़े वेगसे लक्ष्मणकी ओर घूमकर कहा—'अरे ! खड़ा रहा, खड़ा रह' । तत्पश्चात् एक बहुत बड़ी शिला हाथमें लेकर वह सुमित्रानन्दन लक्ष्मणकी ओर दौड़ा ॥ १४-१५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥

तब लक्ष्मणने भी बड़ी शीघ्रताके साथ तीखी धारवाले दो क्षुर नामक बाण मारकर अपनी ओर आते हुए कुम्भकर्णकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंको काट डाला । उनके कटते ही वह चार भुजाओंसे युक्त हो गया ॥ १६ ॥

तानप्यस्य भुजान् सर्वान् प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥

उन चारों भुजाओंमें भी उसने आयुधके रूपमें बड़ी-बड़ी चट्टानें उठा लीं । यह देख सुमित्राकुमारने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए फिरसे पूर्वोक्त बाण मारकर उसकी उन चारों भुजाओंको भी काट दिया ॥ १७ ॥

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥

अब उसने अपना शरीर बहुत बड़ा बना लिया । उसके अनेक पैर, अनेक सिर और अनेक भुजाएँ हो गयीं । यह देख लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके पर्वतसमूहके समान विशाल शरीरवाले उस राक्षसको चीर डाला ॥ १८ ॥

स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥

जैसे महान् भयंकर बिजलीके आघातसे शाखाओं और पत्तोंसहित वृक्ष दग्ध हो जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मणके दिव्यास्त्रसे आहत होकर महापराक्रमी कुम्भकर्ण रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन् भयात् ॥ २० ॥

वृत्रासुरके समान वेगशाली कुम्भकर्णको प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सब राक्षस भयके मारे भाग चले ॥ २० ॥

तथा तान् द्रवतो योधान् दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ २१ ॥

अपने उन सैनिकोंको इस प्रकार भागते देख दूषणके दोनों भाई—वज्रवेग और प्रमाथीने किसी प्रकार उन्हें रोककर खड़ा किया और अत्यन्त कुपित हो सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर धावा बोल दिया ॥ २१ ॥

तावाद्रवन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ॥ २२ ॥

क्रोधमें भरे हुए वज्रवेग और प्रमाथीको अपनी ओर आते देख लक्ष्मणने बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उन दोनोंकी गतिको बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ २२ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर ! फिर तो दूषणके भाइयों तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणमें ऐसा भयंकर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥

महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तं समवर्षताम् ॥ २४ ॥

लक्ष्मण उन दोनों राक्षसोंपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा

कर रहे थे और वे दोनों वीर राक्षस भी अत्यन्त कुपित होकर लक्ष्मणपर बाणोंकी बौछार करते थे ॥ २४ ॥

मुहूर्तमेवमभवद् वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः सम्प्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥

इस प्रकार वज्रवेग, प्रमाथी और महाबाहु लक्ष्मणका वह भयंकर संग्राम दो घड़ीतक अबाधगतिसे चलता रहा ॥ २५ ॥

अथाद्रिशृङ्गमादाय हनुमान् मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याददे प्राणान् वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥

इसी बीचमें वायुनन्दन हनुमान्‌जीने पर्वतका शिखर हाथमें लेकर वज्रवेग नामक राक्षसके ऊपर आक्रमण किया और उसके प्राण ले लिये ॥ २६ ॥

नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥

महाबली नील नामक वानरने एक विशाल चट्टान लेकर दूषणके छोटे भाई प्रमाथीपर हमला किया और उसका कचूमर निकाल दिया ॥ २७ ॥

ततः प्रावर्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर श्रीराम और रावणकी सेनाओंमें परस्पर आक्रमणपूर्वक भीषण संग्राम आरम्भ हो गया, जो कटु परिणामका जनक था ॥ २८ ॥

शतशो नैर्ऋतान् वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायेण न तु वानराः ॥ २९ ॥

वनवासी वानरोंने सैकड़ों राक्षसोंको तथा राक्षसोंने वानरोंको घायल किया। उस युद्धमें अधिकांश राक्षस ही मारे जा रहे थे, वानर नहीं ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्ण आदिका वधविषयक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २९½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रजित्‌का मायामय युद्ध तथा श्रीराम और लक्ष्मणकी मूर्च्छा

मार्कण्डेय उवाच

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चातितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिन्द्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सेवकों-सहित कुम्भकर्ण महाधनुर्धर प्रहस्त तथा अत्यन्त तेजस्वी धूम्राक्षको संग्राममें मारा गया सुनकर रावणने अपने वीर पुत्र इन्द्रजित्‌से कहा—'शत्रुसूदन ! तुम राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका वध करो ॥ १-२ ॥

त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥

'सुपुत्र ! तुमने युद्धमें सहस्र नेत्रोंवाले वज्रधारी शचीपति इन्द्रको जीतकर उज्ज्वल यशका उपार्जन किया है ॥ ३ ॥

अन्तर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शत्रुनाशन वीर ! जिनके लिये देवताओंने तुम्हें वरदान दिया है, ऐसे दिव्यास्त्रोंद्वारा प्रकटरूपमें या अदृश्य होकर मेरे शत्रुओंका नाश करो ॥ ४ ॥

रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥

'अनघ ! स्वयं राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंका आघात सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर उनके अनुयायी तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अकृता या प्रहस्तेन कुम्भकर्णेन चानघ ।
खरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥ ६ ॥

'निष्पाप महाबाहो ! प्रहस्त और कुम्भकर्णने भी खरके वधका जो बदला नहीं चुकाया, उसे युद्धमें तुम चुकाओ ॥६॥

त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून् ससैनिकान् ।
प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥

'बेटा ! तुमने पूर्वकालमें इन्द्रको जीतकर जिस प्रकार मुझे आनन्दित किया था, उसी प्रकार आज तुम तीखे बाणोंसे सैनिकोंसहित शत्रुओंका संहार करके मेरा आनन्द बढ़ाओ' ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविन्द्रजिद् राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥

राजन् ! रावणके द्वारा ऐसी आज्ञा देनेपर इन्द्रजित्‌ने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की और वह कवच बाँध रथपर बैठकर तुरंत ही संग्रामभूमिकी ओर चल दिया ॥ ८ ॥

ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुङ्गवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् उस राक्षसराजने स्पष्टरूपसे अपने नामकी

घोषणा करके शुभलक्षण लक्ष्मणको युद्धके लिये ललकारा ॥

तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान् यथा ॥ १० ॥

तब लक्ष्मण भी धनुषपर बाण चढ़ाये हुए उसकी ओर बड़े वेगसे दौड़े और सिंह जैसे छोटे मृगोंको डरा देता है, उसी प्रकार वे अपने धनुषकी टङ्कारसे सब राक्षसोंको त्रास देने लगे ॥ १० ॥

तयोः समभवद् युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥

वे दोनों ही विजयकी अभिलाषा रखनेवाले, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा परस्पर बड़ी स्पर्धा रखनेवाले थे । उन दोनोंमें उस समय बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद् बलिनां वरः ॥ १२ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ रावणकुमार इन्द्रजित् जब बाण-वर्षा करनेमें लक्ष्मणसे आगे न बढ़ सका, तब उसने गुरुतर प्रयत्न आरम्भ किया ॥ १२ ॥

तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान् स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥

उसने अत्यन्त वेगशाली तोमरोंकी वर्षा करके लक्ष्मणको पीड़ा पहुँचानेकी चेष्टा की, परंतु लक्ष्मणने तीखे बाणोंसे उन सब तोमरोंको पास आते ही काट गिराया ॥ १३ ॥

ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन् धरणीतले ।
तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।
तस्येन्द्रजिदसम्भ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥
प्रहर्तुमैच्छत् तं चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।

लक्ष्मणके तीखे बाणोंसे टूक-टूक होकर वे तोमर पृथ्वीपर बिखर गये । तब महावेगशाली वालिपुत्र श्रीमान् अङ्गदने एक वृक्ष उठा लिया और दौड़कर इन्द्रजित्के मस्तकपर उसे दे मारा; परंतु इन्द्रजित् इससे तनिक भी विचलित न हुआ । उस पराक्रमी वीरने प्रासद्वारा अङ्गदकी छातीमें प्रहार करनेका विचार किया, किंतु लक्ष्मणने उसे पहले ही काट गिराया ॥ १४-१५½ ॥

तमभ्याशगतं वीरमङ्गदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥
गदयाताडयत् सव्ये पार्श्वे वानरपुङ्गवम् ।

तब रावणकुमारने अपने निकट आये हुए उस वानरश्रेष्ठ वीर अङ्गदकी बायीं पसलीमें गदासे आघात किया ॥ १६½ ॥

तमचिन्त्य प्रहारं स बलवान् वालिनः सुतः ॥ १७ ॥
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धं तथाङ्गदः ।

बलवान् वालिनन्दन अङ्गदने इन्द्रजित्के उस गदाप्रहार-की कोई परवा न करके उसके ऊपर क्रोधपूर्वक साखूका तना उठाकर दे मारा ॥ १७½ ॥

सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्रजितस्तरुः ॥ १८ ॥
जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ।

युधिष्ठिर ! अङ्गदके द्वारा इन्द्रजित्के वधके लिये रोष-पूर्वक चलाये हुए उस वृक्षने उसके सारथि और घोड़ोंसहित रथको नष्ट कर दिया ॥ १८½ ॥

ततो हताश्वात् प्रस्कन्द्य रथात् स हतसारथिः ॥ १९ ॥
तत्रैवान्तर्दधे राजन् मायया रावणात्मजः ।

राजन् ! सारथिके मारे जानेपर रावणकुमार इन्द्रजित् उस अश्वहीन रथसे कूद पड़ा और मायाका आश्रय ले वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १९½ ॥

अन्तर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ॥ २० ॥
रामस्तं देशमागम्य तत् सैन्यं पर्यरक्षत ।

अनेक प्रकारकी माया जाननेवाले उस राक्षसको अदृश्य हुआ जान भगवान् श्रीराम उस स्थानपर आकर सब ओरसे अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे ॥ २०½ ॥

स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।

तब इन्द्रजित्ने भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणके सम्पूर्ण अङ्गोंको देवताओंसे वरदानके रूपमें प्राप्त हुए बाणों-द्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २१½ ॥

तमदृश्यं शरैः शूरौ माययान्तर्हितं तदा ॥ २२ ॥
योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ।

यद्यपि रावणका पुत्र मायासे तिरोहित हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता था, तो भी शूरवीर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई उसके साथ युद्ध करते ही रहे ॥ २२½ ॥

स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥
व्यसृजत् सायकान् भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।

इन्द्रजित्ने पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाइयोंके समस्त अङ्गोंमें रोषपूर्वक सैकड़ों और हजारों बाणोंकी बारंबार वृष्टि की ॥ २३½ ॥

तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ॥ २४ ॥
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।

वानरोंने देखा कि वह राक्षस छिपकर निरन्तर बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, तब वे हाथोंमें बड़ी-बड़ी शिलाएँ लिये आकाशमें उड़ गये और उसकी खोज करने लगे ॥ २४½ ॥

तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ॥ २५ ॥
स भृशं ताडयामास रावणिर्माययाऽऽवृतः ।

रावणकुमार अपनी मायासे आवृत होनेके कारण

स्वयं किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था, परंतु वह उन दोनों भाइयोंको तथा सम्पूर्ण वानरोंको भी निरन्तर अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा था ॥ २५½ ॥

तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
पेततुर्गगनाद् भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ २६ ॥

वे दोनों बन्धु श्रीराम और लक्ष्मण ऊपरसे नीचेतक बाणोंसे व्याप्त हो गये थे, अतः आकाशसे गिरे हुए सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति इस पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धे अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-युद्धविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८८॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम-लक्ष्मणका सचेत होकर कुबेरके भेजे हुए अभिमन्त्रित जलसे प्रमुख वानरोंसहित अपने नेत्र धोना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्का वध एवं सीताको मारनेके लिये उद्यत हुए रावणका अविन्ध्यके द्वारा निवारण करना

मार्कण्डेय उवाच

ताबुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको पृथ्वीपर पड़े देख रावणकुमार इन्द्रजित्ने जिनके लिये देवताओंका वर प्राप्त था, उन बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बाँध लिया ॥ १ ॥

तौ वीरौ शरबन्धेन बद्धाविन्द्रजिता रणे।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ॥ २ ॥

इन्द्रजित्द्वारा बाणोंके बन्धनसे बँधे हुए वे दोनों वीर पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण पिंजड़ेमें बंद हुए दो पक्षियोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २ ॥

तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥

उन दोनोंको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त एवं पृथ्वीपर पड़े देख वानरोंसहित सुग्रीव उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥

सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनुमान्, नील, तार तथा नलके साथ कपिराज सुग्रीव उन दोनों बन्धुओंकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर अपने कर्तव्य कर्मको पूरा करके विभीषण उस स्थानपर आये। उन्होंने प्रज्ञास्त्रद्वारा उन दोनों वीरोंको होशमें लाकर जगाया ॥ ५ ॥

विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥

फिर सुग्रीवने दिव्य मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित विशल्या नामक महौषधिद्वारा उनके अङ्गोंसे बाण निकालकर उन्हें क्षणभरमें स्वस्थ कर दिया ॥ ६ ॥

तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम्।
गततन्द्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥

होशमें आ जानेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ महारथी वीर बाणोंसे रहित हो आलस्य और थकावट त्यागकर क्षणभरमें उठ खड़े हुए ॥ ७ ॥

ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम्।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृताञ्जलिरिदं वचः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर विभीषणने इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नीरोग एवं स्वस्थ देख हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

इदमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात्।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात् त्वत्सकाशमरिन्दम ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! राजाधिराज कुबेरकी आज्ञासे एक गुह्यक यह जल लिये हुए श्वेतपर्वतसे चलकर आपके समीप आया है ॥ ९ ॥

इदमम्भः कुबेरस्ते महाराजः प्रयच्छति।
अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ॥ १० ॥

'परंतप ! महाराज कुबेर आपको यह जल इस उद्देश्यसे समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे नेत्रोंमें लगाकर मायासे अदृश्य हुए प्राणियोंको देख सकें ॥ १० ॥

अनेन मृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत।
भवान् द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥

'उन्होंने कहा है कि आप इस जलसे अपने दोनों नेत्र धोकर अदृश्य प्राणियोंको भी देख सकेंगे और आप जिसे यह जल अर्पित करेंगे, वह मनुष्य भी अदृश्य भूतोंको देखनेमें समर्थ होगा' ॥ ११ ॥

तथेति रामस्तद् वारि प्रतिगृह्याभिसंस्कृतम्।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने वह अभिमन्त्रित जल ले लिया। फिर उन्होंने तथा महामना लक्ष्मणने भी उससे अपने दोनों नेत्र धोये ॥ १२ ॥

सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनुमानङ्गदस्तथा।
मैन्दद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥

सुग्रीव, जाम्बवान्, हनुमान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद तथा नील आदि प्रायः सभी प्रमुख वानरोंने उस जलसे अपनी-अपनी आँखें धोयीं ॥ १३ ॥

तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः।
क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर! जैसा विभीषणने बताया था, उसका वैसा ही प्रभाव देखनेमें आया। इन सबकी आँखें क्षणभरमें अतीन्द्रिय वस्तुओंका साक्षात्कार करनेवाली हो गयीं ॥ १४ ॥

इन्द्रजित् कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदाऽऽत्मनः।
निवेद्य पुनरागच्छत् त्वरयाऽऽजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥

इन्द्रजित्ने उस दिन युद्धमें जो पराक्रम कर दिखाया था, अपने उस वीरोचित कर्मको पितासे बताकर वह पुनः युद्धके मुहानेकी ओर लौटने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥

उसे क्रोधमें भरकर पुनः युद्धकी इच्छासे आते देख विभीषणकी सम्मतिसे लक्ष्मणने उसपर धावा किया ॥ १६ ॥

अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम्।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥

इन्द्रजित् विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रहा था। अभी उसने नित्यकर्म भी नहीं किया था, उसी अवस्थामें सचेत हुए लक्ष्मणने कुपित होकर उसे मार डालनेकी इच्छासे उसपर बाणोंद्वारा प्रहार करना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तदान्योन्यं जिगीषतोः।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥

वे दोनों ही एक-दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक थे। उस समय उनमें इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति अत्यन्त अद्भुत तथा आश्चर्यजनक युद्ध होने लगा ॥ १८ ॥

अविध्यदिन्द्रजित् तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः।
सौमित्रिश्चानलस्पर्शैरविध्यद् रावणिं शरैः ॥ १९ ॥

इन्द्रजित्ने तीखे तथा मर्मभेदी बाणोंद्वारा सुमित्राकुमार लक्ष्मणको बींध डाला। इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अग्निके समान दाहक स्पर्शवाले तीखे सायकोंद्वारा रावणकुमार इन्द्रजित्को घायल कर दिया ॥ १९ ॥

सौमित्रिशरसंस्पर्शाद् रावणिः क्रोधमूर्च्छितः।
असृजल्लक्ष्मणायाष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥

लक्ष्मणके बाणोंकी चोट खाकर रावणकुमार क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा। उसने उनके ऊपर विषधर साँपोंके समान विषैले आठ बाण छोड़े ॥ २० ॥

तस्यासून् पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः।
तथा निरहरद् वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥

वीर सुमित्राकुमारने अग्निके समान दाहक तीन बाणोंद्वारा जिस प्रकार इन्द्रजित्के प्राण लिये, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २१ ॥

एकेनास्य धनुष्मन्तं बाहुं देहादपातयत्।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥

एक बाणद्वारा उन्होंने इन्द्रजित्की धनुष धारण करनेवाली भुजाको काटकर शरीरसे अलग कर दिया। दूसरे बाणद्वारा नाराच लिये हुए शत्रुकी दूसरी भुजाको धराशायी कर दिया ॥ २२ ॥

तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् मोटी धारवाले और चमकीले तीसरे बाणसे

उन्होंने सुन्दर नासिका और शोभाशाली कुण्डलोंसे विभूषित शत्रुके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ २३ ॥

विनिकृत्तभुजस्कन्धं कबन्धं भीमदर्शनम्।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥

भुजाओं और कंधोंके कट जानेसे उसका धड़ बड़ा भयंकर दिखायी देता था। इन्दजित्को मारकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने अपने अस्त्रोंद्वारा उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २४ ॥

लङ्कां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥
स पुत्रं निहतं ज्ञात्वा त्रासात् सम्भ्रान्तमानसः।
रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

उस समय घोड़ोंने उस ही खाली रथको लङ्कापुरीमें पहुँचाया। रावणने देखा; मेरे पुत्रका रथ उसके बिना ही लौट आया है। तब पुत्रको मारा गया जान भयके मारे रावणका मन उद्भ्रान्त हो उठा। वह शोक और मोहसे आतुर होकर विदेहनन्दिनी सीताको मार डालनेके लिये उद्यत हो गया ॥ २५-२६ ॥

अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम्।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ॥ २७ ॥

दुष्टात्मा दशानन हाथमें तलवार लेकर अशोकवाटिकामें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसासे बैठी हुई सीताजीके पास बड़े वेगसे दौड़ा गया ॥ २७ ॥

तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम्।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥

दूषित बुद्धिवाले उस निशाचरके इस पापपूर्ण निश्चयको जानकर मन्त्री अविन्ध्यने समझा-बुझाकर उसका क्रोध शान्त किया। किस युक्तिसे उसने रावणको शान्त किया, यह बताता हूँ, सुनो ॥ २८ ॥

महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि।
हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥

'राक्षसराज ! आप लङ्काके समुज्ज्वल सम्राट्-पदपर विराजमान होकर एक अबलाको न मारें। यह स्त्री होकर आपके वशमें पड़ी है, आपके घरमें कैद है, ऐसी दशामें यह तो मरी हुई है ॥ २९ ॥

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः।
जहि भर्तारमेवास्या हते तस्मिन् हता भवेत् ॥ ३० ॥

'इसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देनेसे ही इसका वध नहीं होगा, ऐसा मेरा विचार है। इसके पतिको ही मार डालिये। उसके मारे जानेपर यह स्वतः मर जायगी ॥ ३० ॥

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः।
असकृद्धि त्वया सेन्द्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥ ३१ ॥

'साक्षात् इन्द्र भी पराक्रममें आपकी समानता नहीं कर सकते। आपने अनेक बार युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं-को भयभीत (एवं पराजित) किया है' ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥

इस तरह अनेक प्रकारके वचनोंद्वारा अविन्ध्यने रावण-का क्रोध शान्त किया और रावणने भी उसकी बात मान ली ॥ ३२ ॥

निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥ ३३ ॥

फिर उस निशाचरने युद्धके लिये प्रस्थान करनेका निश्चय करके तलवार रख दी और आज्ञा दी—'मेरा रथ तैयार किया जाय' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि श्रीरामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वधे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-वधविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और रावणका युद्ध तथा रावणका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः।
अभिदुद्राव रामं स योधयन् हरियूथपान् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अपने प्रिय पुत्र इन्द्रजित्के मारे जानेपर दशमुख रावणका क्रोध बहुत बढ़ गया। वह सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित रथपर बैठकर लङ्कापुरीसे बाहर निकला। हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भयंकर राक्षस उसे घेरकर चले। वह वानर-यूथपतियोंसे युद्ध करता हुआ श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ १-२ ॥

तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलाङ्गदाः।
हनूमाञ्जाम्बवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उसे क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख मैन्द, नील, नल, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्ने सेनासहित आगे बढ़कर उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३ ॥

ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुङ्गवाः ।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥

उन रीछ और वानर-सेनापतियोंने दशाननके देखते-देखते वृक्षोंकी मारसे उसकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ ४ ॥

ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः ।
मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥

अपनी सेनाको शत्रुओंद्वारा मारी जाती देख मायावी राक्षसराज रावणने माया प्रकट की ॥ ५ ॥

तस्य देहविनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥

उसके शरीरसे सैकड़ों और हजारों राक्षस प्रकट होकर हाथोंमें बाण, शक्ति तथा ऋष्टि आदि आयुध लिये दिखायी देने लगे ॥ ६ ॥

तान् रामो जघ्निवान् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान् ।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद् राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने अपने दिव्य अस्त्रके द्वारा उन सब राक्षसोंको नष्ट कर दिया । तब राक्षसराजने पुनः मायाकी सृष्टि की ॥ ७ ॥

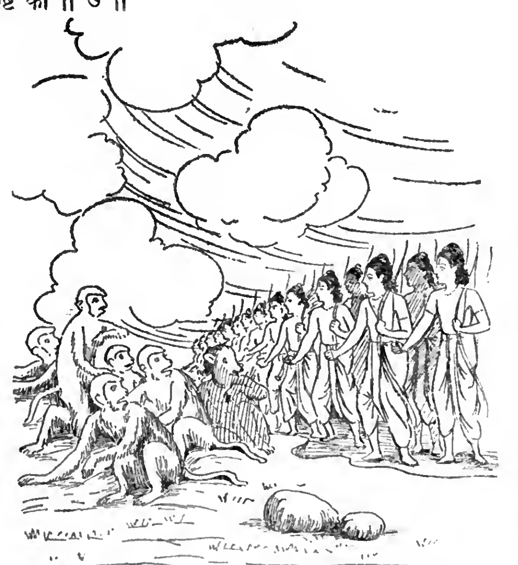

कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥

भारत ! दशाननने श्रीराम और लक्ष्मणके ही बहुत-से रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मणपर धावा किया ॥ ८ ॥

ततस्ते राममार्च्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे राक्षस हाथोंमें धनुष-बाण लिये श्रीराम और लक्ष्मणको पीड़ा देते हुए उनपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसम्भ्रान्तो बृहद् वचः ॥ १० ॥

राक्षसराज रावणकी उस मायाको देखकर इक्ष्वाकुकुल-का आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने श्रीरामसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ॥ १० ॥

जहीमान् राक्षसान् पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।
जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥

'भगवन् ! अपने ही समान आकारवाले इन पापी राक्षसों-को मार डालिये ।' तब श्रीरामने रावणकी मायासे निर्मित अपने ही समान रूप धारण करनेवाले उन सबको तथा अन्य राक्षसोंको भी मार डाला ॥ ११ ॥

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥

इसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी रथके साथ उस रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके समीप आ पहुँचा ॥ १२ ॥

मातलिरुवाच

अयं हर्यश्वयुग् जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ॥ १४ ॥
स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ।

मातलि बोला—पुरुषसिंह श्रीराम ! यह हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ विजयशाली उत्तम रथ देवराज इन्द्रका है । इस विशाल रथके द्वारा इन्द्रने सैकड़ों दैत्यों और दानवोंका समराङ्गणमें संहार किया है । नरश्रेष्ठ ! मेरेद्वारा संचालित इस रथपर बैठकर आप युद्धमें रावणको शीघ्र मार डालिये, विलम्ब न कीजिये ॥ १३-१४½ ॥

इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ॥ १५ ॥
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः ।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥

मातलिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसकी बातपर इसलिये संदेह किया कि कहीं यह भी राक्षसकी माया ही न हो । तब विभीषणने उनसे कहा—'पुरुषसिंह ! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है ॥ १५-१६ ॥

तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते।
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम्॥ १७॥
रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः।

'महाद्युते! आप शीघ्र इन्द्रके इस रथपर आरूढ़ होइये।' तब श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्नतापूर्वक विभीषणसे कहा—'ठीक है।' यों कहकर उन्होंने रथपर आरूढ़ हो बड़े रोषके साथ दशमुख रावणपर आक्रमण किया॥ १७½॥

हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते॥ १८॥
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथानदन्।
दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत्॥ १९॥

रावणपर श्रीरामकी चढ़ाई होते ही समस्त प्राणी हाहाकार कर उठे, देवलोकमें नगारे बज उठे और जोर-जोरसे सिंहनाद होने लगा। दशकन्धर रावण तथा राजकुमार श्रीराममें उस समय महान् युद्ध छिड़ गया॥ १८-१९॥

अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाभवत्।
स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः॥ २०॥
शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम्।
तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः॥ २१॥

उस युद्धकी संसारमें अन्यत्र कहीं उपमा नहीं थी। उनका वह संग्राम उन्हींके संग्रामके समान था। निशाचर रावणने श्रीरामपर एक त्रिशूल चलाया, जो उठे हुए इन्द्रके वज्र तथा ब्रह्मदण्डके समान अत्यन्त भयंकर था; परंतु श्रीरामने तत्काल अपने तीखे बाणोंद्वारा उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥ २०-२१॥

तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत्।
ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताञ्छरान्॥ २२॥

उनका वह दुष्कर कर्म देखकर दशानन रावणके मनमें भय समा गया। फिर कुपित होकर उसने तुरंत ही तीखे सायकोंकी वर्षा आरम्भ की॥ २२॥

सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च।
ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान्॥ २३॥
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितान् क्षुरान्।

उस समय श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर भाँति-भाँतिके हजारों शस्त्र गिरने लगे तथा भुशुण्डी, शूल, मुसल, फरसे, नाना प्रकारकी शक्तियाँ, शतघ्नी और तीखी धारवाले बाणोंकी वृष्टि होने लगी॥ २३½॥

तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः॥ २४॥
भयात् प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम्।

राक्षस दशाननकी उस विकराल मायाको देखकर सब वानर भयके मारे चारों दिशाओंमें भाग चले॥ २४½॥

ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुङ्खं शरोत्तमम्॥ २५॥
तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह।
तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणानुमन्त्रितम्॥ २६॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः।
अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः॥ २७॥
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिंनराः।

तब श्रीरामचन्द्रजीने सोनेके सुन्दर पंख तथा उत्तम अग्रभागवाले एक श्रेष्ठ बाणको तरकससे निकालकर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित किया। श्रीरामद्वारा ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किये हुए उस उत्तम बाणको देखकर इन्द्र आदि देवताओं तथा गन्धर्वोंके हर्षकी सीमा न रही। शत्रुके प्रति श्रीरामके मुखसे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होता देख देवता, दानव और किंनर यह समझ गये कि अब इस राक्षसकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है॥ २५-२७½॥

ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम्॥ २८॥
रावणान्तकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम्।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान भयंकर तथा अप्रतिम तेजस्वी उस रावणविनाशक बाणको छोड़ दिया॥ २८½॥

मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत॥ २९॥
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिप्लुतः॥ ३०॥

युधिष्ठिर! श्रीरामद्वारा धनुषको दूरतक खींचकर छोड़े हुए उस बाणके लगते ही राक्षसराज रावण रथ, घोड़े और सारथिसहित इस प्रकार जलने लगा मानो भयंकर लपटोंवाली आगके लपेटमें आ गया हो॥ २९-३०॥

ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहितं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे रावणको मारा गया देख देवता, गन्धर्व तथा चारण बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

तत्यजुस्तं महाभागं पञ्च भूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेभ्यः स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर पाँचों भूतोंने उस महान् भाग्यशाली रावणको त्याग दिया । ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध होकर वह सम्पूर्ण लोकोंसे भ्रष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥

उसके शरीरके धातु, मांस तथा रक्त भी ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होकर नष्ट हो गये । उसकी राखतक नहीं दिखायी दी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावणवधविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सीताके प्रति संदेह, देवताओंद्वारा सीताकी शुद्धिका समर्थन, श्रीरामका दल-बलसहित लङ्कासे प्रस्थान एवं किष्किन्धा होते हुए अयोध्यामें पहुँचकर भरतसे मिलना तथा राज्यपर अभिषिक्त होना

मार्कण्डेय उवाच

स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद् रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नीच स्वभाववाले देवद्रोही राक्षसराज रावणका वध करके भगवान् श्रीराम अपने मित्रों तथा लक्ष्मणके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥

दशाननके मारे जानेपर देवता तथा महर्षिगण जययुक्त आशीर्वाद देते हुए उन महाबाहुकी पूजा एवं प्रशंसा करने लगे ॥ २ ॥

रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गन्धर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥

स्वर्गवासी सम्पूर्ण देवताओं तथा गन्धर्वोंने फूलोंकी वर्षा करते हुए उत्तम वाणीद्वारा कमलनयन भगवान् श्रीरामका स्तवन किया ॥ ३ ॥

पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥

श्रीरामकी भलीभाँति पूजा करके वे सब जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये । युधिष्ठिर ! उस समय आकाश महान् उत्सवसमारोहसे भरा-सा जान पड़ता था ॥ ४ ॥

ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरञ्जयः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महायशस्वी भगवान् श्रीरामने दशानन रावणका वध करनेके अनन्तर लङ्काका राज्य विभीषणको दे दिया ॥ ५ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविन्ध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥

इसके बाद उत्तम बुद्धिसे युक्त बूढ़े मन्त्री अविन्ध्य विभीषणसहित भगवती सीताको आगे करके लङ्कापुरीसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ॥ ७ ॥

वे ककुत्स्थकुलभूषण महात्मा श्रीरामचन्द्रजीसे दीनतापूर्वक बोले—'महात्मन् ! सदाचारसे सुशोभित जनककिशोरी

महारानी सीताको ग्रहण कीजिये' ॥ ७ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात।
बाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ॥ ८ ॥

यह सुनकर इक्ष्वाकुनन्दन भगवान् श्रीरामने उस उत्तम रथसे उतरकर सीताको देखा। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्शिताम्।
मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥

शिबिकामें बैठी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी सीता शोकसे दुबली हो गयी थीं। उनके समस्त अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, सिरके बाल आपसमें चिपककर जटाके रूपमें परिणत हो गये थे। और उनका वस्त्र काला पड़ गया था ॥ ९ ॥

उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत् कार्यं तन्मया कृतम्॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह संदेह हुआ कि सम्भव है, सीता परपुरुषके स्पर्शसे अपवित्र हो गयी हों; अतः उन्होंने विदेहनन्दिनी सीतासे स्पष्ट वचनोंद्वारा कहा—'विदेहकुमारी ! मैंने तुम्हें रावणकी कैदसे छुड़ा दिया। अब तुम जाओ। मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा कर दिया ॥ १० ॥

मामासाद्य पतिं भद्रे त्वं राक्षसवेश्मनि।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥

भद्रे ! मुझ-जैसे पतिको पाकर तुम्हें वृद्धावस्थातक किसी राक्षसके घरमें न रहना पड़े, यही सोचकर मैंने उस निशाचरका वध किया है॥ ११ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मविनिश्चयम्।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥

'धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाला मेरे-जैसा कोई भी पुरुष दूसरेके हाथमें पड़ी हुई नारीको मुहूर्तभरके लिये भी कैसे ग्रहण कर सकता है ? ॥ १२ ॥

सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य मैथिलि।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि ! तुम्हारा आचार-विचार शुद्ध रह गया हो अथवा अशुद्ध, अब मैं तुम्हें अपने उपयोगमें नहीं ला सकता—ठीक उसी तरह, जैसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यको कोई भी ग्रहण नहीं करता' ॥ १३ ॥

ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥

सहसा यह कठोर वचन सुनकर देवी सीता व्यथित हो कटे हुए केलेके वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥१४॥

योऽप्यस्या हर्षसम्भूतो मुखरागस्तदाभवत्।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥

जैसे श्वास लेनेसे दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका प्रतिविम्ब मलिन हो जाता है, उसी प्रकार सीताके मुखपर उस समय जो हर्षजनित कान्ति छा रही थी, वह एक ही क्षणमें फिर विलीन हो गयी ॥ १५ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम्।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर समस्त वानर तथा लक्ष्मण सब-के-सब मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गये ॥१६॥

ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥

इसी समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले कमलयोनि जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माजीने विमानद्वारा वहाँ आकर श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ १७ ॥

शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥

साथ ही इन्द्र, अग्नि, वायु, यम, वरुण, यक्षराज भगवान् कुबेर तथा निर्मल चित्तवाले सप्तर्षिगण भी वहाँ आ गये ॥१८॥

राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान्।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥

इनके सिवा हंसोंसे युक्त एक बहुमूल्य तेजस्वी विमानद्वारा दिव्य प्रकाशमय स्वरूप धारण किये स्वयं राजा दशरथ भी वहाँ पधारे ॥ १९ ॥

ततोऽन्तरिक्षं तत् सर्वं देवगन्धर्वसंकुलम्।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥

उस समय देवताओं और गन्धर्वोंसे भरा हुआ वह सम्पूर्ण अन्तरिक्ष इस प्रकार शोभा पाने लगा, मानो असंख्य तारागणोंसे चित्रित शरद् ऋतुका आकाश हो ॥ २० ॥

तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥

तब उन सबके बीचमें खड़ी होकर कल्याणमयी यशस्विनी सीताने चौड़ी छातीवाले भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम॥ २२ ॥

'राजपुत्र ! मैं आपको दोष नहीं देती, क्योंकि आप स्त्रियों और पुरुषोंकी कैसी गति है, यह अच्छी तरह जानते हैं। केवल मेरी यह बात सुन लीजिये ॥ २२ ॥

अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः।
स मे विमुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥

'निरन्तर संचरण करनेवाले वायुदेव समस्त प्राणियोंके

भीतर विचरते हैं । यदि मैंने कोई पापाचार किया हो तो वे वायुदेवता मेरे प्राणोंका परित्याग कर दें ॥ २३ ॥

अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च ।
विमुञ्चन्तु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥

'यदि मैं पापका आचरण करती होऊँ तो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु—ये सब मिलकर मुझसे मेरे प्राणोंका वियोग करा दें ॥ २४ ॥

यथाहं त्वदृते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिन्तयम्।
तथा मे देवनिर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ॥ २५ ॥

'वीर ! यदि मैंने आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन न किया हो तो देवताओंके दिये हुए एकमात्र आप ही मेरे पति हों' ॥ २५ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुभगा लोकसाक्षिणी ।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब लोगोंको साक्षी देती हुई एक सुन्दर वाणी उच्चरित हुई, जो परम पवित्र होनेके साथ ही उन महामना वानरोंको भी हर्ष प्रदान करनेवाली थी ॥ २६ ॥

वायुरुवाच

भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः ।
अपापा मैथिली राजन् संगच्छ सह भार्यया ॥ २७ ॥

(उस आकाशवाणीके रूपमें) वायुदेवता बोले— रघुनन्दन ! मैं सदा विचरण करनेवाला वायुदेवता हूँ । सीताने जो कुछ कहा है, वह सत्य है । राजन् ! मिथिलेश-कुमारी सर्वथा पापशून्य हैं। आप अपनी इस पत्नीसे निःसंकोच होकर मिलिये ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच

अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति ॥ २८ ॥

अग्निदेवने कहा—रघुनन्दन ! मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला अग्नि हूँ । मुझे मालूम है कि मिथिलेश-कुमारीके द्वारा कभी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अपराध नहीं हुआ है॥ २८॥

वरुण उवाच

रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव ।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २९ ॥

वरुणदेवने कहा—श्रीराम ! समस्त प्राणियोंके शरीरमें जो जलतत्त्व है, वह मुझसे ही उत्पन्न हुआ है । अतः मैं तुमसे कहता हूँ, मिथिलेशकुमारी निष्पाप है, इसे ग्रहण करो ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

पुत्र नैतदिहाश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि ।
साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी बोले—वत्स ! तुम राजर्षियोंके धर्मपर चलनेवाले हो; अतः तुममें ऐसा सद्विचार होना आश्चर्यकी बात नहीं है । साधु सदाचारी श्रीराम ! तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३० ॥

शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम् ।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३१ ॥

वीरवर ! यह रावण देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष, दानव तथा महर्षियोंका भी शत्रु था । इसे तुमने मार गिराया है ॥ ३१ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात् पुराभवत् ।
कस्माच्चित् कारणात् पापः कञ्चित् कालमुपेक्षितः॥ ३२॥

पूर्वकालमें मेरे ही प्रसादसे यह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य हो गया था । किसी कारणवश ही कुछ कालतक इस पापीकी उपेक्षा की गयी थी ॥ ३२ ॥

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना ।
नलकूबरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया ॥ ३३ ॥

दुरात्मा रावणने अपने वधके लिये ही सीताका अपहरण किया था । नलकूबरके शापद्वारा मैंने सीताकी रक्षाका प्रबन्ध कर दिया था ॥ ३३ ॥

यदि ह्यकामां सेवेत स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम् ।
शतधास्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत् पुरा ॥ ३४ ॥

पूर्वकालमें रावणको यह शाप दिया गया था कि यदि यह उसे न चाहनेवाली किसी परायी स्त्रीका बलपूर्वक सेवन करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ३४ ॥

नात्र शङ्का त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते ।
कृतं त्वया महत् कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३५ ॥

अतः महातेजस्वी श्रीराम ! तुम्हें सीताके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये । इसे ग्रहण करो । देवताओंके समान तेजस्वी वीर ! तुमने रावणको मारकर देवताओंके समान कार्य सिद्ध किया है ॥ ३५ ॥

दशरथ उवाच

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते ।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

दशरथजी बोले—वत्स ! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ, तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो । पुरुषोत्तम! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब तुम अयोध्याका राज्य करो ॥ ३६ ॥

राम उवाच

अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात् तव॥ ३७॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—राजेन्द्र ! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी आज्ञासे अब मैं रमणीय अयोध्यापुरीको लौट जाऊँगा॥ ३७॥

मार्कण्डेय उवाच

तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ।
गच्छायोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तान्तलोचनम्॥ ३८॥
सम्पूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तदनन्तर पिता दशरथने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाले श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः कहा—'महाद्युते ! तुम्हारे वनवासके चौदह वर्ष पूरे हो गये हैं। अब तुम अयोध्या जाओ और वहाँका शासन अपने हाथमें लो'॥ ३८½॥

ततो देवान् नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः॥ ३९॥
महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान्।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने देवताओंको नमस्कार किया और सुहृदोंसे अभिनन्दित हो अपनी पत्नी सीतासे मिले, मानो इन्द्रका शचीसे मिलन हुआ हो॥ ३९½॥

ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविन्ध्याय परंतपः॥ ४०॥
त्रिजटां चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम्।

इसके बाद परंतप श्रीरामने अविन्ध्यको अभीष्ट वरदान दिया तथा त्रिजटा राक्षसीको धन और सम्मानसे संतुष्ट किया॥ ४०½॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः॥ ४१॥
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान्।

यह सब हो जानेपर इन्द्र आदि देवताओंसहित ब्रह्माने भगवान् रामसे कहा—'कौसल्यानन्दन ! कहो; आज मैं तुम्हें कौन-कौनसे अभीष्ट वर प्रदान करूँ ?'॥ ४१½॥

वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम्॥ ४२॥
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम्।

तब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे ये वर माँगे—'मेरी धर्ममें सदा स्थिति रहे, शत्रुओंसे कभी पराजय न हो तथा राक्षसोंके द्वारा मारे गये वानर पुनः जीवित हो जायँ,॥ ४२½॥

ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा॥ ४३॥
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः।

यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही हो।' महाराज ! उनके इतना कहते ही सभी वानर चेतना प्राप्त करके जी उठे॥ ४३½॥

सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ॥ ४४॥
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति।

महासौभाग्यवती सीताने भी हनुमान्‌जीको यह वर दिया—'पुत्र ! जबतक इस धरातलपर भगवान् श्रीरामकी कीर्ति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारा जीवन स्थिर रहेगा॥ ४४½॥

दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा॥ ४५॥
उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन।

पिङ्गलनयन हनुमान् ! मेरी कृपासे तुम्हें सदा ही दिव्य भोग प्राप्त होते रहेंगे'॥ ४५½॥

ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्॥ ४६॥
अन्तर्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।

तदनन्तर अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले वानरोंके देखते-देखते वहाँ इन्द्र आदि सब देवता अन्तर्धान हो गये॥ ४६½॥

दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः॥ ४७॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः।
देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम्॥ ४८॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम।

श्रीरामचन्द्रजीको जनकनन्दिनी सीताके साथ विराजमान देख इन्द्रसारथि मातलिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब सुहृदोंके बीचमें इस प्रकार कहा—'सत्यपराक्रमी श्रीराम ! आपने देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, असुर और नाग—इन सबका दुःख दूर कर दिया है॥ ४७-४८½॥

सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः॥ ४९॥
कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद् भूमिर्धरिष्यति।

'जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नागोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌के लोग आपकी कीर्तिकथाका गान करेंगे,॥ ४९½॥

इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम्॥ ५०॥
सम्पूज्यापाक्रमत् तेन रथेनादित्यवर्चसा।

ऐसा कहकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा ले उनकी पूजा करके सूर्यके समान तेजस्वी उसी रथके द्वारा मातलि स्वर्गलोकको चला गया॥ ५०½॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह॥ ५१॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः।
विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः॥ ५२॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम्।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता॥ ५३॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी।

तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् श्रीरामने लङ्कापुरीकी सुरक्षाका प्रबन्ध करके लक्ष्मण, सुग्रीव आदि सभी श्रेष्ठ

वानरों, विभीषण तथा प्रधान-प्रधान सचिवोंके साथ सीताको आगे करके इच्छानुसार चलनेवाले, आकाशचारी, शोभाशाली

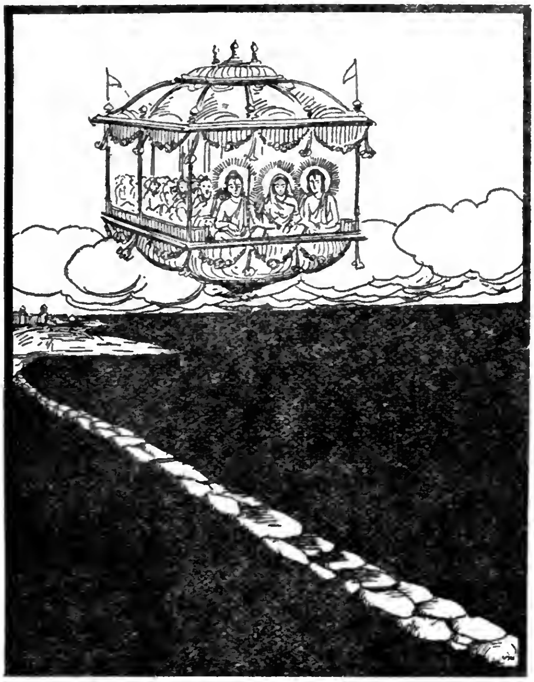

पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो उसीके द्वारा पूर्वोक्त सेतुमार्गसे ऊपर-ही-ऊपर पुनः मकरालय समुद्रको पार किया ॥ ५१–५३ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥ ५४ ॥
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।

समुद्रके इस पार आकर धर्मात्मा श्रीरामने पहले जहाँ शयन किया था, उसी स्थानपर सम्पूर्ण वानरोंके साथ विश्राम किया ॥५४½॥

अथैनान् राघवः काले समानीयाभिपूज्य च ॥ ५५ ॥
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।

फिर श्रीरघुनाथजीने यथासमय सबको अपने पास बुलाकर सबका यथायोग्य आदर-सत्कार किया तथा रत्नोंकी भेंटसे संतुष्ट करके सभी वानरों और रीछोंको विदा किया ॥५५½॥

गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥ ५६ ॥
सुग्रीवसहितो रामः किष्किन्धां पुनरागमत् ।

जब वे रीछ, श्रेष्ठ वानर और लंगूर चले गये, तब सुग्रीवसहित श्रीरामने पुनः किष्किन्धापुरीको प्रस्थान किया ॥ ५६½ ॥

विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७ ॥
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन् वनम् ।
किष्किन्धां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ॥ ५८ ॥
अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।

विभीषण और सुग्रीवके साथ पुष्पक-विमानद्वारा विदेहकुमारी सीताको वनकी शोभा दिखाते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धामें पहुँचकर अङ्गदको, जिन्होंने लंकाके युद्धमें महान् पराक्रम दिखाया था, युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥५७-५८½॥

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।

इसके बाद लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदिके साथ श्रीरामचन्द्रजी जिस मार्गसे आये थे, उसीके द्वारा अपनी राजधानी अयोध्याकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५९½ ॥

अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ॥ ६० ॥
भरताय हनूमन्तं दूतं प्रास्थापयत् तदा ।

तत्पश्चात् अयोध्यापुरीके निकट पहुँचकर राष्ट्रपति श्रीरामने हनुमान्‌जीको दूत बनाकर भरतके पास भेजा ॥६०½॥

लक्षयित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् ।

जब वायुपुत्र हनुमान्‌जी भरतजीकी सारी चेष्टाओंको लक्ष्य करके उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके पुनरागमनका प्रिय समाचार सुनाकर लौट आये, तब श्रीरामचन्द्रजी नन्दिग्राममें आये ॥ ६१½ ॥

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ॥ ६२ ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ।

वहाँ आकर श्रीरामने देखा, भरत चीरवस्त्र पहने हुए हैं, उनका शरीर मैलसे भरा हुआ है और वे मेरी चरण-पादुकाएँ आगे रखकर कुशासनपर बैठे हैं ॥ ६२½ ॥

संगतो भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ॥ ६३ ॥
राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।

युधिष्ठिर ! लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६३½ ॥

ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ॥ ६४ ॥
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।

भरत और शत्रुघ्नको भी उस समय बड़े भाईसे मिलकर तथा विदेहकुमारी सीताका दर्शन करके महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ६४½ ॥

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥

फिर भरतजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अयोध्या पधारे हुए भगवान् श्रीरामको अपने पास धरोहरके रूपमें रखा हुआ (अयोध्याका) राज्य अत्यन्त सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥६५॥

ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् विष्णुदेवतासम्बन्धी श्रवण नक्षत्रका पुण्य

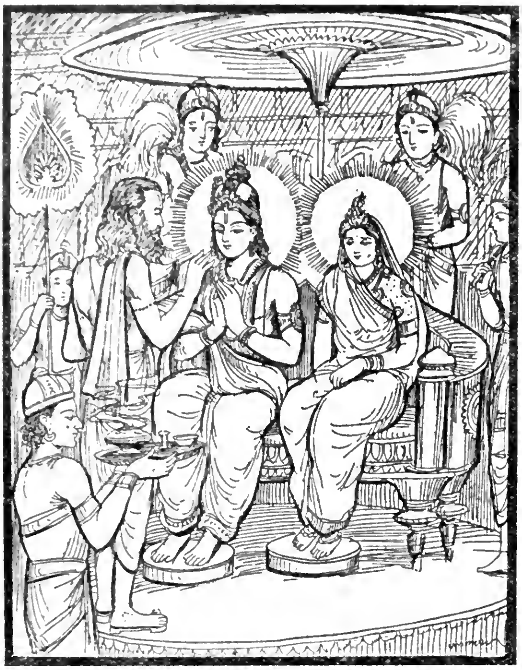

दिवस आनेपर वसिष्ठ और वामदेव दोनों ऋषियोंने मिलकर शूरशिरोमणि भगवान् रामका राज्याभिषेक किया ॥ ६६ ॥

सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद् गृहान् प्रति ॥ ६७ ॥

राज्याभिषेकका कार्य सम्पन्न हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी-ने सुहृदोंसहित सुग्रीवको तथा पुलस्त्यकुलनन्दन विभीषणको अपने-अपने घर लौटनेकी आज्ञा दी ॥ ६७ ॥

अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६८ ॥

श्रीरामने भाँति-भाँतिके भोग अर्पित करके उन दोनोंका सत्कार किया । इससे वे बड़े प्रसन्न और आनन्दमग्न हो गये । तदनन्तर उन दोनोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर रघुनाथ-जीने उन्हें बड़े दुःखसे विदा किया ॥ ६८ ॥

पुष्पकं च विमानं तत् पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद् वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ॥ ६९ ॥

इसके बाद उस पुष्पकविमानकी पूजा करके रघुनन्दन श्रीरामने उसे कुबेरको ही प्रेमपूर्वक लौटा दिया ॥ ६९ ॥

ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान् स निरर्गलान् ॥ ७० ॥

तदनन्तर देवर्षियोंसहित गोमती नदीके तटपर जाकर श्रीरघुनाथजीने दस अश्वमेध यज्ञ किये, जो स्तुतिके योग्य थे और जिनमें अन्न आदिकी इच्छासे आनेवाले याचकोंके लिये कभी द्वार बंद नहीं होता था ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि श्रीरामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामाभिषेकविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीके द्वारा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाबाहु युधिष्ठिर ! इस प्रकार प्राचीन कालमें अमिततेजस्वी श्रीरामने वनवासजनित अत्यन्त भयंकर कष्ट भोगा था ॥ १ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह ! तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो । तुम तो उस मार्गपर चल रहे हो, जहाँ केवल अपने बाहुबलका भरोसा किया जाता है तथा जहाँ अभीष्ट फलकी प्राप्ति प्रत्यक्ष एवं असंदिग्ध है ॥ २ ॥

न हि ते वृजिनं किंचिद् वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन् मार्गे निषीदेयुः सेन्द्रा अपि सुरासुराः ॥ ३ ॥

श्रीरामके कष्टके सामने तुम्हारा कष्ट अणुमात्र भी नहीं है । इन्द्रसहित देवता तथा असुर भी इस क्षत्रियधर्मके मार्ग-पर चले हैं ॥ ३ ॥

संहत्य निहितो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥

वज्रपाणि इन्द्रने मरुद्गणोंके साथ मिलकर वृत्रासुर, दुर्धर्ष वीर नमुचि तथा दीर्घजिह्वा राक्षसीका वध किया था ॥

सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ॥ ५ ॥

जो सहायकोंसे सम्पन्न है, उसके सभी मनोरथ इस जगत्में सब प्रकारसे सिद्ध होते हैं । फिर जिसे धनंजय-जैसा भाई मिला हो, वह युद्धमें किसे परास्त नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।

युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥ ६ ॥

ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। माद्रीनन्दन वीर नकुल-सहदेव भी महान् धनुर्धर तथा नवयुवक हैं ॥ ६ ॥

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परंतप।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥

परंतप! इन सब सहायकोंके होते हुए तुम विषाद क्यों करते हो? तुम्हारे ये भाई तो मरुद्गणोंसहित वज्रधारी इन्द्रकी सेनाको भी परास्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः।
विजेष्यसे रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तुम भी इन देवस्वरूप महाधनुर्धर भाइयोंकी सहायतासे अपने समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीत लोगे ॥

इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥

इधर इस द्रौपदीकी ओर देखो। अपने पराक्रमके मदसे उन्मत्त महाबली दुरात्मा सिन्धुराजने इसे हर लिया था; परंतु तुम्हारे इन महात्मा बन्धुओंने अत्यन्त दुष्कर कर्म करके द्रुपदकुमारी कृष्णाको पुनः लौटा लिया तथा राजा जयद्रथको भी परास्त करके अपने अधीन कर लिया था ॥

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके तो कोई स्वजातीय सहायक भी नहीं थे, तो भी उन्होंने युद्धमें भयंकर पराक्रमी राक्षस दशाननका वध करके विदेहनन्दिनी सीताको पुनः लौटा लिया ॥ ११ ॥

यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा।
जात्यन्तरगता राजन्नेतद् बुद्ध्यानुचिन्तय ॥ १२ ॥

राजन्! दूसरी योनिके प्राणी वानर, लंगूर तथा रीछ ही उनके मित्र अथवा सहायक थे (किंतु तुम्हारे तो चार शूरवीर भाई सहायक हैं)। इस बातपर बुद्धिद्वारा विचार करो ॥ १२ ॥

तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परंतप ॥ १३ ॥

अतः कुरुश्रेष्ठ! भरतभूषण! तुम शोक न करो। क्योंकि परंतप! तुम्हारे-जैसे महात्मा पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस प्रकार आश्वासन देनेपर उदार हृदयवाले राजा युधिष्ठिर दुःख-शोक छोड़कर पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९२ ॥

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा अश्वपतिको देवी सावित्रीके वरदानसे सावित्री नामक कन्याकी प्राप्ति तथा सावित्रीका पतिवरणके लिये विभिन्न देशोंमें भ्रमण

युधिष्ठिर उवाच

नात्मानमनुशोचामि नेमान् भ्रातॄन् महामुने।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—महामुने! इस द्रुपदकुमारीके लिये मुझे जैसा शोक होता है; वैसा न तो अपने लिये, न इन भाइयोंके लिये और न राज्य छिन जानेके लिये ही होता है ॥ १ ॥

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम्।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥

दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएके समय हमलोगोंको भारी संकटमें डाल दिया था, परंतु इस द्रौपदीने हमें बचा लिया। फिर जयद्रथने इस वनसे इसका बलपूर्वक अपहरण किया ॥ २ ॥

अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

क्या आपने किसी ऐसी परम सौभाग्यवती पतिव्रता नारीको पहले कभी देखा अथवा सुना है, जैसी यह द्रौपदी है? ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद् यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर ! राजकन्या सावित्रीने कुलकामिनियोंके लिये परम सौभाग्यरूप यह पातिव्रत्य आदि सब सद्गुणसमूह जिस प्रकार प्राप्त किया था, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः ।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

प्राचीनकालकी बात है, मद्रदेशमें एक परम धर्मात्मा राजा राज्य करते थे । वे ब्रह्मण-भक्त, विशालहृदय, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे ॥ ५ ॥

यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः ।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ॥ ६ ॥

वे यज्ञ करनेवाले, दानाध्यक्ष, कार्य-कुशल, नगर और जनपदके लोगोंके परम प्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भूपाल थे । उनका नाम अश्वपति था ॥ ६ ॥

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग् विजितेन्द्रियः ।
अतिक्रान्तेन वयसा संतापमुपजग्मिवान् ॥ ७ ॥

राजा अश्वपति क्षमाशील, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होनेपर भी संतानहीन थे । बहुत अधिक अवस्था बीत जाने-पर इसके कारण उनके मनमें बड़ा संताप हुआ ॥ ७ ॥

अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः ।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

अतः उन्होंने संतानकी उत्पत्तिके लिये बड़े कठोर नियमोंका आश्रय लिया । वे निश्चित समयपर थोड़ा-सा भोजन करते और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको संयममें रखते थे ॥

हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तमः ।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः ॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रसे एक लाख आहुति देकर दिनके छठे भागमें परिमित भोजन करते थे ॥ ९ ॥

एतेन नियमेनासीद् वर्षाण्यष्टादशैव तु ।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ॥ १० ॥

उनको इस नियममें रहते हुए अठारह वर्ष बीत गये । अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर सावित्रीदेवी संतुष्ट हुईं ॥ १० ॥

रूपिणी तु तदा राजन् दर्शयामास तं नृपम् ।
अग्निहोत्रात् समुत्थाय हर्षेण महतान्विता ।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ॥ ११ ॥
(सा तमश्वपतिं राजन् सावित्री नियमे स्थितम् ॥)

राजन् ! तब मूर्तिमती सावित्रीदेवीने अग्निहोत्रकी अग्निसे प्रकट होकर बड़े हर्षके साथ राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर देनेके लिये उद्यत हो अनुष्ठानके नियमोंमें स्थित उस राजा अश्वपतिसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

सावित्र्युवाच

ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च ।
सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥

सावित्री बोली—राजन् ! मैं तुम्हारे विशुद्ध ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह तथा सम्पूर्ण हृदयसे की हुई भक्ति-के द्वारा बहुत संतुष्ट हुई हूँ ॥ १२ ॥

वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यदीप्सितम् ।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथञ्चन ॥ १३ ॥

मद्रराज अश्वपते ! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँगो । धर्मोंके पालनमें तुम्हें कभी किसी तरह भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया ।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ॥ १४ ॥

अश्वपतिने कहा—देवि ! मैंने धर्मप्राप्तिकी इच्छासे संतानके लिये यह अनुष्ठान आरम्भ किया था । आपकी कृपासे मुझे बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र प्राप्त हों ॥ १४ ॥

तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम् ।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ॥ १५ ॥

देवि ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह संतान-सम्बन्धी वर ही माँगता हूँ, क्योंकि द्विजातिगण मुझसे बराबर यही कहते हैं कि 'न्याययुक्त संतानोत्पादन (भी) परम धर्म है' ॥ १५ ॥

सावित्र्युवाच

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव ।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः ॥ १६ ॥

सावित्री बोली—राजन् ! मैंने पहले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको जानकर पुत्रके लिये भगवान् ब्रह्माजीसे निवेदन किया था ॥ १६ ॥

प्रसादाच्चैव तस्मात् ते स्वयम्भुविहिताद् भुवि ।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १७ ॥

अतः सौम्य ! भगवान् ब्रह्माजीके कृपाप्रसादसे तुम्हें शीघ्र ही इस पृथ्वीपर एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी ॥ १७ ॥

उत्तरं च न ते किंचिद् व्याहर्तव्यं कथञ्चन ।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद् ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

इस विषयमें तुम्हें किसी तरह भी कोई प्रतिवाद या

उत्तर नहीं देना चाहिये। मैं ब्रह्माजीकी आज्ञासे संतुष्ट होकर तुमसे यह बात कहती हूँ ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद् भविष्यति ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! सावित्रीदेवीकी बात सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और पुनः सावित्री-देवीको इस उद्देश्यसे प्रसन्न किया कि यह भविष्यवाणी शीघ्र सफल हो ॥ १९ ॥

अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः।
स्वराज्ये चावसद् वीरः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २० ॥

जब सावित्रीदेवी अन्तर्धान हो गयीं, तब वीर राजा अश्वपति भी अपने नगरको चले गये और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए अपने राज्यमें ही रहने लगे ॥ २० ॥

कस्मिंश्चित् तु गते काले स राजा नियतव्रतः।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥

नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा अश्वपतिने किसी समय अपनी धर्मपरायणा बड़ी रानीमें गर्भ स्थापित किया ॥ २१ ॥

राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! अश्वपतिकी पत्नी मालवदेशकी राजकुमारी थीं। उनका वह गर्भ आकाशमें शुक्लपक्षीय चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥ २२ ॥

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम्।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ २३ ॥

समय प्राप्त होनेपर महारानीने एक कमलनयनी कन्याको जन्म दिया तथा नृपश्रेष्ठ अश्वपतिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न करवाये ॥ २३ ॥

सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि।
सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥

सावित्रीने प्रसन्न होकर उस कन्याको दिया था तथा गायत्री मन्त्रद्वारा आहुति देनेसे ही सावित्रीदेवी प्रसन्न हुई थीं, अतः ब्राह्मणों तथा पिताने उस कन्याका नाम 'सावित्री' ही रक्खा ॥ २४ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥

वह राजकन्या मूर्तिमती लक्ष्मीके समान बढ़ने लगी और यथासमय उसने युवावस्थामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा सम्मेनिरे जनाः ॥ २६ ॥

उसके शरीरका कटिभाग परम सुन्दर तथा नितम्बदेश पृथुल था। वह सुवर्णकी बनी हुई प्रतिमा-सी जान पड़ती थी। उसे देखकर सब लोग यही मानते थे कि यह कोई देवकन्या आ गयी है ॥ २६ ॥

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥

उसके नेत्रयुगल विकसित नील कमलदलके समान मनोहर थे। वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सी जान पड़ती थी। उसके तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण कोई भी राजा या राजकुमार उसका वरण नहीं कर सका ॥ २७ ॥

अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा।
हुत्वाग्निं विधिवद् विप्रान् वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥

एक दिन किसी पर्वके अवसरपर उपवासपूर्वक शिरसे स्नान करके सावित्री देवताके दर्शनके लिये गयी और विधिपूर्वक अग्निमें आहुति दे उसने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ २८ ॥

ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः।
पितुः समीपमगमद् देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥

तदनन्तर इष्टदेवताका प्रसाद लेकर मूर्तिमती लक्ष्मीदेवीके समान सुशोभित होती हुई वह अपने महात्मा पिताके समीप गयी॥

साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च।
कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥ ३० ॥

पहले प्रसाद आदि निवेदन करके उसने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह सुन्दरी कन्या हाथ जोड़कर पिताके पार्श्वभागमें खड़ी हो गयी ॥ ३० ॥

यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम्।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

अपनी देवस्वरूपिणी पुत्रीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख और अभीतक इसके लिये किसी वरने याचना नहीं की, यह सोचकर मद्रनरेशको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३१ ॥

राजोवाच

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥

राजा बोले—बेटी! अब किसी वरके साथ तेरा ब्याह कर देनेका समय आ गया है, परंतु (तेरे तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण) कोई भी मुझसे तुझे माँग नहीं रहा है। इसलिये तू स्वयं ही ऐसे वरकी खोज कर ले, जो गुणोंमें तेरे समान हो ॥ ३२ ॥

प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम।
विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥

जिस पुरुषको तू पतिरूपमें प्राप्त करना चाहे, उसका मुझे परिचय दे देना; फिर मैं सोच-विचारकर उसके साथ तेरा ब्याह कर दूँगा। तू मनोवाञ्छित वरका वरण कर ले ॥ ३३ ॥

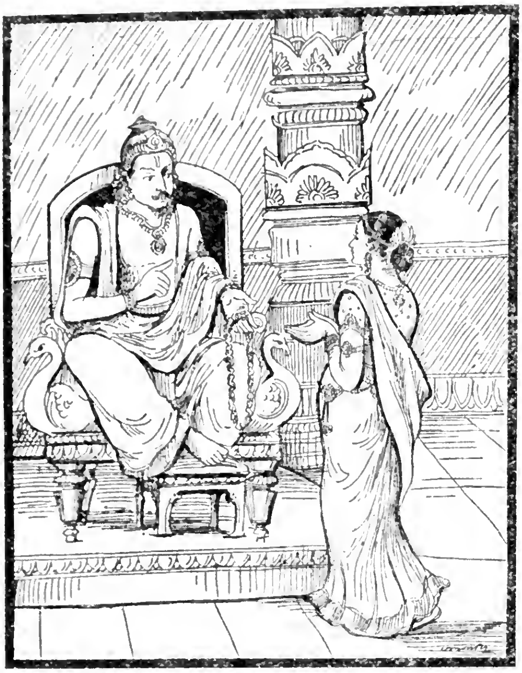

श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ॥ ३४ ॥

कल्याणि! मैंने ब्राह्मणोंके मुखसे धर्मशास्त्रोंकी जो बात सुनी है, उसे बता रहा हूँ, तू भी सुन ले—॥ ३४ ॥

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥

'विवाहके योग्य हो जानेपर कन्याका दान न करनेवाला पिता निन्दनीय है। ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम न करनेवाला पति निन्दाका पात्र है तथा पतिके मर जानेपर विधवा माताकी रक्षा न करनेवाला पुत्र धिक्कारके योग्य है ॥ ३५ ॥

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥

मेरी यह बात सुनकर तू पतिकी खोज करनेमें शीघ्रता कर। ऐसी चेष्टा कर, जिससे मैं देवताओंकी दृष्टिमें अपराधी न बनूँ ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः।
व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पुत्रीसे ऐसा कहकर राजाने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'आपलोग यात्राके लिये आवश्यक सामग्री (वाहन आदि) लेकर सावित्रीके साथ जायँ' ॥ ३७ ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव मनस्विनी।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ॥ ३८ ॥

मनस्विनी सावित्रीने कुछ लज्जित-सी होकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बिना कुछ सोच-विचार किये उसने प्रस्थान कर दिया ॥ ३८ ॥

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥

सुवर्णमय रथपर सवार हो बूढ़े मन्त्रियोंसे घिरी हुई वह राजकन्या राजर्षियोंके सुरम्य तपोवनोंमें गयी ॥ ३९ ॥

मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम्।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत ॥ ४० ॥

तात! वहाँ माननीय वृद्धजनोंकी चरणवन्दना करके उसने क्रमशः सभी वनोंमें भ्रमण किया ॥ ४० ॥

एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥

इस प्रकार राजकुमारी सावित्री सभी तीर्थोंमें जाकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनदान करती हुई विभिन्न देशोंमें घूमती फिरी ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह करनेका दृढ़ निश्चय

मार्कण्डेय उवाच

अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर! एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए देवर्षि नारदजीके साथ मिलकर बातें कर रहे थे ॥ १ ॥

ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥

उसी समय सावित्री सब तीर्थों और आश्रमोंमें घूम-फिरकर मन्त्रियोंके साथ अपने पिताके घर आ पहुँची ॥२॥

नारदेन सहासीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥

वहाँ पिताको नारदजीके साथ बैठे हुए देखकर शुभ-लक्षणा सावित्रीने दोनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ॥ ३ ॥

नारद उवाच

क्व गताभूत् सुतेयं ते कुतश्चैवागता नृप।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां सम्प्रयच्छसि ॥ ४ ॥

नारदजीने पूछा—राजन्! आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी और कहाँसे आ रही है? अब तो यह युवती हो गयी है। आप किसी वरके साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते हैं? ॥ ४ ॥

अश्वपतिरुवाच

कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव चागता।
एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥

अश्वपतिने कहा—देवर्षे! इसे मैंने इसी कार्यसे भेजा था और यह अभी-अभी लौटी है। इसने अपने लिये जिस पतिका वरण किया है, उसका नाम इसीके मुखसे सुनिये ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा।
तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पिताके यह कहनेपर कि 'बेटी! तू अपनी यात्राका वृत्तान्त विस्तारके साथ बतला' शुभलक्षणा सावित्री उनकी आज्ञा मानकर उस समय इस प्रकार बोली ॥ ६ ॥

सावित्र्युवाच

आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूव ह ॥ ७ ॥

सावित्रीने कहा—पिताजी! शाल्वदेशमें द्युमत्सेन नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। पीछे वे अंधे हो गये ॥ ७ ॥

विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा॥ ८ ॥

उनकी आँखें चली गयीं और पुत्र अभी बाल्यावस्थामें था,

यह अवसर पाकर उनके पूर्वशत्रु एक पड़ोसी राजाने आक्रमण किया और उन बुद्धिमान् नरेशका राज्य हर लिया॥८॥

स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम्।
महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥

तब अपनी छोटी अवस्थाके पुत्रवाली पत्नीके साथ वे वनमें चले आये और विशाल वनके भीतर रहकर बड़े-बड़े व्रतोंका पालन करते हुए तपस्या करने लगे। उनके एक पुत्र हैं सत्यवान्, जो पैदा तो नगरमें हुए हैं, परंतु उनका पालन-पोषण एवं संवर्धन तपोवनमें हुआ है। वे ही मेरे योग्य पति हैं। उन्हींका मैंने मन-ही-मन वरण किया है ॥ ९-१० ॥

नारद उवाच

अहो बत महत् पापं सावित्र्या नृपते कृतम्।
अजानन्त्या यदनया गुणवान् सत्यवान् वृतः ॥ ११ ॥

(यह सुनकर) **नारदजी बोल उठे**—अहो! यह बड़े खेदकी बात है। राजन्! सावित्रीने बिना जाने ही अपना बड़ा अनिष्ट किया है, जो कि इसने सत्यवान्‌को गुणवान् समझकर वरण कर लिया है ॥ ११ ॥

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते।
तथास्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ॥ १२ ॥

इस राजकुमारके पिता सदा सत्य बोलते हैं। इसकी

माता भी सत्यभाषण करती है। इसलिये ब्राह्मणोंने इसका नाम 'सत्यवान्' रख दिया था ॥ १२ ॥

बालस्याश्वाःप्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान्।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते॥१३॥

इस बालकको अश्व बहुत प्रिय हैं। यह मिट्टीके अश्व बनाया करता है और चित्र लिखते समय भी अश्वोंको ही अंकित करता है; अतः इसे 'चित्राश्व' भी कहते हैं ॥ १३॥

राजोवाच

अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान् पितृवत्सलः ॥ १४ ॥

राजाने पूछा—देवर्षे ! इस समय पितृभक्त राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न ? ॥ १४ ॥

नारद उवाच

विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ।
महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव क्षमान्वितः ॥ १५ ॥

नारदजीने कहा—वह राजकुमार सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर और पृथ्वीके समान क्षमाशील है ॥ १५ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान्।
रूपवानप्युदारो वाप्यथवा प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

अश्वपतिने पूछा—क्या राजपुत्र सत्यवान् दानी, ब्राह्मणभक्त, रूपवान्, उदार अथवा प्रियदर्शन भी है ? ॥१६॥

नारद उवाच

सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥

नारदजीने कहा—सत्यवान् अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेमें संकृतिनन्दन रन्तिदेवके समान है तथा उशीनरपुत्र शिबिके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी है ॥ १७ ॥

ययातिरिव चोदारः सोमवत् प्रियदर्शनः
रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ॥ १८ ॥

वह ययातिकी भाँति उदार और चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन है। द्युमत्सेनका वह बलवान् पुत्र रूपवान् तो इतना है मानो अश्विनीकुमारोंमेंसे ही एक हो ॥ १८ ॥

स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेन्द्रियः।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान् द्युतिमांश्च सः॥ १९ ॥

वह जितेन्द्रिय, मृदुल, शूरवीर, सत्यस्वरूप, इन्द्रिय-संयमी, सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला, अदोषदर्शी, लज्जावान् और कान्तिमान् है ॥ १९ ॥

नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ॥ २० ॥

तप और शीलमें बढ़े हुए वृद्ध पुरुष संक्षेपमें उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि राजकुमार सत्यवान्में सरलताका नित्य निवास है और उस सद्गुणमें उसकी अविचल स्थिति है ॥ २० ॥

अश्वपतिरुवाच

गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे ।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन ॥ २१ ॥

अश्वपति बोले—भगवन् ! आप तो उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न ही बता रहे हैं, यदि उसमें कोई दोष हों तो उन्हें भी बतलाइये ॥ २१ ॥

नारद उवाच

एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २२ ॥

नारदजीने कहा—दोष तो एक ही है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है। उस दोषको प्रयत्न करके भी हटाया नहीं जा सकता ॥ २२ ॥

एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २३ ॥

आजसे लेकर एक वर्ष पूर्ण होनेतक सत्यवान्की आयु पूर्ण हो जायगी और वह शरीर-त्याग देगा। केवल यही दोष उसमें है, दूसरा नहीं ॥ २३ ॥

राजोवाच

एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने ।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ॥ २४ ॥

राजा बोले—बेटी सावित्री ! यहाँ आ। शोभने ! तू पुनः यात्रा कर और दूसरे किसी पुरुषका वरण कर ले। सत्यवान्का यह एक ही बहुत बड़ा दोष है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है ॥ २४ ॥

यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २५ ॥

जैसा कि देववन्दित भगवान् नारदजी कह रहे हैं, सत्यवान्की आयु बहुत थोड़ी है और वह एक ही वर्षमें देहत्याग कर देगा ॥ २५ ॥

सावित्र्युवाच

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥ २६ ॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥ २७ ॥

सावित्री बोली—भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता 'मैं दूँगा', यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन; मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती ॥ २६-२७ ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥

पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है। तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है ॥ २८ ॥

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव।
नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात् कथंचन ॥ २९ ॥

नारदजी बोले—नरश्रेष्ठ ! आपकी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। इसे इस धर्ममार्गसे किसी तरह हटाया नहीं जा सकता ॥ २९ ॥

नान्यस्मिन् पुरुषे सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥

सत्यवान्में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी पुरुषमें हैं भी नहीं। अतः मुझे आपकी पुत्रीका सत्यवान्के साथ विवाह कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है ॥ ३० ॥

राजोवाच

अविचाल्यं तदुक्तं यत् तथ्यं भगवता वचः।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान् मम ॥ ३१ ॥

राजा बोले—देवर्षे ! आपने जो बात कही है, वह ठीक है। उसे टाला नहीं जा सकता। अतः मैं ऐसा ही करूँगा, क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ३१ ॥

नारद उवाच

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव।
साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३२ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! आपकी पुत्री सावित्रीके विवाहमें किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा न आवे। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। आप सब लोगोंका कल्याण हो ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः।
राजापि दुहितुः सज्जं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नारदजी उठे और स्वर्गलोकमें चले गये। इधर राजा भी अपनी पुत्रीके विवाहकी तैयारी कराने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् और सावित्रीका विवाह तथा सावित्रीका अपनी सेवाओंद्वारा सबको संतुष्ट करना

मार्कण्डेय उवाच

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन्।
समानिन्ये च तत् सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कन्यादानके विषयमें नारदजीके ही कथनपर विचार करते हुए राजा अश्वपतिने विवाहके लिये सारी सामग्री एकत्र करवायी ॥

ततो वृद्धान् द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान्।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥

फिर उन्होंने बूढ़े ब्राह्मणों, समस्त ऋत्विजों तथा पुरोहितोंको बुलाकर किसी शुभ दिनमें कन्याके साथ तपोवनको प्रस्थान किया ॥ २ ॥

मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ॥ ३ ॥

पवित्र वनमें द्युमत्सेनके आश्रमके निकट पहुँचकर राजा अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ पैदल ही उन राजर्षिके पास गये ॥ ३ ॥

तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम्।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥

वहाँ उन्होंने उन महाभाग नेत्रहीन नरेशको शालवृक्षके नीचे एक कुशकी चटाईपर बैठे देखा ॥ ४ ॥

स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥
तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित्।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा की और वाणीको संयममें रखकर उन्होंने उनके समक्ष अपना परिचय दिया। तब धर्मज्ञ राजा द्युमत्सेनने मद्रराज अश्वपतिको

अर्घ्य, आसन और गौ निवेदन करके उनसे पूछा—'किस उद्देश्यसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम्।
सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

तब राजाने उनसे सत्यवान्‌के उद्देश्यसे अपना सारा अभिप्राय तथा कैसे-कैसे क्या-क्या करना है इत्यादि बातोंका विवरण सब कुछ स्पष्ट बता दिया ॥ ७ ॥

अश्वपतिरुवाच

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥

अश्वपति बोले—धर्मज्ञ राजर्षे ! सावित्री नामसे प्रसिद्ध मेरी यह सुन्दरी कन्या है । इसे आप धर्मतः अपनी पुत्रवधू बनानेके लिये स्वीकार करें ॥ ८ ॥

द्युमत्सेन उवाच

च्युताः स्म राज्याद् वनवासमाश्रिता-
श्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः ।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे
निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं एवं वनका आश्रय लेकर संयम-नियमके साथ तपस्वी जीवन बिताते हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं । आपकी कन्या ये सब कष्ट सहन करने योग्य नहीं है । ऐसी दशामें यह आश्रममें रहकर वनवासके इस कष्टको कैसे सह सकेगी ? ॥ ९ ॥

अश्वपतिरुवाच

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं
यदा विजानाति सुताहमेव च ।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं
विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ १० ॥

अश्वपतिने कहा—राजन् ! सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं । इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं । मेरे-जैसे मनुष्यसे आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मैं तो सब प्रकारसे निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ ॥ १० ॥

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च ।
अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ॥ ११ ॥

मैं सौहार्दभावसे आपकी शरणमें आया हूँ । आप मेरी आशा भग्न न करें—प्रेमपूर्वक अपने पास आये हुए मुझ प्रार्थीको निराश न लौटावें ॥ ११ ॥

अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च ।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः सतः ॥ १२ ॥

आप सर्वथा मेरे अनुरूप और योग्य हैं । मैं भी आपके योग्य हूँ । आप मेरी इस कन्याको अपने श्रेष्ठ पुत्र सत्यवान्‌की पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

द्युमत्सेन उवाच

पूर्वमेवाभिलषितः सम्बन्धो मे त्वया सह ।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद् विचारितम् ॥ १३ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! मैं तो पहलेसे ही आपके साथ सम्बन्ध करना चाहता था; परंतु इस समय अपने राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ, यह सोचकर मैंने ऐसा विचार कर लिया था कि अब यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा ॥ १३ ॥

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाङ्क्षितः ।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काङ्क्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥

किंतु मेरा यह अभिप्राय, जो मुझे पहलेसे ही अभीष्ट था, यदि आज ही सिद्ध होना चाहता है, तो अवश्य हो । आप मेरे मनोवाञ्छित अतिथि हैं ॥ १४ ॥

ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः ।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥

तदनन्तर उस आश्रममें रहनेवाले सभी ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने सत्यवान्-सावित्रीका विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न कराया ॥ १५ ॥

दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम् ।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥

राजा अश्वपति दहेजसहित कन्यादान देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी राजधानीको लौट गये ॥ १६ ॥

सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् ।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥

उस सर्वसद्गुणसम्पन्न भार्याको पाकर सत्यवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और सत्यवान्‌को अपने मनोवाञ्छित पतिके रूपमें पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ ॥ १७ ॥

गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा ।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥

पिताके चले जानेपर सावित्री अपने सब आभूषण उतारकर वल्कल तथा गेरुआ वस्त्र पहनने लगी ॥ १८ ॥

परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च ।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां पुष्टिमादधे ॥ १९ ॥

सावित्रीने सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार कार्य करनेसे सभीको प्रसन्न कर लिया ॥ १९ ॥

श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥

उसने शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदिके द्वारा सासको और वाणीके संयमपूर्वक देवोचित सत्कारद्वारा ससुरको संतुष्ट किया ॥ २० ॥

तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥

इसी प्रकार मधुर सम्भाषण, कार्य-कुशलता, शान्ति तथा एकान्तसेवाद्वारा पतिको भी सदा प्रसन्न रक्खा ॥

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम्।
कालस्तपस्यतां कश्चिदत्यक्रामत भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार उन सब लोगोंको उस आश्रममें रहकर तपस्या करते कुछ काल व्यतीत हो गया ॥

सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्त्यास्तु दिवानिशम्।
नारदेन यदुक्तं तद् वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥

इधर सावित्री निरन्तर चिन्तासे गली जा रही थी। दिन-रात सोते-उठते हर समय नारदजीकी कही हुई बात उसके मनमें बनी रहती थी—वह उसे क्षणभरके लिये भी नहीं भूलती थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९५॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीकी व्रतचर्या तथा सास-ससुर और पतिकी आज्ञा लेकर सत्यवान‌्के साथ उसका वनमें जाना

मार्कण्डेय उवाच

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर बहुत दिन बीत जानेपर एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जब कि सत्यवान‌्की मृत्यु होनेवाली थी ॥ १ ॥

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते।
यद् वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥

सावित्री एक-एक दिन बीतनेपर उसकी गणना करती रहती थी। नारदजीने जो बात कही थी, वह उसके हृदयमें सदा विद्यमान रहती थी ॥ २ ॥

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिन्त्य भाविनी।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताभवत् ॥ ३ ॥

भाविनी सावित्रीको जब यह निश्चय हो गया कि मेरे पतिको आजसे चौथे दिन मरना है, तब उसने तीन रातका व्रत धारण किया और उसमें वह दिन-रात खड़ी ही रही ।३।

तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः।
उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ॥ ४ ॥

सावित्रीका यह कठोर नियम सुनकर राजा द्युमत्सेनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उठकर सावित्रीको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—राजकुमारी ! तुमने यह बड़ा कठोर व्रत आरम्भ किया है। तीन दिनोंतक निराहार रहना तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सावित्र्युवाच

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम्।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

सावित्री बोली—पिताजी ! आप चिन्ता न करें। मैं इस व्रतको पूर्ण कर लूँगी। दृढ़ निश्चय ही व्रतके निर्वाहमें कारण हुआ करता है, सो मैंने भी दृढ़ निश्चयसे ही इस व्रतको आरम्भ किया है ॥ ६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥ ७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—यह तो मैं तुम्हें किसी तरह नहीं कह सकता कि 'बेटी ! तुम व्रत भंग कर दो।' मेरे-जैसा मनुष्य यही समुचित बात कह सकता है कि 'तुम व्रतको निर्विघ्न पूर्ण करो' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः।
तिष्ठन्ती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महामना द्युमत्सेन चुप हो गये। सावित्री एक स्थानपर खड़ी हुई काठ-सी दिखायी देती थी ॥ ८ ॥

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कल ही पतिदेवकी मृत्यु होनेवाली है, यह

सोचकर दुःखमें डूबी हुई सावित्रीकी वह रात खड़े-ही-खड़े बीत गयी ॥ ९ ॥

अद्य तद् दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम्।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥

दूसरे दिन यह सोचकर कि आज ही वह दिन है, उसने सूर्योदयके चार हाथ ऊपर उठते-उठते पूर्वाह्णकालके सब कृत्य पूरे कर लिये और प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥

फिर सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और सास-ससुरको क्रमशः प्रणाम करके वह नियमपूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी रही ॥ ११ ॥

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥

उस तपोवनमें रहनेवाले सभी तपस्वियोंने सावित्रीके लिये अवैधव्यसूचक—सौभाग्यवर्धक, शुभ और हितकर आशीर्वाद दिये ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम् ॥ १३ ॥

सावित्रीने ध्यानयोगमें स्थित हो तपस्वियोंकी उस आशीर्वादमयी वाणीको 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' कहकर मन-ही-मन शिरोधार्य किया ॥ १३ ॥

तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा।
यथोक्तं नारदवचश्चिन्तयन्ती सुदुःखिता ॥ १४ ॥

फिर पतिकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाले समय और मुहूर्तकी प्रतीक्षा करती हुई राजकुमारी सावित्री नारदजीके पूर्वोक्त वचनका चिन्तन करके बहुत दुखी हो गयी ॥ १४ ॥

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम्।
एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर सास और ससुरने एकान्तमें बैठी हुई राजकुमारी सावित्रीसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

श्वशुरावूचतुः

व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया।
आहारकालः सम्प्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ १६ ॥

सास-ससुर बोले—बेटी ! तुमने शास्त्रके उपदेशके अनुसार अपना व्रत पूरा कर लिया है, अब पारण करनेका समय हो गया है। अतः जो कर्तव्य है, वह करो ॥ १६ ॥

सावित्र्युवाच

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७ ॥

सावित्री बोली—सूर्यास्त होनेपर जब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा, तभी मैं भोजन करूँगी। यह मेरे मनका संकल्प है और मैंने ऐसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति।
स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब सावित्री भोजनके सम्बन्धमें इस प्रकार बातें कर रही थी, उसी समय सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर (फल-फूल, समिधा आदि लानेके लिये) वनकी ओर चले ॥ १८ ॥

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि।
सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

उस समय सावित्रीने अपने पतिसे कहा—नाथ ! आप अकेले न जाइये। मैं भी आपके साथ चलूँगी। आज मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकती ॥ १९ ॥

सत्यवानुवाच

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भाविनि।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

सत्यवान्‌ने कहा—सुन्दरी ! तुम पहले कभी वनमें नहीं गयी हो। वनका रास्ता बड़ा दुःखदायक होता है, तुम व्रत और उपवास करनेके कारण दुर्बल हो रही हो। ऐसी दशामें पैदल कैसे चल सकोगी ? ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २१ ॥

सावित्री बोली—उपवासके कारण मुझे किसी प्रकारकी शिथिलता और थकावट नहीं है। चलनेके लिये मेरे मनमें पूर्ण उत्साह है, अतः आप मुझे मना न कीजिये ॥ २१ ॥

सत्यवानुवाच

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम्।
मम त्वामन्त्रय गुरून् न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२ ॥

सत्यवान्‌ने कहा—यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो मैं तुम्हारा प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा। परंतु तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह।
अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २४ ॥
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५ ॥
संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात्।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तब महान् व्रतका पालन करनेवाली सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'ये मेरे पतिदेव फल आदि लानेके लिये महान् वनमें जा रहे हैं। यदि सासजी और ससुरजी मुझे आज्ञा दें, तो मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ। आज मुझे इनका एक क्षणका भी विरह सहा नहीं जाता है। आपके पुत्र आज गुरुजनोंके लिये तथा अग्निहोत्रके उद्देश्यसे फल, फूल और समिधा आदि लानेके लिये वनमें जा रहे हैं, अतः उनको रोकना उचित नहीं है। हाँ, यदि किसी दूसरे कार्यके लिये वनमें जाते होते तो उन्हें रोका भी जा सकता था। एक वर्षसे कुछ ही कम हुआ, मैं आश्रमसे बाहर नहीं निकली। अतः आज फूलोंसे भरे हुए वनको देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २३–२६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम।
नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७ ॥

द्युमत्सेन बोले—जबसे सावित्रीके पिताने इसे मेरी पुत्रवधू बनाकर दिया है, तबसे आजतक इसने पहले कभी मुझसे किसी बातके लिये प्रार्थना की हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ॥ २७ ॥

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥ २८ ॥

अतः आज मेरी पुत्रवधू अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त करे। बेटी! जा, सत्यवान्‌के मार्गमें सावधानी रखना ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी।
सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सास और ससुर दोनोंकी आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री अपने पतिदेवके साथ चल दी, वह ऊपरसे तो हँसती-सी जान पड़ती थी, किंतु उसका हृदय दुःखकी ज्वालासे दग्ध हो रहा था ॥ २९ ॥

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥

विशाल नेत्रोंवाली सावित्रीने सब ओर घूम-घूमकर मयूर-समूहोंसे सेवित रमणीय और विचित्र वन देखे ॥ ३० ॥

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान्।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥

पवित्र जल बहानेवाली नदियों तथा फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको लक्ष्य करके सत्यवान् सावित्रीसे मधुर वाणीमें कहते—'प्रिये! देखो, कैसा मनोहर दृश्य है' ॥ ३१ ॥

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिन्दिता।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥

सती-साध्वी सावित्री अपने पतिकी सभी अवस्थाओंका निरीक्षण करती थी। नारदजीके वचनोंको स्मरण करके उसे निश्चय हो गया था कि समयपर मेरे पतिकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजन्ती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥

मन्दगतिसे चलनेवाली सावित्री मानो अपने हृदयके दो भाग करके एकसे अपने पतिका अनुसरण करती और दूसरेसे प्रतिक्षण उनके मृत्युकालकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्रीउपाख्यानविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्री और यमका संवाद, यमराजका संतुष्ट होकर सावित्रीको अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवानको भी जीवित कर देना तथा सत्यवान् और सावित्रीका वार्तालाप एवं आश्रमकी ओर प्रस्थान

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर पत्नीसहित शक्तिशाली सत्यवान्ने फल चुनकर एक काठकी टोकरी भर ली। तत्पश्चात् वे लकड़ी चीरने लगे ॥ १ ॥

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

लकड़ी चीरते समय परिश्रमके कारण उनके शरीरसे पसीना निकल आया और उसी परिश्रमसे उनके सिरमें दर्द होने लगा। तब वे श्रमसे पीड़ित हो अपनी प्यारी पत्नीके पास जाकर बोले ॥ २½ ॥

सत्यवानुवाच

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥
अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥

सत्यवान्ने कहा—सावित्री ! आज लकड़ी काटनेके परिश्रमसे मेरे सिरमें दर्द होने लगा है, सारे अङ्गोंमें पीड़ा हो रही है और हृदय दग्ध-सा होता जान पड़ता है। मितभाषिणी प्रिये ! मैं अपने-आपको अस्वस्थ-सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई शूलोंसे मेरे सिरको छेद रहा है। कल्याणि ! अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है ॥ ३—५ ॥

सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च ।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥

यह सुनकर सावित्री शीघ्र अपने पतिके पास आयी और उनका सिर गोदीमें लेकर पृथ्वीपर बैठ गयी ॥ ६ ॥

ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥

फिर वह तपस्विनी राजकन्या नारदजीकी बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिनका योग मिलाने लगी॥

मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥ ९ ॥

दो ही घड़ीमें उसने देखा, एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिनके शरीरपर लाल रंगका वस्त्र शोभा पा रहा है।

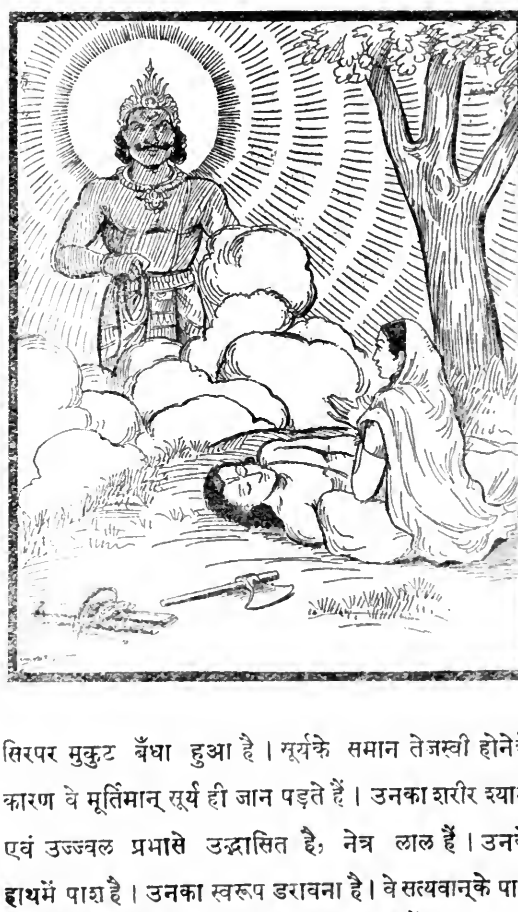

सिरपर मुकुट बँधा हुआ है। सूर्यके समान तेजस्वी होनेके कारण वे मूर्तिमान् सूर्य ही जान पड़ते हैं। उनका शरीर श्याम एवं उज्ज्वल प्रभासे उद्भासित है, नेत्र लाल हैं। उनके हाथमें पाश है। उनका स्वरूप डरावना है। वे सत्यवान्के पास खड़े हैं और बार-बार उन्हींकी ओर देख रहे हैं ॥ ८-९ ॥

यम-सावित्री

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥

उन्हें देखते ही सावित्रीने धीरेसे पतिका मस्तक भूमिपर रख दिया और सहसा खड़ी हो हाथ जोड़कर काँपते हुए हृदयसे वह आर्त वाणीमें बोली ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम्।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—मैं समझती हूँ, आप कोई देवता हैं; क्योंकि आपका यह शरीर मनुष्यों-जैसा नहीं है। देवेश्वर ! यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

यम उवाच

पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १२ ॥

यमराज बोले—सावित्री ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ । शुभे ! तू मुझे यमराज जान ॥ १२ ॥

अयं ते सत्यवान् भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३॥

तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान्‌की आयु समाप्त हो गयी है, अतः मैं इसे बाँधकर ले जाऊँगा। बस, मैं यही करना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

सावित्र्युवाच

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १४ ॥

सावित्रीने पूछा—भगवन् ! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं। प्रभो ! आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये ? ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम्।
यथावत् सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सावित्रीके इस प्रकार पूछनेपर पितृराज भगवान् यमने उसका प्रिय करनेके लिये अपना सारा अभिप्राय यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ॥

अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥

'यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान् और गुणोंका समुद्र है । मेरे दूतोंद्वारा ले जाया जाने योग्य नहीं है । इसीलिये मैं स्वयं आया हूँ' ॥ १६ ॥

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥

तदनन्तर यमराजने सत्यवान्‌के शरीरसे पाशमें बँधे हुए अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले विवश हुए जीवको बलपूर्वक खींचकर निकाला ॥ १७ ॥

ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम्।
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १८ ॥

फिर तो प्राण निकल जानेसे उसकी साँस बंद हो गयी—अङ्गकान्ति फीकी पड़ गयी और शरीर निश्चेष्ट होकर अपरूप दिखायी देने लगा ॥ १८ ॥

यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १९ ॥

यमराज उस जीवको बाँधकर साथ लिये दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये । सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके ही पीछे-पीछे चल पड़ी । वह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकन्या नियमपूर्वक व्रतोंके पालनसे पूर्णतः सिद्ध हो चुकी थी। (अतः निर्बाध गतिसे सर्वत्र आने-जानेमें समर्थ थी) ॥

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम्।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥

यमराज बोले—सावित्री ! अब तू लौट जा, सत्यवान्‌का अन्त्येष्टि-संस्कार कर । अब तू पतिके ऋणसे उऋण हो गयी। पतिके पीछे तुझे जहाँतक आना चाहिये था, तू वहाँतक आ चुकी ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

सावित्रीने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये, यही सनातन धर्म है ॥ २१ ॥

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २२ ॥

तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रतपालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती ॥ २२ ॥

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २३॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सात पग साथ चलनेमात्रसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसी मित्रताको सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी, उसे सुनिये ॥ २३ ॥

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥२४॥

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे वनमें रहकर धर्मपालन, गुरुकुलवास तथा कष्टसहनरूप तपस्या नहीं कर सकते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही यह सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । महात्मालोग विवेक-विचारसे ही धर्म-प्राप्ति बताते हैं, अतः सभी सत्पुरुष धर्मको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २४ ॥

एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत्
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २५ ॥

अपने एक ही वर्णके सत्पुरुष-सम्मत धर्मका पालन करनेसे सभी लोग उस विज्ञान-मार्गपर पहुँच जाते हैं, जो सबका लक्ष्य है अतः दूसरे या तीसरे वर्णकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । इसलिये साधु पुरुष केवल वर्ण-धर्मको ही प्रधानता देते हैं ॥ २५ ॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा
स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥ २६ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते ! तू लौट जा। स्वर, अक्षर, व्यञ्जन एवं युक्तियोंसे युक्त तेरी इन बातोंसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू यहाँ मुझसे कोई वर माँग ले। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा मैं और सब कुछ तुझे दे सकता हूँ ॥ २६ ॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-
स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥ २७॥

सावित्री बोली—भगवन् ! मेरे श्वशुर अपने राज्यसे भ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं। उनकी आँखें भी नष्ट हो गयी हैं। मैं चाहती हूँ, आपकी कृपासे उन महाराजको उनकी आँखें मिल जायँ और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी हो जायँ ॥ २७ ॥

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं
यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ २८ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते ! मैं तुझे वर देता हूँ। तूने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा । मैं देखता हूँ, तू राह चलनेके कारण बहुत थक गयी है। अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो ॥ २८ ॥

सावित्र्युवाच

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २९ ॥

सावित्री बोली—स्वामीके समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है। जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी गति निश्चित है । आप जहाँ मेरे प्राणनाथको ले जायँगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है। देवेश्वर ! आप फिर मेरी बात सुनिये ॥ २९ ॥

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं
ततः सतां सन्निवसेत् समागमे ॥ ३० ॥

सत्पुरुषोंका एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु पुरुषका सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही समीप रहना चाहिये ॥३०॥

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥

यमराज बोले—भामिनी! तूने जो सबके हितकी बात कही है, वह मेरे मनके अनुकूल है तथा विद्वानोंकी भी बुद्धिको बढ़ानेवाली है; अतः इस सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर तू दूसरा कोई वर और माँग ले ॥ ३१ ॥

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा
द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥

सावित्री बोली—मेरे बुद्धिमान् श्वशुरका राज्य, जो पहले उनसे छीन लिया गया है, उसे वे महाराज पुनः प्राप्त कर लें तथा वे मेरे पूज्य गुरु महाराज द्युमत्सेन कभी अपना धर्म न छोड़ें, यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूँ ॥ ३२ ॥

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥ ३३ ॥

यमराज बोले—राजा द्युमत्सेन शीघ्र एवं अनायास ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे और वे कभी अपने धर्मका भी परित्याग नहीं करेंगे। राजकुमारी! मेरे द्वारा अब तेरी इच्छा पूरी हो गयी। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो ॥ ३३ ॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे निकामया।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
निबोध चेमां गिरमीरितां मया॥ ३४

सावित्री बोली—देव! इस सारी प्रजाको आप नियमसे संयममें रखते हैं और उसका नियमन करके आप अपनी इच्छाके अनुसार उसे विभिन्न लोकोंमें ले जाते हैं। इसीलिये आपका 'यम' नाम सर्वत्र विख्यात है। मैं जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये ॥ ३४ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥ ३५।

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दयाभाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥ ३५ ॥

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥

प्रायः इस संसारके लोग अल्पायु होते हैं, मनुष्योंकी शक्तिहीनता तो प्रसिद्ध ही है। आप-जैसे संत-महात्मा तो अपनी शरणमें आये हुए शत्रुओंपर भी दया करते हैं (फिर हम जैसे दीन मनुष्योंपर दया क्यों न करेंगे?) ॥ ३६ ॥

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-
स्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥३७॥

यमराज बोले—शुभे! जैसे प्यासे मनुष्यको प्राप्त हुआ जल आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अतः तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले ॥ ३७ ॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता
भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम्।

कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत्
तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम्॥ ३८ ॥

सावित्रीने कहा—भगवन्! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं, उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुलकी संतानपरम्पराको चलानेवाले हों। मैं आपसे यही तीसरा वर माँगती हूँ ॥ ३८ ॥

यम उवाच

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं
शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३९ ॥

यमराज बोले—शुभे! तेरे पिताके कुलकी संतान-परम्पराको चलानेवाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे। राज-कुमारी! तेरी यह कामना भी पूरी हुई। अब लौट जा, तू रास्तेसे बड़ी दूर चली आयी है ॥ ३९ ॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ
मनो हि मे दूरतरं प्रधावति।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां
मयोच्यमानां शृणु भूय एव च॥ ४० ॥

सावित्रीने कहा—भगवन्! मैं अपने स्वामीके समीप हूँ। इसलिये यह स्थान मेरे लिये दूर नहीं है। मेरा मन तो और भी दूरतक दौड़ लगाता है। आप चलते-चलते ही मेरी कही हुई ये प्रस्तुत बातें पुनः सुनें ॥ ४० ॥

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-
स्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-
स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥ ४१ ॥

देवेश्वर! आप विवस्वान् (सूर्य) के प्रतापी पुत्र हैं, इसलिये विद्वान् पुरुष आपको वैवस्वत कहते हैं। आप समस्त प्रजाके साथ समतापूर्वक धर्मानुसार आचरण करते हैं, इसलिये आप धर्मराज कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ४२ ॥

मनुष्यको अपने-आपपर भी उतना विश्वास नहीं होता है, जितना संतोंपर होता है। इसलिये सब लोग संतोंसे विशेष प्रेम करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ४३ ॥

सौहार्दसे ही समस्त प्राणियोंका एक दूसरेके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। संतोंमें सौहार्द होनेके कारण ही सब लोग उनपर अधिक विश्वास करते हैं ॥ ४३ ॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने
शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं
वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ४४ ॥

यमराज बोले—कल्याणि! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरेके मुखसे नहीं सुनी है। शुभे! तेरी इस बातसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; तू सत्यवान्के जीवनके सिवा और कोई चौथा वर माँग ले और यहाँसे लौट जा ॥

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं
भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम्।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-
मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम्॥ ४५ ॥

सावित्रीने कहा—मेरे और सत्यवान्—दोनोंके संयोगसे कुलकी वृद्धि करनेवाले, बल और पराक्रमसे सुशोभित सौ औरस पुत्र हों। यह मैं आपसे चौथा वर माँगती हूँ ॥ ४५ ॥

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां
भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४६ ॥

यमराज बोले—अबले! तुझे बल और पराक्रमसे सम्पन्न सौ पुत्र प्राप्त होंगे, जो तेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होंगे। राजकुमारी! अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो। तू रास्तेसे बहुत दूर चली आयी है ॥ ४६ ॥

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥४७॥

सावित्रीने कहा—सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुखी या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंका संतोंके साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष संतोंसे कभी भय नहीं मानते हैं ॥ ४७ ॥

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥४८॥

श्रेष्ठ पुरुष सत्यके बलसे सूर्यका संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्यासे इस पृथ्वीको धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्यके आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष संतोंके बीचमें रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं ॥

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥४९॥

यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है। यह जानकर सभी श्रेष्ठ पुरुष परोपकार करते हैं और आपसमें एक-दूसरेकी ओर स्वार्थकी दृष्टिसे कभी नहीं देखते हैं॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥५०॥

सत्पुरुषोंका प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहाँ किसीको स्वार्थकी हानि नहीं उठानी पड़ती है और न मान-सम्मान ही नष्ट होता है। ये तीनों (प्रसाद, अर्थ और मान) संतोंमें नित्य-निरन्तर बने रहते हैं; इसलिये वे सम्पूर्ण जगत्के रक्षक होते हैं ॥ ५० ॥

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं
मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा
वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते ॥५१॥

यमराज बोले—पतिव्रते! जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थसे युक्त और सुन्दर पदोंसे विभूषित, मनके अनुकूल धर्मसंगत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे-ही-वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले ॥ ५१ ॥

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृत-
स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥५२॥

सावित्रीने कहा—मानद! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य-संयोगके बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरोंकी जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वरकी नहीं है। इसलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ; क्योंकि इन पतिदेवताके बिना मैं मरी हुईके ही समान हूँ ॥ ५२ ॥

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥५३॥

पतिके बिना यदि कोई सुख मिलता है, तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेवके बिना मैं स्वर्गलोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं रखती। पतिके बिना मुझे धन-सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं पतिके बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती ॥ ५३ ॥

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम
त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥५४॥

आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और आप ही मेरे पतिको अन्यत्र लिये जा रहे हैं; अतः मैं वही वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ, इससे आपका ही वचन सत्य होगा ॥ ५४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर सूर्यपुत्र धर्मराज यमने सत्यवान्‌का बन्धन खोल दिया और प्रसन्नचित्त होकर सावित्रीसे इस प्रकार कहा—

एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि।
(तोषितोऽहं त्वया साध्वि वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः।)
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५६ ॥

'भद्रे! यह ले, मैंने तेरे पतिको छोड़ दिया। कुलनन्दिनी! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचनोंद्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट कर दिया है। साध्वी! यह सत्यवान् नीरोग, सफलमनोरथ तथा तेरेद्वारा ले जाने योग्य हो गया ॥ ५६ ॥

चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७ ॥

'यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करेगा। यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करके यह अपने धर्माचरणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात होगा ॥ ५७ ॥

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥ ५८ ॥

'सत्यवान् तेरे गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न करेगा और वे सभी राजकुमार राजा होनेके साथ ही पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होंगे ॥ ५८ ॥

ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९ ॥

'तेरे ही नामसे उनकी सदा ख्याति होगी अर्थात् वे सावित्र नामसे प्रसिद्ध होंगे। तेरे पिताके भी तेरी माताके ही गर्भसे सौ पुत्र होंगे ॥ ५९ ॥

मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥

'वे तेरी माता मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे विख्यात होंगे। तेरे भाई मालव क्षत्रिय पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न तथा देवताओंके समान तेजस्वी होंगे' ॥ ६० ॥

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान्।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥

सावित्रीको इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटाकर अपने लोकको चले गये ॥ ६१ ॥

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६२ ॥

यमराजके चले जानेपर सावित्री अपने पतिको पाकर उसी स्थानपर गयी; जहाँ पतिका मृत शरीर पड़ा था ॥ ६२ ॥

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥

यह पृथ्वीपर अपने पतिको पड़ा देख उनके पास गयी और पृथ्वीपर बैठ गयी, फिर पतिको उठाकर उसने उनके मस्तकको गोदीमें रख लिया ॥ ६३ ॥

संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६४ ॥

तदनन्तर पुनः चेतना प्राप्त करके सत्यवान् परदेशमें रहकर लौटे हुए पुरुषकी भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्रीकी ओर देखते हुए उससे बोले ॥ ६४ ॥

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः।
क्व चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥ ६५ ॥

सत्यवान्‌ने कहा—प्रिये ! खेद है कि मैं बहुत देरतक सोता रह गया। तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया? वे श्यामवर्णके पुरुष कहाँ हैं, जिन्होंने मुझे खींचा था? ॥ ६५ ॥

सावित्र्युवाच

सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ।
गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६६ ॥

सावित्री बोली—नरश्रेष्ठ ! आप मेरी गोदमें बहुत देरतक सोते रह गये। वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाको संयममें रखनेवाले साक्षात् भगवान् यम थे, जो अब चले गये हैं ॥

विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ६७ ॥

महाभाग ! आपने विश्राम कर लिया। राजकुमार ! अब आपकी नींद भी टूट चुकी है। यदि शक्ति हो तो उठिये; देखिये, प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त रात्रि हो गयी है ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥ ६८ ॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत् ॥ ६९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब होशमें आकर सत्यवान् सुखपूर्वक सोये हुए पुरुषकी भाँति उठकर संपूर्ण दिशाओं तथा वनप्रान्तकी ओर दृष्टि डालकर बोले— 'सुमध्यमे ! मैं फल लानेके लिये तुम्हारे साथ घरसे निकला था, फिर लकड़ी चीरते समय मेरे सिरमें जोर-जोरसे दर्द होने लगा था ॥ ६८-६९ ॥

शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन्।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ७० ॥

'शुभे ! मस्तककी उस पीड़ासे संतप्त हो मैं देरतक खड़ा रहनेमें असमर्थ हो गया और तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सो रहा। ये सारी बातें मुझे क्रमशः याद आ रही हैं ॥ ७० ॥

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ७१ ॥

'तुम्हारे अङ्गोंका स्पर्श होनेसे मेरा मन नींदमें खो गया। तत्पश्चात् मुझे घोर अन्धकार दिखायी दिया। साथ ही एक महातेजस्वी दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ ॥ ७१ ॥

तद् यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ॥ ७२ ॥

'सुमध्यमे ! यदि तुम जानती हो तो बताओ, वह सब क्या था? मैंने जो कुछ देखा है; वह स्वप्न तो नहीं था? अथवा वह सब सत्य ही था' ॥ ७२ ॥

तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७३ ॥

तब सावित्री उनसे बोली—'राजकुमार ! रात बढ़ती जा रही है। कल सबेरे मैं आपसे सब बातें ठीक-ठीक बताऊँगी ॥ ७३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७४ ॥

'सुव्रत ! उठिये, उठिये, आपका कल्याण हो। आप चलकर माता-पिताका दर्शन तो कीजिये। सूर्य डूब गये तथा रात घनी हो गयी है ॥ ७४ ॥

नक्तंचराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ॥ ७५ ॥

ये क्रूर बोली बोलनेवाले निशाचर यहाँ प्रसन्नतापूर्वक विचर रहे हैं। वनमें घूमते हुए मृगोंके पैरोंसे लगकर पत्तोंके मर्मर शब्द सुनायी पड़ते हैं ॥ ७५ ॥

एता घोरं शिवा नादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम्।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम ॥ ७६ ॥

'दक्षिण और पश्चिमके कोणकी दिशामें जाकर ये उग्र सियारिनें भयंकर शब्द कर रही हैं, जिससे मेरा हृदय काँप उठता है ।७६।

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसाऽऽवृतम्।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७७ ॥

सत्यवान् बोले—प्रिये ! यह वन गाढ अन्धकारसे आच्छादित होकर अत्यन्त भयंकर दिखायी दे रहा है। इस समय न तो तुम्हें रास्ता सूझेगा और न तुम चल ही सकोगी।

सावित्र्युवाच

अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन्।

वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित् ॥ ७८॥

सावित्रीने कहा—आज इस वनमें आग लगी थी। इसमें एक सूखा वृक्ष खड़ा है, जो जल रहा है। हवा लगनेसे उसमें कहीं-कहीं आग दिखायी देती है॥ ७८॥

ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः॥ ७९॥

वहींसे आग लेआकर मैं सब ओर लकड़ियाँ जलाऊँगी। यहाँ बहुतसे काठ-कबाड़ पड़े हैं। आप मनसे चिन्ता निकाल दीजिये॥ ७९॥

यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये।
न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने॥ ८०॥
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ॥ ८१॥

परंतु मैं आपको रुग्ण देख रही हूँ। ऐसी दशामें यदि आपके मनमें चलनेका उत्साह न हो अथवा इस तिमिराच्छन्न वनमें यदि आपको रास्तेका ज्ञान न हो सके तो आपकी अनुमति होनेपर हम दोनों कल सवेरे, जब वनकी हर एक वस्तु स्पष्ट दीखने लगे, घर चलेंगे। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो एक रात हमलोग यहीं निवास करें॥

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम्॥ ८२॥

सत्यवान्‌ने कहा—प्रिये! मेरे सिरका दर्द दूर हो गया है। मुझे अपने सब अङ्ग स्वस्थ दिखायी देते हैं। अब तुम्हारे कृपाप्रसादसे मैं अपने माता-पितासे मिलना चाहता हूँ॥

न कदाचिद् विकाले हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम्॥ ८३॥

आजसे पहले कभी भी मैं इतनी देर करके असमयमें अपने आश्रमपर नहीं लौटा हूँ। संध्या होनेसे पहले ही माता मुझे रोक लेती है—आश्रमसे बाहर नहीं जाने देती है॥८३॥

दिवापि मयि निष्क्रान्ते संतप्येते गुरू मम।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः॥ ८४॥

दिनमें भी यदि मैं आश्रमसे दूर निकल जाता हूँ तो मेरे माता-पिता व्याकुल हो उठते हैं एवं पिताजी आश्रमवासियोंके साथ मुझे खोजने निकल पड़ते हैं॥ ८४॥

मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति ह॥ ८५॥

मेरे माता-पिताने अत्यन्त दुखी होकर पहले कई बार मुझे उलाहना दिया है कि 'तू देरसे घर लौटता है'॥ ८५॥

का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये।
तयोरदृश्ये मयि च महद् दुःखं भविष्यति॥ ८६॥

आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या अवस्था हुई होगी? यह सोचकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मुझे न देखनेपर उन दोनोंको महान् दुःख होगा॥ ८६॥

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ॥ ८७॥

पहलेकी बात है, मेरे वृद्ध माता-पिताने अत्यन्त दुखी हो रातमें आँसू बहाते हुए मुझसे बारंबार प्रेमपूर्वक कहा था—॥

त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक।
यावद् धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम्॥ ८८॥

'बेटा! तुम्हारे बिना हम दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। वत्स! तुम जबतक जीवित रहोगे, तभीतक हमारा भी जीवन निश्चित है॥ ८८॥

वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं चावयोरिति॥ ८९॥

'हम दोनों बूढ़े और अंधे हैं। तुम्हीं हमारी दृष्टि हो तथा तुम्हींपर हमारा वंश प्रतिष्ठित है। हम दोनोंका पिण्ड, कीर्ति और कुलपरम्परा सब कुछ तुमपर ही अवलम्बित है'॥

माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः॥ ९०॥

मेरी माता बूढ़ी है। पिता भी वृद्ध हैं, केवल मैं ही उन दोनोंके लिये लाठीका सहारा हूँ। वे दोनों रातमें मुझे न देखकर पता नहीं किस दशाको पहुँच जायँगे?॥ ९०॥

निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी॥ ९१॥

मैं अपनी इस नींदको कोसता हूँ, जिसके कारण मेरे पिता तथा कभी मेरा अपकार न करनेवाली मेरी माताका जीवन संशयमें पड़ गया है॥ ९१॥

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे॥ ९२॥

मैं भी कठिन विपत्तिमें फँसकर प्राण-संशयकी दशामें आ पहुँचा हूँ। माता-पिताके बिना तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ ९२ ॥

व्यक्तमाकुलया बुद्धया प्रज्ञाचक्षुः पिता मम।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९३ ॥

निश्चय ही इस समय मेरे प्रज्ञाचक्षु (अंधे) पिता व्याकुल हृदयसे एक-एक आश्रमवासीके पास जाकर मेरे विषयमें पूछ रहे होंगे ॥ ९३ ॥

नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९४ ॥

शुभे! मुझे अपने लिये उतना शोक नहीं है, जितना कि पिताके लिये और उन्हींका अनुसरण करनेवाली दुबली-पतली माताके लिये है ॥ ९४ ॥

मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाप्यहम्।

मेरे कारण आज मेरे माता-पिता बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देखकर ही मैं जी रहा हूँ । मुझे उन दोनोंका भरण-पोषण करना चाहिये। मैं यह भी जानता हूँ कि माता-पिताका प्रिय करना ही मेरा कर्तव्य है ॥ ९५½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यों कहकर धर्मात्मा, गुरुभक्त एवं गुरुजनोंके प्रिय सत्यवान् दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आतुर हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥

ततोऽब्रवीत् तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ॥ ९७ ॥
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी।

अपने पतिको इस प्रकार शोकसे कातर हुआ देख धर्मका पालन करनेवाली सावित्रीने नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओं-को पोंछकर कहा—'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, यदि दान दिया हो और होम किया हो तो मेरे सास-ससुर और पतिके लिये यह रात पुण्यमयी हो ॥ ९७-९८½ ॥

न स्मराम्युक्तपूर्वां वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम् ॥ ९९ ॥
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम।

'मैंने पहले कभी इच्छानुसार किये जानेवाले क्रीडा-विनोदमें भी झूठी बात कही हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है। उस सत्यके प्रभावसे इस समय मेरे सास-ससुर जीवित रहें ॥

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ॥ १०० ॥
(अपि नाम गुरू तौ हि पश्येयं प्रीयमाणकौ।)

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री! चलो, मैं शीघ्र ही माता-पिताका दर्शन करना चाहता हूँ। क्या मैं उन दोनोंको प्रसन्न देख सकूँगा? ॥ १०० ॥

पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम्।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ॥ १०१ ॥

वरारोहे! मैं सत्यकी शपथ खाकर अपना शरीर छूकर कहता हूँ, यदि मैं माता अथवा पिताका अप्रिय देखूँगा तो जीवित नहीं रहूँगा ॥ १०१ ॥

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात् ॥ १०२ ॥

यदि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत है, यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो अथवा मेरा प्रिय करना अपना कर्तव्य समझती हो, तो हम दोनों शीघ्र ही आश्रमके समीप चलें ॥ १०२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पतिका हित-चिन्तन करनेवाली सावित्रीने उठकर अपने खुले हुए केशोंको बाँध लिया और दोनों हाथोंसे पकड़कर पतिको उठाया ॥

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥

सत्यवान्‌ने भी उठकर एक हाथसे अपने सभी अङ्ग पोंछे और चारों ओर देखकर फलोंकी टोकरीपर दृष्टि डाली ॥

तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि।
योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥१०५॥

तब सावित्रीने उनसे कहा—'कल सबेरे फलोंको ले चलियेगा। इस समय आपके योग-क्षेमके लिये इस कुल्हाड़ीको मैं साथ ले चलूँगी' ॥ १०५ ॥

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम्।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥१०६॥

फिर उसने टोकरीके बोझको पेड़की डालमें लटका दिया और कुल्हाड़ी लेकर वह पुनः पतिके पास आ गयी ॥

वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥१०७॥

कमनीय ऊरुओंसे सुशोभित तथा हाथीके समान मन्द गतिसे चलनेवाली सावित्रीने पतिकी दाहिनी भुजाको बायें कंधेपर रखकर दाहिने हाथसे उन्हें अपने पार्श्व सटा लिया और धीरे-धीरे चलने लगी ॥ १०७ ॥

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद् भीरु पन्थानो विदिता मम।
वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥१

उस समय सत्यवान्‌ने कहा—भीरु! बार-बार जानेसे यहाँके सभी मार्ग मेरे परिचित हैं। वृक्षोंके भ दिखायी देनेवाली चाँदनीसे भी मैं रास्तोंकी पहचा लेता हूँ ॥ १०८ ॥

आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च।
यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय ॥१

यह वही मार्ग है, जिससे हम दोनों आये थे और फल चुने थे। शुभे! तुम जैसे आयी हो, वैसे चली च रास्तेका विचार न करो ॥ १०९ ॥

पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्तते द्विधा।
तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च ॥१
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ।

पलाश-वृक्षोंके इस वनप्रदेशमें यह मार्ग अलग-अ दो दिशाओंकी ओर मुड़ जाता है। इन दोनोंमेंसे जो उत्तरकी ओरसे जाता है, उसीसे चलो और शीघ्रतापूर्व बढ़ाओ। अब मैं स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ और अपने माता पिता दोनोंको देखनेके लिये उत्सुक हूँ ॥ ११०½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः सम्प्रायादाश्रमं प्रति ॥११

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए सत्य बड़ी उतावलीके साथ आश्रमकी ओर चलने लगे ॥ ११

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका एक श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

इन्द्रका शक्ति-दान

युधिष्ठिर और बगुलारूपधारी यक्ष

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनकी सत्यवान्‌के लिये चिन्ता, ऋषियोंका उन्हें आश्वासन देना, सावित्री और सत्यवान्‌का आगमन तथा सावित्रीद्वारा विलम्बसे आनेके कारणपर प्रकाश डालते हुए वरप्राप्तिका विवरण बताना

मार्कण्डेय उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी समय महाबली महाराजा द्युमत्सेनको उनकी खोयी हुई आँखें मिल गयीं। दृष्टि स्वच्छ हो जानेके कारण वे सब कुछ देखने लगे ॥

स सर्वानाश्रमान् गत्वा शैब्यया सह भार्यया।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे अपनी पत्नी शैब्याके साथ सभी आश्रमोंमें जाकर पुत्रका पता लगाने लगे। उस समय उन्हें सत्यवान्‌के लिये बड़ी वेदना हो रही थी ॥ २ ॥

तावाश्रमान् नदीश्चैव वनानि च सरांसि च।
तस्यां निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों पति-पत्नी उस रातमें पुत्रकी खोज करते हुए विभिन्न आश्रमों, नदीके तटों तथा वनों और सरोवरोंमें भ्रमण करने लगे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा शब्दं तु यं कञ्चिदुन्मुखौ सुतशङ्कया।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभाषताम् ॥ ४ ॥

जो कोई भी शब्द कानमें पड़ता, उसीको सुनकर वे अपने पुत्रके आनेकी आशङ्कासे उत्सुक हो उठते और परस्पर कहने लगते कि 'सावित्रीके साथ सत्यवान् आ रहा है' ॥ ४ ॥

भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः।
कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥

उनके पैरोंमें बिवाई फट गयी थी, वे कठोर हो गये थे तथा घाव हो जानेके कारण रक्तसे भींगे रहते थे, तो भी उन्हीं पैरोंसे वे दोनों दम्पति इधर-उधर पागलोंकी भाँति दौड़ रहे थे। उस समय उनके अङ्गोंमें कुश और काँटे बिंध गये थे ॥ ५ ॥

ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥

तब उन आश्रमोंमें रहनेवाले समस्त ब्राह्मणोंने उनके पास जा उन्हें सब ओरसे घेरकर आश्वासन दिया तथा उन दोनोंको उनके आश्रमपर पहुँचाया ॥ ६ ॥

तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥

तपस्याके धनी वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा घिरे हुए पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनको प्राचीन राजाओंकी विचित्र अर्थोंसे भरी हुई कथाएँ सुनाकर पूरा आश्वासन दिया गया, तो भी वे दोनों वृद्ध बारंबार सान्त्वना मिलते रहनेपर भी अपने पुत्रको देखनेकी इच्छासे उसके बचपनकी बातें सोचते हुए बहुत दुखी हो गये ॥ ७-८ ॥

पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम्।
ब्राह्मणः सत्यवाक् तेषामुवाचेदं तयोर्वचः ॥ ९ ॥

वे शोककातर दम्पति बारंबार करुण वचन बोलते हुए 'हा पुत्र ! हा सती-साध्वी बहू ! तुम कहाँ हो, कहाँ हो ?' यों कहकर रोने लगे। उस समय एक सत्यवादी ब्राह्मणने उन दोनोंसे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

सुवर्चा बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ॥ १० ॥

गौतम उवाच

वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे संचितं महत्।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत् पुरा ॥ १२ ॥
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम्।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

गौतम बोले—मैंने छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है। महान् तपका संचय किया है ! कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनों तथा अग्निदेवको संतुष्ट किया है। एकाग्रचित्त होकर सभी व्रत पूर्ण किये हैं। पूर्वकालमें हवा पीकर विधिपूर्वक उपवास-व्रतका साधन किया है। इस तपस्याके प्रभावसे मैं दूसरोंकी सारी चेष्टाओंको जान लेता हूँ। आपलोग मेरी यह बात सच मानें कि सत्यवान् जीवित है ॥ ११-१३ ॥

शिष्य उवाच

उपाध्यायस्य मे वक्त्राद् यथा वाक्यं विनिःसृतम् ।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥ १४॥

गौतमके शिष्यने कहा—मेरे गुरुजीके मुखसे जो बात निकली है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकती । सत्यवान् अवश्य जीवित है ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

यथास्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः ।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १५ ॥

कुछ ऋषियोंने कहा—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री उन सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त है, जो वैधव्य निवारण करके सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाले हैं इसलिये सत्यवान् अवश्य जीवित है॥ १५॥

भारद्वाज उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥

भारद्वाज बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ॥ १६ ॥

दाल्भ्य उवाच

यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् ।
गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥ १७ ॥

दाल्भ्यने कहा—राजन् ! जिस प्रकार आपको दृष्टि प्राप्त हो गयी और जिस प्रकार सावित्रीका उपवास-व्रत चल रहा था तथा जिस प्रकार वह आज भोजन किये बिना ही पतिके साथ गयी है, इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि सत्यवान् जीवित है ॥ १७॥

आपस्तम्ब उवाच

यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान्॥ १८ ॥

आपस्तम्ब बोले—इस शान्त (एवं प्रसन्न) दिशामें मृग और पक्षी जैसी बोली बोल रहे हैं और आपके द्वारा जिस प्रकार राजोचित धर्मका अनुष्ठान हो रहा है, उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि सत्यवान् जीवित है ॥ १८ ॥

धौम्य उवाच

सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ॥ १९ ॥

धौम्यने कहा—महाराज ! आपका यह पुत्र जिस प्रकार समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, जनप्रिय तथा चिरजीवी पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्त है, उसके अनुसार यही मानना चाहिये कि सत्यवान् जीवित है ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान् विगणयन् सर्वांस्ततः स्थिर इवाभवत्॥ २०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सत्यवादी एवं तपस्वी मुनियोंने जब राजा द्युमत्सेनको पूर्णतः आश्वासन दिया, तब उन सबका समादर करते हुए उनकी बात मानकर वे स्थिर-से हो गये ॥ २० ॥

ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१ ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के साथ रातमें वहाँ आयी और बड़े हर्षके साथ उसने आश्रममें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ॥ २२ ॥

तब ब्राह्मणोंने कहा—महाराज ! पुत्रके साथ आपका मिलन हुआ और आपको नेत्र भी प्राप्त हो गये, इस अवस्थामें आपको देखकर हम सब लोग आपका अभ्युदय मना रहे हैं ॥ २२ ॥

समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥ २३ ॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपको पुत्रका समागम प्राप्त हुआ, बहू सावित्रीका दर्शन हुआ और अपने खोये हुए नेत्र पुनः मिल गये । इन तीनों बातोंसे आपका अभ्युदय सूचित होता है ॥ २३ ॥

सर्वैरस्माभिरुक्तं यत् तथा तन्नात्र संशयः ।
भूयोभूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४ ॥

हम सब लोगोंने जो बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों सत्य निकली; इसमें संशय नहीं है । आगे भी शीघ्र ही आपकी बारंबार समृद्धि होनेवाली है ॥ २४ ॥

ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि ।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर सभी ब्राह्मण वहाँ आग जलाकर राजा द्युमत्सेनके पास बैठ गये ॥ २५ ॥

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः ।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६ ॥

शैब्या, सत्यवान् तथा सावित्री—ये तीनों भी एक ओर खड़े थे, जो उन सब महात्माओंकी आज्ञा पाकर शोकरहित हो बैठ गये ॥ २६ ॥

ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥

पार्थ ! तत्पश्चात् राजाके साथ बैठे हुए वे सभी वनवासी कौतूहलवश राजकुमार सत्यवान्से पूछने लगे ॥ २७ ॥

ऋषय ऊचुः

प्रागेव नागतं कस्मात् सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चागतं कस्मात् कोऽनुबन्धस्तवाभवत्॥ २८ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार ! तुम अपनी पत्नीके साथ पहले ही क्यों नहीं चले आये ? क्यों इतनी रात बिताकर आये ? तुम्हारे सामने कौन-सी अड़चन आ गयी थी ?॥

संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

राजपुत्र ! तुमने आनेमें विलम्ब करके अपने माता-पिता तथा हमलोगोंको भी भारी संतापमें डाल दिया था। तुमने ऐसा क्यों किया ? यह हम नहीं जान पाते हैं, अतः सब बातें स्पष्टरूपसे बताओ ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच

पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ॥ ३० ॥

सत्यवान् बोले—मैं पिताकी आज्ञा पाकर सावित्रीके साथ वनमें गया । फिर वनमें लकड़ियोंको चीरते समय मेरे सिरमें बड़े जोरसे दर्द होने लगा ॥ ३० ॥

सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत् कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥

मैं समझता हूँ कि मैं वेदनासे व्याकुल होकर देरतक सोता रह गया । उतने समयतक मैं उसके पहले कभी नहीं सोया था ॥ ३१ ॥

सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

नींद खुलनेपर मैं इतनी रातके बाद भी इसलिये चला आया कि आप सब लोगोंको मेरे लिये चिन्तित न होना पड़े । इस विलम्बमें और कोई कारण नहीं है ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच

अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।
नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

गौतम बोले—तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम नहीं जानते । सम्भवतः सावित्री बतला सकती है ॥ ३३ ॥

श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ॥ ३४ ॥

त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात् सत्यं निरुच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥

सावित्री ! मैं इसका रहस्य तुमसे सुनना चाहता हूँ, क्योंकि तुम भूत और भविष्य सब कुछ जानती हो । मैं तुम्हें साक्षात् सावित्रीदेवीके समान तेजस्विनी जानता हूँ। राजाको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम जानती हो । सच-सच बताओ, यदि इसमें कुछ छिपानेकी बात न हो, तो हमसे अवश्य कहो ॥ ३४-३५ ॥

सावित्र्युवाच

एवमेतद् यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथा हि वः ।
न हि किंचिद् रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥

सावित्री बोली—मुनीश्वरो ! आपलोग जैसा समझते हैं, ठीक है । आपलोगोंका संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता । मेरेलिये कोई छिपानेकी बात नहीं है । मैं सब घटनाएँ ठीक-ठीक बताती हूँ, सुनिये ॥ ३६ ॥

मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ ३७ ॥

महात्मा नारदजीने मुझसे मेरे पतिकी मृत्युका हाल बताया था । वह मृत्युदिवस आज ही आया था; इसलिये मैं इन्हें अकेला नहीं छोड़ती थी ॥ ३७ ॥

सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत् सकिङ्करः ।
स एनमनयद् बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥

जब ये सिरके दर्दसे व्याकुल होकर सो गये, उस समय साक्षात् भगवान् यमराज अपने सेवकके साथ पधारे। वे इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले ॥ ३८ ॥

अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान् मम ॥ ३९ ॥

उस समय मैंने सत्यवचनोंद्वारा उन भगवान् यमकी स्तुति की । तब उन्होंने मुझे पाँच वर दिये । उन वरोंको आप मुझसे सुनिये ॥ ३९ ॥

चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ॥ ४० ॥

नेत्र तथा अपने राज्यकी प्राप्ति—ये दो वर मेरे श्वशुरके लिये प्राप्त हुए हैं । इसके सिवा मैंने अपने पिताके लिये सौ पुत्र तथा अपने लिये भी सौ पुत्र होनेके दो वर और पाये हैं ॥ ४० ॥

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् ।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥

पाँचवें वरके रूपमें मुझे मेरे पति सत्यवान् चार सौ वर्षोंकी आयु लेकर प्राप्त हुए हैं । पतिके जीवनकी रक्षाके लिये ही मैंने यह व्रत किया था ॥ ४१ ॥

एतत् सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः ।
यथावृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥

इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे विलम्बसे आनेका कारण और उसका यथावत् वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है। मुझे जो यह महान् दुःख उठाना पड़ा है, उसका अन्तिम फल सुख ही हुआ है ॥ ४२ ॥

ऋषय ऊचुः

निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं
कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे ।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं
समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥

ऋषि बोले—पतिव्रते ! राजा द्युमत्सेनका कुल भाँति-भाँतिकी विपत्तियोंसे ग्रस्त होकर दुःखके अंधकारमय गढेमें डूबा जा रहा था; परंतु तुझ-जैसी सुशीला, व्रतपरायणा और पवित्र आचरणवाली कुलीन वधूने आकर इसका उद्धार कर दिया ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव
वरस्त्रियं तामृषयः समागताः ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य सपुत्रमञ्जसा
शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार वहाँ आये हुए महर्षियोंने स्त्रियोंमें श्रेष्ठ सावित्रीकी भूरि-भूरि प्रशंसा तथा आदर-सत्कार करके पुत्रसहित राजा द्युमत्सेनकी अनुमति ले सुख और प्रसन्नताके साथ अपने-अपने घरको प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शाल्वदेशकी प्रजाके अनुरोधसे महाराज द्युमत्सेनका राज्याभिषेक कराना तथा सावित्रीको सौ पुत्रों और सौ भाइयोंकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

तस्यां राज्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले ।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—जब वह रात बीत गयी और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सब तपोधन ऋषिगण पूर्वाह्णकालका नित्यकृत्य पूरा करके पुनः उस आश्रममें एकत्र हुए ॥ १ ॥

तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः ।
द्युमत्सेनाय नातृप्यन् कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २ ॥

वे महर्षिगण राजा द्युमत्सेनसे सावित्रीके उस परम सौभाग्यका बारंबार वर्णन करते हुए भी तृप्त नहीं होते थे ॥ २ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम् ॥ ३ ॥

राजन् ! उसी समय शाल्वदेशसे वहाँकी सारी प्रजाओंने आकर महाराज द्युमत्सेनसे कहा—'प्रभो ! आपका शत्रु अपने ही मन्त्रीके हाथों मारा गया है' ॥ ३ ॥

तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ॥ ४ ॥
ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति ।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी निवेदन किया कि उसके सहायक और

बन्धु-बान्धव भी मन्त्रीके ही हाथों मर चुके हैं। शत्रुकी सारी सेना पलायन कर गयी है। यह यथावत् वृत्तान्त सुनकर

सब लोगोंका एकमतसे यह निश्चय हुआ है कि हमें पूर्व नरेशपर ही विश्वास है । उन्हें दिखायी देता हो या न दीखता हो वे ही हमारे राजा हों ॥ ४-५ ॥

अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप ।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरङ्गं च ते बलम्॥ ६ ॥

'नरेश्वर ऐसा निश्चय करके ही हमें यहाँ भेजा गया है । ये सवारियाँ प्रस्तुत हैं और आपकी चतुरङ्गिणी सेना भी सेवामें उपस्थित है ॥ ६ ॥

प्रयाहि राजन् भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ।
अध्यास्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपका कल्याण हो । अब अपने राज्यमें पधारिये । नगरमें आपकी विजय घोषित कर दी गयी है । आप दीर्घकालतक अपने बाप-दादोंके राज्यपर प्रतिष्ठित रहें'॥

चक्षुष्मन्तं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम् ।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थ शरीरसे सुशोभित देखकर उन सबके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और सबने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ८ ॥

ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः।
तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥

इसके बाद राजाने आश्रममें रहनेवाले उन वृद्ध ब्राह्मणोंका अभिवादन किया और उन सबसे समादृत हो वे अपनी राजधानीकी ओर चले ॥ ९ ॥

शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥

शैब्या भी अपनी बहू सावित्रीके साथ सुन्दर बिछावनसे युक्त तेजस्वी शिबिकापर, जिसे कई कहार ढो रहे थे, आरूढ़ हो सेनासे घिरी हुई चल दी ॥ १० ॥

ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः।
पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥

वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया । साथ ही उनके महामना पुत्र सत्यवान्को भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद् वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् सावित्रीके गर्भसे उसकी कीर्ति बढ़ानेवाले सौ पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब-के-सब शूरवीर तथा संग्रामसे कभी पीछे न हटनेवाले थे ॥ १२ ॥

भ्रातॄणां सोदराणां च तथैवास्याभवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याश्वपतेर्मालव्यां सुमहद् बलम् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिके भी मालवीके गर्भसे सावित्रीके सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए, जो अत्यन्त बलशाली थे ॥ १३ ॥

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम्॥ १४॥

इस तरह सावित्रीने अपने आपको, पिता-माताको; सास-ससुरको तथा पतिके समस्त कुलको भी भारी संकटसे बचा लिया था ॥ १४ ॥

तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसम्मता ।
तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलाङ्गना ॥ १५ ॥

सावित्रीकी ही भाँति यह कल्याणमयी उत्तम कुलवाली सुशीला द्रौपदी तुम सब लोगोंका महान् संकटसे उद्धार करेगी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना।
विशोको विज्वरो राजन् काम्यके न्यवसत् तदा॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उन महात्मा मार्कण्डेयजीके समझाने-बुझाने और आश्वासन देनेपर उस समय पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर शोक तथा चिन्तासे रहित हो काम्यकवनमें सुखपूर्वक रहने लगे ॥१६॥

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम्।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः॥ १७ ॥

जो इस परम उत्तम सावित्री उपाख्यानको भक्तिभावसे सुनेगा, वह मनुष्य सदा अपने समस्त मनोरथोंके सिद्ध होनेसे सुखी होगा और कभी दुःख नहीं पायेगा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक

दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(कुण्डलाहरणपर्व)

त्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका स्वप्नमें कर्णको दर्शन देकर उसे इन्द्रको कुण्डल और कवच न देनेके लिये सचेत करना तथा कर्णका आग्रहपूर्वक कुण्डल और कवच देनेका ही निश्चय रखना

जनमेजय उवाच

यत् तत् तदा महद् ब्रह्मँल्लोमशो वाक्यमब्रवीत्।
इन्द्रस्य वचनादेव पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ १॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित्।
तच्चाप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते॥ २॥
किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद् भयम्।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित्॥ ३॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! लोमशजीने इन्द्रके कथनानुसार उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे जो यह महत्त्वपूर्ण वचन कहा था कि 'तुम्हें जो बड़ा भारी भय लगा रहता है और जिसकी तुम किसीके सामने चर्चा भी नहीं करते, उसे भी मैं अर्जुनके यहाँ (स्वर्ग) से चले जानेपर दूर कर दूँगा।' जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायनजी! धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिरको कर्णसे वह कौन-सा भारी भय था, जिसकी वे किसीके सम्मुख बात भी नहीं चलाते थे॥ १—३॥

वैशम्पायन उवाच

अहं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम्।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ! भरतकुलभूषण! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं यह कथा सुनाऊँगा। तुम ध्यान देकर मेरी बात सुनो॥ ४॥

द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे।
पाण्डूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः॥ ५॥

जब पाण्डवोंके वनवासके बारह वर्ष बीत गये और तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ, तब पाण्डवोंके हितकारी इन्द्र कर्णसे कवच-कुण्डल माँगनेको उद्यत हुए॥ ५॥

अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः।
कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः॥ ६॥

महाराज! कुण्डलके विषयमें देवराज इन्द्रका मनोभाव जानकर भगवान् सूर्य कर्णके पास गये॥ ६॥

महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्॥ ७॥

ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी वीर कर्ण अत्यन्त निश्चिन्त होकर एक सुन्दर बिछौनेवाली बहुमूल्य शय्यापर सोया था॥

स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान्।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत॥ ८॥

राजेन्द्र! भरतनन्दन! अंशुमाली भगवान् सूर्यने पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दयाभावसे युक्त हो रातको सपनेमें कर्णको दर्शन दिया॥ ८॥

ब्राह्मणो वेदविद् भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान्।
हितार्थमब्रवीत् कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः॥ ९॥

उस समय उन्होंने वेदवेत्ता ब्राह्मणका रूप धारण कर रक्खा था। उनका स्वरूप-योग समृद्धिसे सम्पन्न था। उन्होंने कर्णके हितके लिये उसे समझाते हुए इस प्रकार कहा—॥

कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात् परमं हितम्॥ १०॥

'सत्यधारियोंमें श्रेष्ठ तात कर्ण! मेरी बात सुनो। महाबाहो! मैं सौहार्दवश आज तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ॥ १०॥

उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलापजिहीर्षया॥ ११॥

कर्ण! देवराज इन्द्र पाण्डवोंके हितकी इच्छासे तुम्हारे

दोनों कुण्डल (और कवच) लेनेके लिये ब्राह्मणका छद्मवेष धारण करके तुम्हारे पास आयँगे ॥ ११ ॥

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥

'तुम्हारी दानशीलताका उन्हें ज्ञान है तथा सम्पूर्ण जगत्को तुम्हारे इस नियमका पता है कि किसी सत्पुरुषके माँगनेपर तुम उसकी अभीष्ट वस्तु देते ही हो, उससे कुछ माँगते नहीं हो ॥ १२ ॥

त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम्।
वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥ १३ ॥

'तात ! तुम ब्राह्मणोंको उनकी माँगी हुई वस्तु दे ही देते हो, साथ ही धन तथा और जो कुछ भी वे माँग लें, सब दे डालते हो। किसीको 'नहीं' कहकर निराश नहीं लौटाते ॥

त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः।
आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥

'तुम्हारे ऐसे स्वभावको जानकर साक्षात् इन्द्र तुमसे तुम्हारे कवच और कुण्डल माँगनेके लिये आनेवाले हैं ॥ १४ ॥

तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥

'उनके माँगनेपर तुम उन्हें अपने दोनों कुण्डल दे न देना। यथाशक्ति अनुनय-विनय करके उन्हें समझा देना, इससे तुम्हारा परम मङ्गल होगा ॥ १५ ॥

कुण्डलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

'इस प्रकार वे जब-जब कुण्डलके लिये बात करें, तब-तब बहुत-से कारण बताकर तथा दूसरे नाना प्रकारके धन आदि देने-की बात कहकर बार-बार उन्हें कुण्डल माँगनेसे मना करना ॥

रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ॥ १७ ॥

'नाना प्रकारके रत्न, स्त्री, गौ, भाँति-भाँतिके धन देकर तथा बहुत-से दृष्टान्तोंद्वारा बहलाकर कुण्डलार्थी इन्द्रको टालनेका प्रयत्न करना ॥ १७ ॥

यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुण्डले शुभे।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥

'कर्ण ! यदि तुम अपने जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको दे दोगे, तो तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी और तुम मृत्युके अधीन हो जाओगे ॥ १८ ॥

कवचेन समायुक्तः कुण्डलाभ्यां च मानद।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥

'मानद ! तुम अपने कवच और कुण्डलोंसे संयुक्त होनेपर रणमें शत्रुओंके लिये भी अवध्य बने रहोगे, मेरी इस बातको समझ लो ॥ १९ ॥

अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसम्भवम्।
तस्माद् रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत् प्रियं तव ॥ २० ॥

'कर्ण ! ये दोनों रत्नमय कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं, अतः यदि तुम्हें अपना जीवन प्रिय हो, तो इन दोनों वस्तुओंकी रक्षा अवश्य करना' ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

को मामेवं भवान् प्राह दर्शयन् सौहृदं परम्।
कामया भगवन् ब्रूहि को भवान् द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥

कर्णने पूछा—भगवन् ! आप मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह दिखाते हुए जो इस प्रकार हितकर सलाह दे रहे हैं, इससे मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? यदि इच्छा हो, तो बताइये। इस प्रकार ब्राह्मणवेष धारण करनेवाले आप कौन हैं? ॥

ब्राह्मण उवाच

अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात् त्वां निदर्शये।
कुरुष्वैतद् वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥

ब्राह्मणने कहा—तात ! मैं सहस्रांशु सूर्य हूँ। स्नेहवश ही तुम्हें दर्शन देकर सामयिक कर्तव्य सुझा रहा हूँ । तुम मेरा कहना मान लो ! इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥

कर्ण उवाच

श्रेय एव ममात्यन्तं यस्य मे गोपतिः प्रभुः।
प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—जिसके हितका अनुसंधान साक्षात् भगवान् सूर्य करते और हितकी बात बताते हैं, उस कर्णका तो परम कल्याण है ही । भगवन् ! आप मेरी यह बात सुनें ॥ २३ ॥

प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम्।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप वरदायक देवता हैं। मैं आपसे प्रसन्न रहनेका अनुरोध करता हूँ और प्रेमपूर्वक यह कहता हूँ कि यदि मैं आपका प्रिय हूँ, तो आप मुझे इस व्रतसे विचलित न करें ॥ २४ ॥

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो।
यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥

सूर्यदेव ! संसारमें सब लोग मेरे इस व्रतके विषयमें पूर्ण-रूपसे जानते हैं कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके याचना करनेपर उन्हें निश्चय ही अपने प्राण भी दे सकता हूँ ॥ २५ ॥

यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मना वृतः।
हितार्थं पाण्डुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥

दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम्।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७ ॥

आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम सूर्यदेव! यदि पाण्डवोंके हितके लिये ब्राह्मणके छद्मवेशमें अपनेको छिपाकर साक्षात् इन्द्रदेव मेरे पास भिक्षा माँगने आ रहे हैं, तो देवेश्वर! मैं उन्हें दोनों कुण्डल और उत्तम कवच अवश्य दे दूँगा, जिससे तीनों लोकोंमें विख्यात हुई मेरी कीर्ति नष्ट न होने पाये ॥

मद्विधस्य यशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम्।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ॥ २८ ॥

मेरे-जैसे शूरवीरको प्राण देकर भी यशकी ही रक्षा करनी चाहिये, अपयश लेकर प्राणोंकी रक्षा करनी कदापि उचित नहीं है। सुयशके साथ यदि मृत्यु हो जाय, तो वह वीरोचित एवं सम्पूर्ण लोकके लिये सम्मानकी वस्तु है ॥ २८ ॥

सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें यदि बलासुर और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्र मेरे पास भिक्षाके लिये पधारेंगे, तो मैं कवच-सहित दोनों कुण्डल उन्हें अवश्य दे दूँगा ॥ २९ ॥

हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम्।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

यदि इन्द्र पाण्डवोंके हितके लिये मेरे कुण्डल माँगने आयेंगे, तो इससे संसारमें मेरी कीर्ति बढ़ेगी और उनका अपयश होगा ॥ ३० ॥

वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन्।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥

अतः सूर्यदेव! मैं जीवन देकर भी जगत्‌में कीर्तिका ही वरण करूँगा। कीर्तिमान् पुरुष स्वर्गका सुख भोगता है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, वह स्वयं भी नष्ट ही है ॥

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत्।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥

कीर्ति इस संसारमें माताकी भाँति मनुष्यको नूतन जीवन प्रदान करती है। परंतु अकीर्ति जीवित पुरुषके भी जीवनको नष्ट कर देती है ॥ ३२ ॥

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥

विभावसो! लोकेश्वर! साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा गाया हुआ यह प्राचीन श्लोक है कि कीर्ति मनुष्यकी आयु है ॥ ३३ ॥

पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम्।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्द्धनी ॥ ३४ ॥

परलोकमें कीर्ति ही पुरुषके लिये सबसे महान् आश्रय है। इस लोकमें भी विशुद्ध कीर्ति आयु बढ़ानेवाली होती है ॥

सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
दत्त्वा च विधिवद् दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥
हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥

अतः मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच-कुण्डल इन्द्रको देकर सनातन कीर्ति प्राप्त करूँगा। ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देकर, अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके समराग्निमें शरीरकी आहुति देकर तथा शत्रुओंको संग्राममें जीतकर मैं केवल सुयशका उपार्जन करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम्।
वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ॥ ३७ ॥
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम्।
जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद् विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥

संग्राममें भयभीत होकर प्राणोंकी भीख माँगनेवाले सैनिकोंको अभय देकर तथा बालक, वृद्ध और ब्राह्मणोंको महान् भयसे छुड़ाकर संसारमें परम उत्तम स्वर्गीय यशका उपार्जन करूँगा। मुझे प्राण देकर भी अपनी कीर्ति सुरक्षित रखनी है। यही मेरा व्रत समझें ॥ ३७-३८ ॥

सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम्।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ॥ ३९ ॥

इसलिये देव! इस प्रकारके व्रतवाला मैं ब्राह्मणवेषधारी इन्द्रको यह परम श्रेष्ठ भिक्षा देकर जगत्‌में उत्तम गति प्राप्त करूँगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकर्णसंवादविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका कर्णको समझाते हुए उसे इन्द्रको कुण्डल न देनेका आदेश देना

सूर्य उवाच

माहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥

सूर्यने कहा—कर्ण! तुम अपना, अपने सुहृदोंका, पुत्रों और पत्नियोंका तथा माता-पिताका अहित न करो ॥ १ ॥

शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ वीर! अपने शरीरकी रक्षा करते हुए ही प्राणियोंको इहलोकमें यशकी प्राप्ति तथा स्वर्गमें स्थायी कीर्ति अभीष्ट होती है ॥ २ ॥

यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम् ।
सा ते प्राणान् समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

यदि तुम प्राणोंका विरोध (नाश) करके सनातन कीर्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो इसमें संदेह नहीं कि वह (कीर्ति) तुम्हारे प्राणोंको लेकर ही जायगी ॥ ३ ॥

जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा ।
ये चान्ये बान्धवाः केचिल्लोकेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

पुरुषरत्न ! पिता, माता, पुत्र तथा और जो कोई भी भाई-बन्धु इस लोकमें हैं, वे सब जीवित पुरुषोंसे ही अपने प्रयोजनकी सिद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् ।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ॥ ५ ॥

महातेजस्वी नरश्रेष्ठ ! राजालोग भी जीवित रहनेपर ही पुरुषार्थसे कीर्तिलाभ करते हैं । इस बातको समझो; जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति अच्छी मानी गयी है ॥ ५ ॥

मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः ।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन् कीर्तिं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मर गया, जिसका शरीर चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गया, उसे कीर्तिसे क्या प्रयोजन है ? मरा हुआ पुरुष कीर्तिके विषयमें कुछ नहीं जानता है। जीवित पुरुष ही कीर्तिजनित सुखका अनुभव करता है ॥ ६ ॥

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः ।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद् भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ७ ॥

मरे हुए मनुष्यकी कीर्ति मुर्देके गलेमें पड़ी हुई मालाके समान व्यर्थ है । तुम मेरे भक्त हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैं ये सब बातें कहता हूँ ॥ ७ ॥

भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना ।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज ।
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ॥ ८ ॥

मुझे अपने भक्तोंकी रक्षा करनी ही चाहिये, इसलिये भी तुमसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ । महाबाहो ! यह मेरा भक्त है, परम भक्तिभावसे मेरा भजन करता है, यह सोचकर मेरे मनमें भी तुम्हारे प्रति स्नेह जाग उठा है । अतः तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ॥ ८ ॥

अस्ति चात्र परं किंचिदध्यात्मं देवनिर्मितम्।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत् क्रियतामविशङ्कया ॥ ९ ॥

इस सम्बन्धमें एक देवविहित आध्यात्मिक रहस्य है । इसी कारण तुमसे कह रहा हूँ कि तुम बेखटके यही कार्य करो, जिसे मैंने तुम्हें बतलाया है ॥ ९ ॥

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ ।
तस्मान्नाख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद् भवान् ॥ १० ॥

पुरुषरत्न ! देवताओंकी गुप्त बात तुम नहीं समझ सकते, इसीलिये वह गोपनीय रहस्य तुम्हें नहीं बता रहा हूँ । समय आनेपर तुम सब कुछ अपने-आप जान लोगे ॥ १० ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत् ।
मास्मै ते कुण्डले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११ ॥

राधानन्दन ! मैं फिर अपनी कही हुई बात दुहराता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—'इन्द्रके माँगनेपर भी तुम उन्हें अपने वे कुण्डल न देना' ॥ ११ ॥

शोभसे कुण्डलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते ।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥

महाद्युते ! तुम इन दोनों मनोहर कुण्डलोंसे निर्मल आकाशमें विशाखा नामक दो नक्षत्रोंके बीच प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हो ॥ १२ ॥

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत् ।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥

तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति प्रशंसनीय है । अतः तात ! तुम्हें कुण्डलके लिये आये हुए देवराज इन्द्रको देनेसे इन्कार कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ ।
विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

अनघ ! तुम बारंबार युक्तियुक्त वचन कहकर अनेक प्रकारकी बातोंमें बहलाकर देवराज इन्द्रकी कुण्डल लेनेकी इच्छाको नष्ट कर सकते हो ॥ १४ ॥

हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः ।
पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १५ ॥

कर्ण ! अनेक कारण दिखाकर, नाना प्रकारकी युक्तियाँ सामने रखकर तथा माधुर्यगुणसे विभूषित वचन सुनाकर देवराज इन्द्रके इस कुण्डल लेनेके विचारको तुम पलट देना ॥ १५ ॥

त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना ।
सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥

नरव्याघ्र ! तुम सदा अर्जुनसे स्पर्धा रखते हो, अतः शूरवीर अर्जुन युद्धमें कभी तुमसे अवश्य भिड़ेगा ॥ १६ ॥

न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वितम्।
विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः सखा भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तुम इन दोनों कुण्डलोंको धारण किये रहोगे, तो अर्जुन तुम्हें युद्धमें कदापि नहीं जीत सकते, भले ही

साक्षात् इन्द्र भी उनकी सहायता करनेके लिये आ जायँ ॥ १७ ॥

तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥

अतः कर्ण ! यदि तुम समरभूमिमें अर्जुनको जीतनेकी अभिलाषा रखते हो, तो इन्द्रको ये दोनों शुभ कुण्डल कदापि न देना ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्णसंवादविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्य-कर्ण-संवाद, सूर्यकी आज्ञाके अनुसार कर्णका इन्द्रसे शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच देनेका निश्चय

कर्ण उवाच

भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते।
तथा परमतिग्मांशो नास्त्यदेयं कथंचन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—सूर्यदेव ! मैं आपका अनन्य भक्त हूँ, जैसा कि आप भी मुझे जानते हैं। प्रचण्डरश्मे ! आपके लिये किसी प्रकार कुछ भी अदेय नहीं है ॥ १ ॥

न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥

स्त्री, पुत्र, सुहृद् और अपना शरीर भी मुझे वैसा प्रिय नहीं है, जैसे आप हैं। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! सदा आप ही मेरे भक्तिभावके आश्रय हैं ॥ २ ॥

इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः।
कुर्वन्ति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥

प्रभाकर ! आप भी जानते ही हैं कि महात्मा पुरुष भी अपने प्रिय भक्तोंपर पूर्ण स्नेह रखते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद् दैवतं दिवि।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥

आपको यह मालूम है कि कर्ण मेरा प्रिय भक्त है और वह स्वर्गके दूसरे किसी भी देवताको (अपने इष्टरूपमें) नहीं जानता है, यही समझकर आप मुझे मेरे हितका उपदेश कर रहे हैं ॥ ४ ॥

भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले देव ! मैं पुनः आपके चरणोंमें मस्तक रखकर, आपको प्रसन्न करके बारंबार क्षमा-याचना करता हूँ। इस समय मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ॥ ५ ॥

बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम्।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६ ॥
प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा।

मैं मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना झूठसे डरता हूँ। विशेषतः सदा समस्त सज्जन ब्राह्मणोंको उनके माँगनेपर अपने प्राण देनेमें भी मुझे कोई सोच-विचार नहीं हो सकता ॥ ६½ ॥

यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फाल्गुनं प्रति ॥ ७ ॥
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम्।
अर्जुनप्रतिमं चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ८ ॥

देव ! आपने पाण्डुनन्दन अर्जुनसे जो मेरे लिये डरकी बात बतायी है, उसके लिये आपके मनमें कोई दुःख और संताप नहीं होना चाहिये। भास्कर ! मैं कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी अर्जुनको युद्धमें अवश्य जीत लूँगा ॥ ७-८ ॥

तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत्।
जामदग्न्यादुपात्तं यत् तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥

देव ! मेरे पास भी अस्त्रोंका जो महान् बल है, इसे आप भी जानते हैं। मैंने जमदग्निनन्दन परशुराम तथा महात्मा द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखी है ॥ ९ ॥

इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

सुरश्रेष्ठ ! यह जो मेरा दान देनेका व्रत है, उसके लिये आप भी मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं याचक बनकर आये हुए इन्द्रको अपने प्राणतक दे सकूँ ॥ १० ॥

सूर्य उवाच

यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ॥ ११ ॥
नियमेन प्रदद्यां ते कुण्डले वै शतक्रतो।

सूर्य बोले—तात ! यदि तुम इन्द्रको ये दोनों सुन्दर कुण्डल दे रहे हो, तो तुम भी उन महाबली इन्द्रसे अपनी विजयके लिये कोई अस्त्र माँग लेना और उनसे स्पष्ट कह देना कि देवराज ! मैं एक शर्तके साथ ये दोनों कुण्डल आपको दे सकता हूँ ॥ ११½ ॥

अवध्यो ह्यसि भूतानां कुण्डलाभ्यां समन्वितः॥ १२ ॥
अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ॥ १३ ॥

कर्ण ! इन दोनों कुण्डलोंसे युक्त रहनेपर तुम सभी प्राणियोंके लिये अवध्य बने रहोगे । वत्स ! दानवसूदन इन्द्र युद्धमें अर्जुनके द्वारा तुम्हारा विनाश चाहते हैं । इसीलिये वे तुम्हारे दोनों कुण्डलोंको हर लेनेकी इच्छा करते हैं ॥ १२-१३ ॥

स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थे पुरन्दरम् ॥ १४ ॥

अतः तुम भी उनकी आराधना करके बारंबार मीठे वचन बोलकर देवेश्वर इन्द्रसे किसी अमोघ अस्त्रके लिये प्रार्थना करना ॥ १४ ॥

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुण्डले वर्म चोत्तमम् ॥ १५ ॥

तुम उनसे कहना—'सहस्राक्ष! मैं आपको अपने शरीरका उत्तम कवच और दोनों कुण्डल दे दूँगा, परंतु आप भी मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है' ॥ १५ ॥

इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १६ ॥

इसी शर्तके साथ तुम इन्द्रको अपने कुण्डल देना। कर्ण! उस शक्तिके द्वारा तुम युद्धमें अपने शत्रुओंको मार डालोगे ॥

नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

महाबाहो ! देवराज इन्द्रकी वह शक्ति युद्धमें सैकड़ों-हजारों शत्रुओंका वध किये बिना पुनः हाथमें लौटकर नहीं आती ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसान्तरधीयत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर सूर्यदेव सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १७½ ॥

(कर्णस्तु बुबुधे राजन् स्वप्नान्ते प्रवदन्निव।
प्रतिबुद्धस्तु राधेयः स्वप्नं संचिन्त्य भारत ॥
चकार निश्चयं राजन् शक्त्यर्थं वदतां वरः।
यदि मामिन्द्र आयाति कुण्डलार्थं परंतपः ॥
शक्त्या तस्मै प्रदास्यामि कुण्डले वर्म चैव ह।
स कृत्वा प्रातरुत्थाय कार्याणि भरतर्षभ ॥
ब्राह्मणान् वाचयित्वाथ यथाकार्यमुपाक्रमत्।
विधिना राजशार्दूल मुहूर्तमजपत् ततः ॥)

राजन् ! स्वप्नके अन्तमें कुछ बोलता हुआ-सा कर्ण जाग उठा । भारत ! जगनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ राधानन्दन कर्णने स्वप्नका चिन्तन करके शक्तिके लिये इस प्रकार निश्चय किया, 'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले इन्द्र कुण्डलके लिये मेरे पास आ रहे हैं तो मैं शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच दूँगा।' भरतश्रेष्ठ ! ऐसा निश्चय करके कर्ण प्रातःकाल उठा और आवश्यक कार्य करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यथासमय संध्योपासन आदि कार्य करने लगा । नृपश्रेष्ठ ! फिर उसने विधिपूर्वक दो घड़ीतक जप किया ॥

ततः सूर्याय जप्यान्ते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
यथादृष्टं यथातत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि।
तत् सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ॥ १९ ॥

तदनन्तर जपके अन्तमें कर्णने भगवान् सूर्यसे स्वप्नका वृत्तान्त निवेदन किया। उसने जो कुछ देखा था तथा रातमें उन दोनोंमें जैसी बातें हुई थीं, उन सबको कर्णने क्रमशः उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ १८-१९ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ॥ २० ॥

राहुका संहार करनेवाले भगवान् सूर्यदेवने यह सब सुनकर कर्णसे मुसकराते हुए-से कहा—'तुमने जो कुछ देखा है, वह सब ठीक है' ॥ २० ॥

ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा।
शक्तिमेवाभिकाङ्क्षन् वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥

तब शत्रुओंका संहार करनेवाला राधानन्दन कर्ण उस स्वप्नकी घटनाको यथार्थ जानकर शक्ति प्राप्त करनेकी ही अभिलाषा ले इन्द्रकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तिभोजके यहाँ ब्रह्मर्षि दुर्वासाका आगमन तथा राजाका उनकी सेवाके लिये पृथाको आवश्यक उपदेश देना

जनमेजय उवाच

किं तद् गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुण्डले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥
कुतश्च कवचं तस्य कुण्डले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—सज्जनशिरोमणे ! कौन-सी ऐसी गोपनीय बात थी; जिसे भगवान् सूर्यने कर्णपर प्रकट नहीं किया । उसके वे दोनों कुण्डल और कवच कैसे थे ? तपोधन ! कर्णको कुण्डल और कवच कहाँसे प्राप्त हुए थे ? मैं यह सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

अयं राजन् ब्रवीम्येतत् तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुण्डले ते च कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! सूर्यदेवकी दृष्टिमें जो गोपनीय रहस्य था, उसे बताता हूँ । इसके साथ कर्णके कुण्डल और कवच कैसे थे ? यह भी बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

कुन्तिभोजं पुरा राजन् ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ॥ ४ ॥

राजन् ! प्राचीन कालकी बात है, राजा कुन्तिभोजके दरबारमें अत्यन्त ऊँचे कदके एक प्रचण्ड तेजस्वी ब्राह्मण

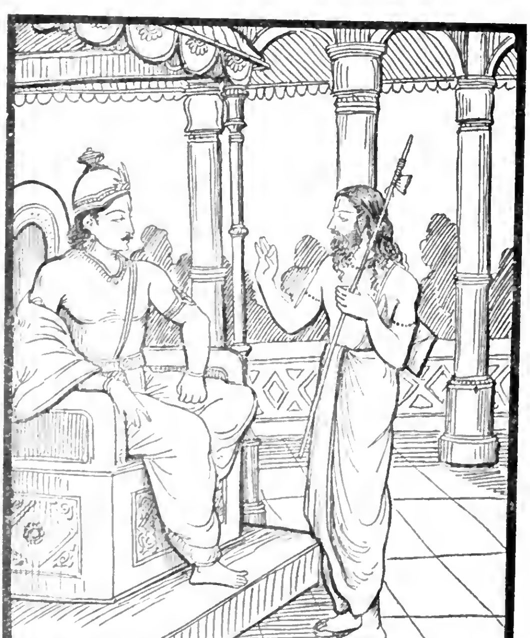

उपस्थित हुए । उन्होंने दाढ़ी, मूँछ, दण्ड और जटा धारण कर रक्खी थी ॥ ४ ॥

दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिङ्गो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥

उनका स्वरूप देखने ही योग्य था । उनके सभी अङ्ग निर्दोष थे । वे तेजसे प्रज्वलित होते-से जान पड़ते थे । उनके शरीरकी कान्ति मधुके समान पिङ्गल वर्णकी थी । वे मधुर वचन बोलनेवाले तथा तपस्या और स्वाध्यायरूप सद्गुणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

स राजानं कुन्तिभोजमब्रवीत् सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥

उन महातपस्वीने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'किसीसे ईर्ष्या न करनेवाले नरेश ! मैं तुम्हारे घरमें भिक्षान्न भोजन करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

'परंतु एक शर्त है, तुम या तुम्हारे सेवक कभी मेरे मनके प्रतिकूल आचरण न करें । अनघ ! यदि तुम्हें मेरी यह शर्त ठीक जान पड़े, तो उस दशामें मैं तुम्हारे घरमें निवास करूँगा ॥ ७ ॥

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन् नापराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥

'मैं अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहूँगा, चला जाऊँगा और जब जीमें आयेगा, चला आऊँगा । राजन् ! मेरी शय्या और आसनपर बैठना अपराध होगा । अतः यह अपराध कोई न करे'॥

तमब्रवीत् कुन्तिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब राजा कुन्तिभोजने बड़ी प्रसन्नताके साथ उत्तर दिया—'विप्रवर ! 'एवमस्तु'—जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा,' इतना कहकर वे फिर बोले—॥ ९ ॥

मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी ।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥ १० ॥

'महाप्राज्ञ ! मेरे पृथा नामकी एक यशस्विनी कन्या है, जो शील और सदाचारसे सम्पन्न, साध्वी, संयम-नियमसे रहनेवाली और विचारशील है ॥ १० ॥

उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च ।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥

'वह सदा आपकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहेगी। उसके द्वारा आपका अपमान कभी न होगा। मेरा विश्वास है कि उसके शील और सदाचारसे आप संतुष्ट होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि ।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर उन ब्राह्मणदेवताकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाने अपनी विशाल नेत्रोंवाली कन्या पृथाके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति ।
मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥

'वत्से! ये महाभाग ब्राह्मण मेरे घरमें निवास करना चाहते हैं। मैंने 'तथास्तु' कहकर इन्हें अपने यहाँ ठहरानेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १३ ॥

त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम् ।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥

'बेटी! तुमपर भरोसा करके ही मैंने इन तेजस्वी ब्राह्मणकी आराधना स्वीकार की है; अतः तुम मेरी बात कभी मिथ्या न होने दोगी, ऐसी आशा है ॥ १४ ॥

अयं तपस्वी भगवान् स्वाध्यायनियतो द्विजः ।
यद् यद् ब्रूयान्महातेजास्तत्तद् देयममत्सरात् ॥ १५ ॥

'ये विप्रवर महातेजस्वी, तपस्वी, ऐश्वर्यशाली तथा नियमपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले हैं। ये जिस-जिस वस्तुके लिये कहें, वह सब इन्हें ईर्ष्यारहित हो श्रद्धाके साथ देना ॥

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः ।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥

'क्योंकि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है, ब्राह्मणोंके नमस्कारसे ही सूर्यदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६ ॥

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः ।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ॥ १७ ॥

'माननीय ब्राह्मणोंका सम्मान न करनेके कारण ही महान असुर वातापि और उसी प्रकार तालजङ्घ ब्रह्मदण्डसे मारे गये ॥ १७ ॥

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि साम्प्रतम् ।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् ॥ १८ ॥

'अतः बेटी! इस समय सेवाका यह महान् भार मैंने तुम्हारे ऊपर रक्खा है। तुम सदा नियमपूर्वक इन ब्राह्मणदेवताकी आराधना करती रहो ॥ १८ ॥

जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात् प्रभृति नन्दिनि ।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ॥ १९ ॥
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु ।
मयि चैव यथावत् त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ॥ २० ॥

'माता-पिताका आनन्द बढ़ानेवाली पुत्री! मैं जानता हूँ, बचपनसे ही तुम्हारा चित्त एकाग्र है। समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, सेवकों, मित्रों, सम्बन्धियों तथा माताओंके प्रति और मेरे प्रति भी तुम सदा यथोचित बर्ताव करती आयी हो। तुमने अपने सद्भावसे सबको प्रभावित कर लिया है ॥ १९-२० ॥

न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते ।
सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली पुत्री! नगरमें या अन्तःपुरमें, सेवकोंमें भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो तुम्हारे उत्तम बर्तावसे संतुष्ट न हो ॥ २१ ॥

संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति ।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥

'तथापि पृथे! तुम अभी बालिका और मेरी पुत्री हो, इसलिये इन क्रोधी ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें तुम्हें कुछ उपदेश देनेकी आवश्यकताका अनुभव मैं करता हूँ ॥

वृष्णीनां च कुले जाता शूरस्य दयिता सुता ।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥

'वृष्णिवंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम शूरसेनकी प्यारी पुत्री हो। पूर्वकालमें स्वयं तुम्हारे पिताने बाल्यावस्थामें ही बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें मेरे हाथों सौंपा था ॥ २३ ॥

वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ॥ २४ ॥

तुम वसुदेवकी बहिन तथा मेरी संतानोंमें सबसे बड़ी हो। पहले उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं अपनी पहली संतान तुम्हें दे दूँगा। उसीके अनुसार उन्होंने तुम्हें मेरी गोदमें अर्पित किया है, इस कारण तुम मेरी दत्तक पुत्री हो ॥ २४ ॥

तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
सुखात् सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ॥ २५ ॥

'वैसे उत्तम कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ तथा मेरे श्रेष्ठ कुलमें तुम पालित और पोषित होकर बड़ी हुई। जैसे जलकी धारा एक सरोवरसे निकलकर दूसरे सरोवरमें गिरती है, उसी प्रकार तुम एक सुखमय स्थानसे दूसरे सुखमय स्थानमें आयी हो ॥ २५ ॥

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित् प्रग्रहं गताः ।
बालभावाद् विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥

'शुभे ! जो दूषित कुलमें उत्पन्न होनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे किसी तरह विशेष आग्रहमें पड़कर अपने अविवेकके कारण प्रायः बिगड़ जाती हैं (परंतु तुमसे ऐसी आशङ्का नहीं है) ॥ २६ ॥

पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाद्भुतम् ।
तेन तेनासि सम्पन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥

'पृथे ! तुम्हारा जन्म राजकुलमें हुआ है । तुम्हारा रूप भी अद्भुत है । कुल और स्वरूपके अनुसार ही तुम उत्तम शील, सदाचार और सद्गुणोंसे संयुक्त एवं सम्पन्न हो । साथ ही विचारशील भी हो ॥ २७ ॥

सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्भं मानं च भाविनि ।
आराध्यं वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥

'सुन्दर भाववाली पृथे ! तुम दर्प, दम्भ और मानको त्यागकर यदि इन वरदायक ब्राह्मणकी आराधना करोगी, तो परम कल्याणकी भागिनी होओगी ॥ २८ ॥

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! तुम पापरहित हो । यदि इस प्रकार इनकी सेवा करनेमें सफल हो गयीं, तो तुम्हें निश्चय ही कल्याणकी प्राप्ति होगी और यदि तुमने अपने अनुचित बर्तावसे इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको कुपित कर दिया, तो मेरा सम्पूर्ण कुल जलकर भस्म हो जायगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको उपदेशविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०३॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पितासे वार्तालाप और ब्राह्मणकी परिचर्या

कुन्त्युवाच

ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—राजन् ! मैं नियमोंमें आबद्ध रहकर आपकी प्रतिज्ञाके अनुसार निरन्तर इन तपस्वी ब्राह्मणकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहूँगी । राजेन्द्र ! मैं झूठ नहीं बोलती हूँ ॥ १ ॥

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥

यह मेरा स्वभाव ही है कि मैं ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करूँ और आपका प्रिय करना तो मेरे लिये परम कल्याणकी बात है ही ॥ २ ॥

यद्यैवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान् न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥

ये पूजनीय ब्राह्मण यदि सायंकाल आवें, प्रातःकाल पधारें अथवा रात या आधी रातमें भी दर्शन दें, ये कभी भी मेरे मनमें क्रोध उत्पन्न नहीं कर सकेंगे—मैं हर समय इनकी समुचित सेवाके लिये प्रस्तुत रहूँगी ॥ ३ ॥

लाभो ममैष राजेन्द्र यद् वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठन्ती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! नरश्रेष्ठ ! मेरे लिये महान् लाभकी बात यही है कि मैं आपकी आज्ञाके अधीन रहकर ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करती हुई सदैव आपका हित-साधन करूँ ॥ ४ ॥

विस्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन् प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

महाराज ! विश्वास कीजिये । आपके भवनमें निवास करते हुए ये द्विजश्रेष्ठ कभी अपने मनके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं देख पायेंगे । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ५ ॥

यत् प्रियं च द्विजस्यास्य हितं चैव तवानघ ।
यतिष्यामि तथा राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥

निष्पाप नरेश ! आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये । मैं वही कार्य करनेका प्रयत्न करूँगी, जो इन तपस्वी ब्राह्मणको प्रिय और आपके लिये हितकर हो ॥ ६ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥

क्योंकि पृथ्वीपते ! महाभाग ब्राह्मण भलीभाँति पूजित होनेपर सेवकको तारनेमें समर्थ होते हैं और इसके विपरीत अपमानित होनेपर विनाशकारी बन जाते हैं ॥ ७ ॥

साहमेतद् विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन् प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥

मैं इस बातको जानती हूँ । अतः इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको सब तरहसे संतुष्ट रक्खूँगी । राजन् ! मेरे कारण इन द्विजश्रेष्ठसे आपको कोई कष्ट नहीं प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

अपराधेऽपि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवन्ति च्यवनो यद्वत् सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! किसी बालिकाद्वारा अपराध बन जानेपर

भी ब्राह्मणलोग राजाओंका अमङ्गल करनेको उद्यत हो जाते हैं, जैसे प्राचीन कालमें सुकन्याद्वारा अपराध होनेपर महर्षि च्यवन महाराज शर्यातिका अनिष्ट करनेको उद्यत हो गये थे ॥ ९ ॥

नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम्।
यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥ १० ॥

नरेन्द्र ! आपने ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मैं उत्तम नियमोंके पालनपूर्वक इन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी सेवामें उपस्थित रहूँगी ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथादिशत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहती हुई कुन्तीको बारंबार गलेसे लगाकर राजाने उसकी बातोंका समर्थन किया और कैसे-कैसे क्या-क्या करना चाहिये, इसके विषयमें उसे सुनिश्चित आदेश दिया ॥ ११ ॥

राजोवाच

एवमेतत् त्वया भद्रे कर्तव्यमविशङ्कया।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाप्यनिन्दिते ॥ १२ ॥

राजा बोले—भद्रे ! अनिन्दिते ! मेरे, तुम्हारे तथा कुलके हितके लिये तुम्हें निःशङ्कभावसे इसी प्रकार यह सब कार्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥ १३ ॥

ब्राह्मणप्रेमी महायशस्वी राजा कुन्तिभोजने पुत्रीसे ऐसा कहकर उन आये हुए द्विजकी सेवामें पृथाको दे दिया ॥१३॥

इयं ब्रह्मन् मम सुता बाला सुखविवर्धिता।
अपराध्येत यत् किंचिन्न कार्यं हृदि तत् त्वया ॥ १४ ॥

और कहा—'ब्रह्मन् ! यह मेरी पुत्री पृथा अभी बालिका है और सुखमें पली हुई है। यदि आपका कोई अपराध कर बैठे, तो भी आप उसे मनमें नहीं लाइयेगा ॥ १४ ॥

द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु।
भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५ ॥

'वृद्ध, बालक और तपस्वीजन यदि कोई अपराध कर दें, तो भी आप-जैसे महाभाग ब्राह्मण प्रायः कभी उनपर क्रोध नहीं करते ॥ १५ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६ ॥

'विप्रवर ! सेवकका महान् अपराध होनेपर भी ब्राह्मणोंको क्षमा करना चाहिये तथा शक्ति और उत्साहके अनुसार उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा स्वीकार कर लेनी चाहिये' ॥

तथेति ब्राह्मणेनोक्तः स राजा प्रीतमानसः।
हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणने 'तथास्तु' कहकर राजाका अनुरोध मान लिया। इससे उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ब्राह्मणको रहनेके लिये हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान एक उज्ज्वल भवन दे दिया ॥ १७ ॥

तत्राग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत्।
आहारादि च सर्वं तत् तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १८ ॥

वहाँ अग्निहोत्रगृहमें उनके लिये चमचमाते हुए सुन्दर आसनकी व्यवस्था हो गयी। भोजन आदिकी सब सामग्री भी राजाने वहीं प्रस्तुत कर दी ॥ १७ ॥

निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ॥ १९ ॥

राजकुमारी कुन्ती आलस्य और अभिमानको दूर भगाकर ब्राह्मणकी आराधनामें बड़े यत्नसे संलग्न हो गयी ॥ १९ ॥

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती।
विधिवत् परिचारार्हं देववत् पर्यतोषयत् ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे शुद्ध हो सती-साध्वी पृथा उन पूजनीय ब्राह्मणके पास जाकर देवताकी भाँति उनकी विधिवत् आराधना करके उन्हें पूर्णरूपसे संतुष्ट रखने लगी ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कुन्तीके द्वारा ब्राह्मणकी परिचर्याविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी सेवासे संतुष्ट होकर तपस्वी ब्राह्मणका उसको मन्त्रका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम्।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार वह कन्या पृथा कठोर व्रतका पालन करती हुई शुद्ध हृदयसे उन उत्तम व्रतधारी ब्राह्मणको अपनी सेवाओंद्वारा संतुष्ट रखने लगी ॥ १ ॥

प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद् द्विजसत्तमः।
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः॥ २॥

राजेन्द्र! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी यह कहकर कि 'मैं प्रातःकाल लौट आऊँगा' चल देते और सायंकाल अथवा बहुत रात बीतनेपर पुनः वापस आते थे॥ २॥

तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा॥ ३॥

परंतु वह कन्या प्रतिदिन हर समय पहलेकी अपेक्षा अधिक-अधिक परिमाणमें भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्री तथा शय्या-आसन आदि प्रस्तुत करके उनका सेवा-सत्कार किया करती थी॥ ३॥

अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते॥ ४॥

नित्यप्रति अन्न आदिके द्वारा उन ब्राह्मणका सत्कार अन्य दिनोंकी अपेक्षा बढ़कर ही होता था। उनके लिये शय्या और आसन आदिकी सुविधा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ही दी जाती थी। किसी बातमें तनिक भी कमी नहीं की जाती थी॥ ४॥

निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन् न चकाराप्रियं तदा॥ ५॥

राजन्! वे ब्राह्मण कभी धिक्कारते, कभी बात-बातमें दोषारोपण करते और प्रायः कटु वचन भी बोला करते थे, तो भी पृथा उनके प्रति कभी कोई अप्रिय बर्ताव नहीं करती थी॥ ५॥

व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत्॥ ६॥

वे कभी ऐसे समयमें लौटकर आते थे, जब कि पृथाको दूसरे कामोंमें दम लेनेकी भी फुरसत नहीं होती थी और कभी वे कई दिनोंतक आते ही नहीं थे। आनेपर भी ऐसा भोजन माँग लेते, जो अत्यन्त दुर्लभ होता॥ ६॥

कृतमेव च तत् सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत्।
शिष्यवत् पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता॥ ७॥

परंतु कुन्ती उन्हें उनकी माँगी हुई सब वस्तुएँ इस प्रकार प्रस्तुत कर देती थी, मानो उनको पहलेसे ही तैयार करके रक्खा हो। वह अत्यन्त संयत होकर शिष्य, पुत्र तथा छोटी बहिनकी भाँति सदा उनकी सेवामें लगी रहती थी॥

यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिन्दिता॥ ८॥

राजेन्द्र! उस अनिन्द्य कन्यारत्न कुन्तीने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणको उनकी रुचिके अनुसार सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न कर लिया॥ ८॥

तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाकरोत्॥ ९॥

उसके शील, सदाचार तथा सावधानीसे उन द्विजश्रेष्ठको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने कुन्तीका हित करनेका पूरा प्रयत्न किया॥ ९॥

तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया॥ १०॥

जनमेजय! पिता कुन्तिभोज प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें पूछते थे—'बेटी! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मणको संतोष तो है न?'॥ १०॥

तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी।
ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तिभोजो महामनाः॥ ११॥

वह यशस्विनी कन्या उन्हें उत्तर देती—'हाँ पिताजी! वे बहुत प्रसन्न हैं।' यह सुनकर महामना कुन्तिभोजको बड़ा हर्ष प्राप्त होता था॥ ११॥

ततः संवत्सरे पूर्णे यदासौ जपतां वरः।
नापश्यद् दुष्कृतं किंचित् पृथायाः सौहृदे रतः॥ १२॥
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे॥ १३॥
वरान् वृणीष्व कल्याणि दुरापान् मानुषैरिह।
यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि॥ १४॥

तदनन्तर जब एक वर्ष पूरा हो गया और पृथाके प्रति वात्सल्य स्नेह रखनेवाले जपकर्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण दुर्वासाजीने उसकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं देखी, तब वे प्रसन्नचित्त होकर पृथासे इस प्रकार बोले—'भद्रे! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। शुभे! कल्याणि! तुम मुझसे ऐसे वर माँगो, जो यहाँ दूसरे मनुष्योंके लिये दुर्लभ हों और जिनके कारण तुम संसारकी समस्त सुन्दरियोंको अपने सुयशसे पराजित कर सको'॥ १२—१४॥

कुन्त्युवाच

कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम॥ १५॥

कुन्ती बोली—वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! जब मुझ सेविकाके ऊपर आप और पिताजी प्रसन्न हो गये, तब मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। विप्रवर! मुझे वर लेनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १५॥

ब्राह्मण उवाच

यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते ।
इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणने कहा— भद्रे ! पवित्र मुसकानवाली पृथे ! यदि तुम मुझसे वर नहीं लेना चाहती हो, तो देवताओंका आवाहन करनेके लिये यह एक मन्त्र ही ग्रहण कर लो ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥

भद्रे ! तुम इस मन्त्रके द्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह-वह तुम्हारे अधीन हो जानेके लिये बाध्य होगा ॥ १७ ॥

अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे ।
विबुधो मन्त्रसंशान्तो भवेद् भृत्य इवानतः ॥ १८ ॥

वह देवता कामनारहित हो या कामनायुक्त, मन्त्रके प्रभावसे शान्तचित्त हो वह विनीत सेवककी भाँति तुम्हारे पास आकर तुम्हारे अधीन हो जायगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन् ! साध्वी पृथा दूसरी बार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी बात न टाल सकी; क्योंकि वैसा करनेपर उसे उनके शापका भय था ॥ १९ ॥

ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः ।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥

राजन् ! तब ब्राह्मणने निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तीको उस मन्त्रसमूहका उपदेश दिया, जो अथर्ववेदीय उपनिषद्में प्रसिद्ध है ॥ २० ॥

तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुन्तिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन् कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! पृथाको वह मन्त्र देकर ब्राह्मणने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'राजन् ! मैं तुम्हारे घरमें तुम्हारी कन्याद्वारा सदा समादृत और संतुष्ट होकर बड़े सुखसे रहा हूँ । अब हम अपनी कार्यसिद्धिके लिये यहाँसे जायँगे ।' ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २१-२२ ॥

स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणको अन्तर्हित हुआ देख उस समय राजाको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने अपनी पुत्री कुन्तीका विशेष आदर-सत्कार किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाया मन्त्रप्राप्तौ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको मन्त्रकी प्राप्तिविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०५

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा सूर्यदेवताका आवाहन तथा कुन्ती-सूर्य-संवाद

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
चिन्तयामास सा कन्या मन्त्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके चले जानेपर किसी कारणवश* राजकन्या कुन्तीने मन-ही-मन सोचा; 'इस मन्त्रसमूहमें कोई बल है या नहीं ॥

अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मन्त्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिति ॥ २ ॥

'उन महात्मा ब्राह्मणने मुझे यह कैसा मन्त्रसमूह प्रदान किया है ? उसके बलको मैं शीघ्र ही (परीक्षाद्वारा) जानूँगी' ॥

एवं संचिन्तयन्ती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साभवद् बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥

इस प्रकार सोच-विचारमें पड़ी हुई कुन्तीने अकस्मात् अपने शरीरमें ऋतुका प्रादुर्भाव हुआ देखा । कन्यावस्थामें ही अपनेको रजस्वला पाकर उस बालिकाने लज्जाका अनुभव किया॥

ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता ।
प्राच्यां दिशि समुद्यन्तं ददर्शादित्यमण्डलम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक दिन कुन्ती अपने महलके भीतर एक बहुमूल्य पलंगपर लेटी हुई थी । उसी समय उसने (खिड़कीसे) पूर्वदिशामें उदित होते हुए सूर्यमण्डलकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ४ ॥

तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत् सा सुमध्यमा ।
न चातप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥

प्रातःसंध्याके समय उगते हुए सूर्यकी ओर देखनेमें सुमध्यमा कुन्तीको तनिक भी तापका अनुभव नहीं हुआ । उसके मन और नेत्र उन्हींमें आसक्त हो गये ॥ ५ ॥

तस्या दृष्टिरभूद् दिव्या सापश्यद् दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥

उस समय उसकी दृष्टि दिव्य हो गयी । उसने दिव्यरूपमें

* इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें सूर्यदेवने उस कारणका स्पष्टीकरण किया है ।

दिखायी देनेवाले भगवान् सूर्यकी ओर देखा । वे कवच धारण किये एवं कुण्डलोंसे विभूषित थे ॥ ६ ॥

तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मन्त्रं प्रति नराधिप ।
आह्वानमकरोत् साथ तस्य देवस्य भाविनी ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! उन्हें देखकर कुन्तीके मनमें अपने मन्त्रकी शक्तिकी परीक्षा करनेके लिये कौतूहल पैदा हुआ । तब उस सुन्दरी राजकन्याने सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ७ ॥

प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम् ।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ८ ॥

उसने विधिपूर्वक आचमन और प्राणायाम करके भगवान् दिवाकरका आवाहन किया । राजन् ! तब भगवान् सूर्य बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ ८ ॥

मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव ।
अङ्गदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ ॥

उनकी अङ्गकान्ति मधुके समान पिङ्गलवर्णकी थी । भुजाएँ बड़ी-बड़ी और ग्रीवा शङ्खके समान थी । वे हँसते हुए-से जान पड़ते थे । उनकी भुजाओंमें अङ्गद (बाजूबंद) चमक रहे थे और मस्तकपर बँधा हुआ मुकुट शोभा पाता था । वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रज्वलित-सी कर रहे थे ॥ ९ ॥

योगात् कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च ।
आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥

वे योगशक्तिसे अपने दो स्वरूप बनाकर एकसे वहाँ आये और दूसरेसे आकाशमें तपते रहे । उन्होंने कुन्तीको समझाते हुए परम मधुर वाणीमें कहा—॥ १० ॥

आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात्कृतः ।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥

'भद्रे ! मैं तुम्हारे मन्त्रके बलसे आकृष्ट होकर तुम्हारे वशमें आ गया हूँ । राजकुमारी ! बताओ, तुम्हारे अधीन रहकर मैं कौन-सा कार्य करूँ ? तुम जो कहोगी, वही करूँगा' ॥ ११ ॥

कुन्त्युवाच

गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवागतो ह्यसि ।
कौतूहलात् समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! आप जहाँसे आये हैं, वहीं पधारिये । मैंने आपको कौतूहलवश ही बुलाया था । प्रभो ! प्रसन्न होइये ॥ १२ ॥

सूर्य उवाच

गमिष्येऽहं यथा मां त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे ।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १३ ॥

सूर्यने कहा—तनुमध्यमे ! जैसा तुम कह रही हो, उसके अनुसार मैं चला तो जाऊँगा ही; परंतु किसी देवताको बुलाकर उसे व्यर्थ लौटा देना न्यायकी बात नहीं है ॥ १३ ॥

तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात् पुत्रो भवेदिति ।
वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुण्डलीति च ॥ १४ ॥

सुभगे ! तुम्हारे मनमें यह संकल्प उठा था कि 'सूर्यदेवसे मुझे एक ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो संसारमें अनुपम पराक्रमी तथा जन्मसे ही दिव्य कवच एवं कुण्डलोंसे सुशोभित हो' ॥

सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि ।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमङ्गने ॥ १५ ॥

अतः गजगामिनि ! तुम मुझे अपना शरीर समर्पित कर दो । अङ्गने ! ऐसा करनेसे तुम्हें अपने संकल्पके अनुसार तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते ।
यदि त्वं वचनं नाद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते ।
त्वत्कृते तान् प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥ १७ ॥

भद्रे ! सुन्दर मुसकानवाली पृथे ! तुमसे समागम करके मैं पुनः लौट जाऊँगा; परंतु यदि आज तुम मेरा प्रिय वचन नहीं मानोगी, तो मैं कुपित होकर तुमको, उस मन्त्रदाता ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको भी शाप दे दूँगा । तुम्हारे कारण मैं उन सबको जलाकर भस्म कर दूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवानयम् ।
तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मन्त्रमदात् तव ॥ १८ ॥
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम् ।

तुम्हारे मूर्ख पिताको भी मैं जला दूँगा, जो तुम्हारे इस अन्यायको नहीं जानता है तथा जिसने तुम्हारे शील और सदाचारको जाने बिना ही मन्त्रका उपदेश दिया है, उस ब्राह्मणको भी अच्छी सीख दूँगा ॥ १८½ ॥

एते हि विबुधाः सर्वे पुरन्दरमुखा दिवि ॥ १९ ॥
त्वया प्रलब्धं पश्यन्ति स्मयन्त इव भाविनि ।
पश्य चैनान् सुरगणान् दिव्यं चक्षुरिदं हि ते ।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २० ॥

भामिनि ! ये इन्द्र आदि समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर मुसकराते हुए-से मेरी ओर इस भावसे देख रहे हैं कि मैं तुम्हारेद्वारा कैसा ठगा गया ? देखो न, इन देवताओंकी ओर ! मैंने तुम्हें पहलेसे ही दिव्य दृष्टि दे दी है, जिससे तुम मुझे देख सकी हो ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽपश्यत् त्रिदशान् राजपुत्री
सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान् ।
प्रभावन्तं भानुमन्तं महान्तं
यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजकुमारी कुन्तीने आकाशमें अपने-अपने विमानोंपर बैठे हुए

सब देवताओंको देखा। जैसे सहस्रों किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्य अत्यन्त दीप्तिमान् दिखायी देते हैं, उसी प्रकार वे सब देवता प्रकाशित हो रहे थे॥ २१॥

सा तान् दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला
सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं
कन्याभावाद् दुःख एवापचारः॥ २२॥

उन्हें देखकर बालिका कुन्तीको बड़ी लज्जा हुई। उस देवीने भयभीत होकर सूर्यदेवसे कहा—'किरणोंके स्वामी दिवाकर! आप अपने विमानपर चले जाइये। छोटी बालिका होनेके कारण मेरे द्वारा आपको बुलानेका यह दुःखदायक अपराध बन गया है॥ २२॥

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा॥ २३॥

'मेरे पिता-माता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीरको देनेका अधिकार रखते हैं। मैं अपने धर्मका लोप नहीं करूँगी। स्त्रियोंके सदाचारमें अपने शरीरकी पवित्रताको बनाये रखना ही प्रधान है और संसारमें उसीकी प्रशंसा की जाती है॥ २३॥

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो।
बाल्याद् बालेति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो॥ २४॥

'प्रभो! प्रभाकर! मैंने अपने बाल-स्वभावके कारण मन्त्रका बल जाननेके लिये ही आपका आवाहन किया है। एक अनजान बालिका समझकर आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें'॥

सूर्य उवाच

बालेति कृत्वानुनयं तवाहं
ददानि नान्यानुनयं लभेत।
आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये
शान्तिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु॥ २५॥

सूर्यदेवने कहा—कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती! बालिका समझकर ही मैं तुमसे इतना अनुनय-विनय करता हूँ। दूसरी कोई स्त्री मुझसे अनुनयका अवसर नहीं पा सकती। भीरु! तुम मुझे अपना शरीर अर्पण करो। ऐसा करनेसे ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है॥ २५॥

न चापि गन्तुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै।
असमेत्य त्वया भीरु मन्त्राहूतेन भाविनि॥ २६॥
गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम्।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे॥ २७॥

निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी! तुमने मन्त्रद्वारा मेरा आवाहन किया है, इस दशामें उस आवाहनको व्यर्थ करके तुमसे मिले बिना ही लौट जाना मेरे लिये उचित न होगा। भीरु! यदि मैं इसी तरह लौटूँगा, तो जगत्‌में मेरा उपहास होगा। शुभे! सम्पूर्ण देवताओंकी दृष्टिमें भी मुझे निन्दनीय बनना पड़ेगा॥ २६-२७॥

सा त्वं मया समागच्छ लप्स्यसे मादृशं सुतम्।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः॥ २८॥

अतः तुम मेरे साथ समागम करो। तुम मेरे ही समान-पुत्र पाओगी और समस्त संसारमें (अन्य स्त्रियोंसे) विशिष्ट समझी जाओगी, इसमें संशय नहीं है॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यका आवाहनविषयक तीन सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०६॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यद्वारा कुन्तीके उदरमें गर्भस्थापन

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवन्ती मधुरं वचः।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजकन्या मनस्विनी कुन्ती नाना प्रकारसे मधुर वचन कहकर अनुनय-विनय करनेपर भी भगवान् सूर्यको मनानेमें सफल न हो सकी॥ १॥

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम्।
भीता शापात् ततो राजन् दध्यौ दीर्घमथान्तरम्॥ २॥

राजन्! जब वह बाला अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यदेवको टाल न सकी, तब शापसे भयभीत हो दीर्घकालतक मन-ही-मन कुछ सोचने लगी॥ २॥

अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च।
मन्निमित्तः कथं न स्यात् क्रुद्धादस्माद् विभावसोः॥ ३॥

उसने सोचा कि 'क्या उपाय करूँ? जिससे मेरे कारण मेरे निरपराध पिता तथा निर्दोष ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए इन सूर्यदेवसे शाप न प्राप्त हो॥ ३॥

बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च॥ ४॥

'सज्जन बालकको भी चाहिये कि वह अत्यन्त मोहके कारण पापशून्य तेजस्वी तथा तपस्वी पुरुषोंके अत्यन्त निकट न जाय॥

साहमद्य भृशं भीता गृहीता च करे भृशम्।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥

'परंतु मैं तो आज अत्यन्त भयभीत हो भगवान् सूर्यदेवके हाथमें पड़ गयी हूँ, तो भी स्वयं अपने शरीरको देने-जैसा न करनेयोग्य नीच कर्म कैसे करूँ?' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिन्तयती हृदा।
मोहेनाभिपरीताङ्गी स्मयमाना पुनः पुनः ॥ ६ ॥
तं देवमब्रवीद् भीता बन्धूनां राजसत्तम।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशाम्पते ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्ती शापसे अत्यन्त डरकर मन-ही-मन तरह-तरहकी बातें सोच रही थी। उसके सारे अङ्ग मोहसे व्याप्त हो रहे थे। वह बार-बार आश्चर्यचकित हो रही थी। एक ओर तो वह शापसे आतङ्कित थी, दूसरी ओर उसे भाई-बन्धुओंका भय लगा हुआ था। भूपाल ! उस दशामें वह लज्जाके कारण विश्रृङ्खल वाणीद्वारा सूर्यदेवसे इस प्रकार बोली ॥ ६-७ ॥

कुन्त्युवाच

पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥ ८ ॥

कुन्तीने कहा—देव ! मेरे पिता, माता तथा अन्य बान्धव जीवित हैं। उन सबके जीते-जी स्वयं आत्मदान करनेपर कहीं शास्त्रीय विधिका लोप न हो जाय ? ॥ ८ ॥

त्वया तु संगमो देव यदि स्याद् विधिवर्जितः।
मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिर्नशेत् ततः॥ ९ ॥

भगवन्! यदि आपके साथ मेरा वेदोक्त विधिके विपरीत समागम हो, तो मेरे ही कारण जगत्में इस कुलकी कीर्ति नष्ट हो जायगी ॥ ९ ॥

अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर।
ऋते प्रदानाद् बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम्॥ १० ॥

अथवा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ दिवाकर ! यदि बन्धुजनोंके दिये बिना ही मेरे साथ अपने समागमको आप धर्मयुक्त समझते हों, तो मैं आपकी इच्छा पूर्ण कर सकती हूँ ॥ १० ॥

आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम्।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥

दुर्धर्ष देव ! मैं आपको आत्मदान करके भी सती-साध्वी रह सकती हूँ ? आपमें ही देहधारियोंके धर्म, यश, कीर्ति तथा आयु प्रतिष्ठित हैं ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच

न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते।
प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥ १२ ॥

भगवान् सूर्यने कहा—शुचिस्मिते ! वरारोहे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो! तुम्हारे पिता, माता अथवा अन्य गुरुजन तुम्हें (इस कामसे रोकनेमें) समर्थ नहीं हैं ॥ १२ ॥

सर्वान् कामयते यस्मात् कमेर्धातोश्च भाविनि।
तस्मात् कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

सुन्दर भाववाली कुन्ती ! 'कम्' धातुसे कन्या शब्दकी सिद्धि होती है। सुन्दरी ! वह (स्वयंवरमें आये हुए) सब वरोंमेंसे किसीको भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कामनाका विषय बना सकती है, इसीलिये इस जगत्में उसे कन्या कहा गया है ॥

नाधर्मश्चरितः कश्चित् त्वया भवति भाविनि।
अधर्मं कुत एवाहं वरेयं लोककाम्यया॥ १४ ॥

कुन्ती ! मेरे साथ समागम करनेसे तुम्हारेद्वारा कोई अधर्म नहीं बन रहा है। भला ! मैं लौकिक कामवासनाके वशीभूत होकर अधर्मका वरण कैसे कर सकता हूँ ? ॥ १४ ॥

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः॥ १५ ॥

वरवर्णिनि ! मेरे लिये सभी स्त्रियाँ और पुरुष आवरणरहित हैं, क्योंकि मैं सबका साक्षी हूँ। जो अन्य सब विकार है, यह तो प्राकृत मनुष्योंका स्वभाव माना गया है ॥ १५ ॥

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥ १६ ॥

तुम मेरे साथ समागम करके पुनः कन्या ही बनी रहोगी और तुम्हें महाबाहु एवं महायशस्वी पुत्र प्राप्त होगा॥ १६ ॥

कुन्त्युवाच

यदि पुत्रो मम भवेत् त्वत्तः सर्वतमोनुद।
कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७॥

कुन्ती बोली—समस्त अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्यदेव ! यदि आपसे मुझे पुत्र प्राप्त हो, तो वह महाबाहु, महाबली तथा कुण्डल और कवचसे विभूषित शूरवीर हो ॥

सूर्य उवाच

भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत्।
उभयं चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ॥ १८ ॥

सूर्यने कहा—भद्रे ! तुम्हारा पुत्र महाबाहु, कुण्डलधारी तथा दिव्य कवच धारण करनेवाला होगा। उसके कुण्डल और कवच दोनों अमृतमय होंगे ॥ १८ ॥

कुन्त्युवाच

यद्येतदमृतादस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम्।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ॥ १९ ॥
अस्तु मे सङ्गमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया।
त्वद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत् स च ॥ २० ॥

कुन्ती बोली—प्रभो ! आप मेरे गर्भसे जिसको जन्म देंगे, उस मेरे पुत्रके कुण्डल और कवच यदि अमृतसे उत्पन्न हुए होंगे, तो भगवन् ! आपने जैसा कहा है, उसी रूपमें मेरा आपके साथ समागम हो । आपका वह पुत्र आपके ही समान वीर्य, रूप, धैर्य, ओज तथा धर्मसे युक्त होना चाहिये ॥

सूर्य उवाच

आदित्या कुण्डले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥

सूर्यदेवने कहा—यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली भीरु राजकुमारी ! माता अदितिने मुझे जो कुण्डल दिये हैं, उन्हें मैं तुम्हारे इस पुत्रको दे दूँगा । साथ ही यह उत्तम कवच भी उसे अर्पित करूँगा ॥ २१ ॥

कुन्त्युवाच

परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! गोपते ! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही पुत्र यदि मुझे प्राप्त हो, तो मैं आपके साथ उत्तम रीतिसे समागम करूँगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर आकाशचारी राहुशत्रु भगवान् सूर्यने योगरूपसे कुन्तीके शरीरमें प्रवेश किया और उसकी नाभिको छू दिया ॥

ततः सा विह्वलेवासीत् कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपात चाथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥

तब वह राजकन्या सूर्यके तेजसे विह्वल और अचेत-सी होकर शय्यापर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

सूर्य उवाच

साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥

सूर्यने कहा—सुन्दरी ! मैं ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे तुम समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दोगी और कन्या ही बनी रहोगी ॥ २५ ॥

ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! तब संगमके लिये उद्यत हुए महातेजस्वी सूर्यदेवकी ओर देखकर लज्जित हुई उस राजकन्याने उनसे कहा—'प्रभो ! ऐसा ही हो' ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्मोक्ता कुन्तिराजात्मजा सा
विवस्वन्तं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन् पुण्ये शयनीये पपात
मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर कुन्तिनरेशकी कन्या पृथा भगवान् सूर्यसे पुत्रके लिये प्रार्थना करती हुई अत्यन्त लज्जा और मोहके वशीभूत होकर कटी हुई लताकी भाँति उस पवित्र शय्यापर गिर पड़ी ॥

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा
योगेनाविश्यात्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः
संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् सूर्यदेवने उसे अपने तेजसे मोहित कर दिया और योगशक्तिके द्वारा उसके भीतर प्रवेश करके अपना तेजोमय वीर्य स्थापित कर दिया । उन्होंने कुन्तीको दूषित नहीं किया—उसका कन्याभाव अछूता ही रहा । तदनन्तर वह राजकन्या फिर सचेत हो गयी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकुन्तीसमागमविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कर्णका जन्म, कुन्तीका उसे पिटारीमें रखकर जलमें बहा देना और विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततो गर्भः समभवत् पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आकाशमें जैसे चन्द्रमाका उदय होता है, उसी प्रकार ग्यारहवें मास* के शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाको कुन्तीके उदरमें भगवान् सूर्यके द्वारा गर्भ स्थापित हुआ ॥ १ ॥

* यहाँ मूल पाठमें मासका निर्देश करनेके लिये 'दशोत्तरे' यह पद आया है, जिसका अर्थ है ग्यारहवें महीनेमें । यह ग्यारहवाँ महीना कौन सा है ? इस विषयमें दो प्रकारके मत उपलब्ध होते हैं । एक मतके अनुसार यहाँ 'माघ' मास ग्रहण किया जाना चाहिये; कारण कि वर्षका आरम्भ चैत्रसे होता है, अतः इस क्रमसे गणना करनेपर 'माघ' ही ग्यारहवाँ मास निश्चित होता है । दूसरे मतवालोंका कहना यह है कि पहले मार्गशीर्ष माससे वर्षकी गणना होती थी । इसीलिये वह 'अग्रहायण' (वर्षका प्रथम मास) कहा जाता है । 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' इस वचनसे भी यही सूचित होता है । इस क्रमसे गणना करनेपर 'आश्विन मास' ग्यारहवाँ सिद्ध होता है ।

सा बान्धवभयाद् बाला गर्भं तं विनिगूहती।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुन्ती भाई-बन्धुओंके भयसे उस गर्भको छिपाती हुई धारण करने लगी। अतः कोई भी मनुष्य नहीं जान सका कि यह गर्भवती है ॥ २ ॥

न हि तां वेद नार्यन्या काचिद् धात्रेयिकामृते।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥

एक धायके सिवा दूसरी कोई स्त्री भी इसका पता न पा सकी। कुन्ती सदा कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती थी एवं अपने रहस्यको छिपानेमें वह अत्यन्त निपुण थी ॥ ३ ॥

ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुन्दरी पृथाने यथासमय भगवान् सूर्यके कृपाप्रसादसे स्वयं कन्या ही बनी रहकर देवताओंके समान तेजस्वी एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४ ॥

तथैवाबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम्।
हर्यक्षं वृषभस्कन्धं यथास्य पितरं तथा ॥ ५ ॥

उसने अपने पिताके ही समान शरीरपर कवच बाँध रक्खा था और उसके कानोंमें सोनेके बने हुए दो दिव्य कुण्डल जगमगा रहे थे। उस बालककी आँखें सिंहके समान और कंधे वृषभ-जैसे थे ॥ ५ ॥

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या सम्मन्त्र्य भाविनी।
मञ्जूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समन्ततः ॥ ६ ॥
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥

उस बालकके पैदा होते ही भामिनी कुन्तीने धायसे सलाह लेकर एक पिटारी मँगवायी और उसमें सब ओर सुन्दर मुलायम बिछौने बिछा दिये। इसके बाद उस पिटारीमें चारों ओर मोम चुपड़ दिया, जिससे उसके भीतर जल न प्रवेश कर सके। जब वह सब तरहसे चिकनी और सुखद हो गयी, तब उसके भीतर उस बालकको सुला दिया और उसका सुन्दर ढक्कन बंद कर दिया तथा रोते-रोते उस पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ दिया* ॥ ६-७ ॥

जानती चाप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम्।
पुत्रस्नेहेन सा राजन् करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥

राजन्! यद्यपि वह यह जानती थी कि किसी कन्याके लिये गर्भधारण करना सर्वथा निषिद्ध और अनुचित है, तथापि पुत्रस्नेह उमड़ आनेसे कुन्ती वहाँ करुणाजनक विलाप करने लगी ॥ ८ ॥

समुत्सृजन्ती मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले।
उवाच रुदती कुन्ती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥

उस समय अश्वनदीके जलमें उस पिटारीको छोड़ते समय रोती हुई कुन्तीने जो बातें कहीं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

स्वस्ति ते चान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥

वह बोली—'मेरे बच्चे! जलचर, थलचर, आकाशचारी तथा दिव्य प्राणी तेरा मङ्गल करें ॥ १० ॥

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः।
आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥

'तेरा मार्ग मङ्गलमय हो। बेटा! तेरे पास शत्रु न आयें। जो आ जायँ, उनके मनमें तेरे प्रति द्रोहकी भावना न रहे ॥ ११ ॥

पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥

'जलमें उसके स्वामी राजा वरुण तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्षमें वहाँ रहनेवाले सर्वगामी वायुदेव तेरी रक्षा करें ॥

पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥

'पुत्र! जिन्होंने दिव्य रीतिसे तुझे मेरे गर्भमें स्थापित किया है वे तपनेवालोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता भगवान् सूर्य सर्वत्र तेरा पालन करें ॥ १३ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥
रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च।
वेत्स्यामि त्वा विदेशेऽपि कवचेनाभिसूचितम् ॥ १५ ॥

'आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, इन्द्रसहित मरुद्गण, दिक्पालोंसहित दिशाएँ तथा समस्त देवता सभी सम-विषम स्थानोंमें तेरी रक्षा करें। यदि विदेशमें भी तू जीवित रहेगा, तो मैं इन कवच-कुण्डल आदि चिह्नोंसे उपलक्षित होनेपर तुझे पहचान लूँगी ॥ १४-१५ ॥

धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥

'बेटा! तेरे पिता भगवान् भुवनभास्कर धन्य हैं, जो अपनी दिव्य दृष्टिसे नदीकी धारामें स्थित हुए तुझको देखेंगे ॥ १६ ॥

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥

'देवपुत्र! वह रमणी धन्य है, जो तुझे अपना पुत्र बनाकर पालेगी और तू भूख-प्यास लगनेपर जिसके स्तनोंका दूध पियेगा ॥ १७ ॥

को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम्।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥ १८ ॥

---

* इस प्रकार पिटारीमें बंद करके बहा देनेपर भी वह बालक इसलिये नहीं मरा कि वह अमृतसे उत्पन्न कवच और कुण्डल धारण किये हुए था। देखिये इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक।

पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥

'उस भाग्यशालिनी नारीने कौन-सा ऐसा शुभ स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवचसे संयुक्त, दिव्य कुण्डलभूषित, कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, लाल कमलदलके सदृश गौर कान्तिवाले, सुन्दर ललाट और मनोहर केशसमूहसे विभूषित तुझ-जैसे दिव्य बालकको अपना पुत्र बनायेगी ॥ १८-१९ ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ॥ २० ॥

'वत्स ! जब तू धरतीपर पेटके बल सरकता फिरेगा और समझमें न आनेवाली मधुर तोतली बोली बोलेगा, उस समय तेरे धूलिधूसरित अङ्गोंको जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ २० ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसम्भूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥

'पुत्र ! हिमालयके जंगलमें उत्पन्न हुए केसरी सिंहके समान तुझे जवानीमें जो लोग देखेंगे वे धन्य हैं' ॥

एवं बहुविधं राजन् विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यास्तदा जले ॥ २२ ॥

राजन् ! इस तरह बहुत-सी बातें कहकर करुण-विलाप करती हुई कुन्तीने उस समय अश्वनदीके जलमें वह पिटारी छोड़ दी ॥ २२ ॥

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन् पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥

जनमेजय ! आधी रातके समय कमलनयनी कुन्ती पुत्रशोकसे आतुर हो उसके दर्शनकी लालसासे धात्रीके साथ नदीके तटपर देरतक रोती रही ॥ २३ ॥

विसर्जयित्वा मञ्जूषां सम्बोधनभयात् पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥

पेटीको पानीमें बहाकर, कहीं पिताजी जग न जायँ, इस भयसे वह शोकसे आतुर हो पुनः राजभवनमें चली गयी ॥ २४ ॥

मञ्जूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ॥ २५ ॥

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल) नदीमें गयी। चर्मण्वतीसे यमुनामें और वहाँसे गङ्गामें जा पहुँची ॥ २५ ॥

गङ्गायाः सूतविषयं चम्पामनुययौ पुरीम् ।
स मञ्जूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥

पिटारीमें सोया हुआ वह बालक गङ्गाकी लहरोंसे बहाया जाता हुआ चम्पापुरीके पास सूतराज्यमें जा पहुँचा ॥

अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुण्डलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥ २७ ॥

उसके शरीरका दिव्य कवच और कानोंके कुण्डल—ये अमृतसे प्रकट हुए थे। वे ही विधाताद्वारा रचित उस देवकुमारको जीवित रख रहे थे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागे अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कर्णपरित्याग विषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अधिरथ सूत तथा उसकी पत्नी राधाको बालक कर्णकी प्राप्ति, राधाके द्वारा उसका पालन, हस्तिनापुरमें उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा कर्णके पास इन्द्रका आगमन

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ सूत अपनी स्त्रीके साथ गङ्गाजीके तटपर गया ॥ १ ॥

तस्य भार्याभवद् राजन् रूपेणासदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविन्दत ॥ २ ॥

राजन् ! उसकी परम सौभाग्यवती पत्नी इस भूतलपर अनुपम सुन्दरी थी। उसका नाम था राधा। उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था ॥ २ ॥

अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाथ मञ्जूषामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥

राधा पुत्रप्राप्तिके लिये विशेष यत्न करती रहती थी। दैवयोगसे उसीने गङ्गाजीके जलमें बहती हुई उस पिटारीको देखा ॥ ३ ॥

दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालभनशोभनाम् ।
ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥

पिटारीके ऊपर उसकी रक्षाके लिये लता लपेट दी गयी थी और सिन्दूरका लेप लगा होनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। गङ्गाकी तरङ्गोंके थपेड़े खाकर वह पिटारी तटके समीप आ लगी ॥ ४ ॥

सा तु कौतूहलात् प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै ॥ ५ ॥

भामिनी राधाने कौतूहलवश उस पिटारीको सेवकोंसे पकड़वा मँगाया और अधिरथ सूतको इसकी सूचना दी ॥५॥

स तामुद्धृत्य मञ्जूषामुत्सार्य जलमन्तिकात्।
यन्त्रैरुद्धाटयामास सोऽपश्यत् तत्र बालकम्॥ ६॥

अधिरथने उस पिटारीको पानीसे बाहर निकालकर जब यन्त्रों (औजारों) द्वारा उसे खोला, तब उसके भीतर एक बालकको देखा॥ ६॥

तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा।
मृष्टकुण्डलयुक्तेन वदनेन विराजता॥ ७॥

वह बालक प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी था। उसने अपने अङ्गोंमें स्वर्णमय कवच धारण कर रक्खा था। उसका मुख कानोंमें पड़े हुए दो उज्ज्वल कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था॥ ७॥

स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अङ्कमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत्॥ ८॥

उसे देखकर पत्नीसहित सूतके नेत्रकमल आश्चर्य एवं प्रसन्नतासे खिल उठे। उसने बालकको गोदमें लेकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ ८॥

इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि।
दृष्टवान् देवगर्भोऽयं मन्येऽस्मान् समुपागतः॥ ९॥

'भीरु! भाविनि! जबसे मैं पैदा हुआ हूँ, तबसे आज ही मैंने ऐसा अद्भुत बालक देखा है। मैं समझता हूँ, यह कोई देवबालक ही हमें भाग्यवश प्राप्त हुआ है॥ ९॥

अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते॥ १०॥

'मुझ पुत्रहीनको अवश्य ही देवताओंने दया करके यह पुत्र प्रदान किया है।' राजन्! ऐसा कहकर अधिरथने वह पुत्र राधाको दे दिया॥ १०॥

प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद् दिव्यरूपिणम्।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम्॥ ११॥
(स्तन्यं समास्रवच्चास्या दैवादित्यथ निश्चयः।)

राधाने भी कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, शोभाशाली तथा दिव्यरूपधारी उस देवबालकको विधिपूर्वक ग्रहण किया। निश्चय ही दैवकी प्रेरणासे राधाके स्तनोंसे दूध भी झरने लगा॥ ११॥

पुपोष चैनं विधिवत् ववृधे स च वीर्यवान्।
ततःप्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः॥ १२॥

उसने विधिपूर्वक उस बालकका पालन-पोषण किया और वह धीरे-धीरे सबल होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा। तभीसे उस सूत-दम्पतिके और भी अनेक औरस पुत्र उत्पन्न हुए॥ १२॥

वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम्।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः॥ १३॥

तदनन्तर वसु (सुवर्ण) मय कवच धारण किये तथा सोनेके ही कुण्डल पहने हुए उस बालकको देखकर ब्राह्मणोंने उसका नाम 'वसुषेण' रक्खा॥ १३॥

एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः।
वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः॥ १४॥

इस प्रकार वह अमितपराक्रमी एवं सामर्थ्यशाली बालक सूतपुत्र बन गया। लोकमें 'वसुषेण' और 'वृष' इन दो नामोंसे उसकी प्रसिद्धि हुई॥ १४॥

सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान्।
चारेण विदितश्चासीत् पृथया दिव्यवर्मभृत्॥ १५॥

अधिरथ सूतका वह पराक्रमी श्रेष्ठ पुत्र अङ्गदेशमें पालित होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा। कुन्तीने गुप्तचर भेजकर मालूम कर लिया था कि मेरा दिव्य कवचधारी पुत्र अधिरथके यहाँ पल रहा है॥ १५॥

सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम्।
दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम्॥ १६॥

अधिरथ सूतने अपने पुत्रको बड़ा हुआ देख उसे यथासमय हस्तिनापुर भेज दिया॥ १६॥

तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत् स च वीर्यवान्॥ १७॥

वहाँ उसने धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये आचार्य द्रोणकी शिष्यता स्वीकार की। इस प्रकार पराक्रमी कर्णकी दुर्योधन-के साथ मित्रता हो गयी॥ १७॥

द्रोणात् कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम्।
लब्ध्वा लोकेऽभवत् ख्यातः परमेष्वासतां गतः॥ १८॥

वह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा परशुरामसे चारों प्रकार-की अस्त्रविद्या सीखकर संसारमें एक महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात हुआ॥ १८॥

संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः।
योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना॥ १९॥

धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मिलकर वह कुन्तीकुमारका अनिष्ट करनेमें लगा रहता और सदा महामना अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा व्यक्त किया करता था॥ १९॥

सदा हि तस्य स्पर्धाऽऽसीदर्जुनेन विशाम्पते।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः॥ २०॥

राजन्! अर्जुन और कर्णने जबसे एक दूसरेको देखा था, तभीसे कर्ण अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता था और अर्जुन भी कर्णके साथ बड़ी स्पर्धा रखते थे॥ २०॥

एतत् गुह्यं महाराज सूर्यस्यासीन्न संशयः।
यः सूर्यसम्भवः कर्णः कुन्त्यां सूतकुले तथा॥ २१॥

महाराज! निःसंदेह सूर्यका यही वह गुप्त रहस्य है कि कुन्तीके गर्भसे सूर्यद्वारा उत्पन्न कर्ण सूतकुलमें पला था॥

तं तु कुण्डलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम् ।
अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद् युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

उसे दिव्य कुण्डल और कवचसे संयुक्त देख युद्धमें अवध्य जानकर राजा युधिष्ठिर सदा संतप्त होते रहते थे ॥ २२ ॥

यदा च कर्णो राजेन्द्र भानुमन्तं दिवाकरम् ।
स्तौति मध्यन्दिने प्राप्ते प्राञ्जलिः सलिले स्थितः ॥ २३ ॥
तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतुना ।
नादेयं तस्य तत्काले किञ्चिदस्ति द्विजातिषु ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! जब कर्ण दोपहरके समय जलमें खड़ा हो हाथ जोड़कर अंशुमाली भगवान् दिवाकरकी स्तुति करता था, उस समय बहुत-से ब्राह्मण धनके लिये उसके पास आते थे । उस अवसरपर उसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ २३-२४ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

इन्द्र भी उसी समय ब्राह्मण बनकर वहाँ उपस्थित हुए और बोले—'मुझे भिक्षा दो ।' यह सुनकर राधानन्दन कर्णने उत्तर दिया—'विप्रवर ! आपका स्वागत है' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें राधाको कर्णकी प्राप्तिविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

इन्द्रका कर्णको अमोघ शक्ति देकर बदलेमें उसके कवच-कुण्डल लेना

वैशम्पायन उवाच

देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराजको ब्राह्मणके छद्मवेषमें छिपकर आये देख कर्णने कहा—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' परंतु कर्णको उस समय इन्द्रके मनोभावका कुछ भी पता न चला ॥ १ ॥

हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान् वा बहुगोकुलान् ।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथिस्ततः ॥ २ ॥

तब अधिरथकुमारने उन ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रसे कहा—'विप्रवर ! मैं आपको क्या दूँ ? सोनेके कण्ठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ अथवा बहुसंख्यक गोधनोंसे भरे हुए अनेक ग्राम ?' ॥

ब्राह्मण उवाच

हिरण्यकण्ठ्यः प्रमदा यच्चान्यत् प्रीतिवर्धनम् ।
नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोले—वीरवर ! तुम्हारी दी हुई सोनेके कंठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ तथा दूसरी आनन्दवर्धक वस्तुएँ मैं नहीं लेना चाहता । इन वस्तुओंको उन याचकोंको दे दो, जो इनकी अभिलाषा लेकर आये हों ॥ ३ ॥

यदेतत् सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥

अनघ ! यदि तुम सत्यव्रती हो, तो ये जो तुम्हारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डल हैं, इन्हें काटकर मुझे दे दो ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥

परंतप ! तुम्हारा दिया हुआ यही दान मैं शीघ्रतापूर्वक लेना चाहता हूँ । यही मेरे लिये सम्पूर्ण लाभोंमें सबसे बढ़कर लाभ है ॥ ५ ॥

कर्ण उवाच

अवनिं प्रमदा गाश्च निर्वापं बहुवार्षिकम् ।
तत् ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुण्डलम् ॥ ६ ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप घर बनानेके लिये भूमि, गृहस्थी बसानेके लिये सुन्दरी तरुणी स्त्रियाँ, बहुत-सी गौएँ, खेत और बहुत वर्षोंतक चालू रहनेवाली जीवनवृत्ति लेना चाहें, तो दे दूँगा; परंतु कवच और कुण्डल नहीं दे सकता ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर कर्णके प्रार्थना करनेपर भी उन ब्राह्मणदेवने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ७ ॥

सान्त्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥

कर्णने उन्हें यथाशक्ति बहुत समझाया एवं विधिपूर्वक उनका पूजन किया । तथापि उन द्विजश्रेष्ठने और किसी वरको लेनेसे अनिच्छा प्रकट कर दी ॥ ८ ॥

यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
(विनास्य सहजं वर्म कुण्डले च विशाम्पते) ।
तदैनमब्रवीद् भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

राजन् ! जब उन द्विजश्रेष्ठने कर्णके सहज कवच और

कुण्डलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं माँगी, तब राधानन्दन कर्णने उनसे हँसते हुए-से कहा—॥ ९ ॥

सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे।
तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ॥ १० ॥

'विप्रवर ! कवच तो मेरे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ है और दोनों कुण्डल भी अमृतसे प्रकट हुए हैं। इन्हींके कारण मैं संसारमें अवध्य बना हुआ हूँ; अतः मैं इन सब वस्तुओंको त्याग नहीं सकता ॥ १० ॥

विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम्।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणप्रवर ! आप मुझसे समूची पृथ्वीका कल्याणमय, अकण्टक, विशाल एवं उत्तम साम्राज्य ले लें ॥ ११ ॥

कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस सहज कवच और दोनों कुण्डलोंसे वञ्चित हो जानेपर मैं शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा (अतः इन्हें न माँगिये)' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदान्यं न वरं वव्रे भगवान् पाकशासनः।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना अनुनय-विनय करनेपर भी जब पाकशासन भगवान् इन्द्रने दूसरा कोई वर नहीं माँगा, तब कर्णने हँसकर पुनः इस प्रकार कहा—॥ १३॥

विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्र वृथा वरम् ॥ १४ ॥

'देवदेवेश्वर ! प्रभो ! आप पधार रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गयी थी। पर देवेन्द्र ! मैं आपको निष्फल कर दूँ, यह न्यायसंगत नहीं है ॥ १४ ॥

त्वं हि देवेश्वरः साक्षात् त्वया देयो वरो मम।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥

'आप साक्षात् देवेश्वर हैं। उचित तो यही है कि आप मुझे वर दें; क्योंकि आप अन्य सब भूतोंके ईश्वर तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रावहास्यताम् ॥ १६ ॥
तस्माद् विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम्।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥

'इन्द्रदेव ! यदि मैं आपको अपने दोनों कुण्डल और कवच दे दूँगा, तो मैं तो शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा और संसारमें आपकी हँसी होगी। इसलिये (कर्णने सूर्यकी आज्ञाको याद करके कहा—) शक्र ! आप कुछ बदला देकर इच्छानुसार मेरे कुण्डल और उत्तम कवच ले जाइये; अन्यथा मैं इन्हें नहीं दे सकता' ॥ १६-१७ ॥

शक्र उवाच

विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवान्तिकम्।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥

इन्द्र बोले—कर्ण ! जब मैं तुम्हारे पास आ रहा था, उसके पहले ही सूर्यदेवको यह बात मालूम हो गयी थी। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ही तुमसे सारी बातें बता दी हैं ॥ १८ ॥

काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥

तात कर्ण ! तुम्हारी रुचिके अनुसार इन वस्तुओंका परिवर्तन ही हो जाय। मेरे वज्रको छोड़कर तुम जो चाहो, वही आयुध मुझसे माँग लो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम्।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे सम्पूर्णमानसः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कर्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर देवराज इन्द्रके पास गया और सफलमनोरथ होकर उसने उनकी अमोघ शक्ति माँगी ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

वर्मणा कुण्डलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥

कर्ण बोला—वासव ! मेरे कवच और कुण्डल लेकर आप मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो सेनाके अग्रभागमें शत्रुसमुदायका संहार करनेवाली है ॥ २१ ॥

ततः संचिन्त्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥

राजन् ! तब इन्द्रने शक्तिके विषयमें दो घड़ीतक मन-ही-मन विचार करके कर्णसे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम्।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥

'कर्ण ! तुम मुझे अपने दोनों कुण्डल और सहज कवच दे दो और मेरी यह शक्ति ग्रहण कर लो। इसी शर्तके अनुसार हमलोगोंमें इन वस्तुओंका विनिमय (बदला) हो जाय ॥

अमोघा हन्ति शतशः शत्रून् मम करच्युता।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान् विनिघ्नतः ॥ २४ ॥

'सूतनन्दन ! दैत्योंका संहार करते समय मेरे हाथसे छूटनेपर यह अमोघ शक्ति सैकड़ों शत्रुओंको मार देती है और पुनः मेरे हाथमें चली आती है ॥ २४ ॥

सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

'वही शक्ति तुम्हारे हाथमें जाकर किसी एक तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापी तथा गर्जना करनेवाले शत्रुको मारकर पुनः मेरे ही पास आ जायगी' ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च यतो मम भयं भवेत्॥ २६॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र! मैं महासमरमें अपने एक ही शत्रुको इसके द्वारा मारना चाहता हूँ, जो बहुत गर्जना करनेवाला और प्रतापी है तथा जिससे मुझे सदा भय बना रहता है॥ २६॥

इन्द्र उवाच

एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना॥ २७॥
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम्।
नारायणमचिन्त्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते॥ २८॥

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम (इस शक्तिसे) रणभूमिमें गर्जना करनेवाले किसी एक बलवान् शत्रुको मार सकोगे, परंतु इस समय तुम जिस एक शत्रुको लक्ष्य करके यह अमोघ शक्ति माँग रहे हो, वह तो उन परमात्माद्वारा सुरक्षित है, जिन्हें वेदवेत्ता विद्वान् पुरुषोत्तम अपराजित, हरि तथा अचिन्त्य-स्वरूप नारायण कहते हैं। वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जिनके द्वारा उस वीरकी रक्षा हो रही है॥ २७-२८॥

कर्ण उवाच

एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम्॥ २९॥

कर्ण बोला—भगवन्! ऐसा ही हो। तो भी आप एक वीरके वधके लिये मुझे अपनी अमोघ शक्ति दे दीजिये, जिससे मैं अपने प्रतापी शत्रुका वध कर सकूँ॥ २९॥

उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत्॥ ३०॥

मैं आपको अपने शरीरसे उधेड़कर कवच और कुण्डल तो दे दूँगा; परंतु उस समय मेरे अङ्गोंके कट जानेपर मेरा स्वरूप बीभत्स न होना चाहिये॥ ३०॥

इन्द्र उवाच

न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन।
व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि॥ ३१॥

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम्हारा स्वरूप किसी प्रकार भी बीभत्स नहीं होगा। तुम्हारे अङ्गोंमें घावतक नहीं होगा; क्योंकि तुम असत्यकी इच्छा नहीं रखते हो॥ ३१॥

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः॥ ३२॥
विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति॥ ३३॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ कर्ण! तुम्हारे पिताका जैसा वर्ण और तेज है, वैसे ही वर्ण और तेजसे तुम पुनः सम्पन्न हो जाओगे। जबतक तुम्हारे पास दूसरे शस्त्र रहें और प्राणसंकटकी परिस्थिति न आ जाय, तबतक तुम यदि प्रमादवश यह अमोघ शक्ति यों ही किसी शत्रुपर छोड़ दोगे, तो यह उसे न मारकर तुम्हारे ही ऊपर आ पड़ेगी॥ ३२-३३॥

कर्ण उवाच

संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम्।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ ३४॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र! आप जैसा मुझसे कह रहे हैं, उसके अनुसार प्राणसंकटकी अवस्थामें पड़कर ही मैं आपकी दी हुई इस शक्तिका उपयोग करूँगा, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ॥ ३४॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशाम्पते।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत॥ ३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रकी प्रज्वलित शक्ति लेकर कर्णने तीखी तलवार उठायी और कवच उधेड़नेके लिये अपने सब अङ्गोंको काटना आरम्भ किया॥

ततो देवा मानवा दानवाश्च
निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम्।
दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान् प्रणेदु-
र्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः॥ ३६॥

उस समय देवता, मनुष्य और दानव सब लोग इस प्रकार अपना शरीर काटते हुए कर्णको देखकर सिंहनाद करने लगे; परंतु कर्णके मुखपर तनिक भी विकार नहीं आया॥ ३६॥

ततो दिव्या दुन्दुभयः प्रणेदुः
पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम्।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं
मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम्॥ ३७॥

कर्णके सारे अङ्ग शस्त्रोंके आघातसे कट गये थे, फिर भी वह नरवीर बारंबार मुसकरा रहा था। यह देखकर दिव्य दुन्दुभियाँ बज उठीं एवं आकाशसे दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी॥ ३७॥

ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमङ्गात्
तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते
कर्णात् तस्मात् कर्मणा तेन कर्णः॥ ३८॥

तदनन्तर अपने शरीरसे दिव्य कवचको उधेड़कर कर्णने इन्द्रके हाथमें दे दिया; वह कवच उस समय रक्तसे भींगा हुआ ही था। इसी प्रकार उसने कानोंके वे कुण्डल भी काटकर दे दिये। अतः इस कर्णन (कर्तन) रूपी कर्मसे उसका नाम 'कर्ण' हुआ॥ ३८॥

ततः शक्रः प्रहसन् वञ्चयित्वा
कर्णं लोके यशसा योजयित्वा।
कृतं कार्यं पाण्डवानां हि मेने
ततः पश्चाद् दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥

इस प्रकार कर्णको (कवच और कुण्डलसे) वञ्चित करके एवं संसारमें उसका सुयश फैलाकर देवराज इन्द्र हँसते हुए स्वर्गलोकको चले गये। उन्हें मन-ही-मन यह विश्वास हो गया कि 'मैंने पाण्डवोंका कार्य पूरा कर दिया ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा
दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन्।
तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं
श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जब यह सुना कि कर्णको (कवच और कुण्डलोंसे) वञ्चित कर दिया गया तो वे सब अत्यन्त दीन-से हो गये; उनका घमंड चूर-चूर-सा हो गया। वनमें रहनेवाले कुन्तीपुत्रोंने जब सुना कि सूतपुत्र इस दशामें पहुँच गया है, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥४०॥

जनमेजय उवाच

क्वस्था वीराः पाण्डवास्ते बभूवुः
कुतश्चैतच्छ्रुतवन्तः प्रियं तत्।
किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते
तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ॥ ४१ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! वे वीर पाण्डव उन दिनों कहाँ थे? उन्होंने वह प्रिय समाचार कैसे सुना और बारहवाँ वर्ष व्यतीत हो जानेपर क्या किया? ये सब बातें आप मुझे स्पष्टरूपसे बतायें ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा कृष्णां सैन्धवं द्रावयित्वा
विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात् ते।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं
देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! द्रौपदीको पाकर तथा जयद्रथको काम्यक वनसे भगाकर ब्राह्मणोंसहित समस्त पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीके मुखसे पुराणकथा और देवताओं तथा ऋषियोंके विस्तृत चरित्र सुनते हुए इसे भी सुना था ॥४२॥

(प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः
सर्वैः सार्धं सूतपौरोगवैस्ते।
ततो ययुर्द्वैतवने नृवीरा
निस्तीर्यैवं वनवासं समग्रम् ॥)

इस प्रकार वनवासकी पूरी अवधि बिताकर वे नरवीर पाण्डव अपने रथ, अनुचर, सूत तथा रसोइयोंके साथ पुनः द्वैतवनमें लौट आये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कवचकुण्डलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कवच-कुण्डलदानविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३१०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

(आरणेयपर्व)

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी अरणि एवं मन्थन-काष्ठका पता लगानेके लिये पाण्डवोंका मृगके पीछे दौड़ना और दुखी होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदीका अपहरण होनेपर अत्यन्त क्लेश उठाकर पाण्डवोंने जब उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया, उसके बाद उन्होंने क्या किया? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वोक्त प्रकारसे द्रौपदीका हरण होनेपर भारी क्लेश उठानेके बाद जब पाण्डवोंने उन्हें पा लिया, तब धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ काम्यकवन छोड़कर पुनः रमणीय द्वैतवनमें ही चले आये। वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलोंकी बहुतायत थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २-३ ॥

अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥

वहाँ सब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ केवल फलाहार करके परिमित भोजनपर जीवन-निर्वाह करते हुए रहते थे ॥ ४ ॥

वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥

द्वैतवनमें रहते समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव—इन सभी शत्रुसंतापी संयम-नियम-परायण धर्मात्मा पाण्डवोंने एक दिन एक ब्राह्मणके लिये पराक्रम करते हुए महान् क्लेश उठाया परंतु उसका भावी परिणाम सुखमय ही हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥

राजन्! उस वनमें रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने जो भविष्यमें सुख देनेवाला क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ७ ॥

अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत॥ ८ ॥

एक तपस्वी ब्राह्मणका (रस्सीमें बँधा) अरणीसहित मन्थनकाष्ठ एक वृक्षमें टँगा था; वहीं एक मृग आकर उस वृक्षसे अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृगके सींगमें अटक गये ॥ ८ ॥

तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥

राजन्! उन काष्ठोंको लेकर वह महामृग बड़ी उतावलीसे भागा और बड़े वेगसे चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे ओझल हो गया ॥ ९ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ! उस ब्राह्मणने जब देखा कि मृग मेरी अरणी और मथानीको लेकर तेजीसे भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्रकी रक्षाके लिये तुरंत वहीं (पाण्डवोंके आश्रममें) आया ॥ १० ॥

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वनमें भाइयोंके साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास तुरंत आकर संतप्त हुए उस ब्राह्मणने इस प्रकार कहा—॥

अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमात् त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥

'राजन्! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्षपर रख दी थी। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्षसे शरीर रगड़ने लगा और उसके सींगमें वे दोनों काष्ठ फँस गये। वह महान् मृग उन काष्ठोंको लेकर बड़ी उतावलीके साथ भाग गया है और अत्यन्त वेगवान् होनेके कारण चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे बहुत दूर निकल गया है ॥ १२-१३ ॥

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम्।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! तथा वीर पाण्डवो! तुम सब लोग उसके पदचिह्नोंको देखते हुए उस महामृगके पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ले आओ, जिससे मेरा अग्निहोत्रकर्म लुप्त न हो'॥

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी बात सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बहुत दुखी हुए और मृगका पता लगानेके लिये वे धनुष लेकर भाइयोंसहित दौड़े ॥ १५ ॥

संनद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन् नरपुङ्गवाः।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन् मृगम् ॥ १६ ॥

वे सभी नरश्रेष्ठ कवच बाँध एवं कमर कसकर धनुष लिये आश्रमसे दौड़े और ब्राह्मणकी कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होकर तीव्र गतिसे मृगका पीछा करने लगे ॥ १६ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः।
नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात्॥ १७॥

कुछ दूर जानेपर उन्हें वह मृग अपने पास ही दिखायी दिया। तब वे महारथी पाण्डव कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाण उसपर छोड़ने लगे, किंतु वे देखते हुए भी वहाँ उस मृगको बींध न सके ॥ १७ ॥

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः।
अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः॥ १८ ॥

घोर प्रयत्न करनेपर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा, सहसा अदृश्य हो गया। मृगको न देखकर वे मनस्वी वीर हतोत्साह और दुखी हो गये ॥ १८ ॥

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन्॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उस गहन वनमें भूख-प्याससे पीड़ित अङ्गोंवाले पाण्डव एक शीतल छायावाले बरगदके पास आकर बैठ गये॥

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम् ॥ २० ॥

उनके बैठ जानेपर नकुल अत्यन्त दुखी हो अमर्षमें आकर बड़े भाई कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो
न चालस्यादर्थलोपो बभूव।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः
सम्प्राप्ताः स्मः संशयं किंनु राजन्॥ २१॥

'राजन्! हमारे कुलमें कभी आलस्यवश धर्मका लोप नहीं हुआ, अर्थका भी कभी नाश नहीं हुआ। हमने किसी भी प्राणीके प्रार्थना करनेपर कभी उसे कोरा जवाब नहीं दिया—निराश नहीं किया। फिर भी हम धर्मसंकटमें कैसे पड़ गये?' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें मृगका अनुसंधानविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३११ ॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पानी लानेके लिये गये हुए नकुल आदि चार भाइयोंका सरोवरके तटपर अचेत होकर गिरना

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम्।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भैया! आपत्तियोंकी न तो कोई सीमा है, न कोई निमित्त दिखायी देता है और न कोई विशेष कारण ही परिलक्षित होता है। पहलेका किया हुआ पुण्य और पापरूप कर्म ही प्रारब्ध बनकर सुख और दुःखरूप फल बाँटता रहता है॥ १॥

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत् तदा।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥ २ ॥

भीमसेनने कहा—जब प्रातिकामीकी जगह दूत बनकर गया हुआ दुःशासन द्रौपदीको कौरवोंकी सभामें दासीकी भाँति बलपूर्वक खींच ले आया, उस समय मैंने जो उसका वध नहीं कर डाला, इसीके कारण हमलोग ऐसे धर्मसंकटमें पड़े हैं॥ २॥

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—सूतपुत्र कर्णके कहे हुए कठोर अस्थियोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले अत्यन्त कड़वे वचन सुनकर भी जो हमने सहन कर लिये, उसीसे आज हम धर्मसंकटकी अवस्थामें आ पहुँचे हैं॥ ३॥

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥ ४ ॥

सहदेवने कहा—भारत! जब शकुनिने आपको जूएमें जीत लिया और उस समय मैंने उसे मार नहीं डाला, उसीका यह फल है कि आज हमलोग धर्मसंकटमें पड़ गये हैं॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत्।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान्।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—माद्रीनन्दन! किसी वृक्षपर चढ़कर सब दिशाओंमें दृष्टिपात करो। कहीं आस-पास पानी हो, तो देखो अथवा जलके किनारे होनेवाले वृक्षोंपर भी दृष्टि डालो। तात! तुम्हारे ये भाई थके-माँदे और प्यासे हैं' ॥ ५-६॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम्।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः॥ ७ ॥

तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक पेड़पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि डालकर अपने बड़े भाईसे बोले—॥

पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान्।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥

'राजन्! मैं ऐसे बहुतेरे वृक्ष देख रहा हूँ, जो जलके किनारे ही होते हैं। सारसोंकी आवाज भी सुनायी देती है; अतः निःसंदेह यहाँ आस-पास ही कोई जलाशय है' ॥ ८॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णं पानीयमानय॥ ९ ॥

तब सत्यका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'सौम्य! शीघ्र जाओ और तरकसोंमें पानी भर लाओ' ॥ ९॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात्।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥

नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाईकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक गये और जहाँ जलाशय था, वहाँ तुरंत पहुँच गये॥ १०॥

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम्।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे॥ ११॥

वहाँ सारसोंसे घिरे हुए जलाशयका स्वच्छ जल देखकर नकुलको उसे पीनेकी इच्छा हुई। इतनेमें ही आकाशसे उनके कानोंमें एक स्पष्ट वाणी सुनायी दी ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥

यक्ष बोला—तात ! तुम इस सरोवरका पानी पीनेका साहस न करो। इसपर पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। माद्रीकुमार ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ १२ ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥

नकुलकी प्यास बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने यक्षके कथनकी अवहेलना करके वहाँका शीतल जल पी लिया। पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ॥ १३ ॥

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥

नकुलके लौटनेमें जब अधिक विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने शत्रुहन्ता वीर भ्राता सहदेवसे कहा—॥ १४ ॥

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥

'सहदेव ! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुलको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी। तुम जाकर अपने सहोदर भाईको बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥१५॥

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥

तब सहदेव 'बहुत अच्छा' कहकर उसी दिशाकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा, भाई नकुल पृथ्वीपर मरे पड़े हैं ॥ १६ ॥

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥

भाईके शोकसे उनका हृदय संतप्त हो उठा। साथ ही प्याससे भी वे बहुत कष्ट पा रहे थे; अतः पानीकी ओर दौड़े। उसी समय आकाशवाणी बोल उठी—॥ १७ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

'तात ! पानी पीनेका साहस न करो। यहाँ पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर इच्छानुसार जल पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं सहदेवः पिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥

प्यासे सहदेव उस वचनकी अवहेलना करके वहाँका ठंडा जल पीने लगे एवं पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'शत्रुनाशन बीभत्सो ! तुम्हारे दोनों भाइयोंको गये बहुत देर हो गयी ॥ २० ॥

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन दोनोंको बुला लाओ और साथ ही पानी भी ले आओ। तात ! तुम्हीं हम सब दुखी बन्धुओंके सहारे हो' ॥ २१ ॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर निद्राविजयी बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण और खड्ग लिये उस सरोवरके तटपर गये ॥२२॥

ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥

श्वेतवाहन अर्जुनने जल लानेके लिये गये हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयोंको वहाँ मरे हुए देखा ॥ २३ ॥

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम् ॥ २४ ॥

दोनोंको प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुएकी भाँति देखकर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्जुनको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने धनुष उठाकर उस वनका अच्छी तरह निरीक्षण किया ॥ २४ ॥

नापश्यत् तत्र किंचित् स भूतमस्मिन् महावने।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥

जब उस विशाल वनमें उन्हें कोई भी हिंसक प्राणी नहीं दिखायी दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानीकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ॥ २६ ॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥

दौड़ते समय उन्हें आकाशकी ओरसे आती हुई वाणी सुनायी दी—'कुन्तीनन्दन ! क्यों पानीके निकट जा रहे हो ? तुम जबरदस्ती यह जल नहीं पी सकते। भारत ! यदि मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सको, तो यहाँका पानी पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥ २६-२७ ॥

वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार रोके जानेपर अर्जुनने कहा—'जरा सामने आकर रोको । सामने आते ही बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल पाओगे' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर अर्जुनने अपनी शब्दवेध-कलाका परिचय देते हुए दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी सब ओर झड़ी लगा दी ॥ २९ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून् मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः॥ ३० ॥
अनेकैरिपुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! अर्जुन उस समय कर्णी, नालीक तथा नाराच आदि बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। प्याससे पीड़ित हुए अर्जुनने कितने ही अमोघ बाणोंका प्रयोग करके आकाशमें भी कई बार बाणसमूहकी वर्षा की ॥ ३०½ ॥

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥३१॥
अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि ।

यक्ष बोला—पार्थ ! इस प्रकार प्राणियोंपर आघात करनेसे क्या लाभ ? पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर जल पीओ। यदि तुम प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही यहाँका जल पीओगे, तो पीते ही मर जाओगे ॥ ३१½ ॥

एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।

उसके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनंजय उसके वचनोंकी अवहेलना करके जल पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥ ३२½ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।

तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—'परंतप ! भरतनन्दन ! नकुल, सहदेव और अर्जुनको पानीके लिये गये बहुत देर हो गयी। वे अभीतक नहीं आ रहे हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥ ३३-३४½ ॥

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः॥३६ ॥

तब भीमसेन 'बहुत अच्छा' कहकर उस स्थानपर गये, जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथ्वीपर पड़े थे। उन्हें उस अवस्थामें देखकर भीमसेनको बड़ा दुःख हुआ । इधर प्यास भी उन्हें बहुत कष्ट दे रही थी ॥ ३५-३६ ॥

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥
पास्यामि तावत् पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत् पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥

महाबाहु भीमसेनने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि 'यह यक्षों तथा राक्षसोंका काम है।' फिर उन्होंने सोचा; 'आज निश्चय ही मुझे शत्रुके साथ युद्ध करना पड़ेगा, अतः पहले जल तो पी लूँ।' ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जलकी ओर दौड़े ॥ ३७-३८ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥

यक्ष बोला—तात ! पानी पीनेका साहस न करना। इस जलपर पहलेसे ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीकुमार ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥

अमिततेजस्वी यक्षके ऐसा कहनेपर भी भीमसेन उन प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ ४० ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्र पुरुषरत्न महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत देरतक सोच-विचार करके उठे और जलते हुए हृदयसे उन्होंने उस विशाल वनमें प्रवेश किया, जहाँ मनुष्योंकी आवाजतक नहीं सुनायी देती थी। वहाँ रुरु मृग, वराह तथा पक्षियोंके समुदाय ही निवास करते थे ॥ ४१-४२ ॥

नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥

नीले रंगके चमकीले वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जन और विहंगोंके कलरवसे वह वनप्रान्त शब्दायमान हो रहा था ॥ ४३ ॥

स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं तथा ॥ ४४ ॥

महायशस्वी श्रीमान् युधिष्ठिरने उस वनमें विचरण करते हुए उस सरोवरको देखा, जो सुनहरे रंगके कुसुमकेसरोंसे विभूषित था। जान पड़ता था साक्षात् विश्वकर्माने ही उसका निर्माण किया है ॥ ४४ ॥

उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम्।
(ततो धर्मसुतः श्रीमान् भ्रातृदर्शनलालसः।)
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ॥ ४५ ॥

उस सरोवरका जल कमलकी बेलोंसे आच्छादित हो रहा था और उसके चारों किनारोंपर सिंदुवार, बेंत, केवड़े, करवीर तथा पीपलके वृक्ष उसे घेरे हुए थे। उस समय भाइयोंसे मिलनेके लिये उत्सुक श्रीमान् धर्मनन्दन युधिष्ठिर थकावटसे पीड़ित हो उस सरोवरपर आये और वहाँकी अवस्था देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदि चारों भाइयोंके मूर्छित होकर गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्ष और युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट हुए यक्षका चारों भाइयोंके जीवित होनेका वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान्।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरने इन्द्रके समान गौरवशाली अपने भाइयोंको सरोवरके तटपर निर्जीवकी भाँति पड़े हुए देखा; मानो प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकपाल अपने लोकोंसे भ्रष्ट होकर गिर गये हों ॥ १ ॥

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम्।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः॥३॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम्।

अर्जुन मरे पड़े थे; उनके धनुष-बाण इधर-उधर बिखरे थे। भीमसेन और नकुल-सहदेव भी प्राणरहित हो निश्चेष्ट हो गये थे। इन सबको देखकर युधिष्ठिर गरम-गरम लंबी साँसें खींचने लगे। उनके नेत्रोंसे शोकके आँसू उमड़कर उन्हें भिगो रहे थे। अपने समस्त भ्राताओंको इस प्रकार धराशायी हुए देख महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्तामें डूब गये और देरतक विलाप करते रहे—॥ २-३½ ॥

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीर निपातिते ॥ ५ ॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने।

वे बोले—'महाबाहु वृकोदर! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्धमें अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा।' महाबाहो! तुम कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। तुम्हारा हृदय विशाल था। वीर! आज तुम्हारे गिर जानेसे मेरे लिये वह सब कुछ व्यर्थ हो गया ॥ ४-५½ ॥

मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा।

'साधारण मनुष्योंकी बातें तथा उनकी प्रतिज्ञाएँ तो झूठी निकल जाती हैं; परंतु तुमलोगोंके सम्बन्धमें जो दिव्य वाणियाँ हुई थीं, वे कैसे मिथ्या हो सकती हैं? ॥ ६½ ॥

देवाश्चापि यदावोचन् सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रणष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥

''धनंजय! जब तुम्हारा जन्म हुआ था, उस समय देवताओंने भी कहा था कि 'कुन्ती! तुम्हारा यह पुत्र सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे किसी बातमें कम न होगा।' उत्तर पारियात्र पर्वतपर सब प्राणियोंने तुम्हारे विषयमें यही कहा था कि 'ये अर्जुन शीघ्र ही पाण्डवोंकी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पुनः लौटा लायेंगे। युद्धमें कोई भी इनपर विजय पानेवाला न होगा और ये भी किसीको परास्त किये बिना न रहेंगे'' ॥ ७-९ ॥

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः।
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम।

'वे ही महाबली अर्जुन आज मृत्युके अधीन कैसे हो गये? ये वे ही धनंजय मेरी आशालताको छिन्न-भिन्न करके धरतीपर पड़े हैं; जिन्हें अपना रक्षक बनाकर और जिनका ही भारी भरोसा करके हमलोग ये सारे दुःख सहते आये हैं ॥ १०½ ॥

रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥

'कुन्तीके ये दोनों महाबली पुत्र भीमसेन और अर्जुन—जो

किसी भी अस्त्रसे प्रतिहत न होनेवाले, समराङ्गणमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले तथा सदैव शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर थे, वे आज सहसा शत्रुके अधीन कैसे हो गये ? ॥ ११-१२॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥

'मुझ दुष्टका हृदय निश्चय ही पत्थर और लोहेका बना हुआ है, जो कि आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेवको धरतीपर पड़ा देख विदीर्ण नहीं हो जाता है ॥ १३ ॥

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह बन्धुओ ! तुमलोग शास्त्रोंके विद्वान्, देशकालको समझनेवाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे । अपने योग्य पराक्रम किये बिना ही तुमलोग (प्राणहीन हो) कैसे सो रहे हो ? ॥ १४ ॥

अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥

'तुम्हारे शरीरोंमें कोई घाव नहीं है, तुमने धनुष-बाणका स्पर्शतक नहीं किया है तथा तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो; ऐसी दशामें इस पृथ्वीपर संज्ञाशून्य होकर क्यों पड़े हो ?' ॥ १५ ॥

सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन् महामतिः।
सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर धरतीपर पड़े हुए पर्वत-शिखरोंके समान अपने भाइयोंको इस प्रकार सुखकी नींद सोते देखकर बहुत दुखी हुए । उनके सारे अङ्गोंमें पसीना निकल आया और वे अत्यन्त कष्टप्रद अवस्थामें पहुँच गये ॥

एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥

'यह ऐसी ही होनहार है', ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागरमें मग्न तथा व्याकुल होकर भाइयोंकी मृत्युके कारणपर विचार करने लगे ॥ १७ ॥

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित्।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥ १८ ॥

वे यह भी सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये ?' महाबुद्धिमान् महाबाहु युधिष्ठिर देश और कालके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेवाले थे; तो भी बहुत सोचने-विचारनेपर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ १८ ॥

अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपोयुतः।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः॥ २० ॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित्।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा और तपस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने मनको स्थिर करके बहुत विलाप करनेके पश्चात् अपनी बुद्धि-द्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरोंको किसने मार गिराया है ? इनके शरीरोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातका कोई चिह्न नहीं है और न इस स्थानपर किसी दूसरेके पैरोंका निशान ही है । मैं समझता हूँ, अवश्य वह कोई भारी भूत है, जिसने मेरे भाइयोंको मारा है ॥ १९–२१ ॥

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम्।
स्यात् तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम् ॥ २२ ॥

'इस विषयमें मैं चित्तको एकाग्र करके फिर सोचूँगा अथवा पानी पीकर इस रहस्यको समझनेकी चेष्टा करूँगा । सम्भव है, दुर्योधनने चुपके-चुपके कोई षड्यन्त्र किया हो ॥

गान्धारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद् वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥

'अथवा जिसकी बुद्धिमें सदा कुटिलता ही निवास करती है, उस गान्धारराज शकुनिकी भी यह करतूत हो सकती है । जिसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों बराबर हैं, उस अजितात्मा पापी शकुनिपर कौन वीर पुरुष विश्वास कर सकता है ? अथवा गुप्तरूपसे नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा दुरात्मा दुर्योधनने ही यह हिंसात्मक प्रयोग किया होगा' ॥ २३-२४ ॥

भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत्।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥

इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाँति-भाँतिकी चिन्ता करने लगे । (परीक्षा करनेपर) उन्हें इस बातका निश्चय हो गया था कि इस सरोवरके जलमें जहर नहीं मिलाया गया है॥

मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिन्तयत् ॥ २६ ॥

'क्योंकि मर जानेपर भी मेरे इन भाइयोंके शरीरमें कोई विकृति नहीं उत्पन्न हुई है । अब भी मेरे भाइयोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न है ।' इस तरह वे सोच-विचारमें ही डूबे रहे ॥

एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥ २७ ॥

'मेरे इन पुरुषरत्न भाइयोंमेंसे प्रत्येकके शरीरमें बलका अगाध सिन्धु लहराता था । आयु पूर्ण होनेपर सबका अन्त कर देनेवाले यमराजके सिवा दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था ?' ॥ २७ ॥

एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर जलमें उतरे । पानीमें प्रवेश करते ही उनके कानोंमें आकाशवाणी सुनायी दी ॥

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र
न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि ॥२९॥

यक्ष बोला—राजकुमार ! मैं सेवार और मछली खानेवाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे छोटे भाइयोंको यमलोक भेजा है; अतः मेरे पूछनेपर यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोकके पाँचवें अतिथि होओगे ॥२९॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

तात ! जल पीनेका साहस न करना। इसपर मेरा पहलेसे ही अधिकार हो गया है। कुन्तीकुमार ! मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो और तब जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक्।
पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूँ, तुम रुद्रों, वसुओं अथवा मरुद्गणोंमेंसे कौन-से प्रधान देवता हो ? बताओ। यह काम किसी पक्षीका किया हुआ नहीं हो सकता ? ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२ ॥

मेरे महातेजस्वी भाई हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य तथा मलय—इन चारों पर्वतोंके समान हैं। इन्हें किसने मार गिराया है ? ॥ ३२ ॥

अतीव ते महत् कर्म कृतं च बलिनां वरः।
यान् न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥ ३३ ॥
विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम्।
न ते जानामि यत् कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम् ॥ ३४॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर ! तुमने यह अत्यन्त महान् कर्म किया है। बड़े-बड़े युद्धोंमें जिन वीरों (के प्रभाव) को देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी नहीं सह सकते थे, उन्हें गिराकर तुमने परम अद्भुत पराक्रम किया है। तुम्हारा कार्य क्या है ? यह मैं नहीं जानता। तुम क्या चाहते हो ? इसका भी मुझे पता नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम।
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति।

तुम्हारे विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो गया है। तुमसे मुझे कुछ भय भी लगने लगा है, जिससे मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा है और सिरमें संताप होने लगा है। अतः भगवन् ! मैं विनयपूर्वक पूछता हूँ, तुम यहाँ कौन विराज रहे हो ? ॥

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः।

यक्षने कहा—तुम्हारा कल्याण हो। मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ, यक्ष हूँ। तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरेद्वारा ही मारे गये हैं ॥ ३६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम्।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् उस समय इस प्रकार बोलनेवाले उस यक्षकी वह अमङ्गलमयी और कठोर वाणी सुनकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े हो गये। उन्होंने देखा, एक विकट नेत्रोंवाला विशालकाय यक्ष वृक्षके ऊपर बैठा है। वह बड़ा ही दुर्धर्ष, ताड़के समान लंबा, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी तथा पर्वतके समान ऊँचा है। वही अपनी मेघके समान गम्भीर नादयुक्त वाणीसे उन्हें फटकार रहा है। उसकी आवाज बहुत ऊँची है ॥३७—३९½ ॥

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ॥ ४० ॥
बलात् तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया।
न पेयमुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२॥

यक्षने कहा—राजन् ! तुम्हारे इन भाइयोंको मैंने बार-बार रोका था; फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे; इसीसे मैंने इन्हें मार डाला। महाराज युधिष्ठिर ! यदि तुम्हें अपने प्राण बचानेकी इच्छा हो, तो यहाँ जल नहीं पीना चाहिये। पार्थ ! तुम पानी पीनेका साहस न करना, यह पहलेसे ही मेरे अधिकारकी वस्तु है। कुन्तीनन्दन ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, उसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ४०—४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम्।
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत् पुरुषर्षभ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—यक्ष ! मैं तुम्हारे अधिकारकी वस्तुको नहीं ले जाना चाहता। मैं स्वयं ही अपनी बड़ाई

करूँ; इस बातकी सत्पुरुष कभी प्रशंसा नहीं करते । मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा, तुम मुझसे प्रश्न करो ॥ ४३-४४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥

यक्षने पूछा—सूर्यको कौन ऊपर उठाता (उदित) करता है ? उसके चारों ओर कौन चलते हैं ? उसे अस्त कौन करता है ? और वह किसमें प्रतिष्ठित है ? ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्यको ऊपर उठाता (उदित करता) है, देवता उसके चारों ओर चलते हैं, धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्यमें प्रतिष्ठित है ॥ ४६ ॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत्।
केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान् ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है ? महत्पदको किसके द्वारा प्राप्त करता है ? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है ? और किससे बुद्धिमान् होता है ? ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत्।
धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर बोले—वेदाध्ययनके द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्पद प्राप्त करता है, धैर्यसे द्वितीयवान् (दूसरे साथीसे युक्त) होता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे बुद्धिमान् होता है ॥ ४८ ॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्यभाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

युधिष्ठिर बोले—वेदोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंमें देवत्व है, तप सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, मरना मनुष्य-भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

यक्षने पूछा—क्षत्रियोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्य-भाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले—बाणविद्या क्षत्रियोंका देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है और शरणमें आये हुए दुखियोंका परित्याग कर देना उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

यक्षने पूछा—कौन एक वस्तु यज्ञिय साम है ? कौन एक (यज्ञसम्बन्धी) यज्ञिय यजु है ? कौन एक वस्तु यज्ञका वरण करती है ? और किस एकका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ? ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञिय साम है, मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है, एकमात्र ऋचा ही यज्ञका वरण करती है और उसीका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ।
किंस्वित् प्रतिष्ठमानानां किंस्वित् प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

यक्षने पूछा—खेती करनेवालोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? बिखेरने (बोने) वालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा-प्राप्त धनियोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? तथा संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर बोले—खेती करनेवालोंके लिये वर्षा श्रेष्ठ है । बिखेरने (बोने) वालोंके लिये, बीज श्रेष्ठ है । प्रतिष्ठाप्राप्त धनियोंके लिये गौ (का पालन-पोषण और संग्रह) श्रेष्ठ है और संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये पुत्र श्रेष्ठ है ॥

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥ ५७ ॥

यक्षने पूछा—ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान्, लोकमें सम्मानित और सब प्राणियोंका माननीय होकर एवं इन्द्रियोंके विषयोंको अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तवमें जीवित नहीं है ? ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात् ॥ ५९ ॥

यक्षने पूछा—पृथ्वीसे भी भारी क्या है ? आकाशसे भी ऊँचा क्या है ? वायुसे भी तेज चलनेवाला क्या है ? और तिनकोंसे भी अधिक (असंख्य) क्या है ? ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर बोले—माताका गौरव पृथ्वीसे भी अधिक है । पिता आकाशसे भी ऊँचा है । मन वायुसे भी तेज चलनेवाला है और चिन्ता तिनकोंसे भी अधिक असंख्य एवं अनन्त है ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद् वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥

यक्षने पूछा—कौन सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदता ? उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता ? किसमें हृदय नहीं है ? और कौन वेगसे बढ़ता है ? ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर बोले—मछली सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता, पत्थरमें हृदय नहीं है और नदी वेगसे बढ़ती है ॥ ६२ ॥

यक्ष उवाच

किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ६३ ॥

यक्षने पूछा—प्रवासी (परदेशके यात्री) का मित्र कौन है ? गृहवासी (गृहस्थ) का मित्र कौन है ? रोगीका मित्र कौन है ? और मृत्युके समीप पहुँचे हुए पुरुषका मित्र कौन है ? ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर बोले—सहयात्रियोंका समुदाय अथवा साथमें यात्रा करनेवाला साथी ही प्रवासीका मित्र है, पत्नी गृहवासीका मित्र है, वैद्य रोगीका मित्र है और दान मुमूर्षु (अर्थात् मरनेवाले) मनुष्यका मित्र है ॥ ६४ ॥

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद् धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद् राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत् ॥ ६५ ॥

यक्षने पूछा—राजेन्द्र ! समस्त प्राणियोंका अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है ? अमृत क्या है ? और यह सारा जगत् क्या है ? ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर बोले—अग्नि समस्त प्राणियोंका अतिथि है, गौका दूध अमृत है, अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है और वायु यह सारा जगत् है ॥ ६६ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥ ६७ ॥

यक्षने पूछा—अकेला कौन विचरता है ? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है ? शीतकी ओषधि क्या है ? और महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर बोले—सूर्य अकेला विचरता है, चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है, अग्नि शीतकी ओषधि है और पृथ्वी बड़ा भारी आवपन है ॥ ६८ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥

यक्षने पूछा—धर्मका मुख्य स्थान क्या है ? यशका मुख्य स्थान क्या है ? स्वर्गका मुख्य स्थान क्या है ? और सुखका मुख्य स्थान क्या है ? ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मका मुख्य स्थान दक्षता है, यशका मुख्य स्थान दान है, स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है और सुखका मुख्य स्थान शील है ॥ ७० ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद् दैवकृतः सखा।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्यकी आत्मा क्या है ? इसका दैवकृत सखा कौन है ? इसका उपजीवन (जीवनका सहारा) क्या है ? और इसका परम आश्रय क्या है ? ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्यकी आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी है, मेघ उपजीवन है और दान इसका परम आश्रय है ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम्।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम्७३

यक्षने पूछा—धन्यवादके योग्य पुरुषोंमें उत्तम गुण क्या है ? धनोंमें उत्तम धन क्या है ? लाभोंमें प्रधान लाभ क्या है ? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ? ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषोंमें दक्षता ही उत्तम गुण है, धनोंमें शास्त्रज्ञान प्रधान है, लाभोंमें आरोग्य श्रेष्ठ है और सुखोंमें संतोष ही उत्तम सुख है ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

यक्षने पूछा—लोकमें श्रेष्ठ धर्म क्या है ? नित्य फलवाला धर्म क्या है ? किसको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते ? और किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ? ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः।
मनो यम्य न शोचन्ति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर बोले—लोकमें दया श्रेष्ठ धर्म है, वेदोक्त धर्म नित्य फलवाला है, मनको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ॥ ७६ ॥

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति
किं नु हित्वा न शोचति।
किं नु हित्वार्थवान् भवति
किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७७ ॥

यक्षने पूछा—किस वस्तुको त्यागकर मनुष्य प्रिय होता है ? किसको त्यागकर शोक नहीं करता ? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है ? और किसको त्यागकर सुखी होता है ? ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति
क्रोधं हित्वा न शोचति।
कामं हित्वार्थवान् भवति
लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर बोले—मानको त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोधको त्यागकर शोक नहीं करता, कामको त्यागकर वह अर्थवान् होता है और लोभको त्यागकर सुखी होता है ॥ ७८ ॥

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणको किसलिये दान दिया जाता है ? नट और नर्तकोंको क्यों दान देते हैं ? सेवकोंको दान देनेका क्या प्रयोजन है ? और राजाओंको क्यों दान दिया जाता है ? ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणको धर्मके लिये दान दिया जाता है, नट-नर्तकोंको यशके लिये दान (धन) देते हैं, सेवकोंको उनके भरण-पोषणके लिये दान (वेतन) दिया जाता है और राजाओंको भयके कारण दान (कर) देते हैं ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

यक्षने पूछा—जगत् किस वस्तुसे ढका हुआ है ?

किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता ? मनुष्य मित्रोंको किस लिये त्याग देता है ? और स्वर्गमें किस कारण नहीं जाता ? ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञानसे ढका हुआ है, तमोगुणके कारण वह प्रकाशित नहीं होता, लोभके कारण मनुष्य मित्रोंको त्याग देता है और आसक्तिके कारण स्वर्गमें नहीं जाता ॥ ८२ ॥

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

यक्षने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा हुआ कहा जाता है ? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है ? श्राद्ध किस प्रकार मृत हो जाता है ? और यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है यानी मरे हुएके समान है, बिना राजाका राज्य मर जाता है यानी नष्ट हो जाता है, श्रोत्रिय ब्राह्मणके बिना श्राद्ध मृत हो जाता है और बिना दक्षिणाका यज्ञ नष्ट हो जाता है ॥ ८४ ॥

यक्ष उवाच

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ८५ ॥

यक्षने पूछा—दिशा क्या है ? जल क्या है ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? और श्राद्धका समय क्या है ? यह बताओ । इसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, पृथ्वी अन्न है, प्रार्थना (कामना) विष है और ब्राह्मण ही श्राद्धका समय है अथवा यक्ष ! इस विषयमें तुम्हारी क्या मान्यता है ? ॥ ८६ ॥

यक्ष उवाच

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥ ८७ ॥

यक्षने पूछा—तपका क्या लक्षण बताया गया है ? दम किसे कहा गया है ? उत्तम क्षमा क्या बतायी गयी है ? और लज्जा किसको कहा गया है ? ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें तत्पर रहना तप है, मनके दमनका ही नाम दम है, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करना क्षमा है तथा न करने योग्य कामसे दूर रहना लज्जा है ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! ज्ञान किसे कहते हैं ? शम क्या कहलाता है ? उत्तम दया किसका नाम है ? और आर्जव (सरलता) किसे कहते हैं ? ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

युधिष्ठिर बोले—परमात्मतत्त्वका यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्तकी शान्ति ही शम है, सबके सुखकी इच्छा रखना ही उत्तम दया है और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) है ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्योंका दुर्जय शत्रु कौन है ? अनन्त व्याधि क्या है ? साधु कौन माना जाता है ? और असाधु किसे कहते हैं ? ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है तथा जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो, वही साधु है और निर्दयी पुरुषको ही असाधु माना गया है ।९२।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मोह किसे कहते हैं ? मान क्या कहलाता है ? आलस्य किसे जानना चाहिये ? और शोक किसे कहते हैं ? ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्मका पालन न करना आलस्य है और अज्ञानको ही शोक कहते हैं ॥ ९४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥ ९५ ॥

यक्षने पूछा—ऋषियोंने स्थिरता किसे कहा है ? धैर्य क्या कहलाता है ? परम स्नान किसे कहते हैं ? और दान किसका नाम है ? ॥ ९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें स्थिर रहना ही स्थिरता है, इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मानसिक मलोंका त्याग करना परम स्नान है और प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है ॥

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः॥९७॥

यक्षने पूछा—किस पुरुषको पण्डित समझना चाहिये, नास्तिक कौन कहलाता है ? मूर्ख कौन है ? काम क्या है ? तथा मत्सर किसे कहते हैं ? ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञको पण्डित समझना चाहिये, मूर्ख नास्तिक कहलाता है और नास्तिक मूर्ख है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारका कारण है, वह वासना काम है और हृदयकी जलन ही मत्सर है ॥ ९८ ॥

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः ।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते॥ ९९ ॥

यक्षने पूछा—अहङ्कार किसे कहते हैं ? दम्भ क्या कहलाता है ? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है ? और पैशुन्य किसका नाम है ? ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥१००॥

युधिष्ठिर बोले—महान् अज्ञान अहङ्कार है, अपनेको झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है, दानका फल दैव कहलाता है और दूसरोंको दोष लगाना पैशुन्य (चुगली) है ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥१०१॥

यक्षने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर विरोधी हैं । इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थोंका एक स्थानपर कैसे संयोग हो सकता है ? ॥ १०१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥१०२॥

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर अविरोधी होकर मनुष्यके वशमें हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधियोंका भी एक साथ रहना सहज हो जाता है* ॥ १०२ ॥

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥१०३॥

यक्षने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! अक्षय नरक किस पुरुषको प्राप्त होता है ? मेरे इस प्रश्नका शीघ्र ही उत्तर दो ॥१०३॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥१०४॥

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगनेवाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मणको स्वयं बुलाकर फिर उसे 'नाहीं' कर देता है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०४ ॥

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०५॥

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको प्राप्त होता है ॥

विद्यमाने धने लोभाद् दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयाद् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥१०६॥

धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोगसे रहित है तथा (माँगनेवाले ब्राह्मणादिको एवं न्याययुक्त भोगके

---

* धर्मानुकूल प्राप्त भार्यासे धर्मका विरोध नहीं होता एवं वह पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली हो, तो धर्मसे उसका विरोध नहीं होता । इस प्रकार धर्मानुसार प्राप्त पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली स्त्री और धर्म दोनों जिसके अनुकूल हो जाते हैं, वह धर्मात्मा गृहस्थ कभी दरिद्र नहीं होता । इसलिये उसके घरमें धर्म, अर्थ और काम तीनों बिना विरोधके एक साथ रह सकते हैं ।

लिये स्त्री-पुत्रादिको) पीछेसे यह कह देता है कि मेरे पास कुछ नहीं है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०६ ॥

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥१०७॥

यक्षने पूछा—राजन्! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण—इनमेंसे किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? यह बात निश्चय करके बताओ ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥१०८॥

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष! सुनो न तो कुल ब्राह्मणत्वमें कारण है न स्वाध्याय और न शास्त्रश्रवण। ब्राह्मणत्वका हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है ॥ १०८ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥१०९॥

इसलिये प्रयत्नपूर्वक सदाचारकी ही रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मणको तो उसपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनी जरूरी है; क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका आचार नष्ट हो गया, वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया ॥ १०९ ॥

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥११०॥

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्रका विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पण्डित तो वही है, जो अपने (शास्त्रोक्त) कर्तव्यका पालन करता है ॥ ११० ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥१११॥

चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह अधमतामें शूद्रसे भी बढ़कर है। जो (नित्य) अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही 'ब्राह्मण' कहा जाता है ॥ १११ ॥

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते।
बहुमित्रकरः किं लभते
धर्मरतः किं लभते कथय ॥११२॥

यक्षने पूछा—बताओ; मधुर वचन बोलनेवालेको क्या मिलता है? सोच-विचारकर काम करनेवाला क्या पा लेता है? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है? और जो धर्मनिष्ठ है, उसे क्या मिलता है? ॥ ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥११३॥

युधिष्ठिर बोले—मधुर वचन बोलनेवाला सबको प्रिय होता है, सोच-विचारकर काम करनेवालेको अधिकतर सफलता मिलती है एवं जो बहुत-से मित्र बना लेता है, वह सुखसे रहता है और जो धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब ॥११४॥

यक्षने पूछा—सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीओ ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥११५॥

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष! जिस पुरुषपर ऋण नहीं है और जो परदेशमें नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घरके भीतर साग-पात ही पकाकर खाता हो, तो भी वही सुखी है ॥ ११५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥११६॥

संसारसे रोज-रोज प्राणी यमलोकमें जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा? ॥ ११६ ॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११७॥

तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है ॥ ११७ ॥

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥११८॥

इस महामोहरूपी कड़ाहेमें भगवान् काल समस्त प्राणियोंको मास और ऋतुरूप करछीसे उलट-पलटकर सूर्य-रूप अग्नि और रात-दिनरूप ईंधनके द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्ता है ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥११९॥

यक्षने पूछा—परंतप ! तुमने मेरे सब प्रश्नोंके उत्तर ठीक-ठीक दे दिये, अब तुम पुरुषकी भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है ? ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥१२०॥

युधिष्ठिर बोले—जिस व्यक्तिके पुण्यकर्मोंकी कीर्तिका शब्द जबतक स्वर्ग और भूमिको स्पर्श करता है, तबतक वह पुरुष कहलाता है ॥ १२० ॥

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥१२१॥

जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वोंमें सम है, वही सबसे बड़ा धनी है ॥ १२१ ॥

(भूतभव्यभविष्येषु निःस्पृहः शान्तमानसः ।
सुप्रसन्नः सदा योगी स वै सर्वधनीश्वरः ॥)

जो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी विषयोंकी ओरसे निःस्पृह, शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनियोंका स्वामी है ।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु॥१२२॥

यक्षने कहा—राजन् ! जो सबसे बढ़कर धनी पुरुष है, उसकी तुमने ठीक-ठीक व्याख्या कर दी; इसलिये अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको तुम चाहो, वही जीवित हो सकता है ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२३॥

युधिष्ठिर बोले—यक्ष ! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शालवृक्षके समान ऊँचा और चौड़ी छातीवाला महाबाहु नकुल है, वही जीवित हो जाय ॥ १२३ ॥

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२४॥

यक्षने कहा—राजन् ! यह तुम्हारा प्रिय भीमसेन है और यह तुमलोगोंका सबसे बड़ा सहारा अर्जुन है; इन्हें छोड़कर तुम किसलिये सौतेले भाई नकुलको जिलाना चाहते हो ? ॥ १२४ ॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२५॥

जिसमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उस भीमको छोड़कर तुम नकुलको ही क्यों जिलाना चाहते हो ? ॥१२५॥

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२६॥

सभी मनुष्य भीमसेनको तुम्हारा प्रिय बतलाते हैं; उसे छोड़कर भला सौतेले भाई नकुलमें तुम कौन-सा सामर्थ्य देखकर उसे जिलाना चाहते हो ? ॥ १२६ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२७॥

जिसके बाहुबलका सभी पाण्डवोंको पूरा भरोसा है, उस अर्जुनको भी छोड़कर तुम्हें नकुलको जिला देनेकी इच्छा क्यों है ? ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।१२८।

युधिष्ठिर बोले—यदि धर्मका नाश किया जाय, तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ताको भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय, तो वही कर्ताकी भी रक्षा कर लेता है। इसीसे मैं धर्मका त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे ॥ १२८ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२९॥

यक्ष ! मेरा ऐसा विचार है कि वस्तुतः अनृशंसता (दया तथा समता) ही परम धर्म है । यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समानभाव रखना चाहता हूँ; इसलिये नकुल ही जीवित हो जाय ॥ १२९ ॥

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३०॥

यक्ष ! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं

होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय ॥ १३० ॥

कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः॥ १३१ ॥

मेरे पिताके कुन्ती और माद्री नामकी दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा विचार है॥

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ १३२ ॥

यक्ष ! मेरे लिये जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओंके प्रति समान-भाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिये नकुल ही जीवित हो॥

यक्ष उवाच

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ॥ १३३ ॥

यक्षने कहा— भरतश्रेष्ठ ! तुमने अर्थ और कामसे भी अधिक दया और समताका आदर किया है, इसलिये तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ॥ १३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें यक्षप्रश्नविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३३ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्षका चारों भाइयोंको जिलाकर धर्मके रूपमें प्रकट हो युधिष्ठिरको वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर यक्षके कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षणमें ही उन सबकी भूख-प्यास जाती रही॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम्।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान्॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवरमें एक पैरसे खड़े हुए, किसीसे भी पराजित न होनेवाले आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन देवश्रेष्ठ हैं ? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम होते॥ २ ॥

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान्।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः॥ ३ ॥

आप वसुओंमेंसे, रुद्रोंमेंसे अथवा मरुद्गणोंमेंसे कोई एक श्रेष्ठ पुरुष तो नहीं हैं ? अथवा आप स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं ?॥ ३ ॥

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः॥ ४ ॥

मेरे ये भाई तो लाखों वीरोंसे युद्ध करनेवाले हैं। ऐसा तो मैंने कोई योद्धा नहीं देखा, जिसने इन सभीको रणभूमिमें गिरा दिया हो॥ ४ ॥

सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये।
स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥ ५ ॥

अब जीवित होनेपर भी इनकी इन्द्रियाँ सुखकी नींद सोकर उठे हुए पुरुषोंके समान स्वस्थ दिखायी देती हैं, अतः आप हमारे कोई सुहृद् हैं अथवा पिता ?॥ ५ ॥

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ॥ ६ ॥

यक्षने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखनेकी इच्छासे ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो॥ ६ ॥

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम॥ ७ ॥

यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं॥ ७ ॥

अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम॥ ८ ॥

अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—डाहका न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचनेके द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो॥ ८ ॥

दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके॥ ९ ॥

सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनोंपर अनुराग है तथा सौभाग्यसे तुमने भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छहों दोषोंको जीत लिया है। इनमेंसे पहले दो दोष आरम्भसे ही रहते हैं,

बीचके दो तरुणावस्था आनेपर होते हैं तथा बादवाले दो दोष अन्तिम समयपर आते हैं ॥ ९ ॥

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥

तुम्हारा मङ्गल हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जाननेकी इच्छासे ही यहाँ आया हूँ। निष्पाप राजन्! तुम्हारी दयालुता और समदर्शितासे मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ ॥ १० ॥

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥

पापरहित राजेन्द्र! तुम मनोऽनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दे दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको मृग लेकर भाग गया है, उसके अग्निहोत्रका लोप न हो।

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥

यक्षने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! उस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको तो तुम्हारी परीक्षाके लिये मैं ही मृगरूपसे लेकर भाग गया था ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके बाद भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि (लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ) तुम्हें दे ही देता हूँ। देवोपम नरेश! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम कोई दूसरा वर माँगो ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम्।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्षतक वनमें रह चुके। अब तेरहवाँ वर्ष आ लगा है। अतः ऐसा वर दीजिये कि इसमें कहीं भी रहनेपर लोग हमें पहचान न सकें ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् धर्मने उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ।' इसके बाद धर्मराजने पुनः सत्यपराक्रमी युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—॥ १६ ॥

यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम्।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥

'भरतनन्दन! यद्यपि तुम इस पृथ्वीपर इसी रूपसे विचरोगे, तो भी तीनों लोकोंमें कोई भी तुम्हें नहीं पहचान सकेगा ॥ १७ ॥

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥

'कुरुनन्दन पाण्डवगण! मेरी कृपासे तुमलोग तेरहवें वर्षमें गुप्तरूपसे विराटनगरमें रहते हुए किसीसे भी पहचाने न जाकर विचरण करोगे ॥ १८ ॥

यद् वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम्।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥

'तथा तुममेंसे जो-जो मनसे जैसा संकल्प करेगा, वह इच्छानुसार वैसा-वैसा ही रूप धारण कर सकेगा ॥ १९ ॥

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥

'यह अरणीसहित मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको दे दो! तुम्हारी परीक्षाके लिये ही मैंने मृगका रूप धारण करके इसका हरण किया था ॥ २० ॥

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥

'सौम्य! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो। वह मैं तुम्हें दूँगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २१ ॥

तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ २२ ॥

'बेटा! तुम तीसरा भी महान् एवं अनुपम वर माँग लो। राजन्! तुम मेरे पुत्र हो और विदुरने भी मेरे ही अंशसे जन्म लिया है' ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर बोले—पिताजी! आप सनातन देवाधिदेव हैं। आज मुझे साक्षात् आपके दर्शन हो गये। आप प्रसन्न होकर

मुझे जो भी वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा ॥ २३ ॥

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्॥ २४॥

विभो! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं लोभ, मोह और क्रोधको जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्यमें सदा मेरा मन लगा रहे ॥ २४ ॥

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति॥ २५॥

धर्मराजने कहा—पाण्डुपुत्र! तुम तो स्वयं धर्मस्वरूप ही हो। अतः इन गुणोंसे तो स्वभावसे ही सम्पन्न हो। आगे भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः॥ २६॥
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर लोक-रक्षक भगवान् धर्म अन्तर्धान हो गये एवं सुखपूर्वक सोकर उठनेसे श्रमरहित हुए मनस्वी वीर पाण्डवगण एकत्र होकर आश्रममें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने उस तपस्वी ब्राह्मणको उसकी अरणी एवं मन्थनकाष्ठ दे दिये॥ २६-२७ ॥

इदं समुत्थानसमागतं महत्
पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठन् नरः स्याद् विजितेन्द्रियो वशी
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत्॥ २८॥

भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके पुनः जीवनलाभ करनेसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिर-के संवाद तथा समागमरूप, कीर्तिको बढ़ानेवाले इस प्रशस्त उपाख्यानका जो पुरुष पाठ करता है, वह जितेन्द्रिय, वशी तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीवित रहता है॥

न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने
परस्वहारे परदारमर्शने।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम्॥ २९॥

तथा जो लोग सदा इस मनोहर उपाख्यानको स्मरण रक्खेंगे; उनका मन अधर्ममें, सुहृदोंके भीतर फूट डालनेमें, दूसरोंका धन हरनेमें, परस्त्रीगमनमें अथवा कृपणतामें कभी प्रवृत्त नहीं होगा॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदिके जीवित होने आदि वरोंकी प्राप्तिविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१४ ॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अज्ञातवासके लिये अनुमति लेते समय शोकाकुल हुए युधिष्ठिरको महर्षि धौम्यका समझाना, भीमसेनका उत्साह देना तथा आश्रमसे दूर जाकर पाण्डवोंका परस्पर परामर्शके लिये बैठना

वैशम्पायन उवाच

धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम्॥ १॥
उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः।
ये तद्भक्ता वसन्ति स्म वनवासे तपस्विनः॥ २॥
तानब्रुवन् महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा।
अभ्यनुज्ञापयिष्यन्तस्तं निवासं धृतव्रताः॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराजकी अनुमति पाकर सत्यपराक्रमी पाण्डव तेरहवें वर्षमें छिपकर अज्ञातवास करनेकी इच्छासे एकत्र हो विचार-विमर्शके लिये आस-पास बैठे। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करने-वाले और विद्वान् थे। वनवासके समय जो तपस्वी ब्राह्मण पाण्डवोंके प्रति स्नेह होनेके कारण उनके साथ रहते थे, उनसे अज्ञातवासके हेतु आज्ञा लेनेके लिये व्रतधारी महात्मा पाण्डव हाथ जोड़कर खड़े हो इस प्रकार बोले—॥ १—३ ॥

विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम्।
छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः॥ ४॥

'मुनिवरो! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जिस प्रकार छल करके हमारा राज्य हर लिया और हमपर बारंबार अत्याचार किया, वह सब आपलोगोंको विदित ही है॥ ४ ॥

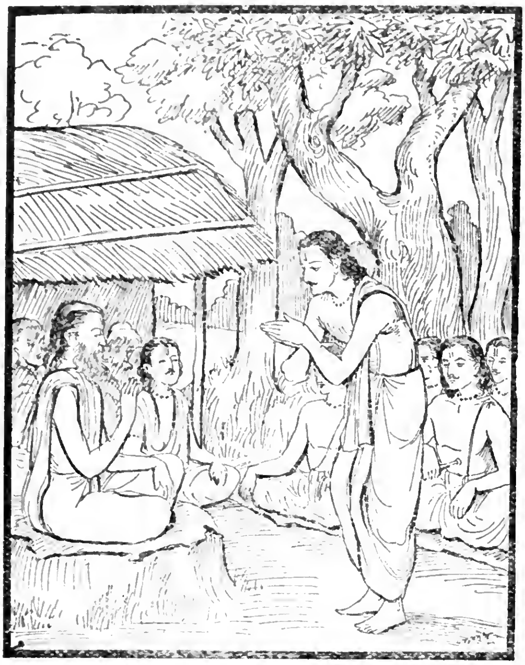

उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥

हमलोग कष्टदायक वनमें बारह वर्षोंतक रह लिये । अब अन्तिम तेरहवाँ वर्ष हमारे अज्ञातवासका समय है ॥ ५ ॥

तद् वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ॥ ६ ॥
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यन्तवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ॥ ७ ॥

'अतः इस वर्ष हम छिपकर रहना चाहते हैं। इसके लिये आपलोग हमें आज्ञा दें । दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण और शकुनि हमसे अत्यन्त वैर रखते हैं। वे स्वयं तो हमारा पता लगानेको उद्यत हैं ही, उन्होंने गुप्तचर भी लगा रखे हैं । अतः यदि उन्हें हमारे रहनेका पता चल जायगा, तो वे हमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरजनों तथा स्वजनोंके साथ भी विषम (बुरा) बर्ताव कर सकते हैं ॥ ६-७ ॥

अपि नस्तद् भवेद् भूयो यद् वयं ब्राह्मणैः सह।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ ८ ॥

'क्या हमारे सामने फिर कभी ऐसा अवसर आयेगा, जब कि हम सब भाई ब्राह्मणोंके साथ अपने राष्ट्रमें रहेंगे-- अपने राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
सम्मूर्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! ऐसा कहकर पवित्र अन्तःकरणवाले धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिर दुःख और शोकसे आतुर होकर मूर्छित हो गये । उनके नेत्रोंसे आँसुओं-की धारा बह रही थी और कण्ठ अवरुद्ध हो गया था ॥९॥

तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह।
अथ धौम्योऽब्रवीद् वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा॥ १० ॥

उस समय उनके भाइयोंसहित समस्त ब्राह्मणोंने उन्हें आश्वासन दिया । तत्पश्चात् महर्षि धौम्यने राजा युधिष्ठिरसे यह गम्भीर अर्थयुक्त वचन कहा--॥ १० ॥

राजन् विद्वान् भवान् दान्तः
सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ते
नराः कस्याञ्चिदापदि ॥ ११ ॥

'राजन् ! आप विद्वान्, मनको वशमें रखनेवाले, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं । आप-जैसे मनुष्य किसी भी आपत्तिमें मोहित नहीं होते अर्थात् अपना धैर्य और विवेक नहीं खोते हैं ॥ ११ ॥

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥

'महामना देवताओंको भी जहाँ-तहाँ शत्रुओंके निग्रहके लिये अनेक बार छिपकर रहना और विपत्तियोंको भोगना पड़ा है ॥ १२ ॥

इन्द्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥ १३ ॥

'देवराज इन्द्र शत्रुओंका दमन करनेके लिये गुप्तरूपसे निषधदेशमें गये और गिरिप्रस्थाश्रममें छिपे रहकर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया ॥ १३ ॥

विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां निवत्स्यता ।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥

'भगवान् विष्णु भी दैत्योंका वध करनेके लिये हयग्रीव-स्वरूप धारण करके अज्ञातभावसे अदितिके गर्भमें दीर्घकाल-तक रहे हैं ॥ १४ ॥

प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा ।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥

'उन्होंने ही ब्राह्मणवेषमें वामनरूप धारण करके अपने तीन पगोंद्वारा जिस प्रकार छिपे तौरपर राजा बलिका राज्य हर लिया था, वह सब तो तुमने सुना ही होगा ॥ १५ ॥

हुताशनेन यच्चापः प्रविश्यच्छन्नमासता ।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥

'अग्निने जलमें प्रवेश करके वहीं छिपे रहकर देवताओंका कार्य जिस प्रकार सिद्ध किया, वह सब कुछ भी तुम सुन चुके हो ॥ १६ ॥

प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणारिविनिग्रहे ।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत् कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १७ ॥

'धर्मज्ञ ! भगवान् श्रीहरिने शत्रुओंके विनाशके लिये छिपे तौरपर इन्द्रके वज्रमें प्रवेश करके जो कार्य किया, वह भी तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा ॥ १७ ॥

और्वेण वसता छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत् कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥

'तात ! निष्पाप नरेश ! ब्रह्मर्षि और्वने (माताके) ऊरुमें गुप्तरूपसे निवास करते हुए जो देवकार्य सिद्ध किया था, वह भी तुम्हारे सुननेमें आया ही होगा ॥ १८ ॥

एवं विवस्वता तात छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥

'तात ! इसी प्रकार महातेजस्वी भगवान् सूर्यने भी पृथ्वीपर गुप्तरूपसे निवास करके समस्त शत्रुओंको दग्ध किया है ॥ १९ ॥

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥

'भयंकर पराक्रमी भगवान् विष्णुने भी श्रीरामरूपसे दशरथके घरमें छिपे रहकर युद्धमें दशमुख रावणका वध किया था ॥ २० ॥

एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥

'इसी प्रकार कितने ही महामना वीर पुरुषोंने यत्र-तत्र छिपे रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजय पायी है। इसी प्रकार तुम भी विजयी होओगे' ॥ २१ ॥

तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः सम्परितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः॥ २२ ॥

महर्षि धौम्यने जब इस प्रकार युक्तियुक्त वचनोंद्वारा धर्मज्ञ युधिष्ठिरको संतोष प्रदान किया, तब वे शास्त्रज्ञान और अपने बुद्धिबलके कारण (धर्मसे) विचलित नहीं हुए ॥ २२ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा सम्परिहर्षयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबली महाबाहु भीमसेनने अपनी वाणीसे राजा युधिष्ठिरका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए कहा—॥ २३ ॥

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किंचित् साहसं कृतम् ॥ २४ ॥

'महाराज ! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने आपके आदेशकी प्रतीक्षा तथा अपनी धर्मानुगामिनी बुद्धिके कारण ही अबतक कोई साहसका कार्य नहीं किया है ॥२४॥

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥

'भयंकर पराक्रमी नकुल और सहदेव उन सब शत्रुओंका विध्वंस करनेमें समर्थ हैं। इन दोनोंको मैं ही सदा रोकता आया हूँ ॥ २५ ॥

न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् ।
भवान् विधत्तां तत् सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥२६॥

'आप हमें जिस कार्यमें लगा देंगे, उसे हमलोग पूरा किये बिना नहीं छोड़ेंगे। अतः आप युद्धकी सारी व्यवस्था कीजिये। हम शत्रुओंपर शीघ्र ही विजय पायेंगे' ॥ २६ ॥

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषा ।
उक्त्वा चापृच्छ्य भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान्२७

भीमसेनके ऐसा कहनेपर सब ब्राह्मण पाण्डवोंको उत्तम आशीर्वाद देकर और उन भरतवंशियोंसे अनुमति लेकर अपने-अपने घरोंको चले गये ॥ २७ ॥

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकाङ्क्षया ॥ २८ ॥

वेदोंके ज्ञाता समस्त प्रधान-प्रधान संन्यासी तथा मुनि-लोग पाण्डवोंसे फिर मिलनेकी इच्छा रखकर न्यायानुसार अपने योग्य स्थानोंमें रहने लगे ॥ २८ ॥

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥

धौम्यसहित विद्वान् एवं वीर पाँचों पाण्डव द्रौपदीको साथ लिये धनुष धारण किये वहाँसे उठकर चल दिये ॥२९॥

क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद् देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥
पृथक्छास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥

किसी कारणवश उस स्थानसे एक कोस दूर जाकर वे नरश्रेष्ठ ठहर गये और आगामी दूसरे दिनसे अज्ञातवास

आरम्भ करनेके लिये उद्यत हो परस्पर सलाह करनेके निमित्त आस-पास बैठ गये। वे सभी पृथक्-पृथक् शास्त्रोंके ज्ञाता, मन्त्रणा करनेमें कुशल तथा संधि-विग्रह आदिके अवसरको जाननेवाले थे ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां वनपर्वणि आरणेयपर्वणि अज्ञातवासमन्त्रणे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत—व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें अज्ञातवासके लिये मन्त्रणाविषयक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

वनपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप्छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१०९३७	(७८५)	१०८०।=	१७१॥	१२१८८।॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	८२	(४)	५ ॥		८७॥

वनपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या १२२७६।=

वनपर्व-श्रवण-महिमा

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥ १ ॥

इस वनपर्वको सुनकर मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है, निर्धन धन पाता है और पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होता है ॥ १ ॥

यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम्।
नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ॥ २ ॥
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान् पायसादिभिः।
भोजयेद् वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ॥ ३ ॥

वह जिस-जिस मनोवाञ्छित वस्तुके लिये प्रार्थना करता है, उसे निश्चय ही पा लेता है। स्त्री हो या पुरुष, शुद्ध एवं एकाग्रचित्त होकर इस वनपर्वका श्रवण अथवा पाठ करनेपर वस्त्र, गौ, सुवर्ण तथा रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंका सम्मान करके उन्हें खीर आदिका भोजन करावे ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पाण्डुनन्दनाः।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ॥ ४ ॥
भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर पाण्डव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, देवगण, भूतगण, मुनिगण, देवियाँ तथा पितृगण—ये सभी संतुष्ट होते हैं। अपनी शक्तिके अनुसार अन्न वस्त्र और आभूषण देकर वाचककी पूजा करनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

विशेषतस्तु कपिला देया तु जयपाठके।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृङ्गी सभूषणा।
पाण्डूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥

महाभारतके वाचकको विशेषतः एक कपिला गौ देनी चाहिये। उसके साथ काँसेका एक दुग्धपात्र होना चाहिये। गायके खुरोंमें चाँदी और सींगोंमें सोना मढ़ा दे। उसे अन्य आभूषणोंसे भी विभूषित करे। पाण्डवोंके संतोषके लिये ब्राह्मणोंको अन्नदान करे ॥ ६ ॥

आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद् यो नरोत्तमः।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

जो नरश्रेष्ठ इस वनपर्वकी कथाको सुनता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है एवं शरीरका अन्त होनेपर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगरमें अज्ञातवास करनेके लिये पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा युधिष्ठिरके द्वारा अपने भावी कार्यक्रमका दिग्दर्शन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः॥ २॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत्॥ ३॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह पाण्डवोंने दुर्योधनके भयसे कष्ट उठाते हुए विराटनगरमें अपने अज्ञातवासका समय किस प्रकार व्यतीत किया तथा दुःखमें पड़ी हुई सदा ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेवाली परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी वहाँ अपनेको अज्ञात रखकर कैसे निवास कर सकी? ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तुम्हारे प्रपितामहोंने विराटनगरमें जिस प्रकार अज्ञातवासके दिन पूरे किये थे, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

तथा स तु वराँल्लब्ध्वा धर्मो धर्मभृतां वरः।
गत्वाऽऽश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत्॥ ५॥

यक्षरूपधारी धर्मसे इस प्रकार वरदान पानेके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने आश्रमपर जाकर वह सब समाचार ब्राह्मणोंको बताया ॥ ५ ॥

कथयित्वा तु तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः।
अरणीसहितं तस्मै ब्राह्मणाय न्यवेदयत्॥ ६॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत॥ ७॥

भारत! ब्राह्मणोंसे सब कुछ बताकर जब युधिष्ठिरने अरणीसहित मन्थनकाष्ठ पूर्वोक्त ब्राह्मणदेवताको सौंप दिया, तब धर्मपुत्र महामनस्वी उन राजा युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकत्र करके इस प्रकार कहा—॥ ६-७ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम्।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः॥ ८॥

'आज बारह वर्ष बीत गये, हमलोग अपने राज्यसे बाहर आकर वनमें रहते हैं। अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है। इसमें बड़े कष्टसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए अत्यन्त गुप्तरूपसे रहना होगा ॥ ८ ॥

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः॥ ९॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन! तुम अपनी रुचिके अनुसार कोई उत्तम निवासस्थान चुनो, जहाँ यहाँसे चलकर हम एक वर्षतक इस प्रकार रहें कि शत्रुओंको हमारा पता न चल सके' ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच

तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नात्र संशयः॥ १०॥
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित्।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किंचित् स्म रोचय॥ ११॥

अर्जुन बोले—नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि उन्हीं भगवान् धर्मके दिये हुए वरके प्रभावसे हमलोग इस पृथ्वीपर विचरते रहेंगे और हमें दूसरे मनुष्य पहचान न सकेंगे तथापि मैं आपसे निवास करने योग्य कुछ रमणीय एवं गुप्त राष्ट्रोंके नाम बतलाऊँगा, उनमेंसे किसीको आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुसार चुन लीजिये ॥ १०-११ ॥

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥१२॥

दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥१३॥

कुरुदेशके चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है । उनके नाम ये हैं—पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, विशाल कुन्तिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवन्ती ॥ १२-१३ ॥

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ॥१४॥

राजन् ! इनमेंसे कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करनेके लिये पसंद है ? जिसमें हम सब लोग इस वर्ष निवास करें ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत् तथा न तदन्यथा ॥१५॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! तुम्हारी यह बात मैंने ध्यानसे सुनी है । सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर और प्रभावशाली भगवान् धर्मने हमारे लिये जैसा आदेश दिया है, वह सब वैसा ही होगा । उसके विपरीत कुछ नहीं होगा ॥ १५ ॥

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
सम्मन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥१६॥

तथापि हम सब लोगोंको आपसमें सलाह करके अवश्य ही अपने रहनेके लिये कोई परम सुन्दर, कल्याणकारी तथा सुखद स्थान चुन लेना चाहिये, जहाँ हम निर्भय होकर रह सकें ॥ १६ ॥

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥१७॥

[तुम्हारे बताये हुए देशोंमेंसे] मत्स्यदेशके राजा विराट बहुत बलवान् हैं और पाण्डवोंके प्रति उनका अनुराग भी है, साथ ही वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ॥ १७ ॥

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥१८॥

भाई अर्जुन ! इसलिये इस वर्ष हमलोग राजा विराटके ही नगरमें रहें और उनका कार्य साधन करते हुए उनके यहाँ विचरण करें ॥ १८ ॥

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ॥१९॥

किंतु कुरुनन्दनो ! तुमलोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराजके पास पहुँचकर किन-किन कार्योंका भार सँभाल सकेंगे ? ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि ।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥२०॥

अर्जुनने पूछा—नरदेव । आप उनके राष्ट्रमें किस प्रकार कार्य करेंगे ? महात्मन् ! विराटनगरमें कौन-सा कर्म करनेसे आपको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।
राजंस्त्वमापदाऽऽक्रुष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ॥२१॥

राजन् ! आपका स्वभाव कोमल है । आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण तथा सत्यपराक्रमी हैं; तथापि विपत्तिमें पड़ गये हैं । पाण्डुनन्दन ! आप वहाँ क्या करेंगे ? ॥

न दुःखमुचितं किंचिद् राजन् वेद यथा जनः ।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥२२॥

राजन् ! साधारण मनुष्योंकी भाँति आपको किसी प्रकारके दुःखका अनुभव हो, यह उचित नहीं है, अतः इस घोर आपत्तिमें पड़कर आप कैसे इसके पार होंगे ? ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणुध्वं यत् करिष्यामि कर्म वै कुरुनन्दनाः ।
विराटमनुसम्प्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ॥२३॥

युधिष्ठिरने कहा—नरश्रेष्ठ कुरुनन्दनो ! मैं राजा विराटके यहाँ चलकर जो कार्य करूँगा, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २३ ॥

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥२४॥
वैदूर्यान् काञ्चनान् दान्तान् फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
कृष्णाँल्लोहितवर्णांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ॥२५॥

मैं पासा खेलनेकी विद्या जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं कङ्क* नामक ब्राह्मण बनकर महामना

* विश्व कोषके अनुसार 'कङ्क' शब्द यमराजका वाचक है । यमराजका ही दूसरा नाम धर्म है और वे ही युधिष्ठिररूपमें अवतीर्ण हुए थे । 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार भी धर्म एवं धर्मपुत्र युधिष्ठिरमें कोई अन्तर नहीं है । यह समझकर ही अपनी सत्यवादिताकी रक्षा करते हुए युधिष्ठिरने 'कङ्क' नामसे अपना परिचय दिया । इसके सिवा उन्होंने जो अपनेको युधिष्ठिर-

राजा विराटकी राजसभाका एक सदस्य हो जाऊँगा और वैदूर्यमणिके समान हरी, सुवर्णके समान पीली तथा हाथी-दाँतकी बनी हुई काली और लाल रंगकी मनोहर गोटियोंको चमकीले बिन्दुओंसे युक्त पासोंके अनुसार चलाता रहूँगा ॥

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम् ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥ २६ ॥

मैं राजा विराटको उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासोंके खेलसे प्रसन्न करता रहूँगा। इस रूपमें मुझे कोई पहचान न सकेगा और मैं उन मत्स्यनरेशको भलीभाँति संतुष्ट रक्खूँगा ॥ २६ ॥

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा ।
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥ २७ ॥

यदि वे राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा था ॥ २७ ॥

इत्येतद् वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंको बता दिया कि विराटनगरमें मैं किस प्रकार रहूँगा ॥ २७½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अज्ञातवासमें अपनेद्वारा किये जानेवाले कार्यको बतलाकर युधिष्ठिर भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन कथं कर्म मात्स्यराष्ट्रे करिष्यसि ॥
हत्वा क्रोधवशांस्तत्र पर्वते गन्धमादने ।
यक्षान् क्रोधाभिताम्राक्षान् राक्षसांश्चापि पौरुषान् ।
प्रादाः पाञ्चालकन्यायै पद्मानि सुबहून्यपि ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भीमसेन ! तुम मत्स्यदेशमें किस प्रकार कोई कार्य कर सकोगे ? तुमने गन्धमादन पर्वतपर क्रोधसे सदा लाल आँखें किये रहनेवाले क्रोधवश नामक यक्षों और महापराक्रमी राक्षसोंका वध करके पाञ्चालराज-कुमारी द्रौपदीको बहुत-से कमल लाकर दिये थे ॥

बकं राक्षसराजानं भीषणं पुरुषादकम् ।
जघ्निवानसि कौन्तेय ब्राह्मणार्थमरिंदम ॥
क्षेमा चाभयसंवीता ह्येकचक्रा त्वया कृता ॥

शत्रुहन्ता भीम ! ब्राह्मणपरिवारकी रक्षाके लिये तुमने भयानक आकृतिवाले नरभक्षी राक्षसराज बकको भी मार डाला था और इस प्रकार एकचक्रा नगरीको भयरहित एवं कल्याणयुक्त बनाया था ॥

हिडिम्बं च महावीर्यं किर्मीरं चैव राक्षसम् ।
त्वया हत्वा महाबाहो वनं निष्कण्टकं कृतम् ॥

महाबाहो ! तुमने महावीर हिडिम्ब और राक्षस किर्मीरको मारकर वनको निष्कण्टक बनाया था ॥

आपदं चापि सम्प्राप्ता द्रौपदी चारुहासिनी ।
जटासुरवधं कृत्वा त्वया च परिमोक्षिता ॥
मत्स्यराजान्तिके तात वीर्यपूर्णोऽत्यमर्षणः ।)
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥ २८ ॥

संकटमें पड़ी हुई मनोहर हास्यवाली द्रौपदीको भी तुमने जटासुरका वध करके छुड़ाया था। तात भीमसेन ! तुम अत्यन्त बलवान् एवं अमर्षशाली हो। राजा विराटके यहाँ कौन-सा कार्य करके तुम प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे—यह बतलाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतविराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणासे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनद्वारा विराटनगरमें किये जानेवाले अपने अनुकूल कार्योंका निर्देश

भीमसेन उवाच

पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! मैं पौरोगव[1]

का प्राणोंके समान प्रिय सखा बताया, वह भी असत्य नहीं है। युधिष्ठिर नामक शरीरको ही यहाँ युधिष्ठिर समझना चाहिये। आत्माकी सत्तासे ही शरीरका संचालन होता है। अतः आत्मा उसके साथ रहनेके कारण उसका सखा है। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है ही; अतः यहाँ युधिष्ठिरका आत्मा युधिष्ठिर-शरीरका प्रिय सखा कहा गया है।

१. पुरोगु कहते हैं वायुको, उसके पुत्र होनेसे भीमसेनका 'पौरोगव' नाम सत्य एवं सार्थक है।

(पाकशालाका अध्यक्ष) बनकर और बल्लव[1]नामसे अपना परिचय देकर राजा विराटके दरबारमें उपस्थित होऊँगा । मेरा यही विचार है ॥ १ ॥

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यञ्जनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥
तान्यप्यभिभविष्यामि प्रीतिं संजनयन्नहम् ।

मैं रसोई बनानेके काममें चतुर हूँ । अपने ऊपर राजाके मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उनके लिये सूप (दाल, कढ़ी एवं साग आदि) तैयार करूँगा और पाककलामें भलीभाँति शिक्षा पाये हुए चतुर रसोइयोंने राजाके लिये पहले जो-जो व्यञ्जन बनाये होंगे, उन्हें भी अपने बनाये हुए व्यञ्जनोंसे तुच्छ सिद्ध कर दूँगा ॥ २½ ॥

आहरिष्यामि दारूणां निचयान् महतोऽपि च ॥ ३ ॥
यत् प्रेक्ष्य विपुलं कर्म राजा संयोक्ष्यते स माम् ।
अमानुषाणि कुर्वाणस्तानि कर्माणि भारत ॥ ४ ॥

इतना ही नहीं, मैं रसोईके लिये लकड़ियोंके बड़े-से-बड़े गट्ठोंको भी उठा लाऊँगा, जिस महान् कर्मको देखकर राजा विराट मुझे अवश्य रसोइयेके कामपर नियुक्त कर लेंगे । भारत ! मैं वहाँ ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता रहूँगा, जो साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है ॥ ३-४ ॥

राज्ञस्तस्य परे प्रेष्या मंस्यन्ते मां यथा नृपम् ।
भक्ष्यान्नरसपानानां भविष्यामि तथेश्वरः ॥ ५ ॥

इससे राजा विराटके दूसरे सेवक राजाके ही समान मेरा सम्मान करेंगे और मैं भक्ष्य, भोज्य, रस तथा पेय पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग करनेमें समर्थ होऊँगा ॥ ५ ॥

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः ।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥ ६ ॥

राजन् ! बलवान् हाथी अथवा महाबली बैल भी यदि काबूमें करनेके लिये मुझे सौंपे जायँगे तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वशमें कर लूँगा ॥ ६ ॥

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः ।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥ ७ ॥

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जन-समाजमें दंगल करना चाहेंगे, राजाका प्रेम बढ़ानेके लिये मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा ॥ ७ ॥

न त्वेतान् युद्ध्यमानान् वै हनिष्यामि कथञ्चन ।
तथैतान् पातयिष्यामि यथा यास्यन्ति न क्षयम् ॥ ८ ॥

परंतु कुश्ती करनेवाले इन पहलवानोंको मैं किसी प्रकार जानसे नहीं मारूँगा; अपितु इस प्रकार नीचे गिराऊँगा, जिससे उनकी मृत्यु न हो ॥ ८ ॥

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः ।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ९ ॥

महाराजके पूछनेपर मैं यह कहूँगा कि मैं राजा युधिष्ठिरके यहाँ आरालिक (मतवाले हाथियोंको भी काबूमें करनेवाला गजशिक्षक), गोविकर्ता (महाबली वृषभोंको भी पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला), सूपकर्ता (दाल-साग आदि भाँति भाँतिके व्यञ्जन बनानेवाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना रक्षंश्चरिष्यामि विशाम्पते ।
इत्येतत् प्रतिजानामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ १० ॥

राजन् ! अपने-आप अपनी रक्षा करते हुए मैं विराटके नगरमें विचरूँगा । मुझे विश्वास है कि इस प्रकार मैं वहाँ सुखपूर्वक रह सकूँगा ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम् ।
दिधक्षुः खाण्डवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनन्दनम् ।
सोऽयं किं कर्म कौन्तेयः करिष्यति धनंजयः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाबली और महाबाहु है, पहले भगवान् श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए जिस अर्जुनके पास खाण्डववनको जलानेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके साक्षात् अग्निदेव पधारे थे, जो कुरुकुलको आनन्द देनेवाला तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाला है, वह कुन्तीनन्दन धनंजय विराटनगरमें कौन-सा कार्य करेगा ?॥

योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम् ।
विजित्यैकरथेनेन्द्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः ।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥

जिसने खाण्डवदाहके समय वहाँ पहुँचकर एकमात्र रथका आश्रय ले इन्द्रको पराजित कर तथा नागों एवं राक्षसोंको मारकर अग्निदेवको तृप्त किया और अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे नागराज वासुकिकी बहिन उलूपीका चित्त चुरा लिया एवं जो सम्मुख युद्ध करनेवाले वीरोंमें सबसे श्रेष्ठ है, वह अर्जुन वहाँ क्या काम करेगा ? ॥ १३-१४ ॥

सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः ।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावणो वरः ।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
(गिरीणां प्रवरो मेरुर्देवानां मधुसूदनः ।
ग्रहाणां प्रवरश्चन्द्रः सरसां मानसं वरम् ॥)

---

[1] बल्लवका अर्थ है सूपकर्ता अर्थात् रसोइया । रसोईके काममें निपुण होनेसे उनका यह नाम यथार्थ ही है ।

यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १८ ॥

जैसे तपनेवाले तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंमें ब्राह्मणका स्थान ऊँचा है, जैसे सर्पोंमें आशीविष जातिवाले सर्प महान् हैं, तेजस्वियोंमें अग्नि श्रेष्ठ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्रका स्थान ऊँचा है, गौओंमें ऊँचे कंधेवाला साँड़ बड़ा माना गया है, जलाशयोंमें समुद्र सबसे महान् है, वर्षा करनेवाले मेघोंमें पर्जन्य श्रेष्ठ हैं, नागोंमें धृतराष्ट्र तथा हाथियोंमें ऐरावत बड़ा है, जैसे प्रिय सम्बन्धियोंमें पुत्र सबसे अधिक प्रिय है और अकारण हित चाहनेवाले सुहृदोंमें धर्मपत्नी सबसे बढ़कर है, जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, देवताओंमें मधुसूदन भगवान् विष्णु श्रेष्ठ हैं, ग्रहोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं और सरोवरोंमें मानसरोवर श्रेष्ठ है। भीमसेन! अपनी-अपनी जातिमें जिस प्रकार ये पूर्वोक्त वस्तुएँ विशिष्ट मानी गयी हैं, वैसे ही सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें युवावस्थासे सम्पन्न यह गुडाकेश (निद्राविजयी) अर्जुन श्रेष्ठ है ॥ १५-१८ ॥

सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति ॥ १९ ॥

यह देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम नहीं है। श्वेत घोड़ोंवाले रथपर चलनेवाला यह महातेजस्वी गाण्डीवधारी बीभत्सु (अर्जुन) वहाँ कौन-सा कार्य करेगा? ॥ १९ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि।
अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम्।
दिव्यान्यस्त्राणि चाप्तानि देवरूपेण भास्वता ॥ २० ॥

इसने पाँच वर्षोंतक देवराज इन्द्रके भवनमें रहकर ऐसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं, जिनका मनुष्योंमें होना एक अद्भुत-सी बात है। अपने देवोपम स्वरूपसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनने अनेक दिव्यास्त्र पाये हैं ॥ २० ॥

यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम्।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥ २१ ॥

जिस अर्जुनको मैं बारहवाँ रुद्र और तेरहवाँ आदित्य मानता हूँ, नवम वसु तथा दसवाँ ग्रह स्वीकार करता हूँ ॥

यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥ २२ ॥

जिसकी दोनों भुजाएँ एक-सी विशाल हैं; प्रत्यञ्चाके आघातसे उनकी त्वचा कठोर हो गयी है। जैसे बैलोंके कंधोंपर जुआठेकी रगड़से चिह्न बन जाता है, उसी प्रकार जिसकी दाहिनी और बायीं भुजाओंपर प्रत्यञ्चाकी रगड़से चिह्न बन गये हैं ॥ २२ ॥

हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ॥ २३ ॥
मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ २४ ॥

जैसे पर्वतोंमें हिमालय, सरिताओंमें समुद्र, देवताओंमें इन्द्र, वसुओंमें हव्यवाहक अग्नि, मृगोंमें सिंह तथा पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरोंमें जिसका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगरमें जाकर क्या काम करेगा? ॥ २३-२४ ॥

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते।
ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥ २५ ॥
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ।

अर्जुनने कहा—महाराज! मैं राजाकी सभामें यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ। राजन्! यद्यपि मेरी दायीं-बायीं भुजाओंमें धनुषकी डोरीकी रगड़से जो महान् चिह्न बन गये हैं, उन्हें छिपाना बहुत कठिन है तथापि कंगन आदि आभूषणोंसे मैं इन ज्याघातचिह्नित भुजाओंको ढक लूँगा ॥ २५½ ॥

कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥ २६ ॥
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ २७ ॥

मैं दोनों कानोंमें अग्निके समान कान्तिमान् कुण्डल पहनकर हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण कर लूँगा। इस प्रकार तीसरी प्रकृति (नपुंसकभाव) को अपनाकर सिरपर चोटी गूँथ लूँगा और अपनेको बृहन्नला नामसे घोषित करूँगा* ॥ २६-२७ ॥

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ॥ २८ ॥

स्त्रीभावसे अपने स्वरूपको छिपाकर बारंबार पूर्ववर्ती राजाओंके चरित्रोंका गान करके महाराज विराट तथा अन्तःपुरकी अन्यान्य स्त्रियोंका मनोरञ्जन करूँगा ॥ २८ ॥

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥ २९ ॥

राजन्! मैं विराटनगरकी स्त्रियोंको गीत गाने, विचित्र ढंगसे नृत्य करने तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजानेकी शिक्षा दूँगा ॥ २९ ॥

---

* इस प्रसङ्गमें अर्जुनने अपनेको षण्ढक और बृहन्नला कहा है। षण्ढक शब्दका अर्थ है नपुंसक। अर्जुन इस समय उर्वशीके शापसे नपुंसक हो गये थे। बृहन्नलाका मूल शब्द बृहन्नल है। विद्वानोंने 'र' और 'ल' को एक-सा माना है; अतः बृहन्नलका अर्थ बृहन्नर अर्थात् श्रेष्ठ या महान् मानव है। भगवान् नारायणके सखा होनेके कारण अर्जुन नरश्रेष्ठ हैं ही।

प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन् ।
छादयिष्यामि कौन्तेय माययाऽऽत्मानमात्मना ॥ ३० ॥

कुन्तीनन्दन ! प्रजाजनोंके उत्तम आचार-विचार और उनके किये हुए अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका वर्णन करता हुआ मैं मायामय नपुंसकवेशसे बुद्धिद्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाये रक्खूँगा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ॥ ३१ ॥

पाण्डुनन्दन ! यदि राजा विराटने मेरा परिचय पूछा, तो मैं कह दूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिरके घरमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका[1] रह चुकी हूँ ॥ ३१ ॥

एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथानलः ।
विहरिष्यामि राजेन्द्र विराटभवने सुखम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार कृत्रिम वेशभूषासे राखमें छिपी हुई अग्निके समान अपनेको छिपाकर मैं विराटके महलमें सुखपूर्वक निवास करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी मन्त्रणाविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीद्वारा अपने-अपने भावी कर्तव्योंका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथार्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
वाक्यं तथासौ विरराम भूयो
नृपोऽपरं भ्रातरमाबभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा पुरुषोंमें महान् वीर अर्जुन इस प्रकार कहकर चुप हो गये । तब राजा युधिष्ठिर पुनः दूसरे भाईसे बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
कर्म तत् त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नकुल ! तुम राजा विराटके राज्यमें कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे ? वह कार्य बताओ। तात ! तुम तो शूरवीर होनेके साथ ही अत्यन्त सुकुमार, परम दर्शनीय और सर्वथा सुख भोगनेके ही योग्य हो ॥ २ ॥

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम् ।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ॥ ३ ॥

नकुल बोले—राजन् ! मैं राजा विराटके यहाँ अश्वबन्ध (घोड़ोंको वशमें करनेवाला सवार) होकर रहूँगा । मैं अश्व-विज्ञानसे सम्पन्न और घोड़ोंकी रक्षाके कार्यमें कुशल हूँ ॥ ३ ॥

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम ।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने ।
प्रियाश्च सततं मेऽश्वाः कुरुराज यथा तव ॥ ४ ॥

मैं राजसभामें ग्रन्थिक नामसे अपना परिचय दूँगा । घोड़ोंकी देखभालका काम मुझे अत्यन्त प्रिय है । उन्हें भाँति-भाँतिकी चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करनेमें भी मैं निपुण हूँ । कुरुराज ! आपकी ही भाँति मुझे भी घोड़े सदैव प्रिय रहे हैं* ॥ ४ ॥

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति विराटनगरे जनाः ।
तेभ्य एवं प्रवक्ष्यामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ ५ ॥
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा ।
विराटनगरे छन्नश्चरिष्यामि महीपते ॥ ६ ॥

विराटनगरमें जो लोग मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा—'तात ! पहले पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने मुझे अश्वोंका अध्यक्ष बनाकर रख रक्खा था ।' महीपते ! मैं जिस प्रकार वहाँ विहार करूँगा, वह सब मैंने आपको बता दिया। राजा विराटके नगरमें अपनेको छिपाये रखकर ही मैं सर्वत्र विचरूँगा ॥ ५-६ ॥

---

१. परिचारिकाका एक अर्थ है सेविका और दूसरा अर्थ है सब ओर विचरण करनेवाली । इस प्रकार अर्जुनने गूढ़ अभिप्राययुक्त परिचारिका शब्दद्वारा अपनेको द्रौपदीका पति सूचित किया है ।

* नकुलने अपना नाम ग्रन्थिक बताया और अपनेको अश्वोंका अधिकारी कहा है । ग्रन्थिकका अर्थ है आयुर्वेद तथा आध्वर्यु-विद्यासम्बन्धी ग्रन्थोंको जाननेवाला । श्रुतिमें अश्विनीकुमारोंको देवताओंका वैद्य तथा अध्वर्यु कहा गया है । 'अश्विनौ वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू' । नकुल अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं; अतः उनका अपनेको ग्रन्थिक कहना उपयुक्त ही है । 'नास्ति श्वो येषां ते अश्वाः' जिनके कलतक जीवित रहनेकी आशा न हो, वे अश्व हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवनकी आशा छोड़कर युद्धमें डटे रहनेवाले वीरोंको अश्व कहते हैं । नकुल उनके अधिकारी अर्थात् वीरोंमें प्रधान हैं । अतः उनका यह परिचय यथार्थ ही है ।

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि ।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विहरिष्यसि॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने सहदेवसे पूछा—भैया सहदेव ! तुम राजा विराटके समीप कैसे जाओगे ? उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूपसे निवास करोगे ? ॥ ७ ॥

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः ।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम्॥ ८ ॥

सहदेवने कहा—महाराज ! मैं राजा विराटके यहाँ गौओंकी गिनती—जाँच-पड़ताल करनेवाला गोशालाध्यक्ष होकर रहूँगा । मैं गौओंको नियन्त्रणमें रखने और दुहनेका काम अच्छी तरह जानता हूँ । उन्हें गिनने और उनकी परख-पहचानके काममें भी कुशल हूँ ॥ ८ ॥

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ ।
निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ९ ॥

मैं वहाँ तन्तिपाल नामसे प्रसिद्ध होऊँगा । इसी नामसे मुझे सब लोग जानेंगे । मैं बड़ी चतुराईसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ सब ओर विचरूँगा; अतः मेरे विषयमें आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ९ ॥

(अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः ।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः ॥
नष्टचोरभया नित्यं व्याधिव्याघ्रविवर्जिताः ।
गावश्च सुसुखा राजन् निरुद्विग्ना निरामयाः ॥
भविष्यन्ति मया गुप्ता विराटपशवो नृप ॥)

राजन् ! मेरेद्वारा रक्षित होकर राजा विराटके पशु तथा गौएँ नीरोग, संख्यामें अधिक, हृष्ट-पुष्ट, अधिक दूध देनेवाली, बहुत संतानोंवाली, सत्त्वयुक्त, अच्छी तरह सम्हाल होनेसे रोगरूप पापसे रहित, चोरोंके भयसे मुक्त तथा सदा व्याधि एवं बाघ आदिके भयसे रहित होंगी । महाराज ! वे उद्वेग-रहित, सुखी और निरामय तो होंगी ही ।

अहं हि सततं गोषु भवता प्रहिता पुरा ।
तत्र मे कौशलं सर्वमवबुद्धं विशाम्पते ॥ १० ॥

भूपाल ! पहले आपने मुझे सदा गौओंकी देखभालके कार्यमें नियुक्त किया है । इस कार्यमें मैं कितना दक्ष हूँ, यह सब आपको विदित ही है ॥ १० ॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मङ्गलम् ।
तत् सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ॥ ११ ॥
वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १२ ॥

महीपते ! गौओंके जो लक्षण और चरित्र मङ्गलकारक होते हैं, वे सब मुझे भलीभाँति मालूम हैं । उनके विषयमें और भी बहुत-सी बातें मैं जानता हूँ । राजन् ! इसके सिवा मैं ऐसे प्रशंसनीय लक्षणोंवाले साँड़ोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भवती हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च पार्थिवम्॥ १३॥

इस प्रकार मैं गौओंकी सेवा करूँगा । इस कार्यमें मुझे सदासे प्रेम रहा है । वहाँ मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा । मैं अपने कार्यसे राजा विराटको संतुष्ट कर लूँगा* ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा ॥ १४ ॥
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—यह द्रुपदकुमारी कृष्णा हमलोगोंकी प्यारी भार्या है । इसका गौरव हमारे लिये प्राणोंसे भी बढ़-कर है । यह माता (पृथ्वी) की भाँति पालन करने योग्य तथा बड़ी बहन (धेनु) के समान आदरणीय है । यह तो दूसरी स्त्रियोंकी भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्मका आश्रय लेकर निवास करेगी ? ॥ १४-१५ ॥

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ॥ १६ ॥

इसका शरीर अत्यन्त सुकुमार है । इसकी अवस्था नयी है । यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती तथा पति-व्रता है । भला, यह विराटनगरमें किस प्रकार रहेगी ? ॥१६॥

माल्यगन्धानलङ्कारान् वस्त्राणि विविधानि च ।
एतान्येवाभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ॥ १७ ॥

इस भामिनीने जबसे जन्म लिया है, तबसे अबतक माला, सुगन्धित पदार्थ, भाँति-भाँतिके गहने तथा अनेक प्रकारके वस्त्रोंको ही जाना है । इसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया है ॥ १७॥

* 'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि' इस श्रुतिके अनुसार तन्ति शब्द वाणीका वाचक है । तन्तिपाल कहकर सहदेवने गूढ़रूपसे युधिष्ठिरको यह बताया कि मैं आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा । साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तन्तिपालका अर्थ है, बैलोंको बाँधनेकी रस्सीको सुरक्षित रखनेवाला । अतः सहदेवने भी अपना परिचय यथार्थ ही दिया ।

द्रौपद्युवाच

सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत।
नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः॥
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि॥ १८॥
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत॥ १९॥

द्रौपदीने कहा—भारत! इस जगत्‌में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनका दूसरोंके घरोंमें पालन होता है और जो शिल्पकर्मोंद्वारा जीवननिर्वाह करती हैं। वे अपने सदाचार-से स्वतः सुरक्षित होती हैं! ऐसी स्त्रियोंको सैरन्ध्री कहते हैं। लोगोंको अच्छी तरह मालूम है कि सैरन्ध्रीकी भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहरकी यात्रा नहीं करतीं [अतः सैरन्ध्रीके वेशमें मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा।] इसलिये मैं सैरन्ध्री कहकर अपना परिचय दूँगी। बालोंको सँवारने और वेणी-रचना आदिके कार्यमें मैं बहुत निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे, तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिरके महलमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका बनकर रही हूँ॥ १८-१९॥

आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥२०॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम्।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम्॥२१॥

मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी। आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी? कैसे रहोगी? उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजपत्नी सुदेष्णा-के पास जाऊँगी। मुझे अपने पास आयी हुई जानकर वे रख लेंगी और सब प्रकारसे मेरी रक्षा करेंगी। अतः आपके मनमें इस बातका दुःख नहीं होना चाहिये कि द्रौपदी कैसे सुरक्षित रह सकेगी॥ २०-२१॥

युधिष्ठिर उवाच

कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जातासि भामिनि।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता॥ २२॥

युधिष्ठिर बोले—कृष्णे! तुमने भली बात कही, इसमें कल्याण ही भरा है। क्यों न हो, तुम ऊँचे कुलमें उत्पन्न जो हुई हो। भामिनि! तुम्हें पापका रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं है। तुम साध्वी हो और उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहती हो॥ २२॥

यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा॥ २३॥

कल्याणि! वहाँ ऐसा बर्ताव करना, जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होनेका अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

धौम्यका पाण्डवोंको राजाके यहाँ रहनेका ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको जाना

युधिष्ठिर उवाच

कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—विराटके यहाँ रहकर तुम्हें जो-जो कार्य करने हैं, वे सब तुमने बताये। मुझे भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो कार्य उचित प्रतीत हुआ, वह कह चुका। जान पड़ता है, विधाताका यही निश्चय है॥ १॥

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने॥ २॥
इन्द्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान्।
यान्तु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्तते मतिः॥ ३॥

अब मेरी सलाह यह है कि ये पुरोहित धौम्यजी रसोइयों तथा पाकशालाध्यक्षके साथ राजा द्रुपदके घर जाकर रहें और वहाँ हमारे अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी रक्षा करें तथा ये इन्द्रसेन आदि सेवकगण केवल रथोंको लेकर शीघ्र यहाँसे द्वारकाको चले जायँ॥ २-३॥

इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः।
पाञ्चालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह॥ ४॥

और ये जो द्रौपदीकी सेवा करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे सब रसोइयों और पाकशालाध्यक्षके साथ पाञ्चालदेशको ही चली जायँ॥ ४॥

सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति॥ ५॥

वहाँ सब लोग यही कहें—'हमें पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं है। वे सब द्वैतवनसे ही हमें छोड़कर न जाने कहाँ चले गये॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक्।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत्॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेकी सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बतलाकर पाण्डवोंने पुरोहित धौम्यकी भी सम्मति ली। तब पुरोहित धौम्यने उन्हें इस प्रकार सलाह दी ॥ ६ ॥

धौम्य उवाच

विहितं पाण्डवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च।
याने प्रहरणे चैव तथैवाग्निषु भारत ॥ ७ ॥
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥

धौम्यजी बोले—पाण्डवो! ब्राह्मणों, सुहृदों, सवारी या युद्ध-यात्रा, आयुध या युद्ध तथा अग्नियोंके प्रति जो शास्त्रविहित कर्तव्य हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह जानते हो और तदनुकूल तुमने जो व्यवस्था की है, वह सब ठीक है। भारत! अब मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम और अर्जुन सावधान रहकर सदा द्रौपदीकी रक्षा करना। लोकव्यवहार-की सभी बातें अथवा साधारण लोगोंके व्यवहार तुम सब लोगोंको विदित हैं ॥ ७-८ ॥

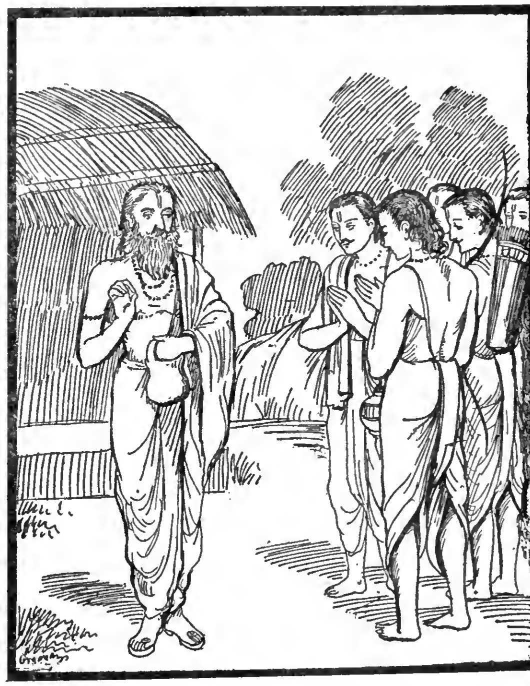

विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥

विदित होनेपर भी हितैषी सुहृदोंका कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हितकी बात बतावें। यही सनातन धर्म है और इसीसे काम एवं अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ॥ ११ ॥

इसलिये मैं भी जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें यहाँ ध्यान देकर सुनो। राजपुत्रो! मैं यह बता रहा हूँ कि राजाके घरमें रहकर कैसा बर्ताव करना चाहिये? उसके अनुसार राजकुलमें रहते हुए भी तुमलोग वहाँके सब दोषोंसे पार हो जाओगे। कुरुनन्दन! विवेकी पुरुषके लिये भी राजमहलमें निवास करना अत्यन्त कठिन है ॥ १०-११ ॥

अमानितैर्मानितैर्वा अज्ञातैः परिवत्सरम्।
ततश्चतुर्दशे वर्षे चरिष्यथ यथासुखम् ॥ १२ ॥

वहाँ तुम्हारा अपमान हो या सम्मान, सब कुछ सहकर एक वर्षतक अज्ञातभावसे रहना चाहिये। तदनन्तर चौदहवें वर्षमें तुमलोग अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे ॥ १२ ॥

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत्।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ॥ १३ ॥

राजासे मिलना हो, तो पहले द्वारपालसे मिलकर राजाको सूचना देनी चाहिये और मिलनेके लिये उनकी आज्ञा मँगा लेनी चाहिये। इन राजाओंपर पूर्ण विश्वास कभी न करे। अपने लिये वही आसन पसंद करे, जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो ॥ १३ ॥

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम्।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥ १४ ॥

जो 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति हूँ' यों मानकर कभी राजाकी सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदिपर नहीं चढ़ता है, वही राजाके घरमें कुशलपूर्वक रह सकता है ॥ १४ ॥

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः।
न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥ १५ ॥

जिन-जिन स्थानोंपर बैठनेसे दुराचारी मनुष्य संदेह करते हों, वहाँ-वहाँ जो कभी नहीं बैठता, वही राजभवनमें रह सकता है ॥ १५ ॥

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ॥ १६ ॥

बिना पूछे राजाको कभी कर्तव्यका उपदेश न दे। मौनभावसे ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसरपर राजाकी प्रशंसा भी करे ॥ १६ ॥

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ॥ १७ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंके प्रति राजालोग दोषदृष्टि कर

लेते हैं। इसी प्रकार ये मिथ्यावादी मन्त्रीका भी अपमान करते हैं ॥ १७ ॥

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन।
अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाओंकी रानियोंसे मेल-जोल न करे और जो रनिवासमें आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखते हों तथा जो लोग राजाका अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे ॥ १८ ॥

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥

छोटे-से-छोटे कार्य भी राजाको जनाकर ही करे। राजदरबारमें ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्योंको कभी हानि नहीं उठानी पड़ती ॥ १९ ॥

गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः।
जात्यन्ध इव मन्येत मर्यादामनुचिन्तयन् ॥ २० ॥

बैठनेके लिये अपनेको ऊँचा आसन प्राप्त होता हो, तो भी जबतक राजा न पूछें—बैठनेका आदेश न दें, तबतक राजदरबारकी मर्यादाका खयाल करके अपनेको जन्मान्ध-सा माने; मानो उस आसनको वह देखता ही न हो। इस भावसे खड़ा रहकर राजाज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ २० ॥

न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः।
समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ॥ २१ ॥

क्योंकि शत्रुविजयी राजालोग मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले अपने पुत्र, नाती पोते और भाईका भी आदर नहीं करते ॥ २१ ॥

यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद् देववत् त्विह।
अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥

इस जगत्‌में राजाको अग्निके समान दाहक मानकर उसके अत्यन्त निकट न रहे और देवताके समान निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ जानकर उसकी कभी अवहेलना न करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उसकी परिचर्यामें संलग्न रहे। इसमें संदेह नहीं कि जो मिथ्या एवं कपटपूर्ण उपचारके द्वारा राजाकी सेवा करता है, वह एक दिन अवश्य उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २२ ॥

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत्।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥

राजा जिस-जिस कार्यके लिये आज्ञा दे, उसीका पालन करे। लापरवाही, घमंड और क्रोधको सर्वथा त्याग दे ॥

समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च।
संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयके सभी अवसरोंपर हितकारक और प्रिय वचन कहे। यदि दोनों सम्भव न हों, तो प्रिय वचनका त्याग करके भी जो हितकारक हो, वही बात कहे (हितविरोधी प्रिय वचन कदापि न कहे) ॥ २४ ॥

अनुकूलो भवेच्चास्य सर्वार्थेषु कथासु च।
अप्रियं चाहितं यत् स्यात् तदस्मै नानुवर्णयेत् ॥ २५॥

सभी विषयों तथा सब बातोंमें राजाके अनुकूल रहे। कथावार्तामें भी राजाके सामने ऐसी बातोंकी बार-बार चर्चा न करे, जो उसे अप्रिय एवं अहितकर प्रतीत होती हों ॥२५॥

नाहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति नहीं हूँ', ऐसा मानता हुआ सदा सावधान रहकर उसकी सेवा करे। राजाके लिये जो हितकर और प्रिय हो, वही कार्य करे ॥ २६ ॥

नास्यानिष्टानि सेवेत नाहितैः सह संवदेत्।
स्वस्थानान्न विकम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥

जो चीज राजाको पसंद न हो, उसका कदापि सेवन न करे। उसके शत्रुओंसे बातचीत न करे और अपने स्थानसे कभी विचलित न हो। ऐसा बर्ताव करनेवाला मनुष्य ही राजाके यहाँ सकुशल रह सकता है ॥ २७ ॥

दक्षिणं वाथ वामं वा पार्श्वमासीत पण्डितः।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद् विधीयते ॥ २८ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाके दाहिने या बायें भागमें बैठे; क्योंकि राजाके पीछे अस्त्र-शस्त्रधारी अङ्गरक्षक सैनिकोंका स्थान होता है ॥ २८ ॥

नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत्।
न च संदर्शने किञ्चित् प्रवृत्तमपि संजयेत् ॥ २९ ॥

राजाके सामने किसीके लिये भी ऊँचा आसन लगाना सर्वथा निषिद्ध है। उसकी आँखोंके सामने यदि कोई पुरस्कार-वितरण या वेतनदान आदिका कार्य हो रहा हो, तो उसमें बिना बुलाये स्वयं पहले लेनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥

अपि ह्येतद् दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम्।
न मृषाभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

क्योंकि ऐसी ढिठाई तो दरिद्रोंको भी बहुत अप्रिय जान पड़ती है; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है? राजाओंकी किसी झूठी बातको दूसरे मनुष्योंके सामने प्रकाशित न करे ॥ ३० ॥

असूयन्ति हि राजानो नराननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते नरान् पण्डितमानिनः ॥ ३१ ॥

क्योंकि झूठ बोलनेवाले मनुष्योंसे राजालोग द्वेष मान लेते हैं। इसी तरह जो लोग अपनेको पण्डित मानते हैं, उनका भी राजा तिरस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ', ऐसा घमंड न करे। जो सदा राजाको प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेमपात्र तथा ऐश्वर्यभोगसे सम्पन्न होता है॥३२॥

ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः।
अप्रमत्तो भवेद् राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥

राजासे दुर्लभ ऐश्वर्य तथा प्रिय भोग प्राप्त होनेपर मनुष्य सदा सावधान होकर उसके प्रिय एवं हितकर कार्योंमें संलग्न रहे ॥ ३३ ॥

यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः।
कस्तस्य मनसापीच्छेदनर्थं प्राज्ञसम्मतः ॥ ३४ ॥

जिसका क्रोध बड़ा भारी संकट उपस्थित कर देता है और जिसकी प्रसन्नता महान् फल—ऐश्वर्य-भोग देनेवाली है, उस राजाका कौन बुद्धिमान् पुरुष मनसे भी अनिष्ट-साधन करना चाहेगा ? ॥ ३४ ॥

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत्।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥

राजाके समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनोंको व्यर्थ न हिलावे; बकवाद न करे। सदा शनैः-शनैः बोले। धीरेसे थूके और दूसरोंको पता न चले, इस प्रकार अधोवायु छोड़े ॥ ३५ ॥

हास्यवस्तुषु चान्यस्य वर्तमानेषु केषुचित्।
नातिगाढं प्रहृष्येत न चाप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
न चातिधैर्येण चरेद् गुरुतां हि व्रजेत् ततः।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई हास्यजनक वस्तु दिखायी दे, तो अधिक हर्ष न प्रकट करे एवं पागलोंकी तरह अट्टहास न करे तथा अत्यन्त धैर्यके कारण जडवत् निश्चेष्ट होकर भी न रहे। इससे वह गौरव (सम्मान) को प्राप्त होता है। मनमें प्रसन्नता होनेपर मुखसे मृदुल (मन्द) मुसकानका ही प्रदर्शन करे ॥ ३६-३७ ॥

लाभे न हर्षयेद् यस्तु न व्यथेद् योऽवमानितः।
असम्मूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥

जो अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर (अधिक) हर्षित नहीं होता अथवा अपमानित होनेपर अधिक व्यथाका अनुभव नहीं करता और सदा मोहशून्य होकर विवेकसे काम लेता है, वही राजाके यहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥ ३८ ॥

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राजकुमारकी प्रशंसा करता रहता है, वही राजाके यहाँ उसका प्रीतिपात्र होकर दीर्घकालतक टिक सकता है ॥ ३९ ॥

प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः।
न निर्वदति राजानं लभते सम्पदं पुनः ॥४०॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः।
उपजीवी भवेद् राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥

यदि कोई मन्त्री पहले राजाका कृपापात्र रहा हो और पीछे अकारण उसे दण्ड भोगना पड़ा हो, उस दशामें भी जो राजाकी निन्दा नहीं करता, वह पुनः अपने पूर्व वैभवको प्राप्त कर लेता है जो बुद्धिमान् राजाके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह अथवा उसके राज्यमें निवास करता है, उसे राजाके सामने अथवा पीठ पीछे भी उसके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अमात्यो हि बलाद् भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥४२॥

जो मन्त्री राजाको बलपूर्वक अपने अधीन करना चाहता है, वह अधिक समयतक अपने पदपर नहीं टिक सकता। इतना ही नहीं, उसके प्राणोंपर भी संकट आ जाता है॥४२॥

श्रेयः सदाऽऽत्मनो दृष्ट्वा परं राज्ञा न संवदेत्।
विशेषयेच्च राजानं योग्यभूमिषु सर्वदा ॥४३॥

अपनी भलाई अथवा लाभ देखकर दूसरेको सदा राजाके साथ न मिलावे; न बातचीत करावे। उपयुक्त स्थान और अवसर देखकर सदा राजाकी विशेषता प्रकट करे ॥ ४३ ॥

अम्लानो बलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥४४॥

जो उत्साहसम्पन्न, बुद्धि-बलसे युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमलस्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छायाकी भाँति राजाका अनुसरण करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४४ ॥

अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत्।
अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ॥४५॥

जब दूसरेको किसी कार्यके लिये भेजा जा रहा हो, उस समय जो स्वयं ही उठकर आगे जाय और पूछे—'मेरे लिये क्या आज्ञा है', वही राजभवनमें निवास कर सकता है॥४५॥

आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा।
आदिष्टो नैव कम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥४६॥

जो राजाके द्वारा आन्तरिक (धन एवं स्त्री आदिकी रक्षा) और बाह्य (शत्रुविजय आदि) कार्योंके लिये आदेश

मिलनेपर कभी शंकित या भयभीत नहीं होता, वही राजाके यहाँ रह सकता है ॥ ४६ ॥

यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानुसंस्मरेत् ।
दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ॥४७॥

जो घर-बार छोड़कर परदेशमें पड़ा रहनेपर भी प्रियजनों एवं अभीष्ट भोगोंका स्मरण नहीं करता और कष्ट सहकर सुख पानेकी इच्छा करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४७ ॥

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत् ।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥४८॥

राजाके समान वेशभूषा न धारण करे। उसके अत्यन्त निकट न रहे। उसके सामने उच्च आसनपर न बैठे। अपने साथ राजाने जो गुप्त सलाह की हो, उसे दूसरोंपर प्रकट न करे। ऐसा करनेसे ही मनुष्य राजाका प्रिय हो सकता है ॥ ४८ ॥

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ॥४९ ॥

यदि राजाने किसी कामपर नियुक्त किया हो, तो उसमें घूसके रूपमें थोड़ा भी धन न ले; क्योंकि जो इस प्रकार चोरीसे धन लेता है, उसे एक दिन बन्धन अथवा वधका दण्ड भोगना पड़ता है ॥ ४९ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारं यच्चान्यत् सम्प्रयच्छति ।
तदेव धारयेन्नित्यमेवं प्रियतरो भवेत् ॥५०॥

राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा और भी जो कोई वस्तु दे, उसीको सदा धारण करे या उपयोगमें लावे। ऐसा करनेसे वह राजाका अधिक प्रिय होता है ॥५०॥

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥५१॥

तात युधिष्ठिर एवं पाण्डवो ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अपने मनको वशमें रखकर पूर्वोक्त रीतिसे उत्तम बर्ताव करते हुए इस तेरहवें वर्षको व्यतीत करो और इसी रूपमें रहकर ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करो। तदनन्तर अपने राज्यमें आकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।
कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥५२॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपका भला हो। आपने हमें बहुत अच्छी शिक्षा दी। हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुरजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है, जो हमें ऐसी बात बतावे ॥ ५२ ॥

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥५३॥

अब हमें इस दुःखसागरसे पार होने, यहाँसे प्रस्थान करने और विजय पानेके लिये जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत् सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर विप्रवर धौम्यजीने यात्राके समय जो आवश्यक शास्त्रविहित कर्तव्य है, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया ॥ ५४ ॥

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥५५॥

पाण्डवोंकी अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्यलाभ तथा पृथ्वीपर विजय-प्राप्तिके लिये वेदमन्त्र पढ़कर होम किया ॥ ५५ ॥

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ॥५६॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके द्रौपदीको आगे रखकर वहाँसे प्रस्थान किया। कुल छः व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे ॥५६॥

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ॥५७॥

उन पाण्डव वीरोंके चले जानेपर जपयज्ञ करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको साथ लेकर पाञ्चालदेशमें चले गये ॥ ५७ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षन्तः सुखमूषुः सुसंवृताः ॥५८॥

इन्द्रसेन आदि सेवक भी पूर्वोक्त आदेश पाकर यदुवंशियोंकी नगरी द्वारकामें जा पहुँचे और वहाँ स्वयं सुरक्षित हो रथ और घोड़ोंकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥५८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें धौम्योपदेशसम्बन्धी चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका विराटनगरके समीप पहुँचकर श्मशानमें एक शमीवृक्षपर अपने अस्त्र-शस्त्र रखना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठपर तूणीर कसे, गोहके चमड़ेसे बने हुए अङ्गुलित्र (दस्ताने) पहने (पैदल चलते-चलते) यमुनानदीके समीप जा पहुँचे ॥ १ ॥

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा।
वसन्तो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः॥ २ ॥
विध्यन्तो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः।

इसके बाद वे यमुनाके दक्षिण किनारेपर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मनमें यह अभिलाषा जाग उठी थी कि अब हम वनवासके कष्टसे मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। उन सबने धनुष ले रखे थे। वे महान् धनुर्धर और महापराक्रमी वीर पर्वतों और वनोंके दुर्गम प्रदेशोंमें डेरा डालते और हिंसक पशुओंको मारते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ २½ ॥

उत्तरेण दशार्णांस्ते पञ्चालान् दक्षिणेन च ॥ ३ ॥
अन्तरेण यकृल्लोमान् शूरसेनांश्च पाण्डवाः।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात्॥ ४ ॥
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ॥ ५ ॥

आगे जाकर वे दशार्णसे उत्तर और पाञ्चालसे दक्षिण एवं यकृल्लोम तथा शूरसेन देशोंके बीचसे होकर यात्रा करने लगे। उन्होंने हाथोंमें धनुष धारण कर रक्खे थे। उनकी कमरमें तलवारें बँधी थीं। उनके शरीर मलिन एवं उदास थे। उन सबकी दाढ़ी-मूँछें बढ़ गयी थीं। किसीके पूछनेपर वे अपनेको मत्स्यदेशमें निवास करनेके इच्छुक बताते थे। इस प्रकार उन्होंने वनसे निकलकर मत्स्यराष्ट्रके जनपदमें प्रवेश किया। जनपदमें आनेपर द्रौपदीने राजा युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३–५ ॥

पश्यैकपद्यो दृश्यन्ते क्षेत्राणि विविधानि च।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति।
वसामेहापरां रात्रिं बलवान् मे परिश्रमः॥ ६ ॥

'महाराज ! देखिये, यहाँ अनेक प्रकारके खेत और उनमें पहुँचनेके लिये बहुत-सी पगडंडियाँ दिखायी देती हैं। जान पड़ता है, विराटकी राजधानी अभी दूर होगी। मुझे बड़ी थकावट हो रही है, अतः हम एक रात और यहीं रहें' ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धनंजय समुद्यम्य पाञ्चालीं वह भारत।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय ! तुम द्रौपदीको कंधेपर उठाकर ले चलो। भारत ! इस वनसे निकलकर अब हमलोग राजधानीमें ही निवास करेंगे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामादायार्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव।
सम्प्राप्य नगराभ्याशमवतारयदर्जुनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब गजराजके समान पराक्रमी अर्जुनने तुरंत ही द्रौपदीको उठा लिया और नगरके निकट पहुँचकर उन्हें कंधेसे उतारा ॥ ८ ॥

स राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत्।
क्वायुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम्॥ ९ ॥

राजधानीके समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—भैया ! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगरमें प्रवेश करें ? ॥ ९ ॥

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ॥ १० ॥

'तात ! यदि अपने आयुधोंके साथ हम नगरमें प्रवेश करेंगे, तो निःसंदेह यहाँके निवासियोंको उद्वेग (भय) में डाल देंगे ॥ १० ॥

गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम्।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम्।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः ॥ ११ ॥

'तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसारके सब लोगोंमें उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशामें यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरमें चलेंगे तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा ॥ १२ ॥

'यदि हममेंसे एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रक्खी है' ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! श्मशानभूमिके समीप एक टीलेपर यह शमीका बहुत बड़ा सघन वृक्ष है । इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है ॥ १३ ॥

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः ।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः॥ १४॥

पाण्डवो ! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ रखते समय देख सके ॥ १४ ॥

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते ।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः ॥ १५ ॥
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति ।
एवमत्र यथायोगं विहरिष्याम भारत ॥ १६ ॥

यह वृक्ष रास्तेसे बहुत दूर जंगलमें है । इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं । विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमिके निकट है; (अतः यहाँतक किसीके आने या वृक्षपर चढ़नेकी सम्भावना नहीं है;) इसलिये इसी शमी-वृक्षपर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगरमें चलें । भारत ! ऐसा करके हम यहाँ जैसा सुयोग होगा, उसके अनुसार विचरण करेंगे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स राजानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
प्रचक्रमे निधानाय शस्त्राणां भरतर्षभः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंको रखनेके प्रयत्नमें लग गये ॥ १७ ॥

येन देवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
स्फीताञ्जनपदांश्चान्यानजयत् कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥
तदुदारं महाघोषं सपत्नगणसूदनम् ।
अपज्यमकरोत् पार्थो गाण्डीवं सुभयंकरम् ॥ १९ ॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने जिस धनुषके द्वारा एकमात्र रथका आश्रय ले सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंपर विजय पायी थी तथा अन्यान्य अनेक समृद्धिशाली जनपदोंपर विजयपताका फहरायी थी; जिस धनुषने दिव्य बलसे समग्र असुरों आदिकी सेनाओंका भी संहार किया था, जिसकी टङ्कारध्वनि बहुत दूरतक फैलती है, उस उदार तथा अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा अर्जुनने उतार डाली ॥ १८-१९ ॥

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत् परंतपः ।
अमुञ्चद् धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

परंतप वीर युधिष्ठिरने जिसके द्वारा समूचे कुरुक्षेत्रकी रक्षा की थी, उस धनुषकी अक्षय डोरीको उन्होंने भी उतार दिया ॥ २० ॥

पाञ्चालान् येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत् प्रभुः ।
प्रत्यषेधद् बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ॥ २१ ॥
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवन्त रणात् परे ।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ॥ २२ ॥
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृषितवानथ ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ॥ २३ ॥

भीमसेनने जिसके द्वारा पाञ्चाल वीरोंपर विजय पायी थी, दिग्विजयके समय उन्होंने अकेले ही जिसकी सहायतासे बहुतेरे शत्रुओंको परास्त किया था, वज्रके फटने और पर्वतके विदीर्ण होनेके समान जिसका भयंकर टङ्कार सुनकर कितने ही शत्रु युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए तथा जिसके सहयोगसे उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथको परास्त किया था, अपने उसी धनुषकी प्रत्यञ्चाको भीमसेनने भी उतार दिया ॥ २१–२३ ॥

अजयत् पश्चिमामाशां धनुषा येन पाण्डवः ।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २४ ॥
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रन्दनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः॥ २५ ॥

जिनका मुख ताँबेके समान लाल था, जो बहुत कम बोलते थे, उन महाबाहु माद्रीनन्दन नकुलने दिग्विजयके समय जिस धनुषकी सहायतासे पश्चिम दिशापर विजय प्राप्त की थी, समूचे कुरुकुलमें जिनके समान दूसरा कोई रूपवान् न होनेके कारण जिन्हें नकुल कहा जाता था, जो युद्धमें शत्रुओंको रुलानेवाले शूरवीर थे; उन वीरवर नकुलने भी अपने पूर्वोक्त धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी ॥ २४-२५ ॥

दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाजयत् प्रभुः ।
अपज्यमकरोद् वीरः सहदेवस्तदायुधम् ॥ २६ ॥

शास्त्रानुकूल तथा उदार आचार-विचारवाले शक्तिशाली वीर सहदेवने भी जिसकी सहायतासे दक्षिण दिशाको जीता था, उस धनुषकी डोरी उतार दी ॥ २६ ॥

खड्गांश्च दीप्तान् दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
विपाठान् क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ॥ २७ ॥

धनुषोंके साथ-साथ पाण्डवोंने बड़े-बड़े एवं चमकीले खड्ग, बहुमूल्य तूणीर, छुरेके समान तीखी धारवाले क्षुरधार और विपाठ नामक बाण भी रख दिये ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरने नकुलको आज्ञा दी–वीर ! तुम इस शमीपर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो' ॥ २८ ॥

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम्।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥

तब नकुलने उस वृक्षपर चढ़कर उसके खोखलोंमें वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथसे रक्खे। उसके जो खोखले थे, वे नकुलको दिव्यरूप जान पड़े ॥ २९ ॥

यत्र चापश्यत स वै तिरोवर्षाणि वर्षति।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ॥ ३० ॥

क्योंकि उन्होंने देखा, वहाँ मेघ तिरछी वृष्टि करता है (जिससे खोखलोंमें पानी नहीं पड़ता)। उन्हींमें उन आयुधोंको रखकर मजबूत रस्सियोंसे उन्हें अच्छी तरह बाँध दिया ॥

शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम्।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा।
समासज्ज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ॥ ३३ ॥
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिबर्हणाः ॥ ३४ ॥

इसके बाद पाण्डवोंने एक मृतकका शव लाकर उस वृक्षकी शाखामें बाँध दिया। उसे बाँधनेका उद्देश्य यह था कि इसकी दुर्गन्ध नाकमें पड़ते ही लोग समझ लेंगे कि इसमें सड़ी लाश बँधी है; अतः दूरसे ही वे इस शमीवृक्षको त्याग देंगे। परंतप पाण्डव इस प्रकार उस शमीवृक्षपर शव बाँधकर उस वनमें गाय चरानेवाले ग्वालों और भेड़ पालनेवाले गड़रियोंसे शव बाँधनेका कारण बताते हुए इस प्रकार कहते थे—'यह एक सौ अस्सी वर्षकी हमारी माता है। हमारे कुलका यह धर्म है, इसलिये ऐसा किया है। हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते आये हैं।'* इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले वे कुन्तीपुत्र नगरके निकट आ पहुँचे ॥

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

तब युधिष्ठिरने क्रमशः पाँचों भाइयोंके जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रक्खे ॥ ३५ ॥

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत्।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तेरहवें वर्षका अज्ञातवास पूर्ण करनेके लिये मत्स्यराष्ट्रके उस विशाल नगरमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि पुरप्रवेशे अस्त्रसंस्थापने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नगरप्रवेशके लिये अस्त्रस्थापनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति और देवीका प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विराटके रमणीय नगरमें प्रवेश करते समय महाराज युधिष्ठिरने मन-ही-मन त्रिभुवनकी अधीश्वरी दुर्गादेवीका इस प्रकार स्तवन किया—॥

* पाण्डवलोग शव बँधी हुई शाखाकी ओर अंगुलीसे संकेत करके कहते थे—'यह हमारी माता है।' वे अपने आयुधोंकी रक्षा करनेके कारण शमीको ही अपनी माता मानते थे और उसीकी ओर उनका वास्तविक संकेत था। शव-बन्धनके व्याजसे वे अस्त्र-संरक्षणको ही पूर्वजोंद्वारा आचरित कुलधर्म घोषित करते थे।

यशोदागर्भसम्भूतां नारायणवरप्रियाम्।
नन्दगोपकुले जातां मङ्गल्यां कुलवर्धिनीम्॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम्।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम्॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम्।
दिव्याम्बरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम्॥ ४ ॥

'जो यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई है, जो भगवान् नारायणको अत्यन्त प्रिय है, नन्दगोपके कुलमें जिसने अवतार लिया है, जो सबका मङ्गल करनेवाली तथा कुलको बढ़ानेवाली है, जो कंसको भयभीत करनेवाली और असुरोंका संहार करनेवाली है, कंसके द्वारा पत्थरकी शिलापर पटकी जानेपर जो आकाशमें उड़ गयी थी, जिसके अङ्ग दिव्य गन्धमाला एवं आभूषणोंसे विभूषित हैं, जिसने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खा है, जो हाथोंमें ढाल और तलवार धारण करती है, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी भगिनी उस दुर्गादेवीका मैं चिन्तन करता हूँ ॥ २–४ ॥

भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम्।
तान् वै तारयसे पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम्॥ ५ ॥

'पृथ्वीका भार उतारनेवाली पुण्यमयी देवि! तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो। जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं, निश्चय ही तुम उन्हें पाप और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःखसे उबार लेती हो; ठीक उसी तरह, जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायका उद्धार कर देता है' ॥ ५ ॥

स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः।
आमन्त्र्य दर्शनाकाङ्क्षी राजा देवीं सहानुजः॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि।
बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने॥ ७ ॥

तत्पश्चात् भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने देवीके दर्शनकी अभिलाषा रखकर नाना प्रकारके स्तुतिपरक नामोंद्वारा उन्हें सम्बोधित करके पुनः उनकी स्तुति प्रारम्भ की—'इच्छानुसार उत्तम वर देनेवाली देवि! तुम्हें नमस्कार है। सच्चिदानन्दमयी कृष्णे! तुम कुमारी और ब्रह्मचारिणी हो। तुम्हारी अङ्गकान्ति प्रभातकालीन सूर्यके सदृश लाल है। तुम्हारा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे।
मयूरपिच्छवलये केयूराङ्गदधारिणि।
भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः॥ ८ ॥
स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं गगनेश्वरी।
कृष्णच्छविसमा कृष्णा संकर्षणसमानना॥ ९ ॥

'तुम चार भुजाओंसे सुशोभित विष्णुरूपा और चार मुखोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपा हो। तुम्हारे नितम्ब और उरोज पीन हैं। तुमने मोरपंखका कंगन धारण किया है तथा केयूर और अङ्गद पहन रक्खे हैं। देवि! भगवान् नारायणकी धर्मपत्नी लक्ष्मीजीके समान तुम्हारी शोभा हो रही है। आकाशमें विचरनेवाली देवि! तुम्हारा स्वरूप और ब्रह्मचर्य परम उज्ज्वल है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी छविके समान तुम्हारी श्याम कान्ति है, इसीलिये तुम कृष्णा कहलाती हो। तुम्हारा मुख संकर्षणके समान है ॥ ८-९ ॥

बिभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ।
पात्री च पङ्कजी घण्टी स्त्रीविशुद्धा च या भुवि॥ १० ॥
पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता॥ ११ ॥
चन्द्रविस्पर्द्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना॥ १२ ॥
भुजङ्गाभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः॥ १३ ॥

'तुम (वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली) ऊपर उठी हुई दो विशाल भुजाओंको इन्द्रकी ध्वजाके समान धारण करती हो। तुम्हारे तीसरे हाथमें पात्र, चौथेमें कमल और पाँचवेंमें घण्टा सुशोभित है। छठे हाथमें पाश, सातवेंमें धनुष तथा आठवेंमें महान् चक्र शोभा पाता है। ये ही तुम्हारे नाना प्रकारके आयुध हैं। इस पृथ्वीपर स्त्रीका जो विशुद्ध स्वरूप है, वह तुम्हीं हो। कुण्डलमण्डित कर्णयुगल तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा बढ़ाते हैं। देवि! तुम चन्द्रमासे होड़ लेनेवाले मुखसे सुशोभित होती हो। तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट है। बँधे हुए केशोंकी वेणी साँपकी आकृतिके समान कुछ और ही शोभा दे रही है। यहाँ कमरमें बँधी हुई सुन्दर करधनीके द्वारा तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है, मानो नागसे लपेटा हुआ मन्दराचल हो ॥ १०–१३ ॥

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया॥ १४ ॥

'तुम्हारी मयूरपिच्छसे चिह्नित ध्वजा आकाशमें ऊँची फहरा रही है। उससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गयी है। तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तीनों लोकोंको पवित्र कर दिया है ॥ १४ ॥

तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव॥ १५ ॥

'देवि! इसीलिये सम्पूर्ण देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा भी करते हैं। तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये महिषासुरका नाश करनेवाली देवेश्वरी! मुझपर प्रसन्न होकर दया करो। मेरे लिये कल्याणमयी हो जाओ ॥ १५ ॥

जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च साम्प्रतम्॥ १६ ॥

युधिष्ठिरद्वारा देवीकी स्तुति

'तुम जया और विजया हो। तुम्हीं संग्राममें विजय देनेवाली हो, अतः मुझे भी विजय दो। इस समय तुम मेरे लिये वरदायिनी हो जाओ ॥ १६ ॥

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।
कालि कालि महाकालि खड्गखट्वाङ्गधारिणि ॥ १७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचलपर तुम्हारा सनातन निवासस्थान है। काली! काली!! महाकाली!!! तुम खड्ग और खट्वाङ्ग धारण करनेवाली हो ॥ १७ ॥

कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि।
न तेषां दुर्लभं किंचित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥

'जो प्राणी तुम्हारा अनुसरण करते हैं, उन्हें तुम मनोवाञ्छित वर देती हो। इच्छानुसार विचरनेवाली देवि! जो मनुष्य अपने ऊपर आये हुए संकटका भार उतारनेके लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं तथा जो मानव प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये इस पृथ्वीपर पुत्र अथवा धन-धान्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ॥ १८-१९ ॥

दुर्गात् तारयसे दुर्गे तत् त्वं दुर्गा स्मृता जनैः।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः॥ २२ ॥
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमा दया।
नृणां च बन्धनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि।
सोऽहं राज्यात् परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥

'दुर्गे! तुम दुःसह दुःखसे उद्धार करती हो, इसीलिये लोगोंके द्वारा दुर्गा कही जाती हो। जो दुर्गम वनमें कष्ट पा रहे हों, महासागरमें डूब रहे हों अथवा लुटेरोंके वशमें पड़ गये हों, उन सब मनुष्योंके लिये तुम्हीं परम गति हो—तुम्हीं उन्हें संकटसे मुक्त कर सकती हो। महादेवि! पानीमें तैरते समय, दुर्गम मार्गमें चलते समय और जंगलोंमें भटक जानेपर जो तुम्हारा स्मरण करते हैं, वे मनुष्य क्लेश नहीं पाते। तुम्हीं कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, संतति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया हो। तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, मोह, पुत्रनाश और धननाशका संकट, व्याधि, मृत्यु और सम्पूर्ण भय नष्ट कर देती हो। मैं भी राज्यसे भ्रष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारी शरणमें आया हूँ ॥ २०—२४ ॥

प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ॥ २५ ॥

'कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! देवेश्वरि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। मेरी रक्षा करो। सत्ये! हमारे लिये वस्तुतः सत्यस्वरूपा बनो—अपनी महिमाको सत्य कर दिखाओ ॥ २५ ॥

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पाण्डवम् ॥ २६ ॥
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत्।

'शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली भक्तवत्सले दुर्गे! मुझे शरण दो।' इस प्रकार स्तुति करनेपर देवी दुर्गाने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा राजाके पास आकर यह बात कही ॥ २६½ ॥

देव्युवाच

शृणु राजन् महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥
राज्यं निष्कण्टकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनीं पुनः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रीतिं प्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥ २९ ॥

देवी बोली—महाबाहु राजा युधिष्ठिर! मेरी बात सुनो। समर्थ राजन्! शीघ्र ही तुम्हें संग्राममें विजय प्राप्त होगी। मेरे प्रसादसे कौरवसेनाको जीतकर उसका संहार करके तुम निष्कण्टक राज्य करोगे और पुनः इस पृथ्वीका सुख भोगोगे। राजन्! तुम्हें भाइयोंसहित पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी ॥ २७—२९ ॥

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुःसुतम्।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ।
ये स्मरिष्यन्ति मां राजन् यथाहं भवता स्मृता ॥ ३२ ॥
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद् वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पाण्डवाः।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान् विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम्।
रक्षां कृत्वा च पाण्डूनां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३५ ॥

मेरी कृपासे तुम्हें सुख और आरोग्य सुलभ होगा। लोकमें जो मनुष्य मेरा कीर्तन और स्तवन करेंगे, वे पापरहित होंगे और मैं संतुष्ट होकर उन्हें राज्य, बड़ी आयु, नीरोग शरीर और पुत्र प्रदान करूँगी। राजन्! जैसे तुमने मेरा स्मरण किया है, इसी प्रकार जो लोग परदेशमें रहते समय, नगरमें, युद्धमें, शत्रुओंद्वारा संकट प्राप्त होनेपर,

घने जंगलोंमें, दुर्गम मार्गमें, समुद्रमें तथा गहन पर्वतपर भी मेरा स्मरण करेंगे, उनके लिये इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। पाण्डवो! जो इस उत्तम स्तोत्रको भक्ति-भावसे सुनेगा या पढ़ेगा, उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जायँगे। मेरे कृपाप्रसादसे विराटनगरमें रहते समय तुम सब लोगोंको कौरवगण अथवा उस नगरके निवासी मनुष्य नहीं पहचान सकेंगे।

शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा पाण्डवोंकी रक्षाका भार ले वहीं अन्तर्धान हो गयी॥ ३०—३५॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसभामें जाकर विराटसे मिलना और वहाँ आदरपूर्वक निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तु ते पुण्यतमां शिवां शुभां
महर्षिगन्धर्वनिषेवितोदकाम्।
त्रिलोककान्तामवतीर्य जाह्नवी-
मृषींश्च देवांश्च पितॄनतर्पयन्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पाण्डवोंने परम पवित्र, कल्याणमयी, मङ्गलस्वरूपा, त्रिभुवनकमनीया गङ्गामें, जिसके जलका महर्षि और गन्धर्वगण सदा सेवन करते हैं, उतरकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया॥

वरप्रदानं ह्यनुचिन्त्य पार्थिवो
हुताग्निहोत्रः कृतजप्यमङ्गलः।
दिशं तथैन्द्रीमभितः प्रपेदिवान्
कृताञ्जलिर्धर्ममुपाह्वयच्छनैः॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर अग्निहोत्र, जप और मङ्गलपाठ करके धर्मराजके दिये हुए वरदानका चिन्तन करते हुए पूर्व दिशाकी ओर चले और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे धर्मराजका स्मरण करने लगे॥

युधिष्ठिर उवाच

वरप्रदानं मम दत्तवान् पिता
प्रसन्नचेता वरदः प्रजापतिः।
जलार्थिनो मे तृषितस्य सोदरा
मया प्रयुक्ता विविशुर्जलाशयम्॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता प्रजापति धर्म वरदायक देवता हैं। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुझे वर दिया है। मैंने प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने भाइयोंको भेजा था। मेरी प्रेरणासे ही वे एक सरोवरमें उतरे॥

निपातिता यक्षवरेण ते वने
महाहवे वज्रभृतेव दानवाः।
मया च गत्वा वरदोऽभितोषितो
विवक्षता प्रश्नसमुच्चयं गुरुः॥

परंतु उस वनमें श्रेष्ठ यक्षके रूपमें आये हुए उन धर्मराजने मेरे भाइयोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रधारी इन्द्र महान् संग्राममें दानवोंको मार गिराते हैं। तब मैंने वहाँ जाकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दे उन वरदायक गुरुरूप पिताको संतुष्ट किया॥

स मे प्रसन्नो भगवान् वरं ददौ
परिष्वजंश्चाह यथैव सौहृदात्।
वृणीष्व यद् वाञ्छसि पाण्डुनन्दन
स्थितोऽन्तरिक्षे वरदोऽस्मि पश्यताम्॥

उस समय प्रसन्न हो भगवान् धर्मने बड़े स्नेहसे मुझे हृदयसे लगाया और वर देनेके लिये उद्यत हो मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन! तुम जो कुछ चाहते हो, वह मुझसे माँग लो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आकाशमें खड़ा हूँ। मेरी ओर देखो॥'

स वै मयोक्तो वरदः पिता प्रभुः
सदैव मे धर्मरता मतिर्भवेत्।
इमे च जीवन्तु ममानुजाः प्रभो
वपुश्च रूपं च बलं तथाप्नुयुः॥

तब मैंने अपने वरदायक पिता भगवान् धर्मराजसे कहा—'प्रभो! मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे तथा ये मेरे छोटे भाई जीवित हो जायँ और पहले-जैसा रूप, युवावस्था एवं बल प्राप्त कर लें॥

क्षमा च कीर्तिश्च यथेप्सतो भवेद्
व्रतं च सत्यं च समाप्तिरेव च।
वरो ममैषोऽस्तु यथानुकीर्तितो
न तन्मृषा देववरो यदब्रवीत्॥

'हमलोगोंमें इच्छानुसार क्षमा और कीर्ति हो और हम अपने सत्यव्रतको पूर्ण कर लें; यही वर हमें प्राप्त होना चाहिये।' जैसा कि मैंने बताया, वैसा ही वर उन्होंने दिया। देवेश्वर धर्मने जैसा कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
तदैव तत्प्रसादेन रूपमेवाभजत् स्वकम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिर उस समय धर्मका ही बार-बार चिन्तन करने लगे। तब धर्मदेवके प्रसादसे उन्होंने तत्काल अपने अभीष्ट स्वरूपको प्राप्त कर लिया ॥

स वै द्विजातिस्तरुणस्त्रिदण्डधृक्
कमण्डलूष्णीषधरोऽन्वजायत ।
सुरक्तमाञ्जिष्ठवराम्बरः शिखी
पवित्रपाणिर्ददृशे तदद्भुतम् ॥

वे कमण्डलु और पगड़ी धारण किये त्रिदण्डधारी तरुण ब्राह्मण बन गये। उनके शरीरपर मँजीठके रंगके सुन्दर लाल वस्त्र शोभा पाने लगे तथा मस्तकपर शिखा दिखायी देने लगी। वे हाथमें कुश लिये अद्भुत रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे ॥

तथैव तेषामपि धर्मचारिणां
यथेप्सिता ह्याभरणाम्बरस्रजः ।
क्षणेन राजन्नभवन्महात्मनां
प्रशस्तधर्माग्र्यफलाभिकाङ्क्षिणाम् ॥)

राजन्! इसी प्रकार उत्तम धर्मके श्रेष्ठ फलकी अभिलाषा रखनेवाले उन सभी धर्मचारी महात्मा पाण्डवोंको क्षणभरमें उनके अभीष्ट वेशके अनुरूप वस्त्र, आभूषण और माला आदि वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं ॥

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत् ।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १ ॥

तदनन्तर वैदूर्यके समान हरी, सुवर्णके समान पीली (तथा लाल और काली) चौसरकी गोटियोंसहित पासोंको कपड़ेमें बाँधकर बगलमें दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजाके दरबारमें गये। उस समय राजा विराट सभामें बैठे थे ॥ १ ॥

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं
महायशाः कौरववंशवर्धनः ।
महानुभावो नरराजसत्कृतो
दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः ॥ २ ॥
बलेन रूपेण नरर्षभो महा-
नपूर्वरूपेण यथामरस्तथा ।
महाभ्रजालैरिव संवृतो रवि-
र्यथानलो भस्मवृतश्च वीर्यवान् ॥ ३ ॥

वे बड़े यशस्वी और मत्स्यराष्ट्रके अधिपति थे। राजा युधिष्ठिर भी महान् यशस्वी, कौरववंशकी मर्यादाको बढ़ानेवाले तथा महानुभाव (अत्यन्त प्रभावशाली) थे। सब राजे-महाराजे उनका सत्कार करते थे। तीखे विषवाले सर्पकी भाँति वे दुर्धर्ष थे। बल और रूपकी दृष्टिसे मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ और महान् थे। अपने अपूर्व रूपके कारण वे देवताके समान जान पड़ते थे। महामेघमालाओंसे आवृत सूर्य तथा राखमें छिपी हुई अग्निके समान उनका तेजस्वी रूप वेषभूषासे आच्छादित था। वे बड़े पराक्रमी थे ॥ २-३ ॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम् ।
समागतं पूर्णशशिप्रभाननं
महानुभावं न चिरेण दृष्टवान् ॥ ४ ॥

उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था। बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभायमान महानुभाव पाण्डुनन्दनको आते देख राजा विराटकी दृष्टि सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। निकट आनेपर शीघ्र ही उन्होंने बड़े गौरसे उनकी ओर देखा ॥ ४ ॥

मन्त्रिद्विजान् सूतमुखान् विशस्तथा
ये चापि केचित् परितः समासते ।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम् ॥ ५ ॥

मन्त्री, ब्राह्मण, सूत-मागध आदि, वैश्यगण तथा अन्य जो कोई भी सभासद् उनके दायें-बायें सब ओर बैठे थे, उन सबसे राजाने पूछा—'ये कौन हैं? जो पहले-पहल यहाँ पधारे हैं? ये तो किसी राजाकी भाँति मेरी सभाको निहार रहे हैं ॥ ५ ॥

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम् ।
न चास्य दासो न रथो न कुञ्जरः
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत् ॥ ६ ॥

इनका वेश तो ब्राह्मणका-सा है, किंतु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहींके भूपति ही होंगे; ऐसा विचार मेरे मनमें उठ रहा है। परंतु इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी ये निकटसे इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६ ॥

शरीरलिङ्गैरुपसूचितो ह्ययं
मूर्द्धाभिषिक्त इति मे मनोगतम् ।
समीपमायाति च मे गतव्यथो
यथा गजस्तामरसीं मदोत्कटः ॥ ७ ॥

'इनके शरीरमें जो लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ये मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। मेरे

मनमें तो यही बात आती है । जैसे मतवाला हाथी बेखटके किसी कमलिनीके पास जाता हो, उसी प्रकार ये बिना किसी संकोचके—व्यथारहित होकर मेरी सभामें आ रहे हैं' ॥ ७ ॥

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत्।
सम्राड् विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्कमें पड़े हुए राजा विराटके पास आकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने कहा—'महाराज ! आपको विदित हो; मैं एक ब्राह्मण हूँ, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है; अतः मैं आपके यहाँ जीवननिर्वाहके लिये आया हूँ ॥ ८ ॥

इहाहमिच्छामि तवानघान्तिके
वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो।
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ॥ ९ ॥
तं राजसिंहं प्रतिगृह्य राजा
प्रीत्याऽऽत्मना चैनमिदं बभाषे।
कामेन ताताभिवदाम्यहं त्वां
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः ॥ १० ॥

'अनघ ! मैं यहाँ आपके समीप रहना चाहता हूँ । प्रभो ! जैसी आपकी इच्छा होगी, उसी प्रकार सब कार्य करते हुए मैं यहाँ रहूँगा ।' युधिष्ठिरकी बात सुनकर राजा विराट बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' तदनन्तर उन्होंने राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको सादर ग्रहण किया । ग्रहण करके राजा विराटने प्रसन्न मनसे उनसे इस

प्रकार कहा—'तात ! मैं प्रेमपूर्वक आपसे पूछता हूँ, आप इस समय किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हैं ? ॥ ९-१० ॥

गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ॥ ११ ॥

'अपने गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइये । साथ ही यह भी कहें कि आपने किस विद्या या कलामें कुशलता प्राप्त की है' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः ।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज विराट ! मैं वैयाघ्रपद-गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण हूँ । लोगोंमें 'कङ्क' नामसे मेरी प्रसिद्धि है । मैं पहले राजा युधिष्ठिरके साथ रहता था । वे मुझे अपना सखा मानते थे । मैं चौसर खेलनेवालोंके बीच पासे फेंकनेकी कलामें कुशल हूँ ॥ १२ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं यमिच्छसि
प्रसाधि मत्स्यान् वशगो ह्यहं तव ।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा
भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! मैं आपको वर देता हूँ; आप जो चाहें, माँग लें । समूचे मत्स्यदेशपर शासन करें । मैं आपके वशमें हूँ; क्योंकि द्यूतक्रीडामें निपुण, चतुर, चालाक मनुष्य मुझे सदा प्रिय हैं । देवोपम ब्राह्मण ! आप तो राज्य पानेके योग्य हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राप्तो विवादः प्रथमं विशाम्पते
न विद्यते कं च न मत्स्य हीनतः ।
न मे जितः कश्चन धारयेद् धनं
वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मत्स्यराज ! नरनाथ ! मुझे किसी हीन वर्णके मनुष्यसे विवाद न करना पड़े, यह मैं पहला वर माँगता हूँ तथा मुझसे पराजित होनेवाला कोई भी मनुष्य हारे हुए धनको अपने पास न रखे (मुझे दे दे)। आपकी कृपासे यह दूसरा वर मुझे प्राप्त हो जाय, तो मैं रह सकता हूँ ॥ १४ ॥

विराट उवाच

हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्
प्रव्राजयेयं विषयाद् द्विजांस्तथा ।

शृण्वन्तु मे जानपदाः समागताः
कङ्को यथाहं विषये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! यदि कोई ब्राह्मणेतर मनुष्य आपका अप्रिय करेगा तो उसे मैं निश्चय ही प्राण-दण्ड दूँगा । यदि ब्राह्मणोंने आपका अपराध किया तो उन्हें देशसे निकाल दूँगा । [युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर राजा विराट अन्य सभासदोंसे बोले—] मेरे राज्यमें निवास करनेवाले और इस सभामें आये हुए लोगो ! मेरी बात सुनो; जैसे मैं इस मत्स्यदेशका स्वामी हूँ, वैसे ही ये कङ्क भी हैं ॥ १५ ॥

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः ।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥

[फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—] कङ्क ! आजसे आप मेरे सखा हैं । जैसी सवारीमें मैं चलता हूँ, वैसी ही आपको भी मिलेगी। पहननेके वस्त्र और भोजन-पान आदिका प्रबन्ध भी आपके लिये पर्याप्तमात्रामें रहेगा । बाहरके राज्य-कोश, उद्यान और सेना आदि तथा भीतरके धन-दारा आदिकी भी देख-भाल आप ही करें । मेरे आदेशसे आपके लिये राजमहलका द्वार सदा खुला रहेगा; आपसे कोई परदा नहीं रक्खा जायगा ॥१६॥

ये त्वानुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिता
ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा ।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो
न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ॥ १७ ॥

जो लोग जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहे हों और अनुवादके लिये अर्थात् पहलेके स्थायी तौरपर दिये हुए खेत और बगीचे आदिको पुनः उपयोगमें लानेके निमित्त नूतन राजाज्ञा प्राप्त करनेके लिये आपके पास आवें, उनके अनुरोध-पूर्ण वचनसे आप सदा उनकी प्रार्थना मुझे सुना सकते हैं । विश्वास रखिये, आपके कथनानुसार उन याचकोंको मैं सब कुछ दूँगा; इसमें संशय नहीं है । आपको मेरे पास आने या कुछ कहनेमें भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

(एवं तु राज्ञः प्रथमः समागमो
बभूव मात्स्यस्य युधिष्ठिरस्य च।
विराटराजस्य हि तेन संगमो
बभूव विष्णोरिव वज्रपाणिना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वहाँ राजा युधिष्ठिर तथा मत्स्यनरेशकी प्रथम भेंट हुई। जैसे भगवान् विष्णुका वज्रधारी इन्द्रसे मिलन हुआ हो, उसी प्रकार विराटनरेशका राजा युधिष्ठिरके साथ समागम हुआ ॥

तमासनस्थं प्रियरूपदर्शनं
निरीक्षमाणो न ततर्प भूमिपः ।
सभां च तां प्रज्वलयन् युधिष्ठिरः
श्रिया यथा शक्र इव त्रिविष्टपम्॥)

युधिष्ठिरके स्वरूपका दर्शन विराटराजको बहुत प्रिय लगा । जब वे आसनपर बैठ गये तब राजा विराट उन्हें एक टक निहारने लगे । उनके दर्शनसे वे तृप्त ही नहीं होते थे। जैसे इन्द्र अपनी कान्तिसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा युधिष्ठिर उस सभाको प्रकाशित कर रहे थे ॥

एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं
विराटराजेन नरर्षभस्तदा ।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी
न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत्॥ १८ ॥

धीर स्वभाववाले नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस समय राजा विराटके साथ इस प्रकार अच्छे ढंगसे मिलकर और उनके द्वारा परम आदर सत्कार पाकर वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे । उनका वह चरित्र किसीको भी मालूम नहीं हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिरप्रवेशविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

भीमसेनका राजा विराटकी सभामें प्रवेश और राजाके द्वारा आश्वासन पाना

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रिया ज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजां च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली भीमसेन सिंहकी-सी मस्त चालसे चलते हुए राजाके दरबारमें आये । वे अपने सहज तेजसे प्रकाशित हो रहे थे । उन्होंने हाथमें मथानी, करछी और शाक काटनेके लिये एक काले रंगका तीखी धारवाला छुरा

ले रक्खा था। उनका वह छुरा टूटा-फूटा न था और न उसके ऊपर कोई आवरण था॥ १॥

स सूदरूपः परमेण वर्चसा
रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन्।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवां-
स्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान्॥ २॥

वे यद्यपि रसोइयेके वेशमें थे, तो भी अपने उत्कृष्ट तेजसे इस लोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यदेवकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उनके वस्त्र काले थे और उनका शरीर पर्वतराज मेरुके समान सुदृढ़ था। वे मत्स्यराज विराटके समीप आकर खड़े हो गये॥ २॥

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं
ततोऽब्रवीज्जानपदान् समागतान्।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीव रूपवान्
प्रदृश्यते को नु नरर्षभो युवा॥ ३॥

अपने पास आये हुए भीमसेनको देखकर उन्हें प्रसन्न करते हुए राजा विराट मत्स्य जनपदके निवासी समागत सभासदोंसे बोले—'सिंहके समान ऊँचे कंधोंवाला और मनुष्योंमें श्रेष्ठ यह जो अत्यन्त रूपवान् युवक दिखायी दे रहा है, कौन है?॥ ३॥

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा
वितर्कयन् नास्य लभामि निश्चयम्।
तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्
नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः॥ ४॥

'आजसे पहले कभी इसका दर्शन नहीं हुआ है। यह वीर पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी है। मैं बहुत सोच-विचारकर भी इसके विषयमें किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता। यहाँ आनेमें इस श्रेष्ठ पुरुषका आन्तरिक अभिप्राय क्या है? इसपर भी मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया है; परंतु किसी वास्तविक परिणामतक नहीं पहुँच पा रहा हूँ॥ ४॥

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं
गन्धर्वराजो यदि वा पुरंदरः।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो
यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम्॥ ५॥

'इसे देखकर ही मैं सोचने लगा हूँ कि यह गन्धर्वराज है या देवराज इन्द्र? मेरी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ यह युवक कौन है, इसका पता लगाओ और यह जो कुछ पाना चाहता हो, वह सब इसे मिल जाना चाहिये; इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये'॥ ५॥

विराटवाक्येन च तेन चोदिता
नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः।
उपेत्य कौन्तेयमथाब्रुवंस्तदा
यथा स राजावदताच्युतानुजम्॥ ६॥

राजा विराटके पूर्वोक्त आदेशसे प्रेरित हो दरबारीलोग शीघ्रतापूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई कुन्तीपुत्र भीमसेनके समीप गये तथा राजाने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनका परिचय पूछा॥ ६॥

ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम्॥ ७॥

तब महामना पाण्डुनन्दन भीम विराटके अत्यन्त निकट जाकर दीनतारहित वाणीमें बोले—'नरेन्द्र! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यञ्जन बनाता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्यके लिये रख लीजिये'॥

विराट उवाच

न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव॥ ८॥

विराट बोले—बल्लव! तुम रसोइये हो, इस बातपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम तो इन्द्रके समान तेजस्वी दिखायी देते हो। अपने अद्भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रमसे तुम मनुष्योंमें कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो॥ ८॥

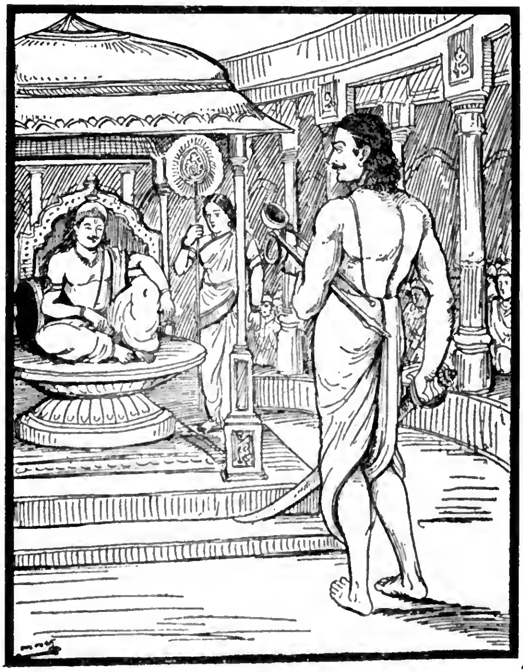

विराटके यहाँ पाण्डव

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान्।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥

भीमसेनने कहा—महाराज ! मैं रसोई बनानेवाला आपका सेवक हूँ । मैं भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाना जानता हूँ जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है। मेरे बनाये हुए व्यञ्जन उत्तम श्रेणीके होते हैं । राजन् ! पहले महाराज युधिष्ठिरने भी उन सब प्रकारके व्यञ्जनोंका आस्वादन किया है ॥ ९ ॥

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥ १० ॥

इसके सिवा शारीरिक बलमें भी मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भूपाल ! मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ ; हाथियों और सिंहोंसे भी भिड़ जाता हूँ । अनघ ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाला कार्य करूँगा ॥ १० ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे।
न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥

विराट बोले—बल्लव ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम अपनेको भोजन बनानेके काममें कुशल बताते हो, तो मेरी पाकशालामें रहकर वही करो। किंतु मैं यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं समझता । तुम तो समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीका शासन करनेके योग्य हो ॥ ११ ॥

तथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा किया है । तुम मेरी पाकशालामें अग्रणी होकर रहो । जो लोग वहाँ पहलेसे नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बनाया ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स भीमो विहितो महानसे
विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम्।
उवास राज्ये न च तं पृथग् जनो
बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भीमसेन पाकशालामें नियुक्त हो राजा विराटके अत्यन्त प्रिय व्यक्ति होकर रहने लगे । उस राज्यके किसी भी मनुष्यने उनका रहस्य नहीं जाना और न उस पाकशालाके कोई सेवक ही उन्हें पहचान सके ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशमें भीमप्रवेशसम्बन्धी आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

द्रौपदीका सैरन्ध्रीके वेशमें विराटके रनिवासमें जाकर रानी सुदेष्णासे वार्तालाप करना और वहाँ निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान्।
कृष्णान् सूक्ष्मान् मृदून् दीर्घान् समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता॥
जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना।
वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ॥ २ ॥
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पवित्र मन्द मुसकान और कजरारे नेत्रोंवाली द्रौपदीने अपने सुन्दर, महीन, कोमल और बड़े-बड़े, काले एवं घुँघुराले केशोंकी चोटी गूँथकर उन मृदुल अलकोंको दाहिने भागमें छिपा दिया और एक अत्यन्त मलिन वस्त्र धारण करके सैरन्ध्रीका वेश बनाये वह दीन-दुखियोंकी भाँति नगरमें विचरने लगी ॥ १-२½ ॥

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ॥ ३ ॥
अपृच्छंश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि।

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो ? और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ३½ ॥

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ॥ ४ ॥
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति।
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उनके इस प्रकार पूछनेपर द्रौपदीने उनसे कहा—'मैं सैरन्ध्री * हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसीके यहाँ मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ।' उसके रूप, वेष और मधुर वाणीसे किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्रके लिये यहाँ उपस्थित हुई है ॥ ४-५ ॥

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥ ६ ॥

इतनेमें ही राजा विराटकी अत्यन्त प्यारी भार्या केकयराजकुमारी सुदेष्णाने, जो अपने महलपर खड़ी हुई नगरकी शोभा निहार रही थी, वहींसे द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ६ ॥

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम्।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ७ ॥

वह एक वस्त्र धारण किये थी एवं अनाथा-सी जान पड़ती थी। ऐसे दिव्य रूपवाली तरुणीको उस अवस्थामें देखकर रानीने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भद्रे ! तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ७ ॥

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! तब द्रौपदीने रानी सुदेष्णासे कहा—'मैं सैरन्ध्री हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसके यहाँ रहकर मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ' ॥ ८ ॥

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येव यथा वदसि भामिनि।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहून् ॥ ९ ॥

सुदेष्णाने कहा—भामिनि ! तुम जैसा कह रही हो, उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम्हारी-जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं। तुम तो बहुत-सी दासियों और नाना प्रकारके बहुतेरे दासोंको आज्ञा देनेवाली रानी-जैसी जान पड़ती हो ॥ ९ ॥

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता।
रक्ता पञ्चसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥ १० ॥
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा।
तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरङ्गमी ॥ ११ ॥
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा।
कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १२ ॥

तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर सटी हुई हैं। तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनोंमें गम्भीरता है। नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाँटी—इन छहों अङ्गोंमें ऊँचाई है। हाथों और पैरोंके तलवे, आँखके कोने, ओठ, जिह्वा और नख—इन पाँचों अङ्गोंमें स्वाभाविक लालिमा है। हंसोंकी भाँति मधुर एवं गद्गद वाणी है। तुम्हारे केश काले और चिकने हैं। स्तन बहुत सुन्दर हैं। अङ्गकान्ति श्याम है। नितम्ब और उरोज पीन हैं। ऊपर कही हुई प्रत्येक विशेषतासे तुम सम्पन्न हो। काश्मीरदेशकी घोड़ीके समान तुममें अनेक शुभ लक्षण हैं। तुम्हारे नेत्रोंकी पलकें काली और तिरछी हैं। ओष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल हैं। कमर पतली है। गर्दन शङ्खकी शोभाको छीने लेती है। नसें मांससे ढकी हुई हैं तथा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है ॥ १०—१२ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥ १३ ॥

तुम रूपमें उन्हीं लक्ष्मीके समान हो, जिनके नेत्र शरद्-ऋतुके विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, जिनके अङ्गोंसे शरत्कालीन कमलकी सी सुगन्ध फैलती रहती है तथा जो शरद्ऋतुके कमलोंका सेवन करती हैं ॥ १३ ॥

का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ॥ १४ ॥
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥ १५ ॥

कल्याणी ! बताओ, तुम वास्तवमें कौन हो ? दासी तो तुम किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं। तुम यक्षी हो या देवी ? गन्धर्वकन्या हो या अप्सरा ? देवकन्या हो या नागकन्या ?

* सैरन्ध्री किसे कहते हैं, यह स्वयं द्रौपदीने इसके पूर्व तीसरे अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है।

अथवा इस नगरकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो ? विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेवकी पत्नी रोहिणी तो नहीं हो ? ॥ १४-१५ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ मालिनी।
इन्द्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥ १६ ॥

तुम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका अथवा मालिनी नामकी अप्सरा तो नहीं हो ? क्या तुम इन्द्राणी, वारुणी देवी, विश्वकर्माकी पत्नी अथवा प्रजापति ब्रह्माकी शक्ति सावित्री हो ? शुभे ! देवताओंके यहाँ जो प्रसिद्ध देवियाँ हैं, उनमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

द्रौपदी बोली—रानीजी ! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी; न असुरपत्नी हूँ, न राक्षसी । मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ। यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ ॥

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम्।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे ॥ १८ ॥
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः।

मैं केशोंका शृङ्गार करना जानती हूँ तथा उबटन या अङ्गराग बहुत अच्छा पीस लेती हूँ। शुभे ! मैं मल्लिका, उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलोंके बहुत सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ ॥ १८½ ॥

आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १९ ॥
कृष्णां च भार्यां पाण्डूनां कुरूणामेकसुन्दरीम्।

पहले मैं श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामा तथा कुरुकुलकी एकमात्र सुन्दरी पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीकी सेवामें रह चुकी हूँ ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥ २० ॥
वासांसि यावन्ति लभे तावत् तावद् रमे तथा।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा।
साहमद्यागता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ॥ २१ ॥

मैं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें सेवा करके उत्तम भोजन पाती हुई विचरती हूँ। मुझे जितने वस्त्र मिल जाते हैं, उतनोंमें ही मैं प्रसन्न रहती हूँ। स्वयं देवी द्रौपदीने मेरा नाम 'मालिनी' रख दिया था । देवि सुदेष्णे ! आज वही मैं सैरन्ध्री आपके महलमें आयी हूँ ॥ २०-२१ ॥

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥ २२ ॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दरी ! यदि मेरे मनमें संदेह न होता, तो मैं तुम्हें अपने सिर-माथे रख लेती। यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्तसे तुमपर आसक्त न हो जायँ तो तुम्हें रखनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी ॥ २२ ॥

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि।
प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २३ ॥

इस राजकुलमें जितनी स्त्रियाँ हैं तथा मेरे महलमें भी जो ये सुन्दरियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं; फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर सको ? ॥ २३ ॥

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २४ ॥

देखो, मेरे भवनमें जो ये वृक्ष खड़े हैं वे भी तुम्हें देखनेके लिये मानो झुके-से पड़ते हैं। फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो ? ॥ २४ ॥

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम्।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥ २५ ॥

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरी ! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं। राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्तसे तुम्हींमें आसक्त हो जायँगे ॥ २५ ॥

यं हि त्वमनवद्याङ्गि तरलायतलोचने।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः स कामवशगो भवेत् ॥ २६ ॥

निर्दोष अङ्गों तथा चञ्चल एवं विशाल नेत्रोंवाली सैरन्ध्री ! जिस पुरुषकी ओर तुम ध्यानसे देख लोगी; वही कामके अधीन हो जायगा ॥ २६ ॥

यश्च त्वां सततं पश्येत् पुरुषश्चारुहासिनि।
एवं सर्वानवद्याङ्गि स चानङ्गवशो भवेत् ॥ २७ ॥

शुभाङ्गि ! चारुहासिनि ! इसी प्रकार जो पुरुष प्रतिदिन तुम्हें देखेगा, वह भी कामदेवके वशीभूत हो जायगा ॥ २७ ॥

अध्यारोहेद् यथा वृक्षान् वधायैवात्मनो नरः।
राजवेश्मनि ते सुभ्रु गृहे तु स्यात् तथा मम ॥ २८ ॥

सुभ्रु ! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य आत्महत्याके लिये (गिरनेके उद्देश्यसे) वृक्षोंपर चढ़े, उसी प्रकार राजमहलमें या अपने घरमें तुम्हें रखना मेरे लिये अनिष्टकारी हो सकता है ॥ २८ ॥

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥ २९ ॥

शुचिस्मिते ! जैसे केंकड़ेकी मादा अपने मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घरमें ठहराना मैं अपने लिये मरणके तुल्य मानती हूँ ॥ २९ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन।
गन्धर्वाः पतयो मह्यं युवानः पञ्च भामिनि ॥ ३० ॥

द्रौपदी बोली—भामिनि ! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता। पाँच तरुण गन्धर्व मेरे पति हैं ॥ ३० ॥

पुत्रा गन्धर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित्।
रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥ ३१ ॥

वे सब किसी महान् शक्तिशाली गन्धर्वराजके* पुत्र हैं। वे ही मेरी प्रतिदिन रक्षा करते हैं तथा मैं स्वयं भी दुर्धर्ष हूँ ॥ ३१ ॥

यो मे न दद्यादुच्छिष्टं न च पादौ प्रधावयेत्।
प्रीणेरंस्तेन वासेन गन्धर्वाः पतयो मम ॥ ३२ ॥

जो मुझे जूठा अन्न नहीं देता और मुझसे अपने पैर नहीं धुलवाता, उसके उस व्यवहारसे मेरे पति गन्धर्वलोग प्रसन्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

यो हि मां पुरुषो गृद्ध्येद् यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ॥ ३३ ॥

परंतु जो पुरुष मुझे अन्य प्राकृत स्त्रियोंके समान समझकर (बलपूर्वक) प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रातमें परलोकवास हो जाता है ॥ ३३ ॥

न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने।
दुःखशीला हि गन्धर्वास्ते च मे बलिनः प्रियाः ॥ ३४ ॥
प्रच्छन्नाश्चापि रक्षन्ति ते मां नित्यं शुचिस्मिते।

अतः कल्याणि ! मुझे कोई भी सतीत्वसे विचलित नहीं कर सकता। शुचिस्मिते ! यद्यपि मेरे पति गन्धर्वगण इस समय दुःखमें पड़े हैं; तथापि वे बड़े बलवान् हैं और गुप्तरूपसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं ॥ ३४½ ॥

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥ ३५ ॥
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथंचन।

सुदेष्णाने कहा—आनन्ददायिनी सुन्दरी ! यदि (तुम्हारा शील-स्वभाव) ऐसा है, तो मैं जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घरमें ठहराऊँगी। तुम्हें किसी प्रकार पैर या जूठन नहीं छूने पड़ेंगे ॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ॥ ३६ ॥
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती।
न चैनां वेद तत्रान्यस्तत्त्वेन जनमेजय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विराटकी रानीने जब इस प्रकार आश्वासन दिया तब पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगरमें रहने लगी। जनमेजय ! वहाँ दूसरा कोई मनुष्य उसका वास्तविक परिचय न पा सका ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि द्रौपदीप्रवेशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें द्रौपदीप्रवेशसम्बन्धी नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

सहदेवका राजा विराटके साथ वार्तालाप और गौओंकी देखभालके लिये उनकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम्।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सहदेव भी ग्वालोंका परम उत्तम वेष बनाकर उन्हींकी भाषामें बोलते हुए राजा विराटके यहाँ गये ॥ १ ॥

गोष्ठमासाद्य तिष्ठन्तं भवनस्य समीपतः।
राजाथ दृष्ट्वा पुरुषान् प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥

राजभवनके पास ही गोशाला थी; वहाँ पहुँचकर वे खड़े हो गये। राजा उन्हें दूरसे ही देखकर आश्चर्यमें पड़ गये और उनके पास कुछ लोगोंको भेजा ॥ २ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम्।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ॥ ३ ॥

[अपने सेवकोंके बुलानेपर उनके साथ] दिव्य कान्तिसे सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेवको राजसभाकी ओर आते देख राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास चले गये और कुरुकुलको आनन्द देनेवाले सहदेवसे पूछने लगे— ॥ ३ ॥

कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम किसके पुत्र हो, कहाँसे आये हो और क्या करना चाहते हो? मैंने आजसे पहले तुम्हें कभी नहीं देखा है; अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो' ॥ ४ ॥

* यहाँ 'गन्धर्वराज' कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वे गन्धर्वतुल्य राजा पाण्डुके पुत्र हैं।

सम्प्राप्य राजानममित्रतापनं
ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाहमरिष्टनेमि-
र्गोसंख्य आसं कुरुपुङ्गवानाम् ॥५॥
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ
तान् राजसिंहान् न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमप्यकर्मणा
न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा विराटके निकट पहुँचकर सहदेव मेघोंकी घनघोर घटाके समान गम्भीर स्वरमें बोले—

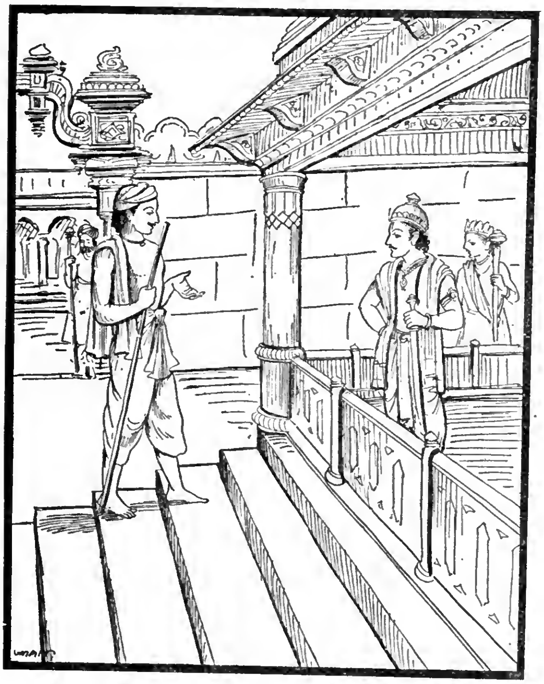

'महाराज ! मैं वैश्य हूँ । मेरा नाम अरिष्टनेमि है । नृपश्रेष्ठ ! मैं कुरुवंशशिरोमणि पाण्डवोंके यहाँ गौओंकी गणना तथा देखभाल करता रहा हूँ । अब आपके यहाँ रहना चाहता हूँ; क्योंकि राजाओंमें सिंहके समान पाण्डव कहाँ हैं ? यह मैं नहीं जानता । बिना काम किये जीविका चल नहीं सकती और आपके सिवा दूसरा कोई राजा मुझे पसंद नहीं है' ॥ ५-६ ॥

विराट उवाच

त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि
समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन
न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥७॥

विराटने कहा—शत्रुतापन ! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो । समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके सम्राट्की भाँति तुम्हारा भव्य रूप है; अतः मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो । यह वैश्य कर्म (गोपालन) तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।
कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा
वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥८॥

तुम किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हो ? और तुमने किस कलाकी शिक्षा प्राप्त की है ? बोलो, हमारे यहाँ कैसे सदा रह सकोगे ? और यहाँ तुम्हारा वेतन क्या होगा ? ॥ ८ ॥

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तस्याष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥९॥

सहदेव बोले—राजन् ! पाँचों पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं । उनके पास एक प्रकारकी गौओंके आठ लाख झुंड थे और प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थी ॥ ९ ॥

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः ॥१०॥
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम् ॥११॥

इनके सिवा, दूसरे प्रकारकी गौओंके एक लाख झुंड तथा तीसरे प्रकारकी गौओंके उनसे दुगुने अर्थात् दो लाख झुंड थे । (प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं) पाण्डवोंकी उन गौओंका मैं गणक और निरीक्षक था । वे लोग मुझे 'तन्तिपाल' कहा करते थे । चारों ओर दस योजनकी दूरीमें जितनी गौएँ हों; उनकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें जितनी संख्या थी, है और होगी, उन सबको मैं जानता हूँ । गौओंके सम्बन्धमें तीनों कालमें होनेवाली कोई ऐसी बात नहीं है, जो मुझे ज्ञात न हो ॥ १०-११ ॥

गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः ।
असकृत् स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥१२॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥१३॥
ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥१४॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरको मेरे ये गुण भली भाँति विदित थे । वे कुरुराज युधिष्ठिर सदा मेरे ऊपर संतुष्ट रहते थे । किन-किन उपायोंसे गौओंकी संख्या शीघ्र बढ़ जाती है और उनमें कोई रोग नहीं पैदा होता, यह सब मुझे ज्ञात है । महाराज ! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं । इनके सिवा मैं

उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भधारण एवं संतान उत्पन्न करने योग्य हो जाती है ॥ १२—१४ ॥

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह ॥ १५ ॥

विराटने कहा—तन्तिपाल ! मेरे यहाँ एक लाख पशु संगृहीत हैं। उनमेंसे कुछ तो एक ही रंगके हैं और कुछ मिश्रित रंगके। वे सब विभिन्न गुणोंसे संयुक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालोंको आजसे तुम्हारे हाथमें सौंपता हूँ। मेरे पशु अबसे तुम्हारे ही अधीन रहेंगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स राज्ञोऽविदितो विशाम्पते-
रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार प्रजापालक राजा विराटसे अपरिचित रहकर नरश्रेष्ठ सहदेव वहीं गोशालामें रहने लगे। दूसरे लोग भी उन्हें किसी तरह पहचान न सके। राजाने उनके लिये उनकी इच्छाके अनुसार भरण-पोषणकी व्यवस्था कर दी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें सहदेवप्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटसे मिलना और राजाके द्वारा कन्याओंको नृत्य आदिकी शिक्षा देनेके लिये उनको नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलङ्कारधरो बृहत्पुमान् ।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बूपरि हाटके शुभे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नगरकी चहारदीवारीके पीछे जो मिट्टीका ऊँचा टीला था, उसके समीप रूप-सम्पदासे सुशोभित एक दूसरा पुरुष दिखायी दिया। उसका डील-डौल ऊँचा था। उसने स्त्रियोंके लिये उचित आभूषण पहन रक्खे थे तथा कानोंमें बड़े-बड़े कुण्डल और हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन धारण कर लिये थे ॥ १ ॥

बाहू च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥

अपने बड़े-बड़े केशोंकी लटोंको खोलकर हाथोंतक फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथीके समान मस्तानी चालसे चलता और पग-पगपर मानो पृथ्वीको कँपाता हुआ राजसभाके समीप राजा विराटके पास आकर खड़ा हुआ ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
व्याजात् प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।
विराजमानं परमेण वर्चसा
सुतं महेन्द्रस्य गजेन्द्रविक्रमम् ॥ ३ ॥
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः
कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

छद्मवेशमें अपने स्वरूपको छिपाकर सभाभवनमें आया हुआ वह शत्रुविजयी वीर पुरुष अपने उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहा था। गजराजके समान बल-विक्रमवाले उस महेन्द्रपुत्र अर्जुनको देखकर राजाने समस्त सभासदोंसे पूछा—'यह कहाँसे आया है ? आजसे पहले मैंने कभी इसके विषयमें नहीं सुना है।' राजाके पूछनेपर उन मनुष्योंमेंसे किसीने उस पुरुषको अपना परिचित नहीं बताया। तब राजाने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कही—॥ ३-४ ॥

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
आमुच्य कम्बूपरि हाटके शुभे
विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले ॥ ५ ॥
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चान्यथा
शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा ।

आरुह्य यानं परिधावतां भवान्
सुतैः समो मे भव वा मया समः ॥ ६ ॥

'तात ! तुम शक्ति और धैर्यसे सम्पन्न देवोपम पुरुष हो। तुम्हारी अङ्गकान्ति श्याम है। तुम तरुण हो और हाथियोंके यूथके अधिपति महान् गजराजके समान शोभा पा रहे हो। तुमने हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन डाल लिये हैं, वेणी खोलकर केशोंकी लटें छितरा ली हैं तथा कानोंमें कुण्डल धारणकर गलेमें गजरा डाल रक्खा है। तुम्हारे केश बहुत ही सुन्दर हैं। तुम नारीजनोचित वेश-भूषा धारण करके भी उसके विपरीत धनुष-बाण और कवच धारण करनेवाले वीरके समान शोभा पा रहे हो। तुम रथ आदि वाहनोंपर बैठकर इच्छानुसार भ्रमण करो और मेरे पुत्रोंके अथवा मेरे ही समान होकर रहो ।५-६।

वृद्धो ह्यहं वै परिहारकामः
सर्वान् मत्स्यांस्तरसा पालयस्व ।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथंचनेति प्रतिभाति मे मनः ॥ ७ ॥

'मैं बूढ़ा हो गया हूँ; अब राजकाज छोड़ना चाहता हूँ; अतः तुम सम्पूर्ण मत्स्यदेशका शीघ्र ही पालन करो। तुम्हारे-जैसे स्वरूपवाले किसी तरह नपुंसक नहीं हो सकते। मेरे मनको ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥ ७ ॥

(*अर्जुन उवाच*

वेणीं प्रकुर्यां रुचिरे च कुण्डले
तथा स्रजः प्रावरणानि संहरे।
स्नानं चरेयं विमृजे च दर्पणं
विशेषकेष्वेव च कौशलं मम ॥
क्लीबेषु बालेषु जनेषु नर्तने
शिक्षाप्रदानेषु च योग्यता मम।
करोमि वेणीषु च पुष्पपूरणं
न मे स्त्रियः कर्मणि कौशलाधिकाः ॥

अर्जुन बोले—मैं वेणी-रचना अच्छी कर सकता हूँ, मनोहर कुण्डल बनाना जानता हूँ, फूलोंके हार तथा ओढ़नेकी चादरें सुन्दर ढंगसे बनाता हूँ, स्नान करा सकता हूँ, दर्पणकी सफाई करता हूँ और चन्दन आदिसे अनेक प्रकारकी रेखाएँ बनाकर श्रृङ्गार करनेकी क्रियामें मुझे विशेष कुशलता प्राप्त है। नपुंसकों, बालकों एवं साधारण लोगोंमें नाचने तथा संगीत एवं नृत्यकी शिक्षामें मेरी अच्छी योग्यता है। स्त्रियोंकी वेणीमें फूल गूँथनेका कार्य भी मैं अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता हूँ। इन सब कार्योंमें स्त्रियाँ भी मुझसे अधिक कुशल नहीं हैं ॥

तमब्रवीत् प्रांशुमुदीक्ष्य विस्मितो
विराटराजोपसृतं महायशाः ॥

निकट आनेपर उसका कद बहुत ऊँचा देखकर महायशस्वी राजा विराट अत्यन्त विस्मित होकर बोले ॥

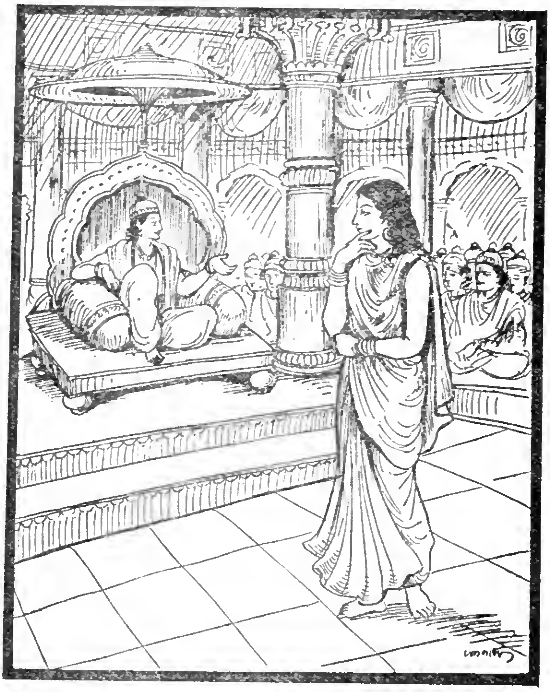

विराट उवाच

नार्हस्तु वेषोऽयमनूर्जितस्ते
नापुंस्त्वमर्हो नरदेवसिंह ।
तवैष वेषोऽशुभवेषभूषणै-
र्विभूषितो भूतपतेरिव प्रभो ॥
विभाति भानोरिव रश्मिमालिनो
घनावरुद्धे गगने घनैरिव ।
धनुर्हि मन्ये तव शोभयेद् भुजौ
तथा हि पीनावतिमात्रमायतौ ॥)

विराटने कहा—नरदेवसिंह ! ओज और बलसे रहित नपुंसकका-सा यह वेष तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम क्लीब होनेके योग्य नहीं हो । प्रभो ! तुम्हारा यह वेष भगवान् भूतनाथकी भाँति अशुभ वेष-भूषासे विभूषित है। जैसे बादलोंकी घटासे आच्छादित आकाशमें भी अंशुमाली सूर्यका मण्डल सुशोभित होता है, उसी प्रकार इस क्लीब-वेषमें भी तुम पौरुषसे प्रकाशित हो रहे हो । मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हारी इन मोटी और अत्यन्त विशाल भुजाओंको धनुष ही सुशोभित कर सकता है ॥

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गीते।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—नरदेव ! मैं गाता, नाचता और बाजे बजाता हूँ। नृत्यकलामें निपुण और संगीत-कलामें भी कुशल हूँ। आप उत्तराको शिक्षा देनेके लिये मुझे रख लें। मैं स्वयं राजकुमारी उत्तराको नृत्य सिखलाऊँगा ॥ ८ ॥

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम्।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम्॥ ९ ॥

मेरा ऐसा रूप जिस कारणसे हुआ है, उसे आपके सामने कहनेसे क्या लाभ है ? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है। राजन् ! आप मुझे बृहन्नला समझें और पिता-मातासे रहित पुत्र या पुत्री मान लें ॥ ९ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले
सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ १० ॥

विराट बोले—बृहन्नले ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम मेरी पुत्रीको तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियोंको नृत्यकला सिखलाओ। परंतु मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता। तुम तो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके शासक होने योग्य हो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते।
सम्मन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ॥ ११ ॥
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मत्स्यनरेशने बृहन्नलाकी गीत, नृत्य और बाजे बजानेकी कलाओंमें परीक्षा करके अपने अनेक मन्त्रियोंसे यह सलाह की कि इसे अन्तःपुरमें रखना चाहिये या नहीं। फिर तरुणी स्त्रियोंद्वारा शीघ्र ही उनके नपुंसकत्वकी जाँच करायी। जब सब तरहसे उनका नपुंसक होना ठीक प्रमाणित हो गया, तब यह सुन-समझकर उन्होंने बृहन्नलाको कन्याके अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दी ॥ ११ ॥

स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः॥ १२ ॥
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा
प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः॥ १३ ॥
तथा स सत्रेण धनंजयो वसन्
प्रियाणि कुर्वन् सह ताभिरात्मवान्।
तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना
बहिश्चरा वाप्यथ चान्तरेचराः॥ १४ ॥

शक्तिशाली अर्जुन विराटकन्या उत्तरा, उसकी सखियों तथा सेविकाओंको भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकलाकी शिक्षा देने लगे। इससे वे उन सबके प्रिय हो गये। छद्मवेशमें कन्याओंके साथ रहते हुए भी अर्जुन अपने मनको सदा पूर्णरूपसे वशमें रखते और उन सबको प्रिय लगनेवाले कार्य करते थे। इस रूपमें वहाँ रहते हुए अर्जुनको बाहर अथवा अन्तःपुरके कोई भी मनुष्य पहचान न सके ॥ १२—१४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि अर्जुनप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें अर्जुनप्रवेशनामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १८½ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका विराटके अश्वोंकी देखरेखमें नियुक्त होना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
र्विराटराजं तरसा समेयिवान्।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल बड़े वेगसे चलते हुए राजा विराटके यहाँ आये। उन्हें आते समय साधारण लोगोंने देखा; उस समय वे मेघमालाकी ओटसे निकले हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १ ॥

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट्।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः॥ २ ॥
स्वयं हयानीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः।

प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा ॥ ३ ॥

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ोंको देखना

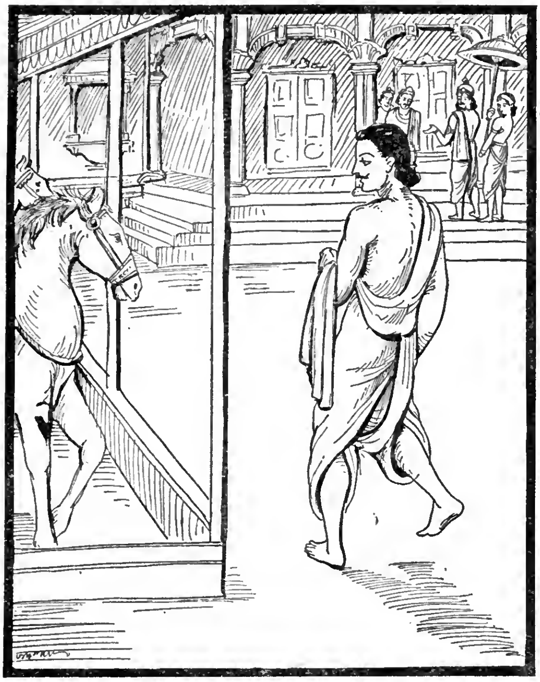

प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन अश्वोंका निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्यराज विराटने देखा। तब वे नरेश वहाँ बैठे हुए अनुचरोंसे बोले—'पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुष कहाँसे आ रहा है? यह बिना कहे-सुने स्वयं मेरे घोड़ोंको बहुत ध्यानसे देख रहा है; अतः यह अवश्य घोड़ोंको पहचाननेवाला और अश्वविद्याका विद्वान् होगा। इसलिये इसे शीघ्र मेरे समीप ले आओ। यह वीर देवताओंकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ २-३ ॥

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजसेवकोंके साथ राजाके समीप आकर शत्रुहन्ता नकुलने कहा—'राजन्! आपकी जय हो। आपका कल्याण हो। मैं घोड़ोंको शिक्षा देनेमें निपुण हूँ और अनेक राजाओंसे सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ोंका चतुर सारथि हो सकता हूँ ॥ ४ ॥

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥ ५ ॥

विराटने कहा—भद्र पुरुष! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहनेके लिये घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ोंको शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो; किंतु मैं पहले यह जानना चाहता हूँ कि तुम कहाँसे आये हो? किसके पुत्र हो और किसलिये तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है? तुममें जो कला-कौशल हो, उसे भी बताओ ॥ ५ ॥

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः।
तेनाहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥

नकुल बोले—शत्रुदमन! सुनिये, पाँचों पाण्डवोंमें जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे घोड़ोंकी देख-भालके कामपर लगा रक्खा था। मैं घोड़ोंकी जाति पहचानता हूँ एवं उन्हें सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ोंकी दुष्टता-निवारणका ढंग भी मुझे मालूम है तथा घोड़ोंकी चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपसे जानता हूँ ॥ ६-७ ॥

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ॥ ८ ॥

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखायी हुई घोड़ीमें भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं? मुझे साधारण लोग तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर भी 'ग्रन्थिक' नामसे ही पुकारा करते थे ॥ ८ ॥

(मातलिरिव देवपतेर्दशरथनृपतेःसुमन्त्र इव यन्ता।
सुमह इव जामदग्नेस्तथैव तव शिक्षयाम्यश्वान् ॥
युधिष्ठिरस्य राजेन्द्र नरराजस्य शासनात्।
शतसाहस्रकोटीनामश्वानामस्मि रक्षिता ॥)

जैसे देवराज इन्द्रके सारथि मातलि हैं, जैसे राजा दशरथके रथचालक सुमन्त्र हैं और जैसे जमदग्निनन्दन परशुरामके सूत सुमह हैं, उसी प्रकार मैं आपका सारथि होकर आपके घोड़ोंको शिक्षा दूँगा। राजेन्द्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके आदेशसे उनके यहाँ लक्षकोटि अश्वोंका संरक्षक रहा हूँ ॥

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ॥ ९ ॥

विराटने कहा—ग्रन्थिक ! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आजसे ही तुम्हारे अधीन हो जायँ। इसके सिवा जो कोई भी मेरे घोड़ोंको जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब तुम्हारे अधिकारमें रहें ॥ ९ ॥

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम
ब्रवीहि यत् ते प्रसमांक्षितुं वसु।
न तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते
प्रभासि राजेव हि सम्मतो मम ॥१०॥
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे
समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनम्।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने
वसत्यनिन्द्यो रमते च पाण्डवः ॥११॥

देवोपम पुरुष ! यदि यही कार्य तुम्हें प्रिय है, तो बताओ, इसके लिये वेतनरूपसे कितना धन लेनेका तुमने विचार किया है ? यह घोड़ोंकी शिक्षाका कार्य तुम्हारे अनुरूप नहीं है। तुम तो राजाकी भाँति शोभा पा रहे हो और मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगते हो। आज मुझे तुम्हारा जो यहाँ दर्शन हुआ है, यह राजा युधिष्ठिरके ही दर्शनके समान मुझे अत्यन्त प्रिय है। अहो ! सर्वथा प्रशंसाके योग्य पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर सेवकोंके बिना वनमें कैसे रहते होंगे और कैसे उनका मन वहाँ लगता होगा ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराटके द्वारा सम्मानित हो श्रेष्ठ गन्धर्वके सदृश शोभा पानेवाले युवावस्थासम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय और नयनाभिराम था। वे नगरके भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा तथा अन्य मनुष्य किसी प्रकार पहचान न सके ॥ ॥ १२ ॥

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥१३॥

जिनका दर्शन अमोघ है, वे पाण्डवगण इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मत्स्यदेशमें रहने और एकाग्रतापूर्वक अज्ञातवासका समय व्यतीत करने लगे। वे सागरसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति होकर भी अत्यन्त कष्ट उठा रहे थे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नकुलप्रवेशसम्बन्धी बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

(समयपालनपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा जीमूत नामक विश्वविख्यात मल्लका वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले महापराक्रमी पाण्डुपुत्रोंने इसके बाद क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले पाण्डवोंने राजा विराटकी सेवा करते हुए जो-जो कार्य किया, वह सुनो ॥ २ ॥

तृणबिन्दुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत् प्रियः।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशाम्पते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ॥ ५ ॥

राजर्षि तृणबिन्दु और महात्मा धर्मके प्रसादसे पाण्डव लोग इस प्रकार विराटके नगरमें अज्ञातवासके दिन पूरे करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजसभाके प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेशकी प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। राजन् ! इसी प्रकार पुत्रसहित राजा विराटका भी उनपर विशेष प्रेम था। वे पासोंका मर्म जानते थे। जैसे कोई सूतमें बाँधे हुए पक्षियोंको इच्छानुसार उड़ावे, उसी प्रकार वे द्यूतशालामें पासोंको

अपने इच्छानुसार फेंकते हुए राजा आदिको जूआ खेलाया करते थे ॥ ३-५ ॥

अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट्।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं सम्प्रयच्छति ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें धन जीतकर अपने भाइयोंको यथायोग्य बाँट देते थे।' इसका राजा विराटको भी पता नहीं लगता था ॥ ६ ॥

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च।
अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे ॥ ७ ॥

भीमसेन भी नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, जो मत्स्यनरेशद्वारा उन्हें पुरस्काररूपमें प्राप्त होते, बेच देते और उससे मिला हुआ धन युधिष्ठिरकी सेवामें अर्पित करते थे ॥ ७ ॥

वासांसि परिजीर्णानि लब्धान्यन्तःपुरेऽर्जुनः।
विक्रीणानश्च सर्वेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

अर्जुनको अन्तःपुरमें जो पुराने उतारे हुए बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होते, उन्हें वे बेचते और बेचनेसे मिला हुआ मूल्य सब पाण्डवोंको देते थे ॥ ८ ॥

सहदेवोऽपि गोपानां वेषमास्थाय पाण्डवः।
दधि क्षीरं घृतं चैव पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन सहदेव भी ग्वालोंका वेश धारणकर पाण्डवोंको दही, दूध और घी दिया करते थे ॥ ९ ॥

नकुलोऽपि धनं लब्ध्वा कृते कर्मणि वाजिनाम्।
तुष्टे तस्मिन् नरपतौ पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ १० ॥

नकुल भी घोड़ोंके शिक्षणका कार्य करके महाराज विराटके संतुष्ट होनेपर उनसे पुरस्कारस्वरूप जो धन पाते, उसे सब पाण्डवोंको बाँट दिया करते थे ॥ १० ॥

कृष्णा तु सर्वान् भर्तॄंस्तान् निरीक्षन्ती तपस्विनी।
यथा पुनरविज्ञाता तथा चरति भामिनी ॥ ११ ॥

तपस्विनी एवं सुन्दरी द्रौपदी भी उन सब पतियोंकी देखभाल करती हुई ऐसा बर्ताव करती, जिससे फिर कोई उसे पहचान न सके ॥ ११ ॥

एवं सम्पादयन्तस्ते तदान्योन्यं महारथाः।
विराटनगरे चेरुः पुनर्गर्भधृता इव ॥ १२ ॥

इस प्रकार एक दूसरेका सहयोग करते हुए वे महारथी पाण्डव विराटनगरमें बहुत छिपकर रहते थे; मानो पुनः माताके गर्भमें निवास कर रहे हों ॥ १२ ॥

साशङ्का धार्तराष्ट्रस्य भयात् पाण्डुसुतास्तदा।
प्रेक्षमाणास्तदा कृष्णामूषुश्छन्ना नराधिप ॥ १३ ॥

राजन्! दुर्योधनद्वारा पहचान लिये जानेके भयसे पाण्डव सदा सशङ्क रहते थे; अतः वे उस समय द्रौपदीकी देखभाल करते हुए भी छिपकर ही वहाँ निवास करते थे ॥ १३ ॥

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥ १४ ॥
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ॥ १५ ॥

तदनन्तर चौथा महीना प्रारम्भ होनेपर मत्स्यदेशमें ब्रह्माजीकी पूजाका महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। मत्स्यदेशके लोगोंको यह बहुत प्रिय था। जनमेजय! उस समय विराटनगरमें चारों दिशाओंसे हजारों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इसी अवसरपर ब्रह्माजी और भगवान् शङ्करकी सभाके समान उस राजधानीमें लोगोंका जमाव होता था ॥ १४-१५ ॥

महाकाया महावीर्याः कालखञ्जा इवासुराः।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥ १६ ॥

वहाँ आये हुए विशालकाय और महान् बलशाली मल्ल कालखञ्ज नामक असुरोंके समान जान पड़ते थे। वे सब अपनी शक्ति और पराक्रमके मदसे उन्मत्त थे एवं बलमें बहुत बढ़े-चढ़े थे। राजा विराटने उन सबका खूब स्वागत-सत्कार किया ॥ १६ ॥

सिंहस्कन्धकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रङ्गे पार्थिवसंनिधौ ॥ १७ ॥

उनके कंधे, कमर और कण्ठ सिंहके समान थे। वे निर्मल यशसे सुशोभित और मनस्वी थे। उन्होंने अनेक बार राजाके समीप रंगभूमि (अखाड़े) में विजय पायी थी ॥ १७ ॥

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत्।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ॥ १८ ॥

उन सबमें एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानोंको अपने साथ लड़नेके लिये ललकारता था। जब वह अखाड़ेमें उतरकर उछलने लगा, उस समय कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका ॥ १८ ॥

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥ १९ ॥

जब वे सभी मल्ल उदासीन हो हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेशने अपने रसोइयेसे उस पहलवानको लड़ानेका निश्चय किया ॥ १९ ॥

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम्।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥ २० ॥

उस समय राजासे प्रेरित होनेपर भीमसेनने [पहचाने जानेके भयसे] दुखी होकर ही उससे लड़नेका विचार

किया। वे राजाकी बातको प्रकटरूपमें टाल नहीं सकते थे ॥ २० ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन्।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ॥२१॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीमने सिंहके समान धीमी चालसे चलते हुए राजा विराटका मान रखनेके लिये उस विशाल रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

बबन्ध कक्षां कौन्तेयस्ततः संहर्षयञ्जनम्।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥२२॥
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम्।

फिर लोगोंमें हर्षका संचार करते हुए उन्होंने लँगोट बाँधा और उस प्रसिद्ध पराक्रमी जीमूत नामक मल्लको, जो वृत्रासुरके समान दिखायी देता था, युद्धके लिये ललकारा ॥ २२½ ॥

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ॥२३॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ।

वे दोनों बड़े उत्साहमें भरे थे; दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे, ऐसा लगता था मानो साठ वर्षके दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक दूसरेसे भिड़नेको उद्यत हों ॥ २३½ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ॥२४॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ।
आसीत् सुभीमः सम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २५॥

अत्यन्त हर्षमें भरकर एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे। उस समय उन दोनोंमें बड़ी भयंकर भिड़न्त हुई। उनके परस्परके आघातसे इस प्रकार चटचट शब्द होने लगा, मानो वज्र और पर्वत एक दूसरेसे टकरा गये हों ॥ २४-२५ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥२६॥

दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे। बलकी दृष्टिसे दोनों ही अत्यन्त बलशाली थे और एक दूसरेपर चोट करनेका अवसर देखते हुए विजयके अभिलाषी हो रहे थे ॥ २६ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा ॥२७॥

दोनोंमें भरपूर हर्ष और उत्साह भरा था। दोनों ही मतवाले गजराजोंकी भाँति एक दूसरेसे भिड़े हुए थे। जब एक दूसरेका कोई अङ्ग जोरसे दबाता, तब दूसरा फौरन उसका प्रतीकार करता—उस अङ्गको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था। दोनों एक दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे। दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर एक दूसरेको दूर हटा देते। कभी एक दूसरेको पटककर जमीनपर रगड़ता, तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता या उसे लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अङ्गोंको भी मथ डालता था ॥ २७ ॥

क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः।
तलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च ॥२८॥

कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे। कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे करके घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता; मानो किसी शूकरने चोट की हो। कभी परस्पर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागको फैलाकर चाँटोंकी मार होती और कभी हाथकी अङ्गुलियोंको फैलाकर वे एक-दूसरोंको थप्पड़ मारते थे ॥ २८ ॥

शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः।
जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चावघट्टनैः ॥२९॥

कभी वे रोषपूर्वक अङ्गुलियोंके नखोंसे एक-दूसरेको बकोटते। कभी पैरोंमें उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते। कभी घुटने और सिरसे टक्कर मारते; जिससे पत्थर टकरानेके समान भयंकर शब्द होता था ॥ २९ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ ॥३०॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कृष्टनिनदोत्थितः।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥३१॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।*
आकर्षतुरथान्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥३२॥

१—प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्लयुद्धके दाँव-पेचोंके नाम हैं। इनकी व्याख्या नीलकण्ठी आदि टीकाओंमें मल्लशास्त्रके अनुसार इस प्रकार दी गयी है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते।
यत् तूत्थायाङ्गमथनं तदुन्मथनमुच्यते॥

२—क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात्॥

३—उभयोर्भुजयोर्मुष्टिरुरोमध्ये निपात्यते।
मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः॥

४—अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः।
क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः॥

५—तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन प्रसारितकरो हि यः।
सम्प्रहारतलाख्यस्तु संग्राह्यो वज्रमिष्यते॥

६—अङ्गुल्यः प्रसृता यास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः॥

* आकृष्य क्रोडीकरणं प्रकर्षणमुदाहृतम्।
आकर्षणं लीलयैव सम्मुखीकरणं स्मृतम्॥
पुरः पश्चात् पार्श्वयोश्चाभ्याकर्षो भ्रमणं तथा।
पश्चात् प्रपातनं वेगाद् विकर्षणमुदाहृतम्॥

कभी वे प्रतिपक्षीको गोदमें घसीट लाते, कभी खेलमें ही उसे सामने खींच लेते, कभी आगे-पीछे, दायें-बायें पैंतरे बदलते और कभी सहसा पीछे ढकेलकर पटक देते थे। इस तरह दोनों दोनोंको अपनी ओर खींचते और घुटनोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते थे। उस सामूहिक उत्सवमें पहलवानों और जन-समुदायके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजन्! इन्द्र और वृत्रासुरके समान भीम और जीमूतके उस मल्लयुद्धमें सब लोगोंका बड़ा मनोरञ्जन हुआ। सभी दर्शक जीतनेवालेका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे॥ ३०—३२॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥ ३३॥
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम्॥ ३४॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम्॥ ३५॥

तदनन्तर चौड़ी छाती और लंबी भुजावाले, कुश्तीके दाँव-पेचमें कुशल वे दोनों वीर गम्भीर गर्जनाके साथ एक-दूसरेको डाँट बताते हुए लोहेके परिघ (मोटे डंडे)-जैसी बाँहोंसे बाँहें मिलाकर परस्पर भिड़ गये। फिर विपुलपराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीमसेनने गर्जना करते हुए, जैसे सिंह हाथीपर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूतको दोनों हाथोंसे पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्यदेशकी प्रजाको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ३३—३५॥

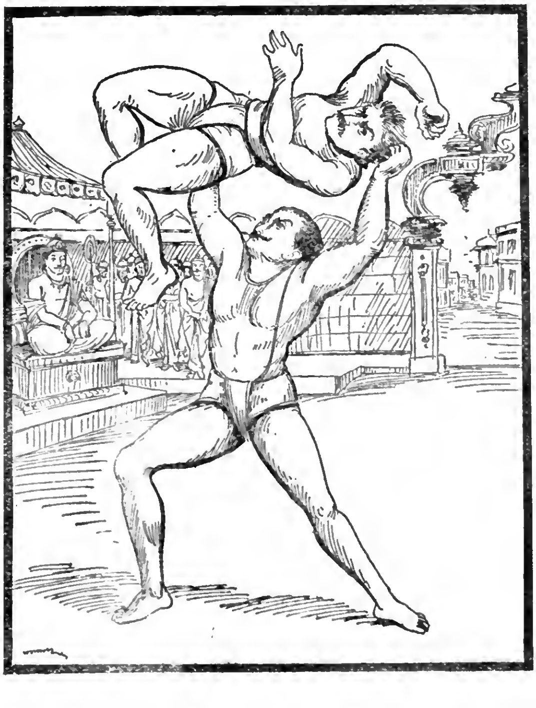

भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम्।
प्रत्यपिषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः॥ ३६॥

सौ बार घुमानेपर जब वह धैर्य, साहस और चेतनासे भी हाथ धो बैठा, तब बड़ी-बड़ी बाहुओंवाले वृकोदरने उसे पृथ्वीपर गिराकर मसल डाला॥ ३६॥

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह॥ ३७॥

इस प्रकार उस लोकविख्यात वीर जीमूतके मारे जानेपर राजा विराटको अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३७॥

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा॥ ३८॥

उस समय कुबेरके समान महामनस्वी राजा विराटने अत्यन्त हर्षमें भरकर बल्लवको उस विशाल रंगभूमिमें ही बहुत धन दिया॥ ३८॥

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम्॥ ३९॥

इसी तरह बहुत-से पहलवानों और महाबली पुरुषोंको मारकर भीमसेनने मत्स्यनरेश विराटका उत्तम प्रेम प्राप्त किया॥

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत्॥ ४०॥

जब वहाँ उनकी जोड़का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट उन्हें व्याघ्रों, सिंहों और हाथियोंसे लड़ाने लगे॥ ४०॥

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः।
योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः॥ ४१॥

कभी-कभी विराटकी प्रेरणासे स्त्रियोंके अन्तःपुरमें जाकर भीमसेन उन्हें दिखानेके लिये महान् बलवान् और मतवाले सिंहोंके साथ लड़ा करते थे॥ ४१॥

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः॥ ४२॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी अपने गीत और नृत्यसे राजा विराट तथा अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको संतुष्ट कर लिया था॥ ४२॥

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम्॥ ४३॥
तस्मै प्रदेयं प्रायच्छत् प्रीतो राजा धनं बहु।

विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः ।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार नकुलने जहाँ-तहाँसे आये हुए वेगवान् घोड़ोंको सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराटको प्रसन्न किया था। प्रसन्न होकर राजाने पुरस्काररूपमें उन्हें बहुत धन दिया था। इसी तरह सहदेवके द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलोंको देखकर नरश्रेष्ठ विराटने उन्हें भी इनाममें बहुत धन दिया ॥ ४३-४४ ॥

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् क्लिश्यमानान् महारथान् ।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत् ॥ ४५ ॥

राजन्! अपने सम्पूर्ण महारथी पतियोंको इस प्रकार क्लेश उठाते देख द्रौपदीके मनमें खेद होता था और वह लंबी साँसें भरती रहती थी ॥ ४५ ॥

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः ।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे पुरुषशिरोमणि पाण्डव उस समय राजा विराटके भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि समयपालनपर्वणि जीमूतवधे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत समयपालनपर्वमें जीमूतवधसम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(कीचकवधपर्व)

चतुर्दशोऽध्यायः

कीचकका द्रौपदीपर आसक्त हो उससे प्रणययाचना करना और द्रौपदीका उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा ।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ॥ १ ॥
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते ।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय कुन्तीके उन महारथी पुत्रोंको मत्स्यराजके नगरमें छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस महीने बीत गये। राजन्! यज्ञसेन-कुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनीकी भाँति सेवाके योग्य थी, रानी सुदेष्णाकी शुश्रूषा करती हुई बड़े कष्टसे वहाँ रहती थी ॥ १-२ ॥

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने ।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः ॥ ३ ॥

सुदेष्णाके महलमें पूर्वोक्तरूपसे सेवा करती हुई पाञ्चालीने महारानी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंको पूर्ण प्रसन्न कर लिया ॥ ३ ॥

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ ४ ॥

जब वह वर्ष पूरा होनेमें कुछ ही समय बाकी रह गया, तबकी बात है; एक दिन राजा विराटके सेनापति महाबली कीचकने द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥

राजमहलमें देवाङ्गनाकी भाँति विचरती हुई देवकन्याके समान कान्तिवाली द्रौपदीको देखकर कीचक कामबाणसे अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा ॥ ५ ॥

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

कामवासनाकी आगमें जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी ॥ ७ ॥

'सुदेष्णे! यह सुन्दरी जो अपने रूपसे मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराटके इस महलमें मेरेद्वारा नहीं देखी गयी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्धसे मेरेलिये मदिरा-सी मादक हो रही है ॥ ७ ॥

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ॥ ८ ॥

'शुभे! यह कौन है? इसका रूप देवाङ्गनाके समान है। यह मेरे हृदयमें समा गयी है। शोभने! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे आयी है? यह मेरे मनको मथकर मुझे वशमें किये लेती है। मेरे इस रोगकी ओषधि

इसकी प्राप्तिके सिवा दूसरी कोई नहीं जान पड़ती ॥ ८ ॥

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किंचन॥ ९ ॥

'अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासीका काम कर रही है । मुझे ऐसा लगता है, इसका रूप नित्य नवीन है । तुम्हारे यहाँ जो काम यह करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है । मैं चाहता हूँ, यह मेरी गृहस्वामिनी होकर मुझपर और मेरे पास जो कुछ है, उसपर भी एकच्छत्र शासन करे ॥ ९ ॥

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥

'मेरे घरमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, बहुत-से सेवा करनेवाले परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है । भोजन और पेयकी उसमें अधिकता है । देखनेमें भी वह मनोहर है । सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं । मेरे उस विशाल भवनमें चलकर यह सुन्दरी उसे सुशोभित करे' ॥

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयंस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ॥ ११ ॥

तदनन्तर रानी सुदेष्णाकी सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदीके पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ बोला, मानो वनमें कोई सियार किसी सिंहकी कन्याको फुसला रहा हो ॥

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
प्राप्ता विराटनगरं तत् त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥

(उसने द्रौपदीसे पूछा—) 'कल्याणि ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? अथवा सुमुखि ! तुम कहाँसे इस विराटनगरमें आयी हो ? शोभने ! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ ॥

रूपमग्र्यं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम् ॥ १३ ॥

'तुम्हारा यह श्रेष्ठ और सुन्दर रूप, यह दिव्य कान्ति और यह सुकुमारता संसारमें सबसे उत्तम है और तुम्हारा निर्मल मुख तो अपनी छविसे निष्कलङ्क चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे ।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥

'सुन्दर भौंहोंवाली सर्वाङ्गसुन्दरी ! तुम्हारे ये उत्तम और विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हैं । तुम्हारी वाणी क्या है, कोकिलकी कूक है ॥ १४ ॥

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले ।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ॥ १५ ॥

'सुश्रोणि ! अनिन्दिते ! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई दूसरी स्त्री इस पृथ्वीपर मैंने आजसे पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १५ ॥

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे ।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने॥ १६ ॥

'सुमध्यमे ! तुम कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति ? सुमुखि ! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

अतीवरूपिणी किं त्वमनङ्गाङ्गविहारिणी ।
अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ॥ १७ ॥

'क्या तुम कामदेवके अङ्गोंसे क्रीड़ा करनेवाली अतिशय रूपवती रति हो ? सुभ्रु ! तुम चन्द्रमाकी परम उत्तम प्रभाके समान अत्यन्त उद्भासित हो रही हो ॥ १७ ॥

अपि चेक्षणपक्ष्माणां स्मितं ज्योत्स्नोपमं शुभम् ।
दिव्यांशुरश्मिभिर्वृत्तं दिव्यकान्तिमनोरमम् ॥ १८ ॥
निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्यानुपमया युतम् ।
कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारा सुन्दर मुखचन्द्र अनुपम लक्ष्मीसे अलंकृत है, तुम्हारे नेत्रोंकी अधखुली पलकें चाँदनीके समान मनको आह्लादित करनेवाली हैं । दिव्य रश्मियोंसे आवृत तुम्हारा यह मुखचन्द्र दिव्य छविके द्वारा मनको रमा लेनेवाला है । इसे देखकर सम्पूर्ण जगत्‌में कौन ऐसा पुरुष है, जो कामके अधीन न हो जाय ? ॥ १८-१९ ॥

हारालंकारयोग्यौ तु स्तनौ चोभौ सुशोभनौ ।
सुजातौ सहितौ लक्ष्म्या पीनौ वृत्तौ निरन्तरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे दोनों स्तन हार आदि आभूषणोंके योग्य और परम सुन्दर हैं । वे ऊँचे, श्रीसम्पन्न, स्थूल, गोल-गोल और परस्पर सटे हुए हैं ॥ २० ॥

कुड्मलाम्बुरुहाकारौ तव सुभ्रु पयोधरौ ।
कामप्रतोदाविव मां तुदतश्चारुहासिनि ॥ २१ ॥

'सुन्दर भौंहों तथा मनोरम मुसकानवाली सुन्दरी ! कमलकोशके समान आकारवाले तुम्हारे दोनों उरोज कामदेवके चाबुककी भाँति मुझे पीड़ा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

वलीविभङ्गचतुरं स्तनभारविनामितम् ।
कराग्रसम्मितं मध्यं तवेदं तनुमध्यमे ॥ २२ ॥

'तनुमध्यमे ! तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि हाथोंके

अग्रभागसे (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतकके बित्तेसे) माप ली जा सकती है। वह त्रिवलीकी तीन रेखाओंसे परम सुन्दर दीखती है। तुम्हारे स्तनोंके भारने उसे कुछ झुका दिया है ॥

दृष्ट्वैव चारु जघनं सरित्पुलिनसंनिभम्।
कामव्याधिरसाध्यो मामप्याक्रामति भामिनि ॥ २३ ॥

'भामिनि ! नदीके दो किनारोंके समान तुम्हारे मनोहर जघनको देख लेनेसे ही कामरूपी असाध्य रोग मुझ-जैसे वीरपर भी आक्रमण कर रहा है ॥ २३ ॥

जज्वाल चाग्निमदनो दावाग्निरिव निर्दयः।
त्वत्सङ्गमाभिसंकल्पविवृद्धो मां दहत्ययम् ॥ २४ ॥

'निर्दयी कामदेव अग्निस्वरूप होकर दावानलकी भाँति मेरे हृदयरूपी वनमें जल उठा है। तुम्हारे समागमका संकल्प इसमें घीका काम करता है। इससे अत्यन्त प्रज्वलित होकर यह काम मुझे जला रहा है ॥ २४ ॥

आत्मप्रदानवर्षेण संगमाम्भोधरेण च।
शमयस्व वरारोहे ज्वलन्तं मन्मथानलम् ॥ २५ ॥

'वरारोहे ! तुम अपने संगमरूपी मेघसे आत्मसमर्पणरूपी वर्षाद्वारा इस प्रज्वलित मदनाग्निको बुझा दो ॥ २५ ॥

मच्चित्तोन्मादनकरा मन्मथस्य शरोत्कराः।
त्वत्संगमाशानिशितास्तीव्राः शशिनिभानने।
मह्यं विदार्य हृदयमिदं निर्दयवेगिताः ॥ २६ ॥
प्रविष्टा ह्यसितापाङ्गि प्रचण्डाश्चण्डदारुणाः।
अत्युन्मादसमारम्भाः प्रीत्युन्मादकरा मम।
आत्मप्रदानसम्भोगैर्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

'चन्द्रमुखी ! मेरे मनको उन्मत्त बना देनेवाले कामदेवके बाण-समूह तुम्हारे समागमकी आशारूपी शानपर चढ़कर अत्यन्त तीखे और तीव्र हो गये हैं। कजरारे नयनप्रान्तोंवाली सुन्दरी ! अत्यन्त क्रोधपूर्वक चलाये हुए कामके वे प्रचण्ड एवं भयंकर बाण दयाशून्य हो वेगसे आकर मेरे इस हृदयको विदीर्ण करके भीतर घुस गये हैं और अतिशय उन्माद (सन्निपातजनित बेहोशी) पैदा कर रहे हैं। वे मेरे लिये प्रेमोन्मादजनक हो रहे हैं। अब तुम्हीं आत्मदानजनित सम्भोगरूप औषधके द्वारा यहाँ मेरा उद्धार कर सकती हो ॥

चित्रमाल्याम्बरधरा सर्वाभरणभूषिता।
कामं प्रकामं सेव त्वं मया सह विलासिनि ॥ २८ ॥

'विलासिनि ! विचित्र माला और सुन्दर वस्त्र धारण करके समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे साथ अतिशय कामभोगका सेवन करो ॥ २८ ॥

नार्हसीहासुखं वस्तुं सुखार्हा सुखवर्जिता।
प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ॥ २९ ॥

'यहाँ अनेक प्रकारके कष्ट हैं। अतः तुम ऐसे स्थानमें निवास करने योग्य नहीं हो। तुम सुख भोगनेके योग्य हो, किंतु यहाँ सुखसे वञ्चित हो। मस्तीभरी चालसे चलनेवाली सैरन्ध्री ! तुम मुझसे सर्वोत्तम सुखभोग प्राप्त करो ॥ २९ ॥

स्वादून्यमृतकल्पानि पेयानि विविधानि च।
पिबमाना मनोज्ञानि रममाणा यथासुखम् ॥ ३० ॥

'अमृतके समान स्वादिष्ठ और मनोहर भाँति-भाँतिके पेय रसोंका पान करती हुई तुम्हें जैसे सुख मिले, उसी प्रकार रमण करो ॥ ३० ॥

भोगोपचारान् विविधान् सौभाग्यं चाप्यनुत्तमम्।
पानं पिब महाभागे भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ३१ ॥

इदं हि रूपं प्रथमं तवानघे
निरर्थकं केवलमद्य भामिनि।
अधार्यमाणा स्रगिवोत्तमा शुभा
न शोभसे सुन्दरि शोभना सती ॥ ३२ ॥

'महाभागे ! नाना प्रकारकी भोग-सामग्री तथा सर्वोत्तम सौभाग्य पाकर उत्तमोत्तम शुभ भोगोंके साथ पीने योग्य रसोंका आस्वादन करो। अनघे ! तुम्हारा यह सर्वोत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य आजकी परिस्थितिमें केवल व्यर्थ जा रहा है। भामिनि ! जैसे उत्तम हारको यदि किसीने गलेमें धारण नहीं किया, तो उसकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार सुन्दरि ! तुम शुभस्वरूपा और शोभामयी होकर भी किसीके गलेका हार न बन सकनेके कारण सुशोभित नहीं होती हो ॥ ३१-३२ ॥

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि।
अहं च ते सुन्दरि दासवत् स्थितः
सदा भविष्ये वशगो वरानने ॥ ३३ ॥

'चारुहासिनि ! यदि तुम चाहो तो मैं पहली स्त्रियोंको त्याग दूँगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। सुन्दरि ! सुमुखि ! मैं स्वयं भी दासकी भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा' ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम मुझे चाहते हो। छिः छिः; मुझसे इस तरहकी याचना करना तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है। एक तो मेरी जाति छोटी है, दूसरे मैं सैरन्ध्री (दासी) हूँ, बीभत्स वेषवाली स्त्री हूँ तथा केश सँवारनेका काम करनेवाली एक तुच्छ सेविका हूँ ॥ ३४ ॥

(स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम्।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपनी पत्नीको ही अनुकूल बनाये रखनेके लिये उत्तम यत्न करता है। अपनी स्त्रीमें अनुराग रखनेवाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याणका भागी होता है ॥

न चाधर्मेण लिप्येत न चाकीर्तिमवाप्नुयात्।
स्वदारेषु रतिर्धर्मो मृतस्यापि न संशयः॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पापमें लिप्त न हो, अपयशका पात्र न बने, अपनी ही पत्नीके प्रति अनुराग रखना परम धर्म है। वह मृत पुरुषके लिये भी कल्याणकारी होता है, इसमें संशय नहीं है ॥

स्वजातिदारा मर्त्यस्य इहलोके परत्र च।
प्रेतकार्याणि कुर्वन्ति निवापैस्तर्पयन्ति च॥

अपनी जातिकी स्त्रियाँ मनुष्यके लिये इहलोक और परलोकमें भी हितकारिणी होती हैं। वे प्रेतकार्य (अन्त्येष्टि-संस्कार) करती और जलाञ्जलि देकर मृतात्माको तृप्त करती हैं ॥

तदक्षय्यं च धर्म्यं च स्वर्ग्यमाहुर्मनीषिणः।
स्वजातिदारजाः पुत्रा जायन्ते कुलपूजिताः॥

उनके इस कार्यको मनीषी पुरुषोंने अक्षय, धर्मसङ्गत एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला बताया है। अपनी जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुरुष कुलमें सम्मानित होते हैं ॥

प्रिया हि प्राणिनां दारास्तस्मात् त्वं धर्मभाग् भव।
परदाररतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति॥)

सभी प्राणियोंको अपनी ही पत्नी प्यारी होती है। इसलिये तुम भी ऐसा करके धर्मके भागी बनो। परस्त्रीलम्पट पुरुष कभी कल्याण नहीं देखता ॥

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम्।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय॥

सबसे बड़ी बात यह है कि मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस समय मुझसे इस तरहकी बातें करना तुम्हारे लिये किसी तरह उचित नहीं है। जगत्के सब प्राणियोंके लिये अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्मका विचार करो॥

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सुपुरुषव्रतम्॥३६॥

परायी स्त्रीमें तुम्हें कभी किसी तरह भी मन नहीं लगाना चाहिये। न करने योग्य अनुचित कर्मोंको सर्वथा त्याग दिया जाय, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है ॥ ३६ ॥

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद् वा प्राप्नुयाद् भयम्॥३७॥

झूठे विषयोंमें आसक्त होनेवाला पापात्मा मनुष्य मोहमें पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय (मृत्यु) का सामना करना पड़ता है ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सैरन्ध्र्या कीचकः काममोहितः।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने॥३८॥
दोषान् बहून् प्राणहरान् सर्वलोकविगर्हितान्।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेन्द्रियः॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सैरन्ध्रीके इस प्रकार समझानेपर भी कीचकको होश न हुआ। वह कामसे मोहित हो रहा था। यद्यपि उस दुर्बुद्धिको यह मालूम था कि परायी स्त्रीके स्पर्शसे बहुत-से ऐसे दोष प्रकट होते हैं, जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं तथा जिनके कारण प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है; तो भी उस अजितेन्द्रिय तथा अत्यन्त दुर्बुद्धिने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि॥४०॥

'वरारोहे! सुमुखि! तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरानी चाहिये। चारुहासिनि! मैं तुम्हारे लिये कामवेदनासे पीड़ित हूँ ॥ ४० ॥

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम्।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि॥४१॥

'भीरु! मैं तुम्हारे वशमें हूँ और प्रिय वचन बोलता हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी ॥ ४१ ॥

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ॥४२॥

'सुभ्रु! सुमध्यमे! मैं इस सम्पूर्ण राज्यका स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ। बल और पराक्रममें इस पृथ्वीपर मेरी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ ४२ ॥

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह।
रूपयौवनसौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः॥४३॥

'रूप, यौवन, सौभाग्य और सर्वोत्तम शुभ भोगोंकी दृष्टिसे इस भूतलपर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है॥

सर्वकामसमृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह।
भोक्तव्येषु च कल्याणि कस्माद् दास्ये रता ह्यसि॥४४॥

'कल्याणि! जब सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न अनुपम भोग यहाँ भोगनेके लिये तुम्हें सुलभ हो रहे हैं, तब तुम दासीपनमें क्यों आसक्त हो? ॥ ४४ ॥

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान्॥४५॥

'शुभानने! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया। अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो। वरारोहे! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्ता तु सा साध्वी कीचकेनाशुभं वचः।
कीचकं प्रत्युवाचेदं गर्हयन्त्यस्य तद् वचः ॥४६॥

कीचकके इस प्रकार अशुभ (पापपूर्ण) वचन कहनेपर सती-साध्वी द्रौपदीने उसकी उन ओछी बातोंकी निन्दा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ४६ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम्।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ॥४७॥

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र ! तू आज इस प्रकार मोहके फंदेमें न पड़। अपनी जान न गँवा। तुझे मालूम होना चाहिये कि पाँच भयंकर गन्धर्व मेरी नित्य रक्षा करते हैं ॥

न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ॥४८॥

वे गन्धर्व ही मेरे पति हैं। तू कदापि मुझे पा नहीं सकता। मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे; अतः सँभल जा। इस पापबुद्धिका त्याग कर दे। अपना सर्वनाश न कर ॥ ४८ ॥

अशक्यरूपं पुरुषैरध्वानं गन्तुमिच्छसि।
यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम्।
तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ॥४९॥

अरे ! तू उस राहपर जाना चाहता है, जहाँ दूसरे पुरुष नहीं जा सकते। जैसे नदीके एक किनारेपर बैठा हुआ कोई मन्दबुद्धि अचेत बालक दूसरे किनारेपर तैरकर जाना चाहता हो, वैसा ही विनाशकारी कार्य तू भी करना चाहता है॥

अन्तर्महीं वा यदि वोर्ध्वमुत्पतेः
समुद्रपारं यदि वा प्रधावसि।
तथापि तेषां न विमोक्षमर्हसि
प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥५०॥

सूतपुत्र ! मुझपर कुदृष्टि डालकर पृथ्वीके भीतर (पातालमें) घुस जा, आकाशमें उड़ जा अथवा समुद्रके उस पार भाग जा, तथापि मेरे पतियोंके हाथसे तू छूट नहीं सकता; क्योंकि मेरे पति देवताओंके पुत्र तथा आकाशमें विचरनेवाले हैं। वे अपने शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं ॥ ५० ॥

(मां हि त्वमवमन्वानः सूतपुत्र विनङ्क्ष्यसि।
आशु चाद्यैव नचिरात् सपुत्रः सहबान्धवः ॥

सूतपुत्र ! तू मेरा अपमान कर रहा है; अतः पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित तू आज ही शीघ्र नष्ट हो जायगा। तेरे विनाशमें अब विलम्ब नहीं है ॥

दुर्लभामभिमन्वानो मां वीरैरभिरक्षिताम्।
पतिष्यस्यवशस्तूर्णं वृन्तात् तालफलं यथा ॥

मैं वीर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। मेरा अपमान करनेसे शीघ्र ही विवशतापूर्वक तेरा उसी प्रकार पतन होगा, जैसे ताड़का फल अपने मूलस्थानसे नीचे गिरता है ॥

यो मामज्ञाय कामार्तः अबद्धानि प्रभाषसे।
अशक्तस्तु पुमाञ्छैलं न लङ्घयितुमर्हति ॥

तू मुझे नहीं जानता, इसीलिये कामातुर होकर बहकी-बहकी बातें कर रहा है। परंतु कोई असमर्थ पुरुष कितना ही प्रयत्न करे, वह पर्वतको नहीं लाँघ सकता ॥

दिशः प्रपन्नो गिरिगह्वराणि वा
गुहां प्रविष्टोऽन्तरितोऽपि वा क्षितेः।
जुह्वञ्जपन् वा प्रपतन् गिरेस्तटा-
द्धुताशनादित्यगतिं गतोऽपि वा।
भार्याभिमन्ता पुरुषो महात्मनां
न जातु मुच्येत कथंचनाहतः ॥

चाहे कोई सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण लेता फिरे, पर्वतकी बड़ी-बड़ी कन्दराओं अथवा दुर्गम गुफाओंमें छिप जाय या पृथ्वीके अंदर ही रहने लगे, होम और जपमें संलग्न रहे, पर्वतके शिखरसे कूद पड़े, जलती आग अथवा सूर्यकी प्रचण्ड रश्मियों-की शरण ले तो भी महात्मा गन्धर्वोंकी पत्नीका अपमान करनेवाला पुरुष कभी किसी तरह भी उनके हाथसे जीवित नहीं बच सकता ॥

मोघं तवेदं वचनं भविष्यति
प्रतोलनं वा तुलया महागिरेः।

हुताशनं प्रज्वलितं महावने
निदाघमध्याह्न इवातुरः स्वयम्॥
प्रवेष्टुकामोऽसि वधाय चात्मनः
कुलस्य सर्वस्य विनाशनाय च ।

तेरी ये सब बातें व्यर्थ होंगी । तेरे लिये मुझे पाना किसी महान् पर्वतको तराजूपर तौलनेके समान महान् असम्भव है। गर्मीकी दोपहरीमें जब किसी महान् वनके भीतर प्रचण्ड दावानल धधक चुका हो, उस समय उसमें स्वयं ही घुसनेवाले किसी आतुर पुरुषकी भाँति तू भी अपने और समस्त कुलके विनाशके लिये ही वहाँ प्रवेश करना चाहता है ॥

सदेवगन्धर्वमहर्षिसंनिधौ
सनागलोकासुरराक्षसालये ॥
गूढस्थितां मामवमन्य चेतसा
न जीवितार्थी शरणं त्वमाप्स्यसि ॥)

मैं यहाँ अपने स्वरूपको छिपाकर रहती हूँ। फिर भी तू मनसे समझ-बूझकर मेरा अपमान करना चाहता है । किंतु याद रख, तू ऐसा करके यदि अपना जीवन बचानेके लिये देवताओं, गन्धर्वों और महर्षियोंके निकट चला जाय अथवा नागलोक, असुरलोक तथा राक्षसोंके निवासस्थानमें भी पहुँच जाय, तो भी तू वहाँ शरण नहीं पा सकेगा ॥

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः
किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक।
किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-
श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम्॥५१॥

कीचक ! जैसे कोई रोगी कालरात्रिका आवाहन करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करनेके लिये तू क्यों आज दुराग्रहपूर्ण प्रार्थना कर रहा है ? अरे ! जैसे माताकी गोदमें सोया हुआ शिशु चन्द्रमाको ग्रहण करना चाहे, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है ? ॥ ५१ ॥

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि
गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति।
न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं
या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥५२॥

कीचक ! उन गन्धर्वोंकी प्रियतमासे ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाशमें भाग जानेपर भी तुझे कोई शरण देनेवाला नहीं मिलेगा । (तू इतना कामान्ध हो गया है कि) तुझे वह शुभ दृष्टि—वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो तेरी मङ्गलकामना करे—जिससे तेरा जीवन सुरक्षित रह सके ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचक-द्रौपदी-संवादविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

रानी सुदेष्णाका द्रौपदीको कीचकके घर भेजना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत्।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजकुमारी द्रौपदीके द्वारा इस प्रकार ठुकरा दिये जानेपर कीचक असीम एवं भयंकर कामसे विवश होकर अपनी बहिन सुदेष्णासे बोला—॥ १ ॥

यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद् विधीयताम् ।
येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम्॥ २ ॥

'केकयराजनन्दिनि ! जिस उपायसे भी वह गजगामिनी सैरन्ध्री मेरे पास आवे और मुझे अङ्गीकार कर ले, वह करो। सुदेष्णे ! तुम स्वयं ही ऊहापोह करके युक्तिसे वह उचित उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे मुझे (मोहके वश हो) प्राणोंका त्याग न करना पड़े' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।
विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बारंबार विलाप करते हुए कीचककी बात सुनकर उस समय राजा विराटकी मनस्विनी महारानी सुदेष्णाके मनमें उसके प्रति दयाभाव प्रकट हो गया ॥ ३ ॥

(सुदेष्णोवाच

शरणागतेयं सुश्रोणी मया दत्ताभया च सा ।
शुभाचारा च भद्रं ते नैनां वक्तुमिहोत्सहे ॥

सुदेष्णा बोली—भाई ! यह सुन्दरी सैरन्ध्री मेरी शरणमें आयी है । इसे मैंने अभय दे रक्खा है । तुम्हारा कल्याण हो । यह बड़ी सदाचारिणी है । मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती ॥

नैषा शक्या हि चान्येन स्प्रष्टुं पापेन चेतसा।
गन्धर्वाः किल पञ्चैनां रक्षन्ति रमयन्ति च ॥

इसे कोई भी दूसरा पुरुष मनमें दूषित भाव लेकर नहीं छू सकता । सुनती हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं ॥

एवमेषा ममाचष्टे तथा प्रथमसंगमे ।
तथैव गजनासोरुः सत्यमाह ममान्तिके ॥
ते हि क्रुद्धा महात्मानो नाशयेयुर्हि जीवितम् ।

इसने यह बात मुझसे उसी समय जब कि मेरी इससे पहले-पहल भेंट हुई थी, बता दी थी। इसी प्रकार हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली इस सुन्दरीने मेरे निकट यह सत्य ही कहा है कि यदि किसीने मेरा अपमान किया, तो मेरे महात्मा पति कुपित होकर उसके जीवनको ही नष्ट कर देंगे ॥

राजा चैव समीक्ष्यैनां सम्मोहं गतवानिह ॥
मया च सत्यवचनैरनुनीतो महीपतिः ।

राजा भी इसे यहाँ देखकर मोहित हो गये थे, तब मैंने इसकी कही हुई सच्ची बातें बताकर उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया ॥

सोऽप्येनामनिशं दृष्ट्वा मनसैवाभ्यनन्दत ॥
भयाद् गन्धर्वमुख्यानां जीवितस्योपघातिनाम्।
मनसापि ततस्त्वेनां न चिन्तयति पार्थिवः॥

तबसे वे भी सदा इसे देखकर मन-ही-मन इसका अभिनन्दन करते हैं। जीवनका विनाश करनेवाले उन श्रेष्ठ गन्धर्वोंके भयसे महाराज कभी मनसे भी इसका चिन्तन नहीं करते हैं ॥

ते हि क्रुद्धा महात्मानो गरुडानिलतेजसः ।
दहेयुरपि लोकांस्त्रीन् युगान्तेष्विव भास्कराः ॥

वे महात्मा गन्धर्व गरुड़ और वायुके समान तेजस्वी हैं। वे कुपित होनेपर प्रलयकालके सूर्योंकी भाँति तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं ॥

सैरन्ध्र्या ह्येतदाख्यातं मम तेषां महद् बलम् ।
तव चाहमिदं गुह्यं स्नेहादाख्यामि बन्धुवत् ॥

सैरन्ध्रीने स्वयं ही मुझसे उनके महान् बलका परिचय दिया है। भ्रातृस्नेहके कारण मैंने तुमसे यह गोपनीय बात भी बता दी है ॥

मा गमिष्यसि वै कृच्छ्रां गतिं परमदुर्गमाम् ।
बलिनस्ते रुजं कुर्युः कुलस्य च धनस्य च ॥

इसे ध्यानमें रखनेसे तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकट-पूर्ण परिस्थितिमें नहीं पड़ोगे। गन्धर्वलोग बलवान् हैं। वे तुम्हारे कुल और सम्पत्तिका भी नाश कर सकते हैं ॥

तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव।
मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि॥

इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो, तो इस सैरन्ध्रीमें मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा भगिनीं कीचकोऽब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सुदेष्णाके ऐसा कहनेपर दुष्टात्मा कीचक अपनी बहिनसे बोला ॥

कीचक उवाच

गन्धर्वाणां शतं वापि सहस्रमयुतानि वा ॥
अहमेको हनिष्यामि गन्धर्वान् पञ्च किं पुनः ।

कीचकने कहा—बहिन! मैं सैकड़ों, सहस्रों तथा अयुत गन्धर्वोंको भी अकेला ही मार गिराऊँगा, फिर पाँचकी तो बात ही क्या है? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता सुदेष्णा तु शोकेनाभिप्रपीडिता ॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो पापमिति स्म ह ।
प्रारुदद् भृशदुःखार्ता विपाकं तस्य वीक्ष्य सा ॥
पातालेषु पतत्येष विलपन् बडवामुखे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कीचकके ऐसा कहनेपर सुदेष्णा शोकसे अत्यन्त व्यथित हो उठी और मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! यह महान् दुःख, महान् संकट और महान् पापकी बात हो रही है।' इस कर्मके भावी परिणाम-पर दृष्टिपात करके वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'मेरा यह भाई तो ऊटपटाँग बातें बोलकर स्वयं ही पाताल अथवा बडवानलके मुखमें गिर रहा है।' (तत्पश्चात् वह कीचकको सुनाकर कहने लगी—)

त्वत्कृते विनशिष्यन्ति भ्रातरः सुहृदश्च मे ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमेवमभिप्लुतः।
न च श्रेयोऽभिजानीषे काममेवानुवर्तसे ॥

मैं देखती हूँ; तेरे कारण मेरे सभी भाई और सुहृद् नष्ट हो जायँगे। तू ऐसी अनुचित इच्छाको अपने मनमें स्थान दे रहा है; मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ? अपनी भलाई किस बातमें है, यह तू नहीं समझता है और केवल कामका ही गुलाम हो रहा है ॥

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः ।
अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम ॥

'पापी! निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार कामसे मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्यमें लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है ॥

अपि चैतत् पुरा प्रोक्तं निपुणैर्मनुजोत्तमैः ।
एकस्तु कुरुते पापं स्वजातिस्तेन हन्यते ॥

'प्राचीनकालके श्रेष्ठ एवं कुशल मनुष्योंने यह ठीक ही कहा है कि कुलमें एक मनुष्य पाप करता है और उसके कारण सभी जाति-भाई मारे जाते हैं ॥

गतस्त्वं धर्मराजस्य विषयं नात्र संशयः।
अदूषकमिमं सर्वं स्वजनं घातयिष्यसि ॥

'तू यमराजके लोकमें गया हुआ ही है, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं रह गया है। तू अपने साथ इन समस्त निरपराध स्वजनोंको भी मरवा डालेगा ॥

एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात्।
विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात् ॥)

'मेरे लिये सबसे महान् दुःखकी बात यह है कि मैं सारे परिणामोंको समझ-बूझकर भी भ्रातृ-स्नेहके कारण तेरी आज्ञाका पालन करूँगी। तू अपने कुलका संहार करके संतुष्ट हो ले' ॥

स्वमन्त्रमभिसंधाय तस्यार्थमनुचिन्त्य च।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुदेष्णाने अपने कार्यका विचार करके कीचकके मनोभावपर ध्यान दिया और फिर उसे द्रौपदीकी प्राप्ति करानेके लिये उचित उपायका निश्चय करके उसने सूतसे कहा— ॥ ४ ॥

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ॥ ५ ॥

'कीचक! तुम किसी पर्व या त्योहारके दिन अपने घरमें मदिरा तथा अन्न-भोजनकी सामग्री तैयार कराओ। फिर मैं इस सैरन्ध्रीको वहाँसे सुरा ले आनेके बहाने तुम्हारे पास भेजूँगी ॥ ५ ॥

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ॥ ६ ॥

'वहाँ भेजी हुई इस सेविकाको एकान्तमें, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छाके अनुसार समझाना-बुझाना। सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलनेपर यह रमणके लिये उद्यत हो जाय' ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बहिनके वचनसे इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर कीचक उस समय वहाँसे चला गया और घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयोंके द्वारा राजाओंके उपयोगमें आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवायी और भाँति-भाँतिके अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ एवं परम उत्तम अन्न-पानकी तैयारी करायी ॥ ७-८ ॥

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता।

उसकी व्यवस्था हो जानेपर कीचकने सुदेष्णाको भोजनके लिये आमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

(त्वरावान् कालपाशेन कण्ठे बद्धः पशुर्यथा।
नावबुध्यत मूढात्मा मरणं समुपस्थितम् ॥

मूढात्मा कीचक कण्ठमें कालपाशसे बँधे हुए पशुकी भाँति अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाता था। वह द्रौपदीको पानेके लिये उतावला हो रहा था ॥

कीचक उवाच

मधु मद्यं बहुविधं भक्ष्याश्च विविधाः कृताः।
सुदेष्णे ब्रूहि सैरन्ध्रीं यथा सा मे गृहं व्रजेत् ॥

कीचक बोला—सुदेष्णे! मैंने नाना प्रकारकी मीठी मदिरा मँगा ली है और विविध प्रकारकी रसोई भी तैयार कर ली है। अब तुम सैरन्ध्रीसे कह दो, जिससे वह मेरे घरमें पधारे ॥

केनचित् त्वद्य कार्येण त्वर शीघ्रं मम प्रियम् ॥
अहं हि शरणं देवं प्रपद्ये वृषभध्वजम्।
समागमं मे सैरन्ध्र्या मरणं वा दिशेति वै ॥

किसी कामके बहाने उसे जल्दी मेरे यहाँ भेजो। मेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेमें शीघ्रता करो। मैं भगवान् शंकरकी शरण लेकर यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो! मुझे सैरन्ध्रीसे मिला दो अथवा मृत्यु प्रदान करो ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तमाह विनिःश्वस्य प्रतिगच्छ स्वकं गृहम्।
एषाहमपि सैरन्ध्रीं सुरार्थे तूर्णमादिशे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुदेष्णा लंबी साँस खींचकर उससे बोली—'तुम अपने घर लौट जाओ। मैं सैरन्ध्रीको शीघ्र ही वहाँसे मदिरा ले आनेके लिये आज्ञा देती हूँ'॥

एवमुक्तस्तु पापात्मा कीचकस्त्वरितः पुनः।
स्वगृहं प्राविशत् तूर्णं सैरन्ध्रीगतमानसः ॥)

उसके ऐसा कहनेपर सैरन्ध्रीका चिन्तन करता हुआ पापात्मा कीचक फिर तुरंत ही अपने घरको लौट गया ॥

सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥

तब सुदेष्णाने सैरन्ध्रीको कीचकके घर जानेके लिये कहा ॥ ९ ॥

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम्।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते॥ १०॥

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री! उठो और कीचकके घर जाओ। कल्याणी! मुझे प्यास विशेष कष्ट दे रही है; अतः वहाँसे मेरे पीने योग्य रस ले आओ॥ १०॥

सैरन्ध्र्युवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम्।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः॥ ११॥

सैरन्ध्रीने कहा—राजकुमारी! मैं उसके घर नहीं जा सकती। महारानी! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है॥ ११॥

न चाहमनवद्याङ्गि तव वेश्मनि भामिनि।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी॥ १२॥

निर्दोष अङ्गोंवाली देवि! मैं आपके महलमें अपने पतियोंकी दृष्टिमें व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी॥

त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः।
प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि॥ १३॥

भामिनि! देवि! पहले आपके इस राजभवनमें प्रवेश करते समय मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी आप जानती ही हैं॥ १३॥

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने॥ १४॥

कमनीय केशोंवाली सुन्दरी! मूर्ख कीचक तो काममदसे उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा। इसलिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगी॥ १४॥

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते॥ १५॥

राजपुत्री! आपके अधीन तो और भी बहुत-सी दासियाँ हैं; उन्हींमेंसे किसी दूसरीको भेज दीजिये। आपका कल्याण हो। मेरे जानेसे कीचक मेरा अपमान करेगा॥१५॥

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम्॥ १६॥

सुदेष्णा बोली—शुभे! मैंने तुम्हें यहाँसे भेजा है, अतः वह कभी तुम्हें कष्ट नहीं देगा।

यह कहकर सुदेष्णाने द्रौपदीके हाथमें ढक्कनसहित एक सुवर्णमय पात्र दे दिया॥ १६॥

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम्॥ १७॥

द्रौपदी मदिरा लानेके लिये उस पात्रको लेकर शङ्कित हो रोती हुई कीचकके घरकी ओर चली और अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये मन-ही-मन भगवान् सूर्यकी शरणमें गयी॥

सैरन्ध्र्युवाच

यथाहमन्यं भर्तृभ्यो नाभिजानामि कंचन।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात् कीचको वशे॥ १८॥

सैरन्ध्रीने कहा—भगवन्! यदि मैं अपने पतियोंके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें नहीं लाती, तो इस सत्यके प्रभावसे कीचक अपने घरमें आयी हुई मुझ अबलाको अपने वशमें न कर सके॥ १८॥

वैशम्पायन उवाच

उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान्॥ १९॥
अन्तर्हितं ततस्तस्या रक्षो रक्षार्थमादिशत्।
तच्चैनां नाजहात् तत्र सर्वावस्थास्वनिन्दिताम्॥ २०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सब प्रकारके बलसे रहित द्रौपदी दो घड़ीतक भगवान् सूर्यकी उपासना करती रही। तदनन्तर श्रीसूर्यदेवने पतले कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको सारी परिस्थिति समझ ली और उसकी रक्षाके लिये अदृश्यरूपसे एक राक्षसको नियुक्त कर दिया। वह राक्षस किसी भी अवस्थामें सती-साध्वी द्रौपदीको वहाँ असहाय नहीं छोड़ता था॥ १९-२०॥

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम्।
उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः॥ २१॥

डरी हुई हरिणीकी भाँति भयभीत द्रौपदीको समीप आयी देख सूत कीचक आनन्दमें भरकर खड़ा हो गया; मानो नदीके पार जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसुराहरणे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीके द्वारा मदिरानयनसम्बन्धी पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

कीचकद्वारा द्रौपदीका अपमान

कीचक उवाच

**स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम्॥ १॥**

कीचकने कहा—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री! तुम्हारा स्वागत है। आजकी रातका प्रभात मेरे लिये बड़ा मङ्गलमय है। अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो॥१॥

**सुवर्णमालाः कम्बूश्च कुण्डले परिहाटके।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्नं च शोभनम्॥ २॥
आहरन्तु च वस्त्राणि कौशिकान्यजिनानि च।**

मैं दासियोंको आज्ञा देता हूँ; वे तुम्हारे लिये सोनेके हार, शङ्खकी चूड़ियाँ, विभिन्न नगरोंमें बने हुए शुभ्र सुवर्णमय कर्ण-फूलके जोड़े, सुन्दर मणि-रत्नमय आभूषण, रेशमी साड़ियाँ तथा मृगचर्म आदि ले आवें॥ २½॥

**अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थमुपकल्पितम्।
एहि तत्र मया सार्द्धं पिबस्व मधुमाधवीम्॥ ३॥**

मैंने तुम्हारे लिये पहलेसे ही यह दिव्य शय्या बिछा रक्खी है। आओ, यहाँ मेरे साथ बैठकर मधुर माध्वीरसका पान करो॥ ३॥

द्रौपद्युवाच

**(नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुं निषादेनेव ब्राह्मणी।
मा गमिष्यसि दुर्बुद्धे गतिं दुर्गान्तरान्तराम्॥**

द्रौपदी बोली—दुर्बुद्धे! जैसे निषाद ब्राह्मणीका स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मुझे छू नहीं सकते। तुम मेरा तिरस्कार करके भारीसे भारी दुर्गतिमें न पड़ो॥

**यत्र गच्छन्ति बहवः परदाराभिमर्शकाः।
नराः सम्भिन्नमर्यादाः कीटवच्च गुहाशयाः॥)**

उस दुरवस्थामें न जाओ, जहाँ धर्ममर्यादाका छेदन करनेवाले बहुत-से परस्त्रीगामी मनुष्य बिलमें सोनेवाले कीड़ोंकी भाँति जाया करते हैं॥

**अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम्।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत्॥ ४॥**

राजकुमारी सुदेष्णाने मुझे मदिरा लानेके लिये तुम्हारे पास भेजा है। उनका कहना है—'मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी है; अतः शीघ्र मेरे लिये पीने योग्य रस ले आओ'॥ ४॥

कीचक उवाच

**अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम्।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत्॥ ५॥**

कीचकने कहा—कल्याणी! राजपुत्री सुदेष्णाकी मँगायी हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी।

ऐसा कहकर सूतपुत्रने द्रौपदीका दाहिना हाथ पकड़ लिया॥ ५॥

द्रौपद्युवाच

**यथैवाहं नाभिचरे कदाचित्
पतीन् मदाद् वै मनसापि जातु।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम्॥ ६॥**

द्रौपदी बोली—ओ पापी! यदि मैंने आजतक कभी मनसे भी अभिमानवश अपने पतियोंके विरुद्ध आचरण न किया हो, तो इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि तू शत्रुके अधीन होकर पृथ्वीपर घसीटा जा रहा है॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

**स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां
जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम्।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम्॥ ७॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बड़े-बड़े नेत्रोंवाली द्रौपदीको इस प्रकार फटकारती देख कीचकने उसे पकड़ लेनेकी इच्छा की; किंतु वह सहसा झटका देकर पीछेकी ओर हटने लगी; इतनेमें ही झपटकर कीचकने उसके दुपट्टेका छोर पकड़ लिया॥ ७॥

**प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः॥ ८॥**

अब वह बड़े वेगसे उसे काबूमें लानेका प्रयत्न करने लगा। इधर राजकुमारी द्रौपदी बारंबार लंबी साँसें भरती हुई उससे छूटनेका प्रयत्न करने लगी। उसने सँभालकर दोनों हाथोंसे कीचकको बड़े जोरका धक्का दिया; जिससे वह पापी जड़-मूलसे कटे वृक्षकी भाँति (धम्मसे) जमीनपर जा गिरा॥ ८॥

**सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम्।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः॥ ९॥**

इस प्रकार पकड़में आनेपर कीचकको धरतीपर गिराकर भयसे काँपती हुई द्रौपदीने भागकर उस राजसभाकी शरण ली, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे॥ ९॥

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत्॥ १०॥

कीचकने भी उठकर भागती हुई द्रौपदीका पीछा किया और उसका केश पकड़ लिया। फिर उसने राजाके देखते-देखते उसे पृथ्वीपर गिराकर लात मारी॥ १०॥

तस्य योऽसौ तदार्केण राक्षसः संनियोजितः।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत॥ ११॥

भारत! इतनेमें ही भगवान् सूर्यने जिस राक्षसको द्रौपदीकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रक्खा था, उसने कीचकको पकड़कर आँधीके समान वेगसे दूर फेंक दिया॥ ११॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः॥ १२॥

राक्षसद्वारा बलपूर्वक आहत होकर कीचकके सारे शरीरमें चक्कर आ गया और वह जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १२॥

(सभायां पश्यतो राज्ञो विराटस्य महात्मनः।
ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च पश्यताम्॥
तस्याः पादाभितप्ताया मुखाद् रुधिरमास्रवत्।
तां दृष्ट्वा तत्र ते सभ्या हाहाभूता समन्ततः॥
न युक्तं सूतपुत्रेति कीचकेति च मानवाः।
किमियं वध्यते बाला कृपणा चाप्यबान्धवा॥)

सभामें महामना राजा विराटके तथा वृद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके देखते-देखते कीचकके पादप्रहारसे पीड़ित हुई द्रौपदीके मुँहसे रक्त बहने लगा। उसे उस अवस्थामें देखकर समस्त सभासद् सब ओरसे हाहाकार कर उठे और सब लोग कहने लगे—'सूतपुत्र कीचक! तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यह बेचारी अबला अपने बन्धु-बान्धवोंसे रहित है। इसे क्यों पीड़ा दे रहे हो?'

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम्॥ १३॥

उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर भी राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने कीचकके द्वारा द्रौपदीका यह अपमान अपनी आँखों देखा, जिसे वे सहन न कर सके॥ १३॥

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः॥ १४॥

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचकको मार डालनेकी इच्छासे उस समय रोषवश दाँतोंसे दाँत पीसने लगे॥ १४॥

धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी।
सस्वेदा भ्रुकुटी चोग्रा ललाटे समवर्तत॥ १५॥

उनकी आँखोंकी पलकें ऊपरको उठकर तन गयीं। उनमें धूआँ-सा छा गया, ललाटमें पसीना निकल आया और भौंहें टेढ़ी होकर भयंकर प्रतीत होने लगीं॥ १५॥

हस्तेन ममृजे चैव ललाटं परवीरहा।
भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत॥ १६॥

शत्रुहन्ता भीम हाथसे माथेका पसीना पोंछने लगे। फिर तुरंत ही प्रचण्ड कोपमें भर गये और सहसा उठनेकी इच्छा करने लगे॥ १६॥

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः।
प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत्॥ १७॥

तब राजा युधिष्ठिरने रहस्य प्रकट हो जानेके डरसे अपने अँगूठेसे भीमका अँगूठा दबाया और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित होनेसे रोका॥ १७॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः॥ १७॥

भीमसेन मतवाले गजराजकी भाँति एक वृक्षकी ओर देख रहे थे। तब युधिष्ठिरने उन्हें रोकते हुए कहा—॥ १८॥

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम्॥ १९॥

'बल्लव! क्या तुम ईंधनके लिये वृक्षकी ओर देखते हो? यदि रसोईके लिये सूखी लकड़ी चाहिये, तो बाहर जाकर वृक्षसे ले लो॥ १९॥

(यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत्।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन्॥

जिस हरे-भरे वृक्षकी शीतल छायाका आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्तेसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहलेके उपकारोंको सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये'॥

इङ्गितज्ञः स तु भ्रातुस्तूष्णीमासीद् वृकोदरः॥
भीमस्य तु समारम्भं दृष्ट्वा राज्ञश्च चेष्टितम्।
द्रौपद्यभ्यधिकं क्रुद्धा प्रारुदत् सा पुनः पुनः॥
कीचकेनानुगमनात् कृष्णा ताम्रायतेक्षणा।)

तब भाईके संकेतको समझनेवाले भीमसेन उस समय चुप हो गये। भीमके उस क्रोधको तथा राजा युधिष्ठिरकी शान्तिपूर्ण चेष्टाको देखकर द्रौपदी अधिक क्रुद्ध हो उठी। कीचकके पीछा करनेसे कृष्णाकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। वह खीझके कारण बार-बार रोने लगी॥

सा सभाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत्।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान् दीनचेतसः॥ २०॥

इधर सुन्दर कटि प्रान्तवाली द्रौपदी राजसभाके द्वारपर आकर अपने दीन हृदयवाले पतियोंकी ओर देखती हुई मत्स्यनरेशसे बोली॥ २०॥

विराटकी राजसभामें कीचकद्वारा सैरन्ध्रीका अपमान

आकारमभिरक्षन्ती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥ २१ ॥

उस समय वह प्रतिज्ञारूप धर्मसे आबद्ध होनेके कारण अपने स्वरूपको छिपा रही थी; किंतु उसके नेत्र मानो जला रहे हों, इस प्रकार भयंकर हो उठे थे ॥ २१ ॥

(द्रौपद्युवाच

प्रजारक्षणशीलानां राज्ञां ह्यमिततेजसाम्।
कार्यं हि पालनं नित्यं धर्मे सत्ये च तिष्ठताम् ॥
स्वप्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम्।

द्रौपदीने कहा—जो स्वभावसे ही प्रजाजनोंकी रक्षामें लगे हुए हैं, सदा धर्म और सत्यके मार्गमें स्थित हैं तथा प्रजा और अपनी संतानमें कोई अन्तर नहीं समझते, उन अमित-तेजस्वी राजाओंको चाहिये कि वे सदा आश्रितजनोंका पालन एवं संरक्षण करें ॥

प्रियेष्वपि च द्वेष्येषु समत्वं ये समाश्रिताः ॥
विवादेषु प्रवृत्तेषु समं कार्यानुदर्शिना।
राज्ञा धर्मासनस्थेन जितौ लोकावुभावपि ॥

जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रोंमें भी समानभाव रखते हैं, प्रजाजनोंमें विवाद आरम्भ होनेपर जो राजा धर्मासनपर बैठ-कर समानभावसे प्रत्येक कार्यपर विचार करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं ॥

राजन् धर्मासनस्थोऽपि रक्ष मां त्वमनागसीम् ॥
अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना।
पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ॥

राजन्! आप धर्मके आसनपर बैठे हैं। मुझ निरपराध अबलाकी रक्षा कीजिये। महाराज! मैंने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी दुरात्मा कीचकने आपके देखते-देखते मुझको लात मारी है; मेरे साथ (खरीदे हुए) दासका-सा बर्ताव किया है।

मत्स्याधिप प्रजा रक्ष पिता पुत्रानिवौरसान् ॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्मा कुरुते नृपः।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥

मत्स्यराज! जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप अपने प्रजाजनोंका संरक्षण कीजिये। जो मोहमें डूबा हुआ राजा अधर्मयुक्त कार्य करता है, उस दुरात्माको उसके शत्रु शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं ॥

मत्स्यानां कुलजस्त्वं हि तेषां सत्यं परायणम्।
त्वं किलैवंविधो जातः कुले धर्मपरायणे ॥

आप मत्स्यकुलमें उत्पन्न हुए हैं। सत्य ही मत्स्यनरेशों-का महान् आश्रय रहा है। आप भी इस धर्मपरायण कुलमें ऐसे ही धर्मात्मा पैदा हुए हैं ॥

अतस्त्वाहमभिक्रन्दे शरणार्थं नराधिप।
त्राहि मामद्य राजेन्द्र कीचकात् पापपूरुषात् ॥

अतः नरेश्वर! मैं आपसे शरण देनेके लिये रुदन करती हूँ। राजेन्द्र! आज मुझे इस पापी कीचकसे बचाइये ॥

अनाथामिह मां ज्ञात्वा कीचकः पुरुषाधमः।
प्रहरत्येव नीचात्मा न तु धर्ममवेक्षते ॥

पुरुषाधम कीचक यहाँ मुझे असहाय जानकर मार रहा है। यह नीच अपने धर्मकी ओर नहीं देखता है ॥

अकार्याणामनारम्भात् कार्याणामनुपालनात्।
प्रजासु ये सुवृत्तास्ते स्वर्गमायान्ति भूमिपाः ॥

जो भूमिपाल न करने योग्य कार्योंका आरम्भ नहीं करते, करनेयोग्य कर्तव्योंका निरन्तर पालन करते हैं और सदा प्रजाके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञाः कामकारेण पार्थिव।
प्रजासु किल्बिषं कृत्वा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥

परंतु राजन्! जो राजा कर्तव्य और अकर्तव्यके अन्तरको जानते हुए भी स्वेच्छाचारितावश प्रजावर्गके साथ पापाचार करते हैं, वे अधोमुख हो नरकमें जाते हैं ॥

नैव यज्ञैर्न वा दानैर्न गुरोरुपसेवया।
प्राप्नुवन्ति तथा धर्मं यथा कार्यानुपालनात् ॥

राजालोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवनसे भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते हैं, जैसा कि अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे प्राप्त करते हैं ॥

क्रियायामक्रियायां च प्रापणे पुण्यपापयोः ॥
प्रजायां सृज्यमानायां पुरा ह्येतदुदाहृतम्।
एतद् वो मानुषा सम्यक् कार्यं द्वन्द्वतया भुवि।
अस्मिन् सुनीते दुर्नीते लभते कर्मजं फलम् ॥

पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनाके समय ब्रह्माजीने क्रिया करने और न करनेकी स्थितिमें पुण्य और पापकी प्राप्तिके विषयमें इस प्रकार कहा था—'मनुष्यो! तुमलोगोंको इस पृथ्वीलोकमें द्वन्द्वरूपमें प्राप्त धर्म और अधर्मके विषयमें भली-भाँति समझकर कर्म करना चाहिये; क्योंकि अच्छी या बुरी जैसी नीयतसे काम किया जाता है, वैसा ही कर्मजनित फल मिलता है ॥

कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकम्।
तेन गच्छति संसर्गं स्वर्गाय नरकाय वा ॥

'कल्याणकारी मनुष्य कल्याणका और पापाचारी पुरुष पापके फलस्वरूप दुःखका भागी होता है। जो इनके संसर्गमें आता है, वह भी (कर्मानुसार) स्वर्ग या नरकमें जाता है ॥

सुकृतं दुष्कृतं वापि कृत्वा मोहेन मानवः।
पश्चात्तापेन तप्येत स्वबुद्ध्या मरणं गतः ॥

'मनुष्य मोहपूर्वक सत्कर्म या दुष्कर्म करके मृत्युके बाद भी मन-ही-मन पश्चात्ताप करता रहता है' ॥

एवमुक्त्वा परं वाक्यं विससर्ज शतक्रतुम्।
शक्रोऽप्यापृच्छ्य ब्रह्माणं देवराज्यमपालयत्॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर ब्रह्माजीने इन्द्रको विदा कर दिया। इन्द्र भी ब्रह्माजीसे पूछकर देवलोकमें आये और देवसाम्राज्यका पालन करने लगे ॥

यथोक्तं देवदेवेन ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
तथा त्वमपि राजेन्द्र कार्याकार्ये स्थिरो भव॥

राजेन्द्र! देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने जैसा उपदेश दिया है, उसके अनुसार आप भी कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें दृढ़तापूर्वक लगे रहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानायां पाञ्चाल्यां मत्स्यपुङ्गवः।
अशक्तः कीचकं तत्र शासितुं बलदर्पितम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीके इस प्रकार विलाप करनेपर भी मत्स्यराज विराट बलाभिमानी कीचकपर शासन करनेमें असमर्थ ही रहे ॥

विराटराजः सूतं तु सान्त्वेनैव न्यवारयत्।
कीचकं मत्स्यराजेन कृतागसमनिन्दिता॥
नापराधानुरूपेण दण्डेन प्रतिपादितम्।
पाञ्चालराजस्य सुता दृष्ट्वा सुरसुतोपमा॥
धर्मज्ञा व्यवहाराणां कीचकं कृतकिल्बिषम्।
पुनः प्रोवाच राजानं स्मरन्ती धर्ममुत्तमम्॥
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना॥)

उन्होंने शान्तिपूर्वक समझा-बुझाकर ही सूतको वैसा करनेसे मना किया। यद्यपि कीचकने भारी अपराध किया था, तो भी मत्स्यराजने उसे अपराधके अनुसार दण्ड नहीं दिया; यह देख देवकन्याके समान सुन्दरी एवं व्यवहार-धर्मको जाननेवाली साध्वी द्रौपदी उत्तम धर्मका स्मरण करती हुई राजा विराट तथा समस्त सभासदोंकी ओर देखकर दुखी हृदयसे इस प्रकार बोली— ॥

येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२२॥

'जिन मेरे पतियोंके वैरीको पाँच देशोंको पार करके छठे देशमें रहनेपर भी भयके मारे नींद नहीं आती, आज उन्हींकी मानिनी पत्नी मुझ असहाय अबलाको एक सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २२ ॥

ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२३॥

'जो सदा दूसरोंको देते हैं, किंतु किसीसे याचना नहीं करते, जो ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लात मारी है ॥ २३ ॥

येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२४॥

'जिनके धनुषको टङ्कार सदा देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके समान सुनायी पड़ती है, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २४ ॥

ये च तेजस्विनो दान्ता बलवन्तोऽतिमानिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२५॥

'जो तेजस्वी, जितेन्द्रिय, बलवान् और अत्यन्त मानी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे आघात किया है ॥ २५ ॥

सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२६॥

'मेरे पति इस सम्पूर्ण संसारको मार सकते हैं; किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे हैं, इसीसे आज उनकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे प्रहार किया है ॥ २६ ॥

शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम्।
चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क्व नु तेऽद्य महारथाः॥२७॥

'जो शरण चाहनेवाले अथवा शरणमें आये हुए सब लोगोंको शरण देते हैं, वे मेरे महारथी पति अपने स्वरूपको छिपाकर आज जगत्‌में कहाँ विचर रहे हैं? ॥ २७ ॥

कथं ते सूतपुत्रेण वध्यमानां प्रियां सतीम्।
मर्षयन्ति यथा क्लीबा बलवन्तोऽमितौजसः॥२८॥

'जो अमिततेजस्वी और बलवान् हैं, वे (मेरे पति) एक सूतपुत्रद्वारा मारी जाती हुई अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नीका अपमान कायरों और नपुंसकोंकी भाँति कैसे सहन कर रहे हैं? ॥

क्व नु तेषाममर्षश्च वीर्यं तेजश्च वर्तते।
न परीप्सन्ति ये भार्यां वध्यमानां दुरात्मना॥२९॥

'आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है? जो एक दुरात्माकी मार खाती हुई अपनी पत्नीकी रक्षा नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

मयात्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके।
यः पश्यन् मां मर्षयति वध्यमानामनागसम्॥३०॥

'यहाँका राजा विराट भी धर्मको कलङ्कित करनेवाला है, जो मुझ निरपराध अबलाको अपने सामने मार खाती देखकर भी सहन किये जाता है। भला, इसके रहते मैं इस अपमान-का बदला चुकानेके लिये क्या कर सकती हूँ? ॥ ३० ॥

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते॥३१॥

नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके।
सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ॥३२॥

'यह राजा होकर भी कीचकके प्रति कुछ भी राजोचित न्याय नहीं कर रहा है। मत्स्यराज! तुम्हारा यह लुटेरोंका-सा धर्म इस राजसभामें शोभा नहीं देता। तुम्हारे निकट इस कीचकद्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो सभासद् बैठे हैं, वे भी कीचकका यह अत्याचार देखें ॥ ३१-३२ ॥

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथंचन।
सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ॥३३॥

'कीचकको धर्मका ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजाके पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्मके ज्ञाता नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विधैर्वचोभिः सा तदा कृष्णाश्रुलोचना।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तम वर्णवाली द्रौपदीने उस समय आँखोंमें आँसू भरकर ऐसे वचनोंद्वारा मत्स्यराजको बहुत फटकारा और उलाहना दिया ॥ ३४ ॥

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम्।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ॥३५॥

तब विराट बोले—सैरन्ध्री! हमारे परोक्षमें तुम दोनोंमें किस प्रकार कलह हुआ है; इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बातको जाने बिना न्याय करनेमें मेरा क्या कौशल प्रकट होगा? ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन्।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभासदोंने सारा रहस्य जानकर द्रौपदीकी बार-बार सराहना की। उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचककी निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा ॥ ३६ ॥

सभ्या ऊचुः

यस्येयं चारुसर्वाङ्गी भार्या स्यादायतेक्षणा।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत् कथंचन ॥३७॥

सभासद् बोले—सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाली साध्वी जिसकी धर्मपत्नी है, उसे जीवनमें बहुत बड़ा लाभ मिला है। वह किसी प्रकार शोक नहीं कर सकता ॥ ३७ ॥

(यस्या गात्रं शुभं पीनं मुखं जयति पङ्कजम्।
गतिर्हंसं स्मितं कुन्दं सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसका शरीर शुभ और हृष्ट-पुष्ट है, जिसका मुख अपने सौन्दर्यसे कमलको पराजित कर रहा है तथा जिसकी मन्द-मन्द गति हंसको और मुस्कान कुन्दपुष्पोंकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है, वही यह नारी पदप्रहारके योग्य नहीं है ॥

द्वात्रिंशद् दशना यस्याः श्वेता मांसनिबन्धनाः।
स्निग्धाश्च मृदवः केशाः सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके बत्तीसों दाँत मसूड़ोंमें दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं, जिसके केश चिकने और कोमल हैं, वैसी यह नारी लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

पद्मं चक्रं ध्वजं शङ्खं प्रासादो मकरस्तथा।
यस्याः पाणितले सन्ति सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसकी हथेलीमें कमल, चक्र, ध्वजा, शङ्ख, मन्दिर और मगरके चिह्न हैं, वह शुभलक्षणा नारी पैरोंसे ठुकरायी जाय, यह कदापि उचित नहीं है ॥

आवर्ताः खलु चत्वारः सर्वे चैव प्रदक्षिणाः।
समं गात्रं शुभं स्निग्धं यस्या नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके शरीरमें चार आवर्त हैं और वे सब-के-सब प्रदक्षिणभावसे सुशोभित हैं, जिसके अङ्ग समान (सुडौल), शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और स्निग्ध हैं, वह लात मारने योग्य नहीं है ॥

अच्छिद्रहस्तपादा च अच्छिद्रदशना च या।
कन्या कमलपत्राक्षी कथमर्हति पद्वधम् ॥

जिसके हाथों, पैरों और दाँतोंमें छिद्र नहीं दिखायी देते हैं, वह कमलदललोचना कन्या पैरोंसे ठोकर मारने योग्य कैसे हो सकती है? ॥

सेयं लक्षणसम्पन्ना पूर्णचन्द्रनिभानना।
सुरूपिणी सुवदना नेयं योग्या पदा वधम् ॥

यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है। इसका मुख पूर्णचन्द्रके समान मनोहर है। यह सुन्दर रूपवाली सुमुखी नारी पैरोंसे ठुकराने योग्य नहीं है ॥

देवदेवीव सुभगा शक्रदेवीव शोभना।
अप्सरा इव सौरूप्यान्नेयं योग्या पदा वधम् ॥)

यह देवाङ्गनाके समान सौभाग्यशालिनी, इन्द्राणीके समान शोभासम्पन्न तथा अप्सराके समान सुन्दर रूप धारण करनेवाली है। यह लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

न हीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी।
नारी सर्वानवद्याङ्गी देवीं मन्यामहे वयम् ॥३८॥

मनुष्य-जातिमें तो ऐसी सती-साध्वी और सुन्दरी स्त्री सुलभ ही नहीं होती । इसके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष हैं । हम तो इसे मानवी नहीं; देवी मानते हैं ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजयन्तस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
युधिष्ठिरस्य कोपात् तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब इस प्रकार द्रौपदीको देखकर सभासद् उसकी प्रशंसा कर रहे थे, उस समय कीचकके प्रति क्रोध होनेके कारण युधिष्ठिरके ललाटमें पसीना आ गया ॥ ३९ ॥

(सा विनिःश्वस्य सुश्रोणी भूमावन्तर्मुखी स्थिता ।
तूष्णीमासीत् तदा दृष्ट्वा विवक्षन्तं युधिष्ठिरम् ॥)

तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी लंबी साँस खींचकर नीचा मुख किये भूमिपर खड़ी हो गयी और राजा युधिष्ठिरको कुछ कहनेके लिये उद्यत देख वह स्वयं मौन रह गयी ॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरन्ध्रि मात्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम्॥४०॥

तब उन कुरुनन्दनने अपनी प्यारी रानीसे इस प्रकार कहा—'सैरन्ध्री ! अब तू यहाँ न ठहर । रानी सुदेष्णाके महलमें चली जा ॥ ४० ॥

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरपत्नयः ।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ॥४१॥

'पतिका अनुसरण करनेवाली वीरपत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं । जो पतिसेवापूर्वक क्लेश उठाती हैं, वे साध्वी देवियाँ पतिलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ ४१ ॥

मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यन्ति पतयस्तव ।
तेन त्वां नाभिधावन्ति गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥४२॥

'मैं समझता हूँ, तुम्हारे सूर्यके समान तेजस्वी पति गन्धर्वगण अभी क्रोध करनेका अवसर नहीं देखते; इसीलिये तुम्हारे पास दौड़कर नहीं आ रहे हैं ॥ ४२ ॥

(श्रूयन्तां ते सुकेशान्ते मोक्षधर्माश्रयाः कथाः ।
यथा धर्मः कुलस्त्रीणां दृष्टो धर्मानुरोधनात् ॥

'सुन्दर केशप्रान्तवाली सैरन्ध्री ! तुम मोक्षधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें सुनो । धर्मशास्त्रके अनुसार कुलवती स्त्रियोंका धर्म इस प्रकार देखा गया है ॥

नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम्।
या च भर्तरि शुश्रूषा सा स्वर्गायाभिजायते ॥

'स्त्रीके लिये न तो कोई यज्ञ है, न श्राद्ध है और न उपवासका ही विधान है । स्त्रियोंके द्वारा जो पतिकी सेवा होती है, वही उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली है ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'कुमारावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र नारीकी रक्षा करता है । स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

भर्तॄन् प्रति तथा पत्न्यो न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
बहुभिश्च परिक्लेशैरवज्ञाताश्च शत्रुभिः ॥

'पतिव्रता स्त्रियाँ नाना प्रकारके क्लेश सहकर तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित होकर भी अपने पतियोंपर कभी क्रोध नहीं करतीं ॥

अनन्यभावशुश्रूषाः पुण्यलोकं व्रजन्त्युत ।
न क्रुद्धान् प्रति यायाद् वै पतींस्ते वृत्रहा अपि ॥

'इस प्रकार अनन्यभावसे पतिकी शुश्रूषा करनेवाली स्त्रियाँ पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेती हैं । सैरन्ध्री ! तुम्हारे पतियोंके कुपित होनेपर तो वृत्रहन्ता इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते ॥

यदि ते समयः कश्चित् कृतो ह्यायतलोचने ।
तं स्मरस्व क्षमाशीले क्षमा धर्मो ह्यनुत्तमः ॥

'विशाललोचने ! यदि उनके साथ तेरी कोई शर्त हुई हो, तो उसे याद कर ले । क्षमाशीले ! क्षमा सबसे उत्तम धर्म है ॥

क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा तपः ।
क्षमावतामयं लोकः परलोकः क्षमावताम् ॥
द्व्यंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
कः षष्टित्रिशतारस्य मासोनस्याक्षमी भवेत् ॥

'क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है और क्षमा ही तप है । क्षमाशील मनुष्योंके लिये ही यह लोक और परलोक है । जिसके दो (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) अंश हैं, बारह (मास) अङ्ग हैं, चौबीस (पक्ष) पर्व हैं और तीन सौ साठ (दिन) अरे हैं, उस कालचक्रके पूर्ण होनेमें यदि एक मासकी ही कमी रह गयी हो; तो कौन उसकी प्रतीक्षा न करके क्षमाका त्याग कर सकता है ?' ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते तिष्ठन्तीं पुनरेवाह धर्मराट् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहनेपर भी जब द्रौपदी वहाँ खड़ी ही रह गयी, तब धर्मराजने पुनः उससे कहा—॥

अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥४३॥

'सैरन्ध्री ! तू अवसरको नहीं पहचानती; इसीलिये नटीकी भाँति राजसभामें रो रही है और द्यूतक्रीड़ामें लगे हुए मत्स्यराजकुमारोंके खेलमें विघ्न डालती है ॥ ४३ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम्।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४४ ॥

'सैरन्ध्री ! जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे। जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे' ॥ ४४ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥ ४५ ॥

सैरन्ध्री बोली—जिनके बड़े भाई सदा जूआ खेला करते हैं, उन दयालु गन्धर्वोंके लिये मैं अत्यन्त धर्मपरायणा रहूँगी। मेरा अपकार करनेवाले दुरात्मा उन सबके लिये वध्य हों ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम्।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा॥ ४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गतिसे रानी सुदेष्णाके महलको चली गयी। उसके केश खुले हुए थे और क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ४६ ॥

शुशुभे वदनं तस्या रुदत्याः सुचिरं तदा।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमण्डलम् ॥ ४७ ॥

उस समय रोती हुई द्रौपदीका मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो आकाशमें मेघमालाके आवरणसे मुक्त चन्द्रबिम्ब शोभा पा रहा हो ॥ ४७ ॥

(पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गी गजराजवधूरिव।
प्रतस्थे नागनासोरूर्भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥

समस्त अङ्गोंमें धूलिसे धूसरित गजराजवधूकी भाँति शोभा पानेवाली तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली द्रौपदी स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजसभासे अन्तःपुरमें चली गयी ॥

विमुक्ता मृगशावाक्षी निरन्तरपयोधरा।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता ॥

उसके स्तन एक दूसरेसे सटे हुए थे तथा नेत्र मृगशावकोंके समान चञ्चल हो रहे थे। वह कीचकके हाथसे छूटकर शोक और दुःखसे इस प्रकार मलिन हो रही थी, मानो चन्द्रमाकी प्रभा वर्षाकालके मेघोंसे आच्छादित हो गयी हो ॥

यस्या ह्यर्थे पाण्डवेयास्त्यजेयुरपि जीवितम्।
तां ते दृष्ट्वा तथा कृष्णां क्षमिणो धर्मचारिणः ॥
समयं नातिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥)

जिसके लिये समस्त पाण्डव अपने प्राणतक दे सकते थे, उसी कृष्णाको उस दशामें देखकर भी धर्मात्मा पाण्डव क्षमा धारण किये बैठे थे। जैसे समुद्र अपने तटकी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे अज्ञातवासके लिये स्वीकृत समयका अतिक्रमण नहीं कर रहे थे ॥

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४८ ॥

सुदेष्णाने पूछा—वरारोहे ! तुम्हें किसने मारा है ? शोभने ! तू क्यों रोती है ? भद्रे ! आज किसका सुख समाप्त हो गया ? किसने तुम्हारा अपराध किया है ? ॥ ४८ ॥

(किमिदं पद्मसंकाशं सुदन्तोष्ठाक्षिनासिकम्।
रुदन्त्या अवमृष्टास्रं पूर्णेन्दुसमवर्चसम् ॥

कमलके समान कमनीय, सुन्दर दाँत, ओठ, नेत्र और नासिकासे सुशोभित तथा पूर्णचन्द्रके समान कान्तिमान् तुम्हारा यह मनोहर मुख ऐसा (मलिन) क्यों हो रहा है ? तुम रोती हुई अपने मुखपर बहे हुए आँसुओंको पोंछ रही हो ॥

बिम्बोष्ठं कृष्णताराभ्यामत्यन्तरुचिरप्रभम्।
नयनाभ्यामजिह्माभ्यां मुखं ते मुञ्चते जलम् ॥

काली पुतलीवाले सरल नेत्रोंसे सुशोभित, बिम्बफलके समान अरुण अधरोंसे उपलक्षित और अत्यन्त मनोहर प्रभासे प्रकाशित तुम्हारा मुख इस समय आँसू क्यों गिरा रहा है ?

वैशम्पायन उवाच

तां निःश्वस्याब्रवीत् कृष्णा जानन्ती नाम पृच्छसि।
भ्रात्रे त्वं मामनुप्रेष्य किमेवं त्वं विकत्थसे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कृष्णाने लंबी साँसें खींचकर कहा—'तुम सब कुछ जानती हुई भी मुझसे क्या पूछ रही हो ? स्वयं ही मुझे अपने भाईके पास भेजकर अब इस प्रकारकी बातें क्यों बना रही हो ?

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुराहारीं गतां तव।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥ ४९ ॥

द्रौपदी फिर बोली—मैं तुम्हारे लिये मदिरा लाने गयी थी ! वहाँ कीचकने राजसभामें महाराजके देखते-देखते मुझपर प्रहार किया है; ठीक उसी तरह, जैसे कोई निर्जन वनमें किसी असहाय अबलापर आघात करता हो ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे।
योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥ ५० ॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दर लटोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कीचकको मरवा डालूँ; जो कामसे उन्मत्त होकर तुझ-जैसी दुर्लभ देवीका अपमान कर रहा है ॥ ५० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः ।
मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

सैरन्ध्री बोली—महारानी ! उसे दूसरे ही लोग मार डालेंगे, जिनका कि अपराध वह कर रहा है । मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोककी यात्रा करेगा ॥

(भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवश्राद्धं त्वमद्य वै ।
सुदृष्टं कुरु वै चैनं नासून् मन्ये धरिष्यति ॥

रानी ! आज तुम अपने भाईके लिये शीघ्र ही जीवित-श्राद्ध कर लो । उसके लिये आवश्यक दान दे लो । साथ ही उसे आँख भरकर अच्छी तरह देख लो । मेरा विश्वास है कि अब उसके प्राण नहीं रहेंगे ॥

तेषां हि मम भर्तॄणां पञ्चानां धर्मचारिणाम् ।
एको दुर्धर्षणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि ॥
निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात् क्रुद्धो निशामिमाम् ।
न च संक्रुध्यते तावद् गन्धर्वः कामरूपधृक् ॥

मेरे पाँच धर्मात्मा पतियोंमेंसे एक अत्यन्त दुःसह एवं अमर्षशील वीर हैं । भूतलपर बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । वे कुपित होनेपर इस रातमें ही इस संसारको मनुष्योंसे शून्य कर सकते हैं । परन्तु इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे गन्धर्व न जाने क्यों अभीतक क्रोध नहीं कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

सुदेष्णामेवमुक्त्वा तु सैरन्ध्री दुःखमोहिता ।
कीचकस्य वधार्थाय व्रतदीक्षामुपागमत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी सुदेष्णासे ऐसा कहकर दुःखसे मोहित हुई सैरन्ध्रीने कीचकके वधके लिये व्रतकी दीक्षा ग्रहण की ॥

अभ्यर्थिता च नारीभिर्मानिता च सुदेष्णया ।
न च स्नाति न चाश्नाति न पांसून् परिमार्जति ॥

दूसरी स्त्रियोंने उससे बहुत प्रार्थना की । रानी सुदेष्णाने भी उसे बहुत मनाया; तथापि न वह स्नान करती, न भोजन करती और न अपने शरीरकी धूल ही झाड़ती थी ॥

रुधिरक्लिन्नवदना बभूव रुदितेक्षणा ॥
तां तथा शोकसंतप्तां दृष्ट्वा प्ररुदितां स्त्रियः ।
कीचकस्य वधं सर्वा मनाभिश्च शशंसिरे ॥

उसका मुँह रक्तसे भींगा हुआ था, आँखोंमें रुलाईके आँसू भरे हुए थे । उसे इस प्रकार शोकसे संतप्त होकर रोती देख सब स्त्रियाँ मन-ही-मन कीचकके वधकी इच्छा करने लगीं ॥

जनमेजय उवाच

अहो दुःखतरं प्राप्ता कीचकेन पदा हता ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी योषितां वरा ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर ! संसारकी युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं पतिव्रता महाभागा द्रौपदीको कीचकने लात मार दी; इससे वह महान् दुःखमें डूब गयी । अहो ! यह कितने कष्टकी बात है ॥

दुःशलां मानयन्ती या भर्तॄणां भगिनीं शुभाम् ।
नाशपत् सिन्धुराजं तं बलात्कारेण वाहिता ॥

जिस समय सिन्धुराज जयद्रथने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था, उस समय उसने अपने पतियोंकी बहिन दुःशलाका सम्मान करते हुए वह कष्ट सह लिया और शुभलक्षणा सिन्धुराजको शाप नहीं दिया ॥

किमर्थं धर्षणं प्राप्ता कीचकेन दुरात्मना ।
नाशपत् तं महाभागा कृष्णा पादेन ताडिता ॥

परंतु जब दुरात्मा कीचकने उसका तिरस्कार किया और उसे लातसे मारा, उस समय महाभागा कृष्णाने उस दुष्टको शाप क्यों नहीं दे दिया ?

तेजोराशिरियं देवी धर्मज्ञा सत्यवादिनी ।
केशपक्षे परामृष्टा मर्षयिष्यत्यशक्तवत् ॥
नैतत् कारणमल्पं हि श्रोतुकामोऽस्मि सत्तम ।
कृष्णायास्तु परिक्लेशान्मनो मे दूयते भृशम् ॥

देवी द्रौपदी तेजकी राशि थी । वह धर्मज्ञा और सत्यवादिनी थी । उसके-जैसी तेजस्विनी स्त्री अपने केश पकड़ लिये जानेपर असमर्थकी भाँति चुपचाप सह लेगी, यह सम्भव नहीं है । यदि उसने सह लिया, तो इसका कोई छोटा कारण नहीं होगा । साधुशिरोमणे ! मैं वह कारण सुनना चाहता हूँ । कृष्णाके क्लेशकी बात सुनकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥

कस्य वंशे समुद्भूतः स च दुर्ललितो मुने ।
बलोन्मत्तः कथं चासीच्छ्यालो मात्स्यस्य कीचकः ॥

मुने ! मत्स्यराजका साला दुष्ट कीचक किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? और वह बलसे उन्मत्त क्यों हो गया था ?

वैशम्पायन उवाच

त्वदुक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
एतत् सर्वं तथा वक्ष्ये विस्तरेणैव पार्थिव ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

नरेश ! तुम्हारा उठाया हुआ यह प्रश्न ठीक है। मैं यह सब विस्तारपूर्वक बताऊँगा ।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति पार्थिव।
प्रातिलोम्येन जातानां स ह्येको द्विज एव तु ॥

राजन् ! क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न हुआ बालक 'सूत' कहलाता है । प्रतिलोमसंकर जातियोंमें अकेली यह सूत जाति ही द्विज कही गयी है ॥

रथकारमितीमं हि क्रियायुक्तं द्विजन्मनाम् ।
क्षत्रियादवरं वैश्याद् विशिष्टमिति चक्षते ॥

द्विजोचित कर्मोंसे युक्त उस सूतको ही रथकार भी कहते हैं । इसे क्षत्रियसे हीन और वैश्यसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥

सह सूतेन सम्बन्धः कृतपूर्वो नरेश्वरैः ।
तथापि तैर्महीपाल राजशब्दो न लभ्यते ॥

राजन् ! पहलेके नरेशोंने सूतजातिके साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया है, परंतु उन्हें राजाकी उपाधि नहीं प्राप्त होती थी ॥

तेषां तु सूतविषयः सूतानां नामतः कृतः ।
उपजीव्य च यत् क्षत्रं लब्धं सूतेन तत् पुरा ॥

उनके लिये सूतोंके नामसे सूतराज्य ही नियत कर दिया गया था । वह राज्य सूतजातिके एक पुरुषने किसी क्षत्रियकी सेवा करके ही प्राप्त किया था ॥

सूतानामधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः ॥
राजकन्यासमुद्भूतः सारथ्येऽनुपमोऽभवत् ।

सुप्रसिद्ध केकय नामक राजा सूतोंके ही अधिपति थे । उनका जन्म किसी क्षत्रियकन्याके गर्भसे हुआ था । वे सारथिके कर्ममें अनुपम थे ॥

पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा ॥
तेषामतिबलो ज्येष्ठः कीचकः सर्वजित् प्रभो ।

कुरुश्रेष्ठ ! उनके मालवीके गर्भसे कई पुत्र उत्पन्न हुए। प्रभो ! उन पुत्रोंमें कीचक ही सबसे बड़ा था । वह अत्यन्त बलवान् और सर्वविजयी योद्धा था ॥

द्वितीयायां तु मालव्यां चित्रा ह्यवरजाभवत् ।
तां सुदेष्णेति वै प्राहुर्विराटमहिषीं प्रियाम् ॥

राजा केकयकी दूसरी रानी भी मालवकन्या ही थी । उसके गर्भसे चित्रा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त कीचकबन्धुओंकी छोटी बहिन थी । उसीको सुदेष्णा भी कहते हैं । वही आगे चलकर महाराज विराटकी प्यारी पटरानी हुई ॥

तां विराटस्य मात्स्यस्य केकयः प्रददौ मुदा ।
सुरथायां मृतायां तु कौसल्यां श्वेतमातरि ॥

विराटकी बड़ी रानी कोशल देशकी राजकुमारी सुरथा, जो श्वेतकी जननी थी, उसकी मृत्यु हो जानेपर केकय-नरेशने अपनी कन्या सुदेष्णाका विवाह मत्स्यराज विराटके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर दिया ॥

सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत् ॥
उत्तरं चोत्तरां चैव विराटात् पृथिवीपते ।
सुदेष्णा सुषुवे देवी कैकेयी कुलवृद्धये ॥

सुदेष्णाको महारानीके रूपमें पाकर राजा विराटका दुःख दूर हो गया । जनमेजय ! केकयकुमारी रानी सुदेष्णा-ने राजा विराटसे अपने कुलकी वृद्धिके लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो संतानोंको उत्पन्न किया ॥

मातृष्वसृसुतां राजन् कीचकस्तामनिन्दिताम् ।
सदा परिचरन् प्रीत्या विराटे न्यवसत् सुखी ॥

राजन् ! कीचक अपनी मौसीकी बेटी सती-साध्वी सुदेष्णाकी प्रेमपूर्वक परिचर्या करता हुआ विराटके यहाँ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

भ्रातरस्तस्य विक्रान्ताः सर्वे च तमनुव्रताः ।
विराटस्यैव संहृष्टा बलं कोशं च वर्धयन् ॥

उसके सभी पराक्रमी भाई कीचकके ही प्रेमी भक्त थे; अतः वे भी विराटके ही बल और कोषको बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगे ॥

कालेया नाम दैतेयाः प्रायशो भुवि विश्रुताः ।
जज्ञिरे कीचका राजन् बाणो ज्येष्ठस्ततोऽभवत् ॥
स हि सर्वास्त्रसम्पन्नो बलवान् भीमविक्रमः ।
कीचको नष्टमर्यादो बभूव भयदो नृणाम् ।

राजन् ! कालेय नामक दैत्य ही, जो प्रायः इस भूमण्डल-में विख्यात थे, कीचकोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे । कालेयोंमें बाण सबसे बड़ा था । वही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, भयंकर पराक्रमी और महाबली कीचक हुआ, जो धर्मकी मर्यादाको तोड़ने और मनुष्योंके भयको बढ़ानेवाला था ॥

तं प्राप्य बलसम्मत्तं विराटः पृथिवीपतिः ॥
जिगाय सर्वांश्च रिपून् यथेन्द्रो दानवानिव ।

उस बलोन्मत्त कीचककी सहायता पाकर, जैसे इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार राजा विराटने भी समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त की ॥

मेखलांश्च त्रिगर्तांश्च दशार्णांश्च कशेरुकान् ।
मालवान् यवनांश्चैव पुलिन्दान् काशिकोसलान् ।
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ।
मलदान् निषधांश्चैव तुण्डिकेरांश्च कोङ्कणान् ।
करदांश्च निषिद्धांश्च शिवान् दुश्छिलिकांस्तथा।

अन्ये च बहवः शूराः नाना जनपदेश्वराः ।
कीचकेन रणे भग्ना व्यद्रवन्त दिशो दश ॥

मेखल, त्रिगर्त, दशार्ण, कशेरुक, मालव, यवन, पुलिन्द, काशी, कोशल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, तङ्गण, परतङ्गण, मलद, निषध, तुण्डिकेर, कोङ्कण, करद, निषिद्ध, शिव, दुश्छिल्लिक तथा अन्य नाना जनपदोंके स्वामी अनेक शूरवीर नरेश रणभूमिमें कीचकसे पराजित हो दशों दिशाओंमें भाग गये ॥

तमेवं वीर्यसम्पन्नं नागायुतबलं रणे।
विराटस्तत्र सेनायाश्चकार पतिमात्मनः ॥

ऐसे पराक्रमसम्पन्न कीचकको, जो संग्राममें दस हजार हाथियोंका बल रखता था, राजा विराटने अपना सेनापति बना लिया ॥

विराटभ्रातरश्चैव दश दाशरथोपमाः ।
ते चैनानन्ववर्तन्त कीचकान् बलवत्तरान् ॥

विराटके दस भाई ऐसे थे, जो दशरथनन्दन श्रीरामके समान शक्तिशाली समझे जाते थे । वे भी इन प्रबलतर कीचकबन्धुओंका अनुसरण करने लगे ॥

एवंविधबलोपेताः कीचकास्ते न तद्विधाः ।
राज्ञः श्याला महात्मानो विराटस्य हितैषिणः।

ऐसे बलसम्पन्न कीचक, जो राजा विराटके साले लगते थे, शौर्यमें अपना सानी नहीं रखते थे। वे महामना विराटके बड़े हितैषी थे ।

एतत् ते कथितं सर्वं कीचकस्य पराक्रमम् ॥
द्रौपदी न शशापैनं यस्मात् तद् गदतः शृणु।

जनमेजय ! इस प्रकार मैंने तुमसे कीचकके पराक्रमकी सारी बातें बता दीं । अब यह भी सुन लो कि द्रौपदीने उसे शाप क्यों नहीं दिया ? ॥

क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि ॥
जानन्ती तद् यथातत्त्वं पाञ्चाली न शशाप तम्।

क्रोधसे तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसीको शाप नहीं देते हैं । द्रौपदी इस बातको अच्छी तरह जानती थी; इसीलिये उसने उसे शाप नहीं दिया ॥

क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः।
क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम् ॥
क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत ॥

क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है और क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुतिका कथन है । यह लोक क्षमावानोंका ही है । परलोक भी क्षमावानोंका ही है । द्रौपदी यह सब कुछ जानती थी, इसलिये उसने क्षमाका ही आश्रय लिया ॥

भर्तृणां मतमाज्ञाय क्षमिणां धर्मचारिणाम् ।
नाशपत् तं विशालाक्षी सती शक्तापि भारत ॥

भरतनन्दन ! क्षमाशील एवं धर्मात्मा पतियोंका मत जानकर विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी द्रौपदीने समर्थ होते हुए भी कीचकको शाप नहीं दिया ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे द्रौपदीं प्रेक्ष्य दुःखिताः।
क्रोधाग्निना व्यदह्यन्त तदा कालव्यपेक्षया ॥

समस्त पाण्डव भी द्रौपदीकी दुरवस्था देखकर दुखी हो समयकी प्रतीक्षा करते हुए क्रोधाग्निमें जलते रहे ॥

अथ भीमो महाबाहुः सूदयिष्यंस्तु कीचकम् ।
वारितो धर्मपुत्रेण वेलयेव महोदधिः ॥

महाबाहु भीमसेन तो कीचकको तत्काल मार डालनेके लिये उद्यत थे; परंतु जैसे बेला (तटकी सीमा) महासागरके वेगको रोके रहती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया ॥

संधार्य मनसा रोषं दिवारात्रं विनिःश्वसन्।
महानसे तदा कृच्छ्रात् सुष्वाप रजनीं च ताम् ॥

वे मनमें क्रोधको रोककर दिन-रात लंबी साँसें खींचते रहते थे । उस दिन पाकशालामें जाकर वे रातमें बड़े कष्टसे सोये ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीतिरस्कारसम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९२ श्लोक मिलाकर कुल १४३ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र सेनापति कीचकने जबसे लात मारी थी, तभीसे यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वधकी बात सोचने लगी॥ १॥

जगामावासमेवाथ सा तदा द्रुपदात्मजा।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा॥ २ ॥
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा।
चिन्तयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम्॥ ३ ॥

वह अपने निवासस्थानपर गयी। उस समय सूक्ष्म कटि-भागवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाने वहाँ यथायोग्य शौच-स्नान करके जलसे अपने शरीर और वस्त्र धोये तथा वह रोती हुई उस दुःखके निवारणका उपाय सोचने लगी—॥ २-३॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत्॥ ४ ॥

'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे मेरा अभीष्ट कार्य होगा?' इस प्रकार चिन्तन करके उसने मन-ही-मन भीमसेनका स्मरण किया॥ ४॥

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम्।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम्॥ ५ ॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना॥ ६ ॥
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी।

'भीमसेनके सिवा दूसरा कोई आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता'—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रातको अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने नाथ (रक्षक) से मिलनेकी इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके भवनमें गयी। उस समय मनस्विनी द्रौपदी महान् मानसिक दुःखसे पीड़ित थी॥ ५-६½॥

सैरन्ध्र्युवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि॥ ७ ॥
तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे।

वहाँ पहुँचते ही सैरन्ध्री बोली—आर्यपुत्र! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापतिके, जिसने मेरे साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव किया था, जीते-जी तुम आज नींद कैसे ले रहे हो?॥ ७½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी॥ ८ ॥
यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहती हुई मनस्विनी द्रौपदीने उस भवनमें प्रवेश किया, जिसमें सिंहकी भाँति साँसें खींचते हुए भीमसेन सो रहे थे॥ ८½॥

तस्या रूपेण सा शाला भीमस्य च महात्मनः॥ ९ ॥
सम्मूर्च्छितेव कौरव्य प्रजज्वाल च तेजसा।
सा वै महानसं प्राप्य भीमसेनं शुचिस्मिता॥ १० ॥
सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी।
उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव नरर्षभम्॥ ११ ॥

कुरुनन्दन! द्रौपदीके दिव्य रूपसे महात्मा भीमकी वह पाकशाला शोभा-समृद्धिको प्राप्त होकर तेजसे प्रकाशित हो उठी। पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी पाकशालामें पहुँचकर क्रमशः [बक, साँड़ और गजराजके पास जानेवाली] जलमें उत्पन्न हुई बकी, तीन सालकी पार्थिव गौ तथा हथिनीके समान श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके समीप गयी॥ ९—११॥

सा लतेव महाशालं फुल्लं गोमतितीरजम्।
परिष्वजत पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम्॥ १२ ॥

जैसे लता गोमतीके तटपर उत्पन्न एवं खिले हुए ऊँचे शालवृक्षमें लिपट जाती है, उसी प्रकार सती-साध्वी पाञ्चालीने मध्यम[1] पाण्डव भीमसेनका आलिङ्गन किया॥ १२॥

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता।
सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव॥ १३ ॥

उसने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर जगाया; ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वनमें सोये हुए सिंहको सिंहिनी जगाती है॥ १३॥

भीमसेनमुपाश्लिष्यद्धस्तिनीव महागजम्।
वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्च्छती।
अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता॥ १४ ॥

जैसे हथिनी महान् गजराजका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार निर्दोष पाञ्चालराजकुमारी भीमसेनसे सटकर गान्धार स्वरमें मधुर ध्वनि फैलाती हुई वीणाकी भाँति मीठे वचनोंमें बोली—॥ १४॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः।
नामृतस्य हि पापीयान् भार्यामालभ्य जीवति॥ १५ ॥

'भीमसेन! उठो, उठो, क्यों मुर्देकी तरह सो रहे हो? क्योंकि (तुम्हारे-जैसे वीर) पुरुषके जीवित रहते हुए उसकी पत्नी-का स्पर्श करके कोई महापापी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता'॥

स सम्प्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः।
उपातिष्ठत मेघाभः पर्यङ्के सोपसंग्रहे॥ १६ ॥

---

[1] नकुल-सहदेव जुड़वें पैदा हुए थे; अतः वे दोनों कनिष्ठ (छोटे) भाई हैं। युधिष्ठिर बड़े हैं। भीमसेन और अर्जुन मध्यम हैं। विराटपर्वके प्रसंगमें अर्जुन पुरुष नहीं रह गये हैं। अतः भीमसेन ही यहाँ प्रधानरूपसे मध्यम पाण्डव कहे गये हैं।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम्।
केनास्यर्थेन सम्प्राप्ता त्वरितेव ममान्तिकम् ॥ १७ ॥
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥

राजकुमारी द्रौपदीके जानेपर मेघके समान श्याम वर्णवाले कुरुनन्दन भीमसेन तोशक बिछे हुए पलंगपर शयन छोड़कर उठ बैठे और अपनी प्यारी रानीसे बोले—'देवि! किस कार्यसे तुम इतनी उतावली-सी होकर मेरे पास आयी हो, तुम्हारे शरीरकी कान्ति स्वाभाविक नहीं रह गयी है। तुमपर उदासी छायी है। तुम दुबली और पीली दिखायी देती हो। पूरी बात बताओ, जिससे मैं सब कुछ जान सकूँ॥ १६—१८ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ॥ १९ ॥

'तुम्हें सुख हो या दुःख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह जाओ! वह सब सुनकर मैं उसके निवारणके लिये उचित उपाय सोचूँगा॥ १९ ॥

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥

'कृष्णे! सब कार्योंके लिये मैं ही तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ। मैं ही सब प्रकारकी विपत्तियोंमें बार-बार सहायता करके तुम्हें संकटसे मुक्त करता हूँ॥ २० ॥

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम्।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

'अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्यके लिये कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर पहले ही अपने शयन-गृहमें चली जाओ, जिससे दूसरे किसीको इसका पता न चल सके'॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके प्रति अपने दुःखके उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

(सा लज्जमाना भीता च अधोमुखमुखी ततः।
नोवाच किंचिद् वचनं बाष्पदूषितलोचना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय लज्जित और भयभीत हुई द्रौपदीके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे। वह मुँह नीचा किये मौन बैठी रही; कुछ भी बोल न सकी॥

अथाब्रवीद् भीमपराक्रमो बली
वृकोदरः पाण्डवमुख्यसम्मतः।
प्रब्रूहि किं ते करवाणि सुन्दरि
प्रियं प्रिये वारणखेलगामिनि ॥)

तब पाण्डवप्रवर युधिष्ठिरके परम प्रिय भयंकर पराक्रमी महाबली भीम इस प्रकार बोले—'सुन्दरि! गजराजकी भाँति लीला-विलासपूर्वक मन्दगतिसे चलनेवाली प्रिये! बताओ; मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?'॥

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्या भर्ता युधिष्ठिरः।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—जिस स्त्रीके पति राजा युधिष्ठिर हों, वह बिना शोकके रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? तुम मेरे सारे दुःखोंको जानते हुए भी मुझसे कैसे पूछते हो?॥ १ ॥

यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदानयत्।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥

दुर्योधनके सेवकके रूपमें दुःशासन मुझे दासी कहकर जो उस समय कौरवोंके सभाभवनमें जनसमाजके भीतर घसीट ले गया, वह अपमानकी आग मुझे आजतक जला रही है ॥ २ ॥

(क्षत्रियैस्तत्र कर्णाद्यैर्दृष्टा दुर्योधनेन च।
श्वशुराभ्यां च भीष्मेण विदुरेण च धीमता ॥
द्रोणेन च महाबाहो कृपेण च परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु भीम! उस समय वहाँ बैठे हुए कर्ण आदि क्षत्रियोंने, दुर्योधनने, मेरे दोनों ससुर भीष्म और बुद्धिमान् विदुरने तथा द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने भी मुझे उस दुरवस्थामें देखा था ॥

साहं श्वशुरयोर्मध्ये भ्रातृमध्ये च पाण्डव ॥
केशे गृहीत्वैव सभां नीता जीवति वै त्वयि।)

पाण्डुनन्दन! इस प्रकार तुम्हारे जीते-जी मेरे केश पकड़कर मुझे दोनों श्वशुरों तथा दुर्योधन आदि भ्राताओंके बीच राजसभामें लाया गया।

पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी।
अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदीं प्रभो ॥ ३ ॥

स्वामिन्! मुझ द्रुपदकन्याको छोड़कर दूसरी मेरी-जैसी कौन राजकुमारी होगी, जो ऐसा दुःख भोगकर जी रही हो ॥

वनवासगतायाश्च सैन्धवेन दुरात्मना।
परामर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥

वनवासमें जानेपर दुरात्मा सिन्धुराज जयद्रथने जो मेरा स्पर्श कर लिया, यह दूसरा अपमान था। उसे भी कौन सह सकती है? ॥ ४ ॥

(पद्भ्यां पर्यचरं चाहं देशान् विषमसंस्थितान्।
दुर्गाञ्छ्वापदसंकीर्णांस्त्वयि जीवति पाण्डव ॥

पाण्डुकुमार! तुम्हारे जीते-जी मुझे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए विषम एवं दुर्गम प्रदेशोंमें पैदल विचरना पड़ा ॥

ततोऽहं द्वादशे वर्षे वन्यमूलफलाशना।
इदं पुरमनुप्राप्ता सुदेष्णापरिचारिका ॥
परस्त्रियमुपातिष्ठे सत्यधर्मपथस्थिता।

तदनन्तर बारहवें वर्षके अन्तमें मैं जंगली फल-मूलोंका आहार करती हुई इस विराटनगरमें आयी और सुदेष्णाकी सेविका बन गयी। मैं सत्यधर्मके मार्गमें स्थित होकर आज दूसरी स्त्रीकी सेवा करती हूँ ॥

गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥
नित्यं पिंषे विराटस्य त्वयि जीवति पाण्डव ॥
साहं बहूनि दुःखानि गणयामि न ते कृते।

द्रुपदस्य सुता चाहं धृष्टद्युम्नस्य चानुजा।
अग्निकुण्डात् समुद्भूता नोर्व्यां जातु चरामि भोः ॥)

पाण्डुपुत्र! तुम्हारे जीते-जी मैं प्रतिदिन राजा विराटके लिये गोशीर्ष, पद्मकाष्ठ और हरिश्याम आदि चन्दन पीसती हूँ। फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं ऐसे बहुत-से दुःखोंको कुछ भी नहीं गिनती। मैं द्रुपदकी पुत्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ। अग्निकुण्डसे मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं कभी धरतीपर पैदल नहीं चलती थी (परंतु अब यहाँ यह दुर्दशा भोग रही हूँ)।

मत्स्यराजसमक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः।
कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटके सामने उस जुआरीके देखते-देखते कीचकने जो लात मारकर मेरा अपमान किया है उसको सहकर मेरी-जैसी कौन राजकुमारी जीवित रह सकती है? ॥ ५ ॥

एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत।
न मां जानासि कौन्तेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥

भरतकुलभूषण कुन्तीनन्दन! ऐसे बहुत-से क्लेशोंद्वारा मैं निरन्तर पीड़ित रहती हूँ; क्या तुम यह नहीं जानते? फिर मेरे जीनेका ही क्या प्रयोजन है? ॥ ६ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥

भारत! पुरुषसिंह! राजा विराटका जो यह कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है। उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। राजमहलमें सैरन्ध्रीके वेशमें निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुष्टात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—'मेरी ही पत्नी हो जाओ' ॥ ७-८ ॥

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन्।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥

शत्रुदमन! उस मार डालने योग्य पापीके द्वारा रोज-रोज यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समयसे पके हुए फलकी भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

(विजानामि तवामर्षं बलं वीर्यं च पाण्डव।
ततोऽहं परिदेवामि चाग्रतस्ते महाबल ॥

महाबली पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हारे अमर्ष, बल और पराक्रमको जानती हूँ; इसीलिये मैं तुम्हारे आगे रोती-बिलखती हूँ ॥

यथा यूथपतिर्मत्तः कुञ्जरः षष्टिहायनः।
भूमौ निपतितं बिल्वं पद्भ्यामाक्रम्य पीडयेत् ॥

तथैव च शिरस्तस्य निपात्य धरणीतले।
वामेन पुरुषव्याघ्र मर्द पादेन पाण्डव॥

पुरुषसिंह पाण्डुपुत्र! जैसे साठ वर्षका मतवाला यूथपति गजराज धरतीपर गिरे हुए बेलके फलको पैरोंसे दबाकर कुचल डाले, उसी प्रकार कीचकके मस्तकको पृथ्वीपर गिराकर बायें पैरसे मसल डालो॥

स चेदुद्यन्तमादित्यं प्रातरुत्थाय पश्यति।
कीचकः शर्वरीं व्युष्टां नाहं जीवितुमुत्सहे॥)

यदि कीचक इस रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल उठकर उगते हुए सूर्यका दर्शन कर लेगा, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी॥

भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम्।
यस्यास्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनन्तकम्॥ १०॥

दूषित द्यूतक्रीड़ामें लगे रहनेवाले अपने उस बड़े भाईकी निन्दा करो, जिसकी करतूतसे मैं इस अनन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ॥ १०॥

को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चात्मना सह।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम्॥ ११॥

निन्दनीय जूएमें आसक्त रहनेवाले उस जुआरीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने साथ ही राज्य तथा सर्वस्वका परित्याग करके वनवास लेनेकी शर्तपर जूआ खेल सकता हो?॥ ११॥

यदि निष्कसहस्रेण यच्चान्यत् सारवद् धनम्।
सायम्प्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान् बहून्॥ १२॥
रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम्।
अश्वाश्वतरसङ्घांश्च न जातु क्षयमावहेत्॥ १३॥

यदि वे प्रतिदिन शाम-सवेरे एक सहस्र स्वर्णमुद्राओंसे जूआ खेलते तथा जो दूसरे बहुमूल्य धन थे, उनको—सोने, चाँदी, वस्त्र, सवारी, रथ, बकरी, भेड़, घोड़े और खच्चरों आदिके समूहको बहुत वर्षोंतक भी दाँवपर लगाते रहते, तो भी हमारा राज्य-वैभव कभी क्षीण नहीं होता॥ १२-१३॥

सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिन्तयन्॥ १४॥

जूएकी आसक्तिने इन्हें राज्यलक्ष्मीके सिंहासनसे नीचे उतार दिया है और अब ये अपने उन कर्मोंका चिन्तन करते हुए अज्ञकी भाँति चुपचाप बैठे रहते हैं॥ १४॥

दश नागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम्।
यं यान्तमनुयान्तीह सोऽयं द्यूतेन जीवति॥ १५॥

जिनके कहीं यात्रा करते समय दस हजार हाथी और सोनेकी मालाएँ पहने हुए सहस्रों घोड़े पीछे-पीछे चलते थे, वे ही महाराज यहाँ जूएसे जीविका चलाते हैं॥ १५॥

रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम्।
उपासन्त महाराजमिन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरम्॥ १६॥
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत॥ १७॥
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः॥ १८॥

इन्द्रप्रस्थमें जिनकी सवारीके लिये एक लाख रथ प्रस्तुत रहते थे और जिन महाराज युधिष्ठिरकी सेवामें सहस्रों महा-पराक्रमी राजा बैठा करते थे, जिनके भोजनालयमें नित्य एक लाख दासियाँ सोनेके पात्र हाथमें लिये दिन-रात अतिथियों-को भोजन कराया करती थीं तथा जो दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर रोज सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ दानमें बाँटा करते थे, वे ही धर्मराज यहाँ जूएमें कमाये हुए महान् अनर्थकारी धनसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं॥ १६-१८॥

एनं हि स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः।
सायम्प्रातरुपातिष्ठन् सुमृष्टमणिकुण्डलाः॥ १९॥

इन्द्रप्रस्थमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले बहुत-से सूत और मागध मधुर स्वरसे संयुक्त वाणीद्वारा सायंकाल और प्रातःकाल इन महाराजकी स्तुति किया करते थे॥ १९॥

सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन् सभासदः।
तपःश्रुतोपसम्पन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः॥ २०॥

तपस्या और वेदज्ञानसे सम्पन्न सहस्रों पूर्णकाम ऋषि-महर्षि प्रतिदिन इनकी राजसभामें बैठा करते थे॥ २०॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः॥ २१॥

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंका जिनमेंसे एक-एकको सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ थीं, राजा युधिष्ठिर अपने यहाँ पालन करते थे॥ २१॥

अप्रतिग्राहिणां चैव यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
दश चापि सहस्राणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः॥ २२॥

साथ ही ये महाराज दान न लेनेवाले दस हजार ऊर्ध्व-रेता संन्यासियोंका भी स्वयं ही भरण-पोषण करते थे। आज वे ही इस अवस्थामें रह रहे हैं॥ २२॥

आनृशंस्यमनुक्रोशं संविभागस्तथैव च।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः॥ २३॥

जिनमें कोमलता, दया और सबको अन्न-वस्त्र देना आदि समस्त सद्गुण विद्यमान थे, वे ही ये महाराज आज इस दुरवस्थामें पड़े हैं॥ २३॥

अन्धान् वृद्धांस्तथानाथान् बालान् राष्ट्रेषु दुर्गतान्।
बिभर्ति विविधान् राजा धृतिमान् सत्यविक्रमः।
संविभागमना नित्यमानृशंस्याद् युधिष्ठिरः॥ २४॥

धैर्यवान् तथा सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर अपने कोमल स्वभावके कारण सदा सबको भोजन आदि देनेमें ही मन लगाते थे और अपने राज्यके अनेक अंधों, बूढ़ों, अनाथों, बालकों तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका भरण-पोषण करते रहते थे ॥ २४ ॥

स एव निरयं प्राप्तो मत्स्यस्य परिचारकः।
सभायां देविता राज्ञः कङ्को ब्रूते युधिष्ठिरः॥ २५॥

वे ही ये युधिष्ठिर आज मत्स्यराजके सेवक होकर परतन्त्रतारूपी नरकमें पड़े हुए हैं। ये सभामें राजाको जूआ खेलाते और कङ्क कहकर अपना परिचय देते हैं ॥ २५ ॥

इन्द्रप्रस्थे निवसतः समये यस्य पार्थिवाः।
आसन् बलिभृतः सर्वे सोऽद्यान्यैर्भृत्तिमिच्छति ॥२६॥

इन्द्रप्रस्थमें रहते समय जिन्हें सब राजा भेंट देते थे, वे ही आज दूसरोंसे अपने भरण-पोषणके लिये धन पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ २६ ॥

पार्थिवाः पृथिवीपाला यस्यासन् वशवर्तिनः।
स वशे विवशो राजा परेषामद्य वर्तते ॥ २७॥

इस पृथ्वीका पालन करनेवाले बहुत-से भूपाल जिनकी आज्ञाके अधीन थे, वे ही महाराज आज विवश होकर दूसरोंके वशमें रहते हैं ॥ २७ ॥

प्रताप्य पृथिवीं सर्वां रश्मिमानिव तेजसा।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य सभास्तारो युधिष्ठिरः॥ २८॥

सूर्यकी भाँति अपने तेजसे सम्पूर्ण भूमण्डलको प्रकाशित-कर अब ये धर्मराज युधिष्ठिर राजा विराटकी सभाके एक साधारण सदस्य बने हुए हैं ॥ २८ ॥

यमुपासन्त राजानः सभायामृषिभिः सह।
तमुपासीनमद्यान्यं पश्य पाण्डव पाण्डवम्॥ २९॥

पाण्डुनन्दन! देखो, राजसभामें ऋषियोंके साथ अनेक राजा जिनकी उपासना करते थे, वे ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आज दूसरेकी उपासना कर रहे हैं ॥ २९ ॥

सदस्यं यमुपासीनं परस्य प्रियवादिनम्।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्धते मामसंशयम्॥ ३०॥

एक सामान्य सदस्यकी हैसियतसे दूसरेकी सेवामें बैठे हुए वे विराटके मनको प्रिय लगनेवाली बातें करते हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर निश्चय ही मेरा क्रोध बढ़ जाता है ॥ ३० ॥

अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम्।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद् धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्॥ ३१॥

जो धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं, जिनका कभी इस दुरवस्थामें पड़ना उचित नहीं है, वे ही जीविकाके लिये आज दूसरेके घरमें पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर किसे दुःख न होगा? ॥ ३१ ॥

उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुन्धरा।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम्॥ ३२॥

वीर! पहले राजसभामें समस्त भूमण्डलके लोग जिनकी सब ओरसे उपासना करते थे, भारत! अब उन्हीं भरतवंश-शिरोमणिको आज दूसरे राजाकी सभामें बैठे देख लो ॥ ३२ ॥

एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत्।
शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि॥ ३३॥

भीमसेन! इस प्रकार अनेक दुःखोंसे अनाथकी भाँति पीड़ित होती हुई मैं शोकके महासागरमें डूब रही हूँ, क्या तुम मेरी यह दुर्दशा नहीं देखते? ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसंवादविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके दुःखसे दुःखित द्रौपदीका भीमसेनके सम्मुख विलाप

द्रौपद्युवाच

इदं तु ते महद् दुःखं यत् प्रवक्ष्यामि भारत।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद् ब्रवीम्यहम्॥ १॥

द्रौपदी बोली—भारत! अब जो दुःख मैं तुमसे निवेदन करनेवाली हूँ, वह तो मेरे लिये और भी महान् है। तुम इसके लिये मुझे दोष न देना। मैं दुःखसे व्यथित होनेके कारण ही यह सब कह रही हूँ ॥ १ ॥

सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ।
ब्रुवन् बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्धयेः॥ २॥

भरतर्षभ! जो तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे रसोइयेके नीच काममें लगे हो और अपनेको 'बल्लव' जाति-का मनुष्य बताते हो। इस अवस्थामें तुम्हें देखकर किसका शोक न बढ़ेगा? ॥ २ ॥

सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः।
प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३॥

लोग तुम्हें राजा विराटके रसोइये बल्लवके नामसे जानते

हैं। तुम स्वामी होकर भी आज सेवककी दशामें पड़े हो। इससे बढ़कर महान् कष्ट मेरे लिये और क्या हो सकता है ? ॥ ३ ॥

यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि।
ब्रुवाणो बल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ॥ ४ ॥

जब पाकशालामें भोजन बना लेनेपर तुम विराटकी सेवामें उपस्थित होते हो और कहते हो—'महाराज ! बल्लव रसोइया आपको भोजनके लिये बुलाने आया है', तब यह सब सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है ॥ ४ ॥

यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुञ्जरैः।
हसन्त्यन्तःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ॥ ५ ॥

जब विराटनरेश प्रसन्न होकर तुम्हें हाथियोंसे लड़ाते हैं, उस समय रनिवासकी दूसरी स्त्रियाँ तो हँसती हैं और मेरा हृदय शोकसे व्याकुल हो उठता है ॥ ५ ॥

शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ॥ ६ ॥

जब रानी सुदेष्णा दर्शक बनकर बैठती हैं और तुम महलके आँगनमें व्याघ्रों, सिंहों तथा भैंसोंसे लड़ते हो, उस समय मुझे बड़ी व्यथा होती है ॥ ६ ॥

तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन् ॥७॥
प्रेक्ष्य मामनवद्याङ्गीं कश्मलोपहतामिव।

एक दिन उक्त पशुओंसे तुम्हारा युद्ध देखकर उठनेके बाद मुझ निर्दोष अङ्गोंवाली अबलाको इसी कारण शोकपीड़ित-सी देख केकयराजकुमारी सुदेष्णा अपने साथ आयी हुई सम्पूर्ण दासियोंसे और वे खड़ी हुई दासियाँ रानी कैकेयीसे इस प्रकार कहने लगीं—॥ ७½ ॥

स्नेहात् संवासजाद् धर्माद् सूदमेषा शुचिस्मिता ॥८॥
योध्यमानं महावीर्यमियं समनुशोचति।
कल्याणरूपा सैरन्ध्री बल्लवश्चापि सुन्दरः ॥ ९ ॥

'यह पवित्र मुस्कानवाली सैरन्ध्री पहले (युधिष्ठिरके यहाँ) एक स्थानमें साथ-साथ रहनेके कारण पैदा होनेवाले स्नेहसे अथवा धर्मसे प्रेरित होकर उस महापराक्रमी रसोइयेको पशुओंसे लड़ते देख उसके लिये बार-बार शोक करने लगती है । सैरन्ध्रीका रूप तो मङ्गलमय है ही; बल्लव भी बड़ा सुन्दर है ॥ ८-९ ॥

स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ।
सैरन्ध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ॥ १० ॥

'स्त्रियोंके हृदयको समझ लेना बहुत कठिन है; हमें तो यह जोड़ी अच्छी जान पड़ती है । सैरन्ध्री अपने प्रिय सम्बन्धके कारण जब रसोइयेको हाथी आदिसे लड़ानेकी बात की जाती है, तब (अत्यन्त दीन-सी होकर) सदा करुणायुक्त वचन बोलने लगती है ॥ १० ॥

अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत् ॥ ११ ॥

'क्यों न हो, इस राजपरिवारमें भी तो ये दोनों एक ही समयसे निवास करते हैं ?' इस तरहकी बातें कहकर रानी सुदेष्णा प्रायः नित्य मुझे झिड़का करती हैं ॥ ११ ॥

क्रुध्यन्तीं मां च सम्प्रेक्ष्य समशङ्कत मां त्वयि।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ॥ १२ ॥

और मुझे क्रोध करती देख तुम्हारे प्रति मेरे गुप्त प्रेमकी आशङ्का कर बैठती हैं । जब-जब वे वैसी बातें कहती हैं, उस समय मुझे बहुत दुःख होता है ॥ १२ ॥

त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १३ ॥

भीम भयंकर पराक्रम दिखानेवाले होकर भी तुम ऐसे नरकतुल्य कष्ट भोग रहे हो और उधर महाराज युधिष्ठिरको भी भारी शोक सहन करना पड़ता है । इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूबी हुई हूँ । अब मुझे जीवित रहनेका तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ १३ ॥

यः सदेवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत्।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ॥ १४ ॥

वह तरुण वीर अर्जुन, जो अकेले ही रथमें बैठकर सम्पूर्ण मनुष्यों तथा देवताओंपर भी विजय पा चुका है, आज राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखाता है ॥१४॥

योऽतर्पयदमेयात्मा खाण्डवे जातवेदसम्।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थ कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो असीम आत्मबलसे सम्पन्न है, जिसने खाण्डववनमें साक्षात् अग्निदेवको तृप्त किया था, वही वीर अर्जुन आज कुएँमें पड़ी हुई अग्निकी तरह अन्तःपुरमें छिपा हुआ है ॥ १५ ॥

यस्माद् भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात्।
स लोकपरिभूतेन वेषेणास्ते धनंजयः ॥ १६ ॥

जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, जिससे शत्रुओंको सदा ही भय प्राप्त होता आया है, वही धनंजय आज लोकनिन्दित नपुंसकवेषमें रह रहा है ॥ १६ ॥

यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसंनिभौ।
स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ॥ १७ ॥

जिसकी परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचते-खींचते कठोर हो गयी थीं, वही धनंजय आज हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर दुःख भोग रहा है ॥ १७ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषात् समकम्पन्त शत्रवः ।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥

जिसके धनुषकी टंकारसे समस्त शत्रु थर्रा उठते थे, आज अन्तःपुरकी स्त्रियाँ उसीके गीतोंकी ध्वनि सुनती और प्रसन्न होती हैं ॥ १८ ॥

किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनंजयः ॥ १९ ॥

जिसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी किरीट शोभा पाता था, सिरपर चोटी धारण करनेके कारण उसी अर्जुनके केशोंकी शोभा बिगड़ गयी है ॥ १९ ॥

तं वेणीकृतकेशान्तं भीमधन्वानमर्जुनम् ।
कन्यापरिवृतं दृष्ट्वा भीम सीदति मे मनः ॥ २० ॥

भीम ! भयंकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनको अपने सिरपर केशोंकी चोटी धारण किये कन्याओंसे घिरा देख मेरा हृदय विषादसे भर जाता है ॥ २० ॥

यस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि ।
आधारः सर्वविद्यानां स धारयति कुण्डले ॥ २१ ॥

जिस महात्मामें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विद्याओंका आधार है, वह आज कानोंमें (स्त्रियोंकी भाँति) कुण्डल धारण करता है ॥ २१ ॥

यं स्म राजसहस्राणि तेजसाप्रतिमानि वै ।
समरे नाभ्यवर्तन्त वेलामिव महार्णवः ॥ २२ ॥
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ।
आस्ते वेषप्रतिच्छन्नः कन्यानां परिचारकः ॥ २३ ॥

जैसे महासागर तट सीमाको नहीं लाँघ पाता, उसी प्रकार सहस्रों अप्रतिम तेजवाले राजा जिस वीरको वशीभूत करनेके लिये आगे न बढ़ सके, वही तरुण अर्जुन इस समय राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखा रहा है और हीजड़ेके वेषमें छिपकर उन कन्याओंकी सेवा करता है ॥२२-२३॥

यस्य स्म रथघोषेण समकम्पत मेदिनी ।
सपर्वतवना भीम सहस्थावरजङ्गमा ॥ २४ ॥
यस्मिञ्जाते महाभागे कुन्त्याः शोको व्यनश्यत ।
स शोचयति मामद्य भीमसेन तवानुजः ॥ २५ ॥

भीमसेन ! जिसके रथकी घर्घराहटसे पर्वत, वन और चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठती थी, जिस महान् भाग्यशाली पुत्रके उत्पन्न होनेपर माता कुन्तीका सारा शोक नष्ट हो गया था, वही तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन आज अपनी दुरवस्थाके कारण मुझे शोकमग्न किये देता है ॥ २४-२५ ॥

भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहाटकैः ।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २६ ॥

अर्जुनको स्त्रीजनोचित आभूषणों तथा सुवर्णमय कुण्डलोंसे विभूषित हो हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण किये आते देख मेरा हृदय दुःखित हो जाता है ॥ २६ ॥

यस्य नास्ति समो वीर्ये कश्चिदुर्व्यां धनुर्धरः ।
सोऽद्य कन्यापरिवृतो गायन्नास्ते धनंजयः ॥ २७ ॥

इस भूतलपर जिसके बल-पराक्रमकी समानता करनेवाला कोई धनुर्धर वीर नहीं है, वही धनंजय आज राजकन्याओंके बीचमें बैठकर गीत गाया करता है ॥ २७ ॥

धर्मे शौर्ये च सत्ये च जीवलोकस्य सम्मतम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २८ ॥

धर्म, शूरवीरता और सत्यभाषणमें जो सम्पूर्ण जीवजगत्‌के लिये एक आदर्श था, उसी अर्जुनको अब स्त्रीवेषमें विकृत हुआ देखकर मेरा हृदय शोकमें डूब जाता है ॥२८॥

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
पश्यामि तूर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ॥ ३० ॥

हथिनियोंसे घिरे हुए गण्डस्थलसे मधुकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति जब वाद्ययन्त्रोंके बीचमें बैठे हुए देवरूपधारी कुन्तीनन्दन अर्जुनको (नृत्यशालामें) कन्याओंसे घिरकर धनपति मत्स्यराज विराटकी सेवामें उपस्थित देखती हूँ, उस समय मेरी आँखोंमें अँधेरा छा जाता है; मुझे दिशाएँ नहीं सूझती हैं ॥ २९-३० ॥

नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ३१ ॥

निश्चय ही मेरी सास कुन्ती नहीं जानती होंगी कि मेरा पुत्र धनंजय ऐसे संकटमें पड़ा है और खोटे जूएके खेलमें आसक्त कुरुवंशशिरोमणि अजातशत्रु युधिष्ठिर भी शोकमें डूबे हुए हैं ॥ ३१ ॥

(ऐन्द्रवारुणवायव्यब्राह्माग्नेयैश्च वैष्णवैः ।
अग्नीन् संतर्पयन् पार्थःसर्वांश्चैकरथोऽजयत् ॥
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥
दिव्यं गान्धर्वमस्त्रं च वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ब्राह्मं पाशुपतं चैव स्थूणाकर्णं च दर्शयन् ॥
पौलोमान् कालकेयांश्च इन्द्रशत्रून् महासुरान् ।
निवातकवचैः सार्धं घोरानेकरथोऽजयत् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥

जिन कुन्तीकुमार अर्जुनने ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, ब्राह्म, आग्नेय और वैष्णव अस्त्रोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करते हुए एकमात्र रथकी सहायतासे सब देवताओंको जीत लिया, जिनका आत्मबल अचिन्त्य है, जो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने एकमात्र

रथपर आरूढ़ हो दिव्य गान्धर्व, वायव्य, वैष्णव, ब्राह्म, पाशुपत तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए युद्धमें निवातकवचोंसहित भयंकर पौलोम और कालकेय आदि महान् असुरोंको, जो इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले थे, परास्त कर दिया था, वे ही अर्जुन आज अन्तःपुरमें उसी प्रकार छिपे बैठे हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि कुएँमें ढक दी गयी हो ॥

कन्यापुरगतं दृष्ट्वा गोष्ठेष्विव महर्षभम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं कुन्तीं गच्छति मे मनः ॥)

जैसे बड़ा भारी साँड़ गोशालाओंमें आबद्ध हो, उसी प्रकार स्त्रियोंके वेषसे विकृत अर्जुनको कन्याओंके अन्तःपुरमें देखकर मेरा मन बार-बार कुन्तीदेवीकी याद करता है ॥

तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
गोषु गोवेषमायान्तं पाण्डुभूतास्मि भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इसी प्रकार तुम्हारे छोटे भाई सहदेवको, जो गौओंका पालक बनाया गया है, जब मैं गौओंके बीच ग्वालेके वेशमें आते देखती हूँ, तो मेरा रक्त सूख जाता है और सारा शरीर पीला पड़ जाता है ॥ ३२ ॥

सहदेवस्य वृत्तानि चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥

भीमसेन ! सहदेवकी दुर्दशाका बार-बार चिन्तन करनेके कारण मुझे कभी नींदतक नहीं आती; फिर सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३३ ॥

न विन्दामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

महाबाहो ! जहाँतक मैं जानती हूँ, सहदेवने कभी कोई पाप नहीं किया है, जिससे इस सत्यपराक्रमी वीरको ऐसा दुःख उठाना पड़े ॥ ३४ ॥

दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट तुम्हारे प्रिय भ्राता सहदेवको राजा विराटके द्वारा गौओंकी सेवामें लगाया गया देख मुझे बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनन्दन्तमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥

गेरू आदिसे लाल रंगका श्रृङ्गार धारण किये ग्वालोंके अगुआ बने हुए सहदेवको उद्विग्न होनेपर भी जब मैं राजा विराटका अभिनन्दन करते देखती हूँ, तब मुझे बुखार चढ़ आता है ॥ ३६ ॥

सहदेवं हि मे वीरं नित्यमार्या प्रशंसति ।
महाभिजनसम्पन्नः शीलवान् वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥

वीर ! आर्या कुन्ती मुझसे सहदेवकी सदा प्रशंसा किया करती थीं कि यह महान् कुलमें उत्पन्न, शीलवान् और सदाचारी है ॥ ३७ ॥

ह्रीनिषेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पाञ्चालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजन्तं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥

मुझे स्मरण है, जब सहदेव महान् वनमें आने लगे, उस समय पुत्रवत्सला माता कुन्ती उन्हें हृदयसे लगाकर खड़ी हो गयीं और रोती हुई मुझसे यों कहने लगीं—'याज्ञसेनी ! सहदेव बड़ा लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है । यह मुझे अत्यन्त प्रिय है । इसे वनमें रात्रिके समय तुम स्वयं सँभालकर (हाथ पकड़कर) ले जाना; क्योंकि यह सुकुमार है (सम्भव है, थकावटके कारण चल न सके) । मेरा सहदेव शूरवीर, राजा युधिष्ठिरका भक्त, अपने बड़े भाईका पुजारी और वीर है । पाञ्चालराजकुमारी ! तुम इसे अपने हाथों भोजन कराना ॥ ३८-४० ॥

तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किं नु जीवामि पाण्डव ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन ! योद्धाओंमें श्रेष्ठ उसी सहदेवको जब मैं गौओंकी सेवामें तत्पर और बछड़ोंके चमड़ेपर रातमें सोते देखती हूँ, तब किसलिये जीवन धारण करूँ ? ॥ ४१ ॥

यस्त्रिभिर्नित्यसम्पन्नो रूपेणास्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबन्धो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार जो सुन्दर रूप, अस्त्रबल और मेधाशक्ति—इन तीनोंसे सदा सम्पन्न रहता है, वह वीरवर नकुल आज विराटके यहाँ घोड़े बाँधता है । देखो, कालकी कैसी विपरीत गति है ? ॥ ४२ ॥

अभ्यकीर्यन्त वृन्दानि दामग्रन्थिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयन्तं जवेनाश्वान् महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

जिसे देखकर शत्रुओंके समुदाय बिखर जाते—भाग खड़े होते हैं, वही अब ग्रन्थिक बनकर घोड़ोंकी रास खोलता और बाँधता है तथा महाराजके सामने अश्वोंको वेगसे चलनेकी शिक्षा देता है ॥ ४३ ॥

अपश्यमेनं श्रीमन्तं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठन्तं दर्शयन्तं च वाजिनः ॥ ४४ ॥

मैंने शोभासम्पन्न, तेजस्वी तथा उत्तम रूपवाले नकुलको अपनी आँखों देखा है । वह मत्स्यनरेश विराटको भाँति-भाँतिके घोड़े दिखाता और उनकी सेवामें खड़ा रहता है ॥

किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

कुन्तीनन्दन ! शत्रुदमन ! क्या तुम समझते हो, यह सब देखकर मैं सुखी हूँ ? राजा युधिष्ठिरके कारण ऐसे सैकड़ों दुःख मुझे सदा घेरे रहते हैं ॥ ४५ ॥

अतः प्रतिविशिष्टानि दुःखान्यन्यानि भारत।
वर्तन्ते मयि कौन्तेय वक्ष्यामि शृणु तान्यपि ॥ ४६ ॥

भारत ! कुन्तीकुमार ! इनसे भी भारी दूसरे दुःख मुझपर आ पड़े हैं, उनका भी वर्णन करती हूँ, सुनो ॥ ४६ ॥

युष्मासु ध्रियमाणेषु दुःखानि विविधान्युत।
शोषयन्ति शरीरं मे किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४७ ॥

तुम सबके जीते-जी नाना प्रकारके कष्ट मेरे शरीरको सुखा रहे हैं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसेनसंवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा भीमसेनसे अपना दुःख निवेदन करना

द्रौपद्युवाच

अहं सैरन्ध्रिवेषेण चरन्ती राजवेश्मनि।
शौचदास्मि सुदेष्णाया अक्षधूर्तस्य कारणात् ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—परंतप ! तुम्हारे जूएमें चतुर चालाक भाईके कारण आज मैं राजमहलमें सैरन्ध्रीका वेश धारण करके टहल बजाती और रानी सुदेष्णाको स्नानकी वस्तुएँ जुटाकर देती हूँ ॥ १ ॥

विक्रियां पश्य मे तीव्रां राजपुत्र्याः परंतप।
आत्मकालमुदीक्षन्ती सर्वं दुःखं किलान्तवत् ॥ २ ॥

राजपुत्री होकर भी मुझे कैसा भारी हीन कार्य करना पड़ता है, यह अपनी आँखों देख लो; परंतु सब लोग अपने अभ्युदयका अवसर देखते रहते हैं; क्योंकि यदि दुःख आता है, तो उसका अन्त भी होता ही है ॥ २ ॥

अनित्या किल मर्त्यानामर्थसिद्धिर्जयाजयौ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ३ ॥

मनुष्योंकी अर्थ-सिद्धि या जय-पराजय अनित्य हैं। वे सदा स्थिर नहीं रहते। यही सोचकर मैं अपने पतियोंके पुनः अभ्युदयकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ३ ॥

चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यर्थाश्च व्यसनानि च।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ४ ॥

धन और व्यसन (सम्पत्ति और विपत्ति) सदा गाड़ीके पहियेकी तरह घूमा करते हैं; ऐसा विचारकर मैं पतियोंके पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ४ ॥

य एव हेतुर्भवति पुरुषस्य जयावहः।
पराजये च हेतुश्च स इति प्रतिपालये।
किं मां न प्रतिजानीषे भीमसेन मृतामिव ॥ ५ ॥

जो काल मनुष्यके लिये विजयदायक होता है, वही उसकी पराजयका भी कारण बन जाता है। ऐसा विचारकर मैं अपने पक्षकी विजयके अवसरकी राह देखती हूँ। भीमसेन ! क्या तुम नहीं जानते कि इन दुःखोंके आघातसे मैं मरी हुई-सी हो गयी हूँ ॥ ५ ॥

दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे।
पातयित्वा च पात्यन्ते परैरिति च मे श्रुतम् ॥ ६ ॥

मैंने सुना है, जो मनुष्य दान करते हैं, वे ही कभी याचनाके लिये विवश हो जाते हैं। दूसरे बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं, जो दूसरोंको मारकर स्वयं भी दूसरोंके द्वारा मारे जाते हैं तथा जो दूसरोंको नीचे गिराते हैं, वे स्वयं भी दूसरे प्रतिपक्षियोंद्वारा नीचे गिराये जाते हैं ॥ ६ ॥

न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम्।
इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये ॥ ७ ॥

अतः दैवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। दैवके विधानको लाँघ जाना भी असम्भव है। इसलिये मैं दैवकी प्रधानता बतानेवाले शास्त्र-वचनोंका पालन करती—उन्हें आदर देती हूँ ॥ ७ ॥

स्थितं पूर्वं जलं यत्र पुनस्तत्रैव गच्छति।
इति पर्यायमिच्छन्ती प्रतीक्षे उदयं पुनः ॥ ८ ॥

पानी जहाँ पहले स्थिर होता है, वह फिर भी वहीं ठहरता है। इस क्रमको चाहती हुई मैं पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ८ ॥

दैवेन किल यस्यार्थः सुनीतोऽपि विपद्यते।
दैवस्य चागमे यत्नस्तेन कार्यो विजानता ॥ ९ ॥

उत्तम नीतिद्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हो, तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है; अतः विज्ञ पुरुषको दैवको अनुकूल बनानेका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९ ॥

यत् तु मे वचनस्यास्य कथितस्य प्रयोजनम्।
पृच्छ मां दुःखितां तत्त्वं पृष्टा चात्र ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

मैंने इस समय जो ये बातें कही हैं, इनका क्या प्रयोजन है ? यह मुझ दुखियासे पूछो । तुम्हारे पूछनेपर यहाँ मैं यथार्थ बात बताती हूँ, सुनो ॥ १० ॥

महिषी पाण्डुपुत्राणां दुहिता द्रुपदस्य च ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता मदन्या का जिजीविषेत् ॥ ११ ॥

मैं पाण्डवोंकी पटरानी और द्रुपदकी पुत्री होकर भी ऐसी दुर्दशामें पड़ी हूँ । मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री ऐसी अवस्थामें जीना चाहेगी ? ॥ ११ ॥

कुरून् परिभवेत् सर्वान् पञ्चालानपि भारत ।
पाण्डवेयांश्च सम्प्राप्तो मम क्लेशो ह्यरिंदम ॥ १२ ॥

भारत ! शत्रुदमन ! मुझपर पड़ा हुआ यह क्लेश समस्त कौरवों, पाञ्चालों और पाण्डवोंके लिये अपमानकी बात है ॥ १२ ॥

भ्रातृभिः श्वशुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं समुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ॥ १३ ॥

जिसके बहुत-से भाई, श्वशुर और पुत्र हों, जो इन सबसे घिरी हुई हो तथा भलीभाँति अभ्युदयशील हो, ऐसी परिस्थितिमें मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री दुःख भोगनेके लिये विवश हुई होगी ? ॥ १३ ॥

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद् दुर्नीतं प्राप्तास्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, बचपनमें मैंने विधाताका निश्चय ही महान् अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशामें पड़ गयी हूँ ॥ १४ ॥

वर्णावकाशमपि मे पश्य पाण्डव यादृशम् ।
तादृशो मे न तत्रासीद् दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, मेरे शरीरकी कान्ति कैसी फीकी पड़ गयी है ! यहाँ नगरमें मेरी जो अवस्था है, वह उन दिनों अत्यन्त दुःखपूर्ण वनवासके समय भी नहीं थी ॥१५॥

त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
साहं दासीत्वमापन्ना न शान्तिमवशा लभे ॥ १६ ॥
नादैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
भीमधन्वा महाबाहुरास्ते छन्न इवानलः ॥ १७ ॥

भीमसेन ! तुम्हीं जानते हो, पहले मुझे कितना सुख था । यहाँ आकर जबसे मैं दासीभावको प्राप्त हुई हूँ, तभीसे परतन्त्र होनेके कारण मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । इसे मैं दैवकी ही लीला मानती हूँ । जहाँ प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी राखसे ढकी हुई अग्निकी भाँति रनिवासमें छिपकर रहते हैं ॥ १६-१७ ॥

अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिन्तितम् ॥ १८ ॥

कुन्तीनन्दन ! दैवाधीन प्राणियोंकी कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्योंके लिये सर्वथा असम्भव है । मैं तो समझती हूँ, तुमलोगोंकी जो यह अवनति हुई है, इसकी किसीके मनमें कल्पनातक नहीं थी ॥ १८ ॥

यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा ।
सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥

एक दिन वह था कि इन्द्रके समान पराक्रमी तुम सब भाई सदा मेरा मुँह निहारा करते थे । आज वही मैं श्रेष्ठ होकर भी अपनेसे निकृष्ट दूसरी स्त्रियोंका मुँह जोहती रहती हूँ ॥ १९ ॥

पश्य पाण्डव मेऽवस्थां यथा नार्हामि वै तथा ।
युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
आसीत् साद्य सुदेष्णाया भीताहं वशवर्तिनी ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, तुम सबके जीते-जी मैं ऐसी बुरी हालतमें पड़ी हूँ, जो मेरे लिये कदापि उचित नहीं है । समयके इस उलट-फेरको तो देखो; एक दिन समुद्रके पास-तककी सारी पृथ्वी जिसके अधीन थी, वही मैं आज सुदेष्णाके वशमें होकर उससे डरती रहती हूँ ॥ २०-२१ ॥

यस्याः पुरःसरा आसन् पृष्ठतश्चानुगामिनः ।
साहमद्य सुदेष्णायाः पुरः पश्चाच्च गामिनी ॥ २२ ॥

जिसके आगे और पीछे बहुत-से सेवक रहा करते थे, वही मैं अब रानी सुदेष्णाके आगे और पीछे चलती हूँ ॥

इदं तु दुःखं कौन्तेय ममासह्यं निबोध तत् ।
या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः ।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम् ॥ २३ ॥
पश्य कौन्तेय पाणी मे नैवाभूतां हि यौ पुरा ।

कुन्तीकुमार ! इसके सिवा मेरे एक और असह्य दुःखको तो देखो । पहले मैं माता कुन्तीको छोड़कर (और किसीके लिये तो क्या) स्वयं अपने लिये भी कभी उबटन नहीं पीसती थी; किंतु वही मैं आज दूसरोंके लिये चन्दन घिसती हूँ । पार्थ ! देखो, ये मेरे दोनों हाथ, जिनमें घट्टे पड़ गये हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे ॥ २३½ ॥

इत्यस्य दर्शयामास किणबन्धौ कराबुभौ ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर द्रौपदीने भीमसेनको अपने दोनों हाथ दिखाये, जिनमें चन्दन रगड़नेसे काले दाग पड़ गये थे ॥

बिभेमि कुन्त्या या नाहं युष्माकं वा कदाचन ।
साद्याग्रतो विराटस्य भीता तिष्ठामि किङ्करी ॥ २५ ॥

(फिर वह सिसकती हुई बोली—) 'नाथ ! जो पहले कभी आर्या कुन्तीसे अथवा तुमलोगोंसे भी नहीं डरती थी, वही द्रौपदी आज दासी होकर राजा विराटके आगे भयभीत-सी खड़ी रहती है' ॥ २५ ॥

किं नु वक्ष्यति सम्राण्मां वर्णकः सुकृतो न वा।
नान्यपिष्टं हि मत्स्यस्य चन्दनं किल रोचते ॥ २६ ॥

उस समय मैं सोचती हूँ, 'न जाने सम्राट् मुझे क्या कहेंगे ? यह उबटन अच्छा बना है या नहीं !' मेरे सिवा दूसरेका पीसा हुआ चन्दन मत्स्यराजको अच्छा ही नहीं लगता ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा कीर्तयन्ती दुःखानि भीमसेनस्य भामिनी।
रुरोद शनकैः कृष्णा भीमसेनमुदीक्षती ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भामिनी द्रौपदी इस प्रकार भीमसेनसे अपने दुःख बताकर उनके मुखकी ओर देखती हुई धीरे-धीरे रोने लगी ॥ २७ ॥

सा बाष्पकलया वाचा निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
हृदयं भीमसेनस्य घट्टयन्तीदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

वह बार-बार लंबी साँसें लेती हुई आँसुओंसे गद्गद वाणीमें भीमसेनके हृदयको कम्पित करती हुई इस प्रकार बोली—॥ २८ ॥

नाल्पं कृतं मया भीम देवानां किल्बिषं पुरा।
अभाग्या यत्र जीवामि कर्तव्ये सति पाण्डव ॥ २९ ॥

'पाण्डुनन्दन भीमसेन ! मैंने पूर्वकालमें देवताओंका थोड़ा अपराध नहीं किया है, तभी तो मुझ अभागिनीको जहाँ मर जाना चाहिये, उस दशामें भी मैं जी रही हूँ ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणबद्धौ वृकोदरः।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुहन्ता भीमसेन अपनी पत्नी द्रौपदीके दुबले-पतले हाथोंको, जिनमें घट्ठे पड़ गये थे, अपने मुखपर लगाकर रो पड़े ॥

तौ गृहीत्वा च कौन्तेयो बाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान्।
ततः परमदुःखार्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

फिर पराक्रमी भीमने उन हाथोंको पकड़कर आँसू बहाते हुए अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो इस प्रकार कहा ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीमसेन और द्रौपदीका संवाद

भीमसेन उवाच

धिगस्तु मे बाहुबलं गाण्डीवं फाल्गुनस्य च।
यत् ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—देवि ! मेरे बाहुबलको तथा अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है; क्योंकि तुम्हारे ये दोनों कोमल हाथ, जो पहले लाल थे, अब घट्ठे पड़नेसे काले हो गये हैं ॥ १ ॥

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत्।
तत्र मे कारणं भाति कौन्तेयो यत् प्रतीक्षते ॥ २ ॥

मैं तो उसी दिन विराटकी सभामें ही भारी संहार मचा देता, किंतु ऐसा न करनेमें कारण बन गये कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर। वे प्रकट हो जानेका भय सूचित करते हुए मेरी ओर देखने लगे ॥ २ ॥

अथवा कीचकस्याहं पोथयामि पदा शिरः।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥

अथवा ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए उस कीचकका मस्तक मैं उसी प्रकार पैरोंसे रौंद डालता जैसे क्रीडा करता हुआ महान् गजराज कीचक (बाँस) के वृक्षको मसल डालता है ॥

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम्।
तदैवाहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥

कृष्णे ! जब कीचकने तुम्हें लातसे मारा था, उस समय मैं वहीं था और अपनी आँखों यह घटना मैंने देखी थी। उसी क्षण मेरी इच्छा हुई कि आज इन मत्स्यदेशवासियोंका महासंहार कर डालूँ ॥ ४ ॥

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत्।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवास्मि भामिनि ॥ ५ ॥

किंतु धर्मराजने वहाँ नेत्रोंसे संकेत करके मुझे ऐसा करनेसे रोक दिया। भामिनि ! उनके उस इशारेको समझकर ही मैं चुप रह गया ॥ ५ ॥

यच्च राष्ट्रात् प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ॥ ६ ॥
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाहृतं शिरः।

तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवार्पितम्।
मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥

जिस दिन हमें राज्यसे वञ्चित किया गया, उसी दिन जो कौरवोंका वध नहीं हुआ, दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा पापी दुःशासनके मस्तक मैंने नहीं काट डाले, यह सब सोचकर मेरे हृदयमें काँटा-सा चुभ जाता है और शरीरमें आग लग जाती है। सुश्रोणि ! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, धर्मको न छोड़ो; क्रोधका त्याग करो ॥ ६-७ ॥

इमं तु समुपालम्भं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः।
शृणुयाद् वापि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात् स जीवितम्।८।

कल्याणी ! यदि राजा युधिष्ठिर तुम्हारे मुखसे यह सारा उपालम्भ सुन लेंगे, तो वे प्राण त्याग देंगे ॥ ८ ॥

धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे।
लोकान्तरगतेष्वेषु नाहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥

सुश्रोणि ! तनुमध्यमे ! धनंजय अथवा नकुल-सहदेव भी इसे सुनकर जीवित नहीं रह सकते। इन सबके परलोकवासी हो जानेपर मैं भी नहीं जी सकूँगा ॥ ९ ॥

पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने।
वल्मीकभूतं शाम्यन्तमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
नारायणी चेन्द्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता।
पतिमन्वचरद् वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥

प्राचीन कालकी बात है; भृगुनन्दन महर्षि च्यवन तपस्या करते-करते बाँबीके समान हो गये थे; मानो अब उनका जीवन-दीप बुझ जायगा; ऐसी दशा हो गयी थी, तो भी उनकी कल्याण-मयी पत्नी सुकन्याने उन्हींका अनुसरण किया—वह उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रही। नारायणी इन्द्रसेना भी अपने रूप-सौन्दर्यके कारण विख्यात थी। तुमने भी उसका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें उसने अपने हजार वर्षके बूढ़े पति मुद्गल ऋषिकी निरन्तर सेवा की थी ॥ १०-११ ॥

दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता।
पतिमन्वचरत् सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥

जनकनन्दिनी वैदेही सीताका नाम तो तुम्हारे कानोंमें पड़ा ही होगा। उन्होंने अत्यन्त घोर वनमें निवास करनेवाले अपने पति श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन किया था ॥ १२ ॥

रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया।
क्लिश्यमानापि सुश्रोणि राममेवान्वपद्यत ॥ १३ ॥

सुश्रोणि ! जानकी श्रीरामकी प्यारी रानी थीं। वे राक्षसकी कैदमें पड़कर दीर्घकालतक क्लेश उठाती रहीं, तो भी उन्होंने श्रीरामको ही अपनाये रक्खा; अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥ १३ ॥

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता।
अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान् सर्वानमानुषान्॥ १४

भीरु ! नयी अवस्था और अनुपम रूप-सौन्दर्यसे सम्प राजकुमारी लोपामुद्राने सम्पूर्ण अलौकिक सुख-भोगोंपर ला मारकर अपने पति महर्षि अगस्त्यका ही अनुसर किया था ॥ १४ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिन्दिता।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५

सती-साध्वी मनस्विनी सावित्री द्युमत्सेनके पुत्र वीरव सत्यवान्‌के मर जानेपर उनके पीछे-पीछे अकेली ही यमलोक की ओर गयी थी ॥ १५ ॥

यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६

कल्याणि ! इन रूपवती पतिव्रता नारियोंका जैसा आद बताया गया है, उसी प्रकार तुम भी समस्त सद्गुणों सम्पन्न हो ॥ १६ ॥

मादीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्धं च सम्मितम्।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७।

अब तुम थोड़े दिनोंतक और ठहर जाओ। व पूरा होनेमें महीना—आध-महीना और रह गया है। तेरहवें वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी बनोगी ॥ १७ ॥

(सत्येन ते शपे चाहं भविता नान्यथेति ह।
सर्वासां परमस्त्रीणां प्रामाण्यं कर्तुमर्हसि।

देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, ऐसा ही होगा यह टल नहीं सकता। तुम्हें सभी श्रेष्ठ स्त्रियोंके समक्ष अपन आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

सर्वेषां च नरेन्द्राणां मूर्ध्नि स्थास्यसि भामिनि ॥
भर्तृभक्त्या च वृत्तेन भोगान् प्राप्स्यसि दुर्लभान्)॥

भामिनि ! तुम अपनी पतिभक्ति तथा सदाचारसे सम्पूर्ण नरेशोंके मस्तकपर स्थान प्राप्त करोगी और तुम्हें दुर्लभ भोग सुलभ होंगे ॥

द्रौपद्युवाच

आर्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम्।
अपारयन्त्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥

द्रौपदीने कहा—प्राणनाथ भीम ! इधर अनेक प्रकार के दुःखोंको सहन करनेमें असमर्थ एवं आर्त होकर ही मैंने ये आँसू बहाये हैं। मैं राजा युधिष्ठिरको उलाहना नहीं दूँगी॥ १८॥

किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्यानन्तरो भव ॥ १९ ॥

महाबली भीमसेन ! अब बीती बातोंको दुहरानेसे क्य

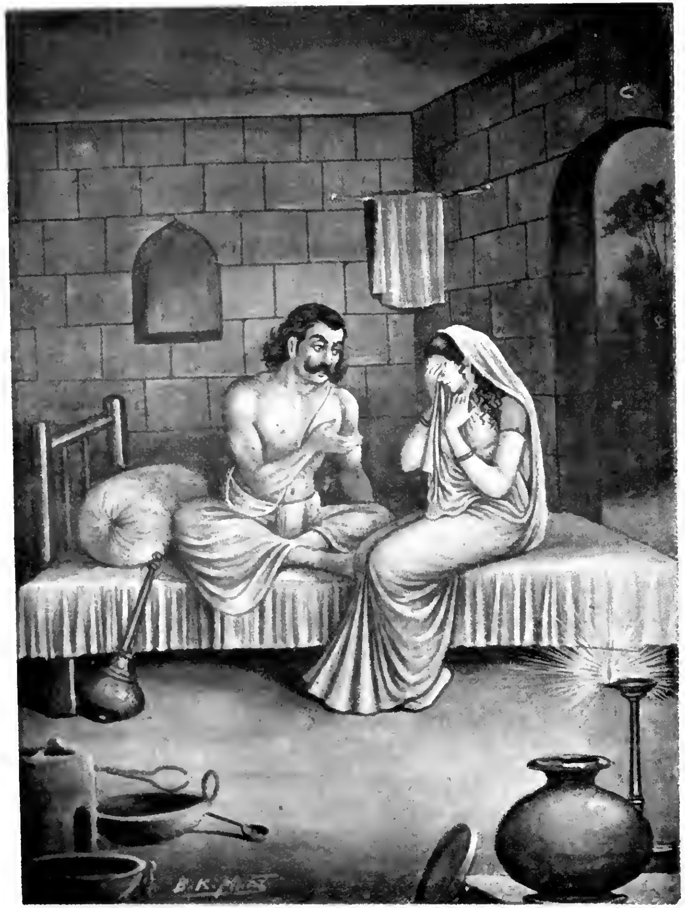

भीमसेन और द्रौपदी

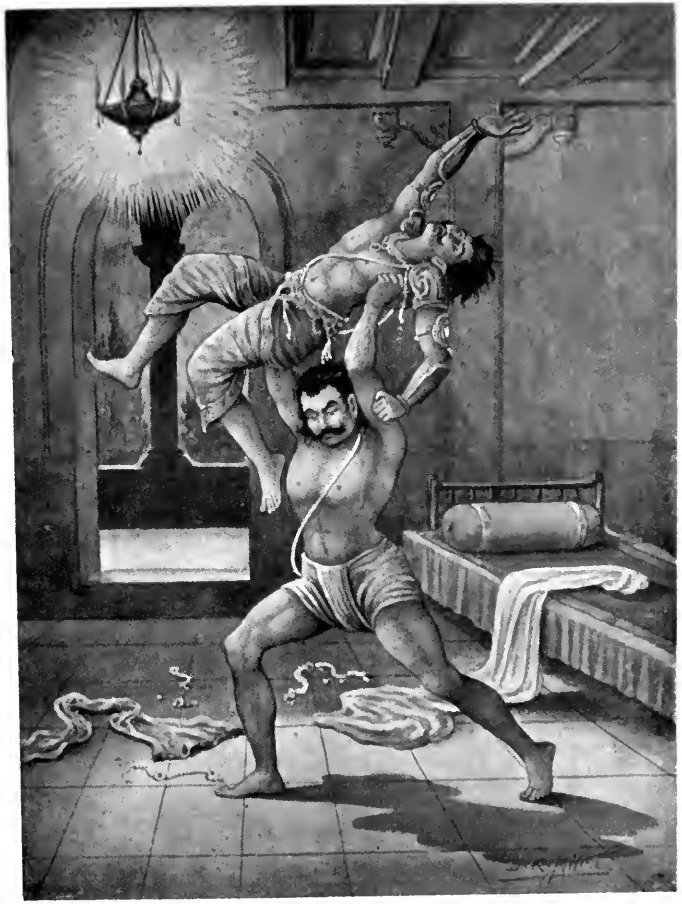

कीचक-वध

लाभ ! इस समय जिसका अवसर उपस्थित है, उस कार्यके लिये तैयार हो जाओ ॥ १९ ॥

ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशङ्कया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥

भीम ! केकयकुमारी सुदेष्णा यहाँ मेरे रूपसे पराजित होनेके कारण सदा इस शङ्कासे उद्विग्न रहती है कि राजा विराट किसी प्रकार इसपर आसक्त न हो जायँ ॥ २० ॥

तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चानृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम् ॥ २१ ॥

जिसका देखना भी अनृत (पापमय) है, वही यह परम दुष्टात्मा कीचक रानी सुदेष्णाके उक्त मनोभावको जानकर सदा स्वयं आकर मेरे आगे प्रार्थना किया करता है ॥ २१ ॥

तमहं कुपिता भीम पुनः कोपं नियम्य च ।
अब्रुवं कामसम्मूढमात्मानं रक्ष कीचक ॥ २२ ॥

भीम ! पहले-पहल उसके ऐसा कहनेपर मैं कुपित हो उठी; किंतु पुनः क्रोधके वेगको रोककर बोली—'कीचक ! तू कामसे मोहित हो रहा है । अरे ! तू अपने आपकी रक्षा कर ॥ २२ ॥

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः शूराः साहसकारिणः ॥ २३ ॥

'मैं पाँच गन्धर्वोंकी पत्नी तथा प्यारी रानी हूँ । वे साहसी तथा शूरवीर गन्धर्व तुम्हें कुपित होकर मार डालेंगे' ॥

एवमुक्तः सुदुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह ।
नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते ॥ २४ ॥

मेरे ऐसा कहनेपर महा दुष्टात्मा कीचकने उत्तर दिया—'पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री ! मैं गन्धर्वोंसे नहीं डरता ॥ २४ ॥

शतं शतसहस्राणि गन्धर्वाणामहं रणे ।
समागतं हनिष्यामि त्वं भीरु कुरु मे क्षणम् ॥ २५ ॥

'भीरु ! यदि युद्धमें मेरे सामने एक करोड़ गन्धर्व भी आ जायँ, तो मैं उन्हें मार डालूँगा; परंतु तुम मुझे स्वीकार कर लो' ॥ २५ ॥

इत्युक्ते चाब्रुवं मत्तं कामातुरमहं पुनः ।
न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ॥ २६ ॥

उसके इस प्रकार उत्तर देनेपर मैंने पुनः उस कामातुर और मतवाले कीचकसे कहा—'कीचक ! तू मेरे यशस्वी पति गन्धर्वोंके समान बलवान् नहीं है ॥ २६ ॥

धर्मे स्थितास्मि सततं कुलशीलसमन्विता ।
नेच्छामि कंचिद् वध्यन्तं तेन जीवसि कीचक ॥ २७ ॥

'मैं सदा पातिव्रत्य-धर्ममें स्थित रहती हूँ एवं अपने उत्तम कुलकी मर्यादा और सदाचारसे सम्पन्न हूँ । मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण किसीका वध हो, इसीलिये तू अबतक जीवित है' ॥ २७ ॥

एवमुक्तः स दुष्टात्मा प्राहसत् स्वनवत् तदा ।
अथ मां तत्र कैकेयी प्रैषयत् प्रणयेन तु ॥ २८ ॥
तेनैव देशिता पूर्वं भ्रातृप्रियचिकीर्षया ।
सुरामानय कल्याणि कीचकस्य निवेशनात् ॥ २९ ॥

मेरी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा ठहाका मारकर हँसने लगा । तदनन्तर केकयराजकुमारी सुदेष्णा, जैसा कीचकने पहले उसे सिखा रक्खा था, उसी योजनाके अनुसार अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे मुझे प्रेमपूर्वक कीचकके यहाँ भेजने लगी और बोली—'कल्याणि ! तुम कीचकके महलसे मेरे लिये मदिरा ले आओ' ॥ २८-२९ ॥

सूतपुत्रस्तु मां दृष्ट्वा महत् सान्त्वमवर्तयत् ।
सान्त्वे प्रतिहते क्रुद्धः परामर्शमनाभवत् ॥ ३० ॥

मैं वहाँ गयी । सूतपुत्रने मुझे देखकर पहले तो अपनी बात मान लेनेके लिये बड़े-बड़े आश्वासनोंके साथ समझाना आरम्भ किया; किंतु जब मैंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी, तब उसने क्रोधपूर्वक मेरे साथ बलात्कार करनेका विचार किया ॥

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥

दुरात्मा कीचकके उस संकल्पको मैं जान गयी और राजाकी शरणमें पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे भागी ॥ ३१ ॥

संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥

किंतु वहाँ भी दुष्टात्मा सूतपुत्रने राजाके सामने मुझे पकड़ लिया और पृथ्वीपर गिराकर लातसे मारा ॥ ३२ ॥

प्रेक्षते स्म विराटस्तु कङ्कस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥

राजा विराट देखते रह गये । कङ्क तथा अन्य लोगोंने भी यह सब देखा । रथी, पीठमर्द (राजाके प्रिय व्यक्ति), महावत, वैदिक विद्वान् तथा नागरिक—सबकी दृष्टिमें यह बात आयी थी ॥ ३३ ॥

उपालब्धो मया राजा कङ्कश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याविनयः कृतः ॥ ३४ ॥

मैंने राजा विराट और कङ्कको बार-बार फटकारा, तो भी राजाने न तो उसे मना किया और न उसकी उद्दण्डताका दमन ही किया ॥ ३४ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः ।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसम्मतः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा विराटका यह जो कीचक नामवाला सारथि है,

इसने धर्मको त्याग दिया है । यह अत्यन्त क्रूर है, तो भी विराट और सुदेष्णा दोनों पति-पत्नी उसे बहुत मानते हैं । यह उनका प्रिय सेनापति है ॥ ३५ ॥

शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान्।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान् बहूनपि ॥ ३६॥

इसे अपनी शूरवीरताका बड़ा अभिमान है ! यह पापात्मा सब बातोंमें मूर्ख है । महाभाग ! यह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करता और लोगोंसे बहुत धन हड़पता रहता है ॥ ३६ ॥

आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि।
न तिष्ठति स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति॥ ३७॥

लोग रोते-चिल्लाते रह जाते हैं; किंतु यह उनका सारा धन हड़प लेता है । यह सन्मार्गमें स्थिर नहीं रहता तथा धर्मोपार्जन भी नहीं करना चाहता है ॥ ३७ ॥

पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः ।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८॥

यह पापात्मा है; इसके मनमें पापकी ही वासना है । यह कामदेवके बाणोंसे विवश हो रहा है। उद्दण्ड और दुष्टात्मा तो है ही । मैंने बार-बार इसकी प्रार्थना ठुकरायी है ॥

दर्शने दर्शने हन्याद् यदि जह्यां च जीवितम्।
तद् धर्मे यतमानानां महान् धर्मो नशिष्यति ॥ ३९॥

अतः यह जब-जब सामने आयेगा, मुझे मारेगा। सम्भव है, किसी दिन मुझे जीवनसे भी हाथ धोना पड़े । उस दशामें धर्मके लिये प्रयत्न करनेवाले तुम सब लोगोंका सबसे महान् धर्म नष्ट हो जायगा ॥ ३९ ॥

समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४० ॥

यदि तुम लोग प्रतिज्ञाके अनुसार तेरह वर्षकी अवधिका पालन करते रहोगे, तो तुम्हारी यह भार्या जीवित न रहेगी। भार्याकी रक्षा करनेपर संतानकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः॥ ४१ ॥

संतानकी रक्षा होनेपर अपना आत्मा सुरक्षित होता है । आत्मा ही पत्नीके गर्भसे पुत्ररूपमें जन्म लेता है । इसीलिये विद्वान् पुरुष पत्नीको 'जाया' कहते हैं ॥ ४१ ॥

भर्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।
वदतां वर्णधर्मांश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२ ॥

मैंने वर्णधर्मका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंके मुँहसे सुना है, पत्नीको पतिकी रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी दिन मेरे पेटसे पुत्ररूपमें जन्म लेगा ॥ ४२ ॥

क्षत्रियस्य सदा धर्मो नान्यः शत्रुनिबर्हणात्।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् ॥ ४३ ॥
तव चैव समक्षं वै भीमसेन महाबल ।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटासुरात्॥ ४४॥

महाबली भीमसेन ! क्षत्रियके लिये सदा शत्रुओंका संहार करनेके सिवा और कोई धर्म नहीं है । कीचकने धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते और तुम्हारी आँखोंके सामने मुझे लात मारी है । तुमने उस भयंकर राक्षस जटासुरसे मेरी रक्षा की है ॥ ४३-४४ ॥

जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह ।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५ ॥

भाइयोंसहित तुमने जयद्रथको भी परास्त किया है। अतः अब इस महापापी कीचकको भी मार डालो, जो मेरा अपमान कर रहा है ॥ ४५ ॥

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ॥ ४६ ॥

भारत ! राजाका प्रिय होनेके कारण ही कीचक मेरे लिये शोककारक हो रहा है । अतः ऐसे कामोन्मत्त पापीको तुम उसी तरह विदीर्ण कर डालो, जैसे पत्थरपर पटककर घड़ेको फोड़ दिया जाता है ॥ ४६ ॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७ ॥
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम्।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ॥ ४८ ॥

भारत ! जो मेरे लिये बहुत-से अनर्थोंका कारण बना हुआ है, उसके जीते-जी यदि कल सूर्योदय हो जायगा, तो मैं विष घोलकर पी लूँगी; किंतु कीचकके अधीन नहीं होऊँगी । भीमसेन ! कीचकके वशमें पड़नेकी अपेक्षा तुम्हारे सामने प्राण त्याग देना मेरेलिये कल्याणकारी होगा। ४७-४८॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा भीमस्योरःसमाश्रिता।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत् सान्त्वं प्रयुज्य च ॥४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन् ! ऐसा कहकर द्रौपदी भीमके वक्षःस्थलपर माथा टेककर फूट-फूटकर रोने लगी । भीमसेनने उसको हृदयसे लगाकर बहुत सान्त्वना दी ॥ ४९ ॥

आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्तां सुमध्यमाम्।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५०॥
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाश्रुसमाकुलम्।
कीचकं मनसागच्छत् सृक्किणी परिसंलिहन्।
उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

वह बहुत आर्त हो रही थी, अतः उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको युक्तियुक्त तात्त्विक वचनोंसे अनेक बार आश्वासन देकर अपने हाथसे उसके आँसूभरे मुँहको पोंछा और क्रोधसे जबड़े चाटते हुए मन-ही-मन कीचकका स्मरण किया। तदनन्तर भीमने दुःखपीड़ित द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ५०-५१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीको आश्वासनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

कीचक और भीमसेनका युद्ध तथा कीचकवध

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे! तू जैसा कह रही है, वैसा ही करूँगा। भीरु! मैं आज कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ॥ १ ॥

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम्।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ॥ २ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रिके प्रदोषकालमें कीचकसे मिलो और उसे नृत्यशालामें आनेके लिये कह दो ॥ २ ॥

यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ ३ ॥

मत्स्यराज विराटने जो यहाँ नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय तो कन्याएँ नाचती हैं तथा रातको अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ ४ ॥

उस नृत्यशालामें एक बहुत सुन्दर मजबूत पलंग बिछा हुआ है। वहीं आनेपर उस कीचकको मैं उसके मरे हुए बाप-दादोंका दर्शन कराऊँगा ॥ ४ ॥

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम्।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ॥ ५ ॥

तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देख न ले। कल्याणि! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेतके अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बातचीत करके वे दोनों दुखी दम्पति आँसू बहाकर अलग हुए तथा रात्रिके शेषभागको उन्होंने बड़ी व्याकुलतासे बिताया और आपसकी बातचीतको मनमें ही गुप्त रखा ॥ ६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वह रात बीत जानेपर कीचक सबेरे उठा और राजमहलमें जाकर द्रौपदीसे इस प्रकार बोला—॥ ७ ॥

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम्।
न चैव लभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ॥ ८ ॥

'सैरन्ध्री! मैंने राजसभामें तुम्हारे महाराजके देखते-देखते तुम्हें पृथ्वीपर गिराकर लातोंसे मारा था। तुम मुझ-जैसे महाबलवान् पुरुषके पाले पड़ी हो; तुम्हें कोई बचा नहीं सकता ॥ ८ ॥

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥ ९ ॥

'राजा विराट तो कहनेके लिये ही मत्स्यदेशका नाममात्रका राजा है। वास्तवमें मैं ही यहाँका राजा हूँ क्योंकि सेनाका मालिक मैं हूँ ॥ ९ ॥

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥ १० ॥

'भीरु! सुखपूर्वक मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि! मैं तुम्हारे दैनिक खर्चके लिये प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा ॥ १० ॥

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम्।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥

'तुम्हारी सेवाके लिये सौ दासियाँ और उतने ही दास दूँगा। तुम्हारी सवारीके लिये खचरियोंसे जुता हुआ रथ प्रस्तुत रहेगा। भीरु! अब हम दोनोंका परस्पर समागम होना चाहिये ॥

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक।

न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया॥ १२ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो । तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने ॥१२॥

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥

क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वोंके अपवादसे डरती हूँ । यदि इस बातके लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ ॥ १३ ॥

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥

कीचक बोला—ठीक है । सुश्रोणि ! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा । भद्रे ! तुम्हारे सूने घरमें मैं अकेला ही जाऊँगा ॥ १४ ॥

समागमार्थं रम्भोरु त्वया मदनमोहितः ।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥

रम्भोरु ! मैं कामसे मोहित होकर तुम्हारे साथ समागमके लिये इस प्रकार आऊँगा, जिससे सूर्यके समान तेजस्वी गन्धर्व तुम्हें उस समय मेरे साथ न देख सकें ॥ १५ ॥

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम्॥ १६ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! मत्स्यराजने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रातमें अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ १६ ॥

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते ।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलनेके लिये वहीं जाना । उस स्थानको गन्धर्व नहीं जानते । वहाँ मिलनेसे सब दोष दूर हो जायगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

(कीचक उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु मन्यसे ।
एकः सन् नर्तनागारमागमिष्यामि शोभने ॥
समागमार्थं सुश्रोणि शपे च सुकृतेन मे ।

कीचक बोला—भद्रे ! भीरु ! तुम जैसा ठीक समझती हो, वैसा ही करूँगा । शोभने ! मैं तुमसे मिलनेके लिये अकेला ही नृत्यशालामें आऊँगा । सुश्रोणि ! यह बात मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥

यथा त्वां नावबुध्यन्ते गन्धर्वा वरवर्णिनि ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि गन्धर्वेभ्यो न ते भयम् ।)

वरवर्णिनी ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे गन्धर्वोंको तुम्हारे विषयमें कुछ भी पता न लगे । मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम्हें गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कीचकके साथ बात करनेके बाद द्रौपदीको अवशिष्ट आधा दिन (भीमसेनसे यह बात निवेदन करनेकी प्रतीक्षामें) एक महीनेके समान भारी मालूम हुआ ॥ १८ ॥

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ॥ १९ ॥

इधर कीचक महान् हर्षमें भरा हुआ अपने घरको गया । उस मूर्खको यह पता नहीं था कि सैरन्ध्रीके रूपमें मेरी मृत्यु आ रही है ॥ १९ ॥

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः सविशेषतः ।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥

वह तो कामसे मोहित हो रहा था, अतः घर जाकर शीघ्र ही अपने आपको (गहने-कपड़ोंसे) सजाने लगा । वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओंके सेवनमें संलग्न रहा ॥ २० ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत् ।
अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायतलोचनाम् ॥ २१ ॥

मन-ही-मन विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदीका बारंबार चिन्तन करते हुए शृङ्गार धारण करते समय कीचकको वह थोड़ा-सा समय भी उत्कण्ठावश बहुत बड़ा-सा प्रतीत हुआ ॥२१॥

आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥

वास्तवमें जो सदाके लिये राजलक्ष्मीसे वियुक्त होनेवाला है, उस कीचककी भी उस समय शृङ्गार आदि धारण करनेसे श्री (शोभा) बहुत बढ़ गयी थी । ठीक उसी तरह, जैसे बुझनेके समय बत्तीको भी जला देनेकी इच्छावाले दीपककी प्रभा विशेष बढ़ जाती है ॥ २२ ॥

कृतसम्प्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
नाजानाद् दिवसं यान्तं चिन्तयानः समागमम् ॥ २३ ॥

काममोहित कीचकने द्रौपदीकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; अतः उसके समागम-सुखका चिन्तन करते-करते उसे यह भी पता न चला कि दिन कब बीत गया ॥

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमन्तिकम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर कल्याणस्वरूपा द्रौपदी पाकशालामें अपने पति कुरुनन्दन भीमसेनके पास गयी ॥ २४ ॥

तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः।
संगमो नर्तनागारे यथावोचः परंतप ॥ २५ ॥

वहाँ सुन्दर लटोंवाली कृष्णाने कहा—'शत्रुतापन ! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचकको नृत्यशालामें मिलनेका संकेत कर दिया है ॥ २५ ॥

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥ २६ ॥

'अतः महाबाहो ! कीचक रातके समय उस सूनी नृत्यशालामें अकेला आयेगा। तुम वहीं उसे मार डालना ॥

तं सूतपुत्रं कौन्तेय कीचकं मददर्पितम्।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पाण्डव ॥ २७ ॥

'कुन्तीकुमार ! पाण्डुनन्दन ! तुम नृत्यगृहमें जाकर उस मदोन्मत्त सूतपुत्र कीचकको प्राणशून्य कर दो ॥ २७ ॥

दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गन्धर्वानवमन्यते।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥

'प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीर ! वह सूतपुत्र अपनी वीरताके घमंडमें आकर गन्धर्वोंकी अवहेलना करता है; अतः जलाशयसे सर्पकी भाँति उसे तुम इस जगत्‌से निकाल फेंको ॥

अश्रु दुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥

'भारत ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कीचकको मारकर मुझ दुःखपीड़ित अबलाके आँसू पोंछो तथा अपना और अपने कुलका सम्मान बढ़ाओ' ॥ २९ ॥

भीमसेन उवाच

स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम्।
न ह्यन्यं कंचिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥

भीमसेन बोले—वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है; क्योंकि तुमने मुझे प्रिय संवाद सुनाया है। सुन्दरी ! मैं इस कार्यमें दूसरे किसीको सहायक बनाना नहीं चाहता ॥ ३० ॥

या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे।
हत्वा हिडिम्बं सा प्रीतिर्ममासीद् वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

वरवर्णिनि ! कीचकसे मिलनेके लिये तुमने जो शुभ संवाद दिया है और इसे सुनकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, ऐसी प्रसन्नता मुझे हिडिम्बासुरको मारकर प्राप्त हुई थी ॥

सत्यं भ्रातॄंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥

मैं सत्य, धर्म और भाइयोंको आगे करके—उनकी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार मैं भी कीचकका वध कर डालूँगा ॥ ३२ ॥

तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम्।
अथ चेदपि योत्स्यन्ति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

एकान्तमें या जन-समुदायमें जहाँ भी वह मिलेगा, कीचकको मैं कुचल डालूँगा और यदि मत्स्यदेशके लोग उसकी ओरसे युद्ध करेंगे तो, उन्हें भी निश्चय ही मार डालूगा ॥ ३३ ॥

ततो दुर्योधनं हत्वा प्रतिपत्स्ये वसुन्धराम्।
कामं मत्स्यमुपास्तां हि कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको मारकर समूची पृथ्वीका राज्य ले लूँगा। भले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर यहाँ बैठकर मत्स्यराज विराटकी उपासना करते रहें ॥ ३४ ॥

द्रौपद्युवाच

यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो।
निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ॥ ३५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो ! तुम वही करो, जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्यका परित्याग न करना पड़े। कुन्तीनन्दन ! तुम अपनेको गुप्त रखकर ही उस कीचकका संहार करो ॥

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ॥ ३६ ॥

भीमसेन बोले—ठीक है, भीरु ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। आज मैं उस कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ॥ ३६ ॥

अदृश्यमानस्तस्याथ तमस्विन्यामनिन्दिते।
नागो बिल्वमिवाक्रम्य पोथयिष्याम्यहं शिरः।
अलभ्यामिच्छतस्तस्य कीचकस्य दुरात्मनः ॥ ३७ ॥

अनिन्दिते ! गजराज जैसे बेलके फलपर पैर रखकर उसे कुचल दे, उसी प्रकार मैं अँधेरी रातमें उससे अदृश्य रहकर तुझ-जैसी अलभ्य नारीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले दुरात्मा कीचकके मस्तकको कुचल डालूँगा ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भीमसेन रातके समय पहले ही जाकर नृत्यशालामें छिपकर बैठ गये और कीचककी इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर मृगकी घातमें बैठा रहता है ॥ ३८ ॥

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत्।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसंगमाशया ॥ ३९ ॥

इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणोंसे सज-धज-कर द्रौपदीके साथ समागमकी अभिलाषासे उसी समय नृत्यशालाके समीप आया ॥ ३९ ॥

मन्यमानः स संकेतमागारं प्राविशच्च तत्।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ॥ ४० ॥

उस गृहको संकेत-स्थान मानकर उसने भीतर प्रवेश किया। वह विशाल भवन सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो रहा था ॥ ४० ॥

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम्।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ॥ ४१ ॥
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत्।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ॥ ४२ ॥

अतुलितपराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पहलेसे ही आकर एकान्तमें एक शय्यापर लेटे हुए थे। खोटी बुद्धिवाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और उन्हें हाथसे टटोलने लगा। उस समय भीमसेन कीचकद्वारा द्रौपदीके अपमान-के कारण क्रोधसे जल रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

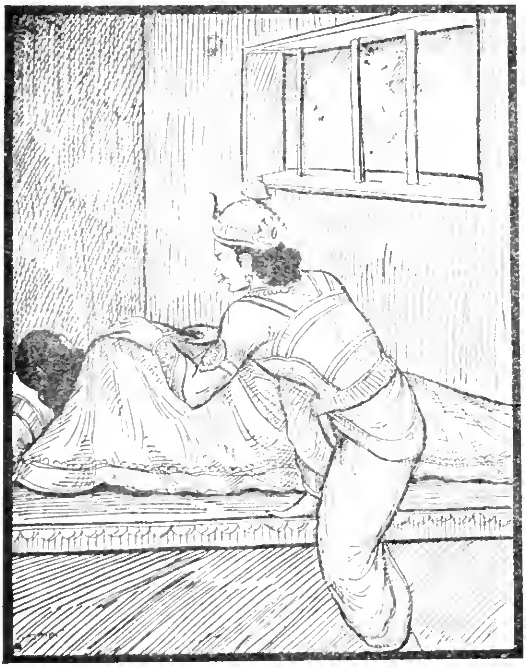

उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

उनके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्षसे उन्मत्त-चित्त हो मुसकराते हुए बोला—॥ ४३ ॥

प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनन्तकम्।
यत् कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम्।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम्।
तत् सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ॥ ४५ ॥

'सुभ्रु ! मैंने अनेक प्रकारका जो अनन्त धन संचित किया है, वह सब तुम्हें भेंट कर दिया तथा मेरा जो धन-रत्नादिसे सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणोंसे युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियोंसे अलंकृत तथा क्रीडा-विलाससे सुशोभित गृह एवं अन्तःपुर है, वह सब तुम्हारे लिये ही निछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ ॥ ४४-४५ ॥

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ ४६ ॥

मेरे घरकी स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—'आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है' ॥ ४६ ॥

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥

भीमसेन बोले—सौभाग्यकी बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो और यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुम स्वयं ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो। परंतु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ होगा ॥ ४७ ॥

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥ ४८ ॥

स्पर्शको तुम खूब पहचानते हो। इस कलामें बड़े चतुर हो। कामधर्मके विलक्षण ज्ञाता जान पड़ते हो। इस संसारमें स्त्रियोंको प्रसन्न करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकसे ऐसा कहकर भयंकरपराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले—॥

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥

'अरे ! तू पर्वतके समान विशालकाय है, तो भी जैसे सिंह महान् गजराजको घसीटता है, उसी प्रकार आज मैं तुझ पापीको पृथ्वीपर पटककर घसीटूँगा और तेरी बहिन यह सब देखेगी ॥ ५० ॥

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति।
सुखमेव चरिष्यन्ति सैरन्ध्र्याः पतयः सदा ॥ ५१ ॥

'इस प्रकार तेरे मारे जानेपर सैरन्ध्री बेखटके विचरेगी और उसके पति भी सदा सुखसे ही रहेंगे' ॥ ५१ ॥

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः॥ ५२॥
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम्।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः॥ ५३॥
वसन्ते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव।

ऐसा कहकर महाबली भीमसेनने उसके पुष्पहारविभूषित केश पकड़ लिये। कीचक भी बलवानोंमें श्रेष्ठ था। सिरके बाल पकड़ लिये जानेपर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया और बड़ी फुर्तीसे पाण्डुनन्दन भीमको दोनों भुजाओंमें भर लिया। तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बाहुयुद्ध होने लगा, मानो वसन्तऋतुमें हथिनीके लिये दो बलवान् गजराज एक-दूसरेसे जूझ रहे हों।५२-५३½।

कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च॥ ५४॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः।
अन्योन्यमपि संरब्धौ परस्परजयैषिणौ॥ ५५॥

एक ओर कीचकोंका प्रधान कीचक था, तो दूसरी ओर मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेन। जैसे पूर्वकालमें कपि-श्रेष्ठ वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें घोर युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनोंमें भी होने लगा। दोनों एक दूसरेपर कुपित थे और परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़ रहे थे॥ ५४-५५॥

ततः समुद्यम्य भुजौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ॥ ५६॥

फिर दोनों क्रोधरूपी विषसे उद्धत हुए पाँच मस्तकोंवाले सर्पोंकी भाँति अपनी-अपनी (पाँच अंगुलियोंसे युक्त) भुजाओं-को ऊपर उठाकर एक-दूसरेपर नखों और दाँतोंसे प्रहार करने लगे॥ ५६॥

वेगेनाभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितः पदम्॥ ५७॥

बलिष्ठ कीचकने बड़े वेगसे आघात किया, तो भी दृढ़-प्रतिज्ञ भीम उस युद्धमें स्थिर रहे; एक पग भी पीछे नहीं हटे॥ ५७॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम्।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव॥ ५८॥

फिर दोनों आपसमें गुँथ गये और एक-दूसरेको खींचने लगे। उस समय वे दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति सुशोभित होते थे॥ ५८॥

तयोर्ह्यासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः।
नखदन्तायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः॥ ५९॥

नख और दाँत ही उनके आयुध थे। जैसे दो मतवाले व्याघ्र परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार उनमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा॥ ५९॥

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखम्॥ ६०॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ एक हाथी गण्डस्थलसे मद टपकाते हुए दूसरे हाथीको सूँड़से पकड़ ले, उसी प्रकार रोष-युक्त कीचकने सहसा झपटकर दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया॥ ६०॥

स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
तमाक्षिपत् कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः॥ ६१॥

तब पराक्रमी भीमने भी झपटकर उसे पकड़ा, किंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ कीचकने बलपूर्वक उन्हें झटक दिया॥६१॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि॥ ६२॥

उस समय उस युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँस फटनेका-सा भयानक शब्द होने लगा॥ ६२॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृहमध्ये वृकोदरः।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम्॥ ६३॥

फिर जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी वृक्षको झकझोर डालती है, उसी प्रकार भीमसेन कीचकको बलपूर्वक धक्के दे देकर उसे नृत्यशालामें वेगसे घुमाने लगे॥ ६३॥

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे।
प्रास्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम्॥ ६४॥

उस युद्धमें बलवान् भीमकी पकड़में आकर यद्यपि कीचक अपना बल खो रहा था, तथापि वह यथाशक्ति उन्हें परास्त करनेकी चेष्टा करता रहा और भीमसेनको अपनी ओर खींचने लगा॥ ६४॥

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम्।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि॥ ६५॥

जब वे कुछ कुछ वशमें आ गये और उनका पैर कुछ लड़-खड़ाने लगा, तब उस दशामें खड़े हुए भीमसेनको बलवान् कीचकने क्रोधपूर्वक दोनों घुटनोंसे मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया॥ ६५॥

पतितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः॥ ६६॥

अत्यन्त बलशाली कीचकद्वारा इस प्रकार भूमिपर गिराये हुए भीमसेन हाथमें दण्ड धारण करनेवाले यमराजकी भाँति बड़े वेगसे उछलकर खड़े हो गये॥ ६६॥

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले॥ ६७॥

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बलसे उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलवान् वीर स्पर्धाके कारण उस निर्जन स्थानमें आधीरातके समय एक दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे॥

ततस्तद् भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः।
बलवच्चापि संक्रुद्धावन्योन्यं प्रति गर्जतः॥ ६८॥

इससे वह विशाल भवन बार-बार हिल उठता था। दोनों योद्धा बड़े क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके सामने जोर-जोरसे गरज रहे थे॥ ६८॥

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली।
कीचको रोषसंतप्तः पदान्न चलितः पदम्॥ ६९॥

इतनेमें ही भीमने दोनों हथेलियोंसे कीचककी छातीपर प्रहार किया। चोट खाकर बलवान् कीचक क्रोधसे जल उठा, किंतु अपने स्थानसे एक पग भी विचलित नहीं हुआ॥ ६९॥

मुहूर्तं तु स तं वेगं सहित्वा भुवि दुःसहम्।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः॥ ७०॥

भूमिपर खड़े रहकर दो घड़ीतक उस दुःसह वेगको सह लेनेके पश्चात् भीमसेनके बलसे पीड़ित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा॥ ७०॥

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम्॥ ७१॥

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छातीपर चढ़ बैठे और बड़े वेगसे उसे रौंदने लगे॥

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः।
जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम्॥ ७२॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका क्रोधावेश अभी उतरा नहीं था। उन्होंने पुनः बारंबार उच्छ्वास लेकर कीचकके केश पकड़ लिये॥ ७२॥

गृहीत्वा कीचकं भीमो विरराज महाबलः।
शार्दूलः पिशिताकाङ्क्षी गृहीत्वेव महामृगम्॥ ७३॥

जैसे कच्चे मांसकी अभिलाषा रखनेवाला सिंह महान् मृगको पकड़ ले, उसी प्रकार महाबली भीम कीचकको पकड़कर बड़ी शोभा पा रहे थे॥ ७३॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा॥ ७४॥

तदनन्तर उसे अत्यन्त थका जानकर भीमने अपनी भुजाओंमें इस प्रकार कस लिया, जैसे पशुको रस्सीसे बाँध दिया गया हो॥ ७४॥

नदन्तं च महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम्।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम्॥ ७५॥

अब वह फूटे नगारेके समान विकृत स्वरमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा बन्धनसे छूटनेके लिये छटपटाने लगा। उसकी चेतना लुप्त हो रही थी। उसी दशामें भीमसेनने बहुत देरतक उसे घुमाया॥ ७५॥

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये॥ ७६॥

फिर द्रौपदीका क्रोध शान्त करनेके लिये उन्होंने दोनों हाथोंसे उसका गला पकड़कर बड़े वेगसे दबाया॥ ७६॥

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम्।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम्।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत्॥ ७७॥

इस प्रकार जब उसके सब अङ्ग भग्न हो गये, आँखकी पुतलियाँ बाहर निकल आयीं और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस कीचकाधमकी कमरको अपने घुटनोंसे दबाकर दोनों भुजाओंद्वारा उसका गला घोंट दिया और उसे पशुकी तरह मारने लगे॥ ७७॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह॥ ७८॥

मृत्युके समय कीचकको विषाद करते देख पाण्डुनन्दन भीमने उसे धरतीपर घसीटा और इस प्रकार कहा—॥७८॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम्॥७९॥

'जो सैरन्ध्रीके लिये कण्टक था, जिसने मेरे भाईकी पत्नीका अपहरण करनेकी चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचकको मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी'॥ ७९॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः।
आस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज॥ ८०॥

पुरुषोंमें उत्कृष्ट वीर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहकर कीचकको नीचे डाल दिया। उस समय उसके गहने-कपड़े इधर-उधर बिखर गये थे। वह छटपटा रहा था। उसकी आँखें ऊपरको चढ़ गयी थीं और उसके प्राणपखेरू निकल रहे थे॥ ८०॥

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः॥ ८१॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम अब भी क्रोधमें भरे थे। वे हाथसे हाथ मलते हुए दाँतोंसे ओठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचकके ऊपर चढ़ गये॥ ८१॥

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक्॥ ८२॥

तदनन्तर जैसे महादेवजीने गयासुरके सब अङ्गोंको उसके शरीरके भीतर घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचकके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अङ्गोंको उसके धड़में ही घुसा दिया ॥ ८२ ॥

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम् ।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

महाबली भीमने उसका सारा शरीर मथ डाला और उसे मांसका लोंदा-सा बना दिया। इसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दिखाया॥

उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम् ।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः ॥ ८४ ॥

उस समय महातेजस्वी भीमने युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीसे कहा—'पाञ्चाली ! यहाँ आओ और इसे देखो । इस कामीकी शक्ल कैसी बना दी है !' ॥ ८४ ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥

महाराज ! भयंकर पराक्रमी भीमने ऐसा कहकर उस दुरात्माकी लाशको पैरसे दबाया ॥ ८५ ॥

ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम् ।
पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

फिर वहाँ आग जलाकर उन्होंने कीचकका शव दिखाया। उस समय वीरवर भीमने पाञ्चालीसे यह बात कही—॥८६॥

प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शीलगुणान्विताम्।
एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥

'सुन्दर केशोंवाली भीरु पाञ्चाली ! तुम सुशील और सद्गुणोंसे सम्पन्न हो । जो दुष्ट तुमसे समागमकी याचना करेंगे, वे इसी प्रकार मारे जायँगे । जैसे आज कीचक शोभा पाता है, वही दशा उनकी भी होगी' ॥ ८७ ॥

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम् ।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥

द्रौपदीको प्रिय लगनेवाले इस उत्तम एवं दुष्कर कर्मको करके ऊपर बताये अनुसार कीचकको मारकर अपना रोष शान्त करनेके पश्चात् द्रौपदीसे पूछकर भीमसेन पुनः पाकशालामें चले गये। युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी इस प्रकार कीचकको मरवाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके सब संताप दूर हो गये। फिर वह सभाभवनके रक्षकोंके पास जाकर बोली—॥

कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम ।
परस्त्रीकामसम्मत्तस्तत्रागच्छत पश्यत ॥ ९० ॥

'आओ, देखो, परायी स्त्रीके प्रति कामोन्मत्त रहनेवाला यह कीचक मेरे पति गन्धर्वोंद्वारा मारा जाकर वहाँ नृत्यशालामें पड़ा है' ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशालाके रक्षक सहस्रोंकी संख्यामें हाथोंमें मसाल लिये सहसा वहाँ आये ॥ ९१ ॥

ततो गत्वाथ तद् वेश्म कीचकं विनिपातितम् ।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥

और उस घरके भीतर जाकर उन्होंने देखा; कीचकको गन्धर्वने मार गिराया है, उसके प्राण निकल गये हैं और उसकी लाश खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ी है ॥ ९२ ॥

पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताभवन् ।
निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

उसे हाथ-पैरसे हीन देख उन सबको बड़ी व्यथा हुई । फिर वे सभी बड़े आश्चर्यमें पड़कर उसे ध्यानसे देखने लगे॥९३॥

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

कीचकको इस तरह मारा गया देख वे आपसमें बोले—'यह कर्म तो किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं हो सकता। देखो न, इसकी गर्दन, हाथ, पैर और सिर आदि अङ्ग कहाँ चले गये ?' यों कहकर जब परीक्षा की, तो वे इसी निश्चयपर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्वने ही मारा है ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकवधविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

उपकीचकोंका सैरन्ध्रीको बाँधकर श्मशानभूमिमें ले जाना और भीमसेनका उन सबको मारकर सैरन्ध्रीको छुड़ाना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उसी समय यह

समाचार पाकर कीचकके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये। वे कीचककी यह दशा देख उसे चारों ओरसे घेरकर विलाप करने लगे ॥ १ ॥

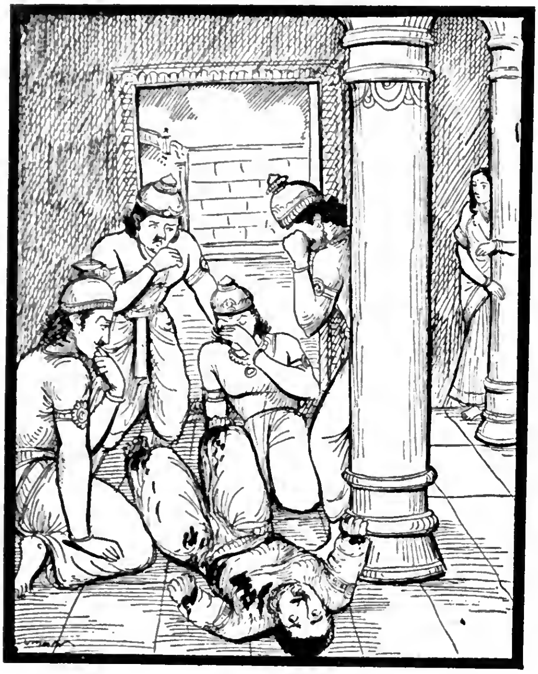

सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम्।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥

उसके सारे अवयव शरीरमें घुस गये थे; इसलिये वह जलसे निकालकर स्थलमें रक्खे हुए कछुएके समान जान पड़ता था। कीचकके शवकी वह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उन सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २ ॥

पोथितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम्।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

जैसे इन्द्रने दानव वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार भीमसेनके हाथसे मारे गये उस कीचकका दाह-संस्कार करनेकी इच्छासे उसके बान्धवगण उसे बाहर (श्मशानभूमिमें) ले जानेकी तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥

इसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रोंने देखा, निर्दोष अङ्गोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूरपर एक खंभेका सहारा लिये खड़ी है ॥ ४ ॥

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों (कीचकके भाइयों) ने द्रौपदीको लक्ष्य करके कहा—'इस दुष्टाको शीघ्र मार डाला जाय, क्योंकि इसीके लिये कीचककी जान गयी है॥

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ॥ ६ ॥

'अथवा मारा न जाय। कामी कीचककी लाशके साथ ही इसे भी जला दिया जाय। मर जानेपर भी सूतपुत्रका जो प्रिय हो; जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, वह कार्य हमें सर्वथा करना चाहिये' ॥ ६ ॥

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने विराटसे कहा—'इस सैरन्ध्रीके लिये ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचककी लाशके साथ इसे भी जला देना चाहते हैं, आप इसके लिये आज्ञा दें' ॥ ७ ॥

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ॥ ८ ॥

राजाने सूतपुत्रोंके पराक्रमका विचार करके सैरन्ध्रीको कीचकके साथ जला डालनेकी अनुमति दे दी ॥ ८ ॥

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम्।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ॥ ९ ॥

फिर क्या था, उपकीचकोंने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्छित हुई कमललोचना कृष्णाको बलपूर्वक पकड़ लिया ॥

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम्।
जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ॥ १० ॥

फिर उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवीको टिकटीपर चढ़ाकर लाशके साथ ही बाँध दिया। इसके बाद वे सब लोग मृतकको उठाकर श्मशानभूमिकी ओर ले चले ॥ १० ॥

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥ ११ ॥

राजन्! सूतपुत्रोंद्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [अनाथा-सी हो रही थी, वह] नाथ (रक्षक) की इच्छा करती हुई जोर-जोरसे पुकारने लगी ॥ ११ ॥

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १२ ॥

द्रौपदी बोली—मेरे पति जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी यह आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें लिये जा रहे हैं ॥ १२ ॥

येषां ज्यातलनिर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः।
व्यश्रूयत महायुद्धे भीमघोषस्तरस्विनाम् ॥ १३ ॥

रथघोषश्च बलवान् गन्धर्वाणां तरस्विनाम्।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १४ ॥

जिन वेगवान् गन्धर्वोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाका भीषण शब्द वज्राघातके समान सुनायी देता है तथा जिनके रथोंकी घर्घराहटकी आवाज भी बड़े जोरसे उठती और दूरतक फैलती है, वे मेरी आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें ले जा रहे हैं ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम्।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रौपदीकी वह दीन वाणी और करुण विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्यासे कूद पड़े ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम्।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—सैरन्ध्री! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी वह वाणी मैं सुनता हूँ। इसलिये भीरु! अब इन सूतपुत्रोंसे तेरेलिये कोई भय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेनने उपकीचकोंका वध करनेके लिये अँगड़ाई लेते हुए अपने शरीरको बढ़ा लिया और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर बिना दरवाजेके ही दीवार फाँदकर पाकशालासे बाहर निकल गये। फिर वे नगरका परकोटा लाँघकर बड़े वेगसे एक वृक्षपर चढ़ गये (और वहींसे यह देखने लगे कि उपकीचक द्रौपदीको किधर ले जा रहे हैं) ॥ १७-१८ ॥

श्मशानाभिमुखः प्रायाद् यत्र ते कीचका गताः।
स लङ्घयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात्।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वे उपकीचक जिधर गये थे, उसी ओर भीमसेन भी श्मशानभूमिकी दिशामें चल दिये। चहारदीवारी लाँघनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नगरसे निकलकर भीमसेन इतने वेगसे चले कि सूतपुत्रोंसे पहले ही वहाँ पहुँच गये ॥ १९ ॥

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम्।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ॥ २० ॥

राजन्! चिताके समीप जाकर उन्होंने वहाँ ताड़के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और जो ऊपरसे सूख गया था ॥ २० ॥

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥

उस वृक्षकी ऊँचाई दस व्याम[1] थी। उसे शत्रुतापन भीमसेनने दोनों भुजाओंमें भरकर हाथीके समान जोर लगाकर उखाड़ा और अपने कंधेपर रख लिया ॥ २१ ॥

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २२ ॥

शाखा-प्रशाखाओंसहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्षको लेकर बलवान् भीम दण्डपाणि यमराजके समान उन सूतपुत्रोंकी ओर दौड़े ॥ २२ ॥

ऊरुवेगेन तस्याथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः।
भूमौ निपतिता वृक्षाः सङ्घशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥

उस समय उनकी जङ्घाओंके वेगसे टकराकर बहुतेरे बरगद, पीपल और ढाकके वृक्ष पृथ्वीपर गिरकर ढेर-के-ढेर बिखर गये ॥ २३ ॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गन्धर्वमागतम्।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकम्पिताः ॥ २४ ॥

सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए गन्धर्वरूपी भीमको अपनी ओर आते देखकर सभी सूतपुत्र डर गये और विषाद एवं भयसे काँपते हुए कहने लगे—॥ २४ ॥

गन्धर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम्।
सैरन्ध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥

'अरे! देखो, यह बलवान् गन्धर्व वृक्ष उठाये कुपित हो हमारी ओर आ रहा है। सैरन्ध्रीको शीघ्र छोड़ दो, क्योंकि उसीके कारण हमें यह भय उपस्थित हुआ है' ॥ २५ ॥

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम्।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥

इतनेमें ही भीमसेनके द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्षको देखकर वे द्रौपदीको वहीं छोड़ नगरकी ओर भागने लगे ॥

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २७ ॥
वृक्षेणैतेन राजेन्द्र प्रभञ्जनसुतो बली।

राजेन्द्र! उन्हें भागते देख वायुपुत्र बलवान् भीमने, वज्रधारी इन्द्र जैसे दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार उस वृक्षसे एक सौ पाँच उपकीचकोंको यमराजके घर भेज दिया ॥ २७½ ॥

---

१. दोनों हाथोंको फैलानेपर जितनी लम्बाई होती है, उसे एक व्याम कहते हैं।

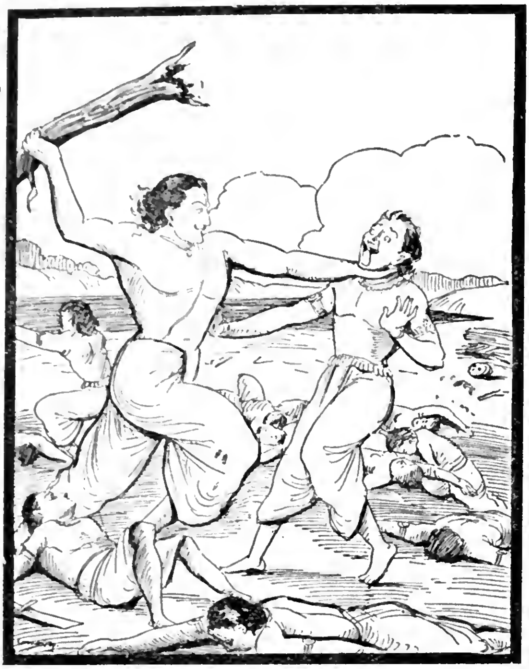

तत आश्वासयत् कृष्णां स विमुच्य विशाम्पते॥ २८ ॥

महाराज ! तदनन्तर उन्होंने द्रौपदीको बन्धनसे मुक्त करके आश्वासन दिया ॥ २८ ॥

उवाच च महाबाहुः पाञ्चालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ॥ २९ ॥

उस समय पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी बड़ी दीन एवं दयनीय हो गयी थी। उसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। दुर्धर्ष वीर महाबाहु वृकोदरने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—॥ २९ ॥

एवं ते भीरु वध्यन्ते ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम्।
प्रेहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ॥ ३० ॥
अन्येनाहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥

'भीरु ! जो तुझ निरपराध अबलाको सतायेंगे, वे इसी तरह मारे जायँगे। कृष्णे ! नगरको जाओ। अब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। मैं दूसरे मार्गसे विराटकी पाकशालामें चला जाऊँगा' ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

पञ्चाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत।
महावनमिवच्छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भीमसेनके द्वारा मारे गये वे एक सौ पाँच उपकीचक वहाँ श्मशानभूमिमें इस प्रकार सो रहे थे, मानो कटा हुआ महान् जंगल गिरे हुए पेड़ोंसे भरा हो ॥ ३२ ॥

एवं ते निहता राजञ्छतं पञ्च च कीचकाः।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत् सूतषट्शतम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस प्रकार वे एक सौ पाँच उपकीचक और पहले मरा हुआ सेनापति कीचक सब मिलकर एक सौ छः सूतपुत्र मारे गये ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किंचन भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस समय श्मशानभूमिमें बहुत-से पुरुष और स्त्रियाँ एकत्र हो गयी थीं। उन सबने यह महान् आश्चर्यजनक काण्ड देखा, किंतु भारी विस्मयमें पड़कर किसीने कुछ कहा नहीं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

द्रौपदीका राजमहलमें लौटकर आना और बृहन्नला एवं सुदेष्णासे उसकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा निहतान् सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन्।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरवासियोंने सूतपुत्रोंका यह संहार देख राजा विराटके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज ! गन्धर्वोंने महाबली सूतपुत्रोंको मार डाला ॥ १ ॥

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥

'जैसे पर्वतका महान् शिखर वज्रसे विदीर्ण हो गया हो, उसी प्रकार वे सूतपुत्र पृथ्वीपर बिखरे दिखायी देते हैं ॥२॥

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम्।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥

'सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गयी है, अब वह पुनः आपके

महलकी ओर आ रही है। उसके रहनेसे आपके सम्पूर्ण नगरका जीवन संकटमें पड़ जायगा ॥ ३ ॥

यथारूपा च सैरन्ध्री गन्धर्वाश्च महाबलाः।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥

'सैरन्ध्रीका जैसा अप्रतिम रूप-सौन्दर्य है, वह सबको विदित ही है। उसके पति गन्धर्व भी बड़े बलवान् हैं। पुरुषोंको मैथुनके लिये विषयभोग अभीष्ट है ही; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम्।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

'अतः राजन्! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनावें, जिससे सैरन्ध्रीके दोषसे आपका यह नगर नष्ट न हो जाय' ॥ ५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ॥ ६ ॥

उनकी यह बात सुनकर सेनाओंके स्वामी राजा विराटने कहा—'इन सूतपुत्रोंका अन्त्येष्टि संस्कार किया जाय ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव ते सर्वे सुसमिद्धे हुताशने।
दह्यन्तां कीचकाः शीघ्रं रत्नैर्गन्धैश्च सर्वशः ॥ ७ ॥

'एक ही चितामें अग्नि प्रज्वलित करके रत्न और सुगन्धित पदार्थोंके साथ सम्पूर्ण कीचकोंका दाह करना चाहिये' ॥ ७ ॥

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाने भयभीत होकर रानी सुदेष्णाके पास जाकर कहा—'देवि! जब सैरन्ध्री यहाँ आ जाय, तो मेरी ही ओरसे उससे यों कहो—॥ ८ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ॥ ९ ॥

सैरन्ध्री! तुम्हारा कल्याण हो। वरानने! तुम्हारी जहाँ रुचि हो, चली जाओ। सुश्रोणि! गन्धर्वोंके तिरस्कारसे राजा डरते हैं ॥ ९ ॥

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम्।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

'तुम गन्धर्वोंसे सुरक्षित हो। मैं पुरुष होनेके कारण स्वयं तुमसे कोई बात नहीं कह सकता। किंतु स्त्रीके मुखसे तुम्हारे प्रति यह सब कहलानेमें दोष नहीं है, अतः अपनी पत्नीके द्वारा स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ॥ ११ ॥

त्रासितेव मृगी बाला शार्दूलेन मनस्विनी।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब सूतपुत्रोंको मारकर भीमसेनने द्रौपदीका बन्धन खोल दिया और वह भयसे मुक्त हो गयी, तब जलसे स्नान करके अपने शरीर और वस्त्रोंको धोकर सिंहसे डरायी हुई हरिणीकी भाँति वह मनस्विनी बाला नगरकी ओर चली ॥ ११-१२ ॥

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ॥ १३ ॥

जनमेजय! उस समय द्रौपदीको देखकर गन्धर्वोंके भयसे डरे हुए पुरुष दसों दिशाओंकी ओर भाग जाते थे और कोई-कोई उसे देखकर आँख मूँद लेते थे ॥ १३ ॥

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम्।
ददर्श राजन् पाञ्चाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर पाकशालाके द्वारपर पहुँचकर पाञ्चालीने वहाँ मतवाले गजराजके समान भीमसेनको खड़ा देखा ॥ १४ ॥

तं विस्मयन्ती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत्।
गन्धर्वराजाय नमो येनास्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥

और विस्मयविमुग्ध होकर उसने धीरेसे संकेतपूर्वक इस प्रकार कहा—'उन गन्धर्वराजको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे भारी संकटसे मुक्त किया है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ये पुरा विचरन्तीह पुरुषा वशवर्तिनः।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरन्त्वतः ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—देवि! जो पुरुष तुम्हारी आज्ञाके अधीन होकर यहाँ पहलेसे विचर रहे हैं, वे तुम्हारी यह बात सुनकर प्रतिज्ञासे उऋण हो इच्छानुसार विहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सा नर्तनागारे धनंजयमपश्यत।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् द्रौपदीने नृत्यशालामें पहुँचकर महाबाहु अर्जुनको देखा, जो राजा विराटकी कन्याओंको नृत्य सिखा रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥

उसके आनेका समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यगृहसे बाहर निकल आयीं और वहाँ आती हुई निरपराध सतायी गयी कृष्णाको देखने लगीं ॥ १८ ॥

कन्या ऊचुः

दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्ट्यासि पुनरागता।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ॥ १९ ॥

उसे देखकर कन्याओंने कहा—सैरन्ध्री ! सौभाग्यकी बात है कि तुम संकटसे मुक्त हो गयीं और सौभाग्यसे यहाँ पुनः लौट आयीं। वे सूतपुत्र जो तुम्हें बिना किसी अपराधके ही कष्ट दे रहे थे, मार दिये गये, यह भी भाग्यवश अच्छा ही हुआ ॥ १९ ॥

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ २० ॥

बृहन्नलाने पूछा—सैरन्ध्री ! तू उन पापियोंके हाथसे कैसे छूटी ? और वे पापी कैसे मारे गये ? मैं ये सब बातें तेरे मुखसे ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ ॥ २० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

बृहन्नले किं नु तव सैरन्ध्र्या कार्यमद्य वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ॥ २१ ॥

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले ! अब तुम्हें सैरन्ध्रीसे क्या काम है ? कल्याणी ! तुम तो मौजसे इन कन्यायोंके अन्तःपुरमें रहती हो ॥ २१ ॥

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, उसे दूर तो करोगी नहीं या उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं; इसीलिये मुझ दुखियाकी केवल हँसी उड़ानेके लिये ऐसा प्रश्न कर रही हो ? ॥ २२ ॥

बृहन्नलोवाच

बृहन्नलापि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे ॥ २३ ॥

बृहन्नलाने कहा—कल्याणी ! पशुओंकी-सी नीच या नपुंसक योनियोंमें पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है, तू अभी भोली-भाली है; इसीलिये बृहन्नलाको नहीं समझ पाती ॥ २३ ॥

त्वया सहोषिता चास्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता ।
क्लिश्यन्त्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

सुश्रोणि ! तेरे साथ तो मैं रह चुकी हूँ और तू भी हम सबके साथ रही है; फिर तेरे ऊपर कष्ट पड़नेपर किसको दुःख न होगा ? ॥ २४ ॥

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे ॥ २५ ॥

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरेके हृदयको कभी पूर्णरूपसे नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पातीं; मेरे कष्टका अनुभव नहीं कर पातीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उन कन्याओंके साथ ही द्रौपदी राजभवनमें गयी और रानी सुदेष्णाके पास जाकर खड़ी हो गयी ॥ २६ ॥

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम् ।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥ २७ ॥

तब राजपुत्री सुदेष्णाने विराटके कथनानुसार उससे कहा—'सैरन्ध्री ! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ ॥

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः ॥ २८ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे गन्धर्वोंद्वारा प्राप्त होनेवाले पराभवसे महाराजको भय हो रहा है । सुभ्रु ! तुम अभी तरुणी हो, रूप-सौन्दर्यमें भी तुम्हारी समानता कर सके, ऐसी कोई स्त्री इस भूमण्डलमें नहीं है । पुरुषोंको विषयभोग प्रिय होता ही है; (अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना है ।) इधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं (वे न जाने कब क्या कर बैठें ?)' ॥ २८ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि ।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः ॥ २९ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भामिनि ! मेरे लिये तेरह दिन और

महाराज क्षमा करें । निःसंदेह तबतक गन्धर्वोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जायगा—वे कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २९ ॥

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम् ।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ॥ ३० ॥

इसके बाद वे मुझे तो ले ही जायँगे, आपका भी प्रिय करेंगे । (गन्धर्वोंकी प्रसन्नतासे) अवश्य ही राजा विराट अपने भाई-बन्धुओंसहित कल्याणके भागी होंगे ॥ ३० ॥

(राज्ञा कृतोपकाराश्च कृतज्ञाश्च सदा शुभे ।
साधवश्च बलोत्सिक्ताः कृतप्रतिकृतेप्सवः ॥
अर्थिनी प्रब्रवीम्येषा यद् वा तद् वेति चिन्तय ।
भरस्व तदहर्मात्रं ततः श्रेयो भविष्यति ॥

शुभे ! राजा विराटने गन्धर्वोंका बड़ा उपकार किया है; अतः वे सदा उनके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं । गन्धर्वलोग बलके अभिमानी होते हुए भी साधु स्वभावके पुरुष हैं और अपने प्रति किये हुए उपकारका बदला चुकानेकी इच्छा रखते हैं । मैं एक प्रयोजनसे यहाँ रहती हूँ; इसीलिये तुमसे अभी कुछ दिन और यहाँ ठहरने देनेके लिये अनुरोध करती हूँ । तुम अपने मनमें जो कुछ भी सोच-विचार करो, किंतु कुछ गिने-गिनाये दिनोंतक अभी और मेरा भरण-पोषण करती चलो; इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कैकेयी दुःखमोहिता ।
उवाच द्रौपदीमार्ता भ्रातृव्यसनकर्शिता ॥
वस भद्रे यथेष्टं त्वं त्वामहं शरणं गता ।
त्रायस्व मम भर्तारं पुत्रांश्चैव विशेषतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सैरन्ध्रीकी यह बात सुनकर केकयराजकुमारी सुदेष्णा भाईके शोकसे पीड़ित और दुःखसे मोहित हो आर्त होकर द्रौपदीसे बोली—'भद्रे ! तुम्हारी जबतक इच्छा हो, यहाँ रहो; परंतु मेरे पति और पुत्रोंकी विशेषरूपसे रक्षा करो । इसके लिये मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकोंके दाह-संस्कारविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

(गोहरणपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

दुर्योधनके पास उसके गुप्तचरोंका आना और उनका पाण्डवोंके विषयमें कुछ पता न लगा, यह बताकर कीचकवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

(कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
शोकमाहारयत् तीव्रं सामात्यः सपुरोहितः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकके मारे जानेपर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले राजा विराट पुरोहित और मन्त्रियोंसहित बहुत दुखी हुए ॥

कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशाम्पते ।
अत्याहितं चिन्तयित्वा व्यस्मयन्त पृथग् जनाः ॥ १ ॥

नरेश्वर ! भाइयोंसहित कीचकका वध होनेसे सब लोग इसको बड़ी भारी दुर्घटना या दुःसाहसका काम मानकर अलग-अलग आश्चर्यमें पड़े रहे ॥ १ ॥

तस्मिन् पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च सङ्घशः ।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ॥ २ ॥

उस नगर तथा राष्ट्रमें झुंड-के-झुंड मनुष्य एकत्र हो जाते और उनमें इस तरहकी बातें होने लगती थीं—'महाबली कीचक अपनी शूरवीरताके कारण राजा विराटको बहुत प्रिय था ॥ २ ॥

आसीत् प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः ।
स हतः खलु पापात्मा गन्धर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥

'उसने विपक्षी दलोंकी बहुत-सी सेनाओंका संहार किया था, किंतु उसकी बुद्धि बड़ी खोटी थी । वह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करनेवाला पापात्मा और दुष्ट था; इसीलिये गन्धर्वोंद्वारा मारा गया है' ॥ ३ ॥

इत्यजल्पन् महाराज परानीकविनाशनम् ।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥

महाराज जनमेजय ! शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले उस दुर्धर्ष वीर कीचकके विषयमें देश-देशके लोग ऐसी ही बातें किया करते थे ॥ ४ ॥

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥

संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

इधर अज्ञातवासकी अवस्थामें पाण्डवोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने जो बाहरके देशोंमें घूमनेवाले गुप्तचर लगा रक्खे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरोंमें उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख सकते या पता लगा सकते थे अथवा जिन-जिन देशोंमें छान-बीन कर सकते थे, उन सबमें उसी प्रकार देख-भाल करके अपना काम पूरा करके पुनः हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ५-६ ॥

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
द्रोणकर्णकृपैः सार्धं भीष्मेण च महात्मना ॥ ७ ॥
संगतं भ्रातृभिश्चापि त्रिगर्तैश्च महारथैः ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

वहाँ वे धृतराष्ट्रपुत्र कुरुनन्दन दुर्योधनसे मिले, जो द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, महात्मा भीष्म, अपने सम्पूर्ण भाई तथा महारथी त्रिगर्तोंके साथ राजसभामें बैठा था। उससे मिलकर उन गुप्तचरोंने यों कहा ॥ ७-८ ॥

चरा ऊचुः

कृतोऽस्माभिः परो यत्नस्तेषामन्वेषणे सदा ।
पाण्डवानां मनुष्येन्द्र तस्मिन् महति कानने ॥ ९ ॥

गुप्तचर बोले—नरेन्द्र ! हमने उस विशाल वनमें पाण्डवोंकी खोजके लिये सदा महान् प्रयत्न जारी रक्खा है ॥ ९ ॥

निर्जने मृगसंकीर्णे नानाद्रुमलताकुले ।
लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ॥ १० ॥
न च विद्मो गता येन पार्थाः सुदृढविक्रमाः ।
मार्गमाणाः पदन्यासं तेषु तेषु तथा तथा ॥ ११ ॥

मृगोंसे भरे हुए निर्जन वनमें, जो अनेकानेक वृक्षों और लताओंसे व्याप्त, विविध लताओंकी बहुलता एवं विस्तारसे विलसित तथा नाना गुल्मोंसे समावृत है, घूमकर वहाँके विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारसे उनके पदचिह्न हम ढूँढ़ते रहे हैं तथापि वे सुदृढ़ पराक्रमी कुन्तीकुमार किस मार्गसे कहाँ गये ? यह नहीं जान सके ॥ १०-११ ॥

गिरिकूटेषु तुङ्गेषु नानाजनपदेषु च ।
जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ॥ १२ ॥
नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।
अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥ १३ ॥

महाराज ! हमने पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर, भिन्न-भिन्न देशोंमें, जनसमूहसे भरे हुए स्थानोंमें तथा तराईके गाँवों, बाजारों और नगरोंमें भी उनकी बहुत खोज की, परंतु कहीं भी पाण्डवोंका पता नहीं लगा । नरश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो । सम्भव है, वे सर्वथा नष्ट हो गये हों ॥ १२-१३ ॥

वर्त्मन्यन्वेष्यमाणा वै रथिनां रथिसत्तम ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं हि नरसत्तम ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम ! हमने रथियोंके मार्गपर भी उनका अन्वेषण किया है, किंतु वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं ? इसका पता हमें नहीं लगा ॥ १४ ॥

किंचित्काले मनुष्येन्द्र सूतानामनुगा वयम् ।
मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ॥ १५ ॥

मानवेन्द्र ! कुछ कालतक हमलोग उनके सारथियोंके पीछे लगे रहे और अच्छी तरह खोज करके हमने एक यथार्थ बातका ठीक-ठीक पता लगा लिया है ॥ १५ ॥

प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परंतप ।
न तत्र कृष्णा राजेन्द्र पाण्डवाश्च महाव्रताः ॥ १६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजेश्वर ! पाण्डवोंके इन्द्रसेन आदि सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरीमें पहुँच गये हैं । वहाँ न तो द्रौपदी है और न महान् व्रतधारी पाण्डव ही हैं ॥

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम् ॥ १७ ॥
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।
स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ॥ १८ ॥

जान पड़ता है; वे बिल्कुल नष्ट हो गये । भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । हम महात्मा पाण्डवोंके मार्ग, निवास-स्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं प्राप्त कर सके । प्रजापालक नरेश ! इसके बाद हमारे लिये क्या आज्ञा है ? ॥ १७-१८ ॥

अन्वेषणे पाण्डवानां भूयः किं करवामहे ।
इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ॥ १९ ॥

बताइये, पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये हम पुनः क्या करें ? वीर ! हमारी एक बात और सुनिये, यह आपको प्रिय लगेगी । इसमें आपके लिये मङ्गलजनक समाचार है ॥ १९ ॥

येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ।
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ॥ २० ॥
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ।
अदृश्यमानैर्दुष्टात्मा भ्रातृभिः सह सोदरैः ॥ २१ ॥

राजन् ! मत्स्यराज विराटके जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचकने बहुत बड़ी सेनाके द्वारा त्रिगर्तदेश और वहाँके निवासियोंको तहस-नहस कर दिया था, भारत ! गन्धर्वोंने उस दुष्टात्माको उसके सहोदर भाइयोंसहित रात्रिमें गुप्तरूपसे मार डाला है । अब वह श्मशानभूमिमें पड़ा सो रहा है ॥

(श्यालो राज्ञो विराटस्य सेनापतिरुदारधीः ।
सुदेष्णायाः स वै ज्येष्ठः शूरो वीरो गतव्यथः ॥
उत्साहवान् महावीर्यो नीतिमान् बलवानपि ।
युद्धज्ञो रिपुवीरघ्नः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥

प्रजारक्षणदक्षश्च शत्रुग्रहणशक्तिमान्।
विजितारिर्महायुद्धे प्रचण्डो मानतत्परः ॥
नरनारीमनोह्लादी धीरो वाग्मी रणप्रियः।

उदारचित्त कीचक राजा विराटका साला और सेनापति था। रानी सुदेष्णाका वह बड़ा भाई लगता था। कीचक शूरवीर, व्यथारहित, उत्साही, महापराक्रमी, नीतिमान्, बलवान्, युद्धकी कलाको जाननेवाला, शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, सिंहके समान पराक्रमसम्पन्न, प्रजारक्षणमें कुशल, शत्रुओंको काबूमें लानेकी शक्ति रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धोंमें वैरियोंपर विजय पानेवाला, अत्यन्त क्रोधी, अभिमानी, नर-नारियोंके मनको आह्लादित करनेवाला, रणप्रिय, धीर और बोलनेमें चतुर था ॥

स हतो निशि गन्धर्वैः स्त्रीनिमित्तं नराधिप।
अमृष्यमाणो दुष्टात्मा निशीथे सह सोदरैः ॥
सुहृदश्चास्य निहता योधाश्च प्रवरा हताः।)

नरेश्वर! वह अमर्षशील दुष्टात्मा कीचक एक स्त्रीके कारण गन्धर्वोंद्वारा आधी रातमें अपने भाइयोंसहित मार डाला गया है। उसके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ सैनिक भी मारे गये हैं॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम्।
कृतकृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! शत्रुओंके पराभवका यह प्रिय संवाद सुनकर आप कृतकृत्य हों और इसके बाद जो कुछ करना हो, वह करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचरोंके लौटकर आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधनका सभासदोंसे पाण्डवोंका पता लगानेके लिये परामर्श तथा इस विषयमें कर्ण और दुःशासनकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा श्रुत्वा तेषां वचस्तदा।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधन उस समय दूतोंकी बातपर विचार करके बहुत देरतक मन-ही-मन कुछ सोचता रहा। उसके बाद उसने सभासदोंसे कहा—॥ १ ॥

सुदुःखा खलु कार्याणां गतिर्विज्ञातुमन्ततः।
तस्मात् सर्वे निरीक्षध्वं क नु ते पाण्डवा गताः ॥ २ ॥

'कार्योंके अन्तिम परिणामको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त कठिन है; अतः आप सब लोग इस बातको समझें कि पाण्डव कहाँ चले गये? ॥ २ ॥

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः।
तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ ३ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें पाण्डवोंके अज्ञातवासका अधिकांश समय बीत चुका है और थोड़े ही दिन शेष हैं ॥ ३ ॥

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ॥ ४ ॥
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ॥ ५ ॥

'यदि शेष समय भी पाण्डव इसी प्रकार यहाँ व्यतीत कर लें, तो वे प्रतिज्ञापालनके भारसे मुक्त हो जायँगे। फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मदकी धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पोंके समान क्रोधमें भरकर निश्चय ही कौरवोंके लिये दुःखदायी हो जायँगे ॥ ४-५ ॥

सर्वे कालस्य वेत्तारः कृच्छ्ररूपधराः स्थिताः।
प्रविशेयुर्जितक्रोधास्तावदेव पुनर्वनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम्।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ॥ ७ ॥

'वे सब समयकी नियत अवधिको जानते हैं; अतः कहीं ऐसा वेष धारण करके छिपे होंगे, जिससे उन्हें पहचानना

कठिन हो गया है; इसलिये आपलोग शीघ्र उनका पता लगानेकी चेष्टा करें; जिससे वे क्रोधको दबाकर उतने ही समयके लिये अर्थात् बारह वर्षोंके लिये फिर वनमें चले जायँ। ऐसा होनेपर ही मेरा यह राज्य दीर्घकालतकके लिये निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य तथा निष्कण्टक हो जायगा' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ॥ ८ ॥

यह सुनकर कर्णने कहा—'भरतनन्दन! तब शीघ्र ही दूसरे कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जायँ, जो धूर्त होनेके साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें ॥ ८ ॥

चरन्तु देशान् संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान्।
तत्र गोष्ठीषु रम्यासु सिद्धप्रव्रजितेषु च ॥ ९ ॥
परिचारेषु तीर्थेषु विविधेष्वाकरेषु च।
विज्ञातव्या मनुष्यैस्तैस्तर्कया सुविनीतया ॥ १० ॥

'वे गुप्तरूपसे धन-धान्यसम्पन्न एवं जनसमुदायसे भरे हुए देशोंमें जायँ और वहाँ सुरम्य सभाओंमें, सिद्ध-संन्यासी महात्माओंके आश्रमोंमें, राजनगरोंमें, नाना प्रकारके तीर्थों और सर्वोत्तम स्थानोंमें, वहाँ निवास करनेवाले मनुष्योंसे विनयपूर्ण युक्तिसे पूछकर उनका पता लगावें ॥ ९-१० ॥

विविधैस्तत्परैः सम्यक् तज्ज्ञैर्निपुणसंवृतैः।
अन्वेष्टव्याः सुनिपुणैः पाण्डवाश्छन्नवासिनः ॥ ११ ॥
नदीकुञ्जेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥ १२ ॥

'पाण्डव छिपकर किसी गुप्त स्थानमें निवास करते होंगे; अतः जो कार्यसाधनमें तत्पर, उन्हें अच्छी तरह पहचाननेवाले, बुद्धिमानोंसे स्वयं भी छिपकर कार्य करनेवाले और अत्यन्त कुशल हों, ऐसे अनेक गुप्तचर नदी-तटवर्ती कुञ्जों, तीर्थों, गाँवों, नगरों, रमणीय आश्रमों, पर्वतों तथा गुफाओंमें जा-जाकर उनकी खोज करें' ॥ ११-१२ ॥

अथाग्रजानन्तरजः पापभावानुरागवान्।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर सदा पापभावनामें अनुरक्त रहनेवाला दुर्योधनसे छोटा भाई दुःशासन अपने बड़े भाईसे बोला—॥ १३ ॥

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप।
ते यान्तु दत्तदेया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ॥ १४ ॥

'राजन्! नरेश्वर! जिन गुप्तचरोंपर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देनेयोग्य सब साधन देकर पुनः पाण्डवोंकी खोजके लिये भेजा जाय ॥ १४ ॥

एतच्च कर्णो यत् प्राह सर्वमीहामहे तथा।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयन्तु ततस्ततः ॥ १५ ॥

'कर्णने जो बात कही है, वह सब हम करें। इनके बताये हुए स्थानोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर सभी गुप्तचर उनका पता लगावें' ॥ १५ ॥

एते चान्ये च भूयांसो देशाद् देशं यथाविधि।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥ १६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से लोग एक देशसे दूसरे देशमें विधिपूर्वक खोज करें। अभीतक तो पाण्डवोंके गन्तव्य स्थान, निवास तथा प्रवृत्तिका कुछ भी पता नहीं लग रहा है ॥ १६ ॥

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥ १७ ॥

'या तो वे अधिक गुप्त स्थानमें छिपे हैं या समुद्रके उस पार चले गये हैं। यह भी सम्भव है कि अपनेको शूरवीर माननेवाले इन पाण्डवोंको उस महान् वनमें अजगर निगल गये हों ॥

अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनन्दन।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥ १८ ॥

'अथवा वे किसी विषम परिस्थितिमें पड़कर सदाके लिये नष्ट हो गये हों। अतः कुरुनन्दन! मनुजेश्वर! आप अपने चित्तको स्वस्थ करके जो ठीक समझमें आवे, वह कार्य पूर्ण उत्साहके साथ करें' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्ण और दुःशासनके वचनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

आचार्य द्रोणकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान्।
न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ॥ १ ॥
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर तत्त्वार्थदर्शी महापराक्रमी द्रोणाचार्यने कहा—'पाण्डवलोग शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ और

अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा माननेवाले उनके भक्त हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट होते हैं और न किसीसे तिरस्कृत ही होते हैं ॥ १-२ ॥

नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम्।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप।
अजातशत्रुं श्रीमन्तं सर्वभ्रातृमनुव्रतम् ॥ ४ ॥

'उनमें धर्मराज तो नीति, धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, भाइयोंद्वारा पिताकी भाँति सम्मानित, धर्मपर अटल रहनेवाले, सत्यपरायण और भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ हैं। राजन्! उनके भाई भी अपनेसे बड़ोंके अनुगामी और अपने महात्मा बन्धु श्रीमान् अजातशत्रु युधिष्ठिरके भक्त हैं। धर्मराज भी सब भाइयोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं ॥ ३-४ ॥

तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम्।
किमर्थं नीतिमान् पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥

'जो इस प्रकार आज्ञापालक, विनयशील और महात्मा हैं, ऐसे अपने छोटे भाइयोंका नीतिज्ञ धर्मराज कैसे भला नहीं करेंगे ? ॥ ५ ॥

तस्माद् यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम्।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥

अतः मैं अपनी बुद्धि और अनुभवकी दृष्टिसे यह देखता हूँ कि पाण्डवलोग अपने अनुकूल समयके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वे नष्ट नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

साम्प्रतं चैव यत् कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम्।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ॥ ७ ॥
यथावत् पाण्डुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम्।
दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥

'इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचारकर शीघ्र किया जाना चाहिये। इसमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। सभी विषयोंमें धैर्य रखनेवाले उन पाण्डवोंके निवास-स्थानका ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। वे सभी शूरवीर और तपस्यासे आवृत हैं, अतः उन्हें पाना कठिन है। पा लेनेपर भी उन्हें पहचानना तो और भी कठिन है ॥ ७-८ ॥

शुद्धात्मा गुणवान् पार्थः सत्यवान् नीतिमाञ्शुचिः।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शुद्धचित्त, गुणवान्, सत्यवान्, नीतिमान्, पवित्र और तेजके पुञ्ज हैं; अतः उन्हें पहचानना असम्भव है। आँखोंसे दीख जानेपर भी वे मनुष्यको मोह लेंगे—पहचाने नहीं जा सकेंगे ॥ ९ ॥

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

इसलिये इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर ही हमें कोई काम करना चाहिये। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध पुरुष अथवा जो दूसरे लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उन सबकी खोज करानी चाहिये' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणवाक्य एवं गुप्तचर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।२७।

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी महिमा कहते हुए भीष्मकी पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
श्रुतवान् देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत्।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान् प्रति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् भरतवंशियोंके पितामह, देशकालके ज्ञाता, वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शान्तनु-नन्दन भीष्मजीने आचार्य द्रोणकी बात पूरी होनेपर कौरवोंके हितके लिये आचार्यके कथनसे मेल खाती हुई यह बात कौरवोंसे कही ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम्।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाभिमतां सदा ॥ ३ ॥

उनकी वह बात धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा धर्मसे युक्त थी। वह दुष्ट पुरुषोंके लिये सदा दुर्लभ और सत्पुरुषोंको सदैव प्रिय लगनेवाली थी ॥ ३ ॥

भीष्मः समवदत् तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम्।
यथैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

इस प्रकार भीष्मजीने वहाँ सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित सम्यक् वचन कहा—'सब विषयोंके तत्त्वज्ञ तथा विप्रवर आचार्य द्रोणने जैसा कहा है, वह ठीक है ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः ॥ ६ ॥

वास्तवमें पाण्डव समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों एवं व्रतके पालनमें तत्पर, वेदोक्त व्रतके पालक, नाना प्रकारकी श्रुतियोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके उपदेश और आदेशके पालनमें संलग्न, सत्यपरायण तथा शुद्ध व्रत धारण करनेवाले हैं। वे अज्ञातवासके नियत समयको जानते हैं, इसीलिये उसका पालन कर रहे हैं ॥ ५-६ ॥

क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।
नावसीदितुमर्हन्ति उद्वहन्तः सतां धुरम् ॥ ७ ॥

'पाण्डव क्षत्रिय-धर्ममें नित्य अनुरक्त रहकर सदा भगवान् श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले हैं। वे उत्तम वीर पुरुष, महात्मा, महाबलवान् तथा साधु पुरुषोंके लिये उचित कर्तव्यका भार वहन कर रहे हैं; अतः वे कष्ट भोगने या नष्ट होने योग्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः ।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥ ८ ॥

'पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रमसे सुरक्षित हैं। अतः वे नष्ट नहीं हो सकते, यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ८ ॥

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत ।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः ॥ ९ ॥

'भरतनन्दन! पाण्डवोंके विषयमें मेरी बुद्धिका जो निश्चय है, उसे बताता हूँ। जो उत्तम नीतिसे सम्पन्न है, उसकी उस नीतिका अनुसंधान दूसरे (अनीतिपरायण) मनुष्य नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

यत् तु शक्यमिहास्माभिस्तान् वै संचिन्त्य पाण्डवान् ।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात् प्रवक्ष्यामि निबोध तत् ॥

'पाण्डवोंके सम्बन्धमें अपनी बुद्धिसे भलीभाँति सोच-विचारकर मुझे जो युक्तिसंगत जान पड़ा है, वही उपाय हम यहाँ कर सकते हैं। मैं उसे द्रोहके कारण नहीं, तुम्हारे भलेके लिये बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो ॥ १० ॥

न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
सा त्वियं साधु वक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिरकी जो नीति है, उसकी मेरे-जैसे पुरुषोंको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उसे अच्छी नीति ही कहनी चाहिये, अनीति कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है ॥ ११ ॥

वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ॥ १२ ॥
यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।

'तात ! जो वृद्धपुरुषोंके अनुशासनमें रहनेवाला और सत्यपालक है, वह धीर पुरुष यदि साधुपुरुषोंके समाजमें कुछ कहना चाहता है, तो उसे यहाँ सर्वथा धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे यथार्थ एवं उचित बात ही कहनी चाहिये ॥ १२½ ॥

तत्र नाहं तथा मन्ये यथायमितरो जनः ॥ १३ ॥
निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन् वै त्रयोदशे ।

अतः इस तेरहवें वर्षमें धर्मराज युधिष्ठिरके निवासके सम्बन्धमें दूसरे लोग जैसी धारणा रखते हैं, वैसा मैं नहीं मानता ॥ १३½ ॥

तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ॥ १४ ॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥

'तात ! जिस नगर या राष्ट्रमें राजा युधिष्ठिर निवास करते होंगे, वहाँके राजाओंका अकल्याण नहीं हो सकता। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, उस जनपदके लोगोंको दानशील, उदार, विनयी और लज्जाशील होना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेन्द्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे ॥ १६ ॥

नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥ १७ ॥

'वहाँ कोई न तो दूसरेके दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसीमें अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष)। वहाँके सब लोग स्वयं ही धर्ममें तत्पर होंगे ॥ १७ ॥

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥ १८ ॥

'उस देश या जनपदमें प्रचुर रूपसे वेद-ध्वनि होती होगी, यज्ञोंमें पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे ॥ १८ ॥

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति ॥ १९ ॥

वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करता होगा, इसमें संशय नहीं है। वहाँकी भूमिपर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी ॥ १९ ॥

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च ।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥ २० ॥

'वहाँ गुणयुक्त धान्य, सरस फल, सुगन्धयुक्त माला

पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें भीष्मकी सम्मति

सुशर्मापर भीमसेनका प्रहार

और माङ्गलिक शब्दोंसे युक्त वाणी सुलभ होगी ॥ २० ॥

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम् ।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो, ऐसी शीतल एवं मन्द वायु चलती होगी । धर्म और ब्रह्मके स्वरूपका विचार पाखण्डशून्य होगा । जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ भयका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च ॥ २२ ॥

'उस जनपदमें गौओंकी अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी । उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे ॥ २२ ॥

गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च ।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

जिस देशमें राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे ॥ २३ ॥

रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः ।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥२४॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सभी विषय गुणकारी होंगे और मनको प्रसन्न करनेवाले दृश्य देखनेको मिलेंगे ॥ २४ ॥

धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः ।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ २५ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँके समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने धर्मोंका पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभावसे सम्पन्न होंगे ॥ २५ ॥

देशे तस्मिन् भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते ।
सम्प्रीतिमाञ्जनस्तत्र संतुष्टः शुचिरव्ययः ॥ २६ ॥

'तात ! पाण्डवोंसे संयुक्त देशमें ये सब विशेषताएँ होंगी । वहाँके लोग प्रसन्न, संतुष्ट, पवित्र और विकारशून्य होंगे ॥

देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान् ।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ॥ २७ ॥

'देवता और अतिथियोंकी पूजामें सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा । सभी लोग दानको प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्मके पालनमें तत्पर होंगे ॥ २७ ॥

अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुभव्रतः ।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके लोग अशुभको छोड़कर शुभके अभिलाषी होंगे । यज्ञोंका अनुष्ठान उनके लिये अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे ॥२८॥

त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः ।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥

'तात ! जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग असत्य-भाषणका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मङ्गलसे युक्त, शुभ वस्तुओंकी प्राप्तिके इच्छुक तथा शुभमें ही मन लगानेवाले होंगे ॥ २९ ॥

भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः ।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः॥ ३० ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित् ।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥ ३१ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम् ।

'सदा इष्टजनोंका प्रिय करना ही उनका व्रत होगा । कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं । उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते हैं । अतः अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य)भी उन्हें नहीं पहचान सकते ॥ ३०-३१½ ॥

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः ।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥

'इसलिये जहाँ ऐसे लक्षण पाये जायँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिर-का यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवासस्थान हो सकता है; वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है । इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता ॥ ३२ ॥

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम् ।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन ! यदि मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो,तो इसी प्रकार सोच-विचारकर जो काम करनेसे तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें भीष्मवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कृपाचार्यकी सम्मति और दुर्योधनका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् महर्षि शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने उस समय यह बात कही—'राजन्! वयोवृद्ध भीष्मजीने पाण्डवोंके विषयमें जो कुछ कहा है, वह युक्तियुक्त तो है ही, अवसरके अनुकूल भी है ॥ १ ॥

धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्रानुरूपं भीष्मेण ममाप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥

'उसमें धर्म और अर्थ दोनों ही संनिहित हैं। वह सुन्दर, तात्त्विक और सकारण है। इस विषयमें मेरा भी जो कथन है, वह भीष्मजीके ही अनुरूप है, उसे सुनो ॥ २ ॥

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम्।
नीतिर्विधीयतां चापि साम्प्रतं या हिता भवेत्॥ ३ ॥

'तुमलोग गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी गति और स्थितिका पता लगवाओ और उसी नीतिका आश्रय लो, जो इस समय हितकारिणी हो ॥ ३ ॥

नावज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ॥ ४ ॥

'तात! जिसे सम्राट् बननेकी इच्छा हो, उसे साधारण शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। फिर जो युद्धमें सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें कुशल हैं, उन पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है? ॥ ४ ॥

तस्मात् सत्रं प्रविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
गूढभावेषु छन्नेषु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः।
उदयः पाण्डवानां च प्राप्ते काले न संशयः॥ ६ ॥

'अतः इस समय जब कि महात्मा पाण्डव छद्मवेष धारण करके (अर्थात् वेष बदलकर) गुप्तरूपसे छिपे हुए हैं और अज्ञातवासकी जो नियत अवधि थी, वह प्रायः समाप्त हो चली है, स्वराष्ट्र और परराष्ट्रमें अपनी कितनी शक्ति है—इसे समझ लेना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त समय आते ही पाण्डव प्रकट हो जायँगे ॥ ५-६ ॥

निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः।
महोत्साहा भविष्यन्ति पाण्डवा ह्यमितौजसः॥ ७ ॥

'अज्ञातवासका समय पूर्ण कर लेनेपर कुन्तीके वे महाबली, अमितपराक्रमी और महात्मा पुत्र पाण्डव महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जायँगे ॥ ७ ॥

तस्माद् बलं च कोषश्च नीतिश्चापि विधीयताम्।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक् तैः संदधामहे ॥ ८ ॥

'अतः इस समय तुम्हें अपनी सेना, कोष और नीति ऐसी बनायी रखनी चाहिये, जिससे समय आनेपर हम उनके साथ यथावत् सन्धि (मेल अथवा बाण-संधान) कर सकें ॥ ८ ॥

तात बुद्ध्यापि तत् सर्वं बुध्यस्व बलमात्मनः।
नियतं सर्वमित्रेषु बलवत्स्वबलेषु च ॥ ९ ॥

'तात! तुम स्वयं बुद्धिसे भी विचारकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लो। तुम्हारे बलवान् और निर्बल सब प्रकारके मित्रोंमें निश्चित बल कितना है, यह भी जान लेना चाहिये ॥ ९ ॥

उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः॥ १० ॥

'भारत! उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारकी सेनाओंकी स्थिति समझो। उत्तम और मध्यम सेनाएँ प्रसन्न हैं या अप्रसन्न—इसे जान लो; तब हम शत्रुओंसे सन्धि (मेल या बाण-संधान) कर सकते हैं ॥ १० ॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा ।
न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानम्य दुर्बलान् ॥ ११ ॥
सान्त्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम्।
सुकोषबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

'साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (शत्रुओंमें फूट डालना), दण्ड देना और कर लेना—इन नीतियोंके द्वारा* शत्रुपर आक्रमण करके, दुर्बलोंको बलसे दबाकर, मित्रोंको मेल-जोलसे अपनाकर और सेनाको मिष्ट-भाषण एवं वेतन आदि देकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इस प्रकार उत्तम कोष और सेनाको बढ़ा लेनेपर तुम अच्छी सफलता प्राप्त कर सकोगे ॥ ११-१२ ॥

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पाण्डवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः ॥ १३॥

---

* जब शत्रुकी शक्ति अपने बराबर हो, तब उसके प्रति साम और भेदनीतिका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उससे समझौता करना या उसकी सेनामें फूट डालनी चाहिये। यदि शत्रु अपनेसे अधिक शक्तिशाली हो, तो वहाँ दाननीतिका प्रयोग उचित है अर्थात् उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर शान्त करना चाहिये। यदि अपनी ही शक्ति अधिक हो, तो उसे दण्ड देना या युद्धमें मार गिराना चाहिये। अतः अपने और विपक्षीके बला-बलका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

'उस दशामें बलवान्-से-बलवान् शत्रु क्यों न आ जायँ और वे पाण्डव हों या दूसरे कोई, यदि सेना और वाहन आदिकी दृष्टिसे उनमें अपनी अपेक्षा न्यूनता है तो तुम उन सबके साथ युद्ध कर सकोगे ॥ १३ ॥

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

'नरेन्द्र ! इस प्रकार अपने धर्मके अनुकूल सम्पूर्ण कर्तव्यका निश्चय करके यथासमय उसका पालन करोगे, तो दीर्घकालतक सुख भोगोगे' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओंका वचन सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार करता रहा । फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोला ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुतं ह्येतन्मया पूर्वं कथासु जनसंसदि ।
वीराणां शास्त्रविदुषां प्राज्ञानां मतिनिश्चये ॥
कृतिनां सारफल्गुत्वं जानामि नयचक्षुषा ।

दुर्योधनने कहा - मन्त्रियो ! मैंने पूर्वकालमें जनसाधारणकी बैठकमें आपसकी बातचीतके समय शास्त्रोंके विद्वान्, ज्ञानी, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुषोंके निश्चित सिद्धान्तके विषयमें कुछ ऐसी बातें सुनी हैं, जिनसे नीतिकी दृष्टिके अनुसार मैं मनुष्योंके बलाबलकी जानकारी रखता हूँ ॥

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ॥
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
उत्तमाः प्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः॥
समप्राणबला नित्यं सम्पूर्णबलपौरुषाः ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
बाहुयुद्धमभीप्सन्तो नित्यं संरब्धमानसाः ।
तेनाहमवगच्छामि प्रत्ययेन वृकोदरम् ॥
मनस्यभिनिविष्टं मे व्यक्तं जीवन्ति पाण्डवाः ।

इस समय मनुष्यलोकमें दैत्य, मानव तथा राक्षसोंमें चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं, जो इस भूतलपर आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्तिमें इन्द्रके समान हैं । वे ही समस्त प्राणधारियोंमें उत्तम हैं । बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । उन सबमें सदा एक समान प्राणशक्ति मानी गयी है । वे सम्पूर्ण बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा कीचक । इनमें कीचकका चौथा स्थान है । इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुननेमें नहीं आया । ये सभी परस्पर समान बलशाली तथा (मौका पड़नेपर) एक दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक रहे हैं । इनके मनमें एक दूसरेके प्रति सदा रोष भरा रहा और ये परस्पर बाहुयुद्ध करना चाहते रहे हैं। इस आधारपर मैं भीमसेनका पता पा लेता हूँ और मेरे मनमें स्पष्टरूपसे यह बात आ जाती है कि पाण्डव अवश्य जीवित हैं ।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ॥
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ।

अब मुझे ऐसा लगता है कि विराटनगरमें कीचकको भीमसेनने ही मारा है । सैरन्ध्रीको मैं द्रौपदी समझता हूँ । इस विषयमें कोई अधिक विचार नहीं करना चाहिये ॥

शङ्के कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन कीचकः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हतो निशि महाबलः ।
को हि शक्तः परो भीमात् कीचकं हन्तुमोजसा ॥
शस्त्रं विना बाहुवीर्यात् तथा सर्वाङ्गचूर्णने ।
मर्दितुं वा तथा शीघ्रं चर्ममांसास्थिचूर्णितम् ॥

मुझे संदेह है कि द्रौपदीके निमित्तसे भीमसेनने ही गन्धर्वका नाम धारण करके रात्रिके समय महाबली कीचकको मारा होगा । भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो बिना अस्त्र-शस्त्रके केवल शारीरिकशक्ति और बाहुबलसे कीचकको मार सके तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंको चूर-चूर करने और शीघ्रतापूर्वक अस्थि, चर्म एवं मांसके उस चूर्णसमुदायको मसलकर मांसपिण्ड बना देनेमें समर्थ हो ? ॥

रूपमन्यत् समास्थाय भीमस्यैतद् विचेष्टितम् ।
ध्रुवं कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन सूतजाः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हता युधि न संशयः ।

अतः यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि दूसरा रूप धारण करके भीमसेनने ही यह पराक्रम किया है । गन्धर्वनामधारी भीमने ही कृष्णाके लिये रातके समय सूतपुत्रोंका वध किया है, इसमें संशय नहीं है ॥

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ।
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ।
विराटनगरे मन्ये पाण्डवाश्छन्नचारिणः ॥
निवसन्ति पुरे रम्ये तत्र यात्रा विधीयताम् ।

पितामह भीष्मने युधिष्ठिरके निवासके प्रभावसे देश और जनसमुदायके जो गुण बताये हैं, उनमें भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्रमें (दूतोंद्वारा) मेरे सुननेमें आये हैं। इससे मैं मानता हूँ कि पाण्डव राजा विराटके रमणीय नगरमें निवास करते और छद्मवेष धारण करके गुप्तरूपसे विचरते हैं, अतः वहाँकी यात्रा करनी चाहिये ॥

मत्स्यराष्ट्रं हनिष्यामो ग्रहीष्यामश्च गोधनम् ॥
गृहीते गोधने नूनं तेऽपि योत्स्यन्ति पाण्डवाः।
अपूर्णे समये चापि यदि पश्येम पाण्डवान्।
द्वादशान्यानि वर्षाणि प्रवेक्ष्यन्ति पुनर्वनम् ॥

हमलोग वहाँ चलकर मत्स्यराष्ट्रको तहस-नहस करेंगे और राजा विराटके गोधनपर अपना अधिकार कर लेंगे। उनके गोधनका अपहरण कर लेनेपर निश्चय ही पाण्डव भी हम-लोगोंके साथ युद्ध करेंगे। ऐसी दशामें यदि अज्ञातवासका समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही हम पाण्डवोंको देख लेंगे, तो उन्हें पुनः दूसरी बार बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा ॥

तस्मादन्यतरेणापि लाभोऽस्माकं भविष्यति।
कोषवृद्धिरिहास्माकं शत्रूणां निधनं भवेत् ॥
कथं सुयोधनं गच्छेद् युधिष्ठिरभृतः पुरा।
एतच्चापि वदत्येष मात्स्यः परिभवान्मयि ॥

अतः दोमेंसे एक भी हो जाय, तो भी हमें लाभ ही होगा। इस रणयात्रासे हमारे कोषकी वृद्धि होगी और शत्रुओंका नाश हो जायगा। मत्स्यदेशका राजा विराट मेरे प्रति तिरस्कारका भाव रखकर यह भी कहा करता है कि पूर्वकालमें धर्मराज युधिष्ठिरने जिसका पालन-पोषण किया हो, वह दुर्योधनके अधिकारमें कैसे जा सकता है ? ॥

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम्।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ॥)

अतः निश्चय ही मत्स्यदेशपर आक्रमण करना चाहिये। वहाँकी यात्रा अवश्य की जाय। यदि आप सब लोगोंको अच्छा लगे, तो मैं इस कार्यको नीतिके अनुकूल मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे कृपवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें कृपाचार्यवचनसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माके प्रस्तावके अनुसार त्रिगर्तों और कौरवोंका मत्स्यदेशपर धावा

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर त्रिगर्तदेशके राजा महाबली सुशर्माने, जो रथियोंके समूहका अधिपति था, बड़ी उतावलीके साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया ॥ १ ॥

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याथ दुर्योधनमभाषत ॥ ३ ॥

उसने कर्णकी ओर देखकर दुर्योधनसे कहा—'प्रभो ! पहले मत्स्य तथा शाल्वदेशके सैनिकोंने अनेक बार चढ़ाई करके हमें कष्ट दिया है। मत्स्यराजके सेनापति महाबली सूत-पुत्र कीचकने अपने बन्धुओंके साथ बार-बार आक्रमण करके मुझे बलपूर्वक सताया है ॥ २-३ ॥

ह्यसकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ॥ ४ ॥

'मत्स्यनरेशने बहुत बार अपने बल-पराक्रमसे धावा करके मेरे समूचे राष्ट्रको क्लेश पहुँचाया है। पहले बलवान् कीचक ही उनका सेनानायक था ॥ ४ ॥

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

'वह दुष्टात्मा बहुत ही क्रूर और क्रोधी था। इस भूतल-पर अपने पराक्रमके लिये उसकी सर्वत्र ख्याति थी। अब वह निर्दयी और पापाचारी कीचक गन्धर्वोंद्वारा मार डाला गया है ॥ ५ ॥

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ॥ ६ ॥

'उसके मारे जानेसे राजा विराटका घमण्ड चूर-चूर हो गया होगा। अब वे निराधार एवं निरुत्साह हो गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ६ ॥

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ॥ ७ ॥

'अनघ ! यदि आपको जचे, तो मेरी राय यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्णका भी उस देशपर आक्रमण हो ॥ ७ ॥

एतत् प्राप्तमहं मन्ये कार्यमात्ययिकं हि नः।
राष्ट्रं तस्याभियास्यामो बहुधान्यसमाकुलम् ॥ ८ ॥

'मैं समझता हूँ; इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। यह हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है। हम प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न मत्स्यराष्ट्रपर चढ़ाई करें ॥ ८ ॥

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः॥ ९॥

'राजा विराटके यहाँ नाना प्रकारके रत्न और धन हैं। हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको जीतकर आपसमें बाँट लेंगे॥ ९॥

अथवा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीड्य पुरं बलात्॥ १०॥

'अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओंके बहुत-से समुदाय हैं; अतः बलपूर्वक उनके नगरमें उत्पात मचाकर उन समस्त गौओंका अपहरण कर लेंगे॥ १०॥

कौरवैः सह संगत्य त्रिगर्तैश्च विशाम्पते।
गास्तस्यापहरामोऽद्य सर्वैश्चैव सुसंहताः॥ ११॥

'महाराज! कौरवोंके साथ संगठित त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंकी सहायतासे हम सब मिलकर विराटकी गौओंको हर लेंगे॥ ११॥

संविभागेन कृत्वा तु निबध्नीमोऽस्य पौरुषम्।
हत्वा चास्य चमूं कृत्स्नां वशमेवानयामहे॥ १२॥

'और हम आपसमें विभाजन करके उन्हें अपने यहाँ बाँध लेंगे। साथ ही मत्स्यराजके सामर्थ्यको नष्ट करके उसकी सारी सेनाको अपने अधीन कर लेंगे॥ १२॥

तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम्।
भवतां बलवृद्धिश्च भविष्यति न संशयः॥ १३॥

'विराटको नीतिसे वशमें करके हम सुखसे रहेंगे। इससे आपलोगोंकी सेना और शक्तिकी वृद्धि भी होगी; इसमें संशय नहीं है'॥ १३॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत्।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः॥ १४॥

त्रिगर्तराजका यह कथन सुनकर कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा—'सुशर्माने ठीक कहा है; यह समयोचित होनेके साथ ही हमारे लिये हितकर भी है॥ १४॥

तस्मात् क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम्।
विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ॥ १५॥

'इसलिये सेनाको सुसज्जित करके उसे कई टुकड़ियोंमें बाँटकर हमलोग शीघ्र यहाँसे कूच कर दें। अथवा अनघ! आपको जैसा ठीक लगे, वैसा करें॥ १५॥

प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः।
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा।
मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम्॥ १६॥

'अथवा कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हमारे पितामह परम बुद्धिमान् भीष्म, आचार्य द्रोण तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य—ये लोग जैसे ठीक समझें, वैसे ही यात्रा करनी चाहिये॥

सम्मन्त्र्य चाशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः।
किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः॥ १७॥

'आपसमें अच्छी तरह सलाह करके हमें राजा विराटको वशमें करनेके लिये शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। पाण्डवलोग धन, बल तथा पौरुष तीनोंसे हीन हैं, अतः उनसे हमें क्या काम है?॥ १७॥

अत्यन्तं वा प्रणष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम्।
यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम्।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च॥ १८॥

'राजन्! वे अत्यन्त अदृश्य (छिपे हुए) हों या यमराजके घर पहुँच गये हों, हमें तो उद्वेगशून्य होकर विराटनगरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ हमलोग विराटकी गौओंको तथा उनके विविध धन-रत्नोंको हस्तगत कर लेंगे'॥ १८॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत्।
वैकर्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम्॥ १९॥
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनन्तरम्।
सह वृद्धैस्तु सम्मन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम्॥ २०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुर्योधनने सूर्यपुत्र कर्णकी बात मानकर अपनी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहनेवाले छोटे भाई दुःशासनको स्वयं ही तुरंत आदेश दे दिया—'वृद्धजनोंकी सम्मति लेकर शीघ्र अपनी सेनाको प्रस्थानके लिये तैयार करो॥ १९-२०॥

यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः॥ २१॥

'जिधरसे आक्रमणका निश्चय हो, उसी ओर हम कौरव-सैनिकोंके साथ चलें। महारथी सुशर्मा भी त्रिगर्तोंके साथ निश्चित दिशाकी ओर जायँ और अपने समस्त बल (सेना) एवं वाहनोंको साथ ले लें॥ २१॥

प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः॥ २२॥

'सब साधनोंसे सम्पन्न हो सुशर्मा पहले मत्स्यदेशपर आक्रमण करें। फिर पीछेसे एक दिन बाद हमलोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेशके समृद्धिशाली राज्यपर धावा बोल देंगे॥ २२॥

ते यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति।
क्षिप्रं गोपान् समासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम्॥ २३॥

'त्रिगर्त-सैनिक एक साथ मिलकर तुरंत विराटनगरपर चढ़ाई करें और पहले ग्वालोंके पास पहुँचकर वहाँके बढ़े हुए गोधनपर अधिकार कर लें ॥ २३ ॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥

फिर हमलोग अपनी सेनाको दो टुकड़ोंमें बाँटकर उनकी लाखों सुन्दर तथा गुणवती गौओंका अपहरण करेंगे' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते।
संनद्धा रथिनः सर्वे सपदाता बलोत्कटाः ॥ २५ ॥
प्रति वैरं चिकीर्षन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः।
आदातुं गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पूर्व वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले त्रिगर्तदेशीय रथी और पैदल सैनिक कवच आदि धारण करके तैयार हो गये। वे सभी महान् बलवान् और प्रचण्ड पराक्रमी थे। सुशर्माने विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार कृष्णपक्षकी सप्तमीको अग्निकोणकी ओरसे विराटनगरपर चढ़ाई की॥ २५-२६ ॥

अपरे दिवसे सर्वे राजन् सम्भूय कौरवाः।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

राजन् ! फिर दूसरे दिन अष्टमीको दूसरी ओरसे सब कौरवोंने मिलकर धावा किया और गौओंके सहस्रों झुंडोंपर अधिकार जमा लिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्माभियाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंको ग्रहण करनेके लिये सुशर्मा आदिकी मत्स्यदेशपर चढ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

चारों पाण्डवोंसहित राजा विराटकी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषां महाराज तत्रैवामिततेजसाम्।
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उन दिनों छद्मवेषमें छिपकर उस श्रेष्ठ नगरमें रहते और महाराज विराटके कार्य सम्पादन करते हुए अतुलित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति बीत चुका था॥ १-२ ॥

कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा।
परां सम्भावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

कीचकके मारे जानेपर शत्रुहन्ता राजा विराट कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके प्रति बड़ी आदरबुद्धि रखने और उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगे थे ॥ ३ ॥

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ॥ ४ ॥

भारत ! तदनन्तर तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने बड़े वेगसे आक्रमण करके विराटकी बहुत-सी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४ ॥

(ततः शब्दो महानासीद् रेणुश्च दिवमस्पृशत्।
शङ्खदुन्दुभिघोषश्च भेरीणां च महास्वनः॥
गवाश्वरथनागानां नराणां च पदातिनाम्।

इससे उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा। धरतीकी धूल उड़कर ऊँचे आकाशमें व्याप्त हो गयी। शङ्ख, दुन्दुभि तथा नगारोंके महान् शब्द सब ओर गूँज उठे। बैलों, घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥

एवं तैस्त्वभिनिर्याय मत्स्यराजस्य गोधने ॥
त्रिगर्तैर्गृह्यमाणे तु गोपालाः प्रत्यषेधयन्।

इस प्रकार इन सबके साथ आक्रमण करके जब त्रिगर्तदेशीय योद्धा मत्स्यराजके गोधनको लेकर जाने लगे, उस समय उन गौओंके रक्षकोंने उन सैनिकोंको रोका ॥

अथ त्रिगर्ता बहवः परिगृह्य धनं बहु ॥
परिक्षिप्य हयैः शीघ्रै रथव्रातैश्च भारत।
गोपालान् प्रत्ययुध्यन्त रणे कृत्वा जये धृतिम् ॥
ते हन्यमाना बहुभिः प्रासतोमरपाणिभिः।
गोपाला गोकुले भक्ता वारयामासुरोजसा।
परश्वधैश्च मुसलैर्भिन्दिपालैश्च मुद्गरैः ॥
गोपालाः कर्षणैश्चित्रैर्जघ्नुरश्वान् समन्ततः।

भारत ! तब त्रिगर्तोंने बहुत-सा धन लेकर उसे अपने अधिकारमें करके शीघ्रगामी अश्वों तथा रथसमूहोंद्वारा युद्धमें विजयका दृढ़ संकल्प लेकर उन गोरक्षकोंका सामना करना आरम्भ किया। त्रिगर्तोंकी संख्या बहुत थी। वे हाथोंमें प्रास और तोमर लेकर विराटके ग्वालोंको मारने लगे; तथापि गोसमुदायके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले वे ग्वाले बलपूर्वक उन्हें रोके रहे। उन्होंने फरसे, मूसल, भिन्दिपाल, मुद्गर तथा 'कर्षण' नामक विचित्र शस्त्रोंद्वारा सब ओरसे शत्रुओंके अश्वोंको मार भगाया ॥

ते हन्यमानाः संक्रुद्धास्त्रिगर्ता रथयोधिनः ॥
विसृज्य शरवर्षाणि गोपान् व्यद्रावयन् रणे।)

ग्वालोंके आघातसे अत्यन्त कुपित हो रथोंद्वारा युद्ध करनेवाले त्रिगर्तसैनिक बाणोंकी वर्षा करके उन ग्वालोंको रणभूमिसे खदेड़ने लगे ॥

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत्।
स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ॥ ५ ॥

तब उन गौओंका रक्षक गोप, जिसने कानोंमें कुण्डल पहन रक्खे थे, रथपर आरूढ़ हो तीव्र गतिसे नगरमें आया और मत्स्यराजको देखकर दूरसे ही रथसे उतर पड़ा ॥ ५ ॥

शूरैः परिवृतं योधैः कुण्डलाङ्गदधारिभिः।
संवृतं मन्त्रिभिः सार्धं पाण्डवैश्च महात्मभिः ॥ ६ ॥
तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्धनम्।

अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेवाले महाराज विराट कुण्डल तथा अङ्गद (बाजूबन्द) धारी शूरवीर योद्धाओंसे घिरकर मन्त्रियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ राजसभामें बैठे थे ॥

सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान्।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ८ ॥

उस समय उनके पास जाकर गोपने प्रणाम करके कहा—'महाराज ! त्रिगर्तदेशके सैनिक हमें युद्धमें जीतकर और भाई-बन्धुओंसहित हमारा तिरस्कार करके आपकी लाखों गौओंको हाँककर लिये जा रहे हैं ॥७-८ ॥

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव।
तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत्॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! उन्हें वापस लेने—छुड़ानेकी चेष्टा कीजिये; जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जायँ—आपके हाथोंसे दूर न निकल जायँ ।' यह सुनकर राजाने मत्स्यदेशकी सेना एकत्र की ॥ ९ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥

उसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—सब प्रकारके सैनिक भरे थे और वह सेना ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। फिर राजा तथा राजकुमारोंने पृथक्-पृथक् कवच धारण किये ॥

भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः।
सवज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत्।

वे कवच बड़े चमकीले, विचित्र और शूरवीरोंके धारण करने योग्य थे। राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकने सुवर्णमय कवच ग्रहण किया, जिसके भीतर हीरे और लोहेकी जालियाँ लगी थीं ॥ ११½ ॥

सर्वपारसवं वर्म कल्याणपटलं दृढम् ॥ १२ ॥
शतानीकादवरजो मदिराक्षोऽभ्यहारयत्।

शतानीकसे छोटे भाईका नाम मदिराक्ष था। उन्होंने सुवर्णपत्रसे आच्छादित सुदृढ़ कवच धारण किया, जो सारा-का-सारा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको सहन करनेमें समर्थ फौलादका बना हुआ था ॥ १२½ ॥

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत् ॥ १३ ॥
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत्।
उत्सेधे यस्य पद्मानि शतं सौगन्धिकानि च ॥ १४ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने अभेद्यकल्प नामक कवच ग्रहण किया, जो किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था। उसमें सूर्यके समान चमकीली सौ फूलियाँ लगी थीं, सौ भँवरें बनी थीं, सौ बिन्दु (सूक्ष्म चक्र) और सौ नेत्रके समान आकारवाले चक्र बने थे। इसके सिवा उसमें नीचेसे ऊपरतक सौगन्धिक (कह्लार) जातिके सौ कमलोंकी आकृतियाँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं ॥ १३-१४ ॥

सुवर्णपृष्ठं सूर्याभं सूर्यदत्तोऽभ्यहारयत्।
दृढमायसगर्भं च श्वेतं वर्म शताक्षिमत् ॥ १५ ॥
विराटस्य सुतो ज्येष्ठो वीरः शङ्खोऽभ्यहारयत्।

सेनापति सूर्यदत्त(शतानीक)ने पृष्ठभागमें सुवर्णजटित एवं सूर्यके समान चमकीला कवच पहन रखा था। विराटके ज्येष्ठ पुत्र वीरवर शङ्खने श्वेत रंगका एक सुदृढ़ कवच धारण किया, जिसके भीतरी भागमें लोहा लगा था और ऊपर नेत्रके समान सौ चिह्न बने हुए थे ॥ १५½ ॥

शतशश्च तनुत्राणि यथास्वं ते महारथाः ॥ १६ ॥
योत्स्यमाना अनह्यन्त देवरूपाः प्रहारिणः।

इसी प्रकार सैकड़ों देवताओंके समान रूपवान् महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत हो अपने-अपने वैभवके अनुसार कवच पहन लिये। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ १६½ ॥

सूपस्करेषु शुभ्रेषु महत्सु च महारथाः ॥ १७ ॥
पृथक् काञ्चनसंनाहान् रथेष्वश्वानयोजयन्।

उन महारथियोंने सुन्दर पहियोंवाले विशाल एवं उज्ज्वल रथोंमें पृथक्-पृथक् सोनेके बख्तर धारण कराये हुए घोड़ोंको जोता ॥ १७½ ॥

सूर्यचन्द्रप्रतीकाशे रथे दिव्ये हिरण्मये ॥ १८ ॥
महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छिश्रिये तदा ।

मत्स्यराजके सुवर्णमय दिव्य रथमें, जो सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था, उस समय बहुत ऊँची ध्वजा फहराने लगी ॥ १८½ ॥

अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ १९ ॥
यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर क्षत्रियोंने अपने-अपने रथोंमें यथाशक्ति सुवर्णमण्डित नाना प्रकारकी ध्वजाएँ फहरायीं ॥

(रथेषु युज्यमानेषु कङ्को राजानमब्रवीत् ।
मयाप्यस्त्रं चतुर्मार्गमवाप्तमृषिसत्तमात् ॥
दंशितो रथमास्थाय पदं निर्याम्यहं गवाम् ।
अयं च बलवाञ्छूरो बल्लवो दृश्यतेऽनघ ॥
गोसंख्यमश्वबन्धं च रथेषु समयोजय ।
नैते न जातु युध्येयुर्गवार्थमिति मे मतिः ॥)
अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ॥ २० ॥

जब रथ जोते जा रहे थे, उस समय कङ्कने राजा विराटसे कहा—'मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षिसे चार मार्गोंवाले धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है, अतः मैं भी कवच धारण करके रथपर बैठकर गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करूँगा। निष्पाप नरेश ! यह बल्लव नामक रसोइया भी बलवान् एवं शूरवीर दिखायी देता है, इसे गौओंकी गणना करनेवाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाले ग्रन्थिकको भी रथोंपर बिठा दीजिये। मेरा विश्वास है कि ये गौओंके लिये युद्ध करनेसे कदापि मुँह नहीं मोड़ सकते।'

तदनन्तर मत्स्यराजने अपने छोटे भाई शतानीकसे कहा—॥ २० ॥

कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।
युद्ध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'भैया ! मेरे विचारमें यह बात आती है कि ये कङ्क, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
प्रतिमुञ्चन्तु गात्रेषु दीयन्तामायुधानि च ।
वीराङ्गरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥

'अतः इनके लिये भी ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित रथ दो। ये भी अपने अङ्गोंमें ऊपरसे दृढ़, किंतु भीतरसे कोमल और विचित्र कवच धारण कर लें। फिर इन्हें भी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र अर्पित करो। इनके अङ्ग और स्वरूप वीरोचित जान पड़ते हैं। इन वीर पुरुषोंकी भुजाएँ गजराजकी सूँड़दण्डकी भाँति शोभा पाती हैं ॥ २२-२३ ॥

नेमे जातु न युध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ॥ २४ ॥

'ये युद्ध न करते हों, यह कदापि सम्भव नहीं अर्थात् ये अवश्य युद्धकुशल हैं। मेरी बुद्धिका तो ऐसा ही निश्चय है।'

जनमेजय ! राजाका यह वचन सुनकर शतानीकने उतावले मनसे कुन्तीपुत्रोंके लिये शीघ्रतापूर्वक रथ लानेका आदेश दिया ॥

सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान् प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।

सहदेव, राजा युधिष्ठिर, भीम और नकुल—इन चारोंके लिये रथ लानेकी आज्ञा हुई। इस बातसे पाण्डव बड़े प्रसन्न थे। तब राजभक्त सारथि महाराज विराटके बताये अनुसार रथोंको शीघ्रतापूर्वक जोतकर ले आये ॥ २५½ ॥

कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
विराटः प्रादिशद् यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥

उसके बाद अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राजा विराटने अपने हाथसे विचित्र कवच प्रदान किये, जो ऊपरसे सुदृढ़ और भीतरसे कोमल थे। उन्हें लेकर उन वीरोंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान बाँध लिया ॥ २६-२७ ॥

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥

शत्रुसमूहको रौंद डालनेवाले वे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥ २८ ॥

तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान् हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुङ्गवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥

वे बड़े वेगसे चले। उन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपको अभीतक छिपा रक्खा था। वे सबके सब युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे। कुरुवंशशिरोमणि वे चारों महारथी कुन्तीकुमार सुवर्णमण्डित रथोंपर आरूढ़ हो एक ही साथ विराटके पीछे-पीछे चले। चारों भाई पाण्डव शूरवीर और सत्यपराक्रमी थे ॥ २९-३० ॥

(दीर्घाणां च दृढानां च धनुषां ते यथाबलम् ।
उत्कृष्य पाशान् मौर्वीणां वीराश्चापेष्वयोजयन् ॥
ततः सुवाससः सर्वे ते वीराश्चन्दनोक्षिताः ।
चोदिता नरदेवेन क्षिप्रमश्वानचोदयन् ॥
ते हया हेमसंच्छन्ना बृहन्तः साधुवाहिनः ।
चोदिताः प्रत्यदृश्यन्त पक्षिणामिव पङ्क्तयः ॥)

उन वीरोंने अपने विशाल और सुदृढ़ धनुषोंकी डोरियोंको यथाशक्ति ऊपर खींचकर धनुषके दूसरे सिरेपर चढ़ाया। फिर सुन्दर वस्त्र धारण करके चन्दनसे चर्चित हो उन समस्त वीर पाण्डवोंने नरदेव विराटकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े हाँक दिये। अच्छी तरह रथका भार वहन करनेवाले वे स्वर्णभूषित विशाल अश्व हाँके जानेपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पक्षियोंके समान दिखायी देने लगे ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गाः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
क्षरन्तश्चैव नागेन्द्राः सुदन्ताः षष्टिहायनाः ॥ ३१ ॥
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे भयंकर मतवाले हाथी तथा सुन्दर दाँतोंवाले साठ वर्षके मदवर्षी गजराज, जिन्हें युद्धकुशल महावतोंने शिक्षा दी थी, सवारोंको अपनी पीठपर चढ़ाये राजा विराटके पीछे-पीछे इस प्रकार जा रहे थे, मानो चलते-फिरते पर्वत हों ॥ ३१-३२ ॥

विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम् ।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ॥ ३३ ॥
षष्टिश्चाश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः ।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

युद्धकी कलामें कुशल, प्रसन्न रहनेवाले तथा उत्तम जीविकावाले मत्स्यदेशके प्रधान-प्रधान वीरोंकी उस सेनामें आठ हजार रथी, एक हजार हाथीसवार तथा साठ हजार घुड़सवार थे, जो युद्धके लिये तैयार होकर निकले थे। भरतर्षभ ! उनसे विराटकी वह विशाल वाहिनी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

सम्प्रयातं तदा राजन् निरीक्षन्तं गवां पदम् ।
तद् बलाग्र्यं विराटस्य सम्प्रस्थितमशोभत ।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! उस समय गौओंके पदचिह्न देखती युद्धके लिये प्रस्थित हुई विराटकी वह श्रेष्ठ सेना अपूर्व शोभा पा रही थी। उसमें ऐसे पैदल सैनिक भरे थे, जिनके हाथोंमें मजबूत हथियार थे। साथ ही हाथी, घोड़े तथा रथके सवारोंसे भी वह सेना परिपूर्ण थी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें मत्स्यराजविराटके युद्धोद्योगसे सम्बद्ध इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओंका परस्पर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलकर प्रहार करनेमें कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेनाका व्यूह बनाकर चले और सूर्यके ढलते-ढलते उन्होंने त्रिगर्तोंको पकड़ लिया ॥ १ ॥

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ॥ २ ॥

फिर तो क्रोधमें भरकर युद्धके लिये उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेशके महाबली वीर गौओंको ले जानेकी इच्छासे एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करने लगे ॥ २ ॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ॥ ३ ॥
तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः ।
घ्नतां परस्परं राजन् यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ४ ॥

हाथियोंपर चढ़कर उन्हें चलानेमें कुशल श्रेष्ठ महावतोंद्वारा तोमरों और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़ाये हुए भयंकर और मतवाले गजराज दोनों ओरसे एक दूसरेपर टूट पड़े। परस्पर शस्त्रोंका प्रहार करनेवाले हाथीसवारोंका वह कोलाहलपूर्ण भयंकर युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला एवं महासंहारकारी था ॥ ३-४ ॥

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्येऽवलम्बति ।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान् ॥ ५ ॥

राजन् ! सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे। उस समय पैदल, रथी, हाथीसवार तथा घुड़सवारोंके समूहसे भरा हुआ वह युद्ध देवासुरसंग्रामके समान हो रहा था ॥ ५ ॥

अन्योन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम् ।

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

एक-दूसरेपर धावा बोलकर आपसमें मार-काट मचानेवाले उन सैनिकोंके पदाघातसे इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी सूझ-बूझ नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः ।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ ७ ॥

सेनाकी धूलसे आच्छादित होकर उड़ते हुए पक्षी भी भूमिपर गिर जाते थे । दोनों ओरसे छूटे हुए बाणोंद्वारा (आकाश खचाखच भर जानेके कारण) सूर्यदेवका दीखना बंद हो गया ॥ ७ ॥

खद्योतैरिव संयुक्तमन्तरिक्षं व्यराजत ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम् ।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ॥ ९ ॥

बाणोंके कारण अन्तरिक्ष मानो जुगनुओंसे भर गया हो, इस प्रकार चकमक हो रहा था । दायें-बायें बाण मारनेवाले वे विश्वविख्यात धनुर्धर वीर जब घायल होकर गिरते थे, उस समय उनके सुवर्णकी पीठवाले धनुष दूसरोंके हाथमें चले जाते थे । रथी रथियोंसे और पैदल पैदलोंसे भिड़े हुए थे ॥८-९॥

सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन् निजघ्नुरितरेतरम् ।
निघ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ ११ ॥
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ।

घुड़सवार घुड़सवारोंसे और गजारोही गजारोहियोंसे लड़ रहे थे । राजन् ! वे सब क्रोधमें भरकर उस युद्धमें एक-दूसरेपर तलवार, पट्टिश, प्रास, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे थे; किंतु परिघके समान प्रचण्ड भुजदण्डवाले वे शूरवीर परस्पर क्रोधपूर्वक प्रहार करनेपर भी सामना करनेवाले वीरोंको पीछे नहीं हटा पाते थे ॥१०-११½॥

कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ॥ १२ ॥
अदृश्यत शिरश्छिन्नं रजोध्वस्तं सकुण्डलम् ।

बातकी बातमें, कुण्डलोंसहित कटे हुए कितने ही मस्तक धूलमें लोटने लगे । किसीकी नाक बड़ी सुन्दर थी, परंतु ऊपरका ओठ कट गया था । कोई अलंकारोंसे अलंकृत था, किंतु उसका केशभाग कटकर उड़ गया था ॥ १२½ ॥

अदृश्यंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः ॥ १३ ॥
शालस्कन्धनिकाशानि क्षत्रियाणां महामृधे ।

उस महासंग्राममें बहुत-से क्षत्रिय वीरोंके शरीर, जो शालवृक्षकी शाखाओंके समान विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट थे, छिन्न-भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े दिखायी देने लगे ॥ १३½ ॥

नागभोगनिकाशैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ॥ १४ ॥
आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

सर्पोंके शरीरकी भाँति सुशोभित चन्दनचर्चित भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे पटी हुई रणभूमि अपूर्व शोभा धारण कर रही थी ॥ १४½ ॥

रथिनां रथिभिश्चात्र सम्प्रहारोऽभ्यवर्तत ॥ १५ ॥
सादिभिः सादिनां चापि पदातीनां पदातिभिः ।
उपाशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता ॥ १६ ॥

वहाँ रथियोंका रथियोंसे, घुड़सवारोंका घुड़सवारोंसे और पैदल योद्धाओंका पैदलोंसे घमासान युद्ध होने लगा । सब ओर रक्तकी धारा बह चली और उसमें सनकर धरतीकी धूल शान्त हो गयी ॥ १५-१६ ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं निर्मर्यादमवर्तत ।

युद्ध करनेवाले वीरोंको मूर्च्छा आने लगी । उनमें मर्यादाशून्य भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ १६½ ॥

(युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
व्यूहं कृत्वा विराटस्य अन्वयुध्यत पाण्डवः ॥
आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः ॥
सहस्रं न्यहनत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥
द्विसहस्रं रथान् वीरः परलोकं प्रवेशयत् ।
नकुलस्त्रिशतं जघ्ने सहदेवश्चतुःशतम् ॥)

पाण्डुनन्दन धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी भाइयोंसहित व्यूह-रचना करके राजा विराटके लिये त्रिगर्तोंके साथ युद्ध आरम्भ किया । उन्होंने अपने आपको श्येन (बाज) पक्षीके रूपमें उपस्थित करके उसकी चोंचका स्थान ग्रहण किया । नकुल और सहदेव दोनों पंखोंके रूपमें हो गये । भीमसेन पूँछके स्थानमें हुए । कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंके एक सहस्र सैनिकोंका संहार कर डाला । सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो दो हजार रथियोंको परलोक पहुँचा दिया । नकुलने तीन सौ और सहदेवने चार सौ सैनिकोंको मार डाला ॥

उपाविशन् गरुत्मन्तः शरैर्गाढं प्रवेजिताः ।
अन्तरिक्षे गतिर्येषां दर्शनं चाप्यरुध्यत ॥ १७ ॥

आकाशचारी पक्षी भी बाणसमूहोंसे अत्यन्त उद्विग्न होकर इधर-उधर बैठ गये । उनका आकाशमें उड़ना और दूरतक देखना भी बंद हो गया ॥ १७ ॥

ते घ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ॥ १८ ॥

परिघकी-सी मोटी बाँहोंवाले शूरमा कुपित हो एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए भी सच्चे शूरवीरोंको युद्धसे विमुख नहीं कर पाते थे ॥ १८ ॥

शतानीकः शतं हत्वा विशालाक्षश्चतुःशतम् ।
प्रविष्टौ महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते-करते शतानीक सौ तथा विशालाक्ष (मदिराक्ष) चार सौ त्रिगर्त योद्धाओंको मारकर उनकी भारी सेनामें घुस गये । वे दोनों महारथी थे ॥ १९ ॥

तौ प्रविष्टौ महासेनां बलवन्तौ मनस्विनौ ।
आच्छेतां बहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथि ॥ २० ॥

उस विशाल सेनामें घुसे हुए और अत्यन्त क्रुद्ध हुए उन बलवान् एवं मनस्वी वीरोंने उस सारी सेनाको मोहित कर दिया । वे दोनों उन त्रिगर्त सैनिकोंसे एक दूसरेके केश पकड़-पकड़कर तथा रथोंपर बैठे हुए रथियोंको गिरा-गिराकर युद्ध करने लगे ॥ २० ॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥

फिर उन दोनोंने त्रिगर्तोंकी रथसेनाको लक्ष्य बनाकर उसमें प्रवेश किया । सूर्यदत्तने आगेकी ओरसे आक्रमण किया और मदिराक्षने पीछेकी ओरसे ॥ २१ ॥

विराटस्तत्र संग्रामे हत्वा पञ्चशतान् रथान् ।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पञ्च महारथान् ॥ २२ ॥
चरन् स विविधान् मार्गान् रथेन रथसत्तमः ।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद् रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा विराटने रथके द्वारा विविध मार्गोंसे चलते—अनेक प्रकारके रणकौशल दिखाते हुए उस युद्धमें त्रिगर्तोंके पाँच सौ रथी, आठ सौ घुड़सवार तथा पाँच महारथियोंको मार गिरानेके पश्चात् स्वर्णभूषित रथपर बैठे हुए सुशर्मापर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥

ये दोनों महान् बलवान् और महामनस्वी वीर गर्जते हुए एक दूसरेसे इस प्रकार जा भिड़े, मानो गोशालामें दो साँड़ लड़ रहे हों।

ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
मत्स्यं समायाद् राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मापर युद्धका घोर उन्माद छाया हुआ था । उस नरश्रेष्ठ वीरने राजा विराटका द्वैरथयुद्धके द्वारा सामना किया ॥ २५ ॥

ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
शरान् व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों रथी अपना-अपना रथ बढ़ाकर निकट आ गये और शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, मानो दो मेघ जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ॥

अन्योन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥

दोनोंका एक दूसरेके प्रति क्रोध और अमर्ष बढ़ा हुआ था । दोनों ही अस्त्रविद्यामें निपुण थे और दोनोंने ही तलवार, शक्ति तथा गदा भी ले रक्खी थी । उस समय दोनों तीखे बाणोंसे परस्पर प्रहार करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥

ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
पञ्चभिः पञ्चभिश्चास्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥

इसी समय राजा विराटने सुशर्माको दस बाणोंसे बींध डाला और पाँच-पाँच बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ २८ ॥

तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
पञ्चाशता शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

इसी प्रकार महान् अस्त्रवेत्ता सुशर्माने भी रणोन्मत्त होकर पचास तीखे बाणोंसे मत्स्यराज विराटको बींध डाला ॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः ।
नाभ्यजानात् तदान्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ॥ ३० ॥

महाराज ! तदनन्तर सैनिकोंके पैरोंसे इतनी धूल उड़ी कि मत्स्यनरेश तथा सुशर्मा दोनोंकी सेनाएँ उससे आच्छादित हो गयीं और एक दूसरेके विषयमें यह भी न जान सकीं कि कौन कहाँ क्या कर रहा है ? ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंके अपहरणके समय होनेवाले विराट और सुशर्माके युद्धके विषयमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माका विराटको पकड़कर ले जाना, पाण्डवोंके प्रयत्नसे उनका छुटकारा, भीमद्वारा सुशर्माका निग्रह और युधिष्ठिरका अनुग्रह करके उसे छोड़ देना

वैशम्पायन उवाच

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! उस समय [सूर्यास्त हो चुका था एवं रात्रि आ गयी थी, अतः] सब लोग धूलसे तो आवृत थे ही, अन्धकारसे भी आच्छादित हो गये; अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेनाका व्यूह बनाकर कुछ देर-तक युद्ध बंद करके खड़े रहे ॥ १ ॥

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ॥ २ ॥

इतनेमें ही अन्धकारका निवारण करते हुए चन्द्रदेवका उदय हुआ। उन्होंने उस रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंको आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रिको निर्मल (अन्धकारशून्य) बना दिया ॥ २ ॥

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत।
घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

अतः उजाला हो जानेसे पुनः घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय (युद्धके आवेशमें) योद्धा एक दूसरेको देख नहीं रहे थे ॥ ३ ॥

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥

तदनन्तर त्रिगर्तराज सुशर्माने अपने छोटे भाईके साथ रथियोंका समूह लेकर चारों ओरसे मत्स्यराज विराटपर धावा बोल दिया ॥ ४ ॥

ततो रथाभ्यां प्रस्कन्द्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ॥ ५ ॥

फिर वे क्षत्रियशिरोमणि दोनों बन्धु रथोंसे कूद पड़े और हाथमें गदा ले क्रोधमें भरकर शत्रुसेनाके रथोंकी ओर दौड़े ॥ ५ ॥

(मत्ताविव वृषावेतौ गजाविव मदोद्धतौ।
सिंहाविव गजग्राहौ शक्रवृत्राविवोत्थितौ ॥
उभौ तुल्यबलोत्साहावुभौ तुल्यपराक्रमौ।
उभौ तुल्यास्त्रविदुषावुभौ युद्धविशारदौ ॥)

वे दोनों मतवाले साँड़ों, मदोन्मत्त गजराजों, एक ही हाथीपर आक्रमण करनेवाले दो सिंहों तथा युद्धके लिये उद्यत वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान जान पड़ते थे। दोनों-के बल और उत्साह समान थे। दोनों ही एक-जैसे पराक्रमी और एक-से ही अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे। युद्ध करनेकी कलामें वे दोनों ही वीर अत्यन्त निपुण थे ॥

तथैव तेषां तु बलानि तानि
क्रुद्धान्यथान्योन्यमभिद्रवन्ति।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च
प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार उन सबकी वे सेनाएँ भी कुपित हो गदा, तलवार, खड्ग, फरसे और भलीभाँति तेज किये हुए तीखी धारवाले प्रासों (भालों) से प्रहार करती हुई एक दूसरीपर टूट पड़ीं ॥ ६ ॥

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा
सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं
विराटमोजस्विनमभ्यधावत् ॥ ७ ॥
तौ निहत्य पृथग् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥ ८ ॥

त्रिगर्तदेशके स्वामी राजा सुशर्माने अपनी सेनाके द्वारा मत्स्यराजकी सेनाको मथ डाला और बलपूर्वक उसे परास्त करके महापराक्रमी मत्स्यनरेश विराटपर चढ़ाई कर दी। उन दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् विराटके दोनों घोड़ोंको मारकर उनके पार्श्वभागकी रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथिको भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया ॥ ७-८ ॥

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥ ९ ॥

जैसे कामी पुरुष किसी युवतीको बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्माने राजा विराटको पीड़ित करके पकड़ लिया और उनको शीघ्रगामी वाहनोंसे युक्त अपने रथपर चढ़ाकर वह चल दिया ॥ ९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ १० ॥

अतिशय बलवान् राजा विराट जब रथहीन होकर पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्यदेशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे ॥ १० ॥

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ११ ॥

उनके इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेनसे कहा—॥ ११ ॥

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ॥१२॥

'महाबाहो ! त्रिगर्तराज सुशर्माने मत्स्यराजको पकड़ लिया है। उन्हें शीघ्र छुड़ाओ; जिससे वे शत्रुओंके वशमें न पड़ जायँ ॥ १२ ॥

उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥१३॥

'हम सब लोग उनके यहाँ सुखपूर्वक रहे हैं और उन्होंने हमें सब प्रकारकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर हमारा भली-भाँति सत्कार किया है। अतः भीमसेन ! तुम्हें उनके घरमें रहनेके उपकारका बदला चुकाना चाहिये' ॥ १३ ॥

भीमसेन उवाच

अहमेनं परित्रास्ये शासनात् तव पार्थिव।
पश्य मे सुमहत् कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः ॥१४॥

भीमसेन बोले—महाराज ! आपकी आज्ञासे मैं इन्हें सुशर्माके हाथोंसे छुड़ा लूँगा। आज आप शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय मेरे महान् पराक्रमको देखें ॥ १४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह।
एकान्तमाश्रितो राजन् पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥१५॥

मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके लड़ूँगा। राजन् ! आज आप भाइयोंसहित एकान्तमें खड़े होकर अब मेरा पराक्रम देखें ॥ १५ ॥

सुस्कन्धोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान् ॥१६॥

यह सामने जो महान् वृक्ष है, इसकी शाखाएँ बड़ी सुन्दर हैं। यह तो मानो गदाके ही रूपमें खड़ा है। अतः मैं इसीको उखाड़कर इसके द्वारा शत्रुदलको मार भगाऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर भीमसेन मदोन्मत्त गजराजकी भाँति उस वृक्षकी ओर देखने लगे। तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने वीर भ्रातासे कहा—॥

मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः।
मा त्वां वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम् ॥१८॥
जनाः समवबुध्येरन् भीमोऽयमिति भारत।
अन्यदेवायुधं किंचित् प्रतिपद्यस्व मानुषम् ॥१९॥

'भीमसेन ! ऐसा दुःसाहस न करो, इस वृक्षको खड़ा रहने दो। यदि तुम इस महावृक्षको उखाड़नेका अतिमानुष (मानवोंके लिये असाध्य) कर्म करोगे, तो सब लोग पहचान लेंगे कि यह तो भीम है। अतः भारत ! तुम किसी दूसरे मानवोचित आयुधको ही ग्रहण करो ॥ १८-१९ ॥

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम्।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ॥२०॥
तदेवायुधमादाय मोक्षयाशु महीपतिम्।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ॥२१॥
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत।

'धनुष, शक्ति, खड्ग अथवा कुठार, जो भी मनुष्योचित अस्त्र-शस्त्र तुम्हें ठीक लगे; जिससे तुम दूसरोंद्वारा पहचाने न जा सको, वही लेकर राजाको शीघ्र छुड़ाओ। ये महाबली नकुल और सहदेव तुम्हारे रथके पहियोंकी रक्षा करेंगे। तुम तीनों भाई युद्धमें एक साथ मिलकर महाराज विराट-को छुड़ाओ' ॥ २०-२१½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ॥२२॥
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः।
व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके उक्त आदेश देनेपर महान् वेगशाली महाबली भीमसेनने शीघ्रता-पूर्वक एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया। फिर तो जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता हो, उसी प्रकार वे वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२-२३ ॥

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत्।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत् ॥२४॥

तदनन्तर भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्माकी ओर दौड़े और विराटकी ओर देखते हुए सुशर्मासे बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २४ ॥

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम्।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः।
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम् ॥२५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा पीछेकी ओरसे आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर वीर पुरुषको देखकर चिन्तामें पड़ गया और अपने साथियोंसे बोला—'देखो, फिर बड़ा भारी युद्ध उपस्थित हुआ है। इसमें महान् पराक्रम दिखाओ' ॥ २५ ॥

परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह।
निमेषान्तरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ॥२६॥
रथानां च गजानां च वाजिनां च ससादिनाम्।
सहस्रशतसङ्घाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ॥२७॥

पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ॥२८॥

ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयोंसहित धनुष उठाये लौट पड़ा। इधर महात्मा भीमसेनने निमेषमात्रमें ही गदा लेकर शत्रुओंके भयंकर धनुष धारण करनेवाले रथी, हाथीसवार और घुड़सवार वीरोंके एक लाख सैनिकोंके समूहोंको राजा विराटके समीप मार गिराया और बहुत-से पैदल सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २६-२८ ॥

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
चिन्तयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ॥२९॥

ऐसा भयानक युद्ध देख रणोन्मत्त सुशर्मा मन-ही-मन सोचने लगा, 'जान पड़ता है, मेरी सेना बुरी तरह मारी जायगी; क्योंकि मेरा दूसरा भाई भी पहलेसे ही इस विशाल सैन्य-समुद्रमें डूबा हुआ दिखायी देता है' ॥ २९ ॥

आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ॥३०॥
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन्।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ॥३१॥

ऐसा विचारकर वह कानतक खींचे हुए धनुषके द्वारा युद्धके लिये उद्यत दिखायी देने लगा। सुशर्मा बारंबार तीखे बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, यह देख सम्पूर्ण मत्स्यदेशीय योद्धा त्रिगर्तोंके प्रति कुपित हो दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए अपने रथोंके घोड़ोंको आगे बढ़ाने लगे ॥ ३०-३१ ॥

तान् निवृत्तरथान् दृष्ट्वा पाण्डवान् सा महाचमूः।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥३२॥

पाण्डवोंको त्रिगर्तोंकी ओर रथ लौटाते देख मत्स्य-वीरोंकी वह विशालवाहिनी भी लौट पड़ी। विराटके पुत्र श्वेत अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़ा अद्भुत युद्ध करने लगे ॥

सहस्रमवधीत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमः सप्त सहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥३३॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने एक हजार त्रिगर्तोंको मार गिराया। भीमसेनने सात हजार योद्धाओंको यमलोकका दर्शन कराया॥

नकुलश्चापि सप्तैव शतानि प्राहिणोच्छरैः।
शतानि त्रीणि शूराणां सहदेवः प्रतापवान् ॥३४॥
युधिष्ठिरसमादिष्टो निजघ्ने पुरुषर्षभः।

नकुलने अपने बाणोंसे सात सौ सैनिकोंको यमराजके घर भेज दिया तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रतापी वीर सहदेवने युधिष्ठिरकी आज्ञासे तीन सौ शूरवीरोंका संहार कर डाला ॥ ३४½ ॥

ततोऽभ्यपतदत्युग्रः सुशर्माणमुदायुधः ॥३५॥
हत्वा तां महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथः।

तदनन्तर महारथी सहदेव त्रिगर्तोंकी उस महासेनाका संहार करके अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हाथमें धनुष ले सुशर्मापर चढ़ आये ॥ ३५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥३६॥
अभिपत्य सुशर्माणं शरैरभ्याहनद् भृशम्।

तत्पश्चात् महारथी राजा युधिष्ठिर भी बड़ी उतावलीके साथ सुशर्मापर धावा बोलकर उसे बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे ॥ ३६½ ॥

सुशर्मापि सुसंरब्धस्त्वरमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अविध्यन्नवभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।

तब सुशर्माने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ नौ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३७½ ॥

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥३८॥
समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत्।
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः ॥३९॥
अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत्।

राजन्! फिर तो शीघ्रता करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माके पास पहुँचकर उत्तम बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला। साथ ही उसके पृष्ठरक्षकोंको भी मारकर कुपित हो उसके सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३८-३९½ ॥

चक्ररक्षश्च शूरो वै मदिराक्षोऽतिविश्रुतः ॥४०॥
समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं प्राहरत् तदा।

सुशर्माको रथहीन हुआ देखकर राजा विराटके चक्ररक्षक सुप्रसिद्ध वीर मदिराक्ष भी वहाँ आ पहुँचे और त्रिगर्तनरेशपर बाणोंसे प्रहार करने लगे ॥ ४०½ ॥

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः ॥४१॥
गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली।
स चचार गदापाणिर्वृद्धोऽपि तरुणो यथा ॥४२॥

इसी बीचमें बलवान् राजा विराट सुशर्माके रथसे कूद पड़े और उसकी गदा लेकर उसीकी ओर दौड़े। उस समय

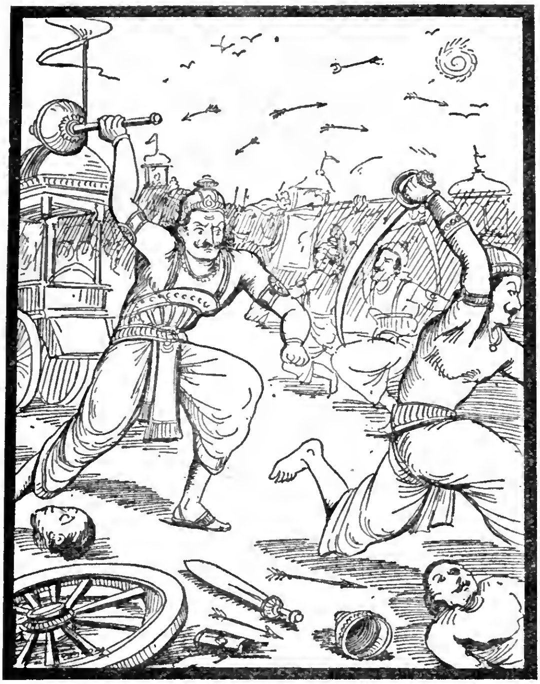

हाथमें गदा लिये राजा विराट बूढ़े होनेपर भी तरुणके समान रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥ ४३ ॥

इसी बीचमें मौका पाकर त्रिगर्तराज भागने लगा। उसे पलायन करते देख भीमसेन बोले—राजकुमार! लौट आओ। तुम्हारा युद्धसे पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है ॥ ४३ ॥

अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४४ ॥

'इसी पराक्रमके भरोसे तुम विराटकी गौओंको बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे? अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो?' ॥ ४४ ॥

इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाभ्यद्रवद् बली ॥ ४५ ॥
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
प्राद्रवत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥ ४६ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर रथियोंके यूथका अधिपति बलवान् सुशर्मा 'खड़ा रह, खड़ा रह', ऐसा कहते हुए सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा। परंतु पाण्डुनन्दन भीम तो भीम-जैसे ही थे; वे तनिक भी व्यग्र नहीं हुए; अपितु रथसे कूदकर सुशर्माके प्राण लेनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥

तब सुशर्मा फिर भाग चला और पराक्रमी भीमसेन त्रिगर्तराजको पकड़नेके लिये उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे, जैसे सिंह छोटे मृगोंको पकड़नेके लिये जाता है ॥ ४७ ॥

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ॥ ४८ ॥

सुशर्माके पास पहुँचकर भीमने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथ्वीपर दे मारा। तत्पश्चात् उसे वहीं रगड़ने लगे ॥ ४८ ॥

पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ४९ ॥

इससे सुशर्मा विलाप करने लगा। उस समय भीमने उसके मस्तकपर लात मारी और उसके पेटको घुटनोंसे दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघातसे पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्छित हो गया ॥ ४९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद् भयातुरम् ॥ ५० ॥

त्रिगर्तोंका महारथी वीर सुशर्मा जब रथहीन होकर कैद कर लिया गया, तब वह सारी त्रिगर्तसेना भयसे व्याकुल हो तितर-बितर हो गयी ॥ ५० ॥

निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चादाय सर्वशः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर पाण्डुके महारथी पुत्र सुशर्माको परास्त करनेके पश्चात् सब गौओंको लौटाकर और लूटका सारा धन वापस लेकर चले ॥ ५१ ॥

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेधा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥ ५२ ॥

वे सभी अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील, संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर, महात्मा तथा विराटका सारा क्लेश दूर करनेवाले थे ॥ ५२ ॥

स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥ ५३ ॥
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
किं तु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ॥ ५४ ॥

जब वे सब राजाके सामने आकर खड़े हुए, तब भीमसेन बोले—'यह पापाचारी सुशर्मा मेरे हाथसे छूटकर जीवित रहने-योग्य तो नहीं है; परन्तु मैं कर ही क्या सकता हूँ? हमारे महाराज सदाके दयालु हैं' ॥ ५३-५४ ॥

गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥ ५५ ॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।

इसके बाद भीम राजा सुशर्माका गला पकड़कर ले आये। उस समय वह लाचार होकर उनके वशमें पड़ा था और छूटनेके लिये छटपटा रहा था। कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माको रस्सियोंसे बाँधकर रथपर रख दिया। उसके सारे

अङ्ग धूलमें सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी ॥५५½॥

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।

इसके बाद भीमने रणभूमिमें स्थित राजा युधिष्ठिरके पास

जाकर उन्हें राजा सुशर्माको दिखलाया ॥ ५६½ ॥

प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥ ५७ ॥
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥ ५८ ॥

भीम युद्धमें अत्यन्त सुशोभित होते थे । पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर सुशर्माको उस दशामें देखकर हँसे और भीमसेनसे बोले—'इस नराधमको छोड़ दो ।' उनके ऐसा कहनेपर भीम महाबली सुशर्मासे बोले ॥ ५७-५८ ॥

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥५९॥

भीमसेनने कहा—मूर्ख ! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ, मेरी बात सुन । तुझे संसदों और सभाओंमें जाकर सदा यही कहना होगा कि 'मैं राजा विराटका दास हूँ' ॥ ५९ ॥

एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥ ६० ॥

ऐसा स्वीकार हो तो तुझे जीवन-दान दूँगा । युद्धमें जीतनेवाले पुरुषोंका यही नियम है । तब बड़े भ्राता युधिष्ठिरने भीमसे प्रेमपूर्वक कहा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन ॥६१॥

तब युधिष्ठिर बोले—भैया ! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको 'छोड़ दो, छोड़ दो' । यह महाराज विराटका दास तो हो ही चुका है । (इसके बाद वे सुशर्मासे बोले—) 'तुम दास नहीं रहे, जाओ, छोड़ दिये गये । फिर कभी 'ऐसा काम न करना' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी गौओंका अपहरण करते समय सुशर्माके निग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

राजा विराटद्वारा पाण्डवोंका सम्मान, युधिष्ठिरद्वारा राजाका अभिनन्दन तथा विराटनगरमें राजाकी विजयघोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर सुशर्माने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धनसे मुक्त हो राजा विराटके पास जा उन्हें प्रणाम करके अपने देशको प्रस्थान किया ॥ १ ॥

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ २ ॥
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥

इस प्रकार सुशर्माको मुक्त करके शत्रुओंका संहार करनेवाले, अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील और संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर रहनेवाले वे पाण्डव उस युद्धके मुहानेपर ही रातभर सुखसे रहे ॥ २½ ॥

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ ३ ॥

तदनन्तर राजा विराटने अतिमानुष (मानवीय शक्तिसे परे) पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रोंका धन और मानदानद्वारा सत्कार किया ॥ ३ ॥

विराट उवाच

यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ॥ ४ ॥
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिबर्हणाः ॥ ५ ॥

विराटने कहा—युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले वीरो ! ये रत्न और धन जैसे मेरे हैं, वैसे ही तुमलोगोंके भी। तुम सब लोग यहाँ सुखपूर्वक रहो और जिस कार्यमें तुमलोगोंकी रुचि हो, वही करो। मैं तुम सबको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ, नाना प्रकारके रत्न, धन तथा और भी मनोवाञ्छित पदार्थ देता हूँ ॥ ४-५ ॥

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।
तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ ६ ॥

आज मैं तुमलोगोंके ही पराक्रमसे यहाँ शत्रुके पंजेसे कुशलपूर्वक छूटकर आया हूँ। अतः तुमलोग मत्स्यदेशके स्वामी ही हो ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार कहनेवाले मत्स्यराजसे युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले—॥ ७ ॥

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते ।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ॥ ८ ॥

'महाराज ! आपका कहना ठीक है। हम आपके सम्पूर्ण वचनोंका अभिनन्दन करते हैं, किंतु हमलोग इतनेसे ही संतुष्ट हैं कि आप आज शत्रुओंसे मुक्त हो गये' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मत्स्यराजो युधिष्ठिरम् ।
पुनरेव महाबाहुर्विराटो राजसत्तमः ॥ ९ ॥
एहि त्वामभिषेक्ष्यामि मत्स्यराजस्तु नो भवान् ॥ १० ॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश महाबाहु विराटने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'कङ्कजी ! आइये, मैं आपका अभिषेक करूँगा। आप ही हमारे मत्स्यदेशके राजा बनें ॥ ९-१० ॥

मनसश्चाप्यभिप्रेतं यथेष्टं भुवि दुर्लभम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि सर्वमर्हति नो भवान् ॥ ११ ॥

'इस पृथ्वीपर दुर्लभ जो और भी प्रिय तथा मनोवाञ्छित पदार्थ होगा, वह भी मैं आपको दूँगा। आप तो हमारा सब कुछ पानेके अधिकारी हैं ॥ ११ ॥

रत्नानि गाः सुवर्णं च मणिमुक्तमथापि च ।
वैयाघ्रपद्य विप्रेन्द्र सर्वथैव नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

'व्याघ्रपदगोत्रमें उत्पन्न विप्रवर ! मेरे रत्न, गौएँ, सुवर्ण, मणि तथा मोती भी आपके अर्पण हैं। आपको हमारा सब प्रकारसे नमस्कार है ॥ १२ ॥

त्वत्कृते ह्यद्य पश्यामि राज्यं संतानमेव च ।
यतश्च जातसंरम्भो न च शत्रुवशं गतः ॥ १३ ॥

'आपके कारण ही आज मैं अपने राज्य और संतानका मुख देख पाऊँगा; क्योंकि पकड़े जानेपर मैं भयभीत हो गया था, किंतु आपके पराक्रमसे शत्रुके अधीन नहीं रहा' ॥ १३ ॥

ततो युधिष्ठिरो मत्स्यं पुनरेवाभ्यभाषत ।
प्रतिनन्दामि ते वाक्यं मनोज्ञं मत्स्य भाषसे ॥ १४ ॥
आनृशंस्यपरो नित्यं सुसुखी सततं भव ।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने मत्स्यराजसे पुनः कहा—'राजन् ! आप बड़ी मनोहर बात कह रहे हैं। मैं आपके इस वचनका अभिनन्दन करता हूँ। आप निरन्तर दयाभाव रखते हुए सर्वदा परम सुखी हों ॥ १४½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

पुनरेव विराटश्च राजा कङ्कमभाषत ।
अहो सूदस्य कर्माणि बल्लवस्य द्विजोत्तम ।
सोऽहं सूदेन संग्रामे बल्लवेनाभिरक्षितः ॥
त्वत्कृते सर्वमेवैतदुपपन्नं ममानघ ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥
ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च ।
शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः ॥
हस्त्यश्वरथसङ्घश्च राष्ट्राणि विविधानि च ।
एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृह्णीष्व सुव्रत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कङ्कनामधारी युधिष्ठिरके यों कहनेपर राजा विराट पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ ! बल्लव नामक रसोइयेका कर्म भी अद्भुत है। इस युद्धमें बल्लवने ही मेरी रक्षा की है। निष्पाप विप्रवर ! आपके ही करनेसे यह सब कुछ सम्भव हुआ है। आपका कल्याण हो। आप मुझसे वर माँगिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको नाना प्रकारके उत्तमोत्तम रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, हाथी, घोड़े और रथोंके समूह तथा भाँति-भाँतिके जनपद भेंट करता हूँ। सुव्रत ! आप मेरी प्रसन्नताके लिये इन सब वस्तुओंको ग्रहण करें ॥

तं तथावादिनं तत्र कौरव्यः प्रत्यभाषत।
एकैव तु मम प्रीतिर्यत् त्वं मुक्तोऽसि शत्रुभिः।
प्रतीतश्च पुरं तुष्टः प्रवेक्ष्यसि तदानघ॥
दारैः पुत्रैश्च संश्लिष्य सा हि प्रीतिर्ममातुला।)

तब वहाँ ऐसी बातें कहनेवाले राजा विराटको कुरुकुल-नन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज ! आप शत्रुओंके हाथसे छूट गये, यही मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात है। अनघ ! आप निर्भय होकर संतोषपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश करेंगे और अपने स्त्री-पुत्रोंसे मिलकर सुखी होंगे; यही मेरे लिये अनुपम प्रसन्नताकी बात होगी॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव॥ १५॥
सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम्।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत्॥ १६॥

'महाराज ! अब आपके नगरमें सुहृदोंसे यह प्रिय समाचार बतानेके लिये तुरंत ही दूतोंको जाना चाहिये। वे दूत वहाँ आपकी विजय घोषित करें।' तब उनके कथनानुसार राजा विराटने दूतोंको आदेश दिया—॥ १५-१६॥

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात्॥ १७॥

'दूतो ! तुमलोग नगरमें जाकर सूचना दो कि युद्धमें मेरी विजय हुई है। कुमारी कन्याएँ शृङ्गार करके स्वागतके लिये नगरसे बाहर आ जायँ॥ १७॥

वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः।
एतां चाज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः॥ १८॥

'सब प्रकारके बाजे बजाये जायँ और वेश्याएँ भी सज-धजकर तैयार रहें।' मत्स्यराजकी इस आज्ञाको सुनकर उसे शिरोधार्य करके दूत प्रसन्नचित्त होकर चले॥ १८॥

ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन्॥ १९॥

रातमें ही वहाँसे प्रस्थान करके सूर्योदय होते-होते दूत विराटकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराजकी विजय घोषित कर दी॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें विराटके जयघोषसम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा उत्तर दिशाकी ओरसे आकर विराटकी गौओंका अपहरण और गोपाध्यक्षका उत्तरकुमारको युद्धके लिये उत्साह दिलाना

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जिस समय अपने पशुओंको छुड़ा लानेकी इच्छासे राजा विराट त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये, उसी समय दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंके साथ विराटदेशपर चढ़ाई की॥ १॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित्।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो॥ २॥
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान्।
दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवान्ये महारथाः॥ ३॥

राजन् ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्याके श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, पराक्रमी चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल तथा अन्य महारथी भी दुर्योधनके साथ थे॥ २-३॥

एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा॥ ४॥

इन सबने राजा विराटके मत्स्यदेशमें आकर उनके गोष्ठोंमें भगदड़ मचा दी और बड़े वेगसे बलपूर्वक गोधनका अपहरण करना आरम्भ किया॥ ४॥

षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति च।
महता रथवंशेन परिवार्य समन्ततः॥ ५॥

वे कौरव वीर राजा विराटकी साठ हजार गौओंको विशाल रथसमूहोंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाँक ले चले॥ ५॥

गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः।
आरावः सुमहानासीत् सम्प्रहारे भयंकरे॥ ६॥

उस समय वहाँ भयंकर मार-पीट हुई। उन महारथियोंद्वारा मारे जाते हुए गोष्ठके ग्वालोंका जोर-जोरसे होनेवाला आर्तनाद बहुत दूरतक सुनायी देता था॥ ६॥

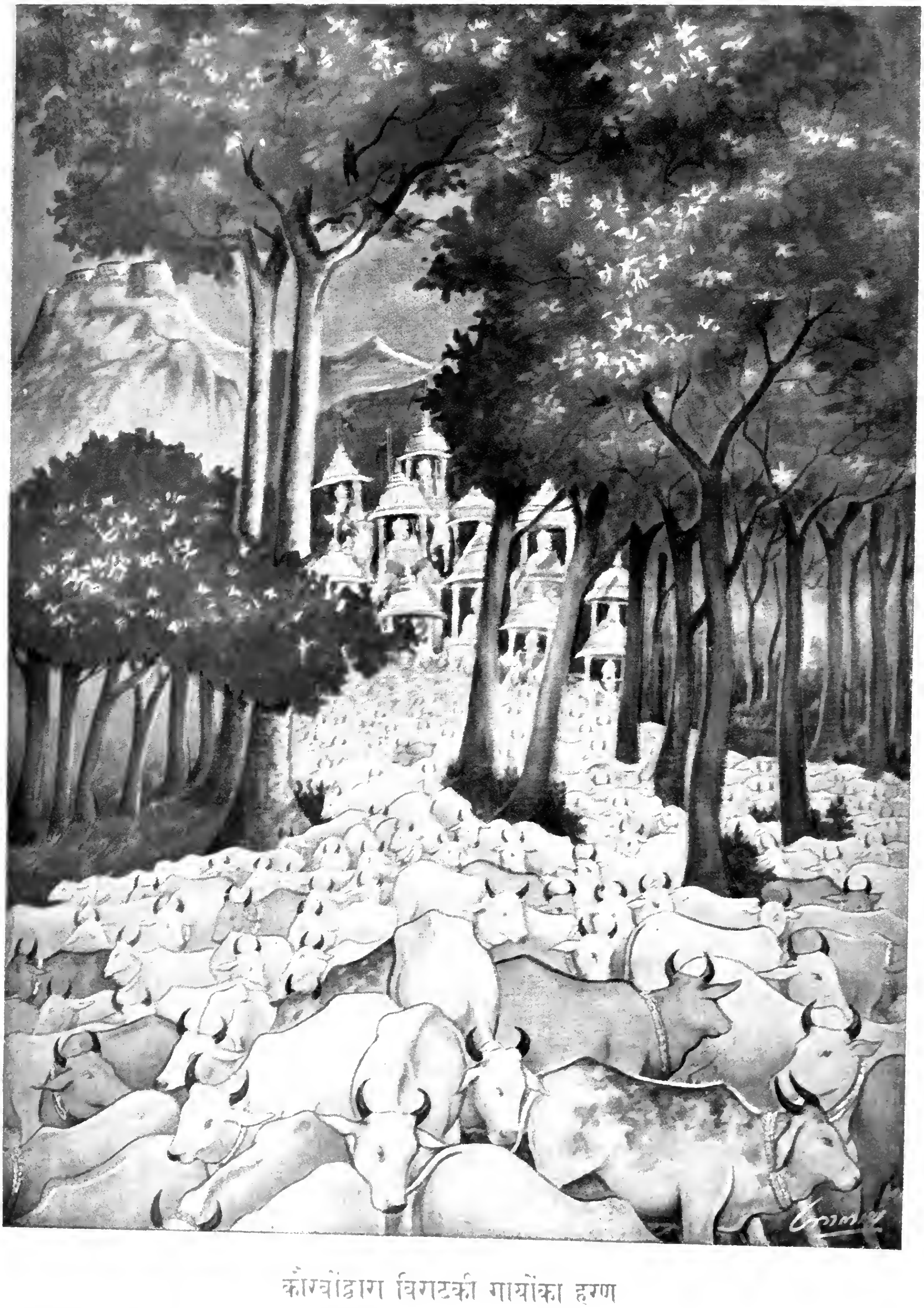

कौरवोंद्वारा विराटकी गायोंका हरण

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्तवत् ॥ ७ ॥

तब उन गौओंका रक्षक भयभीत हो तुरंत ही रथपर बैठकर आर्तकी भाँति विलाप करता हुआ राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ७ ॥

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

राजा विराटके नगरमें पहुँचकर वह राजभवनके समीप गया और रथसे उतरकर तुरंत यह समाचार सूचित करनेके लिये महलके भीतर चला गया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ ९ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते ।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ॥ १० ॥

वहाँ मत्स्यराजके मानी पुत्र भूमिंजय (उत्तर) से मिलकर उस गोपने उनसे राज्यके पशुओंके अपहरणका सब समाचार बताते हुए कहा—'राजकुमार ! आप इस राष्ट्रकी वृद्धि

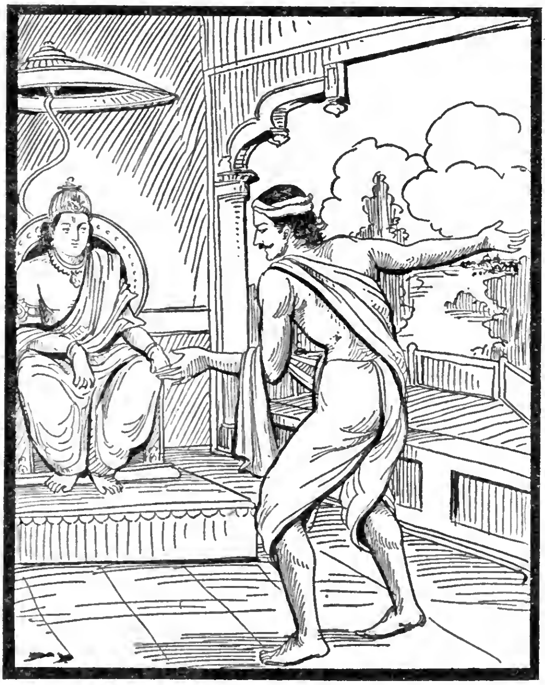

करनेवाले हैं । आज कौरव आपकी साठ हजार गौओंको हाँक ले जा रहे हैं । उनके हाथसे उस गोधनको जीत लानेके लिये उठ खड़े होइये ॥ ९-१० ॥

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ॥ ११ ॥

'राजपुत्र ! आप इस राज्यके हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्धके लिये तैयार होकर निकलिये । मत्स्यनरेशने अपनी अनुपस्थितिमें आपको ही यहाँका रक्षक नियुक्त किया है ॥

त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः ।
पुत्रो ममानुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ १२ ॥

'वे सभामें आपसे प्रभावित होकर आपकी प्रशंसामें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं । उनका कहना है—'मेरा यह पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंशका भार वहन करनेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ॥ १३ ॥

'मेरा वह लाड़ला बेटा बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रोंके प्रयोगकी कलामें भी निपुण, सदा युद्धके लिये उद्यत रहनेवाला और वीर है ।' उन महाराजका यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिये ॥ १३ ॥

आवर्तय कुरूञ्जित्वा पशून् पशुमतां वर ।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥

'पशुसम्पत्तिवाले समस्त राजाओंमें आप श्रेष्ठ हैं; अतः कौरवोंको परास्त करके अपने पशुओंको लौटा लाइये और बाणोंकी भयंकर अग्निसे इन कौरवोंकी सारी सेनाओंको भस्म कर डालिये ॥ १४ ॥

धनुश्च्युतै रुक्मपुङ्खैः शरैः संनतपर्वभिः ।
द्विषतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥

'जैसे हाथियोंके झुंडका स्वामी गजराज अपने विरोधियोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार आप अपने धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखसे सुशोभित और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा विपक्षियोंकी विपुल वाहिनीको छिन्न-भिन्न कर डालिये ॥ १५ ॥

पाशोपधानां ज्यातन्त्रीं चापदण्डां महास्वनाम् ।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥

'आज शत्रुओंके बीचमें जोर-जोरसे गूँजनेवाली धनुषरूपी वीणा बजाइये । पाश (प्रत्यञ्चा बाँधनेके दोनों सिरे) उसके उपधान (खूँटियाँ) हैं, प्रत्यञ्चा तार हैं, धनुष उसका दण्ड है और बाण ही उससे झङ्कृत होनेवाले वर्ण (स्वर) हैं ॥ १६ ॥

श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! अब चाँदीके समान चमकनेवाले वे श्वेत रंगके घोड़े आपके रथमें जोते जायँ और सिंहके चिह्नसे सुशोभित सुवर्णमय ऊँचा ध्वज फहरा दिया जाय ॥ १७ ॥

रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥

'वीरवर ! आपके हाथ बहुत मजबूत हैं । उनके द्वारा

आपके चलाये हुए सोनेकी पाँख और स्वच्छ नोकवाले बाण शत्रुपक्षके राजाओंकी राह रोककर सूर्यदेवको भी ढँक दें ॥

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान्।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥

'जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्धमें सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगरमें प्रवेश करें ॥ १९ ॥

त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
एवमेव गतिर्नूनं भवान् विषयवासिनाम्।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

'मत्स्यराजके सुयोग्य पुत्र होनेके कारण आप ही इस राष्ट्रके महान् आश्रय हैं। जैसे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन पाण्डवोंके उत्तम आश्रय हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चय ही इस राज्यके निवासियोंकी परम गति हैं। हम सभी मत्स्यदेशवासी आज आपको पाकर ही गतिमान् (सनाथ) हैं' ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद् वाक्यमभयंकरम्।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय राजकुमार उत्तर अन्तःपुरमें स्त्रियोंके बीचमें बैठा था। वहीं उस गोपाध्यक्षने उससे ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें कहीं। अतः वह अपनी प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोपवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें गोपवचनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उत्तरका अपने लिये सारथि ढूँढ़नेका प्रस्ताव, अर्जुनकी सम्मतिसे द्रौपदीका बृहन्नलाको सारथि बनानेके लिये सुझाव देना

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम्।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥ १ ॥

उत्तर बोला—गोपप्रवर! मेरा धनुष तो बहुत मजबूत है। यदि मेरे पास घोड़े हाँकनेकी कलामें कुशल कोई सारथि होता, तो आज मैं अवश्य ही उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करता ॥ १ ॥

तं त्वहं नावगच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ॥ २ ॥

इस समय मुझे ऐसे किसी मनुष्यका पता नहीं है, जो मेरा सारथि बन सके! मैं युद्धके लिये प्रस्थान करूँगा; अतः शीघ्र मेरे लिये किसी योग्य सारथिकी तलाश करो ॥

अष्टाविंशतिरात्रं वा मासं वा नूनमन्ततः।
यत् तदासीन्महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः ॥ ३ ॥

पहले लगातार अट्ठाईस राततक अथवा अन्ततः एक मासतक जो वह महायुद्ध हुआ था, उसमें मेरा सारथि मारा गया था ॥ ३ ॥

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम्।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ॥ ४ ॥
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम्।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरूञ्जित्वाऽऽनये पशून् ॥ ५ ॥

अतः यदि घोड़े हाँकनेकी कला जाननेवाले किसी दूसरे मनुष्यको भी पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेगसे जाकर ऊँची-ऊँची विशाल ध्वजाओंसे विभूषित एवं हाथी, घोड़े तथा रथोंसे भरी हुई शत्रुओंकी सेनामें घुस जाऊँ और अपने आयुधोंके प्रतापसे कौरवोंको निर्वीर्य (पराक्रमशून्य) तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओंको लौटा लाऊँ ॥ ४-५ ॥

दुर्योधनं शान्तनवं कर्णं वैकर्तनं कृपम्।
द्रोणं च सह पुत्रेण महेष्वासान् समागतान् ॥ ६ ॥
वित्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत्।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंको भयभीत कर देते हैं, उसी प्रकार मैं दुर्योधन, शान्तनुनन्दन भीष्म, सूर्यपुत्र कर्ण, कृपाचार्य तथा पुत्र (अश्वत्थामा) सहित द्रोणाचार्य आदि महान् धनुर्धरोंको, जो यहाँ आये हैं, युद्धमें अत्यन्त भय पहुँचाकर इसी मुहूर्तमें अपने पशुओंको वापस ला सकता हूँ ॥

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम्।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ॥ ८ ॥

गोष्ठको सूना पाकर कौरवलोग मेरा गोधन लिये जा

रहे हैं। परंतु अब मैं यहाँसे क्या कर सकता हूँ ? जब कि वहाँ उस समय मैं मौजूद नहीं था ॥ ८ ॥

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मात् प्रबाधते ॥ ९ ॥

अच्छा, जब कौरवलोग यहाँ आ ही गये हैं, तब आज मेरा पराक्रम देख लें। फिर तो वे कहेंगे—'क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ा दे रहा है ?' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिन्दिताम् ॥ १० ॥
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पाञ्चालीं पावकात्मजाम्।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ॥ ११ ॥
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार बोलते हुए राजकुमार उत्तरकी वह बात सुनकर सब बातोंमें कुशल अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उस समयतक उनके अज्ञात-वासकी अवधि पूरी हो गयी थी। अतः उन्होंने अपनी सती-साध्वी प्यारी पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको, जिसका अग्निसे प्रादुर्भाव हुआ था और जो तन्वङ्गी, सत्य-सरलता आदि सद्गुणोंसे विभूषित तथा पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाली थी, एकान्तमें बुलाकर कहा—'कल्याणि ! तुम मेरी बात मानकर राजकुमार उत्तरसे शीघ्र इस प्रकार कहो—॥ १०–१२ ॥

अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः सम्मतो दृढः।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति ॥ १३ ॥

'यह बृहन्नला पाण्डुनन्दन अर्जुनका सुदृढ़ एवं प्रिय सारथि रह चुका है। उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें सफलता प्राप्त की है। वह तुम्हारा सारथि हो जायगा' ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः।
न सामर्षत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तर स्त्रियोंके बीचमें बैठा था और बार-बार अपनी तुलनामें अर्जुनका नाम ले-लेकर डींग मार रहा था। पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह सहन न हो सका ॥ १४ ॥

अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वह तपस्विनी स्त्रियोंके बीचसे उठकर उत्तरके समीप आयी और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार बोली—॥ १५ ॥

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः ॥ १६ ॥

'राजकुमार ! यह जो विशाल गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर और देखनेमें अत्यन्त प्रिय 'बृहन्नला' नामसे विख्यात नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुनका सारथि था ॥ १६ ॥

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति ॥ १७ ॥

'वीर ! यह उन्हीं महात्माका शिष्य है, अतः धनुर्विद्यामें भी उनसे कम नहीं है। पहले पाण्डवोंके यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है ॥ १७ ॥

यदा तत् पावको दावमदहत् खाण्डवं महत्।
अर्जुनस्य तदानेन संगृहीता हयोत्तमाः ॥ १८ ॥

'जिन दिनों अर्जुनकी सहायतासे अग्निदेवने दावानल-रूप हो महान् खाण्डववनको जलाया था, उस समय इसीने अर्जुनके श्रेष्ठ घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी ॥ १८ ॥

तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे न हि यन्तास्ति तादृशः ॥ १९ ॥

'इसी सारथिके सहयोगसे कुन्तीपुत्र अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें सम्पूर्ण प्राणियोंपर विजय पायी थी; अतः इसके समान दूसरा कोई सारथि नहीं है' ॥ १९ ॥

उत्तर उवाच

सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं
नपुंसको नैव भवेद् यथासौ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे
वक्तुं स्वयं यच्छ हयान् ममेति वै ॥ २० ॥

उत्तरने कहा—सैरन्ध्री ! वह युवक ऐसे गुणोंसे विभूषित है कि वह नपुंसक नहीं हो सकता; इन बातोंको तुम अच्छी तरह जानती हो; [अतः तुम उससे कह दो, तो ठीक है।] शुभे ! मैं स्वयं बृहन्नलासे नहीं कह सकता कि तुम मेरे घोड़ोंकी रास सँभालो ॥ २० ॥

द्रौपद्युवाच

येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी।
अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ २१ ॥

द्रौपदीने कहा—वीर ! यह जो सुन्दर कटिप्रदेश-वाली तुम्हारी छोटी बहिन कुमारी उत्तरा है, इसकी बात वह अवश्य मान लेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥ २२ ॥

यदि वह सारथि हो जाय, तो निःसंदेह सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर और गौओंको भी वापस लेकर तुम्हारा इस नगरमें आगमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥

सैरन्ध्रीके ऐसा कहनेपर उत्तर अपनी बहिनसे बोला—'निर्दोष अङ्गोंवाली उत्तरे ! जाओ, उस बृहन्नलाको बुला ले आओ' ॥ २३ ॥

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

भाईके भेजनेपर कुमारी उत्तरा शीघ्र नृत्यशालामें गयी, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन कपटवेषमें छिपकर रहते थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें बृहन्नलाका सारथ्यकथनसम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाको सारथि बनाकर राजकुमार उत्तरका रणभूमिकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ॥ १ ॥
तन्वी शुभाङ्गी मणिचित्रमेखला
मत्स्यस्य राज्ञो दुहिता श्रिया वृता ।
तन्नर्तनागारमरालपक्ष्मा
शतह्रदा मेघमिवान्वपद्यत ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारी उत्तरा सोनेकी माला और मोरपंखका शृङ्गार धारण किये हुए थी । उसकी अङ्गकान्ति कमलदलकी-सी आभावाली लक्ष्मीको भी लज्जित कर रही थी । उसकी कमर यज्ञकी वेदीके समान सूक्ष्म थी । शरीरसे भी वह पतली ही थी । उसके सभी अङ्ग शुभ लक्षणोंसे युक्त थे । उसने कटिप्रदेशमें मणियोंकी बनी हुई विचित्र करधनी पहन रक्खी थी । मत्स्यराजकी वह यशस्विनी कन्या अनुपम शोभासे प्रकाशित हो रही थी । बड़ोंकी आज्ञा माननेवाली कुमारी उत्तरा बड़े भाईके भेजनेसे बड़ी उतावलीके साथ नृत्यशालामें गयी; मानो चपला मेघमालामें विलीन हो गयी हो । उसके नेत्रोंकी टेढ़ी-टेढ़ी बरौनियाँ बड़ी भली मालूम होती थीं ॥ १-२ ॥

सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरूः
स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा ।
आसाद्य तं वै वरमाल्यधारिणी
पार्थं शुभा नागवधूरिव द्विपम् ॥ ३ ॥

उसकी परस्पर सटी हुई जाँघें हाथीकी सूँड़के समान सुशोभित होती थीं, दाँत चमकीले और मनोहर थे । शरीरका मध्यभाग बड़ा सुहावना था । वह अनिन्द्यसुन्दरी सुन्दर हार धारण किये उन कुन्तीनन्दन अर्जुनके पास पहुँचकर गजराजके समीप गयी हुई हथिनीके समान शोभा पा रही थी ॥ ३ ॥

सा रत्नभूता मनसः प्रियार्चिता
सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः ।
सुदर्शनीया प्रमुखे यशस्विनी
प्रीत्याब्रवीदर्जुनमायतेक्षणा ॥ ४ ॥

विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा और मनको प्रिय लगनेवाली थी । वह उस राजभवनमें इन्द्रकी साम्राज्य-लक्ष्मीके समान सम्मानित थी । उसके नेत्र बड़े-बड़े थे । वह यशस्विनी बाला सामनेसे देखने ही योग्य थी । वह अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोली— ॥ ४ ॥

सुसंहतोरुं कनकोज्ज्वलत्वचं
पार्थः कुमारीं स तदाभ्यभाषत ।
किमागमः काञ्चनमाल्यधारिणि
मृगाक्षि किं त्वं त्वरितेव भामिनि ॥
किं ते मुखं सुन्दरि न प्रसन्न-
माचक्ष्व तत्त्वं मम शीघ्रमङ्गने ॥ ५ ॥

सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर त्वचा तथा सटी जाँघोंवाली कुमारी उत्तराको देखकर अर्जुनने पूछा—'सुवर्णकी माला धारण करनेवाली मृगलोचने ! भामिनि ! तुम क्यों उतावली-सी चली आ रही हो ? सुन्दरि ! आज तुम्हारा मुख प्रसन्न क्यों नहीं है ? अङ्गने ! मुझे शीघ्र सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ॥ ६ ॥
तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् ।
प्रणयं भावयन्ती सा सखीमध्य इदं वचः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तराकी ओर देखकर अर्जुनने

हँसते हुए जब उससे अपने पास आनेका कारण पूछा, तब वह राजपुत्री नरश्रेष्ठ अर्जुनके समीप जा अपना प्रेम प्रकट करती हुई सखियोंके बीचमें इस प्रकार बोली—॥ ६-७ ॥

गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ॥ ८ ॥

'बृहन्नले! हमारे राष्ट्रकी गौओंको कौरव हाँककर लिये जाते हैं; अतः उन्हें जीतनेके लिये मेरे भैया धनुष धारण करके जानेवाले हैं ॥ ८ ॥

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत्॥ ९ ॥

'थोड़े ही दिन हुए, उनके रथका सारथि एक युद्धमें मारा गया। इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथिका काम सँभाल सके ॥ ९ ॥

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ॥ १० ॥

'बृहन्नले! वे सारथि ढूँढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे, इतनेमें ही सैरन्ध्रीने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्यामें कुशल हो ॥ १० ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ ११ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो। तुम्हारी सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः ॥ १२ ॥

'अतः बृहन्नले! इसके पहले कि कौरवलोग हमारी गौओंको बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भाईके सारथिका कार्य अच्छी तरह कर दो ॥ १२ ॥

अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि।
प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १३ ॥

'सखी! मैं बड़े प्रेमसे यह बात कहती हूँ। यदि आज इतना अनुरोध करनेपर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ॥ १४ ॥
तमाव्रजन्तं त्वरितं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम्।
अन्वगच्छद् विशालाक्षी गजं गजवधूरिव ॥ १५ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली सखी उत्तराके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तरके समीप गये। मद टपकानेवाले गजराजकी भाँति शीघ्रतापूर्वक आते हुए अर्जुनके पीछे-पीछे विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा भी आयी; ठीक उसी तरह, जैसे हथिनी हाथीके पीछे-पीछे जाती है ॥ १४-१५ ॥

दूरादेव तु तां प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत।
त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १६ ॥
पृथिवीमजयत् कृत्स्नां कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
सैरन्ध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पाण्डवान् ॥ १७ ॥

राजकुमार उत्तरने बृहन्नलाको दूरसे ही देखकर इस प्रकार कहा—'बृहन्नले! अर्जुनने तुम्हें सारथि बनाकर खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था। इतना ही नहीं, कुन्तीपुत्र धनंजयने तुम-जैसे सारथिके सहयोगसे ही समूची पृथ्वीपर विजय पायी है।' तुम्हारे विषयमें यह बात सैरन्ध्री कह रही थी, क्योंकि वह पाण्डवोंको अच्छी तरह जानती है ॥ १६-१७ ॥

संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥

'बृहन्नले! तुम अर्जुनकी ही भाँति मेरे घोड़ोंको भी काबूमें रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेनेके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ १९ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो और तुम्हारी ही सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥

उसके ऐसा कहनेपर बृहन्नला राजकुमारसे बोली—'भला; मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्धके मुहानेपर सारथिका काम सँभाल सकूँ ? ॥ २० ॥

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥

'राजकुमार ! आपका कल्याण हो । यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकारके बाजे बजाने हों, तो वह कर लूँगी । सारथिका काम मुझसे कैसे हो सकता है ?' ॥२१॥

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो, बन जाना । इस समय तो शीघ्र ही मेरे रथपर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ोंको काबूमें करो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने सब कुछ जानते हुए भी उत्तराके सामने हँसीके लिये बहुत-से अनभिज्ञतासूचक कार्य किये ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्चत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः॥ २४ ॥

वे कवचको ऊपर उठाकर शरीरमें डालने लगे । यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ॥ २४ ॥

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

बृहन्नलाको (कवच-धारणके समय) भूल करती देख राजकुमार उत्तरने स्वयं ही उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ॥ २५ ॥

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥ २६ ॥

फिर उसने स्वयं भी सूर्यके समान कान्तिमान् सुन्दर कवच धारण किया और रथपर सिंहध्वज फहराकर बृहन्नलाको सारथिके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

धनूंषि च महार्हाणि बाणांश्च रुचिरान् बहून् ।
आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ॥ २७ ॥

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥ २८ ॥
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ॥२९॥

उस समय उत्तरा और उसकी सखीरूपा दूसरी राजकन्याओंने कहा—'बृहन्नले ! तुम युद्धभूमिमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरोंको जीतकर हमारी गुड़ियोंके लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंगके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना' ॥ २८-२९ ॥

एवं ता ब्रुवतीः कन्याः सहिताः पाण्डुनन्दनः ।
प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३० ॥

ऐसा कहती हुई उन सब कन्याओंसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने हँसते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥ ३१ ॥

बृहन्नला बोली—यदि ये राजकुमार उत्तर रणभूमिमें उन महारथियोंको परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनउवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुनने भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित कौरवोंकी ओर जानेके लिये घोड़ोंको हाँक दिया ॥ ३२ ॥

तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमे स्थितं
बृहन्नलायाः सहितं महाभुजम् ।
स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः
प्रदक्षिणं चक्रुरथोचुरङ्गनाः ॥ ३३ ॥

बृहन्नलाके साथ उत्तम रथपर बैठे हुए महाबाहु उत्तरको जाते देख स्त्रियों, कन्याओं तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंने उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की । तत्पश्चात् स्त्रियाँ और कन्याएँ बोलीं—॥ ३३ ॥

यदर्जुनस्यर्षभतुल्यगामिनः
पुराभवत् खाण्डवदाहमङ्गलम् ।
कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले
सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'बृहन्नले !- वृषभके समान गतिवाले अर्जुनको पहले खाण्डववनदाहके समय जैसा मङ्गल प्राप्त हुआ था, आज युद्धमें कौरवोंके पास पहुँचनेपर राजकुमार उत्तरके साथ तुम्हें वैसा ही मङ्गल प्राप्त हो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरनिर्याणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें राजकुमार उत्तरका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

उत्तरकुमारका भय और अर्जुनका उसे आश्वासन देकर रथपर चढ़ाना

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजधानीसे निकलकर विराटकुमार उत्तरने सर्वथा निर्भय हो सारथिसे कहा—'बृहन्नले ! जहाँ कौरव गये हैं, उधर ही रथ ले चलो ॥ १ ॥

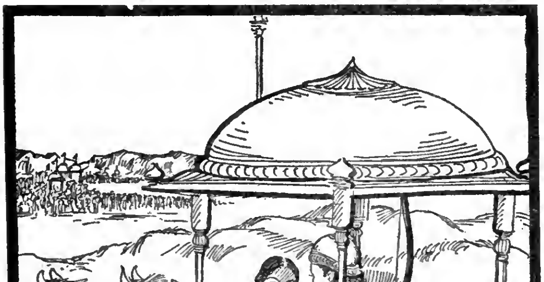

समवेतान् कुरून् सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥

'मैं यहाँ विजयकी आशासे एकत्र होनेवाले समस्त कौरवोंको परास्त करके उनसे अपनी गौएँ वापस ले शीघ्र अपने नगरमें लौट आऊँगा' ॥ २ ॥

ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ॥ ३ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने उत्तरके उत्तम जातिके घोड़ोंको हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी । नरश्रेष्ठ अर्जुनके हाँकनेपर सोनेकी माला पहने हुए वे घोड़े हवाके समान वेगसे चलने लगे, मानो आकाशमें अपनी टाप अड़ाते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों ॥ ३ ॥

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥

थोड़ी ही दूर जानेपर शत्रुहन्ता विराटपुत्र उत्तर और धनंजयने महाबली कौरवोंकी विशाल सेना देखी ॥ ४ ॥

श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

श्मशानभूमिके समीप जाकर उन्होंने कौरवोंको पा लिया । वे दोनों उस शमीवृक्षके आसपास सब ओर सेनाका व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-सैनिकोंकी ओर देखने लगे ॥ ५ ॥

तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥

उनकी वह विशाल वाहिनी समुद्रके समान जान पड़ती थी। जब वह चलती, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें असंख्य वृक्षोंसे भरा हुआ वन चल रहा हो ॥ ६ ॥

ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक् कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनाके चलनेसे ऊपर उठी हुई धरतीकी धूल अन्तरिक्षको छूती-सी दिखायी देती थी । उसके कारण समस्त प्राणियोंकी दृष्टिका लोप-सा हो गया था—किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ७ ॥

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

वह भारी सेना हाथी, घोड़ों एवं रथोंसे भरी हुई थी । कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा और महान्

धनुर्धर एवं परम बुद्धिमान् द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे। उसे देखकर विराटपुत्र उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये। उसने भयसे व्याकुल होकर अर्जुनसे कहा ॥ ८-९ ॥

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! मुझमें कौरवोंके साथ युद्ध करनेका साहस नहीं है; क्योंकि देखो, भयके कारण मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं। इस सेनाके भीतर बहुतेरे बड़े-बड़े वीर हैं। यह बड़ी भयानक जान पड़ती है। इसे परास्त करना तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ १० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम् ।
नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ ११ ॥

कौरवोंकी सेनाका कहीं अन्त नहीं है। मैं इसका सामना नहीं कर सकता। भयानक धनुषवाली भरतवंशियोंकी इस विशाल वाहिनीमें प्रवेश करना तो दूर रहे, मैं उसके सम्बन्धमें बात भी नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंसे यह कौरवदल खचाखच भरा हुआ है। पैदल सिपाहियों और असंख्य ध्वजाओंसे व्याप्त है। इसलिये रणभूमिमें इन शत्रुओंको देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है ॥ १२ ॥

यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ १३ ॥
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः ।
द्युतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १४ ॥

जहाँ द्रोण, भीष्म, कृप, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक तथा रथियोंमें श्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन हैं। जो सब-के-सब तेजस्वी, महान् धनुर्धर और युद्धकी कलामें प्रवीण हैं ॥ १३-१४ ॥

(मत्ता इव महानागा युक्तध्वजपताकिनः ।
नीतिमन्तो महेष्वासाः सर्वास्त्रकृतनिश्चयाः ॥
दुर्जयाः सर्वसैन्यानां देवैरपि सवासवैः ।
पताकिनश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥
विप्रकीर्णाः कृतोद्योगा वाजिनश्चित्रभूषिताः ।
ताञ्जेतुं समरे शूरान् दुर्बुद्धिरहमागतः ॥)

ये कौरववीर मदसे उन्मत्त हुए महान् गजराजोंके समान जान पड़ते हैं। ये सब-के-सब ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, नीति-निपुण, महाधनुर्धर तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याका सुनिश्चित ज्ञान रखते हैं। इनपर विजय पाना सम्पूर्ण सेनाओंके लिये ही नहीं, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इनके हाथियोंपर भी पताकाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े रथ ध्वजाओंसे सुशोभित हो रहे हैं। विचित्र आभूषणोंसे आभूषित घोड़े चारों ओर फैलकर विजयके लिये उद्योगशील प्रतीत होते हैं। ऐसे शूरवीर कौरवोंको युद्धमें जीतनेके लिये मैं दुर्बुद्धि बालक कहाँ आ गया ? ॥

दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः ।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ॥ १५ ॥

सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहारके लिये उद्यत खड़े हुए इन कौरवोंको देखकर ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। मुझे मूर्च्छा-सी आ रही है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविजातो विजातस्य मौर्ख्याद् धूर्तस्य पश्यतः ।
परिदेवयते मन्दः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मूर्ख उत्तर एक साधारण कोटिका मनुष्य था और छद्मवेशधारी सव्यसाची अर्जुन असाधारण वीर थे। अतः उनके प्रभावको न जाननेके कारण वह मूर्खतावश उनके पास रहकर भी उन्हींके देखते-देखते यों विलाप करने लगा—॥ १६ ॥

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम्।
सर्वा सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥ १७ ॥
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः ।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥

'बृहन्नले ! मेरे पिता सूने नगरमें उसकी रक्षाके लिये मुझे अकेला रखकर स्वयं सारी सेना साथ ले त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्रविद्यामें अभी अधिक परिश्रम भी नहीं किया है। ऐसी दशामें अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और प्रौढ़ अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवोंका सामना मैं नहीं कर सकूँगा। अतः तुम रथ लेकर लौट चलो' ॥ १७-१८ ॥

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः ।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ॥ १९ ॥

बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! तुम भयके कारण दीन होकर शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओंने युद्धके मैदानमें कोई पराक्रम भी नहीं प्रकट किया है ॥ १९ ॥

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति ।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः॥ २० ॥

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवोंके पास ले चलो; अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, वहीं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २० ॥

मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।
नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम्॥ २१ ॥

महाबाहो ! जैसे गीध मांसपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार जो गौओंको लूटनेके लिये यहाँ आये हैं, उन आततायी कौरवोंके बीच तुम्हें ले चलती हूँ । यदि ये पृथ्वीके लिये भी युद्ध ठानेंगे तो उसमें भी मैं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २१ ॥

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥

तुम स्त्रियों और पुरुषोंके बीच कौरवोंको हराकर अपने गोधनको वापस लानेकी प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थके विषयमें अपनी श्लाघा करते हुए युद्धके लिये निकले थे; फिर अब क्यों युद्ध नहीं करना चाहते ? ॥ २२ ॥

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान् वै प्रतियास्यसि ।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥

यदि उन गौओंको बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे और यत्र-तत्र स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र हो तुम्हारा उपहास करेंगे ॥ २३ ॥

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४ ॥

मैं भी सैरन्ध्रीके द्वारा सारथ्यके कार्यमें कुशल बतायी गयी हूँ; अतः अब गौओंको जीतकर वापस लिये बिना मैं नगरमें नहीं जा सकूँगी ॥ २४ ॥

स्तोत्रेण चैव सैरन्ध्र्यास्तव वाक्येन तेन च ।
कथं न युध्येयमहं कुरून् सर्वान् स्थिरो भव ॥ २५ ॥

सैरन्ध्री और तुमने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर मेरी बहुत स्तुति-प्रशंसा की है, फिर सम्पूर्ण कौरवोंके साथ मैं ही क्यों न युद्ध करूँ ? तुम दृढ़तापूर्वक डट जाओ ॥ २५ ॥

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम् ।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥ २६ ॥
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे ।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ॥ २७ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! भारी संख्यामें आये हुए कौरव भले ही मत्स्यदेशका सारा धन इच्छानुसार हर ले जायँ, स्त्रियाँ अथवा पुरुष जितना चाहें, मेरा उपहास करें तथा मेरी गौएँ भी चली जायँ; किंतु इस युद्धमें मेरा कोई काम नहीं है। मेरा नगर सूना पड़ा है । [पिताजी उसकी रक्षाका भार मुझे दे गये थे] । मैं पिताजीसे डरता हूँ [इसलिये यहाँ नहीं ठहर सकता] ॥ २६-२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर मान और अभिमानको त्यागकर बाणसहित धनुषको वहीं छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार उत्तर रथसे कूद पड़ा और भयभीत होकर भाग चला ॥ २८ ॥

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ॥ २९ ॥

तब बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! क्षत्रियका युद्धसे भागना शूरवीरोंकी दृष्टिमें धर्म नहीं है । युद्ध करके मर जाना अच्छा है; किंतु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः ॥ ३० ॥
दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी ।
विधूय वेणीं धावन्तमजानन्तोऽर्जुनं तदा ॥ ३१ ॥
सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथा रूपमवेक्ष्य तम् ।
तं शीघ्रमभिधावन्तं सम्प्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन धनंजय भी उस उत्तम रथसे कूद पड़े और भागते हुए राजकुमारको पकड़नेके लिये अपनी लंबी चोटी हिलाते और लाल रंगकी साड़ी एवं दुपट्टेको फहराते हुए उसके पीछे-पीछे

दौड़े । उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुनको उस रूपमें देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाका

मारकर हँसने लगे। उन्हें शीघ्र गतिसे दौड़ते देख कौरव आपसमें कहने लगे—॥ ३०—३२ ॥

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः॥ ३३॥

'यह कौन है जो राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति नारीके वेशमें छिपा है ? इसकी कुछ बातें तो पुरुषों-जैसी हैं और कुछ स्त्रियों-जैसी ॥ ३३ ॥

सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च।
तदेवैतच्छिरो ग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ।
तद्वदेवास्य विक्रान्तं नायमन्यो धनंजयात्॥ ३४॥

'इसका स्वरूप तो अर्जुनसे मिलता-जुलता है; किंतु वेश-भूषा इसने नपुसकों-जैसी बना रक्खी है। देखो न, वही अर्जुन-जैसा सिर है, वैसी ही ग्रीवा है, वे ही परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ हैं और उन्हींके समान इसकी चाल-ढाल है; अतः यह अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

अमरेष्विव देवेन्द्रो मानुषेषु धनंजयः।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्यो लोके धनंजयात्॥ ३५॥

'मनुष्योंमें धनंजयका वही स्थान है, जो देवताओंमें इन्द्रका है। संसारमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन वीर है, जो अकेला हमलोगोंका सामना करनेके लिये चला आये ? ॥ ३५ ॥

एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये संनिहितः पुरे।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात्॥ ३६॥

'विराटके सूने नगरमें उनका एक ही पुत्र देख-रेखके लिये रह गया था; सो यह बचपन (मूर्खता) के ही कारण हमारा सामना करनेके लिये चला आया, अपने पुरुषार्थसे प्रेरित होकर नहीं ॥ ३६ ॥

सत्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्जुनम्।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद् बहिः॥ ३७॥

'निश्चय ही कपटवेशमें छिपे हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनको अपना सारथि बनाकर उत्तर नगरसे बाहर निकला था ॥

स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते।
तं नूनमेष धावन्तं जिघृक्षति धनंजयः॥ ३८॥

'मालूम होता है, हमलोगोंको देखकर यह बहुत डर गया है; इसीलिये भागा जाता है और ये अर्जुन अवश्य ही उस भागते हुए राजकुमारको पकड़ लाना चाहते हैं' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्म कुरवः सर्वे विमृशन्तः पृथक्-पृथक्।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते॥ ३९॥
छन्नं तथा तं सत्रेण पाण्डवं प्रेक्ष्य भारत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार सभी कौरव अलग अलग विचार-विमर्श करते थे, किंतु छद्मवेशमें छिपे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा उत्तरको देखकर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे ॥ ३९½ ॥

(दुर्योधन उवाचेदं सैनिकान् रथसत्तमान्।
अर्जुनो वासुदेवो वा रामः प्रद्युम्न एव वा॥
ते हि नः प्रतिसंयातुं संग्रामे न च शक्नुयुः॥
अन्यो वा क्लीबरूपेण यद्यागच्छेद् गवां पदम्।
अर्पयित्वा शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यामि भूतले॥
कथमेकतरस्तेषां समस्तान् योधयेत् कुरून्।
अर्जुनो नेति चेत्येनं न व्यवस्यन्ति ते पुनः।
इति स्म कुरवः सर्वे मन्त्रयन्तो महारथाः॥
दृढवेधी महासत्त्वः शक्रतुल्यपराक्रमः।
अद्यागच्छति ये योद्धुं सर्वे संशयितं बलम्॥
न चाप्यन्यं नरं तत्र व्यवस्यन्ति धनंजयात्।)

उस समय दुर्योधनने रथियोंमें श्रेष्ठ समस्त सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'अर्जुन, श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न भी संग्राम-भूमिमें हमलोगोंका सामना नहीं कर सकते। यदि कोई दूसरा मनुष्य ही हीजड़ेका रूप धारण करके इन गौओंके स्थानपर आयेगा, तो मैं उसे अपने तीखे बाणोंसे घायल करके धरतीपर सुला दूँगा। यह उपर्युक्त वीरोंमेंसे ही कोई एक हो, तो भी अकेला समस्त कौरवोंके साथ कैसे युद्ध कर सकता है ?' उधर 'यह अर्जुन ही तो नहीं है? नहीं वे नहीं जान पड़ते।' इस प्रकार आपसमें मन्त्रणा करते हुए समस्त कौरव महारथी अर्जुनके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाते थे। कई एक कहने लगे कि अर्जुनकी शक्ति महान् है। उनका पराक्रम इन्द्रके समान है। वे दृढ़तापूर्वक शत्रुओंका वेधन करनेवाले हैं। यदि वे ही आज युद्ध करनेके लिये आ रहे हैं, तब तो समस्त सैनिकों-का जीवन संशयमें पड़ गया।' वे इस मनुष्यको वहाँ अर्जुनसे भिन्न भी नहीं निश्चित कर पाते थे ॥

उत्तरं तु प्रधावन्तमभिद्रुत्य धनंजयः।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत्॥ ४०॥

उधर अर्जुनने भागते हुए उत्तरका पीछा करके सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये ॥ ४० ॥

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत्।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा॥ ४१॥

अर्जुनके द्वारा पकड़ लिये जानेपर विराटपुत्र उत्तर बड़ी दीनताके साथ आर्तकी भाँति विलाप करने लगा ॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच

शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति॥ ४२॥

उत्तर बोला—सुन्दर कटिवाली कल्याणमयी बृहन्नले !

तुम मेरी बात सुनो। मेरे रथको शीघ्र लौटाओ; क्योंकि मनुष्य जीवित रहे, तो वह अनेक बार मङ्गल देखता है॥४२॥

शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान् ददामि ते।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान् हेमबद्धान् महाप्रभान्॥ ४३॥

मैं तुम्हें शुद्ध सुवर्णकी सौ मोहरें देता हूँ, साथ ही अत्यन्त प्रकाशमान स्वर्णजटित आठ वैदूर्यमणियाँ भेंट करता हूँ॥ ४३॥

हेमदण्डप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः।
मत्तांश्च दश मातङ्गान् मुञ्च मां त्वं बृहन्नले॥ ४४॥

इतना ही नहीं, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा सुवर्णमय दण्डसे युक्त एक रथ और दस मतवाले हाथी भी दे रहा हूँ। बृहन्नले! यह सब ले लो, किंतु तुम मुझे छोड़ दो॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम्।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत्॥ ४५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर इसी प्रकारकी बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था। पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातोंपर हँसते हुए उसे रथके समीप ले आये॥ ४५॥

अथैनमब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम्।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः॥ ४६॥

जब वह भयसे आतुर होकर अपनी सुध-बुध खोने लगा तब अर्जुनने उससे कहा—'शत्रुनाशन! यदि तुम्हें शत्रुओंके साथ युद्ध करनेका उत्साह नहीं है तो चलो; मैं उनसे युद्ध करूँगा। तुम मेरे घोड़ोंकी बागडोर सँभालो॥४६॥

प्रयाह्येतद् रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः॥ ४७॥

'तुम मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस रथ-सेनाकी ओर चलो, जो महारथी वीरोंसे सुरक्षित, घोर एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है॥४७॥

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि॥ ४८॥

'राजपुत्रशिरोमणे! भयभीत न होओ। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम क्षत्रिय हो, पुरुषसिंह! तुम शत्रुओंके बीचमें आकर विषाद कैसे कर रहे हो?॥ ४८॥

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून्।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम्॥ ४९॥

'देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेनामें घुसकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लाऊँगा॥ ४९॥

यन्ता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह।

'नरश्रेष्ठ! तुम केवल मेरे सारथि बनकर बैठे रहो। इन कौरवोंके साथ युद्ध तो मैं करूँगा'॥ ४९½॥

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः।
समाश्वास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ॥ ५०॥
तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम्।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः॥ ५१॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ और कभी परास्त न होनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनने उपर्युक्त बातें कहकर विराटकुमार उत्तरको दो घड़ीतक भलीभाँति समझाया-बुझाया। तत्पश्चात् युद्धकी कामनासे रहित, भयसे व्याकुल और भागनेके लिये छटपटाते हुए उत्तरको उन्होंने रथपर चढ़ाया॥ ५०-५१॥

(गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति॥
उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः।)

अर्जुन अपने गाण्डीव धनुषको लानेके लिये पुनः उस शमीवृक्षकी ओर गये। उन्होंने उत्तरको समझा-बुझाकर सारथि बननेके लिये राजी कर लिया था॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि **उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः**॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशासे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें उत्तरके आश्वासनसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुनके अलौकिक पराक्रमकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुङ्गवम्।
शमीमभिमुखं यान्तं रथमारोप्य चोत्तरम्॥ १॥
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृतात् भयात्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नपुंसकवेषमें रथपर बैठे हुए नरश्रेष्ठ अर्जुनको, जो उत्तरको रथपर बिठाकर शमीवृक्षकी ओर जा रहे थे, भीष्म-द्रोण आदि

कौरव महारथियोंने देखा। यह देखकर अर्जुनकी आशङ्का होनेसे वे सबके सब मन-ही-मन भयभीत हो उठे ॥ १-२ ॥

तानवेक्ष्य हतोत्साहानुत्पातानपि चाद्भुतान्।
गुरुः शस्त्रभृतां श्रेष्ठो भारद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ ३ ॥

उन सब महारथियोंको हतोत्साह देख तथा अद्भुत उत्पातोंको भी देखकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोण बोले— ॥ ३ ॥

चण्डाश्च वाताः संवान्ति रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
भस्मवर्णप्रकाशेन तमसा संवृतं नभः ॥ ४ ॥

'इस समय कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड एवं रूखी हवा चल रही है। राखके समान रंगवाले अन्धकारसे आकाश आच्छादित हो रहा है ॥ ४ ॥

रूक्षवर्णाश्च जलदा दृश्यन्तेऽद्भुतदर्शनाः।
निःसरन्ति च कोशेभ्यः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ५ ॥

'रूक्ष वर्णवाले अद्भुत बादल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। म्यानोंसे अनेक प्रकारके शस्त्र निकल रहे हैं ॥ ५ ॥

शिवाश्च विनदन्त्येता दीप्तायां दिशि दारुणाः।
हयाश्चाश्रूणि मुञ्चन्ति ध्वजाः कम्पन्त्यकम्पिताः ॥ ६ ॥

'दिशाओंमें आग-सी लग रही है और उनमें ये भयंकर गीदड़ियाँ चीत्कार करती हैं। घोड़े आँसू बहाते हैं और रथोंकी ध्वजाएँ बिना हिलाये ही हिल रही हैं ॥ ६ ॥

यादृशान्यत्र रूपाणि संदृश्यन्ते बहूनि च।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु साध्वसं समुपस्थितम् ॥ ७ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे बहुत-से रूप (लक्षण) दिखायी दे रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि कोई महान् भय उपस्थित होनेवाला है; अतः आप सब लोग सावधान हो जायँ ॥७॥

रक्षध्वमपि चात्मानं व्यूहध्वं वाहिनीमपि।
वैशसं च प्रतीक्षध्वं रक्षध्वं चापि गोधनम् ॥ ८ ॥

'आपलोग अपने आपकी रक्षा तो करें ही, सेनाका भी व्यूह बना लें। युद्धमें बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है। उसकी प्रतीक्षा करें । और इस गोधनकी भी रखवाली करते रहें ॥

एष वीरो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
आगतः क्लीबवेषेण पार्थो नास्त्यत्र संशयः ॥ ९ ॥

'नपुंसकवेशमें ये समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महान् धनुर्धर वीर अर्जुन ही आ गये हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गा वः ॥ १० ॥

'गङ्गानन्दन ! जिनकी ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान होते हैं, एक वृक्षका नाम (अर्जुन) ही जिनका नाम है और जो इन्द्रके पुत्र हैं, वे किरीटधारी धनंजय ही नारीवेश धारण किये यहाँ आ रहे हैं । ये जिसको जीतकर आज हमारी इन गौओंको लौटा ले जायँगे, उस दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ॥ ११ ॥

'ये वे ही शत्रुओंको संताप देनेवाले महापराक्रमी सव्यसाची अर्जुन हैं, जो (सामना होनेपर) सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके साथ भी बिना युद्ध किये पीछे नहीं लौट सकते ॥

क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥

'कौरवो ! साक्षात् इन्द्रने भी इन्हें अस्त्रविद्याकी शिक्षा दी है। युद्धमें कुपित होनेपर ये साक्षात् इन्द्रके समान पराक्रम दिखाते हैं। तुम लोगोंने इन शूरवीरको वनमें (अनुचित) क्लेश पहुँचाया है। मुझे इनका सामना करनेवाला कोई योद्धा यहाँ नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥ १३ ॥

'सुना जाता है, हिमालय पर्वतपर किरातवेशमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् शंकरको भी अर्जुनने युद्धमें संतुष्ट किया था' ॥ १३ ॥

कर्ण उवाच

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥ १४ ॥

कर्णने कहा—आचार्य ! आप सदा हमारे सामने अर्जुनके गुणोंकी श्लाघा करते रहते हैं, परंतु अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥ १४ ॥

दुर्योधन उवाच

यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाब्दान् विशाम्पते ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा—राधानन्दन ! यदि यह अर्जुन है; तब तो मेरा काम ही बन गया। अङ्गराज ! अब ये पाण्डव पहचान लिये जानेके कारण फिर बारह वर्षोंतक वनमें भटकेंगे ॥ १५ ॥

अथैष कश्चिदेवान्यः क्लीबवेषेण मानवः।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥ १६ ॥

और यदि यह नपुंसकवेशमें कोई दूसरा ही मनुष्य है, तो इसे अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा अभी इस भूतलपर मार गिराऊँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् ब्रुवति तद् वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप ।
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन्॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामा ने उसके इस पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें अर्जुनकी प्रशंसाविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरको शमीवृक्षसे अस्त्र उतारनेके लिये आदेश

वैशम्पायन उवाच

तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नातिकोविदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस शमीवृक्षके समीप पहुँचकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सुकुमार तथा युद्धकी कलामें पूर्णतया कुशल न जानकर उससे कहा—॥१॥

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम् ।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम् ॥ २ ॥
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः ।

'उत्तर ! मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र इस वृक्षपर चढ़कर वहाँ रक्खे हुए धनुष उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबलको नहीं सह सकेंगे, कोई भारी कार्य-भार नहीं उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजोंका नाश करनेमें भी ये काम न दे सकेंगे। इतना ही नहीं, यहाँ शत्रुओंपर विजय पानेके लिये युद्ध करते समय ये मेरे बाहुविक्षेपको भी नहीं सँभाल सकेंगे ॥ २½ ॥

(नैभिः काममलं कर्तुं कर्म वैजयिकं त्विह ।
अतिसूक्ष्माणि ह्रस्वानि सर्वाणि च मृदूनि च ।
आयुधानि महाबाहो तवैतानि परंतप ॥)
तस्माद् भूमिंजयारोह शमीमेतां पलाशिनीम् ॥ ३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु उत्तर ! तुम्हारे ये सभी अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, छोटे और कोमल हैं। इनके द्वारा यहाँ विजय दिलानेवाला पराक्रम नहीं किया जा सकता। इसलिये भूमिंजय ! पत्तोंसे सुशोभित इस शमीवृक्षपर शीघ्र चढ़ जाओ ॥ ३ ॥

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ४ ॥

'इसपर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवोंके धनुष रक्खे हुए हैं ॥ ४ ॥

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गाण्डिवम् ॥ ५ ॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम् ।
व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ॥ ६ ॥

'उन शूरवीरोंके ध्वज, बाण और दिव्य कवच भी यहीं हैं। यहीं अर्जुनका वह महान् शक्तिशाली गाण्डीव धनुष भी है,जो अकेला ही एक लाख धनुषोंके समान है।यह राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला, परिश्रमको सहनेमें समर्थ और ताड़के समान अत्यन्त विशाल है ॥ ५-६ ॥

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम् ।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ॥ ७ ॥
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम् ।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ८ ॥

'सम्पूर्ण आयुधोंमें यह सबसे बड़ा है और शत्रुओंको विशेष पीड़ा देनेवाला है। यह सोनेको गलाकर बनाया हुआ दिव्य, सुन्दर, विस्तृत तथा व्रणरहित (नित्य नूतन) है। यह भारी-से-भारी भार वहन करनेमें समर्थ, भयंकर और देखनेमें मनोहर है। ऐसे ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके भी सब धनुष प्रबल और सुदृढ़ हैं ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके प्रसंगमें अर्जुनके द्वारा अस्त्र-वर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ९½ हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका अर्जुनके आदेशके अनुसार शमीवृक्षसे पाण्डवोंके दिव्य धनुष आदि उतारना

उत्तर उवाच

अस्मिन् वृक्षे किलोद्बद्धं शरीरमिति नः श्रुतम्।
तदहं राजपुत्रः सन् स्पृशेयं पाणिना कथम्॥ १॥

उत्तर बोला—मैंने तो सुन रक्खा था कि इस वृक्षमें कोई लाश बँधी है, ऐसी दशामें मैं राजकुमार होकर अपने हाथसे उसका स्पर्श कैसे कर सकता हूँ ?॥ १॥

नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना।
महता राजपुत्रेण मन्त्रयज्ञविदा सता॥ २॥

एक तो मैं क्षत्रिय, दूसरे महान् राजकुमार तथा तीसरे मन्त्र और यज्ञोंका ज्ञाता एवं सत्पुरुष हूँ, अतः मुझे ऐसी अपवित्र वस्तुका स्पर्श करना उचित नहीं है॥ २॥

स्पृष्टवन्तं शरीरं मां शववाहमिवाशुचिम्।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले॥ ३॥

बृहन्नले! यदि मैं शवका स्पर्श कर लूँ, तो मुर्दा ढोनेवालोंकी भाँति अपवित्र हो जाऊँगा, फिर तुम मुझे व्यवहारमें लाने योग्य शुद्ध कैसे कर सकोगी ?॥ ३॥

बृहन्नलोवाच

व्यवहार्यश्च राजेन्द्र शुचिश्चैव भविष्यसि।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नात्र विद्यते॥ ४॥

बृहन्नलाने कहा—राजेन्द्र! तुम इन धनुषोंको छूकर भी व्यवहारमें लाने योग्य और पवित्र ही रहोगे। डरो मत, ये केवल धनुष हैं; इनमें कोई शव नहीं है॥ ४॥

दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम्।
त्वां कथं निन्दितं कर्म कारयेयं नृपात्मज॥ ५॥

राजकुमार! तुम मनस्वी पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न और मत्स्यनरेशके पुत्र हो। भला, मैं तुमसे कोई निन्दित कर्म कैसे करवा सकती हूँ ?॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा॥ ६॥
तमन्वशासच्छत्रुघ्नो रथे तिष्ठन् धनंजयः।
अवरोपय वृक्षाग्राद् धनूंष्येतानि मा चिरम्॥ ७॥
परिवेष्टनमेतेषां क्षिप्रं चैव व्यपानुद।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथसे कूदकर शमीवृक्षपर चढ़ गया। तब रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक पृथापुत्र धनंजयने शासनके स्वरमें कहा—'इन धनुषोंको जल्दी वृक्षसे नीचे उतारो और इन सबका पत्रमय वेष्टन भी शीघ्र हटा दो।'॥ ६-७½॥

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम्।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत्॥ ८॥
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः।
अपश्यद् गाण्डिवं तत्र चतुर्भिरपरैः सह॥ ९॥

तब उत्तरने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंके बहुमूल्य धनुषोंको वृक्षके नीचे ले आकर उनपर जो पत्तोंके वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया। फिर उन धनुषों तथा उनकी डोरियोंको सब ओरसे खोलकर अर्जुनके पास ले आया। उसमें अन्य चार धनुषोंके साथ रक्खे हुए गाण्डीव धनुषको उत्तरने देखा॥ ८-९॥

तेषां विमुच्यमानानां धनुषामर्कवर्चसाम्।
विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणामुदयेष्विव॥ १०॥

वेष्टन खोलनेपर उन सूर्यके समान तेजस्वी धनुषोंकी प्रभा चारों ओर फैल गयी, जैसे उदय होनेपर ग्रहोंका दिव्य प्रकाश सब ओर छा जाता है॥ १०॥

स तेषां रूपमालोक्य भोगिनामिव जृम्भताम्।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः क्षणेन समपद्यत॥ ११॥
संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

जँभाई लेनेके लिये मुँह खोले हुए विशाल सर्पोंकी भाँति उन धनुषोंका रूप देखकर उत्तरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह क्षणभरमें भयसे उद्विग्न हो गया। राजन्! तदनन्तर उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषोंका स्पर्श करके विराटपुत्र उत्तरने अर्जुनसे इस प्रकार कहा॥ ११-१२॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अस्त्रावरोपणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर वृक्षसे अस्त्रोंको उतारनेसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका बृहन्नलासे पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्रोंके विषयमें प्रश्न करना

उत्तर उवाच

बिन्दवो जातरूपस्य शतं यस्मिन् निपातिताः।
सहस्रकोटि सौवर्णाः कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ १ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! जिसपर सोनेकी सौ फूलियाँ जड़ी हैं, जिसके दोनों सिरे बहुत ही मजबूत और चमकीले हैं, यह उत्तम धनुष किस यशस्वी वीरका है ? ॥ १ ॥

वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ २ ॥

जिसकी पीठपर सोनेके प्रकाशमान हाथी सुशोभित हो रहे हैं तथा जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर और मध्यभाग बहुत ही उत्तम है, यह श्रेष्ठ धनुष किसका है ? ॥ २ ॥

तपनीयस्य शुद्धस्य षष्टिर्यस्येन्द्रगोपकाः।
पृष्ठे विभक्ताः शोभन्ते कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ३ ॥

जिसके पृष्ठभागमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए लाल-पीले रंगवाले साठ इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीट पृथक्-पृथक् शोभा पा रहे हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ३ ॥

सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासन्ति दंशिताः।
तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ४ ॥

जिसमें परस्पर सटे हुए तीन सुवर्णमय सूर्यचिह्न प्रकाशित हो रहे हैं, जो तेजसे मानो प्रज्वलित हैं, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ४ ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ॥ ५ ॥

जिसपर तप्त-सुवर्णभूषित मीनेके फतिंगे शोभा पा रहे हैं तथा जो उत्तम वर्णकी मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता है, यह उत्तम धनुष किसका है ? ॥ ५ ॥

इमे च कस्य नाराचाः साहस्रा लोमवाहिनः।
समन्तात् कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये ॥ ६ ॥
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः॥ ७ ॥

ये जो सोनेके तरकसमें सहस्रों नाराच रक्खे हुए हैं, जिनके सब ओर विशेषतः अग्रभागमें सोनेका पानी चढ़ा है और जो सबके सब पंखवाले हैं, ये किसके उपयोगमें आते हैं ? ये मोटे-मोटे विपाठ (स्थूल दण्डवाले बाणविशेष) किसके हैं ? इनमें गीधकी पाँखें लगी हुई हैं । इन बाणोंको पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है । इनके रंग हल्दीके समान हैं और अग्रभाग बहुत ही सुन्दर हैं । कारीगरने इनपर भी खूब पानी चढ़ाया है । ये सबके सब लोहेके ही बाण हैं (अर्थात् इनमें नीचे काठका डंडा नहीं लगा है)॥६-७॥

कस्यायमसितश्चापः पञ्चशार्दूललक्षणः।
वराहकर्णव्यामिश्रान् शरान् धारयते दश ॥ ८ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, ऐसा यह काले रंगका धनुष किसका है ? यह तो सूअरके कानके समान नोकवाले दस बाणोंको एक साथ धारण कर सकता है ॥ ८ ॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः ॥ ९ ॥

ये जो शत्रुओंका रक्त पीनेवाले मोटे, विशाल तथा अर्धचन्द्राकार दिखायी देनेवाले सात सौ नाराच रक्खे हुए हैं, किसके हैं ? ॥ ९ ॥

कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ १० ॥

जिनके पूर्वार्धभाग तोतेकी पाँखके समान रंगवाले और उत्तरार्धभाग सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं पीले हैं, जो पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए और लोहेके बने हैं, ऐसे ये सुन्दर पाँखवाले बाण किसके हैं ? ॥ १० ॥

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः।
कस्यायं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ॥ ११ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढ़कीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढ़कीके मुख-सा बना हुआ है, ऐसा यह भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य और शत्रुमण्डलीके लिये भयंकर विशाल खड्ग किसका है ? ॥ ११ ॥

वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रो दुरासदः।
सुफलश्चित्रकोशश्च किङ्किणीसायको महान् ॥ १२ ॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः।

जो बाघके चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रक्खा गया है, जो सुवर्णचित्रित और शत्रुओंके लिये असह्य है, जिसका अग्रभाग भी बहुत ही सुन्दर है, जिसकी म्यानपर चित्रकारी की हुई है, जो घुँघरूदार और विशाल है, वह सोनेकी मूठवाला दिव्य एवं अत्यन्त निर्मल खड्ग किसका है ? ॥ १२½ ॥

कस्यायं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ॥ १३ ॥
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः।

जिसे गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, जो निषध-देशका बना हुआ है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता, जो

भारी भार सह सकता है, वह सोनेकी मूठवाला विमल खड्ग किसका है ? ॥ १३½ ॥

कस्य पाञ्चनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसंनिभः ।

जिसे बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें रक्खा गया है, जो सोनेकी मूठसे युक्त और सुवर्णभूषित स्वरूपवाली है, वह उचित लंबाई-चौड़ाई एवं आकृतिवाली, आकाशके समान नीलोज्ज्वल एवं पानीदार तलवार किसकी है ? ॥ १४½ ॥

कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्यायमसितः खड्गो हेमबिन्दुभिरावृतः ॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ॥१७॥*

जो अग्निके समान प्रकाशमान एवं आगमें तपाये शुद्ध सुवर्णकी बनी हुई म्यानमें सुरक्षित, भारी, पानीदार तथा तीस अङ्गुलसे बड़ा है, जो स्वर्णबिन्दुओंसे विभूषित तथा काले रंगका है, जिसे शत्रु काट नहीं सकते, जिसका स्पर्श सर्पके समान है, जो शत्रुके शरीरको चीर डालनेवाला, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयदायक है, वह खड्ग किसका है ? ॥ १५–१७ ॥

निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ॥ १८ ॥

बृहन्नले ! मैंने जो पूछा है, उसे ठीक-ठीक बताओ । ये सब महान् अस्त्र-शस्त्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरवाक्यविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाद्वारा उत्तरको पाण्डवोंके आयुधोंका परिचय कराना

बृहन्नलोवाच

यन्मां पूर्वमिहापृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गाण्डीवमेतत् पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।
एतत् तदर्जुनस्यासीद् गाण्डीवं परमायुधम् ॥ २ ॥

बृहन्नला बोली—राजकुमार ! तुमने पहले जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वही यह अर्जुनका विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष है, जो शत्रुओंकी सेनाके लिये कालरूप है। यह सब आयुधोंसे विशाल है । इसमें सब ओर सोना मढ़ा है । यही उत्तम आयुध गाण्डीव अर्जुनके पास रहा करता था ॥ १-२ ॥

यत् तच्छतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान् मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥

यह अकेला ही एक लाख धनुषोंकी बराबरी करनेवाला तथा अपने राष्ट्रको बढ़ानेवाला है। पृथापुत्र अर्जुन इसीके द्वारा युद्धमें मनुष्यों तथा देवताओंपर विजय पाते आ रहे हैं। हलके-गहरे अनेक प्रकारके रंगोंसे इसकी विचित्र शोभा होती है । यह चिकना, चमकदार और विस्तृत है । इसमें कहीं कोई चोटका चिह्न नहीं आया है । देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंने इसका बहुत वर्षोंतक पूजन किया है ॥३-४॥

एतद् वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीति च पञ्च च ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इसे एक हजार वर्षोंतक धारण किया था। तदनन्तर प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्षोंतक इसे अपने पास रक्खा । फिर इन्द्रने पचासी वर्षोंतक रक्खा। इन्द्रके बाद सोमने पाँच सौ तथा राजा वरुणने सौ वर्षोंतक इसे धारण किया । तत्पश्चात् श्वेतवाहन अर्जुन पैंसठ वर्षोंसे इसे धारण करते चले आ रहे हैं ॥ ५-६ ॥

महावीर्यं महादिव्यमेतत् तद् धनुरुत्तमम् ।
एतत् पार्थमनुप्राप्तं वरुणाच्चारुदर्शनम् ॥ ७ ॥

यह सर्वोत्तम धनुष देखनेमें बड़ा ही मनोहर है । इसके द्वारा महान् पराक्रम प्रकट होता है । अर्जुनको यह महादिव्य धनुष साक्षात् वरुणदेवसे प्राप्त हुआ था ॥ ७ ॥

पूजितं सुरमर्त्येषु बिभर्ति परमं वपुः ।
सुपार्श्वं भीमसेनस्य जातरूपग्रहं धनुः ।

* ये १६, १७ श्लोक अन्य बहुत-सी प्रतियोंमें नहीं हैं, परंतु नीलकंठवाली प्रतिमें हैं, इसलिये यहाँ ले लिये गये हैं । किंतु अगले अध्यायमें जो उत्तर दिया गया है, उससे इन श्लोकोंका मेल नहीं है ।

येन पार्थोऽजयत् कृत्स्नां दिशं प्राचीं परंतपः ॥ ८ ॥

तथा दूसरा देवताओं और मनुष्योंमें पूजित उत्कृष्ट रूप धारण करनेवाला धनुष भीमसेनका है, जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर हैं और मध्यभागमें सोना मढ़ा हुआ है। यह वही धनुष है, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने सम्पूर्ण प्राचीदिशापर विजय पायी थी ॥ ८ ॥

इन्द्रगोपकचित्रं च यदेतच्चारुदर्शनम्।
राज्ञो युधिष्ठिरस्यैतद् वैराटे धनुरुत्तमम् ॥ ९ ॥

उत्तर ! जिसके ऊपर 'इन्द्रगोप' (वीरबहूटी) नामक कीटोंका चित्र है और जो देखनेमें मनोहर है, वही यह उत्तम धनुष राजा युधिष्ठिरका है ॥ ९ ॥

सूर्या यस्मिंस्तु सौवर्णाः प्रकाशन्ते प्रकाशिनः।
तेजसा प्रज्वलन्तो वै नकुलस्यैतदायुधम् ॥ १० ॥

जिसमें सुवर्णके बने हुए प्रकाशपूर्ण सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं और जो तेजसे जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं, वही यह नकुलका आयुध है ॥ १० ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविचित्रिताः।
एतन्माद्रीसुतस्यापि सहदेवस्य कार्मुकम् ॥ ११ ॥

जिसके ऊपर सुवर्णजटित मीनेके फतिङ्गे सुशोभित हैं, वही यह माद्रीनन्दन सहदेवका धनुष है ॥ ११ ॥

ये त्विमे क्षुरसंकाशाः सहस्रा लोमवाहिनः।
एतेऽर्जुनस्य वैराटे शराः सर्पविषोपमाः ॥ १२ ॥

विराटपुत्र ! ये जो छुरेके समान मजबूत और चमकीले बाण हैं, जिनमें पंख लगे हुए हैं और जो साँपोंके विषके समान प्रभाव रखते हैं, ये सब अर्जुनके ही हैं ॥ १२ ॥

एते ज्वलन्तः संग्रामे तेजसा शीघ्रगामिनः।
भवन्ति वीरस्याक्षय्या व्यूहतः समरे रिपून् ॥ १३ ॥

ये युद्धमें तेजसे प्रकाशित होकर बड़ी तेजीसे शत्रुपर आघात करते हैं। रणमें शत्रुओंपर बाणवर्षा करनेवाले वीरके लिये भी इन बाणोंका काटना असम्भव है ॥ १३ ॥

ये चेमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः।
एते भीमस्य निशिता रिपुक्षयकराः शराः ॥ १४ ॥
हारिद्रवर्णा ये त्वेते हेमपुङ्खाः शिलाशिताः।

ये जो मोटे, विशाल और अर्धचन्द्राकार दिखायी देते हैं; वे भीमसेनके तीखे बाण हैं, जो शत्रुओंका संहार कर डालते हैं। ये हल्दीके समान रंगवाले और सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित हैं। इन्हें पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है ॥ १४½ ॥

नकुलस्य कलापोऽयं पञ्चशार्दूललक्षणः ॥ १५ ॥
येनासौ व्यजयत् कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे।
कलापो ह्येष तस्यासीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, वही यह नकुलका 'कलाप' (तरकस) है, जिससे उन्होंने युद्धमें सम्पूर्ण पश्चिमदिशापर विजय पायी थी। उस समय बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलके पास यही कलाप था ॥ १५-१६ ॥

ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः।
एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥

और ये जो सूर्यके समान आकृतिवाले चमकीले बाण हैं, इनके द्वारा सम्पूर्ण शत्रुसमूहोंका विनाश होता है। विचित्र क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ये सभी बाण बुद्धिमान् सहदेवके हैं ॥ १७ ॥

ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः।
हेमपुङ्खास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥

ये जो तीखे, पानीदार, मोटे और बड़ी-बड़ी पाँखोंवाले तीन पर्वोंके बाण हैं और जिनकी पाँखें सोनेकी बनी हुई हैं; ये सब राजा युधिष्ठिरके महान् शर हैं ॥ १८ ॥

यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः।
अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढकीके मुखके समान ही बना हुआ है, यह विशाल खड्ग अर्जुनका है। यह युद्धभूमिमें भारी आघातको सह सकनेमें समर्थ और मजबूत है ॥ १९ ॥

वैयाघ्रकोशः सुमहान् भीमसेनस्य सायकः।
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥

जिसकी म्यान व्याघ्रचर्मकी बनी हुई है, वह महान् खड्ग भीमसेनका है। यह भी गुरुतर भार सहन करनेवाला, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयंकर है ॥ २० ॥

सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः।
निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥

जिसकी धार सुन्दर एवं पतली है, जिसकी म्यान विचित्र और मूठ सोनेकी है, वह तीस अङ्गुलसे बड़ा सर्वोत्तम खड्ग परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन धर्मराजका है ॥ २१ ॥

यस्तु पाञ्चनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने।
नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥

जो बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें बंद है तथा नाना प्रकारके युद्धोंमें शस्त्रोंका भारी आघात सहन करनेमें समर्थ और मजबूत है, वही यह नकुलका खड्ग है ॥ २२ ॥

यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः।

सहदेवस्य विद्ध्येनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ ४३ ॥

और यह जो गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, यह सहदेवका विशाल खड्ग है । इसे सब प्रकारके आघात-प्रत्याघात सहनेमें समर्थ और सुदृढ़ जानो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर आयुधवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारसे अपना और अपने भाइयोंका यथार्थ परिचय देना

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम् ।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम् ॥ १ ॥
क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! रणमें फुर्ती दिखानेवाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रोंके ये सुवर्णभूषित सुन्दर आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं ? ॥ १-२ ॥

सर्व एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः ।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयन्ते कथंचन ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी महात्मा जूए-द्वारा अपना राज्य हारकर कहाँ गये ? जिससे कहीं किसी प्रकार भी उनके विषयमें कुछ सुननेमें नहीं आता ? ॥ ३ ॥

द्रौपदी क च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता ।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम् ॥ ४ ॥

पाञ्चालदेशकी राजकुमारी द्रौपदी स्त्रीरत्नके रूपमें विख्यात है । वह कहाँ है ? सुना है, जब पाण्डव जूएमें हार गये, तब द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उन्हींके साथ वनमें चली गयी थी ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः ।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—राजकुमार ! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ । राजाकी सभाके माननीय सदस्य कङ्क ही युधिष्ठिर हैं । बल्लव भीमसेन हैं, जो तुम्हारे पिताके भोजनालयमें रसोइयेका काम करते हैं ॥ ५ ॥

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले ।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ॥ ६ ॥

अश्वोंकी देखभाल करनेवाले ग्रन्थिक नकुल हैं और गोशालाके अध्यक्ष तन्तिपाल सहदेव । सैरन्ध्रीको ही द्रौपदी समझो, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं ॥ ६ ॥

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे ।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ७ ॥

उत्तर बोला—मैंने पहलेसे जो अर्जुनके दस नाम सुन रक्खे हैं, उन्हें यदि तुम बता दो तो मैं तुम्हारी सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे ।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—विराटपुत्र ! मेरे जो दस नाम हैं और जिन्हें तुमने पहलेसे ही सुन रक्खा है, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

एकाग्रमानसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः ।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः ॥ ९ ॥

एकाग्रचित हो सावधानीके साथ सबको सुनना । (वे नाम ये हैं—) अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय ॥

उत्तर उवाच

केनासि विजयो नाम केनासि श्वेतवाहनः ।
किरीटी नाम केनासि सव्यसाची कथं भवान् ॥ १० ॥

उत्तरने पूछा—किस कारणसे आपका नाम विजय हुआ और किसलिये आप श्वेतवाहन कहलाते हैं ? आपके किरीटी नाम धारण करनेका क्या कारण है ? और आप सव्यसाची नामसे कैसे प्रसिद्ध हुए ? ॥ १० ॥

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च ।
धनंजयश्च केनासि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार आपके अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, कृष्ण, बीभत्सु और धनंजय नाम पड़नेका भी क्या कारण है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ ११ ॥

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत् सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥

वीर अर्जुनके विभिन्न नाम पड़नेके जो प्रधान हेतु हैं, वे सब मैंने सुन रक्खे हैं । उन सबको यदि आप बता देंगे तो आपकी सब बातोंपर मेरा विश्वास हो जायगा ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम् ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—मैं सम्पूर्ण देशोंको जीतकर और उनसे (कररूपमें)केवल धन लेकर धनके ही बीचमें स्थित था, इसलिये लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं ॥ १३ ॥

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥

जब मैं संग्रामभूमिमें रणोन्मत्त योद्धाओंका सामना करनेके लिये जाता हूँ, तब उन्हें परास्त किये बिना कभी नहीं लौटता । इसीलिये वीर पुरुष मुझे 'विजय'के नामसे जानते हैं ॥ १४ ॥

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

संग्राममें युद्ध करते समय मेरे रथमें सोनेके बख्तरसे सजे हुए श्वेत रंगके घोड़े जोते जाते हैं, इसलिये मेरा नाम 'श्वेतवाहन' हुआ है तथा हिमालयके शिखरपर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दिनके समय मेरा जन्म हुआ था; इसलिये मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं॥ १५-१६ ॥

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें बड़े-बड़े दानव वीरोंके साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्रने मेरे मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रख दिया था; इसीलिये मुझे 'किरीटी' कहते हैं ॥ १७ ॥

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ॥ १८ ॥

युद्ध करते समय मैं किसी प्रकार भी बीभत्स (घृणित) कर्म नहीं करता; इसीलिये देवताओं और मनुष्योंमें मेरी 'बीभत्स' नामसे प्रसिद्धि हुई है ॥ १८ ॥

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥ १९ ॥

मेरा बाँया और दाहिना दोनों हाथ गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचनेमें समर्थ हैं, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें लोग मुझे 'सव्यसाची' समझते हैं ॥ १९ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ॥ २० ॥

(अर्जुन शब्दके तीन अर्थ हैं–वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध ।) चारों ओर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है । मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ । इसी कारण विज्ञ पुरुष मुझे 'अर्जुन'के नामसे जानते हैं ॥ २० ॥

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ॥ २१ ॥
कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
कृष्णावदातस्य ततः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ॥ २२ ॥

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है । मैं इन्द्रका पुत्र एवं शत्रुदमन विजयी वीर हूँ इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें 'जिष्णु' नामसे मेरी ख्याति हुई है । (कृष्णशब्दका अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मनको आकर्षित करनेवाला) मेरे शरीरका रंग कृष्ण-गौर है तथा बाल्यावस्थामें चित्ताकर्षक होनेके कारण मैं पिताजीको बहुत प्रिय था । अतः मेरे पिताने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रक्खा था ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिंजयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विराटपुत्र उत्तरने निकट जाकर अर्जुनके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है ॥ २३ ॥

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनंजय ।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ॥ २४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन मिला । धनंजय ! आपका स्वागत है । महाबाहो ! आपके नेत्र लाल हैं और बाहुदण्ड गजराजके शुण्डको लज्जित कर रहे हैं ॥ २४ ॥

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २५ ॥

'मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करेंगे । पूर्वकालमें आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कार्य किये हैं, इसलिये आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है और आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है ॥ २५ ॥

(दासोऽहं ते भविष्यामि पश्य मामनुकम्पया।
या प्रतिज्ञा कृता पूर्वं तव सारथ्यकर्मणि ॥
मनः स्वास्थ्यं च मे जातं जातं भाग्यं च मे महत् ।)

'पार्थ ! मैं आपका दास होऊँगा। आप मेरी ओर कृपा-पूर्ण दृष्टिसे देखें । मैंने आपके सारथिका कार्य करनेके लिये पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये अब मेरा मन स्वस्थ हो गया है । मेरा महान् सौभाग्य प्रकट हुआ है (जिससे मुझे आपकी सेवाका यह शुभ अवसर प्राप्त हो रहा है)' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर अर्जुनपरिचय-सम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा युद्धकी तैयारी, अस्त्र-शस्त्रोंका स्मरण, उनसे वार्तालाप तथा उत्तरके भयका निवारण

उत्तर उवाच

आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥

उत्तर बोला—वीरवर ! आप सुन्दर रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिके साथ किस सेनाकी ओर चलेंगे ? आप जहाँ चलनेके लिये आज्ञा देंगे, वहीं मैं आपके साथ चलूँगा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—पुरुषसिंह ! अब तुम्हें कोई भय नहीं रहा, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ । रणकर्ममें कुशल वीर ! मैं तुम्हारे सब शत्रुओंको अभी मार भगाता हूँ ॥ २ ॥

स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन् कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥

महाबाहो ! तुम स्वस्थचित्त (निश्चिन्त) हो जाओ और इस संग्राममें मुझे शत्रुओंके साथ युद्ध तथा अत्यन्त भयंकर पराक्रम करते देखो ॥ ३ ॥

एतान् सर्वानुपासङ्गान् क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

मेरे इन सब तरकसोंको शीघ्र रथमें बाँध दो और एक सुवर्णभूषित खड्ग भी ले आओ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्यायुधान् गृह्य शीघ्रेणावातरत् ततः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह कथन सुनकर उत्तर उतावला हो अर्जुनके सब आयुधोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक वृक्षसे उतर आया ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच

अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले—मैं कौरवोंसे युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लूँगा ॥ ६ ॥

संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदण्डतूणसम्बाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुन्दुभि ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥

मुझसे सुरक्षित होकर रथका यह ऊपरी भाग ही तुम्हारे लिये नगर हो जायगा । इस रथके जो धुरी-पहिये आदि अङ्ग हैं, उनकी सुदृढ़ कल्पना ही नगरकी गलियोंके दोनों भागोंमें बने हुए गृहोंका विस्तार है । मेरी दोनों भुजाएँ ही चहारदीवारी और नगरद्वार हैं । इस रथमें जो त्रिदण्ड (हरिस और उसके अगल-बगलकी लकड़ियाँ) तथा तूणीर आदि हैं, वे किसीको यहाँतक फटकने नहीं देंगे । जैसे नगरमें हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी—इन त्रिविध सेनाओं तथा आयुधोंके कारण उसके भीतर दूसरोंका प्रवेश करना असम्भव होता है । नगरमें जैसे बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहराती हैं, उसी प्रकार इस रथमें भी फहरा रही हैं । धनुषकी प्रत्यञ्चा ही नगरमें लगी हुई तोपकी नली है, जिसका क्रोधपूर्वक उपयोग होता है और रथके पहियोंकी घर्घराहटको ही नगरमें बजनेवाले नगाड़ोंकी आवाज समझो ॥ ७-८ ॥

अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गाण्डीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥

जब मैं युद्धभूमिमें गाण्डीव धनुष लेकर रथपर सवार होऊँगा, उस समय शत्रुओंकी सेनाएँ मुझे जीत नहीं सकेंगी; अतः विराटनन्दन ! तुम्हारा भय अब दूर हो जाना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्तर उवाच

बिभेमि नाहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनापि संग्रामे साक्षादिन्द्रेण वा समम् ॥ १० ॥

उत्तरने कहा—अब मैं उनसे नहीं डरता; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप संग्रामभूमिमें भगवान् श्री-

कृष्ण और साक्षात् इन्द्रके समान स्थिर रहनेवाले हैं ॥१०॥

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम्।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥

केवल इसी एक बातको सोचकर मैं ऐसे मोहमें पड़ जाता हूँ कि बुद्धि अच्छी न होनेके कारण किसी तरह भी किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाता ॥ ११ ॥

एवं युक्ताङ्गरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥

(वह चिन्ता इस प्रकार है—) आपका एक-एक अवयव तथा रूप सब प्रकारसे उपयुक्त है । आप लक्षणोंद्वारा भी अलौकिक सूचित हो रहे हैं । ऐसी दशामें भी किस कर्मके परिणामसे आपको यह नपुंसकता प्राप्त हुई है ?॥१२॥

मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं देवं वापि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥

मैं तो नपुंसकवेशमें विचरनेवाले आपको शूलपाणि भगवान् शंकरका स्वरूप मानता हूँ अथवा गन्धर्वराजके समान या साक्षात् देवराज इन्द्र समझता हूँ ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

(उर्वशीशापसम्भूतं क्लैब्यं मां समुपस्थितम्।
पुराहमाज्ञया भ्रातुर्ज्येष्ठस्यास्मि सुरालयम् ॥
प्राप्तवानुर्वशी दृष्टा सुधर्मायां मया तदा।
नृत्यन्ती परमं रूपं बिभ्रती वज्रिसंनिधौ ॥
अपश्यंस्तामनिमिषं कूटस्थामन्वयस्य मे।
रात्रौ समागता मह्यं शयानं रन्तुमिच्छया ॥
अहं तामभिवाद्यैव मातृसत्कारमाचरम्।
सा च मामशपत् क्रुद्धा शिखण्डी त्वं भवेरिति ॥
श्रुत्वा तमिन्द्रो मामाह मा भैस्त्वं पार्थ षण्ढतः।
उपकारो भवेत् तुभ्यमज्ञातवसतौ पुरा ॥
इतीन्द्रो मामनुग्राह्य ततः प्रेषितवान् वृषा।
तदिदं समनुप्राप्तं व्रतं तीर्णं मयानघ ॥)

अर्जुन बोले—महाबाहो! उर्वशीके शापसे मुझे यह नपुंसक-भाव प्राप्त हुआ है । पूर्वकालमें मैं अपने बड़े भाईकी आज्ञासे देवलोकमें गया था । वहाँ सुधर्मा नामक सभामें मैंने उस समय उर्वशी अप्सराको देखा । वह परम सुन्दर रूप धारण करके वज्रधारी इन्द्रके समीप नृत्य कर रही थी। मेरे वंशकी मूलहेतु (जननी) होनेके कारण मैं उसे अपलक नेत्रोंसे देखने लगा। तब वह रातमें सोते समय रमणकी इच्छासे मेरे पास आयी, परंतु मैंने उसे प्रणाम करके (उसकी इच्छाकी पूर्ति न करके) उसका माताके समान सत्कार किया । तब उसने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम नपुंसक हो जाओ।' तब इन्द्रने वह शाप सुनकर मुझसे कहा—'पार्थ ! तुम नपुंसक होनेसे डरो मत । यह तुम्हारे लिये अज्ञातवासके समय उपकारक होगा ।' इस प्रकार देवराज इन्द्रने मुझपर अनुग्रह करके यह आश्वासन दिया और स्वर्गलोकसे यहाँ भेजा । अनघ ! वही यह व्रत प्राप्त हुआ था, जिसको मैंने पूरा किया है ॥

भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम्।
चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्मसंयुतः।
समाप्तव्रतमुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ॥ १५ ॥

महाबाहो ! मैं बड़े भाईकी आज्ञासे इस वर्ष एक व्रतका पालन कर रहा था। उस व्रतकी जो दिनचर्या है, उसके अनुसार मैं नपुंसक बनकर रहा हूँ । मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ । वास्तवमें मैं नपुंसक नहीं हूँ; भाईकी आज्ञाके अधीन होकर धर्मके पालनमें तत्पर रहा हूँ । राजकुमार ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि अब मेरा व्रत समाप्त हो गया है; अतः मैं नपुंसक-भावके कष्टसे भी मुक्त हो चुका हूँ ॥ १४-१५ ॥

उत्तर उवाच

परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यतस्तर्को न मे वृथा।
न हीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ॥ १६ ॥

उत्तरने कहा—नरश्रेष्ठ ! आज मुझपर आपने बड़ा अनुग्रह किया, जो मुझे सब बात बता दी । ऐसे लक्षणोंवाले पुरुष नपुंसक नहीं होते, इस प्रकार जो मेरे मनमें तर्क उठ रहा था, वह व्यर्थ नहीं था ॥ १६ ॥

सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि।
साध्वसं हि प्रणष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ॥ १७ ॥
अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान्।
शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

अब तो मुझे आपकी सहायता मिल गयी है; अतः युद्ध-भूमिमें देवताओंका भी सामना कर सकता हूँ । मेरा सारा भय नष्ट हो गया । बताइये, अब मैं क्या करूँ ? पुरुषप्रवर ! मैंने गुरुसे सारथ्यकर्मकी शिक्षा प्राप्त की है; इसलिये आपके घोड़ोंको, जो शत्रुके रथका नाश करनेवाले हैं, मैं काबूमें रक्खूँगा ॥ १७-१८ ॥

दारुको वासुदेवस्य यथा शक्रस्य मातलिः।
तथा मां विद्धि सारथ्ये शिक्षितं नरपुङ्गव ॥ १९ ॥

नरपुङ्गव ! जैसे भगवान् वासुदेवका सारथि दारुक और इन्द्रका सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथि-के कार्यमें पूर्ण शिक्षित मानिये ॥ १९ ॥

यस्य याते न पश्यन्ति भूमौ क्षिप्तं पदं पदम्।
दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः ॥ २० ॥

जो घोड़ा दाहिनी धुरीमें जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह नहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वीपर पैर

रक्खा या उठाया है, यह (भगवान् श्रीकृष्णके चार अश्वों-मेंसे) सुग्रीव नामक घोड़ेके समान है ॥ २० ॥

योऽयं धुरं धुर्यवरो वामां वहति शोभनः।
तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ॥ २१ ॥

और भार ढोनेवालोंमें श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बायीं धुरीका भार वहन करता है, उसे वेगमें मेघपुष्प नामक अश्वके समान मानता हूँ ॥ २१ ॥

योऽयं काञ्चनसंनाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम् ॥ २२ ॥

यह जो सोनेके बख्तरसे सजा हुआ सुन्दर अश्व बायीं ओर पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेगमें मैं शैब्य नामक अश्वके समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ ॥ २२ ॥

योऽयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः।
बलाहकादपि मतः स जवे वीर्यवत्तरः ॥ २३ ॥

और यह जो दाहिने भागका पिछला जुआ धारण करके खड़ा है, वह वेगमें बलाहक नामवाले अश्वसे भी अधिक समझा गया है ॥ २३ ॥

त्वामेवायं रथो वोढुं संग्रामेऽर्हति धन्विनम्।
त्वं चेमं रथमास्थाय योद्धुमर्हो मतो मम ॥ २४ ॥

यह रथ आप-जैसे धनुर्धर वीरको ही वहन करने योग्य है और मेरी रायमें आप इसी रथपर बैठकर युद्ध करने योग्य हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान्।
चित्रे काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी अर्जुनने हाथोंसे कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं और हथेलियोंमें सोनेके बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये ॥ २५ ॥

कृष्णान् भङ्गिमतः केशान् श्वेतेनोद्ग्रथ्य वाससा।
अथासौ प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः।
अभिदध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ॥ २६ ॥

फिर उन्होंने काले-काले घुँघराले केशोंको श्वेत वस्त्रसे बाँध दिया और पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो महाबाहु धनंजयने उस श्रेष्ठ रथपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका ध्यान किया॥

ऊचुश्च पार्थं सर्वाणि प्राञ्जलीनि नृपात्मजम्।
इमे स्म परमोदाराः किंकराः पाण्डुनन्दन ॥ २७ ॥

तब वे सब अस्त्र प्रकट होकर राजकुमार अर्जुनसे हाथ जोड़कर बोले—'पाण्डुनन्दन ! ये हमलोग तुम्हारे परम उदार किंकर हैं' ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य ततः पार्थः समालभ्य च पाणिना।
सर्वाणि मानसानीह भवतेत्यभ्यभाषत ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथसे उनका स्पर्श किया और कहा—'आप सब लोग मेरे मनमें निवास करें' ॥

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत्।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्र शस्त्रोंको अनुकूल करके अर्जुनका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने बड़े वेगसे गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकार की ॥ २९ ॥

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ॥ ३० ॥

उस धनुषकी टंकारके समय बड़े जोरका शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वतको पर्वतसे ही टक्कर लगी हो ॥ ३० ॥

स निर्घातोऽभवद् भूमिद् दिक्षु वायुर्ववौ भृशम्।
पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे।
भ्रान्तध्वजं खं तदासीत् प्रकम्पितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
तं शब्दं कुरवोऽजानन् विस्फोटमशनेरिव।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद् रथे ॥ ३२ ॥

वह भयानक शब्द पृथ्वीको विदीर्ण करता-सा गूँज उठा। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड आँधी चलने लगी, महान् उल्कापात होने लगा और दिशाओंमें अन्धकार छा गया। शत्रु-सेनाके ध्वज आकाशमें अकारण हिलने लगे। बड़े-बड़े वृक्ष भी हिलने लगे। अर्जुनने अपने दोनों हाथोंसे रथपर बैठे-बैठे जो अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार-ध्वनि की उसे सुनकर कौरवोंने समझा, कहींसे बिजली टूट पड़ी है ॥ ३१-३२ ॥

उत्तर उवाच

एकस्त्वं पाण्डवश्रेष्ठ बहूनेतान् महारथान्।
कथं जेष्यसि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥

उस समय उत्तर बोला—पाण्डवश्रेष्ठ ! आप तो अकेले हैं, इन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारगामी बहुसंख्यक महारथियोंको युद्धमें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ३३ ॥

असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः।
अतएव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! आप असहाय हैं और कौरवोंके साथ बहुतेरे सहायक हैं। महाबाहो ! यह सोचकर मैं आपके सामने भयभीत हो रहा हूँ ॥ ३४ ॥

उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ३५ ॥
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥३६॥
तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले।
खाण्डवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥ ३७॥

अर्जुनका शङ्खनाद

यह सुनकर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—'वीर! डरो मत! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय मेरा सखा या सहायक कौन था? जब देवताओं और दानवोंसे भरे हुए उस अत्यन्त भयंकर खाण्डववनमें मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा साथी कौन था? ॥ ३५—३७ ॥

निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाभवत्॥ ३८॥

देवराज इन्द्रके लिये महाबली निवातकवच और पौलोम दैत्योंके साथ युद्ध करते समय मेरा कौन सहायक था? ॥३८॥

स्वयंवरे तु पाञ्चाल्या राजभिः सह संयुगे।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाभवत्॥ ३९॥

तात! द्रौपदीके स्वयंवरमें जब मुझे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा था, उस समय किसने मेरी सहायता की थी? ॥ ३९ ॥

उपजीव्य गुरुं द्रोणं शक्रं वैश्रवणं यमम्।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम्॥ ४०॥
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान् न योधये।
रथं वाहय मे शीघ्रं व्येतु ते मानसो ज्वरः॥ ४१॥

मैं गुरुवर द्रोणाचार्य, इन्द्र, कुबेर, यमराज, वरुण, अग्निदेव, कृपाचार्य, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण तथा पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर—इन सबका आश्रय पा चुका हूँ; फिर भला, इन महारथियोंसे युद्ध क्यों नहीं कर सकूँगा? शीघ्र मेरा रथ हाँको; तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरार्जुनयोर्वाक्यं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर विराटकुमार उत्तर और अर्जुनकी बातचीतविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरके रथपर अर्जुनको ध्वजकी प्राप्ति, अर्जुनका शङ्खनाद और द्रोणाचार्यका कौरवोंसे उत्पात-सूचक अपशकुनोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तरको सारथि बना शमी वृक्षकी परिक्रमा करके अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन युद्धके लिये चले॥ १॥

ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तरसारथिः॥ २॥

उन महारथी पार्थने उस रथपरसे सिंहचिह्नयुक्त ध्वजाको हटाकर शमीवृक्षके नीचे रख दिया और सारथि उत्तरके साथ प्रस्थान किया॥ २॥

दैवीं मायां रथे युक्तां विहितां विश्वकर्मणा।
काञ्चनं सिंहलाङ्गूलं ध्वजं वानरलक्षणम्॥ ३॥
मनसा चिन्तयामास प्रसादं पावकस्य च।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ध्वजे भूतान्यदेशयत्॥ ४॥

उस समय उन्होंने मन-ही-मन अग्निदेवके प्रसादस्वरूप प्राप्त हुए अपने सुवर्णमय ध्वजका चिन्तन किया, जिसपर मूर्तिमान् वानर उपलक्षित होता है और जिसकी लंबी पूँछ सिंहके समान है। वह ध्वज क्या था, विश्वकर्माकी बनायी हुई दैवी माया थी, जो रथमें संयुक्त हो जाती थी। अग्निदेवने अर्जुनका मनोभाव जानकर उस ध्वजपर स्थित रहनेके लिये भूतोंको आदेश दिया॥ ३-४॥

सपताकं विचित्राङ्गं सोपासङ्गं महाबलम्।
खात् पपात रथे तूर्णं दिव्यरूपं मनोरमम्॥ ५॥

तत्पश्चात् पताका तथा विचित्र अङ्ग और उपाङ्गोंसहित वह अतिशय शक्तिशाली दिव्यरूप मनोरम ध्वज तुरंत ही आकाशसे अर्जुनके रथपर आ गिरा॥ ५॥

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत् तदा।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः॥ ६॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः॥ ७॥

इस प्रकार उस ध्वजको रथपर आया हुआ देख श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस रथकी परिक्रमा की तथा उसके ऊपर बैठकर अपनी अङ्गुलियोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने धारण किये। फिर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे उपलक्षित ध्वजाको फहराते हुए गाण्डीव धनुषके साथ उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया॥ ६-७॥

स्वनवन्तं महाशङ्खं बलवानरिमर्दनः।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम्॥ ८॥

उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुनने घोर शब्द करने-

वाले अपने महान् शङ्खको खूब जोर लगाकर बजाया। जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ८ ॥

(शशाङ्करूपं बीभत्सुः प्राध्मापयदरिंदमः।
शङ्खशब्दोऽस्य सोऽत्यर्थं श्रूयते कालमेघवत् ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च।
वानरस्य च नादेन रथनेमिस्वनेन च ॥
जङ्गमस्य भयं घोरमकरोत् पाकशासनिः।)

शत्रुदमन अर्जुनने जो महान् शङ्ख फूँका था, वह चन्द्रमाके समान परम उज्ज्वल जान पड़ता था। उस शङ्खका जोर-जोरसे होनेवाला शब्द वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान सुनायी देता था। शङ्खकी ध्वनि, धनुषकी टंकार, वानरकी गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे इन्द्रपुत्र अर्जुनने समस्त जङ्गम प्राणियोंके मनमें घोर भयका संचार कर दिया॥

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम्।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥

उस शङ्खध्वनिसे घबराकर रथके वेगशाली घोड़ोंने भी धरतीपर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथके ऊपरी भागमें जहाँ रथीका स्थान है, आ बैठा ॥९॥

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥ १० ॥

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने स्वयं रास खींचकर घोड़ोंको खड़ा किया और उत्तरको हृदयसे लगाकर धीरज बँधाया ॥१०॥

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजकुमार-शिरोमणे! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओंके बीचमें आकर घबराते कैसे हो? ॥ ११ ॥

श्रुतास्ते शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥

तुमने बहुत बार शङ्ख-ध्वनि सुनी होगी। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानोंमें पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी तुमने सुने ही होंगे ॥ १२ ॥

स त्वं कथमिहानेन शङ्खशब्देन भीषितः।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥

फिर यहाँ इस शङ्खनादसे तुम भयभीत कैसे हो गये? साधारण मनुष्योंके समान अधिक डर जानेके कारण तुम्हारे शरीरका रंग फीका कैसे पड़ गया? ॥ १३ ॥

उत्तर उवाच

श्रुता मे शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—वीरवर! इसमें संदेह नहीं कि मैंने बहुत बार शङ्खध्वनि सुनी है। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानोंमें पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी मैंने सुने हैं॥

नैवंविधः शङ्खशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ॥ १५ ॥

परंतु आजके पहले कभी ऐसा भयंकर शङ्खनाद मेरे सुननेमें नहीं आया था और ध्वजका भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था॥ १५॥

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित्।
अस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च ॥ १६ ॥
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम्।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥

धनुषकी ऐसी टंकार भी पहले कभी मैंने नहीं सुनी थी। इस शङ्खके भयानक शब्दसे, धनुषकी अनुपम टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर प्राणियोंके घोर शब्दसे तथा रथकी भारी घर्घराहटसे भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ॥ १६-१७ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभान्ति मे ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें घबराहट छा गयी है तथा मेरे हृदयमें बड़ी व्यथा हो रही है, इस ध्वजने तो समस्त दिशाओंको ढँक लिया है। अतः मुझे किसी दिशाकी प्रतीति नहीं हो रही है॥ १८ ॥

गाण्डीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गाण्डीव धनुषकी टंकारसे तो मेरे दोनों कान बहरे हो गये हैं।

इस प्रकार दो घड़ीतक आगे बढ़नेपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एकान्तं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन्।
दृढं च रश्मीन् संयच्छ शङ्खं ध्मास्याम्यहं पुनः॥२०॥

अर्जुन बोले—राजकुमार! अब तुम रथपर अच्छी तरह जमकर बैठ जाओ और अपनी टाँगोंसे बैठनेके स्थानको जकड़ लो। साथ ही घोड़ोंकी रासको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। मैं फिर शङ्ख बजाऊँगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् दारयन्निव पर्वतान्।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनने इतने जोरसे शङ्ख बजाया मानो वे पर्वतों, पर्वतीय गुफाओं, सम्पूर्ण दिशाओं और बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी विदीर्ण कर डालेंगे। उत्तर इस बार भी रथके भीतरी भागमें छिपकर बैठ गया ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २२ ॥

उस शङ्खके शब्दसे, रथनेमियोंकी घर्घराहटसे तथा गाण्डीव धनुषकी टंकारसे धरती काँप उठी ॥ २२ ॥

तं समाश्वासयामास पुनरेव धनंजयः ॥ २३ ॥

तदनन्तर अर्जुनने उत्तरको पुनः धीरज बँधाया ॥२३॥

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥ २४ ॥

(यह शङ्ख-ध्वनि सुनकर कौरवसेनामें) **द्रोणाचार्यने कहा**—जैसी यह रथकी घर्घराहट सुनायी दे रही है, जिस तरह उससे मेघगर्जनाका-सा शब्द हो रहा है और उसीके कारण जिस प्रकार यह पृथ्वी काँपने लगी है, इनसे यह सूचित होता है कि यह आनेवाला योद्धा अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥

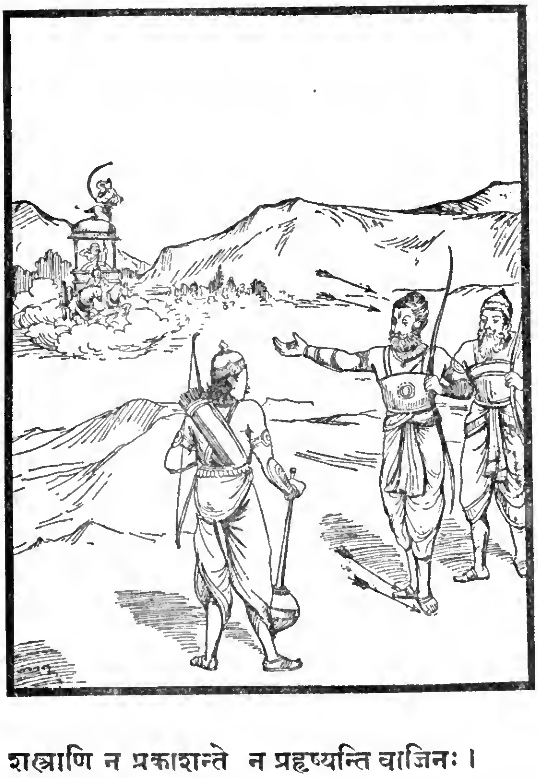

शस्त्राणि न प्रकाशन्ते न प्रहृष्यन्ति वाजिनः ।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम् ॥ २५ ॥

अब हमारे शस्त्र चमक नहीं रहे हैं, घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और अग्निहोत्रकी अग्नियाँ भी प्रज्वलित एवं उद्दीप्त नहीं हो रही हैं। यह सब अशुभकी सूचना है ॥२५॥

प्रत्यादित्यं च नः सर्वे मृगा घोरप्रवादिनः ।
ध्वजेषु च निलीयन्ते वायसास्तन्न शोभनम् ॥ २६ ॥

हमारे सभी पशु सूर्यकी ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते हैं और रथोंकी ध्वजाओंमें कौए छिप रहे हैं। यह भी शुभसूचक नहीं है ॥ २६ ॥

शकुनाश्चापसव्या नो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २७ ॥
गोमायुरेष सेनायां रुदन् मध्येन धावति ।
अनाहतश्च निष्क्रान्तो महद् वेदयते भयम् ॥ २८ ॥

ये पक्षी भी हमारे वामभागमें उड़कर महान् भयकी सूचना दे रहे हैं और यह गीदड़ बिना किसी आघातके हमारी सेनाके बीचसे निकलकर रोता हुआ भाग रहा है, यह भी महान् भयका विज्ञापन कर रहा है ॥ २७-२८ ॥

भवतां रोमकूपाणि प्रहृष्टान्युपलक्षये ।
ध्रुवं विनाशो युद्धेन क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

कौरवो ! मैं देखता हूँ, तुम्हारे रोंगटे खड़े हो गये हैं; अतः निश्चय ही, इस युद्धके द्वारा क्षत्रियोंका विनाश निकट दिखायी देता है ॥ २९ ॥

ज्योतींषि न प्रकाशन्ते दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा घोरा दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ ३० ॥

सूर्य आदिका प्रकाश मन्द पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षत्रियोंके संहारकी सूचना देनेवाले अनेक प्रकारके घोर उत्पात दिखायी देते हैं ॥ ३० ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि विनाशने ।
उल्काभिश्च प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजा दुर्योधन ! विशेषतः यहीं हमारे लिये विनाशसूचक अपशकुन हो रहे हैं। तुम्हारी सेनाके ऊपर जलती हुई उल्काएँ गिर-गिरकर उसे पीड़ा देती हैं। तुम्हारे वाहन (हाथी-घोड़े) अप्रसन्न तथा रोते-से दीखते हैं ॥ ३१ ॥

उपासते च सैन्यानि गृध्रास्तव समन्ततः ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।
पराभूता च वः सेना न कश्चिद् योद्धुमिच्छति ॥ ३२ ॥

सेनाके चारों ओर गीध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है; तुम अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होती देख मनमें संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभीसे तिरस्कृत-सी हो रही है, कोई भी सैनिक युद्ध करना नहीं चाहता है ॥ ३२ ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठाः सर्वे योधा विचेतसः ।
गाः सम्प्रस्थाप्य तिष्ठामो व्यूढानीकाः प्रहारिणः॥ ३३॥

समस्त सैनिकोंके मुखपर भारी उदासी छा गयी है। सब अचेत—हतोत्साह हो रहे हैं। अतः हम गौओंको हस्तिनापुरकी ओर भेजकर सेनाकी व्यूहरचना करके शत्रुपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर उत्पातसूचक अपशकुनसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा युद्धका निश्चय तथा कर्णकी उक्ति

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधनने समरभूमिमें भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्यसे कहा—॥ १ ॥

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ॥ २ ॥

'आचार्यो ! मैंने और कर्णने यह बात आपलोगोंसे कई बार कही है और फिर उसीको दुहराता हूँ; क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदेऽज्ञातैरेष एव पणो हि नः ॥ ३ ॥

'जूआ खेलते समय हमलोगोंकी यही शर्त थी कि हममेंसे जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्षोंतक किसी वनमें प्रकटरूपसे और एक वर्षतक किसी नगरमें अज्ञातभावसे निवास करना पड़ेगा ॥ ३ ॥

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ॥ ४ ॥

'अभी पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवासमें रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूपसे हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ॥ ४ ॥

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

'यदि अज्ञातवास पूर्ण होनेके पहले ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डव फिर बारह वर्षोंतक वनमें निवास करेंगे ॥ ५ ॥

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥

'वे राज्यके लोभसे अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं रख सके हैं या हमलोगोंमें ही मोह (प्रमाद) आ गया है। इनके तेरहवें वर्षमें अभी कुछ कमी है या अधिक दिन बीत गये हैं; यह भीष्मजी जान सकते हैं ॥ ६ ॥

अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥

'जिन विषयोंमें दुविधा पड़ जाती है, उनमें सदा संदेह बना रहता है। किसी विषयको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु पता लगनेपर वह किसी और ही प्रकारका सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि बीभत्सुरायातस्तदा कस्यापराध्नुमः ॥ ८ ॥

'हमलोग मत्स्यदेशके उत्तरगोष्ठकी खोज करते हुए यहाँ आये और मत्स्यदेशीय सैनिकोंके साथ ही युद्ध करना चाहते थे। इस दशामें भी यदि अर्जुन हमसे युद्ध करने आया है, तो हम किसका अपराध कर रहे हैं ? ॥ ८ ॥

त्रिगर्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान् योद्धुमिहागताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते बहूनस्मानकीर्तयन् ॥ ९ ॥

'मत्स्यनिवासियोंके साथ भी जो हम यहाँ युद्धके लिये आये हैं, वह अपने स्वार्थको लेकर नहीं, त्रिगर्तोंकी सहायताके उद्देश्यसे हमारा यहाँ आगमन हुआ है। त्रिगर्तोंने हमारे सामने मत्स्यदेशीय सैनिकोंके बहुत-से अत्याचारोंका वर्णन किया था ॥ ९ ॥

तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥

'वे भयसे बहुत दबे हुए थे; इसलिये हमने उनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की थी। हमारी उनकी बात यह हुई थी कि वे लोग सप्तमी तिथिको अपराह्णकालमें मत्स्यदेशके (दक्षिण) गोष्ठपर आक्रमण करके वहाँका महान् गोधन अपने अधिकारमें कर लें। ऐसा ही उन्होंने किया भी है ॥

अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

'साथ ही यह भी तै हुआ था कि हमलोग अष्टमीको सूर्योदय होते-होते उत्तरगोष्ठकी इन गौओंको ग्रहण कर लें; क्योंकि उस समय मत्स्यराज गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए त्रिगर्तोंके पीछे गये होंगे ॥ ११ ॥

ते वा गाश्चानयिष्यन्ति यदि वा स्युः पराजिताः ।
अस्मान् वा ह्युपसंधाय कुर्युर्मत्स्येन संगतम् ॥ १२ ॥

'वे त्रिगर्त-सैनिक गौओंको यहाँ ले आयेंगे अथवा यदि परास्त हो गये, तो हमलोगोंसे मिलकर पुनः मत्स्यराजके साथ युद्ध करेंगे ॥ १२ ॥

अथवा तानपाहाय मत्स्यो जानपदैः सह ।
सर्वया सेनया सार्धं संवृतो भीमरूपया ।
आयातः केवलं रात्रिमस्मान् योद्धुमिहागतः ॥ १३ ॥

'अथवा यदि मत्स्यराज त्रिगर्तोंको भगाकर अपने देशके लोगों एवं अपनी सारी भयंकर सेनाके साथ इस रातमें हम-लोगोंसे युद्ध करनेके लिये यहाँ आ रहे होंगे ॥ १३ ॥

तेषामेव महावीर्यः कश्चिदेष पुरःसरः ।
अस्माञ्जेतुमिहायातो मत्स्यो वापि स्वयं भवेत् ॥ १४ ॥

'उन्हीं सैनिकोंमेंसे यह कोई महापराक्रमी योद्धा अगुआ बनकर हमें जीतने आया है । यह भी सम्भव है कि ये स्वयं मत्स्यराज ही हों ॥ १४ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
सर्वैर्योद्धव्यमस्माभिरिति नः समयः कृतः ॥ १५ ॥

'यदि यह मत्स्योंका राजा विराट हो अथवा अर्जुन ही उसकी ओरसे आया हो, तो भी हम सब लोगोंको उससे युद्ध करना ही है; यह हमने प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १५ ॥

अथ कस्मात् स्थिता ह्येते रथेषु रथसत्तमाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विकर्णो द्रौणिरेव च ॥ १६ ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे काले ह्यस्मिन् महारथाः ।
नान्यत्र युद्धाच्छ्रेयोऽस्ति तथाऽऽत्मा प्रणिधीयताम् ॥

'फिर ये हमारे श्रेष्ठ रथी-महारथी भीष्म, द्रोण, कृप, विकर्ण और अश्वत्थामा आदि इस समय भ्रान्तचित्त हो रथोंमें चुपचाप क्यों बैठे हैं ? युद्धके सिवा और किसी बातमें कल्याण नहीं है । यह समझकर अपने-आपको इस परिस्थितिके अनुकूल बनाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

आच्छिन्ने गोधनेऽस्माकमपि देवेन वज्रिणा ।
यमेन वापि संग्रामे को हास्तिनपुरं व्रजेत् ॥ १८ ॥

'यदि स्वयं वज्रधारी इन्द्र अथवा यमराज ही युद्धमें आकर हमसे गोधन छीन लें, तो भी ऐसा कौन होगा जो उनका सामना करना छोड़कर हस्तिनापुरको लौट जाय ? ॥ १८ ॥

शरैरेभिः प्रणुन्नानां भग्नानां गहने वने ।
को हि जीवेत् पदातीनां भवेदश्वेषु संशयः ॥ १९ ॥

'यदि कोई गहन वनमें भागकर प्राण बचाना चाहें, तो मेरे इन बाणोंसे वे छिन्न-भिन्न कर दिये जायँगे । इस तरह भागनेवाले पैदल सैनिकोंमेंसे कौन जीवित रह सकता है ? घुड़सवारोंके विषयमें संदेह है (वे भागनेपर मारे भी जा सकते हैं और बच भी सकते हैं)' ॥ १९ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद् वचः ।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥

दुर्योधनकी बात सुनकर राधानन्दन कर्णने कहा— 'राजन् ! आप आचार्य द्रोणको पीछे रखकर ऐसी नीति बनाइये कि विजय प्राप्त हो ॥ २० ॥

जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
अर्जुने चास्य सम्प्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥

'ये पाण्डवोंका मत जानते हैं, इसीलिये यहाँ हमें डरा रहे हैं । और अर्जुनके प्रति इनका प्रेम अधिक मैं देखता हूँ ॥

तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायान्तं प्रशंसति ।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २२ ॥

'तभी तो अर्जुनको आते देख ये उसकी प्रशंसा कर रहे हैं । (इनकी बातोंसे हतोत्साह होकर) सेनामें भगदड़ न मच जाय, इसका खयाल रखते हुए तदनुकूल नीति निर्धारित कीजिये ॥

ह्रेषितं ह्युपश्रृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशं गताः ।
यथा न विभ्रमेत् सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २३ ॥

'[आगे रहनेपर] ये अर्जुनके घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनते ही घबरा उठेंगे । फिर तो सारी सेना ही विचलित हो जायगी । इस समय हम विदेशमें हैं, बड़े भारी जंगलमें पड़े हुए हैं, गर्मीकी ऋतु है और हम शत्रुके वशमें आ गये हैं; अतः ऐसी नीतिसे काम लें कि इनकी बातें सुनकर सैनिकोंके मनमें भ्रम न फैले ॥ २३ ॥

इष्टा हि पाण्डवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥ २४ ॥

'आचार्यको सदासे ही पाण्डव अधिक प्रिय रहे हैं । उन स्वार्थियोंने अपना काम बनानेके लिये ही द्रोणाचार्यको आपके पास रख छोड़ा है । ये स्वयं भी ऐसी बातें कहते हैं, जिससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है ॥ २४ ॥

अश्वानां ह्रेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
स्थाने वापि व्रजन्तो वा सदा ह्रेषन्ति वाजिनः ॥२५॥

'भला, घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनकर कौन किसीकी प्रशंसा करने लग जाता है ? घोड़े अपने स्थानपर हों या यात्रा करते हों, वे सदा ही हींसते रहते हैं (इससे किसीकी वीरताका क्या सम्बन्ध है ?) ॥ २५ ॥

सदा च वायवो वान्ति नित्यं वर्षति वासवः ।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तथा ॥ २६ ॥
किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
अन्यत्र कामाद् द्वेषाद् वा रोषादस्मासु केवलात् ॥२७॥

'हवा सदा चला करती है। इन्द्र हमेशा वर्षा करते हैं। मेघोंकी गर्जना बहुत बार सुननेको मिलती है। (इससे डरने या अपशकुन माननेकी क्या बात है।) इसमें अर्जुनका क्या काम है (कौन-सा चमत्कार है ?) इस बातको लेकर क्यों उसकी प्रशंसा की जाती है। इसका कारण इस बातके सिवा और क्या हो सकता है कि आचार्यके मनमें अर्जुनका भला करनेकी इच्छा हो एवं हमारे प्रति इनके हृदयमें केवल द्वेष तथा रोषका भाव ही संचित हो ? ॥ २६-२७ ॥

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः।
नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथंचन ॥ २८ ॥

'आचार्यलोग बड़े दयालु, बुद्धिमान् और पाप तथा हिंसाके विरुद्ध विचार रखनेवाले होते हैं। जब कोई महान् भयका अवसर प्राप्त हो, उस समय इनसे किसी प्रकारकी सलाह नहीं पूछनी चाहिये ॥ २८ ॥

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ २९ ॥

'पण्डितलोग सुन्दर महलों और मन्दिरोंमें, सभाओंमें और बगीचोंमें बैठकर जब विचित्र कथावार्ता सुना रहे हों, तब वहीं उनकी शोभा होती है ॥ २९ ॥

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि।
इज्यास्त्रे चोपसंधाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ ३० ॥

जनसमुदायमें बहुत-से आश्चर्यजनक विनोदपूर्ण कार्य करने तथा यज्ञ-सम्बन्धी आयुधों (पात्रों) को यथास्थान रखने एवं प्रोक्षण आदि करनेमें ही पण्डितोंकी शोभा है ॥

परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥ ३१ ॥
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च।
अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥ ३२ ॥

'दूसरोंके छिद्रको जानने या देखनेमें, मनुष्योंकी दिनचर्या बतानेमें, हाथी, घोड़े तथा रथयात्रा करनेका मुहूर्त आदि निकालनेमें, गदहों, ऊँटों, बकरों और भेड़ोंकी गुण-दोष-समीक्षा एवं चिकित्सा आदिमें, गोधनके संग्रह और परीक्षणमें, गलियों तथा घरके श्रेष्ठ दरवाजोंपर किये जानेवाले माङ्गलिक कृत्यमें, नवीन अन्नका इष्टिद्वारा संस्कार कराने तथा अन्नमें केश-कीट आदि गिर जानेसे जो दोष आता है, उनपर विचार करनेमें भी पण्डितोंकी राय लेनी चाहिये। ऐसे ही कार्योंमें उनकी शोभा है ॥ ३१-३२ ॥

पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत् परः ॥ ३३ ॥

'शत्रुओंके गुणोंका बखान करनेवाले पण्डितोंको पीछे करके ऐसी नीति काममें लें, जिससे शत्रुका वध हो सके ॥

गावश्च सम्प्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समन्ततः।
आरक्षाश्च विधीयन्तां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥ ३४ ॥

'गौओंको बीचमें खड़ी करके उनके चारों ओर सेनाका व्यूह बना लिया जाय तथा सब ओरसे रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर ली जाय, जिससे हम शत्रुओंके साथ युद्ध कर सकें' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहमें दुर्योधनवाक्यसम्बन्धी सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसापूर्ण अहंकारोक्ति

कर्ण उवाच

सर्वानायुष्मतो भीतान् संत्रस्तानिव लक्षये।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवानवस्थितान् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैं आप सब आयुष्मानोंको भयभीत एवं त्रस्त-सा देखता हूँ। आपमेंसे किसीका मन युद्धमें नहीं लग रहा है एवं सभी चञ्चल दिखायी देते हैं ॥ १ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥

यदि यह मत्स्यदेशका राजा हो अथवा यदि स्वयं अर्जुन आया हो, तो भी जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं भी इसे आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥ २ ॥

मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम्।
नावृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥

मेरे धनुषसे छूटकर सर्पोंकी भाँति आगे बढ़नेवाले और झुकी हुई गाँठवाले बाण कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ॥ ३ ॥

रुक्मपुङ्खाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया।
छादयन्तु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥

सुनहरी पाँख और तीखी नोकवाले बाण मेरे हाथोंसे छूटकर अर्जुनको ठीक उसी तरह, ढँक लेंगे; जैसे टिड्डियाँ पेड़को आच्छादित कर देती हैं ॥ ४ ॥

शराणां पुङ्खसक्तानां मौर्व्याभिहतया दृढम्।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥

पाँखवाले बाणोंको धनुषकी प्रत्यञ्चापर चढ़ाकर भलीभाँति खींचनेके पश्चात् मेरी दोनों हथेलियोंका ऐसा शब्द होता है, जैसे दो नगाड़े पीटे गये हों। आज वह शब्द आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पञ्च च।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन् मयि सम्प्रहरिष्यति ॥ ६ ॥

अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें समाधि लगाता रहा है, किंतु उसका इस युद्धमें स्नेह है; अतः मुझपर वह बाणोंका प्रहार करेगा ॥ ६ ॥

पात्रीभूतश्च कौन्तेयो ब्राह्मणो गुणवानिव।
शरौघान् प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान् सहस्रशः ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन धनंजय गुणवान् ब्राह्मणकी भाँति मेरेलिये एक सुपात्र व्यक्ति है। अतः आज वह मेरे छोड़े हुए सहस्रों बाणसमुदायोंका दान स्वीकार करे ॥ ७ ॥

एष चैव महेष्वासस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
अहं चापि नरश्रेष्ठादर्जुनान्नावरः क्वचित् ॥ ८ ॥

यह तीनों लोकोंमें महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात है और मैं भी नरश्रेष्ठ अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं हूँ ॥८॥

इतश्चेतश्च निर्मुक्तैः काञ्चनैर्गार्ध्रवाजितैः।
दृश्यतामद्य वै व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ॥ ९ ॥

इधर-उधर दोनों ओरसे छूटे हुए गीधकी पाँखोंसे युक्त सुवर्णमय बाणोंद्वारा आच्छादित हो आज आकाश जुगुनुओंसे भरा हुआ-सा दिखायी देगा ॥ ९ ॥

अद्याहमृणमक्षय्यं पुरा वाचा प्रतिश्रुतम्।
धार्तराष्ट्राय दास्यामि निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ १० ॥

मैं आज युद्धमें अर्जुनको मारकर पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनका अक्षय ऋण चुका दूँगा ॥१०॥

अन्तराच्छिद्यमानानां पुङ्खानां व्यतिशीर्यताम्।
शलभानामिवाकाशे प्रचारः सम्प्रदृश्यताम् ॥ ११ ॥

आज बीचसे कटकर इधर-उधर बिखर जानेवाले पंखयुक्त बाणोंका आकाशमें फतिंगोंकी भाँति उड़ना और गिरना देखो॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं महेन्द्रसमतेजसम्।
अर्दयिष्याम्यहं पार्थमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ १२ ॥

यद्यपि अर्जुन महेन्द्रके समान तेजस्वी है, तो भी आज उसे उल्काओं (मशालों) द्वारा गजराजकी भाँति इन्द्रके वज्रकी तरह कठोर स्पर्शवाले अपने बाणोंसे पीड़ित कर दूँगा ॥ १२ ॥

रथादतिरथं शूरं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
विवशं पार्थमादास्ये गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ १३ ॥

जो रथियोंसे भी बढ़कर अतिरथी, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और शूरवीर है, उस कुन्तीपुत्रको आज मैं युद्धमें विवश करके उसी प्रकार दबोच लूँगा, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेता है ॥ १३ ॥

तमग्निमिव दुर्धर्षमसिशक्तिशरेन्धनम्।
पाण्डवाग्निमहं दीप्तं प्रदहन्तमिवाहितम् ॥ १४ ॥
अश्ववेगपुरोवातो रथौघस्तनयित्नुमान्।
शरधारो महामेघः शमयिष्यामि पाण्डवम् ॥ १५ ॥

जो अग्निकी भाँति दुर्धर्ष है, खड्ग, शक्ति और बाणरूपी ईंधनसे प्रज्वलित है और अपने शत्रुको भस्म कर रही है, उस अर्जुनरूपी जलती हुई आगको आज मैं महामेघ बनकर बुझा दूँगा। मेरे अश्वोंका वेग ही पुरवैया हवाका काम करेगा। रथसमूहकी घर्घराहट ही बादलोंकी गम्भीर गर्जना होगी और बाणोंकी धारा ही जलधाराका काम करेगी ॥

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः पार्थमाशीविषोपमाः।
शराः समभिसर्पन्तु वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ १६ ॥

आज मेरे धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान विषैले बाण अर्जुनके शरीरमें उसी प्रकार प्रवेश करेंगे, जैसे साँप बाँबीमें घुसते हैं ॥ १६ ॥

सुतेजनै रुक्मपुङ्खैः सुधौतैर्नतपर्वभिः।
आचितं पश्य कौन्तेयं कर्णिकारैरिवाचलम् ॥ १७ ॥

कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार मेरे तेज, सुनहरे पंखवाले, उज्ज्वल और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कुन्तीपुत्र अर्जुनको आच्छादित हुआ देखो॥

जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत् प्राप्तमृषिसत्तमात्।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युध्येयमपि वासवम् ॥ १८ ॥

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मैंने जो अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन अस्त्रों और अपने पराक्रमका आश्रय लेकर मैं इन्द्रसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन् भल्लेन निहतो मया।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन् भैरवान् रवान् ॥ १९ ॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित होनेवाला वानर जो भयंकर गर्जना किया करता है, वह आज ही मेरे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाय ॥ १९ ॥

शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम्।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥

शत्रुकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगण भी मुझसे मारे जाकर जब चारों दिशाओंमें भागने लगेंगे, उस समय

उनके हाहाकारका शब्द स्वर्गलोकतक पहुँच जायगा ॥ २० ॥

अद्य दुर्योधनस्याहं शल्यं हृदि चिरस्थितम्।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥

अर्जुनको रथसे गिराकर आज मैं दुर्योधनके हृदयमें चिरकालसे चुभे हुए काँटेको जड़सहित निकाल फेंकूँगा ॥

हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम्।
निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यन्तु कौरवाः ॥ २२ ॥

पुरुषार्थसाधनमें लगे हुए अर्जुनके घोड़े मार दिये जायँगे और वह रथहीन होकर केवल साँपकी भाँति फुफकार मारता फिरेगा। कौरवलोग आज उसकी यह अवस्था भी देखें ॥

कामं गच्छन्तु कुरवो धनमादाय केवलम्।
रथेषु वापि तिष्ठन्तो युद्धं पश्यन्तु मामकम् ॥ २३ ॥

कौरवोंकी इच्छा हो, तो वे केवल गोधन लेकर यहाँसे चले जायँ अथवा अपने रथोंपर बैठे रहकर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध देखें ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णके आत्मप्रशंसापूर्ण वचनसम्बन्धी अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यका कर्णको फटकारते हुए युद्धके विषयमें अपना विचार बताना

कृप उवाच

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे ॥ १ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने कहा—राधानन्दन! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही क्रूरतापूर्ण रहता है। तुम न तो कार्योंके स्वरूपको ही जानते हो और न उनके परिणामका ही विचार करते हो ॥ १ ॥

माया हि बहवः सन्ति शास्त्रमाश्रित्य चिन्तिताः।
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयन्ति पुराविदः ॥ २ ॥

मैंने शास्त्रका आश्रय लेकर बहुत-सी मायाओंका चिन्तन किया है; किंतु उन सबमें युद्ध ही सर्वाधिक पापपूर्ण कर्म है—ऐसा प्राचीन विद्वान् बताते हैं ॥ २ ॥

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत्।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ॥
देशे काले च विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥

देश और कालके अनुसार जो युद्ध किया जाता है, वह विजय देनेवाला होता है; किंतु जो अनुपयुक्त कालमें किया जाता है, वह युद्ध सफल नहीं होता। देश और कालके अनुसार किया हुआ पराक्रम ही कल्याणकारी होता है ॥ ३ ॥

आनुकूल्येन कार्याणामन्तरं संविधीयते।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यन्ति पण्डिताः ॥ ४ ॥

देश और कालकी अनुकूलता होनेसे ही कार्योंका फल सिद्ध होता है। विद्वान् पुरुष रथ बनानेवाले (सूत) की बातपर ही सारा भार डालकर स्वयं देश-कालका विचार किये बिना युद्ध आदिका निश्चय नहीं करते* ॥ ४ ॥

परिचिन्त्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥

विचार करनेपर तो यही समझमें आता है कि अर्जुनके साथ युद्ध करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं है; [क्योंकि वे अकेले भी हमें परास्त कर सकते हैं]। अर्जुनने अकेले ही उत्तरकुरुदेशपर चढ़ाई की और उसे जीत लिया। अकेले ही खाण्डववन देकर अग्निको तृप्त किया ॥ ५ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत्।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक कठोर तप करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया। अकेले ही सुभद्राको रथपर बिठाकर उसका अपहरण किया और द्वन्द्वयुद्धके लिये श्रीकृष्णको भी ललकारा ॥ ६ ॥

एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत्।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

---

* जैसे कोई रथ बनानेवाला कारीगर रथ लाकर यह कहे कि मैंने इस दिव्य रथका निर्माण किया है। इसका प्रत्येक अङ्ग सुदृढ़ है। इसपर बैठकर युद्ध करनेसे तुम देवताओंपर भी सर्वथा विजय पा सकोगे। तो केवल उसके इस कहनेपर भरोसा करके कोई बुद्धिमान् पुरुष युद्धके लिये तैयार न हो जायगा। उसी प्रकार कर्ण! केवल तुम्हारे इस डींग मारनेपर भरोसा करके देश-काल आदिका विचार किये बिना हमलोगोंका युद्धके लिये उद्यत होना ठीक नहीं है, यही कृपाचार्यके उपर्युक्त कथनका अभिप्राय है।

अर्जुनने अकेले ही किरातरूपमें सामने आये हुए भगवान् शंकरसे युद्ध किया। इसी वनवासकी घटना है, जब जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी अर्जुनने अकेले ही उसे हराकर द्रौपदीको उसके हाथसे छुड़ाया था ॥ ७ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद् यशः ॥ ८ ॥
एको गन्धर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ॥ ९ ॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक स्वर्गमें रहकर साक्षात् इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्र सीखे हैं और अकेले ही सब शत्रुओंको जीतकर कुरुवंशका यश बढ़ाया है। शत्रुओंका दमन करनेवाले महावीर अर्जुनने कौरवोंकी घोषयात्राके समय युद्धमें गन्धर्वोंकी दुर्जय सेनाका वेगपूर्वक सामना करते हुए अकेले ही गन्धर्वराज चित्रसेनपर विजय पायी थी ॥ ८-९ ॥

तथा निवातकवचाः कालखञ्जाश्च दानवाः।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ॥ १० ॥

निवातकवच और कालखञ्ज आदि दानवगण तो देवताओंके लिये भी अवध्य थे, किंतु अर्जुनने अकेले ही उन सबको युद्धमें मार गिराया है ॥ १० ॥

एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ॥ ११ ॥

किंतु कर्ण! तुम तो बताओ, तुमने पहले कभी अकेले रहकर इस जगत्‌में कौन-सा पुरुषार्थ किया है? पाण्डवोंमेंसे तो एक-एकने विभिन्न दिशाओंमें जाकर वहाँके भूमिपालोंको अपने वशमें कर लिया था; [क्या तुमने भी ऐसा कोई कार्य किया है?] ॥ ११ ॥

इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति।
यस्तेनाशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ॥ १२ ॥

अर्जुनके साथ तो इन्द्र भी रणभूमिमें खड़े होकर युद्ध नहीं कर सकते। फिर जो उनसे अकेले भिड़नेकी बात करता है, (वह पागल है।) उसकी दवा करानी चाहिये ॥ १२ ॥

आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ १३ ॥

सूतपुत्र! (अर्जुनके साथ अकेले भिड़नेका साहस करके) तुम मानो क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके मुखमें अपना दाहिना हाथ उठाकर डालना और तर्जनी अङ्गुलीसे उसके दाँत उखाड़ लेना चाहते हो ॥ १३ ॥

अथवा कुञ्जरं मत्तमेक एव चरन् वने।
अनङ्कुशं समारुह्य नगरं गन्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

अथवा वनमें अकेले घूमते हुए तुम बिना अङ्कुशके ही मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर नगरमें जाना चाहते हो ॥ १४ ॥

समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम्।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्तर्तुमिच्छसि ॥ १५ ॥

अथवा अपने शरीरमें घी पोतकर चिथड़े या वल्कल पहने हुए तुम घी, मेदा और चर्बी आदिकी आहुतियोंसे प्रज्वलित आगके भीतरसे होकर निकलना चाहते हो ॥ १५ ॥

आत्मानं कः समुद्बद्ध्य कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम्।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ॥ १६ ॥

अपने-आपको बन्धनसे जकड़कर और गलेमें बड़ी भारी शिला बाँधकर कौन दोनों हाथोंसे तैरता हुआ समुद्रको पार कर सकता है? उसमें क्या यह पुरुषार्थ है! अर्थात् मूर्खता है ॥

अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवन्तं सुदुर्बलः।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत् स दुर्मतिः ॥ १७ ॥

कर्ण! जिसने अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, वह अत्यन्त दुर्बल पुरुष यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें प्रवीण तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन जैसे बलवान् वीरसे युद्ध करना चाहे, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि मारी गयी है ॥ १७ ॥

अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ॥ १८ ॥
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम्।
अज्ञानादभ्यवस्कन्द्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ॥ १९ ॥

हमलोगोंने तेरह वर्षोंतक इन्हें वनमें रखकर इनके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है। (अब ये प्रतिज्ञाके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं;) अतः बन्धनसे छूटे हुए सिंहकी भाँति क्या ये हमारा नाश न कर डालेंगे? कुएँमें छिपी हुई अग्निके समान यहाँ एकान्तमें स्थित कुन्तीपुत्र अर्जुनके पास हम अज्ञानवश आ पहुँचे हैं और भारी भय एवं संकटमें पड़ गये हैं ॥ १८-१९ ॥

सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम्।
सैन्यास्तिष्ठन्तु संनद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ २० ॥

इसलिये हमारा विचार है कि हमलोग एक साथ संगठित होकर यहाँ आये हुए रणोन्मत्त अर्जुनके साथ युद्ध करें। हमारे सैनिक कवच बाँधकर खड़े रहें, सेनाका व्यूह बना लिया जाय और सब लोग प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ २० ॥

द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान् द्रौणिस्तथा वयम्।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः ॥ २१ ॥
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्यतम्।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ॥ २२ ॥

कर्ण ! तुम अकेले अर्जुनसे भिड़नेका दुःसाहस न करो। आचार्य द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, तुम अश्वत्थामा और हम सब मिलकर अर्जुनसे युद्ध करेंगे। यदि हम छहों महारथी संगठित होकर सामना करें, तभी इन्द्रके सदृश दुर्धर्ष एवं दृढ़निश्चयी कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध कर सकते हैं॥ २१-२२ ॥

व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम्॥ २३॥

सेनाओंकी व्यूहरचना हो जाय और हम सभी श्रेष्ठ धनुर्धर सावधान रहें, तो जैसे दानव इन्द्रसे भिड़ते हैं, उसी प्रकार हम युद्धमें अर्जुनका सामना कर सकते हैं॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपवाक्यं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कृपाचार्य-वाक्यविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके उद्गार

अश्वत्थामोवाच

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे॥ १॥

अश्वत्थामाने कहा—कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता है, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर जा सके हैं और न हस्तिनापुरमें ही पहुँच गये हैं। फिर तुम इतनी व्यर्थ बकवाद क्यों कर रहे हो?॥ १॥

संग्रामांश्च बहूञ्जित्वा लब्ध्वा च विपुलं धनम्।
विजित्य च परां सेनां नाहुः किंचन पौरुषम्॥ २॥
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूर्ष्णीं भाति दिवाकरः।
तूर्ष्णीं धारयते लोकान् वसुधा सचराचरान्॥ ३॥

विद्वान् पुरुष बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतकर, असंख्य धनराशि पाकर तथा शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके भी इस तरह व्यर्थ बकवाद नहीं करते। आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकोंको धारण करती है (इनमेंसे कोई अपने पराक्रमकी प्रशंसा नहीं करता)॥ २-३॥

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति॥ ४॥

ब्रह्माजीने चारों वर्णोंके कर्म नियत कर दिये हैं, जिनसे धन भी मिल सकता है और जिनका अनुष्ठान करनेसे कर्ता दोषका भागी नहीं होता॥ ४॥

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत वा।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत्॥ ५॥

ब्राह्मण वेदोंको पढ़कर यज्ञ करावे अथवा करे। क्षत्रिय धनुषका आश्रय लेकर धन कमाये और यज्ञ करे; परंतु वह दूसरोंका यज्ञ न करावे (क्योंकि यह काम ब्राह्मणोंका है)॥ ५॥

वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत्।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः।
वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थितः॥ ६॥

वैश्य कृषि और व्यापार आदिके द्वारा धनोपार्जन करके ब्राह्मणोंके द्वारा वेदोक्त कर्म करावें और शूद्र वैतसीवृत्ति (बेंतके वृक्षकी भाँति नम्रता) का आश्रय ले प्रणाम और आज्ञापालन आदिके द्वारा सदा तीनों वर्णोंके पास रहकर उनकी सेवा करे॥ ६॥

वर्तमाना यथाशास्त्रं प्राप्य चापि महीमिमाम्।
सत्कुर्वन्ति महाभागा गुरून् सुविगुणानपि॥ ७॥

महान् सौभाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करते हुए न्यायसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके भी अत्यन्त गुणहीन गुरुजनोंका भी सत्कार करते हैं (और यहाँ अन्यायसे राज्य लेकर गुणवान् गुरुजनोंका भी तिरस्कार हो रहा है)॥ ७॥

प्राप्य द्यूतेन को राज्यं क्षत्रियस्तोष्टुमर्हति।
तथा नृशंसरूपोऽयं धार्तराष्ट्रश्च निर्घृणः॥ ८॥

भला जूएसे राज्य पाकर कौन क्षत्रिय संतुष्ट हो सकता है। परंतु इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इसीमें संतोष है; क्योंकि यह क्रूर और निर्दयी है॥ ८॥

तथाधिगम्य वित्तानि को विकत्थेद् विचक्षणः।
निकृत्या वञ्चनायोगैश्चरन् वैतंसिको यथा॥ ९॥

जैसे व्याध शठता और छल-कपटसे भरे हुए उपायों-द्वारा जीवननिर्वाह करता है, उस प्रकार कपटपूर्ण वृत्तिसे धन पाकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करेगा?॥ ९॥

कतमद् द्वैरथं युद्धं यत्राजैषीर्धनंजयम्।
नकुलं सहदेवं वा धनं येषां त्वया हृतम्॥ १०॥

राजा दुर्योधन ! तुमने जिन पाण्डवोंका धन कपटद्यूतके द्वारा हर लिया है, उनमेंसे धनंजय, नकुल या सहदेव किसको कब युद्धमें हराया है ? वह कौन-सा द्वन्द्वयुद्ध हुआ था, जिसमें तुमने अर्जुन आदिमेंसे किसीको जीता हो ?

युधिष्ठिरो जितः कस्मिन् भीमश्च बलिनां वरः।
इन्द्रप्रस्थं त्वया कस्मिन् संग्रामे निर्जितं पुरा ॥ ११॥

धर्मराज युधिष्ठिर अथवा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन तुम्हारेद्वारा किस युद्धमें परास्त किये गये हैं ? आज जिस इन्द्रप्रस्थपर तुम्हारा अधिकार है, उसे पहले तुमने किस युद्धमें जीता था ? ॥ ११ ॥

तथैव कतमद् युद्धं यस्मिन् कृष्णा जिता त्वया।
एकवस्त्रा सभां नीता दुष्टकर्मन् रजस्वला ॥ १२॥

दुष्ट कर्म करनेवाले पापी ! बताओ तो, कौन-सा ऐसा युद्ध हुआ था, जिसमें तुमने द्रौपदीको जीत लिया हो ? तुमलोग तो अकारण ही एक वस्त्र धारण करनेवाली बेचारी द्रौपदीको रजस्वलावस्थामें राजसभाके भीतर घसीट लाये थे ॥ १२ ॥

मूलमेषां महत् कृत्तं सारार्थी चन्दनं यथा।
कर्म कारयिथाः सूत तत्र किं विदुरोऽब्रवीत् ॥ १३॥

सूतपुत्र ! जैसे धनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य चन्दनकी लकड़ी काटता है, उसी प्रकार तुमने और दुर्योधनने कपट-द्यूत और द्रौपदीके अपमानद्वारा इन पाण्डवोंका मूलोच्छेद किया । जिस समय तुमलोगोंने पाण्डवोंको कर्मकार (दास) बनाया था, उस दिन वहाँ महात्मा विदुरने क्या कहा था; (उन्होंने जूएको कुरुकुलके संहारका कारण बताया था,) याद है न ? ॥ १३ ॥

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे।
अन्येषामपि सत्त्वानामपि कीटपिपीलिकैः।
द्रौपद्याः सम्परिक्लेशं न क्षन्तुं पाण्डवोऽर्हति ॥ १४॥

हम देखते हैं, मनुष्य हों या अन्य जीव-जन्तु अथवा कीड़े-मकोड़े आदि ही क्यों न हों, सबमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सहनशीलताकी एक सीमा होती है । द्रौपदीको जो कष्ट दिये गये हैं, उन्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन कभी क्षमा नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः।
त्वं पुनः पण्डितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करनेके लिये ही धनंजय प्रकट हुए हैं और एक तुम हो, जो यहाँ पण्डित बनकर बड़ी-बड़ी बातें बनाना चाहते हो ॥ १५ ॥

वैरान्तकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥

क्या वैरका बदला चुकानेवाले अर्जुन हमलोगोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? ॥ १६ ॥

नैष देवान् न गन्धर्वान् नासुरान् न च राक्षसान्।
भयादिह न युध्येत कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥

यह कभी सम्भव नहीं है कि कुन्तीनन्दन अर्जुन भयके कारण देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षसोंसे भी युद्ध न करें ॥ १७ ॥

यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपतिष्यति।
वृक्षं गरुत्मान् वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥

जैसे गरुड़ जिस-जिस वृक्षपर पैर रखते हैं, अपने वेगसे उसे गिराकर चले जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भरकर संग्रामभूमिमें जिस-जिस महारथीपर आक्रमण करेंगे, उसे नष्ट करके ही आगे बढ़ेंगे ॥ १८ ॥

त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम्।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥

कर्ण ! अर्जुन पराक्रममें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं, धनुष चलानेमें तो वे देवराज इन्द्रके तुल्य हैं और युद्धकी कलामें साक्षात् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान हैं; ऐसे कुन्तीपुत्रकी कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? ॥ १९ ॥

दैवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम्।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात् कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥

जो देवताओंके साथ देवोचित ढंगसे और मनुष्योंके साथ मानवोचित प्रणालीसे युद्ध करते हैं और प्रत्येक अस्त्रको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा नष्ट कर सकते हैं, उन कुन्तीनन्दन धनंजयकी समानता करनेवाला कौन पुरुष है ? ॥ २० ॥

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पाण्डवः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि गुरुको पुत्रके बाद शिष्य ही प्रिय होता है, इस कारणसे भी पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणको प्रिय हैं [अतः वे उनकी प्रशंसा क्यों न करें ?] ॥

यथा त्वमकरोर्द्यूतमिन्द्रप्रस्थं यथाऽहरः।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पाण्डवम् ॥ २२॥

दुर्योधन ! जैसे तुमलोगोंने जूएका खेल किया, जिस तरह इन्द्रप्रस्थके राज्यका अपहरण किया और जिस प्रकार भरी सभामें द्रौपदीको घसीट ले लाये, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनसे युद्ध भी करो । [जब उन अन्यायोंके समय तुम्हें हमारे सहयोगकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी, तब इस युद्धमें भी सहयोगकी आशा न रक्खो] ॥ २२ ॥

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः।
दुर्द्यूतदेवी गान्धारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥

ये तुम्हारे मामा शकुनि बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्मके महापण्डित हैं। छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले ये गान्धारदेशके नरेश शकुनि ही यहाँ युद्ध करें ॥ २३ ॥

नाक्षान् क्षिपति गाण्डीवं न कृतं द्वापरं न च।
ज्वलतो निशितान् बाणांस्तांस्तान् क्षिपति गाण्डिवम्॥

गाण्डीव धनुष कृतयुग, द्वापर और त्रेता नामक पासे नहीं फेंकता है; वह तो लगातार तीखे और प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा करता है ॥ २४ ॥

न हि गाण्डीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः।
नान्तरेष्ववतिष्ठन्ते गिरीणामपि दारणाः ॥ २५ ॥

गाण्डीवसे छूटे हुए गीधके पंखवाले तीखे बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले हैं। वे शत्रुकी छातीमें घुसे बिना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युस्तथाग्निर्वडवामुखः।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु और बड़वानल—ये चाहे जड़-मूलसे नष्ट न करें, कुछ बाकी छोड़ दें, परंतु अर्जुन कुपित होनेपर कुछ भी नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाकरोः।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥

राजन्! जैसे राजसभामें तुमने मामाके साथ जूएका खेल किया है, उसी प्रकार इस संग्रामभूमिमें भी तुम उन्हीं मामा शकुनिसे सुरक्षित होकर युद्ध करो। (किसी दूसरेसे सहयोगकी आशा न रक्खो) ॥ २७ ॥

युध्यन्तां कामतो योधा नाहं योत्स्ये धनंजयम्।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद् गवां पदम्॥२८॥

अथवा अन्य योद्धाओंकी इच्छा हो, तो वे युद्ध कर सकते हैं, किंतु मैं अर्जुनके साथ नहीं लड़ूँगा। हमें तो मत्स्यनरेशसे युद्ध करना है। यदि वे इस गोष्ठपर आ जायँ, तो मैं उनके साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्यं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अश्वत्थामावाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा सेनामें शान्ति और एकता बनाये रखनेकी चेष्टा तथा द्रोणाचार्यके द्वारा दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रयत्न

भीष्म उवाच

साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—दुर्योधन! अश्वत्थामा ठीक विचार कर रहे हैं। कृपाचार्यकी दृष्टि भी ठीक है। कर्ण तो केवल क्षत्रिय-धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहता है ॥ १ ॥

आचार्यो नाभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता।
देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥

विज्ञ पुरुषको अपने आचार्यकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। मेरा भी विचार यही है कि देश, कालका विचार करके ही युद्ध करना उचित है ॥ २ ॥

यस्य सूर्यसमाः पञ्च सपत्नाः स्युः प्रहारिणः।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके सूर्यके समान तेजस्वी और प्रहार करनेमें समर्थ पाँच शत्रु हों और उन शत्रुओंका अभ्युदय हो रहा हो, तो उस दशामें विद्वान् पुरुषको भी कैसे मोह न होगा? ॥ ३ ॥

स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः।
तस्माद् राजन् ब्रवीम्येष वाक्यं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥

स्वार्थके विषयमें सोचते समय सभी मनुष्य—धर्मज्ञ पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं; अतः राजन्! यदि तुम्हें जचे, तो मैं इस विषयमें अपनी सलाह भी देता हूँ ॥ ४ ॥

कर्णो हि यदवोचत् त्वां तेजःसंजननाय तत्।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥

कर्णने तुमसे जो कुछ कहा है, वह तेज एवं उत्साहको बढ़ानेके लिये ही कहा है। आचार्यपुत्र क्षमा करें। इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ५ ॥

नायं कालो विरोधस्य कौन्तेये समुपस्थिते।
क्षन्तव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥

यह समय आपसके विरोधका नहीं है; विशेषतः ऐसे मौकेपर जब कि कुन्तीनन्दन अर्जुन युद्धके लिये उपस्थित हैं। पूजनीय आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्यको सब अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नापकृष्यते ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यमें प्रभा और चन्द्रमामें लक्ष्मी (शोभा) सर्वथा विद्यमान रहती है—कभी कम नहीं होती, उसी प्रकार आपलोगोंका अस्त्रविद्यामें जो पाण्डित्य है, वह अक्षुण्ण है ॥

एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम्।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपलोगोंमें ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मास्त्र दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, यद्यपि प्रायः एक व्यक्तिमें चारों वेदोंका ज्ञान देखा जाता है, तो दूसरेमें क्षात्रधर्मका ॥ ८ ॥

नैतत् समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम।
अन्यत्र भारताचार्यात् सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

ये दोनों बातें पूर्णरूपसे किसी एक व्यक्तिमें हमने नहीं सुनी हैं। केवल भरतवंशियोंके आचार्य कृप, द्रोण और उनके पुत्र अश्वत्थामामें ही ये दोनों शक्तियाँ (ब्रह्मबल और क्षात्रबल) हैं। इनके सिवा और कहीं उक्त दोनों बातोंका एकत्र समावेश नहीं है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है ॥ ९ ॥

वेदान्तांश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम्।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत् ॥ १० ॥

राजन्! वेदान्त, पुराण और प्राचीन इतिहासके ज्ञानमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके सिवा दूसरा कौन मनुष्य द्रोणाचार्यसे बढ़कर हो सकता है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मास्त्रं चैव वेदाश्च नैतदन्यत्र दृश्यते।
आचार्यपुत्रः क्षमतां नायं कालो विभेदने ॥ ११ ॥
सर्वे संहत्य युध्यामः पाकशासनिमागतम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्र और वेद—ये दोनों वस्तुएँ हमारे आचार्योंके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं। आचार्यपुत्र क्षमा करें, यह समय आपसमें फूट पैदा करनेका नहीं है। हम सब लोग मिलकर यहाँ आये हुए अर्जुनसे युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः।
मुख्यो भेदो हि तेषां तु पापिष्ठो विदुषां मतः ॥ १३ ॥

मनीषी पुरुषोंने सेनाका विनाश करनेवाले जितने संकट बताये हैं, उनमें आपसकी फूट सबसे प्रधान कहा है। विद्वानोंने इस फूटको महान् पाप माना है ॥ १३ ॥

अश्वत्थामोवाच

नैव न्याय्यमिदं वाच्यमस्माकं पुरुषर्षभ।
किं तु रोषपरीतेन गुरुणा भाषिता गुणाः ॥ १४ ॥

अश्वत्थामाने कहा—पुरुषश्रेष्ठ! हमारी न्यायोचित बातकी निन्दा नहीं की जानी चाहिये। आचार्य द्रोणने पाण्डवोंपर हुए पहलेके अन्यायोंका स्मरण करके रोषपूर्वक अर्जुनके गुणोंका यहाँ वर्णन किया है (भेद उत्पन्न करनेके लिये नहीं) ॥ १४ ॥

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि।
सर्वथा सर्वयत्नेन पुत्रे शिष्ये हितं वदेत् ॥ १५ ॥

शत्रुके भी गुण ग्रहण करने चाहिये और गुरुके भी दोष बतानेमें संकोच नहीं करना चाहिये। गुरुको सब प्रकारसे पूर्ण प्रयत्न करके पुत्र और शिष्यके लिये जो हितकर हो, वही बात कहनी चाहिये ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य एव क्षमतां शान्तिरत्र विधीयताम्।
अभिद्यमाने तु गुरौ तद् वृत्तं रोषकारितम् ॥ १६ ॥

दुर्योधनने कहा—आचार्य! क्षमा करें, अब शान्ति धारण करनी चाहिये। यदि गुरुके मनमें भेद न हो, तभी यह समझा जायगा कि पहले जो बातें कही गयी हैं, उनमें रोष ही कारण था ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणं क्षमयामास भारत।
सह कर्णेन भीष्मेण कृपेण च महात्मना ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधनने कर्ण, भीष्म और महात्मा कृपाचार्यके साथ आचार्य द्रोणसे क्षमा माँगी ॥ १७ ॥

द्रोण उवाच

यदेतत् प्रथमं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्।
तेनैवाहं प्रसन्नो वै नीतिरत्र विधीयताम् ॥ १८ ॥
यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे।
साहसाद् यदि वा मोहात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥

तब द्रोण बोले—शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पहले जो बात कही थी, उसीसे मैं प्रसन्न हूँ। अब ऐसी नीतिसे काम लेना चाहिये जिससे अर्जुन इस युद्धमें दुर्योधनके पासतक न पहुँच सकें। साहससे अथवा प्रमादवश भी दुर्योधनपर उनका आक्रमण न हो, ऐसी नीति निर्धारित करनी चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः।
धनं चालभमानोऽत्र नाद्य तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २० ॥

वनवासकी अवधि पूर्ण हुए बिना अर्जुन अपनेको प्रकट नहीं कर सकते थे। आज यदि वे यहाँ आकर अपना गोधन न पा सके, तो हमको क्षमा नहीं कर सकते ॥ २० ॥

यथा नायं समायुञ्ज्याद् धार्तराष्ट्रान् कथंचन।

न च सेनाः पराजय्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें जैसे भी सम्भव हो; वे धृतराष्ट्रपुत्रोंपर आक्रमण न कर सकें और किसी प्रकार भी कौरवसेनाओंको परास्त न करने पावें, ऐसी कोई नीति बनानी चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद् वाक्यमीदृशम्।
तदनुस्मृत्य गाङ्गेय यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

दुर्योधनने भी पहले ऐसी बात कही थी कि पाण्डवोंका अज्ञातवास पूर्ण होनेमें संदेह है, अतः गङ्गानन्दन भीष्म ! आप स्वयं स्मरण करके यथार्थ बात क्या है—उनका अज्ञातवास पूर्ण हो गया है या नहीं, इसका निर्णय करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय द्रोणवाक्यसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पितामह भीष्मकी सम्मति

भीष्म उवाच

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, मास, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु और संवत्सर—ये सब एक दूसरेसे जुड़ते हैं। इस तरह कालके इन छोटे-छोटे विभागोंद्वारा यह सम्पूर्ण कालचक्र चल रहा है ॥ १-२ ॥

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥

इन पक्ष-मास आदिके समयके बढ़ने-घटनेसे और ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिके व्यतिक्रमसे हर पाँचवें वर्षमें दो महीने अधिमासके बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

इस प्रकार इन तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पश्चात् भी पाण्डवोंके पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है * ॥ ४ ॥

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम्।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥

इन पाण्डवोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सबका यथावत् पालन किया है; अवश्य इस बातको अच्छी तरह जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ॥ ५ ॥

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥

सभी पाण्डव महात्मा हैं और सभी धर्म तथा अर्थके ज्ञाता हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्मके विषयमें कैसे कोई अपराध कर सकते हैं ? ॥ ६ ॥

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम्।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥

कुन्तीके पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किये हैं। वे अधर्म या अनुचित उपायसे (धर्मको गँवाकर) केवल राज्य लेनेके इच्छुक नहीं है ॥ ७ ॥

तदैव ते हि विक्रान्तुमीषुः कौरवनन्दनाः।
धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
यच्चानृत इति ख्यायाद् यः स गच्छेत् पराभवम्।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्द देनेवाले पाण्डव उसी समय पराक्रम करनेमें समर्थ थे, किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे थे; इसलिये क्षत्रियव्रतसे विचलित नहीं हुए। यदि कोई अर्जुनको असत्यवादी कहेगा तो वह पराजयको प्राप्त होगा। कुन्तीके

---

* चान्द्रवर्ष तीन सौ चौवन दिनोंका होता है और सौरवर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पंद्रह घड़ी एवं कुछ पलोंका हुआ करता है। इस हिसाबसे तेरह सौर वर्षोंमें चान्द्रवर्षके लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षोंमें यदि छः बार अधिमास पड़ जायँ, तो जिस तिथिको पाण्डवोंका वनवास हुआ था, तेरहवें वर्षकी उसी तिथितक तेरह वर्षोंसे पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवोंने सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार वर्षकी गणना की थी; अतः उन्होंने अधिमास आदिके कारण बढ़े हुए महीनों और दिनोंकी संख्याको अलग नहीं माना। इसीलिये उनकी गणनामें तेरह ही वर्ष हुए। भीष्मजीने चान्द्र वर्षकी गणनाका आश्रय लेकर बढ़े हुए महीनों और दिनोंको भी गणनामें ले लिया। अतः उनके हिसाबसे उस दिन-तक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। यह कालभेद सौर और चान्द्रवर्षोंकी गणनाके भेदसे ही हुआ है। वास्तवमें सूर्यकी संक्रान्तिके हिसाबसे उस समयतक पाण्डवोंके तेरह वर्ष छः दिन हो चुके थे। चान्द्रवर्षकी गणनाके अनुसार वही समय तेरह वर्ष पाँच मास बारह दिनका हो गया।

पुत्र मौतको गले लगा सकते हैं, किंतु किसी प्रकार असत्य-का आश्रय नहीं ले सकते ॥ ८-९ ॥

प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः ।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव समय आनेपर अपने पाने योग्य भाग या हकको भी नहीं छोड़ सकते, भले ही वज्रधारी इन्द्र उस वस्तुकी रक्षा करते हों। पाण्डवोंका ऐसा ही पराक्रम है ॥१०॥

प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
तस्माद् यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ॥
तत् संविधीयतां शीघ्रं
मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात् परम् ॥ ११ ॥

इस समय रणभूमिमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन-के साथ हमें युद्ध करना है। इसलिये जगत्में साधुपुरुषोंद्वारा आचरित जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिये; जिससे तुम्हारा यह गोधन शत्रुके हाथमें न जाय ॥

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! राजेन्द्र! मैं युद्धमें कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्षकी ही सफलता अनिवार्य हो। लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ॥ १२ ॥

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥

संग्राम छिड़ जानेपर किसी-न-किसी पक्षको लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है ॥ १३ ॥

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम्।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

अतः राजेन्द्र! तुम युद्धोचित कर्तव्यका पालन करो अथवा धर्मके अनुसार कार्य करो–बिना युद्धके ही राज्य देकर सन्धि कर लो। जो कुछ करना हो, जल्दी करो। अर्जुन अब सिरपर आ पहुँचे हैं ॥ १४ ॥

(एकोऽपि समरे पार्थः पृथिवीं निर्दहेच्छरैः।
भ्रातृभिः सहितस्तात किं पुनः कौरवान् रणे।
तस्मात् सन्धिं कुरुश्रेष्ठ कुरुष्व यदि मन्यसे।)

कुन्तीपुत्र अर्जुन अकेला ही समरभूमिमें समूची पृथ्वीको भी दग्ध कर सकता है, फिर वह अपने सम्पूर्ण वीर बन्धुओं-के साथ मिलकर केवल कौरवोंको रणभूमिमें नष्ट कर दे, यह कौन बड़ी बात है? अतः कुरुश्रेष्ठ! यदि आप ठीक समझें, तो पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लें ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह।
युद्धोपचारिकं यत् तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा–किन्तु पितामह! मैं पाण्डवोंको राज्य तो दूँगा नहीं, (अतः उनसे सन्धि हो नहीं सकती तब फिर) युद्धमें उपयोगी जो भी कार्य हो, उसे ही शीघ्र पूरा किया जाय ॥१५॥

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—कुरुनन्दन! यदि तुम्हें जँचे, तो इस विषयमें मेरी जो सलाह है, उसे सुनो। मैं सर्वथा कल्याण-की ही बात कहूँगा ॥ १६ ॥

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

तुम सेनाका एक चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुरकी ओर चल दो तथा दूसरी एक चौथाई टुकड़ी गौओंको साथ लेकर जाय ॥ १७ ॥

वयं चार्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पाण्डवम्।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥

हमलोग आधी सेना साथ लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करेंगे। मैं, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य युद्धका निश्चय करके आये हुए अर्जुनके साथ लड़ेंगे ॥ १८ ॥

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम्।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

फिर तो चाहे मत्स्यनरेश आ जायँ या साक्षात् इन्द्र, जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं उन्हें आगे बढ़नेसे रोक रक्खूँगा ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ॥ २० ॥
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम्।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा भीष्मकी कही हुई यह बात सबको पसंद आ गयी। फिर कौरवोंके राजा दुर्योधनने वैसा ही किया। पहले राजा दुर्योधनको और उसके बाद गोधनको भेजकर सेनापतियोंको व्यवस्थित करके भीष्मजीने सेनाका व्यूह बनानेकी तैयारी की ॥ २०-२१ ॥

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ॥ २२ ॥

भीष्मजी बोले—आचार्य ! आप बीचमें खड़े हों, अश्वत्थामा वामभागकी रक्षा करें और शरद्वान्‌के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेनाके दक्षिणभागकी रक्षा करें ॥ २२ ॥

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात् स्थास्यामि पालयन्॥ २३ ॥

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेनाके आगे रहे और मैं पृष्ठभागकी रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेनाके पीछे स्थित रहूँगा ॥ २३ ॥

(सर्वे महारथाः शूरा महेष्वासा महाबलाः।
युद्ध्यन्तु पाण्डवश्रेष्ठमागतं यत्नतो युधि ॥

सभी महारथी महाधनुर्धर और महाबली शूरवीर योद्धा यहाँ आये हुए पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके साथ रणभूमिमें यत्नपूर्वक युद्ध करें ॥

वैशम्पायन उवाच

अभेद्यं सर्वसैन्यानां व्यूह्य व्यूहं कुरूत्तमः।
वज्रगर्भं व्रीहिमुखमर्धचक्रान्तमण्डलम् ॥
तस्य व्यूहस्य पश्चार्धे भीष्मश्चाथोद्यतायुधः।
सौवर्णं तालमुच्छ्रित्य रथे तिष्ठन्नशोभत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीष्मने समस्त सेनाओंका दुर्भेद्य व्यूह रचकर उसे वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रान्तमण्डल आदिके रूपमें खड़ा किया और उसके पिछले भागमें भीष्मजी भी सुवर्णमय तालध्वज फहराकर हाथमें हथियार लिये खड़े हो गये। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मजीके द्वारा सेनाकी व्यूहरचनाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका दुर्योधनकी सेनापर आक्रमण करके गौओंको लौटा लेना

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम्।
दोधूयमानस्य भृशं गाण्डीवस्य च निस्वनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना हो जानेपर अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे। सैनिकोंने उनकी ध्वजाके अग्रभागको देखा, उनके रथसे आती हुई भयंकर आवाज भी सुनी और खींचे जाते हुए गाण्डीवकी जोर-जोरसे होनेवाली टंकारध्वनि भी उनके कानोंमें पड़ी ॥ १-२ ॥

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत्।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गाण्डीवधन्विनम् ॥ ३ ॥

तब सब कुछ देखकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले महारथी अर्जुनको निकट आया जानकर आचार्य द्रोण यह वचन बोले ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

द्रोणने कहा—यह अर्जुनकी ध्वजाका ऊपरी भाग दूरसे ही प्रकाशित हो रहा है। यह उन्हींके रथकी घर्घराहटका शब्द है। साथ ही ध्वजापर बैठा हुआ वानर भी उच्च स्वरसे गर्जना कर रहा है ॥ ४ ॥

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥

यह देखो, उस श्रेष्ठ रथमें बैठे हुए रथियोंमें प्रधान वीर अर्जुन धनुर्धरोंमें सर्वोत्तम गाण्डीवकी डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द हो रहा है ॥

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरोंके आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानोंको छूकर निकल गये हैं ॥ ६ ॥

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम्।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन वनमें रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्यद्वारा अतिमानुष (मानवी शक्तिसे बाहरका) पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं। ये प्रथम दो बाणोंद्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे दो बाणोंद्वारा कानोंमें युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं ॥ ७ ॥

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान् बान्धवप्रियः।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥

बन्धु-बान्धवोंको प्रिय लगनेवाले परम बुद्धिमान् अर्जुन

को आज हमने दीर्घकालके बाद देखा है । अहा ! पाण्डुपुत्र धनंजय अपनी दिव्य लक्ष्मी (शोभा) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

रथी शरी चारुतली निषङ्गी
शङ्खी पताकी कवची किरीटी ।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः ॥ ९ ॥

रथपर बैठे हुए धनंजयने बाण, सुन्दर दस्ताने, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण कर रक्खे हैं। इनके रथपर पताका फहरा रही है । इन सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आज ये तेजस्वी पार्थ स्रुवा आदि यज्ञसाधनोंसे घिरे और घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान शोभा पा रहे हैं ॥ ९ ॥

(वैशम्पायन उवाच

तमदूरमुपायान्तं दृष्ट्वा पाण्डवमर्जुनम् ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुस्तपन्तं हि यथा रविम् ॥
स तं दृष्ट्वा रथानीकं पार्थः सारथिमब्रवीत् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपते हुए सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाण्डुनन्दन अर्जुनको समीप आते देख शत्रु उनकी ओर दृष्टिपात न कर सके । रथियोंकी सेनाको सामने देख कुन्तीकुमार अर्जुनने सारथिसे कहा ॥

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे ।
यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः॥ १०॥
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे ! धनुषसे बाण चलानेपर वह जितनी दूरीपर जाकर गिरता है, कौरवसेनासे उतना ही अन्तर रह जाय, तो घोड़ोंको रोक लेना; जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेनामें वह कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है । उस अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको देख लेनेपर मैं इन सब योद्धाओंको छोड़कर उसीके सिरपर पडूँगा । उसके पराजित होनेसे ये सब परास्त हो जायँगे ॥ १०-११ ॥

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम् ।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ १२ ॥

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं । उनके बाद उन्हींके पुत्र अश्वत्थामा हैं । उधर पितामह भीष्म दिखायी देते हैं । इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है । ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्धके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति ।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शङ्के जीवपरायणः ॥ १३ ॥

परंतु इनमें मैं राजा दुर्योधनको नहीं देखता हूँ । मुझे संदेह है कि वह दक्षिण दिशाका मार्ग पकड़कर गौओंको साथ ले अपनी जान बचाये भागा जा रहा है ॥ १३ ॥

उत्सृजैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः ।
तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम् ।
तं जित्वा विनिवर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः ॥ १४ ॥

अतः विराटनन्दन ! इस रथियोंकी सेनाको छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो । मैं वहीं युद्ध करूँगा । यहाँ व्यर्थ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसे जीतकर गौओंको अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः ।
नियम्य च ततो रश्मीन् यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ।
अचोदयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर विराटकुमार उत्तरने यत्नपूर्वक घोड़ोंकी रास खींचकर जहाँ बड़े बड़े कौरव महारथी खड़े थे, उधर जानेसे उन्हें रोका । फिर उसने काबूमें रखते हुए उन घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिधर राजा दुर्योधन गया था ॥ १५ ॥

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने ।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

रथियोंकी सेना छोड़कर श्वेतवाहन अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य बोले—॥ १६ ॥

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति ।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ॥ १७ ॥

'ये अर्जुन राजा दुर्योधनके बिना ठहरना नहीं चाहते, इसलिये उधर ही बड़े वेगसे जा रहे हैं । अतः हमलोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें ॥ १७ ॥

न ह्येनमतिसंक्रुद्धमेको युध्येत संयुगे ।
अन्यो देवात् सहस्राक्षात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्याच्च सपुत्राद् वा भारद्वाजान्महारथात् ॥ १८ ॥

'इस समय ये बड़े क्रोधमें भरे हैं; अतः साक्षात् इन्द्र या देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा पुत्रसहित महारथी आचार्य द्रोणके सिवा दूसरा कोई इनके साथ अकेला युद्ध नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा ।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ॥ १९ ॥

'ये गौएँ अथवा प्रचुर धन हमें क्या लाभ पहुचायेंगे ? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जलमें पुरानी नावकी भाँति डूबना चाहता है ॥ १९ ॥

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ॥ २० ॥

उधर अर्जुन उसी प्रकार रथसे दुर्योधनके पास पहुँच गये और उच्चस्वरसे अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रतासे कौरवसेनापर टिड्डीदलोंकी भाँति असंख्य बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः।
नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ॥ २१ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर वे समस्त सैनिक कुछ देख नहीं पाते थे। पृथ्वी और आकाश भी बाणोंसे ढँक गये थे ॥ २१ ॥

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥ २२ ॥

युद्धमें बाणोंकी मार खाकर कौरवसैनिक धराशायी होते जा रहे थे, तो भी उनका मन वहाँसे भागनेको नहीं होता था। वे मन-ही-मन अर्जुनकी फुर्तीकी सराहना करते थे ॥ २२ ॥

ततः शङ्खं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम्।
विस्फार्य च धनुःश्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर पार्थने अपना शङ्ख बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करके ध्वजापर बैठे हुए भूतोंको सिंहनाद करनेकी प्रेरणा दी ॥ २३ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २४ ॥
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम्।
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

अर्जुनके शङ्खनाद, रथके पहियोंकी घर्घराहट, गाण्डीव धनुषकी टंकार तथा ध्वजमें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे पृथ्वी काँप उठी तथा गौएँ ऊपरको पूँछ उठाकर हिलाती और रँभाती हुई सब ओरसे लौट पड़ीं और दक्षिण दिशाकी ओर भाग चलीं ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय गौओंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णपर आक्रमण, विकर्णकी पराजय, शत्रुंतप और संग्रामजित्का वध, कर्ण और अर्जुनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य
गास्ता विजित्याथ धनुर्धराग्र्यः।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातो
भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने शत्रुसेनाको बड़े वेगसे दबाकर उन गौओंको जीत लिया और वे युद्धकी इच्छासे फिर दुर्योधनकी ओर चले ॥ १ ॥

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्
किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातं
कुरुप्रवीराः सहसा निपेतुः ॥ २ ॥

जब गौएँ तीव्र गतिसे मत्स्यदेशकी राजधानीकी ओर भाग गयीं और अर्जुन अपने कार्यमें सफल होकर दुर्योधनकी ओर बढ़ चले, तब यह सब जानकर कौरव वीर सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

तेषामनीकानि बहूनि गाढं
व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वैराटिमामन्त्र्य ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

उसकी अनेक सेनाएँ थीं और उन सबकी अच्छी तरह व्यूह-रचना की गयी थी। उन सेनाओंमें बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने उन सबको देखकर विराटपुत्र उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ ३ ॥

एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमान्
श्वेतान् हयान् काञ्चनरश्मियोक्त्रान्।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्न-
मासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ॥ ४ ॥
गजो गजेनेव मया दुरात्मा
योद्धुं समाकाङ्क्षति सूतपुत्रः।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥

राजकुमार ! सुनहरी रस्सियोंसे जुते हुए मेरे इन सफेद घोड़ोंको तुम शीघ्र ही इस मार्गसे ले चलो और सम्पूर्ण वेगसे ऐसा प्रयत्न करो कि मैं कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी सेनाके पास पहुँच जाऊँ । यह देखो, जैसे हाथी हाथीके साथ भिड़ना चाहता हो, उसी प्रकार यह दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण मेरे साथ युद्ध करना चाहता है । पहले इसीके पास मुझे ले चलो । यह दुर्योधनका सहारा पाकर बड़ा घमंडी हो गया है ॥ ४-५ ॥

स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः
पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत् तद् रथिनामनीकं
ततोऽवहत् पाण्डवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥

अर्जुनके विशाल घोड़े वायुके समान वेगशाली थे । उनकी जीनके नीचे लगे हुए कपड़ेके दोनों पिछले छोर सुनहरे थे । विराटपुत्र उत्तरने तेजीसे हाँककर उन घोड़ोंके द्वारा कौरव-रथियोंकी सेनाको कुचलवाते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको सेना-के मध्यभागमें पहुँचा दिया ॥ ६ ॥

तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः
संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतन्तं
महारथाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥

इतनेमें ही चित्रसेन, संग्रामजित्, शत्रुसह तथा जय आदि महारथी विपाठ नामक बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णकी रक्षा करने-के उद्देश्यसे वहाँ आक्रमण करनेवाले अर्जुनके सामने आ डटे ॥

ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः
शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत् समन्यु-
र्वनं यथाग्निः कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ८ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन क्रोधसे युक्त हो आग-बबूले हो गये । धनुष मानो उस आगकी ज्वाला थी और बाणोंका वेग ही आँच बन गया था । जैसे आग वनको जला डालती है, उसी प्रकार वे उन कुरुश्रेष्ठ महारथियोंके रथसमूहोंको भस्म करने लगे ॥ ८ ॥

तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते
पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो
भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ जानेपर कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विकर्णने रथपर सवार हो विपाठ नामक बाणोंकी भयंकर वर्षा करते हुए भीमके छोटे भाई अतिरथी वीर अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य
जाम्बूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
अपातयत् तं ध्वजमस्य मथ्य
च्छिन्नध्वजः सोऽप्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंसे जाम्बूनद नामक उत्तम सुवर्ण मढ़े हुए सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाले विकर्णके धनुषको काटकर उसके ध्वजको भी टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया । रथकी ध्वजा कट जानेपर विकर्ण बड़े वेगसे भाग निकला ॥ १० ॥

तं शात्रवाणां गणबाधितारं
कर्माणि कुर्वन्तममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः
समार्दयच्छरवर्षेण पार्थम् ॥ ११ ॥

शत्रुदलके वीरोंका वध करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनको इस प्रकार अमानुषिक पराक्रम करते देख शत्रुंतप नामक वीर उनके सामने आया । वह अर्जुनका पराक्रम न सह अपनी बाणवर्षासे पार्थको पीड़ा देने लगा ॥ ११ ॥

स तेन राज्ञातिरथेन विद्धो
विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पञ्चभिराशु विद्ध्वा
ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥

कौरवसेनामें विचरनेवाले अर्जुनने अतिरथी राजा शत्रुंतपके बाणोंसे घायल होकर उसे भी तुरंत ही पाँच बाणोंसे बींध डाला । फिर उसके सारथिको दस बाण मार-कर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १२ ॥

ततः स विद्धो भरतर्षभेण
बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ
नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके बाण कवच छेदकर शरीरके भीतर घुस जाते थे । उनके द्वारा घायल होकर राजा शत्रुंतपके प्राणपखेरू उड़ गये और जैसे आँधीसे उखड़ा हुआ वृक्ष पर्वतशिखरसे नीचे गिरे, उसी प्रकार वह रथसे रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १३ ॥

नरर्षभास्तेन नरर्षभेण
वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकम्पिरे वातवशेन काले
प्रकम्पितानीव महावनानि ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ वीरवर धनंजयके बाणोंकी मार खाकर कौरव-सेनाके कितने ही श्रेष्ठ वीर घायल हो इस प्रकार काँपने लगे, जैसे समयानुसार प्रचण्ड आँधीके वेगसे बड़े-बड़े जंगलोंके वृक्ष हिलने लगते हैं ॥ १४ ॥

हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा
गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः ।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः
पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा मारे गये बहुतेरे उत्कृष्ट नरवीर जो सुन्दर वेश-भूषासे सुशोभित थे, प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर सो गये। जो वीर दूसरोंको वसु (धन) देनेवाले और वासव (इन्द्र) के तुल्य पराक्रमी थे, वे भी वासवनन्दन अर्जुनके द्वारा उस युद्धमें पराजित हो गये ॥ १५ ॥

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
तथा स शत्रून् समरे विनिघ्नन्
गाण्डीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च
दहन्निवाग्निर्वनमातपान्ते ।

उनमेंसे कुछ तो सोनेके कवच पहने थे और कुछ लोगोंने काले लोहेके बख्तर बाँध रक्खे थे। वे उस युद्धभूमिमें पड़े हुए हिमालयप्रदेशके विशालकाय गजराजोंके समान जान पड़ते थे। इस प्रकार संग्राममें शत्रुओंका संहार करनेवाले गाण्डीवधारी वीरशिरोमणि नररत्न अर्जुन वहाँ सब दिशाओंमें इस प्रकार विचरने लगे, मानो ग्रीष्मऋतुमें दावानल सम्पूर्ण वनको दग्ध करता हुआ चारों ओर फैल रहा हो ॥ १६½ ॥

प्रकीर्णपर्णानि यथा वसन्ते
विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ॥ १७ ॥
तथा सपत्नान् विकिरन् किरीटी
चचार संख्येऽतिरथो रथेन ।

जैसे वसन्तऋतुमें (तेज चलनेवाली) हवा पतझड़के बिखरे पत्तोंको उड़ाती और बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें रथपर बैठे हुए अतिरथी वीर किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए विचरने लगे ॥ १७½ ॥

शोणाश्ववाहस्य हयान् निहत्य
वैकर्तनभ्रातुरदीनसत्त्वः ।
एकेन संग्रामजितः शरेण
शिरो जहाराथ किरीटमाली ॥ १८ ॥

उनके हृदयमें दीनताका लेश भी नहीं था। वे सुन्दर किरीट और मालाओंसे अलंकृत थे। उन्होंने लाल घोड़ेवाले रथपर बैठकर अपने सामने आये हुए कर्णके भाई संग्रामजित्के घोड़ोंको मार डाला और एक बाणसे उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ १८ ॥

तस्मिन् हते भ्रातरि सूतपुत्रो
वैकर्तनो वीर्यमथाददानः ।
प्रगृह्य दन्ताविव नागराजो
महर्षभं व्याघ्र इवाभ्यधावत् ॥ १९ ॥

अपने भाई संग्रामजित्के मारे जानेपर सूतपुत्र कर्णने कुपित हो पराक्रम दिखानेकी इच्छासे अर्जुन और उत्तरपर इस प्रकार हठपूर्वक धावा किया, मानो कोई गजराज दो पर्वत-शिखरोंसे भिड़ने चला हो अथवा कोई व्याघ्र किसी महाबली साँड़पर टूट पड़ा हो ॥ १९ ॥

स पाण्डवं द्वादशभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनः शीघ्रमथो जघान ।
विव्याध गात्रेषु हयांश्च सर्वान्
विराटपुत्रं च करे निजघ्ने ॥ २० ॥

सूर्यपुत्र कर्णने बड़ी शीघ्रताके साथ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बारह बाणोंसे घायल किया, उनके घोड़ोंके शरीर छेदकर छलनी कर दिये और विराटपुत्र उत्तरके हाथमें भी भारी चोट पहुँचायी ॥ २० ॥

तमापतन्तं सहसा किरीटी
वैकर्तनं वै तरसाभिपत्य ।
प्रगृह्य वेगं न्यपतज्जवेन
नागं गरुत्मानिव चित्रपक्षः ॥ २१ ॥

कर्णको सहसा आते देख किरीटधारी अर्जुन भी तीव्र गतिसे आगे बढ़कर जैसे विचित्र पंखवाले गरुड़ किसी नागपर जोरसे आक्रमण करते हों, उसी प्रकार बड़े वेगसे उसपर टूट पड़े ॥ २१ ॥

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ।
कर्णस्य पार्थस्य निशम्य युद्धं
दिदृक्षमाणाः कुरवोऽभितस्थुः ॥ २२ ॥

वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ, महान् बलवान् तथा समस्त शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले थे। कर्ण और अर्जुनका युद्ध सुनकर समस्त कौरववीर उसे देखनेके लिये दर्शकोंकी भाँति खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स पाण्डवस्तूर्णमुदीर्णकोपः
कृतागसं कर्णमुदीक्ष्य हर्षात् ।
क्षणेन साश्वं सरथं ससारथि-
मन्तर्दधे घोरशरौघवृष्ट्या ॥ २३ ॥

अपने अपराधी कर्णको सामने देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। वे तुरंत ही हर्ष एवं उत्साहसे भर गये और भयंकर बाणोंकी वर्षा करके

उन्होंने क्षणभरमें घोड़े, रथ और सारथिसहित कर्णको ढँक दिया ॥ २३ ॥

ततः सुविद्धाः सरथाः सनागा
योधा विनेदुर्भरतर्षभाणाम्।
अन्तर्हिता भीष्ममुखाः सहाश्वाः
किरीटिना कीर्णरथाः पृषत्कैः ॥ २४ ॥

तदनन्तर कौरवसेनाके रथियों और हाथीसवारों-सहित सम्पूर्ण योद्धा अत्यन्त घायल होकर चीखने-चिल्लाने लगे। किरीटधारी पार्थके बाणोंसे रथ आच्छादित हो जानेके कारण भीष्म आदि सभी महारथी घोड़ोंसहित अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

स चापि तानर्जुनबाहुमुक्ता-
ञ्छराञ्छरौघैः प्रतिहत्य वीरः।
तस्थौ महात्मा सधनुः सबाणः
सविस्फुलिङ्गोऽग्निरिवाशु कर्णः ॥ २५ ॥

तब महामना वीर कर्ण भी बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये सम्पूर्ण बाणोंको शीघ्र ही काटकर अपने धनुष और बाणोंके साथ चिनगारियोंसे युक्त अग्निकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ २५ ॥

ततस्त्वभूद् वै तलतालशब्दः
सशङ्खभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिस्वनं तं
वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ॥ २६ ॥

फिर तो वहाँ कर्ण बार-बार प्रत्यञ्चा खींचकर धनुष-की टंकार फैलाने लगा और उसकी प्रशंसा करनेवाले कौरवोंके दलमें हथेलियों और तालियोंकी गड़गड़ाहट होने लगी। शङ्ख बज उठे, नगाड़े पीटे जाने लगे और ढोलों-का गम्भीर शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

उद्धतलाङ्गूलमहापताक-
ध्वजोत्तमांसाकुलभीषणान्तम्।
गाण्डीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं
किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥

अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे वानरवीरकी पूँछ बहुत बड़ी पताकाके समान हिल रही थी और उसके अग्रभागपर भयंकर भूतोंका भैरवनाद हो रहा था। इसके साथ ही वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी टंकार फैल रही थी। ऐसे किरीटधारी अर्जुनकी ओर देखकर कर्ण बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ २७ ॥

स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा
साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी
पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने भी घोड़े, सारथि एवं रथसहित कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित करके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यकी ओर देखते हुए कर्णपर हठपूर्वक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ २८ ॥

स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनो मेघ इवाभ्यवर्षत्।
तथैव कर्णं च किरीटमाली
संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥

यह देख कर्णने भी अर्जुनपर मेघकी भाँति बहुत-से बाणोंकी झड़ी लगा दी। इसी प्रकार किरीटमाली अर्जुनने भी अपने तीखे सायकोंसे कर्णको ढँक दिया ॥ २९ ॥

तयोः सुतीक्ष्णान् सृजतोः शरौघान्
महाशरौघास्त्रविवर्धने रणे।
रथे विलग्नाविव चन्द्रसूर्यौ
घनान्तरेणानुददर्श लोकः ॥ ३० ॥

इस प्रकार जहाँ राशि-राशि बाणोंद्वारा भीषण मार-काट मची हुई थी, उस रणक्षेत्रमें ये दोनों वीर अत्यन्त तीक्ष्ण शरसमूहोंकी बौछार कर रहे थे। लोगोंने देखा, वे रथपर बैठे हुए बाणसमूहके भीतरसे इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, मानो बादलोंके भीतरसे सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों ॥ ३० ॥

अथाशुकारी चतुरो हयांश्च
विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः।
त्रिभिश्च यन्तारममृष्यमाणो
विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥

कर्णको अर्जुनका पराक्रम असह्य हो उठा। उसने अपनी आशुकारिता (शीघ्र बाण छोड़नेकी कला) का परिचय देते हुए तीखे बाणोंसे अर्जुनके चारों घोड़ोंको बींध डाला; फिर तीन बाणोंसे उनके सारथिको घायल किया और तुरंत ही तीन बाण मारकर ध्वजको भी छेद डाला ॥ ३१ ॥

ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी
प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः।
गाण्डीवधन्वा ऋषभः कुरूणा-
मजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष गाण्डीवधारी अर्जुन समरभूमिमें शत्रुओंको रौंद डालनेवाले थे। वे सूतपुत्रके बाणोंसे घायल होकर सोये हुए सिंहके समान जाग उठे और विपक्षियोंपर सीधे आघात करनेवाले बाणोंद्वारा कर्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३२ ॥

शरास्त्रवृष्ट्या निहतो महात्मा
प्रादुश्चकारातिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत् कर्णरथं पृषत्कै-
र्लोकानिमान् सूर्य इवांशुजालैः॥ ३३ ॥

कर्णकी बाणवर्षासे आहत हुए महात्मा अर्जुनने अति-मानुष पराक्रम प्रकट किया। जैसे सूर्य अपनी किरणोंके समूह-से समस्त संसारको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बाणसमुदायसे कर्णके रथको ढँक दिया ॥ ३३ ॥

स हस्तिनेवाभिहतो गजेन्द्रः
प्रगृह्य भल्लान् निशितान् निषङ्गात् ।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य
विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

उस समय अर्जुनकी दशा उस गजराजकी भाँति हो रही थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी गजका प्रहार सहकर स्वयं भी उसपर चोट करनेके लिये उद्यत हो। उन्होंने तरकस-से भल्ल नामक तीखे बाण निकाले और धनुषको कानतक खींचकर सूतपुत्रके अङ्गोंको बींध डाला ॥ ३४ ॥

अथास्य बाहूरुशिरोललाटं
ग्रीवां वराङ्गानि परावमर्दी ।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद
गाण्डीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले वीर धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छूटकर वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले तीखे सायकों-द्वारा उस युद्धमें कर्णकी दोनों भुजाओं, जाँघों, मस्तक, ललाट तथा ग्रीवा आदि उत्तम अङ्गोंको छेद डाला ॥ ३५ ॥

स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो
गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।
विहाय संग्रामशिरः प्रयातो
वैकर्तनः पाण्डवबाणतप्तः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणोंकी चोट खाकर सूर्यपुत्र कर्ण तिल-मिला उठा और एक हाथीसे पराजित हुए दूसरे वेगशाली हाथीकी भाँति वह पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो युद्ध-का मुहाना छोड़कर भाग निकला ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णका युद्धसे पलायनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार और उत्तरका उनके रथको कृपाचार्यके पास ले जाना

वैशम्पायन उवाच

अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः ।
अनीकेन यथास्वेन शनैराचर्छन्त पाण्डवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राधानन्दन कर्णके भाग जानेपर दुर्योधन आदि कौरवयोद्धा अपनी-अपनी सेनाके साथ धीरे-धीरे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ओर बढ़ आये ॥ १ ॥

बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्यापततः शरैः ।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥

तब जैसे वेला (तटभूमि) महासागरके वेगको रोक लेती है, उसी प्रकार अर्जुनने व्यूहरचनापूर्वक बाणवर्षाके साथ आती हुई अनेक भागोंमें विभक्त कौरवसेनाके बढ़ाव-को रोक दिया ॥ २ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद् रथसत्तमः ॥ ३ ॥
यथा रश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
तथा गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश॥ ४ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ कुन्ती-नन्दन अर्जुनने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेनाका सामना किया। जैसे सूर्यदेव अपनी अनन्त किरणोंद्वारा समूची पृथ्वीको आच्छादित कर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंद्वारा दसों दिशाओं-को ढँक दिया ॥ ३-४ ॥

न रथानां न चाश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
अनिर्विद्धं शितैर्बाणैरासीद् द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ५ ॥

वहाँ रथों, घोड़ों, हाथियों तथा उनके सवारोंके अङ्गों और कवचोंमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो अर्जुनके तीखे बाणोंसे बिंध न गया हो ॥ ५ ॥

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।

वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्र्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥

अर्जुनके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, घोड़ोंकी शिक्षा, रथ-सञ्चालनकी कलामें उत्तरका कौशल तथा पार्थके अस्त्र चलानेका क्रम—इन सबके कारण तथा उनका पराक्रम और अत्यन्त फुर्ती देखकर शत्रु भी इनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहन्तमिव प्रजाः ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ७ ॥

अर्जुन समस्त प्रजाका संहार करनेवाली प्रलयकालीन अग्निके समान शत्रुओंको भस्म कर रहे थे। वे मानो जलती आग हो रहे थे । शत्रु उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे ॥ ७ ॥

तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
शैलं प्रति बलाभ्राणि व्याप्तानीवार्करश्मिभिः ॥ ८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे आच्छादित हुई कौरवोंकी सेना इस प्रकार सुशोभित हुई, मानो पर्वतके निकट नवीन मेघोंकी घटा सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त हो गयी हो ॥ ८ ॥

अशोकानां वनानीवच्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे घायल हो लहूलुहान हुए कौरवसैनिक बहुतेरे लाल फूलोंसे आच्छादित अशोकवनके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो हारसे टूटकर बिखरे हुए स्वर्णचम्पाके सूखे फूल, छत्र और पताकाओं आदिको वायु कुछ देरतक आकाशमें ही धारण किये रहती थी (बाणोंके जालपर रुक जानेसे वे जल्दी नीचे नहीं गिरते थे) ॥ १० ॥

स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
रथाङ्गदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥

अर्जुनने जिनके जुए काट दिये थे, वे शत्रुदलके घोड़े अपनी सेनाकी घबराहटसे स्वयं भी व्यग्र हो उठे और जुएका एक-एक टुकड़ा अपने साथ लिये सब ओर भागने लगे ॥

कर्णकक्षविषाणेषु अन्तरोष्ठेषु चैव ह ।
मर्मस्वङ्गेषु चाहत्यापातयत् समरे गजान् ॥ १२ ॥

अब अर्जुन युद्धभूमिमें गजराजोंके कान, कक्ष, दाँत, निचले ओठ तथा अन्य मर्मस्थानोंमें बाण मारकर उन्हें धराशायी करने लगे ॥ १२ ॥

कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

एक ही क्षणमें प्राणहीन हुए कौरवसेनाके आगे चलनेवाले गजराजोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी एवं मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाशकी भाँति प्रतीत होने लगी ॥ १३ ॥

युगान्तसमये सर्वं यथा स्थावरजङ्गमम् ।
कालक्षयमशेषेण दहत्यग्रशिखः शिखी ।
तद्वत् पार्थो महाराज ददाह समरे रिपून् ॥ १४ ॥

महाराज ! जैसे प्रलयकालमें लपलपाती लपटोंके साथ आगे बढ़नेवाली संवर्तकाग्नि सम्पूर्ण चराचर जगत्को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन उस समरभूमिमें शत्रुओंको अपनी बाणाग्निसे दग्ध करने लगे ॥ १४ ॥

ततः सर्वास्त्रतेजोभिर्धनुषो निस्वनेन च ।
शब्देनामानुषाणां च भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
भैरवं शब्दमत्यर्थं वानरस्य च कुर्वतः ॥ १५ ॥
दैवारिपाश्च बीभत्सुस्तस्मिन् दौर्योधने वने ।
भयमुत्पादयामास बलवानरिमर्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले बलवान् अर्जुनने अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे, धनुषकी टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे, अत्यन्त भैरव गर्जना करनेवाले वानरके प्रभावसे तथा भीषण नाद फैलानेवाले शङ्खसे भी दुर्योधनकी उस सेनामें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥ १५-१६ ॥

रथशक्तिममित्राणां प्रागेव निपतद् भुवि ।
सोऽपयात् सहसा पश्चात् साहसाच्चाभ्युपेयिवान् ॥ १७ ॥

शत्रुओंकी रथशक्तिको तो अर्जुन पहलेसे ही धरतीपर सुला चुके थे। फिर असमर्थोंका वध करना अनुचित साहस मानकर वे एक बार वहाँसे हट गये, परंतु (उन सैनिकोंको युद्धके लिये उद्यत देख) फिर उनके पास आ गये ॥

शरव्रातैः सुतीक्ष्णाग्रैः समादिष्टैः खगैरिव ।
अर्जुनस्तु खमावव्रे लोहितप्राशनैः खगैः ॥ १८ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए अत्यन्त तीखी धारवाले बाणसमूह मानो रक्त पीनेवाले आकाशचारी पक्षी थे, उनके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण आकाशको ढँक दिया ॥ १८ ॥

अत्र मध्ये यथार्कस्य रश्मयस्तिग्मतेजसः ।
दिशासु च तथा राजन्नसंख्याताः शरास्तदा ॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे प्रचण्ड तेजवाले सूर्यदेवकी किरणें एक

पात्रमें नहीं अँट सकती, उसी प्रकार उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें फैले हुए अर्जुनके असंख्य बाण आकाशमें समा नहीं पाते थे ॥ १९ ॥

सकृदेवानतं शेकू रथमभ्यसितुं परे ।
अलभ्यः पुनरश्वैस्तु रथात् सोऽतिप्रपादयेत् ॥ २० ॥

शत्रुसैनिक अर्जुनका रथ निकट आनेपर उसे एक ही बार पहचान पाते थे; दुबारा इसके लिये उन्हें अवसर नहीं मिलता था; क्योंकि पास आते ही अर्जुन उन्हें घोड़ोंसहित इस लोकसे परलोक भेज देते थे ॥ २० ॥

ते शरा द्विट्शरीरेषु यथैव न ससज्जिरे ।
द्विडनीकेषु बीभत्सोर्न ससज्जे रथस्तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनके वे बाण जिस प्रकार शत्रुओंके शरीरमें अटकते नहीं थे, उन्हें छेदकर पार निकल जाते थे, उसी प्रकार उनका रथ भी उस समय शत्रु-सेनाओंमें कहीं रुकता नहीं था; उनको चीरता हुआ आगे बढ़ जाता था ॥ २१ ॥

स तद् विक्षोभयामास ह्यरातिबलमञ्जसा ।
अनन्तभोगो भुजगः क्रीडन्निव महार्णवे ॥ २२ ॥

जैसे अनन्त फणोंवाले नागराज शेष महासागरमें क्रीड़ा करते हुए उसे मथ डालते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने अनायास ही शत्रुसेनामें घूम-घूमकर भारी हलचल पैदा कर दी ॥ २२ ॥

अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवातिगस्तथा ।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ॥ २३ ॥

जब अर्जुन बाण चलाते थे, उस समय समस्त प्राणी सदा उनके गाण्डीव धनुषकी बड़े जोरसे होनेवाली अद्भुत टंकार सुनते थे। वैसी टंकार-ध्वनि पहले किसीने कभी नहीं सुनी थी। उसके सामने दूसरे सभी प्रकारके शब्द दब जाते थे ॥ २३ ॥

संततास्तत्र मातङ्गा बाणैरल्पान्तरान्तरे ।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः ॥ २४ ॥

उस युद्धभूमिमें खड़े हुए हाथियोंके सम्पूर्ण अङ्ग बहुत थोड़ी-थोड़ी दूरपर बाणोंसे छिद गये थे। इस कारण वे सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते थे ॥

दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः ।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमण्डलम् ॥ २५ ॥

अर्जुन सब दिशाओंमें बार-बार घूमते हुए दाँयें-बाँयें बाण चला रहे थे; इसलिये युद्धमें अलातचक्रकी भाँति उनका मण्डलाकार धनुष सदा दृष्टिगोचर होता रहता था ॥

पतन्त्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन ।
नालक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ॥ २६ ॥

जैसे आँखें रूपहीन पदार्थोंपर कभी नहीं पड़तीं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनके बाण उन व्यक्तियोंपर नहीं पड़ते थे, जो उनके बाणोंके लक्ष्य नहीं थे (अर्थात् जिन्हें वे अपने बाणोंका निशाना नहीं बनाना चाहते थे।) ॥ २६ ॥

मार्गो गजसहस्रस्य युगपद् गच्छतो वने ।
यथा भवेत् तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ॥ २७ ॥

जैसे वनमें एक साथ चलते हुए सहस्रों हाथियोंके पद-चिह्नोंसे बहुत साफ और चौड़ा रास्ता बन जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके रथका मार्ग भी उनकी बाणवर्षा-से साफ हो जाता था ॥ २७ ॥

नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह ।
हन्त्यस्मानित्यमन्यन्त पार्थेन निहताः परे ॥ २८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए शत्रु ऐसा समझते थे कि निश्चय ही अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखनेके कारण साक्षात् इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर हमें मार रहे हैं ॥ २८ ॥

घ्नन्तमत्यर्थमहितान् विजयं तत्र मेनिरे ।
कालमर्जुनरूपेण संहरन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उस समरभूमिमें असंख्य शत्रुओंका संहार करते हुए पार्थकी ओर देखकर लोग यह मानने लगे कि अर्जुनके रूपमें साक्षात् काल ही आकर सबका संहार कर रहा है ॥ २९ ॥

कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाहतान्यपि ।
सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥

कौरव-योद्धाओंके शरीर कुन्तीनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे पार्थके बाणोंसे मारे हुएकी ही भाँति पड़े थे; क्योंकि पार्थके इस अद्भुत पराक्रमकी उन्हींसे उपमा दी जा सकती है ॥ ३० ॥

ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात् ।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद् भयात् ॥ ३१ ॥

वे धानकी बालके समान शत्रुओंके सिर क्रमशः काटते जाते थे। अर्जुनके भयसे कौरवोंकी सारी शक्ति नष्ट हो गयी थी ॥ ३१ ॥

अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितान्तराम् ॥ ३२ ॥

अर्जुनके शत्रुरूपी वन अर्जुनरूपी वायुसे ही छिन्न-भिन्न हो लाल धाराएँ (रक्त) बहाकर पृथ्वीको भी लाल करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धृतैः ।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः ॥ ३३ ॥

वायुद्वारा उड़ायी हुई रक्तसे सनी धूलके संसर्गसे आकाशमें सूर्यकी किरणें भी अधिक लाल हो गयीं ॥ ३३ ॥

सार्कं खं तत्क्षणेनासीत् संध्यायामिव लोहितम् ।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः ॥ ३४ ॥

जैसे संध्याकालमें पश्चिमका आकाश लाल हो जाता है, उसी प्रकार उस समय सूर्यसहित आकाश लाल रंगका हो गया था । संध्याकालमें तो सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर परसंताप-कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुपीड़नरूपी कर्मसे निवृत्त नहीं हुए ॥ ३४ ॥

तान् सर्वान् समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान् ।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वानार्च्छद् धनुर्धरान् ॥३५॥

अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले शूरवीर अर्जुनने रणभूमिमें पुरुषार्थ दिखानेके लिये डटे हुए उन सभी धनुषधारियोंपर अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ॥ ३६ ॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह ।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥ ३७ ॥

उन्होंने द्रोणाचार्यको तिहत्तर, दुःसहको दस, अश्वत्थामाको आठ, दुःशासनको बारह, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यको तीन, शान्तनुनन्दन भीष्मको साठ तथा राजा दुर्योधनको सौ क्षुरप्र नामवाले बाणोंसे घायल किया । तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले अर्जुनने कर्णके कानमें एक कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला ॥ ३६-३७ ॥

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत ॥ ३८ ॥

फिर उसके घोड़े और सारथिको भी यमलोक भेजकर रथहीन कर दिया । इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता महाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्णके घायल होने तथा उसके घोड़े, सारथि एवं रथके नष्ट हो जानेपर सारी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ ४० ॥

विराटकुमार उत्तरने कौरव-सेनाको भागती और कुन्तीपुत्र अर्जुनको पुनः युद्धके लिये डटा हुआ देखकर उनका अभिप्राय समझकर यों कहा—'जिष्णो ! मुझ सारथिके साथ इस सुन्दर रथपर बैठे हुए आप अब किस सेनाकी ओर जाना चाहते हैं ? आप जहाँके लिये आज्ञा दें, वहीं आपके साथ चलूँ ॥ ३९-४० ॥

अर्जुन उवाच

लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।
नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठन्तमुत्तर ॥ ४१ ॥
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं दृढधन्विनः ॥ ४२ ॥

अर्जुन बोले—उत्तर ! जिनके लाल-लाल घोड़े हैं, जिन शुभस्वरूप महापुरुषको तुम बाघम्बर पहने देख रहे हो, जो अपने रथपर नीले रंगकी पताका फहराकर बैठे हुए हैं, वे कृपाचार्यजी हैं और वहीं यह उनकी श्रेष्ठ सेना है । मुझे इसी सेनाके पास ले चलो । मैं इन दृढ़ धनुषवाले कृपाचार्यजीको शीघ्र अस्त्र चलानेकी कला दिखलाऊँगा ॥ ४१-४२ ॥

ध्वजे कमण्डलुर्यस्य शातकौम्भमयः शुभः ।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४३ ॥

जिनकी ध्वजामें सुन्दर सुवर्णमय कमण्डलु सुशोभित है, ये सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण हैं ॥ ४३ ॥

सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम् ॥ ४४ ॥

ये मेरे तथा अन्य सब शस्त्रधारियोंके माननीय हैं । तुम इन परम प्रसन्न महावीर आचार्यपादकी रथद्वारा प्रदक्षिणा करो ॥ ४४ ॥

अत्रैव चावरोहैनमेष धर्मः सनातनः ।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नास्य कोपो भवेदिति ॥ ४५ ॥

तुम इसी समय इन्हें आदर दो और युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे रहो । यह सनातन धर्म है । यदि आचार्य द्रोण पहले मेरे शरीरपर प्रहार करेंगे, तब मैं इनके ऊपर भी

बाणोंद्वारा आघात करूँगा । ऐसा करनेपर इन्हें क्रोध नहीं होगा ॥ ४५ ॥

अस्याविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
एतस्य त्वं रथं प्राप्य निवर्तेथाः पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

इनके पास ही जिनकी ध्वजाके अग्रभागमें धनुषका चिह्न दिखायी देता है, ये आचार्यके ही योग्य पुत्र महारथी अश्वत्थामा हैं । ये भी मेरे तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंके लिये माननीय हैं, अतः इनके रथके समीप जाकर भी तुम बार-बार लौट आना ॥ ४६-४७ ॥

य एष तु रथानीके सुवर्णकवचावृतः ।
सेनाग्र्येण तृतीयेन व्यावहार्येण तिष्ठति ॥ ४८ ॥
यस्य नागो ध्वजाग्रेऽसौ हेमकेतनसंवृतः ।
धृतराष्ट्रात्मजः श्रीमानेष राजा सुयोधनः ॥ ४९ ॥

यह जो रथियोंकी सेनामें सोनेका कवच धारण किये तीसरी काम देने योग्य (बिना थकी-मादी) सेनाके साथ विराजमान है, जिसकी ध्वजाके अग्रभागमें नागका चिह्न है और सोनेकी पताका फहरा रही है, यह धृतराष्ट्रपुत्र श्रीमान् राजा सुयोधन है ॥ ४८-४९ ॥

एतस्याभिमुखं वीर रथं पररथारुजम् ।
प्रापयस्वैष राजा हि प्रमाथी युद्धदुर्मदः ॥ ५० ॥

वीर ! शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले अपने इस रथको तुम इसीके सम्मुख ले चलो । यह राजा शत्रुओंको मथ डालनेवाला तथा युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाला है ॥ ५० ॥

एष द्रोणस्य शिष्याणां शीघ्रास्त्रे प्रथमो मतः ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं विपुलं रणे ॥ ५१ ॥

यह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेमें आचार्य द्रोणके शिष्योंमें प्रथम माना गया है । इस युद्धमें आज मैं इसे शीघ्र अस्त्र चलानेकी विपुल कलाका दर्शन कराऊँगा ॥ ५१ ॥

नागकक्षा तु रुचिरा ध्वजाग्रे यस्य तिष्ठति ।
एष वैकर्तनः कर्णो विदितः पूर्वमेव ते ॥ ५२ ॥

जिसकी ध्वजाके अग्रभागपर हाथी या उसकी साँकलके चिह्नसे युक्त पताका फहरा रही है, यह विकर्तनपुत्र कर्ण है । इससे तुम पहले ही परिचित हो चुके हो ॥ ५२ ॥

एतस्य रथमास्थाय राधेयस्य दुरात्मनः ।
यत्तो भवेथाः संग्रामे स्पर्धते हि सदा मया ॥ ५३ ॥

इस दुरात्मा राधापुत्रके रथके निकट जाकर सावधान हो जाना । यह सदा युद्धमें मेरे साथ स्पर्धा रखता है ॥ ५३ ॥

यस्तु नीलानुसारेण पञ्चतारेण केतुना ।
हस्तावापी बृहद्धन्वा रथे तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ५४ ॥
यस्य तारार्कचित्रोऽसौ ध्वजो रथवरे स्थितः ।
यस्यैतत् पाण्डुरं छत्रं विमलं मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ५५ ॥
महतो रथवंशस्य नानाध्वजपताकिनः ।
बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
हैमं चन्द्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
एष शान्तनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
राजश्रियाभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥

जो नीले रंगकी पाँच तारोंके चिह्नसे सुशोभित पताका-वाले रथपर बैठे हुए हैं, जिनका धनुष विशाल है, जिन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे हैं, जिनका वह तारों और सूर्यके चिह्नोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला ध्वज फहरा रहा है, जिनके मस्तकपर श्वेत रंगका उज्ज्वल छत्र सुशोभित है, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे उपलक्षित रथियोंकी विशाल सेनाके अग्रभागमें बादलोंके आगे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके शरीरपर चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीला सोनेका कवच और सुवर्णमय शिरस्त्राण दिखायी देता है, वे श्रेष्ठ रथपर विराजमान महापराक्रमी वीर पुरुष हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म हैं । ये राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी दुर्योधनके अधीन हो रहे हैं । इसलिये मेरे मनको संतप्त-सा किये देते हैं ॥ ५४–५८ ॥

पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥

इनके पास सबसे पीछे चलना । ये मेरे मार्गमें विघ्न-कारक नहीं होंगे । इनके साथ युद्ध करते समय सावधान होकर मेरे घोड़ोंको सँभालना ॥ ५९ ॥

ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
यत्रातिष्ठत् कृपो राजन् योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

राजन् ! अर्जुनकी यह बात सुनकर विराटपुत्र उत्तर निर्भय एवं सावधान हो सव्यसाची धनंजयको उस स्थानपर ले गया, जहाँ कृपाचार्य उनसे युद्ध करनेके लिये खड़े थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि **गोहरणपर्वणि अर्जुनकृपसंग्रामे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः** ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुन-कृप-संग्रामविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम्।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे। उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों॥ १॥

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः॥ २॥

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये। घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये। उन्हें महावत तोमर और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे॥ २॥

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम्।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः॥ ३॥

राजन् ! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था॥ ३॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम्।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम्॥ ४॥

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा॥ ४॥

अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुञ्जताम्।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक्॥ ५॥

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रों-की शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महा-भयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे॥ ५॥

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत्॥ ६॥

ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम्।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा॥ ७॥

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था। वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था। उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रक्खा था। उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे॥ ६-७॥

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः॥ ८॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः॥ ९॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः॥ १०॥

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे। इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे॥ ८-१०॥

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च॥ ११॥
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः।
यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे॥ १२॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे॥ ११-१२॥

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः॥ १३॥

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे॥ १३॥

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत॥ १४॥

जनमेजय ! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी॥ १४॥

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम्।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ॥ १५ ॥

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ॥ १६ ॥

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम्।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ॥ १७ ॥

विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम्।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा—॥ १ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ॥ २ ॥

'उत्तर! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य हैं' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको; जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम्।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ॥ ४ ॥

घोड़ोंको वेगपूर्वक भगानेके जितने उत्तम ढंग हैं, क्रमशः उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ॥ ४ ॥

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ॥ ५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दायीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ॥ ५½ ॥

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ७ ॥

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ॥ ६-७ ॥

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम्।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर भारी आवाज करनेवाले अपने उत्तम शङ्ख देवदत्तको बजाया ॥

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना ।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शङ्खसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ॥ ९ ॥

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः ।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शङ्खकी सराहना करने लगे कि अहो ! यह अद्भुत शङ्ख है, जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ? ॥ १० ॥

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः ।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥

वह शङ्खनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः ।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः ।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः ।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे । उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था । वे अर्जुनके शङ्ख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे । शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शङ्खनादको नहीं सह सके, उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शङ्ख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ॥ १२-१३ ॥

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः ।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शङ्खनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यञ्चा खींचकर टंकारध्वनि की ॥ १४ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥

वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः ।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ॥ १६ ॥

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम् ।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ॥ १७ ॥

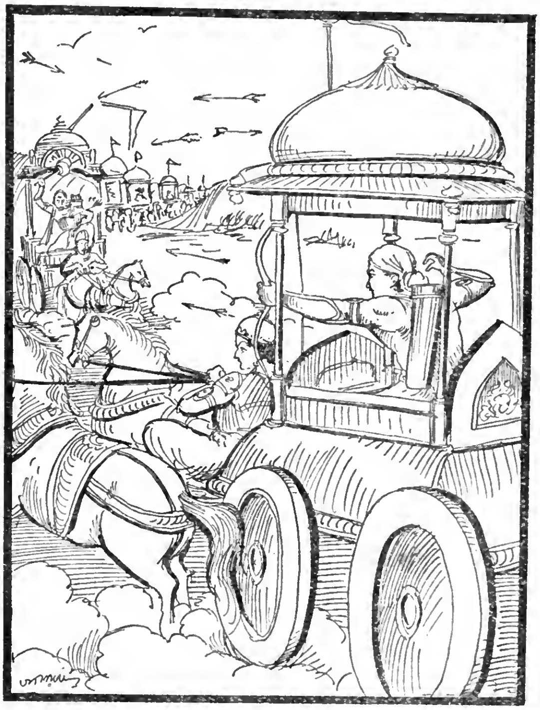

तान् प्राप्ताञ्छितैर्बाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान् ।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन् ।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ॥ १९ ॥

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम् ।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥

तदनन्तर अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने

सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया। आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २० ॥

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े ज़ोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ॥ २३ ॥

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल) वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला। वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे। विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े। इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ॥ २२-२३ ॥

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ॥ २४ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम्।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ॥ २५ ॥

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः।
व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया, किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ॥ २७ ॥

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ॥ २८ ॥

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम्।
चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम (कृप) ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९ ॥

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत्।
शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ३० ॥

सच्छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान्।
प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम्।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला। बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२-३३ ॥

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ॥ ३५ ॥

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ३६ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः ।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा ॥ ३७ ॥
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत ॥ ३८ ॥

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया । इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३७-३८ ॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा ॥ ३९ ॥

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता ।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत् ॥ ४० ॥

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उल्टी लौट गयी ॥ ४० ॥

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम् ।
सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ४१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे । उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः ।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत् ॥ ४२ ॥

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योधाओंको बाणवर्षासे रोक दिया ॥ ४२ ॥

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः ।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ४३ ॥

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसङ्गमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया ॥ १ ॥

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात् ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले ॥२॥

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते ।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता ।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे ! तुम्हारा कल्याण हो । जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है । मुझे वहीं ले चलो ॥ ३ ॥

अश्वाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः ।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः ।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः ॥ ४ ॥
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः ।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५ ॥

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं ॥ ४-५ ॥

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ६ ॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष।
धनुर्वेदश्च कात्स्न्र्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः॥ ७ ॥

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। मारिष ! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ॥ ६-७ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम्।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः॥ ८ ॥

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत से सद्गुण नित्य विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे।
तस्मात् त्वं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ॥ ९ ॥

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ। अतः उत्तर ! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान्।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम्।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम्॥ ११ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ॥ ११ ॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम्।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्धूत इव सागरः॥ १२ ॥

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शङ्खको बजाया। उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ॥ १२ ॥

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः॥ १३ ॥

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १३ ॥

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ॥ १४ ॥
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम्॥ १५ ॥

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल वीर्य सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे। युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिङ्गन करने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरत-वंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ॥

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान्।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः॥ १६ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले—॥

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय॥ १८ ॥
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १९ ॥

'आचार्य ! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है। हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं। अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें। अनघ ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे। मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें'॥

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम्।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत्॥ २० ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको अपने पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ॥

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान्।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन्॥ २१ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की॥२१॥

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव॥ २२ ॥

उनका आत्मबल असीम था। उन्होंने चाँदीके समान अंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर तेज

१. 'आर्यस्तु मारिषः' (अमरकोष)

किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ॥ २२ ॥

एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः।
समं विमुञ्चतोः संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक-दूसरेपर) समान-रूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ॥ २४ ॥

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी 'साधु साधु' कहकर सराहना करने लगे— ॥ २५ ॥

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात्।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥

'भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।' इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ॥ २६ ॥

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ॥ २७ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम्।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ॥ २८ ॥

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ॥ २९ ॥

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ॥

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ॥ ३० ॥

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून्।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान्।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुत-से स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ३१-३२ ॥

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ॥

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम्।
स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ ३६ ॥
अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम्।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः ॥ ३७ ॥

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके

सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ॥ ३६-३७ ॥

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ॥ ३८ ॥

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम् ॥ ३९ ॥

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ॥ ३९ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ४० ॥

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४० ॥

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ॥ ४१ ॥

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे । आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ॥ ४२ ॥

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्तयः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ॥ ४३ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्‌ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ॥

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४४ ॥

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ४५ ॥

जैसे दो हाथी एक दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल कर रहे थे ॥ ४५ ॥

तौ व्यवाहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी । वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ॥ ४६ ॥

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ॥ ४८ ॥
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया । यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ॥ ४८-४९ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ॥ ५० ॥

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारण-मात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ॥ ५० ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ॥ ५१ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५१ ॥

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ॥ ५२ ॥

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाण

छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ॥ ५३ ॥

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ॥ ५४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ ५४ ॥

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ५५ ॥

जनमेजय ! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान् होकर फूले हुए पलाश-वृक्षके समान दिखायी देते थे ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं। विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे । सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं । इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त- (भयसे अचेत-) सी हो गयी थी॥५६-५७॥

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने।
आच्छादयेतामन्योन्यं ततक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥

उन दोनोंके धनुष भार सहन करनेमें समर्थ थे । वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक दूसरेको बींधते और आच्छादित कर देते थे ॥ ५८ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ॥ ६० ॥

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ॥ ६० ॥

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम्।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥
प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम्।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओंका यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो ! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये। ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ॥ ६१-६२ ॥

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम्।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६३ ॥

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम्।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ६५ ॥

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाणवर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम्।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ॥ ६६ ॥
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ॥ ६७ ॥

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे। कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षण-भरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ॥ ६६-६७ ॥

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ॥ ६८ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम्।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ॥ ६९ ॥

कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे । जनमेजय ! गाण्डीवधन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया ॥ ६९-७० ॥

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः ॥ ७१ ॥

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की । उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की ॥ ७१ ॥

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः ।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत् ॥ ७२ ॥

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७२ ॥

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः ।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम् ॥ ७३ ॥

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमकी मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया ॥ ७३ ॥

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे ।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था । वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा ॥ ७४ ॥

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान् ।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम् ॥ ७५ ॥

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया ॥ ७५ ॥

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः ।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे । वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे, अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे ।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम् ।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका । उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था ॥ १ ॥

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत् ।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा । वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे ॥ २ ॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः ।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः ॥ ३ ॥

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था । उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी ॥ ३ ॥

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः ।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय ॥ ४ ॥

शत्रुविजयी जनमेजय ! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चट-चट शब्द होने लगता था ॥ ४ ॥

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान् ।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः ॥ ५ ॥

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया । राजन् ! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे ॥ ५ ॥

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम्॥ ६॥

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यञ्चा काट डाली। उसके इस अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे॥ ६॥

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत्॥ ७॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे॥ ७॥

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम्।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः॥ ८॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया॥ ८॥

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा॥ ९॥

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे। फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी॥ ९॥

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत्।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः॥ १०॥

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो॥ १०॥

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम्॥ ११॥

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था॥ ११॥

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ॥ १२॥

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे। महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे॥ १२॥

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः॥ १३॥

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ १३॥

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ १४॥

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे॥ १४॥

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः॥ १५॥

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये। इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए॥ १५॥

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत्॥ १६॥

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की। उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा॥ १६॥

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत॥ १७॥

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा। इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया॥ १७॥

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः॥ १८॥

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे॥ १८॥

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान्।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः॥ १९॥

राजन्! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया॥ १९॥

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित्॥ २०॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया॥ २०॥

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः।

कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—कर्ण ! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है । (उसकी सच्चाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १ ॥

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ॥ २ ॥

कर्ण ! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ॥ २ ॥

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरे लिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥

राधानन्दन ! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ॥ ४ ॥

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥

अरे ! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा । आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ॥ ५ ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था । इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया । परंतु राधापुत्र ! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ॥ ६ ॥

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ॥ ७ ॥

ओ दुर्मते ! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ॥ ७ ॥

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर । समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ॥ ८ ॥

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र ! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा । तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं । यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥

पार्थ ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ॥ १० ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ॥ ११ ॥

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि ॥ १२ ॥

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन

कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है॥ १२॥

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात्।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः॥ १३॥

पार्थ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी॥ १३॥

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः।
योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम्॥ १४॥

कुन्तीकुमार! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा॥ १४॥

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव॥ १५॥

अर्जुन बोले—राधापुत्र! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया॥ १५॥

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः॥ १६॥

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा?॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े॥ १७॥

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम्॥ १८॥

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी वृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका॥ १८॥

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः।
अविध्यदश्वान् बाह्वोश्च हस्तावापं पृथक्-पृथक्॥ १९॥

सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम्।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा॥ २०॥

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया॥ १९-२०॥

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान्।
विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत॥ २१॥

तब कर्णने (अलग रक्खे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी॥ २१॥

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत्।
स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः॥

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख कर्णने अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया॥ २२॥

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः।
तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम्॥ २३॥

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे; किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया॥ २३॥

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः।
आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि॥ २४॥

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २४॥

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा।
विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान्॥ २५॥

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया॥ २५॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित् प्रजज्ञिवान्॥

वह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही॥ २६॥

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः॥ २७॥

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा। यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एक षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—सारथे ! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ॥ १ ॥

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ॥ २ ॥

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम्।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥

नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान्।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर ! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सम्हाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है ॥ ३-४ ॥

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम्।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश ॥ ५ ॥

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५ ॥

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम्।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है ॥६॥

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः।
गदापातेन महता शङ्खानां निस्वनेन च ॥ ७ ॥

सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वीरवर ! गदाओंके भारी आघात, शङ्खोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकार-ध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ॥ ७-८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौंधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ॥ ९ ॥

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ॥ १० ॥

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान्।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ॥ ११ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास सँभालूँ और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ' ॥

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ ! डरो मत । अपने आपको सँभालो । तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं ॥ १३ ॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥

तुम राजकुमार हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये। राजपुत्र ! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले—॥ १६ ॥

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम्।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे ॥ १७ ॥

'राजकुमार ! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ । इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यञ्चा भी काट डालूँगा ॥ १७ ॥

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे ॥ १८ ॥
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शात्रवः।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम् ॥ २० ॥

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो । जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे । आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं ? दाहिने हाथसे या बायेंसे ? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं ॥ १८—२० ॥

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम्।
वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा । हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं ॥ २१ ॥

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने ॥ २२ ॥

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे ॥ २२ ॥

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम्।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते ॥ २३ ॥

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे । आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा ॥ २३ ॥

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः ॥ २४ ॥

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रम-रहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंकी सँभाल रखो ।) आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा ॥ २४ ॥

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ २५ ॥

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखञ्ज नामक लाखों दानवोंका वध किया है ॥ २५ ॥

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम्।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः ॥ २६ ॥

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है ॥ २६ ॥

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम्।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें

निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ॥ २७ ॥

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ॥ २८ ॥

'आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम्।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥

'कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं। मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥ २९ ॥

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान्।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३० ॥

'जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ॥ ३० ॥

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

'मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम्।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥

'वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरव-वनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराटकुमार ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून्।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ३४ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत्।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ॥ ३५ ॥

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३६-३७ ॥

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम्।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ॥३८॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम्।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ॥ ३९ ॥

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे। पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ॥ ४०॥

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला। उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ॥४२॥

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥४३॥

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ॥४४॥

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके बिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ॥४५॥

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था। वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ॥ १ ॥

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ॥ २ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शङ्खोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ॥३॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ॥ ४ ॥

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्छरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ॥ ६ ॥

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

महामना शूरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ॥ ७ ॥

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ॥ ८ ॥
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ॥ ९ ॥

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ॥ ८-९ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ॥ १० ॥
कुण्डलोष्णीवधारीणि जातरूपस्रजस्तथा।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे॥ १०-११ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ॥ १२ ॥

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १२ ॥

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ॥ १४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ १४ ॥

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम्।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ॥ १५ ॥

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ॥ १६ ॥

भारत ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ॥ १६ ॥

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम्।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

पार्थने उस समय वहाँ खूनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरङ्गें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ॥ १७ ॥

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम्।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ॥ १९ ॥

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम्।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ॥२०॥

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाम्।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-से जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज ही उस

नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लंघ्य नदी बहा दी ॥ २१ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः॥ २२ ॥

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यञ्चा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षी महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ़ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ॥ १-२ ॥

तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः॥ ३ ॥

महाराज ! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ ३ ॥

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम्॥ ४ ॥
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ॥ ५ ॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुषोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः॥ ६ ॥

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ॥ ६ ॥

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अङ्गुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ॥ ७ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ॥ ८ ॥

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ॥९॥

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ॥ ९ ॥

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम्॥ १०॥

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ था॥१०॥

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः॥ ११॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत्।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत॥ १२॥

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे॥११-१२॥

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः॥ १३॥

सबने शान्ति (जडता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया॥ १३॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते॥ १४॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े॥१॥

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम्।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः॥ २॥

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रक्खे थे॥ २॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा॥ ३॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे॥ ३॥

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत्॥ ४॥

गङ्गानन्दन भीष्मने शङ्ख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका॥ ४॥

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः॥ ५॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है॥ ५॥

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान्।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान्॥ ६॥

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे॥ ६॥

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्रिणः।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान्॥ ७॥

उन बाणोंमें पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी॥

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि॥ ८॥

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ८॥

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम्।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी॥ ९॥

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया॥ ९॥

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम्।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत्॥१०॥

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रम-को सह न सके। वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ १०॥

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन्।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः॥ ११॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे॥

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव॥ १२॥

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था॥ १२॥

प्रेक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि॥ १३॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे। रणभूमिमें भीष्म पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे॥ १३॥

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः।
गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान्॥ १४॥
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः॥ १५॥

राजन्! दायें-बायें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था। तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया॥ १४-१५॥

तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत्॥ १६॥

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो, उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया॥१६॥

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति॥ १७॥

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाण-समूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे॥ १७॥

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम्।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः॥ १८॥

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया॥ १८॥

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन्।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत्॥ १९॥

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते बोल उठे—'अहो! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया॥ १९॥

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे॥ २०॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात्।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात्॥ २१॥

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं। शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके?॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ।
चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ॥ २२॥

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रों-द्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे॥ २२॥

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम्।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः॥ २३॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे॥ २३॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन्॥ २४॥

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म! साधुवाद॥ २४॥

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान्।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः॥ २५॥

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका

महान् प्रयोग देखा जा रहा है, यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा। उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ॥ २८ ॥

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया ॥ २८ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून्।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥ २९ ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे।२९।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः ॥ ३० ॥

राजन् ! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे। उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ३० ॥

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ॥ ३१ ॥

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे। उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय ! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे। जगत्में यह एक अद्भुत बात थी ॥ ३२ ॥

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ॥ ३४ ॥

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिवपङ्क्तयः ॥ ३५ ॥

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्तिसे दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ॥ ३६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा— ॥ ३७ ॥

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ॥ ३८ ॥

'प्रभो ! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं। दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ॥ ३८ ॥

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः॥ ३९ ॥

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं। यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ॥ ३९ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ॥ ४० ॥

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४० ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम्॥ ४१ ॥

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ॥ ४१ ॥

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ॥ ४२ ॥

'इसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ॥ ४२ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ॥ ४३ ॥

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ॥ ४३ ॥

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम् ।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ॥ ४४ ॥

जनमेजय ! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ॥ ४४ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत् ।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बाँयाँ पार्श्व बींध डाला ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँखवाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ॥ ४६ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७ ॥

स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥ ४८ ॥

उससे पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ॥ ४८ ॥

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

वे बेहोश थे। 'ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये' इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्मकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया। ४९।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ॥ १ ॥

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे । दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्लनामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकशृङ्गः ॥ ३ ॥

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया । राजन् ! प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ॥ ३ ॥

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम् ।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी । जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया । अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे । उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ५ ॥

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥ ६ ॥

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया । उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे ।६।

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ७ ॥

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ॥ ७ ॥

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ८ ॥

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ॥ ८ ॥

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ९ ॥

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा । उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा । जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढक जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ॥ १० ॥

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ॥ १९ ॥

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ ११ ॥

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ॥ ११ ॥

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ॥ १२ ॥

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ॥ १२ ॥

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणाद् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १३॥

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ॥ १३ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात्।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥ १४ ॥

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था। वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम्।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—धृतराष्ट्रके पुत्र! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है? अरे! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिर-का आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ। अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा। राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ॥ १५-१६ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात्।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १७ ॥

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रक्खा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ॥ १७ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधनरक्षितारम्।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽथ रक्ष॥ १८॥

दुर्योधन! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता। अतः वीर पुरुष! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर ले ॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलका पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अङ्कुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ॥ १ ॥

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस

अपमानको न सह सका, अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम्।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम) भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ॥ ३ ॥

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिभङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधनकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम्।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताभ्युपेयुः॥ ५ ॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ॥ ५ ॥

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यतपत् तरस्वी ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य घिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देखकर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥ ७ ॥

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम्।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था ॥

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार॥ ९ ॥

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धारवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥ ९ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम्।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥ १० ॥

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करनेवाले अपने महाशङ्खको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ॥ १० ॥

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥

अर्जुनके बजाये हुए उस शङ्खकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्लभ धनुषोंको त्यागकर सब-के-सब गहरी शान्ति (बेहोशी) में डूब गये ॥ ११ ॥

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२॥

आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम्।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३॥

उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्य-नरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर ! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं। ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ। आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अङ्गोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीर-पर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ॥ १२-१३ ॥

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं। उनके घोड़ोंको बाँयीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ॥ १४ ॥

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ॥ १५ ॥

ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान्।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया। वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ॥ १६ ॥

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥ १७ ॥

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए। उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १८ ॥

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम्।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥ १९ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देव-राज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा—॥ १९ ॥

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत्।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥ २० ॥
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम्।

'पितामह ! यह आपके हाथसे कैसे बच गया ? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे।' तब

शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन्! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी ? और पराक्रम कहाँ था ? ॥ २०½ ॥

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ॥ २२ ॥

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते । इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता । ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते । यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये । कुरुकुलके प्रमुख वीर ! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल । अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ । अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख । सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी
राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी । वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ॥

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥ २४ ॥

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ॥ २४ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे । फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ॥

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ॥ २६½ ॥

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ॥ २७½ ॥

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे । कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा—'राजकुमार ! अब घोड़ोंको लौटाओ । तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये; इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो'॥२८-२९॥

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ॥ ३० ॥

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ६६

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः ।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ॥ १ ॥

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये । उनके मनमें भय समा गया था । वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे । परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी । वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ॥ २-३½ ॥

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम् ।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ॥

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन ! हम आपकी क्या सेवा करें ? अर्जुन ! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं । हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान् ।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ॥)

स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
नाहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—सैनिको ! जो लोग अनाथ, दुखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ । तुम्हारा भला हो । तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ ! तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये । मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता । इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे । कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ॥ ७ ॥

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया । इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा—॥

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।

तान् मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः ।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है । सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ॥ १० ॥

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः ।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ॥ ११ ॥

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन् ! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है । वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे सेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमी-वृक्षके समीप आकर खड़े हुए । उस समय उनके सभी अङ्ग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वज-निवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया । उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ॥ १३ ॥

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुभिः शरांस्तथा ।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्षपर रखकर मत्स्य-कुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ॥ १४ ॥

पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता ।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य ।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली । इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः ।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ॥ १६ ॥
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये । उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया । इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा—॥ १६-१७ ॥

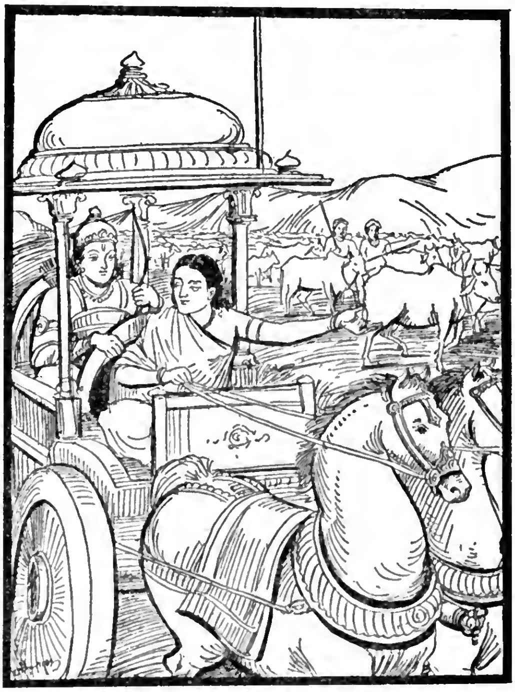

राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ॥ १८ ॥
ततोऽपराह्णे यास्यामो विराटनगरं प्रति।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ॥ १९ ॥

'महाबाहु राजकुमार ! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं। वीर ! अब हमलोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ॥ १८-१९ ॥

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ २० ॥

'तुम्हारेद्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है। शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ॥

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम्।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्टमारोपयतां स्वभाण्डम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ॥२२॥

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ॥ २३ ॥

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमन-विषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः।
अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥

महाराज ! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजय-लक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम्।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ॥ ३ ॥

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए। सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ६ ॥

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने

ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तःपुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं?' तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बतायीं—॥ ५-६ ॥

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः॥ ७ ॥

'इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं॥

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान्॥ ८ ॥

'सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं'॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ। उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा—॥ ९ ॥

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन॥१०॥

'कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे॥ १० ॥

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः॥ ११ ॥

'अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ'॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान्।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-
र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान्॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम्॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ। कुमार जीवित हैं या नहीं। एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा'॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम्।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः॥ १५ ॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा विराटको बहुत दुखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे। उस हितैषी सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है'॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन्॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी॥ १७ ॥

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम्।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम्॥ १८ ॥
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः॥ १९ ॥

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया। अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है। राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं। समस्त गौएँ जीत

ली गयीं तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून्॥२०॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते॥ २०½॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः॥ २१॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्री-को आज्ञा दी—॥ २१-२२॥

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः॥ २३॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम॥ २४॥

'मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलंकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृङ्गारसे सुशोभित वाराङ्गनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ॥ २३-२४॥

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम्।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम॥ २५॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम॥ २६॥

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गज-राजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जायँ'॥ २५-२६॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम्।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च॥ २७॥
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम्॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और वंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शङ्ख तथा पणव आदि माङ्गलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये॥ २७-२८॥

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत्॥ २९॥

राजन्! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वाराङ्गनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले—॥ २९॥

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम्।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत॥ ३०॥

'सैरन्ध्री! जा, पासे ले आ। कङ्क! जूआ प्रारम्भ हो।' उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—॥

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम्।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे॥ ३१॥

'राजन्! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ, अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है'॥ ३१॥

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम्॥ ३२॥

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रक्खा जाता है, बिना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है)॥ ३२॥

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥ ३३॥

कङ्क बोले—सबको मान देनेवाले महाराज! आपको जूएसे क्या लेना है? इसमें तो बहुत-से दोष हैं। जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये॥ ३३॥

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातृंश्च त्रिदशोपमान्॥ ३४॥
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः॥
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम्॥
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम्।)
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते॥ ३५॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा। वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे। अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता। नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे। इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं। जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। राजन्! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही॥ ३४-३५॥

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत्।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जूएका खेल आरम्भ हो गया। खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो, आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है'॥ ३६॥

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि॥ ३७॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा?'॥ ३७॥

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत्।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि॥ ३८॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है!॥ ३८॥

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति॥ ३९॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि॥ ४०॥

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है। निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है। भला मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा? ब्रह्मन्! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ। यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न कहना'॥ ३९-४०॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः॥ ४१॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान्॥ ४२॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष, चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है?॥ ४१-४२॥

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते॥ ४३॥
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान्।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते॥ ४४॥

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे?॥ ४३-४४॥

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत्॥ ४५॥

विराटने कहा—कङ्क! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है। सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता॥ ४५॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम्।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन्॥ ४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—'फिर कभी ऐसी बात न कहना' ॥ ४६ ॥

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत्।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम्।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

पासेका आघात जोरसे लगा था, अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली । किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा । द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी । उस सती साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ॥ ४७-४९ ॥

अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये । मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ॥ ५० ॥

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ॥ ५१ ॥

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत्।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥

तब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो ! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं' ॥

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत्।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ॥ ५३ ॥

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत्।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें । बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ॥ ५४ ॥

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम्।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत्।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ५५ ॥

'महाबाहो ! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ॥ ५५ ॥

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम्।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कङ्कको भी मस्तक झुकाया ॥ ५७ ॥

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम्।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ॥ ५८ ॥

उसने देखा, कङ्क एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ॥ ५८ ॥

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥ ५९ ॥

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन् ! किसने इन्हें मारा है ? किसने यह पाप किया है ?' ॥ ५९ ॥

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥ ६० ॥

विराटने कहा—बेटा ! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी बड़ाई करने लगता है ॥ ६० ॥

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम्।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ॥ ६१ ॥

उत्तर बोले—राजन् ! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ॥ ६२ ॥

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ६३ ॥

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—'राजन् ! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रक्खा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ॥ ६३ ॥

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाराज ! यदि मेरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरतीपर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ६४ ॥

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम्।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'राजन् ! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है' ६५

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कङ्कको भी प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम्।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे—॥ ६७ ॥

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

'कैकेयीनन्दन ! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है; न होगा ही ॥ ६८ ॥

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात्।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७० ॥

'तात ! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंका वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ ? बेटा ! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई ? ॥ ६९-७० ॥

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७१ ॥

'तात ! जो वृष्णिवीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ? ॥ ७१ ॥

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ॥ ७२॥

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाई कैसे हुई ?॥ ७२ ॥

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७३॥

'बेटा ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ? ॥ ७३ ॥

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७४ ॥

'तात ! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई ? ॥ ७४ ॥

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ ७५ ॥

'बेटा ! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ । आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुखदायिनी प्रतीत हो रही है ॥ ७५ ॥

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।
नूनं प्रकाल्य तान् सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा ॥ ७६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है' ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवाद-विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है । यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है ॥ १ ॥

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत् ।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा ॥ २ ॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया ॥ २ ॥

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम् ॥ ३ ॥

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है । पिताजी ! यह सब उसी वीरका कर्म है । मैंने कुछ नहीं किया है ॥ ३ ॥

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः ॥ ४ ॥
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम् ।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः ॥ ५ ॥

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मारकर युद्धसे भगा दिया । वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४-५ ॥

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन ।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रकुमार ! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवनरक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा ॥ ६ ॥

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु ।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'राजन् ! भागनेसे तू नहीं बच सकता । युद्धमें मन लगा । जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा' ॥ ७ ॥

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान् ।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ॥ ८ ॥

महाराज ! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और

मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥

मारिष ! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ॥ ९ ॥

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः॥१०॥
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये। जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ॥ १०-११ ॥

विराट उवाच

क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम्।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

विराटने पूछा—बेटा ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है ? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम्।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसक-वेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ॥ १५ ॥

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ॥ १६ ॥

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ॥ १७ ॥
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १८ ॥
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥ १९ ॥

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई। जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया। भरतकुलशिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रक्खे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ १—३॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः॥ ४॥

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये॥ ४॥

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः॥ ५॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम्।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम्॥ ६॥

वहाँ प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवोंको देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराजके तुल्य सुशोभित कङ्कसे बोले—॥ ५-६॥

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः॥ ७॥

'कङ्क! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये?'॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत्।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले॥ ८॥

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्याप्यर्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः॥ ९॥

अर्जुनने कहा—राजन्! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं॥ ९॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम्॥ १०॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन॥ ११॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा॥ १०-११॥

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः॥ १२॥

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किंनर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है॥ १२॥

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी॥ १३॥

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगोंको अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं॥ १३॥

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः।
बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः॥ १४॥

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेरके समान हैं॥ १४॥

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः॥ १५॥

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं, उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं॥ १५॥

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा॥ १६॥

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है॥ १६॥

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः॥ १७॥

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं॥ १७॥

एनं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून्॥ १८॥

राजन्! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे॥ १८॥

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा॥ १९॥

इसी प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे॥ १९॥

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
अस्तुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः॥ २०॥

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे॥ २०॥

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः॥ २१॥

राजन्! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे॥ २१॥

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत्।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि॥ २२॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम्॥ २३॥

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी॥ २२-२३॥

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान्।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः॥ २४॥

ये बूढ़े, अनाथ, पङ्गु और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे। ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे॥ २४॥

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः॥ २५॥

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मणभक्त और सत्यवक्ता हैं॥ २५॥

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः॥ २६॥

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है॥ २६॥

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंसश्च पाण्डवः॥ २७॥
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते॥ २८॥

नरेश्वर! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन्! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं?॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीमाभहारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७०॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली॥ १॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित्॥ २॥

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं? कौन महाबली भीम हैं? नकुल, सहदेव अथवा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा॥ १-२॥

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः॥ ३॥

अर्जुन बोले—महाराज ! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ॥ ३ ॥

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने ।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ॥ ४ ॥
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम् ।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ॥ ५ ॥

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ॥ ४-५ ॥

(हिडिम्बं च बकं चैव किर्मीरं च जटासुरम् ।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सर्वतः सुखम् ॥)

इन्होंने ही हिडिम्ब, बकासुर, किर्मीर और जटासुरको मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था ॥

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः ।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ६ ॥
श्रृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ॥ ७ ॥

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम श्रृङ्गार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ ६-७ ॥

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी ।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥ ८ ॥

राजन् ! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥ ९ ॥

महाराज ! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ॥ ९ ॥

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने ।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ १० ॥

राजन् ! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः ।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ॥ ११ ॥

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ॥ १२ ॥

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ॥ १२ ॥

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ १३ ॥

उत्तर बोले—पिताजी ! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुल-नरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ॥ १३ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ १४ ॥

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ॥ १४ ॥

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ १५ ॥

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्याम वर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ १५ ॥

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः॥ १७ ॥

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अङ्गोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपद-कुमारी महारानी कृष्णा हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपतेः।
ततोऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ॥ १८ ॥

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी ।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान्॥ १९॥

उत्तरने कहा—पिताजी! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ॥ १९ ॥

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हतः ।
सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ २० ॥

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ॥ २० ॥

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि ।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥ २१ ॥

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शङ्खकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ २२ ॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते ।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तरकी यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—'बेटा! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो; तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ' ॥ २२-२३ ॥

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

उत्तरने कहा-पिताजी! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ॥२४॥

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

विराट बोले—बेटा! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राम-में शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ २६ ॥

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियों-सहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ॥ २६ ॥

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ॥ २७ ॥

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित वचन कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार ।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन् ! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ ॥ २८-२९ ॥

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः ।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया ॥ ३० ॥

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः ।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात् ।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः ॥ ३२॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है ॥ ३२ ॥

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किंचन ।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया ॥ ३३ ॥

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें ॥ ३३ ॥

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः ।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः ॥ ३४ ॥

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं' ॥ ३४ ॥

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम् ।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव ।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि ॥ ३६ ॥

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्ती-नन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्र-वधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है' ॥ ३५-३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम ।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि ॥ १ ॥

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते ? ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव ।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ॥ २ ॥
प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः ।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है ॥ २-३ ॥

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः ।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो ॥ ४ ॥

राजन् ! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो ! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा ॥ ४ ॥

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप ।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया॥५॥

महाराज ! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरेद्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ॥ ५ ॥

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः।
अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है; अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलङ्ककी शङ्का नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ॥ ६ ॥

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥

परंतप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ; (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था); इसलिये राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है। वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है। साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ॥ ८ ॥

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा ॥ ९ ॥

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्रे धनंजये।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ॥ १० ॥
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम्।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः॥ ११ ॥

विराट बोले—पार्थ ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्तीदेवीके पुत्र हैं। धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं। अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराटके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन किया ॥

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥ १४ ॥

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ॥ १४ ॥

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ॥ १५ ॥

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे। वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ॥ १६ ॥

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः॥ १७ ॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे। उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी परास्त न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे। इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सब-के-सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिक-से-अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ १९ ॥

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥

तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च ।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे। तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे। वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ॥ २०—२२ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः ।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ॥ २३ ॥

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा ।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः ।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेवके साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी। इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ॥ २४-२५ ॥

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ॥ २६ ॥
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः ।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये। तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ॥२६½॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ॥ २७ ॥
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि ।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शङ्ख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। साथ ही उन्होंने खाने योग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ॥ २७-२८ ॥

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा ।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः ।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ३० ॥

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं। उन सबके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे। उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रक्खे थे ॥ ३० ॥

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥

वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं। रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ॥ ३१ ॥

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम् ।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥ ३२ ॥

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः ।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अङ्गोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ॥ ३३ ॥

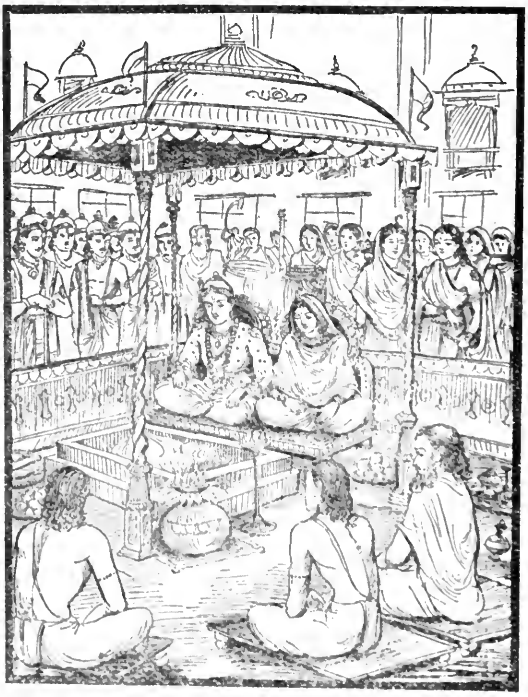

तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन् ।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे। उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अङ्गीकार किया ॥ ३४ ॥

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम् ।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ ३५ ॥

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् ।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ॥ ३६ ॥
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः ।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया। साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ३६-३७ ॥

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया ॥ ३८ ॥

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च ।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिकी पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं। जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था॥३९-४०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२१२५	(१९८)	२८३॥	२४०८॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२४९	(२२॥)	३३॥	२८२॥

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या २६९१—

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम् ॥ १ ॥

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) का भय नहीं होता है ॥ १ ॥

दुर्गतेस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत् ।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते ॥ २ ॥

पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसङ्गका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है। उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है ॥ २ ॥

सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः ।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च ॥ ३ ॥
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने ॥ ४ ॥

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च ।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः ॥ ५ ॥
प्रीतये देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके ।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः ।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये। वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और मिश्री मिलायी हुई खीरका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस विधिसे विराटपर्व सुननेपर श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ ५—७ ॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

[illegible]

महाभारत

([illegible] खण्ड)

[[illegible] भीष्मपर्व]

([illegible] अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

[उद्योगपर्व और भीष्मपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १२॥) साढ़े बारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

उद्योगपर्व

(सनत्सुजातपर्व)

(यानसंधिपर्व)

(भगवद्यानपर्व)

चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)

॥ श्रीहरिः ॥

भीष्मपर्व

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

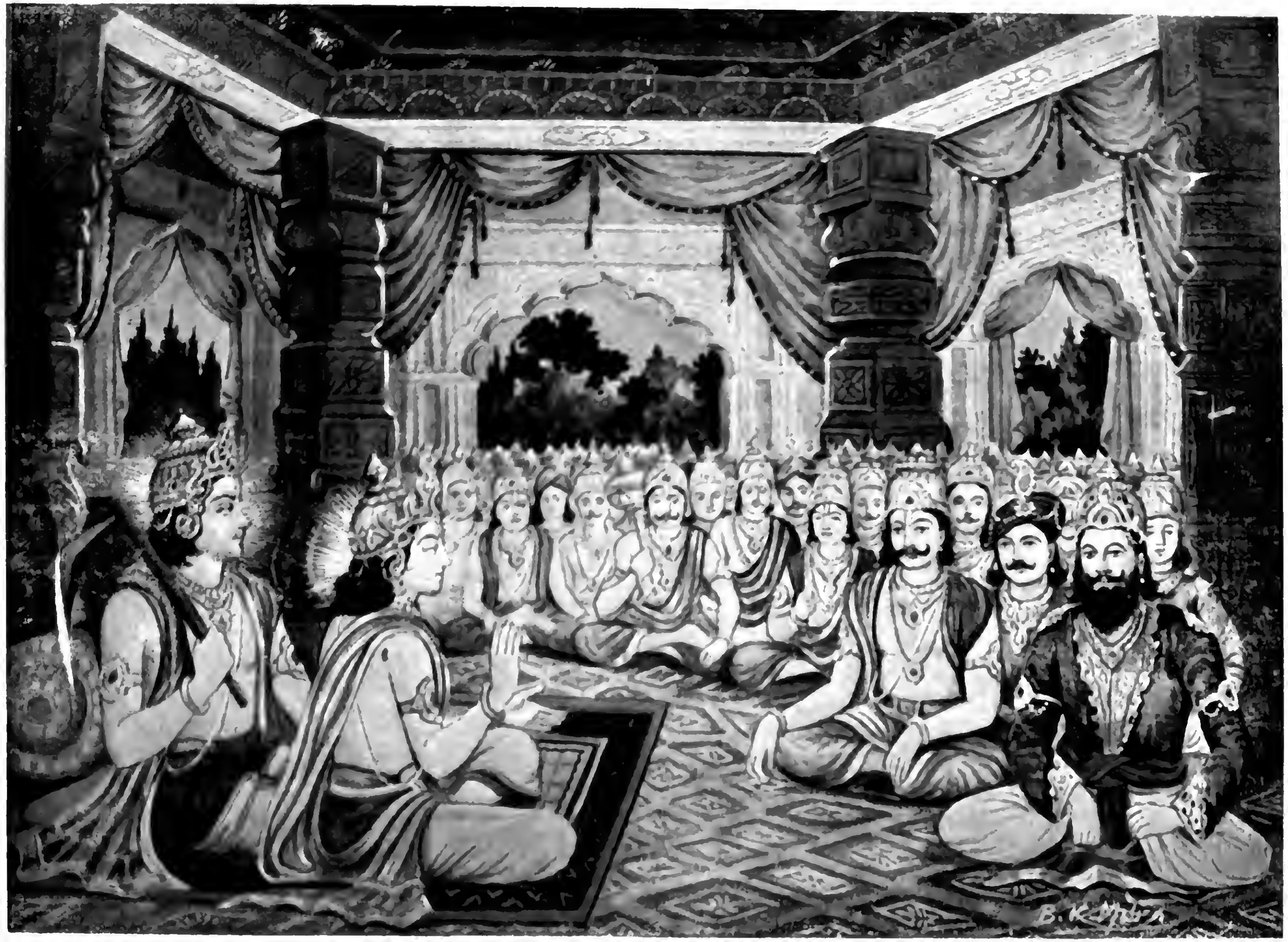

विराटकी राजसभामें श्रीकृष्णका भाषण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

(सेनोद्योगपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः॥ १॥

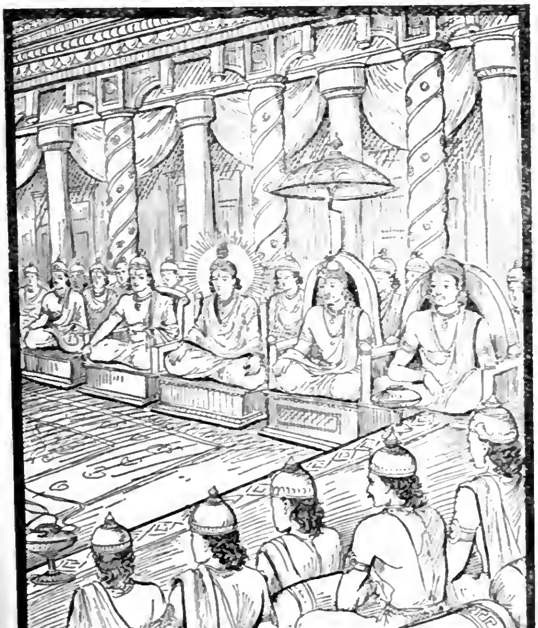

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव-पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए। रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए॥१॥

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः॥ २॥

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धिशालिनी थी। उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि) की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं। उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि) की पच्चीकारी की गयी थी। इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी। वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए॥२॥

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च॥ ३॥

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे। तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये॥३॥

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च॥ ४॥

पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे॥४॥

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च ।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥ ५ ॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव ।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥ ६ ॥

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे । द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे । वे सबके सब शूरवीर थे ॥ ५-६ ॥

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥ ७ ॥

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी; मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ॥७॥

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः ।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं । फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ॥ ८ ॥

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः ।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यशृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था । जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम् ।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥ १० ॥

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण ! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है । उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ॥ १० ॥

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत् ।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥ ११ ॥

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं । सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है । इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ॥ ११ ॥

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽयं
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे ।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ॥ १२ ॥

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ॥

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम् ।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३ ॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥ १४ ॥

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है । ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें । आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो । धर्मराज युधिष्ठिर यदि

धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ॥ १३-१४ ॥

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ॥ १५ ॥

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है ॥ १५ ॥

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ॥ १६ ॥

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ॥ १६ ॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम् ।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ॥ १७ ॥
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ॥ १८ ॥
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत् ।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ॥

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ॥ १९ ॥
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ॥ २० ॥

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ॥ १९-२० ॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ॥ २१ ॥

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ॥ २१ ॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः ।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ॥ २२ ॥

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि, दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? ॥ २३ ॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा

निश्चय कैसे कर सकते हैं ? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ॥ २४ ॥

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ॥ २४½ ॥

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितकी यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिर-का भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ॥ १ ॥

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ॥ २ ॥

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ॥

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरके संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवों-में शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ॥ ४ ॥

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं
वैचित्रवीर्यं च महानुभावम्।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं च ससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानु-भाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्र पुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, उन सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े-बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ॥५-७॥

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः।

प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ॥ ८ ॥

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः ।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः ।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम् ।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ॥ ९–१०½ ॥

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित् ।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रक्खा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ॥ ११½ ॥

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन ।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ॥ १२½ ॥

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥

कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकाङ्क्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात ।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनि-वंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते ।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! मनुष्यका जैसा

हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं ॥ १ ॥

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ॥ २ ॥

संसारमें शूर-वीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं ॥२॥

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ३ ॥

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली ॥ ३ ॥

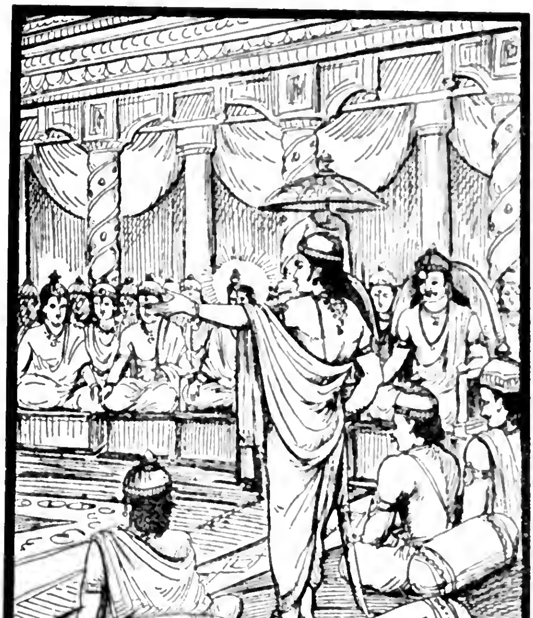

नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ॥ ४ ॥

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुल-रत्न ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हीं-को मैं दोषी मानता हूँ ॥ ४ ॥

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ॥ ५ ॥

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्म-राज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है ? ॥ ५ ॥

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ॥ ६ ॥

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है ? ॥ ६ ॥

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत्।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा ॥ ७ ॥
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ॥ ८ ॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है ? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें— क्यों प्रणाम अथवा विनय करें ? ॥ ७-८ ॥

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्।
यद्ययं परवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम्।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं ॥ ९½ ॥

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं ॥ १०½ ॥

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पांण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका]

निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ॥ ११½ ॥

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ॥१२½॥

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ॥ १३½ ॥

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ॥ १४½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ॥ १५ ॥
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है ? ॥ १५-१६½ ॥

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥१७॥
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्ति बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डवकुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं। महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है। गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है ? ॥ १७-१८½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ॥ १९½ ॥

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं है। शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ॥ २०½ ॥

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥ २३ ॥

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें। धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें। अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ॥ २१–२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ॥ २ ॥

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो! तुम्हारा कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा। अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे। भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा

कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ॥ १-२ ॥

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता । मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है । मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ॥ ३-४ ॥

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥ ५ ॥

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ॥ ५ ॥

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ॥ ६ ॥

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये । हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ॥ ७ ॥

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥

भगवन् ! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकयराजकुमारोंके पास जायँ ॥ ८ ॥

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा । श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ॥

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥ १० ॥

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो । मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ॥ १० ॥

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः ।
भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ॥ ११ ॥

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शीघ्र दूत भेजे जायँ । पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके पास भी दूत भेजना चाहिये ॥ ११ ॥

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च ।
दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ॥ १२ ॥

भगवन् ! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके पास भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ॥ १२ ॥

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ॥ १३ ॥
बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च ।
सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ॥ १४ ॥
शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः ।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान् ।
दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ॥ १६ ॥
आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः ।
भूतितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ॥ १७ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान् ।
काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ॥ १८ ॥
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरञ्जयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥

बृहन्तको भी बुलाया जाय । राजा सेनाबिन्दु, सेनजित्, प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुञ्जकेश, चैद्यराज सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज तथा दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये । सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, राजा

पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूष-देशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, यौतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्धव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्वपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिङ्गराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ॥ १३–२४ ॥

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः ।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

मत्स्यराज ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ॥ २५ ॥

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः ।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

दुर्योधनसे क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है ? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है ? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है ? यह सब उन्हें समझा दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरसे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे ।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो ! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है । इसीसे अमिततेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम् ।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ॥ २ ॥

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये । जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ॥ २ ॥

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु ।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है । पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथा-योग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ॥ ३ ॥

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान् ।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ४ ॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं । विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे ॥ ४ ॥

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च ।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं । इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ॥ ५ ॥

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते ।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ॥ ६ ॥

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः ।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ७ ॥

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्यसिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये । आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगों-का निश्चित मत होगा ॥ ७ ॥

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः ।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्दवश महान् संहार न होगा ॥ ८ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥ ९ ॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ॥ ९ ॥

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्दबुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये विदा किया ॥ ११ ॥

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ॥ १२ ॥

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिलकर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते।
समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट तथा पाञ्चालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम्।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है; यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुलाना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात्।
तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ॥ १६ ॥
संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता।

राजन्! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्यसे दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे। इनकी चतुरङ्गिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी जान पड़ने लगी ॥ १६½ ॥

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ॥ १७ ॥
चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम्।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, वे पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी कर रहे थे ॥ १७½ ॥

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम्।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर पाञ्चालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहित-प्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमें भी बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १ ॥

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सिद्धान्तके ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष तथा उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः ।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥ ३ ॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं । आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ॥ ३ ॥

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च ।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है । दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ॥ ४ ॥

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है । धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ॥ ५ ॥

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते ।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ॥ ६ ॥
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम् ।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं । शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ॥ ६½ ॥

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम् ।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है । अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ॥ ७½ ॥

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ॥ ८ ॥
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति ।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ॥ ८½ ॥

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ॥९॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति ।

विदुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ॥ ९½ ॥

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ॥ १० ॥
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति ।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा—पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ॥ ११ ॥
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम् ।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ॥ ११½ ॥

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ॥ १२ ॥
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः ।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसंदेह वे सैन्य-संग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ॥ १२½ ॥

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ॥ १३ ॥
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव ।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधानरूपसे दिखायी देता है । यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें ॥

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ॥ १४ ॥
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन् ।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः ।

आप धर्मपरायण तो हैं ही; वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा । इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ॥ १४-१५½ ॥

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ॥
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ॥ १६½ ॥

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥ १७ ॥

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार सम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः ।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ॥ १९ ॥

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जयमेजय ! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ॥ २

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ॥ ३-४ ॥

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥ ५ ॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५ ॥

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दन ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रक्खे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार

दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना

करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुए-से कहा—॥ १०-११ ॥

विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति।
समं हि भवतः सख्यं मम नैवार्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ॥ १३ ॥
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ॥ १४ ॥

'माधव! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें। आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं। जनार्दन! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' १२-१४ ॥

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ॥ १५ ॥

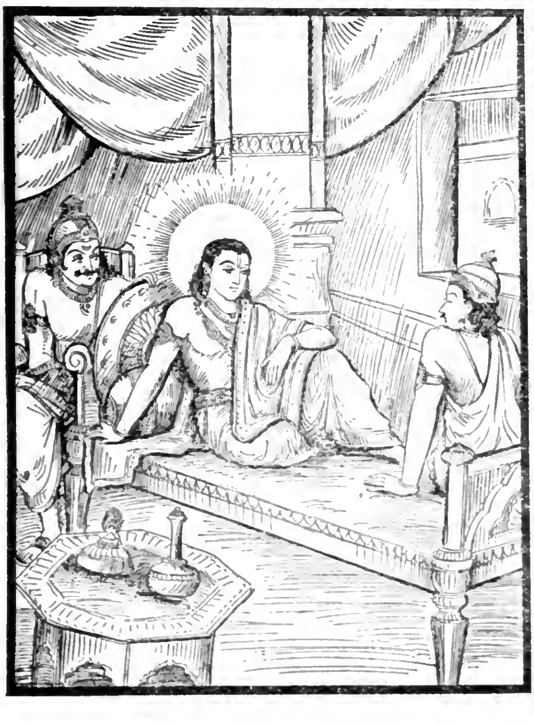

तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥

सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ॥ १६ ॥

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं॥

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत्।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सबके सब मेरे-जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ॥ १८ ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ॥ १९ ॥

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम्।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥

अर्जुन! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृपु।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २१-२२ ॥

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ॥ २४ ॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलः।

सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत्।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ २५ ॥

जनमेजय ! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी । उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसका बल भयंकर था । वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजीके पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया । तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २३–२५ ॥

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा ॥ २६ ॥

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह ! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा ॥ २६ ॥

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः ॥ २७ ॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है । राजन् ! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्णको जँची नहीं और मैं श्रीकृष्णको छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता ॥ २७-२८ ॥

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥ २९ ॥

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही ॥ २९ ॥

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

पुरुषरत्न ! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरतवंशमें उत्पन्न हुए हो । जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम्।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्णको ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित विजय समझ ली ॥ ३१ ॥

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके पास गया । कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी ॥ ३२ ॥

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गया ॥ ३३ ॥

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत्।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ॥ ३४ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं; फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है ?' ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । पुरुषोत्तम ! (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हूँ ॥ ३५ ॥

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥ ३६ ॥

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं । आप जहाँ भी रहेंगे, वह यश आपका ही अनुसरण करेगा । मुझे भी यशकी इच्छा है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है ॥ ३६ ॥

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आपके हाथोंमें सौंप दूँ । मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको आप पूर्ण करें ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! तुम जो (शत्रुओं-

पर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः ।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ॥ १ ॥

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ॥ २ ॥

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

राजन् ! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे। सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे। वे सब-के-सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे। उन सबके अङ्गोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे। सभीके रथ और वाहन विचित्र थे। सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं। सबके वस्त्र और अलङ्कार अद्भुत दिखायी देते थे। उन सबने अपने-अपने देशकी वेष-भूषा धारण कर रक्खी थी ॥

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ॥ ६ ॥

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानोंपर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये, जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे। उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ॥ ८ ॥

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीडा-विहारके स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी गयी थीं ॥ ९ ॥

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं। बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी ॥ १० ॥

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः ।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥ ११ ॥

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओंकी भाँति पूजित होते थे ॥ ११ ॥

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम्।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम्।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा—॥ १३ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ॥ १४ ॥

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम्।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ॥ १५ ॥

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहार-का अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ॥ १५ ॥

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम्।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले)प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम्।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम्।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ॥१८॥

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम्।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ॥

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो! मैं आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ॥)

शल्यने कहा—महाराज! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक बनूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली। अब और कौन-सा कार्य करूँ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ॥ २० ॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन! अब तुम अपने नगर-को जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ॥२०॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! पृथ्वीपते ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये। राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ॥ २२ ॥

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ॥ २३ ॥

शल्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने नगरको जाओ। मैं शीघ्र आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ॥ २३ ॥

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम्।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी वह करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ॥ २४ ॥

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहाँ उन सब पाण्डवोंसे मिले ॥ २५ ॥

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्रीयौ च यमावुभौ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ॥ २७½ ॥

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ॥
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत्।

भारत ! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आपका स्वागत है। इस आसनपर विराजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ॥
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशल-समाचार पूछा। उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २८ ॥

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशलसे तो हो न ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ॥ २९ ॥

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥ ३० ॥

'राजन् ! तुमने अपने भाइयों यथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ॥ ३० ॥

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम्।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंने और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है। जो अपने राज्यसे वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ॥ ३२ ॥

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥

'महाराज ! नरेश्वर ! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात ! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है॥ ३३ ॥

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

'भारत ! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर ! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो ॥ ३४ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

'राजा युधिष्ठिर ! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः ॥ ३६ ॥

'महाराज ! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं ॥ ३६ ॥

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

'तात ! परंतप ! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश ! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३७ ॥

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम्।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन् ! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ॥ ४० ॥

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥

परंतु पृथ्वीपते ! आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ। साधुशिरोमणे ! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर ! सुनिये; मैं वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज ! आप इस भूतलपर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने गये हैं ॥ ४१-४२ ॥

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः ॥ ४३ ॥

नृपशिरोमणे ! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल।

राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहें। वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी ! मेरेलिये यह न करनेयोग्य कार्य भी करें ॥ ४४½ ॥

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे ॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो ! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है। यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ॥ ४५-४६ ॥

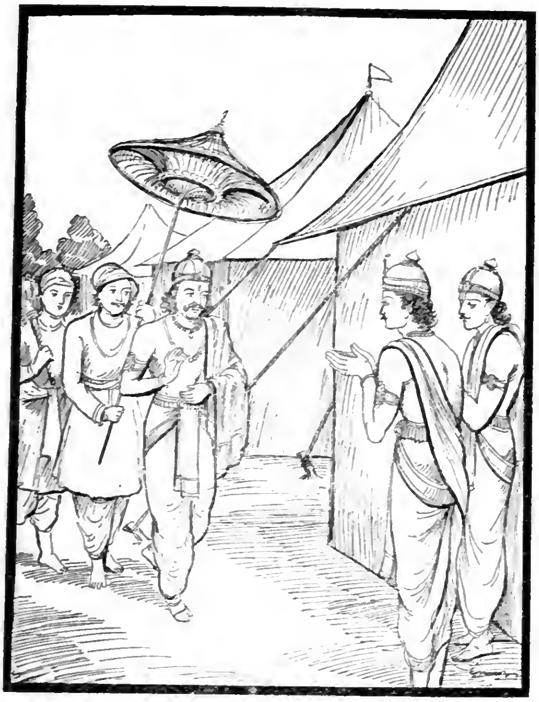

तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन ! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ।४७-४८।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम्।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥४९॥

तात ! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा, इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ४९ ॥

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ॥ ५० ॥
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ॥ ५१ ॥
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर ! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ५०-५२ ॥

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर ! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं । पृथ्वीपते ! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ॥ ५३ ॥

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ॥ ५४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ॥ २ ॥

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश ! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ॥ ३ ॥

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओंमें

श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे। कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिर-वाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप। वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ॥४॥

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत्।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ॥ ५ ॥

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था। उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥ ६ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ॥ ७ ॥

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो; क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।८।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओंको आज्ञा दी— ॥ ९ ॥

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम्।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥

'अप्सराओ ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो। जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ॥ १० ॥

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ॥ १२ ॥

'सुन्दरियो ! तुम सब शृङ्गारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो। वराङ्गनाओ ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ ! तुम मेरे इस अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ॥ ११-१२ ॥

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ॥ १३ ॥

अप्सराएँ बोलीं—शक्र ! बलनिषूदन ! हमलोग विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उनकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम्।

देव ! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं। वहाँ उन्हें वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम पूर्ण प्रयत्न करेंगी ॥ १४½ ॥

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम्।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम्।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः।

शल्य बोले—राजन् ! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं। वहाँ उन

सुन्दरियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अङ्गोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया। तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ॥ १५-१६½ ॥

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन्।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम्।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता। महाभाग! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ॥ १७-१८½ ॥

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ॥ १९½ ॥

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत्।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ २०½ ॥

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा; जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा। बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम्।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया। उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ॥ २२—२४ ॥

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम्।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली। वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ॥ २५ ॥

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ॥ २६ ॥

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे। युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन्।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ॥ २७ ॥

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये। इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ॥ २७ ॥

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ॥ २८ ॥
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ॥ २९ ॥

महाराज! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था। डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा। देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई! तू शीघ्र इस शवके तीनों

मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ॥ २८-२९ ॥

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम्॥ ३०॥

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं। मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषों-द्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति॥ ३१॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तू भय न कर। शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर। मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ॥ ३१ ॥

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे॥ ३२॥

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करनेवाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ। यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३२ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय॥ ३३॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर। इस विषयमें कुछ विचार न कर ॥ ३३ ॥

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते॥ ३४॥

बढ़ईने कहा—देवराज! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं है? ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम्।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया॥ ३५॥

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है। इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव॥ ३६॥

बढ़ई! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभीतक मुझे इसका भय बना हुआ है। तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ॥ ३६॥

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम्॥ ३७॥

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे। बढ़ई! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है। अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ॥ ३७ ॥

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा॥ ३८॥

शल्य कहते हैं—राजन्! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः॥ ३९॥

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी बाहर निकले, कपिञ्जल, तीतर और गौरैये ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः॥४०॥

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिञ्जल पक्षी बाहर निकले थे ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव॥४१॥

युधिष्ठिर! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर पक्षी निकले ॥ ४१ ॥

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ॥ ४२॥

भरतश्रेष्ठ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ॥ ४२ ॥

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ॥ ४३॥

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी। वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ॥ ४३ ॥

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित्।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ॥
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ॥
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ॥
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ॥
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ॥)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्ष-तक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर ! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए ॥

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ॥ ४४½ ॥

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ॥ ४५ ॥

त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्र-ने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ॥ ४५ ॥

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्या-का महान् बल देखें ॥ ४६ ॥

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ॥ ४८ ॥

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्र-

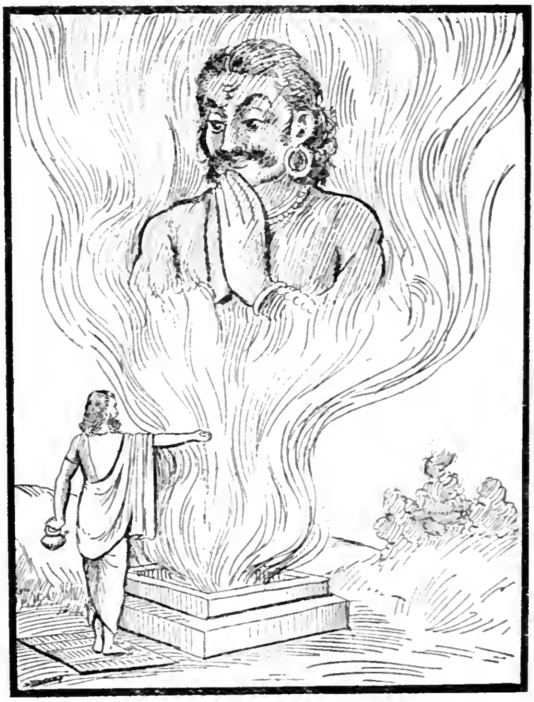

शत्रो ! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा' ॥ ४७-४८ ॥

सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—'पिताजी ! मैं क्या करूँ ?' ॥४९॥

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तब त्वष्टाने कहा—'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे । उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा। तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया । वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये ॥ ५१-५२ ॥

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम् ।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः ।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी । जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अङ्गोंको समेटकर बाहर निकल आये । तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया ॥ ५३-५४ ॥

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम् ।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा ॥ ५५ ॥

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५६ ॥
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका वह भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा । वृत्रासुर त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलशाली हो बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये । इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ५६-५७ ॥

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः ।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५८ ॥
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः ।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
उपविष्टा मन्दराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः ॥ ५९ ॥

भारत ! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता देवराज इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिये ? राजन् ! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये ॥ ५८-५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम् ।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत्॥ १ ॥

इन्द्र बोले—देवताओ ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है । इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके ॥ १ ॥

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम् ।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः ॥ २ ॥

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ । आपलोगोंका कल्याण हो । बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये ? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः ।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ ३ ॥

वह तेजस्वी और महाकाय है । युद्धमें उसके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है । वह चाहे तो देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है ॥ ३ ॥

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः ।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना ।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः ॥ ४ ॥

अतः देवताओ ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो । हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम्॥ ५ ॥

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये॥ ५॥

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा॥ ६ ॥

वे सबके सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लिया था॥ ६॥

अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे।
बलिं बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः॥ ७ ॥

'विष्णो! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया॥ ७॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम्।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः॥ ८ ॥

'आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिल-विश्ववन्दित देवता हैं॥ ८॥

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन॥ ९ ॥

सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है॥ ९॥

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम्।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति॥ १० ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा॥ १०॥

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक्।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ॥ ११ ॥

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो, तभी उसे जीत सकोगे॥ ११॥

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे॥ १२ ॥

देवताओ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा॥ १२॥

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम्॥ १३ ॥

देवेश्वरगण! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो॥ १३॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम्॥ १४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये॥ १४॥

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश॥ १५ ॥
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः॥ १६ ॥

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा॥

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर ! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १७ ॥

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र ! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते। तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ॥ १८ ॥

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है। अतः वृत्रासुर ! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ॥ १९ ॥

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान्।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ ! महर्षियो तथा गन्धर्वो ! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया। निष्पाप देवगण ! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें। मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी ? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा ?' ॥ २०—२२ ॥

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव।
नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये। साधु पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा। साधु पुरुषोंके सङ्गकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अतः संतोंका सङ्ग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ॥ २३ ॥

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु वीरः।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥

सज्जनोंका सङ्ग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है। धीर संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं। साधु पुरुषोंका सङ्ग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनोंको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ॥ २४ ॥

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम्।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं। महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं। वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो जाय। इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो। तुम्हें इसके विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

'देवताओ ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ॥

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

'विप्रवरो ! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे, न गीली वस्तुसे, न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ। इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ॥ २९-३० ॥

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा। इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायानन्वचिन्तयत् ॥ ३२ ॥

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ॥ ३२ ॥

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट्।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ॥ ३३ ॥

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे। एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ॥ ३३ ॥

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ॥ ३४ ॥
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ॥ ३५ ॥
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम्।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था। भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है, अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है। यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ॥ ३४–३६ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन्।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे। इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ॥ ३७ ॥

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा।
एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ॥ ३८ ॥

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र, अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ ३८ ॥

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान्।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ॥ ३९ ॥

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित फेनका प्रहार किया। उस समय भगवान् विष्णुने उस

फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन्।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ॥ ४० ॥

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ॥ ४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ ४१ ॥

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत्।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया। समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ॥ ४२ ॥

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित्।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्य-देव भगवान् विष्णुका पूजन किया। इस प्रकार देवताओं-

को भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वासघातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही मन बहुत दुखी हो गये । त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रक्खा था ॥ ४३-४४ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥ ४५ ॥

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे । वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ॥ ४५ ॥

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे । ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी । यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ॥ ४६-४७ ॥

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया । देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवैः ।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण जगत्‌में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे । स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता तथा देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा ?' देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—'ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं' ॥ १½ ॥

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ॥ ३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—'पृथिवीपते ! आप हमारे राजा होइये'—राजन् ! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा—॥ २-३ ॥

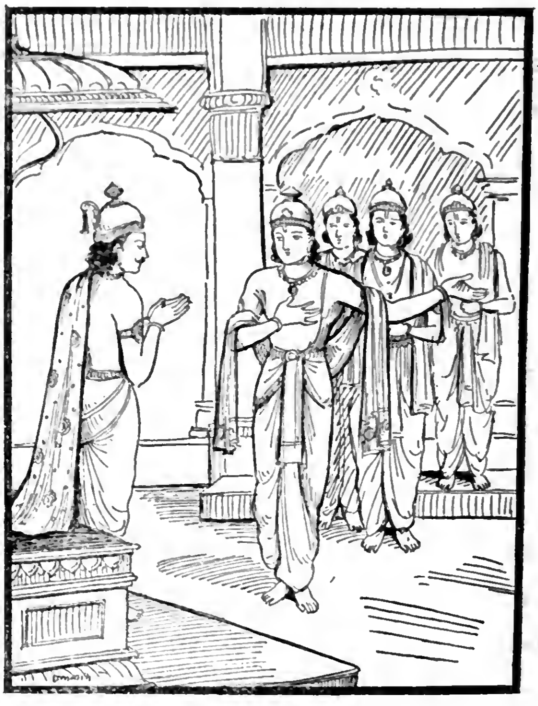

दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा॥ ४॥

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। बलवान् पुरुष ही राजा होता है। इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है' ॥ ४॥

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे॥ ५॥
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे॥ ६॥

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये। हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है। अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये ॥ ५-६॥

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम्॥ ७॥
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव॥ ८॥

'देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे, अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये ॥ ७-८॥

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे॥ ९॥

'आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये।' युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ ॥ ९॥

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत्।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे॥ १०॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये। वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी कामभोगमें आसक्त हो गये ॥ १०½॥

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च॥ ११॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च॥ १२॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा॥ १३॥
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम्॥ १४॥

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे ॥ ११-१४॥

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः॥ १५॥

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं ॥ १५॥

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः॥ १६॥
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया।

उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे। इस प्रकार क्रीडा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी ॥ १६½॥

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः॥ १७॥
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः॥ १८॥
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम्।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—'इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ। अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें' ॥ १७-१८½॥

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह॥ १९॥
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे॥ २०॥
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम्।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम्॥ २१॥

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुखी हुई और बृहस्पतिसे बोलीं—'ब्रह्मन्! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर! आप मुझसे कहा

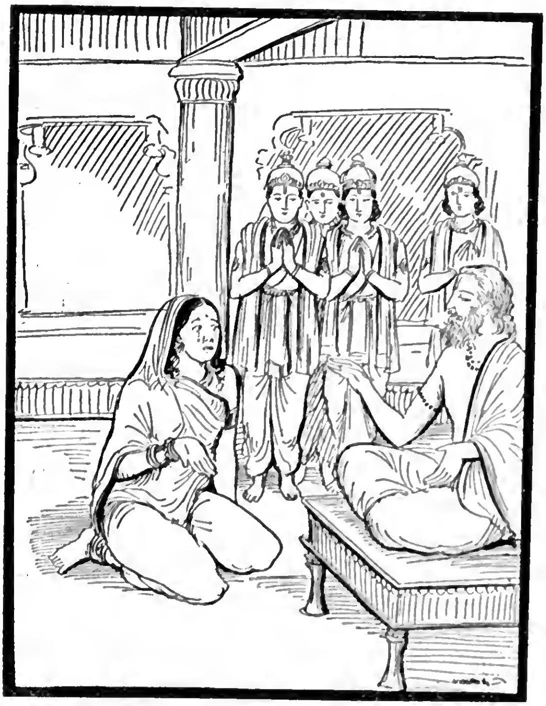

करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ॥ १९–२१ ॥

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम्।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ॥ २२ ॥
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम।

'भगवन्! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, अपनी उन वाणियोंको सत्य कीजिये। देवगुरो! आपके मुखसे पहले कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, अतः द्विजश्रेष्ठ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये' ॥ २२½ ॥

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥ २३ ॥
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम्।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा—'देवि! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी। नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा' ॥ २३–२५ ॥

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम्।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणी-भयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये। उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। देवताओं तथा ऋषियोंने कहा—॥ १ ॥

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥

'देवराज! आप क्रोध छोड़ें। प्रभो! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किन्नर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ॥ २ ॥

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'साधो! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं। अतः प्रसन्न होइये। सुरेश्वर! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ॥ ३ ॥

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात्।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है। उससे मनको हटा लीजिये। आप देवताओंके राजा हैं। आपका कल्याण हो। आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः॥ ५॥

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी। उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः॥ ६॥

'देवताओ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं रोका?॥ ६॥

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः॥ ७॥

'प्राचीन कालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं। अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल कपट उनके द्वारा हुए हैं। उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था?॥ ७॥

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम्।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति॥ ८॥

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों। इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा'॥ ८॥

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर॥ ९॥

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे। आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये॥ ९॥

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः॥ १०॥

शल्यने कहा—युधिष्ठिर! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये॥ १०॥

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम॥ ११॥

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर! विप्रेन्द्र! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं। आपने उन्हें अभय-दान दे रक्खा है॥ ११॥

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम्॥ १२॥

'महाद्युते! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये॥ १२॥

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी॥ १३॥

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं। सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें'॥ १३॥

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम्।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः॥ १४॥

'देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीनभावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं—॥ १४॥

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात्॥ १५॥

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ। आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये'॥ १५॥

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते॥ १६॥

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। अनिन्दिते! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा॥ १६॥

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम्॥ १७॥
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम्॥ १८॥

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता। मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है। शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा! सुरश्रेष्ठगण! आपलोग लौट जायँ। इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये॥ १७-१८॥

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन्॥ १९॥

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥ २० ॥

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवता-लोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ॥२०॥

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१ ॥

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ॥ २१ ॥

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम् ।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं; उन्हीं इन शचीदेवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत् ।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम्॥ २३ ॥

श्रेष्ठ देवताओ ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः ।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ॥ २४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते ! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा ?' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा ।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ॥ २५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण ! शुभलक्षणा शची देवी नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका और हमारा भी हित होगा ॥ २५ ॥

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति ।
गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ॥ २६ ॥

देवताओ ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा होता है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बलवान् और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गालमें पहुँचा देगा ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन् ।
ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! उनके इस प्रकार सलाह देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें सम्पूर्ण देवताओंका हित है ॥ २७ ॥

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम् ।
ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इसी बातके लिये शचीदेवीको राजी कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्राणीके पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे इस प्रकार बोले ॥ २८ ॥

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम् ।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९ ॥
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत् ।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥

देवता बोले—देवि ! यह समस्त चराचर जगत् तुमने ही धारण कर रक्खा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और सत्य-परायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवेश्वरि ! तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र नष्ट हो जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको प्राप्त कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये ।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इन्द्राणी

भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी ॥

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम्।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ । कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते ! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ । उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी ! तुम मुझे अपना पति बना लो' ॥ १½ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ॥ २ ॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम्।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर॥ ४ ॥

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं। उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर ! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ ॥ २–४ ॥

न हि विज्ञायते शक्रः किं वा प्राप्तः क वा गतः।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो ॥ ५ ॥
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत् ॥ ६ ॥

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं ? अथवा कहाँ चले गये हैं ? प्रभो ! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ !' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५-६ ॥

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः ॥ ७ ॥

नहुष बोले—सुन्दरी ! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो । इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना ॥ ७ ॥

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी ॥ ८ ॥

नहुषसे बिदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी ॥ ८ ॥

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपसमें विचार करने लगे ॥ ९ ॥

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः ॥ १० ॥

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः ।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ॥ ११ ॥

'देवेश्वर ! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं । भगवन् ! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्के पूर्वज तथा प्रभु हैं ॥ ११ ॥

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है । यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है । सुरगण-श्रेष्ठ ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ॥१२½॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः ।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा । पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा । देवताओ ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो'।१३—१५½॥

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम्॥१६॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ॥ १६-१७ ॥

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः ।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करने-वाला था ॥ १८ ॥

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री-समुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ॥ १९ ॥

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २० ॥

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ॥ २० ॥

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र जब अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, तब उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टि-मात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है । यह देखकर वे काँप उठे ॥ २१ ॥

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ॥ २२ ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ॥ २२ ॥

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुखी हो 'हा इन्द्र ! हा इन्द्र' कहती हुई विलाप करने लगीं ॥ २३ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि ।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रक्खा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे ।२४।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आ रही है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ, मेरा मनोरथ सफल हो' ॥ २५ ॥

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ॥ २६ ॥
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यते ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की । पतिव्रता तथा सत्यपरा-

यणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन किया और उनसे कहा—'देवि ! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये। सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है' ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत्।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं। नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि ! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं ?' ॥ १-२ ॥

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥

उपश्रुति बोलीं—देवि ! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ। भामिनि ! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ ३ ॥

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ॥ ४ ॥

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम्।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥

तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ। तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे। ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ॥ ५ ॥

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम्।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुत-से पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुचीं। तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम्।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ॥ ८ ॥

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे। वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ॥ ८ ॥

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ॥ ९ ॥

भारत ! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे। उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ९ ॥

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ॥ १० ॥

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रक्खा था ॥ १० ॥

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ॥ ११ ॥

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणीसहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम्।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ॥ १२ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इन्द्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ॥ १२ ॥

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ॥ १३ ॥

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया । अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा–॥ १३ ॥

किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम् ।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ॥ १४ ॥

'देवि ! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कैसे मेरा पता लगा है ?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टाका वर्णन किया ॥ १४ ॥

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः ।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ॥ १५ ॥
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम ।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ॥ १६ ॥

'शतक्रतो ! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है। उस दुष्टात्माने मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो। उस क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है। प्रभो ! यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अपने वशमें कर लेगा ॥ १५-१६ ॥

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम् ।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ॥ १७ ॥

'महाबाहु इन्द्र ! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके निकट आयी हूँ। पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहुषको आप मार डालिये ॥ १७ ॥

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

'दैत्यदानवसूदन प्रभो ! अब आप अपने आपको प्रकाशमें लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके राज्यका शासन अपने हाथमें लीजिये' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रकी स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि ! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है। आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ॥ १ ॥

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'भामिनि ! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है। अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा। देवि ! तुम उसी नीतिका पालन करो ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥

'शुभे ! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है। कहीं (भी इसे) प्रकट न करना। सुमध्यमे ! तुम एकान्तमें नहुषके पास जाकर कहो, जगत्पते ! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर मेरे पास आइये। ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वशमें हो जाऊँगी' ॥ ३-४ ॥

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ॥ ५ ॥

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है । शुचिस्मिते ! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? ॥ ६ ॥

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥

'कल्याणि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो । मनस्विनि ! तुम क्या चाहती हो ? सुमध्यमे ! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ॥ ७ ॥

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये । मुझपर विश्वास करो । देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ॥ ८ ॥

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते ! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ । सुरेश्वर ! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ॥ ९ ॥

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।

देवराज ! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये । राजन् ! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ॥ १०½ ॥

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥

सुरेश्वर ! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है । वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ॥ ११-१२ ॥

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥

प्रभो ! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें । राजन् ! यही मुझे अच्छा लगता है ॥

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं । देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है । कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, आपके सामने ठहर नहीं सकता है ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

नहुषने कहा—सुन्दरि ! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया । देवि ! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है । सुमुखि ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है । मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंका स्वामी हूँ ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा । मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है । शुचिस्मिते ! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँगा तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं । मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ॥

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ॥ २० ॥

अतः देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है । सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी

ढोयेंगे। वरवर्णिनि! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो॥ २०॥

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्।
विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान्॥२१॥
अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च।
कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन्॥ २२॥

शल्य कहते हैं—राजन्! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया॥ २१-२२॥

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत्।
समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः॥ २३॥

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है॥

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम्।
बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम्॥ २४॥

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २४॥

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः।
न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः॥ २५॥

'देवि! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो॥ २५॥

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे।
इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः॥ २६॥
शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते।

'शुभे! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा'॥ २६½॥

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः॥ २७॥
बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये।
हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति॥२८॥

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन्! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये'॥

तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत॥ २९॥

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट होकर अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये॥ २९॥

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत्॥ ३०॥

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये॥

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित्।
आपः शेषाः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम्॥३१॥

अग्निदेव बोले—बृहस्पते! मैं देवराजको तो इस संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ; केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता॥ ३१॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते॥ ३२॥

ब्रह्मन्! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा

दूसरा कौन कार्य मैं करूँ ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते ! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ॥ ३२ ॥

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ॥ ३३ ॥

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा। महातेजस्वी बृहस्पते ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो) ॥ ३३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है। परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं। आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं। फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं। हुताशन ! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय सुख लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

अग्ने ! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं। आप ही उत्कृष्ट हवि हैं। याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें अवान्तर सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ ५ ॥

हव्यवाहन ! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं ! अग्ने ! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ॥ ५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव ! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं। आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक ! आपमें ही सारा जल संचित है। आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं। अतः आप भी निःशङ्क होकर जलमें प्रवेश कीजिये। मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम् ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन् ! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निदेवने छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम्॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालेमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम्॥ १२ ॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनालका आश्रय लेकर रहते हैं॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः।
पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम्॥ १३ ॥

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की—॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ॥ १४ ॥

'इन्द्र ! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचिनामक महान् असुरको मार गिराया है। शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला॥१४॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान्॥ १५ ॥

'शतक्रतो! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये। इन्द्रदेव ! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये॥ १५ ॥

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम्।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते॥ १६ ॥

'प्रभो महेन्द्र ! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है। जगदीश्वर देवराज ! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए, समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया॥ १६ ॥

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम्।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं। आपकी समानता करनेवाला जगत्में दूसरा कोई प्राणी नहीं है। शक्र ! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है॥ १७ ॥

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः॥ १८ ॥

'महेन्द्र ! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज इन्द्र धीरे-धीरे बढ़ने लगे॥ १८ ॥

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम्॥ १९ ॥

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये। तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पतिसे कहा—॥ १९ ॥

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः।
वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत्॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरेद्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ?'।२०।

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम्॥ २१ ॥

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र ! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पा गया है, जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम्।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते॥ २२ ॥
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान्।)

इन्द्र बोले—बृहस्पते ! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया ? वह किस तपस्यासे संयुक्त है ? अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है ? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है ? ये सारी बातें आप सब लोग मुझे बताइये॥ २२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत्।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे॥ २३ ॥

गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता।
तानब्रवीन्नहुषो नास्ति शक्त
आप्याययध्वं तपसा तेजसा माम्॥ २४ ॥

शक्र ! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे। तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये। शक्र ! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै
राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा॥२५॥

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया। फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया। इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित्।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः ॥ २६ ॥

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है। उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है। वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है। तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं। सब देवता भी अत्यन्त पीडित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! अङ्गिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—'शक्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया। हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है' ॥ २८ ॥

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण ॥ २९ ॥

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा— ॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है। उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर ! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है। उसकी दृष्टिमें विष है। अतः हमलोग उससे डरते हैं ॥ ३० ॥

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम् ॥ ३१ ॥
सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम्।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये।
तमाह शक्रो भवितान्गे तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ ॥ ३२ ॥

'शक्र ! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव ! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों। देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे। तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा—'प्रभो ! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी

सहायता करूँगा।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'अग्निदेव ! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ॥ ३१-३२ ॥

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितॄणां च वरुणं चाप्यपां तथा।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका स्वामित्व प्रदान किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च।
दिष्ट्याद्य नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये। उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं। बलसूदन पुरंदर ! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये। बलसूदन ! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ ॥ १-३ ॥

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—महर्षे ! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है। आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम्।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जब पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा—'भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान्।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥

अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र ! बलके घमंडमें भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ॥ ७ ॥

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम्।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र ! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानके कारण

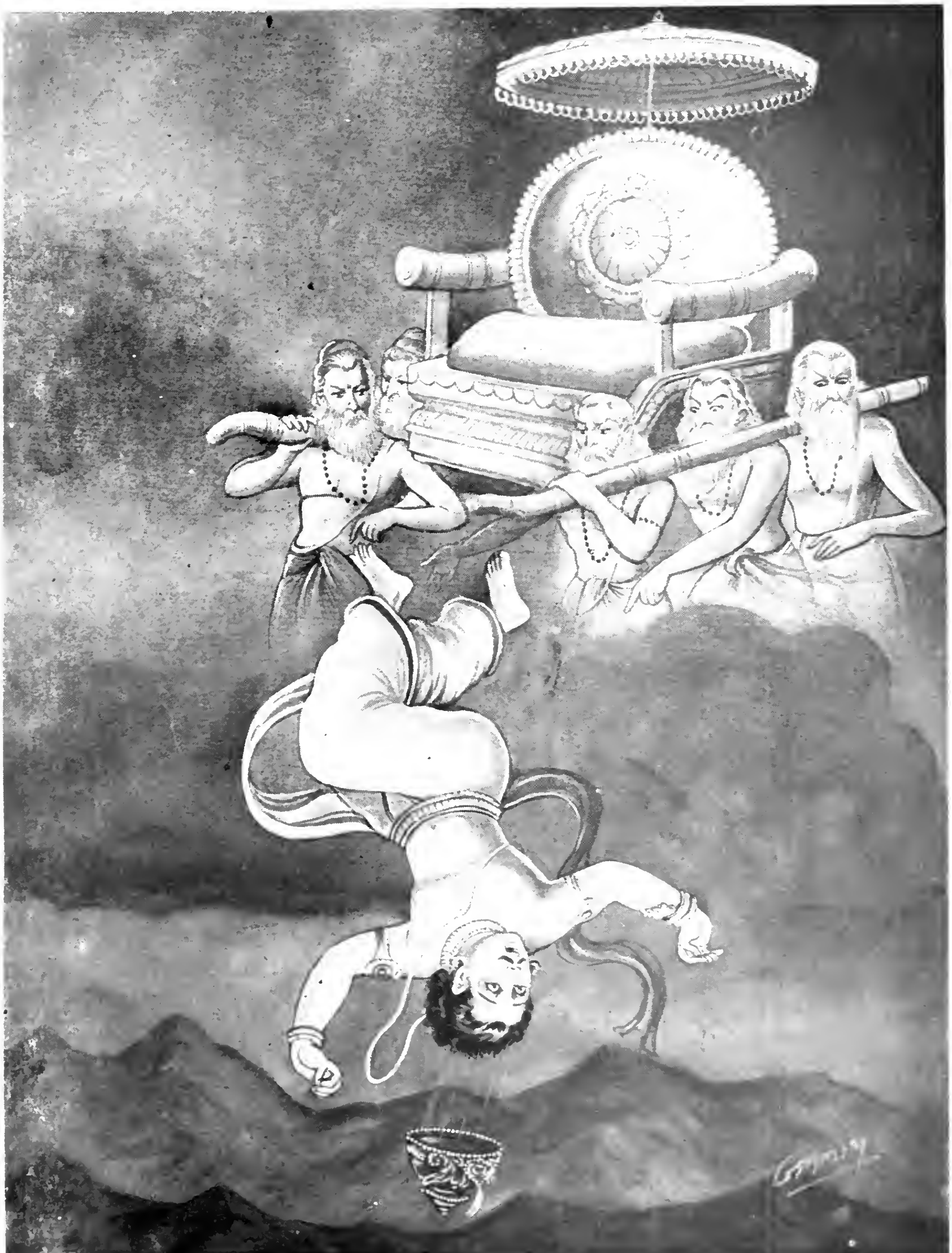

नहुषका स्वर्गसे पतन

किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता'॥९-१०॥

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः॥ ११॥

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है॥ ११॥

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः॥ १२॥

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया॥ १२॥

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम्॥ १३॥

इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा॥ १४॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्॥ १५॥
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले॥ १६॥

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो॥ १४—१६॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि॥ १७॥

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे'॥ १७॥

एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः॥ १८॥

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है॥ १८॥

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः॥ १९॥

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें॥ १९॥

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा॥ २०॥
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते॥ २१॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए॥ २०-२१॥

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन्।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले॥ २२॥

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—'शत्रुहन्!

आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है। बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये बड़े हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसङ्गमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं--युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्गलोकको चले।१-३।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वहाँ भगवान् अङ्गिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ॥ ५ ॥

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ॥ ६ ॥

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वाङ्गिरसको यह वर दिया—॥ ६ ॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वाङ्गिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा। इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा'।७।

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ॥ ८ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वाङ्गिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया।८।

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान्।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ॥ ९ ॥

राजन् ! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ॥ ९ ॥

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया ॥

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ॥ १२ ॥

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ॥ १२ ॥

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीः समाः ॥ १३ ॥
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षोंके लिये

नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ॥ १३-१४ ॥

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम् ।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ॥ १५ ॥

वीर ! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे ॥

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम् ।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह 'इन्द्रविजय' नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर ।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें यह 'इन्द्र-विजय' नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम् ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १८ ॥

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत् ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजयनामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ॥ १९ ॥

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः ।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति ।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ॥ २० ॥

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता, उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले—॥ २२ ॥

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः ।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवः ॥ २३ ॥

'मामाजी ! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे ।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

शल्य बोले—राजन् ! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः ।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम्॥ २॥

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ २॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः॥ ३॥
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम्॥ ४॥

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग[1], धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी॥ ३-४॥

तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः॥ ५॥

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो॥ ५॥

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम्।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा॥ ६॥

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो॥ ६॥

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः॥ ७॥

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये॥ ७॥

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत्॥ ८॥

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे॥ ८॥

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत्॥ ९॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे॥ ९॥

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा॥ १०॥

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी॥ १०॥

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः॥ ११॥

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी॥ ११॥

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात्॥ १२॥

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे॥ १२॥

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम्।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः॥ १३॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन्।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं॥ १३½॥

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन्॥ १४॥

---

[1] 'खड्ग' दुधारी तलवारको कहते हैं।

भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ॥ १५ ॥
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की। सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५½ ॥

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक् ।

कुरुनन्दन ! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ॥ १६½ ॥

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धककुकुरैः सह ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत् ।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ॥ १७½ ॥

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ॥ १८ ॥
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः ।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीडापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ॥ १८½ ॥

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ॥ १९ ॥
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ॥

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ॥ २० ॥
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः ।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ॥ २०½ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते ।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ॥ २२ ॥
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा ।

राजन् ! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया। उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था। वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया ॥

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ॥ २३½ ॥

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ॥ २४½ ॥

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ॥ २६½ ॥

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः ।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ॥ २७½ ॥

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।

राजन् ! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ॥ २८½ ॥

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥

इसलिये भारत ! पञ्चनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजाङ्गल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ॥

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः ।

तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ॥ ३३ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सेनाके जमावको देखा ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ॥ १ ॥

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम्।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशल-समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं। जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं। पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ? ॥ ४-५ ॥

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ॥ ६ ॥

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणान्तकारी उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया; परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके ॥ ७ ॥

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनिसहित क्षुद्र धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका हरण कर लिया ॥ ८ ॥

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक*निवास करनेके लिये विवश हुए ॥ ९ ॥

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम्।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः॥ १० ॥

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ॥ १० ॥

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए पापियोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् क्लेश सहन करना पड़ा है ॥ ११ ॥

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास दोनों मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये।

ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम्।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं ॥ १२ ॥

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥

'पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें ॥ १३ ॥

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

'वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं ॥ १४ ॥

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ॥ १५ ॥

'दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं ॥ १५ ॥

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम् ॥ १६ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १६ ॥

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ ॥ १७ ॥

'इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं ॥ १७ ॥

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः ॥ १८ ॥

'ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी[1] महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं ॥ १८ ॥

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः ॥ १९ ॥

'जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं ॥ १९ ॥

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है ? ॥ २० ॥

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥ २१ ॥

'अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये। कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितकी

[1] यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे। द्रोणपर्वके ८९ वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो। तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे। पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ॥

महाराज ! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे। वे बार-बार 'अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है ? अर्जुन वह खड़ा है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे। इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे। उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे।

यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समयके अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन्! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है । उनके बहुतसे सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं, यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है ॥ २ ॥

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ ३ ॥

'कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है । वे अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है ॥ ३ ॥

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं; इसमें संशय नहीं है । परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं । यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वे पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥

'निःसंदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है । उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है ।५।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं । कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके ? ॥ ६ ॥

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं' ॥ ७ ॥

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधनकी ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही—॥८॥

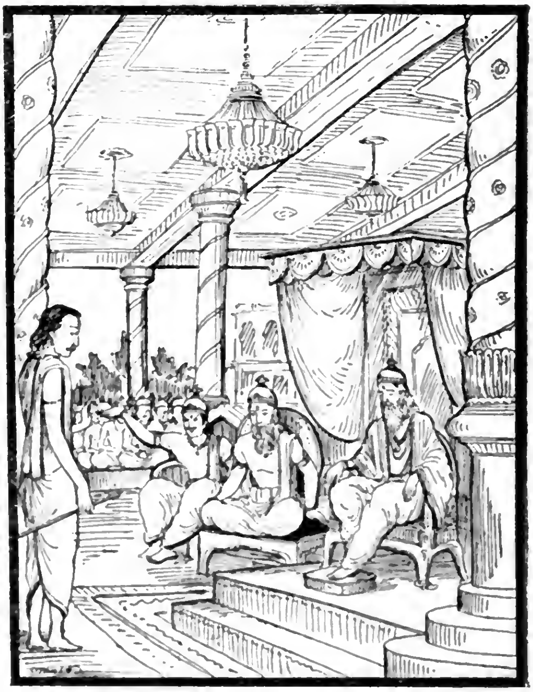

न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन्! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, वह किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार उसपर भाषण देनेसे क्या लाभ है ? ॥ ९ ॥

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीडामें परास्त किया था और वे उस जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे ॥ १० ॥

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत्॥ ११ ॥

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है । वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य लेना चाहते हैं ॥ ११ ॥

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥

'विद्वन् ! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका आधा कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मानुसार तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं ॥ १२ ॥

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥

यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ॥ १३ ॥

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें ।१४।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः ।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥

यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि ।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ॥ १६ ॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा ? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा। इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है। इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्का भी हित है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा। आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें' ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान् ।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा ।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनद्ध स्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं। तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो। अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतदर्हान् निरुष्य ।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्मासु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥

संजय ! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधुपुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है ॥ २ ॥

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं काञ्चन जात्वपश्यम्।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव ॥ ३ ॥

संजय ! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी ॥ ३ ॥

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान्।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ॥ ४ ॥

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—काम-भोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं ॥ ४ ॥

धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम्।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः ॥ ५ ॥

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा-तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं ॥ ५ ॥

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे ॥ ६ ॥
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात्।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम् ॥)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः ॥ ७ ॥

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्द-बुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय ! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंके स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महामना पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं ॥ ६-७ ॥

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत्।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः
शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम् ॥ ८ ॥

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पलकर बड़ा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है ॥ ८ ॥

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम् ॥ ९ ॥

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृञ्जयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देनेमें भलाई है ॥ ९ ॥

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा ॥ १० ॥
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ॥ ११ ॥

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र सर्वश्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाण-समूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है ? ॥ १०-११ ॥

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय ।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ॥१२॥

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे। उन्होंने द्रविडोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था ॥ १२ ॥

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान् ।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ॥१३॥

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था ॥

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य ।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ॥१४॥

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है। रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्ति-शाली हैं ॥ १४ ॥

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान् ।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ॥१५॥

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है। वे बड़े वेगशाली वीर हैं। उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रक्खा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे। साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन ।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥१६॥

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं। अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है। स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है। जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते ॥ १६ ॥

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं
यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ॥१७॥
सहामात्यः सोमकानां प्रबर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥१८॥

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है। पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है। मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है। जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है ? ॥ १७-१८ ॥

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ॥१९॥

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवों-की सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं। मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं। कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है। अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ॥२०॥

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं। वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं ॥ २० ॥

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान् ।

शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संश्रितान् धर्मराजम् ॥ २१॥

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सब-के-सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ॥ २१ ॥

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ॥ २२॥

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ॥ २२ ॥

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः ।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥ २३॥

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ॥ २३ ॥

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि ।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ॥ २४॥

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ॥ २४ ॥

उपाश्रिताश्चेदिकरूषकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः ।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ॥ २५॥
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम् ।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ॥ २६॥

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें) चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह सब समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके सम्पूर्ण उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ॥ २५-२६ ॥

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य ।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ॥ २७॥

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला ॥

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम् ।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ॥ २८॥

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे भूपाल उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही जंगलके क्षुद्र पशु भाग जाते हैं ॥ २८ ॥

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
दाशंसमानो द्वैरथे वासुदेवम् ।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ २९॥

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ॥ २९ ॥

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य ।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम् ॥ ३०॥

संजय ! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके उस पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे ! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३० ॥

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ३१ ॥

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है ॥

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ॥ ३२ ॥

संजय! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है। अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं ॥

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान्।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ॥ ३४ ॥
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ॥ ३५ ॥

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णिवीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं। कुन्तीनन्दन-पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं। वे लज्जाशील और बलशाली हैं। उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है। नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रों-को जलाकर भस्म कर देते। संजय! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे। उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा ॥ ३३–३५ ॥

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ३६ ॥
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम्।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ॥ ३७ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ॥ ३८ ॥

संजय! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ। मेरेद्वारा भेजे हुए तुम

रथपर बैठकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मङ्गल पूछना। तात! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं। सूत! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कोई भी बात टाल नहीं सकते ॥

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं । श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय ! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियोंसे और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना । इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना । राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ावे तथा युद्धका कारण बने ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः ।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ॥ १ ॥

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की ।२।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः ।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ॥ ३ ॥

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकोंके साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है । भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न ? ॥४॥

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा ।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-
मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदकुमारी राजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक है न ? भारत ! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट-भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न ?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन ।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय ! तुम्हारा स्वागत है । तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है । विद्वन् ! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरादिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत ।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥

सूत ! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर और प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है ।७।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥

तात ! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंके ज्ञानसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलसे

हैं न ? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् घना हुआ है न ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र॥ ९ ॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥ १० ॥

तात ! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ? ॥ १० ॥

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृता मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

संजय ! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भूमण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥

तात ! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं ? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं ? ॥ १२ ॥

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ॥ १३ ॥

तात ! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं ? संजय ! मूढ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न ? ॥ १३ ॥

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः॥ १४ ॥

सूत ! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपटभावसे रहते हैं न ? ॥ १४ ॥

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ॥ १५ ॥

तात ! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है ? संजय ! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है ? ॥ १५ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है। यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रक्खा है। यदि मन्द-बुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविकावृत्तिके अपहरण-रूप दोषको काबूमें नहीं रक्खेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ १७ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाह-के योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-

निर्वाह करना चाहते हों)। वे सुहृद्के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित्॥ १९ ॥

तात संजय ! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव ।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः॥ २० ॥

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं ? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं ? ॥ २० ॥

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन ।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति ॥ २१ ॥

संजय ! प्रत्यञ्चाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न ? ॥ २१ ॥

न चापश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन ।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः ॥ २२ ॥

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ॥ २२ ॥

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके ।
नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २३ ॥

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडोंसे भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वेगशाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमुदायको कम्पित करते हुए विचरण करते हैं। क्या कौरवलोग उन्हें भी कभी याद करते हैं ? ॥ २३ ॥

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे ।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २४ ॥

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, उस भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और बायें हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये आये हुए कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था। क्या इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं ? ॥ २४ ॥

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २५ ॥

संजय ! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही शिबि और त्रिगर्त देशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुलको भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको जीतकर मेरे अधीन कर दिया। क्या कौरव इस वीर माद्रीकुमारका भी स्मरण करते हैं ? ॥ २५ ॥

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम् ।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च ॥ २६ ॥

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे सभी मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे। उस समय भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था।२६।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २७ ॥

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर वज्रके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था। गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार गिराया था और स्वयं सकुशल लौट आये थे। क्या कौरव कभी उनकी याद करते हैं ? ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

संजय ! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम्॥ १ ॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन ! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये । तात ! कुन्तीनन्दन ! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ १ ॥

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम्॥ २ ॥

पाण्डव ! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं । आप इस बातको सत्य समझें । दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ २ ॥

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु ।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः॥ ३ ॥

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रक्खा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है । आप-जैसे साधु-स्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ॥ ३ ॥

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो ।
शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥

अजातशत्रो ! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं ? क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।
समुत्क्रुष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

नरदेव ! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं । युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शङ्खकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ॥ ५ ॥

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति ।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है; जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ॥ ६ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम् ।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।

त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये । अजातशत्रो ! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं
पाण्डोः सुताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो
समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च
ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः ।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं । वे किसी भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते । अतः अजातशत्रो ! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरेश, जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हों ॥

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके समय मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ॥ ९-१० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः ।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय ! यहाँ पाण्डव, सृंजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं । राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च ।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम् ।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पाञ्चालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ । मैं कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस वाणीको आप सब लोग सुनें ॥ २-३ ॥

शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे ।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥

संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय॥४॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः॥ ५॥

कुन्तीके पुत्रो! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं॥ ५॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः॥ ६॥

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता)॥ ६॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च॥ ७॥

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा ?॥ ७॥

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात्॥ ८॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो॥ ८॥

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु॥ ९॥

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा॥ ९॥

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान्।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान्॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा ?॥ १०॥

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च।
रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः॥ ११॥

राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है ?॥ ११॥

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित्॥ १२॥

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके ? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ॥ १२॥

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम्॥ १३॥
कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।

न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ॥ १४ ॥

भला ! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा सृंजय-वंशका कल्याण कैसे हो ? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ॥ १३-१४ ॥

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि ।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है ? विद्वान् राजा युधिष्ठिर ! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको भी यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि ।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा ? ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत् ।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥

संजय ! यदि कर्म न करनेपर पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम् ।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा ? किसे देवताओंने शाप दे रक्खा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा ? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे सब लोगोंका भला होता हो ॥ ३ ॥

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं
य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति करानेवाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे ही साध्य है ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम् ।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥
कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः ।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है । जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता । जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है । घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है ॥ ५½ ॥

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः ॥ ६ ॥

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है । परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती) ॥ ६ ॥

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति ।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि ॥ ७ ॥
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः ।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति ॥ ८ ॥

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्रामोंमें विजयी नहीं होता । जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता । जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता । जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता । जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता । यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हमलोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते ? तथापि यह भोगतृष्णा अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरणको पीड़ा देती रहती है ॥ ७-८ ॥

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु ।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु ॥ ९ ॥

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है । वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें ॥ ९ ॥

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य ।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये ॥ १० ॥

प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः ।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु ॥ ११ ॥

संजय ! जैसे कोई मनुष्य शिशिर ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किस लिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं ? ॥ १०-११ ॥

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य ।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव ॥ १२ ॥

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वसनीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं ॥ १२ ॥

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम् ।
स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया ॥ १३ ॥

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्षोः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य ।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य ॥ १४ ॥
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः ।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानः प्राजहाद् धर्मकामौ ॥ १५ ॥

संजय ! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले

राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ॥ १४-१५ ॥

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ॥ १६ ॥

संजय ! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्तियुक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई । तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ॥ १६ ॥

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ॥ १७ ॥

सूत ! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही । जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ॥ १७ ॥

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ॥ १८ ॥

गवल्गणपुत्र संजय ! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो । दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं । उसका मोह तो देखो ॥ १८ ॥

सोऽहं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ॥ १९ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥ २० ॥

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो । धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं । ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ॥ १९-२० ॥

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ॥ २१ ॥

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये हुए अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है । पहले भी तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं । उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका ? ॥ २१ ॥

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ॥ २२ ॥

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ॥ २२ ॥

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ॥ २३ ॥

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, अपितु छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ॥ २३ ॥

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम्।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ॥ २४ ॥

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है ? इसके लिये उसे उन किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं ॥ २४ ॥

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभीतक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे ॥

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ॥ २६ ॥

तात संजय! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

स चेदेतां प्रतिपद्येत बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत।
एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः ॥ २७ ॥

सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समराङ्गणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे ॥ २७ ॥

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं
त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम्।
यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं
या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥

संजय! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ। दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः ॥ २९ ॥

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा। परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १ ॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है। कुन्तीकुमार! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें ॥ १ ॥

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥

अजातशत्रो! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ, परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता ॥

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चञ्चल है। अतः पाण्डुनन्दन! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये। वह आपके सुयशके अनुरूप नहीं है ॥ ३ ॥

कामा मनुष्यं प्रसृजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्नन्
लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम् ॥ ४ ॥

नरेन्द्र ! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्योंको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ॥ ४ ॥

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ॥ ६ ॥

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम्।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्टान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ॥ ७ ॥

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि) का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वञ्चित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ॥

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम्।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ॥ ९ ॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम्।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ॥ १० ॥

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ॥ १० ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम्।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ॥ ११ ॥

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त, सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ॥ ११ ॥

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किंचित् क्रियते प्रेत्य कार्यम्।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस शरीरके रहते हुए ही कोई भी सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १२ ॥

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किंचि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ॥ १३ ॥

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, बुढ़ापा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है । परलोकमें इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है * ॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण।

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नवीन कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये । पाण्डुनन्दन ! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ (अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ॥ १४ ॥

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् ।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें । अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें; परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ॥ १५ ॥

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें । पाण्डवो ! वह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ॥ १६ ॥

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत् ।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ॥ १७ ॥

पहले (द्यूतक्रीडाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ॥ १७ ॥

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः ।
राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ॥ १८ ॥

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत-से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सब-के-सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ॥ १८ ॥

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम् ।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ॥ १९ ॥

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे । समराङ्गणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ॥ १९ ॥

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्षयित्वा सहायान् ।
निरुष्य कस्मात् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया ? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया ? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है ? ॥ २० ॥

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति ।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संरम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति ॥ २१ ॥

पाण्डुकुमार ! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २१ ॥

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम् ।
अद्धा किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पाप कर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥

महाराज ! जो बिना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कड़ुआ है; जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ॥ २३ ॥

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा ? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ॥ २४ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ॥ २५ ॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥

राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते । आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ॥ २६ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ॥ २७ ॥

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है । यह जो तुमने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ॥ १ ॥

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः ।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ २ ॥

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है । विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ॥ २ ॥

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम् ।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिङ्ग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है । इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म

सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं। प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये)। संजय ! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ॥ ३ ॥

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः।
प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ॥ ४ ॥

प्रकृति (जीविकाके साधन) का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे। संजय ! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है। इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ॥ ४ ॥

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम्॥ ५ ॥

सूत ! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो। फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ॥ ५ ॥

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है। परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ६ ॥

तदध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ॥ ७ ॥

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे चलते आये हैं। मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ॥ ७ ॥

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत्।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ॥ ८ ॥

संजय ! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ।८।

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ॥ ९ ॥
यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम्।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १० ॥

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मण-भक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं। यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लङ्घन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ॥ ९-१० ॥

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ ११ ॥

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ॥ ११ ॥

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च
महाबला यादवा भोगवन्तः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम्।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ॥ १३ ॥

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं । भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवाञ्छित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ॥ १३ ॥

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम्।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ॥ १४ ॥

तात संजय ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं । ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं । ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं । मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय ! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ॥ १ ॥

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥ २ ॥

सूत ! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे । 'कुन्तीकुमारो ! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ । राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ॥ २ ॥

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ॥ ३ ॥

आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

संजय ! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा ? ॥ ३ ॥

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च ।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ॥ ४ ॥
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥ ५ ॥

संजय ! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है ? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ॥ ४-५ ॥

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके ।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥ ६ ॥

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि लाभ होनेकी बात बताते हैं, *दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं।

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता, अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजन करनेका विधान है। ६।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम् ।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः ॥ ७ ॥

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ७ ॥

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म ।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥ ८ ॥

संजय ! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ॥ ८ ॥

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ॥ ९ ॥

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥ १० ॥

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं।१०।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण

---

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम् ॥ १२ ॥

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बल-सूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ॥ १२ ॥

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की । उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था । इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरु-का सम्मानित पद प्राप्त किया है । आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १३—१५ ॥

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ॥ १६ ॥

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करने-वाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥

संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकों-के इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? ॥ १७ ॥

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ॥ १८-१९ ॥

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
यदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥ २० ॥

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ॥ २० ॥

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।

अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ॥ २१ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म।
निशाम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥

संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो । फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ॥ २२ ॥

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ॥ २३ ॥

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे । किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे । वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥ २४ ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम्।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे । इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २४½ ॥

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥ २५ ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान्।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे । ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ २५½ ॥

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥ २६ ॥

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे । उसके लिये यज्ञका भी निषेध है । वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥ २६ ॥

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥ २७ ॥

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे । वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ॥ २७ ॥

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः ॥ २८ ॥

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ॥ २८ ॥

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ २९ ॥

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे

(परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ ३० ॥

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है॥ ३० ॥

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥ ३१ ॥

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है । संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते ॥ ३१ ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात्।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं ॥३२॥

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ ३३ ॥

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं । संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ?॥३३॥

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ ३४ ॥

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है । संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम्।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥ ३५ ॥

सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है । बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ॥ ३५ ॥

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ॥ ३६ ॥

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम्।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥ ३७ ॥

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ॥ ३७ ॥

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥ ३८ ॥

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ॥ ३८ ॥

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम्।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर कातर-

भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली; परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ॥ ३९ ॥

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम्॥ ४० ॥

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके। एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ॥ ४० ॥

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम्।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात्।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

संजय! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो। द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है। उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे। भाविनि! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ॥ ४१—४३ ॥

यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ॥ ४४ ॥

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचन-रूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था। वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया। तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है) ॥ ४४ ॥

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत्।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ॥ ४५ ॥

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्णमृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ॥

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम्।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ॥ ४६ ॥

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ॥ ४६ ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम्।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥ ४७ ॥

संजय! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं, तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ ४८ ॥

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ॥ ४८ ॥

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम्।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ ४९ ॥

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ?

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥ ५० ॥

संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ॥ ५० ॥

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥ ५१ ॥

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ॥ ५१ ॥

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥५२॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ॥ ५३ ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥ ५४ ॥

संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता, उस वनका उच्छेद न करो ॥ ५४ ॥

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥ ५५ ॥

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ॥ ५५ ॥

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ५६ ॥

संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ॥ ५६ ॥

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ ५७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ॥ ५७ ॥

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधाःसमर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥ ५८ ॥

विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात्॥ १॥

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो? ॥ १ ॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम्।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो। राजाओ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन्।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम्॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—संजय! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। विद्वन्! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो। इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं॥ ३॥

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः॥ ४॥

संजय! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं। तुम शीलवान् और संतोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो॥ ४॥

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम्।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत॥ ५॥

सूत! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस और अप्रासङ्गिक बात भी नहीं बोलते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है॥ ५॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि॥ ६॥

संजय! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो। जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं। पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो॥ ६॥

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः॥ ७॥

संजय! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्यपालन-पूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्मसम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना॥ ७॥

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः॥ ८॥

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना॥ ८॥

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-
स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत॥ ९॥

तात! संजय! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम

(हमारी ओरसे) कुशल-मङ्गलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ॥ ९ ॥

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना ॥

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात ! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगोंके प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना । तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ १०½ ॥

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ॥ ११ ॥
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः) ।

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओंका पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ११ ॥

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ॥ १२ ॥

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्यका पालन किया । तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की; वे सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ॥ १२ ॥

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ १३ ॥

शारद्वतस्यावसथं स्म गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥

संजय ! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्यके घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ॥ १४ ॥

यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥ १५ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥

संजय ! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥

तात संजय ! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीमें फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ १७ ॥

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥

तात संजय ! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ॥ १८ ॥

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥

संजय ! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लिकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ॥ २० ॥

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ २१ ॥

संजय ! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं । वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं । रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है । वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं । तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ २१ ॥

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ॥ २२ ॥

संजय ! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डव-लोग स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ २२ ॥

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित्
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ॥ २३ ॥
प्राच्योदीच्या दक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पर्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ॥ २४ ॥

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है । वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं । वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २३-२४ ॥

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ॥ २५ ॥

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ॥ २५ ॥

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ॥ २६ ॥

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं, उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ २६ ॥

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं
महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ॥ २७ ॥

तात ! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान् ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न है, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २७ ॥

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ॥ २८ ॥

तात ! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीड़ामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ॥ २८ ॥

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ॥ २९ ॥

तात संजय ! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधनका सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ॥ २९ ॥

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ ३० ॥

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ॥ ३० ॥

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ॥ ३१ ॥

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं ! संजय ! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३१ ॥

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ॥ ३२ ॥

संजय ! राजघरानेमें जो सद्गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं । उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ॥ ३२ ॥

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ॥ ३३ ॥

संजय ! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना—'माताओ ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न ? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है ? उन सबके दीर्घायु पुत्र हो गये हैं न ?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ॥ ३३ ॥

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ॥ ३४ ॥
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ॥ ३५ ॥

तात संजय ! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो । उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो ? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध आदि प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न ? तुम घरमें प्रमादशून्य होकर रहती हो न ? भद्र महिलाओ ! क्या तुम अपने श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो ? ॥ ३४-३५ ॥

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ॥ ३६ ॥

संजय ! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं । वहाँ जाकर उनसे कहना, 'बहुओ ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगोंका कुशल-समाचार पूछते थे' ॥ ३६ ॥

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ॥ ३७ ॥

संजय ! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो ! तुम्हें कल्याणकारी पति प्राप्त हों और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें । साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ॥ ३७ ॥

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥

तात संजय ! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृङ्गार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ॥ ३८ ॥

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुतसे कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३९ ॥

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति।
अङ्गहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ॥ ४० ॥

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अङ्गहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है ? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है ? ॥ ४० ॥

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव
हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥

हस्तिनापुरमें जो बहुत-से हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ॥ ४१ ॥

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम्।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना। तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना। निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है। मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ॥ ४२ ॥

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रक्खी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं ! मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युक्त देखना चाहता हूँ। तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत्‌रूपसे पालन होने लगा है ॥ ४३ ॥

ये चानाथा दुर्बलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव
ह्यस्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ॥ ४४ ॥

संजय ! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ४४ ॥

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ॥ ४५ ॥

सूतपुत्र ! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंमें आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं। उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ॥

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान्।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मङ्गल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ॥ ४६ ॥

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ ४७ ॥

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ॥ ४७ ॥

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ॥ ४८ ॥
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥ ४९ ॥

संजय ! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—'तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ामात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ॥ १ ॥

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम्।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २ ॥

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वान्को मूर्ख बना देता है ॥ २ ॥

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम्।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ॥ ३ ॥

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ॥ ३ ॥

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम्।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ ४ ॥

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम्।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन् ! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ॥ ५ ॥

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ॥

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित्।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥

संजय ! उन्हें यह भी बताना कि 'तात ! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ॥७॥

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम्।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः।
भवता शान्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी ! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा काम

कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ॥ ८-१० ॥

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम्।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥

संजय ! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना—'सौम्य ! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ॥ ११ ॥

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम्।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना—॥ १२ ॥

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम्।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥

'तुमने द्रौपदीको विना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १३ ॥

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः॥ १४ ॥

इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ॥ १४ ॥

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान्।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

सौम्य ! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १५ ॥

यद् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत्।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥

तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ॥ १६ ॥

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥

परंतप ! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ॥ १७ ॥

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम्।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है । हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ॥ १८ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम्।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १९ ॥

अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो । इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी॥

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥

'सुयोधन ! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो ।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ॥ २० ॥

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम्।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'भाई भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले । पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें । मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पाञ्चालोंको अक्षतशरीर देखूँ । तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ॥ २१-२२ ॥

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

संजय ! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी । धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है । मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः ।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा ।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय ॥
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम् ॥
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः ।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत ॥
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः ।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम् ॥

अर्जुन बोले—संजय ! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधु-देशीय वीरोंको बुला रक्खा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना । तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः ।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी ॥

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः ।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम् ॥)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया । तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्ती-कुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी ॥

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ १ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महामना राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा—॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥ ३ ॥

'द्वारपाल ! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है ।' विलम्ब न करो ॥ ३ ॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम ॥ ४ ॥

'द्वारपाल ! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना । उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा । मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है ।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला ॥

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽथ भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ॥ ५ ॥

द्वारपालने कहा—महाराज ! आपको नमस्कार है । पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छासे

द्वारपर खड़े हैं। राजन्! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें ? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल! संजयका स्वागत है। उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ। उसे भीतर ले आओ। उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती। फिर वह दरवाजेपर सटकर क्यों खड़ा है ? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम्।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा ॥ ७ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान्।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् ॥ ८ ॥

संजय बोला—भूपाल! आपको नमस्कार है। नरदेव! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ। उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ॥ ८ ॥

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च ॥ ९ ॥

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है। राजन्! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम्।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम् ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न ? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं ? ॥ १० ॥

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत्।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च ॥ ११ ॥

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं। वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ॥ ११ ॥

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः ॥ १२ ॥

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है। वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्म-पालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है ॥ १२ ॥

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ॥ १३ ॥

महाराज! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है ॥ १३ ॥

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम्।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम् ॥ १४ ॥

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अधर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है ॥ १४ ॥

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम्।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ॥ १५ ॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम् ।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥ १६ ॥

महाराज ! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये । धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन् ! इसीके कारण इस लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा ॥ १६ ॥

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य ।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य ॥ १७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः ॥ १८ ॥

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक वैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं ॥ १८ ॥

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभीष्ट गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं भी बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचितरूपसे प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप युक्त हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरतापूर्ण कार्य कैसे कर सकते हैं ? ॥ २० ॥

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य
समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता मन्त्री कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्होंने (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लिया है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण बन गया है ॥ २१ ॥

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥

राजन् ! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दोषी ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों) का भार डालकर (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा कर लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसारमें केवल आपकी निन्दा फैल जाय ॥ २२ ॥

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स द्रष्टुम्।
अत्यकामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकारसे बाहर हो ? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिलकर

एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने॥ २४ ॥

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव) के सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात्॥ २५ ॥

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ॥ २५ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत्।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ॥ २६ ॥

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ॥ २६ ॥

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ॥ २७ ॥

राजन्! इस जगत्‌में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम्॥ २८ ॥

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डव-विरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ॥ २८ ॥

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ॥ २९ ॥

राजन्! महाराज! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ॥ २९ ॥

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन्।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥

नरेन्द्र! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि) को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों) को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुल-नन्दन! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! इस समय रथके वेगसे हिलने-डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातःकाल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र ।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम् ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र ! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो । सबेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ । उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ' ॥ १ ॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते ! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय ॥ ३ ॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल ! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो' ॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज ! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं । मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय ? ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है ॥ ५ ॥

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम् ॥ ६ ॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी ! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये । महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले— ॥ ७ ॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥ ८ ॥

'महाप्राज्ञ ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ । यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये' ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है । कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा ॥ ९ ॥

* इस ३३ वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४० वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है ।

विदुर और धृतराष्ट्र

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥ १० ॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अङ्गोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रक्खा है ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हम-लोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता ॥ १२ ॥

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जिसका बलवान्‌के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है ? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं ? ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंश-में केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र ! श्रेष्ठ लक्षणोंसे

सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया ॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकर होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई ॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं ? ॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्य-को पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १९ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २३ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतकुलभूषण ! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ॥ २५ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तृप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके ह्रद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ॥ २९ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ॥ ३० ॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है ॥ ३१ ॥

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्‌के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं ॥ ३२ ॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३३ ॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ़ है ॥ ३४ ॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ३६ ॥

मूढ़ चित्तवाला अधम मनुष्य विना बुलाये ही भीतर चला आता है, विना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है ॥ ३६ ॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ३७ ॥

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है ॥ ३७ ॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ३८ ॥

जो अपने बलको न समझकर विना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने योग्य वस्तुकी इच्छा करता है, वह पुरुष इस संसारमें मूढ़बुद्धि कहलाता है ॥ ३८ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३९ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ४० ॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है ॥ ४० ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे विना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा ? ॥ ४१ ॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥

मनुष्य अकेला पाप कर (के धन कमा) ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है ॥ ४२ ॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३ ॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है ॥ ४३ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥

एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वशमें कीजिये। पाँच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये ॥ ४४ ॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

---

१. यहाँ 'उपास्ते'के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ।

विषका रस एक (पीनेवाले) को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ॥ ४५ ॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४६ ॥

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ॥ ४६ ॥

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

राजन्! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ४७ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

इस जगत्‌में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे? ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ॥ ५२ ॥

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ॥)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ॥ ५३ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंका करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ॥ ५४ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं ॥ ५५ ॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ॥ ५६ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमें लगा हुआ संन्यासी ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

राजन्! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ॥ ५८ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ॥ ५९ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥ ६०॥

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ॥ ६० ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ ६१॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ॥ ६१ ॥

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः॥ ६२॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ६२ ॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु॥ ६३॥

राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम्॥ ६४॥

राजन् ! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ॥ ६४ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥ ६५॥

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ६५ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ ६६॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ ६६ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम्॥ ६७॥

भारत ! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ॥ ६७ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत्॥ ६८॥

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ६८ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च॥ ६९॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ॥ ६९ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥ ७०॥

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ॥ ७० ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे॥ ७१॥

महाराज ! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये—॥ ७१ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम्॥ ७२॥

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः॥ ७३॥

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ॥ ७३ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४॥

भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५॥

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ॥

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६॥

राजन् ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ॥ ७६ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष) युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ॥ ७७ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८॥

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत) इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८०॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ॥ ७९-८० ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१॥

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८१ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२॥

राजन् ! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ॥ ८२ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३॥

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य) को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८३ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८४॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५॥

निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती । चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८६॥

मुहूर्त[१]भर भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल— ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ॥ ८६ ॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८॥

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ॥ ८७-८८ ॥

---

१. 'मुहूर्त' शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है । एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है ।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

राजन् ! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुखी रहते हैं ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढमूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥९५॥

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९३—९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ ९६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

भारत ! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जन-समाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ ९६—९८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१००॥

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजेवाले तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच(ज्ञानेन्द्रिय-रूप)साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०१॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥१०२॥

महाराज धृतराष्ट्र ! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो। नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं । अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ॥ १०१-१०२ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०३॥

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था । नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०३ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०४॥

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्र-को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (के व्यवहार और वचनों) को सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०४ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥१०५॥

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है ॥१०५॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१०६॥

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ॥ १०६ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥१०७॥

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं ॥ १०७ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥१०८॥

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान—इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है ॥१०८॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥१०९॥
न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥११०॥

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ॥१०९-११०॥

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ॥ १११ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ॥ ११३ ॥

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है । वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूहपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ॥ ११४ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

जो दान, होम, देवपूजन, माङ्गलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जाने-योग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ ११६ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं; और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ नीति है ॥ ११७ ॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥११८॥

जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥११९॥

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ॥११९॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२० ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है । वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥१२२॥

अम्बिकानन्दन ! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२३॥

तात ! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये । नरेन्द्र ! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्य-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करनेयोग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ १ ॥

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम् ॥ २ ॥

उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो। जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ ॥ २ ॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विद्वन् ! मेरे मनमें अनिष्टकी आशङ्का बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल-हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे ॥ ४ ॥

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

इसलिये राजन् ! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा । मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें ॥ ५ ॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

भारत ! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं द्यूत) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये ॥ ६ ॥

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये । खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥८॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे ॥ ९ ॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता ॥ १० ॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझकर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये । उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा ॥१२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी

काँटीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न हो अर्थात्) जो खाने योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने) पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ॥ १७ ॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले । कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ॥ १८ ॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करने योग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो) । यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे । कच्चा (कम शक्तिवाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न) की भाँति अपनेको प्रकट करे । ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥ २५ ॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ॥ २६ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २७ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती है ॥

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ॥ २९ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ॥ ३० ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ॥ ३१ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाजका एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

राजन्! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते। जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ॥ ३६ ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्‌के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्‌के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचार-से कुलकी रक्षा होती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ॥ ४२ ॥

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥ ४३ ॥

न करने योग्य काम करनेसे, करने योग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है। ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं ॥ ४४ ॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं ॥ ४५ ॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥ ४६ ॥

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते ॥ ४६ ॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकाङ्क्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है ॥ ४७ ॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥ ४८ ॥

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है ॥ ४९ ॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ५० ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥

राजन् ! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥ ५१ ॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥ ५२ ॥

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥

यों तो (मादक वस्तुओंके) पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता ॥ ५३ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं ॥ ५५ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं ॥ ५६ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है ॥ ५७ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

राजन् ! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं । इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ॥ ६२ ॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीन कर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है । वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

राजन् ! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जो इस जगत्‌में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोगविलासोंसे बँधे रहते हैं ॥ ६९ ॥

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ॥ ७१ ॥

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं । गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ७५ ॥

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है । अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे ॥८०॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ॥ ८३ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होने योग्य है ॥ ८४ ॥

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र ! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो । इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती । इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

विभो ! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये । ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् आप स्वर्गलोकमें जायँगे ॥ ३ ॥

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर सभामें उपस्थित हुई ॥ ६ ॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया । तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य ? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे ? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ ?॥ ८ ॥

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

विरोचनने कहा—केशिनी ! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं । यह सारा संसार हमलोगों-का ही है । हमारे सामने देवता क्या हैं ? और ब्राह्मण कौन चीज हैं ? ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! इसी जगह हम दोनों

प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ॥ ११ ॥

विरोचन बोला—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु ! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ॥ १२ ॥

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्रादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनीके पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्रादे ते वरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन ! मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ, तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

विरोचनने कहा—सुधन्वन् ! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठने योग्य हो ही नहीं ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

सुधन्वाने कहा—विरोचन ! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

विरोचन बोला—सुधन्वन् ! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

सुधन्वा बोला—विरोचन ! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे ? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्रादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्रादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो? पहले तो तुम दोनों कभी एक साथ नहीं चलते थे ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—पिताजी! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाते आ रहे हैं। मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ। मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लादने कहा—सेवको! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ। [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन्! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रक्खी है ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः॥२७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है। तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन? ॥ २७ ॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है? ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—मतिमन्! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर देना ही चाहिये ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत्॥३०॥

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन्! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है? ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ॥ ३१ ॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओं-को देखता है ॥ ३२ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलने-से पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ॥ ३४ ॥

प्रह्लादजीका न्याय

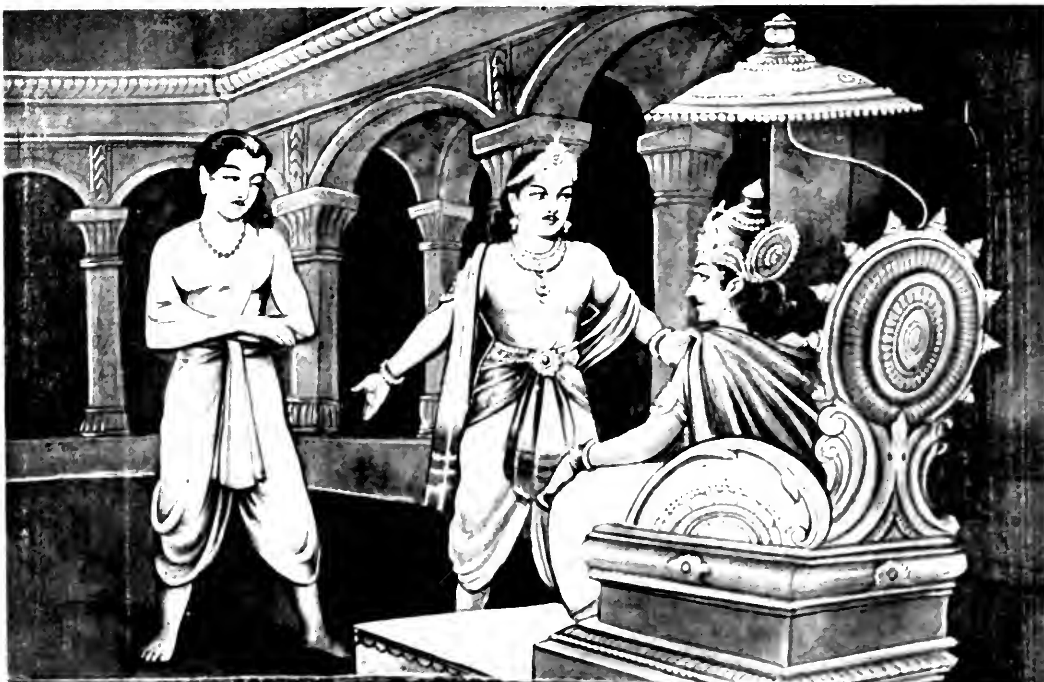

आत्रेय मुनि और साध्यगण

प्रह्लाद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥ ३५॥

प्रह्लादने कहा—विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा

मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये॥ ३५॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥ ३६॥

विरोचन! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन्! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ॥ ३६॥

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम्॥ ३७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ॥ ३७॥

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम॥ ३८॥

प्रह्लाद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे॥ ३८॥

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन्॥ ३९॥

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें। बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ॥ ३९॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ ४०॥

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं॥ ४०॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः॥ ४१॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ ४१॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले॥ ४२॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी) को त्याग देते हैं॥ ४२॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः॥ ४३॥

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं॥ ४३॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त॥ ४४॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे॥ ४४॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि॥ ४५॥

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—

ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ४७ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः॥ ४८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह काँय-काँय करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य[1], क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारोंके समान हैं ॥ ४६–४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी; भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ॥ ५२ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति॥ ५३ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार जमा लेता है । जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

राजन् ! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं; और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ॥ ५७ ॥

१. यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीतहीन—ये तीन प्रकारके 'व्रात्य' कहे गये हैं ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं ॥ ५९ ॥

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ ६० ॥

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है ॥ ६० ॥

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है ॥ ६१ ॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है । इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है ॥ ६२ ॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है । इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे ॥ ६३ ॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन् ॥ ६४ ॥

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करनेवाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है ॥ ६५ ॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ६६ ॥

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके ॥ ६७ ॥

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके ॥ ६८ ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलङ्क) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है ॥ ७० ॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं ॥ ७१ ॥

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ॥ ७२ ॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

राजन्! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

भारत! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जङ्घासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ॥ ७५ ॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

राजन्! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं?॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिये ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादका उल्लेख करके महाकुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम्।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

प्राचीन कालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस) रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम्।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

साध्य बोले—महर्षे! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते। हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं

बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे । (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीः पुंसाम् ।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

इस जगत्‌में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ ८ ॥

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोर-की सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादये-
द्योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है । (सत्य और) प्रिय बोलना वाणी-की तीसरी विशेषता है । यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्म-सम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है । (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ १२ ॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलङ्कित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंकेकिये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ॥ १८ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २० ॥

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं ? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं ॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

भारत ! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रक्खी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥ २९ ॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है । धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो । इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत् ।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी-कमी नहीं होती ॥ ३४ ॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ राजन् ! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

नृपवर ! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते । इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है । मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३८ ॥

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ॥ ४३ ॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति॥ ४४॥

संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

महामते! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ॥ ५० ॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१ ॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्ति-का उपाय मैं नहीं देखता ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ॥ ५२ ॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्काम-भावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं॥ ५३॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते । वे सुख भी नहीं पाते । उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाव-वाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जाति-बन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ॥ ५८ ॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत-वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं । इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओं-पर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ॥ ६१ ॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बल-पूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ॥ ६२ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

महाराज ! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ॥ ६९ ॥

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता । रोगी सदा ही दुखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ॥ ६९ ॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

राजन् ! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्‌लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं ।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ॥ ७० ॥

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये । क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें । सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें । सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है । तात ! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ॥ ७३ ॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

कुरुराज ! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओं-को आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले । नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र ! विचित्रवीर्यनन्दन ! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आने-वाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले

बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ॥ १-२ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥
वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादाका उल्लङ्घन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहने योग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वसुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है', ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ॥ ३–६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है । कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपका कल्याण हो । अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं । ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ॥ १०-११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्र स्त्रीके साथ विवाह करता है; शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजनेवाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका सङ्ग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ॥ १२-१३ ॥

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १५ ॥

राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १५ ॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ॥ १६ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥

प्रतीपनन्दन! विचित्रवीर्यकुमार! राजन्! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥ २१ ॥

नरेन्द्र! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥

तात! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम्।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वञ्चित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ॥ २३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम्।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे; क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ॥ २४॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥ २५॥

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये ॥ २५॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६॥

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीवमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ॥ २८ ॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ॥

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है ! राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान) उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं ॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥ ३४ ॥

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नाङ्कित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ॥ ३४ ॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ॥ ३५ ॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

बहुत दुखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये ॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चाद‍ृढभक्तिकं च।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले—इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥३८॥

धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे। तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूल मन्त्र है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥ ४२ ॥

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥४३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज ! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव—ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ४५

राजन् ! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं। आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ॥ ४५ ॥

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम्।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान्।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

जिसका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये। जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ॥ ४८ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उस सबको जान लिया है ॥ ४९ ॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ ५० ॥

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं; और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ॥ ५२—५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पढ़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ॥ ५८ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई माङ्गलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ॥ ५८ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काष्ठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपर को उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे ॥ २ ॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है ॥ ३ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट[1], पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है ॥ ६ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरंधरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इङ्गुदीफल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है ॥ ७ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ । बुद्धिमान्की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है ॥ ८ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे । विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है ॥ ९ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ

---

१. मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ लोंदेको 'लोष्ट' कहते हैं ।

तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥११॥

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं । ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे । इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२½ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्॥ १३ ॥
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है । इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ॥ १३½ ॥

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ॥ १४½ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ १५½ ॥

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे । ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ॥ १६½ ॥

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १७½ ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत ! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ॥ १८½ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये बिना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है । जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासद्गण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है । अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निःसंदेह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९–२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २२ ॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जैसे वेदोंको पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने बिना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

राजन् ! जो सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक

कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र'के धारणसे संतुष्ट रहे । सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ॥ २८ ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९ ॥

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये । यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ॥ २९ ॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ॥ ३० ॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये । ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है । संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरेलोग नहीं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥

भारत ! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ॥ ३४ ॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ॥३५॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥३६॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ॥ ३७ ॥

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥ ३८ ॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देने योग्य है ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

भारत ! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योग-क्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ॥४२॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

भारत ! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ॥ ४४ ॥

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ॥ ४५॥

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

भारत ! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ॥ ४६ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है । ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रक्खा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ॥

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—भारत ! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है । प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि) के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ॥ ४ ॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

राजन् ! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें । इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर

करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥

महाराज! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय ॥ ७ ॥

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे। जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं। यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता ॥

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम्।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम् ॥ १२ ॥

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है ॥ ११-१२ ॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ॥ १३ ॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत्।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम्।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये। सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है ॥ १४½ ॥

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है। उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत्।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले सङ्गपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे ॥ १६½ ॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है ॥ १७½ ॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर।

राजेन्द्र! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जातिभाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें ॥ १८½ ॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९ ॥

राजन्! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है ॥ १९ ॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये। फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ २० ॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥ २१ ॥

राजन्! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा। तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये। आप मुझे अपना हितैषी समझें। तात ! शुभ चाहनेवालेको अपने जातिभाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम्।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस जगत्‌में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! आप पाण्डवोंके प्रति सद्‌व्यवहार करें। मानद ! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पापका भागी वह धनी होता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लङ्घन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ॥ ३० ॥

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम्।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलङ्क धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है; वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत्।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ ३६ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम्।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रक्खे— मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी

न रखना, अपने नेत्र-मुख आदिका विकार, दुष्ट मन्त्रियोंपर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

राजन्! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ३९ ॥

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४० ॥

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ॥ ४० ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

राजन्! नाना प्रकारके परिच्छेद[1], माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ४४ ॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम्।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्‌की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥ ४६ ॥

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ॥ ४६ ॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्त गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥ ४८ ॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ॥ ४९ ॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५० ॥

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिल्कुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्‌लोग कहते हैं ॥

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

---

१. हाथी, घोड़े रथ, आदि।

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमानकालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ॥ ५५ ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषोंका बारंबार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं ॥ ५६ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है। इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता है ॥ ५७ ॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५८ ॥

तात ! समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ॥ ५९ ॥

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम्।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम्।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव, शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ॥ ६३ ॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च।
नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६४ ॥

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास। यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है। उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ॥ ६५ ॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६६ ॥

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ॥ ६६ ॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६७ ॥

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्वसम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूलमन्त्र समझिये ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ६९ ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ॥ ७० ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे। थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है। इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ॥ ७१ ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥ ७२ ॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठपर सत्यसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७३ ॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥ ७४ ॥

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ॥ ७४ ॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७५ ॥

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लङ्घन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ॥ ७५ ॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वञ्चित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है, और वचनरूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलख-बुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीडा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रक्खे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ॥ ८१ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ॥ ८२ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ॥ ८३ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ॥ ८४ ॥

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ

हैं, वे सब-के-सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥ ८५ ॥

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियोंके लिये सदा ही दोष माने गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥ ६ ॥

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले ? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

भारत ! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शङ्ख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

तात ! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है। आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ॥ १२-१३ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥

राजन् ! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं। पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है। यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

तात ! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक और परलोकमें ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है। वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है। राजन् ! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ॥ १९ ॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥

भारत ! यह जीवात्मा एक नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया इसकी लहरें हैं। पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २१ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे

पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ॥ २२ ॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ॥२३॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥२३॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे, अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे । इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ॥ २४ ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों[1] अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है ॥२७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥ २९ ॥

महाराज ! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये । आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम् ॥३०॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है । सौम्य ! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

प्रारब्धका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है । मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

१. गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं ।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है ॥ १ ॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र ! कुमार 'सनत्सुजात' नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं' ॥ २ ॥

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

महाराज ! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ ॥ ५ ॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता । इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ ! भला इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया । उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ८ ॥

स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया । इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा— ॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'भगवन् ! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है । आप ही इस विषयका निरूपण करने योग्य हैं ॥ १० ॥

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥ ११ ॥

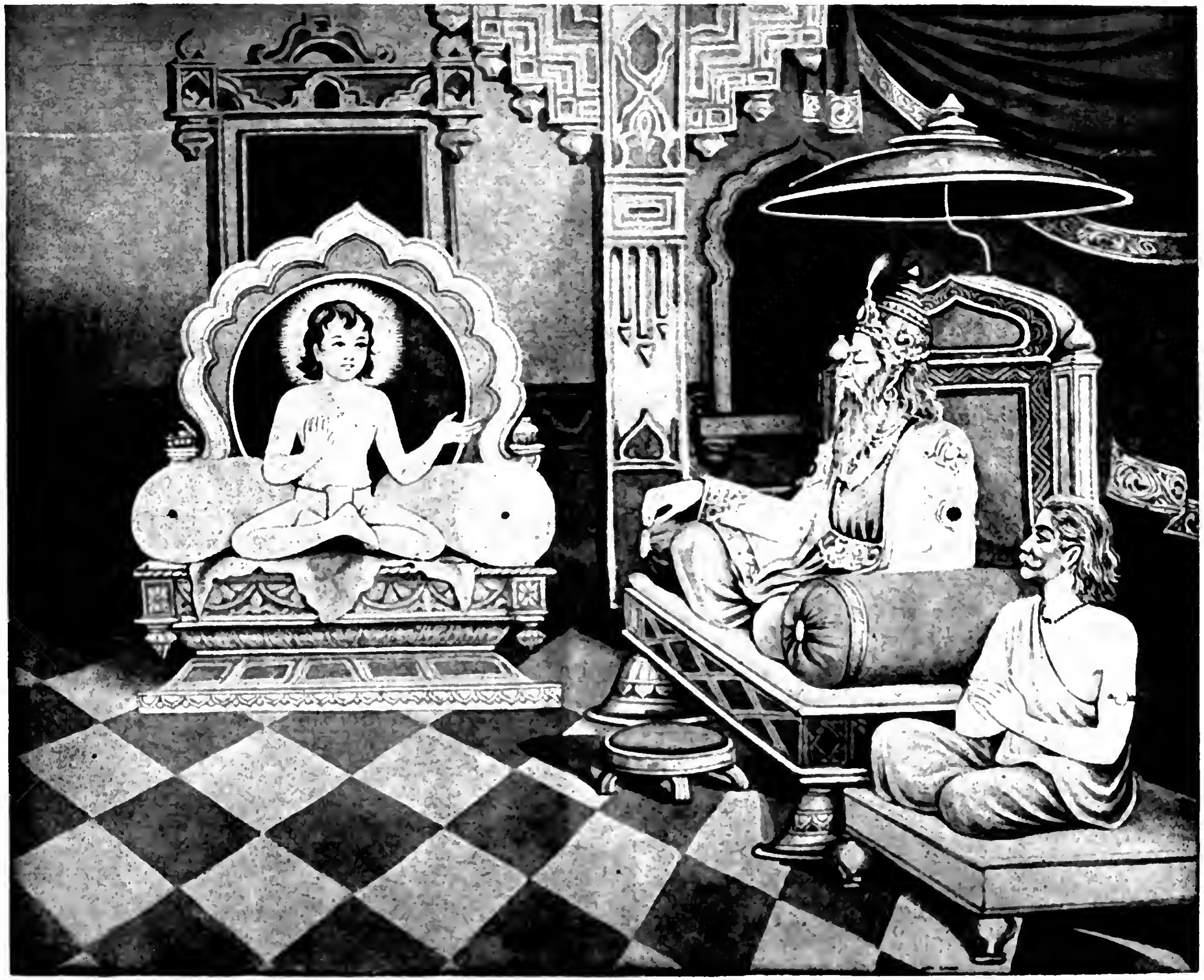

श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम्।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था। इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है? ॥ २ ॥

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ॥ ३ ॥

उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

क्षत्रिय! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो। कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ॥ ४ ॥

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६॥

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं । यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओंके लिये मङ्गलमय और पापियोंके लिये अमङ्गलमय हैं ॥ ६ ॥

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है । अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्रमें पड़ते हैं । मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं । शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ॥

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ॥ ९ ॥

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०॥

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ॥ १० ॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है । इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है । इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्योंको मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥१२॥

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले । इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥१३॥

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥ १४ ॥

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है । जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः ॥ १५ ॥

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? इसलिये राजन् ! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरण-धर्मा मनुष्य ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न ले ॥ १७ ॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं, परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है।

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है ? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है ?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है। अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है। ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है। महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ॥ २३ ॥

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ॥ २४ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥२५॥

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।
तेषां क्रमात् कथय ततोऽपि चान्यान्
नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता।

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ॥ २७ ॥

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं॥

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकामभावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम्।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षाऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे। भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ॥ २९-३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ॥ ३१ ॥

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३२ ॥

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ॥ ३२ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ॥ ३३ ॥

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणोंको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४ ॥

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा ? ॥ ३५ ॥

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ॥ ३६ ॥

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन बितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ३७ ॥

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है; आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३७ ॥

अश्रान्तः स्याददनादाता सम्मतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३८॥

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ॥ ३८ ॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥३९॥

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते । उन्हें ब्रह्मकी साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ४० ॥

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ॥ ४० ॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ॥ ४१ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ॥ ४१ ॥

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ४२ ॥

जगत्में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं॥ ४२ ॥

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥ ४३ ॥

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते ॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥ ४४ ॥

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें । ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४५ ॥

राजन् । लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥ ४६ ॥

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है । उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यह मौन किसका नाम है ? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है ? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये । क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है ? मुने ! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं ? ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है । वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते । जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है ? ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव ! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्की प्रतीति होती है । यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं । किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है । इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है । फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ

---

* 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं ।

और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं) । इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी ! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है ? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है । इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता । इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा चढ़ा होता है ॥ १२ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम जिस (तपस्या) के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना । अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं । मन्वादि-शास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं, महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पाप-कर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥ १९ ॥

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ॥ १९ ॥

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ २० ॥

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मणके बारह व्रत हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ॥२१॥

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है । इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम् ।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ २२ ॥

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृतका वास है । जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ॥ २२ ॥

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते ।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ॥ २३ ॥
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च ।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥ २४ ॥
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि ।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ॥ २५ ॥

दम अठारह गुणोंवाला है । (निम्नाङ्कित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)–कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें विपरीत धारणा, असत्यभाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं ॥२३–२५॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत् ।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं । त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है । कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ॥ २६-२७ ॥

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति ।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं, लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना–यह तीसरा त्याग कहा गया है । महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं । अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ॥ २८-२९ ॥

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती । अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ॥ ३० ॥

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत् ।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ॥ ३१ ॥

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति ।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है) । अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥३२॥

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत् ।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च ।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है) । इन सबसे कल्याण होता है । इन त्यागमय

गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है । उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३३-३४ ॥

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये । इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये । प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ ३५ ॥

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥

भारत ! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं । इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ॥ ३६ ॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं । वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ॥ ३७ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत् ।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः ।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते ।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है । सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है । मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चाहिये । ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है । राजन् ! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया । यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३८–४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने ! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे ।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[1] कहलाते हैं । इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ ? ॥ ४२ ॥

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं । उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई विरला ही स्थित होता है ॥ ४३ ॥

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ॥ ४४ ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत् ।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ॥ ४५ ॥

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है । फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ॥ ४५ ॥

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है । सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत् ।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये । यह

१. जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं ।

दीक्षित नाम 'दीक्ष व्रतादेशे' इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है ॥ ४७ ॥

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये) बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ॥ ४९ ॥

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

राजन् ! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्वकालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं । इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई विरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ॥ ५२ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ५३ ॥

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जानने योग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्म-विधायक वेदको जानता है, वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ॥ ५३ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ५४ ॥

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जानने योग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले) को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं । तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता । अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ॥ ५४ ॥

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ५५ ॥

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ॥ ५६ ॥

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ॥ ५६ ॥

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन ॥ ५७ ॥

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है ? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५७ ॥

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं, वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ॥ ५८ ॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च ।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे । राजन् ! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ॥ ५९ ॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता । जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ६० ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है । यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ॥ ६२ ॥

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ॥ ६२ ॥

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

राजन् ! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है । यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम् ।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी ! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है । कुमार ! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव ।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती । बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्याको यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो

मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन् ! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥ ६ ॥

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह-त्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

इस जगत्में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ॥ ७ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥ ८ ॥

भारत ! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे । यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये । यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ॥ १३ ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १५ ॥

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये विना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये विना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ॥ १५ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १६ ॥

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत्।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ १८ ॥

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचारको प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ॥ १८ ॥

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम्।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ १९ ॥

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ॥ १९ ॥

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ २० ॥

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ॥ २० ॥

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥ २१ ॥

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥ २३ ॥

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना देता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

राजन् ! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं, किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है ? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है ? ॥ २५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २६ ॥

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता ॥ २६ ॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २७ ॥

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता ॥ २७ ॥

नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ॥ २८ ॥

राजन् ! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता । रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है ॥ २८ ॥

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ॥ २९ ॥

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है)॥ २९ ॥

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥ ३० ॥

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं ॥ ३० ॥

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ३१ ॥

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारणस्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता ॥ १ ॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ,

काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ॥ १½ ॥

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़-बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ॥ २ ॥

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वावदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ॥ ३ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ॥ ४ ॥

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम्।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है । ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सच्ची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण, ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम्।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियोंको कष्ट पहुँचाना, ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव । इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः
प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात्।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्च दारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ॥ १२ ॥

सौहार्द (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं। सुहृद्का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं । तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके

माँगनेपर दे डाले। मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्‌के माँगनेपर वह शुद्ध भावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है॥ १२॥

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च॥ १३॥

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है। अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अवलम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है॥ १३॥

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः॥ १४॥

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है॥ १४॥

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम्।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम्॥ १५॥

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं]॥ १५॥

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात्।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा॥ १६॥

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है। किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है॥ १६॥

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु॥ १७॥

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो॥ १७॥

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १८॥

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये। परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं॥ १८॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले॥ १९॥

राजन्! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती॥ १९॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत्॥ २०॥

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे॥ २०॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते॥ २१॥

राजन्! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्वन्! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ १॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन् ! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १ ॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २ ॥

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २ ॥

अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ३ ॥

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च
दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ४ ॥

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ४ ॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ५ ॥

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं * ॥ ५ ॥

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता, उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं† ॥ ६ ॥

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम्।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ७ ॥

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषयरूप मधुर जलको देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ८ ॥

---

* प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्‌के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

† इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्‌में मिलता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है । परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रखी है । उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ ८ ॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ होकर पंख-हीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे ।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है । उस सनातन परमात्माका योगी लोग साक्षात्कार करते हैं ॥१०॥

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सामश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है । उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ॥११॥

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं । तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है । उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १२ ॥

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्) को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय । उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

हृदयदेशमें स्थित वह अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है । उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्व-समर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है । वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है । अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं, (दूसरे

नहीं)। उसी सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम्।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं। राजन्! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ १७ ॥

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है। इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है]। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १८ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत्।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ १९ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २० ॥

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं। जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २१ ॥

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं। जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं॥ २१ ॥

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्नचामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात्।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

राजन्! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता! न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ]। सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं। एकमात्र मैं ही सत् और असत्की उत्पत्तिका स्थान हूँ। मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २२ ॥

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु।

समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधु कर्मसे । यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है । ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये । इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २३ ॥

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम् ।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते । 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं । ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषय-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे ? ॥ २५ ॥

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौहृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता । वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है । जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्र ! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ । जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

भारत ! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ । तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ॥२९॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है । मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ । मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ । मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है । वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है । सम्पूर्ण प्राणियों-के हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे खुले केशोंकी बात याद रखनेका अनुरोध

(यानसंधिपर्व)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँसे लौटे हुए संजयका कौरवसभामें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार महर्षि सनत्सुजात और बुद्धिमान् विदुरजीके साथ बातचीत करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी सारी रात बीत गयी ॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते ।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ॥ २ ॥

वह रात बीतनेपर जब प्रभातकाल आया, तब सब राजालोग सूतपुत्र संजयको देखनेके लिये बड़े हर्षके साथ सभामें आये ॥ २ ॥

शुश्रूषमाणा पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः ।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम् ॥ ३ ॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम् ।
चन्द्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चन्दनवारिणा ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र आदि समस्त कौरवोंने भी पाण्डवोंकी धर्मार्थयुक्त बातें सुननेकी इच्छासे उस सुन्दर एवं विशाल राजसभामें प्रवेश किया, जो चूनेसे पुती होनेके कारण अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी । सुवर्णमय प्राङ्गण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । वह सभा चन्द्रमाकी श्वेत रश्मियोंके समान प्रकाशित हो रही थी । वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर थी और उसके भीतर चन्दनमिश्रित जलसे छिड़काव किया गया था ॥ ३-४ ॥

रुचिरैरासनैस्तीर्णा काञ्चनैर्दारवैरपि ।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः ॥ ५ ॥

उस राजसभामें सुवर्ण, काष्ठ, मणि तथा हाथीदाँतके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आसन सुरुचिपूर्ण ढंगसे बिछे हुए थे और उनके ऊपर चादरें फैला दी गयी थीं ॥ ५ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ ६ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः ।
सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम् ।

भरतश्रेष्ठ ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, परम बुद्धिमान् विदुर, महारथी युयुत्सु तथा अन्य सभी शूरवीर नरेश धृतराष्ट्रको आगे करके उस सुन्दर सभामें एक साथ प्रविष्ट हुए ॥ ६-७½ ॥

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ८ ॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः ।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ९ ॥
विविशुस्तां सभां राजन् सुराः शक्रसदो यथा ।

राजन् ! दुःशासन, चित्रसेन, सुबलपुत्र शकुनि, दुर्मुख, दुःसह, कर्ण, उलूक और विविंशति—इन सबने अमर्षमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको आगे करके उस राजसभामें ठीक वैसे ही प्रवेश किया, जैसे देवतालोग इन्द्रकी सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ८-९½ ॥

आविशद्भिस्तदा राजञ्शूरैः परिघबाहुभिः ॥ १० ॥
शुशुभे सा सभा राजन् सिंहैरिव गिरेर्गुहा ।

जनमेजय ! उस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीर नरेशोंके प्रवेश करनेसे वह सभा उसी प्रकार शोभा पाने लगी, जैसे सिंहोंके प्रवेश करनेसे पर्वतकी कन्दरा सुशोभित होती है ॥ १०½ ॥

ते प्रविश्य महेष्वासाः सभां सर्वे महौजसः ॥ ११ ॥
आसनानि विचित्राणि भेजिरे सूर्यवर्चसः ।

महान् धनुष धारण करनेवाले तथा सूर्यके समान कान्तिमान् उन समस्त महातेजस्वी नरेशोंने सभामें प्रवेश करके वहाँ बिछे हुए विचित्र आसनोंको सुशोभित किया ।११½।

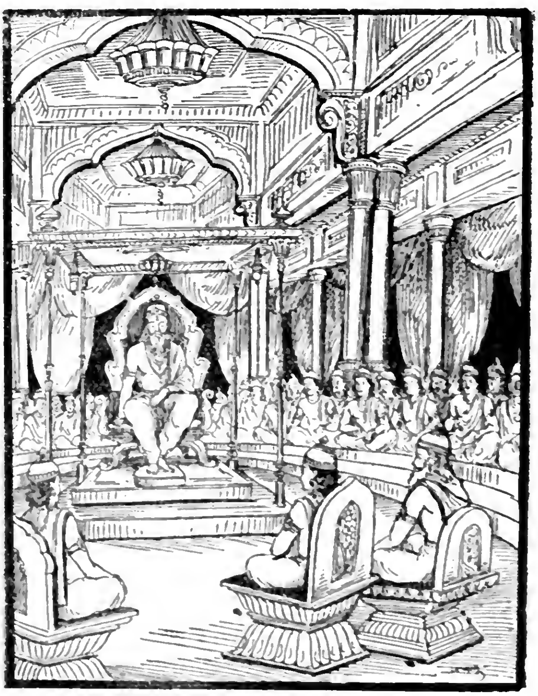

आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ॥ १२ ॥
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ।
अयं स रथ आयाति योऽयासीत् पाण्डवान् प्रति ॥ १३ ॥
दूतो नस्तूर्णमायातः सैन्धवैः साधुवाहिभिः ।

भारत ! जब वे सब राजा आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये, तब द्वारपालने सूचना दी कि संजय राजसभाके द्वारपर उपस्थित हैं । यह वही रथ आ रहा है, जो पाण्डवोंके पास भेजा गया था । रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले सिन्धुदेशीय घोड़ोंसे जुते हुए इस रथपर हमारे दूत संजय शीघ्र आ पहुँचे हैं ॥ १२-१३½ ॥

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

द्वारपालके इतना कहते ही कानोंमें कुण्डल धारण किये संजय रथसे नीचे उतरकर राजसभाके निकट आया और महामना महीपालोंसे भरी हुई उस सभाके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ १४ ॥

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः ।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ॥ १५ ॥

संजयने कहा—कौरवो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटा हूँ । पाण्डवलोग अवस्थाक्रमके अनुसार सभी कौरवोंका अभिनन्दन करते हैं ॥

अभिवादयन्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् ।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ॥ १६ ॥

उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम कहलाया है । जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित बर्तावका संदेश दिया है तथा नवयुवकोंको भी उनकी अवस्थाके अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालापकी इच्छा प्रकट की है ॥ १६ ॥

यथाहं धृतराष्ट्रेण शिष्टः पूर्वमितो गतः ।
अब्रवं पाण्डवान् गत्वा तन्निबोधत पार्थिवाः ॥ १७ ॥
(अब्रूतां तत्र धर्मेण वासुदेवधनंजयौ ।)

पहले यहाँसे जाते समय महाराज धृतराष्ट्रने मुझे जैसा उपदेश दिया था, पाण्डवोंके पास जाकर मैंने वैसी ही बातें कही हैं । राजाओ ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो धर्मके अनुकूल उत्तर दिया है, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयप्रत्यागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

संजयका कौरवसभामें अर्जुनका संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः ।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मैं इन राजाओंके बीच तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धोंके संचालक तथा दुरात्माओंके जीवनका नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुनने हमारे लिये कौन-सा संदेश भेजा है ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥

संजय बोला—राजन् ! युधिष्ठिरकी आज्ञासे युद्धके लिये उद्यत हुए महात्मा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते-सुनते जो बात कही है, उसे दुर्योधन सुनें ॥ २ ॥

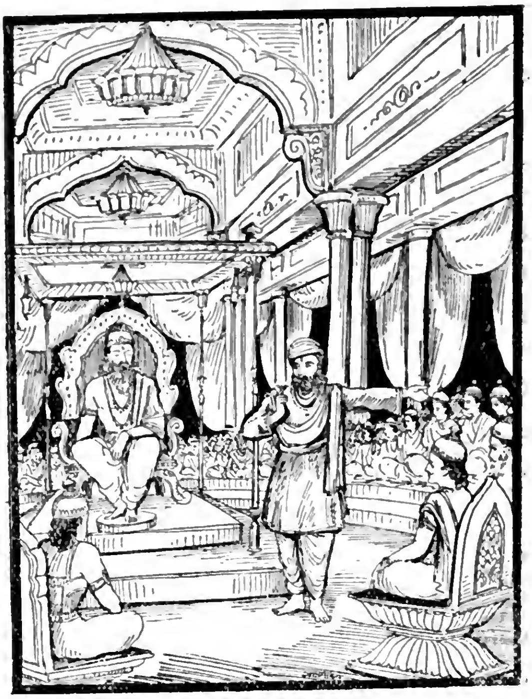

अन्वत्रस्तो बाहुवीर्यं विद्वान
उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी
मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम्॥ ३ ॥
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै
दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत।
यो योद्धुमाशंसति मा सदैव
मन्दप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः॥ ४ ॥
ये वै राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं
सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत्॥ ५ ॥

अपने बाहुबलको अच्छी तरह जाननेवाले धीर-वीर किरीटधारी अर्जुनने भावी युद्धके लिये उद्यत हो भगवान् श्रीकृष्णके समीप मुझसे इस प्रकार कहा है—'संजय ! जो कालके गालमें जानेवाला, मन्दबुद्धि एवं महामूर्ख सदा मेरे साथ युद्ध करनेके लिये डींग हाँकता रहता है, उस कटुभाषी दुरात्मा सूतपुत्र कर्णको सुनाकर तथा और भी जो-जो राजालोग पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये बुलाये गये हैं, उन सबको सुनाते हुए तुम कौरवोंकी मण्डलीमें मेरेद्वारा कही हुई सारी बातें मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहना, जिससे वह अच्छी तरह सुन ले'—॥ ३–५ ॥

यथा नूनं देवराजस्य देवाः
शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे।
तथाशृण्वन् पाण्डवाः सृंजयाश्च
किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम्॥ ६ ॥

जैसे सब देवता वज्रधारी देवराज इन्द्रकी बातें सुनना चाहते हैं, निश्चय ही उसी प्रकार समस्त सृंजय और पाण्डव अर्जुनकी मुझसे कही हुई ओजभरी बातें सुन रहे थे ॥ ६ ॥

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो
गाण्डीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः।
न चेद् राज्यं मुञ्चति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः॥ ७ ॥
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः।

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन युद्धके लिये उत्सुक जान पड़ते थे। उनके कमलसदृश नेत्र लाल हो गये थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'यदि दुर्योधन अजमीढकुल-नन्दन महाराज युधिष्ठिरका राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना है ॥ ७½ ॥

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां
तथाश्विभ्यां वासुदेवेन चैव॥ ८ ॥
शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन
धृष्टद्युम्नेनाथ शिखण्डिना च।
युधिष्ठिरेणेन्द्रकल्पेन चैव
योऽपध्यानान्निर्दहेद् गां दिवं च॥ ९ ॥

'तभी तो उनका भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी उन महाराज युधिष्ठिर-के साथ युद्ध होनेवाला है, जो अनिष्टचिन्तन करते ही पृथ्वी तथा स्वर्गलोकको भी भस्म कर सकते हैं ॥ ८-९ ॥

तैश्चेद् योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो
निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पाण्डवानाम्।
मा तत् कार्षीः पाण्डवस्यार्थहेतो-
रुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम्॥ १० ॥

'यदि दुर्योधन चाहता है कि इन सब वीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध हो तो ठीक है, इससे पाण्डवोंका सारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। तुम केवल पाण्डवोंके लाभके लिये संधि कराने या आधा राज्य दिलानेकी चेष्टा न करना। उस दशामें यदि ठीक समझो तो उससे कह देना—'दुर्योधन ! तुम युद्धभूमिमें ही उतरो' ॥ १० ॥

यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्
प्रव्राजितः पाण्डवो धर्मचारी।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्था-
मन्त्यां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः॥ ११ ॥

'धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वनमें निर्वासित होकर जिस दुःखशय्यापर शयन किया है, दुर्योधन अपने प्राणों-का त्याग करके उससे भी अधिक दुःखदायिनी और अनर्थ-कारिणी मृत्युकी अन्तिम शय्याको ग्रहण करे ॥ ११ ॥

ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन
शौर्येणाथो धर्मगुप्त्या धनेन।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेया-
नध्यातिष्ठेद् धार्तराष्ट्रो दुरात्मा॥ १२ ॥

'अन्यायपूर्ण बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दुर्योधनको उचित है कि वह लज्जा, ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियसंयम, शौर्य, धर्मरक्षा आदि गुणों तथा धनके द्वारा कौरव-पाण्डवों-पर अधिकार प्राप्त करे (सद्गुणोंद्वारा सबके हृदयको जीते, अन्यायसे शासन करना असम्भव है) ॥ १२ ॥

मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां
तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन।
सत्यं ब्रुवन् प्रतिपन्नो नृपो न-
स्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम्॥ १३॥

'हमारे महाराज युधिष्ठिर नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रिय-संयम, धर्मरक्षा और बल—इन सभी गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे बहुत दिनोंसे अनेक प्रकारके क्लेश उठाते हुए भी सदा सत्य ही बोलते हैं तथा कौरवोंके कपटपूर्ण व्यवहारों तथा वचनोंको सहन करते रहते हैं ॥ १३ ॥

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम्।
अवस्रष्टा कुरुपूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥

'परंतु अपने मनको शुभ एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जिस समय उत्तेजित हो अनेक वर्षोंसे दबे हुए अपने अत्यन्त भयंकर क्रोधको कौरवोंपर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधनको पछताना पड़ेगा ॥ १४ ॥

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सब ओरसे धधक उठती और घास-फूस एवं जंगलोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधसे तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधनकी सेनाको अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर देंगे ॥ १५ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम्।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १६ ॥

'जिस समय दुर्योधन हाथमें गदा लिये रथपर बैठे हुए भयानक वेगवाले अमर्षशील पाण्डुनन्दन भीमसेनको क्रोध-रूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्धके परिणामको सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं
स्वालक्ष्यणं वीरहणं परेषाम्।
घ्नन्तं चमूमन्तकसंनिकाशं
तदा स्मर्ता वचनस्यातिमानी ॥ १७ ॥

'जब भीमसेन कवच धारण करके शत्रुपक्षके वीरोंका नाश करते हुए अपने पक्षके लोगोंके लिये भी अलक्षित हो सेनाके आगे-आगे तीव्र वेगसे बढ़ेंगे और यमराजके समान विपक्षी सेनाका संहार करने लगेंगे, उस समय अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको मेरी ये बातें याद आयेंगी ॥ १७ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान्
निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान्।
कुम्भैरिवासृग्वमतो भिन्नकुम्भां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥

'जब भीमसेन पर्वताकार प्रतीत होनेवाले बड़े-बड़े गज-राजोंको गदाके आघातसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण करके मार गिरायेंगे और वे मानो घड़ोंसे खून उँड़ेल रहे हों, इस प्रकार मस्तकसे रक्तकी धारा बहाने लगेंगे, उस समय दुर्योधन जब यह दृश्य देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा भारी पश्चात्ताप होगा ॥ १८ ॥

महासिंहो गाव इव प्रविश्य
गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहन्ता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १९ ॥

'जब भयंकर रूपधारी भीमसेन हाथमें गदा लिये तुम्हारी सेनामें घुसकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके पास जाकर उनका उसी प्रकार संहार करने लगेंगे, जैसे महान् सिंह गौओंके झुंडमें घुसकर उन्हें दबोच लेता है, तब दुर्योधनको युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ १९ ॥

महाभये वीतभयः कृतास्त्रः
समागमे शत्रुबलावमर्दी।
सकृद् रथेनाप्रतिमान् रथौघान्
पदातिसंघान् गदयाभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
शैक्येन नागांस्तरसा विगृह्णन्
यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम्।
छिन्दन् वनं परशुनेव शूर-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ २१ ॥

'जो भारी-से-भारी भय आनेपर भी निर्भय रहते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है तथा जो संग्रामभूमिमें शत्रुसेनाको रौंद डालते हैं, वे ही शूरवीर भीम-सेन जब एकमात्र रथपर आरूढ़ हो गदाके आघातसे असंख्य रथसमूहों तथा पैदल सैनिकोंको मौतके घाट उतारते और छींकोंके समान फंदोंमें बड़े-बड़े नागोंको फँसाकर मरे हुए बछड़ोंके समान उन्हें बलपूर्वक घसीटते हुए दुर्योधनकी सेनाको वैसे ही छिन्न-भिन्न करने लगेंगे, जैसे कोई फरसेसे जंगल काट रहा हो, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र मन-ही-मन यह सोचकर पछतायेगा कि मैंने युद्ध छेड़कर बड़ी भारी भूल की है ॥ २०-२१ ॥

तृणप्रायं ज्वलनेनेव दग्धं
ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं
परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥

हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं
पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम्।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥

'जब दुर्योधन यह देखेगा कि जैसे घास-फूसके झोपड़ोंका गाँव आगसे जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र-के अन्य सभी पुत्र भीमसेनकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, मेरी विशाल वाहिनी विजलीकी आगसे जली हुई पकी खेतीके समान नष्ट हो गयी, उसके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये, सैनिकोंने पीठ दिखा दी, सभी भयसे पीड़ित हो रणभूमिसे भाग निकले, प्रायः समस्त योद्धा साहस अथवा धृष्टता खो बैठे तथा भीमसेनके अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे सब कुछ स्वाहा हो गया; उस समय उसे युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ २२-२३ ॥

उपासंगानाचरेद् दक्षिणेन
वराङ्गानां नकुलश्चित्रयोधी।
यदा रथाग्र्यो रथिनः प्रणेता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २४ ॥

'रथियोंमें श्रेष्ठ और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुल जब दाहिने हाथमें लिये हुए खड्गसे तुम्हारे सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर धरतीपर उनके ढेर लगाने लगेंगे और रथी योद्धाओंको यमलोक भेजना प्रारम्भ करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ २४ ॥

सुखोचितो दुःखशय्यां वनेषु
दीर्घं कालं नकुलो यामशेत।
आशीविषः क्रुद्ध इवोद्वमन् विषं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २५ ॥

'सुख भोगनेके योग्य वीरवर नकुलने दीर्घकालतक वनोंमें रहकर जिस दुःख-शय्यापर शयन किया है, उसका स्मरण करके जब वह क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पकी भाँति विष उगलने लगेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको युद्ध छेड़ने-के कारण पछताना पड़ेगा ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ॥ २६ ॥

'संजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा युद्धके लिये आदेश पाकर उनके लिये प्राण देनेको उद्यत रहनेवाले भूमण्डलके नरेश जब तेजस्वी रथोंपर आरूढ़ होकर कौरव-सेनापर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधनको युद्धके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

शिशून् कृतास्त्रानशिशुप्रकाशान्
यदा द्रष्टा कौरवः पञ्च शूरान्।
त्यक्त्वा प्राणान् कौरवानाद्रवन्त-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥२७॥

'जो अवस्थामें बालक होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा पाकर युद्धमें नवयुवकोंके समान पराक्रम प्रकाशित करते हैं, द्रौपदीके वे पाँचों शूरवीर पुत्र प्राणोंका मोह छोड़-कर जब कौरव-सेनापर टूट पड़ेंगे और कुरुराज दुर्योधन जब उन्हें उस अवस्थामें देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूल-के कारण भारी पश्चात्ताप होगा ॥ २७ ॥

यदा गतोद्वाहमकूजनाक्षं
सुवर्णतारं रथमुत्तमाश्वैः।
दान्तैर्युक्तं सहदेवोऽधिरूढः
शिरांसि राज्ञां क्षेप्स्यते मार्गणौघैः ॥२८॥
महाभये सम्प्रवृत्ते रथस्थं
विवर्तमानं समरे कृतास्त्रम्।
सर्वा दिशः सम्पतन्तं समीक्ष्य
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २९ ॥

'जब सहदेव उत्तम जातिके सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अपनी इच्छाके अनुकूल चलनेवाले तथा पहियोंकी धुरीसे तनिक भी आवाज न करनेवाले रथपर, जो अलातचक्रकी भाँति घूमनेके कारण सोनेके गोलाकार तारके समान प्रतीत होता है, आरूढ़ हो अपने बाणसमूहोंद्वारा विपक्षी राजाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगेंगे और इस प्रकार महान्

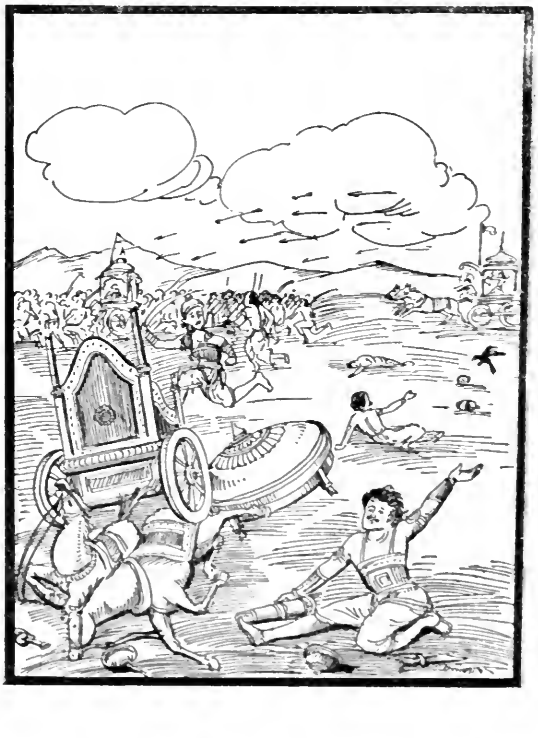

भयका वातावरण छा जानेपर रथपर बैठे हुए अस्त्रवेत्ता सहदेव समरभूमिमें डटे रहकर जब सभी दिशाओंमें शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस दशामें उन्हें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके मनमें युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप होगा ॥ २८-२९ ॥

ह्रीनिषेवो निपुणः सत्यवादी
महाबलः सर्वधर्मोपपन्नः ।
गान्धारिमार्च्छंस्तुमुले क्षिप्रकारी
क्षेप्ता जनान् सहदेवस्तरस्वी ॥ ३० ॥
यदा द्रष्टा द्रौपदेयान् महेषून्
शूरान् कृतास्त्रान् रथयुद्धकोविदान् ।
आशीविषान् घोरविषानिवायत-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३१ ॥

'लज्जाशील, युद्धकुशल, सत्यवादी, महाबली, सर्वधर्मसम्पन्न, वेगवान् तथा शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले सहदेव जब घमासान युद्धमें शकुनिपर आक्रमण करके शत्रुओंके सैनिकोंका संहार करने लगेंगे तथा जब दुर्योधन महाधनुर्धर शूरवीर अस्त्रविद्यामें निपुण तथा रथयुद्धकी कलामें कुशल द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भयंकर विषवाले विषधर सर्पोंकी भाँति आक्रमण करते देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलपर भारी पश्चात्ताप होगा ॥ ३०-३१ ॥

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन् ।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२ ॥

'अभिमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी तथा अस्त्रविद्यामें निपुण है, वह शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेमें समर्थ है। जिस समय वह मेघके समान बाणोंकी बौछार करता हुआ शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये मन-ही-मन बहुत ही संतप्त होगा ॥ ३२ ॥

यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं
द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतन्तम् ।
सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३ ॥

'सुभद्राकुमार अवस्थामें यद्यपि बालक है, तथापि उसका पराक्रम युवकोंके समान है। वह इन्द्रके समान शक्तिशाली तथा अस्त्रविद्यामें पारङ्गत है। जिस समय वह शत्रुसेनापर विकराल कालके समान आक्रमण करेगा, उस समय उसे देखकर दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ३३ ॥

प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो
विशारदाः सिंहसमानवीर्याः ।
यदा क्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४ ॥

'अस्त्र-संचालनमें शीघ्रता दिखानेवाले, युद्धविशारद तथा सिंहके समान पराक्रमी प्रभद्रकदेशीय नवयुवक जब सेनासहित धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार भगायेंगे, उस समय दुर्योधनको यह सोचकर बड़ा पश्चात्ताप होगा कि मैंने क्यों युद्ध छेड़ा ? ॥ ३४ ॥

वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ
पृथक् चमूभ्यामभिवर्तमानौ ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५ ॥

'जिस समय वृद्ध महारथी राजा विराट और द्रुपद अपनी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ आक्रमण करके सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंपर दृष्टि डालेंगे, उस समय दुर्योधनको युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ ३५ ॥

यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन्
शिरांसि यूनां समरे रथस्थः ।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६ ॥

'जब अस्त्रविद्यामें निपुण राजा द्रुपद कुपित हो रथपर बैठकर समरभूमिमें अपने धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा विपक्षी युवकोंके मस्तकोंको चुन-चुनकर काटने लगेंगे, उस समय दुर्योधनको इस युद्धके कारण भारी पछतावा होगा ॥ ३६ ॥

यदा विराटः परवीरघाती
रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७ ॥

'जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा विराट सौम्य स्वरूपवाले मत्स्यदेशीय योद्धाओंको साथ लेकर रणभूमिमें शत्रुसेनाके भीतर प्रवेश करेंगे, उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़नेका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ ३७ ॥

ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं
विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात् ।
यदा द्रष्टा दंशितं पाण्डवार्थे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८ ॥

'सौम्य तथा श्रेष्ठ स्वरूपवाले राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र मत्स्यदेशीय महारथी श्वेतको जब दुर्योधन पाण्डवोंके हितके लिये कवच धारण किये देखेगा, तब उसे युद्धका परिणाम सोचकर मन-ही-मन बड़ा कष्ट होगा ॥ ३८ ॥

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे
शिखण्डिना सत्तमे शान्तनूजे।
न जातु नः शत्रवो धारयेयु-
रसंशयं सत्यमेतद् ब्रवीमि ॥ ३९ ॥

'कौरववंशके प्रमुख वीर शान्तनुनन्दन साधुशिरोमणि भीष्मजी जब युद्धमें शिखण्डीके हाथसे मार दिये जायँगे, उस समय हमारे शत्रु कौरव कभी हमलोगोंका वेग नहीं सह सकेंगे, यह मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

यदा शिखण्डी रथिनः प्रचिन्वन्
भीष्मं रथेनाभियाता वरूथी।
दिव्यैर्हयैरवमृद्नन् रथौघां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥४०॥

'जब शिखण्डी अपने रथकी रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न हो रथियोंको चुन-चुनकर मारता तथा दिव्य अश्वोंद्वारा रथसमूहोंको रौंदता हुआ रथारूढ़ हो भीष्मपर आक्रमण करेगा, उस समय दुर्योधनको युद्ध छिड़ जानेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ४० ॥

यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके
धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम्।
अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्
द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः॥ ४१ ॥

'जिसे परम बुद्धिमान् आचार्य द्रोणने अस्त्रविद्याके गोपनीय रहस्यकी भी शिक्षा दी है, वह धृष्टद्युम्न जब सृंजयवंशी वीरोंकी सेनाके अग्रभागमें प्रकाशित होगा और उसे उस दशामें दुर्योधन देखेगा, तब वह अत्यन्त संतप्त हो उठेगा ॥ ४१ ॥

यदा स सेनापतिरप्रमेयः
परामृदन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान्।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ ४२॥

'जब शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ अपरिमित शक्तिशाली सेनापति धृष्टद्युम्न अपने बाणोंद्वारा धृतराष्ट्रपुत्रोंको कुचलता हुआ आचार्य द्रोणपर आक्रमण करेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर दुर्योधन बहुत पछतायेगा ॥४२॥

ह्रीमान् मनीषी बलवान् मनस्वी
स लक्ष्मीवान् सोमकानां प्रबर्हः।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः॥ ४३ ॥

'सोमकवंशका वह प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न लज्जाशील, बलवान्, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा वीरोचित शोभासे सम्पन्न है। इसी प्रकार वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी वीरवर सात्यकि जिनके अगुआ हैं, उनके वेगको दूसरे शत्रु कदापि नहीं सह सकते ॥ ४३ ॥

इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके
युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम्।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं
महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ॥ ४४ ॥

'तुम दुर्योधनसे यह भी कह देना कि अब संसारमें जीवित रहकर तुम राज्य भोगनेकी इच्छा न करो। हमने युद्धके लिये अद्वितीय वीर, महान् बलवान्, निर्भय तथा अस्त्रविद्यामें निपुण शिनिपौत्र रथारूढ़ सात्यकिको अपना सहायक चुन लिया है ॥ ४४ ॥

महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी
युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं
महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ॥ ४५ ॥

'शिनिके पौत्र महारथी सात्यकि चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं। उनकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी हैं। वे अद्वितीय वीर हैं और युद्धमें शत्रुओंको मथ डालते हैं। उन्हें उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान है। वे निर्भय तथा अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ४५ ॥

यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः
शरैः परान् मेघ इव प्रवर्षन्।
प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥४६॥

'जब मेरे कहनेसे शिनिप्रवर शत्रुमर्दन सात्यकि शत्रुओंपर मेघकी भाँति बाणोंकी झड़ी लगाते हुए मुख्य-मुख्य योद्धाओंको आच्छादित कर देंगे, उस समय दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर बहुत पछतायेगा ॥ ४६ ॥

यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा।
सिंहस्येव गन्धमाघ्राय गावः
संवेष्टन्ते शत्रवोऽस्माद् रणाग्रे॥ ४७॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले दीर्घबाहु महामना सात्यकि जब युद्धके लिये उत्सुक हो समरभूमिमें डट जाते हैं, उस समय जैसे सिंहकी गन्ध पाकर गौएँ इधर-उधर भगने लगती हैं, उसी प्रकार शत्रु युद्धके मुहानेपर इनके पास आकर तुरंत भाग खड़े होते हैं ॥ ४७ ॥

स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा
भिन्द्याद् गिरीन् संहरेत् सर्वलोकान्।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो
दिवि स्थितः सूर्य इवाभिभाति ॥ ४८ ॥

'विशालबाहु, दृढ़ धनुर्धर, युद्धकुशल और हाथोंकी फुर्ती दिखानेवाले अस्त्रवेत्ता सात्यकि पर्वतोंको विदीर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। वे आकाशमें विद्यमान सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित होते हैं ॥४८॥

चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य
अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान्।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं
सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९॥

'युद्धनिपुण वीर पुरुष जैसे-जैसे अस्त्रोंके उपलब्धिको प्रशंसाके योग्य मानते हैं, उन सबसे तथा समस्त वीरोचित गुणोंसे वृष्णिसिंह सात्यकि सम्पन्न हैं। उन यदुकुलतिलकको बहुतसे उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त है। उनका वह अस्त्रयोग विचित्र, सूक्ष्म और भलीभाँति अभ्यासमें लाया हुआ है ॥ ४९ ॥

हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भि-
र्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्र-
स्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥ ५० ॥

'जब युद्धमें मधुवंशी सात्यकिके चार श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथको पापात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब उसे अवश्य संताप होगा ॥ ५० ॥

यदा रथं हेममणिप्रकाशं
श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम्।
द्रष्टा ममाप्यास्थितं केशवेन
तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥५१ ॥

'जब सुवर्ण और मणियोंसे प्रकाशित होनेवाले मेरे भयंकर रथको जिसमें चार श्वेत अश्व जुते होंगे, जिसपर वानरध्वजा फहरा रही होगी तथा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर बैठकर सारथिका कार्य सँभालते होंगे, अकृतात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब मन-ही-मन संतप्त हो उठेगा ॥ ५१ ॥

यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं
महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम्।
विधूयमानस्य महारणे मया
स गाण्डिवस्य श्रोष्यति मन्दबुद्धिः॥५२।
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्र-
स्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षान्धकारे
प्रभज्यन्तं गोकुलवद् रणाग्रे ॥ ५३ ॥

'महान् संग्रामके समय जब मैं गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचूँगा, उस समय मेरे हाथोंकी रगड़से वज्रपातके समान अत्यन्त भयंकर आवाज होगी, मन्दबुद्धि दुर्योधन जब गाण्डीवकी उस उग्र टंकारको सुनेगा तथा रणस्थलीके अग्रभागमें मेरी बाणवर्षामे फैले हुए अन्धकारमें इधर-उधर भागती हुई गौओंकी भाँति अपनी सेनाको युद्धसे पलायन करती देखेगा, तब दुष्ट सहायकोंसे युक्त उस दुर्बुद्धि एवं मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें बड़ा संताप होगा ॥ ५२-५३ ॥

बलाहकादुच्चरतः सुभीमान्
विद्युत्स्फुलिङ्गानिव घोररूपान्।
सहस्रघ्नान् द्विषतां सङ्गरेषु
अस्थिच्छिदो मर्मभिदः सुपुङ्खान्॥५४॥
यदा द्रष्टा ज्यामुखाद् बाणसंघान्
गाण्डीवमुक्तानापततः शिताग्रान्।
हयान् गजान् वर्मिणश्चाददानां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५५॥

'मेरे गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए तीखी धारवाले सुन्दर पंखोंसे युक्त भयंकर बाणसमूह मेघसे निकली हुई अत्यन्त भयानक विद्युत्‌की चिनगारियोंके समान जब युद्धभूमिमें शत्रुओंपर पड़ेंगे और उनकी हड्डियोंको काटते तथा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करते हुए सहस्र-सहस्र सैनिकोंको मौतके घाट उतारने लगेंगे, साथ ही कितने ही घोड़ों, हाथियों तथा कवचधारी योद्धाओंके प्राण लेना प्रारम्भ करेंगे, उस समय जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन यह सब देखेगा, तब युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण वह बहुत पछतायेगा ॥ ५४-५५ ॥

यदा मन्दः परबाणान् विमुक्तान्
ममेषुभिर्ह्रियमाणान् प्रतीपम्।
तिर्यग्विध्याच्छिद्यमानान् पृषत्कै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५६॥

'युद्धमें दूसरे योद्धा जो बाण चलायेंगे, उन्हें मेरे बाण टक्कर लेकर पीछे लौटा देंगे। साथ ही मेरे दूसरे बाण शत्रुओंके शरसमूहको तिर्यग्भावसे विद्ध करके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जब मन्दबुद्धि दुर्योधन यह सब देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५६ ॥

यदा विपाठा मद्भुजविप्रमुक्ता
द्विजाः फलानीव महीरुहाग्रात्।
प्रचेतार उत्तमाङ्गानि यूनां
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५७॥

'जब मेरे बाहुबलसे छूटे हुए विपाठ नामक बाण युवक योद्धाओंके मस्तकोंको उसी प्रकार काट-काटकर ढेर लगाने लगेंगे, जैसे पक्षी वृक्षोंके अग्रभागसे फल गिराकर उनके ढेर लगा देते हैं, उस समय यह सब देखकर दुर्योधनको बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५७ ॥

यदा द्रष्टा पततः स्यन्दनेभ्यो
महागजेभ्योऽश्वगतान् सुयोधनान्।
शरैर्हतान् पातितांश्चैव रङ्गे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५८॥

'जब दुर्योधन देखेगा कि उसके रथोंसे, बड़े-बड़े गजोंसे और घोड़ोंकी पीठपरसे भी असंख्य योद्धा मेरे बाणोंद्वारा मारे जाकर समराङ्गणमें गिरते चले जा रहे हैं, तब उसे युद्धके लिये भारी पछतावा होगा ॥ ५८ ॥

असम्प्राप्तानस्त्रपथं परस्य
तदा द्रष्टा नश्यतो धार्तराष्ट्रान्।
अकुर्वतः कर्म युद्धे समन्तात्
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५९॥

दुर्योधनको जब यह दिखायी देगा कि उसके दूसरे भाई शत्रुओंकी बाणवर्षाके निकट न जाकर उसे दूरसे देखकर ही अदृश्य हो रहे हैं, युद्धमें कोई पराक्रम नहीं कर पा रहे हैं; तब वह लड़ाई छेड़नेके कारण मन-ही-मन बहुत पछतायेगा ॥ ५९ ॥

पदातिसंघान् रथसंघान् समन्ताद्
व्यात्ताननः काल इवाततेषुः।
प्रणोत्स्यामि ज्वलितैर्बाणवर्षैः
शत्रूंस्तदा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६० ॥

'जब मैं सायकोंकी अविच्छिन्न वर्षा करते हुए मुख फैलाये खड़े हुए कालकी भाँति अपने प्रज्वलित बाणोंकी बौछारोंसे शत्रुपक्षके झुंडके झुंड पैदलों तथा रथियोंके समूहोंको छिन्न-भिन्न करने लगूँगा, उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ ६० ॥

सर्वा दिशः सम्पतता रथेन
रजोध्वस्तं गाण्डिवेन प्रकृत्तम्।
यदा द्रष्टा स्वबलं सम्प्रमूढं
तदा पश्चात् तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥६१॥

'मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र जब यह देखेगा कि सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़नेवाले मेरे रथके द्वारा उड़ायी हुई धूलिसे आच्छादित हो उसकी सारी सेना धराशायी हो रही है और मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उसके समस्त सैनिक छिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं, तब उसे बड़ा पछतावा होगा ॥ ६१ ॥

कान्दिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं
दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम्।
हताश्ववीराग्र्यनरेन्द्रनागं
पिपासितं श्रान्तपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च
विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिश्चितं
तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६३ ॥

'दुर्योधन अपनी आँखों यह देखेगा कि उसकी सारी सेना (भयसे भागने लगी है और उस) को यह भी नहीं सूझता है कि किस दिशाकी ओर जाऊँ ? कितने ही योद्धाओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं। समस्त सैनिक अचेत हो रहे हैं। हाथी, घोड़े तथा वीराग्रगण्य नरेश मार डाले गये हैं। सारे वाहन थक गये हैं और सभी योद्धा प्यास तथा भयसे पीड़ित हो रहे हैं। बहुतेरे सैनिक आर्त स्वरसे रो रहे हैं, कितने ही मारे गये और मारे जा रहे हैं। बहुतोंके केश, अस्थि तथा कपालसमूह सब ओर बिखरे पड़े हैं। मानो विधाताका यथार्थ निश्चित विधान हो, इस प्रकार यह सब कुछ होकर ही रहेगा। यह सब देखकर उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६२-६३ ॥

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शङ्खं पाञ्चजन्यं हयांश्च।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥६४॥

'जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन रथपर मेरे गाण्डीव धनुषको, सारथि भगवान् श्रीकृष्णको, उनके दिव्य पाञ्चजन्य शङ्खको, रथमें जुते हुए दिव्य घोड़ोंको, बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तूणीरोंको, मेरे देवदत्त नामक शंखको और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर उसे बड़ा संताप होगा ॥ ६४ ॥

उद्वर्तयन् दस्युसङ्घान् समेतान्
प्रवर्तयन् युगमन्यद् युगान्ते।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत् कौरवेयां-
स्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥

'जिस समय युद्धके लिये एकत्र हुए इन डाकुओंके दलोंका संहार करके प्रलयकालके पश्चात् युगान्तर उपस्थित करता हुआ मैं अग्निके समान प्रज्वलित होकर कौरवोंको भस्म करने लगूँगा, उस समय पुत्रोंसहित महाराज धृतराष्ट्रको बड़ा संताप होगा ॥ ६५ ॥

सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो
भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः।
दर्पस्यान्ते निहतो वेपमानः
पश्चान्मन्दस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥

'सदा क्रोधके वशमें रहनेवाला अल्पबुद्धि मूढ़ दुर्योधन जब भाई, भृत्यगण तथा सेनाओंसहित ऐश्वर्यसे भ्रष्ट एवं आहत होकर काँपने लगेगा, उस समय सारा घमंड चूर-चूर हो जानेपर उसे (अपने कुकृत्योंके लिये) बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६६ ॥

पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्
विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम्।

कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ
योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥६७॥
इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्रहस्तः
पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन्।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते
पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

'एक दिनकी बात है, मैं पूर्वाह्णकालमें संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजप करके आचमनके पश्चात् बैठा हुआ था, उस समय एक ब्राह्मणने आकर एकान्तमें मुझसे यह मधुर

वचन कहा—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है। सव्यसाचिन् ! तुम्हें अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करना होगा। बोलो, क्या चाहते हो ? इन्द्र उच्चैःश्रवा घोड़ेपर बैठकर वज्र हाथमें लिये तुम्हारे आगे आगे समरभूमिमें शत्रुओंका नाश करते हुए चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए रथपर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें' ॥ ६७-६८ ॥

वव्रे चाहं वज्रहस्तान्महेन्द्रा-
दस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम्।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो
मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर्मे ॥ ६९ ॥

'उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्रको छोड़कर इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक चुना था, इस प्रकार इन डाकुओंके वधके लिये मुझे श्रीकृष्ण मिल गये हैं। मालूम होता है, देवताओंने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है ॥ ६९ ॥

अयुद्ध्यमानो मनसापि यस्य
जयं कृष्णः पुरुषस्याभिनन्देत्।
एवं सर्वान् स व्यतीयादमित्रान्
सेन्द्रान् देवान् मानुषे नास्ति चिन्ता ॥ ७० ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध न करके मनसे भी जिस पुरुषकी विजयका अभिनन्दन करेंगे, वह अपने समस्त शत्रुओंको, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है, फिर मनुष्य-शत्रुके लिये तो चिन्ता ही क्या है ? ॥

स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षे-
न्महोदधिं सलिलस्याप्रमेयम्।
तेजस्विनं कृष्णमत्यन्तशूरं
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥

'जो युद्धके द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको जीतनेकी इच्छा करता है, वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्रको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करना चाहता है ॥ ७१ ॥

गिरिं य इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं
शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम्।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्ये-
न्न चापि किंचित् स गिरेस्तु कुर्यात् ॥७२॥

'जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण श्वेत कैलास-पर्वतको हथेलीसे मारकर विदीर्ण करना चाहता है, उस मनुष्यका नखसहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह उस पर्वतका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

अग्निं समिद्धं शमयेद् भुजाभ्यां
चन्द्रं च सूर्यं च निवारयेत।
हरेद् देवानाममृतं प्रसह्य
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥

'जो युद्धके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको जीतना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्निको दोनों हाथोंसे बुझानेकी चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोकना चाहता है तथा हठपूर्वक देवताओंका अमृत हर लानेका प्रयत्न करता है ॥ ७३ ॥

यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजा-
नुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं
यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा ॥ ७४ ॥

'जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धमें भोजवंशी राजाओंको बलपूर्वक पराजित करके (रूप, सौन्दर्य और) सुयशके द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणी-

को पत्नीरूपसे ग्रहण किया, जिसके गर्भसे महामना प्रद्युम्नका जन्म हुआ है ॥ ७४ ॥

अयं गान्धारांस्तरसा सम्प्रमथ्य
जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान्।
बद्धं मुमोच विनदन्तं प्रसह्य
सुदर्शनं वै देवतानां ललामम्॥ ७५ ॥

'इन श्रीकृष्णने ही गान्धारदेशीय योद्धाओंको अपने वेगसे कुचलकर राजा नग्नजित्के समस्त पुत्रोंको पराजित किया और वहाँ कैदमें पड़कर क्रन्दन करते हुए राजा सुदर्शनको, जो देवताओंके भी आदरणीय हैं, बन्धनमुक्त किया ॥ ७५ ॥

अयं कपाटेन जघान पाण्ड्यं
तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द।
अनेन दग्धा वर्षपूगान् विनाथा
वाराणसी नगरी सम्बभूव ॥ ७६ ॥

'इन्होंने पाण्ड्यनरेशको किंवाड़के पल्लेसे मार डाला, भयंकर युद्धमें कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको कुचल डाला तथा इन्होंने ही काशीपुरीको इस प्रकार जलाया था कि वह बहुत वर्षोंतक अनाथ पड़ी रही ॥ ७६ ॥

अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं
तमेकलव्यं नाम निषादराजम्।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जम्भः
शेते स कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥

'ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषादराज एकलव्यको सदा युद्धके लिये ललकारा करते थे; जो दूसरोंके लिये अजेय था; परंतु वह श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये रणशय्यामें सो रहा है, ठीक उसी तरह, जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वतपर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रामें निमग्न हो गया था ॥ ७७ ॥

तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं
वृष्ण्यन्धकानां मध्यगतं सभास्थम्।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो
हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम्॥ ७८॥

'उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुष्ट था। वह जब भरी सभामें वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके बीचमें बैठा हुआ था, श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंसका वध करके इन्होंने मथुराका राज्य उग्रसेनको दे दिया ॥ ७८ ॥

अयं सौभं योधयामास खस्थं
विभीषणं मायया शाल्वराजम्।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं
दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः॥ ७९ ॥

'इन्होंने सौभ नामक विमानपर बैठे हुए तथा मायाके द्वारा अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके आये हुए आकाशमें स्थित शाल्वराजके साथ युद्ध किया और सौभ विमानके द्वारपर लगी हुई शतघ्नीको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया था। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥ ७९ ॥

प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं
पुरं घोरमसुराणामसह्यम्।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो
जहारादित्या मणिकुण्डले शुभे ॥ ८० ॥

'असुरोंका प्राग्ज्योतिषपुर नामसे प्रसिद्ध एक भयंकर किला था, जो शत्रुओंके लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमिपुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था, जिसने देवमाता अदितिके सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे ॥ ८० ॥

न तं देवाः सह शक्रेण शेकुः
समागता युधि मृत्योरभीताः।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य
बलं तथैवास्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
जानन्तोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य
न्ययोजयन् दस्युवधाय कृष्णम्।
स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्कर-
मैश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेवः॥ ८२ ॥

'मृत्युके भयसे रहित देवता इन्द्रके साथ उसका सामना करनेके लिये आये; परंतु नरकासुरको युद्धमें पराजित न कर सके। तब देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णके अनिवार्य बल, पराक्रम और अस्त्रको देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृतिको जानकर इन्हींसे पूर्वोक्त डाकू नरकासुरका वध करनेकी प्रार्थना की, तब समस्त कार्योंकी सिद्धिमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया ॥ ८१-८२ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा
संच्छिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान्।
मुरं हत्वा विनिहत्यौघरक्षो
निर्मोचनं चापि जगाम वीरः ॥ ८३ ॥

'फिर वीरवर श्रीकृष्णने निर्मोचन नगरकी सीमापर जाकर सहसा छः हजार लोहमय पाश काट दिये, जो तीखी धारवाले थे। फिर मुर दैत्यका वध और राक्षससमूहका नाश करके निर्मोचन नगरमें प्रवेश किया ॥ ८३ ॥

तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धं
महाबलेनातिबलस्य विष्णोः।
शेते स कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ ८४ ॥

'वहीं उस महाबली नरकासुरके साथ अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध हुआ। श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर वह प्राणोंसे हाथ धो बैठा और आँधीके उखाड़े हुए कनेर वृक्षकी भाँति सदाके लिये रणभूमिमें सो गया ॥८४॥

आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते
हत्वा च भौमं नरकं मुरं च।
श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान्
प्रत्याजगामाप्रतिमप्रभावः ॥ ८५ ॥

'इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् श्रीकृष्ण भूमिपुत्र नरकासुर तथा मुरका वध करके देवी अदितिके वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँसे लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यशसे सुशोभित हो अपनी पुरीमें लौट आये ॥८५॥

अस्मै वराण्यददंस्तत्र देवा
दृष्ट्वा भीमं कर्म कृतं रणे तत्।
श्रमश्च ते युध्यमानस्य न स्या-
दाकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात् ॥८६॥
शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेर-
न्नित्येव कृष्णश्च ततः कृतार्थः।
एवंरूपे वासुदेवेऽप्रमेये
महाबले गुणसम्पत् सदैव ॥ ८७ ॥

'युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओंने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये—'केशव ! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जलमें भी आप अप्रतिहत गतिसे विचरें और आपके अङ्गोंमें कोई भी अस्त्र-शस्त्र चोट न पहुँचा सके।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये हैं। इन असीम शक्तिशाली महाबली वासुदेवमें समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है ॥ ८६-८७ ॥

तमसह्यं विष्णुमनन्तवीर्य-
माशंसते धार्तराष्ट्रो विजेतुम्।
सदा ह्येनं तर्कयते दुरात्मा
तच्चाप्ययं सहतेऽस्मान् समीक्ष्य॥८८॥

'ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जीत लेनेकी आशा करता है। वह दुरात्मा सदैव इनका अनिष्ट करनेके विषयमें सोचता रहता है, परंतु हमलोगोंकी ओर देखकर उसके इस अपराधको भी ये भगवान् सहते चले जा रहे हैं ॥ ८८ ॥

पर्यागतं मम कृष्णस्य चैव
यो मन्यते कलहं सम्प्रसह्य।
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वं
तद् वेदिता संयुगं तत्र गत्वा ॥ ८९ ॥

'दुर्योधन मानता है कि मुझमें और श्रीकृष्णमें हठात् कलह करा दिया जा सकता है। पाण्डवोंका श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व (अपनापन) है, उसे मिटा दिया जा सकता है; परंतु कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें पहुँचनेपर उसे इन सब बातोंका ठीक-ठीक पता चल जायगा ॥ ८९ ॥

नमस्कृत्वा शान्तनवाय राज्ञे
द्रोणायाथो सहपुत्राय चैव।
शारद्वतायाप्रतिद्वन्द्विने च
योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः॥ ९० ॥

'मैं शान्तनुनन्दन महाराज भीष्मको, आचार्य द्रोणको, गुरुभाई अश्वत्थामाको और जिनका सामना कोई नहीं कर सकता, उन वीरवर कृपाचार्यको भी प्रणाम करके राज्य पानेकी इच्छा लेकर अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ९० ॥

धर्मेणात्तं निधनं तस्य मन्ये
यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः।
मिथ्या ग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः
संवत्सरान् वै द्वादश राजपुत्राः॥९१॥

'जो पापबुद्धि मानव पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा, धर्मकी दृष्टिसे उसकी मृत्यु निकट आ गयी है, ऐसा मेरा विश्वास है। कारण कि इन क्रूर स्वभाववाले कौरवोंने हम सब लोगोंको कपटद्यूतमें जीतकर बारह वर्षोंके लिये वनमें निर्वासित कर दिया था; यद्यपि हम भी राजाके ही पुत्र थे ॥ ९१ ॥

वासः कृच्छ्रो विहितश्चाप्यरण्ये
दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम्।
ते हि कस्माज्जीवतां पाण्डवानां
नन्दिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥

'हम वनमें दीर्घकालतक बड़े कष्ट सहकर रहे हैं और एक वर्षतक हमें अज्ञातवास करना पड़ा है। ऐसी दशामें पाण्डवोंके जीते-जी वे कौरव अपने पदोंपर प्रतिष्ठित रहकर कैसे आनन्द भोगते रहेंगे ? ॥ ९२ ॥

ते चेदस्मान् युध्यमानाञ्जयेयु-
र्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः।
धर्माद्धर्मश्चरितो गरीयां-
स्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु॥ ९३॥

'यदि इन्द्र आदि देवताओंकी सहायता पाकर भी धृतराष्ट्रपुत्र हमें युद्धमें जीत लेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मकी अपेक्षा पापाचारका ही महत्त्व अधिक है और संसारसे पुण्यकर्मका अस्तित्व निश्चय ही उठ गया ॥ ९३ ॥

न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं
न चेदस्मान् मन्यतेऽसौ विशिष्टान्।

आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो
दुर्योधनं सानुबन्धं निहन्तुम् ॥ ९४ ॥

'यदि दुर्योधन मनुष्यको कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ नहीं मानता है अथवा यदि वह हमलोगोंको अपनेसे श्रेष्ठ तथा प्रबल नहीं समझता है, तो भी मैं यह आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक बनाकर मैं दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ॥ ९४ ॥

न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वन्ध्यं
न चेद् भवेत् सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाभिसमीक्ष्य नूनं
पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥

'राजन् ! यदि मनुष्यका किया हुआ यह पापकर्म निष्फल नहीं होता अथवा पुण्यकर्मोंका फल मिले बिना नहीं रहता तो मैं दुर्योधनके वर्तमान और पहलेके किये हुए पापकर्मका विचार करके निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि धृतराष्ट्रपुत्रकी पराजय अनिवार्य है और इसीमें जगत्की भलाई है ॥ ९५ ॥

प्रत्यक्षं वः कुरवो यद् ब्रवीमि
युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।
अन्यत्र युद्धात् कुरवो यदि स्यु-
र्न युद्धे वै शेष इहास्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥

'कौरवो ! मैं तुमलोगोंके समक्ष यह स्पष्टरूपसे बता देना चाहता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र यदि युद्धभूमिमें उतरे तो जीवित नहीं बचेंगे । कौरवोंके जीवनकी रक्षा तभी हो सकती है, जब वे युद्धसे दूर रहें । युद्ध छिड़ जानेपर तो उनमेंसे कोई भी यहाँ शेष नहीं रहेगा ॥ ९६ ॥

हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान् सकर्णान्
राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद् वः कार्यं तत् कुरुध्वं यथास्व-
मिष्टान् दारानात्मभोगान् भजध्वम् ॥ ९७ ॥

'मैं कर्णसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करके कुरुदेशका सम्पूर्ण राज्य जीत लूँगा, अतः तुम्हारा जो-जो कर्तव्य शेष हो, उसे पूरा कर लो । अपने वैभवके अनुसार प्रियतमा पत्नियोंके साथ सुख भोग लो और अपने शरीरके लिये भी जो अभीष्ट भोग हों, उनका उपभोग कर लो ॥ ९७ ॥

अप्येवं नो ब्राह्मणाः सन्ति वृद्धा
बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः ।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाभियुक्ता
नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥

'हमारे पास कितने ही ऐसे वृद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं, जो अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सुशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न, वर्षके शुभाशुभ फलोंको जाननेवाले, ज्योतिषशास्त्रके मर्मज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रोंके योगफलका निश्चितरूपसे ज्ञान रखनेवाले हैं ॥ ९८ ॥

उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं
दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महान्तं कुरुसृंजयानां
निवेदयन्ते पाण्डवानां जयं च ॥ ९९ ॥

'वे दैवसम्बन्धी उन्नति एवं अवनतिके फलदायक रहस्य बता सकते हैं । प्रश्नोंके अलौकिक ढंगसे उत्तर देते हैं, जिससे भविष्य घटनाओंका ज्ञान हो जाता है । वे शुभाशुभ फलोंका वर्णन करनेके लिये सर्वतोभद्र आदि चक्रोंका भी अनुसंधान करते हैं और मुहूर्तशास्त्रके तो वे पण्डित ही हैं । वे सब लोग निश्चितरूपसे यह निवेदन करते हैं कि कौरवों और सृंजयवंशके लोगोंका बड़ा भारी संहार होनेवाला है और इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय होगी ॥ ९९ ॥

यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः
संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाप्यपरोक्षविद्यो
न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ॥ १०० ॥

'अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर मानते हैं, मैं अपने शत्रुओंका दमन करनेमें निश्चय सफल होऊँगा । वृष्णिवंशके पराक्रमी वीर भगवान् श्रीकृष्णको भी सारी विद्याओंका अपरोक्ष ज्ञान है । वे भी हमारे इस मनोरथके सिद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं देखते हैं ॥ १०० ॥

अहं तथैवं खलु भाविरूपं
पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी
संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ॥ १०१ ॥

'मैं भी स्वयं प्रमादशून्य होकर अपनी बुद्धिसे भावीका ऐसा ही स्वरूप देखता हूँ । मेरी चिरंतन दृष्टि कभी तिरोहित नहीं होती । उसके अनुसार मैं यह निश्चितरूपसे कह सकता हूँ कि युद्धभूमिमें उतरनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र जीवित नहीं रह सकते ॥ १०१ ॥

अनालब्धं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ॥ १०२ ॥

'गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुषकी डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकससे निकलकर शत्रुओंकी ओर जानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ १०२ ॥

खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो
हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम् ।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति
कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन् ॥ १०३॥

'चमचमाती हुई तलवार म्यानसे इस प्रकार निकल रही है, मानो सर्प अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर चमकने लगा हो तथा मेरी ध्वजापर यह भयंकर वाणी गूँजती रहती है कि अर्जुन ! तुम्हारा रथ युद्धके लिये कब जोता जायगा ॥ १०३॥

गोमायुसंघाश्च नदन्ति रात्रौ
रक्षांस्यथो निष्पतन्त्यन्तरिक्षात् ।
मृगाः शृगालाः शितिकण्ठाश्च काका
गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च ॥ १०४॥

'रातमें गीदड़ोंके दल कोलाहल मचाते हैं, राक्षस आकाशसे पृथिवीपर टूटे पड़ते हैं तथा हिरण, सियार, मोर, कौआ, गीध, बगुला और चीते मेरे रथके समीप दौड़े आते हैं ॥

सुवर्णपत्राश्च पतन्ति पश्चाद्
दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम् ।
अहं ह्येकः पार्थिवान् सर्वयोधान्
शरान् वर्षन् मृत्युलोकं नयेयम् ॥ १०५॥

'श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए मेरे रथको देखकर सुवर्णपत्र नामक पक्षी पीछेसे टूटे पड़ते हैं । इससे जान पड़ता है, मैं अकेला बाणोंकी वर्षा करके समस्त राजाओं और योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ १०५ ॥

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्
यथाग्निरिद्धो गहनं निदाघे ।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं
ब्राह्मं चास्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे ॥ १०६॥

वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्
नाहं प्रजाः किंचिदिहावशिष्ये ।
शान्तिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः
स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान् ॥ १०७॥

'जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई आग जब वनको जलाने लगती है, तब किसी भी वृक्षको बाकी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मैं शत्रुओंके वधके लिये सुसज्जित हो अस्त्रसंचालनकी विभिन्न रीतियोंका आश्रय ले स्थूणाकर्ण, महान् पाशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र तथा जिसे इन्द्रने मुझे दिया था उस इन्द्रास्त्रका भी प्रयोग करूँगा और वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके इस युद्धमें किसीको भी जीवित नहीं छोड़ूँगा । ऐसा करनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी । संजय ! तुम उनसे स्पष्ट कह देना कि मेरा यह दृढ़ और उत्तम निश्चय है ॥ १०६-१०७ ॥

ये वैजयन्त्याः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान् ।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥ १०८॥

'सूत ! जो पाण्डव समरभूमिमें इन्द्र आदि समस्त देवताओंको भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवोंके साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो ॥ १०८ ॥

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।
एते सर्वे यद् वदन्ते तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे ॥ १०९॥

'फिर भी मैं चाहता हूँ कि बूढ़े पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो । समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें' ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें अर्जुनवाक्यनिवेदनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना एवं कर्णपर आक्षेप करना, कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसका पुनः उपहास एवं द्रोणाचार्यद्वारा भीष्मजीके कथनका अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १ ॥

बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण वसवश्चाग्निना सह ॥ २ ॥

आदित्याश्चैव साध्याश्च ये च सप्तर्षयो दिवि ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः शुभाश्चाप्सरसां गणाः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, बृहस्पति और शुक्राचार्य ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए । उनके साथ इन्द्रसहित मरुद्गण, अग्नि, वसुगण, आदित्य, साध्य, सप्तर्षि, विश्वावसु गन्धर्व और श्रेष्ठ अप्सराएँ भी वहाँ मौजूद थीं ॥ २-३ ॥

नमस्कृत्योपजग्मुस्ते लोकवृद्धं पितामहम् ।
परिवार्य च विश्वेशं पर्यासत दिवौकसः ॥ ४ ॥

ये सब देवता संसारके बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् उन लोकेश्वरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ४ ॥

तेषां मनश्च तेजश्चाप्याददानाविवौजसा ।
पूर्वदेवौ व्यतिक्रान्तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओजसे उन सबके चित्त और तेजका अपहरण-सा करते हुए उस स्थानको लाँघकर चले गये ॥ ५ ॥

बृहस्पतिस्तु पप्रच्छ ब्रह्माणं काविमाविति ।
भवन्तं नोपतिष्ठेते तौ नः शंस पितामह ॥ ६ ॥

यह देख बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'पितामह ! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया । हमें इनका परिचय दीजिये' ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ ॥ ७ ॥
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—बृहस्पते ! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए हमलोगोंका अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं । ये अपने तेजसे प्रज्वलित और कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं । इनका धैर्य और पराक्रम महान् है । ये अपनी तपस्यासे अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं ॥ ७-८ ॥

एतौ हि कर्मणा लोकं नन्दयामासतुर्ध्रुवम् ।
द्विधाभूतौ महाप्राज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परंतपौ ।
असुराणां विनाशाय देवगन्धर्वपूजितौ ॥ ९ ॥

इन्होंने अपने सत्कर्मोंसे निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंका आनन्द बढ़ाया है । ब्रह्मन् ! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं । इन्होंने एक होते हुए भी असुरोंका विनाश करनेके लिये दो शरीर धारण किये हैं । देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

जगाम शक्रस्तच्छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस्तपः ।
सार्धं देवगणैः सर्वैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्र बृहस्पति आदि सब देवताओंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ उन दोनों ऋषियोंने तपस्या की थी ॥ १० ॥

तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् ।
अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ॥ ११ ॥

उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओंको महान् भय प्राप्त हुआ था; अतः उन्होंने उन दोनों महात्मा नर-नारायणसे वरदान माँगा ॥ ११ ॥

तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप हमारी सहायता करें' ॥ १२ ॥

ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥

तब नर-नारायण ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह हम करेंगे ।' फिर उन दोनोंको साथ लेकर इन्द्रने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी ॥ १३ ॥

नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परंतपः।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ १४ ॥

एक समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरस्वरूप अर्जुनने युद्धमें इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखञ्ज नामक दानवोंका संहार किया ॥ १४ ॥

एष भ्रान्ते रथे तिष्ठन् भल्लेनापाहरच्छिरः।
जम्भस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ॥ १५ ॥

उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथपर बैठे हुए थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ नामक असुरका मस्तक अपने एक भल्लसे काट गिराया ॥ १५ ॥

एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत्।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे ॥ १६ ॥

इन्होंने ही संग्राममें साठ हजार निवातकवचोंको पराजित करके समुद्रके उस पार बसे हुए दैत्योंके हिरण्यपुर नामक नगरको तहस-नहस कर डाला ॥ १६ ॥

एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनो जातवेदसम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाले इन महाबाहु अर्जुनने खाण्डवदाहके समय इन्द्रसहित समस्त देवताओंको जीतकर अग्निदेवको पूर्णतः तृप्त किया था ॥ १७ ॥

नारायणस्तथैवात्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ॥ १८ ॥

इसी प्रकार नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी खाण्डवदाहके समय दूसरे बहुत-से हिंसक प्राणियोंको यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान् पराक्रमी हैं। दुर्योधन! इस समय ये दोनों एक-दूसरेसे मिल गये हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह देख और समझ लो ॥ १८ ॥

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥ १९ ॥

परस्पर मिले हुए महारथी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं; यह बात विख्यात है ॥ १९ ॥

अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥

इस मनुष्यलोकमें इन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं। परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान्।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनः पुनः ॥ २१ ॥

ये दोनों अपने सत्कर्मके प्रभावसे अक्षय एवं ध्रुवलोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

तस्मात् कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः।
एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥

दुष्टोंका दमन करके साधु पुरुषों एवं धर्मका संरक्षण ही इनका कर्तव्य है—ये सारी बातें वेदोंके ज्ञाता नारदजीने समस्त वृष्णिवंशियोंके सम्मुख कही थीं ॥ २२ ॥

शङ्खचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम्।
पर्याददानं चास्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्तासि वचनं मम ॥ २४ ॥

वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथपर बैठे हैं, श्रीकृष्णके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकारके अस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २३-२४ ॥

नोचेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥

यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझ लो, कौरवोंका विनाश अवश्य ही उपस्थित हो जायगा। तात! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनोंसे भ्रष्ट हो गयी है ॥ २५ ॥

न चेद् ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोतासि सुबहून् हतान्।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥

यदि मेरा कहना नहीं मानोगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत-से सगे-सम्बन्धी मार डाले गये; क्योंकि सब कौरव तुम्हारे ही मतका अनुसरण करते हैं ॥ २६ ॥

त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! एक तुम्हीं ऐसे हो, जो कि परशुरामजीके द्वारा अभिशप्त खोटी जातिवाले सूतपुत्र कर्ण एवं सुबलपुत्र शकुनि तथा अपने नीच एवं पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनोंके मतका अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो ॥ २७-२८ ॥

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—पितामह ! आपने मेरे प्रति जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप-जैसे वृद्ध पुरुषको ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं क्षत्रियधर्ममें स्थित हूँ और अपने धर्मसे कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ ॥ २९ ॥

किं चान्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे।
न हि मे वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ॥ ३० ॥
नाचरं वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः।

मुझमें कौन-सा ऐसा दुराचार है जिसके कारण आप मेरी निन्दा करते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कभी मेरा कोई पापाचार देखा या जाना हो ऐसी बात नहीं है। मैंने दुर्योधनका कभी कोई अनिष्ट नहीं किया है ॥ ३०½ ॥

अहं हि पाण्डवान् सर्वान् हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः।

मैं युद्धभूमिमें खड़े होनेपर समस्त पाण्डवोंको अवश्य मार डालूँगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः संधि कैसे की जा सकती है ? ॥ ३१½ ॥

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥

मुझे जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्रका समस्त प्रिय कार्य करना चाहिये, उसी प्रकार दुर्योधनका भी करना उचित है; क्योंकि अब वे ही राज्यपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने राजा धृतराष्ट्रको सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ३४ ॥

'राजन् ! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग हाँका करता है कि मैं पाण्डवोंको मार डालूँगा, वह व्यर्थ है। मेरी रायमें यह महात्मा पाण्डवोंकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ॥ ३४ ॥

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम्।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारे दुरात्मा पुत्रोंपर अन्यायके फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णकी ही करतूत समझो ॥ ३५ ॥

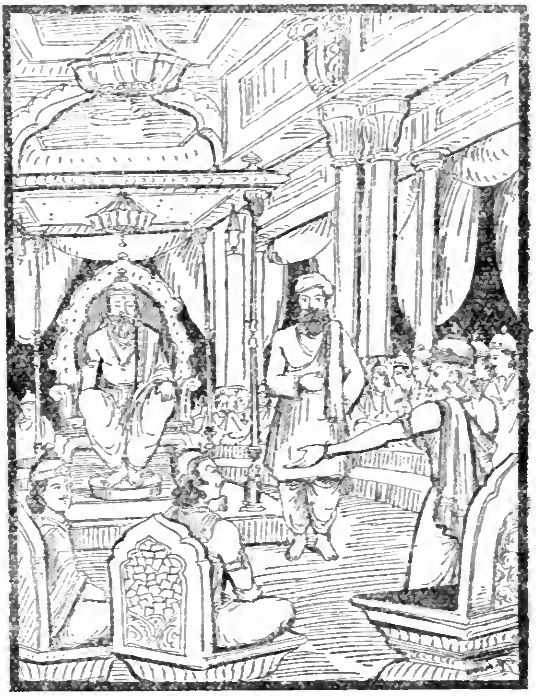

एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिंदमान् ॥ ३६ ॥

'तुम्हारे मन्दबुद्धि पुत्र दुर्योधनने इसीका सहारा लेकर शत्रुओंका दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवोंका अपमान किया है ॥ ३६ ॥

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम्।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ॥ ३७ ॥

'आजसे पहले समस्त पाण्डवोंने मिलकर अथवा उनमेंसे एक-एकने अलग-अलग जैसे-जैसे दुष्कर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा कठिन पुरुषार्थ इस सूतपुत्रने पहले कभी किया है ? ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम्।
धनंजयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ॥ ३८ ॥

'जब विराटनगरमें अर्जुनने अपना पराक्रम दिखाते हुए इसके सामने ही इसके प्यारे भाईको मार डाला था, तब इसने सब कुछ अपनी आँखोंसे देखकर भी अर्जुनका क्या बिगाड़ लिया ? ॥ ३८ ॥

सहितान् हि कुरून् सर्वानभियातो धनंजयः।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ॥ ३९ ॥

'जब धनंजयने अकेले ही समस्त कौरवोंपर आक्रमण किया और सबको मूर्छित करके उनके वस्त्र छीन लिये थे, उस समय यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था ? ॥ ३९ ॥

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव।
क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ॥ ४० ॥

'घोषयात्राके समय जब गन्धर्वलोग तुम्हारे पुत्रको कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था ? जो इस समय साँड़की तरह डँकार रहा है ॥ ४० ॥

ननु तत्रापि भीमेन पार्थेन च महात्मना ।
यमाभ्यामेव संगम्य गन्धर्वास्ते पराजिताः ॥ ४१ ॥

'वहाँ भी तो महात्मा भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवने ही मिलकर उन गन्धर्वोंको परास्त किया था ॥४१॥

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ ।
विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ॥ ४२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । यह कर्ण व्यर्थ ही शेखी बघारता रहता है । इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी तरह झूठी हैं । यह तो धर्म और अर्थ—दोनोंका ही लोप करनेवाला है' ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य तु वचः श्रुत्वा भारद्वाजो महामनाः ।
धृतराष्ट्रमुवाचेदं राजमध्येऽभिपूजयन् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर महामना द्रोणाचार्यने समस्त राजाओंके मध्यमें उनकी प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप ।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर ! भरतकुलतिलक भीष्मजीने जो कहा है, वही कीजिये । जो लोग अर्थ और कामके लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिये ॥ ४४ ॥

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम् ।
यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।

'मैं तो युद्धसे पहले पाण्डवोंके साथ संधि करना ही अच्छा समझता हूँ । अर्जुनने जो बात कही है और संजयने उनका जो संदेश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ । पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे॥४५½॥

न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥

'तीनों लोकोंमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर नहीं है'।४६।

अनादृत्य तु तद् वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मकी बातें सार्थक और सारगर्भित थीं; तथापि उनकी अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजयसे पाण्डवोंका समाचार पूछने लगे ॥ ४७ ॥

तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणाचार्यसे भी अच्छी तरह वार्तालाप नहीं किया, तभी समस्त कौरव अपने जीवन-से निराश हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें भीष्मद्रोणवचनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा युधिष्ठिरके प्रधान सहायकोंका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

किमसौ पाण्डवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं नः समागताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! हमारी प्रसन्नता और सहायताके लिये यहाँ हस्तिनापुरमें बहुत-सी सेना एकत्र हो गयी है, यह समाचार सुनकर पाण्डवराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्या कहा ? ॥ १ ॥

किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वास्य भ्रातृपुत्राणां पश्यन्त्याज्ञेप्सवो मुखम्॥ २ ॥

सूत ! भविष्यमें होनेवाले युद्धके लिये उद्यत होकर राजा युधिष्ठिर कैसी तैयारी कर रहे हैं ? उनके भाइयों और पुत्रोंमेंसे कौन-कौन-से लोग उनसे किसी कार्यके लिये आज्ञा पानेकी इच्छासे उनका मुँह जोहते रहते हैं ? ॥ २ ॥

के स्विदेनं वारयन्ति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।
निकृत्या कोपितं मन्दैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता हैं और धर्मके आचरणमें सदा तत्पर रहते हैं । मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंने अपने कपटपूर्ण बर्तावसे उन्हें कुपित कर दिया है । वहाँ कौन-कौन ऐसे हैं, जो उन्हें बारंबार शान्त रहनेकी सलाह देकर युद्धसे रोकते हैं ?

संजय उवाच

राज्ञो मुखमुदीक्षन्ते पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो । पाञ्चाल और पाण्डव सभी राजा युधिष्ठिरके मुखकी ओर देखते रहते हैं और वे उन सबको विभिन्न कार्योंके लिये आज्ञा देते हैं ॥ ४ ॥

पृथग्भूताः पाण्डवानां पञ्चालानां रथव्रजाः ।
आयान्तमभिनन्दन्ति कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

जब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सामने आते हैं, तब पाण्डवों तथा पाञ्चालोंके रथसमूह पृथक्-पृथक् श्रेणियोंमें खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते हैं ॥ ५ ॥

नभः सूर्यमिवोद्यन्तं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पञ्चालाः प्रतिनन्दन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥

जैसे आकाश उदयकालमें उद्दीप्त तेजस्वी सूर्यदेवका अभिनन्दन करता है, उसी प्रकार, मानो तेजके पुञ्जका उदय होता हो इस तरह दिखायी देनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरका समस्त पाञ्चालगण अभिनन्दन करते हैं ॥ ६ ॥

आगोपालाविपालाश्च नन्दमाना युधिष्ठिरम् ।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः प्रतिनन्दन्ति पाण्डवम् ॥ ७ ॥

ग्वालिये और गड़रियोंसे लेकर पाञ्चाल, केकय और मत्स्यदेशोंके राजवंशतक सभी लोग पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका सम्मान करते हैं ॥ ७ ॥

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायान्ति पार्थं संनद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी कन्याएँ भी खेलती-खेलती युद्धके लिये सुसज्जित युधिष्ठिरको देखनेके लिये उनके पास आ जाती हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! बताओ, पाण्डवलोग धृष्टद्युम्नकी सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियोंकी विशाल वाहिनीके सिवा और किस-किसकी सहायता पाकर हमलोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हुए हैं ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

गावल्गणिस्तु तत्पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिन्तयन्निव ॥ १० ॥
तत्रानिमित्ततो दैवात् सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥
संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवोंकी सभामें राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजय बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए दीर्घकालतक गहरी चिन्तामें निमग्न-से हो गये और सहसा बिना किसी विशेष कारणके ही वे मूर्छित होकर गिर पड़े । तब विदुरजीने उस राजसभामें धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! ये संजय मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े हैं । उनकी बुद्धि और चेतना लुप्त-सी हो रही है, अतः अभी कुछ बोल नहीं सकते' ॥ १०–१२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अपश्यत् संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—निश्चय ही संजयने महारथी कुन्तीपुत्रोंको देखा है । जान पड़ता है, उन पुरुषसिंह पाण्डवोंने इसके मनको अत्यन्त उद्विग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनेमें ही संजयको चेत हो आया और वे आश्वस्त होकर कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले ॥ १४ ॥

संजय उवाच

दृष्टवानस्मि राजेन्द्र कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनावकर्शितान् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! मैंने महारथी कुन्तीपुत्रोंका दर्शन किया है । वे अज्ञातवासके समय मत्स्यनरेश विराटके घरमें छिपकर रहनेके कारण अत्यन्त दुबले हो गये हैं ॥ १५ ॥

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ १६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने जिन लोगोंकी सहायता पाकर युद्धके लिये तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये । पहली बात यह है कि उन्हें वीरवर धृष्टद्युम्नका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवोंने आपलोगोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी की है ॥ १६ ॥

यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाद् धर्मात्मा सत्यं जह्यात् कदाचन ॥ १७ ॥
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ १८ ॥

महाराज ! जो धर्मात्मा न रोषसे, न भयसे, न लोभसे, न अर्थके लिये और न बहाना बनाकर ही कभी सत्यका परित्याग कर सकते हैं, जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं और धर्मके विषयमें प्रमाण माने जाते हैं, उन अजातशत्रुके प्रभावसे पाण्डवोंने युद्धकी तैयारी की है ॥ १७-१८ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान् महीपालान् वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ॥ १९ ॥
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।

बाहुबलमें जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है, जिन्होंने केवल धनुष धारण करके युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध और कलिङ्ग आदि देशोंके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया था, उन भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया है ॥ १९½ ॥

यस्य वीर्येण सहसा चत्वारो भुवि पाण्डवाः ॥ २० ॥
निःसृत्य जतुगेहाद् वै हिडिम्बात् पुरुषादकात्।
यश्चैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २१ ॥
याज्ञसेनीमथो यत्र सिन्धुराजोऽपकृष्टवान्।
तत्रैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २२ ॥
यश्च तान् संगतान् सर्वान् पाण्डवान् वारणावते।
दह्यतो मोचयामास तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ २३ ॥

जिनके बल और पराक्रमसे चारों पाण्डव सहसा लाक्षा-भवनसे निकलकर इस पृथ्वीपर जीवित बच गये, जिन्होंने मनुष्यभक्षी राक्षस हिडिम्बसे अपने भाइयोंकी रक्षा की, उस संकटके समय जो कुन्तीकुमार भीम इन पाण्डवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हो गये, जब सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी जिन कुन्तीकुमार वृकोदरने उन सबको द्वीपकी भाँति आश्रय दिया था तथा जिन्होंने वारणावत नगरमें एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंको लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बचा लिया था, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंके साथ युद्धकी तैयारी की है ॥ २०–२३ ॥

कृष्णायां चरता प्रीतिं येन क्रोधवशा हताः।
प्रविश्य विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २४ ॥
यस्य नागायुतैर्वीर्यं भुजयोः सारमर्पितम्।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २५ ॥

जिन्होंने द्रौपदीपर अपना प्रेम जताते हुए अत्यन्त दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतकी भूमिमें प्रवेश करके क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मार डाला, जिनकी दोनों भुजाओंमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणका उद्योग किया है ॥२४-२५॥

कृष्णद्वितीयो विक्रम्य तुष्ट्यर्थं जातवेदसः।
अजयद् यः पुरा वीरो युध्यमानं पुरंदरम् ॥ २६ ॥
यः स साक्षान्महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम्।
तोषयामास युद्धेन देवदेवमुमापतिम् ॥ २७ ॥
यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः।
तेन वो विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २८ ॥

जिन वीरशिरोमणिने पहले केवल भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाकर अग्निदेवकी तृप्तिके लिये पराक्रम करके अपने साथ युद्ध करनेवाले देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया, जिन्होंने युद्धके द्वारा पर्वतपर शयन करनेवाले तथा हाथोंमें त्रिशूल लिये रहनेवाले साक्षात् देवाधिदेव महादेव उमापतिको भी संतुष्ट किया था तथा जिन धनुर्धर वीरने समस्त लोकपालोंको भी हराकर अपने वशमें कर लिया, उन्हीं अर्जुनके बलपर पाण्डवलोग युद्धमें आपलोगोंसे भिड़नेको तैयार हैं ॥ २६–२८ ॥

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम्।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तेन वो दर्शनीयेन वीरेणातिधनुर्भृता।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छोंसे भरी हुई पश्चिम दिशाको जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेमें कुशल योद्धा नकुल उधरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं । माद्रीकुमार नकुल महान् धनुर्धर और अत्यन्त दर्शनीय वीर हैं। उनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणकी तैयारी की है ॥ २९-३० ॥

यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत्।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३१ ॥

जिन्होंने युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध तथा कलिङ्गदेशके राजाओंको पराजित किया है, उन वीरवर सहदेवके बलसे पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेके लिये तैयार हुए हैं ॥ ३१ ॥

यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन् महात्ययम्।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनन्दिकरेण च ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस भूमण्डलमें अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी तथा प्रद्युम्न – ये चार पुरुष ही बल और पराक्रममें जिनकी समानता कर सकते हैं, जो माद्रीको आनन्द प्रदान करनेवाले तथा पाण्डवोंमें सबसे छोटे हैं, उन नरश्रेष्ठ वीर सहदेवके साथ आपलोगोंका महान् विनाशकारी युद्ध होनेवाला है ॥

तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती।
भीष्मस्य वधमिच्छन्ती प्रेत्यापि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
पाञ्चालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान्।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्र यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें काशिराजकी जिस सती-साध्वी कन्या अम्बाने भीष्मजीके वधकी इच्छासे घोर तपस्याकी थी, वही मृत्युके पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपदकी पुत्री होकर उत्पन्न हुई, परंतु दैववश वह फिर पुरुष हो गयी । वह वीर पाञ्चालकुमार स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण और अवगुणको जानता है ॥ ३४-३५ ॥

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ॥ ३६ ॥

कौरवो ! वह द्रुपदकुमार युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसीने कलिङ्गदेशीय क्षत्रियोंको पराजित किया था। उस अस्त्रवेत्ता वीरका नाम शिखण्डी है, जिसके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३६ ॥

यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया।
महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३७ ॥

जिसे स्थूणाकर्ण यक्षने पुरुष बना दिया था, भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले उस भयंकर एवं महाधनुर्धर शिखण्डीके बलपर पाण्डव आपसे युद्ध करनेको तैयार हैं ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ३८ ॥

केकयदेशके पाँच राजकुमार जो परस्पर भाई हैं, सदा कवच बाँधे युद्धके लिये उद्यत रहते हैं। वे महान् धनुर्धर शूरवीर हैं। उनके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३८ ॥

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रतासे अस्त्र-संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्यपराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकिके साथ आपलोगोंका संग्राम होनेवाला है ॥

य आसीच्छरणं काले पाण्डवानां महात्मनाम्।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥

जो अज्ञातवासके समय महात्मा पाण्डवोंके आश्रयदाता थे, उन राजा विराटके साथ भी आपलोगोंका युद्ध होगा ॥

यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः।
स तेषामभवद् योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४१ ॥

काशिदेशके अधिपति महारथी नरेश जो वाराणसीपुरीमें रहते हैं, पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करनेको तैयार हैं। उनको साथ लेकर पाण्डव आपलोगोंपर आक्रमण करनेके लिये तैयार हैं ॥ ४१ ॥

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४२ ॥

द्रौपदीके महामना पुत्र देखनेमें बालक होनेपर भी समरभूमिमें दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पोंको छू लेनेके समान है। उनके बलपर भी पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेकी तैयारी कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४३ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्णके समान और इन्द्रिय-संयममें युधिष्ठिरके तुल्य हैं, उन अभिमन्युको साथ लेकर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ४३ ॥

यश्चैवाप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
तेन वश्चेदिराजेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत।
अक्षौहिण्या परिवृतः पाण्डवान् योऽभिसंश्रितः॥ ४५ ॥

जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, शिशुपालका वह महारथी पुत्र महायशस्वी धृष्टकेतु समरभूमिमें कुपित होनेपर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठता है। उस चेदिराजके साथ पाण्डवलोग आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं। उसने एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आकर पाण्डवोंका पक्ष ग्रहण किया है ॥ ४४-४५ ॥

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४६ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवोंको शरण देनेवाले हैं, उन भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवोंने आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी की है ॥ ४६ ॥

तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ।
करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! चेदिराजके भाई शरभ (अपने अनुज) करकर्षके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं। उन दोनोंको साथ लेकर उन्होंने आपसे युद्ध करनेका उद्योग किया है ॥

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ।
युद्धेऽप्रतिरथौ वीरौ पाण्डवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥

जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन दोनों युद्धमें अपना सानी नहीं रखते हैं। वे दोनों मागध वीर पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर डटे हुए हैं ॥ ४८ ॥

द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः।
त्यक्तात्मा पाण्डवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः॥ ४९ ॥

महातेजस्वी राजा द्रुपद विशाल सेनाके साथ आये हैं और पाण्डवोंके लिये अपने शरीर और प्राणोंकी परवा न करके युद्ध करनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४९ ॥

एते चान्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर दिशाओंमें रहनेवाले नरेश सैकड़ोंकी संख्यामें आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्धके लिये तैयार हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके पराक्रमसे डरे हुए धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः ।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने जिन लोगोंके नाम बताये हैं, ये सभी बड़े उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक ओर और भीमसेन एक ओर ॥

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत् ।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः ॥ २ ॥

तात ! मुझे क्रोधमें भरे हुए अमर्षशील भीमसेनसे बड़ा डर लगता है; ठीक उसी तरह, जैसे महान् मृगको किसी व्याघ्रसे सदा भय बना रहता है ॥ २ ॥

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः ॥ ३ ॥

वत्स ! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लंबी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ ॥ ३ ॥

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः ।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥ ४ ॥

महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेनामें किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो भीमका सामना कर सके—युद्धमें इसके वेगको सह सके ॥ ४ ॥

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः ।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः ॥ ५ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेवाला है। उसकी की हुई हँसी भी हँसीके लिये नहीं होती, वह उसे सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाहसे देखता और बड़े जोरसे गर्जना करता है ॥ ५ ॥

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ६ ॥

वह महान् वेगशाली, अत्यन्त उत्साही, विशालबाहु और महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंको अवश्य मार डालेगा ॥ ६ ॥

ऊरुग्राहगृहीतानां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
कुरूणामृषभो युद्धे दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ७ ॥

मेरे पुत्र भी बड़े दुराग्रही हैं; अतः हाथमें गदा लिये कुरुश्रेष्ठ वृकोदर भीम दण्डपाणि यमराजकी भाँति युद्धमें इनका निश्चय ही वध कर डालेगा ॥ ७ ॥

अष्टास्रिमायसीं घोरां गदां काञ्चनभूषणाम् ।
मनसाहं प्रपश्यामि ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ ८ ॥

मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, भीमसेनकी स्वर्णभूषित भयंकर गदा, जो लोहेकी बनी हुई और आठ कोनोंसे युक्त है, ब्रह्मदण्डके समान उठी हुई है ॥ ८ ॥

यथा मृगाणां यूथेषु सिंहो जातबलश्चरेत् ।
मामकेषु तथा भीमो बलेषु विचरिष्यति ॥ ९ ॥

जैसे बलवान् सिंह मृगोंके यूथोंमें निःशङ्क विचरण करता है, उसी प्रकार भीमसेन मेरी विशाल वाहिनियोंमें बेखटके विचरेगा ॥ ९ ॥

सर्वेषां मम पुत्राणां स एकः क्रूरविक्रमः ।
बह्वाशी विप्रतीपश्च बाल्येऽपि रभसः सदा ॥ १० ॥

बाल्यकालमें भी मेरे सब पुत्रोंमें एकमात्र वह भीमसेन ही क्रूर पराक्रमी, बहुत अधिक खानेवाला, सबके प्रतिकूल चलनेवाला तथा सदा अत्यन्त वेगशाली था ॥ १० ॥

उद्वेपते मे हृदयं ये मे दुर्योधनादयः ।
बाल्येऽपि तेन युध्यन्तो वारणेनेव मर्दिताः ॥ ११ ॥

उसकी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है। मेरे दुर्योधन आदि पुत्र बचपनमें भी जब उसके साथ खेल-कूदमें लड़ते थे, तब वह गजराजकी भाँति इन सबको मसल देता था ॥

तस्य वीर्येण संक्लिष्टा नित्यमेव सुता मम।
स एव हेतुर्भेदस्य भीमो भीमपराक्रमः ॥ १२॥

मेरे पुत्र उसके बल-पराक्रमसे सदा ही कष्टमें पड़े रहते थे। भयंकर पराक्रमी भीमसेन ही इस फूटकी जड़ है॥१२॥

ग्रसमानमनीकानि नरवारणवाजिनाम्।
पश्यामीवाग्रतो भीमं क्रोधमूर्च्छितमाहवे ॥ १३ ॥

मुझे अपने सामने दीख-सा रहा है कि भीमसेन युद्धमें क्रोधसे मूर्छित हो मनुष्य, हाथी और घोड़ोंकी (समस्त) सेनाओंको कालका ग्रास बनाता जा रहा है॥ १३॥

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ॥ १४॥

वह अस्त्र विद्यामें द्रोणाचार्य तथा अर्जुनके समान है, वेगमें वायुकी समानता करता है एवं क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है ? ॥ १४॥

संजयाचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम्।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत् तेन रिपुघातिना॥ १५॥
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना ।

संजय! मुझे अमर्षमें भरे हुए शूरवीर भीमसेनका समाचार सुनाओ। मैं तो यही सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ कि उस शत्रुघाती मनस्वी वीरने (जब द्यूतक्रीड़ा हो रही थी) उसी समय मेरे सब पुत्रोंको नहीं मार डाला॥ १५½॥

येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः॥ १६॥
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति।

जिसने पूर्वकालमें भयंकर बलशाली यक्षों तथा राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सह सकेगा ?॥१६½॥

न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ॥ १७॥
किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः सम्प्रति पाण्डवः।

संजय! पाण्डुकुमार भीमसेन बचपनमें भी कभी मेरे वशमें नहीं रहा; फिर जब मेरे दुष्ट पुत्रोंने उसे बार-बार कष्ट दिया है, तब वह इस समय मेरे वशमें कैसे हो सकता है?॥१७½॥

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत्।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः॥ १८॥

वह क्रूर और क्रोधी है। टूट भले ही जाय, पर झुक नहीं सकेगा। सदा टेढ़ी निगाहसे ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोधके कारण परस्पर गुँथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा ? ॥ १८॥

शूरस्तथाप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः।
प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात् ॥ १९॥

गोरे रंगका वह शूरवीर भीमसेन ताड़के समान ऊँचा है। ऊँचाईमें वह अर्जुनसे एक बित्ता अधिक है, बलमें उसकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है॥ १९॥

जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनात्येति कुञ्जरान्।
अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २०॥

वह स्पष्ट नहीं बोलता। उसकी आँखें सदा मधुके समान पिङ्गल वर्णकी दिखायी देती हैं। वह महाबली मध्यम पाण्डव अपने वेगसे घोड़ोंको भी लाँघ सकता है और बलसे हाथियों-को भी पराजित कर सकता है॥ २०॥

इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात् पुरा।
रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पाण्डवः॥ २१॥

मैंने बाल्यकालमें ही व्यासजीके मुखसे पहले इस पाण्डुपुत्रके अद्भुत रूप और पराक्रमका यथार्थ वर्णन सुना था॥ २१॥

आयसेन स दण्डेन रथान् नागान् नरान् हयान्।
हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः॥ २२॥

निष्ठुर पराक्रम प्रकट करनेवाला वह भयंकर भीमसेन समरभूमिमें कुपित होकर लौहदंडसे मेरे रथों, हाथियों, पैदल मनुष्यों और घोड़ोंका भी संहार कर डालेगा॥ २२॥

अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः।
मया तात प्रतीपानि कुर्वन् पूर्वं विमानितः॥ २३॥

तात संजय! सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला अमर्षशील भीमसेन प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सबसे श्रेष्ठ है। मेरे पुत्रोंके प्रतिकूल आचरण करते समय मैंने पहले कई बार उसका अपमान किया है॥ २३॥

निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां काञ्चनीं गदाम्।
शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः॥२४॥

उसकी लोहेकी गदा सीधी, मोटी, सुन्दर पार्श्वभागवाली और सुवर्णसे विभूषित है, वह शत-शत वज्रपातके समान बड़े जोरसे आवाज करती और एक ही चोटमें सैकड़ोंको मार डालती है। मेरे बेटे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥२४॥

अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेगिनम्।
भीमसेनमयं दुर्गं तात मन्दास्तितीर्षवः॥ २५॥

तात! भीमसेन एक दुर्गम अपार समुद्र है, इसे पार करनेके लिये न तो कोई नौका है और न इसकी कहीं थाह ही है; बाण ही इसका वेग है, मेरे मूर्ख पुत्र इस भीमसेन-मय दुर्गम समुद्रको पार करना चाहते हैं॥२५॥

क्रोशतो मे न शृण्वन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
विषमं न हि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः॥२६॥

मैं चीखता-चिल्लाता रह जाता हूँ, परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख पुत्र मेरी बात नहीं सुनते हैं। ये केवल

वृक्षकी ऊँची शाखामें लगे हुए शहदको देखते हैं, वहाँसे गिरनेका जो भयानक खटका है, उसकी ओर इनका ध्यान नहीं है ॥ २६ ॥

संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना ।
नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥

जैसे महान् मृग सिंहसे भिड़ जायँ, उसी प्रकार जो लोग उस मनुष्यरूपी यमराजके साथ लड़नेके लिये युद्धभूमिमें उतरेंगे, उन्हें विधाताने ही मृत्युके लिये प्रेरित करके भेजा है, ऐसा मानना चाहिये ॥ २७ ॥

शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम् ।
प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥ २८॥

तात संजय ! भीमसेनकी गदा छींकेपर रखने योग्य, चार हाथ लंबी और छः कोणोंसे विभूषित है । उस अत्यन्त तेजस्विनी गदाका स्पर्श भी दुःखदायक है । जब भीम उसे मेरे पुत्रोंपर चलायेगा, तब वे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥ २८ ॥

गदां भ्रामयतस्तस्य भिन्दतो हस्तिमस्तकान् ।
सृक्किणी लेलिहानस्य बाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
उद्दिश्य नागान् पततः कुर्वतो भैरवान् रवान्।
प्रतीपं पततो मत्तान् कुञ्जरान् प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥

भीमसेन जब क्रोधजनित आँसू बहाता और बारंबार अपने ओष्ठप्रान्तको चाटता हुआ गदा घुमा-घुमाकर हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करने लगेगा, सामने भयंकर गर्जना करनेवाले गजराजोंको लक्ष्य करके उनकी ओर दौड़ेगा, प्रतिकूल दिशाकी ओर भागनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंकी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी सिंहनाद करेगा और मेरे रथियोंकी सेनाओंमें घुसकर श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारने लगेगा, उस समय अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले भीमके हाथसे मेरे पुत्र कैसे जीवित बचेंगे ? ॥ २९–३१ ॥

वीथीं कुर्वन् महाबाहुर्द्रावयन् मम वाहिनीम् ।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगान्तं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥

महाबाहु भीम मेरी सेनामें घुसकर अपने रथके लिये रास्ता बनाता, मेरी विशाल वाहिनीको खदेड़ता और हाथमें गदा लिये नृत्य-सा करता हुआ जब आगे बढ़ेगा, तब प्रलयकालका दृश्य उपस्थित कर देगा ॥ ३२ ॥

प्रभिन्न इव मातङ्गः प्रभञ्जन् पुष्पितान् द्रुमान् ।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी फूले हुए वृक्षोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन समरभूमिमें मेरे पुत्रोंकी सेनाके भीतर प्रवेश करेगा ॥ ३३ ॥

कुर्वन् रथान् विपुरुषान् विसारथिहयध्वजान् ।
आरुजन् पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४॥
गङ्गावेग इवानूपांस्तीरजान् विविधान् द्रुमान् ।
प्रभङ्क्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! वह पुरुषसिंह भीम रथोंको रथी, सारथि, अश्व तथा ध्वजाओंसे शून्य कर देगा एवं रथियों और घुड़सवारोंके अङ्ग-भङ्ग कर डालेगा । जैसे गङ्गाजीका बढ़ता हुआ वेग जलमय प्रदेशमें स्थित हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम युद्धभूमिमें आकर मेरे पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ३४-३५ ॥

दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥

संजय ! निश्चय ही भीमसेनके भयसे पीडित हो मेरे पुत्र, सेवक तथा सहायक नरेश विभिन्न दिशाओंमें भाग जायँगे ॥ ३६ ॥

येन राजा महावीर्यः प्रविश्यान्तःपुरं पुरा ।
वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।
मागधेन्द्रेण बलिना वशे कृत्वा प्रतापिता ॥ ३८ ॥

परम बुद्धिमान् और बलवान् महाबली मगधराज जरासंधने यह सारी पृथिवी अपने वशमें करके इसे पीड़ा देना प्रारम्भ किया था, परंतु भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसके अन्तःपुरमें जाकर उस महापराक्रमी नरेशको मार गिराया ॥ ३७-३८ ॥

भीष्मप्रतापात् कुरवो नयेनान्धकवृष्णयः ।
यन्न तस्य वशे जग्मुः केवलं दैवमेव तत् ॥ ३९ ॥

भीष्मजीके प्रतापसे कुरुवंशी और नीतिबलसे अंधक-वृष्णिवंशके लोग जो जरासंधके वशमें नहीं पड़े, वह केवल दैवयोग था ॥ ३९ ॥

स गत्वा पाण्डुपुत्रेण तरसा बाहुशालिना ।
अनायुधेन वीरेण निहतः किं ततोऽधिकम् ॥ ४० ॥

परंतु अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वीर पाण्डुपुत्र भीमने वेगपूर्वक वहाँ जाकर बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके ही उस जरासंधको यमलोक पहुँचा दिया, इससे बढ़कर पराक्रम और क्या होगा ? ॥ ४० ॥

दीर्घकालसमासक्तं विषमाशीविषो यथा ।
स मोक्ष्यति रणे तेजः पुत्रेषु मम संजय ॥ ४१ ॥

संजय ! जैसे विषधर सर्प बहुत दिनोंसे संचित किये हुए विषको किसीपर उगलता है, उसी प्रकार भीमसेन भी

धृतराष्ट्रकी सभामें संजय पाण्डवोंका संदेश सुना रहे हैं

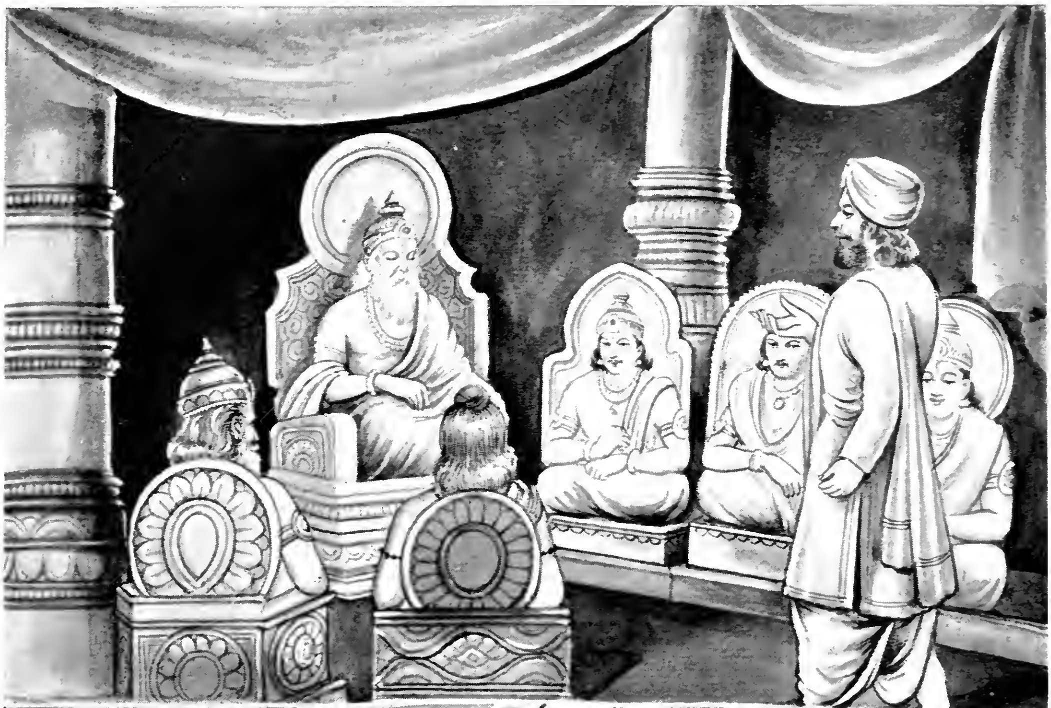

भीमसेनका बल बखानते हुए धृतराष्ट्रका विलाप

दीर्घकालसे संचित अपने तेजको रणभूमिमें मेरे पुत्रोंपर छोड़ेगा ॥ ४१ ॥

महेन्द्र इव वज्रेण दानवान् देवसत्तमः।
भीमसेनो गदापाणिः सूदयिष्यति मे सुतान् ॥ ४२ ॥

जैसे देवश्रेष्ठ इन्द्र वज्रसे दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार हाथमें गदा लिये भीमसेन मेरे पुत्रोंका संहार कर डालेगा ॥ ४२ ॥

अविषह्यमनावार्यं तीव्रवेगपराक्रमम्।
पश्यामीवातिताम्राक्षमापतन्तं वृकोदरम् ॥ ४३ ॥

उसका आक्रमण दुःसह है। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। उसका वेग और पराक्रम तीव्र है। मैं प्रत्यक्ष देख-सा रहा हूँ कि वह भीम क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें किये इधर ही दौड़ा आ रहा है ॥ ४३ ॥

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः।
बाहुभ्यां युद्ध्यमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ॥ ४४ ॥

यदि वह गदा, धनुष, रथ और कवचको छोड़कर केवल दोनों भुजाओंसे युद्ध करे तो भी उसके सामने कौन पुरुष ठहर सकता है ? ॥ ४४ ॥

भीष्मो द्रोणश्च विप्रोऽयं कृपः शारद्वतस्तथा।
जानन्त्येते यथैवाहं वीर्यज्ञस्तस्य धीमतः ॥ ४५ ॥

उस बुद्धिमान् भीमके बल और पराक्रमको जैसे मैं जानता हूँ, उसी प्रकार ये भीष्म, विप्रवर द्रोणाचार्य तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृप भी जानते हैं ॥ ४५ ॥

आर्यव्रतं तु जानन्तः संगरान्तं विधित्सवः।
सेनामुखेषु स्थास्यन्ति मामकानां नरर्षभाः ॥ ४६ ॥

तथापि ये नरश्रेष्ठ शिष्ट पुरुषोंके व्रतको जानते हैं, इसलिये युद्धमें प्राणत्याग करनेकी इच्छासे मेरे पुत्रोंकी सेनाके अग्रभागमें डटे रहेंगे ॥ ४६ ॥

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत् सुतान् ॥ ४७ ॥

पुरुषका भाग्य ही सबसे विशेष प्रबल है, क्योंकि मैं पाण्डवोंकी विजय समझकर भी अपने पुत्रोंको रोक नहीं पाता हूँ॥

ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः।
त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः ॥ ४८ ॥

वे महाधनुर्धर भीष्म आदि पुरातन स्वर्गीय मार्गका आश्रय ले पार्थिव यशकी रक्षा करते हुए घमासान युद्धमें अपने प्राण त्याग देंगे ॥ ४८ ॥

यथैषां मामकास्तात तथैषां पाण्डवा अपि।
पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥

तात ! इनके लिये जैसे मेरे पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं। दोनों ही भीष्मके पौत्र तथा द्रोण और कृपके शिष्य हैं॥

यदस्मदाश्रयं किंचिद् दत्तमिष्टं च संजय।
तस्यापचितिमार्यत्वात् कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥

संजय ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य—ये तीनों वृद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारे आश्रयमें रहकर इन्होंने जो कुछ भी दान यज्ञ आदि किया है, ये उसका बदला चुकायेंगे (युद्धमें दुर्योधनका ही साथ देंगे) ॥ ५० ॥

आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः।
निधनं क्षत्रियस्याजौ वरमेवाहुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो अस्त्र-शस्त्र धारण करके क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहता है, उस क्षत्रियके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्युको ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है ॥ ५१ ॥

स वै शोचामि सर्वान् वै ये युयुत्सन्ति पाण्डवैः।
विक्रुष्टं विदुरेणादौ तदेतद् भयमागतम् ॥ ५२ ॥

जो लोग पाण्डवोंसे युद्ध करना चाहते हैं, उन सबके लिये मुझे बड़ा शोक हो रहा है। विदुरने पहले ही उच्च स्वरसे जिसकी घोषणा की थी, वही यह भय आज आ पहुँचा है॥

न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय।
भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥

संजय ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान दुःखका नाश नहीं कर सकता; अपितु प्रबल दुःख ही ज्ञानका भी नाश करनेवाला बन जाता है ॥ ५३ ॥

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान्।
सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त महर्षि भी लोकव्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर सुखके साधनोंसे सुखी और दुःखसे दुखी होते हैं ॥ ५४ ॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा।
पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बन्धुषु ॥ ५५ ॥

फिर जो पुत्र, राज्य, पत्नी, पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंमें जहाँ-तहाँ सहस्रों प्रकारसे मोहवश आसक्त हो रहा है, उसकी तो बात ही क्या है ? ॥ ५५ ॥

संशये तु महत्यस्मिन् किं नु मे क्षममुत्तरम्।
विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिन्तयन् ॥ ५६ ॥

इस महान् संकटके विषयमें मैं क्या उचित प्रतीकार कर सकता हूँ ? मुझे तो बार-बार विचार करनेपर कौरवोंका विनाश ही दिखायी पड़ता है ॥ ५६ ॥

द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत्।
मन्देनैश्वर्यकामेन लोभात् पापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥

द्यूतक्रीड़ा आदिकी घटनाएँ ही कौरवोंपर भारी विपत्ति लानेका कारण प्रतीत होती हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले मूर्ख दुर्योधनने लोभवश यह पाप किया है ॥ ५७ ॥

मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्यात्यन्तगामिनः।
चक्रे प्रधिरिवासक्तो नास्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥

मैं समझता हूँ कि अत्यन्त तीव्र गतिसे चलनेवाले कालका ही यह क्रमशः प्राप्त होनेवाला नियम है। इस कालचक्रमें उसकी नेमिके समान मैं जुड़ा हुआ हूँ, अतः मेरे लिये इससे दूर भागना सम्भव नहीं है ॥ ५८ ॥

किंनु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥

संजय! क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव कालके वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं ॥ ५९ ॥

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥

तात! मेरे सौ पुत्र यदि युद्धमें मारे गये, तब विवश होकर मैं इनकी अनाथ स्त्रियोंका करुण क्रन्दन सुनूँगा। हाय! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है? ॥ ६० ॥

यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो
दहेत् कक्षं वायुना चोद्यमानः।
गदाहस्तः पाण्डवो वै तथैव
हन्ता मदीयान् सहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई अग्नि हवाका सहारा पाकर घास-फूस एवं जंगलको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनसहित पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर मेरे सब पुत्रोंको मार डालेगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा अर्जुनसे प्राप्त होनेवाले भयका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जिनके मुँहसे कभी कोई झूठ बात निकलती हमने नहीं सुनी है तथा जिनके पक्षमें धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरको (भूमण्डलका कौन कहे,) तीनों लोकोंका राज्य भी प्राप्त हो सकता है ॥ १ ॥

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ॥ २ ॥

मैं निरन्तर सोचने विचारनेपर भी युद्धमें गाण्डीवधारी अर्जुनका ही सामना करनेवाले किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो रथपर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके ॥ २ ॥

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः ॥ ३ ॥

जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते हैं, उन गाण्डीवधन्वा अर्जुनका युद्धमें सामना करनेवाला कोई भी समकक्ष योद्धा नहीं है ॥ ३ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
महान् स्यात् संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥

यदि बलवानोंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् तथा युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले, मनुष्योंमें अग्रगण्य वीरवर द्रोणाचार्य और कर्ण अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ें तो भी मुझे अर्जुनपर विजय प्राप्त होनेमें महान् संदेह रहेगा। मैं तो देखता हूँ मेरी विजय होगी ही नहीं, क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और आचार्य द्रोण वृद्ध होनेके साथ ही अर्जुनके गुरु हैं ॥ ४-५ ॥

समर्थो बलवान् पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः।
भवेत् सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन समर्थ और बलवान् हैं। उनका धनुष भी सुदृढ़ है। वे आलस्य और थकावटको जीत चुके हैं, अतः उनके साथ जो अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ेगा, उसमें सब प्रकारसे उनकी ही विजय होगी ॥ ६ ॥

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥

समस्त पाण्डव अस्त्रविद्याके ज्ञाता, शूरवीर तथा महान् यशको प्राप्त हैं। वे समस्त देवताओंका ऐश्वर्य छोड़ सकते हैं, परंतु अपनी विजयसे मुँह नहीं मोड़ेंगे ॥ ७ ॥

वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च।
न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता चास्य न विद्यते ॥ ८ ॥
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति य उत्थितः।

निश्चय ही द्रोणाचार्य और कर्णका वध हो जानेपर

हमारे पक्षके लोग शान्त हो जायँगे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर पाण्डव शान्त हो बैठेंगे, परंतु अर्जुनका वध करनेवाला तो कोई है ही नहीं, उन्हें जीतनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनके हृदयमें जो क्रोध जाग उठा है, वह कैसे शान्त होगा ? ॥ ८½ ॥

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च ॥ ९ ॥
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य ह ।

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं; परंतु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते भी हैं। केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है ॥ ९½ ॥

त्रयस्त्रिंशत् समाहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १० ॥
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ।

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने (मुख्य-मुख्य) तैंतीस* देवताओंको युद्धके लिये ललकारकर अग्निदेवको तृप्त किया और सभी देवताओंको जीत लिया । उनकी कभी पराजय हुई हो, इसका पता हमें आजतक नहीं लगा ॥ १०½ ॥

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि ॥ ११ ॥
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा ।

तात ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका स्वभाव और आचार-व्यवहार भी अर्जुनके ही समान है, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्रकी विजयकी भाँति उनकी भी विजय निश्चित है ॥ ११½ ॥

कृष्णावेकरथे यत्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः ॥ १२ ॥
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुम ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर उपस्थित हैं और गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १२½ ॥

नैवास्ति नो धनुस्तादृङ् न योद्धा न च सारथिः ॥ १३ ॥
तच्च मन्दा न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ।

हमलोगोंके यहाँ न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा है और न श्रीकृष्णके समान सारथि ही है, परंतु दुर्योधनके वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बातको नहीं समझ पाते ॥ १३½ ॥

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय ॥ १४ ॥
न तु शेषं शरास्तात कुर्युरस्ताः किरीटिना ।

तात संजय ! अपने तेजसे जलता हुआ वज्र किसीके मस्तकपर पड़कर सम्भव है, उसके जीवनको बचा दे, परंतु किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण जिसे लग जायँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ १४½ ॥

अपि चास्यन्निवाभाति निघ्नन्निव धनंजयः ॥ १५ ॥
उद्धरन्निव कायेभ्यः शिरांसि शरवृष्टिभिः ।

मुझे तो वीर धनंजय युद्धमें बाणोंको चलाते, योद्धाओंके प्राण लेते और अपनी बाणवर्षाद्वारा उनके शरीरोंसे मस्तकोंको काटते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥
गाण्डीवोत्थं दहेताजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

क्या गाण्डीव धनुषसे प्रकट हुआ बाणमय तेज सब ओर प्रज्वलित-सा होकर मेरे पुत्रोंकी (विशाल) वाहिनीको युद्धमें जलाकर भस्म कर डालेगा ? ॥ १६½ ॥

अपि सारथ्यघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ॥ १७ ॥
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके रथ-संचालनकी आवाज सुनकर भरतवंशियोंकी यह सेना सव्यसाची अर्जुनके भयसे पीड़ित और नाना प्रकारसे आतङ्कित हो जायगी ॥ १७½ ॥

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत् सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद् धक्ष्यति मामकान् ॥ १८ ॥

जैसे वायुके वेगसे बढ़ी हुई आग सब ओर फैलकर प्रचण्ड लपटोंसे युक्त हो घास-फूस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे पुत्रोंको दग्ध कर डालेंगे ॥ १८ ॥

यदोद्वमन् निशितान् बाणसंघां-
स्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
यथा भवेत् तद्वदपारणीयः ॥ १९ ॥

जिस समय शस्त्रपाणि किरीटधारी अर्जुन समरभूमिमें रोषपूर्वक पैने बाणसमूहोंकी वर्षा करेंगे, उस समय विधाताके रचे हुए सर्वसंहारक कालके समान उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा ॥ १९ ॥

तदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून् प्रकारान्
श्रोतास्मि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समन्ताच्च तथा रणाग्रे
क्षयः किलायं भरतानुपैति ॥ २० ॥

* कुछ विद्वान् 'त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय' ऐसा पाठ मानकर आर्ष संधिकी कल्पना करके यह अर्थ करते हैं कि 'तैंतीस वर्षकी अवस्था बीत जानेपर अर्जुनने अग्निदेवको खाण्डववनमें बुलाकर तृप्त किया था ।'

उस समय मैं महलोंमें बैठा हुआ बार-बार कौरवोंकी विविध अवस्थाओंकी कथा सुनता रहूँगा। अहो! युद्धके मुहानेपर निश्चय ही सब ओरसे यह भरतवंशका विनाश आ पहुँचा है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सभामें धृतराष्ट्रका युद्धसे भय दिखाकर शान्तिके लिये प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः।
तथैवाभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जैसे समस्त पाण्डव पराक्रमी और विजयके अभिलाषी हैं, उसी प्रकार उनके सहायक भी विजयके लिये कटिबद्ध तथा उनके लिये अपने प्राण निछावर करनेको तैयार हैं॥ १॥

त्वमेव हि पराक्रान्तानाचक्षीथाः परान् मम।
पञ्चालान् केकयान् मत्स्यान् मागधान् वत्सभूमिपान्॥

तुमने ही मेरे निकट पराक्रमशाली पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मागध तथा वत्सदेशीय उत्कृष्ट भूमिपालोंके नाम लिये हैं—(ये सभी पाण्डवोंकी विजय चाहते हैं)॥ २॥

यश्च सेन्द्रानिमाँल्लोकानिच्छन् कुर्याद् वशे बली।
स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः॥३॥

इनके सिवा जो इच्छा करते ही इन्द्र आदि देवताओं-सहित इन सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें कर सकते हैं, वे जगत्स्रष्टा महाबली भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं॥ ३॥

समस्तामर्जुनाद् विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमाप्तवान्।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान्॥ ४॥

शिनिके पौत्र सात्यकिने थोड़े ही समयमें अर्जुनसे उनकी सारी अस्त्रविद्या सीख ली थी। इस युद्धमें वे भी बीजकी भाँति बाणोंको बोते हुए पाण्डवपक्षकी ओरसे खड़े होंगे॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः क्रूरकर्मा महारथः।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित्॥ ५॥

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता और क्रूरतापूर्ण पराक्रम प्रकट करनेवाला पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न भी मेरी सेनाओंमें घुसकर युद्ध करेगा॥ ५॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात्।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते॥ ६॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा।
न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि संजय॥ ७॥

तात संजय! मुझे युधिष्ठिरके क्रोधसे, अर्जुनके पराक्रमसे, दोनों भाई नकुल और सहदेवसे तथा भीमसेनसे बड़ा भय लगता है। संजय! इन नरेशोंके द्वारा मेरी सेनाके भीतर जब अलौकिक अस्त्रोंका जाल-सा बिछा दिया जायगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे; इसीलिये मैं बिलख रहा हूँ॥ ६-७॥

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः॥ ८॥
मित्रामात्यैः सुसम्पन्नः सम्पन्नो युद्धयोजकैः।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः॥ ९॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान् सत्यपराक्रमः॥ १०॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
तं सर्वगुणसम्पन्नं समिद्धमिव पावकम्॥ ११॥
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत्।
पाण्डवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः॥ १२॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियोंके समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित बुद्धिसे युक्त, धर्मात्मा, मित्रों तथा मन्त्रियोंसे सम्पन्न, युद्धके लिये उद्योग-शील सैनिकोंसे संयुक्त, महारथी भाइयों और वीरशिरोमणि श्वशुरोंसे सुरक्षित, धैर्यवान्, मन्त्रणाको गुप्त रखनेवाले, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, दयालु, उदार, लज्जाशील, यथार्थ पराक्रमसे सम्पन्न, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, मनको वशमें रखनेवाले, वृद्धसेवी तथा जितेन्द्रिय हैं। इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न और प्रज्वलित अग्निके समान ताप देनेवाले उन युधिष्ठिरके सम्मुख युद्ध करनेके लिये कौन मूर्ख जा सकेगा? कौन अचेत एवं मरणासन्न मनुष्य पतंगोंकी भाँति दुर्निवार पाण्डवरूपी अग्निमें जान-बूझकर गिरेगा?॥ ८—१२॥

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ १३॥

राजा युधिष्ठिर सूक्ष्म और एक स्थानमें अवरुद्ध अग्निके समान हैं। मैंने मिथ्या व्यवहारसे उनका तिरस्कार किया है, अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका अवश्य विनाश कर डालेंगे॥ १३॥

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत।

युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम्॥ १४॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ॥ १५ ॥

कौरवो ! मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध न होना ही अच्छा मानता हूँ। तुमलोग इसे अच्छी तरह समझ लो। यदि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। मेरी बुद्धिका यही सर्वोत्तम निश्चय है। इसीसे मेरे मनको शान्ति मिलती है। यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्तिके लिये प्रयत्न करें ॥ १४-१५ ॥

न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर हमें (युद्धकी चर्चासे) क्लेशमें पड़े देख हमारी उपेक्षा नहीं करते। वे तो मुझे ही अधर्मपूर्वक कलह बढ़ानेमें कारण मानकर मेरी निन्दा करते हैं (फिर मेरे ही द्वारा शान्तिप्रस्ताव उपस्थित किये जानेपर वे क्यों नहीं सहमत होंगे ?) ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उनके दोष बताते हुए दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह देना

संजय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आप जैसा कह रहे हैं, वही ठीक है। भारत ! युद्धमें तो गाण्डीव धनुषके द्वारा क्षत्रिय-समुदायका विनाश ही दिखायी देता है ॥ १ ॥

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

परंतु सदासे बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्धमें मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप सव्यसाची अर्जुनके बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानते हुए भी क्यों अपने पुत्रोंके अधीन हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज ! आप (स्वभावसे ही) पाण्डवोंका अपराध करनेवाले हैं। इस कारण इस समय आपके द्वारा जो विचार व्यक्त किया गया है, यह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। आपने आरम्भसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ कपटपूर्वक वर्ताव किया है ॥ ३ ॥

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान्।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ॥ ४॥

जो पिताके पदपर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है और मनमें भलीभाँति सावधानी रखनेवाला है, उसे अपने आश्रितोंका हित-साधन ही करना चाहिये। द्रोह रखनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरुजन नहीं कहला सकता ॥ ४ ॥

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान्।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ॥ ५ ॥

महाराज ! द्यूतक्रीड़ाके समय जब आप अपने पुत्रोंके मुखसे सुनते कि यह जीता, यह पाया तथा पाण्डवोंकी पराजय हो रही है, तब आप बालकोंकी तरह मुसकरा उठते थे ॥ ५ ॥

परुषाण्युच्यमानांश्च पुरा पार्थानुपेक्षसे।
कृत्स्नं राज्यं जयन्तीति प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ६ ॥

उस समय पाण्डवोंके प्रति कितनी ही कठोर बातें कही जा रही थीं, परंतु मेरे पुत्र सारा राज्य जीतते चले जा रहे हैं, यह जानकर आप उनकी उपेक्षा करते जाते थे। यह सब इनके भावी विनाश या पतनका कारण होगा, इसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं जाती थी ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजाङ्गलाः।
अथ वीरैर्जितामुर्वीमखिलां प्रत्यपद्यथाः ॥ ७ ॥

महाराज ! कुरुजांगल देश ही आपका पैतृक राज्य है, किंतु शेष सारी पृथ्वी उन वीर पाण्डवोंने ही जीती है, जिसे आप पा गये हैं ॥ ७ ॥

बाहुवीर्यार्जिता भूमिस्तव पार्थैर्निवेदिता।
मयेदं कृतमित्येव मन्यसे राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कुन्तीपुत्रोंने अपने बाहुबलसे जीतकर यह भूमि आपकी सेवामें समर्पित की है, परंतु आप उसे अपनी जीती मानते हैं ॥ ८ ॥

ग्रस्तान् गन्धर्वराजेन मज्जतो ह्यप्लवेऽम्भसि।
आनिनाय पुनः पार्थः पुत्रांस्ते राजसत्तम ॥ ९ ॥

राजशिरोमणे! (घोषयात्राके समय) गन्धर्वराज चित्रसेनने

आपके पुत्रोंको कैद कर लिया था। वे सब-के-सब बिना नावके पानीमें डूब रहे थे, उस समय उन्हें अर्जुन ही पुनः छुड़ाकर ले आये थे ॥ ९ ॥

कुमारवच्च स्मयसे द्यूते विनिकृतेषु यत्।
पाण्डवेषु वने राजन् प्रव्रजत्सु पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन्! पाण्डवलोग जब द्यूतक्रीड़ामें चले गये और हारकर वनमें जाने लगे, उस समय आप बच्चोंकी तरह बारंबार मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे ॥ १० ॥

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्य शितान् बहून्।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ॥ ११ ॥

जब अर्जुन असंख्य तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगेंगे, उस समय समुद्र भी सूख जा सकते हैं, फिर हाड़-मांसके शरीरोंसे पैदा हुए प्राणियोंकी तो बात ही क्या है ?॥

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम्।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः।

बाण चलानेवाले वीरोंमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं धनुषोंमें गाण्डीव उत्तम है, समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, आयुधोंमें सुदर्शन चक्र श्रेष्ठ है और पताकावाले ध्वजोंमें वानरसे उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है॥१२½॥

एवमेतानि स रथे वहञ्छ्वेतहयो रणे ॥ १३ ॥
क्षपयिष्यति नो राजन् कालचक्रमिवोद्यतम्।

राजन्! इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठतम वस्तुओंको अपने साथ लिये हुए जब श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें उपस्थित होंगे, उस समय ऊपर उठे हुए काल-चक्रके समान वे हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे ॥१३½॥

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम।

राजाओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण महाराज ! अब तो यह सारी पृथ्वी उसीके अधिकारमें रहेगी, जिसकी ओरसे भीमसेन और अर्जुन-जैसे योद्धा लड़नेवाले होंगे। वही राजा होगा॥१४½॥

तथा भीमहतप्रायां मज्जन्तीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।

आपकी सेनाके अधिकांश वीर भीमसेनके हाथों मारे जायँगे और दुर्योधन आदि कौरव विपत्तिके समुद्रमें डूबती हुई इस सेनाको देखते-देखते स्वयं भी नष्ट हो जायँगे।१५½।

न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यन्ते विजयं विभो ॥ १६ ॥
तव पुत्रा महाराज राजानश्चानुसारिणः।

प्रभो ! महाराज ! आपके पुत्र तथा इनका साथ देनेवाले नरेश भीमसेन और अर्जुनसे भयभीत होकर कभी विजय नहीं पा सकेंगे॥ १६½ ॥

मत्स्यास्त्वामद्य नार्चन्ति पञ्चालाश्च सकेकयाः ॥ १७॥
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

मत्स्यदेशके क्षत्रिय अब आपका आदर नहीं करते हैं। पाञ्चाल, केकय, शाल्व तथा शूरसेन देशोंके सभी राजा एवं राजकुमार आपकी अवहेलना करते हैं। वे सब परम बुद्धिमान् अर्जुनके पराक्रमको जानते हैं, अतः उन्हींके पक्षमें मिल गये हैं ॥ १७-१८ ॥

भक्त्या ह्यस्य विरुध्यन्ते तव पुत्रैः सदैव ते।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान् विकर्मणा ॥ १९ ॥
योऽक्लेशयत् पाण्डुपुत्रान् यो विद्वेष्ट्यधुनापि वै।
सर्वोपायैर्नियन्तव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
तव पुत्रो महाराज नानुशोचितुमर्हसि।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेके कारण वे सब सदा ही आपके पुत्रोंके साथ विरोध रखते हैं। महाराज ! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेके कारण वध (और क्लेश पाने) के कदापि योग्य नहीं थे, उन पाण्डुपुत्रोंको जिसने सदा विपरीत बर्तावसे कष्ट पहुँचाया है और जो इस समय भी उनके प्रति द्वेषभाव ही रखता है, आपके उस पापी पुत्र दुर्योधनको ही सभी उपायोंसे साथियोंसहित काबूमें रखना चाहिये। आप बारंबार इस तरह शोक न करें। द्यूतक्रीड़ाके समय मैंने तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने भी आपको यही सलाह दी थी, (परंतु आपने ध्यान नहीं दिया)॥ १९–२१ ॥

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! आपने जो पाण्डवोंके बल-पराक्रमकी चर्चा करके असमर्थकी भाँति विलाप किया है, यह सब व्यर्थ है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको धैर्य देते हुए दुर्योधनद्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवोंके अपकर्षका वर्णन

दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला— महाराज ! आप डरें नहीं; आपके द्वारा हम लोग शोक करने योग्य नहीं हैं। प्रभो ! हम बलवान् और शक्तिशाली हैं तथा समरभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १ ॥

वने प्रव्राजितान् पार्थान् यदाऽऽयान्मधुसूदनः।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ॥ २ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
राजानश्चान्वयुः पार्थान् बहवोऽन्येऽनुयायिनः॥ ३ ॥

पाण्डवोंको जब हमने वनमें भेज दिया, उस समय शत्रुओंके राष्ट्रोंको धूलमें मिला देनेवाले विशाल सैन्यसमूहके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये थे। उनके साथ केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा और भी बहुत-से नरेश, जो पाण्डवोंके अनुयायी हैं, यहाँतक पधारे थे ॥ २-३ ॥

इन्द्रप्रस्थस्य चादूरात् समाजग्मुर्महारथाः।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवन्तं कुरुभिः सह ॥ ४ ॥

वे सभी महारथी इन्द्रप्रस्थके निकटतक आये और परस्पर मिलकर समस्त कौरवोंसहित आपकी निन्दा करने लगे ॥ ४ ॥

ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम्।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासन्त भारत ॥ ५ ॥
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः।
भवतः सानुबन्धस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ॥ ६ ॥

भारत ! वे नरेश श्रीकृष्णकी प्रधानतामें संगठित हो वनमें विराजमान मृगचर्मधारी युधिष्ठिरके समीप जाकर बैठे और सगे-सम्बन्धियोंसहित आपका मूलोच्छेद कर डालनेकी इच्छा रखकर कहने लगे—'धृतराष्ट्रके हाथसे राज्यको लौटा लेना ही कर्तव्य है' ॥ ५-६ ॥

श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा।
ज्ञातिक्षयभयाद् राजन् भीतेन भरतर्षभ ॥ ७ ॥
न ते स्थास्यन्ति समये पाण्डवा इति मे मतिः।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उनके इस निश्चयको सुनकर मैंने कुटुम्बी-जनोंके वधकी आशङ्कासे भयभीत हो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे इस प्रकार निवेदन किया—'तात ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवलोग अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहेंगे; क्योंकि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हम सब लोगोंका पूर्णतः विनाश कर डालना चाहते हैं ॥ ७-८ ॥

ऋते च विदुरात् सर्वे यूयं वध्या मता मम।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ॥ ९ ॥

'केवल विदुरजीको छोड़कर आप सब लोग मार डालनेके योग्य समझे गये हैं, यह बात मुझे मालूम हुई है। कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र धर्मज्ञ हैं, यह सोचकर उनका भी वध नहीं किया जायगा ॥ ९ ॥

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः।
एकराज्यं कुरूणां स चिकीर्षति युधिष्ठिरे ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्ण हमारा सर्वनाश करके कौरवोंका एक राज्य बनाकर उसे युधिष्ठिरको सौंपना चाहते हैं ॥ १० ॥

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम्।
प्राणान् वा सम्परित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान् ॥ ११ ॥

'ऐसी अवस्थामें इस समय हमारा क्या कर्तव्य है ? हम उनके चरणोंपर गिरें, पीठ दिखाकर भाग जायँ अथवा प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंका सामना करें ॥ ११ ॥

प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ॥ १२ ॥
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ॥ १३ ॥

'उनके साथ युद्ध होनेपर हमारी पराजय निश्चित है, क्योंकि इस समय समस्त भूपाल राजा युधिष्ठिरके अधीन हैं। इस राज्यमें रहनेवाले सब लोग हमसे घृणा करते हैं। हमारे मित्र भी कुपित हो गये हैं। सम्पूर्ण नरेश और आत्मीयजन सभी हमें धिक्कार रहे हैं॥ १२-१३॥

प्रणिपाते न दोषोऽस्ति सन्धिर्नः शाश्वतीः समाः।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम्॥ १४॥

'(मैं समझता हूँ,) इस समय नतमस्तक हो जानेमें कोई दोष नहीं है। इससे हमलोगोंमें सदाके लिये शान्ति हो जायगी, केवल अपने प्रज्ञाचक्षु पिता महाराज धृतराष्ट्रके लिये ही शोक हो रहा है॥ १४॥

मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनन्तकम्।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम्।
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद् विदितं ते नरोत्तम॥ १५॥

'उन्होंने मेरे लिये अनन्त क्लेश और दुःख सहन किये है।' नरश्रेष्ठ पिताजी! आपके पुत्रों तथा मेरे भाइयोंने केवल मेरी प्रसन्नताके लिये शत्रुओंको सदा ही सताया है; ये सब बातें आप पहलेसे ही जानते हैं॥ १५॥

ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः।
वैरं प्रतिकरिष्यन्ति कुलोच्छेदेन पाण्डवाः॥ १६॥

'इसलिये वे महारथी पाण्डव मन्त्रियोंसहित महाराज धृतराष्ट्रके कुलका समूलोच्छेद करके अपने वैरका बदला लेंगे'॥ १६॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत।
मत्वा मां महतीं चिन्तामास्थितं व्यथितेन्द्रियम्॥ १७॥
अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान् युधि समास्थितान्॥ १८॥

भारत! मेरी यह बात सुनकर आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे व्यथित हुआ जान आश्वासन देते हुए कहा—'परंतप! यदि शत्रुपक्षके लोग हमसे द्रोह रखते हैं तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये। शत्रुलोग युद्धमें उपस्थित होनेपर हमें जीतनेमें असमर्थ हैं॥ १७-१८॥

एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान्।
आगच्छन्तु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः॥ १९॥

'हममेंसे एक-एक वीर भी समस्त राजाओंको जीतनेकी शक्ति रखता है। शत्रुलोग आवें तो सही, हम अपने पैने बाणोंसे उनका घमंड चूर-चूर कर देंगे'॥ १९॥

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत॥ २०॥

भारत! पहलेकी बात है, अपने पिता शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मजीने किसी समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एकमात्र रथकी सहायतासे अकेले ही सब राजाओंको जीत लिया था॥ २०॥

जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात्॥ २१॥

रोषमें भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने जब उनमेंसे बहुत-से राजाओंको मार डाला, तब वे डरके मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म) की शरणमें आये॥ २१॥

स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्धमें शत्रुओंको जीतनेके लिये हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिये॥ २२॥

इत्येषां निश्चयो ह्यासीत् तत्कालेऽमिततेजसाम्।
पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नाऽऽसीद् वशवर्तिनी॥ २३॥
अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतुमाहवे।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः॥ २४॥

इन अमिततेजस्वी भीष्म आदिने उसी समय युद्धमें हमारा साथ देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। पहले यह सारी पृथ्वी हमारे शत्रुओंके काबूमें थी, किंतु अब हमारे हाथमें आ गयी है। हमारे ये शत्रु अब हमें युद्धमें जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। सहायकोंके अभावमें पाण्डव पंख कटे हुए पक्षीके समान असहाय एवं पराक्रमशून्य हो गये हैं॥ २३-२४॥

अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः॥ २५॥

भरतश्रेष्ठ! इस समय यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें है। हमने जिन राजाओंको यहाँ बुलाया है, ये सब सुख और दुःखमें भी हमारे साथ एक-सा प्रयोजन रखते हैं—हमारे सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानते हैं॥ २५॥

अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम॥ २६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुरुश्रेष्ठ! निश्चित मानिये, ये सब समागत नरेश मेरे लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं और समुद्रमें भी कूद सकते हैं॥ २६॥

उन्मत्तमिव चापि त्वां प्रहसन्तीह दुःखितम्।
विलपन्तं बहुविधं भीतं परविकत्थने॥ २७॥

इतनेपर भी आप शत्रुओंकी मिथ्या प्रशंसा सुनकर पागल-से हो उठे हैं और दुखी एवं भयभीत होकर नाना प्रकारसे विलाप कर रहे हैं। यह सब देखकर ये राजालोग यहाँ हँस रहे हैं॥ २७॥

एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पाण्डवान् प्रति ।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम् ॥ २८ ॥

इन राजाओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ मानता है; अतः आपके मनमें जो भय आ गया है, वह निकल जाना चाहिये ॥ २८ ॥

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात् ।
हन्तुमक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः ॥ २९ ॥

मेरी सम्पूर्ण सेनाको इन्द्र भी नहीं जीत सकते । स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका नाश नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्च ग्रामान् स याचति ।
भीतो हि मामकात् सैन्यात् प्रभावाच्चैव मे विभो ।३०।

प्रभो ! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभावसे इतने डर गये हैं कि राजधानी या नगर लेनेकी बात छोड़कर अब पाँच गाँव माँगने लगे हैं ॥ ३० ॥

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! आप जो कुन्तीकुमार भीमको बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि आप मेरे प्रभावको पूर्णरूपसे नहीं जानते हैं ॥ ३१ ॥

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन ॥ ३२ ॥

गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला इस पृथ्वीपर न तो कोई है, न भूतकालमें कोई हुआ था और न भविष्यमें ही कोई होगा ॥ ३२ ॥

युक्तो दुःखोषितश्चाहं विद्यापारगतस्तथा ।
तस्मान्न भीमान्नान्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित् ॥ ३३ ॥

गदायुद्धका मेरा अभ्यास बहुत अच्छा है । मैंने गुरुके समीप क्लेशसहनपूर्वक रहकर अस्त्रविद्या सीखी है और उसमें मैं पारङ्गत हो गया हूँ । अतः भीमसेनसे या दूसरे योद्धाओंसे मुझे कभी कोई भय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत् तदैनमुपावसम् ॥ ३४ ॥

आपका कल्याण हो । बलरामजीका भी यही निश्चय है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है । यह बात उन्होंने उस समय कही थी, जब मैं उनके पास रहकर गदाकी शिक्षा ले रहा था ॥ ३४ ॥

युद्धे संकर्षणसमो बलेनाभ्यधिको भुवि ।
गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद् युधि ॥ ३५ ॥

मैं युद्धमें बलरामजीके समान हूँ और बलमें इस भूतलपर सबसे बढ़कर हूँ । युद्धमें भीमसेन मेरी गदाका प्रहार कभी नहीं सह सकते ॥ ३५ ॥

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप ।
स एवैनं नयेद् घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ॥ ३६ ॥

महाराज ! मैं रोषमें भरकर भीमसेनपर गदाका जो एक बार प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उन्हें शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देगा ॥ ३६ ॥

इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम् ।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः ॥ ३७ ॥

राजन् ! मैं चाहता हूँ कि युद्धमें गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको अपने सामने देखूँ । मैंने दीर्घकालसे अपने मनमें सदा इसी मनोरथके सिद्ध होनेकी इच्छा रखी है ॥ ३७ ॥

गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः ।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति ॥ ३८ ॥

युद्धमें मेरी गदासे आहत हुए कुन्तीपुत्र भीमसेनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और वे प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ जायँगे ॥ ३८ ॥

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः ।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ॥ ३९ ॥

यदि मैं एक बार अपनी गदाका आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी लाखों टुकड़ोंमें विदीर्ण हो जायगा ॥ ३९ ॥

स चाप्येतद् विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ॥ ४० ॥

भीमसेन भी इस बातको जानते हैं । श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी यह ज्ञात है । यह निश्चित है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ४० ॥

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे ।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! भीमसेनसे जो आपको भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिये । मैं महायुद्धमें उन्हें मार गिराऊँगा । इसलिये आप मनमें खेद न करें ॥ ४१ ॥

तस्मिन् मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः ।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यन्ति भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरेद्वारा भीमसेनके मारे जानेपर (हमारे पक्षके) बहुत-से रथी जो अर्जुनके समान या उनसे भी बढ़कर हैं, उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे ॥ ४२ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिन्धुराजो जयद्रथः ॥ ४३ ॥
एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान् ।

समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ।

भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, मद्रराज शल्य तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इनमेंसे एक-एक वीर समस्त पाण्डवोंको मारनेकी शक्ति रखता है । यदि ये सब एक साथ मिल जायँ तो क्षण-भरमें उन सबको यमलोक पहुँचा देंगे ॥ ४३½ ॥

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ॥ ४४ ॥
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।

राजाओंकी समस्त सेना एकमात्र अर्जुनको परास्त करनेमें असमर्थ कैसे होगी ? इसके लिये कोई कारण नहीं है ॥ ४४½ ॥

शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ॥ ४५ ॥
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गन्ता पार्थो यमक्षयम् ।

भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके चलाये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंसे विद्ध होकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको विवशतापूर्वक यमलोकमें जाना पड़ेगा ॥ ४५½ ॥

पितामहोऽपि गाङ्गेयः शान्तनोरधि भारत ॥ ४६ ॥
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।

भरतनन्दन ! हमारे पितामह गङ्गापुत्र भीष्मजी तो अपने पिता शान्तनुसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं । ये ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए हैं । इनका वेग देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह है ॥ ४६½ ॥

न हन्ता विद्यते चापि राजन् भीष्मस्य कश्चन ॥ ४७ ॥
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाकामस्त्वं मरिष्यसि ।

राजन् ! भीष्मजीको मारनेवाला तो कोई है ही नहीं; क्योंकि उनके पिताने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया है कि तुम अपनी इच्छाके बिना नहीं मरोगे ॥ ४७½ ॥

ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ॥ ४८ ॥
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।

दूसरे वीर आचार्य द्रोण हैं, जो ब्रह्मर्षि भरद्वाजके वीर्यसे कलशमें उत्पन्न हुए हैं । महाराज ! इन्हीं आचार्य द्रोणसे वीर अश्वत्थामाकी उत्पत्ति हुई है, जो अस्त्रविद्याके बहुत बड़े पण्डित हैं ॥ ४८½ ॥

कृपश्चाचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ॥ ४९ ॥
शरस्तम्बोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।

आचार्योंमें प्रधान कृप भी महर्षि गौतमके अंशसे सरकण्डोंके समूहमें उत्पन्न हुए हैं । ये श्रीमान् आचार्यपाद अवध्य हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९½ ॥

अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ॥ ५० ॥
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्व एते महाराज देवकल्पा महारथाः ॥ ५१ ॥

महाराज ! अश्वत्थामाके ये पिता, माता और मामा तीनों ही अयोनिज हैं । अश्वत्थामा भी शूरवीर एवं मेरे पक्षमें स्थित हैं । राजन् ! ये सभी योद्धा देवताओंके समान पराक्रमी एवं महारथी हैं ॥ ५०-५१ ॥

शक्रस्यापि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रति वीक्षितुम् ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये चारों वीर युद्धमें देवराज इन्द्रको भी पीड़ा दे सकते हैं । अर्जुन तो इनमेंसे किसी एककी ओर भी आँख उठाकर देख नहीं सकते ॥ ५२ ॥

सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यन्ति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ॥ ५३ ॥

ये नरश्रेष्ठ जब एक साथ होकर युद्ध करेंगे, तब अर्जुनको अवश्य मार डालेंगे । भीष्म, द्रोण और कृप—इन तीनोंके समान पराक्रमी तो अकेला कर्ण ही है, यह मेरी मान्यता है ॥ ५३ ॥

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुण्डले रुचिरे चास्तां कर्णस्य सहजे शुभे ॥ ५४ ॥

भारत ! परशुरामजीने कर्णको (शिक्षा देनेके पश्चात् घर लौटनेकी) आज्ञा देते हुए यह कहा था कि तुम (अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें) मेरे समान हो । इसके सिवा कर्णको जन्मके साथ ही दो सुन्दर और कल्याणकारी कुण्डल प्राप्त हुए थे ।५४।

ते शच्यर्थे महेन्द्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ॥ ५५ ॥

परंतु देवराज इन्द्रने शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर कर्णसे शचीके लिये वे दोनों कुण्डल माँग लिये ! महाराज ! कर्णने बदलेमें अत्यन्त भयंकर एवं अमोघ शक्ति लेकर वे कुण्डल दिये थे ॥ ५५ ॥

तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद् धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन् फलं पाणाविवाहितम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार उस अमोघ शक्तिसे सुरक्षित कर्णके सामने युद्धके लिये आकर अर्जुन कैसे जीवित रह सकते हैं ? राजन् ! हाथपर रखे हुए फलकी भाँति विजयकी प्राप्ति तो मुझे अवश्य ही होगी ॥ ५६ ॥

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! इस पृथ्वीपर मेरे शत्रुओंकी पूर्णतः पराजय तो इसीसे स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस हजार विपक्षी योद्धाओंका संहार करेंगे ॥ ५७ ॥

तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृन्दानि क्षत्रियाणां परंतप ॥ ५८ ॥
अर्जुनं वयमस्मान् वा निहन्याद् कपिकेतनः ।

तं चालमिति मन्यन्ते सव्यसाचिवधे धृताः ॥ ५९ ॥
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद् व्यथते कथम् ।

परंतप ! द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी उन्हींके समान महाधनुर्धर हैं । इनके सिवा 'संशप्तक' नामक क्षत्रियोंके समूह भी मेरे ही पक्षमें हैं; जो यह कहते हैं कि या तो हमलोग अर्जुनको मार डालेंगे या कपिध्वज अर्जुन ही हमें मार डालेंगे, तभी हमारे उनके युद्धकी समाप्ति होगी। वे सब नरेश अर्जुनके वधका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं और उसके लिये अपनेको पर्याप्त समझते हैं । ऐसी दशामें आप उन पाण्डवोंसे भयभीत हो अकस्मात् व्यथित क्यों हो उठते हैं ? ॥ ५८-५९½ ॥

भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ॥ ६० ॥
परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतनन्दन ! अर्जुन और भीमसेनके मारे जानेपर शत्रुओंके दलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध कर सकेगा ? यदि आप किसीको जानते हों तो बताइये ॥ ६०½ ॥

पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ॥ ६१ ॥
परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम् ।

राजन् ! पाँचों भाई पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि—ये कुल सात योद्धा ही शत्रु-पक्षके सारभूत बल माने जाते हैं।६१½॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ६२ ॥
द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः॥ ६३ ॥
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते ।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ ६४ ॥
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।

प्रजानाथ ! हमलोगोंके पक्षमें जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनकी संख्या अधिक है; यथा—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि; अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, शल्य, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जयद्रथ, दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा तथा आपका पुत्र विकर्ण । (इस प्रकार अपने पक्षके प्रमुख वीरोंकी संख्या शत्रुओंके प्रमुख वीरोंसे तीन गुनी अधिक है)॥६२-६४½॥

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः ।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ॥ ६५ ॥

महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परंतु शत्रुओंके पक्षमें हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है ?।६५।

बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः ।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ॥ ६६ ॥

राजन् ! बृहस्पतिका कथन है कि शत्रुओंकी सेना अपनेसे एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिये । परंतु मेरी यह सेना तो शत्रुओंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिये यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेनाकी एक तिहाईसे भी अधिक है ॥ ६६ ॥

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥ ६७ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओंका बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकारसे गुणहीन (न्यूनतम) है, परंतु मेरा अपना बल सब प्रकारसे बहुत अधिक एवं गुण-शाली है ॥ ६७ ॥

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत ।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

भरतनन्दन ! इन सभी दृष्टियोंसे मेरा बल अधिक है और पाण्डवोंका बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ॥ ६८ ॥

इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
विवित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ॥ ६९ ॥

जनमेजय ! ऐसा कहकर शत्रुनगरविजयी दुर्योधनने शत्रुओंकी स्थिति जान लेनेके पश्चात् समयोचित कर्तव्योंकी जानकारीके लिये पुनः संजयसे प्रश्न किया ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा अर्जुनके ध्वज एवं अश्वोंका तथा युधिष्ठिर आदिके घोड़ोंका वर्णन

दुर्योधन उवाच

अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय ।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—संजय ! यह तो बताओ, सात अक्षौहिणी सेना पाकर राजाओंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे अब कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

अतीव मुदितो राजन् युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! युधिष्ठिर युद्धकी अभिलाषा लेकर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं। भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों भाई नकुल-सहदेव भी भयभीत नहीं हैं॥ २॥

रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन् दिशः।
मन्त्रं जिज्ञासमानः सन् बीभत्सुः समयोजयत्॥ ३॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने तो अस्त्रप्रयोगसम्बन्धी मन्त्रकी परीक्षाके लिये अपने दिव्य रथकी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसे जोत रक्खा था॥ ३॥

तमपश्याम संनद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा।
समन्तात् समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत॥ ४॥

उस समय स्वर्णमय कवच धारण किये अर्जुन हमें बिजलीके प्रकाशसे सुशोभित मेघके समान दिखायी दे रहे थे। उन्होंने सब ओरसे उन मन्त्रोंका सम्यक् चिन्तन करके हर्षसे उल्लसित होकर मुझसे कहा—॥ ४॥

पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथावैम्यहमप्युत॥ ५॥

'संजय! हमलोग युद्धमें अवश्य विजयी होंगे। उस विजयका यह पूर्वचिह्न अभीसे प्रकट हो रहा है। तुम भी देख लो।' राजन्! अर्जुनने मुझसे जैसा कहा था, वैसा ही मैं भी समझता हूँ॥ ५॥

दुर्योधन उवाच

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान्।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः॥ ६॥

दुर्योधन बोला—संजय! तुम तो जूएमें हारे हुए कुन्तीपुत्रोंका अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। बताओ तो सही, अर्जुनके रथमें कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं?॥ ६॥

संजय उवाच

भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशाम्पते।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो॥ ७॥

संजयने कहा—प्रजानाथ! विश्वकर्मा त्वष्टा तथा प्रजापतिने इन्द्रके साथ मिलकर अर्जुनके रथकी ध्वजामें अनेक प्रकारके रूपोंकी रचना की है॥ ७॥

ध्वजे हि तस्मिन् रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया।
महाधनानि दिव्यानि महान्ति च लघूनि च॥ ८॥

उन तीनोंने देवमायाके द्वारा उस ध्वजमें छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी बहुमूल्य एवं दिव्य मूर्तियोंका निर्माण किया है॥ ८॥

भीमसेनानुरोधाय हनूमान् मारुतात्मजः।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति॥ ९॥

भीमसेनके अनुरोधकी रक्षाके लिये पवननन्दन हनुमान्‌जी उस ध्वजमें युद्धके समय अपने स्वरूपको स्थापित करेंगे।९।

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तरं
सतिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि
तथा हि माया विहिता भौमनेन॥ १०॥

उस ध्वजने एक योजनतक सम्पूर्ण दिशाओं तथा अगल-बगल एवं ऊपरके अवकाशको व्याप्त कर रक्खा था। विश्वकर्माने ऐसी माया रच रक्खी है कि वह ध्वज वृक्षोंसे आवृत अथवा अवरुद्ध होनेपर भी कहीं अटकता नहीं है।१०।

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्म किं नु तत्।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
बह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य॥ ११॥

जैसे आकाशमें बहुरंगा इन्द्रधनुष प्रकाशित होता है और यह समझमें नहीं आता कि वह क्या है? ठीक ऐसा ही विश्वकर्माका बनाया हुआ वह रंग-बिरंगा ध्वज है। उसका रूप अनेक प्रकारका दिखायी देता है॥ ११॥

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा
वर्णान् बिभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान्।

तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
न चेद् भारो भविता नोत रोधः ॥ १२ ॥

जैसे अग्निसहित धूम विचित्र तेजोमय आकार और रंग धारण करके सब ओर फैलकर ऊपर आकाशकी ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार विश्वकर्माने उस ध्वजका निर्माण किया है। उसके कारण रथपर कोई भार नहीं बढ़ता है और न उसकी गतिमें कहीं कोई रुकावट ही पैदा होती है ॥ १२ ॥

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा
दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं
हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ॥ १३ ॥

अर्जुनके उस रथमें वायुके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जातिके श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथने दिया था । नरेन्द्र ! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थानमें उन अश्वोंकी पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है । उस रथमें पूरे सौ घोड़े सदा जुते रहते हैं । उनमेंसे यदि कोई मारा जाता है तो पहलेके दिये हुए वरके प्रभावसे नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थानकी पूर्ति कर देता है ॥ १३ ॥

तथा राज्ञो दन्तवर्णा बृहन्तो
रथे युक्ता भान्ति तद्वीर्यतुल्याः ।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा
रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरके रथमें भी वैसे ही शक्तिशाली श्वेतवर्णके विशाल अश्व जुते हुए हैं, जो अत्यन्त सुशोभित होते हैं । भीमसेनके घोड़ोंका रंग रीछके समान काला है । वे उनके रथमें जोते जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलते हैं ॥ १४ ॥

कल्माषाङ्गास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा
भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन ।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरङ्गैर्विशिष्टा
मुदा युक्ताः सहदेवं वहन्ति ॥ १५ ॥

अर्जुनने प्रसन्न होकर अपने छोटे भाई सहदेवको जो अश्व प्रदान किये थे, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग विचित्र रंगके हैं और पृष्ठभाग भी तीतर पक्षीके समान चितकबरे प्रतीत होते हैं तथा जो वीर भाई अर्जुनके अपने अश्वोंकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट हैं, ऐसे सुन्दर अश्व बड़ी प्रसन्नताके साथ सहदेवके रथका भार वहन करते हैं ॥ १५ ॥

माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ
महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः ।
समा वायोर्बलवन्तस्तरस्विनो
वहन्ति वीरं वृत्रशत्रुं यथेन्द्रम् ॥ १६ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! देवराज इन्द्रके दिये हुए हरे रंगके उत्तम घोड़े, जो वायुके समान बलवान् तथा वेगवान् हैं, माद्रीकुमार वीर नकुलके रथका भार वहन करते हैं । ठीक उसी तरह, जैसे पहले वे वृत्रशत्रु देवेन्द्रका भार वहन किया करते थे ॥ १६ ॥

तुल्याश्चैभिर्वयसा विक्रमेण
महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः ।
सौभद्रादीन् द्रौपदेयान् कुमारान्
वहन्त्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ॥ १७ ॥

अवस्था और बल-पराक्रममें पूर्वोक्त अश्वोंके ही समान महान् वेगशाली, विचित्र रूप-रंगवाले उत्तम जातिके अश्व सुभद्रानन्दन अभिमन्युसहित द्रौपदीके पुत्रोंका भार वहन करते हैं। वे विशाल अश्व भी देवताओंके दिये हुए हैं ॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा पाण्डवोंकी युद्धविषयक तैयारीका वर्णन, धृतराष्ट्रका विलाप, दुर्योधनद्वारा अपनी प्रबलताका प्रतिपादन, धृतराष्ट्रका उसपर अविश्वास तथा संजयद्वारा धृष्टद्युम्नकी शक्ति एवं संदेशका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

कांस्तत्र संजयापश्यः प्रीत्यर्थेन समागतान् ।
ये योत्स्यन्ते पाण्डवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! तुमने वहाँ युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये आये हुए किन-किन राजाओंको देखा था, जो पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पुत्रकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

मुख्यमन्धकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम्।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! मैंने वहाँ देखा कि वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं। वहाँ चेकितान और युयुधान सात्यकि भी उपस्थित हैं ॥ २ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पाण्डवानभिसंश्रितौ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ ॥ ३ ॥

अपनेको पौरुषशाली वीर माननेवाले वे दोनों विख्यात महारथी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं ॥ ३ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो दशभिस्तनयैर्वृतः।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ४ ॥
द्रुपदो वर्धयन् मानं शिखण्डिपरिपालितः।
उपायात् सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपुः ॥ ५ ॥

पाञ्चालनरेश द्रुपद धृष्टद्युम्न और सत्यजित् आदि दस वीर पुत्रोंके साथ शिखण्डीद्वारा सुरक्षित हो कवच आदिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके शरीरोंको आच्छादित करके उन सबकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युधिष्ठिरका मान बढ़ानेके लिये वहाँ आये हुए हैं ॥ ४-५ ॥

विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च।
सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः ॥ ६ ॥
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः ॥ ७ ॥

राजा विराट अपने दो पुत्रों शङ्ख और उत्तरको साथ लिये, सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर भ्राताओं और अन्य पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी सहायताके लिये उपस्थित हैं ॥ ६-७ ॥

जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट्।
पृथक् पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ ॥ ८ ॥

जरासंधकुमार मगधनरेश सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु—ये दोनों भी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च सर्वे लोहितकध्वजाः।
अक्षौहिणीपरिवृताः पाण्डवानभिसंश्रिताः ॥ ९ ॥

लाल रंगकी ध्वजावाले जो पाँचों भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सेवामें उपस्थित हुए हैं ॥ ९ ॥

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान्।
ये पाण्डवार्थे योत्स्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्॥ १० ॥

मैंने इन सबको इतनी सेनाओंके साथ वहाँ आया हुआ देखा है। ये लोग पाण्डवोंके हितके लिये दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ॥ १० ॥

यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ ११ ॥

जो मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरोंकी भी व्यूह-रचना-प्रणालीको जानते हैं, वे महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवपक्षकी सेनाके अग्रभागमें (सेनापति होकर) रहेंगे ॥ ११ ॥

भीष्मः शान्तनवो राजन् भागः कॢप्तः शिखण्डिनः।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः ॥१२॥

राजन्! शान्तनुनन्दन भीष्मजीके वधका कार्य शिखण्डीको सौंपा गया है। राजा विराट मत्स्यदेशीय योद्धाओंके साथ शिखण्डीकी सहायताके लिये उसका अनुसरण करेंगे ॥

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली।
तौ तु तत्राब्रुवन् केचिद् विषमौ नो मताविति॥ १३ ॥

बलवान् मद्रनरेश ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके हिस्सेमें पड़े हैं—युधिष्ठिर ही उनके साथ युद्ध करेंगे। परंतु यह बँटवारा सुनकर कुछ लोग वहाँ बोल उठे थे कि ये दोनों तो हमें परस्पर समान शक्तिशाली नहीं जान पड़ते ॥ १३ ॥

दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः॥ १४ ॥

अपने सौ भाइयों तथा पुत्रोंसहित दुर्योधन और पूर्व एवं दक्षिण दिशाके कौरवसैनिक भीमसेनका भाग नियत किये गये हैं ॥ १४ ॥

अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ १५ ॥

वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और सिंधुराज जयद्रथ—ये सब अर्जुनके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १५ ॥

अशक्याश्चैव ये केचित् पृथिव्यां शूरमानिनः।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः ॥ १६ ॥

इनके सिवा और भी अपनेको शूरवीर माननेवाले जो कोई नरेश इस भूमण्डलमें अजेय माने जाते हैं, उन सबको कुन्तीकुमार अर्जुनने अपना भाग निश्चित किया है ॥ १६ ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यन्ति संयुगे ॥ १७ ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार भी महान् धनुर्धर हैं। वे समराङ्गणमें अपने विरोधी केकयदेशीय योद्धाओंको ही अपना भाग (वध्य वैरी) मानकर युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति ॥ १८ ॥

मालव, शाल्व तथा त्रिगर्तदेशके सैनिक और संशप्तक—सेनाके दो प्रमुख वीर भी उन केकयराजकुमारोंके ही भाग नियत किये गये हैं ॥ १८ ॥

दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १९ ॥

दुर्योधन तथा दुःशासनके सभी पुत्र और राजा बृहद्बल सुभद्रानन्दन अभिमन्युके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १९ ॥

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यन्ति भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे युक्त महाधनुर्धर द्रौपदीपुत्र भी धृष्टद्युम्नके साथ द्रोणपर आक्रमण करेंगे ॥२०॥

चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ॥ २१ ॥

चेकितान द्वैरथ-संग्राममें सोमदत्तके साथ युद्ध करना चाहते हैं । सात्यकि भोजवंशी कृतवर्माके साथ युद्ध करनेको उत्सुक हैं ॥ २१ ॥

सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रन्दनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुबलात्मजम् ॥ २२ ॥

महाराज ! युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी शूरवीर माद्रीनन्दन सहदेवने आपके साले सुबलपुत्र शकुनिको अपना भाग निश्चित किया है ॥ २२ ॥

उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ॥ २३ ॥

उस धूर्त जुआरी शकुनिका पुत्र जो उलूक है तथा जो सारस्वतप्रदेशके सैनिक हैं, उन सबको माद्रीकुमार नकुलने अपना भाग नियत किया है ॥ २३ ॥

ये चान्ये पार्थिवा राजन् प्रत्युद्यास्यन्ति सङ्गरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पाण्डुपुत्रा अकल्पयन् ॥ २४ ॥

राजन् ! दूसरे भी जो-जो नरेश (आपकी ओरसे) युद्धमें पदार्पण करेंगे, उन सबका भी नाम ले-लेकर पाण्डवोंने उन्हें अपना भाग निश्चित किया है ॥ २४ ॥

एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत् ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार पाण्डवोंकी सेनाएँ पृथक्-पृथक् भागोंमें बँटी हुई हैं । अब पुत्रोंसहित आपका जो कर्तव्य हो, उसे अविलम्ब पूरा करें ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न सन्ति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! समरभूमिके प्रमुख भागमें बलवान् भीमसेनके साथ जिनका युद्ध होनेवाला है, वे कपट-पूर्ण जूआ खेलनेवाले मेरे सभी मूर्ख पुत्र अब नहींके बराबर हैं ॥ २६ ॥

राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

भूमण्डलके समस्त राजाओंका वध करनेके लिये मानो कालधर्मा यमराजने उनका प्रोक्षण (संस्कार) किया है; अतः जैसे पतंग आगमें गिरते हैं, वैसे ही ये सब नरेश गाण्डीव धनुषकी आगमें समा जायँगे ॥ २७ ॥

विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यन्ति प्रभग्नां पाण्डवैर्युधि ॥ २८ ॥

मैं तो समझता हूँ; जिनका हमलोगोंके साथ वैर ठन गया है, वे महात्मा पाण्डव समराङ्गणमें हमारी विशाल सेनाको अवश्य मार भगायेंगे । उनके द्वारा खदेड़ी हुई उस सेनाका अनुसरण अथवा सहयोग कौन कर सकेंगे ? ॥ २८ ॥

सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमन्तः प्रतापिनः ।
सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिंजयाः ॥ २९ ॥

समस्त पाण्डव अतिरथी शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी, युद्धविजयी तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥२९॥

येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पाण्डवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ॥ ३० ॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ३१ ॥
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखण्डी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ॥ ३२ ॥
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
येषामिन्द्रोऽप्यकामानां न हरेत् पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिन्द्युः पर्वतानपि ॥ ३४ ॥
तान् सर्वगुणसम्पन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, भगवान् मधुसूदन जिनके रक्षक हैं, पाण्डुपुत्र वीरवर अर्जुन और भीमसेन जिनके प्रमुख योद्धा हैं, नकुल, सहदेव, पृषत्वंशी धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रुपद, धृष्टकेतु, सुकेतु, पाञ्चालदेशीय उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराटकुमार उत्तर, काशि, चेदि तथा मत्स्यदेशके सैनिक, सृंजयवंशी क्षत्रिय, विराटकुमार बभ्रु तथा पाञ्चालदेशीय प्रभद्रकगण जिनके पक्षमें युद्धके लिये उद्यत हैं, जिनकी इच्छाके बिना देवराज इन्द्र भी इस पृथ्वीका अपहरण नहीं कर सकते, जो वीर तथा रणधीर हैं, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका

प्रताप देवताओंके समान है तथा जो समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन्हीं पाण्डवोंके साथ मेरा दुष्ट पुत्र दुर्योधन मेरे चीखते-चिल्लाते हुए भी युद्ध करना चाहता है ॥ ३०—३५ ॥

दुर्योधन उवाच

उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ।
अथ कस्मात् पाण्डवानामेकतो मन्यसे जयम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! हम कौरव तथा पाण्डव दोनों एक ही जातिके हैं और दोनों इसी भूमिपर रहते हैं। फिर एकमात्र पाण्डवोंकी ही विजय होगी, यह धारणा आपने कैसे बना ली ? ॥ ३६ ॥

पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम्।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ॥ ३७ ॥
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः।
अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पाण्डवाः ॥ ३८ ॥

तात ! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्जय वीर कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त तथा अश्वत्थामा ये सभी उत्तम तेजस्वी और महान् धनुर्धर हैं। देवताओंसहित इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३७-३८ ॥

सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पाण्डवान्।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ॥ ३९ ॥

तात ! ये सभी भूपाल श्रेष्ठ, शस्त्रधारी और शूरवीर होनेके साथ ही मेरे लिये पाण्डवोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥

न मामकान् पाण्डवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम्।
पराक्रान्तो ह्यहं पाण्डून् सपुत्रान् योद्धुमाहवे ॥ ४० ॥

पाण्डव मेरे पक्षके इन वीरोंकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। पुत्रोंसहित पाण्डवोंके साथ मैं अकेला ही समराङ्गणमें युद्ध करनेकी शक्ति रखता हूँ ॥४०॥

मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षन्ति भारत।
ते तानावारयिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! जो भूपाल मेरा प्रिय करना चाहते हैं, वे सब उन पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे उसी प्रकार रोक देंगे, जैसे फंदेसे हिरनके बच्चोंको रोका जाता है ॥ ४१ ॥

महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः।
अभिद्रुता भविष्यन्ति पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ४२ ॥

मेरे पक्षकी विशाल रथसेना तथा मेरे सैनिकोंके बाण-समूहोंसे आहत होकर पाञ्चाल और पाण्डव भाग खड़े होंगे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरा यह पुत्र पागलके समान प्रलाप कर रहा है। यह युद्धमें धर्मराज युधिष्ठिरको कभी जीत नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जानाति हि यथा भीष्मः पाण्डवानां यशस्विनाम्।
बलवत्तां सपुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥
यतो नारोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः।

पुत्रोंसहित धर्मज्ञ एवं यशस्वी महात्मा पाण्डव कितने बलशाली हैं, इस बातको भीष्मजी अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये उन्हें उन महात्माओंके साथ युद्ध छेड़नेकी बात पसंद नहीं आयी ॥ ४४½ ॥

किं तु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पाण्डवान्।
अर्चिष्मतो महेष्वासान् हविषा पावकानिव ॥ ४६ ॥

संजय ! तुम पुनः मेरे सामने पाण्डवोंकी चेष्टाका वर्णन करो। कौन ऐसा वीर है, जो वेगशाली और तेजस्वी महाधनुर्धर पाण्डवोंको बार-बार उसी प्रकार उत्तेजित किया करता है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नः सदैवैनान् संदीपयति भारत।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद् भरतसत्तमाः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—भारत ! धृष्टद्युम्न सदा ही इन पाण्डवोंको उत्तेजित करते रहते हैं। वे कहते हैं—'भरतकुल-भूषण पाण्डवो ! आपलोग युद्ध करें, उससे तनिक भी भयभीत न हों ॥ ४७ ॥

ये केचित् पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः।
युद्धे समागमिष्यन्ति तुमुले शस्त्रसंकुले ॥ ४८ ॥
तान् सर्वानाहवे क्रुद्धान् सानुबन्धान् समागतान्।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवौदकान् ॥ ४९ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके द्वारा एकत्र किये हुए जो जो नरेश अस्त्र-शस्त्रोंकी मारकाटसे व्याप्त हुए भयानक संग्राममें मेरे सामने आयेंगे, वे कितने ही क्रोधमें भरे हुए क्यों न हों, सगे सम्बन्धियोंसहित रणभूमिमें आये हुए उन सभी राजाओंको मैं अकेला ही उसी प्रकार वशमें कर लूँगा, जैसे तिमि नामक महामत्स्य जलकी दूसरी मछलियोंको निगल जाता है ॥ ४८-४९ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम्।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य तथा दुर्योधन—इन सबको मैं उसी भाँति आगे बढ़नेसे रोक दूँगा, जैसे किनारा समुद्रको रोके रखता है' ॥ ५० ॥

तथा ब्रुवन्तं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः।
तव धैर्यं च वीर्यं च पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ५१ ॥
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ५२ ॥
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार बोलते हुए धृष्टद्युम्नसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने कहा—'महाबाहो ! पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल वीर तुम्हारे धैर्य और पराक्रमका ही आश्रय लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, इसलिये तुम्हीं इस संग्रामसे हमलोगोंका उद्धार करो। मैं जानता हूँ कि तुम क्षत्रियधर्ममें प्रतिष्ठित हो और युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए समस्त कौरवोंको अकेले ही कैद कर लेनेकी पूरी शक्ति रखते हो ॥ ५१-५३ ॥

भवता यद् विधातव्यं तन्नः श्रेयः परंतप।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ॥ ५४ ॥
पौरुषं दर्शयञ्शूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान्।
क्रीणीयात् तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

'परंतप ! तुम जो कुछ करोगे, वही हमारे लिये मङ्गलकारी होगा। जो वीर पुरुष अपना पौरुष प्रकट करते हुए युद्धभूमिसे पराजित होकर भागे हुए शरणार्थी सैनिकोंके सामने खड़ा होता (और उनके भयका निवारण करता) है, उसे सहस्रोंकी सम्पत्ति देकर भी खरीद ले (अपने पक्षमें कर ले); यही नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ ५४-५५ ॥

स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रान्तश्च नरर्षभ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ॥ ५६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इसमें संदेह नहीं कि तुम शूर, वीर और पराक्रमी हो तथा युद्धमें भयसे पीड़ित हुए सैनिकोंकी रक्षा कर सकते हो' ॥ ५६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम्।
सर्वाञ्जनपदान् सूत योधा दुर्योधनस्य ये ॥ ५७ ॥
सबाह्लिकान् कुरून् ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्शारद्वतः।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ॥ ५८ ॥
दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम्।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ॥ ५९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय धृष्टद्युम्नने मुझसे भयरहित यह वचन कहा—'सूत ! वहाँ दुर्योधनके जितने योद्धा हैं, उनसे, समस्त देशवासियोंसे, बाह्लीक आदि प्रतीपवंशी कौरवोंसे, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यसे, सूतपुत्र कर्णसे, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामासे तथा जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, राजा दुर्योधन और भीष्मसे भी शीघ्र जाकर मेरा यह संदेश कहो। अभी जाओ, विलम्ब मत करो ॥ ५७-५९ ॥

युधिष्ठिरः साधुनैवाभ्युपेयो
मा वो वधीदर्जुनो देवगुप्तः।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं
याचध्वं वै पाण्डवं लोकवीरम् ॥ ६० ॥

(वह संदेश इस प्रकार है-) 'कौरवो ! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहारसे ही वशमें किये जा सकते हैं (युद्धसे नहीं)। ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओंद्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन तुमलोगोंका वध कर डालें। धर्मराज युधिष्ठिरको शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्षमा-याचना करो ॥ ६० ॥

नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन।
यथाविधः सव्यसाची पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ६१ ॥

'सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे सत्यपराक्रमी हैं, वैसा योद्धा इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ६१ ॥

देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृद्ध्वं मनो युधि ॥ ६२ ॥

'गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनका दिव्य रथ देवताओंद्वारा सुरक्षित है। कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुमलोग अपने मनको युद्धकी ओर न जाने दो' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना, दुर्योधनका अहंकारपूर्वक पाण्डवोंसे युद्ध करनेका ही निश्चय तथा धृतराष्ट्रका अन्य योद्धाओंको युद्धसे भय दिखाना

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पाण्डवः।
तेन संयुगमेष्यन्ति मन्दा विलपतो मम ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर क्षात्र तेजसे सम्पन्न हैं। उन्होंने कुमारावस्थासे ही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, परंतु मेरे ये मूर्ख पुत्र मेरे विलापकी ओर

ध्यान न देकर उन्हीं युधिष्ठिरके साथ युद्ध छेड़नेवाले हैं ॥ १ ॥

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिंदम ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण शत्रुदमन दुर्योधन ! तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशामें युद्धकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! तुम पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग दे दो । बेटा ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है ॥ ३ ॥

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्मसंहितम् ।
यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥

समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवोंके साथ (संधि करके आपसमें) शान्ति बनाये रखनेकी बात स्वीकार कर लो ॥ ४ ॥

अङ्गेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एव तवाभावस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ॥ ५ ॥

वत्स ! तुम इस अपनी ही सेनाकी ओर दृष्टिपात करो । यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, परंतु तुम मोहवश इस बातको समझ नहीं रहे हो ॥ ५ ॥

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः ॥ ६ ॥
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ॥ ७ ॥

देखो, न तो मैं युद्ध करना चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं और न भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, संजय, सोमदत्त, शल तथा कृपाचार्य ही युद्ध करना चाहते हैं । सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय और भूरिश्रवा भी युद्धके पक्षमें नहीं हैं ॥ ६-७ ॥

येषु सम्प्रति तिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।
ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ८ ॥

शत्रुओंसे पीड़ित होनेपर कौरवसैनिक जिनके आश्रयमें खड़े हो सकते हैं, वे ही लोग युद्धका अनुमोदन नहीं कर रहे हैं । तात ! उनके इस विचारको तुम्हें भी पसंद करना चाहिये ॥ ८ ॥

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ९ ॥

(मैं जानता हूँ,) तुम अपनी इच्छासे युद्ध नहीं कर रहे हो; अपितु पापात्मा दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।
न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ १० ॥
सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।
अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥ ११ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने आप, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, काम्बोजनरेश, कृपाचार्य, बाह्लीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओंपर सारा बोझ रखकर पाण्डवोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं किया है ॥ १०-११ ॥

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! मैंने तथा कर्णने रणयज्ञका विस्तार करके युधिष्ठिरको बलिपशु बनाकर उस यज्ञकी दीक्षा ले ली है ॥ १२ ॥

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥ १३ ॥

इसमें रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथका भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं, और यश ही हविष्य है ॥ १३ ॥

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! हम दोनों समराङ्गणमें अपने इस यज्ञके द्वारा यमराजका यजन करके शत्रुओंको मारकर विजयी हो विजय लक्ष्मीसे शोभा पाते हुए पुनः राजधानीमें लौटेंगे ॥ १४ ॥

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ॥ १५ ॥

तात ! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन—हम तीन ही समरभूमिमें पाण्डवोंका संहार कर डालेंगे ॥ १५ ॥

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् ।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ॥ १६ ॥

या तो मैं ही पाण्डवोंको मारकर इस पृथ्वीका शासन करूँगा या पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डलका राज्य भोगेंगे ॥ १६ ॥

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १७ ॥

राज्यच्युत न होनेवाले महाराज ! मैं जीवन, राज्य,

धन—सब कुछ छोड़ सकता हूँ, परंतु पाण्डवोंके साथ मिलकर कदापि नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ १८ ॥

पूज्य पिताजी ! तीखी सूईके अग्रभागसे जितनी भूमि बिंध सकती है, उतनी भी मैं पाण्डवोंको नहीं दे सकता ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले— तात कौरवगण ! दुर्योधनको तो मैंने त्याग दिया । यमलोकको जाते हुए उस मूर्खका तुम लोगोंमेंसे जो अनुसरण करेंगे मैं उन सभी लोगोंके लिये शोकमें पड़ा हूँ ॥

रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ॥ २० ॥

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगोंके झुंडोंमें, घुसकर बड़ों-बड़ोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार योद्धाओंमें अग्रगण्य पाण्डव युद्धमें एकत्र होकर कौरवोंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वध कर डालेंगे ॥ २० ॥

प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती।
व्यस्ता सीमन्तिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ २१ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पुरुषसे तिरस्कृत हुई नारीकी भाँति इस भरतवंशियोंकी सेनाको विशाल बाँहोंवाले वीर सात्यकिने अपने अधिकारमें करके रौंद डाला है और वह अब विपरीत दिशाकी ओर अस्त-व्यस्त दशामें भागी जा रही है ॥ २१ ॥

सम्पूर्णं पूरयन् भूयो धनं पार्थस्य माधवः।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्शरान् ॥ २२ ॥

मधुवंशी सात्यकि युधिष्ठिरके भरे-पूरे बल वैभवको और भी बढ़ाते हुए, जैसे किसान खेतोंमें बीज बोता है; उसी प्रकार समर-भूमिमें बाण बिखेरते हुए खड़े होंगे ॥ २२ ॥

सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति।
तं सर्वे संश्रयिष्यन्ति प्राकारमकुतोभयम् ॥ २३ ॥

सेनामें समस्त पाण्डव योद्धाओंके आगे भीमसेन खड़े होंगे और समस्त योद्धा उन्हें भयरहित प्राकार (चहारदीवारी) के समान मानकर उन्हींका आश्रय लेंगे ॥ २३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरान् विनिपातितान्।
विशीर्णदन्तान् गिर्याभान् भिन्नकुम्भान् सशोणितान् ॥
तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान्।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात् स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २५ ॥

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने पर्वताकार गजराजोंके दाँत तोड़ एवं कुम्भस्थल विदीर्ण करके उन्हें रक्तरञ्जित दशामें धराशायी कर दिया है और वे रणभूमिमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब उन सबपर दृष्टिपात करके भीमसेनके स्पर्शसे भी भयभीत होकर मेरी कही हुई बातोंको याद करोगे ॥ २४-२५ ॥

निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम्।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २६ ॥

भीमसेन जब घोड़े, रथ और हाथियोंसे भरी हुई सारी कौरवसेनाको अपनी क्रोधाग्निसे दग्ध करने लगेंगे, उस समय अग्निके समान उनका प्रबल वेग देखकर तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २६ ॥

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ॥ २७ ॥

तुमलोगोंपर बहुत बड़ा भय आनेवाला है । मैं नहीं चाहता कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारा युद्ध हो । यदि हो गया तो तुमलोग भीमसेनकी गदासे मारे जाकर सदाके लिये शान्त हो जाओगे ॥ २७ ॥

महावनमिवच्छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम्।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥ २८ ॥

काटकर गिराये हुए विशाल वनकी भाँति जब तुम कौरवसेनाको भीमसेनके द्वारा मार गिरायी हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरे वचनोंका स्मरण हो आयेगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान् पृथिवीपतीन्।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने वहाँ बैठे हुए समस्त भूपालोंसे उपर्युक्त बातें कहकर उन्हें समझा-बुझाकर पुनः संजयसे पूछा ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अन्तःपुरमें कहे हुए संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

यद्ब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाप्राज्ञ संजय ! महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ कहा हो, वह मुझे बताओ; मैं तुम्हारे मुखसे उनके संदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा दृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ।
ऊचतुश्चापि यद् वीरौ तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ २ ॥

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! सुनिये। मैंने वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनको जैसे देखा है और उन्होंने जो संदेश दिया है, वह आपको बता रहा हूँ ॥ २ ॥

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः ॥ ३ ॥

राजन् ! मैं नरदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे आपका संदेश सुनानेके लिये मनको पूर्णतः संयममें रखकर अपने पैरोंकी अङ्गुलियोंपर ही दृष्टि लगाये और हाथ जोड़े हुए उनके अन्तःपुरमें गया ॥ ३ ॥

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी ॥ ४ ॥

जहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं, उस स्थानमें कुमार अभिमन्यु तथा नकुल सहदेव भी नहीं जा सकते थे ॥ ४ ॥

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ ॥ ५ ॥

वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्दविभोर हो रहे थे। उन दोनोंके श्रीअङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

नैकरत्नविचित्रं तु काञ्चनं महदासनम्।
विविधास्तरणाकीर्णं यत्रासातामरिंदमौ ॥ ६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर जिस विशाल आसनपर बैठे थे, वह सोनेका बना हुआ था। उसमें अनेक प्रकारके रत्न जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसपर भाँति-भाँतिके सुन्दर बिछौने बिछे हुए थे ॥ ६ ॥

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः ॥ ७ ॥

मैंने देखा, श्रीकृष्णके दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें थे और महात्मा अर्जुनका एक पैर द्रौपदीकी तथा दूसरा सत्यभामाकी गोदमें था ॥ ७ ॥

काञ्चनं पादपीठं तु पार्थो मे प्रादिशत् तदा।
तदहं पाणिना स्पृष्ट्वा ततो भूमावुपाविशम् ॥ ८ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय मुझे बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े) की ओर संकेत कर दिया, परंतु मैं हाथसे उसका स्पर्शमात्र करके पृथ्वीपर ही बैठ गया ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वरेखातलौ पादौ पार्थस्य शुभलक्षणौ।
पादपीठादपहृतौ तत्रापश्यमहं शुभौ ॥ ९ ॥

बैठ जानेपर वहाँ मैंने पादपीठसे हटाये हुए अर्जुनके दोनों सुन्दर चरणोंको (ध्यानपूर्वक) देखा, उनके तलुओंमें ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और वे दोनों पैर शुभसूचक विविध लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ९ ॥

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों श्यामवर्ण, बड़े डील-डौलवाले, तरुण तथा शालवृक्षके स्कन्धोंके समान उन्नत हैं। उन दोनोंको एक आसनपर बैठे देख मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ १० ॥

इन्द्रविष्णुसमावेतौ मन्दात्मा नावबुद्ध्यते ।
संश्रयाद् द्रोणभीष्माभ्यां कर्णस्य च विकत्थनात् ॥ ११॥

मैंने सोचा, इन्द्र और विष्णुके समान अचिन्त्य शक्तिशाली इन दोनों वीरोंको मन्दबुद्धि दुर्योधन नहीं समझ पाता है। यह द्रोणाचार्य और भीष्मका भरोसा करके तथा कर्णकी डींग-भरी बातें सुनकर मोहित हो रहा है ॥ ११ ॥

निदेशस्थाविमौ यस्य मानसस्तस्य सेत्स्यते ।
संकल्पो धर्मराजस्य निश्चयो मे तदाभवत् ॥ १२॥

ये दोनों महात्मा जिनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरका मानसिक संकल्प अवश्य सिद्ध होगा; यही उस समय मेरा निश्चय हुआ था ॥

सत्कृतश्चान्नपानाभ्यामासीनो लब्धसत्क्रियः ।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय तौ संदेशमचोदयम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् अन्न और जलके द्वारा मेरा सत्कार किया गया। यथोचित आदर-सत्कार पाकर जब मैं बैठा, तब माथे-पर अञ्जलि जोड़कर मैंने उन दोनोंसे आपका संदेश कह सुनाया ॥ १३ ॥

धनुर्गुणकिणाङ्केन पाणिना शुभलक्षणम् ।
पादमानमयन् पार्थः केशवं समचोदयत् ॥ १४॥

तब अर्जुनने जिसमें धनुषकी डोरीकी रगड़से चिह्न बन गया था, उस हाथसे भगवान् श्रीकृष्णके शुभसूचक लक्षणोंसे युक्त चरणको धीरे-धीरे दबाते हुए उन्हें मुझको उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ १४ ॥

इन्द्रकेतुरिवोत्थाय सर्वाभरणभूषितः ।
इन्द्रवीर्योपमः कृष्णः संविष्टो माभ्यभाषत ॥ १५॥
वाचं स वदतां श्रेष्ठो ह्लादिनीं वचनक्षमाम् ।
त्रासिनीं धार्तराष्ट्राणां मृदुपूर्वां सुदारुणाम् ॥ १६॥

तदनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन्द्रध्वजके समान उठ बैठे और मुझसे पहले तो मृदुल एवं मनको आह्लाद प्रदान करने-वाली प्रवचनयोग्य वाणी बोले । फिर वह वाणी अत्यन्त दारुणरूपमें प्रकट हुई, जो आपके पुत्रोंके लिये भय उपस्थित करनेवाली थी ॥ १५-१६ ॥

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम् ।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम् ॥ १७॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको मोह लेनेवाली थी ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय ! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना ॥ १८ ॥

आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन् ।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम् ॥ १९ ॥

सूत ! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना । इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना—॥ १९ ॥

यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्त दक्षिणाः ।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम् ॥ २० ॥

'कौरवो ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है ॥ २० ॥

अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान् ।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये ॥ २१ ॥

'तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छा-के अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ २१ ॥

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥ २२ ॥

'जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है ! (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥ २३ ॥

'जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है ॥ २३ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः ॥ २४ ॥

'जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन

पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ ॥ २४ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ २५ ॥

'जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ २५ ॥

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे ॥ २६ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके ॥ २६ ॥

यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २७ ॥

'विराटनगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ २७ ॥

एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २८ ॥

'जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है ॥

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते ॥ २९ ॥

'बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं' ॥ २९ ॥

इत्यब्रवीद्धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन् गिरा ।
गर्जन् समयवर्षीव गगने पाकशासनः ॥ ३० ॥

जैसे इन्द्र आकाशमें गर्जता हुआ समयपर वर्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपनी वाणीसे आनन्दित करते हुए उपर्युक्त बात कही ॥ ३० ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद् वाक्यमब्रवीद् रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर किरीटधारी श्वेतवाहन अर्जुनने भी उसी रोमाञ्चकारी महावाक्यको दुहरा दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयद्वारा श्रीकृष्णके संदेशका कथनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका तुलनात्मक वर्णन

वैशम्पायन उवाच

संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयकी बात सुनकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने उसके वचनके गुण-दोषका विवेचन आरम्भ किया ॥ १ ॥

प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान् विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान् प्रति ॥ २ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
(यदा तु मेने भूयिष्ठं तद्वचो गुणदोषतः ।
पुनरेव कुरूणां च पाण्डवानां च बुद्धिमान् ॥)
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ॥ ३ ॥

अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बुद्धितत्त्वके द्वारा उक्त वचनके सूक्ष्मसे सूक्ष्म गुण-दोषोंकी यथावत् समीक्षा करके दोनों पक्षोंकी प्रबलता एवं निर्बलताका यथार्थरूपसे निश्चय कर लिया। तत्पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि गुण-दोषकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका कथन सर्वोत्कृष्ट है, तब उन बुद्धिमान् नरेशने पुनः कौरवों और पाण्डवोंकी शक्तिपर विचार करना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पाण्डवान् ।
कुरून् शक्त्याल्पतरया दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंमें दैवी शक्ति, मानवी शक्ति तथा तेज—इन सभी दृष्टियोंसे उत्कृष्टता प्रतीत हुई और कौरव-पक्षकी शक्ति अल्प जान पड़ी; इस प्रकार विचार करके धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४ ॥

दुर्योधनेयं चिन्ता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नानुमानतः ॥ ५ ॥

'वत्स दुर्योधन ! मेरी यह चिन्ता कभी दूर नहीं होती है,

क्योंकि तुम्हारा पक्ष दुर्बल है। मैं यह बात अनुमानसे नहीं कहता हूँ; प्रत्यक्ष देख रहा हूँ; अतःइसीको सत्य मानता हूँ॥

(ईदृशेऽभिनिविष्टस्य पृथिवीक्षयकारके।
अधर्म्ये चायशस्ये वा कार्ये महति दारुणे॥
पाण्डवैर्विग्रहस्तात सर्वथा मे न रोचते॥)

'तुम ऐसे कार्यके लिये दुराग्रह करते हो, जो समस्त भूमण्डलका विनाश करनेवाला है। यह अधर्मकारक तो है ही, अपयशकी भी वृद्धि करनेवाला है; इसके सिवा यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म है। तात! तुम्हारा पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ना मुझे किसी भी तरह अच्छा नहीं लग रहा है॥

आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते।
प्रियाणि चैषां कुर्वन्ति यथाशक्ति हितानि च॥ ६॥

'संसारके समस्त प्राणी अपने पुत्रोंपर अत्यन्त स्नेह करते हैं तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रिय एवं हितसाधन करते हैं॥ ६॥

एवमेवोपकर्तॄणां प्रायशो लक्षयामहे।
इच्छन्ति बहुलं सन्तः प्रतिकर्तुं महत् प्रियम्॥ ७॥

'इसी प्रकार प्रायः यह भी देखता हूँ कि साधु पुरुष उपकारी मनुष्योंके उपकारका बदला चुकानेके लिये उनका बारंबार महान् प्रिय कार्य करना चाहते हैं॥ ७॥

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात् खाण्डवे तत्कृतं स्मरन्।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन् कुरुपाण्डुसमागमे॥ ८॥

'कौरव-पाण्डवोंके इस भयंकर संग्राममें अग्निदेव भी खाण्डववनमें अर्जुनके किये हुए उपकारको याद करके उनकी सहायता अवश्य करेंगे॥ ८॥

जातिगृद्ध्याभिपन्नाश्च पाण्डवानामनेकशः।
धर्मादयः समेष्यन्ति समाहूता दिवौकसः॥ ९॥

'इसके सिवा पाण्डवोंका जन्म अनेक देवताओंसे हुआ है, इसलिये वे धर्म आदि देवता युधिष्ठिर आदिके बुलानेपर उनकी सहायताके लिये अवश्य पधारेंगे॥ ९॥

भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसंनिभम्।
रिरक्षिषन्तः संरम्भं गमिष्यन्तीति मे मतिः॥ १०॥

'भीष्म, द्रोण और कृप आदिके भयसे पाण्डवोंकी रक्षा चाहते हुए देवतालोग भीष्म आदिपर वज्रके समान भयंकर क्रोध करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १०॥

ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम्।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवन्तोऽस्त्रपारगाः॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डव अस्त्रविद्याके पारङ्गत और पराक्रमी तो हैं ही, देवताओंका सहयोग भी प्राप्त कर चुके हैं; अतः कोई मनुष्य उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता॥

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम्।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी॥ १२॥
वानरश्च ध्वजो दिव्यो निःसङ्गो धूमवद्गतिः।
रथश्च चतुरन्तायां यस्य नास्ति समः क्षितौ॥ १३॥
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः॥ १४॥
यं चाति मानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे॥ १५॥
शतानि पञ्च चैवेषून् यो गृह्णन् नैव दृश्यते।
निमेषान्तरमात्रेण मुञ्चन् दूरं च पातयन्॥ १६॥
यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः॥ १७॥
युद्धायावस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम्॥ १८॥
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पाण्डवम्॥ १९॥
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेन्द्रविक्रमम्।
निघ्नन्तमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन् महाहवे॥ २०॥

'जिसके पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुणके दिये हुए बाणोंसे भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं, जिसका दिव्य वानर-ध्वज कहीं भी अटकता नहीं है—धूमकी भाँति अप्रतिहत गतिसे सर्वत्र जा सकता है, समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीपर जिसके रथकी समानता करनेवाला दूसरा कोई रथ नहीं है, जिसके रथका घर्घर शब्द सब लोगोंको महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता है तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शत्रुसैनिकोंके मनमें भयका संचार कर देता है, जिसे सब लोग अलौकिक पराक्रमी मानते हैं, समस्त राजा भी जिसे युद्धमें देवताओंतकको पराजित करनेमें समर्थ समझते हैं; जो पलक मारते-मारते पाँच सौ बाणोंको हाथमें लेता, छोड़ता और दूरस्थ लक्ष्योंको भी मार गिराता है; किंतु यह सब करते समय कोई भी जिसे देख नहीं पाता है;जिसके विषयमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य तथा तटस्थ मनुष्य भी ऐसा कहते हैं कि युद्धके लिये खड़े हुए शत्रुदमन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पराजित करना अमानुषिक शक्ति रखनेवाले भूमिपालोंके लिये भी असम्भव है। जो एक वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है तथा जो बाहुबलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी उस महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन अर्जुनको मैं इस महासमरमें शत्रु-सेनाओंका संहार करता हुआ-सा देख रहा हूँ॥ १२—२०॥

इत्येवं चिन्तयन् कृत्स्नमहोरात्राणि भारत।
अनिद्रो निःसुखश्चास्मि कुरूणां शमचिन्तया॥ २१॥

'भारत! मैं दिन-रात यही सब सोचते-सोचते नींद नहीं ले पाता हूँ। कुरुवंशियोंमें कैसे शान्ति बनी रहे?—इस

चिन्तासे मेरा सारा सुख छिन गया है ॥ २१ ॥

क्षयोदयोऽयं सुमहान् कुरूणां प्रत्युपस्थितः।
अस्य चेत् कलहस्यान्तः शमादन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥२३॥

कौरवोंके लिये यह महान् विनाशका अवसर उपस्थित हुआ है। तात! यदि इस कलहका अन्त करनेके लिये संधिके सिवा और कोई उपाय नहीं है तो मुझे सदा संधिकी ही बात अच्छी लगती है; कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्ध छेड़ना ठीक नहीं है। मैं सदा पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक शक्तिशाली मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका विवेचनसम्बन्धी साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा आत्मप्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पिताकी यह बात सुनकर अत्यन्त असहिष्णु दुर्योधनने भीतर-ही-भीतर भारी क्रोध करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद् भवान्।
मन्यते तद् भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ! आप जो ऐसा मानते हैं कि कुन्तीके पुत्रोंको जीतना असम्भव है, क्योंकि देवता उनके सहायक हैं,यह ठीक नहीं है। आपके मनसे यह भय निकल जाना चाहिये ॥ २ ॥

अकामद्वेषसंयोगलोभद्रोहाच्च भारत।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन! काम (राग),द्वेष, संयोग (ममता),लोभ और द्रोह (क्रोध) रूपी दोषोंसे रहित होनेके कारण तथा दूषित भावोंकी उपेक्षा कर देनेके कारण ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत् पुरा ॥ ४ ॥

'यह बात पूर्वकालमें द्वैपायन व्यासजी, महातपस्वी नारदजी तथा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने हमलोगोंको बतायी थी ॥ ४ ॥

नैव मानुषवद् देवाः प्रवर्तन्ते कदाचन।
कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ! देवता मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ और द्वेषभावसे किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इन्द्रोऽश्विनावपि।
कामयोगात् प्रवर्तेरन् न पार्था दुःखमाप्नुयुः॥ ६ ॥

'यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार भी कामनाके वशीभूत होकर सब कार्योंमें प्रवृत्त होने लग जाते तब तो कुन्तीपुत्रोंको कभी दुःख उठाना ही नहीं पड़ता ॥६॥

तस्मान्न भवता चिन्ता कार्यैषा स्यात् कथंचन।
दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद् भावेषु भारत ॥ ७ ॥

'अतः भरतनन्दन! आप किसी प्रकार भी ऐसी चिन्ता न करें; क्योंकि देवता सदा दिव्यभाव—शम आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरभावोंकी नहीं ॥७॥

अथ चेत् कामसंयोगाद् द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद् विक्रमिष्यति ॥ ८ ॥

'तथापि यदि देवताओंमें कामनावश द्वेष और लोभ लक्षित होता है तो (उनमें देवत्वका अभाव हो जानेके कारण) उनकी वह शक्ति हमलोगोंपर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकेगी क्योंकि देवोंमें देवभावकी प्रधानता है ॥ ८ ॥

मयाभिमन्त्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान् परिक्षिप्य समन्ततः ॥ ९ ॥

'(वैसे तो मुझमें भी दैवबल है ही;) यदि मैं अभिमन्त्रित कर दूँ तो सदा सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुई आग भी सब ओरसे सिमटकर बुझ जायगी ॥ ९ ॥

यद् वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः।
ममाप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ॥ १० ॥

'भारत! यदि कोई ऐसा उत्कृष्ट तेज है, जिससे देवता युक्त हैं तो मुझे भी देवताओंसे ही अनुपम तेज प्राप्त हुआ है, यह आप अच्छी तरह जान लें ॥ १० ॥

विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च।
लोकस्य पश्यतो राजन् स्थापयाम्यभिमन्त्रणात्॥ ११॥

'राजन्! मैं सब लोगोंके देखते-देखते विदीर्ण होती हुई

पृथ्वी तथा टूटकर गिरते हुए पर्वत-शिखरोंको भी मन्त्रबलसे अभिमन्त्रित करके पहलेकी भाँति स्थापित कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

चेतनाचेतनस्यास्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ॥ १२ ॥
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकम्पया ॥ १३ ॥

'इस चेतन-अचेतन और स्थावर-जङ्गम जगत्‌के विनाशके लिये प्रकट हुई महान् कोलाहलकारी भयंकर शिलावृष्टि अथवा आँधीको भी मैं सदा समस्त प्राणियोंपर दया करके सबके देखते-देखते यहीं शान्त कर सकता हूँ ॥ १२-१३ ॥

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥ १४ ॥

'मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जलके ऊपर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं । एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियोंको प्रकट करनेमें समर्थ हूँ ॥ १४ ॥

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राश्वा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ॥ १५ ॥

'मैं किसी कार्यके उद्देश्यसे जिन-जिन देशोंमें अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर जाता हूँ, उनमें जहाँ-जहाँ मेरी इच्छा होती है, उन सभी स्थानोंमें मेरे घोड़े (अप्रतिहत गतिसे) विचरते हैं ॥ १५ ॥

भयानकानि विषये व्यालादीनि न सन्ति मे।
मन्त्रगुप्तानि भूतानि न हिंसन्ति भयंकराः॥ १६॥

'मेरे राज्यमें सर्प आदि भयंकर जीव-जन्तु नहीं हैं। यदि कोई भयंकर प्राणी हों तो भी वे मेरे मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित जीव-जन्तुओंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

निकामवर्षी पर्जन्यो राजन् विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न सन्ति मे ॥ १७ ॥

'महाराज !मेरे राज्यमें रहनेवाली प्रजाओंके लिये बादल प्रचुर जल बरसाता है, सम्पूर्ण प्रजाएँ धर्ममें तत्पर रहती हैं तथा मेरे राष्ट्रमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि आदि किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं है ॥ १७ ॥

अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान् नोत्सहन्तेऽभिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

'जिनसे मैं द्वेष रखता हूँ, उनकी रक्षाका साहस अश्विनी-कुमार, वायु, अग्नि, मरुद्गणोंसहित इन्द्र तथा धर्ममें भी नहीं है॥

यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्द्विषस्त्रातुमञ्जसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ॥ १९ ॥

'यदि ये लोग अनायास ही मेरे शत्रुओंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते तो कुन्तीके पुत्र तेरह वर्षोंतक कष्ट नहीं भोगते ॥

नैव देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

'पिताजी ! मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी मेरे शत्रुकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाशुभम्।
नैतद् विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ॥ २१ ॥

'मैं अपने मित्रों और शत्रुओं—दोनोंके विषयमें शुभ या अशुभ जैसा भी चिन्तन करता हूँ, वह पहले कभी निष्फल नहीं हुआ है ॥ २१ ॥

भविष्यतीदमिति वा यद् ब्रवीमि परंतप ।
नान्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ॥ २२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! मैं जो बात मुँहसे कह देता हूँ कि यह इसी प्रकार होगा, मेरा वह कथन पहले कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है। इसीलिये लोग मुझे सत्यवादी मानते हैं ॥ २२ ॥

लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ॥ २३ ॥

'राजन् ! मेरा यह माहात्म्य सब लोगोंकी आँखोंके समक्ष है; सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रसिद्ध है। मैंने आपके आश्वासनके लिये ही इसकी यहाँ चर्चा की है, आत्मप्रशंसा करनेके लिये नहीं ॥ २३ ॥

न ह्यहं श्लाघनो राजन् भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद् यदात्मानं प्रशंसति ॥ २४ ॥

'महाराज ! आजसे पहले मैंने कभी भी आत्मप्रशंसा नहीं की है; क्योंकि मनुष्य जो अपनी प्रशंसा करता है, यह अच्छे पुरुषोंका कार्य नहीं है ॥ २४ ॥

पाण्डवांश्चैव मत्स्यांश्च पञ्चालान् केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोतासि विजितान् मया ॥ २५ ॥

'आप किसी दिन सुनेंगे कि मैंने पाण्डवोंको, मत्स्यदेशके योद्धाओंको, केकयोंसहित पाञ्चालोंको तथा सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी जीत लिया है ॥ २५ ॥

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ॥ २६॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर सब प्रकारसे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे पास आनेपर अपने कुल-परिवारसहित नष्ट हो जायँगे ।२६।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥ २७ ॥

'मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है । ये सारी वस्तुएँ पाण्डवोंकी अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ॥ २७ ॥

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ॥ २८ ॥

'पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्याके विषयमें जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है' ॥ २८ ॥

इत्युक्ते संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारतः।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भरतनन्दन धृतराष्ट्रने युद्धकी इच्छा रखनेवाले दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर पुनः संजयसे समयोचित प्रश्न किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसपर आक्षेप, कर्णका सभा त्यागकर जाना और भीष्मका उसके प्रति पुनः आक्षेपयुक्त वचन कहना

वैशम्पायन उवाच

तथा तु पृच्छन्तमतीव पार्थं
वैचित्रवीर्यं तमचिन्तयित्वा।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं
प्रहर्षयन् संसदि कौरवाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विचित्रवीर्य-नन्दन धृतराष्ट्रको पहलेकी ही भाँति कुन्तीकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार प्रश्न करते देख उनकी कोई परवा न करके कर्णने कौरव-सभामें दुर्योधनको हर्षित करते हुए कहा—॥ १ ॥

मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रामात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात्।
विज्ञाय तेनास्मि तदैवमुक्त-
स्ते नान्तकाले प्रतिभास्यतीति ॥ २ ॥

'राजन् ! मैंने पूर्वकालमें झूठे ही अपनेको ब्राह्मण बताकर परशुरामजीसे जब ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर ली, तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझसे इस प्रकार कहा—'कर्ण ! अन्त समय आनेपर तुम्हें इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ २ ॥

महापराधे ह्यपि यन्न तेन
महर्षिणाहं गुरुणा च शप्तः।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः
ससागरामप्यवनिं महर्षिः ॥ ३ ॥

'यद्यपि मेरे द्वारा उन महर्षिका महान् अपराध हुआ था, तथापि उन गुरुदेवने जो मुझे शाप नहीं दिया, यह उनका मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह है । अन्यथा वे प्रचण्ड तेजस्वी महामुनि समुद्रसहित सारी पृथ्वीको भी दग्ध कर सकते हैं। ३ ।

प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभू-
च्छुश्रूषया स्वेन स पौरुषेण।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं
तस्मात् समर्थोऽस्मि ममैष भारः ॥ ४ ॥

'मैंने अपने पुरुषार्थ तथा सेवा-शुश्रूषासे उनके मनको प्रसन्न कर लिया था । वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है । मेरी आयु भी अभी शेष है; अतः मैं पाण्डवोंको जीतनेमें समर्थ हूँ । यह सारा भार मुझपर छोड़ दिया जाय ॥ ४ ॥

निमेषमात्रात् तमृषेः प्रसाद-
मवाप्य पाञ्चालकरूषमत्स्यान्।
निहत्य पार्थान् सह पुत्रपौत्रै-
र्लोकानहं शस्त्रजितान् प्रपत्स्ये ॥ ५ ॥

'महर्षि परशुरामका कृपाप्रसाद पाकर मैं पलक मारते-मारते पाञ्चाल, करूष तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओं और कुन्ती-कुमारोंको पुत्र-पौत्रोंसहित मारकर शस्त्रद्वारा जीते हुए पुण्य-लोकोंमें जाऊँगा ॥ ५ ॥

पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे
द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा
पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः ॥ ६ ॥

'पितामह भीष्म आपके ही पास रहें, आचार्य द्रोण तथा समस्त मुख्य-मुख्य भूपाल भी आपके ही समीप रहें। मैं अपनी प्रधान सेनाके साथ जाकर अकेले ही सब कुन्तीकुमारों-को मार डालूँगा इसका सारा भार मुझपर रहा' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः
किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे।

न कर्ण जानासि यथा प्रधाने
हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ॥ ७ ॥

कर्णको ऐसी बातें करते देख भीष्मजीने उससे कहा—'कर्ण ! क्यों अपनी वीरताकी डींग हाँक रहा है ? जान पड़ता है, कालने तेरी बुद्धिको ग्रस लिया है । क्या तू नहीं जानता कि युद्धमें तुझ प्रधान वीरके मारे जानेपर सारे धृतराष्ट्रपुत्र ही मृतप्राय हो जायँगे ॥ ७ ॥

यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि
कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत् कर्म नियन्तुमात्मा
युक्तस्त्वया वै सहबान्धवेन ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्णसहित अर्जुनने खाण्डववनका दाह करते समय जो पराक्रम किया था, उसे सुनकर ही बान्धवोंसहित तुझे अपने मनपर काबू रखना उचित था ॥ ८ ॥

यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते
ददौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां
चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ॥ ९ ॥

'देवेश्वर महात्मा भगवान् महेन्द्रने तुझे जो शक्ति प्रदान की है, वह भगवान् केशवके चलाये हुए चक्रसे आहत हो समरभूमिमें छिन्न-भिन्न एवं दग्ध हो जायगी । इसे तू अपनी आँखों देख लेगा ॥ ९ ॥

यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति
सदाग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पाण्डुपुत्राभिहतः शरौघैः
सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ॥ १० ॥

'तेरे पास जो सर्पमुख बाण प्रकाशित होता है और तू प्रयत्नपूर्वक सदा ही पुष्पमाला आदि श्रेष्ठ उपचारोंद्वारा जिसकी पूजा किया करता है, वह पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाण-समूहोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरे साथ ही नष्ट हो जायगा ।१०।

बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता
किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च
हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ॥ ११ ॥

'कर्ण ! बाणासुर और भौमासुरका वध करनेवाले वे वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनकी रक्षा करते हैं, जो तेरे-जैसे तथा तुझसे भी प्रबल शत्रुओंका भयंकर संग्राममें विनाश कर सकते हैं ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच

असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्त-
स्तथा च भूयांश्च महात्मा ततो ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित्
पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ॥ १२ ॥

कर्ण बोला—इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिकुलके स्वामी महात्मा श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव बताया गया है, वे वैसे ही हैं । बल्कि उससे भी बढ़कर हैं । परंतु मेरे प्रति जो किञ्चित् कटुवचनका प्रयोग किया गया है; उसका परिणाम

क्या होगा ? यह पितामह भीष्म मुझसे सुन लें ॥ १२ ॥

न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये
पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं
द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः ॥ १३ ॥

मैं अपने अस्त्र-शस्त्र रख देता हूँ । अब कभी पितामह मुझे इस सभामें अथवा युद्धभूमिमें नहीं देखेंगे । भीष्म ! आपके शान्त हो जानेपर ही समस्त भूपाल रणभूमिमें मेरा प्रभाव देखेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्
हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्
मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाधनुर्धर कर्ण सभा त्यागकर अपने घर चला गया । उस समय भीष्मने कौरवसभामें उसकी हँसी उड़ाते हुए दुर्योधनसे कहा—॥ १४ ॥

सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्र-
स्तथा स भारं विषहेत कस्मात्।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा
लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात्॥ १५॥

'सूतपुत्र कर्ण कैसा सत्यप्रतिज्ञ निकला (पहले पाण्डवों-को जीतनेकी प्रतिज्ञा करके अब युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गया); भला वैसा महान् भार वह कैसे सँभाल सकता था ? अब तुमलोग पाण्डवसेनाके व्यूहका सामना करनेके लिये अपनी सेनाका भी व्यूह बनाकर युद्ध करो और परस्पर एक दूसरेके मस्तक काटकर भीमसेनके हाथों सारे संसारका संहार देखो ॥ १५ ॥

आवन्त्यकालिङ्गजयद्रथेषु
चेदिध्वजे तिष्ठति बाह्लिके च।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां
सहस्रशश्चायुतशश्च योधान्॥ १६॥

(कर्ण कहता था)—अवन्तीनरेश, कलिङ्गराज, जयद्रथ, चेदिश्रेष्ठ वीर तथा बाह्लिकके रहते हुए भी मैं सदा अकेला ही शत्रुओंके सहस्र-सहस्र एवं अयुत-अयुत योद्धाओंका संहार कर डालूँगा ॥ १६ ॥

यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये
ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम्।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं
वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य॥ १७॥

'जिस समय अनिन्दनीय भगवान् परशुरामजीके समीप कर्णने अपनेको ब्राह्मण बताकर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा ली, उसी समय उस नराधम सूतपुत्रके धर्म और तपका नाश हो गया' ॥ १७ ॥

तथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे
निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धि-
र्दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे॥ १८॥

जनमेजय ! जब भीष्मजीने ऐसी बात कही और कर्ण हथियार फेंककर चला गया, उस समय मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें कर्ण और भीष्मके वचनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा अपने पक्षकी प्रबलताका वर्णन करना और विदुरका दमकी महिमा बताना

दुर्योधन उवाच

सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम्।
कथमेकान्ततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम्॥ १॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! मनुष्योंमें हम और पाण्डव शिक्षाकी दृष्टिसे समान हैं, हमारा जन्म भी एक ही कुलमें हुआ है; फिर आप यह कैसे मानते हैं कि युद्धमें एकमात्र कुन्तीकुमारोंकी ही विजय होगी ॥ १ ॥

वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च॥ २॥

बल, पराक्रम, समवयस्कता, प्रतिभा और शास्त्रज्ञान—इन सभी दृष्टियोंसे हमलोग और पाण्डव समान ही हैं ॥ २ ॥

अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः॥ ३॥

अस्त्र-बल, योद्धाओंके संग्रह, हाथोंकी फुर्ती तथा युद्ध-कौशलमें भी हम और वे एक-से ही हैं, सभी समान जातिके हैं और सबके सब मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

पितामह विजानीष पार्थेषु विजयं कथम्।

नाहं भवति न द्रोणे न कृपे न च बाह्लिके ॥ ४ ॥
अन्येषु च नरेन्द्रेषु पराक्रम्य समारभे।

दादाजी ! ऐसी दशामें भी आप कैसे जानते हैं कि विजय कुन्तीपुत्रोंकी ही होगी । मैं आप, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लिक तथा अन्य राजाओंके पराक्रमका भरोसा करके युद्धका आरम्भ नहीं कर रहा हूँ ॥ ४½ ॥

अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ५ ॥
पाण्डवान् समरे पञ्च हनिष्यामः शितैः शरैः।

मैं, विकर्तनपुत्र कर्ण तथा मेरा भाई दुःशासन—हम तीन ही मिलकर युद्धभूमिमें पाँचों पाण्डवोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मार डालेंगे ॥ ५½ ॥

ततो राजन् महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च।

राजन् ! तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाले विविध महायज्ञोंका अनुष्ठान करके गायें, घोड़े और धन दानमें देकर ब्राह्मणोंको तृप्त करूँगा ॥ ६½ ॥

यदा परिकरिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ॥ ७ ॥
पश्यन्तस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान्।
तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ॥ ८ ॥

जैसे व्याध हरिणके बच्चोंको जाल या फंदेमें फँसाकर खींचते हैं और जैसे जलका प्रवाह कर्णधाररहित नौकारोहियोंको भँवरमें डुबो देता है, उसी प्रकार जब मेरे सैनिक अपने बाहुबलसे पाण्डवोंको पीड़ित करेंगे, उस समय रथ और हाथीसवारोंसे भरी हुई मेरी विशाल वाहिनीकी ओर देखते हुए वे पाण्डव और वह श्रीकृष्ण सब अपना अहंकार त्याग देंगे ॥ ७-८ ॥

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

विदुरने कहा—सिद्धान्तके जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसारमें दम ही कल्याणका परम साधन है । ब्राह्मणके लिये तो विशेषरूपसे है । वही सनातन-धर्म है ॥ ९ ॥

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥ १० ॥

जो दमरूपी गुणसे युक्त है, उसीको दान, क्षमा और सिद्धिका यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्यायका सम्पादन करता है ॥ १० ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम्।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥ ११ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है । दमसे निष्पाप एवं बढ़े हुए तेजसे सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम्।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

जैसे मांसभोजी हिंसक पशुओंसे सब जीव डरते रहते हैं, उसी प्रकार अदान्त (असंयमी) पुरुषोंसे सभी प्राणियोंको सदा भय बना रहता है, जिनको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे रोकनेके लिये ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ १२ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।
तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १३ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। यह दम जिन पुरुषोंके अभ्यासमें आकर उनके अभ्युदयका कारण बन जाता है, उनमें प्रकट होनेवाले चिह्नोंका मैं वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १४ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! जिस पुरुषमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रियसंयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष दान्त (इन्द्रियविजयी) माना गया है ॥१४-१५॥

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम्।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥ १६ ॥

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक–इन दुर्गुणोंको अपने पास नहीं फटकने देता ! कुटिलता और शठताका अभाव तथा आत्मशुद्धि यह दमयुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ १६ ॥

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥

जो निर्लोभ, कम-से-कम चाहनेवाला, भोगोंके चिन्तनसे दूर रहनेवाला तथा समुद्रके समान गम्भीर है, उस पुरुषको दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है ॥ १७ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ १८ ॥

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है वह इस जगत्‌में सम्मान पाकर मृत्युके पश्चात् उत्तम गतिका भागी होता है ॥ १८ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ १९ ॥

जिसे समस्त प्राणियोंसे निर्भयता प्राप्त हो गयी हो तथा जिससे सभी प्राणियोंका भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ १९ ॥

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी पुरुषको उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्रके समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त है, वही परम शान्तिका भागी होता है ॥ २० ॥

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत्।
तदेवास्थाय मोदन्ते नान्ताः शमपरायणाः ॥ २१ ॥

जो कर्तव्य कर्मोंद्वारा आचरित है तथा पहलेके साधुपुरुषोंके द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपनाकर शम-दमसे सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं ॥ २१ ॥

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः।
कालाकाङ्क्षी चरँल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥

अथवा जो ज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय पुरुष नैष्कर्म्यका आश्रय लेकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ अनासक्तभावसे लोकमें विचरता रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

शकुनीनामिवाकाशे पदं नैवोपलभ्यते।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ॥ २३ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके चरणचिह्न नहीं दिखायी देते हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दसे तृप्त मुनिका मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् समझमें नहीं आता है ॥ २३ ॥

उत्सृज्यैव गृहान् यस्तु मोक्षमेवाभिमन्यते।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वता दिवि॥ २४ ॥

जो गृहस्थाश्रमको त्यागकर मोक्षको ही आदर देता है, उसके लिये द्युलोकमें तेजोमय सनातन स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विदुरका कौटुम्बिक कलहसे हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको संधिकी सलाह देना

विदुर उवाच

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत्।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—तात! हमने पूर्वपुरुषोंके मुखसे सुन रक्खा है कि किसी समय एक चिड़ीमारने चिड़ियोंको फँसानेके लिये पृथ्वीपर एक जाल फैलाया ॥ १ ॥

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥ २ ॥

उस जालमें दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे। वे दोनों पक्षी उस समय उस जालको लेकर आकाशमें उड़ चले ॥ २ ॥

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ॥ ३ ॥

चिड़ीमार उन दोनोंको आकाशमें उड़ते देखकर भी खिन्न या हताश नहीं हुआ। वे जिधर-जिधर गये, उधर-उधर ही वह उनके पीछे दौड़ता रहा ॥ ३ ॥

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम्।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः॥ ४ ॥

उन दिनों उस वनमें कोई मुनि रहते थे, जो उस समय संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके आश्रममें ही बैठे हुए थे। उन्होंने पक्षियोंको पकड़नेके लिये उनका पीछा करते हुए उस व्याधको देखा ॥ ४ ॥

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम्।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन! उन आकाशचारी पक्षियोंके पीछे-पीछे भूमिपर पैदल दौड़नेवाले उस व्याधसे मुनिने निम्नाङ्कित श्लोकके अनुसार प्रश्न किया—॥ ५ ॥

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥ ६ ॥

'अरे व्याध! मुझे यह बात बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि तू आकाशमें उड़ते हुए इन दोनों पक्षियोंके पीछे पृथ्वीपर पैदल दौड़ रहा है' ॥ ६ ॥

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥ ७ ॥

व्याध बोला—मुने! ये दोनों पक्षी आपसमें मिल

गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जालको लिये जा रहे हैं। अब ये जहाँ-कहीं एक दूसरेसे झगड़ेंगे, वहीं मेरे वशमें आ जायँगे॥

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः॥ ८॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुछ ही देरमें कालके वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपसमें झगड़ने लगे और लड़ते-लड़ते पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ८॥

तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा॥ ९॥

जब मौतके फंदेमें फँसे हुए वे पक्षी अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेसे लड़ रहे थे, उसी समय व्याधने चुपचाप उनके पास आकर उन दोनोंको पकड़ लिया॥ ९॥

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम्।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात्॥ १०॥

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्तिके लिये आपसमें कलह करते हैं, वे युद्ध करके उन्हीं दोनों पक्षियोंकी भाँति शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं॥ १०॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन॥ ११॥

साथ बैठकर भोजन करना, आपसमें प्रेमसे वार्तालाप करना, एक दूसरेके सुख-दुःखको पूछना और सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओंके काम हैं; परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है॥ ११॥

ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते।
सिंहगुप्तमिवारण्यमप्रधृष्या भवन्ति ते॥ १२॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी सेवा एवं सङ्ग करते रहते हैं, वे सिंहसे सुरक्षित वनके समान दूसरोंके लिये दुर्धर्ष हो जाते हैं (शत्रु उनके पास आनेका साहस नहीं करते हैं)॥ १२॥

येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते।
श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ॥ १३॥

भरतश्रेष्ठ! जो धनको पाकर भी सदा दीनोंके समान तृष्णासे पीड़ित रहते हैं, वे (आपसमें कलह करके) अपनी सम्पत्ति शत्रुओंको दे डालते हैं॥ १३॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥ १४॥

भरतकुलभूषण धृतराष्ट्र! जैसे जलते हुए काष्ठ अलग-अलग कर दिये जानेपर जल नहीं पाते, केवल धुआँ देते हैं और परस्पर मिल जानेपर प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन आपसी फूटके कारण अलग-अलग रहनेपर अशक्त हो जाते हैं तथा परस्पर संगठित होनेपर बलवान् एवं तेजस्वी होते हैं॥ १४॥

इदमन्यत् प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया।
श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु॥ १५॥

कौरवनन्दन! पूर्वकालमें किसी पर्वतपर मैंने जैसा देखा था, उसके अनुसार यह एक दूसरी बात बता रहा हूँ। इसे भी सुनकर आपको जिसमें अपनी भलाई जान पड़े, वही कीजिये॥ १५॥

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम्।
ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजम्भकवार्तिकैः॥ १६॥

एक समयकी बात है, हम बहुत-से भीलों और देवोपम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर दिशामें गन्धमादन पर्वतपर गये थे। हमारे साथ जो ब्राह्मण थे, उन्हें मन्त्र-यन्त्रादिरूप विद्या और ओषधियोंके साधन आदिकी बातें बहुत प्रिय थीं॥ १६॥

कुञ्जभूतं गिरिं सर्वमभितो गन्धमादनम्।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगन्धर्वसेवितम्॥ १७॥

समस्त गन्धमादन पर्वत सब ओरसे कुञ्ज-सा जान पड़ता था। वहाँ दिव्य ओषधियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सिद्ध और गन्धर्व उस पर्वतपर निवास करते थे॥ १७॥

तत्रापश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम्।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसम्मितम्॥ १८॥

वहाँ हम सब लोगोंने देखा, पर्वतकी एक दुर्गम गुफामें जहाँसे कोई कूल-किनारा न होनेके कारण गिरनेकी ही अधिक

सम्भावना रहती है, एक मधुकोष है। वह मक्खियोंका तैयार किया हुआ नहीं था। उसका रंग सुवर्णके समान पीला था और वह देखनेमें घड़ेके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

आशीविषै रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम्।
यत् प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥ १९ ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भसाधकाः ॥ २० ॥

भयंकर विषधर सर्प उस मधुकी रक्षा करते थे। कुबेरको वह मधु अत्यन्त प्रिय था। हमारे साथी औषध-साधक ब्राह्मण-लोग यह बता रहे थे कि इस मधुको पाकर मरणधर्मा मनुष्य भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसको पीनेसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ॥

ततः किरातास्तद् दृष्ट्वा प्रार्थयन्तो महीपते।
विनेशुर्विषमे तस्मिन् ससर्पे गिरिगह्वरे ॥ २१ ॥

महाराज! उस समय उस मधुका अद्भुत गुण सुनकर और उसे प्रत्यक्ष देखकर भीलोंने उसे पानेकी चेष्टा की; परंतु सर्पोंसे भरी हुई उस दुर्गम पर्वतगुहामें जाकर वे सब-के-सब नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति।
मधु पश्यति सम्मोहात् प्रपातं नानुपश्यति ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आपका यह पुत्र दुर्योधन अकेला ही सारी पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है। यह मोहवश केवल मधुको ही देखता है, भावी पतन या विनाशकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ २२ ॥

दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम् ॥ २३ ॥

दुर्योधन समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी बात सोचता है, परंतु मैं इसके भीतर अर्जुनके समान तेज या पराक्रम नहीं देखता ॥ २३ ॥

एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ॥ २४ ॥
विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम्।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ॥ २५ ॥

जिस वीरने अकेले ही रथपर बैठकर सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, विराटनगरपर चढ़ाई करने गये हुए भीष्म और द्रोण-जैसे महान् योद्धाओंको भी जिसने भयभीत करके भगा दिया है, उसके सामने आपका पुत्र क्या पराक्रम कर सकता है? यह आप ही देखिये। आज भी वह वीर आपकी मैत्रीपूर्ण दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहा है और आपकी आज्ञासे वह कौरवोंका सारा अपराध क्षमा कर सकता है ॥ २४-२५ ॥

द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः।
न शेषयेयुः समरे वायुयुक्ता इवाग्नयः ॥ २६ ॥

राजा द्रुपद, मत्स्यनरेश विराट और क्रोधमें भरा हुआ अर्जुन—ये तीनों वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुई त्रिविध अग्नियोंके समान जब युद्धभूमिमें आक्रमण करेंगे, तब किसीको जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम्।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ॥ २७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! आप राजा युधिष्ठिरको अपनी गोदमें बैठा लीजिये; क्योंकि जब दोनों पक्षोंमें युद्ध छिड़ जायगा, तब विजय किसकी होगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि **विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान बटोहीके समान कुमार्गको भी सुमार्ग समझ रहे हो ॥ १ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि।
पञ्चानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ॥ २ ॥

यही कारण है कि तुम सम्पूर्ण लोगोंके आधारस्वरूप पाँच महाभूतोंके समान पाँचों पाण्डवोंके तेजका अपहरण करनेकी इच्छा कर रहे हो ॥ २ ॥

युधिष्ठिरं हि कौन्तेयं परं धर्ममिहास्थितम्।
परां गतिमसम्प्रेत्य न त्वं जेतुमिहार्हसि ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर यहाँ उत्तम धर्मका आश्रय लेकर रहते हैं। तुम मृत्युको प्राप्त हुए बिना उन्हें जीत लोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

भीमसेनं च कौन्तेयं यस्य नास्ति समो बले।
रणान्तकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ॥ ४ ॥

जैसे वृक्ष प्रचण्ड आँधीको डाँट बतावे, उसी प्रकार तुम समराङ्गणमें कालके समान विचरनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनको जिसके समान बलवान् इस भूतलपर दूसरा कोई नहीं है, डराने-धमकानेका साहस करते हो ॥ ४ ॥

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव।
युधि गाण्डीवधन्वानं को नु युध्येत बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शस्त्रधारियोंमें गाण्डीवधारी अर्जुन श्रेष्ठ है। भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य रणभूमिमें उसके साथ जूझनेका साहस करेगा ? ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः कमिवाद्य न शातयेत्।
शत्रुमध्ये शरान् मुञ्चन् देवराडशनीमिव ॥ ६ ॥

जैसे देवराज इन्द्र वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न शत्रुओंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करता है। वह अब किसे छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा ? ॥ ६ ॥

सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः सम्मतोऽन्धकवृष्णिषु।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पाण्डवेयहिते रतः ॥ ७ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशका सम्माननीय योद्धा सात्यकि भी दुर्धर्ष वीर है। वह सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है। (युद्ध छिड़नेपर) वह तुम्हारी समस्त सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ७ ॥

यः पुनः प्रतिमानेन त्रीँल्लोकानतिरिच्यते।
तं कृष्णं पुण्डरीकाक्षं को नु बुद्ध्येत बुद्धिमान्॥८॥

जो तुलनामें तीनों लोकोंसे भी बढ़कर हैं, उन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके साथ कौन समझदार मनुष्य युद्ध करेगा ?

एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबान्धवाः।
आत्मा च पृथिवी चेयमेकतश्च धनंजयः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके लिये एक ओर स्त्री, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु अपना शरीर और यह सारा भूमण्डल है, तो दूसरी ओर अकेला अर्जुन है (अर्थात् वे अर्जुनके लिये इन सबका त्याग कर सकते हैं।) ॥ ९ ॥

वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पाण्डवः।
अविषह्यं पृथिव्यापि तद् बलं यत्र केशवः ॥ १० ॥

जहाँ अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन है, वहीं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भी रहते हैं और जिस सेनामें साक्षात् श्रीकृष्ण विराज रहे हों, उसका वेग समस्त भूमण्डलके लिये भी असह्य हो जाता है ॥ १० ॥

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम्।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥ ११ ॥

तात ! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनानुसार कार्य करो। वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं। तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ॥

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम्।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १२ ॥
एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥ १३ ॥

मैं भी कौरवोंके हितकी ही बात सोचता हूँ; अतः मेरी भी सुनो। आचार्य द्रोण, कृप, विकर्ण और महाराज बाह्लीक—ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं; अतः तुम्हें मेरे ही समान इनका भी समादर करना चाहिये। भरतनन्दन ! ये सब लोग धर्मके ज्ञाता हैं और दोनों पक्षके लोगोंपर समानभावसे स्नेह रखते हैं ॥ १२-१३ ॥

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥ १४ ॥
यच्चैव नगरे तस्मिञ्छ्रूयते महदद्भुतम्।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥

विराटनगरमें तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्धके लिये गयी थी, वह वहाँकी समस्त गौओंको छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी। उस नगरमें जो एक (अर्जुन) का बहुतोंके साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है; वह एक ही दृष्टान्त (उसकी प्रबलता और अजेयताके लिये) पर्याप्त है ॥ १४-१५ ॥

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या च प्रतिपादय ॥ १६ ॥

देखो, जब अकेले अर्जुनने इतना अद्भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? अतः तुम पाण्डवोंको अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको अर्जुनका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम्।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महाभाग धृतराष्ट्रने संजयसे पुनः प्रश्न किया—॥ १ ॥

ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनन्तरम्।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥

'संजय ! बताओ, भगवान् श्रीकृष्णके पश्चात् अर्जुनने जो अन्तिम संदेश दिया था, उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है' ॥ २ ॥

संजय उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—महाराज ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी बात सुनकर दुर्धर्ष वीर कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके सुनते-सुनते यह समयोचित बात कही—॥ ३ ॥

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ ४ ॥
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम्।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम् ॥ ५ ॥
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम् ॥ ६ ॥
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च।
भगदत्तं च राजानं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं
समागताः कौरवाणां प्रियार्थम्।
मुमूर्षवः पाण्डवाग्नौ प्रदीप्ते
समानीता धार्तराष्ट्रेण होतुम् ॥ ८ ॥
यथान्यायं कौशलं वन्दनं च
समागता मद्वचनेन वाच्याः।
इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये
सुयोधनं पापकृतां प्रधानम् ॥ ९ ॥
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं
पापात्मानं धार्तराष्ट्रं सुलुब्धम्।
सर्वं ममैतद् वचनं समग्रं
सहामात्यं संजय श्रावयेथाः ॥ १० ॥

'संजय ! तुम शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, महाराज बाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, शल, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, राजा जयत्सेन, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, कौरवयोद्धा दुर्मुख, सिंधुराज जयद्रथ, दुःसह, भूरिश्रवा, राजा भगदत्त, भूपाल जलसन्ध तथा अन्य जो-जो नरेश कौरवोंका प्रिय करनेके लिये युद्धके उद्देश्यसे वहाँ एकत्र हुए हैं, जिनकी मृत्यु बहुत ही निकट है; जिन्हें दुर्योधनने पाण्डवरूपी प्रज्वलित अग्निमें होमनेके लिये बुलाया है, उन सबसे मिलकर मेरी ओरसे यथायोग्य प्रणाम आदि कहकर उनका कुशल-मङ्गल पूछना। संजय ! तत्पश्चात् उन राजाओंके समुदायमें ही पापात्माओंमें प्रधान असहिष्णु, दुर्बुद्धि, पापाचारी और अत्यन्त लोभी राजकुमार दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी कही हुई ये सारी बातें सुनाना' ॥ ४—१० ॥

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चापि वाक्यम्।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य
पार्थो धीमाँल्लोहितान्तायताक्षः ॥ ११ ॥

इस प्रकार मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति देकर, जिनके विशाल नेत्रोंका कोना कुछ लाल रंगका है, उन परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहा—॥ ११ ॥

यथा श्रुतं ते वदतो महात्मनो
मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम्।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः
समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः ॥ १२ ॥

'संजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर महात्मा श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर जो बात कही है और तुमने इसे जैसा सुना है, वह सब ज्यों-का-त्यों सुना देना। फिर समस्त समागत भूपालोंकी मण्डलीमें मेरी यह बात कहना—॥ १२ ॥

शराग्निधूमे रथनेमिनादिते
धनुःस्रुवेणास्त्रबलप्रसारिणा।
यथा न होमः क्रियते महामृधे
समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः ॥ १३ ॥

'राजाओ ! महान् युद्धरूपी यज्ञमें जहाँ बाणोंके टकरानेसे पैदा होनेवाली आगका धुआँ फैलता रहता है, रथोंकी घर्घराहट ही वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका काम देती है, (शास्त्रबलसे सम्पादित होनेवाले यज्ञकी भाँति) अस्त्रबलसे ही फैलनेवाले धनुषरूपी स्रुवाके द्वारा मुझे जिस प्रकार कौरवसैन्यरूपी हविष्यकी आहुति न देनी पड़े, उसके लिये तुम सब लोग सादर प्रयत्न करो ॥ १३ ॥

न चेत् प्रयच्छध्वममित्रघातिनो
युधिष्ठिरस्य समभीप्सितं स्वकम्।
नयामि वः साश्वपदातिकुञ्जरान्
दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ॥ १४ ॥

'यदि तुमलोग शत्रुघाती महाराज युधिष्ठिरका अपना अभीष्ट राज्यभाग नहीं लौटाओगे तो मैं तुम्हें अपने तीखे बाणोंद्वारा घोड़े, पैदल तथा हाथीसवारोंसहित यमलोककी अमङ्गलमयी दिशामें भेज दूँगा' ॥ १४ ॥

ततोऽहमामन्त्र्य तदा धनंजयं
चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः।
जवेन सम्प्राप्त इहामरद्युते
तवान्तिकं प्रापयितुं वचो महत् ॥ १५ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी महाराज ! इसके बाद मैं अर्जुनसे विदा ले चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके उनका वह महत्त्वपूर्ण संदेश आपके पास पहुँचानेके लिये बड़े वेगसे तुरंत यहाँ चला आया हूँ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पास व्यास और गान्धारीका आगमन तथा व्यासजीका संजयको श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनके उस कथनका कुछ भी आदर नहीं किया और सब लोग चुप्पी साधकर रह गये, तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँसे उठकर चले गये ॥ १ ॥

उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ २ ॥
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः।
आत्मनश्च परेषां च पाण्डवानां च निश्चयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! भूमण्डलके सब राजा जब सभाभवनसे उठ गये, तब अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले तथा उन्हींके वशमें रहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने वहाँ एकान्तमें अपनी, दूसरों-की और पाण्डवोंकी जय-पराजयके विषयमें संजयका निश्चित मत जाननेके लिये उनसे कुछ और बातें पूछनी प्रारम्भ की ॥ २-३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु
स्वसेनायां यावदिहास्ति किंचित्।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं
किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—गवल्गणपुत्र संजय ! यहाँ अपनी सेनामें जो कुछ भी प्रबलता या दुर्बलता है, उसका हमसे वर्णन करो। इसी प्रकार पाण्डवोंकी भी सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते हो, अतः बताओ; ये किन बातोंमें बढ़े-चढ़े हैं और उनमें कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? ॥ ४ ॥

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी
धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं
युध्यमानाः कतरेऽस्मिन् न सन्ति ॥ ५ ॥

संजय ! तुम इन दोनों पक्षोंके बलाबलको जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण तथा निश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता हो; अतः मेरे पूछनेपर सब बातें साफ-साफ कहो। युद्धमें प्रवृत्त होनेपर किस पक्षके लोग इस लोकमें जीवित नहीं रह सकते ? ॥ ५ ॥

संजय उवाच

न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचि-
दसूया हि त्वां प्रविशेत राजन्।
आनयस्व पितरं महाव्रतं
गान्धारीं च महिषीमाजमीढ ॥ ६ ॥

संजयने कहा—राजन् ! एकान्तमें तो मैं आपसे कभी कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि इससे आपके हृदयमें

दोषदर्शनकी भावना उत्पन्न होगी। अजमीढनन्दन ! आप अपने महान् व्रतधारी पिता व्यासजी और महारानी गान्धारीको भी यहाँ बुलवा लीजिये ॥ ६ ॥

तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेन्द्र
धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ ।
तयोस्तु त्वां संनिधौ तद् वदेयं
कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! वे दोनों धर्मके ज्ञाता, विचारकुशल तथा सिद्धान्तको समझनेवाले हैं; अतः वे आपकी दोषदृष्टिका निवारण करेंगे। उन दोनोंके समीप मैं आपको श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो विचार है, वह पूरा-पूरा बता दूँगा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेन च गान्धारी व्यासश्चात्राजगाम ह ।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयके ऐसा कहनेपर (धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे) गान्धारी तथा महर्षि व्यास वहाँ आये। विदुरजी उन्हें यहाँ बुलाकर ले आये और सभाभवनमें शीघ्र ही उनका प्रवेश कराया ॥ ८ ॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्यात्मजस्य च ।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर परम ज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सभाभवनमें पहुँचकर संजय तथा अपने पुत्र धृतराष्ट्रके उस विचारको जानकर इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

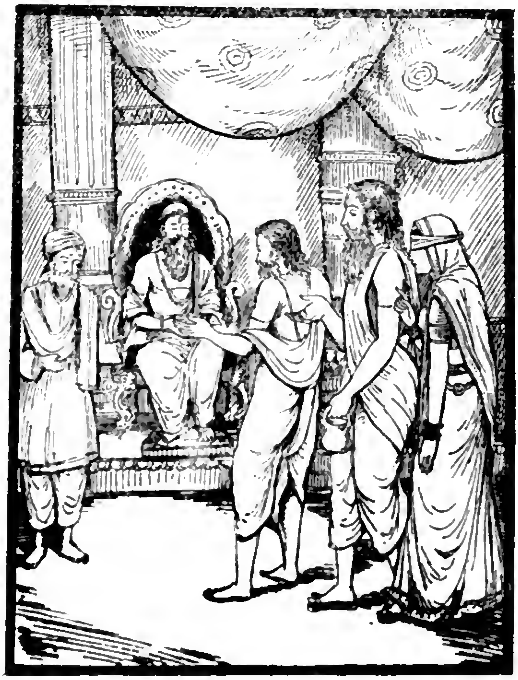

व्यास उवाच

सम्पृच्छते धृतराष्ट्राय संजय
आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुङ्क्ते ।
सर्वं यावद् वेत्थ तस्मिन् यथावद्
याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ॥ १० ॥

व्यासजीने कहा—संजय ! धृतराष्ट्र तुमसे जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब इन्हें बताओ। ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके विषयमें जो कुछ पूछते हैं, वह सब, जितना तुम जानते हो, उसके अनुसार यथार्थरूपसे कहो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगान्धार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें व्यास और गान्धारीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बतलाना

संजय उवाच

अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ ।
कामादन्यत्र सम्भूतौ सर्वभावाय सम्मितौ ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों बड़े सम्मानित धनुर्धर हैं। वे (यद्यपि सदा साथ रहनेवाले नर और नारायण हैं, तथापि) लोककल्याणकी कामनासे पृथक्-पृथक् प्रकट हुए हैं और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

व्यामान्तरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः ।
चक्रं तद् वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ॥ २ ॥

प्रभो ! उदारचेता भगवान् वासुदेवका सुदर्शन नामक चक्र उनकी मायासे अलक्षित होकर उनके पास रहता है ! उसके मध्यभागका विस्तार लगभग साढ़े तीन हाथका है। वह भगवान्‌के संकल्पके अनुसार (विशाल एवं तेजस्वी रूप धारण करके शत्रुसंहारके लिये) प्रयुक्त होता है ॥ २ ॥

सापह्नवं कौरवेषु पाण्डवानां सुसम्मतम् ।
सारासारबलं ज्ञातुं तेजःपुञ्जावभासितम् ॥ ३ ॥

कौरवोंपर उसका प्रभाव प्रकट नहीं है। पाण्डवोंको वह अत्यन्त प्रिय है। वह सबके सार-असारभूत बलको जाननेमें समर्थ और तेजःपुञ्जसे प्रकाशित होनेवाला है ॥ ३ ॥

नरकं शम्बरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः।
जितवान् घोरसंकाशान् क्रीडन्निव महाबलः ॥ ४ ॥

महाबली भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले नरकासुर, शम्बरासुर, कंस तथा शिशुपालको भी खेल-ही-खेलमें जीत लिया ॥ ४ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ॥ ५ ॥

पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मनके संकल्पमात्रसे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकको भी अपने अधीन कर सकते हैं ॥ ५ ॥

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु ॥ ६ ॥

राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये ॥ ६ ॥

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ॥ ७ ॥

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥

जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ भगवान श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ ९ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयन्ति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं ॥ १० ॥

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥ ११ ॥

वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥

ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं ॥ १२ ॥

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं ॥

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥

महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं ॥ १४ ॥

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णप्राप्ति एवं तत्त्वज्ञानका साधन बताना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम्।
कथमेनं न वेदाहं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मधुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण

समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं; इस बातको तुम कैसे जानते हो ? और मैं इन्हें इस रूपमें क्यों नहीं जानता ? इसका रहस्य मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती है । जो मनुष्य तत्त्वज्ञानसे शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकारसे विनष्ट हो चुकी है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ॥ २ ॥

विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ३ ॥

तात ! मैं ज्ञानदृष्टिसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनको, जो सबके कर्ता हैं, परंतु किसीके कार्य नहीं हैं, जानता हूँ ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्या जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भगवान् श्रीकृष्णमें जो तुम्हारी नित्य भक्ति है, उसका स्वरूप क्या है ? जिससे तुम त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनके तत्त्वको जानते हो ॥

संजय उवाच

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो । मैं कभी माया (छल-कपट) का सेवन नहीं करता । व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता । भगवान्की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ॥ ६ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—बेटा दुर्योधन ! संजय हमलोगोंका विश्वासपात्र है । इसकी बातोंपर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय लो; उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ६ ॥

दुर्योधन उवाच

भगवान् देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम् ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! माना कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकोंका संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपनेको अर्जुनका मित्र बताते हैं; अतः अब मैं उनकी शरणमें नहीं जाऊँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ॥ ८ ॥

तब धृतराष्ट्रने गान्धारीसे कहा—गान्धारी ! तुम्हारा दुर्बुद्धि, दुरात्मा, ईर्ष्यालु और अभिमानी पुत्र श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके नरककी ओर जा रहा है ॥ ८ ॥

गान्धार्युवाच

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ॥ ९ ॥
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः ॥ १० ॥

गान्धारी बोली—दुष्टात्मा दुर्योधन ! तू ऐश्वर्यकी इच्छा रखकर अपने बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है ! अरे मूर्ख ! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माताको भी त्यागकर शत्रुओंकी प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेनके हाथों मारा जायगा, उस समय तुझे पिताकी बातें याद आयेंगी ॥ ९-१० ॥

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ॥ ११ ॥

तदनन्तर व्यासजीने कहा—राजा धृतराष्ट्र ! मेरी बातोंपर ध्यान दो । वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो, तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा ॥ ११ ॥

जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात् ॥ १२ ॥

यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परमतत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है । यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा ॥ १२ ॥

वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ १३ ॥
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः ।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः ॥ १४ ॥

विचित्रवीर्यकुमार ! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं हैं और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष

और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके वशमें आते हैं ॥ १३-१४ ॥

एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ॥ १५ ॥

यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं, उस मार्गको देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसारमें आसक्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अङ्ग संजय मे शंस पन्थानमकुतोभयम् ।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वत्स संजय ! तुम मुझे वह निर्भय मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी परम मोक्षस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकूँ ॥ १६ ॥

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—महाराज ! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कभी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें किये विना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ १८ ॥

विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोगकामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः ।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ॥ १९ ॥

राजन् ! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो ॥ १९ ॥

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ॥ २० ॥

इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये । विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं। यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिससे मनीषी पुरुष चलते हैं ॥ २० ॥

अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥ २१ ॥

राजन् ! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये विना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते । जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, वही तत्त्वज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न नामोंकी व्युत्पत्तियोंका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भूयो मे पुण्डरीकाक्षं संजयाचक्ष्व पृच्छतः ।
नामकर्मार्थवित् तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम भगवान् श्रीकृष्णके नाम और कर्मोंका अभिप्राय जानते हो, अतः मेरे प्रश्नके अनुसार एक बार पुनः कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रक्खी है, उसमें जितना मुझे स्मरण है, उतना बता रहा हूँ । वास्तवमें तो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं ॥ २ ॥

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है । अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, ऐसा जानना चाहिये । बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं ॥ ३ ॥

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।

सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥ ४ ॥

भारत ! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें ! मधु शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है ॥ ४ ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥ ५ ॥

'कृष्' धातु सत्ता अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थका बोध कराता है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम्।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥

नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम पुण्डरीक है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा पुण्डरीक—कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीडा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं॥ ६ ॥

यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥

वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार वृषभेक्षण नामकी सिद्धि होती है) ॥ ७ ॥

न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित्।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः॥ ८ ॥

शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं ॥८॥

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ॥ ९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं॥ १० ॥

पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते।

वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं ॥ ११½ ॥

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।

श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है ॥ १२½ ॥

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।

विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं ॥ १३½ ॥

अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं॥१४॥

एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ॥ १५ ॥

निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा भगवद्गुणगान

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जो लोग परम उत्तम श्री-अङ्गोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ ॥ १ ॥

ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शङ्करीं सृंजयानाम्।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम् ॥ २ ॥

भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी ॥ २ ॥

समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम्।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुष्णन्तं च द्विषतां वै यशांसि ॥ ३ ॥

संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे) ॥ ३ ॥

द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम्।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान् ॥ ४ ॥

महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करनेयोग्य वे वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजाओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे ॥ ४ ॥

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥ ५ ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पङ्खोंसे युक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्‌के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामन-स्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(भगवद्यानपर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे अपना अभिप्राय निवेदन करना, श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरव-सभामें जानेके लिये उद्यत होना और इस विषयमें उन दोनोंका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
(अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च भारत।
विराटद्रुपदौ चैव केकयानां महारथान्॥
अब्रवीदुपसङ्गम्य शङ्खचक्रगदाधरम्॥
अभियाचामहे गत्वा प्रयातुं कुरुसंसदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकयदेशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—'हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरव-सभामें जानेके लिये प्रार्थना करें॥

यथा भीष्मेण द्रोणेन बाह्लीकेन च धीमता॥
अन्यैश्च कुरुभिः सार्धं न युध्येमहि संयुगे।

'वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े॥

एष नः प्रथमः कल्प एतन्नः श्रेय उत्तमम्॥
एवमुक्ताः सुमनसस्तेऽभिजग्मुर्जनार्दनम्।

'यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याणकी बात है।' राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये॥

पाण्डवैः सह राजानो मरुत्वन्तमिवामराः॥
तदा च दुःसहाः सर्वे सदस्यास्ते नरर्षभाः।

उस समय शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ सभासद् भूपालगण पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णके निकट उसी प्रकार गये, जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं॥

जनार्दनं समासाद्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥)
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम्॥ १॥

समस्त यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन जनार्दन श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत्॥ २॥

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे॥ २॥

त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम्।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुङ्क्ष्महे॥ ३॥

'आप माधवकी शरणमें आकर हम सब लोग निर्भय हो गये हैं और व्यर्थ ही घमंड दिखानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्रियोंको हम स्वयं युद्धके लिये ललकार रहे हैं॥ ३॥

यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम।
तथा ते पाण्डवा रक्ष्याः पाह्यस्मान् महतो भयात्॥ ४॥

'शत्रुदमन! जैसे आप वृष्णिवंशियोंकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपको पाण्डवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। प्रभो! इस महान् भयसे आप हमारी रक्षा कीजिये'॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यत् त्वं वक्ष्यसि भारत ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! यह मैं आपकी सेवाके लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ । आप जो कुछ कहना चाहते हों, कहें । भारत ! आप जो-जो कहेंगे, वह सब कार्य मैं निश्चय ही पूर्ण करूँगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ॥ ६ ॥
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया । संजयने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्रका ही मत है । संजय धृतराष्ट्रका अभिन्नस्वरूप होकर आया था । उसने उन्हींके मनोभावको प्रकाशित किया है । दूत संजय स्वामीकी कही हुई बातको ही दुहराया है; क्योंकि यदि वह उसके विपरीत कुछ कहता तो वधके योग्य माना जाता ॥ ६-७ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ८ ॥

राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है । उनके मनमें पाप बस गया है । अतः वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ॥ ८ ॥

यत् तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु व्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ॥ १० ॥

प्रभो ! हम तो यही समझकर कि धृतराष्ट्र अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहेंगे, उन्हींकी आज्ञासे बारह वर्ष वनमें रहे और एक वर्ष अज्ञातवास किया । श्रीकृष्ण ! हमने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की है; इस बातको हमारे साथ रहनेवाले सभी ब्राह्मण जानते हैं ॥ ९-१० ॥

गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति ।
वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ॥ ११ ॥

परंतु राजा धृतराष्ट्र तो लोभमें डूबे हुए हैं । वे अपने धर्मकी ओर नहीं देखते हैं । पुत्रोंमें आसक्त होकर सदा उन्हींके अधीन रहनेके कारण वे अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ॥ १२ ॥

जनार्दन ! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधनकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा मित्रोंका भी अच्छी तरह भरण-पोषणतक नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

काशिभिश्चेदिपञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥ १४ ॥

मधुसूदन ! यद्यपि काशी, चेदि, पाञ्चाल और मत्स्यदेशके वीर हमारे सहायक हैं और आप हमलोगोंके रक्षक और स्वामी हैं; (आपलोगोंकी सहायतासे हम सारा राज्य ले सकते हैं) तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे ॥ १४ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कञ्चिदेवात्र पञ्चमम् ॥ १५ ॥
पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! मैंने धृतराष्ट्रसे यही कहा था कि तात ! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें । इस प्रकार हमारे लिये पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १५-१६ ॥

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥ १७ ॥

परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है । इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १७ ॥

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ॥ १८ ॥

मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर और वृद्ध होनेपर भी यदि दूसरोंके धनको लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्तिको नष्ट कर देता है । विचारशक्ति नष्ट होनेपर उसकी लज्जाको भी नष्ट कर देती है ॥ १८ ॥

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ॥ १९ ॥

नष्ट हुई लज्जा धर्मको नष्ट कर देती है । नष्ट हुआ धर्म मनुष्यकी सम्पत्तिका नाश कर देता है और नष्ट हुई सम्पत्ति उस मनुष्यका विनाश कर देती है, क्योंकि धनका अभाव ही मनुष्यका वध है ॥ १९ ॥

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्रिणः॥ २० ॥

श्रीकृष्ण! धनहीन पुरुषसे उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मणलोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प और फलसे हीन वृक्षको छोड़कर उड़ जाते हैं ॥ २० ॥

एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव ।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवासवः ॥ २१ ॥

तात ! जैसे पतित मनुष्यके निकटसे लोग दूर भागते हैं और जैसे मृत शरीरसे प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कुटुम्बीजन भी जो मुझसे मुँह मोड़ रहे हैं, यही मेरे लिये मरण है ॥ २१ ॥

नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शाम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥

जहाँ आज और कल सबेरेके लिये भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रतासे बढ़कर दूसरी कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं है; यह शम्बरका कथन है ॥ २२ ॥

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३ ॥

धनको उत्तम धर्मका साधक बताया गया है । धनमें सब कुछ प्रतिष्ठित है । संसारमें धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं । जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुएके ही समान हैं।२३।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः ।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम् ॥ २४ ॥

जो लोग अपने बलमें स्थित होकर किसी मनुष्यको धनसे वञ्चित कर देते हैं, वे उसके धर्म, अर्थ और कामको तो नष्ट करते ही हैं, उस मनुष्यको भी नष्ट कर देते हैं ॥ २४ ॥

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः ।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ २५ ॥

इस निर्धन अवस्थाको पाकर कितने ही मनुष्योंने मृत्युका वरण किया है । कुछ लोग गाँव छोड़कर दूसरे गाँवमें जा बसे हैं, कितने ही जंगलोंमें चले गये हैं और कितने ही मनुष्य प्राण देनेके लिये घरसे निकल पड़े हैं ॥ २५ ॥

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।
दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ॥ २६ ॥

कितने लोग पागल हो जाते हैं, बहुत-से शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं और कितने ही मनुष्य धनके लिये दूसरोंकी दासता स्वीकार कर लेते हैं ॥ २६ ॥

आपदेवास्य मरणात् पुरुषस्य गरीयसी ।
श्रियो विनाशस्तद्ध्यस्य निमित्तं धर्मकामयोः ॥ २७ ॥

धन-सम्पत्तिका नाश मनुष्यके लिये भारी विपत्ति ही है । वह मृत्युसे भी बढ़कर है, क्योंकि सम्पत्ति ही मनुष्यके धर्म और कामकी सिद्धिका कारण है ॥ २७ ॥

यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत्।
समन्तात् सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ॥ २८ ॥

मनुष्यकी जो धर्मानुकूल मृत्यु है, वह परलोकके लिये सनातन मार्ग है । सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे कोई भी उस मृत्युका सब ओरसे उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जन्मसे ही निर्धन रहा है, उसे उस दरिद्रताके कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्तिको पाकर सुखमें ही पले हुए पुरुषको उस सम्पत्तिसे वञ्चित होनेपर होता है ॥ २९ ॥

स तदाऽऽत्मापराधेन सम्प्राप्तो व्यसनं महत्।
सेन्द्रान् गर्हयते देवान् नात्मानं च कथञ्चन॥ ३० ॥

यद्यपि वह मनुष्य उस समय अपने ही अपराधसे भारी संकटमें पड़ता है, तथापि वह इसके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी ही निन्दा करता है; अपनेको किसी प्रकार भी दोष नहीं देता है ॥ ३० ॥

न चास्य सर्वशास्त्राणि प्रभवन्ति निबर्हणे।
सोऽभिक्रुध्यति भृत्यानां सुहृदश्चाभ्यसूयति ॥ ३१ ॥

उस समय सम्पूर्ण शास्त्र भी उसके इस संकटको टालनेमें समर्थ नहीं होते । वह सेवकोंपर कुपित होता और सगे-सम्बन्धियोंके दोष देखने लगता है ॥ ३१ ॥

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥ ३२ ॥

निर्धन अवस्थामें मनुष्यको केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाच्छन्न हो जाता—विवेकशक्ति खो बैठता है । मोहके वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ ३२ ॥

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण वह वर्णसंकर संतानोंका पोषक होता है और वर्णसंकर केवल नरककी ही प्राप्ति कराता है । पापियोंकी यही अन्तिम गति है ॥३३॥

न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि उसे फिरसे कर्तव्यका बोध नहीं होता, तो वह नरककी दिशामें ही बढ़ता जाता है। कर्तव्यका बोध करानेवाली प्रज्ञा ही है। जिसे प्रज्ञारूपी नेत्र प्राप्त हैं, वह निश्चय ही संकटसे पार हो जायगा ॥ ३४ ॥

प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवान्ववेक्षते।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते।
श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ॥३६॥

प्रज्ञाकी प्राप्ति होनेपर पुरुष केवल शास्त्रवचनोंपर ही दृष्टि रखता है। शास्त्रमें निष्ठा होनेपर वह पुनः धर्म करता है। धर्मका उत्तम अङ्ग है लज्जा, जो धर्मके साथ ही आ जाती है। लज्जाशील मनुष्य पापसे द्वेष रखकर उससे दूर हो जाता है। अतः उसकी धन-सम्पत्ति बढ़ने लगती है। जो जितना ही श्रीसम्पन्न है, वह उतना ही पुरुष माना जाता है ॥ ३५-३६ ॥

धर्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्ययोगवहः सदा।
नाधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष शान्तचित्त होकर नित्य-निरन्तर सत्कर्मोंमें लगा रहता है। वह कभी अधर्ममें मन नहीं लगाता और न पापमें ही प्रवृत्त होता है ॥ ३७ ॥

अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान्।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥३८॥

जो निर्लज्ज अथवा मूर्ख है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही है। उसका धर्म-कर्ममें अधिकार नहीं है। वह शूद्रके समान है ॥ ३८ ॥

ह्रीमानवति देवांश्च पितॄनात्मानमेव च।
तेनामृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥

लज्जाशील पुरुष देवताओंकी, पितरोंकी तथा अपनी भी रक्षा करता है। इससे वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। वही पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है ॥ ३९ ॥

तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन।
यथा राज्यात् परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ॥ ४०॥

मधुसूदन ! यह सब आपने मुझमें प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ और कितने कष्टके साथ इन दिनों रह रहा हूँ ॥ ४० ॥

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित्।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥ ४१ ॥

अतः हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करने योग्य नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है ॥ ४१ ॥

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव।
प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ ४२ ॥

माधव ! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभावसे रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें ॥ ४२ ॥

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः॥४३ ॥

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवोंको मारकर सारा राज्य अपने अधिकारमें कर लें; परंतु यह भयंकर क्रूरतापूर्ण कर्मकी पराकाष्ठा होगी (क्योंकि इस दशामें कितने ही निरपराध मनुष्योंका संहार करनेके पश्चात् हमारी विजय होगी)॥ ४३ ॥

ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो तथा जो सर्वथा नीच एवं शत्रुभाव रखनेवाले हों, उनका भी वध करना उचित नहीं है। फिर जो सगे-सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद् हैं, ऐसे लोगोंका वध कैसे उचित हो सकता है ? ॥

ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः।
तेषां वधोऽतिपापीयान् किं नो युद्धेऽस्ति शोभनम् ॥

हमारे विरोधियोंमें अधिकांश हमारे भाई-बन्धु, सहायक और गुरुजन हैं। उनका वध तो बहुत बड़ा पाप है। युद्धमें अच्छी बात क्या है ! (कुछ नहीं) ॥ ४५ ॥

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबन्धवः।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ॥ ४६ ॥

क्षत्रियोंका यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है। हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः वह हमारा स्वधर्म पाप होनेपर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्तिको अपनाना भी निन्दाकी बात होगी ॥ ४६ ॥

शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः।
वयं वधेन जीवामः कपालं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ ४७ ॥

शूद्र सेवाका कार्य करता है, वैश्य व्यापारसे जीविका चलाते हैं, हम क्षत्रिय युद्धमें दूसरोंका वध करके जीवन-निर्वाह करते हैं और ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये भिक्षापात्र चुन लिया है ॥ ४७ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः॥४८॥

क्षत्रिय क्षत्रियको मारता है, मछली मछलीको खाकर

जीती है और कुत्ता कुत्तेको काटता है। दशार्हनन्दन! देखिये; यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ॥ ४८ ॥

युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदन्ति संयुगे।
बलं तु नीतिमाधाय युध्ये जयपराजयौ ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण! युद्धमें सदा कलह ही होता है और उसीके कारण प्राणोंका नाश होता है। मैं तो नीतिबलका ही आश्रय लेकर युद्ध करूँगा। फिर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार जय हो या पराजय ॥ ४९ ॥

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा।
नाप्यकाले सुखं प्राप्यं दुःखं वापि यदूत्तम ॥ ५० ॥

प्राणियोंके जीवन और मरण अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होते हैं (यही दशा जय और पराजयकी भी है)! यदुश्रेष्ठ! किसीको सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति भी असमयमें नहीं होती है ॥ ५० ॥

एको ह्यपि बहून् हन्ति घ्नन्त्येकं बहवोऽप्युत।
शूरं कापुरुषो हन्ति अयशस्वी यशस्विनम् ॥ ५१ ॥

युद्धमें एक योद्धा भी बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डालता है तथा बहुत-से योद्धा मिलकर भी किसी एकको ही मार पाते हैं। कभी कायर शूरवीरको मार देता है और अयशस्वी पुरुष यशस्वी वीरको पराजित कर देता है ॥ ५१ ॥

जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः।
तथैवापचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ ॥ ५२ ॥

न तो कहीं दोनों पक्षोंकी विजय होती देखी गयी है और न दोनोंकी पराजय ही दृष्टिगोचर हुई है। हाँ, दोनोंके धन-वैभवका नाश अवश्य देखा गया है। यदि कोई पक्ष पीठ दिखाकर भाग जाय तो उसे भी धन और जन दोनोंकी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५२ ॥

सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन् न प्रतिहन्यते।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ ॥ ५३ ॥

इससे सिद्ध होता है कि युद्ध सर्वथा पापरूप ही है। दूसरोंको मारनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो बदलेमें स्वयं भी मारा न जाता हो? हृषीकेश! जो युद्धमें मारा गया, उसके लिये तो विजय और पराजय दोनों समान हैं ॥ ५३ ॥

पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते।
यस्य स्याद् विजयः कृष्ण तस्याप्यपचयो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्ण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पराजय मृत्युसे अच्छी वस्तु नहीं है। जिसकी विजय होती है, उसे भी निश्चय ही धन-जनकी भारी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५४ ॥

अन्ततो दयितं घ्नन्ति केचिदप्यपरे जनाः।
तस्याङ्ग बलहीनस्य पुत्रान् भ्रातॄनपश्यतः ॥ ५५ ॥
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते।

युद्ध समाप्त होनेतक कितने ही विपक्षी सैनिक विजयी योद्धाके अनेक प्रियजनोंको मार डालते हैं। जो विजय पाता है, वह भी (कुटुम्ब और धनसम्बन्धी) बलसे शून्य हो जाता है। और कृष्ण! जब वह युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों और भाइयोंको नहीं देखता है, तो वह सब ओरसे विरक्त हो जाता है; उसे अपने जीवनसे भी वैराग्य हो जाता है ॥ ५५½ ॥

ये ह्येव धीरा ह्रीमन्त आर्याः करुणवेदिनः ॥ ५६ ॥
त एव युद्धे हन्यन्ते यवीयान् मुच्यते जनः।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन ॥ ५७ ॥

जो लोग धीर-वीर, लज्जाशील, श्रेष्ठ और दयालु हैं, वे ही प्रायः युद्धमें मारे जाते हैं और अधम श्रेणीके मनुष्य जीवित बच जाते हैं। जनार्दन! शत्रुओंको मारनेपर भी उनके लिये सदा मनमें पश्चात्ताप बना रहता है ॥ ५६-५७ ॥

अनुबन्धश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत् ॥ ५८ ॥
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यान्तविधित्सया।

भागे हुए शत्रुका पीछा करना अनुबन्ध कहलाता है, यह भी पापपूर्ण कार्य है। मारे जानेवाले शत्रुओंमेंसे कोई-कोई बचा रह जाता है। वह अवशिष्ट शत्रु शक्तिका संचय करके विजेताके पक्षमें जो लोग बचे हैं, उनमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ना चाहता। वह शत्रुका अन्त कर डालनेकी इच्छासे विरोधी दलको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देनेका प्रयत्न करता है ॥ ५८½ ॥

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ॥ ५९ ॥
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयौ।

विजयकी प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुताकी सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःखसे समय बिताता है। जो किसीसे शत्रुता न रखकर शान्तिका आश्रय लेता है, वह जय-पराजयकी चिन्ता छोड़कर सुखसे सोता है ॥ ५९½ ॥

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ॥ ६० ॥
अनिवृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि।

किसीसे वैर बाँधनेवाला पुरुष सर्पयुक्त गृहमें रहनेवालेकी भाँति उद्विग्नचित्त होकर सदा दुःखकी नींद सोता है ॥

उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते ॥ ६१ ॥
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं सोऽधिगच्छति।

जो शत्रुके कुलमें आबालवृद्ध सभी पुरुषोंका उच्छेद कर डालता है, वह वीरोचित यशसे वञ्चित हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंमें सदा बनी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा) का भागी होता है ॥ ६१½ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि ॥ ६२ ॥
आख्यातारश्च विद्यन्ते पुमांश्चेद् विद्यते कुले।

दीर्घकालतक मनमें दबाये रखनेपर भी वैरकी आग सर्वथा बुझ नहीं पाती; क्योंकि यदि कोई उस कुलमें विद्यमान है, तो उससे पूर्वघटित वैर बढ़ानेवाली घटनाओंको बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं ॥ ६२½ ॥

न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ॥ ६३ ॥
हविषाग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते ।

केशव ! जैसे घी डालनेपर आग बुझनेके बजाय और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैर करनेसे वैरकी आग शान्त नहीं होती, अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ ६३½ ॥

अतोऽन्यथा नास्ति शान्तिर्नित्यमन्तरमन्ततः ॥ ६४ ॥
अन्तरं लिप्समानानामयं दोषो निरन्तरः ।

(क्योंकि दोनों पक्षोंमें सदा कोई-न-कोई छिद्र मिलनेकी सम्भावना रहती है) इसलिये दोनों पक्षोंमेंसे एकका सर्वथा नाश हुए बिना पूर्णतः शान्ति नहीं प्राप्त होता है । जो लोग छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, उनके सामने यह दोष निरन्तर प्रस्तुत रहता है ॥ ६४½ ॥

पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ।
तस्य त्यागेन वा शान्तिर्मरणेनापि वा भवेत् ॥ ६५ ॥

यदि अपनेमें पुरुषार्थ है, तो पूर्व वैरको याद करके जो हृदयको पीड़ा देनेवाली प्रबल चिन्ता सदा बनी रहती है, उसे वैराग्यपूर्वक त्याग देनेसे ही शान्ति मिल सकती है; अथवा मर जानेसे ही उस चिन्ताका निवारण हो सकता है ॥ ६५ ॥

अथवा मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात् तन्नृशंसतरं भवेत् ॥ ६६ ॥

अथवा शत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेसे ही अभीष्ट फलकी सिद्धि हो सकती है । परंतु मधुसूदन ! यह बड़ी क्रूरताका कार्य होगा ॥ ६६ ॥

या तु त्यागेन शान्तिः स्यात् तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ॥ ६७ ॥

राज्यको त्याग देनेसे उसके बिना जो शान्ति मिलती है, वह भी वधके ही समान है । क्योंकि उस दशामें शत्रुओंसे सदा यह संदेह बना रहता है कि ये अवसर देखकर प्रहार करेंगे और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित होनेके कारण अपने विनाशकी सम्भावना भी रहती ही है ॥ ६७ ॥

न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ॥ ६८ ॥

अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं । यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकाङ्क्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ॥ ६९ ॥

यद्यपि हम युद्धकी इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायोंसे राज्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा; हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते ॥

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥

जब शान्तिके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, तब भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है । पण्डितोंने इस युद्धकी उपमा कुत्तोंके कलहसे दी है ॥ ७० ॥

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गरजते हैं । तत्पश्चात् एक-दूसरेके निकट पहुँचते हैं । फिर दाँत दिखाना और भूकना आरम्भ करते हैं । तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है ॥ ७१ ॥

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण ! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांसको खाता है, जिसके लिये कि उनमें लड़ाई हुई थी । यही दशा मनुष्योंकी है । इनमें कोई विशेषता नहीं है* ॥ ७२ ॥

सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरोऽविरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ॥ ७३ ॥

यह सर्वथा उचित है कि बलवानोंकी दुर्बलोंके प्रति आदरबुद्धि न हो । वे उसका विरोध भी नहीं करते । दुर्बल वही है, जो सदा झुकनेके लिये तैयार रहे ॥ ७३ ॥

पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ ७४ ॥

जनार्दन ! पिता, राजा और वृद्ध सर्वथा समादरके ही योग्य हैं । अतः धृतराष्ट्र हमारे लिये सदा माननीय एवं पूजनीय हैं ॥ ७४ ॥

---

*कुत्तोंके दुम हिलानेके समान राजाओंका ध्वज कम्पन है, उनके गुर्रानेकी जगह उनका सिंहनाद है । कुत्ते जो एक-दूसरेको देखकर गर्जते हैं, उसी प्रकार दो विरोधी क्षत्रिय एक दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आक्षेपजनक बातें कहते हैं । एक-दूसरेके निकट जाना दोनोंमें समानरूपसे होता है । राजालोग क्रोधमें आकर जो दाँतोंसे होठ चबाते हैं, यही कुत्तोंके समान उनका दाँत दिखाना है । विकट गर्जन-तर्जन भूकना है और युद्ध करना ही कुत्तोंके समान लड़ना है । राज्यकी प्राप्ति ही वह मांसका टुकड़ा है, जिसके लिये उनमें लड़ाई होती है ।

पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ ७५ ॥

माधव ! धृतराष्ट्रमें अपने पुत्रके प्रति प्रबल आसक्ति है। वे पुत्रके वशमें होनेके कारण कभी झुकना नहीं स्वीकार करेंगे ॥ ७५ ॥

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम्।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ ७६ ॥

माधव श्रीकृष्ण ! ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं ? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वञ्चित न होना पड़े ॥ ७६ ॥

ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ ७७ ॥

पुरुषोत्तम मधुसूदन ! ऐसे महान् संकटके समय हम आपको छोड़कर और किससे सलाह ले सकते हैं ॥ ७७ ॥

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥

श्रीकृष्ण ! आपके समान हमारा प्रिय, हितैषी, समस्त कर्मोंके परिणामको जाननेवाला और सभी बातोंमें एक निश्चित सिद्धान्त रखनेवाला सुहृद् कौन है ? ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ ७९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन् ! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ॥ ७९ ॥

शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन्।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥ ८० ॥

'वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया ॥ ८० ॥

मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसृंजयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥ ८१ ॥

ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, सृंजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा' ॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा ॥ ८२ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम्।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ॥ ८३ ॥

इसके सिवा इस समय दुर्योधनके वशमें रहनेवाले भू-मण्डलके सभी क्षत्रिय वहाँ एकत्र हुए हैं । उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ८३ ॥

न हि नः प्रीणयेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥ ८४ ॥

माधव ! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥८४॥

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम्।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥ ८५ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ । तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे ॥ ८५ ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ८६ ॥

(मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किञ्चिदसाम्प्रतम्।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ८७ ॥

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥ ८८ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान्।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये । आपका कल्याण हो । आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये । आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा ॥

विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरतांश्छमय प्रभो ।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ॥ ९० ॥

विष्वक्सेन प्रभो ! आप कुरुदेशमें जाकर भरतवंशियों-को शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदयसे प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें ॥ ९० ॥

भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः।
सौहृदेनाविशङ्क्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये॥ ९१ ॥

आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं। अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं । आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है । अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये । आपका कल्याण हो ॥ ९१ ॥

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम् ।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः॥९२॥

श्रीकृष्ण ! आप हमको जानते हैं, कौरवोंको भी जानते हैं, हम दोनोंके स्वार्थोंसे भी आप अपरिचित नहीं हैं और बातचीत कैसे करनी चाहिये, यह भी आपको अच्छी तरह ज्ञात है । अतः जिस-जिस बातसे हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधनको बतावें ॥ ९२ ॥

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः ।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत् ॥९३॥

केशव ! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें ॥९३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृतकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णको प्रेरणाविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहन देना

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया ।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैंने संजयकी और आप-की भी बातें सुनी हैं। कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ॥ १ ॥

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः ।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत् ॥ २ ॥

आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुता-का आश्रय ले रक्खा है । आप तो बिना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे ॥ २ ॥

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ॥ ३ ॥

परंतु महाराज ! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है ! सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये ॥ ३ ॥

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥ ४ ॥

उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे । यही क्षत्रियका स्वधर्म है । दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है ॥ ४ ॥

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर ।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप ॥ ५ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओंका संहार कीजिये ॥ ५ ॥

अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः ।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप ॥ ६ ॥

परंतप ! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं । इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है । (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया ॥ ६ ॥

न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः ॥ ७ ॥

अतः प्रजानाथ ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (सन्धि) स्थापित करें । भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं ॥

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम ॥ ८ ॥

अतः शत्रुदमन राजन् ! जबतक आप इनके साथ नर्मीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे ॥ ८ ॥

नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुमर्दन नरेश ! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे ॥ ९ ॥

एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि ।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! कौरवोंके सन्धि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया ॥

पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च ॥ ११ ॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम् ॥ १२ ॥
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा ।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥

राजन् ! आप दानशील, कोमलस्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है ॥

तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें । भारत ! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते ॥ १५ ॥
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ॥ १६ ॥

(क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी । वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है । केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा ॥ १५-१६ ॥

कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि ॥ १७ ॥

'दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी । इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे' ॥ १७ ॥

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ॥ १८ ॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ॥ १९ ॥

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा ॥

भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥

यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया, इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके ॥ २० ॥

एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स्म त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ २१ ॥

जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा ॥ २१ ॥

ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा ॥ २२ ॥

जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते हुए रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे ॥ २२ ॥

न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणोंसहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा

नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे ॥ २३ ॥

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन ! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है, निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है ॥ २४ ॥

तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ॥ २५ ॥

महाराज ! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी ॥ २५ ॥

ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम्।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥

जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है ॥

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः ॥ २७ ॥

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें ॥२७॥

सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश ! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ ॥ २८ ॥

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ॥ २९ ॥

राजन् ! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुविधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा ॥

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥ ३० ॥

मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्घाटन करूँगा ॥ ३० ॥

ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥ ३१ ॥

त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ॥ ३२ ॥

मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है ॥ ३१-३२ ॥

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥ ३३ ॥

मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा ॥ ३३ ॥

शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥ ३४ ॥

वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे ॥ ३४ ॥

तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ॥ ३५ ॥

सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है ? जिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३५ ॥

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन्।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे सन्धि-स्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रक्खूँगा ॥ ३६ ॥

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम्।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥ ३७ ॥

भारत ! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा ॥

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३८ ॥

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना हो रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु।

घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान्॥ ३९ ॥

मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोष-कालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं । इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों) को धारण करते हैं ॥ ३९॥

मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात्।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥ ४० ॥
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः ।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥ ४१ ॥

यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं । अतः नरेन्द्र ! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों, एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें । इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये ॥४०-४१॥

दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित्।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवप्रवर ! नरेश्वर ! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका शान्तिविषयक प्रस्ताव

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन ।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ॥ १ ॥

भीमसेन बोले--मधुसूदन ! आप कौरवोंके बीचमें वैसी ही बातें कहें, जिससे हमलोगोंमें शान्ति स्थापित हो सके । युद्धकी बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजियेगा ॥ १ ॥

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः ।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ॥ २ ॥

दुर्योधन असहनशील, क्रोधमें भरा रहनेवाला, श्रेयका विरोधी और मनमें बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है । अतः उसके प्रति कठोर बात न कहियेगा, उसे सामनीतिके द्वारा ही समझानेका प्रयत्न कीजियेगा ॥ २ ॥

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः ॥ ३ ॥

दुर्योधन स्वभावसे ही पापात्मा है । उसके हृदयमें डाकुओंके समान क्रूरता भरी रहती है । वह ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गया है और पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता है ॥ ३ ॥

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः ।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः ॥ ४ ॥

वह अदूरदर्शी, निष्ठुर वचन बोलनेवाला, परनिन्दक, क्रूर पराक्रमी, दीर्घकालतक क्रोधको मनमें संचित रखनेवाला, शिक्षा देने या सन्मार्गपर ले जाया जानेकी योग्यतासे रहित, पापात्मा तथा शठतासे प्रेम रखनेवाला है ॥ ४ ॥

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम् ।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! वह मर जायगा, किंतु झुक न सकेगा । अपनी टेक नहीं छोड़ेगा । मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्यके साथ संधि स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सुहृदामप्यवाचीनस्त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ।
प्रतिहन्त्येव सुहृदां वाचश्चैव मनांसि च ॥ ६ ॥

दुर्योधन हितैषी सुहृदोंके भी विपरीत आचरण करनेवाला है । उसने धर्मको तो त्याग ही दिया है, झूठको भी प्रिय मानकर अपना लिया है । वह मित्रोंकी भी बातोंका खण्डन करता है और उनके हृदयको चोट पहुँचाता है ॥ ६ ॥

स मन्युवशमापन्नः स्वभावं दुष्टमास्थितः ।
स्वभावात् पापमभ्येति तृणैश्छन्न इवोरगः ॥ ७ ॥

उसने क्रोधके वशीभूत होकर दुष्ट स्वभावका आश्रय ले रक्खा है । वह तिनकोंमें छिपे सर्पकी भाँति स्वभावतः दूसरोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥

दुर्योधनो हि यत्सेनः सर्वथा विदितस्तव।
यच्छीलो यत्स्वभावश्च यद्बलो यत्पराक्रमः॥ ८॥

भगवन्! दुर्योधनकी सेना जैसी है, उसका शील और स्वभाव जैसा है, उसका बल और पराक्रम जिस प्रकारका है, वह सब कुछ आपको सब प्रकारसे ज्ञात है॥ ८॥

पुरा प्रसन्नाः कुरवः सहपुत्रास्तथा वयम्।
इन्द्रज्येष्ठा इवाभूम मोदमानाः सबान्धवाः॥ ९॥

पूर्वकालमें पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित कौरव और हमलोग इन्द्र आदि देवताओंकी भाँति परस्पर मिलकर बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ रहते थे॥ ९॥

दुर्योधनस्य क्रोधेन भरता मधुसूदन।
धक्ष्यन्ते शिशिरापाये वनानीव हुताशनैः॥ १०॥

परंतु मधुसूदन! जैसे शिशिरके अन्तमें (ग्रीष्मकाल आनेपर) वन दावानलसे जलने लगते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भरतवंशी इस समय दुर्योधनकी क्रोधाग्निसे जलनेवाले हैं॥ १०॥

अष्टादशेमे राजानः प्रख्याता मधुसूदन।
ये समुच्चिच्छिदुर्ज्ञातीन् सुहृदश्च सबान्धवान्॥ ११॥

श्रीकृष्ण! आगे बताये जानेवाले ये अठारह विख्यात नरेश हैं, जिन्होंने बन्धु-बान्धवोंसहित कुटुम्बीजनों तथा हितैषी सुहृदोंका संहार कर डाला था॥ ११॥

असुराणां समृद्धानां ज्वलतामिव तेजसा।
पर्यायकाले धर्मस्य प्राप्ते कलिरजायत॥ १२॥
हैहयानां मुदावर्तो नीपानां जनमेजयः।
बहुलस्तालजंघानां कृमीणामुद्धतो वसुः॥ १३॥
अजबिन्दुः सुवीराणां सुराष्ट्राणां रुषर्द्धिकः।
अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौतमूलकः॥ १४॥
हयग्रीवो विदेहानां वरयुश्च महौजसाम्।
बाहुः सुन्दरवंशानां दीप्ताक्षाणां पुरूरवाः॥ १५॥
सहजश्चेदिमत्स्यानां प्रवीराणां वृषध्वजः।
धारणश्चन्द्रवत्सानां मुकुटानां विगाहनः॥ १६॥
शमश्च नन्दिवेगानामित्येते कुलपांसनाः।
युगान्ते कृष्ण सम्भूताः कुले कुपुरुषाधमाः॥ १७॥

जैसे धर्मके विप्लवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे प्रज्वलित होनेवाले समृद्धिशाली असुरोंमें भयंकर कलह उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार हैहयवंशमें मुदावर्त, नीपकुलमें जनमेजय, तालजंघोंके वंशमें बहुल, कृमिकुलमें उद्दण्ड वसु, सुवीरोंके वंशमें अजबिंदु, सुराष्ट्रकुलमें रुषर्द्धिक, बलीहवंशमें अर्कज, चीनोंके कुलमें धौतमूलक, विदेहवंशमें हयग्रीव, महौजा नामक क्षत्रियोंके कुलमें वरयु, सुन्दरवंशी क्षत्रियोंमें बाहु, दीप्ताक्षकुलमें पुरूरवा, चेदि और मत्स्यदेशमें सहज, प्रवीरवंशमें वृषध्वज, चन्द्रवत्सकुलमें धारण, मुकुटवंशमें विगाहन तथा नन्दिवेगकुलमें शम—ये सभी कुलाङ्गार एवं नराधम क्षत्रिय युगान्तकाल आनेपर ऊपर बताये अनुसार भिन्न-भिन्न कुलोंमें प्रकट हुए थे॥ १२—१७॥

अप्ययं नः कुरूणां स्याद् युगान्ते कालसम्भृतः।
दुर्योधनः कुलाङ्गारो जघन्यः पापपूरुषः॥ १८॥

पूर्वोक्त (अठारह) राजाओंकी भाँति यह कुलाङ्गार, नीच एवं पापपुरुष दुर्योधन भी इस द्वापर युगके अन्तमें कालसे प्रेरित हो हमारे कुरुकुलके विनाशका कारण होकर उत्पन्न हुआ है॥ १८॥

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम्।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम॥ १९॥

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म एवं अर्थसे युक्त तथा हितकर हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। साथ ही इसका भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों॥ १९॥

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः।
नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरता नशन्॥ २०॥

भगवन्! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधनका अनुसरण करते रहेंगे; परंतु हमारे कारणसे भरतवंशियोंका नाश न हो॥ २०॥

अप्युदासीनवृत्तिः स्याद् यथा नः कुरुभिः सह।
वासुदेव तथा कार्यं न कुरूननयः स्पृशेत्॥ २१॥

वासुदेव! हमारा कौरवोंके साथ उदासीनभाव एवं तटस्थताका बर्ताव भी जैसे बना रहे, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये। किसी प्रकार भी कौरवोंको अन्यायका स्पर्श नहीं होना चाहिये॥ २१॥

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः।
भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम्॥ २२॥

श्रीकृष्ण! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिये ही कहें, जिससे सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय॥ २२॥

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने॥ २३॥

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनके लिये कह रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनमें बहुत अधिक दया भरी हुई है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७४॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको उत्तेजित करना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ॥ १ ॥
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके ।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम् ॥ २ ॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनके मुखसे यह अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। जैसे पर्वतमें लघुता आ जाय और अग्निमें शीतलता प्रकट हो जाय, उसी प्रकार उनमें यह नम्रताका प्रादुर्भाव हुआ था। यह सोचकर शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले रामानुज श्रीकृष्ण अपने पास बैठे हुए वृकोदर भीमसेनको, जो उस समय दयासे द्रवित हो रहे थे, अपने वचनोंद्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले, मानो वायु अग्निको उद्दीप्त कर रही हो ॥ १–३ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—भैया भीमसेन! आजके सिवा और दिन तो तुम हिंसासे ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्र-

पुत्रोंको मसल डालनेकी इच्छा मनमें लेकर सदा युद्धकी ही प्रशंसा किया करते थे ॥ ४ ॥

न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप ।
घोरामशान्तां रुशतीं सदा वाचं प्रभाषसे ॥ ५ ॥

परंतप! (इन्हीं विचारोंमें डूबे रहनेके कारण) तुम रातमें सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुँह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुँहसे निकलती थीं ॥ ५ ॥

निःश्वसन्नग्निवत् तेन संतप्तः स्वेन मन्युना ।
अप्रशान्तमना भीम सधूम इव पावकः ॥ ६ ॥

भीम! तुम बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने ही क्रोधसे उसी प्रकार संतप्त होते थे, जैसे आग अपने ही तेजसे तपी रहती है। धुएँसे व्याप्त हुई अग्निकी भाँति तुम्हारे नित्य-निरन्तर अशान्ति छायी रहती थी ॥ ६ ॥

एकान्ते निःश्वसञ्छेषे भारार्त इव दुर्बलः ।
अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यन्तेऽतद्विदो जनाः ॥ ७ ॥

भारी बोझसे पीड़ित दुर्बल मनुष्यकी भाँति तुम एकान्तमें बैठकर जोर-जोरसे साँस खींचते रहते थे। इसीलिये तुम्हें कुछ लोग, जो इस बातको नहीं जानते हैं, पागल मानते हैं ॥ ७ ॥

आरुज्य वृक्षान् निर्मूलान् गजः परिरुजन्निव ।
निघ्नन् पद्भिः क्षितिं भीम निष्टनन् परिधावसि ॥ ८ ॥

भीम! जैसे हाथी वृक्षोंको जड़-मूलसहित उखाड़कर उन्हें पैरोंकी ठोकरोंसे टूक-टूक कर डालता है, उसी प्रकार तुम भी पैरोंसे पृथ्वीपर आघात करते हुए जोर जोरसे गर्जते और चारों ओर दौड़ते थे ॥ ८ ॥

नास्मिञ्जनेऽभिरमसे रहः क्षिपसि पाण्डव ।
नान्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनन्दसि ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन! तुम कभी इस जनसमुदायमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करते थे; सदा एकान्तमें ही बैठकर कालक्षेप करते थे। दिन हो या रात, तुम कभी किसी दूसरेका अभिनन्दन नहीं करते थे ॥ ९ ॥

अकस्मात् स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव ।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः ॥ १० ॥

कभी सहसा हँस पड़ते और कभी एकान्त स्थानमें रोते हुए-से प्रतीत होते थे और कभी घुटनोंपर मस्तक रखकर दीर्घकालतक नेत्र बंद किये बैठे रहते थे ॥ १० ॥

भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम्॥ ११॥

भीमसेन! मैंने बार-बार तुम्हें भौंहें टेढ़ी करके दोनों ओठोंको चबाते हुए-से देखा है। यह सब तुम्हारे क्रोधकी करतूत है॥ ११॥

यथा पुरस्तात् सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन्।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान्॥ १२॥
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः।
हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम्॥ १३॥
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनालभसे गदाम्।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्ध्रियतेऽद्य परंतप॥ १४॥

तुम अपने भाइयोंके बीचमें सत्यकी शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—'जैसे सूर्यदेव पूर्वदिशामें उदित होते हुए अपने तेजोमण्डलको प्रकट करते दिखायी देते हैं और पश्चिम दिशामें वे ही अंशुमाली अस्ताचलको जाकर निश्चितरूपसे मेरुपर्वतकी परिक्रमा करते हैं, उनके इस नियममें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं यह सत्य कहता हूँ कि अमर्षशील दुर्योधनके पास जाकर अपनी गदासे उसके प्राण ले लूँगा। मेरे इस कथनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।' परंतप! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम जैसे वीरशिरोमणिकी बुद्धि आज शान्ति-स्थापनमें लग रही है, (यह आश्चर्यकी बात है!)॥ १२–१४॥

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति॥ १५॥

अहो! युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहलेसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंके विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन! जान पड़ता है, इसीलिये तुम्हें भी युद्धसे भय होने लगा है॥ १५॥

अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि।
स्वप्नान्ते जागरान्ते च तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १६॥

कुन्तीनन्दन! बड़े विस्मयकी बात है कि तुम्हें सोते और जागतेमें उलटे परिणामकी सूचना देनेवाले अपशकुन दिखायी देते हैं। इसीसे तुम शान्तिकी इच्छा प्रकट कर रहे हो॥

अहो नाशंससे किंचित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः॥ १७॥

अहो! कायर और नपुंसककी भाँति इस समय तुम अपनेमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते। तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, जिससे तुम्हारी मानसिक दशा बिगड़ गयी है॥ १७॥

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १८॥

जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय काँपता है, मन शिथिल होता जाता है, तुम्हारी जाँघें मानो अकड़ गयी हैं; इसीलिये तुम शान्ति चाहते हो॥ १८॥

अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम्।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव॥ १९॥

पार्थ! कहते हैं कि मनुष्यका चित्त सदा एक निश्चयपर अटल नहीं रहता। वह हवाके वेगसे हिलती हुई सेमलके फलकी गाँठके समान डाँवाडोल रहता है॥ १९॥

तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी।
मनांसि पाण्डुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव॥ २०॥

यदि गौएँ मनुष्योंकी बोली बोलें, तो वह जैसे बिगड़ी हुई होगी, उसी प्रकार तुम्हारी यह बुद्धि विकृत होकर अगाध समुद्रमें नावके बिना डूबनेवाले मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके मनको चिन्तामग्न किये देती है॥ २०॥

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम्।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः॥ २१॥

भीमसेन! तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है। जैसे पर्वतका चलना आश्चर्यको बात है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्यमें डाल रहा है॥ २१॥

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव॥ २२॥

भारत! तुम अपने कर्मोंकी ओर देखकर और जिस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर भी दृष्टिगत करके खड़े हो जाओ। वीरवर! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्मपर डट जाओ॥ २२॥

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिंदम।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते॥ २३॥

शत्रुदमन! तुम्हारे चित्तमें जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, यह तुम्हारे-जैसे शूरवीरके योग्य कदापि नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रमसे प्राप्त नहीं करता, उसे अपने उपभोगमें नहीं लाता है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः।
सदश्ववत् समाधावद् बभाषे तदनन्तरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सदा क्रोध और अमर्षमें भरे रहनेवाले भीमसेन पहले सुशिक्षित घोड़ेकी भाँति सरपट भागने लगे (जल्दी-जल्दी बोलने लगे); फिर धीरे-धीरे बोले ॥ १ ॥

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत।
प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम्॥ २॥
वेत्सि दाशार्ह सत्यं मे दीर्घकालं सहोषितः।

भीमसेनने कहा—अच्युत ! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परंतु आप समझ कुछ और ही रहे हैं। दशार्हनन्दन ! आप दीर्घकालतक मेरे साथ रहे हैं। अतः मेरे विषयमें यह सच्ची जानकारी रखते ही होंगे कि मेरा युद्धमें अत्यन्त अनुराग है और मेरा पराक्रम भी मिथ्या नहीं है ॥ २½ ॥

उत वा मां न जानासि प्लवन् ह्रद इवाप्लवे॥ ३॥
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि।

अथवा यह भी सम्भव है कि बिना नौकाके अगाध सरोवरमें तैरनेवाले पुरुषको जैसे उसकी गहराईका पता नहीं चलता, उसी तरह आप मुझे अच्छी तरह न जानते हों। इसीलिये आप अनुचित वचनोंद्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं ॥ ३½ ॥

कथं हि भीमसेनं मां जानन् कश्चन माधव॥ ४॥
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि।

माधव ! मुझ भीमसेनको अच्छी तरह जाननेवाला कोई भी मनुष्य मेरे प्रति ऐसे अयोग्य वचन, जैसे आप कह रहे हैं, कैसे कह सकता है ? ॥ ४½ ॥

तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनन्दन॥ ५॥
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः।

वृष्णिकुलनन्दन ! इसीलिये मैं आपसे अपने उस पौरुष तथा बलका वर्णन करना चाहता हूँ, जिसकी समानता दूसरे लोग नहीं कर सकते ॥ ५½ ॥

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः॥ ६॥
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः।

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना सर्वथा नीच पुरुषोंका ही कार्य है, तथापि आपने जो मेरे सम्मानके विपरीत बातें कहकर मेरा तिरस्कार किया है, उससे पीड़ित होकर मैं अपने बलका बखान करता हूँ ॥ ६½ ॥

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः॥ ७॥
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ।

श्रीकृष्ण ! आप इस भूतल और स्वर्गलोकपर दृष्टिपात करें। इन्हीं दोनोंके भीतर ये समस्त प्रजाजन निवास करते हैं। ये दोनों सबके माता-पिता हैं। इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है। ये दूसरोंके आधार होते हुए भी स्वयं आधार-शून्य हैं ॥ ७½ ॥

यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव॥ ८॥
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे।

यदि ये दोनों लोक सहसा कुपित होकर दो शिलाओंकी भाँति परस्पर टकराने लगें, तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओंसे रोक सकता हूँ ॥ ८½ ॥

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव॥ ९॥
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम्।

लोहेके विशाल परिघोंकी भाँति मेरी इन मोटी भुजाओं-का मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिये। मैं ऐसे किसी वीर पुरुषको नहीं देखता, जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाय ॥ ९½ ॥

हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित् स्वयम्॥ १०॥
मयाभिपन्नं त्रायेरन् बलमास्थाय न त्रयः।

जो मेरी पकड़में आ जायगा, उसे हिमालय पर्वत, विशाल महासागर तथा बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले साक्षात् वज्रधारी इन्द्र—ये तीनों अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बचा नहीं सकते ॥ १०½ ॥

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः॥ ११॥
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले।

पाण्डवोंके प्रति आततायी बने हुए इन समस्त क्षत्रियों-को, जो युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, मैं नीचे पृथ्वीपर गिरा-कर पैरोंतले रौंद डालूँगा ॥ ११½ ॥

न हि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत॥ १२॥
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः।

अच्युत ! मैंने राजाओंको जिस प्रकार युद्धमें जीतकर अपने अधीन किया था, मेरे उस पराक्रमसे आप अपरिचित नहीं हैं ॥ १२½ ॥

अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम्॥ १३ ॥
विगाढे युधि सम्बाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन।

जनार्दन ! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रमको न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते हुए सूर्यकी प्रभाके समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे ॥ १३½ ॥

परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन्॥ १४ ॥

पके हुए घावको चाकूसे चीरने या उकसानेवाले पुरुषके समान आप मुझे अपने कठोर वचनोंद्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे हैं ? ॥ १४ ॥

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ॥ १५ ॥

मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, उससे भी बढ़-चढ़कर मुझे समझें। जिस समय योद्धाओंसे खचाखच भरे हुए युद्धमें भयानक मार-काट मचेगी, उस दिन मुझे देखियेगा ॥ १५ ॥

मया प्रणुन्नान् मातङ्गान् रथिनः सादिनस्तथा।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नन्तं क्षत्रियर्षभान्॥१६॥
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षन्तं वरान् वरान्।

जब (घमासान युद्धमें) मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारोंको धराशायी करना और फेंकना आरम्भ करूँगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रियवीरोंका वध करने लगूँगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान वीरोंका संहार कर रहा हूँ ॥१६½॥

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः॥ १७ ॥
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन्॥१८॥

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है। मधुसूदन ! यदि समस्त संसार अत्यन्त कुपित होकर मुझपर आक्रमण करे, तो भी उससे मुझे भय नहीं है; किंतु मैंने जो शान्तिका प्रस्ताव किया है, यह तो केवल मेरा सौहार्द ही है। मैं दयावश सारे क्लेश सह लेनेको तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमसेनवाक्यसम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७६॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको आश्वासन देना

श्रीभगवानुवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम्।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—भीमसेन ! मैंने तो तुम्हारा मनोभाव जाननेके लिये ही प्रेमसे ये बातें कही हैं, तुमपर आक्षेप करने, पण्डिताई दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देनेकी इच्छासे कुछ नहीं कहा है ॥ १ ॥

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद् बलम्।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम्॥ २ ॥

मैं तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूँ। तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी परिचित हूँ और तुमने जो बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं; अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ॥ २ ॥

यथा चात्मनि कल्याणं सम्भावयसि पाण्डव।
सहस्रगुणमप्येतत् त्वयि सम्भावयाम्यहम् ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम अपनेमें जैसे कल्याणकारी गुणकी सम्भावना करते हो, उससे भी सहस्रगुने सद्गुणोंकी सम्भावना तुममें मैं करता हूँ ॥ ३ ॥

यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः॥ ४ ॥

भीमसेन ! समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित जैसे प्रतिष्ठित कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने बन्धुओं और सुहृदोंसहित तुम वैसी ही प्रतिष्ठाके योग्य हो ॥ ४ ॥

जिज्ञासन्तो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर।
पर्यायं नाध्यवस्यन्ति दैवमानुषयोर्जनाः॥ ५ ॥

वृकोदर ! दैवधर्म (प्रारब्ध) और मानुष धर्म (पुरुषार्थ) का स्वरूप संदिग्ध है। लोग दैव और पुरुषार्थ दोनोंके परिणामको जानना चाहते हैं, परंतु किसी निश्चय-तक पहुँच नहीं पाते ॥ ५ ॥

स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्यार्थसिद्धिषु।
विनाशेऽपि स एवास्य संदिग्धं कर्म पौरुषम्॥ ६ ॥

क्योंकि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही कभी पुरुषकी कार्य-सिद्धिमें

कारण बनकर कभी विनाशका भी हेतु बन जाता है। इस प्रकार जैसे दैवका फल संदिग्ध है, वैसे ही पुरुषार्थका भी फल संदिग्ध है ॥ ६ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ७ ॥

दोषदर्शी विद्वानोंद्वारा अन्य रूपमें देखे या विचारे हुए कर्म वायुके वेगोंकी भाँति बदलकर किसी दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सुमन्त्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम्।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ॥ ८ ॥

अच्छी तरह विचारपूर्वक निश्चित किये हुए, उत्तम नीतिसे युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थसाध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धिमें विघ्न पड़ जाता है ॥ ८ ॥

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! दैवकृत कार्य भी समाप्त होनेसे पहले पुरुषार्थ-द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जैसे शीतका निवारण वस्त्रसे, गर्मीका व्यजनसे, वर्षाका छत्रसे और भूख-प्यासका निवारण अन्न और जलसे हो जाता है ॥ ९ ॥

यदन्यद् दिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयंकृतम्।
तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥

प्रारब्धके अतिरिक्त जो पुरुषका स्वयं अपना किया हुआ कर्म है, उससे भी फलकी सिद्धि होती है। इस विषयमें यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं ॥ १० ॥

लोकस्य नान्यतो वृत्तिः पाण्डवान्यत्र कर्मणः।
एवंबुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुरुषार्थको छोड़कर दूसरे किसी साधनसे—केवल दैवसे मनुष्यका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर उसे कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंके सम्बन्धसे फलकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥

जो अपनी बुद्धिमें ऐसा निश्चय करके कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, वह फलकी सिद्धि न होनेपर दुखी नहीं होता और फलकी प्राप्ति होनेपर भी हर्षका अनुभव नहीं करता ॥१२॥

तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता।
नैकान्तसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥

भीमसेन ! मुझे इस विषयमें अपना यह निश्चय बताना अभीष्ट है कि युद्धमें शत्रुओंके साथ भिड़नेपर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

नातिप्रहीणरश्मिः स्यात् तथा भावविपर्यये।
विषादमर्च्छेद् ग्लानिं वाप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

मनोभाव बदल जाय अथवा प्रारब्धके अनुसार कोई विपरीत घटना घटित हो जाय, तो भी सहसा अपने तेज और उत्साहको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये। विषाद एवं ग्लानिका अनुभव नहीं करना चाहिये—यह बात भी मैंने तुम्हें आवश्यक समझकर बतायी है ॥ १४ ॥

श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पाण्डव।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! कल सबेरे मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप जाकर तुमलोगोंके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी बाधा न पहुँचाते हुए दोनों पक्षोंमें संधि करानेका प्रयत्न करूँगा ॥

शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशो मम।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥

यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अक्षय यशकी प्राप्ति होगी। तुमलोगोंका मनोरथ भी पूर्ण होगा और कौरवोंका भी परम कल्याण होगा ॥ १६ ॥

ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः।
कुरवो युद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥

यदि वे कौरव युद्धका ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे संधिविषयक प्रस्तावको ठुकरा देंगे, तब यहाँ युद्ध ही होगा, जो भयंकर कर्म है ॥ १७ ॥

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद् वोढव्य इतरो जनः ॥१८॥

भीमसेन ! इस युद्धमें सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रक्खा जायगा एवं अर्जुन इस भारको धारण करेगा। अन्य लोगोंका भार भी तुम्हीं दोनोंको ढोना है ॥ १८ ॥

अहं हि यन्ता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति।
धनंजयस्यैष कामो न हि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

युद्ध आरम्भ होनेपर मैं अर्जुनका सारथि बनूँगा। यही अर्जुनकी इच्छा है। तुम यह न समझो कि मैं युद्ध होने देना नहीं चाहता ॥ १९ ॥

तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! इसीलिये जब तुम कायरतापूर्ण वचनोंद्वारा शान्तिका प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्धविषयक विचारके बदल जानेका संदेह हुआ, जिसके कारण पूर्वोक्त बातें कहकर मैंने तुम्हारे तेजको उद्दीप्त किया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका कथन

अर्जुन उवाच

उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद् वाच्यं जनार्दन।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशमम‍त्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो।
लोभाद् वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद् वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥

तदनन्तर अर्जुनने कहा—जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, वह सब तो महाराज युधिष्ठिरने ही कह दिया। शत्रुओंको संतप्त करनेवाले प्रभो ! आपकी बात सुनकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप धृतराष्ट्रके लोभ तथा हमारी प्रस्तुत दीनताके कारण संधि करानेका कार्य सरल नहीं समझ रहे हैं ॥ १-२ ॥

अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम्।
न चान्तरेण कर्माणि पौरुषेण फलोदयः ॥ ३ ॥

अथवा आप मनुष्यके पराक्रमको निष्फल मानते हैं; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म (प्रारब्ध) के बिना केवल पुरुषार्थसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत्।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥

आपने जो बात कही है, वह ठीक है; परंतु सदा वैसा ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी कार्यको असाध्य नहीं समझना चाहिये ॥ ४ ॥

किं चैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम्।
कुर्वन्ति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥

आप ऐसा मानते हैं कि हमारा यह वर्तमान कष्ट ही हमें पीडित करनेवाला है; परंतु वास्तवमें हमारे शत्रुओंके किये हुए वे कार्य ही हमें कष्ट दे रहे हैं, जिनका उनके लिये भी कोई विशेष फल नहीं है ॥ ५ ॥

सम्पाद्यमानं सम्यक् च स्यात् कर्म सफलं प्रभो।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत् परैः ॥ ६ ॥

प्रभो ! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है। श्रीकृष्ण ! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय ॥ ६ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च भवान् नः प्रथमः सुहृत्।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ॥ ७ ॥

वीरवर ! जैसे प्रजापति ब्रह्माजी देवताओं तथा असुरोंके भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा कौरवोंके भी प्रधान सुहृद् हैं ॥ ७ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम्।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ॥ ८ ॥

इसलिये आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे कौरवों तथा पाण्डवोंके भी दुःखका निवारण हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे लिये हितकर कार्य करना आपके लिये दुष्कर नहीं है ॥ ८ ॥

एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ॥ ९ ॥

जनार्दन ! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। प्रभो ! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे ॥ ९ ॥

चिकीर्षितमथान्यत् ते तस्मिन् वीर दुरात्मनि।
भविष्यति च तत् सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ॥ १० ॥

वीर ! उस दुरात्मा दुर्योधनके प्रति आपको कुछ और करना अभीष्ट हो, तो जैसी आपकी इच्छा होगी, वह सब कार्य उसी रूपमें सम्पन्न होगा ॥ १० ॥

शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम्।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः।
न स नार्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबान्धवः ॥ ११ ॥
येन धर्मसुते दृष्ट्वा न सा श्रीरुपमर्पिता।
यच्चाप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ॥ १२ ॥
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना।

श्रीकृष्ण ! कौरवोंके साथ हमारी संधि हो अथवा आप जो कुछ करना चाहते हों, वही हो। विचार करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आपकी जो इच्छा हो, वही हमारे लिये गौरव तथा समादरकी वस्तु है। वह दुष्टात्मा दुर्योधन अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित वधके

ही योग्य है, जो धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास आयी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन न कर सका। इतना ही नहीं, जब कपटद्यूतका आश्रय लेनेवाले उस क्रूरात्माने किसी धर्मसम्मत उपाय युद्ध आदिको अपने लिये सफलता देनेवाला नहीं देखा, तब कपटपूर्ण उपायसे उस सम्पत्तिका अपहरण कर लिया ॥ ११-१२½ ॥

कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ॥ १३ ॥
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी धनुर्धर पुरुष किसीके द्वारा युद्धके लिये आमन्त्रित होनेपर कैसे पीछे हट सकता है ? भले ही वैसा करनेपर उसके लिये प्राण-त्यागका संकट भी उपस्थित हो जाय ॥ १३½॥

अधर्मेण जितान् दृष्ट्वा वने प्रव्रजितांस्तथा ॥ १४ ॥
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः।

वृष्णिकुलनन्दन ! हमलोग अधर्मपूर्वक जूएमें पराजित किये गये और वनमें भेज दिये गये । यह सब देखकर मैंने मन-ही-मन पूर्णरूपसे निश्चय कर लिया था कि दुर्योधन मेरे द्वारा वधके योग्य है ॥ १४½ ॥

न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना वेतरेण वा ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! आप मित्रोंके हितके लिये जो कुछ करना चाहते हैं, वह आपके लिये अद्भुत नहीं है। मृदु अथवा कठोर, जिस उपायसे भी सम्भव है, किसी तरह अपना मुख्य कार्य सफल होना चाहिये ॥ १५ ॥

अथवा मन्यसे ज्यायान् वधस्तेषामनन्तरम्।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ॥ १६ ॥

अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय। फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये ॥

जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ॥ १७ ॥

आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था ॥

स नाम सम्यग् वर्तेत पाण्डवेष्विति माधव।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ॥ १८ ॥

माधव ! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है। उसके साथ संधिका सारा प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है ॥ १८ ॥

तस्माद् यन्मन्यसे युक्तं पाण्डवानां हितं च यत्।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनन्तरम् ॥ १९ ॥

अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण ! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करने योग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको उत्तर देना

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है। मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव—दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें ॥ १ ॥

सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥ २ ॥
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम्।

अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि (इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है) कुन्तीनन्दन ! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके विना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता ॥ २½ ॥

तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ॥ ३ ॥
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम्।

जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है] ॥ ३½ ॥

तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥ ४ ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम्।

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धिद्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ॥ ४½ ॥

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥ ५ ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन।

मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है; उतना संधिस्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥ ५½ ॥

स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥ ६ ॥
न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा।

दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता ॥ ६½ ॥

तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ॥ ७ ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा।

इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं ॥ ७½ ॥

स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥ ८ ॥
अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः।

कुन्तीनन्दन ! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जब-तक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा ॥ ८½ ॥

न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट्।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं। उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगने-पर भी राज्य नहीं देगा ॥ ९ ॥

न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिर शासनम्।
उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ॥ १० ॥
तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः।
तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुल-कलंक पापात्मा उन सब बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा। हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा ॥ १०-११ ॥

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥ १२ ॥
विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना।
न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

भारत ! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं; जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है ॥ १२-१३ ॥

असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः।
न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है ॥ १४ ॥

जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम्।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥ १५ ॥

महाबाहो ! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम्।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ॥ १६ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजानकी भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो ? ॥ १६ ॥

यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार ! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो। फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है ? ॥

यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी ॥ १८ ॥

कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम्।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥ १९ ॥

विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवासका वर्ष पूरा हो चुका था। उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे

याचना की कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य देकर उनसे मेल कर लो; परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की ॥ १९ ॥

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ॥ २० ॥

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये। परंतु दुर्योधन तुमलोगोंपर क्षणभरके लिये किञ्चिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है ॥ २० ॥

सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम्।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

मुझे वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है। यदि यह सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना होगा कि दुरात्मा दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड कैसे दिया जाय ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

नकुलका निवेदन

नकुल उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत् त्वया ॥ १ ॥

नकुल बोले—माधव ! धर्मज्ञ और उदार धर्मराजने बहुत-सी बातें कही हैं और आपने उन्हें सुना है ॥ १ ॥

मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवात्मनः ॥ २ ॥

यदुकुलभूषण ! राजाका मत जानकर भाई भीमसेनने भी पहले संधिस्थापनकी, फिर अपने बाहुबलकी बात बतायी है ॥ २ ॥

तथैव फाल्गुनेनापि यदुक्तं तत् त्वया श्रुतम्।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवतासकृत् ॥ ३ ॥

वीर ! इसी प्रकार अर्जुनने भी जो कुछ कहा है, वह भी आपने सुन ही लिया है। आपका जो अपना मत है, उसे भी आपने अनेक बार प्रकट किया है ॥ ३ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान्।
यत् प्राप्तकालं मन्येथास्तत् कुर्याः पुरुषोत्तम ॥ ४ ॥

परंतु पुरुषोत्तम ! इन सब बातोंको पीछे छोड़कर और विपक्षियोंके मतको अच्छी तरह सुनकर आपको समयके अनुसार जो कर्तव्य उचित जान पड़े, वही कीजियेगा ॥ ४ ॥

तस्मिंस्तस्मिन् निमित्ते हि मतं भवति केशव।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले केशव ! भिन्न-भिन्न कारण उपस्थित होनेपर मनुष्योंके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं; अतः मनुष्यको वही कार्य करना चाहिये, जो उसके योग्य और समयोचित हो ॥ ५ ॥

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! किसी वस्तुके विषयमें सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और ही जाता है। संसारके मनुष्य स्थिर विचारवाले नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण ! जब हम वनमें निवास करते थे, उस समय हमारे विचार कुछ और ही थे, अज्ञातवासके समय वे बदलकर कुछ और हो गये और उस अवधिको पूर्ण करके जब हम सबके सामने प्रकट हुए हैं, तबसे हमलोगोंका विचार कुछ और हो गया है ॥ ७ ॥

अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

वृष्णिनन्दन ! वनमें विचरते समय राज्यके विषयमें हमारा वैसा आकर्षण नहीं था, जैसा इस समय है ॥ ८ ॥

निवृत्तवनवासान् नः श्रुत्वा वीर समागताः।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ९ ॥

वीर जनार्दन ! हमलोग वनवासकी अवधि पूरी करके आ गये हैं; यह सुनकर आपकी कृपासे ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं ॥ ९ ॥

इमान् हि पुरुषव्याघ्रानचिन्त्यबलपौरुषान्।
आत्तशस्त्रान् रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ॥ १० ॥

यहाँ जो पुरुषसिंह वीर उपस्थित हैं, इनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं। रणभूमिमें इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित देखकर किस पुरुषका हृदय भयभीत न हो उठेगा ? ॥ १० ॥

स भवान् कुरुमध्ये तं सान्त्वपूर्वं भयोत्तरम् ।
ब्रूयाद् वाक्यं यथा मन्दो न व्यथेत सुयोधनः ॥ ११ ॥

आप कौरवोंके बीचमें उससे पहले सान्त्वनापूर्ण बातें कहियेगा और अन्तमें युद्धका भय भी दिखाइयेगा, जिससे मूर्ख दुर्योधनके मनमें व्यथा न हो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चापराजितम् ।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव ॥ १२ ॥
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम् ।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव ॥ १३ ॥
काशिराजं च विक्रान्तं धृष्टकेतुं च चेदिपम् ।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुध्येत को युधि ॥ १४ ॥

केशव ! अपने शरीरमें मांस और रक्तका बोझ बढ़ानेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें युधिष्ठिर, भीमसेन, किसीसे पराजित न होनेवाले अर्जुन, सहदेव, बलराम, महापराक्रमी सात्यकि, पुत्रोंसहित विराट, मन्त्रियोंसहित द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पराक्रमी काशिराज, चेदिनरेश धृष्टकेतु तथा आपका और मेरा सामना कर सके ? ॥ १२—१४ ॥

स भवान् गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम् ।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम् ॥ १५ ॥

महाबाहो ! आप वहाँ केवल जानेमात्रसे धर्मराजके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर देंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः ।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयानघ ॥ १६ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा बाह्लीक—ये आपके बतानेपर कल्याणकारी मार्गको समझनेमें समर्थ हैं ॥ १६ ॥

ते चैनमनुनेष्यन्ति धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम् ॥ १७ ॥

ये लोग राजा धृतराष्ट्र तथा मन्त्रियोंसहित पापाचारी दुर्योधनको (समझा-बुझाकर) राहपर लायँगे ॥ १७ ॥

श्रोता चार्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन ।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जहाँ विदुरजी किसी प्रयोजनको सुनें और आप उसका प्रतिपादन करें, वहाँ आप दोनों मिलकर किस बिगड़ते हुए कार्यको सिद्धिके मार्गपर नहीं ला देंगे ? ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें नकुलवाक्यविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युद्धके लिये सहदेव तथा सात्यकिकी सम्मति और समस्त योद्धाओंका समर्थन

सहदेव उवाच

यदेतत् कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः ।
यथा च युद्धमेव स्यात् तथा कार्यमरिंदम ॥ १ ॥

सहदेव बोले—शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! महाराज युधिष्ठिरने यहाँ जो कुछ कहा है, यह सनातन धर्म है; परंतु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे युद्ध होकर ही रहे ॥ १ ॥

यदि प्रशममिच्छेयुः कुरवः पाण्डवैः सह ।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः ॥ २ ॥

दशार्हनन्दन ! यदि कौरव पाण्डवोंके साथ संधि करना चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्धकी ही योजना बनाइयेगा ॥ २ ॥

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम् ।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण ! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है ? ॥ ३ ॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः ।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि भीमसेन, अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका ही अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्मको छोड़कर रणभूमिमें दुर्योधनके साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

सात्यकिरुवाच

सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः ।
दुर्योधनवधे शान्तिस्तस्य कोपस्य मे भवेत् ॥ ५ ॥

सात्यकिने कहा—महाबाहो ! परम बुद्धिमान् सहदेव ठीक कहते हैं । दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसके वधसे ही शान्त होगा ॥ ५ ॥

न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान् वने ।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान् प्रेक्ष्य पाण्डवान् ॥ ६ ॥

क्या आप भूल गये हैं; जब कि वनमें वल्कल और

मृगचर्म धारण करके दुखी हुए पाण्डवोंको देखकर आपका भी क्रोध उमड़ आया था ? ॥ ६ ॥

तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः ।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ॥ ७ ॥

अतः पुरुषोत्तम ! युद्धमें कठोरता दिखानेवाले माद्रीनन्दन शूरवीर सहदेवने जो बात कही है, वही हम सम्पूर्ण योद्धाओंका मत है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद् योधानां तत्र सर्वशः॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! परम बुद्धिमान् सात्यकिके ऐसा कहते ही वहाँ सब ओरसे समस्त योद्धाओंका अत्यन्त भयंकर सिंहनाद शुरू हो गया ॥ ८ ॥

सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयन्तो युयुत्सवः ॥ ९ ॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन सभी वीरोंने साधु-साधु कहकर सात्यकिका हर्ष बढ़ाते हुए उनके वचनकी सर्वथा भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें सहदेव-सात्यकिवाक्यविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे अपना दुःख सुनाना और श्रीकृष्णका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ॥ १ ॥
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा ।
सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सिरपर अत्यन्त काले और लम्बे केश धारण करनेवाली द्रुपदराजकुमारी कृष्णा राजा युधिष्ठिरके धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शोकसे कातर हो उठी और महारथी सात्यकि तथा सहदेवकी प्रशंसा करके वहाँ बैठे हुए दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णसे कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ १-२ ॥

भीमसेनं च संशान्तं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ॥ ३ ॥

भीमसेनको अत्यन्त शान्त देख मनस्विनी द्रौपदीके मनमें बड़ा दुःख हुआ । उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोली—॥ ३ ॥

विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन ।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पाण्डवाः सुखात् ॥४॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन ।
यथा च संजयो राज्ञा मन्त्रं रहसि श्रावितः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव ।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ ६ ॥

'धर्मके ज्ञाता महाबाहु मधुसूदन ! आपको तो मालूम ही है कि मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने किस प्रकार शठताका आश्रय लेकर पाण्डवोंको सुखसे वञ्चित कर दिया। दशार्हनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहनेके लिये संजयको एकान्तमें जो मन्त्र (अपना विचार) सुनाकर यहाँ भेजा था, वह भी आपको ज्ञात ही है तथा धर्मराजने संजयसे जैसी बातें कही थीं, उन सबको भी आपने सुन ही लिया है ॥ ४-६ ॥

पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा इति महाद्युते ।
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ॥ ७ ॥
अवसानं महाबाहो कञ्चिदेकं च पञ्चमम् ।
इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चास्य केशव ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी केशव ! (इन्होंने संजयसे इस प्रकार कहा था —) 'संजय ! तुम दुर्योधन और उसके सुहृदोंके सामने मेरी यह माँग रख देना—'तात ! तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अन्तिम पाँचवाँ कोई एक गाँव—इन पाँच गाँवोंको ही दे दो' ॥ ७-८ ॥

न चापि ह्यकरोद् वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह ह्रीमतः संधिमिच्छतः॥ ९ ॥

'दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण ! संधिकी इच्छा रखनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिरका यह (नम्रतापूर्ण) वचन सुनकर भी उसे दुर्योधनने स्वीकार नहीं किया ॥ ९ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः ।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ॥ १० ॥

'भगवन् ! आपके वहाँ जानेपर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा ॥ १० ॥

शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः सृंजयैः सह ।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ॥ ११ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग सृञ्जय वीरोंके साथ क्रोधमें भरी हुई दुर्योधनकी भयंकर सेनाका अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ॥ ११ ॥

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ॥ १२ ॥

मधुसूदन ! कौरवोंके प्रति साम और दाननीतिका प्रयोग करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतः उनपर आपको कभी कृपा नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः ।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनकी रक्षा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि जो शत्रु साम और दानसे शान्त न हों, उनपर दण्डका प्रयोग करे ॥ १३ ॥

तस्मात् तेषु महादण्डः क्षेप्तव्यः क्षिप्रमच्युत ।
त्वया चैव महाबाहो पाण्डवैः सह सृंजयैः ॥ १४ ॥

अतः महाबाहु अच्युत ! आपको तथा सृञ्जयोंसहित पाण्डवोंको उचित है कि वे उन शत्रुओंको शीघ्र ही महान् दण्ड दें ॥ १४ ॥

एतत् समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम् ।
क्रियमाणं भवेत् कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ॥ १५ ॥

यही कुन्तीकुमारोंके योग्य कार्य है । श्रीकृष्ण ! यदि यह किया जाय तो आपके भी यशका विस्तार होगा और समस्त क्षत्रिय-समुदायको भी सुख मिलेगा ॥ १५ ॥

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः ।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ १६ ॥

दशार्हनन्दन ! अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रियको चाहिये कि वह लोभका आश्रय लेनेवाले मनुष्यको भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले ॥ १६ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणात् तात सर्वपापेष्ववस्थितात्।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ १७ ॥

तात ! ब्राह्मणोंके सिवा दूसरे वर्णोंपर ही यह नियम लागू होता है । ब्राह्मण सब पापोंमें डूबा हो; तब भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु तथा दानमें दी हुई वस्तुओंका सर्वप्रथम भोक्ता है अर्थात् पहला पात्र है ॥ १७ ॥

यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन ।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जैसे अवध्यका वध करनेपर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्यका वध न करनेसे भी दोषकी प्राप्ति होती है । यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १८ ॥

यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु ।
पाण्डवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ! आप सैनिकोंसहित सृञ्जयों, पाण्डवों तथा यादवोंके साथ ऐसा प्रयत्न कीजिये; जिससे आपको यह दोष न छू सके ॥ १९ ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन ।
का तु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥ २० ॥

जनार्दन ! आपपर अत्यन्त विश्वास होनेके कारण मैं अपनी कही हुई बातको पुनः दुहराती हूँ । केशव ! इस पृथ्वीपर मेरे समान स्त्री कौन होगी ? ॥ २० ॥

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥ २१ ॥

मैं महाराज द्रुपदकी पुत्री हूँ । यज्ञवेदीके मध्यभागसे मेरा जन्म हुआ है । श्रीकृष्ण ! मैं वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी प्रिय सखी हूँ ॥ २१ ॥

आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ॥ २२ ॥

मैं परम प्रतिष्ठित अजमीढकुलमें व्याहकर आयी हूँ । महात्मा राजा पाण्डुकी पुत्रवधू तथा पाँच इन्द्रोंके समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी पटरानी हूँ ॥ २२ ॥

सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः ।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥ २३ ॥

पाँच वीर पतियोंसे मैंने पाँच महारथी पुत्रोंको जन्म दिया है । श्रीकृष्ण ! जैसे अभिमन्यु आपका भानजा है, उसी प्रकार मेरे पुत्र भी धर्मतः आपके भानजे ही हैं ॥ २३ ॥

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता ।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥ २४ ॥

केशव ! इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होनेपर भी मैं पाण्डवोंके देखते-देखते और आपके जीते-जी केश पकड़कर सभामें लायी गयी और मेरा बारंबार अपमान किया गया एवं मुझे क्लेश दिया गया ॥ २४ ॥

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥

पाण्डवों, पाञ्चालों और यदुवंशियोंके जीते-जी मैं पापी कौरवोंकी दासी बनी और उसी रूपमें सभाके बीच मुझे उपस्थित होना पड़ा ॥ २५ ॥

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे॥ २६ ॥

पाण्डव यह सब कुछ देख रहे थे, तो भी न तो इनका

क्रोध ही जागा और न इन्होंने मुझे उनके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा ही की। उस समय मैंने (अत्यन्त असहाय होकर) मन-ही-मन आपका चिन्तन किया और कहा—'गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये' (प्रभो! तब आपने ही कृपा करके मेरी लाज बचायी)॥

यत्र मां भगवान् राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत्।
वरं वृणीष्व पाञ्चालि वरार्हासि मता मम॥ २७॥

उस सभामें मेरे ऐश्वर्यशाली श्वशुर राजा धृतराष्ट्रने मुझे (आदर देते हुए) कहा—'पाञ्चालराजकुमारी! मैं तुम्हें अपनी ओरसे मनोवाञ्छित वर पानेके योग्य मानता हूँ। तुम कोई वर माँगो'॥ २७॥

अदासाः पाण्डवाः सन्तु सरथाः सायुधा इति।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव॥ २८॥

तब मैंने उनसे कहा—'पाण्डव रथ और आयुधोंसहित दासभावसे मुक्त हो जायँ।' केशव! मेरे इतना कहनेपर ये लोग वनवासका कष्ट भोगनेके लिये दासभावसे मुक्त हुए थे॥

एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन।
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबान्धवान्॥ २९॥

जनार्दन! हमलोगोंपर ऐसे-ऐसे महान् दुःख आते रहे हैं, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। कमलनयन! पति, कुटुम्बी तथा बान्धवजनोंसहित हमलोगोंकी आप रक्षा करें॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात्॥ ३०॥

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया॥ ३०॥

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग् बलम्।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति॥ ३१॥

भगवन्! ऐसी दशामें यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुनके धनुषधारण और भीमसेनके बलको धिक्कार है॥ ३१॥

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम्॥ ३२॥

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझ-पर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पूर्णरूपसे क्रोध कीजिये॥ ३२॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम्।
सुनीलमसितापाङ्गी सर्वगन्धाधिवासितम्॥ ३३॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम्।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना॥ ३४॥
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सुन्दर अङ्गोंवाली, श्यामलोचना, कमलनयनी एवं गजगामिनी द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने उन केशोंको, जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, घुँघराले, अत्यन्त काले, एकत्र आबद्ध होनेपर भी कोमल, सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित, सभी शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा विशाल सर्पके समान कान्तिमान् थे, बायें हाथमें लेकर कमलनयन श्रीकृष्णके पास गयी और नेत्रोंमें आँसू भरकर इस प्रकार बोली—॥ ३३—३५॥

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता॥ ३६॥

'कमललोचन श्रीकृष्ण! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन केशोंको याद रक्खें॥ ३६॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः॥ ३७॥

'श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों-के साथ संधिकी कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रोंके साथ शत्रुओंसे युद्ध करेंगे॥ ३७॥

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह॥ ३८॥

'मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्यु-को प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे॥ ३८॥

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥

'यदि मैं दुःशासनकी साँवली भुजाको कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥३९॥

त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे।
विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥

'प्रज्वलित अग्निके समान इस प्रचण्ड क्रोधको हृदयमें रखकर प्रतीक्षा करते मुझे तेरह वर्ष बीत गये हैं ॥ ४० ॥

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्शल्यपीडितम्।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ॥ ४१ ॥

'आज भीमसेनके संधिके लिये कहे गये वचन मेरे हृदयमें बाणके समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हाय! ये महाबाहु आज (मेरे अपमानको भुलाकर) केवल धर्मका ही ध्यान धर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥४२॥
स्तनौ पीनायतश्रोणी सहितावभिवर्षती।
द्रवीभूतमिवात्युष्णं मुञ्चन्ती वारि नेत्रजम् ॥ ४३ ॥

इतना कहनेके बाद पीन एवं विशाल नितम्बोंवाली विशाललोचना द्रुपदकुमारी कृष्णाका कण्ठ आँसुओंसे रुँध गया। वह काँपती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें फूट-फूटकर रोने लगी। उसके परस्पर सटे हुए स्तनोंपर नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी वर्षा होने लगी; मानो वह अपने भीतरकी द्रवीभूत क्रोधाग्निको ही उन बाष्पबिन्दुओंके रूपमें बिखेर रही हो ॥

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥ ४४ ॥

तब महाबाहु केशवने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'कृष्णे! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी ॥ ४४ ॥

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥ ४५ ॥

'भामिनी! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी ॥ ४५ ॥

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ ४६ ॥

'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है ॥ ४६ ॥

धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥ ४७ ॥

'यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे ॥ ४७ ॥

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ४८ ॥

'हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

सत्यं ते प्रति जानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥४९॥

'कृष्णे! अपने आँसुओंको रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं' ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें द्रौपदी-कृष्णसंवादविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थान, युधिष्ठिरका माता कुन्ती एवं कौरवोंके लिये संदेश तथा श्रीकृष्णको मार्गमें दिव्य महर्षियोंका दर्शन

अर्जुन उवाच

कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृदनुत्तमः।
सम्बन्धी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! आजकल आप ही समस्त कौरवोंके सर्वोत्तम सुहृद् तथा दोनों पक्षोंके नित्य प्रिय सम्बन्धी हैं ॥ १ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम्।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ॥ २ ॥

केशव! पाण्डवोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका मङ्गल सम्पादन करना आपका कर्तव्य है। आप उभयपक्षमें संधि करानेकी शक्ति भी रखते हैं ॥ २ ॥

त्वमितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम् ।
शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद् वाच्यममित्रहन् ॥ ३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप यहाँसे जाकर हमारे अमर्षशील भ्राता दुर्योधनसे ऐसी बातें करें, जो शान्तिस्थापनमें सहायक हों ॥ ३ ॥

त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम् ।
हितं नादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ ४ ॥

यदि वह मूर्ख आपकी कही हुई धर्म और अर्थसे युक्त, संतापनाशक, कल्याणकारी एवं हितकर बातें नहीं मानेगा तो अवश्य ही उसे कालके गालमें जाना पड़ेगा ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम् ।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! जो धर्मसंगत, हमलोगोंके लिये हितकर तथा कौरवोंके लिये भी मङ्गलकारक हो, वही कार्य करनेके लिये मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप यात्रा करूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते ।
मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे ॥ ६ ॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्यः सत्त्ववतां वरः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब रात्रिका अन्धकार दूर हुआ और निर्मल आकाशमें सूर्यदेवके उदित होनेपर उनकी कोमल किरणें सब ओर फैल गयीं। कार्तिक मासके रेवती नक्षत्रमें 'मैत्र' नामक मुहूर्त उपस्थित होनेपर सत्त्वगुणी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं समर्थ श्रीकृष्णने यात्रा आरम्भ की। उन दिनों शरद्-ऋतुका अन्त और हेमन्तका आरम्भ हो रहा था। सब ओर खूब उपजी हुई खेती लहलहा रही थी ॥ ६-७ ॥

मङ्गल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः ।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः ॥ ८ ॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ॥ ९ ॥
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन् कल्याणमग्रतः ॥ १० ॥
तत् प्रतिज्ञाय वचनं पाण्डवस्य जनार्दनः ।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम् ॥ ११ ॥

भगवान् जनार्दनने सबसे पहले प्रातःकाल ऋषियोंके मुखसे मङ्गलपाठ सुननेवाले देवराज इन्द्रकी भाँति विश्वस्त ब्राह्मणोंके मुखसे परम मधुर मङ्गलकारक पुण्याहवाचन सुनते हुए स्नान किया। फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो संध्यावन्दन, सूर्योपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्णकृत्य सम्पन्न किये। इसके बाद बैलकी पीठ छूकर ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और अग्निकी परिक्रमा करके अपने सामने प्रस्तुत की हुई कल्याणकारक वस्तुओंका दर्शन किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी बातोंपर विचार करके जनार्दनने अपने पास बैठे हुए शिनिपौत्र सात्यकिसे इस प्रकार कहा— ॥ ८-११ ॥

रथ आरोप्यतां शङ्खश्चक्रं च गदया सह ।
उपासंगाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहरणानि च ॥ १२ ॥

'युयुधान ! मेरे रथपर शङ्ख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति तथा अन्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लाकर रख दो ॥ १२ ॥

दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ १३ ॥

'कोई अत्यन्त बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; (उससे सतर्क रहना चाहिये ।) फिर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तो दुष्टात्मा ही हैं। उनसे तो सावधान रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता है॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः ।
प्रसस्रुर्योजयिष्यन्तो रथं चक्रगदाभृतः ॥ १४ ॥

तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर उनके आगे चलनेवाले सेवक रथ जोतनेके लिये दौड़ पड़े ॥ १४ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाशुगम् ।
सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम् ॥ १५ ॥

वह रथ प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान्, विमानके सदृश शीघ्रगामी तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी दो गोलाकार चक्रोंसे सुशोभित था ॥ १५ ॥

अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः ।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः ॥ १६ ॥

अर्धचन्द्र, चन्द्र, मत्स्य, मृग, पक्षी, नाना प्रकारके पुष्प तथा सभी तरहके मणि-रत्नोंसे चित्रित एवं जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तरुणादित्यसंकाशं बृहन्तं चारुदर्शनम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं सुध्वजं सुपताकिनम् ॥ १७ ॥

वह तरुण सूर्यके समान प्रकाशमान, विशाल तथा देखनेमें मनोहर था। उसके सभी भागोंमें मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए थे। उस रथकी ध्वजा बहुत ही सुन्दर थी और उसपर उत्तम पताका फहरा रही थी ॥ १७ ॥

सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नन्दिवर्धनम् ॥ १८ ॥

उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी। उसपर व्याघ्रचर्मका आवरण (पर्दा) शोभा पाता था। वह रथ शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष तथा उनके सुयशका नाश करनेवाला था। साथ ही उससे यदुवंशियोंके आनन्दकी वृद्धि होती थी ॥ १८ ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।
स्नातैः सम्पादयामासुः सम्पन्नैः सर्वसम्पदा ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके सेवकोंने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामवाले चारों घोड़ोंको नहला-धुलाकर सब प्रकारके बहुमूल्य आभूषणोंद्वारा सुसज्जित करके उस रथमें जोत दिया ॥ १९ ॥

महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाभिवर्धयन्।
सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ॥ २० ॥

इस प्रकार वह रथ श्रीकृष्णकी महत्ताको और अधिक बढ़ाता हुआ गरुड़चिह्नित ध्वजसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहा था। चलते समय उसके पहियोंसे गम्भीर ध्वनि होती थी ॥ २० ॥

तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुन्दुभिनिस्वनम्।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥ २१ ॥

मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति सुनहरी प्रभासे सुशोभित तथा मेघ और दुन्दुभियोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस रथपर, जो इच्छानुसार चलनेवाले विमानके समान प्रतीत होता था, भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हुए ॥ २१ ॥

ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ २२ ॥

तदनन्तर सात्यकिको भी उसी रथपर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत।
शिवश्चानुववौ वायुः प्रशान्तमभवद् रजः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उस समय क्षणभरमें ही आकाशमें घिरे हुए बादल छिन्न-भिन्न हो अदृश्य हो गये। शीतल, सुखद एवं अनुकूल वायु चलने लगी तथा धूलका उड़ना बंद हो गया ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणानुलोमाश्च मङ्गल्या मृगपक्षिणः।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ॥ २४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी उस यात्राके समय मङ्गलसूचक मृग और पक्षी उनके दाहिने तथा अनुकूल दिशामें जाते हुए उनका अनुसरण करने लगे ॥ २४ ॥

मङ्गल्यार्थप्रदैः शब्दैरन्ववर्तन्त सर्वशः।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

सारस, शतपत्र तथा हंस पक्षी सब ओरसे मङ्गलसूचक शब्द करते हुए मधुसूदन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ २५ ॥

मन्त्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ २६ ॥

मन्त्रपाठपूर्वक दी जानेवाली आहुतियोंसे युक्त बड़े-बड़े होमयज्ञोंद्वारा हविष्य पाकर अग्निदेव प्रदक्षिणक्रमसे उठनेवाली लपटोंके साथ प्रज्वलित हो धूमरहित हो गये ॥ २६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुत्तः कुशिको भृगुः ॥ २७ ॥
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम्।
प्रदक्षिणमवर्तन्त सहिता वासवानुजम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि, मरुत्त, कुशिक तथा भृगु आदि देवर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंने एक साथ आकर यदुलोकको सुख देनेवाले इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णकी दक्षिणावर्त-परिक्रमा की ॥ २७-२८ ॥

एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः।
पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इस प्रकार इन महाभाग महर्षियों तथा साधु-महात्माओंसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने कुरुकुलकी राजधानी हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

तं प्रयान्तमनुप्रायात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥
चेकितानश्च विक्रान्तो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखण्डी च महारथः ॥ ३१ ॥
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ३२ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! श्रीकृष्णके जाते समय उन्हें पहुँचानेके लिये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनके पीछे-पीछे चले। साथ ही भीमसेन, अर्जुन, माद्रीके दोनों पुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, द्रुपद, काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, पुत्रों और केकयोंसहित राजा विराट—ये सभी क्षत्रिय अभीष्ट कार्यकी सिद्धि एवं शिष्टाचारका पालन करनेके लिये उनके पीछे गये ॥ ३०—३२ ॥

ततोऽनुव्रज्य गोविन्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार गोविन्दके पीछे कुछ दूर जाकर तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राजाओंके समीप उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ ३३ ॥

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥ ३४ ॥

धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥ ३५ ॥

जो कभी कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनके कारण भी अन्यायका अनुसरण नहीं कर सकते, जिनकी बुद्धि स्थिर है, जो लोभरहित, धर्मज्ञ, धैर्यवान्, विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर विराजमान हैं, वे भगवान् केशव देवताओंके भी देवता, सनातन परमेश्वर तथा समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं ॥ ३४-३५ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
सम्परिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

उन्हीं सर्वगुणसम्पन्न श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने निम्नाङ्कित संदेश देना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

या सा बाल्यात् प्रभृत्यस्मान् पर्यवर्धयताबला ।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ॥ ३७ ॥
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता ।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियास्माकं जनार्दन ॥ ३८ ॥
सुयोधनभयाद् या नोऽत्रायतामित्रकर्शन ।
महतो मृत्युसम्बाधादुद्‌घ्रे नौरिवार्णवात् ॥ ३९ ॥
अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव ।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंका संहार करनेवाले जनार्दन ! अबला होकर भी जिसने बाल्यकालसे ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया है, उपवास और तपस्यामें संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है, जो सदा कल्याणसाधनमें ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियोंकी पूजामें तथा गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिसका अटूट अनुराग है, जो पुत्रवत्सला एवं पुत्रोंको प्यार करनेवाली है, जिसके प्रति हम पाँचों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम है, जिसने दुर्योधनके भयसे हमारी रक्षा की है, जैसे नौका मनुष्यको समुद्रमें डूबनेसे बचाती है, उसी प्रकार जिसने मृत्युके महान् संकटसे हमारा उद्धार किया है और माधव ! जिसने हमलोगोंके कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगनेके योग्य हमारी माता कुन्तीसे मिलकर आप उसका कुशल-समाचार अवश्य पूछें ॥ ३७–४० ॥

भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम् ।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पाण्डवान् परिकीर्तयन् ॥४१॥

आप हम पाण्डवोंका समाचार बताते हुए हमारी माँसे मिलियेगा और प्रणाम करके पुत्रशोकसे पीड़ित हुई उस देवीको बहुत-बहुत आश्वासन दीजियेगा ॥ ४१ ॥

ऊढात् प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम ।
निकारानतदर्हा च पश्यन्ती दुःखमश्नुते ॥ ४२ ॥

शत्रुदमन ! उसने विवाह करनेसे लेकर ही अपने श्वशुरके घरमें आकर नाना प्रकारके दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं और इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है ॥ ४२ ॥

अपि जातु स कालः स्यात् कृष्ण दुःखविपर्ययः ।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ॥ ४३ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! क्या कभी वह समय भी आयेगा, जब हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे और हमलोग दुःखमें पड़ी हुई अपनी माताको सुख दे सकेंगे ? ॥ ४३ ॥

प्रव्रजन्तोऽनुधावन्तीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
रुदतीमपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ॥ ४४ ॥

जब हम वनको जा रहे थे, उस समय पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो वह कातरभावसे रोती हुई हमारे पीछे-पीछे दौड़ी आ रही थी, परंतु हमलोग उसे वहीं छोड़कर वनमें चले गये ॥ ४४ ॥

न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव ।
तथा पुत्राधिभिर्गाढमार्ता ह्यानर्तसत्कृत ॥ ४५ ॥

आनर्तदेशके सम्मानित वीर केशव ! यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य दुःखोंसे घबराकर मर ही जाता हो । इसलिये कदाचित् वह जीवित हो, तो भी पुत्रोंकी चिन्तासे अत्यन्त पीड़ित ही होगी ॥ ४५ ॥

हस्तिनापुरके मार्गमें ऋषियोंका आकर श्रीकृष्णसे मिलना

अभिवाद्याथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद् विभो।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोऽधिकाः ॥ ४६ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम्।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान् प्रति ॥ ४७ ॥
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मन्त्रधारिणम्।
अगाधबुद्धिं मर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ॥ ४८ ॥

प्रभो ! मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आप माताको प्रणाम करके मेरे कथनानुसार धृतराष्ट्र, दुर्योधन, अन्यान्य वयोवृद्ध नरेश, भीष्म, द्रोण, कृप, महाराज बाह्लीक, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, समस्त भरतवंशी क्षत्रियवृन्द तथा कौरवोंके मन्त्रकी रक्षा करनेवाले; मर्मवेत्ता, अगाधबुद्धि एवं महाज्ञानी विदुरके पास जाकर इन सबको हृदयसे लगाइयेगा ४६—४८

इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४९ ॥

राजाओंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर उनकी परिक्रमा करके आज्ञा ले लौट पड़े ॥ ४९ ॥

व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम्।
अब्रवीत् परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ॥ ५० ॥

परंतु अर्जुनने पीछे-पीछे जाते हुए ही शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अपराजित नरश्रेष्ठ अपने सखा दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णसे कहा—॥ ५० ॥

यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मन्त्रनिश्चये।
अर्धराज्यस्य गोविन्द विदितं सर्वराजसु ॥ ५१ ॥

'गोविन्द ! पहले जब हमलोगोंमें गुप्त मन्त्रणा हुई थी, उस समय एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचकर हमने आधा राज्य लेकर ही संधि करनेका निर्णय किया था; इस बातको सभी राजा जानते हैं ॥ ५१ ॥

तच्चेद् दद्यादसंगेन सत्कृत्यानवमन्य च।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन् महतो भयात् ॥ ५२ ॥

'महाबाहो ! यदि दुर्योधन लोभ छोड़कर अनादर न करके सत्कारपूर्वक हमें आधा राज्य लौटा दे तो मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तथा समस्त कौरव महान् भयसे छुटकारा पा जायँ ॥ ५२ ॥

अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित्।
अन्तं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ॥ ५३ ॥

'जनार्दन ! यदि समुचित उपायको न जाननेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इसके विपरीत आचरण करेगा तो मैं निश्चय ही उसके पक्षमें आये हुए समस्त क्षत्रियोंका संहार कर डालूँगा' ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते पाण्डवेन समहृष्यद् वृकोदरः।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात् प्रावेपत च पाण्डवः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर पाण्डव भीमसेनको बड़ा हर्ष हुआ। वे क्रोधवश बारंबार काँपने लगे ॥ ५४ ॥

वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान्।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ॥ ५५ ॥

काँपते-काँपते ही कुन्तीकुमार भीमसेन बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। अर्जुनकी पूर्वोक्त बातें सुनकर उनका हृदय अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गया था ॥ ५५ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा सम्प्रावेपन्त धन्विनः।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ॥ ५६ ॥

उनका वह सिंहनाद सुनकर समस्त धनुर्धर भयके मारे थरथर काँपने लगे। उनके सभी वाहनोंने मल-मूत्र कर दिये ॥ ५६ ॥

इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम्।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके उन्हें अपना निश्चय बता गले मिलकर अर्जुन श्रीकृष्णसे आज्ञा ले लौट आये ॥ ५७ ॥

तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ ५८ ॥

उन सब राजाओंके लौट जानेपर शैब्य और सुग्रीव आदिसे युक्त रथपर चलनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण बड़े हर्षके साथ तीव्र गतिसे आगे बढ़े ॥ ५८ ॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः।
पन्थानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवाम्बरम् ॥ ५९ ॥

दारुकके हाँकनेपर भगवान् वासुदेवके वे अश्व इतने वेगसे चलने लगे, मानो समस्त मार्गको पी रहे हों और आकाशको ग्रस लेना चाहते हों ॥ ५९ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वनि केशवः।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानान् स्थितानुभयतः पथि ॥ ६० ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें कुछ महर्षियोंको उपस्थित देखा, जो रास्तेके दोनों ओर खड़े थे और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६० ॥

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः।
यथावृत्तानृषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥ ६१ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही रथसे उतर पड़े और

पूर्वोक्तरूपसे खड़े हुए उन समस्त महर्षियोंको प्रणाम करके उनका समादर करते हुए बोले—॥ ६१ ॥

कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने ॥६२॥
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता।)

'महात्माओ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न? क्या पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है?' ॥ ६२ ॥

तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ॥ ६३ ॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा—'महात्माओ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है? भगवन्! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं?' ॥ ६३-६४ ॥

(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम् ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोर व्रत धारण करनेवाले नारद आदि सब महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे ॥

अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः।
अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको बली ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा।
आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥
दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः ॥
शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः।
श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः ॥)

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, बली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिराः, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम ॥

तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम्।
परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा ॥ ६५ ॥

उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा—॥ ६५ ॥

देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ॥ ६६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ॥ ६७ ॥
एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ॥ ६८ ॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप।

महामते केशव! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालोंको तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं। इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुरमें चल रहे हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं ॥ ६६—६८½ ॥

भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ॥ ६९ ॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ।

'यदुकुलसिंह ! वहाँ कौरव-सभामें भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे ॥ ६९½ ॥

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव ॥ ७० ॥
श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च ।

'गोविन्द ! माधव ! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ ७०½ ॥

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ ७१ ॥
याह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ॥ ७२ ॥

'महाबाहो ! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे। वीर ! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो। जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअङ्गोंका हम पुनः दर्शन करेंगे' ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णप्रस्थानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

मार्गके शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन तथा मार्गमें लोगोंद्वारा सत्कार पाते हुए श्रीकृष्णका वृकस्थल पहुँचकर वहाँ विश्राम करना

वैशम्पायन उवाच

प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ १ ॥
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाबाहु श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय विपक्षी वीरोंपर विजय पानेवाले शस्त्रधारी दस महारथी, एक हजार पैदल योद्धा, एक हजार घुड़सवार, प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा दूसरे सैकड़ों सेवक उनके साथ गये ॥ १-२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—दशार्हकुलतिलक महात्मा मधुसूदनने किस प्रकार यात्रा की ? उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके जाते समय कौन-कौन-से भले-बुरे शकुन प्रकट हुए थे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महात्मा श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय जो दिव्य शकुन और उत्पातसूचक अपशकुन प्रकट हुए थे, मुझसे उन सबका वर्णन सुनो ॥ ४ ॥

अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युन् समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद् विघने भृशम् ॥ ५ ॥

बिना बादलके ही आकाशमें बिजलीसहित वज्रकी गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी। उसके साथ ही पर्जन्यदेवताने मेघोंकी घटा न होनेपर भी प्रचुर जलकी वर्षा की ॥ ५ ॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिन्धुसत्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

पूर्वकी ओर बहनेवाली सिन्धु आदि बड़ी-बड़ी नदियोंका प्रवाह उलटकर पश्चिमकी ओर हो गया। सारी दिशाएँ विपरीत प्रतीत होने लगीं। कुछ भी समझमें नहीं आता था ॥ ६ ॥

प्राज्वलन्नग्नयो राजन् पृथिवी समकम्पत ।
उदपानाश्च कुम्भाश्च प्रासिञ्चञ्छतशो जलम् ॥ ७ ॥

राजन् ! सब ओर आग जलने लगी। धरती डोलने लगी। सैकड़ों जलाशय और कलश छलक-छलककर जल गिराने लगे ॥ ७ ॥

तमःसंवृतमप्यासीत् सर्वं जगदिदं तथा।
न दिशो नादिशो राजन् प्रज्ञायन्ते स्म रेणुना॥ ८ ॥

राजन् ! यह सारा संसार धूलके कारण अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया। कौन दिशा है, कौन दिशा नहीं है—इसका ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

प्रादुरासीन्महाञ्छब्दः खे शरीरमदृश्यत।
सर्वेषु राजन् देशेषु तदद्भुतमिवाभवत्॥ ९ ॥

महाराज ! फिर बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा। आकाशमें सब ओर मनुष्यकी-सी आकृति दिखायी देने लगी। सम्पूर्ण देशोंमें यह अद्भुत-सी बात दिखायी दी ॥ ९ ॥

प्रामथ्नाद्धास्तिनपुरं वातो दक्षिणपश्चिमः।
आरुजन् गणशो वृक्षान् परुषोऽशनिनिस्वनः॥ १० ॥

दक्षिण पश्चिमसे आँधी उठी और हस्तिनापुरको मथने लगी। उसने झुंड-के-झुंड वृक्षोंको तोड़-उखाड़कर धराशायी कर दिया। वज्रपात-सा कठोर शब्द होने लगा (इस प्रकारके उत्पात हस्तिनापुरके आस-पास घटित होते थे)॥ १० ॥

यत्र यत्र च वार्ष्णेयो वर्तते पथि भारत।
तत्र तत्र सुखो वायुः सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम्॥ ११ ॥

भारत ! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण मार्गमें जहाँ-जहाँ रहते थे, वहाँ-वहाँ सुखदायिनी वायु चलती थी और सभी शुभ शकुन उनके दाहिने भागमें प्रकट होते थे ॥ ११ ॥

ववर्ष पुष्पवर्षं च कमलानि च भूरिशः।
समश्च पन्था निर्दुःखो व्यपेतकुशकण्टकः॥ १२ ॥

उनपर फूलोंकी और बहुत-से खिले हुए कमलोंकी भी वृष्टि होती तथा सारा मार्ग कुश-कण्टकसे शून्य और समतल होकर क्लेश और दुःखसे रहित हो जाता था ॥१२॥

संस्तुतो ब्राह्मणैर्गीर्भिस्तत्र तत्र सहस्रशः।
अर्च्यते मधुपर्कैश्च वसुभिश्च वसुप्रदः॥ १३ ॥

सहस्रों ब्राह्मण विभिन्न स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते तथा मधुपर्कद्वारा उनकी पूजा करते थे। धनदाता भगवान्‌ने भी उन सबको यथेष्ट धन दिया ॥ १३ ॥

तं किरन्ति महात्मानं वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः।
स्त्रियः पथि समागम्य सर्वभूतहिते रतम्॥ १४ ॥

मार्गमें कितनी ही स्त्रियाँ आकर सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले उन महात्मा श्रीकृष्णके ऊपर वनके सुगन्धित फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥ १४ ॥

स शालिभवनं रम्यं सर्वसस्यसमाचितम्।
सुखं परमधर्मिष्ठमभ्यगाद् भरतर्षभ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय धर्मकार्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा सम्पूर्ण सस्य-सम्पत्तिसे भरे हुए अगहनी धानके मनोहर खेत देखते हुए भगवान् बड़े सुखसे यात्रा कर रहे थे ॥ १५ ॥

पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदयतोषणान्।
पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च॥ १६॥

रास्तेमें कितने ही ऐसे गाँव मिलते, जिनमें बहुत-से पशुओंका पालन-पोषण होता था। वे देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और मनको संतोष देनेवाले थे। उन सबको देखते और अनेकानेक नगरों एवं राष्ट्रोंको लाँघते हुए वे आगे बढ़ते चले गये ॥ १६ ॥

नित्यं हृष्टाः सुमनसो भारतैरभिरक्षिताः।
नोद्विग्नाः परचक्राणां व्यसनानामकोविदाः॥ १७ ॥
उपप्लव्यादथायान्तं जनाः पुरनिवासिनः।
पथ्यतिष्ठन्त सहिता विष्वक्सेनदिदृक्षया॥ १८ ॥

इधर उपप्लव्य नगरसे आते हुए भगवान् श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे अनेक नागरिक रास्तेमें एक साथ खड़े थे। भरतवंशियोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे सदा हर्ष एवं उल्लाससे भरे रहते थे। उनका मन बहुत प्रसन्न था। उन्हें शत्रुओंकी सेनाओंसे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता था। दुःख और संकट कैसा होता है, इसको वे जानते ही नहीं थे ॥ १७-१८ ॥

ते तु सर्वे समायान्तमग्निमिद्धमिव प्रभुम्।
अर्चयामासुरर्चार्हं देशातिथिमुपस्थितम्॥ १९ ॥

उन सबने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और अपने देशके पूजनीय अतिथि भगवान् श्रीकृष्णको समीप आते देख निकट जाकर उनका यथावत् पूजन किया ॥ १९ ॥

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति॥ २० ॥
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह॥ २१ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृकस्थलमें पहुँचे, उस समय नाना किरणोंसे मण्डित सूर्य अस्त होने लगे और पश्चिमके आकाशमें लाली छा गयी। तब भगवान्‌ने शीघ्र ही रथसे उतरकर उसे खोलनेकी आज्ञा दी और विधिपूर्वक शौच-स्नान करके वे संध्योपासना करने लगे ॥ २०-२१ ॥

दारुकोऽपि हयान् मुक्त्वा परिचर्यं च शास्त्रतः।
मुमोच सर्वयोक्त्रादि मुक्त्वा चैतानवासृजत् ॥ २२ ॥

दारुकने भी घोड़ोंको खोलकर शास्त्रविधिके अनुसार उनकी परिचर्या की और उनका सारा साज-बाज उतार दिया तथा उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ दिया ॥ २२ ॥

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः ।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम् ॥ २३ ॥

संध्या-वन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्णने कहा—'युधिष्ठिरका कार्य सिद्ध करनेके लिये आज रातमें हमलोग यहीं रहेंगे' ॥ २३ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावसथं नराः ।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन् ॥ २४ ॥

उनका यह विचार जानकर सेवकोंने वहीं डेरा डाल दिये । क्षणभरमें उन्होंने खाने-पीनेके उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २४ ॥

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप ।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः ॥ २५ ॥

राजन्! उस गाँवमें जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील और ब्राह्मणोचित वृत्तिका पालन करनेवाले थे ॥ २५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिंदमम् ।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम् ॥ २६ ॥

उन्होंने शत्रुदमन महात्मा हृषीकेशके पास जाकर आशीर्वाद तथा मङ्गलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन किया ॥ २६ ॥

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम् ।
न्यवेदयन्त वेश्मानि रत्नवन्ति महात्मने ॥ २७ ॥

सर्वलोकपूजित दशार्हनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करके

उन्होंने उन महात्माको अपने रत्नसम्पन्न गृह समर्पित कर दिये अर्थात् अपने-अपने घरोंमें ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की।२७।

तान् प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात् सहैव तैः ॥ २८ ॥

तब भगवान्ने यह कहकर कि यहाँ ठहरनेके लिये पर्याप्त स्थान है, उनका यथायोग्य सत्कार किया और (उनके संतोषके लिये) उन सबके घरोंपर जाकर पुनः उनके साथ ही लौट आये ॥ २८ ॥

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः ।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् केशवने वहीं उन ब्राह्मणोंको सुस्वादु अन्न भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके उन सबके साथ उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्र आदिकी अनुमतिसे श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये मार्गमें विश्रामस्थान बनवाना

वैशम्पायन उवाच

तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम् ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम् ॥ १ ॥
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम् ।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाब्रवीदिदम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दूतोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनके आगमनका समाचार जानकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, संजय तथा परम बुद्धिमान् विदुरका यथावत् सत्कार करके मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे ॥ ३ ॥
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥

'कुरुनन्दन ! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है । घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं । जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बातको कहते हैं । चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है ॥ ३-४॥

उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ॥ ५ ॥

'वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे । वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं । उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज सब कुछ है ॥ ६ ॥

स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ॥ ७ ॥

'उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं । सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक होंगे और सम्मानित न होनेपर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे ॥ ७ ॥

स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः ।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ८ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो जायँगे, तब हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ॥ ८ ॥

तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः ॥ ९ ॥

'परंतप ! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो । मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोऽनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो ॥ ९ ॥

यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गान्धारे कथं वा भीष्म मन्यसे ॥ १० ॥

'महाबाहु गान्धारीनन्दन ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे श्रीकृष्णके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय । अथवा भीष्मजी ! इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?' ॥ १० ॥

ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयन्तोऽस्य तद् वचः ॥ ११ ॥

तब भीष्म आदि सब लोगोंने उस प्रस्तावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'बहुत उत्तम बात है' ॥ ११ ॥

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥

उन सबकी अनुमति जानकर राजा दुर्योधनने उस समय जगह-जगह सुन्दर सभामण्डप तथा विश्रामस्थान बनवानेके लिये आदेश जारी किया ॥ १२ ॥

ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ॥ १३ ॥

तब कारीगरोंने विभिन्न रमणीय प्रदेशोंमें अलग-अलग सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अनेक विश्रामस्थान बनाये ॥ १३॥

आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गन्धानलंकारान् सूक्ष्माणि वसनानि च ॥ १४ ॥
गुणवन्त्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगन्धीनि तानि राजा ददौ ततः ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके गुणोंसे युक्त विचित्र आसन, स्त्रियाँ, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, महीन वस्त्र, गुणकारक अन्न और पेय पदार्थ, भाँति-भाँतिके भोजन तथा सुगन्धित पुष्पमालाएँ आदि वस्तुओंको राजा दुर्योधनने उन स्थानोंमें रखवाया ॥ १४-१५ ॥

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ॥ १६ ॥

विशेषतः वृकस्थलनामक ग्राममें निवास करनेके लिये कुरुराज दुर्योधनने जो विश्रामस्थान बनवाया था, वह बड़ा मनोरम तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न था ॥ १६ ॥

एतद् विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ॥ १७ ॥

मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ यह सब देवोचित व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रको इसकी सूचना दे दी ॥ १७॥

ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात् कुरुसद्म तत् ॥ १८ ॥

परंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण उन विश्रामस्थानों तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी ओर दृष्टिपाततक न करके कौरवोंके निवासस्थान हस्तिनापुरकी ओर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मार्गमें विश्रामस्थलनिर्माणविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५॥

षडशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी करके उन्हें भेंट देने एवं दुःशासनके महलमें ठहरानेका विचार प्रकट करना

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! मुझे सूचना मिली है कि भगवान् श्रीकृष्ण उपप्लव्यसे यहाँके लिये प्रस्थित हो गये हैं, आज वृकस्थलमें ठहरे हैं तथा कल सवेरे ही इस नगरमें पहुँच जायँगे ॥ १ ॥

आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम्।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः ॥ २ ॥

भगवान् जनार्दन आहुकवंशी क्षत्रियोंके अधिपति तथा समस्त सात्वतों (यादवों) के अगुआ हैं। उनका हृदय महान् है, पराक्रम भी महान् है तथा वे महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ॥ ३ ॥

वे भगवान् माधव समृद्धिशाली यादव गणराष्ट्रके पोषक तथा संरक्षक हैं। पितामहके भी जनक होनेके कारण वे तीनों लोकोंके प्रपितामह हैं ॥ ३ ॥

वृष्ण्यन्धकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः ॥ ४ ॥

जैसे आदित्य वसु तथा रुद्रगण बृहस्पतिकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णकी ही बुद्धिके आश्रित रहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ विदुर ! मैं तुम्हारे सामने ही उन महात्मा श्रीकृष्णको जो पूजा दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

एकवर्णैः सुकॢप्ताङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ॥ ६ ॥

एक रंगके, सुदृढ़ अङ्गोंवाले तथा बाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए उत्तम जातिके चार-चार घोड़ोंसे जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्णको भेंट करूँगा ॥ ६ ॥

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन ! इनके सिवा मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तकोंसे सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्डके समान प्रतीत होते हैं तथा जो शत्रुओंपर प्रहार करनेमें कुशल हैं और जिन आठों गजराजोंमेंसे प्रत्येकके साथ आठ-आठ सेवक हैं ॥ ७ ॥

दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम्।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ ८ ॥

साथ ही मैं उन्हें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली परम सुन्दरी सौ ऐसी दासियाँ दूँगा, जिनसे किसी संतानकी उत्पत्ति नहीं हुई है। दासियोंके ही बराबर दास भी दूँगा ॥ ८ ॥

आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम्।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाष्ट च ॥ ९ ॥

मेरे यहाँ पर्वतीयोंसे भेंटमें मिले हुए भेड़के ऊनसे बने हुए (असंख्य) कम्बल हैं, जो स्पर्श करनेपर बड़े मुलायम जान पड़ते हैं; उनमेंसे अठारह हजार कम्बल भी मैं श्रीकृष्णको उपहारमें दूँगा ॥ ९ ॥

अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ॥ १० ॥

चीनदेशमें उत्पन्न हुए सहस्रों मृगचर्म मेरे भण्डारमें सुरक्षित हैं; उनमेंसे श्रीकृष्ण जितने लेना चाहेंगे, उतने सबके सब उन्हें अर्पित कर दूँगा ॥ १० ॥

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥ ११ ॥

मेरे पास यह एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है, जो दिन तथा रातमें भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्णको ही दूँगा; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ ११ ॥

एकेनाभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ॥ १२ ॥

मेरे पास खचरियोंसे युक्त एक रथ है, जो एक दिनमें चौदह योजनतक चला जाता है, वह भी मैं उन्हींको अर्पित करूँगा ॥ १२ ॥

यावन्ति वाहनान्यस्य यावन्तः पुरुषाश्च ते।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके साथ जितने वाहन और जितने सेवक आयँगे उन सबको औसतसे आठगुना भोजन मैं प्रत्येक समय देता रहूँगा ॥ १३ ॥

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥ १४ ॥

दुर्योधनके सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो स्वच्छ-सुन्दर रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये जायँगे ॥ १४ ॥

स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यन्ति केशवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों सुन्दरी वाराङ्गनाएँ सुन्दर वेषभूषासे सज-धजकर महाभाग केशवकी अगवानीके लिये पैदल ही जायँगी ॥ १५ ॥

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम्।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः ॥ १६ ॥

जनार्दनका दर्शन करनेके लिये इस नगरसे जो भी कोई पर्दा न रखनेवाली कल्याणमयी कन्याएँ जाना चाहेंगी, वे जा सकेंगी ॥ १६ ॥

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम्।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमन्तमिव प्रजाः ॥ १७ ॥

जैसे प्रजा सूर्यदेवका दर्शन करती है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष और बालकोंसहित यह सारा नगर महात्मा मधुसूदनका दर्शन करे ॥ १७ ॥

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतो दिशः।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ॥ १८ ॥

'नगरमें चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जायँ और श्रीकृष्ण जिसपर आ रहे हों, उस राजपथपर जलका छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाय, इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने आदेश दिया ॥ १८ ॥

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम्।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ॥ १९ ॥

इतना कहकर वे फिर बोले—दुःशासनका महल दुर्योधनके राजभवनसे भी श्रेष्ठ है। उसीको आज झाड़-पोंछकर सब प्रकारसे सुसज्जित कर दिया जाय ॥ १९ ॥

एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम्।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तुसुमहाधनम् ॥ २० ॥

यह महल सुन्दर आकारवाले भवनोंसे सुशोभित, कल्याणकारी, रमणीय, सभी ऋतुओंके वैभवसे सम्पन्न तथा अनन्त धनराशिसे समृद्ध है ॥ २० ॥

सर्वमस्मिन् गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च।
यद् यदर्हति वार्ष्णेयस्तत् तद् देयमसंशयम् ॥ २१ ॥

मेरे और दुर्योधनके पास जो भी रत्न हैं, वे सब इसी घरमें रक्खे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनमेंसे जो-जो रत्न लेना चाहें, वे सब उन्हें निःसंदेह दे दिये जायँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समझाना

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! आप तीनों लोकोंके श्रेष्ठतम पुरुष हैं और सर्वत्र आपका बहुत सम्मान होता है। भारत! इस लोकमें भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान है ॥ १ ॥

यत् त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः।
शास्त्राद् वा सुप्रतर्काद् वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि ॥ २ ॥

इस समय आप अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे) में स्थित हैं। ऐसी स्थितिमें आप जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसे अथवा लौकिक युक्तिसे भी ठीक ही है। इस सुस्थिर विचारके कारण ही आप वास्तवमें स्थविर (वृद्ध) हैं ॥ २ ॥

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥ ३ ॥

राजन्! जैसे चन्द्रमामें कला है, सूर्यमें प्रभा है और समुद्रमें उत्ताल तरंगें हैं, उसी प्रकार आपमें धर्मकी स्थिति है। यह समस्त प्रजा निश्चितरूपसे जानती है ॥ ३ ॥

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥ ४ ॥

भूपाल! आपके सद्गुणसमूहसे सदा ही इस जगत्की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है। अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्गुणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न कीजिये ॥ ४ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहु नीनशः।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥ ५ ॥

राजन्! आप सरलताको अपनाइये। मूर्खतावश कुटिलताका आश्रय ले अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रों, पौत्रों तथा सुहृदोंका महान् सर्वनाश न कीजिये ॥ ५ ॥

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्णको अतिथिरूपमें पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समूची पृथ्वीके भी पानेके अधिकारी हैं ॥ ६ ॥

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद् दित्ससि कृष्णाय सत्येनात्मानमालभे ॥ ७ ॥

मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने शरीरको छूकर कहता हूँ कि आप धर्मपालनके उद्देश्यसे अथवा श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये उन्हें वे सब वस्तुएँ नहीं देना चाहते हैं ॥ ७ ॥

मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद् भूरिदक्षिण ।
जानामि त्वन्मतं राजन् गूढं बाह्येन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले महाराज ! मैं सच कहता हूँ । यह सब आपकी माया और प्रवञ्चनामात्र है । आपके इन बाह्यव्यवहारोंमें छिपा हुआ जो आपका वास्तविक अभिप्राय है, उसे मैं समझता हूँ ॥ ८ ॥

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छर्म न करिष्यसि ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं; परंतु आप उन्हें वे गाँव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि आप (सन्धिद्वारा) शान्ति-स्थापन नहीं करेंगे ॥ ९ ॥

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो विभेत्स्यसि ॥ १० ॥

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लाना चाहते हैं और इस उपायसे आप यह आशा रखते हैं कि आप उन्हें पाण्डवोंकी ओरसे फोड़ लेंगे ॥ १० ॥

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनंजयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

परंतु मैं आपको असली बात बताये देता हूँ; आप धन देकर अथवा दूसरा कोई उद्योग या निन्दा करके श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक् नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदास्य दृढभक्तिताम् ।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनंजयम् ॥ १२ ॥

मैं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानता हूँ । श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी जो सुदृढ़ भक्ति है, उससे भी परिचित हूँ । अतः मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूँ कि श्रीकृष्ण अपने प्राणोंके समान प्रिय सखा अर्जुनको कभी त्याग नहीं सकते ॥ १२ ॥

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात् ।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ॥ १३ ॥

इसलिये आपकी दी हुई वस्तुओंमेंसे जलसे भरे हुए कलश, पैर धोनेके लिये जल और कुशल-प्रश्नको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको श्रीकृष्ण नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १३ ॥

यत् त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः ।
तदस्मै क्रियतां राजन् मानार्होऽसौ जनार्दनः ॥ १४ ॥

राजन् ! सम्माननीय महात्मा श्रीकृष्णका जो परम प्रिय आतिथ्य है, वह तो कीजिये ही; क्योंकि वे भगवान् जनार्दन सबके द्वारा सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ १४ ॥

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥ १५ ॥

महाराज ! भगवान् केशव उभयपक्षके कल्याणकी इच्छा लेकर जिस प्रयोजनसे इस कुरुदेशमें आ रहे हैं, वही उन्हें उपहारमें दीजिये ॥ १५ ॥

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवोंमें संधि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं । अतः उनके इस कथनका पालन कीजिये (इसीसे वे संतुष्ट होंगे) ॥ १६ ॥

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥ १७ ॥

महाराज ! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं । आप वृद्ध हैं और वे शिशु हैं । आप उनके प्रति पिताके समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये । वे आपके प्रति सदा ही पुत्रोंकी भाँति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका श्रीकृष्णके विषयमें अपने विचार कहना एवं उसकी कुमन्त्रणासे कुपित हो भीष्मजीका सभासे उठ जाना

दुर्योधन उवाच

यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णके सम्बन्धमें विदुरजी जो कुछ कहते हैं, वह सब कुछ ठीक है । जनार्दन श्रीकृष्णका कुन्तीके

पुत्रोंके प्रति अटूट अनुराग है; अतः उन्हें उनकी ओरसे फोड़ा नहीं जा सकता ॥ १ ॥

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! आप जो जनार्दनको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह कदापि उन्हें न दें ॥ २ ॥

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ॥ ३ ॥

मैं इसलिये नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं; अपितु इस दृष्टिसे मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल इस योग्य नहीं है कि उनका विशेष सत्कार किया जाय । राजन् ! इस समय तो श्रीकृष्ण यही समझेंगे कि यह डरके मारे मेरी पूजा कर रहा है ॥ ३ ॥

अवमानश्च यत्र स्यात् क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत् कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! जहाँ क्षत्रियका अपमान होता हो, वहाँ समझदार क्षत्रियको वैसा कार्य नहीं करना चाहिये । यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ४ ॥

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ॥ ५ ॥

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोकमें ही नहीं, तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकारसे विदित है ॥ ५ ॥

न तु तस्मै प्रदेयं स्यात् तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ॥ ६ ॥

प्रभो ! तथापि मेरा मत है कि इस समय उन्हें कुछ नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसी ही कार्यप्रणाली प्राप्त है । जब कलह आरम्भ हो गया है, तब अतिथिसत्कारद्वारा प्रेम दिखानेमात्रसे उसकी शान्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म विचित्रवीर्य-कुमार राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्ध्येत जनार्दनः ।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥ ८ ॥

'राजन् ! श्रीकृष्णका कोई सत्कार करे या न करे, इससे वे कुपित नहीं होंगे । परंतु वे अवहेलनाके योग्य कदापि नहीं हैं; अतः कोई भी उनका अपमान या अवहेलना नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

यत् तु कार्यं महाबाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित् कर्तुमन्यथा ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! श्रीकृष्ण जिस कार्यको करनेकी बात अपने मनमें ठान लेते हैं, उसे कोई सारे उपाय करके भी उलट नहीं सकता ॥ ९ ॥

स यद् ब्रूयान्महाबाहुस्तत् कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ॥ १० ॥

'अतः महाबाहु श्रीकृष्ण जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर तुम शीघ्र ही पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १० ॥

धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह ॥ ११ ॥

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे, वह निश्चय ही धर्म और अर्थके अनुकूल होगा । अतः तुम्हें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उनसे प्रिय वचन ही बोलना चाहिये' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

न पर्यायोऽस्ति यद् राजञ्छ्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! नरेश्वर ! अब इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि मैं जीवनभर पाण्डवोंके साथ मिलकर इस सारी सम्पत्तिका उपभोग करूँ ॥ १२ ॥

इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥ १३ ॥

इस समय मैंने जो यह महान् कार्य करनेका निश्चय किया है, उसे सुनिये । पाण्डवोंके सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्णको यहाँ आनेपर मैं कैद कर लूँगा ॥ १३ ॥

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥ १४ ॥

उनके कैद हो जानेपर समस्त यदुवंशी, इस भूमण्डलका राज्य तथा पाण्डव भी मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे । श्रीकृष्ण कल सबेरे यहाँ आ ही जायँगे ॥ १४ ॥

अत्रोपायान् यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चापायो भवेत् कश्चित् तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १५ ॥

अतः इस विषयमें जो अच्छे उपाय हों, जिनसे श्रीकृष्णको इन बातोंका पता न लगे और मेरे इस मन्तव्यमें कोई विघ्न न पड़ सके, उन्हें आप मुझे बताइये ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम्।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाभवत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णसे छल करनेके विषयमें दुर्योधनकी वह भयंकर बात सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियोंके साथ बहुत दुखी और उदास हो गये ॥१६॥

ततो दुर्योधनमिदं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—'प्रजापालक दुर्योधन! तुम ऐसी बात मुँहसे न निकालो। यह सनातन धर्म नहीं है ॥

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय और सम्बन्धी भी हैं तथा उन्होंने कौरवोंका कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी दशामें वे कैद करनेके योग्य कैसे हो सकते हैं?' ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥ १९ ॥

यह सुनकर भीष्मजीने कहा—धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र कालके वशमें हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदोंके कहने-समझानेपर भी अनर्थको ही अपना रहा है; अर्थको नहीं ॥ १९ ॥

इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम्।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्यानुवर्तसे ॥ २० ॥

तुम भी सगे-सम्बन्धियोंकी बातें न मानकर कुमार्गपर चलनेवाले इस पापासक्त पापात्माका ही अनुसरण करते हो ॥

कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्यायं सुदुर्मतिः।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णसे भिड़कर तुम्हारा यह दुर्बुद्धि पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ २१ ॥

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथंचन ॥ २२ ॥

इसने धर्मका सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस दुर्बुद्धि, पापी एवं क्रूर दुर्योधनकी अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान्।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त कुपित हो उस सभाभवनसे उठकर चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्य अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका स्वागत, धृतराष्ट्र तथा विदुरके घरोंपर उनका आतिथ्य

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (उधर वृकस्थलमें) प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णने सारा नित्यकर्म पूर्ण किया। फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर वे हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम्।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः ॥ २ ॥

तब वहाँसे जाते हुए महाबाहु महाबली श्रीकृष्णकी आज्ञा ले सम्पूर्ण वृकस्थलनिवासी वहाँसे लौट गये ॥ २ ॥

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ३ ॥

दुर्योधनके सिवा धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हस्तिनापुरकी ओर आते हुए श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये गये ॥ ३ ॥

पौराश्च बहुला राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे ॥ ४ ॥

राजन्! श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बहुत-से नागरिक भी नाना प्रकारकी सवारियोंपर बैठकर तथा अन्य कुछ लोग पैदल ही चलकर गये ॥ ४ ॥

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥ ५ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे मार्गमें ही मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम्।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये हस्तिनापुरको खूब सजाया गया था। वहाँका राजमार्ग भी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित किया गया था ॥ ६ ॥

न च कश्चिद् गृहे राजंस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय भगवान् वासुदेवके दर्शनकी तीव्र इच्छाके कारण स्त्री, बालक अथवा वृद्ध कोई भी घरमें नहीं ठहर सका ॥ ७ ॥

राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने ॥ ८ ॥

महाराज ! जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, तब राजमार्गमें भूमिपर खड़े हुए मनुष्य उनकी स्तुति करने लगे ॥

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ॥ ९ ॥

(भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये एकत्रित हुई) सुन्दरी स्त्रियोंसे भरे हुए बड़े-बड़े महल भी उनके भारसे इस भूतलपर विचलित होते-से दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः।
प्रणष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ॥ १० ॥

वहाँकी प्रधान सड़क लोगोंसे ऐसी खचाखच भर गयी थी कि श्रीकृष्णके वेगपूर्वक चलनेवाले घोड़ोंकी गति भी अवरुद्ध हो गयी ॥ १० ॥

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम् ॥ ११ ॥

शत्रुओंको क्षीण करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रके अट्टालिकाओंसे सुशोभित उज्ज्वल भवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

तिस्रः कक्ष्या व्यतिक्रम्य केशवो राजवेश्मनः।
वैचित्रवीर्यं राजानमभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १२ ॥

उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियोंको पार करके शत्रुसूदन केशव विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके समीप गये ॥ १२ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मजीके साथ ही अपने आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥ १३ ॥

कृपश्च सोमदत्तश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिक—ये सब लोग जनार्दनका सम्मान करते हुए अपने आसनोंसे उठ गये ॥

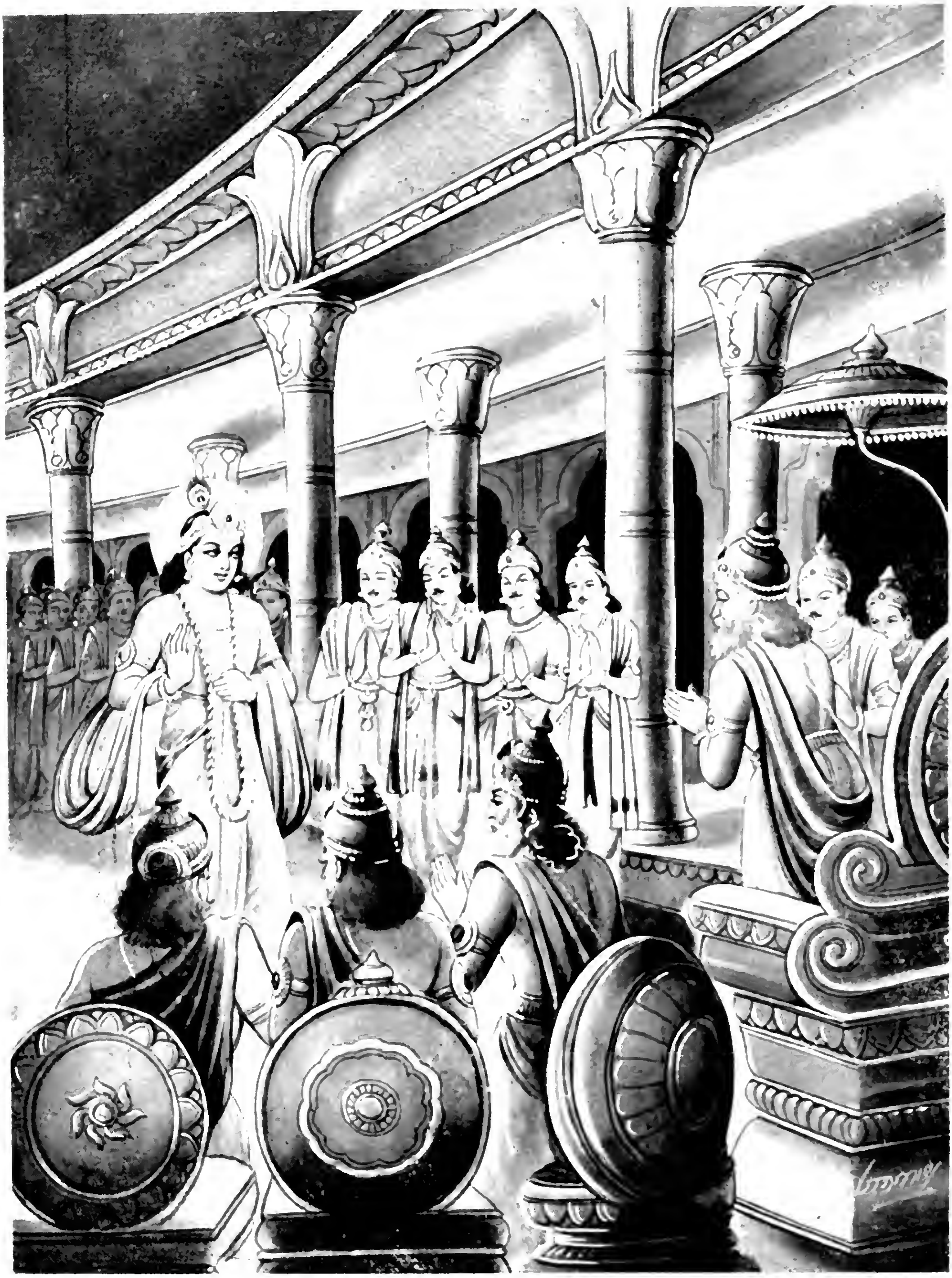

धृतराष्ट्रके द्वारा श्रीकृष्णका स्वागत

ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम्।
स भीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भिरञ्जसा ॥ १५ ॥

तब वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णने यशस्वी राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर अपने उत्तम वचनोंद्वारा भीष्मजीका आदर किया ॥ १५ ॥

तेषु धर्मानुपूर्वीं तां प्रयुज्य मधुसूदनः।
यथावयः समीयाय राजभिः सह माधवः ॥ १६ ॥

यदुकुलतिलक मधुसूदन उन सबकी धर्मानुकूल पूजा करके अवस्थाक्रमके अनुसार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंसे मिले ॥ १६ ॥

अथ द्रोणं सबाह्लीकं सपुत्रं च यशस्विनम्।
कृपं च सोमदत्तं च समीयाय जनार्दनः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् जनार्दन पुत्रसहित यशस्वी द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा सोमदत्तसे मिले ॥ १७ ॥

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम्।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥ १८ ॥

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्णका विशाल सिंहासन रक्खा हुआ था। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ १८ ॥

अथ गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने।
उपजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रपुरोहिताः ॥ १९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रके पुरोहितलोग भगवान् जनार्दनके आतिथ्यसत्कारके लिये उत्तम गौ, मधुपर्क तथा जल ले आये ॥

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून्।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ॥ २० ॥

उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् गोविन्द हँसते हुए कौरवोंके साथ बैठ गये और सबसे अपने सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए कौरवोंसे घिरे हुए कुछ देर बैठे रहे ॥ २० ॥

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः।
राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रसे पूजित एवं सम्मानित हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुज्ञा ले उस राजभवनसे बाहर निकले॥२१॥

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ॥ २२ ॥

फिर कौरव-सभामें यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्णने विदुरजीके रमणीय गृहमें पदार्पण किया ॥ २२ ॥

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम्।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ॥ २३ ॥

विदुरजीने अपने घर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके निकट जाकर समस्त मनोवाञ्छित भोगों तथा सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तुओंद्वारा उनका पूजन किया (और इस प्रकार कहा—) ॥ २३ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ २४ ॥

'कमलनयन! आपके दर्शनसे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय; आप तो समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (आपसे क्या छिपा है?)' ॥

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित्।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके, तब सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने उनसे पाण्डवोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

प्रीयमाणस्य सुहृदो विदुरो बुद्धिसत्तमः।
धर्मार्थनित्यस्य सतो गतरोषस्य धीमतः ॥ २६ ॥
तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम्।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २७ ॥

विदुरजी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ थे। सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, रोष-शून्य प्रेमी सुहृद् बुद्धिमान् विदुरसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनायीं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रगृहमें प्रवेशपूर्वक विदुरके गृहमें पदार्पणविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुन्तीके समीप जाना एवं युधिष्ठिरका कुशल-समाचार पूछकर अपने दुःखोंका स्मरण करके विलाप करती हुई कुन्तीको आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजीसे मिलनेके पश्चात् तीसरे पहरमें अपनी बुआ कुन्तीदेवीके पास गये ॥ १ ॥

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम्।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा॥ २ ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गयीं और अपने पुत्रोंको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २ ॥

तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम्।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं बाष्पमाहारयत् पृथा ॥ ३ ॥

अपने उन शक्तिशाली पुत्रोंके बीचमें रहकर उनके साथ विचरनेवाले वृष्णिकुलनन्दन गोविन्दको दीर्घकालके पश्चात् देखकर कुन्तीदेवी आँसुओंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३ ॥

साब्रवीत् कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम्।
बाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ॥ ४ ॥

उन्होंने योद्धाओंके स्वामी श्रीकृष्णका अतिथि-सत्कार किया। जब वे आतिथ्य ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, तब सूखे मुँह और अश्रुगद्गद कण्ठसे कुन्तीदेवी इस प्रकार बोलीं—॥ ४ ॥

ये ते बाल्यात् प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ॥ ५ ॥

'वत्स! मेरे पुत्र पाण्डव, जो बाल्यकालसे ही गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहते, परस्पर स्नेह रखते, सर्वत्र सम्मान पाते और मनमें सबके प्रति समानभाव रखते थे, शत्रुओंकी शठताके शिकार होकर राज्यसे हाथ धो बैठे और जनसमुदायमें रहनेयोग्य होकर भी निर्जन वनमें चले गये ॥ ५ ॥

विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ॥ ६ ॥

'मेरे बेटे हर्ष और क्रोधको जीत चुके थे। वे ब्राह्मणोंका हित साधन करनेवाले तथा सत्यवादी थे; तथापि (शत्रुओंके अन्यायसे विवश हो) प्रियजन एवं सुखभोगसे मुँह मोड़ मुझे रोती बिलखती छोड़कर वे वनकी ओर चल दिये ॥६॥

अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम।
अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'केशव! वन जाते समय महात्मा पाण्डव मेरे हृदयको जड़-मूलसहित खींचकर अपने साथ ले गये। वे वनवासके योग्य कदापि नहीं थे। फिर उन्हें यह कष्ट कैसे प्राप्त हुआ? ॥ ७ ॥

ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले।
बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ॥ ८ ॥
अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने।

'तात! वे बचपनमें ही पिताके प्यारसे वञ्चित हो गये थे। मैंने ही सदा उनका लालन-पालन किया। मेरे पुत्र सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरे हुए उस विशाल वनमें कैसे रहे होंगे? माता-पिताको न देखते हुए उन्होंने उस महान् वनमें किस प्रकार निवास किया होगा? ॥ ८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिस्वनैः ॥ ९ ॥
पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात् प्रभृति केशव।

'केशव! बाल्यावस्थासे ही पाण्डव शङ्ख और दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे, मृदङ्गोंके मधुर नादसे तथा बाँसुरीकी सुरीली तानसे जगाये जाते थे ॥ ९½ ॥

ये स्म वारणशब्देन हयानां हेषितेन च ॥ १० ॥
रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे।
शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ॥ ११ ॥

पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः ।
वस्त्रै रत्नैरलंकारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ॥ १२ ॥
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ॥ १३ ॥
प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः ।
क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ॥ १४ ॥
न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन ।

'जब वे अपनी राजधानीमें ऊँची अट्टालिकाओंके भीतर रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए बिछौनोंसे युक्त सुकोमल शय्याओंपर शयन करते थे, उन दिनों हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने तथा रथके पहियोंके घर्घरानेसे उनकी निद्रा टूटती थी। शङ्ख और भेरीकी तुमुल ध्वनि तथा वेणु और वीणाके मधुर स्वरसे उन्हें जगाया जाता था। साथ ही ब्राह्मण-लोग पुण्याहवाचनके पवित्र घोषसे उनका समादर करते थे। वे महात्मा ब्राह्मणोंके मङ्गलमय आशीर्वाद सुनकर उठते थे। पूजित और पूजनीय पुरुष भी उनके गुण गा-गाकर अभिनन्दन किया करते थे एवं उठकर वे रत्नों, वस्त्रों एवं अलंकारोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। जनार्दन! वे ही पाण्डव उस विशाल वनमें हिंसक जन्तुओंके क्रूरतापूर्ण शब्द सुनकर अच्छी तरह नींद भी नहीं ले पाते रहे होंगे, यद्यपि इस दुरवस्थाके योग्य वे कभी नहीं थे ॥१०–१४½॥

भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिस्वनैः ॥ १५ ॥
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन ।
वन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ॥ १६ ॥
महावनेष्वबोध्यन्त श्वापदानां रुतेन च ।

'मधुसूदन! जो भेरी एवं मृदङ्गके नादसे, शङ्ख एवं वेणुकी ध्वनिसे तथा स्त्रियोंके गीतोंके मधुर शब्द तथा सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर जागते थे, वे ही बड़े-बड़े जंगलोंमें हिंसक जन्तुओंके कठोर शब्द सुनकर किस प्रकार नींद तोड़ते रहे होंगे? ॥ १५-१६½ ॥

ह्रीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामनुकम्पिता ॥ १७ ॥
कामद्वेषौ वशे कृत्वा सतां वर्त्मानुवर्तते ।
अम्बरीषस्य मान्धातुर्ययातेर्नहुषस्य च ॥ १८ ॥
भरतस्य दिलीपस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
राजर्षीणां पुराणानां धुरं धत्ते दुरुद्वहाम् ॥ १९ ॥
शीलवृत्तोपसम्पन्नो धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
राजा सर्वगुणोपेतस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ॥ २० ॥
अजातशत्रुर्धर्मात्मा शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
श्रेष्ठः कुरुषु सर्वेषु धर्मतः श्रुतवृत्ततः ।
प्रियदर्शी दीर्घभुजः कथं कृष्ण युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण! जो लज्जाशील, सत्यको धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सब प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं; जो काम (राग) एवं द्वेषको वशमें करके सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते हैं; जो अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, नहुष, भरत, दिलीप एवं उशीनरपुत्र शिबि आदि प्राचीन राजर्षियोंके सदाचारपालनरूप धारण करनेमें कठिन धर्मकी धुरीको धारण करते हैं; जिनमें शील और सदाचारकी सम्पत्ति भरी हुई है, जो धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण इस भूमण्डलके ही नहीं, तीनों लोकोंके भी राजा हो सकते हैं; जिनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है, जो धर्मशास्त्रज्ञान और सदाचार सभी दृष्टियोंसे समस्त कौरवोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; जिनकी अङ्गकान्ति शुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके समान गौर है, जो देखनेमें सभीको प्रिय लगते हैं; वे महाबाहु अजातशत्रु युधिष्ठिर इस समय कैसे हैं? ॥ १७–२१ ॥

यः स नागायुतप्राणो वातरंहा महाबलः ।
सामर्षः पाण्डवो नित्यं प्रियो भ्रातुः प्रियंकरः ॥ २२ ॥
कीचकस्य तु सज्ञातेर्यो हन्ता मधुसूदन ।
शूरः क्रोधवशानां च हिडिम्बस्य बकस्य च ॥ २३ ॥
पराक्रमे शक्रसमो मातरिश्वसमो बले ।
महेश्वरसमः क्रोधे भीमः प्रहरतां वरः ॥ २४ ॥
क्रोधं बलममर्षं च यो निधाय परंतपः ।
जितात्मा पाण्डवोऽमर्षी भ्रातुस्तिष्ठति शासने ॥ २५ ॥
तेजोराशिं महात्मानं वरिष्ठममितौजसम् ।
भीमं प्रदर्शनेनापि भीमसेनं जनार्दन ॥ २६ ॥
तं ममाचक्ष्व वार्ष्णेय कथमद्य वृकोदरः ।
आस्ते परिघबाहुः स मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २७ ॥

'मधुसूदन! जो पाण्डुनन्दन महाबली भीम दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली है, जिसका वेग वायुके समान है, जो असहिष्णु होते हुए भी अपने भाईको सदा ही प्रिय है और भाइयोंका प्रिय करनेमें ही लगा रहता है, जिसने भाई-बन्धुओंसहित कीचकका विनाश किया है, जिस शूरवीरके हाथसे क्रोधवश नामक राक्षसोंका, हिडिम्बासुर तथा बकका भी संहार हुआ है, जो पराक्रममें इन्द्र, बलमें वायुदेव तथा क्रोधमें महेश्वरके समान है, जो प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सर्वश्रेष्ठ एवं भयंकर है, शत्रुओंको संताप देनेवाला जो पाण्डुपुत्र भीम अपने भीतर क्रोध, बल और अमर्षको रखते हुए भी मनको काबूमें रखकर सदा भाईकी आज्ञाके अधीन रहता है, जो स्वभावतः अमर्षशील है, जिसमें तेजकी राशि संचित है, जो महात्मा, सर्वश्रेष्ठ, अमिततेजस्वी तथा देखनेमें भी भयंकर है, वृष्णिनन्दन जनार्दन! उस मेरे द्वितीय पुत्र भीमसेनका समाचार बताओ। इस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाला मेरा मँझला पुत्र पाण्डुकुमार भीमसेन कैसे है? ॥ २२–२७ ॥

अर्जुनेनार्जुनो यः स कृष्ण बाहुसहस्रिणा ।
द्विबाहुः स्पर्धते नित्यमतीतेनापि केशव ॥ २८ ॥

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
इष्वस्त्रे सदृशो राज्ञः कार्तवीर्यस्य पाण्डवः॥ २९॥
तेजसाऽऽदित्यसदृशो महर्षिसदृशो दमे।
क्षमया पृथिवीतुल्यो महेन्द्रसमविक्रमः॥ ३०॥
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं मधुसूदन।
आहृतं येन वीर्येण कुरूणां सर्वराजसु॥ ३१॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः पर्युपासते।
स सर्वरथिनां श्रेष्ठः पाण्डवः सत्यविक्रमः॥ ३२॥
यं गत्वाभिमुखः संख्ये न जीवन् कश्चिदाव्रजेत्।
यो जेता सर्वभूतानामजेयो जिष्णुरच्युत॥ ३३॥
योऽपाश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
स ते भ्राता सखा चैव कथमद्य धनंजयः॥ ३४॥

'श्रीकृष्ण! जो अर्जुन दो भुजाओंसे युक्त होकर भी सदा प्राचीनकालके सहस्र भुजाधारी कार्तवीर्य अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता है; केशव! जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है जो पाण्डव अर्जुन धनुर्विद्यामें राजा कार्तवीर्यके समान ही समझा जाता है, जिसका तेज सूर्यके समान है, इन्द्रियसंयममें महर्षियोंके, क्षमामें पृथ्वीके और पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान है; मधुसूदन! कौरवोंका यह विशाल साम्राज्य, जो सम्पूर्ण राजाओंमें प्रख्यात एवं प्रकाशित हो रहा है, जिसे अर्जुनने ही अपने पराक्रमसे बढ़ाया है; समस्त पाण्डव जिसके बाहुबलका भरोसा रखते हैं। जो सम्पूर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ तथा सत्यपराक्रमी है, संग्राममें जिसके सम्मुख जाकर कोई जीवित नहीं लौटता है, अच्युत! जो सम्पूर्ण भूतोंको जीतनेमें समर्थ, विजयशील एवं अजेय है तथा जैसे देवताओंके आश्रय इन्द्र हैं, उसी प्रकार जो समस्त पाण्डवोंका अवलम्ब है, वह तुम्हारा भाई और मित्र अर्जुन इस समय कैसे है?॥ २८—३४॥

दयावान् सर्वभूतेषु ह्रीनिषेवो महास्त्रवित्।
मृदुश्च सुकुमारश्च धार्मिकश्च प्रियश्च मे॥ ३५॥
सहदेवो महेष्वासः शूरः समितिशोभनः।
भ्रातॄणां कृष्ण शुश्रूषुर्धर्मार्थकुशलो युवा॥ ३६॥
सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः॥ ३७॥
ज्येष्ठापचायिनं वीरं सहदेवं युधां पतिम्।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे॥ ३८॥

'मधुसूदन श्रीकृष्ण! जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु लज्जाशील, महान् अस्त्रवेत्ता, कोमल, सुकुमार, धार्मिक तथा मुझे विशेष प्रिय है; जो महाधनुर्धर शूरवीर सहदेव रणभूमिमें शोभा पानेवाला, सभी भाइयोंका सेवक, धर्म और अर्थके विवेचनमें कुशल तथा युवावस्थासे युक्त है; कल्याणकारी आचारवाले जिस महात्मा सहदेवके आचार-व्यवहारकी सभी भाई प्रशंसा करते हैं, जो बड़े भाईके प्रति अनुरक्त, युद्धोंका नेता और मेरी सेवामें तत्पर रहनेवाला है; उस माद्रीकुमार वीर सहदेवका समाचार मुझे बताओ॥ ३५—३८॥

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः॥ ३९॥
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः।
कच्चित् स कुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः॥ ४०॥

'श्रीकृष्ण! जो सुकुमार, युवक, शौर्यसम्पन्न तथा दर्शनीय है, जो सभी भाइयोंके बाहर विचरनेवाला प्रिय प्राणस्वरूप है, जिसमें युद्धकी विचित्र कला शोभा पाती है, वह महान् धनुर्धर, महाबली एवं मुझसे पला हुआ मेरा पुत्र पाण्डुनन्दन नकुल सकुशल तो है न?॥ ३९-४०॥

सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम्।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः॥ ४१॥

'महाबाहो! क्या मैं सुख-भोगके योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य एवं सुकुमार महारथी नकुलको फिर कभी देख सकूँगी?॥

पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता।
न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम्॥ ४२॥

'वीर! आँखोंकी पलकें गिरनेमें जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुलसे अलग रहनेपर मैं धैर्य खो बैठती थी; परंतु अब इतने दिनोंसे उसे न देखकर भी जी रही हूँ। देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ॥ ४२॥

सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः॥ ४३॥

'जनार्दन! द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय है। वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है॥ ४३॥

पुत्रलोकात् पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते॥ ४४॥

'पुत्रलोकसे पतिलोकको श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रोंको भी त्यागकर पाण्डवोंका अनुसरण करती है॥ ४४॥

महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत॥ ४५॥

'अच्युत! मैंने सब प्रकारकी वस्तुएँ देकर जिसका समादर किया है, वह परम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई सर्वकल्याणी महारानी द्रौपदी इन दिनों कैसी दशामें है?॥

पतिभिः पञ्चभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी॥ ४६॥

'हाय! जो महाधनुर्धर, शूरवीर, युद्धकुशल तथा

अग्नितुल्य तेजस्वी पाँच पतियोंसे युक्त है, वह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी दुःखभागिनी हो गयी ॥ ४६ ॥

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नापश्यमरिंदम।
पुत्राधिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम्॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन! यह चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। इतने दिनोंसे मैंने पुत्रोंके विछोहसे संतप्त हुई सत्यवादिनी द्रौपदीको नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम्।
द्रौपदी चेत् तथावृत्ता नाश्नुते सुखमव्ययम्॥ ४८ ॥

'यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मोंसे युक्त द्रुपदकुमारी अक्षय सुख नहीं पा रही है, तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्यकर्मोंसे सुख नहीं पाता है ॥ ४८ ॥

न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम्॥ ४९ ॥
न मे दुःखतरं किंचिद् भूतपूर्वं ततोऽधिकम्।

'युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी मुझे द्रौपदीसे अधिक प्रिय नहीं हैं। उसी द्रौपदीको मैंने भरी सभामें लायी गयी देखा, उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था ॥ ४९½ ॥

स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम्॥ ५० ॥
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना।
सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम्॥ ५१ ॥

'क्रोध और लोभके वशीभूत हुए दुष्ट दुर्योधनने रजस्वलावस्थामें एकवस्त्रधारिणी द्रौपदीको सभामें बुलवाया और उसे श्वशुरजनोंके समीप खड़ी कर दिया। उस समय सभी कौरवोंने उसे देखा था ॥ ५०-५१ ॥

तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा॥ ५२ ॥

'वहीं राजा धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त तथा अन्यान्य कौरव खेदमें भरे हुए बैठे थे ॥ ५२ ॥

तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम्।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया॥ ५३ ॥

'मैं तो उस कौरव-सभामें सबसे अधिक आदर विदुरजीको देती हूँ, (जिन्होंने द्रौपदीके प्रति किये जानेवाले अन्यायका प्रकटरूपमें विरोध किया था।) मनुष्य अपने सदाचारसे ही श्रेष्ठ होता है, धन और विद्यासे नहीं। ५३।

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः।
क्षत्तुः शीलमलंकारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति॥ ५४ ॥

'श्रीकृष्ण! परम बुद्धिमान् गम्भीरस्वभाव महात्मा विदुरका शील ही आभूषण है, जो सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त (विख्यात) करके स्थित है' ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम्।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवान्वकीर्तयत्॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! श्रीकृष्णको आया हुआ देख कुन्तीदेवी शोकातुर तथा आनन्दित हो अपने ऊपर आये हुए नाना प्रकारके सम्पूर्ण दुःखोंका पुनः वर्णन करने लगीं—॥ ५५ ॥

पूर्वैराचरितं यत् तत् कुराजभिररिंदम।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम्॥ ५६ ॥

'शत्रुदमन श्रीकृष्ण! पहलेके दुष्ट राजाओंने जो जूआ और शिकारकी परिपाटी चला दी है, वह क्या इन सबके लिये सुखावह सिद्ध हुई है? (अपितु कदापि नहीं) ॥ ५६ ॥

तन्मां दहति यत् कृष्णा सभायां कुरुसंनिधौ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा॥ ५७ ॥

'सभामें कौरवोंके समीप धृतराष्ट्रके पुत्रोंने द्रौपदीको जो ऐसा कष्ट पहुँचाया है, जिससे किसीका मङ्गल नहीं हो सकता, वह अपमान मेरे हृदयको दग्ध करता रहता है ॥ ५७ ॥

निर्वासनं च नगरात् प्रव्रज्या च परंतप।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञास्मि जनार्दन॥ ५८ ॥

'परंतप जनार्दन! पाण्डवोंका नगरसे निकाला जाना तथा उनका वनमें रहनेके लिये बाध्य होना आदि नाना प्रकारके दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ ॥ ५८ ॥

अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव।
न मे क्लेशतमं तत् स्यात् पुत्रैः सह परंतप॥ ५९ ॥

'परंतप माधव! मेरे बालकोंको अज्ञातभावसे रहना पड़ा है और अब राज्य न मिलनेसे उनकी जीविकाका भी अवरोध हो गया है। पुत्रोंके साथ मुझे इतना महान् क्लेश नहीं प्राप्त होना चाहिये ॥ ५९ ॥

दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दशम्।
दुःखादपि सुखं नः स्याद् यदि पुण्यफलक्षयः॥ ६० ॥

'दुर्योधनने मेरे पुत्रोंको कपटद्यूतके द्वारा राज्यसे वञ्चित कर दिया। उन्हें इस दुरवस्थामें रहते आज चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। यदि सुख भोगनेका अर्थ है पुण्यके फलका क्षय होना, तब तो पापके फलस्वरूप दुःख भोग लेनेके कारण अब हमें भी दुःखके बाद सुख मिलना ही चाहिये ॥ ६० ॥

न मे विशेषो जात्वासीद् धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः।
तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्रं श्रिया वृतम्।
अस्माद् विमुक्तं संग्रामात् पश्येयं पाण्डवैः सह। ६१।

नैव शक्याः पराजेतुं सर्वे ह्येषां तथाविधम् ।

'श्रीकृष्ण ! मेरे मनमें पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति कभी भेदभाव नहीं था । इस सत्यके प्रभावसे निश्चय ही मैं देखूँगी कि तुम भावी संग्राममें शत्रुओंको मारकर पाण्डवों-सहित संकटसे मुक्त हो गये तथा राज्यलक्ष्मीने तुमलोगोंका ही वरण किया है ! पाण्डवोंमें ऐसे सभी गुण मौजूद हैं, जिनके ही कारण शत्रु इन्हें परास्त नहीं कर सकते॥ ६१½ ॥

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम् ॥ ६२ ॥
येनाहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता।

'मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपनेको दोष देती हूँ, न दुर्योधनको; अपितु पिताकी ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तिभोजके हाथमें उसी प्रकार दे दिया, जैसे विख्यात दानी पुरुष याचकको साधारण धन देते हैं ॥ ६२½ ॥

बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम् ।६३।
अदात् तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।

'मैं अभी बालिका थी, हाथमें गेंद लेकर खेलती फिरती थी; उसी अवस्थामें तुम्हारे पितामहने मित्रधर्मका पालन करते हुए अपने सखा महात्मा कुन्तिभोजके हाथमें मुझे दे दिया ॥ ६३½ ॥

साहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परंतप ।
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम ॥ ६४ ॥

'परंतप श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वशुरोंने भी मेरे साथ वञ्चनापूर्ण बर्ताव किया है । इससे मैं अत्यन्त दुखी हूँ । मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६४ ॥

यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः ।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्॥ ६५ ॥
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनंजयः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ ६६ ॥

'अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी, उस रात्रिमें आकाशवाणीने मुझसे यह कहा था—'भद्रे ! तेरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा । इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा । यह महान् संग्राममें कौरवोंका संहार करके राज्यपर अधिकार कर लेगा, फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा, ॥ ६५-६६ ॥

नाहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे ।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः ॥ ६७ ॥

'मैं इस आकाशवाणीको दोष नहीं देती, अपितु महाविष्णुस्वरूप धर्मको ही नमस्कार करती हूँ । वही इस जगत्का स्रष्टा है । धर्म ही सदा समस्त प्रजाको धारण करता है ॥ ६७ ॥

धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत ।
त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि॥ ६८॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि धर्म है तो तुम भी वह सब काम पूरा कर लोगे, जिसे उस समय आकाशवाणीने बताया था ॥ ६८ ॥

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता ।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः ॥ ६९ ॥

'माधव ! वैधव्य, धनका नाश तथा कुटुम्बीजनोंके साथ बढ़ा हुआ वैर-भाव इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रोंका विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है ॥६९॥

याहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
धनंजयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ७० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुनको जबतक मैं नहीं देख रही हूँ, तबतक मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥

इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नापश्यं युधिष्ठिरम् ।
धनंजयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

'गोविन्द ! चौदहवाँ वर्ष है, जबसे कि मैं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको नहीं देख पा रही हूँ ॥ ७१ ॥

जीवनाशं प्रणष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः ।
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाहं जनार्दन ॥ ७२ ॥

'जनार्दन ! जो लोग प्राणोंका नाश होनेसे अदृश्य होते हैं, उनके लिये मनुष्य श्राद्ध करते हैं । यदि मृत्युका अर्थ अदृश्य हो जाना ही है तो मेरे लिये पाण्डव मर गये हैं और मैं भी उनके लिये मर चुकी हूँ ॥ ७२ ॥

ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ७३ ॥

'माधव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा ! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो ॥ ७३ ॥

पराश्रया वासुदेव या जीवति धिगस्तु ताम् ।
वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी ॥ ७४ ॥

'वासुदेव ! जो स्त्री दूसरोंके आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करती है, उसे धिक्कार है । दीनतासे प्राप्त हुई जीविकाकी अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है ॥ ७४ ॥

अथो धनंजयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥ ७५ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है ॥ ७५ ॥

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति।
लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ ॥ ७६ ॥
नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः।
काले हि समनुप्राप्ते त्यक्तव्यमपि जीवनम् ॥ ७७ ॥

'यदि ऐसा समय आनेपर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा। तुमलोग इस जगत्‌के सम्मानित पुरुष हो। यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्मसे युक्त होनेके कारण मैं तुम्हें सदाके लिये त्याग दूँगी। पुत्रो! तुम्हें तो समय आनेपर अपने प्राणोंको भी त्याग देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये ॥ ७६-७७ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतौ सदा।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ ७८ ॥

'गोविन्द! तुम सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवसे भी कहना—'पुत्रो! तुम प्राणों-की बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना' ॥ ७८ ॥

विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ ७९ ॥

पुरुषोत्तम! क्षत्रियधर्मसे जीवननिर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमसे प्राप्त हुआ धन ही सदा संतुष्ट रखता है ॥ ७९ ॥

गत्वा ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ ८० ॥

'महाबाहो! तुम पाण्डवोंके पास जाकर सम्पूर्ण शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनसे कहना कि तुम द्रौपदीके बताये हुए मार्गपर चलो ॥ ८० ॥

विदितौ हि तवात्यन्तं क्रुद्धौ तौ तु यथान्तकौ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ ८१ ॥

'श्रीकृष्ण! तुम तो जानते ही हो; यदि भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त कुपित हो जायँ तो वे यमराजके समान होकर देवताओंको भी मृत्युके मुखमें पहुँचा सकते हैं ॥ ८१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभां गता।
दुःशासनश्च कर्णश्च परुषाण्यभ्यभाषताम् ॥ ८२ ॥
दुर्योधनो भीमसेनमभ्यगच्छन्मनस्विनम्।
पश्यतां कुरुमुख्यानां तस्य द्रक्ष्यति यत् फलम्। ८३ ।

'द्रौपदीको जो सभामें उपस्थित होना पड़ा तथा दुःशासन और कर्णने जो उसके प्रति कठोर बातें कहीं, यह सब भीमसेन और अर्जुनका ही अपमान है। दुर्योधनने प्रधान-प्रधान कौरवोंके सामने मनस्वी भीमसेनका अपमान किया है। इसका जो फल मिलेगा, उसे वह देखेगा ॥

न हि वैरं समासाद्य प्रशाम्यति वृकोदरः।
सुचिरादपि भीमस्य न हि वैरं प्रशाम्यति।
यावदन्तं न नयति शात्रवाञ्छत्रुकर्शनः ॥ ८४ ॥

'भीमसेन वैर हो जानेपर कभी शान्त नहीं होता। भीमसेनका वैर तबतक दीर्घकालके बाद भी समाप्त नहीं होता है, जबतक वह शत्रुपक्षका संहार नहीं कर डालता ॥ ८४ ॥

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ॥ ८५ ॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ॥ ८६ ॥

'राज्य छिन गया, यह कोई दुःखका कारण नहीं है। जूएमें हार जाना भी दुःखका कारण नहीं है। मेरे पुत्रोंको वनमें भेज दिया गया, इससे भी मुझे दुःख नहीं हुआ है; परंतु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधूको एक वस्त्र धारण किये जो सभामें जाना पड़ा और दुष्टोंकी कठोर बातें सुननी पड़ीं, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा।
नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥ ८७ ॥

'सदा क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखनेवाली मेरी सर्वाङ्ग-सुन्दरी बहू कृष्णा उस समय रजस्वला थी। वह सनाथ होती हुई भी वहाँ किसीको अपना नाथ (रक्षक) न पा सकी ॥ ८७ ॥

यस्या मम सपुत्रायास्त्वं नाथो मधुसूदन।
रामश्च बलिनां श्रेष्ठः प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ८८ ॥
साहमेवंविधं दुःखं सहेऽद्य पुरुषोत्तम।
भीमे जीवति दुर्धर्षे विजये चापलायिनि ॥ ८९ ॥

'पुरुषोत्तम! मधुसूदन! पुत्रोंसहित जिस कुन्तीके बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम, महारथी प्रद्युम्न तथा तुम रक्षक हो; युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले विजयी अर्जुन और दुर्धर्ष भीमसेन-सरीखे जिसके पुत्र जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख सह रही हूँ' ॥ ८८-८९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत आश्वासयामास पुत्राधिभिरभिप्लुताम्।
पितृष्वसारं शोचन्तीं शौरिः पार्थसखः पृथाम् ॥ ९० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनके मित्र भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रोंकी चिन्ताओंमें डूबकर शोक करती हुई अपनी बुआ कुन्तीको इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ९० ॥

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥ ९१ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम राजा शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कुलमें ब्याहकर आयी हो ॥ ९१ ॥

महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवागता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ ९२ ॥

तुम एक उच्च कुलकी कन्या हो और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलिनी एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो । एक दिन तुम सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने सदा तुम्हारा विशेष सम्मान किया है ॥ ९२ ॥

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥ ९३ ॥

तुम वीरपत्नी, वीरजननी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो । महाप्राज्ञे ! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये ॥ ९३ ॥

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥ ९४ ॥

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं ॥ ९४ ॥

त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ॥ ९५ ॥

तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है, वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है । वे महान् उत्साही और महा-बली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते ॥

अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान् ॥ ९६ ॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ॥ ९७ ॥

धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं । ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं । वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं । महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है ॥ ९६-९७ ॥

अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ॥ ९८ ॥

बुआ ! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है ॥ ९८ ॥

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान्।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्श्रिया वृतान् ॥ ९९ ॥

तुम शीघ्र ही देखोगी; पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्के शासकपदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ९९ ॥

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम्।
पुत्राधिभिरभिध्वस्ता निगृह्याबुद्धिजं तमः ॥ १०० ॥

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा ॥ १०० ॥

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥ १०१ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ॥ १०१ ॥

अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परंतप।
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण सत्यस्याभिजनस्य च ॥ १०२ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! धर्मका लोप न करते हुए, छल और कपटसे दूर रहकर समयोचित कार्य करना चाहिये । मैं तुम्हारी सत्यपरायणता और कुल-मर्यादाका भी प्रभाव जानती हूँ ॥ १०२ ॥

व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं तपो महत् ॥ १०३ ॥
त्वं त्राता त्वं महद् ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यथैवात्थ तथैवैतत् त्वयि सत्यं भविष्यति ॥ १०४ ॥

प्रत्येक कार्यकी व्यवस्थामें, मित्रोंके संग्रहमें तथा बुद्धि और पराक्रममें भी जो तुम्हारा अद्भुत प्रभाव है, उससे मैं परिचित हूँ । हमारे कुलमें तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं महान् तप हो, तुम्हीं रक्षक और तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो । सब कुछ तुममें ही प्रतिष्ठित है । तुम जो कुछ कहते हो, वह सब तुम्हारे संनिधानमें सत्य होकर ही रहेगा ॥ १०३-१०४ ॥

(कुरूणां पाण्डवानां च लोकानां चापराजित।
सर्वस्यैतस्य वार्ष्णेय गतिस्त्वमसि माधव ॥
प्रभावो बुद्धिवीर्यं च तादृशं तव केशव।)

किसीसे पराजित न होनेवाले वृष्णिनन्दन माधव ! कौरवोंके, पाण्डवोंके तथा इस सम्पूर्ण जगत्के तुम्हीं आश्रय

हो। केशव! तुम्हारा प्रभाव तथा तुम्हारा बुद्धिबल भी तुम्हारे अनुरूप ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान् प्रति ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु गोविन्द कुन्तीदेवीकी परिक्रमा करके उनसे आज्ञा ले दुर्योधनके घरकी ओर चल दिये ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-कुन्ती-संवादविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १०६½ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनके घर जाना एवं उसके निमन्त्रणको अस्वीकार करके विदुरजीके घरपर भोजन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्तीकी परिक्रमा करके एवं उनकी आज्ञा ले दुर्योधनके घर गये ॥ १ ॥

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम्।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ॥ २ ॥

वह घर इन्द्रभवनके समान उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उसमें यथास्थान विचित्र आसन सजाकर रक्खे गये थे। श्रीकृष्णने उस गृहमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः।
ततोऽभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः।

द्वारपालोंने रोक-टोक नहीं की। उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके महायशस्वी श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रासादपर आरूढ़ हुए, जो आकाशमें छाये हुए शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत, पर्वतशिखरके समान ऊँचा तथा अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशमान था ॥ ३½ ॥

तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाभिसंवृतम् ॥ ४ ॥
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शासीनमासने।

वहाँ उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको देखा, जो सहस्रों राजाओं तथा कौरवोंसे घिरा हुआ था ॥ ४½ ॥

दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान् ददर्श सः।

दुर्योधनके पास ही दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये भी आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णने उनको भी देखा ॥ ५½ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ६ ॥
उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम्।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी दुर्योधन मधुसूदनका सम्मान करते हुए मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया ॥ ६½ ॥

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ॥ ७ ॥
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः।

मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे मिलकर वृष्णिकुलभूषण केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले ॥ ७½ ॥

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ॥ ८ ॥
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ।

उस राजसभामें सुन्दर रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्क रक्खा हुआ था, जिसपर भाँति-भाँतिके बिछौने बिछे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ ८½ ॥

तस्मिन् गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ॥ ९ ॥
निवेदयामास तदा गृहान् राज्यं च कौरवः।

उस समय कुरुराजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया ॥ ९½ ॥

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।

उस पर्यङ्कपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उस समय राजाओंसहित समस्त कौरव उनके पास आकर बैठ गये ॥ १०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ॥ ११ ॥
न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णको भोजनके लिये निमन्त्रित किया; परंतु केशवने उस निमन्त्रण-को स्वीकार नहीं किया ॥ ११½ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १२ ॥
मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।

तब कुरुराज दुर्योधनने कर्णसे सलाह लेकर कौरवसभामें श्रीकृष्णसे पूछा। पूछते समय उसकी वाणीमें पहले तो मृदुता थी, परंतु अन्तमें शठता प्रकट होने लगी थी ॥ १२½ ॥

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ॥ १३ ॥
त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ।

(दुर्योधन बोला—) जनार्दन ! आपके लिये अन्न, जल, वस्त्र और शय्या आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्हें आपने ग्रहण क्यों नहीं किया ? ॥ १३½ ॥

उभयोश्चाददाः साह्यमुभयोश्च हिते रतः ॥ १४ ॥
सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।
त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।
तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ॥ १५ ॥

आपने तो दोनों पक्षोंको ही सहायता दी है, आप उभय-पक्षके हित-साधनमें तत्पर हैं। माधव ! महाराज धृतराष्ट्रके आप प्रिय सम्बन्धी भी हैं। चक्र और गदा धारण करनेवाले गोविन्द ! आपको धर्म और अर्थका सम्पूर्णरूपसे यथार्थ ज्ञान भी है; फिर मेरा आतिथ्य ग्रहण न करनेका क्या कारण है; यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ १६ ॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर राजा दुर्योधनको सजल जलधरके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित, प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता एवं संकीर्णता आदि दोषोंसे रहित था ॥ १६-१७ ॥

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ १८ ॥

'भारत ! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ॥ १९ ॥

यह सुनकर दुर्योधनने जनार्दनसे कहा—'आपको हम-लोगोंके साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये। १९।

कृतार्थं वाकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ २० ॥

'दशार्हनन्दन मधुसूदन ! आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हमलोग तो आपके सम्मानका प्रयत्न करते ही हैं; किंतु हमें सफलता नहीं मिल रही है ॥ २० ॥

न च तत् कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥

'मधुदैत्यका विनाश करनेवाले पुरुषोत्तम ! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिसके होनेसे आप हमारी प्रेमपूर्वक अर्पित की हुई पूजा ग्रहण न कर सकें ॥ २१ ॥

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥

'गोविन्द ! आपके साथ हमलोगोंका न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है। इन सब बातोंका विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर दशार्हकुलभूषण जनार्दनने मन्त्रियोंसहित दुर्योधनकी ओर देखकर हँसते हुए-से उत्तर दिया ॥ २३ ॥

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥ २४ ॥

'राजन् ! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, बहाने-बाजी अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥ २५॥

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। नरेश्वर! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं॥ २५॥

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः॥ २६॥

'राजन्! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो॥ २६॥

अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति॥ २७॥

'बिना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है?॥२७॥

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥ २८॥

'जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो॥ २८॥

कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम्॥ २९॥

'जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है॥ २९॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम्॥ ३०॥

'जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह[1] और लोभ[2]की दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता॥ ३०॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति॥ ३१॥

'जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है॥ ३१॥

(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः॥)

'जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये। द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं॥

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम्।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः॥ ३२॥

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है। अतः मेरे भोजन करने योग्य नहीं है। मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खाने योग्य है। यह मेरी निश्चित धारणा है'॥ ३२॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम्।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात्॥ ३३॥

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे बाहर निकले॥ ३३॥

निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः॥ ३४॥

वहाँसे निकलकर महामना महाबाहु भगवान् वासुदेव ठहरनेके लिये महात्मा विदुरके भवनमें गये॥ ३४॥

तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम्॥ ३५॥
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम्।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम्॥ ३६॥

उस समय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाह्लीक तथा अन्य कौरवोंने भी महाबाहु श्रीकृष्णका अनुसरण किया। विदुरके घरमें ठहरे हुए यदुवंशी वीर मधुसूदनसे वे सब कौरव बोले—'वृष्णिनन्दन! हमलोग रत्न-धनसे सम्पन्न अपने घरोंको आपकी सेवामें समर्पित करते हैं'॥ ३५-३६॥

तानुवाच महातेजाः कौरवान् मधुसूदनः।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता॥ ३७॥

तब महातेजस्वी मधुसूदनने कौरवोंसे कहा—'आप सब लोग अपने घरोंको जायँ; आपके द्वारा मेरा सारा सम्मान सम्पन्न हो गया'॥ ३७॥

यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम्।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान्॥ ३८॥

कौरवोंके चले जानेपर विदुरजीने कभी पराजित न होनेवाले दशार्हनन्दन श्रीकृष्णको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुएँ समर्पित करके प्रयत्नपूर्वक उनका पूजन किया॥ ३८॥

---

१. जो दुष्ट नहीं है, उसे भी दुष्ट समझना मोह है।

२. दूसरेके धनको हर लेनेकी इच्छाका नाम लोभ है।

ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन्होंने अनेक प्रकारके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अर्पित किये ॥ ३९ ॥

तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः परमद्रविणान्यपि ॥ ४० ॥

मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको तृप्त किया; फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दिया ॥ ४० ॥

ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित भगवान् श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण किये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णदुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-दुर्योधनसंवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको उनके कौरवसभामें जानेका अनौचित्य बतलाना

वैशम्पायन उवाच

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत्।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रातमें जब भगवान् श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे, उस समय विदुरजीने उनसे कहा—'केशव ! आपने जो यहाँ आनेका विचार किया, यह मेरी समझमें अच्छा नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥

'जनार्दन ! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनोंका उल्लङ्घन कर चुका है । वह क्रोधी, दूसरोंके सम्मानको नष्ट करनेवाला और स्वयं सम्मान चाहनेवाला है । उसने बड़े-बूढ़े गुरुजनोंके आदेशको भी ठुकरा दिया है ॥ २ ॥

धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ॥ ३ ॥

'प्रभो ! मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मशास्त्रोंकी भी आज्ञा नहीं मानता; सदा अपना ही हठ रखता है । उस दुरात्माको सन्मार्गपर ले आना असम्भव है ॥ ३ ॥

कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक् सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ॥ ४ ॥

'उसका मन भोगोंमें आसक्त है, वह अपनेको पण्डित मानता, मित्रोंके साथ द्रोह करता और सबको संदेहकी दृष्टिसे देखता है । वह स्वयं तो किसीका उपकार करता ही नहीं, दूसरोंके किये हुए उपकारको भी नहीं मानता । वह धर्मको त्यागकर असत्यसे ही प्रेम करने लगा है ॥ ४ ॥

मूढश्चाकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ॥ ५ ॥

'उसमें विवेकका सर्वथा अभाव है, उसकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर नहीं रहती तथा वह अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेमें असमर्थ है । वह अपनी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाला तथा सभी कार्योंमें अनिश्चित विचार रखनेवाला है ॥ ५ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।
त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से दोष उसमें भरे हुए हैं । आप उसे हितकी बात बतायेंगे, तो भी वह क्रोधवश उसे स्वीकार नहीं करेगा ॥ ६ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे ।
भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ॥ ७ ॥

'वह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा जयद्रथपर अधिक भरोसा रखता है; अतः उसके मनमें संधि करनेका विचार ही नहीं होता है ॥ ७ ॥

निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन ।
भीष्मद्रोणमुखान् पार्था न शक्ताः प्रतिवीक्षितुम् । ८ ।

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा कर्णकी यह निश्चित धारणा है कि कुन्तीके पुत्र भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि वीरोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ॥ ८ ॥

सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन ।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मूर्ख एवं बुद्धिहीन दुर्योधन राजाओंकी सेना एकत्र करके अपने-आपको कृतकृत्य मानता है ॥ ९ ॥

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम् ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥ १० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनको तो इस बातका भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ है; इसलिये वह कदापि संधि नहीं करेगा ॥ १० ॥

संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव ।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् ।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १२ ॥

'केशव ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंने यह पक्का विचार कर लिया है कि हमें पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग नहीं देना चाहिये। यही उनका दृढ़ निश्चय है। इधर आप संधिके लिये प्रयत्न करते हुए उनमें उत्तम भ्रातृभाव जगाना चाहते हैं; परंतु उन दुष्टोंके प्रति आप जो कुछ भी कहेंगे, वह सब व्यर्थ ही होगा ॥ ११-१२ ॥

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन ।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ १३ ॥

'मधुसूदन ! जहाँ अच्छी और बुरी बातोंका एक-सा ही परिणाम हो, वहाँ विद्वान् पुरुषको कुछ नहीं कहना चाहिये। वहाँ कोई बात कहना बहरोंके आगे राग अलापनेके समान व्यर्थ ही है ॥ १३ ॥

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव ।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा॥ १४॥

'माधव ! जैसे चाण्डालोंके बीचमें किसी विद्वान् ब्राह्मण-का उपदेश देना उचित नहीं है, उसी प्रकार उन मर्यादारहित मूर्ख और अज्ञानियोंके समीप आपका कुछ भी कहना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १४ ॥

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः ।
तस्मिन् निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥ १५ ॥

'मूढ़ दुर्योधन सैन्यसंग्रह करके अपनेको शक्तिशाली समझता है। वह आपकी बात नहीं मानेगा। उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा ॥ १५ ॥

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम् ।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥ १६ ॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण ! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं; अतः उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है। वे सब-के-सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं। उनकी संख्या भी बहुत है। श्रीकृष्ण ! आप उनके बीचमें जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें ; यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः ।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥ १८ ॥

'दुर्योधनने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है। वह राज्यलक्ष्मीके घमण्डसे मोहित है। इसके सिवा उसे अपनी युवावस्थापर भी गर्व है और वह पाण्डवोंके प्रति सदा अमर्ष-में भरा रहता है। अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा ॥ १८ ॥

बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव ।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ॥ १९ ॥

'माधव ! दुर्योधनके पास प्रबल सैन्यबल है। इसके सिवा आपपर उसे महान् संदेह है। अतः आप यदि उससे अच्छी बात कहेंगे, तो भी वह आपकी बात नहीं मानेगा ॥ १९ ॥

नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहामरैः ।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ॥ २० ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको यह दृढ़ विश्वास है कि देवताओंसहित इन्द्र भी इस समय युद्धके द्वारा हमारी इस सेनाको परास्त नहीं कर सकते ॥ २० ॥

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु ।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ॥ २१ ॥

'जो इस प्रकार निश्चय किये बैठे हैं और काम-क्रोधके ही पीछे चलनेवाले हैं, उनके प्रति आपका युक्तियुक्त एवं सार्थक वचन भी निरर्थक एवं असफल हो जायगा ॥ २१ ॥

मध्ये तिष्ठन् हस्त्यनीकस्य मन्दो
रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः ।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः
कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ॥ २२॥

'रथियों और घुड़सवारोंसे युक्त हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़ा होकर भयसे रहित हुआ मन्दबुद्धि मूढ़ दुर्योधन यह समझता है कि यह सारी पृथ्वी मैंने जीत ली ॥ २२ ॥

आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलो नोपलभ्यो
बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ॥ २३ ॥

'धृतराष्ट्रका वह ज्येष्ठ पुत्र भूमण्डलका शत्रुरहित साम्राज्य पानेकी आशा रखता है। वह मन-ही-मन यह संकल्प भी करता है कि जूएमें प्राप्त हुआ यह धन एवं राज्य अब मेरे ही अधिकारमें आबद्ध रहे; अतः उसके प्रति केवल संधिका प्रयत्न सफल न होगा ॥ २३ ॥

पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा
दुर्योधनार्थे पाण्डवान् योद्धुकामाः।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां
राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है, अब यह पृथ्वी कालसे परिपक्व होकर नष्ट होनेवाली है; क्योंकि राजाओंके साथ भूमण्डलके समस्त क्षत्रिय योद्धा दुर्योधनके लिये पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ २४ ॥

सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्
त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण।
तवोद्वेगात् संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण ! ये सब-के-सब वे ही भूपाल हैं, जिन्होंने पहले आपके साथ वैर ठाना था और जिनका सार-सर्वस्व आपने हर लिया था। ये लोग आपके भयसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी शरणमें आये हैं तथा कर्णके साथ संगठित हो वीरता दिखानेको उद्यत हुए हैं ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन
हृष्टा योद्धुं पाण्डवान् सर्वयोधाः।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं
न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ॥ २६ ॥

'ये सब योद्धा दुर्योधनके साथ मिल गये हैं और अपने प्राणोंका मोह छोड़कर हर्ष एवं उत्साहके साथ पाण्डवोंसे युद्ध करनेको तैयार हैं। दशार्हवंशी वीर ! ऐसे विरोधियोंके बीचमें यदि आप जानेको उद्यत हैं तो यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता॥

तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम्।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥ २८ ॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम्॥ २९ ॥

'शत्रुसूदन ! जहाँ दुष्टतापूर्ण विचार लिये बहुसंख्यक शत्रु बैठे हों, वहाँ उनके बीच आप कैसे जाना चाहते हैं ? शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण ! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी सर्वथा आपके सामने टिक नहीं सकते हैं तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ; तथापि माधव ! पाण्डवोंपर जो मेरा प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है। अतः प्रेम, अधिक आदर और सौहार्दसे प्रेरित होकर मैं यह बात कह रहा हूँ ॥ २७-२९ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम्॥३०॥

'कमलनयन ! आपके दर्शनसे आपके प्रति मेरा जो प्रेम उमड़ आया है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय ? आप समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अतः स्वयं ही सब कुछ देखते और जानते हैं)' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-विदुरसंवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२

त्रिनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरव-पाण्डवोंमें संधिस्थापनके प्रयत्नका औचित्य बताना

(वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा प्रश्रितं पुरुषोत्तमः।
इदं होवाच वचनं भगवान् मधुसूदनः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका यह प्रेम और विनयसे युक्त वचन सुनकर पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ॥ १ ॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी ! एक महान् बुद्धिमान्

पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृद्से जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है ॥ १-२॥

सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥ ३ ॥

आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है। तथापि विदुरजी! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥ ४ ॥

विदुरजी! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैर-भाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ ॥ ४ ॥

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् ॥ ५ ॥

अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६ ॥

मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन्।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ ७ ॥

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम् ॥ ८ ॥

अतः विदुरजी! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ ९ ॥

यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरव-पक्षमें ही हुआ है ॥ ९ ॥

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥ १० ॥

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं ॥ १० ॥

आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन्।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् ॥ ११ ॥

जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ॥ ११ ॥

तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ॥ १२ ॥

अतः विदुरजी! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये ॥ १२ ॥

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया ॥ १३ ॥

मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा ॥ १३ ॥

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ॥ १४ ॥

इस प्रकार हितसाधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शङ्का करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा ॥

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं ॥ १५ ॥

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) ॥ १६ ॥

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥ १७ ॥

मैं दोनों पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूरा प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा ॥ १७ ॥

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ १८ ॥

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा ॥ १८ ॥

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ १९ ॥

महात्मन्! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे ॥ १९ ॥

अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम्।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ २० ॥

मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्तिस्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे ॥ २० ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ २१ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो ये समस्त राजा लोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन एवं शकुनिके द्वारा बुलाये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णका रथपर बैठकर प्रस्थान एवं कौरवसभामें प्रवेश और स्वागतके पश्चात् आसनग्रहण

वैशम्पायन उवाच

तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा विदुरके इस प्रकार वार्तालाप करते हुए ही वह नक्षत्रोंसे सुशोभित मङ्गलमयी रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो चुकी थी ॥ १ ॥

धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ॥ २ ॥
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्यामिततेजसः।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण धर्म, अर्थ और कामके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें कहते रहे। उनकी वाणीके पद, अर्थ और अक्षर बड़े विचित्र थे; अतः महात्मा विदुर भगवान्‌की कही हुई उन विविध वार्ताओंको प्रसन्नतापूर्वक सुनते रहे। इस प्रकार अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण और विदुर दोनों ही एक दूसरेकी मनोनुकूल कथावार्तामें इतने तन्मय थे कि बिना इच्छाके ही उनकी वह रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो गयी थी ॥ २-३ ॥

ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर मधुर स्वरसे युक्त बहुत-से सूत और मागध शङ्ख और दुन्दुभियोंके घोषसे भगवान् श्रीकृष्णको जगाने लगे ॥ ४ ॥

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम्।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ॥ ५ ॥

तब समस्त यदुवंशियोंके शिरोमणि दशार्हनन्दन श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर प्रातःकालका समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ॥ ५ ॥

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥ ६ ॥

संध्या-तर्पण और जप करके अग्निहोत्र करनेके पश्चात् माधवने अलंकृत होकर उदयकालमें सूर्यका उपस्थान किया ॥ ६ ॥

अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
संध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ७ ॥
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥ ८ ॥
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
तावभ्यनन्दद् गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥

इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी संध्योपासनामें लगे हुए अपराजित वीर दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—'गोविन्द! महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं। भीष्म आदि कौरव तथा अन्य समस्त भूपाल भी वहाँ उपस्थित हैं। जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रका आवाहन करते हैं, इसी प्रकार भीष्म आदि सब लोग आपसे वहाँ दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनद्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ ७–९ ॥

ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।
ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ॥ १० ॥
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर निर्मल सूर्यदेवका उदय हो जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् जनार्दनने ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र, गौ तथा घोड़े दान किये। अनेक प्रकारके रत्नोंका दान करके खड़े हुए उन अपराजित दाशार्ह वीरके पास जाकर सारथिने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १०-११ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥ १२ ॥

इसके बाद क्षुद्र घण्टिकाओंसे विभूषित और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए चमकीले विशाल रथके साथ दारुक शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

(तस्मै रथवरो युक्तः शुशुभे लोकविश्रुतः ।
वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ॥

भगवान्‌के लिये जोतकर खड़ा किया हुआ वह विश्वविख्यात श्रेष्ठ रथ बड़ी शोभा पा रहा था। उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे ॥

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवः किंशुकप्रभः ।
मेघपुष्पो मेघवर्णः पाण्डुरस्तु बलाहकः ॥

उनमेंसे शैब्यका रङ्ग तोतेकी पाँखके समान हरा था। सुग्रीव पलाशके फूलकी भाँति लाल था। मेघपुष्पकी कान्ति मेघोंके ही समान थी और बलाहक सफेद था ॥

दक्षिणं चावहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽवहत् ।
पृष्ठवाहौ तयोरास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ॥

शैब्य दाहिने भागमें जुतकर उस रथका वहन करता था और सुग्रीव बाँयें भागमें। मेघपुष्प और बलाहक क्रमशः इनके पीछे जुते हुए थे ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभाकरमिव स्पृशन् ।
तस्य सत्त्ववतः केतौ भुजगारिरशोभत ॥

सत्त्वगुणके अधिष्ठानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके रथमें लगे हुए ध्वजदण्डकी उस पताकामें सूर्यका स्पर्श करते हुए-से सर्पशत्रु विनतानन्दन गरुड विराज रहे थे ॥

तस्य कीर्तिमतस्तेन भास्वरेण विराजता ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठः पतगेन्द्रेण केतुना ॥

कीर्तिमान् श्रीकृष्णका वह श्रेष्ठ रथ उस उज्ज्वल एवं प्रकाशमान गरुडध्वजके द्वारा बड़ी शोभा पा रहा था ॥

रुक्मजालैः पताकाभिः सौवर्णेन च केतुना ।
बभूव स रथश्रेष्ठः कालसूर्य इवोदितः ॥

सोनेकी जालियों, पताकाओं तथा सुवर्णमय ध्वजके द्वारा भगवान्‌का वह उत्तम रथ प्रलयकालमें उदित हुए सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था ॥

पक्षिध्वजवितानैश्च रुक्मजालकृतान्तरैः ।
दण्डमार्गविभागैश्च सुकृतैर्विश्वकर्मणा ॥
प्रवालमणिहेमैश्च मुक्तावैडूर्यभूषणैः ।
किङ्किणीशतसङ्घैश्च वालजालकृतान्तरैः ॥
कार्तस्वरमयीभिश्च पद्मिनीभिरलंकृतः ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठस्तापनीयैश्च पादपैः ॥
व्याघ्रसिंहवराहैश्च गोवृषैर्मृगपक्षिभिः ।
ताराभिर्भास्करैश्चापि वारणैश्च हिरण्मयैः ॥
वज्राङ्कुशविमानैश्च कूबरावृत्तसंधिषु ।)

उस रथके गरुडध्वज, चँदोवे, स्वर्णजालविभूषित मध्यभाग तथा पृथक्-पृथक् दण्डमार्गोंका विश्वकर्माने सुन्दर ढंगसे निर्माण किया था। प्रवाल (मूँगा), मणि, सुवर्ण, वैदूर्य, मुक्ता आदि विविध आभूषणों, शत-शत क्षुद्रघण्टिकाओं तथा वालमणिकी झालरोंसे उस रथके अन्तःप्रदेश सुसज्जित किये गये थे। सुवर्णमय कमलिनियों, तपाये हुए सुवर्णके ही वृक्षों तथा व्याघ्र, सिंह, वराह, वृषभ, मृग, पक्षी, तारा, सूर्य और हाथियोंकी स्वर्णमयी प्रतिमाओंसे उस

श्रेष्ठ रथकी अत्यन्त शोभा हो रही थी। कूबर (युगंधर) की गोलाकार संधियोंमें वज्र, अङ्कुश तथा विमानकी आकृतियों-से उस रथको विभूषित किया गया था ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः ।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ १४ ॥
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभिरक्षितः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥ १५ ॥

महान् सजल मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हुए उस दिव्य रथको उपस्थित जान अग्नि एवं ब्राह्मणोंको दाहिने करके, गलेमें कौस्तुभमणि डालकर, अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए, कौरवोंसे घिरकर एवं वृष्णिवंशी वीरोंसे सुरक्षित हो समस्त यादवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूर-नन्दन जनार्दन श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हुए ॥ १३–१५ ॥

अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण बुद्धिमानोंमें उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पश्चात् समस्त धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी भी उस रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी दूसरे रथपर बैठकर चले ॥ १७ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि ॥ १८ ॥

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंशके दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये ॥ १८ ॥

तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः ।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन् विरेजिरे ॥ १९ ॥

राजन्! उन सबके जाते समय सोनेके आभूषणोंसे विभूषित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए एवं गम्भीर घोषयुक्त उनके विचित्र रथ बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १९ ॥

सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम् ।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन् ॥ २० ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उस विशाल राजपथपर जा पहुँचे, जिसपर पूर्वकालके राजर्षि यात्रा करते थे। वहाँकी धूल झाड़ दी गयी थी और सर्वत्र जलसे छिड़काव किया गया था ॥ २० ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः ।
शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर ढोल, शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे बाजे एक साथ बज उठे ॥ २१ ॥

प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः ।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परंतपाः ॥ २२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले, सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण जगत्के प्रख्यात तरुण वीर भगवान् श्रीकृष्णके रथको घेरकर चलते थे ॥ २२ ॥

ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः ।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्यासन् पुरःसराः ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णके आगे चलनेवाले सैनिकोंकी संख्या कई सहस्र थी। उन सबने विचित्र एवं अद्भुत वस्त्र धारण कर रक्खे थे। उनके हाथोंमें खड्ग और प्रास आदि आयुध शोभा पाते थे ॥ २३ ॥

गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चासन् सहस्रशः ।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम् ॥ २४ ॥

किसीसे पराजित न होनेवाले दशार्हवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे उस यात्राके समय पाँच सौ हाथी और सहस्रों रथ जा रहे थे ॥ २४ ॥

पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम् ।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिंदम ॥ २५ ॥

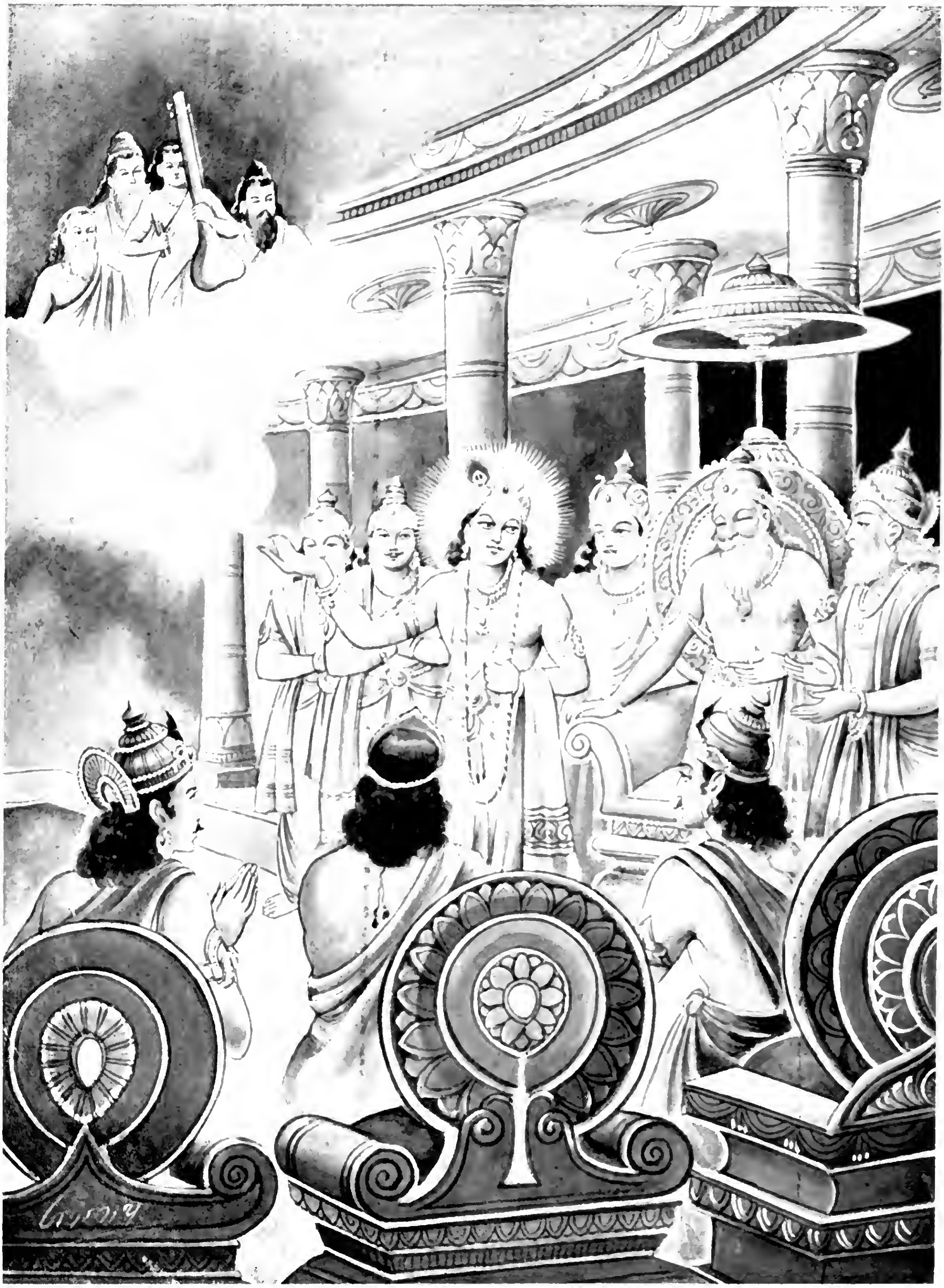

श्रीकृष्णका कौरव-सभामें प्रवेश

'शत्रुदमन जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंसहित कौरवों-का सारा नगर सड़कपर आ गया था ॥ २५ ॥

वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः ।
प्रचलन्तीव भारेण योषाद्भिर्भवनान्युत ॥ २६ ॥

छतोंके सड़ककी ओरवाले भागपर बैठी हुई झुंड-की-झुंड स्त्रियोंके भारसे मानो हस्तिनापुरके वे सारे भवन कम्पित-से हो रहे थे ॥ २६ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः संश्रृण्वन् मधुराः कथाः ।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन् प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंसे सम्मानित होते हुए, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए और यथायोग्य उनका भी सत्कार करते हुए धीरे-धीरे सबकी ओर देखते जा रहे थे ॥ २७ ॥

ततः सभां समासाद्य केशवस्यानुयायिनः ।
सशङ्खैर्वेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ २८ ॥

कौरवसभाके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णके अनुगामी सेवकोंने शङ्ख और वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ॥ २८ ॥

ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम् ।
सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी राजाओंकी वह सारी सभा भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी आकाङ्क्षाके कारण हर्षोल्लास-से चञ्चल हो उठी ॥ २९ ॥

ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन् नराधिपाः ।
श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३० ॥
आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।
अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ ३१ ॥
नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णके निकट आनेपर उनके रथका मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष सुनकर सभी नरेश रोमाञ्चित हो उठे। सभाके द्वारपर पहुँचकर सर्वयादवशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण-ने कैलासशिखरके समान समुज्ज्वल रथसे नीचे उतरकर नूतन मेघके समान श्याम तथा तेजसे प्रज्वलित-सी होनेवाली इन्द्रभवनतुल्य उस कौरवसभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ३०-३२ ॥

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः ।
ज्योतींष्यादित्यवद् राजन् कुरून् प्राच्छादयञ्छ्रिया ॥

राजन्! जैसे सूर्य अपनी प्रभासे आकाशके तारोंको तिरोहित कर देते हैं, उसी प्रकार महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य कान्तिसे कौरवोंको आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़े सभामें आये ॥ ३३ ॥

अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।
वृष्णयः कृतवर्मा चाप्यासन् कृष्णस्य पृष्ठतः ॥ ३४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके आगे आगे कर्ण और दुर्योधन थे और उनके पीछे कृतवर्मा तथा अन्य वृष्णिवंशी वीर थे ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः ।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ३५ ॥

उस समय भीष्म और द्रोणाचार्य आदि सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्रको आगे करके अपने आसनोंसे उठकर आगे बढ़े ॥ ३५ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ ३६ ॥

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ ही उठ गये थे ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे ।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ ३७ ॥

महाराज धृतराष्ट्रके उठनेपर वहाँ चारों ओर बैठे हुए सहस्रों नरेश उठकर खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये

सुवर्णभूषित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रक्खा गया था ॥ ३८ ॥

स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चान्यान् यथावयः ॥ ३९ ॥

उस समय धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अवस्थाके अनुसार अन्य राजाओंसे भी वार्तालाप किया ॥ ३९ ॥

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम् ।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ॥ ४० ॥

वहाँ सभामें पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका भूमण्डलके राजाओं तथा सभी कौरवोंने भलीभाँति पूजन किया ॥ ४० ॥

तत्र तिष्ठन् स दाशार्हो राजमध्ये परंतपः ।
अपश्यदन्तरिक्षस्थानृषीन् परपुरंजयः ॥
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ॥ ४१ ॥
अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः ।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥ ४२ ॥

राजाओंके बीचमें खड़े हुए शत्रुनगरविजयी परंतप श्रीकृष्णने देखा कि आकाशमें कुछ ऋषि-मुनि खड़े हैं। उन नारद आदि महर्षियोंको देखकर श्रीकृष्णने धीरे-से शान्तनुनन्दन भीष्मसे कहा—'नरेश्वर ! इस राज्यसभाको देखनेके लिये ऋषिगण पधारे हैं ॥ ४१—४२ ॥

निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥ ४३ ॥

'इन्हें अत्यन्त सत्कारपूर्वक आसन देकर निमन्त्रित किया जाय, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ऋषीञ्छान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान् ॥ ४४ ॥
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत् ।

'पवित्र अन्तःकरणवाले इन मुनियोंकी शीघ्र पूजा की जानी चाहिये ।' शान्तनुनन्दन भीष्मने मुनियोंको देखकर सभाद्वारपर स्थित हुए राजकर्मचारियोंको बड़ी उतावलीके साथ आज्ञा दी—'अरे ! आसन लाओ' ॥ ४४½ ॥

आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च ॥ ४५ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः ।

तब सेवकोंने इधर-उधरसे मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए शुद्ध, विशाल एवं विस्तृत आसन लाकर रख दिये ॥ ४५½ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत ॥ ४६ ॥
निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ।

भारत ! अर्घ्य ग्रहण करके जब ऋषिलोग उन आसनोंपर बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओंने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया ॥ ४६½ ॥

दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे ।

दुःशासनने सात्यकिको उत्तम आसन दिया एवं विविंशतिने कृतवर्माको स्वर्णमय आसन प्रदान किया ॥ ४७½ ॥

अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ॥ ४८ ॥
एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ।

अमर्षमें भरे हुए महामना कर्ण और दुर्योधन दोनों एक आसनपर श्रीकृष्णके पास ही बैठे थे ॥ ४८½ ॥

गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः ॥ ४९ ॥
निषसादासने राजा सहपुत्रो विशाम्पते ।

जनमेजय ! गान्धारदेशीय सैनिकोंसे सुरक्षित पुत्रसहित गान्धारराज शकुनि भी एक आसनपर बैठा था ॥ ४९½ ॥

विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे ॥ ५० ॥
संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ।

परम बुद्धिमान् विदुर भगवान् श्रीकृष्णके आसनका स्पर्श करते हुए एक मणिमय चौकीपर, जिसके ऊपर श्वेत रङ्गका स्पृहणीय मृगचर्म बिछाया गया था, बैठे थे ॥ ५०½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते ॥ ५१ ॥
अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।

सब राजा दीर्घकालके पश्चात् दशार्हकुलभूषण भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हींकी ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, मानो अमृत पी रहे हों। इस प्रकार उन्हें तृप्ति ही नहीं होती थी ॥ ५१½ ॥

अतसीपुष्पसंकाशः पीतवासा जनार्दनः ॥ ५२ ॥
व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ॥ ५३ ॥

अलसीके फूलकी भाँति मनोहर श्याम कान्तिवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण उस सभाके मध्यभागमें स्वर्णपात्रमें रक्खी हुई नीलमणिके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगतमानसम् ।
न तत्र कश्चित् किंचिद् वा व्याजहार पुमान् क्वचित् ॥

उस समय वहाँ सबका मन भगवान् गोविन्दमें ही लगा हुआ था। अतः सभी चुपचाप बैठे थे। कोई मनुष्य कहीं कुछ भी बोल नहीं रहा था ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका सभामें प्रवेशविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसभामें श्रीकृष्णका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥ १ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब सुन्दर दन्तावलिसे सुशोभित तथा दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरवाले यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने बोलना आरम्भ किया। जैसे ग्रीष्मऋतुके अन्तमें बादल गर्जता है, उसी प्रकार उन्होंने गम्भीर गर्जनाके साथ सारी सभाको सुनाते हुए धृतराष्ट्रकी ओर देखकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय॥ ३॥

राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम ॥ ४ ॥

शत्रुदमन नरेश! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं ॥ ४ ॥

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ५ ॥

भूपाल! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है। यह कौरवकुल समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते॥ ६ ॥

भारत! कुरुवंशियोंमें कृपा[1], अनुकम्पा[2], करुणा[3], अनृशंसता[4], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ७ ॥

राजन्! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो वह ठीक नहीं है॥ ७ ॥

त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ॥ ८ ॥

तात कुरुश्रेष्ठ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्तरूपसे) मिथ्या आचरण (असद्व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं॥ ८ ॥

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं ॥ ९ ॥

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पुरुषरत्न! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टतापूर्ण बर्ताव करते हैं। लोभने इनके हृदयको ऐसा वशीभूत

---

१. दूसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम 'कृपा' है। २. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना 'अनुकम्पा' कहलाता है। ३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव 'करुणा' है। ४. क्रूरताका सर्वथा अभाव 'अनृशंसता' कहलाता है।

कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं ॥ १० ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलका विध्वंस कर डालेगी ॥ ११ ॥

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भारत ! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ ॥ १२ ॥

त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान्॥ १३ ॥

प्रजापालक कौरवनरेश ! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रक्खूँगा॥ १३॥

आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ॥ १४॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है ॥ १४ ॥

तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम्।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ॥१५॥

राजन् ! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवोंका भी भला हो सकता है ॥ १५ ॥

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर ! ऐसा करनेसे भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे ॥ १६ ॥

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥ १७ ॥

राजन् ! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये। नरेन्द्र ! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते ॥ १७ ॥

न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ॥ १८ ॥

महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओंसहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, फिर दूसरे किसी राजाकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १९ ॥
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥ २० ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः।
को नु तान् विपरीतात्मा युध्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है ?॥१९-२१॥

लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्।
प्राप्स्यसि त्वमर्मित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे ॥ २२ ॥

तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल ! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे ॥ २३ ॥

स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम्॥ २४॥

इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे ॥ २४ ॥

एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते॥ २५ ॥

पृथ्वीपते ! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रक्खें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २५ ॥

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ॥ २६ ॥

भारत ! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रह-

कर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आपके सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि होगी ॥ २६ ॥

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ॥ २७ ॥

शत्रुसंतापी नरेश! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों) से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ॥ २७ ॥

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥ २८ ॥

महाराज! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन्! इस प्रकार दोनों पक्षका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म देखते हैं? ॥ २८ ॥

पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः।
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा? यह बताइये ॥ २९ ॥

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥ ३० ॥

पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारङ्गत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे।
क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ॥ ३१ ॥

युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे ॥ ३१ ॥

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे ॥ ३२ ॥

त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश! आप इस जगत्की रक्षा कीजिये; जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे। ३३।

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥

राजन्! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३४ ॥

शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौटें ॥ ३५ ॥

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों ॥ ३६ ॥

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये ॥ ३७ ॥

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतर्षभ! पाण्डव बाल्यावस्थामें ही पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये ॥ ३८ ॥

भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतभूषण! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवों-से वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ ॥ ३९ ॥

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥ ४० ॥

राजन्! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—'तात! आपकी आज्ञासे अनुचरों-सहित हमने भारी दुःख सहन किया है ॥ ४० ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ ४१ ॥

बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है ॥ ४१ ॥

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥ ४२ ॥

'तात ! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं, अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)—ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं ॥ ४२ ॥

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ ४३ ॥

'भरतवंशशिरोमणे ! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहें । राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ्नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥ ४४ ॥
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

'आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । आपमें गुरुत्व देखकर—आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये ।४४½।

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ ४५ ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।

'भारत ! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं । आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये ॥ ४५½ ॥

पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥ ४६ ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

'हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्गमें स्थापित करें । इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्गपर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये' ॥ ४६½ ॥

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है—'आप समस्त सभासद्गण धर्मके ज्ञाता हैं । आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है ॥ ४७½ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ ४८ ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

'जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं ॥ ४८½ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥ ५० ॥

'जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही विद्ध होते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है) । जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है' ॥ ४९-५० ॥

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसमें राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ ५१ ॥

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥ ५२ ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

जनेश्वर ! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है । इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं, वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं । पुरुषरत्न ! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये ॥ ५२-५३ ॥

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥ ५४ ॥
ततः सुपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

भरतश्रेष्ठ ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये । परंतप ! पाण्डवोंको यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवाञ्छित भोग भोगिये ॥ ५४½ ॥

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥ ५५ ॥
सुपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं । उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं ॥ ५५-५६ ॥

इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ।
स तत्र विवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान्॥ ५७ ॥
त्वन्मुखानकरोत् राजन् न च त्वामत्यवर्तत ।

पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकाल कर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया । वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया । राजन् ! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया ॥ ५७½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥ ५८ ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।

ऐसे साधु बर्तावबाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके बहाने अपना महान् कपटजाल फैलाया ॥ ५८½ ॥

स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम्॥ ५९॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ।

उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णाको सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए ॥ ५९½ ॥

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥ ६० ॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥ ६१ ॥

भारत ! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ । राजन् ! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वञ्चित न कीजिये । इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं ॥ ६०-६१ ॥

लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ॥
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥ ६२ ॥

प्रजानाथ ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें काबूमें लाइये । राजन् ! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवाके लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं । परंतप ! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् ।
न तत्र कश्चिद् वक्तुं हि वाचं प्राक्रामदग्रतः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया । वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कौरवसभामें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

परशुरामजीका दम्भोद्भवकी कथाद्वारा नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णका महत्त्व वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना ।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर सम्पूर्ण सभासद् चकित हो गये । उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान् ।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ॥ २ ॥

वे सब भूपाल मन-ही-मन यह सोचने लगे कि भगवान्के इन वचनोंका उत्तर कोई भी मनुष्य नहीं दे सकता है ॥ २ ॥

तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंके मौन हो रह जानेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने कौरवसभामें इस प्रकार कहा—॥

इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः ।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे॥ ४ ॥

राजन् ! तुम निःशङ्क होकर मेरी यह उदाहरणयुक्त बात सुनो । सुनकर यदि इसे कल्याणकारी और उत्तम समझो तो स्वीकार करो ॥ ४ ॥

राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराभवत्।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥

'पूर्वकालकी बात है, दम्भोद्भव नामसे प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट् इस सम्पूर्ण अखण्ड भूमण्डलका राज्य भोगते थे; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ५ ॥

स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान्।
ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः ॥ ६ ॥

'वे महारथी और पराक्रमी नरेश प्रतिदिन रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे इस प्रकार पूछा करते थे— ॥ ६ ॥

अस्ति कश्चिद् विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद् युधि।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वापि शस्त्रभृत्॥ ७ ॥

'क्या इस जगत्में कोई ऐसा शस्त्रधारी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण है, जो युद्धमें मुझसे बढ़कर अथवा मेरे समान भी हो सके ?' ॥ ७ ॥

इति ब्रुवन्नन्वचरत् स राजा पृथिवीमिमाम्।
दर्पेण महता मत्तः कंचिदन्यमचिन्तयन् ॥ ८ ॥

'इसी प्रकार पूछते हुए वे राजा दम्भोद्भव महान् गर्वसे उन्मत्त हो दूसरे किसीको कुछ भी न समझते हुए इस पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'उस समय सर्वथा निर्भय, उदार एवं विद्वान् ब्राह्मणोंने बारंबार आत्मप्रशंसा करनेवाले उन नरेशको मना किया ॥

निषिध्यमानोऽप्यसकृत् पृच्छत्येव स वै द्विजान्।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा ॥ १० ॥
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः ॥ ११ ॥

उनके मना करनेपर भी वे ब्राह्मणोंसे बार-बार प्रश्न करते ही रहे। उनका अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे धन-वैभवके मदसे मतवाले हो गये थे। राजाको यही (बारंबार) प्रश्न दुहराते देख वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार करनेवाले महामना तपस्वी ब्राह्मण क्रोधसे तमतमा उठे और उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १०-११ ॥

अनेकजयिनौ संख्ये यौ वै पुरुषसत्तमौ।
तयोस्त्वं न समो राजन् भवितासि कदाचन ॥ १२ ॥

'राजन्! दो ऐसे पुरुषरत्न हैं, जिन्होंने युद्धमें अनेक योद्धाओंपर विजय पायी है। तुम भी उनके समान न हो सकोगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान् द्विजान्।
क्व तौ वीरौ क्व जन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ॥ १३ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर राजाने पुनः उन ब्राह्मणोंसे पूछा—'वे दोनों वीर कहाँ हैं ? उनका जन्म किस स्थानमें हुआ है ? उनके कर्म कौन-कौन-से हैं और उनके नाम क्या हैं ?' ॥ १३ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम्।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युध्यस्व पार्थिव ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोले—भूपाल! हमने सुना है कि वे नर-नारायण नामवाले तपस्वी हैं और इस समय मनुष्यलोकमें आये हैं। तुम उन्हीं दोनोंके साथ युद्ध करो ॥ १४ ॥

श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्येते गन्धमादने ॥ १५ ॥

सुना है, वे दोनों महात्मा नर और नारायण गन्धमादन पर्वतपर ऐसी घोर तपस्या कर रहे हैं, जिसका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम्।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद् यत्र तावपराजितौ ॥ १६ ॥

राजाको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने (रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, शकट और ऊँट—इन) छः अङ्गोंसे युक्त विशाल सेनाको सुसज्जित करके उस स्थानकी यात्रा की, जहाँ कभी पराजित न होनेवाले वे दोनों महात्मा विद्यमान थे ॥ १६ ॥

स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम्।
मार्गमाणोऽन्वगच्छत् तौ तापसौ वनमाश्रितौ॥ १७ ॥

राजा उनकी खोज करते हुए दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतपर गये और वनमें स्थित उन तपस्वी महात्माओंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसंततौ ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ॥ १८ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न भूख-प्याससे दुर्बल हो गये थे। उनके सारे अङ्गोंमें फैली हुई नस-नाडियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। वे सर्दी-गर्मी और हवाका कष्ट सहते-सहते अत्यन्त कृशकाय हो रहे थे ॥ १८ ॥

अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ॥ १९ ॥
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति ।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवान्वकीर्तयत् ॥ २० ॥

निकट जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करके दम्भोद्भवने उन दोनोंका कुशल-समाचार पूछा। तब नर और नारायणने राजाका स्वागत-सत्कार करके आसन, जल और फल-मूल देकर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। तदनन्तर पूछा कि हम आपकी क्या सेवा करें? यह सुनकर उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त पुनः अक्षरशः सुना दिया ॥ १९-२० ॥

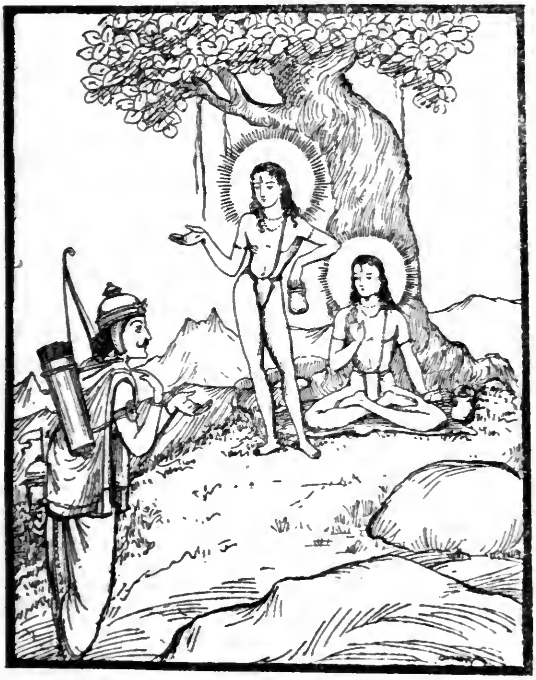

बाहुभ्यां मे जिता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः ।
भवद्भ्यां युद्धमाकाङ्क्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ॥ २१ ॥
आतिथ्यं दीयतामेतत् काङ्क्षितं मे चिरं प्रति ।

और कहा—'मैंने अपने बाहुबलसे सारी पृथ्वीको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डाला है। अब आप दोनोंसे युद्ध करनेकी इच्छा लेकर इस पर्वतपर आया हूँ। यही मेरा चिरकालसे अभिलषित मनोरथ है। आप अतिथि-सत्कारके रूपमें इसे ही पूर्ण कर दीजिये ॥ २१½ ॥

नरनारायणावूचतुः

अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ॥ २२ ॥
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः ।
अन्यत्र युद्धमाकाङ्क्ष बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ॥ २३ ॥

नर-नारायण बोले—नृपश्रेष्ठ! हमारा यह आश्रम क्रोध और लोभसे रहित है। इस आश्रममें कभी युद्ध नहीं होता, फिर अस्त्र-शस्त्र और कुटिल मनोवृत्तिका मनुष्य यहाँ कैसे रह सकता है? इस पृथ्वीपर बहुत-से क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर युद्धकी अभिलाषा पूर्ण कीजिये ॥ २२-२३ ॥

राम उवाच

उच्यमानस्तथापि स भूय एवाभ्यभाषत ।
पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ॥ २४ ॥
दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ ।

परशुरामजी कहते हैं—भारत! उन दोनों महात्माओंने बारंबार ऐसा कहकर राजासे क्षमा माँगी और उन्हें विविध प्रकारसे सान्त्वना दी। तथापि दम्भोद्भव युद्धकी इच्छासे उन दोनों तापसोंको कहते और ललकारते ही रहे ॥ २४½ ॥

ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ॥ २५ ॥
अब्रवीदेहि युद्ध्यस्व युद्धकामुक क्षत्रिय ।
सर्वशस्त्राणि चादत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ॥ २६ ॥
(संनह्यस्व च वर्माणि यानि चान्यानि सन्ति ते)
अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम् ।
(यदाह्वयसि दर्पेण ब्राह्मणप्रमुखाञ्जनान् ॥)

भरतनन्दन! तब महात्मा नरने हाथमें एक मुट्ठी सींक लेकर कहा—'युद्ध चाहनेवाले क्षत्रिय! आ, युद्ध कर। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र ले ले। सारी सेनाको तैयार कर ले, कवच बाँध ले, तेरे पास और भी जितने साधन हों, उन सबसे सम्पन्न हो जा। तू बड़े घमंडमें आकर ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंको ललकारता फिरता है; इसलिये मैं आजसे तेरे युद्धविषयक निश्चयको दूर किये देता हूँ' ॥

दम्भोद्भव उवाच

यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ॥ २७ ॥
एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः ।

दम्भोद्भवने कहा—तापस! यदि आप यही अस्त्र हमारे लिये उपयुक्त मानते हैं तो मैं इसके होनेपर भी आपके साथ युद्ध अवश्य करूँगा; क्योंकि मैं युद्धके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ २७½ ॥

राम उवाच

इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ॥ २८ ॥
दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।

परशुरामजी कहते हैं—ऐसा कहकर सैनिकोंसहित दम्भोद्भवने तपस्वी नरको मार डालनेकी इच्छासे सब ओर-से उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २८½ ॥

तस्य तानस्यतो घोरानिषून् परतनुच्छिदः ॥ २९ ॥
कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

उनके भयंकर बाण शत्रुके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले थे; परंतु मुनिने उन बाणोंका प्रहार करनेवाले दम्भोद्भवकी कोई परवा न करके सींकोंसे ही उनको बींध डाला ॥ २९½ ॥

ततोऽस्मै प्रासृजद् घोरमैषीकमपराजितः ॥ ३० ॥
अस्त्रमप्रतिसंधेयं तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि नरने उनके ऊपर भयंकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया; जिसका निवारण करना असम्भव था । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ॥ ३१ ॥
निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

इस प्रकार लक्ष्यवेध करनेवाले नर मुनिने मायाद्वारा सींकके बाणोंसे ही दम्भोद्भवके सैनिकोंकी आँखों, कानों और नासिकाओंको बींध डाला ॥ ३१½ ॥

स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ॥ ३२ ॥
पादयोर्न्यपतद् राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

राजा दम्भोद्भव सींकोंसे भरे हुए समूचे आकाशको श्वेत-वर्ण हुआ देखकर मुनिके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'भगवन् ! मेरा कल्याण हो' ॥ ३२½ ॥

तमब्रवीन्नरो राजञ्शरण्यः शरणैषिणाम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।

'राजन् ! शरण चाहनेवालोंको शरण देनेवाले भगवान् नरने उनसे कहा—'आजसे तुम ब्राह्मणहितैषी और धर्मात्मा बनो । फिर कभी ऐसा साहस न करना ॥ ३३½ ॥

नैतादृक् पुरुषो राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
मनसा नृपशार्दूल भवेत् परपुरंजयः ।

'नरेश्वर ! नृपश्रेष्ठ ! शत्रुनगरविजयी वीर पुरुष क्षत्रिय-धर्मको स्मरण रखते हुए कभी मनसे भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि तुमने किया है ॥ ३४½ ॥

मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथंचन ॥ ३५ ॥
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत् ते राजन् समाहितम् ।

'राजन् ! आजसे फिर कभी घमंडमें आकर अपनेसे बड़े या छोटे किन्हीं राजाओंपर किसी प्रकार भी आक्षेप न करना । इस बातके लिये मैंने तुम्हें सावधान कर दिया ॥

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहंकार आत्मवान् ॥ ३६ ॥
दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्यः प्रजाः पालय पार्थिव ।
मा स्म भूयः क्षिपेः कंचिदविदित्वा बलाबलम् ॥ ३७ ॥

'भूपाल ! तुम विनीतबुद्धि, लोभशून्य, अहंकार-रहित, मनस्वी, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, कोमलस्वभाव और सौम्य होकर प्रजाका पालन करो । फिर कभी दूसरोंके बलाबलको जाने बिना किसीपर आक्षेप न करना ॥ ३६-३७॥

अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हारा कल्याण हो, जाओ । फिर ऐसा बर्ताव न करना । विशेषतः हम दोनोंके कहनेसे तुम ब्राह्मणोंसे उनका कुशल-समाचार पूछते रहना' ॥ ३८ ॥

ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाचरद् भृशम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा दम्भोद्भव उन दोनों महात्माओंके चरणों-में प्रणाम करके अपनी राजधानीमें लौट आये और विशेषरूप-से धर्मका आचरण करने लगे ॥ ३९ ॥

सुमहच्चापि तत् कर्म तन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा नरने वह महान् कर्म किया था । उनसे भी बहुत गुणोंके कारण भगवान् नारायण श्रेष्ठ हैं ॥ ४० ॥

तस्माद् यावद् धनुःश्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत् त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन् धनंजयम् ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! जबतक श्रेष्ठ धनुष गाण्डीवपर (दिव्य) अस्त्रोंका संधान नहीं किया जाता, तबतक ही तुम अभिमान छोड़कर अर्जुनसे मिल जाओ ॥ ४१ ॥

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा ।
संतानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ॥ ४२ ॥

काकुदीक (प्रस्वापन), शुक (मोहन), नाक (उन्मादन), अक्षिसंतर्जन (त्रासन), संतान (दैवत), नर्तक (पैशाच), घोर (राक्षस) और आस्यमोदक (याम्य)*— ये आठ प्रकारके अस्त्र हैं ॥ ४२ ॥

* जिस अस्त्रसे अभिभूत होकर योद्धा रथ और हाथी आदिके ककुद् (पृष्ठभाग) पर ही सोते रह जाते हैं, उसका नाम काकुदीक एवं प्रस्वापन है । जैसे शुक पानीके ऊपर रक्खी हुई बाँसकी नलिकाको पकड़कर भयसे चिल्लाता रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भयके ही भय देखकर घोड़े और रथ आदिके पाँवोंसे चिपट जाते हैं; उस अस्त्रका नाम शुक अथवा

एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ॥ ४३ ॥
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेव उदाहृताः।

इन अस्त्रोंसे विद्ध होनेपर सभी मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य और अहंकार—ये क्रमशः आठ दोष बताये गये हैं, जिनके प्रतीक-स्वरूप उपर्युक्त आठ अस्त्र हैं ॥ ४३½ ॥

उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ ४४ ॥
स्वपन्ति च प्लवन्ते च छर्दयन्ति च मानवाः।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ४५ ॥

इन अस्त्रोंके प्रयोगसे कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं। कितनोंको सुध-बुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। कई मनुष्य सोने लगते हैं। कुछ उछलते-कूदते और छींकते हैं। कितने ही मल-मूत्र करने लग जाते हैं और कुछ लोग निरंतर रोते-हँसते रहते हैं ॥ ४४-४५ ॥

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित्।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ॥ ४६ ॥

राजन्! सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले ईश्वर एवं सब कर्मोंके ज्ञाता नारायण जिनके बन्धु (सहायक) हैं, वे नरस्वरूप अर्जुन युद्धमें दुःसह हैं (क्योंकि उन्हें उपर्युक्त सभी अस्त्रोंका अच्छा ज्ञान है) ॥ ४६ ॥

कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि ॥ ४७ ॥

भारत! युद्धभूमिमें जिनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता, उन विजयशील वीर कपिध्वज अर्जुनको जीतनेका साहस तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है? ॥ ४७ ॥

असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ४८ ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥ ४९ ॥

महाराज! अर्जुनमें असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुनको अच्छी तरह जानते हो। जो दोनों महात्मा नर और नारायणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं ॥ ४८-४९ ॥

यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः ॥ ५० ॥

भारत! यदि तुम इस बातको इस रूपमें जानते हो और मुझपर तुम्हें तनिक भी संदेह नहीं है तो मेरे कहनेसे श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ ५० ॥

अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हमलोगोंमें फूट न हो और इसीमें तुम अपना कल्याण समझो, तब तो संधि करके शान्त हो जाओ और युद्धमें मन न लगाओ ॥ ५१ ॥

भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि।
तत् तथैवास्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है। वह उसी प्रकार सम्मानित बना रहे और तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही चिन्तन करो ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दम्भोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दम्भोद्भवकी कथाविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

कण्व मुनिका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए मातलिका उपाख्यान आरम्भ करना

वैशम्पायन उवाच

जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जमदग्निनन्दन परशुरामका यह वचन सुनकर भगवान् कण्व मुनिने भी कौरवसभामें दुर्योधनसे यह बात कही ॥ १ ॥

मोहन है। जिस अस्त्रसे भ्रान्तचित्त होकर मनुष्यको नाक (स्वर्ग) लोक दिखायी देने लगे, वह नाक या उन्मादन कहलाता है। जिसके प्रहारसे विद्ध होकर लोग त्रासके कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह अक्षिसंतर्जन अथवा त्रासन नामक अस्त्र है। संतान अथवा दैवत अस्त्र वह है, जिसके प्रयोगसे अविच्छिन्नरूपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगती है। जिसके प्रयोगसे मनुष्य वेदनाके मारे नाँच उठता है, वह नर्तक या पैशाच अस्त्र है। भयानक संहारकारी अस्त्रको घोर अथवा राक्षस कहा गया है। जिससे आहत होकर लोग मुँहमें पत्थर रखकर मरनेके लिये निकल पड़ते हैं, वह आस्यमोदक अथवा याम्य नामक अस्त्र है। (भारतभावदीपटीका)

कण्व उवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ॥ २ ॥

कण्व बोले—राजन्! जैसे लोकपितामह ब्रह्मा अक्षय और अविनाशी हैं, उसी प्रकार वे दोनों भगवान् नर-नारायण ऋषि भी हैं ॥ २ ॥

आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ॥ ३ ॥

अदितिके सभी पुत्रोंमें अथवा सम्पूर्ण आदित्योंमें एकमात्र भगवान् विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य विद्यमान एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर हैं ॥ ३ ॥

निमित्तमरणाश्चान्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा॥ ४ ॥

अन्य सब लोग तो किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्युको प्राप्त होते ही हैं । चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र—ये सभी नाशवान् हैं ॥ ४ ॥

ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः॥ ५ ॥

जगत्‌का विनाश होनेके पश्चात् ये चन्द्र, सूर्य आदि तीनों लोकोंका सदाके लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं । फिर सृष्टिकालमें इन सबकी बारंबार सृष्टि होती है ॥ ५ ॥

मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्याश्च ये चान्ये जीवलोकचरास्तथा ॥ ६ ॥

इनके सिवा ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जीवलोकमें विचरनेवाले अन्यान्य तिर्यग्योनिके प्राणी हैं, वे अल्पकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं ॥ ६ ॥

भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ॥ ७ ॥

राजालोग भी प्रायः राजलक्ष्मीका उपभोग करके आयुकी समाप्ति होनेपर मृत्यु होनेके पश्चात् अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पुनः नूतन जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥

स भवान् धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहार्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुंधराम् ॥ ८ ॥

राजन्! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि कर लेनी चाहिये । मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वीका पालन करें ॥ ८ ॥

बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

पुरुषरत्न सुयोधन ! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ; क्योंकि संसारमें बलवानोंसे भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! बलवानोंके बीचमें सैनिकबलको बल नहीं समझा जाता है । समस्त पाण्डव देवताओंके समान पराक्रमी हैं; अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं ॥ १० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ॥ ११ ॥

इस प्रसङ्गमें कन्यादान करनेके लिये वर ढूँढ़नेवाले मातलिके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ११ ॥

मतस्त्रैलोक्यराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ॥ १२ ॥

त्रिलोकीनाथ इन्द्रके प्रिय सारथिका नाम मातलि है । उनके कुलमें उन्हींकी एक कन्या थी, जो अपने रूपके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात थी ॥ १२ ॥

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः सातिरिच्यते॥ १३॥

वह देवरूपिणी कन्या गुणकेशीके नामसे प्रसिद्ध थी । गुणकेशी अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीरकी दृष्टिसे उस समयकी सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ थी ॥ १३ ॥

तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ॥ १४ ॥

राजन् ! उसके विवाहका समय आया जान मातलिने एकाग्रचित्त हो उसीके विषयमें चिन्तन करते हुए अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया ॥ १४ ॥

धिक् खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्त्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ॥ १५ ॥

'जिनका शीलस्वभाव श्रेष्ठ है, जो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए यशस्वी तथा कोमल अन्तःकरणवाले हैं; ऐसे लोगोंके कुलमें कन्याका उत्पन्न होना दुःखकी ही बात है ॥ १५ ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम् ॥ १६ ॥

'कन्या मातृकुलको, पितृकुलको तथा जहाँ वह ब्याही जाती है, उस कुलको—सत्पुरुषोंके इन तीनों कुलोंको संशयमें डाल देती है ॥ १६ ॥

देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ॥ १७ ॥

'मैंने मानवदृष्टिके अनुसार देवलोक तथा मनुष्यलोक

दोनोंमें अच्छी तरह घूम-फिरकर कन्याके लिये वरका अन्वेषण किया है, पर वहाँ कोई भी वर मुझे पसंद नहीं आ रहा है' ॥

कण्व उवाच

न देवान् नैव दितिजान् न गन्धर्वान् न मानुषान्।
अरोचयद् वरकृते तथैव बहुलानृषीन् ॥ १८॥

कण्व मुनि कहते हैं—मातलिने वरके लिये बहुत-से देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों तथा ऋषियोंको भी देखा; परंतु कोई उन्हें पसंद नहीं आया ॥ १८ ॥

भार्ययानु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम् ॥ १९॥

तब उन्होंने रातमें अपनी पत्नी सुधर्माके साथ सलाह करके नागलोकमें जानेका विचार किया ॥ १९ ॥

न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपनी पत्नीसे बोले—'देवि ! देवताओं और मनुष्योंमें तो गुणकेशीके योग्य कोई रूपवान् वर नहीं दिखायी देता। नागलोकमें कोई-न-कोई उसके योग्य वर अवश्य होगा' ॥ २० ॥

इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ॥ २१ ॥

सुधर्मासे ऐसी सलाह करके मातलिने इष्टदेवकी परिक्रमा की और कन्याका मस्तक सूँघकर रसातलमें प्रवेश किया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके वर खोजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

मातलिका अपनी पुत्रीके लिये वर खोजनेके निमित्त नारदजीके साथ वरुणलोकमें भ्रमण करते हुए अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखना

कण्व उवाच

मातलिस्तु व्रजन् मार्गे नारदेन महर्षिणा।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद् यदृच्छया ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! उसी समय महर्षि नारद वरुणदेवतासे मिलनेके लिये उधर जा रहे थे। नागलोकके मार्गमें जाते हुए मातलिकी नारदजीके साथ अकस्मात् भेंट हो गयी ॥ १ ॥

नारदोऽथाब्रवीदेनं क्व भवान् गन्तुमुद्यतः।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद् वा शतक्रतोः ॥ २ ॥

नारदजीने उनसे पूछा—देवसारथे ! तुम कहाँ जानेको उद्यत हुए हो ? तुम्हारी यह यात्रा किसी निजी कार्यसे अथवा देवेन्द्रके आदेशसे हुई है ? ॥ २ ॥

मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता।
यथावत् सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति ॥ ३ ॥

मार्गमें जाते हुए नारदजीके इस प्रकार पूछनेपर मातलिने उनसे अपना सारा कार्य यथावत्‌रूपसे बताया ॥

तमुवाचाथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिने मातलिसे कहा—'हम दोनों साथ-साथ चलें। मैं भी जलके स्वामी वरुणदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे देवलोकसे आ रहा हूँ ॥ ४ ॥

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन् वसुधातलम्।
दृष्ट्वा तत्र वरं कंचिद् रोचयिष्याव मातले ॥ ५ ॥

'मैं तुम्हें पृथ्वीके नीचेके लोकोंको दिखाते हुए वहाँकी सब वस्तुओंका परिचय दूँगा। मातले ! वहाँ हम दोनों किसी योग्य वरको देखकर पसंद करेंगे' ॥ ५ ॥

अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपांपतिम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मातलि और नारद दोनों महात्मा पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके जलके स्वामी लोकपाल वरुणके समीप गये ॥ ६ ॥

तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत ॥ ७ ॥

नारदजीको वहाँ देवर्षियोंके योग्य और मातलिको देवराज इन्द्रके समान आदर-सत्कार प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह।
वरुणेनाभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने प्रसन्नचित्त होकर वरुणदेवतासे अपना कार्य निवेदन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे नागलोकमें विचरने लगे ॥ ८ ॥

नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम्।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

नारदजी पाताललोकमें निवास करनेवाले सभी प्राणियोंको जानते थे। अतः उन्होंने इन्द्रसारथि मातलिको वहाँकी सब वस्तुओंके विषयमें विस्तारपूर्वक बताना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

नारद उवाच

दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—सूत! तुमने पुत्रों और पौत्रोंसे घिरे हुए वरुणदेवताका दर्शन किया है। देखो, यह जलेश्वर वरुणका समृद्धिशाली निवासस्थान है। इसका नाम है, सर्वतोभद्र ॥ १० ॥

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ॥ ११ ॥

ये गोपति वरुणके परम बुद्धिमान् पुत्र हैं; जो अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और पवित्रताके कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ॥ ११ ॥

एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः।
रूपवान् दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ॥ १२ ॥

वरुणदेवके इन प्रिय पुत्रका नाम पुष्कर है। इनके नेत्र विकसित कमलके समान सुशोभित हैं। ये रूपवान् तथा दर्शनीय हैं। इसीलिये सोमकी पुत्रीने इनका पतिरूपसे वरण किया है ॥ १२ ॥

ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम्।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ॥ १३ ॥

सोमकी जो दूसरी पुत्री हैं, वे ज्योत्स्नाकालीके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं। उन्होंने अदितिदेवीके ज्येष्ठ पुत्र सूर्यदेवको अपना श्रेष्ठ पति बनाया एवं माना है ॥ १३ ॥

भवनं वारुणं पश्य यदेतत् सर्वकाञ्चनम्।
यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥ १४ ॥

महेन्द्रमित्र! देखो, यह वरुणदेवताका भवन है, जो सब ओरसे सुवर्णका ही बना हुआ है। यहाँ पहुँचकर ही देवगण वास्तवमें देवत्वलाभ करते हैं ॥ १४ ॥

एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ॥ १५ ॥

मातले! जिनके राज्य छीन लिये गये हैं, उन दैत्योंके ये दीप्यमान सम्पूर्ण आयुध दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ॥ १६ ॥

देवसारथे! ये सारे अस्त्र-शस्त्र अक्षय हैं और प्रहार करनेपर शत्रुको आहत करके पुनः अपने स्वामीके हाथमें लौट आते हैं। पहले दैत्यलोग अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रयोग करते थे, परंतु अब देवताओंने इन्हें जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ १६ ॥

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले।
दिव्यप्रहरणाश्चासन् पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७ ॥

मातले! इन स्थानोंमें राक्षस और दैत्यजातिके लोग रहते हैं। यहाँ दैत्योंके बनाये हुए बहुत-से दिव्यास्त्र भी रहे हैं ॥ १७ ॥

अग्निरेष महार्चिष्मान् जागर्ति वारुणे ह्रदे।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ॥ १८ ॥

ये महातेजस्वी अग्निदेव वरुणदेवताके सरोवरमें प्रकाशित होते हैं। इन धूमरहित अग्निदेवने भगवान् विष्णुके सुदर्शन चक्रको भी अवरुद्ध कर दिया था ॥ १८ ॥

एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद् गाण्डिवं धनुः ॥ १९ ॥

वज्रकी गाँठको 'गाण्डी' कहा गया है। यह धनुष उसीका बना हुआ है, इसलिये गाण्डीव कहलाता है। जगत्का संहार करनेके लिये इसका निर्माण हुआ है। देवतालोग सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

एष कृत्ये समुत्पन्ने तत् तद् धारयते बलम्।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ॥ २० ॥

यह धनुष आवश्यकता पड़नेपर लाखगुनी शक्तिसे सम्पन्न हो वैसे-वैसे ही बलको भी धारण करता है और सदा अविचल बना रहता है ॥ २० ॥

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

ब्रह्मवादी ब्रह्माजीने पहले इस प्रचण्ड धनुषका निर्माण किया था। यह राक्षससदृश राजाओंमेंसे अदम्य नरेशोंका भी दमन कर डालता है ॥ २१ ॥

एतच्छस्त्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम्।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥

यह धनुष राजाओंके लिये एक महान् अस्त्र है और चक्रके समान उद्भासित होता रहता है। इस महान् अभ्युदयकारी धनुषको जलेश वरुणके पुत्र धारण करते हैं ॥ २२ ॥

एतत् सलिलराजस्यच्छत्रं छत्रगृहे स्थितम्।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥

और यह सलिलराज वरुणका छत्र है, जो छत्रगृहमें रक्खा हुआ है। यह छत्र मेघकी भाँति सब ओरसे शीतल जल बरसाता रहता है ॥ २३ ॥

एतच्छत्रात् परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम्।

तमसा मूर्छितं भाति येन नाच्छैति दर्शनम् ॥ २४ ॥

इस छत्रसे गिरा हुआ चन्द्रमाके समान निर्मल जल अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जिससे दृष्टिपथमें नहीं आता है ॥

बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यावरोधस्तु तस्माद् गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

मातले ! इस वरुणलोकमें देखने योग्य बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ हैं; परंतु सबको देखनेसे तुम्हारे कार्यमें रुकावट पड़ेगी इसलिये हमलोग शीघ्र ही यहाँसे नागलोकमें चलें ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पातालका प्रदर्शन

नारद उवाच

एतत् तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद् भुवि जंगमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह जो नागलोकके नाभि-स्थान (मध्यभाग) में स्थित नगर दिखायी देता है, इसे पाताल कहते हैं । इस नगरमें दैत्य और दानव निवास करते हैं । यहाँ जो कोई भूतलके जङ्गम प्राणी जलके साथ बहकर आ जाते हैं, वे इस पातालमें पहुँचनेपर भयसे पीड़ित हो बड़े जोरसे चीत्कार करने लगते हैं ॥ १-२ ॥

अत्रासुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

यहाँ जलका ही आहार करनेवाली आसुर अग्नि सदा उद्दीप्त रहती है । उसे यत्नपूर्वक मर्यादामें स्थापित किया गया है । वह अग्नि अपने-आपको देवताओंद्वारा नियन्त्रित समझती है; इसलिये सब ओर फैल नहीं पाती ॥ ३ ॥

अत्रामृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहतारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥

देवताओंने अपने शत्रुओंका संहार करके अमृत पीकर उसका अवशिष्ट भाग यहीं रख दिया था । इसीलिये अमृत-मय सोमकी हानि और वृद्धि देखी जाती है ॥ ४ ॥

अत्रादित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यो वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥

यहाँ अदितिनन्दन हयग्रीव विष्णु सुवर्णमय कान्ति धारण करके प्रत्येक पर्वपर वेदध्वनिके द्वारा जगत्को परिपूर्ण करते हुए ऊपरको उठते हैं ॥ ५ ॥

यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात् पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥

जलस्वरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब यहाँ पर्याप्त-रूपसे गिरती हैं, इसलिये ('पतन्ति अलम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पात+अलम्—इन दोनों शब्दोंके योगसे) यह उत्तम नगर 'पाताल' कहलाता है ॥ ६ ॥

ऐरावणोऽस्मात् सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥

जगत्का हित करनेवाला और समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाकालीन वायु यहींसे शीतल जल लेकर मेघोंमें स्थापित करता है, जिसे देवराज इन्द्र भूतलपर बरसाते हैं ॥ ७ ॥

अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥

नाना प्रकारकी आकृति तथा भाँति-भाँतिके रूपवाले जलचारी तिमि (ह्वेल) मत्स्य चन्द्रमाकी किरणोंका पान करते हुए यहाँ जलमें निवास करते हैं ॥ ८ ॥

अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥

मातले ! ये पातालनिवासी जीव-जन्तु यहाँ दिनमें सूर्य-की किरणोंसे संतप्त हो मृतप्राय अवस्थामें पहुँच जाते हैं; परंतु रात होनेपर अमृतमयी चन्द्ररश्मियोंके सम्पर्कसे पुनः जी उठते हैं ॥ ९ ॥

उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ॥ १० ॥

यहाँ प्रतिदिन उदय लेनेवाले चन्द्रमा अपनी किरण-मयी भुजाओंसे अमृतका स्पर्श कराकर उसके द्वारा यहाँके मरणासन्न जीवोंको जीवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अत्र तेऽधर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥

इन्द्रने जिनकी सम्पत्ति हर ली है, वे अधर्मपरायण दैत्य कालसे बद्ध एवं पीड़ित होकर इसी स्थानमें निवास करते हैं ॥ ११ ॥

अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः।
भूतये सर्वभूतानामचरत् तप उत्तमम्॥ १२॥

सर्वभूतमहेश्वर भगवान् भूतनाथने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये यहाँ उत्तम तपस्या की थी॥ १२॥

अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः।
त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः॥ १३॥

वेदपाठसे दुर्बल हुए तथा प्राणोंकी परवा न करके तपस्याद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले गोव्रतधारी ब्राह्मण महर्षिगण यहाँ निवास करते हैं॥ १३॥

यत्रतत्रशयो नित्यं येन केनचिदाशितः।
येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते॥ १४॥

जो जहाँ कहीं भी सो लेता है, जिस किसी फल-मूल आदिसे भोजनका कार्य चला लेता है तथा वल्कल आदि जिस किसी वस्तुसे भी शरीरको ढक लेता है, वही यहाँ 'गो-व्रतधारी' कहलाता है॥ १४॥

ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः॥ १५॥

यहाँ नागराज ऐरावत, वामन, कुमुद और अञ्जन नामक श्रेष्ठ गज सुप्रतीकके वंशमें उत्पन्न हुए हैं॥ १५॥

पश्य यद्यत्र ते कश्चिद् रोचते गुणतो वरः।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले॥ १६॥

मातले! देखो, यदि, यहाँ तुम्हें कोई गुणवान् वर पसंद हो तो मैं चलकर यत्नपूर्वक उसका वरण करूँगा॥ १६॥

अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया।
आ प्रजानां निसर्गाद् वै नोद्भिद्यति न सर्पति॥ १७॥

जलके भीतर यह एक अण्डा रक्खा हुआ है, जो यहाँ अपनी प्रभासे उद्भासित-सा हो रहा है! जबसे प्रजाजनोंकी सृष्टि आरम्भ हुई है, तबसे लेकर अबतक यह अण्डा न तो फूटता है और न अपने स्थानसे इधर-उधर जाता ही है॥ १७॥

नास्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै।
पितरं मातरं चापि नास्य जानाति कश्चन॥ १८॥

इसकी जाति अथवा स्वभावके विषयमें कभी किसीको कुछ कहते नहीं सुना है। इसके पिता और माताको भी कोई नहीं जानता है॥ १८॥

अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ १९॥

मातले! कहते हैं, प्रलयकालमें इस अण्डेके भीतरसे बड़ी भारी आग प्रकट होगी, जो चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको भस्म कर डालेगी॥ १९॥

मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याथ भाषितम्।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज माचिरम्॥ २०॥

नारदजीका यह भाषण सुनकर मातलिने कहा—यहाँ मुझे कोई भी वर पसंद नहीं आया; अतः शीघ्र ही अन्यत्र कहीं चलिये'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकोनशततमोऽध्यायः॥ ९९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९९॥

शततमोऽध्यायः

हिरण्यपुरका दिग्दर्शन और वर्णन

नारद उवाच

हिरण्यपुरमित्येतत् ख्यातं पुरवरं महत्।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम्॥ १॥

नारदजी कहते हैं—मातले! यह हिरण्यपुर नामक श्रेष्ठ एवं विशाल नगर है, जहाँ सैकड़ों मायाओंके साथ विचरनेवाले दैत्यों और दानवोंका निवासस्थान है॥ १॥

अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा।
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम्॥ २॥

असुरोंके विश्वकर्मा मयने अपने मानसिक संकल्पके अनुसार महान् प्रयत्न करके पाताललोकके भीतर इस नगरका निर्माण किया है॥ २॥

अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा॥ ३॥

यहाँ सहस्रों मायाओंका प्रयोग करनेवाले और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न वे शूरवीर दानव निवास करते हैं, जिन्हें पूर्वकालमें अवध्य होनेका वरदान प्राप्त हो चुका है॥ ३॥

नैते शक्रेण नान्येन यमेन वरुणेन वा।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च॥ ४॥

इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा और कोई देवता भी इन्हें वशमें नहीं कर सकता॥ ४॥

असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः।

नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ॥ ५ ॥
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ॥ ६ ॥

मातले ! भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न हुए कालखञ्ज नामक असुर तथा ब्रह्माजीके पैरोंसे प्रकट हुए बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले, भयंकर वेगसे युक्त, प्रगतिशील पवनके समान पराक्रमी एवं मायाबलसे सम्पन्न नैर्ऋत और यातुधान इस नगरमें निवास करते हैं ॥ ५-६ ॥

निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैतान्शक्नोति बाधितुम् ॥७॥

यहीं निवातकवच नामक दानव निवास करते हैं, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते हैं। तुम तो जानते ही हो कि इन्द्र भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं ॥ ७ ॥

बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ॥ ८ ॥

मातले ! तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख तथा पुत्रसहित शचीपति देवराज इन्द्र अनेक बार इनके सामनेसे मैदान छोड़कर भाग चुके हैं ॥ ८ ॥

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ॥ ९ ॥

मातले ! देखो, इनके ये सोने और चाँदीके भवन कितनी शोभा पा रहे हैं। इनका निर्माण शिल्पशास्त्रीय विधानके अनुसार हुआ है तथा ये सभी महल एक दूसरेसे सटे हुए हैं ॥ ९ ॥

वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ॥ १० ॥

इन सबमें वैदूर्यमणि जड़ी हुई है, जिससे इनकी विचित्र शोभा हो रही है। स्थान-स्थानपर मूँगोंसे सुसज्जित होनेके कारण इनका सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है। आकके फूल और स्फटिकमणिके समान ये उज्ज्वल दिखायी देते हैं तथा उत्तम हीरोंसे जटित होनेके कारण उनकी दीप्ति अधिक बढ़ गयी है ॥ १० ॥

पार्थिवानीव चाभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाप्युत ॥ ११ ॥

इनमेंसे कुछ तो मिट्टीके बने हुए-से जान पड़ते हैं, कुछ पद्मरागमणिद्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं, कुछ मकान पत्थरोंके और कुछ लकड़ियोंके बने हुए-से दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

सूर्यरूपाणि चाभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ॥ १२ ॥

ये सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं। मणियोंकी झालरोंसे इनकी विचित्र छटा दृष्टिगोचर हो रही है। ये सभी भवन ऊँचे और घने हैं ॥ १२ ॥

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ॥ १३ ॥

हिरण्यपुरके ये भवन कितने सुन्दर हैं और किन-किन द्रव्योंसे बने हुए हैं, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अपने उत्तम गुणोंके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि है ! लम्बाई-चौड़ाई तथा सर्वगुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे ये सभी प्रशंसाके योग्य हैं ॥ १३ ॥

आक्रीडान् पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ॥ १४ ॥

देखो, दैत्योंके उद्यान एवं क्रीडास्थान कितने सुन्दर हैं ! इनकी शय्याएँ भी इनके अनुरूप ही हैं। इनके उपयोगमें आनेवाले पात्र और आसन भी रत्नजटित एवं बहुमूल्य हैं ॥ १४ ॥

जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान् कामचारिणः ॥ १५ ॥

यहाँके पर्वत मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते हैं। वहाँसे जलके झरने गिर रहे हैं। इन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करो, ये सभी इच्छानुसार फल और फूल देनेवाले तथा कामचारी हैं ॥ १५ ॥

मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवान्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यहाँ भी तुम्हें कोई सुन्दर वर प्राप्त हो सकता है। अथवा तुम्हारी राय हो, तो इस भूमिकी किसी दूसरी दिशाकी ओर चलें ॥ १६ ॥

मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ॥ १७ ॥

तब ऐसी बातें करनेवाले नारदजीसे मातलिने कहा—'देवर्षे ! मुझे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो देवताओंको अप्रिय लगे ॥ १७ ॥

नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ॥ १८ ॥

यद्यपि देवता और दानव परस्पर भाई ही हैं, तथापि इनमें सदा वैरभाव बना रहता है। ऐसी दशामें मैं शत्रुपक्षके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध कैसे पसंद करूँगा ? ॥१८॥

अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नार्हामि दानवान् ।
जानामि तव चात्मानं हिंसात्मकमनं तथा ॥ १९ ॥

'इसलिये अच्छा यही होगा कि हमलोग किसी दूसरी जगह चलें। मैं दानवोंसे साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। मैं यह भी जानता हूँ कि आपके मनमें हिंसात्मक कार्य (युद्ध) का अवसर उपस्थित करनेकी प्रबल इच्छा रहती है' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़लोक तथा गरुड़की संतानोंका वर्णन

नारद उवाच

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम्।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले! यह सर्पभोजी गरुड़वंशी पक्षियोंका लोक है, जिन्हें पराक्रम प्रकट करने, दूरतक उड़ने और महान् भार ढोनेमें तनिक भी परिश्रम नहीं होता ॥ १ ॥

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम्।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ॥ २ ॥
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले।
वर्धितानि प्रसूत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ॥ ३ ॥
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ॥ ४ ॥

देवसारथि मातले! यहाँ विनतानन्दन गरुड़के छः पुत्रोंने अपनी वंशपरम्पराका विस्तार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुच तथा पक्षिराज सुबल। विनताके वंशकी वृद्धि करनेवाले, कश्यप-कुलमें उत्पन्न हुए तथा ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाले इन छहों पक्षियोंने गरुड़-जातिकी सैकड़ों और सहस्रों शाखाओंका विस्तार किया है ॥ २—४ ॥

सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ॥ ५ ॥

ये सभी श्रीसम्पन्न तथा श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित हैं। सभी धन-सम्पत्तिकी कामना रखते हुए अपने भीतर अनन्त बल धारण करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद् ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर भी ये कर्मसे क्षत्रिय हैं। इनमें दया नहीं होती है। ये सर्पोंको ही अपना आहार बनाते हैं। इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं (नागों) का संहार करनेके कारण इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं है ॥ ६ ॥

नामानि चैषां वक्ष्यामि यथा प्राधान्यतः शृणु।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ॥ ७ ॥

मातले! अब मैं इनके कुछ प्रधान व्यक्तियोंके नाम बताऊँगा, तुम श्रवण करो। इनका कुल भगवान् विष्णुका पार्षद होनेके कारण प्रशंसनीय है ॥ ७ ॥

दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम्।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ॥ ८ ॥

भगवान् विष्णु ही इनके देवता हैं। वे ही इनके परम आश्रय हैं। भगवान् विष्णु इनके हृदयमें सदा विराजते हैं और वे विष्णु ही सदा इनकी गति हैं ॥ ८ ॥

सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः।
अनिलश्चानलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ॥ ९ ॥
पङ्कजिद् वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ॥ १० ॥
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ॥ ११ ॥
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथानघः।
मेषहृत् कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सहभोजनः ॥ १२ ॥
गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ॥ १३ ॥
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ॥ १४ ॥
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ॥ १५ ॥

सुवर्णचूड, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्डक, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पङ्कजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमेष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव, वाल्मीकि, द्वीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत्, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सहभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर तथा दिवाकर। इस प्रकार संक्षेपसे मैंने इन मुख्य-मुख्य गरुड़-संतानोंका वर्णन किया है। ये सभी यशस्वी तथा महाबली बताये गये हैं ॥९—१५॥

यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले।

गोमाता सुरभि

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वनाश

तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यदि इनमें तुम्हारी कोई रुचि न हो तो आओ, अन्यत्र चलें। अब मैं तुम्हें उस स्थानपर ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें कोई-न-कोई वर अवश्य मिल जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०१॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

सुरभि और उसकी संतानोंके साथ रसातलके सुखका वर्णन

नारद उवाच

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम्।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह पृथ्वीका सातवाँ तल है, जिसका नाम रसातल है। यहाँ अमृतसे उत्पन्न हुई गोमाता सुरभि निवास करती हैं ॥ १ ॥

क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम्।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ॥ २ ॥

ये सुरभि पृथ्वीके सारतत्त्वसे प्रकट, छः रसोंके सारभागसे संयुक्त एवं सर्वोत्तम, अनिर्वचनीय एकरसरूप क्षीरको सदा अपने स्तनोंसे प्रवाहित करती रहती हैं ॥ २ ॥

अमृतेनाभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें जब ब्रह्मा अमृतपान करके तृप्त हो उसका सारभाग अपने मुखसे निकाल रहे थे, उसी समय उनके मुखसे अनिन्दिता सुरभिका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ३ ॥

यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर निरन्तर गिरती हुई उस सुरभिके क्षीरकी धारासे एक अनन्त ह्रद बन गया, जिसे 'क्षीरसागर' कहते हैं। वह परम पवित्र है ॥ ४ ॥

पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम्।
पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ॥ ५ ॥

क्षीरसागरसे जो फेन उत्पन्न होता है, वह पुष्पके समान जान पड़ता है। वह फेन क्षीरसमुद्रके तटपर फैला रहता है, जिसे पीते हुए फेनपसंज्ञक बहुत-से मुनिश्रेष्ठ इस रसातलमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ॥ ६ ॥

मातले ! फेनका आहार करनेके कारण वे महर्षिगण 'फेनप' नामसे विख्यात हैं। वे बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनसे देवतालोग भी डरते हैं ॥ ६ ॥

अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले।
निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः स्म ताः ॥ ७ ॥

मातले ! सुरभिकी पुत्रीस्वरूपा चार अन्य धेनुएँ हैं, जो सब दिशाओंमें निवास करती हैं। वे दिशाओंका धारण-पोषण करनेवाली हैं ॥ ७ ॥

पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी।
दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ॥ ८ ॥

सुरूपा नामवाली धेनु पूर्व दिशाको धारण करती है तथा उससे भिन्न दक्षिण दिशाका हंसिका नामवाली धेनु धारण-पोषण करती है ॥ ८ ॥

पश्चिमा वारुणी दिक् च धार्यते वै सुभद्रया।
महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ॥ ९ ॥

मातले ! महाप्रभावशालिनी विश्वरूपा सुभद्रा नामवाली सुरभिकन्याके द्वारा वरुणदेवकी पश्चिम दिशा धारण की जाती है ॥ ९ ॥

सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम्।
उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ॥ १० ॥

चौथी धेनुका नाम सर्वकामदुघा है । मातले ! वह धर्मयुक्त कुबेरसम्बन्धिनी उत्तर दिशाका धारण-पोषण करती है ॥ १० ॥

आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ॥ ११ ॥
उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले।
उच्चैःश्रवाश्चाश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ॥ १२ ॥

देवसारथे ! देवताओंने असुरोंसे मिलकर मन्दराचलको मथानी बनाकर इन्हीं धेनुओंके दूधसे मिश्रित क्षीरसागरकी दुग्धराशिका मन्थन किया और उससे वारुणी, लक्ष्मी एवं अमृतको प्रकट किया। तत्पश्चात् उस समुद्रमन्थनसे अश्वराज उच्चैःश्रवा तथा मणिरत्न कौस्तुभका भी प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ११-१२ ॥

सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम्।
अमृतं चामृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ॥ १३ ॥

सुरभि अपने स्तनोंसे जो दूध बहाती है, वह सुधाभोजी

लोगोंके लिये सुधा, स्वधाभोजी पितरोंके लिये स्वधा तथा अमृतभोजी देवताओंके लिये अमृतरूप है ॥ १३ ॥

अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः ।
पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ॥ १४ ॥

यहाँ रसातलनिवासियोंने पूर्वकालमें जो पुरातन गाथा गायी थी, वह अब भी लोकमें सुनी जाती है और मनीषी पुरुष उसका गान करते हैं ॥ १४ ॥

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—'नागलोक, स्वर्गलोक तथा स्वर्गलोकके विमानमें निवास करना भी वैसा सुखदायक नहीं होता, जैसा रसातलमें रहनेसे सुख प्राप्त होता है' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

नागलोकके नागोंका वर्णन और मातलिका नागकुमार सुमुखके साथ अपनी कन्याको ब्याहनेका निश्चय

नारद उवाच

इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज वासुकि-द्वारा सुरक्षित उनकी भोगवती नामक पुरी है । देवराज इन्द्रकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीकी तरह ही यह भी सुख-समृद्धिसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ॥ २ ॥

ये शेषनाग स्थित हैं, जो अपने लोकप्रसिद्ध तपोबलसे प्रभावसहित इस सारी पृथ्वीको सदा सिरपर धारण करते हैं ॥

श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः ।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः ॥ ३ ॥

भगवान् शेषका शरीर कैलास पर्वतके समान श्वेत है । ये सहस्र मस्तक धारण करते हैं । इनकी जिह्वा अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती है । ये महाबली अनन्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होते हैं ॥ ३ ॥

इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः ।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४ ॥

यहाँ सुरसाके पुत्र नागगण शोक-संतापसे रहित होकर निवास करते हैं । इनके रूप-रंग और आभूषण अनेक प्रकारके हैं ॥ ४ ॥

मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः ।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ॥ ५ ॥

ये सभी नाग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँ रहते हैं । ये सब-के-सब अत्यन्त बलवान् तथा स्वभावसे ही भयंकर हैं । इनमेंसे किन्हींके शरीरमें मणिका, किन्हींके स्वस्तिकका, किन्हींके चक्रका और किन्हींके शरीरमें कमण्डलुका चिह्न है ॥ ५ ॥

सहस्रशिरसः केचित् केचित् पञ्चशताननाः ।
शतशीर्षास्तथा केचित् केचित् त्रिशिरसोऽपि च ॥

कुछ नागोंके एक सहस्र सिर होते हैं, किन्हींके पाँच सौ, किन्हींके एक सौ और किन्हींके तीन ही सिर होते हैं ॥ ६ ॥

द्विपञ्चशिरसः केचित् केचित् सप्तमुखास्तथा ।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ॥ ७ ॥

कोई दो सिरवाले, कोई पाँच सिरवाले और कोई सात मुखवाले होते हैं । किन्हींके बड़े-बड़े फन, किन्हींके दीर्घ शरीर और किन्हींके पर्वतके समान स्थूल शरीर होते हैं ॥ ७ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ॥ ८ ॥

यहाँ एक-एक वंशके नागोंकी कई हजार, कई लाख तथा कई अर्बुद संख्या है । मैं जेठे-छोटेके क्रमसे इनका संक्षिप्त परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
कालियो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥
बाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिञ्जरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः ।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥

करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ॥ १४ ॥
दिलीपः शङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ॥ १५ ॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा ॥ १६ ॥
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः ।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित् ते रोचते वरः॥ १७ ॥

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणिनाग, आपूरण, खग, वामन, एलपत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोतक, कैलासक, पिंजरक, ऐरावत, सुमनोमुख, दधिमुख, शंख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठूरिक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्यपिण्डक, पद्मनामक दो नाग, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत्त, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक, दिलीप, शंखशीर्ष, ज्योतिष्क, अपराजित, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस तथा सुरस–ये और दूसरे बहुत-से नाग कश्यपके वंशज हैं । मातले ! यदि यहाँ कोई वर तुम्हें पसंद हो तो देखो ॥ ९–१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं संनिरीक्ष्य वै ।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाभवत् ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तब मातलि स्थिरतापूर्वक एक नागका निरन्तर निरीक्षण करके प्रसन्न-से हो उठे और उन्होंने नारदजीसे पूछा ॥ १८ ॥

मातलिरुवाच

स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्यार्यकस्य तु ।
द्युतिमान् दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः ॥ १९ ॥

मातलिने कहा—देवर्षे ! यह जो कौरव्य और आर्यकके आगे कान्तिमान् और दर्शनीय नागकुमार खड़ा है, किसके कुलको आनन्दित करनेवाला है ? ॥ १९ ॥

कः पिता जननी चास्य कतमस्यैष भोगिनः ।
वंशस्य कस्यैष महान् केतुभूत इव स्थितः ॥ २० ॥

इसके पिता-माता कौन हैं ? यह किस नागका पौत्र है तथा किसके वंशकी महान् ध्वजके समान शोभा बढ़ा रहा है ? ॥ २० ॥

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे ।
मनःप्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः ॥ २१ ॥

देवर्षे ! यह अपनी एकाग्रता, धैर्य, रूप तथा तरुण अवस्थाके कारण मेरे मनमें समा गया है । यही गुणकेशीका श्रेष्ठ पति होनेके योग्य है ॥ २१ ॥

कण्व उवाच

मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात् ।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च ॥ २२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! मातलिको सुमुखके दर्शनसे प्रसन्नचित्त देखकर नारदजीने उस समय उस नागकुमारके जन्म, कर्म और महत्त्वका परिचय देना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

नारद उवाच

ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट् ।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च ॥ २३ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज सुमुख है, जो ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ है । यह आर्यकका पौत्र और वामनका दौहित्र है ॥ २३ ॥

एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले ।
नचिराद् वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः ॥ २४ ॥

सूत ! इसके पिता नागराज चिकुर थे, जिन्हें थोड़े ही दिन पहले गरुड़ने अपना ग्रास बना लिया है ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः ।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः ॥ २५ ॥

तब मातलिने प्रसन्नचित्त होकर नारदजीसे कहा--'तात ! यह श्रेष्ठ नाग मुझे अपना जामाता बनानेके योग्य जँच गया ॥ २५ ॥

क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै ।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने ॥ २६ ॥

'मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ । आप इसीके लिये यत्न कीजिये । मुने ! मैं इसी नागको अपनी प्यारी पुत्री देना चाहता हूँ' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका नागराज आर्यकके सम्मुख सुमुखके साथ मातलिकी कन्याके विवाहका प्रस्ताव एवं मातलिका नारदजी, सुमुख एवं आर्यकके साथ इन्द्रके पास आकर उनके द्वारा सुमुखको दीर्घायु प्रदान कराना तथा सुमुख-गुणकेशी-विवाह

(कण्व उवाच

मातलेर्वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः।
अब्रवीन्नागराजानमार्यकं कुरुनन्दन ॥)

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन ! मातलिकी बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदने नागराज आर्यकसे कहा ॥

नारद उवाच

सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत्।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान् बली ॥ १ ॥

नारदजी बोले—नागराज ! ये इन्द्रके प्रिय सखा और सारथि मातलि हैं। इनमें पवित्रता, सुशीलता और समस्त सद्गुण भरे हुए हैं। ये तेजस्वी होनेके साथ ही बल-पराक्रम-से सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

शक्रस्यायं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ॥ २ ॥

इन्द्रके मित्र, मन्त्री और सारथि सब कुछ यही हैं। प्रत्येक युद्धमें ये इन्द्रके साथ रहते हैं। इनका प्रभाव इन्द्रसे कुछ ही कम है ॥ २ ॥

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम्।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ॥ ३ ॥

ये देवासुर-संग्राममें सहस्र घोड़ोंसे जुते हुए देवराजके विजयशील श्रेष्ठ रथका अपने मानसिक संकल्पसे ही (संचालन और) नियन्त्रण करते हैं ॥ ३ ॥

अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः।
अनेन बलभित् पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ॥ ४ ॥

ये अपने अश्वोंद्वारा जिन शत्रुओंको जीत लेते हैं, उन्हींको देवराज इन्द्र अपने बाहुबलसे पराजित करते हैं। पहले इनके द्वारा प्रहार हो जानेपर ही बलनाशक इन्द्र शत्रुओंपर प्रहार करते हैं ॥ ४ ॥

अस्य कन्या वरारोहा रूपेणासदृशी भुवि।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ॥ ५ ॥

इनके एक सुन्दरी कन्या है, जिसके रूपकी समानता भूमण्डलमें कहीं नहीं है। उसका नाम है गुणकेशी। वह सत्य, शील और सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

तस्यास्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ॥ ६ ॥

देवोपम कान्तिवाले नागराज ! ये मातलि बड़े प्रयत्नसे कन्याके लिये वर ढूँढ़नेके निमित्त तीनों लोकोंमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। आपका पौत्र सुमुख इन्हें अपनी कन्याका पति होने योग्य प्रतीत हुआ है; उसीको इन्होंने पसंद किया है ॥ ६ ॥

यदि ते रोचते सम्यग् भुजगोत्तम मा चिरम्।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ॥ ७ ॥

नागप्रवर आर्यक ! यदि आपको भी यह सम्बन्ध भली-भाँति रुचिकर जान पड़े तो शीघ्र ही इनकी पुत्रीको ब्याह लानेका निश्चय कीजिये ॥ ७ ॥

यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः।
कुले तव तथैवास्तु गुणकेशी सुमध्यमा ॥ ८ ॥

जैसे भगवान् विष्णुके घरमें लक्ष्मी और अग्निके घरमें स्वाहा शोभा पाती हैं, उसी प्रकार सुन्दरी गुणकेशी तुम्हारे कुलमें प्रतिष्ठित हो ॥ ८ ॥

पौत्रस्यार्थे भवांस्तस्माद् गुणकेशीं प्रतीच्छतु।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ॥ ९ ॥

अतः आप अपने पौत्रके लिये गुणकेशीको स्वीकार करें। जैसे इन्द्रके अनुरूप शची हैं, उसी प्रकार आपके सुयोग्य पौत्रके योग्य गुणकेशी है ॥ ९ ॥

पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ॥ १० ॥
सुमुखस्य गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः।

आपके और ऐरावतके प्रति हमारे हृदयमें विशेष सम्मान है और यह सुमुख भी शील, शौच और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये इसके पितृहीन होनेपर भी हम गुणोंके कारण इसका वरण करते हैं ॥ १०½ ॥

अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ॥ ११ ॥
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि।

ये मातलि स्वयं चलकर कन्यादान करनेको उद्यत हैं। आपको भी इनका सम्मान करना चाहिये ॥ ११½ ॥

कण्व उवाच

स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ॥ १२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन! तब नागराज आर्यक प्रसन्न होकर दीनभावसे बोले—॥ १२ ॥

आर्यक उवाच

म्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ॥ १३ ॥

आर्यक पुनः बोले—'देवर्षे! मेरा पुत्र मारा गया और पौत्रका भी उसी प्रकार मृत्युने वरण किया है; अतः मैं गुणकेशीको बहू बनानेकी इच्छा कैसे करूँ ? ॥ १३ ॥

न मे नैतद् बहुमतं महर्षे वचनं तव।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्यायं नेप्सितो भवेत्॥ १४ ॥

महर्षे ! मेरी दृष्टिमें आपके इस वचनका कम आदर नहीं है और ये मातलि तो इन्द्रके साथ रहनेवाले उनके सखा हैं; अतः ये किसको प्रिय नहीं लगेंगे ? ॥ १४ ॥

कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ॥ १५ ॥
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्तास्तेन वै वयम्।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता।
मासेनान्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ॥ १६ ॥
ध्रुवं तथा तद् भविता जानीमस्तस्य निश्चयम्।
तेन हर्षः प्रणष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ॥ १७ ॥

परंतु माननीय महामुने! कारणकी दुर्बलतासे मैं चिन्तामें पड़ा रहता हूँ। महाद्युते! इस बालकका पिता, जो मेरा पुत्र था, गरुड़का भोजन बन गया। इस दुःखसे हमलोग पीड़ित हैं। प्रभो ! जब गरुड़ यहाँसे जाने लगे, तब पुनः यह कहते गये कि दूसरे महीनेमें मैं सुमुखको भी खा जाऊँगा। अवश्य ही ऐसा ही होगा; क्योंकि हम गरुड़के निश्चयको जानते हैं। गरुड़के उस कथनसे मेरी हँसी-खुशी नष्ट हो गयी है ॥ १५-१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मया।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलिने आर्यकसे कहा—'मैंने इस विषयमें एक विचार किया है। यह तो निश्चय ही है कि मैंने आपके पौत्रको जामाताके पदपर वरण कर लिया ॥ १८ ॥

सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः।
त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ॥ १९ ॥

'अतः यह नागकुमार मेरे और नारदजीके साथ त्रिलोकीनाथ देवराज इन्द्रके पास चलकर उनका दर्शन करे ॥ १९ ॥

शेषेणैवास्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः।
सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ॥ २० ॥

'साधुशिरोमणे ! तदनन्तर मैं अवशिष्ट कार्यद्वारा इसकी आयुके विषयमें जानकारी प्राप्त करूँगा और इस बातकी भी चेष्टा करूँगा कि गरुड़ इसे न मार सकें ॥ २० ॥

सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु।
कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजंगम ॥ २१ ॥

'नागराज ! आपका कल्याण हो। सुमुख अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ देवराज इन्द्रके पास चले' ॥ २१ ॥

ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः।
ददृशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन सभी महातेजस्वी सज्जनोंने सुमुखको साथ लेकर परम कान्तिमान् देवराज इन्द्रका दर्शन किया, जो स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ २२ ॥

संगत्या तत्र भगवान् विष्णुरासीच्चतुर्भुजः।
ततस्तत् सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ॥ २३ ॥

दैवयोगसे वहाँ चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी उपस्थित थे। तदनन्तर देवर्षि नारदने मातलिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पुरंदरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम्।
अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने लोकेश्वर इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम सुमुखको अमृत दे दो और इसे देवताओंके समान बना दो ॥ २४ ॥

मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव।
लभन्तां भवतः कामात् काममेतं यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

'वासव ! इस प्रकार मातलि, नारद और सुमुख—ये सभी तुमसे इच्छानुसार अमृतका दान पाकर अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण कर लें' ॥ २५ ॥

पुरंदरोऽथ संचिन्त्य वैनतेयपराक्रमम्।
विष्णुमेवाब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ॥ २६ ॥

तब देवराज इन्द्रने गरुड़के पराक्रमका विचार करके भगवान् विष्णुसे कहा—'आप ही इसे उत्तम आयु प्रदान कीजिये'॥

विष्णुरुवाच

ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ॥ २७ ॥

भगवान् विष्णु बोले—प्रभो ! तुम सम्पूर्ण जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर हो । तुम्हारी दी हुई आयुको बिना दी हुई करने (मिटाने) का साहस कौन कर सकता है ? ॥ २७ ॥

प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायायुरुत्तमम् ।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ॥ २८ ॥

तब इन्द्रने उस नागको अच्छी आयु प्रदान की, परंतु बलासुर और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने उसे अमृतभोजी नहीं बनाया ॥ २८ ॥

लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह ।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान् प्रति ॥ २९ ॥

इन्द्रका वर पाकर सुमुखका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वह विवाह करके इच्छानुसार अपने घरको चला गया ॥२९॥

नारदस्त्वार्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ॥ ३० ॥

नारद और आर्यक दोनों ही कृतकृत्य हो महातेजस्वी देवराजकी अर्चना करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वभञ्जन तथा दुर्योधनद्वारा कण्व मुनिके उपदेशकी अवहेलना

कण्व उवाच

गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः ।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—भारत ! महाबली गरुड़ने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुना कि इन्द्रने सुमुख नागको दीर्घायु प्रदान की है ॥ १ ॥

पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः ।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ॥ २ ॥

यह सुनते ही आकाशचारी गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे तीनों लोकोंको कम्पित करते हुए इन्द्रके समीप दौड़े आये ॥ २ ॥

गरुड उवाच

भगवन् किमवज्ञानाद् वृत्तिः प्रतिहता मम ।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ॥ ३ ॥

गरुड़ बोले—भगवन् ! आपने अवहेलना करके मेरी जीविकामें क्यों बाधा पहुँचायी है ? एक बार मुझे इच्छानुसार कार्य करनेका वरदान देकर अब फिर उससे विचलित क्यों हुए हैं ? ॥ ३ ॥

निसर्गात् सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे ।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ॥ ४ ॥

समस्त प्राणियोंके स्वामी विधाताने सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करते समय मेरा आहार निश्चित कर दिया था । फिर आप किसलिये उसमें बाधा उपस्थित करते हैं ? ॥ ४ ॥

वृतश्चैष महानागः स्थापितः समयश्च मे ।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ॥ ५ ॥

देव ! मैंने उस महानागको अपने भोजनके लिये चुन लिया था । इसके लिये समय भी निश्चित कर दिया था और उसीके द्वारा मुझे अपने विशाल परिवारका भरण-पोषण करना था ॥ ५ ॥

एतस्मिंस्तु तथाभूते नान्यं हिंसितुमुत्सहे ।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ॥ ६ ॥

वह नाग जब दीर्घायु हो गया, तब अब मैं उसके बदलेमें दूसरेकी हिंसा नहीं कर सकता । देवराज ! आप स्वेच्छाचारको अपनाकर मनमाने खेल कर रहे हैं ॥ ६ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम ।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान् भव वासव ॥ ७ ॥

वासव ! अब मैं प्राण त्याग दूँगा । मेरे परिवारमें तथा मेरे घरमें जो भरण-पोषण करनेयोग्य प्राणी हैं, वे भी भोजनके अभावमें प्राण दे देंगे । अब आप अकेले संतुष्ट होइये ॥ ७ ॥

एतच्चैवाहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन् ।
त्रैलोक्यस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ॥ ८ ॥

बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज ! मैं इसी व्यवहारके योग्य हूँ; क्योंकि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ होकर भी मैंने दूसरेकी सेवा स्वीकार की है ॥ ८ ॥

त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम ।
त्रैलोक्यराज राज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम् ॥ ९ ॥

देवेश्वर ! त्रिलोकीनाथ ! आपके रहते भगवान् विष्णु भी मेरी जीविका रोकनेमें कारण नहीं हो सकते; क्योंकि वासव ! तीनों लोकोंके राज्यका भार सदा आपके ही ऊपर है ॥ ९ ॥

ममापि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान् समन्ताद् वोढुमञ्जसा ॥ १० ॥

मेरी माता भी प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं । मेरे पिता भी महर्षि कश्यप ही हैं । मैं भी अनायास ही सम्पूर्ण लोकोंका भार वहन कर सकता हूँ ॥ १० ॥

असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत् कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ॥ ११ ॥

मुझमें भी वह विशाल बल है, जिसे समस्त प्राणी एक साथ मिलकर भी सह नहीं सकते । मैंने भी दैत्योंके साथ युद्ध छिड़नेपर महान् पराक्रम प्रकट किया है ॥ ११ ॥

श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान् रोचनामुखः ।
प्रसृतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ॥ १२ ॥

मैंने भी श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसृत और कालकाक्ष नामक दैत्योंको मारा है ॥ १२ ॥

यत् तु ध्वजस्थानगतो यत्नात् परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवानुजं ते तेन मामवमन्यसे ॥ १३ ॥

तथापि मैं जो रथकी ध्वजामें रहकर यत्नपूर्वक आपके छोटे भाई (विष्णु) की सेवा करता और उनको वहन करता हूँ, इसीसे आप मेरी अवहेलना करते हैं ॥ १३ ॥

कोऽन्यो भारसहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।
मया योऽहं विशिष्टः सन् वहामीमं सबान्धवम् ॥ १४ ॥

मेरे सिवा दूसरा कौन है, जो भगवान् विष्णुका महान् भार सह सके ? कौन मुझसे अधिक बलवान् है ? मैं सबसे विशिष्ट शक्तिशाली होकर भी बन्धु-बान्धवोंसहित इन विष्णुभगवान्का भार वहन करता हूँ ॥ १४ ॥

अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चास्माच्च वासव ॥ १५ ॥

वासव ! आपने मेरी अवज्ञा करके जो मेरा भोजन छीन लिया है, उसके कारण मेरा सारा गौरव नष्ट हो गया तथा इसमें कारण हुए हैं आप और ये श्रीहरि ॥ १५ ॥

अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ॥ १६ ॥

विष्णो ! अदितिके गर्भसे जो ये बल और पराक्रमसे सुशोभित देवता उत्पन्न हुए हैं, इन सबमें बलकी दृष्टिसे अधिक शक्तिशाली आप ही हैं ॥ १६ ॥

सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ॥ १७ ॥

तात ! आपको मैं अपनी पाँखके एक देशमें बिठाकर बिना किसी थकावटके ढोता रहता हूँ । धीरेसे आप ही विचार करें कि यहाँ कौन सबसे अधिक बलवान् है ? ॥ १७ ॥

कण्व उवाच

स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ॥ १८ ॥
गरुत्मन् मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।
अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ॥ १९ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! गरुड़की ये बातें भयंकर परिणाम उपस्थित करनेवाली थीं । उन्हें सुनकर रथाङ्गपाणि श्रीविष्णुने किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले पक्षिराजको क्षुब्ध करते हुए कहा—'गरुत्मन् ! तुम हो तो अत्यन्त दुर्बल, परंतु अपने आपको बड़ा भारी बलवान् मानते हो । अण्डज ! मेरे सामने फिर कभी अपनी प्रशंसा न करना ॥ १८-१९ ॥

त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवात्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ॥ २० ॥

'सारी त्रिलोकी मिलकर भी मेरे शरीरका भार वहन करनेमें असमर्थ है । मैं ही अपने द्वारा अपने आपको ढोता हूँ और तुमको भी धारण करता हूँ ॥ २० ॥

इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ॥ २१ ॥

'अच्छा, पहले तुम मेरी केवल दाहिनी भुजाका भार वहन करो । यदि इस एकको ही धारण कर लोगे तो तुम्हारी यह सारी आत्मप्रशंसा सफल समझी जायगी' ॥ २१ ॥

ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ॥ २२ ॥

इतना कहकर भगवान् विष्णुने गरुड़के कंधेपर अपनी दाहिनी बाँह रख दी । उसके बोझसे पीड़ित एवं विह्वल होकर गरुड़ गिर पड़े । उनकी चेतना भी नष्ट-सी हो गयी ।

यावान् हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद् भारममन्यत ॥ २३ ॥

पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जितना भार हो सकता है, उतना ही उस एक बाँहका भार है, यह गरुड़को अनुभव हुआ ॥ २३ ॥

न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलशाली भगवान् अच्युतने गरुड़को बलपूर्वक दबाया नहीं था; इसीलिये उनके जीवनका नाश नहीं हुआ ॥

व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ॥ २५ ॥

उस महान् भारसे अत्यन्त पीड़ित हो गरुड़ने मुँह बा दिया । उनका सारा शरीर शिथिल हो गया । उन्होंने अचेत और विह्वल होकर अपने पंख छोड़ दिये ॥ २५ ॥

स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर अचेत एवं विह्वल हुए विनतापुत्र पक्षिराज गरुड़ने भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणाम किया और दीनभावसे कुछ कहा—॥ २६ ॥

भगवल्लोँकसारस्य सदृशेन वपुष्मता ।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले ॥ २७ ॥

'भगवन्! संसारके मूर्तिमान् सारतत्त्व-सदृश आपकी इस भुजाके द्वारा, जिसे आपने स्वाभाविक ही मेरे ऊपर रख दिया था, मैं पिसकर पृथ्वीपर गिर गया हूँ ॥ २७ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याल्पचेतसः ।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः ॥ २८ ॥

'देव! मैं आपकी ध्वजामें रहनेवाला एक साधारण पक्षी हूँ। इस समय आपके बल और तेजसे दग्ध होकर व्याकुल और अचेत-सा हो गया हूँ। आप मेरे अपराधको क्षमा करें ॥ २८ ॥

न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो ।
तेन मन्ये ह्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः ॥ २९ ॥

'विभो! मुझे आपके महान् बलका पता नहीं था। देव! इसीसे मैं अपने बल और पराक्रमको दूसरोंके समान ही नहीं, उनसे बहुत बढ़-चढ़कर मानता था' ॥ २९ ॥

ततश्चक्रे स भगवान् प्रसादं वै गरुत्मतः ।
मैवं भूय इति स्नेहात् तदा चैनमुवाच ह ॥ ३० ॥

गरुड़के ऐसा कहनेपर भगवान्ने उनपर कृपादृष्टि की और उस समय स्नेहपूर्वक उनसे कहा—'फिर कभी इस प्रकार घमंड न करना ॥ ३० ॥

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि ।
ततःप्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् भगवान्ने अपने पैरके अंगूठेसे सुमुख नागको उठाकर गरुड़के वक्षःस्थलपर रख दिया। तभीसे गरुड़ उस सर्पको सदा साथ लिये रहते हैं ॥ ३१ ॥

एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः ।
गरुडो बलवान् राजन् वैनतेयो महयशाः ॥ ३२ ॥

राजन्! इस प्रकार महायशस्वी बलवान् विनतानन्दन गरुड़ भगवान् विष्णुके बलसे आक्रान्त हो अपना अहंकार छोड़ बैठे ॥ ३२ ॥

कण्व उवाच

तथा त्वमपि गान्धारे यावत् पाण्डुसुतान् रणे।
नासादयसि तान् वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक ॥ ३३ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—गान्धारीनन्दन वत्स दुर्योधन! इसी तरह तुम भी जबतक रणभूमिमें उन वीर पाण्डवोंको अपने सामने नहीं पाते, तभीतक जीवन धारण करते हो ॥

भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः ।
धनंजयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे ॥ ३४ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाबली भीम वायुके पुत्र हैं। अर्जुन भी इन्द्रके पुत्र हैं। ये दोनों मिलकर युद्धमें किसे नहीं मार डालेंगे? ॥ ३४ ॥

विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाश्विनावुभौ ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः ॥ ३५ ॥

धर्मस्वरूप विष्णु, वायु, इन्द्र और वे दोनों अश्विनीकुमार—इतने देवता तुम्हारे विरुद्ध हैं। तुम किस कारणसे इन देवताओंकी ओर देखनेका भी साहस कर सकते हो? ॥ ३५ ॥

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज ।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ॥ ३६ ॥

अतः राजकुमार! इस विरोधसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है। पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। भगवान् श्रीकृष्णको सहायक बनाकर इनके द्वारा तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः॥ ३७॥

इन महातपस्वी नारदजीने उस समय भगवान् विष्णुके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखा था। वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही ये 'श्रीकृष्ण' हैं ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन् भ्रुकुटीमुखः।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत् तदा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कण्वका वह कथन सुनकर दुर्योधनकी भौंहें तन गयीं। वह लम्बी साँस खींचता हुआ राधानन्दन कर्णकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ ३८ ॥

कदर्थीकृत्य तद् वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

उस दुर्बुद्धिने कण्व मुनिके वचनोंकी अवहेलना करके हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघपर हाथ पीटकर इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद् भावि या च मे गतिः।

तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४० ॥

महर्षे ! मुझे ईश्वरने जैसा बनाया है, जो होनहार और जैसी मेरी अवस्था है, उसीके अनुसार मैं बर्ताव करता हूँ। आपलोगोंका यह प्रलाप क्या करेगा ?' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका दुर्योधनको समझाते हुए धर्मराजके द्वारा विश्वामित्रजीकी परीक्षा तथा गालवके विश्वामित्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये हठका वर्णन

जनमेजय उवाच

अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम्।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम्॥ १ ॥
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम्।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम्॥ २ ॥
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः।
सौहृदाद् वा सुहृत् स्निग्धो भगवान् वा पितामहः॥३॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! दुर्योधनका अनर्थकारी कार्योंमें ही अधिक आग्रह था। पराये धनके प्रति अधिक लोभ रखनेके कारण वह मोहित हो गया था। दुर्जनोंमें ही उसका अनुराग था। उसने मरनेका ही निश्चय कर लिया था। वह कुटुम्बीजनोंके लिये दुःखदायक और भाई-बन्धुओंके शोकको बढ़ानेवाला था। सुहृदोंको क्लेश पहुँचाता और शत्रुओंका हर्ष बढ़ाता था। ऐसे कुमार्गपर चलनेवाले इस दुर्योधनको उसके भाई-बन्धु रोकते क्यों नहीं थे ? कोई सुहृद्, स्नेही अथवा पितामह भगवान् व्यास उसे सौहार्दवश मना क्यों नहीं करते थे ? ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत् क्षमम्।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनापि तच्छृणु॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! भगवान् वेदव्यासने भी दुर्योधनसे उसके हितकी बात कही। भीष्मजीने भी जो उचित कर्तव्य था, वह बताया। इसके सिवा नारदजीने भी नाना प्रकारके उपदेश दिये। वह सब तुम सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
तिष्ठते हि सुहृद् यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—अकारण हित चाहनेवाले सुहृद्की बातोंको जो मन लगाकर सुने, ऐसा श्रोता दुर्लभ है। हितैषी सुहृद् भी दुर्लभ ही है; क्योंकि महान् संकटमें सुहृद् ही खड़ा हो सकता है, वहाँ भाई-बन्धु नहीं ठहर सकते ॥ ५ ॥

श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन।
न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैं देखता हूँ कि तुम्हें अपने सुहृदोंके उपदेशको सुननेकी विशेष आवश्यकता है; अतः तुम्हें किसी एक बातका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। दुराग्रहका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ॥ ६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः॥ ७ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महर्षि गालवने हठ या दुराग्रहके कारण पराजय प्राप्त की थी ॥ ७ ॥

विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा।
अभ्यगच्छत् स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः॥ ८ ॥

पहलेकी बात है, साक्षात् धर्मराज महर्षि भगवान् वसिष्ठका रूप धारण करके तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रके पास उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये ॥ ८ ॥

सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत।
बुभुक्षुः क्षुधितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु॥ ९ ॥

भारत ! धर्म सप्तर्षियोंमेंसे एक (वसिष्ठजी) का वेष धारण करके भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे विश्वामित्रके आश्रमपर आये ॥ ९ ॥

विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम्।
परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत्॥ १० ॥

विश्वामित्रजीने बड़ी उतावलीके साथ उनके लिये उत्तम भोजन देनेकी इच्छासे यत्नपूर्वक चरुपाक बनाना आरम्भ किया; परंतु ये अतिथिदेवता उनकी प्रतीक्षा न कर सके ॥ १० ॥

अन्नं तेन तदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः।
अथ गृह्यान्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत्॥ ११ ॥

उन्होंने जब दूसरे तपस्वी मुनियोंका दिया हुआ अन्न

खा लिया, तब विश्वामित्रजी भी अत्यन्त उष्ण भोजन लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ११ ॥

भुक्तं मे तिष्ठ तावत् त्वमित्युक्त्वा भगवान् ययौ।
विश्वामित्रस्ततो राजन् स्थित एव महाद्युतिः ॥ १२ ॥

उस समय भगवान् धर्म यह कहकर कि मैंने भोजन कर लिया, अब तुम रहने दो, वहाँसे चल दिये। राजन्! तब महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि वहाँ उसी अवस्थामें खड़े ही रह गये ॥ १२ ॥

भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः।
स्थितः स्थाणुरिवाभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ॥ १३ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले विश्वामित्रने दोनों हाथोंसे उस भोजनपात्रको थामकर माथेपर रख लिया और आश्रमके समीप ही ठूँठे पेड़की भाँति वे निश्चेष्ट खड़े रहे! उस अवस्थामें केवल वायु ही उनका आहार था ॥ १३ ॥

तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद् गालवो मुनिः।
गौरवाद् बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ॥ १४ ॥

उन दिनों उनके प्रति गौरवबुद्धि, विशेष आदर-सम्मानका भाव तथा प्रेम-भक्ति होनेके कारण उनकी प्रसन्नताके लिये गालवमुनि यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे ॥ १४ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत्।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ॥ १५ ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर पुनः धर्मदेव वसिष्ठ मुनिका वेष धारण करके भोजनकी इच्छासे विश्वामित्र मुनिके पास आये ॥ १५ ॥

स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम्।
भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि परम बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र केवल वायु पीकर रहते हुए सिरपर भोजनपात्र रक्खे खड़े हैं। यह देखकर धर्मने वह भोजन ले लिया। वह अन्न उसी प्रकार तुरंतकी तैयार की हुई रसोईके समान गरम था। उसे खाकर वे बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर मुनिवेषधारी धर्मदेव चले गये ॥ १६-१७ ॥

क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः।
धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस्तदा भवत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियत्वसे ऊँचे उठकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए विश्वामित्रको धर्मके वचनसे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ॥ १९ ॥

वे अपने शिष्य तपस्वी गालव मुनिकी सेवा-शुश्रूषा तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर बोले—॥ १९ ॥

अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ॥ २० ॥
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम्।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ॥ २१ ॥

'वत्स गालव! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर गालवने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुर वाणीमें महातेजस्वी मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—'भगवन्! मैं आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें क्या दूँ?॥ २०-२१ ॥

दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ॥ २२ ॥

'मानद! दक्षिणायुक्त कर्म ही सफल होता है। दक्षिणा देनेवाले पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है॥ २२ ॥

स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ॥ २३ ॥

'दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ही स्वर्गमें यज्ञका फल पाता है। वेदमें दक्षिणाको ही शान्तिप्रद बताया गया है। अतः पूज्य गुरुदेव! बतावें कि मैं क्या गुरुदक्षिणा ले आऊँ?॥ २३ ॥

जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै।
विश्वामित्रस्तमसकृद् गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ॥ २४ ॥

गालवकी सेवा-शुश्रूषासे भगवान् विश्वामित्र उनके वशमें हो गये थे। अतः उनके उपकारको समझते हुए विश्वामित्रने उनसे बार-बार कहा—'जाओ, जाओ' ॥ २४ ॥

असकृद् गच्छ गच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

उनके द्वारा बारंबार 'जाओ, जाओ' की आज्ञा मिलनेपर भी गालवने अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछा—'मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ॥ २५ ॥

निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः।
किंचिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥

तपस्वी गालवके बहुत आग्रह करनेपर विश्वामित्रको कुछ क्रोध आ गया; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—॥२६॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।

अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम् ॥ २७ ॥

'गालव ! तुम मुझे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके हों। जाओ, देर न करो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गालवकी चिन्ता और गरुड़का आकर उन्हें आश्वासन देना

नारद उवाच

एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता।
नास्ते न शेते नाहारं कुरुते गालवस्तदा ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—राजन्! उस समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर गालव मुनि तबसे न कहीं बैठते, न सोते और न भोजन ही करते थे ॥ १ ॥

त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना।
गालवो दुःखितो दुःखाद् विललाप सुयोधन ॥ २ ॥

वे चिन्ता और शोकमें डूबे रहनेके कारण पाण्डुवर्णके हो गये। उनके शरीरमें अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह गये थे। सुयोधन! अत्यन्त शोक करते और चिन्ताकी आगमें दग्ध होते हुए दुखी गालव मुनि दुःखसे विलाप करने लगे—॥ २ ॥

कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः संचयः कुतः।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ॥ ३ ॥

'मेरे ऐसे मित्र कहाँ, जो धनसे पुष्ट हों? मुझे कहाँसे धन प्राप्त होगा? कहाँ मेरे लिये धन संग्रह करके रक्खा हुआ है? और कहाँसे मुझे चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले आठ सौ घोड़े प्राप्त होंगे? ॥ ३ ॥

कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे ॥ ४ ॥

'ऐसी दशामें मुझे भोजनकी रुचि कहाँसे हो? सुख भोगनेकी इच्छा कहाँसे हो? और इस जीवनसे भी मुझे क्या प्रयोजन है? इस जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये मेरा जो उत्साह था, वह भी नष्ट हो गया ॥ ४ ॥

अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परम्परात्।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे ॥ ५ ॥

'मैं समुद्रके उस पार अथवा पृथ्वीसे बहुत दूर जाकर इस शरीरको त्याग दूँगा। अब मेरे लिये जीवित रहनेसे क्या लाभ है? ॥ ५ ॥

अधनस्याकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ॥ ६ ॥

जो निर्धन है, जिसके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं हुई है तथा जो नाना प्रकारके शुभ कर्मफलोंसे वञ्चित होकर केवल ऋणका बोझ ढो रहा है, ऐसे मनुष्यको बिना उद्यमके जीवन धारण करनेसे क्या सुख होगा? ॥ ६ ॥

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम्।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥ ७ ॥

'जो इच्छानुसार प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके सुहृदोंका धन भोगकर उनका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो, उसके जीनेसे मर जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ॥ ८ ॥

'जो 'करूँगा' ऐसा कहकर किसी कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, परंतु आगे चलकर उस कर्तव्यका पालन न कर सके, उस असत्यभाषणसे दग्ध हुए पुरुषके 'इष्ट' और 'आपूर्त' सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्यास्ति संततिः।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा ॥ ९ ॥

'सत्यसे शून्य मनुष्यका जीवन नहींके बराबर है। मिथ्यावादीको संतति नहीं प्राप्त होती। झूठेको प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है? ॥ ९ ॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १० ॥

'कृतघ्न मनुष्यको सुयश कहाँ? स्थान या प्रतिष्ठा कहाँ और सुख भी कहाँ है? कृतघ्न मानव अविश्वसनीय होता है, उसका कभी उद्धार नहीं होता है ॥ १० ॥

न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम्।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन् कृतम् ॥ ११ ॥

'निर्धन एवं पापी मनुष्यका जीवन वास्तवमें जीवन नहीं है। पापी मनुष्य अपने कुटुम्बका पोषण भी कैसे कर सकता है?

पापात्मा (निर्धन) पुरुष अपने पुण्य कर्मोंका नाश करता हुआ स्वयं भी निश्चय ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चानृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत् करोमि न भाषितम् ॥ १२ ॥

'मैं पापी, कृतघ्न, कृपण और मिथ्यावादी हूँ, जिसने गुरुसे तो अपना काम करा लिया, परंतु स्वयं जो उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम् ।
अर्थिता न मया काचित् कृतपूर्वा दिवौकसाम् ।
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ॥ १३ ॥

'अतः मैं कोई उत्तम प्रयत्न करके अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा। मैंने आजसे पहले देवताओंसे भी कभी कोई याचना नहीं की है। सब देवता यज्ञमें मेरा समादर करते हैं ॥ १३ ॥

अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम् ॥ १४ ॥

'अब मैं त्रिभुवनके स्वामी एवं जङ्गम जीवोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय सुरश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन भगवान् विष्णुकी शरणमें जाता हूँ ॥ १४ ॥

भोगा यस्मात् प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान् सुरासुरान् ।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ॥ १५ ॥

'जिनकी कृपासे समस्त देवताओं और असुरोंको भी यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अविनाशी योगी भगवान् विष्णुका मैं प्रणतभावसे दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ॥ १६ ॥

गालवके इस प्रकार कहनेपर उनके सखा विनतानन्दन गरुड़ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन्हें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुहृद् भवान् मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।
ईप्सितेनाभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ॥ १७ ॥

'गालव ! तुम मेरे प्रिय सुहृद् हो और मेरे सुहृदोंके भी प्रिय सुहृद् हो। सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि यदि उनके पास धन-वैभव हो तो वे उसका अपने सुहृद्का अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उपयोग करें ॥ १७ ॥

विभवश्चास्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे सबसे बड़े वैभव हैं इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु। मैंने पहले तुम्हारे लिये उनसे निवेदन किया था और उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार करके मेरा मनोरथ पूर्ण किया था ॥ १८ ॥

स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ॥ १९ ॥

'अतः आओ' हम दोनों चलें। गालव ! मैं तुम्हें सुखपूर्वक ऐसे देशमें पहुँचा दूँगा, जो पृथ्वीके अन्तर्गत तथा समुद्रके उस पार है। चलो, विलम्ब न करो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़का गालवसे पूर्व दिशाका वर्णन करना

सुपर्ण उवाच

अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालवाज्ञातयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ॥ १ ॥

गरुड़ने कहा—गालव ! अनादिदेव भगवान् विष्णुने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ। अतः तुम अपनी इच्छाके अनुसार बताओ कि मैं सबसे पहले किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ १ ॥

पूर्वां वा दक्षिणां वाहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! बोलो, मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम अथवा उत्तरमेंसे किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ २ ॥

यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र संध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ॥ ३ ॥
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्र चैष प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
हुतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतोदिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाध्वनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! जिस दिशामें सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न एवं प्रभावित करनेवाले भगवान् सूर्य प्रथम उदित होते हैं, जिस दिशामें संध्याके समय साध्यगण तपस्या करते हैं, जिस दिशामें (गायत्रीजपके द्वारा) पहले वह बुद्धि प्राप्त हुई है, जिसने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, धर्मके युगल-

नेत्रस्वरूप चन्द्रमा और सूर्य पहले जिस दिशामें उदित होते हैं और (प्रायः पूर्वाभिमुख होकर धर्मानुष्ठान किये जानेके कारण) जहाँ धर्म प्रतिष्ठित हुआ है तथा जिस दिशामें पवित्र हविष्यका हवन करनेपर वह आहुति सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाती है, वही यह पूर्वदिशा दिन एवं सूर्यमार्गका द्वार है ॥३–५॥

अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः।
यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥ ६ ॥

इसी दिशामें प्रजापति दक्षकी अदिति आदि कन्याओंने सबसे पहले प्रजावर्गको उत्पन्न किया था और इसीमें प्रजापति कश्यपकी संतानें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥ ६ ॥

अतोमूला सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत।
सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चात्र तपश्चितम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षे ! देवताओंकी लक्ष्मीका मूलस्थान पूर्व दिशा ही है। इसीमें इन्द्रका देवसम्राट्के पदपर प्रथम अभिषेक हुआ है और इसी दिशामें देवताओंने तपस्या की है ॥ ७ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् पूर्वेत्येषा दिगुच्यते।
यस्मात् पूर्वतरे काले पूर्वमेवावृता सुरैः ॥ ८ ॥
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते।

ब्रह्मन् ! इन्हीं सब कारणोंसे इस दिशाको 'पूर्वा' कहते हैं; क्योंकि अत्यन्त पूर्वकालमें पहले यही दिशा देवताओंसे आवृत हुई थी; अतएव इसे सबकी आदि दिशा कहते हैं ॥ ८½ ॥

पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ॥ ९ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंको देवसम्बन्धी सारे कार्य पहले इसी दिशामें करने चाहिये ॥ ९ ॥

अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ॥१०॥

लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने पहले इसी दिशामें वेदोंका गान किया था और सविता देवताने ब्रह्मवादी मुनियोंको यहीं सावित्रीमन्त्रका उपदेश किया था ॥ १० ॥

अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें सूर्यदेवने महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र दिये थे और इसी दिशामें देवतालोग यज्ञोंमें उस सोमरसका पान करते हैं, जो उन्हें वरदानमें प्राप्त हो चुका है ॥ ११ ॥

अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ॥ १२ ॥

इसी दिशामें यज्ञोंद्वारा तृप्त हुए अग्निगण अपने योनिस्वरूप जलका उपभोग करते हैं। यहीं वरुणने पातालका आश्रय लेकर लक्ष्मीको प्राप्त किया था ॥ १२ ॥

अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें पुरातन महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। यहीं उन्हें प्रतिष्ठा (सप्तर्षियोंमें स्थान) की प्राप्ति हुई है और इसी दिशामें उन्हें निमिके शापसे देहत्याग करना पड़ा है ॥ १३ ॥

ओङ्कारस्यात्र जायन्ते सूतयो दशतीर्दश।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ॥ १४ ॥

इसी दिशामें प्रणव अर्थात् वेदकी सहस्रों शाखाएँ प्रकट हुई हैं और उसीमें धूमपायी महर्षिगण हविष्यके धूमका पान करते हैं ॥ १४ ॥

प्रोक्षिता यत्र बहवो वाराहाद्या मृगा वने।
शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने यज्ञभागकी सिद्धिके लिये वनमें जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंको प्रोक्षित करके देवताओंको सौंपा था ॥ १५ ॥

अत्राहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चासुराश्च ये।
उदयंस्तान् हि सर्वान् वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः ॥१६॥

इस दिशामें उदित होनेवाले भगवान् सूर्य जो दूसरोंका अहित करनेवाले एवं कृतघ्न मनुष्य और असुर होते हैं, उन सबका क्रोधपूर्वक विनाश करते (उनकी आयु क्षीण कर देते) हैं ॥ १६ ॥

एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च।
एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ॥ १७ ॥

गालव ! यह पूर्व दिग्विभाग ही त्रिलोकीका, स्वर्गका और सुखका भी द्वार है। तुम्हारी इच्छा हो तो हम दोनों इसमें प्रवेश करें ॥ १७ ॥

प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्यास्मि वचने स्थितः।
ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाप्यपरां दिशम् ॥ १८ ॥

मैं जिनकी आज्ञाके अधीन हूँ, उन भगवान् विष्णुका प्रिय कार्य मुझे अवश्य करना है; अतः गालव ! बताओ, क्या मैं पूर्व दिशामें चलूँ अथवा दूसरी दिशाका भी वर्णन सुन लो।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दक्षिण दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक् ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें भगवान् सूर्यने वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञ करके आचार्य कश्यपको दक्षिणारूपमें इस दिशाका दान किया था, इसीलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं ॥ १ ॥

अत्र लोकत्रयस्यास्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज ॥ २ ॥

ब्रह्मन्! तीनों लोकोंके पितृगण इसी दिशामें प्रतिष्ठित हैं तथा 'ऊष्मप' नामक देवताओंका निवास भी इसी दिशामें सुना जाता है ॥ २ ॥

अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम् ॥ ३ ॥

पितरोंके साथ विश्वेदेवगण सदा दक्षिण दिशामें ही वास करते हैं। वे समस्त लोकोंमें पूजित हो श्राद्धमें पितरोंके समान ही भाग प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

एतद् द्वितीयं देवस्य द्वारमाचक्षते द्विज।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः ॥ ४ ॥

विप्रवर! विद्वान् पुरुष इस दक्षिण दिशाको धर्मदेवताका दूसरा द्वार कहते हैं। यहीं (चित्रगुप्त आदिके द्वारा) 'त्रुटि' और 'लव' आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालांशोंपर दृष्टि रखते हुए प्राणियोंकी आयुकी निश्चित गणना की जाती है ॥ ४ ॥

अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ५ ॥

देवर्षि, पितृलोकके ऋषि तथा समस्त राजर्षिगण दुःखरहित हो सदा इसी दिशामें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चात्र निगद्यते।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम् ॥ ६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें (रहकर चित्रगुप्त आदिके द्वारा धर्मराजके निकट प्राणियोंके) धर्म, सत्य तथा साधारण कर्मोंके विषयमें कहा जाता है। मृत प्राणी तथा उनके कर्म इसी दिशाका आश्रय लेते हैं ॥ ६ ॥

एषा दिक् सा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते।
वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते ॥ ७ ॥

विप्रवर! यह वह दिशा है, जिसमें मृत्युके पश्चात् सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है। यह सदा अज्ञानान्धकारसे आवृत रहती है, इसलिये इसमें सुखपूर्वक यात्रा सम्भव नहीं हो पाती है ॥ ७ ॥

नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने इस दिशामें प्रतिकूल स्वभाव एवं आचरणवाले सहस्रों राक्षसोंकी सृष्टि की है, जिनका दर्शन अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको ही होता है ॥ ८ ॥

अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्! इसी दिशामें गन्धर्वगण मन्दराचलके कुञ्जों और ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें मन और बुद्धिको आकर्षित करनेवाली गाथाओंका गान करते हैं ॥ ९ ॥

अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः ॥ १० ॥

पूर्वकालमें यहीं राजा रैवत गाथाओंके रूपमें सामगान सुनते-सुनते अपनी स्त्री, मन्त्री तथा राज्यसे भी वियुक्त हो वनमें चले गये थे* ॥ १० ॥

अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन् यां सूर्यो नातिवर्तते ॥ ११ ॥

ब्रह्मन्! इस दिशामें सावर्णि मनु तथा यवक्रीतके पुत्रने सूर्यकी गतिके लिये मर्यादा (सीमा) स्थापित की थी, जिसका सूर्यदेव कभी उल्लङ्घन नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता ॥ १२ ॥

पुलस्त्यवंशी राक्षसराज महामना रावणने इसी दिशामें तपस्या करके देवताओंसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त किया था ॥ १२ ॥

---

* एक समय राजा रैवत अपनी पुत्रीके साथ उसके लिये वरका अनुसंधान करने ब्रह्माजीके पास गये थे। वहाँसे लौटते समय उन्होंने मन्दराचलके पुण्य प्रदेशोंमें गन्धर्वोंका सामगान सुना और कुछ देर ठहर गये। वहाँका थोड़ा-सा भी समय मनुष्यलोकके महान् कालके बराबर होता है। राजा जब लौटकर राजधानीमें आये, तब सत्ययुग और त्रेता बीतकर द्वापरका अन्तिम भाग व्यतीत हो रहा था। मन्त्री और परिवारके सभी लोग कालके गालमें जा चुके थे। उन दिनों उनकी राजधानी कुशस्थलीके स्थानपर दिव्य द्वारकापुरीका निर्माण हो चुका था। राजाने अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीसे कर दिया और स्वयं वे वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये।

अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान्।
अत्र सर्वासवः प्राप्ताः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ॥ १३ ॥

इसी दिशामें घटित हुई घटनाके कारण वृत्रासुर देवराज इन्द्रका शत्रु बन बैठा था। दक्षिण दिशामें ही आकर सबके प्राण पुनः (प्राण-अपान आदिके भेदसे) पाँच भागोंमें बँट जाते हैं (अर्थात् प्राणी नूतन देह धारण करते हैं) ॥ १३ ॥

अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ॥ १४ ॥

गालव ! इसी दिशामें पापाचारी मनुष्य नरकोंकी आगमें पकाये जाते हैं। दक्षिणमें ही वह वैतरणी नदी है, जो वैतरणी नरकके अधिकारी पापियोंसे घिरी रहती है ॥ १४ ॥

अत्र गत्वा सुखस्यान्तं दुःखस्यान्तं प्रपद्यते।
अत्रावृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ॥ १५ ॥
काष्ठां चासाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः।

मनुष्य इसी दिशामें जाकर सुख और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है। इसी दक्षिण दिशामें लौटनेपर (अर्थात् उत्तरायणके अन्तिम भागमें पहुँचकर दक्षिणायनके आरम्भमें आनेपर जब कि वर्षाऋतु रहती है,) सूर्यदेव सुस्वादु जलकी वर्षा करते हैं। फिर वसिष्ठ मुनिके द्वारा सेवित उत्तर दिशामें पहुँचकर (अर्थात् उत्तरायणके प्रारम्भमें जब कि शिशिर ऋतु रहती है,) वे ओले गिराते हैं ॥ १५½ ॥

अत्राहं गालव पुरा क्षुधार्तः परिचिन्तयन् ॥ १६ ॥
लब्धवान् युध्यमानौ द्वौ बृहन्तौ गजकच्छपौ।

गालव ! पूर्वकालकी बात है, मैं भूखसे पीड़ित होकर भारी चिन्तामें पड़ गया था, परंतु इसी दिशामें आनेपर दो विशाल प्राणी—हाथी और कछुआ मेरे हाथ लग गये, जो आपसमें लड़ रहे थे ॥ १६½ ॥

अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ॥ १७ ॥
विदुर्यं कपिलं देवं येनार्ताः सगरात्मजाः।

सूर्यके समान तेजस्वी महर्षि कर्दमसे उत्पन्न हुए 'चक्रधनु' नामक महर्षि इसी दिशामें रहते थे, जिन्हें सब लोग 'कपिलदेव'के नामसे जानते हैं। उन्होंने ही सगरके पुत्रोंको भस्म कर दिया था ॥ १७½ ॥

अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अधीत्य सकलान् वेदाँल्लेभिरे मोक्षमक्षयम्।

इसी दिशामें 'शिव' नामसे प्रसिद्ध कुछ सिद्ध ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारंगत पण्डित थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके (तत्त्वज्ञानद्वारा) अक्षय मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ १८½ ॥

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ॥ १९ ॥
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च।

दक्षिणमें ही वासुकिद्वारा पालित तथा तक्षक एवं ऐरावत नागद्वारा सुरक्षित भोगवती नामक पुरी है ॥ १९½ ॥

अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ॥ २० ॥
अभेद्यं भास्करेणापि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना।

मृत्युके पश्चात् इस दिशामें जानेवाले प्राणीको ऐसे घोर अन्धकारका सामना करना पड़ता है, जो साक्षात् अग्नि एवं सूर्यके लिये भी अभेद्य है ॥ २०½ ॥

एष तस्यापि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं शृणु चापरम् ॥ २१ ॥

गालव ! तुम मेरे द्वारा परिचर्या पाने (सेवा ग्रहण करने) के योग्य हो, अतः तुम्हें यह दक्षिण मार्ग बताया है; यदि इस दिशामें चलना हो तो मुझसे कहो अथवा अब तीसरी पश्चिम दिशाका वर्णन सुनो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

पश्चिम दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं दिग् दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चादिरेव च ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! यह जो सामनेकी दिशा है, जलके स्वामी दिक्पाल राजा वरुणको सदा ही अत्यन्त प्रिय है। यही उनका आश्रय और उत्पत्तिस्थान है ॥ १ ॥

अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम्।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! दिनके पश्चात् सूर्यदेव इसी दिशामें स्वयं अपनी किरणोंका विसर्जन करते हैं, इसलिये यह 'पश्चिम' के नामसे विख्यात है ॥ २ ॥

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये।

कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् कश्यपदेवने जलजन्तुओंका आधिपत्य और जलकी रक्षा करनेके लिये इसी दिशामें वरुणका अभिषेक किया था ॥ ३ ॥

अत्र पीत्वा समस्तान् वै वरुणस्य रसांस्तु षट्।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्यादौ तमिस्रहा ॥ ४ ॥

अन्धकारका नाश करनेवाले चन्द्रमा वरुणके निकट रहकर छः प्रकारके सम्पूर्ण रसोंका पान करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको इसी दिशामें नूतनताको प्राप्त होकर उदित होते हैं ॥ ४ ॥

अत्र पश्चात् कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्वकालमें वायुदेवने अपने महान् वेगसे यहाँ युद्धमें दैत्योंको पराङ्मुख, आबद्ध और पीड़ित किया था, जिससे वे लम्बी साँस छोड़ते हुए धराशायी हो गये थे ॥ ५ ॥

अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः संध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ॥ ६ ॥

इसी दिशामें अस्ताचल है, जो अपने प्रीतिपात्र सूर्यदेवको प्रतिदिन ग्रहण करता है । वहींसे पश्चिम संध्याका प्रसार होता है ॥ ६ ॥

अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवायुषः ॥ ७ ॥

इसी दिशासे दिनके अन्तमें मानो जीव-जगत्‌की आधी आयु हर लेनेके लिये रात्रि एवं निद्राका प्राकट्य होता है ॥ ७ ॥

अत्र देवीं दितिं सुतामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ॥ ८ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने सोयी हुई गर्भवती दिति-देवीके (उदरमें प्रवेश करके उसके) गर्भका उच्छेद किया था, जिससे मरुद्गणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते ॥ ९ ॥

इसी दिशामें हिमालयका मूलभाग सदा मन्दराचलतक फैलकर उसका स्पर्श करता है । सहस्रों वर्षोंमें भी इसका अन्त पाना असम्भव है ॥ ९ ॥

अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ॥ १० ॥

इसी दिशामें सुवर्णमय पर्वत मन्दराचल तथा स्वर्णमय कमलोंसे सुशोभित क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर सुरभिदेवी अपने दूधका निर्झर बहाती हैं ॥ १० ॥

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ॥ ११ ॥

पश्चिम दिशामें ही समुद्रके भीतर सूर्यके समान तेजस्वी उस राहुका कबन्ध (धड़) दिखायी देता है, जो सूर्य और चन्द्रमाको मार डालनेकी इच्छा रखता है ॥ ११ ॥

सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ॥ १२ ॥

इसी दिशामें पिङ्गलवर्णके केशोंसे सुशोभित, अप्रमेय प्रभावशाली एवं अदृश्यमूर्ति मुनिवर सुवर्णशिरा सामगान करते हैं । उनके उस गीतकी विपुल ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है ॥ १२ ॥

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ १३ ॥

इसी दिशामें हरिमेधा मुनिकी कुमारी कन्या ध्वजवती निवास करती है, जो सूर्यदेवकी 'ठहरो' 'ठहरो' इस आज्ञासे आकाशमें स्थित है ॥ १३ ॥

अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ॥ १४ ॥

गालव ! वायु, अग्नि, जल और आकाश– ये सब इस दिशामें रात्रि और दिनके दुःखदायी स्पर्शका परित्याग करते हैं (अर्थात् यहाँ इनका स्पर्श सदा सुखद ही होता है) ॥१४॥

अतःप्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः ।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ १५ ॥

इसी दिशासे सूर्यदेव तिरछी गतिसे चक्कर लगाना आरम्भ करते हैं । यहीं सम्पूर्ण ज्योतियाँ सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं ॥ १५ ॥

अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात् सोमसंयोगयोगतः ॥ १६ ॥

अभिजित्सहित अट्ठाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक अट्ठाईसवें दिन सूर्यके साथ विचरण करके अमावस्याके बाद फिर सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जाता है ॥ १६ ॥

अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणालये ॥ १७ ॥

इसी दिशासे उन अधिकांश नदियोंका प्राकट्य हुआ है, जिनके जलसे समुद्रकी पूर्ति होती रहती है । यहींके वरुणालयमें त्रिभुवनके लिये उपयोगी जलराशि संचित है ॥ १७ ॥

अत्र पन्नगराजस्याप्यनन्तस्य निवेशनम् ।

अनादिनिधनस्यात्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

यहीं नागराज अनन्तका निवास तथा आदि-अन्तसे रहित भगवान् विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ १८ ॥

अत्रानलसखस्यापि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

इसी दिशामें अग्निदेवके सखा वायुदेवका भवन तथा मरीचिनन्दन महर्षि कश्यपका आश्रम है ॥ १९ ॥

एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे पश्चिमका मार्ग बताया है । अब बताओ, तुम्हारा क्या विचार है ? हम दोनों किस दिशाकी ओर चलें ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरितविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

उत्तर दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

यस्मादुत्तार्यते पापाद् यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! इस मार्गसे जानेपर मनुष्यका पापसे उद्धार हो जाता है और वह कल्याणमय स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करता है; अतः इस उत्तारण (संसारसागरसे पाप उतारने) के बलसे इस दिशाको उत्तरदिशा कहते हैं ॥ १ ॥

उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ॥ २ ॥

गालव ! यह उत्तर दिशा उत्कृष्ट सुवर्ण आदि निधियोंकी अधिष्ठान है (इसलिये भी इसका नाम उत्तर है) । यह उत्तर मार्ग पश्चिम और पूर्व दिशाओंका मध्यवर्ती बताया गया है ॥

अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नासौम्यो नाविधेयात्मा नाधर्मो वसते जनः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस गौरवशालिनी दिशामें ऐसे लोगोंका वास नहीं है, जो सौम्य स्वभावके न हों, जिन्होंने अपने मनको वशमें न किया हो तथा जो धर्मका पालन न करते हों ॥ ३ ॥

अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ॥ ४ ॥

इसी दिशामें बदरिकाश्रमतीर्थ है, जहाँ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीनारायण, विजयशील नरश्रेष्ठ नर और सनातन ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ४ ॥

अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५ ॥

उत्तरमें ही हिमालयके शिखरपर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी अन्तर्यामी भगवान् महेश्वर भगवती उमाके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ ५ ॥

न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ॥ ६ ॥

वे भगवान् नर और नारायणके सिवा और किसीकी दृष्टिमें नहीं आते । समस्त मुनिगण, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध अथवा देवताओंसहित इन्द्र भी उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ ६ ॥

अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ॥ ७ ॥

यहाँ सहस्रों नेत्रों, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकोंवाले एकमात्र अविनाशी श्रीमान् भगवान् विष्णु ही उन मायाविशिष्ट महेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ॥ ८ ॥
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।

उत्तर दिशामें ही चन्द्रमाका द्विजराजके पदपर अभिषेक हुआ था । वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गालव ! यहीं आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको महादेवजीने अपने मस्तकपर धारण किया और उन्हें मनुष्यलोकमें छोड़ दिया ॥ ८½ ॥

अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ॥ ९ ॥
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।

यहीं पार्वतीदेवीने भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये कठोर तपस्या की थी और इसी दिशामें महादेवजीको मोहित करनेके लिये काम प्रकट हुआ । फिर उसके ऊपर भगवान् शंकरका क्रोध हुआ । उस अवसरपर गिरिराज हिमालय और उमा भी वहाँ विद्यमान थीं (इस प्रकार ये सब लोग वहाँ एक ही समयमें प्रकाशित हुए) ॥

अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ॥ १० ॥

आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः ।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ॥ ११ ॥

गालव ! इसी दिशामें कैलास पर्वतपर राक्षस, यक्ष और गन्धर्वोंका आधिपत्य करनेके लिये धनदाता कुबेरका अभिषेक हुआ था। उत्तर दिशामें ही रमणीय चैत्ररथवन और वैखानस ऋषियोंका आश्रम है ॥ १०-११ ॥

अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यहीं मन्दाकिनी नदी और मन्दराचल हैं। इसी दिशामें राक्षसगण सौगन्धिकवनकी रक्षा करते हैं॥१२॥

शाद्वलं कदलीस्कन्धमत्र संतानका नगाः ।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ॥ १३ ॥
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव ।

यहीं हरी-हरी घासोंसे सुशोभित कदलीवन है और यहीं कल्पवृक्ष शोभा पाते हैं। गालव ! इसी दिशामें सदा संयम-नियमका पालन करनेवाले स्वच्छन्दचारी सिद्धोंके इच्छानुसार भोगोंसे सम्पन्न एवं मनोनुकूल विमान विचरते हैं ॥ १३½ ॥

अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ॥ १४ ॥
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्रास्या उदयः स्मृतः ।

इसी दिशामें अरुन्धतीदेवी और सप्तर्षि प्रकाशित होते हैं। इसीमें स्वाती नक्षत्रका निवास है और यहीं उसका उदय होता है ॥ १४½ ॥

अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ॥ १५ ॥
ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः ।

इसी दिशामें ब्रह्माजी यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होकर नियमित-रूपसे निवास करते हैं। नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य भी सदा इसीमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १५½ ॥

अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ॥ १६ ॥
धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः ।
न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाकृतिर्न तपश्चितम् ॥ १७ ॥
परिवर्तसहस्राणि कामभोज्यानि गालव ।

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें धाम नामसे प्रसिद्ध सत्यवादी महात्मा मुनि श्रीगङ्गामहाद्वारकी रक्षा करते हैं। उनकी मूर्ति, आकृति तथा संचित तपस्याका परिमाण किसीको ज्ञात नहीं होता है। गालव ! वे सहस्रों युगान्तकालतककी आयु इच्छानुसार भोगते हैं ॥ १६-१७½ ॥

यथा यथा प्रविशति तस्मात् परतरं नरः ॥ १८ ॥
तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव ।
नैतत् केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ॥ १९ ॥
ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम् ।
अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्य ज्यों-ज्यों गङ्गामहाद्वारसे आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे वहाँकी हिमराशिमें गलता जाता है। विप्रवर गालव ! साक्षात् भगवान् नारायण तथा विजयशील अविनाशी महात्मा नरको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य पहले कभी गङ्गामहाद्वारसे आगे नहीं गया है। इसी दिशामें कैलास-पर्वत है, जो कुबेरका स्थान बताया गया है ॥ १८–२० ॥

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश ।
अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ॥ २१ ॥
त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम् ।
अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः ।

यहीं विद्युत्प्रभा नामसे प्रसिद्ध दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं। ब्रह्मन् ! त्रिलोकीको नापते समय भगवान् विष्णुने इसी दिशामें अपना चरण रक्खा था। उत्तर दिशामें भगवान् विष्णुका वह चरणचिह्न (हरिकी पैंड़ी) आज भी मौजूद है। द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मर्षे ! उत्तर दिशाके ही उशीरबीज नामक स्थानमें, जहाँ सुवर्णमय सरोवर है, राजा मरुत्तने यज्ञ किया था ॥ २१-२२½ ॥

जीमूतस्यात्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ॥ २३ ॥
साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः ।

इसी दिशामें ब्रह्मर्षि महात्मा जीमूतके समक्ष हिमालयकी पवित्र एवं निर्मल स्वर्णनिधि (सोनेकी खान) प्रकट हुई थी॥

ब्राह्मणेषु च यत् कृत्स्नं स्वन्तं कृत्वा धनं महत् ॥ २४॥
वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद् धनं ततः ।

उस सम्पूर्ण विशाल धनराशिको उन्होंने ब्राह्मणोंमें बाँट-कर उसका सदुपयोग किया और ब्राह्मणोंसे यह वर माँगा कि यह धन मेरे नामसे प्रसिद्ध हो। इस कारण वह धन 'जैमूत' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४½ ॥

अत्र नित्यं दिशाम्पालाः सायम्प्रातर्द्विजर्षभ ॥ २५ ॥
कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव ।

विप्रवर गालव ! यहाँ प्रतिदिन सबेरे और सन्ध्याके समय सभी दिक्पाल एकत्र हो उच्च स्वरसे यह पूछते हैं कि किसको क्या काम है ? ॥ २५½ ॥

एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ॥ २६ ॥
उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा ।

द्विजश्रेष्ठ ! इन सब कारणोंसे तथा अन्यान्य गुणोंके कारण यह दिशा उत्कृष्ट है और समस्त शुभ कर्मोंके लिये भी यही उत्तम मानी गयी है। इसलिये इसे उत्तर कहते हैं ॥ २६½॥

एता विस्तरशस्तात तव संकीर्तिता दिशः ॥ २७ ॥
चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि ।

तात ! इस प्रकार मैंने क्रमशः चारों दिशाओंका तुम्हारे सामने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कहो, किस दिशामें चलना चाहते हो? ॥ २७½ ॥

उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः।
पृथिवीं चाखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण पृथ्वी तथा समस्त दिशाओंका दर्शन करानेके लिये उद्यत हूँ; अतः तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़की पीठपर बैठकर पूर्व दिशाकी ओर जाते हुए गालवका उनके वेगसे व्याकुल होना

गालव उवाच

गरुत्मन् भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ॥ १ ॥

गालवने कहा—गरुत्मन् ! भुजगराजशत्रो ! सुपर्ण ! विनतानन्दन ! तार्क्ष्य ! तुम मुझे पूर्व दिशाकी ओर ले चलो, जहाँ धर्मके नेत्रस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं ॥

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता।
दैवतानां हि सांनिध्यमत्र कीर्तितवानसि ॥ २ ॥
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक् प्रकीर्तितः।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्दैवतैरहम्।
भूयश्च तान् सुरान् द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ॥ ३ ॥

जिस दिशाका तुमने सबसे पहले वर्णन किया है, उसी दिशाकी ओर पहले चलो; क्योंकि उस दिशामें तुमने देवताओंका सांनिध्य बताया है तथा वहीं सत्य और धर्मकी स्थितिका भी भलीभाँति प्रतिपादन किया है। अरुणके छोटे भाई गरुड़ ! मैं सम्पूर्ण देवताओंसे मिलना और पुनः उन सबका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम्।
आरुरोहाथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ॥ ४ ॥

नारदजी कहते हैं—तब विनतानन्दन गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'तुम मेरे ऊपर चढ़ जाओ।' तब गालवमुनि गरुड़की पीठपर जा बैठे ॥ ४ ॥

गालव उवाच

क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ५ ॥

गालवने कहा—सर्पभोजी गरुड़ ! पूर्वाह्णकालमें सहस्र किरणोंसे सुशोभित भुवनभास्कर सूर्यका स्वरूप जैसा दिखायी देता है, आकाशमें उड़ते समय तुम्हारा स्वरूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ५ ॥

पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम्।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ॥ ६ ॥

खेचर ! तुम्हारे पङ्खोंकी हवासे उखड़कर ये वृक्ष पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। मैं इनकी भी ऐसी तीव्र गति देख रहा हूँ, मानो ये भी हमलोगोंके साथ चलनेके लिये प्रस्थित हुए हों ॥ ६ ॥

ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम्।
आकर्षन्निव चाभासि पक्षवातेन खेचर ॥ ७ ॥

आकाशचारी गरुड़ ! तुम अपने पङ्खोंके वेगसे उठी हुई वायुद्वारा समुद्रकी जलराशि, पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी ओर खींचते-से जान पड़ते हो ॥ ७ ॥

समीननागनक्रं च खमिवारोप्यते जलम्।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चानिशम् ॥ ८ ॥

पाँखोंके हिलानेसे निरन्तर उठती हुई प्रचण्ड वायुके वेगसे मत्स्य, जलहस्ती तथा मगरोंसहित समुद्रका जल तुम्हारे द्वारा मानो आकाशमें उछाल दिया जाता है ॥ ८ ॥

तुल्यरूपाननान् मत्स्यांस्तथा तिमितिमिंगिलान्।
नागांश्च नरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ॥ ९ ॥

जिनके आकार और मुख एक-से हैं ऐसे मत्स्योंको, तिमि और तिमिंगिलोंको तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समान मुखवाले जल-जन्तुओंको मैं उन्मथित हुए-से देखता हूँ ॥

महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते।
न शृणोमि न पश्यामि नात्मनो वेद्मि कारणम् ॥ १० ॥

महासागरकी इन भीषण गर्जनाओंने मेरे कान बहरे कर दिये हैं। मैं न तो सुन पाता हूँ, न देख पाता हूँ और न अपने बचावका कोई उपाय ही समझ पाता हूँ ॥ १० ॥

शनैः स तु भवान् यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन्।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ॥ ११ ॥

तात गरुड़ ! तुमसे कहीं ब्रह्महत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखते हुए धीरे-धीरे चलो। मुझे इस समय न तो सूर्य

दिखायी देते हैं, न दिशाएँ सूझती हैं और न आकाश ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ११ ॥

तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये।
मणीव जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ॥ १२ ॥

मुझे केवल अन्धकार ही दिखायी देता है। मैं तुम्हारे शरीरको नहीं देख पाता हूँ। अण्डज! तुम्हारी दोनों आँखें मुझे उत्तम जातिकी दो मणियोंके समान चमकती दिखायी देती हैं॥

शरीरं तु न पश्यामि तव चैवात्मनश्च ह।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ॥ १३ ॥

मैं न तो तुम्हारे शरीरको देखता हूँ और न अपने शरीरको। मुझे पग-पगपर तुम्हारे अङ्गोंसे आगकी लपटें उठती दिखायी देती हैं॥ १३ ॥

स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्य ते पुनः।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ॥ १४ ॥

विनतानन्दन! तुम उस आगको सहसा बुझाकर पुनः अपने दोनों नेत्रोंको भी शान्त करो और तुम्हारी गतिमें जो इतना महान् वेग है, इसे रोको ॥ १४ ॥

न मे प्रयोजनं किंचिद् गमने पन्नगाशन।
संनिवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ॥ १५ ॥

गरुड़! इस यात्रासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अतः लौट चलो। महाभाग! मैं तुम्हारे वेगको नहीं सह सकता॥

गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम्।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम्॥ १६ ॥

मैंने गुरुको ऐसे आठ सौ घोड़े देनेकी प्रतिज्ञा की है, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हों और जिनके कान एक ओरसे श्याम रंगके हों॥ १६ ॥

तेषां चैवापवर्गाय मार्गं पश्यामि नाण्डज।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः॥ १७ ॥

किंतु अण्डज! उन घोड़ोंके दिये जानेका कोई मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता है। इसीलिये मैंने अपने जीवनके परित्यागका ही मार्ग चुना है॥ १७ ॥

नैव मेऽस्ति धनं किंचिन्न धनेनान्वितः सुहृत्।
न चार्थेनापि महता शक्यमेतद् व्यपोहितुम् ॥ १८ ॥

मेरे पास थोड़ा भी धन नहीं है, कोई धनी मित्र भी नहीं है और यह कार्य ऐसा है कि प्रचुर धनराशिका व्यय करनेसे भी सिद्ध नहीं हो सकता॥ १८ ॥

नारद उवाच

एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन् विनतात्मजः ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार बहुत दीन वचन बोलते हुए महर्षि गालवसे विनतानन्दन गरुड़ने चलते हुए ही हँसकर कहा—॥ १९ ॥

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्युक्तमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ २० ॥

'ब्रह्मर्षे! यदि तुम अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हो तो विशेष बुद्धिमान् नहीं हो; क्योंकि मृत्यु कृत्रिम नहीं होती (उसका अपनी इच्छासे निर्माण नहीं किया जा सकता)। वह तो परमेश्वरका ही स्वरूप है॥ २० ॥

किमहं पूर्वमेवेह भवता नाभिचोदितः।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

'तुमने पहले ही मुझसे यह बात क्यों नहीं कह दी? मेरी दृष्टिमें एक महान् उपाय है, जिससे यह कार्य सिद्ध हो सकता है॥ २१ ॥

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ॥ २२ ॥

'गालव! समुद्रके निकट यह ऋषभ नामक पर्वत है, जहाँ विश्राम और भोजन करके हम दोनों लौट चलेंगे'॥२२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभ पर्वतके शिखरपर महर्षि गालव और गरुड़की तपस्विनी शाण्डिलीसे भेंट तथा गरुड़ और गालवका गुरुदक्षिणा चुकानेके विषयमें परस्पर विचार

नारद उवाच

ऋषभस्य ततः शृङ्गं निपत्य द्विजपक्षिणौ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोऽन्विताम्॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर गालव और गरुड़ने ऋषभ पर्वतके शिखरपर उतरकर वहाँ तपस्विनी शाण्डिली ब्राह्मणीको देखा॥ १ ॥

अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाभिपूज्य ताम्।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे संनिषीदतुः ॥ २ ॥

गरुड़ने उसे प्रणाम किया और गालवने उसका आदर-सम्मान किया। तदनन्तर उसने भी उन दोनोंका स्वागत करके उन्हें आसनपर बैठनेके लिये कहा। उसकी आज्ञा पाकर वे दोनों वहाँ आसनपर बैठ गये ॥ २ ॥

सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम्।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ॥ ३ ॥

तपस्विनीने उन्हें बलिवैश्वदेवसे बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण किया। उसे खाकर वे दोनों तृप्त हो गये और भूमिपर ही सो गये। तत्पश्चात् निद्राने उन्हें अचेत कर दिया ॥ ३ ॥

मुहूर्तात् प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ॥ ४ ॥

दो ही घड़ीके बाद मनमें वहाँसे जानेकी इच्छा लेकर गरुड़ जाग उठे। उठनेपर उन्होंने अपने शरीरको दोनों पंखोंसे रहित देखा ॥ ४ ॥

मांसपिण्डोपमोऽभूत् स मुखपादान्वितः खगः।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ॥ ५ ॥

आकाशचारी गरुड़ मुख और हाथोंसे युक्त होते हुए भी उन पंखोंके बिना मांसके लोंदे-से हो गये। उन्हें उस दशामें देखकर गालवका मन उदास हो गया और उन्होंने पूछा—॥

किमिदं भवता प्राप्तमिहागमनजं फलम्।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ॥ ६ ॥

'सखे ! तुम्हें यहाँ आनेका यह क्या फल मिला ? इस अवस्थामें हम दोनोंको यहाँ कितने समयतक रहना पड़ेगा ? ॥ ६ ॥

किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ॥ ७ ॥

'तुमने अपने मनमें कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्मको दूषित करनेवाला रहा है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे द्वारा यहाँ कोई थोड़ा धर्मविरुद्ध कार्य नहीं हुआ होगा' ॥७॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥ ८ ॥
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥ ९ ॥

तब गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'ब्रह्मन् ! मैंने तो अपने मनमें यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनीको वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेवजी हैं, जहाँ सनातन भगवान् विष्णु हैं तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वहीं इसे निवास करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥ १० ॥

'अतः मैं भगवती शाण्डिलीके चरणोंमें पड़कर यह प्रार्थना करता हूँ कि मैंने अपने चिन्तनशील मनके द्वारा आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही यह बात सोची है ॥ १० ॥

तदेवं बहुमानात् ते मयेहानीप्सितं कृतम्।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात् क्षन्तुमर्हसि॥ ११ ॥

'आपके प्रति विशेष आदरका भाव होनेसे ही मैंने इस स्थानपर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है। मेरे द्वारा यह पुण्य हुआ हो या पाप, अपने ही माहात्म्यसे आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥११॥

सा तौ तदाब्रवीत् तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ॥ १२ ॥

यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुई। उसने उस समय पक्षिराज गरुड़ और विप्रवर गालवसे कहा—'सुपर्ण ! तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायँगे; अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो ॥ १२ ॥

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत् ॥ १३ ॥

'वत्स ! तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्य-लोकोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥

हीनया लक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया।
आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ॥ १४ ॥

'समस्त अशुभ लक्षणोंसे हीन और अनिन्दित रहकर सदाचारका पालन करते हुए ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ॥ १४ ॥

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

'आचार ही धर्मको सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचारसे मनुष्यको सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणोंका भी नाश कर देता है ॥ १५ ॥

तदायुष्मन् खगपते यथेष्टं गम्यतामितः।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ॥ १६ ॥

'अतः आयुष्मन् पक्षिराज ! अब तुम यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको जाओ। आजसे तुम्हें मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मेरी ही क्यों, कहीं किसी भी स्त्रीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ॥ १६ ॥

भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमन्वितः।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥ १७ ॥

'अब तुम पहलेकी ही भाँति बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ।' शाण्डिलीके इतना कहते ही गरुड़की पाँखें पहलेसे भी अधिक शक्तिशाली हो गयीं ॥ १७ ॥

अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चासादयामास तथारूपांस्तुरंगमान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शाण्डिलीकी आज्ञा ले वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । वे गालवके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़े नहीं पा सके ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाध्वनिस्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य संनिधौ ॥ १९ ॥

इधर गालवको राहमें आते देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वामित्रजी खड़े हो गये और गरुड़के समीप उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यस्त्वया स्वयमेवार्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने स्वयं ही जिस धनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे देनेका समय आ गया है । फिर तुम जैसा ठीक समझो, करो ॥ २० ॥

प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिध्यते विप्र स मार्गस्तु निशाम्यताम् ॥ २१ ॥

मैं इतने ही समयतक और तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा । ब्रह्मन् ! जिस प्रकार तुम्हें सफलता मिल सके, उस मार्गका विचार करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं खल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ॥ २२ ॥
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नादत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर दीन और अत्यन्त दुखी हुए गालव मुनिसे गरुड़ने कहा—'द्विजश्रेष्ठ गालव ! विश्वामित्रजीने मेरे सामने जो कुछ कहा है, आओ, उसके विषयमें हम दोनों सलाह करें । तुम्हें अपने गुरुको उनका सारा धन चुकाये बिना चुप नहीं बैठना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़ और गालवका राजा ययातिके यहाँ जाकर गुरुको देनेके लिये श्यामकर्ण घोड़ोंकी याचना करना

नारद उवाच

अथाह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने दीन-दुखी गालव मुनिसे इस प्रकार कहा—'पृथ्वीके भीतर जो उसका सारतत्त्व है उसे तपाकर अग्निने जिसका निर्माण किया है और उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वायुने जिसका शोधन किया है, उस सुवर्णको हिरण्य कहते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यप्रधान है; इसलिये भी उसे हिरण्य कहते हैं ॥ १ ॥

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ २ ॥

'वह इस जगत्‌को स्वयं तो धारण करता ही है, दूसरोंसे भी धारण कराता है । इस कारण उस सुवर्णका नाम धन है । यह धन तीनों लोकोंमें सदा स्थित रहता है ॥ २ ॥

नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ॥ ३ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलब्धव्यं द्विजर्षभ ॥
ऋते च धनमश्वानां नावाप्तिर्विद्यते तव ॥ ४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद इन दो नक्षत्रोंमेंसे किसी एकके साथ शुक्रवारका योग हो तो अग्निदेव कुबेरके लिये अपने संकल्पसे धनका निर्माण करके उसे मनुष्योंको दे देते हैं । पूर्वभाद्रपदके देवता अजैकपाद्, उत्तरभाद्रपदके देवता अहिर्बुध्न्य और कुबेर—ये तीनों उस धनकी रक्षा करते हैं । इस प्रकार किसीको भी ऐसा धन नहीं मिल सकता, जो प्रारब्धवश उसे मिलनेवाला न हो और धनके बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३-४ ॥

स त्वं याचात्र राजानं कंचिद् राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान् हि यो नौ कुर्यात् कृतार्थिनौ ॥ ५ ॥

'इसलिये मेरी राय यह है कि तुम राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए किसी ऐसे राजाके पास चलकर धनके लिये

याचना करो, जो पुरवासियोंको पीड़ा दिये बिना ही हम दोनोंको धन देकर कृतार्थ कर सके ॥ ५ ॥

अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा ।
अभिगच्छावहे तं वै तस्यास्ति विभवो भुवि ॥ ६ ॥

'चन्द्रवंशमें उत्पन्न एक राजा हैं, जो मेरे मित्र हैं। हम दोनों उन्हींके पास चलें। इस भूतलपर उनके पास अवश्य ही धन है ॥ ६ ॥

ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः ।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चार्थितः स्वयम्॥ ७ ॥

'मेरे उन मित्रका नाम है राजर्षि ययाति, जो महाराज नहुषके पुत्र हैं। वे सत्यपराक्रमी वीर हैं। तुम्हारे माँगने और मेरे कहनेपर वे स्वयं ही तुम्हें धन देंगे ॥ ७ ॥

विभवश्चास्य सुमहानासीद् धनपतेरिव ।
एवं गुरुधनं विद्वन् दानेनैव विशोधय ॥ ८ ॥

'उनके पास धनाध्यक्ष कुबेरकी भाँति महान् वैभव रहा है। विद्वन् ! इस प्रकार दान लेकर ही तुम गुरुदक्षिणाका ऋण चुका दो' ॥ ८ ॥

तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत् क्षमम् ।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ॥ ९ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और उचित कर्तव्यको मन-ही-मन सोचते हुए वे दोनों प्रतिष्ठानपुरमें राजा ययातिके दरबारमें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम् ।
पृष्टश्चागमने हेतुमुवाच विनतासुतः ॥ १० ॥

राजाके द्वारा सत्कारपूर्वक दिये हुए श्रेष्ठ अर्घ्य-पाद्य आदि ग्रहण करके विनतानन्दन गरुड़ने उनके पूछनेपर अपने आगमनका प्रयोजन इस प्रकार बताया—॥ १० ॥

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः ।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद् वर्षाण्ययुतशो नृप ॥ ११ ॥

'नहुषनन्दन ! ये तपोनिधि गालव मेरे मित्र हैं। राजन् ! ये दस हजार वर्षोंतक महर्षि विश्वामित्रके शिष्य रहे हैं ॥ ११ ॥

सोऽयं तेनाभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः ।
तमाह भगवन् किं ते ददानि गुरुदक्षिणाम् ॥ १२ ॥

'विश्वामित्रजीने (इनकी सेवाके बदले) इनका भी उपकार करनेकी इच्छासे इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। तब इन्होंने उनसे पूछा—'भगवन् ! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ ? ॥१२॥

असकृत् तेन चोक्तेन किंचिदागतमन्युना ।
अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १४ ॥

गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे ।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १५ ॥

'इनके बार-बार आग्रह करनेपर विश्वामित्रजीको कुछ क्रोध आ गया; अतः इनके पास धनका अभाव है, यह जानते हुए भी उन्होंने इनसे कहा—'लाओ, गुरुदक्षिणा दो। गालव ! मुझे अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और कान एक ओरसे श्याम रंगके हों। गालव ! यदि तुम मेरी बात मानो तो यही गुरुदक्षिणा ला दो।' तपोधन विश्वामित्रने यह बात कुपित होकर ही कही थी ॥ १३—१५ ॥

सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः ।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद् भवन्तं शरणं गतः ॥ १६ ॥

'अतः ये द्विजश्रेष्ठ गालव महान् शोकसे संतप्त हो गुरुदक्षिणा चुकानेमें असमर्थ हो गये हैं और इसीलिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः ।
कृत्वापवर्गं गुरवे चरिष्यति महत् तपः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह ! आपसे भिक्षा ग्रहण करके गुरुको पूर्वोक्त धन देकर ये क्लेशरहित हो महान् तपमें संलग्न हो जायँगे ॥ १७ ॥

तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते ।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ॥ १८ ॥

अपनी तपस्याके एक अंशसे ये आपको भी संयुक्त करेंगे। यद्यपि आप अपनी राजर्षिजनोचित तपस्यासे पूर्ण हैं, तथापि ये अपने ब्राह्म तपसे आपको और भी परिपूर्ण करेंगे ॥ १८ ॥

यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर ।
तावतो वाजिनो लोकान् प्राप्नुवन्ति महीपते ॥ १९ ॥

'नरेश्वर ! भूपाल ! यहाँ (दान किये हुए) घोड़के शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, दान करनेवाले लोगोंको (परलोकमें) उतने ही घोड़े प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

पात्रं प्रतिग्रहस्यायं दातुं पात्रं तथा भवान् ।
शङ्खे क्षीरमिवासिक्तं भवत्वेतत् तथोपमम् ॥ २० ॥

'ये गालव दान लेनेके सुयोग्य पात्र हैं और आप दान करनेके श्रेष्ठ अधिकारी हैं। जैसे शङ्खमें दूध रक्खा गया हो, उसी प्रकार इनके हाथमें दिये हुए आपके इस दानकी शोभा होगी' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११४॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिका गालवको अपनी कन्या देना और गालवका उसे लेकर अयोध्यानरेशके यहाँ जाना

नारद उवाच

एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
विमृश्यावहितो राजा निश्चित्य च पुनःपुनः ॥ १ ॥
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः ।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—गरुड़ने जब इस प्रकार यथार्थ और उत्तम बात कही, तब सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले दाता, दानपति, प्रभावशाली तथा राजोचित तेजसे प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण नरेशोंके स्वामी महाराज ययातिने सावधानीके साथ बारंबार विचार करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम् ।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम् ।३।
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥

राजाने पहले अपने प्रिय मित्र गरुड़ तथा तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप विप्रवर गालवको अपने यहाँ उपस्थित देख और उनकी बतायी हुई स्पृहणीय भिक्षाकी बात सुनकर मनमें इस प्रकार विचार किया—

'ये दोनों सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए दूसरे अनेक राजाओंको छोड़कर मेरे पास आये हैं।' ऐसा विचारकर वे बोले—॥३-४॥

अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ ॥ ५ ॥

'निष्पाप गरुड़ ! आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे कुलका उद्धार हो गया और आज आपने मेरे इस सम्पूर्ण देशको भी तार दिया ॥ ५ ॥

वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा ।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे ॥ ६ ॥

'सखे ! फिर भी मैं एक बात कहना चाहता हूँ । आप पहलेसे मुझे जैसा धनवान् समझते हैं, वैसा धनसम्पन्न अब मैं नहीं रह गया हूँ । मित्र ! मेरा वैभव इन दिनों क्षीण हो गया है॥

न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग ।
न चाशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे ॥ ७ ॥

'आकाशचारी गरुड़ ! इस दशामें भी मैं आपके आगमनको निष्फल करनेमें असमर्थ हूँ और इन ब्रह्मर्षिकी आशाको भी मैं विफल करना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

तत् तु दास्यामि यत् कार्यमिदं सम्पादयिष्यति ।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम् ॥ ८ ॥

'अतः मैं एक ऐसी वस्तु दूँगा, जो इस कार्यका सम्पादन कर देगी। अपने पास आकर कोई याचक हताश हो जाय तो वह लौटनेपर आशा भंग करनेवाले राजाके समूचे कुलको दग्ध कर देता है ॥ ८ ॥

नातः परं वैनतेय किंचित् पापिष्ठमुच्यते ।
यथाशानाशनाल्लोके देहि नास्तीति वा वचः ॥ ९ ॥

'विनतानन्दन ! लोकमें कोई 'दीजिये' कहकर कुछ माँगे और उससे यह कह दिया जाय कि 'जाओ मेरे पास नहीं है', इस प्रकार याचककी आशाको भंग करनेसे जितना पाप लगता है, इससे बढ़कर पापकी दूसरी कोई बात नहीं कही जाती है ॥ ९ ॥

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः ।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम् ॥ १० ॥

'कोई श्रेष्ठ मनुष्य जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल होता है, तब वह मरे हुएके समान हो जाता है और अपना हित न करनेवाले धनीके पुत्रों तथा पौत्रोंका नाश कर डालता है ॥ १० ॥

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम ।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी ॥ ११ ॥

'अतः मेरी जो यह पुत्री है, यह चार कुलोंकी स्थापना करनेवाली है। इसकी कान्ति देवकन्याके समान है । यह सम्पूर्ण धर्मोंकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ११ ॥

सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव ।
काङ्क्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

'गालव ! इसके रूप-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी लोग सदा इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं; अतः आप मेरी इस पुत्रीको ही ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम् ।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते ॥ १३ ॥

'इसके शुल्कके रूपमें राजालोग निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

स भवान् प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम् ।
अहं दौहित्रवान् स्यां वै वर एष मम प्रभो ॥ १४ ॥

'अतः प्रभो ! आप मेरी इस पुत्री माधवीको ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् (नातियोंसे युक्त) होऊँ' ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा ।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ॥ १५ ॥

तब गरुड़सहित गालवने उस कन्याको लेकर कहा—'अच्छा, हम फिर कभी मिलेंगे ।' राजासे ऐसा कहकर गालवमुनि कन्याके साथ वहाँसे चल दिये ॥ १५ ॥

उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाण्डजः ।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर गरुड़ भी यह कहकर कि अब तुम्हें घोड़ोंकी प्राप्तिका यह द्वार प्राप्त हो गया, गालवसे विदा ले अपने घरको चले गये ॥ १६ ॥

गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया ।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत् ॥ १७ ॥

पक्षिराज गरुड़के चले जानेपर गालव उस कन्याके साथ यह सोचते हुए चल दिये कि राजाओंमेंसे कौन ऐसा नरेश है, जो इस कन्याका शुल्क देनेमें समर्थ हो ॥ १७ ॥

सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम् ।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ १८ ॥

वे मन-ही-मन विचार करके अयोध्यामें इक्ष्वाकुवंशी नृपतिशिरोमणि महापराक्रमी हर्यश्वके पास गये, जो चतुरङ्गिणी सेनासे सम्पन्न थे ॥ १८ ॥

कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम् ।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ॥ १९ ॥

वे कोष, धन-धान्य और सैनिकबल—सबसे सम्पन्न थे । पुरवासी प्रजा उन्हें बहुत ही प्रिय थी । ब्राह्मणोंके प्रति उनका अधिक प्रेम था । वे प्रजावर्गके हितकी इच्छा रखते थे । उनका मन भोगोंसे विरक्त एवं शान्त था । वे उत्तम तपस्यामें लगे हुए थे ॥ १९ ॥

तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत् ।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ॥ २० ॥
इयं शुल्केन भार्यार्थं हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम् ॥ २१ ॥

राजा हर्यश्वके पास जाकर विप्रवर गालवने कहा—'राजेन्द्र ! मेरी यह कन्या अपनी संतानोंद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाली है । तुम शुल्क देकर इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ग्रहण करो । हर्यश्व ! मैं तुम्हें पहले इसका शुल्क बताऊँगा । उसे सुनकर तुम अपने कर्तव्यका निश्चय करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

हर्यश्वका दो सौ श्यामकर्ण घोड़े देकर ययातिकन्याके गर्भसे वसुमना नामक पुत्र उत्पन्न करना और गालवका इस कन्याके साथ वहाँसे प्रस्थान

नारद उवाच

हर्यश्वस्त्वब्रवीद् राजा विचिन्त्य बहुधा ततः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ॥ १ ॥
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु पञ्चसु ।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर नृपश्रेष्ठ राजा हर्यश्वने उस कन्याके विषयमें बहुत सोच-विचारकर संतानोत्पादनकी इच्छासे गरम-गरम लम्बी साँस खींचकर मुनिसे इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याके छः अङ्ग जो ऊँचे होने चाहिये, ऊँचे हैं । पाँच अङ्ग जो सूक्ष्म होने चाहिये, सूक्ष्म हैं । तीन अङ्ग जो गम्भीर होने चाहिये, गम्भीर हैं तथा इसके पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥ १-२ ॥

(श्रोण्यौ ललाटमूरू च घ्राणं चेति षडुन्नतम् ।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशरोमनखत्वचः ॥
स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रचक्षते ।
पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तौ च नखानि च ॥)

'दो नितम्ब, दो जाँघें, ललाट और नासिका—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं । अङ्गुलियोंके पर्व, केश, रोम, नख और त्वचा—ये पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं । स्वर, अन्तःकरण तथा नाभि—ये तीन गम्भीर कहे जा सकते हैं तथा हथेली, पैरोंके तलवे, दक्षिण नेत्रप्रान्त, वाम नेत्रप्रान्त तथा नख—ये पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥

बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना ।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ॥ ३ ॥

'यह बहुत-से देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दर्शनीय है। इसे गन्धर्वविद्या (संगीत) का भी अच्छा ज्ञान है । यह बहुत-से शुभ लक्षणोंद्वारा सुशोभित तथा अनेक संतानोंको जन्म देनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥

समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम्।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम ॥ ४ ॥

'विप्रवर ! आपकी यह कन्या चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ है; अतः आप मेरे वैभवको देखते हुए इसके लिये समुचित शुल्क बताइये' ॥ ४ ॥

गालव उवाच

एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम् ॥ ५ ॥
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना ॥ ६ ॥

गालवने कहा—राजन् ! आप मुझे अच्छे देश और अच्छी जातिमें उत्पन्न हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले आठ सौ ऐसे घोड़े प्रदान कीजिये, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे विभूषित हों तथा उनके कान एक ओरसे श्यामवर्णके हों। यह शुल्क चुका देनेपर मेरी यह विशाल नेत्रोंवाली शुभलक्षणा कन्या अग्नियोंको प्रकट करनेवाली अरणीकी भाँति आपके तेजस्वी पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ५-६ ॥

नारद उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम् ॥ ७ ॥

नारदजी कहते हैं—यह वचन सुनकर काममोहित हुए राजर्षि महाराज हर्यश्व मुनिश्रेष्ठ गालवसे अत्यन्त दीन होकर बोले—॥ ७॥

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन् ! आपको जैसे घोड़े लेने अभीष्ट हैं, वैसे तो मेरे यहाँ इन दिनों दो ही सौ घोड़े मौजूद हैं; किंतु दूसरी जातिके कई सौ घोड़े यहाँ विचरते हैं॥ ८ ॥

सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव।
अस्यामेतं भवान् कामं सम्पादयतु मे वरम् ॥ ९ ॥

'अतः गालव ! मैं इस कन्यासे केवल एक संतान उत्पन्न करूँगा। आप मेरे इस श्रेष्ठ मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत्।
मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना ॥ १० ॥
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि।
स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर उस कन्याने महर्षि गालवसे कहा—'मुने ! मुझे किन्हीं वेदवादी महात्माने यह एक वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसवके अन्तमें फिर कन्या ही हो जाओगी। अतः आप दो सौ उत्तम घोड़े लेकर मुझे राजाको सौंप दें ॥१०-११॥

नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च ॥ १२ ॥

'इस प्रकार चार राजाओंसे दो-दो सौ घोड़े लेनेपर आपके आठ सौ घोड़े पूरे हो जायँगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे ॥ १२ ॥

क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थं द्विजसत्तम।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज ॥ १३ ॥

'विप्रवर ! इसी तरह आप गुरुदक्षिणाके लिये धनका संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

कन्याके ऐसा कहनेपर उस समय गालव मुनिने भूपाल हर्यश्वसे यह बात कही—॥ १४ ॥

इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम्।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ हर्यश्व ! नियत शुल्कका चौथाई भाग देकर आप इस कन्याको ग्रहण करें और इसके गर्भसे केवल एक पुत्र उत्पन्न कर लें ॥ १५ ॥

प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च।
समये देशकाले च लब्धवान् सुतमीप्सितम् ॥ १६ ॥

तब राजाने गालव मुनिका अभिनन्दन करके उस कन्याको ग्रहण किया और उचित देश-कालमें उसके द्वारा एक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उनका वह पुत्र वसुमनाके नामसे विख्यात हुआ। वह वसुओंके समान कान्तिमान् तथा उनकी अपेक्षा भी अधिक धन-रत्नोंसे सम्पन्न और धनका खुले हाथ दान करनेवाला नरेश हुआ ॥ १७ ॥

अथ काले पुनर्धीमान् गालवः प्रत्युपस्थितः।
उपसंगम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उचित समयपर बुद्धिमान् गालव पुनः वहाँ उपस्थित हुए और प्रसन्नचित्त राजा हर्यश्वसे मिलकर इस प्रकार बोले—॥ १८ ॥

जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसंनिभः।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ नरेश ! आपको यह सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गया। अब इस कन्याके साथ घोड़ोंकी याचना करनेके लिये दूसरे राजाके यहाँ जानेका अवसर उपस्थित हुआ है' ॥ १९ ॥

हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे।
दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ॥ २० ॥

राजा हर्यश्व सत्य वचनपर दृढ़ रहनेवाले थे। उन्होंने पुरुषार्थमें समर्थ होकर भी छः सौ श्यामकर्ण घोड़े दुर्लभ होनेके कारण माधवीको पुनः लौटा दिया ॥ २० ॥

माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम्।
कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ २१ ॥

माधवी पुनः इच्छानुसार कुमारी होकर अयोध्याकी उज्ज्वल राजलक्ष्मीका परित्याग करके गालव मुनिके पीछे-पीछे चली गयी ॥ २१ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान् द्विजः।
प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ॥ २२ ॥

जाते समय ब्राह्मणने राजा हर्यश्वसे कहा—'महाराज! आपके दिये हुए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े अभी आपके ही पास धरोहरके रूपमें रहें।' ऐसा कहकर गालव मुनि उस राजकन्याके साथ राजा दिवोदासके यहाँ गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

दिवोदासका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे प्रतर्दन नामक पुत्र उत्पन्न करना

गालव उवाच

महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ १ ॥
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ॥ २ ॥

मार्गमें गालवने राजकन्या माधवीसे कहा—भद्रे! काशीके अधिपति भीमसेनकुमार शक्तिशाली राजा दिवोदास महापराक्रमी एवं विख्यात भूमिपाल हैं। उन्हींके पास हम दोनों चलें। तुम धीरे-धीरे चली आओ। मनमें किसी प्रकारका शोक न करो। राजा दिवोदास धर्मात्मा, संयमी तथा सत्यपरायण हैं ॥ १-२ ॥

नारद उवाच

तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजा दिवोदासके यहाँ जानेपर गालव मुनिका उनके द्वारा यथोचित सत्कार किया गया। तदनन्तर गालवने पूर्ववत् उन्हें भी शुल्क देकर उस कन्यासे एक संतान उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३ ॥

दिवोदास उवाच

श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

दिवोदास बोले—ब्रह्मन्! यह सब वृत्तान्त मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा है। अब इसे विस्तारपूर्वक कहनेकी क्या आवश्यकता है? द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रस्तावको सुनते ही मेरे मनमें यह पुत्रोत्पादनकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ४ ॥

एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान्।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ॥ ५ ॥

यह मेरे लिये बड़े सम्मानकी बात है कि आप दूसरे राजाओंको छोड़कर मेरे पास इस रूपमें प्रार्थी होकर आये हैं। निःसंदेह ऐसा ही भावी है ॥ ५ ॥

स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव।
अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ॥ ६ ॥

गालव! मेरे पास भी दो ही सौ श्यामकर्ण घोड़े हैं; अतः मैं भी इसके गर्भसे एक ही राजकुमारको उत्पन्न करूँगा ॥ ६ ॥

तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात् कन्यां महीपतेः।
विधिपूर्वं च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ॥ ७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर गालवने वह कन्या राजाको दे दी। राजाने भी उसका विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण किया ॥ ७ ॥

रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ॥ ८ ॥
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्द्ध्यां धनेश्वरः ॥ ९ ॥
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ॥ १० ॥
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाक्षमालया।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः संध्यया यथा ॥ ११ ॥
अगस्त्यश्चापि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान् यथा।
यथा भृगुः पुलोमायामदित्यां कश्यपो यथा ॥ १२ ॥
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ॥ १३ ॥

यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः ।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः ॥ १४ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः ।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः ॥ १५ ॥
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया ।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया ॥ १६ ॥
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनंजयः ।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः ॥ १७ ॥
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः ।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम् ॥ १८ ॥

राजर्षि दिवोदास माधवीमें अनुरक्त होकर उसके साथ रमण करने लगे। जैसे सूर्य प्रभावतीके, अग्नि स्वाहाके, देवेन्द्र शचीके, चन्द्रमा रोहिणीके, यमराज धूमोर्णाके, वरुण गौरीके, कुबेर ऋद्धिके, नारायण लक्ष्मीके, समुद्र गङ्गाके, रुद्रदेव रुद्राणीके, पितामह ब्रह्मा वेदीके, वसिष्ठनन्दन शक्ति अदृश्यन्तीके, वसिष्ठ अक्षमाला (अरुन्धती) के, च्यवन सुकन्याके, पुलस्त्य संध्याके, अगस्त्य विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राके, सत्यवान् सावित्रीके, भृगु पुलोमाके, कश्यप अदितिके, जमदग्नि रेणुकाके, कुशिकवंशी विश्वामित्र हैमवतीके, बृहस्पति ताराके, शुक्र शतपर्वाके, भूमिपति भूमिके, पुरूरवा उर्वशीके, ऋचीक सत्यवतीके, मनु सरस्वतीके, दुष्यन्त शकुन्तलाके, सनातन धर्मदेव धृतिके, नल दमयन्तीके, नारद सत्यवतीके, जरत्कारु मुनि नागकन्या जरत्कारुके, पुलस्त्य प्रतीच्याके, ऊर्णायु मेनकाके, तुम्बुरु रम्भाके, वासुकि शतशीर्षाके, धनंजय कुमारीके, श्रीरामचन्द्रजी विदेहनन्दिनी सीताके तथा भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ रमण करते हैं, उसी प्रकार अपने साथ रमण करनेवाले राजा दिवोदासके वीर्यसे माधवीने प्रतर्दन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ८–१८ ॥

अथाजगाम भगवान् दिवोदासं स गालवः ।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर समय आनेपर भगवान् गालव मुनि पुनः दिवोदासके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९॥

निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः ।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते ॥ २० ॥

'पृथ्वीनाथ ! अब आप मुझे राजकन्याको लौटा दें। आपके दिये हुए घोड़े अभी आपके ही पास रहें। मैं इस समय शुल्क प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र जा रहा हूँ' ॥ २० ॥

दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम् ।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः ॥ २१ ॥

धर्मात्मा राजा दिवोदास अपनी की हुई सत्य प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले थे; अतः उन्होंने गालवको वह कन्या लौटा दी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उशीनरका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे शिबि नामक पुत्र उत्पन्न करना, गालवका उस कन्याको साथ लेकर जाना और मार्गमें गरुड़का दर्शन करना

नारद उवाच

तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी ।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसंगरा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर वह यशस्विनी राजकन्या माधवी सत्यके पालनमें तत्पर हो काशीनरेशकी उस राजलक्ष्मीको त्यागकर विप्रवर गालवके साथ चली गयी ॥१॥

गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः ।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम् ॥ २ ॥

गालवका मन अपने कार्यकी सिद्धिके चिन्तनमें लगा था। उन्होंने मन-ही-मन कुछ सोचते हुए राजा उशीनरसे मिलनेके लिये भोजनगरकी यात्रा की ॥ २ ॥

तमुवाचाथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम् ।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ ॥ ३ ॥

उन सत्यपराक्रमी नरेशके पास जाकर गालवने उनसे कहा—'राजन् ! यह कन्या आपके लिये पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ दो पुत्र उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च ।
सोमार्कप्रतिसंकाशौ जनयित्वा सुतौ नृप ॥ ४ ॥

'नरेश्वर ! इसके गर्भसे सूर्य और चन्द्रमाके समान दो तेजस्वी पुत्र पैदा करके आप लोक और परलोकमें भी पूर्णकाम होंगे ॥ ४ ॥

शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम् ॥ ५ ॥

'समस्त धर्मोंके ज्ञाता भूपाल ! आप इस कन्याके शुल्कके रूपमें मुझे ऐसे चार सौ अश्व प्रदान करें, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित तथा एक ओरसे श्यामवर्णके कानोंवाले हों ॥ ५ ॥

गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ॥ ६ ॥

'मैंने गुरुदक्षिणा देनेके लिये यह उद्योग आरम्भ किया है अन्यथा मुझे इन घोड़ोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज ! यदि आपके लिये यह शुल्क देना सम्भव हो तो कोई अन्यथा विचार न करके यह कार्य सम्पन्न कीजिये ॥ ६ ॥

अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव।
पितॄन् पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ॥ ७ ॥

'राजर्षे ! पृथ्वीपते ! आप संतानहीन हैं। अतः इससे दो पुत्र उत्पन्न कीजिये और पुत्ररूपी नौकाद्वारा पितरोंका तथा अपना भी उद्धार कीजिये ॥ ७ ॥

न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥ ८ ॥

'राजर्षे ! पुत्रजनित पुण्यफलका उपभोग करनेवाला मनुष्य कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिराया जाता और संतानहीन मनुष्य जिस प्रकार घोर नरकमें पड़ते हैं, उस प्रकार वह नहीं पड़ता' ॥ ८ ॥

एतच्चान्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम्।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ॥ ९ ॥

गालवकी कही हुई ये तथा और भी बहुत-सी बातें सुनकर राजा उशीनरने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव।
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् प्रवणं हि मनो मम ॥ १० ॥

'विप्रवर गालव ! आप जैसा कहते हैं, वे सब बातें मैंने सुन लीं! परंतु विधाता प्रबल है। मेरा मन इससे संतान उत्पन्न करनेके लिये उत्सुक हो रहा है ॥ १० ॥

शते द्वे तु ममाश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आपको जिनकी आवश्यकता है, ऐसे अश्व तो मेरे पास दो ही सौ हैं। दूसरी जातिके तो कई सहस्र घोड़े मेरे यहाँ विचरते हैं ॥ ११ ॥

अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि गालव।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ॥ १२ ॥

'अतः ब्रह्मर्षि गालव ! मैं भी इस कन्याके गर्भसे एक ही पुत्र उत्पन्न करूँगा। दूसरे लोग जिस मार्गपर चले हैं, उसीपर मैं भी चलूँगा ॥ १२ ॥

मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विजसत्तम।
पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ॥ १३ ॥

'द्विजप्रवर ! मैं घोड़ोंका मूल्य देकर आपका सारा शुल्क चुका दूँ, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा धन पुरवासियों तथा जनपदनिवासियोंके लिये है, अपने उपभोगमें लानेके लिये नहीं ॥ १३ ॥

कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति।
न स धर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ॥ १४ ॥

'धर्मात्मन् ! जो राजा पराये धनका अपनी इच्छाके अनुसार दान करता है, उसे धर्म और यशकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १४ ॥

सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान् मम।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ॥ १५ ॥

'अतः आप देवकन्याके समान सुन्दरी इस राजकुमारीको केवल एक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मुझे दें। मैं ग्रहण करूँगा' ॥ १५ ॥

तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम्।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी न्याययुक्त बातें कहनेवाले राजा उशीनरकी विप्रवर गालवने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम्।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ॥ १७ ॥

उशीनरको वह कन्या सौंपकर गालव मुनि वनको चले गये। जैसे पुण्यात्मा पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करे, उसी प्रकार उस राजकन्याको पाकर राजा उशीनर उसके साथ रमण करने लगे ॥ १७ ॥

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ॥ १८ ॥
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ॥ १९ ॥

उन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें, नदियोंके सुरम्य तटोंपर, झरनोंके आस-पास, विचित्र उद्यानोंमें, वनों और उपवनोंमें, रमणीय अट्टालिकाओंमें, प्रासादशिखरोंपर, वायुके मार्गसे उड़नेवाले विमानोंपर तथा पृथ्वीके भीतर बने हुए गर्भगृहोंमें माधवीके साथ विहार किया ॥ १८-१९ ॥

ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः।
शिबिर्नाम्नाभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ॥ २० ॥

तदनन्तर यथासमय उसके गर्भसे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बालसूर्यके समान तेजस्वी था। वही बड़ा

होनेपर नृपश्रेष्ठ महाराज शिविके नामसे विख्यात हुआ ॥

उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन् दृष्टवान् विनतात्मजम् ॥२१॥

राजन्! तत्पश्चात् विप्रवर गालव राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और उस कन्याको वापस लेकर वहाँसे चल दिये! मार्गमें उन्हें विनतानन्दन गरुड़ दिखायी दिये । २१ ।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गालवका छः सौ घोड़ोंके साथ माधवीको विश्वामित्रजीकी सेवामें देना और उनके द्वारा उसके गर्भसे अष्टक नामक पुत्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उस कन्याको ययातिके यहाँ लौटा देना

नारद उवाच

गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—उस समय विनतानन्दन गरुड़ने गालव मुनिसे हँसते हुए कहा—'ब्रह्मन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं तुम्हें यहाँ कृतकृत्य देख रहा हूँ' ॥ १ ॥

गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ॥ २ ॥

गरुड़की कही हुई यह बात सुनकर गालव बोले—'अभी गुरुदक्षिणाका एक चौथाई भाग बाकी रह गया है, जिसे शीघ्र पूरा करना है' ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ॥ ३ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ने गालवसे कहा—'अब तुम्हें इसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा ॥ ३ ॥

पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत् कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ॥ ४ ॥

'पूर्वकालकी बात है, कान्यकुब्जमें राजा गाधिकी कुमारी पुत्री सत्यवतीको अपनी पत्नी बनानेके लिये ऋचीक मुनिने राजासे उसे माँगा । तब राजाने ऋचीकसे कहा—॥४॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन् दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ॥ ५ ॥
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्यालयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान् पार्थिवाय वै ॥ ६ ॥

'भगवन्! मुझे कन्याके शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हो तथा एक ओरसे उनके कान श्याम रंगके हों' गालव! तब ऋचीक मुनि 'तथास्तु' कहकर वरुणके लोकमें गये और वहाँ अश्वतीर्थमें वैसे घोड़े प्राप्त करके उन्होंने राजा गाधिको दे दिये ॥ ५-६ ॥

इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा॥ ७ ॥

'राजाने पुण्डरीक नामक यज्ञ करके वे सभी घोड़े ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बाँट दिये । तदनन्तर राजाओंने उनसे दो-दो सौ घोड़े खरीदकर अपने पास रख लिये ॥ ७ ॥

अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।
नीयमानानि संतारे हृतान्यासन् वितस्तया ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! मार्गमें एक जगह नदीको पार करना पड़ा। इन छः सौ घोड़ोंके साथ चार सौ और थे । नदी पार करनेके लिये ले जाये जाते समय वे चार सौ घोड़े वितस्ता (झेलम) की प्रखर धारामें बह गये ॥ ८ ॥

एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ॥ ९ ॥
विश्वामित्राय धर्मात्मन् षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ॥ १० ॥

'गालव! इस प्रकार इस देशमें इन छः सौ घोड़ोंके सिवा दूसरे घोड़े अप्राप्य हैं । अतः उन्हें कहीं भी पाना असम्भव है । मेरी राय यह है कि शेष दो सौ घोड़ोंके बदले यह कन्या ही विश्वामित्रजीको समर्पित कर दो । धर्मात्मन्! इन छः सौ घोड़ोंके साथ विश्वामित्रजीकी सेवामें इस कन्याको ही दे दो । द्विजश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे तुम्हारी सारी घबराहट दूर हो जायगी और तुम सर्वथा कृतकृत्य हो जाओगे' ॥

गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत्॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर गालव गरुड़के साथ वे (छः सौ) घोड़े और वह कन्या लेकर विश्वामित्रजीके पास आये॥

अश्वानां काङ्क्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

आकर उन्होंने कहा—'गुरुदेव ! आप जैसे चाहते थे, वैसे ही ये छः सौ घोड़े आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं और शेष दो सौके बदले आप इस कन्याको ग्रहण करें ॥ १२ ॥

अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः ।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ॥ १३ ॥

'राजर्षियोंने इसके गर्भसे तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न किये हैं। अब आप भी एक नरश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिये, जिसकी संख्या चौथी होगी ॥ १३ ॥

पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते ।
भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ॥ १४ ॥

'इस प्रकार आपके आठ सौ घोड़ोंकी संख्या पूरी हो जाय और मैं आपसे उऋण होकर सुखपूर्वक तपस्या करूँ, ऐसी कृपा कीजिये' ॥ १४ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा ।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

विश्वामित्रने गरुड़सहित गालवकी ओर देखकर इस परम सुन्दरी कन्यापर भी दृष्टिपात किया और इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव ।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ॥ १६ ॥

'गालव ! तुमने पहले ही इसे यहीं क्यों नहीं दे दिया, जिससे मुझे ही वंशप्रवर्तक चार पुत्र प्राप्त हो जाते ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै ।
अश्वाश्चाश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ॥ १७ ॥

'अच्छा, अब मैं एक पुत्ररूपी फलकी प्राप्तिके लिये तुमसे इस कन्याको ग्रहण करता हूँ। ये घोड़े मेरे आश्रममें आकर सब ओर चरें' ॥ १७ ॥

स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः ।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी विश्वामित्र मुनिने उसके साथ रमण करते हुए यथासमय उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया। माधवीके उस पुत्रका नाम अष्टक था ॥ १८ ॥

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः ।
संयोज्यार्थैस्तथा धर्मैरश्वैस्तैः समयोजयत् ॥ १९ ॥

पुत्रके उत्पन्न होते ही महामुनि विश्वामित्रने उसे धर्म, अर्थ तथा उन अश्वोंसे सम्पन्न कर दिया ॥ १९ ॥

अथाष्टकः पुरं प्रायात् तदा सोमपुरप्रभम् ।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ॥ २० ॥

तदनन्तर अष्टक चन्द्रपुरीके समान प्रकाशित होनेवाली विश्वामित्रजीकी राजधानीमें गया और विश्वामित्र भी अपने शिष्य गालवको वह कन्या लौटाकर वनमें चले गये ॥ २० ॥

गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम् ।
मनसातिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ॥ २१ ॥
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथापरः ।
सत्यधर्मरतश्चान्यो यज्वा चापि तथापरः ॥ २२ ॥
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः ।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे ॥ २३ ॥

गरुड़सहित गालव भी गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो राजकन्या माधवीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारा पहला पुत्र दानपति, दूसरा शूरवीर, तीसरा सत्यधर्मपरायण और चौथा यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा। सुमध्यमे ! तुमने इन पुत्रोंके द्वारा अपने पिताको तो तारा ही है, उन चार राजाओंका भी उद्धार कर दिया है। अतः अब हमारे साथ आओ' ॥ २१–२३ ॥

गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम् ।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर सर्पभोजी गरुड़से आज्ञा ले उस राजकन्याको पुनः उसके पिता ययातिके यहाँ लौटाकर गालव वनमें ही चले गये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

माधवीका वनमें जाकर तप करना तथा ययातिका स्वर्गमें जाकर सुखभोगके पश्चात् मोहवश तेजोहीन होना

नारद उवाच

स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम् ।
उपगम्याश्रमपदं गङ्गायमुनसंगमे ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर राजा ययाति पुनः माधवीके स्वयंवरका विचार करके गङ्गा-यमुनाके संगमपर बने हुए अपने आश्रममें जाकर रहने लगे ॥ १ ॥

गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम् ।
पूरुर्यदुश्च भगिनीमाश्रमे पर्यधावताम् ॥ २ ॥

फिर हाथमें हार लिये बहिन माधवीको रथपर बिठाकर पूरु और यदु—ये दोनों भाई आश्रमपर गये ॥ २ ॥

नागयक्षमनुष्याणां गन्धर्वमृगपक्षिणाम् ।
शैलद्रुमवनौकानामासीत् तत्र समागमः ॥ ३ ॥

उस स्वयंवरमें नाग, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व, पशु, पक्षी तथा पर्वत, वृक्ष और वनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका शुभागमन हुआ ॥ ३ ॥

नानापुरुषदेश्यानामीश्वरैश्च समाकुलम् ।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च समन्तादावृतं वनम् ॥ ४ ॥

प्रयागका वह वन अनेक जनपदोंके राजाओंसे व्याप्त हो गया और ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंने उस स्थानको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

निर्दिश्यमानेषु तु सा वरेषु वरवर्णिनी ।
वरानुत्क्रम्य सर्वांस्तान् वरं वृतवती वनम् ॥ ५ ॥

उस समय जब माधवीको वहाँ आये हुए वरोंका परिचय दिया जाने लगा, तब उस वरवर्णिनी कन्याने सारे वरोंको छोड़कर तपोवनका ही वररूपमें वरण कर लिया ॥ ५ ॥

अवतीर्य रथात् कन्या नमस्कृत्य च बन्धुषु ।
उपगम्य वनं पुण्यं तपस्तेपे ययातिजा ॥ ६ ॥

ययातिनन्दिनी कुमारी माधवी रथसे उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंको नमस्कार करके पुण्य तपोवनमें चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी ॥ ६ ॥

उपवासैश्च विविधैर्दीक्षाभिर्नियमैस्तथा ।
आत्मनो लघुतां कृत्वा बभूव मृगचारिणी ॥ ७ ॥

वह उपवासपूर्वक विविध प्रकारकी दीक्षाओं तथा नियमोंका पालन करती हुई अपने मनको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित करके वनमें मृगीके समान विचरने लगी ॥ ७ ॥

वैदूर्याङ्कुरकल्पानि मृदूनि हरितानि च ।
चरन्ती श्लक्ष्णशष्पाणि तिक्तानि मधुराणि च ॥ ८ ॥

स्रवन्तीनां च पुण्यानां सुरसानि शुचीनि च ।
पिबन्ती वारिमुख्यानि शीतानि विमलानि च ॥ ९ ॥

वनेषु मृगराजेषु व्याघ्रविप्रोषितेषु च ।
दावाग्निविप्रयुक्तेषु शून्येषु गहनेषु च ॥ १० ॥

चरन्ती हरिणैः सार्धं मृगीव वनचारिणी ।
चचार विपुलं धर्मं ब्रह्मचर्येण संवृतम् ॥ ११ ॥

इस क्रमसे माधवी वैदूर्यमणिके अङ्कुरोंके समान सुशोभित, कोमल, चिकनी, तिक्त, मधुर एवं हरी-हरी घास चरती, पवित्र नदियोंके शुद्ध, शीतल, निर्मल एवं सुस्वादु जल पीती और मृगोंके आवासभूत, व्याघ्ररहित एवं दावानलशून्य निर्जन वनोंमें मृगोंके साथ वनचारिणी मृगीकी भाँति विचरण करती थी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्मका आचरण किया ॥

ययातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः ।
बहुवर्षसहस्रायुर्युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

राजा ययाति भी पूर्ववर्ती राजाओंके सदाचारका पालन करते हुए अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु पूरी करके मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

पूरुर्यदुश्च द्वौ वंशे वर्धमानौ नरोत्तमौ ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः ॥ १३ ॥

उनके (पुत्रोंमेंसे) दो पुत्र नरश्रेष्ठ पूरु और यदु उस कुलमें अभ्युदयशील थे। उन्हीं दोनोंसे नहुषपुत्र ययाति इस लोक और परलोकमें भी प्रतिष्ठित हुए ॥ १३ ॥

महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः ।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग् विभुः ॥ १४ ॥

राजन् ! महाराज ययाति महर्षियोंके समान पुण्यात्मा एवं तपस्वी थे। वे स्वर्गमें जाकर वहाँके श्रेष्ठ फलका उपभोग करने लगे ॥ १४ ॥

बहुवर्षसहस्राख्ये काले बहुगुणे गते ।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीयस्सु महर्षिषु ॥ १५ ॥

अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा ।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः ॥ १६ ॥

इस प्रकार वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त कई हजार वर्षोंका समय व्यतीत हो गया। ययातिका चित्त अपना स्वर्गीय वैभव देखकर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठा। उनकी बुद्धिपर मोह छा गया और वे महान् समृद्धिशाली महत्तम राजर्षियोंके अपने समीप बैठे होनेपर भी सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंकी भी अवहेलना करने लगे ॥ १५-१६ ॥

ततस्तं बुबुधे देवः शक्रो बलनिषूदनः ।
ते च राजर्षयः सर्वे धिग्धिगित्येवमब्रुवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर बलसूदन इन्द्रदेवको ययातिकी इस अवस्थाका पता लग गया। वे सम्पूर्ण राजर्षिगण भी उस समय ययातिको धिक्कारने लगे ॥ १७ ॥

विचारश्च समुत्पन्नो निरीक्ष्य नहुषात्मजम् ।
को न्वयं कस्य वा राज्ञः कथं वा स्वर्गमागतः ॥ १८ ॥

नहुषपुत्र ययातिको देखकर स्वर्गवासियोंमें यह विचार खड़ा हो गया—'यह कौन है ? किस राजाका पुत्र है ? और कैसे स्वर्गमें आ गया है ? ॥ १८ ॥

कर्मणा केन सिद्धोऽयं क वानेन तपश्चितम् ।
कथं वा ज्ञायते स्वर्गे केन वा ज्ञायतेऽप्युत ॥ १९ ॥

'इसे किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त हुई है ? इसने कहाँ तपस्या की है ? स्वर्गमें किस प्रकार इसे जाना जाय अथवा कौन यहाँ इसको जानता है ?' ॥ १९ ॥

एवं विचारयन्तस्ते राजानं स्वर्गवासिनः।
दृष्ट्वा पप्रच्छुरन्योन्यं ययातिं नृपतिं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए स्वर्गवासी ययातिके विषयमें एक दूसरेकी ओर देखकर प्रश्न करने लगे ॥ २० ॥

विमानपालाः शतशः स्वर्गद्वाराभिरक्षिणः।
पृष्टा आसनपालाश्च न जानीमेत्यथाब्रुवन् ॥ २१ ॥

सैकड़ों विमानरक्षकों, स्वर्गके द्वारपालों तथा सिंहासनके रक्षकोंसे पूछा गया; किंतु सबने यही उत्तर दिया—'हम इन्हें नहीं जानते' ॥ २१ ॥

सर्वे ते ह्यावृतज्ञाना नाभ्यजानन्त तं नृपम्।
स मुहूर्तादथ नृपो हतौजाश्चाभवत् तदा ॥ २२ ॥

उन सबके ज्ञानपर पर्दा पड़ गया था; अतः वे उन राजाको नहीं पहचान सके। फिर तो दो ही घड़ीमें राजा ययातिका तेज नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिमोहे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसङ्गमें ययातिमोहविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गलोकसे पतन और उनके दौहित्रों, पुत्री तथा गालव मुनिका उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये अपना-अपना पुण्य देनेके लिये उद्यत होना

नारद उवाच

अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः।
कम्पितेनैव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् ययाति अपने सिंहासनसे गिरकर उस स्वर्गीय स्थानसे भी विचलित हो गये। उनका हृदय काँप-सा उठा और शोकाग्नि उन्हें दग्ध करने लगी ॥ १ ॥

म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः।
विघूर्णन् स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ॥ २ ॥

उन्होंने जो दिव्य कुसुमोंकी माला पहन रक्खी थी, वह मुरझा गयी। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त होने लगी। मुकुट और बाजूबन्द शरीरसे अलग हो गये। उन्हें चक्कर आने लगा। उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वस्त्र तथा आभूषण भी खिसक-खिसककर गिरने लगे ॥ २ ॥

अदृश्यमानस्तान् पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन् महीतलम् ॥ ३ ॥
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
येनाहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥

वे अन्धकारसे आवृत होनेके कारण स्वयं स्वर्गवासियोंको नहीं दिखायी देते थे; परंतु वे उन्हें बार-बार देखते और कभी नहीं भी देख पाते थे। पृथ्वीपर गिरनेसे पहले शून्य-से होकर शून्य हृदयसे राजा यह चिन्ता करने लगे कि मैंने अपने मनसे किस धर्मदूषक अशुभ वस्तुका चिन्तन किया है, जिसके कारण मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ॥ ५ ॥

स्वर्गके राजर्षि, सिद्ध और अप्सरा—सभीने स्वर्गसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य हुए राजा ययातिको देखा ॥ ५ ॥

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजन्! इतनेमें ही पुण्यरहित पुरुषोंको स्वर्गसे नीचे गिरानेवाला कोई पुरुष देवराजकी आज्ञासे वहाँ आकर ययातिसे इस प्रकार बोला— ॥ ६ ॥

अतीव मदमत्तस्त्वं न कंचिन्नावमन्यसे।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

'राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त हो और कोई भी ऐसा महान् पुरुष यहाँ नहीं है, जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इस मानके कारण ही तुम अपने स्थानसे गिर रहे हो। अब तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत्।
पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ॥ ८ ॥

'तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता है; अतः जाओ, नीचे गिरो।' जब उसने ऐसा कहा, तब नहुषपुत्र ययाति तीन बार ऐसा कहकर नीचे जाने लगे कि मैं सत्पुरुषोंके बीच-में गिरूँ ॥ ८ ॥

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः।
एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ॥ ९ ॥
चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह।

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ ययाति गिरते समय अपनी गति-के विषयमें चिन्ता कर रहे थे। इसी समय उन्होंने नैमिषारण्य-में चार श्रेष्ठ राजाओंको देखा और उन्हींके बीचमें वे गिरने लगे ॥ ९½ ॥

प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ॥ १० ॥
वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम्।

वहाँ प्रतर्दन, वसुमना, औशीनर शिबि तथा अष्टक—ये चार नरेश वाजपेययज्ञके द्वारा देवेश्वर श्रीहरिको तृप्त करते थे ॥ १०½ ॥

तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ययातिरुपजिघ्रन् वै निपपात महीं प्रति।

उनके यज्ञका धूम मानो स्वर्गका द्वार बनकर उपस्थित हुआ था। ययाति उसीको सूँघते हुए पृथ्वीकी ओर गिर रहे थे ॥ ११½ ॥

भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव।
गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ॥ १२ ॥
श्रीमत्स्ववभृथाग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु।
मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ॥ १३ ॥

भूतलसे स्वर्गतक धूममयी नदी-सी प्रवाहित हो रही थी, मानो आकाशगङ्गा भूमिपर जा रही हों। भूपाल ययाति उसी धूमलेखाका अवलम्बन करके लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा अवभृथ स्नानसे पवित्र अपने चारों सम्बन्धियोंके बीचमें गिरे ॥ १२-१३ ॥

चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु।
पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ॥ १४ ॥

वे चारों श्रेष्ठ राजा उन चार विशाल अग्नियोंके समान तेजस्वी थे, जो हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हो रहे हों। राजर्षि ययाति अपना पुण्य क्षीण होनेपर उन्हींके मध्य-भागमें गिरे ॥ १४ ॥

तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया।
को भवान् कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ॥ १५ ॥
यक्षो वाप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा।
न हि मानुषरूपोऽसि को वार्थः काङ्क्ष्यते त्वया॥ १६ ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित होनेवाले उन महाराजसे सभी भूपालोंने पूछा—'आप कौन हैं? किसके भाई-बन्धु हैं तथा किस देश और नगरमें आपका निवासस्थान है? आप यक्ष हैं या देवता? गन्धर्व हैं या राक्षस? आपका स्वरूप मनुष्यों-जैसा नहीं है। बताइये, आप कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं' ॥ १५-१६ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन् भवत्सु पतितस्ततः ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—मैं राजर्षि ययाति हूँ। अपना पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गया हूँ। गिरते समय मेरे मनमें यह चिन्तन चल रहा था कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ। अतः आपलोगोंके बीचमें आ पड़ा हूँ ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

सत्यमेतद् भवतु ते काङ्क्षितं पुरुषर्षभ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—पुरुषशिरोमणे! आपका यह मनोरथ सफल हो। आप हम सब लोगोंके यज्ञोंका फल और धर्म ग्रहण करें ॥ १८ ॥

ययातिरुवाच

नाहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम्।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ॥ १९ ॥

ययातिने कहा—प्रतिग्रह ही जिसका धन है, वह ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। मैं तो क्षत्रिय हूँ। अतः मेरी बुद्धि पराये पुण्यका (ग्रहण करके उनका पुण्य) क्षय करनेके लिये उद्यत नहीं है ॥ १९ ॥

नारद उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम्।
माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ॥ २० ॥
किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव।
आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ॥ २१ ॥

नारदजी कहते हैं—इसी समय उन राजाओंने अपनी माता माधवीको देखा, जो मृगोंकी भाँति उन्हींके साथ विचरती हुई क्रमशः वहाँ आ पहुँची थी। उसे प्रणाम करके राजाओंने इस प्रकार पूछा—'तपोधने! यहाँ आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है? हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें? हम सभी आपके पुत्र हैं; अतः हमें आप योग्य सेवाके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ २०-२१ ॥

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा।
पितरं समुपागच्छद् ययातिं सा ववन्द च ॥ २२ ॥

उनकी ये बातें सुनकर माधवीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने पिता ययातिके पास गयी और उसने उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥

स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान् पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत्।
दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ॥ २३ ॥

तदनन्तर तपस्विनी माधवीने उन पुत्रोंके सिरपर हाथ

रखकर अपने पितासे कहा—'राजेन्द्र ! ये सभी आपके दौहित्र (नाती) और मेरे पुत्र हैं, पराये नहीं हैं ॥ २३ ॥

इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने ।
अहं ते दुहिता राजन् माधवी मृगचारिणी ॥ २४ ॥

'ये आपको तार देंगे। दौहित्रोंके द्वारा मातामह (नाना) का यह उद्धार पुरातन वेद-शास्त्रमें स्पष्ट देखा गया है। राजन् ! मैं आपकी पुत्री माधवी हूँ और इस तपोवनमें मृगोंके समान जीवनचर्या बनाकर विचरती हूँ ॥ २४ ॥

मयाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम् ।
यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ॥ २५ ॥
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप ।

'पृथ्वीनाथ ! मैंने भी महान् धर्मका संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें। राजन् ! सब मनुष्य अपनी संतानोंके किये हुए सत्कर्मोंके फलके भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रोंकी इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी' ॥ २५½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ॥ २६ ॥
अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाब्रुवन् ।
उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ॥ २७ ॥
मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम् ।

तब उन सभी राजाओंने अपनी माताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और स्वर्गभ्रष्ट नानाको भी नमस्कार करके अपने उच्च, अनुपम और स्नेहपूर्ण स्वरसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए उन्हें तारनेके उद्देश्यसे उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ २६-२७½ ॥

अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम् ।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ॥ २८ ॥

इसी बीचमें उस वनसे गालव मुनि भी वहाँ आ पहुँचे तथा राजासे इस प्रकार बोले—'महाराज ! आप मेरी तपस्याका आठवाँ भाग लेकर उसके बलसे स्वर्गलोकमें पहुँच जायँ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गलोकसे पतन-विषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्संग एवं दौहित्रोंके पुण्यदानसे ययातिका पुनः स्वर्गारोहण

नारद उवाच

प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः ।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन् वसुधातलम् ।
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ॥ १ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत् पदा ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—उन सत्पुरुषोंके द्वारा पहचाने जानेमात्रसे नरश्रेष्ठ राजा ययाति पृथ्वीतलका स्पर्श न करते हुए ऊपरकी ओर उठने लगे। उस समय उनकी आकृति दिव्य हो गयी थी। वे शोक और चिन्तासे रहित थे। उन्होंने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वे दिव्य सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे। वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे ॥ १-२ ॥

ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन् वचः ।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ॥ ३ ॥

तदनन्तर लोकमें दानपतिके नामसे विख्यात राजा वसुमना पहले उच्च स्वरसे शब्दोंका उच्चारण करते हुए महाराज ययातिसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया ।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ४ ॥

'मैंने जगत्‌में सभी वर्णोंकी निन्दासे दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ। आप उस पुण्यसे संयुक्त हों ॥ ४ ॥

यत् फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत् फलम् ।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ५ ॥

'दानशील पुरुषको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, क्षमाशील मनुष्यको जो फल मिलता है तथा अग्निस्थापन आदि वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे मुझे जिस फलकी प्राप्ति होनेवाली है, उन सभी प्रकारके पुण्यफलोंसे आप सम्पन्न हों' ॥ ५ ॥

ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः ।
यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ॥ ६ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः ।
वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्षत्रियशिरोमणि प्रतर्दनने यह बात कही—'मैं जिस प्रकार सदा धर्ममें तत्पर रहा हूँ, सर्वदा न्याययुक्त युद्धमें संलग्न होता आया हूँ तथा संसारमें मैंने जो क्षत्रिय-वंशके अनुरूप यश एवं वीर शब्दके योग्य पुण्यफलका अर्जन किया है, उससे आप संयुक्त हों' ॥ ६-७ ॥

शिबिरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम्।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ॥ ८ ॥
संगरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ॥ ९ ॥
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ॥ १० ॥
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उशीनरपुत्र बुद्धिमान् शिबिने मधुर वाणीमें कहा—'मैंने बालकोंमें, स्त्रियोंमें, हास परिहासके योग्य सम्बन्धियोंमें, युद्धमें, आपत्तियोंमें तथा सङ्कटोंमें भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया है। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। राजन्! मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवाञ्छित सुखभोगको भी त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको नहीं छोड़ सकता। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। यदि मेरे सत्यसे धर्मदेव संतुष्ट हैं, यदि मेरे सत्यसे अग्निदेव प्रसन्न हैं तथा यदि मेरे सत्यभाषणसे देवराज इन्द्र भी तृप्त हुए हैं तो उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ ८—११ ॥

अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ॥ १२ ॥

इसके बाद माधवीके छोटे पुत्र कुशिकवंशी धर्मज्ञ राजर्षि अष्टकने कई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले नहुषनन्दन ययातिके पास जाकर कहा— ॥ १२ ॥

शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ॥ १३ ॥
न मे रत्नानि न धनं न तथान्ये परिच्छदाः।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ॥ १४ ॥

'प्रभो! मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप उन सबका फल प्राप्त करें। मेरे पास कोई भी रत्न, धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं है, जिसका मैंने यज्ञोंमें उपयोग न किया हो। इस सत्य कर्मके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ १३-१४ ॥

यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम्।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ॥ १५ ॥

ययातिके दौहित्र जैसे-जैसे उनके प्रति उपर्युक्त बातें कहते थे, वैसे-ही-वैसे वे महाराज इस भूतलको छोड़ते हुए स्वर्गलोककी ओर बढ़ते चले गये थे ॥ १५ ॥

एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा।
ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण सत्कर्मोंके द्वारा उन सब राजाओंने स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिको अनायास ही तार दिया ॥ १६ ॥

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै।
चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः।
मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ॥ १७ ॥

अपने वंशकी वृद्धि करनेवाले ययातिके वे चारों दौहित्र चार राजवंशोंमें उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने यज्ञ-दानादिजनित धर्मसे उन महाप्राज्ञ मातामह ययातिको स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः।
दौहित्रास्ते वयं राजन् दिवमारोह पार्थिव ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—राजन्! पृथ्वीपते! हम राजधर्म तथा राजोचित गुणोंसे युक्त, सम्पूर्ण धर्मों तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न आपके दौहित्र हैं। आप हमारे पुण्य लेकर स्वर्गलोकपर आरूढ़ होइये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गारोहणविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्गलोकमें ययातिका स्वागत, ययातिके पूछनेपर ब्रह्माजीका अभिमानको ही पतनका कारण बताना तथा नारदजीका दुर्योधनको समझाना

नारद उवाच

सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान् ययातिर्दिवमास्थितः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उन श्रेष्ठ राजाओंने राजा ययातिको स्वर्गपर आरूढ़ कर दिया। राजा ययाति अपने उन दौहित्रोंको विदा देकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना।

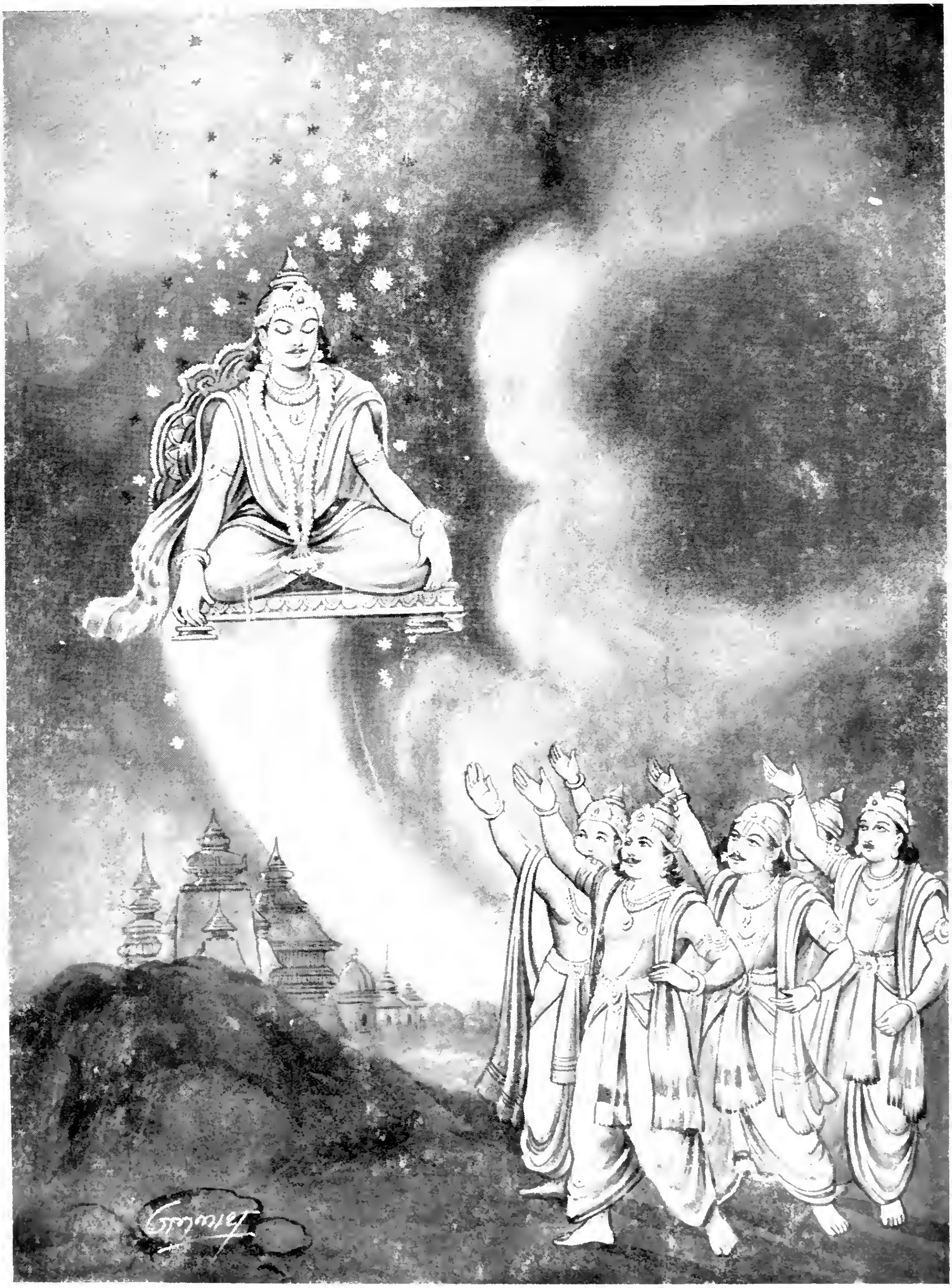

ययातिका स्वर्गारोहण

परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ उनके ऊपर नाना प्रकारके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा हुई। पवित्र सौरभसे सुवासित पावन समीर उनका सब ओरसे आलिङ्गन कर रहा था ॥ २ ॥

अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम्।
कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ॥ ३ ॥

दौहित्रोंके पुण्यफलसे प्राप्त हुए अविचल स्थानको पाकर अपने सत्कर्मोंसे बढ़े हुए राजा ययाति उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होने लगे ॥ ३ ॥

उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायोंने 'उनके सुयशका' गान करते हुए उनके समीप नृत्य करके उन्हें प्रसन्न किया। स्वर्गलोकमें दुन्दुभि आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको अपनाया गया ॥ ४ ॥

अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः।
अर्चितश्चोत्तमार्घ्येण दैवतैरभिनन्दितः ॥ ५ ॥

नाना प्रकारके देवर्षियों, राजर्षियों तथा चारणोंने उनका स्तवन किया। देवताओंने उत्तम अर्घ्य निवेदन करके उनका पूजन और अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ॥ ६ ॥

इस प्रकार ययातिने उत्तम स्वर्गफल पाया तदनन्तर संतुष्ट एवं शान्तचित्त हुए ययातिको अपने मधुर वचनोंद्वारा पूर्णतः तृप्त करते हुए-से पितामह ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ ६ ॥

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाक्षया दिवि ॥ ७ ॥

'राजन्! तुमने लोकहितकारी सत्कर्मद्वारा चारों चरणोंसे युक्त धर्मका संग्रह किया; अतः तुम्हें यह अक्षय स्वर्ग-लोक प्राप्त हुआ और स्वर्गमें तुम्हारी क्षीण न होनेवाली कीर्ति फैल गयी ॥ ७ ॥

पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम्।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ॥ ८ ॥
येन त्वां नाभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः।
प्रीत्यैव चासि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहागतः ॥ ९ ॥

'राजर्षे! फिर तुम्हींने 'अभिमानपूर्ण बर्तावसे' अपने पुण्यका नाश किया था। उस समय समस्त स्वर्गवासियोंका चित्त तमोगुणसे व्याप्त हो गया था, जिससे ये तुम्हें नहीं जानते या नहीं पहचानते थे; अतः सबके लिये अज्ञात होनेके कारण तुम स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। फिर तुम्हारे दौहित्रोंने प्रेमपूर्वक तुम्हें तार दिया है, जिससे तुम पुनः यहाँ आ गये हो ॥ ८-९ ॥

स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम्।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ॥ १० ॥

'अब तुमने अपने (दौहित्रोंद्वारा प्राप्त) कर्मसे जीते हुए अविचल, शाश्वत, पुण्यमय, उत्तम, ध्रुव तथा अविनाशी स्थान प्राप्त किया है' ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति कश्चित् तं छेत्तुमर्हसि।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ॥ ११ ॥

ययाति बोले—भगवन्! मेरे मनमें कोई संदेह है, जिसका निवारण आप ही कर सकते हैं। लोकपितामह! मैं इस प्रश्नको और किसीके सामने रखना उचित नहीं समझता ॥ ११ ॥

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत् फलम् ॥ १२ ॥
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनास्मि पातितः।
भगवन् वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान् मम निर्मितान्।
कथं नु मम तत् सर्वं विप्रणष्टं महाद्युते ॥ १३ ॥

मैंने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस महान् पुण्यफलका उपार्जन किया था और जिसे प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ाया था, वह सब थोड़े ही समयमें नष्ट कैसे हो गया ? जिससे मैं यहाँसे नीचे गिरा दिया गया। भगवन्! महाद्युते! मुझे मेरे सत्कर्मोंद्वारा जो सनातन लोक प्राप्त हुए थे, उन्हें आप जानते हैं। मेरा वह सारा पुण्य सहसा नष्ट कैसे हो गया ? ॥

पितामह उवाच

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम् ॥ १४ ॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजी बोले—राजेन्द्र! तुमने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस पुण्यफलका उपार्जन किया और प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाया, वह सब इस अभिमानरूपी दोषके कारण ही नष्ट हो गया था, जिससे तुम नीचे गिराये गये। तुम्हारे अभिमान-के ही कारण स्वर्गलोकके निवासियोंने तुम्हें धिक्कार दिया था ॥ १४-१५ ॥

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ॥ १६ ॥

राजर्षे ! यह पुण्यलोक न अभिमानसे, न बलसे, न हिंसासे, न शठतासे और न भाँति-भाँतिकी मायाओंसे ही सुस्थिर होता है ॥ १६ ॥

नावमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।
न हि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ॥ १७ ॥

राजन् ! तुम्हें ऊँचे, नीचे एवं मध्यम वर्गके लोगोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। जो लोग अभिमानकी आगमें जल रहे हैं, उनके उस संतापको शान्त करनेका कहीं कोई उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य तुम्हारे स्वर्गसे गिरने और पुनः आरूढ़ होनेके इस वृत्तान्तको आपसमें कहें-सुनेंगे, वे संकटमें पड़नेपर भी उससे पार हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥१८॥

नारद उवाच

एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बन्धतातिमात्रं च गालवेन महीपते ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूर्वकालमें राजा ययाति अपने अभिमानके कारण संकटमें पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह एवं हठके कारण महर्षि गालवको भी महान् क्लेश सहन करना पड़ा था ॥ १९ ॥

श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः ॥ २० ॥

अतः तुम्हें तुम्हारे हितकी इच्छा रखनेवाले सुहृदोंकी बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह विनाशके पथपर ले जानेवाला है ॥ २० ॥

तस्मात् त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
संधत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ॥ २१ ॥

अतः गान्धारीनन्दन ! तुम भी अभिमान और क्रोधको त्याग दो। वीर नरेश ! तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो और क्रोधके आवेशको सदाके लिये छोड़ दो ॥ २१ ॥

(स भवान् सुहृदां पथ्यं वचो गृह्णातु मानृतम्।
समर्थैर्विग्रहं कृत्वा विषमस्थो भविष्यसि ॥)

तुम अपने सुहृदोंके हितकर वचन मान लो। असत्य आचरणको न अपनाओ, अन्यथा शक्तिशाली पाण्डवोंके साथ युद्ध ठानकर तुम बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥

ददाति यत् पार्थिव यत् करोति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो
नान्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ॥ २२ ॥

भूपाल ! मनुष्य जो दान देता है, जो कर्म करता है, जो तपस्यामें प्रवृत्त होता है और जो होम-यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसके इस कर्मका न तो नाश होता है और न उसमें कोई कमी ही होती है। उसके कर्मको दूसरा कोई नहीं भोगता। कर्ता स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है ॥ २२ ॥

इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं
बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं
त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ॥ २३ ॥

यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उन महापुरुषोंका है, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा रोष और रागसे रहित थे। यह सबके लिये परम उत्तम और हितकर है। लोकमें इसपर नाना प्रकारसे विचार करके निश्चित किये हुए सिद्धान्तको अपनाकर धर्म, अर्थ और कामपर दृष्टि रखनेवाला पुरुष इस पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नेवमेवैतद् यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् नारद ! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। मैं भी यही चाहता हूँ; परंतु मेरा कोई वश नहीं चलता है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नारदजीसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! आपने मुझसे जो बात कही है, इहलोक और स्वर्गलोकमें

हितकर, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ २ ॥

न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
(न मंस्यन्ते दुरात्मानः पुत्रा मम जनार्दन ।)
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ॥ ३ ॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।

'तात ! जनार्दन ! मैं अपने वशमें नहीं हूँ । जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है । किंतु क्या कहूँ ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे । प्रिय श्रीकृष्ण ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ३½ ॥

न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥ ४ ॥
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः ।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ॥ ५ ॥

'महाबाहु हृषीकेश ! यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बातें नहीं सुनता है । गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंकी भी बातें नहीं सुनता है ॥ ४-५ ॥

स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम् ।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ॥ ६ ॥
सुहृत्कार्यं तु सुमहत् कृतं ते स्याज्जनार्दन ।

'जनार्दन ! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है । यह पापका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और विवेक-शून्य है । आप ही इसे समझाइये । यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ॥ ६½ ॥

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ।

तब सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णि-नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर मधुर वाणीमें उससे बोले—॥ ७½ ॥

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥ ८ ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ।

'कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो । भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ ॥ ८½ ॥

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ।

'तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो । स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो । तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं; अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये ॥ ९½ ॥

दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥ १० ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ।

'तात ! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं ॥ १०½ ॥

धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥ ११ ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है ॥ ११½ ॥

विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥ १२ ॥
अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान् ।
अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥ १३ ॥

'तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बार-बार देखनेमें आती है । भारत ! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है । उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है । यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है । तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि ।
भ्रातृणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ॥ १४ ॥

'परंतप ! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रोंका भी महान् हित-साधन करोगे ॥ १४ ॥

अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे ।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥ १५ ॥
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ।

'ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति करानेवाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा । अतः भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥१५½॥

तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः ।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ॥ १७ ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः ।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ॥ १८ ॥

'यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है । परंतप ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक,

अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बीजनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है ॥ १६–१८ ॥

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा ।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

'तात ! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्‌का भला हो सकता है । तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो । अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो ॥ १९ ॥

एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत ।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥ २० ॥

'भारत ! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं । भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं ॥ २० ॥

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः ।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ २१ ॥

'तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है । कुरुश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते ।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ २२ ॥

यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते ।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ २३ ॥

'जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है ॥ २३ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥ २४ ॥

'जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण करता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है ॥ २४ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ २५ ॥

'जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्‌के वचनोंको मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता है और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है ॥ २५ ॥

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते ।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ॥ २६ ॥

'जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लङ्घन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं ॥ २६ ॥

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य यो निहीनान् निषेवते ।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥ २७ ॥

'जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है ॥ २७ ॥

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् ।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ २८ ॥

'भारत ! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ॥ २८ ॥

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि ।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो ॥ २९ ॥

को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान् ।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ ३० ॥

'इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा ? ॥ ३० ॥

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥

'तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ॥ ३१ ॥

मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः ।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥ ३२ ॥

'तात महाबाहो ! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है, तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं ॥ ३२ ॥

त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः॥ ३३॥

भरतश्रेष्ठ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये। तुम क्रोधके वशीभूत न होओ॥ ३३॥

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः॥ ३४॥

भरतभूषण! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं॥ ३४॥

पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते॥ ३५॥

पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है॥ ३५॥

इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति॥ ३६॥

जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभवश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है॥ ३६॥

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥ ३७॥

जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है॥ ३७॥

उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते॥ ३८॥

प्रजानाथ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है॥ ३८॥

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु॥ ३९॥

तात! भरतश्रेष्ठ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो॥ ३९॥

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते॥ ४०॥

राजन्! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है॥ ४०॥

न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम्।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत॥ ४१॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान्।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः॥ ४२॥

'मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे, फिर हम श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमानकी तो बात ही क्या है? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता॥ ४१-४२॥

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम्॥ ४३॥

'भरतनन्दन! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात! किसी दुष्ट मनुष्यका साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है॥ ४३॥

तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम॥ ४४॥
पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः।

'पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात् उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो॥ ४४½॥

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले॥ ४५॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत।

'भारत! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि—इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो?॥ ४५½॥

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा॥ ४६॥
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत।

'भरतनन्दन! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति

करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं ॥ ४६½ ॥

न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥ ४७ ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।

'तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं ॥ ४७½ ॥

इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥ ४८ ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥ ४९ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।

'तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८-४९½ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ५० ॥

'सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्धका विचार मत करो ॥ ५० ॥

दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ॥ ५१ ॥

'राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके ? ॥ ५१ ॥

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ।५२।

'भरतश्रेष्ठ ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उस अर्जुनपर विजय पा सके; जिसके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय ॥ ५२ ॥

यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ॥ ५३ ॥

'जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? ॥ ५३ ॥

तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥

'इसके सिवा विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है ॥ ५४ ॥

युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥ ५५ ॥

'जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! ॥ ५५ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ॥ ५६ ॥

'फिर मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा ? ॥ ५६ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ५७ ॥

'जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ ५७ ॥

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ ५८ ॥

'दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो । ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ ॥ ५८ ॥

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ ५९ ॥

'नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ ॥ ५९ ॥

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ६० ॥

'महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रक्खेंगे ॥ ६० ॥

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ६१ ॥

'तात ! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो ॥ ६१ ॥

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६२½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम् ।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने ईर्ष्या और क्रोधमें भरे रहनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता ।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २ ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्णने सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ २ ॥

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः ।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

तात ! महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याण नहीं पा सकोगे ॥ ३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः ।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन् नीनशः प्रजाः ॥ ४ ॥

'वत्स ! महाबाहु केशवने तुमसे धर्म और अर्थके अनुकूल ही बात कही है। राजन् ! तुम उसे स्वीकार कर लो, प्रजाका विनाश न करो ॥ ४ ॥

ज्वलितां त्वमिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु ।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद् भ्रंशयिष्यसि ॥ ५ ॥

'बेटा ! यह भरतवंशकी राजलक्ष्मी समस्त राजाओंमें प्रकाशित हो रही है; किंतु मैं देखता हूँ कि तुम अपनी दुष्टताके कारण इसे धृतराष्ट्रके जीते-जी ही नष्ट कर दोगे ॥५॥

आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम् ।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद् भ्रंशयिष्यसि॥ ६ ॥

'शीघ्र ही अपनी इस अहंकारयुक्त बुद्धिके कारण तुम पुत्र, भाई, बान्धवजन तथा मन्त्रियोंसहित अपने आपको भी जीवनसे वञ्चित कर दोगे ॥ ६ ॥

अतिक्रामन् केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत् ।
पितुश्च भरतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः ।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ केशवका वचन सत्य और सार्थक है। तुम उनके, अपने पिताके तथा बुद्धिमान् विदुरके वचनोंकी अवहेलना करके कुमार्गपर न चलो । कुलघाती, कुपुरुष और कुबुद्धिसे कलङ्कित न बनो तथा माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ' ॥ ७-८ ॥

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः ।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

तदनन्तर रोषके वशीभूत होकर बारंबार लम्बी साँस खींचनेवाले दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः ।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ॥ १० ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्ण और शान्तनुनन्दन भीष्मने धर्म और अर्थसे युक्त बात कही है। नरेश्वर ! तुम उसे स्वीकार करो ॥ १० ॥

प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ११ ॥

'राजन् ! ये दोनों महापुरुष विद्वान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, तुम्हारा भला चाहनेवाले और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्होंने तुमसे हितकी ही बात कही है, अतः तुम इसका सेवन करो ॥ ११ ॥

अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः ।
(मा वचो लघुबुद्धीनां समास्थास्त्वं परंतप ।)
माधवं बुद्धिमोहेन मावमंस्थाः परंतप ॥ १२ ॥

'महामते ! श्रीकृष्ण और भीष्मने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो । परंतप ! तुम तुच्छ बुद्धिवाले लोगोंकी बातपर आस्था मत रक्खो । शत्रुदमन ! अपनी बुद्धिके मोहसे माधवका तिरस्कार न करो ॥ १२ ॥

ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित्।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ॥ १३ ॥

'जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, ये कभी तुम्हारे काम नहीं आ सकते। ये युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरेके कंधेपर डाल देंगे ॥ १३ ॥

मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातृंस्तथैव च।
वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ॥ १४ ॥

'समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ। जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो ॥ १४ ॥

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ॥ १५ ॥

'तात! भरतनन्दन! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्मका यही यथार्थ मत है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे ॥ १५ ॥

यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः।
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ॥ १६ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु।
न हि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ॥ १७ ॥

'जमदग्निनन्दन परशुरामजीने जैसा बताया है, ये अर्जुन उससे भी महान् हैं और देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हें सुखद और प्रिय लगनेवाली अधिक बातें कहनेसे क्या लाभ? ये सब बातें जो हमें कहनी थीं, मैंने कह दीं। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। भरतवंशविभूषण! अब तुमसे और कुछ कहनेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत्।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब द्रोणाचार्य अपनी बात कह रहे थे, उसी समय विदुरजी भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी ओर देखकर बीचमें ही कहने लगे—॥ १८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ १९ ॥

'भरतभूषण दुर्योधन! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है ॥ १९ ॥

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ॥ २० ॥

'क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके मारे जानेपर पंख कटे हुए पक्षियोंकी भाँति अनाथ (असहाय) होकर विचरेंगे ॥ २० ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम्।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे-जैसे पापी और कुलघाती कुपुरुष पुत्रको जन्म देनेके कारण ये दोनों शोकमग्न हो भिक्षुककी भाँति इस पृथ्वीपर इधर-उधर भटकते फिरेंगे' ॥ २१ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रने राजाओंसे घिरकर भाइयोंके साथ बैठे हुए दुर्योधनसे कहा—॥ २२ ॥

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेमवदव्ययम् ॥ २३ ॥

'दुर्योधन! मेरी इस बातपर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह अत्यन्त कल्याणकारक, योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाली तथा दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली है; तुम इसे स्वीकार करो ॥ २३ ॥

अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ २४ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे हमलोग समस्त राजाओंमें सम्मानित रहकर अपने सभी अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २४ ॥

सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम्।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ॥ २५ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर तुम युधिष्ठिरके पास जाओ और पूर्णरूपसे मङ्गल सम्पादन करो, जिससे भरतवंशियोंको कोई क्षति न उठानी पड़े ॥ २५ ॥

वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशमम्।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ २६ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर अब शान्ति धारण करो। मैं तुम्हारे लिये यही समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन! तुम मेरी इस आज्ञाका उल्लङ्घन न करो ॥ २६ ॥

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम्।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ॥ २७ ॥

'यदि तुम शान्तिके लिये प्रार्थना करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका जो तुम्हारे हितकी बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—इनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म आदिके वचनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रका कथन सुनकर युद्धमें जनसंहारकी सम्भावनासे समानरूपसे दुःखका अनुभव करनेवाले भीष्म और द्रोणाचार्यने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

यावत् कृष्णावसंनद्धौ यावत् तिष्ठति गाण्डिवम्।
यावद् धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम्॥ २॥
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ३॥

'वत्स ! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रक्खा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनापर क्रोधपूर्ण दृष्टि नहीं डालते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये॥

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ४॥

'जबतक कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर भीमसेन अपनी सेनाके अग्रभागमें खड़े नहीं दिखायी देते हैं, तभीतक यह मार-काटका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ४॥

यावन्न चरते मार्गान् पृतनामभिधर्षयन्।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः॥ ५॥

'दुर्योधन ! जबतक हाथमें गदा लिये भीमसेन तुम्हारी सेनाका संहार करते हुए युद्धके विभिन्न मार्गोंमें विचरण नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो॥

यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम्।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः॥ ६॥
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक भीमसेन अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा समयानुसार पके हुए वृक्षके फलोंकी भाँति संग्राममभूमिमें गजारोही योद्धाओंके मस्तकोंको काट-काटकर नहीं गिरा रहे हैं, तभीतक तुम्हारा युद्धविषयक संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ६½॥

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः॥ ७॥
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम्॥ ८॥
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'नकुल, सहदेव, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी तथा शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु—ये अस्त्रविद्यामें निपुण महान् वीर कवच धारण करके महासागरमें घुसे हुए ग्राहोंकी भाँति तुम्हारी सेनाके भीतर जबतक प्रवेश नहीं करते हैं, तभीतक यह जनसंहारका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ७-८½॥

यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम्॥ ९॥
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक इन भूमिपालोंके सुकुमार शरीरोंपर गीधकी पाँखोंसे युक्त भयंकर बाण नहीं गिर रहे हैं, तभीतक युद्धका संकल्प शान्त हो जाय॥ ९½॥

चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च।
नोरःसु यावद् योधानां महेष्वासैर्महेषवः॥ १०॥
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ११॥

'सामने आते ही लक्ष्यको मार गिरानेवाले, शीघ्रतापूर्वक बाण चलाने और दूरतकका लक्ष्य बींधनेवाले, अस्त्रविद्याके पारंगत महाधनुर्धर विपक्षी वीर जबतक तुम्हारे योद्धाओंके चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा हार और निष्क धारण करनेवाले वक्षःस्थलोंपर विशाल बाणोंकी वर्षा नहीं करते, तभीतक तुम्हें युद्धका विचार त्याग देना चाहिये॥ १०-११॥

अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ १२॥

'हम चाहते हैं कि नृपश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख दोनों हाथोंसे पकड़ (कर हृदयसे लगा) लें॥ १२॥

ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ ! उत्तम दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ध्वजा, अंकुश और पताकाओंके चिह्नसे सुशोभित अपनी दाहिनी भुजाको जगत्‌में शान्ति स्थापित करनेके लिये तुम्हारे कंधेपर रक्खें॥ १३॥

रत्नौषधिसमेतेन रक्ताङ्गुलितलेन च।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु॥ १४॥

'तथा तुम्हें पास बिठाकर रत्न एवं ओषधियोंसे युक्त लाल हथेलीवाले हाथसे तुम्हारी पीठको धीरे-धीरे सहलायें॥

शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः।
साम्नाभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ॥ १५॥

'भरतभूषण ! शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील-डौलवाले

महाबाहु भीमसेन भी शान्तिके लिये तुम्हें हृदयसे लगाकर तुमसे मीठी-मीठी बातें करें ॥ १५ ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः।
मूर्ध्नि तान् समुपाघ्राय प्रेम्णाभिवद पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन्! अर्जुन और नकुल-सहदेव—ये तीनों भाई तुम्हें प्रणाम करें और तुम उनके मस्तक सूँघकर उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करो ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह संगतम्।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ॥ १७ ॥

'तुम्हें अपने वीर भाई पाण्डवोंके साथ मिला हुआ देख ये सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायें ॥ १७ ॥

घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम्।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ॥ १८ ॥

'राजाओंकी सभी राजधानियोंमें यह घोषणा करा दी जाय कि कौरव-पाण्डवोंका सारा झगड़ा समाप्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक उनका समस्त कार्य सम्पन्न हो गया। फिर तुम और युधिष्ठिर परस्पर भ्रातृभाव रखते हुए इस राज्यका समानरूपसे उपभोग करो, तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँ' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म और द्रोणके वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णको दुर्योधनका उत्तर, उसका पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसभामें यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधनने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥

'केशव! आपको अच्छी तरह सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिये। आप तो विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन।
भवान् गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ॥ ३ ॥

'मधुसूदन! आप पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर जो अकारण ही सदा हमारी निन्दा करते रहते हैं, इसका क्या कारण है? क्या आप हमलोगोंके बलाबलका विचार करके ऐसा करते हैं? ॥ ३ ॥

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कंचन पार्थिवम् ॥ ४ ॥

'मैं देखता हूँ, आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्य अथवा पितामह भीष्म सभी लोग केवल मुझपर ही दोषारोपण करते हैं; दूसरे किसी राजापर नहीं ॥ ४ ॥

न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहात्मनः।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ५ ॥

'परंतु मुझे यहाँ अपना कोई दोष नहीं दिखायी देता है। इधर राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष रखने लगे हैं ॥ ५ ॥

न चाहं कंचिदत्यर्थमपराधमरिंदम।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन केशव! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६ ॥

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥ ७ ॥

'मधुसूदन! पाण्डवोंको जूएका खेल बड़ा प्रिय था। इसीलिये वे उसमें प्रवृत्त हुए। फिर यदि मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया? ॥

यत् पुनर्द्रविणं किंचित् तत्राजीयन्त पाण्डवाः।
तेभ्य एवाभ्यनुज्ञातं तत् तदा मधुसूदन ॥ ८ ॥

'मधुसूदन! उस जूएमें पाण्डवोंने जो कुछ भी धन हारा था, वह सब उसी समय उन्हींको लौटा दिया गया था ॥ ८ ॥

अपराधो न चास्माकं यत् ते द्यूते पराजिताः।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! यदि अजेय पाण्डव जूएमें पुनः पराजित हो गये और वनमें जानेको विवश हुए तो यह हमलोगोंका अपराध नहीं है ॥ ९ ॥

केन वाप्यपराधेन विरुध्यन्त्यरिभिः सह।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ॥ १० ॥

'कृष्ण! हमारे किस अपराधसे असमर्थ पाण्डव शत्रुओंके साथ मिलकर हमारा विरोध करते हैं और ऐसा करके भी सहज शत्रुकी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १० ॥

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ॥ ११ ॥

'हमने उनका क्या बिगाड़ा है ? वे पाण्डव हमारे किस अपराधपर सृञ्जयोंके साथ मिलकर हम धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करना चाहते हैं ? ॥ ११ ॥

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ॥ १२ ॥

'हमलोग किसीके भयंकर कर्म अथवा भयानक वचनसे भयभीत हो क्षत्रियधर्मसे च्युत होकर साक्षात् इन्द्रके सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते ॥ १२ ॥

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम्।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ॥ १३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें हम सब लोगोंको जीतनेका साहस कर सके ॥ १३ ॥

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥ १४ ॥

'मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्णको तो देवता भी युद्धमें नहीं जीत सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे।
अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ॥ १५ ॥

'माधव ! अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए यदि हमलोग युद्धमें किसी समय अस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो वह भी हमारे लिये स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाली होगी ॥

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥ १६ ॥

'जनार्दन ! हम क्षत्रियोंका यही प्रधान धर्म है कि संग्राममें हमें बाण-शय्यापर सोनेका अवसर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ॥ १७ ॥

'अतः माधव ! हम अपने शत्रुओंके सामने नतमस्तक न होकर यदि युद्धमें वीरशय्याको प्राप्त हों तो इससे हमारे भाई-बन्धुओंको संताप नहीं होगा ॥ १७ ॥

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन्।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्तिपर दृष्टि रखते हुए भी इस प्रकार भयके कारण कभी शत्रुके सामने मस्तक झुकायेगा ? ॥ १८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥ १९ ॥

'वीर पुरुषको चाहिये कि वह सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने नतमस्तक न हो; क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका कर्तव्य-पुरुषार्थ है। वीर पुरुष असमयमें ही नष्ट भले ही हो जाय, परंतु कभी शत्रुके सामने सिर न झुकावे' ॥ १९ ॥

इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥ २० ॥

'अपना हित चाहनेवाले मनुष्य मातङ्ग मुनिके उपर्युक्त वचनको ही ग्रहण करते हैं; अतः मेरे-जैसा पुरुष केवल धर्म तथा ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है (शत्रुओंको नहीं) ॥

अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाचरेत्।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥ २१ ॥

'वह दूसरे किसीको कुछ भी न समझकर जीवनभर ऐसा ही आचरण (उद्योग) करता रहे; यही क्षत्रियोंका धर्म है और सदाके लिये मेरा मत भी यही है ॥ २१ ॥

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत्।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥ २२ ॥

'केशव ! मेरे पिताजीने पूर्वकालमें जो राज्यभाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ॥ २२ ॥

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ॥ २३ ॥
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि बाले जनार्दन।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ॥ २४ ॥

'जनार्दन ! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये। वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! पहले भी जो पाण्डवोंको राज्यका अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था; परंतु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भयसे जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव पुनः नहीं पा सकते ॥ २३-२४ ॥

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ २५ ॥

'केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको भूमिका उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकता है' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और उसे कुपित होकर सभासे जाते देख उसे कैद करनेकी सलाह देना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे कुछ विचार करके कौरव-सभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ १॥

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान्॥ २॥

'दुर्योधन! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी। तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी। तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह। अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है॥ २॥

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः॥ ३॥

'मूढ! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ। राजाओ! आपलोग भी ध्यान देकर सुनें॥

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम्।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत॥ ४॥

'भारत! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय॥ ४॥

कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः॥ ५॥

'तात! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुम-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त द्यूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे?॥ ५॥

अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम्।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च॥ ६॥

'महामते! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं॥ ६॥

तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम्।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः॥ ७॥

'तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये द्यूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं॥ ७॥

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया॥ ८॥

'तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा। जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है॥ ८॥

कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया॥ ९॥

'द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीय उन सबकी महारानी है। तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया॥ ९॥

जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः॥ १०॥

'जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरव-सभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं॥ १०॥

सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम्॥ ११॥

'सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले लोभरहित सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा?॥ ११॥

नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम्।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम्॥ १२॥

'दुर्योधन! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं॥ १२॥

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव॥ १३॥

'तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था, परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका॥ १३॥

ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने॥ १४॥

'उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घकालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे॥ १४॥

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव॥ १५॥

'तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर इन सभी उपायोंद्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ॥ १५ ॥

एवं बुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १६ ॥

'ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है ॥ १६ ॥

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १७ ॥

'पापात्मन् ! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ १७ ॥

कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥ १८ ॥

'क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है ॥१८॥

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १९ ॥

'माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि तू संधि कर ले—शान्त हो जा, परंतु भूपाल ! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता ॥ १९ ॥

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ २० ॥

'राजन् ! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता। इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है ?॥

न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ २१ ॥

राजन् ! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा । भूपाल ! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासनने बीचमें ही अमर्षशील दुर्योधनसे कौरव-सभामें ही कहा—॥

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बद्ध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥२३॥

राजन् ! यदि आप अपनी इच्छासे पाण्डवोंके साथ संधि नहीं करेंगे तो जान पड़ता है, कौरवलोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके हाथमें सौंप देंगे ॥ २३ ॥

वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥२४॥

'नरश्रेष्ठ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्णको, आपको और मुझे—इन तीनोंको ही पाण्डवोंके अधिकारमें दे देंगे' ॥ २४ ॥

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥ २५ ॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम् ।
कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ॥ २६ ॥
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः ।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ॥ २७ ॥

भाईकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ वहाँसे उठकर चल दिया । वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्ट पुरुषोंकी भाँति मर्यादाशून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था । वह विदुर, धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, द्रोणाचार्य और भगवान् श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँसे चल पड़ा ॥ २५-२७ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ दुर्योधनको वहाँसे जाते देख उसके भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश सब-के-सब उठकर उसके साथ चल दिये ॥ २८ ॥

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनको भाइयोंसहित सभासे उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा—॥२९॥

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव ॥ ३० ॥

'जो धर्म और अर्थका परित्याग करके क्रोधका ही अनुसरण करता है, उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते हैं ॥ ३० ॥

दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्तराष्ट्रोऽनुपायकृत् ।
मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ॥ ३१ ॥

'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्यसिद्धिके उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके

वशीभूत रहनेवाला है। इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है ॥ ३१ ॥

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ॥ ३२ ॥

'जनार्दन! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं। तभी तो ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधनका अनुसरण करते हैं' ॥ ३२ ॥

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुलनन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़ों लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं शृणुतानघाः ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो! इस विषयमें मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा। वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः ॥ ३६ ॥

'मैं तो हितकी बात बताने जा रहा हूँ। उसका आपलोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है। भरतवंशियो! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं ॥ ३६ ॥

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान्।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः ॥ ३७ ॥

'बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था। वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया ॥ ३७ ॥

उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥ ३८ ॥

'समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला ॥ ३८ ॥

आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोजवंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया ॥ ३९ ॥

कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः ॥ ४० ॥

'भरतनन्दन! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं ॥ ४० ॥

अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च ॥ ४१ ॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः ॥ ४२ ॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः ॥ ४३ ॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम् ॥ ४४ ॥

'राजन्! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये। एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ। देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे। सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे। सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था। भारत! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोकभावन भगवान् ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्धमें दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी। आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेका वध करेंगे ॥ ४१—४४ ॥

इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४५ ॥

'यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणदेवको सौंप दो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४६ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया ॥ ४६ ॥

तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान् ॥ ४७ ॥

'तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुण-

पाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं ॥ ४७ ॥

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ॥ ४८ ॥

'भरतवंशियो ! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें ॥ ४८ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ४९ ॥

'समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे ॥ ४९ ॥

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥५०॥

'राजन् ! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका गान्धारीको बुलाना और उसका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ १ ॥

गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम्।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ २ ॥

'तात ! जाओ, परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको यहाँ बुला लाओ। मैं उसीके साथ इस दुर्बुद्धिको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी चेष्टा करूँगा ॥ २ ॥

यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम्।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥ ३ ॥

'यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्माको शान्त कर सके तो हमलोग अपने सुहृद् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं॥

अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत्।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ॥ ४ ॥

'दुर्योधन लोभके अधीन हो रहा है। उसकी बुद्धि दूषित हो गयी है और उसके सहायक दुष्ट स्वभावके ही हैं। सम्भव है, गान्धारी शान्तिस्थापनके लिये कुछ कहकर उसे सन्मार्गका दर्शन करा सके ॥ ४ ॥

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत्।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ॥ ५ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो दुर्योधनके द्वारा उपस्थित किया हुआ हमारा महान् एवं भयंकर संकट दीर्घकालके लिये शान्त हो जायगा और चिरस्थायी योगक्षेमकी प्राप्ति सुलभ होगी' ॥ ५ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम्।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजाकी यह बात सुनकर विदुर धृतराष्ट्रके आदेशसे दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको वहाँ बुला ले आये ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि ! तुम्हारा वह दुरात्मा पुत्र गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है। वह ऐश्वर्यके लोभमें पड़कर राज्य और प्राण दोनों गँवा देगा ॥ ७ ॥

अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान्।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषकी भाँति हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाको ठुकराकर अपने पापी साथियोंके साथ सभासे बाहर निकल गया है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पतिका यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याणका अनुसंधान करती हुई इस प्रकार बोली ॥ ९ ॥

गान्धार्युवाच

आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम्।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा।

गान्धारीने कहा—महाराज ! राज्यकी कामनासे आतुर हुए अपने पुत्रको शीघ्र बुलवाइये। धर्म और अर्थका लोप करनेवाला कोई भी अशिष्ट पुरुष राज्य नहीं पा सकता, तथापि सर्वथा उद्दण्डताका परिचय देनेवाले उस दुष्टने राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १०½ ॥

त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे।

महाराज ! आपको अपना बेटा बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थितिके लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं; क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारोंको जानते हुए भी सदा उसीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ११½ ॥

स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात्।

राजन् ! इस दुर्योधनको काम और क्रोधने अपने वशमें कर लिया है, यह लोभमें फँस गया है; अतः आज आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है ॥ १२½ ॥

राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥
दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम्।

दुष्ट सहायकोंसे युक्त, मूढ़, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्रको अपना राज्य सौंप देनेका फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं ॥ १३½ ॥

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ १४ ॥
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ॥ १५ ॥

कोई भी राजा स्वजनोंमें फैलती हुई फूटकी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? राजन् ! स्वजनोंमें फूट डालकर उनसे विलग होनेवाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे। महाराज ! जिस आपत्तिको साम अथवा भेदनीतिसे पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनोंपर दण्डका प्रयोग कौन करेगा ? ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम्।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिता धृतराष्ट्रके आदेश और माता गान्धारीकी आज्ञासे विदुर असहिष्णु दुर्योधनको पुनः सभामें बुला ले आये ॥ १६ ॥

स मातुर्वचनाकाङ्क्षी प्रविवेश पुनः सभाम्।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १७ ॥

दुर्योधनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ माताकी बात सुननेकी इच्छासे सभाभवनमें पुनः प्रविष्ट हुआ ॥ १७ ॥

तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम्।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अपने कुमार्गगामी पुत्रको पुनः सभाके भीतर आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्तिस्थापनके लिये इस प्रकार बोली—॥ १८ ॥

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ॥ १९ ॥

'बेटा दुर्योधन ! मेरी यह बात सुनो। जो सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे लिये हितकारक और भविष्यमें सुखकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ १९ ॥

दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ॥ २० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदोंकी वह बात मान लो ॥ २० ॥

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥ २१ ॥

'यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मकी, पिताजीकी, मेरी तथा द्रोण आदि अन्य हितैषी सुहृदोंकी भी पूजा सम्पन्न हो जायगी ॥ २१ ॥

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! महामते ! कोई भी अपनी इच्छामात्रसे राज्यकी प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम्।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥ २३ ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वह दीर्घकालतक राज्यका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मनको जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्यकी रक्षा कर सकता है ॥ २३ ॥

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः।
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥ २४ ॥

'काम और क्रोध मनुष्यको धनसे दूर खींच ले जाते हैं। उन दोनों शत्रुओंको जीत लेनेपर राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है ॥ २४ ॥

दुर्योधनको गान्धारीकी फटकार

लोकेश्वर प्रभुत्वं हि महदेतद् दुरात्मभिः ।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम् ॥ २५ ॥

'जनेश्वर ! यह महान् प्रभुत्व ही राज्य नामक अभीष्ट स्थान है। जिनकी अन्तरात्मा दूषित है, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥ २६ ॥

'महत्पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अर्थ और धर्ममें नियन्त्रित करे। इन्द्रियोंको जीत लेनेपर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ २६ ॥

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ २७ ॥

'जैसे उद्दण्ड घोड़े काबूमें न होनेपर मूर्ख सारथिको मार्गमें ही मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो ये मनुष्यका नाश करनेके लिये भी पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २८ ॥

'जो पहले अपने मनको न जीतकर मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है अथवा मन्त्रियोंको जीते बिना शत्रुओंको जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनोंसे वञ्चित हो जाता है ॥ २८ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ २९ ॥

'अतः पहले अपने मनको ही शत्रुके स्थानपर रखकर इसे जीते। तत्पश्चात् मन्त्रियों और शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा करे। ऐसा करनेसे उसकी विजय पानेकी अभिलाषा कभी व्यर्थ नहीं होती है ॥ २९ ॥

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ ३० ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, मन्त्रियोंपर विजय पा ली है तथा जो अपराधियोंको दण्ड प्रदान करता है, खूब सोच-समझकर कार्य करनेवाले उस धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ३० ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः ॥ ३१ ॥

'छोटे छिद्रवाले जालसे ढकी हुई दो मछलियोंकी भाँति ये काम और क्रोध भी शरीरके भीतर ही छिपे हुए हैं, जो मनुष्यके ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ ३१ ॥

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम् ।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ॥ ३२ ॥

'इन्हीं दोनों (काम और क्रोध) के द्वारा देवताओंने स्वर्गमें जानेवाले पुरुषके लिये उस लोकका दरवाजा बंद कर रक्खा है। वीतराग पुरुषसे डरकर ही देवताओंने स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक काम और क्रोधकी वृद्धि की है ॥ ३२ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः ।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥ ३३ ॥

'जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्पको अच्छी तरह जीतनेकी कला जानता है, वही इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३३ ॥

सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः ।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ॥ ३४ ॥

'अतः अर्थ, धर्म तथा शत्रुओंका पराभव चाहनेवाले राजाको सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ ३५ ॥

'जो राजा काम अथवा क्रोधसे अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरोंके प्रति मिथ्या बर्ताव (कपट एवं अन्याययुक्त आचरण) करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं ॥ ३५ ॥

एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः ।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ॥ ३६ ॥

'तात ! पाण्डव परस्पर संगठित होनेके कारण एकीभूत हो गये हैं। वे परम ज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहारमें समर्थ हैं। तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक इस पृथ्वीका राज्य भोग सकोगे ॥ ३६ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः ।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३७ ॥

'तात ! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं ॥ ३७ ॥

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥ ३८ ॥

'अतः अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लो; क्योंकि भगवान् केशव प्रसन्न होनेपर दोनों ही पक्षोंको सुखी बना सकते हैं ॥ ३८ ॥

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदोंके शासनमें नहीं रहता—उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलता, वह शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला होता है ॥ ३९ ॥

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ४० ॥

'तात ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उससे धर्म और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है ? युद्धमें सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ ॥ ४० ॥

भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च।
दत्तोऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद् भीतैररिंदम ॥ ४१ ॥

'शत्रुदमन ! महाप्राज्ञ ! आपसकी फूटके भयसे ही पितामह भीष्मने, तुम्हारे पिताने और महाराज बाह्लीकने भी पाण्डवोंको राज्यका भाग प्रदान किया है ॥ ४१ ॥

तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्यानुपश्यसि।
यद् भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम् ॥ ४२ ॥

'उसीके देनेका आज तुम यह प्रत्यक्ष फल देखते हो कि उन शूरवीर पाण्डवोंद्वारा निष्कण्टक बनायी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भोग रहे हो ॥ ४२ ॥

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥ ४३ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले पुत्र ! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंको उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो ॥ ४३ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम्।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ॥ ४४ ॥

'भारत ! भूमण्डलका आधा राज्य मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है। तुम सुहृदोंकी आज्ञाके अनुसार चलकर सुयश प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ॥ ४५ ॥

'तात ! श्रीमान्, मनस्वी, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय पाण्डवोंके साथ होनेवाला कलह तुम्हें महान् सुखसे वञ्चित कर देगा ॥ ४५ ॥

निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम्।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंको उनका राज्यभाग देकर सुहृदोंके बढ़ते हुए क्रोधको शान्त कर दो और अपने राज्यका यथोचित रीतिसे शासन करते रहो ॥ ४६ ॥

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥ ४७ ॥

'बेटा ! पाण्डवोंको जो तेरह वर्षोंके लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है। महामते ! तुम्हारे काम और क्रोधसे इस अपकारकी और भी वृद्धि हुई है। अब तुम संधिके द्वारा इसे शान्त कर दो ॥ ४७ ॥

न चैष शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि।
सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ॥ ४८ ॥

'तुम जो कुन्तीके पुत्रोंका धन हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करनेकी तुम्हारी शक्ति नहीं है। क्रोधको दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाला सूतपुत्र कर्ण तथा तुम्हारा भाई दुःशासन—ये दोनों भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनंजये।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम् ॥ ४९ ॥

'जिस समय भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न—ये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजाका विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ४९ ॥

अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत् त्वत्कृते वधम् ॥ ५० ॥

'तात ! तुम क्रोधके वशीभूत होकर समस्त कौरवोंका वध न कराओ। तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश न हो ॥ ५० ॥

यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१ ॥

'मूढ़ ! तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओरसे युद्ध करेंगे, यह इस समय कदापि सम्भव नहीं है ॥ ५१ ॥

समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम्।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥

'क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें इस राज्यका पाण्डवों अथवा तुमलोगोंके पास रहना समान ही है। इनके हृदयमें दोनोंके लिये एक-सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्यसे भी बढ़कर ये धर्मको महत्त्व देते हैं ॥ ५२ ॥

राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम्।
न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥ ५३ ॥

'इस राज्यका इन्होंने जो अन्न खाया है, उसके भयसे यद्यपि ये तुम्हारी ओरसे लड़कर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिरकी ओर कभी वक्र दृष्टिसे नहीं देख सकेंगे ॥ ५३ ॥

न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

'तात भरतश्रेष्ठ ! इस संसारमें केवल लोभ करनेसे किसीको धनकी प्राप्ति होती नहीं दिखायी देती; अतः लोभसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके षड्यन्त्रका सात्यकिद्वारा भंडाफोड़, श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना तथा धृतराष्ट्र और विदुरका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

तत् तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके कहे हुए उस नीतियुक्त वचनका अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँसे उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियोंके पास चला गया ॥ १ ॥

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥

उस सभाभवनसे निकलकर दुर्योधनने द्यूतविद्याके जानकार सुबलपुत्र राजा शकुनिके साथ गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन—इन चारोंका निश्चय इस प्रकार हुआ ॥ ३ ॥

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ४ ॥
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ॥ ५ ॥

वे परस्पर कहने लगे—'शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक कार्य करनेवाले श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके साथ मिलकर जबतक हमें कैद करें, उसके पहले हमलोग ही बलपूर्वक इन पुरुषसिंह हृषीकेशको बन्दी बना लें । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रने विरोचनपुत्र बलिको बाँध लिया था ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्णको कैद हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पोंके समान अचेत और हतोत्साह हो जायँगे ॥ ६ ॥

अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।

'ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही समस्त पाण्डवोंके कल्याण-साधक और कवचकी भाँति रक्षा करनेवाले हैं । सम्पूर्ण यदुवंशियोंके शिरोमणि तथा वरदायक इस श्रीकृष्णके बन्दी बना लिये जानेपर सोमकोंसहित सब पाण्डव उद्योगशून्य हो जायँगे ॥ ७½ ॥

तस्माद् वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य बद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।

'इसलिये हम यहीं शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाले केशवको राजा धृतराष्ट्रके चीखने-चिल्लानेपर भी कैद करके शत्रुओंके साथ युद्ध करें' ॥ ८½ ॥

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ॥ ९ ॥
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।

विद्वान् सात्यकि इशारेसे ही दूसरोंके मनकी बात समझ लेनेवाले थे । वे उन दुष्टचित्त पापियोंके उस पापपूर्ण अभिप्रायको शीघ्र ही ताड़ गये ॥ ९½ ॥

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ॥ १० ॥
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ॥ ११ ॥
यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।

फिर उसके प्रतीकारके लिये वे सभासे बाहर निकलकर कृतवर्मासे मिले और इस प्रकार बोले—'तुम शीघ्र ही अपनी सेनाको तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेनाके साथ सभाभवनके द्वारपर डटे रहो । तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-को कौरवोंके षड्यन्त्रकी सूचना दिये देता हूँ' ॥१०-११½ ॥

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ॥ १२ ॥
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर वीर सात्यकिने सभामें प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वतकी कन्दरामें घुस रहा हो । वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशवसे कौरवोंका अभिप्राय बताया । फिर धृतराष्ट्र और विदुरको भी इसकी सूचना दी ॥ १२-१३ ॥

तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ॥ १४ ॥
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।

सात्यकिने किंचित् मुसकराते हुए-से उन कौरवोंके इस अभिप्रायको इस प्रकार बताया—'सभासदो ! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं, जो धर्म, अर्थ

और काम सभी दृष्टियोंसे साधुपुरुषोंद्वारा निन्दित है। यद्यपि इस कार्यमें उन्हें किसी प्रकार सफलता नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १४½ ॥

पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १५ ॥
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।

'क्रोध और लोभके वशीभूत हो काम एवं रोषसे तिरस्कृत होकर कुछ पापात्मा एवं मूढ़ मानव यहाँ आकर भारी बखेड़ा पैदा करना चाहते हैं ॥ १५½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥ १६ ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।

'जैसे बालक और जड़ बुद्धिवाले लोग जलती आगको कपड़ेमें बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्दबुद्धि कौरव इन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ कैद करना चाहते हैं' ॥ १६½ ॥

सात्यकेस्तद् वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत् कुरुसंसदि ।
राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप ॥ १८ ॥
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ।

सात्यकिका यह वचन सुनकर दूरदर्शी विदुरने कौरव-सभामें महाबाहु धृतराष्ट्रसे कहा—'परंतप नरेश ! जान पड़ता है, आपके सभी पुत्र सर्वथा कालके अधीन हो गये हैं। इसीलिये वे यह अकीर्तिकारक और असम्भव कर्म करनेको उतारू हुए हैं ॥ १७-१८½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ॥ १९ ॥
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम् ।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।

'सुननेमें आया है कि वे सब संगठित होकर इन पुरुषसिंह कमलनयन श्रीकृष्णको तिरस्कृत करके हठपूर्वक कैद करना चाहते हैं ! ये भगवान् कृष्ण इन्द्रके छोटे भाई और दुर्धर्ष वीर हैं। इन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इनके पास आकर सभी विरोधी जलती आगमें गिरनेवाले फतिंगोंके समान नष्ट हो जायँगे ॥ १९-२०½ ॥

अयमिच्छन् हि तान् सर्वान् युध्यमानाञ्जनार्दनः॥२१॥
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद् यमसादनम् ।

'जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह हाथियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्ण यदि चाहें तो क्रुद्ध होनेपर समस्त विपक्षी योद्धाओंको यमलोक पहुँचा सकते हैं॥२१½॥

न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन ॥ २२ ॥
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः ।

'परंतु ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पापकर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्मसे ही पीछे हट सकते हैं ॥ २२½ ॥

(यथा वाराणसी दग्धा साश्वा सरथकुंजरा ।
सानुबन्धस्तु कृष्णेन काशीनामृषभो हतः ॥
तथा नागपुरं दग्ध्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
स्वयं कालेश्वरो भूत्वा नाशयिष्यति कौरवान् ॥

'श्रीकृष्णने जिस प्रकार घोड़े, रथ और हाथियोंसहित वाराणसी नगरी जला दी और काशिराजको उनके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डाला, उसी प्रकार ये शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कालेश्वर होकर हस्तिनापुरको दग्ध करके कौरवोंका नाश कर डालेंगे ॥

पारिजातहरं ह्येनमेकं यदुसुखावहम् ।
नाभ्यवर्तत संरब्धो वृत्रहा वसुभिः सह ॥

'यदुकुलको सुख पहुँचानेवाले श्रीकृष्ण जब अकेले पारिजातका अपहरण करने लगे, उस समय अत्यन्त कोपमें भरे हुए इन्द्रने इनके ऊपर वसुओंके साथ आक्रमण किया। परंतु वे भी इन्हें पराजित न कर सके ॥

प्राप्य निर्मोचने पाशान् षट् सहस्रांस्तरस्विनः ।
हतास्ते वासुदेवेन ह्युपसंक्रम्य मौरवान् ॥

'निर्मोचन नामक स्थानमें मुर दैत्यने छः हजार शक्तिशाली पाश लगा रखे थे, जिन्हें इन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने निकट जाकर काट डाला ॥

द्वारमासाद्य सौभस्य विधूय गदया गिरिम् ।
द्युमत्सेनः सहामात्यः कृष्णेन विनिपातितः ॥

'इन्हीं श्रीकृष्णने सौभके द्वारपर पहुँचकर अपनी गदासे पर्वतको विदीर्ण करते हुए मन्त्रियोंसहित द्युमत्सेनको मार गिराया था ॥

शेषवत्त्वात् कुरूणां तु धर्मापेक्षी तथाच्युतः ।
क्षमते पुण्डरीकाक्षः शक्तः सन् पापकर्मणाम् ॥
एते हि यदि गोविन्दमिच्छन्ति सह राजभिः ।
अद्यैवातिथयः सर्वे भविष्यन्ति यमस्य ते ॥

'अभी कौरवोंकी आयु शेष है, इसीलिये सदा धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण इन पापाचारियोंको दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी अभी क्षमा करते जा रहे हैं। यदि ये कौरव अपने सहयोगी राजाओंके साथ गोविन्दको बन्दी बनाना चाहते हैं तो सब-के-सब आज ही यमराजके अतिथि हो जायँगे ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
तथा चक्रभृतः सर्वे वशमेष्यन्ति कौरवाः ॥)

'जैसे तिनकोंके अग्रभाग सदा महाबलवान् वायुके वशमें होते हैं, उसी प्रकार समस्त कौरव चक्रधारी श्रीकृष्णके अधीन हो जायँगे' ॥

विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥ २४ ॥
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।

विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंके सुनते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—'राजन्! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये। फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ ॥ २३-२४½ ॥

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।

'यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता ॥ २५½ ॥

पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ॥२६॥
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।

'आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा। यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया ॥ २६½ ॥

अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥ २७ ॥
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।

'भारत! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा? ॥ २७½ ॥

इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥ २८ ॥
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।

'परंतु भारत! महाराज! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा ॥ २८½ ॥

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ॥ २९ ॥
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

'नरेश्वर! यह दुर्योधन जैसा चाहता है वैसा ही हो। मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ' ॥२९½॥

एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥ ३० ॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधनको उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामी सेवकोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ। यदि पुनः उसे सन्मार्गपर उतार सकूँ तो अच्छा होगा' ॥३०-३१॥

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ३२ ॥

तब विदुरजी राजाओंसे घिरे हुए दुर्योधनको उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभामें ले आये ॥३२॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥ ३३ ॥

उस समय कर्ण, दुःशासन तथा अन्य राजाओंसे भी घिरे हुए दुर्योधनसे राजा धृतराष्ट्रने कहा—॥ ३३ ॥

नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥

'नृशंस महापापी! नीच कर्म करनेवाले ही तेरे सहायक हैं। तू उन पापी सहायकोंसे मिलकर पापकर्म ही करना चाहता है॥

अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत् कुलपांसनः ॥ ३५ ॥

'वह कर्म ऐसा है, जिसकी साधु पुरुषोंने सदा निन्दा की है। वह अपयशकारक तो है ही, तू उसे कर भी नहीं सकता; परंतु तेरे-जैसा कुलाङ्गार और मूर्ख मनुष्य उसे करनेकी चेष्टा करता है ॥ ३५ ॥

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ ३६ ॥

'सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकोंसे मिलकर इन दुर्धर्ष एवं दुर्जय वीर कमलनयन श्रीकृष्णको कैद करना चाहता है॥

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥ ३७ ॥

'ओ मूढ़! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वशमें नहीं कर सकते, उन्हींको तू बंदी बनाना चाहता है। तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ना चाहता हो ॥ ३७ ॥

देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।
न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुद्ध्यसि केशवम् ॥ ३८ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्रामभूमिमें जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्णको तू नहीं जानता ॥ ३८ ॥

दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ ३९ ॥

'जैसे वायुको हाथसे पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमाको हाथसे छूना कठिन है और पृथ्वीको सिरपर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है' ॥ ३९ ॥

इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर विदुरने भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम् ।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः ।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम् ॥ ४१ ॥

विदुर बोले—दुर्योधन ! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो । सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया ॥ ४१ ॥

ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम् ।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४१ ॥

वह पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहता था, परंतु इन्हें कभी पकड़ न सका । उन्हीं श्रीकृष्णको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ! ॥ ४२ ॥

प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः ।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४३ ॥

पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बंदी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका । उन्हींको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ॥ ४३ ॥

अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे ।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि ॥ ४४ ॥

अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरकासुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राजकन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ४४ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः ।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४५ ॥

निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्ने पाशोंमें बाँध लिया । वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो ॥ ४५ ॥

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा ।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्होंने ही बाल्यावस्थामें शकुनी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया था ॥ ४६ ॥

अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः ।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन् ॥ ४७ ॥

अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहितके विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे ॥ ४७ ॥

जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान् ।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः ॥ ४८ ॥

जरासंध, दंतवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है ॥ ४८ ॥

वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा ।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः ॥ ४९ ॥

अमित तेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है । इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजातहरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है ॥ ४९ ॥

एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः ॥ ५० ॥

इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था ॥ ५० ॥

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः ॥ ५१ ॥

ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है । सबके पुरुषार्थके कारण भी यही हैं । ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं ॥ ५१ ॥

तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम् ॥ ५२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है । तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते । ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं । ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं ॥ ५२ ॥

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि ॥ ५३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

केची
कृष्णके

४८॥
गुर नी
वर्मोंका

॥४९॥
विस्त
है और
इको मैं

५०॥
कैटम
करके
ग्व

१॥
है।
वो-
१॥

२॥
वान्
यहाँ
क

३॥
इन्
की
ल्य

कौरव सभामें विराट् रूप

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १ ॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीके ऐसा कहनेपर शत्रुसमूहका संहार करनेवाले शक्तिशाली श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है ॥ १-२ ॥

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥ ३ ॥

'देख, सब पाण्डव यहीं हैं । अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं । आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियोंसहित वसुगण भी यहीं हैं' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
तस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत्॥ ५ ॥

ऐसा कहकर विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले भगवान् केशव उच्चस्वरसे अट्टहास करने लगे । हँसते समय उन महात्मा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें स्थित विद्युत्‌के समान कान्तिवाले तथा अँगूठेके बराबर छोटे शरीरवाले देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे । उनके ललाटमें ब्रह्मा और वक्षःस्थलमें रुद्रदेव विद्यमान थे ॥ ४-५ ॥

लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाश्विनावपि ॥६॥
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैव यक्षाश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ ७ ॥

समस्त लोकपाल उनकी भुजाओंमें स्थित थे । मुखसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं । आदित्य, साध्य, वसु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस भी उनके विभिन्न अङ्गोंमें प्रकट हो गये ॥ ६-७ ॥

प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां संकर्षणधनंजयौ ।
दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ॥ ८ ॥

उनकी दोनों भुजाओंसे बलराम और अर्जुनका प्रादुर्भाव हुआ । दाहिनी भुजामें धनुर्धर अर्जुन और बायींमें हलधर बलराम विद्यमान थे ॥ ८ ॥

भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।
अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ॥ ९ ॥
अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।

भीमसेन, युधिष्ठिर तथा माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव भगवान्‌के पृष्ठभागमें स्थित थे । प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथोंमें विशाल आयुध धारण किये भगवान्‌के अग्रभागमें प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ॥ १० ॥
अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।
नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ॥ ११ ॥

शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुए ही समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान दिखायी देते थे ॥ १०-११ ॥

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।
प्रादुरासन् महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

उनके नेत्रोंसे, नासिकाके छिद्रोंसे और दोनों कानोंसे सब ओर अत्यन्त भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें प्रकट हो रही थीं ॥ १२ ॥

रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।
तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्॥ १४ ॥
संजयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।
प्रादात् तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ॥१५॥

समस्त रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक रही थीं । महात्मा श्रीकृष्णके उस भयंकर स्वरूपको देखकर समस्त राजाओंके मनमें भय समा गया और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये । द्रोणाचार्य, भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, महाभाग संजय तथा तपस्याके धनी महर्षियोंको छोड़कर अन्य सब लोगोंकी आँखें बंद हो गयी थीं । इन द्रोण आदिको भगवान् जनार्दनने स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी (अतः वे आँख खोलकर उन्हें देखनेमें समर्थ हो सके) ॥ १३–१५ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ॥ १६ ॥

उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्णका वह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः ।
तस्मात् त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—कमलनयन ! यदुकुल-तिलक श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण जगत्के हितैषी हैं, अतः मुझपर भी कृपा कीजिये ॥ १७ ॥

भगवन् मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः ।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नान्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥

भगवन् ! मेरे नेत्रोंका तिरोधान हो चुका है; परंतु आज मैं आपसे पुनः दोनों नेत्र माँगता हूँ । केवल आपका दर्शन करना चाहता हूँ; आपके सिवा और किसीको मैं नहीं देखना चाहता ॥ १८ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

तब महाबाहु जनार्दनने धृतराष्ट्रसे कहा—'कुरुनन्दन ! आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायँ' ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रश्च चक्षुषी ।
लब्धवान् वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ॥ २० ॥

महाराज जनमेजय ! वहाँ यह अद्भुत बात हुई कि धृतराष्ट्रने भी भगवान् श्रीकृष्णसे उनके विश्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छासे दो नेत्र प्राप्त कर लिये ॥ २० ॥

लब्धचक्षुषमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः ।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ २१ ॥

सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त हो गये, यह जानकर ऋषियोंसहित सब नरेश आश्चर्यचकित हो मधुसूदनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे ।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, समुद्रमें खलबली पड़ गयी और समस्त भूपाल अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २२ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः संजहार वपुः स्वकम् ।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिंदमः ॥ २३ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अपने इस स्वरूपको, उस दिव्य, अद्भुत एवं विचित्र ऐश्वर्यको समेट लिया ॥ २३ ॥

ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च ।
ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे मधुसूदन ऋषियोंसे आज्ञा ले सात्यकि और कृतवर्माका हाथ पकड़े सभाभवनसे चल दिये ॥ २४ ॥

ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः ।
तस्मिन् कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

उनके जाते ही नारद आदि महर्षि भी अदृश्य हो गये । वह सारा कोलाहल शान्त हो गया । यह सब एक अद्भुत-सी घटना हुई थी ॥ २५ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः ।
अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ॥ २६ ॥

पुरुषसिंह श्रीकृष्णको जाते देख राजाओंसहित समस्त कौरव भी उनके पीछे-पीछे गये, मानो देवता देवराज इन्द्र-का अनुसरण कर रहे हों ॥ २६ ॥

अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद् राजमण्डलम् ।
निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ॥ २७ ॥

परंतु अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस समस्त नरेश-मण्डलकी कोई परवा न करके धूमयुक्त अग्निकी भाँति सभाभवनसे बाहर निकल आये ॥ २७ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ॥ २८ ॥
सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २९ ॥

बाहर आते ही शैब्य और सुग्रीवनामक घोड़ोंसे जुते हुए परम उज्ज्वल एवं विशाल रथके साथ सारथि दारुक दिखायी दिया । उस रथमें बहुत-सी क्षुद्रघंटिकाएँ शोभा पाती थीं । सोनेकी जालियोंसे उसकी विचित्र छटा दिखायी देती थी । वह शीघ्रगामी रथ चलते समय मेघके समान गम्भीर रव प्रकट करता था । उसके भीतर सब आवश्यक सामग्रियाँ सुन्दर ढंगसे सजाकर रक्खी गयी थीं । उसके ऊपर व्याघ्र-चर्मका आवरण लगा हुआ था और रथकी रक्षाके अन्य आवश्यक प्रबन्ध भी किये गये थे ॥ २८-२९ ॥

तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः ।
वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३० ॥

इसी प्रकार वृष्णिवंशके सम्मानित वीर हृदिकपुत्र महारथी कृतवर्मा भी एक दूसरे रथपर बैठे दिखायी दिये ॥ ३० ॥

उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिंदमम् ।
धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णका रथ उपस्थित है और अब ये यहाँसे चले जायँगे; ऐसा जानकर महाराज धृतराष्ट्रने पुनः उनसे कहा—॥ ३१ ॥

यावद् बलं मे पुत्रेषु पश्यस्येतज्जनार्दन ।
प्रत्यक्षं ते न ते किंचित् परोक्षं शत्रुकर्शन ॥ ३२ ॥

'शत्रुसूदन जनार्दन ! पुत्रोंपर मेरा बल कितना काम

करता है, यह आप देख ही रहे हैं। सब कुछ आपकी आँखोंके सामने है; आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ॥ ३२ ॥

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव।
विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ३३ ॥

'केशव ! मैं भी चाहता हूँ कि कौरव-पाण्डवोंमें संधि हो जाय और मैं इसके लिये प्रयत्न भी करता रहता हूँ; परंतु मेरी इस अवस्थाको समझकर आपको मेरे ऊपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ॥ ३४ ॥

'केशव ! पाण्डवोंके प्रति मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है। मैंने दुर्योधनसे जो हितकी बात बतायी है, वह आपको ज्ञात ही है ॥ ३४ ॥

जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ॥ ३५ ॥

'माधव ! मैं सब उपायोंसे शान्तिस्थापनके लिये प्रयत्नशील हूँ, इस बातको ये समस्त कौरव तथा बाहरसे आये हुए राजालोग भी जानते हैं' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, विदुर, बाह्लीक तथा कृपाचार्यसे कहा—॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ३७ ॥

'कौरव-सभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आप लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था ॥ ३७ ॥

वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ॥ ३८ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र भी अपने आपको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा' ॥ ३८ ॥

आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ॥ ३९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! तत्पश्चात् रथपर बैठकर प्रस्थानके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पूछकर भरतवंशके महाधनुर्धर उत्कृष्ट वीर उनके पीछे कुछ दूरतक गये ॥ ३९ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ॥ ४० ॥

उन वीरोंके नाम इस प्रकार हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण और महारथी युयुत्सु ॥ ४० ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥ ४१ ॥

तदनन्तर किंकिणीविभूषित उस विशाल एवं उज्ज्वल रथके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके देखते-देखते अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विश्वरूपदर्शनविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके घरमें जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेपसे कह सुनाया ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम्।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—बूआजी ! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना ॥ २ ॥

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम्।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ॥ ३ ॥

जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व हो गया है। (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब मैं तुमसे

आज्ञा चाहता हूँ, यहाँसे शीघ्र ही पाण्डवोंके पास जाऊँगा ॥ ३ ॥

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥

महाप्राज्ञे ! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ । मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर इस प्रकार कहना—बेटा ! तुम्हारे प्रजापालनरूप धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उस धर्मपालनके अवसरको व्यर्थ न खोओ ॥ ५ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे वेदके अर्थको न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठीकी बुद्धि केवल वेदके मन्त्रोंकी आवृत्ति करनेमें ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठमात्र धर्मपर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्मको ही देखती है ॥ ६ ॥

अङ्गावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥ ७ ॥

बेटा ! ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये जैसे धर्मकी सृष्टि की है, उसीपर दृष्टिपात करो । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबलसे ही जीविका चलानेवाले होते हैं ॥ ७ ॥

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चात्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया ॥ ८ ॥

वे युद्धरूपी कठोर कर्मके लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्ममें प्रवृत्त होते हैं । मैं इस विषयमें एक उदाहरण देती हूँ, जिसे मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे सुन रक्खा है ॥ ८ ॥

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान् ॥ ९ ॥

पूर्वकालकी बात है, धनाध्यक्ष कुबेर राजर्षि मुचुकुन्दपर प्रसन्न होकर उन्हें ये सारी पृथ्वी दे रहे थे; परंतु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया ॥ ९ ॥

बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ १० ॥

वे बोले—'देव ! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ।' इससे कुबेर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥ १० ॥

मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया ॥ ११ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ॥ १२ ॥

भारत ! राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजाको मिल जाता है ॥ १२ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ १३ ॥

यदि राजा धर्मका पालन करता है तो उसे देवत्वकी प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरकमें ही पड़ता है ॥ १३ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेण चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ १४ ॥

राजाकी दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्मके अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखती और अधर्मसे निवृत्त करती है ॥ १४ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ १५ ॥

यदि राजा दण्डनीतिके प्रयोगमें पूर्णतः न्यायसे काम लेता है तो जगत्में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आ जाता है ॥ १५ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ १६ ॥

राजाका कारण काल है या कालका कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मनमें नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है ॥ १६ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ १७ ॥

राजा ही सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका स्रष्टा है । चौथे युग कलिके प्रकट होनेमें भी वही कारण है ॥ १७ ॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा सत्ययुग उपस्थित करनेके कारण राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी प्रवृत्ति

करनेसे भी उसे स्वर्गकी ही प्राप्ति होती है, किंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ १८ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १९ ॥

द्वापर उपस्थित करनेसे उसे यथाभाग पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है; परंतु कलियुगकी प्रवृत्ति करनेसे राजाको अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है ॥ १९ ॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत् स्पृश्यते जगतः स च ॥ २० ॥

ऐसा करनेसे वह दुष्कर्मी राजा अनेक वर्षोंतक नरकमें ही निवास करता है । राजाका दोष जगत्को और जगत्का दोष राजाको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २१ ॥

बेटा ! तुम्हारे पिता-पितामहोंने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मोंकी ओर ही देखो । तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियोंका आचार अथवा राज-धर्म नहीं है ॥ २१ ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्ये व्यवस्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतं फलं किंचन लब्धवान् ॥ २२ ॥

जो सदा दयाभावमें ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुषने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफलको कभी नहीं प्राप्त किया है ॥ २२ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः ।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ २३ ॥

तुम जिस बुद्धिके सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डुने, न मैंने और न पितामहने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था (अर्थात् तुममें वैसी बुद्धि होनेकी कामना किसीने नहीं की थी) ॥ २३ ॥

यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ २४ ॥

मैं तो सदा यही मनाती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओजकी प्राप्ति हो ॥ २४ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः ॥ २५ ॥

कल्याणकारी ब्राह्मणोंकी भलीभाँति आराधना करनेपर वे भी सदा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, दीर्घायु, धन और पुत्रोंकी प्राप्तिके लिये ही आशीर्वाद देते थे ॥ २५ ॥

पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ॥ २६ ॥

देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजोंसे सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालनकी ही आशा रखते हैं ॥ २६ ॥

एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरा यह कथन धर्मसंगत है या अधर्मयुक्त, यह तुम स्वभावसे ही जानते हो । तात ! वे पाण्डव उत्तम कुलमें उत्पन्न और विद्वान् होकर भी इस समय जीविकाके अभावसे पीड़ित हैं ॥ २७ ॥

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ २८ ॥

भूतलपर विचरनेवाले भूखे मानव जहाँ दानपति, शूरवीर क्षत्रियके समीप पहुँचकर अन्न-पानसे पूर्णतः संतुष्ट हो अपने घरको जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है ? ॥ २८ ॥

दानेनान्यं बलेनान्यं तथा सूनृतया परम् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा पुरुष यहाँ राज्य पाकर किसीको दानसे, किसी-को बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा संतुष्ट करे । इस प्रकार सब ओरसे आये हुए लोगोंको दान, मान आदिसे संतुष्ट करके अपना ले ॥ २९ ॥

ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र उन तीनों वर्णोंकी सेवा करे ॥ ३० ॥

भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्तिका तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम तो दूसरोंको क्षतिसे त्राण देनेवाले क्षत्रिय हो । तुम्हें तो बाहुबलसे ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ३१ ॥

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओंके हाथमें पड़कर लुप्त हो गया है । तुम साम, दान, भेद अथवा दण्ड-नीतिसे पुनः उसका उद्धार करो ॥ ३२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वामित्रनन्दन ॥ ३३ ॥

शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव ! इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवोंसे हीन नारीकी भाँति जीविकाके लिये दूसरोंके दिये हुए अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ ॥ ३३ ॥

युद्धयस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥ ३४॥

अतः तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यसे वञ्चित होकर पापमयी गतिको न प्राप्त होओ॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना

कुन्त्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप॥ १॥

कुन्ती बोली—शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण! इस प्रसंगमें विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्रके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १॥

अत्र श्रेयश्च भूयश्च यथावद् वक्तुमर्हसि।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी॥ २॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता॥ ३॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम्।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम्॥ ४॥

इस इतिहासमें जो कल्याणकारी उपदेश हो, उसे तुम युधिष्ठिरके सामने यथावत् रूपसे फिर कहना। विदुला नामसे प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रिय-धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं। राजाओंकी मण्डलीमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अनेक शास्त्रोंको जाननेवाली और महापुरुषोंके उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाली थीं। एक समय उनका पुत्र सिन्धुराजसे पराजित हो अत्यन्त दीनभावसे घर आकर सो रहा था। राजरानी विदुलाने अपने उस औरस पुत्रको इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा की॥ २—४॥

विदुलोवाच

अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि॥ ५॥

विदुला बोली—अरे, तू मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है। तू तो शत्रुओंका ही हर्ष बढ़ानेवाला है, इसलिये अब मैं ऐसा समझने लगी हूँ कि तू मेरी कोखसे पैदा ही नहीं हुआ। तेरे पिताने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ-जैसा कायर कहाँसे आ गया ?॥ ५॥

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह॥ ६॥

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियोंमें गणना करनेयोग्य नहीं है। तू नाममात्रका पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकोंके समान हैं। क्या तू जीवनभरके लिये निराश हो गया ? अरे ! अब भी तो उठ और अपने कल्याणके लिये पुनः युद्धका भार वहन कर॥ ६॥

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर॥ ७॥

अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर, इस आत्माका थोड़े धनसे भरण-पोषण न कर, मनको परम कल्याणमय बनाकर—उसे शुभ संकल्पोंसे सम्पन्न करके निडर हो जा, भयको सर्वथा त्याग दे॥ ७॥

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः॥ ८॥

ओ कायर ! उठ, खड़ा हो, इस तरह शत्रुसे पराजित होकर घरमें शयन न कर (उद्योगशून्य न हो जा)। ऐसा करके तो तू सब शत्रुओंको ही आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठासे वञ्चित होकर बन्धु-बान्धवोंको शोकमें डाल रहा है॥ ८॥

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति॥ ९॥

जैसे छोटी नदी थोड़े जलसे अनायास ही भर जाती है और चूहेकी अञ्जलि थोड़े अन्नसे ही भर जाती है, उसी प्रकार कायरको संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह थोड़ेसे ही संतुष्ट हो जाता है॥ ९॥

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥

तू शत्रुरूपी साँपके दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जा। प्राण जानेका संदेह हो तो भी शत्रुके साथ युद्धमें पराक्रम ही प्रकट कर ॥ १० ॥

अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन्।
विनदन् वाथवा तूष्णीं व्योम्नि वापरिशङ्कितः ॥ ११ ॥

आकाशमें निःशङ्क होकर उड़नेवाले बाज पक्षीकी भाँति रणभूमिमें निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा चुप रहकर शत्रुके छिद्र देखता रह ॥ ११ ॥

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥

कायर! तू इस प्रकार बिजलीके मारे हुए मुर्देकी भाँति यहाँ क्यों निश्चेष्ट होकर पड़ा है? बस, तू खड़ा हो जा, शत्रुओंसे पराजित होकर यहाँ पड़ा मत रह ॥ १२ ॥

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥ १३ ॥

तू दीन होकर अस्त न हो जा। अपने शौर्यपूर्ण कर्मसे प्रसिद्धि प्राप्त कर। तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्ट भावका आश्रय न ले, वरं युद्धभूमिमें सिंहनाद करके डट जा ॥ १३ ॥

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥

तू तिन्दुककी जलती हुई लकड़ीके समान दो घड़ीके लिये भी प्रज्वलित हो उठ (थोड़ी देरके ही लिये सही, शत्रुके सामने महान् पराक्रम प्रकट कर); परंतु जीनेकी इच्छासे भूसीकी ज्वालारहित आगके समान केवल धूआँ न कर (मन्द पराक्रमसे काम न ले) ॥ १४ ॥

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकालतक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजाके घरमें अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभावके पुरुषका जन्म न हो ॥ १५ ॥

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम्।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें जाकर यथाशक्ति उत्तम पुरुषार्थ प्रकट करके धर्मके ऋणसे उऋण होता है और अपनी निन्दा नहीं कराता है ॥ १६ ॥

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥ १७ ॥

विद्वान् पुरुषको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता। वह (अपनी पूरी शक्तिके अनुसार) प्राणपर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धनकी इच्छा नहीं करता ॥ १७ ॥

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥

बेटा! धर्मको आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गतिको प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियोंके लिये निश्चित है, अन्यथा किसलिये जी रहा है? ॥ १८ ॥

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १९ ॥

कायर! तेरे इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूलमें मिल गयी और भोगका मूल साधन राज्य भी छिन गया, अब तू किसलिये जी रहा है? ॥ १९ ॥

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथंचन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन्।

मनुष्य डूबते समय अथवा ऊँचेसे नीचे गिरते समय भी शत्रुकी टाँग अवश्य पकड़े और ऐसा करते समय यदि अपना मूलोच्छेद हो जाय तो भी किसी प्रकार विषाद न करे। अच्छी जातिके घोड़े न तो थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं। उनके इस कार्यको स्मरण करके अपने ऊपर रक्खे हुए युद्ध आदिके भारको उद्योगपूर्वक वहन करे ॥ २०½ ॥

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥ २१ ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि।

बेटा! तू धैर्य और स्वाभिमानका अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थको जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंशका तू स्वयं ही उद्धार कर ॥ २१½ ॥

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ॥ २२ ॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान्।

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्रकी सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्याकी वृद्धिमात्र करनेवाला है। मेरी दृष्टिमें न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है ॥ २२½ ॥

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ॥ २३ ॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः।

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसके सुयशका सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माताका पुत्र नहीं, मलमूत्रमात्र ही है ॥ २३½ ॥

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा ॥ २४ ॥
जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान्।

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रमके द्वारा दूसरे लोगोंको पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्मके द्वारा पुरुष कहलाता है ॥ २४½ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ॥ २५ ॥
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम्।

तुझे हिजड़ों, कापालिकों, क्रूर मनुष्यों तथा कायरोंके लिये उचित भिक्षा आदि निन्दनीय वृत्तिका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली और दुःखदायिनी होती है ॥ २५½ ॥

यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ॥ २६ ॥
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम्।
अहोलाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ॥ २७ ॥
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते।

जिस दुर्बल मनुष्यका शत्रुपक्षके लोग अभिनन्दन करते हों, जो सब लोगोंके द्वारा अपमानित होता हो, जिसके आसन और वस्त्र निकृष्ट श्रेणीके हों, जो थोड़े लाभसे ही संतुष्ट होकर विस्मय प्रकट करता हो, जो सब प्रकारसे हीन, क्षुद्र जीवन बितानेवाला और ओछे स्वभावका हो, ऐसे बन्धुको पाकर उसके भाई-बन्धु सुखी नहीं होते ॥ २६-२७½ ॥

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात् प्रवासिताः ॥ २८ ॥
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः।

तेरी कायरताके कारण हमलोग इस राज्यसे निर्वासित होनेपर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित सुखोंसे हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिंचन हो जीविकाके अभावमें ही मर जायँगे ॥ २८½ ॥

अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ॥ २९ ॥
कलिं पुत्रप्रवादेन संजय त्वामजीजनम्।

संजय ! तू सत्पुरुषोंके बीचमें अशोभन कार्य करनेवाला है, कुल और वंशकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाला है। जान पड़ता है, तेरे रूपमें पुत्रके नामपर मैंने कलि-पुरुषको ही जन्म दिया है ॥ २९½ ॥

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥ ३० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।

संसारकी कोई भी नारी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रमसे रहित तथा शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला हो ॥ ३०½ ॥

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥ ३१ ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम्।

अरे ! धूमकी तरह न उठ। जोर-जोरसे प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षणके लिये भी वैरियोंके मस्तकपर जलती हुई आग बनकर छा जा ॥ ३१½ ॥

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२ ॥
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्।

जिस क्षत्रियके हृदयमें अमर्ष है और जो शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणोंके कारण वह पुरुष कहलाता है। जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है ॥ ३२½ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च ॥ ३३ ॥
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत्।

संतोष, दया, उद्योगशून्यता और भय—ये सम्पत्तिका नाश करनेवाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता ॥ ३३½ ॥

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना ॥ ३४ ॥
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम्।

पराजयके कारण जो लोकमें तेरी निन्दा और तिरस्कार हो रहे हैं, इन सब दोषोंसे तू स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर और अपने हृदयको लोहेके समान दृढ़ बनाकर पुनः अपने योग्य पद (राज्यवैभव) का अनुसंधान कर ॥ ३४½ ॥

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३५ ॥
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति।

जो पर अर्थात् शत्रुका सामना करके उसके वेगको सह लेता है, वही उस पुरुषार्थके कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत्‌में स्त्रीकी भाँति भीरुतापूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है ॥ ३५½ ॥

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ॥ ३६ ॥
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा।

यदि बढ़े हुए तेज और उत्साहवाला, शूरवीर एवं सिंहके समान पराक्रमी राजा युद्धमें दैववश वीरगतिको प्राप्त हो जाय तो भी उसके राज्यमें प्रजा सुखी ही रहती है ॥ ३६½ ॥

य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ॥ ३७ ॥
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८ ॥

जो अपने प्रिय और सुखका परित्याग करके सम्पत्तिका अन्वेषण करता है, वह शीघ्र ही अपने मन्त्रियोंका हर्ष बढ़ाता है ॥ ३७—३८ ॥

पुत्र उवाच

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३९ ॥

पुत्र बोला—माँ ! यदि तू मुझे न देखे तो यह सारी पृथ्वी मिल जानेपर भी तुझे क्या सुख मिलेगा ? मेरे न

रहनेपर तुझे आभूषणोंकी भी क्या आवश्यकता होगी? भाँति-भाँतिके भोगों और जीवनसे भी तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ॥ ३९ ॥

मातोवाच

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान् व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥

विदुला बोली—बेटा! आज क्या भोजन होगा? इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए दरिद्रोंके जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओंको प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंके जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें ॥

भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम्।
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥

संजय! भृत्यहीन, दूसरोंके अन्नपर जीनेवाले, दीन-दुर्बल मनुष्योंकी वृत्तिका अनुसरण न कर ॥ ४१ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ ४२ ॥

तात! जैसे सब प्राणियोंकी जीविका मेघके अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्रके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें ॥ ४२ ॥

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥

संजय! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुषका आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसीका जीवन सार्थक है ॥ ४३ ॥

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम्।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥

जैसे इन्द्रके पराक्रमसे सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुषके बल और पुरुषार्थसे उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसारमें उसीका जीवन श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य अपने बाहुबलका आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वही इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें शुभ गति पाता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना

विदुलोवाच

अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥

विदुला बोली—संजय! यदि तू इस दशामें पौरुषको छोड़ देनेकी इच्छा करता है तो शीघ्र ही नीच पुरुषोंके मार्ग-पर जा पहुँचेगा ॥ १ ॥

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात्।
क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय अपने जीवनके लोभसे यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेजका परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं ॥ २ ॥

अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ॥ ३ ॥

जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई भी दवा लागू नहीं होती, उसी प्रकार ये युक्तियुक्त, गुणकारी और सार्थक वचन भी तेरे हृदयतक पहुँच नहीं पाते हैं (यह कितने दुःखकी बात है) ॥ ३ ॥

सन्ति वै सिन्धुराजस्य संतुष्टा न तथा जनाः।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥

देख, सिन्धुराजकी प्रजा उससे संतुष्ट नहीं है, तथापि तेरी दुर्बलताके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो उदासीन बैठी हुई है और सिन्धुराजपर विपत्तियोंके आनेकी बाट जोह रही है ॥

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥

दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधरसे विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनोंकी वृद्धि करके सिन्धुराजके शत्रु हो सकते हैं ॥ ५ ॥

तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन् नैवायमजरामरः ॥ ६ ॥

तू उन सबके साथ मैत्री करके यथासमय अपने शत्रु सिन्धु-राजपर विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतोंकी दुर्गम गुफामें विचरता रह; क्योंकि यह सिन्धुराज कोई अजर, अमर तो है नहीं ॥ ६ ॥

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ ७ ॥

तेरा नाम तो संजय है, परंतु तुझमें इस नामके अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। बेटा ! युद्धमें विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर ॥

सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
अयं प्राप्य महत् कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ८ ॥

जब तू बालक था, उस समय एक उत्तम दृष्टिवाले, परम बुद्धिमान् ब्राह्मणने तेरे विषयमें कहा था कि 'यह महान् संकटमें पड़कर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होगा' ॥ ८ ॥

तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।
तस्मात् तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

उस ब्राह्मणकी बातको याद करके मैं यह आशा करती हूँ कि तेरी विजय होगी । तात ! इसीलिये मैं बार-बार तुझसे कहती हूँ और कहती रहूँगी ॥ ९ ॥

यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्यार्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ॥ १० ॥

जिसके प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग भी संतुष्ट एवं उन्नतिको प्राप्त होते हैं, नीतिमार्गपर चलकर अर्थसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले उस पुरुषको निश्चय ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है ॥ १० ॥

समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम संजय ।
एवं विद्वान् युद्धमना भव मा प्रत्युपाहर ॥ ११ ॥

संजय ! युद्धसे हमारे पूर्वजोंका अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, ऐसा समझकर उसीमें मन लगा, युद्ध बंद न कर ॥ ११ ॥

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥

जहाँ आजके लिये और कल सबेरेके लिये भी भोजन दिखायी नहीं देता, उससे बढ़कर महान् पापपूर्ण कोई दूसरी अवस्था नहीं है, ऐसा शम्बरासुरका कथन है ॥ १२ ॥

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥

जिसका नाम दरिद्रता है, उसे पति और पुत्रके वधसे भी अधिक दुःखदायक बताया गया है । दरिद्रता मृत्युका समानार्थक शब्द है ॥ १३ ॥

अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥

मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हो हंसीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी और इस राज्यकी स्वामिनी, समस्त कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा पतिदेवके परम आदरकी पात्र हुई ॥ १४ ॥

महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा हृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत् सुहृद्गताम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरे सुहृदोंने जब मुझे सगे-सम्बन्धियोंके बीच बहुमूल्य हार एवं आभूषणोंसे विभूषित तथा परम सुन्दर स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित देखा, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ १५ ॥

यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनार्थो भविता तव संजय ॥ १६ ॥

संजय ! अब जिस समय तू मुझे और अपनी पत्नीको चिन्ताके कारण अत्यन्त दुर्बल देखेगा, उस समय तुझे जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होगी ॥ १६ ॥

दासकर्मकरान् भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान् प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७ ॥

जब सेवाका काम करनेवाले दास, भरण-पोषण पानेवाले कुटुम्बी, आचार्य, ऋत्विक् और पुरोहित जीविकाके अभावमें हमें छोड़कर जाने लगेंगे, उस समय उन्हें देखकर तुझे जीवन-धारणका कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देगा ॥ १७ ॥

यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा ।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥

यदि पहलेके समान आज भी मैं तेरे यशकी वृद्धि करनेवाले प्रशंसनीय कर्मोंको नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ १८ ॥

नेति चेद् ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥

यदि किसी ब्राह्मणके माँगनेपर मैं उसकी अभीष्ट वस्तुके लिये 'नाहीं' कह दूँगी तो उसी समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा । आजतक मैंने या मेरे पतिदेवने किसी ब्राह्मणसे नाहीं नहीं की है ॥ १९ ॥

वयमाश्रयणीयाः स्म नाश्रितारः परस्य च ।
सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥

हम सदा लोगोंके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरोंके आश्रित कभी नहीं रहे; परंतु अब यदि दूसरेका आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवनका परित्याग ही कर दूँगी।

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान् संजीवयस्व नः ॥ २१ ॥

बेटा ! अपार समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको तू पार लगानेवाला हो । नौकाविहीन अगाध जलराशि (महान् संकट) में तू हमारे लिये नौका हो जा । हमारे लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा और हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन दान कर ॥ २१ ॥

सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमिच्छसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।

यदि तुझे जीवनके प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू अपने सभी शत्रुओंको परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरोंकी-सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविकाको त्याग देना चाहिये ॥ २२½ ॥

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च गृहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ॥ २४ ॥

एक शत्रुका वध करनेसे ही शूरवीर पुरुष सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात हो जाता है। देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुरका वध करके ही 'महेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हो गये। उन्हें रहनेके लिये इन्द्रभवन प्राप्त हुआ और वे तीनों लोकोंके अधीश्वर हो गये॥

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओंको ललकारकर, सेनाके अग्रभागको खदेड़कर अथवा शत्रुपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषका वध करके जभी उत्तम युद्धके द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं ॥२५-२६॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥

कायर मनुष्य विवश हो युद्धमें अपने शरीरका त्याग करके युद्धकुशल शूरवीरको सम्पूर्ण मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली अपनी समृद्धियोंके द्वारा तृप्त करते हैं ॥ २७ ॥

राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥

जिसका भयानक रूपसे पतन हुआ है, वह राज्य प्राप्त हो जाय या जीवन ही संकटमें पड़ जाय, किसी भी दशामें अपने हाथमें आये हुए शत्रुको श्रेष्ठ पुरुष शेष नहीं रहने देते हैं ॥

स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाप्यमृतोपमम् ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥ २९ ॥

युद्धको स्वर्गद्वारके सदृश उत्तम गति अथवा अमृतके सदृश राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़ ॥ २९ ॥

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वा दृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥

राजन्! तू युद्धमें शत्रुओंको मार और अपने धर्मका पालन कर। शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले तुझ वीर पुत्रको मैं अत्यन्त दीन या कायरके रूपमें न देखूँ ॥ ३० ॥

अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनाद् दीनमिव स्थितम् ॥ ३१ ॥

मैं तुझे दीनसे भी दीनके समान दयनीय अवस्थामें पड़ा हुआ तथा शोकमग्न हुए अपने पक्षके और गर्जन-तर्जन करते हुए शत्रुपक्षके लोगोंसे घिरा हुआ नहीं देखना चाहती ॥३१॥

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघस्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥

तू सौवीर देशकी कन्याओं (अपनी पत्नियों) के साथ हर्षका अनुभव कर। पहलेकी भाँति अपने धनकी अधिकताके लिये गर्व कर। विपत्तिमें पड़कर सिन्धुदेशीय (शत्रुदेशकी) कन्याओंके वशमें न हो जा ॥ ३२ ॥

युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाभिजनेन च ।
यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ॥ ३३ ॥
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।

तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनतासे सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोकमें विख्यात है। तुझ-जैसा वीर पुरुष यदि पराक्रमके अवसरपर डर जाय, भार ढोनेके समय बिना नधे हुए बैलके समान बैठ रहे या भाग जाय तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ ॥३३½ ॥

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रुसे मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे जाता है तो मेरे हृदयमें क्या शान्ति मिलेगी? ॥ ३४½ ॥

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः ।३५।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।

इस कुलमें कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ, जो दूसरेके पीछे-पीछे चला हो। तात! तू दूसरेका सेवक होकर जीवित रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३५½ ॥

अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत् परिशाश्वतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

स्वयं विधाताने जिसकी सृष्टि की है, प्राचीन और अत्यन्त प्राचीन पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, परवर्ती और अतिपरवर्ती सत्पुरुष जिसका वर्णन करेंगे तथा जो चिरन्तन एवं अविनाशी है, उस सनातन और उत्तम क्षत्रिय-हृदयको मैं जानती हूँ ॥ ३६-३७ ॥

यो वै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित्।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित्॥ ३८ ॥

इस जगत्में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रियधर्मको जाननेवाला है; वह भयसे अथवा आजीविका-की ओर दृष्टि रखकर भी किसीके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता॥ ३८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥

सदा उद्यम करे, किसीके आगे सिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमयमें नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसीके आगे नतमस्तक न हो ॥ ३९ ॥

मातङ्गो मत्त इव च परीयात् सुमहामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ॥ ४० ॥

संजय ! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथीके समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणोंको तथा धर्मको ही नमस्कार करे॥ ४० ॥

नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१ ॥

क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय, वह अन्य वर्णके लोगोंको काबूमें रखता और समस्त पापियोंको दण्ड देता हुआ जीवनभर वैसा ही उद्यमशील बना रहे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३४

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश

पुत्र उवाच

कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम् ।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥

पुत्र बोला—माँ ! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लोहपिण्डको ठोक-पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरोंके समान है और तू सदा अमर्षमें भरी रहती है ॥ १ ॥

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा ।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥ २ ॥

अहो ! क्षत्रियोंका आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्धमें लगा रही है, मानो मैं दूसरेका बेटा होऊँ और तू दूसरेकी माँ हो ॥२॥

ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम् ।
किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया॥ ३ ॥

मुझ इकलौते पुत्रसे तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है ! मुझे न देखनेपर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा ? ॥ ३ ॥

किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा।
मयि वा संगरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥

मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्धमें मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणोंसे, भोग-सामग्रियोंसे तथा अपने जीवनसे भी कौन-सा सुख प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

मातोवाच

सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात् ।
तावेवाभिसमीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदम् ॥ ५ ॥

माता बोली—तात संजय ! विद्वानोंकी सारी अवस्था भी धर्म और अर्थके निमित्त ही होती है। उन्हीं दोनोंकी ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्धके लिये प्रेरित किया है।५।

स समीक्ष्यक्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥ ६ ॥
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि ।
तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ॥ ७ ॥
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम् ।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ॥ ८ ॥

यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखानेका मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समयमें भी यदि तू अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा और तुझसे जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभावका परिचय देकर शत्रुओंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करेगा तो उस दशामें सब ओर तेरा अपयश फैल जायगा। संजय ! ऐसे अवसरपर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदहीके स्नेहके समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा। अतः वत्स ! साधु पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख मनुष्य ही जिसपर चलते हैं, उस मार्गको त्याग दे ॥ ६–८ ॥

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः।
तव स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ९ ॥

प्रजाने जिसका आश्रय ले रक्खा है, वह तो बड़ी भारी अविद्या ही है। तू तो मुझे तभी प्रिय हो सकता है, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य हो जाय ॥ ९ ॥

धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथंचन।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और गुणोंसे युक्त, देवलोक तथा मनुष्य-लोकमें भी उपयोगी और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्कर्मसे ही तू मेरा प्रिय हो सकता है, इसके विपरीत असत्कर्मसे किसी प्रकार भी तू मुझे प्रिय नहीं हो सकता ॥ १० ॥

यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ॥ ११ ॥
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम्।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ॥ १२ ॥
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः।

बेटा ! जो इस प्रकार विनयशून्य एवं अशिक्षित पौत्रसे हर्षको प्राप्त होता है तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत एवं दुर्बुद्धि पुत्रसे सुख मानता है, उसका संतानोत्पादन व्यर्थ है; क्योंकि वे अयोग्य पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो निन्दित कर्म ही करते हैं, इससे वे अधम मनुष्य न तो इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोकमें ही ॥ ११-१२½ ॥

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च ॥ १३ ॥
जयन् वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम्।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम्।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

संजय ! इस लोकमें युद्ध एवं विजयके लिये ही विधाताने क्षत्रियकी सृष्टि की है। वह विजय प्राप्त करे या युद्धमें मारा जाय, सभी दशाओंमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। पुण्यमय स्वर्गलोकके इन्द्रभवनमें भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओंको वशमें करके सानन्द अनुभव करता है ॥ १३-१४ ॥

मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून् प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥

अतएव जो मनस्वी क्षत्रिय अनेक बार पराजित हो क्रोधसे दग्ध हो रहा हो, वह अवश्य ही विजयकी इच्छासे शत्रुओंपर आक्रमण करे। फिर तो वह अपने शरीरका परित्याग करके अथवा शत्रुको मार गिराकर ही शान्ति लाभ करता है। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है ? ॥ १५-१६ ॥

इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्में अत्यन्त अल्पमात्रामें अप्रिय की इच्छा करता है। लोकमें जिसका प्रिय अल्प होता है, उसका अप्रिय भी निश्चय ही अल्प होगा ॥ १७ ॥

प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम्।
ध्रुवं चाभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ॥ १८ ॥

प्रियके अभावमें मनुष्यकी शोभा नहीं होती है। जैसे गङ्गा समुद्रमें जाकर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह अभावग्रस्त पुरुष भी निश्चय ही लुप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

पुत्र उवाच

नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः।
कारुण्यमेवात्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ॥ १९ ॥

पुत्रने कहा—माँ ! तुझे अपने मुखसे ऐसा विचार नहीं व्यक्त करना चाहिये, अतः तू जड और मूककी भाँति होकर मुझ अपने पुत्रको विशेषरूपसे करुणापूर्ण दृष्टिसे ही देखो ॥

मातोवाच

अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि।
चोद्यं मां चोदयस्येतद् भृशं वै चोदयामि ते ॥ २० ॥

माता बोली—तेरे इस कथनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। तू इस प्रकार विचार तो करता है। मुझे मेरे कर्तव्य (पुत्रपर दयादृष्टि करने) की प्रेरणा दे रहा है, इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ ॥ २० ॥

अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान्।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ॥ २१ ॥

जब तू सिन्धुदेशके समस्त योद्धाओंको मारकर आयेगा, उस समय मैं तेरा स्वागत करूँगी। मुझे विश्वास है कि बड़े कष्टसे प्राप्त होनेवाली तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी ॥ २१ ॥

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ॥ २२ ॥
राज्याद् भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतः।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ॥ २३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरे पास न तो खजाना है और न

सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्टकी सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? अपनी इस दारुण अवस्थाके विषयमें स्वयं ही विचार करके मैंने राज्यकी ओरसे अपना अनुराग उसी प्रकार दूर हटा लिया है, जैसे स्वर्गकी ओरसे पापीका भाव हट जाता है। क्या तू ऐसा कोई उपाय देख रही है, जिससे मैं विजय पा सकूँ ॥ २२-२३ ॥

तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ २४ ॥

परिपक्व बुद्धिवाली माँ ! मेरे इस प्रश्नके अनुसार तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशोंका यथोचित्त रीतिसे पालन करूँगा ॥ २४ ॥

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥

माता बोली—बेटा ! पहलेकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है—यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिहीन पुरुषों-को ईर्ष्यावश ही धनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥

तात ! सभी कर्मोंके फलमें सदा अनित्यता रहती है—कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता है। इस अनित्यताको जानते हुए भी बुद्धिमान् पुरुष कर्म करते हैं और वे कभी असफल होते हैं, तो कभी सफल भी हो जाते हैं ॥ २६ ॥

अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।

परंतु जो कर्मोंका आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्टकी सिद्धिमें सफल नहीं होते, अतः कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठनेका यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्योंको कभी अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती । परंतु कर्मोंमें उत्साहपूर्वक लगे रहनेपर तो दोनों प्रकारके परिणामोंकी सम्भावना रहती है—कर्मोंका वाञ्छनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी ॥ २७½ ॥

यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ॥ २८ ॥
नुदेद् वृद्ध्यसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।

राजकुमार ! जिसे पहलेसे ही सभी पदार्थोंकी अनित्यता-का ज्ञान होता है, वह ज्ञानी पुरुष अपने प्रतिकूल शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनतिसे प्राप्त हुए दुःखका विचार द्वारा निवारण कर सकता है ॥ २८½ ॥

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥ २९ ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये ॥ २९½ ॥

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ॥ ३० ॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१ ॥

वत्स ! देवताओंसहित ब्राह्मणोंका पूजन तथा अन्यान्य माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करके प्रत्येक कार्यका आरम्भ करने-वाले बुद्धिमान् राजाकी शीघ्र उन्नति होती है। जैसे सूर्य अवश्य ही पूर्व दिशाका आश्रय ले उसे प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार राजलक्ष्मी पूर्वोक्त राजाको सब ओरसे प्राप्त होकर उसे यश एवं तेजसे सम्पन्न कर देती है ॥ ३०-३१ ॥

निदर्शनान्युपायांश्च बह्वन्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२ ॥

बेटा ! मैंने तुझे अनेक प्रकारके दृष्टान्त, बहुतसे उपाय और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोक-वृत्तान्तका भी बारंबार दिग्दर्शन कराया है। अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगी ॥ ३२ ॥

पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि ।
क्रुद्धाँल्लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् ।३३।
स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ॥ ३४ ॥
महावेग इवोद्धूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।

तुझे यहाँ अभीष्ट पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। जो लोग सिन्धुराजपर कुपित हों, जिनके मनमें धनका लोभ हो, जो सिन्धुनरेशके आक्रमणसे सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिन्हें अपने बल और पौरुषपर गर्व हो तथा जो तेरे शत्रुओंद्वारा अपमानित हों उनसे बदला लेनेके लिये होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू सावधान होकर दान-मानके द्वारा अपने पक्षमें कर ले। इस प्रकार तू बड़े-से-बड़े समुदायको फोड़ लेगा। ठीक उसी तरह, जैसे महान् वेगशाली वायु वेगपूर्वक उठकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ३३-३४½ ॥

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः ॥ ३५ ॥
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ।

तू उन्हें अग्रिम वेतन दे दिया कर। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठ जा और सबके साथ प्रिय वचन बोल। ऐसा करनेसे वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अपना अगुआ बना लेंगे ॥ ३५½ ॥

यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम्।
तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥

शत्रुको ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिये तैयार है, तभी घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उसके भयसे वह उद्विग्न हो उठता है ॥ ३६ ॥

तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद् भविष्यति ॥ ३७ ॥

यदि शत्रुको पराक्रमसम्पन्न जानकर अपनी असमर्थताके कारण उसे वशमें न कर सके तो उसे विश्वसनीय दूतोंद्वारा साम एवं दान नीतिका प्रयोग करके अनुकूल बना ले (जिससे वह आक्रमण न करके शान्त बैठा रहे)। ऐसा करनेसे अन्ततोगत्वा उसका वशीकरण हो जायगा ॥ ३७॥

निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शत्रुको शान्त कर देनेसे निर्भय आश्रय प्राप्त होता है। उसे प्राप्त कर लेनेपर युद्ध आदिमें न फँसनेके कारण अपने धनकी वृद्धि होती है। फिर धनसम्पन्न राजाका बहुतसे मित्र आश्रय लेते और उसकी सेवा करते हैं ॥ ३८ ॥

स्खलितार्थं पुनस्तात संत्यजन्ति च बान्धवाः।
अप्यस्मिन् नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम्॥ ३९ ॥

इसके विपरीत जिसका धन नष्ट हो गया है, उसके मित्र और भाई-बन्धु भी उसे त्याग देते हैं। उसपर विश्वास नहीं करते हैं तथा उसके-जैसे लोगोंकी निन्दा भी करते रहते हैं ॥

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति।
स न सम्भाव्यमेवैतद् यद् राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

जो शत्रुको सहायक बनाकर उसका विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाको पुत्रका उपदेशविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना

मातोवाच

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्याञ्चिदापदि।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥

माता बोली—पुत्र! कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजाको कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिये। यदि वह डरा हुआ हो तो भी डरे हुएके समान कोई बर्ताव न करे ॥ १ ॥

दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक् कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥

राजाको भयभीत देखकर उसके पक्षके सभी लोग भयभीत हो जाते हैं। राज्यकी प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते हैं ॥ २ ॥

शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद् विमानिताः ॥ ३ ॥

उनमेंसे कुछ लोग तो उस राजाके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, दूसरे लोग उसका त्यागमात्र कर देते हैं और कुछ लोग जो पहले राजाद्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे उस अवस्थामें उसके ऊपर प्रहार करनेकी भी इच्छा कर लेते हैं ॥ ३ ॥

य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इडा इव ॥ ४ ॥

जो लोग अत्यन्त सुहृद् होते हैं, वे ही उस संकटके समय उस राजाके पास रह जाते हैं; परंतु वे भी असमर्थ होनेके कारण बँधे हुए बछड़ेवाली गायोंकी भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन-ही-मन उसकी मङ्गलकामना करते रहते हैं ॥ ४ ॥

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान्।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥

जो विपत्तिकी अवस्थामें शोक करते हुए राजाके साथ-साथ स्वयं भी वैसे ही शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके कोई सगे भाई-बन्धु विपन्न हो गये हों, क्या ऐसे ही लोगोंको तूने सुहृद् माना है? क्या तूने भी पहले ऐसे सुहृदोंका सम्मान किया है? ॥ ५ ॥

ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥

जो संकटमें पड़े हुए राजाके राज्यको अपना ही मानकर उसकी तथा राजाकी रक्षाके लिये कृतसंकल्प होते हैं, ऐसे सुहृदोंको तू कभी अपनेसे विलग न कर और वे भी भयभीत अवस्थामें तेरा परित्याग न करें ॥ ६ ॥

प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ॥ ७ ॥

मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धि-बलको जानना चाहती थी; अतः तुझे आश्वासन देते हुए तेरे तेज (उत्साह) की वृद्धिके लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ७ ॥

यद्येतत् संविजानासि यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वासौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ॥ ८ ॥

संजय ! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातोंको ठीक समझ रहा है तो अपने आपको उग्र-सा बनाकर विजयके लिये उठ खड़ा हो ॥ ८ ॥

अस्ति नः कोशनिचयो महान् ह्यविदितस्तव ।
तमहं वेद नान्यस्तमुपसम्पादयामि ते ॥ ९ ॥

अभी हमलोगोंके पास बड़ा भारी खजाना है जिसका तुझे पता नहीं है, उसे मैं ही जानती हूँ, दूसरा नहीं। वह खजाना मैं तुझे सौंपती हूँ ॥ ९ ॥

सन्ति नैकतमा भूयः सुहृदस्तव संजय ।
सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ॥ १० ॥

वीर संजय ! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं। वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १० ॥

तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किंचित् सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! जो पुरुष अपनी उन्नति चाहता है और शत्रुके हाथसे अपनी अभीष्ट सम्पत्तिको हर लाना चाहता है उसके सहायक और मन्त्री पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सुहृद् हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

यस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वापि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत् तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ॥ १२ ॥

(कुन्ती बोली—) श्रीकृष्ण ! संजयका हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था तो भी विदुलाका वह विचित्र अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त वचन सुनकर उसका तमोगुणजनित भय और विषाद भाग गया ॥ १२ ॥

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ १३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जलमें डूब गया, है अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए अपने प्राणोंका विसर्जन कर देना है; जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुझ-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझमें ऐसा साहस होना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।
किंचित् किंचित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥

मैं बराबर तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता था। इसीलिये बारंबार बीच-बीचमें कुछ-कुछ बोलकर फिर मौन हो जाता था ॥ १४ ॥

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥ १५ ॥

तेरे ये अमृतके समान वचन बड़ी कठिनाईसे सुननेको मिले थे। उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था। यह देखो, अब मैं शत्रुओंका दमन और विजयकी प्राप्ति करनेके लिये बन्धु-बान्धवोंके साथ उद्योग कर रहा हूँ ॥ १५ ॥

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ १६ ॥

कुन्ती कहती हैं—श्रीकृष्ण ! माताके वाग्बाणोंसे बिंधकर और तिरस्कृत होकर चाबुककी मार खाये हुए अच्छे घोड़ेके समान संजयने माताके उस समस्त उपदेशका यथावत्रूपसे पालन किया ॥ १६ ॥

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७ ॥

यह उत्तम उपाख्यान वीरोंके लिये अत्यन्त उत्साहवर्धक और कायरोंके लिये भयंकर है। यदि कोई राजा शत्रुसे पीडित होकर दुखी एवं हताश हो रहा हो तो मन्त्रीको चाहिये कि उसे यह प्रसंग सुनाये ॥ १७ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८ ॥

यह जय नामक इतिहास है। विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये। इसे सुनकर युद्धमें जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओंको रौंद डालता है ॥ १८ ॥

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥

यह आख्यान पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है तथा साधारण पुरुषमें वीरभाव उत्पन्न करनेवाला है। यदि गर्भवती स्त्री इसे बारंबार सुने तो वह निश्चय ही वीर पुत्रको जन्म देती है ॥ १९ ॥

विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम्।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम्॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥

इसे सुनकर प्रत्येक क्षत्राणी विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तपस्वी, ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न, साधुवादके योग्य, तेजस्वी, बलवान्, परम सौभाग्यशाली, महारथी, धैर्यवान्, दुर्धर्ष विजयी, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक तथा सत्य-पराक्रमी वीर पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २०–२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाके द्वारा पुत्रको दिये जानेवाले उपदेशकी समाप्तिविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना

कुन्त्युवाच

अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ॥ १ ॥
अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ॥ २ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम अर्जुनसे जाकर कहना, तुम्हारे जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारमें बैठी थी, उसी समय आकाशमें यह दिव्यरूपा मनोरम वाणी सुनायी दी–'कुन्ती ! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा ॥ १-२ ॥

एष जेष्यति संग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान्।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ॥ ३ ॥

'यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए समस्त कौरवोंको जीत लेगा और शत्रु-समुदायको व्याकुल कर देगा ॥ ३ ॥

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ॥ ४ ॥
पित्र्यमंशं प्रणष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥ ५ ॥

'तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा, इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह संग्राममें विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्य-भागका पुनरुद्धार करेगा। यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा' ॥ ४-५ ॥

स सत्यसंधो बीभत्सुः सव्यसाची यथाच्युत।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ॥ ६ ॥

अच्युत ! सव्यसाची अर्जुन जैसा सत्यप्रतिज्ञ है तथा उसमें जितना बल एवं दुर्जय शक्ति है, उसे तुम्हीं जानते हो ॥६॥

तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण ! आकाशवाणीने जैसा कहा है, वैसा ही हो, यही मेरी भी इच्छा है। वृष्णिनन्दन ! यदि धर्मकी सत्ता है तो वह सब उसी रूपमें सत्य होगा ॥ ७ ॥

त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि।
नाहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम स्वयं भी वह सब कुछ उसी रूपमें पूर्ण करोगे। आकाशवाणीने जैसा कहा है, उसमें मैं किसी दोषकी उद्भावना नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥ ९ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥ १० ॥

मैं तो उस महान् धर्मको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि धर्म ही समस्त प्रजाको धारण करता है। तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे भी जाकर कहना—'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसीसे वैर ठन जानेपर उत्साहहीन नहीं होते' ॥ ९-१० ॥

विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति ।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! तुम्हें भीमसेनका विचार तो सदासे ज्ञात ही है, वह जबतक शत्रुओंका अन्त नहीं कर लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा ॥ ११ ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ।१२।
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि ।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत् त्वमवर्तिथाः ॥ १३ ॥

माधव ! श्रीकृष्ण ! तुम सब धर्मोंको विशेषरूपसे जाननेवाली महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू कल्याणमयी, यशस्विनी द्रौपदीसे कहना—'बेटी ! तू परम सौभाग्यशाली यशस्वी कुलमें उत्पन्न हुई है । तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ जो धर्मानुसार यथोचित बर्ताव किया है, यह तेरे ही योग्य है' ॥ १२-१३ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ १४ ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीकुमारोंसे भी मेरा यह संदेश कहना—'वीरो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपने पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंका ही उपभोग करो । क्षत्रियधर्मसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमद्वारा प्राप्त किये हुए पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं ॥ १४-१५ ॥

यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम् ।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'पाण्डवो ! सब प्रकारसे धर्मकी वृद्धि करनेवाले तुम सब लोगोंके देखते-देखते पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको जो कटुवचन सुनाये गये हैं, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है !' ॥ १६ ॥

न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः ।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ॥ १७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा ।
अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! मुझे राज्यके छिन जानेका उतना दुःख नहीं है । जुएमें हारने और पुत्रोंके वनवास होनेका भी मेरे मनमें उतना महान् दुःख नहीं है, परंतु भरी सभामें मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदीने रोते हुए जो दुर्योधनके कटुवचन सुने थे, वही मेरे लिये महान् दुःखका कारण बन गया है ॥ ॥ १७-१८ ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाध्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥ १९ ॥

क्षत्रियधर्ममें सदा तत्पर रहनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी सती-साध्वी बहू कृष्णा उन दिनों रजस्वलावस्थामें थी । वह सब प्रकारसे सनाथ थी, तो भी उस दिन कौरवसभामें उसे कोई रक्षक नहीं मिला (वह अनाथ-सी रोती हुई अपमान सह रही थी) ॥ १९ ॥

तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ २० ॥

महाबाहो ! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुनसे कहना कि 'तुम द्रौपदीके इच्छित पथपर चलो' ॥ २० ॥

विदितं हि तवात्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम तो अच्छी तरह जानते ही हो कि भीमसेन और अर्जुन कुपित हो जायँ तो वे यमराज तथा अन्तकके समान भयंकर हो जाते हैं और देवताओंको भी यमलोक पहुँचा सकते हैं ॥ २१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभागता ।
दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ॥ २२ ॥
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः ।

जुएके समय द्रौपदीको जो सभामें जाना पड़ा और कौरव वीरोंके सामने ही दुर्योधन और दुःशासनने जो उसे गालियाँ दीं, वह सब भीमसेन और अर्जुनका ही तिरस्कार है । मैं पुनः उसकी याद दिला देती हूँ ॥ २२½ ॥

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह ।२३।
मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ॥ २४ ॥

जनार्दन ! तुम मेरी ओरसे द्रौपदी और पुत्रोंसहित पाण्डवोंसे कुशल पूछना और फिर मुझे भी सकुशल बताना । जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो, मेरे पुत्रोंकी रक्षा करना ॥ २३-२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा भी की और फिर सिंहके समान मस्तानी चालसे वहाँसे निकल गये ॥ २५ ॥

ततो विसर्जयामास भीष्मादीन् कुरुपुङ्गवान् ।
आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ॥ २६ ॥

फिर भीष्म आदि प्रधान कुरुवंशियोंको उन्होंने विदा कर दिया और कर्णको रथपर बिठाकर सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः संगता मिथः ।
जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णके चले जानेपर सब कौरव आपसमें मिले और उनके अत्यन्त अद्भुत एवं महान् आश्चर्यजनक बल-वैभवकी चर्चा करने लगे ॥ २७ ॥

प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।
दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाब्रुवन् ॥ २८ ॥

वे बोले—'यह सारी पृथ्वी मृत्युपाशमें आबद्ध हो मोहाच्छन्न हो गयी है । जान पड़ता है, दुर्योधनकी मूर्खतासे इसका विनाश हो जायगा' ॥ २८ ॥

ततो निर्याय नगरात् प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥ २९ ॥

उधर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब नगरसे निकलकर उपप्लव्यकी ओर चले, तब उन्होंने दीर्घकालतक कर्णके साथ मन्त्रणा की ॥ २९ ॥

विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।
ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ॥ ३० ॥

फिर राधानन्दन कर्णको विदा करके सम्पूर्ण यदुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्णने तुरंत ही बड़े वेगसे अपने रथके घोड़े हँकवाये ॥ ३० ॥

ते पिबन्त इवाकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।
हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ॥ ३१ ॥

दारुकके हाँकनेपर वे महान् वेगशाली अश्व मन और वायुके समान तीव्र गतिसे आकाशको पीते हुए-से चले ॥ ३१ ॥

ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाशुगाः ।
उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ॥ ३२ ॥

उन्होंने शीघ्रगामी बाज पक्षीकी भाँति उस विशाल पथको तुरंत ही तै कर लिया और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको उपप्लव्य नगरमें पहुँचा दिया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीका कथन सुनकर महारथी भीष्म और द्रोणने अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य संनिधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ॥ २ ॥

'पुरुषसिंह ! कुन्तीने श्रीकृष्णके समीप जो अर्थयुक्त, धर्मसंगत, परम उत्तम एवं अत्यन्त भयंकर बात कही है, उसे तुमने भी सुना ही होगा ॥ २ ॥

तत् करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
न हि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! कुन्तीके पुत्र श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार वह सब कार्य करेंगे । अब राज्य लिये बिना वे कदापि शान्त नहीं रह सकते ॥ ३ ॥

क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।
सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ॥ ४ ॥

'तुमने द्यूतक्रीडाके समय धर्मके बन्धनमें बँधे हुए पाण्डवोंको तथा कौरवसभामें द्रौपदीको भी भारी क्लेश पहुँचाया था; किंतु उन्होंने तुम्हारा वह सब अपराध चुपचाप सह लिया ॥ ४ ॥

कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ॥ ५ ॥
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

'अब अस्त्रविद्यामें पारंगत अर्जुन और युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले भीमसेनको पाकर गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, दिव्य रथ और ध्वजको हस्तगत करके, बल और पराक्रमसे सम्पन्न नकुल और सहदेवको युद्धके लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी अपनी सहायताके रूपमें पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधोंको क्षमा नहीं करेंगे ॥ ५-६ ॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है, परम बुद्धिमान् अर्जुनने विराटनगरके युद्धमें हम सब लोगोंको परास्त कर दिया था और वह सब घटना तुम्हारी आँखोंके सामने घटित हुई थी ॥ ७ ॥

दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ॥ ८ ॥

'कपिध्वज अर्जुनने युद्धमें भयंकर कर्म करनेवाले निवात-कवच नामक दानवोंको रुद्रदेवतासम्बन्धी पाशुपत अस्त्र लेकर दग्ध कर डाला था ॥ ८ ॥

कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चापि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।

'घोषयात्राके समय ये कर्ण आदि योद्धा तुम्हारे साथ थे । तुम स्वयं भी रथ और कवच आदिसे सम्पन्न थे, तथापि अर्जुनने ही तुम्हें गन्धर्वोंके हाथसे छुड़ाया था । उनकी शक्तिको समझनेके लिये यही उदाहरण पर्याप्त होगा । अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ ९½ ॥

रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गताम् ॥ १० ॥
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक् कविः ।
तं गच्छ पुरुषव्याघ्रं व्यपनीयेह किल्बिषम् ॥ ११ ॥

'यह सारी पृथ्वी मौतकी दाढ़ोंके बीचमें जा पहुँची है । तुम संधिके द्वारा इसकी रक्षा करो । तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर धर्मात्मा, दयालु, मधुरभाषी और विद्वान् हैं । तुम अपने मनका सारा कलुष यहीं धो-बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिरकी शरणमें जाओ ॥ १०-११ ॥

दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ।
प्रशान्तभृकुटिः श्रीमान् कृता शान्तिः कुलस्य नः १२

'जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यह देख लेंगे कि तुमने धनुष उतार दिया है और तुम्हारी टेढ़ी भौंहें शान्त एवं सीधी हो गयी हैं तथा तुम क्रोध त्यागकर अपनी सहज शोभासे सम्पन्न हो रहे हो, तब हमें विश्वास हो जायगा कि तुमने हमारे कुल-में शान्ति स्थापित कर दी ॥ १२ ॥

तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ।
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिंदम ॥ १३ ॥

'शत्रुदमन ! तुम अपने मन्त्रियोंके साथ पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरके पास जाओ और पहलेहीकी भाँति उनके हृदयसे लगकर उन्हें प्रणाम करो ॥ १३ ॥

अभिवादयमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ।
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

'भीमके बड़े भाई कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हें प्रणाम करते देख सौहार्दवश अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लें ॥

सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ।
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ॥ १५ ॥

'जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी, गोलाकार तथा अधिक मोटी हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी तुम्हें अपनी दोनों भुजाओंमें भरकर छातीसे चिपका लें ॥ १५ ॥

कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ।
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १६ ॥

'शङ्खके समान ग्रीवा और कमलसदृश नेत्रोंवाले निद्रा-विजयी कुन्तीपुत्र धनंजय तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करें ॥

आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत् प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ।१७।

'इस भूतलपर जिनके रूपकी कहीं तुलना नहीं है, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव तुम्हारे प्रति गुरुजनोचित प्रेम और आदरका भाव लेकर तुम्हारी सेवामें उपस्थित हों ॥ १७ ॥

मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
संगच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं संत्यज्य पार्थिव ॥१८॥

'भूपाल ! तुम अभिमान छोड़कर अपने उन बिछुड़े हुए भाइयोंसे मिल जाओ और यह अपूर्व मिलन देखकर श्रीकृष्ण आदि सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहावें ॥

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर तुम अपने भाइयोंके साथ इस सारी पृथ्वीका शासन करो और ये राजा लोग एक दूसरेसे मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहाँसे पधारें ॥ १९ ॥

अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! इस युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा । तुम्हारे हितैषी सुहृद् जो तुम्हें युद्धसे रोकते हैं, उनकी वह बात सुनो और मानो; क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर क्षत्रियोंका निश्चय ही विनाश दिखायी दे रहा है ॥ २० ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ २१ ॥

'वीर ! ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हो रहे हैं । पशु और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं तथा नाना प्रकारके ऐसे उत्पात (अपशकुन) दिखायी देते हैं, जो क्षत्रियोंके विनाशकी सूचना देते हैं ॥ २१ ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि निवेशने ।
उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ॥ २२ ॥

'विशेषतः यहाँ हमारे घरमें बुरे निमित्त दृष्टिगोचर होते हैं । जलती हुई उल्काएँ गिरकर तुम्हारी सेनाको पीड़ित कर रही हैं ॥ २२ ॥

वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ॥ २३ ॥

'प्रजानाथ ! हमारे सारे वाहन अप्रसन्न एवं रोते-से

दिखायी देते हैं। गीध तुम्हारी सेनाओंको चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ॥ २३ ॥

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम्।
शिवाश्चाशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ॥२४॥

'इस नगर तथा राजभवनकी शोभा अब पहले-जैसी नहीं रही। सारी दिशाएँ जलती-सी प्रतीत होती हैं और उनमें अमङ्गलसूचक शब्द करती हुई गीदड़ियाँ फिर रही हैं ॥२४॥

कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम्।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च॥ २५ ॥

'महाबाहो! तुम पिता, माता तथा हम हितैषियोंका कहना मानो। अब शान्तिस्थापन और युद्ध दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ २५ ॥

न चेत् करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन! यदि तुम सुहृदोंकी बातें नहीं मानोगे तो अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होती देखकर पछताओगे ॥ २६ ॥

भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम्
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ॥ २७ ॥

'यदि हमारी ये बातें तुम्हें विपरीत जान पड़ती हैं तो जिस समय युद्धमें गर्जना करनेवाले महाबली भीमसेनका विकट सिंहनाद और अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनोगे, उस समय तुम्हें ये बातें याद आयेंगी' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोण-वाक्यविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः।
संहृत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किंचिद् व्याजहार ह॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म और द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर दुर्योधनका मन उदास हो गया। उसने टेढ़ी आँखोंसे देखकर और भौंहोंको बीचसे सिकोड़कर मुँह नीचा कर लिया। वह उन दोनोंसे कुछ बोला नहीं ॥ १ ॥

तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमन्तिकात्।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ॥ २ ॥

उसे उदास देख नरश्रेष्ठ भीष्म और द्रोण एक दूसरेकी ओर देखते हुए उसके निकट ही पुनः इस प्रकार बात करने लगे ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम्॥ ३ ॥

भीष्म बोले—अहो! जो गुरुजनोंकी सेवाके लिये उत्सुक, किसीके भी दोष न देखनेवाले, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी हैं, उन्हीं युधिष्ठिरसे हमें युद्ध करना पड़ेगा; इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी? ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनंजये।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन्! मेरा अपने पुत्र अश्वत्थामाके प्रति जैसा आदर है, उससे भी अधिक अर्जुनके प्रति है। कपिध्वज अर्जुनमें मेरे प्रति बहुत विनयभाव है॥४॥

तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५ ॥

मेरे पुत्रसे भी बढ़कर प्रियतम उन्हीं अर्जुनसे मुझे क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर युद्ध करना पड़ेगा। क्षात्रवृत्तिको धिक्कार है! ॥ ५ ॥

यस्य लोके समो नास्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः।
मत्प्रसादात् स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ॥ ६ ॥

मेरी ही कृपासे अर्जुन अन्य धनुर्धरोंसे श्रेष्ठ हो गये हैं। इस समय जगत्‌में उनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥

मित्रध्रुग् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथानृजुः शठः।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवागतः ॥ ७ ॥

जैसे यज्ञमें आया हुआ मूर्ख ब्राह्मण प्रतिष्ठा नहीं पाता, उसी प्रकार जो मित्रद्रोही, दुर्भावनायुक्त, नास्तिक, कुटिल और शठ है, वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है॥७॥

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥

पापात्मा मनुष्यको पापोंसे रोका जाय तो भी वह पाप ही करना चाहता है और जिसका हृदय शुभ संकल्पसे युक्त है, वह पुण्यात्मा पुरुष किसी पापीके द्वारा पापके लिये प्रेरित होनेपर भी शुभ कर्म करनेकी ही इच्छा रखता है॥८॥

मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनु प्रिये।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने पाण्डवोंके साथ सदा मिथ्या बर्ताव—छल-कपट ही किया है तो भी ये सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें ही लगे रहे हैं। अतः तुम्हारे ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष तुम्हारा ही अहित करनेवाले होंगे ॥ ९ ॥

त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाभिमन्यसे ॥ १० ॥

कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीने, मैंने, विदुरजीने तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी तुमसे तुम्हारे कल्याणकी ही बात बतायी है; तथापि तुम उसे मान नहीं रहे हो ॥ १० ॥

अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे ॥ ११ ॥

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य वर्षाकालमें बढ़े हुए ग्राह और मकर आदि जलजन्तुओंसे युक्त गङ्गाजीके वेगको दोनों बाहुओंसे तैरना चाहता हो, उसी प्रकार तुम मेरे पास बल है, ऐसा समझकर पाण्डव-सेनाको सहसा लाँघ जानेकी इच्छा रखते हो ॥ ११ ॥

वास एव यथा त्यक्तं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद् यौधिष्ठिरीं श्रियम्॥१२॥

जैसे कोई दूसरेका छोड़ा हुआ वस्त्र पहन ले और उसे अपना मानने लगे, उसी प्रकार तुम त्यागी हुई मालाकी भाँति युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीको पाकर अब उसे लोभवश अपनी समझते हो ॥ १२ ॥

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम्।
वनस्थमपि राज्यस्थः पाण्डवं को विजेष्यति ॥ १३ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रधारी भाइयोंसे घिरे हुए द्रौपदीसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वनमें रहें तो भी उन्हें राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ कौन नरेश युद्धमें जीत सकेगा ? ॥ १३ ॥

निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत ॥ १४ ॥

समस्त राजा जिनकी आज्ञामें किंकरकी भाँति खड़े रहते हैं, उन्हीं राजराज कुबेरसे मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर उनके साथ विराजमान हुए थे ॥ १४ ॥

कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः॥ १५ ॥

कुबेरके भवनमें जाकर उनसे भाँति-भाँतिके रत्न लेकर अब पाण्डव तुम्हारे समृद्धिशाली राष्ट्रपर आक्रमण करके अपना राज्य वापस लेना चाहते हैं ॥ १५ ॥

दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ ॥ १६ ॥

हम दोनोंने तो दान, यज्ञ और स्वाध्याय कर लिये। धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर लिया। अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः हमें तो तुम कृतकृत्य ही समझो ॥ १६ ॥

त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद् व्यसनमाप्स्यसि ॥ १७ ॥

परंतु तुम पाण्डवोंसे युद्ध ठानकर सुख, राज्य, मित्र और धन सब कुछ खोकर बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥१७॥

द्रौपदी यस्य चाशास्ते विजयं सत्यवादिनी।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १८ ॥

तपस्या एवं घोर व्रतका पालन करनेवाली सत्यवादिनी देवी द्रौपदी जिनकी विजयकी कामना करती है, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ १८ ॥

मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके मन्त्री और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन जिनके भाई हैं, उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको तुम कैसे जीतोगे ? ॥ १९ ॥

सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ २० ॥

धैर्यवान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन उग्र तपस्वी वीर पाण्डवको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ २० ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत् कार्यं भूतिमिच्छता।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे ॥ २१ ॥

जिस समय अपने बहुत-से सुहृद् संकटके समुद्रमें डूब रहे हों, उस समय कल्याणकी इच्छा रखनेवाले एक सुहृद्‌का जो कर्तव्य है—उस अवसरपर उसे जैसी बात कहनी चाहिये, वह यद्यपि पहले कही जा चुकी है, तथापि मैं उसे दुबारा कहूँगा ॥ २१ ॥

अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २२ ॥

राजन् ! युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम कुरुकुलकी वृद्धिके लिये उन वीर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। पुत्रों, मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोणवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३९॥

भगवान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च संजय।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः॥ १॥
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान्॥ २॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! राजपुत्रों तथा सेवकोंसे घिरे हुए, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले, अप्रमेयस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण जब राधानन्दन कर्णको रथपर बिठाकर हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये, तब उन्होंने उससे क्या कहा? गोविन्दने सूतपुत्र कर्णको क्या सान्त्वनाएँ दीं?॥ १-२॥

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत्।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ३॥

संजय! मेघके समान गम्भीर स्वरसे बोलनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कर्णसे जो मधुर अथवा कठोर वचन कहा हो—वह सब मुझे बताओ॥ ३॥

संजय उवाच

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च॥ ४॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत॥ ५॥

संजय बोले—भारत! अप्रमेयस्वरूप मधुसूदन श्रीकृष्णने राधानन्दन कर्णसे जो तीक्ष्ण, मधुर, प्रिय, धर्म-सम्मत, सत्य, हितकर एवं हृदयग्राह्य बातें क्रमशः कही थीं, उन सबको आप मुझसे सुनिये॥ ४-५॥

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया॥ ६॥

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है। तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शङ्काएँ पूछी हैं॥ ६॥

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥ ७॥

कर्ण! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो॥ ७॥

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः॥ ८॥

कर्ण! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ। (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है।) वैसे पुत्रकी माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है॥ ८॥

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि॥ ९॥

कर्ण! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए पुत्र हो;) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो। इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे॥ ९॥

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ॥ १०॥

पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं। पुरुषश्रेष्ठ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो॥ १०॥

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात्॥ ११॥

तात! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है॥ ११॥

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः॥ १२॥

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे॥ १२॥

राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः॥ १३॥

इसके सिवा, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक होंगे॥ १३॥

हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः॥ १४॥
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वभिषेचनम्॥ १५॥

बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, औषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी॥ १४-१५॥

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥ १६ ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी भी तुम्हारा राज्याभिषेक करें ॥ १६½ ॥

तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ १७ ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ॥ १८ ॥
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ १९ ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥ २० ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।

इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे ॥ १७—२०½ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ २१ ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥ २२ ॥

सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा ॥ २१-२२ ॥

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥ २३ ॥

नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पञ्चालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥

अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥ २४ ॥

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे । प्रजानाथ ! दशार्ह तथा दशार्णकुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे ॥ २४ ॥

भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥ २५ ॥

महाबाहो ! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ राज्य भोगो । जप, होम तथा नाना प्रकारके माङ्गलिक कर्मोंमें संलग्न रहो ॥ २५ ॥

पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥ २६ ॥

द्रविड़, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वेणुप देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों ॥ २६ ॥

स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः ।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥ २७ ॥

सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषेण कर्णकी विजय घोषित कर दें ॥ २७ ॥

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥ २८ ॥

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तुम अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन और कुन्तीको आनन्दित करो ॥ २८ ॥

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥२९ ॥

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो । कर्ण ! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अच्छे बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४०॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ॥ १ ॥

कर्णने कहा—केशव ! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री और मेरे हितकी इच्छासे जो कुछ कहा है, वह निःसंदेह ठीक है ॥ १ ॥

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण ! जैसा कि आप मानते हैं, धर्मशास्त्रोंके निर्णयके अनुसार मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ । इन सब बातोंको मैं अच्छी तरह जानता और समझता हूँ ॥ २ ॥

कन्या गर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥

जनार्दन ! कुन्तीने कन्यावस्थामें भगवान् सूर्यके संयोगसे मुझे गर्भमें धारण किया था और मेरा जन्म हो जानेपर उन सूर्यदेवकी आज्ञासे ही मुझे जलमें विसर्जित कर दिया था ॥ ३ ॥

सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरा जन्म हुआ है । अतः मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ; परंतु कुन्तीदेवीने मुझे इस तरह त्याग दिया, जिससे मैं सकुशल नहीं रह सकता था ॥

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ॥ ५ ॥

मधुसूदन ! उसके बाद अधिरथ नामक सूत मुझे जलमें देखते ही निकालकर अपने घर ले आये और बड़े स्नेहसे मुझे अपनी पत्नी राधाकी गोदमें दे दिया ॥ ५ ॥

मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ॥ ६ ॥

उस समय मेरे प्रति अधिक स्नेहके कारण राधाके स्तनोंमें तत्काल दूध उतर आया । माधव ! उस अवस्थामें उसीने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया ॥ ६ ॥

तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद् धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ॥ ७ ॥

अतः सदा धर्मशास्त्रोंके श्रवणमें तत्पर रहनेवाला मुझ जैसा धर्मज्ञ पुरुष राधाके मुखका ग्रास कैसे छीन सकता है ? (उसका पालन-पोषण न करके उसे त्याग देनेकी क्रूरता कैसे कर सकता है ?) ॥ ७ ॥

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ॥ ८ ॥

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं और मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदासे अपना पिता ही मानता आया हूँ ॥ ८ ॥

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ॥ ९ ॥
नाम वै वसुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।

माधव ! उन्होंने मेरे जातकर्म आदि संस्कार करवाये तथा जनार्दन ! उन्होंने ही पुत्रप्रेमवश शास्त्रीय विधिसे ब्राह्मणोंद्वारा मेरा 'वसुषेण' नाम रखवाया ॥ ९½ ॥

भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ॥ १० ॥
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण संजातं कामबन्धनम् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरी युवावस्था होनेपर अधिरथने सूतजातिकी कई कन्याओंके साथ मेरा विवाह करवाया । अब उनसे मेरे पुत्र और पौत्र भी पैदा हो चुके हैं । जनार्दन ! उन स्त्रियोंमें मेरा हृदय कामभावसे आसक्त रहा है ॥ १०-११ ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥ १२ ॥

गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवीका राज्य पाकर, सुवर्णकी राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भयके कारण भी वह सब सम्बन्ध मिथ्या नहीं करना चाहता ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधनका सहारा पाकर धृतराष्ट्रके कुलमें रहते हुए तेरह वर्षोंतक अकण्टक राज्यका उपभोग किया है ॥ १३ ॥

इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयासकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ॥ १४ ॥

वहाँ मैंने सूतोंके साथ मिलकर बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा उन्हींके साथ रहकर अनेकानेक कुलधर्म एवं वैवाहिक कार्य सम्पन्न किये हैं ॥ १४ ॥

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ॥ १५ ॥

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवोंके साथ विग्रह करनेका साहस किया है॥१५॥

तस्माद् रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

अतः अच्युत ! मुझे द्वैरथ युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करनेके लिये उसने चुन लिया है ॥ १६ ॥

वधाद् बन्धाद् भयाद् वापि लोभाद् वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥

जनार्दन ! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभसे भी बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता ॥ १७ ॥

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

हृषीकेश ! अब यदि मैं अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्ध न

करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनोंके लिये अपयशकी बात होगी ॥ १८ ॥

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥१९॥

मधुसूदन ! इसमें संदेह नहीं कि आप मेरे हितके लिये ही ये सब बातें कहते हैं । पाण्डव आपके अधीन हैं; इसलिये आप उनसे जो कुछ भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं ॥ १९ ॥

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥

परंतु मधुसूदन ! मेरे और आपके बीचमें जो यह गुप्त परामर्श हुआ है, उसे आप यहीं तक सीमित रक्खें । यादवनन्दन ! ऐसा करनेमें ही मैं यहाँ सब प्रकारसे हित समझता हूँ ॥ २० ॥

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥ २१ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं (कर्ण) कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुदमन मधुसूदन ! उस दशामें मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्यको पाकर भी दुर्योधनको ही सौंप दूँगा ॥२२॥

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः ।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ॥ २३ ॥

मैं भी यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें ।२३।

पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ॥ २५ ॥
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चापराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ॥ २६ ॥
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ॥ २७ ॥

माधव ! जनार्दन ! जिनके सहायक महारथी भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, उत्तमौजा, युधामन्यु, सोमकवंशी सत्यधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, अपराजित वीर शिखण्डी, इन्द्रगोपके समान वर्णवाले पाँचों भाई केकय-राजकुमार, इन्द्रधनुषके समान रंगवाले महामना कुन्तिभोज, भीमसेनके मामा महारथी श्येनजित्, विराटपुत्र शंख तथा अक्षयनिधिके समान आप हैं, उन्हीं युधिष्ठिरके अधिकारमें यह सारा भूमण्डल तथा कौरव-राज्य रहेगा ॥ २४—२७ ॥

महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने यह क्षत्रियोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है तथा समस्त राजाओंमें विख्यात एवं उज्ज्वल यह कुरुदेशका राज्य भी उसे प्राप्त हो गया है ।२८।

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥ २९ ॥

जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! अब दुर्योधनके यहाँ एक शस्त्र-यज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे ॥ २९ ॥

आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति ।
होता चैवात्र बीभत्सुः संनद्धः स कपिध्वजः ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण ! इस यज्ञमें अध्वर्युका काम भी आपको ही करना होगा । कवच आदिसे सुसज्जित कपिध्वज अर्जुन इसमें होता बनेंगे ॥ ३० ॥

गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥

गाण्डीव धनुष स्रुवाका काम करेगा और विपक्षी वीरोंका पराक्रम ही हवनीय घृत होगा । माधव ! सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रयुक्त होनेवाले ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और स्थूणाकर्ण आदि अस्त्र ही वेद-मन्त्र होंगे ॥ ३१ ॥

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति ॥ ३२ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी अस्त्रविद्यामें अपने पिताका ही अनुसरण करनेवाला अथवा पराक्रममें उनसे भी बढ़कर है । वह इस शस्त्रयज्ञमें उत्तम स्तोत्रगान (उद्गातृकर्म) की पूर्ति करेगा ॥ ३२ ॥

उद्गातात्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद् रणे ॥ ३३ ॥

अभिमन्यु ही उद्गाता और महाबली नरश्रेष्ठ भीमसेन ही प्रस्तोता होंगे, जो रणभूमिमें गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके हाथियोंकी सेनाका विनाश कर डालेंगे ॥ ३३ ॥

स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद् राजा युधिष्ठिरः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ॥ ३४ ॥

वे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही सदा जप और होममें संलग्न रहकर उस यज्ञमें ब्रह्माका कार्य सम्पन्न करेंगे ॥ ३४ ॥

शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ॥ ३५ ॥

मधुसूदन ! शङ्ख, मुरज तथा भेरियोंके शब्द और उच्च स्वरसे किये हुए सिंहनाद ही सुब्रह्मण्यनाद होंगे ॥३५॥

नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः ॥ ३६ ॥

माद्रीके यशस्वी पुत्र महापराक्रमी नकुल-सहदेव उसमें भलीभाँति शामित्रकर्मका सम्पादन करेंगे ॥ ३६ ॥

कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन ॥ ३७ ॥

गोविन्द ! जनार्दन ! विचित्र ध्वजदण्डोंसे सुशोभित निर्मल रथ-पंक्तियाँ ही इस रणयज्ञमें यूपोंका काम करेंगी। ३७।

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ॥ ३८ ॥

कर्णि, नालीक, नाराच और वत्सदन्त आदि बाण उपबृंहण (सोमाहुतिके साधनभूत चमस आदि पात्र) होंगे। तोमर सोमकलशका और धनुष पवित्रीका काम करेंगे। ३८।

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।
हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण ! उस यज्ञमें खड्ग ही कपाल, शत्रुओंके मस्तक ही पुरोडाश तथा रुधिर ही हविष्य होंगे ॥ ३९ ॥

इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ ४० ॥

निर्मल शक्तियाँ और गदाएँ सब ओर बिखरी हुई समिधाएँ होंगी । द्रोण और कृपाचार्यके शिष्य ही सदस्यका कार्य करेंगे ॥ ४० ॥

इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ॥ ४१ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके छोड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एवं अन्य महारथियोंके चलाये हुए बाण यज्ञ-कुण्डके सब ओर बिछाये जानेवाले कुशोंका काम देंगे ॥४१॥

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ॥ ४२ ॥

सात्यकि प्रतिस्थाता (अध्वर्युके दूसरे सहयोगी) का कार्य करेंगे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इस रणयज्ञकी दीक्षा लेगा और उसकी विशाल सेना ही यजमानपत्नीका काम करेगी॥

घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ ४३ ॥

महाबाहो ! इस महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ हो जानेपर उसके अतिरात्रयागमें (अथवा आधी रातके समय) महाबली घटोत्कच शामित्रकर्म करेगा ॥ ४३ ॥

दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यः कृष्ण पावकात् ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जो श्रौत यज्ञके आरम्भमें ही साक्षात् अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुआ था, वह प्रतापी वीर धृष्टद्युम्न इस यज्ञकी दक्षिणाका कार्य सम्पादन करेगा ॥ ४४ ॥

यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने जो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको बहुतसे कटुवचन सुनाये हैं, उस अयोग्य कर्मके कारण आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है ॥ ४५ ॥

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण ! जब आप सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मुझे मारा गया देखेंगे, उस समय इस यज्ञका पुनश्चिति-कर्म (यज्ञके अनन्तर किया जानेवाला चयनारम्भ) सम्पन्न होगा ४६

दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक् तदा सुत्यं भविष्यति ॥ ४७ ॥

जब पाण्डुनन्दन भीमसेन सिंहनाद करते हुए दुःशासनका रक्त पान करेंगे, उस समय इस यज्ञका सुत्य (सोमाभिषव) कर्म पूरा होगा ॥ ४७ ॥

यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः।
तदा यज्ञावसानं तद् भविष्यति जनार्दन ॥ ४८ ॥

जनार्दन ! जब दोनों पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न और शिखण्डी द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिरायेंगे, उस समय इस रणयज्ञका अवसान (बीच-बीचमें होनेवाला विराम) कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४८ ॥

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ॥ ४९ ॥

माधव ! जब महाबली भीमसेन दुर्योधनका वध करेंगे उस समय धृतराष्ट्रपुत्रका प्रारम्भ किया हुआ यह यज्ञ समाप्त हो जायगा ॥ ४९ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ॥ ५० ॥
रुदत्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ॥ ५१ ॥

केशव ! जिनके पति, पुत्र और संरक्षक मार दिये गये होंगे, वे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पौत्रोंकी बहुएँ जब गान्धारीके साथ एकत्र होकर कुत्तों, गीधों और कुरर पक्षियोंसे भरे हुए समराङ्गणमें रोती हुई विचरेंगी, जनार्दन ! वही उस यज्ञका अवभृथस्नान होगा ॥ ५०-५१ ॥

विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ॥ ५२ ॥

क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन ! तुम्हारे इस शान्तिस्थापनके प्रयत्नसे कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्युको प्राप्त हों (युद्धमें शस्त्रोंसे होनेवाली मृत्युसे वञ्चित रह जायँ) ॥ ५२ ॥

शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्यापि केशव ॥ ५३ ॥

केशव ! कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंके लिये परम पुण्यतम तीर्थ है । यह समृद्धिशाली क्षत्रियसमुदाय वहीं जाकर शस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

तदत्र पुण्डरीकाक्ष विधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

कमलनयन वृष्णिनन्दन ! आप भी इसकी सिद्धिके लिये ही ऐसा मनोवाञ्छित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा-का-सारा क्षत्रियसमूह स्वर्गलोकमें पहुँच जाय ॥ ५४ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।
तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥ ५५ ॥

जनार्दन ! जबतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, तबतक इस युद्धकी कीर्ति-कथा अक्षय बनी रहेगी ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥ ५६ ॥

वार्ष्णेय ! ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके समाजमें इस महाभारतयुद्धका, जिसमें राजाओंके सुयशरूपी धनका संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे ॥ ५६ ॥

समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।
मन्त्रसंवरणं कुर्वन् नित्यमेव परंतप ॥ ५७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले केशव ! आप इस मन्त्रणाको सदा गुप्त रखते हुए ही कुन्तीकुमार अर्जुनको मेरे साथ युद्ध करनेके लिये ले आवें ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने निश्चित विचारका प्रतिपादनविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन् वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! विपक्षी वीरोंका वध करनेवाले भगवान् केशव कर्णकी उपर्युक्त बात सुनकर ठठाकर हँस पड़े और मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्ण ! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो ॥२॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है । इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है । पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है॥

दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ॥ ४ ॥

विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है । वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है । उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४ ॥

न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥ ५ ॥

कर्ण ! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लम्बा है । वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ५

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥ ६ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ७ ॥

कर्ण ! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आये हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय

तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा)॥६-७॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम्॥ ८॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम्।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ ९॥

जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ८-९

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम्।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे॥ १०॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम्।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ ११॥

जब तुम युद्धमें महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी।१०-११।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम्।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम्॥ १२॥
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ १३॥

जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची अर्जुनने तुरंत उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्के-से रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा॥ १२-१३॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव॥ १४॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ १५॥

जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रुवीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा॥ १४-१५॥

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम्।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः॥ १६॥

कर्ण! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि 'यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है। इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं॥ १६॥

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः॥ १७॥

'सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गर्मी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्ष मास चल रहा है)

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम्॥ १८॥

'आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय'॥

तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम्॥ १९॥

इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना 'आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा'॥ १९॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम्॥ २०॥

दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं, वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे।२०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे भगवद्वाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्रायनिवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन

संजय उवाच

केशवस्य तु तद् वाक्यं कर्णः श्रुत्वा हितं शुभम्।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! भगवान् केशवका वह

हितकर एवं कल्याणकारी वचन सुनकर कर्ण मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कार्त्स्न्येन विनाशः समुपस्थितः ॥ २ ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

'महाबाहो ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालना चाहते हैं ! यह जो इस भूतलका पूर्णरूपसे विनाश उपस्थित हुआ है, उसमें मैं, शकुनि, दुःशासन तथा धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन निमित्तमात्र हुए हैं ॥ २-३ ॥

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसमें संदेह नहीं कि कौरवों और पाण्डवोंका यह बड़ा भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्तकी कीच मचा देनेवाला है ॥ ४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥ ५ ॥

'दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जो राजा और राजकुमार हैं, वे रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे जलकर निश्चय ही यमलोकमें जा पहुँचेंगे ॥ ५ ॥

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥ ६ ॥

'मधुसूदन ! मुझे बहुतसे भयंकर स्वप्न दिखायी देते हैं। घोर अपशकुन तथा अत्यन्त दारुण उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं ॥

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥ ७ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात मानो दुर्योधनकी पराजय और युधिष्ठिरकी विजय घोषित करते हैं ॥ ७ ॥

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी एवं तीक्ष्ण ग्रह शनैश्चर प्रजापतिसम्बन्धी रोहिणीनक्षत्रको पीड़ित करते हुए जगत्के प्राणियोंको अधिक-से-अधिक पीड़ा दे रहे हैं ॥ ८ ॥

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मंगल ग्रह ज्येष्ठाके निकटसे वक्रगतिका आश्रय ले अनुराधा नक्षत्रपर आना चाहते हैं। जो राज्यस्थ राजाके मित्रमण्डलका विनाश-सा सूचित कर रहे हैं ॥ ९ ॥

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ॥ १० ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! निश्चय ही कौरवोंपर महान् भय उपस्थित हुआ है। विशेषतः 'महापात' नामक ग्रह चित्राको पीड़ा दे रहा है (जो राजाओंके विनाशका सूचक है) ॥ १० ॥

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ॥ ११ ॥

'चन्द्रमाका कलंक (काला चिह्न) मिट-सा गया है, राहु सूर्यके समीप जा रहा है। आकाशसे ये उल्काएँ गिर रही हैं, वज्रपातके-से शब्द हो रहे हैं और धरती डोलती-सी जान पड़ती है ॥ ११ ॥

निष्टनन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाभिनन्दन्ति माधव ॥ १२ ॥

'माधव ! गजराज परस्पर टकराते और विकृत शब्द करते हैं। घोड़े नेत्रोंसे आँसू बहा रहे हैं। वे घास और पानी भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ॥ १३ ॥

'महाबाहो ! कहते हैं, इन निमित्तों (उत्पातसूचक लक्षणों) के प्रकट होनेपर प्राणियोंके विनाश करनेवाले दारुण भयकी उपस्थिति होती है ॥ १३ ॥

अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ॥ १४ ॥

'केशव ! हाथी, घोड़े तथा मनुष्य भोजन तो थोड़ा ही करते हैं; परंतु उनके पेटसे मल अधिक निकलता देखा जाता है ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।
पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधनकी समस्त सेनाओंमें ये बातें पायी जाती हैं। मनीषी पुरुष इन्हें पराजयका लक्षण कहते हैं ॥

प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत् तेषां जयलक्षणम् ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! पाण्डवोंके वाहन प्रसन्न बताये जाते हैं और मृग उनके दाहिनेसे जाते देखे जाते हैं; यह लक्षण उनकी विजयका सूचक है ॥ १६ ॥

अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम् ॥ १७ ॥

'केशव ! सभी मृग दुर्योधनके बाँयेंसे निकलते हैं और उसे प्रायः ऐसी वाणी सुनायी देती है, जिसके बोलनेवालेका शरीर नहीं दिखायी देता। यह उसकी पराजयका चिह्न है १७

मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवंजीवकसङ्घाश्चाप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ॥ १८ ॥

'मोर, शुभ शकुन सूचित करनेवाले मुर्गे, हंस, सारस, चातक तथा चकोरोंके समुदाय पाण्डवोंका अनुसरण करते हैं॥

गृध्राः कङ्का बकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः।
मक्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान्॥ १९॥

'इसी प्रकार गीध, कङ्क, बक, श्येन (बाज), राक्षस, भेड़िये तथा मक्खियोंके समूह कौरवोंके पीछे दौड़ते हैं ॥१९॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः।
अनाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल॥ २०॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें बजानेपर भी भेरियोंके शब्द प्रकट नहीं होते हैं और पाण्डवोंके डंके बिना बजाये ही बज उठते हैं ॥ २० ॥

उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत् पराभवलक्षणम्॥ २१॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें कुएँ आदि जलाशय गाय-बैलोंके समान शब्द करते हैं। यह उसकी पराजयका लक्षण है॥२१॥

मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत् समुपस्थितम्॥ २२॥
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम्।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति॥ २३॥

'माधव ! बादल आकाशसे मांस और रक्तकी वर्षा करते हैं। अन्तरिक्षमें चहारदिवारी, खाई, वप्र और सुन्दर फाटकोंसहित सूर्ययुक्त गन्धर्वनगर प्रकट दिखायी देता है। वहाँ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर एक काला परिघ प्रकट होता है ॥ २२-२३ ॥

उदयास्तमने संध्ये वेदयन्ती महद्भयम्।
शिवा च वाशते घोरं तत् पराभवलक्षणम्॥ २४॥

'सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों संध्याओंके समय एक गीदड़ी महान् भयकी सूचना देती हुई भयंकर आवाजमें रोती है। यह भी कौरवोंकी पराजयका लक्षण है ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन।
उत्सृजन्ति महद् घोरं तत् पराभवलक्षणम्॥ २५॥

'मधुसूदन ! एक पाँख, एक आँख और एक पैरवाले पक्षी अत्यन्त भयंकर शब्द करते हैं। यह भी कौरवपक्षकी पराजयका ही लक्षण है ॥ २५ ॥

कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः।
संध्यामभिमुखा यान्ति तत् पराभवलक्षणम्॥ २६॥

'संध्याकालमें काली ग्रीवा और लाल पैरवाले भयानक पक्षी सामने आ जाते हैं, वह भी पराजयका ही चिह्न है॥२६॥

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम्॥ २७॥

'मधुसूदन ! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है; फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है २७

पूर्वा दिग् लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः॥ २८॥

'श्रीकृष्ण ! पूर्व दिशा लाल, दक्षिण दिशा शस्त्रोंके समान रंगवाली (काली), पश्चिम दिशा मिट्टीके कच्चे बर्तनोंकी भाँति मटमैली तथा उत्तर दिशा शङ्खके समान श्वेत दिखायी देती है। इस प्रकार ये दिशाओंके पृथक्-पृथक् वर्ण बताये गये हैं ॥ २८ ॥

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव।
महद् भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने॥ २९॥

'माधव ! दुर्योधनको इन उत्पातोंका दर्शन तो होता ही है। उसके लिये सारी दिशाएँ भी प्रज्वलित-सी होकर महान् भयकी सूचना दे रही हैं ॥ २९ ॥

सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः।
अधिरोहन् मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत॥ ३०॥

'अच्युत ! मैंने स्वप्नके अन्तिम भागमें युधिष्ठिरको एक हजार खंभोंवाले महलपर भाइयोंसहित चढ़ते देखा है॥३०॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये॥ ३१॥

'उन सबके सिरपर सफेद पगड़ी और अङ्गोंमें श्वेत वस्त्र शोभित दिखायी दिये हैं। मैंने उन सबके आसनोंको भी श्वेत वर्णका ही देखा है ॥ ३१ ॥

तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन॥ ३२॥

'जनार्दन ! श्रीकृष्ण ! मैंने स्वप्नके अन्तमें आपकी इस पृथ्वीको भी रक्तसे मलिन और आँतसे लिपटी हुई देखा है३२

अस्थिसंचयमारूढश्चामितौजा युधिष्ठिरः।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान् घृतपायसम्॥ ३३॥

'मैंने स्वप्नमें देखा, अमिततेजस्वी युधिष्ठिर सफेद हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए हैं और सोनेके पात्रमें रक्खी हुई घृतमिश्रित खीरको बड़ी प्रसन्नताके साथ खा रहे हैं ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम्।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम्॥३४॥

'मैंने यह भी देखा कि युधिष्ठिर इस पृथ्वीको अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं; अतः यह निश्चित है कि आपकी दी हुई वसुन्धराका वे ही उपभोग करेंगे ॥ ३४ ॥

उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम्॥ ३५॥

'भयंकर कर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन भी हाथमें गदा

लिये ऊँचे पर्वतपर आरूढ़ हो इस पृथ्वीको ग्रसते हुए-से स्वप्नमें दिखायी दिये हैं ॥ ३५ ॥

क्षपयिष्यति नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३६ ॥

अतः यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि वे इस महायुद्धमें हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे । हृषीकेश ! मुझे यह भी विदित है कि जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है ॥

पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनंजयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार गाण्डीवधारी धनंजय भी आपके साथ श्वेत गजराजपर आरूढ़ हो अपनी परम कान्तिसे प्रकाशित होते हुए मुझे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३७ ॥

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः ।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥ ३८ ॥

'अतः श्रीकृष्ण ! आप सब लोग इस युद्धमें दुर्योधन आदि समस्त राजाओंका वध कर डालेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ॥ ३९ ॥
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ॥ ४० ॥

'नकुल, सहदेव तथा महारथी सात्यकि—ये तीन नरश्रेष्ठ मुझे स्वप्नमें श्वेत भुजबन्द, श्वेत कण्ठहार, श्वेत वस्त्र और श्वेत मालाओंसे विभूषित हो उत्तम नरयान (पालकी) पर चढ़े दिखायी दिये हैं । ये तीनों ही श्वेत छत्र और श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥ ३९-४० ॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान् विजानीहि केशव ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे मुझे तीन ही व्यक्ति स्वप्नमें श्वेत पगड़ीसे सुशोभित दिखायी दिये हैं । केशव ! आप उनके नाम मुझसे जान लें । वे हैं—अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा । माधव ! अन्य सब नरेश मुझे लाल पगड़ी धारण किये दिखायी दिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ॥ ४३ ॥
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयातौ स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ॥ ४४ ॥

'महाबाहु जनार्दन ! मैंने स्वप्नमें देखा, भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी मेरे तथा दुर्योधनके साथ ऊँट जुते हुए रथपर आरूढ़ हो दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे । विभो ! इसका फल यह होगा कि हमलोग थोड़े ही दिनोंमें यमलोक पहुँच जायँगे ॥ ४३-४४ ॥

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः ॥ ४५ ॥

'मैं अन्यान्य नरेश तथा वह सारा क्षत्रियसमाज सब-के-सब गाण्डीवकी अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, इसमें संशय नहीं है' ॥

श्रीकृष्ण उवाच

उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण ! निश्चय ही अब इस पृथ्वीका विनाशकाल उपस्थित हो गया है ; इसीलिये मेरी बात तुम्हारे हृदयतक नहीं पहुँचती है ॥ ४६ ॥

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ४७ ॥

तात ! जब समस्त प्राणियोंका विनाश निकट आ जाता है, तब अन्याय भी न्यायके समान प्रतीत होकर हृदयसे निकल नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

कर्ण उवाच

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥ ४८ ॥

कर्ण बोला—महाबाहु श्रीकृष्ण ! वीर क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले इस महायुद्धसे पार होकर यदि हम जीवित बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे ॥ ४८ ॥

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ ॥ ४९ ॥

अथवा श्रीकृष्ण ! अब हमलोग स्वर्गमें ही मिलेंगे, यह निश्चित है । अनघ ! वहाँ आजकी ही भाँति पुनः आपसे हमारी भेंट होगी ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण भगवान् श्रीकृष्णका प्रगाढ़ आलिङ्गन करके उनसे विदा ले रथके पिछले भागसे उतर गया ॥ ५० ॥

ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहास्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर अपने सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो राधानन्दन कर्ण दीनचित्त होकर हमलोगोंके साथ लौट आया ॥

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः ।

पुनरुच्चारयन् वार्ष्णो याहि याहीति सारथिम् ॥५२॥

तदनन्तर सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथिसे बार-बार 'चलो-चलो' ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्र गतिसे उपप्लव्य नगरकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्राय निवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब श्रीकृष्ण-का अनुनय असफल हो गया और वे कौरवोंके यहाँसे पाण्डवोंके पास चले गये, तब विदुरजी कुन्तीके पास जाकर शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥ २ ॥

'चिरंजीवी पुत्रोंको जन्म देनेवाली देवि ! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदासे यही रही है कि कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध न हो । इसके लिये मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया; परंतु दुर्योधन मेरी बात मानता ही नहीं है ॥

उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ॥ ३ ॥

'राजा युधिष्ठिर चेदि, पाञ्चाल तथा केकयदेशके वीर सैनिकगण, भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा नकुल-सहदेव आदि श्रेष्ठ सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ३ ॥

उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
काङ्क्षते ज्ञातिसौहार्दाद् बलवान् दुर्बलो यथा ॥ ४ ॥

'वे युद्धके लिये उद्यत हो उपप्लव्य नगरमें छावनी डालकर बैठे हुए हैं, तथापि भाई-बन्धुओंके सौहार्दवश धर्मकी ही आकाङ्क्षा रखते हैं । बलवान् होकर भी दुर्बलकी भाँति संधि करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥ ५ ॥

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जानेपर भी शान्त नहीं हो रहे हैं । पुत्रोंके मदसे उन्मत्त हो अधर्मके मार्गपर ही चलते हैं ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते ॥ ६ ॥

'जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी खोटी बुद्धिसे कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर फूट होकर ही रहेगी ॥ ६ ॥

अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वैकार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ॥ ७ ॥

'(कौरवोंने चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंको राज्य लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन नहीं किया ।) जिन्हें ऐसा अधर्मजनित कार्य भी, जो परस्पर बिगाड़ करनेवाला है, धर्मसंगत प्रतीत होता है, उनका यह विकृत धर्म सफल होकर ही रहेगा (अधर्मका फल है दुःख और विनाश । वह उन्हें प्राप्त होगा ही) ॥ ७ ॥

क्रियमाणे बलाद् धर्मे कुरुभिः को न संज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥

'कौरवोंके द्वारा धर्म मानकर किये जानेवाले इस बलात्कारसे किसको चिन्ता नहीं होगी । भगवान् श्रीकृष्ण संधिके प्रयत्नमें असफल होकर गये हैं; अतः पाण्डव भी अब युद्धके लिये महान् उद्योग करेंगे ॥ ८ ॥

ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन् न लभे निद्रामहःसु च निशासु च ॥ ९ ॥

'इस प्रकार यह कौरवोंका अन्याय समस्त वीरोंका विनाश करनेवाला होगा । इन सब बातोंको सोचते हुए मुझे न तो दिनमें नींद आती है और न रातमें ही' ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥ १० ॥

विदुरजीने उभय पक्षके हितकी इच्छासे ही यह बात कही थी । इसे सुनकर कुन्ती दुःखसे आतुर हो उठी और लम्बी साँस खींचती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—॥ १० ॥

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ॥ ११ ॥

'अहो ! इस धनको धिक्कार है, जिसके लिये परस्पर बन्धु-बान्धवोंका यह महान् संहार किया जानेवाला है । इस युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका भी पराभव होगा ही ॥ ११ ॥

पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम् ॥ १२ ॥

'पाण्डव, चेदि, पाञ्चाल और यादव एकत्र होकर भरतवंशियोंके साथ युद्ध करेंगे, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ?'॥ १२॥

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथायुद्धे पराभवम्।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः॥ १३॥

'युद्धमें निश्चय ही मुझे बड़ा भारी दोष दिखायी देता है; परंतु युद्ध न होनेपर भी पाण्डवोंका पराभव स्पष्ट है। निर्धन होकर मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है; परंतु बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके विजय पाना कदापि अच्छा नहीं है॥१३॥

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः॥ १४॥
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम।

'यह सब सोचकर मेरे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, योद्धाओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तथा कर्ण भी दुर्योधनके लिये ही युद्ध-भूमिमें उतरेंगे; अतः ये मेरे भयकी ही वृद्धि कर रहे हैं॥ १४½॥

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्धयेत जातुचित्॥१५
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः।

'आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हितकी इच्छा रखनेवाले हैं। वे अपने शिष्योंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार पितामह भीष्म भी पाण्डवोंके प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रक्खेंगे ?॥ १५½॥

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः॥ १६॥
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान्।

'परंतु यह एकमात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधनका ही अनुसरण करनेवाला है। इसीलिये यह पापात्मा सर्वदा पाण्डवोंसे द्वेष ही रखता है॥ १६½॥

महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः॥ १७॥
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति॥१८॥
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम्।

'इसने सदा पाण्डवोंका बड़ा भारी अनर्थ करनेके लिये हठ ठान लिया है। साथ ही कर्ण अत्यन्त बलवान् भी है। यह बात इस समय मेरे हृदयको दग्ध किये देती है। अच्छा, आज मैं कर्णके मनको पाण्डवोंके प्रति प्रसन्न करनेके लिये उसके पास जाऊँगी और यथार्थ सम्बन्धका परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी॥ १७-१८½॥

तोषितो भगवान् यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ॥ १९॥
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि।
साहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तिभोजपुरस्कृता॥ २०॥
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम्॥ २१॥

'जब मैं पिताके घर रहती थी, उन्हीं दिनों अपनी सेवाओंद्वारा मैंने भगवान् दुर्वासाको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे यह वर दिया कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन करनेपर मैं किसी भी देवताको अपने पास बुला सकती हूँ। मेरे पिता कुन्तिभोज मेरा बड़ा आदर करते थे। मैं राजाके अन्तःपुरमें रहकर व्यथित हृदयसे मन्त्रोंके बलाबल और ब्राह्मणकी वाक्शक्तिके विषयमें अनेक प्रकारका विचार करने लगी॥ १९-२१॥

स्त्रीभावाद् बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा॥ २२॥

'स्त्री-स्वभाव और बाल्यावस्थाके कारण मैं बार-बार इस प्रश्नको लेकर चिन्तामग्न रहने लगी। उन दिनों एक विश्वस्त धाय मेरी रक्षा करती थी और सखियाँ मुझे सदा घेरे रहती थीं॥ २२॥

दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्र्यरक्षिणी।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नापराधवती कथम्॥ २३॥
भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च।
कौतूहलात् तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं तदा।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं ततः॥ २४॥

'मैं अपने ऊपर आनेवाले सब प्रकारके दोषोंका निवारण करती हुई पिताकी दृष्टिमें अपने सदाचारकी रक्षा करती रहती थी। मैंने सोचा, क्या करूँ, जिससे मुझे पुण्य हो और मैं अपराधिनी न होऊँ। यह सोचकर मैंने मन-ही-मन उन ब्राह्मण-देवताको नमस्कार किया और उस मन्त्रको पाकर कौतूहल तथा अविवेकके कारण मैंने उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि कन्यावस्थामें ही मुझे भगवान् सूर्यदेवका संयोग प्राप्त हुआ॥ २३-२४॥

योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत् परिरक्षितः।
कस्मान्न कुर्याद् वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा॥ २५॥

'जो मेरा कानीन गर्भ है, इसे मैंने पुत्रकी भाँति अपने उदरमें पाला है। वह कर्ण अपने भाइयोंके हितके लिये कही हुई मेरी लाभदायक बात क्यों नहीं मानेगा ?'॥ २५॥

इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम्।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति॥ २६॥

इस प्रकार उत्तम कर्तव्यका निश्चय करके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये एक निर्णयपर पहुँचकर कुन्ती भागीरथी गङ्गाके तटपर गयी॥ २६॥

आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः।
गङ्गातीरे पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम्॥ २७॥

वहाँ गङ्गाके किनारे पहुँचकर कुन्तीने अपने दयालु और सत्यपरायण पुत्र कर्णके मुखसे वेदपाठकी गम्भीर ध्वनि सुनी॥

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥ २८ ॥

वह अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था और तपस्विनी कुन्ती उसके जपकी समाप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछेकी ओर खड़ी रही ॥ २८ ॥

अतिष्ठत् सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥ २९ ॥

वृष्णिकुलनन्दिनी पाण्डुपत्नी कुन्ती वहाँ सूर्यदेवके तापसे पीड़ित हो कुम्हलाती हुई कमलमालाके समान कर्णके उत्तरीय वस्त्रकी छायामें खड़ी हो गयी ॥ २९ ॥

आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥

जबतक सूर्यदेव पीठकी ओर ताप न देने लगे (जबतक वे पूर्वसे पश्चिमकी ओर चले नहीं गये); तबतक जप करके नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला कर्ण जब पीछेकी ओर घूमा, तब कुन्तीको सामने पाकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया ॥ ३० ॥

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥ ३१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, अभिमानी और महातेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्तीको यथोचित रीतिसे प्रणाम करके मुसकराता हुआ बोला ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

कर्ण बोला—देवि! मैं राधा तथा अधिरथका पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। आपने किस लिये यहाँतक आनेका कष्ट किया है? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ॥ १ ॥

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ॥ २ ॥

कुन्तीने कहा—कर्ण! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुलमें नहीं उत्पन्न हुए हो। मेरी इस बातको ठीक मानो ॥ २ ॥

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥ ३ ॥

तुम कन्यावस्थामें मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो। महाराज कुन्तिभोजके घरमें रहते समय मैंने तुम्हें गर्भमें धारण किया था; अतः बेटा! तुम पार्थ हो ॥ ३ ॥

प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः।
अजीजनत् त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ॥ ४ ॥

कर्ण! ये जो जगत्में प्रकाश और उष्णता प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्यदेव हैं, इन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम-जैसे वीर पुत्रको मेरे गर्भसे उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष पुत्र! मैंने पिताके घरमें तुम्हें जन्म दिया था। तुम जन्मकालसे ही कुण्डल और कवच धारण किये देव-बालकके समान शोभासम्पन्न रहे हो ॥ ५ ॥

स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे।
धार्तराष्ट्रान् न तद् युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥ ६ ॥

बेटा! तुम जो अपने भाइयोंसे अपरिचित रहकर मोहवश धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये।
यत् तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ॥ ७ ॥

बेटा! धर्मशास्त्रमें मनुष्योंके लिये यही धर्मका उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एकमात्र पुत्रपर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे संतुष्ट रहें ॥ ७ ॥

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने पूर्वकालमें जिसका उपार्जन किया था और दुष्टोंने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिरकी उस राज्य-लक्ष्मीको तुम धृतराष्ट्रपुत्रोंसे छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो ॥ ८ ॥

अद्य पश्यन्तु कुरवः कर्णार्जुनसमागमम्।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ॥ ९ ॥

आज उत्तम बन्धुजनोचित स्नेहके साथ कर्ण और अर्जुनका मिलन कौरवलोग देखें और इसे देखकर दुष्टलोग नतमस्तक हों ॥ ९ ॥

कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं तु लोके स्याद् युवयोःसंहितात्मनोः॥ १० ॥

कर्ण और अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही बलशाली हैं जैसे बलराम और श्रीकृष्ण । बेटा ! तुम दोनों हृदयसे संगठित हो जाओ तो इस जगत्‌में तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य असाध्य होगा ? ॥ १० ॥

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥ ११ ॥

कर्ण ! जिस प्रकार महान् यज्ञकी वेदीपर देवगणोंसे घिरे हुए ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए तुम भी शोभा पाओगे ॥ ११ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥ १२ ॥

अपने श्रेष्ठ स्वभाववाले बन्धुओंके बीचमें तुम सर्वगुण-सम्पन्न ज्येष्ठ भ्राता परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो । तुम्हारे लिये सूतपुत्र शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये॥१२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटके प्रसङ्गमें एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद् भास्करेरिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सूर्यमण्डलसे एक वाणी प्रकट हुई, जो सूर्यदेवकी ही कही हुई थी । उसमें पिताके समान स्नेह भरा हुआ था और वह दुर्लङ्घ्य प्रतीत होती थी । कर्णने उसे सुना ॥ १ ॥

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ॥ २ ॥

(वह वाणी इस प्रकार थी–) 'नरश्रेष्ठ कर्ण ! कुन्ती सत्य कहती है । तुम माताकी आज्ञाका पालन करो । उसका पूर्णरूपसे पालन करनेपर तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता कुन्ती और पिता साक्षात् सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर भी उस समय सच्चे धैर्यवाले कर्णकी बुद्धि विचलित नहीं हुई ॥ ३ ॥

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ॥ ४ ॥

कर्ण बोला—राजपुत्रि ! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मेरी श्रद्धा नहीं होती । तुम्हारी इस आज्ञाका पालन करना मेरे लिये धर्मका द्वार है, इसपर भी मैं विश्वास नहीं करता ॥ ४ ॥

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद् यशःकीर्तिनाशनम् ॥५॥

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है । माता ! तुमने जो मुझे पानीमें फेंक दिया, वह मेरे लिये यश और कीर्तिका नाशक बन गया ॥ ५ ॥

अहं चेत् क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाहितम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था तो भी तुम्हारे कारण क्षत्रियोचित संस्कारसे वञ्चित रह गया । कोई शत्रु भी मेरा इससे बढ़कर कष्टदायक एवं अहितकारक कार्य और क्या कर सकता है ? ॥ ६ ॥

क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ॥ ७ ॥

जब मेरे लिये कुछ करनेका अवसर था, उस समय तो तुमने यह दया नहीं दिखायी और आज जब मेरे संस्कार-का समय बीत गया है, ऐसे समयमें तुम मुझे क्षात्रधर्मकी ओर प्रेरित करने चली हो ॥ ७ ॥

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥ ८ ॥

पूर्वकालमें तुमने माताके समान मेरे हितकी चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हितकी कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्यका उपदेश दे रही हो ॥ ८ ॥

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनंजयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितिं गतम् ॥

श्रीकृष्णके साथ मिले हुए अर्जुनसे आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता ? यदि इस समय मैं पाण्डवोंकी सभामें सम्मिलित हो जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा ? ॥ ९ ॥

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥

आजसे पहले मुझे कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवों-

का भाई हूँ। युद्धके समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकाशमें आया है। इस समय यदि पाण्डवोंसे मिल जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा ? ॥ १० ॥

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम्।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मुझे सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दी हैं और मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है। उनके उस उपकारको मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ॥ १२ ॥
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम्।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे वैर बाँधकर जो नित्य मेरी उपासना करते हैं तथा जैसे वसुगण इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार जो सदा मुझे मस्तक झुकाते हैं, मेरी ही प्राणशक्तिके भरोसे जो शत्रुओंके सामने डटकर खड़े होनेका साहस करते हैं और इसी आशासे जो मेरा आदर करते हैं, उनके मनोरथको मैं छिन्न-भिन्न कैसे करूँ ? ॥ १२-१३ ॥

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम्।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥ १४ ॥

जो मुझको ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य समरसागरको पार करना चाहते हैं और मेरे ही भरोसे अपार संकटसे पार होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस संकट-के समयमें कैसे त्याग दूँ ? ॥ १४ ॥

अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम्।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ १५ ॥

दुर्योधनके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेवालोंके लिये यही उपकारका बदला चुकानेके योग्य अवसर आया है। इस समय मुझे अपने प्राणोंकी रक्षा न करते हुए उनके ऋणसे उऋण होना है ॥ १५ ॥

कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ॥ १६ ॥
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम्।
नैवायं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ॥ १७ ॥

जो किसीके द्वारा अच्छी तरह पालित-पोषित होकर कृतार्थ होते हैं; परंतु उस उपकारका बदला चुकाने योग्य समय आनेपर जो अस्थिरचित्त पापात्मा पुरुष पूर्वकृत उपकारोंको न देखकर बदल जाते हैं, वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले तथा उपकारी राजाके प्रति अपराधी हैं। उन पापाचारी कृतघ्नोंके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही ॥ १६-१७ ॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः।
बलं च शक्तिं चास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥ १८ ॥

मैं तुमसे झूठ नहीं बोलता। धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये मैं अपनी शक्ति और बलके अनुसार तुम्हारे पुत्रोंके साथ युद्ध अवश्य करूँगा ॥ १८ ॥

आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितम्।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ १९ ॥

परंतु उस दशामें भी दयालुता तथा सज्जनोचित सदाचार-की रक्षा करता रहूँगा। इसीलिये लाभदायक होते हुए भी तुम्हारे इस आदेशको आज मैं नहीं मानूँगा ॥ १९ ॥

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥ २१ ॥

परंतु मेरे पास आनेका जो कष्ट तुमने उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं होगा। संग्राममें तुम्हारे चार पुत्रोंको काबूके अंदर तथा वधके योग्य अवस्थामें पाकर भी मैं नहीं मारूँगा। वे चार हैं, अर्जुनको छोड़कर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव। युधिष्ठिरकी सेनामें अर्जुनके साथ ही मेरा युद्ध होगा ॥ २०-२१ ॥

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥ २२ ॥

अर्जुनको युद्धमें मार देनेपर मुझे संग्रामका फल प्राप्त हो जायगा अथवा स्वयं ही सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारा जाकर मैं यशका भागी बनूँगा ॥ २२ ॥

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २३ ॥

यशस्विनि ! किसी भी दशामें तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे ॥ २३ ॥

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ॥ २४ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर कुन्ती धैर्यसे विचलित न होने-वाले अपने पुत्र कर्णको हृदयसे लगाकर दुःखसे काँपती हुई बोली—॥ २४ ॥

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

'कर्ण ! दैव बड़ा बलवान् है। तुम जैसा कहते हो वैसा ही हो। इस युद्धके द्वारा कौरवोंका संहार होगा ॥ २५ ॥

त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन ! तुमने अपने चार भाइयोंको अभयदान दिया है । युद्धमें उन्हें छोड़ देनेकी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहना ॥

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥

'तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो।' इस प्रकार जब कुन्तीने कर्णसे कहा, तब कर्णने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली । फिर वे दोनों पृथक्-पृथक् अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यमें आकर पाण्डवोंसे वहाँका सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥

सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ॥ २ ॥

दीर्घकालतक बातचीत करके बारंबार गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण विश्रामके लिये अपने वासस्थानको गये ॥ २ ॥

विसृज्य सर्वान् नृपतीन् विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ॥ ३ ॥
संध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर पाँचों भाई पाण्डव विराट आदि सब राजाओंको विदा करके संध्योपासना करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णमें ही मन लगाकर कुछ कालतक उन्हींका ध्यान करते रहे । फिर दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णको बुलाकर वे उनके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—कमलनयन ! आपने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे क्या कहा, यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैंने हस्तिना-

पुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यथार्थ लाभदायक और हितकर बात कही थी; परंतु वह दुर्बुद्धि उसे स्वीकार ही नहीं करता था ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान् हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—हृषीकेश ! दुर्योधनके कुमार्गका आश्रय लेनेपर कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने ईर्ष्या और अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे क्या कहा ? ॥ ७ ॥

आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ॥ ८ ॥

महाभाग ! भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोणने उस समय

क्या कहा ? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारीने भी दुर्योधन-से उस समय क्या बात कही ? ॥ ८ ॥

पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

हमारे छोटे चाचा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुरने भी, जो हम पुत्रोंके शोकसे सदा संतप्त रहते हैं, दुर्योधनसे क्या कहा ? ९

किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते।
उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ॥ १० ॥

जनार्दन ! इसके सिवा जो समस्त राजालोग सभामें बैठे थे, उन्होंने अपना विचार किस रूपमें प्रकट किया ? आप इन सब बातोंको ठीक-ठीक बताइये ॥ १०॥

उक्तवान् हि भवान् सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः।
धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ॥ ११ ॥
कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः।
अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ॥ १२ ॥

कृष्ण ! आपने कौरवसभामें निश्चय ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म और धृतराष्ट्रके समीप सब बातें कह दी थीं। परंतु आप-की और उनकी उन सब बातोंको मेरे लिये हितकर होनेके कारण अपने लिये अप्रिय मानकर सम्भवतः काम और लोभसे अभिभूत मूर्ख एवं पण्डितमानी दुर्योधन अपने हृदयमें स्थान नहीं देता ॥ ११-१२ ॥

तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो।
यथा च नाभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु।
भवान् हि नो गतिः कृष्ण भवान् नाथो भवान् गुरुः ॥

गोविन्द ! मैं उन सबकी कही हुई बातोंको सुनना चाहता हूँ। तात ! ऐसा कीजिये, जिससे हमलोगोंका समय व्यर्थ न बीते। श्रीकृष्ण ! आप ही हमलोगोंके आश्रय, आप ही रक्षक तथा आप ही गुरु हैं ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु राजन् यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः।
मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजेन्द्र ! मैंने कौरवसभामें राजा दुर्योधनसे जिस प्रकार बातें की हैं, वह बताता हूँ; सुनिये १४

मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः।
अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

मैंने जब अपनी बात दुर्योधनसे सुनायी, तब वह हँसने लगा। यह देख भीष्मजी अत्यन्त कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद् ब्रवीमि ते।
तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ॥ १६ ॥

'दुर्योधन ! मैं अपने कुलके हितके लिये तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। नृपश्रेष्ठ ! उसे सुनकर अपने कुलका हितसाधन करो ॥ १६ ॥

मम तात पिता राजन् शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
तस्याहमेक एवासं पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ १७ ॥

'तात ! मेरे पिता शान्तनु विश्वविख्यात नरेश थे, जो पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे। राजन् ! मैं उनका इक-लौता पुत्र था ॥ १७ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात् कथं सुतः।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८ ॥

'अतः उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे दूसरा पुत्र कैसे हो ? क्योंकि मनीषी पुरुष एक पुत्रवाले-को पुत्रहीन ही बताते हैं ॥ १८ ॥

न चोच्छेदं कुलं यायाद् विस्तीर्येच्च कथं यशः।
तस्याहमीप्सितं बुद्ध्वा कालीं मातरमावहम् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २० ॥

'किस प्रकार इस कुलका उच्छेद न हो और इसके यशका सदा विस्तार होता रहे'—उनकी आन्तरिक इच्छा जानकर मैं कुलकी भलाई और पिताकी प्रसन्नताके लिये राजा न होने और जीवनभर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहनेकी दुष्कर प्रतिज्ञा करके माता काली (सत्यवती) को ले आया। ये सारी बातें तुमको अच्छी तरह ज्ञात हैं। मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन करता हुआ सदा प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करता हूँ ॥ १९-२० ॥

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान् कुरुकुलोद्वहः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान् मम पार्थिव ॥ २१॥

'राजन् ! सत्यवतीके गर्भसे कुरुकुलका भार वहन करने-वाले धर्मात्मा महाबाहु श्रीमान् विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए, जो मेरे छोटे भाई थे ॥ २१ ॥

स्वर्याते ऽहं पितरि तं स्वराज्ये संन्यवेशयम्।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ॥ २२ ॥

'पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर मैंने अपने राज्यपर राजा विचित्रवीर्यको ही बिठाया और स्वयं उनका सेवक होकर राज्यसिंहासनसे नीचे खड़ा रहा ॥ २२ ॥

तस्याहं सदृशान् दारान् राजेन्द्र समुपाहरम्।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ॥ २३ ॥

'राजेन्द्र ! उनके लिये राजाओंके समूहको जीतकर मैंने योग्य पत्नियाँ ला दीं। यह वृत्तान्त भी तुमने बहुत बार सुना होगा ॥ २३ ॥

ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।
स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ॥ २४ ॥

'तदनन्तर एक समय मैं परशुरामजीके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिये समरभूमिमें उतरा । उन दिनों परशुरामजीके भयसे यहाँके नागरिकोंने राजा विचित्रवीर्यको इस नगरसे दूर हटा दिया था ॥ २४ ॥

दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाभ्यधावन् मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ॥ २५ ॥

'वे अपनी पत्नियोंमें अधिक आसक्त होनेके कारण राजयक्ष्माके रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये । तब बिना राजाके राज्यमें देवराज इन्द्रने वर्षा बंद कर दी, उस दशामें सारी प्रजा क्षुधाके भयसे पीड़ित हो मेरे ही पास दौड़ी आयी ॥'

प्रजा ऊचुः

उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ॥ २६ ॥

प्रजा बोली—शान्तनुके कुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! आपका कल्याण हो । राज्यकी सारी प्रजा क्षीण होती चली जा रही है । आप हमारे अभ्युदयके लिये राजा होना स्वीकार करें और अनावृष्टि आदि ईतियोंका भय दूर कर दें ॥ २६ ॥

पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ॥ २७ ॥

गङ्गानन्दन ! आपकी सारी प्रजा अत्यन्त भयंकर रोगोंसे पीडित है । प्रजाओंमेंसे बहुत थोड़े लोग जीवित बचे हैं । अतः आप उन सबकी रक्षा करें ॥ २७ ॥

व्याधीन् प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ॥ २८ ॥

वीर ! आप रोगोंको हटावें और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें । आपके जीते-जी इस राज्यका विनाश न हो जाय ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद् वृत्तं स्मरतस्तथा ॥ २९ ॥

भीष्म कहते हैं—प्रजाओंकी यह करुण पुकार सुनकर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा और सदाचारका स्मरण करके मेरा मन क्षुब्ध नहीं हुआ ॥ २९ ॥

ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ।
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसंतप्ता भव राजेति संततम् ॥ ३० ॥
प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर मेरी कल्याणमयी माता सत्यवती, पुरवासी, सेवक, पुरोहित, आचार्य और बहुश्रुत ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त हो मुझसे बार-बार कहने लगे—'तुम्हीं राजा होओ, नहीं तो महाराज प्रतीपके द्वारा सुरक्षित राष्ट्र तुम्हारे निकट पहुँचकर नष्ट हो जायगा । अतः महामते ! तुम हमारे हितके लिये राजा हो जाओ' ॥ ३०-३१ ॥

इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ॥ ३२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मैं अत्यन्त आतुर और दुखी हो गया और मैंने हाथ जोड़कर उन सबसे पिताके महत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर की हुई प्रतिज्ञाके विषयमें निवेदन किया ॥

ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्यार्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च धुरि मा मां नियोजय ॥ ३३ ॥

फिर माता सत्यवतीसे कहा—'माँ ! मैंने इस कुलकी वृद्धिके लिये और विशेषतः तुम्हें ही यहाँ ले आनेके लिये राजा न होने और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहनेकी बारंबार प्रतिज्ञा की है । अतः तुम इस राज्यका बोझ सँभालनेके लिये मुझे नियुक्त न करो' ॥ ३३ ॥

ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ॥ ३४ ॥
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन् पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ॥ ३५ ॥
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाद्य सुतवत्सले ।

राजन् ! तत्पश्चात् पुनः हाथ जोड़कर माताको प्रसन्न करनेके लिये मैंने विनयपूर्वक कहा—'अम्ब ! मैं राजा शान्तनुसे उत्पन्न होकर कौरववंशकी मर्यादाका वहन करता हूँ । अतः अपनी की हुई प्रतिज्ञाको झूठी नहीं कर सकता ।' यह बात मैंने बार-बार दुहरायी । इसके बाद फिर कहा—'पुत्रवत्सले ! विशेषतः तुम्हारे ही लिये मैंने यह प्रतिज्ञा की थी । मैं तुम्हारा सेवक और दास हूँ (मुझसे वह प्रतिज्ञा तोड़नेके लिये न कहो)' ॥ ३४-३५½ ॥

एवं तामनुनीयाहं मातरं जनमेव च ॥ ३६ ॥
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ॥ ३७ ॥
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन् स पुत्रानजनयत् तदा भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

महाराज ! इस प्रकार माता तथा अन्य लोगोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल करके माताके सहित मैंने महामुनि व्यासको प्रसन्न करके भाईकी स्त्रियोंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उनसे प्रार्थना की । भरतकुलभूषण ! महर्षिने कृपा की और उन स्त्रियोंसे तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३६–३८ ॥

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥ ३९ ॥

तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः नेत्रेन्द्रियसे हीन होनेके कारण राजा न हो सके। तब लोकविख्यात महामना पाण्डु इस देशके राजा हुए ॥ ३९ ॥

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्यार्धं प्रदीयताम् ॥ ४० ॥

पाण्डु राजा थे और उनके पुत्र पाण्डव पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं। अतः वत्स दुर्योधन ! तुम कलह न करो। आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो ॥ ४० ॥

मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत् पुमानिह ।
मावमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ॥ ४१ ॥

मेरे जीते-जी मेरी इच्छाके विरुद्ध दूसरा कौन पुरुष यहाँ राज्य-शासन कर सकता है ? ऐसा समझकर मेरे कथनकी अवहेलना न करो। मैं सदा तुमलोगोंमें शान्ति बनी रहनेकी शुभ कामना करता हूँ ॥ ४१ ॥

न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव ।
मतमेतत् पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ॥ ४२ ॥

राजन् ! मेरे लिये तुममें और पाण्डवोंमें कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे पिताका, गान्धारीका और विदुरका भी यही मत है ॥ ४२ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाभिशङ्कीर्वचो मम ।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ॥ ४३ ॥

तुम्हें बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुननी चाहिये। मेरी बातपर शङ्का न करो, नहीं तो तुम सबको, अपनेको और इस भूतलको भी नष्ट कर दोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन

वासुदेव उवाच

भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत ।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। भीष्मजीकी बात समाप्त होनेपर प्रवचन करनेमें समर्थ द्रोणाचार्यने राजाओंके बीचमें दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्यार्थे यथा स्थितः ।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्यार्थे स्थितोऽभवत् ॥ २ ॥
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ॥ ३ ॥

'तात ! जैसे प्रतीपपुत्र शान्तनु इस कुलकी भलाईमें ही लगे रहे, जैसे देवव्रत भीष्म इस कुलकी वृद्धिके लिये ही यहाँ स्थित हैं, उसी प्रकार सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय राजा पाण्डु भी रहे हैं। वे कुरुकुलके राजा होते हुए भी सदा धर्ममें ही मन लगाये रहते थे। वे उत्तम व्रतके पालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ॥ २-३ ॥

ज्येष्ठाय राज्यमददाद् धृतराष्ट्राय धीमते ।
यवीयसे तथा क्षत्त्रे कुरूणां वंशवर्धनः ॥ ४ ॥

'कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले पाण्डुने अपने बड़े भाई बुद्धिमान् धृतराष्ट्रको तथा छोटे भाई विदुरको अपना राज्य धरोहररूपसे दिया ॥ ४ ॥

ततः सिंहासने राजन् स्थापयित्वैनमच्युतम् ।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ॥ ५ ॥

'राजन् ! कुरुकुलरत्न पाण्डुने अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले धृतराष्ट्रको सिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वनको प्रस्थान किया था ॥ ५ ॥

नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत् ।
प्रेष्यवत् पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर पुरुषसिंह विदुर सेवककी भाँति नीचे खड़े होकर चँवर डुलाते हुए विनीतभावसे धृतराष्ट्रकी सेवामें रहने लगे ॥ ६ ॥

ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
अन्वपद्यन्त विधिवद् यथा पाण्डुं जनाधिपम् ॥ ७ ॥

'तात ! तदनन्तर सारी प्रजा जैसे राजा पाण्डुके अनुगत रहती थी, उसी प्रकार विधिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रके अधीन रहने लगी ॥ ७ ॥

विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं सविदुराय च ।
चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डु विदुरसहित धृतराष्ट्रको अपना राज्य सौंपकर सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

कोशसंवनने दाने भृत्यानां चान्ववेक्षणे ।
भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ॥ ९ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ विदुर कोषको सँभालने, दान देने, भृत्यवर्गकी देख-भाल करने तथा सबके भरण-पोषणके कार्यमें संलग्न रहते थे ॥ ९ ॥

संधिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः ।
अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥

'शत्रु-नगरीको जीतनेवाले महातेजस्वी भीष्म संधि-विग्रहके कार्यमें संयुक्त हो राजाओंसे सेवा और कर आदि लेनेका काम सँभालते थे ॥ १० ॥

सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः ।
अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ॥ ११ ॥

'महाबली राजा धृतराष्ट्र केवल सिंहासनपर बैठे रहते और महात्मा विदुर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ११ ॥

कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि ।
सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुङ्क्ष्व भोगान् जनाधिप ॥ १२ ॥

'उन्हींके वंशमें उत्पन्न होकर तुम इस कुलमें फूट क्यों डालते हो ? राजन् ! भाइयोंके साथ मिलकर मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करो ॥ १२ ॥

ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नार्थहेतोः कथंचन ।
भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ॥ १३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं दीनतासे या धन पानेके लिये किसी प्रकार कोई बात नहीं कहता हूँ । मैं भीष्मका दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं ॥ १३ ॥

नाहं त्वत्तोऽभिकाङ्क्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप ।
यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद् भीष्मस्त्वाह तत् कुरु ॥ १४ ॥

'जनेश्वर ! मैं तुमसे कोई जीविकाका साधन प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करूँगा । जहाँ भीष्म हैं, वहीं द्रोण हैं । जो भीष्म कहते हैं, उसका पालन करो ॥ १४ ॥

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन ।
सममाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ॥ १५ ॥

'शत्रुसूदन ! तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो । तात ! मेरा यह आचार्यत्व तुम्हारे और पाण्डवोंके लिये सदा समान है ॥

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १६ ॥

'मेरे लिये जैसा अश्वत्थामा है वैसा ही श्वेत घोड़ोंवाला अर्जुन भी है । अधिक बकवाद करनेसे क्या लाभ ? जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय निश्चित है' ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते महाराज द्रोणेनामिततेजसा ।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः ।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—महाराज ! अमित-तेजस्वी द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर सत्यप्रतिज्ञ धर्मज्ञ विदुरने ज्येष्ठ पिता भीष्मकी ओर घूमकर उनके मुँहकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा ॥ १७ ॥

विदुर उवाच

देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः ।
प्रणष्टः कौरवो वंशस्त्वयायं पुनरुद्धृतः ॥ १८ ॥

विदुर बोले—देवव्रतजी ! मेरी यह बात सुनिये । यह कौरववंश नष्ट हो चला था, जिसका आपने पुनः उद्धार किया था ॥ १८ ॥

तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे ।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन् कुलपांसनः ॥ १९ ॥
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे ।
अनार्यस्याकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ॥ २० ॥

मैं भी उसी वंशकी रक्षाके लिये विलाप कर रहा हूँ; परंतु न जाने क्यों आप मेरे कथनकी उपेक्षा कर रहे हैं । मैं पूछता हूँ, यह कुलाङ्गार दुर्योधन इस कुलका कौन है ? जिसके लोभके वशीभूत होनेपर भी आप उसकी बुद्धिका अनुसरण कर रहे हैं । लोभने इसकी विवेकशक्ति हर ली है । इसकी बुद्धि दूषित हो गयी है तथा यह पूरा अनार्य बन गया है ॥ १९-२० ॥

अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः ।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ॥ २१ ॥

यह शास्त्रकी आज्ञाका तो उल्लङ्घन करता ही है । धर्म और अर्थपर दृष्टि रखनेवाले अपने पिताकी भी बात नहीं मानता है । निश्चय ही एकमात्र दुर्योधनके कारण ये समस्त कौरव नष्ट हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु ।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ॥ २२ ॥
चित्रकार इवालेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि ।

महाराज ! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका नाश न हो । महामते ! जैसे चित्रकार किसी चित्रको बनाकर एक जगह रख देता है, उसी प्रकार आपने मुझ-को और धृतराष्ट्रको पहलेसे ही निकम्मा बनाकर रख दिया है ॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ॥ २३ ॥
नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम् ।

महाबाहो ! जैसे प्रजापति प्रजाकी सृष्टि करके पुनः उसका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने कुलका विनाश देखकर उसकी उपेक्षा न कीजिये ॥ २३½ ॥

अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ २४ ॥
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह ।

यदि इन दिनों विनाशकाल उपस्थित होनेके कारण आपकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो तो मेरे और धृतराष्ट्रके साथ वनमें पधारिये ॥ २४½ ॥

बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ २५ ॥

शाधीदं राज्यमद्याशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।

अथवा जिसकी बुद्धि सदा छल-कपटमें ही लगी रहती है उस परम दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको शीघ्र ही बाँधकर पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित इस राज्यका शासन कीजिये ॥२५½॥

प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विरराम‍ैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये । पाण्डवों, कौरवों तथा अमित-तेजस्वी राजाओंका महान् विनाश दृष्टिगोचर हो रहा है । ऐसा कहकर दीनचित्त विदुरजी चुप हो गये और विशेष चिन्तामें मग्न होकर उस समय बार-बार लंबी साँसें खींचने लगे ॥ २६-२७ ॥

ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री
धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं
राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ॥ २८ ॥

तदनन्तर राजा सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने कुलके विनाशसे भयभीत हो क्रूर स्वभाववाले पापबुद्धि पुत्र दुर्योधन-से समस्त राजाओंके समक्ष क्रोधपूर्वक यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोली—॥ २८ ॥

ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा
ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवापराधं
पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ॥ २९ ॥

'जो-जो राजा, ब्रह्मर्षि तथा अन्य सभासद् इस राजसभाके भीतर आये हैं, वे सब लोग मन्त्री और सेवकोंसहित तुझ पापी दुर्योधनके अपराधोंको सुनें । मैं वर्णन करती हूँ ॥

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं
क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्
राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि ॥ ३० ॥

'हमारे यहाँ परम्परासे चला आनेवाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व अधिकारीके क्रमसे उपभोगमें आवे (अर्थात् पहले पिताके अधिकारमें रहे, फिर पुत्रके, पिताके जीते-जी पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता); परंतु अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधन ! तू अपने अन्यायसे इस कौरवराज्यका विनाश कर रहा है ॥ ३० ॥

राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी
तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृपत्वं
दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ॥ ३१ ॥

'इस राज्यपर अधिकारीके रूपमें परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्र और उनके छोटे भाई दूरदर्शी विदुर स्थापित किये गये थे । दुर्योधन ! इन दोनोंका उल्लङ्घन करके तू आज मोहवश अपना प्रभुत्व कैसे जमाना चाहता है ॥ ३१ ॥

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ
भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा
न कामयेद् यो नृवरो नदीजः ॥ ३२ ॥

'राजा धृतराष्ट्र और विदुर—ये दोनों महानुभाव भी भीष्म-के जीते-जी पराधीन ही रहेंगे (भीष्मके रहते इन्हें राज्य लेनेका कोई अधिकार नहीं है); परंतु धर्मज्ञ होनेके कारण ये नरश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन राज्य लेनेकी इच्छा ही नहीं रखते हैं ॥ ३२ ॥

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं
तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां
पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥ ३३ ॥

'वास्तवमें यह दुर्धर्ष राज्य महाराज पाण्डुका है । उन्हींके पुत्र इसके अधिकारी हो सकते हैं, दूसरे नहीं । अतः यह सारा राज्य पाण्डवोंका है; क्योंकि बाप-दादोंका राज्य पुत्र-पौत्रोंके पास ही जाता है ॥ ३३ ॥

यद् वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा
देवव्रतः सत्यसंधो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं
राज्यं स्वधर्मान् परिपालयद्भिः ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्मका पालन करनेवाले हम सब लोगोंको बिना काट-छाँट किये पूर्णरूपसे मान लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

अनुज्ञया चाथ महाव्रतस्य
ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत् तत् सुहृद्भिर्नियोज्यं
धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ॥ ३५ ॥

'अथवा इन महान् व्रतधारी भीष्मजीकी आज्ञासे यह राजा धृतराष्ट्र तथा विदुर भी इस विषयमें कुछ कह सकते हैं और अन्य सुहृदोंको भी धर्मको सामने रखते हुए उसीका सुदीर्घ कालतक पालन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ॥ ३६ ॥

'कौरवोंके इस न्यायतः प्राप्त राज्यका धर्मपुत्र युधिष्ठिर ही शासन करें और वे राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मसे कर्तव्यकी शिक्षा लेते रहें' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु गान्धार्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! गान्धारीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने समस्त राजाओंके बीच दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
तथा तत् कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ॥ २ ॥

'बेटा दुर्योधन! मेरी यह बात सुन। तेरा कल्याण हो। यदि तेरे मनमें पिताके लिये कुछ भी गौरव है तो तुझसे जो कुछ कहूँ, उसका पालन कर ॥ २ ॥

सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः ।
सोमाद् बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ३ ॥

'सबसे पहले प्रजापति सोम हुए, जो कौरववंशकी वृद्धिके आदि कारण हैं। सोमसे छठी पीढ़ीमें नहुषपुत्र ययातिका जन्म हुआ ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत् प्रभुः ॥ ४ ॥
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः ।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ५ ॥

'ययातिके पाँच पुत्र हुए, जो सब-के-सब श्रेष्ठ राजर्षि थे। उनमें महातेजस्वी एवं शक्तिशाली ज्येष्ठ पुत्र यदु थे और सबसे छोटे पुत्रका नाम पूरु हुआ, जिन्होंने हमारे इस वंशकी वृद्धि की है। वे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥ ४-५ ॥

यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत् ।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्यामिततेजसः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! यदु देवयानीके पुत्र थे। तात! वे अमित तेजस्वी शुक्राचार्यके दौहित्र लगते थे ॥ ६ ॥

यादवानां कुलकरो बलवान् वीर्यसम्मतः ।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ॥ ७ ॥

'वे बलवान्, उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न एवं यादवोंके वंश-प्रवर्तक हुए थे। उनकी बुद्धि बड़ी मन्द थी और उन्होंने घमंडमें आकर समस्त क्षत्रियोंका अपमान किया था ॥ ७ ॥

न चातिष्ठत् पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातॄंश्चाप्यपराजितः ॥ ८ ॥

'बलके घमंडसे वे इतने मोहित हो रहे थे कि पिताके आदेशपर चलते ही नहीं थे। किसीसे पराजित न होनेवाले यदु अपने भाइयों और पिताका भी अपमान करते थे ॥ ८ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाभवद् बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन् न्यवसन्नागसाह्वये ॥ ९ ॥

'चारों समुद्र जिसके अन्तमें हैं, उस भूमण्डलमें यदु ही सबसे अधिक बलवान् थे। वे समस्त राजाओंको वशमें करके हस्तिनापुरमें निवास करते थे ॥ ९ ॥

तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ॥ १० ॥

'गान्धारीपुत्र! यदुके पिता नहुषनन्दन ययातिने अत्यन्त कुपित होकर यदुको शाप दे दिया और उन्हें राज्यसे भी उतार दिया ॥ १० ॥

ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ॥ ११ ॥

'अपने बलका घमंड रखनेवाले जिन-जिन भाइयोंने यदुका अनुसरण किया, ययातिने कुपित होकर अपने उन पुत्रोंको भी शाप दे दिया ॥ ११ ॥

यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ॥ १२ ॥

'तदनन्तर अपने अधीन रहनेवाले आज्ञापालक छोटे पुत्र पूरुको नृपश्रेष्ठ ययातिने राज्यपर बिठाया ॥ १२ ॥

एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ॥ १३ ॥

'इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अहंकारी हो तो उसे राज्यकी प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे राज्य पानेके अधिकारी हो जाते हैं ॥

तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।
प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार मेरे पिताके पितामह राजा प्रतीप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ॥ १५ ॥

'धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए नृपप्रवर प्रतीपके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके समान तेजस्वी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ॥ १६ ॥

'तात ! उन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ थे देवापि । उनके बादवाले राजकुमारका नाम बाह्लीक था तथा प्रतीपके तीसरे पुत्र मेरे धैर्यवान् पितामह शान्तनु थे ॥ १६ ॥

देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥ १७ ॥
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयंगमः ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ देवापि महान् तेजस्वी होते हुए भी चर्मरोगसे पीड़ित थे । वे धार्मिक, सत्यवादी, पिताकी सेवामें तत्पर, साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा नगर एवं जनपद-निवासियोंके लिये आदरणीय थे । देवापिने बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था ॥ १७-१८ ॥

वदान्यः सत्यसंधश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥ १९ ॥

'वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे । पिता तथा ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार चलते थे ॥ १९ ॥

बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

'वे बाह्लीक तथा महात्मा शान्तनुके प्रिय बन्धु थे । परस्पर संगठित रहनेवाले उन तीनों महामना बन्धुओंका परस्पर अच्छे भाईका-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव था ॥ २० ॥

अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥ २१ ॥

'तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर बूढ़े नृपश्रेष्ठ प्रतीपने शास्त्रीय विधिके अनुसार राज्याभिषेकके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराया ॥

कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।

'उन्होंने देवापिके मङ्गलके लिये सभी आवश्यक कृत्य सम्पन्न कराये; परंतु उस समय सब ब्राह्मणों तथा वृद्ध पुरुषोंने नगर और जनपदके लोगोंके साथ आकर देवापिका राज्याभिषेक रोक दिया ॥ २२½ ॥

स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम् ॥ २३ ॥

'किंतु राज्याभिषेक रोकनेकी बात सुनकर राजा प्रतीपका गला भर आया और वे अपने पुत्रके लिये शोक करने लगे ॥

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसंधश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ॥ २४ ॥

'इस प्रकार यद्यपि देवापि उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाओंके प्रिय थे, तथापि पूर्वोक्त चर्मरोगके कारण दूषित मान लिये गये ॥ २४ ॥

हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ॥ २५ ॥

'जो किसी अङ्गसे हीन हो उस राजाका देवतालोग अभिनन्दन नहीं करते हैं; इसीलिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नृपप्रवर प्रतीपको देवापिका अभिषेक करनेसे मना कर दिया था ॥

ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥ २६ ॥

'इससे राजाको बड़ा कष्ट हुआ । वे पुत्रके लिये शोकमग्न हो गये । राजाको रोका गया देखकर देवापि वनमें चले गये ॥ २६ ॥

बाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन् परित्यज्य प्राप्तवान् परमर्द्धिमत् ॥ २७ ॥

'बाह्लीक परम समृद्धिशाली राज्य तथा पिता और भाइयोंको छोड़कर मामाके घर चले गये ॥ २७ ॥

बाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन् राजा राज्यमकारयत् ॥ २८ ॥

'राजन् ! तदनन्तर पिताकी मृत्यु होनेके पश्चात् बाह्लीककी आज्ञा लेकर लोकविख्यात राजा शान्तनुने राज्यका शासन किया ॥ २८ ॥

तथैवाहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ॥ २९ ॥

'भारत ! इसी प्रकार मैं भी अङ्गहीन था; इसलिये ज्येष्ठ होनेपर भी बुद्धिमान् पाण्डु एवं प्रजाजनोंके द्वारा खूब सोच-विचारकर राज्यसे वञ्चित कर दिया गया ॥ २९ ॥

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन् नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिंदम ॥ ३० ॥

'पाण्डुने अवस्थामें छोटे होनेपर भी राज्य प्राप्त किया और वे एक अच्छे राजा बनकर रहे हैं । शत्रुदमन दुर्योधन! पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्रोंका ही यह राज्य है ॥

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥ ३१ ॥

'मैं तो राज्यका अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य लेना चाहता है ? जो राजाका पुत्र नहीं है, वह उसके राज्यका स्वामी नहीं हो सकता । तू पराये धनका अपहरण करना चाहता है ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा
न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य।
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता
प्रशासिता चैव महानुभावः ॥ ३२ ॥

'महात्मा युधिष्ठिर राजाके पुत्र हैं, अतः न्यायतः प्राप्त हुए इस राज्यपर उन्हींका अधिकार है। वे ही इस कौरव-कुलका भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी तथा इस राज्यके शासक हैं। उनका प्रभाव महान् है ॥ ३२ ॥

स सत्यसंधः स तथाप्रमत्तः
शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी
जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता ॥ ३३ ॥

'वे सत्यप्रतिज्ञ और प्रमादरहित हैं। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते और भाई-बन्धुओंपर सद्भाव रखते हैं। युधिष्ठिरपर प्रजावर्गका विशेष प्रेम है। वे अपने सुहृदोंपर कृपा करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सज्जनोंका पालन-पोषण करनेवाले हैं॥

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च
सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च
युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः ॥ ३४ ॥

'क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम, सरलता, सत्य-परायणता, शास्त्रज्ञान, प्रमादशून्यता, समस्त प्राणियोंपर दयाभाव तथा गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना आदि समस्त राजोचित गुण युधिष्ठिरमें विद्यमान हैं ॥ ३४ ॥

अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो
लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां
हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत ॥ ३५ ॥

'तू राजाका पुत्र नहीं है। तेरा बर्ताव भी दुष्टोंके समान है। तू लोभी तो है ही, बन्धु-बान्धवोंके प्रति सदा पापपूर्ण विचार रखता है। दुर्विनीत ! यह परम्परागत राज्य दूसरोंका है। तू कैसे इसका अपहरण कर सकेगा ? ॥ ३५ ॥

प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः
सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य
सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र ॥ ३६ ॥

नरेन्द्र ! तू मोह छोड़कर वाहनों और अन्यान्य सामग्रियों-सहित (कम-से-कम) आधा राज्य पाण्डवोंको दे दे। तभी अपने छोटे भाइयोंके साथ तेरा जीवन बचा रह सकता है' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ ॥ १ ॥

अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः॥ २ ॥

वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये॥

आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ॥ ३ ॥

ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओंको यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षेत्रको चलो। आज पुष्य नक्षत्र है ॥ ३ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः॥ ४ ॥

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्मको सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकोंसहित वहाँसे चल दिये हैं ॥ ४ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ॥ ५ ॥

कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। उन सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके साथ सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ॥ ६ ॥

गान्धार्या धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो । भारत ! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं । राजन् ! यही वहाँका वृत्तान्त है ॥ ६-७ ॥

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥ ८ ॥

राजन् ! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे ॥ ८ ॥

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥ ९ ॥

जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की) । पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया ॥ ९ ॥

यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥ १० ॥

जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया ॥ १० ॥

अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥ ११ ॥

भारत ! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया ॥ ११ ॥

निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत् ॥ १३ ॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥ १४ ॥

समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि-को बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्त मन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय ॥ १२–१४ ॥

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥ १५ ॥
प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥ १६ ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥ १७ ॥

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं, तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं । वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें । राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही है, वैसा ही करो । सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे । तुम पाण्डवों-को पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवों-का भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है ॥ १५–१७ ॥

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥ १८ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया । अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोग-की ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है ॥ १८ ॥

निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १९ ॥

सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं । राजन् ! कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ १९ ॥

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे । उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

(सैन्यनिर्याणपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डव-सेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्ममें ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌के सामने ही अपने भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥ २ ॥

'कौरवसभामें जो कुछ हुआ है वह सब वृत्तान्त तुमलोगोंने सुन लिया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी तरह समझ लिया होगा ॥ २ ॥

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥ ३ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो ! अब तुमलोग भी अपनी सेनाका विभाग करो। ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी हैं, जो अवश्य ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ॥ ३ ॥

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ४ ॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥ ५ ॥

'इन सातों अक्षौहिणियोंके जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनो। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन। ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीरका भी त्याग कर देनेको उद्यत हैं; अतः ये ही पाण्डवसेनाके संचालक होने योग्य हैं ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥

'ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं ॥ ६ ॥

इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ॥ ७ ॥
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ।
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥ ८ ॥

'इन सबने धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है तथा ये सब प्रकारके अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ हैं। अब यह विचार करना चाहिये कि इन सातोंका भी नेता कौन हो ? जो सभी सेना-विभागोंको अच्छी तरह जानता हो तथा युद्धमें बाणरूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भीष्मका आक्रमण सह सकता हो। पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव ! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो। हमारा प्रधान सेनापति होने योग्य कौन है ?' ॥ ७-८ ॥

सहदेव उवाच

संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥ १० ॥

सहदेव बोले—जो हमारे सम्बन्धी हैं, दुःखमें हमारे साथ एक होकर रहनेवाले और पराक्रमी भूपाल हैं, जिन धर्मज्ञ वीरका आश्रय लेकर हम अपना राज्यभाग प्राप्त कर सकते हैं तथा जो बलवान्, अस्त्रविद्यामें निपुण और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, वे मत्स्यनरेश विराट संग्रामभूमिमें भीष्म तथा अन्य महारथियोंका सामना अच्छी तरह सहन कर सकेंगे ॥ ९-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारदः ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार कहनेपर प्रवचनकुशल नकुलने उनके बाद यह बात कही—॥

वयसा शास्त्रतो धैर्यात् कुलेनाभिजनेन च ।
ह्रीमान् बलान्वितः श्रीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १२ ॥
वेद चास्त्रं भरद्वाजाद् दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ॥ १३ ॥
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।
पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ॥ १४ ॥
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ॥ १५ ॥
पितेवास्मान् समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ॥ १६ ॥
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद् राजा सखा चाङ्गिरसो नृपः॥ १७ ॥

'जो अवस्था, शास्त्रज्ञान, धैर्य, कुल और स्वजनसमूह सभी दृष्टियोंसे बड़े हैं, जिनमें लज्जा, बल और श्री तीनों विद्यमान हैं, जो समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण हैं, जिन्हें महर्षि भरद्वाजसे अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त हुई है, जो सत्यप्रतिज्ञ एवं दुर्धर्ष योद्धा हैं, महाबली भीष्म और द्रोणाचार्यसे सदा स्पर्धा रखते हैं, जो समस्त राजाओंके समूहकी प्रशंसाके पात्र हैं और युद्धके मुहानेपर खड़े हो समस्त सेनाओंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, बहुत-से पुत्र-पौत्रोंद्वारा घिरे रहनेके कारण जिनकी सैकड़ों शाखाओंसे सम्पन्न वृक्षकी भाँति शोभा होती है, जिन महाराजने रोषपूर्वक द्रोणाचार्यके विनाशके लिये पत्नीसहित घोर तपस्या की है, जो संग्राममभूमिमें सुशोभित होनेवाले शूरवीर हैं और हमलोगोंपर सदा ही पिताके समान स्नेह रखते हैं, वे हमारे श्वशुर भूपालशिरोमणि द्रुपद हमारी सेनाके प्रमुख भागका संचालन करें। मेरे विचारसे राजा द्रुपद ही युद्धके लिये सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्मपितामहका सामना कर सकते हैं; क्योंकि वे दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और द्रोणाचार्यके सखा हैं' ॥ १२–१७ ॥

माद्रीसुताभ्यामुक्ते तु क्षमते कुरुनन्दनः ।
वासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥

माद्रीकुमारोंके इस प्रकार अपना विचार प्रकट करनेपर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन्द्रके समान पराक्रमी, इन्द्रपुत्र सव्यसाची अर्जुनने इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

योऽयं तपःप्रभावेण ऋषिसंतोषणेन च ।
दिव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ॥ १९ ॥
धनुष्मान् कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः ।
दिव्यैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात् समुत्थितः ॥ २० ॥
गर्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान् ।
सिंहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥ २१ ॥
सिंहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः ।
सिंहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ॥ २२ ॥
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः ।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः ।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद् भीष्मस्य सायकान् ।
वज्राशनिसमस्पर्शान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ २५ ॥

'जो अग्निकी ज्वालाके समान कान्तिमान् महाबाहु वीर अपने पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा महर्षियोंके कृपा-प्रसादसे उत्पन्न हुआ दिव्य पुरुष है, जो अग्निकुण्डसे कवच, धनुष और खड्ग धारण किये प्रकट हुआ और तत्काल ही दिव्य एवं उत्तम अश्वोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये सुसज्जित देखा गया था, जो पराक्रमी वीर अपने रथकी घरघराहटसे गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ता है, जिसके शरीरकी गठन, पराक्रम, हृदय, वक्षःस्थल, बाहु, कंधे और गर्जना–ये सभी सिंहके समान हैं, जो महाबली, महातेजस्वी और महान् वीर है, जिसकी भौंहें, दन्तपंक्ति, ठोड़ी, भुजाएँ और मुख बहुत सुन्दर हैं, जो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट है, जिसके गलेकी हँसुली सुन्दर दिखायी देती है, जिसके बड़े-बड़े नेत्र और चरण परम सुन्दर हैं, जिसका किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं हो सकता, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके सदृश पराक्रमी वीर द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ है तथा जो सत्यवादी एवं जितेन्द्रिय है, उस धृष्टद्युम्नको ही मैं प्रधान सेनापति बनानेके योग्य मानता हूँ। पितामह भीष्मके बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान भयंकर हैं, उनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह है, वीर धृष्टद्युम्न ही उन बाणोंका आघात सह सकता है ॥ १९—२५ ॥

यमदूतसमान् वेगे निपाते पावकोपमान् ।
रामेणाजौ विषहितान् वज्रनिष्पेषदारुणान् ॥ २६ ॥
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥ २७ ॥

'पितामह भीष्मके बाण आघात करनेमें अग्निके समान तेजस्वी एवं यमदूतोंके समान प्राणोंका हरण करनेवाले हैं। वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उन बाणोंको पहले युद्धमें परशुरामजीने ही सहा था। राजन्! मैं धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्मका वेग सह सके। मेरा तो यही निश्चय है ॥ २६-२७ ॥

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ॥ २८ ॥

'जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र पद्धतिसे युद्ध करनेमें कुशल, अभेद्य कवचसे सम्पन्न एवं यूथपति गजराजकी भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मतिमें वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होनेके योग्य है ॥'

(*वैशम्पायन उवाच*

अर्जुनेनैवमुक्ते तु भीमो वाक्यं समाददे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेनने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया ॥

भीमसेन उवाच

वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ॥ २९ ॥
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः ।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ॥ ३० ॥
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात् तु शिखण्डिनम् ।
शस्त्रेण समरे राजन् संनद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम् ।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ ॥

भीमसेनने कहा—राजेन्द्र! द्रुपदकुमार शिखण्डी पितामह भीष्मका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह बात यहाँ पधारे हुए सिद्धों एवं महर्षियोंने बतायी है! संग्रामभूमिमें जब वह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगोंको उसका स्वरूप महात्मा परशुरामके समान दिखायी देता है। मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें शिखण्डीको मार सके। राजन्! जब महाव्रती भीष्म रथपर बैठकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सामने आयेंगे, उस समय द्वैरथ युद्धमें शूरवीर शिखण्डीके सिवा दूसरा कोई योद्धा उन्हें नहीं मार सकता। अतः मेरे मतमें वही प्रधान सेनापति होनेके योग्य है ॥ २९—३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम् ।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के समस्त सारासार और बलाबलको जानते हैं तथा इस विषयमें इन सब राजाओंका क्या मत है—इससे भी ये पूर्ण परिचित हैं ॥ ३३ ॥

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥ ३४॥

अतः दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतावें, वही हमारी सेनाका प्रधान सेनापति हो । फिर वह अस्त्र-विद्यामें निपुण हो या न हो, वृद्ध हो या युवा हो (इसकी चिन्ता अपने लोगोंको नहीं करनी चाहिये) ॥ ३४ ॥

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।
अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे॥ ३५ ॥

तात ! ये भगवान् ही हमारी विजय अथवा पराजयके मूल कारण हैं । हमारे प्राण, राज्य, भाव, अभाव तथा सुख और दुःख इन्हींपर अवलम्बित हैं ॥ ३५ ॥

एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ॥ ३६ ॥

यही सबके कर्ता-धर्ता हैं । हमारे समस्त कार्योंकी सिद्धि इन्हींपर निर्भर करती है । अतः भगवान् श्रीकृष्ण जिसके लिये प्रस्ताव करें, वही हमारी विशाल वाहिनीका प्रधान अधिनायक हो ॥ ३६ ॥

ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ॥ ३७ ॥
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ॥ ३८ ॥

अतः वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करें । इस समय रात्रि है । हम अभी सेनापतिका निर्वाचन करके रात बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंका अधिवासन (गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन), कौतुक (रक्षाबन्धन आदि) तथा मङ्गलकृत्य (स्वस्तिवाचन आदि) करनेके अनन्तर श्रीकृष्ण-के अधीन हो समराङ्गणकी यात्रा करेंगे ॥ ३७-३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३९ ॥
ममाप्येते महाराज भवद्भिर्य उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज ! आपलोगोंने जिन-जिन वीरोंके नाम लिये हैं, ये सभी मेरी रायमें भी सेनापति होनेके योग्य हैं; क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा हैं ॥ ३९-४० ॥

सर्वे एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुम् ।
इन्द्रस्यापि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ॥ ४१ ॥
किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।

'आपके शत्रुओंको परास्त करनेकी शक्ति इन सबमें विद्यमान है । ये महान् संग्राममें इन्द्रके मनमें भी भय उत्पन्न कर सकते हैं; फिर पापात्मा और लोभी धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४१½ ॥

मयापि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ॥ ४२ ॥
कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ॥ ४३ ॥

'महाबाहु भरतनन्दन ! मैंने भी महान् युद्धकी सम्भावना देखकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये शान्ति-स्थापनके निमित्त महान् प्रयत्न किया था । इससे हमलोग धर्मके ऋणसे भी उऋण हो गये हैं । दूसरोंके दोष बतानेवाले लोग भी अब हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते ॥ ४२-४३ ॥

कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ॥ ४४ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये आतुर हो रहा है । वह मूर्ख और अयोग्य होकर भी अपनेको अस्त्रविद्यामें पारङ्गत मानता है और दुर्बल होकर भी अपनेको बलवान् समझता है ॥ ४४ ॥

युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनंजयम् ॥ ४५ ॥
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ ४६ ॥
अभिमन्युं द्रौपदेयान् विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चान्यान् नरेन्द्रान् भीमविक्रमान्॥४७॥

'अतः आप अपनी सेनाको युद्धके लिये अच्छी तरहसे सुसज्जित कीजिये; क्योंकि मेरे मतमें वे शत्रुवधसे ही वशीभूत हो सकते हैं । वीर अर्जुन, क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, यम-राजके समान नकुल-सहदेव, सात्यकिसहित अमर्षशील धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, विराट, द्रुपद तथा अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति अन्यान्य भयंकर पराक्रमी नरेशोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र रणभूमि-में टिक नहीं सकेंगे ॥ ४५–४७ ॥

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिंदम ।

'हमारी सेना अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम है । वह युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है । शत्रुदमन ! मैं धृष्टद्युम्नको ही प्रधान सेनापति होने योग्य मानता हूँ' ॥ ४८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ॥ ४९ ॥
तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।
योग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। फिर तो युद्धके लिये 'सुसज्जित हो जाओ, सुसजित हो जाओ' ऐसा कहते हुए समस्त सैनिक बड़ी उतावलीके साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंका महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा ॥ ४९-५० ॥

हयवारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ॥ ५१ ॥

सब ओर घोड़े, हाथी और रथोंका घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुन्दुभियोंकी भयानक ध्वनि गूँजने लगी॥

तदुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
रथपत्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाकुलम् ॥ ५२ ॥

रथ, पैदल और हाथियोंसे भरी हुई वह भयंकर सेना उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त महासागरके समान क्षुब्ध हो उठी॥

धावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
प्रयास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ॥ ५३ ॥
गङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।

रणयात्राके लिये उद्यत हुए पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधते दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जलसे परिपूर्ण गङ्गाके समान दुर्गम दिखायी देती थी ॥ ५३½ ॥

अग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ॥ ५४ ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
प्रभद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ॥ ५५ ॥

सेनाके आगे-आगे भीमसेन, कवचधारी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके सभी पुत्र, द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न, प्रभद्रकगण और पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय वीर चले। इन सबने भीमसेनको अपने आगे कर लिया था॥

ततः शब्दः समभवत् समुद्रस्येव पर्वणि ।
हृष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवास्पृशत् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्णिमाके दिन बढ़ते हुए समुद्रका कोलाहल सुनायी देता है, उसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धके लिये यात्रा करनेवाले उन सैनिकोंका महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोकतक जा पहुँचा ॥ ५६ ॥

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५७ ॥

हर्षमें भरे हुए और कवच आदिसे सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रु-सेनाको विदीर्ण करनेका उत्साह रखते थे। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकोंके बीचमें होकर चले॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥ ५८ ॥

सामान ढोनेवाली गाड़ी, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्रचालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले ॥ ५८ ॥

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम् ।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥ ५९ ॥

राजा युधिष्ठिरने जो कोई भी सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, सबको एवं अन्य परिचारकोंको उपप्लव्यमें एकत्र करके वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ५९ ॥

उपप्लव्ये तु पाञ्चाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सह स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ॥ ६० ॥

पाञ्चालराजकुमारी सत्यवादिनी द्रौपदी दास-दासियोंसे घिरी हुई कुछ दूरतक महाराजके साथ गयी। फिर सभी स्त्रियोंके साथ उपप्लव्य नगरमें लौट आयी ॥ ६० ॥

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ६१ ॥

पाण्डवलोग दुर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक स्थावर (परकोटे और खाईं आदि) तथा जङ्गम (पहरेदार सैनिकोंकी नियुक्ति आदि) उपायोंद्वारा स्त्रियों और धन आदिकी सुरक्षाकी समुचित व्यवस्था करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए ॥ ६१ ॥

ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः ॥ ६२ ॥

राजन्! ब्राह्मणलोग चारों ओरसे घेरकर पाण्डवोंके गुण गाते और पाण्डवलोग उन्हें गौओं तथा सुवर्ण आदिका दान देते थे। इस प्रकार वे मणिभूषित रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे ॥ ६२ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च शिखण्डी चापराजितः ॥ ६३ ॥
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

(पाँचों भाई) केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजके पुत्र अभिभू, श्रेणिमान्, वसुदान और अपराजित वीर शिखण्डी—ये सब लोग आभूषण और कवच धारण करके हाथोंमें शस्त्र लिये हर्ष और उल्लासमें भरकर राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ जा रहे थे ॥ ६३-६४ ॥

जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सौमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ॥ ६५ ॥
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ॥ ६६ ॥

सेनाके पिछले आधे भागमें राजा विराट, सोमकवंशी द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्नके पुत्र जा रहे थे। इनके साथ चालीस हजार रथ, दो लाख घोड़े, चार लाख पैदल और साठ हजार हाथी थे।६५-६६।

अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनंजयौ ॥ ६७ ॥

अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको घेरकर चल रहे थे ॥ ६७॥

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥ ६८ ॥

इस प्रकार सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवसैनिक कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर साँड़ोंके समान गर्जन करते हुए दिखायी देने लगे ॥ ६८ ॥

तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान् दध्मुररिंदमाः।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनंजयौ ॥ ६९ ॥

उन शत्रुदमन वीरोंने कुरुक्षेत्रकी सीमामें पहुँचकर अपने-अपने शङ्ख बजाये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी शङ्खध्वनि की ॥ ६९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ॥ ७० ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर सब ओर फैले हुए समस्त पाण्डव-सैनिक हर्षसे उल्लसित एवं रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७० ॥

शङ्खदुन्दुभिसंसृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम्।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरांश्चान्वनादयत् ॥ ७१ ॥

शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिला हुआ वेगवान् वीरोंका सिंहनाद पृथ्वी, आकाश तथा समुद्रोंतक फैलकर उस सबको प्रतिध्वनित करने लगा ॥७१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेशविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें पाण्डवसेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने एक चिकने और समतल प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी अधिकता थी, अपनी सेनाका पड़ाव डाला ॥ १ ॥

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ॥ २ ॥
मधुरानूषरे देशे शुचौ पुण्ये महामतिः।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियोंके आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र—इन सबका परित्याग करके उन स्थानोंसे बहुत दूर ऊसररहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थानमें जाकर कुन्ती-पुत्र महामति युधिष्ठिरने अपनी सेनाको ठहराया ॥ २-३ ॥

ततश्च पुनरुत्थाय सुखी विश्रान्तवाहनः।
प्रययौ पृथिवीपालैर्वृतः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विद्राव्य शतशो गुल्मान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
पर्यक्रामत् समन्ताच्च पार्थेन सह केशवः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् समस्त वाहनोंके विश्राम कर लेनेपर स्वयं भी विश्राम-सुखका अनुभव करके भगवान् श्रीकृष्ण उठे और सैकड़ों-हजारों भूमिपालोंसे घिरकर कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ आगे बढ़े। उन्होंने दुर्योधनके सैकड़ों सैनिक दलोंको दूर भगाकर वहाँ सब ओर विचरण करना प्रारम्भ किया।४-५।

शिबिरं मापयामास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
सात्यकिश्च रथोदारो युयुधानः प्रतापवान् ॥ ६ ॥

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा प्रतापशाली एवं उदाररथी सत्यकपुत्र युयुधानने शिविर बनाने योग्य भूमि नापी ॥

आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम्।
सूपतीर्थां शुचिजलां शर्करापङ्कवर्जिताम् ॥ ७ ॥
खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत।
गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत् ॥ ८ ॥
विधिर्यः शिबिरस्यासीत् पाण्डवानां महात्मनाम्।
तद्विधानि नरेन्द्राणां कारयामास केशवः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन जनमेजय! कुरुक्षेत्रमें हिरण्वती नामक एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जलसे भरी है। उसके तटपर अनेक सुन्दर घाट हैं। उस नदीमें कंकड़, पत्थर और कीचड़का नाम नहीं है। उसके समीप पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने खाईं खुदवायी और उसकी रक्षाके लिये पहरेदारोंको नियुक्त करके वहीं सेनाको ठहराया। महात्मा पाण्डवोंके लिये शिबिरका निर्माण जिस विधिसे किया गया था, उसी प्रकारके भगवान् केशवने अन्य राजाओंके लिये शिविर बनवाये ॥ ७-९ ॥

प्रभूततरकाष्ठानि दुराधर्षतराणि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥
शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ।
विमानानीव राजेन्द्र निविष्टानि महीतले ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! उस समय राजाओंके लिये सैकड़ों और हजारों-की संख्यामें दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिबिर पृथक्-पृथक् बनवाये गये थे। उनके भीतर बहुत-से काष्ठ तथा प्रचुर मात्रामें भक्ष्य-भोज्य अन्न एवं पान-सामग्रीका संग्रह किया गया था। वे समस्त शिबिर भूतलपर रहते हुए विमानोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०-११ ॥

तत्रासञ्शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ १२ ॥

वहाँ सैकड़ों विद्वान् शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रक्खे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणोंके साथ वहाँ रहते थे ॥ १२ ॥

ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः ।
ससर्जरसपांसूनां राशयः पर्वतोपमाः ॥ १३ ॥

प्रत्येक शिबिरमें प्रत्यञ्चा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा रालका चूरा—इन सबके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे ॥

बहूदकं सुयवसं तुषाङ्गारसमन्वितम् ।
शिबिरे शिबिरे राजा संचकार युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक शिबिरमें प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्निका संग्रह करा रक्खा था ॥ १४ ॥

महायन्त्राणि नाराचास्तोमराणि परश्वधाः ।
धनूंषि कवचादीनि ऋष्टयस्तूणसंयुताः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस—ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिबिरों-में संगृहीत थीं ॥ १५ ॥

गजाः कण्टकसंनाहा लोहवर्मोत्तरच्छदाः ।
दृश्यन्ते तत्र गिर्याभाः सहस्रशतयोधिनः ॥ १६ ॥

वहाँ लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ पर्वतोंके समान विशालकाय बहुत-से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहेके कवच तथा लोहेकी ही झूल धारण किये हुए थे ॥ १६ ॥

निविष्टान् पाण्डवांस्तत्र ज्ञात्वा मित्राणि भारत ।
अभिसस्रुर्यथादेशं सबलाः सहवाहनाः ॥ १७ ॥

भारत ! पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें जाकर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया है, यह जानकर उनसे मित्रता रखनेवाले बहुत-से राजा अपनी सेना और सवारियोंके साथ उनके पास, जहाँ वे ठहरे थे, आये ॥ १७ ॥

चरितब्रह्मचर्यास्ते सोमपा भूरिदक्षिणाः ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १८ ॥

जिन्होंने यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका पालन, यज्ञोंमें सोमरस-का पान तथा प्रचुर दक्षिणाओंका दान किया था, ऐसे भूपालगण पाण्डवोंकी विजयके लिये कुरुक्षेत्रमें पधारे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि शिबिरादिनिर्माणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें शिबिर आदिका निर्माणविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिबिर निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी

जनमेजय उवाच

युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
संनिविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ॥ १ ॥
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ॥ २ ॥
महेन्द्रमिव चादित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधनने जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे सेनाओंके साथ यात्रा करके भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हो कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये और वहाँ सेनाका पड़ाव डाले बैठे हैं, पुत्रोंसहित राजा विराट और द्रुपद भी उनके साथ हैं, केकयराजकुमार, वृष्णिवंशी योद्धा तथा सैकड़ों भूपाल उन्हें घेरे रहते हैं तथा वे आदित्योंसहित घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति अनेक महारथी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित हैं, तब उसने क्या किया ? ॥ १-३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन् यदासीत् कुरुजाङ्गले ॥ ४ ॥

महामते ! कुरुक्षेत्रके उस भयंकर समारोहमें जो कुछ हुआ हो वह सब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

व्यथयेयुरिमे देवान् सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।

युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ॥ ६॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।
कुरूणां पाण्डवानां च यद् यदासीद् विचेष्टितम् ॥७॥

तपोधन! पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी युधामन्यु–ये सब तो संग्राममें एकत्र होनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी पीड़ित कर सकते हैं; अतः वहाँ कौरवों तथा पाण्डवोंने जो-जो कर्म किया था वह सब विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ५–७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

'श्रीकृष्ण यहाँसे कृतकार्य होकर नहीं गये हैं। इसके लिये वे क्रोधमें भरकर पाण्डवोंको निश्चय ही युद्धके लिये उत्तेजित करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ९ ॥

इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ॥ १० ॥

'वास्तवमें श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि पाण्डवोंके साथ मेरा युद्ध हो। भीमसेन और अर्जुन—ये दोनों भाई तो श्रीकृष्णके ही मतमें रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ॥ ११ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिर भी अधिकतर भीमसेनके वशमें रहा करते हैं। इसके सिवा मैंने पहले सब भाइयोंसहित उनका तिरस्कार भी किया है ॥ ११ ॥

विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ॥ १२ ॥

'विराट और द्रुपद तो मेरे साथ पहलेसे ही वैर रखते हैं। वे दोनों पाण्डव-सेनाके संचालक तथा श्रीकृष्णकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले हैं ॥ १२ ॥

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ १३ ॥

'अतः अब हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ होनेवाला यह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी होगा। इसलिये राजाओ! आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्धकी सारी तैयारी करें ॥

शिबिराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः।
सुपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ॥ १४ ॥
आसन्नजलकाष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः।
अच्छेद्याहारमार्गाणि वन्धोच्छ्रयचितानि च ॥ १५ ॥

'भूमिपालो! आप कुरुक्षेत्रमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकता-के अनुसार पर्याप्त अवकाश हो तथा शत्रुलोग जिनपर अधिकार न कर सकें। उनमें पास ही जल और काष्ठ आदि मिलनेकी सुविधाएँ हों। उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्यसामग्री सुविधासे लायी जा सके और शत्रुलोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों तरफ किलेबन्दी कर देनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥

विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद् बहिः ॥ १६ ॥

'उन शिविरोंको नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रखना चाहिये। शिविरोंका जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरोंमें जानेके लिये बनाये जायँ ॥१६॥

प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम्।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ॥ १७ ॥
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम्।

'आज ही यह घोषणा करा दी जाय कि कल सबेरे ही युद्धके लिये प्रस्थान करना है। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये।' दुर्योधनका यह आदेश सुनकर 'बहुत अच्छा–ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके महामना कर्ण आदिने अत्यन्त प्रसन्न होकर सबेरा होते ही राजाओंके निवासके लिये शिविर बनवाने आरम्भ कर दिये ॥ १७½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ॥ १८ ॥
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः।
बाहून् परिघसंकाशान् संस्पृशन्तः शनैः शनैः ॥ १९ ॥
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान्।

तदनन्तर वहाँ आये हुए सब नरेश राजा दुर्योधनकी यह आज्ञा सुनकर रोषावेशसे परिपूर्ण हो चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा सोनेके भुजबंदोंसे प्रकाशित अपनी परिघके समान मोटी भुजाओंका धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए बहुमूल्य आसनों-से उठकर खड़े हो गये ॥ १८-१९½ ॥

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ॥ २० ॥

उन्होंने अपने कमलसदृश करोंसे मस्तकपर पगड़ी बाँध ली; फिर धोती, चादर और सब प्रकारके आभूषण धारण कर लिये ॥ २० ॥

ते रथान् रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ रथी अपने रथोंको, अश्वसंचालनकी कलामें कुशल योद्धा घोड़ोंको और हस्तिशिक्षामें निपुण सैनिक हाथियोंको सुसज्जित करने लगे ॥ २१ ॥

अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ॥ २२ ॥

उन्होंने सोनेके बने हुए बहुत-से विचित्र कवच तथा सब प्रकारके विभिन्न अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।२२।

पदातयश्च पुरुषाः शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजह्रुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ॥ २३ ॥

पैदल योद्धाओंने भी अपने अङ्गोंमें सुवर्णजटित कवच तथा भाँति-भाँतिके अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ॥२३॥

तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारतासीत् समाकुलम् ॥ २४ ॥

जनमेजय ! दुर्योधनका वह हस्तिनापुर नगर मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा हो, इस प्रकार समृद्ध और हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भर गया था, इससे वहाँ बड़ी हलचल मच गयी थी ॥ २४ ॥

जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसंचयरत्नवान् ॥ २५ ॥
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ॥ २६ ॥
योधचन्द्रोदयोद्भूतः कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजंश्चन्द्रोदय इवोदधिः ॥ २७ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदयकालमें समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधनरूपी महासागर सैनिक-समुदायरूपी चन्द्रमाके उदयसे अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा । सब ओर घूमता हुआ जनसमुदाय ही वहाँ जलमें उठनेवाली भँवरोंके समान जान पड़ता था । रथ, हाथी और घोड़े उसमें मछलीके समान प्रतीत होते थे । शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस कुरुराजरूपी समुद्रकी गर्जना थी । खजानोंका संग्रह ही रत्नराशिका प्रतिनिधित्व कर रहा था । योद्धाओंके विचित्र आभूषण और कवच ही उस समुद्रकी उठती हुई तरङ्गोंके समान जान पड़ते थे । चमकीले शस्त्र ही निर्मल फेन-से प्रतीत होते थे । महलोंकी पंक्तियाँ ही तटवर्ती पर्वत-सी जान पड़ती थीं । सड़कोंपर स्थित दूकानें ही मानो गुफाएँ थीं ॥ २५—२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें 'दुर्योधनका अपनी सेनाको सुसज्जित करना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५३॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवस्य तद् वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—'भगवन् ! मन्दबुद्धि दुर्योधनने क्यों ऐसी बात कही ? ॥ १ ॥

अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ॥ २ ॥

'अच्युत ! इस वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है ? हम कैसा बर्ताव करें ? जिससे अपने धर्मसे नीचे न गिरें ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ॥ ३ ॥

'वासुदेव ! दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके तथा भाइयों-सहित मेरे विचारोंको भी आप जानते हैं ॥ ३ ॥

विदुरस्यापि तद् वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कार्त्स्न्येन ते श्रुता ॥ ४ ॥

'विदुरने और भीष्मजीने भी जो बातें कही हैं, उन्हें भी आपने सुना है । विशालबुद्धे ! माता कुन्तीका विचार भी आपने पूर्णरूपसे सुन लिया है ॥ ४ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! इन सब विचारोंको लाँघकर स्वयं ही इस विषयपर बारंबार विचार करके हमारे लिये जो उचित हो, उसे निःसंकोच कहिये' ॥ ५ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

धर्मराजका यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरमें यह बात कही ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच

उक्तवानस्मि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है ॥ ७ ॥

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ॥ ८ ॥

खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है। वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥ ९ ॥

दुरात्मा दुर्योधन कर्णका आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है। इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है ॥ ९ ॥

बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥ १० ॥

पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने तो मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका ॥ १० ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥ ११ ॥

अच्युत ! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं। विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ॥ १२ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं ॥ १२ ॥

किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥ १३ ॥

उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है ? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है ॥ १३ ॥

पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, जो पाप और अमङ्गलकारक भाव नहीं है, वह सब अकेले दुर्योधनमें विद्यमान है ॥ १४ ॥

न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित्।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥ १५ ॥

हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा नहीं रखते हैं। अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम्।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर सब राजा कुछ न बोलते हुए केवल महाराज युधिष्ठिरके मुँहकी ओर देखने लगे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम्।
योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने राजाओंका अभिप्राय समझकर भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके साथ उन्हें युद्धके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १७ ॥

ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ॥ १८ ॥

उस समय युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा मिलते ही समस्त योद्धा हर्षसे खिल उठे, फिर तो पाण्डवोंके सैनिक किलकारियाँ करने लगे ॥ १८ ॥

अवध्यानां वधं पश्यन् धर्मराजो युधिष्ठिरः।
निःश्वसन् भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर यह देखकर कि युद्ध छिड़नेपर अवध्य पुरुषोंका भी वध करना पड़ेगा, खेदसे लम्बी साँसें खींचते हुए भीमसेन और अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ॥ २० ॥

'जिससे बचनेके लिये मैंने वनवासका कष्ट स्वीकार किया और नाना प्रकारके दुःख सहन किये, वही महान् अनर्थ मेरे प्रयत्नसे भी टल न सका। वह हमलोगोंपर आना ही चाहता है ॥ २० ॥

तस्मिन् यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः।
अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ॥ २१ ॥

'यद्यपि उसे टालनेके लिये हमारी ओरसे पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु हमारे प्रयाससे उसका निवारण नहीं हो सका और जिसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, वह महान् कलह स्वतः हमारे ऊपर आ गया ॥ २१ ॥

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ॥ २२ ॥

'जो लोग मारने योग्य नहीं हैं, उनके साथ युद्ध करना कैसे उचित होगा ? वृद्ध गुरुजनोंका वध करके हमें विजय किस प्रकार प्राप्त होगी ?' ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परंतपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद् वचः ॥ २३ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई बातोंको उनसे कह सुनाया ॥ २३ ॥

उक्तवान् देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत् त्वया राजन् निखिलेनावधारितम् ॥ २४ ॥

वे कहने लगे—'राजन् ! देवकीनन्दन श्रीकृष्णने माता कुन्ती तथा विदुरजीके कहे हुए जो वचन आपको सुनाये थे, उनपर आपने पूर्णरूपसे विचार किया होगा ॥ २४ ॥

न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नापि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ॥ २५ ॥

'मेरा तो यह निश्चित मत है कि वे दोनों अधर्मकी बात नहीं कहेंगे । कुन्तीनन्दन ! अब हमारे लिये युद्धसे निवृत्त हो जाना भी उचित नहीं है' ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद् वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ॥ २६ ॥

अर्जुनका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरसे मुसकराते हुए बोले—'हाँ, अर्जुन ठीक कहते हैं' ॥

ततस्ते धृतसंकल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! तदनन्तर योद्धाओंसहित पाण्डव युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब राजा दुर्योधनने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका विभाग किया ॥ १ ॥

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओंमेंसे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ॥ २ ॥

सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः ॥ ३ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः ॥ ४ ॥
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ॥ ५ ॥
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ६ ॥
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्राङ्कुशतोमराः ॥ ७ ॥
सकीलकवचाः सर्वे वासीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ॥ ८ ॥
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ॥ ९ ॥

वे सब वीर अनुकर्ष (रथकी मरम्मतके लिये उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ), तरकस, वरूथ (रथको ढकनेका बाघ आदिका चमड़ा), उपासङ्ग (जिन्हें हाथी या घोड़े उठा सकें, ऐसे तरकस), तोमर, शक्ति, निषङ्ग (पैदलों-द्वारा ले जाये जानेवाले तरकस), ऋष्टि (एक प्रकारकी लोहेकी लाटी), ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरहकी रस्सियाँ, पाश, बिस्तर, कचग्रह-विक्षेप (बाल पकड़कर गिरानेका यन्त्र); तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पोंके घड़े, रालका चूरा, घण्टफलक (घुँघुरुओंवाली ढाल), खड्गादि लोहेके शस्त्र, औंटा हुआ गुड़का पानी, ढेले, साल, भिन्दि-पाल (गोफियाँ), मोम चुपड़े हुए मुद्गर, काँटीदार लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दरात, अङ्कुश, तोमर, काँटेदार कवच, बसूले, आरे आदि, बाघ और गैंड़ेके चमड़ेसे मढ़े हुए रथ, ऋष्टि, सींग, प्रास, भाँति-भाँतिके आयुध, कुठार, कुदाल, तेलमें भीगे हुए रेशमी वस्त्र तथा घी लिये हुए थे ॥ ३–९ ॥

रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ॥ १० ॥

वे सभी सैनिक सोनेके जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हो समस्त सेनाको ही विचित्र शोभासे सम्पन्न करते हुए अपने सुन्दर शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १० ॥

तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेशिताः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार जो शस्त्र-विद्याका निश्चित ज्ञान रखनेवाले, कुलीन तथा घोड़ोंकी नस्लको पहचाननेवाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथिके कामपर नियुक्त किये गये थे ॥ ११ ॥

बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ॥ १२ ॥

उस सेनाके रथोंमें अमङ्गल-निवारणके लिये यन्त्र और ओषधियाँ बाँधी गयी थीं । वे रस्सियोंसे खूब कसे गये थे । उन रथोंपर बँधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी थीं और कँगूरे जोड़े गये थे । उन सबमें ढाल-तलवार और पट्टिश आबद्ध थे ॥ १२॥

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥ १३ ॥

उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे, वे सभी घोड़े अच्छी जातिके थे और सम्पूर्ण रथोंमें प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रक्खे गये थे ॥ १३ ॥

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ॥ १४ ॥
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन् रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ १५ ॥

प्रत्येक रथके दो-दो घोड़ोंपर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथके लिये दो चक्ररक्षक नियत किये गये थे। वे दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे तथा रथी भी अश्वसंचालनकी कलामें निपुण थे । सब ओर सुवर्णमालाओंसे अलंकृत हजारों रथ शोभा पाते थे । शत्रुओंके लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था । वे सब-के-सब नगरोंकी भाँति सुरक्षित थे ॥ १४-१५ ॥

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः ।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियोंको भी स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित किया गया था । उन सबको रस्सोंसे कसा गया था । उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए थे, जिससे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥१६॥

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ १७ ॥

राजन्! उनमेंसे दो पुरुष अङ्कुश लेकर महावतका काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लिये रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था ॥

गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सर्वमायुधकोशकैः ।
तद् बभूव बलं राजन् कौरव्यस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

राजन्! महामना दुर्योधनकी वह सारी सेना ही अस्त्र-शस्त्रोंके भण्डारसे युक्त मदमत्त गजराजोंसे व्याप्त हो रही थी ॥

आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलङ्कृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार कवचधारी, युद्धके लिये उद्यत, आभूषणोंसे विभूषित तथा पताकाधारी सवारोंसे युक्त हजारों-लाखों घोड़े उस सेनामें मौजूद थे ॥ १९ ॥

असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ॥ २० ॥

वे घोड़े उछल-कूद मचाने आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सदा अपने सवारोंके वशमें रहते थे । उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी । वे सुनहरे साजोंसे सुसज्जित थे । उनकी संख्या कई लाख थी ॥ २० ॥

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥ २१ ॥

उस सेनामें जो पैदल मनुष्य थे, वे भी सोनेके हारोंसे अलंकृत थे । उनके रूप-रंग, कवच और अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकारके दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्यासन् पादरक्षाः समन्ततः ॥ २२ ॥

एक-एक रथके पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथीके पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोड़ेके पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पादरक्षक नियुक्त किये गये थे ॥

रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्यासन् शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसंधानकारिणः ॥ २३ ॥

एक-एक रथके पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथीके पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़ेके साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्यसे संगठित किये गये थे कि वे समूहसे बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियोंको परस्पर मिला दें ॥

सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दशवाहिनी ॥ २४ ॥

पाँच सौ हाथियों और पाँच सौ रथोंकी एक सेना होती है । दस सेनाओंकी एक पृतना और दस पृतनाओंकी एक वाहिनी होती है ॥ २४ ॥

सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ॥ २५ ॥

इसके सिवा सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, वरूथिनी और अक्षौहिणी—इन पर्यायवाची (समानार्थक) नामोंद्वारा भी सेनाका वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ॥२६॥

इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने अपनी सेनाओंको व्यूहरचनापूर्वक संगठित किया था। कुरुक्षेत्रमें ग्यारह और सात मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं ॥

अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद् बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद् बलम् ॥ २७॥

पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी थीं ॥

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ॥ २८ ॥

पचपन पैदलोंकी एक टुकड़ीको पत्ति कहते हैं। तीन पत्तियाँ मिलकर एक सेनामुख कहलाती हैं। सेनामुखका ही दूसरा नाम गुल्म है ॥ २८ ॥

त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

तीन गुल्मोंका एक गण होता है। दुर्योधनकी सेनाओंमें युद्ध करनेवाले पैदल योद्धाओंके ऐसे-ऐसे गण दस हजारसे भी अधिक थे ॥ २९ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥ ३० ॥

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधनने अच्छी तरह सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषोंको सेनापति बनाया ॥

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान् ।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ॥ ३१ ॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥ ३२ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥ ३३ ॥

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा—इन श्रेष्ठ पुरुषोंको एवं मद्रराज शल्य, सिंधुराज जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा महाबली बाह्लीक—इन राजाओंको पहले अपने सामने बुलाकर उन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेनाका नायक निश्चित करके विधिपूर्वक उनका अभिषेक किया ॥३१—३३॥

दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

भारत ! दुर्योधन प्रतिदिन और प्रत्येक वेलामें उन सेनापतियोंका बारंबार विविध प्रकारसे प्रत्यक्ष पूजन करता था ॥

तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ॥ ३५ ॥

उनके जो अनुयायी थे, उनको भी उसी प्रकार यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया गया। वे राजाओंके सैनिक राजा दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें दुर्योधनकी सेनाका विभागविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओंके साथ शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥

'पितामह ! कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो ? किसी योग्य सेनापतिके बिना युद्धमें जाकर चींटियोंकी पंक्तिके समान छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ २ ॥

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतृणां स्पर्धते च परस्परम् ॥ ३ ॥

'दो पुरुषोंकी बुद्धि कभी समान नहीं होती। यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरेकी होड़में बढ़ता है ॥ ३ ॥

श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ॥ ४ ॥

'महामते ! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणोंने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुए पहले कभी अमिततेजस्वी हैहयवंशके क्षत्रियोंपर आक्रमण किया था ॥ ४ ॥

तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

'पितामह ! उस समय ब्राह्मणोंके साथ वैश्यों और शूद्रोंने भी उनपर धावा किया था। एक ओर तीनों वर्णके लोग थे और दूसरी ओर चुने हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय ॥ ५ ॥

ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः ।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब तीनों वर्णोंके लोग बारंबार पीठ दिखाकर भागने लगे। यद्यपि इनकी सेना अधिक थी तो भी क्षत्रियोंने एकमत होकर उनपर विजय पायी ॥ ६ ॥

ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।
तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ॥ ७ ॥

'पितामह ! तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंसे ही पूछा—हमारी पराजयका क्या कारण है? उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियोंने उनसे यथार्थ कारण बता दिया ॥ ७ ॥

वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे ।
भवन्तस्तु पृथक् सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ॥ ८ ॥

'वे बोले—हमलोग एक परम बुद्धिमान् पुरुषको सेनापति बनाकर युद्धमें उसीका आदेश सुनते और मानते हैं। परंतु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी ही बुद्धिके अधीन हो मनमाना बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम् ।
नये सुकुशलं शूरमजयन् क्षत्रियांस्ततः ॥ ९ ॥

'यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने एक शूरवीर एवं नीतिनिपुण ब्राह्मणको सेनापति बनाया और क्षत्रियोंपर विजय प्राप्त की॥

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम् ।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥ १० ॥

'इस प्रकार जो लोग किसी हितैषी, पापरहित तथा युद्धकुशल शूरवीरको सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राममें शत्रुओंपर अवश्य विजय पाते हैं ॥ १० ॥

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम ।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ११ ॥

'आप सदा मेरा हित चाहनेवाले तथा नीतिमें शुक्राचार्यके समान हैं। आपको आपकी इच्छाके बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्ममें ही स्थित रहते हैं, अतः हमारे प्रधान सेनापति हो जाइये ॥ ११ ॥

रश्मिवतामिवादित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः ।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा ।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ॥ १३ ॥

'जैसे किरणोंवाले तेजस्वी पदार्थोंके सूर्य, वृक्ष और ओषधियोंके चन्द्रमा, यक्षोंके कुबेर, देवताओंके इन्द्र, पर्वतोंके मेरु, पक्षियोंके गरुड़, समस्त देवयोनियोंके कार्तिकेय और वसुओंके अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक हैं (उसी प्रकार आप हमारी समस्त सेनाओंके अधिनायक और संरक्षक हों) ॥ १२-१३ ॥

भवता हि वयं गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः ।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके द्वारा सुरक्षित देवताओंकी भाँति आपके संरक्षणमें रहकर हमलोग निश्चय ही देवगणोंके लिये भी अजेय हो जायँगे॥

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः ।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥ १५ ॥

'जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे-आगे चलते हैं, वैसे ही आप हमारे अगुआ हों। जैसे बछड़े साँड़के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—भारत ! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव हैं ॥ १६ ॥

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप ।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! मैं पाण्डवोंको उनके पूछनेपर अवश्य ही हितकी बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि ।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात् कुन्तीपुत्राद् धनंजयात्॥ १८ ॥

मैं इस भूतलपर नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा दूसरे किसी योद्धाको अपने समान नहीं देखता हूँ ॥ १८ ॥

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युध्येत पाण्डवः ॥ १९ ॥

महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन अनेक दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं; परंतु वे मेरे सामने आकर प्रकट रूपमें कभी युद्ध नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत् ।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ॥ २० ॥

अर्जुनकी ही भाँति मैं भी यदि चाहूँ तो अपने शस्त्रोंके बलसे देवता, मनुष्य, असुर तथा राक्षसोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्‌को क्षणभरमें निर्जीव बना दूँ ॥ २० ॥

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप ।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥ २१ ॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन ।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ २२ ॥

परंतु जनेश्वर ! मैं पाण्डुके पुत्रोंकी किसी तरह हत्या

नहीं करूँगा । कुरुनन्दन ! यदि पाण्डव इस युद्धमें मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा प्रतिदिन उनके पक्षके दस हजार योद्धाओंका वध करता रहूँगा, मैं इस प्रकार इनकी सेनाका संहार करूँगा॥ २१-२२॥

सेनापतिस्त्वहं राजन् समये नापरेण ते ।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ॥ २३ ॥

राजन्! मैं अपनी इच्छाके अनुसार एक शर्तपर तुम्हारा सेनापति होऊँगा। उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा। उस शर्तको तुम मुझसे यहाँ सुन लो ॥ २३ ॥

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ २४ ॥

पृथ्वीपते! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं ही युद्ध करूँ; क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्धमें मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है ॥ २४ ॥

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथंचन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ॥ २५ ॥

कर्ण बोला—राजन्! मैं गङ्गानन्दन भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । इनके मारे जानेपर ही गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ लड़ूँगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर विधिपूर्वक अभिषेक किया ।

अभिषेक हो जानेपर उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ २६ ॥

ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥ २७ ॥

तदनन्तर बाजा बजानेवालोंने राजाकी आज्ञासे निर्भय होकर सैकड़ों और हजारों भेरियों तथा शंखोंको बजाया ॥

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ॥ २८ ॥

उस समय वीरोंके सिंहनाद तथा वाहनोंके नाना प्रकारके शब्द सब ओर गूँज उठे। बिना बादलके ही आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गयी ॥ २८ ॥

निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ॥ २९ ॥

हाथियोंके चिग्घाड़नेके साथ ही बिजलीकी गड़गड़ाहट-के समान भयंकर शब्द होने लगे। धरती डोलने लगी। इन सब उत्पातोंने प्रकट होकर समस्त योद्धाओंके मानसिक उत्साहको दबा दिया ॥ २९ ॥

वाचश्चाप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ॥ ३० ॥

अशुभ आकाशवाणी सुनायी देने लगी, आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, भयकी सूचना देनेवाली सियारिनियाँ जोर-जोरसे अमङ्गलजनक शब्द करने लगीं ॥ ३० ॥

सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! राजा दुर्योधनने जब गङ्गानन्दन भीष्मको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया, उसी समय ये सैकड़ों भयानक उत्पात प्रकट हुए ॥ ३१ ॥

ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः॥ ३२ ॥
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ ३३ ॥
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले भीष्मको सेना-पति बनाकर दुर्योधनने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उन्हें गौओं तथा सुवर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणाएँ दीं। उस समय ब्राह्मणोंने विजयसूचक आशीर्वादोंद्वारा राजाका अभ्युदय मनाया और वह सैनिकोंसे घिरकर भीष्म-जीको आगे करके भाइयोंके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकला तथा विशाल तम्बू-शामियानोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया ३२—३४

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! कर्णके साथ कुरुक्षेत्रमें जाकर दुर्योधनने

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ॥ ३६ ॥

एक समतल प्रदेशमें शिविरके लिये भूमिको नपवाया ॥ ३५ ॥

ऊसररहित मनोहर प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी बहुतायत थी, दुर्योधनकी सेनाका शिविर हस्तिनापुरकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें भीष्मका सेनापतित्वविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ॥ १ ॥
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ॥ २ ॥
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ॥ ३ ॥
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भरतवंशियोंके पितामह गङ्गानन्दन महात्मा भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे। समस्त राजाओंमें ध्वजके समान उनका बहुत ऊँचा स्थान था। वे बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें पृथ्वी, गम्भीरतामें समुद्र, स्थिरतामें हिमवान्, उदारतामें प्रजापति और तेजमें भगवान् सूर्यके समान थे। वे अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा देवराज इन्द्रके समान शत्रुओंका विध्वंस करनेवाले थे। उस समय जो अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी रणयज्ञ आरम्भ हुआ था, उसमें उन्होंने जब दीर्घकालके लिये दीक्षा ले ली, तब इस समाचारको सुननेके पश्चात् सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिरने क्या कहा ? भीमसेन तथा अर्जुनने भी उसके बारेमें क्या कहा ? अथवा भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया ? ॥ १—५ ॥

वैशम्पायन उवाच

आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान् भ्रातॄन् समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! आपद्धर्मके विषयमें कुशल, वक्ताओंमें श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उस समय सम्पूर्ण भाइयों तथा सनातन भगवान् वासुदेवको बुलाकर सान्त्वनापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ ६½ ॥

पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिताः ॥ ७ ॥
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात् सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन् मम पश्यत ॥ ८ ॥

'तुम सब लोग सब ओर घूम-फिरकर अपनी सेनाओंका निरीक्षण करो और कवच आदिसे सुसज्जित होकर खड़े हो जाओ। सबसे पहले पितामह भीष्मसे तुम्हारा युद्ध होगा। इसलिये अपनी सात अक्षौहिणी सेनाओंके सेनापतियोंकी देखभाल कर लो' ॥ ७-८ ॥

कृष्ण उवाच

यथार्हति भवान् वक्तुमस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद् वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भरतकुलभूषण ! ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर आपको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही यह अर्थयुक्त बात आपने कही है ॥ ९ ॥

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ॥ १० ॥

महाबाहो ! मुझे आपकी बात ठीक लगती है; अतः इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है, उसका पालन कीजिये। अपनी सेनाके सात सेनापतियोंको यहाँ निश्चित कर लीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ११ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १२ ॥
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्चद् युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥ १३ ॥
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

पाण्डवोंके डेरेमें बलरामजी

राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, पाञ्चालवीर शिखण्डी और मगधराज सहदेव—इन सात युद्धाभिलाषी महाभाग वीरोंको युधिष्ठिरने विधिपूर्वक सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्नको सम्पूर्ण सेनाओंका प्रधान सेनापति बना दिया, जो द्रोणाचार्य-का अन्त करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे उत्पन्न हुए थे ॥ ११—१३½॥

सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ॥ १४ ॥
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।

तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी वीर धनंजयको उन समस्त महामना वीर सेनापतियोंका भी अधिपति बना दिया ॥ १४½ ॥

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ॥ १५ ॥
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

अर्जुनके भी नेता और उनके घोड़ोंके भी नियन्ता हुए बलरामजीके छोटे भाई परम बुद्धिमान् श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण ॥ १५½ ॥

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ॥ १६ ॥
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ १७ ॥
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ॥ १८ ॥
अभिगुप्तो महाबाहुर्मरुद्भिरिव वासवः ।
नीलकौशेयवसनः कैलासशिखरोपमः ॥ १९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान् मदरक्तान्तलोचनः ।

राजन्! तदनन्तर उस महान् संहारकारी युद्धको अत्यन्त संनिकट और प्रायः उपस्थित हुआ देख नीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले हलधारी महाबाहु श्रीमान् बलरामजीने पाण्डवोंके शिविरमें सिंहके समान लीला-पूर्वक गतिसे प्रवेश किया। उनके नेत्रोंके कोने मदसे अरुण हो रहे थे। उनके साथ अक्रूर आदि यदुवंशी तथा गद, साम्ब, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा आहुकपुत्र आदि प्रमुख वृष्णिवंशी भी जो सिंह और व्याघ्रोंके समान अत्यन्त उत्कट बलशाली थे, उन सबसे सुरक्षित बलरामजी वैसे ही सुशोभित हुए, मानो मरुद्गणोंके साथ महेन्द्र शोभा पा रहे हों। १६—१९½।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः ॥ २० ॥
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ॥ २१ ॥

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेन तथा अन्य जो कोई भी राजा वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये ॥ २०-२१ ॥

पूजयांचक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम् ।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ॥ २२ ॥

हलायुध बलरामजीको आया देख सबने उनका समादर किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने हाथसे उनके हाथका स्पर्श किया ॥ २२ ॥

वासुदेवपुरोगास्तं सर्व एवाभ्यवादयन् ।
विराटद्रुपदौ वृद्धावभिवाद्य हलायुधः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरेण सहित उपाविशदरिंदमः ।

श्रीकृष्ण आदि सब लोगोंने उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् बूढ़े राजा विराट और द्रुपदको प्रणाम करके शत्रु-दमन बलराम युधिष्ठिरके साथ बैठे ॥ २३½ ॥

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

फिर उन सब राजाओंके चारों ओर बैठ जानेपर रोहिणी-नन्दन बलरामने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा—॥

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः ।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २५ ॥

'जान पड़ता है यह महाभयंकर और दारुण नरसंहार

होगा ही। प्रारब्धके इस विधानको मैं अटल मानता हूँ। अब इसे हटाया नहीं जा सकता ॥ २५ ॥

तस्माद् युद्धात् समुत्तीर्णानपि वः ससुहृज्जनान् ।
अरोगानक्षतैर्देहैर्द्रष्टास्मीति मतिर्मम ॥ २६ ॥

'इस युद्धसे पार हुए आप सब सुहृदोंको मैं अक्षत शरीरसे युक्त और नीरोग देखूँगा। ऐसा मेरा विश्वास है ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं कालपक्वमसंशयम् ।
विमर्दश्च महान् भावी मांसशोणितकर्दमः ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि यहाँ जो-जो क्षत्रिय नरेश एकत्र हुए हैं, उन सबको कालने अपना ग्रास बनानेके लिये पका दिया है । महान् जनसंहार होनेवाला है । इसमें रक्त और मांसकी कीच जम जायगी ॥ २७ ॥

उक्तो मया वासुदेवः पुनः पुनरुपह्वरे ।
सम्बन्धिषु समां वृत्तिं वर्तस्व मधुसूदन ॥ २८ ॥
पाण्डवा हि यथास्माकं तथा दुर्योधनो नृपः ।
तस्यापि क्रियतां साह्यं स पर्येति पुनःपुनः ॥ २९ ॥

'मैंने एकान्तमें श्रीकृष्णसे बार-बार कहा था कि मधुसूदन ! अपने सभी सम्बन्धियोंके प्रति एक-सा बर्ताव करो; क्योंकि हमारे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही राजा दुर्योधन है । उसकी भी सहायता करो । वह बार-बार अपने यहाँ चक्कर लगाता है ॥ २८-२९ ॥

तच्च मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः ।
निर्विष्टः सर्वभावेन धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३० ॥

'परंतु युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये ही मधुसूदन श्रीकृष्णने मेरी उस बातको नहीं माना है । ये अर्जुनको देखकर सब प्रकारसे उसीपर निछावर हो रहे हैं ॥ ३० ॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥ ३१ ॥

'मेरा निश्चित विश्वास है कि इस युद्धमें पाण्डवोंकी अवश्य विजय होगी । भारत ! श्रीकृष्णका भी ऐसा दृढ़ संकल्प है ॥ ३१ ॥

न चाहमुत्सहे कृष्णमृते लोकमुदीक्षितुम् ।
ततोऽहमनुवर्तामि केशवस्य चिकीर्षितम् ॥ ३२ ॥

'मैं तो श्रीकृष्णके बिना इस सम्पूर्ण जगत्‌की ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता; अतः ये केशव जो कुछ करना चाहते हैं, मैं उसीका अनुसरण करता हूँ ॥ ३२ ॥

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ॥ ३३ ॥

'भीमसेन और दुर्योधन ये दोनों ही वीर मेरे शिष्य एवं गदायुद्धमें कुशल हैं; अतः मैं इन दोनोंपर एक-सा स्नेह रखता हूँ ॥ ३३ ॥

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ॥ ३४ ॥

'इसलिये मैं सरस्वती नदीके तटवर्ती तीर्थोंका सेवन करनेके लिये जाऊँगा; क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवंशियोंको उस अवस्थामें देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँगा' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निवर्त्य मधुसूदनम् ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु बलरामजी पाण्डवोंसे विदा ले मधुसूदन श्रीकृष्णको संतुष्ट करके तीर्थयात्राके लिये चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि बलरामतीर्थयात्रागमने सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें बलरामजीके तीर्थयात्राके लिये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
हिरण्यरोम्णो नृपतेः साक्षादिन्द्रसखस्य वै ॥ १ ॥
आकृतीनामधिपतिर्भोजस्यातियशस्विनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय अति यशस्वी दाक्षिणात्य देशके अधिपति भोजवंशी तथा इन्द्रके सखा हिरण्यरोमा नामवाले संकल्पोंके स्वामी महामना भीष्मकका सगा पुत्र, सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात रुक्मी, पाण्डवोंके पास आया ॥ १-२ ॥

यः किंपुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

जिसने गन्धमादननिवासी किंपुरुषप्रवर द्रुमका शिष्य होकर चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी ॥

यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ॥ ४ ॥

जिस महाबाहुने गाण्डीवधनुषके तेजके समान ही तेजस्वी विजय नामक धनुष इन्द्रदेवतासे प्राप्त किया था । वह दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न धनुष शार्ङ्गधनुषकी समानता करता था ॥ ४ ॥

त्रीण्येवैतानि दिव्यानि धनूंषि दिविचारिणाम् ।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः ।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः ॥ ५ ॥

द्युलोकमें विचरनेवाले देवताओंके ये तीन ही धनुष दिव्य माने गये हैं । उनमेंसे गाण्डीव धनुष वरुणका, विजय देवराज इन्द्रका तथा शार्ङ्ग नामक दिव्य तेजस्वी धनुष भगवान् विष्णुका बताया गया है ॥ ५ ॥

धारयामास तत् कृष्णः परसेनाभयावहम् ।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः ॥ ६ ॥

शत्रुसेनाको भयभीत करनेवाले उस शार्ङ्ग धनुषको भगवान् श्रीकृष्णने धारण किया और खाण्डवदाहके समय इन्द्रकुमार अर्जुनने साक्षात् अग्निदेवसे गाण्डीवधनुष प्राप्त किया था ॥ ६ ॥

द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत ।
संछिद्य मौरवान् पाशान् निहत्य मुरमोजसा ॥ ७ ॥
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम् ।

महातेजस्वी रुक्मीने द्रुमसे विजय नामक धनुष पाया था । भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेज और बलसे मुर दैत्यके पाशोंका उच्छेद करके भूमिपुत्र नरकासुरको जीतकर जब उसके यहाँसे अदितिके मणिमय कुण्डल वापस ले लिये और सोलह हजार स्त्रियों तथा नाना प्रकारके रत्नोंको अपने अधिकारमें कर लिया, उसी समय उन्हें शार्ङ्ग नामक उत्तम धनुष भी प्राप्त हुआ था ॥ ७-८½ ॥

रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम् ॥ ९ ॥
विभीषयन्निव जगत् पाण्डवानभ्यवर्तत ।

रुक्मी मेघकी गर्जनाके समान भयानक टंकार करनेवाले विजय नामक धनुषको पाकर सम्पूर्ण जगत्‌को भयभीत-सा करता हुआ पाण्डवोंके यहाँ आया ॥ ९½ ॥

नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ॥ १० ॥
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ।

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबलके घमंडमें आकर पहले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा किये गये रुक्मिणीके अपहरणको नहीं सह सका था ॥ १०½ ॥

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम् ॥ ११ ॥
ततोऽन्वधावद् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था । उसने यह प्रतिज्ञा करके कि मैं वृष्णिवंशी श्रीकृष्णको मारे बिना अपने नगरको नहीं लौटूँगा, उनका पीछा किया था ॥ ११½ ॥

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया ॥ १२ ॥
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया ।

उस समय उसके साथ विचित्र आयुधों और कवचोंसे सुशोभित, दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेमें समर्थ तथा बढ़ी हुई गङ्गाके समान विशाल चतुरंगिणी सेना थी ॥ १२½ ॥

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम् ॥ १३ ॥
व्यंसितो व्रीडितो राजन् नाजगाम स कुण्डिनम् ।

राजन् ! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचकर उनसे पराजित होनेके कारण लज्जित हो वह पुनः कुण्डिनपुरको नहीं लौटा ॥ १३½ ॥

यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा ॥ १४ ॥
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ युद्धमें शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले रुक्मीको हराया था, वहीं रुक्मीने भोजकट नामक उत्तम नगर बसाया ॥ १४½ ॥

सैन्येन महता तेन प्रभूतगजवाजिना ॥ १५ ॥
पुरं तद् भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप ।

राजन् ! प्रचुर हाथी-घोड़ोंवाली विशाल सेनासे सम्पन्न वह भोजकट नामक नगर सम्पूर्ण भूमण्डलमें विख्यात है १५½

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ॥ १६ ॥
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत् ।

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेनासे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवोंके पास आया ।१६½।

ततः स कवची धन्वी तली खड्गी शरासनी ॥ १७ ॥
ध्वजेनादित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम् ।

उसने कवच, धनुष, दस्ताने, खड्ग और तरकस धारण किये सूर्यके समान तेजस्वी ध्वजके साथ पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश किया ॥ १७½ ॥

विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याभ्यपूजयत् ।

वह वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे आया था । पाण्डवोंको उसके आगमनकी सूचना दी गयी, तब राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और उसका यथायोग्य आदर-सत्कार किया ॥ १८½ ॥

स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तान् सर्वान् विश्रान्तः सहसैनिकः ।

पाण्डवोंने रुक्मीका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । रुक्मीने भी उन सबको प्रेमपूर्वक अपनाकर सैनिकोंसहित विश्राम किया ॥ १९½ ॥

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ २० ॥
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव ।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वीरोंके बीचमें बैठकर उसने कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं

युद्धमें तुम्हारी सहायताके लिये आ पहुँचा हूँ । मैं इस महायुद्धमें तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओंके लिये असह्य हो उठेगी ॥ २०-२१ ॥

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ॥ २२ ॥

'इस जगत्‌में मेरे समान पराक्रमी दूसरा कोई पुरुष नहीं है । पाण्डुकुमार ! तुम शत्रुओंका जो भाग मुझे सौंप दोगे, मैं समरभूमिमें उसका संहार कर डालूँगा ॥ २२ ॥

अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।
अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ॥ २३ ॥
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।

'मेरे हिस्सेमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, किसीको जीवित नहीं छोड़ूँगा । अथवा यहाँ पधारे हुए ये सब राजा चुपचाप खड़े रहें । मैं अकेला ही समरभूमिमें तुम्हारे सारे शत्रुओंका वध करके तुम्हें पृथ्वीका राज्य अर्पित कर दूँगा' ॥ २३½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च संनिधौ ॥ २४ ॥
शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ २५ ॥
उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।

धर्मराज युधिष्ठिर तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप अन्य सब राजाओंके सुनते हुए रुक्मीके ऐसा कहनेपर परमबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर-की ओर देखते हुए मित्रभावसे हँसकर कहा—॥ २४-२५½ ॥

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ॥ २६ ॥
द्रोणं व्यपदिशञ्शिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ॥ २७ ॥

'वीर ! मैं कौरवोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ । विशेषतः महाराज पाण्डुका पुत्र हूँ । आचार्य द्रोणको अपना गुरु कहता हूँ और स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ । इसके सिवा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं और मैं अपने हाथमें गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । ऐसी स्थितिमें मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ ? ॥२६-२७॥

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥ २८ ॥

'वीरवर ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायताके लिये आया था ? ॥ २८ ॥

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत्॥ २९ ॥

'खाण्डववनमें देवताओं और दानवोंसे परिपूर्ण भयंकर युद्धमें जब मैं अपने प्रतिपक्षियोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा कौन सहायक था ? ॥ २९ ॥

निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।
तत्र मे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३० ॥

'जब निवातकवच तथा कालकेय नामक दानवोंके साथ छिड़े हुए युद्धमें मैं अकेला ही लड़ रहा था, उस समय मेरी सहायताके लिये कौन आया था ? ॥ ३० ॥

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।
युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥ ३१ ॥

'इसी प्रकार विराटनगरमें जब कौरवोंके साथ होनेवाले संग्राममें मैं अकेला ही बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा सहायक कौन था ? ॥ ३१ ॥

उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ॥ ३२ ॥
धारयन् गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।
अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ॥ ३३ ॥
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥ ३४ ॥

'मैंने युद्धमें सफलताके लिये रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर, वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण-की आराधना की है । मैं तेजस्वी, दृढ़ एवं दिव्य गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । मेरे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए तरकस मौजूद हैं और दिव्यास्त्रोंके ज्ञानसे मेरी शक्ति बढ़ी हुई है । नरश्रेष्ठ ! फिर मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्रके सामने भी 'मैं डरा हुआ हूँ' यह सुयशका नाश करने-वाला वचन कैसे कह सकता है ? ॥ ३२-३४ ॥

नास्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायककी भी आवश्यकता नहीं है । आप अपनी इच्छाके अनुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइये या यहीं रहिये' ॥ ३५॥

वैशम्पायन उवाच

(तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विजयस्य हि धीमतः ।)
विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उन परम बुद्धिमान् अर्जुनका यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र-सदृश विशाल सेनाको लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधनके पास गया ॥३६॥

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ॥ ३७ ॥

दुर्योधनसे मिलकर राजा रुक्मीने उससे भी वैसी ही

बातें कहीं। तब अपनेको शूरवीर माननेवाले दुर्योधनने भी उसकी सहायता लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ ३७ ॥

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥

महाराज! उस युद्धसे दो ही वीर अलग हो गये थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम और दूसरा राजा रुक्मी ॥ ३८ ॥

गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा।
उपाविशन् पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ॥ ३९ ॥

बलरामजीके तीर्थयात्रामें और भीष्मकपुत्र रुक्मीके अपने नगरको चले जानेपर पाण्डवोंने पुनः गुप्त मन्त्रणाके लिये बैठक की ॥ ३९ ॥

समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ॥ ४० ॥

भारत! राजाओंसे भरी हुई धर्मराजकी वह सभा तारों और चन्द्रमासे विचित्र शोभा धारण करनेवाले आकाशकी भाँति सुशोभित हुई ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें रुक्मीप्रत्याख्यानविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गयीं, तब कालप्रेरित कौरवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें व्यूहरचनापूर्वक डट गयीं, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—॥ २ ॥

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ३ ॥

'संजय! यहाँ आओ और कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके पड़ाव पड़ जानेपर वहाँ जो कुछ हुआ हो, वह सब मुझे पूर्णरूपसे बताओ ॥ ३ ॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम्।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान् क्षयोदयान् ॥ ४ ॥
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम्।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ॥ ५ ॥

'मैं तो समझता हूँ' दैव ही प्रबल है। उसके सामने पुरुषार्थ व्यर्थ है; क्योंकि मैं युद्धके दोषोंको अच्छी तरह जानता हूँ। वे दोष भयंकर संहार उपस्थित करनेवाले हैं, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि ठगविद्याके पण्डित तथा कपटद्यूत करनेवाले अपने पुत्रको न तो रोक सकता हूँ और न अपना हित-साधन ही कर सकता हूँ ॥ ४-५ ॥

भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ॥ ६ ॥

'सूत! मेरी बुद्धि उपर्युक्त दोषोंको बारंबार देखती और समझती है तो भी दुर्योधनसे मिलनेपर पुनः बदल जाती है ॥ ६ ॥

एवं गते वै यद् भावि तद् भविष्यति संजय।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ॥ ७ ॥

'संजय! ऐसी दशामें अब जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं, युद्धमें शरीरका त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रियधर्म है' ॥ ७ ॥

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ ८ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपने जो कुछ पूछा है और आप जैसा चाहते हैं, वह सब आपके योग्य है; परंतु आपको युद्धका दोष दुर्योधनके माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥

शृणुष्वानवशेषेण वदतो मम पार्थिव।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ॥ ९ ॥

भूपाल! मैं सारी बातें बता रहा हूँ, आप सुनिये। जो मनुष्य अपने बुरे आचरणसे अशुभ फल पाता है, वह काल अथवा देवताओंपर दोषारोपण करनेका अधिकारी नहीं है ॥

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ १० ॥

महाराज ! जो पुरुष दूसरे मनुष्योंके साथ सर्वथा निन्दनीय व्यवहार करता है, वह निन्दित आचरण करनेवाला पापात्मा सब लोगोंके लिये वध्य है ॥ १० ॥

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! जूएके समय जो बारंबार छल-कपट और अपमानके शिकार हुए थे, अपने मन्त्रियोंसहित उन पाण्डवोंने केवल आपका ही मुँह देखकर सब तरहके तिरस्कार सहन किये हैं ॥ ११ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
वैशसं समरे वृत्तं यत् तन्मे शृणु सर्वशः ॥ १२ ॥

इस समय युद्धके कारण घोड़ों, हाथियों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका जो विनाश प्राप्त हुआ है, उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझसे सुनिये ॥ १२ ॥

स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम् ।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ॥ १३ ॥

महामते ! इस महायुद्धमें सम्पूर्ण लोकोंके विनाशको सूचित करनेवाला जो-जो वृत्तान्त जैसे-जैसे घटित हुआ है, वह सब स्थिर होकर सुनिये और सुनकर एकचित्त बने रहिये (व्याकुल न होइये) ॥ १३ ॥

न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

क्योंकि मनुष्य पुण्य और पापके फलभोगकी प्रक्रियामें स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि मनुष्य प्रारब्धके अधीन है, उसे तो कठपुतलीकी भाँति उस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ता है ॥

केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया ।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत् प्रदृश्यते ।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ॥ १५ ॥

कोई ईश्वरकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, कुछ लोग आकस्मिक संयोगवश कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा दूसरे बहुत-से लोग अपने पूर्वकर्मोंकी प्रेरणासे कार्य करते हैं। इस प्रकार ये कार्यकी त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं, इसलिये इस महान् संकटमें पड़कर आप स्थिरभावसे (स्वस्थ चित्त होकर) सारा वृत्तान्त सुनिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि संजयवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें संजयवाक्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(उलूकदूतागमनपर्व)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! महात्मा पाण्डवोंने जब हिरण्वती नदीके तटपर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवोंने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थानपर अपनी छावनी डाली ॥

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्मानयित्वा नृपतीन् न्यस्य गुल्मांस्तथैव च ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने वहाँ अपनी शक्तिशालिनी सेना ठहराकर समस्त राजाओंका समादर करके उन सबकी रक्षाके लिये कई गुल्म सैनिकोंकी टुकड़ियोंको तैनात कर दिया ॥ २ ॥

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ३ ॥
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत ।

भारत ! इस प्रकार योद्धाओंके संरक्षणकी व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिको बुलाकर गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥ ३½ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ॥ ४ ॥
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ५ ॥
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! दुर्योधनने कर्ण, भाई दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिसे सम्भाषण एवं सलाह करके उलूकको एकान्तमें बुलाकर उसे इस प्रकार कहा—॥

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ॥ ६ ॥
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।
इदं तत् समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ॥ ७ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयंकरम् ।

द्यूतकुशल शकुनिके पुत्र उलूक ! तुम सोमकों और पाण्डवोंके पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर वासुदेव श्रीकृष्णके सामने ही उनसे मेरा यह संदेश कहो—'कितने ही वर्षोंसे जिसका विचार चल रहा था, वह सम्पूर्ण जगत्‌के लिये

अत्यन्त भयंकर कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अब सिरपर आ पहुँचा है ॥ ६-७½ ॥

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ॥ ८ ॥
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति।

'कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णकी सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजयसे जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कही थीं और जिन्हें संजयने कौरवोंकी सभामें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखानेका यह अवसर आ गया है। तुमलोगोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन सबको पूर्ण करो' ॥ ८-९½ ॥

ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ॥ १० ॥

उलूक ! तुम मेरे कहनेसे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके सामने जाकर इस प्रकार कहना—॥ १० ॥

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥ ११ ॥

'राजन् ! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो। धर्मात्मा होकर अधर्ममें कैसे मन लगा रहे हो ? ॥ ११ ॥

य इच्छसि जगत् सर्वं नश्यमानं नृशंसवत्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ॥ १२ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास था कि तुमने समस्त प्राणियोंको अभयदान दे दिया है; परंतु इस समय तुम एक निर्दय मनुष्यकी भाँति सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश देखना चाहते हो॥

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो। सुना जाता है कि पूर्वकालमें जब देवताओंने प्रह्लादका राज्य छीन लिया था, तब उन्होंने इस श्लोकका गान किया था ॥ १३ ॥

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरा ध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद् व्रतम् ॥ १४ ॥

'देवताओ ! साधारण ध्वजकी भाँति जिसकी धर्ममयी ध्वजा सदा ऊँचेतक फहराती रहती है; परंतु जिसके द्वारा गुप्तरूपसे पाप भी होते रहते हैं, उसके उस व्रतको बिडालव्रत कहते हैं ॥ १४ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम्।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! इस विषयमें तुम्हें यह उत्तम आख्यान सुना रहा हूँ, जिसे नारदजीने मेरे पिताजीसे कहा था ॥ १५ ॥

मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन् गङ्गातीरे कदाचन ॥ १६ ॥

'राजन् ! यह प्रसिद्ध है कि किसी समय एक दुष्ट बिलाव दोनों भुजाएँ ऊपर किये गङ्गाजीके तटपर खड़ा रहा। वह किसी भी कार्यके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करता था ॥ १६ ॥

स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम्।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ॥ १७ ॥

'इस प्रकार समस्त देहधारियोंपर विश्वास जमानेके लिये वह सभी प्राणियोंसे यही कहा करता था कि अब मैं मानसिक शुद्धि करके—हिंसा छोड़कर धर्माचरण कर रहा हूँ ॥१७॥

तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ॥ १८ ॥

'राजन् ! दीर्घकालके पश्चात् धीरे-धीरे पक्षियोंने उसपर विश्वास कर लिया। अब वे उस बिलावके पास आकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ॥ १९ ॥

'पक्षियोंको अपना आहार बनानेवाला वह बिलाव जब उन समस्त पक्षियोंद्वारा अधिक आदर-सत्कार पाने लगा, तब उसने यह समझ लिया कि मेरा काम बन गया और मुझे धर्मानुष्ठानका भी अभीष्ट फल प्राप्त हो गया ॥ १९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ॥ २० ॥

'तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् उस स्थानमें चूहे भी गये। वहाँ जाकर उन्होंने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उस धर्मात्मा बिलावको देखा ॥ २० ॥

कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत् तत्र विनिश्चये ॥ २१ ॥

'भारत ! दम्भयुक्त महान् कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे हुए उस बिलावको देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ ॥

बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम्।
रक्षां करोतु सततं वृद्धबालस्य सर्वशः ॥ २२ ॥

'हम सब लोगोंके बहुत-से मित्र हैं, अतः अब यह बिलाव भी हमारा मामा होकर रहे और हमारे यहाँ जो वृद्ध तथा बालक हैं, उन सबकी सदा रक्षा करता रहे ॥ २२ ॥

उपगम्य तु ते सर्वे बिडालमिदमब्रुवन्।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ॥ २३ ॥
भवान् नो गतिरव्यग्रा भवान् नः परमः सुहृत्।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ २४ ॥

'यह सोचकर वे सभी उस बिलावके पास गये और इस प्रकार बोले—'मामाजी ! हम सब लोग आपकी कृपासे सुख-

पूर्वक विचरना चाहते हैं । आप ही हमारे निर्भय आश्रय हैं और आप ही हमारे परम सुहृद् हैं । हम सब लोग एक साथ संगठित होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २३-२४ ॥

भवान् धर्मपरो नित्यं भवान् धर्मे व्यवस्थितः ।
स नो रक्ष महाप्राज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ॥ २५ ॥

'आप सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और धर्ममें ही आपकी निष्ठा है । महामते ! जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमारा संरक्षण करें' ॥२५॥

एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते ।
प्रत्युवाच ततः सर्वान् मूषिकान् मूषिकान्तकृत् ॥२६॥
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च ।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ॥ २७ ॥

'प्रजानाथ ! उन सम्पूर्ण चूहोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मूषकोंके लिये यमराजस्वरूप उस बिलावने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं तपस्या भी करूँ और तुम्हारी रक्षा भी—इन दोनों कार्योंका परस्पर सम्बन्ध मुझे दिखायी नहीं देता है—ये दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते हैं । तथापि मुझे तुमलोगोंके हितकी बात भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः ।
तपसास्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ॥ २८ ॥
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित् पश्यामि चिन्तयन् ।
सोऽस्मि नेयः सदा ताता नदीकूलमितः परम् ॥ २९ ॥

'तुम्हें भी प्रतिदिन मेरी एक आज्ञाका पालन करना होगा । मैं तपस्या करते-करते बहुत थक गया हूँ और दृढ़तापूर्वक संयम-नियमके पालनमें लगा रहता हूँ । बहुत सोचनेपर भी मुझे अपने भीतर चलने-फिरनेकी कोई शक्ति नहीं दिखायी देती; अतः तात ! तुम्हें सदा मुझे यहाँसे नदीके तटतक पहुँचाना पड़ेगा' ॥ २८-२९ ॥

तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ॥ ३० ॥

'भरतश्रेष्ठ ! 'बहुत अच्छा' कहकर चूहोंने बिलावकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हामी भर ली और वृद्ध तथा बालकोंसहित अपना सारा परिवार उस बिलावको सौंप दिया ॥

ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन् ।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ॥ ३१ ॥

'फिर तो वह पापी एवं दुष्टात्मा बिलाव प्रतिदिन चूहोंको खा-खाकर मोटा और सुन्दर होने लगा । उसके अङ्गोंकी एक-एक जोड़ मजबूत हो गयी ॥ ३१ ॥

मूषिकाणां गणश्चात्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः ।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ॥ ३२ ॥

'इधर चूहोंकी संख्या बड़े वेगसे घटने लगी और वह बिलाव तेज और बलसे सम्पन्न हो प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्यान्योऽन्यमब्रुवन् ।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ॥ ३३ ॥

'तब वे चूहे परस्पर मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—'क्यों जी ! क्या कारण है कि मामा तो नित्य मोटा-ताजा होता जा रहा है और हमारी संख्या बड़े वेगसे घटती चली जा रही है' ॥ ३३ ॥

ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् मूषिकाणां महागणम् ॥ ३४ ॥
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः ।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ॥ ३५ ॥

'राजन् ! उन चूहोंमें कोई डिंडिक नामवाला चूहा सबसे अधिक समझदार था । उसने मूषकोंके उस महान् समुदायसे इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग विशेषतः एक साथ नदीके तटपर जाओ । पीछेसे मैं भी मामाके साथ ही वहाँ जाऊँगा' ॥ ३४–३५ ॥

साधु साध्विति ते सर्वे पूजयांचक्रिरे तदा ।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ॥ ३६ ॥

'तब 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उन सबने डिंडिककी बड़ी प्रशंसा की और यथोचितरूपसे उसके सार्थक वचनोंका पालन किया ॥ ३६ ॥

अविज्ञानात् ततः सोऽथ डिण्डिकं ह्युपभुक्तवान् ।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ३७ ॥

'बिलावको चूहोंकी जागरूकताका कुछ पता नहीं था । अतः वह डिंडिकको भी खा गया । तदनन्तर एक दिन सब चूहे एक साथ मिलकर आपसमें सलाह करने लगे ॥ ३७ ॥

तत्र वृद्धतमः कश्चित् कोलिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् ज्ञातिमध्ये यथातथम् ॥ ३८ ॥

'उनमें कोलिक नामसे प्रसिद्ध कोई चूहा था, जो अपने भाई-बन्धुओंमें सबसे बूढ़ा था । उसने सब लोगोंको यथार्थ बात बतायी—॥ ३८ ॥

न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा ।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ॥ ३९ ॥

'भाइयो ! मामाको धर्माचरणकी रत्तीभर भी कामना नहीं है । उसने हम-जैसे लोगोंको धोखा देनेके लिये ही जटा बढ़ा रक्खी है । जो फल—मूल खानेवाला है, उसकी विष्ठामें बाल नहीं होते ॥ ३९ ॥

अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते ।
अद्य सप्ताष्टदिवसान् डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ॥ ४० ॥

'उसके अङ्ग दिनों-दिन हृष्ट-पुष्ट होते जाते हैं और हमारा यह दल रोज-रोज घटता जा रहा है । आज सात-

आठ दिनोंसे डिंडिकका भी दर्शन नहीं हो रहा है' ॥ ४० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
बिडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ॥ ४१ ॥

'कोलिककी यह बात सुनकर सब चूहे भाग गये और वह दुष्टात्मा बिलाव भी अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था, वैसे चला गया ॥ ४१ ॥

तथा त्वमपि दुष्टात्मन् बैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा बिडालो मूषिकेष्विव ॥ ४२ ॥

'दुष्टात्मन् ! तुमने भी इसी प्रकार बिडालव्रत धारण कर रक्खा है । जैसे चूहोंमें बिडालने धर्माचरणका ढोंग रच रक्खा था, उसी प्रकार तुम भी जाति-भाइयोंमें धर्माचारी बने फिरते हो ॥ ४२ ॥

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥

'तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं; परंतु कर्म कुछ और ही ढंगका दिखायी देता है । तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्त स्वभाव लोगोंको दिखानेके लिये पाखण्डमात्र है ॥४३॥

त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन् क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! यदि तुम धर्मनिष्ठ हो तो यह छल-छद्म छोड़कर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले उसीके अनुसार सब कार्य करो ॥ ४४ ॥

बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अपने बाहुबलसे इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त करके तुम ब्राह्मणोंको दान दो और पितरोंको उनका यथोचित भाग अर्पण करो ॥ ४५ ॥

क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥

'तुम्हारी माता वर्षोंसे कष्ट भोग रही है; अतः माताके हितमें तत्पर हो उसके आँसू पोंछो और युद्धमें विजय प्राप्त करके परम सम्मानके भागी बनो ॥ ४६ ॥

पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नास्माभिरपवर्जिताः ।
युध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

'तुमने केवल पाँच गाँव माँगे थे, परंतु हमने प्रयत्न-पूर्वक तुम्हारी वह माँग इसलिये ठुकरा दी है कि पाण्डवोंको किसी प्रकार कुपित करें, जिससे संग्राम-भूमिमें उनके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

त्वत्कृते दुष्टभावस्य संत्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥

'तुम्हारे लिये ही मैंने दुष्टात्मा विदुरका परित्याग कर दिया है । लाक्षागृहमें अपने जलाये जानेकी घटनाका स्मरण करो और अबसे भी मर्द बन जाओ ॥ ४८ ॥

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५० ॥

'तुमने कौरव-सभामें आये हुए श्रीकृष्णसे जो यह संदेश दिलाया था कि 'राजन् ! मैं शान्ति और युद्ध दोनों-के लिये तैयार हूँ ।' नरेश्वर ! उस समरका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । युधिष्ठिर ! इसीके लिये मैंने यह सब कुछ किया है ॥ ४९-५० ॥

किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

'भला, क्षत्रिय युद्धसे बढ़कर दूसरे किस लाभको महत्त्व देता है ? इसके सिवा, तुमने भी तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर इस पृथ्वीपर बड़ी ख्याति प्राप्त की है ॥ ५१ ॥

द्रोणादस्त्राणि संप्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या प्राप्त करके जाति और बलमें हमारे समान होते हुए भी तुमने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय ले रक्खा है (फिर तुम्हें युद्धसे क्यों डरना या पीछे हटना चाहिये ?)' ॥५२॥

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रति योधय ॥ ५३ ॥

उलूक ! तुम पाण्डवोंके समीप वासुदेव श्रीकृष्णसे भी कहना—'जनार्दन ! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परताके साथ अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो ॥

सभामध्ये च यद् रूपं मायया कृतवानसि ।
तत् तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥

'तुमने सभामें मायाद्वारा जो विकट रूप बना लिया था; उसे पुनः उसी रूपमें प्रकट करके अर्जुनके साथ मुझपर धावा बोल दो ॥ ५४ ॥

इन्द्रजालं च माया वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥

'इन्द्रजाल, माया अथवा भयानक कृत्या—ये युद्धमें हथियार उठाये हुए शूरवीरके क्रोध एवं सिंहनादको और भी बढ़ा देती हैं (उसे डरा नहीं सकतीं) ॥ ५५ ॥

वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥

'हम भी मायासे आकाशमें उड़ सकते हैं, अन्तरिक्षमें जा सकते हैं तथा रसातल या इन्द्रपुरीमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥

'इतना ही नहीं, हम अपने शरीरमें बहुत-से रूप भी प्रकट करके दिखा सकते हैं; परंतु इन सब प्रदर्शनोंसे न तो अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है और न अपना शत्रु ही मानवीय बुद्धि अर्थात् भयको प्राप्त हो सकता है ॥ ५७ ॥

मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे।
यद् ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम्।
आचचक्षे च मे सर्वं संजयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥

'एकमात्र विधाता ही अपने मानसिक संकल्पमात्रसे समस्त प्राणियोंको वशमें कर लेता है। वार्ष्णेय! तुम जो यह कहा करते थे कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मरवाकर उनका सारा उत्तम राज्य कुन्तीके पुत्रोंको दे दूँगा। तुम्हारा वह सारा भाषण संजयने मुझे सुना दिया था ॥

मद्‌द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना।
स सत्यसंगरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

'तुमने यह भी कहा था कि 'कौरवो! मैं जिनका सहायक हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ तुम्हारा वैर बढ़ रहा है', इत्यादि। अतः अब सत्यप्रतिज्ञ होकर पाण्डवोंके लिये पराक्रमी बनो ॥ ६० ॥

युध्यस्वाद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥
करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम्।

'युद्धमें अब प्रयत्नपूर्वक डट जाओ। हम तुम्हारी राह देखते हैं। अपने पुरुषत्वका परिचय दो। जो पुरुष शत्रुको अच्छी तरह समझ-बूझकर विशुद्ध पुरुषार्थका आश्रय ले शत्रुओंको शोकमग्न कर देता है, वही श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है ॥ ६१½ ॥

अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद् यशः ॥ ६२ ॥
अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सशृङ्गकाः।

'श्रीकृष्ण! मैं देखता हूँ संसारमें अकस्मात् ही तुम्हारा महान् यश फैल गया है; परंतु अब इस समय हमें मालूम हुआ है कि जो लोग तुम्हारे पूजक हैं, वे वास्तवमें पुरुषत्वका चिह्न धारण करनेवाले हिजड़े ही हैं ॥ ६२½ ॥

मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ॥ ६३ ॥
संनाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः।

'मेरे-जैसे राजाको तुम्हारे साथ, विशेषतः कंसके एक सेवकके साथ लड़नेके लिये कवच धारण करके युद्धभूमिमें उतरना किसी तरह उचित नहीं है' ॥ ६३½ ॥

तं च तूबरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ॥ ६४ ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम्।
विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ॥ ६५ ॥
बल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम्।

'उलूक! उस बिना मूँछोंके मर्द (अथवा बोझ ढोनेवाले बैल), अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीमसेनसे भी बारंबार मेरा यह संदेश कहना 'कुन्तीकुमार! पहले विराटनगरमें जो तू रसोइया बनकर रहा और बल्लवके नामसे विख्यात हुआ, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ था ६४-६५½

प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ॥ ६६ ॥
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते।

'पहले कौरवसभामें तूने जो प्रतिज्ञा की थी, वह मिथ्या नहीं होनी चाहिये। यदि तुझमें शक्ति हो तो आकर दुःशासनका रक्त पी लेना ॥ ६६½ ॥

यद् ब्रवीषि च कौन्तेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ६७ ॥
निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः।

'कुन्तीकुमार! तुम जो कहा करते हो कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगपूर्वक मार डालूँगा, उसका यह समय आ गया है ॥ ६७½ ॥

त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ॥ ६८ ॥
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव।

'भारत! तुम निरे भोजनभट्ट हो। अतः अधिक खानेपीनेमें पुरस्कार पानेके योग्य हो। किंतु कहाँ युद्ध और कहाँ भोजन? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो। ६८½।

शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ॥ ६९ ॥
तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर।

'भारत! युद्धभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाकर तुम गदाको छातीसे लगाये सदाके लिये सो जाओगे। वृकोदर! तुमने सभामें जाकर जो उछल-कूद मचायी थी, वह व्यर्थ ही है' ॥ ६९½ ॥

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ॥ ७० ॥
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम्।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ॥ ७१ ॥

उलूक! नकुलसे भी कहना—'भारत! तुम मेरे कहनेसे अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे। तुम युधिष्ठिरके प्रति अपने अनुरागको, मेरे प्रति बढ़े हुए द्वेषको तथा द्रौपदीके क्लेशको भी इन दिनों अच्छी तरहसे याद कर लो' ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम।
युद्ध्येदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ॥ ७२ ॥

उलूक! तुम राजाओंके बीच सहदेवसे भी मेरी यह बात कहना—'पाण्डुनन्दन! पहलेके दिये हुए क्लेशोंको याद कर लो और अब तत्पर होकर समरभूमिमें युद्ध करो' ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः॥ ७३॥
तथार्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टाः प्रजास्ततः।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चागतम्॥ ७४॥

'तदनन्तर विराट और द्रुपदसे भी मेरी ओरसे कहना—'विधाताने जबसे प्रजाकी सृष्टि की है, तभीसे परम गुणवान् सेवकोंने भी अपने स्वामियोंकी अच्छी तरह परख नहीं की; उनके गुण-अवगुणको भलीभाँति नहीं पहिचाना। इसी प्रकार स्वामियोंने भी सेवकोंको ठीक-ठीक नहीं समझा। इसीलिये युधिष्ठिर श्रद्धाके योग्य नहीं हैं, तो भी तुम दोनों उन्हें अपना राजा मानकर उनकी ओरसे युद्धके लिये यहाँ आये हो॥७३-७४॥

ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह॥ ७५॥

'इसलिये तुम सब लोग संगठित होकर मेरे वधके लिये प्रयत्न करो। अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो'॥ ७५॥

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः॥ ७६॥

'फिर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको भी मेरा यह संदेश सुना देना—'राजकुमार! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है। तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जायँगे॥७६॥

द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम्।
युध्यस्व ससुहृत् पापं कुरु कर्म सुदुष्करम्॥ ७७॥

'समरभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर ही तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारा उत्तम हित किस बातमें है। आओ, अपने सुहृदोंके साथ रहकर युद्ध करो और गुरुके वधका अत्यन्त दुष्कर पाप कर डालो'॥ ७७॥

शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः॥ ७८॥
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भयः।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव॥ ७९॥

'उलूक! इसके बाद तुम शिखण्डीसे भी मेरी यह बात कहना—'धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गङ्गापुत्र कुरुवंशी महाबाहु भीष्म तुम्हें स्त्री समझकर नहीं मारेंगे; इसलिये तुम अब निर्भय होकर युद्ध करना और समरभूमिमें यत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करना। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे'॥ ७८-७९॥

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत्।
धनंजयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः॥ ८०॥

ऐसा कहते-कहते राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा। तत्पश्चात् उलूकसे पुनः इस प्रकार बोला—'उलूक! तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे पुनः इस प्रकार कहना—॥ ८०॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि॥ ८१॥

'वीर धनंजय! या तो तुम्हीं हमलोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे ही हाथोंसे मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जाओ॥ ८१॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव॥ ८२॥

'पाण्डुनन्दन! राज्यसे निर्वासित होने, वनमें निवास करने तथा द्रौपदीके अपमानित होनेके क्लेशोंको याद करके अब भी तो मर्द बनो॥ ८२॥

यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम्।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम्॥ ८३॥
पौरुषं दर्शयन् युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम्।

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र पैदा करती है, वह सब प्रयोजन सिद्ध करनेका यह समय आ गया है। तुम युद्धमें बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालनकी फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोधको (हमारे ऊपर प्रयोग करके) शान्त कर लो॥ ८३½॥

परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च।
हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च॥ ८४॥

'जिसे नाना प्रकारका क्लेश दिया गया हो, दीर्घकाल-के लिये राज्यसे निर्वासित किया गया हो तथा जिसे राज्यसे वञ्चित होकर दीनभावसे जीवन बिताना पड़ा हो, ऐसे किस स्वाभिमानी पुरुषका हृदय विदीर्ण न हो जायगा?॥

कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृध्यतः।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत्॥ ८५॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूरवीर तथा पराये धनके प्रति लोभ न रखनेवाला हो, उसके राज्यको यदि कोई दबा बैठा हो तो वह किस वीरके क्रोधको उद्दीप्त न कर देगा?॥ ८५॥

यत् तदुक्तं महद् वाक्यं कर्मणा तद् विभाव्यताम्।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः॥ ८६॥

'तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें कही हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करके दिखाओ। जो क्रियाद्वारा कुछ न करके केवल मुँहसे बातें बनाता है, उसे सज्जन पुरुष कायर मानते हैं॥

अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात् तत् कुरु पौरुषम्॥ ८७॥

'तुम्हारा स्थान और राज्य शत्रुओंके हाथमें पड़ा है, उसका पुनरुद्धार करो। युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके ये दो ही प्रयोजन होते हैं; अतः उनकी सिद्धिके लिये पुरुषार्थ करो॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम्।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना॥ ८८॥

'तुम जूएमें पराजित हुए और तुम्हारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लाया गया। अपनेको पुरुष माननेवाले किसी भी मनुष्यको इन बातोंके लिये भारी अमर्ष हो सकता है॥८८॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः॥ ८९॥

'तुम बारह वर्षोंतक राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे हो और एक वर्षतक तुम्हें विराटका दास होकर रहना पड़ा है ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९० ॥

'पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासनका, वनवासका और द्रौपदीके अपमानका क्लेश याद करके तो मर्द बनो ॥ ९० ॥

अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः ।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ॥ ९१ ॥

'हमलोग बार-बार तुमलोगोंके प्रति अप्रिय वचन कहते हैं । तुम हमारे ऊपर अपना अमर्ष तो दिखाओ; क्योंकि अमर्ष ही पौरुष है ॥ ९१ ॥

क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम् ।
इह ते दृश्यतां पार्थ युद्धयस्व पुरुषो भव ॥ ९२ ॥

'पार्थ ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलानेकी फुर्ती आदि गुणोंको देखें । युद्ध करो और अपने पुरुषत्वका परिचय दो ॥ ९२ ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युद्धयस्व सकेशवः॥९३॥

'अब लोहमय अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर तैयार करनेका कार्य पूरा हो चुका है । कुरुक्षेत्रकी कीच भी सूख गयी है । तुम्हारे घोड़े खूब हृष्ट-पुष्ट हैं और सैनिकोंका भी तुमने अच्छी तरह भरण-पोषण किया है; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ९३ ॥

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ९४ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

'अभी युद्धमें भीष्मजीके साथ मुठभेड़ किये बिना तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई शक्तिहीन एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़ना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी अपनी झूठी बड़ाई करते हो । मिथ्या आत्मप्रशंसा न करके पुरुष बनो ॥ ९४½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ ९५ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ ९६ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं बलवानोंमें अग्रगण्य द्रोणाचार्यको युद्धमें परास्त किये बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ ९५-९६ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ ९७ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ ९८ ॥

'कुन्तीपुत्र ! आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद इन दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं । ये युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यभागमें विचरनेवाले तथा युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले हैं । इन महातेजस्वी द्रोणको जो तुम जीतनेकी इच्छा रखते हो, वह मिथ्या साहसमात्र है । वायुने सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया है (इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी आचार्यको जीतना असम्भव है) ॥ ९७-९८ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम्॥९९॥

'तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो जाय, तब तो हवा मेरुको उठा ले, स्वर्गलोक इस पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ ९९ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ।१००।

'अर्जुन हो या दूसरा कोई, जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें इन शत्रुदमन आचार्यके पास पहुँचकर कुशलपूर्वक घरको लौट सके ? ॥ १०० ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥१०१॥

'ये दोनों द्रोण और भीष्म जिसे मारनेका निश्चय कर लें अथवा उनके भयानक अस्त्र आदिसे जिसके शरीरका स्पर्श हो जाय, ऐसा कोई भी भूतलनिवासी मरणधर्मा मनुष्य युद्धमें जीवित कैसे बच सकता है ? ॥ १०१ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥१०२॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥१०३॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी (समुद्रतुल्य) उस सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ १०२-१०३ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥१०४॥

'ओ अल्पबुद्धि मूढ़ अर्जुन ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना

असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ? ॥

अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम् ।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ॥१०५॥

'भारत ! हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस हैं, अग्निदेवका दिया हुआ दिव्य रथ है और युद्धकालमें उसपर दिव्य ध्वजा फहराने लगती है ॥ १०५ ॥

अकत्थमानो युद्ध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥१०६॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो। बहुत शेखी क्यों बघारते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है। झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ १०६ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥१०७॥

'धनंजय ! यदि जगत्‌में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ?

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥१०८॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ १०८ ॥

न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।
मनसैवानुकूलानि धातैव कुरुते वशे ॥१०९॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा सिद्धि नहीं पाता, केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ १०९ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ॥११०॥

'तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा। अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥११०॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥१११॥

'दास अर्जुन ! जब तुम जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ १११ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा फाल्गुनाद् वा सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदाभूद् वो विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥११२॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ११२ ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोचयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥११३॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे। उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥ ११३ ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥११४॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ११४ ॥

सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यत् तु तन्मम पौरुषम् ॥११५॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ११५ ॥

एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥११६॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है। इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजाके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ११६ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥११७॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा। तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥११७॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥११८॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए वीरके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (उसे भयभीत नहीं कर सकतीं हैं) ॥ ११८ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥११९॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ॥

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥१२०॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो

या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥ १२० ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥१२१॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महान् सर्प है, बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले विशाल ज्वारके समान है, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें है ॥ १२१ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥१२२॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य क्रमशः मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥१२३॥

'दुःशासन उसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है ॥ १२३ ॥

शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥१२४॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं । यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है । इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ १२४ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥१२५॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है (क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है); उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीपर राज्यशासन करनेसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा । अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ । राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है । जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१६०।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना

संजय उवाच

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवेयैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जुआरी शकुनिका पुत्र उलूक पाण्डवोंकी छावनीमें जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोला—॥१॥

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥ २ ॥

'राजन् ! आप दूतके वचनोंका मर्म जाननेवाले हैं । दुर्योधनने जो संदेश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा । उसे सुनकर आपको मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये'।२।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—उलूक ! तुम्हें (तनिक भी) भय नहीं है । तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधनका अभिप्राय सुनाओ ॥ ३ ॥

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ॥ ५ ॥

(संजय कहते हैं—) तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृञ्जयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रों-सहित द्रुपद और विराटके समीप समस्त राजाओंके बीचमें उलूकने यह बात कही ॥ ४-५ ॥

उलूक उवाच

इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

उलूक बोला—महाराज युधिष्ठिर ! महामना धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने कौरववीरोंके समक्ष आपको यह संदेश कहलाया है, इसे सुनिये ॥ ६ ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ७ ॥

'तुम जूएमें हारे और तुम्हारी पत्नी द्रौपदीको सभामें

लाया गया। इस दशामें अपनेको पुरुष माननेवाला प्रत्येक मनुष्य क्रोध कर सकता है ॥ ७ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८ ॥

'बारह वर्षोंतक तुम राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे और एक वर्षतक तुम्हें राजा विराटका दास बनकर रहना पड़ा ॥

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम अपने अमर्षको, राज्यके अपहरणको, वनवासको और द्रौपदीको दिये गये क्लेशको भी याद करके मर्द बनो ॥ ९ ॥

अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

'पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे भाई भीमसेनने उस समय कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण जो दुर्वचन कहा था, उसे याद करके वे आवें और यदि शक्ति हो, तो दुःशासनका रक्त पीयें ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम्।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः ॥ ११ ॥

'लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर उन्हें तैयार करने आदिका कार्य पूरा हो गया है, कुरुक्षेत्रकी कीचड़ सूख गयी है, मार्ग बराबर हो गया है और तुम्हारे अश्व भी खूब पले हुए हैं; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ।११।

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १२ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव।

'युद्धक्षेत्रमें भीष्मका सामना किये बिना ही तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई अशक्त एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करे, उसी प्रकार तुम भी अपने बारेमें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो ! बातें न बनाओ; पुरुष बनो (पुरुषत्वका परिचय दो) ॥ १२½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ १३ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ १४ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें शचीपति इन्द्रके समान पराक्रमी महाबली द्रोणको युद्धमें जीते बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ १३-१४ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ १५ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ १६ ॥

'आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। वे युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यमें विचरनेवाले तथा संग्रामभूमिसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं। पार्थ ! तुम उन्हीं महातेजस्वी द्रोणको जो जीतनेकी इच्छा करते हो, वह व्यर्थ दुःसाहसमात्र है। वायुने कभी सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया ॥ १५-१६ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम्।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम् ॥ १७ ॥

'तुम जैसा मुझसे कहते हो, वैसा ही यदि सम्भव हो जाय, तब तो वायु भी सुमेरु पर्वतको उठा ले, स्वर्गलोक पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ १७ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम्।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ॥ १८ ॥

'जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन ऐसा हाथीसवार, घुड़सवार अथवा रथी है, जो इन शत्रुमर्दन द्रोणसे भिड़कर कुशलपूर्वक अपने घरको लौट सके ? ॥ १८ ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा।
रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १९ ॥

'भीष्म और द्रोणने जिसे मारनेका निश्चय कर लिया हो अथवा जो युद्धमें इनके भयंकर अस्त्रोंसे छू गया हो, ऐसा कौन भूतलनिवासी जीवित बच सकता है ? ॥ १९ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम्।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ २० ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः ॥ २१ ॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी उस (समुद्रतुल्य) सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ २०-२१ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम्।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ २२ ॥

'अल्पबुद्धि मूढ़ युधिष्ठिर ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ

दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ?' । २२ ।

इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उलूक अर्जुनकी ओर मुड़ा और तत्पश्चात् उनसे भी इस प्रकार कहने लगा—॥ २३ ॥

अकत्थमानो युध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥ २४ ॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो । बहुत आत्म-प्रशंसा क्यों करते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है । झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ २४ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ २५ ॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ? ।२५।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ २६ ॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लम्बा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ २६ ॥

न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।
मनसैवानुकूलानि विधाता कुरुते वशे ॥ २७ ॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा राज्य नहीं पाता; केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनु-कूल और अधीन कर लेता है ॥ २७ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ॥ २८ ॥

'तुम रोते-विलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा । अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥ २८ ॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दास पणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २९ ॥

'दास अर्जुन ! जब तुमलोग जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ २९ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा पार्थाद् वापि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥ ३० ॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुम-लोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ३० ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ३१ ॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे । उस समय उस द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ३२ ॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ३२ ॥

सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ॥ ३३ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ३३ ॥

एवमेतत् सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ३४ ॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है । इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजा विराटकी कन्याको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ३४ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥ ३५ ॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा । तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ३५ ॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ३६ ॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए मुझ दुर्योधनके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (मुझे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ३६ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ३७ ॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणों-वाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे।३७।

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ ३८ ॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकों-के अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ ३९ ॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महासर्प है,

बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले महान् ज्वारके समान हैं, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें हैं ॥ ३९ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ ४० ॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें वड़वानल हैं ॥ ४० ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ ४१ ॥

'दुःशासन इसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है।४१।

शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ ४२ ॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ ४२ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥ ४३ ॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीके राज्य-शासनसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है' ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकवाक्यविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर

संजय उवाच

उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उलूकने विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको अपने वाग्बाणोंसे और भी पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम् ।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनापि धर्षिताः ॥ २ ॥

उसकी बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ा रोष हुआ। एक तो वे पहलेसे ही अधिक क्रुद्ध थे, दूसरे जुआरी शकुनिके बेटेने भी उनका बड़ा तिरस्कार किया ॥ २ ॥

आसनेषूदतिष्ठन्त बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः ।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ३ ॥

वे आसनोंसे उठकर खड़े हो गये और अपनी भुजाओंको इस प्रकार हिलाने लगे, मानो प्रहार करनेके लिये उद्यत हों। वे विषैले सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम् ।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ॥ ४ ॥

भीमसेनने फुफकारते हुए विषधर नागकी भाँति लम्बी साँसें खींचते हुए सिर नीचे किये लाल नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखा ॥ ४ ॥

आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाभिहतं भृशम् ।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वायुपुत्र भीमको क्रोधसे अत्यन्त पीड़ित और आहत देख दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णने उलूकसे मुसकराते हुए-से कहा—।

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम् ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ॥ ६ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र उलूक ! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधनसे कह दे—'पाण्डवोंने तुम्हारा संदेश सुना और उसके अर्थको समझकर स्वीकार किया। युद्धके विषयमें जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम ।
पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाबाहु केशवने पुनः परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी ओर देखा ॥ ७ ॥

सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः ।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ॥ ८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान् सर्वान् यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

फिर उलूकने भी समस्त सृंजयवंशी क्षत्रियसमुदाय, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप सम्पूर्ण राजाओंकी मण्डलीमें शेष बातें कहीं। उसने विषधर सर्पके सदृश कुपित हुए अर्जुनको पुनः अपने वाग्बाणोंसे पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं। साथ ही श्रीकृष्ण आदि अन्य सब लोगोंसे कहनेके लिये भी उसने जो-जो संदेश दिये थे, उन्हें भी उन सबको यथावत्‌रूपसे सुना दिया ॥ ८–१० ॥

उलूकस्य तु तद् वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्यमार्जयत् ॥ ११ ॥

उलूकके कहे हुए उस पापपूर्ण दारुण वचनको सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने हाथसे ललाटका पसीना पोंछा ॥ ११ ॥

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर राजाओंकी वह समिति तथा पाण्डव महारथी सहन न कर सके ॥ १२ ॥

अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलुरच्युताः ॥ १३ ॥

राजन् ! महात्मा अर्जुन तथा श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर वे पुरुषसिंह शूरवीर क्रोधसे जल उठे ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ १४ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ १५ ॥
उत्पेतुरासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून् प्रगृह्य रुचिरान् रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ॥ १६ ॥
दन्तान् दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, पाँच भाई केकयराजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु, राजा धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन तथा महारथी नकुल-सहदेव—ये सबके सब क्रोधसे लाल आँखें किये अपने आसनोंसे उछलकर खड़े हो गये और अङ्गद, पारिहार्य (मोतियोंके गुच्छों) तथा केयूरोंसे विभूषित एवं लाल चन्दनसे चर्चित अपनी सुन्दर भुजाओंको थामकर दाँतोंपर दाँत रगड़ते हुए ओठोंके दोनों कोने चाटने लगे ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ १७ ॥
उदतिष्ठत् स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।
उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १८ ॥
हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।

उनकी आकृति और भावको जानकर कुन्तीपुत्र वृकोदर बड़े वेगसे उठे और क्रोधसे जलते हुएके समान सहसा आँखें फाड़-फाड़कर देखते, दाँत कटकटाते और हाथसे हाथ रगड़ते हुए उलूकसे इस प्रकार बोले—॥ १७-१८½ ॥

अशक्तानामिवास्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ॥ १९ ॥
श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

'ओ मूर्ख ! दुर्योधनने तुझसे जो कुछ कहा है, वह तेरा वचन हमने सुन लिया। मानो हम असमर्थ हों और तू हमें प्रोत्साहन देनेके निमित्त यह सब कुछ कह रहा हो ॥ १९½ ॥

तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम् ।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

'मूर्ख उलूक ! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन और समस्त राजाओंकी मण्डलीमें सूतपुत्र कर्ण और अपने दुरात्मा पिता शकुनिके सामने दुर्योधनको सुना देना—॥ २०-२१ ॥

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
मर्षितं ते दुराचार तत् त्वं न बहु मन्यसे ॥ २२ ॥

'दुराचारी दुर्योधन ! हमलोगोंने सदा अपने बड़े भाईको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे तेरे बहुत-से अत्याचारोंको चुपचाप सह लिया है; परंतु तू इन बातोंको अधिक महत्त्व नहीं दे रहा है ॥ २२ ॥

प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति ।
कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ २३ ॥

'बुद्धिमान् धर्मराजने कौरवकुलके हितकी इच्छासे शान्ति चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके पास भेजा था ॥

त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ॥ २४ ॥

'परंतु तू निश्चय ही कालसे प्रेरित हो यमलोकमें जाना चाहता है (इसीलिये संधिकी बात नहीं मान सका)। अच्छा, हमारे साथ युद्धमें चल। कल निश्चय ही युद्ध होगा ॥ २४ ॥

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥ २५ ॥

'पापात्मन् ! मैंने भी जो तेरे और तेरे भाइयोंके वधकी प्रतिज्ञा की है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी। इस विषयमें तुझे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ २६ ॥

'वरुणालय समुद्र शीघ्र ही अपनी सीमाका उल्लङ्घन कर जाय और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जायँ, परंतु मेरी कही हुई बात झूठी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चास्मि यथेप्सितम् ॥ २७ ॥

'दुर्बुद्धे ! तेरी सहायताके लिये यमराज, कुबेर अथवा

भगवान् रुद्र ही क्यों न आ जायँ, पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब कार्य अवश्य करेंगे। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दुःशासनका रक्त अवश्य पीऊँगा ॥ २७ ॥

यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माभियास्यति।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ॥ २८ ॥

'उस समय साक्षात् भीष्मको भी आगे करके जो कोई भी क्षत्रिय क्रोधपूर्वक मेरे ऊपर धावा करेगा, उसे उसी क्षण यमलोक पहुँचा दूँगा ॥२८॥

यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि।
यथैतद् भविता सत्यं तथैवात्मानमालभे ॥ २९ ॥

'मैंने क्षत्रियोंकी सभामें यह बात कही है, जो अवश्य सत्य होगी। यह मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहता हूँ' ॥२९॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ३० ॥

भीमसेनका वचन सुनकर सहदेवका भी अमर्ष जाग उठा। तब उन्होंने भी क्रोधसे आँखें लाल करके यह बात कही—॥

शौटीरशूरसदृशमनीकजनसंसदि।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ॥ ३१ ॥

'ओ पापी ! मैं इन वीर सैनिकोंकी सभामें गर्वीले शूरवीरके योग्य वचन बोल रहा हूँ। तू इसे सुन ले और अपने पिताके पास जाकर सुना दे ॥ ३१ ॥

नास्माकं भविता भेदः कदाचित् कुरुभिः सह।
धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात् त्वया सह ॥ ३२ ॥

'यदि धृतराष्ट्रका तेरे साथ सम्बन्ध न होता, तो कभी कौरवोंके साथ हमलोगोंकी फूट नहीं होती ॥३२॥

त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च।
उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ॥ ३३ ॥

'तू सम्पूर्ण जगत् तथा धृतराष्ट्रकुलके विनाशके लिये पापाचारी मूर्तिमान् वैरपुरुष होकर उत्पन्न हुआ है। तू अपने कुलका भी नाश करनेवाला है ॥३३॥

जन्मप्रभृति चास्माकं पिता ते पापपूरुषः।
अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ॥ ३४ ॥

'उलूक ! तेरा पापात्मा पिता जन्मसे ही हमलोगोंके प्रति प्रतिदिन क्रूरतापूर्ण अहितकर बर्ताव करना चाहता है ॥

तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम्।
अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्मि शकुनिं हन्ता मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'इसलिये मैं शकुनिके देखते देखते सबसे पहले तेरा वध करके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सामने शकुनिको भी मार डालूँगा और इस प्रकार अत्यन्त दुर्गम शत्रुतासे पार हो जाऊँगा' ॥ ३५½ ॥

भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ॥ ३६ ॥
उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव।
भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ३७ ॥
मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः।

भीमसेन और सहदेव दोनोंके वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनसे मुसकराते हुए कहा—'आर्य भीम ! जिनका आपके साथ वैर ठन गया है, वे घरमें बैठकर सुखका अनुभव करनेवाले मूर्ख कौरव कालके पाशमें बँध गये हैं (अर्थात् उनका जीवन नहींके बराबर है) ॥३६-३७½॥

उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम ॥ ३८ ॥
दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः।

'पुरुषोत्तम ! आपको इस उलूकसे कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिये। बेचारे दूतोंका क्या अपराध है ? वे तो कही हुई बातका अनुवादमात्र करनेवाले हैं' ॥३८½॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ३९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् सुहृदः समभाषत।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धृष्टद्युम्न आदि वीर सुहृदोंसे कहा—॥३९½॥

श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ॥ ४० ॥
कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४१ ॥

'बन्धुओ ! आपलोगोंने उस पापी दुर्योधनकी बात सुनी है न ? इसमें उसके द्वारा विशेषतः मेरी और भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की गयी है। आपलोग हमारे हितकी कामना रखते हैं, इसलिये इस निन्दाको सुनकर कुपित हो उठे हैं ॥४०-४१॥

प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ॥ ४२ ॥

'परंतु भगवान् वासुदेवके प्रभाव और आपलोगोंके प्रयत्नसे मैं इस समस्त भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ॥ ४२ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम्।
उलूके प्रापयिष्यामि यद् वक्ष्यति सुयोधनम् ॥ ४३ ॥

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस बातका उत्तर उलूकको दे दूँ, जिसे यह दुर्योधनको सुना देगा ॥४३॥

श्वोभूते कत्थितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे।
गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४४ ॥

'अथवा आपकी सम्मति हो, तो कल सबेरे सेनाके मुहानेपर उसकी इन शेखीभरी बातोंका ठीक-ठीक उत्तर गाण्डीव धनुषद्वारा दे दूँगा; क्योंकि केवल बातोंमें उत्तर देनेवाले तो नपुंसक होते हैं' ॥ ४४ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनंजयम्।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी इस प्रवचन-शैलीसे सभी श्रेष्ठ भूपाल आश्चर्यचकित हो उठे और वे सबके सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥

अनुनीय च तान् सर्वान् यथामान्यं यथावयः।

धर्मराजस्तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥

तदनन्तर धर्मराजने उन समस्त राजाओंको उनकी अवस्था और प्रतिष्ठाके अनुसार अनुनय-विनय करके शान्त किया और दुर्योधनको देने योग्य जो संदेश था, उसे इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

आत्मानमवमन्वानो न हि स्यात् पार्थिवोत्तमः ।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ॥ ४७ ॥

'उलूक ! कोई भी श्रेष्ठ राजा शान्त रहकर अपनी अवज्ञा सहन नहीं कर सकता । मैंने तुम्हारी बात ध्यान देकर सुनी है । अब मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ, उसे सुनो' ॥ ४७ ॥

उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम् ।
दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ॥ ४८ ॥
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४९ ॥
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार युधिष्ठिरने उलूकसे पहले मधुर वचन बोलकर फिर ओजस्वी शब्दोंमें उत्तर दिया । (उलूकके मुखसे) पहले दुर्योधनके पूर्वोक्त संदेशको सुनकर भरतकुलभूषण युधिष्ठिर रोषसे अत्यन्त लाल हुए नेत्रों-द्वारा देखते हुए विषधर सर्पके समान उच्छ्‌वास लेने लगे । फिर ओठोंके दोनों कोनोंको चाटते हुए वे श्रीकृष्ण तथा भाइयोंकी ओर देखकर बोलनेको प्रस्तुत हुए । वे अपनी विशाल भुजा ऊपर उठा धूर्त जुआरी शकुनिके पुत्र उलूकसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ४८—५० ॥

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम् ।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥ ५१ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र तात उलूक ! तुम जाओ और वैरके मूर्तिमान् स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि एवं कुलाङ्गार दुर्योधनसे इस प्रकार कह दो—॥५१॥

पाण्डवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तसे ।
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान् ।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥ ५२ ॥

'पापी दुर्योधन ! तू पाण्डवोंके साथ सदा कुटिल बर्ताव करता आ रहा है । पापात्मन् ! जो किसीसे भय-भीत न होकर अपने वचनोंका पालन करता है और अपने ही बाहुबलसे पराक्रम प्रकट करके शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है ॥ ५२ ॥

स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे ।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥ ५३ ॥

'कुलाधम ! तू पापी है ! देख, क्षत्रिय होकर और हमलोगोंको युद्धके लिये बुलाकर ऐसे लोगोंको आगे करके रणभूमिमें न आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों ॥५३॥

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव ।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ॥ ५४ ॥

'कुरुनन्दन ! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्गके बल और पराक्रमका आश्रय लेकर ही कुन्तीके पुत्रोंका युद्धके लिये आह्वान कर । सब प्रकारसे क्षत्रियत्वका परिचय दे ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥ ५५ ॥

'जो स्वयं सामना करनेमें असमर्थ होनेके कारण दूसरोंके पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको युद्धके लिये ललकारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकताका ही सूचक है ॥

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे ।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ॥ ५६ ॥

'तू तो दूसरोंके ही बलसे अपने आपको बहुत अधिक शक्तिशाली मानता है; परंतु ऐसा असमर्थ होकर तू हमारे सामने गर्जना कैसे कर रहा है ?' ॥५६॥

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उलूक ! इसके बाद तू दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—'दुर्मते ! अब कल ही तू रणभूमिमें आ जा और अपने पुरुषत्वका परिचय दे ॥

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥ ५८ ॥

'मूढ ! तू जो यह समझता है कि कुन्तीके पुत्रोंने श्रीकृष्णसे सारथि बननेका अनुरोध किया है, अतः वे युद्ध नहीं करेंगे । सम्भवतः इसीलिये तू मुझसे डर नहीं रहा है ।५८।

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ॥ ५९ ॥

'परंतु याद रख, मैं चाहूँ, तो इन सम्पूर्ण नरेशोंको अपनी क्रोधाग्निसे उसी प्रकार भस्म कर सकता हूँ, जैसे आग घास-फूसको जला डालती है । किंतु युद्धके अन्त-तक मुझे ऐसा करनेका अवसर न मिले; यही मेरी इच्छा है ॥

युधिष्ठिरनियोगात् तु फाल्गुनस्य महात्मनः ।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः ॥ ६० ॥

'राजा युधिष्ठिरके अनुरोधसे मैं जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुन-के युद्ध करते समय उनके सारथिका काम अवश्य करूँगा ॥

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ॥ ६१ ॥

'अब तू यदि तीनों लोकोंसे ऊपर उड़ जाय अथवा धरती-में समा जाय, तो भी (तू जहाँ-जहाँ जायगा), वहाँ-वहाँ कल प्रातःकाल अर्जुनका रथ पहुँचा हुआ देखेगा ॥६१॥

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ॥ ६२ ॥

'इसके सिवा, तू जो भीमसेनकी कही हुई बातोंको व्यर्थ मानने लगा है, यह ठीक नहीं है । तू आज ही निश्चितरूपसे समझ ले कि भीमसेनने दुःशासनका रक्त पी लिया ॥ ६२ ॥

न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः।

न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम्॥ ६३॥

'तू पाण्डवोंके विपरीत कटुभाषण करता जा रहा है, परंतु अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव तुझे कुछ भी नहीं समझते हैं' ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादिवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूताभिगमनपर्वमें श्रीकृष्ण आदिके वचनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६२॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेका आदेश देना

संजय उवाच

दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत॥ १॥
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम्॥ २॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! दुर्योधनके पूर्वोक्त वचनको सुनकर महायशस्वी अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके शकुनिकुमार उलूककी ओर देखा। तत्पश्चात् अपनी विशाल भुजाको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा—॥ १-२॥

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते॥ ३॥

'जो अपने ही बल-पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको ललकारता है और उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है॥ ३॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः॥ ४॥

'जो दूसरेके बल-पराक्रमका आश्रय ले शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होनेके कारण लोकमें पुरुषाधम कहा गया है॥ ४॥

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि॥ ५॥

'मूढ़! तू दूसरोंके पराक्रमसे ही अपनेको बल-पराक्रमसे सम्पन्न मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरोंपर आक्षेप करना चाहता है॥ ५॥

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम्।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे॥ ६॥

'जो समस्त राजाओंमें वृद्ध, सबके प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामहको तू मरणके लिये रणकी दीक्षा दिलाकर अपनी बहादुरीकी बातें करता है॥ ६॥

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि॥ ७॥

'खोटी बुद्धिवाले कुलाङ्गार! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है। तू जानता है कि पाण्डवलोग दयावश गङ्गानन्दन भीष्मका वध नहीं करेंगे॥ ७॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम्॥ ८॥

'धृतराष्ट्रपुत्र! तू जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्मको ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मार डालूँगा॥ ८॥

कैतव्य गत्वा भरतान् समेत्य
सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व।
तथेत्युवाचार्जुनः सव्यसाची
निशाव्यपाये भविता विमर्दः॥ ९॥

'उलूक! तू भरतवंशियोंके यहाँ जाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कह दे कि सव्यसाची अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर तेरी चुनौती स्वीकार कर ली है। आजकी रात बीतते ही युद्ध आरम्भ हो जायगा॥ ९॥

यद् वाब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वो
मध्ये कुरून् हर्षयन् सत्यसंधः।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं
शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः॥ १०॥
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्य-
मापद्गताः पाण्डवाश्चेति भावः॥ ११॥

'सत्यप्रतिज्ञ और महान् शक्तिशाली भीष्मजीने कौरव-सैनिकोंके बीचमें उनका हर्ष बढ़ाते हुए जो यह कहा था कि मैं सृंजय वीरोंकी सेनाका तथा शाल्वदेशके सैनिकोंका भी संहार कर डालूँगा। इन सबके मारनेका भार मेरे ही ऊपर है। दुर्योधन! मैं द्रोणाचार्यके बिना भी सम्पूर्ण जगत्का संहार कर सकता हूँ; अतः तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। भीष्मके इस वचनसे ही तूने अपने मनमें यह धारणा बना ली है कि राज्य मुझे ही प्राप्त होगा और पाण्डव भारी विपत्तिमें पड़ जायँगे॥ १०-११॥

स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम्।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव॥ १२॥

'इसीलिये तू घमंडमें भरकर अपने ऊपर आये हुए

वर्तमान संकटको नहीं देख पाता है, अतः मैं सबसे पहले तेरे सेनासमूहमें प्रवेश करके कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मका ही तेरी आँखोंके सामने वध करूँगा ॥ १२ ॥

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य
ध्वजी रथी रक्ष तं सत्यसंधम् ।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं रथात् पातयिष्यामि बाणैः ॥१३॥

'तू सूर्योदयके समय सेनाको सुसज्जित करके ध्वज और रथसे सम्पन्न हो सब ओर दृष्टि रखते हुए सत्यप्रतिज्ञ भीष्मकी रक्षा कर । मैं तेरे सैनिकोंके देखते-देखते तेरे लिये आश्रय बने हुए इन भीष्मजीको बाणोंद्वारा मारकर रथसे नीचे गिरा दूँगा ॥ १३ ॥

श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः ।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ॥ १४ ॥

'कल सबेरे पितामहको मेरे द्वारा चलाये हुए बाणोंके समूहसे व्याप्त देखकर दुर्योधनको अपनी बढ़-बढ़कर कही हुई बातोंका परिणाम ज्ञात होगा ॥ १४ ॥

यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ॥ १५ ॥
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसकृत् ।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ॥ १६ ॥

'सुयोधन ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उस क्षुद्र विचारवाले, अधर्मज्ञ, नित्य वैरी, पापबुद्धि और क्रूरकर्मा तेरे भाई दुःशासनके प्रति जो बात कही है, उस प्रतिज्ञाको तू शीघ्र ही सत्य हुई देखेगा ॥ १५-१६॥

अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा ।
नैष्ठुर्यस्यावलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ॥ १७ ॥
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च ।
अधर्मस्यातिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ॥ १८ ॥
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्यापनयस्य च ।
द्रक्ष्यसि त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ॥ १९ ॥

'दुर्योधन ! तू अभिमान, दर्प, क्रोध, कटुभाषण, निष्ठुरता, अहंकार, आत्मप्रशंसा, क्रूरता, तीक्ष्णता, धर्मविद्वेष, अधर्म, अतिवाद, वृद्ध पुरुषोंके अपमान तथा टेढ़ी आँखोंसे देखनेका और अपने समस्त अन्याय एवं अत्याचारोंका घोर फल शीघ्र ही देखेगा ॥ १७–१९ ॥

वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम ।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ॥ २० ॥

'मूढ़ नराधम ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मेरे कुपित होनेपर तू किस कारणसे जीवन तथा राज्यकी आशा करता है ? ॥

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥ २१ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रोंकी रक्षाकी ओरसे निराश हो जायगा ॥ २१ ॥

भ्रातॄणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ॥ २२ ॥

'सुयोधन ! तू अपने भाइयों और पुत्रोंका मरण सुनकर और भीमसेनके हाथसे स्वयं भी मारा जाकर अपने पापोंको याद करेगा ॥ २२ ॥

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ॥ २४ ॥

'शकुनिपुत्र ! मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा करना नहीं जानता । तुझसे सच्ची बात कहता हूँ । यह सब कुछ सत्य होकर रहेगा ।' तत्पश्चात् युधिष्ठिरने भी धूर्त जुआरीके पुत्र उलूकसे इस प्रकार कहा—'वत्स उलूक ! तू दुर्योधनके पास जाकर मेरी यह बात कहना—॥ २३-२४ ॥

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ॥ २५ ॥

'सुयोधन ! तुझे अपने आचरणके अनुसार ही मेरे आचरणको नहीं समझना चाहिये । मैं दोनोंके बर्तावका तथा सत्य और झूठका भी अन्तर समझता हूँ ॥ २५ ॥

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथंचन ॥ २६ ॥

'मैं तो कीड़ों और चींटियोंको भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता; फिर अपने भाई-बन्धुओं अथवा कुटुम्बीजनोंके वधकी कामना किसी प्रकार भी कैसे कर सकता हूँ ? ॥ २६ ॥

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ॥ २७ ॥

'तात ! इसीलिये पहले मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे । दुर्बुद्धे ! मेरे ऐसा करनेका यही उद्देश्य था कि किसी तरह तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूँ ॥ २७ ॥

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ २८ ॥

'परंतु तेरा मन लोभ और तृष्णामें डूबा हुआ है । तू मूर्खताके कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है और भगवान् श्रीकृष्णके हितकारक वचनको भी नहीं मान रहा है ॥ २८॥

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।

'अब इस समय अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ आकर युद्ध कर' ॥ २८½ ॥

मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ॥ २९ ॥
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ।

'उलूक ! तू मेरा अप्रिय करनेवाले दुर्योधनसे कहना—'तेरा संदेश सुना और उसका अभिप्राय समझ लिया । तेरी जैसी इच्छा है, वैसा ही हो' ॥ २९½ ॥

भीमसेनस्ततो वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ॥ ३० ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम् ।

शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पुनः राजकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू दुर्बुद्धि, पापात्मा, शठ, कपटी, पापी तथा दुराचारी दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—॥

गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये।
प्रतिज्ञातं मया तच्च सभामध्ये नराधम ॥ ३२ ॥
कर्ताहं तद् वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते।

'नराधम ! तुझे या तो मरकर गीधके पेटमें निवास करना चाहिये या हस्तिनापुरमें जाकर छिप जाना चाहिये। मैंने सभामें जो प्रतिज्ञा की है, उसे अवश्य सत्य कर दिखाऊँगा । यह बात मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुझसे कहता हूँ ॥ ३२½ ॥

दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ॥ ३३ ॥
सक्थिनी तव भङ्क्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान्।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ॥ ३४ ॥

'मैं युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रक्त पीऊँगा और तेरे सारे भाइयोंको मारकर तेरी जाँघें भी तोड़कर ही रहूँगा । सुयोधन ! मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंकी मृत्यु हूँ ॥

सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम्।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ॥ ३५ ॥

'इसी प्रकार सारे राजकुमारोंकी मृत्युका कारण अभिमन्यु होगा, इसमें संशय नहीं है। मैं अपने पराक्रमद्वारा तुझे अवश्य संतुष्ट करूँगा । तू मेरी एक बात और सुन ले ॥

हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥

'सुयोधन ! तुझे समस्त भाइयोंसहित मारकर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते तेरे मस्तकको पैरसे कुचल दूँगा' ॥

नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३७ ॥
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम्।
तथा कर्तास्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ॥ ३८ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् नकुलने भी इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू कुरुकुलकलंक धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कहना, तेरी कही हुई सारी बातें मैंने यथार्थरूपसे सुन लीं । कौरव ! तू मुझे जैसा उपदेश दे रहा है, उसके अनुसार ही मैं सब कुछ करूँगा' ॥ ३७-३८ ॥

सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत्।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ॥ ३९ ॥
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत् त्वं विकत्थसे ॥ ४० ॥

राजन् ! तदनन्तर सहदेवने भी यह सार्थक वचन कहा—'महाराज दुर्योधन ! आज जो तेरी बुद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। इस समय हमारे इस महान् क्लेशका जो तू हर्षोत्फुल्ल होकर वर्णन कर रहा है, इसका फल यह होगा कि तू अपने पुत्र, कुटुम्बी तथा बन्धुजनोंसहित शोकमें डूब जायगा' ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर बूढ़े राजा विराट और द्रुपदने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू दुर्योधनसे कहना, राजन् ! हम दोनोंका विचार सदा यही रहता है कि हम साधु पुरुषोंके दास हो जायँ । वे दोनों हम विराट और द्रुपद दास हैं या अदास; इसका निर्णय युद्धमें जिसका जैसा पुरुषार्थ होगा, उसे देखकर किया जायगा' ॥ ४१ ॥

शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत्।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् शिखण्डीने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! सदा पापमें ही तत्पर रहनेवाले अपने राजाके पास जाकर तू इस प्रकार कहना—॥ ४२ ॥

पश्य त्वं मां रणे राजन् कुर्वाणं कर्म दारुणम्।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ॥ ४३ ॥
तमहं पातयिष्यामि रथात् तव पितामहम्।

'राजन् ! तुम संग्राममें मुझे भयानक कर्म करते हुए देखना । जिसके पराक्रमका भरोसा करके तुम युद्धमें अपनी विजय हुई मानते हो, तुम्हारे उस पितामहको मैं रथसे मार गिराऊँगा ॥ ४३½ ॥

अहं भीष्मवधात् सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ॥ ४४ ॥
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'निश्चय ही महामना विधाताने भीष्मके वधके लिये ही मेरी सृष्टि की है। अतः मैं समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भीष्मको मार डालूँगा' ॥ ४४½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ॥ ४६ ॥

इसके बाद धृष्टद्युम्नने भी कितवकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू राजपुत्र दुर्योधनसे मेरी यह बात कह देना, मैं द्रोणाचार्यको उनके गणों और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा ॥ ४५-४६ ॥

अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत्।
कर्ता चाहं तथा कर्म यथा नान्यः करिष्यति ॥ ४७ ॥

'मुझे अपने पूर्वजोंके महान् चरित्रका अनुकरण अवश्य करना चाहिये । अतः मैं युद्धमें वह पराक्रम कर दिखाऊँगा, जैसा दूसरा कोई नहीं करेगा' ॥ ४७ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत्।
नाहं ज्ञातिवधं राजन् कामयेयं कथंचन ॥ ४८ ॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने करुणावश फिर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'राजन् ! मैं किसी प्रकार भी अपने कुटुम्बियोंका वध नहीं कराना चाहता ॥ ४८ ॥

तवैव दोषाद् दुर्बुद्धे सर्वमेतत् त्वनावृतम्।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ॥ ४९ ॥
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः।

'किंतु दुर्बुद्धे ! यह सब कुछ तेरे ही दोषसे प्राप्त हुआ है । तात उलूक ! तेरी इच्छा हो, तो शीघ्र चला जा । अथवा तेरा कल्याण हो, तू यहीं रह; क्योंकि हम भी तेरे भाई-बन्धु ही हैं' ॥ ४९½ ॥

उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः।

जनमेजय ! तदनन्तर उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे विदा ले जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ॥ ५०½ ॥

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ५१ ॥
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत्।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ॥ ५२ ॥

वहाँ आकर उलूकने अमर्षशील दुर्योधनको अर्जुनका सारा संदेश ज्यों-का-त्यों सुना दिया । इसी प्रकार उसने भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिरकी पुरुषार्थ-भरी बातोंका भी वर्णन किया ॥ ५१-५२ ॥

नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भारत ! फिर उसने नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके भी सारे वचनोंको ज्यों-का-त्यों कह दिया ॥ ५३ ॥

कैतव्यस्य तु तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ॥ ५४ ॥

भारत ! उलूकका वह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिसे कहा—॥ ५४ ॥

आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा।
यथा प्रागुदयात् सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्वनीकिनः ॥ ५५ ॥

'बन्धुओ ! राजाओं तथा मित्रोंकी सेनाओंको आज्ञा दे दो, जिससे समस्त सैनिक कल सूर्योदयसे पूर्व ही तैयार होकर युद्धके मैदानमें डट जायँ' ॥ ५५ ॥

ततः कर्णसमादिष्टा दूताः संत्वरिता रथैः।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ॥ ५६ ॥
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात्।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् कर्णके भेजे हुए दूत बड़ी उतावलीके साथ रथों, ऊँट-ऊँटनियों तथा अत्यन्त वेगशाली अच्छे-अच्छे घोड़ोंपर सवार हो तीव्र गतिसे सम्पूर्ण सेनाओंमें गये और कर्णके आदेशके अनुसार सबको राजाकी यह आज्ञा सुनाने लगे कि कल सूर्योदयसे पहले ही युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकके लौट जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके मैदानमें जाना और धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने-अपने योग्य विपक्षियोंके साथ युद्ध करनेके लिये नियुक्ति

संजय उवाच

उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इधर उलूककी बातें सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्नके नेतृत्वमें अपनी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान कराया ॥ १ ॥

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम्।
चतुर्विधबलां भीमामकम्प्यां पृथिवीमिव ॥ २ ॥

उसमें पैदल, हाथी, रथ और अश्वसमूह भी थे। इस प्रकार वह चतुरंगिणी सेना बड़ी भयंकर और पृथ्वीके समान अविचल थी ॥ २ ॥

भीमसेनादिभिर्गुप्तां सार्जुनैश्च महारथैः।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुन और भीमसेन आदि महारथी उसकी रक्षा करते थे । वह दुर्गम सेना धृष्टद्युम्नके अधीन थी और प्रशान्त एवं स्थिर समुद्रके समान जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ॥ ४ ॥

उसके आगे-आगे रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोणसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे । वे सारी सेनाको अपने पीछे खींचे लिये जाते थे ॥ ४ ॥

यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत्।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ॥ ५ ॥

उन्होंने जिस वीरका जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुए अपने रथियोंको योग्य प्रतिपक्षीके साथ युद्ध करनेका आदेश दिया। अर्जुनको सूतपुत्र कर्णका और भीम-

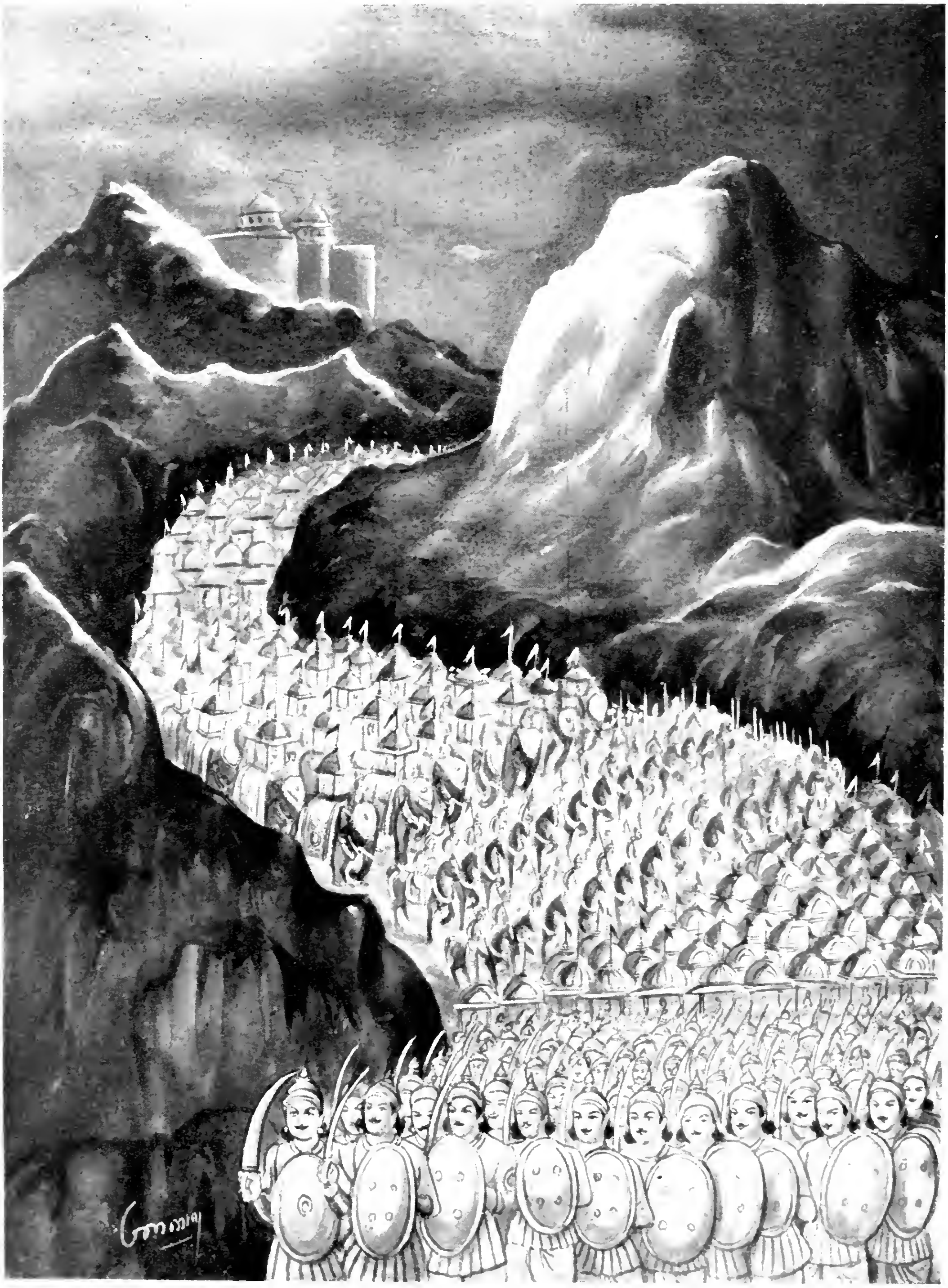

पाण्डवोंकी विशाल सेना

सेनको दुर्योधनका सामना करनेके लिये नियुक्त किया ॥५॥

धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम्।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैब्यं च कृतवर्मणे ॥ ६ ॥
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत्।
शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ॥ ७ ॥

धृष्टकेतुको शल्यसे, उत्तमौजाको कृपाचार्यसे, नकुलको अश्वत्थामासे, शैब्यको कृतवर्मासे, वृष्णिवंशी सात्यकिको सिन्धुराज जयद्रथसे और शिखण्डीको भीष्मसे मुख्यतः युद्ध करनेका आदेश दिया ॥ ६-७ ॥

सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै।
द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ॥ ८ ॥

सहदेवको शकुनिका, चेकितानको शलका और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको त्रिगर्तोंका सामना करनेके लिये नियत कर दिया ॥ ८ ॥

वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम्।
स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ॥ ९ ॥

कर्णपुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओंके साथ युद्ध करनेका काम सुभद्राकुमार अभिमन्युको सौंपा, क्योंकि वे उसे युद्धमें अर्जुनसे भी अधिक शक्तिशाली समझते थे ॥ ९ ॥

एवं विभज्य योधांस्तान् पृथक् च सह चैव ह।
ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः।

इस प्रकार समस्त योद्धाओंका पृथक्-पृथक् और एक साथ विभाजन करके सेनापतियोंके पति प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अपने हिस्सेमें रक्खा ॥ १०½ ॥

विधिवद् व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ॥ ११ ॥
यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत्।
जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ॥ १२ ॥

उनके मनमें युद्धके लिये दृढ निश्चय था। मेधावी धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंकी पूर्वोक्त सेनाओंकी विधिपूर्वक व्यूह-रचना करके उन सबको युद्धके लिये नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पाण्डवोंकी विजयके लिये संनद्ध होकर समराङ्गणमें खड़े हुए ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें सेनापतिके द्वारा सैनिकोंकी युद्धमें नियुक्तिविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब अर्जुनने युद्धभूमिमें भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ॥ २ ॥

अर्जुन सुदृढ़ धनुष धारण करते हैं। इसके सिवा भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं; अतः मैं रणभूमिमें अपने पिता गङ्गानन्दन भीष्मको उनके द्वारा मारा गया ही मानता हूँ॥

स चापरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम्।
किमुक्तवान् महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ३ ॥

अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको सुनकर अमित बुद्धिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीष्मने क्या कहा ? ॥ ३ ॥

सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ४ ॥

कौरवकुलका भार वहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गङ्गापुत्र भीष्मने सेनापतिका पद प्राप्त करनेके पश्चात् युद्धके लिये कौन-सी चेष्टा की ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत् संजयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत्।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणामिततेजसा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर संजयने अमिततेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्मने जैसा कहा था, वह सब कुछ राजा धृतराष्ट्रको बताया ॥ ५ ॥

संजय उवाच

सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥ ६ ॥

संजय बोले—नरेश्वर ! सेनापतिका पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए-से उससे यह बात कही— ॥ ६ ॥

नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥ ७ ॥

'राजन् ! मैं हाथमें शक्ति धारण करनेवाले देवसेनापति कुमार कार्तिकेयको नमस्कार करके अब तुम्हारी सेनाका अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ॥ ८ ॥

'मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्मका ज्ञान है । मैं नाना प्रकारके व्यूहोंके निर्माणमें भी कुशल हूँ । तुम्हारी सेनामें जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेनेवाले मित्रसेनाके सैनिक हैं, उन सबसे यथायोग्य काम करा लेनेकी भी कला मुझे ज्ञात है ॥ ८ ॥

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥

'महाराज ! मैं युद्धके लिये यात्रा करने युद्ध करने, तथा विपक्षीके चलाये हुए अस्त्रोंका प्रतीकार करनेके विषयमें जैसा बृहस्पति जानते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातोंकी विशेष जानकारी रखता हूँ ॥ ९ ॥

व्यूहानां च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान् ।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥

'मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनोंकी ही व्यूहरचनाका ज्ञान है । उनके द्वारा मैं पाण्डवोंको मोहित कर दूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ १० ॥

सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधानके अनुसार यथार्थरूपसे पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जाय' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहु गङ्गानन्दन ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंसे भी कभी भय नहीं होता है ॥ १२ ॥

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥ १३ ॥

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापतिके पदपर स्थित हैं तथा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्य-जैसे योद्धा मेरे लिये युद्धभूमिमें उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है ? ॥ १३ ॥

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब आप दोनों पुरुषप्रवर वीर मेरी विजयके लिये यहाँ खड़े हैं, तब तो अवश्य ही मेरे लिये देवताओंका राज्य भी दुर्लभ नहीं है ॥ १४ ॥

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥ १५ ॥
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! आप शत्रुओंके तथा अपने पक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याको पूर्णरूपसे जानते हैं, अतः मैं भी आपसे इस विषयकी जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; क्योंकि पितामह शत्रुपक्ष तथा अपने पक्षकी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः मैं इन सब राजाओंके साथ आपके मुँहसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ ॥ १५-१६ ॥

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ॥ १७ ॥

भीष्म बोले—राजेन्द्र गान्धारीनन्दन ! तुम अपनी सेनाके रथियोंकी संख्या श्रवण करो । भूपाल ! तुम्हारी सेनामें जो रथी और अतिरथी हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ ।१७।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे शृणु ॥ १८ ॥

तुम्हारी सेनामें रथियोंकी संख्या अनेक सहस्र, लक्ष और अर्बुदों (करोड़ों) तक पहुँच जाती है; तथापि उनमें जो प्रधान-प्रधान हैं, उनके नाम मुझसे सुनो ॥ १८ ॥

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ॥ १९ ॥

सबसे पहले अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर भाइयोंके साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो ॥ १९ ॥

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।
रथोपस्थे गजस्कन्धे गदाप्रासासिचर्मणि ॥ २० ॥

तुम सब लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा छेदन-भेदनमें कुशल हो । रथपर और हाथीकी पीठपर बैठकर भी युद्ध कर सकते हो । गदा, प्रास तथा ढाल-तलवारके प्रयोगमें भी कुशल हो ॥

संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ २१ ॥

तुमलोग रथके संचालन और अस्त्रोंके प्रहारमें भी निपुण हो । अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा भार उठानेमें भी समर्थ हो । धनुष-बाणकी विद्यामें तो तुमलोग द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके सुयोग्य शिष्य हो ॥ २१ ॥

एते हनिष्यन्ति रणे पञ्चालान् युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रके ये सभी मनस्वी पुत्र पाण्डवोंके साथ वैर बाँधे हुए हैं; अतः युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पाञ्चाल योद्धाओंको ये समरभूमिमें मार डालेंगे ॥ २२ ॥

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाका प्रधान सेनापति ही हूँ; अतः पाण्डवोंको कष्ट देकर शत्रुसेनाके सैनिकोंका संहार करूँगा ॥ २३ ॥

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥ २४ ॥

भीष्म-दुर्योधन-संवाद

मैं अपने मुँहसे अपने ही गुणोंका बखान करना उचित नहीं समझता। तुम तो मुझे जानते ही हो। शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे दलमें अतिरथी वीर हैं ।२४।

अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः ॥ २५ ॥
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव।

ये युद्धमें तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करेंगे। इसमें संशय नहीं है। बड़े-बड़े शस्त्रवेत्ता भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते। इनके आयुध अत्यन्त दृढ़ हैं और ये दूरके लक्ष्यको भी मार गिरानेमें समर्थ हैं। जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार ये भी पाण्डवोंकी सेना-का विनाश करेंगे ॥ २५½ ॥

मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः ॥ २६ ॥
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको भी मैं अतिरथी मानता हूँ, जो प्रत्येक युद्धमें सदा भगवान् श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हैं ॥ २६½ ॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः।
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान् ॥ २७ ॥
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान्।

ये अपने सगे भानजों नकुल-सहदेवको छोड़कर अन्य सभी पाण्डव महारथियोंसे समरभूमिमें युद्ध करेंगे। तुम्हारी सेनाके इन वीरशिरोमणि शल्यको मैं अतिरथी ही समझता हूँ। ये समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंको डुबाते हुए-से युद्ध करेंगे ॥ २७½ ॥

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ॥ २८ ॥
सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ॥ २९ ॥

सोमदत्तके पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्र-विद्याके पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहृद् हैं। ये रथियोंके यूथपतियोंके भी यूथपति हैं, अतः तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाका महान् संहार करेंगे ॥ २८-२९ ॥

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ॥ ३० ॥

महाराज! सिन्धुराज जयद्रथको मैं दो रथियोंके बराबर समझता हूँ। ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। राजन्! ये भी समराङ्गणमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करेंगे ॥३०॥

द्रौपदीहरणे राजन् परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा ॥ ३१ ॥

नरेश्वर! द्रौपदीहरणके समय पाण्डवोंने इन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। उस महान् क्लेशको याद करके शत्रु-वीरोंका नाश करनेवाले जयद्रथ अवश्य युद्ध करेंगे ॥ ३१॥

एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम्।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान् योद्धुमाहवे ॥ ३२ ॥

राजन्! उस समय इन्होंने कठोर तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंसे मुठभेड़ कर सकनेका अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त किया था ॥ ३२ ॥

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ३३

तात! ये रथियोंमें श्रेष्ठ जयद्रथ युद्धमें उस पुराने वैरको याद करके अपने दुस्त्यज प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पाण्डवों-के साथ संग्राम करेंगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियोंका परिचय

भीष्म उवाच

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः।
तवार्थसिद्धिमाकाङ्क्षन् योत्स्यते समरे परैः ॥ १ ॥

भीष्मने कहा—राजन्! काम्बोजदेशके राजा सुदक्षिण एक रथी माने गये हैं। ये तुम्हारे कार्यकी सिद्धि चाहते हुए समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

एतस्य रथसिंहस्य तवार्थे राजसत्तम।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ! रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी ये काम्बोज-राज तुम्हारे लिये युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करेंगे और समस्त कौरव इनके पराक्रमको देखेंगे ॥ २ ॥

एतस्य रथवंशे हि तिग्मवेगप्रहारिणः।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवायतिः ॥ ३ ॥

महाराज! प्रचण्ड वेगसे प्रहार करनेवाले इन काम्बोज-नरेशके रथियोंके समुदायमें काम्बोजदेशीय सैनिकोंकी श्रेणी टिड्डियोंके दल-सी दृष्टिगोचर होती है ॥ ३ ॥

नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति ॥ ४ ॥

माहिष्मतीपुरीके निवासी राजा नील भी तुम्हारे दलके एक रथी हैं। इन्होंने नीले रंगका कवच पहन रक्खा है। ये अपने रथसमूहद्वारा शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ॥ ४ ॥

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष।
योत्स्यते सततं राजंस्तवार्थे कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन! पूर्वकालमें सहदेवके साथ इनकी शत्रुता हो गयी थी। राजन्! ये सदा तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ संमतौ रथसत्तमौ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ॥ ६ ॥

अवन्तीदेशके दोनों वीर राजकुमार विन्द और अनुविन्द श्रेष्ठ रथी माने गये हैं। तात! वे युद्धकलाके पण्डित तथा सुदृढ़ बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ॥ ७ ॥

ये दोनों पुरुषसिंह अपने हाथसे छूटे हुए गदा, प्रास, खड्ग, नाराच तथा तोमरोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध कर डालेंगे॥

युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ॥ ८ ॥

महाराज! जैसे दो यूथपति गजराज हाथियोंके झुंडमें खेल-सा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले विन्द और अनुविन्द समराङ्गणमें यमराजके समान विचरण करते हैं ॥ ८ ॥

त्रिगर्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ॥ ९ ॥

त्रिगर्तदेशीय पाँचों भ्राताओंको मैं उदार रथी मानता हूँ। विराटनगरमें दक्षिणगोग्रहके युद्धके समय चार पाण्डवोंके साथ इनका वैर बढ़ गया था ॥ ९ ॥

मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम्।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ॥ १० ॥

राजेन्द्र! जैसे ग्राहगण उत्ताल तरङ्गोंवाली गङ्गाको मथ डालते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगर्तदेशीय पाँचों क्षत्रिय वीर पाण्डवोंकी सेनामें हलचल मचा देंगे ॥ १० ॥

ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम्।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुराकृतम् ॥ ११ ॥
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह।
दिशो विजयता राजन् श्वेतवाहेन भारत ॥ १२ ॥

महाराज! ये पाँचों भाई रथी हैं और सत्यरथ उनमें प्रधान है। भारत! भीमसेनके छोटे भाई श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने दिग्विजयके समय जो त्रिगर्तोंका अप्रिय किया था, उस पहलेके वैरको याद रखते हुए ये पाँचों वीर संग्रामभूमिमें मन लगाकर युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान्।
वरान् वरान् महेष्वासान् क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ॥ १३ ॥

ये पाण्डवोंके बड़े-बड़े महारथियोंके पास जा उन महाधनुर्धर क्षत्रियशिरोमणि वीरोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ॥ १४ ॥

तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण और दुःशासनका पुत्र—ये दोनों पुरुषसिंह युद्धसे पलायन करनेवाले नहीं हैं ॥ १४ ॥

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ॥ १५ ॥

ये दोनों तरुण और सुकुमार राजपुत्र बड़े वेगशाली हैं, अनेक युद्धोंके विशेषज्ञ हैं और सब प्रकारसे सेनानायक होने योग्य हैं ॥ १५ ॥

रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! ये दोनों वीर रथी तो हैं ही, रथियोंमें श्रेष्ठ भी हैं। ये क्षत्रियधर्ममें तत्पर होकर युद्धमें महान् पराक्रम करेंगे ॥

दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ।
योत्स्यते तव संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ॥ १७ ॥

महाराज! नरश्रेष्ठ! अपनी सेनामें दण्डधार भी एक रथी हैं, जो तुम्हारे लिये संग्राममें अपनी सेनासे सुरक्षित होकर लड़ेंगे ॥

बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ॥ १८ ॥

तात! महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न कोसलदेशके राजा बृहद्बल भी मेरी दृष्टिमें एक रथी हैं और रथियोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है ॥ १८ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे स्वान् बन्धून् सम्प्रहर्षयन्।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ १९ ॥

ये धृतराष्ट्रपुत्रोंके हितमें तत्पर हो भयंकर अस्त्र-शस्त्र तथा महान् धनुष धारण किये अपने बन्धुओंका हर्ष बढ़ाते हुए समराङ्गणमें बड़े उत्साहसे युद्ध करेंगे ॥ १९ ॥

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ॥ २० ॥

राजन्! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथपतियोंके भी यूथपति हैं। ये अपने प्यारे प्राणोंकी परवा न करके तुम्हारे शत्रुओंको जला डालेंगे ॥ २० ॥

गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः।
कार्तिकेय इवाजेयः शरस्तम्बात् सुतोऽभवत् ॥ २१ ॥

गौतमवंशी महर्षि आचार्य शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य कार्तिकेयकी भाँति सरकण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी भाँति अजेय भी हैं ॥ २१ ॥

एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ २२ ॥

तात! ये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष धारण करनेवाली बहुत-सी सेनाओंको अग्निके समान दग्ध करते हुए समरभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः
कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन

भीष्म उवाच

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥

भीष्मने कहा—नरेश्वर ! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है। यह पाण्डवोंसे वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे ॥ २ ॥

युद्धमें डटकर शत्रुओंका सामना करनेवाले इस शकुनिकी सेना दुर्धर्ष है। इसका वेग वायुके समान है तथा यह विविध आकारवाले अनेक आयुधोंसे विभूषित है ॥ २ ॥

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः ॥ ३ ॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरोंसे बढ़कर है। वह युद्धमें विचित्र ढंगसे शत्रुओंका सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रोंसे सम्पन्न तथा महारथी है ॥ ३ ॥

एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः ॥ ४ ॥

महाराज ! गाण्डीवधारी अर्जुनकी भाँति इसके धनुषसे एक साथ छूटे हुए बहुत-से बाण भी परस्पर सटे हुए ही लक्ष्यतक पहुँचते हैं ॥ ४ ॥

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः ॥ ५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ इस वीर पुरुषके महत्त्वकी गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे, तो तीनों लोकोंको दग्ध कर सकता है ॥ ५ ॥

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम्।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः ॥ ६ ॥

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियोंके योग्य तपस्या भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका ज्ञान देकर इसपर महान् अनुग्रह किया है ॥ ६ ॥

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम ॥ ७ ॥

किंतु भरतश्रेष्ठ ! नृपशिरोमणे ! इसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही ॥ ७ ॥

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि ॥ ८ ॥

इस ब्राह्मणको अपना जीवन बहुत प्रिय है, अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)। अन्यथा दोनों सेनाओंमें इसके समान शक्तिशाली कोई नहीं है ॥ ८ ॥

हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम्।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान् ॥ ९ ॥

यह एकमात्र रथका सहारा लेकर देवताओंकी सेनाका भी संहार कर सकता है। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं विशाल है। यह अपनी तालीकी आवाजसे पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है ॥ ९ ॥

असंख्येयगुणो वीरः प्रहर्ता दारुणद्युतिः।
दण्डपाणिरिवासह्यः कालवत् प्रचरिष्यति ॥ १० ॥

इस वीरमें असंख्य गुण हैं। यह प्रहार करनेमें कुशल और भयंकर तेजसे सम्पन्न है; अतः दण्डधारी कालके समान असह्य होकर युद्धभूमिमें विचरण करेगा ॥ १० ॥

युगान्ताग्निसमः क्रोधात् सिंहग्रीवो महाद्युतिः।
एष भारतयुद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति ॥ ११ ॥

क्रोधमें यह प्रलयकालकी अग्निके समान जान पड़ता है। इसकी ग्रीवा सिंहके समान है। यह महातेजस्वी अश्वत्थामा महाभारत-युद्धके शेषभागका शमन करेगा ॥ ११ ॥

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः ॥ १२ ॥

अश्वत्थामाके पिता द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी हैं। ये बूढ़े होनेपर भी नवयुवकोंसे अच्छे हैं। इस युद्धमें ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है॥१२॥

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः ॥ १३ ॥

समरभूमिमें डटे हुए द्रोणाचार्य अग्निके समान हैं। अस्त्रवेग-रूपी वायुका सहारा पाकर ये उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनोंको पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे। इस प्रकार ये प्रज्वलित होकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालेंगे ॥ १३ ॥

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव ॥ १४ ॥

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियोंके समुदायके भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे हितके लिये तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः।
गच्छेदन्तं सृंजयानां प्रियस्त्वस्य धनंजयः ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियोंका विनाश कर डालेंगे; परंतु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय हैं ॥ १५ ॥

नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम्।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम् ॥ १६ ॥

महाधनुर्धर द्रोणाचार्यका समुज्ज्वल आचार्यभाव अर्जुनके गुणोंद्वारा जीत लिया गया है । उसका स्मरण करके ये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनको कदापि नहीं मारेंगे ॥ १६ ॥

श्लाघतेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः ।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥

वीर ! ये आचार्य द्रोण अर्जुनके गुणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए सदा उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें पुत्रसे भी अधिक प्रिय मानते हैं ॥ १७ ॥

हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान् ।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्य एकमात्र रथका ही आश्रय ले रणभूमिमें एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंको अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा नष्ट कर सकते हैं ॥ १८ ॥

पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन् महारथः ।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ॥ १९ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो नृपश्रेष्ठ पौरव हैं, वे मेरे मतमें रथियोंमें उदार महारथी हैं। वे विपक्षके वीर रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

स्वेन सैन्येन महता प्रतपन् शत्रुवाहिनीम् ।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान् कक्षमग्निगतिर्यथा ॥ २० ॥

राजा पौरव अपनी विशाल सेनाके द्वारा शत्रुवाहिनीको संतप्त करते हुए पाञ्चालोंको उसी प्रकार भस्म कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसको ॥ २० ॥

सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः ।
तव राजन् रिपुबले कालवत् प्रचरिष्यति ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकुमार बृहद्बल भी एक रथी हैं । संसारमें उनकी सच्ची कीर्तिका विस्तार हुआ है । वे तुम्हारे शत्रुओंकी सेनामें कालके समान विचरेंगे ॥ २१ ॥

एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः ।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! उनके सैनिक विचित्र कवच और अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुम्हारे शत्रुओंका संहार करते हुए संग्रामभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः ।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते बलं तु बलिनां वरः ॥ २३ ॥

कर्णका पुत्र वृषसेन भी तुम्हारी सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है । इसे महारथी भी कह सकते हैं । बलवानोंमें श्रेष्ठ वृषसेन तुम्हारे वैरियोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर डालेगा ॥ २३ ॥

जलसंधो महातेजा राजन् रथवरस्तव ।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान् माधवः परवीरहा ॥ २४ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी महातेजस्वी जलसंध तुम्हारी सेनामें श्रेष्ठ रथी हैं । ये तुम्हारे लिये युद्धमें अपने प्राणतक दे डालेंगे ॥ २४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयन् शत्रुवाहिनीम् ॥ २५ ॥

महाबाहु जलसंध रथ अथवा हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें कुशल हैं। ये संग्राममें शत्रुसेनाका संहार करते हुए लड़ेंगे ॥ २५ ॥

रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम ।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान् सहसैन्यो महारणे ॥ २६ ॥

महाराज ! नृपश्रेष्ठ ! ये मेरे मतमें रथी ही हैं और इस महायुद्धमें तुम्हारे लिये अपनी सेनासहित प्राणत्याग करेंगे ॥

एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे ।
वीतभीश्चापि ते राजन् शत्रुभिः सह योत्स्यते ॥ २७ ॥

राजन् ! ये समराङ्गणमें महान् पराक्रम प्रकट करते हुए विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले हैं । ये तुम्हारे शत्रुओंके साथ निर्भय होकर युद्ध करेंगे ॥ २७ ॥

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः ।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ॥ २८ ॥

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं । ये युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं । राजन् ! मैं समरभूमिमें इन्हें यमराजके समान शूरवीर मानता हूँ ॥ २८ ॥

न ह्येष समरं प्राप्य निवर्तेत कथञ्चन ।
यथा सततगो राजन् स हि हन्यात् परान् रणे ॥ २९ ॥

ये रणक्षेत्रमें पहुँचकर किसी तरह पीछे पैर नहीं हटा सकते । राजन् ! ये वायुके समान वेगसे रणभूमिमें शत्रुओंको मारेंगे ॥ २९ ॥

सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः ।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ॥ ३० ॥

महाराज ! रथारूढ हो युद्धमें अद्भुत पराक्रम दिखाने और शत्रुपक्षके रथियोंको मार भगानेवाले तुम्हारे सेनापति सत्यवान् भी महारथी हैं ॥ ३० ॥

एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथास्ति कथञ्चन ।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान् रथपथे स्थितान् ॥ ३१ ॥

युद्ध देखकर इनके मनमें किसी प्रकार भी भय एवं दुःख नहीं होता । ये रथके मार्गमें खड़े हुए शत्रुओंपर हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

एष चारिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम् ।
कर्ता विमर्दे सुमहत् त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ॥ ३२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ सत्यवान् शत्रुओंपर महान् पराक्रम दिखाते हैं । ये युद्धमें तुम्हारे लिये श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य महान् कर्म करेंगे ॥ ३२ ॥

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः ।
हनिष्यति परान् राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

क्रूरकर्मा राक्षसराज अलम्बुष भी महारथी है । राजन् ! यह पहलेके वैरको याद करके शत्रुओंका संहार करेगा ॥ ३३ ॥

एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः ।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ॥ ३४ ॥

मायावी, वैरभावको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखनेवाला तथा समस्त राक्षस सैनिकोंमें श्रेष्ठ रथी यह अलम्बुष संग्राम-भूमिमें (निर्भय होकर) विचरेगा ॥ ३४ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं। हाथमें अङ्कुश लेकर हाथियोंको काबूमें रखनेवाले वीरोंमें इनका सबसे ऊँचा स्थान है। ये रथयुद्धमें भी कुशल हैं॥३५॥

एतेन युद्धमभवत् पुरा गाण्डीवधन्वनः ।
दिवसान् सुबहून् राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ॥ ३६ ॥

राजन् ! पहले इनके साथ गाण्डीवधारी अर्जुनका युद्ध हुआ था। उस संग्राममें दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते हुए बहुत दिनोंतक लड़ते रहे ॥ ३६ ॥

ततः सखायं गान्धारे मानयन् पाकशासनम् ।
अकरोत् संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ३७ ॥

गान्धारीकुमार ! कुछ दिनों बाद भगदत्तने अपने सखा इन्द्रका सम्मान करते हुए महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ संधि कर ली थी ॥ ३७ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ॥ ३८ ॥

राजा भगदत्त हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हैं। ये ऐरावतपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान संग्राममें तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण

भीष्म उवाच

अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून् विध्वंसयिष्यतः ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—अचल और वृषक—ये साथ रहनेवाले दोनों भाई दुर्धर्ष रथी हैं, जो तुम्हारे शत्रुओंका विध्वंस कर डालेंगे ॥ १ ॥

बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ॥ २ ॥

गान्धारदेशके ये प्रधान वीर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, बलवान्, अत्यन्त क्रोधी, प्रहार करनेमें कुशल, तरुण, दर्शनीय एवं महाबली हैं ॥ २ ॥

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः ॥ ४ ॥

राजन् ! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवोंके साथ युद्धके लिये सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्रमें सदा अपनी क्रूरताका परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है। यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है। यह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है ॥३-४॥

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे ।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ॥ ५ ॥
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ॥ ६ ॥
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन् विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

यह कर्ण युद्धभूमिमें न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलोंसे हीन हो चुका है। यह दूसरोंके प्रति सदा घृणाका भाव रखता है। परशुरामजीके अभिशापसे, ब्राह्मणकी शापोक्तिसे तथा विजयसाधक उपर्युक्त उपकरणोंको खो देनेसे मेरी दृष्टिमें यह कर्ण अर्धरथी है। अर्जुनसे भिड़नेपर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता ॥ ५—७ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ॥ ८ ॥

यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—'आप जैसा कहते हैं, बिल्कुल ठीक है। आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है ॥ ८ ॥

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥ ९ ॥

'यह प्रत्येक युद्धमें घमंड तो बहुत दिखाता है; परंतु वहाँसे भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है। इसलिये मेरी रायमें भी यह अर्धरथी ही है' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ॥ १० ॥

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और अपने वचनरूपी चाबुकसे पीड़ा देता हुआ भीष्मसे बोला—॥ १० ॥

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥ ११ ॥

'पितामह ! यद्यपि मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी सदा मुझसे द्वेष रखनेके कारण तुम इसी प्रकार पग-पगपर मुझे अपने वाग्बाणोंद्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो ॥ ११ ॥

मर्षयामि च तत् सर्वं दुर्योधनकृतेन वै।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥१२॥

'मैं दुर्योधनके कारण यह सब कुछ चुपचाप सह लेता हूँ; परंतु तुम मुझे मूर्ख और कायरके समान समझते हो।१२।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ॥ १३ ॥

'तुम मेरे विषयमें जो अर्धरथी होनेका मत प्रकट कर रहे हो, इससे सम्पूर्ण जगत्‌को निःसंदेह ऐसा ही प्रतीत होने लगेगा; क्योंकि सब यही जानते हैं कि गङ्गानन्दन भीष्म झूठ नहीं बोलते ॥ १३ ॥

कुरूणामहितो नित्यं न च राजावबुध्यते।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ॥ १४ ॥
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ॥ १५ ॥

'तुम कौरवोंका सदा अहित करते हो; परंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझते हैं। तुम मेरे गुणोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण जिस प्रकार राजाओंकी मुझपर विरक्ति कराना चाहते हो, वैसा प्रयत्न तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कर सकता है ? इस समय युद्धका अवसर उपस्थित है और समान श्रेणीके उदारचरित राजा एकत्र हुए हैं; ऐसे अवसरपर आपसमें भेद (फूट) उत्पन्न करनेकी इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्षके योद्धाका इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा ? ॥१४-१५॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥ १६ ॥

'कौरव ! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धनका संग्रह कर लेने तथा बहुसंख्यक भाई-बन्धुओंके होनेसे ही किसी क्षत्रियको महारथी नहीं गिना जा सकता ॥ १६ ॥

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः ॥१७॥

'क्षत्रियजातिमें जो बलमें अधिक हो, वही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे, वैश्य अधिक धनसे और शूद्र अधिक आयु होनेसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ॥ १८ ॥

'तुम राग-द्वेषसे भरे हुए हो; अतः मोहवश मनमाने ढंगसे रथी-अतिरथियोंका विभाग कर रहे हो ॥ १८ ॥

दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम्।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत् तव ॥१९॥

'महाबाहु दुर्योधन ! तुम अच्छी तरह विचार करके देख लो। ये भीष्म दुर्भावसे दूषित होकर तुम्हारी बुराई कर रहे हैं। तुम इन्हें अभी त्याग दो ॥ १९ ॥

भिन्ना हि सेना नृपते दुःसंधेया भवत्युत।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नानासमुत्थिताः ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! एक बार सेनामें फूट पड़ जानेपर उसमें पुनः मेल कराना कठिन हो जाता है। उस दशामें मौलिक (पीढ़ियोंसे चले आनेवाले) सेवक भी हाथसे निकल जाते हैं। फिर जो भिन्न-भिन्न स्थानोंके लोग किसी एक कार्यके लिये उद्यत होकर एकत्र हुए हों, उनकी तो बात ही क्या है ? ॥ २० ॥

एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ॥ २१ ॥

'भारत ! इन योद्धाओंमें युद्धके अवसरपर दुविधा उत्पन्न हो गयी है। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, हमारे तेज और उत्साहकी विशेषरूपसे हत्या की जा रही है ॥ २१ ॥

रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २२ ॥

'कहाँ रथियोंको समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म ! मैं अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥

आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश।
पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ॥ २३ ॥

'मेरे बाण अमोघ हैं। मेरे सामने आकर पाण्डव और पाञ्चाल उसी प्रकार दसों दिशाओंमें भाग जायँगे, जैसे सिंहको देखकर बैल भागते हैं ॥ २३ ॥

क्व च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च।
क्व च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ॥ २४ ॥

'कहाँ युद्ध, मारकाट और गुप्त मन्त्रणामें अच्छी बातें बतानेका कार्य और कहाँ कालप्रेरित मन्दबुद्धि भीष्म, जिनकी आयु समाप्त हो चुकी है ॥ २४ ॥

एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह।
न चान्यं पुरुषं कंचिन्मन्यते मोघदर्शनः ॥ २५ ॥

'ये अकेले ही सदा सम्पूर्ण जगत्‌के साथ स्पर्धा रखते हैं और अपनी व्यर्थ दृष्टिके कारण दूसरे किसीको पुरुष ही नहीं समझते हैं ॥ २५ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥ २६ ॥

'वृद्धोंकी बातें सुननी चाहिये; यह शास्त्रका आदेश है। परंतु जो अत्यन्त बूढ़े हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे तो फिर बालकोंके ही समान माने गये हैं ॥ २६ ॥

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम्।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥ २७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं इस युद्धमें अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाका

विनाश करूँगा; परंतु सारा यश भीष्मको मिल जायगा ॥

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथंचन ॥ २८ ॥

'नरेश्वर ! तुमने इन भीष्मको ही सेनापति बनाया है। विजयका यश सेनापतिको ही प्राप्त होता है; योद्धाओंको किसी प्रकार नहीं मिलता ॥ २८ ॥

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथंचन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥ २९ ॥

'अतः राजन् ! मैं भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा; परंतु भीष्मके मारे जानेपर सम्पूर्ण महारथियों-के साथ टक्कर लूँगा' ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ॥ ३० ॥
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥ ३१ ॥

भीष्मने कहा—सूतपुत्र ! इस युद्धमें दुर्योधनका यह समुद्रके समान अत्यन्त गुरुतर भार मैंने अपने कंधोंपर उठाया है। जिसके लिये मैं बहुत वर्षोंसे चिन्तित हो रहा था, वह संतापदायक रोमाञ्चकारी समय अब आकर उपस्थित हो ही गया, ऐसे अवसरमें मुझे यह पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, इसीलिये तू अभीतक जी रहा है ॥३०-३१॥

न ह्यहं त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥ ३२ ॥

सूतकुमार ! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होनेपर भी पराक्रम करके आज तुझ बालककी युद्धविषयक श्रद्धा और जीवनकी आशाका एक ही साथ उच्छेद कर डालता ॥

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित् त्वं तु मे किं करिष्यसि ॥३३॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने मेरे ऊपर बड़े-बड़े अस्त्रों-का प्रयोग किया था; परंतु वे भी मुझे कोई पीड़ा न दे सके। फिर तू तो मेरा कर ही क्या लेगा ? ॥ ३३ ॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां संतप्तो निहीनकुलपांसन ॥ ३४ ॥

नीचकुलाङ्गार ! साधु पुरुष अपने बलकी प्रशंसा करना कदापि अच्छा नहीं मानते हैं, तथापि तेरे व्यवहारसे संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसाकी बात भी कह रहा हूँ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ॥ ३५ ॥

काशिराजके यहाँ स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय-नरेश एकत्र हुए थे, परंतु मैंने केवल एक रथपर ही आरूढ़ होकर उन सबको जीतकर बलपूर्वक काशिराजकी कन्याओंका अपहरण किया था ॥ ३५ ॥

ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ॥ ३६ ॥

यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, ऐसे तथा इनसे भी बढ़-चढ़कर पराक्रमी हजारों नरेश वहाँ एकत्र थे; परंतु मैंने समराङ्गणमें अकेले ही उन सबको सेनाओंसहित परास्त कर दिया था ॥ ३६ ॥

त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।
उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ॥ ३७ ॥

तू वैरका मूर्तिमान् स्वरूप है । तेरा सहारा पाकर कुरुकुलके विनाशके लिये बहुत बड़ा अन्याय उपस्थित हो गया है । अब तू रक्षाका प्रबन्ध कर और पुरुषत्वका परिचय दे ॥

युद्ध्यस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते॥ ३८ ॥

दुर्मते ! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुनके साथ समरभूमिमें युद्ध कर । मैं देखूँगा कि तू इस संग्रामसे किस प्रकार बच पाता है ? ॥ ३८ ॥

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर प्रतापी राजा दुर्योधनने भीष्मजीसे कहा—'गङ्गानन्दन ! आप मेरी ओर देखिये; क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ३९ ॥

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ॥ ४० ॥

'आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याणकी बात सोचिये । आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे ॥

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥ ४१ ॥

'अब मैं पुनः शत्रुपक्षके श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियोंका परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥ ४२ ॥

'कुरुनन्दन ! शत्रुओंके बलाबलको सुननेकी मेरी इच्छा है । आजकी रात बीतते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें भीष्मकर्णसंवादविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६८॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! ये तुम्हारे पक्षके रथी, अतिरथी और अर्धरथी बताये गये हैं। राजन् ! अब तुम पाण्डवपक्षके रथी आदिका वर्णन सुनो॥ १॥

यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः॥ २॥

नरेश ! अब यदि पाण्डवोंकी सेनाके विषयमें भी जानकारी करनेके लिये तुम्हारे मनमें कौतूहल हो तो इन भूमिपालोंके साथ तुम उनके रथियोंकी गणना सुनो॥

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः॥ ३॥

तात ! कुन्तीका आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी (महारथी) हैं। वे समरभूमिमें अग्निके समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है॥३॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि॥ ४॥
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः।

राजेन्द्र ! भीमसेन तो अकेले आठ रथियोंके बराबर हैं। गदा और बाणोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है। उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। वे बड़े ही मानी तथा अलौकिक तेजसे सम्पन्न हैं॥ ४½॥

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ॥ ५॥
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ।

माद्रीके दोनों पुत्र अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् और तेजस्वी हैं। ये दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं॥५½॥

एते चमूमुपगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम्॥ ६॥
रुद्रवत् प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नास्ति संशयः।

ये चारों भाई महान् क्लेशोंका स्मरण करके तुम्हारी सेनामें घुसकर रुद्रदेवके समान संहार करते हुए विचरेंगे; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है॥ ६½॥

सर्व एव महात्मानः शालस्तम्भा इवोद्गताः॥ ७॥
प्रादेशेनाधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः।

ये सभी महामना पाण्डव शालवृक्षके स्तम्भोंके समान ऊँचे हैं। उनकी ऊँचाईका मान अन्य पुरुषोंसे एक बित्ता अधिक है॥ ७½॥

सिंहसंहननाः सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबलाः॥ ८॥
चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विनः।
ह्रीमन्तः पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटाः॥ ९॥

सभी पाण्डव सिंहके समान सुगठित शरीरवाले और महान् बलवान् हैं। तात ! उन सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव तपस्वी, लज्जाशील और व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली हैं॥ ८-९॥

जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्व एवातिमानुषाः।
सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ॥ १०॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वेग, प्रहार और संघर्षमें अमानुषिक शक्तिसे सम्पन्न हैं। उन सबने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंपर विजय पायी है॥ १०॥

न चैषां पुरुषाः केचिदायुधानि गदाः शरान्।
विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव॥ ११॥
उद्यन्तुं वा गदा गुर्वीः शरान् वा क्षेप्तुमाहवे।
जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे॥ १२॥
बालैरपि भवन्तस्तैः सर्व एव विशेषिताः।

कुरुनन्दन ! इनके आयुधों, गदाओं और बाणोंका आघात कोई भी नहीं सह सकते हैं। इसके सिवा न तो कोई इनके धनुषपर प्रत्यञ्चा ही चढ़ा पाते हैं, न युद्धमें इनकी भारी गदाको ही उठा सकते हैं और न इनके बाणोंका ही प्रयोग कर सकते हैं। वेगसे चलने, लक्ष्य-भेद करने, खाने-पीने तथा धूलि-क्रीड़ा करने आदिमें उन सबने बाल्यावस्थामें भी तुम्हें पराजित कर दिया था॥ ११-१२½॥

एतत् सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटाः॥१३॥
विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तैः सह सङ्गमः।

इस सेनामें आकर वे सभी उत्कट बलशाली हो गये हैं। युद्धमें आनेपर वे तुम्हारी सेनाका विध्वंस कर डालेंगे। मैं चाहता हूँ उनसे कहीं भी तुम्हारी मुठभेड़ न हो॥ १३½॥

एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान् महीक्षितः॥ १४॥
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाभवत्।

उनमेंसे एक-एकमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त राजाओंका युद्धमें संहार कर सकते हैं। राजेन्द्र ! राजसूय-यज्ञमें जैसा जो कुछ हुआ था, वह सब तुमने अपनी आँखों देखा था॥

द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिरः॥ १५॥
ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत्।

द्यूतक्रीड़ाके समय द्रौपदीको जो महान् क्लेश दिया गया और पाण्डवोंके प्रति कठोर बातें सुनायी गयीं, उन सबकी याद करके वे संग्रामभूमिमें रुद्रके समान विचरेंगे॥

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान्॥१६॥
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः।

लाल नेत्रोंवाले निद्राविजयी अर्जुनके सखा और सहायक नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंमें अर्जुनके समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है॥

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च॥१७॥

राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु।
भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः ॥ १८ ॥

समस्त देवताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षोंमें भी अर्जुनके समान कोई नहीं है; फिर मनुष्योंमें तो हो ही कैसे सकता है ? भूत या भविष्यमें भी कोई ऐसा रथी मेरे सुननेमें नहीं आया है ॥ १७-१८ ॥

समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः।
वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनंजयः ॥ १९ ॥

महाराज ! बुद्धिमान् अर्जुनका रथ जुता हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि और युद्धकुशल धनंजय रथी हैं॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाश्वा वातरंहसः।
अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ २० ॥

दिव्य गाण्डीव धनुष है, वायुके समान वेगशाली अश्व हैं, अभेद्य दिव्य कवच है तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो महान् तरकस हैं ॥ २० ॥

अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च।
याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ २१ ॥

उस रथमें अस्त्रोंके समुदाय—महेन्द्र, रुद्र, कुबेर, यम एवं वरुणसम्बन्धी अस्त्र हैं, भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ हैं॥

वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च।
दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ॥ २२ ॥
हतान्येकरथेनाजौ कस्तस्य सदृशो रथः।

वज्र आदि भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ आयुध भी उस रथमें विद्यमान हैं। अर्जुनने युद्धमें एकमात्र उस रथकी सहायतासे हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले सहस्रों दानवोंका संहार किया है। उसके समान दूसरा कौन रथ हो सकता है ? ॥ २२½ ॥

एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान् सत्यविक्रमः ॥ २३ ॥
तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन्।

वह बलवान्, सत्यपराक्रमी, महाबाहु अर्जुन क्रोधमें आकर तुम्हारी सेनाका संहार करेंगे और अपनी सेनाकी रक्षामें संलग्न रहेंगे ॥ २३½ ॥

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनंजयम् ॥ २४ ॥
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी ॥ २५ ॥

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही धनंजयका सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र ! दोनों सेनाओंमें तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनके सामने जा सके ॥

जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान्।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि ॥ २६ ॥

ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें प्रचण्ड वायुसे प्रेरित महामेघकी भाँति श्रीकृष्णसहित अर्जुन युद्धके लिये तैयार है। वह अस्त्रोंका विद्वान् और तरुण भी है। इधर हम दोनों वृद्ध हो चले हैं॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः ॥ २७ ॥
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम्।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनकर पाण्डवोंके पुरातन बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखनेकी भाँति स्मरण करके राजाओंकी सुवर्णमय भुजबंदोंसे विभूषित चन्दनचर्चित स्थूल भुजाएँ एवं मन भी आवेगयुक्त होकर शिथिल हो गये ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पाण्डवरथातिरथसंख्यायां एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें पाण्डवपक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! द्रौपदीके जो पाँच पुत्र हैं, वे सबके सब महारथी हैं । विराटपुत्र उत्तरको मैं उदार रथी मानता हूँ ॥ १ ॥

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा ॥ २ ॥
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति ॥ ३ ॥

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति है। वह शत्रुनाशक वीर समरभूमिमें अर्जुन और श्रीकृष्णके समान पराक्रमी है। उसने अस्त्रविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्धकी विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला और मनस्वी है। वह अपने पिताके क्लेशको याद करके अवश्य पराक्रम दिखायेगा ॥ २-३ ॥

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ॥ ४ ॥

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियोंके भी यूथपति हैं। वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं। इन्होंने भयको जीत लिया है ॥ ४ ॥

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम।

युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ ५ ॥

राजन् ! उत्तमौजाको भी मैं उदार रथी मानता हूँ। पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मतमें एक श्रेष्ठ रथी हैं ॥ ५ ॥

एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा।
योत्स्यन्ते ते तनूंस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया॥ ६ ॥

इनके कई हजार रथ, हाथी और घोड़े हैं, जो कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने शरीरको निछावर करके युद्ध करेंगे ॥ ६ ॥

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ७ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! वे पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके एक-दूसरेका आह्वान करते हुए अग्नि और वायुकी भाँति विचरेंगे ॥ ७ ॥

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें अजेय हैं। इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंको मैं महारथी मानता हूँ ॥

वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ॥ ९ ॥

यद्यपि वे दोनों अवस्थाकी दृष्टिसे बहुत बूढ़े हैं, तथापि क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले वीरोंके मार्गमें स्थित हो अपनी शक्ति-भर युद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे ॥ ९ ॥

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात्।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहपाशसितावुभौ ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे दोनों नरेश वीर्य और बलसे संयुक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके समान सदाचारी और महान् धनुर्धर हैं। पाण्डवोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे दोनों उनके स्नेह-बन्धनमें बँधे हुए हैं ॥ १० ॥

कारणं प्राप्य तु नराः सर्व एव महाभुजाः।
शूरा वा कातरा वापि भवन्ति कुरुपुङ्गव ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई कारण पाकर प्रायः सभी महाबाहु मानव शूर अथवा कायर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले राजा विराट और द्रुपद एकमात्र वीरपथका आश्रय ले चुके हैं। वे अपने प्राणोंका त्याग करके भी पूरी शक्तिसे तुम्हारी सेनाके साथ टक्कर लेंगे ॥ १२ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १३ ॥

वे दोनों युद्धमें बड़े भयंकर हैं, अतः अपने सम्बन्धकी रक्षा करते हुए पृथक्-पृथक् अक्षौहिणी सेना साथ लिये महान् पराक्रम करेंगे ॥ १३ ॥

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १४ ॥

भारत ! महान् धनुर्धर तथा जगत्के सुप्रसिद्ध वीर वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मानकी रक्षा करते हुए शरीरकी परवा न करके युद्धभूमिमें महान् पुरुषार्थ प्रकट करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन

भीष्म उवाच

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजयः।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भरतनन्दन ! पाञ्चाल-राज द्रुपदका पुत्र शिखण्डी शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला है, मैं उसे युधिष्ठिरकी सेनाका एक प्रमुख रथी मानता हूँ॥

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम्।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके अपने पूर्व अपयशका नाश तथा उत्तम सुयशका विस्तार करता हुआ बड़े उत्साहसे युद्ध करेगा ॥ २ ॥

एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः।
तेनासौ रथवंशेन महत् कर्म करिष्यति ॥ ३ ॥

उसके साथ पाञ्चालों और प्रभद्रकोंकी बहुत बड़ी सेना है। वह उन रथियोंके समूहद्वारा युद्धमें महान् कर्म कर दिखायेगा॥

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ४ ॥

भारत ! जो पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाका सेनापति है, वह द्रोणाचार्यका महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचारसे अतिरथी है ॥ ४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ॥ ५ ॥

जैसे प्रलयकालमें पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित होकर प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राममें शत्रुओंका संहार करता हुआ युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

एतस्य तद् रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः।
बहुत्वात् सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ॥ ६ ॥

इसके पास रथियोंकी जो देवसेनाके समान विशाल सेना

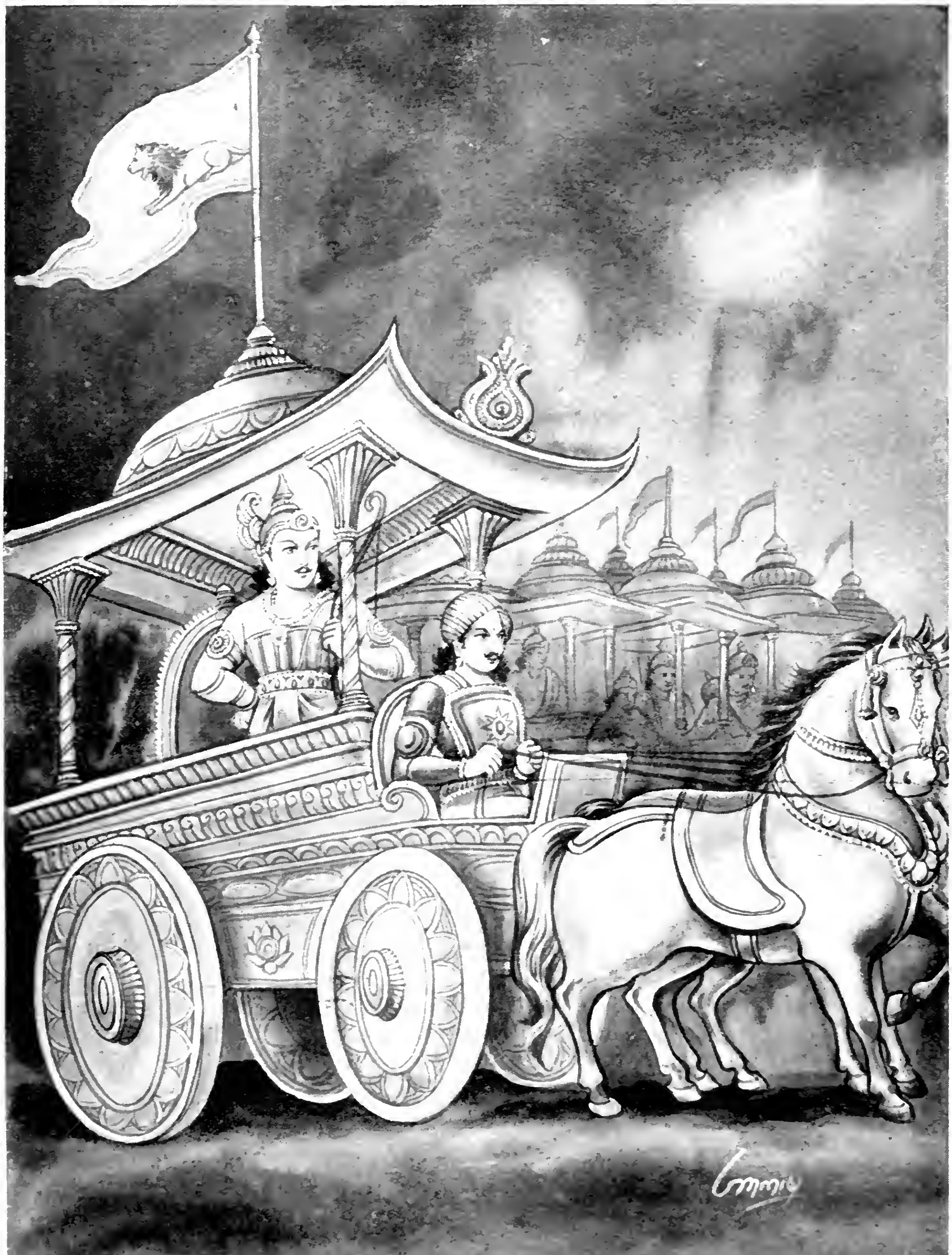

पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न

है, उसकी संख्या बहुत होनेके कारण युद्धप्रेमी सैनिक रण-क्षेत्रमें उसे समुद्रके समान बताते हैं ॥ ६ ॥

क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! धृष्टद्युम्नका पुत्र क्षत्रधर्मा मेरी समझमें अभी अर्धरथी है। बाल्यावस्था होनेके कारण उसने अस्त्र-विद्यामें अधिक परिश्रम नहीं किया है ॥ ७ ॥

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥ ८ ॥

शिशुपालका वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका सम्बन्धी एवं महारथी है ॥ ८ ॥

एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत।
महारथानां सुकरं महत् कर्म करिष्यति ॥ ९ ॥

भारत ! यह शौर्यसम्पन्न चेदिराज अपने पुत्रके साथ आकर महारथियोंके लिये सहजसाध्य महान् पराक्रम कर दिखायेगा ॥

क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरंजयः।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला क्षत्रिय-धर्मपरायण क्षत्रदेव मेरे मतमें पाण्डव-सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है ॥

जयन्तश्चामितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ॥ ११ ॥
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः।

जयन्त, अमितौजा और महारथी सत्यजित्—ये सभी पाञ्चालशिरोमणि महामनस्वी वीर महारथी ही हैं। तात ! ये सबके सब क्रोधमें भरे हुए गजराजोंकी भाँति समरभूमिमें युद्ध करेंगे ॥ ११½ ॥

अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ॥ १२ ॥
योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः।

पाण्डवोंके लिये महान् पराक्रम करनेवाले बलवान् शूर-वीर अज और भोज दोनों महारथी हैं। वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध करेंगे और अपने पुरुषार्थका परिचय देंगे ॥

शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ॥ १३ ॥
केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः।
सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, विचित्र योद्धा, युद्धकलामें निपुण और दृढ़ पराक्रमी जो पाँच भाई केकय-राजकुमार हैं, वे सभी उदार रथी माने गये हैं। उन सबकी ध्वजा लाल रंगकी है ॥ १३-१४ ॥

काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चापरो नृप।
सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ॥ १५ ॥
सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाहवलक्षणाः।
सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ॥ १६ ॥

सुकुमार, काशिक, नील, सूर्यदत्त, शङ्ख और मदिराश्व नामक ये सभी योद्धा उदार रथी हैं। युद्ध ही इन सबका शौर्यसूचक चिह्न है। मैं इन सभीको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता और महामनस्वी मानता हूँ ॥ १५-१६ ॥

वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः।
चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज ! वार्धक्षेमिको मैं महारथी मानता हूँ तथा राजा चित्रायुध मेरे विचारसे श्रेष्ठ रथी हैं ॥ १७ ॥

स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः।
चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥ १८ ॥

चित्रायुध संग्राममें शोभा पानेवाले तथा अर्जुनके भक्त हैं। चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेनाके महारथी हैं। मैं इन्हें रथियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ १८ ॥

व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत।
मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन—ये दो नरेश भी मेरे मतमें पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ रथी हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ॥ २० ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः।

राजेन्द्र ! राजा सेनाबिन्दुका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है। प्रभो ! वे भगवान् कृष्ण तथा भीमसेनके समान पराक्रमी माने जाते हैं। वे समराङ्गणमें तुम्हारे सैनिकोंके साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ २०½ ॥

मां च द्रोणं कृपं चैव यथा सम्मन्यते भवान् ॥ २१ ॥
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥ २२ ॥

तुम मुझको, आचार्य द्रोणको तथा कृपाचार्यको जैसा समझते हो, युद्धमें दूसरे वीरोंसे स्पर्धा रखनेवाले तथा बहुत ही फुर्तीके साथ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नरश्रेष्ठ काशिराजको भी तुम्हें वैसा ही मानना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरंजयः।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ॥ २३ ॥

मेरी दृष्टिमें शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले काशिराजको साधारण अवस्थामें एक रथी समझना चाहिये; परंतु जिस समय ये युद्धमें पराक्रम प्रकट करने लगते हैं उस समय इन्हें आठ रथियोंके बराबर मानना चाहिये ॥ २३ ॥

सत्यजित् समरश्लाघी द्रुपदस्यात्मजो युवा।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ॥ २४ ॥
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति।

द्रुपदका तरुण पुत्र सत्यजित् सदा युद्धकी स्पृहा रखने-वाला है। वह धृष्टद्युम्नके समान ही अतिरथीका पद प्राप्त

कर चुका है। वह पाण्डवोंके यशोविस्तारकी इच्छा रखकर युद्धमें महान् कर्म करेगा ॥ २४½ ॥

अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ॥ २५ ॥
पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरंधरः।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ॥ २६ ॥

पाण्डवपक्षके धुरंधर वीर महापराक्रमी पाण्ड्यराज भी एक अन्य महारथी हैं। ये पाण्डवोंके प्रति अनुराग रखनेवाले और शूरवीर हैं। इनका धनुष महान् और सुदृढ़ है। ये पाण्डवसेनाके सम्माननीय महारथी हैं ॥ २५-२६ ॥

श्रेणिमान् कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरंजयौ ॥ २७ ॥

कौरवश्रेष्ठ! राजा श्रेणिमान् और वसुदान—ये दोनों वीर अतिरथी माने गये हैं। ये शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेमें समर्थ हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका कथन

भीष्म उवाच

रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः।
योत्स्यतेऽमरवत् संख्ये परसैन्येषु भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! भारत! पाण्डवपक्षमें राजा रोचमान महारथी हैं। वे युद्धमें शत्रुसेनाके साथ देवताओंके समान पराक्रम दिखाते हुए युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ २ ॥

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेनके मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् हैं। मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ॥ २ ॥

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ॥ ३ ॥

इनका धनुष महान् है। ये अस्त्रविद्याके विद्वान् और युद्धकुशल हैं। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करनेवाले और शक्तिशाली हैं ॥ ३ ॥

स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः।
योधा ये चास्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र दानवोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे। उनके साथ जो सैनिक आये हैं, वे सभी युद्धकी कलामें निपुण और विख्यात वीर हैं ॥ ४ ॥

भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति संगरे।
सुमहत् कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ॥ ५ ॥

वीर पुरुजित् पाण्डवोंके प्रिय एवं हितमें तत्पर हो अपने भानजोंके लिये युद्धमें महान् कर्म करेंगे ॥ ५ ॥

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ ६ ॥

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है। वह मेरे मतमें रथयूथपतियोंका भी यूथपति है ॥ ६ ॥

योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः।
ये चास्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ॥ ७ ॥

उसको युद्ध करना बहुत प्रिय है। तात! वह मायावी राक्षस समरभूमिमें उत्साहपूर्वक युद्ध करेगा। उसके साथ जो वीर राक्षस एवं सचिव हैं, वे सब उसीके वशमें रहनेवाले हैं ॥

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ८ ॥

ये तथा और भी बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न जनपदोंके स्वामी हैं और जिनमें श्रीकृष्णका सबसे प्रधान स्थान है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके लिये यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ ८ ॥

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ॥ ९ ॥

राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके मुख्य-मुख्य रथी, अतिरथी और अर्धरथी यहाँ बताये गये हैं ॥ ९ ॥

नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ॥ १० ॥

नरेश्वर! देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी किरीटधारी वीरवर अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हुई युधिष्ठिरकी भयंकर सेनाका ये उपर्युक्त वीर समराङ्गणमें संचालन करेंगे ॥ १० ॥

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ॥ ११ ॥

वीर! मैं तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें उन मायावेत्ता और विजयाभिलाषी पाण्डव-वीरोंके साथ अपनी विजय अथवा मृत्युकी आकाङ्क्षा लेकर युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ।
संध्यागताविवार्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ॥ १२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन रथियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे क्रमशः सुदर्शन चक्र और गाण्डीव धनुष धारण करते हैं। वे संध्याकालीन सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति परस्पर मिलकर जब युद्धमें पधारेंगे, उस समय मैं उनका सामना करूँगा ॥

ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके और भी जो-जो श्रेष्ठ रथी सैनिक हैं, उनका और उनकी सेनाओंका मैं युद्धके मुहानेपर सामना करूँगा ॥

एते रथाश्चातिरथाश्च तुभ्यं
यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया।
तथापरे येऽर्धरथाश्च केचित्
तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ॥ १४ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे इन मुख्य-मुख्य रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है। इनके सिवा, जो कोई अर्धरथी हैं, उनका भी परिचय दिया है। कौरवेन्द्र! इसी प्रकार पाण्डवपक्षके भी रथी आदिका दिग्दर्शन कराया गया है॥

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत॥१५॥

भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमेंसे जितनोंको देखूँगा, उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा॥

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥ १६ ॥

परंतु महाबाहो! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीको धनुषपर बाण चढ़ाये युद्धमें अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा॥ १६ ॥

लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

सारा जगत् यह जानता है कि मैं मिले हुए राज्यको पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ठुकराकर ब्रह्मचर्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लग गया॥ १७ ॥

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम्।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ १८ ॥

माता सत्यवतीके ज्येष्ठ पुत्र चित्राङ्गदको कौरवोंके राज्यपर और बालक विचित्रवीर्यको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया था॥ १८ ॥

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण भूमण्डलमें समस्त राजाओंके यहाँ अपने देवव्रतस्वरूपकी ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी नहीं मार सकता॥१९॥

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥ २० ॥

राजन्! शायद तुम्हारे सुननेमें आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्रीरूप' में ही उत्पन्न हुआ था; भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था; इसीलिये मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा॥ २० ॥

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ।
यान् समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान् नृप ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओंको, जिन्हें युद्धमें पाऊँगा, मारूँगा; परंतु कुन्तीके पुत्रोंका वध कदापि नहीं करूँगा॥२१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७२ ॥

(अम्बोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण

दुर्योधन उवाच

किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुष-बाण उठाये समरमें आततायीकी भाँति आपको मारने आयेगा, उस समय उसे इस रूपमें देखकर भी आप क्यों नहीं मारेंगे?

पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान् सह सोमकैः।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

महाबाहु गङ्गानन्दन! पितामह! आप पहले तो यह कह चुके हैं कि 'मैं सोमकोंसहित पञ्चालोंका वध करूँगा' (फिर आप शिखण्डीको छोड़ क्यों रहे हैं?) यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—दुर्योधन! मैं जिस कारणसे समराङ्गणमें प्रहार करते देखकर भी शिखण्डीको नहीं मारूँगा, उसकी कथा कहता हूँ, इन भूमिपालोंके साथ सुनो ॥ ३ ॥

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ॥ ४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन्।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! मेरे धर्मात्मा पिता लोकविख्यात महाराज शान्तनुका जब निधन हो गया, उस समय अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए मैंने भाई चित्राङ्गदको इस महान् राज्यपर अभिषिक्त कर दिया॥ ४-५ ॥

तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ॥ ६ ॥

तदनन्तर जब चित्राङ्गदकी भी मृत्यु हो गयी, तब माता सत्यवतीकी सम्मतिसे मैंने विधिपूर्वक विचित्रवीर्यका राजाके पदपर अभिषेक किया॥ ६ ॥

मयाभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र! छोटे होनेपर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर धर्मात्मा विचित्रवीर्य धर्मतः मेरी ही ओर देखा करते थे अर्थात् मेरी सम्मतिसे ही सारा राजकार्य करते थे ॥ ७ ॥

तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमच्युत।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ॥ ८ ॥

तात! तब मैंने अपने योग्य कुलसे कन्या लाकर उनका विवाह करनेका निश्चय किया ॥ ८ ॥

तथाश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः।
रूपेणाप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा।
अम्बां चैवाम्बिकां चैव तथैवाम्बालिकामपि ॥ ९ ॥

महाबाहो! उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराजकी तीन कन्याएँ हैं, जो सब-की-सब अप्रतिम रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित हैं और वे स्वयंवर-सभामें स्वयं ही पतिका चुनाव करनेवाली हैं। उनके नाम हैं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका ॥९॥

राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ।
अम्बा ज्येष्ठाभवत् तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ॥ १० ॥
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ! राजेन्द्र! उन तीनोंके स्वयंवरके लिये भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गये थे। उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मझली थी और राजकन्या अम्बालिका सबसे छोटी थी। स्वयंवरका समाचार पाकर मैं एक ही रथके द्वारा काशिराजके नगरमें गया ॥ १०-११ ॥

अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलंकृताः।
राज्ञश्चैव समाहूतान् पार्थिवान् पृथिवीपते ॥ १२ ॥

महाबाहो! वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई उन तीनों कन्याओंको देखा। पृथ्वीपते! वहाँ उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओंपर भी मेरी दृष्टि पड़ी॥

ततोऽहं तान् नृपान् सर्वानाहूय समरे स्थितान्।
रथमारोपयांचक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने युद्धके लिये खड़े हुए उन समस्त राजाओंको ललकारकर उन तीनों कन्याओंको अपने रथपर बैठा लिया ॥ १३ ॥

वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा।
अवोचं पार्थिवान् सर्वानहं तत्र समागतान्।
भीष्मः शान्तनवः कन्या हरतीति पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ॥ १५ ॥

पराक्रम ही इन कन्याओंका शुल्क है, यह जानकर उन्हें रथपर चढ़ा लेनेके पश्चात् मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ राजाओ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओंका अपहरण कर रहा है, तुम सब लोग पूरी शक्ति लगाकर इन्हें छुड़ानेका प्रयत्न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे देखते-देखते बलपूर्वक इन्हें लिये जाता हूँ'; इस बातको मैंने बारंबार दुहराया ॥ १४-१५ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ॥ १६ ॥

फिर तो वे महीपाल कुपित हो हाथमें हथियार लिये टूट पड़े और अपने सारथियोंको 'रथ तैयार करो, रथ तैयार करो' इस प्रकार आदेश देने लगे ॥ १६ ॥

ते रथैर्गजसंकाशैर्गजैश्च गजयोधिनः।
पुष्टैश्चाश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ॥ १७ ॥

वे राजा हाथियोंके समान विशाल रथों, हाथियों और हृष्ट-पुष्ट अश्वोंपर सवार हो अस्त्र-शस्त्र लिये मुझपर आक्रमण करने लगे। उनमेंसे कितने ही हाथियोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले थे ॥ १७ ॥

ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८ ॥

प्रजानाथ! तदनन्तर उन सब नरेशोंने विशाल रथ-समूहद्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ॥ १८ ॥

तानहं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयम्।
सर्वान् नृपांश्चाप्यजयं देवराडिव दानवान् ॥ १९ ॥

तब मैंने भी बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे उनकी प्रगति रोक दी और जैसे देवराज इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार मैंने भी उन सब नरेशोंको जीत लिया ॥१९॥

अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन् भरतर्षभ।
तेषामापततां चित्रान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ! जिस समय उन्होंने आक्रमण किया उसी समय मैंने प्रज्वलित बाणोंद्वारा हँसते-हँसते उनके स्वर्ण-भूषित विचित्र ध्वजोंको काट गिराया ॥ २० ॥

एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम्।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाप्यहं रणे ॥ २१ ॥

फिर एक-एक बाण मारकर मैंने समरभूमिमें उनके घोड़ों, हाथियों और सारथियोंको भी धराशायी कर दिया॥२१॥

ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम।
(प्रणिपेतुश्च सर्वे वै प्रशशंसुश्च पार्थिवाः।
तत आदाय ताः कन्या नृपतींश्च विसृज्य तान् ॥)
अथाहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ॥ २२ ॥

मेरे हाथोंकी वह फुर्ती देखकर वे पीछे हटने और भागने लगे। वे सब भूपाल नतमस्तक हो गये और मेरी प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् मैं राजाओंको परास्त करके उन सबको वहीं छोड़ तीनों कन्याओंको साथ ले हस्तिनापुरमें आया ॥ २२ ॥

ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत।

तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ २३ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! फिर मैंने उन कन्याओंको अपने भाईसे ब्याहनेके लिये माता सत्यवतीको सौंप दिया और अपना वह पराक्रम भी उन्हें बताया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कन्याहरणविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वराजके प्रति अपना अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना

भीष्म उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने वीर-जननी दाशराजकी कन्या माता सत्यवतीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ॥ २ ॥

'माँ ! ये काशिराजकी कन्याएँ हैं । पराक्रम ही इनका शुल्क था । इसलिये मैं समस्त राजाओंको जीतकर भाई विचित्रवीर्यके लिये इन्हें हर लाया हूँ' ॥ २ ॥

ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! यह सुनकर माता सत्यवतीके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये । उन्होंने मेरा मस्तक सूँघकर प्रसन्नता-पूर्वक कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विजयी हुए' ॥

सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ॥ ४ ॥

सत्यवतीकी अनुमतिसे जब विवाहका कार्य उपस्थित हुआ, तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाने कुछ लज्जित होकर मुझसे कहा— ॥ ४ ॥

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥ ५ ॥

'भीष्म ! तुम धर्मके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो । मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥ ६ ॥

'मैंने अपने मनसे पहले शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्तमें मेरा वरण कर लिया है। यह पहलेकी बात है, जो मेरे पिताको भी ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ॥ ७ ॥

'भीष्म ! मैं दूसरेकी कामना करनेवाली राजकन्या हूँ । तुम विशेषतः कुरुवंशी होकर राजधर्मका उल्लङ्घन करके मुझे अपने घरमें कैसे रक्खोगे ? ॥ ७ ॥

एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।
यत् क्षमं ते महाबाहो तदिहारब्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! अपनी बुद्धि और मनसे इस विषयमें निश्चित विचार करके तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करना चाहिये ॥ ८ ॥

स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'प्रजानाथ ! शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हें मुझे उनकी सेवामें जानेकी आज्ञा देनी चाहिये ॥ ९ ॥

कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! महाबाहु वीर ! मुझपर कृपा करो। मैंने सुना है कि इस पृथ्वीपर तुम सत्यव्रती महात्मा हो' ।१०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बावाक्यविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद

भीष्म उवाच

ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ॥ १ ॥
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! तब मैंने माता गन्धवती कालीसे आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंसे पूछकर बड़ी राजकुमारी अम्बाको जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १½ ॥

अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चानुगता तदा ।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ॥ ३ ॥
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत् ।
आगताहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ॥ ४ ॥

आज्ञा पाकर राजकन्या अम्बा वृद्ध ब्राह्मणोंके संरक्षणमें रहकर शाल्वराजके नगरकी ओर गयी । उसके साथ उसकी धाय भी थी । उस मार्गको लाँघकर वह राजाके यहाँ पहुँच गयी और शाल्वराजसे मिलकर इस प्रकार बोली—'महाबाहो ! महामते ! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ ॥ २–४ ॥

(अभिनन्दस्व मां राजन् सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रतिपादय मां राजन् धर्मार्थे चैव धर्मतः ॥
त्वं हि मनसा ध्यातस्त्वया चाप्युपमन्त्रिता ॥)

'राजन् ! मैं सदा तुम्हारे प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाली हूँ । मुझे अपनाकर आनन्दित करो । नरेश्वर ! मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्मके लिये ही अपने चरणोंमें स्थान दो । मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्तमें मेरे साथ विवाहका प्रस्ताव किया था' ॥

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते ।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! अम्बाकी बात सुनकर शाल्वराजने मुसकराते हुए-से कहा—'सुन्दरी ! तुम पहले दूसरेकी हो चुकी हो; अतः तुम्हारी-जैसी स्त्रीके साथ विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं है ।५।

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै ।
नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥ ६ ॥

'भद्रे ! तुम पुनः वहाँ भीष्मके ही पास जाओ । भीष्मने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था, अतः अब तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाना नहीं चाहता ॥ ६ ॥

त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा ।
परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ॥ ७ ॥

'भीष्मने उस महायुद्धमें समस्त भूपालोंको हराकर तुम्हें जीता और तुम्हें उठाकर वे अपने साथ ले गये । तुम उस समय उनके साथ प्रसन्न थीं ॥ ७ ॥

नाहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि ।
कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ॥ ८ ॥
नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ॥९॥

'वरवर्णिनि ! जो पहले औरकी हो चुकी हो, ऐसी स्त्रीको मैं अपनी पत्नी बनाऊँ, यह मेरी इच्छा नहीं है । जिस नारीपर पहले किसी दूसरे पुरुषका अधिकार हो गया हो, उसे सारी बातोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरे-जैसा राजा जो दूसरोंको धर्मका उपदेश करता है, कैसे अपने घरमें प्रविष्ट करायेगा । भद्रे ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ । तुम्हारा यह समय यहाँ व्यर्थ न बीते' ॥ ८-९ ॥

अम्बा तमब्रवीद् राजन्ननङ्गशरपीडिता ।
नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथंचन ॥ १० ॥
नास्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणामित्रकर्शन ।
बलान्नीतास्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ॥ ११ ॥

राजन् ! यह सुनकर कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हुई अम्बा शाल्वराजसे बोली—'भूपाल ! तुम किसी तरह भी ऐसी बात मुँहसे न निकालो । शत्रुसूदन ! मैं भीष्मके साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गयी थी । उन्होंने समस्त राजाओंको खदेड़कर बलपूर्वक मेरा अपहरण किया था और मैं रोती हुई ही उनके साथ गयी थी ॥ १०-११ ॥

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम् ।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ १२ ॥

'शाल्वराज ! मैं निरपराध अबला हूँ । तुम्हारे प्रति अनुरक्त हूँ । मुझे स्वीकार करो; क्योंकि भक्तोंका परित्याग किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं बताया गया है ॥ १२ ॥

साहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम् ।
अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ॥ १३ ॥

'युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले गङ्गानन्दन भीष्मसे पूछकर, उनकी आज्ञा लेकर अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १३ ॥

न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते ।
भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ॥ १४ ॥

'राजन् ! महाबाहु भीष्म मुझे नहीं चाहते । उनका यह आयोजन अपने भाईके विवाहके लिये था, ऐसा मैंने सुना है १४

भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप ।
प्रादाद् विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! भीष्म जिन मेरी दो बहिनों—अम्बिका और अम्बालिकाको हरकर ले गये थे, उन्हें उन्होंने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यको ब्याह दिया है ॥ १५ ॥

यथा शाल्वपते नान्यं वरं ध्यामि कथंचन ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह शाल्वराज ! मैं अपना मस्तक छूकर कहती हूँ; तुम्हारे सिवा दूसरे किसी वरका मैं किसी प्रकार भी चिन्तन नहीं करती हूँ ॥ १६ ॥

न चान्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता ।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत् सत्येनात्मानमालभे ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र शाल्व ! मुझपर किसी भी दूसरे पुरुषका पहले कभी अधिकार नहीं रहा है । मैं स्वेच्छापूर्वक पहले-पहल तुम्हारी ही सेवामें उपस्थित हुई हूँ । यह मैं सत्य कहती हूँ और इस सत्यके द्वारा ही इस शरीरकी शपथ खाती हूँ ॥१७॥

भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम् ।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणीम् ॥ १८ ॥

'विशाल नेत्रोंवाले महाराज ! मैंने आजसे पहले किसी दूसरे पुरुषको अपना पति नहीं समझा है । मैं तुम्हारी कृपाकी अभिलाषा रखती हूँ । स्वयं ही अपनी सेवामें उपस्थित हुई मुझ कुमारी कन्याको धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये' १८

तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
अत्यजद् भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई काशिराजकी उस कन्याको शाल्वने उसी प्रकार त्याग दिया, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको छोड़ देता है ॥ १९ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः ।
नाश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतभूषण ! इस तरह नाना प्रकारके वचनोंद्वारा बार-बार याचना करनेपर भी शाल्वराजने उस कन्याकी बातोंपर विश्वास नहीं किया ॥ २० ॥

ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अब्रवीत् साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ॥ २१ ॥

तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा क्रोध एवं दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें बोली—॥

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते ।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि मेरी कही बात निश्चितरूपसे सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होनेपर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देनेवाले हों' ॥ २२ ॥

एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा ।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! राजकन्या अम्बा करुणस्वरसे विलाप करती हुई इसी प्रकार कितनी ही बातें कहती रही; परंतु शाल्वराजने उसे सर्वथा त्याग दिया ॥ २३ ॥

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत ।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥ २४ ॥

शाल्वने बारंबार उससे कहा—'सुश्रोणि ! तुम जाओ, चली जाओ, मैं भीष्मसे डरता हूँ । तुम भीष्मके द्वारा ग्रहण की हुई हो' ॥ २४ ॥

एवमुक्ता तु सा तेन शाल्वेनादीर्घदर्शिना ।
निश्चक्राम पुराद् दीना रुदती कुररी यथा ॥ २५ ॥

अदूरदर्शी शाल्वके ऐसा कहनेपर अम्बा कुररीकी भाँति दीनभावसे रुदन करती हुई उस नगरसे निकल गयी ॥२५॥

भीष्म उवाच

निष्क्रामन्ती तु नगराच्चिन्तयामास दुःखिता ।
पृथिव्यां नास्ति युवतिर्विषमस्थतरा मया ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलते समय वह दुःखिनी नारी इस प्रकार चिन्ता करने लगी—'इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी युवती नहीं होगी, जो मेरे समान भारी संकटमें पड़ गयी हो ॥ २६ ॥

बन्धुभिर्विप्रहीणास्मि शाल्वेन च निराकृता ।
न च शक्यं पुनर्गन्तुं मया वारणसाह्वयम् ॥ २७ ॥

'भाई-बन्धुओंसे तो दूर हो ही गयी हूँ । राजा शाल्वने भी मुझे त्याग दिया है । अब मैं हस्तिनापुरमें भी नहीं जा सकती ॥ २७ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वमुद्दिश्य कारणम् ।
किं नु गर्हाम्यथात्मानमथ भीष्मं दुरासदम् ॥ २८ ॥

'क्योंकि शाल्वके अनुरागको कारण बताकर मैंने भीष्मसे यहाँ आनेकी आज्ञा ली थी । अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय वीर भीष्मको कोसूँ ? ॥ २८ ॥

अथवा पितरं मूढं यो मेऽकार्षीत् स्वयंवरम् ।
मयायं स्वकृतो दोषो याहं भीष्मरथात् तदा ॥ २९ ॥
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे शाल्वार्थं नापतं पुरा ।

'अथवा अपने मूढ़ पिताको दोष दूँ, जिन्होंने मेरा स्वयंवर किया । मेरे द्वारा सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि पूर्वकालमें जिस समय वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय मैं शाल्वके लिये भीष्मके रथसे कूद नहीं पड़ी ॥ २९½ ॥

तस्येयं फलनिर्वृत्तिर्यदापन्नास्मि मूढवत् ॥ ३० ॥
धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम् ।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता ॥ ३१ ॥

'उसीका यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्रीकी भाँति भारी आपत्तिमें पड़ गयी हूँ । भीष्मको धिक्कार है, विवेकशून्य हृदयवाले मेरे मन्दबुद्धि पिताको भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रमका शुल्क नियत करके मुझे बाजारू स्त्रीकी भाँति जनसमूहमें निकलनेकी आज्ञा दी ॥ ३०-३१ ॥

धिङ्मां धिक् शाल्वराजानं धिग् धातारमथापि वा ।
येषां दुर्नीतभावेन प्राप्तास्म्यापदमुत्तमाम् ॥ ३२ ॥

'मुझे धिक्कार है, शाल्वराजको धिक्कार है और विधाताको भी धिक्कार है, जिनकी दुर्नीतियोंसे मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गयी हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वथा भागधेयानि स्वानि प्राप्नोति मानवः ।
अनयस्यास्य तु मुखं भीष्मः शान्तनवो मम ॥ ३३ ॥

'मनुष्य सर्वथा वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है । मुझपर जो यह अन्याय हुआ है, उसका मुख्य कारण शान्तनुनन्दन भीष्म हैं ॥ ३३ ॥

सा भीष्मे प्रतिकर्तव्यमहं पश्यामि साम्प्रतम् ।
तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ॥ ३४ ॥

'अतः इस समय तपस्या अथवा युद्धके द्वारा भीष्मसे ही बदला लेना मुझे उचित दिखायी देता है; क्योंकि मेरे दुःखके प्रधान कारण वे ही हैं ॥ ३४ ॥

को नु भीष्मं युधा जेतुमुत्सहेत महीपतिः ।
एवं सा परिनिश्चित्य जगाम नगराद् बहिः ॥ ३५ ॥

'परंतु कौन ऐसा राजा है जो युद्धके द्वारा भीष्मको परास्त कर सके।' ऐसा निश्चय करके वह नगरसे बाहर चली गयी॥

आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ।
ततस्तामवसद् रात्रिं तापसैः परिवारिता ॥ ३६ ॥

उसने पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमपर जाकर वहीं वह रात बितायी । उस आश्रममें तपस्वीलोगोंने सब

ओरसे घेरकर उसकी रक्षा की थी ॥ ३६ ॥

आचख्यौ च यथावृत्तं सर्वमात्मनि भारत ।
विस्तरेण महाबाहो निखिलेन शुचिस्मिता ।
हरणं च विसर्गं च शाल्वेन च विसर्जनम् ॥ ३७ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! पवित्र मुसकानवाली अम्बाने अपने ऊपर बीता हुआ सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक उन महात्माओंसे बताया । किस प्रकार उसका अपहरण हुआ ? कैसे भीष्मसे छुटकारा मिला ? और फिर किस प्रकार शाल्वने उसे त्याग दिया, ये सारी बातें उसने कह सुनायीं ॥ ३७ ॥

ततस्तत्र महानासीद् ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
शैखावत्यस्तपोवृद्धः शास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ३८ ॥

उस आश्रममें कठोर व्रतका पालन करनेवाले शैखावत्य नामसे प्रसिद्ध एक तपोवृद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जो शास्त्र और आरण्यक आदिकी शिक्षा देनेवाले सद्गुरु थे ॥ ३८ ॥

आर्तां तामाह स मुनिः शैखावत्यो महातपाः ।
निःश्वसन्तीं सतीं बालां दुःखशोकपरायणाम् ॥ ३९ ॥

महातपस्वी शैखावत्य मुनिने वहाँ सिसकती हुई उस दुःखशोकपरायणा सती साध्वी आर्त अबलासे कहा—॥ ३९ ॥

एवं गते तु किं भद्रे शक्यं कर्तुं तपस्विभिः ।
आश्रमस्थैर्महाभागे तपोयुक्तैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

'भद्रे ! महाभागे ! ऐसी दशामें इस आश्रममें निवास करनेवाले तपःपरायण तपोधन महात्मा तुम्हारा क्या सहयोग कर सकते हैं ?' ॥ ४० ॥

सा त्वेनमब्रवीद् राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! तब अम्बाने उनसे कहा—'भगवन् ! मुझपर अनुग्रह कीजिये । मैं संन्यासियोंका-सा धर्म पालन करना चाहती हूँ । यहाँ रहकर दुष्कर तपस्या करूँगी ॥ ४१ ॥

मयैव यानि कर्माणि पूर्वदेहे तु मूढया ।
कृतानि नूनं पापानि तेषामेतत् फलं ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

'मुझ मूढ़ नारीने अपने पूर्वजन्मके शरीरसे जो पापकर्म किये थे, अवश्य ही उन्हींका यह दुःखदायक फल प्राप्त हुआ है ॥

नोत्सहे तु पुनर्गन्तुं स्वजनं प्रति तापसाः ।
प्रत्याख्याता निरानन्दा शाल्वेन च निराकृता ॥ ४३ ॥

'तपस्वी महात्माओ ! अब मैं अपने स्वजनोंके यहाँ फिर नहीं लौट सकती; क्योंकि राजा शाल्वने मुझे कोरा उत्तर देकर त्याग दिया है, उससे मेरा सारा जीवन आनन्दशून्य (दुःखमय) हो गया है ॥ ४३ ॥

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।
युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ॥ ४४ ॥

'निष्पाप तापसगण ! मैं चाहती हूँ कि आप देवोपम साधुपुरुष मुझे तपस्याका उपदेश दें; मुझपर आपलोगोंकी कृपा हो' ॥

स तामाश्वासयत् कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ॥ ४५ ॥

तब शैखावत्य मुनिने लौकिक दृष्टान्तों, शास्त्रीय वचनों तथा युक्तियोंद्वारा उस कन्याको आश्वासन देकर धैर्य बँधाया और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर उसके कार्य-साधनके लिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शैखावत्य तथा अम्बाका संवादविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब धर्मात्मा तपस्वी उस कन्याके विषयमें चिन्ता करते हुए यह सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? उस समय वे उसके लिये कुछ करनेको उद्यत थे ॥ १ ॥

केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ॥ २ ॥

कुछ तपस्वी यह कहने लगे कि इस राजकन्याको इसके पिताके घर पहुँचा दिया जाय । कुछ तापसोंने मुझे उलाहना देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद् व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ॥ ३ ॥

कुछ लोग यह सम्मति प्रकट करने लगे कि चलकर शाल्वराजको बाध्य करना चाहिये कि वह इसे स्वीकार कर ले और कुछ लोगोंने यह निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसने इस कन्याको कोरा उत्तर देकर ग्रहण करनेसे इन्कार कर दिया है ॥ ३ ॥

एवं गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

'भद्रे ! ऐसी स्थितिमें मनीषी तापस क्या कर सकते हैं ?' ऐसा कहकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी तापस उस राजकन्यासे फिर बोले—॥ ४ ॥

अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ॥ ५ ॥

प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम्।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता॥ ६॥

'भद्रे! घर त्यागकर संन्यासियोंके-से धर्माचरणमें संलग्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम हमारा हितकर वचन सुनो, तुम्हारा कल्याण हो। यहाँसे पिताके घरको ही चली जाओ। इसके बाद जो आवश्यक कार्य होगा, उसे तुम्हारे पिता काशिराज सोचे-समझेंगे। कल्याणि! तुम वहाँ सर्वगुणसम्पन्न होकर सुखसे रह सकोगी॥ ५-६॥

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद् भद्रे यथा पिता।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि॥ ७॥

'भद्रे! तुम्हारे लिये पिताका आश्रय लेना जैसा न्यायसंगत है, वैसा दूसरा कोई सहारा नहीं है। वरवर्णिनि! नारीके लिये पति अथवा पिता ही गति (आश्रय) है॥७॥

गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्या विशेषतः॥ ८॥

'सुखकी परिस्थितिमें नारीके लिये पति आश्रय होता है और संकटकालमें उसके लिये पिताका आश्रय लेना उत्तम है। विशेषतः तुम सुकुमारी हो, अतः तुम्हारे लिये यह प्रव्रज्या (गृहत्याग) अत्यन्त दुःखसाध्य है॥ ८॥

राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि॥ ९॥
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे।

'भामिनि! एक तो तुम राजकुमारी और दूसरे स्वभावतः सुकुमारी हो, अतः सुन्दरी! यहाँ आश्रममें तुम्हारे रहनेसे अनेक दोष प्रकट हो सकते हैं। पिताके घरमें वे दोष नहीं प्राप्त होंगे'॥९½॥

ततस्त्वन्येऽब्रुवन् वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम्॥१०॥
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः॥ ११॥

तदनन्तर दूसरे तापसोंने उस तपस्विनीसे कहा—'इस निर्जन गहन वनमें तुम्हें अकेली देख कितने ही राजा तुमसे प्रणय-प्रार्थना करेंगे, अतः तुम इस प्रकार तपस्या करनेका विचार न करो'॥ १०-११॥

अम्बोवाच

न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान्।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः॥ १२॥

अम्बा बोली—तापसो! अब मेरे लिये पुनः काशिनगरमें पिताके घर लौट जाना असम्भव है; क्योंकि वहाँ मुझे बन्धु-बान्धवोंमें अपमानित होकर रहना पड़ेगा॥१२॥

उषितास्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः।
नाहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता॥ १३॥

तापसो! मैं बाल्यावस्थामें पिताके घर रह चुकी हूँ। आपका कल्याण हो। अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, जहाँ मेरे पिता होंगे। मैं आप तपस्वी जनोंद्वारा सुरक्षित होकर यहाँ तपस्या करनेकी ही इच्छा रखती हूँ॥ १३॥

यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तप्स्याम्यहं तपः॥ १४॥

तापसश्रेष्ठ महर्षियो! मैं तपस्या इसलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोकमें भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्यका सामना न करना पड़े। अतः मैं तपस्या ही करूँगी॥ १४॥

भीष्म उवाच

इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम्।
राजर्षिस्तद् वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः॥ १५॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार वे ब्राह्मण जब यथावत् चिन्तामें मग्न हो रहे थे, उसी समय तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन उस वनमें आ पहुँचे॥ १५॥

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम्।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च॥ १६॥

तब उन सब तापसोंने स्वागत, कुशल-प्रश्न, आसन-समर्पण और जल-दान आदि अतिथि-सत्कारके उपचारोंद्वारा राजा होत्रवाहनका समादर किया॥ १६॥

तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः॥ १७॥

जब वे आसनपर बैठकर विश्राम कर चुके, उस समय उनके सुनते हुए ही वे वनवासी तपस्वी पुनः उस कन्याके विषयमें बातचीत करने लगे॥ १७॥

अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराज्ञश्च भारत।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः॥ १८॥

भारत! अम्बा और काशिराजकी वह चर्चा सुनकर महातेजस्वी राजर्षि होत्रवाहनका चित्त उद्विग्न हो उठा॥१८॥

तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः॥ १९॥

पूर्वोक्त रूपसे दीनतापूर्वक अपना दुःख निवेदन करनेवाली राजकन्या अम्बाकी बातें सुनकर महातपस्वी, महात्मा राजर्षि होत्रवाहन दयासे द्रवित हो गये॥ १९॥

स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्यश्वासयत प्रभो॥ २०॥

वे अम्बाके नाना थे। राजन्! वे काँपते हुए उठे और उस राजकन्याको गोदमें बिठाकर उसे सान्त्वना देने लगे॥

स तामपृच्छत् कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत्॥ २१॥

उन्होंने उसपर संकट आनेकी सारी बातें आरम्भसे ही पूछी और अम्बाने भी जो कुछ जैसे-जैसे हुआ था, वह सारा वृत्तान्त उनसे विस्तारपूर्वक बताया॥ २१॥

ततः स राजर्षिरभूद् दुःखशोकसमन्वितः।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः॥ २२॥

तत्र उन महातपस्वी राजर्षिने दुःख और शोकसे संतप्त हो मन-ही-मन आवश्यक कर्तव्यका निश्चय किया ॥

अब्रवीद् वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः ।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ॥ २३ ॥

और अत्यन्त दुखी हो काँपते हुए ही उन्होंने उस दुःखिनी कन्यासे इस प्रकार कहा—'भद्रे ! (यदि) तू पिताके घर (नहीं जाना चाहती हो तो) न जा । मैं तेरी माँका पिता हूँ ॥ २३ ॥

दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके ।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ॥ २४ ॥

'बेटी ! मैं तेरा दुःख दूर करूँगा, तू मेरे पास रह । वत्से ! तेरे मनमें बड़ा संताप है, तभी तो इस प्रकार सूखी जा रही है ॥ २४ ॥

गच्छ मद्वचनाद् रामं जामदग्न्यं तपस्विनम् ।
रामस्ते सुमहद् दुःखं शोकं चैवापनेष्यति ॥ २५ ॥

'तू मेरे कहनेसे तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुराम-जीके पास जा । वे तेरे महान् दुःख और शोकको अवश्य दूर करेंगे ॥ २५ ॥

हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद् वचः ।
तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ॥ २६ ॥

'यदि भीष्म उनकी बात नहीं मानेंगे तो वे युद्धमें उन्हें मार डालेंगे । भार्गवश्रेष्ठ परशुराम प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं । तू उन्हींकी शरणमें जा ॥ २६ ॥

प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः ।
ततस्तु सुस्वरं बाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ॥ २७ ॥
अब्रवीत् पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम् ।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ॥ २८ ॥

'वे महातपस्वी राम तुझे न्यायोचित मार्गपर प्रतिष्ठित करेंगे ।' यह सुनकर अम्बा बारंबार आँसू बहाती हुई अपने नाना होत्रवाहनको मस्तक नवाकर प्रणाम करके मधुर स्वरमें इस प्रकार बोली—'नानाजी ! मैं आपकी आज्ञासे वहाँ अवश्य जाऊँगी ॥ २७-२८ ॥

अपि नामाद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम् ।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ॥ २९ ॥

'परंतु मैं आज उन विश्वविख्यात श्रेष्ठ महात्माका दर्शन कैसे कर सकूँगी और वे भृगुनन्दन परशुरामजी मेरे इस दुःसह दुःखका नाश किस प्रकार करेंगे ? मैं यह सब जानना चाहती हूँ, जिससे वहाँ जा सकूँ' ॥ २९ ॥

होत्रवाहन उवाच

रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने ।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसंधं महाबलम् ॥ ३० ॥

होत्रवाहन बोले—भद्रे ! जमदग्निनन्दन परशुराम एक महान् वनमें उग्र तपस्या कर रहे हैं । वे महान् शक्तिशाली और सत्यप्रतिज्ञ हैं । तुझे अवश्य ही उनका दर्शन प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह ।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३१ ॥

परशुरामजी सदा पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्रपर रहा करते हैं । वहाँ वेदवेत्ता महर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराओंका भी निवास है ॥

तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम ।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ॥ ३२ ॥

बेटी ! तेरा कल्याण हो । तू वहीं जा और उन दृढ़व्रती तपोवृद्ध महात्माको अभिवादन करके पहले उनसे मेरी बात कहना ॥ ३२ ॥

ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत् ते कार्यं मनीषितम् ।
मयि संकीर्तिते रामः सर्वं तत् ते करिष्यति ॥ ३३ ॥

भद्रे ! तत्पश्चात् तेरे मनमें जो अभीष्ट कार्य है वह सब उनसे निवेदन करना । मेरा नाम लेनेपर परशुरामजी तेरा सब कार्य करेंगे ॥ ३३ ॥

मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे ।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वत्से ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन वीरवर परशुराम मेरे सखा और प्रेमी सुहृद् हैं ॥ ३४ ॥

एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने ।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद् रामस्यानुचरः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा होत्रवाहन जब राजकन्या अम्बासे इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय परशुरामजीके प्रिय सेवक अकृतव्रण वहाँ प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः ।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ३६ ॥

उन्हें देखते ही वे सहस्रों मुनि तथा सृंजयवंशी वयोवृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः ।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनका आदर-सत्कार किया गया; फिर वे वनवासी महर्षि एक दूसरेकी ओर देखते हुए एक साथ उन्हें घेरकर बैठे ॥ ३७ ॥

ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः ।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् वे सब लोग प्रेम और हर्षके साथ दिव्य, धन्य एवं मनोरम वार्तालाप करने लगे ॥ ३८ ॥

ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः ।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३९ ॥

बातचीत समाप्त होनेपर राजर्षि महात्मा होत्रवाहनने महर्षियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीके विषयमें अकृतव्रणसे पूछा—॥

क्व सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वरः ॥ ४० ॥

'महाबाहु अकृतव्रण ! इस समय वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामजीका दर्शन कहाँ हो सकता है ?' ॥

अकृतव्रण उवाच

भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव ॥ ४१ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! परशुरामजी तो सदा आपकी ही चर्चा किया करते हैं। उनका कहना है कि सृंजयवंशी राजर्षि होत्रवाहन मेरे प्रिय सखा हैं ॥ ४१ ॥

इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम।
द्रष्टास्येनमिहायान्तं तव दर्शनकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

मेरा विश्वास है कि कल सबेरेतक परशुरामजी यहाँ उपस्थित हो जायँगे। वे आपसे ही मिलनेके लिये आ रहे हैं। अतः आप यहीं उनका दर्शन कीजियेगा ॥ ४२ ॥

इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता।
कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम् ॥ ४३ ॥

राजर्षे ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कन्या किस लिये वनमें आयी है ? यह किसकी पुत्री है और आपकी क्या लगती है ? ॥ ४३ ॥

होत्रवाहन उवाच

दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहानघ ॥ ४४ ॥
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन ॥ ४५ ॥

होत्रवाहन बोले—प्रभो ! यह मेरी दौहित्री (पुत्रीकी पुत्री) है। अनघ ! काशिराजकी परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्री अपनी दो छोटी बहिनोंके साथ स्वयंवरमें उपस्थित हुई थी। उनमेंसे यही अम्बा नामसे विख्यात काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री है। तपोधन ! इसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका कहलाती हैं ॥ ४४-४५ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत्।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्रासीदुत्सवो महान् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मर्षे ! काशीपुरीमें इन्हीं कन्याओंके लिये भूमण्डलका समस्त क्षत्रियसमुदाय एकत्र हुआ था। उस अवसरपर वहाँ महान् स्वयंवरोत्सवका आयोजन किया गया था ॥ ४६ ॥

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान्।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः ॥ ४७ ॥

कहते हैं उस अवसरपर महातेजस्वी और महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सब राजाओंको जीतकर इन तीनों कन्याओंको हर लाये ॥ ४७ ॥

निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम्।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन भीष्मका हृदय इन कन्याओंके प्रति सर्वथा शुद्ध था। वे समस्त भूपालोंको परास्त करके कन्याओंको साथ लिये हस्तिनापुरमें आये ॥ ४८ ॥

सत्यवत्यै निवेद्याथ विवाहं समनन्तरम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः ॥ ४९ ॥

वहाँ आकर शक्तिशाली भीष्मने सत्यवतीको ये कन्याएँ सौंप दीं और इनके साथ अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यका विवाह करनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४९ ॥

तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम्।
अब्रवीत् तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ ॥ ५० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वहाँ वैवाहिक आयोजन आरम्भ हुआ देख यह कन्या मन्त्रियोंके बीचमें गङ्गानन्दन भीष्मसे बोली—॥

मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाभिवृतः पतिः।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम् ॥ ५१ ॥

'धर्मज्ञ ! मैंने मन-ही-मन वीरवर शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है; अतः मेरा मन अन्यत्र अनुरक्त होनेके कारण आपको अपने भाईके साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहिये' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५२ ॥

अम्बाका यह वचन सुनकर भीष्मने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके माता सत्यवतीकी सम्मति प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस कन्याको छोड़ दिया ॥ ५२ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भीष्मकी आज्ञा पाकर यह कन्या मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौभ विमानके स्वामी शाल्वके यहाँ गयी और वहाँ उस समय इस प्रकार बोली—॥ ५३ ॥

विसर्जितास्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय।
मनसाभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ ॥ ५४ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! भीष्मने मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि पूर्वकालमें मैंने अपने मनसे आपको ही पति चुन लिया था, अतः आप मुझे धर्मपालनका अवसर दें' ॥ ५४ ॥

प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याभिशङ्कितः।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम् ॥ ५५ ॥

शाल्वराजको इसके चरित्रपर संदेह हुआ; अतः उसने इसके प्रस्तावको ठुकरा दिया है। इस कारण तपस्यामें अत्यन्त अनुरक्त होकर यह इस तपोवनमें आयी है ॥ ५५ ॥

मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्तनात्।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते ॥ ५६ ॥

इसके कुलका परिचय प्राप्त होनेसे मैंने इसे पहचाना है। यह अपने इस दुःखकी प्राप्तिमें भीष्मको ही कारण मानती है ॥

अम्बोवाच

भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ५७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! जैसा कि मेरी माताके पिता संजयवंशी महाराज होत्रवाहनने कहा है, ठीक ऐसी

ही मेरी परिस्थिति है ॥ ५७ ॥

न ह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन ।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ॥ ५८ ॥

तपोधन ! महामुने ! लज्जा और अपमानके भयसे अपने नगरको जानेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है ॥५८॥

यत् तु मां भगवान् रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम ।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन् मतिः ॥ ५९ ॥

भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! अब भगवान् परशुराम मुझसे जो कुछ कहेंगे, वही मेरे लिये सर्वोत्तम कर्तव्य होगा; यही मैंने निश्चय किया है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनाम्बासंवादे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाहोत्रवाहनसंवादविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७६॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत

अकृतव्रण उवाच

दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि ।
प्रतिकर्तव्यमबले तत् त्वं वत्से वदस्व मे ॥ १ ॥

अकृतव्रणने कहा—भद्रे ! तुम्हें दुःख देनेवाले दो कारण (भीष्म और शाल्व) उपस्थित हैं । वत्से ! तुम इन दोनोंमेंसे किससे बदला लेनेकी इच्छा रखती हो ? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव ।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ॥ २ ॥

भद्रे ! यदि तुम्हारा यह विचार हो कि सौभपति शाल्व-राजको ही विवाहके लिये विवश करना चाहिये तो महात्मा परशुराम तुम्हारे हितकी इच्छासे शाल्वराजको अवश्य इस कार्यमें नियुक्त करेंगे ॥ २ ॥

अथापगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता ।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात् तदपि भार्गवः ॥ ३ ॥

अथवा यदि तुम गङ्गानन्दन भीष्मको बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा युद्धमें पराजित देखना चाहती हो तो वे महात्मा भार्गव यह भी कर सकते हैं ॥ ३ ॥

सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते ।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! सृंजयवंशी राजा होत्रवाहनकी बात सुनकर और अपना विचार प्रकट करके जो कार्य तुम्हें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो उसका आज ही विचार कर लो ॥ ४ ॥

अम्बोवाच

अपनीतास्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता ।
नाभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मन् शाल्वगतं मनः ॥ ५ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! भीष्म बिना जाने-बूझे मुझे हर लाये थे । ब्रह्मन् ! उन्हें इस बातका पता नहीं था कि मेरा मन शाल्वमें अनुरक्त है ॥ ५ ॥

एतद् विचार्य मनसा भवानेतद् विनिश्चयम् ।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ॥ ६ ॥

इस बातपर मन-ही-मन विचार करके आप ही कुछ निश्चय करें और जो न्यायसंगत प्रतीत हो, वही कार्य करें ॥

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः ।
उभयोरेव वा ब्रह्मन् युक्तं यत् तत् समाचर ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! कुरुश्रेष्ठ भीष्मके साथ अथवा शाल्वराजके साथ अथवा दोनोंके ही साथ जो उचित बर्ताव हो, वह करें ॥७॥

निवेदितं मया ह्येतद् दुःखमूलं यथातथम् ।
विधानं तत्र भगवन् कर्तुमर्हसि युक्तितः ॥ ८ ॥

मैंने अपने दुःखके इस मूल कारणको यथार्थरूपसे निवेदन कर दिया । भगवन् ! अब आप अपनी युक्तिसे ही इस विषयमें न्यायोचित कार्य करें ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि ।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

अकृतव्रण बोले—भद्रे ! तुम जो इस प्रकार धर्मानुकूल बात कहती हो, यही तुम्हारे लिये उचित है । वरवर्णिनि ! अब मेरी यह बात सुनो ॥ ९ ॥

यदि त्वामापगेयो वै न नयेद् गजसाह्वयम् ।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद् रामचोदितः ॥१०॥

भीरु ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले जाते तो राजा शाल्व परशुरामजीके कहनेपर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता ॥ १० ॥

तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीतासि भाविनि ।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ॥ ११ ॥

परंतु भद्रे ! भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले गये । भाविनि ! सुमध्यमे ! यही कारण है कि शाल्वराजके मनमें तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है ॥ ११ ॥

भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च ।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ॥ १२ ॥

भीष्मको अपने पुरुषार्थका अभिमान है और वे इस समय अपनी विजयसे उल्लसित हो रहे हैं । अतः भीष्मसे ही बदला लेना तुम्हारे लिये उचित होगा ॥ १२ ॥

अम्बोवाच

ममाप्येष सदा ब्रह्मन् हृदि कामोऽभिवर्तते ।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ॥ १३ ॥

भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ॥ १४ ॥

अम्बा बोली—ब्रह्मन् ! मेरे मनमें भी सदा यह इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्धमें भीष्मका वध करा दूँ । महाबाहो ! आप भीष्मको या शाल्वराजको जिसे भी दोषी समझते हों, उसीको दण्ड दीजिये, जिसके कारण मैं अत्यन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ट! इस प्रकार बातचीत करते हुए उन सब लोगोंका वह दिन बीत गया । सुखदायिनी सरदी, गर्मी और हवासे युक्त रात भी समाप्त हो गयी ॥१५॥

ततो रामः प्रादुरासीत् प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजन् जटाचीरधरो मुनिः ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अपने शिष्योंसे घिरे हुए जटावल्कल-धारी मुनिवर परशुरामजी वहाँ प्रकट हुए । वे अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ १६ ॥

धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत् परश्वधी ।
विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उनके हृदयमें दीनताका नाम नहीं था । उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष, खड्ग और फरसा ले रक्खे थे । उनके हृदयसे रजोगुण दूर हो गया था, वे राजा सृंजय-के निकट आये ॥ १७ ॥

ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन् सा च कन्या तपस्विनी ॥१८॥

राजन् ! उन्हें देखकर वे तपस्वी मुनि, महातपस्वी नरेश तथा वह तपस्विनी राजकन्या—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १८ ॥

पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने स्वस्थचित्त होकर मधुपर्कद्वारा भार्गव परशुरामजीका पूजन किया । विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे उन्हींके साथ वहाँ बैठे ॥ १९ ॥

ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स्म तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ॥ २० ॥

भारत ! तत्पश्चात् परशुरामजी और सृंजय (होत्रवाहन) दोनों मित्र पहलेकी बीती बातें कहते हुए एक जगह बैठ गये ॥

तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ॥ २१ ॥

बातचीतके अन्तमें राजर्षि होत्रवाहनने महाबली भृगु-श्रेष्ठ परशुरामजीसे मधुर वाणीमें उस समय यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ २१ ॥

रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ॥ २२ ॥

'कार्यसाधनकुशल प्रभो ! परशुराम ! यह मेरी पुत्रीकी पुत्री काशिराजकी कन्या है । इसका कुछ कार्य है, उसे आप इसीके मुँहसे ठीक-ठीक सुन लें' ॥ २२ ॥

परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साभ्यगमद् रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसा शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ॥ २४ ॥

'बहुत अच्छा, कहो बेटी' इस प्रकार उस कन्याको जब परशुरामजीने प्रेरित किया; तब वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीके पास आयी और उनके कल्याण-कारी चरणोंको सिरसे प्रणाम करके कमलदलके समान सुशोभित होनेवाले दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श करती हुई सामने खड़ी हो गयी ॥ २३-२४ ॥

रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ॥ २५ ॥

उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वह शोकसे आतुर होकर रोने लगी और सबको शरण देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजी-की शरणमें गयी ॥ २५ ॥

राम उवाच

यथा त्वं सृञ्जयस्यास्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत् ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ॥ २६ ॥

परशुरामजी बोले—राजकुमारी ! जैसे तू इन सृंजय-की दौहित्री है, उसी प्रकार मेरी भी है । तेरे मनमें जो दुःख है, उसे बता । मैं तेरे कथनानुसार सब कार्य करूँगा ॥ २६ ॥

अम्बोवाच

भगवञ्शरणं त्वाद्य प्रपन्नास्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ॥ २७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप महान् व्रतधारी हैं । आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ । प्रभो ! इस भयंकर शोक-सागरमें डूबनेसे मुझे बचाइये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २८ ॥
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाभिपरिप्लुतः ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसके सुन्दर रूप, नूतन (तरुण) शरीर तथा अत्यन्त सुकुमारताको देखकर परशुरामजी चिन्तामें पड़ गये कि न जाने यह क्या कहेगी ? उसके प्रति दयाभावसे परिपूर्ण हो भृगुकुलभूषण परशुराम बहुत देरतक उसीके विषयमें चिन्ता करते रहे ॥ २८-२९ ॥

कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ॥ ३० ॥

तदनन्तर परशुरामजीके पुनः यह कहनेपर कि तुम अपनी

बात कही, पवित्र मुसकानवाली अम्बाने उनसे अपना सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्यार्थविनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

राजकुमारी अम्बाका यह कथन सुनकर जमदग्निनन्दन परशुरामने क्या करना है, इसका निश्चय करके उस सुन्दर अङ्गोंवाली राजकुमारीसे कहा ॥ ३१ ॥

राम उवाच

प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ॥ ३२ ॥

परशुरामजी बोले—भाविनि! मैं तुझे कुरुश्रेष्ठ भीष्मके पास भेजूँगा। नरपति भीष्म सुनते ही मेरी आज्ञाका पालन करेगा ॥ ३२ ॥

न चेत् करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ॥ ३३ ॥

भद्रे! यदि गङ्गानन्दन भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे मन्त्रियोंसहित उसे भस्म कर डालूँगा ॥ ३३ ॥

अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ॥ ३४ ॥

अथवा राजकुमारी! यदि वहाँ जानेका तेरा विचार न हो तो मैं वीर शाल्वराजको ही पहले इस कार्यमें नियुक्त करूँ (उसके साथ तेरा ब्याह करा दूँ) ॥ ३४ ॥

अम्बोवाच

विसर्जिताहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ॥ ३५ ॥

अम्बा बोली—भृगुनन्दन! शाल्वराजमें मेरा अनुराग है और मैं पहलेसे ही उन्हें पाना चाहती हूँ। यह सुनते ही भीष्मने मुझे विदा कर दिया था ॥ ३५ ॥

सौभराजमुपेत्याहमवोचं दुर्वचं वचः।
न च मां प्रत्यगृह्णात् स चारित्र्यपरिशङ्कितः ॥ ३६ ॥

तब सौभराजके पास जाकर मैंने उनसे ऐसी बातें कहीं जिन्हें अपने मुँहसे कहना स्त्रीजातिके लिये अत्यन्त दुष्कर होता है; परंतु मेरे चरित्रपर संदेह हो जानेके कारण उसने मुझे स्वीकार नहीं किया ॥ ३६ ॥

एतत् सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्ध्या भृगुनन्दन।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

भृगुनन्दन! इन सब बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके जो उचित प्रतीत हो, उसी कार्यकी ओर आप ध्यान दें ॥

मम तु व्यसनस्यास्य भीष्मो मूलं महाव्रतः।
येनाहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात् तदा ॥ ३८ ॥

मेरी इस विपत्तिका मूल कारण महान् व्रतधारी भीष्म है, जिसने उस समय बलपूर्वक मुझे उठाकर रथपर रख लिया और इस प्रकार मुझे वशमें करके वह हस्तिनापुर ले आया॥

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम्।
प्राप्ताहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

महाबाहु भृगुसिंह! आप भीष्मको ही मार डालिये, जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है और मैं इस प्रकार विवश होकर अत्यन्त अप्रिय आचरणमें प्रवृत्त हुई हूँ॥

स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव।
तस्मात् प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयानघ ॥ ४० ॥

निष्पाप भार्गव! भीष्म लोभी, नीच और विजयोल्लाससे परिपूर्ण है; अतः आपको उसीसे बदला लेना उचित है ॥

एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो।
अभवद्धृदि संकल्पो घातयेयं महाव्रतम् ॥ ४१ ॥

प्रभो! भरतवंशी भीष्मने जबसे मुझे इस दशामें डाल दिया है, तबसे मेरे हृदयमें यही संकल्प उठता है कि मैं उस महान् व्रतधारीका वध करा दूँ ॥ ४१ ॥

तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥ ४२ ॥

निष्पाप महाबाहु राम! आज आप मेरी इसी कामनाको पूर्ण कीजिये। जैसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी भीष्मको मार डालिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-परशुराम-संवादविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१७७॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ॥ १ ॥
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अम्बाके ऐसा कहनेपर कि प्रभो! भीष्मको मार डालिये। परशुरामजीने रो-रोकर बार-बार प्रेरणा देनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'सुन्दरी! काशिराजकुमारी! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको आवश्यकता हो तो उसीके लिये शस्त्र उठाता हूँ। वैसा कारण हुए बिना इच्छानुसार हथियार नहीं उठाता। अतः इस प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मैं तेरा दूसरा कौन-सा कार्य करूँ।१-२।

वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत् करिष्यामि मा शुचः॥ ३॥

'राजकन्ये! भीष्म और शाल्व दोनों मेरी आज्ञाके अधीन होंगे। अतः निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी! मैं तेरा कार्य करूँगा। तू शोक न कर॥ ३॥

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथंचिदपि भाविनि।
ऋते नियोगाद् विप्राणामेव मे समयः कृतः॥ ४॥

'भाविनि! मैं किसी तरह ब्राह्मणोंकी आज्ञाके बिना हथियार नहीं उठाऊँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है'॥

अम्बोवाच

मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम्॥ ५॥

अम्बा बोली—भगवन्! आप जैसे हो सके वैसे ही मेरा दुःख दूर करें। वह दुःख भीष्मने पैदा किया है; अतः प्रभो! उसीका शीघ्र वध कीजिये॥ ५॥

राम उवाच

काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ।
शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम॥ ६॥

परशुरामजी बोले—काशिराजकी पुत्री! तू पुनः सोचकर बता। यद्यपि भीष्म तेरे लिये वन्दनीय है, तथापि मेरे कहनेसे वह तेरे चरणोंको अपने सिरपर उठा लेगा॥ ६॥

अम्बोवाच

जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम्।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत् सत्यं कर्तुमर्हसि॥ ७॥

अम्बा बोली—राम! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो युद्धमें आमन्त्रित हो, असुरके समान गर्जना करनेवाले भीष्मको मार डालिये और आपने जो प्रतिज्ञा कर रक्खी है, उसे भी सत्य कीजिये॥ ७॥

भीष्म उवाच

तयोः संवदतोरेवं राजन् रामाम्बयोस्तदा।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! परशुराम और अम्बामें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, उसी समय परम धर्मात्मा ऋषि अकृतव्रणने यह बात कही—॥ ८॥

शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे॥ ९॥
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात् कुर्याद् वा वचनं तव।
कृतमस्या भवेत् कार्यं कन्याया भृगुनन्दन॥ १०॥

'महाबाहो! यह कन्या शरणमें आयी है; अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। भृगुनन्दन राम! यदि युद्धमें आपके बुलानेपर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करे अथवा आपकी बात ही मान ले तो इस कन्याका कार्य सिद्ध हो जायगा॥ ९-१०॥

वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने॥ ११॥
जित्वा वै क्षत्रियान् सर्वान् ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि॥ १२॥
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव।
शरणार्थं प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम्॥ १३॥
न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन् कथंचन।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम्॥ १४॥
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव।

'महामुने राम! प्रभो! ऐसा होनेसे आपकी कही हुई बात सत्य सिद्ध होगी। वीरवर भार्गव! आपने समस्त क्षत्रियोंको जीतकर ब्राह्मणोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणोंसे द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चय ही मार डालूँगा। साथ ही भयभीत होकर शरणमें आये हुए शरणार्थियोंका परित्याग मैं जीते-जी किसी प्रकार नहीं कर सकूँगा और जो युद्धमें एकत्र हुए सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुषका भी मैं वध कर डालूँगा॥ ११—१४½॥

स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः।
तेन युध्यस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन॥ १५॥

'भृगुनन्दन राम! इस प्रकार कुरुकुलका भार वहन करनेवाला भीष्म समस्त क्षत्रियोंपर विजय पा चुका है; अतः आप संग्राममें उसके सामने जाकर युद्ध कीजिये'॥ १५॥

राम उवाच

स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम।
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते॥ १६॥

परशुरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! मुझे अपनी पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि सामनीतिसे ही काम बन जाय॥ १६॥

कार्यमेतन्महद् ब्रह्मन् काशिकन्यामनोगतम्।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः॥ १७॥

ब्रह्मन्! काशिराजकी कन्याके मनमें जो यह कार्य है, वह महान् है। मैं उसकी सिद्धिके लिये इस कन्याको साथ लेकर स्वयं ही वहाँ जाऊँगा, जहाँ भीष्म है॥ १७॥

यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः॥ १८॥

यदि युद्धकी स्पृहा रखनेवाला भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं उस अभिमानीको मार डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है॥ १८॥

न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम्।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसंगरे॥ १९॥

मेरे चलाये हुए बाण देहधारियोंके शरीरमें अटकते नहीं हैं। (उन्हें विदीर्ण करके बाहर निकल जाते हैं।) यह बात तुम्हें पूर्वकालमें क्षत्रियोंके साथ होनेवाले युद्धके समय ज्ञात हो चुकी है॥ १९॥

एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर महातपस्वी परशुरामजी उन ब्रह्मवादी महर्षियोंके साथ प्रस्थान करनेका निश्चय करके उसके लिये उद्यत हो गये ॥ २० ॥

ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः ।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् रातभर वहीं रहकर प्रातःकाल संध्योपासन, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करके वे तपस्वी मुनि मेरा वध करनेकी इच्छासे उस आश्रमसे चले ॥ २१ ॥

अभ्यगच्छत् ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! फिर उन वेदवादी मुनियोंको साथ ले परशुरामजी राजकन्या अम्बाके साथ कुरुक्षेत्रमें आये ॥

न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीम् ।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः ॥ २३ ॥

वहाँ भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीको आगे करके उन सभी तपस्वी महात्माओंने सरस्वती नदीके तटका आश्रय ले रात्रिमें निवास किया ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तृतीये दिवसे संदिदेश व्यवस्थितः ।
कुरु प्रियं स मे राजन् प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तदनन्तर तीसरे दिन (हस्तिनापुरके बाहर) एक स्थानपर ठहरकर महान् व्रतधारी परशुरामजीने मुझे संदेश दिया—'राजन् ! मैं यहाँ आया हूँ। तुम मेरा प्रिय कार्य करो' ॥ २४ ॥

तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम् ।
अभ्यगच्छं जवेनाशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम् ॥ २५ ॥

तेजके भण्डार और महाबली भगवान् परशुरामको अपने राज्यकी सीमापर आया हुआ सुनकर मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वेगपूर्वक उनके पास गया ॥ २५ ॥

गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः ।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! उस समय एक गौको आगे करके ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मैं देवताओंके समान तेजस्वी ऋत्विजों तथा पुरोहितोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

मुझे अपने समीप आया हुआ देख प्रतापी परशुरामजीने मेरी दी हुई पूजा स्वीकार की और इस प्रकार कहा॥

राम उवाच

भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा ।
अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ॥ २८ ॥

परशुरामजी बोले—भीष्म ! तुमने किस विचारसे उन दिनों स्वयं पत्नीकी कामनासे रहित होते हुए भी काशिराजकी इस कन्याका अपहरण किया, अपने घर ले आये और पुनः इसे निकाल बाहर किया ॥ २८ ॥

विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी ।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहार्हति ॥ २९ ॥

तुमने इस यशस्विनी राजकुमारीको धर्मसे भ्रष्ट कर दिया है । तुम्हारे द्वारा इसका स्पर्श कर लिया गया है, ऐसी दशामें इसे दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है ? ॥ २९ ॥

प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वयाऽऽनीतेति भारत ।
तस्मादिमां मन्नियोगात् प्रतिगृह्णीष्व भारत ॥ ३० ॥

भारत ! तुम इसे हरकर लाये थे । इसी कारणसे शाल्वराजने इसके साथ विवाह करनेसे इन्कार कर दिया है; अतः अब तुम मेरी आज्ञासे इसे ग्रहण कर लो ॥ ३० ॥

स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम् ।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयानघ ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! तुम्हें ऐसा करना चाहिये, जिससे इस राजकुमारीको स्वधर्मपालनका अवसर प्राप्त हो । अनघ ! तुम्हें राजाओंका इस प्रकार अपमान करना उचित नहीं है ॥ ३१ ॥

ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याहमथाब्रुवम् ।
नाहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन् भ्रात्रे कथंचन ॥ ३२ ॥

तब मैंने परशुरामजीको उदास देखकर इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन् ! अब मैं इसका विवाह अपने भाईके साथ किसी प्रकार नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

शाल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव ।
मया चैवाभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति ॥ ३३ ॥

'भृगुनन्दन ! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा कि मैं शाल्वकी हूँ; तब मैंने इसे जानेकी आज्ञा दे दी और यह शाल्वराजके नगरको चली गयी ॥ ३३ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया ।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥ ३४ ॥

'मैं भयसे, दयासे, धनके लोभसे तथा और किसी कामनासे भी क्षत्रियधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा स्वीकार किया हुआ व्रत है' ॥ ३४ ॥

अथ मामब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
न करिष्यसि चेदेतद् वाक्यं मे नरपुङ्गव ॥ ३५ ॥
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः ।

तब यह सुनकर परशुरामजीके नेत्रोंमें क्रोधका भाव व्याप्त हो गया और वे मुझसे इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ ! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे तो आज मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा ।' इस बातको उन्होंने बार-बार दुहराया ॥ ३५½ ॥

संरम्भादब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३६ ॥
तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिंदम ।
अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः ॥ ३७ ॥

शत्रुदमन दुर्योधन ! परशुरामजीने क्रोधभरे नेत्रोंसे

देखते हुए बड़े रोषावेशमें आकर यह बात कही थी, तथापि मैं प्रिय वचनोंद्वारा उन भृगुश्रेष्ठ महात्मासे बार-बार शान्त रहनेके लिये प्रार्थना करता रहा; पर वे किसी प्रकार शान्त न हो सके ॥ ३६-३७ ॥

प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम् ।
अब्रुवं कारणं किं तद् यत् त्वं युद्धं मयेच्छसि ॥ ३८ ॥
इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम् ।
उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ॥ ३९ ॥

तब मैंने उन ब्राह्मणशिरोमणिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पुनः प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं ? बाल्यावस्थामें आपने ही मुझे चार प्रकारके धनुर्वेदकी शिक्षा दी है। महाबाहु भार्गव ! मैं तो आपका शिष्य हूँ' ॥ ३८-३९ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ॥ ४० ॥
सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते ।
न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ॥ ४१ ॥

तब परशुरामजीने क्रोधसे लाल आँखें करके मुझसे कहा—'महामते भीष्म ! तुम मुझे अपना गुरु तो समझते हो; परंतु मेरा प्रिय करनेके लिये काशिराजकी इस कन्याको ग्रहण नहीं करते हो; किंतु कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ४०-४१ ॥

गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः ।
त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाधिगच्छति ॥ ४२ ॥

'महाबाहो ! इसे ग्रहण कर लो और इस प्रकार अपने कुलकी रक्षा करो। तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादासे गिर जानेके कारण इसे पतिकी प्राप्ति नहीं हो रही है' ॥ ४२ ॥

तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरंजयम् ।
नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ॥ ४३ ॥

ऐसी बातें करते हुए शत्रुनगरविजयी परशुरामजीसे मैंने स्पष्ट कह दिया—'ब्रह्मर्षे ! अब फिर ऐसी बात नहीं हो सकती। इस विषयमें आपके परिश्रमसे क्या होगा ? ॥४३॥

गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम् ।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ॥ ४४ ॥

'जमदग्निनन्दन ! भगवन् ! आप मेरे प्राचीन गुरु हैं, यह सोचकर ही मैं आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। इस अम्बाको तो मैंने पहले ही त्याग दिया था ॥ ४४ ॥

को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमिव स्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणां दोषो महात्ययः ॥ ४५ ॥

'दूसरेके प्रति अनुराग रखनेवाली नारी सर्पिणीके समान भयंकर होती है। कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जान-बूझकर उसे कभी भी अपने घरमें स्थान देगा; क्योंकि स्त्रियोंका (परपुरुषमें अनुरागरूप) दोष महान् अनर्थका कारण होता है ॥

न भयाद् वासवस्यापि धर्मं जह्यां महाव्रत ।
प्रसीद मा वा यद् वा ते कार्यं तत् कुरु मा चिरम् ॥ ४६ ॥

'महान् व्रतधारी राम ! मैं इन्द्रके भी भयसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता। आप प्रसन्न हों या न हों। आपको जो कुछ करना हो, शीघ्र कर डालिये ॥ ४६ ॥

अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणे श्रूयते विभो ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥ ४७ ॥
"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ॥ ४८ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले परम बुद्धिमान् राम ! पुराणमें महात्मा मरुत्तके द्वारा कहा हुआ यह श्लोक सुननेमें आता है कि यदि गुरु भी गर्वमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न समझते हुए कुपथका आश्रय ले तो उसका परित्याग कर दिया जाता है॥

स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद् योत्स्यामि वै त्वया ॥४९॥

'आप मेरे गुरु हैं, यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक-से-अधिक सम्मान किया है; परंतु आप गुरुका-सा बर्ताव नहीं जानते; अतः मैं आपके साथ युद्ध करूँगा ॥४९॥

गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ॥ ५० ॥

'एक तो आप गुरु हैं। उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण हैं। उसपर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्यामें बढ़े-चढ़े हैं। अतः आप-जैसे पुरुषको मैं कैसे मार सकता हूँ ! यही सोचकर मैंने अबतक आपके तीक्ष्ण बर्तावको चुपचाप सह लिया॥

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥ ५१ ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।
क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ॥ ५२ ॥

'यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियकी भाँति धनुष-बाण उठाकर युद्धमें क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशामें देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्याका दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रोंका निर्णय है। तपोधन ! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियोंके ही धर्ममें स्थित हूँ ॥ ५१-५२ ॥

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥ ५३ ॥

'जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करनेवाला पुरुष न तो अधर्मको प्राप्त होता है और न अमङ्गलका ही भागी होता है ॥ ५३ ॥

अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ॥ ५४ ॥

'अर्थ (लौकिक कृत्य) और धर्मके विवेचनमें कुशल तथा देश-कालके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष यदि अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर उसे छोड़कर संशयशून्य हृदयसे केवल धर्मका ही अनुष्ठान करे तो वह श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५४ ॥

यस्मात् संशयितेऽप्यर्थेऽयथान्यायं प्रवर्तसे ।
तस्माद् योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ॥ ५५ ॥

'राम ! 'अम्बा ग्रहण करने योग्य है या नहीं' यह संशयग्रस्त विषय है तो भी आप इसे ग्रहण करनेके लिये मुझसे न्यायोचित बर्ताव नहीं कर रहे हैं; इसलिये महान् समराङ्गणमें आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ५५ ॥

पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चातिमानुषम् ।
एवं गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ॥ ५६ ॥
तत् करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह ।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ॥ ५७ ॥

'आप उस समय मेरे बाहुबल और अलौकिक पराक्रमको देखियेगा। भृगुनन्दन ! ऐसी स्थितिमें भी मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसे अवश्य करूँगा। विप्रवर ! मैं कुरुक्षेत्रमें चलकर आपके साथ युद्ध करूँगा। महातेजस्वी राम ! आप द्वन्द्वयुद्धके लिये इच्छानुसार तैयारी कर लीजिये ॥ ५६-५७ ॥

तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः ।
प्राप्स्यसे निर्जिताँल्लोकान् शस्त्रपूतो महारणे ॥ ५८ ॥

'राम ! उस महान् युद्धमें मेरे सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित एवं शस्त्रपूत हो मारे जानेपर आप पुण्य कर्मोंद्वारा जीते हुए दिव्य लोकोंको प्राप्त करेंगे ॥ ५८ ॥

स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय ।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ॥ ५९ ॥

'युद्धप्रिय महाबाहु तपोधन ! अब आप लौटिये और कुरुक्षेत्रमें ही चलिये। मैं युद्धके लिये वहीं आपके पास आऊँगा॥

अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः ।
तत्राहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्तास्मि भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन परशुराम ! जहाँ पूर्वकालमें अपने पिताको अञ्जलि-दान देकर आपने आत्मशुद्धिका अनुभव किया था, वहीं मैं भी आपको मारकर आत्मशुद्धि करूँगा ॥ ६० ॥

तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुव ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मण कहलानेवाले रणदुर्मद राम ! आप तुरंत कुरुक्षेत्रमें पधारिये। मैं वहीं आकर आपके पुरातन दर्पका दलन करूँगा ॥ ६१ ॥

यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै ।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥ ६२ ॥

'राम ! आप जो बहुत बार भरी सभाओंमें अपनी प्रशंसाके लिये यह कहा करते हैं कि मैंने अकेले ही संसारके समस्त क्षत्रियोंको जीत लिया था तो उसका उत्तर सुन लीजिये ॥

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः ।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥ ६३ ॥

'उन दिनों भीष्म अथवा मेरे-जैसा दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं उत्पन्न हुआ था। तेजस्वी क्षत्रिय तो पीछे उत्पन्न हुए हैं। आप तो घास-फूसमें ही प्रज्वलित हुए हैं (तिनकोंके समान दुर्बल क्षत्रियोंपर ही अपना तेज प्रकट किया है)॥

यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत् ।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरंजयः ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाबाहो ! जो आपकी युद्धविषयक कामना तथा अभिमानको नष्ट कर सके, वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला यह भीष्म तो अब उत्पन्न हुआ है। राम ! मैं युद्धमें आपका सारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा, इसमें संशय नहीं है'॥

भीष्म उवाच

ततो मामब्रवीद् रामः प्रहसन्निव भारत ।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि संगरे ॥ ६५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तब परशुरामजीने मुझसे हँसते हुए-से कहा—'भीष्म ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हो ॥ ६५ ॥

अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह ।
भाषितं ते करिष्यामि तत्रागच्छ परंतप ॥ ६६ ॥
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम् ।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम् ॥ ६७ ॥

'कुरुनन्दन ! यह देखो, मैं तुम्हारे साथ युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें चलता हूँ। परंतप ! वहीं आओ। मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगा। वहाँ तुम्हारी माता गङ्गा तुम्हें मेरे हाथसे मरकर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त और कौओं, कङ्कों तथा गीधोंका भोजन बना हुआ देखेगी ॥ ६६-६७ ॥

कृपणं त्वामभिप्रेक्ष्य सिद्धचारणसेविता ।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव ॥ ६८ ॥

'राजन् ! तुम दीन हो। आज तुम्हें मेरे हाथसे मारा गया देख सिद्ध-चारणसेविता गङ्गादेवी रुदन करें ॥ ६८ ॥

अतदर्हा महाभागा भगीरथसुतानघा ।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम् ॥ ६९ ॥

'यद्यपि वे महाभागा भगीरथपुत्री पापहीना गङ्गा यह दुःख देखनेके योग्य नहीं हैं, तथापि जिन्होंने तुम-जैसे युद्धकामी, आतुर एवं मूर्ख पुत्रको जन्म दिया है, उन्हें यह कष्ट भोगना ही पड़ेगा ॥ ६९ ॥

एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद ।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ ॥ ७० ॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले मदोन्मत्त भीष्म ! आओ, मेरे साथ चलो। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! रथ आदि सारी सामग्री साथ ले लो' ॥ ७० ॥

इति ब्रुवाणं तमहं रामं परपुरंजयम् ।
प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाब्रुवम् ॥ ७१ ॥

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले परशुरामजीको इस प्रकार कहते देख मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की ॥ ७१ ॥

एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया ।
प्रविश्य नगरं चाहं सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर परशुरामजी युद्धकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गये और मैंने नगरमें प्रवेश करके सत्यवतीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ७२ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः ।
द्विजातीन् वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ॥ ७३ ॥
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः ।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ ७४ ॥
उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम् ।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ॥ ७५ ॥
युक्तं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा ।

महातेजस्वी नरेश ! उस समय स्वस्तिवाचन कराकर माता सत्यवतीने मेरा अभिनन्दन किया और मैं ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन करा उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद ले सुन्दर रजतमय रथपर आरूढ़ हुआ । उस रथमें श्वेत रंगके घोड़े जुते हुए थे । उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी । उसकी बैठक बहुत सुन्दर थी । रथके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगाया गया था । वह रथ बड़े-बड़े शस्त्रों तथा समस्त उपकरणोंसे सम्पन्न था । युद्धमें जिसका कार्य अनेक बार देख लिया गया था, ऐसे सुशिक्षित, कुलीन, वीर तथा अश्वशास्त्रके पण्डित सारथिद्वारा उस रथका संचालन और नियन्त्रण होता था ॥ ७३—७५½ ॥

दंशितः पाण्डुरेणाहं कवचेन वपुष्मता ॥ ७६ ॥
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! मैंने अपने शरीरपर श्वेतवर्णका कवच धारण करके श्वेत धनुष हाथमें लेकर यात्रा की ॥ ७६½ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७७ ॥
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप ।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ॥ ७८ ॥

नरेश्वर ! उस समय मेरे मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था और मेरे दोनों ओर सफेद रंगके चँवर डुलाये जाते थे । मेरे वस्त्र, मेरी पगड़ी और मेरे समस्त आभूषण श्वेत वर्णके ही थे ॥ ७७-७८ ॥

स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात् ।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ मेरी स्तुति की जा रही थी । भरतभूषण ! उस अवस्थामें मैं हस्तिनापुरसे निकलकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें गया ॥ ७९ ॥

ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे ।
अवहन् मां भृशं राजन् मनोमारुतरंहसः ॥ ८० ॥

राजन् ! मेरे घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे । सारथिके हाँकनेपर उन्होंने बात-की-बातमें मुझे उस महान् युद्धके स्थानपर पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

गत्वाहं तत् कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान् ।
युद्धाय सहसा राजन् पराक्रान्तौ परस्परम् ॥ ८१ ॥

राजन् ! मैं तथा प्रतापी परशुरामजी दोनों कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर युद्धके लिये सहसा एक-दूसरेको पराक्रम दिखानेके लिये उद्यत हो गये ॥ ८१ ॥

ततः संदर्शनेऽतिष्ठं रामस्यातितपस्विनः ।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर मैं अत्यन्त तपस्वी परशुरामजीकी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ और अपने श्रेष्ठ शङ्खको हाथमें लेकर उसे जोर-जोरसे बजाने लगा ॥ ८२ ॥

ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः ।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ॥ ८३ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ बहुत-से ब्राह्मण, वनवासी तपस्वी तथा इन्द्रसहित देवगण उस दिव्य युद्धको देखने लगे ॥

ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः ।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ॥ ८४ ॥

तदनन्तर वहाँ इधर-उधरसे दिव्य मालाएँ प्रकट होने लगीं और दिव्य वाद्य बज उठे । साथ ही सब ओर मेघोंकी घटाएँ छा गयीं ॥ ८४ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्यानुयायिनः ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ॥ ८५ ॥

तदनन्तर परशुरामजीके साथ आये हुए वे सब तपस्वी उस संग्रामभूमिको सब ओरसे घेरकर दर्शक बन गये ॥ ८५ ॥

ततो मामब्रवीद् देवी सर्वभूतहितैषिणी ।
माता स्वरूपिणी राजन् किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ८६ ॥

राजन् ! उस समय समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली मेरी माता गङ्गादेवी स्वरूपतः प्रकट होकर बोलीं—'बेटा ! यह तू क्या करना चाहता है ? ॥ ८६ ॥

गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह ।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ॥ ८७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं स्वयं जाकर जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे बारंबार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य भीष्मके साथ युद्ध न कीजिये ॥ ८७ ॥

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव ।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ॥ ८८ ॥

'बेटा ! तू ऐसा आग्रह न कर । राजन् ! विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुरामके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेका हठ अच्छा नहीं है ।' ऐसा कहकर वे डाँट बताने लगीं ॥

किन्न वै क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः ।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्त्वं योद्धुमिच्छसि ॥ ८९ ॥

अन्तमें वे फिर बोलीं—'बेटा ! क्षत्रियहन्ता परशुराम महादेवजीके समान पराक्रमी हैं । क्या तू उन्हें नहीं जानता, जो उनके साथ युद्ध करना चाहता है ?' ॥ ८९ ॥

ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
सर्वं तद् भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ॥ ९० ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर गङ्गादेवीको प्रणाम किया और

स्वयंवरमें जैसी घटना घटित हुई थी, वह सब वृत्तान्त उनसे आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ९० ॥

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ॥ ९१ ॥

राजेन्द्र ! मैंने परशुरामजीसे पहले जो-जो बातें कही थीं तथा काशिराजकी कन्याकी जो पुरानी करतूतें थीं, उन सबको बता दिया ॥ ९१ ॥

ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी।
मदर्थे तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् मेरी जन्मदायिनी माता गङ्गाने भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर मेरे लिये उनसे क्षमा माँगी ॥ ९२ ॥

भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत्।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ॥ ९३ ॥

साथ ही यह भी कहा कि भीष्म आपका शिष्य है; अतः उसके साथ आप युद्ध न कीजिये। तब याचना करनेवाली मेरी मातासे परशुरामजीने कहा—'तुम पहले भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त करो। वह मेरे इच्छानुसार कार्य नहीं कर रहा है; इसीलिये मैंने उसपर चढ़ाई की है' ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो गङ्गा सुतस्नेहाद् भीष्मं पुनरुपागमत्।
न चास्याश्चाकरोद् वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ९४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब गङ्गादेवी पुत्रस्नेहवश पुनः भीष्मके पास आयीं। उस समय भीष्मके नेत्रोंमें क्रोध व्याप्त हो रहा था; अतः उन्होंने भी माताका कहना नहीं माना ॥ ९४ ॥

अथादृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ॥ ९५ ॥

इतनेमें ही भृगुकुलतिलक ब्राह्मणशिरोमणि महातपस्वी धर्मात्मा परशुरामजी दिखायी दिये। उन्होंने सामने आकर युद्धके लिये भीष्मको ललकारा ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुरामभीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अवतरणविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना

भीष्म उवाच

तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम्।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब मैं युद्धके लिये खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—'ब्रह्मन् ! मैं रथपर बैठा हूँ और आप भूमिपर खड़े हैं। ऐसी दशामें मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ १ ॥

आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ॥ २ ॥

'महाबाहो ! वीरवर राम ! यदि आप समरभूमिमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथपर आरूढ़ होइये और कवच भी बाँध लीजिये' ॥ २ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः स्मयमानो रणाजिरे।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ॥ ३ ॥
सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

तब परशुरामजी समराङ्गणमें किंचित् मुसकराते हुए मुझसे बोले—'कुरुनन्दन भीष्म ! मेरे लिये तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तम अश्वोंके समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथि हैं और वेदमाताएँ (गायत्री, सावित्री और सरस्वती) ही कवच हैं। इन सबसे आवृत एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्रमें युद्ध करूँगा' ॥ ३-४ ॥

एवं ब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ॥ ५ ॥

गान्धारीनन्दन ! ऐसा कहते हुए सत्यपराक्रमी परशुरामजीने मुझे सब ओरसे अपने बाणोंके महान् समुदायद्वारा आवृत कर लिया ॥ ५ ॥

ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम्।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ॥ ६ ॥

उस समय मैंने देखा, जमदग्निनन्दन परशुराम सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुधोंसे सुशोभित, तेजस्वी एवं अद्भुत दिखायी देनेवाले रथमें बैठे हैं ॥ ६ ॥

मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे।
दिव्याश्वयुजि संनद्धे काञ्चनेन विभूषिते ॥ ७ ॥

उसका विस्तार एक नगरके समान था। उस पुण्यरथका निर्माण उन्होंने अपने मानसिक संकल्पसे किया था। उसमें दिव्य अश्व जुते हुए थे। वह स्वर्णभूषित रथ सब प्रकारसे सुसज्जित था ॥ ७ ॥

कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ८ ॥

महाबाहो ! परशुरामजीने एक सुन्दर कवच धारण कर रक्खा था, जिसमें चन्द्रमा और सूर्यके चिह्न बने हुए थे। उन्होंने हाथमें धनुष लेकर पीठपर तरकस बाँध रक्खा था और अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चर्मके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे ॥ ८ ॥

सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः।

सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ॥ ९ ॥

उस समय युद्धके इच्छुक परशुरामजीके प्रिय सखा वेदवेत्ता अकृतव्रणने उनके सारथिका कार्य सम्पन्न किया ॥

आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ॥ १० ॥

भृगुनन्दन राम 'आओ, आओ' कहकर बार-बार मुझे पुकारते और युद्धके लिये मेरा आह्वान करते हुए मेरे मनको हर्ष और उत्साह-सा प्रदान कर रहे थे ॥ १० ॥

तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम्।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ॥ ११ ॥

उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, अजेय, महाबली और क्षत्रियविनाशक परशुराम अकेले ही युद्धके लिये खड़े थे। अतः मैं भी अकेला ही उनका सामना करनेके लिये गया॥

ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान् निगृह्य वै।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन् द्विजसत्तमम्।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

जब वे तीन बार मेरे ऊपर बाणोंका प्रहार कर चुके, तब मैं घोड़ोंको रोककर और धनुष रखकर रथसे उतर गया और उन ब्राह्मणशिरोमणि मुनिप्रवर परशुरामजीका समादर करनेके लिये पैदल ही उनके पास गया। जाकर विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् यह उत्तम वचन बोला—॥ १२–१३ ॥

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाधिकेन वा।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ॥ १४ ॥

'भगवन् परशुराम ! आप मेरे समान अथवा मुझसे भी अधिक शक्तिशाली हैं। मेरे धर्मात्मा गुरु हैं। मैं इस रण-क्षेत्रमें आपके साथ युद्ध करूँगा; अतः आप मुझे विजयके लिये आशीर्वाद दें' ॥ १४ ॥

राम उवाच

एवमेतत् कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ॥ १५ ॥

परशुरामजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! अपनी उन्नतिके चाहनेवाले प्रत्येक योद्धाको ऐसा ही करना चाहिये। महाबाहो ! अपनेसे विशिष्ट गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेवाले राजाओंका यही धर्म है ॥ १५ ॥

शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! यदि तुम इस प्रकार मेरे समीप नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। कुरुनन्दन ! तुम धैर्य धारण करके इस रणक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो ॥ १६ ॥

न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता; क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करनेके लिये खड़ा हूँ। जाओ, धर्म-पूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे इस शिष्टाचारसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥

ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ॥ १८ ॥

तब मैं उन्हें नमस्कार करके शीघ्र ही रथपर जा बैठा और उस युद्धभूमिमें मैंने पुनः अपने सुवर्णजटित शङ्खको बजाया॥

ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत।
दिवसान् सुबहून् राजन् परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! तदनन्तर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे मेरा तथा परशुरामजीका युद्ध बहुत दिनोंतक चलता रहा॥

स मे तस्मिन् रणे पूर्वं प्राहरत् कङ्कपत्रिभिः।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ॥ २० ॥

उस रणभूमिमें उन्होंने ही पहले मेरे ऊपर गीधकी पाँखोंसे सुशोभित तथा मुड़े हुए पर्ववाले नौ सौ साठ बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २० ॥

चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशाम्पते।
प्रतिरुद्धास्तथैवाहं समरे दंशितः स्थितः ॥ २१ ॥

राजन् ! उन्होंने मेरे चारों घोड़ों तथा सारथिको भी अवरुद्ध कर दिया तो भी मैं पूर्ववत् कवच धारण किये उस समरभूमिमें डटा रहा ॥ २१ ॥

नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् देवताओं और विशेषतः ब्राह्मणोंको नमस्कार करके मैं रणभूमिमें खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—॥

आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि।
भूयश्च शृणु मे ब्रह्मन् सम्पदं धर्मसंग्रहे ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन् ! यद्यपि आप अपनी मर्यादा छोड़ बैठे हैं तो भी मैंने सदा आपके आचार्यत्वका सम्मान किया है। धर्मसंग्रह-के विषयमें मेरा जो दृढ़ विचार है, उसे आप पुनः सुन लीजिये॥

ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत्।
तपश्च ते महत् तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ॥ २४ ॥

'विप्रवर ! आपके शरीरमें जो वेद हैं, जो आपका महान् ब्राह्मणत्व है तथा आपने जो बड़ी भारी तपस्या की है, उन सबके ऊपर मैं बाणोंका प्रहार नहीं करता हूँ ॥२४॥

प्रहरे क्षत्रधर्मस्य यं राम त्वं समाश्रितः।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ॥ २५ ॥

'राम ! आपने जिस क्षत्रियधर्मका आश्रय लिया है, मैं उसीपर प्रहार करूँगा; क्योंकि ब्राह्मण हथियार उठाते ही क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ॥ २६ ॥

'अब आप मेरे धनुषकी शक्ति और मेरी भुजाओंका बल देखिये। वीर ! मैं अपने बाणसे आपके धनुषको अभी काट देता हूँ' ॥ २६ ॥

तस्याहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ।
तेनास्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयम् ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर मैंने उनके ऊपर तेज धारवाले एक भल्ल नामक बाणका प्रहार किया और उसके द्वारा उनके धनुषकी कोटि (अग्रभाग) को काटकर पृथ्वी-पर गिरा दिया ॥ २७ ॥

तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम्।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ॥ २८ ॥

इसी प्रकार परशुरामजीके रथकी ओर मैंने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ॥ २८ ॥

काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः।
चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ॥ २९ ॥

वे बाण वायुद्वारा उड़ाये हुए सर्पोंकी भाँति परशुरामजी-के शरीरमें धँसकर खून बहाते हुए चल दिये ॥ २९ ॥

क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन् स रुधिरं रणे।
बभौ रामस्तदा राजन् मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उस समय उनके सारे अङ्ग लहू-लुहान हो गये। जैसे मेरु पर्वत वर्षाकालमें गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित जलकी धार बहाता है, उसी प्रकार उस रण-भूमिमें अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए परशुराम-जी शोभा पाने लगे ॥ ३० ॥

हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तवकमण्डितः।
बभौ रामस्तथा राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ ३१ ॥

राजन् ! जैसे वसन्त ऋतुमें लाल फूलोंके गुच्छोंसे अलंकृत अशोक और खिला हुआ पलाश सुशोभित होता है, परशु-रामजीकी भी वैसी ही शोभा हुई ॥ ३१ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः।
हेमपुङ्खान् सुनिशिताञ्शरांस्तान् हि ववर्ष सः॥ ३२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीने दूसरा धनुष लेकर सोनेकी पाँखोंसे सुशोभित अत्यन्त तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३२ ॥

ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः।
अकम्पयन् महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ॥ ३३ ॥

वे नाना प्रकारके भयंकर बाण मुझपर चोट करके मेरे मर्मस्थानोंका भेदन करने लगे। उनका वेग महान् था। वे सर्प, अग्नि और विषके समान जान पड़ते थे। उन्होंने मुझे कम्पित कर दिया ॥ ३३ ॥

तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ॥ ३४ ॥

तब मैंने पुनः अपने आपको स्थिर करके कुपित हो उस युद्धमें परशुरामजीपर सैकड़ों बाण बरसाये ॥ ३४ ॥

स तैरग्न्यर्कसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाभवत् ॥ ३५ ॥

वे बाण अग्नि, सूर्य तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीक्ष्ण थे। उनसे पीड़ित होकर परशुरामजी अचेत-से हो गये ॥ ३५ ॥

ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब मैं दयासे द्रवित हो स्वयं ही अपने आपमें धैर्य लाकर युद्ध और क्षत्रियधर्मको धिक्कार देने लगा ॥

असकृच्चाब्रुवं राजन् शोकवेगपरिप्लुतः।
अहो बत कृतं पापं मयेदं क्षत्रधर्मणा ॥ ३७ ॥
गुरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः।

राजन् ! उस समय शोकके वेगसे व्याकुल हो मैं बार बार इस प्रकार कहने लगा—'अहो ! मुझ क्षत्रियने यह बड़ा भारी पाप कर डाला, जो कि धर्मात्मा एवं ब्राह्मण गुरुको इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित किया' ॥ ३७½ ॥

ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ॥ ३८ ॥
अथावताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये।
जगामास्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ॥ ३९ ॥

भारत ! उसके बादसे मैंने परशुरामजीपर फिर प्रहार नहीं किया। इधर सहस्र किरणोंवाले भगवान् सूर्य इस पृथ्वी-को तपाकर दिनका अन्त होनेपर अस्त हो गये; इसलिये वह युद्ध बंद हो गया ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका युद्धविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध

भीष्म उवाच

आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते।
मम चापनयामास शल्यान् कुशलसम्मतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अपने कार्यमें कुशल एवं सम्मानित सारथिने अपने, घोड़ोंके तथा मेरे भी शरीरमें चुभे हुए बाणोंको निकाला ॥ १ ॥

स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥

घोड़े टहलाये गये और लोट-पोट कर लेनेपर नहलाये गये; फिर उन्हें पानी पिलाया गया, इस प्रकार जब वे स्वस्थ और शान्त हुए, तब प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम् ।
अकरोद् रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान् ॥ ३ ॥

मुझे रथपर बैठकर कवच धारण किये शीघ्रतापूर्वक आते देख प्रतापी परशुरामजीने अपने रथको अत्यन्त सुसज्जित किया ॥ ३ ॥

ततोऽहं राममायान्तं दृष्ट्वा समरकाङ्क्षिणम् ।
धनुः श्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसावतरं रथात् ॥ ४ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले परशुरामजीको आते देख मैं अपना श्रेष्ठ धनुष छोड़कर सहसा रथसे उतर पड़ा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तथैवाहं रथमारुह्य भारत ।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः ॥ ५ ॥

भारत ! पूर्ववत् गुरुको प्रणाम करके अपने रथपर आरूढ़ हो युद्धकी इच्छासे परशुरामजीके सामने मैं निर्भय होकर डट गया ॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मैंने उनपर बाणोंकी भारी वर्षा की । फिर उन्होंने भी बाणोंकी वर्षा करनेवाले मुझ भीष्मपर बहुत-से बाण बरसाये ॥ ६ ॥

संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान् ।
सम्प्रैषीन्मे शरान् घोरान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् जमदग्निकुमारने पुनः अत्यन्त क्रुद्ध होकर मुझपर प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंकी भाँति तेज किये हुए भयानक बाण चलाये ॥ ७ ॥

ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः ॥ ८ ॥

राजन् ! तब मैंने सहसा तीखी धारवाले भल्लनामक बाणोंसे आकाशमें ही उन सबके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर दिये । यह क्रिया बारंबार चलती रही ॥ ८ ॥

ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम् ॥ ९ ॥
अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम् ।

इसके पश्चात् प्रतापी परशुरामजीने मेरे ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया; परंतु महाबाहो ! मैंने उनसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर उन सब अस्त्रोंका दिव्यास्त्रोंद्वारा ही निवारण कर दिया ॥ ९½ ॥

ततो दिवि महान् नादः प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ १० ॥
ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान् ।
प्रत्याजघ्ने च तद् रामो गुह्यकास्त्रेण भारत ॥ ११ ॥

उस समय आकाशमें चारों ओर बड़ा कोलाहल होने लगा । इसी समय मैंने जमदग्निकुमारपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया । भारत ! परशुरामजीने गुह्यकास्त्रद्वारा मेरे उस अस्त्रको शान्त कर दिया ॥ १०-११ ॥

ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान् ।
वारुणेनैव तद् रामो वारयामास मे विभुः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् मैंने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; किंतु भगवान् परशुरामने वारुणास्त्र चलाकर उसका निवारण कर दिया ॥ १२ ॥

एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याहमवारयम् ।
रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिंदमः ॥ १३ ॥

इस प्रकार मैं परशुरामजीके दिव्यास्त्रोंका निवारण करता और शत्रुओंका दमन करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता तेजस्वी परशुराम भी मेरे अस्त्रोंका निवारण कर देते थे ॥ १३ ॥

ततो मां सव्यतो राजन् रामः कुर्वन् द्विजोत्तमः ।
उरस्यविध्यत् संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ १४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए प्रतापी विप्रवर परशुरामने मुझे बायें लेकर मेरे वक्षःस्थलको बाणद्वारा बींध दिया ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे ।
ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उससे घायल होकर मैं उस श्रेष्ठ रथपर बैठ गया, उस समय मुझे मूर्च्छित अवस्थामें देखकर सारथि शीघ्र ही अन्यत्र हटा ले गया ॥ १५ ॥

ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम् ।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम् ॥ १६ ॥
रामस्यानुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! परशुरामजीके बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही थी । मैं अत्यन्त घायल और अचेत होकर रणभूमिसे दूर हट गया था । भारत ! इस अवस्थामें मुझे देखकर परशुरामजीके अकृतव्रण आदि सेवक तथा काशिराजकी कन्या अम्बा ये सब-के-सब अत्यन्त प्रसन्न हो कोलाहल करने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाब्रुवम् ।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें मुझे चेत हो गया और सब कुछ जानकर मैंने सारथिसे कहा—'सूत ! जहाँ परशुरामजी हैं, वहीं चलो । मेरी पीड़ा दूर हो गयी है और अब मैं युद्धके लिये सुसज्जित हूँ' ॥

ततो मामवहत् सूतो हयैः परमशोभितैः ।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन ! तब सारथिने अत्यन्त शोभाशाली अश्वोंद्वारा, जो वायुके समान वेगसे चलनेके कारण नृत्य करते-से जान पड़ते थे, मुझे युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ १९ ॥

ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव ।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया ॥ २० ॥

कौरव ! तब मैंने क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीके पास पहुँचकर उन्हें जीतनेकी इच्छासे स्वयं भी कुपित होकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २० ॥

तानापतत एवासौ रामो बाणानजिह्मगान् ।
बाणैरेवाच्छिनत् तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे ॥ २१ ॥

किंतु परशुरामजीने सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले उन बाणोंके आते ही एक-एकको तीन-तीन बाणोंसे तुरंत काट दिया॥

ततस्ते सूदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः।
रामबाणैर्द्विधा छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ २२॥

इस प्रकार मेरे चलाये हुए वे सब सैकड़ों और हजारों तीखे बाण परशुरामजीके सायकोंसे कटकर दो-दो टूक हो नष्ट हो गये॥ २२॥

ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम्।
असृजं जामदग्न्याय रामायाहं जिघांसया॥ २३॥

तब मैंने पुनः जमदग्निनन्दन परशुरामकी ओर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे एक कालाग्निके समान प्रज्वलित तथा तेजस्वी बाण छोड़ा॥ २३॥

तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः।
मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह॥ २४॥

उसकी गहरी चोट खाकर परशुरामजी उस बाणके वेगके अधीन हो समरभूमिमें मूर्च्छित हो गये और धरतीपर गिर पड़े॥ २४॥

ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते।
जगद् भारत संविग्नं यथार्कपतने भवेत्॥ २५॥

परशुरामके पृथ्वीपर गिरते ही मानो आकाशसे सूर्य टूटकर गिरे हों, ऐसा समझकर सारा जगत् भयभीत हो हाहाकार करने लगा॥ २५॥

तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन॥ २६॥
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव॥ २७॥

कुरुनन्दन! उस समय वे तपोधन और काशिराजकी कन्या सब-के-सब अत्यन्त उद्विग्न हो सहसा उनके पास दौड़े गये और उन्हें हृदयसे लगा हाथ फेरकर तथा शीतल जल छिड़ककर विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए सान्त्वना देने लगे॥ २६-२७॥

ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाब्रवीत्।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं संधाय कार्मुके॥ २८॥

तदनन्तर कुछ स्वस्थ होनेपर परशुरामजी उठ गये और धनुषपर बाण चढ़ाकर विह्वल स्वरमें बोले—'भीष्म! खड़े रहो, अब तुम मारे गये'॥ २८॥

स मुक्तो न्यपतत् तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे।
येनाहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः॥ २९॥

उस महान् युद्धमें उनके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण तुरंत मेरी बायीं पसलीपर पड़ा, जिससे मैं अत्यन्त उद्विग्न होकर वृक्षकी भाँति झूमने लगा॥ २९॥

हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः॥ ३०॥

फिर तो परशुरामजी उस महासमरमें शीघ्र छोड़े हुए अस्त्रद्वारा मेरे घोड़ोंको मारकर निर्भय हो मेरे ऊपर पाँखसे उड़नेवाले बाणोंसे वर्षा करने लगे॥ ३०॥

ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम्।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराधिष्ठिताः शराः॥ ३१॥
रामस्य मम चैवाशु व्योमावृत्य समन्ततः।

महाबाहो! तत्पश्चात् मैंने भी शीघ्रतापूर्वक ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया, जो युद्धभूमिमें विपक्षीकी गतिको रोक देनेवाले थे। मेरे तथा परशुरामजीके बाण आकाशमें सब ओर फैलकर मध्यभागमें ही ठहर गये॥ ३१½॥

न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः॥ ३२॥
मातरिश्वा ततस्तस्मिन् मेघरुद्ध इवाभवत्।

उस समय बाणोंके समूहसे आच्छादित होनेके कारण सूर्य नहीं तपता था और वायुकी गति इस प्रकार कुण्ठित हो गयी थी, मानो मेघोंसे अवरुद्ध हो गयी हो॥ ३२½॥

ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः॥ ३३॥
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत।

उस समय वायुके कम्पन और सूर्यकी किरणोंसे समस्त बाण परस्पर टकराने लगे। उनकी रगड़से वहाँ आग प्रकट हो गयी॥ ३३½॥

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना॥ ३४॥
भूमौ सर्वे तदा राजन् भस्मभूताः प्रपेदिरे।

राजन्! वे सभी बाण अपने ही संघर्षसे उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर भस्म हो गये और भूमिपर गिर पड़े॥

तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च॥ ३५॥
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत्॥ ३६॥

कौरवनरेश! उस समय परशुरामजीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मेरे ऊपर तुरंत ही दस हजार, लाख, दस लाख, अर्बुद, खर्व और निखर्व बाणोंका प्रहार किया॥ ३५-३६॥

ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः।
संछिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव॥ ३७॥

नरेश्वर! तब मैंने रणभूमिमें विषधर सर्पके समान भयंकर सायकोंद्वारा उन सब बाणोंको वृक्षोंकी भाँति भूमिपर काट गिराया॥ ३७॥

एवं तदभवद् युद्धं तदा भरतसत्तम।
संध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात् स च मे गुरुः॥ ३८॥

भरतभूषण! इस प्रकार वह युद्ध चलता रहा। संध्याकाल बीतनेपर मेरे गुरु रणभूमिसे हट गये॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुरामभीष्मयुद्धविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८०॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

समागतस्य रामेण पुनरेवातिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! दूसरे दिन परशुरामजीके साथ भेंट होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ॥ २ ॥

फिर तो दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, शूरवीर एवं धर्मात्मा भगवान् परशुरामजी प्रतिदिन अनेक प्रकारके अलौकिक अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ २ ॥

तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥३॥

भारत ! उस तुमुल युद्धमें अपने दुस्त्यज प्राणोंकी परवा न करके मैंने उनके सभी अस्त्रोंका विघातक अस्त्रोंद्वारा संहार कर डाला ॥ ३ ॥

अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार बार-बार मेरे अस्त्रोंद्वारा अपने अस्त्रोंके विनष्ट होनेपर महातेजस्वी परशुरामजी उस युद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४ ॥

ततः शक्तिं प्राहिणोद् घोररूपा-
मस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां
संदीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्रोंका अवरोध होनेपर जमदग्निनन्दन महात्मा परशुरामने कालकी छोड़ी हुई प्रज्वलित उल्काके समान एक भयंकर शक्ति छोड़ी, जिसका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था । वह शक्ति अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किये हुए थी ॥ ५ ॥

ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां
समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ
ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ॥ ६ ॥

तब मैंने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रज्वलित होनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको अपनी ओर आती देख अनेक बाणोंद्वारा उसके तीन टुकड़े करके उसे भूमिपर गिरा दिया । फिर तो पवित्र सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चलने लगी ।६।

तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः
शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशान्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं
तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ॥ ७ ॥

उस शक्तिके कट जानेपर परशुरामजी क्रोधसे जल उठे तथा उन्होंने दूसरी-दूसरी भयंकर बारह शक्तियाँ और छोड़ीं । भारत ! वे इतनी तेजस्विनी तथा शीघ्रगामिनी थीं कि उनके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है ॥ ७ ॥

किं त्वेवाहं विह्वलः सम्प्रदृश्य
दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता
यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ॥ ८ ॥

प्रलयकालके बारह सूर्योंके समान भयंकर तेजसे प्रज्वलित अनेक रूपवाली तथा अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान धधकती हुई उन शक्तियोंको सब ओरसे आती देख मैं अत्यन्त विह्वल हो गया ॥ ८ ॥

ततो जालं बाणमयं विवृत्तं
संदृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून् प्राहिणवं रणेऽहं
ततः शक्तीरध्यधमं घोररूपाः ॥ ९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वहाँ फैले हुए बाणमय जालको देखकर मैंने अपने बाणसमूहोंसे उसे छिन्न-भिन्न कर डाला और उस रणभूमिमें बारह सायकोंका प्रयोग किया, जिनसे उन भयंकर शक्तियोंको भी व्यर्थ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा
शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा
यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ॥ १० ॥

राजन् ! तत्पश्चात् महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने स्वर्णमय दण्डसे विभूषित और भी बहुत-सी भयानक शक्तियाँ चलायीं, जो विचित्र दिखायी देती थीं । उनके ऊपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे और वे जलती हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १० ॥

ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा
खड्गेनाजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।
बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये
दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उन भयंकर शक्तियोंको भी मैंने ढालसे रोककर तलवारसे रणभूमिमें काट गिराया । तत्पश्चात् परशुरामजीके दिव्य घोड़ों तथा सारथिपर मैंने दिव्य बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ११ ॥

निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा
दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा
क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ॥ १२ ॥

केंचुलिसे छूटकर निकले हुए सर्पोंके समान आकृतिवाली

उन सुवर्णजटित विचित्र शक्तियोंको कटी हुई देख हैहय-राजका विनाश करनेवाले महात्मा परशुरामजीने कुपित होकर पुनः अपना दिव्य अस्त्र प्रकट किया ॥ १२ ॥

ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः
समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः ।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं
हयान् सूतं सरथं चैव मह्यम् ॥ १३ ॥

फिर तो टिड्डियोंकी पंक्तियोंके समान प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंके समूह प्रकट होने लगे । इस प्रकार उन्होंने मेरे शरीर, रथ, सारथि और घोड़ोंको सर्वथा आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्
तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन् ।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे
तथैवाक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ॥ १४ ॥

राजन् ! मेरा रथ चारों ओरसे उनके बाणोंद्वारा व्याप्त हो रहा था । घोड़ों और सारथिकी भी यही दशा थी । युग तथा ईषादण्डको भी उन्होंने उसी प्रकार बाणविद्ध कर रक्खा था और रथका धुरा उनके बाणोंसे कटकर टूक-टूक हो गया था ॥

ततस्तस्मिन् बाणवर्षे व्यतीते
शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम् ।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशि-
र्देहादसृक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ॥ १५ ॥

जब उनकी बाण-वर्षा समाप्त हुई, तब मैंने भी बदलेमें गुरुदेवपर बाणसमूहोंकी बौछार आरम्भ कर दी । वे ब्रह्म-राशि महात्मा मेरे बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अपने शरीरसे अधिकाधिक रक्तकी धारा बहाने लगे ॥ १५ ॥

यथा रामो बाणजालाभितप्त-
स्तथैवाहं सुभृशं गाढविद्धः ।
ततो युद्धं व्यरमच्चापराह्णे
भानावस्तं प्रति याते महीध्रम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार परशुरामजी मेरे सायकसमूहोंसे संतप्त थे, उसी प्रकार मैं भी उनके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो रहा था । तदनन्तर सायंकालमें जब सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, वह युद्ध बंद हो गया ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते ।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर प्रातःकाल जब सूर्यदेव उदित होकर प्रकाशमें आ गये, उस समय मेरे साथ परशुरामजीका युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन् रामः प्रहरतां वरः ।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाचले ॥ २ ॥

तत्पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी स्थिर रथपर खड़े हो जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बौछार करता है, उसी प्रकार मेरे ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः ।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ॥ ३ ॥

उस समय मेरा प्रिय सुहृद् सारथि बाणवर्षासे पीड़ित हो मेरे मनको विषादमें डालता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर गया ॥

ततः सूतो ममात्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत् ।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ॥ ४ ॥

मेरे सारथिको अत्यन्त मोह छा गया था । वह बाणोंके आघातसे पृथ्वीपर गिरा और अचेत हो गया ॥ ४ ॥

ततः सूतोऽजहात् प्राणान् रामबाणप्रपीडितः ।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत् तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! परशुरामजीके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण दो ही घड़ीमें सूतने प्राण त्याग दिये । उस समय मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ५ ॥

ततः सूते हते तस्मिन् क्षिपतस्तस्य मे शरान् ।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ॥ ६ ॥

उस सारथिके मारे जानेपर मैं असावधान मनसे परशु-रामजीके बाणोंको काट रहा था ! इतनेहीमें परशुरामजीने मुझपर मृत्युके समान भयंकर बाण छोड़ा ॥ ६ ॥

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः ।
शरेणाभ्यहनद् गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ॥ ७ ॥

उस समय मैं सारथिकी मृत्युके कारण व्याकुल था तो भी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सुदृढ़ धनुषको जोर-जोरसे खींचकर मुझपर बाणसे गहरा आघात किया ॥ ७ ॥

स मे भुजान्तरे राजन् निपत्य रुधिराशनः ।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! वह रक्त पीनेवाला बाण मेरी दोनों भुजाओंके बीच (वक्षःस्थलमें) चोट पहुँचाकर मुझे साथ लिये-दिये पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ८ ॥

मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ ।
मेघवद् विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मुझे मारा गया जानकर परशु-

रामजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे गर्जना करने लगे । उनके शरीरमें बार-बार हर्षजनित रोमाञ्च होने लगा ॥ ९ ॥

तथा तु पतिते राजन् मयि रामो मुदा युतः ।
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार मेरे धराशायी होनेपर परशुरामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने अपने अनुयायियोंके साथ महान् कोलाहल मचाया ॥ १० ॥

मम तत्राभवन् ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः ।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः ।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ॥ ११ ॥

वहाँ मेरे पार्श्वभागमें जो कुरुवंशी क्षत्रियगण खड़े थे तथा जो लोग वहाँ युद्ध देखनेकी इच्छासे आये थे, उन सबको मेरे गिर जानेपर बड़ा दुःख हुआ ॥ ११ ॥

ततोऽपश्यं पतितो राजसिंह
द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान् ।
ते मां समन्तात् परिवार्य तस्थुः
स्वबाहुभिः परिधार्याजिमध्ये ॥ १२ ॥

राजसिंह ! वहाँ गिरते समय मैंने देखा कि सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण आये और संग्रामभूमिमें मुझे सब ओरसे घेरकर अपनी भुजाओंपर ही मेरे शरीरको धारण करके खड़े हो गये ॥ १२ ॥

रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाहं भूमिमुपास्पृशम् ।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ॥ १३ ॥

उन ब्राह्मणोंसे सुरक्षित होनेके कारण मुझे धरतीका स्पर्श नहीं करना पड़ा । मेरे सगे भाई-बन्धुओंकी भाँति उन ब्राह्मणोंने मुझे आकाशमें ही रोक लिया था ॥ १३ ॥

श्वसन्निवान्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः ।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन् परिगृह्य माम् ॥ १४ ॥

राजन् ! आकाशमें मैं साँस लेता-सा ठहर गया था । उस समय ब्राह्मणोंने मुझपर जलकी बूँदें छिड़क दीं । फिर वे मुझे पकड़कर बोले ॥ १४ ॥

मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चासकृत् ।
ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः ।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ॥ १५ ॥

उन सबने एक साथ ही बार-बार कहा—'तुम्हारा कल्याण हो । तुम भयभीत न हो ।' उनके वचनामृतोंसे तृप्त होकर मैं सहसा उठकर खड़ा हो गया और देखा, मेरे रथपर सारथिके स्थानमें सरिताओंमें श्रेष्ठ माता गङ्गा बैठी हुई हैं ।१५।

हयाश्च मे संगृहीतास्तयासन्
महानद्या संयति कौरवेन्द्र ।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाहं
तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ॥ १६ ॥

कौरवराज ! उस युद्धमें महानदी माता गङ्गाने मेरे घोड़ोंकी बागडोर पकड़ रक्खी थी । तब मैं माताके चरणोंका स्पर्श करके और पितरोंके उद्देश्यसे भी मस्तक नवाकर उस रथपर जा बैठा ॥ १६ ॥

ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च ।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ॥ १७ ॥

माताने मेरे रथ, घोड़ों तथा अन्यान्य उपकरणोंकी रक्षा की । तब मैंने हाथ जोड़कर पुनः माताको विदा कर दिया ॥

ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान् वातरंहसः ।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर स्वयं ही उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको काबूमें करके मैं जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करने लगा । उस समय दिन प्रायः समाप्त हो चला था ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम् ।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें मैंने परशुरामजीकी ओर एक प्रबल एवं वेगवान् बाण चलाया, जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः ।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ॥ २० ॥

मेरे उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो परशुरामजीने मूर्छाके वशीभूत होकर धनुष छोड़ धरतीपर घुटने टेक दिये ।२०।

ततस्तस्मिन् निपतिते रामे भूरिसहस्रदे ।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ॥ २१ ॥

अनेक सहस्र ब्राह्मणोंको बहुत दान करनेवाले परशुरामजीके धराशायी होनेपर अधिकाधिक रक्तकी वर्षा करते हुए बादलोंने आकाशको ढक लिया ॥ २१ ॥

उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः ।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ॥ २२ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सैकड़ों उल्कापात होने लगे । भूकम्प आ गया । अपनी किरणोंसे उद्भासित होनेवाले सूर्यदेवको राहुने सब ओरसे सहसा घेर लिया ॥ २२ ॥

ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा ।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ॥ २३ ॥

वायु तीव्र वेगसे बहने लगी, धरती डोलने लगी, गीध, कौवे और कङ्क प्रसन्नतापूर्वक सब ओर उड़ने लगे ॥२३॥

दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत् ।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २४ ॥

दिशाओंमें दाह-सा होने लगा, गीदड़ बार-बार भयंकर बोली बोलने लगा, दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही जोर-जोरसे बजने लगीं ॥ २४ ॥

एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद् भयंकरम् ।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ॥ २५ ॥

इस प्रकार महात्मा परशुरामके मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिरते ही ये समस्त उत्पातसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन होने लगे ॥ २५ ॥

ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत।
पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्च्छितः॥ २६॥

कुरुनन्दन! इसी समय परशुरामजी सहसा उठकर क्रोधसे मूर्च्छित एवं विह्वल हो पुनः युद्धके लिये मेरे समीप आये॥

आददानो महाबाहुः कार्मुकं तालसंनिभम्।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन्॥ २७॥
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम्॥ २८॥

परशुराम ताड़के समान विशाल धनुष लिये हुए थे। जब वे मेरे लिये बाण उठाने लगे; तब दयालु महर्षियोंने उन्हें रोक दिया। वह बाण कालाग्निके समान भयंकर था। अमेयस्वरूप भार्गवने कुपित होनेपर भी मुनियोंके कहनेसे उस बाणका उपसंहार कर लिया॥ २७-२८॥

ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो
जगामास्तं पांसुपुञ्जावगूढः।
निशा व्यगाहत् सुखशीतमारुता
ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः॥ २९॥

तदनन्तर मन्द किरणोंके पुञ्जसे प्रकाशित सूर्यदेव युद्ध-भूमिकी उड़ती हुई धूलोंसे आच्छादित हो अस्ताचलको चले गये। रात्रि आ गयी और सुखद शीतल वायु चलने लगी। उस समय हम दोनोंने युद्ध समाप्त कर दिया॥ २९॥

एवं राजन्नवहारो बभूव
ततः पुनर्विमलेऽभूत् सुघोरम्।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि
तथैव चान्यानि दिनानि त्रीणि॥ ३०॥

राजन्! इस प्रकार प्रतिदिन संध्याके समय युद्ध बंद हो जाता और प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर संग्राम छिड़ जाता था। इस प्रकार हम दोनोंके युद्ध करते-करते तेईस दिन बीत गये॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८२॥

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः॥ १॥
नक्तंचराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम्॥ २॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर मैं रातके समय एकान्तमें शय्यापर जाकर ब्राह्मणों, पितरों, देवताओं, निशाचरों, भूतों तथा राजर्षिगणोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगा॥ १-२॥

जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम्।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम्॥ ३॥

आज बहुत दिन हो गये, जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ यह मेरा अत्यन्त भयंकर और महान् अनिष्टकारक युद्ध चल रहा है॥ ३॥

न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम्॥ ४॥

परंतु मैं महाबली, महापराक्रमी विप्रवर परशुरामजीको समरभूमिमें युद्धके मुहानेपर किसी तरह जीत नहीं सकता॥ ४॥

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम॥ ५॥

यदि प्रतापी जमदग्निकुमारको जीतना मेरे लिये सम्भव हो तो प्रसन्न हुए देवगण रात्रिमें मुझे दर्शन दें॥ ५॥

ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा॥ ६॥
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात्।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः॥ ७॥
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै।
परिवार्याब्रुवन् वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह॥ ८॥

राजेन्द्र! ऐसी प्रार्थना करके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ मैं रात्रिके अन्तमें प्रभातके समय दाहिनी करवटसे सो गया। महाराज! कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् जिन ब्राह्मणशिरोमणियोंने रथसे गिरनेपर मुझे थाम लिया और उठाया था तथा 'डरो मत' ऐसा कहकर सान्त्वना दी थी, उन्हीं लोगोंने मुझे सपनेमें दर्शन दे मेरे चारों ओर खड़े होकर जो बात कही थी, उसे बताता हूँ; सुनो॥ ६–८॥

उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किंचन।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान्॥ ९॥

'गङ्गानन्दन! उठो। भयभीत न होओ। तुम्हें कोई भय नहीं है। कुरुनन्दन! हम तुम्हारी रक्षा करते हैं, क्योंकि तुम हमारे ही स्वरूप हो॥ ९॥

न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथंचन।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ॥ १०॥

'जमदग्निकुमार परशुराम तुम्हें किसी प्रकार युद्धमें जीत नहीं सकेंगे। भरतभूषण! तुम्हीं रणक्षेत्रमें परशुरामपर विजय पाओगे॥ १०॥

इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान्।
विदितं हि तवाप्येतत् पूर्वस्मिन् देहधारणे॥ ११॥
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत।

न हीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान् क्वचित्॥ १२॥

'भारत ! यह प्रस्वाप नामक अस्त्र है, जिसके देवता प्रजापति हैं। विश्वकर्माने इसका आविष्कार किया है। यह तुम्हें भी परम प्रिय है। इसकी प्रयोगविधि तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगी; क्योंकि पूर्व शरीरमें तुम्हें भी इसका पूर्ण ज्ञान था। परशुरामजी भी इस अस्त्रको नहीं जानते हैं। इस पृथ्वीपर कहीं किसी भी पुरुषको इसका ज्ञान नहीं है ११-१२

तत् स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवानघ॥ १३॥

'महाबाहो ! इस अस्त्रका स्मरण करो और विशेषरूपसे इसीका प्रयोग करो। निष्पाप राजेन्द्र ! यह अस्त्र स्वयं ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जायगा ॥ १३ ॥

येन सर्वान् महावीर्यान् प्रशासिष्यसि कौरव।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनास्त्रेण नराधिप॥ १४॥

'कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे तुम सम्पूर्ण महापराक्रमी नरेशोंपर शासन करोगे। राजन् ! उस अस्त्रसे परशुरामका नाश नहीं होगा ॥ १४ ॥

एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः॥ १५॥

'इसलिये मानद ! तुम्हें कभी इसके द्वारा पापसे संयोग नहीं होगा। तुम्हारे अस्त्रके प्रभावसे पीड़ित होकर जमदग्निकुमार परशुराम चुपचाप सो जायँगे ॥ १५ ॥

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि।
अस्त्रेण दयितेनाजौ भीष्म सम्बोधनेन वै॥ १६॥

'भीष्म ! तदनन्तर अपने उस प्रिय अस्त्रके द्वारा युद्धमें विजयी होकर तुम्हीं उन्हें सम्बोधनास्त्रद्वारा पुनः जगाकर उठाओगे ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः।
प्रसुप्तं वा मृतं वेति तुल्यं मन्यामहे वयम्॥ १७॥

'कुरुनन्दन ! प्रातःकाल रथपर बैठकर तुम ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोग सोये अथवा मरे हुएको समान ही समझते हैं ॥

न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति॥ १८॥

'राजन् ! परशुरामकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती; अतः इस प्राप्त हुए प्रस्वाप नामक अस्त्रका प्रयोग करो' ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिता राजन् सर्व एव द्विजोत्तमाः।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भास्वरमूर्तयः॥ १९॥

राजन् ! ऐसा कहकर वे वसुस्वरूप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अदृश्य हो गये। वे आठों समान रूपवाले थे। उन सबके शरीर तेजोमय प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्मको प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्तिविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८३

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म तथा परशुरामजीका एक दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

भीष्म उवाच

ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत।
ततः संचिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर रात बीतनेपर जब मेरी नींद खुली, तब उस स्वप्नकी बातको सोचकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

ततः समभवद् युद्धं मम तस्य च भारत।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम्॥ २॥

भारत ! तदनन्तर मेरा और परशुरामजीका भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला और अद्भुत था ॥ २ ॥

ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत॥ ३॥

उस समय भृगुनन्दन परशुरामजीने मुझपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत ! तब मैंने अपने सायकसमूहोंसे उस बाणवर्षाको रोक दिया ॥ ३ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि॥ ४॥

तब महातपस्वी परशुराम पुनः मुझपर अत्यन्त कुपित हो गये। पहले दिनका भी कोप था ही। उससे प्रेरित होकर उन्होंने मेरे ऊपर शक्ति चलायी ॥ ४ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम्।
ज्वलन्तीमग्निवत् संख्ये लेलिहानां समन्ततः॥ ५॥

उसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान भयंकर था। उसकी प्रभा यमदण्डके समान थी और उस संग्राममें अग्निके समान प्रज्वलित हुई वह शक्ति मानो सब ओरसे रक्त चाट रही थी॥

ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा।
स मामभ्यवधीत् तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुकुलरत्न ! फिर आकाशवर्ती नक्षत्रके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिने तुरंत आकर मेरे गलेकी हँसलीपर आघात किया ॥ ६ ॥

अथास्रमस्रवद् घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत्।
रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य क्षतजेक्षण॥ ७॥

लाल नेत्रोंवाले महाबाहु दुर्योधन ! परशुरामजीके द्वारा किये हुए उस गहरे आघातसे भयंकर रक्तकी धारा बह चली। मानो पर्वतसे गैरिक धातुमिश्रित जलका झरना झर रहा हो ॥ ७ ॥

ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः।
चिक्षेप मृत्युसंकाशं बाणं सर्पविषोपमम्॥ ८॥

तब मैंने भी अत्यन्त कुपित हो सर्पविषके समान भयंकर मृत्युतुल्य बाण लेकर परशुरामजीके ऊपर चलाया॥ ८॥

स तेनाभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः।
अशोभत महाराज सशृङ्ग इव पर्वतः॥ ९॥

उस बाणने विप्रवर वीर परशुरामजीके ललाटमें चोट पहुँचायी। महाराज! उसके कारण वे शिखरयुक्त पर्वतके समान शोभा पाने लगे॥ ९॥

स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम्।
संदधे बलवत् कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम्॥ १०॥

तब उन्होंने भी रोषमें आकर काल और यमके समान भयंकर शत्रुनाशक बाणको हाथमें ले धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसके ऊपर रक्खा॥ १०॥

स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन्।
महीं राजंस्ततश्चाहमगमं रुधिराविलः॥ ११॥

राजन्! उनका चलाया हुआ वह भयंकर बाण फुफकारते हुए सर्पके समान सनसनाता हुआ मेरी छातीपर आकर लगा। उससे लहूलुहान होकर मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा॥११॥

सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव॥ १२॥

पुनः चेतमें आनेपर मैंने बुद्धिमान् परशुरामजीके ऊपर प्रज्वलित वज्रके समान एक उज्ज्वल शक्ति चलायी॥ १२॥

सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे।
विह्वलश्चाभवद् राजन् वेपथुश्चैनमाविशत्॥ १३॥

वह शक्ति उन ब्राह्मणशिरोमणिकी दोनों भुजाओंके ठीक बीचमें जाकर लगी। राजन्! इससे वे विह्वल हो गये और उनके शरीरमें कँपकँपी आ गयी॥ १३॥

तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा॥ १४॥

तब उनके महातपस्वी मित्र अकृतव्रणने उन्हें हृदयसे लगाकर सुन्दर वचनोंद्वारा अनेक प्रकारसे आश्वासन दिया॥

समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः।
प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः॥ १५॥

तदनन्तर महाव्रती परशुरामजी धैर्ययुक्त हो क्रोध और अमर्षमें भर गये और उन्होंने परम उत्तम ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया॥ १५॥

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवास्त्रमुत्तमम्।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत्॥ १६॥

तब उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये मैंने भी उत्तम ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग किया। मेरा वह अस्त्र प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित करता हुआ प्रज्वलित हो उठा॥ १६॥

तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम॥ १७॥

भरतवंशशिरोमणे! वे दोनों ब्रह्मास्त्र मेरे तथा परशुरामजीके पास न पहुँचकर बीचमें ही एक दूसरेसे भिड़ गये॥

ततो व्योम्नि प्रादुरभूत् तेज एव हि केवलम्।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते॥ १८॥

प्रजानाथ! फिर तो आकाशमें केवल आगकी ही ज्वाला प्रकट होने लगी। इससे समस्त प्राणियोंको बड़ी पीड़ा हुई॥

ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत।
संतापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोऽभिपीडिताः॥ १९॥

भारत! उन ब्रह्मास्त्रोंके तेजसे पीड़ित होकर ऋषि, गन्धर्व तथा देवता भी अत्यन्त संतप्त हो उठे॥ १९॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा।
संतप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम्॥ २०॥

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी डोलने लगी। भूतलके समस्त प्राणी संतप्त हो अत्यन्त विषाद करने लगे॥

प्रजज्वाल नभो राजन् धूमायन्ते दिशो दश।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा॥ २१॥

राजन्! उस समय आकाश जल रहा था। सम्पूर्ण दिशाओंमें धूम व्याप्त हो रहा था। आकाशचारी प्राणी भी आकाशमें ठहर न सके॥ २१॥

ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत॥ २२॥
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद् ब्रह्मवादिनाम्।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात् तदा॥ २३॥

तदनन्तर देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्में हाहाकार मच गया। भारत! 'यही उपयुक्त अवसर है' ऐसा मानकर मैंने तुरंत ही प्रस्वापनास्त्रको छोड़नेका विचार किया। फिर तो उन ब्रह्मवादी वसुओंके कथनानुसार उस विचित्र अस्त्रका मेरे मनमें स्मरण हो आया॥ २२-२३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परस्पर ब्रह्मास्त्रप्रयोगविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८४॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गङ्गाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति

भीष्म उवाच

ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन् महानभूत्।
प्रस्वापं भीष्म मा स्राक्षीरिति कौरवनन्दन॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कौरवनन्दन! तदनन्तर

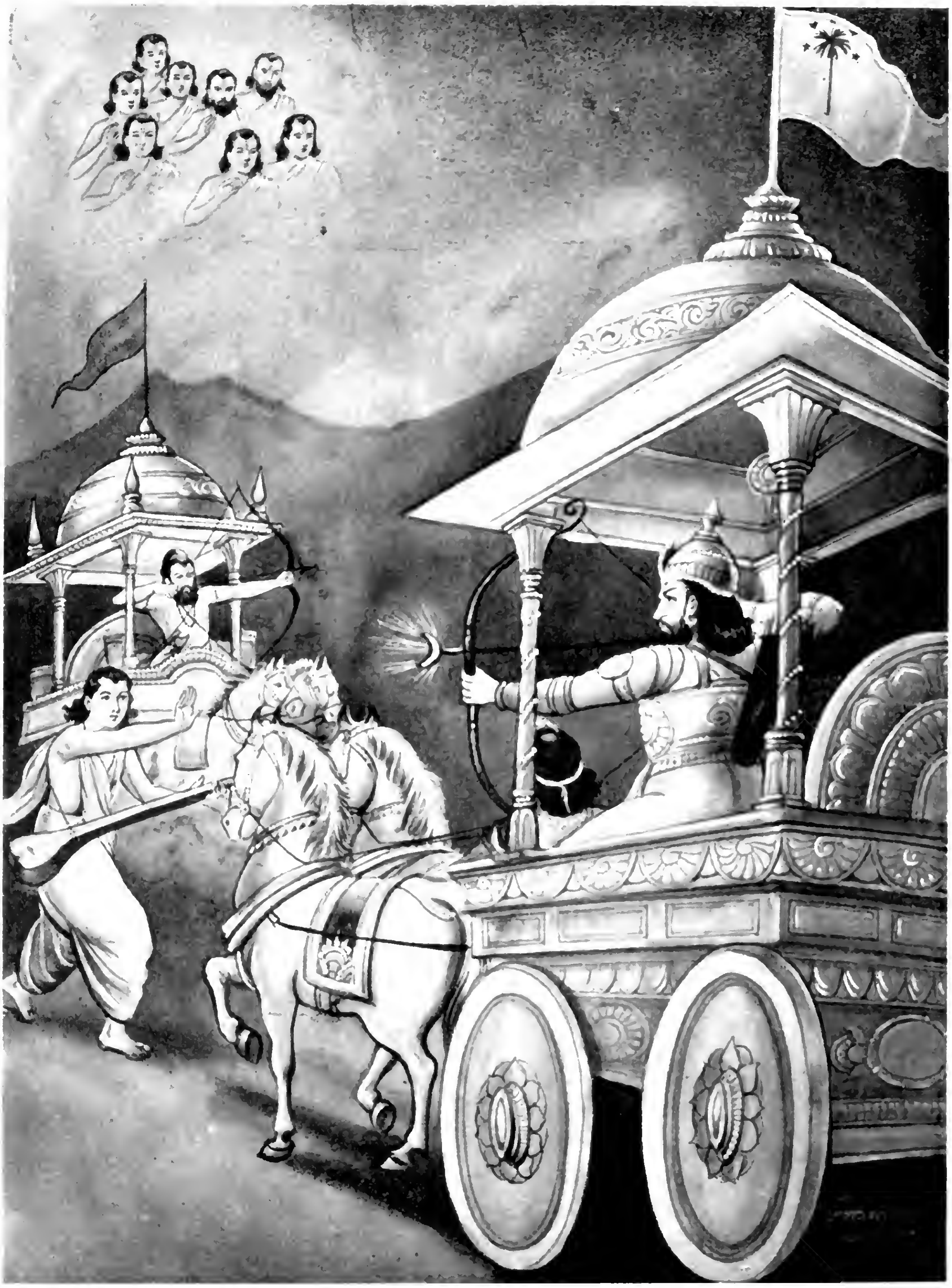

भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजीद्वारा बीच-बचाव

'भीष्म ! प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो' इस प्रकार आकाशमें महान् कोलाहल मच गया ॥ १ ॥

अयुञ्जमेव चैवाहं तदस्त्रं भृगुनन्दने ।
प्रस्वापं मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

तथापि मैंने भृगुनन्दन परशुरामजीको लक्ष्य करके उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ा ही लिया । मुझे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग करते देख नारदजीने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

एते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः स्थिताः ।
ते त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! ये आकाशमें स्वर्गलोकके देवता खड़े हैं। ये सबके सब इस समय तुम्हें मना कर रहे हैं; तुम प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो ॥ ३ ॥

रामस्तपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते ।
तस्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथंचन ॥ ४ ॥

'परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और तुम्हारे गुरु हैं । कुरुकुलरत्न ! तुम किसी तरह भी उनका अपमान न करो' ॥ ४ ॥

ततोऽपश्यं दिविष्ठान् वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
ते मां स्मयन्तो राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् मैंने आकाशमें खड़े हुए उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको देखा । वे मुसकराते हुए मुझसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

यथाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत् तथा कुरु ।
एतद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो । भरतकुलतिलक ! यही सम्पूर्ण जगत्‌के लिये परम कल्याणकारी होगा'॥

ततश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं स्वापनं महत् ।
ब्रह्मास्त्रं दीपयांचक्रे तस्मिन् युधि यथाविधि ॥ ७ ॥

तब मैंने उस महान् प्रस्वापनास्त्रको धनुपसे उतार लिया और उस युद्धमें विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्रको ही प्रकाशित किया ॥

ततो रामो हृषितो राजसिंह
दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै ।
जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि-
रित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ॥ ८ ॥

राजसिंह ! मैंने प्रस्वापनास्त्रको उतार लिया है—यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए । उनके मुखसे सहसा यह वाक्य निकल पड़ा कि 'मुझ मन्दबुद्धिको भीष्मने जीत लिया' ॥

ततोऽपश्यत् पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चास्य मान्यम् ।
ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थु-
रूचुश्चैनं सान्त्वपूर्वं तदानीम् ॥ ९ ॥

इसके बाद जमदग्निकुमार परशुरामने अपने पिता जमदग्निको तथा उनके भी माननीय पिता ऋचीक मुनिको देखा । वे सब पितर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले ॥ ९ ॥

पितर ऊचुः

मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः कथंचन ।
भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ॥ १० ॥

पितरोंने कहा—तात ! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना । भीष्म और विशेषतः क्षत्रियके साथ युद्धभूमिमें उतरना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य तु धर्मोऽयं यद् युद्धं भृगुनन्दन ।
स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम् ॥ ११ ॥

भृगुनन्दन ! क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है; किंतु ब्राह्मणोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतोंका पालन ही परम धर्म है ॥ ११ ॥

इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् ।
शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाकार्यं कृतं त्वया ॥ १२ ॥

यह बात पहले भी किसी अवसरपर हमने तुमसे कही थी । शस्त्र उठाना अत्यन्त भयंकर कर्म है; अतः तुमने यह न करने योग्य कार्य ही किया है ॥ १२ ॥

वत्स पर्याप्तमेतावद् भीष्मेण सह संयुगे ।
विमर्दस्ते महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ॥ १३ ॥

महाबाहो ! वत्स ! भीष्मके साथ युद्धमें उतरकर जो तुमने इतना विध्वंसात्मक कार्य किया है, यही बहुत हो गया । अब तुम इस संग्रामसे हट जाओ ॥ १३ ॥

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते तव कार्मुकधारणम् ।
विसर्जयैतद् दुर्धर्ष तपस्तप्यस्व भार्गव ॥ १४ ॥
एष भीष्मः शान्तनवो देवैः सर्वैर्निवारितः ।
निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ॥ १५ ॥
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः ।
न हि रामो रणे जेतुं त्वया न्याय्यः कुरूद्वह ॥ १६ ॥
मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे ।

भृगुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । दुर्धर्ष वीर ! तुमने जो धनुष उठा लिया, यही पर्याप्त है । अब इसे त्याग दो और तपस्या करो । देखो, इन सम्पूर्ण देवताओंने शान्तनुनन्दन भीष्मको भी रोक दिया है । वे उन्हें प्रसन्न करके यह बात कह रहे हैं कि 'तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । परशुराम तुम्हारे गुरु हैं । तुम उनके साथ बार-बार युद्ध न करो । कुरुश्रेष्ठ ! परशुरामको युद्धमें जीतना तुम्हारे लिये कदापि न्यायसंगत नहीं है । गङ्गानन्दन ! तुम इस समराङ्गणमें अपने ब्राह्मणगुरुका सम्मान करो' ॥ १४—१६½ ॥

वयं तु गुरवस्तुभ्यं तस्मात् त्वां वारयामहे ॥ १७ ॥
भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या जीवसि पुत्रक ।

बेटा परशुराम ! हम तो तुम्हारे गुरुजन—आदरणीय पितर हैं । इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं । पुत्र ! भीष्म वसुओंमेंसे एक वसु हैं । तुम अपना सौभाग्य ही समझो कि उनके साथ युद्ध करके अबतक जीवित हो ॥ १७½ ॥

गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ॥ १८ ॥
कथं शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव ।

भृगुनन्दन ! गङ्गा और शान्तनुके ये महायशस्वी पुत्र भीष्म साक्षात् वसु ही हैं । इन्हें तुम कैसे जीत सकते हो ? अतः यहाँ युद्धसे निवृत्त हो जाओ ॥ १८½ ॥

अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरंदरसुतो बली ॥ १९ ॥
नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः ।
सव्यसाचीति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भुवा ॥ २० ॥

प्राचीन सनातन देवता और प्रजापालक वीरवर भगवान् नर इन्द्रपुत्र महाबली पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके रूपमें प्रकट होंगे तथा पराक्रमसम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें सव्यसाचीके नामसे विख्यात होंगे । स्वयम्भू ब्रह्माजीने उन्हींको यथासमय भीष्मकी मृत्युमें कारण बनाया है ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन् रामोऽब्रवीदिदम् ।
नाहं युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पितरोंके ऐसा कहनेपर परशुरामजीने उनसे इस प्रकार कहा—'मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा । यह मेरा चिरकालसे धारण किया हुआ व्रत है ॥

न निवर्तितपूर्वश्च कदाचिद् रणमूर्धनि ।
निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात् पितामहाः ॥ २२ ॥
न त्वहं विनिवर्तिष्ये युद्धादस्मात् कथंचन ।

'आजसे पहले भी मैं कभी किसी युद्धसे पीछे नहीं हटा हूँ । अतः पितामहो ! आपलोग अपनी इच्छाके अनुसार पहले गङ्गानन्दन भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त कीजिये । मैं किसी प्रकार पहले स्वयं ही इस युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा' २२½

ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा ॥ २३ ॥
नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् ।
निवर्तस्व रणात् तात मानयस्व द्विजोत्तमम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब वे ऋचीक आदि मुनि नारदजीके साथ मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—'तात ! तुम्हीं युद्धसे निवृत्त हो जाओ और द्विजश्रेष्ठ परशुरामजीका मान रक्खो' ॥ २३-२४ ॥

इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया ।
मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ॥ २५ ॥
विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ॥ २६ ॥
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।

तब मैंने क्षत्रियधर्मको लक्ष्य करके उनसे कहा—'महर्षियो ! संसारमें मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं पीठपर बाणोंकी चोट खाता हुआ कदापि युद्धसे निवृत्त नहीं हो सकता । मेरा यह निश्चित विचार है कि मैं लोभसे, कायरता या दीनतासे, भयसे अथवा किसी स्वार्थके कारण भी क्षत्रियोंके सनातन धर्मका त्याग नहीं कर सकता' ॥ २५-२६½ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा नृप ॥ २७ ॥
भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे ।
तथैवात्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः ।
स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ॥ २८ ॥
समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम् ।

इतना कहकर मैं पूर्ववत् धनुष-बाण लिये दृढ़ निश्चयके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेके लिये डटा रहा । राजन् ! तब वे नारद आदि सम्पूर्ण ऋषि और मेरी माता गङ्गा सब लोग उस रणक्षेत्रमें एकत्र हुए और पुनः एक साथ मिलकर उस समराङ्गणमें भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २७-२८½ ॥

नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ॥ २९ ॥
राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम ।
अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव॥ ३० ॥

'भृगुनन्दन ! ब्राह्मणोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है; अतः शान्त हो जाओ । विप्रवर परशुराम ! इस युद्धसे निवृत्त हो जाओ । भार्गव ! तुम्हारे लिये भीष्म और भीष्मके लिये तुम अवध्य हो' ॥ २९-३० ॥

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुध्य रणाजिरम् ।
न्यासयांचक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहते हुए उन सब लोगोंने रणस्थलीको घेर लिया और पितरोंने भृगुनन्दन परशुरामसे अस्त्र-शस्त्र रखवा दिया ॥ ३१ ॥

ततोऽहं पुनरेवाथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
अद्राक्षं दीप्यमानान् वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ॥ ३२ ॥

इसी समय मैंने पुनः उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको आकाशमें उदित हुए आठ ग्रहोंकी भाँति प्रकाशित होते देखा॥

ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन् समरे स्थितम् ।
प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ॥ ३३ ॥

उन्होंने समरभूमिमें डटे हुए मुझसे प्रेमपूर्वक कहा—'महाबाहो ! तुम अपने गुरु परशुरामजीके पास जाओ और जगत्‌का कल्याण करो' ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा निवर्तितं रामं सुहृद्वाक्येन तेन वै ।
लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ॥ ३४ ॥

अपने सुहृदोंके कहनेसे परशुरामजीको युद्धसे निवृत्त हुआ देख मैंने भी लोककी भलाई करनेके लिये उन महर्षियोंकी बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः ।
रामश्चाभ्युत्स्मयन् प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर मैंने परशुरामजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया । उस समय मेरा शरीर बहुत घायल हो गया था । महातपस्वी परशुराम मुझे देखकर मुसकराये और प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ ३५ ॥

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः ।

गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ॥ ३६ ॥

'भीष्म ! इस जगत्‌में भूतलपर विचरनेवाला कोई भी क्षत्रिय तुम्हारे समान नहीं है । जाओ, इस युद्धमें तुमने मुझे बहुत संतुष्ट किया है' ॥ ३६ ॥

मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः ।
उक्तवान् दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

फिर मेरे सामने ही उन्होंने उस कन्याको बुलाकर उन सब महात्माओंके बीच दीनतापूर्ण वाणीमें उससे कहा ।३७।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें युद्धनिवृत्तिविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाकी कठोर तपस्या

राम उवाच

प्रत्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि ।
यथाशक्त्या मया युद्धं कृतं वै पौरुषं परम् ॥ १ ॥

परशुराम बोले—भाविनि ! यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने (तेरे लिये) पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया और महान् पुरुषार्थ दिखाया है ॥ १ ॥

न चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
विशेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ २ ॥

परंतु इस प्रकार उत्तमोत्तम अस्त्र प्रकट करके भी मैं शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मसे अपनी अधिक विशिष्टता नहीं दिखा सका ॥ २ ॥

एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद् वा करोमि ते ॥ ३ ॥

मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति, अधिक-से-अधिक बल इतना ही है । भद्रे ! अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा, अथवा बता, तेरा दूसरा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ३ ॥

भीष्ममेव प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः ।
निर्जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि प्रमुञ्चता ॥ ४ ॥

अब तू भीष्मकी ही शरण ले । तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है; क्योंकि महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके भीष्मने मुझे जीत लिया है ॥ ४ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः ।
तूष्णीमासीत् ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ॥ ५ ॥

ऐसा कहकर महामना परशुराम लंबी साँस खींचते हुए मौन हो गये । तब राजकन्या अम्बाने उन भृगुनन्दनसे कहा—॥

भगवन्नेवमेवैतद् यथाऽऽह भगवांस्तथा ।
अजेयो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । वास्तवमें ये उदार-बुद्धि भीष्म युद्धमें देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ६ ॥

यथाशक्ति यथोत्साहं मम कार्यं कृतं त्वया ।
अनिवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च ॥ ७ ॥

'आपने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूर्ण उत्साहके साथ मेरा कार्य किया है । युद्धमें ऐसा पराक्रम दिखाया है, जिसे भीष्मके सिवा दूसरा कोई रोक नहीं सकता था । इसी प्रकार आपने नाना प्रकारके दिव्यास्त्र भी प्रकट किये हैं ॥ ७ ॥

न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः ।
न चाहमेनं यास्यामि पुनर्भीष्मं कथंचन ॥ ८ ॥

'परंतु अन्ततोगत्वा आप युद्धमें उनकी अपेक्षा अपनी विशेष्यता स्थापित न कर सके । मैं भी अब किसी प्रकार पुनः भीष्मके पास नहीं जाऊँगी ॥ ८ ॥

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ॥ ९ ॥

'भृगुश्रेष्ठ तपोधन ! अब मैं वहीं जाऊँगी, जहाँ ऐसा बन सकूँ कि समरभूमिमें स्वयं ही भीष्मको मार गिराऊँ' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोषव्याकुललोचना ।
तापस्ये धृतसंकल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ॥ १० ॥

ऐसा कहकर रोषभरे नेत्रोंवाली वह राजकन्या मेरे वधके उपायका चिन्तन करती हुई तपस्याके लिये दृढ़ संकल्प लेकर वहाँसे चली गयी ॥ १० ॥

ततो महेन्द्रं सह तैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः ।
यथाऽऽगतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य भारत ॥११॥

भारत ! तदनन्तर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी उन महर्षियोंके साथ मुझसे विदा ले जैसे आये थे, वैसे ही महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ ११ ॥

ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः ।
प्रविश्य नगरं मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ १२ ॥
यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चादिशं प्राज्ञान् कन्यावृत्तान्तकर्मणि ॥ १३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् मैंने भी ब्राह्मणके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए रथपर आरुढ़ हो हस्तिनापुरमें आकर माता सत्यवतीसे सब समाचार यथार्थरूपसे निवेदन किया । माताने भी मेरा अभिनन्दन किया । इसके बाद मैंने कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंको उस कन्याके वृत्तान्तका पता लगानेके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ १२-१३ ॥

दिवसे दिवसे ह्यस्या गतिजल्पितचेष्टितम् ।
प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ॥ १४ ॥

मेरे लगाये हुए गुप्तचर सदा मेरे प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले थे । वे प्रतिदिन उस कन्याकी गतिविधि, बोलचाल और चेष्टाका समाचार मेरे पास पहुँचाया करते थे ॥ १४ ॥

यदैव हि वनं प्रायात् सा कन्या तपसे धृता ।

तदैव व्यथितो दीनो गतचेता इवाभवम् ॥ १५ ॥

जिस दिन वह कन्या तपस्याका निश्चय करके वनमें गयी, उसी दिन मैं व्यथित, दीन और अचेत-सा हो गया ॥

न हि मां क्षत्रियः कश्चिद् वीर्येण व्यजयद् युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ॥ १६ ॥

तात ! जो तपस्याके द्वारा कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण परशुरामजीको छोड़कर कोई भी क्षत्रिय अबतक युद्धमें मुझे पराजित नहीं कर सका है ॥१६॥

अपि चैतन्मया राजन् नारदेऽपि निवेदितम् ।
व्यासे चैव तथा कार्ये तौ चोभौ मामवोचताम् ॥ १७ ॥
न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ॥ १८ ॥

राजन् ! मैंने यह वृत्तान्त देवर्षि नारद और महर्षि व्याससे भी निवेदन किया था । उस समय उन दोनोंने मुझसे कहा— 'भीष्म ! तुम्हें काशिराजकी कन्याके विषयमें तनिक भी विषाद नहीं करना चाहिये । दैवके विधानको पुरुषार्थके द्वारा कौन टाल सकता है ?' ॥ १७-१८ ॥

सा कन्या तु महाराज प्रविश्याश्रममण्डलम् ।
यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर उस कन्याने आश्रममण्डलमें पहुँचकर यमुनाके तटका आश्रय ले ऐसी कठोर तपस्या की, जो मानवीय शक्तिसे परे है ॥ १९ ॥

निराहारा कृशा रूक्षा जटिला मलपङ्किनी ।
षण्मासान् वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना ॥ २० ॥

उसने भोजन छोड़ दिया, वह दुबली तथा रूक्ष हो गयी । सिरपर केशोंकी जटा बन गयी । शरीरमें मैल और कीचड़ जम गयी । वह तपोधना कन्या छः महीनोंतक केवल वायु पीकर ठूँठे काठकी भाँति निश्चल भावसे खड़ी रही २०

यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथापरम् ।
उदवासं निराहारा पारयामास भाविनी ॥ २१ ॥

फिर एक वर्षतक यमुनाजीके जलमें घुसकर बिना कुछ खाये-पीये वह भाविनी राजकन्या जलमें ही रहकर तपस्या करती रही ॥ २१ ॥

शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् ।
संवत्सरं तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् तीव्र क्रोधसे युक्त हुई अम्बाने पैरके अँगूठेके अग्रभागपर खड़ी हो अपने-आप झड़कर गिरा हुआ केवल एक सूखा पत्ता खाकर एक वर्ष व्यतीत किया ॥ २२ ॥

एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास रोदसी ।
निवर्त्यमानापि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ॥ २३ ॥

इस प्रकार बारह वर्षोंतक कठोर तपस्यामें संलग्न हो उसने पृथ्वी और आकाशको संतप्त कर दिया । उसके जातिवालोंने आकर उसे उस कठोर व्रतसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की; परंतु उन्हें सफलता न मिल सकी ॥ २३ ॥

ततोऽगमद् वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् ।
आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ॥ २४ ॥
तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् ।
व्यचरत् काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित वत्स देशकी भूमिमें गयी और वहाँ पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमोंमें विचरने लगी । काशिराजकी वह कन्या दिन-रात वहाँके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करती और अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र विचरती रहती थी ॥ २४-२५ ॥

नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे ।
च्यवनस्याश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ॥ २६ ॥
प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह ।
भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याश्रमे तथा ॥ २७ ॥
माण्डव्यस्याश्रमे राजन् दिलीपस्याश्रमे तथा ।
रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाश्रमे ॥ २८ ॥
एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते ।
आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ॥ २९ ॥

महाराज ! शुभकारक नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यवनाश्रम, ब्रह्मस्थान, देवताओंके यज्ञस्थान प्रयाग, देवारण्य, भोगवती, कौशिकाश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद और पैलगर्गाश्रम—क्रमशः इन सभी तीर्थोंमें उन दिनों काशिराजकी कन्याने कठोर व्रतका आश्रय ले स्नान किया ॥ २६–२९ ॥

तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता ।
किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! उस समय मेरी माता गङ्गाने जलमें प्रकट होकर अम्बासे कहा—'भद्रे ! तू किसलिये शरीरको इतना क्लेश देती है । मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ ३० ॥

सैनामथाब्रवीद् राजन् कृताञ्जलिरनिन्दिता ।
भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ॥ ३१ ॥
कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः ।
साहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! तब साध्वी अम्बाने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे कहा—'चारुलोचने ! भीष्मने युद्धमें परशुरामजीको परास्त कर दिया; फिर दूसरा कौन ऐसा राजा है, जो धनुष-बाण लेकर खड़े हुए भीष्मको युद्धमें परास्त कर सके ? अतः मैं भीष्मके विनाशके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही हूँ॥३१-३२॥

विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् ।
एतद् व्रतफलं देवि परमस्मिन् यथा हि मे ॥ ३३ ॥

'देवि ! मैं इस भूतलपर विभिन्न तीर्थोंमें इसीलिये विचर रही हूँ कि योग्य बनकर मैं स्वयं ही भीष्मको मार सकूँ । भगवति ! इस जगत्‌में मेरे व्रत और तपस्याका यही सर्वोत्तम फल है, जैसा मैंने आपको बताया है' ॥ ३३ ॥

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि ।
नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले ॥ ३४ ॥

तब सागरगामिनी गङ्गानदीने उससे कहा—'भाविनि ! तू कुटिल आचरण कर रही है। सुन्दर अङ्गोंवाली अबले ! तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम्।
व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ॥ ३५ ॥
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका।
दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी ॥ ३६ ॥

'काशिराजकन्ये ! यदि भीष्मके विनाशके लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रतमें स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर छोड़ेगी तो शुभे ! तुझे टेढ़ी-मेढ़ी नदी होना पड़ेगा। केवल बरसातमें ही तेरे भीतर जल दिखायी देगा। तेरे भीतर तीर्थ या स्नानकी सुविधा बड़ी कठिनाईसे होगी। तू केवल बरसातकी नदी समझी जायगी। शेष आठ महीनोंमें तेरा पता नहीं लगेगा ॥ ३५-३६ ॥

भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी।
एवमुक्त्वा ततो राजन् काशिकन्यां न्यवर्तत ॥ ३७ ॥
माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी।
कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद् दशमे तथा।
न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ॥ ३८ ॥

'बरसातमें भी भयंकर ग्राहोंसे भरी रहनेके कारण तू समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी।' राजन् ! काशिराजकी कन्यासे ऐसा कहकर मेरी परम सौभाग्यशालिनी माता गङ्गा देवी मुसकराती हुई लौट गयीं। तदनन्तर वह सुन्दरी कन्या पुनः कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हो कभी आठवें और कभी दसवें महीने तक जल भी नहीं पीती थी ॥ ३७-३८ ॥

सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात् ततस्ततः।
पतिता परिधावन्ती पुनः काशिपतेः सुता ॥ ३९ ॥

कुरुनन्दन ! काशिराजकी वह कन्या तीर्थसेवनके लोभसे वत्सदेशकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ती फिरती थी ॥ ३९ ॥

सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताम्बेति भारत।
वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ॥ ४० ॥

भारत ! कुछ कालके पश्चात् वह वत्सदेशकी भूमिमें अम्बा नामसे प्रसिद्ध नदी हुई, जो केवल बरसातमें जलसे भरी रहती थी। उसमें बहुत-से ग्राह निवास करते थे। उसके भीतर उतरना और स्नान आदि तीर्थकृत्योंका सम्पादन बहुत ही कठिन था। वह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती थी ॥ ४० ॥

सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत।
नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवत् तदा ॥ ४१ ॥

राजन् ! राजकन्या अम्बा उस तपस्याके प्रभावसे आधे शरीरसे तो अम्बा नामकी नदी हो गयी और आधे अङ्गसे वत्सदेशमें ही एक कन्या होकर प्रकट हुई ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाकी तपस्याविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम्।
दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाब्रुवन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तात ! उस जन्ममें भी उसे तपस्या करनेका ही दृढ़ निश्चय लिये देख सब तपस्वी महात्माओंने उसे रोका और पूछा—'तुझे क्या करना है?' ॥ १ ॥

तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा।
निराकृतास्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ॥ २ ॥

तब उस कन्याने उन तपोवृद्ध महर्षियोंसे कहा—'भीष्मने मुझे ठुकराया है और मुझे पतिकी प्राप्ति एवं उसकी सेवारूप धर्मसे वञ्चित कर दिया है ॥ २ ॥

वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः।
निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ॥ ३ ॥

'तपोधनो ! मेरी यह तपकी दीक्षा पुण्यलोकोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भीष्मका वध करनेके लिये है। मेरा यह निश्चय है कि भीष्मको मार देनेपर मेरे हृदयको शान्ति मिल जायगी ॥ ३ ॥

यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्तास्मि शाश्वतीम्।
पतिलोकाद् विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ॥ ४ ॥
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः।
एष मे हृदि संकल्पो यदिदं कथितं मया ॥ ५ ॥

'जिसके कारण मैं सदाके लिये इस दुःखमयी परिस्थितिमें पड़ गयी हूँ और पतिलोकसे वञ्चित होकर इस जगत्‌में न तो स्त्री रह गयी हूँ न पुरुष ही। उस गङ्गापुत्र भीष्मको युद्धमें मारे बिना तपस्यासे निवृत्त नहीं होऊँगी। तपोधनो ! यही मेरे हृदयका संकल्प है, जिसे मैंने स्पष्ट बता दिया ॥ ४-५ ॥

स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया।
भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नास्मि वार्येति वै पुनः ॥ ६ ॥

'मुझे स्त्रीके स्वरूपसे विरक्ति हो गयी है, अतः पुरुषशरीरकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय लेकर तपस्यामें प्रवृत्त हुई हूँ। भीष्मसे अवश्य बदला लेना चाहती हूँ, अतः आपलोग मुझे रोकें नहीं' ॥ ६ ॥

तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः।
मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ॥ ७ ॥

तब शूलपाणि उमावल्लभ भगवान् शिवने उन महर्षियोंके बीचमें अपने साक्षात् स्वरूपसे प्रकट होकर उस तपस्विनीको दर्शन दिया ॥ ७ ॥

छन्द्यमाना वरेणाथ सा वव्रे मत्पराजयम् ।
हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ॥ ८ ॥

फिर इच्छानुसार वर माँगनेका आदेश देनेपर उसने मेरी पराजयका वर माँगा । तब महादेवजीने उस मनस्विनीसे कहा—'तू अवश्य भीष्मका वध करेगी' ॥ ८ ॥

ततः सा पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
उपपद्येत कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ॥ ९ ॥

यह सुनकर उस कन्याने भगवान् रुद्रसे पुनः पूछा—'देव! मैं तो स्त्री हूँ । मुझे युद्धमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है?॥९॥

स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते ।
प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ॥ १० ॥

'उमापते! भूतनाथ! स्त्रीरूप होनेके कारण मेरा मन बहुत निस्तेज है । इधर आपने मेरे द्वारा भीष्मके पराजित होनेका वरदान दिया है ॥ १० ॥

यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ॥ ११ ॥

'वृषध्वज! आपका वह वरदान जिस प्रकार सत्य हो, वैसा कीजिये; जिससे मैं युद्धमें शान्तनुपुत्र भीष्मका सामना करके उन्हें मार सकूँ' ॥ ११ ॥

तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः ।
न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ॥ १२ ॥

तब वृषभध्वज महादेवजीने उस कन्यासे कहा—'भद्रे! मेरी वाणीने कभी झूठ नहीं कहा है; अतः मेरी बात सत्य होकर रहेगी ॥ १२ ॥

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे ।
स्मरिष्यसि च तत् सर्वं देहमन्यं गता सती ॥ १३ ॥

'तू रणक्षेत्रमें भीष्मको अवश्य मारेगी और इसके लिये आवश्यकतानुसार पुरुषत्व भी प्राप्त कर लेगी । दूसरे शरीरमें जानेपर तुझे इन सब बातोंका स्मरण भी बना रहेगा ॥१३॥

द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः ।
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः ॥ १४ ॥

'तू द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हो महारथी वीर होगी । तुझे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलामें निपुणता प्राप्त होगी । साथ ही तू विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाली सम्मानित योद्धा होगी॥

यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद् भविष्यति ।
भविष्यसि पुमान् पश्चात् कस्माच्चित्कालपर्ययात्॥१५॥

'कल्याणि! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा । तू पहले तो कन्यारूपमें ही उत्पन्न होगी; फिर कुछ कालके पश्चात् पुरुष हो जायगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः ।
पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर जटाजूटधारी वृषभध्वज महादेवजी उन सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६ ॥

ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता ।
समाहृत्य वनात् तस्मात् काष्ठानि वरवर्णिनी ॥ १७ ॥
चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् ।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ॥ १८ ॥
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् ।
ज्येष्ठा काशिसुता राजन् यमुनामभितो नदीम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर उन महर्षियोंके देखते-देखते उस साध्वी एवं सुन्दरी कन्याने उस वनसे बहुत-सी लकड़ियोंका संग्रह किया और एक विशाल चिता बनाकर उसमें आग लगा दी । महाराज! जब आग प्रज्वलित हो गयी, तब वह क्रोधसे जलते हुए हृदयसे भीष्मके वधका संकल्प बोलकर उस आगमें प्रवेश कर गयी । राजन्! इस प्रकार काशिराजकी वह ज्येष्ठ पुत्री अम्बा दूसरे जन्ममें यमुनानदीके किनारे चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गयी ॥ १७—१९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका अग्निमें प्रवेशविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८७॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका राजा द्रुपदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना

दुर्योधन उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा ।
पुरुषोऽभूद् युधिश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—समरश्रेष्ठ गङ्गानन्दन पितामह! शिखण्डी पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर फिर पुरुष कैसे हो गया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

भार्या तु तस्य राजेन्द्र द्रुपदस्य महीपतेः ।
महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशाम्पते ॥ २ ॥

भीष्मने कहा—प्रजापालक राजेन्द्र! राजा द्रुपदकी प्यारी पटरानीके कोई पुत्र नहीं था ॥ २ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः ।
अपत्यार्थं महाराज तोषयामास शङ्करम् ॥ ३ ॥

महाराज! इसी समय भूपाल द्रुपदने संतानकी प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ॥ ३ ॥

अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः ।
ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
भगवन् पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया ।
इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति ॥ ५ ॥
निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।

हमलोगोंके वधके लिये पुत्र पानेका निश्चित संकल्प लेकर उन्होंने यह कहते हुए घोर तपस्या की थी कि 'महादेव ! मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो । भगवन् ! मैं भीष्मसे बदला लेनेके लिये पुत्र चाहता हूँ ।' यह सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'भूपाल ! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी । अब तुम लौटो । मैंने जो कहा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥ ४-५½ ॥

स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह ॥ ६ ॥
कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया ।
कन्या भूत्वा पुमान् भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना॥७॥
पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः ।
न तदन्यच्च भविता भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ८ ॥

तब राजा द्रुपद नगरको लौट गये और अपनी पत्नीसे इस प्रकार बोले – 'देवि ! मैंने बड़ा प्रयत्न किया । तपस्याके द्वारा महादेवजीकी आराधना की । तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर कहा—पहले तुम्हें पुत्री होगी; फिर वही पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी । मैंने बार-बार केवल पुत्रके लिये याचना की; परंतु भगवान् शिवने इसे दैवका विधान बताया है और कहा—'यह बदल नहीं सकता । जो कहा गया है, वही होगा' ॥ ६–८ ॥

ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी ।
पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह ॥ ९ ॥
लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना ।

तदनन्तर द्रुपदराजकी मनस्विनी पत्नीने नियमपूर्वक रहकर द्रुपदके साथ संयोग किया । शास्त्रीय विधिसे गर्भाधान-संस्कार होनेपर यथासमय उसने गर्भ धारण किया । राजन् ! जैसा कि मुझसे नारदजीने कहा था । द्रुपदकी कमल-नयनी रानीने इसी प्रकार गर्भ धारण किया ॥९-१०½॥

तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥
पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत् तदा ।
सर्वानभिप्रायकृतान् भार्यालभत कौरव ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! महाबाहु द्रुपदने भावी पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण अपनी प्यारी पत्नीको बड़े सुखसे रक्खा । उसका आदर-सत्कार किया । कुरुकुलरत्न ! रानीको जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा हुई, वे सब उनके सामने प्रस्तुत की गयीं ॥ ११–१२ ॥

अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः ।
यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह ॥ १३ ॥
कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप ।

नरेश्वर ! पुत्रहीन राजा द्रुपदकी उस महारानीने समय आनेपर एक परम सुन्दरी कन्याको जन्म दिया ॥१३½॥

अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी ॥ १४ ॥
ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै ।

राजेन्द्र ! तब पुत्रहीन राजा द्रुपदकी मनस्विनी रानीने यह घोषणा करा दी कि यह मेरा पुत्र है ॥ १४½ ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप ॥ १५ ॥
पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत् ।
रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा ॥ १६ ॥
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत ।
न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्षतात् ॥ १७ ॥

नरेन्द्र ! इसके बाद राजा द्रुपदने छिपाकर रक्खी हुई उस कन्याके सभी संस्कार पुत्रके ही समान कराये । द्रुपदकी रानीने सब प्रकारका प्रयत्न करके इस रहस्यको गुप्त रखनेकी व्यवस्था की । वह उस कन्याको पुत्र कहकर ही पुकारती थी । सारे नगरमें केवल द्रुपदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता था कि वह कन्या है ॥ १५–१७ ॥

श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याच्युततेजसः ।
छादयामास तां कन्यां पुमानिति च सोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

जिनका तेज कभी क्षीण नहीं होता, उन महादेवजीके वचनोंपर श्रद्धा रखनेके कारण राजा द्रुपदने उसके कन्या-भावको छिपाया और पुत्र होनेकी घोषणा कर दी ॥१८॥

जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास पार्थिवः ।
पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः ॥ १९ ॥

राजाने बालकके सम्पूर्ण जातकर्म पुत्रोचित विधानसे ही करवाये, लोग उसे 'शिखण्डी' के नामसे जानते थे ॥१९॥

अहमेकस्तु चारेण वचनान्नारदस्य च ।
ज्ञातवान् देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा ॥ २० ॥

केवल मैं गुप्तचरके दिये हुए समाचारसे, नारदजीके-कथनसे, महादेवजीके वरदान-वाक्यसे तथा अम्बाकी तपस्या-से शिखण्डीके कन्या होनेका वृत्तान्त जान गया था ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तौ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीकी उत्पत्तिविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान् कोप

भीष्म उवाच

चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु।
ततो लेख्यादिषु तथा शिल्पेषु च परंतप ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—तदनन्तर द्रुपदने अपनी पुत्रीको लेखनशिक्षा और शिल्पशिक्षा आदि सभी कार्योंकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये विशेष प्रयत्न किया ॥ १ ॥

इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह।
तस्य माता महाराज राजानं वरवर्णिनी ॥ २ ॥
चोदयामास भार्यार्थं कन्यायाः पुत्रवत् तदा।
ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्।
स्त्रियं मत्वा ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! धनुर्विद्याके लिये शिखण्डी द्रोणाचार्यका शिष्य हुआ। महाराज ! शिखण्डीकी सुन्दरी माताने राजा द्रुपदको प्रेरित किया कि वे उसके पुत्रके लिये बहू ला दें। वह अपनी कन्याका पुत्रके समान ब्याह करना चाहती थी। द्रुपदने देखा, मेरी बेटी जवान हो गयी तो भी अबतक स्त्री ही बनी हुई है (वरदानके अनुसार पुरुष नहीं हो सकी), इससे पत्नीसहित उनके मनमें बड़ी चिन्ता हुई ॥ २-३ ॥

द्रुपद उवाच

कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं शोकवर्धिनी।
मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः ॥ ४ ॥

द्रुपद बोले—देवि ! मेरी यह कन्या युवावस्थाको प्राप्त होकर मेरा शोक बढ़ा रही है। मैंने भगवान् शंकरके कथनपर विश्वास करके अबतक इसके कन्याभावको छिपा रक्खा था ॥ ४ ॥

भार्योवाच

न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथंचन।
त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा वक्तुमिहार्हति ॥ ५ ॥
यदि ते रोचते राजन् वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
श्रुत्वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज ॥ ६ ॥

रानीने कहा—महाराज ! भगवान् शिवका दिया हुआ वर किसी तरह मिथ्या नहीं होगा। भला, तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् झूठी बात कैसे कह सकते हैं ? राजन् ! यदि आपको अच्छा लगे तो कहूँ। मेरी बात सुनिये। पृषतनन्दन ! इसे सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण करें ॥ ५-६ ॥

क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद् दारसंग्रहः।
भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ७ ॥

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌का वचन सत्य होगा। अतः आप प्रयत्नपूर्वक शास्त्रीय विधिके अनुसार इसका कन्याके साथ विवाह कर दें ॥ ७ ॥

ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन् कार्येऽथ दम्पती।
वरयांचक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार विवाहका निश्चय करके दोनों पति-पत्नीने दशार्णराजकी पुत्रीका अपने पुत्रके लिये वरण किया ॥ ८ ॥

ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः
सर्वान् राज्ञः कुलतः संनिशाम्य।
दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां
शिखण्डिने वरयामास दारान् ॥ ९ ॥

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदने समस्त राजाओंके कुल आदिका परिचय सुनकर दशार्णराजकी ही पुत्रीका शिखण्डीके लिये वरण किया ॥ ९ ॥

हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः।
स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने ॥ १० ॥

दशार्णदेशके राजाका नाम हिरण्यवर्मा था। भूपाल हिरण्यवर्माने शिखण्डीको अपनी कन्या दे दी ॥ १० ॥

स च राजा दशार्णेषु महानासीत् सुदुर्जयः।
हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः ॥ ११ ॥

दशार्णदेशका वह राजा हिरण्यवर्मा महान् दुर्जय और दुर्धर्ष वीर था। उसके पास विशाल सेना थी। साथ ही उसका हृदय भी विशाल था ॥ ११ ॥

कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम।
यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी ॥ १२ ॥
कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत्।
ततः सा वेद तां कन्यां कञ्चित् कालं स्त्रियं किल ॥ १३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! हिरण्यवर्माकी पुत्री भी युवावस्थाको प्राप्त थी। इधर द्रुपदकी कन्या शिखण्डिनी भी पूर्ण युवती हो गयी थी। विवाहकार्य सम्पन्न हो जानेपर पत्नीसहित शिखण्डी पुनः काम्पिल्य नगरमें आया। दशार्णराजकी कन्याने कुछ ही दिनोंमें यह समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है ॥ १२-१३ ॥

हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम्।
धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत्।
कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम् ॥ १४ ॥

हिरण्यवर्माकी पुत्रीने शिखण्डीके यथार्थ स्वरूपको जानकर अपनी धाय तथा सखियोंसे लजाते-लजाते यह गुप्त बात कह दी कि पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डी वास्तवमें पुरुष नहीं, स्त्री है ॥ १४ ॥

ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा।
जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह सुनकर दशार्णदेशकी धायोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने यह समाचार सूचित करनेके लिये बहुत-सी दासियोंको दशार्णराजके यहाँ भेजा ॥ १५ ॥

ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वा न्यवेदयन्।
विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः ॥ १६ ॥

वे सब दासियाँ दशार्णराजसे सब बातें ठीक-ठीक बताती हुई बोलीं कि 'राजा द्रुपदने बहुत बड़ा धोखा दिया है।' यह सुनकर दशार्णराज अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद् राजकुले तदा।
विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवातिरोचयन् ॥ १७ ॥

महाराज ! शिखण्डी भी उस राजपरिवारमें पुरुषकी ही भाँति आनन्दपूर्वक घूमता-फिरता था। उसे अपना स्त्रीत्व अच्छा नहीं लगता था ॥ १७ ॥

ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! तदनन्तर कुछ दिनोंमें उसके स्त्री होनेका समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा क्रोधसे पीड़ित हो गया ॥

ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः।
दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर दशार्णराजने दुःसह क्रोधसे युक्त हो राजा द्रुपदके दरबारमें दूत भेजा ॥ १९ ॥

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः।
एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

हिरण्यवर्माका वह दूत द्रुपदके पास पहुँचकर अकेला एकान्तमें सबको हटाकर केवल राजासे इस प्रकार बोला—॥

दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत्।
अभिषङ्गात् प्रकुपितो विप्रलब्धस्त्वयानघ ॥ २१ ॥

'निष्पाप नरेश ! आपने दशार्णराजको धोखा दिया है। आपके द्वारा किये गये अपमानसे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया है। उन्होंने आपसे कहनेके लिये यह संदेश भेजा है ॥

अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं तव।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद् याचितवानसि ॥ २२ ॥
तस्याद्य विप्रलम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते।
एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! तुमने जो मेरा अपमान किया है, यह निश्चय ही तुम्हारे खोटे विचारका परिचय है। तुमने मोहवश अपनी पुत्रीके लिये मेरी पुत्रीका वरण किया था। दुर्मते ! उस ठगी और वञ्चनाका फल अब तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा, धीरज रक्खो। मैं अभी सेवकों और मन्त्रियोंसहित तुम्हें जड़मूलसहित उखाड़ फेंकता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें हिरण्यवर्माके दूतका आगमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ १८९

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यवर्माके आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्य दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप।
चोरस्येव गृहीतस्य न प्रावर्तत भारती ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! दूतके ऐसा कहनेपर पकड़े गये चोरकी भाँति राजा द्रुपदके मुखसे सहसा कोई बात नहीं निकली ॥ १ ॥

स यत्नमकरोत् तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने।
दूतैर्मधुरसम्भाषैर्नैतदस्तीति संदिशन् ॥ २ ॥

उन्होंने मधुरभाषी दूतोंके द्वारा यह संदेश देकर कि 'ऐसी बात नहीं है (आपको धोखा नहीं दिया गया है)' अपने सम्बन्धीको मनानेका दुष्कर प्रयत्न किया ॥ २ ॥

स राजा भूय एवाथ ज्ञात्वा तत्त्वमथागमत्।
कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ॥ ३ ॥

राजा हिरण्यवर्माने जब पुनः पता लगाया तो पाञ्चालराजकी पुत्री शिखण्डिनी कन्या ही है, यह बात ठीक जान पड़ी। इससे रुष्ट होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ द्रुपदपर आक्रमण करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

ततः सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम्।
दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वचनात् तदा ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजाने धायोंके कथनानुसार अपनी कन्याको द्रुपदके द्वारा धोखा दिये जानेका समाचार अमिततेजस्वी मित्र राजाओंके पास भेजा ॥ ४ ॥

ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः।
अभियाने मतिं चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ॥ ५ ॥

भारत ! इसके बाद नृपश्रेष्ठ हिरण्यवर्माने सैन्य-संग्रह करके राजा द्रुपदके ऊपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया ॥ ५ ॥

ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स महीपतिः।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! फिर राजा हिरण्यवर्माने अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर परामर्श किया कि मुझे पाञ्चालनरेशके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र वै निश्चितं तेषामभूद् राज्ञां महात्मनाम्।
तथ्यं भवति चेदेतत् कन्या राजन् शिखण्डिनी ॥ ७ ॥
बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम्।
अन्यं राजानमाधाय पञ्चालेषु नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ॥ ९ ॥

वहाँ महामना मित्र राजाओंका यह निश्चय घोषित हुआ कि राजन् ! यदि यह सत्य सिद्ध हुआ कि शिखण्डी वास्तवमें पुत्र नहीं, कन्या है, तब हमलोग पाञ्चालराजको कैद करके अपने घर ले आयेंगे और पाञ्चालदेशके राज्यपर दूसरे किसी राजाको बिठाकर शिखण्डीसहित द्रुपदको मरवा डालेंगे ॥ ७–९ ॥

तत् तथाभूतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः ।
प्रास्थापयत् पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ॥ १० ॥

फिर दूतके मुखसे उस समाचारको यथार्थ जानकर राजा हिरण्यवर्माने द्रुपदके पास दूत भेजा । स्थिर रहो (सावधान हो जाओ); मैं कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा संहार कर डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्बिषी च नराधिपः ।
भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ॥ ११ ॥

भीष्म कहते हैं—राजा द्रुपद उन दिनों स्वभावसे ही भीरु थे । फिर उनके द्वारा अपराध भी बन गया था । अतः उन्होंने बड़े भारी भयका अनुभव किया ॥ ११ ॥

विसृज्य दूतान् दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः ।
समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ॥ १२ ॥

राजा द्रुपदने दशार्णनरेशके पास दूतोंको भेजकर शोकसे अधीर हो एकान्त स्थानमें अपनी पत्नीसे मिलकर इस विषयमें बातचीत करनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥

भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाहतः ।
पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजके हृदयमें बड़ा भारी भय समा गया था । वे शोकसे पीड़ित थे । अतः उन्होंने अपनी प्यारी पत्नी शिखण्डीकी मातासे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

अभियास्यति मां कोपात् सम्बन्धी सुमहाबलः ।
हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ॥ १४ ॥

'देवि ! मेरे महाबली सम्बन्धी हिरण्यवर्मा क्रोधवश अपनी विशाल सेना लाकर मेरे ऊपर आक्रमण करेंगे ॥१४॥

किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति ।
शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ॥ १५ ॥

'इस समय हम दोनों क्या करें ? इस कन्याके प्रश्नको लेकर हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं । सम्बन्धीके मनमें यह शंका दृढ़मूल हो गयी है कि तुम्हारा पुत्र शिखण्डी वास्तवमें कन्या है ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य यत्नेन समित्रः सबलानुगः ।
वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥
किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने ।
श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ॥ १७ ॥

'यह सोचकर वे ऐसा मानने लगे हैं कि मेरे साथ धोखा किया गया है और इसलिये वे अपने मित्रों, सैनिकों तथा सेवकोंसहित आकर मुझे यत्नपूर्वक उखाड़ फेंकना चाहते हैं । सुश्रोणि ! यहाँ क्या सच है और क्या झूठ ? शोभने ! इस बातको तुम्हीं बताओ । तुम्हारे मुखसे निकले हुए शुभ वचनको सुनकर मैं वैसा ही करूँगा ॥ १६-१७ ॥

अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी ।
त्वं च राज्ञि महत् कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ॥ १८ ॥

'रानी ! मेरा जीवन संशयमें पड़ गया है । यह शिखण्डिनी भी बालिका ही है । सुन्दरि ! तुम भी महान् संकटमें फँस गयी हो ॥ १८ ॥

सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ।
तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ॥ १९ ॥

'सुश्रोणि ! मैं पूछ रहा हूँ । सबको संकटसे छुड़ानेके लिये कोई यथार्थ उपाय बताओ । शुचिस्मिते ! मैं उस उपायको शीघ्र ही काममें लाऊँगा ॥ १९ ॥

शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः ।
कृपयाहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ॥ २० ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली महारानी ! तुम शिखण्डीके विषयमें भय मत करो । मैं दया करके वही कार्य करूँगा, जो वस्तुतः हितकारक होगा, मैं स्वयं पुत्रधर्मसे वञ्चित हो गया हूँ ॥

मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः ।
तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ॥ २१ ॥

'और मैंने दशार्णनरेश महाराज हिरण्यवर्माको भी वञ्चित किया है । अतः महाभागे ! इस अवसरपर तुम्हारी दृष्टिमें जो हितकारक कार्य हो, उसे बताओ । मैं उसका अनुष्ठान करूँगा' ॥ २१ ॥

जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै ।
प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा द्रुपद सब कुछ जानते थे तो भी दूसरे लोगोंमें अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये महारानीसे स्पष्ट शब्दोंमें पूछा । उनके प्रश्न करनेपर रानीने राजाको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें द्रुपदप्रश्नविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना

भीष्म उवाच

ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप ।
आचचक्षे महाबाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाबाहु नरेश्वर ! तब शिखण्डीकी माताने अपने पतिसे यथार्थ रहस्य बताते हुए कहा— 'यह पुत्र शिखण्डी नहीं, शिखण्डिनी नामवाली कन्या है ॥ १ ॥

अपुत्रया मया राजन् सपत्नीनां भयादिदम्।
कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ॥ २ ॥

'राजन्! पुत्ररहित होनेके कारण मैंने अपनी सौतोंके भयसे इस कन्या शिखण्डिनीके जन्म लेनेपर भी इसे पुत्र ही बताया ॥ २ ॥

त्वया चैव नरश्रेष्ठ तन्मे प्रीत्यानुमोदितम्।
पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! आपने भी प्रेमवश मेरे इस कथनका अनुमोदन किया और महाराज! कन्या होनेपर भी आपने इसका पुत्रोचित संस्कार किया ॥ ३ ॥

भार्या चोढा त्वया राजन् दशार्णाधिपतेः सुता।
मया च प्रत्यभिहितं देववाक्यार्थदर्शनात्।
कन्या भूत्वा पुमान् भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ॥ ४ ॥

'राजन्! मेरे ही कथनपर विश्वास करके आप दशार्णराजकी पुत्रीको इसकी पत्नी बनानेके लिये ब्याह लाये। महादेवजीके वरदानवाक्यपर दृष्टि रखनेके कारण मैंने इसके विषयमें पुत्र होनेकी घोषणा की थी। महादेवजीने कहा था कि पहले कन्या होगी, फिर वही पुत्र हो जायगा। इसीलिये इस वर्तमान संकटकी उपेक्षा की गयी' ॥ ४ ॥

एतच्छ्रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः
सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्‌भ्यो निवेद्य।
मन्त्रं राजा मन्त्रयामास राजन्
यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ॥ ५ ॥

यह सुनकर यज्ञसेन द्रुपदने मन्त्रियोंको सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। राजन्! तत्पश्चात् प्रजाकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था उचित है, उसके लिये उन्होंने पुनः मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ ५ ॥

सम्बन्धकं चैव समर्थ्य तस्मिन्
दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र।
स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथाव-
न्मन्त्रैकाग्रो निश्चयं वै जगाम ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! यद्यपि राजा द्रुपदने स्वयं ही वञ्चना की थी, तथापि दशार्णराजके साथ सम्बन्ध और प्रेम बनाये रखनेकी इच्छा करके एकाग्रचित्तसे मन्त्रणा करते हुए वे एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन राजेन्द्र! यद्यपि वह नगर स्वभावसे ही सुरक्षित था, तथापि उस विपत्तिके समय उसको सब प्रकारसे सजा करके उन्होंने उसकी रक्षाके लिये विशेष व्यवस्था की ॥

आर्तिं च परमां राजा जगाम सह भार्यया।
दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! दशार्णराजके साथ विरोधकी भावना होनेपर रानीसहित राजा द्रुपदको बड़ा कष्ट हुआ ॥ ८ ॥

कथं सम्बन्धिना सार्धं न मे स्याद् विग्रहो महान्।
इति संचिन्त्य मनसा देवतामर्चयत् तदा ॥ ९ ॥

अपने सम्बन्धीके साथ मेरा महान् युद्ध कैसे टल जाय—यह मन-ही-मन विचार करके उन्होंने देवताकी अर्चना आरम्भ कर दी ॥ ९ ॥

तं तु दृष्ट्वा तदा राजन् देवी देवपरं तदा।
अर्चां प्रयुञ्जानमथो भार्या वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

राजन्! राजा द्रुपदको देवाराधनमें तत्पर देख महारानीने पूजा चढ़ाते हुए नरेशसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्या साधुमता सदा।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ॥ ११ ॥
दैवतानि च सर्वाणि पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम्।
अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ॥ १२ ॥

'देवताओंकी आराधना साधु पुरुषोंके लिये सदा ही सत्य (उत्तम) है। फिर जो दुःखके समुद्रमें डूबा हुआ हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है। अतः आप गुरुजनों और सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करें, ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा दें और दशार्णराजके लौट जानेके लिये अग्नियोंमें होम करें ॥ ११-१२ ॥

अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो।
देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद् भविष्यति ॥ १३ ॥

'प्रभो! मन-ही-मन यह चिन्तन कीजिये कि दशार्णराज बिना युद्ध किये ही लौट जायँ। देवताओंके कृपाप्रसादसे यह सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥ १३ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन।
पुरस्यास्याविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ॥ १४ ॥

'विशाललोचन नरेश! आपने इस नगरकी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ जैसा विचार किया है वैसा कीजिये ॥ १४ ॥

दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्ध्यति पार्थिव।
परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ॥ १५ ॥

'भूपाल! पुरुषार्थसे संयुक्त होनेपर ही दैव विशेषरूपसे सिद्धिको प्राप्त होता है। दैव और पुरुषार्थमें परस्पर विरोध होनेपर इन दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

तस्माद् विधाय नगरे विधानं सचिवैः सह।
अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ॥ १६ ॥

'राजन्! अतः आप मन्त्रियोंके साथ नगरकी रक्षाके लिये आवश्यक व्यवस्था करके इच्छानुसार देवताओंकी अर्चना कीजिये' ॥ १६ ॥

एवं संभाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ।
शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडितेव तपस्विनी ॥ १७ ॥
ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखिताबुभौ।
इमाविति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ॥ १८ ॥

इन दोनोंको इस प्रकार शोकमग्न होकर बातचीत करते देख उनकी तपस्विनी पुत्री शिखण्डिनी लज्जित-सी होकर इस

प्रकार चिन्ता करने लगी—'ये मेरे माता और पिता दोनों मेरे ही कारण दुखी हो रहे हैं।' ऐसा सोचकर उसने प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ १७-१८ ॥

एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं शोकपरायणा।
निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो घर छोड़कर निर्जन एवं गहन वनमें चली गयी ॥ १९ ॥

यक्षेणर्द्धिमता राजन् स्थूणाकर्णेन पालितम्।
तद्भयादेव च जनो विसर्जयति तद् वनम् ॥ २० ॥

राजन्! वह वन समृद्धिशाली यक्ष स्थूणाकर्णके द्वारा सुरक्षित था। इसीके भयसे साधारण लोगोंने उस वनमें आना-जाना छोड़ दिया था ॥ २० ॥

तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम्।
लाजोल्लापिकधूमाढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ॥ २१ ॥

उसके भीतर स्थूणाकर्णका विशाल भवन था, जो चूना और मिट्टीसे लीपा गया था। उसके परकोटे और फाटक बहुत ऊँचे थे। उसमें खसकी जड़के धूमकी सुगन्ध फैली हुई थी ॥ २१ ॥

तत् प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्यात्मजा नृप।
अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ॥ २२ ॥

उस भवनमें प्रवेश करके द्रुपदपुत्री शिखण्डिनी बहुत दिनोंतक उपवास करके शरीरको सुखाती रही ॥ २२ ॥

दर्शयामास तां यक्षः स्थूणो मार्दवसंयुतः।
किमर्थोऽयं तवारम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम् ॥ २३ ॥

स्थूणाकर्ण यक्षने उसे इस अवस्थामें देखा। देखकर उसके हृदयमें कोमल भावका उदय हुआ। फिर उसने पूछा—'भद्रे! तुम्हारा यह उपवास-व्रत किसलिये है? अपना प्रयोजन शीघ्र बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २३ ॥

अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह।
करिष्यामीति वै क्षिप्रं प्रत्युवाचाथ गुह्यकः ॥ २४ ॥

यह सुनकर उसने यक्षसे बार-बार कहा—'यह तुम्हारे लिये असम्भव है।' तब यक्षने बार-बार उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण कर दूँगा ॥ २४ ॥

धनेश्वरस्यानुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे।
अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ २५ ॥

'राजकुमारी! मैं कुबेरका सेवक हूँ। मुझमें वर देनेकी शक्ति है, तुम्हारी जो भी इच्छा हो बताओ। मैं तुम्हें अदेय वस्तु भी दे दूँगा' ॥ २५ ॥

ततः शिखण्डी तत् सर्वमखिलेन न्यवेदयत्।
तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन! तब शिखण्डिनीने उस यक्षप्रवर स्थूणाकर्णसे अपना सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया ॥ २६ ॥

शिखण्डिन्युवाच

अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति।
अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ॥ २७ ॥

शिखण्डिनी बोली—यक्ष! मेरे पुत्रहीन पिता अब शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि दशार्णराज कुपित होकर उनपर आक्रमण करेंगे ॥ २७ ॥

महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः।
तस्माद् रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ॥ २८ ॥

वे सुवर्णमय कवचसे युक्त नरेश महाबली और महान् उत्साही हैं—यक्ष! तुम मेरे माता-पिताकी और मेरी भी उनसे रक्षा करो ॥ २८ ॥

प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम।
भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ॥ २९ ॥
यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम।
तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ॥ ३० ॥

गुह्यक! महायक्ष! तुमने मेरे दुःखनिवारणके लिये प्रतिज्ञा की है। मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी कृपासे एक श्रेष्ठ पुरुष हो जाऊँ। जबतक राजा हिरण्यवर्मा हमारे नगरपर आक्रमण नहीं कर रहे हैं, तभीतक मुझपर कृपा करो ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें स्थूणाकर्णके साथ शिखण्डिनीकी भेंटविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय

भीष्म उवाच

शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाथ स यक्षो भरतर्षभ।
प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ॥ १ ॥
भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव।
भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ॥ २ ॥
(स्वं ते पुंस्त्वं प्रदास्यामि स्त्रीत्वं धारयितास्मि ते।)
किंचित् कालान्तरे दास्ये पुंलिङ्गं स्वमिदं तव।
आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ॥ ३ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतश्रेष्ठ कौरव! शिखण्डिनीकी यह बात सुनकर दैवपीड़ित यक्षने मन-ही-मन कुछ सोचकर

कहा—'भद्रे ! तुम जैसा कहती हो वैसा हो तो जायगा; परंतु वह मेरे दुःखका कारण होगा, तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा । इस विषयमें जो मेरी शर्त है, उसे सुनो । मैं तुम्हें अपना पुरुषत्व दूँगा और तुम्हारा स्त्रीत्व स्वयं धारण करूँगा; किंतु कुछ ही कालके लिये अपना यह पुरुषत्व तुम्हें दूँगा । उस निश्चित समयके भीतर ही तुम्हें मेरा पुरुषत्व लौटानेके लिये यहाँ आ जाना चाहिये । इसके लिये मुझे सच्चा वचन दो ॥ १–३ ॥'

प्रभुः संकल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः ।
मत्प्रसादात् पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ॥ ४ ॥

'मैं सिद्धसंकल्प, सामर्थ्यशाली, इच्छानुसार सर्वत्र विचरनेवाला तथा आकाशमें भी चलनेकी शक्ति रखनेवाला हूँ । तुम मेरी कृपासे केवल अपने नगर और बन्धु-बान्धवोंकी रक्षा करो ॥ ४ ॥

स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तदेवं पार्थिवात्मजे ।
सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ॥ ५ ॥

'राजकुमारी ! इस प्रकार मैं तुम्हारा स्त्रीत्व धारण करूँगा, कार्य पूर्ण हो जानेपर तुम मेरा पुरुषत्व लौटा देनेकी मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करो; तब मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा' ॥ ५ ॥

शिखण्डिन्युवाच

प्रतिदास्यामि भगवन् पुँल्लिङ्गं तव सुव्रत ।
किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ॥ ६ ॥

शिखण्डिनी बोली—भगवन् ! तुम्हारा यह पुरुषत्व मैं समयपर लौटा दूँगा । निशाचर ! तुम कुछ ही समयके लिये मेरा स्त्रीत्व धारण कर लो ॥ ६ ॥

प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि ।
कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ॥ ७ ॥

दशार्णदेशके स्वामी राजा हिरण्यवर्माके लौट जानेपर मैं फिर कन्या ही हो जाऊँगी और तुम पूर्ववत् पुरुष हो जाओगे ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप ।
अन्योऽन्यस्याभिसंदेहे तौ संक्रामयतां ततः ॥ ८ ॥
स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत ।
यक्षरूपं च तद् दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! इस प्रकार बात करके उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा कर ली तथा उन दोनोंने एक दूसरेके शरीरमें अपने-अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्वका संक्रमण करा दिया। भारत ! स्थूणाकर्ण यक्षने उस शिखण्डिनीके स्त्रीत्वको धारण कर लिया और शिखण्डिनीने यक्षका प्रकाशमान पुरुषत्व प्राप्त कर लिया ॥ ८-९ ॥

ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव ।
विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार पुरुषत्व पाकर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी बड़े हर्षके साथ नगरमें आया और अपने पितासे मिला ॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत् ।
द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत् परम् ॥ ११ ॥

उसने जैसे जो वृत्तान्त हुआ था, वह सब राजा द्रुपदसे कह सुनाया । उसकी यह बात सुनकर राजा द्रुपदको अपार हर्ष हुआ ॥ ११ ॥

सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा ।
ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ॥ १२ ॥
पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति ।

पत्नीसहित राजाको भगवान् महेश्वरके दिये हुए वरका स्मरण हो आया । तदनन्तर राजा द्रुपदने दशार्णराजके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि मेरा पुत्र पुरुष है । आप मेरी इस बातपर विश्वास करें ॥ १२½ ॥

अथ दाशार्णको राजा सहसाभ्यागमत् तदा ॥ १३ ॥
पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः ।

इधर दुःख और शोकमें डूबे हुए दशार्णराजने सहसा पाञ्चालराज द्रुपदपर आक्रमण किया ॥ १३½ ॥

ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ॥ १४ ॥
प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम् ।

काम्पिल्य नगरके निकट पहुँचकर दशार्णराजने वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दूत बनाकर भेजा ॥ १४½ ॥

ब्रूहि मद्वचनाद् दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ॥ १५ ॥
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते ।
फलं तस्यावलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ॥ १६ ॥

और कहा—'दूत ! मेरे कथनानुसार राजाओंमें अधम उस पाञ्चालनरेशसे कहिये । दुर्मते ! तुमने जो अपनी कन्याके लिये मेरी कन्याका वरण किया था, उस घमंडका फल तुम्हें आज देखना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्तश्च तेनासौ ब्राह्मणो राजसत्तम ।
दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! दशार्णराजका यह संदेश पाकर और उन्हींकी प्रेरणासे दूत बनकर वे ब्राह्मणदेवता काम्पिल्य नगरमें आये ॥

तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे ।
तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ॥ १८ ॥
प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना ।
तां पूजां नाभ्यनन्दत् स वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १९ ॥

नगरमें आकर वे पुरोहित ब्राह्मण महाराज द्रुपदसे मिले । पाञ्चालराजने सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य तथा गौ अर्पण की । उनके साथ राजकुमार शिखण्डी भी थे । राजेन्द्र ! पुरोहितने वह पूजा ग्रहण नहीं की और इस प्रकार कहा—॥ १८-१९ ॥

यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा ।
यत् तेऽहमधमाचार दुहित्रास्म्यभिवञ्चितः ॥ २० ॥
तस्य पापस्य करणात् फलं प्राप्नुहि दुर्मते ।
देहि युद्धं नरपते ममाद्य रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् ।

'राजन् ! वीरवर राजा हिरण्यवर्माने जो संदेश दिया है, उसे सुनिये । पापाचारी दुर्बुद्धि नरेश ! तुम्हारी पुत्रीके द्वारा मैं ठगा गया हूँ । वह पाप तुमने ही किया है; अतः उसका फल भोगो । नरेश्वर ! युद्धके मैदानमें आकर मुझे युद्धका अवसर दो । मैं मन्त्री, पुत्र और बान्धवोंसहित तुम्हारे समस्त कुलको उखाड़ फेंकूँगा' ॥ २०-२१½ ॥

तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ॥ २२ ॥
दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा ।

इस प्रकार पुरोहितने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए राजा द्रुपदसे दशार्णराजका कहा हुआ उपालम्भयुक्त संदेश सुनाया ॥ २२½ ॥

अभवद् भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ॥ २३ ॥
यदाह मां भवान् ब्रह्मन् सम्बन्धिवचनाद् वचः ।
अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब राजा द्रुपद प्रेमसे विनीत हो गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने मेरे सम्बन्धीके कथनानुसार जो बात मुझे सुनायी है, इसका उत्तर मेरा दूत स्वयं जाकर राजाको देगा' ॥ २३-२४ ॥

ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने ।
हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर द्रुपदने भी महामना हिरण्यवर्माके पास वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको दूत बनाकर भेजा ॥ २५ ॥

तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा ।
तद् वाक्यमाददे राजन् यदुक्तं द्रुपदेन ह ॥ २६ ॥

राजन् ! उन्होंने दशार्णनरेशके पास आकर द्रुपदने जो कुछ कहा था, वह सब दुहरा दिया ॥ २६ ॥

आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम ।
मिथ्यैतदुक्तं केनापि तदश्रद्धेयमित्युत ॥ २७ ॥

'राजन् ! आप आकर स्पष्टरूपसे परीक्षा कर लें । मेरा यह कुमार पुत्र है (कन्या नहीं) । आपसे किसीने झूठे ही उसके कन्या होनेकी बात कह दी है; जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है' ॥ २७ ॥

ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा
विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः ।
सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः
शिखण्डिनं स्त्री पुमान् वेति वेत्तुम् ॥ २८ ॥

राजा द्रुपदका यह उत्तर सुनकर हिरण्यवर्माने कुछ विचार किया और अत्यन्त मनोहर रूपवाली कुछ श्रेष्ठ युवतियोंको यह जाननेके लिये भेजा कि शिखण्डी स्त्री है या पुरुष ॥

ताः प्रेषितास्तत्त्वभावं विदित्वा
प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् ।
शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र
दाशार्णराजाय महानुभावम् ॥ २९ ॥

कौरवराज ! उन भेजी हुई युवतियोंने वास्तविक बात जानकर राजा हिरण्यवर्माको बड़ी प्रसन्नताके साथ सब कुछ बता दिया । उन्होंने दशार्णराजको यह विश्वास दिला दिया कि शिखण्डी महान् प्रभावशाली पुरुष है ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ ।
सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ॥ ३० ॥

इस प्रकार परीक्षा करके राजा हिरण्यवर्मा बड़े प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने सम्बन्धीसे मिलकर बड़े हर्ष और उल्लासके साथ वहाँ निवास किया ॥ ३० ॥

शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद् वित्तं जनेश्वरः ।
हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ॥ ३१ ॥

राजाने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जामाता शिखण्डीको भी बहुत धन, हाथी, घोड़े, गाय, बैल और दासियाँ दीं ॥

पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल ।
विनीतकिल्बिषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ।
प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी ॥ ३२ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने झूठी खबर भेजनेके कारण अपनी पुत्रीको भी झिड़कियाँ दीं । फिर वे राजा द्रुपदसे सम्मानित होकर लौट गये । मनोमालिन्य दूर करके दशार्णराज हिरण्यवर्माके प्रसन्नतापूर्वक लौट जानेपर शिखण्डिनीको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३२ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः ।
लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्यागान्निवेशनम् ॥ ३३ ॥

उधर कुछ कालके पश्चात् नरवाहन कुबेर लोकमें भ्रमण करते हुए स्थूणाकर्णके घरपर आये ॥ ३३ ॥

स तद्गृहस्योपरि वर्तमान
आलोकयामास धनाधिगोप्ता ।
स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म
स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ॥ ३४ ॥
लाजैश्च गन्धैश्च तथा वितानै-
रभ्यर्चितं धूपनधूपितं च ।
ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च
भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ॥ ३५ ॥

उसके घरके ऊपर आकाशमें स्थित हो धनाध्यक्ष कुबेरने उसका अच्छी तरह अवलोकन किया । स्थूणाकर्ण यक्षका वह भवन विचित्र हारोंसे सजाया गया था । खशकी और अन्य पदार्थोंकी सुगन्धसे भी अर्चित तथा चँदोवोंसे सुशोभित था । उसमें सब ओर धूपकी सुगन्ध फैली हुई थी । अनेकानेक ध्वज और पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । वहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि सभी वस्तुएँ, जिनका दन्त और जिह्वाद्वारा उदराग्निमें हवन किया जाता है, प्रस्तुत थीं । तत्पश्चात् कुबेरने उस भवनमें प्रवेश किया ॥ ३४-३५ ॥

तत् स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम् ।
मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ॥ ३६ ॥
नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम् ।

अथाब्रवीद् यक्षपतिस्तान् यक्षाननुगांस्तदा ॥ ३७ ॥
स्वलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्यामितविक्रमाः ।
नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ॥ ३८ ॥

कुबेरने उसके निवासस्थानको सब ओरसे सुसज्जित, मणि, रत्न तथा सुवर्णकी मालाओंसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी सुगन्धसे व्याप्त तथा झाड़-बुहार और धो-पोंछ देनेके कारण शोभासम्पन्न देखकर यक्षराजने स्थूणाकर्णके सेवकोंसे पूछा—'अमित पराक्रमी यक्षो ! स्थूणाकर्णका यह भवन तो सब प्रकारसे सजाया हुआ दिखायी देता है (इससे सिद्ध है कि वह घरमें ही है), तथापि वह मूर्ख मेरे पास आता क्यों नहीं है ? ॥ ३६—३८ ॥

यस्माज्जानन् स मन्दात्मा मामसौ नोपसर्पति ।
तस्मात् तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ॥३९॥

'वह मन्दबुद्धि यक्ष मुझे आया हुआ जानकर भी मेरे निकट नहीं आ रहा है; इसलिये उसे महान् दण्ड देना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है' ॥ ३९ ॥

यक्षा ऊचुः

द्रुपदस्य सुता राजन् राज्ञो जाता शिखण्डिनी ।
तस्यै निमित्ते कस्मिंश्चित् प्रादात् पुरुषलक्षणम् ॥ ४० ॥
अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे ।
नोपसर्पति तेनासौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ॥ ४१ ॥

यक्षोंने कहा—राजन्! राजा द्रुपदके यहाँ एक शिखण्डिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई है। उसीको किसी विशेष कारणवश इन्होंने अपना पुरुषत्व दे दिया है और उसका स्त्रीत्व स्वयं ग्रहण कर लिया है। तबसे वे स्त्रीरूप होकर घरमें ही रहते हैं। स्त्रीरूपमें होनेके कारण ही वे लज्जावश आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ ४०-४१ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् स्थूणो न त्वाद्य सर्पति ।
श्रुत्वा कुरु यथान्यायं विमानमिह तिष्ठताम् ॥ ४२ ॥

महाराज ! इसी कारणसे स्थूणाकर्ण आज आपके सामने नहीं उपस्थित हो रहे हैं। यह सुनकर आप जैसा उचित समझें, करें। आज आपका विमान यहीं रहना चाहिये ॥४२॥

आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत् ।
कर्तास्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

तब यक्षराजने कहा—'स्थूणाकर्णको यहाँ बुला ले आओ। मैं उसे दण्ड दूँगा।' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥४३॥

सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते ।
स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इस प्रकार बुलानेपर वह यक्ष कुबेरकी सेवामें गया। महाराज ! वह स्त्रीस्वरूप धारण करनेके कारण लजामें डूबा हुआ उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ४४ ॥

तं शशापाथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन ।
एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! उसे इस रूपमें देखकर कुबेर अत्यन्त कुपित हो उठे और शाप देते हुए बोले—'गुह्यको ! इस पापी स्थूणाकर्णका यह स्त्रीत्व अब ऐसा ही बना रहे' ॥ ४५ ॥

ततोऽब्रवीद् यक्षपतिर्महात्मा
यस्माददास्त्ववमन्येह यक्षान् ।
शिखण्डिने लक्षणं पापबुद्धे
स्त्रीलक्षणं चाग्रहीः पापकर्मन् ॥ ४६ ॥
अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत् त्वया कृतम् ।
तस्मादद्य प्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ॥ ४७ ॥

तदनन्तर महात्मा यक्षराजने उस यक्षसे कहा—'पापबुद्धि और पापाचारी यक्ष ! तूने यक्षोंका तिरस्कार करके यहाँ शिखण्डीको अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व ग्रहण कर लिया है। दुर्बुद्धे ! तूने जो यह अव्यावहारिक कार्य कर डाला है, इसके कारण आजसे तू स्त्री ही बना रहे और शिखण्डी पुरुषरूपमें ही रह जाय' ॥ ४६-४७ ॥

ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल ।
स्थूणस्यार्थे कुरुष्वान्तं शापस्येति पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

तब यक्षोंने अनुनय-विनय करके स्थूणाकर्णके लिये कुबेरको प्रसन्न किया और बारंबार आग्रहपूर्वक कहा—'भगवन् ! इस शापका अन्त कर दीजिये' ॥ ४८ ॥

ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचानुगामिनः ।
सर्वान् यक्षगणांस्तात शापस्यान्तचिकीर्षया ॥ ४९ ॥

तात ! तब महात्मा यक्षराजने स्थूणाकर्णका अनुगमन करनेवाले उन समस्त यक्षोंसे उस शापका अन्त कर देनेकी इच्छासे इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥

शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते ।
स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा भगवान् देवो यक्षराजः सुपूजितः ।
प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ॥ ५१ ॥

'यक्षो ! शिखण्डीके मारे जानेपर यह स्थूणाकर्ण यक्ष अपना पूर्वरूप फिर प्राप्त कर लेगा। अतः अब इसे निर्भय हो जाना चाहिये।' ऐसा कहकर महामना भगवान् यक्षराज कुबेर उन यक्षोंद्वारा अत्यन्त पूजित हो निमेषमात्रमें ही अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेवाले अपने समस्त सेवकोंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ५०-५१ ॥

स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत् तदा ।
समये चागमत् तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ॥ ५२ ॥

उस समय कुबेरका शाप पाकर स्थूणाकर्ण वहीं रहने लगा। शिखण्डी पूर्वनिश्चित समयपर उस निशाचर स्थूणाकर्णके पास तुरंत आ गया ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्याब्रवीद् वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति ।
तमब्रवीत् ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

उसके निकट जाकर शिखण्डीने कहा—'भगवन् ! मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ।' तब स्थूणाकर्णने उससे बारंबार कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५३ ॥

आर्जवेनागतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम् ।

सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ॥ ५४ ॥

राजकुमार शिखण्डीको सरलतापूर्वक आया हुआ देख उससे यक्षने अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।५४।

यक्ष उवाच

शप्तो वैश्रवणेनाहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज।
गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान् यथासुखम् ॥ ५५ ॥

यक्षने कहा—राजकुमार! तुम्हारे लिये ही यक्षराजने मुझे शाप दे दिया है; अतः अब जाओ, इच्छानुसार सारे जगत्में सुखपूर्वक विचरो ॥ ५५ ॥

दिष्टमेतत् पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम्।
गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ॥ ५६ ॥

मैं इसे अपना पुरातन प्रारब्ध ही मानता हूँ, जो कि तुम्हारा यहाँसे जाना और उसी समय यक्षराज कुबेरका यहाँ आकर दर्शन देना हुआ। अब इसे टाला नहीं जा सकता।५६।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत।
प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः ॥ ५७ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतनन्दन! स्थूणाकर्ण यक्षके ऐसा कहनेपर शिखण्डी बड़े हर्षके साथ अपने नगरको लौट आया॥

पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः।
द्विजातीन् देवताश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ॥ ५८ ॥
द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना।
मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ॥ ५९ ॥

पूर्ण मनोरथ होकर लौटे हुए अपने पुत्र शिखण्डीके साथ पाञ्चालराज द्रुपदने गन्ध-माल्य आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों, चैत्य (पीपल आदि धार्मिक) वृक्षों तथा चौराहोंका पूजन किया तथा बन्धु-बान्धवों-सहित उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ५८-५९ ॥

शिष्यार्थं प्रददौ चाथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव।
शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ॥ ६० ॥

महाराज! कुरुश्रेष्ठ! द्रुपदने अपने पुत्र शिखण्डीको जो पहले कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ था, द्रोणाचार्यकी सेवामें धनुर्वेदकी शिक्षाके लिये सौंप दिया ॥ ६० ॥

प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः।
शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्नने तुम सब भाइयोंके साथ ही ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार—इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ ६१ ॥

मम त्वेतच्चरास्तात यथावत् प्रत्यवेदयन्।
जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ॥ ६२ ॥

मैंने द्रुपदके नगरमें कुछ गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे, जो गूँगे, अंधे और बहरे बनकर वहाँ रहते थे। वे ही यह सब समाचार मुझे ठीक-ठीक बताया करते थे ॥ ६२ ॥

एवमेष महाराज स्त्रीपुमान् द्रुपदात्मजः।
स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ॥ ६३ ॥

महाराज! कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार यह रथियोंमें उत्तम द्रुपदकुमार शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ था ॥ ६३ ॥

ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता।
द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

भरतश्रेष्ठ! काशिराजकी ज्येष्ठ कन्या, जो अम्बा नामसे विख्यात थी, वही द्रुपदके कुलमें शिखण्डीके रूपमें उत्पन्न हुई है ॥ ६४ ॥

नाहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम्।
मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाप्युत ॥ ६५ ॥

जब यह हाथमें धनुष लेकर युद्ध करनेकी इच्छासे मेरे सामने उपस्थित होगा, उस समय मुहूर्तभर भी न तो इसकी ओर देखूँगा और न इसपर प्रहार ही करूँगा ॥ ६५ ॥

व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम्।
स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ॥ ६६ ॥
न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन।

कौरवनन्दन! इस भूमण्डलमें भी मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर पुरुष हुआ हो, जिसका नाम स्त्रीके समान हो तथा जिसका रूप एवं वेष-भूषा स्त्रियोंके समान हो, इन सबपर मैं बाण नहीं छोड़ सकता।६६½।

न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ॥ ६७ ॥
एतत् तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः।
ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ॥ ६८ ॥

तात! इसी कारणसे मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता। शिखण्डीके जन्मका वास्तविक वृत्तान्त मैं जानता हूँ। अतः समरभूमिमें वह आततायी होकर आवे तो भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६७-६८ ॥

यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात् सन्तः कुर्युर्विगर्हणम्।
नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वापि समरे स्थितम् ॥ ६९ ॥

यदि भीष्म स्त्रीका वध करे तो साधु पुरुष इसकी निन्दा करेंगे, अतः शिखण्डीको समरभूमिमें खड़ा देखकर भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा।
मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ॥ ७० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सब सुनकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर भीष्मके लिये शिखण्डीका वध न करना उचित ही मान लिया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्तिविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ १९२

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन

संजय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने सारी सेनाके बीचमें पुनः पितामह भीष्मसे पूछा—॥ १ ॥

पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम्।
प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ॥ २ ॥
भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः।
लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ३ ॥
अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम्।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥ ४ ॥

'गङ्गानन्दन! यह जो पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये उद्यत है। इसमें बहुत-से पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार भरे हुए हैं। यह सेना बड़े-बड़े महारथियों एवं उनके विशाल रथोंसे व्याप्त है। लोकपालोंके समान महापराक्रमी एवं महाधनुर्धर भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर इस सेनाकी रक्षा करते हैं। यह उछलती हुई तरङ्गोंसे युक्त समुद्रकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होती है। इसे आगे बढ़नेसे रोकना असम्भव है तथा बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्धमें इस सैन्य-समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकते ॥ २–४ ॥

केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ॥ ५ ॥
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी गङ्गानन्दन! आप कितने समयमें इस सारी सेनाका विध्वंस कर सकते हैं? महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्धकी स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समयमें शत्रुसेनाका संहार कर सकते हैं; क्योंकि मेरी सेनामें आप ही सब लोग दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥ ७ ॥

'महाबाहो! मैं यह जानना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे हृदयमें सदा अत्यन्त कौतूहल बना रहता है। आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें' ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ! पृथ्वीपते! तुम जो यहाँ शत्रुओंके बलाबलके विषयमें पूछ रहे हो, यह तुम्हारे योग्य ही है ॥ ८ ॥

शृणु राजन् मम रणे या शक्तिः परमा भवेत्।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥ ९ ॥

राजन्! महाबाहो! युद्धमें जो मेरी सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रोंका तथा दोनों भुजाओंका जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ॥ १० ॥

साधारण लोगोंके साथ सरलभावसे ही युद्ध करना चाहिये। जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्धसे ही करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रोंका निश्चय है ॥ १० ॥

हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम्।
दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्राग्राह्णिकं मम ॥ ११ ॥

महाभाग! मैं प्रतिदिन पाण्डवोंकी सेनाको पहले अपने दैनिक भागमें विभक्त करके उसका वध करूँगा ॥ ११ ॥

योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते।
सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ॥ १२ ॥

महाद्युते! दस-दस हजार योद्धाओंका तथा एक हजार रथियोंका समूह मेरा एक भाग मानना चाहिये ॥ १२ ॥

अनेनाहं विधानेन संनद्धः सततोत्थितः।
क्षपयेयं महत् सैन्यं कालेनानेन भारत ॥ १३ ॥

भारत! इस विधानसे मैं सदा उद्यत और संनद्ध होकर उस विशाल सेनाको इतने ही समयमें नष्ट कर सकता हूँ ॥

मुञ्चेयं यदि वास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥ १४ ॥

भारत! यदि मैं युद्धमें स्थित होकर लाखों वीरोंका संहार करनेवाले अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करने लगूँ तो एक मासमें पाण्डवोंकी सारी सेनाको नष्ट कर सकता हूँ।१४।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥ १५ ॥
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान्।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ १६ ॥

संजय बोले—राजेन्द्र! भीष्मका यह वचन सुनकर राजा दुर्योधनने आङ्गिरस ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे पूछा—'आचार्य! आप कितने समयमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिकोंका संहार कर सकते हैं?' यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले—॥ १५-१६ ॥

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १७ ॥

'महाबाहो! अब तो मैं बूढ़ा हो गया, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा कम हो गयी, तो भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी अग्निसे पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर दूँगा ॥ १७ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम्॥ १८॥

'जैसे शान्तनुनन्दन भीष्म एक मासमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकते हैं, उसी प्रकार और उतने ही समयमें मैं भी कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है। यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है और यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है'॥ १८॥

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत्।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम्॥ १९॥

कृपाचार्यने दो महीनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी बात कही; परंतु अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें शत्रुसेनाके संहारकी प्रतिज्ञा कर ली॥ १९॥

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित्।
तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः॥ २०॥
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम्॥ २१॥
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः॥ २२॥

बड़े-बड़े अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने पाँच ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की। सूतपुत्रका यह कथन सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े और यह वचन बोले—'राधापुत्र! जबतक युद्धभूमिमें शंख, बाण और धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुनको तुम एक ही रथसे आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ नहीं होती, तभीतक ऐसा अभिमान प्रकट करते हो; तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी बातें कह सकते हो'॥ २०—२२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्म आदिके द्वारा अपनी शक्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९३॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! कौरव-सेनामें जो बातचीत हुई थी, उसका समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकान्तमें बुलाकर इस प्रकार कहा॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम।
ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम्॥ २॥
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम्।
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—धृतराष्ट्रकी सेनामें जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रिमें दुर्योधनने महान् व्रतधारी गङ्गानन्दन भीष्मसे यह प्रश्न किया था कि प्रभो! आप पाण्डवोंकी सेनाका कितने समयमें संहार कर सकते हैं॥ २-३॥

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान्॥ ४॥
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम्।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित्॥ ५॥

भीष्मजीने धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह उत्तर दिया कि मैं एक महीनेमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकता हूँ। द्रोणाचार्यने भी उतने ही समयमें वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की। कृपाचार्यने दो महीनेका समय बताया। यह बात हमारे सुननेमें आयी है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी प्रतिज्ञा की है॥ ४-५॥

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान्॥ ६॥

दिव्यास्त्रवेत्ता कर्णसे जब कौरव-सभामें पूछा गया, तब उसने पाँच ही दिनोंमें हमारी सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन॥ ७॥

अतः अर्जुन! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ। फाल्गुन! तुम कितने समयमें शत्रुओंको नष्ट कर सकते हो?॥

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनंजयः।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत॥ ८॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर निद्राविजयी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥ ८॥

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः॥ ९॥

'महाराज! निःसंदेह ये सभी महामना योद्धा अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले हैं। अतः उतने दिनोंमें शत्रुसेनाको मार सकते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम्।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान्॥ १०॥

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥ ११ ॥

'परंतु इससे आपके मनमें संताप नहीं होना चाहिये। आपका मनस्ताप तो दूर ही हो जाना चाहिये। मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिये। मैं भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त हुआ एकमात्र रथको लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १०-११ ॥

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम ।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥ १२ ॥

'भगवान् पशुपतिने किरातवेषमें द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास मौजूद है ॥

यद् युगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन् ।
प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह ! प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करते समय भगवान् पशुपति जिस अस्त्रका प्रयोग करते हैं, वही यह मेरे पास विद्यमान है ॥ १३ ॥

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः ।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥ १४ ॥

'राजन् ! इसे न तो गङ्गानन्दन भीष्म जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको ही इसका पता है; फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है ? ॥ १४ ॥

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् ।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥ १५ ॥

'परंतु युद्धमें साधारण जनोंको दिव्यास्त्रोंद्वारा मारना कदापि उचित नहीं है; अतः हमलोग सरलतापूर्ण युद्धके द्वारा ही शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तत्र पार्थिव ।
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १६ ॥

'राजन् ! ये सभी पुरुषसिंह जो हमारे सहायक हैं, दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं और सभी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

वेदान्तावभृथस्नाताः सर्वे एतेऽपराजिताः ।
निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ॥ १७ ॥

'इन सबने वेदाध्ययन समाप्त करके यज्ञान्त स्नान किया है। ये सभी कभी परास्त न होनेवाले वीर हैं। पाण्डुनन्दन ! ये लोग समरभूमिमें देवताओंकी सेनाको भी नष्ट कर सकते हैं ॥

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १८ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि ।

'शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यकी समानता करनेवाले हैं ॥ १८½ ॥

शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ॥ १९ ॥
पुत्रोऽस्याञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः ।
शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ॥ २० ॥

'महाबाहु शङ्ख, महाबली घटोत्कच, महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न घटोत्कच-पुत्र अञ्जनपर्वा तथा संग्राम-कुशल महाबाहु सात्यकि—ये सभी आपके सहायक हैं॥ १९-२०॥

अभिमन्युश्च बलवान् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥ २१॥

'बलवान् अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तो आपके साथ हैं ही। आप स्वयं भी तीनों लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

क्रोधाद् यं पुरुषं पश्येस्तथा शक्रसमद्युते ।
स क्षिप्रं न भवेद् व्यक्तमिति त्वां वेद्मि कौरव ॥ २२ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुनन्दन ! आप क्रोधपूर्वक जिस पुरुषको देख लें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। आपके इस प्रभावको मैं जानता हूँ' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९४॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाका रणके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः ।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे प्रेरित हो सब राजा पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये चले ॥ १ ॥

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः ।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ॥ २ ॥

चलनेके पहले उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण किये, पुष्पोंकी मालाएँ पहनीं, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया, अग्निमें आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २॥

सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे वर्मभृतश्चैव सर्वे चाहवलक्षणाः ॥ ३ ॥

वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तम विधिसे व्रतका पालन करनेवाले थे । सभी कवचधारी तथा युद्धके चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ ३ ॥

आहवेषु परॉंल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः ।
एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम् ॥ ४ ॥

वे महाबली वीर युद्धमें पराक्रम दिखाकर उत्तम लोकों-पर विजय पाना चाहते थे । उन सबका चित्त एकाग्र था और वे सभी एक दूसरेपर विश्वास करते थे ॥ ४ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह ।
प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ॥ ५ ॥

अवन्तीदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीक-देशीय सैनिकोंके साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्यको आगे करके चले ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।
दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पर्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ ६ ॥
गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः ।
शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥ ७ ॥
स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् ।
एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥ ८ ॥

अश्वत्थामा, भीष्म, सिन्धुराज जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्त्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तर दिशाके नरेश, शक, किरात, यवन, शिबि और वसाति भूपालगण—ये सभी महारथीलोग अपनी-अपनी सेनाओंके साथ महारथी (भीष्म) को सब ओरसे घेरकर दूसरे सैन्य-दलके रूपमें सुसज्जित होकर निकले ॥ ६–८ ॥

कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ९ ॥
शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः ।
एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ॥ १० ॥

सेनासहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयोंसे घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसल-राज बृहद्रथ—ये दुर्योधनको आगे करके उसके पीछे-पीछे (तृतीय सैन्यदलमें) चले ॥ ९-१० ॥

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके वे महाबली पुत्र रणक्षेत्रमें जाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो कुरुक्षेत्रके पश्चिम भागमें यथोचितरूपसे खड़े हुए ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत ।
यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ॥ १२ ॥
न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा ।
कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ॥ १३ ॥

भारत ! दुर्योधनने पहलेसे ही ऐसा निवासस्थान बनवा रक्खा था, जो दूसरे हस्तिनापुरकी भाँति सजा हुआ था । राजेन्द्र ! नगरमें निवास करनेवाले चतुर मनुष्य भी उस शिबिर तथा हस्तिनापुर नामक नगरमें क्या अन्तर है, यह नहीं समझ पाते थे ॥ १२-१३ ॥

तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः ।
कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

अन्य राजाओंके लिये भी कुरुवंशी भूपालने वैसे ही सैकड़ों तथा सहस्रों दुर्ग बनवाये थे ॥ १४ ॥

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ॥ १५ ॥

समराङ्गणके लिये पाँच योजनका घेरा छोड़कर सैनिकोंके ठहरनेके लिये सौ-सौकी संख्यामें कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गयी थीं ॥ १५ ॥

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥ १६ ॥

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न हजारों छावनियोंमें वे भूपाल अपने बल और उत्साहके अनुरूप युद्ध-के लिये उद्यत होकर रहते थे ॥ १६ ॥

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधबन्दिनः ॥ १८ ॥

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन महा-मना नरेशोंको परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता था । हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्प-जीवियों, अन्य अनु-गामियों तथा सूत, मागध और बंदीजनोंको भी राजाकी ओरसे भोजन प्राप्त होता था ॥ १७-१८ ॥

वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः ।
सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवैक्षत ॥ १९ ॥

वहाँ जो वणिक्, गणिकाएँ, गुप्तचर तथा दर्शक मनुष्य आते थे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन विधिपूर्वक देखभाल करता था ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम्।
सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथादिशत् ॥ २ ॥

चेदि, काशि और करूषदेशोंके अधिनायक दृढ़ पराक्रमी शत्रुनाशक सेनापति धृष्टकेतुको भी प्रस्थान करनेका आदेश दिया।

विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम्।
पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ३ ॥

विराट, द्रुपद, सात्यकि, शिखण्डी, महाधनुर्धर पाञ्चालवीर युधामन्यु और उत्तमौजाको भी राजाका आदेश प्राप्त हुआ॥

ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः।
आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः॥ ४ ॥
अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव।

वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुए सोनेके कुण्डल धारण किये वेदीपर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४½ ॥

अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ॥ ५ ॥
दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः।
तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम्।
सगजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ॥ ७ ॥

तदनन्तर योग्यतानुसार सम्पूर्ण सेनाका समादर करके नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उन सैनिकोंको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी और सेना तथा सवारियोंसहित उन महामना नरेशोंको उत्तमोत्तम खाने-पीनेकी वस्तुएँ देनेकी आज्ञा दी। उनके साथ जो भी हाथी, घोड़े, मनुष्य और शिल्पजीवी पुरुष थे, उन सबके लिये भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दिया ॥५–७॥

अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः।
धृष्टद्युम्नमुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नको आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबको प्रथम सेनादलके साथ भेजा ॥ ८ ॥

भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनंजयम्।
द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

भीमसेन, सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन अर्जुनको युधिष्ठिरने द्वितीय सैन्यसमूहका नेता बनाकर भेजा ॥ ९ ॥

भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम्।
हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १० ॥

वहाँ हर्षमें भरे हुए कुछ योद्धा सवारियोंपर युद्धकी सामग्री चढ़ाते, कुछ इधर-उधर जाते और कुछ लोग कार्यवश दौड़-धूप करते थे। उन सबका कोलाहल मानो स्वर्गलोकको छूने लगा ॥ १० ॥

स्वयमेव ततः पश्चाद् विराटद्रुपदान्वितः।
अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपदको साथ ले अन्यान्य भूपालोंसहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले ॥ ११ ॥

भीमधन्वायनी सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १२ ॥

भयंकर धनुर्धरोंसे भरी हुई और धृष्टद्युम्नके द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डवसेना कहीं निश्चल और कहीं प्रवाहशील जलसे भरी गङ्गाके समान दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान्।
मोहयन् धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनिश्चयम् ॥ १३ ॥

थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बौद्धिक निश्चयमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये अपनी सेनाका दुबारा संगठन किया ॥ १३ ॥

द्रौपदेयान् महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः।
नकुलं सहदेवं च सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ॥ १४ ॥
दश चाश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम्।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ॥ १५ ॥
भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं प्रादिशद् बलम्।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके महाधनुर्धर पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव, समस्त प्रभद्रक वीर, दस हजार घुड़सवार, दो हजार हाथीसवार, दस हजार पैदल तथा पाँच सौ रथी—इनके प्रथम दुर्धर्ष दलको भीमसेनकी अध्यक्षतामें दे दिया ॥

मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ॥ १६ ॥
महारथौ च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ ॥ १७ ॥
अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनंजयौ।

बीचके दलमें राजाने विराट, जयत्सेन तथा पाञ्चालदेशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजाको रक्खा। हाथोंमें गदा और धनुष धारण किये ये दोनों वीर (युधामन्यु-उत्तमौजा) बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्यभागमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेनाके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १६-१७½ ॥

बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्रहरणा नराः ॥ १८ ॥
तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः।

पञ्च नागसहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

उस समय जो योद्धा पहले कभी युद्ध कर चुके थे, वे आवेशमें भरे हुए थे। उनमें बीस हजार घोड़े ऐसे थे जिनकी पीठपर शौर्यसम्पन्न वीर बैठे हुए थे। इन घुड़सवारोंके साथ पाँच हजार गजारोही तथा बहुत-से रथी भी थे ॥ १८-१९॥

पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदाधराः।
सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करनेवाले जो पैदल सैनिक थे, वे सहस्रोंकी संख्यामें सेनाके आगे और पीछे चलते थे॥

युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये स्वयमेव बलार्णवे।
तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ॥ २१ ॥

जिस सैन्य-समुद्रमें स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत-से भूमिपाल उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते थे ॥ २१ ॥

तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च।
तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत ॥ २२ ॥

भारत! उसमें एक हजार हाथीसवार, दस हजार घुड़सवार, एक हजार रथी और कई सहस्र पैदल सैनिक थे ॥

चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ।
धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवो ययौ ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ! अपनी विशाल सेनाके साथ चेकितान तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी उन्हींके साथ जा रहे थे ॥ २३ ॥

सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः।
वृतः शतसहस्रेण रथानां प्रणुदन् बली ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी महान् धनुर्धर बलवान् सात्यकि एक लाख रथियोंसे घिरकर गर्जना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ २४ ॥

क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ॥ २५ ॥

क्षत्रदेव और ब्रह्मदेव ये दोनों पुरुषरत्न रथपर बैठकर सेनाके पिछले भागकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं च सर्वशः।
तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च।
फल्गु सर्वं कलत्रं च यत्किञ्चित् कृशदुर्बलम् ॥ २६ ॥
कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च।
गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से छकड़े, दूकानें, वेशभूषाके सामान, सवारियाँ, सामान ढोनेकी गाड़ी, एक सहस्र हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ, स्त्रियाँ, कृश और दुर्बल मनुष्य, कोश-संग्रह और उनके ढोनेवाले लोग तथा कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके राजा युधिष्ठिर धीरे-धीरे गजसेनाके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ २६-२७ ॥

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ॥ २८ ॥
रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः।
हयानां दश कोट्यश्च महतां किंकिणीकिनाम् ॥ २९ ॥
गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः।
कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ॥ ३० ॥

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र रणदुर्मद सत्यधृति, श्रेणिमान्, वसुदान तथा काशिराजके सामर्थ्यशाली पुत्र जा रहे थे। इन सबका अनुगमन करनेवाले बीस हजार रथी, घुँघुरुओंसे सुशोभित दस करोड़ घोड़े, ईषादण्डके समान दाँतवाले, प्रहार-कुशल, अच्छी जातिमें उत्पन्न, मदस्रावी और मेघोंकी घटाके समान चलनेवाले बीस हजार हाथी थे ॥ २८—३० ॥

षष्टिर्नागसहस्राणि दशान्यानि च भारत।
युधिष्ठिरस्य यान्यासन् युधि सेना महात्मनः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

भारत! इनके सिवा, युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरके पास निजी तौरपर सत्तर हजार हाथी और थे, जो जल बरसानेवाले बादलोंकी भाँति अपने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहाते थे। वे सबके सब जङ्गम पर्वतोंकी भाँति राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे थे ॥ ३१-३२ ॥

एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः।
यदाश्रित्याथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके पास भयंकर एवं विशाल सेना थी, जिसका आश्रय लेकर वे धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे लोहा ले रहे थे ॥ ३३ ॥

ततोऽन्ये शतशः पश्चात् सहस्रायुतशो नराः।
नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ॥ ३४ ॥

इन सबके अतिरिक्त पीछे-पीछे लाखों पैदल मनुष्य तथा उनकी सहस्रों सेनाएँ गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही थीं ॥

तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च।
न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ॥ ३५ ॥

उस समय उस रणक्षेत्रमें लाखों मनुष्य हर्ष और उत्साहमें भरकर हजारों भेरियों तथा शङ्खोंकी ध्वनि कर रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि पाण्डवसेनानिर्याणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें पाण्डवसेनानिर्याणविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९६॥

उद्योगपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द) बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर		कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—५९७८॥		(७८४।-)	१०७८।≡	७०५६॥≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक— ६८॥		(५॥)	७॥-	७६-
उद्योगपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				७१३३

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

भीष्मपर्व

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! कौरव, पाण्डव और सोमकवीरों तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य महामना नरेशोंने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः।
कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे शृणु त्वं पृथिवीपते॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीपते ! वीर कौरव, पाण्डव और सोमकोंने तपोभूमि कुरुक्षेत्रमें जिस प्रकार युद्ध किया था, उसे बताता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः॥ ३॥

सोमकोंसहित पाण्डव तथा कौरव दोनों महाबली थे। वे एक दूसरेको जीतनेकी आशासे कुरुक्षेत्रमें उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे ॥ ३ ॥

वेदाध्ययनसम्पन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः।
आशंसन्तो जयं युद्धे बलेनाभिमुखा रणे॥ ४॥

वे सबके सब वेदाध्ययनसे सम्पन्न और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और संग्राममें विजयकी आशा रखकर रणभूमिमें बलपूर्वक एक दूसरेके सम्मुख खड़े थे ॥ ४ ॥

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः॥ ५॥

पाण्डवोंके योद्धालोग अपने-अपने सैनिकोंके सहित धृतराष्ट्र-पुत्रकी दुर्धर्ष सेनाके सम्मुख जाकर पश्चिमभागमें पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे ॥ ५ ॥

समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिबिराणि सहस्रशः।
कारयामास विधिवत् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥ ६॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर यथा-योग्य सहस्रों शिविर बनवाये थे ॥ ६ ॥

शून्या च पृथिवी सर्वा बालवृद्धावशेषिता।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता॥ ७॥

समस्त पृथ्वीके सभी प्रदेश नवयुवकोंसे सूने हो रहे थे। उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो रही थी॥

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम्।
तावदेव समायातं बलं पार्थिवसत्तम॥ ८॥

नृपश्रेष्ठ ! सूर्यदेव जम्बूद्वीपके जितने भूमण्डलको अपनी किरणोंसे तपाते हैं, उतनी दूरकी सेनाएँ वहाँ युद्धके लिये आ गयी थीं ॥ ८ ॥

एकस्थाः सर्ववर्णास्ते मण्डलं बहुयोजनम्।
पर्याक्रामन्त देशांश्च नदीः शैलान् वनानि च॥ ९॥

वहाँ सभी वर्णके लोग एक ही स्थानपर एकत्र थे। युद्धभूमिका घेरा कई योजन लम्बा था। उन सब लोगोंने वहाँके अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनोंको सब ओर-से घेर लिया था ॥ ९ ॥

तेषां युधिष्ठिरो राजा सर्वेषां पुरुषर्षभ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम्॥ १०॥

नरश्रेष्ठ ! राजा युधिष्ठिरने सेना और सवारियोंसहित

उन सबके लिये उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दे दिया था ॥ १० ॥

शय्याश्च विविधास्तात तेषां रात्रौ युधिष्ठिरः।
एवंवेदी वेदितव्यः पाण्डवेयोऽयमित्युत ॥ ११ ॥
अभिज्ञानानि सर्वेषां संज्ञाश्चाभरणानि च।
योजयामास कौरव्यो युद्धकाल उपस्थिते ॥ १२ ॥

तात ! रातके समय युधिष्ठिरने उन सबके सोनेके लिये नाना प्रकारकी शय्याओंका भी प्रबन्ध कर दिया था। युद्धकाल उपस्थित होनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने सभी सैनिकोंके पहचानके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके संकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डव-पक्षका सैनिक है ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके ध्वजका अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधनने समस्त भूपालोंके साथ पाण्डवसेनाके विरुद्ध अपनी सेनाकी व्यूहरचना की ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
मध्ये नागसहस्रस्य भ्रातृभिः परिवारितः ॥ १४ ॥

उसके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियोंके बीचमें अपने भाइयोंसे घिरा हुआ शोभा पाता था ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पञ्चाला युद्धनन्दिनः।
दध्मुः प्रीता महाशङ्खान् भेरीश्च मधुरस्वनाः ॥ १५ ॥

दुर्योधनको देखकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पाञ्चाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शङ्खों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियोंको बजाने लगे ॥

ततः प्रहृष्टां तां सेनामभिवीक्ष्याथ पाण्डवाः।
बभूवुर्हृष्टमनसो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको हर्ष और उल्लासमें भरी हुई देख समस्त पाण्डवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी संतुष्ट हुए ॥ १६ ॥

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनंजयौ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शङ्खौ रथे स्थितौ ॥ १७ ॥

उस समय एक ही रथपर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखोंको बजाने लगे ॥ १७ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ॥ १८ ॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त दोनों शङ्खोंकी ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षके बहुत-से सैनिक भयके मारे मल-मूत्र करने लगे ॥

यथा सिंहस्य नदतः स्वनं श्रुत्वेतरे मृगाः।
त्रसेयुर्निनदं श्रुत्वा तथासीदत तद्बलम् ॥ १९ ॥

जैसे गर्जते हुए सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंका शङ्खनाद सुनकर कौरवसेनाका उत्साह शिथिल पड़ गया—वह खिन्न-सी हो गयी ॥ १९ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन।
अस्तङ्गत इवादित्ये सैन्येन सहसाऽऽवृते ॥ २० ॥

धरतीसे धूल उड़कर आकाशमें छा गयी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सेनाकी गर्दसे सहसा आच्छादित हो जानेके कारण सूर्य अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥२०॥

ववर्ष तत्र पर्जन्यो मांसशोणितवृष्टिमान्।
दिक्षु सर्वाणि सैन्यानि तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओंमें समस्त सैनिकोंपर मांस और रक्तकी वर्षा करने लगे। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २१ ॥

वायुस्ततः प्रादुरभूत्नीचैः शर्करकर्षणः।
विनिघ्नंस्तान्यनीकानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वहाँ नीचेसे बालू तथा कंकड़ खींचकर सब ओर बिखेरनेवाली बवंडरकी-सी वायु उठी, जिसने सैकड़ों-हजारों सैनिकोंको घायल कर दिया ॥ २२ ॥

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम्।
कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरी हुई दोनों पक्षकी सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरोंके समान एक दूसरेके सम्मुख खड़ी थीं ॥ २३ ॥

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु संगमः।
युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ॥ २४ ॥

दोनों सेनाओंका वह अद्भुत समागम प्रलयकाल आनेपर परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रोंके समान जान पड़ता था ।२४।

शून्याऽऽसीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ २५ ॥
तेन सेनासमूहेन समानीतेन कौरवैः।

कौरवोंद्वारा संग्रह करके वहाँ लाये हुए उस सैन्यसमूह-द्वारा सारी पृथ्वी नवयुवकोंसे सूनी-सी हो रही थी। सर्वत्र केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो गयी थी ॥

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ॥ २६ ॥
धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सोमकोंने परस्पर मिलकर युद्धके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये। युद्धधर्मकी मर्यादा स्थापित की ॥ २६½ ॥

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम् ॥ २७ ॥
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः।

वे नियम इस प्रकार हैं—चालू युद्धके बंद होनेपर संध्याकालमें हम सब लोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे । उस समय पुनः किसीका किसीके साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य वर्ताव नहीं होना चाहिये ॥ २७½ ॥

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम् ।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥ २८ ॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः ।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥ २९ ॥

जो वाग्युद्धमें प्रवृत्त हों उनके साथ वाणीद्वारा ही युद्ध किया जाय । जो सेनासे बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाय । भारत ! रथीको रथीसे ही युद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार हाथीसवारके साथ हाथीसवार, घुड़सवारके साथ घुड़सवार तथा पैदलके साथ पैदल ही युद्ध करे ॥ २८-२९ ॥

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम् ।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥ ३० ॥

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसके अनुसार ही विपक्षीको बताकर उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाय । जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्धसे घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा ।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥ ३१ ॥

जो एकके साथ युद्धमें लगा हो, शरणमें आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो और जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों; ऐसे मनुष्यको कदापि न मारा जाय ॥ ३१ ॥

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु ।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्तव्यं कथंचन ॥ ३२ ॥

घोड़ोंकी सेवाके लिये नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शङ्ख बजानेवालोंपर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे ॥ ३२ ॥

एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः ।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार नियम बनाकर कौरव, पाण्डव तथा सोमक एक दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े आश्चर्यचकित हुए ॥ ३३ ॥

निविश्य च महात्मानस्ततस्ते पुरुषर्षभाः ।
हृष्टरूपाः सुमनसो बभूवुः सहसैनिकाः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे महामना पुरुषरत्न अपने-अपने स्थानपर स्थित हो सैनिकोंसहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एवं उत्साहसे भर गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सैन्यशिक्षणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सैन्यशिक्षणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पूर्वापरे सैन्ये समीक्ष्य भगवानृषिः ।
सर्ववेदविदां श्रेष्ठो व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥
भविष्यति रणे घोरे भरतानां पितामहः ।
प्रत्यक्षदर्शी भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ॥ २ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं स रहस्यब्रवीदिदम् ।
शोचन्तमार्तं ध्यायन्तं पुत्राणामनयं तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पूर्व और पश्चिम दिशामें आमने-सामने खड़ी हुई दोनों ओरकी सेनाओंको देखकर भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान रखनेवाले, सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके पितामह सत्यवतीनन्दन महर्षि भगवान् व्यास, जो होनेवाले भयंकर संग्रामके भावी परिणामको प्रत्यक्ष देख रहे थे, विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके पास आये । वे उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करते हुए शोकमग्न एवं आर्त हो रहे थे । व्यासजीने उनसे एकान्तमें कहा ॥ १-३ ॥

व्यास उवाच

राजन् परीतकालास्ते पुत्राश्चान्ये च पार्थिवाः ।
ते हिंसन्तीव संग्रामे समासाद्येतरेतरम् ॥ ४ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! तुम्हारे पुत्रों तथा अन्य राजाओंका मृत्युकाल आ पहुँचा है । वे संग्राममें एक दूसरेसे भिड़कर मरने-मारनेको तैयार खड़े हैं ॥ ४ ॥

तेषु कालपरीतेषु विनश्यत्स्वेव भारत ।
कालपर्यायमाज्ञाय मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ५ ॥

भारत ! वे कालके अधीन होकर जब नष्ट होने लगें, तब इसे कालका चक्कर समझकर मनमें शोक न करना ॥ ५ ॥

यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते ।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ॥ ६ ॥

राजन् ! यदि संग्रामभूमिमें इन सबकी अवस्था तुम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ । वत्स ! फिर तुम (यहाँ बैठे-बैठे ही) वहाँ होनेवाले युद्धका सारा दृश्य अपनी आँखों देखो ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम।
युद्धमेतत् त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा॥ ७॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बीजनोंका वध देखना अच्छा नहीं लगता; परंतु आपके प्रभावसे इस युद्धका सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा आप अवश्य कीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीने देखा, धृतराष्ट्र युद्धका दृश्य देखना तो नहीं चाहता, परंतु उसका पूरा समाचार सुनना चाहता है। तब वर देनेमें समर्थ उन महर्षिने संजयको वर देते हुए कहा—॥ ८॥

एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति।
एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥ ९॥

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो॥ ९॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥ १०॥

'राजन्! संजय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा॥ १०॥

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः॥ ११॥

'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिनमें हो या रातमें अथवा वह मनमें ही क्यों न सोची गयी हो, संजय सब कुछ जान लेगा॥ ११॥

नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते॥ १२॥

'इसे कोई हथियार नहीं काट सकता। इसे परिश्रम या थकावटकी बाधा भी नहीं होगी। गवल्गणका पुत्र यह संजय इस युद्धसे जीवित बच जायगा॥ १२॥

अहं तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां प्रथयिष्यामि मा शुचः॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! मैं इन समस्त कौरवों और पाण्डवोंकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करूँगा। तुम शोक न करो॥ १३॥

दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि।
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ १४॥

'नरश्रेष्ठ! यह दैवका विधान है। इसे कोई मेट नहीं सकता। अतः इसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होगी'॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कुरूणां प्रपितामहः।
पुनरेव महाभागो धृतराष्ट्रमुवाच ह॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुरुकुलके पितामह महाभाग भगवान् व्यास पुनः धृतराष्ट्रसे बोले—॥

इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः।
तथेह च निमित्तानि भयदान्युपलक्षये॥ १६॥

'महाराज! इस युद्धमें महान् नर-संहार होगा; क्योंकि मुझे इस समय ऐसे ही भयदायक अपशकुन दिखायी देते हैं॥

श्येना गृध्राश्च काकाश्च कङ्काश्च सहिता बकैः।
सम्पतन्ति नगाग्रेषु समवायांश्च कुर्वते॥ १७॥

'बाज, गीध, कौवे, कङ्क और बगुले वृक्षोंके अग्रभागपर आकर बैठते तथा अपना समूह एकत्र करते हैं॥ १७॥

अभ्यग्रं च प्रपश्यन्ति युद्धमानन्दिनो द्विजाः।
क्रव्यादा भक्षयिष्यन्ति मांसानि गजवाजिनाम्॥ १८॥
निर्दयं चाभिवाशन्तो भैरवा भयवेदिनः।
कङ्काः प्रयान्ति मध्येन दक्षिणामभितो दिशम्॥ १९॥

'ये पक्षी अत्यन्त आनन्दित होकर युद्धस्थलको बहुत निकटसे आकर देखते हैं। इससे सूचित होता है कि मांसभक्षी पशु-पक्षी आदि प्राणी हाथियों और घोड़ोंके मांस खायँगे। भयकी सूचना देनेवाले कङ्क पक्षी कठोर स्वरमें बोलते हुए सेनाके बीचसे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं॥

उभे पूर्वापरे संध्ये नित्यं पश्यामि भारत।
उदयास्तमने सूर्यं कबन्धैः परिवारितम्॥ २०॥

'भारत! मैं प्रातः और सायं दोनों संध्याओंके समय उदय और अस्तकी वेलामें सूर्यदेवको प्रतिदिन कबन्धोंसे घिरा हुआ देखता हूँ॥ २०॥

श्वेतलोहितपर्यन्ताः कृष्णग्रीवाः सविद्युतः।
त्रिवर्णाः परिघाः संधौ भानुमन्तमवारयन्॥ २१॥

'संध्याके समय सूर्यदेवको तिरंगे घेरोंने सब ओरसे घेर रक्खा था। उनमें श्वेत और लाल रंगके घेरे दोनों किनारोंपर थे और मध्यमें काले रंगका घेरा दिखायी देता था। इन घेरोंके साथ बिजलियाँ भी चमक रही थीं॥ २१॥

ज्वलितार्केन्दुनक्षत्रं निर्विशेषदिनक्षपम्।
अहोरात्रं मया दृष्टं तद् भयाय भविष्यति॥ २२॥

'मुझे दिन और रातका समय ऐसा दिखायी दिया है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे जलते-से जान पड़ते थे। दिन और रातमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता था। यह लक्षण भय लानेवाला होगा॥ २२॥

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णनभस्तले॥ २३॥

'कार्तिककी पूर्णिमाको कमलके समान नीलवर्णके आकाश-

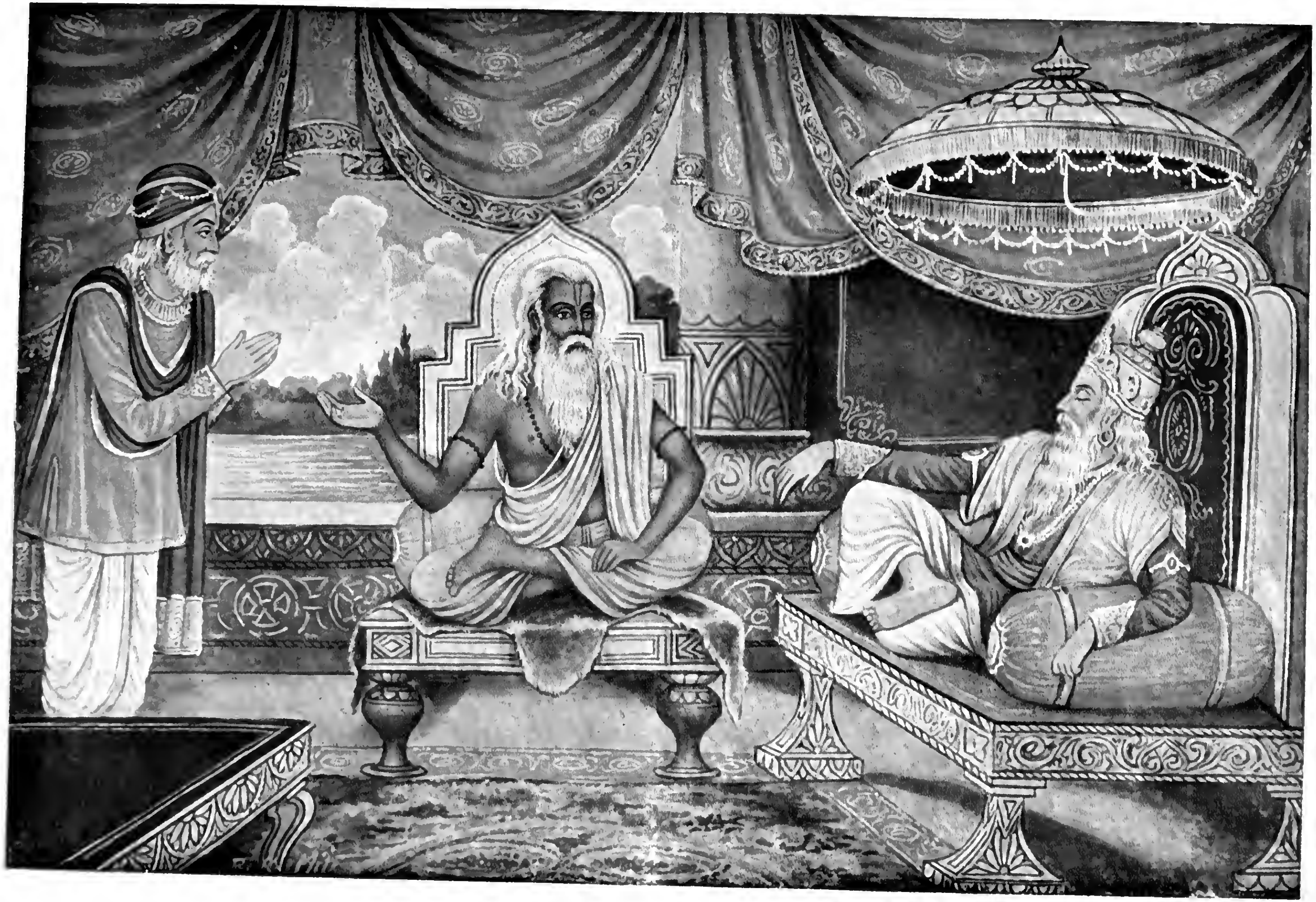

संजयको दिव्यदृष्टि

में चन्द्रमा प्रभाहीन होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था तथा उसकी कान्ति भी अग्निके समान प्रतीत होती थी॥

स्वप्स्यन्ति निहता वीरा भूमिमावृत्य पार्थिवाः।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः॥ २४॥

'इसका फल यह है कि परिघके समान मोटी बाहुओंवाले बहुत-से शूरवीर नरेश तथा राजकुमार मारे जाकर पृथ्वीको आच्छादित करके रणभूमिमें शयन करेंगे॥ २४॥

अन्तरिक्षे वराहस्य वृषदंशस्य चोभयोः।
प्रणादं युद्ध्यतो रात्रौ रौद्रं नित्यं प्रलक्षये॥ २५॥

'सूअर और बिलाव दोनों आकाशमें उछल-उछलकर रातमें लड़ते और भयानक गर्जना करते हैं। यह बात मुझे प्रतिदिन दिखायी देती है॥ २५॥

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्ति च॥२६॥

'देवताओंकी मूर्तियाँ काँपती, हँसती, मुँहसे खून उगलती, खिन्न होती और गिर पड़ती हैं॥ २६॥

अनाहता दुन्दुभयः प्रणदन्ति विशाम्पते।
अयुक्ताश्च प्रवर्तन्ते क्षत्रियाणां महारथाः॥ २७॥

'राजन्! दुन्दुभियाँ बिना बजाये बज उठती हैं और क्षत्रियोंके बड़े-बड़े रथ बिना जोते ही चल पड़ते हैं॥ २७॥

कोकिलाः शतपत्राश्च चाषा भासाः शुकास्तथा।
सारसाश्च मयूराश्च वाचो मुञ्चन्ति दारुणाः॥ २८॥

'कोयल, शतपत्र, नीलकण्ठ, भास (चील्ह), शुक, सारस तथा मयूर भयंकर बोली बोलते हैं॥ २८॥

गृहीतशस्त्राः क्रोशन्ति चर्मिणो वाजिपृष्ठगाः।
अरुणोदये प्रदृश्यन्ते शतशः शलभव्रजाः॥ २९॥

'घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए सवार हाथोंमें ढाल-तलवार लिये चीत्कार कर रहे हैं। अरुणोदयके समय टिड्डियोंके सैकड़ों दल सब ओर फैले दिखायी देते हैं॥ २९॥

उभे संध्ये प्रकाशेते दिशां दाहसमन्विते।
पर्जन्यः पांसुवर्षी च मांसवर्षी च भारत॥ ३०॥

'दोनों संध्याएँ दिग्दाहसे युक्त दिखायी देती हैं। भारत! बादल धूल और मांसकी वर्षा करता है॥ ३०॥

या चैषा विश्रुता राजंस्त्रैलोक्ये साधुसम्मता।
अरुन्धती तयाप्येष वसिष्ठः पृष्ठतः कृतः॥ ३१॥

'राजन्! जो अरुन्धती तीनों लोकोंमें पतिव्रताओंकी मुकुटमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन्होंने वसिष्ठको अपने पीछे कर दिया है॥ ३१॥

रोहिणीं पीडयन्नेष स्थितो राजञ्शनैश्चरः।
व्यावृत्तं लक्ष्म सोमस्य भविष्यति महद् भयम्॥ ३२॥

'महाराज! यह शनैश्चर नामक ग्रह रोहिणीको पीड़ा देता हुआ खड़ा है। चन्द्रमाका चिह्न मिट-सा गया है। इससे सूचित होता है कि भविष्यमें महान् भय प्राप्त होगा॥३२॥

अनभ्रे च महाघोरः स्तनितः श्रूयते स्वनः।
वाहनानां च रुदतां निपतन्त्यश्रुबिन्दवः॥ ३३॥

'बिना बादलके ही आकाशमें अत्यन्त भयंकर गर्जना सुनायी देती है। रोते हुए वाहनोंकी आँखोंसे आँसुओंकी बूँदें गिर रही हैं'॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि श्रीवेदव्यासदर्शने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें श्रीवेदव्यासदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन

व्यास उवाच

खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः।
अनार्तवं पुष्पफलं दर्शयन्ति वनद्रुमाः॥ १॥

व्यासजीने कहा—राजन्! गायोंके गर्भसे गदहे पैदा होते हैं, पुत्र माताओंके साथ रमण करते हैं। वनके वृक्ष बिना ऋतुके फूल और फल प्रकट करते हैं॥ १॥

गर्भिण्योऽजातपुत्राश्च जनयन्ति विभीषणान्।
क्रव्यादाः पक्षिभिश्चापि सहाश्नन्ति परस्परम्॥ २॥

गर्भवती स्त्रियाँ पुत्रको जन्म न देकर अपने गर्भसे भयंकर जीवोंको पैदा करती हैं। मांसभक्षी पशु भी पक्षियोंके साथ परस्पर मिलकर एक ही जगह आहार ग्रहण करते हैं॥

त्रिविषाणाश्चतुर्नेत्राः पञ्चपादा द्विमेहनाः।
द्विशीर्षाश्च द्विपुच्छाश्च दंष्ट्रिणः पशवोऽशिवाः॥ ३॥
जायन्ते विवृतास्याश्च व्याहरन्तोऽशिवा गिरः।

तीन सींग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो मूत्रेन्द्रिय, दो मस्तक, दो पूँछ और अनेक दाढ़ोंवाले अमङ्गलमय पशु जन्म लेते तथा मुँह फैलाकर अमङ्गलसूचक वाणी बोलते हैं॥ ३½॥

त्रिपदाः शिखिनस्तार्क्ष्याश्चतुर्दंष्ट्रा विषाणिनः॥ ४॥
तथैवान्याश्च दृश्यन्ते स्त्रियो वै ब्रह्मवादिनाम्।
वैनतेयान् मयूरांश्च जनयन्ति पुरे तव॥ ५॥

गरुड़ पक्षीके मस्तकपर शिखा और सींग हैं। उनके तीन पैर तथा चार दाढ़ें दिखायी देती हैं। इसी प्रकार अन्य जीव भी देखे जाते हैं। वेदवादी ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नगरमें गरुड़ और मोर पैदा करती हैं॥ ४-५॥

गोवत्सं वडवा सूते श्वा सृगालं महीपते।
कुक्कुरान् करभाश्चैव शुकाश्चाशुभवादिनः॥ ६॥

भूपाल ! घोड़ी गायके बछड़ेको जन्म देती है, कुतिया-के पेटसे सियार पैदा होता है, हाथी कुत्तोंको जन्म देते हैं और तोते भी अशुभसूचक बोली बोलने लगे हैं ॥ ६ ॥

स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पञ्च कन्यकाः।
जातमात्राश्च नृत्यन्ति गायन्ति च हसन्ति च ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ एक ही साथ चार-चार या पाँच-पाँच कन्याएँ पैदा करती हैं। वे कन्याएँ पैदा होते ही नाचती, गाती तथा हँसती हैं ॥ ७ ॥

पृथग्जनस्य सर्वस्य क्षुद्रकाः प्रहसन्ति च।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद् भयम् ॥ ८ ॥

समस्त नीच जातियोंके घरोंमें उत्पन्न हुए काने, कुबड़े आदि बालक भी महान् भयकी सूचना देते हुए जोर-जोरसे हँसते, गाते और नाचते हैं ॥ ८ ॥

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः ॥ ९ ॥

ये सब कालसे प्रेरित हो हाथोंमें हथियार लिये मूर्तियाँ लिखते और बनाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे हाथमें डंडा लिये एक दूसरेपर धावा करते हैं ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिमृद्नन्ति नगराणि युयुत्सवः।
पद्मोत्पलानि वृक्षेषु जायन्ते कुमुदानि च ॥ १० ॥

और कृत्रिम नगर बनाकर परस्पर युद्धकी इच्छा रखते हुए उन नगरोंको रौंदकर मिट्टीमें मिला देते हैं। पद्म, उत्पल और कुमुद आदि जलीय पुष्प वृक्षोंपर पैदा होते हैं ॥ १० ॥

विष्वग्वाताश्च वान्त्युग्रा रजो नाप्युपशाम्यति।
अभीक्ष्णं कम्पते भूमिरर्कं राहुरुपैति च ॥ ११ ॥

चारों ओर भयंकर आँधी चल रही है, धूलका उड़ना शान्त नहीं हो रहा है, धरती बारंबार काँप रही है तथा राहु सूर्यके निकट जा रहा है ॥ ११ ॥

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ॥ १२ ॥

केतु चित्राका अतिक्रमण करके स्वातीपर स्थित हो रहा है;* उसकी विशेषरूपसे कुरुवंशके विनाशपर ही दृष्टि है ॥

धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति।
सेनयोरशिवं घोरं करिष्यति महाग्रहः ॥ १३ ॥

अत्यन्त भयंकर धूमकेतु पुष्य नक्षत्रपर आक्रमण करके वहीं स्थित हो रहा है। यह महान् उपग्रह दोनों सेनाओंका घोर अमङ्गल करेगा ॥ १३ ॥

मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥ १४ ॥

मङ्गल वक्र होकर मघा नक्षत्रपर स्थित है, बृहस्पति श्रवण नक्षत्रपर विराजमान हैं तथा सूर्यपुत्र शनि पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रपर पहुँचकर उसे पीड़ा दे रहा है ॥ १४ ॥

शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते।
उत्तरे तु परिक्रम्य सहितः समुदीक्षते ॥ १५ ॥

शुक्र पूर्वा भाद्रपदापर आरूढ़ हो प्रकाशित हो रहा है और सब ओर घूम-फिरकर परिघ नामक उपग्रहके साथ उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रपर दृष्टि लगाये हुए है ॥ १५ ॥

श्वेतो ग्रहः प्रज्वलितः सधूम इव पावकः।
ऐन्द्रं तेजस्वि नक्षत्रं ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

केतु नामक उपग्रह धूमयुक्त अग्निके समान प्रज्वलित हो इन्द्रदेवतासम्बन्धी तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्रपर जाकर स्थित है ॥

ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषग्रहः ॥ १७ ॥

चित्रा और स्वातीके बीचमें स्थित हुआ क्रूर ग्रह राहु सदा वक्री होकर रोहिणी तथा चन्द्रमा और सूर्यको पीड़ा पहुँचाता है तथा अत्यन्त प्रज्वलित होकर ध्रुवकी बायीं ओर जा रहा है, जो घोर अनिष्टका सूचक है ॥ १७ ॥

वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

अग्निके समान कान्तिमान् मङ्गल ग्रह (जिसकी स्थिति मघा नक्षत्रमें बतायी गयी है) बारंबार वक्र होकर ब्रह्मराशि (बृहस्पतिसे युक्त नक्षत्र) श्रवणको पूर्णरूपसे आवृत करके स्थित है ॥ १८ ॥

सर्वसस्यपरिच्छन्ना पृथिवी सस्यमालिनी।
पञ्चशीर्षा यवाश्चापि शतशीर्षाश्च शालयः ॥ १९ ॥

(इसका प्रभाव खेतीपर अनुकूल पड़ा है) पृथ्वी सब प्रकारके अनाजके पौधोंसे आच्छादित है, शस्यकी मालाओंसे अलंकृत है, जौमें पाँच-पाँच और जड़हन धानमें सौ-सौ बालियाँ लग रही हैं ॥ १९ ॥

प्रधानाः सर्वलोकस्य यास्वायत्तमिदं जगत्।
ता गावः प्रस्नुता वत्सैः शोणितं प्रक्षरन्त्युत ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण जगत्में माताके समान प्रधान मानी जाती हैं, यह समस्त संसार जिनके अधीन है, वे गौएँ बछड़ोंसे पिन्हा जानेके बाद अपने थनोंसे खून बहाती हैं ॥ २० ॥

निश्चेरुरर्चिषश्चापात् खड्गाश्च ज्वलिता भृशम्।
व्यक्तं पश्यन्ति शस्त्राणि संग्रामं समुपस्थितम् ॥ २१ ॥

योद्धाओंके धनुषसे आगकी लपटें निकलने लगी हैं, खड्ग अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे हैं मानो सम्पूर्ण शस्त्र स्पष्ट-

---

* राहु और केतु सदा एक-दूसरेसे सातवीं राशिपर स्थित होते हैं, किंतु उस समय दोनों एक राशिपर आ गये थे; अतः महान् अनिष्टके सूचक थे। सूर्य तुलापर थे, उनके निकट राहुके आनेका वर्णन पहले आ चुका है; फिर केतुके वहाँ पहुँचनेसे महान् दुर्योग बन गया है।

रूपसे यह देख रहे हैं कि संग्राम उपस्थित हो गया है ।२१।

अग्निवर्णा यथा भासः शस्त्राणामुदकस्य च ।
कवचानां ध्वजानां च भविष्यति महाक्षयः ॥ २२ ॥

शस्त्रोंकी, जलकी, कवचोंकी और ध्वजाओंकी कान्तियाँ अग्निके समान लाल हो गयी हैं; अतः निश्चय ही महान् जन-संहार होगा ॥ २२ ॥

पृथिवी शोणितावर्ता ध्वजोडुपसमाकुला ।
कुरूणां वैशसे राजन् पाण्डवैः सह भारत ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जब पाण्डवोंके साथ कौरवोंका हिंसात्मक संग्राम आरम्भ हो जायगा, उस समय धरतीपर रक्तकी नदियाँ बह चलेंगी, उनमें शोणितमयी भँवरें उठेंगी तथा रथ-की ध्वजाएँ उन नदियोंके ऊपर छोटी-छोटी डोंगियोंके समान सब ओर व्याप्त दिखायी देंगी ॥ २३ ॥

दिक्षु प्रज्वलितास्याश्च व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
अत्याहितं दर्शयन्तो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २४ ॥

चारों दिशाओंमें पशु और पक्षी प्राणान्तकारी अनर्थका दर्शन कराते हुए भयंकर बोली बोल रहे हैं । उनके मुख प्रज्वलित दिखायी देते हैं और वे अपने शब्दोंसे किसी महान् भयकी सूचना दे रहे हैं ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणः शकुनिः खचरो निशि ।
रौद्रं वदति संरब्धः शोणितं छर्दयन्निव ॥ २५ ॥

रातमें एक आँख, एक पाँख और एक पैरका पक्षी आकाशमें विचरता है और कुपित होकर भयंकर बोली बोलता है । उसकी बोली ऐसी जान पड़ती है, मानो कोई रक्त वमन कर रहा हो ॥ २५ ॥

शस्त्राणि चैव राजेन्द्र प्रज्वलन्तीव सम्प्रति ।
सप्तर्षीणामुदाराणां समवच्छाद्यते प्रभा ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! सभी शस्त्र इस समय जलते-से प्रतीत होते हैं। उदार सप्तर्षियोंकी प्रभा फीकी पड़ती जाती है ॥ २६ ॥

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ॥ २७ ॥

वर्षपर्यन्त एक राशिपर रहनेवाले दो प्रकाशमान ग्रह बृहस्पति और शनैश्चर तिर्यग्वेधके द्वारा विशाखा नक्षत्रके समीप आ गये हैं ॥ २७ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम् ।
अपर्वणि ग्रहं यातौ प्रजासंक्षयमिच्छतः ॥ २८ ॥

(इस पक्षमें तो तिथियोंका क्षय होनेके कारण) एक ही दिन त्रयोदशी तिथिको बिना पर्वके ही राहुने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको ग्रस लिया है । अतः ग्रहणावस्थाको प्राप्त हुए वे दोनों ग्रह प्रजाका संहार चाहते हैं ॥ २८ ॥

अशोभिता दिशः सर्वाः पांसुवर्षैः समन्ततः ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च रात्रौ वर्षन्ति शोणितम् ॥ २९ ॥

चारों ओर धूलकी वर्षा होनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ शोभाहीन हो गयी हैं । उत्पातसूचक भयंकर मेघ रातमें रक्तकी वर्षा करते हैं ॥ २९ ॥

कृत्तिकां पीडयंस्तीक्ष्णैर्नक्षत्रं पृथिवीपते ।
अभीक्ष्णवाता वायन्ते धूमकेतुमवस्थिताः ॥ ३० ॥

राजन् ! अपने तीक्ष्ण (क्रूरतापूर्ण) कर्मोंके द्वारा उप-लक्षित होनेवाला राहु (चित्रा और स्वातीके बीचमें रहकर सर्वतोभद्रचक्रगतवेधके अनुसार) कृत्तिका नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है । बारंबार धूमकेतुका आश्रय लेकर प्रचण्ड आँधी उठती रहती है ॥ ३० ॥

विषमं जनयन्त्येत आक्रन्दजननं महत् ।
त्रिषु सर्वेषु नक्षत्रनक्षत्रेषु विशाम्पते ।
गृध्रः सम्पतते शीर्षे जनयन् भयमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

वह महान् युद्ध एवं विषम परिस्थिति पैदा करनेवाली है । राजन् ! (अश्विनी आदि नक्षत्रोंको तीन भागोंमें बाँटने-पर जो नौ-नौ नक्षत्रोंके तीन समुदाय होते हैं, वे क्रमशः अश्वपति, गजपति तथा नरपतिके छत्र कहलाते हैं; ये ही पापग्रहसे आक्रान्त होनेपर क्षत्रियोंका विनाश सूचित करनेके कारण 'नक्षत्र-नक्षत्र' कहे गये हैं) इन तीनों अथवा सम्पूर्ण नक्षत्र-नक्षत्रोंमें शीर्षस्थानपर यदि पापग्रहसे वेध हो तो वह ग्रह महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है; इस समय ऐसा ही कुयोग आया है ॥ ३१ ॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां च षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ॥ ३२ ॥

एक तिथिका क्षय होनेपर चौदहवें दिन, तिथिक्षय न होनेपर पंद्रहवें दिन और एक तिथिकी वृद्धि होनेपर सोलहवें दिन अमावास्याका होना तो पहले देखा गया है; परंतु इस पक्षमें जो तेरहवें दिन यह अमावास्या आ गयी है, ऐसा पहले भी कभी हुआ है, इसका स्मरण मुझे नहीं है । इस एक ही महीनेमें तेरह दिनोंके भीतर चन्द्रग्रहण और सूर्य-ग्रहण दोनों लग गये ॥ ३२ ॥

अपर्वणि ग्रहेणैतौ प्रजाः संक्षपयिष्यतः ।
मांसवर्षं पुनस्तीव्रमासीत् कृष्णचतुर्दशीम् ।
शोणितैर्वक्त्रसम्पूर्णा अतृप्तास्तत्र राक्षसाः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अप्रसिद्ध पर्वमें ग्रहण लगनेके कारण ये सूर्य और चन्द्रमा प्रजाका विनाश करनेवाले होंगे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको बड़े जोरसे मांसकी वर्षा हुई थी । उस समय राक्षसोंका मुँह रक्तसे भरा हुआ था । वे खून पीते अघाते नहीं थे ॥ ३३ ॥

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥ ३४ ॥

बड़ी-बड़ी नदियोंके जल रक्तके समान लाल हो गये हैं और उनकी धारा उलटे स्रोतकी ओर बहने लगी है। कुँओंमें फेन ऊपरको उठ रहे हैं, मानो वृषभ उछल रहे हों। ३४।

पतन्त्युल्काः सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः।
अद्य चैव निशां व्युष्टामनयं समवाप्स्यथ ॥ ३५ ॥

बिजलीकी कड़कड़के साथ इन्द्रकी अशनिके समान प्रकाशित होनेवाली उल्काएँ गिर रही हैं। आजकी रात बीतनेपर सवेरेसे ही तुमलोगोंको अपने अन्यायका फल मिलने लगेगा ॥ ३५ ॥

विनिःसृत्य महोल्काभिस्तिमिरं सर्वतोदिशम्।
अन्योन्यमुपतिष्ठद्भिस्तत्र चोक्तं महर्षिभिः ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार व्याप्त होनेके कारण बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर घरसे निकले हुए महर्षियोंने एक दूसरेके पास उपस्थित हो इन उत्पातोंके सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है ॥ ३६ ॥

भूमिपालसहस्राणां भूमिः पास्यति शोणितम्।
कैलासमन्दराभ्यां तु तथा हिमवता विभो ॥ ३७ ॥
सहस्रशो महाशब्दः शिखराणि पतन्ति च।

जान पड़ता है, यह भूमि सहस्रों भूमिपालोंका रक्तपान करेगी। प्रभो ! कैलास, मन्दराचल तथा हिमालयसे सहस्रों प्रकारके अत्यन्त भयानक शब्द प्रकट होते हैं और उनके शिखर भी टूट-टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३७½ ॥

महाभूता भूमिकम्पे चत्वारः सागराः पृथक्।
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुंधराम् ॥ ३८ ॥

भूकम्प होनेके कारण पृथक्-पृथक् चारों सागर वृद्धिको प्राप्त होकर वसुधामें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अपनी सीमाको लाँघते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

वृक्षानुन्मथ्य वान्त्युग्रा वाताः शर्करकर्षिणः।
आभग्नाः सुमहावातैरशनीभिः समाहताः ॥ ३९ ॥
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेषु नगरेषु च।

बालू और कंकड़ खींचकर बरसानेवाले भयानक बवंडर उठकर वृक्षोंको उखाड़े डालते हैं। गाँवों तथा नगरोंमें वृक्ष और चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधियों तथा बिजलीके आघातोंसे टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३९½ ॥

नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ॥ ४० ॥
वामार्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम्।
स्पर्शा गन्धा रसाश्चैव विपरीता महीपते ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणलोगोंके आहुति देनेपर प्रज्वलित हुई अग्नि काले, लाल और पीले रंगकी दिखायी देती है। उसकी लपटें वामावर्त होकर उठ रही हैं। उससे दुर्गन्ध निकलती है और वह भयानक शब्द प्रकट करती रहती है। राजन् ! स्पर्श, गन्ध तथा रस—इन सबकी स्थिति विपरीत हो गयी है॥

धूमं ध्वजाः प्रमुञ्चन्ति कम्पमाना मुहुर्मुहुः।
मुञ्चन्त्यङ्गारवर्षं च भेर्यश्च पटहास्तथा ॥ ४२ ॥

ध्वज बारंबार कम्पित होकर धूआँ छोड़ते हैं। ढोल, नगाड़े अङ्गारोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

शिखराणां समृद्धानामुपरिष्टात् समन्ततः।
वायसाश्च रुवन्त्युग्रं वामं मण्डलमाश्रिताः ॥ ४३ ॥

फल-फूलसे सम्पन्न वृक्षोंकी शिखाओंपर बायीं ओरसे घूम-घूमकर सब ओर कौए बैठते हैं और भयंकर काँव-काँवका कोलाहल करते हैं ॥ ४३ ॥

पक्वापक्वेति सुभृशं वावाश्यन्ते वयांसि च।
निलीयन्ते ध्वजाग्रेषु क्षयाय पृथिवीक्षिताम् ॥ ४४ ॥

बहुत-से पक्षी 'पक्वा-पक्वा' इस शब्दका बारंबार जोर-जोरसे उच्चारण करते और ध्वजाओंके अग्रभागमें छिपते हैं। यह लक्षण राजाओंके विनाशका सूचक है ॥ ४४ ॥

ध्यायन्तः प्रकिरन्तश्च व्याला वेपथुसंयुताः।
दीनास्तुरङ्गमाः सर्वे वारणाः सलिलाश्रयाः ॥ ४५ ॥

दुष्ट हाथी काँपते और चिन्ता करते हुए भयके मारे मल-मूत्र त्याग कर रहे हैं, घोड़े अत्यन्त दीन हो रहे हैं और सम्पूर्ण गजराज पसीने-पसीने हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा भवानत्र प्राप्तकालं व्यवस्यताम्।
यथा लोकः समुच्छेदं नायं गच्छेत भारत ॥ ४६ ॥

भारत ! यह सुनकर (और उसके परिणामपर विचार करके) तुम इस अवसरके अनुरूप ऐसा कोई उपाय करो, जिससे यह संसार विनाशसे बच जाय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितुर्वचो निशम्यैतद् धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम्।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये भविष्यति नरक्षयः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पिता व्यासजीका यह वचन सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—'भगवन् ! मैं तो इसे पूर्वनिश्चित दैवका विधान मानता हूँ; अतः यह जनसंहार होगा ही ॥ ४७ ॥

राजानः क्षत्रधर्मेण यदि वध्यन्ति संयुगे।
वीरलोकं समासाद्य सुखं प्राप्स्यन्ति केवलम् ॥ ४८ ॥

'यदि राजालोग क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्धमें मारे जायँगे तो वीरलोकको प्राप्त होकर केवल सुखके भागी होंगे॥

इह कीर्तिं परे लोके दीर्घकालं महत् सुखम्।
प्राप्स्यन्ति पुरुषव्याघ्राः प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४९ ॥

'वे पुरुषसिंह नरेश महायुद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इहलोकमें कीर्ति तथा परलोकमें दीर्घकालतक महान् सुख प्राप्त करेंगे' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो मुनिस्तत्त्वं कवीन्द्रो राजसत्तम।
धृतराष्ट्रेण पुत्रेण ध्यानमन्वगमत् परम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! अपने पुत्र

धृतराष्ट्रके इस प्रकार यथार्थ बात कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यास कुछ देरतक बड़े सोच-विचारमें पड़े रहे ॥ ५० ॥

स मुहूर्तं तथा ध्यात्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं पार्थिवेन्द्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ ५१ ॥
सृजते च पुनर्लोकान् नेह विद्यति शाश्वतम्।

दो घड़ीतक चिन्तन करनेके बाद वे पुनः इस प्रकार बोले—'राजेन्द्र ! इसमें संशय नहीं है कि काल ही इस जगत्‌का संहार करता है और वही पुनः इन सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करता है। यहाँ कोई वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है ॥५१½॥

ज्ञातीनां वै कुरूणां च सम्बन्धिसुहृदां तथा ॥५२॥
धर्म्यं देशय पन्थानं समर्थो ह्यसि वारणे।
क्षुद्रं ज्ञातिवधं प्राहुर्मा कुरुष्व ममाप्रियम् ॥ ५३ ॥

'राजन् ! तुम अपने जाति-भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी-सुहृदोंको धर्मानुकूल मार्गका उपदेश करो; क्योंकि तुम उन सबको रोकनेमें समर्थ हो। जाति-वधको अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। तुम यह अप्रिय कार्य न करो ॥ ५२-५३ ॥

कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते।
न वधः पूज्यते वेदे हितं नैव कथंचन ॥ ५४ ॥

'महाराज ! यह काल तुम्हारे पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है। वेदमें हिंसाकी प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसासे किसी प्रकार हित नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

हन्यात् स एनं यो हन्यात् कुलधर्मं स्विकां तनुम्।
कालेनोत्पथगन्तासि शक्ये सति यथाऽऽपदि ॥ ५५॥

'कुल-धर्म अपने शरीरके ही समान है। जो इस कुल-धर्मका नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। जबतक धर्मका पालन सम्भव है (जबतक तुमपर कोई आपत्ति नहीं आयी है), तबतक तुम कालसे प्रेरित होकर ही धर्मकी अवहेलना करके कुमार्गपर चल रहे हो, जैसा कि बहुधा लोग किसी आपत्तिमें पड़नेपर ही करते हैं ॥ ५५ ॥

कुलस्यास्य विनाशाय तथैव च महीक्षिताम्।
अनर्थो राज्यरूपेण तव जातो विशाम्पते ॥ ५६ ॥

'राजन् ! तुम्हारे कुलका तथा अन्य बहुत-से राजाओंका विनाश करनेके लिये यह तुम्हारे राज्यके रूपमें अनर्थ ही प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

लुप्तधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान्।
किं ते राज्येन दुर्धर्ष येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम् ॥ ५७ ॥

'तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। अपने पुत्रोंको धर्मका मार्ग दिखाओ। दुर्धर्ष वीर ! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है, जिसके लिये अपने ऊपर पापका बोझ लाद रहे हो ?॥

यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि।
लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः ॥५८ ॥

'तुम मेरी बात माननेपर यश, धर्म और कीर्तिका पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवोंको उनके राज्य प्राप्त हों और समस्त कौरव आपसमें संधि करके शान्त हो जायँ' ५८

एवं ब्रुवति विप्रेन्द्रे धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आक्षिप्य वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यं चैवाब्रवीत् पुनः॥५९॥

विप्रवर व्यासजी जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय बोलनेमें चतुर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने बीचमें ही उनकी बात काटकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा भवान् वेत्ति तथैव वेत्ता
भावाभावौ विदितौ मे यथार्थौ।
स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको
मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! जैसा आप जानते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन बातोंको समझता हूँ। भाव और अभावका यथार्थ स्वरूप मुझे भी ज्ञात है, तथापि यह संसार अपने स्वार्थके लिये मोहमें पड़ा रहता है। मुझे भी संसारसे अभिन्न ही समझें॥

प्रसादये त्वामतुलप्रभावं
त्वं नो गतिर्दर्शयिता च धीरः।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे
न चाधर्मं कर्तुमर्हो हि मे मतिः ॥ ६१ ॥

आपका प्रभाव अनुपम है। आप हमारे आश्रय, मार्गदर्शक तथा धीर पुरुष हैं। मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। महर्षे ! मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती; परंतु क्या करूँ ? मेरे पुत्र मेरे वशमें नहीं हैं ॥ ६१ ॥

त्वं हि धर्मप्रवृत्तिश्च यशः कीर्तिश्च भारती।
कुरूणां पाण्डवानां च मान्यश्चापि पितामहः ॥ ६२ ॥

आप ही हम भरतवंशियोंकी धर्म-प्रवृत्ति, यश तथा कीर्तिके हेतु हैं। आप कौरवों और पाण्डवों—दोनोंके माननीय पितामह हैं ॥ ६२ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते यत् ते मनसि वर्तते।
अभिधत्स्व यथाकामं छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६३ ॥

व्यासजी बोले—विचित्रवीर्यकुमार ! नरेश्वर ! तुम्हारे मनमें जो संदेह है, उसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रकट करो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानि लिङ्गानि संग्रामे भवन्ति विजयिष्यताम्।
तानि सर्वाणि भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

धृतराष्ट्र बोले— भगवन् ! युद्धमें निश्चितरूपसे विजय पानेवाले लोगोंको जो शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ६४ ॥

व्यास उवाच

प्रसन्नभाः पावक ऊर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६५ ॥

व्यासजीने कहा—अग्निकी प्रभा निर्मल हो, उसकी लपटें ऊपरकी ओर दक्षिणावर्त होकर उठें और धूआँ बिल्कुल न रहे; साथ ही अग्निमें जो आहुतियाँ डाली जायँ, उनकी पवित्र सुगन्ध वायुमें मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे—यह भावी विजयका स्वरूप (लक्षण) बताया गया है ॥ ६५ ॥

गम्भीरघोषाश्च महास्वनाश्च
शङ्खा मृदङ्गाश्च नदन्ति यत्र ।
विशुद्धरश्मिस्तपनः शशी च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६६ ॥

जिस पक्षमें शङ्खों और मृदङ्गोंकी गम्भीर आवाज बड़े जोर-जोरसे हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजयका शुभ लक्षण बताया है ॥ ६६ ॥

इष्टा वाचः प्रसृता वायसानां
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
ये पृष्ठतस्ते त्वरयन्ति राजन्
ये चाग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ ६७ ॥

जिनके प्रस्थित होनेपर अथवा प्रस्थानके लिये उद्यत होनेपर कौवोंकी मीठी आवाज फैलती है, उनकी विजय सूचित होती है; राजन् ! जो कौवे पीछे बोलते हैं, वे मानो सिद्धिकी सूचना देते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हैं और जो सामने बोलते हैं, वे मानो युद्धमें जानेसे रोकते हैं ॥ ६७ ॥

कल्याणवाचः शकुना राजहंसाः
शुकाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च यत्र ।
प्रदक्षिणाश्चैव भवन्ति संख्ये
ध्रुवं जयस्तत्र वदन्ति विप्राः ॥ ६८ ॥

जहाँ शुभ एवं कल्याणमयी बोली बोलनेवाले राजहंस, शुक, क्रौञ्च तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकोंकी प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं), उस पक्षकी युद्धमें निश्चितरूपसे विजय होती है, यह ब्राह्मणोंका कथन है ॥ ६८ ॥

अलङ्कारैः कवचैः केतुभिश्च
सुखप्रणादैर्हेषितैर्वा हयानाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्ते विजयन्ति शत्रून् ॥ ६९ ॥

अलङ्कार, कवच, ध्वजा-पताका, सुखपूर्वक किये जानेवाले सिंहनाद अथवा घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे जिनकी सेना अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओंको जिनकी सेनाकी ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वे अवश्य अपने विपक्षियोंपर विजय पाते हैं ॥ ६९ ॥

हृष्टा वाचस्तथा सत्त्वं योधानां यत्र भारत ।
न म्लायन्ति स्रजश्चैव ते तरन्ति रणोदधिम् ॥ ७० ॥

भारत ! जिस पक्षके योद्धाओंकी बातें हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण होती हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके कण्ठमें पड़ी हुई पुष्पमालाएँ कुम्हलाती नहीं हैं, वे युद्धरूपी महासागरसे पार हो जाते हैं ॥ ७० ॥

इष्टा वाचः प्रविष्टस्य दक्षिणाः प्रविविक्षतः ।
पश्चात् संधारयन्त्यर्थमग्रे च प्रतिषेधिकाः ॥ ७१ ॥

जिस पक्षके योद्धा शत्रुकी सेनामें प्रवेश करनेकी इच्छा करते समय अथवा उसमें प्रवेश कर लेनेपर अभीष्ट वचन (मैं तुझे अभी मार भगाता हूँ इत्यादि शौर्यसूचक बातें) बोलते हैं और अपने रणकौशलका परिचय देते हैं, वे पीछे प्राप्त होनेवाली अपनी विजयको पहलेसे ही निश्चित कर लेते हैं । इसके विपरीत जिन्हें शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय सामनेसे निषेधसूचक वचन सुननेको मिलते हैं, उनकी पराजय होती है॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चाविकृताः शुभाः ।
सदा हर्षश्च योधानां जयतामिह लक्षणम् ॥ ७२ ॥

जिनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिन योद्धाओंके हृदयमें सदा हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजयी होनेका यही शुभ लक्षण है ॥ ७२ ॥

अनुगा वायवो वान्ति तथाभ्राणि वयांसि च ।
अनुप्लवन्ति मेघाश्च तथैवेन्द्रधनूंषि च ॥ ७३ ॥
एतानि जयमानानां लक्षणानि विशाम्पते ।
भवन्ति विपरीतानि मुमूर्षूणां जनाधिप ॥ ७४ ॥

राजन् ! हवा जिनके अनुकूल बहती है, बादल और पक्षी भी जिनके अनुकूल होते हैं, मेघ जिनके पीछे-पीछे छत्रछाया किये चलते हैं तथा इन्द्रधनुष भी जिन्हें अनुकूल दिशामें ही दृष्टिगोचर होते हैं, उन विजयी वीरोंके लिये ये विजयके शुभ लक्षण हैं । जनेश्वर ! मरणासन्न मनुष्योंको इसके विपरीत अशुभ लक्षण दिखायी देते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अल्पायां वा महत्यां वा सेनायामिति निश्चयः ।
हर्षो योधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यते ॥ ७५ ॥

सेना छोटी हो या बड़ी, उसमें सम्मिलित होनेवाले सैनिकोंका एकमात्र हर्ष ही निश्चितरूपसे विजयका लक्षण बताया जाता है ॥ ७५ ॥

एको दीर्णो दारयति सेनां सुमहतीमपि ।
तां दीर्णामनुदीर्यन्ते योधाः शूरतरा अपि ॥ ७६ ॥

यदि सेनाका एक सैनिक भी उत्साहहीन होकर पीछे हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त विशाल सेनाको

भी भगा देता है (उसके भागनेमें कारण बन जाता है)। उस सेनाके पलायन करनेपर बड़े-बड़े शूरवीर सैनिक भी भागनेको विवश होते हैं ॥ ७६ ॥

दुर्निवर्त्या तदा चैव प्रभग्ना महती चमूः ।
अपामिव महावेगास्त्रस्ता मृगगणा इव ॥ ७७ ॥

जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है, तब डरकर भागे हुए मृगोंके झुंड तथा नीची भूमिकी ओर बहनेवाले जलके महान् वेगकी भाँति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन है ॥ ७७ ॥

नैव शक्या समाधातुं संनिपाते महाचमूः ।
दीर्णामित्येव दीर्यन्ते सुविद्वांसोऽपि भारत ॥ ७८ ॥

भरतनन्दन ! विशाल सेनामें जब भगदड़ मच जाती है, तब उसे समझा-बुझाकर रोकना कठिन हो जाता है। सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्धविद्याके विद्वान् भी भागने लगते हैं ॥ ७८ ॥

भीतान् भग्नांश्च सम्प्रेक्ष्य भयं भूयोऽभिवर्धते ।
प्रभग्ना सहसा राजन् दिशो विद्रवते चमूः ॥ ७९ ॥

राजन् ! भयभीत होकर भागते हुए सैनिकोंको देखकर अन्य योद्धाओंका भय बहुत अधिक बढ़ जाता है; फिर तो सहसा सारी सेना हतोत्साह होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगती है ॥ ७९ ॥

नैव स्थापयितुं शक्या शूरैरपि महाचमूः ।
सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां महीपतिः ।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः ॥ ८० ॥

उस समय बहुत-से शूर-वीर भी उस विशाल वाहिनीको रोककर खड़ी नहीं रख सकते। इसलिये बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह सतत सावधान रहकर कोई-न-कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेनाको विशेष सत्कारपूर्वक स्थिर रखनेका यत्न करे ॥ ८० ॥

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम् ।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ॥ ८१ ॥

राजन् ! साम-दानरूप उपायसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे श्रेष्ठ बताया गया है। भेदनीतिके द्वारा शत्रुसेनामें फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्धके द्वारा मार-काट मचाकर जो शत्रुको पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्नश्रेणीकी विजय है ॥ ८१ ॥

महादोषः संनिपातस्ततस्याद्यः क्षय उच्यते ।
परस्परज्ञाः संहृष्टा व्यवधूताः सुनिश्चिताः ॥ ८२ ॥
पञ्चाशदपि ये शूरा मृद्नन्ति महतीं चमूम् ।
अपि वा पञ्च षट् सप्त विजयन्त्यनिवर्तिनः ॥ ८३ ॥

युद्ध महान् दोषका भण्डार है। उन दोषोंमें सबसे प्रधान है जनसंहार। यदि एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले, कहीं भी आसक्त न होकर विजय-प्राप्तिका दृढ़ निश्चय रखनेवाले तथा शौर्यसम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बड़ी भारी सेनाको धूलमें मिला देते हैं। यदि पीछे पैर न हटानेवाले पाँच, छः और सात ही योद्धा हों तो वे भी निश्चितरूपसे विजयी होते हैं ॥ ८२-८३ ॥

न वैनतेयो गरुडः प्रशंसति महाजनम् ।
दृष्ट्वा सुपर्णोऽपचितिं महत्या अपि भारत ॥ ८४ ॥

भारत ! सुन्दर पंखोंवाले विनतानन्दन गरुड़ विशाल सेनाका भी विनाश होता देखकर अधिक जनसमूहकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥

न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति नित्यशः ।
अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम् ।
जयवन्तो हि संग्रामे कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ८५ ॥

सदा अधिक सेना होनेसे ही विजय नहीं होती है। युद्धमें जीत प्रायः अनिश्चित होती है। उसमें दैव ही सबसे बड़ा सहारा है। जो संग्राममें विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि निमित्ताख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो धृतराष्ट्राय धीमते ।
धृतराष्ट्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर महर्षि व्यासजी चले गये। धृतराष्ट्र भी उनके पूर्वोक्त वचन सुनकर कुछ कालतक उनपर सोच-विचार करते रहे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ।
संजयं संशितात्मानमपृच्छद् भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दो घड़ीतक सोचने-विचारनेके पश्चात् बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयवाले संजयसे पूछा—॥ २ ॥

संजयेमे महीपालाः शूरा युद्धाभिनन्दिनः।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्ति शस्त्रैरुच्चावचैरिह॥ ३॥
पार्थिवाः पृथिवीहेतोः समभित्यज्य जीवितम्।
न चा शाम्यन्ति निघ्नन्तो वर्धयन्ति यमक्षयम्॥ ४॥
भौममैश्वर्यमिच्छन्तो न मृष्यन्ते परस्परम्।
मन्ये बहुगुणा भूमिस्तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ५॥

'संजय! पृथ्वीका पालन करनेवाले ये शूरवीर नरेश इस भूमिके लिये ही अपना जीवन निछावर करके युद्धका अभिनन्दन करते और छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हैं। इस भूतलके ऐश्वर्यको स्वयं ही चाहते हुए वे एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते हैं। परस्पर प्रहार करते हुए यमलोककी जनसंख्या बढ़ाते हैं, परंतु शान्त नहीं होते हैं। अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भूमि बहुसंख्यक गुणोंसे विभूषित है। इसलिये संजय! तुम मुझसे इस भूमिके गुणोंका ही वर्णन करो॥ ३—५॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
कोटयश्च लोकवीराणां समेताः कुरुजाङ्गले॥ ६॥

'कुरुक्षेत्रमें इस जगत्‌के कई हजार, लाख, करोड़ और अरबों वीर एकत्र हुए हैं॥ ६॥

देशानां च परीमाणं नगराणां च संजय।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यत एते समागताः॥ ७॥

'संजय! ये लोग जहाँ-जहाँसे आये हैं, उन देशों और नगरोंका यथार्थ परिमाण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ॥ ७॥

दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा।
प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः॥ ८॥

'क्योंकि तुम अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि व्यासजीके प्रभावसे दिव्य बुद्धिरूपी प्रदीपसे प्रकाशित ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हो गये हो'॥

संजय उवाच

यथाप्रज्ञं महाप्राज्ञ भौमान् वक्ष्यामि ते गुणान्।
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ॥ ९॥

संजयने कहा—महाप्राज्ञ! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे इस भूमिके गुणोंका वर्णन करूँगा। भरतश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है; आप शास्त्रदृष्टिसे इस विषयको देखिये और समझिये॥ ९॥

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः॥ १०॥

राजन्! इस पृथ्वीपर दो तरहके प्राणी उपलब्ध हैं—स्थावर और जङ्गम। जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्तिके तीन स्थान हैं—अण्डज, स्वेदज और जरायुज॥ १०॥

त्रसानां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये॥ ११॥

राजन्! सम्पूर्ण जङ्गम जीवोंमें जरायुज श्रेष्ठ माने गये हैं, जरायुजोंमें भी मनुष्य और पशु उत्तम हैं॥ ११॥

नानारूपधरा राजंस्तेषां भेदाश्चतुर्दश।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः॥ १२॥

वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं। राजन्! उनके चौदह भेद हैं, जो वेदोंमें बताये गये हैं। भूपाल! उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है॥ १२॥

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम्।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम्॥ १३॥

ग्रामवासी पशु और मनुष्योंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और वनवासी पशुओंमें सिंह श्रेष्ठ हैं। समस्त प्राणियोंका जीवन-निर्वाह एक दूसरेके सहयोगसे होता है॥ १३॥

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः॥ १४॥

स्थावरोंको उद्भिज कहते हैं। उनकी पाँच ही जातियाँ हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली और त्वक्सार (बाँस आदि)। ये सब तृणवर्गकी जातियाँ हैं॥ १४॥

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता॥ १५॥

ये स्थावर-जङ्गमरूप उन्नीस प्राणी हैं। इनके साथ पाँच महाभूतोंको गिन लेनेपर इनकी संख्या चौबीस हो जाती है। गायत्रीके भी चौबीस ही अक्षर होते हैं। इसलिये इन चौबीस भूतोंको भी लोकसम्मत गायत्री कहा गया है॥१५॥

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति॥ १६॥

भरतश्रेष्ठ! जो लोकमें स्थित इस सर्वगुणसम्पन्न पुण्यमयी गायत्रीको यथार्थरूपसे जानता है, वह कभी नष्ट नहीं होता॥ १६॥

अरण्यवासिनः सप्त सप्तैषां ग्रामवासिनः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा॥ १७॥
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप।

नरेश्वर! उपर्युक्त चौदह प्रकारके जरायुज प्राणियोंमें वनवासी पशु सात हैं और ग्रामवासी भी सात ही हैं। सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, गज, रीछ और वानर—ये सात वनवासी पशु माने गये हैं॥

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः॥ १८॥
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः।
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश॥ १९॥

गाय, बकरी, भेड़, मनुष्य, घोड़े, खच्चर और गदहे—इन सात पशुओंको साधु पुरुषोंने ग्रामवासी बताया है। राजन्! इस प्रकार ये ग्रामवासी और वनवासी मिलकर कुल चौदह पशु कहे गये हैं॥ १८-१९॥

भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वं विनश्यति।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम्॥ २०

सब कुछ इस भूमिपर ही उत्पन्न होता है और भूमिमें ही विलीन होता है। भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा और भूमि ही सबका परम आश्रय है ॥ २० ॥

यस्य भूमिस्तस्य सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
तत्रातिगृद्धा राजानो विनिघ्नन्तीतरेतरम् ॥ २१ ॥

जिसके अधिकारमें भूमि है, उसीके अधिकारमें सम्पूर्ण चराचर जगत् है, इसीलिये भूमिके प्रति आसक्ति रखनेवाले राजालोग एक-दूसरेको मारते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भौमगुणकथने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमिगुणवर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! नदियों, पर्वतों तथा जनपदोंके और दूसरे भी जो पदार्थ इस भूतलपर आश्रित हैं, उन सबके नाम बताओ ॥ १ ॥

प्रमाणं च प्रमाणज्ञ पृथिव्या मम सर्वतः।
निखिलेन समाचक्ष्व काननानि च संजय ॥ २ ॥

प्रमाणवेत्ता संजय ! तुम सारी पृथ्वीका पूरा प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाईका माप) मुझे बताओ। साथ ही यहाँके वनोंका भी वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

पञ्चेमानि महाराज महाभूतानि संग्रहात्।
जगतीस्थानि सर्वाणि समान्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! इस पृथ्वीपर रहनेवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब संक्षेपसे पञ्चमहाभूतस्वरूप हैं। इसीलिये मनीषी पुरुष उन सबको 'सम[1]' कहते हैं॥

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ॥ ४ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि—ये पञ्च महाभूत हैं। आकाशसे लेकर भूमितक जो पञ्चमहाभूतोंका क्रम है, उसमें पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सब भूतोंमें एक-एक गुण अधिक होते हैं। इन सब भूतोंमें भूमिकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
भूमेरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंको तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने पृथ्वीका गुण बताया है ॥ ५ ॥

चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ॥ ६ ॥

राजन् ! जलमें चार ही गुण हैं। उसमें गन्धका अभाव है। तेजके शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तीन गुण हैं। वायुके शब्द और स्पर्श दो ही गुण हैं और आकाशका एक मात्र शब्द ही गुण है ॥ ६ ॥

एते पञ्च गुणा राजन् महाभूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वलोकेषु येषु भूताः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥

राजन् ! ये पाँच गुण सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयभूत पञ्चमहाभूतोंमें रहते हैं। जिनमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यं नाभिवर्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ॥ ८ ॥

ये पाँचों गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं, तब एक-दूसरेसे संयुक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम्।
तदा देहैर्देहवन्तो व्यतिरोहन्ति नान्यथा ॥ ९ ॥

जब ये विषमभावको प्राप्त होते हैं, तब एक-दूसरेसे मिल जाते हैं। उस समय ही देहधारी प्राणी अपने शरीरोंसे संयुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

आनुपूर्व्याद् विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः।
सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम् ॥ १० ॥

ये सब भूत क्रमसे नष्ट होते और क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं (पृथ्वी आदिके क्रमसे इनका लय होता है और आकाश आदिके क्रमसे इनका प्रादुर्भाव)। ये सब अपरिमेय हैं। इनका रूप ईश्वरकृत है ॥ १० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ११ ॥

भिन्न-भिन्न लोकोंमें पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य तर्कके द्वारा उनके प्रमाणोंका प्रतिपादन करते हैं ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

परंतु जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृतिसे परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ॥ १२ ॥

सुदर्शनं प्रवक्ष्यामि द्वीपं तु कुरुनन्दन।
परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! अब मैं सुदर्शन नामक द्वीपका वर्णन

[1]. एक समान।

करूँगा। महाराज! वह द्वीप चक्रकी भाँति गोलाकार स्थित है ॥

नदीजलप्रतिच्छन्नः पर्वतैश्चाभ्रसंनिभैः।
पुरैश्च विविधाकारै रम्यैर्जनपदैस्तथा ॥ १४ ॥
वृक्षैः पुष्पफलोपेतैः सम्पन्नधनधान्यवान्।
लवणेन समुद्रेण समन्तात् परिवारितः ॥ १५ ॥

वह नाना प्रकारकी नदियोंके जलसे आच्छादित, मेघके समान उच्चतम पर्वतोंसे सुशोभित, भाँति-भाँतिके नगरों, रमणीय जनपदों तथा फल-फूलसे भरे हुए वृक्षोंसे विभूषित है। यह द्वीप भाँति-भाँतिकी सम्पदाओं तथा धन-धान्यसे सम्पन्न है। उसे सब ओरसे लवणसमुद्रने घेर रक्खा है ॥

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः।
एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ॥ १६ ॥

जैसे पुरुष दर्पणमें अपना मुँह देखता है, उसी प्रकार सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलमें दिखायी देता है ॥ १६ ॥

द्विरंशे पिप्पलस्तत्र द्विरंशे च शशो महान्।
सर्वौषधिसमावायः सर्वतः परिवारितः ॥ १७ ॥

इसके दो अंशमें पिप्पल और दो अंशमें महान् शश दृष्टिगोचर होता है। इनके सब ओर सम्पूर्ण ओषधियोंका समुदाय फैला हुआ है ॥ १७ ॥

आपस्ततोऽन्या विज्ञेयाः शेषः संक्षेप उच्यते।
ततोऽन्य उच्यते चायमेनं संक्षेपतः शृणु ॥ १८ ॥

इन सबको छोड़कर शेष स्थान जलमय समझना चाहिये। इससे भिन्न संक्षिप्त भूमिखण्ड बताया जाता है। उस खण्डका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सुदर्शनद्वीपवर्णने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सुदर्शनद्वीपवर्णनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गङ्गानदी तथा शशाकृतिका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

उक्तो द्वीपस्य संक्षेपो विधिवद् बुद्धिमंस्त्वया।
तत्त्वज्ञश्चासि सर्वस्य विस्तरं ब्रूहि संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बुद्धिमान् संजय! तुमने सुदर्शनद्वीपका विधिपूर्वक थोड़ेमें ही वर्णन कर दिया, परंतु तुम तो तत्त्वोंके ज्ञाता हो; अतः इस सम्पूर्ण द्वीपका विस्तारके साथ वर्णन करो ॥ १ ॥

यावान् भूम्यवकाशोऽयं दृश्यते शशलक्षणे।
तस्य प्रमाणं प्रब्रूहि ततो वक्ष्यसि पिप्पलम् ॥ २ ॥

चन्द्रमाके शश-चिह्नमें भूमिका जितना अवकाश दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रमाण बताओ। तत्पश्चात् पिप्पलस्थानका वर्णन करना ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राज्ञा स पृष्टस्तु संजयो वाक्यमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजयने कहना आरम्भ किया ॥ २½ ॥

संजय उवाच

प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः।
अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज! पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर फैले हुए ये छः वर्ष पर्वत हैं, जो दोनों ओर पूर्व तथा पश्चिम समुद्रमें घुसे हुए हैं ॥ ३ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।
नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः ॥ ४ ॥
सर्वधातुविचित्रश्च शृङ्गवान् नाम पर्वतः।
एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः ॥ ५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, हेमकूट, पर्वतश्रेष्ठ निषध, वैदूर्यमणिमय नीलगिरि, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल श्वेतगिरि तथा सब धातुओंसे सम्पन्न होकर विचित्र शोभा धारण करनेवाला शृङ्गवान् पर्वत। राजन्! ये छः पर्वत सिद्धों तथा चारणोंके निवासस्थान हैं ॥ ४-५ ॥

एषामन्तरविष्कम्भो योजनानि सहस्रशः।
तत्र पुण्या जनपदास्तानि वर्षाणि भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन! इनके बीचका विस्तार सहस्रों योजन है। वहाँ भिन्न-भिन्न वर्ष (खण्ड) हैं और उनमें बहुत-से पवित्र जनपद हैं ॥ ६ ॥

वसन्ति तेषु सत्त्वानि नानाजातीनि सर्वशः।
इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम् ॥ ७ ॥

उनमें सब ओर नाना जातियोंके प्राणी निवास करते हैं, उनमेंसे यह भारतवर्ष है। इसके बाद हिमालयसे उत्तर हैमवतवर्ष है ॥ ७ ॥

हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते।
दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ॥ ८ ॥
प्रागायतो महाभाग माल्यवान् नाम पर्वतः।
ततः परं माल्यवतः पर्वतो गन्धमादनः ॥ ९ ॥

हेमकूट पर्वतसे आगे हरिवर्षकी स्थिति बतायी जाती है। महाभाग! नीलगिरिके दक्षिण और निषधपर्वतके उत्तर पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ माल्यवान् नामक पर्वत है। माल्यवान्‌से आगे गन्धमादन पर्वत है ॥ ८-९ ॥

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ॥ १० ॥

इन दोनोंके बीचमें मण्डलाकार सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्निके समान कान्तिमान् है ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
अधस्ताच्चतुरशीतिर्योजनानां महीपते ॥ ११ ॥

उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है । राजन् ! वह नीचे भी चौरासी हजार योजनतक पृथ्वीके भीतर घुसा हुआ है ॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च लोकानावृत्य तिष्ठति ।
तस्य पार्श्वेष्वमी द्वीपाश्चत्वारः संस्थिता विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! मेरुपर्वत ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल सम्पूर्ण लोकोंको आवृत करके खड़ा है । उसके पार्श्वभागमें ये चार द्वीप बसे हुए हैं ॥ १२ ॥

भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत ।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ १३ ॥

भारत ! उनके नाम ये हैं—भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप तथा उत्तरकुरु । उत्तरकुरु द्वीपमें पुण्यात्मा पुरुषोंका निवास है ॥

विहगः सुमुखो यस्तु सुपर्णस्यात्मजः किल ।
स वै विचिन्तयामास सौवर्णान् वीक्ष्य वायसान् ॥ १४ ॥
मेरुरुत्तममध्यानामधमानां च पक्षिणाम् ।
अविशेषकरो यस्मात् तस्मादेनं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥

एक समय पक्षिराज गरुड़के पुत्र सुमुखने मेरुपर्वतपर सुनहरे शरीरवाले कौवोंको देखकर सोचा कि यह सुमेरुपर्वत उत्तम, मध्यम तथा अधम पक्षियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रहने देता है । इसलिये मैं इसको त्याग दूँगा । ऐसा विचार करके वे वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ १४-१५ ॥

तमादित्योऽनुपर्येति सततं ज्योतिषां वरः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो वायुश्चैव प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥

ज्योतिर्मय ग्रहोंमें सर्वश्रेष्ठ सूर्यदेव, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा तथा वायुदेव भी प्रदक्षिणक्रमसे सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

स पर्वतो महाराज दिव्यपुष्पफलान्वितः ।
भवनैरावृतः सर्वैर्जाम्बूनदपरिष्कृतैः ॥ १७ ॥

महाराज ! वह पर्वत दिव्य पुष्पों और फलोंसे सम्पन्न है । वहाँके सभी भवन जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित हैं । उनसे घिरे हुए उस पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

तत्र देवगणा राजन् गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः शैले क्रीडन्ति सर्वदा ॥ १८ ॥

राजन् ! उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएँ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ॥ १८ ॥

तत्र ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्चापि सुरेश्वरः ।
समेत्य विविधैर्यज्ञैर्यजन्तेऽनेकदक्षिणैः ॥ १९ ॥

वहाँ ब्रह्मा, रुद्र तथा देवराज इन्द्र एकत्र हो पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ १९ ॥

तुम्बुरुर्नारदश्चैव विश्वावसुर्हहा हुहूः ।
अभिगम्यामरश्रेष्ठांस्तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २० ॥

उस समय तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व उन देवेश्वरोंके पास जाकर भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥ २० ॥

सप्तर्षयो महात्मानः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तत्र गच्छन्ति भद्रं ते सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २१ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो । वहाँ महात्मा सप्तर्षिगण तथा प्रजापति कश्यप प्रत्येक पर्वपर सदा पधारते हैं ॥ २१ ॥

तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते ।
इमानि तस्य रत्नानि तस्येमे रत्नपर्वताः ॥ २२ ॥

भूपाल ! उस मेरुपर्वतके ही शिखरपर दैत्योंके साथ शुक्राचार्य निवास करते हैं । ये सब रत्न तथा ये रत्नमय पर्वत शुक्राचार्यके ही अधिकारमें हैं ॥ २२ ॥

तस्मात् कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते ।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्येभ्यः प्रयच्छति ॥ २३ ॥

भगवान् कुबेर उन्हींसे धनका चतुर्थ भाग प्राप्त करके उसका उपभोग करते हैं और उस धनका सोलहवाँ भाग मनुष्योंको देते हैं ॥ २३ ॥

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तुकुसुमैश्चितम् ।
कर्णिकारवनं रम्यं शिलाजालसमुद्गतम् ॥ २४ ॥

सुमेरु पर्वतके उत्तर भागमें समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरा हुआ दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार (कनेर वृक्षोंका) वन है, जहाँ शिलाओंके समूह संचित हैं ॥ २४ ॥

तत्र साक्षात् पशुपतिर्दिव्यैर्भूतैः समावृतः ।
उमासहायो भगवान् रमते भूतभावनः ॥ २५ ॥
कर्णिकारमयीं मालां बिभ्रत्पादावलम्बिनीम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतस्त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥ २६ ॥

वहाँ दिव्य भूतोंसे घिरे हुए साक्षात् भूतभावन भगवान् पशुपति पैरोंतक लटकनेवाली कनेरके फूलोंकी दिव्य माला धारण किये भगवती उमाके साथ विहार करते हैं । वे अपने तीनों नेत्रोंद्वारा ऐसा प्रकाश फैलाते हैं, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ॥ २५-२६ ॥

तमुग्रतपसः सिद्धाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
पश्यन्ति न हि दुर्वृत्तैः शक्यो द्रष्टुं महेश्वरः ॥ २७ ॥

उग्र तपस्वी एवं उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले सत्यवादी सिद्ध पुरुष ही वहाँ उनका दर्शन करते हैं । दुराचारी लोगोंको भगवान् महेश्वरका दर्शन नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ॥ २८ ॥
पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।

प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! उस मेरुपर्वतके शिखरसे दुग्धके समान श्वेत-धारावाली, विश्वरूपा, अपरिमित शक्तिशालिनी, भयंकर वज्र-पातके समान शब्द करनेवाली, परम पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित, शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गङ्गा बड़े प्रबल-वेगसे सुन्दर चन्द्रकुण्डमें गिरती हैं ॥ २८-२९ ॥

नया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ॥ ३० ॥
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक्।

वह पवित्र कुण्ड स्वयं गङ्गाजीने ही प्रकट किया है, जो अपनी अगाध जलराशिके कारण समुद्रके समान शोभा पाता है। जिन्हें अपने ऊपर धारण करना पर्वतोंके लिये भी कठिन था, उन्हीं गङ्गाको पिनाकधारी भगवान् शिव एक लाख वर्षोंतक अपने मस्तकपर ही धारण किये रहे ॥३०½॥

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते ॥ ३१ ॥
जम्बूखण्डस्तु तत्रैव सुमहान् नन्दनोपमः।
आयुर्दश सहस्राणि वर्षाणां तत्र भारत ॥ ३२ ॥

राजन् ! मेरुके पश्चिम भागमें केतुमाल द्वीप है, वहीं अत्यन्त विशाल जम्बूखण्ड नामक प्रदेश है, जो नन्दनवनके समान मनोहर जान पड़ता है। भारत ! वहाँके निवासियोंकी आयु दस हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३१-३२ ॥

सुवर्णवर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ ३३ ॥

वहाँके पुरुष सुवर्णके समान कान्तिमान् और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उन्हें कभी रोग और शोक नहीं होते। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥३३॥

जायन्ते मानवास्तत्र निष्टप्तकनकप्रभाः।
गन्धमादनशृङ्गेषु कुबेरः सह राक्षसैः ॥ ३४ ॥
संवृतोऽप्सरसां सङ्घैर्मोदते गुह्यकाधिपः।

वहाँ तपाये हुए सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर गुह्यकोंके स्वामी कुबेर राक्षसोंके साथ रहते और अप्सराओंके समुदायोंके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं ॥ ३४½ ॥

गन्धमादनपादेषु परेष्वपरगण्डिकाः ॥ ३५ ॥
एकादश सहस्राणि वर्षाणां परमायुषः।

गन्धमादनके अन्यान्य पार्श्ववर्ती पर्वतोंपर दूसरी-दूसरी नदियाँ हैं, जहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी आयु ग्यारह हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३५½ ॥

तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः।
स्त्रियश्चोत्पलवर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः ॥ ३६ ॥

राजन् ! वहाँके पुरुष हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और महाबली होते हैं तथा सभी स्त्रियाँ कमलके समान कान्तिमती और देखनेमें अत्यन्त मनोरम होती हैं ॥ ३६ ॥

नीलात् परतरं श्वेतं श्वेताद्धैरण्यकं परम्।
वर्षमैरावतं राजन् नानाजनपदावृतम् ॥ ३७ ॥

नील पर्वतसे उत्तर श्वेतवर्ष और श्वेतवर्षसे उत्तर हिरण्यकवर्ष है। तत्पश्चात् शृङ्गवान् पर्वतसे आगे ऐरावत नामक वर्ष है। राजन् ! वह अनेकानेक जनपदोंसे भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे।
इलावृतं मध्यमं तु पञ्च वर्षाणि चैव हि ॥ ३८ ॥

महाराज ! दक्षिण और उत्तरके क्रमशः भारत और ऐरावत नामक दो वर्ष धनुषकी दो कोटियोंके समान स्थित हैं और बीचमें पाँच वर्ष (श्वेत, हिरण्यक, इलावृत, हरिवर्ष तथा हैमवत) हैं। इन सबके बीचमें इलावृतवर्ष है॥

उत्तरोत्तरमेतेभ्यो वर्षमुद्रिच्यते गुणैः।
आयुःप्रमाणमारोग्यं धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ ३९ ॥

भारतसे आरम्भ करके ये सभी वर्ष आयुके प्रमाण, आरोग्य, धर्म, अर्थ और काम—इन सभी दृष्टियोंसे गुणोंमें उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं ॥ ३९ ॥

समन्वितानि भूतानि तेषु वर्षेषु भारत।
एवमेषा महाराज पर्वतैः पृथिवी चिता ॥ ४० ॥

भारत ! इन सब वर्षोंमें निवास करनेवाले प्राणी परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। महाराज ! इस प्रकार यह सारी पृथ्वी पर्वतोंद्वारा स्थिर की गयी है ॥ ४० ॥

हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः।
यत्र वैश्रवणो राजन् गुह्यकैः सह मोदते ॥ ४१ ॥

राजन् ! विशाल पर्वत हेमकूट ही कैलास नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ कुबेर गुह्यकोंके साथ सानन्द निवास करते हैं ॥

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति।
हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः ॥ ४२ ॥

कैलाससे उत्तर मैनाक है और उससे भी उत्तर दिव्य तथा महान् मणिमय पर्वत हिरण्यशृङ्ग है ॥४२॥

तस्य पार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ ४३ ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

उसीके पास विशाल, दिव्य, उज्ज्वल तथा काञ्चनमयी बालुकासे सुशोभित रमणीय बिन्दुसरोवर है, जहाँ राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक निवास किया था ॥ ४३½ ॥

यूपा मणिमयास्तत्र चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ ४४ ॥
तत्रेष्ट्वा तु गतः सिद्धिं सहस्राक्षो महायशाः।

वहाँ बहुत-से मणिमय यूप तथा सुवर्णमय चैत्य (महल) शोभा पाते हैं। वहीं यज्ञ करके महायशस्वी इन्द्रने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४४½ ॥

स्रष्टा भूतपतिर्यत्र सर्वलोकैः सनातनः ॥ ४५ ॥
उपास्यते तिग्मतेजा यत्र भूतैः समन्ततः ।
नरनारायणौ ब्रह्मा मनुः स्थाणुश्च पञ्चमः ॥ ४६ ॥

उसी स्थानपर सब ओर सम्पूर्ण जगत्‌के लोग लोकस्रष्टा प्रचण्ड तेजस्वी सनातन भगवान् भूतनाथकी उपासना करते हैं । नर, नारायण, ब्रह्मा, मनु और पाँचवें भगवान् शिव वहाँ सदा स्थित रहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

तत्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।
ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्मलोकसे उतरकर त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गङ्गा पहले उस बिन्दुसरोवरमें ही प्रतिष्ठित हुई थीं । वहींसे उनकी सात धाराएँ विभक्त हुई हैं ॥ ४७ ॥

वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती ।
जम्बूनदी च सीता च गङ्गा सिन्धुश्च सप्तमी ॥ ४८ ॥

उन धाराओंके नाम इस प्रकार हैं—वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी सरस्वती, जम्बूनदी, सीता, गङ्गा और सिंधु ॥

अचिन्त्या दिव्यसंकाशा प्रभोरेषैव संविधिः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ ४९ ॥

यह (सात धाराओंका प्रादुर्भाव जगत्‌के उपकारके लिये) भगवान्‌का ही अचिन्त्य एवं दिव्य सुन्दर विधान है । जहाँ लोग कल्पके अन्ततक यज्ञानुष्ठानके द्वारा परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ४९ ॥

दृश्यादृश्या च भवति तत्र तत्र सरस्वती ।
एता दिव्याः सप्तगङ्गास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ५० ॥

इन सात धाराओंमें जो सरस्वती नामवाली धारा है, वह कहीं प्रत्यक्ष दिखायी देती है और कहीं अदृश्य हो जाती है । ये सात दिव्य गङ्गाएँ तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥५०॥

रक्षांसि वै हिमवति हेमकूटे तु गुह्यकाः ।
सर्पा नागाश्च निषधे गोकर्ण च तपोवनम् ॥ ५१ ॥

हिमालयपर राक्षस, हेमकूटपर गुह्यक तथा निषधपर्वतपर सर्प और नाग निवास करते हैं । गोकर्ण तो तपोवन है ॥

देवासुराणां सर्वेषां श्वेतपर्वत उच्यते ।
गन्धर्वा निषधे नित्यं नीले ब्रह्मर्षयस्तथा ।
शृङ्गवांस्तु महाराज देवानां प्रतिसंचरः ॥ ५२ ॥

श्वेतपर्वत सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंका निवासस्थान बताया जाता है । निषधगिरिपर गन्धर्व तथा नीलगिरिपर ब्रह्मर्षि निवास करते हैं । महाराज ! शृङ्गवान् पर्वत तो केवल देवताओंकी ही विहारस्थली है ॥ ५२ ॥

इत्येतानि महाराज सप्त वर्षाणि भागशः ।
भूतान्युपनिविष्टानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण प्राणी इन सात वर्षोंमें विभागपूर्वक स्थित हैं ॥ ५३ ॥

तेषामृद्धिर्बहुविधा दृश्यते दैवमानुषी ।
अशक्या परिसंख्यातुं श्रद्धेया तु बुभूषता ॥ ५४ ॥

उनकी अनेक प्रकारकी दैवी और मानुषी समृद्धि देखी जाती है । उसकी गणना असम्भव है । कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको उस समृद्धिपर विश्वास करना चाहिये ॥

(स वै सुदर्शनद्वीपो दृश्यते शशवद् द्विधा ।)
यां तु पृच्छसि मां राजन् दिव्यामेतां शशाकृतिम् ।
पार्श्वे शशस्य द्वे वर्षे उक्ते ये दक्षिणोत्तरे ।
कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वह सुदर्शनद्वीप बताया गया है, जो दो भागोंमें विभक्त होकर चन्द्रमण्डलमें प्रतिबिम्बित हो खरगोश-की-सी आकृतिमें दृष्टिगोचर होता है । राजन् ! आपने जो मुझसे इस शशाकृति (खरगोशकी-सी आकृति) के विषयमें प्रश्न किया है उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये । पहले जो दक्षिण और उत्तरमें स्थित (भारत और ऐरावत नामक) दो द्वीप बताये गये हैं, वे ही दोनों उस शश (खरगोश) के दो पार्श्वभाग हैं । नागद्वीप तथा काश्यपद्वीप उसके दोनों कान हैं ॥ ५५ ॥

ताम्रपर्णः शिरो राजञ्छ्रीमान् मलयपर्वतः ।
एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंस्थितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! ताम्रवर्णके वृक्षों और पत्रोंसे सुशोभित श्रीमान् मलयपर्वत ही इसका सिर है । इस प्रकार यह सुदर्शन-द्वीपका दूसरा भाग खरगोशके आकारमें दृष्टिगोचर होता है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भूम्यादिपरिमाणविवरणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमि आदि परिमाणका विवरणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्‌का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

मेरोरथोत्तरं पार्श्वं पूर्वं चाचक्ष्व संजय ।
निखिलेन महाबुद्धे माल्यवन्तं च पर्वतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—परमबुद्धिमान् संजय ! तुम मेरुके उत्तर तथा पूर्व भागमें जो कुछ है, उसका पूर्णरूपसे वर्णन करो । साथ ही माल्यवान् पर्वतके

विषयमें भी जानने योग्य बातें बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु नीलस्य मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! नीलगिरिसे दक्षिण तथा मेरुपर्वतके उत्तर भागमें पवित्र उत्तर कुरुवर्ष है, जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं ॥ २ ॥

तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

वहाँके वृक्ष सदा पुष्प और फलसे सम्पन्न होते हैं और उनके फल बड़े मधुर एवं स्वादिष्ट होते हैं। उस देशके सभी पुष्प सुगन्धित और फल सरस होते हैं ॥ ३ ॥

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप ॥ ४ ॥
ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ५ ॥

नरेश्वर! वहाँके कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता हैं। राजन्! दूसरे क्षीरी नामवाले वृक्ष हैं, जो सदा षड्विध रसोंसे युक्त एवं अमृतके समान स्वादिष्ट दुग्ध बहाते रहते हैं। उनके फलोंमें इच्छानुसार वस्त्र और आभूषण भी प्रकट होते हैं ॥ ४-५ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का च जनाधिप।
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः ॥ ६ ॥

जनेश्वर! वहाँकी सारी भूमि मणिमयी है। वहाँ जो सूक्ष्म बालूके कण हैं, वे सब सुवर्णमय हैं। उस भूमिपर कीचड़का कहीं नाम भी नहीं है। उसका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखदायक होता है। वहाँके सुन्दर सरोवर अत्यन्त मनोरम होते हैं। उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता है ॥ ६ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ॥ ७ ॥

वहाँ देवलोकसे भूतलपर आये हुए समस्त पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म ग्रहण करते हैं। ये सभी उत्तम कुलसे सम्पन्न और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥

मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
तेषां ते क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम् ॥ ८ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े भी उत्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उत्तरकुरुके निवासी क्षीरी वृक्षोंके अमृत-तुल्य दूध पीते हैं ॥८॥

मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते।
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च ॥ ९ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े एक ही साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ बढ़ते हैं। उनके रूप, गुण और वेष सब एक-से होते हैं ॥ ९ ॥

एकैकमनुरक्तं च चक्रवाकसमं विभो।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ १० ॥

प्रभो! वे चकवा-चकवीके समान सदा एक दूसरेके अनुकूल बने रहते हैं। उत्तरकुरुके लोग सदा नीरोग और प्रसन्नचित्त रहते हैं ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत ॥ ११ ॥

महाराज! वे ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं। एक दूसरेका कभी त्याग नहीं करते ॥ ११ ॥

भारुण्डा नाम शकुनास्तीक्ष्णतुण्डा महाबलाः।
तान् निर्हरन्तीह मृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ॥ १२ ॥

वहाँ भारुण्ड नामके महाबली पक्षी हैं, जिनकी चोंचें बड़ी तीखी होती हैं। वे वहाँके मरे हुए लोगोंकी लाशें उठाकर ले जाते और कन्दराओंमें फेंक देते हैं ॥ १२ ॥

उत्तराः कुरवो राजन् व्याख्यातास्ते समासतः।
मेरोः पार्श्वमहं पूर्वं वक्ष्याम्यथ यथातथम् ॥ १३ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने आपसे थोड़ेमें उत्तरकुरुवर्षका वर्णन किया। अब मैं मेरुके पूर्वभागमें स्थित भद्राश्ववर्षका यथावत् वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

तस्य मूर्धाभिषेकस्तु भद्राश्वस्य विशाम्पते।
भद्रसालवनं यत्र कालाम्रश्च महाद्रुमः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! भद्राश्ववर्षके शिखरपर भद्रशाल नामका एक वन है एवं वहाँ कालाम्र नामक महान् वृक्ष भी है ॥

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः।
द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः ॥ १५ ॥

महाराज! कालाम्र वृक्ष बहुत ही सुन्दर और एक योजन ऊँचा है। उसमें सदा फूल और फल लगे रहते हैं। सिद्ध और चारण पुरुष उसका सदा सेवन करते हैं ॥१५॥

तत्र ते पुरुषाः श्वेतास्तेजोयुक्ता महाबलाः।
स्त्रियः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः ॥ १६ ॥

वहाँके पुरुष श्वेत वर्णके होते हैं। वे तेजस्वी और महान् बलवान् हुआ करते हैं। वहाँकी स्त्रियाँ कुमुद-पुष्पके समान गौर वर्णवाली, सुन्दरी तथा देखनेमें प्रिय होती हैं ॥ १६ ॥

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।
चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीतविशारदाः ॥ १७ ॥

उनकी अङ्गकान्ति एवं वर्ण चन्द्रमाके समान है। उनके मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोहर होते हैं। उनका एक-एक अङ्ग चन्द्ररश्मियोंके समान शीतल प्रतीत होता है। वे नृत्य और गीतकी कलामें कुशल होती हैं ॥ १७ ॥

दश वर्षसहस्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ।
कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवनाः ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके लोगोंकी आयु दस हजार वर्षकी होती है। वे कालाम्र वृक्षका रस पीकर सदा जवान बने रहते हैं॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु।
सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बूवृक्षः सनातनः ॥ १९ ॥

नीलगिरिके दक्षिण और निषधके उत्तर सुदर्शन नामक एक विशाल जामुनका वृक्ष है, जो सदा स्थिर रहनेवाला है॥

सर्वकामफलः पुण्यः सिद्धचारणसेवितः।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः ॥ २० ॥

वह समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, पवित्र तथा सिद्धों और चारणोंका आश्रय है। उसीके नामपर यह सनातन प्रदेश जम्बूद्वीपके नामसे विख्यात है ॥ २० ॥

योजनानां सहस्रं च शतं च भरतर्षभ।
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवस्पृङ्मनुजेश्वर ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुजेश्वर ! उस वृक्षराजकी ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। वह (ऊँचाई) स्वर्गलोकको स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

अरत्नीनां सहस्रं च शतानि दश पञ्च च।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम् ॥ २२ ॥

उसके फलोंमें जब रस आ जाता है अर्थात् जब वे पक जाते हैं, तब अपने-आप टूटकर गिर जाते हैं। उन फलोंकी लंबाई ढाई हजार अरत्नि[1] मानी गयी है ॥ २२ ॥

पतमानानि तान्युर्वी कुर्वन्ति विपुलं स्वनम्।
मुञ्चन्ति च रसं राजंस्तस्मिन् रजतसंनिभम् ॥ २३ ॥

राजन् ! वे फल इस पृथ्वीपर गिरते समय भारी धमाकेकी आवाज करते हैं और उस भूतलपर सुवर्णसदृश रस बहाया करते हैं ॥ २३ ॥

तस्या जम्ब्वाः फलरसो नदी भूत्वा जनाधिप।
मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा सम्प्रयात्युत्तरान् कुरून् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! उस जम्बूके फलोंका रस नदीके रूपमें परिणत होकर मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करता हुआ उत्तरकुरुवर्षमें पहुँच जाता है ॥ २४ ॥

तत्र तेषां मनःशान्तिर्न पिपासा जनाधिप।
तस्मिन् फलरसे पीते न जरा बाधते च तान् ॥ २५ ॥

राजन् ! फलोंके उस रसका पान कर लेनेपर वहाँके निवासियोंके मनमें पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता रहती है। उन्हें पिपासा अथवा वृद्धावस्था कभी नहीं सताती है ॥ २५ ॥

तत्र जाम्बूनदं नाम कनकं देवभूषणम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं जायते भास्वरं तु तत् ॥ २६ ॥

उस जम्बू नदीसे जाम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकट होता है, जो देवताओंका आभूषण है। वह इन्द्रगोपके समान लाल और अत्यन्त चमकीला होता है ॥ २६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च जायन्ते तत्र मानवाः।
तथा माल्यवतः शृङ्गे दृश्यते हव्यवाट् सदा ॥ २७ ॥

वहाँके लोग प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् होते हैं। माल्यवान् पर्वतके शिखरपर सदा अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्निर्भरतर्षभ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे पूर्वपूर्वानुगण्डिका ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वहाँ संवर्तक एवं कालाग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। माल्यवानके शिखरपर पूर्व-पूर्वकी ओर नदी प्रवाहित होती है ॥ २८ ॥

योजनानां सहस्राणि पञ्चषण्माल्यवानथ।
महारजतसंकाशा जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २९ ॥

माल्यवान्‌का विस्तार पाँच-छः हजार योजन है। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिमान् मानव उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकच्युताः सर्वे सर्वे सर्वेषु साधवः।
तपस्तप्यन्ति ते तीव्रं भवन्ति ह्यूर्ध्वरेतसः ।
रक्षणार्थं तु भूतानां प्रविशन्ते दिवाकरम् ॥ ३० ॥

वे सब लोग ब्रह्मलोकसे नीचे आये हुए पुण्यात्मा मनुष्य हैं। उन सबका सबके प्रति साधुतापूर्ण बर्ताव होता है। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते और कठोर तपस्या करते हैं। फिर समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये सूर्यलोकमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३० ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
अरुणस्याग्रतो यान्ति परिवार्य दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

उनमेंसे छाछठ हजार मनुष्य भगवान् सूर्यको चारों ओरसे घेरकर अरुणके आगे-आगे चलते हैं ॥ ३१ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
आदित्यतापतप्तास्ते विशन्ति शशिमण्डलम् ॥ ३२ ॥

वे छाछठ हजार वर्षोंतक ही सूर्यदेवके तापमें तपकर अन्तमें चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि माल्यवद्वर्णने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें माल्यवान्‌का वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

रमणक, हिरण्यक, शृङ्गवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

वर्षाणां चैव नामानि पर्वतानां च संजय।
आचक्ष्व मे यथातत्त्वं ये च पर्वतवासिनः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम सभी वर्षों और पर्वतोंके

[1] १. पहुचीसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलिके मूलभागतक एक मुठीकी लंबाईको 'अरत्नि' कहते हैं।

नाम बताओ और जो उन पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं उनकी स्थितिका भी यथावत् वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २ ॥
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ।
निःसपत्नाश्च ते सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ॥ ३ ॥

संजय बोले—राजन् ! श्वेतके दक्षिण और निषधके उत्तर रमणक नामक वर्ष है । वहाँ जो मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उत्तम कुलसे युक्त और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं । वहाँके सब मनुष्य शत्रुओंसे रहित होते हैं ॥ २-३ ॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जीवन्ति ते महाराज नित्यं मुदितमानसाः ॥ ४ ॥

महाराज ! रमणकवर्षके मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त होकर साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं ॥ ४ ॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं हिरण्मयं नाम यत्र हैरण्वती नदी ॥ ५ ॥

नीलके दक्षिण और निषधके उत्तर हिरण्मयवर्ष है, जहाँ हैरण्यवती नदी बहती है ॥ ५ ॥

यत्र चायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तमः ।
यक्षानुगा महाराज धनिनः प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥
महाबलास्तत्र जना राजन् मुदितमानसाः ।

महाराज ! वहीं विहंगोंमें उत्तम पक्षिराज गरुड़ निवास करते हैं । वहाँके सब मनुष्य यक्षोंकी उपासना करनेवाले, धनवान्, प्रियदर्शन, महाबली तथा प्रसन्नचित्त होते हैं ।६½।

एकादश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ ७ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति शतानि दश पञ्च च ।

जनेश्वर ! वहाँके लोग साढ़े बारह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ ७½ ॥

शृङ्गाणि च विचित्राणि त्रीण्येव मनुजाधिप ॥ ८ ॥
एकं मणिमयं तत्र तथैकं रौक्ममद्भुतम् ।
सर्वरत्नमयं चैकं भवनैरुपशोभितम् ॥ ९ ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ शृङ्गवान् पर्वतके तीन ही विचित्र शिखर हैं । उनमेंसे एक मणिमय है, दूसरा अद्भुत सुवर्णमय है तथा तीसरा अनेक भवनोंसे सुशोभित एवं सर्वरत्नमय है ८-९

तत्र स्वयंप्रभा देवी नित्यं वसति शाण्डिली ।
उत्तरेण तु शृङ्गस्य समुद्रान्ते जनाधिप ॥ १० ॥
वर्षमैरावतं नाम तस्माच्छृङ्गमतः परम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न जीर्यन्ते च मानवाः ॥ ११ ॥

वहाँ स्वयंप्रभा नामवाली शाण्डिली देवी नित्य निवास करती हैं । जनेश्वर ! शृङ्गवान् पर्वतके उत्तर समुद्रके निकट ऐरावत नामक वर्ष है । अतः इन शिखरोंसे संयुक्त यह वर्ष अन्य वर्षोंकी अपेक्षा उत्तम है । वहाँ सूर्यदेव ताप नहीं देते हैं और न वहाँके मनुष्य बूढ़े ही होते हैं ॥ १०-११ ॥

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ज्योतिर्भूत इवावृतः ।
पद्मप्रभाः पद्मवर्णाः पद्मपत्रनिभेक्षणाः ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा वहाँ ज्योतिर्मय होकर सब ओर व्याप्त-सा रहता है । वहाँके मनुष्य कमलकी-सी कान्ति तथा वर्णवाले होते हैं । उनके विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

पद्मपत्रसुगन्धाश्च जायन्ते तत्र मानवाः ।
अनिष्यन्दा इष्टगन्धा निराहारा जितेन्द्रियाः ॥ १३ ॥

वहाँके मनुष्योंके शरीरसे विकसित कमलदलोंके समान सुगन्ध प्रकट होती है । उनके शरीरसे पसीने नहीं निकलते। उनकी सुगन्ध प्रिय लगती है । वे आहार (भूख-प्याससे) रहित और जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १३ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे तथा विरजसो नृप ।
त्रयोदश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ १४ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति नरा भरतसत्तम ।

वे सबके सब देवलोकसे च्युत (होकर वहाँ शेष पुण्य-का उपभोग करते) हैं ! उनमें रजोगुणका सर्वथा अभाव होता है । भरतभूषण जनेश्वर ! वे तेरह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ १४½ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य तथैवोत्तरतः प्रभुः ।
हरिर्वसति वैकुण्ठः शकटे कनकामये ॥ १५ ॥
अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोजवम् ।
अग्निवर्णं महातेजो जाम्बूनदविभूषितम् ॥ १६ ॥

क्षीरसागरके उत्तर तटपर भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वे वहाँ सुवर्णमय रथपर विराजमान हैं । उस रथमें आठ पहिये लगे हैं । उसका वेग मनके समान है । वह समस्त भूतोंसे युक्त, अग्निके समान कान्तिमान्, परम तेजस्वी तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित है ॥ १५-१६ ॥

स प्रभुः सर्वभूतानां विभुश्च भरतर्षभ ।
संक्षेपो विस्तरश्चैव कर्ता कारयिता तथा ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ही समस्त प्राणियोंका संकोच और विस्तार करते हैं । वे ही करनेवाले और करानेवाले हैं ॥ १७ ॥

पृथिव्यापस्तथाऽऽकाशं वायुस्तेजश्च पार्थिव ।
स यज्ञः सर्वभूतानामास्यं तस्य हुताशनः ॥ १८ ॥

राजन् ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश सब कुछ वे ही हैं । वे ही समस्त प्राणियोंके लिये यज्ञस्वरूप हैं । अग्नि उनका मुख है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः संजयेन धृतराष्ट्रो महामनाः ।
ध्यानमन्वगमद् राजन् पुत्रान् प्रति जनाधिप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर महामना धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करने लगे ॥ १९ ॥

स विचिन्त्य महातेजाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं सूतपुत्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ २० ॥

कुछ देरतक सोच-विचार करनेके पश्चात् महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र संजय! इसमें संदेह नहीं कि काल ही सम्पूर्ण जगत्का संहार करता है ॥

सृजते च पुनः सर्वं विद्यते नेह शाश्वतम्।
नरो नारायणश्चैव सर्वज्ञः सर्वभूतहृत् ॥ २१ ॥
देवा वैकुण्ठमित्याहुर्नरा विष्णुमिति प्रभुम् ॥ २२ ॥

'फिर वही सबकी सृष्टि करता है। यहाँ कुछ भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। भगवान् नर और नारायण समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं सर्वज्ञ हैं। देवता उन्हें वैकुण्ठ और मनुष्य उन्हें शक्तिशाली विष्णु कहते हैं' ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम्।
यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ १ ॥
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वं हि मे बुद्धिमान् मतः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! यह जो भारतवर्ष है, जिसमें यह राजाओंकी विशाल वाहिनी युद्धके लिये एकत्र हुई है, जहाँका साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये मेरा पुत्र दुर्योधन ललचाया हुआ है, जिसे पानेके लिये पाण्डवोंके मनमें भी बड़ी इच्छा है तथा जिसके प्रति मेरा मन भी बहुत आसक्त है, उस भारतवर्षका तुम यथार्थरूपसे वर्णन करो; क्योंकि इस कार्यके लिये मेरी दृष्टिमें तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो १-२

संजय उवाच

न तत्र पाण्डवा गृद्धाः शृणु राजन् वचो मम।
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! आप मेरी बात सुनिये। पाण्डवोंको इस भारतवर्षके साम्राज्यका लोभ नहीं है। दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही उसके लिये बहुत लुभाये हुए हैं ॥ ३ ॥

अपरे क्षत्रियाश्चैव नानाजनपदेश्वराः।
ये गृद्धा भारते वर्षे न मृष्यन्ति परस्परम् ॥ ४ ॥

विभिन्न जनपदोंके स्वामी जो दूसरे-दूसरे क्षत्रिय हैं, वे भी इस भारतवर्षके प्रति गृध्र-दृष्टि लगाये हुए एक दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं ॥ ४ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ५ ॥

भारत! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्षका वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनुका प्रिय देश है ॥५॥

पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥ ६ ॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥ ७ ॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥ ८ ॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥ ९ ॥

राजन्! दुर्धर्ष महाराज! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनर-पुत्र शिबि, ऋषभ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभीको भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है ॥ ६–९ ॥

तत् ते वर्षं प्रवक्ष्यामि यथायथमरिंदम।
शृणु मे गदतो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १० ॥

शत्रुदमन नरेश! मैं उसी भारतवर्षका यथावत् वर्णन कर रहा हूँ। आप मुझसे जो कुछ पूछते या जानना चाहते हैं वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ १० ॥

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवानपि।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ ११ ॥

इस भारतवर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुलपर्वत कहे गये हैं ११

तेषां सहस्रशो राजन् पर्वतास्ते समीपतः।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः ॥ १२ ॥

राजन्! इनके आसपास और भी हजारों अविज्ञात पर्वत हैं, जो रत्न आदि सार वस्तुओंसे युक्त, विस्तृत और विचित्र शिखरोंसे सुशोभित हैं ॥ १२ ॥

अन्ये ततोऽपरिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः।
आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो ॥ १३ ॥
नदीं पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम्।
गोदावरीं नर्मदां च बाहुदां च महानदीम् ॥ १४ ॥

शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम्।
दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम्॥ १५॥
नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम्।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि॥ १६॥
वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम्।
करीषिणीं चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम्॥ १७॥

इनसे भिन्न और भी छोटे-छोटे अपरिचित पर्वत हैं, जो छोटे-छोटे प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आश्रय बने हुए हैं। प्रभो! कुरुनन्दन! इस भारतवर्षमें आर्य, म्लेच्छ तथा संकर जातिके मनुष्य निवास करते हैं। वे लोग यहाँकी जिन बड़ी-बड़ी नदियोंके जल पीते हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, बाहुदा, महानदी, शतद्रु, चन्द्रभागा, महानदी यमुना, दृषद्वती, विपाशा, विपापा, स्थूलवालुका, वेत्रवती, कृष्णवेणा, इरावती, वितस्ता, पयोष्णी, देविका, वेदस्मृता, वेदवती, त्रिदिवा, इक्षुला, कृमि, करीषिणी, चित्रवाहा तथा चित्रसेना नदी॥ १३—१७॥

गोमतीं धूतपापां च वन्दनां च महानदीम्।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां निचितां लोहितारणीम्॥ १८॥
रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च तथैव च।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा॥ १९॥
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि॥ २०॥

गोमती, धूतपापा, महानदी वन्दना, कौशिकी, त्रिदिवा, कृत्या, निचिता, लोहितारणी, रहस्या, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, हस्तिसोमा, दिक्, शरावती, पयोष्णी, वेणा, भीमरथी, कावेरी, चुलुका, वाणी और शतबला १८—२०

नीवारामहितां चापि सुप्रयोगां जनाधिप।
पवित्रां कुण्डलीं सिन्धुं राजनीं पुरमालिनीम्॥ २१॥
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमामोघवतीं तथा।
पाशाशिनीं पापहरां महेन्द्रां पाटलावतीम्॥ २२॥
करीषिणीमसिक्नीं च कुशचीरां महानदीम्।
मकरीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा॥ २३॥
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम्॥ २४॥

नरेश्वर! नीवारा, अहिता, सुप्रयोगा, पवित्रा, कुण्डली, सिन्धु, राजनी, पुरमालिनी, पूर्वाभिरामा, वीरा (नीरा), भीमा, ओघवती, पाशाशिनी, पापहरा, महेन्द्रा, पाटलावती, करीषिणी, असिक्नी, महानदी कुशचीरा, मकरी, प्रवरा, मेना, हेमा, घृतवती, पुरावती, अनुष्णा, शैब्या, कापी, सदानीरा, अधृष्या और महानदी कुशधारा॥ २१—२४॥

सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम्॥ २५॥
वरां वीरकरां चापि पञ्चमीं च महानदीम्।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम्॥ २६॥
उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम्।
विनदीं पिञ्जलां वेणां तुङ्गवेणां महानदीम्॥ २७॥
विदिशां कृष्णवेणां च ताम्रां च कपिलामपि।
खलुं सुवामां वेदाश्वां हरिश्रावां महापगाम्॥ २८॥
शीघ्रां च पिच्छिलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम्।
कौशिकीं निम्नगां शोणां बाहुदामथ चन्द्रमाम्॥ २९॥
दुर्गां चित्रशिलां चैव ब्रह्मवेध्यां बृहद्वतीम्।
यवक्षामथ रोहीं च तथा जाम्बूनदीमपि॥ ३०॥

सदाकान्ता, शिवा, वीरमती, वस्त्रा, सुवस्त्रा, गौरी, कम्पना, हिरण्वती, वरा, वीरकरा, महानदी पञ्चमी, रथचित्रा, ज्योतिरथा, विश्वामित्रा, कपिञ्जला, उपेन्द्रा, बहुला, कुवीरा, अम्बुवाहिनी, विनदी, पिञ्जला, वेणा, महानदी तुंगवेणा, विदिशा, कृष्णवेणा, ताम्रा, कपिला, खलु, सुवामा, वेदाश्वा, हरिश्रावा, महापगा, शीघ्रा, पिच्छिला, भारद्वाजी नदी, कौशिकी नदी, शोणा, बाहुदा, चन्द्रमा, दुर्गा, चित्रशिला, ब्रह्मवेध्या, बृहद्वती, यवक्षा, रोही तथा जाम्बूनदी २५—३०

सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम्।
नीलां घृतवतीं चैव पर्णाशां च महानदीम्॥ ३१॥
मानवीं वृषभां चैव ब्रह्ममेध्यां बृहद्ध्वनिम्।
एताश्चान्याश्च बहुधा महानद्यो जनाधिप॥ ३२॥

सुनसा, तमसा, दासी, वसा, वराणसी, नीला, घृतवती, महानदी पर्णाशा, मानवी, वृषभा, ब्रह्ममेध्या, बृहद्ध्वनि, राजन्! ये तथा और भी बहुत-सी नदियाँ हैं॥ ३१-३२॥

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दवाहिनीम्।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च भारत॥ ३३॥
चित्रोपलां चित्ररथां मञ्जुलां वाहिनीं तथा।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोषां चापि महानदीम्॥ ३४॥
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसाह्वयाम्।
लोहित्यां करतोयां च तथैव वृषकाह्वयाम्॥ ३५॥
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम्।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वां गङ्गां च भारत॥ ३६॥

भारत! सदा निरामया, कृष्णा, मन्दगा, मन्दवाहिनी, ब्राह्मणी, महागौरी, दुर्गा, चित्रोत्पला, चित्ररथा, मञ्जुला, वाहिनी, मन्दाकिनी, वैतरणी, महानदी कोषा, शुक्तिमती, अनंगा, वृषा, लोहित्या, करतोया, वृषका, कुमारी, ऋषिकुल्या, मारिषा, सरस्वती, मन्दाकिनी, सुपुण्या, सर्वा तथा गङ्गा, भारत! इन नदियोंके जल भारतवासी पीते हैं॥ ३३—३६॥

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।
तथा नद्यस्त्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ३७॥

राजन्! पूर्वोक्त सभी नदियाँ सम्पूर्ण विश्वकी माताएँ हैं, वे सबकी सब महान् पुण्य फल देनेवाली हैं। इनके सिवा सैकड़ों और हजारों ऐसी नदियाँ हैं, जो लोगोंके परिचयमें नहीं आयी हैं ॥ ३७ ॥

इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति।
अत ऊर्ध्वं जनपदान् निबोध गदतो मम ॥ ३८ ॥

राजन्! जहाँतक मेरी स्मरणशक्ति काम दे सकी है, उसके अनुसार मैंने इन नदियोंके नाम बताये हैं। इसके बाद अब मैं भारतवर्षके जनपदोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ॥ ३९ ॥
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तयः कान्तिकोसलाः।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥ ४० ॥
उत्तमाश्वदशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह।
पञ्चालाः कोसलाश्चैव नैकपृष्ठा धुरंधराः ॥ ४१ ॥
गोधामद्रकलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः।
जठराः कुक्कुराश्चैव सदशार्णाश्च भारत ॥ ४२ ॥
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः।
गोमन्ता मण्डकाः सण्डा विदर्भा रूपवाहिकाः ॥ ४३ ॥
अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ॥ ४४ ॥

भारतमें ये कुरु-पाञ्चाल, शाल्व, माद्रेय-जाङ्गल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, मत्स्य, करूष, भोज, सिन्धु-पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पञ्चाल, कोसल, नैकपृष्ठ, धुरंधर, गोधा, मद्रकलिंग, काशि, अपरकाशि, जठर, कुक्कुर, दशार्ण, कुन्ति, अवन्ति, अपरकुन्ति, गोमन्त, मन्दक, सण्ड, विदर्भ, रूपवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र, करीति, अधिराज्य, कुशाद्य तथा मल्लराष्ट्र ॥ ३९-४४ ॥

वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ॥ ४५ ॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादा माहिकाः शशिकास्तथा ॥ ४६ ॥
बाह्लिका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः।
अपरान्ताः परान्ताश्च पञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ॥ ४७ ॥
अटवीशिखराश्चैव मेरुभूताश्च मारिष।
उपावृत्तानुपावृत्ताः स्वराष्ट्राः केकयास्तथा ॥ ४८ ॥
कुन्दापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः।
अन्ध्राश्च बहवो राजन्नन्तर्गिर्यास्तथैव च ॥ ४९ ॥
बहिर्गिर्याङ्गमलजा मगधा मानवर्जकाः।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवाश्च जनाधिप ॥ ५० ॥

वारवास्य, अयवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वक्ष, मलज, विजय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, यकृल्लोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रह्लाद, माहिक, शशिक, बाह्लिक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पञ्चाल, चर्ममण्डल, अटवीशिखर, मेरुभूत, उपावृत्त, अनुपावृत्त, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्दापरान्त, माहेय, कक्ष, सामुद्रनिष्कुट, बहुसंख्यक अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अङ्गमलज, मगध, मानवर्जक, समन्तर प्रावृषेय तथा भार्गव ॥ ४५-५० ॥

पुण्ड्रा भर्गाः किराताश्च सुदृष्टा यामुनास्तथा।
शका निषादा निषधास्तथैवानर्तनैर्ऋताः ॥ ५१ ॥
दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोसलास्तथा।
तीरग्रहाः शूरसेना ईजिकाः कन्यकागुणाः ॥ ५२ ॥
तिलभारा मसीराश्च मधुमन्तः सुकन्दकाः।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धारा दर्शकास्तथा ॥ ५३ ॥
अभीसारा उलूताश्च शैवला बाह्लिकास्तथा।
दार्वी च वानवा दर्वा वातजामरथोरगाः ॥ ५४ ॥
बहुवाद्याश्च कौरव्य सुदामानः सुमल्लिकाः।
वध्राः करीषकाश्चापि कुलिन्दोपत्यकास्तथा ॥ ५५ ॥
वनायवो दशापार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः।
कच्छा गोपालकक्षाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ॥ ५६ ॥
किराता बर्बराः सिद्धा वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
ओण्ड्रा म्लेच्छाः सैसिरिध्राः पार्वतीयाश्च मारिष ॥ ५७ ॥

पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूत, शैवाल, बाह्लिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदाम, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्दु, कच्छ, गोपालकक्ष, जाङ्गल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, ओण्ड्र, म्लेच्छ, सैसिरिध्र और पार्वतीय इत्यादि ॥

अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूषिका वनवासिकाः ॥ ५८ ॥
कर्णाटका महिषका विकल्पा मूषकास्तथा।
झिल्लिकाः कुन्तलाश्चैव सौहृदा नभकाननाः ॥ ५९ ॥
कौकुट्टकास्तथा चोलाः कोङ्कणा मालवा नराः।
समङ्गाः करकाश्चैव कुकुराङ्गारमारिषाः ॥ ६० ॥
ध्वजिन्युत्सवसंकेतास्त्रिगर्ताः शाल्वसेनयः।
व्यूकाः कोकबकाः प्रोष्ठाः समवेगवशास्तथा ॥ ६१ ॥
तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह।
मालवा बल्लवाश्चैव तथैवापरबल्लवाः ॥ ६२ ॥
कुलिन्दाः कालदाश्चैव कुण्डलाः करटास्तथा।
मूषकाः स्तनबालाश्च सनीपा घटसृंजयाः ॥ ६३ ॥

अठिदाः पाशिवाटाश्च तनयाः सुनयास्तथा ।
ऋषिका विदभाः काकास्तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ६४ ॥
उत्तराश्चापरम्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम ।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब जो दक्षिण दिशाके अन्यान्य जनपद हैं उनका वर्णन सुनिये—द्रविड, केरल, प्राच्य, भूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, विकल्प, मूषक, झिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, नभकानन, कौकुट्टक, चोल, कोङ्कण, मालव, नर, समङ्ग, करक, कुकुर, अङ्गार, मारिष, ध्वजिनी, उत्सवसंकेत, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकबक, प्रोष्ठ, समवेगवश, विन्ध्यचुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, बल्लव, अपरवल्लव, कुलिन्द, कालद, कुण्डल, करट, मूषक, स्तनबाल, सनीप, घट, सृंजय, अठिद, पाशिवाट, तनय, सुनय, ऋषिक, विदभ, काक, तङ्गण, परतङ्गण, उत्तर और क्रूर अपरम्लेच्छ, यवन, चीन तथा जहाँ भयानक म्लेच्छ जातिके लोग निवास करते हैं, वह काम्बोज ॥ ५८–६५ ॥

सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह ।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः ॥ ६६ ॥
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ॥ ६७ ॥
खाशीराश्चान्तचाराश्च पह्लवा गिरिगह्वराः ।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषिकाः ॥ ६८ ॥
प्रोषकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ॥ ६९ ॥

सकृद्ग्रह, कुलत्थ, हूण, पारसिक, रमण-चीन, दशमालिक, क्षत्रियोंके उपनिवेश, वैश्यों और शूद्रोंके जनपद, शूद्र, आभीर, दरद, काश्मीर, पशु, खाशीर, अन्तचार, पह्लव, गिरिगह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनपोषिक, प्रोषक, कलिङ्ग, किरात जातियोंके जनपद, तोमर, हन्यमान और करभञ्जक इत्यादि ॥ ६७–६९ ॥

एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ।
उद्देशमात्रेण मया देशाः संकीर्तिता विभो ॥ ७० ॥

राजन् ! ये तथा और भी पूर्व और उत्तर दिशाके जनपद एवं देश मैंने संक्षेपसे बताये हैं ॥ ७० ॥

यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम् ।
दुह्येत धेनुः कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ॥ ७१ ॥

अपने गुण और बलके अनुसार यदि अच्छी तरह इस भूमिका पालन किया जाय तो यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंके महान् फलकी प्राप्ति कराती है ॥ ७१ ॥

तस्यां गृद्ध्यन्ति राजानः शूरा धर्मार्थकोविदाः ।
ते त्यजन्त्याहवे प्राणान् वसुगृद्धास्तरस्विनः ॥ ७२ ॥

इसीलिये धर्म और अर्थके काममें निपुण शूर-वीर नरेश इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं और धनके लोभमें आसक्त हो वेगपूर्वक युद्धमें जाकर अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं॥

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ॥ ७३ ॥
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुंधराम् ।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ॥ ७४॥

देवशरीरधारी प्राणियोंके लिये और मानवशरीरधारी जीवोंके लिये यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है । भरतश्रेष्ठ ! जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये परस्पर लड़ते और एक दूसरेको नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधाको भोगनेकी इच्छा रखकर आपसमें लड़ते और लूट-पाट करते हैं; किंतु आजतक किसीको अपनी कामनाओंसे तृप्ति नहीं हुई ॥ ७३-७४ ॥

तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! इस अतृप्तिके ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा सम्पूर्ण वसुधापर अधिकार पानेके लिये यत्न करते हैं ॥ ७५ ॥

पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शना ॥ ७६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि भूमिके यथार्थ स्वरूपका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान हो जाय तो यह परमात्मासे अभिन्न होनेके कारण प्राणियोंके लिये स्वयं ही पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक तथा स्वर्ग भी बन जाती है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनदीदेशादिनामकथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतकी नदियों और देश आदिके नामका वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

भारतस्यास्य वर्षस्य तथा हैमवतस्य च ।
प्रमाणमायुषः सूत बलं चापि शुभाशुभम् ॥ १ ॥
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानं च संजय ।

आचक्ष्व मे विस्तरेण हरिवर्षं तथैव च ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! तुम भारतवर्ष और हैमवत-वर्षके लोगोंके आयुका प्रमाण, बल तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान शुभाशुभ फल बताओ । साथ ही हरिवर्षका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ ।
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन ॥ ३ ॥

संजयने कहा—कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! भारतवर्षमें चार युग होते हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ॥ ३ ॥

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेतायुगं प्रभो ।
संक्षेपाद् द्वापरस्याथ ततस्तिष्यं प्रवर्तते ॥ ४ ॥

प्रभो ! पहले सत्ययुग होता है, फिर त्रेतायुग आता है, उसके बाद द्वापरयुग बीतनेपर कलियुगकी प्रवृत्ति होती है ॥

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कुरुसत्तम ।
आयुःसंख्या कृतयुगे संख्याता राजसत्तम ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! नृपप्रवर ! सत्ययुगके लोगोंकी आयुका मान चार हजार वर्ष है ॥ ५ ॥

तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप ।
द्वे सहस्रे द्वापरे तु भुवि तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

मनुजेश्वर ! त्रेताके मनुष्योंकी आयु तीन हजार वर्षोंकी बतायी गयी है । द्वापरके लोगोंकी आयु दो हजार वर्षोंकी है, जो इस समय भूतलपर विद्यमान है ॥ ६ ॥

न प्रमाणस्थितिर्ह्यस्ति तिष्येऽस्मिन् भरतर्षभ ।
गर्भस्थाश्च म्रियन्तेऽत्र तथा जाता म्रियन्ति च ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस कलियुगमें आयु-प्रमाणकी कोई मर्यादा नहीं है । यहाँ गर्भके बच्चे भी मरते हैं और नवजात शिशु भी मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

महाबला महासत्त्वाः प्रज्ञागुणसमन्विताः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥
जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः ॥ ९ ॥

सत्ययुगमें महाबली, महान् सत्त्वगुणसम्पन्न, बुद्धिमान्, धनवान् और प्रियदर्शन मनुष्य उत्पन्न होते हैं और सैकड़ों तथा हजारों संतानोंको जन्म देते हैं, उस समय प्रायः तपस्याके धनी महर्षिगण जन्म लेते हैं ॥ ८-९ ॥

महोत्साहा महात्मानो धार्मिकाः सत्यवादिनः ।
प्रियदर्शना वपुष्मन्तो महावीर्या धनुर्धराः ॥ १० ॥
वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः ।
त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्तिनः ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार त्रेतायुगमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय अत्यन्त उत्साही, महान् मनस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, प्रियदर्शन, सुन्दर शरीरधारी, महापराक्रमी, धनुर्धर, वर पानेके योग्य, युद्धमें शूरशिरोमणि तथा मानवोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं ॥

सर्ववर्णाश्च जायन्ते सदा चैव च द्वापरे ।
महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्परजयैषिणः ॥ १२ ॥

द्वापरमें सभी वर्णोंके लोग उत्पन्न होते हैं एवं वे सदा परम उत्साही, पराक्रमी तथा एक दूसरेको जीतनेके इच्छुक होते हैं ॥ १२ ॥

तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप ।
लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! कलियुगमें जन्म लेनेवाले लोग प्रायः अल्प-तेजस्वी, क्रोधी, लोभी तथा असत्यवादी होते हैं ॥ १३ ॥

ईर्ष्या मानस्तथा क्रोधो मायासूया तथैव च ।
तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश्च भारत ॥ १४ ॥

भारत ! कलियुगके प्राणियोंमें ईर्ष्या, मान, क्रोध, माया, दोष-दृष्टि, राग तथा लोभ आदि दोष रहते हैं ॥ १४ ॥

संक्षेपो वर्तते राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।
गुणोत्तरं हैमवतं हरिवर्षं ततः परम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस द्वापरमें भी गुणोंकी न्यूनता होती है । भारतवर्षकी अपेक्षा हैमवत तथा हरिवर्षमें उत्तरोत्तर अधिक गुण हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतवर्षे कृताद्यनुरोधेनायुर्निरूपणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतवर्षमें सत्ययुग आदिके अनुसार आयुका निरूपणविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(भूमिपर्व)

एकादशोऽध्यायः

शाकद्वीपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

जम्बूखण्डस्त्वया प्रोक्तो यथावदिह संजय ।
विष्कम्भमस्य प्रब्रूहि परिमाणं तु तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने यहाँ जम्बूखण्डका यथावत् वर्णन किया है । अब तुम इसके विस्तार और परिमाणको ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

समुद्रस्य प्रमाणं च सम्यगच्छिद्रदर्शनम्।
शाकद्वीपं च मे ब्रूहि कुशद्वीपं च संजय ॥ २ ॥

संजय ! समुद्रके सम्पूर्ण परिमाणको भी अच्छी तरह समझाकर कहो। इसके बाद मुझसे शाकद्वीप और कुशद्वीपका वर्णन करो ॥ २ ॥

शाल्मलिं चैव तत्त्वेन क्रौञ्चद्वीपं तथैव च।
ब्रूहि गावल्गणे सर्वं राहोः सोमार्कयोस्तथा ॥ ३ ॥

गवल्गणकुमार संजय ! इसी प्रकार शाल्मलिद्वीप, क्रौंचद्वीप तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं राहुसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करो ॥ ३ ॥

संजय उवाच

राजन् सुबहवो द्वीपा यैरिदं संततं जगत्।
सप्तद्वीपान् प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यौ ग्रहं तथा ॥ ४ ॥

संजय बोले—राजन् ! बहुत-से द्वीप हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार सात द्वीपोंका तथा चन्द्रमा, सूर्य और राहुका भी वर्णन करूँगा ॥

अष्टादश सहस्राणि योजनानि विशाम्पते।
षट् शतानि च पूर्णानि विष्कम्भो जम्बुपर्वतः ॥ ५ ॥
लावणस्य समुद्रस्य विष्कम्भो द्विगुणः स्मृतः।
नानाजनपदाकीर्णो मणिविद्रुमचित्रितः ॥ ६ ॥
नैकधातुविचित्रैश्च पर्वतैरुपशोभितः।
सिद्धचारणसंकीर्णः सागरः परिमण्डलः ॥ ७ ॥

राजन् ! जम्बूद्वीपका विस्तार पूरे १८६०० योजन है। इसके चारों ओर जो खारे पानीका समुद्र है, उसका विस्तार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दूना माना गया है। उसके तटपर तथा टापूमें बहुत-से देश और जनपद हैं। उसके भीतर नाना प्रकारके मणि और मूँगे हैं, जो उसकी विचित्रता सूचित करते हैं। अनेक प्रकारके धातुओंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले बहुसंख्यक पर्वत उस सागरकी शोभा बढ़ाते हैं। सिद्धों तथा चारणोंसे भरा हुआ वह लवणसमुद्र सब ओरसे मण्डलाकार है ॥

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
शृणु मे त्वं यथान्यायं ब्रुवतः कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

राजन्! अब मैं शाकद्वीपका यथावत् वर्णन आरम्भ करता हूँ। कुरुनन्दन! मेरे इस न्यायोचित कथनको आप ध्यान देकर सुनें॥

जम्बूद्वीपप्रमाणेन द्विगुणः स नराधिप।
विष्कम्भेण महाराज सागरोऽपि विभागशः ॥ ९ ॥

महाराज ! नरेश्वर ! वह द्वीप विस्तारकी दृष्टिसे जम्बूद्वीपके परिमाणसे दूना है। भरतश्रेष्ठ ! उसका समुद्र भी विभागपूर्वक उससे दूना ही है ॥ ९ ॥

क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः।
तत्र पुण्या जनपदास्तत्र न म्रियते जनः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समुद्रका नाम क्षीरसागर है, जिसने उक्त द्वीपको सब ओरसे घेर रक्खा है। वहाँ पवित्र जनपद हैं। वहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी मृत्यु नहीं होती ॥ १० ॥

कुत एव हि दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते।
शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावद् भरतर्षभ ॥ ११ ॥
उक्त एष महाराज किमन्यत् कथयामि ते।

फिर वहाँ दुर्भिक्ष तो हो ही कैसे सकता है ? उस द्वीपके निवासी क्षमाशील और तेजस्वी होते हैं। भरतश्रेष्ठ महाराज ! इस प्रकार शाकद्वीपका संक्षेपसे यथावत् वर्णन किया गया है। अब और आपसे क्या कहूँ ? ॥ ११½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावदिह संजय ॥ १२ ॥
उक्तस्त्वया महाप्राज्ञ विस्तरं ब्रूहि तत्त्वतः।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् संजय ! तुमने यहाँ शाकद्वीपका संक्षिप्तरूपसे यथावत् वर्णन किया है। अब उसका कुछ विस्तारके साथ यथार्थ परिचय दो ॥ १२½ ॥

संजय उवाच

तथैव पर्वता राजन् सप्तात्र मणिभूषिताः ॥ १३ ॥
रत्नाकरास्तथा नद्यस्तेषां नामानि मे शृणु।

संजय बोले—राजन् ! शाकद्वीपमें भी मणियोंसे विभूषित सात पर्वत हैं। वहाँ रत्नोंकी बहुत-सी खानें तथा नदियाँ भी हैं। उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ १३½ ॥

अतीव गुणवत् सर्वं तत्र पुण्यं जनाधिप ॥ १४ ॥
देवर्षिगन्धर्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते।
प्रागायतो महाराज मलयो नाम पर्वतः ॥ १५ ॥

जनेश्वर ! वहाँका सब कुछ परम पवित्र और अत्यन्त गुणकारी है। वहाँका प्रधान पर्वत है मेरु, जो देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। महाराज ! दूसरे पर्वतका नाम मलय है, जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ है ॥ १४-१५ ॥

ततो मेघाः प्रवर्तन्ते प्रभवन्ति च सर्वशः।
ततः परेण कौरव्य जलधारो महागिरिः ॥ १६ ॥

मेघ वहींसे उत्पन्न होते हैं, फिर वे सब ओर फैलकर जलकी वर्षा करनेमें समर्थ होते हैं। कुरुनन्दन ! उसके बाद जलधार नामक महान् पर्वत है ॥ १६ ॥

ततो नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्।
ततो वर्षं प्रभवति वर्षकाले जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर ! इन्द्र वहींसे सदा उत्तम जल ग्रहण करते हैं। इसीलिये वर्षाकालमें वे यथेष्ट जल बरसानेमें समर्थ होते हैं ॥

उच्चैर्गिरी रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता।
रेवती दिवि नक्षत्रं पितामहकृतो विधिः ॥ १८ ॥

उसी द्वीपमें उच्चतम रैवतक पर्वत है, जहाँ आकाशमें रेवती नामक नक्षत्र नित्य प्रतिष्ठित है। यह ब्रह्माजीका रचा हुआ विधान है ॥ १८ ॥

उत्तरेण तु राजेन्द्र श्यामो नाम महागिरिः ।
नवमेघप्रभः प्रांशुः श्रीमानुज्ज्वलविग्रहः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! उसके उत्तर भागमें श्याम नामक महान् पर्वत है, जो नूतन मेघके समान श्याम शोभासे युक्त है । उसकी ऊँचाई बहुत है । उसका कान्तिमान् कलेवर परम उज्ज्वल है॥

यतः श्यामत्वमापन्नाः प्रजा जनपदेश्वर ।

जनपदेश्वर ! वहाँ रहनेसे ही वहाँकी प्रजा श्यामताको प्राप्त हुई है ॥ १९½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सुमहान् संशयो मेऽद्य प्रोक्तोऽयं संजय त्वया ।
प्रजाः कथं सूतपुत्र सम्प्राप्ताः श्यामतामिह ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र संजय ! यह तो तुमने आज मुझसे महान् संशयकी बात कही है । भला, वहाँ रहने मात्रसे प्रजा श्यामताको कैसे प्राप्त हो गयी ? ॥ २० ॥

संजय उवाच

सर्वेष्वेव महाराज द्वीपेषु कुरुनन्दन ।
गौरः कृष्णश्च वर्णौ द्वौ तयोर्वर्णान्तरं नृप ॥ २१ ॥
श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत ।
आस्तेऽत्र भगवान् कृष्णस्तत्कान्त्या श्यामतां गतः ।२२।

संजयने कहा—महाराज कुरुनन्दन ! सम्पूर्ण द्वीपोंमें गौर, कृष्ण तथा इन दोनों वर्णोंका सम्मिश्रण देखा जाता है । भारत ! यह पर्वत जिस कारणसे श्याम होकर दूसरोंमें भी श्यामता उत्पन्न करनेवाला हुआ; वह आपको बताता हूँ । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं; अतः उन्हींकी कान्तिसे यह (स्वयं भी) श्यामताको प्राप्त हुआ है (और अपने समीप रहनेवाली प्रजामें भी श्यामता उत्पन्न कर देता है) ॥

ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः ।
केसरः केसरयुतो यतो वातः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

कौरवराज ! श्यामगिरिके बाद बहुत ऊँचा दुर्ग शैल है । उसके बाद केसर पर्वत है; जहाँसे चली हुई वायु केसरकी सुगन्ध लिये बहती है ॥ २३ ॥

तेषां योजनविष्कम्भो द्विगुणः प्रविभागशः ।
वर्षाणि तेषु कौरव्य सप्तोक्तानि मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इन सब पर्वतोंका विस्तार दूना होता गया है । कुरुनन्दन ! मनीषी पुरुषोंने उन पर्वतोंके समीप सात वर्ष बताये हैं॥

महामेरुर्महाकाशो जलदः कुमुदोत्तरः ।
जलधारो महाराज सुकुमार इति स्मृतः ॥ २५ ॥

महामेरु पर्वतके समीप महाकाश वर्ष है, जलद या मलयके निकट कुमुदोत्तर वर्ष है । महाराज ! जलधार गिरिका पार्श्ववर्ती वर्ष सुकुमार बताया गया है ॥ २५ ॥

रैवतस्य तु कौमारः श्यामस्य मणिकाञ्चनः ।
केसरस्याथ मोदाकी परेण तु महापुमान् ॥ २६ ॥

रैवतक पर्वतका कुमारवर्ष तथा श्यामगिरिका मणिकाञ्चन वर्ष है । इसी प्रकार केसरके समीपवर्ती वर्षको मोदाकी कहते हैं । उसके आगे महापुमान् नामक एक पर्वत है ॥

परिवार्य तु कौरव्य दैर्घ्यं ह्रस्वत्वमेव च ।
जम्बूद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये महाद्रुमः ॥ २७ ॥
शाको नाम महाराज प्रजा तस्य सदानुगा ।
तत्र पुण्या जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ॥ २८ ॥

वह उस द्वीपकी लंबाई और चौड़ाई सबको घेरकर खड़ा है । महाराज ! उसके बीचमें शाक नामक एक बड़ा भारी वृक्ष है, जो जम्बूद्वीपके समान ही विशाल है । महाराज ! वहाँकी प्रजा सदा उस शाक वृक्षके ही आश्रित रहती है । वहाँ बड़े पवित्र जनपद हैं । उस द्वीपमें भगवान् शङ्करकी आराधना की जाती है ॥ २७-२८ ॥

तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च ।
धार्मिकाश्च प्रजा राजंश्चत्वारोऽतीव भारत ॥ २९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! वहाँ सिद्ध, चारण और देवता जाते हैं । वहाँके चारों वर्णोंकी प्रजा अत्यन्त धार्मिक होती है॥

वर्णाः स्वकर्मनिरता न च स्तेनोऽत्र दृश्यते ।
दीर्घायुषो महाराज जरामृत्युविवर्जिताः ॥ ३० ॥

सभी वर्णके लोग वहाँ अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका पालन करते हैं । वहाँ कोई चोर नहीं दिखायी देता । महाराज ! उस द्वीपके निवासी दीर्घायु तथा जरा और मृत्युसे रहित होते हैं ॥ ३० ॥

प्रजास्तत्र विवर्धन्ते वर्षास्विव समुद्रगाः ।
नद्यः पुण्यजलास्तत्र गङ्गा च बहुधा गता ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार वहाँकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती रहती है । उस द्वीपमें अनेक पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं । वहाँ गङ्गा भी अनेक धाराओंमें विभक्त देखी जाती हैं॥

सुकुमारी कुमारी च शीताशी वेणिका तथा ।
महानदी च कौरव्य तथा मणिजला नदी ॥ ३२ ॥
चक्षुर्वर्धनिका चैव नदी भरतसत्तम ।
तत्र प्रवृत्ताः पुण्योदा नद्यः कुरुकुलोद्वह ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! उस द्वीपमें सुकुमारी, कुमारी, शीताशी, वेणिका, महानदी, मणिजला तथा चक्षुर्वर्धनिका आदि पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं ॥ ३२-३३ ॥

सहस्राणां शतान्येव यतो वर्षति वासवः ।
न तासां नामधेयानि परिमाणं तथैव च ॥ ३४ ॥
शक्यन्ते परिसंख्यातुं पुण्यास्ता हि सरिद्वराः ।
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ॥ ३५ ॥

वहाँ लाखों ऐसी नदियाँ हैं, जिनसे जल लेकर इन्द्र वर्षा करते हैं । उनके नाम और परिमाणकी संख्या बताना

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी श्रेष्ठ नदियाँ परम पुण्यमयी हैं। उस द्वीपमें लोकसम्मानित चार पवित्र जनपद हैं॥

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ॥ ३६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मङ्ग, मशक, मानस तथा मन्दग। नरेश्वर! उनमेंसे मङ्ग जनपदमें अधिकतर ब्राह्मण निवास करते हैं। वे सबके सब अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं॥ ३६॥

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ॥ ३७ ॥
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।

महाराज! मशक जनपदमें सम्पूर्ण कामनाओंके देनेवाले धर्मात्मा क्षत्रिय निवास करते हैं। मानस जनपदके निवासी वैश्यवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं। वे सर्वभोगसम्पन्न, शूर-वीर, धर्म और अर्थको समझनेवाले एवं दृढ़निश्चयी होते हैं॥

शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः ॥ ३८ ॥

मन्दग जनपदमें शूद्र रहते हैं। वे भी धर्मात्मा होते हैं॥

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र! वहाँ न कोई राजा है, न दण्ड है और न दण्ड देनेवाला है। वहाँके लोग धर्मके ज्ञाता हैं और स्वधर्मपालनके ही प्रभावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं॥ ३९॥

एतावदेव शक्यं तु तत्र द्वीपे प्रभाषितुम्।
एतदेव च श्रोतव्यं शाकद्वीपे महौजसि ॥ ४० ॥

महाराज! उस महान् तेजोमय शाकद्वीपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है और इतना ही सुनना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि शाकद्वीपवर्णने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें शाकद्वीपवर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

कुश, क्रौञ्च और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन

संजय उवाच

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा।
एवं तत्र महाराज ब्रुवतश्च निबोध मे ॥ १ ॥

संजय बोले—महाराज! कुरुनन्दन! इसके बादवाले द्वीपोंके विषयमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे इस प्रकार हैं; उन्हें आप मुझसे सुनिये॥ १॥

घृततोयः समुद्रोऽत्र दधिमण्डोदकोऽपरः।
सुरोदः सागरश्चैव तथान्यो जलसागरः ॥ २ ॥

क्षीरोद समुद्रके बाद घृतोद समुद्र है। फिर दधिमण्डोदक समुद्र है। इनके बाद सुरोद समुद्र है, फिर मीठे पानीका सागर है॥ २॥

परस्परेण द्विगुणाः सर्वे द्वीपा नराधिप।
पर्वताश्च महाराज समुद्रैः परिवारिताः ॥ ३ ॥

महाराज! इन समुद्रोंसे घिरे हुए सभी द्वीप और पर्वत उत्तरोत्तर दुगुने विस्तारवाले हैं॥ ३॥

गौरस्तु मध्यमे द्वीपे गिरिर्मानःशिलो महान्।
पर्वतः पश्चिमे कृष्णो नारायणसखो नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर! इनमेंसे मध्यम द्वीपमें मनःशिला (मैनसिल) का एक बहुत बड़ा पर्वत है; जो 'गौर' नामसे विख्यात है। उसके पश्चिममें 'कृष्ण' पर्वत है, जो नारायणको विशेष प्रिय है॥

तत्र रत्नानि दिव्यानि स्वयं रक्षति केशवः।
प्रसन्नश्चाभवत् तत्र प्रजानां व्यदधत् सुखम् ॥ ५ ॥

स्वयं भगवान् केशव ही वहाँ दिव्य रत्नोंको रखते और उनकी रक्षा करते हैं। वे वहाँकी प्रजापर प्रसन्न हुए थे, इसलिये उनको सुख पहुँचानेकी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की है॥

कुशस्तम्बः कुशद्वीपे मध्ये जनपदैः सह।
सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप ॥ ६ ॥

नरेश्वर! कुशद्वीपमें कुशोंका एक बहुत बड़ा झाड़ है, जिसकी वहाँके जनपदोंमें रहनेवाले लोग पूजा करते हैं। उसी प्रकार शाल्मलि द्वीपमें शाल्मलि (सेंमर) वृक्षकी पूजा की जाती है॥ ६॥

क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः।
सम्पूज्यते महाराज चातुर्वर्ण्येन नित्यदा ॥ ७ ॥

क्रौञ्चद्वीपमें महाक्रौञ्च नामक महान् पर्वत है, जो रत्नराशिकी खान है। महाराज! वहाँ चारों वर्णोंके लोग सदा उसीकी पूजा करते हैं॥ ७॥

गोमन्तः पर्वतो राजन् सुमहान् सर्वधातुकः।
यत्र नित्यं निवसति श्रीमान् कमललोचनः ॥ ८ ॥
मोक्षिभिः संस्तुतो नित्यं प्रभुर्नारायणो हरिः।

राजन्! वहीं गोमन्त नामक विशाल पर्वत है, जो सम्पूर्ण धातुओंसे सम्पन्न है। वहाँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले उपासकोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सबके स्वामी श्रीमान् कमलनयन भगवान् नारायण नित्य निवास करते हैं।८½।

कुशद्वीपे तु राजेन्द्र पर्वतो विद्रुमैश्चितः ॥ ९ ॥
सुधामा नाम दुर्धर्षो द्वितीयो हेमपर्वतः।

राजेन्द्र! कुशद्वीपमें सुधामा नामसे प्रसिद्ध दूसरा सुवर्णमय पर्वत है, जो मूँगोंसे भरा हुआ और दुर्गम है॥ ९½॥

द्युतिमान् नाम कौरव्य तृतीयः कुमुदो गिरिः ॥ १० ॥

चतुर्थः पुष्पवान् नाम पञ्चमस्तु कुशेशयः।
षष्ठो हरिगिरिर्नाम षडेते पर्वतोत्तमाः॥ ११॥

कौरव्य ! वहीं परम कान्तिमान् कुमुद नामक तीसरा पर्वत है। चौथा पुष्पवान्, पाँचवाँ कुशेशय और छठा हरिगिरि है। ये छः कुशद्वीपके श्रेष्ठ पर्वत हैं॥ १०-११॥

तेषामन्तरविष्कम्भो द्विगुणः सर्वभागशः।
औद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम्॥ १२॥

इन पर्वतोंके बीचका विस्तार सब ओरसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है। कुशद्वीपके पहले वर्षका नाम उद्भिद् है। दूसरेका नाम वेणुमण्डल है॥ १२॥

तृतीयं सुरथाकारं चतुर्थं कम्बलं स्मृतम्।
धृतिमत् पञ्चमं वर्षं षष्ठं वर्षं प्रभाकरम्॥ १३॥

तीसरेका नाम सुरथाकार, चौथेका कम्बल, पाँचवेंका धृतिमान् और छठे वर्षका नाम प्रभाकर है॥ १३॥

सप्तमं कापिलं वर्षं सप्तैते वर्षलम्भकाः।
एतेषु देवगन्धर्वाः प्रजाश्च जगतीश्वर॥ १४॥
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः।
न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छजात्योऽपि वा नृप॥ १५॥

सातवाँ वर्ष कापिल कहलाता है। ये सात वर्षसमुदाय हैं। पृथ्वीपते ! इन सबमें देवता, गन्धर्व तथा मनुष्य सानन्द विहार करते हैं। उनमेंसे किसीकी मृत्यु नहीं होती है। नरेश्वर ! वहाँ लुटेरे अथवा म्लेच्छ जातिके लोग नहीं हैं १४-१५

गौरप्रायो जनः सर्वः सुकुमारश्च पार्थिव।
अवशिष्टेषु सर्वेषु वक्ष्यामि मनुजेश्वर॥ १६॥

मनुजेश्वर ! इन वर्षोंके सभी लोग प्रायः गोरे और सुकुमार होते हैं। अब मैं शेष सम्पूर्ण द्वीपोंके विषयमें बताता हूँ॥ १६॥

यथाश्रुतं महाराज तदव्यग्रमनाः शृणु।
क्रौञ्चद्वीपे महाराज क्रौञ्चो नाम महागिरिः॥ १७॥

महाराज ! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही सुनाऊँगा। आप शान्तचित्त होकर सुनिये। क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामक विशाल पर्वत है॥ १७॥

क्रौञ्चात् परो वामनको वामनादन्धकारकः।
अन्धकारात् परो राजन् मैनाकः पर्वतोत्तमः॥ १८॥
मैनाकात् परतो राजन् गोविन्दो गिरिरुत्तमः।
गोविन्दात् परतो राजन् निविडो नाम पर्वतः॥ १९॥

राजन् ! क्रौञ्चके बाद वामन पर्वत है, वामनके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद मैनाक नामक श्रेष्ठ पर्वत है। प्रभो ! मैनाकके बाद उत्तम गोविन्द गिरि है। गोविन्दके बाद निविड नामक पर्वत है॥ १८-१९॥

परस्तु द्विगुणस्तेषां विष्कम्भो वंशवर्धन।
देशांस्तत्र प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥ २०॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! इन पर्वतोंके बीचका विस्तार उत्तरोत्तर दूना होता गया है। उनमें जो देश बसे हुए हैं, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये॥ २०॥

क्रौञ्चस्य कुशलो देशो वामनस्य मनोनुगः।
मनोनुगात् परश्चोष्णो देशः कुरुकुलोद्वह॥ २१॥

क्रौञ्चपर्वतके निकट कुशल नामक देश है। वामन पर्वतके पास मनोनुग देश है। कुरुकुलश्रेष्ठ ! मनोनुगके बाद उष्ण देश आता है॥ २१॥

उष्णात् परः प्रावरकः प्रावारादन्धकारकः।
अन्धकारकदेशात् तु मुनिदेशः परः स्मृतः॥ २२॥

उष्णके बाद प्रावरक, प्रावरकके बाद अन्धकारक और अन्धकारकके बाद उत्तम मुनिदेश बताया गया है॥ २२॥

मुनिदेशात् परश्चैव प्रोच्यते दुन्दुभिस्वनः।
सिद्धचारणसंकीर्णो गौरप्रायो जनाधिप॥ २३॥
एते देशा महाराज देवगन्धर्वसेविताः।

मुनिदेशके बाद जो देश है, उसे दुन्दुभिस्वन कहते हैं। वह सिद्धों और चारणोंसे भरा हुआ है। जनेश्वर ! वहाँके लोग प्रायः गोरे होते हैं। महाराज ! इन सभी देशोंमें देवता और गन्धर्व निवास करते हैं॥ २३½॥

पुष्करे पुष्करो नाम पर्वतो मणिरत्नवान्॥ २४॥

पुष्करद्वीपमें पुष्कर नामक पर्वत है, जो मणियों तथा रत्नोंसे भरा हुआ है॥ २४॥

तत्र नित्यं प्रभवति स्वयं देवः प्रजापतिः।
तं पर्युपासते नित्यं देवाः सर्वे महर्षयः॥ २५॥
वाग्भिर्मनोऽनुकूलाभिः पूजयन्तो जनाधिप।

वहाँ स्वयं प्रजापति भगवान् ब्रह्मा नित्य निवास करते हैं। जनेश्वर ! सम्पूर्ण देवता और महर्षि मनोनुकूल वचनोंद्वारा प्रतिदिन उनकी पूजा करते हुए सदा उन्हींकी उपासनामें लगे रहते हैं॥ २५½॥

जम्बूद्वीपात् प्रवर्तन्ते रत्नानि विविधान्युत॥ २६॥
द्वीपेषु तेषु सर्वेषु प्रजानां कुरुसत्तम।
ब्रह्मचर्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च॥ २७॥
आरोग्यायुःप्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुणं ततः।

जम्बूद्वीपसे अनेक प्रकारके रत्न अन्यान्य सब द्वीपोंमें वहाँकी प्रजाओंके उपयोगके लिये भेजे जाते हैं। कुरुश्रेष्ठ ! ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियसंयमके प्रभावसे उन सब द्वीपोंकी प्रजाओंके आरोग्य और आयुका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना माना गया है॥ २६-२७½॥

एको जनपदो राजन् द्वीपेष्वेतेषु भारत।
उक्ता जनपदा येषु धर्मश्चैकः प्रदृश्यते॥ २८॥

भरतवंशी नरेश ! वास्तवमें इन देशोंमें एक ही जनपद है। जिन द्वीपोंमें अनेक जनपद बताये गये हैं, उनमें भी एक प्रकारका ही धर्म देखा जाता है॥ २८॥

ईश्वरो दण्डमुद्यम्य स्वयमेव प्रजापतिः ।
द्वीपानेतान् महाराज रक्षंस्तिष्ठति नित्यदा ॥ २९ ॥

महाराज ! सबके ईश्वर प्रजापति ब्रह्मा स्वयं ही दण्ड लेकर इन द्वीपोंकी रक्षा करते हुए इनमें नित्य निवास करते हैं ॥ २९ ॥

स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहः ।
गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ ३० ॥

नरश्रेष्ठ ! प्रजापति ही वहाँके राजा हैं। वे कल्याणस्वरूप होकर सबका कल्याण करते हैं । राजन् ! वे ही पिता और प्रपितामह हैं । जडसे लेकर चेतनतक समस्त प्रजाकी वे ही रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

भोजनं चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयमुपस्थितम् ।
सिद्धमेव महाबाहो तद्धि भुञ्जन्ति नित्यदा ॥ ३१ ॥

महाबाहु कुरुनन्दन ! यहाँकी प्रजाओंके पास सदा पका-पकाया भोजन स्वयं उपस्थित हो जाता है और उसीको खाकर वे लोग रहते हैं ॥ ३१ ॥

ततः परं समा नाम दृश्यते लोकसंस्थितिः ।
चतुरस्रं महाराज त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ॥ ३२ ॥

उसके बाद समानामवाली लोगोंकी बस्ती देखी जाती है। महाराज! वह चौकोर बसी हुई है। उसमें तैंतीस मण्डल हैं॥

तत्र तिष्ठन्ति कौरव्य चत्वारो लोकसम्मताः ।
दिग्गजा भरतश्रेष्ठ वामनैरावतादयः ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ लोकविख्यात वामन, ऐरावत, सुप्रतीक और अञ्जन—ये चार दिग्गज रहते हैं ।३३।

सुप्रतीकस्तथा राजन् प्रभिन्नकरटामुखः ।
तस्याहं परिमाणं तु न संख्यातुमिहोत्सहे ॥ ३४ ॥
असंख्यातः स नित्यं हि तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

राजन् ! इनमेंसे सुप्रतीक नामक गजराज, जिसके गण्ड-स्थलसे मदकी धारा बहती रहती है, उसका परिमाण कैसा और कितना है, यह मैं नहीं बता सकता । वह नीचे-ऊपर तथा अगल-बगलमें सब ओर फैला हुआ है । वह अपरिमित है ॥ ३४½ ॥

तत्र वै वायवो वान्ति दिग्भ्यः सर्वाभ्य एव हि ॥ ३५ ॥
असम्बद्धा महाराज तान् निगृह्णन्ति ते गजाः ।
पुष्करैः पद्मसंकाशैर्विकसद्भिर्महाप्रभैः ॥ ३६ ॥
शतधा पुनरेवाशु ते तान् मुञ्चन्ति नित्यशः ।
श्वसद्भिर्मुच्यमानास्तु दिग्गजैरिह मारुताः ॥ ३७ ॥
आगच्छन्ति महाराज ततस्तिष्ठन्ति वै प्रजाः ।

वहाँ सब दिशाओंसे खुली हुई हवा आती है । उसे वे चारों दिग्गज ग्रहण करके रोक रखते हैं । फिर वे विकसित कमल-सदृश परम कान्तिमान् शुण्डदण्डके अग्रभागसे उस हवाको सैकड़ों भागोंमें करके तुरंत ही सब ओर छोड़ते हैं, यह उनका नित्यका काम है । महाराज ! साँस लेते हुए उन दिग्गजोंके मुखसे मुक्त होकर जो वायु यहाँ आती है, उसीसे सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ३५–३७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

परो वै विस्तरोऽत्यर्थं त्वया संजय कीर्तितः ॥ ३८ ॥
दर्शितं द्वीपसंस्थानमुत्तरं ब्रूहि संजय ।

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने द्वीपोंकी स्थितिके विषयमें तो बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है । अब जो अन्तिम विषय—सूर्य, चन्द्रमा तथा राहुका प्रमाण बताना शेष रह गया है, उसका वर्णन करो ॥ ३८½ ॥

संजय उवाच

उक्ता द्वीपा महाराज ग्रहं वै शृणु तत्त्वतः ॥ ३९ ॥
स्वर्भानोः कौरवश्रेष्ठ यावदेव प्रमाणतः ।
परिमण्डलो महाराज स्वर्भानुः श्रूयते ग्रहः ॥ ४० ॥

संजय बोले—महाराज ! मैंने द्वीपोंका वर्णन तो कर दिया । अब ग्रहोंका यथार्थ वर्णन सुनिये । कौरवश्रेष्ठ ! राहु-की जितनी बड़ी लंबाई-चौड़ाई सुननेमें आती है, वह आपको बताता हूँ । महाराज ! सुना है कि राहु ग्रह मण्डलाकार है ॥ ३९-४० ॥

योजनानां सहस्राणि विष्कम्भो द्वादशास्य वै ।
परिणाहेन षट्त्रिंशद् विपुलत्वेन चानघ ॥ ४१ ॥

निष्पाप नरेश ! राहु ग्रहका व्यासगत विस्तार बारह हजार योजन है और उसकी परिधिका विस्तार छत्तीस हजार योजन है ॥ ४१ ॥

षष्टिमाहुः शतान्यस्य बुधाः पौराणिकास्तथा ।
चन्द्रमास्तु सहस्राणि राजन्नेकादश स्मृतः ॥ ४२ ॥

पौराणिक विद्वान् उसकी विपुलता (मोटाई) छः हजार योजनकी बताते हैं । राजन् ! चन्द्रमाका व्यास ग्यारह हजार योजन है ॥ ४२ ॥

विष्कम्भेण कुरुश्रेष्ठ त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ।
एकोनषष्टिविष्कम्भं शीतरश्मेर्महात्मनः ॥ ४३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तैंतीस हजार योजन बताया गया है और महामना शीतरश्मि चन्द्रमाका वैपुल्यगत विस्तार (मोटाई) उनसठ सौ योजन है ॥ ४३ ॥

सूर्यस्त्वष्टौ सहस्राणि द्वे चान्ये कुरुनन्दन ।
विष्कम्भेण ततो राजन् मण्डलं त्रिंशता समम् ॥ ४४ ॥
अष्टपञ्चाशतं राजन् विपुलत्वेन चानघ ।
श्रूयते परमोदारः पतगोऽसौ विभावसुः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! सूर्यका व्यासगत विस्तार दस हजार योजन है और उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तीस हजार योजन है तथा उनकी विपुलता अठावन सौ योजनकी है । अनघ ! इस प्रकार शीघ्रगामी परम उदार भगवान् सूर्यके

त्रिविध विस्तारका वर्णन सुना जाता है ॥ ४४-४५ ॥

एतत् प्रमाणमर्कस्य निर्दिष्टमिह भारत ।
स राहुश्छादयत्येतौ यथाकालं महत्तया ॥ ४६ ॥
चन्द्रादित्यौ महाराज संक्षेपोऽयमुदाहृतः ।
इत्येतत् ते महाराज पृच्छतः शास्त्रचक्षुषा ॥ ४७ ॥
सर्वमुक्तं यथातत्त्वं तस्माच्छममवाप्नुहि ।

भारत ! यहाँ सूर्यका प्रमाण बताया गया, इन दोनोंसे अधिक विस्तार रखनेके कारण राहु यथासमय इन सूर्य और चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है । महाराज ! आपके प्रश्न-के अनुसार शास्त्रदृष्टिसे ग्रहोंके विषयमें संक्षेपसे बताया गया । ये सारी बातें मैंने आपके सामने यथार्थरूपसे उपस्थित की हैं । अतः आप शान्ति धारण कीजिये ॥ ४६-४७½ ॥

यथोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सनिर्माणमिदं जगत् ॥ ४८ ॥
तस्मादाश्वस कौरव्य पुत्रं दुर्योधनं प्रति ।

इस जगत्का स्वरूप कैसा है और इसका निर्माण किस प्रकार हुआ है, ये सब बातें मैंने शास्त्रोक्त रीतिसे बतायी हैं; अतः कुरुनन्दन ! आप अपने पुत्र दुर्योधनकी ओरसे निश्चिन्त रहिये ॥ ४८½ ॥

श्रुत्वेदं भरतश्रेष्ठ भूमिपर्व मनोनुगम् ॥ ४९ ॥
श्रीमान् भवति राजन्यः सिद्धार्थः साधुसम्मतः ।
आयुर्बलं च कीर्तिश्च तस्य तेजश्च वर्धते ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो राजा इस भूमिपर्वको मनोयोगपूर्वक सुनता है, वह श्रीसम्पन्न, सफलमनोरथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता है और उसके बल, आयु, कीर्ति तथा तेज-की वृद्धि होती है ॥ ४९—५० ॥

यः शृणोति महीपाल पर्वणीदं यतव्रतः ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य तथैव च पितामहाः ॥ ५१ ॥

भूपाल ! जो मनुष्य दृढ़तापूर्वक संयम एवं व्रतका पालन करते हुए प्रत्येक पर्वके दिन इस प्रसङ्गको सुनता है, उसके पितर और पितामह पूर्ण तृप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

इदं तु भारतं वर्षं यत्र वर्तामहे वयम् ।
पूर्वैः प्रवर्तितं पुण्यं तत् सर्वं श्रुतवानसि ॥ ५२ ॥

राजन् ! जिसमें हमलोग निवास करते हैं और जहाँ हमारे पूर्वजोंने पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह वही भारत-वर्ष है । आपने इसका पूरा-पूरा वर्णन सुन लिया है ॥५२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १ ॥
ध्यायते धृतराष्ट्राय सहसोत्पत्य दुःखितः ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तदनन्तर एक दिनकी बात है कि भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता एवं सब घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेवाले गवल्गणपुत्र विद्वान् संजयने युद्धभूमिसे लौटकर सहसा चिन्तामग्न धृतराष्ट्रके पास जा अत्यन्त दुखी होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके युद्धभूमिमें मारे जानेका समाचार बताया ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । मैं संजय आपकी सेवामें उपस्थित हूँ । भरतवंशियोंके पितामह और महाराज शान्तनुके पुत्र भीष्मजी आज युद्धमें मारे गये ॥ ३ ॥

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ॥ ४ ॥

जो समस्त योद्धाओंके ध्वजस्वरूप और सम्पूर्ण धनुर्धरों-के आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाण-शय्यापर सो रहे हैं ॥ ४ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत् ।
स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना॥ ५ ॥

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनने जिनके बाहुबलका भरोसा करके जूएका खेल किया था, वे भीष्म शिखण्डीके हाथों मारे जाकर रणभूमिमें शयन करते हैं ॥ ५ ॥

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे ।
जिगायैकरथेनैव काशिपुर्यां महारथः ॥ ६ ॥
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदपसम्भ्रमः ।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ ७ ॥

जिन महारथी वीर भीष्मने काशिराजकी नगरीमें एकत्र हुए समस्त भूपालोंको अकेला ही रथपर बैठकर महान् युद्धमें पराजित कर दिया था, जिन्होंने रणभूमिमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें

परशुरामजी भी मार न सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मारे गये ॥ ६-७ ॥

महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ॥ ८ ॥

जो शौर्यमें देवराज इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान थे ॥ ८ ॥

शरदंष्ट्रो धनुर्वक्त्रः खड्गजिह्वो दुरासदः ।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पाञ्चाल्येन निपातितः ॥ ९ ॥

जो मनुष्योंमें सिंह थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष जिनका फैला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी और इसीलिये जिनके पास पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे ही आपके पिता भीष्म आज पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके द्वारा मार गिराये गये ॥ ९ ॥

पाण्डवानां महासैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे ।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंहं दृष्ट्वेव गोगणः ॥ १० ॥
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनीकहा ।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ११ ॥

जैसे गौओंका झुंड सिंहके देखते ही भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार जिन्हें युद्धमें हथियार उठाये देख पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी भयसे उद्विग्न होकर थरथर काँपने लगती थी, वे ही शत्रुसैन्यसंहारक भीष्म दस दिनोंतक आपकी सेनाका संरक्षण करके अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रकट करते हुए अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चले गये ॥ १०-११ ॥

यः स शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः ।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १२ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ॥ १३ ॥

जिन्होंने इन्द्रकी भाँति क्षोभरहित होकर हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए दस दिनोंमें शत्रुपक्षके दस करोड़ योद्धाओंका संहार कर डाला, वे ही आज आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं। भरतवंशी नरेश! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है; नहीं तो भीष्मजी इस दुर्दशाके योग्य नहीं थे ॥ १२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि भीष्ममृत्युश्रवणे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें भीष्ममृत्युश्रवणविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं कुरूणामृषभो हतो भीष्मः शिखण्डिना ।
कथं रथात् स न्यपतत् पिता मे वासवोपमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! कुरुकुलके श्रेष्ठतम पुरुष मेरे पितृतुल्य भीष्म शिखण्डीके हाथसे कैसे मारे गये? वे इन्द्रके समान पराक्रमी थे, वे रथसे कैसे गिरे? ॥ १ ॥

कथमाचक्ष्व मे योधा हीना भीष्मेण संजय ।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ २ ॥

संजय! जिन्होंने अपने पिताके संतोषके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया और जो देवताओंके समान बलवान् थे, उन्हीं भीष्मसे रहित होकर आज हमारे सैनिकोंकी कैसी अवस्था हुई है? यह बताओ ॥ २ ॥

तस्मिन् हते महाप्राज्ञे महेष्वासे महाबले ।
महासत्त्वे नरव्याघ्रे किमु आसीन्मनस्तव ॥ ३ ॥

महाज्ञानी, महाधनुर्धर, महाबली और महान् धैर्यशाली नरश्रेष्ठ भीष्मजीके मारे जानेपर तुम्हारे मनकी कैसी अवस्था हुई?॥

आर्तिं परामाविशति मनः शंससि मे हतम् ।
कुरूणामृषभं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम् ॥ ४ ॥

संजय! तुम कहते हो, अकम्प्य वीर पुरुषसिंह, कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजी मारे गये—इसे सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ ४ ॥

के तं यान्तमनुप्राप्ताः के वास्यासन् पुरोगमाः ।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्ववर्तन्त संजय ॥ ५ ॥

संजय! जिस समय वे युद्धके लिये अग्रसर हुए थे, उस समय इनके पीछे कौन गये थे अथवा उनके आगे कौन-कौन वीर थे? कौन उनके साथ युद्धमें डटे रहे? कौन युद्ध छोड़कर भाग गये? और किन लोगोंने सर्वथा उनका अनुसरण किया था? ॥ ५ ॥

के शूरा रथशार्दूलमद्भुतं क्षत्रियर्षभम् ।
तथानीकं गाहमानं सहसा पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ६ ॥

किन शूरवीरोंने शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय रथियोंमें सिंहके समान अद्भुत पराक्रमी, क्षत्रियशिरोमणि भीष्मजीके पास सहसा पहुँचकर सदा उनके पृष्ठभागका अनुसरण किया?॥

यस्तमोऽर्क इवापोहन् परसैन्यममित्रहा ।
सहस्ररश्मिप्रतिमः परेषां भयमादधत् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन भीष्म शत्रुसेनाका नाश करते थे। जिनका तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान था, जिन्होंने शत्रुओंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ७ ॥

अकरोद् दुष्करं कर्म रणे पाण्डुसुतेषु यः।
ग्रसमानमनीकानि य एनं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
कृतिनं तं दुराधर्षं संजयास्य त्वमन्तिके।
कथं शान्तनवं युद्धे पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ९ ॥

जिन्होंने युद्धमें पाण्डवोंपर दुष्कर पराक्रम किया था तथा जो उनकी सेनाका निरन्तर संहार कर रहे थे, उन अस्त्र-विद्याके ज्ञाता दुर्जय वीर भीष्मजीको जिन्होंने रोका है, वे कौन हैं ? संजय ! तुम तो उनके पास ही थे, पाण्डवोंने युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको किस प्रकार आगे बढ़नेसे रोका ?॥

निकृन्तन्तमनीकानि शरदंष्ट्रं मनस्विनम्।
चापव्यात्ताननं घोरमसिजिह्वं दुरासदम् ॥ १० ॥
अनर्हं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम्।
पातयामास कौन्तेयः कथं तमजितं युधि ॥ ११ ॥

जो शत्रुपक्षकी सेनाओंका निरन्तर उच्छेद करते थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष ही खुला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी, उन भयंकर एवं दुर्धर्ष पुरुष-सिंह भीष्मको कुन्तीनन्दन अर्जुनने युद्धमें कैसे मार गिराया ? मनस्वी भीष्म इस प्रकार पराजयके योग्य नहीं थे। वे लज्जाशील और पराजयशून्य थे ॥ १०-११ ॥

उग्रधन्वानमुग्रेषुं वर्तमानं रथोत्तमे।
परेषामुत्तमाङ्गानि प्रचिन्वन्तमथेषुभिः ॥ १२ ॥

जो उत्तम रथपर बैठकर भयंकर धनुष और भयानक बाण लिये शत्रुओंके मस्तकोंको सायकोंद्वारा काट-काटकर उनके ढेर लगा रहे थे ॥ १२ ॥

पाण्डवानां महत् सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
कालाग्निमिव दुर्धर्षं समचेष्टत नित्यशः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी विशाल सेना दुर्धर्ष कालाग्निके समान जिन्हें युद्धके लिये उद्यत देख सदा काँपने लगती थी ॥ १३ ॥

परिकृष्य स सेनां तु दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

वे ही शत्रुसूदन भीष्म दस दिनोंतक शत्रुओंकी सेनाका संहार करते हुए अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाकर सूर्यकी भाँति अस्त हो गये ॥ १४ ॥

यः स शक्र इवाक्षय्यं वर्षं शरमयं क्षिपन्।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १५ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारत ॥ १६ ॥

जिन्होंने इन्द्रके समान युद्धमें दस दिनोंतक अक्षय बाणोंकी वर्षा करके दस करोड़ विपक्षी सेनाओंका संहार कर डाला, वे ही भरतवंशी वीर भीष्म मेरी कुमन्त्रणाके कारण आँधीसे उखाड़े गये वृक्षकी भाँति युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, वे कदापि इसके योग्य नहीं थे ॥१५-१६॥

कथं शान्तनवं दृष्ट्वा पाण्डवानामनीकिनी।
प्रहर्तुमशकत् तत्र भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म तो बड़े भयंकर पराक्रमी थे, उन्हें सामने देखकर पाण्डवसेना उनपर प्रहार कैसे कर सकी ? ॥

कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पाण्डुनन्दनाः।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय ॥ १८ ॥

संजय ! पाण्डवोंने भीष्मके साथ संग्राम कैसे किया ? द्रोणाचार्यके जीते-जी भीष्म विजयी कैसे नहीं हो सके ? ॥

कृपे संनिहिते तत्र भरद्वाजात्मजे तथा।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः ॥ १९ ॥

उस युद्धमें कृपाचार्य तथा भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य दोनों ही उनके निकट थे, तो भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म कैसे मारे गये ? ॥ १९ ॥

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे देवैरपि दुरासदः ॥ २० ॥

भीष्म तो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय एवं अति-रथी थे, फिर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके हाथसे वे किस प्रकार मारे गये ? ॥ २० ॥

यः स्पर्धते रणे नित्यं जामदग्न्यं महाबलम्।
अजितं जामदग्न्येन शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम्।
संजयाचक्ष्व मे वीरं येन शर्म न विद्महे ॥ २२ ॥

जो रणभूमिमें महाबली जमदग्निनन्दन परशुरामसे भी टक्कर लेनेकी सदा इच्छा रखते थे, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान था और परशुरामजी भी जिन्हें पराजित न कर सके थे; संजय ! महारथियोंके कुलमें प्रकट हुए वे महावीर भीष्म समरभूमिमें किस प्रकार मारे गये, यह मुझे बताओ; क्योंकि मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ २१-२२ ॥

मामकाः के महेष्वासा नाजहुः संजयाच्युतम्।
दुर्योधनसमादिष्टाः के वीराः पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

संजय ! कभी युद्धसे पीछे न हटनेवाले भीष्मजीका मेरे पक्षके किन महाधनुर्धरोंने साथ नहीं छोड़ा ? दुर्योधनकी आज्ञा पाकर किन-किन वीरोंने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ?

यच्छिखण्डिमुखाः सर्वे पाण्डवा भीष्ममभ्ययुः।
कच्चित् ते कुरवः सर्वे नाजहुः संजयाच्युतम् ॥ २४ ॥

संजय ! जब शिखण्डी आदि समस्त पाण्डव वीरोंने भीष्मपर आक्रमण किया, उस समय समस्त कौरवोंने कहीं अच्युत भीष्मका साथ छोड़ तो नहीं दिया था ? ॥ २४ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ॥ २५ ॥

अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेके समान सुदृढ़ है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर विदीर्ण नहीं होता है ! ॥ २५ ॥

यस्मिन् सत्यं च मेधा च नीतिश्च भरतर्षभे ।
अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ॥ २६ ॥

जिन दुर्जय वीर भरतभूषण भीष्ममें सत्य, मेधा और नीति—ये तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कपृषतो महान् ।
धनुर्ह्रादमहाशब्दो महामेघ इवोन्नतः ॥ २७ ॥

वे युद्धमें महान् मेघके समान ऊँचे उठे हुए थे। धनुषकी टंकार ही उनकी गर्जना थी, बाण ही उनके लिये वर्षाकी बूँदें थीं और धनुषका महान् शब्द ही बिजलीकी गड़गड़ाहट-का भयंकर शब्द था ॥ २७ ॥

योऽभ्यवर्षत कौन्तेयान् सपाञ्चालान्ससृंजयान् ।
निघ्नन् पररथान् वीरो दानवानिव वज्रभृत् ॥ २८ ॥

वीरवर भीष्मने शत्रुपक्षके रथियों—कुन्तीकुमारों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंको मारते हुए उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार की, जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर बाण-वर्षा करते हैं ॥ २८ ॥

इष्वस्त्रसागरं घोरं बाणग्राहं दुरासदम् ।
कार्मुकोर्मिणमक्षय्यमद्वीपं चलमप्लवम् ॥ २९ ॥

उनका धनुष-बाण आदि अस्त्रसमूह भयंकर एवं दुर्गम समुद्रके समान था, बाण ही उसमें ग्राह थे, धनुष लहरोंके समान जान पड़ता था, वह अक्षय, द्वीपरहित, चञ्चल तथा नौका आदि तैरनेके साधनोंसे शून्य था ॥ २९ ॥

गदासिमकरावासं हयावर्तं गजाकुलम् ।
पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ ३० ॥

गदा और खड्ग आदि ही उसमें मगरके समान थे। वह अश्वरूपी भँवरोंसे भयावह प्रतीत होता था, उसमें हाथी जलहस्तीके समान प्रतीत होते थे, पैदल सेना उसमें भरे हुए मत्स्योंके समान जान पड़ती थी तथा शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस समुद्रकी गर्जना थी ॥३०॥

हयान् गजपदातींश्च रथांश्च तरसा बहून् ।
निमज्जयन्तं समरे परवीरापहारिणम् ॥ ३१ ॥

भीष्मजी उस समुद्रमें शत्रुपक्षके हाथियों, घोड़ों, पैदलों तथा बहुसंख्यक रथोंको वेगपूर्वक डुबो रहे थे। वे समरभूमि-में शत्रुवीरोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले थे ॥ ३१ ॥

विदह्यमानं कोपेन तेजसा च परंतपम् ।
वेलेव मकरावासं के वीराः पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

अपने क्रोध और तेजसे दग्ध एवं प्रज्वलित-से होते हुए शत्रुसंतापी भीष्मको जैसे तट समुद्रको रोक देता है उसी प्रकार किन वीरोंने आगे बढ़नेसे रोका था ॥ ३२ ॥

भीष्मो यदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा ।
दुर्योधनहितार्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन् ॥ ३३ ॥
केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं भीष्मस्यामिततेजसः ।
पृष्ठतः के परान् वीरानपासेधन् यतव्रताः ॥ ३४ ॥

शत्रुहन्ता भीष्मने दुर्योधनके हितके लिये समरभूमिमें जो पराक्रम किया था, वह अनुपम है। उस समय कौन-कौनसे योद्धा उनके आगे थे ? किन-किन वीरोंने अमित-तेजस्वी भीष्मके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा की थी ? किन लोगोंने दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए उनके पीछेकी ओर रहकर शत्रुपक्षके वीरोंको आगे बढ़नेसे रोका था ? ॥

के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके ।
केऽरक्षन्नुत्तरं चक्रं वीरा वीरस्य युध्यतः ॥ ३५ ॥

कौन-कौनसे वीर निकटसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उनके आगे खड़े थे ? और किन वीरोंने युद्धमें लगे हुए शूरशिरोमणि भीष्मके बायें पहियेकी रक्षा की थी ? ॥ ३५ ॥

वामे चक्रे वर्तमानाः केऽघ्नन् संजय सृंजयान् ।
अग्रतोऽग्र्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन् दुरासदम् ॥ ३६ ॥

संजय ! उनके बायें चक्रकी रक्षामें तत्पर होकर किन-किन योद्धाओंने सृंजयवंशियोंका विनाश किया था ? तथा किन्होंने आगे रहकर सेनाके अग्रणी दुर्जय वीर भीष्मकी सब ओरसे रक्षा की थी ? ॥ ३६ ॥

पार्श्वतः केऽभ्यरक्षन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम् ।
समूहे के परान् वीरान् प्रत्ययुध्यन्त संजय ॥ ३७ ॥

संजय ! किन लोगोंने दुर्गम संग्राममें आगे बढ़ते हुए उनके पार्श्वभागका संरक्षण किया था ? और किन्होंने उस सैन्यसमूहमें आगे रहकर वीरतापूर्वक शत्रुयोद्धाओंका डटकर सामना किया था ? ॥ ३७ ॥

रक्ष्यमाणः कथं वीरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
दुर्जयानामनीकानि नाजयंस्तरसा युधि ॥ ३८ ॥

जब मेरे पक्षके बहुत-से वीर उनकी रक्षा करते थे और वे भी उन वीरोंकी रक्षामें दत्तचित्त थे, तब भी उन सब लोगोंने मिलकर शत्रुपक्षकी दुर्जय सेनाओंको कैसे वेगपूर्वक परास्त नहीं कर दिया ? ॥ ३८ ॥

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठिप्रजापतेः ।
कथं प्रहर्तुमपि ते शेकुः संजय पाण्डवाः ॥ ३९ ॥

संजय ! भीष्मजी सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी परमेष्ठी प्रजा-पति ब्रह्माजीके समान अजेय थे; फिर पाण्डव उनके ऊपर कैसे प्रहार कर सके ? ॥ ३९ ॥

यस्मिन् द्वीपे समाश्वस्य युध्यन्ते कुरवः परैः ।
तं निमग्नं नरव्याघ्रं भीष्मं शंससि संजय ॥ ४० ॥

संजय ! जिन द्वीपस्वरूप भीष्मजीके आश्रयमें निर्भय एवं निश्चिन्त होकर समस्त कौरव शत्रुओंके साथ युद्ध करते थे, उन्हीं नरश्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया बता रहे हो, यह कितने दुःखकी बात है ? ॥ ४० ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य मम पुत्रो बृहद्बलः ।
न पाण्डवानगणयत् कथं स निहतः परैः ॥ ४१ ॥

जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर विशाल सेनाओंसे सम्पन्न मेरा पुत्र पाण्डवोंको कुछ नहीं गिनता था, वे शत्रुओं-द्वारा किस प्रकार मारे गये ? ॥ ४१ ॥

यः पुरा विबुधैः सर्वैः सहाये युद्धदुर्मदः।
काङ्क्षितो दानवान् घ्नद्भिः पिता मम महाव्रतः ॥ ४२ ॥
यस्मिञ्जाते महावीर्ये शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
शोकं दैन्यं च दुःखं च प्राजहात् पुत्रलक्ष्मणि ॥ ४३ ॥
प्रोक्तं परायणं प्राज्ञं स्वधर्मनिरतं शुचिम्।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं कथं शंससि मे हतम् ॥ ४४ ॥

पहलेकी बात है, दानवोंका संहार करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंने जिन मेरे महान् व्रतधारी पिता रणदुर्मद भीष्मजी-को अपना सहायक बनानेकी अभिलाषा की थी, जिन महा-पराक्रमी पुत्ररत्नके जन्म लेनेपर लोकविख्यात महाराज शान्तनुने शोक, दीनता और दुःखका सदाके लिये त्याग कर दिया था, जो सबके आश्रयदाता, बुद्धिमान्, स्वधर्मपरायण, पवित्र और वेदवेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ बताये गये हैं, उन्हीं भीष्मको तुम मारा गया कैसे बता रहे हो ? ॥ ४२–४४ ॥

सर्वास्त्रविनयोपेतं शान्तं दान्तं मनस्विनम्।
हतं शान्तनवं श्रुत्वा मन्ये शेषं हतं बलम् ॥ ४५ ॥

जो सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे सम्पन्न, शान्त, जिते-न्द्रिय और मनस्वी थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया कि अब हमारी सारी सेना मार दी गयी ॥ ४५ ॥

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

आज मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हुआ कि धर्मसे अधर्म ही बलवान् है; क्योंकि पाण्डव अपने वृद्ध गुरुजनकी हत्या करके राज्य लेना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

जामदग्न्यः पुरा रामः सर्वास्त्रविदनुत्तमः।
अम्बार्थमुद्यतः संख्ये भीष्मेण युधि निर्जितः ॥ ४७ ॥
तमिन्द्रसमकर्माणं ककुदं सर्वधन्विनाम्।
हतं शंससि मे भीष्मं किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४८ ॥

पूर्वकालमें अम्बाके लिये उद्यत होकर सम्पूर्ण अस्त्र-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुराम युद्ध करनेके लिये आये थे, परंतु भीष्मने उन्हें परास्त कर दिया, उन्हीं इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया कह रहे हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ४७-४८ ॥

असकृत् क्षत्रियव्राताः संख्ये येन विनिर्जिताः।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिघातिना ॥ ४९ ॥
न हतो यो महाबुद्धिः स हतोऽद्य शिखण्डिना।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले जिन वीरवर परशुरामजी-ने अनेक बार समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया था, उनसे भी जो मारे न जा सके, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मार दिये गये ! ॥ ४९½ ॥

तस्मान्नूनं महावीर्याद् भार्गवाद् युद्धदुर्मदात् ॥ ५० ॥
तेजोवीर्यबलैर्भूयाञ्शिखण्डी द्रुपदात्मजः।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ५१ ॥
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम्।

इससे जान पड़ता है कि महापराक्रमी युद्धदुर्मद परशुराम-जीकी अपेक्षा भी तेज, पराक्रम और बलमें द्रुपदकुमार शिखण्डी निश्चय ही बहुत बढ़ा-चढ़ा है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, परमास्त्रवेत्ता और शूरवीर विद्वान् भरतकुलभूषण भीष्मजीका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि ॥ ५२ ॥
शंस मे तद् तथा चासीद् युद्धं भीष्मस्य पाण्डवैः।
योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय ॥ ५३ ॥

उस समय युद्धमें शत्रुहन्ता भीष्मजीके साथ कौन-कौनसे वीर थे ? संजय ! पाण्डवोंके साथ भीष्मका किस प्रकार युद्ध हुआ ? यह मुझे बताओ । उन वीर सेनापतिके मारे जानेपर मेरे पुत्रकी सेना विधवा स्त्रीके समान असहाय हो गयी है ॥

अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम।
पौरुषं सर्वलोकस्य परं यस्मिन् महाहवे ॥ ५४ ॥
परासक्ते च वस्तस्मिन् कथमासीन्मनस्तदा।

जैसे ग्वालेके बिना गौओंका समुदाय इधर-उधर भटकता-फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी। महान् युद्धके समय जिनमें सम्पूर्ण जगत्का परम पुरुषार्थ प्रकट दिखायी देता था, वे ही भीष्म जब परलोकके पथिक हो गये, उस समय तुमलोगोंके मनकी अवस्था कैसी हुई थी ? ॥

जीवितेऽप्यद्य सामर्थ्यं किमिवास्मासु संजय ॥ ५५ ॥
घातयित्वा महावीर्यं पितरं लोकधार्मिकम्।
अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः ॥ ५६ ॥

संजय ! आज जीवित रहनेपर भी हमलोगोंमें क्या सामर्थ्य है ? जगत्के विख्यात धर्मात्मा महापराक्रमी पिता भीष्मको युद्धमें मरवाकर हम उसी प्रकार शोकमें डूब गये हैं, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पथिक नावको अगाध जलमें डूबी हुई देखकर दुखी होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ॥ ५७ ॥
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते।

मैं समझता हूँ कि भीष्मजीके मारे जानेपर मेरे बेटे दुःखके कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे। संजय ! मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, जो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर भी विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥५७½॥

यस्मिन्नस्त्राणि मेधा च नीतिश्च पुरुषर्षभे ॥ ५८ ॥

अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ।

जिन पुरुषरत्न तथा दुर्धर्ष वीर-शिरोमणिमें अस्त्र, बुद्धि और नीति तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ?॥

न चास्त्रेण न शौर्येण तपसा मेधया न च ॥ ५९ ॥
न धृत्या न पुनस्त्यागान्मृत्योः कश्चिद्विमुच्यते ।

जान पड़ता है कि अस्त्रसे, शौर्यसे, तपस्यासे, बुद्धिसे, धैर्यसे तथा त्यागके द्वारा भी कोई मृत्युसे छूट नहीं सकता है ॥

कालो नूनं महावीर्यः सर्वलोकदुरत्ययः ॥ ६० ॥
यत्र शान्तनवं भीष्मं हतं शंससि संजय ।

संजय ! निश्चय ही कालकी शक्ति बहुत बड़ी है, सम्पूर्ण जगत्‌के लिये वह दुर्लङ्घ्य है, जिसके अधीन होनेके कारण तुम शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया बता रहे हो ॥६०½॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तो महद् दुःखमचिन्तयम् ॥ ६१ ॥
आशंसेऽहं परं त्राणं भीष्माच्छान्तनुनन्दनात् ।

मुझे शान्तनुनन्दन भीष्मसे अपने पक्षके परित्राणकी बड़ी आशा थी । इस समय अपने पुत्रके शोकसे संतप्त होकर मैं महान् दुःखसे चिन्तित हो उठा हूँ ॥ ६१½ ॥

यदाऽऽदित्यमिवापश्यत् पतितं भुवि संजय ॥ ६२ ॥
दुर्योधनः शान्तनवं किं तदा प्रत्यपद्यत ।

संजय ! जब दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मको अस्ताचल-गामी सूर्यकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखा, तब उसने क्या सोचा ?॥

नाहं स्वेषां परेषां वा बुद्ध्या संजय चिन्तयन् ॥ ६३ ॥
शेषं किंचित् प्रपश्यामि प्रत्यनीके महीक्षिताम् ।

संजय ! जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखता हूँ तो अपने अथवा शत्रुपक्षके राजाओंमेंसे किसीका भी जीवन इस युद्धमें शेष रहता नहीं दिखायी देता है ॥ ६३½ ॥

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ॥ ६४ ॥
यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।

ऋषियोंने क्षत्रियोंका यह धर्म अत्यन्त कठोर निश्चित किया है, जिसमें रहते हुए पाण्डव शान्तनुनन्दन भीष्मको मारकर राज्य लेना चाहते हैं ॥ ६४½ ॥

वयं वा राज्यमिच्छामो घातयित्वा महाव्रतम् ॥ ६५ ॥
क्षत्रधर्मे स्थिताः पार्था नापराध्यन्ति पुत्रकाः ।
एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ॥ ६६ ॥
पराक्रमः परं शक्त्या तत् तु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

अथवा हम भी तो उन महारथी भीष्मको मरवाकर ही राज्य लेना चाहते हैं । क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मेरे बच्चे कुन्तीकुमारोंका कोई अपराध नहीं है । संजय ! दुस्तर आपत्तिके समय श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये, जो भीष्मजीने किया है । कि वह शक्तिके अनुसार अधिकसे अधिक पराक्रम करे । यह गुण भीष्मजीमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित था ॥ ६५-६६ ॥

अनीकानि विनिघ्नन्तं ह्रीमन्तमपराजितम् ॥ ६७ ॥
कथं शान्तनवं तातं पाण्डुपुत्रा न्यवारयन् ।
कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ॥ ६८ ॥

भीष्मजी किसीसे पराजित न होनेवाले और लज्जाशील थे । विपक्षी सेनाओंका संहार करते हुए उन मेरे ताऊ भीष्मजी-को पाण्डवोंने कैसे रोका ? उन महामनस्वी वीरोंने किस प्रकार सेनाएँ संगठित कीं और किस प्रकार युद्ध किया ?।६७-६८।

कथं वा निहतो भीष्मः पिता संजय मे परैः ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ६९ ॥
दुःशासनश्च कितवो हते भीष्मे किमब्रुवन् ।

संजय ! शत्रुओंने मेरे आदरणीय पिता भीष्मका किस प्रकार वध किया ? दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र जुआरी शकुनिने भीष्मजीके मारे जानेपर क्या-क्या बातें कहीं ?

यच्छरीरैरुपास्तीर्णां नरवारणवाजिनाम् ॥ ७० ॥
शरशक्तिमहाखड्गतोमराक्षां महाभयाम् ।
प्राविशन् कितवा मन्दाः सभां युद्धदुरासदाम् ॥७१॥
प्राणद्यूते प्रतिभये केऽदीव्यन्त नरर्षभाः ।

संजय ! जहाँ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरीर बिछे हुए थे, जहाँ बाण, शक्ति, महान् खड्ग और तोमररूपी पासे फेंके जाते थे । जो युद्धके कारण दुर्गम एवं महान् भय देनेवाली थी, उस रणक्षेत्ररूपी द्यूतसभामें किन-किन मन्द-बुद्धि जुआरियोंने प्रवेश किया था ? जहाँ प्राणोंकी बाजी लगायी जाती थी, वह भयंकर जूएका खेल किन-किन नरश्रेष्ठ वीरोंने खेला था ? ॥ ७०-७१½ ॥

के जीयन्ते जितास्तत्र कृतलक्ष्या निपातिताः ॥ ७२ ॥
अन्ये भीष्माच्छान्तनवात् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

संजय ! शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, उस युद्धमें कौन-कौन-से हार रहे थे, किन-किन लोगोंकी पराजय हुई तथा कौन-कौन वीर बाणोंके लक्ष्य बनकर मार गिराये गये ? यह सब मुझे बताओ ॥ ७२½ ॥

न हि मे शान्तिरस्तीह श्रुत्वा देवव्रतं हतम् ॥ ७३ ॥
पितरं भीमकर्माणं भीष्ममाहवशोभिनम् ।
आर्तिं मे हृदये रूढां महतीं पुत्रहानिजाम् ॥ ७४ ॥
त्वं हि मे सर्पिषेवाग्निमुद्दीपयसि संजय ।

युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले भयंकर पराक्रमी अपने ताऊ देवव्रत भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे हृदयमें शान्ति नहीं रह गयी है । उनके मारे जानेसे मेरे पुत्रोंकी जो हानि होने वाली है, उसके कारण मेरे मनमें भारी व्यथा जाग उठी है । संजय ! तुम अपने वचनरूपी घृतकी आहुति डालकर मेरी उस चिन्ता एवं व्यथारूपी अग्निको और भी उद्दीप्त कर रहे हो ॥ ७३-७४½ ॥

महान्तं भारमुद्यम्य विश्रुतं सार्वलौकिकम् ॥ ७५ ॥
दृष्ट्वा विनिहतं भीष्मं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।
श्रोष्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ॥ ७६ ॥

जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्में विख्यात इस युद्धके महान् भारको अपनी भुजाओंपर उठा रक्खा था, उन्हीं भीष्मजी-को मारा गया देख मेरे पुत्र भारी शोकमें पड़ गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं दुर्योधनके द्वारा प्रकट किये हुए उन दुःखोंको सुनूँगा ॥ ७५-७६ ॥

तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यद् वृत्तं तत्र संजय।
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम् ॥ ७७ ॥
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय।

इसलिये संजय! मुझसे वहाँका सारा वृत्तान्त कहो। मूर्ख दुर्योधनके अज्ञानके कारण उस युद्धमें अन्याय और न्यायकी जो-जो बातें संघटित हुई हों, उन सबका वर्णन करो।

यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता ॥ ७८ ॥
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः।

विजयकी इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजीने उस युद्धमें अपनी तेजस्विताके अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ७८½ ॥

तथा तदभवद् युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ७९ ॥
क्रमेण येन यस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत् ॥ ८० ॥

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका वह युद्ध जिस समय जिस क्रमसे और जिस रूपमें हुआ था, वह सब कहो ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रके प्रश्नविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपने जो ये बारम्बार अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित और आपके योग्य ही हैं; परंतु यह सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥ १ ॥

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
एनसा तेन नान्यं स उपाशङ्कितुमर्हति ॥ २ ॥

जो मनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कारण अशुभ फल भोग रहा हो, उसे उस पापकी आशंका दूसरेपर नहीं करनी चाहिये।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ ३ ॥

महाराज! जो पुरुष मनुष्य-समाजमें सर्वथा निन्दनीय आचरण करता है, वह निन्दित कर्म करनेके कारण सब लोगोंके लिये मार डालनेयोग्य है ॥ ३ ॥

निकारो निकृतिप्रज्ञैः पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया।
अनुभूतः सहामात्यैः क्षान्तश्च सुचिरं वने ॥ ४ ॥

पाण्डव आप लोगोंद्वारा अपने प्रति किये गये अपमान एवं कपटपूर्ण बर्तावको अच्छी तरह जानते थे, तथापि उन्होंने केवल आपकी ओर देखकर—आपके द्वारा न्यायोचित बर्ताव होनेकी आशा रखकर दीर्घकालतक अपने मन्त्रियोंसहित वनमें रहकर क्लेश भोगा और सब कुछ सहन किया ॥ ४ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम्।
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च ॥ ५ ॥
शृणु तत् पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः।
दिष्टमेतत् पुरा नूनमिदमेव नराधिप ॥ ६ ॥

भूपाल! मैंने हाथियों, घोड़ों तथा अमिततेजस्वी राजाओंके विषयमें जो कुछ अपनी आँखों देखा है और योगबलसे जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब वृत्तान्त सुना रहा हूँ, सुनिये। अपने मनको शोकमें न डालिये। नरेश्वर! निश्चय ही दैवका यह सारा विधान मुझे पहलेसे ही प्रत्यक्ष हो चुका है ॥ ५-६ ॥

नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते।
यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव च।
परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ॥ ८ ॥
व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा।
अस्त्रैरसंगो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः ॥ ९ ॥
शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम्।
भरतानामभूद् युद्धं यथा तल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

राजन्! जिनके कृपाप्रसादसे मुझे परम उत्तम दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, इन्द्रियातीत विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाली दृष्टि मिली है; दूरसे भी सब कुछ सुननेकी शक्ति, दूसरेके मनकी बातोंको समझ लेनेकी सामर्थ्य, भूत और भविष्यका ज्ञान, शास्त्रके विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी उत्पत्तिका ज्ञान, आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्तम शक्ति तथा युद्धके समय अस्त्रोंसे अपने शरीरके अछूते रहनेका अद्भुत चमत्कार आदि बातें जिन महात्माके वरदानसे मेरे लिये सम्भव हुई हैं, उन्हीं आपके पिता पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीको नमस्कार करके भरतवंशियोंके इस अत्यन्त अद्भुत विचित्र एवं रोमाञ्चकारी युद्धका वर्णन आरम्भ करता हूँ।

आप मुझसे यह सब कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह विस्तारपूर्वक सुनें ॥ ७-१० ॥

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

महाराज ! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधिके अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थानपर युद्धके लिये तैयार हो गयीं, उस समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥ ११ ॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुचोदय ॥ १२ ॥

'दुःशासन ! तुम भीष्मजीकी रक्षा करनेवाले रथोंको शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओंको भी शीघ्र उनकी रक्षाके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दो ॥ १२ ॥

अयं स मामभिप्राप्तो वर्षपूगाभिचिन्तितः।
पाण्डवानां ससैन्यानां कुरूणां च समागमः ॥ १३ ॥

'मैं वर्षोंसे जिसके लिये चिन्तित था, वह यह सेनासहित कौरव-पाण्डवोंका महान् संग्राम मेरे सामने उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात्।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्चससृंजयान् १४

'इस समय युद्धमें भीष्मजीकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्तीके पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयोंको भी मार सकते हैं॥

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥ १५ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि 'मैं शिखण्डीको युद्धमें नहीं मारूँगा; क्योंकि सुननेमें आया है कि वह पहले स्त्री था; अतः रणभूमिमें मेरे लिये वह सर्वथा त्याज्य है' ॥ १५ ॥

तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥ १६ ॥

'इसलिये मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेषरूपसे भीष्मजीकी रक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये। मेरे सारे सैनिक शिखण्डीको मार डालनेका प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः।
सर्वथास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ॥ १७ ॥

'पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाके जो-जो वीर अस्त्र-विद्यामें सर्वथा कुशल हों, वे ही पितामह (भीष्म) की रक्षा करें॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम्।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ॥ १८ ॥

'यदि महाबली सिंह भी अरक्षित-दशामें हो तो उसे एक भेड़िया भी मार सकता है। हमें चाहिये कि सियारके समान शिखण्डीके द्वारा सिंहसदृश भीष्मको न मरने दें ॥१८॥

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम्।
गोप्तारौ फाल्गुनं प्राप्तौ फाल्गुनोऽपि शिखण्डिनः॥१९॥

'अर्जुनके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिनेकी रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं। अर्जुनको ये दो रक्षक प्राप्त हैं और अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं ॥ १९ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन भीष्मेण च विवर्जितः।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दुःशासन तथा कुरु ॥ २० ॥

'अतः दुःशासन ! भीष्मसे उपेक्षित तथा अर्जुनसे सुरक्षित होकर शिखण्डी जिस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मको न मार सके, वैसा प्रयत्न करो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्योधनदुःशासनसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्योधन-दुःशासनसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

दुर्योधनकी सेनाका वर्णन

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान्।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर रात्रिके अन्तमें सबेरा होते ही 'रथ जोतो, युद्धके लिये तैयार हो जाओ।' इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले राजाओंका महान् कोलाहल सब ओर छा गया ॥ १ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ॥ २ ॥
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम्।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, वीरोंके सिंहनाद, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथके पहियोंकी घरघराहट, हाथियोंकी गर्जना तथा गर्जते हुए योद्धाओंके सिंहनाद करने, ताल ठोंकने और जोर-जोरसे बोलने आदिकी तुमुल ध्वनि सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २-३ ॥

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ४ ॥

महाराज ! सूर्योदय होते-होते कौरवों और पाण्डवोंकी वह सारी विशाल सेना सम्पूर्ण रूपसे युद्धके लिये तैयार हो उठी॥

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि सशस्त्रकवचानि च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंके दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र तथा कवच चमक उठे ॥ ५ ॥

ततः प्रकाशे सैन्यानि समदृश्यन्त भारत।
त्वदीयानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च ॥ ६ ॥

भारत ! तब सूर्योदयके प्रकाशमें आपकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा अत्यन्त विशाल दिखायी देने लगीं ॥ ६ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदपरिष्कृताः।
विभ्राजमाना दृश्यन्ते मेघा इव सविद्युतः ॥ ७ ॥

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित आपके हाथी और रथ बिजलियोंसहित मेघोंकी घटाके समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक रथोंकी सेनाएँ नगरोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं । उनके बीच आपके ताऊ भीष्मजी पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

धनुर्भिर्ऋष्टिभिः खड्गैर्गदाभिः शक्तितोमरैः।
योधाः प्रहरणैः शुभ्रैस्तेष्वनीकेष्ववस्थिताः ॥ ९ ॥

आपकी सेनाके सैनिक धनुष, खड्ग, ऋष्टि, गदा, शक्ति और तोमर आदि चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर उन सेनाओंमें खड़े थे ॥

गजाः पदाता रथिनस्तुरगाश्च विशाम्पते।
व्यतिष्ठन् वागुराकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! हाथी, घोड़े, पैदल और रथी, शत्रुओंको बाँधनेके लिये जाल-से बनकर एक-एक जगह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें खड़े थे ॥ १० ॥

ध्वजा बहुविधाकारा व्यदृश्यन्त समुच्छ्रिताः।
स्वेषां चैव परेषां च द्युतिमन्तः सहस्रशः ॥ ११ ॥

अपने और शत्रुओंके अनेक प्रकारके ऊँचे ऊँचे चमकीले ध्वज हजारोंकी संख्यामें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ११ ॥

काञ्चना मणिचित्राङ्गा ज्वलन्त इव पावकाः।
अर्चिष्मन्तो व्यरोचन्त गजारोहाः सहस्रशः ॥ १२ ॥

सुवर्णमय आभूषण पहने, मणियोंके अलंकारोंसे विचित्र अङ्गोंवाले, सहस्रों हाथीसवार सैनिक अपनी प्रभासे शिखाओंसहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १२ ॥

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके चमकीले ध्वज फहराते रहते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवसेनाके ध्वज भी फहरा रहे थे । दोनों सेनाओंके प्रमुख वीर युद्धकी अभिलाषा रखकर कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी दे रहे थे ॥ १३ ॥

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ॥ १४ ॥

उनके हथियार उठे हुए थे । वे हाथमें दस्ताने और पीठपर तरकस बाँधे सेनाके मुहानेपर खड़े हुए भूपालगण अद्भुत शोभा पा रहे थे । उनकी आँखें बैलोंकी आँखोंके समान बड़ी-बड़ी दिखायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

शकुनिः सौबलः शल्यः सैन्धवोऽथ जयद्रथः।
विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ १५ ॥
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः।
बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १६ ॥
दशैते पुरुषव्याघ्राः शूराः परिघबाहवः।
अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ १७ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, शल्य, सिन्धुनरेश जयद्रथ, विन्द-अनुविन्द, केकयराजकुमार, काम्बोजराज सुदक्षिण, कलिङ्गराज श्रुतायुध, राजा जयत्सेन, कोशलनरेश बृहद्बल तथा भोजवंशी कृतवर्मा—ये दस पुरुषसिंह शूरवीर क्षत्रिय एक-एक अक्षौहिणी सेनाके अधिनायक थे । इनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी दिखायी देती थीं । इन सबने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं ॥ १५—१७ ॥

एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः।
राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः ॥ १८ ॥
संनद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः।

ये तथा और भी बहुतसे नीतिज्ञ महारथी राजा और राजकुमार दुर्योधनके वशमें रहकर कवच आदिसे सुसज्जित हो अपनी-अपनी सेनाओंमें खड़े दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः ॥ १९ ॥
हृष्टा दुर्योधनस्यार्थे ब्रह्मलोकाय दीक्षिताः।
समर्था दश वाहिन्यः परिगृह्य व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

इन सबने काले मृगचर्म बाँध रक्खे थे । सभी बलवान् और युद्धभूमिमें सुशोभित होनेवाले थे और सबने दुर्योधनके हितके लिये बड़े हर्ष और उल्लासके साथ ब्रह्मलोककी दीक्षा ली थी । ये सामर्थ्यशाली दस वीर अपने सेनापतित्वमें दस सेनाओंको लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १९ २० ॥

एकादशी धार्तराष्ट्री कौरवाणां महाचमूः।
अग्रतः सर्वसैन्यानां यत्र शान्तनवोऽग्रणीः ॥ २१ ॥

ग्यारहवीं विशाल वाहिनी दुर्योधनकी थी, जिनमें अधिकांश कौरव-योद्धा थे । यह कौरवसेना अन्य सब सेनाओंके आगे खड़ी थी। इसके अधिनायक थे शान्तनुनन्दन भीष्म ॥

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम्।
अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

उनके सिरपर सफेद पगड़ी शोभा पाती थी। उनके घोड़े भी सफेद ही थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें श्वेत कवच बाँध रक्खा था। महाराज! मर्यादासे कभी पीछे न हटनेवाले उन भीष्मजीको मैंने अपनी श्वेतकान्तिके कारण नवोदित चन्द्रमाके समान सुशोभित देखा ॥ २२ ॥

हेमतालध्वजं भीष्मं राजते स्यन्दने स्थितम्।
श्वेताभ्र इव तीक्ष्णांशुं ददृशुः कुरुपाण्डवाः ॥ २३ ॥
सृंजयाश्च महेष्वासा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।

भीष्मजी चाँदीके बने हुए सुन्दर रथपर विराजमान थे। उनकी तालचिह्नित स्वर्णमयी ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी। उस समय कौरवों, पाण्डवों तथा धृष्टद्युम्न आदि महाधनुर्धर सृंजयवंशियोंने उन्हें सफेद बादलोंमें छिपे हुए सूर्यदेवके समान देखा ॥ २३½ ॥

जृम्भमाणं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः।

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बारंबार उद्विग्न हो उठते थे। ठीक उसी तरह, जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंहको देखकर क्षुद्र मृग भयसे व्याकुल हो उठते हैं ।२४½।

एकादशैताः श्रीजुष्टा वाहिन्यस्तव पार्थिव ॥ २५ ॥
पाण्डवानां तथा सप्त महापुरुषपालिताः।

भूपाल! आपकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तथा पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ वीर पुरुषोंसे सुरक्षित हो उत्तम शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं ॥ २५½ ॥

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ॥ २६ ॥
युगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव।

वे दोनों सेनाएँ प्रलयकालमें एक दूसरेसे मिलनेवाले उन दो समुद्रोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं जिनमें मतवाले मगर और भँवरें होती हैं तथा जिनमें बड़े-बड़े ग्राह सब ओर फैले रहते हैं॥ २६½ ॥

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ॥ २७ ॥

राजन्! कौरवोंकी इतनी बड़ी सेनाका वैसा संगठन मैंने पहले कभी न तो देखा था और न सुना ही था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्णन

संजय उवाच

यथा स भगवान् व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
तथैव सहिताः सर्वे समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने जैसा कहा था, उसीके अनुसार सब राजा कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए थे ॥ १ ॥

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥ २ ॥

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर था। आकाशमें सात महाग्रह अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी दे रहे थे ॥ २ ॥

द्विधाभूत इवादित्य उदये प्रत्यदृश्यत।
ज्वलन्त्या शिखया भूयो भानुमानुदितो रविः॥ ३ ॥

उदयकालमें सूर्य दो भागोंमें बँटा हुआ-सा दिखायी देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओंसे अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था ॥ ३ ॥

ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः।
लिप्समानाः शरीराणि मांसशोणितभोजनाः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा हो रहा था और मांस तथा रक्तका आहार करनेवाले गीदड़ और कौए मनुष्यों तथा पशुओंकी लाशोंकी लालसा रखकर अमङ्गलसूचक शब्द कर रहे थे ॥ ४ ॥

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भरद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ॥ ५ ॥
जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणामित्यूचतुररिंदमौ।
युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः ॥ ६ ॥

कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म तथा भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य ये दोनों शत्रुदमन महारथी प्रतिदिन सवेरे उठकर मनको संयममें रखते हुए यही आशीर्वाद देते थे कि 'पाण्डवोंकी जय हो' परंतु वे जैसी प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके अनुसार आपके लिये ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ५-६

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव।
समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उस दिन सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ देवव्रत भीष्मजी सब राजाओंको बुलाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥ ८ ॥

'क्षत्रियो! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्गका खुला हुआ

विशाल द्वार है। तुमलोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजीका सालोक्य प्राप्त करो ॥ ८ ॥

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥ ९ ॥

'यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजोंद्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्तचित्त होकर युद्धमें शौर्यका परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मानका भागी बनाओ ॥ ९ ॥

नाभागोऽथ ययातिश्च मान्धाता नहुषो नृगः।
संसिद्धाः परमं स्थानं गताः कर्मभिरीदृशैः ॥ १० ॥

'नाभाग, ययाति, मान्धाता, नहुष और नृग ऐसे ही कर्मोंद्वारा सिद्धिको प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकोंमें गये हैं ॥१०॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ॥ ११ ॥

'घरमें रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रियके लिये अधर्म माना गया है। वह युद्धमें लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आहत होकर जो मृत्युको अङ्गीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मके ऐसा कहनेपर वे सभी भूपाल श्रेष्ठ रथोंद्वारा अपनी सेनाओंकी शोभा बढ़ाते हुए युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १२ ॥

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतभूषण ! इस युद्धमें भीष्मने मन्त्रियों और बन्धुओंसहित कर्णके अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे ॥ १३ ॥

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥

इसलिये आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्णके ही अपने सिंहनादसे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये निकले ॥ १४ ॥

श्वेतैश्छत्रैः पताकाभिर्ध्वजवारणवाजिभिः।
तान्यनीकानि शोभन्ते रथैरथ पदातिभिः ॥ १५ ॥

श्वेत छत्रों, पताकाओं, ध्वजों, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंसे उन समस्त सेनाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १५ ॥

भेरीपणवशब्दैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः।
रथनेमिनिनादैश्च बभूवाकुलिता मही ॥ १६ ॥

भेरी, पणव, दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनियों तथा रथके पहियोंके घर्घर शब्दोंसे वहाँकी सारी भूमि व्याप्त हो रही थी।

काञ्चनाङ्गदकेयूरैः कार्मुकैश्च महारथाः।
भ्राजमाना व्यराजन्त साग्नयः पर्वता इव ॥ १७ ॥

सोनेके अङ्गद और केयूर नामक बाहुभूषण तथा धनुष धारण किये महारथी वीर अग्नियुक्त पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १७ ॥

तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना।
विमलादित्यसंकाशस्तस्थौ कुरुचमूपरि ॥ १८ ॥

कौरवसेनाके प्रधान सेनापति भीष्म भी ताड़ और पाँच तारोंके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजा, पताकासे सुशोभित रथपर जा बैठे। उस समय वे निर्मल तेजोमय सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

ये त्वदीया महेष्वासा राजानो भरतर्षभ।
अवर्तन्त यथादेशं राजन् शान्तनवस्य ते ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! आपकी सेनाके समस्त महाधनुर्धर भूपाल सेनापति भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते थे ॥१९॥

स तु गोवासनः शैब्यः सहितः सर्वराजभिः।
ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना।
पद्मवर्णस्त्वनीकानां सर्वेषामग्रतः स्थितः ॥ २० ॥
अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलाङ्गूलकेतुना।

गोवासनदेशके स्वामी महाराज शैब्य अपने अधीन राजाओंके साथ पताकासे सुशोभित राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। कमलके समान कान्तिमान् अश्वत्थामा सिंहकी पूँछके चिह्नसे युक्त ध्वजा, पताकावाले रथपर आरूढ़ हो समस्त सेनाओंके आगे रहकर चलने लगे ॥ २०½ ॥

श्रुतायुधश्चित्रसेनः पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ २१ ॥
शल्यो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च महारथः।
एते सप्त महेष्वासा द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ २२ ॥
स्यन्दनैर्वरवर्माणो भीष्मस्यासन् पुरोगमाः।

श्रुतायुध, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल्य, भूरिश्रवा तथा महारथी विकर्ण—ये सात महाधनुर्धर वीर रथोंपर आरूढ़ हो सुन्दर कवच धारण किये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अपने आगे रखकर भीष्मके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २१-२२½ ॥

तेषामपि महोत्सेधाः शोभयन्तो रथोत्तमान् ॥ २३ ॥
भ्राजमाना व्यरोचन्त जाम्बूनदमया ध्वजाः।

इन सबके जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए अत्यन्त ऊँचे ध्वज इनके श्रेष्ठ रथोंकी शोभा बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रकाशित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ॥ २४ ॥
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह।

आचार्यप्रवर द्रोणकी पताकापर कमण्डलुविभूषित सुवर्णमयी वेदी और धनुषके चिह्न बने हुए थे ॥ २४½ ॥

अनेकशतसाहस्रमनीकमनुकर्षतः ॥ २५ ॥
महान् दुर्योधनस्यासीन्नागो मणिमयो ध्वजः ।

कई लाख सैनिकोंकी सेनाको अपने साथ लेकर चलनेवाले दुर्योधनका मणिमय महान् ध्वज नागचिह्नसे विभूषित था ॥ २५½ ॥

तस्य पौरवकालिङ्गौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २६ ॥
क्षेमधन्वा सुमित्रश्च तस्थुः प्रमुखतो रथाः ।

पौरव, कलिङ्गराज श्रुतायुध, काम्बोजराज सुदक्षिण, क्षेमधन्वा तथा सुमित्र—ये पाँच प्रधान रथी दुर्योधनके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २६½ ॥

स्यन्दनेन महार्हेण केतुना वृषभेण च ।
प्रकर्षन्निव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ ॥ २७ ॥

वृषभचिह्नित ध्वजा-पताकासे युक्त बहुमूल्य रथपर बैठे हुए कृपाचार्य मगधकी श्रेष्ठ सेनाका अपने साथ लिये चल रहे थे ॥ २७ ॥

तदङ्गपतिना गुप्तं कृपेण च मनस्विना ।
शारदाम्बुधरप्रख्यं प्राच्यानां सुमहद् बलम् ॥ २८ ॥

अङ्गराज तथा मनस्वी कृपाचार्यसे सुरक्षित पूर्वदेशीय क्षत्रियोंकी वह विशाल वाहिनी शरद्‌ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाती थी ॥ २८ ॥

अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतुमुख्येन राजतेन जयद्रथः ॥ २९ ॥

महायशस्वी राजा जयद्रथ वराहके चिह्नसे युक्त रजतमय ध्वजा-पताकाके साथ रथपर आरूढ़ हो सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

शतं रथसहस्राणां तस्यासन् वशवर्तिनः ।
अष्टौ नागसहस्राणि सादिनामयुतानि षट् ॥ ३० ॥

उनके अधीन एक लाख रथ, आठ हजार हाथी और साठ हजार घुड़सवार थे ॥ ३० ॥

तत् सिन्धुपतिना राज्ञा पालितं ध्वजिनीमुखम् ।
अनन्तरथनागाश्वमशोभत महद् बलम् ॥ ३१ ॥

सिन्धुराजके द्वारा सुरक्षित अनन्त रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल सेना अद्भुत शोभा पा रही थी॥

षष्ट्या रथसहस्रैस्तु नागानामयुतेन च ।
पतिः सर्वकलिङ्गानां ययौ केतुमता सह ॥ ३२ ॥

कलिङ्गदेशका राजा श्रुतायुध अपने मित्र केतुमान्‌के साथ साठ हजार रथ और दस हजार हाथियोंको साथ लिये युद्धके लिये चला ॥ ३२ ॥

तस्य पर्वतसंकाशा व्यरोचन्त महागजाः ।
यन्त्रतोमरतूणीरैः पताकाभिः सुशोभिताः ॥ ३३ ॥

यन्त्र, तोमर, तूणीर तथा पताकाओंसे सुशोभित उसके विशाल गजराज पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३३ ॥

शुशुभे केतुमुख्येन पावकेन कलिङ्गकः ।
श्वेतच्छत्रेण निष्केण चामरव्यजनेन च ॥ ३४ ॥

कलिङ्गराजके रथकी ध्वजापर अग्निका चिह्न बना हुआ था। वह श्वेत छत्र और चँवररूपी पंखेसे तथा पदक (कण्ठहार) से विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था॥३४॥

केतुमानपि मातङ्गं विचित्रपरमाङ्कुशम् ।
आस्थितः समरे राजन् मेघस्थ इव भानुमान् ॥ ३५ ॥

राजन्! केतुमान् भी विचित्र एवं विशाल अङ्कुशसे युक्त गजराजपर आरूढ़ हो समरभूमिमें खड़ा हुआ मेघोंकी घटाके ऊपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान जान पड़ता था॥

तेजसा दीप्यमानस्तु वारणोत्तममास्थितः ।
भगदत्तो ययौ राजा यथा वज्रधरस्तथा ॥ ३६ ॥
गजस्कन्धगतावास्तां भगदत्तेन सम्मितौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केतुमन्तमनुव्रतौ ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो राजा भगदत्त भी वज्रधारी इन्द्रके समान अपने तेजसे उद्दीप्त हो युद्धके लिये आगे बढ़ गये थे। अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द भी भगदत्तके समान ही तेजस्वी थे। वे दोनों भाई हाथीकी पीठपर बैठकर केतुमान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे ३६-३७

स रथानीकवान् व्यूहो हस्त्यङ्गो नृपशीर्षवान् ।
वाजिपक्षः पतत्युग्रः प्रहसन् सर्वतोमुखः ॥ ३८ ॥

राजन्! रथोंके समूहसे युक्त उस सेनाका भयंकर व्यूह सर्वतोमुखी था। वह हँसता हुआ आक्रमण-सा कर रहा था। हाथी उस व्यूहके अङ्ग थे, राजाओंका समुदाय ही उसका मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

द्रोणेन विहितो राजन् राज्ञा शान्तनवेन च ।
तथैवाचार्यपुत्रेण बाह्लीकेन कृपेण च ॥ ३९ ॥

द्रोणाचार्य, राजा शान्तनुनन्दन भीष्म, आचार्यपुत्र अश्वत्थामा, बाह्लीक और कृपाचार्यने उस सैन्यव्यूहका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन

संजय उवाच

ततो मुहूर्तात् तुमुलः शब्दो हृदयकम्पनः।
अश्रूयत महाराज योधानां प्रयुयुत्सताम्॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर दो ही घड़ीमें युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका भयंकर कोलाहल सुनायी देने लगा, जो हृदयको कँपा देनेवाला था॥ १॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च वारणानां च बृंहितैः।
नेमिघोषै रथानां च दीर्यतीव वसुंधरा॥ २॥

शंख और दुन्दुभियोंके घोष; गजराजोंकी गर्जना तथा रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे सारी पृथ्वी विदीर्ण-सी हो रही थी।

हयानां हेषमाणानां योधानां चैव गर्जताम्।
क्षणेनैव नभो भूमिः शब्देनापूरितं तदा॥ ३॥

घोड़ोंके हींसने और योद्धाओंके गर्जनेके शब्दोंसे एक ही क्षणमें वहाँकी पृथ्वी और आकाशका सारा प्रदेश गूँज उठा।

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे॥ ४॥

दुर्धर्ष नरेश! आपके पुत्रों और पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरीके निकट आनेपर काँप उठीं॥ ४॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः।
भ्राजमाना व्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः॥ ५॥

उस रणक्षेत्रमें स्वर्णभूषित रथ और हाथी बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान सुशोभित दिखायी देते थे॥ ५॥

ध्वजा बहुविधाकारास्तावकानां नराधिप।
काञ्चनाङ्गदिनो रेजुर्ज्वलिता इव पावकाः॥ ६॥

नरेश्वर! आपकी सेनाके नाना प्रकारके ध्वज और सोनेके अङ्गद (बाजूबन्द) पहने हुए सैनिक प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ६॥

स्वेषां चैव परेषां च समदृश्यन्त भारत।
महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव॥ ७॥

भारत! अपनी और शत्रुकी सेनाके चमकीले ध्वज इन्द्र-भवनमें फहरानेवाले देवेन्द्रके ध्वजोंके समान दिखायी देते थे।

काञ्चनैः कवचैर्वीरा ज्वलनार्कसमप्रभैः।
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्वलनार्कसमप्रभाः॥ ८॥

अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् काञ्चनमय कवच धारण किये वीर सैनिक अग्नि और सूर्यके ही तुल्य प्रकाशित दीख रहे थे॥ ८॥

कुरुयोधवरा राजन् विचित्रायुधकार्मुकाः।
उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलबद्धाः पताकिनः॥ ९॥

राजन्! कौरवपक्षके श्रेष्ठ योद्धा विचित्र आयुध और धनुष धारण किये बड़ी शोभा पा रहे थे। उनके विचित्र आयुध ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे थे और उनकी पताकाएँ आकाशमें फहरा रही थीं।

ऋषभाक्षा महेष्वासाश्चमूमुखगता बभुः।
पृष्ठगोपास्तु भीष्मस्य पुत्रास्तव नराधिप।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुःसहस्तथा॥ १०॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवाः शलः॥ ११॥
रथा विंशतिसाहस्रास्तथैषामनुयायिनः।

सेनाके मुहानेपर खड़े हुए, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले वे महाधनुर्धर वीर बड़ी शोभा पा रहे थे। नरेश्वर! भीष्मजीके पृष्ठभागकी रक्षा आपके पुत्र दुःशासन दुर्विषह, दुर्मुख, दुःसह, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा, शल तथा इनके अनुयायी बीस हजार रथी कर रहे थे॥ १०–११½॥

अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः॥ १२॥
शाल्वा मत्स्यास्तथाम्बष्ठास्त्रैगर्ताः केकयास्तथा।
सौवीराः कैतवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यवासिनः॥ १३॥
द्वादशैते जनपदाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः।
महता रथवंशेन ते ररक्षुः पितामहम्॥ १४॥

अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त, केकय, सौवीर, कैतव तथा पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर प्रदेशके निवासी—इन बारह जनपदोंके समस्त शूरवीर अपना शरीर निछावर करनेको उद्यत होकर विशाल रथसमुदायके द्वारा पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १२–१४॥

अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
मागधो यत्र नृपतिस्तद् रथानीकमन्वयात्॥ १५॥

दस हजार वेगवान् हाथियोंकी सेना साथ लेकर मगधराज उपर्युक्त रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ १५॥

रथानां चक्ररक्षाश्च पादरक्षाश्च दन्तिनाम्।
अभवन् वाहिनीमध्ये शतानामयुतानि षट्॥ १६॥

उस विशाल वाहिनीमें रथोंके पहियों और हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैनिक साठ लाख थे॥ १६॥

पादाताश्चाग्रतोऽगच्छन् धनुश्चर्मासिपाणयः।
अनेकशतसाहस्रा नखरप्रासयोधिनः॥ १७॥

कुछ पैदल सैनिक, जिनकी संख्या कई लाख थी, हाथमें धनुष, ढाल और तलवार लिये आगे-आगे चल रहे थे। वे नखर (बघनखे) और प्रासद्वारा भी युद्ध करनेमें कुशल थे॥

अक्षौहिण्यो दशैका च तव पुत्रस्य भारत।
अदृश्यन्त महाराज गङ्गेव यमुनान्तरा ॥ १८ ॥

भारत ! महाराज ! आपके पुत्रकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ यमुनामें मिली हुई गङ्गाके समान दिखायी देती थीं॥१८

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ॥ १ ॥
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
कथं भीष्मं स कौन्तेयः प्रत्यव्यूहत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरी ग्यारह अक्षौहिणियोंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उसका सामना करनेके लिये अपनी थोड़ी-सी सेनाके द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की ? जो मनुष्य, देवता, गन्धर्व और असुर सभीकी व्यूह-निर्माण-विधिको जानते हैं, उन भीष्मजीके सामने कुन्तीकुमारने किस तरह अपनी सेनाका व्यूह बनाया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनंजयम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपकी सेनाओंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा— ॥ ३ ॥

महर्षेर्वचनात् तात वेदयन्ति बृहस्पतेः।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्॥ ४ ॥

'तात ! महर्षि बृहस्पतिके वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओंकी सेना थोड़ी हो तो अपनी सेनाको छोटे आकारमें संगठित करके युद्ध करना चाहिये और यदि अपनेसे अधिक सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो तो अपनी सेनाको इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे ॥ ४ ॥

सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह।
अस्माकं च तथा सैन्यमल्पीयः सुतरां परैः ॥ ५ ॥

'थोड़े-से सैनिकोंसे बहुतोंके साथ युद्ध करनेके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओंसे बहुत कम है ही ॥ ५ ॥

एतद् वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूह पाण्डव।
एतच्छ्रुत्वा धर्मराजं प्रत्यभाषत पाण्डवः ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महर्षिके इस कथनपर विचार करके तुम भी अपनी सेनाका व्यूह बनाओ।' धर्मराजकी यह बात सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६ ॥

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम्।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥ ७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! यह लीजिये, मैं आपके लिये अविचल एवं दुर्जय वज्रव्यूहकी रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार वज्र-धारी इन्द्रने किया है ॥ ७ ॥

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः।
स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥

'जो समरभूमिमें प्रचण्ड वायुकी भाँति उठकर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ आर्य भीमसेन हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

तेजांसि रिपुसैन्यानां मृद्नन् पुरुषसत्तमः।
अग्रेऽग्रणीर्योत्स्यति नो युद्धोपायविचक्षणः ॥ ९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन युद्धके विविध उपायोंके ज्ञानमें निपुण हैं। वे हमारी सेनाके अगुआ होकर शत्रुसेनाके तेजको नष्ट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ ९ ॥

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ॥ १० ॥

'जैसे सिंहको देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर भाग उठते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि समस्त कौरव त्रस्त होकर पीछे लौट जायँगे ॥ १० ॥

तं सर्वे संश्रयिष्यामः प्राकारमकुतोभयाः।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं देवराजमिवामराः ॥ ११ ॥

'जैसे देवता देवराजका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार हमलोग योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनका आश्रय लेंगे। ये हमारे लिये परकोटेका काम करेंगे। फिर हमें कहींसे कोई भय नहीं रह जायगा ॥ ११ ॥

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम्।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥ १२ ॥

'संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले क्रोधमें भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदरकी ओर देखनेका साहस कर सके ॥ १२ ॥

भीमसेनो गदां बिभ्रद् वज्रसारमयीं दृढाम् ।
चरन् वेगेन महता समुद्रमपि शोषयेत् ॥ १३ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।

'जब भीमसेन लोहेसे बनी हुई अपनी सुदृढ़ गदा हाथोंमें ले महान् वेगसे विचरते हैं, उस समय वे समुद्रको भी सोख सकते हैं। केकयराजकुमार, धृष्टकेतु और चेकितान भी ऐसे ही पराक्रमी हैं ॥ १३½ ॥

एते तिष्ठन्ति सामात्याः प्रेक्षकास्ते जनाधिप ॥ १४ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा इति बीभत्सुरब्रवीत् ।
भीमसेनं तदा राजन् दर्शयस्व महाबलम् ॥ १५ ॥

'नरेश्वर! ये धृतराष्ट्रके पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित आपकी ओर देख रहे हैं।' राजन्! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भीमसेनसे बोले—'अब आप इन शत्रुओंको अपना महान् बल दिखाइये' ॥ १४-१५ ॥

ब्रुवाणं तु तथा पार्थं सर्वसैन्यानि भारत ।
अपूजयंस्तदा वाग्भिरनुकूलाभिराहवे ॥ १६ ॥

भारत! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस युद्धस्थलमें समस्त सैनिकोंने अनुकूल वचनोंद्वारा उस समय उनका पूजन-समादर किया ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुस्तथा चक्रे धनंजयः ।
व्यूह्य तानि बलान्याशु प्रययौ फाल्गुनस्तथा ॥ १७ ॥

महाबाहु अर्जुनने ऐसा कहकर उसी तरह किया; अपनी सब सेनाओका शीघ्र ही व्यूह बनाया और रणके लिये प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

सम्प्रयातान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवानां महाचमूः ।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्पन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कौरवोंको अपनी ओर आते देख पाण्डवोंकी वह विशाल सेना पहले तो भरी हुई गङ्गाके समान स्थिर दिखायी दी; फिर उसमें धीरे-धीरे कुछ चेष्टा दृष्टिगोचर होने लगी ॥

भीमसेनोऽग्रणीस्तेषां धृष्टद्युम्नश्च वीर्यवान् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १९ ॥

पाण्डवसेनामें भीमसेन सबके आगे चलनेवाले थे। उनके साथ पराक्रमी धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी थे ॥ १९ ॥

विराटश्च ततः पश्चाद् राजाथाक्षौहिणीवृतः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षत पृष्ठतः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् राजा विराट अपने भाइयों और पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

चक्ररक्षौ तु भीमस्य माद्रीपुत्रौ महाद्युती ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पृष्ठगोपास्तरस्विनः ॥ २१ ॥

भीमके पहियोंकी रक्षा परम तेजस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कर रहे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु—ये वेगशाली वीर उनके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यस्तेषां गोप्ता महारथः ।
सहितः पृतनाशूरै रथमुख्यैः प्रभद्रकैः ॥ २२ ॥

पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके चुने हुए शूरवीर एवं प्रधान रथी प्रभद्रकोंके साथ उन सबकी रक्षा करते थे ॥ २२ ॥

शिखण्डी तु ततः पश्चादर्जुनेनाभिरक्षितः ।
यत्तो भीष्मविनाशाय प्रययौ भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन सबके पीछे अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डी भीष्मका विनाश करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ रहा था ॥

पृष्ठतोऽप्यर्जुनस्यासीद् युयुधानो महाबलः ।
चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ २४ ॥

अर्जुनके पीछे महाबली सात्यकि थे। पाञ्चाल वीर युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करते थे ॥

राजा तु मध्यमानीके कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बृहद्भिः कुञ्जरैर्मत्तैश्चलद्भिरचलैरिव ॥ २५ ॥

चलते-फिरते पर्वतोंके समान विशाल और मतवाले गजराजोंकी सेनाके साथ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर बीचकी सेनामें उपस्थित थे ॥ २५ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो यज्ञसेनो महामनाः ।
विराटमन्वयात् पश्चात् पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ २६ ॥

महामना पराक्रमी पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंके लिये एक अक्षौहिणी सेनाके सहित राजा विराटके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥

तेषामादित्यचन्द्राभाः कनकोत्तमभूषणाः ।
नानाचित्रधरा राजन् रथेष्वासन् महाध्वजाः ॥ २७ ॥

राजन्! उनके रथोंपर भाँति-भाँतिके बेल-बूटोंसे विभूषित स्वर्णमण्डित विशाल ध्वज सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

समुत्सार्य ततः पश्चाद् धृष्टद्युम्नो महारथः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षद् युधिष्ठिरम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर महारथी धृष्टद्युम्न अन्य लोगोंको हटाकर स्वयं भाइयों और पुत्रोंके साथ उपस्थित हो राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करने लगे ॥ २८ ॥

त्वदीयानां परेषां च रथेषु विपुलान् ध्वजान् ।
अभिभूयार्जुनस्यैको रथे तस्थौ महाकपिः ॥ २९ ॥

राजन् ! आपके तथा शत्रुओंके रथोंपर जो बहुसंख्यक विशाल ध्वज फहरा रहे थे, उन सबको तिरस्कृत करके केवल अर्जुनके रथपर एकमात्र महान् कपिसे उपलक्षित दिव्य ध्वज शोभा पाता था ॥ २९ ॥

पादातास्त्वग्रतोऽगच्छन्नसिशक्त्यृष्टिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा भीमसेनस्य रक्षिणः ॥ ३० ॥

भीमसेनकी रक्षाके लिये उनके आगे-आगे हाथोंमें खड्ग, शक्ति तथा ऋष्टि लिये कई लाख पैदल सैनिक चल रहे थे।

वारणा दशसाहस्राः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
शूरा हेममयैर्जालैर्दीप्यमाना इवाचलाः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूता महार्हाः पद्मगन्धिनः ।
राजानमन्वयुः पश्चाज्जीमूता इव वार्षिकाः ॥ ३२ ॥

राजा युधिष्ठिरके पीछे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति तथा पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे दस हजार गजराज जा रहे थे। उनके गण्डस्थलसे फूटकर मदकी धारा बह रही थी। वे सोनेकी जालीदार झूलोंसे उद्दीप्त हो रहे थे। उनमें शौर्य भरा था। वे मेघोंके समान मदकी बूँदें बरसाते थे। उनसे कमलके समान सुगन्ध निकलती थी और वे सभी बहुमूल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

भीमसेनो गदां भीमां प्रकर्षन् परिघोपमाम् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं दुराधर्षो महामनाः ॥ ३३ ॥

दुर्जय वीर महामनस्वी भीमसेन हाथमें परिघके समान मोटी एवं भयंकर गदा लिये अपने साथ विशाल सेनाको खींचे लिये जा रहे थे ॥ ३३ ॥

तमर्कमिव दुष्प्रेक्ष्यं तपन्तमिव वाहिनीम् ।
न शेकुः सर्वयोधास्ते प्रतिवीक्षितुमन्तिके ॥ ३४ ॥

उस समय सूर्यकी भाँति उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वे आपकी सेनाको संतप्त-सी कर रहे थे। निकट आनेपर समस्त योद्धा उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ॥ ३४ ॥

वज्रो नामैष स व्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः ।
चापविद्युद्ध्वजो घोरो गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥ ३५ ॥

यह वज्रनामक व्यूह सर्वथा भयरहित तथा सब ओर मुखवाला था। उसके ध्वजके निकट सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्‌के समान प्रकाशित होता था। गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा ही वह भयंकर व्यूह सुरक्षित था ॥ ३५ ॥

यं प्रतिव्यूह्य तिष्ठन्ति पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अजेयो मानुषे लोके पाण्डवैरभिरक्षितः ॥ ३६ ॥

पाण्डवलोग जिस व्यूहकी रचना करके आपकी सेनाका सामना करनेके लिये खड़े थे, वह उनके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण मनुष्यलोकमें अजेय था ॥ ३६ ॥

संध्यां तिष्ठत्सु सैन्येषु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
प्रावात् सपृषतो वायुर्निरभ्रे स्तनयित्नुमान् ॥ ३७ ॥

सूर्योदयके समय जब सभी सैनिक संध्योपासना कर रहे थे, बिना बादलके ही पानीकी बूँदोंके साथ हवा चलने लगी। उसके साथ मेघकी-सी गर्जना भी होती थी ॥ ३७ ॥

विष्वग्वाताश्च विववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
रजश्चोद्धयत महत् तम आच्छादयज्जगत् ॥ ३८ ॥

वहाँ सब ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसाती हुई तीव्र वायु बह रही थी। उस समय इतनी धूल उड़ी कि जगत्‌में घोर अन्धकार छा गया ॥ ३८ ॥

पपात महती चोल्का प्राङ्मुखी भरतर्षभ ।
उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बड़ी भारी उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्यसे टकराकर बड़े जोरकी आवाजके साथ बिखर गयी ॥ ३९ ॥

अथ संनह्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ ।
निष्प्रभोऽभ्युदयौ सूर्यः सघोषं भूश्चचाल च ॥ ४० ॥

भरतभूषण ! जब उभय-पक्षकी सेनाएँ युद्धके लिये पूर्णतः तैयार हो गयीं, उस समय सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और भारी आवाजके साथ धरती काँपने लगी ॥ ४० ॥

व्यशीर्यत सनादा च भूस्तदा भरतर्षभ ।
निर्घाता बहवो राजन् दिक्षु सर्वासु चाभवन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथ्वी विकट नाद करती हुई फटी जा रही है। राजन् ! सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक बार वज्रपातके समान भयानक शब्द प्रकट हुए।

प्रादुरासीद् रजस्तीव्रं न प्राज्ञायत किंचन ।
ध्वजानां धूयमानानां सहसा मातरिश्वना ॥ ४२ ॥
किङ्किणीजालबद्धानां काञ्चनस्रग्वराम्बरैः ।
महतां सपताकानामादित्यसमतेजसाम् ॥ ४३ ॥
सर्वं झणझणीभूतमासीत् तालवनेष्विव ।

तीव्र वेगसे धूलकी वर्षा होने लगी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सहसा वायुके वेगसे ध्वज हिलने लगे। पताकासहित वे ध्वज सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। उन्हें सोनेके हार और सुन्दर वस्त्रोंसे सजाया गया था। उनमें छोटी-छोटी घंटियोंके साथ झालरें बँधी थीं, जिनके मधुर शब्द सब ओर फैल रहे थे। इस प्रकार उन महान् ध्वजोंके शब्दसे ताड़के जंगलोंकी भाँति उस रणभूमिमें सब ओर झनझनकी आवाज हो रही थी ॥ ४२-४३½ ॥

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
ग्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वाऽग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार युद्धसे आनन्दित होनेवाले पुरुषसिंह पाण्डव आपके पुत्रकी वाहिनीके सामने व्यूह बनाकर खड़े थे और हमारे योद्धाओंकी रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे। गदाधारी भीमसेनको आगे खड़ा देख हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ॥ ४४-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि पाण्डवसैन्यव्यूहे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें पाण्डवसेनाका व्यूहनिर्माणविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान

धृतराष्ट्र उवाच

सूर्योदये संजय के नु पूर्वं
युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन् ।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पाण्डवा वा भीमनेत्रास्तदानीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सूर्योदयके समय किस पक्षके योद्धा युद्धकी इच्छासे अधिक हर्षका अनुभव करते हुए जान पड़ते थे ? भीष्मके नेतृत्वमें निकट आये हुए मेरे सैनिक अथवा भीमसेनकी अध्यक्षतामें आनेवाले पाण्डव सैनिक ! उस समय कौन अधिक प्रसन्न थे ? ॥ १ ॥

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चाभषन्त ।
केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः
सर्वं ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ॥ २ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे ? किनकी सेनाकी ओर देखकर हिंसक जन्तु भयंकर शब्द करते थे ? किस पक्षके नवयुवकोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न थी ? ये सब बातें तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

उभे सेने तुल्यमिवोपयाते
उभे व्यूहे हृष्टरूपे नरेन्द्र ।
उभे चित्रे वनराजिप्रकाशे
तथैवोभे नागरथाश्वपूर्णे ॥ ३ ॥

संजय बोले—नरेन्द्र ! दोनों ओरकी सेनाएँ समान रूपसे आगे बढ़ रही थीं। दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे। दोनों ही सेनाएँ वनश्रेणियोंके समान आश्चर्यरूप प्रतीत होती थीं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे भरी हुई थीं ॥ ३ ॥

उभे सेने बृहत्यौ भीमरूपे
तथैवोभे भारत दुर्विषह्ये ।
तथैवोभे स्वर्गजयाय सृष्टे
तथैवोभे सत्पुरुषोपजुष्टे ॥ ४ ॥

भारत ! दोनों ओरकी सेनाएँ विशाल, भयंकर और दुःसह थीं, मानो विधाताने दोनों सेनाओंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही रचा था। दोनोंमें ही सत्पुरुष भरे हुए थे ॥ ४ ॥

पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्राः
स्थिताः पार्थाः प्राङ्मुखा योत्स्यमानाः।
दैत्येन्द्रसेनेव च कौरवाणां
देवेन्द्रसेनेव च पाण्डवानाम् ॥ ५ ॥

आपके पुत्र कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे। कौरवसेना दैत्यराजकी सेनाके समान जान पड़ती थी और पाण्डव-वाहिनी देवराज इन्द्रकी सेनाके तुल्य प्रतीत होती थी॥

चक्रे वायुः पृष्ठतः पाण्डवानां
धार्तराष्ट्राञ्श्वापदा व्याहरन्त ।
गजेन्द्राणां मदगन्धांश्च तीव्रान्
न सेहिरे तव पुत्रस्य नागाः ॥ ६ ॥

पाण्डवसेनाके पीछेकी ओरसे हवा चल रही थी और आपके पुत्रोंकी ओर देखकर हिंसक जन्तु बोल रहे थे। आपके पुत्रकी सेनामें जो हाथी थे, वे पाण्डवपक्षके गजराजोंके मदोंकी तीव्र गन्ध नहीं सहन कर पाते थे ॥ ६ ॥

दुर्योधनो हस्तिनं पद्मवर्णं
सुवर्णकक्षं जालवन्तं प्रभिन्नम् ।
समास्थितो मध्यगतः कुरूणां
संस्तूयमानो वन्दिभिर्मागधैश्च ॥ ७ ॥

दुर्योधन कमलके समान कान्तिवाले मदस्रावी गजराजपर बैठकर कौरवसेनाके मध्यभागमें खड़ा था। उसके हाथीपर सोनेका हौदा कसा हुआ था और पीठपर सोनेकी जाली बिछी हुई थी। उस समय बन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभं श्वेतमथातपत्रं
सौवर्णस्रग् भ्राजति चोत्तमाङ्गे ।
तं सर्वतः शकुनिः पर्वतीयैः
सार्धं गान्धारैर्याति गान्धारराजः ॥ ८ ॥

उसके मस्तकपर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्वेत छत्र तना हुआ था और कण्ठमें सोनेकी माला सुशोभित हो रही थी । गान्धारराज शकुनि गान्धारदेशके पर्वतीय योद्धाओंके साथ आकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहा था ॥८॥

भीष्मोऽग्रतः सर्वसैन्यस्य वृद्धः
श्वेतच्छत्रः श्वेतधनुः सखड्गः ।
श्वेतोष्णीषः पाण्डुरेण ध्वजेन
श्वेतैरश्वैः श्वेतशैलप्रकाशैः ॥ ९ ॥

हमारी सम्पूर्ण सेनाके आगे बूढ़े पितामह भीष्म थे । उनके सिरपर श्वेत रंगकी पगड़ी थी और श्वेत वर्णका ही छत्र तना हुआ था । उनके धनुष और खड्ग भी श्वेत ही थे । वे श्वेत शैलके समान प्रकाशित होनेवाले श्वेत घोड़ों और श्वेत ध्वजसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्ये धार्तराष्ट्राश्च सर्वे
बाह्लीकानामेकदेशः शलश्च ।
ये चाम्बष्ठाः क्षत्रिया ये च सिन्धा-
स्तथा सौवीराः पञ्चनदाश्च शूराः ॥१०॥

उनकी सेनामें आपके सभी पुत्र, बाह्लीकसेनाका एक अंश, शल और अम्बष्ठ, सौवीर, सिन्धु तथा पञ्चनद देशके शूरवीर क्षत्रिय विद्यमान थे ॥ १० ॥

शोणैर्हयै रुक्मरथो महात्मा
द्रोणो धनुष्पाणिरदीनसत्त्वः ।
आस्ते गुरुः प्रायशः सर्वराज्ञां
पश्चाच्च भूमीन्द्र इवाभियाति ॥ ११ ॥

उनके पीछे प्रायः समस्त राजाओंके गुरु, उदार हृदयवाले महामना द्रोणाचार्य हाथमें धनुष लिये लाल घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथमें बैठकर भूमिपालकी भाँति युद्धके लिये जा रहे थे ॥

वार्धक्षत्रिः सर्वसैन्यस्य मध्ये
भूरिश्रवाः पुरुमित्रो जयश्च ।
शाल्वा मत्स्याः केकयाश्चेति सर्वे
गजानीकैर्भ्रातरो योत्स्यमानाः ॥ १२ ॥

वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शाल्व और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब भाई केकयराजकुमार युद्धकी इच्छासे हाथियोंके समूहोंको साथ ले सम्पूर्ण सेनाके मध्यभागमें स्थित थे ॥ १२ ॥

शारद्वतश्चोत्तरधूर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी ।
शकैः किरातैर्यवनैः पह्लवैश्च
सार्धं चमूमुत्तरतोऽभियाति ॥ १३ ॥

महान् धनुर्धर और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले गौतमवंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण करके शक, किरात, यवन तथा पह्लव सैनिकोंके साथ कौरवसेनाके बायें भागमें होकर चल रहे थे ॥ १३ ॥

महारथैर्वृष्णिभोजैः सुगुप्तं
सुराष्ट्रकैर्विहितैरात्तशस्त्रैः ।
बृहद् बलं कृतवर्माभिगुप्तं
बलं त्वदीयं दक्षिणेनाभियाति ॥ १४ ॥

हाथमें हथियार लिये सुशिक्षित सुराष्ट्रदेशीय वीरों तथा वृष्णि और भोजवंशके महारथियोंद्वारा पालित विशाल सेना कृतवर्माद्वारा सुरक्षित होकर आपकी सेनाके दाहिने भागसे होकर युद्धके लिये यात्रा कर रही थी ॥ १४ ॥

संशप्तकानामयुतं रथानां
मृत्युर्जयो वार्जुनस्येति सृष्टाः ।
येनार्जुनस्तेन राजन् कृतास्त्राः
प्रयातारस्ते त्रिगर्ताश्च शूराः ॥ १५ ॥

'या तो हम अर्जुनपर विजय प्राप्त करेंगे अथवा हमारी मृत्यु हो जायगी' ऐसी प्रतिज्ञा करके दस हजार संशप्तक रथी तथा बहुत-से अस्त्रवेत्ता त्रिगर्तदेशीय शूरवीर जिधर अर्जुन थे, उसी ओर जा रहे थे ॥ १५ ॥

साग्रं शतसहस्रं तु नागानां तव भारत ।
नागे नागे रथशतं शतमश्वा रथे रथे ॥ १६ ॥

भारत ! आपकी सेनामें एक लाखसे अधिक हाथी थे । एक-एक हाथीके साथ सौ सौ रथ थे और एक-एक रथके साथ सौ-सौ घोड़े थे ॥ १६ ॥

अश्वेऽश्वे दश धानुष्का धानुष्के शतचर्मिणः ।
एवं व्यूढान्यनीकानि भीष्मेण तव भारत ॥ १७ ॥

प्रत्येक अश्वके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ सौ सौ पैदल सैनिक नियुक्त किये गये थे, जो ढाल-तलवार लिये रहते थे । भरतनन्दन ! इस प्रकार भीष्मजीने आपकी सेनाओंका व्यूह रचा था ॥१७॥

संव्यूह्य मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवोऽग्रणीः ॥ १८ ॥
महारथौघविपुलः समुद्र इव घोषवान् ।
भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूहः प्रत्यङ्मुखो युधि ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन सेनापति भीष्म प्रत्येक दिन मानुष, दैव, गान्धर्व और आसुर प्रणालीके अनुसार व्यूह-रचना करके सेनाके अग्रभागमें स्थित होते थे । भीष्मद्वारा रचित कौरव-

सेनाका वह व्यूह महारथियोंके समुदायसे सम्पन्न हो समुद्रके समान गर्जना करता था। युद्धमें उसका मुख पश्चिमकी ओर था ॥ १८-१९ ॥

अनन्तरूपा ध्वजिनी नरेन्द्र
भीमा त्वदीया न तु पाण्डवानाम्।
तां चैव मन्ये बृहतीं दुष्प्रधर्षां
यस्या नेता केशवश्चार्जुनश्च ॥ २० ॥

नरेन्द्र ! आपकी सेना अनन्त रूपवाली एवं भयंकर थी; पाण्डवोंकी वैसी नहीं थी। परंतु मैं तो उसी सेनाको विशाल और दुर्जय मानता हूँ, जिसके नेता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और 'श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है' यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम्।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धके लिये उद्यत हुई दुर्योधनकी विशाल सेनाको देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें विषाद छा गया ॥ १ ॥

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

भीष्मने जिस व्यूहकी रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था। उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी अङ्ग-कान्ति फीकी पड़ गयी। वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥ ३ ॥

'महाबाहु धनंजय ! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ हम समरभूमिमें कैसे युद्ध कर सकते हैं ? ॥ ३ ॥

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥ ४ ॥

'महातेजस्वी शत्रुसूदन भीष्मने शास्त्रीय विधिके अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ॥ ४ ॥

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥ ५ ॥

'शत्रुनाशन अर्जुन ! हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राणसंकटकी स्थितिमें पहुँच गये हैं। इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा ?' ॥ ५ ॥

अथार्जुनोऽब्रवीत् पार्थं युधिष्ठिरममित्रहा।
विषण्णमिव सम्प्रेक्ष्य तव राजन्ननीकिनीम् ॥ ६ ॥

राजन् ! तब शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाको देखकर विषादग्रस्त-से हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा—॥ ६ ॥

प्रज्ञयाभ्यधिकाञ्शूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ॥ ७ ॥

'प्रजानाथ ! अधिक बुद्धिमान्, उत्तम गुणोंसे युक्त तथा बहुसंख्यक शूरवीरोंको भी बहुत थोड़े योद्धा जिस प्रकार जीत लेते हैं, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ७ ॥

तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ॥ ८ ॥

'राजन् ! आप दोषदृष्टिसे रहित हैं, अतः आपको वह युक्ति बताता हूँ। पाण्डुनन्दन ! उसे केवल देवर्षि नारद, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जानते हैं ॥ ८ ॥

एतमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत्।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ॥ ९ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, उस समय इसी विषयको लेकर पितामह ब्रह्माने इन्द्र आदि देवताओंसे इस प्रकार कहा था—॥ ९ ॥

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥ १० ॥

'विजयकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर अपने बल और पराक्रमसे वैसी विजय नहीं पाते, जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साहसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ११ ॥

'देवताओ ! अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर उद्यमका सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होती है' ॥ ११ ॥

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः ।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ १२ ॥

'राजन् ! इसी नियमके अनुसार आप भी यह निश्चित-रूपसे जान लें कि युद्धमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। जैसा कि नारदजीने कहा है, जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम् ।
तद् यथा विजयश्चास्य सन्नतिश्चापरो गुणः ॥ १३ ॥

'विजय तो श्रीकृष्णका एक गुण है, अतः वह उनके पीछे-पीछे चलता है। जैसे विजय गुण है, उसी प्रकार विनय भी उनका द्वितीय गुण है ॥ १३ ॥

अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः ।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ १४ ॥

'भगवान् गोविन्दका तेज अनन्त है। वे शत्रुओंके समुदायमें भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे सनातन पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥

पुरा ह्येष हरिर्भूत्वा विकुण्ठोऽकुण्ठसायकः ।
सुरासुरानवस्फूर्जन्नब्रवीत् के जयन्त्विति ॥ १५ ॥

'ये श्रीकृष्ण कहीं भी प्रतिहत या अवरुद्ध न होनेवाले ईश्वर हैं। इनका बाण अमोघ है। ये ही पूर्वकालमें श्रीहरि-रूपमें प्रकट हो वज्रगर्जनके समान गम्भीर वाणीमें देवताओं और असुरोंसे बोले—तुमलोगोंमेंसे किसकी विजय हो ? ॥१५॥

कथं कृष्ण जयेमेति यैरुक्तं तत्र तैर्जितम् ।
तत्प्रसादाद्धि त्रैलोक्यं प्राप्तं शक्रादिभिः सुरैः॥ १६ ॥

'उस समय जिन लोगोंने उनका आश्रय लेकर पूछा—'कृष्ण ! हमारी जीत कैसे होगी ?' उन्हींकी जीत हुई। इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे ही इन्द्र आदि देवताओंने त्रिलोकी-का राज्य प्राप्त किया है ॥ १६ ॥

तस्य ते न व्यथां काञ्चिदिह पश्यामि भारत ।
यस्य ते जयमाशास्ते विश्वभुक् त्रिदिवेश्वरः ॥ १७ ॥

'अतः भारत ! मैं आपके लिये किसी प्रकारकी व्यथा या चिन्ता होनेका कारण नहीं देखता; क्योंकि देवेश्वर तथा विश्वम्भर भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिये विजयकी आशा करते हैं।'

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुनसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वां सेनां समनोदयत् ।
प्रतिव्यूहन्ननीकानि भीष्मस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्मजीकी सेनाका सामना करनेके लिये अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करते हुए उसे युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ १ ॥

यथोद्दिष्टान्यनीकानि प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ।
स्वर्गं परममिच्छन्तः सुयुद्धेन कुरूद्वहाः ॥ २ ॥

कुरुकुलके धुरन्धर वीर पाण्डवोंने उत्तम युद्धके द्वारा उत्कृष्ट स्वर्गलोककी इच्छा रखकर शास्त्रोक्त विधिसे शत्रुके मुकाबिलेमें अपनी सेनाका व्यूह-निर्माण किया ॥ २ ॥

मध्ये शिखण्डिनोऽनीकं रक्षितं सव्यसाचिना ।
धृष्टद्युम्नश्चरन्नग्रे भीमसेनेन पालितः ॥ ३ ॥

व्यूहके मध्यभागमें सव्यसाची अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डीकी सेना थी और अग्रभागमें भीमसेनद्वारा पालित धृष्टद्युम्न विचरण कर रहे थे ॥ ३ ॥

अनीकं दक्षिणं राजन् युयुधानेन पालितम् ।
श्रीमता सात्वताग्र्येण शक्रेणेव धनुष्मता ॥ ४ ॥

राजन् ! उस व्यूहके दक्षिण भागकी रक्षा इन्द्रके समान धनुर्धर सात्वतशिरोमणि श्रीमान् सात्यकि कर रहे थे ॥ ४ ॥

महेन्द्रयानप्रतिमं रथं तु
सोपस्करं हाटकरत्नचित्रम् ।

युधिष्ठिरः काञ्चनभाण्डयोक्त्रं
समास्थितो नागपुरस्य मध्ये ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़े एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए, जो देवराज इन्द्रके रथकी समानता कर रहा था। उस रथमें सब आवश्यक सामग्री रक्खी गयी थी। भाँति-भाँतिके सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें सुवर्णमय भाण्ड तथा रस्सियाँ रक्खी हुई थीं ॥ ५ ॥

समुच्छ्रितं दन्तशलाकमस्य
सुपाण्डुरं छत्रमतीव भाति।
प्रदक्षिणं चैनमुपाचरन्त
महर्षयः संस्तुतिभिर्महेन्द्रम् ॥ ६ ॥

उस समय किसी सेवकने युधिष्ठिरके ऊपर हाथीके दाँतोंकी बनी हुई शलाकाओंसे युक्त श्वेत छत्र लगा रक्खा था, जिसकी बड़ी शोभा हो रही थी। कुछ महर्षिगणोंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ ६ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्तो
ब्रह्मर्षिसिद्धाः श्रुतवन्त एनम्।
जप्यैश्च मन्त्रैश्च महौषधीभिः
समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः ॥ ७ ॥

शास्त्रोंके विद्वान् पुरोहित, ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जप, मन्त्र तथा उत्तम ओषधियोंद्वारा सब ओरसे युधिष्ठिरके कल्याण और शत्रुओंके संहारका शुभ आशीर्वाद देने लगे ॥ ७ ॥

ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान्।
कुरूत्तमो ब्राह्मणसान्महात्मा
कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः ॥ ८ ॥

उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर बहुत-से वस्त्र, गाय, फल-फूल और स्वर्णमय आभूषण ब्राह्मणोंको दान करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ८ ॥

सहस्रसूर्यः शतकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः ।
रथोऽर्जुनस्याग्निरिवार्चिमाली
विभ्राजते श्वेतहयः सुचक्रः ॥ ९ ॥

अर्जुनका रथ ज्वालमालाओंसे युक्त अग्निके समान शोभा पा रहा था। उसमें सूर्यकी आकृतिके सहस्रों चक्र विद्यमान थे। सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें श्वेत रंगके घोड़े और सुन्दर पहिये लगे थे ॥ ९ ॥

तमास्थितः केशवसंगृहीतं
कपिध्वजो गाण्डिवबाणपाणिः।
धनुर्धरो यस्य समः पृथिव्यां
न विद्यते नो भविता कदाचित् ॥ १० ॥

गाण्डीव धनुष और बाण हाथमें लिये हुए कपिध्वज अर्जुन उस रथपर आरूढ़ थे। भगवान् श्रीकृष्णने उसकी बागडोर सँभाल रखी थी। अर्जुनके समान धनुर्धर इस भूतलपर न तो कोई है और न होगा ही ॥ १० ॥

उद्वर्तयिष्यंस्तव पुत्रसेना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम्।
अनायुधो यः सुभुजो भुजाभ्यां
नराश्वनागान् युधि भस्म कुर्यात् ॥ ११ ॥

महाराज! जो सुन्दर बाहोंवाले भीमसेन बिना आयुधके केवल भुजाओंसे ही युद्धमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भस्म कर सकते हैं, उन्होंने ही आपके पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालनेके लिये अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर रक्खा है॥११॥

स भीमसेनः सहितो यमाभ्यां
वृकोदरो वीररथस्य गोप्ता।
तं तत्र सिंहर्षभमत्तखेलं
लोके महेन्द्रप्रतिमानकल्पम् ॥ १२ ॥
समीक्ष्य सेनाग्रगतं दुरासदं
संविव्यथुः पङ्कगता यथा द्विपाः।
वृकोदरं वारणराजदर्पं
योधास्त्वदीया भयविग्नसत्त्वाः ॥ १३ ॥

वृकोदर भीमसेन नकुल और सहदेवके साथ रहकर अपने वीर रथी धृष्टद्युम्नकी रक्षा कर रहे थे। जो सिंहों और साँड़ोंके समान उन्मत्त-से होकर युद्धका खेल खेलते हैं, जिनका दर्प गजराजके समान बढ़ा हुआ है तथा जो लोकमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, उन्हीं दुर्धर्ष वीर भीमसेनको सेनाके अग्रभागमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे उद्विग्नचित्त हो कीचड़में फँसे हुए हाथियोंकी भाँति व्यथित हो उठे ॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं राजपुत्रं दुरासदम्।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं गुडाकेशं जनार्दनः ॥ १४ ॥

उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी भरतश्रेष्ठ राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः ॥ १५ ॥

एतान्यनीकानि महानुभावं
गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम् ।

एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण ॥ १६ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय ! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥

जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादित किये हुए हैं । नरवीर अर्जुन ! तुम पहले इन सेनाओंको मारकर भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णार्जुनसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा

संजय उवाच

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम् ।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः ।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो । पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गा देवीकी स्तुति करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता ।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवके द्वारा रणक्षेत्रमें इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन रथसे नीचे उतरकर दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगे ॥

अर्जुन उवाच

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि ।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले ॥ ४ ॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते ।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—मन्दराचलपर निवास करनेवाली सिद्धोंकी सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है । तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला, कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है । दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेके कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तोंको संकटसे तारनेके कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीरका दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है; मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥

कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये ।
शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते ॥ ६ ॥

महाभागे ! तुम्हीं (सौम्य और सुन्दर रूपवाली) पूजनीया कात्यायनी हो और तुम्हीं विकराल रूपधारिणी काली हो । तुम्हीं विजया और जयाके नामसे विख्यात हो । मोरपंखकी तुम्हारी ध्वजा है । नाना प्रकारके आभूषण तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि ।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे ॥ ७ ॥

तुम भयंकर त्रिशूल, खड्ग और खेटक आदि आयुधोंको धारण करती हो । नन्दगोपके वंशमें तुमने अवतार लिया था, इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्णकी तुम छोटी बहिन हो; परंतु गुण और प्रभावमें सर्वश्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि ।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये ॥ ८ ॥

महिषासुरका रक्त बहाकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी । तुम कुशिकगोत्रमें अवतार लेनेके कारण कौशिकी नामसे भी प्रसिद्ध हो । तुम पीताम्बर धारण करती हो । जब तुम शत्रुओंको देखकर अट्टहास करती हो, उस समय तुम्हारा मुख चक्रवाकके समान उद्दीप्त हो उठता है । युद्ध तुम्हें बहुत ही प्रिय है । मैं तुम्हें बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि ।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि सुधूम्राक्षि नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥

उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी और सुधूम्राक्षी आदि नाम धारण करनेवाली देवि ! तुम्हें अनेकों बार नमस्कार है ॥ ९ ॥

वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि ।
जम्बूकटकचैत्येषु नित्यं सन्निहितालये ॥ १० ॥

तुम वेदोंकी श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है; वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्निकी शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षोंमें तुम्हारा नित्य निवास है ॥ १० ॥

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम् ।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ११ ॥

तुम समस्त विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और देहधारियोंकी महानिद्रा हो। भगवति ! तुम कार्तिकेयकी माता हो, दुर्गम स्थानोंमें वास करनेवाली दुर्गा हो ॥ ११ ॥

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती ।
सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते ॥ १२ ॥

सावित्रि! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं ॥ १२ ॥

स्तुतासि त्वं महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना ।
जयो भवतु मे नित्यं त्वत्प्रसादाद् रणाजिरे ॥ १३ ॥

महादेवि ! मैंने विशुद्ध हृदयसे तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपासे इस रणाङ्गणमें मेरी सदा ही जय हो ॥ १३ ॥

कान्तारभयदुर्गेषु भक्तानां चालयेषु च ।
नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान् ॥ १४ ॥

माँ ! तुम घोर जंगलमें, भयपूर्ण दुर्गम स्थानोंमें, भक्तोंके घरोंमें तथा पातालमें भी नित्य निवास करती हो। युद्धमें दानवोंको हराती हो ॥ १४ ॥

त्वं जम्भनी मोहिनी च माया ह्रीः श्रीस्तथैव च ।
संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ॥ १५ ॥

तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, संध्या, प्रभावती, सावित्री और जननी हो ॥ १५ ॥

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी ।
भूतिर्भूतिमतां संख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ॥ १६ ॥

तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमाको बढ़ानेवाली दीप्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानोंकी विभूति हो। युद्ध-भूमिमें सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते हैं ॥ १६ ॥

संजय उवाच

ततः पार्थस्य विज्ञाय भक्तिं मानववत्सला ।
अन्तरिक्षगतोवाच गोविन्दस्याग्रतः स्थिता ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके इस भक्तिभावका अनुभव करके मनुष्योंपर वात्सल्य-भाव रखनेवाली माता दुर्गा अन्तरिक्षमें भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयीं और इस प्रकार बोलीं ॥ १७ ॥

देव्युवाच

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव ।
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायणसहायवान् ॥ १८ ॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामपि वज्रभृतः स्वयम् ।

देवीने कहा—पाण्डुनन्दन ! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्धर्ष वीर ! तुम तो साक्षात् नर हो। ये साक्षात् नारायण तुम्हारे सहायक हैं। तुम रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। साक्षात् इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ १८½ ॥

इत्येवमुक्त्वा वरदा क्षणेनान्तरधीयत ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो मेने विजयमात्मनः ।
आरुरोह ततः पार्थो रथं परमसम्मतम् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा वहाँसे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गयीं। वह वरदान पाकर कुन्तीकुमार अर्जुनको अपनी विजयका विश्वास हो गया। फिर वे अपने परम सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए ॥ १९-२० ॥

कृष्णार्जुनावेकरथौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।

फिर एक रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ २०½ ॥

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ॥ २१ ॥
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा ।

जो मनुष्य सवेरे उठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे यक्ष, राक्षस और पिशाचोंसे कभी भय नहीं होता ॥ २१½ ॥

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः ॥ २२ ॥
न भयं विद्यते तस्य सदा राजकुलादपि ।
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ २३ ॥

शत्रु तथा सर्प आदि विषैले दाँतोंवाले जीव भी उनको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। राजकुलसे भी उन्हें कोई भय नहीं होता है। इसका पाठ करनेसे विवादमें विजय प्राप्त होती है और बंदी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते ।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् ॥ २४ ॥

वह दुर्गम संकटसे अवश्य पार हो जाता है। चोर भी उसे छोड़ देते हैं। वह संग्राममें सदा विजयी होता और विशुद्ध लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

आरोग्यबलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा ।
एतद् दृष्टं प्रसादात् तु मया व्यासस्य धीमतः ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, इसका पाठ करनेवाला पुरुष आरोग्य और बलसे सम्पन्न हो सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहता है। यह

सब परम बुद्धिमान् भगवान् व्यासजीके कृपा-प्रसादसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है ॥ २५ ॥

मोहादेत न जानन्ति नरनारायणावृषी ।
तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगाः ॥ २६ ॥

राजन् ! आपके सभी दुरात्मा पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मोहवश यह नहीं जानते हैं कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन ही साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं ॥ २६ ॥

प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुण्ठिताः ।
द्वैपायनो नारदश्च कण्वो रामस्तथानघः ।
अवारयंस्तव सुतं न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २७ ॥

वे कालपाशसे बद्ध होनेके कारण इस समयोचित बातको बतानेपर भी नहीं सुनते । द्वैपायन व्यास, नारद, कण्व तथा पापशून्य परशुरामने तुम्हारे पुत्रको बहुत रोका था; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ २७ ॥

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २८ ॥

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहाँ ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्गास्तोत्रे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस समय किस पक्षके योद्धा अत्यन्त हर्षमें भरकर पहले युद्धमें प्रवृत्त हुए ? किनके मनमें उत्साह भरा था और कौन-कौन मनुष्य दीन एवं अचेत हो रहे थे ? ॥ १ ॥

के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २

संजय ! हृदयको कम्पित कर देनेवाले संग्राममें किन्होंने पहले संग्राम किया, मेरे पुत्रोंने या पाण्डवोंने ? यह मुझे बताओ॥

कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ॥ ३ ॥

किसकी सेनाओंमें सुगन्धित पुष्पमाला आदिका प्रादुर्भाव हुआ ? किस पक्षके गर्जते हुए योद्धाओंकी वाणी उदारतापूर्ण और उत्साहयुक्त थीं ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा ।
स्रजः समाः सुगन्धानामुभयत्र समुद्भवः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! दोनों ही सेनाओंके योद्धा उस समय हर्षमें भरे हुए थे । उभयपक्षमें ही सुगन्ध और पुष्पहारोंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ४ ॥

संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ ।
संसर्गात् समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! संगठित, व्यूहबद्ध तथा युद्धविषयक उत्साहसे उद्यत हुए दोनों दलोंके योद्धाओंकी जब मुठभेड़ हुई, उस समय बड़ी भारी मार-काट मची थी ॥ ५ ॥

वादित्रशब्दस्तुमुलः शङ्खभेरीविमिश्रितः ।
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ।
उभयोः सेनयो राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! शङ्ख और भेरी आदि वाद्योंका सम्मिलित भयंकर शब्द जब एक दूसरेपर गर्जन-तर्जन करनेवाले रणवीर शूरोंके सिंहनादसे मिला, तब दोनों सेनाओंमें महान् कोलाहल एवं संघर्ष होने लगा ॥ ६ ॥

अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ ।
कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ॥ ७ ॥

भरतभूषण ! एक-दूसरेकी ओर देखनेवाले योद्धाओं, गर्जते हुए हाथियों और हर्षमें भरी हुई सेनाओंका तुमुल नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४॥

द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनका सैन्य-प्रदर्शन

पञ्चविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा— ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

'हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न-द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

'इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४—६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

'आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

'और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सबके सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

'भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

'इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसंदेह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें' ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(तब) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्त-नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! (सब ओरसे) अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—'हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

'और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख'* ॥ २४-२५ ॥

---

* 'कौरवोंको देख' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं। उनको तुम अच्छी तरह देख लो।' भगवान्‌के इसी संकेतने अर्जुनके अन्तः-करणमें छिपे हुए कुटुम्ब-स्नेहको प्रकट कर दिया, मानो अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिसमें उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६½ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७½ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८-२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है? ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको[1] मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है* ॥

---

१. वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः । (३ । १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं ।'

* पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः* ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥ भीष्मपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते। शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको उच्छृङ्खल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है।

*प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्के पवित्र नाम हैं (गीता१७।२३), स्वयं श्रीभगवान्के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे·········योगो नाम' कहा गया है।

शरणागत अर्जुन

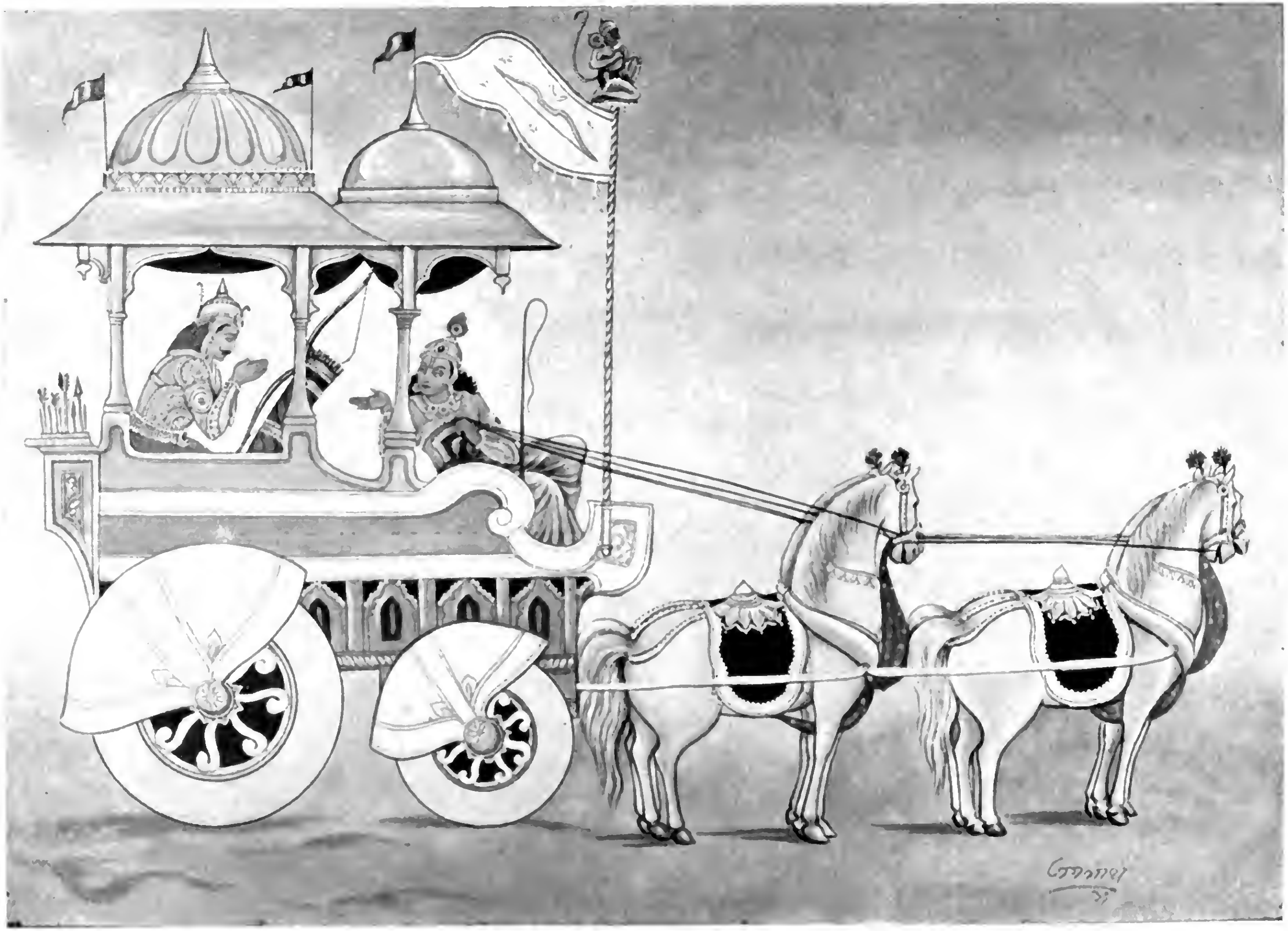

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता २ । ७)

षड्विंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शङ्खध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजन-समुदायको देखकर शोक और मोहके कारण अर्जुनके युद्धसे निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर संजय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा॥ ५॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको संतोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं॥ ६॥

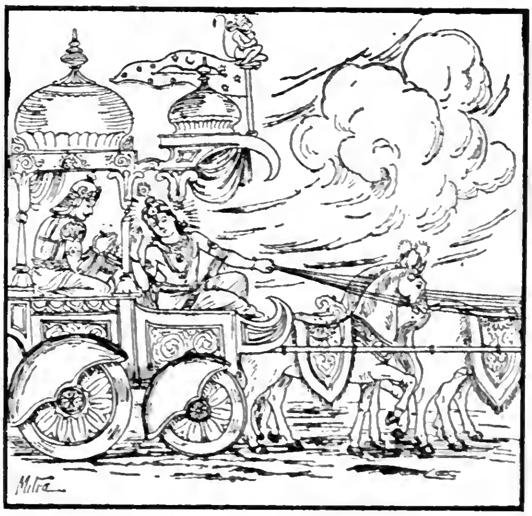

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्‌के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—पहले भगवान् आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा-अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किंतु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है* ॥ १६ ॥

* तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा 'असत्' और 'सत्'का विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्‌का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित तो तू उसको जान; जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः[1]।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि ये मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका समाधान करनेके लिये अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता * ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है † ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारता-का प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

---

१. पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जडवर्गको व्याप्त बतलाया है, उसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती; स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता।

* इस श्लोकमें छहों विकारोंका अभाव इस प्रकार दिखलाया गया है—आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति'रूप विकारका अभाव बतलाया है। 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व'रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि'रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर 'विपरिणाम'का, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है।

† वास्तवमें अचल और अक्रिय होनेके कारण आत्माका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है ।* इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥

सम्बन्ध—अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है † और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है ‡ तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है§ ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया । साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी । अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

---

१. आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किंतु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें विकार नहीं होता । अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है ।

* भगवान्का यह कथन उन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है, जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं । उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती । जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित है।

† जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्माका देखना अद्भुत और अलौकिक है। जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है । उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती, इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है ।

‡ जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है । उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है; क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है ? तथापि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है। वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता।

§ जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्ति-का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया, किंतु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता; अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस भावसे युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझ-कर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समता-पूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन*—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोग-रूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है† ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

---

* इस श्लोकमें बुद्धिके साथ 'एषा' और 'इमाम्'—ये दो विशेषण देकर यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायके ३८ वें श्लोकमें कही हुई समत्वबुद्धि सांख्ययोगके अनुसार ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक कही गयी, उसीको अब कर्मयोगके अनुसार कहना आरम्भ करते हैं ।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता ।

† भाव यह है कि निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है । अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२–४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला* और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है,‡ उसके फलोंमें कभी नहीं§ । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो× तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

---

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है ।

† इस दृष्टान्तका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी-कूप-तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है ।

‡ जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है, वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है, वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

§ मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है । उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा—इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है ।

× मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना, आशा,

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य-कर्मोंको कर,* समत्व ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकाम भावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है । इसलिये हे धनंजय ! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है ।† इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी, इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी, इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा‡ ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है, उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है ।

* योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, बल्कि प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये ।

१. जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है; क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है । इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (गीता २ । ५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ कर्मयोग ही है ।

† जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है-अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है । उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते ।

२. जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्से सर्वथा अभिन्न भगवान्का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामको 'अनामय पद' कहते हैं ।

‡ इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं, उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं, उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं । उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है ।

३. इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है । ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है । यह बुद्धिका विक्षेपदोष है ।

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन बोले—हे केशव ! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं । इस अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है* और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं,† ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है‡ उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है ?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका समाधान

---

* शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो राग-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे 'वासना' कहते हैं । किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा—इस अपेक्षारूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है । यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है । जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं । यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है। इन सबका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कामनाओंका भलीभाँति त्याग करना है ।

† इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है । इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है ।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (गीता ५ । २०) । इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता । एवं स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता । उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (गीता ५ । २०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता ।

करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है*॥

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन-स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है ? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा† विषयोंमें विचरण करता हुआ ‡ अन्तःकरणकी

* परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है ।

† उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है । तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं; परंतु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है । वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है ।

‡ यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्की प्राप्तिमें सहायक है, परंतु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो, तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्की पूजा, सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो सकता है ।

इसी प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परंतु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रियसंयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयत्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो । सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विचारद्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे जिसकी इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप हो जाता है । जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना ही मुख्य है ।

प्रसन्नताको* प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती† और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धि-को हर लेती है‡ ॥ ६७ ॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं,§ उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य

* वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (गीता १८ । ३७); उस सुख और शान्तिको 'प्रसन्नता' कहते हैं ।

† इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण अयुक्त मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है । अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती ।

‡ यहाँ नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है । जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं । इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है; परंतु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते, वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं । चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है ।

§ श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादिकालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण इन्द्रियों-की उनमें आसक्ति हो गयी है । इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप स्वभावको परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना—यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है । इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, वह पुरुष जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी विषयको ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है । उस समय वे मनमें तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है, उस समय वे बिना आसक्तिके नियमित रूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं । किसी भी विषयमें उसके मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुसरण करती हैं । स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने समयतक जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका अनासक्तभावसे

ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है* और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है† ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं,‡ वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किंतु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें चौंसठवें श्लोकसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है,§ वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

ग्रहण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

* जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे अन्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशनशक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयंप्रकाश नित्यबोध परमानन्दमय परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय है, तो भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रिके समान है। उसीमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

† जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्‌से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्‌के स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द रात्रिके समान है।

‡ किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है, तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाण' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेपर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुख-दुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

§ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'अहङ्काररहित' हो जाना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंको तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंको, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंको साधारण मनुष्य अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'ममतारहित' हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता* और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥ भीष्मपर्वमें छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता २ । ११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २ । ३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २ । ३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (गीता २ । ५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया । इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया । वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्‌ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उन्चासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी । इस प्रसङ्गको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके । 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्‌के वचनोंमें 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे । अतएव भगवान्‌से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'स्पृहारहित' होना है ।

अहङ्कार, ममता और स्पृहा—इन तीनोंसे उपर्युक्त प्रकारसे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरना है ।

* अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, उसमें सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है ।

ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?—आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है, यह मोह जीवको अनादि-कालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है । उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त पुरुषका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं।* इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ॥ २॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे‡ होती है॥ ३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है§॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय

---

* भगवान्‌के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्‌के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (गीता २। ४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (गीता २। ५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (गीता २। ४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (गीता २।४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव' 'आत्मवान् भव' (गीता २।४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद् युध्यस्व भारत' (गीता २। १८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (गीता २। ३८) 'तस्माद् योगाय युज्यस्व' (गीता २। ५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया।

† प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३। २८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (गीता ५। २४; ६। २७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है।

‡ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (गीता २। ४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (गीता ६। ४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है। तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्‌के समर्पण करना (गीता ३। ३०; ९। २७-२८), उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (गीता १०। ९; १२। ६; १८। ५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है।

§ कर्मोंका आरम्भ न करने और कर्मोंका त्याग करनेकी बात कहकर अलग-अलग यह भाव दिखाया है कि कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंका न करना योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक है; किंतु सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, किंतु केवल उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है।

प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है* ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है। इसपर कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७ ॥

किंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८ ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है† तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है; इसपर कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९ ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता। अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १० ॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको

---

* यद्यपि गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता; तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार क्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस ज्ञानीका शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही गुणातीत हो जाना है।

१. यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है।

२. यहाँ 'स विशिष्यते' पदका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है। उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है। अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है।

† इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्‌के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (गीता १४। १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है।

देवताओं और मनुष्योंको प्रजापतिकी शिक्षा

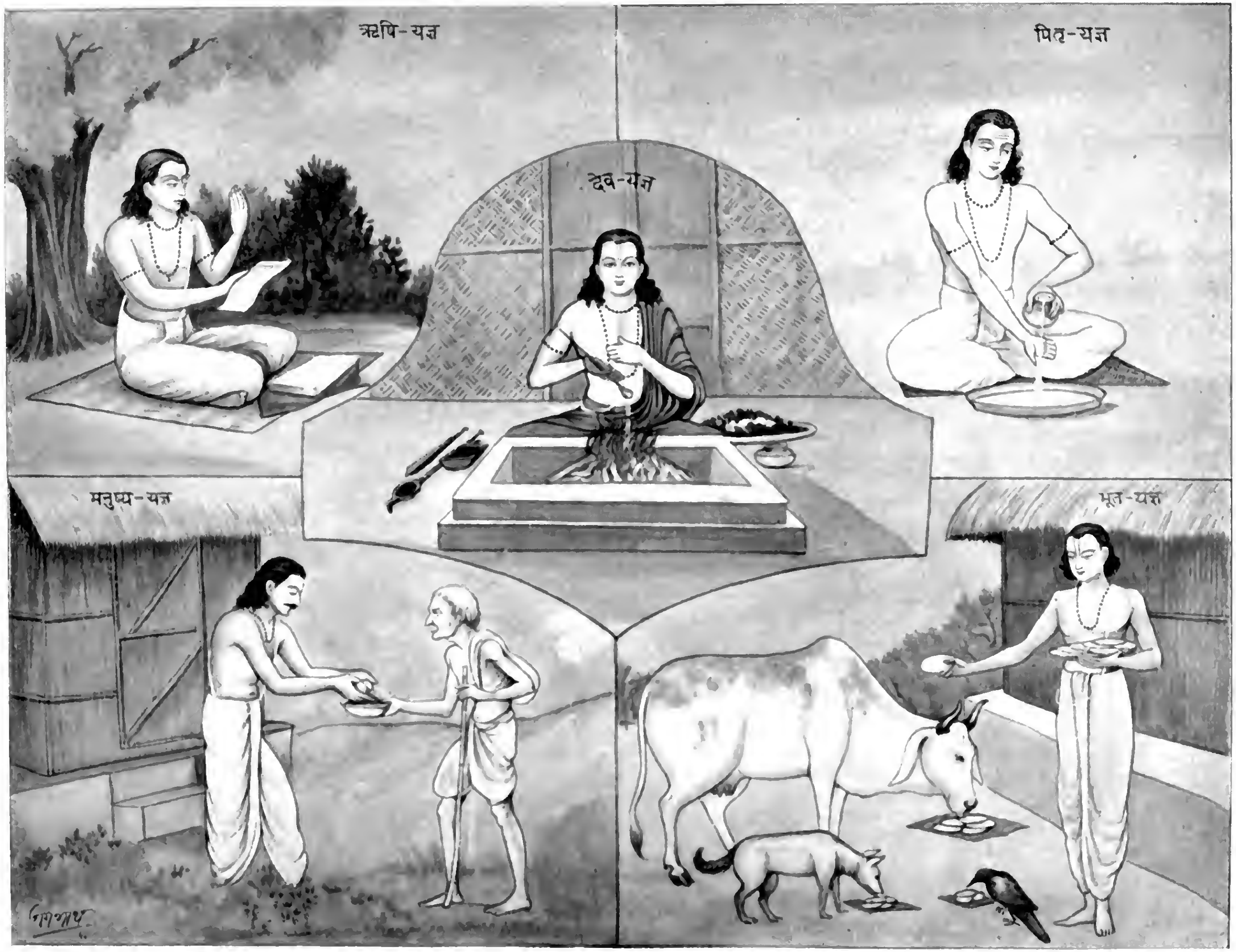

पञ्च महायज्ञ

रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ* तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे† ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है‡ ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं¹ ॥ १३ ॥

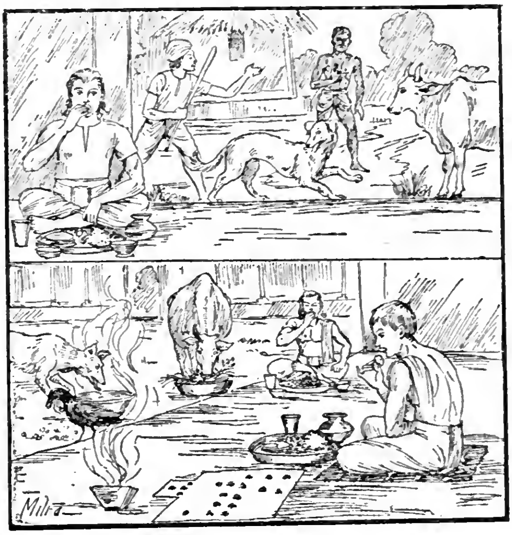

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है; इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

---

* समस्त मनुष्योंके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्म है—उसका नाम यज्ञ है।

† इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओं-की उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

‡ देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह चोर होता है।

१. सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे संचालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग संतानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित है। इस दृष्टिसे मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्र*के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है† ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

क्योंकि उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थ-भावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्य कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।‡ इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है§ ॥ २० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको लोकसंग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा

---

* मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है।

† उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

‡ राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, वे सब प्रधान-प्रधान महापुरुष आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे तथा और भी आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

इसके अतिरिक्त कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (गीता ४। ३८) तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। ६)—इस कथनसे भी इसकी अनादिता सिद्ध होती है।

§ समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और

होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है; अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है,* समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं† ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ‡ ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे§ ॥ २५ ॥

परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है।

अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है, उसका त्याग करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

* श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं।

† बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ। अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता।

‡ जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी संकरता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं, जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं। इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है। अतः भगवान्ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े।

§ स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते। अतएव यहाँ

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ २६ ॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे; किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे* ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है† ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला‡ ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्द-बुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे§॥

सम्बन्ध--अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने उसे एक निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे चौथे श्लोकसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये। इस बातको सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने क्रमशः निम्नलिखित बातें कही हैं—

१—कर्म किये बिना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा नहीं मिलती (गीता ३ । ४)।

२—कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती (गीता ३ । ४)।

'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधि-पूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये ।

* मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर परित्याग कर देंगे । इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थिति-से भी पतन हो जायगा । अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये, उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है; बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावों-को हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये ।

† वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस सङ्घातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ—इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपनेद्वारा की हुई समझता है ।

‡ त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है । इन गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

§ कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और रुचि कम कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है ।

३–एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये विना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) ।

४–बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (गीता ३ । ६) ।

५–मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (गीता ३ । ७) ।

६–कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३।८)।

७–बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता ३ । ८) ।

८–यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (गीता ३ । ९) ।

९–कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १०-११) ।

१०–कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (गीता ३ । १२) ।

११–कर्तव्य-पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (गीता ३ । १३) ।

१२–जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (गीता ३ । १३) ।

१३–कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (गीता ३ । १६) ।

१४–अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) ।

१५–पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (गीता ३ । २०) ।

१६–दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २१) ।

१७–भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (गीता ३ । २२) ।

१८–ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २५) ।

१९–ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (गीता ३ । २६) ।

२०–ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (गीता ३ । २९) ।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके* आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

* सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तके द्वारा जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है ।

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं* । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ?॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न† करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ; फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है‡ । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है§ और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं? इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

---

*इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता । हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है ।

† जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं । इससे उसका साधन-क्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है ।

‡ वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं । अतः यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म ही अति उत्तम है। जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी अपने पतिका सेवन करना ही स्त्रीके लिये कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्ग-वैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है; फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

§ किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर मनुष्य अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है ।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।३७।

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है,* इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है । अतः तीन श्लोकोंद्वारा इसका समाधान करते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है† ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके‡ द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है§ ॥ ४० ॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले× महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया । इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है, तब ऐसी

---

* मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त करता है; इसलिये यह महान् पापी है ।

† इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है । यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये । जिस प्रकार धूआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है । मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये । जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता । इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता । एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये । जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है । जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता ।

‡ यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है । यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है । इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है ।

§ यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है । इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये ।

× भगवान्के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं । इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप

स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है ? इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है* ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके† हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वमें सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जाग्रतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

* आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्'का अर्थ 'मन' और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

† भगवान‌ने गीताके छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (गीता ६। ३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे, तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचारकर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना 'वैराग्य' है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना 'अभ्यास' है।

अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परंतु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँमें हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। अन्तमें इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारना चाहिये।

सूर्यके प्रति नारायणका उपदेश

अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)

सगुण भगवान्‌के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उन्तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परंतु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं[1] प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया*॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है†॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?॥ ४॥

---

१. गीताके दूसरे अध्यायके उन्‌चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही भलीभाँति प्रतिपादन किया। उसके बाद भी तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अङ्ग प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया। इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सभी गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं। इससे भी यहाँ 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

* परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़े रहस्यकी बात है।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं*। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ† ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है,‡ तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे

* यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। हमलोग अनादि और नित्य हैं। मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ। इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था।

१. भगवान्की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन गीताके नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है।

† इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (गीता ९। ११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (गीता ७। २५)।

‡ ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है।

२. जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है।

३. जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक

स्थापना करनेके लिये* मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ† ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है‡ वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्व भाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है ।

* स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं ।

† यद्यपि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंका अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं । उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं । यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता ।

‡ सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं । उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है । वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं । उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है । जगत्का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म-धारण नहीं करते, किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना ही भगवान्के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (गीता ३ । २२-२३) । भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्को उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (गीता ४ । १३-१४) । भगवान्के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (गीता ४ । ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है । वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (गीता ९ । २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (गीता ४ । ११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९ । २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (गीता १० । १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (गीता १२ । ७) । इस प्रकार भगवान्के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है ।

१. भगवान्में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है ।

२. जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जिनका

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं* ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ;† क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ‡ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है ।§ इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर

अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है ।

* यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है । इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेनारूप ज्ञान ही माना गया है । इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसको भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

† इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ तथा वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ । जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता । जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ । जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ । जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ । इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे । अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है । ।

§ अनादि कालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं । इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरे द्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है ।

आजकल लोग यह पूछा करते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ? तो उसका

भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥*

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता† ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं‡ । इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये§ और अकर्मका

उत्तर यह हो सकता है कि यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परंतु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी है, इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती; परंतु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है, तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है । कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है । अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है ।

* इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता । वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है । इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ९ । ९-१०) ।

† उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है, कर्मफलमें उनकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है और इस प्रकार भगवान्‌के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्‌की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।

‡ जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं । अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्‌ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है ।

§ साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका नाम कर्म है; किंतु इतना जान लेनेमात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है । अतः अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये कर्मोंके तत्त्वको समझना चाहिये ।

स्वरूप भी जानना चाहिये* तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये;† क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है‡ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असङ्गताका वर्णन करके इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं§ तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप

---

* साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किंतु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है। अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको भलीभाँति समझकर साधन करना चाहिये ।

† साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता; क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं। वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किंतु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किंतु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किंतु संन्यासीके लिये काञ्चन और कामिनीका दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये।

‡ यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते, बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है, इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनामें या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है।

§ स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किंचिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'कामना' है तथा किसी विषयको ममता, अहंकार, राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'संकल्प' है। कामना संकल्पका कार्य है और संकल्प उसका कारण है। विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (गीता २ । ६२)। जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहंकार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोक-संग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं।

अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं,* उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि[1] नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है,† वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः[2] ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता‡ ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो[3] द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला§ कर्मयोगी कर्म

* जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

१. 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तिसे युक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता।

† आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है। ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्द-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है।

२. जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारका भोगप्राप्त होनेकी किंचिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है–अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोग-सामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा ''त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ही। इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है।

‡ उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'पाप'को प्राप्त न होना है।

३. अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है, इस यदृच्छालाभमें सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—इस प्रकार दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा संतुष्ट रहना है।

§ यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता* ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं† ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसका सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है‡—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं§ और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं× ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयम-

---

* जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

† अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किंतु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसंचित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

‡ इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; ऐसा यज्ञ करनेवाले योगीकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है; क्योंकि वह जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

§ ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्त दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका अपना कर्तव्य समझकर बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही देवताओंके पूजनरूप यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

× अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानके अभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

रूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं* और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं† ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोग-रूप अग्निमें हवन किया करते हैं‡ ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, § कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं× तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं+ और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त

* श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव गीताके दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

† कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है।

‡ इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

§ अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है

× परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है।

\+ यहाँ योगरूप यज्ञसे यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य सामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम 'यम' है।

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता रखना (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट रहना (संतोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन करना (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है।

यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं* ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं,† वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं‡ तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं§ ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम 'आसन' है। आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है।

बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंको रोकनेका नाम 'प्राणायाम' है।

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ 'प्राणायाम' है।

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

स्थूल सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर–किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम 'समाधि' है।

*जिन शास्त्रोंमें भगवान्के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। ऐसा स्वाध्याय अर्थज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है, इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (गीता १८ । ७०)।

† उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविःस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है, तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

‡ इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविःस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है, पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

§ जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किंतु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायुभेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो

यज्ञोंको जाननेवाले हैं* ॥ २९-३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंको करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं† और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है ?‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान;§ इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है× तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं+ ॥ ३३ ॥

बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; बल्कि अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पञ्चवायु-भेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

* इस अध्यायमें चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर उपर्युक्त यज्ञरूप साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसंचित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

† यहाँ भगवान्ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है, जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रमादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है; क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

‡ जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ—किसी प्रकार भी नहीं करता, उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती।

§ यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या संकल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल-कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

× जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं तथा जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं।

+ उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्म-

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा† ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा‡ ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्मय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है§ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है× ॥ ३८ ॥

रूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (गीता ४ । ३२), वे सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है ।

१. परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावपूर्वक किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है ।

२. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं ।

* महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेदबुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (गीता ६ । २९) ।

† सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं ।

‡ यहाँ भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी सम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (गीता १६ । ५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं । परंतु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो । बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते ।

§ इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है । उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते । इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं । इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है ।

× कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्के ही लिये होते हैं—उस योग-संसिद्ध पुरुषके अन्तःकरणमें परमेश्वरके अनुग्रहसे अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान्* मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।† ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है‡ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

किंतु हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है§ और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है,× ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते+॥४१॥

* वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसको 'श्रद्धावान्' कहते हैं ।

जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ, तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है, जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है । अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये ।

† वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है, वह मनुष्य अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है ।

जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधानपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३ । २५); परंतु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है, उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता; इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता, उसका अवश्य पतन हो जाता है ।

‡ संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या यशकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है ।

§ यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (गीता ३ । ३०; ५ । १०) मानना ही उचित है ।

× ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शङ्काएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है ।

+ जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती ।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके* समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥ भीष्मपर्वमें अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (गीता ४।३८); गीताके चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परंतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (गीता ४।२४)' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति (गीता ४।२५)' 'तद् विद्धि प्रणिपातेन (गीता ४।३४)' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये† ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें

---

* संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे और स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे। इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका विवेकद्वारा छेदन करनेके लिये कहते हैं।

† 'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (गीता ३।२८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (गीता ४।२४)'—यही ज्ञानयोग है—यही कर्मसंन्यास है। गीताके चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

१. मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास' को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है* ।२।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है;† क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है‡ ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है§ । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है× और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है + ॥ ६ ॥

---

* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (गीता ५ । ३) । उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ५ । ६) । प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (गीता ९ । २२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (गीता २ । ४०) । किंतु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (गीता १२ । ५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (गीता ५ । ६) । इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

† कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है । वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है । जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही । अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है ।

‡ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं । इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा, वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं; क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है । दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है । गीताके तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है ।

§ जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा । वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है ।

× जो मुमुक्षु पुरुष यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है, वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं;' परंतु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं, वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका आचरण न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी ।

+ जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नाम, गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त कर्मयोगका साधक मुनि भगवान्‌की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है * और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी† तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ‡ ॥ ८-९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके§ और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं× ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है+ ॥ १२ ॥

---

* मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है, तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय, तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

† सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है; उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी है।

‡ जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

§ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्का समझकर, उन्हींके लिये उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना—परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है।

× कर्मप्रधान कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे ही समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

+ सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर* आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं ? इसपर कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं;† किंतु स्वभाव ही वर्त रहा है‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है;§ किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं× ॥ १५ ॥

---

* स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती । इसलिये मनसे—विवेकबुद्धि-के द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है ।

† मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है । अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) । मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते; क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधि-निषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय—उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे । कर्मफलके संयोग-की रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है । कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं ।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्‌की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता । अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (गीता ५ । ८, ९) या भगवान्‌के अर्पण करके (गीता ५ । १०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (गीता ५ । १२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर ले (गीता ४ । २०) । यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते ।

‡ इस कथनका यह अभिप्राय है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है । प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है । इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं । वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

§ सबके हृदयमें रहनेवाले (गीता १३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१) और सम्पूर्ण जगत्‌का अपने संकल्पद्वारा संचालन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वर किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते । यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं, सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं; तथापि वे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंको ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते ।

× यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है ? इसी शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है । इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है* ॥१६॥

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है,† जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है‡ और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है,§ ऐसे तत्परायण पुरुष× ज्ञानके द्वारा पापरहित+होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं÷ ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैंऽ ॥१८॥

* जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

† सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

‡ उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

§ मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना ही तत्परायण हो जाना है।

+ उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष' हैं।

÷ जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

ऽ तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५ । १८)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं* ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो,† वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक‡ आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है;§ तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित× पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है+ ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं

करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणके पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके नहीं। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अङ्गोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता; जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अङ्गोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अङ्गोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती; वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है।

* तत्त्वज्ञानी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

† जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं; उन अनुकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर वह हर्षित नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है, उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं; उन प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

§ इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्यसुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है; परंतु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित कहते हैं।

+ सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

तो भी दुःखके ही हेतु हैं* और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता† ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही‡ काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है,§ वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फलसहित वर्णन किया जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है,× आत्मामें ही

---

* जैसे पतंग अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं (गीता १८ । ३८)।

† विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परंतु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; किंतु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षण-भङ्गुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है, इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

‡ इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

§ (पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

× यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता, किंतु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुख' अर्थात् अन्तरात्मामें ही सुखवाला है।

रमण करनेवाला है* तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है,† वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी‡ शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है§ ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं,× जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं+ ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये। उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर÷ और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करकेऽ

---

* जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्तिरहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता रहता है, वह 'अन्तराराम' अर्थात् आत्मामें ही रमण करनेवाला कहलाता है।

† परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (गीता १३ । १७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' अर्थात् आत्मामें ही ज्ञानवाला है ।

‡ सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है—उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त कहलाता है।

§ 'शान्त ब्रह्म (ब्रह्मनिर्वाण)' सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है। सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है। श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति कहते हैं।

× इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकठ्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं। परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है। फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता।

१. यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरण-दोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है। इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्य-योगके द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है।

+ परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

÷ विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना ही बाहरके विषयोंको बाहर निकाल देना है।

ऽ नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है। इसीलिये नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करनेको कहा गया है।

तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके,* जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं†— ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि‡ इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है§ ॥ २७-२८ ॥

सम्बन्ध—जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला,× सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर+ तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्÷ अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता हैऽ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

---

* प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

† इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है। विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुश्रृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है।

‡ 'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यान-कालकी भाँति व्यवहारकालमें भी परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ निश्चय होनेके कारण सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

§ जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

× अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपर्युक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०), अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता ९ । २४)। इस प्रकार समझना ही भगवान्‌को 'यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला' समझना है।

+ इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)। अपनी अनिर्वचनीय माया-शक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

÷ भगवान् स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

ऽ जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मङ्गलके लिये ही करते हैं', वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है?—यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी। इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया; परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हुए सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर* करने योग्य कर्म करता है,† वह संन्यासी तथा योगी है‡ और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है§ तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है×॥ १॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है; अतः इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है।

† अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, वे सभी करनेयोग्य कर्म हैं। उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आलस्यरहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना ही उनका करना है।

‡ ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

§ जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है; परंतु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया।

× जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परंतु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया।

योग जान;* क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है† और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है‡ वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी§ पुरुष योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे× और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है+ ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

* यहाँ संन्यास शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना । यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि । दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है । इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये दोनोंकी एकता की गयी है ।

† अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता।

‡ मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है । इसके अतिरिक्त कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता । अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव माना गया है ।

§ यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय । इसके अतिरिक्त गीताके चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं ।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है । ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं । ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है ।

× मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न खोकर कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है ।

राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है ।

मनुष्यको कभी भी यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये मेरी उन्नति होगी ही नहीं; उसका उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, उसीके हाथमें है । मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है । स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है ।

+ जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है । इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है ।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है,* उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है†॥

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो[1] विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य‡ और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला§ अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ९॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः[2]॥ १०॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे॥ १०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

* परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उनके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं।

† असंयमी मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है एवं अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्तकालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यही शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करना है।

१. जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

‡ सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके विना ही कारण स्वभावतः प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं। किसी निमित्तसे बुरा करनेकी इच्छा या चेष्टा करनेवाला 'वैरी' है और स्वभावसे ही प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह 'द्वेष्य' कहलाता है। परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको 'मध्यस्थ' कहते हैं तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको 'उदासीन' कहते हैं।

§ उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे राग-द्वेषपूर्वक भेदभाव नहीं आता, वही समबुद्धियुक्त पुरुष है।

२. भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों 'अपरिग्रह' ही हैं।

शुद्ध भूमिमें,* जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके—॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर† अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित‡, भयरहित§ तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला× सावधान+ योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला÷ और मेरे परायणऽ होकर स्थित होवे ॥ १४ ॥

* ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

† यहाँ जंघासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'शिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए किसी भी अङ्गको जरा भी न हिलने-डुलने देना—यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है। ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता; इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है।

‡ ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका संचय ही होता है; इसीलिये ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित होनेके लिये कहा गया है।

§ ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा।

× ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना एवं वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त कर देना—यही 'प्रशान्तात्मा' होना है।

+ ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्त' विशेषण दिया गया है।

÷ एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

ऽ इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझको ही परम गति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहना और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यही मेरे (भगवान्के) परायण होना है।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ* मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है†॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग‡ न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है§ ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका,× कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका+ और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका÷ ही सिद्ध होता है॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए

---

* उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है ।

† जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१) और परा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है । ध्यानयोगका साधक उसी शान्तिको प्राप्त करता है ।

‡ 'योग' शब्द उस 'ध्यानयोग' का वाचक है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है ।

§ उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परंतु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है । इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है । इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है । कभी ताजगी नहीं आती । शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

× खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (गीता १७ । ८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों । उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो । इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये, जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो ।

+ वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है । उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है । जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय । ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है ।

÷ दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है ।

योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है* ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है,† और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ ‡ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है;§ उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता× और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता;+ ॥ २२ ॥

---

* यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है। दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है।

† जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

‡ एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है; क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परम-शान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

§ परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, किंतु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है।

× इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

+ शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये *। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे† निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है‡ ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर§ और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर× । क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो+ । तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे÷ ॥ २४-२५ ॥

* द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है। इस योगके द्वारा उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है, अतः 'यत्रोपरमते चित्तम्' (गीता ६ । २०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये।

† साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं, अतः साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये।

‡ 'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये।

§ सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना। बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उसकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना 'कामनाका निःशेषतः त्याग' है।

× ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे। यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है।

+ जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये। यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है।

÷ साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके। साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है। प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे। फिर मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः

सम्बन्ध—यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे * ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक† परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका‡ अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला§ तथा सबमें समभावसे देखनेवाला× योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है+ ॥ २९ ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे । सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी । यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परंतु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है । वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है । उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन । अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारका अभाव करके तथा अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य-तत्त्वमें स्थित हो जाना ही परमात्मामें मनको स्थितकर अचिन्त्य होना है ।

* ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ उसे रोककर तुरंत परमात्मामें लगावे । यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे ।

१. विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं ।

२. आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (गीता १४ । ७, १२) और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं । अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है ।

३. मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है । इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं ।

† जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है ।

‡ इसी अनन्त आनन्दको इस अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है ।

§ सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है । इसीका वर्णन गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है ।

× गीताके पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है । यही उसका सबमें समभावसे देखना है ।

+ एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व हैं, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं

सबमें भगवद् दर्शन

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगी-का और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है* उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता† ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर‡ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है,§ वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है× ॥ ३१ ॥

है। इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है, यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है। इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किंतु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा।

* जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है, अतएव वे ही इसके महाकारण हैं तथा जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (गीता १०। ४२)।

अतएव जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्‌में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्‌के ही वेष हैं। इस प्रकार जो समस्त जगत्‌के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें, परंतु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं।

† अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्‌के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्‌का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है।

‡ सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्‌के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्ति-रूप ऐसी स्थितिको भगवान्‌में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

§ जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्‌को भजना है।

× जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्‌के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है तो वह भगवान्‌की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्‌को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्‌को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्‌के साथ भगवान्‌की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्‌में ही और भगवान्‌के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्‌में ही बरतता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है* और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है,† वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! जो यह योग‡ आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ§ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला,× बड़ा दृढ़+ और बलवान्÷ है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँऽ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास= और वैराग्यसे A वशमें होता है ॥ ३५ ॥

* जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

† सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उपर्युक्त योगीका स्वरूप बन जाता है। जगत्‌में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपने-को 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

‡ कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंको पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

§ 'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं। विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ 'समता' नहीं रह सकती; क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता'का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता'की स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक माना गया है।

× मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परंतु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर देता है।

+ यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

÷ जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

ऽ जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन है।

= मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। इसका विस्तार गीताके बारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें देखना चाहिये।

A इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय, तो क्या हानि है; इसपर भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है* और वशमें किये हुए मनवाले† प्रयत्नशील पुरुषद्वारा‡ साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किंतु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है; इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः[1] श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं[2] कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है,§ ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना ।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख-दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना ।

(३) संसारके और भगवान्के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना ।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण, मनन करना ।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्को क्षणभङ्गुर समझना ।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना ।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना ।

* जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है । जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (गीता २ । ४१–४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

† वशमें हो जानेपर चित्तकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है । वह सीधा, सरल और शान्त हो जाता है; फिर उसे जब, जहाँ और जितनी देरतक लगाया जाय, चुपचाप लगा रहता है । यही मनके वशमें हो जानेकी पहचान है ।

‡ मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय–उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती । अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे योगका प्राप्त होना सहज बतलाया गया है ।

१. पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है । वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है । इस कारण 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'अयतिः' पदका 'असंयमी' अर्थ किया गया है ।

२. सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धिम्' पद है ।

§ यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है । शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?* ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है† ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता‡ ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष§ पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—

अथवा[१] योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है× ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ॥

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट

* यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती । अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती ?

† यहाँ अर्जुन भगवान्‌में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं । ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है । जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब मैं और किससे पूछूँ और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है ! अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये ।

‡ जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती ।

§ ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं ।

१. योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परंतु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है । वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं । पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है ।

× परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती । योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंसे भी प्रमाणित है । इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है ।

पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है* ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी† तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर‡ सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है,§ इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा; किंतु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये ? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया । अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि[1] सर्वेषां[1] मद्गतेनान्तरात्मना[2] ।
श्रद्धावान्[3]भजते[4] यो मां[5] स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

---

* जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

† तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है । इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' को 'प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करनेवाला' बतलाया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है ।

‡ पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्व संस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है ।

§ सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है । इसमें क्रियाकी बहुलता है । तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है । इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर कर्मी, तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अलग-अलग निर्देश किया गया है ।

१. गीताके चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं । उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है ।

२. इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उसके अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं ।

३. जो भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं ।

४. सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है ।

५. यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है* ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है।' परंतु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा अनेक प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ† तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा,‡ उसको सुन ॥ १ ॥

औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है।

* श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं, जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परंतु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकाङ्क्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है ! जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।

१. इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद, सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरा-से वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, वह 'मय्यासक्तमनाः' है।

२. जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, वह 'मदाश्रयः' है।

† मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही योगमें लग जाना है।

‡ भगवान् नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको* सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता† ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है‡ और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है§। ३।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा× अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान+॥ ४-५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं÷ और मैं सम्पूर्ण जगत्का

हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; व्यक्त, अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असंदिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्को संशयरहित जानना है।

* भगवान्के निर्गुण-निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

† ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो समग्र रूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्के समग्र रूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

‡ भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई बिरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

§ चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव साधन करनेवालोंमें भी बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्का साक्षात्कार कर लेते हैं।

× गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा प्रकृति' है।

+ समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्यवस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है। अतः उसीने इसे धारण कर रक्खा है।

÷ अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, उन सभी सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात गीताके तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ*।६।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है†॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

मैं पृथिवीमें पवित्र‡ गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान§! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ×॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ+॥ ११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें साररूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको

---

* जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्से ही उत्पन्न होता है, भगवान्में ही स्थित है और भगवान्में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं।

† जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्में गुँथा हुआ है। भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे इस प्रसंगमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

§ जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं।

× सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका संचालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही अंश है। इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है, इसलिये भगवान्ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है।

+ जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, उस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (गीता १६। १८), अतः वह तो आसुर बल है और उसके त्यागनेकी बात कही है (गीता १८। ५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (गीता ३। ३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (गीता १६। २१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही भगवान्का स्वरूप है।

अनोखा भक्त ध्रुव

तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'* ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं† ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्‌को क्यों नहीं पहचानते; इसपर भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता‡ ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं§ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते; इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

किंतु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने-

---

* मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है और वह प्रकृति भगवान्‌की है, अतः भगवान्‌से भिन्न नहीं है; उन्हींके लीला-संकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

† जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परंतु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे आकाश किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्‌में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं।

‡ जगत्‌के समस्त देहाभिमानी प्राणी—यहाँतक कि मनुष्य भी—अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अनित्य और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुख-रूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं। इस कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयोंके संग्रह करने और भोगनेके सिवा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते। इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी परमात्माको नहीं जान सकते।

§ जो एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्‌का या भगवान्‌के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा संतुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे शरणागत भक्त मायासे तरते हैं।

१. जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं, उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं।

वाले अर्थार्थी,* आर्त,† जिज्ञासु‡ और ज्ञानी§—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है,× क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है+ ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं,÷ परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैऽ—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परंतु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह 'अर्थार्थी' भक्त है । सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है ।

† जो शारीरिक या मानसिक संताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह 'आर्त' भक्त है । आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासंधके बंदी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परंतु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है ।

‡ धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (गीता १४ । २६), उस कल्याणकामी भक्तको 'जिज्ञासु' कहते हैं । जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परंतु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है ।

§ जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं, तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे 'ज्ञानी' हैं (गीता १२ । १३-१९) । गीताके नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दसवें अध्यायके तीसरे और पद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधक भक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं । ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं । बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं ।

× संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; ऐसा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी भक्त अन्य सबसे उत्तम है ।

+ जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानीको' मैं अत्यन्त प्रिय हूँ ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही ।

÷ वे सब प्रकारके भक्त इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है । ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं । उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो । इसलिये सबको 'उदार' कहा गया है ।

ऽ इस कथनसे भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है । भक्त है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो भक्त है ।

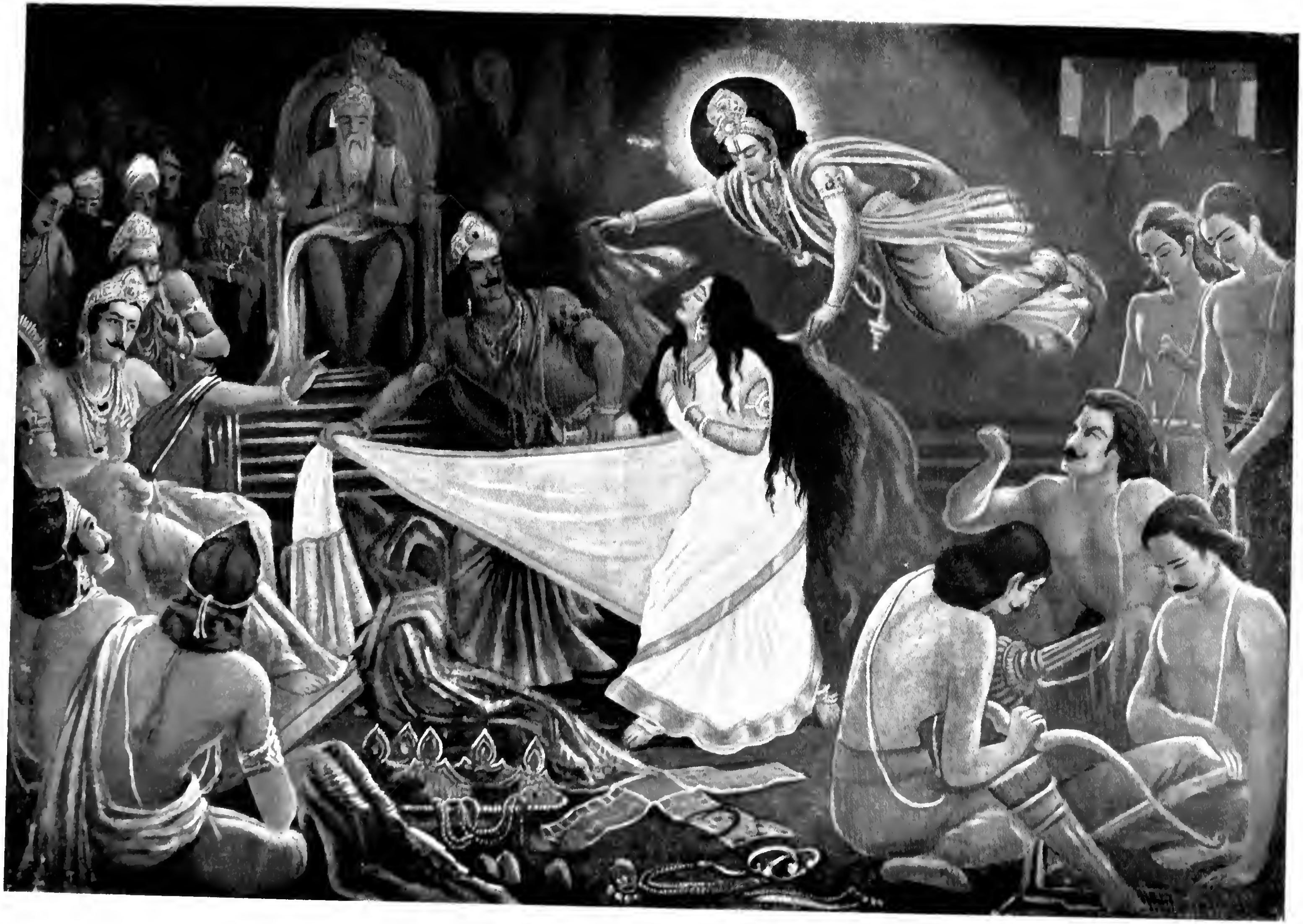

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है;* वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर† उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं‡ ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है,§ उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परंतु उन अल्प बुद्धिवालोंका× वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं+ ।२३।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको

---

१. जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है; क्योंकि भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

२. भगवान्ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही 'सब कुछ वासुदेव है', इस प्रकारसे भगवान्का भजन करना है।

† जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका संचय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

‡ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर, जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही 'उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना' है।

§ देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

× देवोपासक कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनको भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' कहा गया है।

\+ भगवान्के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है।

न जानते हुए* मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं† ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको[१] मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

क्योंकि अपनी योगमायासे छिपा हुआ‡ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ,§ परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे× सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं+ ॥

---

* अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्के प्राणियोंको परमानन्दके महान् सागरमें निमग्न कर देते हैं । भगवान्का यही नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' है ।

† भगवान्के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं । मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है । अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते । इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था, अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है; अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है ? अर्थात् कोई भेद नहीं है । यही बुद्धिहीन मनुष्यका भगवान्को अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानना है ।

१. 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्यसमुदायके लिये किया गया है ।

‡ गीताके चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से ही प्रतीत होते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है । उससे वास्तवमें भगवान् आवृत नहीं होते तथापि जैसे लोगोंकी दृष्टि बादलोंसे आवृत हो जानेके कारण ऐसा कहा जाता है कि सूर्य बादलोंसे ढका गया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्का अपनेको योगमायासे छिपा रहना बताना है ।

§ यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतङ्गादि जितने भी भूत—चराचर प्राणी हैं, वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस प्रकार रहेंगे, इन सब बातोंको मैं जानता हूँ ।' वास्तवमें भगवान्के लिये भूत, भविष्य और वर्तमानकालका भेद नहीं है । उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है ।

× जिनको भगवान्ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (गीता ३ । ३४) और काम-क्रोधके नामसे (गीता ३ । ३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है, उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ 'इच्छा' और 'द्वेष' के नामसे वर्णन किया है । इन 'इच्छा-द्वेष' से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम 'द्वन्द्वरूप मोह' है ।

+ भगवान्को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनके मन्दिर और तीर्थादिमें जाना तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही 'सब प्रकारसे उनको भजना' है ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं,* वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

एवं जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबके आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं† अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्‌ने अपने समग्र रूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की । फिर सत्ताईसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया; किंतु उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्‌से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

---

* यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं ।'

† उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदि संकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं । यही भगवान्‌का समग्र रूप है । अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्र रूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी । फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है', बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है । इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है,* अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म'† नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है,‡ वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः१ पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

उत्पत्ति विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव§ है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ× ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है+—इसमें कुछ भी संशय नहीं है÷ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्‌के स्मरणके सम्बन्धमें ही यह विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है; इसपर कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावकोऽ स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा हैA ॥ ६ ॥

* अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं ।

† 'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है। जीवरूपा भगवान्‌की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो जाता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। अतएव गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ जो 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये ।

‡ 'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है। इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'त्याग' का नाम ही कर्म है। महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म संस्कारोंके साथ भगवान्‌में विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह संकल्प करते हैं कि 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ,' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌का यह 'आदि संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीजकी स्थापना करना है। यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन (त्याग)का नाम 'विसर्ग' है।

१. अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम 'क्षरभाव' है। इसीको गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है।

§ 'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अङ्ग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है।

× अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्‌ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (गीता ५ । २९; ९ । २४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (गीता ७ । २२) तथा वे ही अन्तर्यामीरूपसे सबके अंदर व्यापक हैं; इसलिये वे कहते हैं कि 'इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ ।'

+ यहाँ अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है, अतः भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव है कि जो सदा-सर्वदा मेरा अनन्यचिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं, उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है।

÷ अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्‌की प्राप्ति निःसंदेह हो जाती है। इसमें जरा भी शङ्का नहीं है।

ऽ ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है। अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उस भावका स्मरण करना है।

A अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है। पूर्वसंस्कार, संग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।* इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर† तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।७।

अभ्यासयोगयुक्तेन[1] चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है‡ ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता,§ सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ ९—१० ॥

उसीसे भावित हो जाता है तथा मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अङ्कित हुए उस भावसे भावित होता-होता समयपर उस भावको पूर्णतया प्राप्त हो जाता है । किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता है, उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है । उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य सहकारी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा ।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है ।

* जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्यप्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणुमें भगवान्के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है तथा जिसका विषयभोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम भावसे केवल भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है । जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं ।

† बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पित कर देना है ।

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है । ऐसे अभ्यासयोगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं ।

‡ इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य परम पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

§ परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाले होनेसे 'सबके नियन्ता' हैं।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यकी गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्‌के 'अधियज्ञ' नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ग्यारहवें श्लोकसे तेरहवेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करनेके लिये पहले उस अक्षर ब्रह्मकी प्रशंसा करके उसे बतलाते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं,* आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा† ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर‡ तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके,§ फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है× ॥ १२-१३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ+ ॥ १४ ॥

* वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

† 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें संचरण करना—जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना भी इन्हींके अन्तर्गत है। ये ब्रह्मचर्य-आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं और साधारणतया तो अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

यहाँ भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, वह ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

१. यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसंग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है।

‡ श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

§ नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

× निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है। इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना कहते हैं।

२. जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

३. यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है; परंतु जो श्रीविष्णु और श्रीराम या भगवान्‌के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं, उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उनका स्मरण करना है।

+ अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता तब ये यथा

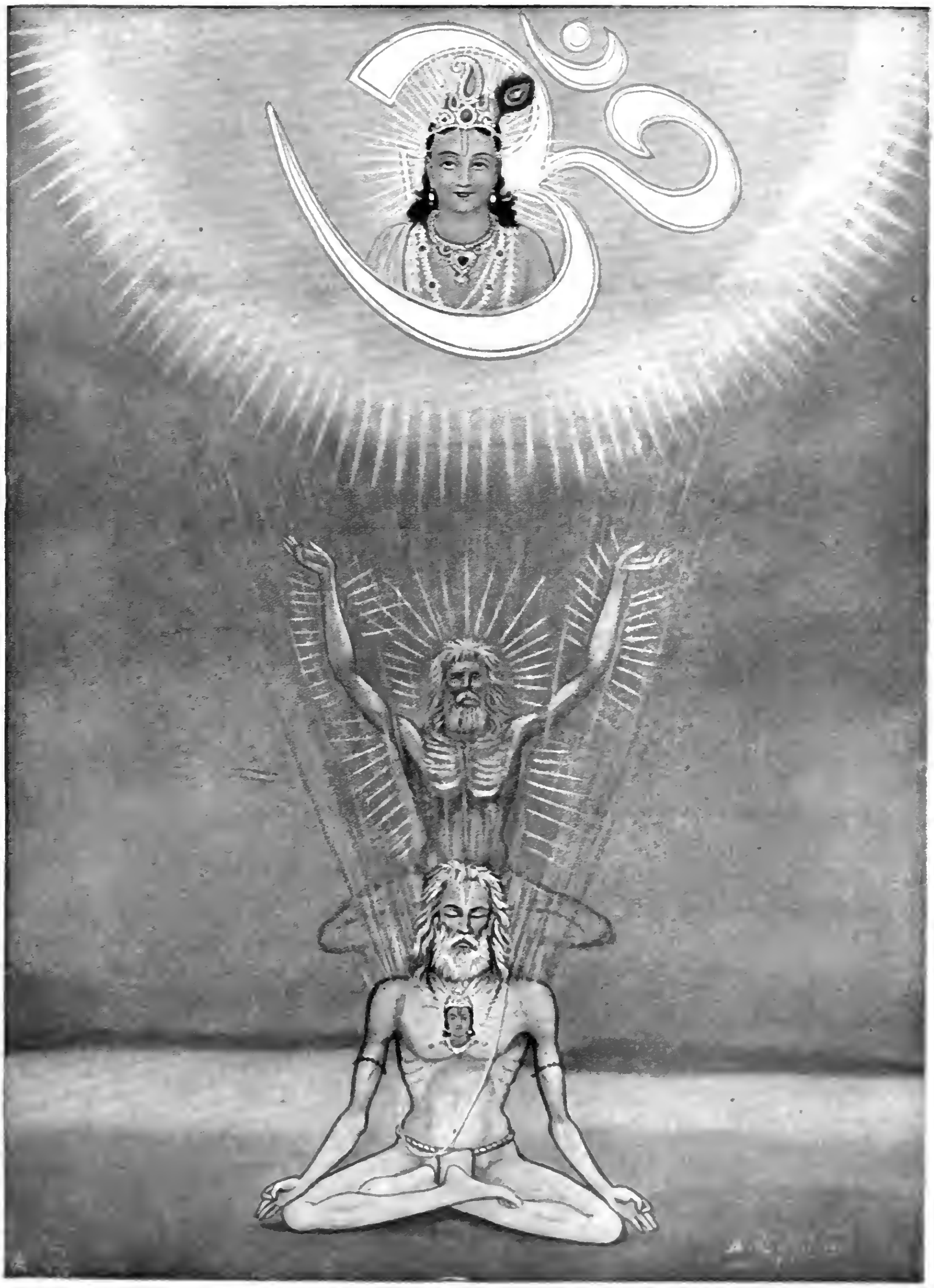

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन* मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको† नहीं प्राप्त होते ॥

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता—इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है । अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है । इसपर भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त‡ सब लोक पुनरावर्ती§ हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगी-तककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं,× वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४ । ११) के अनुसार भगवान्को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । इसी हेतुसे ऐसे भक्तके लिये भगवान्को सुलभ बतलाया गया है ।

* अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं और भगवान्के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

† मरनेके बाद कर्मपरवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है और ऐसी कोई भी योनि नहीं है, जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो । अतः पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है ।

‡ जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (गीता ८ । ४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है । उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको पुनरावर्ती समझना चाहिये ।

§ बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, उन लोकोंको 'पुनरावर्ती' कहते हैं ।

× यहाँ 'युग' शब्द 'दिव्य युग'का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलानेपर होता है । वह देवताओंका युग है, इसलिये इसको 'दिव्य युग' कहते हैं । इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है । अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है । ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक 'दिव्य युग' होता है । इसे 'महायुग' और 'चतुर्युगी' भी कहते हैं । इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं । दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है । कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं ।

इसे दूसरी तरह समझिये । हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापरयुग—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेतायुग—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,०००वर्ष (कलियुगसे चौगुना)

कुल जोड़—४३, २०, ००० वर्ष

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं* और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं† ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है‡ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं; वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो

यह एक दिव्य युग हुआ । ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ।

मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें चौंसठवेंसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है । ब्रह्माके दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रिको प्रलय कहते हैं । ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है । ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है !

* देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी चराचर प्राणी हैं, उन सबको 'व्यक्ति' कहा है ।

प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है ।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं । यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है ।

† एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम प्रवेश-काल है ।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं । यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है ।

‡ अव्यक्तमें लीन हो जानेसे भूतप्राणी न तो मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है । इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं ।

इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है । ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं (गीता ९ । ७), तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता । ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (गीता ९ । ८) । जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा ।

यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं । महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परंतु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं ।

गीताके नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें (श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है ।

सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता* ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर'† इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति‡ कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है§ ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है,× वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है+ ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी। प्रसङ्गवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता; परंतु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जिस कालमें÷ शरीर त्यागकर गये हुए

---

* अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों) का लय होना बतलाया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'अव्यक्तात्' पद है; उस पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनोंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परंतु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है। इसलिये यह सबके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

† जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव'के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषको यहाँ 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा है।

‡ जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं, उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको 'परम गति' कहा गया है (गीता ८। १३)।

§ अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

× जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है तथा जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात गीताके नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

+ सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम पुरुष परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम संतुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है। इस अनन्य-भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उनका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उन परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

÷ यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है, जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार

योगीजन* तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

है; क्योंकि इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति'के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है। संसारमें लोग जो दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा समझते हैं, यह समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता; बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा।

* 'योगीजन'से यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है।

१. यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

२. 'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. 'शुक्लः' पद शुक्लपक्षाभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन पितृ-लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उप० ४। १५। ५ तथा ५। १०। १, २; बृहदारण्यक उप० ६। २। १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्के परमधामसे भगवान्के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता* योगीजन उपर्युक्त देवताओं-द्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको† प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो[1] रात्रिस्[2]तथा कृष्णः[3] षण्मासा दक्षिणायनम्[4]।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

* इस श्लोकमें 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है; क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६), 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदारण्यक उप० ३।२।११), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते—शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन हो जाते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

† यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाममें, जिसे सत्यलोक, परम धाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक आदि नामोंसे कहा है, पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है।

१. यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है तथा दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

२. यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वीलोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्षके आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-मण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जिन पितृलोकोंमें पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँ-तक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है, उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशा-भिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ४;

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी* उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको† प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है‡ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

क्योंकि जगत्के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं ।§ इनमें एकके द्वारा गया हुआ×—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ+ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता ।÷ इस कारण हे अर्जुन !

बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) । यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये ।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है ।

* स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है । इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं । वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं । अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है । यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (गीता २ । ४२, ४३, ४४ तथा ९ । २०, २१ आदि) ।

† चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है । उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है । वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है ।

‡ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है । जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है । वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है । उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है । (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ५, ६, ७; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) ।

§ चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं । उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है । अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है । ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे । इसीलिये इनको शाश्वत कहा है । यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है । अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई दोष नहीं है ।

× अर्थात् इसी अध्यायके २४ वें श्लोकके अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी ।

\+ अर्थात् इसी अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

÷ योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है; यही उसका मोहित होना है; किंतु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है । यही उसका मोहित न होना है ।

तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो* अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर† वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है‡ और सनातन परम पदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)

ज्ञान, विज्ञान और जगत्की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्-भक्तिकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने विज्ञान-सहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी । उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्को जाननेकी एवं अन्त-कालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये । उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया, किंतु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया । इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं । तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

* यहाँ भगवान्ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय । यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो योगभ्रष्ट होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

† इस अध्यायमें वर्णित शिक्षाको अर्थात् भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवान्के गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है ।

‡ यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका, 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसंचय होता है, उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है । एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है ।

१. संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है ।

२. गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे* मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २ ॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम† और अविनाशी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष‡ मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया

करना 'असूया' है। जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिल्कुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं।

* इस श्लोकमें 'अशुभ' शब्द समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक है। इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है।

१. संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये इसे 'राजविद्या' कहा गया है।

२. इसमें भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ। तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ। इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं। इसीलिये इसे 'राजगुह्य' बतलाया गया है।

३. यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है। इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है।

४. विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है। साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परम प्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्को ही प्राप्त हो जाता है। इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है।

५. जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है।

† इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है। सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है। इसलिये इसे साधन करनेमें बड़ा सुगम बतलाया है।

‡ पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—ये जिनमें हों, वे ही श्रद्धारहित पुरुष हैं।

था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले प्रभावके साथ अपने निराकारस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत्* जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है† और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं‡ किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ§॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख× कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है+॥ ५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु

---

१. गीताके आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

* 'यह सब जगत्'से यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित समस्त ब्रह्माण्ड समझना चाहिये।

† जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

‡ 'यहाँ सब भूत'से समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंको कहा गया है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (गीता १०। ४२) और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (गीता ९। १८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्में स्थित बतलाया गया है।

§ बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्का नाश होनेपर भी, बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति, भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्के नाशसे भगवान्का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात् मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

२. सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

× यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है, परंतु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परंतु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।

+ वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्से अतीत हैं, यही भाव दिखलानेके लिये 'वह भूतोंमें स्थित नहीं है' ऐसा कहा गया है।

सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये अपनेको सबमें व्यापक, सबका आधार, सबका उत्पादक, असङ्ग और निर्विकार बतलाया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं† अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ‡ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार§ करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ× ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते+ ॥ ९ ॥

---

* आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

२. ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रिके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

† समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत और प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उसको अपनी प्रकृति बतलाया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

‡ कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌में स्फुरणा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महा-सर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

§ सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे अङ्गीकार करना है।

× भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्‌की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है। यहाँ भगवान्‌ने उनको बार-बार रचनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

+ सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्‌के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उन कर्मों-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचर-सहित सर्वजगत्को रचती है* और इस हेतुसे ही यह संसार-चक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया । फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असंगता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया । अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले† मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं‡ ॥ ११ ॥

में या उनके फलमें भगवान्का किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है और केवल अध्यक्षतामात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है । इसी कारण वे कर्म भगवान्को नहीं बाँधते ।

* जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (गीता १४ । ३) । इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है ।

जहाँ भगवान्ने अपनेको जगत्का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है । जबतक उसे भगवान्का सहारा नहीं मिलता, तबतक वह जड-प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती । इसीलिये भगवान्ने आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्की रचना करती है ।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है ।

१. गीताके सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है ।

† चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है तथा गीताके सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान्के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम' विशेषणके सहित 'भाव' शब्द है । सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (गीता ४ । ६, ७, ८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है ।

‡ महाभारतमें भीष्मपर्वके छाछठवें अध्यायमें बतलाया है—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव सबके पूजनीय हैं । उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये । वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं । वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं । देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमित-पराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये । जो मूढ-मति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं । जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्को नहीं पहचानते वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं । जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्का अपमान करता है, वह, अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है ।'

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त-चित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं* ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित† महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षर-स्वरूप जानकर‡ अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं§॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

---

१. भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशाएँ करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (गीता १६ । १० से १२); इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं ।

२. भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता (गीता १६ । १७, २३; १७ । २८) । इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है ।

३. जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (गीता १८ । २२), उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं ।

* राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं । काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्वहरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है, उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं । ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना, वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है । भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है ।

४. यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्यप्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं ।

† देव अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, गीताके सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है ।

‡ 'माम्' पद यहाँ भगवान्‌के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है । उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (गीता ७ । ६; ९ । १८; १० । २, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्‌को 'सब भूतोंका आदि' समझना है और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्‌का नाश नहीं होता (गीता ८ । २०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्‌को अविनाशी समझना' है ।

§ जिनका मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त निरन्तर भगवान्‌को भजते रहते हैं ।

५. 'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है । कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं ।

६. 'यतन्तः' पदका यह भाव है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌की पूजा सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण आदि उत्साह और तत्परताके साथ करते रहते हैं ।

७. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं । बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते । इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है ।

८. जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन* करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम† करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं,§ और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्‌स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं × ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

क्रतु[1] मैं हूँ, यज्ञ[2] मैं हूँ, स्वधा[3] मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि[4] मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ + ॥ १६ ॥

निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं।

* कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगान-सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं।

† भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को, अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—यही 'भगवान्‌को प्रणाम करना' है।

‡ श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही अनन्यप्रेमसे भगवान्‌की उपासना करना है।

§ गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही 'ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना' है।

× समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं। अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं। इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (गीता १८ । ४६)—यही 'बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्‌स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना' है।

१. श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं।

२. पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं।

३. पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है।

४. 'अग्नि'से यहाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि समझने चाहिये।

\+ अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिनमें यज्ञादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता,* पितामह,† जाननेयोग्य, पवित्र,‡ ओङ्कार § तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ × ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी,+ शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान÷ और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ऽ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँA । हे अर्जुन! मैं ही अमृतB और

* यह चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्व भगवान्से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है।

† जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

‡ जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं तथा भगवान्के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं।

§ 'ॐ' भगवानका नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। गीताके आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

× 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

२. जिसकी शरण ली जाय उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (६ । १८ । ३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्ने अपनेको 'शरण' कहा है।

३. भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है।

४. जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है।

+ भगवान् ही ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)।

÷ जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्ने अपनेको 'निधान' कहा है।

ऽ इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्के विशेषण हैं; अतः इस श्लोकमें पूर्व श्लोकोंकी भाँति 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया गया।

A इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथासमय यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

B वास्तवमें अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो

मृत्यु* हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ † ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और विराट् रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया । 'समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परंतु ऐसा न जानकर फला-सक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है ।' इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष‡ मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको§ प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल× स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं+ ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जाता है, इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं ।

* सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं । भगवान् ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकालरूप धारण किये रहते हैं । वे कालके भी काल हैं । इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है ।

† जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तु-मात्रका नाम 'असत्' है । इन्हीं दोनोंको गीताके पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है । ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है ।

‡ ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं । इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं । यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं । उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं । ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं ।

§ यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके श्लोकमें 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है । अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये ।

× स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका अनेक प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है । इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है ।

+ भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोग-कामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं । इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है ।

१. जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है ।

किंतु जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं,* उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ† ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है‡ ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ;§ परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं,× भूतोंको पूजने-

* सगुण भगवान् पुरुषोत्तमके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्काम-भावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही 'उनका चिन्तन करते हुए भजन करना' है।

† अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही 'उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना' है। भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है। हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी।

जो पुरुष भगवान्के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्पर रहता है। अतः वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमसुहृद् भगवान् ही अपने भक्तका लौकिक और पारमार्थिक सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं।

१. वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धासे युक्त' कहा गया है और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंमें है।

‡ जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'दूसरे देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की 'अविधिपूर्वक' पूजा है।

§ यह सारा विश्व भगवान्का ही विराट्रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्के ही अङ्ग हैं तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं। भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (गीता ५।२९)।

× देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं। इनका पालन करनेवाले मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है।

वाले भूतोंको प्राप्त होते हैं* और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं† । इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कोई भक्त‡ मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है,§ उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका

पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं । यही पितरोंको प्राप्त होना है । ये भी अधिक-से-अधिक देवताओं या दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं । अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है ।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये । देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रम-के अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परंतु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत् आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है । इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परंतु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें ।

* जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि करते हैं, ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप, भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है । भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये ।

† जो पुरुष भगवान्‌के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं तथा इसी प्रकार भगवद्-भक्ति-विषयक अनेक प्रकारके साधन करते हैं, वे भगवान्‌का पूजन करनेवाले भक्त हैं और उनका भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्‌के समीप रहना, उनके जैसे ही दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्-को प्राप्त होना है ।

१. पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत' कहते हैं । इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि बिना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण की हुई वस्तु बहुत प्रेमसे स्वीकार कर लेता हूँ ।

२. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है । बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये ।

§ यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्‌के अर्पण की जा सकती है । भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है । 'मुझ-जैसे साधारण-से साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है !' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्‌के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करना है ।

प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ* ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है,† वह सब मेरे अर्पण कर‡ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा§ ॥ २८ ॥

* जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'शुद्धबुद्धि' कहते हैं । इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता । मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल'को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया । इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ ।

† इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है । अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (गीता १७ । १४—१७) ।

‡ साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है । अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं । कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं । मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्काम भावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है ।

पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्‌के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण करना भी भगवान्‌के ही अर्पण करना है । पहले इसी प्रकार होता है । ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है ।

१. यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किंतु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है । इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव सुदृढ़ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये ।

§ भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है । उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है । मरनेके बाद भगवान्‌के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्‌को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना है ।

भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं !

सम्बन्ध--उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती--इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है। अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है;* परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ†॥

अपि[1] चेत्[2] सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है‡ तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है§॥ ३०॥

---

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ। अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है। इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है।

† भगवानके साकार या निराकार–किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना, पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्‌को भजना है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं। वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उनमें बतलाया है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिविम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है।

१. 'अपि' देनेका अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय–इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है।

२. 'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते, तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे एवं मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

‡ जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंको अतिशय दुराचारी समझना चाहिये। ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है। इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना है–यही अनन्यभाक् होकर भगवान्‌का भजन करना है।

§ जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पाप-वासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।'–यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है। भगवान् कहते हैं कि जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा। अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है ।* हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान † कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि[१] स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि[१] यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि§—

* इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), निर्वाणपरमा शान्ति (गीता ६ । १५) और परमा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'सदा रहनेवाली परम शान्ति' को प्राप्त होना है ।

† इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

‡ यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता । अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

१. यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है । भगवान्‌के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है । मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है ।

§ पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है । इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ-जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं । यहाँ 'पापयोनि' शब्द इन्हीं सबका वाचक है । भगवान्‌की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है । वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (११ । १४ । २१)

'हे उद्धव ! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है ।'

यहाँ 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है । उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है । अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्‌में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ (अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती । अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है । इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता । सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी

पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण

राजर्षि अम्बरीष

चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर* परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर† ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा । अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

परमगति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, कैसे रहेगी ? अतएव 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक मानना ही ठीक प्रतीत होता है । क्योंकि भागवतमें बतलाया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (२ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है ।'

* भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्‌की शरण होना है ।

१. 'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (गीता ९ । ३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (गीता ९ । ३२) मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है !

२. 'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

† मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है । यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्‌की कृपासे मिलता है और मिलता है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही । इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्य-जीवन सफल होता है । जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वञ्चित ही रह जाता है ; क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें कहीं सुखका लेश भी नहीं है । जिन विषयभोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म मृत्युके चक्करमें डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है । अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये; क्योंकि यह शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं, किस क्षण इसका नाश हो जाय ! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये । न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये । कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी भारी हानि है ।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो । क्षणभर भी मुझे मत भूलो ।

३. जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं; जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्‌में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार

मुझमें मनवाला हो,* मेरा भक्त बन,† मेरा पूजन करनेवाला हो,‡ मुझको प्रणाम कर§ । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके× मेरे परायण+ होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ÷ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है ।

* भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीय-बुद्धि नहीं रह जाती । ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता । जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है । भगवान्का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता । जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको 'भगवान्में मनवाला' कहते हैं ।

† भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

‡ भगवान्के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, निष्कामभावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्की पूजा करना, माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंको तथा अन्य समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ 'भगवान्की पूजा' ही कहलाती हैं ।

§ भगवान्के साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभावका और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु-संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही 'भगवान्को नमस्कार करना' है ।

× यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है ।

\+ इस प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देना और भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना 'भगवान्के परायण होना' है ।

÷ इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)

भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञान-सहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन,* जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा॥ १॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवता-लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं,† क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ‡॥ २॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है,§ वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

---

१. 'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। इसमें तुम्हारा प्रेम ही कारण है।

* इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर बड़ी सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये।

२. 'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उनचास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है।

३. 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

† भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभव' शब्द है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

‡ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

§ भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (गीता ४। ६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी संदेह न करना—यही 'भगवान्-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा,* सत्य,† इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख,‡ उत्पत्ति-प्रलय और भय अभय§ तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप,× दान,+ कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं÷ ॥४-५॥

को अजन्मा जानना' है तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना—'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

१. कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

२. किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना 'ज्ञान' है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूपज्ञान-तक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

३. भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःख-मूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है।

४. किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं।

५. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ और घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं।

६. जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा संतुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं।

* बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना 'क्षमा' है।

† इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है।

‡ 'सुख' शब्द यहाँ प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखों-का वाचक है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ 'दुःख' शब्द है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तः-करणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

§ सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है।

× स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

+ अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है।

÷ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६ ॥

सात महर्षिजन,* चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु†—ये मुझमें भाववाले

१. 'चत्वारः पूर्वे' से सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥

(श्रीमद्भागवत २। ७। ५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलय-कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

* सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः। सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः। वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये॥

(वायुपुराण ६१। ९३-९४)

'तथा देवर्षियोंके इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण, विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है।

यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है। इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है, जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं। ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः॥

(महा० शान्ति० ३४०। ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं। ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है। ये प्रवृत्तिमार्गका संचालन करनेवाले हैं और (मेरे ही द्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७। ८, ९)। अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये।

† ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १। ३)।

सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी संध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब संध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भ-कालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी संध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ संध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके

सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं,* जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको† और योग-

मानकी १५ संध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अङ्कोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी संधि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह संध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
संधिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह संध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९६,२००
कल्पकी संधिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजो अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी संध्यासमेत सात संध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका संध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २०१३ वि० तक कलियुगके ५०५७ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष संध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी संध्याके ३०,९४३ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।

श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायोंमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

* ये सभी भगवान्में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनको मुझमें भाववाले बतलाया गया है तथा इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है।

१. भगवान्की जो अनन्यभक्ति है (गीता ११ । ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (गीता १३ । १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (गीता १४ । २६) भी कहते हैं; उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है।

† इसी अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भगवान्ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा गीताके सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७ । ८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९ । १६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक 'विभूति' शब्द है।

शक्तिको* तत्त्वसे जानता है,† वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर‡ श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं§ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता¹ मद्गतप्राणा² बोधयन्तः परस्परम्³ ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा

* भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (गीता १० । २, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (गीता ७ । १२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (गीता १० । ४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और गीताके नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर्य योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योग' शब्द है ।

† इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित हैं । इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है ।

‡ भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है ।

§ उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को निरन्तर भजना है ।

१. भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (गीता ८ । १४; ९ । २२) । भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयबुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है ।

२. जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है ।

३. भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है ।

कथन करते हुए ही* निरन्तर संतुष्ट होते हैं† और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं‡ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले§ भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ× जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ+ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्र रूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्ने सातवें अध्यायमें किया । उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किंतु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया । तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी। फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्

---

* श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्का कथन करना है ।

† प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य संतुष्ट रहना' है । इस प्रकार-संतुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और संतोषका कारण केवल भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है । सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता ।

‡ भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्में निरन्तर रमण करना है ।

§ इससे यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्को भजनेवाले नहीं हैं, किंतु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं।

× भगवान्का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धि (तत्त्वज्ञानरूप) योगका प्रदान करना' है ।

१. पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है, ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है ।

+ अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसको यहाँ 'अज्ञानजनित अन्धकार' कहा है । 'उसे मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित हुआ नष्ट कर देता हूँ' भगवान्के इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता । परंतु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ ।

के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति करके भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं;* क्योंकि आपको सब ऋषिगण† सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि‡ नारद तथा असित और देवल

---

१. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः। यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण ५९। ७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है। गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

* इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं, वे आपके ही स्वरूप हैं तथा आपका जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही स्वरूप है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

† यहाँ 'ऋषिगण' शब्दसे मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंको समझना चाहिये। अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षय-विनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने भी दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, संध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। महान् भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।' (महा० भीष्म० अ० ६७)

‡ देवर्षिके लक्षण ये हैं—

.... । देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्। भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम्। तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम्॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये। इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये॥
(वायुपुराण ६१। ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण

ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं* और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं† ॥ १२-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! ‡जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ§ । हे भगवन् ! ×आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं न देवता ही+ ॥ १४ ॥

है। जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ । ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद् देवर्षयः स्मृताः ।

(वायुपुराण ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं।'

* देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं। ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं। इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्की महिमाका ही विस्तार करना । महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्की महिमा गानेके कई प्रसंग आये हैं।

† इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (गीता ४ । ६ से ९ तक; ५ । २९; ७ । ७ से १२ तक; ९ । ४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १० । २, ३, ८) । अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है।

‡ ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क' 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं।

§ गीताके चौथे अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका संकेत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किंचिन्मात्र भी संदेह न करना 'उन सब वचनोंको सत्य मानना' है।

× विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(६ । ५ । ७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है। ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं।' वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैवं भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

(६ । ५ । ७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

\+ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम !* आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं† ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६ ॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं‡ ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन !§ अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती× अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध--अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है+ ॥ १९ ॥

करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण किया करते हैं । उन सबको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

* यहाँ अर्जुनने इन पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्के आदि हैं, आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं ।

‡ किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं ।

§ सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं ।

× इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं । इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है । मन करता है कि यह अमृतमय रस निरन्तर ही पीता रहूँ ।

+ जब सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परंतु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं । दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो । भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता; उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ।

विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है । इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं । रुद्र, वसु, आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ* तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ† ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु‡ और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ§ तथा मैं उन्चास वायुदेवताओंका तेज×

सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं । इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं । ये सभी भगवान्की विभूतियाँ हैं ।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च । इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥
(श्रीविष्णुपुराण ३ । १ । ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र हैं और जो ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं ।'

१. 'गुडाका' निद्राको कहते हैं । उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं । भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो; अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो ।

* समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (गीता ७ । ५; १३ । १), उसीको यहाँ 'सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा' बतलाया है । वह भगवान्का ही अंश होनेके कारण (गीता १५ । ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (गीता १३ । २) । इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'वह आत्मा मैं हूँ ।'

† यहाँ 'भूत' शब्दसे चराचर समस्त देहधारी प्राणी समझने चाहिये । ये सब प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है ।

‡ अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं —

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥
(महा० आदि० ६५ । १५-१६)

इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं । इसीलिये भगवान्ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× उन्चास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७ । १२३ से १३०) । गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं; परंतु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है । इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है ।

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश) । भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं ।

दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं । उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था । इसलिये उनके इस तेजको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ* ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ,† देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ‡ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ§ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ । मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ× और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ+ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान ।÷ हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द ऽ और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षियोंमें भृगुA और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात्

---

* अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्की प्रधान विभूति हैं । इसलिये यहाँ उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है । इसलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, गीताके तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञान-शक्तिका नाम 'चेतना' है । यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशाम्पते । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
(हरिवंश० १ । ३ । ५१, ५२)

इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं । इसलिये उन्हें भगवान्ने अपना स्वरूप कहा है ।

× धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा० आदि० ६६ । १८)

इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्के मुख भी माने जाते हैं । इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

+ समस्त नक्षत्र सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है तथा उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं । इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ बृहस्पति देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं । इसलिये भगवान्ने उनको अपना स्वरूप कहा है ।

ऽ स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है । इनके छः मुख और बारह हाथ हैं । ये महादेवजीके पुत्र और देवताओंके सेनापति हैं । कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३) । इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं । संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

A महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः । यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्माद्दृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥

ओङ्कार हूँ*। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ† और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ‡ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष,§ देवर्षियोंमें नारद मुनि× गन्धर्वोंमें चित्ररथ+ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ÷ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः। प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ॥
(वायुपुराण ५९। ८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं। परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है। जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि हैं। ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं। चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये।'

महर्षियोंमें भृगुजी मुख्य हैं। ये भगवान्‌के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

* किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (गीता ८। १३)। जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि 'प्रणव' भगवान्‌का नाम है (गीता १७। २३)। प्रणवके जपसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। नाम और नामीमें अभेद माना गया है। इसलिये भगवान्‌ने 'प्रणव'को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्‌का प्रत्यक्ष करानेवाला है। मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (२। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं। जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं। उनमें हिमालय सर्वोत्तम है। वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है। भगवान् नर और नारायण वहाँ तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है। इसीलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ पीपलका वृक्ष समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है। पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है। स्कन्दपुराणमें कहा है—

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः। यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ॥
(नागर० २४७। ४४)

'यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है।' इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

× देवर्षिके लक्षण इसी अध्यायके बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं। साथ ही वे भगवान्‌के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

+ गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक-लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्व-लोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्वलोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी* और मनुष्योंमें राजा मुझको जान † ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र‡ और गौओंमें कामधेनु हूँ§ । शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ× और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ+ ॥ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

मैं नागोंमें शेषनाग÷ और जलचरोंका अधिपति वरुण-देवता हूँऽ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितरA तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँB ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं । ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं । भगवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं । इसीलिये भगवान्ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है ।

* बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं । ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है । इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी । इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है । ऐसे राजामें भगवान्की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है । इसीलिये भगवान्ने राजाको अपना स्वरूप कहा है ।

‡ जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्-का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६ । ११ । १९-२०) । इसलिये वज्रको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परंतु शास्त्रविधिके अनुसार संतानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है । अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है ।

\+ वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है । इसलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

A कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात दिव्य पितृगण हैं । (शिवपुराण धर्म० ६३ । २) इनमें अर्यमानामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

B मर्त्य और देवजगत्में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं । इनके सभी दण्ड न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं । ये भगवान्के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं । इसीलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है । यह गणित-विद्याके जाननेवालोंकी गणनाका आधार है । इसलिये कालको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद* और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह† और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ‡ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम§ हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ× और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ+ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या÷ अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद ऽ हूँ ॥ ३२ ॥

* दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं । उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं । इसलिये भगवान्ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है

† सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है । वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है । इसलिये भगवान्ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । साथ ही ये भगवान्के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं । इसलिये गरुड़को भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वाचक है । उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ । श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

× जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है ।

+ जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं । पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ (८ । २१ । ४)

'हे राजन् ! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा हो गया । वह गङ्गा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको भगवान्की निर्मल कीर्तिके समान पवित्र कर रही है ।'

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे । इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है । इसी-लिये भगवान्ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है । संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है; परंतु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है । इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं— जल्प, वितण्डा और वाद । उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं । 'जल्प' और 'वितण्डा'से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है तथा 'वाद'से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है । 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है । इसी विशेषताके कारण भगवान्ने 'वाद'को अपनी विभूति बतलाया है ।

भगवानकी प्रह्लाद आदि तीन विभूतियाँ

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मैं अक्षरोंमें अकार* हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास† हूँ । अक्षय काल‡ अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्ति-हेतु हूँ§ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ× ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम+ और छन्दोंमें गायत्री छन्द ÷ हूँ तथा महीनोंमें

* स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है । इसीलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

† संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व । कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं । द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता होनेके कारण वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्‌ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ कालके तीन भेद हैं—

१–'समय' वाचक काल ।

२–'प्रकृति' रूप काल । महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है ।

३–नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा ।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है तथा इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूप काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है । वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परंतु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं । ये ही 'अक्षय' काल हैं ।

§ जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु बतलाया है ।

× स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुईं । कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं । इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमा महर्षि पुलहको ब्याही गयीं । महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं । इनका पाणिग्रहण भगवान् विष्णुने किया और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं । इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—उन विभिन्न गुणोंकी ये सातों अधिष्ठातृदेवता हैं तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं । इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बतलाया है ।

+ सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है । इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है । 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है तथा सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत्साम ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ भगवान्‌ने 'बृहत्साम'को अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है । श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् । गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् । हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ॥

(शङ्खस्मृति १२ । २४-२५)

मार्गशीर्ष* और ऋतुओंमें वसन्त† मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ‡ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ । मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ। निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ§ ॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव× अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनंजय+ अर्थात् तू, मुनियोंमें

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः। गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥

(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १० । १०)

'गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।'

गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है। नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है। वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सरका भूषण बतलाया गया है। इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

† वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है। इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं। इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी। इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो। ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है।

इस विशेषताके कारण जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे, उस-उसमें भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है। उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय। इनके करनेमें जो आपत्ति है, वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है।

§ ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है। इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

× इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है। कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा-अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (गीता ४ । ६)।

\+ अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे

वेदव्यास* और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि† भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ,‡ जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति§ हूँ, गुप्त रखने-योग्य भावोंका रक्षक मौन× हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ;+ क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो÷ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—

भगवान्‌के साथ रह चुके हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के परम प्रिय सखा और उनके अनन्य प्रेमी भक्त हैं । इसलिये अर्जुनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
(महा० वन० १२ । ४६-४७)

'हे दुर्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ । हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ ।'

* भगवान्‌के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं । भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्‌के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं । अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्‌ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है ।

† जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे 'कवि' कहते हैं । शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, नीतिके रचयिता, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. 'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है । उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है । इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

‡ दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है । मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं । दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं । इसलिये जो भी देवता, राजा और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है । न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है । जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है । अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है । इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

× जितने भी गुप्त रखने योग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं । बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रक्खा जाना कठिन है । इस प्रकार गोपनीय भावोंके रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

+ भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है । अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं । इसीसे गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है । इसीलिये भगवान्‌ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है । अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो । इस प्रकार अर्जुनके 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये ?' (गीता १० । १७) इस प्रश्नका भी इससे उत्तर हो जाता है ।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान* ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है?† मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ‡ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥ भीष्मपर्वमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्‌द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्य भक्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्तिका कथन

सम्बन्ध—गीताके दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्‌ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योग-शक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंग-को सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको, जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है, प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

---

* जिस किसी भी प्राणी या जड़वस्तुमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, कान्ति, शक्ति, बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्ति आदि सब-के-सब या इनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं; परंतु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसमें भगवान्‌के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किंतु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है। सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

‡ मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने इस जगत्‌के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

१. गीताके दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्‌ने 'अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन* अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है† ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है‡ ॥ २ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर !§ आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ× ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनको महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया । अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी । वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये; क्योंकि साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है, तबतक वह भगवत्कृपाके परमलाभसे वञ्चित-सा ही रहता है; भगवत्कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता, परंतु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है, 'ओहो, भगवन् ! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ । मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ । यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है ।' ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन् ! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ । आपने अनुग्रह करनेके लिये ही अपना यह परम गोपनीय रहस्य मुझको सुनाया है । 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है ।

* गीताके सातवेंसे दसवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन' है । जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्‌का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ, उन प्रकरणोंको भगवान्‌ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है । अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका लक्ष्य करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है ।

† अर्जुन जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था । अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है ।

§ 'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं ।

× असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपको यहाँ 'ऐश्वररूप' बतलाया है और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा, आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (गीता १० । ४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ ।

हे प्रभो* ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये† ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उन्चास मरुद्गणोंको देख ‡ तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! अब§ इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख× तथा और भी जो कुछ

---

* 'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं । इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं । यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं, तब तो प्रभो ! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ; क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते । इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये ।

१. 'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है । इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है ।

२. अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं । 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं ।

३. 'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है । जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं । उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'का प्रयोग हुआ है ।

‡ इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है । इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवेंमें की जा चुकी है । इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है । अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं । ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३ । २ । ७, अग्निपुराण २७३ । ४) । कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४ । १४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५ । ५७) । कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं ।

४. यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो, ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय ।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ ।

× पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं । ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्' शब्द है । इससे भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इसी मेरे शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो । अर्जुनको

देखना चाहता हो सो देख* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌के रूपको नहीं देख सके, तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको† देख ॥

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा संजय उसका वर्णन करते हैं—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने‡ इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया§॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्ध[1]ानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्य[2]मयं देव[3]मनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, × अनेक अद्भुत

भगवान्‌ने गीताके दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्‌को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो।

† भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने संजयको भी दी थी। अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था। उसे भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके अर्जुनको दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो गये।

‡ संजयके इस कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं।

§ भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्‌ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था।

१. चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है। जिसके समस्त अङ्गोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं।

२. भगवान्‌के उस विराट्‌रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी आश्चर्यजनक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है।

३. जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें 'देव' कहते हैं।

× अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (गीता ११ । १९), परंतु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नेत्रसे युक्त बतलाया गया है।

दर्शनोंवाले,* बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त† और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए,‡ दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए§ और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो× ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा+ ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन÷ प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ऽ ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

* भगवान्के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

† जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं।

‡ जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों, उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं। इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे।

§ विश्वरूप भगवान्ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रक्खी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

× इसके द्वारा विराट्स्वरूप भगवान्के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्स्वरूप भगवान्के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परंतु विराट्स्वरूप भगवान्का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है।

+ यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभक्त–इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्के शरीरके एक देशमें देखा। गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा।

÷ इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने इससे पूर्व भगवान्का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया। इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही।

ऽ अर्जुनने जब भगवान्का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा, तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्व जीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे। भगवान्के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्का स्तवन करने लगे।

अर्जुनके प्रति भगवान्‌का विराट्रूप-प्रदर्शन

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको* और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ† ॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप[1] ॥१६॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सबओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं[2] समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्[3] ॥१७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं[4]
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता[5]
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं । ऐसा मेरा मत है‡ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्त[6]मनन्तवीर्य[7]-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

---

* ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम विशेषरूपसे लिये गये हैं। एवं ब्रह्माको 'कमलके आसनपर विराजित' बतलाकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

† यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ ।

१. यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं ।

२. अर्जुनको तो भगवान्ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे । इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी ।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूप अप्रमेय हैं, अतः उनको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता ।

४. जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, गीताके आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है, उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है ।

५. जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं । भगवान् बार बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है ।

‡ यहाँ अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं ।

६. इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्के विराट् रूपको असीम बतला ही चुके थे, फिर यहाँ उसे 'अनादिमध्यान्त' कहनेका भाव यह है कि वह उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य है। 'यहाँ आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है । ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं ।

७. यहाँ अर्जुनने भगवान्को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है।

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले,* चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले,† प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्‌को संतप्त करते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्[1] ॥२०॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी[2] हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं‡ तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं§ ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[3] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा[4]
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण× और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं ।

† इससे अर्जुन यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ ।

१. समस्त विश्वके महान् आत्मा होनेसे भगवान्‌को 'महात्मन्' कहा है ।

२. 'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि शेष बचे हुए कितने ही देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं ।

§ इससे अर्जुनने यह व्यक्त किया है कि मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं, वे आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ ।

३. जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं । मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं । अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदायका वाचक समझना चाहिये । पितरोंके नाम गीताके दसवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोककी टिप्पणीमें बतलाये जा चुके हैं ।

४. कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं । यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है । भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं । इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं । देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं । कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं । राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है । कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं । इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' पद है ।

× ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो

समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं॥२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो[1]॥ २४॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों*॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ[2]
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें

गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी टिप्पणीमें किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं —

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान्॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे॥
(वायुपुराण ६६। १५-१६)

और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश॥
(वायुपुराण ६६। ३१-३२)

१. भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके विष्णुरूपसे प्रकट हो जाइये।

* यहाँ अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं, इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका वह विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई संदेह ही नहीं रह गया। एवं प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो ! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया, परंतु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये।'

२. वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

प्रवेश कर रहे हैं* और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य† तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं‡ ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं§ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं । हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी, उसीके अनुसार भगवान्ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परंतु भगवान्के इस भयानक उग्र रूपको देखकर अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौन हैं तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं । इसीलिये वे भगवान्से पूछ रहे हैं—

---

* इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ, उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे ।

† पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे । अर्जुनके मतमें इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था । यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन् ! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।'

‡ इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्को प्राप्त करनेवाले थे । इसी हेतुसे उनको 'नरलोकके वीर' कहा गया है । वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे । उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं ।

यहाँ मुखोंके साथ 'प्रज्वलित' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय हो आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं ।

§ इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतङ्ग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतङ्गोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता* ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ ।† इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।‡ इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा§ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग ।× ये सब शूरवीर

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयंकर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्यको मैं नहीं जानता । अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये ।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं । भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ । अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो ।

‡ इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ।' भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयंकर दृश्य दिखलाया है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि गुरु' ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे, तब भी ये बचेंगे नहीं । इनका तो मरण ही निश्चित है । जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके । इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है ।

अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता । इसीलिये भगवान्ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है । इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है । भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा ।

१. 'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसंदेह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ ।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो ।

पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा* ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार।† भय मत कर।‡ निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर§ ॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया—इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

---

* जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकार-का संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

† द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारंगत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दुःशलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसीपर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी संदेह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरेद्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया है कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशङ्का करते थे, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रियधर्मानुसार इन्हें मारनेके जो तुम निमित्त बनोगे, इसमें तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा, वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

‡ इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्ररूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न संतप्त ही होओ।

§ अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शङ्का थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (गीता २ । ६), उस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ* नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके† भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला‡ ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—अब छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक अर्जुन भगवान्‌के स्तवन, नमस्कार और क्षमायाचनासहित प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं§ ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास!× जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं+ ॥

१. अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उनका एक नाम 'किरीटी' पड़ गया था।

स्वयं अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरकुमारसे कहा है—

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥

(महा० विराट० ४४। १७)

* इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल हो गये कि भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस रूपका संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

† इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी बड़ी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही। इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

‡ इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब आश्चर्य और भयके कारण उनका हृदय पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उनकी वाणी गद्गद हो गयी। फलतः उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

§ भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही यह सब देख रहे थे, सारा जगत् नहीं। जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अङ्ग हैं। अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रूपका ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं। उनको भगवान्‌का जो विराट्‌रूप दीखता था, उसीके अंदर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे। इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है।

× यहाँ 'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं। यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं। अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है।

+ जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको गीताके सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है। अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है। अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले* तथा जानने योग्य† और परम धाम‡ हैं। हे अनन्तरूप§ ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है× ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च[1] ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः[2]
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो;+ क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं÷ ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये भगवान्से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि[3]
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है (गीता ७ । २६) ।

† इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, गीताके तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सतरहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता; वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं (गीता ८ । २१)

§ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता ।

× इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है ।

१. इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं । इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है ।

२. 'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि अर्जुन भगवान्के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण हजारों बार नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उनको नमस्कार ही करना चाहते हैं ।

+ 'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ ।

÷ अर्जुन इस कथनसे भगवान्की सर्वताको सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है । विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों । अतएव सब कुछ आप ही हैं । वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है ।

३. प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता । प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है । किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी । इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद'—इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं । यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं ।

एकोऽथवाप्यच्युत¹ तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है* और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ† ॥ ४१-४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं,‡ हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्² प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको

---

१. अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था; इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका ख्याल नहीं रक्खा; अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई। बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया।

प्रभो ! कहाँ आप और कहाँ मैं ! मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण', 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा।

† यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो ! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है। यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ। अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है। परंतु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं। मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

‡ इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं—'भगवन् ! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं, उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं; परंतु हे प्रभो ! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है। अतएव हे सर्वेश्वर ! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं। समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं। अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है।

२. 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं, अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है।

प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ* । हे देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं† ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्‌से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है,‡ इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु-रूपको ही मुझे दिखलाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ,§ इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये× ॥ ४६ ॥

---

* जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं । इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो ! इस समस्त जगत्‌का नियमन करनेवाले यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप—सबके एकमात्र महेश्वर हैं और आपके गुणगौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं । मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ । मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा । अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ । आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये ।

† यहाँ अर्जुन यह प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये ।

१. इससे अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णु-रूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये । यहाँ केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्‌का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किंतु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है ।

‡ अर्जुनने इससे यह भाव दिखलाया है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वर-की मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परंतु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ ।

२. अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन 'सहस्रबाहो' 'विश्वमूर्ते'—इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं ।

§ महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे; परंतु इस समय अर्जुन भगवान्‌के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं।

×(१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उन्चासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे* यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था† ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषं रूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे ? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा आगे अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

* इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो, दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

† यद्यपि यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें विराट् रूपोंके दर्शन कराये थे, परंतु उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था।

१. वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोगस्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई भगवान्के इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है !

हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ* ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोले—वासुदेव† भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया‡ ॥ ५० ॥

---

* वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है । यज्ञ-क्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है ।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है ।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं ।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है ।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है। इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है ।

१. 'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप । वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है; किंतु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये; क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते । अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्का दिव्य चतुर्भुज निजी रूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्ने उनको दिखलाया ।

† भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है ।

‡ जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया ।

भगवान् विष्णु

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके चतुर्भुजरूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं[1] जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ* ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ† ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

परंतु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये‡, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

---

१. भगवान्‌का जो मानुषरूप था, वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्‌के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है।

* इससे अर्जुनने यह बतलाया कि मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे, उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ।

२. 'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करानेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका संकेत किया गया है। इससे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

† गीताके नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे तथा गीताके सतरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं, किंतु इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही।

पर इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना अनन्यभक्तिका एक अङ्ग है। इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्ति में हेतु हैं—सकामभावसे किये जाने-पर नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्‌का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्‌के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

‡ भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्‌का

सम्बन्ध—अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है* ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु बतलाया गया है।

यद्यपि सांख्ययोगके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है और वह सर्वथा सत्य है, परंतु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

१. जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, अपनेको केवल निमित्तमात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करनेवाला है।

२. जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के परायण है।

३. भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्‌में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती और जो भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्‌का भक्त है।

४. शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्‌को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

५. समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझने अथवा सबमें एकमात्र भगवान्‌को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है।

* इस कथनका भाव पिछले चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुणकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्यभक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार-स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।*
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं,† वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं; इसपर कहते हैं—

---

* 'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्‌ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है।

१. 'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्‌ने विधान भी नहीं किया है।

२. भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है।

† गोपियोंकी भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनको भजना है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ (१०।४४।१५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे (अभिन्नभावसे) ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत* और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं† ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गतिकी प्राप्तिको कठिन बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है,‡ क्योंकि देहाभिमानियोंके-द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है§ ॥ ५ ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

१. जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो—किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं ।

२. जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं ।

३. जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं ।

४. जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं ।

५. इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती । समस्त जगत्‌में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है ।

* जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं ।

† इस कथनसे भगवान्‌ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए यह कहा है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ । वह ब्रह्म मैं ही हूँ, यही भाव भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मको प्रतिष्ठा हूँ---इस कथनसे दिखलाया है ।

‡ पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें आसक्तचित्तवाले पुरुषोंको परिश्रम विशेष है, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है; साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता । इसलिये निर्गुणउपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है ।

§ उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है । अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है । इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है ।

किंतु जो गीताके छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, वह कथन जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं ।

भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले* भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके† मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं‡ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ§ ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वश्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया । इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा,× इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

---

* भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति भगवान्पर निर्भर और निर्विकार रहना, उन दुःखोंको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने आपको भगवान्के समर्पण कर देना—यही भगवान्के परायण होना है ।

† कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्की आज्ञा और संकेतके अनुसार समस्त शास्त्रानुकूल कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्के समर्पण करना है ।

‡ एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किंचित् अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको भजना है ।

§ इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके आक्रमणसे बचती हो । जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगें उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक भविष्यमें जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा- इसकी गणना नहीं हो सकती । इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं ।

जो भक्त मन-बुद्धिको भगवान्में लगाकर निरन्तर भगवान्की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपनी प्राप्ति यहीं करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परम धाममें ले जाते हैं—अर्थात् जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर, उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परमधाममें ले जाते हैं । यही भगवान्का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है ।

× जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं, उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्में लगाना है तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्में लगाना है । इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करना चाहिये ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर* ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा† । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही

* भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं । अतः भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो, उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है ।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना ।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं—यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना ।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों, उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना ।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना ।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना ।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना ।

(७) गीताके चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना ।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये । साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है । अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये; बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये ।

† इस श्लोकमें कहे हुए 'मत्कर्म' शब्दसे उन कर्मोंको समझना चाहिये जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है ।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है ।

प्राप्त होगा* ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर† ॥ ११ ॥

* इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है । जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ । अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है ।

१. इस अध्यायके नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारण वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्‌का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं; अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है, परंतु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता । इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है ।

† यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है, उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही 'सब कर्मोंका फलत्याग करना' है ।

इस अध्यायके छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । केवल साधकोंकी प्रकृति, भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है । समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; 'सर्वकर्मफलत्याग'में केवल फल-त्यागकी प्रधानता है । यही इनका मुख्य भेद है ।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्‌के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है, मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्‌के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे प्रारब्धानुसार जो कुछ भी सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है । अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं ।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है । अतएव वह भगवान्‌को समस्त जगत्‌में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके तथा भगवान्‌की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है । उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (गीता ११ । ५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

केवल 'सब कर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करता हूँ । वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (गीता २ । ४७ से ५१ तक), अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य

सम्बन्ध—छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्य ध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया। इससे यह शङ्का हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शङ्काको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है,*

है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है; इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता, स्वभाव और साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसंग ही कैसे आ सकता है!

भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्म फलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है और न एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक-दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किंतु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये इस अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

* यहाँ 'अभ्यास' शब्द इसी अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फलका त्याग ही है। अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यास-रहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको भी समझता है; परंतु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्म-

ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है* और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है;† क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है‡ ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें उन भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

फलकी इच्छाका त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों, उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यास-हीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यास-की अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

* यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् उपास्यदेव मानकर भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको स्थिर कर देनेको यहाँ 'ध्यान' कहा गया है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं; क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त विवेकज्ञान और ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; परंतु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चञ्चलताका नाश होता है; परंतु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

† ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। ऊपर बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परंतु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

‡ इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यानविषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है, जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप निष्कामभाव है; क्योंकि निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है* तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम† और क्षमावान्‡ है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है,§ मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है× और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है,+ वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला÷ मेरा भक्त मुझको प्रिय हैऽ ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

* भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। जैसे भगवान्‌में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

† यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके हेतुओंके वाचक हैं न कि हर्ष-शोकके; क्योंकि सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १ । २ । १२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीड़ारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किंतु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

‡ अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। क्षमाकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें विस्तारसे की गयी है।

§ भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तको यहाँ 'योगी' कहा गया है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही संतुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, किसी भी घटनामें संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असंतोषका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह पूर्णकाम है, यही उसका निरन्तर संतुष्ट रहना है।

× इससे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती।

+ जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जिसे सर्वत्र भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

÷ नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्‌के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्‌में अर्पण करना' है।

ऽ जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न है; जिसका भगवान्‌में अहैतुक और अनन्य प्रेम है, जिसकी भगवान्‌के स्वरूपमें अटल स्थिति है, जिसका कभी भगवान्‌से वियोग नहीं होता, जिसके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हैं, भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान्‌के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे सिद्ध भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

१. पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किंतु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता* और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता † तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, ‡ वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित,§ बाहर-भीतरसे शुद्ध,× चतुर,+ पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, ÷ वह सब आरम्भोंका त्यागीऽ मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो न कभी हर्षित होता है, A न द्वेष करता

---

* सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, संताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता, बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसी व्यक्तिको उद्वेग होता है तो उसमें उस व्यक्तिके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं; क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है, वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

† ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (गीता ६ । २२); इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

‡ अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किंतु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है और वह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है; किंतु भगवान्के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

§ परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किंचित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकाङ्क्षासे रहित कहा है।

× भगवान्के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

+ जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है।

÷ शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना--इत्यादि दुःखके हेतु तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परंतु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

ऽ संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि। पर भगवान्का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्के हाथकी कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सब आरम्भोंका त्यागी' ही है।

A भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

है,* न शोक करता है,† न कामना करता है‡ तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है,§ वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें× और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है+ और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

---

* भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता । उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है ।

† अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है । भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती । अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

‡ भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता ।

§ यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है । भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है । उनमें उसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (गीता ४ । २०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभ और अशुभ कर्मोंका त्यागी' कहा गया है ।

१. संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किंतु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता । पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है । ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है ।

× यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं, ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं; परंतु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है । उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किंचित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है । सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है । जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता, वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता । भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है । उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशङ्का ही नहीं रहती । इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है ।

+ मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता । वह सदा सम रहता है ।

२. जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों, वे भी 'अनिकेत' ही हैं । जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है ।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,* मननशील † और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है‡ तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि§ भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है× ॥

* भगवान्के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किंचिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसको स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

† मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है; परंतु यहाँ भगवान्के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है; बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही करवाया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। गीताके अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा गीताके सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परंतु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इसलिये यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

‡ भक्त अपने परम इष्ट भगवान्को पाकर सदा ही संतुष्ट रहता है। बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें संतुष्ट रहता है।

§ भक्तको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

× उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं तथा सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परंतु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'समदुःखसुखः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जितः' तथा 'संतुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'संतुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभाव-भेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्का प्रिय भक्त है।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर* इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको† निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं‡ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥ भीष्मपर्वमें छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

इसके सिवा कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किंतु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (गीता ३ । ३३) इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किंतु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता–यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्त भावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

गीताके दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

* सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें जो प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो, वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्‌को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हींपर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

† भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

‡ जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं; इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; परंतु जिन साधक भक्तोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्‌पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। ऐसे प्रेमी भक्तोंको सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'* इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'† इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान‡ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है॥ २॥

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत् क्षेत्रं यच्च[1] यादृक् च[2] यद्विकारि[3] यतश्च यत्[4]।

---

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे 'क्षेत्र' कहते हैं और इसीलिये गीताके पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है।

† इससे भगवान्‌ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको गीताके सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७। ५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८। ३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५। १६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिङ्ग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

‡ इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हींके भावोंके द्योतक शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

१. 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और उसे पाँचवें श्लोकमें बतलाया है।

२. 'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

३. 'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

४. जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

सं च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा* बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥†

१. 'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवेंमें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है ।

२. 'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक बतलाया गया है ।

३. 'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इन्हींके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।

४. 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं । यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं ।

* मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार यहाँ बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं ।

५. स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्मपञ्चमहाभूत हैं—गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः', 'वायुः' और 'खम्' के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है ।

† इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है, जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सांख्यकारिका ३)

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है । महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं । पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं । इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहंकारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किंतु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है ।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।' (२ । १९) विशेष यानी पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं ।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है ।

पाँच महाभूत, अहंकार*, बुद्धि† और मूल प्रकृति‡ भी; तथा दस इन्द्रियाँ§, एक मन× और पाँच इन्द्रियोंके विषय+ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६ ॥

तथा इच्छा,÷ द्वेष,S सुख,A दुःख,B स्थूल देहका पिण्ड, चेतनाC और धृतिD—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया।E ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७ ॥

---

* यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है। अहंकार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं। यहाँ 'अहंकार' शब्द उसीका वाचक है।

† जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसको यहाँ 'बुद्धि' कहा गया है।

‡ यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ मूल प्रकृति समझना चाहिये, जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिसको 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है।

§ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। इन सबका कारण अहंकार है।

× यहाँ 'एक' शब्दसे उस मनको ही बतलाया गया है जो समष्टि अन्तःकरणकी मनन करनेवाली शक्ति-विशेष है, संकल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है। यह भी अहंकारका कार्य है।

+ यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पदोंका अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समझना चाहिये, जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। ये सूक्ष्म भूतोंके कार्य हैं।

÷ जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' शब्द है।

S जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम 'द्वेष' है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं।

A अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम 'सुख' है।

B प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक 'दुःख' है।

C अन्तःकरणमें जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे गीताके दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' है, यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है; अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

D गीताके अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, उसीका वाचक यहाँ 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

E यहाँतक विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

१. अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है।

२. मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति,

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना*, क्षमाभाव,† मन-वाणी आदिकी सरलता,‡ श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, § बाहर-भीतरकी शुद्धि,× अन्तःकरणकी स्थिरता+ और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह÷ ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनाऽ ॥८॥

योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है।

* किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना, वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहित-कारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं, इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' अर्थात् किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना है।

† अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

‡ जिस साधकमें मन, वाणी और शरीरकी सरलताका भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

§ विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

× सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंको 'शौच' कहा जाता है।

+ बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'अन्तःकरणकी स्थिरता' है।

÷ यहाँ 'आत्मा' से अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरको समझना चाहिये। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनका निग्रह करना है।

१. इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' है।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहंकार' कहलाता है।

ऽ जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती

चार अवस्था

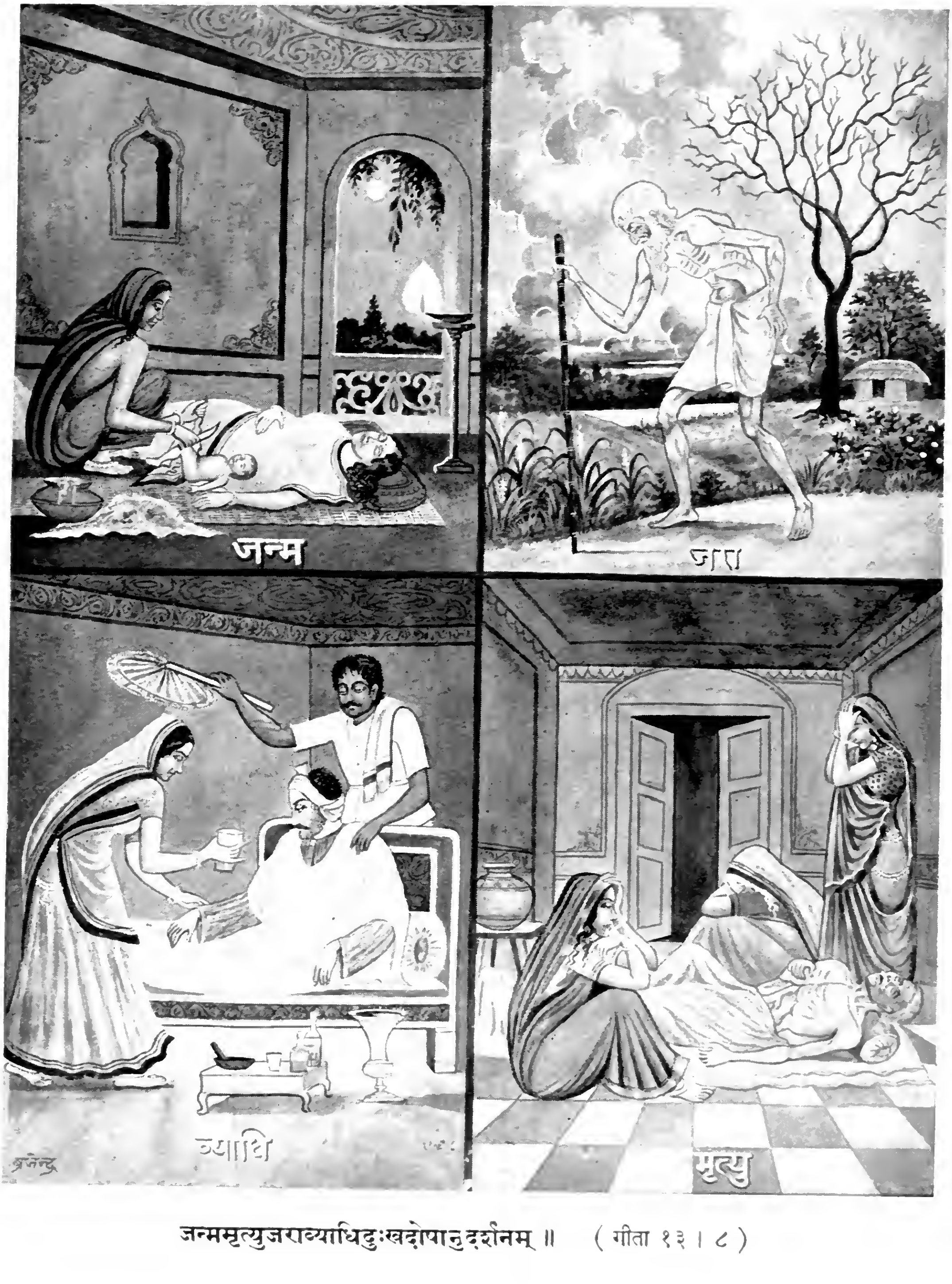

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (गीता १३ । ८)

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति† और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना‡—यह सब ज्ञान है,§ और जो इससे

हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

१. यद्यपि आठवें श्लोकमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य होनेकी बात कही जा चुकी, किंतु स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है; इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

२. अहंकारके अभावकी बात पूर्वश्लोकके 'अनहंकारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है।

३. अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना--सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

४. जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों, ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

५. यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उसमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

* भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्‌का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

† आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

‡ तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

§ 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं;

विपरीत है, वह अज्ञान* है—ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है। उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमरत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं[1] यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म[2] न सत् तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही† ॥ १२ ॥

इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है—यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया; किंतु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं, वे तो सबमें रहते ही हैं। इनके अतिरिक्त 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन'—इनमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

* उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं, वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं; इसलिये वे सब अज्ञान ही हैं। अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

१. यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बतलाया है।

२. यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है। 'ब्रह्म' पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये 'ब्रह्म' पदके साथ 'परम्' विशेषण दिया गया है।

† जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं। स्वतः प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं; किंतु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है।

यद्यपि गीताके नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'; किंतु वहाँ विधि-मुखसे वर्णन है, इसलिये भगवान्का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ, उचित ही है। पर यहाँ निषेधमुखसे वर्णन है, किंतु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उप० २ । ९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन-वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥*

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है†; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है‡ ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है§ तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है× ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तद् विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥+

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है÷ एवं वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैऽ तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही हैA ॥१५॥

* यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (३ । १६) में अक्षरशः आया है।

† वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है। उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है। कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है। वह सब जगह आँखवाला है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सब जगह सिर-वाला है। जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं। वह सब जगह मुखवाला है। उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है। अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है। वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है। जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है।

‡ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है, उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्‌का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है।

§ अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है। श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १९)

'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है।'

अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है।

× अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है। वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है। यही उसकी अलौकिकता है।

+ श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥' (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वह इस सम्पूर्ण जगत्‌के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।

÷ वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है, इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है। अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

ऽ जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता; इसलिये वह अविज्ञेय है।

A सम्पूर्ण जगत्‌में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों। इसलिये वह अत्यन्त

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है * तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः[1] परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं[2] ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति† एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य‡ है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है§ ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया× । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके अनन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति

समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है । इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है ।

* इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है; किंतु यह भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है ।

१. यहाँ 'तमसः' पद अन्धकार और अज्ञान अर्थात् मायाका वाचक है और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञानस्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे मायासे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है ।

२. उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ किया गया है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्य-शरीरका परम कर्तव्य है; इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है । अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये ।

† चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है तथा उन सबमें जितनी प्रकाशनशक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है ।

‡ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है ।

§ वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है । जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है । ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है । यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है ।

× इस अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है, सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

+ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्‌के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसंगवश किया गया । इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभाव-का और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ । अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति* और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान† । और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्व श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया । अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है‡ और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है§ ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है× और इन गुणोंका संग ही इस

---

१. इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है । इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है । तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २ । ५ । २२ तथा ११ । २४ । ५) । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है ।

* यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है । गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है । सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है । भेद इतना ही है कि वहाँ सातवें अध्यायमें उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चमहाभूतादिके सहित प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है ।

† जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादि-सिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये ।

‡ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है । बुद्धि, अहंकार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है । ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; क्योंकि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है । सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

(सांख्यकारिका २२)

'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहंकारकी और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई ।'

गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है ।

§ प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है । प्रकृतिके संगसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका संग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है ।

× प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्मा-

जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है† । वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है‡ ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है,§ वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी× फिर नहीं जन्मता + ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है । इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

का सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है, अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है ।

* मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत्-योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं, वे असत् हैं । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसिद्ध सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका संग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी, वासनाके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा । इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके संगको कारण बतलाया गया है ।

† प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है ।

‡ इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है ।

§ जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है, सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके संगसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें नित्य स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है । तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है ।

× वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' का अर्थ निषिद्ध कर्म करता हुआ नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (गीता ५ । २६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है । इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (गीता ३ । २१) । पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है ।

+ प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है । जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (गीता १३ । २१) । अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं;* अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा† और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा‡ देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।§
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान× ॥ २६ ॥

---

* गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है । इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है ।

परंतु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है ।

† सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं-ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है ।

यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है । इसका विस्तार 'गीतातत्त्वविवेचनी' में देखना चाहिये ।

‡ जिस साधनका गीताके दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है । अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है ।

§ बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है ।

तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो जबालाके पुत्र सत्यकामकी भाँति उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है ।

१. तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति'से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है ।

× इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है, वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है,

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वर-को नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है* ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता,† इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है‡ ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिसको गीताके सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' कहा गया है, वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका यानी 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है, वही उनका उत्पन्न होना है ।

* यहाँ 'परमेश्वर' शब्द प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतन तत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ' के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है । समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्व परमात्माको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभाव-से स्थित देखना' है ।

† एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है । जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है; क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है, वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं । अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परंतु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है । इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता । अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वज्ञ, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है, अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है ।

‡ गीताके तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं । इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं । अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृति-द्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है । अतः सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है ।

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है,* उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शङ्काका निवारण करनेके लिये अब भगवान्–इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका संकेत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा† शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता ? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता§ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है× ॥ ३३ ॥

---

* जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है।

१. इस अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें आत्मा और तीसवेंमें 'ब्रह्म' कहा गया है, उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है। अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है।

† जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो, उसे 'अनादि' कहते हैं। प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, उसे 'निर्गुण' कहते हैं। अतएव यहाँ 'अनादि' और 'निर्गुण'—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है।

‡ जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं बनता और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता।

§ आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता।

× इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गरूप समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने संकेत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं,* वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।३४।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३॥ भीष्मपर्वमें सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया। वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। इससे गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे

दोषोंसे ही युक्त होता है। वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता, निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है।

* इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और गीताके पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, इस श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द उसी 'तत्त्वज्ञान' का वाचक है।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है। इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है। जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है, वह अज्ञानमूलक है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है।

इस श्लोकमें 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है। अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही 'भूतप्रकृतिमोक्ष' है तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न-भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है, यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है।

अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है, अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है—इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है; वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सच्ची वस्तु समझनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था। अतः वास्तविक सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है; यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है।

हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं* ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके† अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते‡ ॥ २ ॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है§ और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ×। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है+ ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं,÷ प्रकृति तो उन

१. श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं, उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

* यहाँ 'मुनिजन' शब्दसे ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंको समझना चाहिये; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं, जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

२. पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

† इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेदभावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता।

§ समस्त जगत्‌की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं; उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' शब्द है। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

× महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायका जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

+ उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है।

÷ यहाँ 'मूर्ति' शब्द देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है। उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है।

सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—जीवोंकि नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी, किंतु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी। इसलिये अब वे गुण क्या हैं? उनका संग क्या है? किस गुणके संगसे अच्छी योनिमें और किस गुणके संगसे बुरी योनिमें जन्म होता है?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण† अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं‡ ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है,§ वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है× ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान+। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है÷ ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवालेA तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जानB। वह इस

* इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है। उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीर-धारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ।

† अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं और तीनों परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है।

‡ जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है और वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता। अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है। इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है।

§ सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है।

× 'सुख' शब्द यहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान हो जाता है तथा 'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है; वह उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको सुख और ज्ञानके संगसे बाँधना है।

+ कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्ष-स्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

÷ 'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

A अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है।

B इस अध्यायके सतरहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है और यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न

जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है† और रजोगुण कर्ममें ‡ तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है§ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण,× सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण,+—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण÷ होता है अर्थात् बढ़ता हैA ॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण

बतलाया गया—इसका अभिप्राय यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है।

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

†'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (गीता १८। ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

‡ 'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

§ जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है—यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद' में लगाना है।

× रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोगवासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है, यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

+ जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है—यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

÷ जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं—यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

A गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बतलाये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च। ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(११। १३। १०)

'शास्त्र, जल, संतान, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है।'

जाननेकी इच्छा होनेपर क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जिस समय इस देहमें* तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है † ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं‡ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं§ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्[१]।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है× तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

* अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

† शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही 'प्रकाश'का उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है। उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

‡ जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है, धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धनोपार्जनके समय कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है, उस धनकी लालसाका नाम 'लोभ' है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है। रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

§ मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाना ही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगना, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होना, यह 'अप्रवृत्ति'का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना—यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

१. 'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है, उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता।

× इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर* कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ† मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है; इसपर कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है।‡ राजस कर्मका फल दुःख§ एवं तामस कर्मका फल अज्ञान× कहा है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया। अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान+ उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्संदेह

भी सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्वसंस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है, उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

* सात्त्विक और तामस पुरुषके भी हृदयमें जिस समय बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजस भाव बढ़े हुए होते हैं, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

† जिस समय सात्त्विक और राजस पुरुषके भी हृदयमें तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामस भाव बढ़े हुए हों, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

१. सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें संचित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

‡ जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

§ जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (गीता १८। २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परंतु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजस भाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही।

× जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (गीता १८। २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

\+ यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

लोभ* तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥†

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं‡ ॥

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका संग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्य-द्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गति आदिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा बतलाया जाता है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जिस समय द्रष्टा§ तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसी-को कर्ता नहीं देखता× और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणों-को उल्लङ्घन करके÷ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार-के दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता हैA ॥ २० ॥

---

* यहाँ 'लोभ' शब्दसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजस भावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

† महाभारत, अश्वमेधपर्वके उन्चालीसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है।

‡ चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तो दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गति होनेकी बात कही गयी है और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है। इसलिये ही यहाँ सदा तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्यको नरकादिकी प्राप्ति होनेकी बात भी कही गयी है।

§ मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्ता और भोक्ता बना रहता है, परंतु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

× इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन-मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (गीता ५। ८, ९); अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३। २८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता न देखना है।

+ अपनेको निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझ लेनेपर जो उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताका न रहना और सर्वत्र एवं सदा-सर्वदा केवल परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाना ही उसे तत्त्वसे जानना है। ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भाव यानी भगवान्के स्वरूपको प्राप्त होना है।

÷ रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुन-र्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना यानी तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करना है।

A जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकार-के दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके संघातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है तथा जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको† तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको‡ भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता§ और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है× एवं उस स्थितिसे कभी विचलित

ब्रह्मको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है।

* गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता। इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशके विषयमें कहा है कि उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप सत्त्वगुणकी प्रकाश-वृत्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है तो गुणातीत पुरुष उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है।

† नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है। इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति' के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है।

‡ अन्तःकरणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है। इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन ? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह'के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं, तब तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता। दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है।

१. गुणातीत पुरुषका तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थों और घटनाओंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उदासीनके सदृश स्थित कहा जाता है।

§ जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात्कारसे नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फलभोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परंतु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका परिवर्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा निर्विकार एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है।

× इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय—ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका

नहीं होता * ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला,† मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला‡ और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है§ ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें सम है,× मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है+ एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमान-से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है÷ ॥ २५ ॥

इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असङ्ग, सदा एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं यह समझकर परमात्मामें स्थित रहना' है।

* गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता।

† साधरण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किंतु 'प्रकृतिस्थ' हैं और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (गीता १३ । २१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है। इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तः-करणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है। यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है।

‡ जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं सुखप्रद हो, वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला हो, वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है। साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किंतु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता, वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है।

§ किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है। गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता।

१. गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं, उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा है।

× मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं; परंतु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

+ यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है, तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं; किंतु वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

÷ अभिप्राय यह है कि इस अध्यायके बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था। एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है, उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना जाता है; किंतु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है,* वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है† ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो[1] हि प्रतिष्ठाहममृतस्या[2]व्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य[3] सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

है, उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी रहे, तबतक साधकको समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

* केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाय, उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्को निरन्तर भजना है।

† गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

१. ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनसे भगवान्ने यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अर्थात् मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं हैं, एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।' क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय, निर्गुण स्वरूप है, वह तो एक ही है, परंतु सगुणरूपके साकार और निराकार—ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्का सगुण अव्यक्त निराकार रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्के साकार रूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्का साकार विराट् स्वरूप है।

२. 'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है, उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं ही हूँ, अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और गीताके तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

३. जो नित्यधर्म है, जिस धर्मको गीताके नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्य' कहा है और बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ*॥२७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥ भीष्मपर्वमें अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)

संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य प्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिका साधन होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

* गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख'के नामसे और अठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख'के नामसे कहा गया है, उसी नित्य परमानन्दको यहाँ 'ऐकान्तिक सुख' अर्थात् अखण्ड एकरस आनन्द कहा गया है। उसका आश्रय (प्रतिष्ठा) अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

१. 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात अगले चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

२. संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्यधामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

संसार-वृक्ष

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता १५ । १)

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं* तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं†, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है‡ ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली§ देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ× नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है।+ इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर÷—॥ ३ ॥

---

* यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है, तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं; क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं, किंतु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

† पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्‌को ही बतलाया है।

१. मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं। दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते।

§ अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (गीता १३ । २१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है और उन शाखा-स्थानीय देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके रसोपभोगको ही यहाँ कोंपल बतलाया गया है।

× ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं।

+ इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी। स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते।

÷ इस संसार वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं, वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है। विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त† ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही;‡ वही मेरा

आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है । इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसारवृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है ।

* इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है, उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं । उस सर्व-शक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसंधान करते रहना है, यही उस परम पदको खोजना है । अतः उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसंधान करनेके लिये अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरण लेकर—उसका अनन्य आश्रय लेकर उसीपर पूर्ण विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाना चाहिये ।

१. जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं ।

२. जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं ।

३. 'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है । अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं ।

४. जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं, जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं—ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं ।

† शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है । इन सबसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है ।

‡ समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (गीता १५ । १२) ।

परम धाम है* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता-ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदिपुरुष पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करना बताया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे कौन कैसे जानता है; अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है† और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको‡ आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है§ ॥ ८ ॥

---

* जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा भाव और स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (गीता ८ । २१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः।'

(बृहज्जाबाल उप० ८ । ६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है।'

१. 'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है। इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाया है।

† जैसे सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (गीता १३ । १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है। यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्‌ने अपना सनातन अंश बतलाया है।

‡ पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

२. जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

३. मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है।

§ यहाँ आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है, गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है और वायुके स्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर दूसरे स्थानमें ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें ले जाता है।

यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है* ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको–इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं† ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; ‡ किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते§ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध–छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं–पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्माको क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परमधामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते । इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी । अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान× ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ+ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय

बन सकता, तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है । गीताके दूसरे अध्यायके २२ वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है ।

* वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किंतु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानसे अनादि सम्बन्ध माना हुआ है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है (गीता १३ । २१) । श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।' (कठोपनिषद् १ । ३ । ४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं ।'

† ज्ञानीजन शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है–ऐसा समझते हैं ।

‡ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे उच्चकोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है ।

§ जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है, ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं । ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते ।

× सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं–ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है । इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं ।

\+ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा

चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ* ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ† ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है‡ और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ§ तथा वेदान्तका कर्ता× और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थ वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्द-वाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करनेके बाद उसे जाननेवालों-की महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम' का प्रकरण आरम्भ करके पंद्रहवें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकों-में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते+ ॥ १६ ॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है, वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

* 'ओषधिः' शब्द पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

† यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि—ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

‡ पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं; यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

§ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ।

+ जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन गीताके सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७ । ४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८ । ४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३ । १) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है, उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है,* जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है†॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ,‡ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

यो मामेवमसम्मूढो[1] जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्[2] भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है,§ वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है× ॥ १९ ॥

'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है और 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है । यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है ।

* 'उत्तम पुरुष' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्का वाचक है, वह पूर्वोक्त क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे विलक्षण और अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

† जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है ।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

(१ । १०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है । प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है ।'

‡ अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सम्बन्धरहित और अतीत हूँ । अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किंतु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ; क्योंकि वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ ।

१. जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो, जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो, उसे 'असम्मूढ' कहते हैं ।

२. इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है । अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह बतलाया है कि मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद् सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम निर्गुण-सगुण—गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष मान लेना ही मुझको 'पुरुषोत्तम' जानना है ।

× भगवान्को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्को सब प्रकारसे भजना है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है* ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परंतु दूसरा प्रसंग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप[3] आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

---

१. इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है। मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये।

२. भगवान्ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुनने और धारण करनेके पात्र हो।

* इस अध्यायमें वर्णित भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

३. अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। गीताके सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे

अहिंसा[1] सत्यमक्रोधस्त्यागः[2] शान्तिरपैशुनम्[3] ।
दया[4] भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं[5] ह्रीरचापलम्[6] ॥ २ ॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज,* क्षमा, धैर्य,† बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं‡ ॥ ३ ॥

दम्भो[7] दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्गरूपमें निरूपण हुआ है, यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है ।

१. किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिक मात्रामें, मध्य मात्रामें या थोड़ा-सा भी किसी प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना—हर हालतमें हिंसा है । इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना, वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न कष्ट पहुँचाना और न किसी प्रकारकी हानि ही पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं ।

२. केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है, एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है ।

३. दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है ।

४. किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये विना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं । दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है । यही अहिंसा और दयाका भेद है ।

५. अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं ।

६. हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है । इसीको प्रमाद भी कहते हैं । इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं ।

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धैर्य' है ।

‡ इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है । अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्से युक्त है ।

७. मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योगसाधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना 'दम्भ' है ।

हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड* और अभिमान† तथा क्रोध,‡ कठोरता§ और अज्ञान× भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं+ ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये÷ और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है । इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है,ऽ एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला । उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानतेA । इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

---

* विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें गर्व होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'घमण्ड' है ।

† अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है ।

‡ बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है ।

§ कोमलताके अत्यन्त अभावका नाम कठोरता है । किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है, विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं ।

× सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ 'अज्ञान' है ।

\+ इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है । अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये ।

÷ इसी अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं ।

१. 'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं । यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है ।

ऽ मनुष्योंके दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है । 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये ।

A जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है । मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये । भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको बिल्कुल नहीं समझते; इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके,* अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है ? ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं† ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके‡ संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए§ मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं× ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ+ ॥

---

* यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्की कोई नित्य सत्ता है। अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है।

† नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं। उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं।

‡ जिनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदि शास्त्रविरुद्ध और भ्रष्ट होते हैं, वे भ्रष्ट आचरणोंवाले कहे जाते हैं।

§ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य मनमें उठनेवाली कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं। उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं। इसीसे उनको सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है।

× विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकद्दमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसंचय करनेका प्रयत्न करना है।

+ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहंकारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।' अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—'अरे ! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है,

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं* ॥ १५-१६ ॥

आत्मसम्भाविताः[1] स्तब्धा[2] धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः[3] ॥ १८ ॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें‡ ही डालता हूँ ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर§ जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥२०॥

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है; इसपर कहते हैं—

सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हमीं हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

* अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

१. जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं, वे 'आत्म-सम्भावित' हैं।

२. जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

३. दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना एवं भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते रहना—इन सब दोषोंसे युक्त मनुष्यको 'अभ्यसूयक' कहते हैं।

† सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे परमेश्वर स्थित हैं। अतः किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

‡ सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

§ मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर, दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको न पानेकी बात कही है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥२१॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं*। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है,† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है॥२२॥

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है या नहीं? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम-गतिको और न सुखको ही‡॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है§॥२४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥१६॥ भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः॥४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोगनामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६॥ भीष्मपर्वमें चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥४०॥

---

* स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं। मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं। धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं। मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं। काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है।

† काम, क्रोध और लोभ आदि आसुरी सम्पदाका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवी-सम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है।

‡ वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है। आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान शास्त्रोंसे ही होता है। कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है। ऐसे कर्म करनेवाले कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता। अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता।

§ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है। अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये। अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये।

तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)

श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

सम्बन्ध—गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्ने निष्काम-भावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है, उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, यह तो ठीक ही है; परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं तथा यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं,* उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी†? ॥ १॥

---

* यद्यपि शास्त्रविधिके त्यागकी बात गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी थी और यहाँ भी कहते हैं; पर इन दोनोंके भावमें बड़ा अन्तर है। वहाँ अवहेलनापूर्वक किये जानेवाले शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको तो शास्त्रकी परवा ही नहीं है; अतः वे मनमाने ढंगसे जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, उसे करते हैं। इसीलिये वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है; परंतु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

† जो शास्त्रको न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुर स्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण पहले नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया गीताके सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवेंमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें और नवें अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें तथा इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन गीताके इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है, ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है * ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं,† राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको‡ तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको§ पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं, वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं, उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं, उनका फल—तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँच प्रकारके मनुष्योंके वर्णनमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करनेसे बहुत विस्तार हो जाता, इसलिये नहीं किया गया।

१. जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

* पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परंतु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है; क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

† अभिप्राय यह है कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बतलाया है; परंतु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है।

‡ यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि समझना चाहिये।

§ मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त* एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं,† उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है । वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।‡ उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले§ रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है, इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती । वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं । इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे युक्त कहा गया है ।

१. पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतग्राम' है ।

† शरीरको क्षीण और दुर्बल करना तथा स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भूतसमुदायको और परमात्माको कृश करना है; क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा ही स्थित हैं ।

‡ मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है । आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २) । अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी । अतएव इस प्रसङ्गमें आहारका विवेचन करके यह भाव दिखलाया गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है । इसी भावसे श्लोकमें 'प्रिय' शब्द देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है । अतः आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है । यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये ।

२. दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं ।

३. मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं ।

४. जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं ।

५. जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं ।

६. भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको 'आहार' कहते हैं ।

§ (१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन । जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है ।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि । बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है ।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति । इस आन्तर एवं बाह्यशक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है ।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है ।

(५) हृदयमें संतोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना तथा मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भावजनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है ।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेम-भावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ* राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं[1] गतरसं[2] पूति[3] पर्युषितं[4] च यत् ।
उच्छिष्टमपि[5] चामेध्यं[6] भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो[7] विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं, उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है।

* नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं।

उपर्युक्त पदार्थोंको खानेके समय गले आदिमें तकलीफका होना, जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं, उन्हें 'दुःख' कहते हैं। खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं और खानेसे जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'रोग' कहते हैं। इन कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दुःख, चिन्ता और रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन्हें 'दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले' कहा है। अतएव इनका त्याग करना उचित है।

१. 'यातयाम' अर्थात् अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये, जो पूरी तरहसे पके न हों, अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो।

इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' यानी बासी अन्नको तामस बतलाया गया है। 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; यह सोचकर यहाँ 'यातयामम्' का अर्थ 'अधपका' किया गया है।

२. अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है), उनको 'गतरस' कहते हैं।

३. खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं।

४. पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं। उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये, जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो।

५. अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं।

६. मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ, जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके सङ्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो, उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं। ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं। इनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी अपवित्र हैं।

७. यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःख-निवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते, उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (गीता ६ । १)।

८. देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है।

९. अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये;

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

परंतु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान* ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंके लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता,† सरलता,‡ ब्रह्मचर्य§ और अहिंसा×—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है+ ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।÷
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

ऐसे शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ़ निश्चय करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है।

* जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है, वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों, उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है ?

१. जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं।

२. जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्रप्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं।

३. ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है, उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है; क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबका वाचक है तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

† यहाँ 'पवित्रता' केवल शारीरिक शौचका वाचक है; क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन अगले पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका उत्तम होना ही शरीरकी पवित्रता है (गीता १६ । ३)।

‡ यहाँ शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका नाम 'सरलता' है।

§ यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

× शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

\+ उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शरीर-सम्बन्धी तप' कहते हैं।

÷ जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों, उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ, उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं; तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वर-के नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए* उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं† ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—अब राजस तपके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

और प्रेम, दया तथा मङ्गलसे भरे हों, उनको 'हित' कहते हैं। जिस वाक्यमें उपर्युक्त सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्णित वाणीसम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो, उसी वाक्यके उच्चारणको 'वाचिक तप' माना जा सकता है।

१. विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर सात्त्विक प्रसन्नता, हर्ष और बोध-शक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

२. रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

३. मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

४. अन्तःकरणकी चञ्चलताका सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

५. अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि समस्त सद्भावोंका सदा विकसित रहना 'भावसंशुद्धि' है।

६. जो मनुष्य इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके भी सुखभोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी कभी किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी कामना नहीं करता, उसे 'अफलाकाङ्क्षी' कहते हैं और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होनेके कारण कभी किसी भी प्रकारके भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, उसे 'युक्त' कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारका तप जब ऐसे निष्काम पुरुषोंद्वारा किया जाता है, तभी वह पूर्ण सात्त्विक होता है।

* शास्त्रोंमें उपर्युक्त तपका जो कुछ भी महत्त्व, प्रभाव और स्वरूप बतलाया गया है, उसपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास होना 'परमश्रद्धा' है और ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके सदा अविचलित रहते हुए अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक उपर्युक्त तपका आचरण करते रहना ही उसे परम श्रद्धासे करना है।

† अभिप्राय यह है कि शरीर, वाणी और मन-सम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखलाया है कि यद्यपि ये तप स्वरूपसे तो सात्त्विक हैं; परंतु वे पूर्ण सात्त्विक तब होते हैं, जब इस श्लोकमें बतलाये हुए भावसे किये जाते हैं।

७. तपमें वस्तुतः आस्था न होनेपर भी लोगोंको धोखा देकर किसी प्रकारका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये तपस्वीका-सा स्वाँग रचकर जो किसी लौकिक या शास्त्रीय तपका बाहरसे दिखाने भरके लिये आचरण किया जाता है, उसे दम्भसे तप करना कहते हैं।

८. जिस फलकी प्राप्तिके लिये उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका प्राप्त होना या न होना निश्चित नहीं है; इसलिये उसे 'अध्रुव' कहा है और जो कुछ फल मिलता है, वह भी सदा नहीं रहता, उसका निश्चय ही नाश हो जाता है; इसलिये उसे 'चल' कहा है।

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी* स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य है—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है† ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन प्रकारके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दान देना ही कर्तव्य है‡—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल§ और पात्रके प्राप्त होनेपर× उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है+ ॥

* तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्‌में बड़ाई होती है कि यह मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, इसकी बराबरी कौन कर सकता है, यह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है, तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है। इन सबके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है, वही सत्कार, मान और पूजाके लिये तप करना है। इसके सिवा अन्य किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये किया जानेवाला तप भी राजस है।

१. तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं।

† जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें किया गया है, जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है, जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके बुरी भावनासे अर्थात् दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—उसे 'तामस तप' कहते हैं।

‡ वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

§ जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं, वे भी योग्य देश-काल हैं।

× जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं।

+ जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

किंतु जो दान क्लेशपूर्वक* तथा प्रत्युपकारके प्रयोजन-से† अथवा फलको दृष्टिमें रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कारके§ अथवा तिरस्कारपूर्वक×अयोग्य देश-कालमें+ और कुपात्रके÷ प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है;A उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिB रचे गये ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैंC ॥ २४ ॥

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

* किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

† जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकालने-की सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्ति या संस्थाओंको दान देना प्रत्युपकारके प्रयोजनसे दान देना है।

‡ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है।

§ यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है, वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

× पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या संकेतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है, वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

\+ जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है, वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं।

÷ जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, वे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, दूसरोंकी जीविकाका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाले, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाले, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि सभी दानके लिये अपात्र हैं।

A जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पत्ति हुई है, उस भगवान्‌के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके अङ्ग-वैगुण्यकी पूर्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

B यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक है।

C जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं* ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें† और श्रेष्ठभावमें‡ प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी§ 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है× और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है+ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है; इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्[1] ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही÷॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

इसीलिये वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं ।

* जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किंतु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं ।

† 'सद्भाव' (सत्यभाव) नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है, उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है । इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है ।

‡ अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है । वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है ।

§ जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है ।

× यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये वह 'सत्' है ।

+ जो कोई भी कर्म केवल भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये वह 'सत्' है ।

१. 'यत्' पदसे यहाँ निषिद्ध कर्मोंका समाहार नहीं है; क्योंकि निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है । उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती । जिनको विश्वास नहीं है, उनको भी पाप कर्मोंका दुःखरूप फल अवश्य ही मिलता है । अतः यहाँ यज्ञ, दान और तपरूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आया हुआ 'यत् कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाका वाचक है ।

÷ हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं । बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है ।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)

त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्यका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेश-का आरम्भ हुआ। वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्‍चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये। उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्‌के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ* ॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्य-कर्मोंके† त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं‡ ॥ २॥

---

* अर्जुनके प्रश्नका यह भाव है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्म-योग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

उत्तरमें भगवान्‌ने इस अध्यायके तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है। उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं और राजस, तामस इसके विरोधी हैं। पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सतरहवें श्लोकमें केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

† स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-संकटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम 'काम्यकर्म' है।

‡ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं, उनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं* और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है॥ ४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है;‡ क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है§॥ ६॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें क्रमसे उपर्युक्त तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित

---

* आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं; इस भावको लेकर कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये।

† बहुत-से विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

१. शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है।

‡ शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है। इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

§ भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं। अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है। इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं, उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। अतः कर्मोंमें जो ममता और फलासक्तिका त्याग है, वही वास्तविक त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है।

नहीं है* । इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है † ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे,‡ तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता§ ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है× ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्यकर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषकी अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता+ और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, ÷ वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त

---

* वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं । ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्में विप्लव हो जाता है (गीता ३ । २३-२४) । इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है ।

† कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर त्याग करना मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है । यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है ।

‡ कर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है ।

§ जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है, तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता । अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है । इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है । अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागके फलको, जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, नहीं पाता ।

× वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, वे समस्त कर्म ही नियत कर्म हैं, निषिद्ध और काम्य कर्म नियतकर्म नहीं हैं । नियत कर्मोंको न करना भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना ही सात्त्विक त्याग है; क्योंकि कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग ही वास्तविक त्याग है । त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं ।

+ शास्त्रनिषिद्ध कर्म और काम्यकर्म सभी अकुशल कर्म हैं; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्यकर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं । सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता; किंतु शास्त्रदृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है ।

÷ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म निष्कामभावसे किये जानेपर मनुष्यके पूर्वकृत

पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है*॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है;† इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है‡।११।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है;§ किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता×॥ १२ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—

संचित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किंतु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये ही उनका अनुष्ठान करता है।

* इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है।

† कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (गीता ३। ५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (गीता ३। ८)। इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा, तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

‡ जो निषिद्ध और काम्य-कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

§ जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं, उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पाप-कर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है।

उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

× कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; इस अध्यायके दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा गीताके दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंको यहाँ 'संन्यासी' कहा गया है।

इस प्रकार कर्म फलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं, वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसंचित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (गीता ४। २३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान*और कर्ता†तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण‡एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ§और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव×है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

मनुष्य+मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं÷ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके अकर्ता माननेवालेकी स्तुति करते हैं—

---

१. 'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनका अन्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है । 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्) । अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्व-ज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं । इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो ।

२. 'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है ।

* 'अधिष्ठान' शब्द यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है; किंतु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है ।

† यहाँ 'कर्ता' शब्द प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है । इसीको गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है ।

‡ मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा गौणरूपसे जैसे स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबको यहाँ बाह्य करण कहा जा सकता है ।

§ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका संचालन, श्वासोंका आना-जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें संकल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप क्रियाएँ हैं, वे ही नाना प्रकारकी अलग अलग चेष्टाएँ हैं ।

× पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंको 'दैव' कहते हैं, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है ।

३. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है ।

४. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है ।

+ मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है । अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है ।

÷ यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन सबके 'ये पाँचों कारण हैं'—इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता । इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता* ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है† तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती,‡ वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है§ । १७।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा, कर्म-संग्रह और उनके सात्त्विक आदि भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा×

---

१. सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं।

* वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; किंतु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह दुर्मति प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके (गीता ३ । २७) स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (गीता १३ । २१)। इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है, वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी संगरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है, अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

† सांख्ययोगी पुरुषमें मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है' 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

‡ कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना, किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना ही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

§ उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष शुभकर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता।

जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (गीता ४ । १३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (गीता ४ । १४; ९ । ९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; किंतु उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते।

× किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका

है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है* ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन† ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान‡ ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

किंतु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान§ ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

परंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है× ॥ २२ ॥

नियतं[१] सङ्गरहितमरागद्वेषतः[२] कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है; क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक साधनोंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक सुखकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है।

* देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं, उनको 'करण' और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंको 'कर्म' कहते हैं। इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है, क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है, तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको 'कर्म-संग्रह' नाम दिया गया है।

† जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका संकेत किया है।

‡ जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है, वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें गीताके छठे अध्यायके उन्तीसवें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले अनुभवके द्वारा एक अद्वितीय अविनाशी निर्विकार ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

§ कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना ही राजस ज्ञान है।

× जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है; क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

१. नियत कर्मकी व्याख्या इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

२. यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है; क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो*—वह सात्त्विक कहा जाता है† ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना¹ कर्म साहंकारेण² वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

परंतु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है‡ तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है§ ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत् तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है× ॥ २५ ॥

इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'संग' समझना चाहिये।

* कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किंचिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे पुरुषद्वारा होनेवाले जो कर्म राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये होते हैं—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं।

† इसी अध्यायके नवें श्लोकमें वर्णित सात्त्विक त्यागसे इस सात्त्विक कर्ममें यह विशेषता है कि इसमें कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है; किंतु नवें श्लोकमें कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही बतलाया गया है, कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही है, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है। दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; भेद केवल अनुष्ठानके प्रकारका है।

१. जो पुरुष समस्त कर्म—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है।

२. जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहंकारपूर्वक करता है तथा 'मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ'—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है।

‡ सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका यह भेद है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहंकार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता। इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं; किंतु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहंकार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है। इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है। इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किंतु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है। इस कारण यहाँ बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है।

§ जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहंकार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं।

× किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है। इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है। इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना ही तामस कर्म है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी[1,2] धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है* ॥ २६ ॥

रागी[3] कर्मफलप्रेप्सुर्[4]लुब्धो[5] हिंसात्मको[6]ऽशुचिः[7] ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है, वह राजस कहा गया है ॥

अयुक्तः[8] प्राकृतः[9] स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

---

१. मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसंग' कहते हैं ।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (गीता १६ । १३, १४, १५) इत्यादि अहंकारके वचन कहनेवाला नहीं है, किंतु सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है—ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं ।

*शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धैर्य' है और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किंतु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है । इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसा समतायुक्त पुरुष ही सात्त्विक कर्ता है ।

३. जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं ।

४. जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है, ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है ।

५. धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है ।

६. जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है ।

७. जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किंतु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है ।

८. जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषको 'अयुक्त' कहते हैं ।

९. जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खको 'प्राकृत' कहते हैं ।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी,* धूर्त† और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला‡ तथा शोक करनेवाला आलसी§ और दीर्घसूत्री× है—वह तामस कहा जाता है+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बतलाते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन÷ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्गA और निवृत्तिमार्गकोB

* जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे मनुष्यको 'घमंडी' कहते हैं ।

† जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे मनुष्यको 'धूर्त' कहते हैं ।

‡ नाना प्रकारसे दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यको दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला कहते हैं ।

§ जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें जिसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—वह मनुष्य 'आलसी' है ।

× जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं ।

+ जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये ।

÷ 'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है, इस अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है । यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है । यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं ।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है । मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है । इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किंतु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं ।

A गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह 'प्रवृत्तिमार्ग' है । और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

B समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है और श्रीसनकादि, नारदजी,

कर्तव्य और अकर्तव्यको,* भय और अभयको † तथा बन्धन और मोक्षको‡ यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको§ तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको× भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है+ ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है÷ तथा इसी प्रकार अन्य

ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

* वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है, वही उसके लिये 'कर्तव्य' है; और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये 'अकर्तव्य' है । इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है ।

† किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे 'भय' कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं । इन दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है ।

‡ शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही 'बन्धन' है और सत्संगके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'मोक्ष' है ।

§ अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है—तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम 'धर्म' है एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है—उन सबका नाम 'अधर्म' है । किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है ।

× वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है । इस दृष्टिसे शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किंतु शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य । जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना आदि अकार्य है । इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है । इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता । इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी । यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है । किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है ।

+ जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती, वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है ।

÷ ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण,

सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है;* वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है† ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है,‡ वह धारणशक्ति राजसी है ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,§ वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करनेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे

असंतोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्य-भोजन, यथेच्छाचार और पर-स्वत्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है ।

* अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितनी भी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत हैं ।

† किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी–उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्ति-का नाम 'धृति' है; परंतु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है–परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । ऐसी धारणशक्तिसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों-की क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना ही 'सात्त्विक धृति' है ।

‡ आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण करना है ।

१. जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यको 'दुर्मेधा' कहते हैं ।

§ निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं, उन सबका नाम 'निद्रा' है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबराहट-भरी वृत्ति होती है, उसका नाम 'भय' है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम 'शोक' है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें संताप हो जाता है, उसे 'दुःख' कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली–विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित–उन्मत्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है । इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है ।

सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है* और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—† जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है,‡ परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है;§ इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख× सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है+ ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख÷ तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

---

* मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (गीता ५ । २१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है।

† जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (गीता ५ । २१, २४; ६ । २८)—वही सात्त्विक सुख है ।

‡ जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही सात्त्विक सुखका आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होना है।

§ जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं।

× उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है।

+ जब मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तब वह उसे आसक्तिके कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता, परंतु यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है। प्रत्युत विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है। इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुखी होता है या मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है (गीता ५ । २२) ।

÷ निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह निद्राजनित सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है। इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस कारण तो वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है, और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति-से उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (सांख्य) के स्वरूप-का निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया।

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्‌ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (गीता १८। ७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (गीता १८। ९), किंतु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्म-योगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके† कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं‡ ॥

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख भी निद्राजनित सुखकी भाँति भोगकालमें और परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खता-वश जो सुखकी प्रतीति होती है, उस प्रमादजनित सुख-भोगके समय मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है; अतः कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है तथा उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

* 'सत्त्व' शब्द यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है। ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं; इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणी एवं पदार्थ सभी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं।

† ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंको सम्मिलित करके कहा गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये उनको इन तीनोंसे अलग कहा गया है।

‡ प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप प्राणियोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज और तम—इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्ण-विभाग बनता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई श्रृङ्खला या नियम ही न रहेगा; सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है।

शमो[1] दमस्तपः[2] शौचं[3] क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता†, तेज‡, धैर्य§, चतुरता× और युद्धमें न भागना+, दान देना और स्वामिभाव÷—ये सब-के-सब ही

---

१. अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देना 'शम' है ।

२. समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें लगाना 'दम' है ।

३. स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्याग करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं ।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकारकी अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है । इसका विस्तार गीताके तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टिप्पणीमें है ।

५. दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है । गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें इसका विस्तार है ।

६. मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब 'आर्जव'के अन्तर्गत है।

७. वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है ।

८. वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है ।

९. वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक–इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना—ये सब 'आस्तिकता'के लक्षण हैं ।

* ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती । इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है । इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य हैं ।

† बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

‡ जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम 'तेज' है। इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं।

§ बड़े-से-बड़ा संकट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादिके मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है ।

× परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है ।

+ युद्ध करते समय भारी-से-भारी संकट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है । इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किंतु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२) ।

÷ शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती†, गोपालन‡ और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार§ ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना× शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है+ ।

अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—'स्वामिभाव' है ।

* उपर्युक्त कर्मोंमें क्षत्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती । इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्ण-वालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किंतु वे उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं । इसी कारण वे उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं ।

† जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है ।

‡ नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है । पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्‌ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्यम्' पदका प्रयोग किया है । अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है ।

§ मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना 'वाणिज्य' यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है । वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्याय-का प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं । इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है । तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी (महाभारत शान्तिपर्व) ।

× उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको संतुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मक' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं ।

+ समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है । चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं । घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती । न इनमें ऊँच-नीचकी कल्पना है । अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं । ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रम-बलसे बड़ा है और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है ।

अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके* मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके, ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं। इसपर दूसरेके धर्मको अपेक्षा स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे‡

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए, समाजकी शक्ति बढ़ाते हुए परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

* भगवान् इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा समस्त जगत्की सेवा करना—समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना ही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है।

† प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है। अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है। झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है,वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

‡ जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—ऐसे भलीभाँति आचरित कर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् जैसे वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, ऐसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है। भाव यह है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणरहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने ही पतिका सेवन करना कल्याणप्रद है,उसी

गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है,* क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता† ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको‡ नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं§ ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया । फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया; किंतु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये । अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष× सांख्ययोगके द्वारा उस परम

प्रकार देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है ।

* क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है । इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं । इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है । उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

† दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते ।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं । अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींको यहाँ 'सहज' कर्म कहा है ।

‡ जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये ।

§ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहती है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है । इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (गीता ३ । ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा । इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

× अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन-बुद्धिकी कहीं किंचिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला' है । जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किंचिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'स्पृहारहित' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जीते हुए अन्तःकरणवाला' कहते हैं । जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है ।

नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है* ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धिको† जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है,‡ उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त§ तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला,× सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके+ मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला,÷ राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करकेA भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवालाB ममता-

---

* संन्यास--ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगका स्वरूप भगवान्ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है। इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है, वही 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' है, जिसको संन्यासके द्वारा प्राप्त किया जाता है।

† जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको परा भक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, जो पूर्वश्लोकमें 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के नामसे कही गयी है, वही यहाँ 'सिद्धि' के नामसे तथा वही 'परा निष्ठा' के नामसे कही गयी है।

‡ नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

१. जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (गीता १७ । ८) अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (गीता ६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं।

§ पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरणवाला ही 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त' कहलाता है।

× जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही 'एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना' है।

+ इन्द्रियों और अन्तःकरणका समस्त विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही उनका संयम करना है।

÷ मन, वाणी और शरीरमें इच्छाचारिताका तथा बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना ही उनको वशमें कर लेना है।

A इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किंचिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना 'राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना' है।

B शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है, उसका नाम 'अहंकार' है। अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है। धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है, उसका नाम 'दर्प' यानी घमंड है। इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है। अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम 'क्रोध' है। भोग्यबुद्धिसे सांसारिक भोग-सामग्रियोंके संग्रहका नाम 'परिग्रह' है, अतएव इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (गीता ६ । २५) तथा उठते-बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना 'ध्यानयोगके परायण रहना' है।

रहित* और शान्तियुक्त पुरुष† सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१—५३ ॥

ब्रह्मभूतः[1] प्रसन्नात्मा[2] न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है ।‡ ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको§ प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है× तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है+ ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किंतु इस वर्णनमें भगवान्‌ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है; अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि[1] सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरे परायण हुआ÷ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा

---

* मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना ही 'ममतासे रहित होना' है ।

† जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है, वह उपरत पुरुष 'शान्तियुक्त' कहा जाता है ।

१. जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है, जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक उप० १ । ४ । १०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसकी परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य अटल स्थिति हो जाती है, ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है । गीताके पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है ।

२. जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो; उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं ।

‡ ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न सत्ता, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती । अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता और वह पूर्णकाम हो जाता है, इसलिये वह कुछ भी नहीं चाहता ।

§ जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसीको 'परा भक्ति' कहा है ।

× इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है तथा सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता ।

+ परमात्माके तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं । परमात्मा सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है ।

१. अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है ।

÷ समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्यागकर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है, जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, वह भक्तिप्रधान कर्मयोगी ही भगवत्परायण है ।

करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको* प्राप्त हो जाता है†॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके‡ तथा समबुद्धिरूप योगको§ अवलम्बन करके मेरे परायण× और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो+॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा÷ और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगाA॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा',B तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगाC॥ ५९ ॥

---

* जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर परम प्राप्य है, इसलिये उसे 'परम पद' के नामसे कहा गया है। इसीको पैंतालीसवें श्लोकमें 'संसिद्धि', छियालीसवेंमें 'सिद्धि' और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वर कहा गया है।

† सांख्ययोगी समस्त परिग्रह और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

‡ अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्में अर्पण कर देना है।

§ सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है, उसको 'बुद्धियोग' कहते हैं।

× भगवान्को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्के परायण होना है।

+ मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्में लगा देना; भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्में चित्तवाला होना है।

÷ निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् संकटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

A यद्यपि भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (गीता ४ । ३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (गीता ९ । ३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इसमें विरोध मालूम होता है; किंतु भगवान्ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किंतु इतनेपर भी यदि अहंकारके वशमें होकर भगवान्की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत ही है।

B पहले भगवान्के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (गीता २ । ३) जो अर्जुनने भगवान्से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (गीता २ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहंकारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है।

C जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायको

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण* करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा†॥ ६० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है; इसलिये भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर‡ अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है§ ॥ ६१ ॥

प्रकृति यानी स्वभाव कहते हैं । इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है । अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा । योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा । यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये ।

१. अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा ।

* न्यायसे प्राप्त सहजकर्मको न करनेका अविवेकके अतिरिक्त दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है ।

† यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध तो तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर करना ही पड़ेगा । इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे ।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता, वरं अपना नाश कर लेता है और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता, वरं उसमें अधिक फँसता जाता है और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

‡ यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है तथा ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है ।

§ समस्त प्राणियोंको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है ।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? यदि परतन्त्र है तो किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके ? क्योंकि प्राणीको उनसठवें और साठवें श्लोकोंमें प्रकृति-के और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, तो कहना होगा कि कर्म करने और

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये; इसपर भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा*। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा† ॥ ६२ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया‡। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया

न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (गीता ३। ५)। मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि वहाँ कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है तथा मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है।

इसपर कोई यह कहे कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है; तो कहना होगा कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किंतु उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है, उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

* भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्का समझकर और भगवान्को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; भगवान्के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं।

† उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है। इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है।

‡ भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है। संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके

भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर* ॥६३॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन† । तू मेरा अतिशय प्रिय है,‡ इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो,§ मेरा भक्त बन,× मेरा पूजन करनेवाला हो+ और मुझको प्रणाम

लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, इस ज्ञानको अत्यन्त गोपनीय बतलाया गया है ।

* गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (गीता २ । १८,३७; ३ । ३०; ८ । ७; ११ । ३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा । इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा, तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें भगवान्ने यह कहा कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो ।

† भगवान्ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है । उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं (गीता ९ । १-२) । वे पहले भी कहे जा चुके हैं (गीता ९ । ३४; १२ । ६-७; १८ । ५६-५७) । अतः यहाँ भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है कि पहले कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें फिर कहूँगा ।

‡ तिरसठवें श्लोकमें कही हुई बातको सुनकर भगवान्ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रक्खा; इस बातको सुनकर जब अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि क्या मेरा भगवान्पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ, तब अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो ।

§ भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्में मनवाला' होना है ।

× भगवान्को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

+ गीताके नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्के विग्रह-का पूजन करना; मनसे भगवान्का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब 'भगवान्की पूजा' करनेके अन्तर्गत हैं।

कर*। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा,† यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ;‡ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर§ तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा×। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा,+ तू शोक मत कर÷ ॥ ६६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार

* जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्के किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्को नमस्कार करना' है।

† जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परंतु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि भगवान्ने स्वयं ही गीताके आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है। गीताके सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है।

‡ अर्जुन भगवान्के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ करानेके लिये भगवान्ने कहा है कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

§ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं, गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है, उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंको जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्में समर्पण कर देना है अर्थात् सब कुछ भगवान्का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्के ही लिये भगवान्की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें, वैसे कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

× गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

+ शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये गीताके तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

÷ गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे मेरे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति-रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये* ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त† गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें‡ कहेगा,§ वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है× ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं+ ॥ ६९ ॥

---

* इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवी सम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

तथा जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है, जो अपनेको ही सर्वे-सर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो; किंतु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

एवं संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, अतः वह अधिक पापका भागी होगा।

† यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मुझको समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर मुझमें प्रेम करता है; जिसके चित्तमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—वह मेरा भक्त है। उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (गीता ९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

§ स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना, इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेश-को उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका कथन करना है।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि गीताशास्त्रका उपर्युक्त प्रकारसे प्रचार करना—यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

+ यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं, उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे अधिक प्रिय है। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है । इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो पुरुष इस धर्ममय* हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा,† उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे‡ पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्यके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य§ श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा,× वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ?÷ और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?ऽ ॥ ७२ ॥

भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये ।

* यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, वह सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है ।

† गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्‌के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रको पढ़नेके अन्तर्गत है ।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है ।

‡ इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है । अतः इस गीताशास्त्रका अध्ययन करना ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करना है; क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्‌के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है ।

§ जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है । इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है ।

× भगवान्‌की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्‌की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है और उसका श्रवण करते समय भगवान्‌पर या भगवान्‌के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषारोपण न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है ।

\+ जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्मसे छूटकर इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त हो जाता है ।

÷ भगवान्‌के इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसंदेह बड़ी भूल की है ।

ऽ भगवान्‌के इस प्रश्नका भाव यह है कि जिस मोहसे युक्त होकर तुम धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (गीता २ । ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (गीता १ । ३६ से ३९) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (गीता २ । ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (गीता १ । ४५-४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (गीता २ । ६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह

मोह-नाश

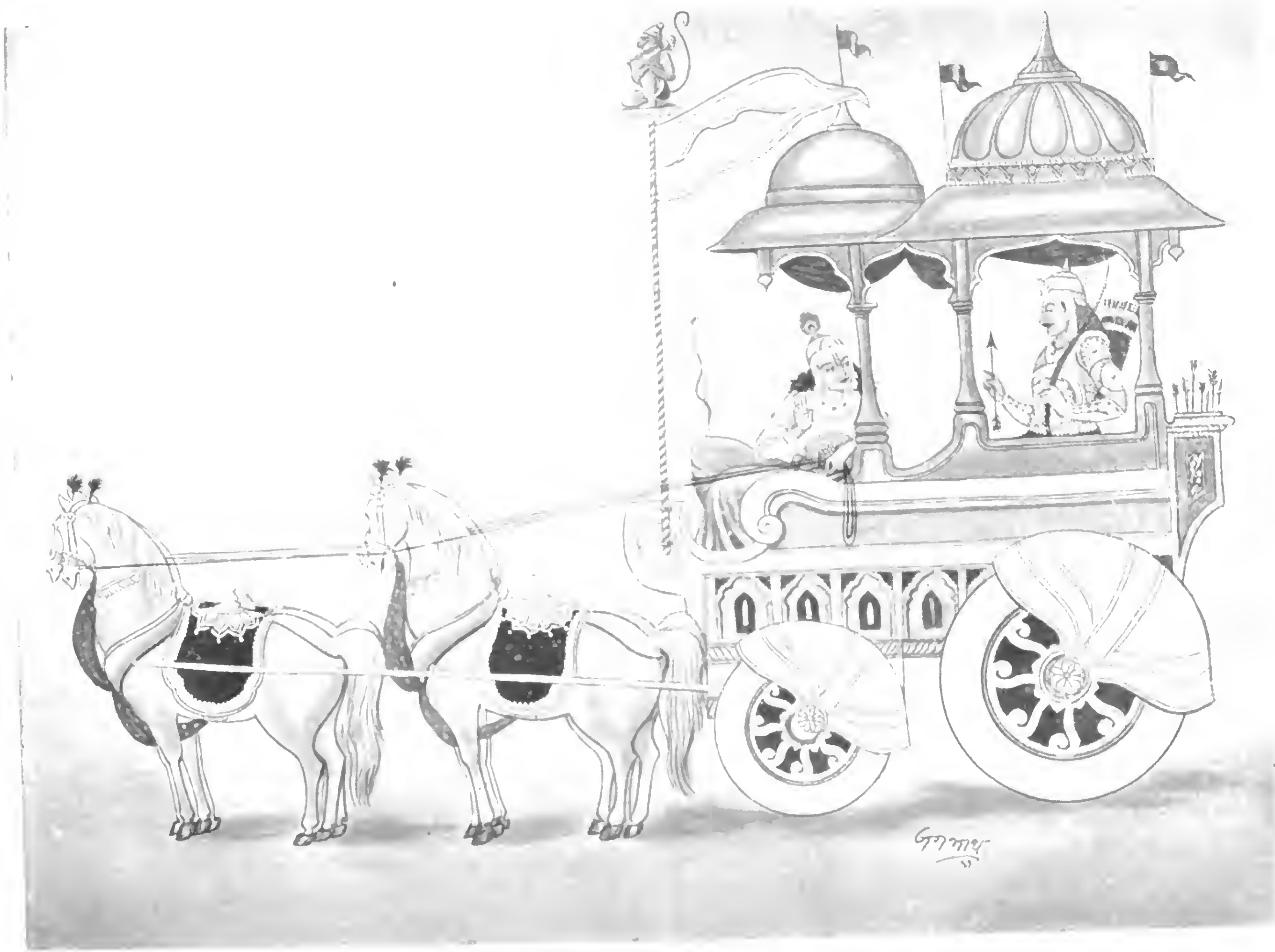

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता १८।७३)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा*॥

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद-को सुना† ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे‡ दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको§ अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्य-युक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ× ॥ ७६ ॥

अब नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय, तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

* अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (गीता २ । ९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (गीता १ । २८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है तथा मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है। अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किंचिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है । आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा ।

† संजयके कथनका यह भाव है कि साक्षात् नर-ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है तथा यह उपदेश बड़ा ही आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है ।

‡ संजयके कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होने-वाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है,उसीके कारण आज मुझे भगवान्-का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता !

§ भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा यह स्वयं भी अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

× संजयके कथनका यह भाव है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्‌के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है । इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः[1]।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन् ! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ* ॥ ७७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब संजय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है† ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८॥ भीष्मपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४२ ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'आनन्दचिद्घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें अनुभव कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण-मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

---

१. भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं; इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं।

* जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्‌ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपको लक्ष्य करके संजय यह कह रहे हैं कि भगवान्‌का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्‌के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया ! मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था, जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते। अहो ! इसमें केवलमात्र भगवान्‌की अहैतुकी दया ही कारण है। साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है।

† यहाँ संजयके कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योगशक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है।

इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्‌के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं। अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है। अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे संधि कर लो।

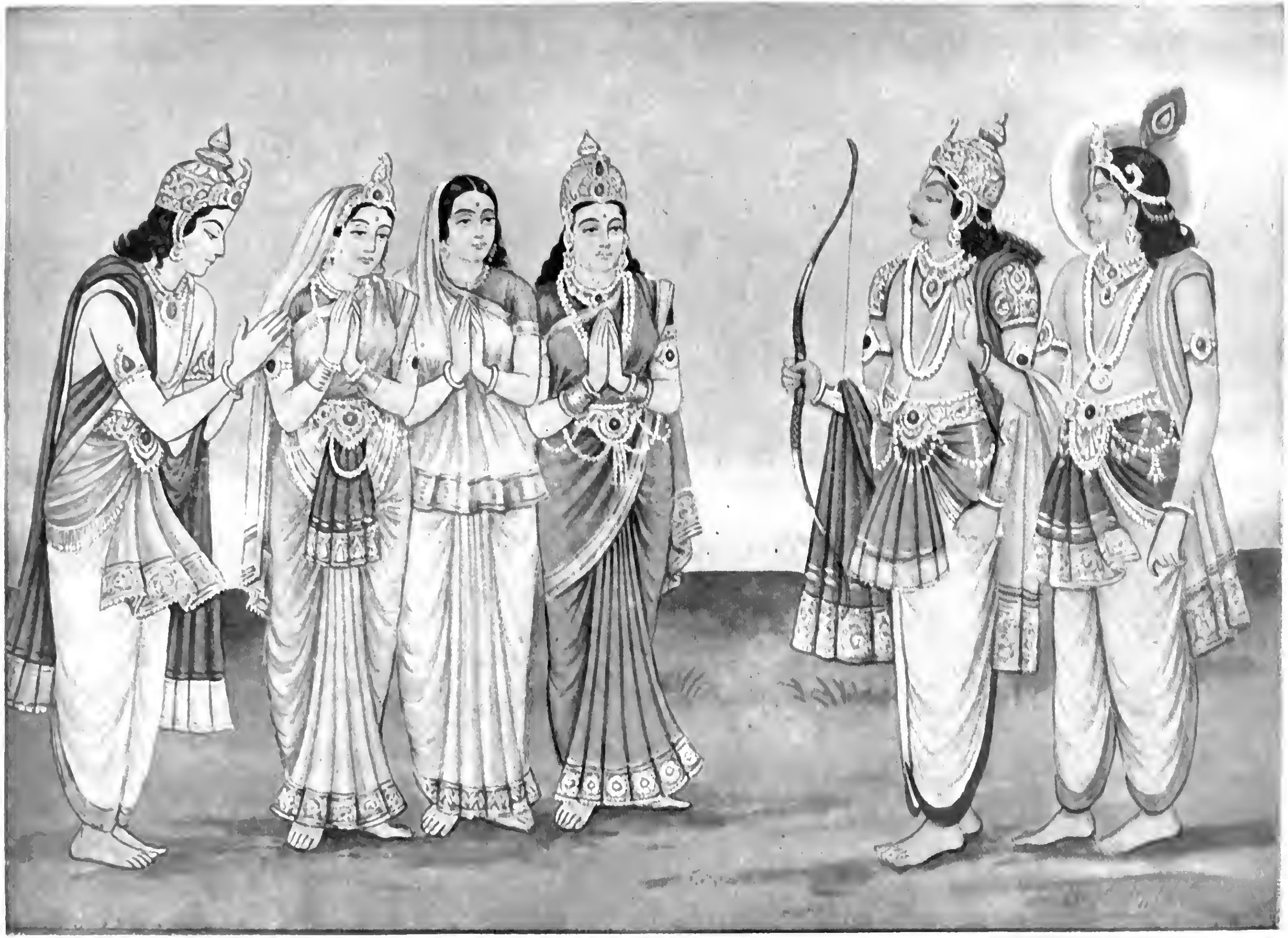

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ विजय, विभूति, नीति और श्री

भीष्मपितामहपर भगवान श्रीकृष्णकी कृपा

(भीष्मवधपर्व)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना

वैशम्पायन उवाच

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है ? गीताका ही अच्छी तरहसे गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥ २ ॥

गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं । गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु (उनका धर्मशास्त्र) सर्ववेदमय हैं ॥ २ ॥

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥

गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—इन 'ग' कारयुक्त चार नामोंको हृदयमें धारण कर लेनेपर मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ ३ ॥

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।

इस गीतामें छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुनके कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रका कहा हुआ है । यह गीताका मान बताया जाता है ॥ ४½ ॥

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ ५ ॥

भारतरूपी अमृतराशिके सर्वस्व सारभूत गीताका मन्थन करके उसका सार निकालकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें (कानोंद्वारा मन-बुद्धिमें) डाल दिया है ॥ ५ ॥*

संजय उवाच

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम् ।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः ॥ ६ ॥
पाण्डवाः सोमकाश्चैव ये चैषामनुयायिनः ।
दध्मुश्च मुदिताः शङ्खान् वीराः सागरसम्भवान् ॥ ७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अर्जुनको गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों, सोमकों तथा उनके अनुगामी सैनिकोंने पुनः बड़े जोरसे सिंहनाद किया । साथ ही उन सभी वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक समुद्रसे प्रकट होनेवाले शङ्खोंको बजाया ॥ ६-७ ॥

ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचा गोविषाणिकाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर भेरी, पेशी, क्रकच और नरसिंहे आदि बाजे सहसा बज उठे । इससे वहाँ महान् शब्द गूँजने लगा ॥८॥

तथा देवाः सगन्धर्वाः पितरश्च जनाधिप ।
सिद्धचारणसंघाश्च समीयुस्ते दिदृक्षया ॥ ९ ॥
ऋषयश्च महाभागाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम् ।
समीयुस्तत्र सहिता द्रष्टुं तद् वैशसं महत् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उस समय देवता, गन्धर्व, पितर, सिद्ध, चारण तथा महाभाग महर्षिगण देवराज इन्द्रको आगे करके उस भीषण मार-काटको देखनेके लिये एक साथ वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते ।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप ॥ ११ ॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम् ।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥ १३ ॥

राजन् ! तदनन्तर वीर राजा युधिष्ठिरने समुद्रके समान उन दोनों सेनाओंको युद्धके लिये उपस्थित और चञ्चल हुई देख कवच खोलकर अपने उत्तम आयुधोंको नीचे डाल दिया और रथसे शीघ्र उतरकर वे पैदल ही हाथ जोड़े पितामह भीष्मको लक्ष्य करके चल दिये । धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेनाकी ओर चले गये ॥ ११–१३॥

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात् ॥१४॥
वासुदेवश्च भगवान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ।
तथा मुख्याश्च राजानस्तच्चित्ता जग्मुरुत्सुकाः ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र धनंजय उन्हें शत्रु-सेनाकी ओर जाते देख

* उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियोंमें नहीं हैं और कितनी ही प्रतियोंमें हैं ।

तुरंत रथसे उतर पड़े और भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे जाने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके पीछे गये तथा उन्हींमें चित्त लगाये रहनेवाले प्रधान-प्रधान राजा भी उत्सुक होकर उनके साथ गये ॥ १४-१५ ॥

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥१६॥

अर्जुनने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हमलोगोंको छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेनाकी ओर चल दिये हैं? ॥ १६ ॥

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ॥ १७ ॥

भीमसेनने भी पूछा—महाराज! पृथ्वीनाथ! कवच और आयुध नीचे डालकर भाइयोंको भी छोड़कर कवच आदिसे सुसज्जित हुई शत्रु-सेनामें कहाँ जायँगे? ॥ १७ ॥

नकुल उवाच

एवं गते त्वयि ज्येष्ठे मम भ्रातरि भारत।
भीर्मे दुनोति हृदयं ब्रूहि गन्ता भवान् क्व नु ॥ १८ ॥

नकुलने पूछा—भारत! आप मेरे बड़े भाई हैं। आपके इस प्रकार शत्रुसेनाकी ओर चल देनेपर भारी भय मेरे हृदयको पीड़ित कर रहा है। बताइये, आप कहाँ जायँगे? ॥ १८ ॥

सहदेव उवाच

अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये।
उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ॥ १९ ॥

सहदेवने पूछा—नरेश्वर! इस रणक्षेत्रमें जहाँ शत्रु-सेनाका समूह जुटा हुआ है और महान् भय उपस्थित है, आप हमें छोड़कर शत्रुओंकी ओर कहाँ जायँगे? ॥ १९ ॥

संजय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः।
नोवाच वाग्यतः किंचिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ॥२०॥

संजय कहते हैं—राजन्! भाइयोंके इस प्रकार कहनेपर भी कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले। चुपचाप चलते ही गये ॥ २० ॥

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ॥ २१ ॥

तब परम बुद्धिमान् महामना भगवान् वासुदेवने उन चारों भाइयोंसे हँसते हुए-से कहा—'इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है ॥ २१ ॥

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ॥२२॥

'ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य—इन समस्त गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः।
युध्यते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ॥ २३ ॥

'सुना जाता है कि प्राचीन कालमें जो गुरुजनोंकी अनुमति लिये बिना ही युद्ध करता था, वह निश्चय ही उन माननीय पुरुषोंकी दृष्टिमें गिर जाता था ॥ २३ ॥

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ॥ २४ ॥

'जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार माननीय पुरुषोंसे आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी उस युद्धमें अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति।
(नेत्रैरनिमिषैः सर्वैः प्रेक्षन्ते स्म युधिष्ठिरम् ॥)
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ॥ २५ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उस समय दुर्योधनकी सेनाकी ओर आते हुए युधिष्ठिरको सब लोग अपलक नेत्रोंसे देख रहे थे। कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं दूसरे लोग मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर चुप हो गये थे ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
मिथः संकथयाञ्चक्रुरेषो हि कुलपांसनः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरको दूरसे ही देखकर दुर्योधनके सैनिक आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगे—'यह युधिष्ठिर तो अपने कुलका जीता-जागता कलङ्क ही है ॥ २६ ॥

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम्।
युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ॥ २७ ॥

'देखो, स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि वह राजा युधिष्ठिर भयभीतकी भाँति भाइयोंसहित भीष्मजीके निकट शरण माँगनेके लिये आ रहा है ॥ २७ ॥

धनंजये कथं नाथे पाण्डवे च वृकोदरे।
नकुले सहदेवे च भीतिरभ्येति पाण्डवम् ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन धनंजय, वृकोदर भीम तथा नकुल-सहदेव-जैसे सहायकोंके रहते हुए युधिष्ठिरके मनमें भय कैसे हो गया! ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना

न नूनं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथिते भुवि।
यथास्य हृदयं भीतमल्पसत्त्वस्य संयुगे ॥ २९ ॥

'निश्चय ही यह भूमण्डलमें विख्यात क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका मानसिक बल अत्यन्त अल्प है; इसीलिये युद्धके अवसरपर इसका हृदय इतना भयभीत है' ॥ २९ ॥

ततस्ते सैनिकाः सर्वे प्रशंसन्ति स्म कौरवान्।
हृष्टाः सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह ॥ ३० ॥

तदनन्तर वे सब सैनिक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्नचित्त हो हर्षमें भरकर अपने कपड़े हिलाने लगे ॥

व्यनिन्दंश्च तथा सर्वे योधास्तव विशाम्पते।
युधिष्ठिरं ससोदर्यं सहितं केशवेन हि ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ! आपके वे सब योद्धा भाइयों तथा श्रीकृष्ण-सहित युधिष्ठिरकी विशेषरूपसे निन्दा करते थे ॥ ३१ ॥

ततस्तत् कौरवं सैन्यं धिक्कृत्वा तु युधिष्ठिरम्।
निःशब्दमभवत् तूर्णं पुनरेव विशाम्पते ॥ ३२ ॥

राजन्! इस प्रकार युधिष्ठिरको धिक्कार देकर सारी कौरव-सेना पुनः शीघ्र ही चुप हो गयी ॥ ३२ ॥

किं नु वक्ष्यति राजासौ किं भीष्मः प्रतिवक्ष्यति।
किं भीमः समरश्लाघी किं नु कृष्णार्जुनाविति ॥ ३३ ॥

सब लोग मन-ही-मन सोचने लगे कि वह राजा क्या कहेगा और भीष्मजी क्या उत्तर देंगे? युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्या कहेंगे? ॥ ३३ ॥

विवक्षितं किमस्येति संशयः सुमहानभूत्।
उभयोः सेनयो राजन् युधिष्ठिरकृते तदा ॥ ३४ ॥

राजन्! दोनों ही सेनाओंमें युधिष्ठिरके विषयमें महान् संशय उत्पन्न हो गया था। सब सोचते थे कि राजा युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम्।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ३५ ॥

बाण और शक्तियोंसे भरी हुई शत्रुकी सेनामें घुसकर भाइयोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर तुरंत ही भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ जाकर उन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने दोनों हाथोंसे पितामहके चरणोंको दबाया और युद्धके लिये उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह! मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ, मुझे आपके साथ युद्ध करना है। तात! इसके लिये आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें ॥

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ॥ ३८ ॥

भीष्मजी बोले—पृथ्वीपते! भरतकुलनन्दन! महाराज! यदि इस युद्धके समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होनेके लिये शाप दे देता ॥

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन! पुत्र! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्धभूमिमें प्राप्त करो ॥ ३९ ॥

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकाङ्क्षसि।
एवंगते महाराज न तवास्ति पराजयः ॥ ४० ॥

पार्थ! वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो? महाराज! ऐसी स्थितिमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी ॥ ४० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ४१ ॥

महाराज ! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ४१ ॥

अतस्त्वां क्लीववद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! इसीलिये आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसकके समान वचन बोलता हूँ। कौरव ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने धनके द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है; इसलिये (तुम्हारे पक्षमें होकर) उनके साथ युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः ।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे अच्छी सलाह दें और दुर्योधनके लिये युद्ध करें। मैं सदाके लिये यही वर चाहता हूँ ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ ४४ ॥

भीष्म बोले—राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रुकी ओरसे ही करूँगा; अतः बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो ?॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आप तो किसीसे पराजित होनेवाले हैं नहीं, फिर मैं आपको युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हैं तो मेरे हितकी सलाह दीजिये ॥ ४५ ॥

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे ।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ४६ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके। युद्धकालमें कोई पुरुष, साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात् त्वां पितामह नमोऽस्तु ते ।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपको नमस्कार है। इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ, आप युद्धमें शत्रुओंद्वारा अपने मारे जानेका उपाय बताइये ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम् ।
न तावन्मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु ॥ ४८ ॥

भीष्म बोले—बेटा ! जो समरभूमिमें मुझे जीत ले, ऐसे किसी वीरको मैं नहीं देखता हूँ। अभी मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है; अतः अपने इस प्रश्नका उत्तर लेनेके लिये फिर कभी आना ॥ ४८ ॥

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन ।
शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ॥ ४९ ॥
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ५१ ॥

संजय बोले—कुरुनन्दन ! तदनन्तर महाबाहु युधिष्ठिरने भीष्मकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और पुनः उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्यके रथकी ओर गये। सारी सेना देख रही थी और वे उसके बीचसे होकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचे। वहाँ राजाने उन्हें प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणिसे अपने हितकी बात पूछी—॥ ४९—५१ ॥

आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः ।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ॥ ५२ ॥

'भगवन् ! मैं सलाह पूछता हूँ, किस प्रकार आपके

साथ निरपराध एवं पापरहित होकर युद्ध करूँगा ? विप्रवर ! आपकी आज्ञासे मैं समस्त शत्रुओंको किस प्रकार जीतूँ ?' ॥

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ५३ ॥

द्रोणाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये शाप दे देता ॥ ५३ ॥

तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ॥ ५४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरा बड़ा आदर किया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, शत्रुओंसे लड़ो और विजय प्राप्त करो ॥ ५४ ॥

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकाङ्क्षितम्।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ५५ ॥

महाराज! मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है ? वर्तमान परिस्थितिमें मैं तुम्हारी ओरसे युद्ध तो कर नहीं सकता; उसे छोड़कर तुम बताओ, क्या चाहते हो ? ॥ ५५ ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ५६ ॥

पुरुष अर्थका दास है। अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ५६ ॥

ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ॥ ५७ ॥

इसीलिये आज नपुंसककी तरह तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्धके सिवा और क्या चाहते हो ? मैं दुर्योधनके लिये युद्ध करूँगा; परंतु जीत तुम्हारी ही चाहूँगा ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम्।
युद्ध्यस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आप मेरी विजय चाहें और मेरे हितकी सलाह देते रहें; युद्ध दुर्योधनकी ओरसे ही करें। यही वर मैंने आपसे माँगा है ॥ ५८ ॥

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे ॥ ५९ ॥

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार ! जाओ, युद्ध करो। और भी पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकाङ्क्षितम्।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरे मनोवाञ्छित प्रश्नको सुनिये। आप किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं हैं; फिर आपको मैं युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? ॥ ६१ ॥

द्रोण उवाच

न तेऽस्ति विजयस्तावद् यावद् युद्ध्याम्यहं रणे।
ममाशु निधने राजन् यतस्व सह सोदरैः ॥ ६२ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं जबतक समरभूमिमें युद्ध करूँगा, तबतक तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। तुम अपने भाइयोंसहित ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जाय ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु आचार्य ! इसलिये अब आप अपने वधका उपाय मुझे बताइये। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रश्न कर रहा हूँ ॥ ६३ ॥

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम्।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—तात ! जब मैं रथपर बैठकर कुपित हो बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ॥ ६४ ॥

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम्।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६५ ॥

राजन् ! जब मैं हथियार डालकर अचेत-सा होकर आमरण अनशनके लिये बैठ जाऊँ, उस अवस्थाको छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी अवस्थामें कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्धमें मुझे मार सकता है; यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६५ ॥

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम्।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ६६ ॥

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुषसे युद्धभूमिमें कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६६ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ॥ ६७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर उनका सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास गये ॥ ६७ ॥

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥ ६८ ॥

उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने दुर्द्धर्ष वीर कृपाचार्यसे कहा—॥ ६८ ॥

अनुमानये त्वां योत्स्येऽहं गुरो विगतकल्मषः।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ॥ ६९ ॥

'निष्पाप गुरुदेव ! मैं पापरहित रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओंको संग्राममें जीत सकता हूँ' ॥ ६९ ॥

कृप उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ७० ॥

कृपाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ७१ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ७१ ॥

तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः।
अतस्त्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥७२॥

महाराज ! मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मुझे उन्हींके लिये युद्ध करना है; अतः तुमसे नपुंसककी तरह पूछ रहा हूँ कि तुम युद्धसम्बन्धी सहयोगको छोड़कर मुझसे और क्या चाहते हो ? ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि ते तस्मादाचार्य शृणु मे वचः।
इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर बोले—आचार्य ! इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरी बात सुनिये। इतना कहकर राजा युधिष्ठिर व्यथित और अचेत-से होकर उनसे कुछ भी बोल न सके ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

तं गौतमः प्रत्युवाच विज्ञायास्य विवक्षितम्।
अवध्योऽहं महीपाल युद्ध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ७४ ॥

संजय कहते हैं—पृथ्वीपते ! कृपाचार्य यह समझ गये कि युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं; अतः उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! मैं अवध्य हूँ। जाओ, युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ७४ ॥

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७५ ॥

'नरेश्वर ! तुम्हारे इस आगमनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः सदा उठकर मैं तुम्हारी विजयके लिये शुभकामना करूँगा। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ ७५ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ येन मद्रराट् ॥ ७६ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! कृपाचार्यकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले जहाँ मद्रराज शल्य थे, उस ओर चले गये ॥ ७६ ॥

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ७७ ॥

दुर्जय वीर शल्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उनसे अपने हितकी बात कही—॥

अनुमानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः।
जयेयं नु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ॥ ७८ ॥

'दुर्धर्ष वीर ! मैं पापरहित एवं निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध करूँगा; इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ । राजन् ! आपकी आज्ञा पाकर मैं समस्त शत्रुओं-को युद्धमें परास्त कर सकता हूँ' ॥ ७८ ॥

शल्य उवाच

यदि मां नाधिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय वै रणे ॥ ७९ ॥

शल्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेने-पर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं युद्धमें तुम्हारी पराजयके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७९ ॥

तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि यत् काङ्क्षसि तदस्तु ते।
अनुजानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ८० ॥

अब मैं बहुत संतुष्ट हूँ । तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। तुम जो चाहते हो, वह पूर्ण हो । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ॥ ८० ॥

ब्रूहि चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते ।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ८१ ॥

वीर ! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा ? मैं तुम्हें क्या दूँ ? महाराज ! इस परिस्थितिमें युद्ध-विषयक सहयोगको छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो ? ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८२ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है । महाराज ! यह सच्ची बात है । कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ८२ ॥

करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम् ।
ब्रवीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि॥ ८३॥

इसलिये मैं तुमसे नपुंसककी भाँति कह रहा हूँ । बताओ, तुम युद्धविषयक सहयोगके सिवा और क्या चाहते हो ? मेरे भानजे ! मैं तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करूँगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाराज नित्यं मद्धितमुत्तमम् ।
कामं युद्ध्य परस्यार्थे वरमेतं वृणोम्यहम् ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप प्रतिदिन उत्तम हितकी सलाह मुझे देते रहें । अपने इच्छानुसार युद्ध दूसरेके लिये करें ॥ ८४ ॥

शल्य उवाच

किमत्र ब्रूहि साह्यं ते करोमि नृपसत्तम ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८५ ॥

शल्य बोले—नृपश्रेष्ठ ! बताओ, इस विषयमें मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ; अतः अपने इच्छानुसार युद्ध तो मैं तुम्हारे विपक्षी-की ओरसे ही करूँगा ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ॥ ८६ ॥
(त्वां हि योक्ष्यति सूतत्वे सूतपुत्रस्य मातुल ।
दुर्योधनो रणे शूरमिति मे नैष्ठिकी मतिः ॥)

युधिष्ठिर बोले—मामाजी ! जब युद्धके लिये उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिये आवश्यक है । सूतपुत्रका अर्जुनके साथ युद्ध हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिये । मामाजी ! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उस युद्धमें दुर्योधन आप-जैसे शूरवीरको सूतपुत्रके सारथिका कार्य करनेके लिये अवश्य नियुक्त करेगा ॥ ८६ ॥

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम् ।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ॥ ८७ ॥

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा । जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो । मैं तुम्हारे वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ॥

संजय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम् ।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ८८ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्यकी अनुमति लेकर भाइयोंसे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेनासे बाहर निकल गये ॥ ८८ ॥

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ॥ ८९ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उस युद्धमें राधानन्दन कर्णके पास गये। वहाँ जाकर उन गदाग्रजने पाण्डवोंके हितके लिये उससे इस प्रकार कहा—॥ ८९ ॥

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ॥ ९० ॥

'कर्ण! मैंने सुना है, तुम भीष्मसे द्वेष होनेके कारण युद्ध नहीं करोगे। राधानन्दन! ऐसी दशामें जबतक भीष्म मारे नहीं जाते हैं, तबतक हमलोगोंका पक्ष ग्रहण कर लो ॥

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ॥ ९१ ॥

'राधेय! जब भीष्म मारे जायँ, उसके बाद तुम यदि ठीक समझो तो युद्धमें पुनः दुर्योधनकी सहायताके लिये चले आना' ॥ ९१ ॥

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ॥ ९२ ॥

कर्ण बोला—केशव! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं दुर्योधनका हितैषी हूँ। उसके लिये अपने प्राणोंको निछावर किये बैठा हूँ; अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा ॥ ९२ ॥

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ॥ ९३ ॥

संजय कहते हैं—भारत! कर्णकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे जा मिले ॥

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने सेनाके बीचमें खड़े होकर पुकारा—'जो कोई वीर सहायताके लिये हमारे पक्षमें आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा' ॥ ९४ ॥

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ९५ ॥

उस समय आपके पुत्र युयुत्सुने पाण्डवोंकी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ९५ ॥

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थे महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ॥ ९६ ॥

'महाराज! निष्पाप नरेश! यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आपलोगोंके लिये युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे युद्ध करूँगा' ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूम सर्वशः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो! आओ, आओ। हम सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयोंसे युद्ध करेंगे। यह बात हम और भगवान् श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं।९७।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्ध्यस्व मम कारणात् ।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते ॥ ९८ ॥

महाबाहो! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये युद्ध करो। राजा धृतराष्ट्रकी वंशपरम्परा तथा पिण्डोदक-क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखायी देती है ॥ ९८ ॥

भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ।
न भविष्यति दुर्बुद्धिर्धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ॥ ९९ ॥

महातेजस्वी राजकुमार! हम तुम्हें अपनाते हैं। तुम भी हमें स्वीकार करो। अत्यन्त क्रोधी दुर्बुद्धि दुर्योधन अब इस संसारमें जीवित नहीं रहेगा ॥ ९९ ॥

संजय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।
(स सत्यमिति मन्वानो युधिष्ठिरवचस्तदा ।)
जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥ १०० ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर युयुत्सु युधिष्ठिरकी बातको सच मानकर आपके सभी पुत्रोंको त्यागकर डंका पीटता हुआ पाण्डवोंकी सेनामें चला गया ॥

(अवसद् धार्तराष्ट्रस्य कुत्सयन् कर्म दुष्कृतम् ।
सेनामध्ये हि तैः साकं युद्धाय कृतनिश्चयः ॥)

वह दुर्योधनके पापकर्मकी निन्दा करता हुआ युद्धका निश्चय करके पाण्डवोंके साथ उन्हींकी सेनामें रहने लगा ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।
जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ॥ १०१ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित अत्यन्त प्रसन्न हो सोनेका बना हुआ चमकीला कवच धारण किया ॥ १०१ ॥

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।
ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ॥ १०२ ॥

फिर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथपर आरूढ़ हुए; इसके बाद उन्होंने पुनः शत्रुओंके मुकाबिलेमें पहलेकी भाँति ही अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ॥ १०२ ॥

अवादयन् दुन्दुभींश्च शतशश्चैव पुष्करान् ।
सिंहनादांश्च विविधान् विनेदुः पुरुषर्षभाः ॥ १०३ ॥

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने सैकड़ों दुन्दुभियाँ और नगारे बजाये तथा अनेक प्रकारसे सिंह-गर्जनाएँ कीं ॥ १०३ ॥

रथस्थान् पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रेक्ष्य पार्थिवाः।
धृष्टद्युम्नादयः सर्वे पुनर्जहृषिरे तदा ॥१०४॥

पुरुषसिंह पाण्डवोंको पुनः रथपर बैठे देख धृष्टद्युम्न आदि राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान्।
दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ॥१०५॥

माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले पाण्डवोंके उस गौरवको देखकर सब भूपाल उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ १०५ ॥

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम्।
दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ॥१०६॥

सब राजा महात्मा पाण्डवोंके सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्यके पालन तथा कुटुम्बियोंके प्रति परम दयाभावकी चर्चा करने लगे ॥ १०६ ॥

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः।
वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ॥१०७॥

यशस्वी पाण्डवोंके लिये सब ओरसे उनकी स्तुति-प्रशंसासे भरी हुई 'साधु-साधु' की बातें निकलती थीं। उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुननेको मिलती थी, जो मन और हृदयके हर्षको बढ़ानेवाली थी ॥ १०७ ॥

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥१०८॥

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्योंने पाण्डवोंका वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ॥ १०८ ॥

ततो जघ्नुर्महाभेरीः शतशश्च सहस्रशः।
शङ्खांश्च गोक्षीरनिभान् दध्मुर्हृष्टा मनस्विनः ॥१०९॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सभी मनस्वी पुरुषोंने सैकड़ों और हजारों बड़ी-बड़ी भेरियों तथा गोदुग्धके समान श्वेत शङ्खोंको बजाया ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म आदिका समादरविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च।
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार जब मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाओंका व्यूह लगा लिया, तब वहाँ उनमेंसे पहले किन्होंने प्रहार किया, कौरवोंने या पाण्डवोंने ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भाइयोंसहित आपका पुत्र दुर्योधन भीष्मको आगे करके सेनासहित आगे बढ़ा ॥ २ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी भीमसेनको आगे करके भीष्मसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर प्रसन्न मनसे आगे बढ़े ॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिःस्वनाः ॥ ४ ॥

उभयोः सेनयोर्यास्तस्ततस्तेऽस्मान् समाद्रवन्।
वयं तान् प्रतिनर्दन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ॥ ५ ॥

फिर तो दोनों सेनाओंमें सिंहनाद, किलकारियोंके शब्द, क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाद्योंकी ध्वनि तथा घोड़ों और हाथियोंके गर्जनेके शब्द गूँजने लगे। पाण्डव सैनिक हमलोगोंपर टूट पड़े और हमलोगोंने भी विकट गर्जना करते हुए उनपर धावा बोल दिया। इस प्रकार अत्यन्त घोर युद्ध होने लगा ॥ ४-५ ॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
समागमे पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ ६ ॥

भीषण मारकाटसे युक्त उस महान् संग्राममें आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंकी विशाल सेनाएँ प्रचण्ड वायुसे विकम्पित हुए वनोंकी भाँति शङ्ख और मृदङ्गके शब्दोंसे काँपने लगीं ॥

नरेन्द्रनागाश्वरथाकुलाना-
मभ्यागतानामशिवे मुहूर्ते।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ७ ॥

राजाओं, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे भरी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ उस अमङ्गलमय मुहूर्तमें जब एक दूसरेके सम्मुख और समीप आयीं, उस समय वायुसे उद्वेलित समुद्रोंकी भाँति उनका भयंकर कोलाहल सब ओर गूँजने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
भीमसेनो महाबाहुः प्राणदद् गोवृषो यथा ॥ ८ ॥

उस रोमाञ्चकारी भयंकर शब्दके प्रकट होते ही महाबाहु भीमसेन साँड़की भाँति गर्जने लगे ॥ ८ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वारणानां च बृंहितम् ।
सिंहनादं च सैन्यानां भीमसेनरवोऽभ्यभूत् ॥ ९ ॥

भीमसेनकी वह गर्जना शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोष, गजराजोंके चिग्घाड़नेकी आवाज तथा सैनिकोंके सिंहनादको भी दबाकर सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ९ ॥

हयानां ह्रेषमाणानामनीकेषु सहस्रशः ।
सर्वानभ्यभवच्छब्दान् भीमस्य नदतः स्वनः ॥ १० ॥

उन सेनाओंमें हजारों घोड़े जोर-जोरसे हिनहिना रहे थे; परंतु गर्जना करते हुए भीमसेनका शब्द उन सब शब्दोंको दबाकर ऊपर उठ गया था ॥ १० ॥

तं श्रुत्वा निनदं तस्य सैन्यास्तव वितत्रसुः ।
जीमूतस्येव नदतः शक्राशनिसमस्वनम् ॥ ११ ॥

वे मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जन-तर्जन कर रहे थे। उनका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयानक था। उस सिंहनादको सुनकर आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे थे ॥ ११ ॥

वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
शब्देन तस्य वीरस्य सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ १२ ॥

जैसे सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार वीर भीमसेनकी गर्जनासे भयभीत हो कौरवसेनाके समस्त वाहन मल मूत्र करने लगे ॥ १२ ॥

दर्शयन् घोरमात्मानं महाभ्रमिव नादयन् ।
बिभीषयंस्तव सुतान् भीमसेनः समभ्ययात् ॥ १३ ॥

महान् मेघके समान अपने भयंकर रूपको प्रकट करते, गर्जते तथा आपके पुत्रोंको डराते हुए भीमसेन कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १३ ॥

तमायान्तं महेष्वासं सोदर्याः पर्यवारयन् ।
छादयन्तः शरव्रातैर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १४ ॥

महान् धनुर्धर भीमसेनको आते देख दुर्योधनके भाइयों (तथा अन्य वीरों) ने जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंसे उन्हें आच्छादित करते हुए सब ओरसे घेर लिया ॥ १४ ॥

दुर्योधनश्च पुत्रस्ते दुर्मुखो दुःशलः शलः ।
दुःशासनश्चातिरथस्तथा दुर्मर्षणो नृप ॥ १५ ॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
महाचापानि धुन्वन्तो मेघा इव सविद्युतः ।
आददानाश्च नाराचान् निर्मुक्ताशीविषोपमान् ॥ १७ ॥
(अग्रतः पाण्डुसेनाया ह्यतिष्ठन् पृथिवीक्षितः ॥)

नरेश्वर ! आपके पुत्र दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, शल, अतिरथी दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज तथा पराक्रमी भूरिश्रवा—ये सभी वीर अपने बड़े-बड़े धनुषोंको कँपाते और छूटनेपर विषधर सर्पके समान प्रतीत होनेवाले बाणोंको हाथमें लेते हुए बिजलियों-सहित मेघोंके समान जान पड़ते थे। ये सभी भूपाल पाण्डव-सेनाके सम्मुख (भीमसेनको घेरकर) खड़े हो गये ।१५–१७।

अथ ते द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्रान् प्रतिययुरर्दयन्तः शितैः शरैः ।
वज्रैरिव महावेगैः शिखराणि धराभृताम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सभी योद्धा वज्रके समान महान् वेगशाली तीक्ष्ण बाणोंद्वारा पर्वतशिखरोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंको पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये १८-१९

तस्मिन् प्रथमसंग्रामे भीमज्यातलनिःस्वने ।
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥२०॥

उस प्रथम संग्राममें जब भयानक धनुषोंकी टंकार तथा ताल टोंकनेकी आवाज हो रही थी, आपके तथा पाण्डवोंके दलमें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ २० ॥

लाघवं द्रोणशिष्याणामपश्यं भरतर्षभ ।
निमित्तवेधिनां चैव शरानुत्सृजतां भृशम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मैंने द्रोणाचार्यके उन शिष्योंकी फुर्ती देखी। वे बड़ी तीव्र गतिसे बाण छोड़ते और लक्ष्यको बींध डालते थे ॥ २१ ॥

नोपशाम्यति निर्घोषो धनुषां कूजतां तथा ।
विनिश्चेरुः शरा दीप्ता ज्योतींषीव नभस्तलात् ॥ २२ ॥

वहाँ टंकार करते हुए धनुषोंके शब्द कभी शान्त नहीं होते थे। आकाशसे नक्षत्रोंके समान उन धनुषोंसे चमकीले बाण प्रकट हो रहे थे ॥ २२ ॥

सर्वे त्वन्ये महीपालाः प्रेक्षका इव भारत ।
ददृशुर्दर्शनीयं तं भीमं ज्ञातिसमागमम् ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! दूसरे सब राजालोग उस कुटुम्बीजनोंके भयंकर दर्शनीय संग्रामको दर्शककी भाँति देखने लगे ।२३।

ततस्ते जातसंरम्भाः परस्परकृतागसः।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् व्यायच्छन्त महारथाः ॥ २४॥

राजन्! बाल्यावस्थामें वे सभी एक दूसरेका अपराध कर चुके थे। सबका स्मरण हो आनेसे वे सभी महारथी रोषमें भर गये और एक दूसरेके प्रति स्पर्धा रखनेके कारण युद्धमें विजयी होनेके लिये विशेष परिश्रम करने लगे ॥ २४॥

कुरुपाण्डवसेने ते हस्त्यश्वरथसंकुले।
शुशुभाते रणेऽतीव पटे चित्रार्पिते इव ॥ २५ ॥

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई कौरव-पाण्डवोंकी वे सेनाएँ पटपर अङ्कित हुई चित्रमयी सेनाओंकी भाँति उस रण-भूमिमें विशेष शोभा पा रही थीं ॥ २५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे अन्य सब राजा भी हाथमें धनुष-बाण लिये सेनाओंसहित वहाँ आ पहुँचे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्रकी सेनापर टूट पड़े ॥ २७ ॥

उभयोः सेनयोस्तीव्रः सैन्यानां स समागमः।
अन्तर्धीयत चादित्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २८ ॥

उन दोनों सेनाओंका वह संघर्ष अत्यन्त दुःसह था। सेनाकी धूलसे आच्छादित हो सूर्यदेव अदृश्य हो गये ॥ २८॥

प्रयुद्धानां प्रभग्नानां पुनरावर्तिनामपि।
नात्र स्वेषां परेषां वा विशेषः समदृश्यत ॥ २९ ॥

कुछ लोग युद्ध करते, कुछ भागते और कुछ भागकर फिर लौट आते थे। इस बातमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ २९ ॥

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये।
अतिसर्वाण्यनीकानि पिता तेऽभिव्यरोचत ॥ ३० ॥

जिस समय वह अत्यन्त भयानक तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय आपके ताऊ भीष्मजी उन समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि युद्धारम्भे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धका आरम्भविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! उस भयंकर दिनके प्रथम भागमें महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओंके शरीरका उच्छेद करनेवाला था ॥ १ ॥

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम्।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन् ॥ २ ॥

कौरव और संजयवंशी वीर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे। उनका वह सिंहनाद पृथ्वी और आकाशको प्रतिध्वनित कर रहा था ॥ २ ॥

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशङ्खरवैः सह।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ॥ ३ ॥

तल और शङ्खोंकी ध्वनिके साथ सैनिकोंका किलकिल शब्द गूँज उठा। एक दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके सिंहनाद होने लगे ॥ ३ ॥

तलत्राभिहताश्चैव ज्याशब्दा भरतर्षभ।
पत्तीनां पादशब्दश्च वाजिनां च महास्वनः ॥ ४ ॥
तोत्राङ्कुशनिपातश्च आयुधानां च निःस्वनः।
घण्टाशब्दश्च नागानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ५ ॥
तस्मिन् समुदिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे।
बभूव रथनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! तलत्राणके आघातसे टकरायी हुई प्रत्यञ्चाओं-के शब्द, पैदल सिपाहियोंके पैरोंकी धमक, उच्चस्वरसे होने-वाली घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चाबुक और अङ्कुशके आघातका शब्द, हथियारोंकी झनझनाहट तथा एक दूसरेपर धावा करनेवाले गजराजोंके घण्टानाद—ये सब शब्द मिलकर ऐसी भयंकर आवाज प्रकट करने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उसीमें रथोंके पहियोंकी घरघराहट होने लगी, जो मेघोंकी विकट गर्जनाके समान जान पड़ती थी ॥ ४—६॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ७ ॥

वे समस्त कौरव सैनिक अपने मनको कठोर बना

प्राणोंकी बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर धावा करने लगे ॥ ७ ॥

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनंजयम् ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ॥ ८ ॥

राजन् ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धभूमिमें कालदण्डके समान भीषण धनुष लेकर अर्जुनकी ओर दौड़े ॥

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम् ।
अभ्यधावत तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ॥ ९ ॥

उधरसे महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकविख्यात गाण्डीव धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९ ॥

तावुभौ कुरुशार्दूलौ परस्परवधैषिणौ ।
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयद् बली ॥ १० ॥

वे दोनों कुरुकुलके सिंह थे और एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे। बलवान् भीष्म युद्धमें अर्जुनको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि ।
सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ११ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मको युद्धमें हिला न सके। दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकिने कृतवर्मापर धावा किया ॥ ११ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ॥ १२ ॥
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम् ।

उन दोनोंमें बड़ा भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ। सात्यकिने कृतवर्माको और कृतवर्माने सात्यकिको भयंकर बाणोंसे घायल करते हुए एक दूसरेको बड़ी पीड़ा पहुँचायी ॥

तौ शरार्चितसर्वाङ्गौ शुशुभाते महाबलौ ॥ १३ ॥
वसन्ते पुष्पशबलौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।

वे दोनों महाबली वीर सर्वाङ्गमें बाणोंसे छिदे होनेके कारण वसन्त ऋतुमें खिले हुए दो पुष्पयुक्त पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १३½ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ॥ १४ ॥
ततः कोसलराजासावभिमन्योर्विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद समरे सारथिं च न्यपातयत् ॥ १५ ॥

अभिमन्युने महान् धनुर्धर बृहद्बलके साथ युद्ध किया। प्रजानाथ ! कोसलनरेश बृहद्बलने उस युद्धमें अभिमन्युके ध्वजको काट दिया और सारथिको मार गिराया ॥१४-१५॥

सौभद्रस्तु ततः क्रुद्धः पातिते रथसारथौ ।
बृहद्बलं महाराज विव्याध नवभिः शरैः ॥ १६ ॥

महाराज ! अपने रथके सारथिके मारे जानेपर सुभद्राकुमार अभिमन्यु कुपित हो उठे और उन्होंने बृहद्बलको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १६ ॥

अथापराभ्यां भल्लाभ्यां शिताभ्यामरिमर्दनः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद पार्ष्णिमेकेन सारथिम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यं च शरैः क्रुद्धौ ततक्षाते परस्परम् ।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन अभिमन्युने अन्य दो तीखे बाणोंसे बृहद्बलके ध्वजको काट डाला फिर एक बाणसे उनके पृष्ठ-रक्षकको और दूसरेसे सारथिको मार डाला। फिर वे दोनों अत्यन्त कुपित हो तीखे सायकोंद्वारा एक दूसरेको बेधने लगे ॥

मानिनं समरे दृप्तं कृतवैरं महारथम् ॥ १८ ॥
भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत् ।

युद्धमें अभिमान प्रकट करनेवाले, घमंडी और पहलेके वैरी आपके महारथी पुत्र दुर्योधनसे भीमसेन युद्ध करने लगे॥

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ॥ १९ ॥
अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे ।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुलके प्रधान व्यक्ति थे। उन्होंने समराङ्गणमें एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९½ ॥

तौ वीक्ष्य तु महात्मानौ कृतिनौ चित्रयोधिनौ ॥ २० ॥
विस्मयः सर्वभूतानां समपद्यत भारत ।

भारत ! वे दोनों महामनस्वी अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले थे। उन्हें देखकर समस्त प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २०½ ॥

दुःशासनस्तु नकुलं प्रत्युद्याय महाबलम् ॥ २१ ॥
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।

दुःशासनने आगे बढ़कर मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा महाबली नकुलको घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

तस्य माद्रीसुतः केतुं सशरं च शरासनम् ॥ २२ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैः प्रहसन्निव भारत ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २३ ॥

भारत ! तब माद्रीकुमार नकुलने भी हँसते हुए-से तीखे बाण मारकर दुःशासनके धनुष-बाण और ध्वजको काट गिराया और पचीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया ॥२२-२३॥

पुत्रस्तु तव दुर्धर्षो नकुलस्य महाहवे ।
तुरङ्गांश्चिच्छिदे बाणैर्ध्वजं चैवाभ्यपातयत् ॥ २४ ॥

इसके बाद आपके दुर्धर्ष पुत्रने उस महायुद्धमें नकुलके घोड़ोंको अपने सायकोंद्वारा काट डाला और ध्वजको भी नीचे गिरा दिया ॥ २४ ॥

दुर्मुखः सहदेवं च प्रत्युद्याय महाबलम् ।
विव्याध शरवर्षेण यतमानं महाहवे ॥ २५ ॥

महाबली सहदेव उस महासमरमें अपनी विजयके लिये बड़ा प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धावा करके अपने बाणोंकी वर्षासे घायल कर दिया ॥ २५ ॥

सहदेवस्ततो वीरो दुर्मुखस्य महारणे।
शरेण भृशतीक्ष्णेन पातयामास सारथिम् ॥ २६ ॥

तब वीरवर सहदेवने उस महायुद्धमें अत्यन्त तीखे बाणसे दुर्मुखके सारथिको मार गिराया ॥ २६ ॥

तावन्योन्यं समासाद्य समरे युद्धदुर्मदौ।
त्रासयेतां शरैर्घोरैः कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २७ ॥

वे दोनों युद्धदुर्मद वीर समराङ्गणमें एक दूसरेसे टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधोंका बदला लेनेकी इच्छा रखते हुए भयंकर बाणोंद्वारा एक दूसरेको भयभीत करने लगे ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजानमभ्ययात्।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ॥ २८ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया। राजन्! मद्रराजने युधिष्ठिरके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्यत् कार्मुकमादाय वेगवद् बलवत्तरम् ॥ २९ ॥
ततो मद्रेश्वरं राजा शरैः संनतपर्वभिः।
छादयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा वेगयुक्त एवं प्रबलतर धनुष ले लिया और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा मद्रराज शल्यको ढक दिया। फिर क्रोधमें भरकर कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥२९-३०॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ॥ ३१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे पाञ्चालस्य तु कार्मुकम्।

भरतनन्दन ! एक ओरसे धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया। तब द्रोणने अत्यन्त कुद्ध होकर युद्धमें दूसरोंके मारनेके साधनभूत धृष्टद्युम्नके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३१½ ॥

शरं चैव महाघोरं कालदण्डमिवापरम् ॥ ३२ ॥
प्रेषयामास समरे सोऽस्य काये न्यमज्जत।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उन्होंने द्वितीय कालदण्डके समान अत्यन्त भयंकर बाण चलाया। वह बाण धृष्टद्युम्नके शरीरमें धँस गया ॥ ३२½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सायकांश्च चतुर्दश ॥ ३३ ॥
द्रोणं द्रुपदपुत्रस्तु प्रतिविव्याध संयुगे।
तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ चक्रतुः सुभृशं रणम् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर चौदह सायक चलाये और उस युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर तो वे दोनों एक दूसरेपर अत्यन्त कुपित हो भीषण संग्राम करने लगे ॥ ३३-३४ ॥

सौमदत्तिं रणे शङ्खो रभसं रभसो युधि।
प्रत्युद्ययौ महाराज तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

महाराज ! वेगशाली शङ्खने उस युद्धमें वेगवान् वीर भूरिश्रवापर धावा किया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥

तस्य वै दक्षिणं वीरो निर्बिभेद रणे भुजम्।
सौमदत्तिस्तथा शङ्खं जत्रुदेशे समाहनत् ॥ ३६ ॥

वीर शङ्खने रणभूमिमें भूरिश्रवाकी दाहिनी भुजा विदीर्ण कर डाली; फिर भूरिश्रवाने भी शङ्खके गलेकी हँसलीपर बाण मारा ॥ ३६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते।
दृप्तयोः समरे पूर्वं वृत्रवासवयोरिव ॥ ३७ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति उन दोनों अभिमानी वीरोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥३७॥

बाह्लीकं तु रणे क्रुद्धं क्रुद्धरूपो विशाम्पते।
अभ्यद्रवदमेयात्मा धृष्टकेतुर्महारथः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए बाह्लीकपर अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टकेतुने क्रोधपूर्वक आक्रमण किया॥

बाह्लीकस्तु रणे राजन् धृष्टकेतुममर्षणः।
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् सिंहनादमथानदत् ॥ ३९ ॥

राजन् ! अमर्षशील बाह्लीकने समराङ्गणमें बहुतसे बाणोंद्वारा धृष्टकेतुको पीड़ा दी और सिंहके समान गर्जना की ॥

चेदिराजस्तु संक्रुद्धो बाह्लीकं नवभिः शरैः।
विव्याध समरे तूर्णं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ४० ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर हमला करता है, उसी प्रकार तुरंत ही नौ बाण मारकर उस युद्धभूमिमें बाह्लीकको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४० ॥

तौ तत्र समरे क्रुद्धौ नर्दन्तौ च पुनः पुनः।
समीयतुः सुसंक्रुद्धावङ्गारकबुधाविव ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो रोषमें भरे हुए मंगल और बुधकी भाँति बारंबार गर्जते हुए युद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ॥ ४२ ॥

जैसे इन्द्रने युद्धमें बल नामक दैत्यपर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कचने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षसपर आक्रमण किया ॥ ४२ ॥

घटोत्कचस्ततः क्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम्।
नवत्या सायकैस्तीक्ष्णैर्दारयामास भारत ॥ ४३ ॥

भरतनन्दन ! क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने नब्बे तीखे बाणोंद्वारा उस महाबली राक्षस अलम्बुषको विदीर्ण कर दिया॥

अलम्बुषस्तु समरे भैमसेनिं महाबलम्।
बहुधा दारयामास शरैः संनतपर्वभिः॥ ४४॥

तब अलम्बुषने भी महाबली भीमसेनपुत्र घटोत्कचको झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें बहुत प्रकारसे घायल कर दिया॥ ४४॥

व्यभ्राजेतां ततस्तौ तु संयुगे शरविक्षतौ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ॥ ४५॥

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार इस युद्धमें एक दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अलम्बुष और घटोत्कच अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे॥ ४५॥

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धः शिखण्डिनमुपस्थितम्॥ ४६॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं विद्ध्वा ह्यकम्पयत्।
शिखण्ड्यपि ततो राजन् द्रोणपुत्रमताडयत्॥ ४७॥
सायकेन सुपीतेन तीक्ष्णेन निशितेन च।
तौ जघ्नतुस्तदान्योन्यं शरैर्बहुविधैर्मृधे॥ ४८॥

राजन्! बलवान् शिखण्डीने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामा-पर धावा किया। तब अश्वत्थामाने कुपित हो एक तीखे नाराच-के द्वारा निकट आये हुए शिखण्डीको अत्यन्त घायल करके कम्पित कर दिया। महाराज! तब शिखण्डीने भी पीले रंगके तेज धारवाले तीखे सायकसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको गहरी चोट पहुँचायी; तदनन्तर वे दोनों अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करने लगे॥ ४६—४८॥

भगदत्तं रणे शूरं विराटो वाहिनीपतिः।
अभ्ययात् त्वरितो राजंस्ततो युद्धमवर्तत॥ ४९॥

राजन्! संग्रामशूर भगदत्तपर सेनापति विराटने बड़ी उतावलीके साथ आक्रमण किया। फिर तो उन दोनोंमें युद्ध होने लगा॥ ४९॥

विराटो भगदत्तं तु शरवर्षेण भारत।
अभ्यवर्षत् सुसंक्रुद्धो मेघो वृष्ट्या इवाचलम्॥ ५०॥

भारत! विराटने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर अपने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो॥ ५०॥

भगदत्तस्ततस्तूर्णं विराटं पृथिवीपतिम्।
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम्॥ ५१॥

तब जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार भगदत्तने समरभूमिमें बाणोंकी वर्षाद्वारा पृथ्वीपति विराटको आच्छादित कर दिया॥ ५१॥

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ।
तं कृपः शरवर्षेण छादयामास भारत॥ ५२॥
गौतमं कैकयः क्रुद्धः शरवृष्ट्याभ्यपूरयत्।

भरतनन्दन! केकयराज बृहत्क्षत्रपर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने आक्रमण किया और अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उन्हें ढक दिया। तब केकयराजने भी क्रुद्ध होकर अपने सायकोंकी वर्षासे कृपाचार्यको आच्छादित कर दिया॥ ५२½॥

तावन्योन्यं हयान् हत्वा धनुश्छित्त्वा च भारत॥ ५३॥
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ।
तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्॥ ५४॥

भारत! वे दोनों वीर एक दूसरेके घोड़ोंको मार धनुष-के टुकड़े करके रथहीन हो अमर्षमें भरकर खड्गद्वारा युद्ध करनेके लिये आमने-सामने खड़े हुए। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं दारुण युद्ध होने लगा॥ ५३-५४॥

द्रुपदस्तु ततो राजन् सैन्धवं वै जयद्रथम्।
अभ्युद्ययौ हृष्टरूपो हृष्टरूपं परंतपः॥ ५५॥

राजन्! दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रुपदने बड़े हर्षके साथ सिन्धुराज जयद्रथपर धावा किया। जयद्रथ भी बहुत प्रसन्न था॥ ५५॥

ततः सैन्धवको राजा द्रुपदं विशिखैस्त्रिभिः।
ताडयामास समरे स च तं प्रत्यविध्यत॥ ५६॥

तत्पश्चात् सिन्धुराज जयद्रथने समराङ्गणमें तीन बाणों-द्वारा द्रुपदको गहरी चोट पहुँचायी। द्रुपदने भी बदलेमें उसे बींध डाला॥ ५६॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्।
ईक्षणप्रीतिजननं शुक्राङ्गारकयोरिव॥ ५७॥

उन दोनोंका वह घोर एवं अत्यन्त भयंकर युद्ध शुक्र और मंगलके संघर्षकी भाँति नेत्रोंके लिये हर्ष उत्पन्न करनेवाला था॥ ५७॥

विकर्णस्तु सुतस्तुभ्यं सुतसोमं महाबलम्।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैस्ततो युद्धमवर्तत॥ ५८॥

आपके पुत्र विकर्णने तेज चलनेवाले घोड़ोंद्वारा महाबली सुतसोमपर धावा किया। तत्पश्चात् उनमें भारी युद्ध होने लगा॥ ५८॥

विकर्णः सुतसोमं तु विद्ध्वा नाकम्पयच्छरैः।
सुतसोमो विकर्णं च तदद्भुतमिवाभवत्॥ ५९॥

विकर्ण अपने बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी उन्हें कम्पित न कर सका। इसी प्रकार सुतसोम भी विकर्णको विचलित न कर सके। उन दोनोंका यह पराक्रम अद्भुत-सा प्रतीत हुआ॥ ५९॥

सुशर्माणं नरव्याघ्रश्चेकितानो महारथः ।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धः पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

नरश्रेष्ठ पराक्रमी महारथी चेकितानने पाण्डवोंके लिये अत्यन्त कुपित होकर सुशर्मापर धावा किया ॥ ६० ॥

सुशर्मा तु महाराज चेकितानं महारथम् ।
महता शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ६१ ॥

महाराज ! सुशर्माने भारी बाण-वर्षाके द्वारा महारथी चेकितानको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६१ ॥

चेकितानोऽपि संरब्धः सुशर्माणं महाहवे ।
प्राच्छादयत् तमिषुभिर्महामेघ इवाचलम् ॥ ६२ ॥

तब चेकितानने भी रोषमें भरकर उस महायुद्धमें अपने बाणोंकी वर्षासे सुशर्माको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे महामेघ जलकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु पराक्रान्तं पराक्रमी ।
अभ्यद्रवत राजेन्द्र मत्तः सिंह इव द्विपम् ॥ ६३ ॥

राजेन्द्र ! पराक्रमी शकुनि पराक्रमसम्पन्न प्रतिविन्ध्यपर चढ़ आया, ठीक उसी तरह जैसे मतवाला सिंह किसी हाथीपर आक्रमण करता है ॥ ६३ ॥

यौधिष्ठिरस्तु संक्रुद्धः सौबलं निशितैः शरैः ।
व्यदारयत संग्रामे मघवानिव दानवम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार इन्द्र संग्रामभूमिमें किसी दानवको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरके पुत्र प्रतिविन्ध्यने अत्यन्त कुपित होकर सुबलपुत्र शकुनिको अपने तीखे बाणोंसे बेध डाला ॥ ६४ ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु प्रतिविध्यन्तमाहवे ।
व्यदारयन्महाप्राज्ञः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६५ ॥

युद्धमें अपनेको बेधनेवाले प्रतिविन्ध्यको भी परम बुद्धिमान् शकुनिने झुके हुए गाँठवाले बाणोंसे घायल कर दिया॥

सुदक्षिणं तु राजेन्द्र काम्बोजानां महारथम् ।
श्रुतकर्मा पराक्रान्तमभ्यद्रवत संयुगे ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! काम्बोजदेशके राजा पराक्रमी महारथी सुदक्षिणपर रणभूमिमें श्रुतकर्माने आक्रमण किया ॥ ६६ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे साहदेविं महारथम् ।
विद्ध्वा नाकम्पयत वै मैनाकमिव पर्वतम् ॥ ६७ ॥

तब सुदक्षिणने समराङ्गणमें सहदेव-पुत्र महारथी श्रुतकर्माको क्षत-विक्षत कर दिया; तो भी वह उन्हें कम्पित न कर सका । वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ६७ ॥

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धः काम्बोजानां महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् दारयन्निव सर्वशः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर श्रुतकर्माने कुपित होकर महारथी काम्बोजराजको सब ओरसे विदीर्ण-सा करते हुए अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भलीभाँति पीड़ित किया ॥ ६८ ॥

इरावानथ संक्रुद्धः श्रुतायुषमरिंदमम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे यत्तो यत्तरूपं परंतपः ॥ ६९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले यत्नशील इरावान्ने युद्धमें कुपित होकर शत्रुदमन श्रुतायुषपर धावा किया । श्रुतायुष भी प्रयत्नपूर्वक उनका सामना कर रहा था ॥६९॥

आर्जुनिस्तस्य समरे हयान् हत्वा महारथः ।
ननाद बलवन्नादं तत् सैन्यं प्रत्यपूरयत् ॥ ७० ॥

अर्जुनके उस महारथी पुत्र इरावान्ने रणक्षेत्रमें श्रुतायुषके घोड़ोंको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की और उसकी सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ७० ॥

श्रुतायुस्तु ततः क्रुद्धः फाल्गुनेः समरे हयान् ।
निजघान गदाग्रेण ततो युद्धमवर्तत ॥ ७१ ॥

यह देख श्रुतायुषने भी रुष्ट होकर रणभूमिमें अर्जुन-पुत्र इरावान्के घोड़ोंको अपनी गदाकी चोटसे मार डाला। तत्पश्चात् उन दोनोंमें खूब जमकर युद्ध होने लगा ॥ ७१ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ कुन्तिभोजं महारथम् ।
ससेनं ससुतं वीरं संससज्जतुराहवे ॥ ७२ ॥

अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने सेना और पुत्रसहित वीर महारथी कुन्तिभोजके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ७२ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तयोर्घोरं पराक्रमम् ।
अयुध्येतां स्थिरौ भूत्वा महत्या सेनया सह ॥ ७३ ॥

वहाँ मैंने उन दोनोंका अद्‌भुत और भयंकर पराक्रम देखा । वे दोनों ही अपनी विशाल वाहिनीके साथ स्थिरतापूर्वक खड़े होकर एक दूसरेका सामना कर रहे थे ॥ ७३ ॥

अनुविन्दस्तु गदया कुन्तिभोजमताडयत् ।
कुन्तिभोजश्च तं तूर्णं शरव्रातैरवाकिरत् ॥ ७४ ॥

अनुविन्दने कुन्तिभोजपर गदासे आघात किया । तब कुन्तिभोजने भी तुरंत ही अपने बाणसमूहोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

कुन्तिभोजसुतश्चापि विन्दं विव्याध सायकैः ।
स च तं प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७५ ॥

साथ ही कुन्तिभोजके पुत्रने विन्दको भी अपने सायकोंसे घायल कर दिया । विन्दने भी बदलेमें कुन्तिभोजपुत्रको क्षत-विक्षत कर दिया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ७५ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च गान्धारान् पञ्च मारिष ।
ससैन्यास्ते ससैन्यांश्च योधयामासुराहवे ॥ ७६ ॥

राजन् ! पाँच भाई केकय-राजकुमारोंने सेनासहित आकर युद्धमें अपनी विशाल वाहिनीके साथ खड़े हुए गान्धारदेशीय पाँच वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ किया ।७६ ।

वीरबाहुश्च ते पुत्रो वैराटिं रथसत्तमम् ।
उत्तरं योधयामास विव्याध निशितैः शरैः ॥ ७७ ॥
उत्तरश्चापि तं वीरं विव्याध निशितैः शरैः ।

आपके पुत्र वीरबाहुने विराटके पुत्र श्रेष्ठ रथी उत्तरके साथ युद्ध किया और उसे तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया । उत्तरने भी वीरबाहुको अपने तीक्ष्ण सायकोंका लक्ष्य बनाकर बेध डाला ॥ ७७½ ॥

चेदिराट् समरे राजन्नुलूकं समभिद्रवत् ॥ ७८ ॥
तथैव शरवर्षेण उलूकं समविद्धयत ।
उलूकश्चापि तं बाणैर्निशितैर्लोमवाहिभिः ॥ ७९ ॥

राजन् ! चेदिराजने समराङ्गणमें उलूकपर धावा किया और उसे अपने बाणोंकी वर्षासे बींध डाला । वैसे ही उलूकने भी पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा चेदिराजको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७८-७९ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं विशाम्पते ।
दारयेतां सुसंक्रुद्धावन्योन्यमपराजितौ ॥ ८० ॥

प्रजानाथ ! फिर उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा । किसीसे पराजित न होनेवाले वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेको विदीर्ण किये देते थे ॥ ८० ॥

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उस घमासान युद्धमें आपके और पाण्डव-पक्षके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्यके सहस्रों योद्धाओंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था ॥ ८१ ॥

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम् ।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥ ८२ ॥

महाराज ! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा मनोरम प्रतीत हुआ; फिर उन्मत्तकी भाँति विकट युद्ध चलने लगा । उस समय किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ८२ ॥

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम् ॥ ८३ ॥

उस समरभूमिमें हाथी हाथीके साथ भिड़ गया, रथीने रथीपर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवारपर चढ़ आया और पैदलने पैदलके साथ युद्ध किया ॥ ८३ ॥

ततो युद्धं सुदुर्धर्षं व्याकुलं समपद्यत ।
शूराणां समरे तत्र समासाद्येतरेतरम् ॥ ८४ ॥

कुछ ही देरमें उस रणक्षेत्रके भीतर शूरवीर सैनिकोंका एक दूसरेसे भिड़कर अत्यन्त दुर्धर्ष एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ ८४ ॥

तत्र देवर्षयः सिद्धाश्चारणाश्च समागताः ।
प्रैक्षन्त तद् रणं घोरं देवासुरसमं भुवि ॥ ८५ ॥

वहाँ आये हुए देवर्षियों, सिद्धों तथा चारणोंने भूतलपर होनेवाले उस युद्धको देवासुर-संग्रामके समान भयंकर देखा ॥

ततो दन्तिसहस्राणि रथानां चापि मारिष ।
अश्वौघाः पुरुषौघाश्च विपरीतं समाययुः ॥ ८६ ॥

आर्य ! तदनन्तर हजारों हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदल सैनिक द्वन्द्व-युद्धके पूर्वोक्त क्रमका उल्लङ्घन करके सभी सबके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८६ ॥

तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते रथवारणपत्तयः ।
सादिनश्च नरव्याघ्र युध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ८७ ॥

नरश्रेष्ठ ! जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती, वहीं रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक बारंबार युद्ध करते दिखायी देते थे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्व-युद्धविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवसेनाका घमासान युद्ध

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि तत्र तत्र पदातिनाम् ।
निर्मर्यादं प्रयुद्धानि तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतवंशी नरेश ! उस रणभूमिमें जहाँ-तहाँ लाखों सैनिकोंका मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था । वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम् ।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ॥ २ ॥

न पुत्र पिताको पहचानता था, न पिता अपने औरस पुत्रको । न भाई भाईको जानता था, न मामा अपने भानजेको ॥

न मातुलं च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा ।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३ ॥

न भानजेने मामाको पहचाना, न मित्रने मित्रको । उस समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकोंके साथ इस प्रकार युद्ध करते थे, मानो उनमें किसी ग्रह आदिका आवेश हो गया हो ॥ ३ ॥

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः ।
अभज्यन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ ॥ ४ ॥

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथोंद्वारा शत्रुपक्षकी रथसेनापर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ ! कितने ही रथोंके जूए विपक्षी रथोंके जूओंसे ही टकराकर टूट गये ॥ ४ ॥

रथेषाश्च रथेषाभिः कूबरा रथकूबरैः ।
संगतैः सहिताः केचित् परस्परजिघांसवः ॥ ५ ॥
न शेकुश्चलितुं केचित् संनिपत्य रथा रथैः ।

रथोंके ईषादण्ड और कूबर भी सामने आये हुए रथोंके ईषादण्ड और कूबरोंसे भिड़कर टूक-टूक हो गये। एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखनेवाले कितने ही रथ दूसरे रथोंसे आमने-सामने भिड़कर एक पग भी इधर-उधर चल न सके ॥ ५½ ॥

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः ॥ ६ ॥
बहुधादारयन् क्रुद्धा विषाणैरितरेतरम् ।

गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले विशालकाय गजराज कुपित हो दूसरे हाथियोंसे टक्कर लेते हुए अपने दाँतोंके आघातसे एक दूसरेको नाना प्रकारसे विदीर्ण करने लगे ६½

सतोरणपताकैश्च वारणा वरवारणैः ॥ ७ ॥
अभिसृत्य महाराज वेगवद्भिर्महागजैः ।
दन्तैरभिहतास्तत्र चुक्रुशुः परमातुराः ॥ ८ ॥

महाराज ! कितने ही हाथी तोरण और पताकाओंसहित वेगशाली महाकाय एवं श्रेष्ठ गजराजोंसे भिड़कर उनके दाँतोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो आतुर भावसे चिग्घाड़ रहे थे ॥ ७-८ ॥

अभिनीताश्च शिक्षाभिस्तोत्रांकुशसमाहताः ।
अप्रभिन्नाः प्रभिन्नानां सम्मुखाभिमुखा ययुः ॥ ९ ॥

जिन्हें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिली थीं तथा जिनका मद अभी प्रकट नहीं हुआ था, वे हाथी तोत्र और अङ्कुशोंकी चोट खाकर सम्मुख खड़े हुए मदस्रावी गजराजोंके सामने जाकर युद्धके लिये डट गये ॥ ९ ॥

प्रभिन्नैरपि संसक्ताः केचित् तत्र महागजाः ।
क्रौञ्चवन्निनदं कृत्वा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ १० ॥

कुछ महान् गजराज मदस्रावी हाथियोंसे टक्कर लेकर क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ १० ॥

सम्यक् प्रणीता नागाश्च प्रभिन्नकरटामुखाः ।
ऋष्टितोमरनाराचैर्निर्विद्धा वरवारणाः ॥ ११ ॥
प्रणेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ।
प्राद्रवन्त दिशः केचिन्नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १२ ॥

अच्छी तरह शिक्षा पाये हुए कितने ही हाथी तथा श्रेष्ठ गज, जिनके गण्डस्थलसे मद चू रहा था, ऋष्टि, तोमर और नाराचोंसे विद्ध होकर मर्म विदीर्ण हो जानेके कारण चिग्घाड़ते और प्राणशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही भयानक चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ ११-१२ ॥

गजानां पादरक्षास्तु व्यूढोरस्काः प्रहारिणः ।
ऋष्टिभिश्च धनुर्भिश्च विमलैश्च परश्वधैः ॥ १३ ॥
गदाभिर्मुसलैश्चैव भिन्दिपालैः सतोमरैः ।
आयसैः परिघैश्चैव निस्त्रिंशैर्विमलैः शितैः ॥ १४ ॥
प्रगृहीतैः सुसंरब्धा द्रवमाणास्ततस्ततः ।
व्यदृश्यन्त महाराज परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

महाराज ! हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले योद्धा, जिनके वक्षःस्थल विस्तृत एवं विशाल थे, अत्यन्त क्रोधमें भरकर इधर-उधर दौड़ रहे थे और हाथोंमें लिये हुए ऋष्टि, धनुष, चमकीले फरसे, गदा, मूसल, भिन्दिपाल, तोमर, लोहेकी परिघ तथा तेज धारवाले उज्ज्वल खड्ग आदि आयुधोंद्वारा एक दूसरेके वधके लिये उत्सुक दिखायी दे रहे थे १३-१५

राजमानाश्च निस्त्रिंशाः संसिक्ता नरशोणितैः ।
प्रत्यदृश्यन्त शूराणामन्योन्यमभिधावताम् ॥ १६ ॥

परस्पर धावा करनेवाले शूरवीरोंके चमकीले खड्ग मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए देखे जाते थे ॥ १६ ॥

अवक्षिप्तावधूतानामसीनां वीरबाहुभिः ।
संजज्ञे तुमुलः शब्दः पततां परमर्मसु ॥ १७ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे घुमाकर चलाये हुए खड्ग जब दूसरोंके मर्मपर आघात करते थे, उस समय उनका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ १७ ॥

गदामुसलरुग्णानां भिन्नानां च वरासिभिः ।
दन्तिदन्तावभिन्नानां मृदितानां च दन्तिभिः ॥ १८ ॥
तत्र तत्र नरौघाणां क्रोशतामितरेतरम् ।
शुश्रुवुर्दारुणा वाचः प्रेतानामिव भारत ॥ १९ ॥

उस युद्धस्थलमें गदा और मूसलके आघातसे कितने ही मनुष्योंके अङ्ग-भङ्ग हो गये थे, कितने ही अच्छी श्रेणीके तलवारोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंके शरीर हाथियोंके दाँतोंसे दबकर विदीर्ण हो गये थे और कितनोंको हाथियोंने कुचल दिया था। इस प्रकार असंख्य मनुष्योंके समुदाय अधमरे-से होकर एक दूसरेको पुकार रहे थे। भारत ! उनके वे भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके कोलाहलके समान श्रवणगोचर हो रहे थे ॥ १८-१९ ॥

हयैरपि हयारोहाश्चामरापीडधारिभिः ।
हंसैरिव महावेगैरन्योन्यमभिविद्रुताः ॥ २० ॥

चँवर और कलंगीसे सुशोभित हंस-तुल्य सफेद एवं महान् वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए कितने ही घुड़सवार एक दूसरेपर धावा कर रहे थे ॥ २० ॥

तैर्विमुक्ता महाप्रासा जाम्बूनदविभूषणाः ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २१ ॥

उनके द्वारा चलाये हुए सुवर्णभूषित निर्मल और तेज धारवाले शीघ्रगामी महाप्रास (भाले) सर्पोंके समान गिर रहे थे ॥ २१ ॥

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान्।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ॥ २२ ॥

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा धावा करके बड़े-बड़े रथोंपर कूद पड़ते और रथियोंके मस्तक काट लेते थे ॥ २२ ॥

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ॥ २३ ॥

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा निशानेपर आये हुए बहुत-से घुड़सवारोंका संहार कर डालता था ॥ २३ ॥

नवमेघप्रतीकाशाश्चाक्षिप्य तुरगान् गजाः।
पादैरेव विमृद्नन्ति मत्ताः कनकभूषणाः ॥ २४ ॥

नूतन मेघोंके समान शोभा पानेवाले स्वर्णभूषित मतवाले हाथी बहुत-से घोड़ोंको सूँड़ोंसे झटककर पैरोंसे ही रौंद डालते थे ॥ २४ ॥

पाट्यमानेषु कुम्भेषु पार्श्वेष्वपि च वारणाः।
प्रासैर्विनिहताः केचिद् विनेदुः परमातुराः ॥ २५ ॥

कितने ही हाथी प्रासोंकी चोट खाकर कुम्भस्थल और पार्श्वभागोंके विदीर्ण हो जानेपर अत्यन्त आतुर हो घोर चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ २५ ॥

साश्वारोहान् हयान् कांचिदुन्मथ्य वरवारणाः।
सहसा चिक्षिपुस्तत्र संकुले भैरवे सति ॥ २६ ॥

बहुत-से बड़े-बड़े हाथी कितने ही घुड़सवारोंसहित घोड़ोंको पैरोंसे कुचलकर सहसा भयंकर युद्धमें फेंक देते थे ॥

साश्वारोहान् विषाणाग्रैरुत्क्षिप्य तुरगान् गजाः।
रथौघानभिमृद्नन्तः सध्वजानभिचक्रमुः ॥ २७ ॥

कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको उछालकर ध्वजों सहित रथसमूहोंको पैरोंतले रौंदते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ २७ ॥

पुंस्त्वाददतिमदत्वाच्च केचित् तत्र महागजाः।
साश्वारोहान् हयाञ्जघ्नुः करैः सचरणैस्तथा ॥२८॥

वहाँ कितने ही महान् गज अत्यन्त मदोन्मत्ततथा पुरुष होनेके कारण सूँड़ों और पैरोंसे घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डालते थे ॥ २८ ॥

अश्वारोहैश्च समरे हस्तिसादिभिरेव च।
प्रतिमानेषु गात्रेषु पार्श्वेष्वभि च वारणान्।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २९ ॥

युद्धमें घुड़सवारों और गजारोहियोंके चलाये हुए निर्मल, तीक्ष्ण तथा सर्पोंके समान भयंकर शीघ्रगामी बाण हाथियोंके ललाटों, अन्यान्य अङ्गों तथा पसलियोंपर चोट करते थे ॥ २९ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च।
निपेतुर्विमलाः शक्तयो वीरबाहुभिरर्पिताः ॥ ३० ॥
महोल्काप्रतिमा घोरास्तत्र तत्र विशाम्पते।

वीरोंकी भुजाओंसे चलायी हुई निर्मल शक्तियाँ, मनुष्यों और घोड़ोंकी काया तथा लोहमय कवचोंको भी विदीर्ण करके धरतीपर गिर जाती थीं। प्रजानाथ! वहाँ गिरते समय वे भयंकर शक्तियाँ बड़ी भारी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं॥ ३०½॥

द्वीपिचर्मावनद्धैश्च व्याघ्रचर्मच्छदैरपि ॥ ३१ ॥
विकोशैर्विमलैः खड्गैरभिजग्मुः परान् रणे।

जो चमकीली तलवारें पहले चितकबरे अथवा साधारण व्याघ्र-चर्मकी बनी हुई म्यानोंमें बंद रहती थीं, उन्हें उन म्यानोंसे निकालकर उनके द्वारा वीर पुरुष रणभूमिमें विपक्षियोंका वध कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

अभिप्लुतमभिक्रुद्धमेकपार्श्वावदारितम् ॥ ३२ ॥
विदर्शयन्तः सम्पेतुः खड्गचर्मपरश्वधैः।

कितने ही योद्धा ढाल, तलवार तथा फरसोंसे निर्भय होकर शत्रुके सम्मुख जाने, क्रोधपूर्वक दाँतोंसे ओठ दबाकर आक्रमण करने तथा बायीं पसलीपर चोट करके उसे विदीर्ण करने आदिके पैंतरे दिखाते हुए शत्रुओंपर टूटे पड़ते थे ॥ ३२½ ॥

केचिदाक्षिप्य करिणः साश्वानपि रथान् करैः ॥ ३३ ॥
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः।

प्रत्येक शब्दकी ओर गमन करनेवाले कितने ही हाथी घोड़ोंसहित रथोंको अपनी सूँड़ोंसे खींचकर उन्हें लिये-दिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ रहे थे ॥ ३३½ ॥

शङ्कुभिर्दारिताः केचित् सम्भिन्नाश्च परश्वधैः ॥ ३४ ॥
हस्तिभिर्मृदिताः केचित् क्षुण्णाश्चान्ये तुरंगमैः।
रथनेमिनिकृत्ताश्च निकृत्ताश्च परश्वधैः ॥ ३५ ॥

कुछ मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर पड़े थे, कितने ही फरसोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंको हाथियोंने मसल डाला था, कितने ही घोड़ोंकी टापसे कुचल गये थे, कितनोंके शरीर रथके पहियोंसे कट गये थे और कितने ही कूबरोंसे काट डाले गये थे ॥ ३४-३५ ॥

व्याक्रोशन्त नरा राजंस्तत्र तत्र स्म बान्धवान्।
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄंश्च सह बन्धुभिः ॥ ३६ ॥
मातुलान् भागिनेयांश्च परानपि च संयुगे।

राजन्! रणभूमिमें जहाँ-तहाँ गिरे हुए अगणित मनुष्य अपने कुटुम्बीजनोंको पुकार रहे थे। कुछ बेटोंको, कुछ पिताको, कुछ भाई-बन्धुओंको, कुछ मामा-भानजोंको

और कुछ लोग दूसरों-दूसरोंके नाम ले-लेकर विलाप कर रहे थे ॥ ३६½ ॥

विकीर्णान्त्राः सुबहवो भग्नसक्थाश्च भारत ॥ ३७ ॥
बाहुभिश्चापरे छिन्नैः पार्श्वेषु च विदारिताः ।
क्रन्दन्तः समदृश्यन्त तृषिता जीवितेप्सवः ॥ ३८ ॥

भारत ! बहुतोंकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी थीं, जाँघें टूट गयी थीं, कितनोंकी बाहें कट गयी थीं, बहुतोंकी पसलियाँ फट गयी थीं और कितने ही घायल अवस्थामें प्याससे पीड़ित हो जीवनके लोभसे रोते दिखायी देते थे ॥ ३७-३८ ॥

तृषा परिगताः केचिदल्पसत्त्वा विशाम्पते ।
भूमौ निपतिताः संख्ये मृगयांचक्रिरे जलम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! कुछ लोग धरतीपर अधमरे पड़े थे । उनमें जीवनकी शक्ति बहुत थोड़ी रह गयी थी और वे पिपासासे पीड़ित हो युद्धभूमिमें ही जलकी खोज कर रहे थे ॥ ३९ ॥

रुधिरौघपरिक्लिन्नाः क्लिश्यमानाश्च भारत ।
व्यनिन्दन् भृशमात्मानं तव पुत्रांश्च संगतान् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! लहू-लुहान होकर कष्ट पाते हुए वे समस्त घायल सैनिक अपनी और आपके पुत्रोंकी अत्यन्त निन्दा करते थे ॥ ४० ॥

अपरे क्षत्रियाः शूराः कृतवैराः परस्परम् ।
नैव शस्त्रं विमुञ्चन्ति नैव क्रन्दन्ति मारिष ॥ ४१ ॥

माननीय महाराज ! दूसरे शूरवीर क्षत्रिय आपसमें वैर बाँधे हुए उस घायल अवस्थामें भी न हथियार छोड़ते थे और न क्रन्दन ही करते थे ॥ ४१ ॥

तर्जयन्ति च संहृष्टास्तत्र तत्र परस्परम् ।
आदश्य दशनैश्चापि क्रोधात् स्वदनच्छदम् ॥ ४२ ॥
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षन्ति च परस्परम् ।

वे बार-बार उत्साहित होकर एक-दूसरेको डाँट बताते और क्रोधपूर्वक ओठोंको दाँतसे दबाकर भौंहें टेढ़ी करके परस्पर दृष्टिपात करते थे ॥ ४२½ ॥

अपरे क्लिश्यमानास्तु शरार्ता व्रणपीडिताः ॥ ४३ ॥
निष्कूजाः समपद्यन्त दृढसत्त्वा महाबलाः ।

धैर्यको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहनेवाले दूसरे महाबली वीर बाणोंके आघातसे पीड़ित हो क्लेश सहन करते हुए भी मौन ही रहते थे—अपनी वेदना प्रकाशित नहीं करते थे ॥

अन्ये च विरथाः शूरा रथमन्यस्य संयुगे ॥ ४४ ॥
प्रार्थयाना निपतिताः संक्षुण्णा वरवारणैः ।
अशोभन्त महाराज सपुष्पा इव किंशुकाः ॥ ४५ ॥

महाराज ! कुछ वीर पुरुष अपना रथ भग्न हो जानेके कारण युद्धमें पृथ्वीपर गिरकर दूसरेका रथ माँग रहे थे, इतनेहीमें बड़े-बड़े हाथियोंके पैरोंसे वे कुचल गये । उस समय उनके रक्तरंजित शरीर फूले हुए पलाशके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४४-४५ ॥

सम्बभूवुरनीकेषु बहवो भैरवस्वनाः ।
वर्तमाने महाभीमे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ४६ ॥
निजघान पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं रणे ।
स्वस्रीयो मातुलं चापि स्वस्रीयं चापि मातुलः ॥ ४७ ॥
सखा सखायं च तथा सम्बन्धी बान्धवं तथा ।

उन सेनाओंमें अनेकानेक भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे । बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महाभयानक संग्राममें पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको, भानजेने मामाको, मामाने भानजेको, मित्रने मित्रको तथा सगे-सम्बन्धीने अपने सगे बान्धवजनोंको मार डाला ॥ ४६-४७½ ॥

एवं युयुधिरे तत्र कुरवः पाण्डवैः सह ॥ ४८ ॥
वर्तमाने तथा तस्मिन् निर्मर्यादे भयानके ।
भीष्ममासाद्य पार्थानां वाहिनी समकम्पत ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उस मर्यादाशून्य भयानक संग्राममें कौरवोंका पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध हो रहा था । इतनेहीमें सेनापति भीष्मके पास पहुँचकर पाण्डवोंकी सारी सेना काँपने लगी ॥ ४८-४९ ॥

केतुना पञ्चतारेण तालेन भरतर्षभ ।
राजतेन महाबाहुरुच्छ्रितेन महारथे ।
बभौ भीष्मस्तदा राजंश्चन्द्रमा इव मेरुणा ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाबाहु भीष्म अपने विशाल रथपर बैठकर चाँदीके बने हुए पाँच तारोंसे युक्त तालाङ्कित ध्वजके द्वारा मेरुके शिखरपर स्थित हुए चन्द्रमाकेसमान शोभा पा रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥४६॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
वर्तमाने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ॥ १ ॥
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः ।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदिताः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस अत्यन्त भयंकर

दिनका पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस भयानक संग्राममें आपके पुत्र-की आज्ञासे दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १-२ ॥

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः॥ ३ ॥

इन पाँच अतिरथी वीरोंसे सुरक्षित हो भरतभूषण महारथी भीष्मजीने पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

चेदिकाशिकरूषेषु पञ्चालेषु च भारत।
भीष्मस्य बहुधा तालश्चलत्केतुरदृश्यत॥ ४ ॥

भारत ! चेदि, काशि, करूष तथा पाञ्चालोंमें विचरते हुए भीष्मका तालचिह्नित चञ्चल पताकाओंवाला रथ अनेक-सा दिखायी देने लगा ॥ ४ ॥

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान्।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः॥ ५ ॥

वे युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले अत्यन्त वेगशाली भल्लों-द्वारा शत्रुओंके मस्तक, रथ, जूआ तथा ध्वज काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

नृत्यतो रथमार्गेषु भीष्मस्य भरतर्षभ।
भृशमार्तस्वरं चक्रुर्नागा मर्मणि ताडिताः॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। उनके बाणोंसे मर्मस्थानोंमें चोट खाये हुए हाथी अत्यन्त आर्तनाद करने लगे ॥ ६ ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति॥ ७ ॥
जाम्बूनदविचित्रेण कर्णिकारेण केतुना।
अभ्यवर्तत भीष्मं च तांश्चैव रथसत्तमान्॥ ८ ॥

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिङ्गलवर्णके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीष्मके रथकी ओर दौड़े आये। उनका वह रथ कर्णिकारके चिह्नसे युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वजसे सुशोभित था। उन्होंने भीष्मपर तथा उनकी रक्षाके लिये आये हुए उन श्रेष्ठ रथियोंपर भी आक्रमण किया ॥ ७-८ ॥

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह॥ ९ ॥

वीर अभिमन्युने तीखे बाणसे उस तालचिह्नित ध्वजको छेद डाला और भीष्म तथा उनके अनुगामी रथियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छच्छिताग्रैः प्रपितामहम्॥ १० ॥

उन्होंने एक बाणसे कृतवर्माको और पाँच शीघ्रगामी बाणोंसे शल्यको बेधकर तीखी धारवाले नौ बाणोंसे प्रपितामह भीष्मको भी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
ध्वजमेकेन विव्याध जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥ ११ ॥

तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर पूरे मनोयोगसे चलाये हुए एक बाणके द्वारा उनके सुवर्णभूषित ध्वजको भी छेद डाला ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा॥ १२ ॥

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकारके आवरणोंका भेदन करनेवाले एक भल्लके द्वारा दुर्मुखके सारथिका मस्तक धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥

धनुश्चिच्छेद भल्लेन कार्तस्वरविभूषितम्।
कृपस्य निशिताग्रेण तांश्च तीक्ष्णमुखैः शरैः॥ १३ ॥
जघान परमक्रुद्धो नृत्यन्निव महारथः।

साथ ही कृपाचार्यके स्वर्णभूषित धनुषको भी तेज धार-वाले भालेसे काट गिराया; फिर सब ओर घूमकर नृत्य-सा करते हुए महारथी अभिमन्युने अत्यन्त कुपित हो तीखी नोकवाले बाणोंसे भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन महारथियोंको भी घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

तस्य लाघवमुद्वीक्ष्य तुतुषुर्देवता अपि॥ १४ ॥
लब्धलक्षतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनंजयम्॥ १५ ॥

अभिमन्युके हाथोंकी यह फुर्ती देखकर देवताओंको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्जुनकुमारके इस लक्ष्य-वेधकी सफलतासे प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियोंने उन्हें साक्षात् अर्जुनके समान शक्तिशाली समझा ॥ १४-१५ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमलातसदृशप्रभम्।
दिशः पर्यपतच्चापं गाण्डीवमिव घोषवत्॥ १६ ॥

अभिमन्युका धनुष गाण्डीवके समान टंकारध्वनि प्रकट करनेवाला, हाथोंकी फुर्ती दिखानेका उपयुक्त स्थान और खींचे जानेपर अलातचक्रके समान मण्डलाकार प्रकाशित होनेवाला था। वह वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें घूम रहा था ॥ १६ ॥

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा॥ १७ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको पाकर शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीष्मने समरभूमिमें नौ शीघ्रगामी महावेगवान् बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें वेध दिया ॥ १७ ॥

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः॥ १८ ॥

साथ ही उस महातेजस्वी वीरके ध्वजको भी तीन बाणोंसे काट गिराया; इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले भीष्मने तीन बाणोंसे अभिमन्युके सारथिको भी मार डाला ॥ १८ ॥

तथैव कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष।
विद्ध्वा नाकम्पयत् कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ॥१९॥

आर्य ! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य उस मैनाक पर्वतकी भाँति स्थिर हुए अर्जुनकुमारको बाणविद्ध करके भी कम्पित न कर सके ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः।
ववर्ष शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ॥ २० ॥

दुर्योधनके उन महारथियोंसे घिर जानेपर भी शूरवीर अर्जुनकुमार उन पाँचों रथियोंपर बाणवर्षा करता रहा ॥

ततस्तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः।
ननाद बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजञ्शरान्॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने बाणोंकी वर्षासे उन सबके महान् अस्त्रोंका निवारण करके बलवान् अर्जुनकुमार अभिमन्युने भीष्मपर सायकोंका प्रहार करते हुए बड़े जोरका सिंहनाद किया ॥ २१ ॥

तत्रास्य सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत।
यतमानस्य समरे भीष्ममर्दयतः शरैः ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक अपने बाणोंद्वारा भीष्मको पीड़ा देते हुए अभिमन्युकी भुजाओंका महान् बल प्रत्यक्ष देखा गया ॥ २२ ॥

पराक्रान्तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान्।
स तांश्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युताञ्शरान्॥ २३ ॥

तब भीष्मने भी उस पराक्रमी वीरपर बाणोंका प्रहार किया; परंतु अभिमन्युने रणभूमिमें भीष्मके धनुषसे छूटे हुए समस्त बाणोंको काट डाला ॥ २३ ॥

ततो ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः।
चिच्छेद समरे वीरस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ २४ ॥

अभिमन्युके बाण अमोघ थे। उस वीरने समराङ्गणमें नौ बाणोंद्वारा भीष्मके ध्वजको काट गिराया। यह देख सब लोग उच्च स्वरसे कोलाहल कर उठे ॥ २४ ॥

स राजतो महास्कन्धस्तालो हेमविभूषितः।
सौभद्रविशिखैश्छिन्नः पपात भुवि भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! वह रजतनिर्मित, स्वर्णभूषित अत्यन्त ऊँचा ताल-चिह्नसे युक्त भीष्मका ध्वज सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥

तं तु सौभद्रविशिखैः पातितं भरतर्षभ।
दृष्ट्वा भीमो ननादोच्चैः सौभद्रमभिहर्षयन् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अभिमन्युके बाणोंसे कटकर गिरे हुए उस ध्वजको देखकर भीमसेनने सुभद्राकुमारका हर्ष बढ़ाते हुए उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ॥ २७ ॥

तब महाबली भीष्मने उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें बहुत-से महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ॥ २७ ॥

ततः शरसहस्रेण सौभद्रं प्रपितामहः।
अवाकिरदमेयात्मा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रपितामह भीष्मने सुभद्राकुमारपर हजारों बाणोंकी वर्षा की। वह एक अद्भुत-सी घटना प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ॥ २९ ॥
विराटः सह पुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ॥ ३० ॥

राजन् ! तब पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकय-राजकुमार तथा सात्यकि—ये पाण्डव-पक्षके महान् धनुर्धर दस महारथी अभिमन्युकी रक्षाके लिये रथोंद्वारा तुरंत वहाँ दौड़े आये ॥ २९-३० ॥

तेषां जवेनापततां भीष्मः शान्तनवो रणे।
पाञ्चाल्यं त्रिभिरानर्च्छत् सात्यकिं नवभिः शरैः॥ ३१॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने रणभूमिमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन दसों महारथियोंमेंसे धृष्टद्युम्नको तीन और सात्यकिको नौ बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन क्षुरेण निशितेन च।
ध्वजमेकेन चिच्छेद भीमसेनस्य पत्रिणा ॥ ३२ ॥

फिर धनुषको पूरी तरहसे खींचकर छोड़े हुए एक पंखयुक्त तीखे बाणसे भीमसेनकी ध्वजा काट डाली ॥ ३२ ॥

जाम्बूनदमयः श्रीमान् केसरी स नरोत्तम।
पपात भीमसेनस्य भीष्मेण मथितो रथात् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेनका वह सुवर्णमय सुन्दर ध्वज सिंहके चिह्नसे युक्त था। वह भीष्मके द्वारा काट दिये जानेपर रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३३ ॥

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा भीष्मं शान्तनवं रणे।
कृपमेकेन विव्याध कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥

तब भीमसेनने उस रणक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मको तीन बाणोंसे घायल करके कृपाचार्यको एक और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बेध दिया ॥ ३४ ॥

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ॥ ३५ ॥

इसी समय जिसने अपनी सूँड़को मोड़कर मुखमें रख लिया था, उस दन्तार हाथीपर आरूढ़ हो विराटकुमार उत्तरने मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यपर धावा किया ॥ ३५ ॥

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ॥ ३६ ॥

वह गजराज बड़े वेगसे शल्यके रथकी ओर झपटा। उस समय शल्यने अपने बाणोंद्वारा उसके अप्रतिम वेगको रोक दिया ॥ ३६ ॥

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ॥ ३७ ॥

इससे वह गजेन्द्र शल्यपर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथके जूएपर रखकर उसे अच्छी तरह वहन करनेवाले चारों विशाल घोड़ोंको मार डाला ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम्।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर बैठे हुए मद्रराज शल्यने लोहेकी बनी हुई एक शक्ति चलायी, जो सर्पके समान भयंकर और राजकुमार उत्तरका अन्त करनेवाली थी ॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ॥ ३९ ॥

उस शक्तिने उनके कवचको काट दिया। उसकी चोटसे उनपर अत्यन्त मोह छा गया। उनके हाथसे अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और वे भी अचेत होकर हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

असिमादाय शल्योऽपि अवप्लुत्य रथोत्तमात्।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ॥ ४० ॥

इसी समय शल्य हाथमें तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथसे कूद पड़े और उसीके द्वारा उस गजराजकी विशाल सूँड़को उन्होंने काट गिराया ॥ ४० ॥

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ॥ ४१ ॥

सैकड़ों बाणोंसे उसके मर्म विद्ध हो गये थे और उसकी सूँड़ भी काट डाली गयी। इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमिपर गिरा और मर गया ॥ ४१ ॥

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ॥ ४२ ॥

नरेश्वर! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर चढ़ गये ॥ ४२ ॥

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव।

अपने भाई उत्तरको मारा गया और शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे जल उठे, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ ४३½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ ४४ ॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं बली।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ ४४½ ॥

महता रथवंशेन समन्तात् परिवारितः ॥ ४५ ॥
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति।

वह विशाल रथ-सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करता हुआ शल्यके रथपर चढ़ आया ॥ ४५½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ ४६ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ ४७ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले श्वेतको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४६-४७ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः।
तथा रुक्मरथो राजन् शल्यपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४८ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ४९ ॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिंधुराज जयद्रथ ॥ ४८-४९ ॥

नानावर्णविचित्राणि धनूंषि च महात्मनाम्।
विस्फारितानि दृश्यन्ते तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ५० ॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूपरंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ५१ ॥

उन सबने श्वेतके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुके द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ५१ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः ॥ ५२ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति श्वेतने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ५२ ॥

निकृत्तान्येव तानि स्म समदृश्यन्त भारत।
ततस्ते तु निमेषार्धात् प्रत्यपद्यन् धनूंषि च ॥ ५३ ॥
सप्त चैव पृषत्कांश्च श्वेतस्योपर्यपातयन् ।
ततः पुनरमेयात्मा भल्लैः सप्तभिराशुगैः।
निचकर्त महाबाहुस्तेषां चापानि धन्विनाम् ॥ ५४ ॥

भारत ! वे सातों धनुष कट जानेपर ही दृष्टिमें आये। तदनन्तर उन सबने आधे निमेषमें ही दूसरे धनुष ले लिये और श्वेतके ऊपर एक ही साथ सात बाण चलाये। तब अमेय आत्मबलसे युक्त महाबाहु श्वेतने पुनः शीघ्रगामी सात भल्ल मारकर उन धनुर्धरोंके धनुष काट दिये ॥ ५३-५४ ॥

ते निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः।
रथशक्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान् ॥ ५५ ॥

अपने विशाल धनुषोंके कट जानेपर उन सातों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ रथ-शक्तियाँ उठा लीं और भयंकर गर्जना की ॥ ५५ ॥

अन्वयुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति।
ततस्ता ज्वलिताः सप्त महेन्द्राशनिनिःस्वनाः ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सातों शक्तियाँ प्रज्वलित हो देवराज इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करती हुई श्वेतके रथकी ओर एक साथ चलीं ॥ ५६ ॥

अप्राप्ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित्।
ततः समादाय शरं सर्वकायविदारणम् ॥ ५७ ॥
प्राहिणोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति।

परंतु श्वेत उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उन्होंने सात भल्ल मारकर अपने निकट आनेसे पहले ही उन शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् श्वेतने सबकी काया-को विदीर्ण कर देनेवाले एक बाणको लेकर उसे रुक्म-रथकी ओर चलाया ॥ ५७½ ॥

तस्य देहे निपतितो बाणो वज्रातिगो महान् ॥ ५८ ॥
ततो रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत् ॥ ५९ ॥

वज्रसे भी अधिक प्रभावशाली वह महान् बाण रुक्म-रथके शरीरपर जा गिरा। राजन् ! उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर रुक्मरथ अपने रथके पिछले भागमें बैठ गया और अत्यन्त मूर्छित हो गया ॥ ५८-५९ ॥

तं विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः।
अपोवाह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ६० ॥

उसे अचेत और अनमना देख सारथि तनिक भी घबराहटमें न पड़कर अत्यन्त उतावलीके साथ सबके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ ६० ॥

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान्।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत् ॥ ६१ ॥

तब महाबाहु श्वेतने दूसरे स्वर्णभूषित छः बाण लेकर उन छहों रथियोंके ध्वजके अग्रभाग काट गिराये ॥ ६१ ॥

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परंतप।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति ॥ ६२ ॥

परंतप ! फिर उनके घोड़ों और सारथियोंको विदीर्ण करके उनके शरीरोंमें भी बहुत-से बाण जड़ दिये। इसके बाद श्वेतने शल्यके रथपर धावा किया ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति ॥ ६३ ॥

भारत ! तब सेनापति श्वेतको शीघ्रतापूर्वक शल्यके रथकी ओर जाते देख आपकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया ॥ ६३ ॥

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः।
वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति ॥ ६४ ॥
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत्।

तब आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने भीष्मजीको आगे करके सम्पूर्ण सेनाके साथ श्वेतके रथपर चढ़ाई की और मृत्युके मुखमें पहुँचे हुए मद्रराज शल्यको छुड़ा लिया ॥ ६४½ ॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६५ ॥
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम्।

तदनन्तर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। रथसे रथ और हाथीसे हाथी गुँथ गये ॥ ६५½ ॥

सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ॥ ६६ ॥
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते।
एतेषु नरसिंहेषु चेदिमत्स्येषु चैव ह।
ववर्ष शरवर्षाणि कुरुवृद्धः पितामहः ॥ ६७ ॥

पाण्डवपक्षकी ओरसे सुभद्राकुमार अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकयराजकुमार, राजा विराट तथा द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न—ये पुरुषसिंह और चेदि एवं मत्स्यदेशके क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे। कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने इन सबपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ६६-६७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं श्वेते महेष्वासे प्राप्ते शल्यरथं प्रति ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥
भीष्मः शान्तनवः किं वा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार महान् धनुर्धर श्वेतके शल्यके रथके समीप पहुँचनेपर कौरवों तथा पाण्डवोंने क्या किया ? अथवा शान्तनुनन्दन भीष्मने कौन-सा पुरुषार्थ किया ? मेरे पूछनेके अनुसार ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १½ ॥

संजय उवाच

राजञ्शतसहस्राणि ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ २ ॥
श्वेतं सेनापतिं शूरं पुरस्कृत्य महारथाः ।
राज्ञो बलं दर्शयन्तस्तव पुत्रस्य भारत ॥ ३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य त्रातुमैच्छन्महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥
जिघांसन्तं युधां श्रेष्ठं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवपक्षके लाखों क्षत्रिय-शिरोमणि महारथी विराट-सेनापति शूरवीर श्वेतको आगे करके आपके पुत्र दुर्योधनको अपना बल दिखाते हुए शिखण्डीको सामने रखकर भीष्मके सुवर्णभूषित रथपर चढ़ आये । भारत ! वे महारथी श्वेतकी रक्षा करना चाहते थे । इसलिये उसे मारनेकी इच्छावाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मपर उन्होंने धावा किया । उस समय बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥

तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महावैशसमद्भुतम् ॥ ५ ॥
तावकानां परेषां च यथा युद्धमवर्तत ।

आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें जो महान् संहारकारी युद्ध जिस प्रकार हुआ, उसका उसी रूपमें आपसे वर्णन करता हूँ ॥ ५½ ॥

तत्राकरोद् रथोपस्थाञ्शून्याञ्शान्तनवो बहून् ॥ ६ ॥
तत्राद्भुतं महच्चक्रे शरैराच्छेद् रथोत्तमान् ।
समावृणोच्छरैरर्कमर्कतुल्यप्रतापवान् ॥ ७ ॥

उस युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य कर दिया । वहाँ उन्होंने अत्यन्त अद्भुत कार्य किया । अपने बाणोंद्वारा बहुत-से श्रेष्ठ रथियोंको बहुत पीड़ा दी । वे सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्होंने अपने सायकोंद्वारा सूर्यदेवको भी आच्छादित कर दिया ॥ ६-७ ॥

नुदन् समन्तात् समरे रविरुद्यन् यथा तमः ।
तेनाजौ प्रेषिता राजन् शराः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥
क्षत्रियान्तकराः संख्ये महावेगा महाबलाः ।
शिरांसि पातयामासुर्वीराणां शतशो रणे ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार वे सब ओर समरभूमिमें शत्रुसेनाओंका संहार कर रहे थे । राजन् ! उनके द्वारा चलाये हुए महान् वेग और बलसे सम्पन्न तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले लाखों बाणोंने रणभूमिमें सैकड़ों श्रेष्ठ वीरोंके मस्तक काट गिराये ॥ ८-९ ॥

गजान् कण्टकसन्नाहान् वज्रेणेव शिलोच्चयान् ।
रथा रथेषु संसक्ता व्यदृश्यन्त विशाम्पते ॥ १० ॥

उन बाणोंने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति काँटेदार कवचोंसे सुसज्जित हाथियोंको भी धराशायी कर दिया । प्रजानाथ ! उस समय रथ रथोंसे सटे हुए दिखायी देते थे ॥

एके रथं पर्यवहंस्तुरगाः सतुरङ्गमम् ।
युवानं निहतं वीरं लम्बमानं सकार्मुकम् ॥ ११ ॥

कितने ही घोड़े अपनेसहित रथको लिये हुए दूर भागे जा रहे थे और उसपर मरा हुआ नवयुवक वीर रथी धनुषके साथ ही लटक रहा था ॥ ११ ॥

उदीर्णाश्च हया राजन् वहन्तस्तत्र तत्र ह ।
बद्धखड्गनिषङ्गाश्च विध्वस्तशिरसो हताः ॥ १२ ॥
शतशः पतिता भूमौ वीरशय्यासु शेरते ।

राजन् ! वे प्रचण्ड घोड़े उस रथको लिये-दिये यत्र-तत्र घूम रहे थे । कमरमें तलवार और पीठपर तरकस बाँधे हुए सैकड़ों आहत वीर मस्तक कट जानेके कारण पृथ्वीपर गिरकर वीरोचित शय्याओंपर शयन कर रहे थे ॥ १२½ ॥

परस्परेण धावन्तः पतिताः पुनरुत्थिताः ॥ १३ ॥
उत्थाय च प्रधावन्तो द्वन्द्वयुद्धमवाप्नुवन् ।
पीडिताः पुनरन्योन्यं लुठन्तो रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

एक दूसरेपर धावा करनेवाले कितने ही सैनिक गिर पड़ते और फिर उठकर खड़े हो जाते थे । खड़े होकर वे दौड़ते और परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगते थे । फिर आपसके प्रहारोंसे पीड़ित हो वे युद्धके मुहानेपर ही गिरकर लुढ़क जाते थे ॥ १३-१४ ॥

सचापाः सनिषङ्गाश्च जातरूपपरिष्कृताः ।
विस्रब्धहतवीराश्च शतशः परिपीडिताः ॥ १५ ॥
तेन तेनाभ्यधावन्त विसृजन्तश्च भारत ।

भारत ! सैकड़ों वीर धनुष और तरकस लिये सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो कितने ही विपक्षी वीरोंका विश्वस्त-भावसे विनाश करके स्वयं भी शत्रुओंके प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे और स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते

हुए विभिन्न मार्गोंसे इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे ॥१५½॥

मत्तो गजः पर्यवर्तद्धयांश्च हतसादिनः ॥ १६ ॥
सरथा रथिनश्चापि विमृद्नन्तः समन्ततः ।

मतवाले हाथी उन घोड़ोंके पीछे पड़े थे, जिनके सवार मारे गये थे । इसी प्रकार रथोंसहित रथी चारों ओर भूतलपर पड़ी हुई लाशोंको रौंदते हुए विचरण करते थे ॥१६½॥

स्यन्दनादपतत् कश्चिन्निहतोऽन्येन सायकैः ॥ १७ ॥
हतसारथिरप्युच्चैः पपात काष्ठवद् रथः ।

कितने ही वीर दूसरोंके बाणोंसे मारे जाकर रथसे गिर पड़ते थे । कहीं सारथिके मारे जानेपर रथ साधारण काष्ठकी भाँति ऊँचेसे नीचे गिर पड़ता था ॥ १७½ ॥

युध्यमानस्य संग्रामे व्यूढे रजसि चोत्थिते ॥ १८ ॥
धनुःकूजितविज्ञानं तत्रासीत् प्रतियुद्ध्यतः ।
गात्रस्पर्शेन योधानां व्यज्ञास्त परिपन्थिनम् ॥ १९ ॥

उस संग्राममें इतनी धूल उड़ी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता था । केवल धनुषकी टंकारसे ही यह जाना जाता था कि प्रतिद्वन्द्वी युद्ध कर रहा है । कितने ही योद्धा दूसरे योद्धाओंके शरीरका स्पर्श करके ही यह समझ पाते थे कि यह शत्रुदलका है ॥ १८-१९ ॥

युद्ध्यमानं शरै राजन् सिञ्जिनीध्वजिनीरवात् ।
अन्योन्यं वीरसंशब्दो नाश्रूयत भटैः कृतः ॥ २० ॥

राजन् ! कुछ लोग धनुषकी टंकार और सेनाका कोलाहल सुनकर ही यह समझ पाते थे कि कोई बाणोंद्वारा युद्ध कर रहा है । योद्धा एक दूसरेके प्रति जो वीरोचित गर्जना करते थे, वह भी उस समय अच्छी तरह सुनायी नहीं देती थी ॥

शब्दायमाने संग्रामे पटहे कर्णदारिणि ।
युद्ध्यमानस्य संग्रामे कुर्वतः पौरुषं स्वकम् ॥ २१ ॥
नाश्रौषं नामगोत्राणि कीर्तनं च परस्परम् ।

कानोंका परदा फाड़नेवाले डंकेकी आवाजसे सारी रणभूमि गूँज उठी थी । अतः वहाँ अपने पुरुषार्थको प्रकट करनेवाले किसी योद्धाकी बात मुझे नहीं सुनायी देती थी । वे लोग जो आपसमें नाम-गोत्र आदिका परिचय देते थे, उसे भी मैं नहीं सुन पाता था ॥ २१½ ॥

भीष्मचापच्युतैर्बाणैरार्तानां युध्यतां मृधे ॥ २२ ॥
परस्परेषां वीराणां मनांसि समकम्पयन् ।

युद्धमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे समस्त योद्धा पीड़ित हो रहे थे । उन बाणोंने परस्पर सभी वीरोंके हृदय कँपा दिये थे ॥ २२½ ॥

तस्मिन्नत्याकुले युद्धे दारुणे लोमहर्षणे ॥ २३ ॥
पिता पुत्रं च समरे नाभिजानाति कश्चन ।

वह युद्ध अत्यन्त भयंकर, रोमाञ्चकारी तथा सबको व्याकुल कर देनेवाला था । उसमें कोई पिता अपने पुत्रको भी पहचान नहीं पाता था ॥ २३½ ॥

चक्रे भग्ने युगे छिन्ने एकधुर्ये हये हतः ॥ २४ ॥
आक्षिप्तः स्यन्दनाद् वीरः ससारथिरजिह्मगैः ।

भीष्मके बाणोंसे पहिये टूट गये, जूआ कट गया और एकमात्र बचा हुआ रथका घोड़ा भी मारा गया । उस दशामें रथपर बैठा हुआ सारथिसहित वीर रथी भी उनके बाणोंसे आहत होकर स्वर्ग सिधारा ॥ २४½ ॥

एवं च समरे सर्वे वीराश्च विरथीकृताः ॥ २५ ॥
तेन तेन स्म दृश्यन्ते धावमानाः समन्ततः ।

इस प्रकार उस समराङ्गणमें रथहीन हुए सभी वीर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सब ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥२५½॥

गजो हतः शिरश्छिन्नं मर्म भिन्नं हयो हतः ॥ २६ ॥
अहतः कोऽपि नैवासीद् भीष्मे निघ्नति शात्रवान् ।

किसीका हाथी मारा गया, किसीका मस्तक कट गया, किसीके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये और किसीका घोड़ा ही नष्ट हो गया । जब भीष्मजी शत्रुओंका संहार कर रहे थे, उस समय (उनके सम्मुख आया हुआ) कोई भी ऐसा विपक्षी नहीं बचा, जो घायल न हुआ हो ॥ २६½ ॥

श्वेतः कुरूणामकरोत् क्षयं तस्मिन् महाहवे ॥ २७ ॥
राजपुत्रान् रथोदारानवधीच्छतसंघशः ।

इसी प्रकार उस महायुद्धमें श्वेत भी कौरवोंका संहार कर रहे थे । उन्होंने सैकड़ों श्रेष्ठ रथी राजकुमारोंका संहार कर डाला ॥ २७½ ॥

चिच्छेद रथिनां बाणैः शिरांसि भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! श्वेतने अपने बाणोंद्वारा बहुत-से रथियोंके मस्तक काट डाले ॥ २८ ॥

साङ्गदा बाहवश्चैव धनूंषि च समन्ततः ।
रथेषां रथचक्राणि तूणीराणि युगानि च ॥ २९ ॥

उन्होंने सब ओर बाण मारकर कितने ही योद्धाओंके धनुष और बाजूबंदसहित भुजाएँ काट डालीं । रथके ईषादण्ड, रथ-चक्र, तूणीर और जूए भी छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २९ ॥

छत्राणि च महार्हाणि पताकाश्च विशाम्पते ।
हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्चैव भारत ॥ ३० ॥
वारणाः शतशश्चैव हताः श्वेतेन भारत ।

राजन् ! बहुमूल्य छत्र और पताकाएँ भी उनके बाणोंसे खण्डित हो गयीं । भरतनन्दन ! श्वेतने अश्वों, रथों और मनुष्योंके समुदायका तो वध किया ही; सैकड़ों हाथी भी मार गिराये ॥ ३०½ ॥

वयं श्वेतभयाद् भीता विहाय रथसत्तमम् ॥ ३१ ॥

अपयातास्तथा पश्चाद् विभुं पश्याम धृष्णवः ।
शरपातमतिक्रम्य कुरवः कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥
भीष्मं शान्तनवं युद्धे स्थिताः पश्याम सर्वशः ।

कुरुनन्दन ! हमलोग भी श्वेतके भयसे महारथी भीष्मको अकेला छोड़कर भाग खड़े हुए । इसीलिये इस समय जीवित रहकर महाराजका दर्शन कर रहे हैं। हम सभी कौरव श्वेतका बाण जहाँतक पहुँच पाता था, उतनी दूरीको लाँघकर युद्धभूमिमें खड़े हो दर्शककी भाँति शान्तनुनन्दन भीष्मको देख रहे थे॥

अदीनो दीनसमये भीष्मोऽस्माकं महाहवे ॥ ३३ ॥
एकस्तस्थौ नरव्याघ्रो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।

उस महान् संग्राममें हमलोगोंके लिये कातरताका समय आ गया था, तो भी अकेले नरश्रेष्ठ भीष्म ही दीनतासे रहित हो मेरुपर्वतकी भाँति वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ॥३३½॥

आददान इव प्राणान् सविता शिशिरात्यये । ३४ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तस्थौ शरमरीचिमान् ।

जैसे सर्दीके अन्तमें सूर्यदेव धरतीका जल सोखने लगते हैं, उसी प्रकार भीष्म समस्त सैनिकोंके प्राणों का अपहरण-सा कर रहे थे । किरणोंसे सुशोभित सूर्यदेवकी भाँति भीष्म बाणरूपी रश्मियोंसे शोभा पाते हुए वहाँ खड़े थे ॥ ३४½ ॥

स मुमोच महेष्वासः शरसंघाननेकशः ॥ ३५ ॥
निघ्नन्नमित्रान् समरे वज्रपाणिरिवासुरान् ।

जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार महाधनुर्धर भीष्म उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करते हुए बारंबार बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३५½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण प्रजहुस्तं महाबलम् ॥ ३६ ॥
स्वयूथादिव ते यूथान्मुक्तं भूमिषु दारुणम् ।

महाबली भीष्मजी अपने झुंडसे बिछुड़े हुए हाथीकी भाँति आपकी सेनासे बिलग होकर उस रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर हो रहे थे; उनकी मार खाकर सम्पूर्ण शत्रु उन्हें छोड़-कर भाग गये ॥ ३६½ ॥

तमेवमुपलक्ष्यैको हृष्टः पुष्टः परंतप ॥ ३७ ॥
दुर्योधनप्रिये युक्तः पाण्डवान् परिशोचयन् ।
जीवितं दुस्त्यजं त्यक्त्वा भयं च सुमहाहवे ॥ ३८ ॥

परंतप ! श्वेतको पूर्वोक्तरूपसे कौरव-सेनाका संहार करते देख एकमात्र भीष्म ही उत्साहित और प्रफुल्ल हो पाण्डवोंको शोकमें डालते हुए जीवनका मोह और भय छोड़कर उस महासमरमें दुर्योधनके प्रिय कार्यमें जुट गये ॥ ३७-३८ ॥

पातयामास सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।
प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ।

राजन् ! भीष्मजीने पाण्डवोंके बहुत-से सैनिकोंको मार गिराया । आपके पिता देवव्रतने जब देखा कि सेनापति श्वेत हमारी सेनापर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरंत उनका सामना करनेके लिये गये ॥ ३९½ ॥

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ॥ ४० ॥
श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ।

श्वेतने अपने असंख्य बाणोंका जाल-सा बिछाकर भीष्मको ढक दिया । तब भीष्मने भी श्वेतपर बाणसमूहोंकी वर्षा की ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ॥ ४१ ॥
व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँड़ों, मदसे उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंकी भाँति एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ४१½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य ततस्तौ पुरुषर्षभौ ॥ ४२ ॥
भीष्मः श्वेतश्च युयुधे परस्परवधैषिणौ ।

तदनन्तर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ भीष्म और श्वेत अपने अस्त्रोंद्वारा विपक्षीके अस्त्रोंका निवारण करके एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ ४२½ ॥

एकाह्ना निर्दहेद् भीष्मः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ४३ ॥
शरैः परमसंक्रुद्धो यदि श्वेतो न पालयेत् ।

यदि श्वेत पाण्डव-सेनाकी रक्षा न करते तो भीष्मजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक ही दिनमें उसे भस्म कर डालते ॥ ४३½ ॥

पितामहं ततो दृष्ट्वा श्वेतेन विमुखीकृतम् ॥ ४४ ॥
प्रहर्षं पाण्डवा जग्मुः पुत्रस्ते विमनाऽभवत् ।

तदनन्तर पितामह भीष्मको श्वेतके द्वारा युद्धसे विमुख किया हुआ देख समस्त पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ; परंतु आपके पुत्र दुर्योधनका मन उदास हो गया ॥ ४४½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः पार्थिवैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
ससैन्यः पाण्डवानीकमभ्यद्रवत संयुगे ।

तब दुर्योधनने कुपित हो समस्त राजाओं तथा सेनाके साथ उस युद्धभूमिमें पाण्डव-सेनापर आक्रमण किया ॥४५½॥

दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विशाम्पतिः ॥ ४६ ॥
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ।

दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा राजा शल्य आपके पुत्रकी आज्ञासे आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थिवैः सर्वैर्दुर्योधनपुरोगमैः ॥ ४७ ॥
पाण्डवानामनीकानि वध्यमानानि संयुगे ।
श्वेतो गाङ्गेयमुत्सृज्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ ४८ ॥
नाशयामास वेगेन वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

दुर्योधन आदि सब राजाओंके द्वारा पाण्डवसेनाको युद्धमें मारी जाती देख श्वेतने गङ्गापुत्र भीष्मको छोड़कर आपके

पुत्रकी सेनाका उसी प्रकार वेगपूर्वक विनाश आरम्भ किया, जैसे आँधी अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥

द्रावयित्वा चमूं राजन् वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
आपतत् सहसा भूयो यत्र भीष्मो व्यवस्थितः ।

राजन्! विराटपुत्र श्वेत उस समय क्रोधसे मूर्छित हो रहे थे। वे आपकी सेनाको दूर भगाकर फिर सहसा वहीं आ पहुँचे, जहाँ भीष्म खड़े थे ॥ ४९½ ॥

तौ तत्रोपगतौ राजन् शरदीप्तौ महाबलौ ॥ ५० ॥
अयुध्येतां महात्मानौ यथोभौ वृत्रवासवौ ।
अन्योन्यं तु महाराज परस्परवधैषिणौ ॥ ५१ ॥

महाराज! वे दोनों महाबली महामना वीर बाणोंसे उद्दीप्त हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे समीप आकर वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्ध करने लगे ॥ ५०-५१ ॥

निगृह्य कार्मुकं श्वेतो भीष्मं विव्याध सप्तभिः ।
पराक्रमं ततस्तस्य पराक्रम्य पराक्रमी ॥ ५२ ॥
तरसा वारयामास मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

श्वेतने धनुष खींचकर सात बाणोंद्वारा भीष्मको वेध डाला। तब पराक्रमी भीष्मने श्वेतके उस पराक्रमको स्वयं पराक्रम करके वेगपूर्वक रोक दिया; मानो किसी मतवाले हाथीने दूसरे मतवाले हाथीको रोक दिया हो॥ ५२½ ॥

श्वेतः शान्तनवं भूयः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ५३ ॥
विव्याध पञ्चविंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर श्वेतने पुनः झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे शान्तनुनन्दन भीष्मको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ५४ ॥
स विद्धस्तेन बलवान् नाकम्पत यथाचलः ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने भी दस बाण मारकर बदला चुकाया। उनके द्वारा घायल किये जानेपर भी बलवान् श्वेत विचलित नहीं हुआ। वह पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ ५४½ ॥

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ॥ ५५ ॥
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ।

तदनन्तर क्षत्रियकुलको आनन्दित करनेवाले विराट-कुमार श्वेतने युद्धमें कुपित हो धनुषको जोर-जोरसे खींचकर भीष्मपर पुनः बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ५५½ ॥

सम्प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५६ ॥
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ।

इसके बाद उन्होंने हँसकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्मके धनुषके दस टुकड़े कर दिये ॥ ५६½ ॥

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिनम् ॥ ५७ ॥
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ।

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्मके तालचिह्नयुक्त ध्वजका ऊपरी भाग काट डाला ॥ ५७½ ॥

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ॥ ५८ ॥
हतं भीष्মममन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ।

भीष्मके ध्वजको नीचे गिरा देख आपके पुत्रोंने उन्हें श्वेतके वशमें पड़कर मरा हुआ ही माना ॥ ५८½ ॥

पाण्डवाश्चापि संहृष्टा दध्मुः शङ्खान् मुदा युताः ॥ ५९ ॥
भीष्मस्य पतितं केतुं दृष्ट्वा तालं महात्मनः ।

महात्मा भीष्मके तालध्वजको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने लगे ॥ ५९½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रोधात् स्वमनीकमनोदयत् ॥ ६० ॥
यत्ता भीष्मं परीप्सध्वं रक्षमाणाः समन्ततः ।
मा नः प्रपश्यमानानां श्वेतान्मृत्युमवाप्स्यति ॥ ६१ ॥
भीष्मः शान्तनवः शूरस्तथा सत्यं ब्रवीमि वः ।

तब दुर्योधनने क्रोधपूर्वक अपनी सेनाको आदेश दिया—'वीरो! सावधान होकर सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उन्हें घेरकर खड़े हो जाओ। कहीं ऐसा न हो कि ये हमारे देखते-देखते श्वेतके हाथों मारे जायँ। मैं तुमलोगोंको सत्य कहता हूँ कि शान्तनुनन्दन भीष्म महान् शूरवीर हैं'॥ ६०-६१½ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ॥ ६२ ॥
बलेन चतुरङ्गेण गाङ्गेयमन्वपालयन् ।

राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब महारथी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये और चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा गङ्गा-नन्दन भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ६२½ ॥

बाह्लीकः कृतवर्मा च शलः शल्यश्च भारत ॥ ६३ ॥
जलसंधो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले परिवार्य समन्ततः ॥ ६४ ॥
शस्त्रवृष्टिं सुतुमुलां श्वेतस्योपर्यपातयन् ।

भारत! बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन और विविंशति—इन सबने शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करते हुए चारों ओरसे भीष्मजीको घेर लिया और श्वेतके ऊपर भयंकर शस्त्र-वर्षा करने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

तान् क्रुद्धो निशितैर्बाणैस्त्वरमाणो महारथः ॥ ६५ ॥
अवारयदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी श्वेतने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बड़ी उतावलीके साथ क्रोधपूर्वक पैने बाणोंद्वारा उन सबको रोक दिया ॥ ६५½ ॥

स निवार्य तु तान् सर्वान् केसरी कुञ्जरानिव ॥ ६६ ॥
महता शरवर्षेण भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

जैसे सिंह हाथियोंके समूहको आगे बढ़नेसे रोक देता है, उसी प्रकार उन सभी महारथियोंको रोककर भारी बाणवर्षाके द्वारा श्वेतने भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ६६½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि॥ ६७ ॥
श्वेतं विव्याध राजेन्द्र कङ्कपत्रैः शितैः शरैः ।

राजेन्द्र ! तब शान्तनुनन्दन भीष्मने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें कंकपत्रयुक्त पैने बाणोंद्वारा श्वेतको घायल कर दिया॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो भीष्मं बहुभिरायसैः ॥ ६८ ॥
विव्याध समरे राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब सेनापति श्वेतने कुपित हो उस समरभूमिमें बहुत-से लौहमय बाणोंद्वारा सब लोगोंके देखते-देखते भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६८½ ॥

ततः प्रव्यथितो राजा भीष्मं दृष्ट्वा निवारितम् ॥ ६९ ॥
प्रवीरं सर्वलोकस्य श्वेतेन युधि वै तदा ।
निष्ठानकश्च सुमहांस्तव सैन्यस्य चाभवत् ॥ ७० ॥

श्वेतने सम्पूर्ण विश्वके विख्यात वीर भीष्मको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया, यह देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई । साथ ही आपकी सेनामें सब लोगोंपर महान् भय छा गया ॥ ६९-७० ॥

तं वीरं वारितं दृष्ट्वा श्वेतेन शरविक्षतम् ।
हतं श्वेतेन मन्यन्ते श्वेतस्य वशमागतम् ॥ ७१ ॥

श्वेतने वीरवर भीष्मको कुण्ठित कर दिया और उनका शरीर बाणोंसे क्षत विक्षत हो गया है, यह देखकर सब लोग यह मानने लगे कि भीष्मजी श्वेतके वशमें पड़ गये हैं और अब उन्हींके हाथसे मारे जायँगे ॥ ७१ ॥

ततः क्रोधवशं प्राप्तः पिता देवव्रतस्तव ।
ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा तां च सेनां निवारिताम् ॥ ७२ ॥

तब आपके पिता देवव्रत भीष्म अपने ध्वजको टूटकर गिरा हुआ और सेनाको निवारित की हुई देखकर क्रोधके अधीन हो गये ॥ ७२ ॥

श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ।
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ॥ ७३ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ।

महाराज ! उन्होंने श्वेतपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की, परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतने रणक्षेत्रमें उन सब सायकोंका निवारण करके पुनः एक भल्लके द्वारा आपके पिता भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ७३½ ॥

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७४ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ।
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।७५।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ।
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ॥ ७६ ॥
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ।

राजन् ! यह देख गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे मूर्छित हो उस धनुषको फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल धनुष ले लिया और उसके ऊपर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सात विशाल भल्लोंका संधान किया । उनमेंसे चार भल्लोंके द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेतके चार घोड़ोंको मार डाला, दोसे उनका ध्वज काट दिया और अपनी फुर्तीका परिचय देते हुए सातवें भल्लके द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथिका सिर उड़ा दिया ॥ ७४-७६½ ॥

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ॥ ७७ ॥
अमर्षवशमापन्नो व्याकुलः समपद्यत ।

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महाबली श्वेत उस रथसे कूद पड़े और अमर्षके वशीभूत होकर व्याकुल हो उठे॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पितामहः ॥ ७८ ॥
ताडयामास निशितैः शरसंघैः समन्ततः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन हुआ देख पितामह भीष्मने चारों ओरसे पैने बाणसमूहोंद्वारा उन्हें पीड़ा देनी प्रारम्भ की ॥

स ताड्यमानः समरे भीष्मचापच्युतैः शरैः ॥ ७९ ॥
स्वरथे धनुरुत्सृज्य शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् ।

उस समरभूमिमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा पीड़ित होनेपर श्वेतने धनुषको रथपर ही छोड़कर सुवर्णमयी शक्ति हाथमें ले ली ॥ ७९½ ॥

ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ॥ ८० ॥
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ ८१ ॥

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्डके समान घोर और मृत्युकी जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली उस शक्तिको श्वेतने हाथमें उठाया और लंबी साँस लेते हुए रणक्षेत्रमें शान्तनुपुत्र भीष्मसे इस प्रकार कहा—॥ ८०-८१ ॥

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ॥ ८२ ॥
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्तवानर्थं चिकीर्षुकः ॥ ८३ ॥

'भीष्म ! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो । मुझे देखो और पुरुष बनो', ऐसा कहकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेतने भीष्मपर वह सर्पके समान भयंकर शक्ति चलायी । श्वेत पाण्डवोंका हित और आपके पक्षका अहित करनेकी इच्छासे पराक्रम दिखा रहे थे ॥

हाहाकारो महानासीत् पुत्राणां ते विशाम्पते ।
दृष्ट्वा शक्तिं महाघोरां मृत्योर्दण्डसमप्रभाम् ॥ ८४ ॥
श्वेतस्य करनिर्मुक्तां निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।

राजन् ! श्वेतके हाथसे छूटकर यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाली और केंचुल छोड़कर निकली हुई सर्पिणी-की भाँति अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाली उस शक्तिको देखकर आपके पुत्रोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ८४½

अपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात् ॥ ८५ ॥
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम् ।
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ८६ ॥
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः ।

राजन् ! वह शक्ति आकाशसे बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा गिरी । अन्तरिक्षमें ज्वालाओंसे घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर आपके पिता देवव्रतको तनिक

भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ८५-८६½ ॥

उत्कृष्टहेमविकृतां निकृत्तां निशितैः शरैः ॥ ८७ ॥
उच्चुक्रुशुस्ततः सर्वे तावका भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम सुवर्णकी बनी हुई उस शक्तिको भीष्मके पैने बाणोंसे नष्ट हुई देख आपके पुत्र हर्षके मारे जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ॥ ८७½ ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ८८ ॥
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत ।
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव ॥ ८९ ॥
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति ।

अपनी शक्तिको इस प्रकार विफल हुई देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे मूर्छित हो गये । कालने उनकी विवेकशक्तिको नष्ट कर दिया था; अतः उन्हें अपने कर्तव्यका भान न रहा । उन्होंने हर्षसे उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्मको मार डालनेके लिये हाथमें गदा उठा ली ॥ ८८-८९½ ॥

क्रोधेन रक्तनयनो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ९० ॥
भीष्मं समभिदुद्राव जलौघ इव पर्वतम् ।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं । वे हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान जान पड़ते थे । जैसे महान् जलप्रवाह किसी पर्वतसे टकराता हो, उसी प्रकार वे गदा लिये भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९०½ ॥

तस्य वेगमसंवार्यं मत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ ९१ ॥
प्रहारविप्रमोक्षार्थं सहसा धरणीं गतः ।

प्रतापी भीष्म उसके वेगको अनिवार्य समझकर उस प्रहारसे बचनेके लिये सहसा पृथ्वीपर कूद पड़े ॥ ९१½ ॥

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम् ॥ ९२ ॥
रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः ।

उधर श्वेतने क्रोधसे व्याप्त हो उस गदाको आकाशमें घुमाकर भीष्मके रथपर फेंक दिया, मानो कुबेरने गदाका प्रहार किया हो ॥ ९२½ ॥

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः ॥ ९३ ॥
सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः ।

भीष्मको मार डालनेके लिये चलायी हुई उस गदाके आघातसे ध्वज, सारथि, घोड़े, जूआ और धुरा आदिके साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया ॥ ९३½ ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं भीष्मं दृष्ट्वा रथोत्तमाः ॥ ९४ ॥
अभ्यधावन्त सहिताः शल्यप्रभृतयो रथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मको रथहीन हुआ देख शल्य आदि उत्तम महारथी एक साथ दौड़े ॥ ९४½ ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय धनुर्विस्फार्य दुर्मनाः ॥ ९५ ॥
शनकैरभ्ययाच्छ्वेतं गाङ्गेयः प्रहसन्निव ।

तब दूसरे रथपर बैठकर धनुषकी टङ्कार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्म उदास मनसे हँसते हुए-से धीरे-धीरे श्वेतकी ओर चले ॥ ९५½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे भीष्मः शुश्राव विपुलां गिरम् ॥ ९६ ॥
आकाशादीरितां दिव्यामात्मनो हितसम्भवाम् ।
भीष्म भीष्म महाबाहो शीघ्रं यत्नं कुरुष्व वै ॥ ९७ ॥
एष ह्यस्य जये कालो निर्दिष्टो विश्वयोनिना ।

इसी बीचमें भीष्मने अपने हितसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दिव्य एवं गम्भीर आकाशवाणी सुनी—'महाबाहु भीष्म ! शीघ्र प्रयत्न करो । इस श्वेतपर विजय पानेके लिये ब्रह्माजीने यही समय निश्चित किया है' ॥ ९६-९७½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदूतेन भाषितम् ॥ ९८ ॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

देवदूतका कहा हुआ यह वचन सुनकर भीष्मजीका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्वेतके वधका विचार किया ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पदातिनम् ॥ ९९ ॥
सहितास्त्वभ्यवर्तन्त परीप्सन्तो महारथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन और पैदल देख उसकी रक्षा करनेके लिये एक साथ बहुत-से महारथी दौड़े आये ९९½

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥१००॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च अभिमन्युश्च वीर्यवान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—सात्यकि, भीमसेन, द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, धृष्टकेतु तथा पराक्रमी अभिमन्यु ॥ १००½ ॥

एतानापततः सर्वान् द्रोणशल्यकृपैः सह ॥१०१॥
अवारयदमेयात्मा वारिवेगानिवाचलः ।

इन सबको आते देख अमेय शक्तिसम्पन्न भीष्मजीने द्रोणाचार्य, शल्य तथा कृपाचार्यके साथ जाकर उनकी गति रोक दी, मानो किसी पर्वतने जलके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया हो ॥ १०१½ ॥

स निरुद्धेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ॥१०२॥
श्वेतः खड्गमथाकृष्य भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

समस्त महामना पाण्डवोंके अवरुद्ध हो जानेपर श्वेतने तलवार खींचकर भीष्मका धनुष काट दिया ॥ १०२½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं त्वरमाणः पितामहः ॥१०३॥
देवदूतवचः श्रुत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

उस कटे हुए धनुषको फेंककर पितामह भीष्मने देव-दूतके कथनपर ध्यान देकर तुरंत ही श्वेतके वधका निश्चय किया ॥ १०३½ ॥

ततः प्रचरमाणस्तु पिता देवव्रतस्तव ॥१०४॥
अन्यत् कार्मुकमादाय त्वरमाणो महारथः ।
क्षणेन सज्यमकरोच्छक्रचापसमप्रभम् ॥१०५॥

तदनन्तर ! आपके पिता महारथी देवव्रतने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर वहाँ विचरण करते हुए ही क्षणभरमें उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । वह इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १०४-१०५ ॥

पिता ते भरतश्रेष्ठ श्वेतं दृष्ट्वा महारथैः ।
वृतं तं मनुजव्याघ्रैर्भीमसेनपुरोगमैः ॥१०६॥
अभ्यवर्तत गाङ्गेयः श्वेतं सेनापतिं द्रुतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पिता गङ्गानन्दन भीष्मने नरश्रेष्ठ भीमसेन आदि महारथियोंसे घिरे हुए सेनापति श्वेतको देखकर उनपर तुरंत धावा किया ॥ १०६½ ॥

आपतन्तं ततो भीष्मो भीमसेनं प्रतापवान् ॥१०७॥
आजघ्ने विशिखैः षष्ट्या सेनान्यं स महारथः ।

उस समय सेनानायक भीमसेनको सामने आते देख प्रतापी महारथी भीष्मने उन्हें साठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १०७½ ॥

अभिमन्युं च समरे पिता देवव्रतस्तव ॥१०८॥
आजघ्ने भरतश्रेष्ठस्त्रिभिः संनतपर्वभिः ।

उस समरभूमिमें आपके पिता भरतश्रेष्ठ भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंसे अभिमन्युको चोट पहुँचायी १०८½

सात्यकिं च शतेनाजौ भरतानां पितामहः ॥१०९॥
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या कैकेयं चापि पञ्चभिः ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पिता देवव्रतस्तव ॥११०॥
वारयित्वा शरैर्घोरैः श्वेतमेवाभिदुद्रुवे ।

भरतवंशियोंके उन पितामहने युद्धस्थलमें सौ बाणोंसे सात्यकिको, बीस सायकोंद्वारा धृष्टद्युम्नको और पाँच बाणोंसे केकयराजकुमारको क्षत-विक्षत कर दिया । इस प्रकार आपके पिता भीष्मने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उन सम्पूर्ण महा-धनुर्धरोंको जहाँके तहाँ रोककर पुनः श्वेतपर ही आक्रमण किया ॥ १०९-११०½ ॥

ततः शरं मृत्युसमं भारसाधनमुत्तमम् ॥१११॥
विकृष्य बलवान् भीष्मः समाधत्त दुरासदम् ।
ब्रह्मास्त्रेण सुसंयुक्तं तं शरं लोमवाहिनम् ॥११२॥

तदनन्तर महाबली भीष्मने धनुषको खींचकर उसके ऊपर एक मृत्युके समान भयंकर, भारी-से-भारी लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ, उत्तम और दुःसह पंखयुक्त बाण रक्खा; फिर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया १११-११२

ददृशुर्देवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ॥११३॥
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ।

उस समय देवताओं, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों तथा राक्षसोंने भी देखा, वह बाण महान् वज्रके समान प्रज्वलित हो उठा और अमित बलशाली श्वेतके कवच तथा हृदयको भी छेदकर धरतीमें समा गया ॥ ११३½ ॥

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ॥११४॥
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ।

जैसे डूबता हुआ सूर्य अपनी प्रभा साथ लेकर शीघ्र ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेतके शरीरसे उसके प्राण लेकर चला गया ॥ ११४½॥

तं भीष्मेण नरव्याघ्रं तथा विनिहतं युधि ॥११५॥
प्रपतन्तमपश्याम गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ।

भीष्मके द्वारा मारे गये नरश्रेष्ठ श्वेतको युद्धस्थलमें हमने देखा । वह टूटकर गिरे हुए पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ११५½ ॥

अशोचन् पाण्डवास्तत्र क्षत्रियाश्च महारथाः ॥११६॥
प्रहृष्टाश्च सुतास्तुभ्यं कुरवश्चापि सर्वशः ।

महारथी पाण्डव तथा उस दलके दूसरे क्षत्रिय श्वेतके लिये शोकमें डूब गये। इधर आपके पुत्र समस्त कौरव हर्षसे उल्लसित हो उठे ॥ ११६½ ॥

ततो दुःशासनो राजञ्श्वेतं दृष्ट्वा निपातितम् ॥ ११७॥
वादित्रनिनदैर्घोरैर्नृत्यति स्म समन्ततः।

राजन्! श्वेतको मारा गया देख आपका पुत्र दुःशासन बाजे-गाजेकी भयंकर ध्वनिके साथ चारों ओर नाचने लगा ॥ ११७½ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे भीष्मेणाहवशोभिना ॥ ११८॥
प्रावेपन्त महेष्वासाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः।

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले भीष्मजीके द्वारा महाधनुर्धर श्वेतके मारे जानेपर शिखण्डी आदि महाधनुर्धर रथी भयके मारे काँपने लगे ॥ ११८½ ॥

ततो धनंजयो राजन् वार्ष्णेयश्चापि सर्वशः ॥ ११९॥
अवहारं शनैश्चक्रुर्निहते वाहिनीपतौ।
ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ॥ १२०॥

राजन्! तव सेनापति श्वेतके मारे जानेके कारण अर्जुन और श्रीकृष्णने धीरे-धीरे अपनी सेनाको युद्धभूमिसे पीछे हटा लिया। भारत! फिर आपकी और पाण्डवोंकी सेना भी उस समय युद्धसे विरक्त हो गयी ॥ ११९-१२० ॥

तावकानां परेषां च नर्दतां च मुहुर्मुहुः।
पार्था विमनसो भूत्वा न्यवर्तन्त महारथाः।
चिन्तयन्तो वधं घोरं द्वैरथेन परंतपाः ॥ १२१॥

उस समय आपके और शत्रुपक्षके सैनिक भी बारंबार गर्जना कर रहे थे। उस द्वैरथ युद्धमें जो भयंकर संहार हुआ था, उसके लिये चिन्ता करते हुए शत्रुसंतापी पाण्डव महारथी उदास मनसे शिविरमें लौट आये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतवधे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतवधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शङ्खका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

श्वेते सेनापतौ तात संग्रामे निहते परैः।
किमकुर्वन् महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात! सेनापति श्वेतके शत्रुओंद्वारा युद्धस्थलमें मारे जानेपर महान् धनुर्धर पाञ्चालों और पाण्डवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

सेनापतिं समाकर्ण्य श्वेतं युधि निपातितम्।
तदर्थं यततां चापि परेषां प्रपलायिनाम् ॥ २ ॥
मनः प्रीणाति मे वाक्यं जयं संजय शृण्वतः।
प्रत्युपायं चिन्तयतो लज्जां प्राप्नोति मे न हि ॥ ३ ॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च वृद्धः कुरुपतिस्तदा।

संजय! सेनापति श्वेत युद्धमें मारे गये। उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेपर भी शत्रुओंको पलायन करना पड़ा तथा अपने पक्षकी विजय हुई—ये सब बातें सुनकर मेरे मनमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। शत्रुओंके प्रतीकारका उपाय सोचते हुए मुझे अपने पक्षके द्वारा की गयी अनीतिका स्मरण करके भी लज्जा नहीं आती है। वे वृद्ध एवं वीर कुरुराज भीष्म हमपर सदा अनुराग रखते हैं (इस कारण ही उन्होंने श्वेतके साथ ऐसा व्यवहार किया होगा) ॥ २-३½ ॥

कृतं वैरं सदा तेन पितुः पुत्रेण धीमता ॥ ४ ॥
तस्योद्वेगभयाच्चापि संश्रितः पाण्डवान् पुरा।

उस बुद्धिमान् विराटपुत्र श्वेतने अपने पिताके साथ वैर बाँध रक्खा था, इस कारण पिताके द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्वेग एवं भयसे श्वेतने पहले ही पाण्डवोंकी शरण ले ली थी ॥ ४½ ॥

सर्वं बलं परित्यज्य दुर्गं संश्रित्य तिष्ठति ॥ ५ ॥
पाण्डवानां प्रतापेन दुर्गं देशं निवेश्य च।
सपत्नान् सततं बाधन्नार्यवृत्तिमनुष्ठितः ॥ ६ ॥

पहले तो वह समस्त सेनाका परित्याग करके (अकेला ही) दुर्गमें छिपा रहता था। फिर पाण्डवोंके प्रतापसे दुर्गम प्रदेशमें रहकर निरन्तर शत्रुओंको बाधा पहुँचाते हुए सदाचारका पालन करने लगा ॥ ५-६ ॥

आश्चर्यं वै सदा तेषां पुरा राज्ञां सुदुर्मतिः।
ततो युधिष्ठिरे भक्तः कथं संजय सूदितः ॥ ७ ॥

क्योंकि पूर्वकालमें अपने साथ विरोध करनेवाले उन राजाओंके प्रति उसकी बुद्धिमें दुर्भाव था; पर संजय! आश्चर्य तो यह है कि ऐसा शूरवीर श्वेत, जो युधिष्ठिरका बड़ा भक्त था, मारा कैसे गया? ॥ ७ ॥

प्रक्षिप्तः सम्मतः क्षुद्रः पुत्रो मे पुरुषाधमः।
न युद्धं रोचयेद् भीष्मो न चाचार्यः कथंचन ॥ ८ ॥
न कृपो न च गान्धारी नाहं संजय रोचये।

मेरा पुत्र दुर्योधन क्षुद्र स्वभावका है। वह कर्ण आदिका प्रिय तथा चञ्चल बुद्धिवाला है। मेरी दृष्टिमें वह समस्त पुरुषोंमें अधम है (इसीलिये उसके मनमें युद्धके

लिये आग्रह है) । संजय ! मैं, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा गान्धारी-इनमेंसे कोई भी युद्ध नहीं चाहता था ॥८½॥

न वासुदेवो वार्ष्णेयो धर्मराजश्च पाण्डवः ॥ ९ ॥
न भीमो नार्जुनश्चैव न यमौ पुरुषर्षभौ ।

वृष्णिवंशी भगवान् वासुदेव, पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव भी युद्ध नहीं पसंद करते थे ॥ ९½ ॥

वार्यमाणो मया नित्यं गान्धार्या विदुरेण च ॥ १० ॥
जामदग्न्येन रामेण व्यासेन च महात्मना ।
दुर्योधनो युध्यमानो नित्यमेव हि संजय ॥ ११ ॥
कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च पापकृत् ।
दुःशासनस्य च तथा पाण्डवान् नान्वचिन्तयत् ॥१२॥

मैंने, गान्धारीने और विदुरने तो सदा ही उसे मना किया है, जमदग्निपुत्र परशुरामने तथा महात्मा व्यासजीने भी उसे युद्धसे रोकनेका प्रयत्न किया है; तथापि कर्ण, शकुनि तथा दुःशासनके मतमें आकर पापी दुर्योधन सदा युद्धका ही निश्चय रखता आया है । उसने पाण्डवोंको कभी कुछ नहीं समझा ॥ १०—१२ ॥

तस्याहं व्यसनं घोरं मन्ये प्राप्तं तु संजय ।
श्वेतस्य च विनाशेन भीष्मस्य विजयेन च ॥ १३ ॥
संक्रुद्धः कृष्णसहितः पार्थः किमकरोद् युधि ।

सजय ! मेरा तो विश्वास है कि दुर्योधनपर घोर संकट प्राप्त होनेवाला है । श्वेतके मारे जाने और भीष्मकी विजय होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने युद्धस्थलमें क्या किया ? ॥ १३½ ॥

अर्जुनाद्धि भयं भूयस्तन्मे तात न शाम्यति ॥ १४ ॥
स हि शूरश्च कौन्तेयः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
मन्ये शरैः शरीराणि शत्रूणां प्रमथिष्यति ॥ १५ ॥

तात ! अर्जुनसे मुझे अधिक भय बना रहता है और वह भय कभी शान्त नहीं होता; क्योंकि कुन्तीनन्दन अर्जुन शूरवीर तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र संचालन करनेवाला है । मैं समझता हूँ कि वह अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंको मथ डालेगा ॥ १४-१५ ॥

ऐन्द्रिमिन्द्रानुजसमं महेन्द्रसदृशं बले ।
अमोघक्रोधसंकल्पं दृष्ट्वा वः किमभून्मनः ॥ १६ ॥

इन्द्रकुमार अर्जुन भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी और महेन्द्रके समान बलवान् है । उसका क्रोध और संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता । उसे देखकर तुमलोगोंके मनमें क्या विचार उठा था ? ॥ १६ ॥

तथैव वेदविच्छूरो ज्वलनार्कसमद्युतिः ।
इन्द्रास्त्रविदमेयात्मा प्रपतन् समितिंजयः ॥ १७ ॥
वज्रसंस्पर्शरूपाणामस्त्राणां च प्रयोजकः ।
स खड्गाक्षेपहस्तस्तु घोषं चक्रे महारथः ॥ १८ ॥

अर्जुन वेदज्ञ, शौर्यसम्पन्न, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, इन्द्रास्त्रका ज्ञाता, अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाला और बड़े-बड़े संग्रामोंमें विजय पानेवाला है । वह ऐसे-ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है, जिनका हल्का-सा स्पर्श भी वज्रके समान कठोर है । महारथी अर्जुन अपने हाथमें सदा तलवार खींचे ही रहता है और उसका प्रहार करके विकट गर्जना करता है ॥ १७-१८ ॥

स संजय महाप्राज्ञो द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नः किमकरोच्छ्वेते युधि निपातिते ॥ १९ ॥

संजय ! द्रुपदके परम बुद्धिमान् पुत्र बलवान् धृष्टद्युम्नने श्वेतके युद्धमें मारे जानेपर क्या किया ? ॥ १९ ॥

पुरा चैवापराधेन वधेन च चमूपतेः ।
मन्ये मनः प्रजज्वाल पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

पहले भी कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका अपराध हुआ है; उससे तथा सेनापतिके वधसे महामना पाण्डवोंके हृदयमें आग-सी लग गयी होगी, यह मेरा विश्वास है ॥ २० ॥

तेषां क्रोधं चिन्तयंस्तु अहःसु च निशासु च ।
न शान्तिमधिगच्छामि दुर्योधनकृतेन हि ।
कथं चाभून्महायुद्धं सर्वमाचक्ष्व संजय ॥ २१ ॥

दुर्योधनके कारण पाण्डवोंके मनमें जो क्रोध है, उसका चिन्तन करके मुझे न तो दिनमें शान्ति मिलती है, न रात्रिमें ही । संजय ! वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ, यह सब मुझे बताओ ॥ २१ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवापनयनो महान् ।
न च दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ २२ ॥

संजयने कहा—राजन् ! स्थिर होकर सुनिये । इस युद्धके होनेमें सबसे बड़ा अन्याय आपका ही है । इसका सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथे नहीं मढ़ना चाहिये ॥

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृङ्मतिस्तव ।
संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ॥ २३ ॥

जैसे पानीकी बाढ़ निकल जानेपर पुल बाँधनेका प्रयास किया जाय अथवा घरमें आग लग जानेपर उसे बुझानेके लिये कुआँ खोदनेकी चेष्टा की जाय, उसी प्रकार आपकी यह समझ है ॥ २३ ॥

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ॥ २४ ॥

उस भयंकर दिनके पूर्वभागका अधिकांश व्यतीत हो जानेपर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २४ ॥

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम् ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ॥ २५ ॥
शङ्खः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।

विराटके सेनापति श्वेतको मारा गया और राजा शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख शङ्ख क्रोधसे जल उठा, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ २५½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ २६ ॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि ।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ २६½ ॥

महता रथसंघेन समन्तात् परिरक्षितः ॥ २७ ॥
सृजन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।

विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने शल्यके रथपर आक्रमण किया ॥ २७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ २८ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ।
मद्रराजं परीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ २९ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शङ्खको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ २८-२९ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः ।
तथा रुक्मरथो राजन् पुत्रः शल्यस्य मानितः ॥ ३० ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ३१ ॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ ॥ ३०-३१ ॥

नानाधातुविचित्राणि कार्मुकाणि महात्मनाम् ।
विस्फारितान्यदृश्यन्त तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ३२ ॥

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूप-रंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

ते तु बाणमयं वर्षं शङ्खमूर्ध्नि न्यपातयन् ।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ३३ ॥

उन सबने शङ्खके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुद्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ३३ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः ।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः ॥ ३४ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शङ्खने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर गर्जना की ॥ ३४ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा ।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शङ्खमभ्यद्रवद् रणे ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीष्मने मेघके समान गर्जना करके चार हाथ लंबा धनुष लेकर रणभूमिमें शङ्खपर धावा किया॥

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम् ।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः ॥ ३६ ॥

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्मको युद्धके लिये उद्यत देख पाण्डवसेना वायुके वेगसे डगमग होनेवाली नौकाकी भाँति काँपने लगी ॥ ३६ ॥

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शङ्खस्यासीत् पुरःसरः ।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत ३७ ॥

यह देख अर्जुन तुरंत ही शङ्खके आगे आ गये। उनके आगे आनेका उद्देश्य यह था कि आज भीष्मके हाथसे शङ्खको बचाना चाहिये। फिर तो महान् युद्ध आरम्भ हुआ॥

हाहाकारो महानासीद् योधानां युधि युध्यताम् ।
तेजस्तेजसि सम्पृक्तमित्येवं विस्मयं ययुः ॥ ३८ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें जूझनेवाले योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर फैल गया। तेजके साथ तेज टक्कर ले रहा है, यह कहते हुए सब लोग बड़े विस्मयमें पड़ गये ॥ ३८ ॥

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात् ।
शङ्खस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय राजा शल्यने हाथमें गदा लिये अपने विशाल रथसे उतरकर शङ्खके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ ३९ ॥

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः ।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत ॥ ४० ॥

घोड़े मारे जानेपर शङ्ख तुरंत ही तलवार लेकर रथसे कूद पड़ा और अर्जुनके रथपर चढ़कर उसने पुनः शान्तिकी साँस ली ॥ ४० ॥

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्त्रिणः ।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् भीष्मके रथसे शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षीके समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथ्वी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया ॥ ४१ ॥

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान् ।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्रिभिः ॥ ४२ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरोंको अपने बाणोंसे मार-मारकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

उत्सृज्य समरे राजन् पाण्डवं सव्यसाचिनम्।
अभ्यद्रवत पाञ्चाल्यं द्रुपदं सेनया वृतम्॥ ४३॥
प्रियं सम्बन्धिनं राजञ्शरानवकिरन् बहून्।

राजन्! भीष्मने समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनको छोड़कर सेनासे घिरे हुए पाञ्चालराज द्रुपदपर धावा किया और अपने प्रिय सम्बन्धीपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की॥ ४३½॥

अग्निनेव प्रदग्धानि वनानि शिशिरात्यये॥ ४४॥
शरदग्धान्यदृश्यन्त सैन्यानि द्रुपदस्य ह।

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आग लगनेसे सारे वन दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रुपदकी सारी सेनाएँ भीष्मके बाणोंसे दग्ध दिखायी देने लगीं॥ ४४½॥

अत्यतिष्ठद् रणे भीष्मो विधूम इव पावकः॥ ४५॥
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं तपन्तमिव तेजसा।
न शेकुः पाण्डवेयस्य योधा भीष्मं निरीक्षितुम्॥ ४६॥

उस समय भीष्म रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान खड़े थे। जैसे दुपहरीमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाके सैनिक भीष्मकी ओर दृष्टिपात करनेमें भी असमर्थ हो गये॥ ४५-४६॥

वीक्षांचक्रुः समन्तात् ते पाण्डवा भयपीडिताः।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः शीतार्दिता इव॥ ४७॥

पाण्डव योद्धा भयसे पीड़ित हो सब ओर देखने लगे; परंतु सर्दीसे पीड़ित हुई गौओंकी भाँति उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं मिला॥ ४७॥

सा तु यौधिष्ठिरी सेना गाङ्गेयशरपीडिता।
सिंहेनेव विनिर्भिन्ना शुक्ला गौरिव गोपते॥ ४८॥

राजन्! गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हुई वह युधिष्ठिरकी (श्वेत-परिधानविभूषित) सेना सिंहके द्वारा सतायी हुई सफेद गायके समान प्रतीत होने लगी॥ ४८॥

हते विप्रद्रुते सैन्ये निरुत्साहे विमर्दिते।
हाहाकारो महानासीत् पाण्डुसैन्येषु भारत॥ ४९॥

भारत! पाण्डव-सेनाके सैनिक बहुत-से मारे गये, बहुतेरे भाग गये, कितने रौंद डाले गये और कितने ही उत्साह-शून्य हो गये। इस प्रकार पाण्डवदलमें बड़ा हाहाकार मच गया था॥ ४९॥

ततो भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव॥ ५०॥

उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको खींचकर गोल बना देते और उसके द्वारा विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते थे॥ ५०॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्यादिश्य भारत॥ ५१॥

भारत! नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंसे एक रास्ता बना देते और पाण्डव-रथियोंको चुन-चुनकर—उनके नाम ले-लेकर मारते थे॥

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन॥ ५२॥

इस प्रकार सारी सेना मथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया और सूर्य अस्ताचलको चले गये; उस समय अँधेरेमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था॥ ५२॥

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ॥ ५३॥

भरतश्रेष्ठ! इधर, उस महान् युद्धमें भीष्मका वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्तीके पुत्रोंने अपनी सेनाओंको युद्धक्षेत्रसे पीछे हटा लिया॥ ५३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि शङ्खयुद्धे प्रथमदिवसावहारे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें शङ्खका युद्ध तथा प्रथम दिनके युद्धका उपसंहारविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौञ्चारुणव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ।
भीष्मे च युद्धसंरब्धे हृष्टे दुर्योधने तथा॥ १॥
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सर्वैश्चैव जनेश्वरैः॥ २॥
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम्।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम्॥ ३॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! प्रथम दिनके युद्धमें जब पाण्डव-सेना पीछे हटा दी गयी, भीष्मजीका युद्धविषयक उत्साह बढ़ता ही गया और दुर्योधन हर्षातिरेकसे उल्लसित

हो उठा, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों और सम्पूर्ण राजाओंके साथ तुरंत भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और अत्यन्त शोकसे संतप्त हो भीष्मका पराक्रम देखकर अपनी पराजयके लिये चिन्ता करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥१-३॥

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम्॥ ४॥

'श्रीकृष्ण! देखिये, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणोंद्वारा मेरी सेनाको उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें लगी हुई आग घास-फूँसको जलाकर भस्म कर डालती है॥ ४॥

कथमेनं महात्मानं शक्ष्यामः प्रतिवीक्षितुम्।
लेलिह्यमानं सैन्यं मे हविष्मन्तमिवानलम्॥ ५॥

'जैसे अग्निदेव प्रज्वलित होकर हविष्यकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये महामना भीष्म अपनी बाणरूपी जिह्वासे मेरी सेनाको चाटते जा रहे हैं। हमलोग कैसे इनकी ओर देख सकेंगे—किस प्रकार इनका सामना कर सकेंगे?॥

एतं हि पुरुषव्याघ्रं धनुष्मन्तं महाबलम्।
दृष्ट्वा विप्रद्रुतं सैन्यं समरे मार्गणाहतम्॥ ६॥

'हाथमें धनुष लिये इन महाबली पुरुषसिंह भीष्मको देखकर और समरभूमिमें इनके बाणोंसे आहत होकर मेरी सारी सेना भागने लगती है॥ ६॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे।
वरुणः पाशभृद् वापि कुबेरो वा गदाधरः॥ ७॥
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः।

'क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेर भी कदाचित् युद्धमें जीते जा सकते हैं; परंतु महातेजस्वी, महाबली भीष्मको जीतना अशक्य है॥ ७½॥

सोऽहमेवंगते मग्नो भीष्मागाधजलेऽप्लवे॥ ८॥
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य केशव।

'केशव! ऐसी दशामें मैं तो अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण भीष्मसे टक्कर लेकर भीष्मरूपी अगाध जलराशिमें नावके बिना डूबा जा रहा हूँ॥ ८½॥

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम्॥ ९॥
न त्वेतान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे।

'वार्ष्णेय! अब मैं वनको चला जाऊँगा। वहीं जीवन बिताना मेरे लिये कल्याणकारी होगा। इन भूपालोंको व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्युको सौंप देनेमें कोई भलाई नहीं है॥९½॥

क्षपयिष्यति सेनां मे कृष्ण भीष्मो महास्त्रवित्॥ १०॥

यथानलं प्रज्वलितं पतङ्गाः समभिद्रुताः।
विनाशायोपगच्छन्ति तथा मे सैनिको जनः॥ ११॥

'श्रीकृष्ण! भीष्म महान् दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं। वे मेरी सारी सेनाका संहार कर डालेंगे। जैसे पतिंगे मरनेके लिये ही जलती आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे समस्त सैनिक अपने विनाशके लिये ही भीष्मके समीप जाते हैं॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः॥ १२॥

'वार्ष्णेय! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं सब प्रकारसे क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भ्राता बाणोंसे पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं॥ १२॥

मत्कृते भ्रातृहार्देन राज्याद् भ्रष्टास्तथा सुखात्।
जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम्॥ १३॥

'ये बन्धुजनोचित सौहार्दके कारण मेरे लिये राज्य और सुखसे वञ्चित हो दुःख भोग रहे हैं। इस समय मैं इनके और अपने जीवनको ही बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि अब जीवन भी दुर्लभ है॥ १३॥

जीवितस्य च शेषेण तपस्तप्स्यामि दुश्चरम्।
न घातयिष्यामि रणे मित्राणीमानि केशव॥ १४॥

'केशव! जीवन बच जानेपर मैं दुष्कर तपस्या करूँगा; परंतु रणक्षेत्रमें इन मित्रोंकी व्यर्थ हत्या नहीं कराऊँगा॥

रथान् मे बहुसाहस्रान् दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः।
घातयत्यनिशं भीष्मः प्रवराणां प्रहारिणाम्॥ १५॥

'महाबली भीष्म अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा मेरे पक्षके श्रेष्ठ एवं प्रहारकुशल कई सहस्र रथियोंका निरन्तर संहार कर रहे हैं॥ १५॥

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव माचिरम्।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम्॥ १६॥

'माधव! शीघ्र बताइये, क्या करनेसे मेरा हित होगा? सव्यसाची अर्जुनको तो मैं इस युद्धमें मध्यस्थ (उदासीन)—सा देख रहा हूँ॥ १६॥

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ १७॥

'एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रिय-धर्मका विचार करता हुआ केवल बाहुबलके भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है॥ १७॥

गदया वीरघातिन्या यथोत्साहं महामनाः।
करोत्यसुकरं कर्म रथाश्वनरदन्तिषु॥ १८॥

'महामना भीमसेन उत्साहपूर्वक अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंपर अपना दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहा है॥ १८॥

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि॥ १९॥

'माननीय वीर श्रीकृष्ण! यदि इस तरह सरलतापूर्वक ही युद्ध किया जाय तो यह भीमसेन अकेला सौ वर्षोंमें भी शत्रु-सेनाका विनाश नहीं कर सकता॥ १९॥

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना॥ २०॥

'केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है, परंतु यह भी महामना भीष्म और द्रोणके द्वारा दग्ध होते हुए हमलोगोंकी उपेक्षा कर रहा है॥ २०॥

दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
धक्ष्यन्ति क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः॥ २१॥

'महामना भीष्म और द्रोणके दिव्यास्त्र बार-बार प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भस्म कर डालेंगे॥ २१॥

कृष्ण भीष्मः सुसंरब्धः सहितः सर्वपार्थिवैः।
क्षपयिष्यति नो नूनं यादृशोऽस्य पराक्रमः॥ २२॥

'श्रीकृष्ण! भीष्म क्रोधमें भरकर अपने पक्षके समस्त राजाओंके साथ मिलकर निश्चय ही हमलोगोंका विनाश कर देंगे। जैसा उनका पराक्रम है, उससे यही सूचित होता है॥ २२॥

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम्।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा॥ २३॥

'महाभाग योगेश्वर! आप ऐसे किसी महारथीको ढूँढ़ निकालिये, जो संग्राममभूमिमें भीष्मको उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानलको बुझा देता है॥ २३॥

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः॥ २४॥

'गोविन्द! आपकी कृपासे ही पाण्डव अपने शत्रुओंको मारकर स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे'॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थो ध्यायन्नास्ते महामनाः।
चिरमन्तर्मना भूत्वा शोकोपहतचेतनः।
शोकार्तं तमथो ज्ञात्वा दुःखोपहतचेतसम्॥ २५॥
अब्रवीत् तत्र गोविन्दो हर्षयन् सर्वपाण्डवान्।

ऐसा कहकर महामना युधिष्ठिर शोकसे व्याकुलचित्त हो बहुत देरतक मनको अन्तर्मुख करके ध्यानमग्न बैठे रहे। युधिष्ठिरको शोकसे आतुर और दुःखसे व्यथितचित्त जानकर गोविन्दने समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥२५½॥

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २६॥
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः।
अहं च प्रियकृद् राजन् सात्यकिश्च महायशाः॥ २७॥

विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम॥ २८॥
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते।

'भरतश्रेष्ठ! तुम शोक न करो। इस प्रकार शोक करना तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम्हारे शूर-वीर भाई सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात धनुर्धर हैं। राजन्! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला ही हूँ। नृपश्रेष्ठ! महायशस्वी सात्यकि, विराट, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसादकी प्रतीक्षा करते हैं। महाराज! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं॥

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः॥ २९॥
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः।

'ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं और आपके प्रिय-साधनमें तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापतिका गुरुतर भार ग्रहण किया है॥२९½॥

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल॥ ३०॥
(करिष्यति न संदेहो नृपाणां युधि पश्यताम्।)

'महाबाहो! निश्चय ही इन समस्त राजाओंके देखते-देखते यह शिखण्डी भीष्मका वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है'॥ ३०॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम्।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः॥ ३१॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते ही उस सभामें महारथी धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ३१॥

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम्॥ ३२॥

'आदरणीय वीर धृष्टद्युम्न! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। मेरे कहे हुए वचनोंका तुम्हें उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये॥ ३२॥

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मितः।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा॥ ३३॥
तथा त्वमपि पाण्डूनां सेनानीः पुरुषर्षभ।

'तुम मेरे सेनापति हो, भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी हो। पुरुषरत्न! पूर्वकालमें भगवान् कार्तिकेय जिस प्रकार देवताओंके सेनापति हुए थे, उसी प्रकार तुम भी पाण्डवोंके सेनानायक होओ'॥ ३३½॥

(तच्छ्रुत्वा जहृषुः पार्थाः पार्थिवाश्च महारथाः।
साधु साध्विति तद्वाक्यमूचुः सर्वे महीक्षितः॥
पुनरप्यब्रवीद् राजा धृष्टद्युम्नं महाबलम्॥)

युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त पाण्डव और महारथी भूपालगण सब-के-सब 'साधु-साधु' कहकर उनके

इन वचनोंकी सराहना करने लगे। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने पुनः महाबली धृष्टद्युम्नसे कहा—॥

स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ॥ ३४ ॥
अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ॥ ३५ ॥
ये चान्ये पृथिवीपालाः प्रधानाः पुरुषर्षभ।

'पुरुषसिंह! तुम पराक्रम करके कौरवोंका नाश करो। मारिष! नरश्रेष्ठ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अन्य प्रधान-प्रधान भूपाल कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे'॥ ३४-३५½ ॥

तत उद्धर्षयन् सर्वान् धृष्टद्युम्नोऽभ्यभाषत ॥ ३६ ॥
अहं द्रोणान्तकः पार्थ विहितः शम्भुना पुरा।
रणे भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव।

तब धृष्टद्युम्नने सबका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—'पार्थ! मुझे भगवान् शङ्करने पहलेसे ही द्रोणाचार्यका काल बनाकर उत्पन्न किया है। पृथ्वीपते! आज समराङ्गणमें मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओंका सामना करूँगा'॥ ३६-३७½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैः पाण्डवैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ३८ ॥
समुद्यते पार्थिवेन्द्रे पार्षते शत्रुसूदने।
तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम् ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले महान् धनुर्धर पाण्डवोंने उच्चस्वरमें सिंहनाद किया तथा शत्रुसूदन नृपश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके इस प्रकार युद्धके लिये उद्यत होनेपर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने सेनापति द्रुपदकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः।
यं बृहस्पतिरिन्द्राय तदा देवासुरेऽब्रवीत् ॥ ४० ॥

'सेनापते! क्रौञ्चारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है; जिसे बृहस्पतिने देवासुर-संग्रामके अवसर-पर इन्द्रको बताया था॥ ४० ॥

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम्।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

'शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले उस क्रौञ्चारुण व्यूहका तुम यथावत् रूपसे निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवोंके साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूहको अपनी आँखोंसे देखें'॥ ४१ ॥

यथोक्तः स नृदेवेन विष्णुर्वज्रभृता यथा।
(बार्हस्पत्येन विधिना व्यूहमार्गविचक्षणः।)
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनंजयम् ॥ ४२ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र भगवान् विष्णुसे कुछ कहते हों, उसी प्रकार नरदेव युधिष्ठिरके पूर्वोक्त बात कहनेपर व्यूहरचनामें कुशल धृष्टद्युम्नने बृहस्पतिकी बतायी हुई विधिसे प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) ही समस्त सेनाओंका व्यूह निर्माण किया; उन्होंने सबसे आगे अर्जुनको खड़ा किया॥ ४२ ॥

आदित्यपथगः केतुस्तस्याद्भुतमनोरमः।
शासनात् पुरुहूतस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ॥ ४३ ॥

उनका अद्भुत एवं मनोरम ध्वज सूर्यके पथमें (ऊँचे आकाशमें) फहरा रहा था। इन्द्रके आदेशसे साक्षात् विश्व-कर्माने उसका निर्माण किया था॥ ४३ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतः।
आकाशग इवाकाशे गन्धर्वनगरोपमः ॥ ४४ ॥

इन्द्रधनुषके रंगकी पताकाएँ उस ध्वजकी शोभा बढ़ाती थीं। वह ध्वज आकाशमें आकाशचारी पक्षीकी भाँति बिना आधारके ही चलता था। वह दूरसे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था॥ ४४ ॥

नृत्यमान इवाभाति रथचर्यासु मारिष।
तेन रत्नवता पार्थः स च गाण्डीवधन्वना ॥ ४५ ॥
बभूव परमोपेतः सुमेरुरिव भानुना।

आर्य! रथके मार्गोंपर अर्जुनका वह ध्वज नृत्य करता-सा प्रतीत होता था। उस रत्नयुक्त ध्वजसे अर्जुनकी और गाण्डीव-धारी अर्जुनसे उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती थी, ठीक उसी तरह जैसे मेरु पर्वतसे सूर्यकी और सूर्यसे मेरु पर्वतकी शोभा होती है॥ ४५½ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः ॥ ४६ ॥
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुर्भ्यां तौ जनेश्वरौ।
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह ॥ ४७ ॥
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ।

राजन्! अपनी विशाल सेनाके साथ राजा द्रुपद उस व्यूहके सिरके स्थानपर थे। कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रोंके स्थानपर प्रतिष्ठित हुए। भरतश्रेष्ठ! दाशार्णक, दाशेरकसमूहोंके साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दनके स्थानमें खड़े किये गये॥ ४६-४७½ ॥

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा ॥ ४८ ॥
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४९ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च सात्यकिश्च महारथः।
पिशाचा दारदाश्चैव पुण्ड्राः कुण्डीविषैः सह ॥ ५० ॥
मारुता धेनुकाश्चैव तङ्गणाः परतङ्गणाः।
बाह्लिकास्तित्तिराश्चैव चोलाः पाण्ड्याश्च भारत ॥ ५१ ॥
एते जनपदा राजन् दक्षिणं पक्षमाश्रिताः।

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादोंके साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभागमें स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौञ्चपक्षीके दोनों पंखोंके स्थानपर नियुक्त किये गये। राजन्! द्रौपदीके पुत्र, अभिमन्यु और महारथी सात्यकिके साथ पिशाच, दारद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तङ्गण, परतङ्गण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य—इन जनपदोंके लोग दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े हुए॥ ४८—५१½ ॥

अग्निवेश्यास्तु हुण्डाश्च मालवा दानभारयः ॥ ५२ ॥
शबरा उद्भसाश्चैव वत्साश्च सह नाकुलैः ।
नकुलः सहदेवश्च वामं पक्षं समाश्रिताः ॥ ५३ ॥

अग्निवेश्य, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्भस, वत्स तथा नाकुल जनपदोंके साथ दोनों भाई नकुल और सहदेवने बायें पंखका आश्रय लिया ॥ ५२-५३ ॥

रथानामयुतं पक्षौ शिरस्तु नियुतं तथा ।
पृष्ठमर्बुदमेवासीत् सहस्राणि च विंशतिः ॥ ५४ ॥
ग्रीवायां नियुतं चापि सहस्राणि च सप्ततिः ।

उस क्रौञ्चपक्षीके पंखभागमें दस हजार, शिरोभागमें एक[1] लाख, पृष्ठभागमें एक अर्बुद[2] बीस हजार तथा ग्रीवा-भागमें एक लाख सत्तर हजार रथ मौजूद थे ॥ ५४½ ॥

पक्षकोटिप्रपक्षेषु पक्षान्तेषु च वारणाः ॥ ५५ ॥
जग्मुः परिवृता राजंश्चलन्त इव पर्वताः ।

राजन्! पक्ष[3], कोटि[4], प्रपक्ष[5] तथा पक्षान्त-भागोंमें चलते-फिरते पर्वतोंके समान हाथियोंके झुंड चले। वे सब-के-सब सेनाओंसे घिरे हुए थे ॥ ५५½ ॥

जघनं पालयामास विराटः सह केकयैः ॥ ५६ ॥
काशिराजश्च शैब्यश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।

राजा विराट केकय राजकुमारोंके साथ उस व्यूहके जघन (कटिके अग्रभाग) की रक्षा करते थे। काशिराज और शैब्य भी तीस हजार रथियोंके साथ उसीकी रक्षामें तत्पर थे ॥

एवमेनं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ॥ ५७ ॥
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौञ्चारुण नामक महाव्यूह-की रचना करके सूर्योदयकी प्रतीक्षा करते हुए युद्धके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये ॥ ५७½ ॥

तेषामादित्यवर्णानि विमलानि महान्ति च ।
श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च ॥ ५८ ॥

उनके हाथियों और रथोंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशमान, निर्मल एवं महान् श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि क्रौञ्चव्यूहनिर्माणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें क्रौञ्चव्यूहनिर्माणविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शङ्खध्वनि और सिंहनाद

संजय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो व्यूहमभेद्यं तनयस्तव ।
रक्ष्यमाणं महाघोरं पार्थेनामिततेजसा ॥ १ ॥
आचार्यमुपसंगम्य कृपं शल्यं च पार्थिव ।
सौमदत्तिं विकर्णं च सोऽश्वत्थामानमेव च ॥ २ ॥
दुःशासनादीन् भ्रातृंश्च सर्वानेव च भारत ।
अन्यांश्च सुबहूञ्शूरान् युद्धाय समुपागतान् ॥ ३ ॥
प्राहेदं वचनं काले हर्षयंस्तनयस्तव ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस अत्यन्त भयंकर अभेद्य क्रौञ्चव्यूहको अमिततेजस्वी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित देख-कर आपका पुत्र दुर्योधन आचार्य द्रोण, कृप, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, अश्वत्थामा और दुःशासन आदि सब भाइयों तथा युद्धके लिये आये हुए अन्य बहुतेरे शूर-वीरोंके पास जाकर उन सबका हर्ष बढ़ाता हुआ यह समयोचित वचन बोला—

१. यहाँ 'नियुत' का अर्थ एक लाख किया गया है। किसी-किसीके मतमें उसका अर्थ दस लाख भी होता है। २. दस करोड़-की संख्याको अर्बुद कहते हैं। ३. पंख। ४. अग्रभाग। ५. पंखके भीतरके छोटे-छोटे पंख।

'वीरो ! आप सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल तथा युद्धकी कलामें निपुण हैं ॥ १-४ ॥

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥ ५ ॥

'आप सभी महारथी हैं। आपमेंसे प्रत्येक योद्धा रणक्षेत्रमें सेनासहित पाण्डवोंका वध करनेमें समर्थ हैं। फिर सब लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तमिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ ६ ॥
संस्थानाः शूरसेनाश्च वेत्रिकाः कुकुरास्तथा।
आरोचकास्त्रिगर्ताश्च मद्रका यवनास्तथा ॥ ७ ॥
शत्रुंजयेन सहितास्तथा दुःशासनेन च।
विकर्णेन च वीरेण तथा नन्दोपनन्दकैः ॥ ८ ॥
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ॥ ९ ॥

'भीष्मपितामहके द्वारा सुरक्षित हमारी यह सेना सब प्रकारसे अजेय है, परंतु भीमसेनके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है; अतः मेरी राय है कि संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, मद्रक तथा यवन आदि देशोंके लोग शत्रुंजय, दुःशासन, वीर विकर्ण, नन्द, उपनन्द, चित्रसेन तथा पारिभद्रक वीरोंके साथ जाकर अपनी सेनाको आगे रखते हुए भीष्मकी ही रक्षा करें' ॥ ६-९ ॥

(*संजय उवाच*

दुर्योधनवचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः।
तथेत्येनं नृपा ऊचुस्तदा द्रोणपुरोगमाः ॥)

संजय कहते हैं—महाराज ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोण आदि सभी महारथियों एवं राजाओंने उस समय 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च तव पुत्राश्च मारिष।
अव्यूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ॥ १० ॥

आर्य ! तदनन्तर भीष्म, द्रोण तथा आपके पुत्रोंने मिलकर अपनी सेनाका महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव-सैनिकोंको बाधा पहुँचानेमें समर्थ था ॥ १० ॥

भीष्मः सैन्येन महता समन्तात् परिवारितः।
ययौ प्रकर्षन् महतीं वाहिनीं सुरराडिव ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत-बड़ी सेनाद्वारा सब ओरसे घिरे हुए भीष्म देवराज इन्द्रकी भाँति विशाल वाहिनी साथ लिये आगे-आगे चले ॥ ११ ॥

तमन्वयान्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान्।
कुन्तलैश्च दशार्णैश्च मागधैश्च विशाम्पते ॥ १२ ॥
विदर्भैर्मेकलैश्चैव कर्णप्रावरणैरपि।
सहिताः सर्वसैन्येन भीष्ममाहवशोभिनम् ॥ १३ ॥
गान्धाराः सिन्धुसौवीराः शिबयोऽथ वसातयः।

उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने युद्धके लिये प्रस्थान किया। महाराज ! उस समय कुन्तल, दशार्ण, मागध, विदर्भ, मेकल तथा कर्णप्रावरण आदि देशोंके सैनिकोंके साथ गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिबि तथा वसाति देशोंके वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १२-१३½ ॥

शकुनिश्च स्वसैन्येन भारद्वाजमपालयत् ॥ १४ ॥
ततो दुर्योधनो राजा सहितः सर्वसोदरैः।
अश्वातकैर्विकर्णैश्च तथा चाम्बष्ठकोसलैः ॥ १५ ॥
दरदैश्च शकैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः।
अभ्यरक्षत संहृष्टः सौबलेयस्य वाहिनीम् ॥ १६ ॥

शकुनिने अपनी सेना साथ लेकर द्रोणाचार्यकी रक्षामें योग दिया। तत्पश्चात् अपने भाइयोंसहित राजा दुर्योधन अत्यन्त हर्षमें भरकर अश्वातक, विकर्ण, अम्बष्ठ, कोसल, दरद, शक, क्षुद्रक तथा मालव आदि देशोंके योद्धाओंके साथ सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संरक्षण करने लगा ॥ १४-१६ ॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ वामं पार्श्वमपालयन् ॥ १७ ॥
सौमदत्तिः सुशर्मा च काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च दक्षिणं पक्षमास्थिताः ॥ १८ ॥

भूरिश्रवा, शल, शल्य, आदरणीय राजा भगदत्त तथा अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द उस सारी सेनाके वामभागकी रक्षा कर रहे थे। सोमदत्तपुत्र भूरि, त्रिगर्तराज सुशर्मा, काम्बोजराज सुदक्षिण, श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दक्षिणभागमें स्थित होकर उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः।
महत्या सेनया सार्धं सेनापृष्ठे व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा अपनी विशाल सेनाके साथ कौरवसेनाके पृष्ठभागमें खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे ॥ १९ ॥

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् नानादेश्या जनेश्वराः।
केतुमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ २० ॥

केतुमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक देशोंके नरेश सेना पृष्ठके पोषक थे ॥ २० ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ताः सिंहनादांस्तथोन्नदन् ॥ २१ ॥

भारत ! तदनन्तर आपकी सेनाके समस्त सैनिक हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे॥

तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २२ ॥

उनका हर्षनाद सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह प्रतापी भीष्मने जोर-जोरसे सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे ।
आनकाश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर शङ्ख, भेरी, नाना प्रकारके पणव और आनक आदि अन्य बाजे सहसा बज उठे और उन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा ॥ २३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने सुवर्णभूषित श्रेष्ठ शङ्खोंको बजाने लगे ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ २५ ॥

हृषीकेशने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥२५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ २६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया ॥२६॥

काशिराजश्च शैब्यश्च शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २७ ॥
पाञ्चाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ॥ २८ ॥

काशिराज, शैब्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, महारथी सात्यकि, पाञ्चालवीर, महाधनुर्धर द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी बड़े-बड़े शङ्खोंको बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २७-२८ ॥

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ॥ २९ ॥

वहाँ उन वीरोंद्वारा प्रकट किया हुआ वह महान् तुमुल घोष पृथ्वी और आकाशको निनादित करने लगा ॥ २९ ॥

एवमेते महाराज प्रहृष्टाः कुरुपाण्डवाः ।
पुनर्युद्धाय संजग्मुस्तापयानाः परस्परम् ॥ ३० ॥

महाराज ! इस प्रकार ये हर्षमें भरे हुए कौरव-पाण्डव एक दूसरेको संताप देते हुए पुनः युद्धके लिये रणक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि कौरवव्यूहरचनायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें कौरव-व्यूह-रचनाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
कथं प्रहरतां श्रेष्ठाः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार मेरे और पाण्डवोंके सैनिकोंकी व्यूह-रचना हो जानेपर उन श्रेष्ठ योद्धाओंने किस प्रकार युद्ध प्रारम्भ किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

(तावकाः पाण्डवैः सार्धं यथायुध्यन्त तच्छृणु ।)
समं व्यूढेष्वनीकेषु संनद्धरुचिरध्वजम् ।
अपारमिव संदृश्य सागरप्रतिमं बलम् ॥ २ ॥
तेषां मध्ये स्थितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् युद्ध्यध्वमिति दंशिताः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जिस प्रकार युद्ध किया, वह बताता हूँ, सुनिये । जब सब सेनाओंकी व्यूहरचना हो गयी, तब समस्त सेना एक होकर एक अपार महासागरके समान प्रतीत होने लगी । उसमें सब ओर रथ आदिमें आबद्ध सुन्दर ध्वजा फहराती दिखायी देती थी । उसे देखकर सैनिकोंके बीचमें खड़ा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन आपके सभी योद्धाओंसे इस प्रकार बोला—'कवचधारी वीरो ! युद्ध आरम्भ करो' ॥ २-३ ॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ४ ॥

तब उन सबने मनको कठोर बनाकर प्राणोंका मोह छोड़कर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ ५ ॥

फिर तो आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये थे ॥ ५ ॥

मुक्तास्तु रथिभिर्बाणा रुक्मपुङ्खाः सुतेजसः।
संनिपेतुरकुण्ठाग्रा नागेषु च हयेषु च ॥ ६ ॥

रथियोंके छोड़े हुए सुवर्णमय पंखयुक्त तेजस्वी बाण कहीं भी कुण्ठित न होकर हाथियों और घोड़ोंपर पड़ने लगे ॥ ६ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥
सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे।
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ॥ ८ ॥
एतेषु नरवीरेषु चेदिमत्स्येषु चाभिभूः।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जानेपर भयंकर पराक्रमी एवं कुरुकुलके प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म धनुष उठाये कवच बाँधे सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकय, विराट एवं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन सब नरवीरोंपर और चेदि तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७—९ ॥

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ १० ॥

वीरोंके इस संघर्षमें सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और सभी सैनिकोंका आपसमें महान् सम्मिश्रण हो गया ॥ १० ॥

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ११ ॥

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवोंकी रथसेना पलायन करने लगी ॥

अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम्।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ॥ १२ ॥
एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम्।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ॥ १३ ॥

तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने महारथी भीष्मको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुपित होकर कहा—'वार्ष्णेय! जहाँ पितामह भीष्म हैं, वहाँ चलिये। अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे; क्योंकि इस समय ये दुर्योधनके हितमें तत्पर हैं ॥ १२-१३॥

एष द्रोणः कृपः शल्यो विकर्णश्च जनार्दन।
धार्तराष्ट्राश्च सहिता दुर्योधनपुरोगमाः ॥ १४ ॥
पञ्चालान् निहनिष्यन्ति रक्षिता दृढधन्वना।
सोऽहं भीष्मं वधिष्यामि सैन्यहेतोर्जनार्दन ॥ १५ ॥

'जनार्दन! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीष्मके द्वारा सुरक्षित हो ये द्रोण, कृप, शल्य, विकर्ण तथा दुर्योधन आदि समस्त धृतराष्ट्रपुत्र मिलकर पाञ्चाल योद्धाओंका संहार कर डालेंगे। अतः सेनाकी रक्षाके लिये मैं भीष्मका वध कर डालूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनंजय।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ॥ १६ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'धनंजय! सावधान हो जाओ। अभी तुम्हें भीष्मके रथके समीप पहुँचाये देता हूँ' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम्।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर! ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस विश्वविख्यात रथको भीष्मजीके रथके निकट पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

चलद्बहुपताकेन बलाकावर्णवाजिना।
समुच्छ्रितमहाभीमनदद्वानरकेतुना ॥ १८ ॥
महता मेघनादेन रथेनामिततेजसा।
विनिघ्नन् कौरवानीकं शूरसेनांश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
प्रायाच्छरणदः शीघ्रं सुहृदां हर्षवर्धनः।

उस रथपर बहुत-सी पताकाएँ फहरा रही थीं। उसमें बकपंक्तिके समान श्वेतवर्णवाले चार घोड़े जुते हुए थे। उसके अत्यन्त ऊँचे ध्वजके ऊपर एक वानर भयंकर गर्जना करता था। उस रथके पहियोंकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी तथा वह रथ अनन्त तेज (कान्ति) से सम्पन्न था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो पाण्डुनन्दन अर्जुन, जो सबको शरण देनेवाले और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले थे, कौरवसेना एवं शूरसेनदेशीय योद्धाओंका वध करते हुए शीघ्रतापूर्वक भीष्मके पास गये ॥ १८-१९½ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ २० ॥
त्रासयन्तं रणे शूरान् मर्दयन्तं च सायकैः।
सैन्धवप्रमुखैर्गुप्तः प्राच्यसौवीरकेकयैः ॥ २१ ॥
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम्।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति उन्हें वेगसे आते और रणक्षेत्रमें सायकोंद्वारा शूरवीरोंका मर्दन करके उन्हें भयभीत करते देख जयद्रथ आदि राजाओं तथा पूर्वदेश, सौवीर राज्य और केकय प्रदेशके योद्धाओंसे सुरक्षित शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुनकी ओर बढ़े ॥ २०-२१½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानमन्यः कुरुपितामहात् ॥ २२ ॥
द्रोणवैकर्तनाभ्यां वा रथी संयातुमर्हति।

महाराज! कुरुकुलके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा

कर्णके सिवा दूसरा कौन ऐसा रथी है, जो गाण्डीवधारी अर्जुनका सामना कर सके ॥ २२½ ॥

ततो भीष्मो महाराज सर्वलोकमहारथः ॥ २३ ॥
अर्जुनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समाचिनोत् ।
द्रोणश्च पञ्चविंशत्या कृपः पञ्चाशता शरैः ॥ २४ ॥
दुर्योधनश्चतुःषष्ट्या शल्यश्च नवभिः शरैः ।
सैन्धवो नवभिश्चैव शकुनिश्चापि पञ्चभिः ॥ २५ ॥
विकर्णो दशभिर्भल्लै राजन् विव्याध पाण्डवम् ।

नरेश्वर ! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी भीष्मने अर्जुनपर सतहत्तर बाण चलाये, द्रोणने पचीस, कृपाचार्यने पचास, दुर्योधनने चौसठ, शल्यने नौ, जयद्रथने नौ, शकुनिने पाँच तथा विकर्णने दस भल्ल नामक बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको बींध डाला ॥ २३-२५½ ॥

स तैर्विद्धो महेष्वासः समन्तान्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
न विव्यथे महाबाहुर्भिद्यमान इवाचलः ।

इन समस्त तीखे बाणोंद्वारा चारों ओरसे विद्ध होनेपर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए । ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वतको बाणोंसे बींध दिया हो ॥ २६½ ॥

स भीष्मं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥
द्रोणं षष्ट्या नरव्याघ्रो विकर्णं च त्रिभिः शरैः ।
शल्यं चैव त्रिभिर्बाणै राजानं चैव पञ्चभिः ॥ २८ ॥
प्रत्यविध्यदमेयात्मा किरीटी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुनने भीष्मको पचीस, कृपाचार्यको नौ, द्रोणको साठ, विकर्णको तीन, शल्यको तीन तथा राजा दुर्योधनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥२७-२८½

तं सात्यकिर्विराटश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च परिवव्रुर्धनंजयम् ।

उस समय सात्यकि, विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु—इन सबने अर्जुनको उनकी रक्षाके लिये चारों ओरसे घेर लिया ॥ २९½ ॥

ततो द्रोणं महेष्वासं गाङ्गेयस्य प्रिये रतम् ॥ ३० ॥
अभ्यवर्तत पाञ्चाल्यः संयुक्तः सह सोमकैः ।

तदनन्तर गङ्गानन्दन भीष्मका प्रिय करनेमें लगे हुए महाधनुर्धर द्रोणाचार्यपर सोमकोंसहित धृष्टद्युम्नने आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ॥ ३१ ॥
अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ।

राजन् ! तब रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने पाण्डुनन्दन अर्जुनको अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला । यह देखकर आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल करने लगे ॥ ३१½ ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ॥ ३२ ॥
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ।
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनंजयः ॥ ३३ ॥
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ।
ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ।

उन समस्त कौरवोंका हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुनने उनकी सेनाके भीतर प्रवेश किया । राजन् ! उन महारथियोंके भीतर पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने बाणों-का निशाना बनाकर धनुषसे खेल करने लगे । तब प्रजा-पालक राजा दुर्योधनने अर्जुनके द्वारा युद्धमें अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख भीष्मसे कहा—॥ ३२-३४½ ॥

एष पाण्डुसुतस्तात कृष्णेन सहितो बली ॥ ३५ ॥
यततां सर्वसैन्यानां मूलं नः परिकृन्तति ।
त्वयि जीवति गाङ्गेय द्रोणे च रथिनां वरे ॥ ३६ ॥

'तात ! ये पाण्डुके बलवान् पुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके साथ आकर समस्त सैन्योंके प्रयत्नशील होनेपर भी हमलोगोंका मूलोच्छेद कर रहे हैं । गङ्गानन्दन ! आपके तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके जीते-जी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं ३५-३६

त्वत्कृते चैव कर्णोऽपि न्यस्तशस्त्रो विशाम्पते ।
न युध्यति रणे पार्थं हितकामः सदा मम ॥ ३७ ॥
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ।

'प्रजानाथ ! आपहीके कारण कर्णने भी हथियार डाल दिया है और वह रणभूमिमें अर्जुनसे युद्ध नहीं कर रहा है । कर्ण मेरा सदा हित चाहनेवाला है । गङ्गानन्दन ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे अर्जुन मार डाले जायँ' ॥ ३७½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ३८ ॥
धिक् क्षात्रं धर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ।

राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके पितृ-तुल्य भीष्म 'क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है' ऐसा कहकर अर्जुनके रथ-की ओर चले ॥ ३८½ ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च मारिष ।

महाराज ! उन दोनोंके रथोंमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे । आर्य ! उन्हें एक दूसरेसे भिड़े हुए देख सब राजा जोर-जोर-से सिंहनाद करने और शङ्ख फूँकने लगे ॥ ३९½ ॥

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ॥ ४० ॥
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ।

आर्य ! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपके पुत्र विकर्ण—ये सभी समराङ्गणमें भीष्मको घेरकर युद्धके लिये खड़े थे ॥ ४०½ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ ४१ ॥
स्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनको सब ओरसे घेरकर महायुद्धके लिये वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ४१½ ॥

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ।

गङ्गानन्दन भीष्मने उस रणक्षेत्रमें नौ बाणोंसे अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी । तब अर्जुनने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४२½ ॥

ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः ॥ ४३ ॥
अर्जुनः समरश्लाघी भीष्मस्यावारयद् दिशः ।

तदनन्तर युद्धकी श्लाघा रखनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए एक हजार बाणोंद्वारा भीष्मको सब ओरसे रोक दिया ॥ ४३½ ॥

शरजालं ततस्तत् तु शरजालेन मारिष ॥ ४४ ॥
वारयामास पार्थस्य भीष्मः शान्तनवस्तदा ।

माननीय महाराज ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनके इस बाणसमूहका अपने बाणसमूहसे निवारण कर दिया ॥ ४४½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ॥ ४५ ॥
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्षमें भरकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे । दोनों ही दोनोंके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करते हुए समानभावसे युद्ध करने लगे ॥ ४५½ ॥

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ॥ ४६ ॥
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ।

भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायकोंके समूह अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ॥ ४६½ ॥

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ॥ ४७ ॥
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ।

इसी प्रकार अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूह गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर सब ओर पड़े हुए थे ॥ ४७½ ॥

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः॥ ४८ ॥
भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः ।

अर्जुनने पचीस तीखे बाणोंसे मारकर भीष्मको पीड़ित कर दिया । फिर भीष्मने भी समरभूमिमें अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा अर्जुनको बींध दिया ॥ ४८½ ॥

अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा ध्वजौ च सुमहाबलौ॥ ४९॥
रथेषां रथचक्रे च चिक्रीडतुररिंदमौ ।

वे दोनों शत्रुओंका दमन करनेवाले तथा अत्यन्त बलवान् थे । अतः एक दूसरेके घोड़ों, ध्वजाओं, रथके ईषादण्ड तथा पहियोंको बाणोंसे बींधकर खेल-सा करने लगे ४९½

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५० ॥
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

महाराज ! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर तीन बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५०½ ॥

भीष्मचापच्युतैस्तैस्तु निर्विद्धो मधुसूदनः ॥ ५१ ॥
विरराज रणे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ।

राजन् ! भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंसे विद्ध होकर भगवान् मधुसूदन रणभूमिमें रक्तरंजित हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ५१½ ॥

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ॥ ५२ ॥
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ।

श्रीकृष्णको घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकोंद्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्मके सारथिको विदीर्ण कर डाला ॥ ५२½ ॥

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ॥ ५३ ॥
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ।

इस प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे; तथापि वे युद्धभूमिमें परस्पर अभिसंधान (घातक प्रहार) करनेमें सफल न हो सके ॥ ५३½ ॥

तौ मण्डलानि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ ५४ ॥
अदर्शयेतां बहुधा सूतसामर्थ्यलाघवात् ।

वे दोनों अपने सारथिकी शक्ति तथा शीघ्रकारिताके कारण नाना प्रकारके विचित्र मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदिके पैंतरे दिखाने लगे ॥ ५४½ ॥

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ॥ ५५ ॥
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ।

राजन् ! दोनों ही एक दूसरेके प्रहारोंमें छिद्र ढूँढ़नेके लिये सतर्क थे । वे बारंबार छिद्रान्वेषणके मार्गमें स्थित हो छिद्र देखनेमें संलग्न रहते थे ॥ ५५½ ॥

उभौ सिंहरवोन्मिश्रं शङ्खशब्दं च चक्रतुः ॥ ५६ ॥
तथैव चापनिर्घोषं चक्रतुस्तौ महारथौ ।

वे दोनों महारथी सिंहनादसे मिला हुआ शङ्खनाद करते और धनुषकी टंकार फैलाते रहते थे ॥ ५६½ ॥

तयोः शङ्खनिनादेन रथनेमिस्वनेन च ॥ ५७ ॥
दारिता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ।

उनकी शङ्खध्वनि तथा रथके पहियोंकी घरघराहटसे पृथ्वी सहसा विदीर्ण-सी होकर काँपने और आर्तनाद करने लगी ॥ ५७½ ॥

नोभयोरन्तरं कश्चिद् ददृशे भरतर्षभ ॥ ५८ ॥
बलिनौ युद्धदुर्धर्षावन्योन्यसदृशावुभौ ।

भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों वीर बलवान्, युद्धमें दुर्जय तथा एक दूसरेके अनुरूप थे । अतः ढूँढ़नेपर भी कोई उनमेंसे किसीका अन्तर न देख सका ॥ ५८½ ॥

चिह्नमात्रेण भीष्मं तु प्रजज्ञुस्तत्र कौरवाः ॥ ५९ ॥
तथा पाण्डुसुताः पार्थं चिह्नमात्रेण जज्ञिरे ।

उस समय कौरवोंने भीष्मको तालध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पहचाना । इसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंने भी कपिध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पार्थकी पहचान की ॥ ५९½ ॥

तयोर्नृवरयोर्दृष्ट्वा तादृशं तं पराक्रमम् ॥ ६० ॥
विस्मयं सर्वभूतानि जग्मुर्भारत संयुगे ।

भारत ! उस संग्राममें उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके वैसे पराक्रमको देखकर सम्पूर्ण प्राणी बड़े विस्मयमें पड़ गये६०½

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ॥ ६१ ॥
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ।

भरतनन्दन ! जैसे कोई धर्मनिष्ठ पुरुषमें कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रणक्षेत्रमें उन दोनों योद्धाओंका छिद्र नहीं देख पाता था ॥ ६१½ ॥

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ॥ ६२ ॥
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ।

दोनों ही संग्रामभूमिमें एक दूसरेके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकाशमें आ जाते थे ॥ ६२½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाश्चारणाश्चर्षिभिः सह ॥ ६३ ॥
अन्योन्यं प्रत्यभाषन्त तयोर्दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
न शक्यौ युधि संरब्धौ जेतुमेतौ कथञ्चन ॥ ६४ ॥
सदेवासुरगन्धर्वैर्लोकैरपि महारथौ ।

वहाँ आये हुए देवता, गन्धर्व, चारण और महर्षिगण उन दोनोंका पराक्रम देखकर आपसमें कहने लगे कि ये दोनों महारथी वीर रोषावेशमें भरे हुए हैं; अतः ये देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा भी किसी प्रकार जीते नहीं जा सकते ॥ ६३-६४½ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेषु युद्धमेतन्महाद्भुतम् ॥ ६५ ॥
नैतादृशानि युद्धानि भविष्यन्ति कथञ्चन ।
न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ॥ ६६ ॥
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ।

यह अत्यन्त अद्भुत युद्ध सम्पूर्ण लोकोंके लिये आश्चर्यजनक घटना है । भविष्यमें ऐसे युद्ध होनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं है । बुद्धिमान् पार्थ रणभूमिमें भीष्मको कदापि जीत नहीं सकते; क्योंकि वे समरभूमिमें रथ, घोड़े और धनुषसहित उपस्थित हो बाणोंको बीजकी भाँति बो रहे हैं ॥ ६५-६६½ ॥

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ॥ ६७ ॥
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ।
आलोकादपि युद्धं हि सममेतद् भविष्यति ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार भीष्म भी युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय, गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते । यदि ये दोनों लड़ते रहें तो जबतक यह संसार स्थित है, तबतक इन दोनोंका यह युद्ध समानरूपसे ही चलता रहेगा ॥६७-६८॥

इति स्म वाचोऽश्रूयन्त प्रोच्चरन्त्यस्ततस्ततः ।
गाङ्गेयार्जुनयोः संख्ये स्तवयुक्ता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार रणभूमिमें भीष्म और अर्जुनकी स्तुतिप्रशंसासे युक्त बहुत-सी बातें इधर-उधर लोगोंके मुँहसे निकलती और सुनायी देती थीं ॥ ६९ ॥

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ॥ ७० ॥

भारत ! उस समय वहाँ उन दोनों वीरोंके पराक्रम करते समय युद्धस्थलमें आपके और पाण्डवपक्षके योद्धा भी एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ७० ॥

शितधारैस्तथा खड्गैर्विमलैश्च परश्वधैः ।
शरैरन्यैश्च बहुभिः शस्त्रैर्नानाविधैरपि ॥ ७१ ॥
उभयोः सेनयोः शूरा न्यकृन्तन्त परस्परम् ।

तीखी धारवाले खड्गों, चमचमाते हुए फरसों, अन्य अनेक प्रकारके बाणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेको मारते थे ॥ ७१½ ॥

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ॥ ७२ ॥

राजन् ! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक तथा अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भयंकर मुठभेड़ हो रही थी ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनका युद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७२½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाञ्चाल्यश्चापि पार्षतः।
उभौ समीयतुर्यत्तौ तन्ममाचक्ष्व संजय॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ये दोनों वीर किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक आपसमें युद्ध कर रहे थे, वह सब वृत्तान्त मुझसे कहो॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषादिति मे मतिः।
यत्र शान्तनवो भीष्मो नातरद् युधि पाण्डवम्॥ २॥

मैं तो पुरुषार्थसे अधिक प्रबल भाग्यको ही मानता हूँ और इसीपर विश्वास करता हूँ, जिसके अनुसार शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनसे पार न पा सके॥२॥

भीष्मो हि समरे क्रुद्धो हन्याल्लोकांश्चराचरान्।
स कथं पाण्डवं युद्धे नातरत् संजयौजसा॥ ३॥

संजय! भीष्म रणक्षेत्रमें कुपित हो जायँ तो वे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको मार सकते हैं। फिर वे अपने पराक्रमद्वारा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्यों न पार पा सके?॥ ३॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा युद्धमेतत् सुदारुणम्।
न शक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः॥ ४॥

संजयने कहा—राजन्! पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। अब आप इस अत्यन्त भयंकर युद्धका वृत्तान्त स्थिर होकर सुनिये॥ ४॥

द्रोणस्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्॥ ५॥

द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके सारथिको भल्लके द्वारा मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया॥ ५॥

तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः।
पीडयामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष॥ ६॥

आर्य! क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने चार उत्तम सायकोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको भी बहुत पीड़ा दी॥ ६॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः।
विव्याध प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ ७॥

तब धृष्टद्युम्नने हँसकर नब्बे पैने बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥ ७॥

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान्।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम्॥ ८॥

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्यने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे ढक दिया॥८॥

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम्॥ ९॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वितीय कालदण्डके समान एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था॥ ९॥

हाहाकारो महानासीत् सर्वसैन्येषु भारत।
तमिषुं संधितं दृष्ट्वा भारद्वाजेन संयुगे॥ १०॥

भरतनन्दन! युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा उस बाणका संधान होता देख सम्पूर्ण पाण्डवसेनामें महान् हाहाकार मच गया॥

तत्राद्भुतमपश्याम धृष्टद्युम्नस्य पौरुषम्।
यदेकः समरे वीरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ ११॥

उस समय मैंने वहाँ धृष्टद्युम्नका अद्भुत पराक्रम देखा। वह वीर समराङ्गणमें अकेला ही पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा॥ ११॥

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह॥ १२॥

अपने लिये मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाणको देखकर धृष्टद्युम्नने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्यपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ १२॥

तत उच्चुक्रुशुः सर्वे पञ्चालाः पाण्डवैः सह।
धृष्टद्युम्नेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम्॥ १३॥

धृष्टद्युम्नके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर पाण्डवसहित समस्त पाञ्चाल वीर हर्षसे कोलाहल कर उठे॥ १३॥

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम्।
द्रोणस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेप स पराक्रमी॥ १४॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यकी मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्नने उनके ऊपर सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे भूषित अत्यन्त वेगशालिनी शक्ति चलायी॥ १४॥

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम्।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव॥ १५॥

उस सुवर्णभूषित शक्तिको सहसा आती देख द्रोणाचार्यने समरभूमिमें हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये॥ १५॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

जनेश्वर ! अपनी शक्तिको नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ॥ १७ ॥

तब महायशस्वी द्रोणने उस बाण-वर्षाका निवारण करके द्रुपदपुत्रके धनुषको बीचसे ही काट डाला ॥ १७ ॥

स च्छिन्नधन्वा समरे गदां गुर्वीं महायशाः।
द्रोणाय प्रेषयामास गिरिसारमयीं बली ॥ १८ ॥

धनुष कट जानेपर महायशस्वी बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने समरभूमिमें द्रोणाचार्यपर लोहेकी बनी हुई एक भारी गदा चलायी ॥ १८ ॥

सा गदा वेगवन्मुक्ता प्रायाद् द्रोणजिघांसया।
तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य विक्रमम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक छोड़ी हुई वह गदा बड़े जोरसे चली; परंतु वहाँ हमलोगोंने उस समय द्रोणाचार्यका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ १९ ॥

लाघवाद् व्यंसयामास गदां हेमविभूषिताम्।
व्यंसयित्वा गदां तां च प्रेषयामास पार्षतम् ॥ २० ॥
भल्लान् सुनिशितान् पीतान् रुक्मपुङ्खान् सुदारुणान्।
ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ २१ ॥

उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उस स्वर्णभूषित गदाको व्यर्थ कर दिया। इस प्रकार उस गदाको निष्फल करके द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर सुवर्णमय पंखोंसे युक्त अत्यन्त तीक्ष्ण पानीदार और भयंकर 'भल्ल' नामक बाण चलाये। वे बाण धृष्टद्युम्नका कवच छेदकर रणक्षेत्रमें उनका रक्त पीने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धृष्टद्युम्नो महारथः।
द्रोणं युधि पराक्रम्य शरैर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २२ ॥

तब महारथी धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर युद्धमें पराक्रम-पूर्वक पाँच बाण मारकर द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया॥

रुधिराक्तौ ततस्तौ तु शुशुभाते नरर्षभौ।
वसन्तसमये राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ २३ ॥

राजन् ! उस समय वे दोनों नरश्रेष्ठ लहू-लुहान होकर वसंत ऋतुमें खिले हुए दो पलाश वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

अमर्षितस्ततो राजन् पराक्रम्य चमूमुखे।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य पुनश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब उस सेनाके अग्रभागमें खड़े हो अमर्षमें भरे हुए द्रोणाचार्यने पराक्रम प्रकट करते हुए पुनः धृष्टद्युम्न-का धनुष काट दिया ॥ २४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैः संनतपर्वभिः।
अभ्यवर्षदमेयात्मा वृष्ट्या मेघ इवाचलम् ॥ २५ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने जिसका धनुष कट गया था, उन धृष्टद्युम्नपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ किसी पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो॥

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्।
अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
पातयामास समरे सिंहनादं ननाद च।
ततोऽपरेण भल्लेन हस्ताच्चापमथाच्छिनत् ॥ २७ ॥

साथ ही उन्होंने भल्ल मारकर धृष्टद्युम्नके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी मार गिराया। फिर वे समराङ्गणमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरा बाण मारकर उनके हाथमें स्थित दूसरे धनुषको भी काट डाला ॥ २६-२७ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ॥ २८ ॥
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और घोड़े तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथमें गदा लेकर उतरने लगे। भारत ! इतनेहीमें अपने महान् पौरुषका परिचय देते हुए द्रोणाचार्यने तुरंत ही बाण मारकर रथसे उतरते-उतरते ही उनकी गदाको भी गिरा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ २८-२९ ॥

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत्।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ॥ ३० ॥
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ३१ ॥

तब सुन्दर बाँहोंवाले बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने चन्द्राकार सौ फुल्लियोंसे सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथमें लेकर द्रोणका वध करनेकी इच्छासे उनके ऊपर वेगपूर्वक आक्रमण किया। ठीक उसी तरह, जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वनमें किसी मतवाले हाथी-पर धावा करता है ॥ ३०-३१ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम्।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्यका अद्भुत हस्त-लाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल तथा पुरुषार्थ देखा ॥ ३२ ॥

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम्।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको सहसा आगे बढ़नेसे रोक दिया। अतः वे बलवान् होनेपर भी युद्धमें द्रोणाचार्यके पासतक न पहुँच सके ॥ ३३ ॥

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्यसे रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर पुरुषकी भाँति अपनी ढालसे ही उनके बाण-समूहोंका निवारण करने लगे ॥ ३४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब बलवान् वीर महाबाहु भीम सहसा समरमें महामना धृष्टद्युम्नकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

स द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ॥ ३६ ॥

राजन्! उन्होंने सात पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तुरंत ही अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३६ ॥

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमचोदयत्।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ॥ ३७ ॥

महाराज! तब दुर्योधनने विशाल सेनासे युक्त भानुमान्को द्रोणाचार्यकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥ ३७ ॥

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

जनेश्वर! उस समय आपके पुत्रकी आज्ञासे कलिंगदेशीय वीरोंकी वह विशाल सेना तुरंत ही भीमसेनके सम्मुख आ पहुँची ॥ ३८ ॥

पाञ्चाल्यमथ संत्यज्य द्रोणोऽपि रथिनां वरः।
विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयामास संयुगे ॥ ३९ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी धृष्टद्युम्नको छोड़कर युद्धस्थलमें विराट और द्रुपद इन दोनों वृद्ध नरेशोंको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे धर्मराजानमभ्ययात्।
ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ४० ॥
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः।
जगतः प्रक्षयकरं घोररूपं भयावहम् ॥ ४१ ॥

इधर धृष्टद्युम्न भी उस समराङ्गणमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास चले गये। तत्पश्चात् समरभूमिमें कलिंगदेशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेनका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। जो सम्पूर्ण जगत्का विनाश करनेवाला घोरस्वरूप एवं महान् भयदायक था ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृष्टद्युम्नद्रोणयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृष्टद्युम्न और द्रोणका युद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रतिसमादिष्टः कालिङ्गो वाहिनीपतिः।
कथमद्भुतकर्माणं भीमसेनं महाबलम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! दुर्योधनकी वैसी आज्ञा पाकर सेनापति कलिंगराजने अद्भुत पराक्रमी महाबली भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १ ॥

चरन्तं गदया वीरं दण्डहस्तमिवान्तकम्।
योधयामास समरे कालिङ्गः सह सेनया ॥ २ ॥

वीरवर भीमसेन जब गदा हाथमें लेकर विचरते हैं, तब दण्डधारी यमराजके समान जान पड़ते हैं। उनके साथ समराङ्गणमें सेनासहित कलिंगराजने किस प्रकार युद्ध किया? ॥

संजय उवाच

पुत्रेण तव राजेन्द्र स तथोक्तो महाबलः।
महत्या सेनया गुप्तः प्रायाद् भीमरथं प्रति ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र! आपके पुत्रका उपर्युक्त आदेश पाकर अपनी विशाल सेनासे सुरक्षित हो महाबली कलिंगराज भीमसेनके रथके पास गया ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं महतीं कलिङ्गानां महाचमूम्।
रथाश्वनागकलिलां प्रगृहीतमहायुधाम् ॥ ४ ॥
भीमसेनः कलिङ्गानामार्च्छद् भारत वाहिनीम्।
केतुमन्तं च नैषादिमायान्तं सह चेदिभिः ॥ ५ ॥

भारत! रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई कलिंगोंकी उस विशाल वाहिनीको हाथोंमें बड़े-बड़े आयुध लिये आती देख चेदिदेशीय सैनिकोंके साथ भीमसेनने उसे बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया। साथ ही युद्धके लिये आते हुए निषादराजपुत्र केतुमान्को भी चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

ततः श्रुतायुः संक्रुद्धो राज्ञा केतुमता सह।
आससाद रणे भीमं व्यूढानीकेषु चेदिषु ॥ ६ ॥

तब राजा केतुमान्‌के साथ क्रोधमें भरा हुआ श्रुतायु भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके सामने आया। उस समय चेदिदेशीय सैनिकोंकी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर खड़ी थीं ॥ ६ ॥

रथैरनेकसाहस्रैः कलिङ्गानां नराधिप।
अयुतेन गजानां च निषादैः सह केतुमान् ॥ ७ ॥
भीमसेनं रणे राजन् समन्तात् पर्यवारयत्।

नरेश्वर ! कलिंगोंके कई सहस्र रथ और दस हजार हाथियों एवं निषादोंके साथ केतुमान् उस रणस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे रोकने लगा ॥ ७½ ॥

चेदिमत्स्यकरूषाश्च भीमसेनपदानुगाः ॥ ८ ॥
अभ्यधावन्त समरे निषादान् सह राजभिः।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ ९ ॥

तब भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले चेदि, मत्स्य तथा करूषदेशके क्षत्रियोंने समरभूमिमें निषादों एवं उनके राजाओंपर आक्रमण किया। फिर तो दोनों दलोंमें अत्यन्त घोर और भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ८-९ ॥

न प्राजानन्त योधाः स्वान् परस्परजिघांसया।
घोरमासीत् ततो युद्धं भीमस्य सहसा परैः ॥ १० ॥
यथेन्द्रस्य महाराज महत्या दैत्यसेनया।

महाराज ! उस समय एक-दूसरोंको मार डालनेकी इच्छा रखकर सब योद्धा अपने और परायेकी पहचान नहीं कर पाते थे। शत्रुओंके साथ भीमसेनका वह युद्ध सहसा उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर हो चला, जैसे विशाल दैत्य सेनाके साथ देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ करता है ॥ १०½ ॥

तस्य सैन्यस्य संग्रामे युध्यमानस्य भारत ॥ ११ ॥
बभूव सुमहाञ्शब्दः सागरस्येव गर्जतः।

भरतनन्दन ! संग्रामभूमिमें युद्ध करती हुई उस कलिंगसेनाका महान् कोलाहल समुद्रकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

अन्योन्यं स तदा योधा विकर्षन्तो विशाम्पते ॥ १२ ॥
महीं चक्रुश्चितां सर्वां शशलोहितसंनिभाम्।

राजन् ! उस समय सब योद्धाओंने छिन्न-भिन्न होकर परस्पर एक दूसरेको खींचते हुए वहाँकी सारी भूमिको अपनी रक्तरंजित लाशोंसे पाट दिया। वह भूमि खरगोशके रक्तकी भाँति लाल दिखायी देने लगी ॥ १२½ ॥

योधांश्च स्वान् परान् वापि नाभ्यजानञ्जिघांसया १३
स्वानप्याददते स्वांश्च शूराः परमदुर्जयाः।

परम दुर्जय शूर सैनिक विपक्षीको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर अपने और परायेको भी जान नहीं पाते थे। बहुधा अपने ही पक्षके सैनिक अपने ही योद्धाओंको मारनेके लिये पकड़ लेते थे ॥ १३½ ॥

विमर्दः सुमहानासीदल्पानां बहुभिः सह ॥ १४ ॥
कलिङ्गैः सह चेदीनां निषादैश्च विशाम्पते।

राजन् ! इस प्रकार वहाँ बहुसंख्यक कलिङ्गों और निषादोंके साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकोंका बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १४½ ॥

कृत्वा पुरुषकारं तु यथाशक्ति महाबलाः ॥ १५ ॥
भीमसेनं परित्यज्य संन्यवर्तन्त चेदयः।

महाबली चेदि सैनिक यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करके भीमसेनको छोड़कर भाग चले ॥ १५½ ॥

सर्वैः कलिङ्गैरासन्नः संनिवृत्तेषु चेदिषु ॥ १६ ॥
स्वबाहुबलमास्थाय न न्यवर्तत पाण्डवः।
न चचाल रथोपस्थाद् भीमसेनो महाबलः ॥ १७ ॥

चेदिदेशीय सैनिकोंके पलायन कर जानेपर समस्त कलिङ्ग भीमसेनके निकट जा पहुँचे; तो भी महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन अपने बाहुबलका भरोसा करके पीछे नहीं हटे और न रथकी बैठकसे तनिक भी विचलित हुए ॥

शितैरवाकिरद् बाणैः कलिङ्गानां वरूथिनीम्।
कालिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः ॥ १८ ॥
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः।

वे कलिङ्गोंकी सेनापर अपने तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। महाधनुर्धर कलिङ्गराज और उसका महारथी पुत्र शक्रदेव दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंका प्रहार करने लगे ॥ १८½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विधुन्वन् रुचिरं धनुः ॥ १९ ॥
योधयामास कालिङ्गं स्वबाहुबलमाश्रितः।

तब महाबाहु भीमने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर सुन्दर धनुषकी टंकार फैलाते हुए कलिङ्गराजसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून् ॥ २० ॥
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः।

शक्रदेवने समरभूमिमें बहुत-से सायकोंकी वर्षा करते हुए उन सायकोंद्वारा भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला॥२०½॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भीमसेनमरिंदमम् ॥ २१ ॥
शक्रदेवोऽभिदुद्राव शरैरवकिरञ्छितैः।

शत्रुदमन भीमसेनको वहाँ रथहीन हुआ देख शक्रदेव तीखे बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥२१½॥

भीमस्योपरि राजेन्द्र शक्रदेवो महाबलः ॥ २२ ॥
ववर्ष शरवर्षाणि तपान्ते जलदो यथा।

राजेन्द्र ! जैसे गर्मीके अन्तमें बादल पानीकी बूँदें

बरसाता है, उसी प्रकार महाबली शक्रदेव भीमसेनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ २२½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए महाबली भीमसेनने शक्रदेवको लक्ष्य करके सम्पूर्णतः लोहके सारतत्त्वकी बनी हुई अपनी गदा चलायी ॥ २३½ ॥

स तया निहतो राजन् कालिङ्गतनयो रथात् ॥ २४ ॥
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ।

राजन्! उस गदाकी चोट खाकर कलिङ्गराजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वजके साथ ही रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४½ ॥

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः ॥ २५ ॥
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।

अपने पुत्रको मारा गया देख कलिङ्गराजने कई हजार रथोंके द्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ।२५½।

ततो भीमो महावेगां त्यक्त्वा गुर्वीं महागदाम् ॥ २६ ॥
निस्त्रिंशमाददे घोरं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।
चर्म चाप्रतिमं राजन्नार्षभं पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
नक्षत्रैरर्धचन्द्रैश्च शातकुम्भमयैश्चितम् ।

नरश्रेष्ठ ! तब भीमसेनने अत्यन्त वेगशालिनी एवं भारी और विशाल गदाको वहीं छोड़कर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेकी इच्छासे तलवार खींच ली तथा ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई अनुपम ढाल हाथमें ले ली । राजन्! उस ढालमें सुवर्णमय नक्षत्र और अर्धचन्द्रके आकारकी फूलियाँ जड़ी हुई थीं ॥ २६-२७½ ॥

कालिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥ २८ ॥
प्रगृह्य च शरं घोरमेकं सर्पविषोपमम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकाङ्क्षी जनेश्वरः ॥ २९ ॥

इधर क्रोधमें भरे हुए कलिङ्गराजने धनुषकी प्रत्यञ्चाको रगड़कर सर्पके समान विषैला एक भयंकर बाण हाथमें लिया और भीमसेनके वधकी इच्छासे उनपर चलाया ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम् ।
भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ॥ ३० ॥
उदक्रोशच्च संहृष्टस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।

राजन्! भीमसेनने अपने विशाल खड्गसे उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाणके दो टुकड़े कर दिये और कलिङ्गोंकी सेनाको भयभीत करते हुए हर्षमें भरकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३०½ ॥

कालिङ्गोऽथ ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे ॥ ३१ ॥
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ।

तब कलिङ्गराजने रणक्षेत्रमें अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर तुरंत ही चौदह तोमरोंका प्रहार किया, जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था ॥ ३१½ ॥

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः ॥ ३२ ॥
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ।

राजन्! वे तोमर अभी भीमसेनतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि उन महाबाहु पाण्डुकुमारने बिना किसी घबराहटके अपनी अच्छी तलवारसे सहसा उन्हें आकाशमें ही काट डाला ॥ ३२½ ॥

निकृत्य तु रणे भीमस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ३३ ॥
भानुमन्तं ततो भीमः प्राद्रवत् पुरुषर्षभः ।

इस प्रकार पुरुषश्रेष्ठ भीमसेनने रणक्षेत्रमें उन चौदह तोमरोंको काटकर भानुमान्पर धावा किया ॥ ३३½ ॥

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन् ॥ ३४ ॥
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ।

यह देख भानुमान्ने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको आच्छादित करके आकाशको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३४½ ॥

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे ॥ ३५ ॥
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः ।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ॥ ३६ ॥

भीमसेन उस महासमरमें भानुमान्की वह गर्जना न सह सके । उन्होंने और भी अधिक जोरसे सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया । उनकी उस गर्जनासे कलिङ्गोंकी वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी ॥ ३५-३६ ॥

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ ।
ततो भीमो महाबाहुर्नदित्वा विपुलं स्वनम् ॥ ३७ ॥
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम् ।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस सेनाके सैनिकोंने भीमसेनको युद्धमें मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा । आर्य ! तदनन्तर महाबाहु भीमसेन जोर-जोरसे गर्जना करके हाथमें तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराजके दाँतोंके सहारे उसके मस्तकपर चढ़ गये॥

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा ।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ॥ ३९ ॥

इतनेहीमें कलिङ्गराजकुमारने उनके ऊपर शक्ति चलायी; किंतु भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये और

अपने विशाल खड्गसे भानुमान्‌के शरीरको बीचसे काट डाला॥

सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिंदमः।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत्॥ ४०॥

इस प्रकार गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले कलिङ्ग-राजकुमारको मारकर शत्रुदमन भीमसेनने भार सहनेमें समर्थ अपनी भारी तलवारको उस हाथीके कंधेपर भी दे मारा ।४०।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः॥ ४१॥

कंधा कट जानेसे वह गजयूथपति चिग्घाड़ता हुआ समुद्रके वेगसे भग्न होकर गिरनेवाले शिखरयुक्त पर्वतके समान धराशायी हो गया॥ ४१॥

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः॥ ४२॥

भारत! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदारचित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथीसे सहसा कूदकर धरतीपर खड़े हो गये॥ ४२॥

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान्।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत॥ ४३॥

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियोंको गिराते हुए वे अनेक मार्गोंसे विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे सब ओर दिखायी देते थे॥ ४३॥

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नञ्शोणितोक्षितः॥ ४४॥

शक्तिशाली भीमसेन घोड़ों, हाथियों, रथों और पैदलोंके समूहोंमें घुसकर सबका संहार करते हुए रक्तसे भीग गये॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमो रणेऽरिपु बलोत्कटः।
छिन्दंस्तेषां शरीराणि शिरांसि च महाबलः॥ ४५॥

प्रचण्डबलवाले महान् शक्तिशाली भीमसेन शत्रुओंके समूहमें घुसकर उनके शरीर और मस्तक काटते हुए बाज पक्षीकी तरह रणभूमिमें विचरने लगे॥ ४५॥

खड्गेन शितधारेण संयुगे गजयोधिनाम्।
पदातिरेकः संक्रुद्धः शत्रूणां भयवर्धनः॥ ४६॥
सम्मोहयामास स तान् कालान्तकयमोपमः।

उस रण-क्षेत्रमें गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंके मस्तकोंको अपनी तीखी धारवाली तलवारसे काटते हुए वे अकेले ही क्रोधमें भरकर पैदल विचरते और शत्रुओंके भयको बढ़ाते थे। उन्होंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर रूप धारण करके उन सबको भयसे मोहित कर दिया था॥४६½॥

मूढाश्च ते तमेवाजौ विनदन्तः समाद्रवन्॥ ४७॥
सासिमुत्तमवेगेन विचरन्तं महारणे।

वे मूढ़ सैनिक गर्जना करते हुए उन्हींके पास दौड़े चले आते (और मारे जाते) थे। भीमसेन हाथमें तलवार लिये उस महान् संग्राममें बड़े वेगसे विचरण करते थे॥ ४७½॥

निकृत्य रथिनां चाजौ रथेषाश्च युगानि च॥ ४८॥
जघान रथिनश्चापि बलवान् रिपुमर्दनः।

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले बलवान् भीम युद्धमें रथारोहियोंके रथोंके ईषादण्ड और जूए काटकर उन रथियोंका भी संहार कर डालते थे॥ ४८½॥

भीमसेनश्चरन् मार्गान् सुबहून् प्रत्यदृश्यत॥ ४९॥
भ्रान्तमाविद्धमुद्भ्रान्तमाप्लुतं प्रसृतं प्लुतम्।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पाण्डवः॥ ५०॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमसेन अनेक मार्गोंपर विचरते हुए दिखायी देते थे। उन्होंने खड्गयुद्धके भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, प्लुत, सम्पात तथा समुदीर्ण आदि बहुत-से पैंतरे दिखाये*॥ ४९-५०॥

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः॥ ५१॥

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेनके श्रेष्ठ खड्गकी चोटसे कितने ही हाथियोंके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिग्घाड़ते हुए प्राणशून्य होकर धरतीपर गिर पड़े॥ ५१॥

---

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। यही अधिक परिश्रमसाध्य होनेपर 'आविद्ध' कहा गया है। 'भ्रान्त' की क्रिया यदि ऊपर उठते हुए की जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहते हैं। तलवार चलाते हुए ऊपर उछलना 'आप्लुत' है। सब दिशाओंमें फैलावका नाम 'प्रसृत' है। तलवार चलाते हुए एक ही दिशामें आगे बढ़ना 'प्लुत' है। वेगको 'सम्पात' कहते हैं। समस्त शत्रुओंको मारने या चोट पहुँचानेके उद्यमको 'समुदीर्ण' कहा गया है।

छिन्नदन्ताग्रहस्ताश्च भिन्नकुम्भास्तथा परे।
वियोधाः स्वान्यनीकानि जघ्नुर्भारत वारणाः ॥ ५२ ॥
निपेतुरुर्व्यां च तथा विनदन्तो महारवान्।

भरतनन्दन ! कुछ गजराजोंके दाँत और सूँडके अग्रभाग कट गये, कुम्भस्थल फट गये और सवार मारे गये। उस अवस्थामें उन्होंने इधर-उधर भागकर अपनी ही सेनाओंको कुचल डाला और अन्तमें जोर-जोरसे चिग्घाड़ते हुए वे पृथ्वीपर गिरे और मर गये ॥ ५२½ ॥

छिन्नांश्च तोमरान् राजन् महामात्रशिरांसि च॥ ५३ ॥
परिस्तोमान् विचित्रांश्च कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः।
ग्रैवेयाण्यथ शक्तीश्च पताकाः कणपांस्तथा ॥ ५४ ॥
तूणीरानथ यन्त्राणि विचित्राणि धनूंषि च।
भिन्दिपालानि शुभ्राणि तोत्राणि चाङ्कुशैः सह॥ ५५॥
घण्टाश्च विविधा राजन् हेमगर्भांस्त्सरूनपि।
पततः पातितांश्चैव पश्यामः सह सादिभिः ॥ ५६ ॥

राजन्! हमलोगोंने वहाँ देखा, बहुत-से तोमर और महावतोंके मस्तक कटकर गिरे हैं, हाथियोंकी पीठोंपर बिछी हुई विचित्र-विचित्र झूलें पड़ी हुई हैं। हाथियोंको कसनेके उपयोगमें आनेवाली स्वर्णभूषित चमकीली रस्सियाँ गिरी हुई हैं, हाथी और घोड़ोंके गलेके आभूषण, शक्ति, पताका, कणप (अस्त्रविशेष), तरकस, विचित्र यन्त्र, धनुष, चमकीले भिन्दिपाल, तोत्र, अङ्कुश, भाँति-भाँतिके घंटे तथा स्वर्ण-जटित खड्गमुष्टि—ये सब वस्तुएँ हाथीसवारोंसहित गिरी हुई हैं और गिरती जा रही हैं ॥ ५३–५६ ॥

छिन्नगात्रावरकरैर्निहतैश्चापि वारणैः।
आसीद् भूमिः समास्तीर्णा पतितैर्भूधरैरिव ॥ ५७ ॥

कहीं कटे हुए हाथियोंके शरीरके ऊर्ध्वभाग पड़े थे, कहीं अधोभाग पड़े थे। कहीं कटी हुई सूँड़ें पड़ी थीं और कहीं मारे गये हाथियोंकी लोथें पड़ी थीं। उनसे आच्छादित हुई वह समरभूमि ढहे हुए पर्वतोंसे ढकी-सी जान पड़ती थी ॥

विमृद्यैवं महानागान् ममर्दान्यान् महाबलः।
अश्वारोहवरांश्चैव पातयामास संयुगे ॥ ५८ ॥
तद् घोरमभवद् युद्धं तस्य तेषां च भारत।

भारत! इस प्रकार महाबली भीमसेनने कितने ही बड़े-बड़े गजराजोंको नष्ट करके दूसरे प्राणियोंका भी विनाश आरम्भ किया। उन्होंने युद्धस्थलमें बहुत-से प्रमुख अश्वारोहियोंको मार गिराया। इस प्रकार भीमसेन और कलिङ्ग सैनिकोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर रूप धारण करता गया॥५८½॥

खलीनान्यथ योक्त्राणि कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः॥ ५९॥
परिस्तोमाश्च प्रासाश्च ऋष्टयश्च महाधनाः।
कवचान्यथ चर्माणि चित्राण्यास्तरणानि च ॥ ६० ॥
तत्र तत्रापविद्धानि व्यदृश्यन्त महाहवे।

उस महासमरमें घोड़ोंकी लगाम, जोत, सुवर्णमण्डित चमकीली रस्सियाँ, पीठपर कसी जानेवाली गद्दियाँ (जीन), प्रास, बहुमूल्य ऋष्टियाँ, कवच, ढाल तथा भाँति-भाँतिके विचित्र आस्तरण इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ५९-६०½

प्रासैर्यन्त्रैर्विचित्रैश्च शस्त्रैश्च विमलैस्तथा ॥ ६१ ॥
स चक्रे वसुधां कीर्णां शबलैः कुसुमैरिव।

भीमसेनने बहुत-से प्रासों, विचित्र यन्त्रों और चमकीले शस्त्रोंसे वहाँकी भूमिको पाट दिया, जिससे वह चितकबरे पुष्पोंसे आच्छादित-सी प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ॥ ६२ ॥
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः।

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियोंके पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजोंसहित तलवारसे काट गिराते थे ॥ ६२½ ॥

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ॥ ६३ ॥
मार्गांश्च चरतश्चित्रं व्यस्मयन्त रणे जनाः।

वे बार-बार उछलते, सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और युद्धके विचित्र पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरते थे। यशस्वी भीमसेनका यह पराक्रम देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ६३½ ॥

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत्॥ ६४ ॥
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन्।
ऊरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले ॥ ६५ ॥

उन्होंने कितने ही योद्धाओंको पैरोंसे कुचलकर मार डाला, कितनोंको ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनोंको तलवारसे काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओंको अपनी भीषण गर्जनासे डरा दिया और कितनोंको अपने महान् वेगसे पृथ्वीपर दे मारा ॥ ६४-६५ ॥

अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः।
एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम् ॥ ६६ ॥
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत्।

दूसरे बहुत-से योद्धा इन्हें देखते ही भयके मारे निष्प्राण हो गये। इस प्रकार मारी जानेपर भी वेगशाली कलिंग वीरोंकी उस विशाल वाहिनीने रणक्षेत्रमें भीष्मकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर पुनः भीमसेनपर धावा किया ॥

ततः कालिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ ॥ ६७ ॥
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात्।

भरतश्रेष्ठ ! कलिंगसेनाके अग्रभागमें राजा श्रुतायुको देखकर भीमसेन उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कालिङ्गो नवभिः शरैः ॥ ६८ ॥
भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।

उन्हें आते देख अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कलिंगराज श्रुतायुने भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ६८½ ॥

कालिङ्गबाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ६९ ॥
भीमसेनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवेधितः ।

कलिंगराजके बाणोंसे आहत हो भीमसेन अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान क्रोधसे जल उठे, मानो घीकी आहुति पाकर आग प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६९½ ॥

अथाशोकः समादाय रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ७० ॥
भीमं सम्पादयामास रथेन रथसारथिः ।

इसी समय भीमसेनके सारथि अशोकने एक सुवर्णभूषित रथ लेकर उसे भीमके पास पहुँचा कर उन्हें भी रथसे सम्पन्न कर दिया ॥ ७०½ ॥

तमारुह्य रथं तूर्णं कौन्तेयः शत्रुसूदनः ॥ ७१ ॥
कालिङ्गमभिदुद्राव तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

शत्रुसूदन कुन्तीकुमार भीम तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो कलिंगराजकी ओर दौड़े और बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ७१½ ॥

ततः श्रुतायुर्बलवान् भीमाय निशिताञ्शरान्॥ ७२ ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब बलवान् श्रुतायुने कुपित हो अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए बहुत-से पैने बाण भीमसेनपर चलाये ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकवरोत्सृष्टैर्नवभिर्निशितैः शरैः ॥ ७३ ॥
समाहतो महाराज कालिङ्गेन महात्मना ।
संचुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ॥ ७४ ॥

महाराज ! महामना कलिंगराजके द्वारा श्रेष्ठ धनुषसे छोड़े हुए नौ तीखे बाणोंसे घायल हो भीमसेन डंडेकी चोट खाये हुए सर्पकी भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ७३-७४ ॥

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः ।
कालिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥ ७५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमने क्रुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुषको बलपूर्वक खींचकर लोहेके सात बाणोंद्वारा कलिंगराज श्रुतायुको घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कालिङ्गस्य महाबलौ ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणोंसे कलिंगराजके चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्यको यमलोक पहुँचा दिया ॥७६॥

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः ।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने तीन तीखे नाराचोंद्वारा रणक्षेत्रमें केतुमान्‌को मारकर उसे यमलोक भेज दिया ॥ ७७ ॥

ततः कलिङ्गाः संक्रुद्धा भीमसेनममर्षणम् ।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥ ७८ ॥

तब कलिंगदेशीय समस्त क्षत्रियोंने कई हजार सैनिकोंके साथ आकर युद्धके लिये उद्यत हो अमर्षशील भीमसेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७८ ॥

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः ।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥ ७९ ॥

राजन् ! उस समय कलिंग-योद्धा भीमसेनपर शक्ति, गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी वर्षा करने लगे ॥

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
गदामादाय तरसा संनिपत्य महाबलः ॥ ८० ॥
भीमः सप्त शतान् वीराननयद् यमसादनम् ।
पुनश्चैव द्विसाहस्रान् कलिङ्गानरिमर्दनः ॥ ८१ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय तदद्भुतमिवाभवत् ।

वहाँ होती हुई उस भयंकर बाण-वर्षाको रोककर महाबली भीमसेन हाथमें गदा ले बड़े वेगसे कलिंग-सेनामें कूद पड़े। उस सेनामें घुसकर शत्रुमर्दन भीमने पहले सात सौ वीरोंको यमलोक पहुँचाया। फिर दो हजार कलिंगोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया। यह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ८०–८१½ ॥

एवं स तान्यनीकानि कलिङ्गानां पुनः पुनः ॥ ८२ ॥
बिभेद समरे तूर्णं प्रेक्ष्य भीष्मं महारथम् ।

इस प्रकार भीमसेनने महारथी भीष्मकी ओर देखते हुए कलिंगोंकी सेनाको बार-बार समर-भूमिमें शीघ्रतापूर्वक विदीर्ण किया ॥ ८२½ ॥

हतारोहाश्च मातङ्गाः पाण्डवेन कृता रणे ॥ ८३ ॥
विप्रजग्मुरनीकेषु मेघा वातहता इव ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि विनदन्तः शरातुराः ॥ ८४ ॥

उस रणभूमिमें पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा सवारोंके मार दिये जानेपर बहुत-से मतवाले हाथी वायुके थपेड़े खाये हुए बादलोंके समान कौरव-सेनामें इधर-उधर भागने तथा अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए बाणोंकी व्यथासे व्याकुल हो चीत्कार करने लगे ॥ ८३-८४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः ।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शङ्खं प्राध्मापयद् बली ॥ ८५ ॥

तदनन्तर महाबली महाबाहु भीमसेनने खड्ग हाथमें लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ॥८५॥

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत् ।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परंतप ॥ ८६ ॥

परंतप ! उस शङ्खनादके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलिंगोंके हृदयमें कम्प मचा दिया और उन सबपर बड़ा भारी मोह छा गया॥

प्राकम्पन्त च सैन्यानि वाहनानि च सर्वशः।
भीमेन समरे राजन् गजेन्द्रेणेव सर्वशः॥ ८७॥
मार्गान् बहून् विचरता धावता च ततस्ततः।
मुहुरुत्पतता चैव सम्मोहः समपद्यत॥ ८८॥

राजन्! उस समराङ्गणमें गजराजके समान अनेक मार्गोंपर विचरते और इधर-उधर दौड़ते हुए भीमसेनके भयसे समस्त सैनिक और वाहन थर-थर काँपने लगे। उनके बार-बार उछलनेसे सबपर मोह छा गया॥ ८७-८८॥

भीमसेनभयत्रस्तं सैन्यं च समकम्पत।
क्षोभ्यमाणमसम्बाधं ग्राहेणेव महत् सरः॥ ८९॥

जैसे महान् तालाब किसी ग्राहके द्वारा मथित होनेपर क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार वह सारी सेना भीमसेनके द्वारा बेरोक-टोक मथित होनेपर भयसे संत्रस्त हो काँपने लगी॥

त्रासितेषु च सर्वेषु भीमेनाद्भुतकर्मणा।
पुनरावर्तमानेषु विद्रवत्सु च सङ्घशः॥ ९०॥
सर्वकालिङ्गयोधेषु पाण्डूनां ध्वजिनीपतिः।
अब्रवीत् स्वान्यनीकानि युध्यध्वमिति पार्षतः॥ ९१॥

अद्भुतकर्मा भीमसेनके द्वारा भयभीत कर दिये जानेपर कलिंग देशके समस्त योद्धा जब दल बनाकर भागने और भाग-भागकर पुनः लौटने लगे, तब पाण्डव-सेनापति द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! (उत्साहके साथ) युद्ध करो'॥ ९०-९१॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा शिखण्डिप्रमुखा गणाः।
भीममेवाभ्यवर्तन्त रथानीकैः प्रहारिभिः॥ ९२॥

सेनापतिकी बात सुनकर शिखण्डी आदि महारथी प्रहारकुशल रथियोंकी सेनाओंके साथ भीमसेनका ही अनुसरण करने लगे॥ ९२॥

धर्मराजश्च तान् सर्वानुपजग्राह पाण्डवः।
महता मेघवर्णेन नागानीकेन पृष्ठतः॥ ९३॥

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी विशाल सेना साथ लिये पीछेसे आकर उन सबकी सहायता करने लगे॥ ९३॥

एवं संनोद्य सर्वाणि स्वान्यनीकानि पार्षतः।
भीमसेनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः॥ ९४॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने अपनी सारी सेनाओंको युद्धके लिये प्रेरित करके श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य हाथमें लिया॥ ९४॥

न हि पञ्चालराजस्य लोके कश्चन विद्यते।
भीमसात्यकयोरन्यः प्राणेभ्यः प्रियकृत्तमः॥ ९५॥

जगत्में पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके लिये भीम और सात्यकिको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं था, जो प्राणोंसे भी बढ़कर हो॥ ९५॥

सोऽपश्यच्च कलिङ्गेषु चरन्तमरिसूदनः।
भीमसेनं महाबाहुं पार्षतः परवीरहा॥ ९६॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वैरिविनाशक द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने महाबाहु भीमसेनको कलिंगोंकी सेनामें विचरते देखा॥

ननर्द बहुधा राजन् हृष्टश्चासीत् परंतपः।
शङ्खं दध्मौ च समरे सिंहनादं ननाद च॥ ९७॥

राजन्! उन्हें देखते ही परंतप धृष्टद्युम्नके हृदयमें हर्षकी सीमा न रही। वे बारंबार गर्जना करने लगे। उन्होंने समराङ्गणमें शङ्ख बजाया और सिंहनाद किया॥ ९७॥

स च पारावताश्वस्य रथे हेमपरिष्कृते।
कोविदारध्वजं दृष्ट्वा भीमसेनः समाश्वसत्॥ ९८॥

कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जिनके रथमें जोते जाते हैं, उन धृष्टद्युम्नके सुवर्णभूषित रथमें कचनार वृक्षके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती देख भीमसेनको बड़ा आश्वासन मिला॥

धृष्टद्युम्नस्तु तं दृष्ट्वा कलिङ्गैः समभिद्रुतम्।
भीमसेनममेयात्मा त्राणायाजौ समभ्ययात्॥ ९९॥

कलिंगोंने भीमसेनपर धावा किया है, यह देखकर अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न धृष्टद्युम्न भीमसेनकी रक्षाके लिये युद्धस्थलमें उनके पास जा पहुँचे॥ ९९॥

तौ दूरात् सात्यकिं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कलिङ्गान् समरे वीरौ योधयेतां मनस्विनौ॥१००॥

उस समरभूमिमें मनस्वी वीर धृष्टद्युम्न और भीमसेनने सात्यकिको भी दूरसे आते देखा; अतः वे अधिक उत्साहसे सम्पन्न हो कलिंगोंसे युद्ध करने लगे॥ १००॥

स तत्र गत्वा शैनेयो जवेन जयतां वरः।
पार्थपार्षतयोः पार्ष्णिं जग्राह पुरुषर्षभः॥१०१॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ पुरुषप्रवर सात्यकिने बड़े वेगसे वहाँ पहुँचकर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पृष्ठपोषणका कार्य सँभाला॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आस्थितो रौद्रमात्मानं कलिङ्गानन्ववैक्षत॥१०२॥

उन्होंने धनुष हाथमें लेकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेके पश्चात् अपने रौद्र रूपका आश्रय ले कलिंगसेनाकी ओर दृष्टिपात किया॥ १०२॥

कलिङ्गप्रभवां चैव मांसशोणितकर्दमाम्।
रुधिरस्यन्दिनीं तत्र भीमः प्रावर्तयन्नदीम्॥१०३॥

भीमसेनने वहाँ एक भयंकर नदी प्रकट कर दी, जो कलिंग-सेनारूपी उद्गमस्थानसे निकली थी। उसमें मांस और शोणितकी ही कीच थी। वह नदी रक्तकी ही धारा बहा रही थी॥ १०३॥

अन्तरेण कलिङ्गानां पाण्डवानां च वाहिनीम्।
तां संततार दुस्तारां भीमसेनो महाबलः॥१०४॥

कलिंग और पाण्डव-सेनाके बीचमें बहनेवाली उस रक्तकी दुस्तर नदीको महाबली भीमसेन अपने पराक्रमसे पार कर गये ॥ १०४ ॥

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ॥१०५॥

राजन्! भीमसेनको उस रूपमें देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेनके रूपमें प्रकट होकर कलिंगोंके साथ युद्ध कर रहा है ॥१०५॥

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ॥१०६॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमिमें उस कोलाहलको सुनकर अपनी सेनाको सब ओरसे व्यूहबद्ध करके तुरंत ही भीमसेनके पास आये ॥ १०६ ॥

तं सात्यकिर्भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
अभ्यद्रवन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥१०७॥

भीष्मके उस सुवर्णभूषित रथपर सात्यकि, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने एक साथ ही धावा किया ॥१०७॥

परिवार्य तु ते सर्वे गाङ्गेयं तरसा रणे।
त्रिभिस्त्रिभिः शरैर्घोरैर्भीष्ममानर्च्छुरोजसा ॥१०८॥

उन सब लोगोंने रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको वेगपूर्वक घेरकर तीन-तीन भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें यथाशक्ति पीड़ा पहुँचायी ॥ १०८ ॥

प्रत्यविध्यत तान् सर्वान् पिता देवव्रतस्तव।
यतमानान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥१०९॥

उस समय आपके पितृतुल्य भीष्मने वहाँ युद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महाधनुर्धर योद्धाओंको सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ॥ १०९ ॥

ततः शरसहस्रेण संनिवार्य महारथान्।
हयान् काञ्चनसंनाहान् भीमस्य न्यहनच्छरैः ॥११०॥

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों महारथियोंको रोककर सोनेके साज-बाज धारण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंको भीष्मने अपने बाणोंसे मार डाला ॥ ११० ॥

हताश्वे स रथे तिष्ठन् भीमसेनः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप तरसा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥१११॥

अश्वोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी भीमसेनने भीष्मजीके रथपर बड़े वेगसे शक्ति चलायी ॥१११॥

अप्राप्तामथ तां शक्तिं पिता देवव्रतस्तव।
त्रिधा चिच्छेद समरे सा पृथिव्यामशीर्यत ॥११२॥

वह शक्ति अभी पासतक पहुँची ही न थी कि आपके पितृतुल्य भीष्मने समरभूमिमें उसके तीन टुकड़े कर डाले और वह भूतलपर बिखर गयी ॥ ११२ ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य बलवान् गदाम्।
भीमसेनस्ततस्तूर्णं पुप्लुवे मनुजर्षभ ॥११३॥

नरश्रेष्ठ! तब बलवान् भीमसेन पूर्णतः लोहेके सारतत्त्व (फौलाद) की बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर तुरंत उस रथसे कूद पड़े ॥ ११३ ॥

सात्यकोऽपि ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ॥११४॥

इधर सात्यकिने भी भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे भीष्मके सारथिको तुरंत ही अपने सायकोंद्वारा मार गिराया॥

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ॥११५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म सारथिके मारे जानेपर हवाके समान भागनेवाले घोड़ोंके द्वारा रणभूमिसे बाहर कर दिये गये ॥

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवैधितः ॥११६॥

राजन्! महान् व्रतधारी भीष्मके रणभूमिसे हट जानेपर भीमसेन घास-फूसके ढेरमें लगी हुई आगके समान अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ११६ ॥

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठत।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ॥११७॥

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिंगोंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें ही खड़े थे, परंतु आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उनके पास जानेका साहस न कर सके ॥ ११७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तमारोप्य स्वरथे रथिनां वरः।
पश्यतां सर्वसैन्यानामपोवाह यशस्विनम् ॥११८॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न यशस्वी भीमसेनको अपने रथपर चढ़ाकर सब सैनिकोंके देखते-देखते अपने दलमें ले गये ॥ ११८ ॥

सम्पूज्यमानः पाञ्चाल्यैर्मत्स्यैश्च भरतर्षभ।
धृष्टद्युम्नं परिष्वज्य समेयादथ सात्यकिम् ॥११९॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पाञ्चालों तथा मत्स्यदेशीय नरेशोंसे पूजित हो भीमसेन धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भुजाओंमें भरकर दोनोंसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ११९ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं सात्यकिः सत्यविक्रमः।
प्रहर्षयन् यदुव्याघ्रो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥१२०॥

उस समय सत्यपराक्रमी यदुकुलसिंह सात्यकिने धृष्टद्युम्नके सामने ही भीमसेनका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥

दिष्ट्या कलिङ्गराजश्च राजपुत्रश्च केतुमान्।
शक्रदेवश्च कालिङ्गः कलिङ्गाश्च मृधे हताः ॥१२१॥

'वीरवर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कलिंगराज भानुमान्, राजकुमार केतुमान्, कलिंगवीर शक्रदेव तथा अन्य

बहुसंख्यक कलिंग-सैनिक आपके द्वारा युद्धमें मारे गये ॥

स्वबाहुबलवीर्येण नागाश्वरथसंकुलः ।
महापुरुषभूयिष्ठो धीरयोधनिषेवितः ॥ १२२॥
महाव्यूहः कलिङ्गानामेकेन मृदितस्त्वया ।

'आपने अकेले अपनी ही भुजाओंके बल और पराक्रमसे कलिंगोंके उस महान् व्यूहको रौंदकर मिट्टीमें मिला दिया, जिसमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे। उसके अधिकांश सैनिक संसारके महान् पुरुषोंमें गिने जाने योग्य थे। अगणित धीर-वीर योद्धा उस महान् व्यूहका सेवन करते थे'॥

एवमुक्त्वा शिनेर्नप्ता दीर्घबाहुररिंदम ॥ १२३॥
रथाद् रथमभिद्रुत्य पर्यष्वजत पाण्डवम् ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश्वर! ऐसा कहकर बड़ी भुजाओंवाले सात्यकि अपने रथसे कूदकर भीमसेनके रथपर जा चढ़े और उनको हृदयसे लगा लिया ॥ १२३½ ॥

ततः स्वरथमास्थाय पुनरेव महारथः ।
तावकानवधीत् क्रुद्धो भीमस्य बलमादधत् ॥ १२४॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महारथी सात्यकिने पुनः अपने रथपर बैठकर भीमसेनका बल बढ़ाते हुए आपके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ १२४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसे कलिङ्गराजवधे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय दिनके युद्धमें कलिंगराजका वधविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
रथनागाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ॥ १ ॥
द्रोणपुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना ।
समसज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भारत! उस दूसरे दिन जब पूर्वाह्णका अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, पैदल और सवारोंका महान् संहार होने लगा, उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शल्य तथा महामनस्वी कृपाचार्य इन तीनों महारथियोंके साथ युद्ध करने लगा ॥ १-२ ॥

स लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः ।
द्रौणेः पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ॥ ३ ॥

महाबली पाञ्चाल-राजकुमारने दस शीघ्रगामी पैने बाण मारकर अश्वत्थामाके विश्वविख्यात घोड़ोंको मार डाला ॥

ततः शल्यरथं तूर्णमास्थाय हतवाहनः ।
द्रौणिः पाञ्चालदायादमभ्यवर्षदथेषुभिः ॥ ४ ॥

वाहनोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा तुरंत ही शल्यके रथपर चढ़ गया और वहींसे धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु संयुक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत ।
सौभद्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशिताञ्शरान्॥५॥

भरतनन्दन! धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके साथ भिड़ा हुआ देख सुभद्रानन्दन अभिमन्यु भी पैने बाण बिखेरता हुआ तुरंत वहाँ आ पहुँचा ॥ ५ ॥

स शल्यं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।
अश्वत्थामानमष्टाभिर्विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

उस पुरुषरत्न अभिमन्युने शल्यको पचीस, कृपाचार्यको नौ और अश्वत्थामाको आठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ६ ॥

आर्जुनिं तु ततस्तूर्णं द्रौणिर्विव्याध पत्रिणा ।
शल्योऽथ दशभिश्चैव कृपश्च निशितैस्त्रिभिः ॥ ७ ॥

तब अश्वत्थामाने शीघ्र ही एक बाणसे अभिमन्युको घायल कर दिया। तत्पश्चात् शल्यने दस और कृपाचार्यने तीन पैने बाण उसे मारे ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ८ ॥

तदनन्तर आपके पौत्र लक्ष्मणने सुभद्राकुमार अभिमन्युको सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साहमें भरकर उसपर आक्रमण किया। फिर तो दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया ॥

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

राजन्! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनके पुत्र लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें (अनेक बाणोंसे) अभिमन्युको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ॥ १० ॥

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! यह देख शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला वीर अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो उठा और अपने भाई लक्ष्मणको उसने पचास बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १० ॥

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ११ ॥

राजन् ! तब लक्ष्मणने भी पुनः एक बाण मारकर उसके धनुषको, जहाँ मुट्ठी रक्खी जाती है, वहींसे काट दिया । यह देख आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ ११ ॥

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ॥ १२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था ॥ १२ ॥

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न वहाँ एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण अथवा प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर युद्धमें संलग्न थे और पैने बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ॥ १४ ॥

तब प्रजाजनोंका स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्रको आपके पौत्र अभिमन्युसे पीड़ित देख वहाँ स्वयं जा पहुँचा ॥ १४ ॥

संनिवृत्ते तव सुते सर्व एव जनाधिपाः ।
आर्जुनिं रथवंशेन समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके उधर लौटनेपर कौरव-पक्षके सभी नरेशोंने विशाल रथसेनाके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो युधि सुदुर्जयैः ।
न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥ १६ ॥

राजन् ! अभिमन्युका पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णके समान था । वह युद्धमें अत्यन्त दुर्जय उन शूरवीरोंसे घिर जानेपर भी व्यथित या चिन्तित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

सौभद्रमथ संसक्तं दृष्ट्वा तत्र धनंजयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ॥ १७ ॥

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमारको वहाँ युद्धमें संलग्न देख अपने पुत्रकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े आये ॥१७॥

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ॥ १८ ॥

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-पक्षीय नरेश रथ, हाथी और घोड़ोंकी सेनासहित एक साथ अर्जुनपर चढ़ आये ॥ १८ ॥

उद्धूतं सहसा भौमं नागाश्वरथपत्तिभिः ।
दिवाकररथं प्राप्य रजस्तीव्रमदृश्यत ॥ १९ ॥

उस समय हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धरतीकी तीव्र धूल सहसा सूर्यके रथतक पहुँचकर सब ओर व्याप्त दिखायी देने लगी ॥ १९ ॥

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥ २० ॥
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों भूमिपाल अर्जुनके बाणोंके पथमें आकर किसी प्रकार आगे न बढ़ सके । समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया ॥ २०½ ॥

कुरूणां चानयस्तीव्रः समदृश्यत दारुणः ॥ २१ ॥
नाप्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमिर्न च भास्करः ।
प्रजज्ञे भरतश्रेष्ठ शरसङ्घैः किरीटिनः ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय कौरवोंको अपने दुःसह एवं भयंकर अन्यायका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा । किरीटधारी अर्जुनके शरसमूहोंसे सब कुछ आच्छादित हो जानेके कारण आकाश, दिशा, पृथ्वी और सूर्य किसीका भी भान नहीं होता था ॥ २१-२२ ॥

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ॥ २३ ॥

उस रणभूमिमें कितने ही रथ टूट गये, बहुतेरे हाथी नष्ट हो गये, कितने ही रथियोंके घोड़े मार डाले गये और कितने ही रथ-यूथपतियोंके रथ भागते दिखायी दिये ॥२३॥

विरथा रथिनश्चान्ये धावमानाः समन्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते सायुधाः साङ्गदैर्भुजैः ॥ २४ ॥

अन्यान्य बहुत-से रथी रथहीन होकर अङ्गदभूषित भुजाओंमें आयुध धारण किये जहाँ-तहाँ चारों ओर दौड़ते देखे जाते थे ॥ २४ ॥

हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥ २५ ॥

महाराज ! अर्जुनके भयसे घुड़सवार घोड़ोंको और हाथीसवार हाथियोंको छोड़कर सब ओर भाग चले ॥२५॥

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ॥ २६ ॥

वहाँ बहुत-से नरेश अर्जुनके सायकोंसे कटकर रथों, हाथियों और घोड़ोंसे गिरे और गिराये जाते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २६ ॥

सगदानुद्यतान् बाहून् सखड्गांश्च विशाम्पते ।
सप्रासांश्च सतूणीरान् सशरान् सशरासनान् ॥ २७ ॥
साङ्कुशान् सपताकांश्च तत्र तत्रार्जुनो नृणाम् ।
निचकर्त शरैरुग्रै रौद्रं वपुरधारयत् ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! अर्जुनने उस रणक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर रूप धारण किया था । उन्होंने अपने उग्र बाणोंद्वारा योद्धाओंकी ऊपर उठी हुई भुजाओंको, जिनमें गदा, खड्ग, प्रास, तूणीर, धनुष-बाण, अङ्कुश और ध्वजा-पताका आदि शोभा पा रहे थे, काट गिराया ॥ २७-२८ ॥

परिघाणां प्रदीप्तानां मुद्गराणां च मारिष ।
प्रासानां भिन्दिपालानां निस्त्रिंशानां च संयुगे ॥ २९ ॥
परश्वधानां तीक्ष्णानां तोमराणां च भारत ।
वर्मणां चापविद्धानां काञ्चनानां च भूमिप ॥ ३० ॥
ध्वजानां चर्मणां चैव व्यजनानां च सर्वशः ।
छत्राणां हेमदण्डानां तोमराणां च भारत ॥ ३१ ॥
प्रतोदानां च योक्त्राणां कशानां चैव मारिष ।
राशयः स्मात्र दृश्यन्ते विनिकीर्णा रणक्षितौ ॥ ३२ ॥

आर्य ! भरतनन्दन ! भूपाल ! उस रणभूमिमें गिरे हुए उद्दीप्त परिघ, मुद्गर, प्रास, भिन्दिपाल, खड्ग, फरसे, तीखे तोमर, सुवर्णमय कवच, ध्वज, ढाल, सोनेके डंडोंसे विभूषित छत्र, व्यजन, चाबुक, जोते, कोड़े और अंकुश ढेर-के-ढेर बिखरे दिखायी देते थे ॥ २९-३२ ॥

नासीत् तत्र पुमान् कश्चित् तव सैन्यस्य भारत ।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथंचन ॥ ३३ ॥

भारत ! उस समय आपकी सेनामें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो समरमें शूरवीर अर्जुनका सामना करनेके लिये किसी प्रकार आगे बढ़ सके ॥ ३३ ॥

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते ।
स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धभूमिमें जो-जो वीर अर्जुनकी ओर बढ़ता था, वही-वही उनके पैने बाणोंद्वारा परलोक पहुँचा दिया जाता था ॥ ३४ ॥

तेषु विद्रवमाणेषु तव योधेषु सर्वशः ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर आपके सब योद्धा सब ओर भागने लगे । यह देख अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रेष्ठ शङ्ख बजाये ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव ।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ॥ ३६ ॥

कौरव-सेनाको इस प्रकार भागती देख समरभूमिमें खड़े हुए आपके ताऊ भीष्मने वीरवर आचार्य द्रोणसे मुसकराते हुए-से कहा— ॥ ३६ ॥

एष पाण्डुसुतो वीरः कृष्णेन सहितो बली ।
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद् धनंजयः ॥ ३७ ॥

'यह श्रीकृष्णसहित बलवान् वीर पाण्डुकुमार अर्जुन कौरव-सेनाकी वही दशा कर रहा है, जैसी उसे करनी चाहिये ॥

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथंचन ।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ॥ ३८ ॥

'यह किसी प्रकार भी समरभूमिमें जीता नहीं जा सकता; क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलयकालके यमराज-सा दिखायी दे रहा है ॥ ३८ ॥

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः ।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ॥ ३९ ॥

'यह विशाल सेना इस समय पीछे नहीं लौटायी जा सकती । देखिये, सारे सैनिक एक-दूसरेकी देखा-देखी भागे जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते ।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ॥ ४० ॥

'इधर ये भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंकी ज्योति सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलको जा पहुँचे हैं ॥

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ ।
श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथंचन ॥ ४१ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! मैं इस समय समस्त सैनिकोंको युद्धसे हटा लेना ही उचित समझता हूँ । हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं; अतः इस समय किसी तरह युद्ध नहीं कर सकेंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम् ।
अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ॥ ४२ ॥

आचार्यप्रवर द्रोणसे ऐसा कहकर महारथी भीष्मने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ ४२ ॥

(ततः सरथनागाश्वा जयं प्राप्य ससोमकाः ।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव प्रणेदुश्च पुनः पुनः ॥
प्रययुः शिबिरायैव धनंजयपुरस्कृताः ।
वादित्रघोषैः संहृष्टाः प्रनृत्यन्तो महारथाः ॥)

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित सोमक, पाञ्चाल तथा पाण्डव वीर विजय पाकर बारंबार सिंहनाद करने लगे । वे सभी महारथी विजयसूचक वाद्योंकी ध्वनिके साथ अत्यन्त हर्षमें भरकर नाचने लगे और अर्जुनको आगे करके शिबिरकी ओर चल दिये ॥

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत।
अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् संध्याकाले च वर्तति॥४३॥

भारत ! इस प्रकार सूर्यके अस्ताचलको चले जानेपर संध्याके समय आपकी और पाण्डवोंकी सेनाएँ लौट आयीं ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसावहारे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय युद्धदिवसमें सेनाको लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४५ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत॥ १ ॥

संजयने कहा—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी सेनाओंको युद्धभूमिमें चलनेका आदेश दिया ॥ १ ॥

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा।
पुत्राणां ते जयाकाङ्क्षी भीष्मः कुरुपितामहः॥ २ ॥

उस समय कुरुकुलके पितामह शान्तनुकुमार भीष्मने आपके पुत्रोंको विजय दिलानेकी इच्छासे महान् गरुडव्यूहकी रचना की ॥ २ ॥

गरुडस्य स्वयं तुण्डे पिता देवव्रतस्तव।
चक्षुषी च भरद्वाजः कृतवर्मा च सात्वतः॥ ३ ॥

स्वयं आपके ताऊ भीष्म उस व्यूहके अग्रभागमें चोंचके स्थानपर खड़े हुए। आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रोंके स्थानपर स्थित हुए ॥ ३ ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव शीर्षमास्तां यशस्विनौ।
त्रैगर्तैरथ कैकेयैर्वाटधानैश्च संयुगे॥ ४ ॥

यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरोभागमें खड़े हुए। इनके साथ त्रिगर्त, केकय और वाटधान भी युद्धभूमिमें उपस्थित थे ॥ ४ ॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
मद्रकाः सिन्धुसौवीरास्तथा पाञ्चनदाश्च ये॥ ५ ॥
जयद्रथेन सहिता ग्रीवायां संनिवेशिताः।

आर्य ! भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये जयद्रथके साथ ग्रीवाभागमें खड़े किये गये। इन्हींके साथ मद्र, सिंधु, सौवीर तथा पञ्चनद देशके योद्धा भी थे ॥ ५½ ॥

पृष्ठे दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः॥ ६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजाश्च शकैः सह।
पुच्छमासन् महाराज शूरसेनाश्च सर्वशः॥ ७ ॥

अपने सहोदर भाइयों और अनुचरोंके साथ राजा दुर्योधन पृष्ठभागमें स्थित हुआ। महाराज ! अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा कम्बोज, शक एवं शूरसेनदेशके योद्धा उस महाव्यूहके पुच्छ भागमें खड़े हुए ॥ ६-७ ॥

मागधाश्च कलिङ्गाश्च दासेरकगणैः सह।
दक्षिणं पक्षमासाद्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः॥ ८ ॥

मगध और कलिङ्गदेशके योद्धा दासेरकगणोंके साथ कवच धारण करके व्यूहके दायें पंखके स्थानमें स्थित हुए ॥

कारूषाश्च विकुञ्जाश्च मुण्डाः कुण्डीवृषास्तथा।
बृहद्बलेन सहिता वामं पार्श्वमवस्थिताः॥ ९ ॥

कारूष, विकुञ्ज, मुण्ड और कुण्डीवृष आदि योद्धा राजा बृहद्बलके साथ बायें पंखके स्थानमें खड़े हुए ॥ ९ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं सव्यसाची परंतपः।
धृष्टद्युम्नेन सहितः प्रत्यव्यूहत संयुगे॥ १० ॥
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम्।
दक्षिणं शृङ्गमास्थाय भीमसेनो व्यरोचत॥ ११ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने कौरव-सेनाकी वह व्यूहरचना देखकर युद्धभूमिमें उसका सामना करनेके लिये धृष्टद्युम्नको साथ लेकर अपनी सेनाका अत्यन्त भयंकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया। उसके दक्षिण शिखरपर भीमसेन सुशोभित हुए ॥ १०-११ ॥

नानाशस्त्रौघसम्पन्नैर्नानादेश्यैर्नृपैर्वृतः।
तदन्वेव विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ १२ ॥

उनके साथ नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्पन्न विभिन्न देशोंके नरेश भी थे। भीमसेनके पीछे ही राजा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुए ॥ १२ ॥

तदनन्तरमेवासीन्नीलो नीलायुधैः सह।
नीलादनन्तरश्चैव धृष्टकेतुर्महाबलः॥ १३ ॥

उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकोंके साथ राजा नील और नीलके बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुए ॥ १३ ॥

चेदिकाशिकरूषैश्च पौरवैरपि संवृतः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ १४ ॥
मध्ये सैन्यस्य महतः स्थिता युद्धाय भारत ।
तत्रैव धर्मराजोऽपि गजानीकेन संवृतः ॥ १५ ॥

भारत ! धृष्टकेतुके साथ चेदि, काशी, करूष और पौरव आदि देशोंके सैनिक भी थे । धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पाञ्चाल और प्रभद्रकगण उस विशाल सेनाके मध्यभागमें युद्धके लिये खड़े हुए । हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं थे ॥ १४-१५ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
अभिमन्युस्ततः शूर इरावांश्च ततः परम् ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर सात्यकि और द्रौपदीके पाँचों पुत्र खड़े हुए । इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्युके बाद इरावान् थे ॥ १६ ॥

भैमसेनिस्ततो राजन् केकयाश्च महारथाः ।
ततोऽभूद् द्विपदां श्रेष्ठो वामं पार्श्वमुपाश्रितः ॥ १७ ॥
सर्वस्य जगतो गोप्ता गोप्ता यस्य जनार्दनः ।

नरेश्वर ! इरावान्के बाद भीमसेन-पुत्र घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुए । तत्पश्चात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूहके बायें पार्श्व या शिखरके स्थानमें खड़े हुए, जिनके रक्षक सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ १७½ ॥

एवमेतं महाव्यूहं प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ॥ १८ ॥
वधार्थं तव पुत्राणां तत्पक्षं ये च सङ्गताः ।

इस प्रकार पाण्डवोंने आपके पुत्रों तथा उनके पक्षमें आये हुए अन्यान्य भूपालोंके वधके लिये इस महाव्यूहकी रचना की ॥ १८½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ।

तदनन्तर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ॥ १९½ ॥

हयौघाश्च रथौघाश्च तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २० ॥
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त निघ्नन्तस्ते परस्परम् ।

प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ सब ओर घोड़ों और रथोंके समुदाय एक दूसरेपर टूटते और प्रहार करते दिखायी दे रहे थे ॥ २०½ ॥

धावतां च रथौघानां निघ्नतां च पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
बभूव तुमुलः शब्दो विमिश्रो दुन्दुभिस्वनैः ।
दिवस्पृङ् नरवीराणां निघ्नतामितरेतरम् ।
सम्प्रहारे सुतुमुले तव तेषां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! दौड़ते तथा पृथक्-पृथक् प्रहार करते हुए रथसमूहोंका शब्द दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिलकर और भी भयंकर हो गया । आपके और पाण्डवोंके घमासान युद्धमें परस्पर आघात-प्रत्याघात करनेवाले नरवीरोंका भयानक शब्द आकाशमें व्याप्त हो रहा था ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे परस्परव्यूहरचनायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें परस्पर व्यूहरचनाविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च ।
धनंजयो रथानीकमवधीत् तव भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! आपकी और पाण्डवोंकी पूर्वोक्तरूपसे व्यूहरचना सम्पन्न हो जानेपर अर्जुनने आपके रथियोंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

शरैरतिरथो युद्धे दारयन् रथयूथपान् ।
ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा रणे यत्नात् पाण्डवान् प्रत्ययोधयन् ।

वे अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें रथयूथपतियोंको विदीर्ण करके यमलोक भेज दिया । युगान्तमें कालके समान उस युद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा आपके सैनिकोंका भयंकर विनाश हो रहा था, तो भी वे यत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ २½ ॥

प्रार्थयाना यशो दीप्तं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३ ॥
एकाग्रमनसो भूत्वा पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
बभञ्जुर्बहुशो राजंस्ते चासज्जन्त संयुगे ॥ ४ ॥

वे उज्ज्वल यश प्राप्त करना चाहते थे । अतः यह

निश्चय करके कि अब मृत्यु ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकती है, एकाग्रचित्त होकर युद्धमें डटे रहे। राजन्! उन्होंने युद्धमें ऐसी तत्परता दिखायी कि बार-बार पाण्डव-सेनाको तितर-बितर कर दिया ॥ ३-४ ॥

द्रवद्भिरथ भग्नैश्च परिवर्तद्भिरेव च।
पाण्डवैः कौरवेयैश्च न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

तदनन्तर क्षत-विक्षत होकर भागते और पुनः लौटकर सामना करते हुए पाण्डवों तथा कौरवोंके सैनिकोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं छादयानं दिवाकरम्।
न दिशः प्रदिशो वापि तत्र हन्युः कथं नराः ॥ ६ ॥

भूतलसे इतनी धूल उड़ी कि सूर्यदेव आच्छादित हो गये। दिशा और प्रदिशाका कुछ भी पता नहीं चलता था। वैसी दशामें वहाँ युद्ध करनेवाले लोग कैसे किसीपर प्रहार करें ॥ ६ ॥

अनुमानेन संज्ञाभिर्नामगोत्रैश्च संयुगे।
वर्तते च तथा युद्धं तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! उस रणक्षेत्रमें अनुमानसे, संकेतोंसे तथा नाम और गोत्रोंके उच्चारणसे अपने या पराये पक्षका निश्चय करके जहाँ-तहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ७ ॥

न व्यूहो भिद्यते तत्र कौरवाणां कथंचन।
रक्षितः सत्यसंधेन भारद्वाजेन संयुगे ॥ ८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण कौरवसेनाका व्यूह किसी प्रकार भंग न हो सका ॥ ८ ॥

तथैव पाण्डवानां च रक्षितः सव्यसाचिना।
नाभिद्यत महाव्यूहो भीमेन च सुरक्षितः ॥ ९ ॥

इसी तरह सव्यसाची अर्जुन और भीमसे सुरक्षित पाण्डवोंके महाव्यूहका भी भेदन न हो सका ॥ ९ ॥

सेनाग्रादपि निष्पत्य प्रायुध्यंस्तत्र मानवाः।
उभयोः सेनयो राजन् व्यतिषक्तरथद्विपाः ॥ १० ॥

वहाँ सेनाके अग्रभागसे भी निकलकर (व्यूह छोड़कर) वीर सैनिक युद्ध करते थे। राजन्! दोनों सेनाओंके रथ और हाथी परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

हयारोहैर्हयारोहाः पात्यन्ते स्म महाहवे।
ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च प्रासैरपि च संयुगे ॥ ११ ॥

उस महासमरमें घुड़सवार घुड़सवारोंको चमकीली ऋष्टियों और प्रासोंद्वारा मार गिराते थे ॥ ११ ॥

रथी रथिनमासाद्य शरैः कनकभूषणैः।
पातयामास समरे तस्मिन्नतिभयङ्करे ॥ १२ ॥

वह संग्राम अत्यन्त भयानक हो रहा था। उसमें रथी रथियोंके सामने जाकर उन्हें स्वर्णभूषित बाणोंसे मार गिराते थे ॥ १२ ॥

गजारोहा गजारोहान् नाराचशरतोमरैः।
संसक्तान् पातयामासुस्तव तेषां च सर्वशः ॥ १३ ॥

आपके और पाण्डव-पक्षके हाथीसवार अपनेसे भिड़े हुए विपक्षी हाथीसवारोंको सब ओरसे नाराच, बाण और तोमरोंकी मारसे धराशायी कर देते थे ॥ १३ ॥

कश्चिदुत्पत्य समरे वरवारणमास्थितः।
केशपक्षे परामृश्य जहार समरे शिरः ॥ १४ ॥

कोई योद्धा रणक्षेत्रमें उछलकर बड़े-बड़े हाथियोंपर चढ़ जाता और विपक्षी योद्धाके केशोंको पकड़कर उसका सिर काट लेता था ॥ १४ ॥

अन्ये द्विरददन्ताग्रनिर्भिन्नहृदया रणे।
वेमुश्च रुधिरं वीरा निःश्वसन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥

बहुत-से वीर युद्धस्थलमें हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे अपना हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण सब ओर लंबी साँस खींचते हुए मुखसे रक्त वमन कर रहे थे ॥ १५ ॥

कश्चित् करिविषाणस्थो वीरो रणविशारदः।
प्रावेपच्छक्तिनिर्भिन्नो गजशिक्षास्त्रवेदिना ॥ १६ ॥

कोई रणविशारद वीर हाथीके दाँतोंपर खड़ा होकर युद्ध कर रहा था। इतनेहीमें गजशिक्षा और अस्त्रविद्याके ज्ञाता किसी विपक्षी योद्धाने उसके ऊपर शक्ति चला दी। उस शक्तिके आघातसे वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वह मरणोन्मुख वीर वहीं काँपने लगा ॥ १६ ॥

पत्तिसङ्घा रणे पत्तीन् भिन्दिपालपरश्वधैः।
न्यपातयन्त संहृष्टाः परस्परकृतागसः ॥ १७ ॥

हर्ष और उल्लासमें भरकर एक दूसरेका अपराध करनेवाले पैदलसमूह विपक्षके पैदल सैनिकोंको भिन्दिपाल और फरसोंसे मार-मारकर रणभूमिमें गिरा रहे थे ॥ १७ ॥

रथी च समरे राजन्नासाद्य गजयूथपम्।
सगजं पातयामास गजी च रथिनां वरम् ॥ १८ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें कोई रथी किसी गजयूथपतिसे भिड़ जाता और सवार तथा हाथी दोनोंको मार गिराता था। उसी प्रकार गजारोही भी रथियोंमें श्रेष्ठ वीरका वध कर देता था ॥ १८ ॥

रथिनं च हयारोहः प्रासेन भरतर्षभ।
पातयामास समरे रथी च हयसादिनम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस संग्राममें घुड़सवार रथीको तथा रथी घुड़सवारको प्रासद्वारा मारकर धराशायी कर देता था ॥

पदाती रथिनं संख्ये रथी चापि पदातिनम् ।
न्यपातयच्छितैः शस्त्रैः सेनयोरुभयोरपि ॥ २० ॥

दोनों ही सेनाओंमें पैदल वीर रथीको और रथी योद्धा पैदल सैनिकको अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें मार गिराता था ॥ २० ॥

गजारोहा हयारोहान् पातयाञ्चक्रिरे तदा ।
हयारोहा गजस्थांश्च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

हाथीसवार घुड़सवारोंको और घुड़सवार हाथीसवारोंको युद्धस्थलमें गिरा देते थे । ये घटनाएँ आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती थीं ॥ २१ ॥

गजारोहवरैश्चापि तत्र तत्र पदातयः ।
पातिताः समदृश्यन्त तैश्चापि गजयोधिनः ॥ २२ ॥

उस रणक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ गजारोहियोंद्वारा गिराये हुए पैदल और पैदलोंद्वारा गिराये हुए हाथीसवार दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

पत्तिसङ्घा हयारोहैः सादिसङ्घाश्च पत्तिभिः ।
पात्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २३ ॥

घुड़सवारोंद्वारा पैदलोंके समूह और पैदलोंद्वारा घुड़सवारोंके समूह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २३ ॥

ध्वजैस्तत्रापविद्धैश्च कार्मुकैस्तोमरैस्तथा ।
प्रासैस्तथा गदाभिश्च परिघैः कम्पनैस्तथा ॥ २४ ॥
शक्तिभिः कवचैश्चित्रैः कणपैरङ्कुशैरपि ।
निस्त्रिंशैर्विमलैश्चापि स्वर्णपुङ्खैः शरैस्तथा ॥ २५ ॥
परिस्तोमैः कुथाभिश्च कम्बलैश्च महाधनैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ स्रग्दामैरिव चित्रिता ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ इधर-उधर गिरे हुए ध्वज, धनुष, तोमर, प्रास, गदा, परिघ, कम्पन, शक्ति, विचित्र कवच, कणप, अङ्कुश, चमचमाते हुए खड्ग, सुवर्णमय पाँखवाले बाण, झूल, गद्दी और बहुमूल्य कम्बलोंद्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि भाँति-भाँतिके पुष्पहारोंसे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थी ॥ २४—२६ ॥

नराश्वकायैः पतितैर्दन्तिभिश्च महाहवे ।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ २७ ॥

उस महासमरमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं । मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी । वहाँकी भूमिमें जाना असम्भव हो गया था ॥ २७ ॥

प्रशशाम रजो भौमं व्युक्षितं रणशोणितैः ।
दिशश्च विमलाः सर्वाः सम्बभूवुर्जनेश्वर ॥ २८ ॥

जनेश्वर ! रणभूमिमें बहे हुए रक्तसे सिंचकर धरतीकी धूल बैठ गयी और सारी दिशाएँ साफ हो गयीं ॥ २८ ॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
चिह्नभूतानि जगतो विनाशार्थाय भारत ॥ २९ ॥

भारत ! उस समय जगत्के विनाशको सूचित करनेवाले असंख्य कबन्ध चारों ओर उठने लगे ॥ २९ ॥

तस्मिन् युद्धे महारौद्रे वर्तमाने सुदारुणे ।
प्रत्यदृश्यन्त रथिनो धावमानाः समन्ततः ॥ ३० ॥

उस अत्यन्त दारुण और महाभयंकर युद्धमें रथी योद्धा चारों ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ ३० ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः शल्यश्चापि ससौबलः ॥ ३१ ॥
एते समरदुर्धर्षाः सिंहतुल्यपराक्रमाः ।
पाण्डवानामनीकानि बभञ्जुः स्म पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भीष्म, द्रोण, सिन्धुराज जयद्रथ, पुरुमित्र, जय, भोज, शल्य और शकुनि—ये सिंहतुल्य पराक्रमी रण-दुर्जय वीर पाण्डवोंकी सेनाको बार-बार भंग करने लगे ३१-३२

तथैव भीमसेनोऽपि राक्षसश्च घटोत्कचः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ३३ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च सहितान् सर्वराजभिः ।
द्रावयामासुराजौ ते त्रिदशा दानवानिव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! इसी प्रकार भीमसेन, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब मिलकर जैसे देवता दानवोंको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त राजाओंसहित आपके पुत्रों और सैनिकोंको रणभूमिमें भगाने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तथा ते समरेऽन्योन्यं निघ्नन्तः क्षत्रियर्षभाः ।
रक्तोक्षिता घोररूपा विरेजुर्दानवा इव ॥ ३५ ॥

संग्रामभूमिमें एक दूसरेको मारते हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर रक्तरंजित हो भयानक रूपधारी दानवोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३५ ॥

विनिर्जित्य रिपून् वीराः सेनयोरुभयोरपि ।
व्यदृश्यन्त महामात्रा ग्रहा इव नभस्तले ॥ ३६ ॥

दोनों सेनाओंके वीर शत्रुओंको जीतकर आकाशमें फैले हुए विशाल ग्रहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

ततो रथसहस्रेण पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन सहस्रों रथियोंके साथ पाण्डववंशी राक्षस घटोत्कचके साथ युद्ध करनेके लिये वहाँ आया ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे महत्या सेनया सह ।
द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ प्रत्युद्ययुररिंदमौ ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार विशाल सेनाके साथ समस्त पाण्डव भी युद्धके लिये तैयार खड़े हुए शत्रुदमन द्रोणाचार्य और भीष्मसे भिड़नेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान् ।
आर्जुनिः सात्यकिश्चैव ययतुः सौबलं बलम् ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हुए श्रेष्ठ राजाओंका सामना करनेके लिये चले । अभिमन्यु और सात्यकिने शकुनिकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो लोमहर्षणः ।
तावकानां परेषां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार युद्धमें विजय चाहनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ गया ४०

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे संकुलयुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धसम्बन्धी तीसरे दिनका घमासान युद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! तदनन्तर वे समस्त भूपाल समरभूमिमें अर्जुनको देखते ही कुपित हो उठे और उन्होंने अनेक सहस्र रथियोंके साथ उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत ।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! उन राजाओंने रथसमूहद्वारा अर्जुनको सब ओरसे वेष्टित करके उनके ऊपर अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

शक्तीश्च विमलास्तीक्ष्णा गदाश्च परिघैः सह ।
प्रासान् परश्वधांश्चैव मुद्गरान् मुसलानपि ॥ ३ ॥
चिक्षिपुः समरे क्रुद्धाः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

वे क्रोधमें भरकर युद्धमें अर्जुनके रथपर चमचमाती हुई शक्ति, दुःसह गदा, परिघ, प्रास, फरसे, मुद्गर और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम् ॥ ४ ॥
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः ।

शलभोंकी श्रेणीके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी उस वर्षाको अर्जुनने स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा सब ओरसे रोक दिया ॥४½॥

तत्र तल्लाघवं दृष्ट्वा बीभत्सोरतिमानुषम् ॥ ५ ॥
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
साधु साध्विति राजेन्द्र फाल्गुनं प्रत्यपूजयन् ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनकी वह अलौकिक फुर्ती देख देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस साधु-साधु (वाह-वाह) कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५-६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ ।
गान्धारान् समरे शूराञ्जग्मतुः सहसौबलान् ॥ ७ ॥

उधर विशाल सेनासे घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्युने समर-भूमिमें सुबलके पुत्रोंसहित गान्धारदेशीय शूरवीरोंपर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

तत्र सौबलकाः क्रुद्धा वार्ष्णेयस्य रथोत्तमम् ।
तिलशश्चिच्छिदुः क्रोधाच्छस्त्रैर्नानाविधैर्युधि ॥ ८ ॥

वहाँ जाते ही क्रोधमें भरे हुए सुबलपुत्रोंने युद्ध-स्थलमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सात्यकिके श्रेष्ठ रथको रोषपूर्वक तिल-तिल करके काट डाला ॥ ८ ॥

सात्यकिस्तु रथं त्यक्त्वा वर्तमाने भयावहे ।
अभिमन्यो रथं तूर्णमारुरोह परंतपः ॥ ९ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि उस समय छिड़े हुए भयंकर संग्राममें अपने टूटे हुए रथको त्यागकर तुरंत ही अभिमन्युके रथपर जा बैठे ॥ ९ ॥

तावेकरथसंयुक्तौ सौबलेयस्य वाहिनीम् ।
व्यधमेतां शितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥

फिर एक ही रथपर बैठे हुए वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठवाले पैने बाणोंसे तुरंत ही सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १० ॥

द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ धर्मराजस्य वाहिनीम् ।
नाशयेतां शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार एक ओरसे आकर युद्धके लिये सदा उद्यत

रहनेवाले द्रोणाचार्य और भीष्मने कङ्कपक्षीके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ ११ ॥

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
मिषतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेवने समस्त सेनाओंके देखते-देखते द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ १२ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीत् सुदारुणम् ॥ १३ ॥

जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ था, उसी प्रकार वहाँ अत्यन्त भयानक रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ ।
(दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम्।)
दुर्योधनस्ततोऽभ्येत्य तावुभावप्यवारयत् ॥ १४ ॥

दूसरी ओर भीमसेन और घटोत्कचने महान् पराक्रमका परिचय देते हुए दुर्योधनकी विशाल वाहिनीको खदेड़ना आरम्भ किया। उस समय दुर्योधनने सामने आकर उन दोनोंको रोक दिया ॥ १४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम हैडिम्बस्य पराक्रमम् ।
अतीत्य पितरं युद्धे यदयुध्यत भारत ॥ १५ ॥

भारत ! वहाँ हमने हिडिम्बापुत्र घटोत्कचका अद्भुत पराक्रम देखा। वह रणक्षेत्रमें पितासे भी बढ़कर पुरुषार्थ प्रकट करते हुए युद्ध कर रहा था ॥ १५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो दुर्योधनममर्षणम् ।
हृद्यविध्यत् पृषत्केन प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ १६ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनने हँसते हुए-से एक बाण मारकर अमर्षशील दुर्योधनकी छाती छेद डाली। १६।

ततो दुर्योधनो राजा प्रहारवरपीडितः ।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ॥ १७ ॥

तब उस बाणके गहरे आघातसे पीड़ित हो राजा दुर्योधन रथकी बैठकमें बैठ गया और उसे मूर्च्छा आ गयी ॥ १७ ॥

तं विसंज्ञं विदित्वा तु त्वरमाणोऽस्य सारथिः।
अपोवाह रणाद् राजंस्ततः सैन्यमभज्यत ॥ १८ ॥

राजन् ! उसे संज्ञाशून्य जानकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया। फिर तो उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ १८ ॥

ततस्तां कौरवीं सेनां द्रवमाणां समन्ततः ।
निघ्नन् भीमः शरैस्तीक्ष्णैरनुवव्राज पृष्ठतः ॥ १९ ॥

तब चारों ओर भागती हुई उस कौरव-सेनापर तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए भीमसेन उसे पीछे-से खदेड़ने लगे ॥ १९ ॥

पार्षतश्च रथश्रेष्ठो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।
द्रोणस्य पश्यतः सैन्यं गाङ्गेयस्य च पश्यतः ॥ २० ॥
जघ्नतुर्विशिखैस्तीक्ष्णैः परानीकविनाशनैः ।

दूसरी ओरसे रथियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य और भीष्मके देखते-देखते कौरव-सेनाको पीडित करते हुए उसका पीछा करने लगे ॥ २०½ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं तव पुत्रस्य संयुगे ॥ २१ ॥
नाशक्नुतां वारयितुं भीष्मद्रोणौ महारथौ ।

महाराज ! उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रकी भागती हुई सेनाको महारथी द्रोण और भीष्म भी रोक न सके ॥२१½॥

वार्यमाणं च भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २२ ॥
विद्रवत्येव तत् सैन्यं पश्यतोर्द्रोणभीष्मयोः ।

महामना भीष्म और द्रोणके रोकनेपर भी उनके सामने ही वह सेना भागती ही चली जा रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रथसहस्रेषु विद्रवत्सु ततस्ततः ॥ २३ ॥
तावास्थितावेकरथं सौभद्रशिनिपुङ्गवौ ।
सौबलीं समरे सेनां शातयेतां समन्ततः ॥ २४ ॥

उधर सहस्रों रथी जब इधर-उधर भाग रहे थे, उसी समय एक रथपर बैठे हुए अभिमन्यु और सात्यकि सुबल-पुत्रकी सेनाका संग्रामभूमिमें सब ओरसे संहार करने लगे ॥

शुशुभाते तदा तौ तु शैनेयकुरुपुङ्गवौ ।
अमावास्यां गतौ यद्वत् सोमसूर्यौ नभस्तले ॥ २५ ॥

उस अवसरपर (एक रथमें बैठे हुए) सात्यकि और अभिमन्यु उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे अमावास्या तिथिको आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा एक ही स्थानमें सुशोभित होते हैं ॥ २५ ॥

अर्जुनस्तु ततः क्रुद्धस्तव सैन्यं विशाम्पते।
ववर्ष शरवर्षेण धाराभिरिव तोयदः ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुन आपकी सेनापर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है ॥ २६ ॥

वध्यमानं ततस्तत्र शरैः पार्थस्य संयुगे ।
दुद्राव कौरवं सैन्यं विषादभयकम्पितम् ॥ २७ ॥

तब पार्थके बाणोंसे संग्राम-भूमिमें पीड़ित हुई कौरव-सेना विषाद और भयसे काँपती हुई इधर-उधर भाग चली। २७।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ॥ २८ ॥

उन योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनका हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे ॥२८॥

ततो दुर्योधनो राजा समाश्वस्य विशाम्पते ।
न्यवर्तयत तत् सैन्यं द्रवमाणं समन्ततः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसी बीचमें राजा दुर्योधनकी मूर्छा दूर हो गयी और उसने आश्वस्त होकर चारों ओर भागती हुई सेनाको पुनः लौटाया ॥ २९ ॥

यत्र यत्र सुतस्तुभ्यं यं यं पश्यति भारत ।
तत्र तत्र न्यवर्तन्त क्षत्रियाणां महारथाः ॥ ३० ॥

भारत ! आपका पुत्र दुर्योधन जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी ओर दृष्टिपात करता, वहीं-वहींसे ऐसे योद्धा भी लौट आते थे जो क्षत्रियोंमें महारथी थे ॥ ३० ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव ततोऽन्येऽपीतरे जनाः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजल्लँज्जया चावतस्थिरे ॥ ३१ ॥

राजन् ! उन सबको लौटते देख दूसरे लोग भी एक दूसरेकी स्पर्धा तथा लज्जाके कारण ठहर गये ॥ ३१ ॥

पुनरावर्ततां तेषां वेग आसीद् विशाम्पते ।
पूर्यतः सागरस्येव चन्द्रस्योदयनं प्रति ॥ ३२ ॥

महाराज ! पुनः लौटते हुए उन योद्धाओंका महान् वेग चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था॥

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ॥ ३३ ॥

तब उन सबको लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरंत ही शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जाकर बोला—॥ ३३ ॥

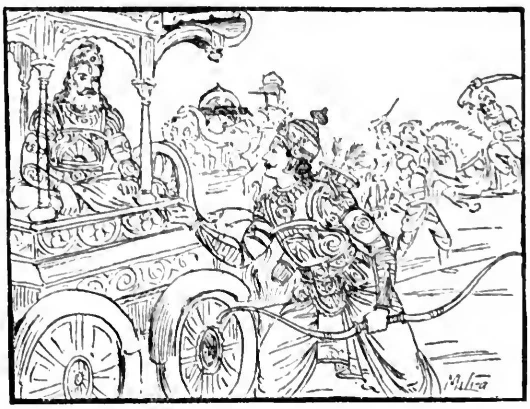

पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ॥ ३४ ॥
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने ।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ॥ ३५ ॥

'पितामह भरतनन्दन ! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये । कुरुनन्दन ! आपके, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके और महाधनुर्धर कृपाचार्यके पुत्रों और सुहृदोंसहित जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं आपलोगोंके योग्य नहीं मानता हूँ ॥ ३४-३५ ॥

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथंचन ।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥ ३६ ॥

'मैं किसी तरह यह नहीं मान सकता कि पाण्डव संग्राममें आपके, द्रोणाचार्यके, कृपाचार्यके और अश्वत्थामाके समान बलवान् हैं ॥ ३६ ॥

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह ।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ॥ ३७ ॥

'वीर पितामह ! निश्चय ही पाण्डव आपके कृपापात्र हैं, तभी तो मेरी सेनाका वध हो रहा है और आप चुपचाप इसकी दुर्दशाको सहते चले जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे ।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ॥३८॥

'महाराज ! यदि पाण्डवोंपर दया ही करनी थी तो आप युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही मुझे यह बता देते कि मैं संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्रोंसे, धृष्टद्युम्नसे और सात्यकिसे भी युद्ध नहीं करूँगा ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तुभ्यमाचार्यस्य कृपस्य च ।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ॥ ३९ ॥

'उस अवस्थामें आपका, आचार्यका तथा कृपका वचन सुनकर मैं कर्णके साथ उसी समय अपने कर्तव्यका निश्चय कर लेता ॥ ३९ ॥

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे ।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ॥ ४० ॥

'यदि युद्धमें आप दोनोंको मेरा परित्याग करना उचित नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये' ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः ।
अब्रवीत् तनयं तुभ्यं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥ ४१ ॥

यह सुनकर भीष्म बारंबार हँसकर क्रोधसे आँखें तरेरते हुए आपके पुत्रसे बोले—॥ ४१ ॥

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः ।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ॥ ४२ ॥

'राजन् ! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और हितकी बात बतायी है कि युद्धमें पाण्डवोंको इन्द्र आदि देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ४२ ॥

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम ।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षेदानीं सबान्धवः ॥ ४३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! तो भी मुझ वृद्धके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा । तुम इस समय अपने भाइयोंसहित देखो ॥ ४३ ॥

अद्य पाण्डुसुतानेकः ससैन्यान् सह बन्धुभिः ।
सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४४ ॥

'आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा' ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर ।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र आनन्द-मग्न होकर जोर-जोरसे शङ्ख बजाने और डंका पीटने लगे ॥

पाण्डवा हि ततो राजञ्श्रुत्वा तं निनदं महत् ।
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च मुरजांश्चाप्यनादयन् ॥ ४६ ॥

राजन् ! उनका वह महान् शङ्खनाद सुनकर पाण्डव वीर शङ्ख बजाने तथा नगारे और ढोल पीटने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तृतीय युद्धदिवसमें भीष्म और दुर्योधनका संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरवसेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते ततस्तस्मिन् युद्धे भीष्मेण दारुणे ।
क्रोधितो मम पुत्रेण दुःखितेन विशेषतः ॥ १ ॥
भीष्मः किमकरोत् तत्र पाण्डवेयेषु संयुगे ।
पितामहे वा पञ्चालास्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस भयंकर युद्धमें जब भीष्मने मेरे विशेष दुखी हुए पुत्रके क्रोध दिलानेपर प्रतिज्ञा कर ली, तब उन्होंने उस युद्धस्थलमें पाण्डवोंके प्रति क्या किया ? तथा पाञ्चाल योद्धाओंने पितामह भीष्मके प्रति क्या किया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
पश्चिमां दिशमास्थाय स्थिते चापि दिवाकरे ॥ ३ ॥
जयं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ॥ ४ ॥
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
महत्या सेनया गुप्तस्तव पुत्रैश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

संजयने कहा—भारत ! उस दिन जब पूर्वाह्णकालका अधिक भाग व्यतीत हो गया, सूर्यदेव पश्चिम दिशामें जाकर स्थित हुए और विजयको प्राप्त हुए महामना पाण्डव खुशी मनाने लगे, उस समय सब धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ भीष्मजीने वेगशाली अश्वोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया । उनके साथ विशाल सेना चली और आपके पुत्र सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३–५ ॥

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ॥ ६ ॥

भारत ! तदनन्तर आपके अन्यायसे हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम होने लगा ॥६॥

धनुषां कूजतां तत्र तलानां चाभिहन्यताम् ।
महान् समभवच्छब्दो गिरीणामिव दीर्यताम् ॥ ७ ॥

उस समय वहाँ धनुषोंकी टङ्कार तथा हथेलियोंके आघात-से पर्वतोंके विदीर्ण होनेके समान बड़े जोरसे शब्द होता था॥

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्ध्येनं निवर्तस्व स्थिरो भव ।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिर भावसे रहो, हाँ-हाँ स्थिरभावसे ही हूँ, तुम प्रहार करो' ऐसे शब्द सब ओर सुनायी पड़ते थे ॥ ८ ॥

काञ्चनेषु तनुत्रेषु किरीटेषु ध्वजेषु च ।
शिलानामिव शैलेषु पतितानामभूद् ध्वनिः ॥ ९ ॥

जब सोनेके कवचों, किरीटों और ध्वजोंपर योद्धाओंके अस्त्र-शस्त्र टकराते, तब उनसे पर्वतोंपर गिरकर टकरानेवाली शिलाओंके समान भयानक शब्द होता था ॥ ९ ॥

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः ।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

सैनिकोंके सैकड़ों-हजारों मस्तक तथा स्वर्णभूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने और तड़पने लगीं ॥ १० ॥

हृतोत्तमाङ्गाः केचित् तु तथैवोद्यतकार्मुकाः ।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ॥ ११ ॥

कितने ही पुरुषशिरोमणि वीरोंके मस्तक तो कट गये, परंतु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये ॥ ११ ॥

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी।
मातङ्गाङ्गशिला रौद्रा मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ॥ १३ ॥

रणक्षेत्रमें बड़े वेगसे रक्तकी नदी बह चली, जो देखनेमें बड़ी भयानक थी। हाथियोंके शरीर उसके भीतर शिलाखण्डों-के समान जान पड़ते थे। खून और मांस कीचड़के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंसे ही वह नदी निकली थी और परलोकरूपी समुद्रकी ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांसकी नदी गीधों और गीदड़ोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी ॥ १२-१३ ॥

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ॥ १४ ॥

भारत! नरेश्वर! पाण्डवों और आपके पुत्रोंका उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ १४ ॥

नासीद् रथपथस्तत्र योधैर्युधि निपातितैः।
गजैश्च पतितैर्नीलैर्गिरिशृङ्गैरिवावृतः ॥ १५ ॥

वहाँ युद्धस्थलमें गिराये हुए योद्धाओं तथा पर्वतके श्याम शिखरोंके समान पड़े हुए हाथियोंसे अवरुद्ध हो जानेके कारण रथोंके आने-जानेके लिये रास्ता नहीं रह गया था ॥ १५ ॥

विकीर्णैः कवचैश्चित्रैः शिरस्त्राणैश्च मारिष।
शुशुभे तद् रणस्थानं शरदीव नभस्तलम् ॥ १६ ॥

माननीय महाराज! इधर-उधर बिखरे हुए विचित्र कवचों तथा शिरस्त्राणों (लोहेके टोपों) से वह रणभूमि शरद्-ऋतुमें तारिकाओंसे विभूषित आकाशकी भाँति शोभा पाने लगी ॥ १६ ॥

विनिर्भिन्नाः शरैः केचिदन्त्रापीडप्रकर्षिणः।
अभीताः समरे शत्रूनभ्यधावन्त दर्पिताः ॥ १७ ॥

कुछ वीर बाणोंसे विदीर्ण होकर आँतोंमें उठनेवाली पीड़ासे अत्यन्त कष्ट पानेपर भी समरभूमिमें निर्भय तथा दर्प-युक्त भावसे शत्रुओंकी ओर दौड़ रहे थे ॥ १७ ॥

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल।
मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ॥ १८ ॥

कितने ही योद्धा रणभूमिमें गिरकर इस प्रकार आर्त-भावसे स्वजनोंको पुकार रहे थे—'तात! भ्रातः! सखे! बन्धो! मेरे मित्र! मेरे मामा! मुझे छोड़कर न जाओ' ॥

अथाभ्येहि त्वमागच्छ किं भीतोऽसि क यास्यसि।
स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ॥ १९ ॥

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—'अरे आओ, मेरे पास आओ, क्यों डरे हुए हो? कहाँ जाओगे? मैं संग्राममें डटा हुआ हूँ। तुम भय न करो' ॥ १९ ॥

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ २० ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको मण्डलाकार करके विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणोंकी निरन्तर वर्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्य भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे व्याप्त करते हुए पाण्डव-पक्षीय रथियोंको अपना नाम सुना-सुनाकर मारने लगे ॥ २१ ॥

स नृत्यन् वै रथोपस्थे दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अलातचक्रवद् राजंस्तत्र तत्र स्म दृश्यते ॥ २२ ॥

राजन्! उस समय भीष्म अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रहे थे। घूमते हुए अलात-चक्रकी भाँति वे यत्र-तत्र सर्वत्र दिखायी देने लगे ॥ २२ ॥

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृंजयैः सह।
अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ॥ २३ ॥

युद्धमें शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयों-सहित पाण्डवोंको वे अपनी फुर्तीके कारण कई लाख व्यक्तियों-के समान दिखायी दिये ॥ २३ ॥

मायाकृतात्मानमिव भीष्मं तत्र स्म मेनिरे।
पूर्वस्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्रतीच्यां ददृशुर्जनाः ॥ २४ ॥

लोगोंको ऐसा मालूम हो रहा था कि रणक्षेत्रमें भीष्मजीने मायासे अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट कर लिया है। जिन लोगोंने उन्हें पूर्वदिशामें देखा था, उन्हीं लोगोंको आँख फिरते ही वे पश्चिममें दिखायी दिये ॥ २४ ॥

उदीच्यां चैवमालोक्य दक्षिणस्यां पुनः प्रभो।
एवं स समरे शूरो गाङ्गेयः प्रत्यदृश्यत ॥ २५ ॥

प्रभो! बहुतोंने उन्हें उत्तर दिशामें देखकर तत्काल ही दक्षिण दिशामें भी देखा। इस प्रकार समरभूमिमें वे शूरवीर गङ्गानन्दन भीष्म सब ओर दिखायी दे रहे थे ॥ २५ ॥

न चैवं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति वीक्षितुम्।
विशिखानेव पश्यन्ति भीष्मचापच्युतान् बहून् ॥ २६ ॥

पाण्डवोंमेंसे कोई भी उन्हें देख नहीं पाता था। सब लोग भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंको ही देखते थे ॥ २६ ॥

कुर्वाणं समरे कर्म सूदयानं च वाहिनीम्।
व्याक्रोशन्त रणे तत्र नरा बहुविधा बहु ॥ २७ ॥
अमानुषेण रूपेण चरन्तं पितरं तव।

उस समय रणक्षेत्रमें अद्भुत कर्म करते हुए आपके ताऊ भीष्म अमानुषरूपसे विचरते तथा पाण्डवसेनाका संहार करते थे। वहाँ अनेक प्रकारके मनुष्य उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥ २७½ ॥

शलभा इव राजानः पतन्ति विधिचोदिताः ॥ २८ ॥
भीष्माग्निमभिसंक्रुद्धं विनाशाय सहस्रशः।

वहाँ विधातासे प्रेरित होकर पतंगोंके समान सहस्रों राजा क्रोधमें भरे हुए भीष्मरूपी प्रचण्ड अग्निमें अपने विनाशके लिये स्वयं ही आ गिरते थे ॥ २८½ ॥

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे ॥ २९ ॥
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः।

युद्धमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके शरीरोंपर चलाया हुआ भीष्मका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं होता था। एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्तीसे चलाते थे ॥ २९½ ॥

(प्रच्छादयञ्शरान् भीष्मो निशितान् कङ्कपत्रिणः।)
भिनत्त्येकेन बाणेन सुमुखेन पतत्त्रिणा ॥ ३० ॥
गजकण्टकसंनद्धं वज्रेणेव शिलोच्चयम्।

भीष्म कंकपत्रसे युक्त बहुसंख्यक तीखे बाणोंको युद्धमें बिखेर रहे थे। वे एक ही पंखयुक्त सीधे बाणसे लोहेकी झूलसे युक्त हाथीको भी विदीर्ण कर डालते थे। जैसे इन्द्र महान् पर्वतको अपने वज्रसे विदीर्ण कर देते हैं ॥ ३०½ ॥

द्वौ त्रीनपि गजारोहान् पिण्डितान् वर्मितानपि॥ ३१ ॥
नाराचेन सुमुक्तेन निजघान पिता तव।

आपके ताऊ भीष्म अच्छी तरहसे छोड़े हुए एक ही नाराचके द्वारा एक जगह बैठे हुए दो-तीन हाथी-सवारोंको कवच धारण किये होनेपर भी छेद डालते थे ॥

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन ॥ ३२ ॥
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते।

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्मके सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्तमें खड़ा दिखायी देकर उसी क्षण धरतीपर लोटता दिखायी देता था ॥ ३२½ ॥

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः ॥ ३३ ॥
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा।

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्मके द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिरकी वह विशाल वाहिनी सहस्रों भागोंमें बिखर गयी ॥ ३३½ ॥

प्राकम्पत महासेना शरवर्षेण तापिता ॥ ३४ ॥
पश्यतो वासुदेवस्य पार्थस्याथ शिखण्डिनः।

उनकी बाण-वर्षासे संतप्त हो पाण्डवोंकी वह महती सेना श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डीके देखते-देखते काँपने लगी॥

वर्तमानाऽपि ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ ३५ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान्।

वे सब वीर वहाँ मौजूद होते हुए भी भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३५½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ ३६ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः।

महाराज ! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मकी मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी एक साथ नहीं भाग सकते थे ॥ ३६½ ॥

आविद्धनरनागाश्वं पतितध्वजकूबरम् ॥ ३७ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम्।

मनुष्य, हाथी और घोड़े सभी बाणोंसे छिद गये थे। रथके ध्वज और कूबर टूटकर गिर चुके थे। इस प्रकार पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ ३८ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः।

इस युद्धमें दैवके वशीभूत होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्रिय मित्रको मार डाला ॥ ३८½ ॥

विमुच्य कवचान्यन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३९ ॥
विमुक्तकेशा धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त भारत।

भारत ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके बहुत-से सैनिक कवच खोलकर बाल बिखेरे इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथयूथपम् ॥ ४० ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा।
प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ४१ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम्।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी वह सेना व्याकुल होकर भटकती हुई गौओंके समूहकी भाँति आर्तस्वरसे हाहाकार करती हुई देखी गयी। कितने ही रथयूथपति भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूम रहे थे। अपनी सेनामें इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कहा— ॥ ४०-४१½ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकाङ्क्षितः॥ ४२ ॥
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे।

'पुरुषसिंह ! जिसकी तुम दीर्घकालसे अभिलाषा करते थे, वही यह अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोहसे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो ॥

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ॥ ४३ ॥
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे॥ ४४॥

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम।
बीभत्सो पश्य सैन्यं स्वं भज्यमानं ततस्ततः ॥ ४५ ॥

वीर! पहले राजाओंकी मण्डलीमें तुमने जो यह कहा था कि 'जो मेरे साथ संग्रामभूमिमें उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकोंको मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा।' शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन! अपनी उस बातको सत्य कर दिखाओ। अर्जुन! देखो, तुम्हारी सेना इधर-उधर भाग रही है ॥ ४३–४५ ॥

द्रवतश्च महीपालान् पश्य यौधिष्ठिरे बले।
दृष्ट्वा हि भीष्मं समरे व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ४६ ॥
भयार्ताः प्रपलायन्ते सिंहात् क्षुद्रमृगा इव।

'समरभूमिमें मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मको देखकर युधिष्ठिरकी सेनामें भागते हुए इन राजाओंकी ओर दृष्टिपात करो। ये सिंहसे डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भाँति भयसे आतुर होकर पलायन कर रहे हैं' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वासुदेवं धनंजयः ॥ ४७ ॥
नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाह्यैतद् बलार्णवम्।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ४८ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! इन घोड़ोंको हाँककर वहीं ले चलिये, जहाँ भीष्म मौजूद हैं। इस सेनारूपी समुद्रमें प्रवेश कीजिये। आज मैं कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्म-को रथसे नीचे गिरा दूँगा' ॥ ४७-४८ ॥

संजय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ॥ ४९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके चाँदीके समान सफेद घोड़ोंको उसी दिशाकी ओर हाँका, जिस ओर भीष्मजीका रथ विद्यमान था। सूर्यकी भाँति उस रथकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत्।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥ ५० ॥

उस समय महाबाहु अर्जुनको समरभूमिमें भीष्मसे लोहा लेनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ५० ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५१ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर भीष्म सिंहके समान बारंबार गर्जना करते हुए अर्जुनके रथपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५१ ॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः।
शरवर्षेण महता संछन्नो न प्रकाशते ॥ ५२ ॥

उस महान् बाणवर्षासे एक ही क्षणमें घोड़े और सारथि-सहित आच्छादित होकर अर्जुनका रथ किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्त्ववान्।
चोदयामास तानश्वान् विचितान् भीष्मसायकैः ॥ ५३ ॥

परंतु शक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण तनिक भी घबराहटमें न पड़कर धैर्यका सहारा ले उन घोड़ोंको हाँकते रहे। यद्यपि भीष्मके बाण उन अश्वोंके सभी अङ्गोंमें धँसे हुए थे ॥ ५३ ॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम्।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा त्रिभिः शरैः ॥ ५४ ॥

तब अर्जुनने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीन बाणोंसे भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ५४ ॥

स छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥ ५५ ॥

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्मने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम्।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥ ५६ ॥

फिर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुषको दोनों हाथोंसे खींचा। इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट डाला ॥ ५६ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥ ५७ ॥
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनंजय।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥ ५८ ॥

अर्जुनकी इस फुर्तीको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी प्रशंसा की और कहा—'महाबाहु कुन्तीकुमार! तुम्हें साधुवाद। पाण्डुनन्दन! धन्यवाद। बेटा! तुम्हारी इस फुर्तीसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। धनंजय! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है। तुम मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ५७-५८ ॥

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करके फिर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर वीर भीष्मने युद्धस्थलमें उनके रथकी ओर बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ५९ ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम्।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें अपने उत्तम बलका परिचय दिया। वे भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ रथको मण्डलाकार चलाने लगे ॥ ६० ॥

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनंजयौ ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ॥ ६१ ॥

भारत ! तथापि भीष्मने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें अपने पैने बाणोंसे गहरे आघात किये ॥ ६१ ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणैर्लिखिताङ्कितौ ॥ ६२ ॥

भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वे नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रोधमें भरे हुए उन दो साँड़ोंके समान सुशोभित हुए, जिनके सम्पूर्ण शरीरमें सींगोंके आघातसे बहुत-से घाव हो गये हों ॥ ६२ ॥

पुनश्चापि सुसंरब्धः शरैः शतसहस्रशः ।
कृष्णयोर्युधि संरब्धो भीष्मोऽथावारयद् दिशः॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् रोषावेशमें भरे हुए भीष्मने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित एवं अवरुद्ध कर दिया ॥ ६३ ॥

वार्ष्णेयं च शरैस्तीक्ष्णैः कम्पयामास रोषितः ।
मुहुरभ्यर्दयन् भीष्मः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ६४ ॥

इतना ही नहीं, रोषमें भरे हुए भीष्मने जोर-जोरसे हँसकर अपने तीखे बाणोंसे बारंबार पीड़ित करते हुए वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्णको कम्पित-सा कर दिया ॥ ६४ ॥

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम् ।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ६५ ॥
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ॥ ६६ ॥
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने उस समराङ्गणमें भीष्मका पराक्रम देखकर यह विचार किया कि अर्जुन तो कोमलता-पूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म युद्धस्थलमें निरन्तर बाणों-की वर्षा कर रहे हैं । ये दोनों सेनाओंके बीचमें आकर तपते हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित होते और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अच्छे-अच्छे सैनिकोंको चुन-चुनकर मार रहे हैं । युधिष्ठिरकी सेनामें भीष्मने प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है॥

अमृष्यमाणो भगवान् केशवः परवीरहा ।
अचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ६८ ॥
एकाह्ना हि रणे भीष्मो नाशयेद् देवदानवान् ।
किं नु पाण्डुसुतान् युद्धे सबलान् सपदानुगान्॥ ६९ ॥

यह सब देख और सोचकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके । उन्होंने मन ही-मन विचार किया कि युधिष्ठिरकी सेनाका अस्तित्व मिटना चाहता है । भीष्म रणभूमिमें एक ही दिनमें सम्पूर्ण देवताओं और दानवोंका नाश कर सकते हैं । फिर सेना और सेवकोंसहित पाण्डवोंको युद्धमें परास्त करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ६८-६९ ॥

द्रवते च महासैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः ।
एते च कौरवास्तूर्णं प्रभग्नान् वीक्ष्य सोमकान् ॥ ७० ॥
प्राद्रवन्ति रणे दृष्ट्वा हर्षयन्तः पितामहम् ।
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः ॥ ७१ ॥

महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी यह विशाल सेना भागी जा रही है और ये कौरवलोग रणक्षेत्रमें सोमकोंको शीघ्रता-पूर्वक भागते देख पितामहका हर्ष बढ़ाते हुए उन्हें खदेड़ रहे हैं; अतः आज पाण्डवोंके लिये कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्मको मारे डालता हूँ ॥ ७०-७१ ॥

भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ॥ ७२ ॥
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात् ।

महामना पाण्डवोंके इस भारी भारको मैं ही दूर करूँगा । अर्जुन इस युद्धमें तीखे बाणोंकी मार खाकर भी भीष्मके प्रति गौरवबुद्धि रखनेके कारण अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहा है ॥ ७२½ ॥

तथा चिन्तयतस्तस्य भूय एव पितामहः ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ७३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार चिन्तन करते समय अत्यन्त कुपित हुए पितामह भीष्मने अर्जुनके रथपर पुनः बहुत-से बाण चलाये ॥ ७३ ॥

तेषां बहुत्वात् तु भृशं शराणां
दिशश्च सर्वाः पिहिता बभूवुः ।
न चान्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रश्मिमाली ।
ववुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वाः क्षुभिता बभूवुः ॥ ७४ ॥

उन बाणोंकी अत्यधिकताके कारण उनसे सम्पूर्ण दिशाएँ आच्छादित हो गयीं । न आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ; न तो भूमि दिखायी देती थी और न मरीचिमाली भगवान् भास्करका ही दर्शन होता था । उस समय धूमयुक्त भयंकर हवा चलने लगी । सम्पूर्ण दिशाएँ क्षुब्ध हो उठीं ॥

द्रोणो विकर्णोऽथ जयद्रथश्च
भूरिश्रवाः कृतवर्मा कृपश्च ।
श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
विन्दानुविन्दौ च सुदक्षिणश्च ॥ ७५ ॥
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
वसातयः क्षुद्रकमालवाश्च ।
किरीटिनं त्वरमाणाऽभिसस्रु-
र्निदेशगाः शान्तनवस्य राज्ञः ॥ ७६ ॥

तब द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण, पूर्वीय नरेशगण, सौवीरदेशीय क्षत्रियगण, वसाति, क्षुद्रक और मालवगण,—ये सभी शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए तुरंत ही किरीटधारी अर्जुनका सामना करनेके लिये निकट चले आये ॥ ७५-७६ ॥

तं वाजिपादातरथौघजालै-
रनेकसाहस्रशतैर्ददर्श ।
किरीटिनं सम्परिवार्यमाणं
शिनेर्नप्ता वारणयूथपैश्च ॥ ७७ ॥

सात्यकिने दूरसे देखा, किरीटधारी अर्जुन घोड़े, पैदल तथा रथियोंसहित कई लाख सैनिकोंसे घिर गये हैं, गजराज-यूथपतियोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा है ॥ ७७ ॥

ततस्तु दृष्ट्वार्जुनवासुदेवौ
पदातिनागाश्वरथैः समन्तात् ।
अभिद्रुतौ शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
शिनिप्रवीरोऽभिससार तूर्णम् ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् पैदल, हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा चारों ओरसे आक्रान्त हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकि तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥ ७८ ॥

स तान्यनीकानि महाधनुष्मा-
ञ्छिनिप्रवीरः सहसाभिपत्य ।
चकार साहाय्यमथार्जुनस्य
विष्णुर्यथा वृत्रनिषूदनस्य ॥ ७९ ॥

महाधनुर्धर शिनिवीर सात्यकिने सहसा उन सेनाओंके समीप पहुँचकर अर्जुनकी उसी प्रकार सहायता की, जैसे भगवान् विष्णु वृत्रविनाशक इन्द्रकी सहायता करते हैं ॥७९॥

विशीर्णनागाश्वरथध्वजौघं
भीष्मेण वित्रासितसर्वयोधम् ।
युधिष्ठिरानीकमभिद्रवन्तं
प्रोवाच संदृश्य शिनिप्रवीरः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओंके समूह तितर-बितर हो गये थे। भीष्मने उनके सम्पूर्ण योद्धाओंको भयभीत कर दिया था। इस प्रकार युधिष्ठिरके सैनिकोंको भागते देख शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने उनसे कहा—॥

क्व क्षत्रिया यास्यथ नैष धर्मः
सतां पुरस्तात् कथितः पुराणैः ।
मा स्वां प्रतिज्ञां त्यजत प्रवीराः
स्वं वीरधर्मं परिपालयध्वम् ॥ ८१ ॥

'क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो? प्राचीन महापुरुषोंद्वारा यह श्रेष्ठ क्षत्रियोंका धर्म नहीं बताया गया है। वीरो! अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, अपने वीर-धर्मका पालन करो' ॥ ८१ ॥

तान् वासवानन्तरजो निशाम्य
नरेन्द्रमुख्यान् द्रवतः समन्तात् ।
पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च
भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम् ॥ ८२ ॥
अमृष्यमाणः स ततो महात्मा
यशस्विनं सर्वदशार्हभर्ता ।
उवाच शैनेयमभिप्रशंसन्
दृष्ट्वा कुरूनापततः समग्रान् ॥ ८३ ॥

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन श्रेष्ठ राजाओंको सब ओर भागते देखा और इस बातपर भी लक्ष्य किया कि अर्जुन तो कोमलताके साथ युद्ध कर रहा है और भीष्म इस संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते जा रहे हैं। यह सब देखकर सम्पूर्ण यदुकुलका भरण-पोषण करनेवाले महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने समस्त कौरवोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख यशस्वी वीर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ८२-८३ ॥

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु ।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ॥ ८४ ॥

'शिनिवंशके प्रमुख वीर! सात्वतरत्न! जो भाग रहे हैं, वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं इन लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी संग्रामभूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको रथसे मार गिराता हूँ ॥ ८४ ॥

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥ ८५ ॥

'सात्वत वीर! आज कौरवसेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। मैं अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके प्राण हर लूँगा ॥ ८५ ॥

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ॥ ८६ ॥

'सात्यके! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण—इन दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा ॥

निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः ।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ॥ ८७

'धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी श्रेष्ठ नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा' ॥ ८७ ॥

संजय उवाच

(इतीदमुक्त्वा स महानुभावः
सस्मार चक्रं निशितं पुराणम् ।
सुदर्शनं चिन्तितमात्रमेव
तस्याग्रहस्तं स्वयमारुरोह ॥)

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर महानुभाव श्रीकृष्णने अपने पुरातन एवं तीक्ष्ण आयुध सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। उनके चिन्तन करने मात्रसे ही वह स्वयं उनके हाथके अग्रभागमें प्रस्तुत हो गया ॥

ततः सुनाभं वसुदेवपुत्रः
सूर्यप्रभं वज्रसमप्रभावम् ।
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान् ॥ ८८ ॥
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।
मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम् ॥ ८९ ॥

उस चक्रकी नाभि बड़ी सुन्दर थी। उसका प्रकाश सूर्यके समान और प्रभाव वज्रके तुल्य था। उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे। वसुदेवनन्दन महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर हाथमें उस चक्रको घुमाते हुए रथसे कूद पड़े और जिस प्रकार सिंह बढ़े हुए घमंडवाले मदान्ध एवं उन्मत्त गजराजको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर झपटे, उसी प्रकार वे भी अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाते हुए युद्धस्थलमें भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ८८-८९ ॥

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी ।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः ॥ ९० ॥

देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते थे। वे उस सेनाके मध्यभागमें कुपित होकर जिस समय भीष्मकी ओर झपटे, उस समय उनके श्याम विग्रहपर लटककर हवाके वेगसे फहराता हुआ पीताम्बरका छोर उन्हें ऐसी शोभा दे रहा था, मानो आकाशमें बिजलीसे आवेष्टित हुआ श्याम मेघ सुशोभित हो रहा हो ॥ ९० ॥

सुदर्शनं चास्य रराज शौरे-
स्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम् ।
यथादिपद्मं तरुणार्कवर्णं
रराज नारायणनाभिजातम् ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णकी सुन्दर भुजारूपी विशाल नालसे सुशोभित वह सुदर्शनचक्र कमलके समान शोभा पा रहा था, मानो भगवान् नारायणके नाभिसे प्रकट हुआ प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाला आदिकमल प्रकाशित हो रहा हो ॥ ९१ ॥

तत् कृष्णकोपोदयसूर्यबुद्धं
क्षुरान्ततीक्ष्णाग्रसुजातपत्रम् ।
तस्यैव देहोरुसरःप्ररूढं
रराज नारायणबाहुनालम् ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्णके क्रोधरूपी सूर्योदयसे वह कमल विकसित हुआ था। उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे। वे ही मानो उसके सुन्दर दल थे। भगवान्‌के श्रीविग्रहरूपी महान् सरोवरमें ही वह बढ़ा हुआ था और नारायणस्वरूप श्रीकृष्ण-की बाहुरूपी नाल उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ९२ ॥

तमात्तचक्रं प्रणदन्तमुच्चैः
क्रुद्धं महेन्द्रावरजं समीक्ष्य ।
सर्वाणि भूतानि भृशं विनेदुः
क्षयं कुरूणामिव चिन्तयित्वा ॥ ९३ ॥

महेन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण कुपित हो हाथमें चक्र उठाये बड़े जोरसे गरज रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर कौरवोंके संहारका विचार करके सभी प्राणी हाहाकार करने लगे ॥ ९३ ॥

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम् ।
अभ्युत्पतँल्लोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः ॥ ९४ ॥

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्नि-के समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९४ ॥

तमाद्रवन्तं प्रगृहीतचक्रं
दृष्ट्वा देवं शान्तनवस्तदानीम् ।
असम्भ्रमं तद् विचकर्ष दोर्भ्यां
महाधनुर्गाण्डिवतुल्यघोषम् ॥ ९५ ॥

भगवान्‌को चक्र लिये अपनी ओर वेगपूर्वक आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय तनिक भी भय अथवा घबराहटका अनुभव न करते हुए दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने महान् धनुषको खींचने लगे ॥ ९५ ॥

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ॥ ९६ ॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥

उस समय युद्ध स्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था। वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये ॥ ९६-९७ ॥

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात्॥ ९८ ॥

'श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया' ॥ ९८ ॥

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं
बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ॥ ९९ ॥

मोटी, लंबी और उत्तम भुजाओंवाले यदुकुलके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे बढ़ते देख अर्जुन भी बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर उनके पीछे दौड़े और निकट जाकर भगवान्‌की दोनों बाहें पकड़ लीं। अर्जुनकी भुजाएँ भी मोटी और विशाल थीं ॥ ९९ ॥

निगृह्यमाणश्च तदाऽऽदिदेवो
भृशं सरोषः किल चात्मयोगी।
आदाय वेगेन जगाम विष्णु-
र्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ॥१००॥

आदिदेव आत्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण बहुत रोषमें भरे हुए थे। वे अर्जुनके पकड़नेपर भी रुक न सके। जैसे आँधी किसी वृक्षको खींचे लिये चली जाय, उसी प्रकार वे भगवान् विष्णु अर्जुनको लिये हुए ही बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ॥१०१॥

राजन्! तब किरीटधारी अर्जुनने भीष्मके निकट बड़े वेगसे जाते हुए श्रीहरिके चरणोंको बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदमपर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका॥

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ॥१०२॥

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्णका विचित्र हार पहने हुए अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न हो उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'केशव! आप अपना क्रोध रोकिये। प्रभो! आप ही पाण्डवोंके परम आश्रय हैं ॥ १०२ ॥

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं
पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥ १०३ ॥

'केशव! अब मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कर्तव्यका पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा। यह बात मैं अपने पुत्रों और भाइयोंकी शपथ खाकर कहता हूँ। उपेन्द्र! आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं समस्त कौरवोंका अन्त कर डालूँगा' ॥ १०३ ॥

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनरारुरोह ॥१०४॥

अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा और कर्तव्य-पालनका यह निश्चय सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका मन प्रसन्न हो गया। वे कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका प्रिय करनेके लिये उद्यत हो पुनः चक्र लिये रथपर जा बैठे ॥ १०४ ॥

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शङ्खं द्विषतां निहन्ता।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ॥१०५॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने पुनः घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और पाञ्चजन्य शङ्ख लेकर उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ १०५ ॥

व्याविद्धनिष्काङ्गदकुण्डलं तं
रजोविकीर्णाञ्चितपद्मनेत्रम्।
विशुद्धदंष्ट्रं प्रगृहीतशङ्खं
विचुक्रुशुः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीराः ॥१०६॥

उस समय उनके कण्ठका हार, भुजाओंके बाजूबन्द और कानोंके कुण्डल हिलने लगे थे। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्रोंपर सेनासे उठी हुई धूल बिखरी थी। उनकी दन्तावली शुद्ध एवं स्वच्छ थी और उन्होंने अपने हाथमें शङ्ख ले रक्खा था। उस अवस्थामें श्रीकृष्णको देखकर कौरवपक्षके प्रमुख वीर कोलाहल कर उठे ॥ १०६ ॥

मृदङ्गभेरीपणवप्रणादा
नेमिस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
ससिंहनादाश्च बभूवुरुग्राः
सर्वेष्वनीकेषु ततः कुरूणाम् ॥१०७॥

तत्पश्चात् कौरवोंके सम्पूर्ण सैन्यदलोंमें मृदंग, भेरी, पणव तथा दुन्दुभिकी ध्वनि होने लगी। रथके पहियोंकी घरघराहट सुनायी देने लगी। वे सभी शब्द वीरोंके सिंह-नादसे मिलकर अत्यन्त उग्र प्रतीत हो रहे थे ॥ १०७ ॥

गाण्डीवघोषः स्तनयित्नुकल्पो
जगाम पार्थस्य नभो दिशश्च ।
जग्मुश्च बाणा विमलाः प्रसन्नाः
सर्वा दिशः पाण्डवचापमुक्ताः ॥१०८॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष मेघकी गर्जनाके समान आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया तथा उनके धनुषसे छूटे हुए निर्मल एवं स्वच्छ बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें बरसने लगे ॥ १०८ ॥

तं कौरवाणामधिपो जवेन
भीष्मेण भूरिश्रवसा च सार्धम् ।
अभ्युद्ययावुद्यतबाणपाणिः
कक्षं दिधक्षन्निव धूमकेतुः ॥१०९॥

उस समय कौरवराज दुर्योधन हाथमें धनुष-बाण लिये बड़े वेगसे अर्जुनके सामने आया, मानो घास-फूँसको जलानेके लिये प्रज्वलित आग बढ़ती चली आ रही हो। भीष्म और भूरिश्रवाने भी दुर्योधनका साथ दिया ॥ १०९ ॥

अथार्जुनाय प्रजिघाय भल्लान्
भूरिश्रवाः सप्त सुवर्णपुङ्खान् ।
दुर्योधनस्तोमरमुग्रवेगं
शल्यो गदां शान्तनवश्च शक्तिम् ॥११०॥

तदनन्तर भूरिश्रवाने सोनेके पंखसे युक्त सात भल्ल अर्जुनपर चलाये। दुर्योधनने भयंकर वेगशाली तोमरका प्रहार किया। शल्यने गदा और शान्तनुनन्दन भीष्मने शक्ति चलायी ॥

स सप्तभिः सप्त शरप्रवेकान्
संवार्य भूरिश्रवसा विसृष्टान् ।
शितेन दुर्योधनबाहुमुक्तं
क्षुरेण तत् तोमरमुन्ममाथ ॥१११॥

अर्जुनने सात बाणोंसे भूरिश्रवाके छोड़े हुए सातों भल्लों-को काटकर तीखे छूरेसे दुर्योधनकी भुजाओंसे मुक्त हुए उस तोमरको भी नष्ट कर दिया ॥ १११ ॥

ततः शुभामापततीं स शक्तिं
विद्युत्प्रभां शान्तनवेन मुक्ताम् ।
गदां च मद्राधिपबाहुमुक्तां
द्वाभ्यां शराभ्यां निचकर्त वीरः ॥११२॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुनने शान्तनुनन्दन भीष्मकी छोड़ी हुई बिजलीके समान चमकीली और शोभामयी शक्तिको तथा मद्रराज शल्यकी भुजाओंसे मुक्त हुई गदाको भी दो बाणोंसे काट डाला ॥

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ॥११३॥

तदनन्तर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुषको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक खींचकर अर्जुनने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्रको प्रकट किया। वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्षमें चमक उठा ॥ ११३ ॥

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णै-
र्निवारयामास किरीटमाली ॥११४॥

फिर किरीटधारी महामना महाधनुर्धर अर्जुनने उस उत्तम अस्त्रद्वारा निर्मल एवं अग्निके समान प्रज्वलित बाणोंका जाल-सा बिछाकर कौरवोंके समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११४ ॥

शिलीमुखाः पार्थधनुःप्रमुक्ता
रथान् ध्वजाग्राणि धनूंषि बाहून् ।
निकृत्य देहान् विविशुः परेषां
नरेन्द्रनागेन्द्रतुरङ्गमाणाम् ॥११५॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंके रथ, ध्वजाग्र, धनुष और बाहु काटकर नरेशों, गजराजों तथा घोड़ोंके शरीरोंमें घुसने लगे ॥ ११५ ॥

ततो दिशः सोऽनुदिशश्च पार्थः
शरैः सुधारैः समरे वितत्य ।
गाण्डीवशब्देन मनांसि तेषां
किरीटमाली व्यथयांचकार ॥११६॥

तदनन्तर तीखी धारवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके किरीटधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकारसे कौरवोंके मनमें भारी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥

तस्मिंस्तथा घोरतमे प्रवृत्ते
शङ्खस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
अन्तर्हिता गाण्डिवनिःस्वनेन
बभूवुरुग्राश्वरथप्रणादाः ॥११७॥

इस प्रकारके उस अत्यन्त भयंकर युद्धमें शङ्ख-ध्वनि, दुन्दुभि-ध्वनि तथा घोड़ों और रथके पहियोंके भयंकर शब्द गाण्डीव धनुषकी टंकारके सामने दब गये ॥ ११७॥

गाण्डीवशब्दं तमथो विदित्वा
विराटराजप्रमुखाः प्रवीराः ।
पाञ्चालराजो द्रुपदश्च वीर-
स्तं देशमाजग्मुरदीनसत्त्वाः ॥११८॥

तब उस गाण्डीवके शब्दको पहचानकर राजा विराट आदि प्रमुख वीर और वीरवर पाञ्चालराज द्रुपद—ये सभी उदारचित्त नरेश उस स्थानपर आ गये ॥ ११८ ॥

सर्वाणि सैन्यानि तु तावकानि
यतो यतो गाण्डिवजः प्रणादः ।
ततस्ततः संनतिमेव जग्मु-
र्न तं प्रतीपोऽभिससार कश्चित् ॥११९॥

जहाँ-जहाँ गाण्डीव धनुषकी टंकार होती, वहाँ-वहाँ आपके सारे सैनिक मस्तक टेक देते थे । कोई भी उनके प्रतिकूल आक्रमण नहीं करता था ॥ ११९ ॥

तस्मिन् सुघोरे नृपसम्प्रहारे
हताः प्रवीराः सरथाश्वसूताः ।
गजाश्च नाराचनिपाततप्ता
महापताकाः शुभरुक्मकक्ष्याः ॥१२०॥
परीतसत्त्वाः सहसा निपेतुः
किरीटिना भिन्नतनुत्रकायाः ।
दृढं हताः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन भल्लैर्विमलैः शिताग्रैः ॥१२१॥

राजाओंके उस भयानक संग्राममें रथ, घोड़े और सारथिसहित बड़े-बड़े वीर मारे गये । सुन्दर सुनहरे रस्सोंसे कसे हुए, बड़ी-बड़ी पताकाओंवाले हाथी नाराचोंकी मारसे पीड़ित हो शक्ति और चेतना खोकर सहसा धराशायी हो गये । कुन्तीकुमार अर्जुनके भयंकर वेगवाले तीखे एवं पंखयुक्त निर्मल भल्लोंसे गहरी चोट पड़नेपर कवच और शरीर दोनोंके विदीर्ण हो जानेसे कौरव सैनिक सहसा प्राणशून्य होकर गिर जाते थे ॥ १२०-१२१ ॥

निकृत्तयन्त्रा निहतेन्द्रकीला
ध्वजा महान्तो ध्वजिनीमुखेषु ।
पदातिसङ्घाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनंजयेन ॥१२२॥
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा
विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ।
ऐन्द्रेण तेनास्त्रवरेण राजन्
महाहवे भिन्नतनुत्रदेहाः ॥१२३॥

युद्धके मुहानेपर जिनके यन्त्र कट गये और इन्द्रकील नष्ट हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े ध्वज छिन्न-भिन्न होकर गिरने लगे । उस संग्राममें अर्जुनके बाणोंसे घायल पैदलोंके समूह, रथी, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अङ्गोंको पकड़े हुए पृथ्वीपर गिरने लगे । राजन् ! उस महान् ऐन्द्रास्त्रसे समरभूमिमें सभी सैनिकोंके शरीर और कवच छिन्न-भिन्न हो गये ॥ १२२-१२३ ॥

ततः शरौघैर्निशितैः किरीटिना
नृदेहशस्त्रक्षतलोहितोदा ।
नदी सुघोरा नरमेदफेना
प्रवर्तिता तत्र रणाजिरे वै ॥१२४॥

उस समय समराङ्गणमें किरीटधारी अर्जुनने अपने तीखे बाणसमूहोंद्वारा योद्धाओंके शरीरमें लगे हुए आघातसे निकलनेवाले रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी; जिसमें मनुष्योंके मेदे फेनके समान जान पड़ते थे ॥ १२४ ॥

वेगेन सातीव पृथुप्रवाहा
परेतनागाश्वशरीररोधा ।
नरेन्द्रमज्जोच्छ्रितमांसपङ्का
प्रभूतरक्षोगणभूतसेविता ॥१२५॥

वह नदी बड़े वेगसे बह रही थी । उसका प्रवाह पुष्ट था । मरे हुए हाथी, घोड़ोंके शरीर तटोंके समान प्रतीत होते थे । राजाओंके मज्जा और मांस कीचड़के समान थे । बहुत-से राक्षस और भूतगण उसका सेवन करते थे ॥१२५॥

शिरःकपालाकुलकेशशाद्वला
शरीरसङ्घातसहस्रवाहिनी ।
विशीर्णनानाकवचोर्मिसंकुला
नराश्वनागास्थिनिकृत्तशर्करा ॥१२६॥

मुर्दोंकी खोपड़ियोंके केश सेवारका भ्रम उत्पन्न करते थे । सहस्रों शरीर उसमें जल-जन्तुओंके समान बह रहे थे । छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए कवच लहरोंके समान उसमें सर्वत्र व्याप्त थे । मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी कटी हुई हड्डियाँ छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरोंका काम दे रही थीं ॥ १२६ ॥

श्वकङ्कशालावृकगृध्रकाकैः
क्रव्यादसङ्घैश्च तरक्षुभिश्च ।
उपेतकूलां ददृशुर्मनुष्याः
क्रूरां महावैतरणीप्रकाशाम् ॥१२७॥

उसके दोनों किनारोंपर कुत्ते, कौवे, भेड़िये, गीध, कंक, तरक्षु* तथा अन्यान्य मांसभक्षी जन्तु निवास करते थे । उस भयानक नदीको लोगोंने महावैतरणीके समान देखा ॥१२७॥

प्रवर्तितामर्जुनबाणसङ्घै-
र्मेदोवसासृक्प्रवहां सुभीमाम् ।
हतप्रवीरां च तथैव दृष्ट्वा
सेनां कुरूणामथ फाल्गुनेन ॥१२८॥

* सेई जन्तु, जिसके वदनमें काँटे होते हैं ।

ते चेदिपाञ्चालकरूषमत्स्याः
पार्थाश्च सर्वे सहिताः प्रणेदुः ।
जयप्रगल्भाः पुरुषप्रवीराः
संत्रासयन्तः कुरुवीरयोधान् ॥१२९॥

अर्जुनके बाणसमूहोंसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था । वह चर्बी, मज्जा तथा रक्त बहानेके कारण बड़ी भयंकर जान पड़ती थी । इस प्रकार कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर अर्जुनके द्वारा मारे गये । यह देखकर चेदि, पाञ्चाल, करूष और मत्स्यदेशके क्षत्रिय तथा कुन्तीके पुत्र—ये सभी नर-वीर विजय पानेसे निर्भय हो कौरवयोद्धाओंको भयभीत करते हुए एक साथ सिंहनाद करने लगे ॥ १२८-१२९ ॥

हतप्रवीराणि बलानि दृष्ट्वा
किरीटिना शत्रुभयावहेन ।
वित्रास्य सेनां ध्वजिनीपतीनां
सिंहो मृगाणामिव यूथसङ्घान् ॥१३०॥
विनेदतुस्तावतिहर्षयुक्तौ
गाण्डीवधन्वा च जनार्दनश्च ।

शत्रुओंको भय देनेवाले किरीटधारी अर्जुनके द्वारा कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंको मारे गये देख पाण्डवपक्षके वीरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी । गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण मृगोंके यूथोंको भयभीत करनेवाले सिंहके समान कौरवसेनापतियोंकी सारी सेनाको संत्रस्त करके अत्यन्त हर्षमें भरकर गर्जना करने लगे ॥ १३०½ ॥

ततो रविं संवृतरश्मिजालं
दृष्ट्वा भृशं शस्त्रपरिक्षताङ्गाः ॥१३१॥
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
सद्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च ॥१३२॥
चक्रुर्निशां संधिगतां समीक्ष्य
विभावसोर्लोहितरागयुक्ताम् ।

तदनन्तर शस्त्रोंके आघातसे अत्यन्त क्षत-विक्षत अङ्गोंवाले भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक तथा अन्य कौरवयोद्धाओंने सूर्यदेवको अपनी किरणोंको समेटते देख और उस भयंकर ऐन्द्रास्त्रको प्रलयंकर अग्निके समान सर्वत्र व्याप्त एवं असह्य हुआ जानकर सूर्यकी लालीसे युक्त संध्या एवं निशाके आरम्भकालका अवलोकन कर सेनाको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ १३१–१३२½ ॥

अवाप्य कीर्तिं च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूंश्च धनंजयोऽपि ॥१३३॥
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ।

धनंजय भी शत्रुओंको जीतकर एवं लोकमें सुयश और सुकीर्ति पाकर भाइयों तथा राजाओंके साथ सारा कार्य समाप्त करके निशाके आरम्भमें अपने शिबिरको लौट गये ॥१३३½॥

ततः प्रजज्ञे तुमुलः कुरूणां
निशामुखे घोरतमः प्रणादः ॥१३४॥
रणे रथानामयुतं निहत्य
हता गजाः सप्तशतार्जुनेन ।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
निपातिताः क्षुद्रकमालवाश्च ॥१३५॥
महत् कृतं कर्म धनंजयेन
कर्तुं यथा नार्हति कश्चिदन्यः ।

उस समय रात्रिके आरम्भमें कौरवोंके दलमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा । वे आपसमें कहने लगे—'आज अर्जुनने रणक्षेत्रमें दस हजार रथियोंका विनाश करके सात सौ हाथी मार डाले हैं । प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव सभी क्षत्रियगणोंको मार गिराया है । धनंजयने जो महान् पराक्रम किया है, उसे दूसरा कोई वीर नहीं कर सकता ॥१३४-१३५½ ॥

श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ॥१३६॥
द्रोणः कृपः सैन्धवबाह्लिकौ च
भूरिश्रवाः शल्यशलौ च राजन् ।
अन्ये च योधाः शतशः समेताः
क्रुद्धेन पार्थेन रणस्य मध्ये ॥१३७॥
स्वबाहुवीर्येण जिताः सभीष्माः
किरीटिना लोकमहारथेन ।

'श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, बाह्लिक, भूरिश्रवा, शल्य और शल—ये तथा और भी सैकड़ों योद्धा क्रोधमें भरे हुए लोकमहारथी, किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें अपनी ही भुजाओंके पराक्रमसे भीष्मसहित परास्त किये गये हैं' ॥ १३६–१३७½ ॥

इति ब्रुवन्तः शिबिराणि जग्मुः
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥१३८॥
उल्कासहस्रैश्च सुसम्प्रदीप्तै-
र्विभ्राजमानैश्च तथा प्रदीपैः ।
किरीटिवित्रासितसर्वयोधा
चक्रे निवेशं ध्वजिनी कुरूणाम् ॥१३९ ॥

भारत ! उपर्युक्त बातें कहते हुए आपके समस्त सैनिक

सहस्रों जलती हुई मशालें तथा प्रकाशमान दीपोंके उजालेमें अपने-अपने शिबिरमें गये। कौरवसेनाके सम्पूर्ण सैनिकोंपर अर्जुनका त्रास छा रहा था। इसी अवस्थामें उस सेनाने रातमें विश्राम किया ॥ १३८-१३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिन सेनाके विश्रामके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४०½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूहनिर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध

संजय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियोंकी सेनाके अग्रभागमें स्थित हुए महामना भीष्म समग्रसेनासे घिरकर शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये चले। उस समय उनके मनमें शत्रुओंके प्रति बड़ा क्रोध था ॥ १ ॥

तं द्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ।
जयद्रथश्चातिबलो बलौघै-
र्नृपास्तथान्ये प्रययुः समन्तात् ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक, दुर्मर्षण, चित्रसेन, अत्यन्त बलवान् जयद्रथ तथा अन्य नरेश विशाल वाहिनीको साथ लिये प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

स तैर्महद्भिश्च महारथैश्च
तेजस्विभिर्वीर्यवद्भिश्च राजन्।
रराज राजा स तु राजमुख्यै-
र्वृतः स देवैरिव वज्रपाणिः ॥ ३ ॥

राजन्! इन महान्, तेजस्वी, पराक्रमी और महारथी नरपतियोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन देवताओंसहित वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ॥ ३ ॥

तस्मिन्ननीकप्रमुखे विषक्ता
दोधूयमानाश्च महापताकाः।
सुरक्तपीतासितपाण्डुराभा
महागजस्कन्धगता विरेजुः ॥ ४ ॥

इस सेनाके प्रमुख भागमें बड़े-बड़े गजराजोंके कंधोंपर लगी हुई लाल, पीली, काली और सफेद रंगकी फहराती हुई विशाल पताकाएँ शोभा पा रही थीं ॥ ४ ॥

सा वाहिनी शान्तनवेन गुप्ता
महारथैर्वारणवाजिभिश्च।
बभौ सविद्युत्स्तनयित्नुकल्पा
जलागमे द्यौरिव जातमेघा ॥ ५ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मसे रक्षित वह विशाल वाहिनी बड़े-बड़े रथों, हाथियों और घोड़ोंसे ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाश बिजली-सहित बादलोंसे सुशोभित हो ॥ ५ ॥

ततो रणायाभिमुखी प्रयाता
प्रत्यर्जुनं शान्तनवाभिगुप्ता।
सेना महोग्रा सहसा कुरूणां
वेगो यथा भीम इवापगायाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर नदीके भयानक वेगकी भाँति कौरवोंकी वह अत्यन्त भयंकर सेना शान्तनुनन्दन भीष्मसे सुरक्षित हो, रणके लिये अर्जुनकी ओर सहसा चली ॥ ६ ॥

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम्।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ॥ ७ ॥

महामना कपिध्वज अर्जुनने दूरसे देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूहमें आबद्ध होनेके कारण अनेक प्रकारकी दिखायी दे रही है। उसकी शक्ति छिपी हुई है। उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियोंके समूह भरे हुए हैं। सेनाका वह व्यूह महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता है ॥ ७ ॥

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकोंके वधका संकल्प लेकर श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए ध्वज एवं आवरणसे युक्त रथपर आरूढ़ हो शत्रुसेनाके सामने चले ॥

सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेषं
यत्तं यदूनामृषभेण संख्ये ।
कपिध्वजं प्रेक्ष्य विषेदुराजौ
सहैव पुत्रैस्तव कौरवेयाः ॥ ९ ॥

जिसमें सब सामग्री सुन्दरतासे सजाकर रक्खी गयी थी, अच्छी तरह बँधी होनेके कारण जिसकी ईषा अत्यन्त मनोहर दिखायी देती है तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण जिसका संचालन करते हैं, उस वानरके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथको युद्धभूमिमें उपस्थित देख आपके पुत्रोंसहित समस्त कौरव-सैनिक विषादमग्न हो गये ॥ ९ ॥

प्रकर्षता गुप्तमुदायुधेन
किरीटिना लोकमहारथेन ।
तं व्यूहराजं ददृशुस्त्वदीया-
श्चतुश्चतुर्व्यालसहस्रकर्णम् ॥ १० ॥

लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षितरूपसे अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशामें खड़े किये गये थे, उस व्यूहराजको आपके सैनिकोंने देखा ॥१०॥

यथा हि पूर्वेऽहनि धर्मराज्ञा
व्यूहः कृतः कौरवसत्तमेन ।
तथा न भूतो भुवि मानुषेषु
न दृष्टपूर्वो न च संश्रुतश्च ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पहले दिन जैसा व्यूह बनाया था, वैसा ही वह भी था। वैसा व्यूह इस भूतलपर मनुष्यों-की सेनाओंमें न तो पहले कभी देखा गया था और न कभी सुना ही गया था ॥ ११ ॥

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार यथोचित स्थान-पर पहुँचकर पाञ्चाल और चेदिदेशके प्रमुख वीर खड़े हुए। फिर उस युद्धस्थलमें प्रधानके आदेशानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक साथ बज उठीं ॥ १२ ॥

शङ्खस्वनास्तूर्यरथस्वनाश्च
सर्वेष्वनीकेषु ससिंहनादाः ।
ततः सबाणानि महास्वनानि
विस्फार्यमाणानि धनूंषि वीरैः ॥ १३ ॥

सभी सेनाओंमें शङ्खनाद, तूर्यनाद (वाद्योंकी ध्वनि) तथा वीरोंके सिंहनादसहित रथोंकी घरघराहटके शब्द होने लगे। फिर वीरोंके द्वारा खींचे जानेवाले बाणसहित धनुषके महान् टंकार-शब्द गूँज उठे ॥ १३ ॥

क्षणेन भेरीपणवप्रणादा-
नन्तर्दधुः शङ्खमहास्वनाश्च ।
तच्छङ्खशब्दावृतमन्तरिक्ष-
मुद्धूतभीमाद्भुतरेणुजालम् ॥ १४ ॥

क्षणभरमें भेरी और पणव आदिके शब्दोंको महान् शङ्खनादोंने दबा लिया तथा उस शङ्खध्वनिसे व्याप्त हुए आकाशमें (पृथ्वीसे) उठी हुई धूलोंका भयंकर एवं अद्भुत जाल-सा फैल गया ॥ १४ ॥

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतः ससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेवका प्रकाश देखकर सहसा शत्रुमण्डलीपर टूट पड़े। रथी रथीसे भिड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित मरकर गिरने लगा।१५।

गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
आवर्तमानान्यभिवर्तमानै-
र्घोरीकृतान्यद्भुतदर्शनानि ।
प्रासैश्च खङ्गैश्च समाहतानि
सदश्ववृन्दानि सदश्ववृन्दैः ॥ १६ ॥
सुवर्णतारागणभूषितानि
सूर्यप्रभाभानि शरावराणि ।
विदार्यमाणानि परश्वधैश्च
प्रासैश्च खङ्गैश्च निपेतुरुर्व्याम् ॥ १७ ॥

हाथी हाथीके आघातसे और पैदल पैदलकी चोटसे धराशायी होने लगे। श्रेष्ठ घोड़ोंके समूहपर उत्तम अश्वोंके समुदाय आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे। ये सवारोंद्वारा किये हुए खड्ग और प्रासोंके आघातसे घायल होकर भयंकर और अद्भुत दिखायी देते थे। स्वर्णमय तारागणोंके चिह्नोंसे विभूषित सूर्यके समान चमकीले कवच फरसों, तलवारों और प्रासोंकी चोटसे विदीर्ण होकर धरतीपर गिर रहे थे॥ १६-१७॥

गजैर्विषाणैर्वरहस्तरुग्णाः
केचित् ससूता रथिनः प्रपेतुः ।
गजर्षभाश्चापि रथर्षभेण
निपातिता बाणहताः पृथिव्याम् ॥ १८ ॥

दन्तार हाथियोंके दाँतों और सूँड़ोंके आघातसे रथ चूर-चूर हो जानेके कारण कितने ही रथी सारथिसहित धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही श्रेष्ठ रथियोंने बड़े-बड़े हाथियोंको अपने बाणोंसे मारकर धराशायी कर दिया ॥ १८ ॥

गजौघवेगोद्धतसादितानां
श्रुत्वा विषेदुः सहसा मनुष्याः ।

आर्तस्वनं सादिपदातियूनां
विषाणगात्रावरताडितानाम् ॥ १९ ॥

हाथियोंके वेगसे कुचलकर कितने ही घुड़सवार और पैदल युवक मारे गये। वे उनके दाँतों और नीचेके अङ्गसे कुचलकर हताहत हो रहे थे। सहसा उनकी आर्त चीत्कार सुनकर सभी मनुष्योंको बड़ा खेद होता था ॥ १९ ॥

सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
महाक्षये सादिपदातियूनाम्।
महारथैः सम्परिवार्यमाणो
ददर्श भीष्मः कपिराजकेतुम् ॥ २० ॥

उस मुहूर्तमें जब कि घुड़सवारों और पैदल युवकोंका विकट संहार हो रहा था तथा हाथी, घोड़े और रथ सभी अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे, महारथियोंसे घिरे हुए भीष्मने वानरचिह्नसे युक्त ध्वजवाले अर्जुनको देखा ॥ २० ॥

तं पञ्चतालोच्छ्रिततालकेतुः
सदश्ववेगाद्भुतवीर्ययानः।
महास्त्रबाणाशनिदीप्तिमन्तं
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ॥ २१ ॥

भीष्मका ध्वज पाँच तालवृक्षोंसे चिह्नित और ऊँचा था। उनके रथमें अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जिनके वेगसे वह रथ अद्भुत शक्तिशाली जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने किरीटधारी अर्जुनपर धावा किया, जो बाण और अशनि आदि महान् दिव्यास्त्रोंकी दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ २१ ॥

तथैव शक्रप्रतिमप्रभाव-
मिन्द्रात्मजं द्रोणमुखा विसस्रुः।
कृपश्च शल्यश्च विविंशतिश्च
दुर्योधनः सौमदत्तिश्च राजन् ॥ २२ ॥

राजन्! इसी प्रकार इन्द्रतुल्य प्रभावशाली इन्द्रकुमार अर्जुनपर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन तथा भूरिश्रवाने भी आक्रमण किया ॥ २२ ॥

ततो रथानां प्रमुखादुपेत्य
सर्वास्त्रवित् काञ्चनचित्रवर्मा।
जवेन शूरोऽभिससार सर्वा-
स्तानर्जुनस्यात्मसुतोऽभिमन्युः ॥ २३ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, सोनेके विचित्र कवच धारण करनेवाले शूरवीर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने एक श्रेष्ठ रथके द्वारा वेगपूर्वक वहाँ पहुँचकर उन समस्त कौरव महारथियोंपर धावा किया ॥ २३ ॥

तेषां महास्त्राणि महारथाना-
मसह्यकर्मा विनिहत्य कार्ष्णिः।
बभौ महामन्त्रहुतार्चिमाली
सदोगतः सन् भगवानिवाग्निः ॥ २४ ॥

अर्जुनकुमारका पराक्रम दूसरोंके लिये असह्य था। वह उन कौरव महारथियोंके बड़े-बड़े अस्त्रोंको नष्ट करके यज्ञमण्डपमें महान् मन्त्रोंद्वारा हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत भगवान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगा ॥ २४ ॥

ततः स तूर्णं रुधिरोदफेनां
कृत्वा नदीमाशु रणे रिपूणाम्।
जगाम सौभद्रमतीत्य भीष्मो
महारथं पार्थमदीनसत्त्वः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उदार शक्तिशाली भीष्मने रणभूमिमें तुरंत ही शत्रुओंके रक्तरूपी जल एवं फेनसे भरी नदी बहाकर सुभद्राकुमार अभिमन्युको टालकर महारथी अर्जुनपर आक्रमण किया।२५।

ततः प्रहस्याद्भुतविक्रमेण
गाण्डीवमुक्तेन शिलाशितेन।
विपाठजालेन महास्त्रजालं
विनाशयामास किरीटमाली ॥ २६ ॥

तब किरीटधारी अर्जुनने हँसकर अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए गाण्डीव धनुषसे छोड़े और शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विपाठ नामक बाणोंके समूहसे शत्रुओंके बड़े-बड़े अस्त्रोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २६ ॥

तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अप्रतिहत पराक्रमवाले महामना कपिध्वज अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मपर तुरंत ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २७ ॥

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार आपके सैनिकोंने देखा कि आकाशमें कपिध्वज अर्जुनके बिछाये हुए महान् अस्त्रजालको भीष्मजीने अपने अस्त्रोंके आघातसे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे भगवान् सूर्य अन्धकारराशिको नष्ट कर देते हैं ॥ २८ ॥

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम्।

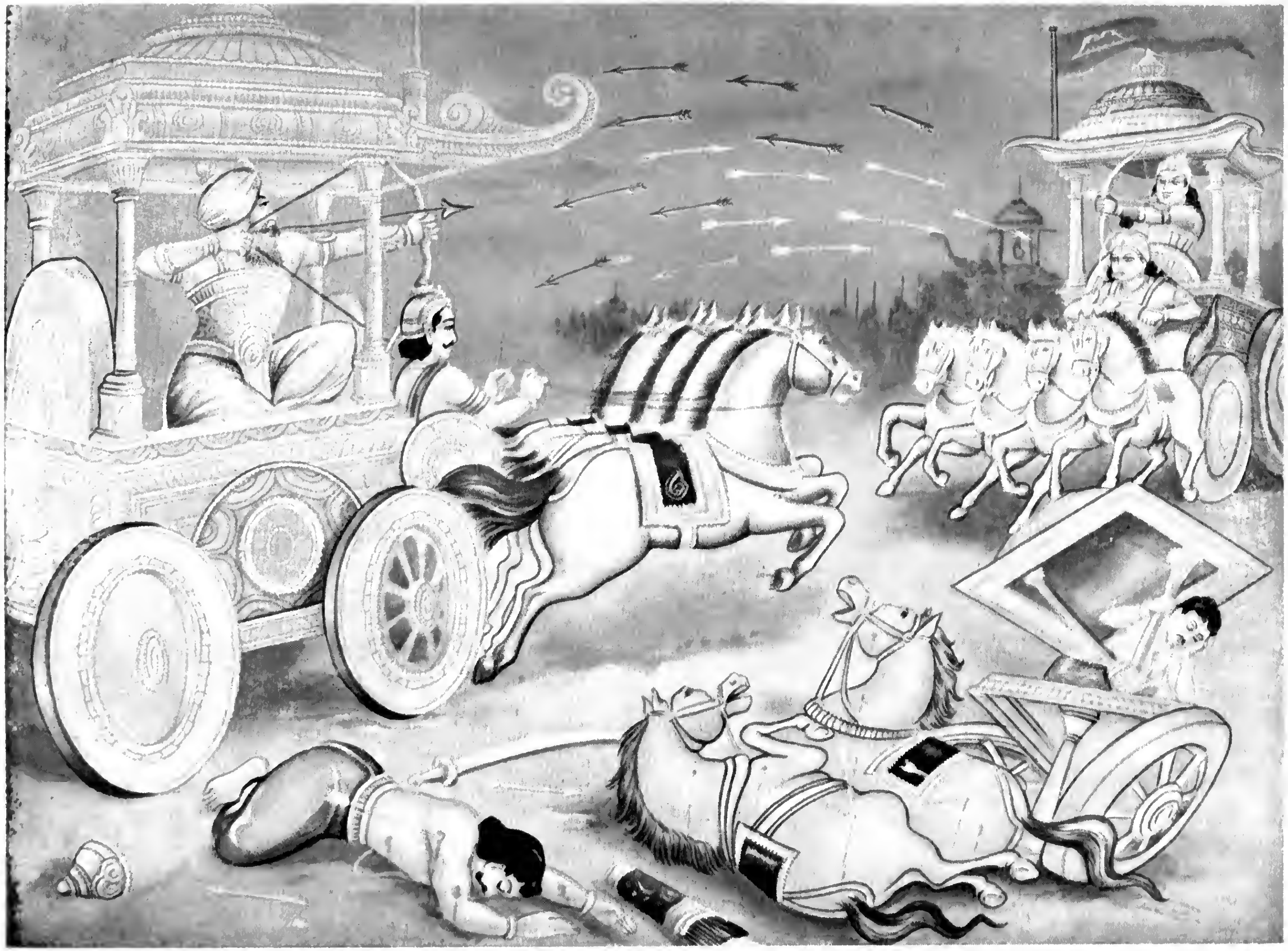

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

दद‍र्श लोकः कुरुसृंजयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनंजयाभ्याम् ॥ २९ ॥

इस तरह सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुनमें धनुषोंकी भयंकर टंकारसे युक्त, दैन्यरहित द्वैरथ-युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृञ्जय वीरों तथा दूसरे लोगोंने भी देखा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनद्वैरथे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध

संजय उवाच

द्रौणिर्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष।
पुत्रः सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—माननीय राजन्! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शलके पुत्रने सुभद्राकुमार अभिमन्युको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १ ॥

संसक्तमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः।
पञ्चभिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ॥ २ ॥

जैसे सिंहका बच्चा पाँच हाथियोंसे भिड़ा हुआ हो, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पाँच पुरुषसिंहोंसे अकेला ही युद्ध कर रहा था। यह बात वहाँ सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २ ॥

नातिलक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे।
बभूव सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रे नापि च लाघवे ॥ ३ ॥

लक्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने, अस्त्रज्ञान प्रदर्शित करने तथा हाथोंकी फुर्तीमें कोई भी अभिमन्युकी समानता न कर सका ॥ ३ ॥

तथा तमात्मजं युद्धे विक्रमन्तमरिंदमम्।
दृष्ट्वा पार्थः सुसंयत्तं सिंहनादमथानदत् ॥ ४ ॥

अपने शत्रुसूदन पुत्र अभिमन्युको युद्धमें इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करते देख कुन्तीपुत्र अर्जुनने सिंहके समान गर्जना की ॥ ४ ॥

पीडयानं तु तत् सैन्यं पौत्रं तव विशाम्पते।
दृष्ट्वा त्वदीया राजेन्द्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ! राजेन्द्र! आपके पौत्र अभिमन्युको कौरव-सेनाको पीड़ा देते देख आपके ही सैनिकोंने सब ओरसे घेर लिया ॥ ५ ॥

ध्वजिनीं धार्तराष्ट्राणां दीनशत्रुरदीनवत्।
प्रत्युद्ययौ स सौभद्रस्तेजसा च बलेन च ॥ ६ ॥

अपने शत्रुओंको दीन बना देनेवाले सुभद्राकुमारने दैन्यरहित होकर अपने तेज और बलसे कौरवसेनापर धावा किया ॥ ६ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमादित्यसदृशप्रभम्।
व्यदृश्यत महच्चापं समरे युध्यतः परैः ॥ ७ ॥

समरभूमिमें शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए अभिमन्युका विशाल धनुष अस्त्रलाघवके पथपर स्थित हो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ७ ॥

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे ततः ॥ ८ ॥

उसने अश्वत्थामाको एक और शल्यको पाँच बाणोंसे घायल करके शलके ध्वजको आठ बाणोंसे काट डाला ।८।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सौमदत्तिना।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ॥ ९ ॥

फिर भूरिश्रवाकी चलायी हुई स्वर्णदण्डविभूषित सर्प-सदृश महाशक्तिको तीखे बाणसे छिन्न-भिन्न कर डाला ॥९॥

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान्।
(धनुश्चिच्छेद भल्लेन तीव्रवेगेन फाल्गुनिः।)
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ॥ १० ॥

शल्य समरभूमिमें बड़े वेगशाली बाणोंका प्रहार कर रहे थे; किंतु अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीव्र वेगवाले भल्लसे उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उनकी प्रगतिको रोककर पार्थकुमारने चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ १० ॥

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि (सोमदत्त-पुत्र) शल—ये सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे, तथापि अभिमन्युके बाहुबलकी वृद्धिको रोक न सके ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्ता राजेन्द्र मद्राश्च सह केकयैः।
पञ्चविंशतिसाहस्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदविदो मुख्या अजेयाः शत्रुभिर्युधि।
सहपुत्रं जिघांसन्तं परिवव्रुः किरीटिनम् ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! तब आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर त्रिगर्तों तथा केकयोंसहित मद्रदेशके पचीस हजार योद्धाओंने शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले पुत्रसहित किरीटधारी अर्जुनको घेर लिया। वे सब-के-सब धनुर्वेदके प्रधान ज्ञाता और युद्ध-स्थलमें शत्रुओंके लिये अजेय थे ॥ १२-१३ ॥

तौ तु तत्र पितापुत्रौ परिक्षिप्तौ महारथौ।
ददर्श राजन् पाञ्चाल्यः सेनापतिररिंदम ॥ १४ ॥
स वारणरथौघानां सहस्रैर्बहुभिर्वृतः।
वाजिभिः पत्तिभिश्चैव वृतः शतसहस्रशः ॥ १५ ॥
धनुर्विस्फार्य संक्रुद्धो नोदयित्वा च वाहिनीम्।
ययौ तं मद्रकानीकं केकयांश्च परंतप ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश ! पिता-पुत्र महारथी अर्जुन और अभिमन्युको शत्रुओंद्वारा घिरे हुए देख पाञ्चाल-राजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न कई हजार हाथियों और रथों तथा सैकड़ों-हजारों घुड़सवारों एवं पैदलोंसे घिरकर अपनी विशाल वाहिनीको आगे बढ़ाते तथा क्रोधपूर्वक धनुषकी टंकार करते हुए मद्रों और केकयोंकी सेनापर चढ़ आये ॥ १४–१६ ॥

तेन कीर्तिमता गुप्तमनीकं दृढधन्वना।
संरब्धरथनागाश्वं योत्स्यमानमशोभत ॥ १७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले यशस्वी धृष्टद्युम्नसे सुरक्षित हुई वह सेना युद्धके लिये उद्यत हो बड़ी शोभा पाने लगी, उसके रथी, हाथीसवार और घुड़सवार सभी रोषावेशमें भरे हुए थे ॥ १७ ॥

सोऽर्जुनप्रमुखे यान्तं पाञ्चालकुलवर्धनः।
त्रिभिः शारद्वतं बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ॥ १८ ॥

पाञ्चालवंशकी वृद्धि करनेवाले धृष्टद्युम्नने अर्जुनके सामने जाते हुए कृपाचार्यको उनके गलेकी हँसलीपर तीन बाण मारे ॥ १८ ॥

ततः स मद्रकान् हत्वा दशैव दशभिः शरैः।
पृष्ठरक्षं जघानाशु भल्लेन कृतवर्मणः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दस बाणोंसे मद्रदेशीय दस योद्धाओंको मारकर तुरंत ही एक भल्लके द्वारा कृतवर्माके पृष्ठरक्षकको मार डाला ॥ १९ ॥

दमनं चापि दायादं पौरवस्य महात्मनः।
जघान विमलाग्रेण नाराचेन परंतपः ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवसेनापतिने निर्मल धारवाले नाराचसे महामना पौरवके पुत्र दमनको भी मार डाला ॥ २० ॥

ततः सांयमनेः पुत्रः पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम्।
अविध्यत् त्रिंशता बाणैर्दशभिश्चास्य सारथिम् ॥ २१ ॥

तब शलके पुत्रने तीस बाणोंसे रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको और दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको घायल कर दिया ॥ २१ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन निचकर्तास्य कार्मुकम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे भल्लसे शलके पुत्रका धनुष काट दिया ॥ २२ ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षिप्रमेव समार्पयत्।
अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ॥ २३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही पचीस बाणोंसे शलपुत्रको घायल कर दिया तथा उसके घोड़ों एवं दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी मृत्युके मुखमें डाल दिया ॥ २३ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् ददर्श भरतर्षभ।
पुत्रः सांयमनेः पुत्रं पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिसके घोड़े मार दिये गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शलके पुत्रने महामना धृष्टद्युम्नके पुत्रको देखा ॥

स प्रगृह्य महाघोरं निस्त्रिंशवरमायसम्।
पदातिस्तूर्णमानर्च्छद् रथस्थं पुरुषर्षभः ॥ २५ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ शलपुत्र तुरंत ही एक अत्यन्त भयंकर लोहेकी बनी हुई बड़ी तलवार हाथमें ले पैदल ही रथपर बैठे हुए पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चला ॥ २५ ॥

तं महौघमिवायान्तं खात् पतन्तमिवोरगम्।
भ्रान्तावरणनिस्त्रिंशं कालोत्सृष्टमिवान्तकम् ॥ २६ ॥
दीप्यमानमिवादित्यं मत्तवारणविक्रमम्।
अपश्यन् पाण्डवास्तत्र धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २७ ॥

उस युद्धमें पाण्डवों तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने मतवाले गजराजके समान पराक्रमी और सूर्यके समान दीप्तिमान् शल-पुत्रको आते देखा। वह महान् वेगशाली जलप्रवाह, आकाशसे गिरते हुए सर्प तथा कालकी भेजी हुई मृत्युके समान जान पड़ता था। उसके हाथमें नंगी तलवार थी ॥

तस्य पाञ्चालदायादः प्रतीपमभिधावतः।
शितनिस्त्रिंशहस्तस्य शरावरणधारिणः ॥ २८ ॥
बाणवेगमतीतस्य तथाभ्याशमुपेयुषः।
त्वरन् सेनापतिः क्रुद्धो बिभेद गदया शिरः ॥ २९ ॥

वह विरोधभाव लेकर धावा कर रहा था। उसके हाथमें तीखी तलवार थी। उसने अपने अङ्गोंमें कवच धारण कर रक्खा था। वह बाणके वेगको लाँघकर अत्यन्त निकट आ पहुँचा था। उस दशामें पाञ्चालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्नने तुरंत क्रोधपूर्वक गदासे आघात करके उसके मस्तकको विदीर्ण कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य राजन् सनिस्त्रिंशं सुप्रभं च शरावरम्।
हतस्य पततो हस्ताद् वेगेन न्यपतद् भुवि ॥ ३० ॥

राजन्! उसके मारे जानेपर शरीरसे चमकीला कवच और हाथसे तलवार उसके गिरनेके साथ ही वेगपूर्वक पृथ्वी-पर गिरी ॥ ३० ॥

तं निहत्य गदाग्रेण स लेभे परमां मुदम्।
पुत्रः पाञ्चालराजस्य महात्मा भीमविक्रमः ॥ ३१ ॥

पाञ्चालराजका भयानक पराक्रमी पुत्र महामना धृष्टद्युम्न गदाके अग्रभागसे शलपुत्रको मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महारथे।
हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ ३२ ॥

आर्य! उस महाधनुर्धर महारथी राजकुमारके मारे जानेपर आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥ ३२ ॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धो दृष्ट्वा निहतमात्मजम्।
अभिदुद्राव वेगेन पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ॥ ३३ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख संयमनकुमार शलने कुपित होकर रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ३३ ॥

तौ तत्र समरे शूरौ समेतौ युद्धदुर्मदौ।
ददृशुः सर्वराजानः कुरवः पाण्डवास्तथा ॥ ३४ ॥

युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों शूरवीर उस समरभूमिमें एक दूसरेसे भिड़ गये। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके समस्त भूपाल उनका युद्ध देखने लगे ॥३४॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धः पार्षतं परवीरहा।
आजघान त्रिभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ ३५ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शलने जैसे महावत किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंसे मारे, उसी प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ३५ ॥

तथैव पार्षतं शूरं शल्यः समितिशोभनः।
आजघानोरसि क्रुद्धस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यने भी कुद्ध होकर शूरवीर धृष्टद्युम्नकी छातीपर प्रहार किया। फिर तो वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थयुद्धदिवसे सांयमनिपुत्रवधे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनके युद्धमें शल-पुत्रके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये पौरुषादपि संजय।
यत् सैन्यं मम पुत्रस्य पाण्डुसैन्येन बाध्यते ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा भी दैवको ही प्रधान मानता हूँ, जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनकी सेना पाण्डवोंकी सेनासे पीड़ित हो रही है ॥ १ ॥

नित्यं हि मामकांस्तात हतानेव हि शंससि।
अव्यग्रांश्च प्रहृष्टांश्च नित्यं शंससि पाण्डवान् ॥ २ ॥

तात! तुम प्रतिदिन मेरे ही सैनिकोंके मारे जानेकी बात कहते हो और पाण्डवोंको सदा व्यग्रतासे रहित तथा हर्षोल्लाससे परिपूर्ण बताते हो ॥ २ ॥

हीनान् पुरुषकारेण मामकानद्य संजय।
पातितान् पात्यमानांश्च हतानेव च शंससि ॥ ३ ॥

संजय! आजकल मेरे पुत्र और सैनिक पुरुषार्थसे हीन हो रहे हैं और शत्रुओंने उन्हें धराशायी किया एवं मार डाला है। प्रतिदिन वे शत्रुओंके हाथसे मारे ही जा रहे हैं। उनके सम्बन्धमें तुम सदा ऐसे ही समाचार देते हो ॥

युध्यमानान् यथाशक्ति घटमानाञ्जयं प्रति।
पाण्डवा हि जयन्त्येव जीयन्ते चैव मामकाः ॥ ४ ॥

मेरे बेटे विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते और लड़ते हैं, तो भी पाण्डव ही विजयी होते और मेरे पुत्रोंकी ही पराजय होती है ॥ ४ ॥

सोऽहं तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतानि च।
श्रोष्यामि सततं तात दुःसहानि बहूनि च ॥ ५ ॥

तात! ऐसा जान पड़ता है कि मुझे दुर्योधनके कारण सदा अत्यन्त दुःसह एवं तीव्र दुःखकी ही बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी ॥ ५ ॥

तमुपायं न पश्यामि जीयेरन् येन पाण्डवाः।
मामका विजयं युद्धे प्राप्नुयुर्येन संजय ॥ ६ ॥

संजय! मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जिससे पाण्डव हार जायँ और मेरे पुत्रोंको युद्धमें विजय प्राप्त हो ॥ ६ ॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां गजवाजिरथक्षयम्।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवैवापनयो महान् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—राजन्! उस युद्धमें मानवशरीरोंका भारी संहार हुआ है। हाथी, घोड़े और रथोंका भी विनाश देखा गया है। यह सब आप स्थिर होकर सुनिये। यह आपके ही महान् अन्यायका फल है ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु शल्येन पीडितो नवभिः शरैः।
पीडयामास संक्रुद्धो मद्राधिपतिमायसैः ॥ ८ ॥

शल्यके बाणोंसे पीड़ित होकर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे मद्रराज शल्यको गहरी पीड़ा पहुँचायी ॥ ८ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम पार्षतस्य पराक्रमम्।
न्यवारयत यस्तूर्णं शल्यं समितिशोभनम् ॥ ९ ॥

वहाँ हमलोगोंने धृष्टद्युम्नका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले राजा शल्यको तुरंत ही आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ९ ॥

नान्तरं दृश्यते तत्र तयोश्च रथिनोस्तदा।
मुहूर्तमिव तद् युद्धं तयोः सममिवाभवत् ॥ १० ॥

उस समय उन दोनों महारथियोंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। दो घड़ीतक दोनोंमें समान-सा युद्ध होता रहा ॥ १० ॥

ततः शल्यो महाराज धृष्टद्युम्नस्य संयुगे।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ ११ ॥

महाराज! तदनन्तर राजा शल्यने युद्धस्थलमें शाणपर तीक्ष्ण किये हुए पीले रंगके भल्ल नामक बाणसे धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

अथैनं शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे।
गिरिं जलागमे यद्वज्जलदा जलवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

इसके बाद जैसे बादल बरसातमें पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नपर रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया ॥ १२ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो धृष्टद्युम्ने च पीडिते।
अभिदुद्राव वेगेन मद्रराजरथं प्रति ॥ १३ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नके पीड़ित होनेपर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने मद्रराज शल्यके रथपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥

ततो मद्राधिपरथं कार्ष्णिः प्राप्यातिकोपनः।
आर्तायनिममेयात्मा विव्याध निशितैः शरैः ॥ १४ ॥

मद्रराजके रथके निकट पहुँचकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा ऋतायनपुत्र राजा शल्यको घायल कर दिया ॥

ततस्तु तावका राजन् परीप्सन्तोऽर्जुनिं रणे।
मद्रराजरथं तूर्णं परिवार्यावतस्थिरे ॥ १५ ॥

राजन्! तब आपके पुत्र रणभूमिमें अभिमन्युको बन्दी बनानेकी इच्छासे तुरंत वहाँ आये और मद्रराज शल्यके रथको चारों ओरसे घेरकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥१५॥

दुर्योधनो विकर्णश्च दुःशासनविविंशती।
दुर्मर्षणो दुःसहश्च चित्रसेनोऽथ दुर्मुखः ॥ १६ ॥
सत्यव्रतश्च भद्रं ते पुरुमित्रश्च भारत।
एते मद्राधिपरथं पालयन्तः स्थिता रणे ॥ १७ ॥

भारत! आपका भला हो। दुर्योधन, विकर्ण, दुःशासन, विविंशति, दुर्मर्षण, दुःसह, चित्रसेन, दुर्मुख, सत्यव्रत तथा पुरुमित्र—ये आपके पुत्र मद्रराजके रथकी रक्षा करते हुए युद्धभूमिमें डटे हुए थे ॥ १६-१७ ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १८ ॥
धार्तराष्ट्रान् दश रथान् दशैव प्रत्यवारयन्।
नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो विशाम्पते ॥ १९ ॥

आपके इन दस महारथी पुत्रोंको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाँचों भाई द्रौपदीकुमार और अभिमन्यु—इन दस ही महारथियोंने रोका। प्रजानाथ! ये सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

अभ्यवर्तन्त संहृष्टाः परस्परवधैषिणः।
ते वै समेयुः संग्रामे राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ २० ॥

राजन्! ये सब एक दूसरेके वधकी इच्छा रखकर हर्ष और उत्साहके साथ क्षत्रियोंका सामना करते थे। आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप ही इन सब योद्धाओंकी आपसमें भिड़न्त हुई थी ॥ २० ॥

तस्मिन् दशरथे क्रुद्धे वर्तमाने महाभये।
तावकानां परेषां वा प्रेक्षका रथिनोऽभवन् ॥ २१ ॥

जिस समय ये दसों महारथी क्रोधमें भरकर अत्यन्त भयंकर युद्धमें लगे हुए थे, उस समय आपकी और पाण्डवों-की सेनाके दूसरे रथी दर्शक होकर देखते थे ॥ २१ ॥

शस्त्राण्यनेकरूपाणि विसृजन्तो महारथाः।
अन्योन्यमभिनर्दन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ २२ ॥

किंतु आपके और पाण्डवोंके वे महारथी वीर एक दूसरेपर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए गर्जते और युद्ध करते थे ॥ २२ ॥

ते तदा जातसंरम्भाः सर्वेऽन्योन्यं जिघांसवः।
अन्योन्यमभिमर्दन्तः स्पर्धमानाः परस्परम् ॥ २३ ॥

उस समय उन सबमें क्रोध भरा हुआ था। सभी एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे। सबमें परस्पर लाग-डाँट थी और सभी सबको कुचलनेकी चेष्टा करते थे ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्पर्धया राजञ्ज्ञातयः सङ्गता मिथः ।
महास्त्राणि विमुञ्चन्तः समापेतुरमर्षिणः ॥ २४ ॥

महाराज ! वे सब आपसमें कुटुम्बी—भाई-बन्धु थे, परंतु परस्पर स्पर्धा रखनेके कारण लड़ रहे थे। एक दूसरेके प्रति अमर्षमें भरकर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करते हुए आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं महारणे ।
विव्याध निशितैर्बाणैश्चतुर्भिः समरे द्रुतम् ॥ २५ ॥

दुर्योधनने कुपित होकर उस महासंग्राममें अपने चार तीखे बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नको बींध दिया ॥ २५ ॥

दुर्मर्षणश्च विंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ।
दुर्मुखो नवभिर्बाणैर्दुःसहश्चापि सप्तभिः ॥ २६ ॥
विविंशतिः पञ्चभिश्च त्रिभिर्दुःशासनस्तथा ।
तान् प्रत्यविध्यद् राजेन्द्र पार्षतः शत्रुतापनः ॥ २७ ॥
एकैकं पञ्चविंशत्या दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

दुर्मर्षणने बीस, चित्रसेनने पाँच, दुर्मुखने नौ, दुःसहने सात, विविंशतिने पाँच तथा दुःशासनने तीन बाणोंसे उन सबको बींध डाला। राजेन्द्र ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए दुर्योधन आदिमेंसे प्रत्येकको पचीस-पचीस बाणोंसे घायल किया ॥ २६-२७½ ॥

सत्यव्रतं च समरे पुरुमित्रं च भारत ॥ २८ ॥
अभिमन्युरविध्यत् तु दशभिर्दशभिः शरैः ।

भारत ! अभिमन्युने समरभूमिमें सत्यव्रत और पुरुमित्र-को दस-दस बाणोंसे पीड़ित किया ॥ २८½ ॥

माद्रीपुत्रौ तु समरे मातुलं मातृनन्दनौ ॥ २९ ॥
अविध्येतां शरैस्तीक्ष्णैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

माताको आनन्दित करनेवाले माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपने मामा शल्यको पैने बाणोंसे घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९½ ॥

ततः शल्यो महाराज स्वस्रीयौ रथिनां वरौ ॥ ३० ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
छाद्यमानौ ततस्तौ तु माद्रीपुत्रौ न चेलतुः ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर शल्यने किये हुए प्रहारका बदला चुकानेकी इच्छा रखनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अपने दोनों भानजोंको अनेक बाणोंसे पीड़ित किया। उनके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नकुल-सहदेव विचलित नहीं हुए ॥ ३०-३१ ॥

अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
विधित्सुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने दुर्योधनको देखकर झगड़ेका अन्त कर डालनेकी इच्छासे गदा उठा ली॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ३३ ॥

गदा उठाये हुए महाबाहु भीमसेनको एक शिखरसे युक्त कैलास पर्वतके समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भयके मारे भाग गये ॥ ३३ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो मागधं समचोदयत् ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधनने कुपित होकर मगधदेशीय दस हजार हाथियोंकी वेगशाली सेनाको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ३४ ॥

गजानीकेन सहितस्तेन राजा सुयोधनः ।
मागधं पुरतः कृत्वा भीमसेनं समभ्ययात् ॥ ३५ ॥

उस गजसेनाके साथ मागधको आगे करके दुर्योधन-ने भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः ।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इवोन्नदन् ॥ ३६ ॥

उस गजसेनाको आते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर सिंहके समान गर्जना करते हुए रथसे उतर पड़े ॥ ३६ ॥

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यधावद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३७ ॥

लोहेकी उस विशाल एवं भारी गदाको लेकर वे मुँह बाये हुए कालके समान उस गजसेनाकी ओर दौड़े ॥ ३७ ॥

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥ ३८ ॥

बलवान् महाबाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्रके समान गदासे हाथियोंका संहार करते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य नादेन महता मनोहृदयकम्पिना ।
व्यत्यचेष्टन्त संहत्य गजा भीमस्य गर्जतः ॥ ३९ ॥

मन और हृदयको कँपा देनेवाली गर्जते हुए भीमसेनकी उस भीषण गर्जनासे सब हाथी एकत्र हो भयके मारे निश्चेष्ट एवं अचेत-से हो गये ॥ ३९ ॥

ततस्तु द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४० ॥
पृष्ठं भीमस्य रक्षन्तः शरवर्षेण वारणान् ।
अभ्यवर्षन्त धावन्तो मेघा इव गिरीन् यथा ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल-सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा करते हुए हाथियोंपर उसी प्रकार दौड़-दौड़-कर बाणवर्षा करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानीकी बूँदें बरसाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पीतैश्चाञ्जलिकैः शितैः ।
न्यहरन्नुत्तमाङ्गानि पाण्डवा गजयोधिनाम् ॥ ४२ ॥

पाण्डव रथी क्षुर, क्षुरप्र, पीले रंगके भल्ल तथा तीखे आञ्जलिक नामक बाणोंद्वारा हाथीसवार योद्धाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च बाहुभिश्च विभूषितैः ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति पाणिभिश्च सहाङ्कुशैः ॥ ४३ ॥

उनके शिरों, बाजूबन्दविभूषित भुजाओं और अङ्कुशोंसहित हाथोंके गिरनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे ओले और पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ ४३ ॥

हृतोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्ताचलाग्रेषु द्रुमा भग्नशिखा इव ॥ ४४ ॥

मस्तक कट जानेपर भी हाथियोंकी पीठपर टिके हुए गजारोही योद्धाओंके धड़ पर्वतके शिखरोंपर स्थित हुए शिखाहीन वृक्षोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४४ ॥

धृष्टद्युम्नहतानन्यानपश्याम महागजान् ।
पततः पात्यमानांश्च पार्षतेन महात्मना ॥ ४५ ॥

हमलोगोंने धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये बहुत से हाथियोंको देखा, महामना द्रुपदकुमारकी मार खाकर बहुत-से हाथी गिरे और गिराये जा रहे थे ॥ ४५ ॥

मागधोऽथ महीपालो गजमैरावणोपमम् ।
प्रेषयामास समरे सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ४६ ॥

इसी समय मगधदेशीय भूपालने युद्धस्थलमें अभिमन्युके रथकी ओर ऐरावतके समान एक विशाल हाथीको प्रेरित किया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मागधस्य महागजम् ।
जघानैकेषुणा वीरः सौभद्रः परवीरहा ॥ ४७ ॥

मगधनरेशके उस विशाल गजको आते देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर सुभद्राकुमारने उसे एक ही बाणसे मार डाला॥

तस्यावर्जितनागस्य कार्ष्णिः परपुरंजयः ।
राज्ञो रजतपुङ्खेन भल्लेनापाहरच्छिरः ॥ ४८ ॥

फिर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने मरनेपर भी हाथीको न छोड़नेवाले मगधराजका मस्तक रजतमय पंखवाले भल्लके द्वारा काट गिराया ॥ ४८ ॥

विगाह्य तद् गजानीकं भीमसेनोऽपि पाण्डवः ।
व्यचरत् समरे मृद्नन् गजानिन्द्रो गिरीनिव ॥ ४९ ॥

उधर पाण्डुनन्दन भीमसेन भी गजसेनामें घुसकर पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले देवेन्द्रके समान हाथियोंको रौंदते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ४९ ॥

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन दन्तिनः ।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ॥ ५० ॥

महाराज ! उस युद्धस्थलमें हमने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति भीमसेनके एक ही प्रहारसे दन्तार हाथियोंको भी मरते देखा था ॥ ५० ॥

भग्नदन्तान् भग्नकरान् भग्नसक्थांश्च वारणान् ।
भग्नपृष्ठत्रिकानन्यान् निहतान् पर्वतोपमान् ॥ ५१ ॥
नदतः सीदतश्चान्यान् विमुखान् समरे गतान् ।
विद्रुतान् भयसंविग्नांस्तथा विशकृतोऽपरान् ॥ ५२ ॥

किन्हींके दाँत टूट गये, किन्हींकी सूँड़ कट गयी, कितनोंकी जाँघें टूट गयीं, किन्हींकी पीठ टूट गयी और कितने ही पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज मारे गये, कुछ चिग्घाड़ रहे थे, कुछ कष्टसे कराह रहे थे, कुछ युद्धभूमिसे विमुख होकर भागने लगे थे और कुछ भयसे व्याकुल होकर मल-मूत्र कर रहे थे । इन सबको मैंने अपनी आँखों देखा था ॥ ५१-५२ ॥

भीमसेनस्य मार्गेषु पतितान् पर्वतोपमान् ।
अपश्यं निहतान् नागान् राजन् निष्ठीवतोऽपरान्॥५३॥

भीमसेनके मार्गोंमें उनके द्वारा मारे गये पर्वतोपम हाथी पड़े दिखायी दिये । राजन् ! अन्य बहुत-से हाथियोंको मैंने मुँहसे फेन फेंकते देखा था ॥ ५३ ॥

वमन्तो रुधिरं चान्ये भिन्नकुम्भा महागजाः ।
विह्वलन्तो गता भूमिं शैला इव धरातले ॥ ५४ ॥

कितने ही विशालकाय हाथी खून उगल रहे थे और उनके कुम्भस्थल फट गये थे । बहुत से व्याकुल होकर इस भूतलपर पर्वतोंके समान पड़े थे ॥ ५४ ॥

मेदोरुधिरदिग्धाङ्गो वसामज्जासमुक्षितः ।
व्यचरत् समरे भीमो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ५५ ॥

भीमसेनका सारा शरीर मेदा तथा रक्तसे लिप्त हो रहा था । वे वसा और मज्जासे नहा गये थे और हाथमें गदा लिये दण्डपाणि यमराजके समान उस युद्धभूमिमें विचर रहे थे ॥ ५५ ॥

गजानां रुधिरक्लिन्नां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
घोरः प्रतिभयश्चासीत् पिनाकीव पिनाकधृक् ॥ ५६ ॥

हाथियोंके खूनसे भीगी हुई गदा धारण किये भीमसेन पिनाकधारी भगवान् रुद्रके समान घोर एवं भयंकर दिखायी देते थे ॥ ५६ ॥

सम्मथ्यमानाः क्रुद्धेन भीमसेनेन दन्तिनः ।
सहसा प्राद्रवन् क्लिष्टा मृद्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ५७ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथियोंको मथे डालते थे; अतः वे उनके द्वारा अत्यन्त क्लेश पाकर आपकी सेनाको कुचलते हुए सहसा युद्धस्थलसे भाग चले ॥ ५७ ॥

तं हि वीरं महेष्वासं सौभद्रप्रमुखा रथाः ।
पर्यरक्षन्त युध्यन्तं वज्रायुधमिवामराः ॥ ५८ ॥

जैसे देवता वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार आदि पाण्डव योद्धा युद्धमें तत्पर हुए महाधनुर्धर वीर भीमसेनकी सब ओरसे रक्षा करते थे ॥५८॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः ।
कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ॥ ५९ ॥

खूनमें सनी तथा हाथियोंके रक्तसे भीगी हुई गदा लिये रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराजके समान दिखायी देते थे॥

व्यायच्छमानं गदया दिक्षु सर्वासु भारत ।
अपश्याम रणे भीमं नृत्यन्तमिव शंकरम् ॥ ६० ॥

भारत ! भीमसेन गदा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यायाम-सा कर रहे थे । समरभूमिमें भीमको हमलोगोंने ताण्डव-नृत्य करते हुए भगवान् शङ्करके समान देखा था ॥ ६० ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
अपश्याम महाराज रौद्रां विशसनीं गदाम् ॥ ६१ ॥

महाराज ! भीमसेनकी भारी और भयंकर गदा सबका संहार करनेवाली है । हमें तो वह यमदण्डके समान दिखायी देती थी । प्रहार करनेपर उससे इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ॥ ६१ ॥

विमिश्रां केशमज्जाभिः प्रदिग्धां रुधिरेण च ।
पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ ६२ ॥

रक्तसे भीगी तथा केश और मज्जासे मिली हुई उस गदाको हमने प्रलयकालमें क्रोधसे भरकर समस्त पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाकके समान समझा था ॥ ६२ ॥

यथा पशूनां संघातं यष्ट्या पालः प्रकालयेत् ।
तथा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ॥ ६३ ॥

जैसे चरवाहा पशुओंके झुंडको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंके समूहको अपनी गदासे हाँक रहे थे॥

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ॥ ६४ ॥

महाराज ! चारों ओरसे गदा और बाणोंकी मार पड़नेपर आपकी सेनाके वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए भाग रहे थे ॥ ६४ ॥

महावात इवाभ्राणि विधमित्वा स वारणान् ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमः श्मशान इव शूलभृत् ॥ ६५ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेन उस भयंकर युद्धमें हाथियोंकी सेनाको नष्ट करके श्मशानभूमिमें त्रिशूलधारी भगवान् शंकरके समान खड़े थे ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसे भीमयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिन भीमसेनका युद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़

संजय उवाच

हते तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यचोदयत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! हाथियोंकी उस सेनाके मारे जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि सब मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ १ ॥

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ॥ २ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेनपर टूट पड़ीं ॥ २ ॥

तं बलौघमपर्यन्तं देवैरपि सुदुःसहम् ।
आपतन्तं सुदुष्पारं समुद्रमिव पर्वणि ॥ ३ ॥

सेनाका वह अनन्त वेग देवताओंके लिये भी दुःसह था। पूर्णिमाको बढ़े हुए समुद्रके समान अपार जान पड़ता था॥

रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।
अनन्तरथपादातं रजसा सर्वतो वृतम् ॥ ४ ॥

वह सैन्य-समुद्र रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरा हुआ था । शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे कोलाहलपूर्ण हो रहा था ।

उसमें रथ और पैदलोंकी संख्या नहीं बतायी जा सकती थी तथा उस सेनामें सब ओर धूल व्याप्त हो रही थी ॥ ४ ॥

तं भीमसेनः समरे महोदधिमिवापरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यं वेलेव समवारयत् ॥ ५ ॥

दूसरे महासागरके समान उस अक्षोभ्य सैन्य-समुद्रको युद्धमें भीमसेनने तटप्रदेशकी भाँति रोक दिया ॥ ५ ॥

तदाश्चर्यमपश्याम पाण्डवस्य महात्मनः ।
भीमसेनस्य समरे राजन् कर्मातिमानुषम् ॥ ६ ॥

राजन्! उस समय संग्राम-भूमिमें हमलोगोंने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनका अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था ॥ ६ ॥

उदीर्णान् पार्थिवान् सर्वान् साश्वान् सरथकुञ्जरान् ।
असम्भ्रमं भीमसेनो गदया समवारयत् ॥ ७ ॥

घोड़े, हाथी तथा रथसहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सबको केवल गदाकी सहायतासे भीमसेनने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ७ ॥

स संवार्य बलौघांस्तान् गदया रथिनां वरः ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमो गिरिर्मेरुरिवाचलः ॥ ८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उस सारे सैन्यसमूहको गदाद्वारा रोककर उस भयंकर युद्धमें मेरु पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रहे ॥ ८ ॥

तस्मिन् सुतुमुले घोरे काले परमदारुणे ।
भ्रातरश्चैव पुत्राश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च शिखण्डी चापराजितः ।
न प्राजहन् भीमसेनं भये जाते महाबलम् ॥ १० ॥

उस महान् भयंकर तथा अत्यन्त दारुण भयके समय महाबली भीमसेनको उनके भाई, पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु और अपराजित वीर शिखण्डी—ये कोई भी छोड़कर नहीं गये ॥ ९-१० ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् पूर्णतः फौलादकी बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथमें लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति आपके सैनिकोंपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

पोथयन् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि चाभिभूः ।
कर्षयन् रथवृन्दानि बाहुवेगेन पाण्डवः ॥ १२ ॥
विनिघ्नन् व्यचरत् संख्ये युगान्ते कालवद् विभुः ।

फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ोंके समूहको नष्ट करके अपनी भुजाओंके वेगसे रथोंके समुदायको खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकालके यमराजकी भाँति संग्रामभूमिमें विचरने लगे ॥ १२½ ॥

ऊरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ॥ १३ ॥
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ।

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेगसे रथसमूहोंको खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेनाको उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी नरकुलके पौधोंको ॥ १३½ ॥

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ॥ १४ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ।
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ॥ १५ ॥
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ।

महाबाहु भीमसेन रथोंसे रथियोंको, हाथियोंसे हाथीसवारोंको, घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारोंको और पृथ्वीपर पैदलोंको मसलते हुए गदासे आपके पुत्रकी सेनाके सब लोगोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥ १४-१५½ ॥

सापि मज्जावसामांसैः प्रदिग्धा रुधिरेण च ॥ १६ ॥
अदृश्यत महारौद्रा गदा नागाश्वपातनी ।

हाथियों और घोड़ोंको मार गिरानेवाली उनकी वह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्तमें सनकर बड़ी भयानक दिखायी देती थी ॥ १६½ ॥

तत्र तत्र हतैश्चापि मनुष्यगजवाजिभिः ॥ १७ ॥
रणाङ्गणं समभवन्मृत्योरावाससंनिभम् ।

जहाँ-तहाँ मरकर गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे वह सारी रणभूमि मृत्युके निवासस्थान-सी प्रतीत होती थी ॥

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ १८ ॥
यमदण्डोपमामुग्रामिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
ददृशुर्भीमसेनस्य रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १९ ॥

भीमसेनकी उस संहारकारिणी भयंकर गदाको लोगोंने प्रलयकालमें पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रके पिनाक और यमदण्डके समान भयंकर देखा । उसकी आवाज इन्द्रके वज्रके समान थी ॥ १८-१९ ॥

आविद्ध्यतो गदां तस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
बभौ रूपं महाघोरं कालस्येव युगक्षये ॥ २० ॥

अपनी गदाको घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीमसेनका रूप युगान्त-कालके यमराजके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ २० ॥

तं तथा महतीं सेनां द्रावयन्तं पुनः पुनः ।
दृष्ट्वा मृत्युमिवायान्तं सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

उस विशाल सेनाको बारंबार भगानेवाले भीमसेनको मौतके समान सामने आते देख समस्त योद्धाओंका मन

उदास हो जाता था ॥ २१ ॥

यतो यतः प्रेक्षते स गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
तेन तेन स्म दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधरसे सारी सेनाओंमें दरार पड़ जाती थी। (वहाँके सैनिक भागकर स्थान खाली कर देते थे) ॥ २२ ॥

प्रदारयन्तं सैन्यानि बलेनामितविक्रमम् ।
ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ २३ ॥
तं तथा भीमकर्माणं प्रगृहीतमहागदम् ।
दृष्ट्वा वृकोदरं भीष्मः सहसैव समभ्ययात् ॥ २४ ॥

अपने बलसे सेनाको विदीर्ण करनेवाले भीमसेन सम्पूर्ण सैनिकोंको अपना ग्रास बनानेके लिये मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे। उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनको देखकर भीष्मजी सहसा वहाँ पहुँचे ॥२३-२४॥

महता रथघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
छादयञ्शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २५ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा पहियोंके गम्भीर घोषसे युक्त विशाल रथपर आरूढ़ हो बरसते हुए मेघके समान बाणोंकी वर्षासे सबको आच्छादित करते हुए वहाँ आये थे ॥

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
भीष्मं भीमो महाबाहुः प्रत्युदीयादमर्षितः ॥ २६ ॥

मुँह फैलाये हुए यमराजके समान भीष्मजीको आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्षमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २६ ॥

तस्मिन् क्षणे सात्यकिः सत्यसंधः
शिनिप्रवीरोऽभ्यपतत् पितामहम् ।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
संकम्पयंस्तव पुत्रस्य सैन्यम् ॥२७॥

उस समय शिनिवंशके प्रमुख वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषसे शत्रुओंका संहार करते और आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए पितामह भीष्मपर चढ़ आये।२७।

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशैः
शरान् वपन्तं निशितान् सुपुङ्खान् ।
नाशक्नुवन् धारयितुं तदानीं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥२८॥

भारत ! चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा जाते और सुन्दर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिको उस समय आपके समस्त सैनिकगण रोक न सके ॥ २८ ॥

अविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राक्षसोऽसौ तदानीम् ।
शरैश्चतुर्भिः प्रतिविद्धय तं च
नप्ता शिनेरभ्यपतद् रथेन ॥२९॥

केवल अलम्बुष नामक राक्षसने उस समय उन्हें दस बाणोंसे घायल किया। तब शिनिके पौत्रने भी उस राक्षसको चार बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया और रथके द्वारा भीष्मपर धावा किया ॥ २९ ॥

अन्वागतं वृष्णिवरं निशम्य
तं शत्रुमध्ये परिवर्तमानम् ।
प्रद्रावयन्तं कुरुपुङ्गवांश्च
पुनः पुनश्च प्रणदन्तमाजौ ॥३०॥
योधास्त्वदीयाः शरवर्षैरवर्षन्
मेघा यथा भूधरमम्बुवेगैः ।
तथापि तं धारयितुं न शेकु-
र्मध्यन्दिने सूर्यमिवातपन्तम् ॥३१॥

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुष सात्यकि आकर शत्रुओंके बीचमें विचर रहे हैं और युद्धस्थलमें कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीरोंको भगाते हुए बारंबार गर्जना कर रहे हैं; यह सुनकर आपके योद्धा उनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, इतनेपर भी वे दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति उन्हें रोक न सके ।३०-३१।

न तत्र कश्चिन्नविषण्ण आसी-
दृते राजन् सोमदत्तस्य पुत्रात् ।
स वै समादाय धनुर्महात्मा
भूरिश्रवा भारत सौमदत्तिः ॥३२॥
दृष्ट्वा रथान् स्वान् व्यपनीयमानान्
प्रत्युद्ययौ सात्यकिं योद्धुमिच्छन् ॥३३॥

राजन् ! उस समय वहाँ सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवाको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं था, जो विषादग्रस्त न हुआ हो। भारत ! सोमदत्तकुमार महामना भूरिश्रवाने अपने रथियोंको विवश होकर भागते देख धनुष ले युद्ध करनेकी इच्छासे सात्यकिपर चढ़ाई की ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सात्यकिभूरिश्रवःसमागमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिभूरिश्रवा-समागमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो भूरिश्रवा राजन् सात्यकिं नवभिः शरैः ।
प्राविध्यद् भृशसंक्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भूरिश्रवाने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सात्यकिको नौ बाणोंसे उसी प्रकार बींध डाला, जैसे महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा पीड़ित किया जाता है ॥

कौरवं सात्यकिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः ।
अवारयदमेयात्मा सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २ ॥

तब अमेय आत्मबलसम्पन्न सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सब लोगोंके देखते-देखते कुरुवंशी भूरिश्रवा-को रोक दिया ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
सौमदत्तिं रणे यत्तः समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ३ ॥

यह देख भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उद्यत होकर भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षामें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

तं चैव पाण्डवाः सर्वे सात्यकिं रभसं रणे ।
परिवार्य स्थिताः संख्ये समन्तात् सुमहौजसः ॥ ४ ॥

उधर महान् तेजस्वी समस्त पाण्डव भी युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले सात्यकिको सब ओरसे घेरकर समरभूमिमें डट गये ॥ ४ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामुद्यम्य भारत ।
दुर्योधनमुखान् सर्वान् पुत्रांस्ते पर्यवारयत् ॥ ५ ॥

भारत ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने गदा उठाकर आपके दुर्योधन आदि सब पुत्रोंको अकेले ही रोक दिया ॥

रथैरनेकसाहस्रैः क्रोधामर्षसमन्वितः ।
नन्दकस्तव पुत्रस्तु भीमसेनं महाबलम् ॥ ६ ॥
विव्याध विशिखैः षड्भिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।

तब क्रोध और अमर्षमें भरे हुए आपके पुत्र नन्दकने कई हजार रथियोंके साथ आकर शिलापर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त छः बाणोंसे महाबली भीमसेनको बींध डाला ।६½।

दुर्योधनश्च समरे भीमसेनं महारथम् ॥ ७ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो मार्गणैर्नवभिः शितैः ।

कुपित हुए दुर्योधनने भी महारथी भीमसेनको उस युद्धमें उनकी छातीको लक्ष्य करके नौ तीखे बाण मारे ।७½।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ॥ ८ ॥
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत् ।

तब महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गये और सारथि विशोकसे इस प्रकार बोले—।८½।

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ॥ ९ ॥
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि ।

'ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्रपुत्र अत्यन्त कुपित हो युद्धमें मुझे ही मारनेके लिये उद्यत हो यहाँ आये हैं ॥ ९½ ॥

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ॥ १० ॥
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान् ।

'सूत ! मेरे मनमें बहुत वर्षोंसे जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है; क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधनके भाइयोंको एकत्र देख रहा हूँ ॥ १०½ ॥

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ॥ ११ ॥
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे ।
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ॥ १२ ॥

'विशोक ! जहाँ रथके पहियोंसे ऊपर उड़ी हुई धूल बाणसमूहोंके साथ अन्तरिक्ष और दिगन्तमें फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये खड़ा है ॥ ११-१२ ॥

भ्रातरश्चास्य संनद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः ।
एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ॥ १३ ॥
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे ।

'उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं। आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबका विनाश करूँगा, इसमें संशय नहीं है। अतः सारथे ! तुम सावधान होकर संग्राममें मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो' ।१३½।

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ॥ १४ ॥
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः ।
नन्दकं च त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ १५ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर कुन्तीकुमार भीमने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको बींध डाला और नन्दककी छातीमें भी तीन बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥

तं तु दुर्योधनः षष्ट्या विद्ध्वा भीमं महाबलम् ।
त्रिभिरन्यैः सुनिशितैर्विशोकं प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

यह देख दुर्योधनने साठ बाणोंसे महाबली भीमसेनको घायल करके अन्य तीन पैने बाणोंसे सारथि विशोकको भी घायल कर दिया ॥ १६ ॥

भीमस्य च रणे राजन् धनुश्चिच्छेद भासुरम्।
मुष्टिदेशे भृशं तीक्ष्णैस्त्रिभिर्भल्लैर्हसन्निव ॥ १७॥

राजन्! इसके बाद दुर्योधनने युद्धस्थलमें तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा हँसते हुए-से भीमके तेजस्वी धनुषको भी बीचसे काट दिया ॥ १७ ॥

समरे प्रेक्ष्य यन्तारं विशोकं तु वृकोदरः।
पीडितं विशिखैस्तीक्ष्णैस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १८ ॥
अमृष्यमाणः संरब्धो धनुर्दिव्यं परामृशत्।
पुत्रस्य ते महाराज वधार्थं भरतर्षभ ॥ १९ ॥
समाधत्त सुसंक्रुद्धः क्षुरप्रं लोमवाहिनम्।
तेन चिच्छेद नृपतेर्भीमः कार्मुकमुत्तमम् ॥ २० ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा समराङ्गणमें अपने सारथि विशोकको तीखे बाणोंके आघातसे पीड़ित होता देख भीमसेन सह न सके। उन्होंने कुपित होकर अपना दिव्य धनुष हाथमें लिया। महाराज! भरतश्रेष्ठ! फिर आपके पुत्रके वधके लिये अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने पंखयुक्त क्षुरप्रका संधान किया और उसके द्वारा राजा दुर्योधनके उत्तम धनुषको काट डाला॥

सोऽपविद्धय धनुश्छिन्नं पुत्रस्ते क्रोधमूर्च्छितः।
अन्यत् कार्मुकमादत्त सत्वरं वेगवत्तरम् ॥ २१ ॥

राजन्! धनुष कटनेपर आपका पुत्र क्रोधसे मूर्छित हो उठा। उसने उस कटे हुए धनुषको फेंककर तुरंत ही उससे भी अधिक वेगशाली दूसरा धनुष ले लिया ॥ २१ ॥

संदधे विशिखं घोरं कालमृत्युसमप्रभम्।
तेनाजघान संक्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ २२ ॥

फिर उसके ऊपर काल और मृत्युके समान तेजस्वी भयंकर बाण रक्खा और कुपित हो उसके द्वारा भीमसेनकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ २२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितः स्यन्दनोपस्थ आविशत्।
स निषण्णो रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ॥ २३ ॥

उस बाणसे अत्यन्त घायल हो भीमसेन व्यथाके मारे रथकी बैठकमें बैठ गये। वहाँ बैठते ही उन्हें मूर्छा आ गयी॥

तं दृष्ट्वा व्यथितं भीममभिमन्युपुरोगमाः।
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २४ ॥

भीमसेनको प्रहारसे पीड़ित हुआ देख अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर पाण्डव महारथी यह सहन न कर सके ॥ २४ ॥

ततस्तु तुमुलां वृष्टिं शस्त्राणां तिग्मतेजसाम्।
पातयामासुरव्यग्राः पुत्रस्य तव मूर्धनि ॥ २५ ॥

फिर तो सब लोगोंने आपके पुत्रके मस्तकपर निर्भय होकर तेजस्वी शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥२५॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः।
दुर्योधनं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आनेपर महाबली भीमसेनने दुर्योधनको पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल किया ॥

शल्यं च पञ्चविंशत्या शरैर्विव्याध पाण्डवः।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः स विद्धो व्यपयाद् रणात् ॥ २७ ॥

फिर महाधनुर्धर पाण्डुपुत्र भीमने सुवर्णमय पंखसे युक्त पचीस बाणोंद्वारा राजा शल्यको बींध दिया। उन बाणोंसे घायल होकर वे रणभूमिसे भाग गये ॥ २७ ॥

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश।
सेनापतिः सुषेणश्च जलसंधः सुलोचनः ॥ २८ ॥
उग्रो भीमरथो भीमो वीरबाहुरलोलुपः।
दुर्मुखो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ॥ २९ ॥
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः।
भीमसेनमभिद्रुत्य विव्यधुः सहिता भृशम् ॥ ३० ॥

राजन्! तब आपके चौदह पुत्रोंने भीमसेनपर धावा किया। उनके नाम ये हैं—सेनापति, सुषेण, जलसंध, सुलोचन, उग्र, भीमरथ, भीम, वीरबाहु, अलोलुप, दुर्मुख, दुष्प्रधर्ष, विवित्सु, विकट और सम—ये सब क्रोधसे लाल आँखें करके बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनपर टूट पड़े और एक साथ होकर उन्हें अत्यन्त घायल करने लगे॥

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ॥ ३१ ॥
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगितः।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ ३२ ॥

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रोंको देखकर पशुओंके बीचमें खड़े हुए भेड़ियेके समान अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए गरुड़के समान बड़े वेगसे उनके सामने गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकुमारने क्षुरप्र नामक बाणसे सेनापतिका सिर काट लिया ॥ ३१-३२ ॥

सम्प्रहस्य च हृष्टात्मा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः।
जलसंधं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त हो उन महाबाहुने हँसते-हँसते जलसंधको तीन बाणोंसे विदीर्ण करके यमलोक पहुँचा दिया ॥

सुषेणं च ततो हत्वा प्रेषयामास मृत्यवे।
उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि ॥ ३४ ॥
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम्।

तदनन्तर सुषेणको मारकर मौतके घर भेज दिया और उग्रके कुण्डलमण्डित चन्द्रोपम मस्तकको एक भल्लके द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३४½ ॥

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम् ॥ ३५ ॥
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः।

इसके बाद पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेनने समरभूमिमें

घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहुको सत्तर बाणोंसे मारकर परलोक पहुँचा दिया ॥ ३५½ ॥

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव ॥ ३६ ॥
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ।

राजन्! तत्पश्चात् भीमसेनने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथको भी, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया ॥ ३६½ ॥

ततः सुलोचनं भीमः क्षुरप्रेण महामृधे ॥ ३७ ॥
मिषतां सर्वसैन्यानामनयद् यमसादनम् ।

इसके बाद उस महासमरमें भीमसेनने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते क्षुरप्रसे मारकर सुलोचनको भी यमलोकका अतिथि बना दिया ॥ ३७½ ॥

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम् ॥ ३८ ॥
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र ते भीमस्य भयार्दिताः ।
विप्रद्रुता दिशो राजन् वध्यमाना महात्मना ॥ ३९ ॥

राजन्! आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ मौजूद थे, वे भीमसेनका पराक्रम देखकर उनके भयसे पीड़ित हो उन महामना पाण्डुकुमारके बाणकी मार खाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८-३९ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान् ।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥ ४० ॥
यथा प्राग्र्यान् यथा ज्येष्ठान् यथा शूरांश्च संगतान्।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत मान्चिरम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने सभी महारथियोंसे कहा—'ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्धमें कुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार गिराते हैं। अतः तुम सब लोग मिलकर इन्हें शीघ्र काबूमें करो'॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ॥ ४२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर दुर्योधनके सभी सैनिक कुपित हो महाबली भीमसेनकी ओर दौड़े ॥ ४२ ॥

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते ।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराजपर आरूढ़ हो सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥

आपतन्नेव च रणे भीमसेनं शिलीमुखैः ।
अदृश्यं समरे चक्रे जीमूत इव भास्करम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें आते ही उन्होंने अपने बाणोंसे भीमसेनको अदृश्य कर दिया, मानो सूर्य बादलोंसे ढक गये हों ॥ ४४ ॥

अभिमन्युमुखास्तत् तु नामृष्यन्त महारथाः ।
भीमस्याच्छादनं संख्ये स्वबाहुबलमाश्रिताः ॥ ४५ ॥
त एनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ।
गजं च शरवृष्ट्या तु बिभिदुस्ते समन्ततः ॥ ४६ ॥

उस समय अभिमन्यु आदि महारथी भीमका इस प्रकार बाणोंसे आच्छादित हो जाना सहन न कर सके। वे अपने बाहुबलका आश्रय ले युद्धमें भगदत्तपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें रोकने लगे। उन्होंने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तके हाथीको भी सब ओरसे छेद डाला ॥

स शस्त्रवृष्ट्याभिहतः समस्तैस्तैर्महारथैः ।
प्राग्ज्योतिषगजो राजन् नानालिङ्गैः सुतेजनैः ॥ ४७ ॥
संजातरुधिरोत्पीडः प्रेक्षणीयोऽभवद् रणे ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४८ ॥

राजन्! जो नाना प्रकारके चिह्न धारण करनेवाले और अत्यन्त तेजस्वी थे, उन समस्त महारथियोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे बहुत ही घायल होकर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तका वह हाथी मस्तकपर रक्तसे रंजित हो रणक्षेत्रमें देखने ही योग्य हो रहा था, मानो सूर्यकी अरुण किरणोंसे व्याप्त रँगा हुआ महामेघ हो ॥ ४७-४८ ॥

संचोदितो मदस्रावी भगदत्तेन वारणः ।
अभ्यधावत तान् सर्वान् कालोत्सृष्ट इवान्तकः ॥ ४९ ॥
द्विगुणं जवमास्थाय कम्पयंश्चरणैर्महीम् ।

भगदत्तसे प्रेरित होकर कालके भेजे हुए यमराजकी भाँति वह मदस्रावी गजराज दूने वेगका आश्रय ले अपने पैरोंकी धमकसे इस पृथ्वीको कँपाता हुआ उन सबकी ओर दौड़ा ॥

तस्य तत् सुमहद् रूपं दृष्ट्वा सर्वे महारथाः ॥ ५० ॥
असह्यं मन्यमानाश्च नातिप्रमनसोऽभवन् ।

उसके उस विशाल रूपको देखकर सब महारथी अपने लिये असह्य मानते हुए हतोत्साह हो गये ॥ ५०½ ॥

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ।

महाराज! तत्पश्चात् राजा भगदत्तने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः ॥ ५२ ॥
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ।

राजा भगदत्तसे इस प्रकार अत्यन्त घायल किये गये महाधनुर्धर महारथी भीमसेनने मूर्छासे व्याप्त हो ध्वजका डंडा थाम लिया ॥ ५२½ ॥

तांस्तु भीतान् समालक्ष्य भीमसेनं च मूर्च्छितम्॥ ५३॥
ननाद बलवन्नादं भगदत्तः प्रतापवान् ।

उन सब महारथियोंको भयभीत और भीमसेनको मूर्छित हुआ देख प्रतापी भगदत्तने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५३½॥

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम्॥ ५४ ॥

संक्रुद्धो राक्षसो घोरस्तत्रैवान्तरधीयत।

राजन्! तदनन्तर भीमको वैसी अवस्थामें देखकर भयंकर राक्षस घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो वहीं अदृश्य हो गया॥ ५४½॥

स कृत्वा दारुणां मायां भीरूणां भयवर्धिनीम्॥ ५५॥
अदृश्यत निमेषार्धाद् घोररूपं समास्थितः।
ऐरावणं समारूढः स वै मायाकृतं स्वयम्॥ ५६॥
(कैलासगिरिसंकाशं वज्रपाणिरिवाभ्ययात्।)

फिर उसने कायरोंका भय बढ़ानेवाली अत्यन्त दारुण माया प्रकट की। वह आधे निमेषमें ही भयंकर रूप धारण करके दृष्टिगोचर हुआ। घटोत्कच अपनी ही मायाद्वारा निर्मित कैलासपर्वतके समान श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर बैठकर वज्रधारी इन्द्रके समान वहाँ आया था॥ ५५-५६॥

तस्य चान्येऽपि दिङ्नागा बभूवुरनुयायिनः।
अञ्जनो वामनश्चैव महापद्मश्च सुप्रभः॥ ५७॥
त्रय एते महानागा राक्षसैः समधिष्ठिताः।

उसके पीछे अंजन, वामन और उत्तम कान्तिसे युक्त महापद्म—ये तीन दिग्गज और थे, जिनपर उसके साथी राक्षस सवार थे॥ ५७½॥

महाकायास्त्रिधा राजन् प्रस्रवन्तो मदं बहु॥ ५८॥
तेजोवीर्यबलोपेता महाबलपराक्रमाः।

राजन्! वे सभी विशालकाय दिग्गज तीन स्थानोंसे बहुत मद बहा रहे थे और तेज, वीर्य एवं बलसे सम्पन्न तथा महाबली और महापराक्रमी थे॥ ५८½॥

घटोत्कचस्तु स्वं नागं चोदयामास तं तदा॥ ५९॥
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परंतपः।

शत्रुओंको संताप देनेवाले घटोत्कचने अपने हाथीको गजारूढ़ राजा भगदत्तकी ओर बढ़ाया। वह उन्हें हाथीसहित मार डालना चाहता था॥ ५९½॥

ते चान्ये चोदिता नागा राक्षसैस्तैर्महाबलैः॥ ६०॥
परिपेतुः सुसंरब्धाश्चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्दिशम्।

महाबली राक्षसोंद्वारा प्रेरित अन्यान्य दिग्गज भी जिनके चार-चार दाँत थे, अत्यन्त कुपित हो चारों दिशाओंमें टूट पड़े॥

भगदत्तस्य तं नागं विषाणैरभ्यपीडयन्॥ ६१॥
स पीड्यमानस्तैर्नागैर्वेदनार्तः शराहतः।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम्॥ ६२॥

वे सब-के-सब भगदत्तके हाथीको अपने दाँतोंसे पीड़ा देने लगे। वह बाणोंसे बहुत घायल हो चुका था; अतः इन हाथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर वेदनासे व्याकुल हो बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी॥ ६१-६२॥

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम्।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम्॥ ६३॥

भयंकर आवाजके साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथीके उस चीत्कारको सुनकर भीष्मने द्रोणाचार्य तथा राजा दुर्योधनसे कहा—॥ ६३॥

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते॥ ६४॥

'ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त युद्धमें दुरात्मा घटोत्कचके साथ जूझ रहे हैं और संकटमें पड़ गये हैं॥ ६४॥

राक्षसश्च महाकायः स च राजातिकोपनः।
एतौ समेतौ समरे कालमृत्युसमावुभौ॥ ६५॥

'वह राक्षस विशालकाय है और वे राजा भी अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हैं। वे दोनों समरमें काल और मृत्युके समान हैं॥ ६५॥

श्रूयते चैव हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः।
हस्तिनश्चैव सुमहान् भीतस्य रुदितध्वनिः॥ ६६॥

'देखो, हर्षमें भरे हुए पाण्डवोंका महान् सिंहनाद सुनायी पड़ता है और भगदत्तके डरे हुए हाथीके रोनेकी ध्वनि भी बड़े जोर-जोरसे कानोंमें आ रही है॥ ६६॥

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम्।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति॥ ६७॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो। हम राजा भगदत्तकी रक्षा करनेके लिये वहाँ चलें; अन्यथा अरक्षित होनेपर वे समर-भूमिमें शीघ्र ही प्राण त्याग देंगे॥ ६७॥

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः॥ ६८॥

'महापराक्रमी वीरो! जल्दी करो। विलम्बसे क्या लाभ? हमें जल्दी चलना चाहिये; क्योंकि वह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी है॥ ६८॥

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युत॥ ६९॥

'राजा भगदत्त कुलीन, शूरवीर, हमारे भक्त और सेनापति हैं। अतः अच्युत! हमें उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये'॥

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः।
द्रोणभीष्मौ पुरस्कृत्य भगदत्तपरीप्सया॥ ७०॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत्।

भीष्मका यह वचन सुनकर सभी महारथी द्रोणाचार्य और भीष्मको आगे करके भगदत्तकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ भगदत्त थे॥ ७०½॥

तान् प्रयातान् समालोक्य युधिष्ठिरपुरोगमाः॥ ७१॥
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुययुः परान्।

उन्हें जाते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों तथा पाञ्चालोंने भी शत्रुओंका पीछा किया॥ ७१½॥

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ७२ ॥
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ।

उन सेनाओंको आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो वज्र फट पड़ा हो ॥७२½॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः ॥ ७३ ॥
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ।

घटोत्कचकी वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियों-को देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः द्रोणाचार्यसे कहा—॥

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना ॥ ७४ ॥
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ।

'मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कचके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह बल और पराक्रमसे सम्पन्न है और इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं ॥

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ ७५ ॥
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च श्रान्तवाहनाः ।
पाञ्चालैः पाण्डवेयैश्च दिवसं क्षतविक्षताः ॥ ७६ ॥

'ऐसी दशामें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्धमें पराजित नहीं कर सकते । यह प्रहार करनेमें कुशल तथा लक्ष्य भेदनेमें सफल है । इधर हमलोगोंके वाहन थक गये हैं । पाण्डवों और पाञ्चालोंके द्वारा दिनभर क्षत-विक्षत होते रहे हैं ॥ ७५-७६ ॥

तन्न मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ॥ ७७ ॥

'इसलिये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंके साथ इस समय युद्ध करना मुझे पसंद नहीं आता । आज युद्धका विराम घोषित कर दिया जाय । कल सबेरे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ ७७ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स्म कौरवाः ।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ॥ ७८ ॥

पितामह भीष्मकी यह बात सुनकर कौरवोंने उपायपूर्वक युद्धसे हट जाना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उस समय वे घटोत्कचके भयसे पीड़ित थे ॥ ७८ ॥

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च भारत ॥ ७९ ॥

भारत ! कौरवोंके निवृत्त हो जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बारंबार सिंहनाद करने और शङ्ख बजाने लगे ॥ ७९ ॥

एवं तदभवद् युद्धं दिवसं भरतर्षभ ।
पाण्डवानां कुरूणां च पुरस्कृत्य घटोत्कचम् ॥ ८० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस दिन दिनभर घटोत्कचको आगे करके कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध चलता रहा ॥८०॥

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिबिरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवेयैः पराजिताः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तदनन्तर निशाके प्रारम्भकालमें पाण्डवोंसे पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिबिरको गये ।८१।

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ॥ ८२ ॥

महारथी पाण्डवोंके शरीर भी युद्धमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिबिरको लौटे॥

पुरस्कृत्य महाराज भीमसेनघटोत्कचौ ।
पूजयन्तस्तदान्योन्यं मुदा परमया युताः ॥ ८३ ॥
नदन्तो विविधान् नादांस्तूर्यस्वनविमिश्रितान् ।
सिंहनादांश्च कुर्वन्तो विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ८४ ॥

महाराज ! भीमसेन और घटोत्कचको आगे करके परस्पर एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए पाण्डवसैनिक बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए गये । उनकी उस गर्जनाके साथ विविध वाद्योंकी ध्वनि तथा शङ्खोंके शब्द भी मिले हुए थे ॥ ८३-८४ ॥

विनदन्तो महात्मानः कम्पयन्तश्च मेदिनीम् ।
घट्टयन्तश्च मर्माणि तव पुत्रस्य मारिष ॥ ८५ ॥
प्रयाताः शिबिरायैव निशाकाले परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रेष्ठ नरेश ! महात्मा पाण्डव गर्जते, पृथ्वीको कँपाते और आपके पुत्रके मर्मस्थानोंपर चोट पहुँचाते हुए निशाकालमें शिबिरको ही लौट गये॥ ८५½ ॥

दुर्योधनस्तु नृपतिर्दीनो भ्रातृवधेन च ॥ ८६ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास बाष्पशोकसमाकुलः ।

अपने भाइयोंके मारे जानेसे राजा दुर्योधन अत्यन्त दीन हो रहा था । वह नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़ा रहा ॥ ८६½ ॥

ततः कृत्वा विधिं सर्वं शिबिरस्य यथाविधि ।
प्रदध्यौ शोकसंतप्तो भ्रातृव्यसनकर्शितः ॥ ८७ ॥

वह शिबिरकी यथायोग्य सारी आवश्यक व्यवस्था करके भाइयोंके मारे जानेसे दुखी एवं शोकसंतप्त हो चिन्तामें डूब गया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसावहारे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनका युद्धविराम विषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८७½ श्लोक हैं)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसङ्गमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भयं मे सुमहज्जातं विस्मयश्चैव संजय ।
श्रुत्वा पाण्डुकुमाराणां कर्म देवैः सुदुष्करम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डवोंका देवताओंके लिये भी दुष्कर पराक्रम सुनकर मुझे बड़ा भारी भय और विस्मय हो रहा है ॥ १ ॥

पुत्राणां च पराभावं श्रुत्वा संजय सर्वशः ।
चिन्ता मे महती सूत भविष्यति कथं त्विति ॥ २ ॥

सूत संजय ! अपने पुत्रोंकी सब प्रकारसे पराजयका हाल सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है । सोचता हूँ कैसे उनकी विजय होगी ॥ २ ॥

ध्रुवं विदुरवाक्यानि धक्ष्यन्ति हृदयं मम ।
यथा हि दृश्यते सर्वं दैवयोगेन संजय ॥ ३ ॥

संजय ! निश्चय ही विदुरके वाक्य मेरे हृदयको जलाकर भस्म कर डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, दैवयोगसे वह सब वैसा ही होता दिखायी देता है ॥ ३ ॥

यत्र भीष्ममुखान् सर्वाञ्शस्त्रज्ञान् योधसत्तमान् ।
पाण्डवानामनीकेषु योधयन्ति प्रहारिणः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंकी सेनाओंमें ऐसे-ऐसे प्रहारकुशल योद्धा हैं, जो शस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि समस्त महारथियोंके साथ भी युद्ध कर लेते हैं ॥ ४ ॥

केनावध्या महात्मानः पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
केन दत्तवरास्तात किं वा ज्ञानं विदन्ति ते ॥ ५ ॥

तात ! महाबली महात्मा पाण्डव किस कारणसे अवध्य हैं ? किसने उन्हें वर दिया है अथवा कौन-सा ज्ञान वे जानते हैं ? ॥ ५ ॥

येन क्षयं न गच्छन्ति दिवि तारागणा इव ।
पुनः पुनर्न मृष्यामि हतं सैन्यं तु पाण्डवैः ॥ ६ ॥

जिससे आकाशके तारोंके समान वे नष्ट नहीं हो रहे हैं। मैं पाण्डवोंके द्वारा बारंबार अपनी सेनाके मारे जानेकी बात सुनकर सहन नहीं कर पाता हूँ ॥ ६ ॥

मय्येव दण्डः पतति दैवात् परमदारुणः ।
यथावध्याः पाण्डुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः ॥ ७ ॥
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व याथातथ्येन संजय ।

दैववश मेरे ही ऊपर अत्यन्त भयंकर दण्ड पड़ रहा है । संजय ! क्यों पाण्डव अवध्य हैं और क्यों मेरे पुत्र मारे जा रहे हैं ? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताओ ॥ ७½ ॥

न हि पारं प्रपश्यामि दुःखस्यास्य कथंचन ॥ ८ ॥
समुद्रस्येव महतो भुजाभ्यां प्रतरन् नरः ।

जैसे अपनी भुजाओंसे तैरनेवाला मनुष्य महासागरका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार मैं इस दुःखका अन्त किसी प्रकार नहीं देखता हूँ ॥ ८½ ॥

पुत्राणां व्यसनं मन्ये ध्रुवं प्राप्तं सुदारुणम् ॥ ९ ॥
घातयिष्यति मे सर्वान् पुत्रान् भीमो न संशयः ।

निश्चय ही मेरे पुत्रोंपर अत्यन्त भयंकर संकट प्राप्त हो गया है । मेरा विश्वास है कि भीमसेन मेरे सभी पुत्रोंको मार डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ९½ ॥

न हि पश्यामि तं वीरं यो मे रक्षेत् सुतान् रणे ॥ १० ॥
ध्रुवं विनाशः सम्प्राप्तः पुत्राणां मम संजय ।

मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो रणक्षेत्रमें मेरे पुत्रोंकी रक्षा कर सके । संजय ! अवश्य ही मेरे पुत्रोंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है ॥ १०½ ॥

तस्मान्मे कारणं सूत शक्तिं चैव विशेषतः ॥ ११ ॥
पृच्छतो वै यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

अतः सूत ! मैं तुमसे शक्ति[1] और कारणके[2] विषयमें जो विशेष प्रश्न कर रहा हूँ, वह सब यथार्थरूपसे बताओ ११½

दुर्योधनश्च यच्चक्रे दृष्ट्वा स्वान् विमुखान् रणे ॥ १२ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपश्चैव सौबलश्च जयद्रथः ।
द्रौणिर्वापि महेष्वासो विकर्णो वा महाबलः ॥ १३ ॥
निश्चयो वापि कस्तेषां तदा ह्यासीन्महात्मनाम् ।
विमुखेषु महाप्राज्ञ मम पुत्रेषु संजय ॥ १४ ॥

युद्धमें अपने सैनिकोंको विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या किया ? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, जयद्रथ, महाधनुर्धर अश्वत्थामा और महाबली विकर्णने भी क्या किया ? महाप्राज्ञ संजय ! मेरे पुत्रोंके विमुख होनेपर उन महामना महारथियोंने उस समय क्या निश्चय किया ? ॥ १२–१४॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितः श्रुत्वा चैवावधारय ।
नैव मन्त्रकृतं किंचिन्नैव मायां तथाविधाम् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! सावधान होकर सुनिये और सुनकर स्वयं ही पाण्डवोंकी शक्ति और अपनी पराजयके

१. शक्तिसे तात्पर्य यहाँ पाण्डवोंकी शक्तिसे है ।

२. मेरे पुत्रोंकी बार-बार पराजयका क्या कारण है, यही कारणविषयक प्रश्न है ।

कारणके विषयमें निश्चय कीजिये। पाण्डवोंमें न कोई मन्त्र-का प्रभाव है और न कोई वैसी माया ही वे करते हैं ॥ १५ ॥

न वै विभीषिकां कांचिद् राजन् कुर्वन्ति पाण्डवाः।
युध्यन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे ॥ १६ ॥

राजन्! पाण्डवलोग युद्धमें किसी विभीषिकाका प्रदर्शन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रकारसे भयभीत नहीं होते। वे न्यायपूर्वक युद्ध करते हैं। शक्तिशाली तो वे हैं ही ॥ १६ ॥

धर्मेण सर्वकार्याणि जीवितादीनि भारत।
आरभन्ते सदा पार्थाः प्रार्थयाना महद् यशः ॥ १७ ॥

भारत! कुन्तीके पुत्र जीवन-निर्वाह आदिके सभी कार्य सदा धर्मपूर्वक ही आरम्भ करते हैं। कारण कि वे जगत्में अपना महान् यश फैलाना चाहते हैं ॥ १७ ॥

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता महाबलाः।
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १८ ॥

वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। धर्मबलसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे महाबली और उत्तम समृद्धिसे युक्त हैं। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी विजय होती है ॥ १८ ॥

तेनावध्या रणे पार्था जययुक्ताश्च पार्थिव।
तव पुत्रा दुरात्मानः पापेष्वभिरताः सदा ॥ १९ ॥
निष्ठुरा हीनकर्माणस्तेन हीयन्ति संयुगे।

महाराज! धर्मके ही कारण कुन्तीके पुत्र युद्धमें अवध्य और विजयी हो रहे हैं। इधर आपके दुरात्मा पुत्र सदा पापोंमें ही तत्पर रहते हैं। निर्दय होनेके साथ ही निकृष्ट कर्ममें लगे रहते हैं। इसीलिये युद्धस्थलमें उन्हें हानि उठानी पड़ती है ॥ १९½ ॥

सुबहूनि नृशंसानि पुत्रैस्तव जनेश्वर ॥ २० ॥
निकृतानीह पाण्डूनां नीचैरिव यथा नरैः।
सर्वं च तदनादृत्य पुत्राणां तव किल्बिषम् ॥ २१ ॥
सापह्नवाः सदैवासन् पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
न चैतान् बहु मन्यन्ते पुत्रास्तव विशाम्पते ॥ २२ ॥

जनेश्वर! आपके पुत्रोंने नीच मनुष्योंकी भाँति पाण्डवों-के प्रति बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव तथा छल-कपट किये हैं, परंतु आपके पुत्रोंका वह सारा अपराध भुलाकर पाण्डव सदा उन दोषोंपर पर्दा ही डालते आये हैं। पाण्डुके बड़े भाई महाराज! इसपर भी आपके पुत्र इन पाण्डवोंको अधिक आदर नहीं देते हैं ॥ २०-२२ ॥

तस्य पापस्य सततं क्रियमाणस्य कर्मणः।
साम्प्रतं सुमहद् घोरं फलं प्राप्तं जनेश्वर ॥ २३ ॥

जनेश्वर! निरन्तर किये जानेवाले उसी पाप-कर्मका इस समय यह अत्यन्त भयंकर फल प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

स त्वं भुङ्क्ष्व महाराज सपुत्रः ससुहृज्जनः।
नावबुध्यसि यद् राजन् वार्यमाणः सुहृज्जनैः ॥ २४ ॥

महाराज! आप सुहृदोंके मना करनेपर भी जो ध्यान नहीं देते हैं, इससे अब स्वयं ही पुत्रों और सुहृदोंसहित अपनी अनीतिका फल भोगिये ॥ २४ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना।
तथा मया चाप्यसकृद् वार्यमाणो न बुध्यसे ॥ २५ ॥

विदुर, भीष्म तथा महात्मा द्रोणने और मैंने भी बार-बार आपको मना किया है; किंतु आप कभी समझ नहीं पाते थे ॥ २५ ॥

वाक्यं हितं च पथ्यं च मर्त्याः पथ्यमिवौषधम्।
पुत्राणां मतमाज्ञाय जितान् मन्यसि पाण्डवान् ॥ २६ ॥

जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारी औषधको भी फेंक देते हैं, उसी प्रकार आपने हमलोगोंके कहे हुए लाभकारी और हितकर वचनोंको भी ठुकरा दिया। एवं अब अपने पुत्रोंकी बातमें आकर यह मान रहे हैं कि हमने पाण्डवोंको जीत लिया ॥

शृणु भूयो यथातत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कारणं भरतश्रेष्ठ पाण्डवानां जयं प्रति ॥ २७ ॥
तत् तेऽहं कथयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम।

भरतश्रेष्ठ! आप पाण्डवोंकी विजय और अपनी पराजय-का जो कारण पूछते हैं, उसके विषयमें यथार्थ बातें सुनिये। शत्रुदमन! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वह आपको बताऊँगा ॥ २७½ ॥

दुर्योधनेन सम्पृष्ट एतमर्थं पितामहः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा भ्रातॄन् रणे सर्वान् निर्जितांस्तु महारथान्।
शोकसम्मूढहृदयो निशाकाले स कौरवः ॥ २९ ॥
पितामहं महाप्राज्ञं विनयेनोपगम्य ह।
यदब्रवीत् सुतस्तेऽसौ तन्मे शृणु जनेश्वर ॥ ३० ॥

दुर्योधनने यही बात पितामह भीष्मसे पूछी थी। महाराज! युद्धमें अपने समस्त महारथी भाइयोंको पराजित हुआ देख आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनका हृदय शोकसे मोहित हो गया। उसने रातमें महाज्ञानी पितामह भीष्मके पास विनय-पूर्वक जाकर जो कुछ पूछा था, वह बताता हूँ, मुझसे सुनिये ॥ २८-३० ॥

दुर्योधन उवाच

द्रोणश्च त्वं च शल्यश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ ३१ ॥
भूरिश्रवा विकर्णश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ३२ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह! आप, द्रोणाचार्य, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, कम्बोज-राज सुदक्षिण, भूरिश्रवा, विकर्ण तथा पराक्रमी भगदत्त—ये सब महारथी कहे जाते हैं। सभी कुलीन और युद्धमें मेरे लिये अपना शरीर निछावर करनेको तैयार हैं ॥ ३१-३२ ॥

त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।
पाण्डवानां समस्ताश्च नातिष्ठन्त पराक्रमे ॥ ३३ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप सब लोग मिल जायँ तो तीनों लोकोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हो सकते हैं, परंतु पाण्डवोंके पराक्रमके सामने आप सब लोग टिक नहीं पाते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ३३ ॥

तत्र मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
यं समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ॥ ३४ ॥

इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह है; अतः मेरे प्रश्नके अनुसार आप उसका उत्तर दीजिये। किसका आश्रय लेकर ये कुन्तीके पुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगोंपर विजय पा रहे हैं ॥ ३४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् वचो मह्यं यथा वक्ष्यामि कौरव ।
बहुशश्च मयोक्तोऽसि न च मे तत् त्वया कृतम्॥ ३५ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! नरेश्वर ! मेरी बात सुनो। इस विषयमें जो यथार्थ बात है, उसे बताता हूँ। मैंने अनेक बार पहले भी तुमसे ये बातें कही हैं, परंतु तुमने उन्हें माना नहीं है ॥ ३५ ॥

क्रियतां पाण्डवैः सार्धं शमो भरतसत्तम ।
एतत् क्षेममहं मन्ये पृथिव्यास्तव वा विभो ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। प्रभो ! इसीमें मैं तुम्हारा और भूमण्डलका कल्याण समझता हूँ ॥

भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीं राजन् भ्रातृभिः सहितः सुखी।
दुर्हृदस्तापयन् सर्वान् नन्दयंश्चापि बान्धवान् ॥ ३७ ॥

राजन् ! तुम अपने सभी शत्रुओंको संताप और बन्धु-बान्धवोंको आनन्द प्रदान करते हुए भाइयोंके साथ मिलकर सुखी रहो और इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ ३७ ॥

न च मे क्रोशतस्तात श्रुतवानसि वै पुरा ।
तदिदं समनुप्राप्तं यत् पाण्डूनवमन्यसे ॥ ३८ ॥

तात ! इस तरहकी बातें मैंने पहले पुकार-पुकारकर कही हैं, परंतु तुमने उन सबको अनसुनी कर दिया है। तुम जो पाण्डवोंका अपमान करते आये हो, आज उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

यश्च हेतुरवध्यत्वे तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तं शृणुष्व महाबाहो मम कीर्तयतः प्रभो ॥ ३९ ॥

महाबाहो ! प्रभो ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंके अवध्य होनेमें जो हेतु है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

नास्ति लोकेषु तद् भूतं भविता नो भविष्यति।
यो जयेत् पाण्डवान् सर्वान् पालिताञ्छार्ङ्गधन्वना॥४०॥
(ससुरासुरमर्त्येषु यो विद्यात् तत्त्वतो हरिम् ।)

लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें ऐसा भी कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके ॥ ४० ॥

यत् तु मे कथितं तात मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
पुराणगीतं धर्मज्ञ तच्छृणुष्व यथातथम् ॥ ४१ ॥

तात धर्मज्ञ ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

पुरा किल सुराः सर्वे ऋषयश्च समागताः ।
पितामहमुपासेदुः पर्वते गन्धमादने ॥ ४२ ॥

पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे ॥ ४२ ॥

तेषां मध्ये समासीनः प्रजापतिरपश्यत ।
विमानं प्रज्वलद् भासा स्थितं प्रवरमम्बरे ॥ ४३ ॥

उस समय उनके बीचमें बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ॥ ४३ ॥

ध्यानेनावेद्य तद् ब्रह्मा कृत्वा च नियतोऽञ्जलिम्।
नमश्चकार हृष्टात्मा पुरुषं परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ४४ ॥

ऋषयस्त्वथ देवाश्च दृष्ट्वा ब्रह्माणमुत्थितम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पश्यन्तो महदद्भुतम् ॥ ४५ ॥

ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े(और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथावच्च तमभ्यर्च्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
जगाद जगतः स्रष्टा परं परमधर्मवित् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की ॥ ४६ ॥

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिर्विश्वेशो
विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद्
योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ॥ ४७ ॥

प्रभो ! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले, विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं। विश्वमें सब ओर आपकी सेना है। यह विश्व आपका कार्य है। आप सबको अपने

वशमें रखनेवाले हैं। इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं। आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ४७ ॥

जय विश्व महादेव जय लोकहिते रत।
जय योगीश्वर विभो जय योगपरावर ॥ ४८ ॥

विश्वरूप महादेव! आपकी जय हो, लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो। सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर! आपकी जय हो। योगके आदि और अन्त! आपकी जय हो ॥ ४८ ॥

पद्मगर्भ विशालाक्ष जय लोकेश्वरेश्वर।
भूतभव्यभवन्नाथ जय सौम्यात्मजात्मज ॥ ४९ ॥
असंख्येयगुणाधार जय सर्वपरायण।
नारायण सुदुष्पार जय शार्ङ्गधनुर्धर ॥ ५० ॥

आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो। भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी! आपकी जय हो। आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ। आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो। शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले नारायण! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है, आपकी जय हो ॥ ४९-५० ॥

जय सर्वगुणोपेत विश्वमूर्ते निरामय।
विश्वेश्वर महाबाहो जय लोकार्थतत्पर ॥ ५१ ॥

आप समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो। जगत्का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर! आपकी जय हो ॥ ५१ ॥

महोरग वराहाद्य हरिकेश विभो जय।
हरिवास दिशामीश विश्ववासामिताव्यय ॥ ५२ ॥

आप महान् शेषनाग और महावाराह-रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं। हरिकेश! प्रभो! आपकी जय हो, आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं ॥ ५२ ॥

व्यक्ताव्यक्तामितस्थान नियतेन्द्रिय सत्क्रिय।
असंख्येयात्मभावज्ञ जय गम्भीर कामद ॥ ५३ ॥

व्यक्त और अव्यक्त—सब आपहीका स्वरूप है, आपके रहनेका स्थान असीम-अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं। आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं। आपकी कोई इयत्ता नहीं है, आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं; आपकी जय हो ॥

अनन्तविदित ब्रह्मन् नित्य भूतविभावन।
कृतकार्य कृतप्रज्ञ धर्मज्ञ विजयावह ॥ ५४ ॥

ब्रह्मन्! आप अनन्तबोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। आपको कुछ करना बाकी नहीं है, आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मका तत्त्व जाननेवाले और विजयप्रदाता हैं ॥ ५४ ॥

गुह्यात्मन् सर्वयोगात्मन् स्फुटं सम्भूतसम्भव।
भूताद्य लोकतत्त्वेश जय भूतविभावन ॥ ५५ ॥

पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन्! आपका स्वरूप गूढ होता हुआ भी स्पष्ट है। अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है। आप सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण और लोकतत्त्वके स्वामी हैं। भूतभावन! आपकी जय हो ॥ ५५ ॥

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रिय ॥ ५६ ॥

आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है। आप इस कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं। ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्रके प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो ॥ ५६ ॥

निसर्गसर्गनिरत कामेश परमेश्वर।
अमृतोद्भव सद्भाव मुक्तात्मन् विजयप्रद ॥ ५७ ॥

आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप ही सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं। अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं॥

प्रजापतिपते देव पद्मनाभ महाबल।
आत्मभूत महाभूत सत्त्वात्मन् जय सर्वदा ॥ ५८ ॥

देव! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं। आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं। सत्त्वस्वरूप परमेश्वर! सदा आपकी जय हो ॥ ५८ ॥

पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः।
मूर्तिस्तेऽहं सुराः कायश्चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी ॥ ५९ ॥

पृथ्वीदेवी आपके चरण हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है। मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं ॥ ५९ ॥

बलं तपश्च सत्यं च कर्म धर्मात्मकं तव।
तेजोऽग्निः पवनः श्वास आपस्ते स्वेदसम्भवाः ॥ ६० ॥

तप और सत्य आपका बल है तथा धर्म और कर्म आपका स्वरूप है। अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है ॥ ६० ॥

अश्विनौ श्रवणौ नित्यं देवी जिह्वा सरस्वती।
वेदाः संस्कारनिष्ठा हि त्वयीदं जगदाश्रितम् ॥ ६१ ॥

अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा हैं। वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं। यह जगत् सदा आपहीके आधारपर टिका हुआ है ॥ ६१ ॥

न संख्यानं परीमाणं न तेजो न पराक्रमम् ।
न बलं योगयोगीश जानीमस्ते न सम्भवम् ॥ ६२ ॥

योग-योगीश्वर ! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण । आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है । हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है ॥ ६२ ॥

त्वद्भक्तिनिरता देव नियमैस्त्वां समाश्रिताः ।
अर्चयामः सदा विष्णो परमेशं महेश्वरम् ॥ ६३ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
पिशाचा मानुषाश्चैव मृगपक्षिसरीसृपाः ॥ ६४ ॥
एवमादि मया सृष्टं पृथिव्यां त्वत्प्रसादजम् ।

देव ! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं । आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं । विष्णो ! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं । आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है ॥ ६३-६४½ ॥

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःखप्रणाशन ॥ ६५ ॥
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः ।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ॥ ६६ ॥

पद्मनाभ ! विशाललोचन ! दुःखहारी श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं । देवेश्वर ! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी रहते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पृथिवी निर्भया देव त्वत्प्रसादात् सदाभवत् ।
तस्माद् भव विशालाक्ष यदुवंशविवर्धनः ॥ ६७ ॥

देव ! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन ! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये ॥ ६७ ॥

धर्मसंस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो ॥ ६८ ॥

प्रभो ! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्की रक्षाके लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ॥ ६८ ॥

यत् तत् परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
वासुदेव तदेतत् ते मयोद्गीतं यथातथम् ॥ ६९ ॥

वासुदेव ! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं । आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है ॥ ६९ ॥

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना ।
कृष्ण त्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं चात्मसम्भवम् ॥ ७० ॥

श्रीकृष्ण ! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने आपको ही संकर्षणदेवके रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मज-स्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है ॥ ७० ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् ।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ७१ ॥

प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं । उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है ॥

वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मि विनिर्मितः ।
(तस्माद् याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना ।)
विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रज मानुषतां विभो ॥ ७२ ॥

प्रभो ! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है । आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ । लोकेश्वर ! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये ॥

तत्रासुरवधं कृत्वा सर्वलोकसुखाय वै ।
धर्मं प्राप्य यशः प्राप्य योगं प्राप्स्यसि तत्त्वतः ॥ ७३ ॥

वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये । अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो जायँगे ॥ ७३ ॥

त्वां हि ब्रह्मर्षयो लोके देवाश्चामितविक्रम ।
तैस्तैर्हि नामभिर्युक्ता गायन्ति परमात्मकम् ॥ ७४ ॥

अमित पराक्रमी परमेश्वर ! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं ॥ ७४ ॥

स्थिताश्च सर्वे त्वयि भूतसंघाः
कृत्वाऽऽश्रयं त्वां वरदं सुबाहो ।
अनादिमध्यान्तमपारयोगं
लोकस्य सेतुं प्रवदन्ति विप्राः ॥ ७५ ॥

सुबाहो ! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं । ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७६ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन ! तब लोकेश्वरोंके भी ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

विदितं तात योगान्मे सर्वमेतत् तवेप्सितम्।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २ ॥

'तात ! तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा है, वह सब मुझे योग-बलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा'—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ ३ ॥

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजी-से कहा—॥ ३ ॥

को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् ॥४॥

'प्रभो ! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे ? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन समस्त देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम् ॥ ६ ॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः ॥ ७ ॥
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ॥ ८ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बातचीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि प्रभो ! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्यलोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों ॥ ६–८ ॥

संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ॥ ९ ॥

'जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्के लिये भयंकर बन बैठे हैं ॥ ९ ॥

तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ॥ १० ॥

'उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे ॥ १० ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती ॥ ११ ॥

'ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे ॥

अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ॥ १२ ॥

'युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे ॥ १२ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः॥ १३॥

'सम्पूर्ण जगत्‌का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्‌का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये॥ १३॥

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः॥ १४॥

'सुरश्रेष्ठगण! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये॥ १४॥

एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम्।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः॥ १५॥
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः।

'ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं॥ १५½॥

यत् तत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च॥ १६॥
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा॥ १७॥

'ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं, किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके द्वारा परम सुख, परम तेज और परम सत्य कहे गये हैं॥ १६-१७॥

तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः॥ १८॥

'इसलिये 'ये मनुष्य हैं,' ऐसा समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये॥ १८॥

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम्॥ १९॥

'जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्‌की अवहेलना करनेके कारण उसे नराधम कहा गया है॥ १९॥

योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीं तनुम्।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः॥ २०॥

'भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं॥ २०॥

देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम्।
पद्मनाभं न जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः॥ २१॥

'जो चराचरस्वरूप श्रीवत्स-चिह्नभूषित उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं॥ २१॥

किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम्।
अवजानन् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति॥ २२॥

'जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों) को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है॥२२॥

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः॥ २३॥

'सुरश्रेष्ठगण! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये'॥ २३॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम्॥ २४॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! देवताओं तथा ऋषियोंसे ऐसा कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये॥ २४॥

ततो देवाः सगन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः॥ २५॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थ-चर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये॥ २५॥

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम्॥ २६॥

तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं॥ २६॥

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ॥ २७॥

भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है॥ २७॥

एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम्॥ २८॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)

भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ॥२८॥

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।

कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं?॥

वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः ।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना ॥ ३० ॥
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे ।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः ॥ ३१ ॥

तात! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो, पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा। मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है ॥ ३०-३१ ॥

यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम्।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः ॥ ३२ ॥

तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो। वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है?॥

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ॥ ३३ ॥

राजन्! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं ॥ ३३ ॥

यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥

ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं ॥ ३४ ॥

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ ३५ ॥

तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च।
धृताः पाण्डुसुता राजञ्जयश्चैषां भविष्यति ॥ ३६ ॥

उनके माहात्म्य-योगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे समस्त पाण्डव सुरक्षित हैं। राजन्! इसीलिये इनकी विजय होगी॥

श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति ॥ ३७ ॥

वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं ॥

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ॥ ३८ ॥

भारत! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही 'वासुदेव' नामसे जानने योग्य हैं ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभ लक्षणसम्पन्न शूद्र—ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं ॥ ३९ ॥

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै ॥ ४० ॥
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति।)

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है। ये ही श्रीकृष्णनामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं ॥ ४० ॥

स एष सर्वं सुरमर्त्यलोकं
समुद्रकक्ष्यान्तरितां पुरीं च।
युगे युगे मानुषं चैव वासं
पुनः पुनः सृजते वासुदेवः ॥ ४१ ॥

ये भगवान् वासुदेव ही युग-युगमें देवलोक, मर्त्यलोक तथा समुद्रसे घिरी हुई द्वारिका नगरीका निर्माण करते हैं और ये ही बारंबार मनुष्यलोकमें अवतार ग्रहण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा

दुर्योधन उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वलोकेषु कथ्यते ।
तस्यागमं प्रतिष्ठां च ज्ञातुमिच्छे पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! वासुदेव श्रीकृष्णको सम्पूर्ण लोकोंमें महान् बताया जाता है; अतः मैं उनकी उत्पत्ति और स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं । वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं । कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥
आपो वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।

मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत बातें कहते हैं । वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही सबके आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं । सृष्टिके आरम्भमें इन्हीं परमात्माने जल, वायु और तेज—इन तीन भूतों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि की थी ॥ ३½ ॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥ ४ ॥
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीदेवीकी सृष्टि करके जलमें शयन किया । वे महात्मा पुरुषोत्तम सर्वतेजोमय देवता योगशक्तिसे उस जलमें सोये ॥ ४-५ ॥

मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ॥ ६ ॥

उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वतीदेवी और वेदोंकी रचना की ॥ ६ ॥

एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ॥ ७ ॥

इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियोंसहित देवताओंकी रचना की थी । ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्युस्वरूप हैं । प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं ॥ ७ ॥

एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयम्प्रभुः ॥ ८ ॥

ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं । ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्वसमर्थ हैं ॥ ८ ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च पूर्वमेतदकल्पयत् ।
उभे संध्ये दिशः खं च नियमांश्च जनार्दनः ॥ ९ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है । इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है ॥ ९ ॥

ऋषींश्चैव हि गोविन्दस्तपश्चैवाभ्यकल्पयत् ।
स्रष्टारं जगतश्चापि महात्मा प्रभुरव्ययः ॥ १० ॥

महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है । जगत्स्रष्टा प्रजापतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है ॥ १० ॥

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥

उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११ ॥

नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ॥ १२ ॥

नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ । सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥

शेषं चाकल्पयद् देवमनन्तं विश्वरूपिणम् ।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

ध्यानयोगेन विप्राश्च तं विदन्ति महौजसम् ।
कर्णस्रोतोद्भवं चापि मधुं नाम महासुरम् ॥ १४ ॥
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रां बुद्धिं समास्थितम् ।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वञ् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं । जलशायी नारायणके कान-की मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था । वह मधु बड़े ही उग्र स्वभावका तथा क्रूरकर्मा था । उसने ब्रह्माजीका समादर करते हुए अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय लिया था । इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तम-ने मधुको मार डाला था ॥ १४-१५ ॥

तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

तात ! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको मधुसूदन कहते हैं॥१६॥

वराहश्चैव सिंहश्च त्रिविक्रमगतिः प्रभुः ।
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ॥ १७ ॥

वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामन-के रूपमें प्रकट हुए हैं । ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं ॥ १७ ॥

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति ।
मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा।१८।
वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजञ्शूद्रान् वै पादतस्तथा।

इन कमलनयन भगवान्‌से बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व न हुआ है, न होगा । राजन् ! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जंघासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥ १८½ ॥

तपसा नियतो देवं विधानं सर्वदेहिनाम् ॥ १९ ॥
ब्रह्मभूतममावास्यां पौर्णमास्यां तथैव च ।
योगभूतं परिचरन् केशवं महदाप्नुयात् ॥ २० ॥

जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका पालन करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारियोंके आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशवकी[1] आराधना करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥१९-२०॥

केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं । मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं ॥ २१ ॥

एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम् ।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २२ ॥

इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो । भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है ॥ २२ ॥

यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत् ।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है ॥ २३ ॥

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥

जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते । जनार्दन महान् भयमें निमग्न भगवान् उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत ।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् ।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

---

१. केशव नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव जिनके वपु हैं ।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज दुर्योधन ! पूर्वकालमें इस भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूत स्तोत्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो—॥ १ ॥

साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी एवं देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ॥ ३ ॥

'मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान स्वरूप बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका भी सारभूत तप बताया करते हैं ॥ ३ ॥

देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ॥ ४ ॥

'भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा है। विष्णो ! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है ॥

वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा।
देव देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

'प्रभो ! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित करनेवाले हैं। देव ! आप देवताओंके भी देवता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं॥

पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

'प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्ष प्रजापति कहा गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार अङ्गिरा मुनि आपके विषयमें कहते हैं ॥ ६ ॥

अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम्।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, व्यक्त महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित है तथा सम्पूर्ण देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; ऐसा असित और देवलका कथन है ॥ ७ ॥

शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८ ॥
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ॥ ९ ॥

'आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८-९ ॥

राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ १० ॥

'मधुसूदन ! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं ॥ १० ॥

इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं' ॥

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ॥ १२ ॥

तात दुर्योधन ! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो ॥ १२ ॥

संजय उवाच

पुण्यं श्रुत्वैतदाख्यानं महाराज सुतस्तव।
केशवं बहु मेने स पाण्डवांश्च महारथान् ॥ १३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीके मुखसे यह पवित्र आख्यान सुनकर तुम्हारे पुत्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी पाण्डवोंको बहुत महत्त्वशाली समझा ॥ १३ ॥

तमब्रवीन्महाराज भीष्मः शान्तनवः पुनः।
माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप।

राजन् ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पुनः दुर्योधनसे कहा—'नरेश्वर ! तुमने महात्मा केशव तथा नरस्वरूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, मुझसे अच्छी तरह सुन लिया ॥ १४½ ॥

यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ॥ १५ ॥
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ।
यथा च पाण्डवा राजन्नवध्या युधि कस्यचित् ॥ १६ ॥

'ऋषि नर और नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें

अवतीर्ण हुए हैं, वे दोनों अपराजित वीर जिस प्रकार युद्धमें अवध्य हैं तथा समस्त पाण्डव भी जिस प्रकार समरभूमिमें किसीके लिये भी वध्य नहीं हैं, वह सब विषय तुमने अच्छी तरह सुन लिया ॥ १५-१६ ॥

प्रीतिमान् हि दृढं कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु।
तस्माद् ब्रवीमि राजेन्द्र शमो भवतु पाण्डवैः॥ १७॥

'राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्ण यशस्वी पाण्डवोंपर बहुत प्रसन्न हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जाय ॥ १७ ॥

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि॥ १८॥

'वे तुम्हारे बलवान् भाई हैं। तुम अपने मनको वशमें रखते हुए उनके साथ मिलकर पृथ्वीका राज्य भोगो। भगवान् नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) की अवहेलना करके तुम नष्ट हो जाओगे ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तव पिता तूष्णीमासीद् विशाम्पते।
व्यसर्जयच्च राजानं शयनं च विवेश ह॥ १९॥

प्रजानाथ! ऐसा कहकर आपके ताऊ भीष्मजी चुप हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने राजा दुर्योधनको विदा किया और स्वयं शयन करने चले गये ॥ १९ ॥

राजा च शिबिरं प्रायात् प्रणिपत्य महात्मने।
शिश्ये च शयने शुभ्रे रात्रिं तां भरतर्षभ॥ २०॥

भरतश्रेष्ठ! राजा दुर्योधन भी महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरमें चला आया और अपनी शुभ्र शय्यापर सो गया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब दोनों ओरकी सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्धके लिये डट गयीं ॥ १ ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः परस्परजिगीषवः।
ते सर्वे सहिता युद्धे समालोक्य परस्परम्॥ २॥
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राजन् दुर्मन्त्रिते तव।
व्यूहौ च व्यूह्य संरब्धाः सम्प्रहृष्टाः प्रहारिणः॥ ३॥

सबने एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर विपक्षी सेनापर आक्रमण किया। राजन्! आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप आपके पुत्र और पाण्डव एक दूसरेको देखकर कुपित हो सब-के-सब अपने सहायकोंके साथ आकर सेनाकी व्यूह-रचना करके हर्ष और उत्साहमें भरकर परस्पर प्रहार करनेको उद्यत हो गये ॥ २-३ ॥

अरक्षन्मकरव्यूहं भीष्मो राजन् समन्ततः।
तथैव पाण्डवा राजन्नरक्षन् व्यूहमात्मनः॥ ४॥

राजन्! भीष्म सेनाका मकरव्यूह बनाकर सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे। इसी प्रकार पाण्डवोंने भी अपने व्यूहकी रक्षा की ॥ ४ ॥

(अजातशत्रुः शत्रूणां मनांसि समकम्पयत्।
श्येनवद् व्यूह्य तं व्यूहं धौम्यस्य वचनात् स्वयम्॥
स हि तस्य सुविज्ञात अग्निचित्येषु भारत।
मकरस्तु महाव्यूहस्तव पुत्रस्य धीमतः॥
स्वयं सर्वेण सैन्येन द्रोणेनानुमतस्तदा।
यथाव्यूहं शान्तनवः सोऽन्ववर्तत तत् पुनः॥)
स निर्ययौ महाराज पिता देवव्रतस्तव।
महता रथवंशेन संवृतो रथिनां वरः॥ ५॥

स्वयं अजातशत्रु युधिष्ठिरने धौम्य मुनिकी आज्ञासे श्येनव्यूहकी रचना करके शत्रुओंके हृदयमें कँपकँपी पैदा कर दी। भारत! अग्निचयनसम्बन्धी कर्मोंमें रहते हुए उन्हें श्येनव्यूहका विशेष परिचय था। आपके बुद्धिमान् पुत्रकी सेनाका मकरनामक महाव्यूह निर्मित हुआ था। द्रोणाचार्यकी अनुमति लेकर उसने स्वयं सारी सेनाके द्वारा उस व्यूहकी रचना की थी। फिर शान्तनुनन्दन भीष्मने व्यूहकी विधिके अनुसार निर्मित हुए उस महाव्यूहका स्वयं भी अनुसरण किया था। महाराज! रथियोंमें श्रेष्ठ आपके ताऊ भीष्म विशाल रथसेनासे घिरे हुए युद्धके लिये निकले ॥ ५ ॥

इतरेतरमन्वीयुर्यथाभागमवस्थिताः।
रथिनः पत्तयश्चैव दन्तिनः सादिनस्तथा॥ ६॥

फिर यथाभाग खड़े हुए रथी, पैदल, हाथीसवार और

घुड़सवार सब एक दूसरेका अनुसरण करते हुए चल दिये ॥

तान् दृष्ट्वाभ्युद्यतान् संख्ये पाण्डवा हि यशस्विनः।
श्येनेन व्यूहराजेन तेनाजय्येन संयुगे ॥ ७ ॥
अशोभत मुखे तस्य भीमसेनो महाबलः।
नेत्रे शिखण्डी दुर्धर्षो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ८ ॥

शत्रुओंको युद्धके लिये उद्यत हुए देख यशस्वी पाण्डव युद्धमें अजेय व्यूहराज श्येनके रूपमें संगठित हो शोभा पाने लगे। उस व्यूहके मुखभागमें महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रोंके स्थानमें दुर्धर्ष वीर शिखण्डी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न खड़े थे ॥ ७-८ ॥

शीर्षे तस्याभवद् वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः।
विधुन्वन् गाण्डिवं पार्थो ग्रीवायामभवत् तदा ॥ ९ ॥

शिरोभागमें सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवाभागमें गाण्डीव-धनुषकी टंकार करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन खड़े हुए ॥ ९ ॥

अक्षौहिण्या समं तत्र वामपक्षोऽभवत् तदा।
महात्मा द्रुपदः श्रीमान् सह पुत्रेण संयुगे ॥ १० ॥

पुत्रसहित श्रीमान् महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धमें बायें पंखके स्थानमें खड़े थे ॥ १० ॥

दक्षिणश्चाभवत् पक्षः कैकेयोऽक्षौहिणीपतिः।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चापि वीर्यवान् ॥ ११ ॥

एक अक्षौहिणी सेनाके अधिपति केकय दाहिने पंखमें स्थित हुए। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्यु—ये पृष्ठभागमें खड़े हुए ॥ ११ ॥

पृष्ठे समभवच्छ्रीमान् स्वयं राजा युधिष्ठिरः।
भ्रातृभ्यां सहितो वीरो यमाभ्यां चारुविक्रमः ॥ १२ ॥

उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न स्वयं श्रीमान् वीर राजा युधिष्ठिर भी अपने दो भाई नकुल और सहदेवके साथ पृष्ठभागमें ही सुशोभित हुए ॥ १२ ॥

प्रविश्य तु रणे भीमो मकरं मुखतस्तदा।
भीष्ममासाद्य संग्रामे छादयामास सायकैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर भीमसेनने रणक्षेत्रमें प्रवेश करके मकरव्यूहके मुखभागमें खड़े हुए भीष्मको अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

ततो भीष्मो महास्त्राणि पातयामास भारत।
मोहयन् पाण्डुपुत्राणां व्यूढं सैन्यं महाहवे ॥ १४ ॥

भारत! तब उस महासमरमें पाण्डवोंकी उस व्यूहबद्ध सेनाको मोहित करते हुए भीष्म उसपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ १४ ॥

सम्मुह्यति तदा सैन्ये त्वरमाणो धनंजयः।
भीष्मं शरसहस्रेण विव्याध रणमूर्धनि ॥ १५ ॥

उस समय अपनी सेनाको मोहित होती देख अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ युद्धके मुहानेपर एक हजार बाणोंकी वर्षा करके भीष्मको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि भीष्ममुक्तानि संयुगे।
स्वेनानीकेन हृष्टेन युद्धाय समुपस्थितः ॥ १६ ॥

संग्राममें भीष्मके छोड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करके हर्षमें भरी हुई अपनी सेनाके साथ वे युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजमभाषत।
पूर्वं दृष्ट्वा वधं घोरं बलस्य बलिनां वरः ॥ १७ ॥
भ्रातॄणां च वधं युद्धे स्मरमाणो महारथः।
आचार्य सततं हि त्वं हितकामो ममानघ ॥ १८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी राजा दुर्योधनने पहले जो अपनी सेनाका घोर संहार हुआ था, उसको दृष्टिमें रखते हुए और युद्धमें भाइयोंके वधका स्मरण करते हुए भरद्वाज-नन्दन द्रोणाचार्यसे कहा—'निष्पाप आचार्य! आप सदा ही मेरा हित चाहनेवाले हैं ॥ १७-१८॥

वयं हि त्वां समाश्रित्य भीष्मं चैव पितामहम्।
देवानपि रणे जेतुं प्रार्थयामो न संशयः ॥ १९ ॥
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान्।
स तथा कुरु भद्रं ते यथा वध्यन्ति पाण्डवाः ॥ २० ॥

'हमलोग आप तथा पितामह भीष्मकी शरण लेकर देवताओंको भी समरभूमिमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हैं, इसमें संशय नहीं है। फिर जो बल और पराक्रममें हीन हैं, उन पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। आपका कल्याण हो। आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे पाण्डव मारे जायँ'॥१९-२०॥

एवमुक्तस्ततो द्रोणस्तव पुत्रेण मारिष।
(उवाच तत्र राजानं संक्रुद्ध इव निःश्वसन्।

आर्य! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्य कुछ कुपित-से हो उठे और लंबी साँस खींचते हुए राजा दुर्योधनसे बोले ॥

द्रोण उवाच

बालिशस्त्वं न जानीषे पाण्डवानां पराक्रमम्।
न शक्या हि यथा जेतुं पाण्डवा हि महाबलाः ॥
यथाबलं यथावीर्यं कर्म कुर्यामहं हि ते।

द्रोणाचार्यने कहा—तुम नादान हो। पाण्डवोंका पराक्रम कैसा है, यह नहीं जानते। महाबली पाण्डवोंको युद्धमें जीतना असम्भव है, तथापि मैं अपने बल और पराक्रमके अनुसार तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा ते सुतं राजन्नभ्यपद्यत वाहिनीम्।)
अभिनत् पाण्डवानीकं प्रेक्षमाणस्य सात्यकेः ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रसे ऐसा कहकर द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनाका सामना करनेके लिये गये। वे सात्यकिके देखते-देखते पाण्डवसेनाको विदीर्ण करने लगे ॥

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं वारयामास भारत।
तयोः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ २२ ॥

भारत ! उस समय सात्यकिने आगे बढ़कर द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २२ ॥

शैनेयं तु रणे क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान्।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्जत्रुदेशे हसन्निव ॥ २३ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्यने युद्धमें कुपित होकर सात्यकिके गलेकी हँसलीमें हँसते हुए-से पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥२३॥

भीमसेनस्ततः क्रुद्धो भारद्वाजमविध्यत।
संरक्षन् सात्यकिं राजन् द्रोणाच्छस्त्रभृतां वरात्॥२४॥

राजन् ! तब भीमसेनने कुपित होकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे सात्यकिकी रक्षा करते हुए आचार्यको अपने बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

ततो द्रोणश्च भीष्मश्च तथा शल्यश्च मारिष।
भीमसेनं रणे क्रुद्धाश्छादयांचक्रिरे शरैः ॥ २५ ॥

आर्य ! तदनन्तर द्रोणाचार्य, भीष्म तथा शल्य तीनोंने कुपित होकर भीमसेनको युद्धस्थलमें अपने बाणोंसे ढक दिया॥

तत्राभिमन्युः संक्रुद्धो द्रौपदेयाश्च मारिष।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः सर्वांस्तानुद्यतायुधान् ॥ २६ ॥

महाराज ! तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंने आयुध लेकर खड़े हुए उन सब कौरव महारथियोंको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

द्रोणभीष्मौ तु संक्रुद्धावापतन्तौ महाबलौ।
प्रत्युद्ययौ शिखण्डी तु महेष्वासो महाहवे ॥ २७ ॥

उस समय कुपित होकर आक्रमण करते हुए महाबली द्रोणाचार्य और भीष्मका उस महासमरमें सामना करनेके लिये महाधनुर्धर शिखण्डी आगे बढ़ा ॥ २७ ॥

प्रगृह्य बलवद् वीरो धनुर्जलदनिःस्वनम्।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं छादयानो दिवाकरम् ॥ २८ ॥

उस वीरने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर बड़ी शीघ्रताके साथ इतने बाणोंकी वर्षा की कि सूर्य भी आच्छादित हो गये ॥ २८ ॥

शिखण्डिनं समासाद्य भरतानां पितामहः।
अवर्जयत संग्रामं स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मरन् ॥ २९ ॥

भरतकुलके पितामह भीष्मने शिखण्डीके सामने पहुँचकर उसके स्त्रीत्वका बारंबार स्मरण करते हुए युद्ध बंद कर दिया ॥

ततो द्रोणो महाराज अभ्यद्रवत तं रणे।
रक्षमाणस्तदा भीष्मं तव पुत्रेण चोदितः ॥ ३० ॥

महाराज ! यह देखकर द्रोणाचार्य युद्धमें आपके पुत्रके कहनेसे भीष्मकी रक्षाके लिये शिखण्डीकी ओर दौड़े ॥

शिखण्डी तु समासाद्य द्रोणं शस्त्रभृतां वरम्।
अवर्जयत संत्रस्तो युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥ ३१ ॥

शिखण्डी प्रलयकालकी प्रचण्ड अग्निके समान शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणका सामना पड़नेपर भयभीत हो युद्ध छोड़कर चल दिया ॥ ३१ ॥

ततो बलेन महता पुत्रस्तव विशाम्पते।
जुगोप भीष्ममासाद्य प्रार्थयानो महद् यशः ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन महान् यश पानेकी इच्छा रखता हुआ अपनी विशाल सेनाके साथ भीष्मके पास पहुँचकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ३२ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् पुरस्कृत्य धनंजयम्।
भीष्ममेवाभ्यवर्तन्त जये कृत्वा दृढां मतिम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डव भी विजय-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय करके अर्जुनको आगे कर भीष्मपर ही टूट पड़े ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं देवानां दानवैरिव।
जयमाकाङ्क्षतां संख्ये यशश्च सुमहाद्भुतम् ॥३४॥

उस युद्धमें विजय तथा अत्यन्त अद्भुत यशकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंका कौरवोंके साथ उसी प्रकार भयंकर युद्ध हुआ, जैसे देवताओंका दानवोंके साथ हुआ था॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धारम्भे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धका आरम्भविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध

संजय उवाच

अकरोत् तुमुलं युद्धं भीष्मः शान्तनवस्तदा।
भीमसेनभयादिच्छन् पुत्रांस्तारयितुं तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रोंको भीमसेनके भयसे छुड़ानेकी इच्छा रखकर उस दिन शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ा भयंकर युद्ध किया ॥ १ ॥

पूर्वाह्णे तन्महारौद्रं राज्ञां युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च मुख्यशूरविनाशनम् ॥ २ ॥

पूर्वाह्णकालमें कौरव-पाण्डव नरेशोंका वह महाभयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो बड़े-बड़े शूरवीरोंका विनाश करनेवाला था ॥ २ ॥

तस्मिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ।
अभवत् तुमुलः शब्दः संस्पृशन् गगनं महत् ॥ ३ ॥

उस अत्यन्त भयानक घमासान युद्धमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा, जिससे अनन्त आकाश गूँज उठा ॥ ३ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं समपद्यत ॥ ४ ॥

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े गजराजों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा भेरी और शङ्खकी ध्वनियोंसे भयंकर कोलाहल छा गया ॥

युयुत्सवस्ते विक्रान्ता विजयाय महाबलाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महर्षभाः ॥ ५ ॥

जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालाओंमें गरजते हुए एक दूसरेसे भिड़ जाते हैं, उसी प्रकार पराक्रमी और महाबली सैनिक विजयके लिये युद्धकी इच्छा रखकर गरजते हुए एक दूसरेके सामने आये ॥ ५ ॥

शिरसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशे बभूव भरतर्षभ ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें तीखे बाणोंसे गिराये जानेवाले मस्तकोंकी वर्षा होने लगी, मानो आकाशसे पत्थरोंकी वृष्टि हो रही है ॥ ६ ॥

कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपोज्ज्वलानि च ।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतवंशी नरेश ! कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले तथा स्वर्णमय मुकुट आदिसे उद्भासित होनेवाले अगणित मस्तक कटकर धरतीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
सहस्ताभरणैश्चान्यैरभवच्छादिता मही ॥ ८ ॥

सारी पृथ्वी बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई लाशों, धनुष तथा हस्ताभरणोंसहित कटी हुई दोनों भुजाओंसे पट गयी थी ॥

कवचोपहितैर्गात्रैर्हस्तैश्च समलंकृतैः ।
मुखैश्च चन्द्रसंकाशै रक्तान्तनयनैः शुभैः ॥ ९ ॥
गजवाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैश्च भूपते ।
आसीत् सर्वा समास्तीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा ॥ १० ॥

भूपाल ! दो ही घड़ीमें वहाँकी सारी वसुधा कवचसे ढके हुए शरीरों, आभूषणोंसे विभूषित हाथों, चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखों, जिनके अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली थी, ऐसे सुन्दर नेत्रों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण अङ्गोंसे बिछ गयी थी ॥ ९-१० ॥

रजोमेघैश्च तुमुलैः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिभिः ।
आयुधानां च निर्घोषः स्तनयित्नुसमोऽभवत् ॥ ११ ॥

धूलके भयंकर बादल छा रहे थे। उनमें अस्त्र-शस्त्ररूपी विद्युत्के प्रकाश देखे जाते थे। धनुष आदि आयुधोंका जो गम्भीर घोष होता था, वह मेघ-गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ११ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः ।
प्रावर्तत कुरूणां च पाण्डवानां च भारत ॥ १२ ॥

भारत ! कौरवों और पाण्डवोंका वह भयानक युद्ध बड़ा ही कटु और रक्तको पानीकी तरह बहानेवाला था ॥ १२ ॥

तस्मिन् महाभये घोरे तुमुले लोमहर्षणे ।
ववृषुः शरवर्षाणि क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ १३ ॥

उस महान् भयदायक, घोर, रोमाञ्चकारी एवं तुमुल संग्राममें रणदुर्मद क्षत्रिय बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३ ॥

आक्रोशन् कुञ्जरास्तत्र शरवर्षप्रतापिताः ।
तावकानां परेषां च संयुगे भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए आपके और पाण्डवोंके हाथी उस युद्धमें चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ १४ ॥

संरब्धानां च वीराणां धीराणाममितौजसाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

क्रोधावेशमें भरे हुए अमित तेजस्वी धीर-वीरोंके धनुषोंकी टंकारसे वहाँ कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ॥ १५ ॥

उत्थितेषु कबन्धेषु सर्वतः शोणितोदके ।
समरे पर्यधावन्त नृपा रिपुवधोद्यताः ॥ १६ ॥

चारों ओर केवल कबन्ध (बिना सिरके शरीर) खड़े थे। रक्तका प्रवाह पानीके समान बह रहा था। शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हुए नरेशगण समरभूमिमें चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १६ ॥

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः ।
निजघ्नुः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ १७ ॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले अमित तेजस्वी शूरवीर योद्धा बाण, शक्ति और गदाओंद्वारा रणक्षेत्रमें एक दूसरेको मार रहे थे ॥ १७ ॥

बभ्रमुः कुञ्जराश्चात्र शरैर्विद्धा निरङ्कुशाः ।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १८ ॥

जिनके सवार मारे गये थे, वे अङ्कुशरहित गजराज बाणविद्ध होकर वहाँ इधर-उधर चक्कर काट रहे थे। सवारोंके मारे जानेसे घोड़े भी शराघातसे पीड़ित हो चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १८ ॥

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरघातप्रपीडिताः ।
तावकानां परेषां च योधा भरतसत्तम ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके और शत्रुपक्षके कितने ही योद्धा बाणोंके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो उछलकर गिर पड़ते थे ॥ १९ ॥

वाहानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत ।
गदानां परिघाणां च हस्तानां चोरुभिः सह ॥ २० ॥
पादानां भूषणानां च केयूराणां च संघशः ।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते भीष्मभीमसमागमे ॥ २१ ॥

भारत ! भीष्म और भीमके उस संग्राममें मरे हुए वाहनों, कटे हुए मस्तकों, धनुषों, गदाओं, परिघों, हाथों, जाँघों, पैरों, आभूषणों तथा बाजूबन्द आदिके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ॥ २०-२१ ॥

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां चानिवर्तिनाम् ।
संघाताः स्म प्रदृश्यन्ते तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें जहाँ तहाँ घोड़ों, हाथियों तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले रथोंके समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

गदाभिरसिभिः प्रासैर्बाणैश्च नतपर्वभिः ।
जघ्नुः परस्परं तत्र क्षत्रियाः काल आगते ॥ २३ ॥

क्षत्रियगण गदा, खड्ग, प्रास तथा झुकी हुई गाँठ वाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको मार रहे थे; क्योंकि उन सबका काल आ गया था ॥ २३ ॥

अपरे बाहुभिर्वीरा नियुद्धकुशला युधि ।
बहुधा समसज्जन्त आयसैः परिघैरिव ॥ २४ ॥

कितने ही मल्लयुद्धमें कुशल वीर उस युद्धस्थलमें लोहेके परिघोंके समान मोटी भुजाओंसे परस्पर भिड़कर अनेक प्रकारके दाँव-पेंच दिखाते हुए लड़ रहे थे ॥ २४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव तलैश्चैव विशाम्पते ।
अन्योन्यं जघ्निरे वीरास्तावकाः पाण्डवैः सह ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते समय मुक्कों, घुटनों और तमाचोंसे एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ २५ ॥

पतितैः पात्यमानैश्च विचेष्टद्भिश्च भूतले ।
घोरमायोधनं जज्ञे तत्र तत्र जनेश्वर ॥ २६ ॥

जनेश्वर ! कुछ लोग पृथ्वीपर गिरे हुए थे, कुछ गिराये जा रहे थे और कितने ही गिरकर छटपटा रहे थे। इस प्रकार यत्र-तत्र भयंकर युद्ध चल रहा था ॥ २६ ॥

विरथा रथिनश्चात्र निस्त्रिंशवरधारिणः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः परस्परवधैषिणः ॥ २७ ॥

कितने ही रथी रथहीन होकर हाथमें सुदृढ़ तलवार लिये एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे परस्पर टूटे पड़ते थे ॥२७॥

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ २८ ॥

उस समय बहुसंख्यक कलिंगोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनने युद्धमें भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ॥ २९ ॥

इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए समस्त पाण्डवोंने भी भीमसेनको घेरकर भीष्मपर धावा किया। फिर दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल-युद्धविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंको भीष्मके साथ उलझा हुआ देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुनने भी गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं धनुषो गाण्डिवस्य च ।
ध्वजं च दृष्ट्वा पार्थस्य सर्वान् नो भयमाविशत्॥ २ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख और गाण्डीव धनुषका शब्द सुनकर तथा अर्जुनके ध्वजको देखकर हमारे सब सैनिकोंके मनमें भय समा गया ॥ २ ॥

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ॥ ३ ॥
बहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ॥ ४ ॥

महाराज ! अर्जुनका ध्वज सिंहपुच्छके समान वानरकी पूँछसे युक्त था। वह प्रज्वलित पर्वत-सा दिखायी देता था। वृक्षोंमें कहीं भी अटकता नहीं था। आकाशमें उदित हुए धूमकेतु-सा दृष्टिगोचर होता था। वह अनेक रंगोंसे सुशोभित, विचित्र, दिव्य एवं वानरचिह्नसे युक्त था । इस प्रकार हमने गाण्डीवधारी अर्जुनके उस ध्वजको उस समय देखा ३-४

भीमसेन और भीष्मका युद्ध

विद्युतं मेघमध्यस्थां भ्राजमानामिवाम्बरे ।
ददृशुर्गाण्डिवं योधा रुक्मपृष्ठं महामृधे ॥ ५ ॥

उस महान् समरमें हमारे पक्षके योद्धाओंने सुवर्णमय पीठसे युक्त गाण्डीव धनुषको आकाशके भीतर मेघोंकी घटामें चमकती हुई बिजलीके समान देखा ॥ ५ ॥

अशुश्रुम भृशं चास्य शक्रस्येवाभिगर्जतः ।
सुघोरं तलयोः शब्दं निघ्नतस्तव वाहिनीम् ॥ ६ ॥

अर्जुन आपकी सेनाका संहार करते हुए इन्द्रके समान गर्जना कर रहे थे । इस समय हमलोगोंने उनके हस्ततलोंका बड़ा भयंकर शब्द सुना ॥ ६ ॥

चण्डवातो यथा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
दिशः सम्प्लावयन् सर्वाः शरवर्षैः समन्ततः ॥ ७ ॥
समभ्यधावद् गाङ्गेयं भैरवास्त्रो धनंजयः ।

भयंकर अस्त्रवाले अर्जुनने प्रचण्ड आँधी, बिजली तथा गर्जनासे युक्त मेघके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी बाण-वर्षासे आप्लावित करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मपर सब ओर-से धावा किया ॥ ७½ ॥

दिशं प्राचीं प्रतीचीं च न जानीमोऽस्त्रमोहिताः॥ ८ ॥
कांदिग्भूताः श्रान्तपत्रा हताश्वा हतचेतसः ।
अन्योन्यमभिसंश्लिष्य योधास्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥
भीष्ममेवाभ्यलीयन्त सह सर्वैस्तवात्मजैः ।
तेषामार्तायनमभूद् भीष्मः शान्तनवो रणे ॥ १० ॥

उस समय हमलोग उनके अस्त्रोंसे इतने मोहित हो गये थे कि हमें पूर्व और पश्चिमका भी पता नहीं चलता था । भरतश्रेष्ठ ! आपके सभी योद्धा घबराकर यह सोचने लगे कि हम किस दिशामें जायँ । उनके सारे वाहन थक गये थे । कितनोंके घोड़े मार डाले गये थे । उन सबका हार्दिक उत्साह नष्ट हो गया था । वे सब-के-सब एक दूसरेसे सटकर आपके पुत्रोंके साथ भीष्मजीकी ही शरणमें छिपने लगे । उस युद्ध-स्थलमें उन्हें केवल शान्तनुनन्दन भीष्म ही आर्त सैनिकोंको शरण देनेवाले प्रतीत हुए ॥ ८—१० ॥

समुत्पतन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ॥ ११ ॥

वे सभी लोग ऐसे भयभीत हो गये कि रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे गिरने लगे तथा पैदल सैनिक भी पृथ्वीपर लोट-पोट हो गये ॥ ११ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
सर्वसैन्यानि भीतानि व्यवालीयन्त भारत ॥ १२ ॥

भारत ! बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीवका गम्भीर घोष सुनकर हमारे समस्त सैनिक भयभीत हो लुकने-छिपने लगे ॥ १२ ॥

अथ काम्बोजजैरश्वैर्महद्भिः शीघ्रगामिभिः ।
गोपानां बहुसाहस्रैर्बलैर्गोपायनैर्वृतः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् काम्बोजराज सुदक्षिण काम्बोजदेशीय विशाल एवं शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले । उनके साथ गोपायन नामवाले कई हजार गोपसैनिक थे ॥ १३ ॥

मद्रसौवीरगान्धारैस्त्रैगर्तैश्च विशाम्पते ।
सर्वकालिङ्गमुख्यैश्च कलिङ्गाधिपतिर्वृतः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! समस्त कलिंगदेशीय प्रमुख वीरोंसे घिरे हुए कलिंगराज भी युद्धके लिये आगे बढ़े । उनके साथ मद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्तदेशीय योद्धा भी मौजूद थे ॥

नानानरगणौघैश्च दुःशासनपुरःसरः ।
जयद्रथश्च नृपतिः सहितः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

इनके सिवा राजा जयद्रथ सम्पूर्ण राजाओंको साथ ले दुःशासनको आगे करके चला । उसके साथ भी अनेक जन-पदोंके लोगोंकी पैदल सेना मौजूद थी ॥ १५ ॥

हयारोहवराश्चैव तव पुत्रेण चोदिताः ।
चतुर्दश सहस्राणि सौबलं पर्यवारयन् ॥ १६ ॥

इसके सिवा आपके पुत्रकी आज्ञासे चौदह हजार अच्छे घुड़सवार सुबलपुत्र शकुनिको घेरकर खड़े हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे विभक्तरथवाहनाः ।
अर्जुनं समरे जघ्नुस्तावका भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पृथक् पृथक् रथ और वाहन लिये आपके पक्षके ये सब महारथी वीर समराङ्गणमें अर्जुनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

(चेदिकाशिपदातैश्च रथैः पाञ्चालसृंजयैः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥
तावकान् समरे जघ्नुर्धर्मपुत्रेण चोदिताः ।)

इधर, चेदि और काशिदेशके पैदलसैनिकोंके तथा पाञ्चाल और सृंजयदेशके रथियोंसहित धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डववीर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समरभूमिमें आपके सैनिकोंका संहार करने लगे ॥

रथिभिर्वारणैरश्वैः पादातैश्च समीरितम् ।
घोरमायोधनं चक्रे महाभ्रसदृशं रजः ॥ १८ ॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलराशिने मेघोंकी भारी घटाके समान आकाशमें व्याप्त होकर उस युद्धको भयंकर बना दिया ॥ १८ ॥

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ॥ १९ ॥

भीष्म तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करने-वाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओंकी विशाल वाहिनीके साथ किरीटधारी अर्जुनसे भिड़ गये ॥१९॥

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ॥ २० ॥
सहपुत्रः सहामात्यः शल्येन समसज्जत ।

फिर, अवन्तीनरेश काशिराजके साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेनके साथ तथा पुत्रों और मन्त्रियोंसहित अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे २०½

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ॥ २१ ॥
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ।
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २२ ॥
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ।

प्रजानाथ ! विकर्ण सहदेवके साथ और चित्रसेन शिखण्डीके साथ भिड़ गये । मत्स्यदेशीय योद्धाओंने दुर्योधन और शकुनिका सामना किया । द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये अश्वत्थामासहित महामना द्रोणसे भिड़ गये ॥ २१-२२½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च धृष्टद्युम्नमभिद्रुतौ ॥ २३ ॥
एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ॥ २४ ॥

कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनोंने धृष्टद्युम्नपर धावा किया । इस प्रकार अपने-अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथोंको घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ॥ २३-२४ ॥

निरभ्रे विद्युतस्तीव्रा दिशश्च रजसाऽऽवृताः ।
प्रादुरासन् महोल्काश्च सनिर्घाता विशाम्पते ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! बिना बादलके ही दुःसह बिजलियाँ चमकने लगीं, सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे भर गयीं और भयंकर वज्रपातकी-सी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ॥

प्रादुर्भूतो महावातः पांसुवर्षं पपात च ।
नभस्यन्तर्दधे सूर्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २६ ॥

बड़े जोरकी आँधी उठ गयी । धूलकी वर्षा होने लगी। सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे आकाशमें सूर्यदेव छिप गये ॥ २६ ॥

प्रमोहः सर्वसत्त्वानामतीव समपद्यत ।
रजसा चाभिभूतानामस्त्रजालैश्च तुद्यताम् ॥ २७ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंपर बड़ा भारी मोह छा गया; क्योंकि वे धूलसे तो दबे ही थे, अस्त्रोंके समुदायसे भी पीड़ित हो रहे थे ॥ २७ ॥

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ॥ २८ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे छूटकर सब प्रकारके आवरणों (कवच आदि) का भेदन करनेवाले बाणसमूहोंके भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ॥ २८ ॥

प्रकाशं चक्रुराकाशमुद्यतानि भुजोत्तमैः ।
नक्षत्रविमलाभानि शस्त्राणि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम भुजाओंद्वारा ऊपर उठाये हुए नक्षत्रोंके समान निर्मल एवं चमकीले अस्त्र आकाशमें प्रकाश फैला रहे थे ॥ २९ ॥

आर्षभाणि विचित्राणि रुक्मजालावृतानि च ।
सम्पेतुर्दिक्षु सर्वासु चर्माणि भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतभूषण ! सोनेकी जालीसे ढकी और ऋषभचर्मकी बनी हुई विचित्र ढालें सम्पूर्ण दिशाओंमें गिर रही थीं ॥ ३० ॥

सूर्यवर्णैश्च निस्त्रिंशैः पात्यमानानि सर्वशः ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ३१ ॥

सूर्यके समान चमकीले खड्गोंसे सब ओर काटकर गिराये जानेवाले शरीर और मस्तक सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३१ ॥

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ॥ ३२ ॥

कितने ही महारथियोंके रथोंके पहिये, धुरे और भीतरकी बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गयीं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गयीं, घोड़े मार दिये गये और वे महारथी स्वयं भी मारे जाकर धरतीपर जहाँ-तहाँ गिर पड़े ॥ ३२ ॥

परिपेतुर्हयाश्चात्र केचिच्छस्त्रकृतव्रणाः ।
रथान् विपरिकर्षन्तो हतेषु रथयोधिषु ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें कितने ही घोड़े अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घायल होकर अपने रथियोंके मारे जानेके बाद भी रथ खींचते हुए भागते और गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

शराहता भिन्नदेहा बद्धयोक्त्रा हयोत्तमाः ।
युगानि पर्यकर्षन्त तत्र तत्र स्म भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! कितने ही उत्तम घोड़ोंके शरीर बाणोंसे आहत होकर क्षत-विक्षत हो गये थे, तो भी रथके साथ रस्सीमें बँधे हुए थे, इसलिये रथके जूओंको इधर-उधर खींचते रहते थे ॥ ३४ ॥

अदृश्यन्त ससूताश्च साश्वाः सरथयोधिनः ।
एकेन बलिना राजन् वारणेन विमर्दिताः ॥ ३५ ॥

राजन् ! कितने ही रथारोही युद्धस्थलमें एक ही महाबली गजराजके द्वारा घोड़ों और सारथियोंसहित कुचले हुए दिखायी पड़ते थे ॥ ३५ ॥

गन्धहस्तिमदस्रावमाघ्राय बहवो रणे ।
संनिपाते बलौघानां वीतमाददिरे गजाः ॥ ३६ ॥

समस्त सेनाओंमें भीषण मार-काट मची हुई थी और बहुत-से हाथी गन्धयुक्त गजराजके मदकी गन्ध सूँघकर उसी-

के भ्रमसे निर्बल हाथीको भी मार गिरानेके लिये पकड़ लेते थे ॥ ३६ ॥

सतोमरैर्महामात्रैर्निपतद्भिर्गतासुभिः ।
बभूवायोधनं छन्नं नाराचाभिहतैर्गजैः ॥ ३७ ॥

तोमरोंसहित प्राणशून्य होकर गिरे हुए महावतों और नाराचोंकी मारसे मरकर गिरनेवाले हाथियोंसे वह रणभूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ३७ ॥

संनिपाते बलौघानां प्रेषितैर्वरवारणैः ।
निपेतुर्युधि सम्भग्नाः सयोधाः सध्वजा गजाः॥ ३८ ॥

सैन्यसमूहोंके उस भीषण संघर्षमें आगे बढ़ाये हुए बड़े-बड़े हाथियोंसे टकराकर युद्धमें कितने ही छोटे-छोटे हाथी अङ्ग-भङ्ग हो जानेके कारण सवारों और ध्वजोंसहित गिर जाते थे ॥ ३८ ॥

नागराजोपमैर्हस्तैर्नागैराक्षिप्य संयुगे ।
व्यदृश्यन्त महाराज सम्भग्ना रथकूबराः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उस युद्धमें कितने ही हाथियोंके द्वारा विशाल सर्पराजके समान सूँड़ोंसे खींचकर फेंके हुए रथोंके ध्वज और कूबर चूर-चूर होकर गिरते देखे जाते थे ॥ ३९ ॥

विशीर्णरथसंघाश्च केशेष्वाक्षिप्य दन्तिभिः ।
द्रुमशाखा इवाविध्य निष्पिष्टा रथिनो रणे ॥ ४० ॥

कितने ही दन्तार हाथी रथसमूहोंको तोड़-फोड़कर उनमें बैठे हुए रथियोंको उनके केश पकड़कर खींच लेते और वृक्षकी शाखाकी भाँति उन्हें घुमाकर धरतीपर दे मारते थे । इस प्रकार उस युद्धमें उन रथियोंकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं ॥ ४० ॥

रथेषु च रथान् युद्धे संसक्तान् वरवारणाः ।
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः॥ ४१ ॥

कितने ही बड़े-बड़े गजराज रथसमूहोंमें घुसकर युद्धमें उलझे हुए रथोंको पकड़ लेते और सब प्रकारके शब्दोंका अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें उन रथोंको खींचे फिरते थे ॥

तेषां तथा कर्षतां तु गजानां रूपमाबभौ ।
सरःसु नलिनीजालं विषक्तमिव कर्षताम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार रथोंसे रथियोंको खींचनेवाले उन हाथियोंका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो वे तालाबमें वहाँ उगे हुए कमलोंका समूह खींच रहे हों ॥ ४२ ॥

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ॥ ४३ ॥

इस तरह सवारों, पैदलों और ध्वजोंसहित महारथियोंके शरीरोंसे वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध

संजय उवाच

शिखण्डी सह मत्स्येन विराटेन विशाम्पते ।
भीष्ममाशु महेष्वासमाससाद सुदुर्जयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! मत्स्यनरेश विराटके साथ मिलकर शिखण्डीने अत्यन्त दुर्जय महाधनुर्धर भीष्म-पर शीघ्रतापूर्वक चढ़ाई की ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं विकर्णं च महेष्वासं महाबलम् ।
राज्ञश्चान्यान् रणे शूरान् बहूनार्च्छद् धनंजयः॥ २ ॥

उस समय अर्जुनने उस रणभूमिमें महाधनुर्धर एवं महाबली द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण तथा अन्यान्य बहुत-से शूरवीर नरेशोंको अपने बाणोंद्वारा पीड़ा पहुँचायी ॥ २ ॥

सैन्धवं च महेष्वासं सामात्यं सह बन्धुभिः ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च भूमिपान् भूमिपर्षभ॥ ३ ॥

पुत्रं च ते महेष्वासं दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःसहं चैव समरे भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मन्त्री और बन्धुओंसहित महाधनुर्धर सिंधुराज जयद्रथपर, पूर्व और दक्षिणके भूमिपालोंपर तथा आपके अमर्षशील पुत्र महाधनुर्धर दुर्योधन एवं दुःसहपर भीमसेनने आक्रमण किया ॥ ३-४ ॥

सहदेवस्तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ।
पितापुत्रौ महेष्वासावभ्यवर्तत दुर्जयौ ॥ ५ ॥

सहदेवने शकुनि और महारथी उलूक—इन दोनों दुर्जय महाधनुर्धर पिता-पुत्रोंपर धावा किया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो महाराज गजानीकं महारथः ।
समवर्तत संग्रामे पुत्रेण निकृतस्तव ॥ ६ ॥

महाराज ! आपके पुत्रद्वारा ठगे गये महारथी राजा

युधिष्ठिरने संग्राममें गजसेनापर आक्रमण किया ॥ ६ ॥

माद्रीपुत्रस्तु नकुलः शूरसंक्रन्दनो युधि।
त्रिगर्तानां बलैः सार्धं समसज्जत पाण्डवः ॥ ७ ॥

माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल युद्धमें बड़े-बड़े शूरवीरोंको रुलानेवाले थे। उन्होंने त्रिगर्तोंकी सेनाके साथ युद्ध ठाना ॥ ७ ॥

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः समरे शाल्वकेकयान्।
सात्यकिश्चेकितानश्च सौभद्रश्च महारथः ॥ ८ ॥

सात्यकि, चेकितान और महारथी अभिमन्युने समरभूमिमें कुपित होकर शाल्वों तथा केकयोंपर धावा किया ॥ ८ ॥

धृष्टकेतुश्च समरे राक्षसश्च घटोत्कचः।
(नाकुलिश्च शतानीकः समरे रथपुङ्गवः।)
पुत्राणां ते रथानीकं प्रत्युद्याताः सुदुर्जयाः ॥ ९ ॥

धृष्टकेतु, राक्षस घटोत्कच और नकुलपुत्र श्रेष्ठ रथी शतानीक—इन अत्यन्त दुर्जय वीरोंने समराङ्गणमें आपकी रथ-सेनापर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

सेनापतिरमेयात्मा धृष्टद्युम्नो महाबलः।
द्रोणेन समरे राजन् समियायोग्रकर्मणा ॥ १० ॥

राजन्! अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव-सेनापति महाबली धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यसे लोहा लिया ॥ १० ॥

एवमेते महेष्वासास्तावकाः पाण्डवैः सह।
समेत्य समरे शूराः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ ११ ॥

इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा पाण्डवोंके साथ समरभूमिमें युद्ध करने लगे ॥ ११ ॥

मध्यंदिनगते सूर्ये नभस्याकुलतां गते।
कुरवः पाण्डवेयाश्च निजघ्नुरितरेतरम् ॥ १२ ॥

सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये। आकाश तपने लगा। परंतु उस समय भी कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेको मार रहे थे ॥ १२ ॥

ध्वजिनो हेमचित्राङ्गा विचरन्तो रणाजिरे।
सपताका रथा रेजुर्वैयाघ्रपरिवारणाः ॥ १३ ॥
समेतानां च समरे जिगीषूणां परस्परम्।
बभूव तुमुलः शब्दः सिंहानामिव नर्दताम् ॥ १४ ॥

जिनपर ध्वजा और पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनका एक-एक अवयव सुवर्णभूषित हो विचित्र शोभा धारण करता था तथा जिनपर व्याघ्रके चर्मका आवरण पड़ा हुआ था, ऐसे अनेक रथ उस समराङ्गणमें विचरते हुए शोभा पा रहे थे। समरमें एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजय पानेकी इच्छावाले शूरवीर सिंहके समान गर्जना कर रहे थे और उनका वह तुमुल नाद सब ओर गूँज रहा था ॥ १३-१४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सम्प्रहारं सुदारुणम्।
यदकुर्वन् रणे शूराः सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ १५ ॥
नैव खं न दिशो राजन् न सूर्यं शत्रुतापन।
विदिशो वापि पश्यामः शरैर्मुक्तैः समन्ततः ॥ १६ ॥

राजन्! हमने वहाँ अत्यन्त भयंकर और अद्भुत संग्राम देखा, जिसे रणवीर सृंजयोंने कौरवोंके साथ किया था। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! वहाँ चारों ओर इतने बाण छोड़े गये थे कि उनसे आच्छादित हो जानेके कारण हम आकाश, सूर्य, दिशा तथा विदिशाओंको भी नहीं देख पाते थे॥

शक्तीनां विमलाग्राणां तोमराणां तथास्यताम्।
निस्त्रिंशानां च पीतानां नीलोत्पलनिभाः प्रभाः॥ १७ ॥

चमकती हुई धारवाली शक्तियाँ, चलाये जाते हुए तोमरों और पानीदार तलवारोंकी प्रभा नील कमलके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १७ ॥

कवचानां विचित्राणां भूषणानां प्रभास्तथा।
खं दिशः प्रदिशश्चैव भासयामासुरोजसा ॥ १८ ॥

वे तथा विचित्र कवचों और आभूषणोंके प्रभासमूह आकाश, दिशा एवं कोणोंको अपने तेजसे प्रकाशित कर रहे थे ॥ १८ ॥

वपुर्भिश्च नरेन्द्राणां चन्द्रसूर्यसमप्रभैः।
विरराज तदा राजंस्तत्र तत्र रणाङ्गणम् ॥ १९ ॥

राजन्! चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंके शरीरोंसे वह समराङ्गण यत्र-तत्र सर्वत्र शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

रथसङ्घा नरव्याघ्राः समायान्तश्च संयुगे।
विरेजुः समरे राजन् ग्रहा इव नभस्तले ॥ २० ॥

राजन्! रथोंके समूह और नरश्रेष्ठ नरेशगण युद्धमें आते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें ग्रह-नक्षत्र सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो भीमसेनं महाबलम्।
अवारयत संक्रुद्धः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ २१ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर सब सेनाओंके देखते-देखते महाबली भीमसेनको रोक दिया ॥ २१ ॥

ततो भीष्मविनिर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः।
अभ्यघ्नन् समरे भीमं तैलधौताः सुतेजनाः ॥ २२ ॥

उस समय पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए, सुवर्णमय पंखसे युक्त और तेलके धोये तीखे बाण भीष्मके हाथोंसे छूटकर समरभूमिमें भीमसेनको चोट पहुँचाने लगे ॥ २२ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भीमसेनो महाबलः।
क्रुद्धाशीविषसंकाशां प्रेषयामास भारत ॥ २३ ॥

भारत! तब महाबली भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए

विषधर सर्पके समान भयंकर महावेगशालिनी शक्ति भीष्मपर छोड़ी ॥ २३ ॥

तामापतन्तीं सहसा रुक्मदण्डां दुरासदाम् ।
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसको सह लेना बहुत ही कठिन था। उसे सहसा आते देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें काट गिराया ॥ २४ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
कार्मुकं भीमसेनस्य द्विधा चिच्छेद भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर एक तीखे और पानीदार भल्लसे उन्होंने भीमसेनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥ २५ ॥

(अपास्य तु धनुश्छिन्नं भीमसेनो महाबलः ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीष्मं शान्तनवं युधि ।)

महाबली भीमसेनने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले बहुत-से बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शान्तनुनन्दन भीष्मको अत्यन्त पीड़ा दी ॥

सात्यकिस्तु ततस्तूर्णं भीष्ममासाद्य संयुगे ।
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः ॥ २६ ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् पितरं ते जनेश्वर ।

जनेश्वर ! तत्पश्चात् उस युद्धमें सात्यकिने शीघ्र ही आपके ताऊ भीष्मके पास पहुँचकर धनुषको कानोंतक खींचकर चलाये हुए बहुत-से तीखे एवं तेज सायकोंद्वारा उन्हें बहुत पीड़ा दी॥

ततः संधाय वै तीक्ष्णं शरं परमदारुणम् ॥ २७ ॥
वार्ष्णेयस्य रथाद् भीष्मः पातयामास सारथिम् ।

तब भीष्मने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण बाणका संधान करके सात्यकिके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ॥ २७½ ॥

तस्याश्वाः प्रद्रुता राजन् निहते रथसारथौ ॥ २८ ॥

राजन् ! रथ-सारथिके मारे जानेपर सात्यकिके घोड़े वहाँसे भाग चले ॥ २८ ॥

तेन तेनैव धावन्ति मनोमारुतरंहसः ।
ततः सर्वस्य सैन्यस्य निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ २९ ॥

मन और वायुके समान वेगवाले वे घोड़े जिधर राह मिली, उधर ही दौड़ने लगे। इससे सारी सेनामें कोलाहल मच गया ॥ २९ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अभ्यद्रवत गृह्णीत हयान् यच्छत धावत ॥ ३० ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युयुधानरथं प्रति ।

महात्मा पाण्डवोंके दलमें हाहाकार होने लगा। अरे ! दौड़ो, पकड़ो, घोड़ोंको रोको, भागो। सात्यकिके रथकी ओर इस तरहका शब्द गूँजने लगा ॥ ३०½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३१ ॥
न्यहनत् पाण्डवीं सेनामासुरीमिव वृत्रहा ।

इसी बीचमें शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र आसुरी-सेनाका संहार करते हैं ॥ ३१½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ॥ ३२ ॥
स्थिरां युद्धे मतिं कृत्वा भीष्ममेवाभिदुद्रुवुः ।

भीष्मके द्वारा पीड़ित हुए पाञ्चाल और सोमक युद्धका दृढ़ निश्चय लेकर भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नमुखाश्चापि पार्थाः शान्तनवं रणे ॥ ३३ ॥
अभ्यधावञ्जिगीषन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।

धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव योद्धा आपके पुत्रकी सेनाको जीतनेकी इच्छासे युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मपर ही चढ़ आये ॥ ३३½ ॥

तथैव कौरवा राजन् भीष्मद्रोणपुरोगमाः ॥ ३४ ॥
अभ्यधावन्त वेगेन ततो युद्धमवर्तत ॥ ३५ ॥

राजन् ! इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि कौरव योद्धा भी बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े; फिर तो दोनों दलोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्वयुद्ध

संजय उवाच

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
विव्याध तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महारथी राजा विराटने तीन बाण मारकर महारथी भीष्मको पीड़ित किया और तीन ही बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः ॥ २ ॥

तब महाधनुर्धर महाबली तथा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने सोनेके पंखवाले दस बाण मारकर विराटको भी घायल कर दिया ॥ २ ॥

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः ।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तः स्तनान्तरे ॥ ३ ॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अपने हाथकी दृढ़ताका परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुनकी छातीमें छः बाणोंसे प्रहार किया ॥ ३ ॥

कार्मुकं तस्य चिच्छेद फाल्गुनः परवीरहा ।
अविध्यच्च भृशं तीक्ष्णैः पत्रिभिः शत्रुकर्शनः ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काट दिया और उसे तीन तीखे बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगवान् क्रोधमूर्च्छितः।
अमृष्यमाणः पार्थेन कार्मुकच्छेदमाहवे ॥ ५ ॥
अविध्यत् फाल्गुनं राजन् नवत्या निशितैः शरैः।
वासुदेवं च सप्तत्या विव्याध परमेषुभिः ॥ ६ ॥

राजन् ! युद्धमें अर्जुनके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना अश्वत्थामाको सहन नहीं हुआ । उस वेगशाली वीरने क्रोधसे मूर्च्छित होकर तुरंत ही दूसरा धनुष ले नब्बे पैने बाणोंद्वारा अर्जुनको और सत्तर श्रेष्ठ सायकोंद्वारा श्रीकृष्णको घायल कर दिया ॥ ५–६ ॥

ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कृष्णेन सह फाल्गुनः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य चिन्तयित्वा पुनःपुनः ॥ ७ ॥
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
गाण्डीवधन्वा संक्रुद्धः शितान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥
जीवितान्तकरान् घोरान् समादत्त शिलीमुखान्।
तैस्तूर्णं समरेऽविध्यद् द्रौणिं बलवतां वरः ॥ ९ ॥

तब श्रीकृष्णसहित अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके बारंबार गरम-गरम लंबी साँस खींचकर सोच-विचार करनेके पश्चात् धनुषको बायें हाथसे दबाया । फिर उन शत्रुसूदन गाण्डीवधारी पार्थने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले कुछ भयंकर बाण हाथमें लिये, जो जीवनका अन्त कर देनेवाले थे । बलवानोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन बाणोंद्वारा तुरंत ही समराङ्गणमें अश्वत्थामाको घायल किया ॥ ७–९ ॥

तस्य ते कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
न विव्यथे च निर्भिन्नो द्रौणिर्गाण्डीवधन्वना ॥ १० ॥

वे बाण उसका कवच फाड़कर उस युद्धस्थलसे उसके शरीरका रक्त पीने लगे, किंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ ॥ १० ॥

तथैव च शरान् द्रौणिः प्रविमुञ्चन्नविह्वलः ।
तस्थौ स समरे राजंस्त्रातुमिच्छन् महाव्रतम् ॥ ११ ॥

राजन् ! द्रोणकुमार तनिक भी विह्वल हुए बिना ही पूर्ववत् समरभूमिमें बाणोंकी वर्षा करता रहा और अपने महान् व्रतकी रक्षाकी इच्छासे समराङ्गणमें डटा रहा ॥ ११ ॥

तस्य तत् सुमहत् कर्म शशंसुः कुरुसत्तमाः ।
यत् कृष्णाभ्यां समेताभ्यामभ्यापतत संयुगे ॥ १२ ॥

अश्वत्थामा युद्धभूमिमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका सामना करता रहा, उसके इस महान् कर्मकी श्रेष्ठ कौरवोंने बड़ी प्रशंसा की ॥ १२ ॥

(तथार्जुनोऽपि संहृष्ट अश्वत्थामानमाहवे ।
शशंस सर्वभूतानां शृण्वतामपि भारत ॥)

भारत ! अर्जुनने भी अत्यन्त हर्षमें भरकर रणभूमिमें सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

स हि नित्यमनीकेषु युध्यतेऽभयमास्थितः ।
अस्त्रग्रामं ससंहारं द्रोणात् प्राप्य सुदुर्लभम् ॥ १३ ॥

वह द्रोणाचार्यसे उपसंहारसहित सुदुर्लभ अस्त्र-समुदायकी शिक्षा पाकर निर्भय हो सदा ही पाण्डव-सैनिकोंके साथ युद्ध करता था ॥ १३ ॥

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यापि प्रियः सुतः ।
ब्राह्मणश्च विशेषेण माननीयो ममेति च ॥ १४ ॥
समास्थाय मतिं वीरो बीभत्सुः शत्रुतापनः ।
कृपां चक्रे रथश्रेष्ठो भारद्वाजसुतं प्रति ॥ १५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्यका पुत्र है, द्रोणका लाड़ला बेटा है तथा ब्राह्मण होनेके कारण भी विशेषरूपसे मेरे लिये माननीय है; आचार्यपुत्रपर कृपा की ॥ १४-१५ ॥

द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुनने अश्वत्थामाको वहीं युद्धस्थलमें छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ आपके दूसरे सैनिकोंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १६ ॥

दुर्योधनस्तु दशभिर्गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भीमसेनं महेष्वासं रुक्मपुङ्खैः समार्पयत् ॥ १७ ॥

दुर्योधनने शान चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्र पंखयुक्त अथवा सुवर्णमय पंखवाले दस बाण मारकर महाधनुर्धर भीमसेनको बड़ी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ।
चित्रं कार्मुकमादत्त शरांश्च निशितान् दश ॥ १८ ॥

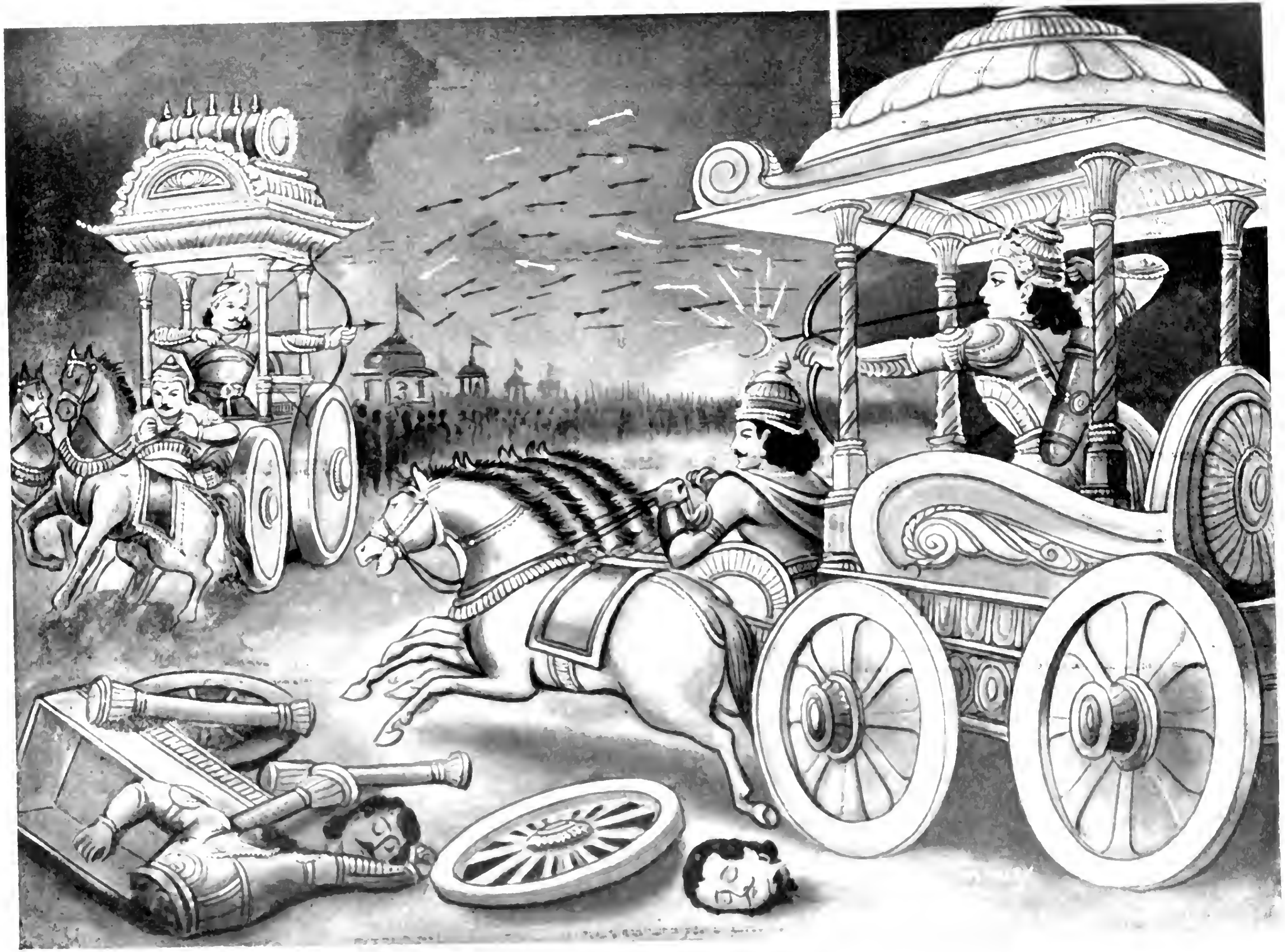

अभिमन्युका युद्ध-कौशल

आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रः कुरुराजं महोरसि ॥ १९ ॥

इससे भीमसेन अत्यन्त क्रोधसे जल उठे । उन्होंने एक विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त सुदृढ़ और शत्रुओंके प्राण लेनेमें समर्थ था । उसके ऊपर उन्होंने दस तीखे बाण रक्खे; फिर धनुषको कानतक खींचकर वे बाण छोड़ दिये । उन सीधे जानेवाले वेगवान् एवं तीक्ष्ण बाणोंद्वारा भीमने बिना किसी व्यग्रताके तुरंत ही कुरुराज दुर्योधनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८-१९ ॥

तस्य काञ्चनसूत्रस्थः शरैः संछादितो मणिः ।
रराजोरसि खे सूर्यो ग्रहैरिव समावृतः ॥ २० ॥

दुर्योधनकी छातीपर एक मणि शोभा पाती थी, जो सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई थी । वह भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित होकर वैसे ही शोभा पाने लगी, जैसे आकाशमें ग्रहोंसे घिरे हुए सूर्य सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

पुत्रस्तु तव तेजस्वी भीमसेनेन ताडितः ।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं मदोत्कटः ॥ २१ ॥

भीमसेनके बाणोंसे पीड़ित होकर आपका तेजस्वी पुत्र उनके द्वारा किये गये आघातको उसी प्रकार नहीं सह सका, जैसे मतवाला हाथी तालीकी आवाज नहीं सहन करता है ॥

ततः शरैर्महाराज रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
भीमं विव्याध संक्रुद्धस्त्रासयानो वरूथिनीम् ॥ २२ ॥

महाराज ! तदनन्तर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए स्वर्णपंखयुक्त बाणोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने भीमसेनको बींध डाला और पाण्डवसेनाको भयभीत करने लगा ॥

तौ युध्यमानौ समरे भृशमन्योन्यविक्षतौ ।
पुत्रौ ते देवसंकाशौ व्यरोचेतां महाबलौ ॥ २३ ॥

उस समराङ्गणमें परस्पर युद्ध करके अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए आपके दोनों महाबली पुत्र दुर्योधन और भीमसेन देवताओंके समान शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ॥ २४ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने नरश्रेष्ठ चित्रसेनको दस और पुरुमित्रको सात बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

सत्यव्रतं च सप्तत्या विद्ध्वा शक्रसमो युधि ।
नृत्यन्निव रणे वीर आर्तिं नः समजीजनत् ॥ २५ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी वीर अभिमन्युने सत्यव्रतको सत्तर बाणोंसे घायल करके रणाङ्गणमें नृत्य-सा करते हुए हम सब लोगोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ २५ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिश्चित्रसेनः शिलीमुखैः ।
सत्यव्रतश्च नवभिः पुरुमित्रश्च सप्तभिः ॥ २६ ॥

तब चित्रसेनने दस, सत्यव्रतने नौ और पुरुमित्रने सात बाणोंसे मारकर अभिमन्युको घायल कर दिया ॥ २६ ॥

स विद्धो विक्षरन् रक्तं शत्रुसंवारणं महत् ।
चिच्छेद चित्रसेनस्य चित्रं कार्मुकमार्जुनिः ॥ २७ ॥

उन दोनोंके द्वारा घायल होकर अपने शरीरसे रक्त बहाते हुए अभिमन्युने चित्रसेनके शत्रुनिवारक महान् एवं विचित्र धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

भित्त्वा चास्य तनुत्राणं शरेणोरस्यताडयत् ।
ततस्ते तावका वीरा राजपुत्रा महारथाः ॥ २८ ॥
समेत्य युधि संरब्धा विव्यधुर्निशितैः शरैः ।
तांश्च सर्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैर्जघान परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

साथ ही चित्रसेनके कवचको विदीर्ण करके उसकी छातीमें भी एक बाण मारा । तदनन्तर आपके वीर एवं महारथी राजकुमार युद्धमें एकत्र हो क्रोधमें भरकर अभिमन्युको तीखे बाणोंसे बेधने लगे; परंतु उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अभिमन्युने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य दृष्ट्वा तु तत् कर्म परिवव्रुः सुतास्तव ।
दहन्तं समरे सैन्यं वने कक्षं यथोल्बणम् ॥ ३० ॥

जैसे वनमें लगी हुई प्रचण्ड आग तृणसमूहको अनायास ही जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अभिमन्यु उस समराङ्गणमें कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था । उसके इस महान् कर्मको देखकर आपके पुत्रोंने उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

अपेतशिशिरे काले समिद्धमिव पावकम् ।
अत्यरोचत सौभद्रस्तव सैन्यानि नाशयन् ॥ ३१ ॥

महाराज ! आपकी सेनाका संहार करता हुआ सुभद्राकुमार अभिमन्यु ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित हुई प्रचण्ड अग्निसे भी बढ़कर शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

तत् तस्य चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत् तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! उसका यह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरंत ही युद्धमें सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः ॥ ३३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने उत्तम लक्षणोंसे युक्त

लक्ष्मणको छः और उसके सारथिको तीन तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ३३ ॥

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३४ ॥

राजन् ! इसी प्रकार लक्ष्मणने भी सुभद्राकुमारको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया । महाराज ! वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३४ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

यह देख महाबली सुभद्राकुमारने लक्ष्मणके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर तीखे बाणोंद्वारा उसपर भी आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले लक्ष्मणने उस अश्वहीन रथपर खड़े-खड़े ही क्रोधमें भरकर अभिमन्युके रथकी ओर एक शक्ति चलायी ॥ ३६ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ॥ ३७ ॥

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणीके समान शक्तिको सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्युने तीखे बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३७ ॥

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा ।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३८ ॥

तब कृपाचार्य सब सैनिकोंके देखते-देखते लक्ष्मणको अपने रथपर बिठाकर युद्धभूमिमें वहाँसे अन्यत्र हटा ले गये॥

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस महाभयंकर संघर्षमें सब योद्धा विपक्षीको मारनेकी इच्छा रखकर एक-दूसरेका वध करनेके लिये परस्पर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः ।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ४० ॥

आपके और पाण्डवपक्षके महाधनुर्धर महारथी वीर समराङ्गणमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ४० ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
बाहुभिः समयुध्यन्त सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

कवच और रथसे रहित हो धनुष कट जानेपर अपने बाल खोले हुए कितने ही सृंजय वीर कौरवोंके साथ केवल भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सेनां जघान संक्रुद्धो दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ॥ ४२ ॥

तब महाबली महाबाहु भीष्म अत्यन्त कुपित हो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा महामना पाण्डवोंकी सेनाका संहार करने लगे॥

हतैरश्वैर्गजैस्तत्र नरैरश्वैश्च पातितैः ।
रथिभिः सादिभिश्चैव समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ४३ ॥

उस समय वहाँ मारे और गिराये गये हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथी और सवारोंद्वारा सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४४ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

अथ राजन् महाबाहुः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
विकृष्य चापं समरे भारसाहमनुत्तमम् ॥ १ ॥
प्रामुञ्चत् पुङ्खसंयुक्ताञ्शरानाशीविषोपमान् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! महाबाहु सात्यकि युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे । उन्होंने युद्धमें भार सहन करनेमें समर्थ और परम उत्तम धनुषको बलपूर्वक खींचकर विषधर सर्पके समान भयानक पंखयुक्त बाण छोड़े ॥ १½ ॥

प्रगाढं लघु चित्रं च दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ २ ॥
(यत् तत् सख्युस्तु पूर्वेण अर्जुनादुपशिक्षितम् ।)

बाणोंको छोड़ते समय सात्यकिने अपने उस प्रगाढ, शीघ्रकारी और विचित्र हस्त-लाघवका परिचय दिया, जिसे उन्होंने पूर्वकालमें अपने सखा अर्जुनसे सीखा था ॥ २ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं शरानन्यांश्च मुञ्चतः।
आददानस्य भूयश्च संदधानस्य चापरान्॥ ३॥
क्षिपतश्च परांस्तस्य रणे शत्रून् विनिघ्नतः।
ददृशे रूपमत्यर्थं मेघस्येव प्रवर्षतः॥ ४॥

जब वे धनुषको खींचते, दूसरे-दूसरे बाण छोड़ते, फिर नये-नये बाण हाथमें लेते, धनुषपर रखते, उन्हें शत्रुओंपर चलाते और उनका संहार करते थे, उस समय वर्षा करनेवाले मेघके समान उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत दिखायी देता था॥ ३-४॥

तमुदीर्यन्तमालोक्य राजा दुर्योधनस्ततः।
रथानामयुतं तस्य प्रेषयामास भारत॥ ५॥

भारत! उस समय उन्हें युद्धमें बढ़ते देख राजा दुर्योधनने उनका सामना करनेके लिये दस हजार रथियोंकी सेना भेजी॥५॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सात्यकिः सत्यविक्रमः।
जघान परमेष्वासो दिव्येनास्त्रेण वीर्यवान्॥ ६॥

परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर सत्यपराक्रमी शक्तिशाली सात्यकिने उन समस्त धनुर्धर योद्धाओंको अपने दिव्यास्त्रके द्वारा मार डाला॥ ६॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे॥ ७॥

यह भयंकर कर्म करके फिर धनुष लिये वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें भूरिश्रवापर आक्रमण किया॥ ७॥

स हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धः कुरूणां कीर्तिवर्धनः॥ ८॥

सात्यकिने आपकी सेनाको मार गिराया है, यह देखकर कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाला भूरिश्रवा अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा॥ ८॥

इन्द्रायुधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः।
सृष्टवान् वज्रसंकाशाञ्शरानाशीविषोपमान्॥ ९॥
सहस्रशो महाराज दर्शयन् पाणिलाघवम्।

उसका विशाल धनुष इन्द्र-धनुषके समान बहुरंगा था। महाराज! उसे खींचकर भूरिश्रवाने अपने हस्त-लाघवका परिचय देते हुए वज्रके समान दुःसह और विषैले सर्पोंके तुल्य भयंकर सहस्रों बाण छोड़े॥ ९½॥

शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेश्च पदानुगाः॥१०॥
न विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
विहाय सात्यकिं राजन् समरे युद्धदुर्मदम्॥ ११॥

उन बाणोंका स्पर्श मृत्युके तुल्य था। राजन्! उस समय सात्यकिके साथ आये हुए सैनिक उन सायकोंका वेग न सह सके। नरेश्वर! युद्धभूमिमें वे रण-दुर्मद सात्यकिको वहीं छोड़कर सब ओर भाग निकले॥ १०-११॥

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः।
महारथाः समाख्याताश्चित्रवर्मायुधध्वजाः॥ १२॥
समासाद्य महेष्वासं भूरिश्रवसमाहवे।
ऊचुः सर्वे सुसंरब्धा यूपकेतुं महारणे॥ १३॥

सात्यकिके दस महाबलवान् पुत्र थे। उनके कवच, आयुध और ध्वज सभी विचित्र थे। वे सब-के सब महारथी कहे जाते थे। वे युद्धस्थलमें यूपचिह्नित ध्वजवाले महारथी भूरिश्रवाको देखकर उसके पास आये और अत्यन्त क्रोधपूर्वक उससे इस प्रकार बोले—॥ १२-१३॥

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा॥ १४॥

'महाबली कौरवपुत्र! आओ, इस संग्रामभूमिमें हम सब लोगोंके साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक एकके साथ युद्ध करो॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं धास्यामहे पितुः॥ १५॥

'या तो तुम युद्धमें हमें पराजित करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे'॥

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान्॥ १६॥

तब उन शूरवीरोंके ऐसा कहनेपर अपने पराक्रमकी श्लाघा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्धके लिये उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला—॥ १६॥

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे॥ १७॥

'वीरो! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुमलोगोंने यह बड़ी अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमिमें तुम सब लोगोंको मार गिराऊँगा'॥ १७॥

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिंदमम्॥ १८॥

भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरोंने बड़ी भारी बाण-वर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवापर आक्रमण किया॥ १८॥

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत्।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे॥ १९॥

महाराज! अपराह्णकालमें उस समराङ्गणमें एकत्र हुए बहुत-से वीरोंके साथ एक वीरका भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ॥

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन्।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप॥ २०॥

नरेश्वर! जैसे मेघ वर्षाकालमें मेरुपर्वतपर जलकी बूँदें

बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ एकमात्र भूरिश्रवापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २० ॥

तैस्तु मुक्ताञ्शरान् घोरान् यमदण्डाशनिप्रभान्।
असम्प्राप्तानसम्भ्रान्तश्चिच्छेदाशु महारथः ॥ २१ ॥

उनके छोड़े हुए यमदण्ड और वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले भयंकर बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही महारथी भूरिश्रवाने बिना किसी घबराहटके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सौमदत्तेः पराक्रमम्।
यदेको बहुभिर्युद्धे समसज्जदभीतवत् ॥ २२ ॥

वहाँ हम सबने सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाका अद्भुत पराक्रम देखा। वह अकेला होनेपर भी बहुत-से वीरोंके साथ निर्भीक-सा युद्ध करता रहा ॥ २२ ॥

विसृज्य शरवृष्टिं तां दश राजन् महारथाः।
परिवार्य महाबाहुं निहन्तुमुपचक्रमुः ॥ २३ ॥

राजन्! उन दस महारथियोंने वह बाणोंकी वर्षा करके महाबाहु भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसे मार डालनेकी तैयारी की ॥ २३ ॥

सौमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ॥ २४ ॥

भरत-वंशीनरेश! उस समय क्रोधमें भरे हुए भूरिश्रवाने उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए ही समरभूमिमें उनके धनुष काट डाले ॥ २४ ॥

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः संनतपर्वभिः।
चिच्छेद समरे राजञ्शिरांसि भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इनके धनुष कट जानेपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे भूरिश्रवाने उनके मस्तक भी समरभूमिमें काट गिराये ॥ २५ ॥

ते हता न्यपतन् राजन् वज्रभग्ना इव द्रुमाः।
तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरो रणे पुत्रान् महाबलान् ॥ २६ ॥
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात्।

राजन्! वे दसों वीर वज्रके मारे हुए वृक्षोंकी भाँति रणभूमिमें मरकर गिर पड़े। उन महाबली पुत्रोंको संग्राममें मारा गया देख वीरवर सात्यकिने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

रथं रथेन समरे पीडयित्वा महाबलौ ॥ २७ ॥
तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ॥ २८ ॥

वे दोनों महाबली समराङ्गणमें अपने रथके द्वारा दूसरेके रथको पीड़ा देने लगे। उन्होंने आपसमें एक दूसरेके रथ और घोड़ोंको नष्ट कर दिया। इस प्रकार रथहीन हुए वे दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ॥ २९ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह हाथमें बड़ी-बड़ी तलवारें और सुन्दर ढालें लिये युद्धके लिये उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

(खड्गप्रहारैः सुभृशं जघ्नतुश्च परस्परम्।
पीडितौ खड्गघाताभ्यां स्रवद्रक्तौ क्षितौ भृशम् ॥
शुशुभाते महावीर्यावुभौ समरदुर्जयौ।
असृगुक्षितसर्वाङ्गौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥)

वे तलवारोंकी मारसे एक दूसरेको अत्यन्त घायल करने लगे। खड्गके आघातसे पीड़ित हो दोनों ही पृथ्वीपर रक्त बहाने लगे। उनके सारे अङ्ग रक्तरंजित हो रहे थे। अतः वे रण-दुर्जय महापराक्रमी वीर खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगे ॥

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम्।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ॥ ३० ॥

राजन्! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्यकिके पास पहुँचकर भीमसेनने उस समय तुरंत उन्हें अपने रथपर बिठा लिया ॥ ३० ॥

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥ ३१ ॥

महाराज! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने भी युद्धस्थलमें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भूरिश्रवाको तुरंत अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३१ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम्।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उस युद्धमें महारथी भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनंजयः।
पञ्चविंशतिसाहस्रान् निजघान महारथान् ॥ ३३ ॥

जब सूर्य अस्ताचलके पास पहुँचकर लाल होने लगे, उस समय अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ बाण-वर्षा करके पचीस हजार महारथियोंको मार डाला ॥ ३३ ॥

ते हि दुर्योधनादिष्टास्तदा पार्थनिबर्हणे।
सम्प्राप्यैव गता नाशं शलभा इव पावकम् ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब दुर्योधनकी आज्ञासे अर्जुनका संहार करनेके लिये आये थे। परंतु वे उस समय आगमें गिरे हुए पतंगोंकी भाँति उनके पास आते ही नष्ट हो गये ॥ ३४ ॥

ततो मत्स्याः केकयाश्च धनुर्वेदविशारदाः।
परिवव्रुस्तदा पार्थं सहपुत्रं महारथम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर धनुर्विद्यामें प्रवीण मत्स्य और केकयदेशके वीर अभिमन्यु आदि पुत्रोंसे युक्त महारथी अर्जुनको घेरकर कौरवोंसे युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति ।
सर्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ॥ ३६ ॥

इसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये । तब आपके समस्त सैनिकोंपर मोह छा गया ॥ ३६ ॥

अवहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
संध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ॥ ३७ ॥

महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रतने संध्याके समय अपनी सेनाको पीछे हटा लिया । उनके वाहन बहुत थक गये थे ॥ ३७ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च परस्परसमागमे ।
ते सेने भृशसंविग्ने ययतुः स्वं निवेशनम् ॥ ३८ ॥

पाण्डवों और कौरवोंके पारस्परिक संघर्षमें दोनों ही सेनाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं । अतः वे अपनी-अपनी छावनीको चली गयीं ॥ ३८ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत ।
पाण्डवाः सृंजयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ॥ ३९ ॥

भारत ! तदनन्तर सृंजयोंसहित पाण्डव, और कौरव अपने शिबिरमें जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसावहारे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धकी समाप्तिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवसेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौञ्चव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना

संजय उवाच

ते विश्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रातको विश्राम करनेके अनन्तर जब वह रात बीत गयी, तब कौरव और पाण्डव पुनः युद्धके लिये साथ-साथ निकले ॥ १ ॥

तत्र शब्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
युज्यतां रथमुख्यानां कल्प्यतां चैव दन्तिनाम् ॥ २ ॥
संनह्यतां पदातीनां हयानां चैव भारत ।
शङ्खदुन्दुभिनादश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भारत ! उस समय वहाँ आपके और पाण्डव पक्षके सैनिकोंमें बड़ा कोलाहल मचा । कुछ लोग श्रेष्ठ रथोंको जोत रहे थे, कुछ लोग हाथियोंको सुसज्जित करते थे, कहीं पैदल सैनिक और घोड़े कवच बाँधकर साज-बाज धारण कर तैयार किये जा रहे थे । शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि बड़े जोर-जोरसे हो रही थी । इन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा था ॥ २–३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूहं व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नसे कहा—'महाबाहो ! तुम शत्रुनाशक मकरव्यूहकी रचना करो' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
व्यादिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्नने अपने समस्त रथियोंको मकरव्यूह बनानेके लिये आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदस्तस्य पाण्डवश्च धनंजयः ।
चक्षुषी सहदेवश्च नकुलश्च महारथः ॥ ६ ॥

उसके मस्तकके स्थानपर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खड़े हुए । महारथी नकुल और सहदेव नेत्रोंके स्थानमें स्थित हुए ॥ ६ ॥

तुण्डमासीन्महाराज भीमसेनो महाबलः ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ७ ॥
सात्यकिर्धर्मराजश्च व्यूहग्रीवां समास्थिताः ।

महाराज ! महाबली भीमसेन उसके मुखकी जगह खड़े हुए । सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँच पुत्र, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर—ये उस मकरव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ ७½ ॥

पृष्ठमासीन्महाराज विराटो वाहिनीपतिः ॥ ८ ॥
धृष्टद्युम्नेन सहितो महत्या सेनयावृतः ।

नरेश्वर ! सेनापति विराट विशाल सेनासे घिरकर धृष्टद्युम्नके साथ उस व्यूहके पृष्ठ भागमें खड़े हुए ॥ ८½ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च वामपार्श्वं समाश्रिताः ॥ ९ ॥
धृष्टकेतुर्नरव्याघ्रश्चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थितौ व्यूहस्य रक्षणे ॥ १० ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार उनके वामपार्श्वमें खड़े थे। नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान—ये व्यूहके दाहिने भागमें स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे ॥ ९-१० ॥

पादयोस्तु महाराज स्थितः श्रीमान् महारथः।
कुन्तिभोजः शतानीको महत्या सेनया वृतः ॥ ११ ॥

महाराज ! उसके दोनों पैरोंकी जगह महारथी श्रीमान् कुन्तिभोज और विशाल सेनासहित शतानीक खड़े थे ॥११॥

शिखण्डी तु महेष्वासः सोमकैः संवृतो बली।
इरावांश्च ततः पुच्छे मकरस्य व्यवस्थितौ ॥ १२ ॥

सोमकोंसे घिरा हुआ महाधनुर्धर शिखण्डी और बलवान् इरावान्—ये दोनों उस मकरव्यूहके पुच्छभागमें खड़े थे ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
सूर्योदये महाराज पुनर्युद्धाय दंशिताः ॥ १३ ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! इस प्रकार उस महान् मकरव्यूहकी रचना करके पाण्डव कवच बाँधकर सूर्योदयके समय पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १३ ॥

कौरवानभ्ययुस्तूर्णं हस्त्यश्वरथपत्तिभिः।
समुच्छ्रितैर्ध्वजैश्छत्रैः शस्त्रैश्च विमलैः शितैः ॥ १४ ॥

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं, छत्रों तथा चमकीले और तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ पाण्डवोंने कौरवोंपर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ॥ १४ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ॥ १५ ॥

राजन् ! तब आपके ताऊ देवव्रतने पाण्डवोंका वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिलेमें अपनी सेनाको महान् क्रौञ्च-व्यूहके रूपमें संगठित किया ॥ १५ ॥

तस्य तुण्डे महेष्वासो भारद्वाजो व्यरोचत।
अश्वत्थामा कृपश्चैव चक्षुरासीन्नरेश्वर ॥ १६ ॥

उसकी चोंचके स्थानमें महाधनुर्धर द्रोणाचार्य सुशोभित हुए। नरेश्वर ! अश्वत्थामा और कृपाचार्य नेत्रोंके स्थानमें खड़े हुए ॥ १६ ॥

कृतवर्मा तु सहितः काम्बोजवरबाह्लिकैः।
शिरस्यासीन्नरश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १७ ॥

काम्बोज और बाह्लिकदेशके उत्तम सैनिकोंके साथ समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूहके शिरोभागमें स्थित हुए॥

ग्रीवायां शूरसेनश्च तव पुत्रश्च मारिष।
दुर्योधनो महाराज राजभिर्बहुभिर्वृतः ॥ १८ ॥

आर्य ! महाराज ! राजा शूरसेन तथा आपका पुत्र दुर्योधन—ये दोनों बहुत-से राजाओंके साथ क्रौञ्चव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ १८ ॥

प्राग्ज्योतिषस्तु सहितो मद्रसौवीरकेकयैः।
उरस्यभून्नरश्रेष्ठ महत्या सेनया वृतः ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओंके साथ विशाल सेनासे घिरे हुए प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त उस व्यूहके वक्षःस्थलमें स्थित हुए ॥ १९ ॥

स्वसेनया च सहितः सुशर्मा प्रस्थलाधिपः।
वामपक्षं समाश्रित्य दंशितः समवस्थितः ॥ २० ॥

प्रस्थलाधिपति (त्रिगर्तराज) सुशर्मा कवच धारण करके अपनी सेनाके साथ व्यूहके वाम-पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य भारत ॥ २१ ॥

भारत ! तुषार, यवन, शक और चूचुपदेशके सैनिक व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर स्थित हुए ॥ २१ ॥

श्रुतायुश्च शतायुश्च सौमदत्तिश्च मारिष।
व्यूहस्य जघने तस्थू रक्षमाणाः परस्परम् ॥ २२ ॥

मारिष ! श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा-ये परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए व्यूहके जघनप्रदेशमें स्थित हुए ॥ २२ ॥

ततो युद्धाय संजग्मुः पाण्डवाः कौरवैः सह।
सूर्योदये महाराज ततो युद्धमभून्महत् ॥ २३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् सूर्योदय-कालमें पाण्डवोंने कौरवोंके साथ युद्धके लिये उनकी सेनापर आक्रमण किया; फिर तो बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २३ ॥

प्रतीयू रथिनो नागा नागांश्च रथिनो ययुः।
हयारोहान् रथारोहा रथिनश्चापि सादिनः ॥ २४ ॥

रथियोंकी ओर हाथी और हाथियोंकी ओर रथी बढ़े। घुड़सवारोंपर रथारोही तथा रथारोहियोंपर घुड़सवार चढ़ आये॥

सादिनश्च हयान् राजन् रथिनश्च महारणे।
हस्त्यारोहान् हयारोहा रथिनः सादिनस्तथा ॥ २५ ॥

राजन् ! उस महायुद्धमें घुड़सवार योद्धा घुड़सवारों तथा रथियोंपर भी चढ़ दौड़े। इसी प्रकार अश्वारोही हाथीसवारों तथा रथियोंपर भी टूट पड़े ॥ २५ ॥

रथिनः पत्तिभिः सार्धं सादिनश्चापि पत्तिभिः।
अन्योन्यं समरे राजन् प्रत्यधावन्नमर्षिताः ॥ २६ ॥

रथी और घुड़सवार दोनों ही पैदल सेनाओंर आक्रमण करने लगे। राजन् ! इस प्रकार अमर्षमें भरे हुए ये समस्त सैनिक एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ २६ ॥

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ॥ २७ ॥

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्य महारथियोंसे सुरक्षित हुई पाण्डव-सेना नक्षत्रोंसे रात्रिकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तवापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदिसे घिरी हुई आपकी सेना ग्रहोंसे आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ २८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ॥ २९ ॥

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेनने द्रोणाचार्यको देखकर वेगशाली अश्वोंद्वारा द्रोणकी सेनापर धावा किया ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ॥ ३० ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो भीमके मर्मस्थानोंको लोहेके नौ बाणोंसे घायल कर दिया।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥ ३१ ॥

तब युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा अत्यन्त आहत होकर भीमसेनने उनके सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ ३१ ॥

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ॥ ३२ ॥

तब प्रतापी द्रोणाचार्य स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे आग रुईके ढेरको भस्म कर डालती है ॥ ३२ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ॥ ३३ ॥

वे नरश्रेष्ठ सृंजय और केकय द्रोणाचार्य तथा भीष्मकी मार खाकर रणभूमिसे भागने लगे ॥ ३३ ॥

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार भीम और अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना मतवाली स्त्रीकी भाँति जहाँ-तहाँ मूर्छित होने लगी॥

अभिद्येतां ततो व्यूहौ तस्मिन् वीरवरक्षये ।
आसीद् व्यतिकरो घोरस्तव तेषां च भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस युद्धमें दोनों सेनाओंके व्यूह टूट गये और आपके तथा पाण्डवोंके सैनिकोंका भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ३५ ॥

तदद्भुतमपश्याम तावकानां परैः सह ।
एकायनगताः सर्वे यदयुध्यन्त भारत ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन ! हमने आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ अद्भुत पराक्रम देखा था । वे सब-के-सब एक पंक्तिमें खड़े होकर युद्ध कर रहे थे ॥ ३६ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि तेऽन्योन्यस्य विशाम्पते ।
युयुधुः पाण्डवाश्चैव कौरवाश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! महाबली कौरव तथा पाण्डव एक दूसरेके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करते हुए जूझ रहे थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसयुद्धारम्भे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धका आरम्भविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! इस प्रकार हमारी सेना अनेक गुणोंसे सम्पन्न है । अनेक अङ्गोंसे युक्त और अनेक प्रकारसे संगठित है तथा शास्त्रीय विधिसे उसकी व्यूहरचना की गयी है । अतः वह अमोघ (विजय पानेमें विफल न होनेवाली) है ॥ १ ॥

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥ २ ॥

हमारी यह सेना हमलोगोंपर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है । हमारे प्रति सर्वदा विनीतभाव रखती आयी है । यह किसी भी व्यसनमें नहीं फँसी है । पूर्वकालमें इसका पराक्रम देखा जा चुका है ॥ २ ॥

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारगोधमनामयम् ॥ ३ ॥

इसमें न कोई अत्यन्त बूढ़ा है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है। इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कदके लोग हैं। इस सेनाका प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ॥ ३ ॥

आत्तसंनाहशस्त्रं च बहुशस्त्रपरिग्रहम्।
असियुद्धे नियुद्धे च गदायुद्धे च कोविदम् ॥ ४ ॥

यहाँ सबने कवच एवं अस्त्र-शस्त्र धारण कर रक्खा है। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक शस्त्रोंका संग्रह किया गया है। यहाँका एक-एक योद्धा खड्गयुद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्धमें कुशल है ॥ ४ ॥

प्रासर्ष्टितोमरेष्वाजौ परिघेष्वायसेषु च।
भिन्दिपालेषु शक्तीषु मुसलेषु च सर्वशः ॥ ५ ॥
कम्पनेषु च चापेषु कणपेषु च सर्वशः।
क्षेपणीयेषु चित्रेषु मुष्टियुद्धेषु च क्षमम् ॥ ६ ॥

ये सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर, लोहमय परिघ, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, कम्पन, चाप तथा कणप आदि दूसरोंपर चलाने योग्य विचित्र अस्त्रोंका युद्धमें प्रयोग करनेकी कलामें कुशल तथा मुष्टियुद्धमें भी सब प्रकारसे समर्थ हैं५-६

अपरोक्षं च विद्यासु व्यायामे च कृतश्रमम्।
शस्त्रग्रहणविद्यासु सर्वासु परिनिष्ठितम् ॥ ७ ॥

हमारी इस सेनाको धनुर्वेदका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। इसके सैनिकोंने व्यायाम (अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यास) में भी अधिक परिश्रम किया है। ये शस्त्रग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याओंमें पारंगत हैं ॥ ७ ॥

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तरप्लुते।
सम्यक् प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ॥ ८ ॥

ये हाथी, घोड़े आदि सवारियोंपर चढ़ने, उतरने, आगे बढ़ने, बीचमें ही कूद पड़ने, अच्छी तरह प्रहार करने, चढ़ाई करने और पीछे हटनेमें भी प्रवीण हैं ॥ ८ ॥

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम्।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥ ९ ॥

हाथी, घोड़े, रथ आदिकी सवारियोंद्वारा रणयात्रा करनेमें इस सेनाकी अनेक प्रकार परीक्षा की जा चुकी है। परीक्षा करके प्रत्येक सैनिकको उसकी योग्यताके अनुकूल यथोचित वेतन दे दिया गया है ॥ ९ ॥

न गोष्ठ्या नोपकारेण न च बन्धुनिमित्ततः।
न सौहृदबलैर्वापि नाकुलीनपरिग्रहैः ॥ १० ॥

इनमेंसे किसीको मित्रोंकी गोष्ठीसे लाकर, सामान्य उपकार करके, भाई-बन्धु होनेके कारण, सौहार्दवश अथवा बलप्रयोग करके सेनामें सम्मिलित नहीं किया गया है। जो कुलीन नहीं हैं, ऐसे लोगोंका भी इस सेनामें संग्रह नहीं हुआ है ॥ १० ॥

समृद्धजनमार्यं च तुष्टसम्बन्धिबान्धवम्।
कृतोपकारभूयिष्ठं यशस्वि च मनस्वि च ॥ ११ ॥

हमारी सेनामें जो लोग हैं, वे सब समृद्धिशाली और श्रेष्ठ हैं। उनके सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु भी संतुष्ट हैं। इन सबपर हमारी ओरसे विशेष उपकार किया गया है। ये सभी यशस्वी और मनस्वी हैं ॥ ११ ॥

स्वजनैस्तु नरैर्मुख्यैर्बहुशो दृष्टकर्मभिः।
लोकपालोपमैस्तात पालितं लोकविश्रुतम् ॥ १२ ॥

तात ! जिनके कार्य और व्यवहारको कई बार देखा गया है, ऐसे मुख्य-मुख्य स्वजनोंद्वारा, जो लोकपालके समान पराक्रमी हैं, इस सेनाका पालन-पोषण होता है। यह सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है ॥ १२ ॥

बहुभिः क्षत्रियैर्गुप्तं पृथिव्यां लोकसम्मतैः।
अस्मानभिगतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ॥ १३ ॥

जो अपनी वीरताके लिये भूमण्डलमें विख्यात तथा लोकमें सम्मानित हैं, ऐसे बहुत-से क्षत्रिय अपनी इच्छासे ही सेना और सेवकोंके साथ हमारे पास आये हैं, उनके द्वारा यह कौरवसेना सुरक्षित है ॥ १३ ॥

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैर्नागैश्च संवृतम् ॥ १४ ॥

हमारी यह सेना महासागरके समान सब ओरसे परिपूर्ण है। इसमें बिना पंखके ही पक्षियोंके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथ और हाथी इस प्रकार आकर मिलते हैं, जैसे समुद्रमें सब ओरसे नदियाँ आकर गिरती हैं ॥ १४ ॥

नानायोधजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम्।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्राससमाकुलम् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके योद्धा ही इस सैन्यसागरके जल हैं, वाहन ही उसमें उठती हुई छोटी-बड़ी तरंगें हैं। इसमें क्षेपणी, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र जल-जन्तुओंके समान भरे पड़े हैं ॥ १५ ॥

ध्वजभूषणसम्बाधं रत्नपट्टसुसंचितम्।
परिधावद्भिरश्वैश्च वायुवेगविकम्पितम् ॥ १६ ॥
अपारमिव गर्जन्तं सागरप्रतिमं महत्।

ध्वज और आभूषणोंसे भरी हुई यह सेना रत्नजटित पताकाओंसे व्याप्त है। दौड़ते हुए घोड़ोंसे जो इस सेनाका चञ्चल होना है, वही वायुवेगसे इस समुद्रका कम्पन है। सागरसदृश यह विशाल सेना देखनेमें अपार है और निरन्तर गर्जन करती रहती है ॥ १६½ ॥

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ॥ १७ ॥
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ।
भगदत्तविकर्णाभ्यां द्रौणिसौबलबाह्लिकैः ॥ १८ ॥
गुप्तं प्रवीरैर्लोकैश्च सारवद्भिर्महात्मभिः ।
यदहन्यत संग्रामे दैवमत्र पुरातनम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन, जयद्रथ, भगदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा बाह्लिक आदि प्रमुख वीरों तथा अन्य शक्तिशाली महामनस्वी लोगोंद्वारा मेरी सेना सदा सुरक्षित रहती है । ऐसी सेना भी यदि संग्राममें मारी गयी तो इसमें हमलोगोंका पुरातन प्रारब्ध ही कारण है ॥ १७–१९ ॥

नैतादृशं समुद्योगं दृष्टवन्तो हि मानुषाः ।
ऋषयो वा महाभागाः पुराणा भुवि संजय ॥ २० ॥

संजय ! इस भूतलपर इतनी बड़ी सेनाका जमाव मनुष्योंने कभी नहीं देखा होगा अथवा प्राचीन महाभाग ऋषियोंने भी नहीं देखा होगा ॥ २० ॥

ईदृशोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
वध्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ २१ ॥

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्तिसे संयुक्त होनेपर भी यदि संग्राममें विनष्ट हो रहा है, तो इसमें भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ २१ ॥

विपरीतमिदं सर्वं प्रतिभाति हि संजय ।
यत्रेदृशं बलं घोरं पाण्डवान्नातरद् रणे ॥ २२ ॥

संजय ! यह सब कुछ मुझे विपरीत जान पड़ता है कि ऐसा भयंकर सैन्यसमूह भी वहाँ युद्धमें पाण्डवोंसे पार नहीं पा सका ॥ २२ ॥

पाण्डवार्थाय नियतं देवास्तत्र समागताः ।
युध्यन्ते मामकं सैन्यं यथावध्यत संजय ॥ २३ ॥

संजय ! निश्चय ही पाण्डवोंके लिये देवता आकर मेरी सेनाके साथ युद्ध करते हैं, तभी तो वह प्रतिदिन मारी जा रही है ॥ २३ ॥

उक्तो हि विदुरेणाहं हितं पथ्यं च नित्यशः ।
न च जग्राह तन्मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ २४ ॥
तस्य मन्ये मतिः पूर्वं सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
आसीद् यथागतं तात येन दृष्टमिदं पुरा ॥ २५ ॥

विदुरने नित्य ही हित और लाभकी बातें बतायीं; परंतु मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनने नहीं माना । तात ! मैं समझता हूँ, महात्मा विदुर सर्वज्ञ हैं । इसीलिये पहले ही उनकी बुद्धिमें ये सब बातें आ गयी थीं । आज जो कुछ प्राप्त हुआ है, यह पहले ही उनकी दृष्टिमें आ गया था ॥ २४-२५ ॥

अथवा भाव्यमेवं हि संजयैतेन सर्वथा ।
पुरा धात्रा यथा सृष्टं तत् तथा नैतदन्यथा ॥ २६ ॥

संजय ! अथवा यह सब प्रकारसे ऐसा ही होनेवाला था । विधाताने जो पहलेसे रच रक्खा है, वह उसी रूपमें होता है, उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

आत्मदोषात् त्वया राजन् प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
न हि दुर्योधनस्तानि पश्यते भरतर्षभ ॥ १ ॥
यानि त्वं दृष्टवान् राजन् धर्मसंकरकारिते ।
तव दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपने अपने ही दोषसे यह संकट प्राप्त किया है । भरतश्रेष्ठ ! जिन धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे उत्पन्न दोषोंको आप देखते थे, उन्हें दुर्योधन नहीं देख सका था । प्रजानाथ ! आपके अपराधसे ही पहले द्यूतक्रीड़ाकी घटना घटी थी ॥ १-२ ॥

तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
त्वमेवाद्य फलं भुङ्क्ष्व कृत्वा किल्बिषमात्मना ॥ ३ ॥

तथा आपके ही दोषसे आज पाण्डवोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ । आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप ही भोग रहे हैं ॥ ३ ॥

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते ।
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ॥ ४ ॥

राजन् ! इहलोक अथवा परलोकमें अपने किये हुए कर्मका फल अपने आपको ही भोगना पड़ता है; अतः आपको जैसेका तैसा प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

तस्माद् राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ॥ ५ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! इस महान् संकटको पाकर भी स्थिरतापूर्वक युद्धका यथावत् वृत्तान्त जैसा मैं बता रहा हूँ सुनिये ॥

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्त्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ॥ ६ ॥

वीर भीमसेनने तीखे बाणोंसे आपकी विशाल सेनाको विदीर्ण करके दुर्योधनके सभी भाइयोंपर आक्रमण किया ।६।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
जयत्सेनं विकर्णं च चित्रसेनं सुदर्शनम् ॥ ७ ॥
चारुचित्रं सुवर्माणं दुष्कर्णं कर्णमेव च ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान् महारथान् ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।
भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ॥ ९ ॥

दुःशासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय, जयत्सेन, विकर्ण, चित्रसेन, सुदर्शन, चारुचित्र, सुवर्मा, दुष्कर्ण तथा कर्ण—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेनने समरभूमिमें भीष्मके द्वारा सुरक्षित विशाल कौरवसेनामें प्रवेश किया ।७-९।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ॥ १० ॥

भीमसेनको सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशोंने आपसमें कहा कि हमलोग इन्हें जीवित ही पकड़कर बंदी बना लें ॥ १० ॥

स तैः परिवृतः पार्थो भ्रातृभिः कृतनिश्चयैः ।
प्रजासंहरणे सूर्यः क्रूरैरिव महाग्रहैः ॥ ११ ॥

ऐसा निश्चय करके उन सब भाइयोंने कुन्तीकुमार भीमसेनको घेर लिया, मानो प्रजाके संहारकालमें सूर्यदेवको बड़े-बड़े क्रूर ग्रहोंने घेर रक्खा हो ॥ ११ ॥

सम्प्राप्य मध्यं सैन्यस्य न भीः पाण्डवमाविशत् ।
यथा देवासुरे युद्धे महेन्द्रं प्राप्य दानवान् ॥ १२ ॥

कौरवसेनाके भीतर पहुँच जानेपर भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको तनिक भी भय नहीं हुआ, जैसे देवासुरसंग्राममें दानवोंकी सेनामें घुसनेपर देवराज इन्द्रको भयका स्पर्श नहीं होता है ॥ १२ ॥

ततः शतसहस्राणि रथिनां सर्वशः प्रभो ।
उद्यतानि शरैस्तीव्रैस्तमेकं परिवव्रिरे ॥ १३ ॥

प्रभो ! तदनन्तर एकमात्र भीमसेनको उनपर तीव्र बाणोंकी वर्षा करते हुए सैकड़ों-हजारों रथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर सब ओरसे घेर लिया ॥ १३ ॥

स तेषां प्रवरान् योधान् हस्त्यश्वरथसादिनः ।
जघान समरे शूरो धार्तराष्ट्रानचिन्तयन् ॥ १४ ॥

शूरवीर भीमसेन आपके पुत्रोंकी तनिक भी परवा न करते हुए हाथी, घोड़े एवं रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले कौरवोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंको समरभूमिमें मारने लगे ॥ १४ ॥

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ॥ १५ ॥

राजन् ! उन्हें कैद करनेकी इच्छावाले क्षत्रियोंके उस निश्चयको जानकर महामना भीमसेनने उन सबके वधका विचार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेन हाथमें गदा ले रथको त्यागकर उस विशाल सेनामें घुसकर उस महासागरतुल्य सैन्यसमुदायका विनाश करने लगे ॥ १६ ॥

(गदया भीमसेनेन ताडिता वारणोत्तमाः ।
भिन्नकुम्भा महाकाया भिन्नपृष्ठास्तथैव च ॥
भिन्नगात्राः सहारोहाः शेरते पर्वता इव ।

भीमसेनकी गदाके आघातसे बड़े-बड़े विशालकाय गजराजोंके कुम्भस्थल फट गये, पृष्ठभाग विदीर्ण हो गये तथा उनका एक-एक अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गया और उसी अवस्थामें वे सवारोंसहित धराशायी हो गये, मानो पर्वत ढह गये हों ॥

रथाश्च भग्नास्तिलशः सयोधाः शतशो रणे ॥
अश्वाश्च सादिनश्चैव पदातैः सह भारत ।

भारत ! उन्होंने उस रणक्षेत्रमें सैकड़ों रथोंको उनके सवारोंसहित तिल-तिल करके तोड़ डाला । घोड़ों, घुड़सवारों तथा पैदलोंकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ॥
यदेकः समरे राजन् बहुभिः समयोधयत् ।
अन्तकाले प्रजाः सर्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ॥)

राजन् ! उस युद्धमें हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम देखा, जैसे प्रलयकालमें यमराज हाथमें दण्ड लिये समस्त प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार वे अकेले आपके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ॥ १७ ॥

भीमसेनके कौरवसेनामें प्रवेश करनेपर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्यको छोड़कर बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ॥ १७ ॥

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ॥ १८ ॥

वहाँ आपकी विशाल सेनाको आगे बढ़नेसे रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें भीमसेनके सूने रथके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम्।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ॥ १९ ॥

महाराज! भीमसेनके सारथि विशोकको समरभूमिमें अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुखी और अचेत हो गये ॥ १९ ॥

अपृच्छद् वाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन्।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ॥ २० ॥

वे लंबी साँस खींचते और आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठसे पूछने लगे—'विशोक! मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीमसेन कहाँ हैं?' इतना कहते-कहते वे बहुत दुखी हो गये ॥ २० ॥

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवेयः पराक्रमी ॥ २१ ॥
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम्।

तब विशोकने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्नसे कहा—'प्रभो! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवोंके इस सैन्यसागरमें घुस गये हैं ॥ २१½ ॥

मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥ २२ ॥
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम्।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ॥ २३ ॥

'जाते समय पुरुषसिंह भीमसेनने मुझसे प्रेमपूर्वक यह बात कही कि सूत! तुम दो घड़ीतक इन घोड़ोंको रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। जबतक कि ये जो लोग मेरा वध करनेके लिये उद्यत हैं, इन्हें अभी मार न डालूँ ॥ २२-२३ ॥

ततो दृष्ट्वा प्रधावन्तं गदाहस्तं महाबलम्।
सर्वेषामेव सैन्यानां संहर्षः समजायत ॥ २४ ॥

'तदनन्तर गदा हाथमें लिये महाबली भीमसेनको धावा करते देख समस्त सैनिकोंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
भित्त्वा राजन् महाव्यूहं प्रविवेश वृकोदरः ॥ २५ ॥

'राजन्! उस भयंकर एवं तुमुल युद्धमें भीमसेनने इस महाव्यूहका भेदन करके इसके भीतर प्रवेश किया था' ॥

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ॥ २६ ॥

विशोककी यह बात सुनकर महाबली द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उस समराङ्गणमें उनके सारथिसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

न हि मे जीवितेनापि विद्यतेऽद्य प्रयोजनम्।
भीमसेनं रणे हित्वा स्नेहमुत्सृज्य पाण्डवैः ॥ २७ ॥

'सारथे! युद्धस्थलमें भीमसेनको छोड़कर और पाण्डवोंसे स्नेह तोड़कर अब मेरे जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २७ ॥

यदि यामि विना भीमं किं मां क्षत्रं वदिष्यति।
एकायनगते भीमे मयि चावस्थिते युधि ॥ २८ ॥

'भीम एकमात्र युद्धके पथपर गये हैं और मैं भी युद्धस्थलमें उपस्थित हूँ। ऐसी दशामें यदि भीमसेनके बिना ही लौट जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा? ॥ २८ ॥

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥ २९ ॥

'जो अपने सहायकोंको छोड़कर स्वयं कुशलपूर्वक घरको लौट आता है, उसका इन्द्र आदि देवता अनिष्ट करते हैं ॥

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमांश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ॥ ३० ॥

'महाबली भीम मेरे सखा और सम्बन्धी हैं। वे हम लोगोंके भक्त हैं और मैं भी उन शत्रुसूदन भीमका भक्त हूँ ॥ ३० ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ॥ ३१ ॥

'अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं। देखो जैसे इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शत्रुसेनाका विनाश कर रहा हूँ' ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ॥ ३२ ॥

भारत! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेनके बनाये हुए मार्गोंसे कौरवसेनाके भीतर गये। उन मार्गोंपर गदाके मारे हुए हाथी पड़े थे ॥ ३२ ॥

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम्।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ॥ ३३ ॥

उस समय कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाको दग्ध करते हुए भीमसेनको देखा। जैसे आँधी वृक्षोंको बलपूर्वक तोड़ देती या उखाड़ डालती है, उसी प्रकार भीमसेन भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ते वध्यमानाः समरे रथिनः सादिनस्तथा।
पादाता दन्तिनश्चैव चक्रुरार्तस्वरं महत् ॥ ३४ ॥

समराङ्गणमें भीमसेनके मारे हुए रथी, घुड़सवार, पैदल और सवारोंसहित हाथी बड़े जोरसे आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३४ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे तव सैन्यस्य मारिष।
वध्यतो भीमसेनेन कृतिना चित्रयोधिना ॥ ३५ ॥

आर्य! विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले विद्वान् भीमसेनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥

ततः कृतास्त्रास्ते सर्वे परिवार्य वृकोदरम्।
अभीताः समवर्तन्त शस्त्रवृष्ट्या परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता समस्त कौरव-सैनिक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए बिना किसी भयके उनपर चढ़ आये ॥ ३६ ॥

अभिद्रुतं शस्त्रभृतां वरिष्ठं
समन्ततः पाण्डवं लोकवीरः ।
सैन्येन घोरेण सुसंहितेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ॥ ३७ ॥
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ।
आश्वासयन् पार्षतो भीमसेनं
गदाहस्तं कालमिवान्तकाले ॥ ३८ ॥

विश्वके विख्यात वीर बलवान् द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने देखा—शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनपर सब ओरसे धावा हो रहा है। अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेनाने उनपर आक्रमण किया है। यह देखकर धृष्टद्युम्न भीमसेनको आश्वासन देते हुए उनके पास गये। उनका प्रत्येक अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था। वे पैदल ही क्रोधरूपी विष उगल रहे थे और गदा हाथमें लिये प्रलयकालके यमराजके समान जान पड़ते थे ॥ ३७-३८ ॥

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा ।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ॥ ३९ ॥

महामना धृष्टद्युम्नने तुरंत ही उन्हें अपने रथपर बिठा लिया और उनके शरीरमें धँसे हुए बाणोंको निकाल दिया। शत्रुओंके बीचमें ही भीमसेनको हृदयसे लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना दी ॥ ३९ ॥

भ्रातॄनथोपेत्य तवापि पुत्र-
स्तस्मिन् विमर्दे महति प्रवृत्ते ।
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ॥ ४० ॥
तं याम सर्वे महता बलेन
मा वो रिपुः प्रार्थयतामनीकम् ।

वह महान् संघर्ष आरम्भ होनेपर आपका पुत्र दुर्योधन भाइयोंके पास आकर बोला—'यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेनसे मिल गया है। हम सबलोग बहुत बड़ी सेनाके साथ इसपर आक्रमण करें, जिससे हमारा और तुम्हारा यह शत्रु हमलोगोंकी इस सेनाको हानि पहुँचानेका विचार न कर सके' ॥ ४०½ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः ॥ ४१ ॥
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ।
प्रगृह्य चास्त्राणि धनूंषि वीरा
ज्यां नेमिघोषैः प्रविकम्पयन्तः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनका यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पुत्र, जो धृष्टद्युम्नका आगमन नहीं सह सके थे, बड़े भाईकी आज्ञासे प्रेरित हो प्रलयकालके भयंकर केतुओंकी भाँति हाथमें आयुध लिये धृष्टद्युम्नके वधके लिये उनपर टूट पड़े। उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण ले रक्खे थे और वे रथके पहियोंकी घरघराहटके साथ-साथ धनुषकी प्रत्यञ्चाको भी कँपाते हुए उसकी टंकार फैला रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः ।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णै-
र्न विव्यथे समरे चित्रयोधी ॥ ४३ ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्रपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे। परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस समराङ्गणमें अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४३ ॥

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ॥ ४४ ॥

युद्धमें सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रोंको आगे बढ़ते और प्रचण्ड होते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमारने उनके वधके लिये भयंकर प्रमोहनास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४४ ॥

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः ।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ॥ ४५ ॥

राजन् ! जैसे युद्धमें देवराज इन्द्र दैत्योंपर कुपित होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रोंपर धृष्टद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। उसके मोहनास्त्रके प्रयोगसे अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नरवीर पुत्र रणभूमिमें मोहित हो गये ॥

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात् ।
परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्
मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ॥ ४६ ॥

आपके पुत्रोंको मोहसे युक्त एवं मरे हुएके समान अचेत हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े तथा रथसहित

सब ओर भाग चले ॥ ४६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
द्रुपदं त्रिभिरासाद्य शरैर्विव्याध दारुणैः ॥ ४७ ॥

इसी समय दूसरी ओर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने द्रुपदके पास जाकर उनको तीन भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला॥

सोऽतिविद्धस्ततो राजन् रणे द्रोणेन पार्थिवः ।
अपायाद् द्रुपदो राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ४८ ॥

राजन्! तब रणभूमिमें द्रोणके द्वारा अत्यन्त घायल हो राजा द्रुपद पहलेके वैरका स्मरण करते हुए वहाँसे दूर हट गये ॥ ४८ ॥

जित्वा तु द्रुपदं द्रोणः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।
तस्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा वित्रेसुः सर्वसोमकाः ॥ ४९ ॥

द्रुपदको जीतकर प्रतापी द्रोणाचार्यने अपना शङ्ख बजाया । उस शङ्खनादको सुनकर समस्त सोमक क्षत्रिय अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४९ ॥

अथ शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
प्रमोहनास्त्रेण रणे मोहितानात्मजांस्तव ॥ ५० ॥

तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्यने सुना कि आपके पुत्र रणभूमिमें प्रमोहनास्त्रसे मोहित होकर पड़े हैं ॥ ५० ॥

ततो द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात्।
तत्रापश्यन्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
धृष्टद्युम्नं च भीमं च विचरन्तौ महारणे।
मोहाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ॥ ५२ ॥

महाराज! यह सुनते ही महाधनुर्धर प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य तुरंत उस युद्धस्थलसे चलकर वहाँ आ पहुँचे । आकर उन महारथीने देखा कि धृष्टद्युम्न और भीमसेन उस महायुद्धमें विचर रहे हैं और आपके पुत्र मोहाविष्ट होकर पड़े हुए हैं ॥ ५१-५२ ॥

ततः प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।
अथ प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ॥ ५३ ॥

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्रका नाश कर दिया । इससे आपके महारथी पुत्रोंमें पुनः चेतनाशक्ति लौट आयी ॥ ५३ ॥

पुनर्युद्धाय समरे प्रययुर्भीमपार्षतौ ।
ततो युधिष्ठिरः प्राह समाहूय स्वसैनिकान् ॥ ५४ ॥
गच्छन्तु पदवीं शक्त्या भीमपार्षतयोर्युधि ।
सौभद्रप्रमुखा वीरा रथा द्वादश दंशिताः ॥ ५५ ॥
प्रवृत्तिमधिगच्छन्तु न हि शुद्ध्यति मे मनः ।

वे समरभूमिमें पुनः युद्धके लिये भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चले । तब राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग पूरी शक्ति लगाकर युद्धस्थलमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पथका अनुसरण करो । अभिमन्यु आदि बारह वीर महारथी कवच आदिसे सुसज्जित हो भीमसेन और धृष्टद्युम्नका समाचार प्राप्त करें । मेरा मन उनके विषयमें निश्चिन्त नहीं हो रहा है' ॥ ५४-५५½ ॥

त एवं समनुज्ञाताः शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ५६ ॥
बाढमित्येवमुक्त्वा तु सर्वे पुरुषमानिनः ।
मध्यन्दिनगते सूर्ये प्रययुः सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरकी ऐसी आज्ञा पाकर पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले वे पुरुषमानी समस्त शूरवीर 'बहुत अच्छा' कहकर दोपहर होते-होते वहाँसे चल दिये ॥ ५६-५७ ॥

केकया द्रौपदेयाश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य महत्या सेनया वृताः ॥ ५८ ॥
ते कृत्वा समरव्यूहं सूचीमुखमरिंदमाः ।
विभिदुर्धार्तराष्ट्राणां तद् रथानीकमाहवे ॥ ५९ ॥

अभिमन्युको आगे करके विशाल सेनासे घिरे हुए पाँच केकयराजकुमार, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु—ये शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर आपके पुत्रोंकी उस सेनाको रणक्षेत्रमें विदीर्ण करने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तान् प्रयातान् महेष्वासानभिमन्युपुरोगमान् ।
भीमसेनभयाविष्टा धृष्टद्युम्नविमोहिता ॥ ६० ॥
न संवारयितुं शक्ता तव सेना जनाधिप ।
मदमूर्च्छान्वितात्मा वै प्रमदेवाध्वनि स्थिता ॥ ६१ ॥

जनेश्वर! आपकी सेना भीमसेनके भयसे व्याकुल और धृष्टद्युम्नके बाणोंसे मोहित हो रही थी । अतः आक्रमण करनेवाले अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर वीरोंको वह रोकनेमें समर्थ न हो सकी । मद और मूर्छाके वशीभूत हुई मतवाली स्त्रीकी भाँति वह मार्गमें चुपचाप खड़ी रही ॥ ६०-६१ ॥

तेऽभिजाता महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
परीप्सन्तोऽभ्यधावन्त धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ॥ ६२ ॥

सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे महाधनुर्धर कुलीन योद्धा धृष्टद्युम्न और भीमसेनकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े ॥ ६२ ॥

तौ च दृष्ट्वा महेष्वासावभिमन्युपुरोगमान् ।
बभूवतुर्मुदा युक्तौ निघ्नन्तौ तव वाहिनीम् ॥ ६३ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न और भीमसेन भी अभिमन्यु आदि वीरोंको सहायताके लिये आते देख हर्ष और उत्साहमें भर गये और आपकी सेनाका विनाश करने लगे ॥ ६३ ॥

(द्रोणमिष्वस्त्रकुशलं सर्वविद्यासु पारगम् ।)
दृष्ट्वा तु सहसाऽऽयान्तं पाञ्चाल्यो गुरुमात्मनः ।
नाशंसत वधं वीरः पुत्राणां तव भारत ॥ ६४ ॥

भारत ! पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने धनुर्वेदमें कुशल और समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् अपने गुरु द्रोणाचार्यको सहसा वहाँ आये देख आपके पुत्रोंके वधकी इच्छा छोड़ दी ॥६४॥

ततो रथं समारोप्य कैकेयस्य वृकोदरम् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो द्रोणमिष्वस्त्रपारगम् ॥ ६५ ॥

फिर भीमसेनको केकयके रथपर बिठाकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नने अस्त्रविद्याके पारगामी विद्वान् द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ६५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
क्रुद्धश्चिच्छेद बाणेन धनुः शत्रुनिबर्हणः ॥ ६६ ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्यने कुपित होकर अपनी ओर आनेवाले धृष्टद्युम्नके धनुषको एक बाणसे तुरंत काट दिया ॥ ६६ ॥

अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते ।
दुर्योधनहितार्थाय भर्तृपिण्डमनुस्मरन् ॥ ६७ ॥

उसके बाद दुर्योधनके हितके लिये स्वामीके अन्नका विचार करते हुए धृष्टद्युम्नपर और भी सैकड़ों बाण चलाये ॥

अथान्यद् धनुरादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः॥ ६८॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सोनेकी पाँख-वाले बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ ६८ ॥

तस्य द्रोणः पुनश्चापं चिच्छेदामित्रकर्शनः ।
हयांश्च चतुरस्तूर्णं चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ६९ ॥
वैवस्वतक्षयं घोरं प्रेषयामास भारत ।
सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ७० ॥

तब शत्रुसूदन द्रोणने पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और चार उत्तम सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको तुरंत ही भयानक यमलोकको भेज दिया । भारत ! फिर एक भल्लके द्वारा उनके सारथिको भी मृत्युके हवाले कर दिया ॥६९-७०॥

हताश्वात् स रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
आरुरोह महाबाहुरभिमन्योर्महारथम् ॥ ७१ ॥

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न तुरंत उस रथसे कूद पड़े और अभिमन्युके विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ७१ ॥

ततः सरथनागाश्वा समकम्पत वाहिनी ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्षतस्य च पश्यतः ॥ ७२ ॥

तदनन्तर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके देखते-देखते रथ, हाथी और घुड़सवारोंसहित सारी पाण्डव-सेना काँपने लगी ॥

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेनामिततेजसा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समस्तास्ते महारथाः ॥ ७३ ॥

अमित तेजस्वी आचार्य द्रोणके द्वारा अपनी सेनाका व्यूह भंग हुआ देख वे सम्पूर्ण महारथी प्रयत्न करनेपर भी उसे रोकनेमें सफल न हो सके ॥ ७३ ॥

वध्यमानं तु तत् सैन्यं द्रोणेन निशितैः शरैः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव क्षोभ्यमाण इवार्णवः ॥ ७४ ॥

द्रोणाचार्यके पैने बाणोंसे पीड़ित हुई वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान वहीं चक्कर काटने लगी ॥ ७४ ॥

तथा दृष्ट्वा च तत्सैन्यं जहृषे तावकं बलम् ।
दृष्ट्वाऽऽचार्यं सुसंक्रुद्धं पतन्तं रिपुवाहिनीम् ।
चुक्रुशुः सर्वतो योधाः साधु साध्विति भारत॥ ७५॥

द्रोणाचार्यको अत्यन्त कुपित होकर शत्रुसेनापर टूटते और पाण्डव-सेनाको भागते देख आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ । भारत ! आपके सभी योद्धा सब ओरसे द्रोणाचार्यको साधुवाद देने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे द्रोणपराक्रमे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धमें द्रोणपराक्रमविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ७९½ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा मोहात् प्रत्यागतस्तदा ।
शरवर्षैः पुनर्भीमं प्रत्यवारयदच्युतम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर (मोहनास्त्र-जनित) मोहसे जगनेपर राजा दुर्योधनने युद्धभूमिसे पीछे न हटनेवाले भीमसेनको पुनः बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ॥

एकीभूतास्ततश्चैव तव पुत्रा महारथाः।
समेत्य समरे भीमं योधयामासुरुद्यताः॥ २॥

फिर आपके सभी महारथी पुत्र समरभूमिमें एकत्र होकर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे॥ २॥

भीमसेनोऽपि समरे सम्प्राप्य स्वरथं पुनः।
समारुह्य महाबाहुर्ययौ येन तवात्मजः॥ ३॥

महाबाहु भीमसेन भी समरभूमिमें पुनः अपने रथपर सवार हो उधर ही चल दिये, जिस मार्गसे आपका पुत्र दुर्योधन गया था॥ ३॥

प्रगृह्य च महावेगं परासुकरणं दृढम्।
सज्जं शरासनं संख्ये शरैर्विव्याध ते सुतम्॥ ४॥

उन्होंने युद्धस्थलमें मृत्युकी प्राप्ति करानेवाले महान् वेगशाली सुदृढ़ धनुषको लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और अनेक बाणोंद्वारा आपके पुत्रको घायल कर दिया॥ ४॥

ततो दुर्योधनो राजा भीमसेनं महाबलम्।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं मर्मण्यताडयत्॥ ५॥

तब राजा दुर्योधनने महाबली भीमसेनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी॥ ५॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तव पुत्रेण धन्विना।
क्रोधसंरक्तनयनो वेगेनाक्षिप्य कार्मुकम्॥ ६॥
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत्।
स तत्र शुशुभे राजा शिखरैर्गिरिराडिव॥ ७॥

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो महाधनुर्धर भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके वेगपूर्वक धनुषको खींचा और तीन बाणोंसे दुर्योधनकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें चोट पहुँचायी। उन बाणोंद्वारा राजा दुर्योधन तीन शिखरोंसे युक्त गिरिराजकी भाँति शोभा पाने लगा॥ ६-७॥

तौ दृष्ट्वा समरे क्रुद्धौ विनिघ्नन्तौ परस्परम्।
दुर्योधनानुजाः सर्वे शूराः संत्यक्तजीविताः॥ ८॥
संस्मृत्य मन्त्रितं पूर्वं निग्रहे भीमकर्मणः।
निश्चयं परमं कृत्वा निग्रहीतुं प्रचक्रमुः॥ ९॥

क्रोधमें भरे हुए इन दोनों वीरोंको समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करते देख दुर्योधनके सभी शूरवीर छोटे भाई प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनको जीवित पकड़नेके विषयमें की हुई पहली सलाहको याद करके एक दृढ़ निश्चयपर पहुँचकर उन्हें पकड़नेका उद्योग करने लगे॥ ८-९॥

तानापतत एवाजौ भीमसेनो महाबलः।
प्रत्युद्ययौ महाराज गजः प्रतिगजानिव॥ १०॥

महाराज! उन्हें युद्धमें आक्रमण करते देख जैसे हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार महाबली भीमसेन उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़े॥ १०॥

भृशं क्रुद्धश्च तेजस्वी नाराचेन समार्पयत्।
चित्रसेनं महाराज तव पुत्रं महायशाः॥ ११॥

नरेश्वर! महायशस्वी और तेजस्वी भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने आपके पुत्र चित्रसेनपर एक नाराचके द्वारा प्रहार किया॥ ११॥

तथेतरांस्तव सुतांस्ताडयामास भारत।
शरैर्बहुविधैः संख्ये रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः॥ १२॥

भारत! इसी प्रकार रणभूमिमें सोनेकी पाँखवाले अत्यन्त तीखे और बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्होंने आपके अन्य पुत्रोंको भी पीड़ित किया॥ १२॥

ततः संस्थाप्य समरे तान्यनीकानि सर्वशः।
अभिमन्युप्रभृतयस्ते द्वादश महारथाः॥ १३॥
प्रेषिता धर्मराजेन भीमसेनपदानुगाः।
प्रतिजग्मुर्महाराज तव पुत्रान् महाबलान्॥ १४॥

महाराज! तत्पश्चात् अपनी सेनाओंको सब प्रकारसे समरभूमिमें स्थापित करके भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले उन अभिमन्यु आदि बारह महारथियोंने, जिन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने भेजा था, आपके महाबली पुत्रोंपर धावा किया॥

दृष्ट्वा रथस्थांस्ताञ्शूरान् सूर्याग्निसमतेजसः।
सर्वानेव महेष्वासान् भ्राजमानाञ्श्रिया वृतान्॥ १५॥
महाहवे दीप्यमानान् सुवर्णमुकुटोज्ज्वलान्।
तत्यजुः समरे भीमं तव पुत्रा महाबलाः॥ १६॥

वे सब-के-सब रथपर बैठे हुए शूरवीर, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, महाधनुर्धर, उत्तम शोभासे प्रकाशमान, सुवर्णमय मुकुटसे जगमग प्रतीत होनेवाले और अत्यन्त कान्तिमान् थे। उस महासमरमें उन्हें आते देखकर आपके महाबली पुत्र भीमसेनको छोड़कर वहाँसे दूर हट गये॥

तान् नामृष्यत कौन्तेयो जीवमाना गता इति।
अन्वीय च पुनः सर्वांस्तव पुत्रानपीडयत्॥ १७॥

परंतु वे जीवित लौट गये; यह बात भीमसेनसे नहीं सही गयी। उन्होंने पुनः आपके उन सब पुत्रोंका पीछा करके उन्हें अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया॥ १७॥

अथाभिमन्युं समरे भीमसेनेन संगतम्।
पार्षतेन च सम्प्रेक्ष्य तव सैन्ये महारथाः॥ १८॥
दुर्योधनप्रभृतयः प्रगृहीतशरासनाः।
भृशमश्वैः प्रजवितैः प्रययुर्यत्र ते रथाः॥ १९॥

इधर, उस समरभूमिमें अभिमन्युको भीमसेन तथा

धृष्टद्युम्नसे मिला हुआ देख आपकी सेनाके दुर्योधन आदि महारथी हाथोंमें धनुष लिये अत्यन्त वेगशाली अश्वोंद्वारा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे बारह पाण्डव-पक्षीय महारथी विद्यमान थे ॥ १८-१९ ॥

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ॥ २० ॥

महाराज! भरतनन्दन! तब अपराह्णकालमें आपके और पाण्डव-पक्षके अत्यन्त बलवान् योद्धाओंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २० ॥

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २१ ॥

अभिमन्युने उस महायुद्धमें विकर्णके घोड़ोंको मारकर स्वयं विकर्णको भी पचीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २१ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य विकर्णस्तु महारथः।
आरुरोह रथं राजंश्चित्रसेनस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतवंशी नरेश! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी विकर्ण अपना रथ छोड़कर चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ २२ ॥

स्थितावेकरथे तौ तु भ्रातरौ कुलवर्धनौ।
आर्जुनिः शरजालेन च्छादयामास भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन! अभिमन्युने एक रथपर बैठे हुए उन दोनों वंशवर्धक भ्राताओंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित कर दिया ॥ २३ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च कार्ष्णिं पञ्चभिरायसैः।
विव्याध तेन चाकम्पत् कार्ष्णिर्मेरुरिव स्थितः॥ २४ ॥

चित्रसेन और विकर्णने भी लोहेके पाँच बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला। उस आघातसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु विचलित नहीं हुआ। मेरु पर्वतकी भाँति अडिग खड़ा रहा ॥ २४ ॥

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

आर्य! राजेन्द्र! दुःशासनने अकेले ही समरभूमिमें पाँच केकयराजकुमारोंके साथ युद्ध किया। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २५ ॥

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन्।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ॥ २६ ॥

प्रजानाथ! युद्धमें कुपित हुए द्रौपदीके पाँच पुत्रोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले भयंकर बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २६ ॥

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

राजन्! तब आपके दुर्धर्ष पुत्रने भी तीखे सायकोंद्वारा रणभूमिमें द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंपर पृथक्-पृथक् प्रहार किया॥

तैश्चापि विद्धः शुशुभे रुधिरेण समुक्षितः।
गिरिः प्रस्रवणैर्यद्वद् गैरिकादिविमिश्रितैः ॥ २८ ॥

फिर उनके द्वारा भी अत्यन्त घायल किये जानेपर आपका पुत्र रक्तसे नहा उठा और गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरनोंके जलसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पाने लगा॥

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम्।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ॥ २९ ॥

राजन्! तदनन्तर बलवान् भीष्म भी संग्रामभूमिमें पाण्डवसेनाको उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे चरवाहा पशुओंको हाँकता है ॥ २९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ॥ ३० ॥

प्रजानाथ! तदनन्तर शत्रुओंका संहार करते हुए अर्जुनके गाण्डीव धनुषका घोष सेनाके दक्षिण भागसे प्रकट हुआ॥

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ॥ ३१ ॥

भारत! वहाँ समरमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंमें चारों ओर कबन्ध उठने लगे ॥ ३१ ॥

शोणितोदं शरावर्तं गजद्वीपं हयोर्मिणम्।
रथनौभिर्नरव्याघ्राः प्रतेरुः सैन्यसागरम् ॥ ३२ ॥

वह सेना एक समुद्रके समान थी। रक्त ही वहाँ जलके समान था। बाणोंकी भँवर उठती थी। हाथी द्वीपके समान जान पड़ते थे और घोड़े तरंगकी शोभा धारण करते थे। रथरूपी नौकाओंके द्वारा नरश्रेष्ठ वीर उस सैन्यसागरको पार करते थे॥ ३२ ॥

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३३ ॥

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ धरतीपर पड़े दिखायी देते थे। उनमेंसे कितनोंके हाथ कट गये थे; कितने ही कवचहीन हो रहे थे और बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे॥ ३३ ॥

निहतैर्मत्तमातङ्गैः शोणितौघपरिप्लुतैः।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ पर्वतैराचिता यथा ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! मरकर गिरे हुए मतवाले हाथी खूनसे लथपथ हो रहे थे। उनसे ढकी हुई वहाँकी भूमि पर्वतोंसे व्याप्त-सी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव तेषां च भारत।
न तत्रासीत् पुमान् कश्चिद् यो युद्धं नाभिकाङ्क्षति॥ ३५॥

भारत ! हमने वहाँ आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंका अद्भुत उत्साह देखा। वहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो युद्ध न चाहता हो ॥ ३५ ॥

एवं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्क्षन्तो जयं युधि॥३६॥

इस प्रकार महान् यशकी अभिलाषा रखते और युद्धमें विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल युद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे।
संग्रामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, उस समय संग्रामके लिये उत्साह रखनेवाले राजा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ १ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम्।
भीमसेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने पक्के बैरी नरवीर दुर्योधनको आते देख भीमसेनका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे यह वचन बोले—॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः।
अद्य त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥ ३ ॥

'दुर्योधन ! मैं बहुत वर्षोंसे जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, वही यह अवसर आज प्राप्त हुआ है। यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज तुझे अवश्य मार डालूँगा ॥ ३ ॥

अद्य कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ॥ ४ ॥

'माता कुन्तीको जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने वनवासका जो कष्ट भोगा है और सभामें द्रौपदीको जो अपमानका दुःख सहन करना पड़ा है, उन सबका बदला आज मैं तेरे मारे जानेपर चुका लूँगा ॥ ४ ॥

यत् पुरा मत्सरी भूत्वा पाण्डवानवमन्यसे।
तस्य पापस्य गान्धारे पश्य व्यसनमागतम् ॥ ५ ॥

'गान्धारीपुत्र ! पूर्वकालमें डाह रखकर तू जो हम पाण्डवोंका तिरस्कार करता आया है, उसी पापके फलस्वरूप यह संकट तेरे ऊपर आया है। तू आँख खोलकर देख ले ॥ ५ ॥

कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च यत् पुरा।
अचिन्त्य पाण्डवान् कामाद् यथेष्टं कृतवानसि॥ ६ ॥
याचमानं च यन्मोहाद् दाशार्हमवमन्यसे।
उलूकस्य समादेशं यद् ददासि च हृष्टवत् ॥ ७ ॥
तेन त्वां निहनिष्यामि सानुबन्धं सबान्धवम्।
समीकरिष्ये तत् पापं यत् पुरा कृतवानसि ॥ ८ ॥

'पहले कर्ण और शकुनिके बहकावेमें आकर पाण्डवोंको कुछ भी न गिनते हुए जो तूने इच्छानुसार मनमाना बर्ताव किया है, भगवान् श्रीकृष्ण संधिके लिये प्रार्थना करने आये थे, परंतु तूने मोहवश जो उनका भी तिरस्कार किया और बड़े हर्षमें भरकर उलूकके द्वारा जो तूने यह संदेश दिया था कि तुम मुझे और मेरे भाइयोंको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, उसके अनुसार तुझे भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियों-सहित अवश्य मार डालूँगा। पहले तूने जो-जो पाप किये हैं, उन सबका बदला चुकाकर बराबर कर दूँगा' ॥ ६—८ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत्।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने भयंकर धनुषको बारंबार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्रके समान तेजस्वी भयंकर बाणोंको उसके ऊपर रक्खा ॥ ९ ॥

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान्॥ १० ॥

वे सीधे जानेवाले बाण वज्र तथा प्रज्वलित आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे। उनकी संख्या छब्बीस थी। कुपित हुए भीमसेनने उन सबको शीघ्रतापूर्वक दुर्योधनपर छोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे।
चतुर्भिरश्वाञ्जवनाननयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने दो बाणोंसे दुर्योधनका धनुष काट दिया, दोसे उसके सारथिको पीड़ित किया और चार

बाणोंसे उसके वेगशाली घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ॥ ११ ॥

द्वाभ्यां च सुविकृष्टाभ्यां शराभ्यामरिमर्दनः।
छत्रं चिच्छेद समरे राज्ञस्तस्य नरोत्तम ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर शत्रुमर्दन भीमने धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए दो बाणोंद्वारा समरभूमिमें राजा दुर्योधनके छत्रको काट दिया ॥ १२ ॥

षड्भिश्च तस्य चिच्छेद ज्वलन्तं ध्वजमुत्तमम्।
छित्त्वा तं च ननादोच्चैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

इसके बाद अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उसके उत्तम ध्वजको छः बाणोंसे खण्डित कर दिया। आपके पुत्रके देखते-देखते उस ध्वजको काटकर भीमसेन उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

रथाच्च स ध्वजः श्रीमान् नानारत्नविभूषितात्।
पपात सहसा भूमौ विद्युज्जलधरादिव ॥ १४ ॥

दुर्योधनके नाना रत्नविभूषित रथसे वह शोभाशाली ध्वज सहसा कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघोंकी घटासे भूमिपर बिजली गिरी हो ॥ १४ ॥

ज्वलन्तं सूर्यसंकाशं नागं मणिमयं शुभम्।
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ॥ १५ ॥

कुरुराज दुर्योधनके उस सूर्यके समान प्रज्वलित नागचिह्नित मणिमय सुन्दर ध्वजको कटकर गिरते समय समस्त राजाओंने देखा ॥ १५ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम्।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ॥ १६ ॥

इसके बाद महारथी भीमने मुसकराते हुए-से रणभूमिमें वीरवर दुर्योधनको दस बाणोंसे उसी तरह घायल किया, जैसे महावत अङ्कुशोंसे महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥

ततः स राजा सिन्धूनां रथश्रेष्ठो महारथः।
दुर्योधनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ सिन्धुराज महारथी जयद्रथने कुछ सत्पुरुषोंके साथ आकर दुर्योधनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १७ ॥

कृपश्च रथिनां श्रेष्ठः कौरव्यममितौजसम्।
आरोपयद् रथं राजन् दुर्योधनममर्षणम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने अमर्षमें भरे हुए अमित तेजस्वी कुरुवंशी दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! भीमसेनने उस युद्धमें दुर्योधनको बहुत घायल कर दिया था। अतः उस समय वह व्यथासे व्याकुल होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ १९ ॥

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् जयद्रथने भीमसेनको जीतनेकी इच्छा रखकर कई हजार रथोंके द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ॥ २० ॥

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान्।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ॥ २१ ॥

महाराज ! इसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु, पाँच केकयराजकुमार तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २१ ॥

चित्रसेनः सुचित्रश्च चित्राङ्गश्चित्रदर्शनः।
चारुचित्रः सुचारुश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ २२ ॥
अष्टावेते महेष्वासाः सुकुमारा यशस्विनः।
अभिमन्युरथं राजन् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

उस युद्धमें चित्रसेन, सुचित्र, चित्राङ्ग, चित्रदर्शन, चारुचित्र, सुचारु, नन्द और उपनन्द—इन आठ यशस्वी सुकुमार एवं महाधनुर्धर वीरोंने अभिमन्युके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २२-२३ ॥

आजघान ततस्तूर्णमभिमन्युर्महामनाः।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः शितैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उस समय महामना अभिमन्युने तुरंत ही झुकी हुई गाँठवाले पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा प्रत्येकको बींध डाला ॥

वज्रमृत्युप्रतीकाशैर्विचित्रायुधनिःसृतैः।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सौभद्रं रथसत्तमम् ॥ २५ ॥
ववृषुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेरुमिवाम्बुदाः।

वे सभी बाण विचित्र धनुषद्वारा छोड़े गये थे और सबके-सब वज्र एवं मृत्युके तुल्य भयंकर थे। उन बाणोंके आघातको आपके पुत्र सहन न कर सके। उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ सुभद्राकुमार अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, मानो बादल मेरुगिरिपर जलकी वर्षा कर रहे हों ॥ २५½ ॥

स पीड्यमानः समरे कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ॥ २६ ॥
अभिमन्युर्महाराज तावकान् समकम्पयत्।
यथा देवासुरे युद्धे वज्रपाणिर्महासुरान् ॥ २७ ॥

महाराज ! अभिमन्यु अस्त्रविद्याका ज्ञाता और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसने समरभूमिमें बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी आपके सैनिकोंमें कँपकँपी उत्पन्न कर

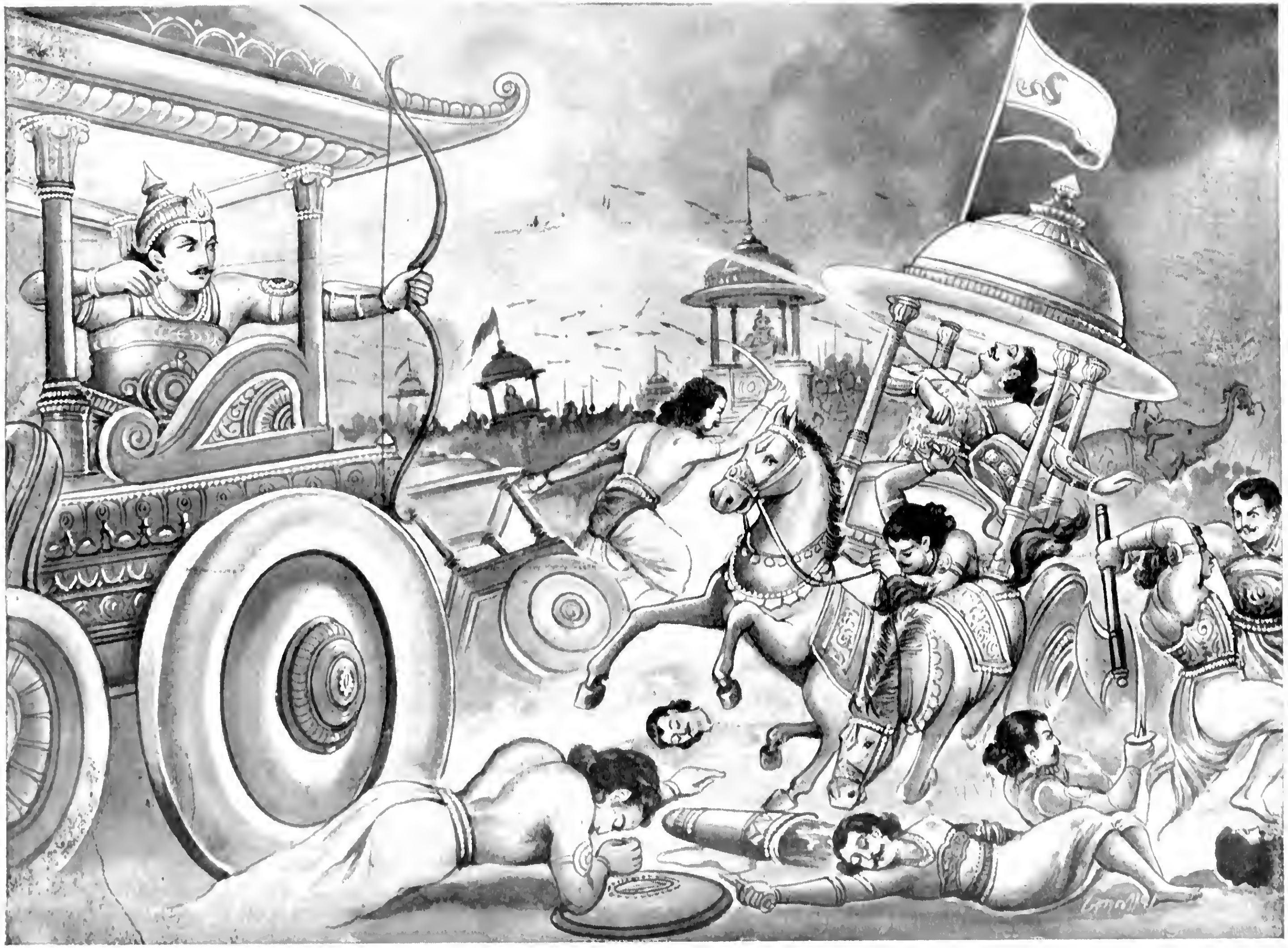

भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन

दी । ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें वज्रधारी इन्द्रने बड़े-बड़े असुरोंको भयसे पीड़ित कर दिया था २६-२७

विकर्णस्य ततो भल्लान् प्रेषयामास भारत ।
चतुर्दश रथश्रेष्ठो घोरानाशीविषोपमान् ॥ २८ ॥
स तैर्विकर्णस्य रथात् पातयामास वीर्यवान् ।
ध्वजं सूतं हयांश्चैव नृत्यमान इवाहवे ॥ २९ ॥

भारत ! तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी अभिमन्युने विकर्णके ऊपर सर्पके समान आकारवाले चौदह भयंकर भल्ल चलाये और उनके द्वारा विकर्णके रथसे ध्वज, सारथि और घोड़ोंको मार गिराया । उस समय वह युद्धमें नृत्य-सा कर रहा था ॥ २८-२९ ॥

पुनश्चान्याञ्शरान् पीतानकुण्ठाग्राञ्शिलाशितान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो विकर्णाय महाबलः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए अप्रतिहत धारवाले दूसरे पानीदार बाण विकर्णपर चलाये ॥ ३० ॥

ते विकर्णं समासाद्य कङ्कबर्हिणवाससः ।
भित्त्वा देहं गता भूमिं ज्वलन्त इव पन्नगाः ॥ ३१ ॥

उन बाणोंके पुच्छभागमें मोरके पंख लगे हुए थे । वे विकर्णके शरीरको विदीर्ण करके भीतर घुस गये और वहाँसे भी निकलकर प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

ते शरा हेमपुङ्खाग्रा व्यदृश्यन्त महीतले ।
विकर्णरुधिरक्लिन्ना वमन्त इव शोणितम् ॥ ३२ ॥

उन बाणोंके पुच्छ और अग्रभाग सुनहरे थे। वे विकर्णके रुधिरमें भीगे हुए बाण पृथ्वीपर रक्त वमन करते हुए-से दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३२ ॥

विकर्णं वीक्ष्य निर्भिन्नं तस्यैवान्ये सहोदराः ।
अभ्यद्रवन्त समरे सौभद्रप्रमुखान् रथान् ॥ ३३ ॥

विकर्णको क्षत-विक्षत हुआ देख उसके दूसरे भाइयोंने समरभूमिमें अभिमन्यु आदि रथियोंपर धावा किया ॥ ३३ ॥

अभियात्वा तथैवान्यान् रथांस्तान् सूर्यवर्चसः ।
अविध्यन् समरेऽन्योन्यं संरम्भाद् युद्धदुर्मदाः ॥ ३४ ॥

वे सब-के-सब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे । उन्होंने दूसरे-दूसरे रथियोंपर भी, जो अभिमन्युकी ही भाँति सूर्यके समान तेजस्वी थे, आक्रमण किया । फिर वे सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ३४ ॥

दुर्मुखः श्रुतकर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद सारथिं चास्य सप्तभिः ॥ ३५ ॥

दुर्मुखने श्रुतकर्माको सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा बींधकर एकसे उसका ध्वज काट डाला और सात बाणोंसे उसके सारथिको घायल कर दिया ॥ ३५ ॥

अश्वाञ्जाम्बूनदैर्जालैः प्रच्छन्नान् वातरंहसः ।
जघान षड्भिरासाद्य सारथिं चाभ्यपातयत् ॥ ३६ ॥

उसके घोड़े वायुके समान वेगशाली तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित थे । दुर्मुखने उन घोड़ोंको छः बाणोंसे मार डाला और सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥३६॥

स हताश्वे रथे तिष्ठञ्श्रुतकर्मा महारथः ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धो महोल्कां ज्वलितामिव ॥ ३७ ॥

महारथी श्रुतकर्मा घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़ा रहा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसने दुर्मुखपर प्रज्वलित उल्काके समान एक शक्ति चलायी ॥ ३७ ॥

सा दुर्मुखस्य विमलं वर्म भित्त्वा यशस्विनः ।
विदार्य प्राविशद् भूमिं दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३८ ॥

वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी । उसने यशस्वी दुर्मुखके चमकीले कवचको फाड़ डाला । फिर वह धरतीको चीरती हुई उसमें समा गयी ॥ ३८ ॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र सुतसोमो महारथः ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ३९ ॥

महारथी सुतसोमने अपने भाई श्रुतकर्माको युद्धमें रथहीन हुआ देख समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३९ ॥

श्रुतकीर्तिस्तथा वीरो जयत्सेनं सुतं तव ।
अभ्ययात् समरे राजन् हन्तुकामो यशस्विनम् ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी प्रकार वीरवर श्रुतकीर्तिने युद्धभूमिमें आपके यशस्वी पुत्र जयत्सेनको मार डालनेकी इच्छासे उसपर आक्रमण किया ॥ ४० ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं श्रुतकीर्तेर्महास्वनम् ।
चिच्छेद समरे तूर्णं जयत्सेनः सुतस्तव ॥ ४१ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन प्रहसन्निव भारत ।

भारत ! श्रुतकीर्ति जब बड़े जोर-जोरसे खींचकर अपने विशाल धनुषकी गम्भीर टंकार फैला रहा था, उसी समय रणभूमिमें आपके पुत्र जयत्सेनने हँसते हुए-से एक तीखे क्षुरप्रद्वारा तुरंत उसका धनुष काट दिया ॥ ४१½ ॥

तं दृष्ट्वा छिन्नधन्वानं शतानीकः सहोदरम् ॥ ४२ ॥
अभ्यपद्यत तेजस्वी सिंहवन्निनदन् मुहुः ।

अपने भाईका धनुष कटा हुआ देख तेजस्वी शतानीक बारंबार सिंहके समान गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ४२½

शतानीकस्तु समरे दृढं विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ४३ ॥

विव्याध दशभिस्तूर्णं जयत्सेनं शिलीमुखैः ।
ननाद सुमहानादं प्रभिन्न इव वारणः ॥ ४४ ॥

शतानीकने संग्रामभूमिमें अपने धनुषको जोरसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दस बाण मारकर जयत्सेनको घायल कर दिया। फिर उसने मदवर्षी गजराजके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४३-४४ ॥

अथान्येन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना ।
शतानीको जयत्सेनं विव्याध हृदये भृशम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेमें समर्थ दूसरे तीक्ष्ण बाणद्वारा शतानीकने जयत्सेनके वक्षःस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने दुष्कर्णो भ्रातुरन्तिके ।
चिच्छेद समरे चापं नाकुलेः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४६ ॥

उसके इस प्रकार करनेपर अपने भाईके पास खड़ा हुआ दुष्कर्ण क्रोधसे व्याकुल हो उठा। उसने समरभूमिमें नकुलपुत्र शतानीकका धनुष काट दिया ॥ ४६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय भारसाहमनुत्तमम् ।
समादत्त शरान् घोराञ्शतानीको महाबलः॥ ४७ ॥

तब महाबली शतानीकने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा अत्यन्त उत्तम धनुष लेकर उसपर भयंकर बाणोंका अनुसंधान किया ॥ ४७ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति चामन्त्र्य दुष्कर्णं भ्रातुरग्रतः ।
मुमोचास्मै शितान् बाणाञ्ज्वलितान् पन्नगानिव॥४८॥

फिर भाईके सामने ही दुष्कर्णसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उसके ऊपर प्रज्वलित सर्पोंके समान तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य धनुरेकेन द्वाभ्यां सूतं च मारिष ।
चिच्छेद समरे तूर्णं तं च विव्याध सप्तभिः ॥ ४९ ॥

आर्य ! तदनन्तर एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया, दोसे उसके सारथिको क्षत-विक्षत कर दिया और सात बाणोंसे उस युद्धस्थलमें स्वयं दुष्कर्णको भी तुरंत घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

अश्वान् मनोजवांस्तस्य कर्बुरान् वातरंहसः ।
जघान निशितैस्तूर्णं सर्वान् द्वादशभिः शरैः ॥ ५० ॥

दुष्कर्णके घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। उनका रंग चितकबरा था। शतानीकने बारह तीखे बाणोंसे उन सब घोड़ोंको भी तुरंत मार डाला ॥ ५० ॥

अथापरेण भल्लेन सुयुक्तेनाशुपातिना ।
दुष्कर्णं सुदृढं क्रुद्धो विव्याध हृदये भृशम् ॥ ५१ ॥
स पपात ततो भूमौ वज्राहत इव द्रुमः ।

तत्पश्चात् लक्ष्यको शीघ्र मार गिरानेवाले एक दूसरे भल्ल नामक बाणका उत्तम रीतिसे प्रयोग करके क्रोधमें भरे हुए शतानीकने दुष्कर्णके हृदयमें अत्यन्त गहरा आघात किया। इससे दुष्कर्ण वज्राहत वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५१½ ॥

दुष्कर्णं व्यथितं दृष्ट्वा पञ्च राजन् महारथाः ॥ ५२ ॥
जिघांसन्तः शतानीकं सर्वतः पर्यवारयन् ।

राजन् ! दुष्कर्णको आघातसे पीड़ित देख पाँच महारथियोंने शतानीकको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ५२½ ॥

छाद्यमानं शरव्रातैः शतानीकं यशस्विनम् ॥ ५३ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः केकयाः पञ्च सोदराः ।

उनके बाणसमूहोंसे यशस्वी शतानीकको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाँच भाई केकयराजकुमारोंने उन पाँचों महारथियोंपर धावा किया ॥ ५३½ ॥

तानभ्यापततः प्रेक्ष्य तव पुत्रा महारथाः ॥ ५४ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज गजानिव महागजाः ।

महाराज ! उन्हें आते देख आपके महारथी पुत्र उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, जैसे हाथी दूसरे हाथियोंसे भिड़नेके लिये आगे बढ़ते हैं ॥ ५४½ ॥

दुर्मुखो दुर्जयश्चैव तथा दुर्मर्षणो युवा ॥ ५५ ॥
शत्रुंजयः शत्रुसहः सर्वे क्रुद्धा यशस्विनः ।
प्रत्युद्याता महाराज केकयान् भ्रातरः समम् ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! दुर्मुख, दुर्जय, युवा वीर दुर्मर्षण, शत्रुञ्जय तथा शत्रुसह—ये सब-के-सब यशस्वी वीर क्रोधमें भरकर पाँचों भाई केकयोंका सामना करनेके लिये एक साथ आगे बढ़े ॥

रथैर्नगरसंकाशैर्हयैर्युक्तैर्मनोजवैः ।
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतैः ॥ ५७ ॥
वरचापधरा वीरा विचित्रकवचध्वजाः ।
विविशुस्ते परं सैन्यं सिंहा इव वनाद् वनम् ॥ ५८ ॥

उनके रथ नगरोंके समान प्रतीत होते थे। उनमें मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। नाना प्रकारके रूप-रंगवाली और विचित्र पताकाएँ उन्हें अलंकृत कर रही थीं। ऐसे रथोंपर आरूढ़ सुन्दर धनुष धारण किये विचित्र कवच और ध्वजोंसे सुशोभित उन वीरोंने शत्रुकी सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे सिंह एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं ॥ ५७-५८ ॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ॥ ५९ ॥

फिर तो एक दूसरेपर प्रहार करते हुए उन सभी महा-

रथियोंमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी भिड़ गये ॥ ५९ ॥

अन्योन्यागस्कृतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम्।
मुहूर्तास्तमिते सूर्ये चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ ६० ॥

राजन्! एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महारथियोंका वह युद्ध यमलोककी वृद्धि करनेवाला था। सूर्यास्तके दो घड़ी बादतक उन सब लोगोंने बड़ा भयंकर युद्ध किया॥

रथिनः सादिनश्चाथ व्यकीर्यन्त सहस्रशः।
ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६१ ॥
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम्।
पञ्चालानां च सैन्यानि शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ६२ ॥

उसमें सहस्रों रथी और घुड़सवार प्राणशून्य होकर बिखर गये। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन महामना वीरोंकी सेनाका विनाश कर डाला; पाञ्चालोंकी सेनाकी कितनी ही टुकड़ियोंको अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ ६१-६२ ॥

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम्।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ॥ ६३ ॥

नरेश्वर! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डवसेनाका संहार करके अपनी समस्त सेनाओंको युद्धसे लौटाकर अपने शिबिरको चले गये ॥ ६३ ॥

(नाशयामासतुर्वीरौ धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कौरवाणामनीकानि शरैः संनतपर्वभिः ॥)

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न और भीमसेन—इन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका विनाश कर डाला ॥

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ॥ ६४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनोंसे मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्षके साथ अपने शिबिरको प्रस्थान किया ॥ ६४ ॥

(अर्जुनो वासुदेवश्च कौरवाणामनीकिनीम्।
हत्वा विद्राव्य च शरैः शिबिरायैव जग्मतुः ॥)

अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण भी कौरवसेनाको बाणोंद्वारा मारकर तथा रणभूमिसे भगाकर शिबिरको ही चल दिये॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसावहारे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरवसेनाका प्रस्थान

संजय उवाच

अथ शूरा महाराज परस्परकृतागसः।
जग्मुः स्वशिबिराण्येव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! आपसमें एक दूसरेको चोट पहुँचानेवाले वे सभी शूरवीर खूनसे लथपथ हो अपने शिबिरोंको ही चले गये ॥ १ ॥

विश्रम्य च यथान्यायं पूजयित्वा परस्परम्।
संनद्धाः समदृश्यन्त भूयो युद्धचिकीर्षया ॥ २ ॥

यथायोग्य विश्राम करके एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए वे लोग पुनः युद्ध करनेकी इच्छासे तैयार दिखायी देने लगे ॥ २ ॥

ततस्तव सुतो राजंश्चिन्तयाभिपरिप्लुतः।
विस्रवच्छोणिताक्ताङ्गः पप्रच्छेदं पितामहम् ॥ ३ ॥

राजन्! तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनने, जिसका शरीर बहते हुए रक्तसे भीगा हुआ था, चिन्तामग्न होकर पितामह भीष्मके पास जाकर इस प्रकार पूछा—॥ ३ ॥

सैन्यानि रौद्राणि भयानकानि
व्यूढानि सम्यग् बहुलध्वजानि।
विदार्य हत्वा च निपीड्य शूरा-
स्ते पाण्डवानां त्वरिता महारथाः॥ ४ ॥

'दादाजी! हमारी सेनाएँ अत्यन्त भयंकर तथा रौद्ररूप धारण करनेवाली हैं। उनकी व्यूहरचना भी अच्छे ढंगसे की जाती है। इन सेनाओंमें ध्वजोंकी संख्या बहुत अधिक है। तथापि शूरवीर पाण्डव महारथी उनमें प्रवेश करके तुरंत हमारे सैनिकोंको विदीर्ण करते, मारते और पीड़ा देकर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

सम्मोह्य सर्वान् युधि कीर्तिमन्तो
व्यूहं च तं मकरं वज्रकल्पम्।

प्रविश्य भीमेन रणे हतोऽस्मि
घोरैः शरैर्मृत्युदण्डप्रकाशैः ॥ ५ ॥

'वे युद्धमें सबको मोहित करके अपनी कीर्तिका विस्तार करते हैं। देखिये न, भीमसेनने वज्रके समान दुर्भेद्य मकर-व्यूहमें प्रवेश करके मृत्युदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा मुझे युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत कर दिया है ॥ ५ ॥

क्रुद्धं तमुद्वीक्ष्य भयेन राजन्
सम्मूर्च्छितो न लभे शान्तिमद्य ।
इच्छे प्रसादात् तव सत्यसंध
प्राप्तुं जयं पाण्डवेयांश्च हन्तुम् ॥ ६ ॥

'राजन्! भीमसेनको कुपित देखकर मैं भयसे व्याकुल हो उठता हूँ। आज मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। सत्य-प्रतिज्ञ पितामह! मैं आपकी कृपासे पाण्डवोंको मारना और उनपर विजय पाना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

तेनैवमुक्तः प्रहसन् महात्मा
दुर्योधनं मन्युगतं विदित्वा ।
तं प्रत्युवाचाविमना मनस्वी
गङ्गासुतः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ७ ॥

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर और उसे क्रोधमें भरा हुआ जानकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ मनस्वी महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म-ने जोर-जोरसे हँसते हुए प्रसन्न मनसे उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७ ॥

परेण यत्नेन विगाह्य सेनां
सर्वात्मनाहं तव राजपुत्र ।
इच्छामि दातुं विजयं सुखं च
न चात्मानं छादयेऽहं त्वदर्थे ॥ ८ ॥

'राजकुमार! मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर महान् प्रयत्नके साथ पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके तुम्हें विजय और सुख देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिये अपने आपको छिपाकर नहीं रखता हूँ ॥ ८ ॥

एते तु रौद्रा बहवो महारथा
यशस्विनः शूरतमाः कृतास्त्राः ।
ये पाण्डवानां समरे सहाया
जितक्लमा रोषविषं वमन्ति ॥ ९ ॥

'जो समरभूमिमें पाण्डवोंके सहायक हुए हैं, उनमें बहुत-से ये महारथी वीर अत्यन्त भयंकर, परम शौर्यसम्पन्न, शस्त्रविद्याके विद्वान् तथा यशस्वी हैं। इन्होंने थकावटको जीत लिया है और ये हमलोगोंपर रोषरूपी विष उगल रहे हैं ॥ ९ ॥

ते नैव शक्याः सहसा विजेतुं
वीर्योद्धताः कृतवैरास्त्वया च ।
अहं सेनां प्रतियोत्स्यामि राजन्
सर्वात्मना जीवितं त्यज्य वीर ॥ १० ॥

'ये बल-पराक्रममें प्रचण्ड और तुम्हारे साथ वैर बाँधे हुए हैं। इन्हें सहसा पराजित नहीं किया जा सकता है। राजन्! वीरवर! मैं सम्पूर्ण शरीरसे अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा ॥ १० ॥

रणे तवार्थाय महानुभाव
न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य ।
सर्वांस्तवार्थाय सदेवदैत्यान्
घोरान् दहेयं किमु शत्रुसेनाम् ॥ ११ ॥

'महानुभाव! तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये अब युद्धमें मुझे अपने जीवनकी रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ती है। मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताओं-सहित समस्त भयंकर दैत्योंको भी दग्ध कर सकता हूँ; फिर शत्रुओंकी सेनाकी तो बात ही क्या है? ॥ ११ ॥

तान् पाण्डवान् योधयिष्यामि राजन्
प्रियं च ते सर्वमहं करिष्ये ।
श्रुत्वैव चैतद् वचनं तदानीं
दुर्योधनः प्रीतमना बभूव ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं उन पाण्डवोंसे भी युद्ध करूँगा और तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य सिद्ध करूँगा।' उस समय भीष्मजीकी यह बात सुनते ही दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया ॥ १२ ॥

सर्वाणि सैन्यानि ततः प्रहृष्टो
निर्गच्छतेत्याह नृपांश्च सर्वान् ।
तदाज्ञया तानि विनिर्ययुर्द्रुतं
गजाश्वपादातरथायुतानि ॥ १३ ॥

तदनन्तर दुर्योधनने हर्षमें भरकर सम्पूर्ण राजाओं तथा सारी सेनाओंसे कहा—'युद्धके लिये निकलो।' राजा दुर्योधन-की आज्ञा पाकर सहस्रों हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथोंसे भरी हुई वे सारी सेनाएँ तुरंत रणके लिये प्रस्थित हुईं ॥ १३ ॥

प्रहर्षयुक्तानि तु तानि राजन्
महान्ति नानाविधशस्त्रवन्ति ।
स्थितानि नागाश्वपदातिमन्ति
विरेजुराजौ तव राजन् बलानि ॥ १४ ॥

महाराज ! आपकी वे विशाल सेनाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरी हुई थीं । राजन् ! घोड़े, हाथी और पैदलोंसे युक्त हो रणभूमिमें खड़ी हुई उन सेनाओंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १४ ॥

शस्त्रास्त्रविद्भिर्नरवीरयोधै-
रधिष्ठिताः सैन्यगणास्त्वदीयाः ।
रथौघपादातगजाश्वसंघैः
प्रयाद्भिराजौ विधिवत् प्रणुन्नैः ॥ १५ ॥
समुद्धतं वै तरुणार्कवर्णं
रजो बभौ च्छादयन् सूर्यरश्मीन् ।
रेजुः पताका रथदन्तिसंस्था
वातेरिता भ्राम्यमाणाः समन्तात्॥ १६ ॥

आपकी सेनाओंके सेनापति अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता एवं नरवीर योद्धा थे । उनसे विधिपूर्वक अनुशासित हो रथसमूह, पैदल, हाथी और घोड़ोंके समुदाय जब युद्धभूमिमें जाने लगे, तब उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सूर्यकी किरणोंको आच्छादित करके प्रातःकालिक सूर्यकी प्रभाके समान कान्तिमती प्रतीत होने लगी । रथों और हाथियोंपर खड़ी की हुई पताकाएँ चारों ओर वायुकी प्रेरणासे फहराती हुई बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ १५-१६ ॥

नानारङ्गाः समरे तत्र राजन्
मेघैर्युता विद्युतः खे यथैव ।
वृन्दैः स्थिताश्चापि सुसम्प्रयुक्ता-
श्चकाशिरे दन्तिगणाः समन्तात्॥ १७ ॥

राजन् ! जैसे आकाशमें बादलोंके साथ बिजलियाँ चमक रही हों, उसी प्रकार उस समराङ्गणमें चारों ओर अनेक रंगोंके दन्तार हाथी झुंडके झुंड खड़े हुए शोभा पा रहे थे । उनका संचालन सुन्दर ढंगसे हो रहा था ॥ १७ ॥

धनूंषि विस्फारयतां नृपाणां
बभूव शब्दस्तुमुलोऽतिघोरः ।
विमथ्यतो देवमहासुरौघै-
र्यथार्णवस्यादियुगे तदानीम् ॥ १८ ॥

जैसे आदियुगमें देवताओं और दैत्योंके समूहद्वारा समुद्रके मथे जाते समय अत्यन्त घोर शब्द होता था, उसी प्रकार उस समय युद्धस्थलमें अपने धनुषोंकी टंकार करनेवाले राजाओंका अत्यन्त भयानक तुमुल शब्द प्रकट हो रहा था ॥

तदुग्रनागं बहुरूपवर्णं
तवात्मजानां समुदीर्णमेवम् ।
बभूव सैन्यं रिपुसैन्यहन्तृ
युगान्तमेघौघनिभं तदानीम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंकी वह सेना भयंकर गजराजोंसे भरी थी । वह अनेक रूप-रंगोंकी दिखायी देती थी । उसका वेग बढ़ता ही जा रहा था । वह उस समय प्रलयकालके मेघसमुदायकी भाँति शत्रुसेनाका संहार करनेमें समर्थ प्रतीत होती थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष

संजय उवाच

अथात्मजं तव पुनर्गाङ्गेयो ध्यानमास्थितम् ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठः सम्प्रहर्षकरं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर आपके पुत्रको चिन्तामें निमग्न देख भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने उससे पुनः हर्ष बढ़ानेवाली बात कही—॥ १ ॥

अहं द्रोणश्च शल्यश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च भगदत्तोऽथ सौबलः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
त्रिगर्तराजो बलवान् मागधश्च सुदुर्जयः ॥ ३ ॥
बृहद्बलश्च कौसल्यश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्च बहुसाहस्राः शोभनाश्च महाध्वजाः ॥ ४ ॥
देशजाश्च हया राजन् स्वारूढा हयसादिभिः ।
गजेन्द्राश्च मदोद्वृत्ताः प्रभिन्नकरटामुखाः ॥ ५ ॥
पादाताश्च तथा शूरा नानाप्रहरणध्वजाः ।
नानादेशसमुत्पन्नास्त्वदर्थे योद्धुमुद्यताः ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं, द्रोणाचार्य, शल्य, यदुवंशी कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लिकदेशीय वीरोंके साथ राजा बाह्लीक, बलवान् त्रिगर्तराज, अत्यन्त दुर्जय मगध-

राज, कोसलनरेश बृहद्बल, चित्रसेन, विविंशति तथा विशाल ध्वजाओंवाले परम सुन्दर कई हजार रथ, घुड़सवारोंसे युक्त देशीय घोड़े, गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराज और भाँति-भाँतिके आयुध एवं ध्वज धारण करनेवाले विभिन्न देशोंके शूरवीर पैदल सैनिक तुम्हारे लिये युद्ध करनेको उद्यत हैं ॥ २–६ ॥

एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ।
देवानपि रणे जेतुं समर्था इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से ऐसे सैनिक हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये अपना जीवन निछावर कर दिया है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये सब मिलकर युद्धस्थलमें देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ हैं ॥ ७ ॥

अवश्यं हि मया राजंस्तव वाच्यं हितं सदा ।
अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८ ॥

'राजन् ! मुझे सदा तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये; इसीलिये कहता हूँ—पाण्डवोंको इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ८ ॥

वासुदेवसहायाश्च महेन्द्रसमविक्रमाः ।
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! एक तो वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, दूसरे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं, (अतः उन्हें जीतना असम्भव है तथापि) मैं सर्वथा तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ॥ ९ ॥

पाण्डवांश्च रणे जेष्ये मां वा जेष्यन्ति पाण्डवाः ।
एवमुक्त्वा ददावस्मै विशल्यकरणीं शुभाम् ॥ १० ॥
ओषधीं वीर्यसम्पन्नां विशल्यश्चाभवत् तदा ।

'पाण्डवोंको मैं युद्धमें जीतूँगा अथवा पाण्डव ही मुझे परास्त कर देंगे।' ऐसा कहकर भीष्मजीने दुर्योधनको विशल्यकरणी नामक शुभ एवं शक्तिशालिनी ओषधि प्रदान की। उस समय उसके प्रभावसे दुर्योधनके शरीरमें धँसे हुए बाण आसानीसे निकल गये और वह आघातजनित घाव तथा उसकी पीड़ासे मुक्त हो गया ॥ १०½ ॥

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
अव्यूहत स्वयं व्यूहं भीष्मो व्यूहविशारदः ।
मण्डलं मनुजश्रेष्ठो नानाशस्त्रसमाकुलम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकी बेलामें व्यूहविशारद नरश्रेष्ठ बलवान् भीष्मने अपनी सेनाके द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूहका निर्माण किया, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णं योधमुख्यैश्च तथा दन्तिपदातिभिः ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १३ ॥

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे भरा हुआ था। कई सहस्र रथोंने उसे सब ओरसे घेर रक्खा था॥

अश्ववृन्दैर्महद्भिश्च ऋष्टितोमरधारिभिः ।
नागे नागे रथाः सप्त सप्त चाश्वा रथे रथे ॥ १४ ॥
अन्वश्वं दश धानुष्का धानुष्के दश चर्मिणः ।

वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करनेवाले अश्वारोहियोंके महान् समुदायोंसे भरा था। एक-एक हाथीके पीछे सात-सात रथ, एक-एक रथके साथ सात-सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवारके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ दस-दस ढाल-तलवार लिये रहनेवाले वीर खड़े थे ॥ १४½ ॥

एवं व्यूढं महाराज तव सैन्यं महारथैः ॥ १५ ॥
स्थितं रणाय महते भीष्मेण युधि पालितम् ।

महाराज ! इस प्रकार महारथियोंके द्वारा व्यूहबद्ध होकर आपकी सेना महायुद्धके लिये खड़ी थी और भीष्म युद्धस्थलमें उसकी रक्षा करते थे ॥ १५½ ॥

दशाश्वानां सहस्राणि दन्तिनां च तथैव च ॥ १६ ॥
रथानामयुतं चापि पुत्राश्च तव दंशिताः ।
चित्रसेनादयः शूरा अभ्यरक्षन् पितामहम् ॥ १७ ॥

उसमें दस हजार घोड़े, उतने ही हाथी और दस हजार रथ तथा आपके चित्रसेन आदि शूरवीर पुत्र कवच धारण करके पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे॥ १६-१७ ॥

रक्ष्यमाणः स तैः शूरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
संनद्धाः समदृश्यन्त राजानश्च महाबलाः ॥ १८ ॥

उन वीरोंसे भीष्म सुरक्षित थे और भीष्मसे उन शूरवीरोंकी रक्षा हो रही थी। वहाँ बहुत-से महाबली नरेश कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार दिखायी देते थे ॥

दुर्योधनस्तु समरे दंशितो रथमास्थितः ।
व्यराजत श्रिया जुष्टो यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ १९ ॥

शोभासम्पन्न राजा दुर्योधन भी युद्धस्थलमें कवच बाँधकर रथपर आरूढ़ हो ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो देवराज इन्द्र स्वर्गमें अपनी दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे हों॥

ततः शब्दो महानासीत् पुत्राणां तव भारत ।
रथघोषश्च विपुलो वादित्राणां च निस्वनः ॥ २० ॥

भारत ! तदनन्तर आपके पुत्रोंका महान् सिंहनाद सुनायी देने लगा, साथ ही रथों और वाद्योंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥ २० ॥

भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूढः प्रत्यङ्मुखो युधि ।
मण्डलः स महाव्यूहो दुर्भेद्योऽमित्रघातनः ॥ २१ ॥

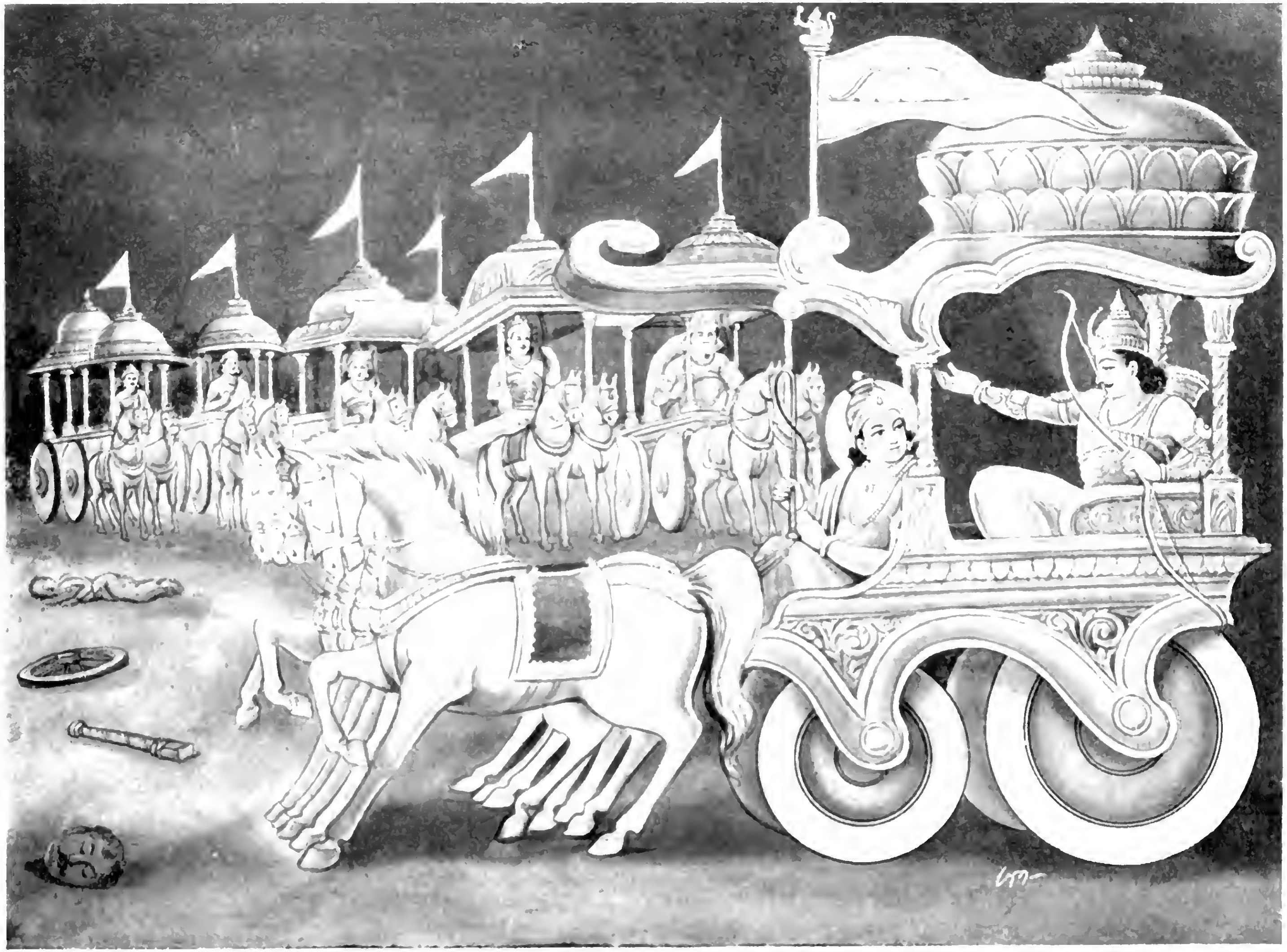

अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना

भीष्मने युद्धस्थलमें कौरव सैनिकोंका पश्चिमाभिमुख व्यूह बनाया था। वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेवाला था ॥ २१ ॥

सर्वतः शुशुभे राजन् रणेऽरीणां दुरासदः।
मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ॥ २२ ॥
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत्।

राजन्! उस रणभूमिमें सब ओर उस व्यूहकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्गम था। कौरवोंके परम दुर्जय मण्डलव्यूहको देखकर राजा युधिष्ठिरने स्वयं अपनी सेनाके लिये वज्रव्यूहका निर्माण किया ॥२२½॥

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यथास्थानमवस्थिताः ॥ २३ ॥
रथिनः सादिनः सर्वे सिंहनादमथानदन्।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर यथा-स्थान खड़े हुए रथी और घुड़सवार आदि सब सैनिक सिंहनाद करने लगे ॥ २३½ ॥

बिभित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २४ ॥
इतरेतरतः शूराः सहसैन्याः प्रहारिणः।

तत्पश्चात् प्रहार करनेमें कुशल सभी शूरवीर एक दूसरेका व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे सेनासहित आगे बढ़े ॥ २४½ ॥

भारद्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ॥२५॥
स्वयं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत्।

द्रोणाचार्यने विराटपर और अश्वत्थामाने शिखण्डीपर धावा किया। स्वयं राजा दुर्योधनने द्रुपदपर चढ़ाई की ॥

नकुलः सहदेवश्च मद्रराजानमीयतुः ॥ २६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ ।

नकुल और सहदेवने अपने मामा मद्रराज शल्यपर धावा किया। अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने इरावान्पर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

सर्वे नृपास्तु समरे धनंजयमयोधयन् ॥ २७ ॥
भीमसेनो रणे यान्तं हार्दिक्यं समवारयत्।

समस्त नरेशोंने संग्रामभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध किया। भीमसेनने युद्धमें विचरते हुए कृतवर्माको आगे बढ़नेसे रोका॥

चित्रसेनं विकर्णं च तथा दुर्मर्षणं विभुः ॥ २८ ॥
आर्जुनिः समरे राजंस्तव पुत्रानयोधयत्।

राजन्! शक्तिशाली अर्जुनकुमार अभिमन्युने संग्राम-भूमिमें आपके तीन पुत्र चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षणके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम्।

महाधनुर्धर भगदत्तने राक्षसप्रवर घटोत्कचपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर टूट पड़ा हो ॥ २९½ ॥

अलम्बुषस्तदा राजन् सात्यकिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३० ॥
ससैन्यं समरे क्रुद्धो राक्षसः समुपाद्रवत्।

राजन्! उस समय राक्षस अलम्बुषने युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले सेनासहित सात्यकिपर क्रोधपूर्वक धावा किया ॥३०½॥

भूरिश्रवा रणे यत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ॥ ३१ ॥
श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

भूरिश्रवाने रणभूमिमें प्रयत्नपूर्वक धृष्टकेतुके साथ युद्ध छेड़ दिया। धर्मपुत्र युधिष्ठिरने राजा श्रुतायुपर धावा किया॥

चेकितानश्च समरे कृपमेवान्वयोधयत् ॥ ३२ ॥
शेषाः प्रतिययुर्यत्ता भीष्ममेव महारथम्।

चेकितानने समरमें कृपाचार्यके ही साथ युद्ध छेड़ दिया। शेष योद्धा प्रयत्नपूर्वक महारथी भीष्मका ही सामना करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ३३ ॥
शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः ।

तदनन्तर उन राजसमूहोंने कुन्तीपुत्र धनंजयको सब ओरसे घेर लिया। उन सबके हाथोंमें शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि आयुध शोभा पा रहे थे ॥ ३३½ ॥

अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धो वार्ष्णेयमिदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
पश्य माधव सैन्यानि धार्तराष्ट्रस्य संयुगे।
व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण-से इस प्रकार कहा—'माधव! युद्धस्थलमें दुर्योधनकी इन सेनाओंको देखिये, व्यूहके विद्वान् महात्मा गङ्गानन्दनने इनका व्यूह रचा है ॥ ३४-३५ ॥

युद्धाभिकामाञ्शूरांश्च पश्य माधव दंशितान्।
त्रिगर्तराजं सहितं भ्रातृभिः पश्य केशव ॥ ३६ ॥

'माधव! युद्धकी इच्छासे कवच बाँधकर आये हुए इन शूरवीरोंपर दृष्टिपात कीजिये। केशव! यह देखिये, यह भाइयोंसहित त्रिगर्तराज खड़ा है ॥ ३६ ॥

अद्यैतान् नाशयिष्यामि पश्यतस्ते जनार्दन।
य इमे मां यदुश्रेष्ठ योद्धुकामा रणाजिरे ॥ ३७ ॥

'जनार्दन! यदुश्रेष्ठ! ये जो रणक्षेत्रमें मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, मैं इन सबको आज आपके देखते-देखते नष्ट कर दूँगा' ॥ ३७ ॥

एतदुक्त्वा तु कौन्तेयो धनुर्ज्यामवमृज्य च।
ववर्ष शरवर्षाणि नराधिपगणान् प्रति ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चापर हाथ फेरा और विपक्षी नरेशोंपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३८ ॥

तेऽपि तं परमेष्वासाः शरवर्षैरपूरयन्।
तडागं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ॥ ३९ ॥

जैसे बादल वर्षा ऋतुमें जलकी धाराओंसे तालाबको भरते हैं, उसी प्रकार वे महाधनुर्धर नरेश भी बाणोंकी वृष्टिसे अर्जुनको भरपूर करने लगे ॥ ३९ ॥

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्ये विशाम्पते।
छाद्यमानौ रणे कृष्णौ शरैर्दृष्ट्वा महारणे ॥ ४० ॥

प्रजानाथ! उस महायुद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ ४० ॥

देवा देवर्षयश्चैव गन्धर्वाश्च सहोरगैः।
विस्मयं परमं जग्मुर्दृष्ट्वा कृष्णौ तथागतौ ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर देवताओं, देवर्षियों, गन्धर्वों और नागोंको महान् आश्चर्य हुआ॥४१॥

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत्।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ॥ ४२ ॥

राजन्! तब अर्जुनने कुपित होकर इन्द्रास्त्रका प्रयोग किया। उस समय हमलोगोंने अर्जुनका अद्भुत पराक्रम देखा॥

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत्।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ॥ ४३ ॥

उन्होंने अपने बाणसमूहद्वारा शत्रुओंकी की हुई बाण-वर्षाको रोक दिया। महाराज! उस समय वहाँ कोई भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हो गया हो ॥ ४३ ॥

तेषां राजसहस्राणां हयानां दन्तिनां तथा।
द्वाभ्यां त्रिभिः शरैश्चान्यान् पार्थो विव्याध मारिष ॥४४॥

आर्य! कुन्तीकुमार अर्जुनने उन सहस्रों राजाओंके घोड़ों तथा हाथियोंमेंसे किन्हींको दो-दो और किन्हींको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी मार खाकर वे सब-के-सब शान्तनुनन्दन भीष्मकी शरणमें गये। उस समय अगाध विपत्ति-समुद्रमें डूबते हुए सैनिकोंके लिये भीष्म जहाज बन गये ॥४५॥

आपतद्भिस्तु तैस्तत्र प्रभग्नं तावकं बलम्।
संचुक्षुभे महाराज वातैरिव महार्णवः ॥ ४६ ॥

महाराज! पाण्डवोंके आक्रमण करनेपर आपकी सेनाका व्यूह भङ्ग हो गया। वह सेना प्रचण्ड वायुके वेगसे समुद्रकी भाँति विक्षुब्ध हो उठी ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनका युद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरवसेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराट-पुत्र शङ्खका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध

संजय उवाच

तथा प्रवृत्ते संग्रामे निवृत्ते च सुशर्मणि।
भग्नेषु चापि वीरेषु पाण्डवेन महात्मना ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार संग्राम आरम्भ होनेपर महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनसे पराजित हो सुशर्मा युद्धभूमिसे दूर हो गया और अन्यान्य वीर भी भाग खड़े हुए॥

क्षुभ्यमाणे बले तूर्णं सागरप्रतिमे तव।
प्रत्युद्याते च गाङ्गेये त्वरितं विजयं प्रति ॥ २ ॥

आपकी समुद्र-जैसी विशाल वाहिनीमें तुरंत ही हलचल मच गयी। उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने शीघ्रतापूर्वक अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा रणे पार्थस्य विक्रमम्।
त्वरमाणः समभ्येत्य सर्वांस्तानब्रवीन्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने रणभूमिमें अर्जुनका पराक्रम देखकर बड़ी उतावलीके साथ निकट जा उन समस्त नरेशोंसे कहा॥

तेषां तु प्रमुखे शूरं सुशर्माणं महाबलम्।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य भृशं संहर्षयन्निव ॥ ४ ॥

उन नरेशोंके सम्मुख सारी सेनाके बीचमें शूरवीर महाबली सुशर्माको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता हुआ-सा दुर्योधन यों बोला—॥ ४ ॥

एष भीष्मः शान्तनवो योद्धुकामो धनंजयम् ।
सर्वात्मना कुरुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ ५ ॥

'वीरो ! ये शान्तनुनन्दन कुरुश्रेष्ठ भीष्म अपना जीवन निछावर करके सम्पूर्ण हृदयसे अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

तं प्रयान्तं रणे वीरं सर्वसैन्येन भारतम् ।
संयत्ताः समरे सर्वे पालयध्वं पितामहम् ॥ ६ ॥

'सारी सेनाके साथ युद्धके लिये यात्रा करते हुए मेरे वीर पितामह भरतनन्दन भीष्मकी आप सब लोग प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें' ॥ ६ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु तान्यनीकानि सर्वशः ।
नरेन्द्राणां महाराज समाजग्मुः पितामहम् ॥ ७ ॥

महाराज ! 'बहुत अच्छा' कहकर राजाओंकी वे सम्पूर्ण सेनाएँ पितामह भीष्मके पास गयीं ॥ ७ ॥

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ॥ ८ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमिमें सहसा अर्जुनके सामने गये । भरतवंशी भीष्मको आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे ॥ ८ ॥

महाश्वेताश्वयुक्तेन भीमवानरकेतुना ।
महता मेघनादेन रथेनातिविराजता ॥ ९ ॥

वे जिस रथपर आरूढ़ होकर आये थे, वह अत्यन्त शोभायमान था । उसमें श्वेत वर्णके विशाल घोड़े जुते हुए थे । उसपर भयंकर वानरसे उपलक्षित ध्वजा फहरा रही थी और उसके पहियोंसे मेघके समान गम्भीर शब्द हो रहा था ॥

समरे सर्वसैन्यानामुपयान्तं धनंजयम् ।
अभवत् तुमुलो नादो भयाद् दृष्ट्वा किरीटिनम् ॥ १० ॥

किरीटधारी अर्जुनको युद्धमें समीप आते देख भयके मारे समस्त सैनिकोंके मुँहसे भयानक हाहाकार प्रकट होने लगा ॥ १० ॥

अभीषुहस्तं कृष्णं च दृष्ट्वाऽऽदित्यमिवापरम् ।
मध्यंदिनगतं संख्ये न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ११ ॥

हाथमें बागडोर लिये मध्याह्नकालके दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको युद्धभूमिमें उपस्थित देख कोई भी योद्धा उन्हें भर आँख देख भी न सके ॥ ११ ॥

तथा शान्तनवं भीष्मं श्वेताश्वं श्वेतकार्मुकम् ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं श्वेतं ग्रहमिवोदितम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार श्वेत घोड़े तथा श्वेत धनुषवाले शान्तनुनन्दन भीष्मको श्वेत ग्रहके समान उदित देख पाण्डवसैनिक उनसे आँख न मिला सके ॥ १२ ॥

स सर्वतः परिवृतस्त्रिगर्तैः सुमहात्मभिः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च तथान्यैश्च महारथैः ॥ १३ ॥

महामना त्रिगर्तोंने अपने भाइयों, पुत्रों तथा अन्य महारथियोंके साथ उपस्थित होकर भीष्मको सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा ।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ॥ १४ ॥

दूसरी ओर द्रोणाचार्यने मत्स्यराज विराटको युद्धमें एक बाणसे बींध डाला तथा एक बाणसे उनका ध्वज और एकसे धनुष काट डाला ॥ १४ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः ।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ॥ १५ ॥

सेनापति विराटने वह कटा हुआ धनुष फेंककर वेगपूर्वक दूसरे सुदृढ़ धनुषको हाथमें लिया, जो भार सहन करनेमें समर्थ था ॥ १५ ॥

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव ।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ॥ १६ ॥

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति विषैले नागोंकी-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीनसे द्रोणाचार्यको और चार बाणोंसे उनके घोड़ोंको बींध डाला ॥ १६ ॥

ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य पञ्चभिः ।
धनुरेकेषुणाविध्यत् तत्राक्रुध्यद् द्विजर्षभः ॥ १७ ॥

फिर एक बाणसे ध्वजको, पाँच बाणोंसे सारथिको और एकसे धनुषको बींध डाला । इससे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १७ ॥

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर द्रोणने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंद्वारा विराटके घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको मार डाला ॥

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः ।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ॥ १९ ॥

सारथि और घोड़ोंके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट अपने रथसे तुरंत कूद पड़े और पुत्रके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १९ ॥

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ॥ २० ॥

अब उन दोनों पिता-पुत्रोंने एक ही रथपर बैठकर महान् बाणवर्षाके द्वारा द्रोणाचार्यको बलपूर्वक आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २० ॥

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम्।
चिक्षेप समरे तूर्णं शङ्खं प्रति जनेश्वर ॥ २१ ॥

जनेश्वर ! तब द्रोणाचार्यने कुपित होकर युद्धभूमिमें विषधर सर्पके समान एक भयंकर बाण शङ्खपर शीघ्रतापूर्वक चलाया ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ॥ २२ ॥

वह बाण शङ्खकी छाती छेदकर रणभूमिमें उसका रक्त पीकर धरतीमें समा गया। उसके श्रेष्ठ पंख लोहूमें भीगकर लाल हो रहे थे ॥ २२ ॥

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल होकर शङ्ख पिताके पास ही धनुष-बाण छोड़कर तुरंत ही रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ २३ ॥

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात्।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख मुँह बाये हुए कालके समान भयंकर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें छोड़कर विराट भयके मारे भाग गये ॥ २४ ॥

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम्।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २५ ॥

तब द्रोणाचार्यने संग्रामभूमिमें तुरंत ही पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको विदीर्ण करना आरम्भ किया। सैकड़ों-हजारों योद्धा धराशायी हो गये ॥ २५ ॥

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ॥ २६ ॥

महाराज ! दूसरी ओर शिखण्डीने युद्धभूमिमें अश्वत्थामाके पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उसके भौंहोंके मध्यभागमें आघात किया ॥ २६ ॥

स बभौ रथशार्दूलो ललाटे संस्थितैस्त्रिभिः।
शिखरैः काञ्चनमयैर्मेरुस्त्रिभिरिवोच्छ्रितैः ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा ललाटमें लगे हुए उन तीनों बाणोंके द्वारा तीन ऊँचे सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त मेरु पर्वतके समान शोभा पाने लगा ॥ २७ ॥

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ॥ २८ ॥
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे।

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने आधे निमेषमें बहुत-से बाणोंद्वारा शिखण्डीके ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधोंको रणभूमिमें काट गिराया ॥ २८½ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ॥ २९ ॥
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम्।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ॥ ३० ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुसंतापी शिखण्डी घोड़ोंके मारे जानेपर उस रथसे कूद पड़ा और बहुत तीखी एवं चमकीली तलवार और ढाल हाथमें लेकर कुपित हुए श्येन पक्षीकी भाँति सब ओर विचरने लगा ॥ २९-३० ॥

सखड्गस्य महाराज चरतस्तस्य संयुगे।
नान्तरं ददृशे द्रौणिस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३१ ॥

महाराज ! तलवार लेकर युद्धमें विचरते हुए शिखण्डीका थोड़ा-सा भी छिद्र अश्वत्थामाको नहीं दिखायी दिया। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३१ ॥

ततः शरसहस्राणि बहूनि भरतर्षभ।
प्रेषयामास समरे द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब परम क्रोधी अश्वत्थामाने समरभूमिमें शिखण्डीपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

तामापतन्तीं समरे शरवृष्टिं सुदारुणाम्।
असिना तीक्ष्णधारेण चिच्छेद बलिनां वरः ॥ ३३ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीने समरभूमिमें होनेवाली उस अत्यन्त भयंकर बाण-वर्षाको तीखी धारवाली तलवारसे काट डाला ॥ ३३ ॥

ततोऽस्य विमलं द्रौणिः शतचन्द्रं मनोरमम्।
चर्माच्छिनदसिं चास्य खण्डयामास संयुगे ॥ ३४ ॥

तब अश्वत्थामाने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित शिखण्डीकी परम सुन्दर ढाल और चमकीली तलवारको युद्धस्थलमें टूक-टूक कर दिया ॥ ३४ ॥

शितैस्तु बहुशो राजंस्तं च विव्याध पत्रिभिः।
शिखण्डी तु ततः खड्गं खण्डितं तेन सायकैः ॥ ३५ ॥
आविध्य व्यसृजत् तूर्णं ज्वलन्तमिव पन्नगम्।
तमापतन्तं सहसा कालानलसमप्रभम् ॥ ३६ ॥
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम्।
शिखण्डिनं च विव्याध शरैर्बहुभिरायसैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शिखण्डीको भी बहुत घायल कर दिया। अश्वत्थामाद्वारा सायकोंकी मारसे खण्डित किये हुए उस खड्गको शिखण्डीने घुमाकर तुरंत ही उसके ऊपर चला दिया। वह खड्ग प्रज्वलित सर्प-सा प्रकाशित हो उठा। अपने ऊपर आते हुए प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस खड्गको अश्वत्थामाने युद्धमें अपना हस्त-लाघव दिखाते हुए सहसा काट डाला। तत्पश्चात्

बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा उसने शिखण्डीको भी घायल कर दिया ॥ ३५—३७ ॥

शिखण्डी तु भृशं राजंस्ताड्यमानः शितैः शरैः।
आरुरोह रथं तूर्णं माधवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शिखण्डी तुरंत ही महामना सात्यकिके रथपर चढ़ गया ॥

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ॥ ३९ ॥

इधर बलवानोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणोंद्वारा संग्रामभूमिमें क्रूर राक्षस अलम्बुषको बींध डाला ॥ ३९ ॥

राक्षसेन्द्रस्ततस्तस्य धनुश्चिच्छेद भारत।
अर्धचन्द्रेण समरे तं च विव्याध सायकैः ॥ ४० ॥

भारत ! तब राक्षसराज अलम्बुषने रणक्षेत्रमें अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा सात्यकिके धनुषको काट दिया और अनेक सायकोंका प्रहार करके उन्हें भी घायल कर दिया ॥ ४० ॥

मायां च राक्षसीं कृत्वा शरवर्षैरवाकिरत्।
तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयस्य पराक्रमम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् उसने राक्षसी माया फैलाकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की । उस समय हमने सात्यकिका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ ४१ ॥

असम्भ्रमस्तु समरे वध्यमानः शितैः शरैः।
ऐन्द्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो योजयामास भारत ॥ ४२ ॥
विजयाद् यदनुप्राप्तं माधवेन यशस्विना।

भारत ! वे समरभूमिमें तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी घबराये नहीं । उन यशस्वी यदुकुलरत्न सात्यकिने अर्जुनसे जिसकी शिक्षा प्राप्त की थी, उस ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४२½ ॥

तदस्त्रं भस्मसात्कृत्वा मायां तां राक्षसीं तदा ॥ ४३ ॥
अलम्बुषं शरैरन्यैरभ्याकिरत सर्वतः।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ४४ ॥

उस समय उस दिव्यास्त्रने उस राक्षसी मायाको तत्काल भस्म करके अलम्बुषके ऊपर सब ओरसे दूसरे-दूसरे बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ की, जैसे वर्षाऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ४३-४४ ॥

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना।
प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे॥४५॥

परमयशस्वी मधुवंशी सात्यकिके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होनेपर वह राक्षस भयसे युद्धस्थलमें उन्हें छोड़कर भाग गया॥

तमजेयं राक्षसेन्द्रं संख्ये मघवता अपि।
शैनेयः प्राणदज्जित्वा योधानां तव पश्यताम् ॥ ४६ ॥

जिसे इन्द्र भी युद्धमें हरा नहीं सकते थे, उसी राक्षसराज अलम्बुषको आपके योद्धाओंके देखते-देखते परास्त करके सात्यकि सिंहनाद करने लगे ॥ ४६ ॥

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः।
निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा आपके अन्य योद्धाओंको भी मारना आरम्भ किया । उस समय उनके भयसे पीड़ित हो वे सब योद्धा भागने लगे ॥ ४७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ॥ ४८ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः।

महाराज ! इसी समय द्रुपदके बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्नने आपके पुत्र राजा दुर्योधनको रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स च्छाद्यमानो विशिखैर्धृष्टद्युम्नेन भारत ॥ ४९ ॥
विव्यथे न च राजेन्द्र तव पुत्रो जनेश्वर।
धृष्टद्युम्नं च समरे तूर्णं विव्याध पत्रिभिः ॥ ५० ॥
षष्ट्या च त्रिंशता चैव तदद्भुतमिवाभवत्।

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जनेश्वर ! धृष्टद्युम्नके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें व्यथा नहीं हुई । उसने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको तुरंत ही नब्बे बाणोंसे घायल कर दिया । यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४९-५०½ ॥

तस्य सेनापतिः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ५१ ॥
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः।
शरैश्चैनं सुनिशितैः क्षिप्रं विव्याध सप्तभिः ॥ ५२ ॥

आर्य ! तब महाबली पाण्डव-सेनापतिने भी कुपित होकर दुर्योधनके धनुषको काट दिया और शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ोंको भी मार डाला । तत्पश्चात् अत्यन्त तीखे सात बाणोंद्वारा तुरंत ही दुर्योधनको घायल कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ॥ ५३ ॥

घोड़े मारे जानेपर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथसे कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्नकी ओर पैदल ही दौड़ा ॥ ५३ ॥

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ५४ ॥

उस समय महाबली शकुनिने, जो राजाको बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत्के अधिपति दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ५४ ॥

ततो नृपं पराजित्य पार्षतः परवीरहा।
न्यहनत् तावकं सैन्यं वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ५५ ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने राजा दुर्योधनको पराजित करके आपकी सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं ॥५५॥

कृतवर्मा रणे भीमं शरैरार्च्छन्महारथः।
प्रच्छादयामास च तं महामेघो रविं यथा ॥ ५६ ॥

महारथी कृतवर्माने रणमें भीमसेनको अपने बाणोंसे बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनको आच्छादित कर दिया ॥५६॥

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परंतपः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ॥ ५७ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने युद्धमें हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मापर अनेकों सायकोंका प्रहार किया ॥ ५७ ॥

तैरर्द्यमानोऽतिरथः सात्वतः सत्यकोविदः।
नाकम्पत महाराज भीमं चार्च्छच्छितैः शरैः ॥ ५८ ॥

महाराज ! उन सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी अतिरथी एवं सत्यकोविद सात्वतवंशी कृतवर्मा विचलित नहीं हुआ । उसने भीमसेनको पुनः तीखे बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ५८ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः।
सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ॥ ५९ ॥

फिर महारथी भीमसेनने उनके चारों घोड़ोंको मारकर ध्वजसहित सुसज्जित सारथिको भी काट गिराया ॥ ५९ ॥

शरैर्बहुविधैश्चैनमाचिनोत् परवीरहा।
शकलीकृतसर्वाङ्गो हताश्वः प्रत्यदृश्यत ॥ ६० ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीमसेनने अनेक प्रकारके बाणोंसे कृतवर्माके सारे शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया । उसके घोड़े मारे जा चुके थे । उस समय भीमसेनके बाणोंसे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न-सा दिखायी देता था ॥

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ।
श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ६१ ॥

महाराज ! तब घोड़ोंके मारे जानेपर कृतवर्मा आपके पुत्रके देखते-देखते तुरंत ही आपके शाले वृषकके रथपर सवार हो गया ॥ ६१ ॥

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत्।
निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६२ ॥

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेनापर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराजकी भाँति उसका संहार करने लगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वैरथे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वैरथयुद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

इरावान्के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स्म संजय।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मैंने तुम्हारे मुखसे अबतक पाण्डवोंके मेरे पुत्रोंके साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना ॥ १ ॥

न चैव मामकं किंचिद्धृष्टं शंससि संजय।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ॥ २ ॥

परंतु सूत ! तुमने अभीतक मेरे पक्षमें घटित हुई कोई हर्षकी बात नहीं कही है; उल्टे पाण्डवोंको प्रतिदिन हर्षसे पूर्ण और अभग्न (अपराजित) बताते हो ॥ २ ॥

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः।
वदसे संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ३ ॥

मेरे पुत्रोंको तेज और बलसे हीन, खिन्नचित्त और युद्धमें पराजित बताते हो । संजय ! यह सब प्रारब्धका ही खेल है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

संजय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

संजय बोले—पुरुषश्रेष्ठ ! आपके पुत्र भी पूरी

शक्तिसे पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साहके अनुसार युद्धमें सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ॥४॥

गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम् ।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ॥ ५ ॥
तथा तत् पौरुषं राजंस्तावकानां परंतप ।
प्राप्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ॥ ६ ॥

परंतप ! नरेश ! जैसे देवनदी गङ्गाजीका जल स्वादिष्ट होकर भी महासागरके संयोगसे उसीके गुणका सम्मिश्रण हो जानेके कारण खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंका पुरुषार्थ युद्धमें वीर पाण्डवोंतक पहुँचकर व्यर्थ हो जाता है ॥ ५-६ ॥

घटमानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम् ।
न दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर कर्म कर दिखाते हैं । अतः उनके ऊपर आपको दोषारोपण नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

तवापराधात् सुमहान् सपुत्रस्य विशाम्पते ।
पृथिव्याः प्रक्षयो घोरो यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! पुत्रसहित आपके अपराधसे ही यह भूमण्डलका घोर एवं महान् संहार हो रहा है, जो यमलोककी वृद्धि करनेवाला है ॥ ८ ॥

आत्मदोषात् समुत्पन्नं शोचितुं नार्हसे नृप ।
न हि रक्षन्ति राजानः सर्वथात्रापि जीवितम् ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! अपने ही अपराधसे जो संकट प्राप्त हुआ है, उसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये । (आपके अपराधके कारण) राजालोग भी इस भूतलमें सर्वथा अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर पाते हैं ॥ ९ ॥

युद्धे सुकृतिनां लोकानिच्छन्तो वसुधाधिपाः ।
चमूं विगाह्य युध्यन्ते नित्यं स्वर्गपरायणाः ॥ १० ॥

वसुधाके नरेश युद्धमें पुण्यात्माओंके लोकोंकी इच्छा करते हुए शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं और सदा स्वर्गको ही परम लक्ष्य मानते हैं ॥ १० ॥

पूर्वाह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः ।
तं त्वमेकमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ॥ ११ ॥

महाराज ! उस दिन पूर्वाह्णकालमें बड़ा भारी जनसंहार हुआ था । आप एकचित्त होकर देवासुर-संग्रामके समान उस भयंकर युद्धका वृत्तान्त सुनिये ॥ ११ ॥

आवन्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ ।
इरावन्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ॥ १२ ॥

अवन्तीके महाबली महाधनुर्धर और विशाल सेनासे युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान्‌को सामने देखकर उसीसे भिड़ गये ॥ १२ ॥

तेषां प्रववृते युद्धं सुमहल्लोमहर्षणम् ।
इरावांस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥
विव्याध निशितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।
तावेनं प्रत्यविध्येतां समरे चित्रयोधिनौ ॥ १४ ॥

उन तीनों वीरोंका युद्ध अत्यन्त रोमाञ्चकारी हुआ । इरावान्‌ने कुपित होकर देवताओंके समान रूपवान् दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया । वे भी समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले थे । अतः उन्होंने भी इरावान्‌को बींध डाला ॥ १३–१४ ॥

युध्यतां हि तथा राजन् विशेषो न व्यदृश्यत ।
यततां शत्रुनाशाय कृतप्रतिकृतैषिणाम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! दोनों ही पक्षवाले अपने शत्रुका नाश करनेके लिये प्रयत्नशील थे । दोनों ही एक दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करनेकी इच्छा रखते थे । अतः युद्ध करते समय उनमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ १५ ॥

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ॥ १६ ॥

राजन् ! उस समय इरावान्‌ने अपने चार बाणोंद्वारा अनुविन्दके चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ १६ ॥

भल्लाभ्यां च सुतीक्ष्णाभ्यां धनुः केतुं च मारिष ।
चिच्छेद समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

आर्य ! राजन् ! तदनन्तर दो तीखे भल्लोंद्वारा उन्होंने युद्धस्थलमें उसके धनुष और ध्वज काट डाले । यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १७ ॥

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः ।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् अनुविन्द अपना रथ त्यागकर विन्दके रथपर जा बैठा और भार वहन करनेमें समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्धके लिये डट गया ॥ १८ ॥

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ॥ १९ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आवन्त्य वीर रणभूमिमें एक ही रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रताके साथ महामना इरावान्‌पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥

ताभ्यां मुक्ता महावेगाः शराः काञ्चनभूषणाः ।
दिवाकरपथं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ॥ २० ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए महान् वेगशाली सुवर्णभूषित बाणोंने सूर्यके पथपर पहुँचकर आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ॥ २१ ॥

तब इरावान्‌ने भी रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी और उनके सारथिको मार गिराया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ॥ २२ ॥

सारथिके प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उस रथके घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगा ॥ २२ ॥

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! इरावान् नागराज-कन्या उलूपीका पुत्र था। उसने विन्द और अनुविन्दको जीतकर अपने पुरुषार्थका परिचय देते हुए तुरंत ही आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

सा वध्यमाना समरे धार्तराष्ट्री महाचमूः।
वेगान् बहुविधांश्चक्रे विषं पीत्वेव मानवः ॥ २४ ॥

युद्धक्षेत्रमें इरावान्‌से पीड़ित होकर आपकी विशाल सेना विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति नाना प्रकारसे उद्वेग प्रकट करने लगी ॥ २४ ॥

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत्।
रथेनादित्यवर्णेन सध्वजेन महाबलः ॥ २५ ॥

दूसरी ओर राक्षसराज महाबली घटोत्कचने सूर्यके समान तेजस्वी एवं ध्वजयुक्त रथके द्वारा भगदत्तपर आक्रमण किया॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा नागराजं समास्थितः।
यथा वज्रधरः पूर्वं संग्रामे तारकामये ॥ २६ ॥

जैसे पूर्वकालमें तारकामय-संग्रामके अवसरपर वज्रधारी इन्द्र ऐरावत नामक हाथीपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये गये थे, उसी प्रकार इस महायुद्धमें प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा भगदत्त एक गजराजपर चढ़कर आये थे ॥ २६ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च समागताः।
विशेषं न स्म विविदुर्हैडिम्बभगदत्तयोः ॥ २७ ॥

वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंकी भी समझमें यह नहीं आया कि घटोत्कच और भगदत्तमें पराक्रमकी दृष्टिसे क्या अन्तर है ॥ २७ ॥

यथा सुरपतिः शक्रस्त्रासयामास दानवान्।
तथैव समरे राजा द्रावयामास पाण्डवान् ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंको भयभीत किया था, उसी प्रकार भगदत्तने पाण्डव-सैनिकोंको भयभीत करके भगाना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

तेन विद्राव्यमाणास्ते पाण्डवाः सर्वतो दिशम्।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्तः स्वेष्वनीकेषु भारत ॥ २९ ॥

भारत ! भगदत्तके द्वारा खदेड़े हुए पाण्डव-सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए अपनी सेनाओंमें भी कहीं कोई रक्षक नहीं पाते थे ॥ २९ ॥

भैमसेनिं रथस्थं तु तत्रापश्याम भारत।
शेषा विमनसो भूत्वा प्राद्रवन्त महारथाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! उस समय वहाँ हमलोगोंने केवल भीमपुत्र घटोत्कचको ही रथपर स्थिरभावसे बैठा देखा। शेष महारथी खिन्नचित्त होकर वहींसे भाग रहे थे ॥ ३० ॥

निवृत्तेषु तु पाण्डूनां पुनः सैन्येषु भारत।
आसीन्निष्ठानको घोरस्तव सैन्यस्य संयुगे ॥ ३१ ॥

भारत ! जब पाण्डवोंकी सेनाएँ पुनः युद्धभूमिमें लौट आयीं, तब उस युद्धक्षेत्रमें आपकी सेनाके भीतर घोर हाहाकार होने लगा ॥ ३१ ॥

घटोत्कचस्ततो राजन् भगदत्तं महारणे।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ॥ ३२ ॥

राजन् ! उस समय उस महायुद्धमें घटोत्कचने अपने बाणोंद्वारा भगदत्तको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वतको ढक लेता है ॥ ३२ ॥

निहत्य ताञ्शरान् राजा राक्षसस्य धनुश्च्युतान्।
भैमसेनिं रणे तूर्णं सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ ३३ ॥

राक्षस घटोत्कचके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको नष्ट करके राजा भगदत्तने रणक्षेत्रमें तुरंत ही घटोत्कचके सभी मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ ३३ ॥

स ताड्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः।
न विव्यथे राक्षसेन्द्रो भिद्यमान इवाचलः ॥ ३४ ॥

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा आहत होकर भी विदीर्ण किये जानेवाले पर्वतकी भाँति राक्षसराज घटोत्कच व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरांश्च चतुर्दश।
प्रेषयामास समरे तांश्चिच्छेद स राक्षसः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेशने कुपित हो उस राक्षसपर चौदह तोमर चलाये, परंतु उसने समरभूमिमें उन सबको काट दिया ॥ ३५ ॥

स तांश्छित्त्वा महाबाहुस्तोमरान् निशितैः शरैः।
भगदत्तं च विव्याध सप्तत्या कङ्कपत्रिभिः ॥ ३६ ॥

उन तोमरोंको तीखे बाणोंसे काटकर महाबाहु घटोत्कचने कंकपत्रयुक्त सत्तर बाणोंद्वारा भगदत्तको भी घायल कर दिया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत ।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ॥ ३७ ॥

भारत ! तब राजा प्राग्ज्योतिष (भगदत्त) ने हँसते हुए-से उस युद्धमें अपने सायकोंद्वारा घटोत्कचके चारों घोड़ों-को मार गिराया ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने भगदत्तके हाथीपर बड़े वेगसे शक्ति-का प्रहार किया ॥ ३८ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमदण्डां सुवेगिनीम् ।
त्रिधा चिच्छेद नृपतिः सा व्यकीर्यत मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

उस शक्तिमें सोनेका डंडा लगा हुआ था । वह अत्यन्त वेगशालिनी थी । उसे सहसा आती देख राजा भगदत्तने उसके तीन टुकड़े कर डाले । फिर वह पृथ्वीपर बिखर गयी ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात् ।
यथेन्द्रस्य रणात् पूर्वं नमुचिर्दैत्यसत्तमः ॥ ४० ॥

अपनी शक्तिको कटी हुई देखकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भगदत्तके भयसे उसी प्रकार भाग गया, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रके साथ युद्ध करते समय दैत्यराज नमुचि रणभूमिसे भागा था ॥ ४० ॥

तं विजित्य रणे शूरं विक्रान्तं ख्यातपौरुषम् ।
अजेयं समरे वीरं यमेन वरुणेन च ॥ ४१ ॥
पाण्डवीं समरे सेनां सम्ममर्द स कुञ्जरः ।
यथा वनगजो राजन् मृद्नंश्चरति पद्मिनीम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! घटोत्कच अपने पौरुषके लिये विख्यात, पराक्रमी, शूरवीर था । वरुण और यमराज भी उस वीरको समरभूमिमें परास्त नहीं कर सकते थे । उसीको वहाँ रणक्षेत्र-में जीतकर भगदत्तका वह हाथी समराङ्गणमें पाण्डवसेनाका उसी प्रकार मर्दन करने लगा, जैसे वनैला हाथी सरोवरमें कमलिनीको रौंदता हुआ विचरता है ॥ ४१-४२ ॥

मद्रेश्वरस्तु समरे यमाभ्यां समसज्जत ।
स्वस्त्रीयौ छादयांचक्रे शरौघैः पाण्डुनन्दनौ ॥ ४३ ॥

दूसरी ओर मद्रराज शल्य युद्धमें अपने भानजे नकुल और सहदेवसे उलझे हुए थे । उन्होंने पाण्डुकुलको आनन्दित करनेवाले भानजोंको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं दृश्य संगतम् ।
अवारयच्छरौघेण मेघो यद्वद् दिवाकरम् ॥ ४४ ॥

सहदेवने समरभूमिमें अपने मामाको युद्धमें आसक्त देखकर जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

छाद्यमानः शरौघेण हृष्टरूपतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यभवत् प्रीतिरतुला मातृकारणात् ॥ ४५ ॥

उनके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर भी शल्य अत्यन्त प्रसन्न ही हुए । माताके नाते नकुल और सहदेवके मनमें भी उनके प्रति अनुपम प्रेमका भाव था ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य समरे नकुलस्य महारथः ।
(ध्वजं चिच्छेद बाणेन धनुश्चैकेन मारिष ।
अथैनं छिन्नधन्वानं छादयन्निव भारत ॥
निजघान रणे तं तु सूतं चास्य न्यपातयत् ॥)
अश्वांश्च चतुरो राजंश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ४६ ॥
प्रेषयामास समरे यमस्य सदनं प्रति ।
हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ॥ ४७ ॥
आरुरोह ततो यानं भ्रातुरेव यशस्विनः ।

आर्य ! तब महारथी शल्यने समरभूमिमें हँसकर एक बाणसे नकुलके ध्वजको और दूसरेसे उनके धनुषको भी काट दिया । भारत ! धनुष कट जानेपर उन्हें बाणोंसे आच्छादित-से करते हुए युद्धस्थलमें उनके सारथिको भी मार गिराया । राजन् ! फिर उन्होंने उस युद्धमें चार उत्तम सायकोंद्वारा नकुलके चारों घोड़ोंको यमराजके घर भेज दिया । घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी नकुल उस रथसे तुरंत ही कूदकर अपने यशस्वी भाई सहदेवके ही रथपर जा बैठे ॥ ४६-४७½ ॥

एकस्थौ तु रणे शूरौ दृढे विक्षिप्य कार्मुकौ ॥ ४८ ॥
मद्रराजरथं तूर्णं छादयामासतुः क्षणात् ।

तदनन्तर एक ही रथपर बैठे हुए उन दोनों शूरवीरोंने क्षणभरमें अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर रणभूमिमें मद्रराज-के रथको तुरंत ही आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स छाद्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥
स्वस्त्रीयाभ्यां नरव्याघ्रो नाकम्पत यथाचलः ।
प्रहसन्निव तां चापि शस्त्रवृष्टिं जघान ह ॥ ५० ॥

अपने भानजोंके चलाये हुए झुकी हुई गाँठवाले बहु-संख्यक बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नरश्रेष्ठ शल्य पर्वतकी भाँति अडिगभावसे खड़े रहे; कम्पित या विचलित नहीं हुए । उन्होंने हँसते हुए-से उस शस्त्रवर्षाको भी नष्ट कर दिया ४९-५० ॥

सहदेवस्ततः क्रुद्धः शरमुद्गृह्य वीर्यवान् ।
मद्रराजमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! तब पराक्रमी सहदेवने कुपित होकर एक बाण हाथमें लिया और उसे मद्रराजको लक्ष्य करके चला दिया ॥

स शरः प्रेषितस्तेन गरुडानिलवेगवान् ।
मद्रराजं विनिर्भिद्य निपपात महीतले ॥ ५२ ॥

उनके द्वारा चलाया हुआ वह बाण गरुड और वायुके समान वेगशाली था। वह मद्रराजको विदीर्ण करके पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थे महारथः ।
निषसाद महाराज कश्मलं च जगाम ह ॥ ५३ ॥

महाराज ! उसके गहरे आघातसे पीड़ित एवं व्यथित होकर महारथी शल्य रथके पिछले भागमें जा बैठे और मूर्छित हो गये ॥ ५३ ॥

तं विसंज्ञं निपतितं सूतः सम्प्रेक्ष्य संयुगे ।
अपोवाह रथेनाजौ यमाभ्यामभिपीडितम् ॥ ५४ ॥

युद्धस्थलमें नकुल और सहदेवद्वारा पीड़ित होकर उन्हें अचेत हो रथपर गिरा हुआ देख सारथि रथद्वारा रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥ ५४ ॥

दृष्ट्वा मद्रेश्वररथं धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखम् ।
सर्वे विमनसो भूत्वा नेदमस्तीत्यचिन्तयन् ॥ ५५ ॥

मद्रराजके रथको युद्धसे विमुख हुआ देख आपके सभी पुत्र मन-ही-मन दुखी हो सोचने लगे—शायद अब मद्रराजका जीवन शेष नहीं है ॥ ५५ ॥

निर्जित्य मातुलं संख्ये माद्रीपुत्रौ महारथौ ।
दध्मतुर्मुदितौ शङ्खौ सिंहनादं च नेदतुः ॥ ५६ ॥

महारथी माद्रीपुत्र युद्धमें अपने मामाको परास्त करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥५६॥

अभिदुद्रुवतुर्हृष्टौ तव सैन्यं विशाम्पते ।
यथा दैत्यचमूं राजन्निन्द्रोपेन्द्राविवामरौ ॥ ५७ ॥

प्रजानाथ ! जैसे इन्द्रदेव और उपेन्द्रदेव दैत्योंकी सेनाको मार भगाते हैं, उसी प्रकार नकुल सहदेव हर्षमें भरकर आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये, तब राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुको देखकर उसकी ओर अपने घोड़ोंको बढ़ाया ॥ १ ॥

अभ्यधावत् ततो राजा श्रुतायुषमरिंदमम् ।
विनिघ्नन् सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ॥ २ ॥

उस समय झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा शत्रुदमन श्रुतायुको घायल करते हुए राजा युधिष्ठिरने उसपर धावा किया ॥ २ ॥

स संवार्य रणे राजा प्रेषितान् धर्मसूनुना ।
शरान् सप्त महेष्वासः कौन्तेयाय समार्पयत् ॥ ३ ॥

तब महाधनुर्धर राजा श्रुतायुने युद्धमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चलाये हुए बाणोंका निवारण करके उन कुन्तीकुमारको सात बाण मारे ॥ ३ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
असूनिव विचिन्वन्तो देहे तस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

संग्राममें वे बाण महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें उनके प्राणोंको ढूँढ़ते हुए-से कवच छेदकर घुस गये और उनका रक्त पीने लगे ॥ ४ ॥

पाण्डवस्तु भृशं क्रुद्धो विद्धस्तेन महात्मना ।
रणे वराहकर्णेन राजानं हृद्यविध्यत ॥ ५ ॥

महामना श्रुतायुके बाणोंसे घायल होनेपर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने रणक्षेत्रमें वराहकर्ण नामक एक बाण चलाकर राजा श्रुतायुकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

अथापरेण भल्लेन केतुं तस्य महात्मनः ।
रथश्रेष्ठो रथात् तूर्णं भूमौ पार्थो न्यपातयत् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भल्ल नामक दूसरे बाणसे महामना श्रुतायुके ध्वजको काटकर तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६ ॥

केतुं विपतितं दृष्ट्वा श्रुतायुः स तु पार्थिवः ।
पाण्डवं विशिखैस्तीक्ष्णै राजन् विव्याध सप्तभिः ॥ ७ ॥

राजन् ! ध्वजको गिरा हुआ देख राजा श्रुतायुने अपने सात तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततः क्रोधात् प्रजज्वाल धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथा युगान्ते भूतानि दिधक्षुरिव पावकः ॥ ८ ॥

यह देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंको जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ८ ॥

क्रुद्धं तु पाण्डवं दृष्ट्वा देवगन्धर्वराक्षसाः ।
प्रविव्यथुर्महाराज व्याकुलं चाप्यभूज्जगत् ॥ ९ ॥

महाराज ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कुपित देख देवता, गन्धर्व और राक्षस व्यथित हो उठे तथा सारा जगत् भी भयसे व्याकुल हो गया ॥ ९ ॥

सर्वेषां चैव भूतानामिदमासीन्मनोगतम् ।
त्रीँल्लोकानद्य संक्रुद्धो नृपोऽयं धक्ष्यतीति वै ॥ १० ॥

उस समय समस्त प्राणियोंके मनमें यह विचार उठा कि आज निश्चय ही ये राजा युधिष्ठिर कुपित होकर तीनों लोकोंको भस्म कर डालेंगे ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च चक्रुः स्वस्त्ययनं महत् ।
लोकानां नृप शान्त्यर्थं क्रोधिते पाण्डवे तदा ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके कुपित होनेपर उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी शान्तिके लिये देवता तथा ऋषिलोग श्रेष्ठ स्वस्तिवाचन करने लगे ॥ ११ ॥

स च क्रोधसमाविष्टः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
दधारात्मवपुर्घोरं युगान्तादित्यसंनिभम् ॥ १२ ॥

उन्होंने क्रोधसे व्याप्त हो मुखके दोनों कोनोंको चाटते हुए अपने शरीरको प्रलयकालके सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर बना लिया ॥ १२ ॥

ततः सैन्यानि सर्वाणि तावकानि विशाम्पते ।
निराशान्यभवंस्तत्र जीवितं प्रति भारत ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! उस समय आपकी सारी सेनाएँ वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गयीं ॥ १३ ॥

स तु धैर्येण तं कोपं संनिवार्य महायशाः ।
श्रुतायुषः प्रचिच्छेद मुष्टिदेशे महाधनुः ॥ १४ ॥

परंतु महायशस्वी युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक अपने क्रोधको दबा दिया और श्रुतायुके विशाल धनुषको, जहाँ उसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, उसी जगहसे काट दिया ॥ १४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचेन स्तनान्तरे ।
निर्बिभेद रणे राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ १५ ॥
सत्वरं च रणे राजंस्तस्य वाहान् महात्मनः ।
निजघान शरैः क्षिप्रं सूतं च सुमहाबलः ॥ १६ ॥

राजन् ! धनुष कट जानेपर महाबली राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुकी छातीमें नाराचसे प्रहार किया । फिर उन्होंने समस्त सेनाओंके देखते-देखते रणक्षेत्रमें महामना श्रुतायुके घोड़ोंको तुरंत मार डाला और उसके सारथिको भी शीघ्र ही मौतके मुखमें डाल दिया ॥ १५-१६ ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दृष्ट्वा राज्ञोऽस्य पौरुषम्।
विप्रदुद्राव वेगेन श्रुतायुः समरे तदा ॥ १७ ॥

रथके घोड़े मारे गये, यह देखकर तथा युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पुरुषार्थका भी अवलोकन करके श्रुतायु उस समय बड़े वेगसे रथ छोड़कर भाग गया ॥ १७ ॥

तस्मिञ्जिते महेष्वासे धर्मपुत्रेण संयुगे ।
दुर्योधनबलं राजन् सर्वमासीत् पराङ्मुखम् ॥ १८ ॥

राजन् ! संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिरद्वारा महाधनुर्धर श्रुतायुके पराजित होनेपर दुर्योधनकी सारी सेना पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ १८ ॥

एतत् कृत्वा महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यात्ताननो यथा कालस्तव सैन्यं जघान ह ॥ १९ ॥

महाराज ! ऐसा पराक्रम करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुँह फैलाये कालके समान आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥

चेकितानस्तु वार्ष्णेयो गौतमं रथिनां वरम् ।
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां छादयामास सायकैः ॥ २० ॥

उधर वृष्णिवंशी चेकितानने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको सब सेनाओंके देखते देखते अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

संनिवार्य शरांस्तांस्तु कृपः शारद्वतो युधि ।
चेकितानं रणे यत्तं राजन् विव्याध पत्रिभिः ॥ २१ ॥

राजन् ! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने युद्धमें उन सब

बाणोंको काटकर सावधानीके साथ युद्ध करनेवाले चेकितान-को पंखवाले बाणोंसे बींध डाला ॥ २१ ॥

अथापरेण भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष।
सारथिं चास्य समरे क्षिप्रहस्तो न्यपातयत् ॥ २२ ॥

आर्य ! फिर दूसरे भल्लसे उसका धनुष काट दिया और अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरमें उसके सारथि-को भी मार गिराया ॥ २२ ॥

अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
सोऽवप्लुत्य रथात् तूर्णं गदां जग्राह सात्वतः॥ २३॥

राजन् ! तदनन्तर चेकितानके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी कृपाचार्यने मार डाला। तब सात्वतवंशी चेकितानने रथसे कूदकर तुरंत ही गदा हाथमें ले ली।२३।

स तया वीरघातिन्या गदया गदिनां वरः।
गौतमस्य हयान् हत्वा सारथिं च न्यपातयत् ॥ २४ ॥

गदाधारियोंमें श्रेष्ठ चेकितानने उस वीरघातिनी गदासे कृपाचार्यके घोड़ोंको मारकर उनके सारथिको भी धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

भूमिष्ठो गौतमस्तस्य शरांश्चिक्षेप षोडश।
शरास्ते सात्वतं भित्त्वा प्राविशन् धरणीतलम्॥ २५ ॥

तब कृपाचार्यने भूमिपर ही खड़े होकर चेकितानको सोलह बाण मारे। वे बाण चेकितानको छेदकर धरतीमें समा गये ॥ २५ ॥

चेकितानस्ततः क्रुद्धः पुनश्चिक्षेप तां गदाम्।
गौतमस्य वधाकाङ्क्षी वृत्रस्येव पुरंदरः ॥ २६ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए चेकितानने कृपाचार्यके वधकी इच्छासे उनपर पुनः वैसे ही गदाका प्रहार किया, जैसे इन्द्र वृत्रासुरपर प्रहार करते हैं ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं विमलामश्मगर्भां महागदाम्।
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास गौतमः ॥ २७ ॥

उस निर्मल एवं लोहेकी बनी हुई विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख कृपाचार्यने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा दूर गिरा दिया ॥ २७ ॥

चेकितानस्ततः खड्गं क्रोधादुद्धृत्य भारत।
लाघवं परमास्थाय गौतमं समुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

भारत ! तब चेकितानने क्रोधपूर्वक तलवार खींच ली और बड़ी फुर्तीके साथ कृपाचार्यपर धावा किया ॥ २८ ॥

गौतमोऽपि धनुस्त्यक्त्वा प्रगृह्यासिं सुसंयतः।
वेगेन महता राजंश्चेकितानमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

राजन् ! यह देख कृपाचार्यने भी धनुष फेंककर तलवार हाथमें ले ली और पूरी सावधानीके साथ वे बड़े वेगसे चेकितानकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

तावुभौ बलसम्पन्नौ निस्त्रिंशवरधारिणौ।
निस्त्रिंशाभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यामन्योन्यं संततक्षतुः॥ ३०॥

वे दोनों ही बलवान् थे। दोनोंने ही उत्तम खड्ग धारण कर रखे थे। अतः अपनी उन अत्यन्त तीखी तलवारोंसे वे एक दूसरेको काटने लगे ॥ ३० ॥

निस्त्रिंशवेगाभिहतौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ।
धरणीं समनुप्राप्तौ सर्वभूतनिषेविताम् ॥ ३१ ॥

तलवारकी गहरी चोटसे घायल होकर वे दोनों पुरुष-श्रेष्ठ सम्पूर्ण भूतोंकी निवासभूत पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३१ ॥

मूर्छयाभिपरीताङ्गौ व्यायामेन तु मोहितौ।
ततोऽभ्यधावद् वेगेन करकर्षः सुहृत्तया ॥ ३२ ॥
चेकितानं तथाभूतं दृष्ट्वा समरदुर्मदः।
रथमारोपयच्चैनं सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३३ ॥

उनके सारे अङ्गोंमें मूर्छा व्याप्त हो रही थी। दोनों ही अधिक परिश्रमके कारण अचेत हो गये थे। उस समय युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला करकर्ष चेकितानको वैसी अवस्था-में पड़ा देख सौहार्दके नाते बड़े वेगसे दौड़ा और सम्पूर्ण सेनाके देखते-देखते उसने उन्हें अपने रथपर चढ़ा लिया ॥

तथैव शकुनिः शूरः स्यालस्तव विशाम्पते।
आरोपयद् रथं तूर्णं गौतमं रथिनां वरम् ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार आपके साले शूरवीर शकुनिने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको शीघ्र ही अपने रथपर बैठा लिया॥

सौमदत्तिं तथा क्रुद्धो धृष्टकेतुर्महाबलः।
नवत्या सायकैः क्षिप्रं राजन् विव्याध वक्षसि॥ ३५॥

राजन् ! दूसरी ओर महाबली धृष्टकेतुने क्रोधमें भरकर नब्बे बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक भूरिश्रवाकी छातीमें चोट पहुँचायी॥

सौमदत्तिरुरःस्थैस्तैर्भृशं बाणैरशोभत।
मध्यंदिने महाराज रश्मिभिस्तपनो यथा ॥ ३६ ॥

महाराज ! छातीमें धँसे हुए उन बाणोंसे भूरिश्रवा उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे दोपहरके समय सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अधिक प्रकाशित होता है ॥ ३६ ॥

भूरिश्रवास्तु समरे धृष्टकेतुं महारथम्।
हतसूतहयं चक्रे विरथं सायकोत्तमैः ॥ ३७ ॥

तब भूरिश्रवाने समरभूमिमें उत्तम सायकोंद्वारा महारथी धृष्टकेतुके घोड़ों और सारथिको मारकर उन्हें रथहीन कर दिया ॥ ३७ ॥

विरथं तं समालोक्य हताश्वं हतसारथिम्।
महता शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ॥ ३८ ॥

भूरिश्रवाने धृष्टकेतुको घोड़े और सारथिके मारे जानेसे रथहीन हुआ देख युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके ढक दिया ॥ ३८ ॥

स तु तं रथमुत्सृज्य धृष्टकेतुर्महामनाः ।
आरुरोह ततो यानं शतानीकस्य मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! तत्पश्चात् महामना धृष्टकेतु उस रथको छोड़-कर शतानीककी सवारीपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा ।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—इन तीन रथियोंने सोनेके कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्युपर धावा किया ॥ ४० ॥

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तब उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी तरह, जैसे शरीरका वात, पित्त और कफ—इन तीनों धातुओंके साथ युद्ध होता रहता है ॥

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे ।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ॥ ४२ ॥

राजन् ! उस महासमरमें आपके पुत्रोंको रथहीन करके पुरुषसिंह अभिमन्युने उस समय भीमसेनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करके उनका वध नहीं किया ॥ ४२ ॥

ततो राज्ञां बहुशतैर्गजाश्वरथयायिभिः ।
संवृतं समरे भीष्मं देवैरपि दुरासदम् ॥ ४३ ॥
प्रयान्तं शीघ्रमुद्वीक्ष्य परित्रातुं सुतांस्तव ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य बालमेकं महारथम् ॥ ४४ ॥
वासुदेवमुवाचेदं कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।

तदनन्तर हाथी, घोड़े और रथपर यात्रा करनेवाले करोड़ों राजाओंसे घिरे हुए भीष्म, जो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय थे, आपके पुत्रोंको बचानेके लिये एकमात्र बालक महारथी अभिमन्युको लक्ष्य करके तीव्र वेगसे आगे बढ़े। उनको उस ओर जाते देख श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्रैते बहुला रथाः ॥ ४५ ॥
एते हि बहवः शूराः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
यथा हन्युर्न नः सेनां तथा माधव चोदय ॥ ४६ ॥

'हृषीकेश ! जहाँ ये बहुत-से रथ जा रहे हैं, उधर ही अपने घोड़ोंको हाँकिये। माधव ! ये अस्त्र-विद्याके विद्वान् तथा रण-दुर्मद बहुसंख्यक शूरवीर जिस प्रकार हमारी सेनाका विनाश न कर सकें, उसी तरह इस रथको वहाँ ले चलिये' ॥ ४५-४६ ॥

एवमुक्तः स वार्ष्णेयः कौन्तेयेनामितौजसा ।
रथं श्वेतहयैर्युक्तं प्रेषयामास संयुगे ॥ ४७ ॥

अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके इस प्रकार कहने-पर वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको आगे बढ़ाया ॥ ४७ ॥

निष्टानको महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।
यदर्जुनो रणे क्रुद्धः संयातस्तावकान् प्रति ॥ ४८ ॥

आर्य ! रणभूमिमें क्रुद्ध हुए अर्जुन आपके सैनिकोंकी ओर जाने लगे, उस समय आपकी सेनामें बड़े जोरसे हाहाकार होने लगा ॥ ४८ ॥

समासाद्य तु कौन्तेयो राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः।
सुशर्माणमथो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुनने भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन राजाओंके पास जाकर सुशर्मासे इस प्रकार कहा—॥

जानामि त्वां युधां श्रेष्ठमत्यन्तं पूर्ववैरिणम् ।
अनयस्याद्य सम्प्राप्तं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ५० ॥
अद्य ते दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।

'वीर ! मैं जानता हूँ, तुम पाण्डवोंके पूर्ववैरी और योद्धाओंमें अत्यन्त उत्तम हो। तुमलोगोंने जो अन्याय किया है, उसका यह अत्यन्त भयंकर फल आज प्राप्त हुआ है, इसे देखो। आज मैं तुम्हें तुम्हारे पहलेके मरे हुए पितामहोंका दर्शन कराऊँगा' ॥ ५०½ ॥

एवं संजल्पतस्तस्य बीभत्सोः शत्रुघातिनः ॥ ५१ ॥
श्रुत्वापि परुषं वाक्यं सुशर्मा रथयूथपः ।
न चैनमब्रवीत् किंचिच्छुभं वा यदि वाशुभम्॥ ५२ ॥

ऐसा कहते हुए शत्रुघाती अर्जुनके परुष वचनको सुनकर भी रथयूथपति सुशर्मा उनसे भला या बुरा कुछ भी न बोला ॥ ५१-५२ ॥

अभिगम्यार्जुनं वीरं राजभिर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्तात् पृष्ठतश्चैव पार्श्वतश्चैव सर्वतः ॥ ५३ ॥
परिवार्यार्जुनं संख्ये तव पुत्रैर्महारथः ।
शरैः संछादयामास मेघैरिव दिवाकरम् ॥ ५४ ॥

अनेक राजाओंसे घिरे हुए उस महारथीने आपके पुत्रोंको साथ ले युद्धमें वीर अर्जुनके सामने जाकर उन्हें आगे, पीछे और पार्श्व भाग—सब ओरसे घेर लिया और जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ५३-५४ ॥

ततः प्रवृत्तः सुमहान् संग्रामः शोणितोदकः ।
तावकानां च समरे पाण्डवानां च भारत ॥ ५५ ॥

भारत! तत्पश्चात् रणक्षेत्रमें आपके पुत्रों और पाण्डवोंमें खूनको पानीकी तरह बहानेवाला महान् संग्राम छिड़ गया ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे सुशर्मार्जुनसमागमे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धमें सुशर्मा और अर्जुनकी भिड़ंतसे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ

संजय उवाच

स ताड्यमानस्तु शरैर्धनंजयः
पदा हतो नाग इव श्वसन् बली ।
बाणेन बाणेन महारथानां
चिच्छेद चापानि रणे प्रसह्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शत्रुओंके बाणोंसे आहत होकर बलवान् अर्जुन पैरसे कुचले हुए सर्पकी भाँति क्रोधसे लंबी साँस खींचने लगे। उन्होंने बलपूर्वक पृथक्-पृथक् बाण मारकर युद्धमें सभी महारथियोंके धनुष काट डाले ॥

संछिद्य चापानि च तानि राज्ञां
तेषां रणे वीर्यवतां क्षणेन ।
विव्याध बाणैर्युगपन्महात्मा
निःशेषतां तेष्वथ मन्यमानः ॥ २ ॥

रणक्षेत्रमें उन पराक्रमी नरेशोंके धनुषोंको क्षणभरमें काटकर महामना अर्जुनने उनका पूर्णतः संहार कर देनेकी इच्छासे एक ही साथ सबको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २ ॥

निपेतुराजौ रुधिरप्रदिग्धा-
स्ते ताडिताः शक्रसुतेन राजन् ।
विभिन्नगात्राः पतितोत्तमाङ्गा
गतासवश्छिन्नतनुत्रकायाः ॥ ३ ॥

राजन्! इन्द्रपुत्र अर्जुनके द्वारा ताड़ित होकर वे सभी नरेश खूनसे लथपथ हो युद्धभूमिमें गिर पड़े। उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, मस्तक कटकर दूर जा गिरे थे, कवच और शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और इस अवस्थामें पहुँचकर उन्हें अपने प्राण खो देने पड़े थे ॥ ३ ॥

महीं गताः पार्थबलाभिभूता
विचित्ररूपा युगपद् विनेशुः ।
दृष्ट्वा हतांस्तान् युधि राजपुत्रां-
स्त्रिगर्तराजः प्रययौ रथेन ॥ ४ ॥

पार्थके बलसे अभिभूत होकर वे विचित्ररूपधारी राजकुमार एक साथ ही पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये। उन राजपुत्रोंको युद्धमें मारा गया देख त्रिगर्तराज सुशर्माने रथके द्वारा अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

तेषां रथानामथ पृष्ठगोपा
द्वात्रिंशदन्येऽभ्यपतन्त पार्थम् ।
तथैव ते तं परिवार्य पार्थं
विकृष्य चापानि महारवाणि ॥ ५ ॥
अवीवृषन् बाणमहौघवृष्ट्या
यथा गिरिं तोयधरा जलौघैः ।
सम्पीड्यमानस्तु शरौघवृष्ट्या
धनंजयस्तान् युधि जातरोषः ॥ ६ ॥

उन राजपुत्रोंके रथोंके जो दूसरे दूसरे बत्तीस पृष्ठरक्षक थे, वे भी (सुशर्माके साथ ही) अर्जुनपर टूट पड़े। इसी प्रकार उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर महान् टंकार-ध्वनि करनेवाले अपने धनुष खींचे और जैसे मेघ पर्वतपर जलराशिकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार अर्जुनपर बाणसमूहों-की वृष्टि करने लगे। उनके बाणसमूहोंकी वर्षासे पीड़ित होकर युद्धस्थलमें अर्जुनके हृदयमें बड़ा भारी रोष हुआ ॥

षष्ट्या शरैः संयति तैलधौतै-
र्जघान तानप्यथ पृष्ठगोपान् ।
रथांश्च तांस्तानवजित्य संख्ये
धनंजयः प्रीतमना यशस्वी ॥ ७ ॥
अथात्वरद् भीष्मवधाय जिष्णु-
र्बलानि राजन् समरे निहत्य ।

उन्होंने रणक्षेत्रमें तेलके धोये हुए साठ बाण मारकर उन पृष्ठरक्षकोंका भी संहार कर दिया। इस प्रकार युद्ध-भूमिमें उन सभी रथियोंको जीतकर और कौरव-सेनाओंका समरमें संहार करके प्रसन्नचित्त हुए यशस्वी विजयी अर्जुनने भीष्मके वधके लिये शीघ्रता की ॥ ७½ ॥

त्रिगर्तराजो निहतान् समीक्ष्य
महात्मना तानथ बन्धुवर्गान् ॥ ८ ॥

रणे पुरस्कृत्य नराधिपांस्तान्
जगाम पार्थं त्वरितो वधाय ।

महामना अर्जुनके द्वारा अपने बन्धुसमूहोंको मारा गया देख त्रिगर्तराज सुप्रसिद्ध नरपतियोंको युद्धके लिये आगे करके तुरंत ही अर्जुनका वध करनेके लिये उनके सामने आया॥

अभिद्रुतं चास्त्रभृतां वरिष्ठं
धनंजयं वीक्ष्य शिखण्डिमुख्याः॥ ९ ॥
अभ्युद्ययुस्ते शितशस्त्रहस्ता
रिरक्षिषन्तो रथमर्जुनस्य ।

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनपर आक्रमण होता देख शिखण्डी आदि महारथी उनके रथकी रक्षा करनेके लिये तीखे अस्त्र-शस्त्र हाथमें लिये आगे बढ़े ॥ ९½ ॥

पार्थोऽपि तानापततः समीक्ष्य
त्रिगर्तराज्ञा सहितान् नृवीरान् ॥ १० ॥
विध्वंसयित्वा समरे धनुष्मान्
गाण्डीवमुक्तैर्निशितैः पृषत्कैः ।
भीष्मं यियासुर्युधि संददर्श
दुर्योधनं सैन्धवादींश्च राज्ञः ॥ ११ ॥

इधर धनुर्धर अर्जुन भी त्रिगर्तराजके साथ उन नरवीरोंको आते देख संग्रामभूमिमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े हुए तीखे बाणोंद्वारा उन्हें नष्ट करके भीष्मजीके पास जाना चाहते थे, इतनेहीमें उन्होंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ आदिको देखा ॥ १०-११ ॥

संवारयिष्णूनभिवारयित्वा
मुहूर्तमायोध्य बलेन वीरः ।
उत्सृज्य राजानमनन्तवीर्यो
जयद्रथादींश्च नृपान् महौजाः ॥ १२ ॥
ययौ ततो भीमबलो मनस्वी
गाङ्गेयमाजौ शरचापपाणिः ।

दुर्योधन और जयद्रथ आदि योद्धा अर्जुनको रोकनेके प्रयत्नमें लगे थे; अतः उस समय अनन्त पराक्रमी एवं महातेजस्वी वीर अर्जुनने दो घड़ीतक बलपूर्वक युद्ध करके उन सबको रोक दिया । तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और जयद्रथ आदि नरेशोंको वहीं छोड़कर भयंकर बलसे सम्पन्न एवं मनस्वी अर्जुन हाथमें धनुष-बाण ले युद्धस्थलमें गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर चल दिये ॥ १२½ ॥

(भीष्मोऽपि दृष्ट्वा समरे कृतास्त्रान्
स पाण्डवानां रथिनो ह्युदारान् ।
विहाय संग्राममुखे धनंजयं
जवेन पार्थं पुनराजगाम ॥)

भीष्म भी अस्त्र-विद्याके विद्वान् एवं उदार पाण्डव-रथियोंको युद्धस्थलमें अपने सामने देखते हुए भी उन सबको वहीं छोड़कर बड़े वेगसे पुनः अर्जुनके पास आये ॥

युधिष्ठिरश्च प्रबलो महात्मा
समाययौ त्वरितो जातकोपः ॥ १३ ॥
मद्राधिपं समभित्यज्य संख्ये
स्वभागमाप्तं तमनन्तकीर्तिः ।
सार्धं स माद्रीसुतभीमसेनै-
र्भीष्मं ययौ शान्तनवं रणाय ॥ १४ ॥

उस समय उत्कृष्ट बलशाली अनन्तकीर्ति महात्मा युधिष्ठिर भी युद्धमें अपने भागके रूपमें प्राप्त हुए मद्रराज शल्यको छोड़कर नकुल, सहदेव और भीमसेनके साथ क्रोधपूर्वक तुरंत वहाँसे चल दिये और युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा पहुँचे ॥ १३-१४ ॥

तैः सम्प्रयुक्तैः स महारथाग्र्यै-
र्गङ्गासुतः समरे चित्रयोधी ।
न विव्यथे शान्तनवो महात्मा
समागतैः पाण्डुसुतैः समस्तैः ॥ १५ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ समस्त पाण्डव संगठित होकर वहाँ आ पहुँचे थे तो भी उनसे समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले गङ्गापुत्र शान्तनुनन्दन महात्मा भीष्मको व्यथा नहीं हुई ॥

अथैत्य राजा युधि सत्यसंधो
जयद्रथोऽत्युग्रबलो मनस्वी ।
चिच्छेद चापानि महारथानां
प्रसह्य तेषां धनुषा वरेण ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ अत्यन्त भयंकर शक्तिशाली और मनस्वी राजा जयद्रथने रणमें सामने आकर अपने उत्तम धनुष-द्वारा बलपूर्वक उन महारथियोंके धनुष काट डाले ॥१६॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं यमौ च
पार्थं कृष्णं युधि संजातकोपः ।
दुर्योधनः क्रोधविषो महात्मा
जघान बाणैरनलप्रकाशैः ॥ १७ ॥

क्रोधरूपी विष उगलनेवाले महामनस्वी दुर्योधनने युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर युद्धमें कुपित हो अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ॥

कृपेण शल्येन शलेन चैव
तथा विभो चित्रसेनेन चाजौ ।
विद्धाः शरैस्तेऽतिविवृद्धकोपै-
र्देवा यथा दैत्यगणैः समेतैः ॥ १८ ॥

प्रभो ! जैसे क्रोधमें भरे हुए दैत्यगण एकत्र हो देवताओं-पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य, शल्य, शल तथा

चित्रसेनने युद्धस्थलमें अत्यन्त क्रोधमें भरकर समस्त पाण्डवोंको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १८ ॥

छिन्नायुधं शान्तनवेन राजा
शिखण्डिनं प्रेक्ष्य च जातकोपः ।
अजातशत्रुः समरे महात्मा
शिखण्डिनं क्रुद्ध उवाच वाक्यम् ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने जब शिखण्डीका धनुष काट दिया,* तब समराङ्गणमें अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिर शिखण्डीकी ओर देखकर कुपित हो उठे और उससे क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

उक्त्वा तथा त्वं पितुरग्रतो मा-
महं हनिष्यामि महाव्रतं तम् ।
भीष्मं शरौघैर्विमलार्कवर्णैः
सत्यं वदामीति कृता प्रतिज्ञा ॥ २० ॥
त्वया च नैनां सफलां करोषि
देवव्रतं यन्न निहंसि युद्धे ।
मिथ्याप्रतिज्ञो भव मात्र वीर
रक्ष स्वधर्मं स्वकुलं यशश्च ॥ २१ ॥

'वीर ! तुमने अपने पिताके सामने प्रतिज्ञापूर्वक मुझसे यह कहा था कि 'मैं महान् व्रतधारी भीष्मको निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी बाणसमूहोंद्वारा अवश्य मार डालूँगा, यह बात मैं सत्य कहता हूँ ।' ऐसी प्रतिज्ञा तुमने की थी; परंतु तुम इस प्रतिज्ञाको सफल नहीं करते हो । कारण कि युद्धमें देवव्रत भीष्मका वध नहीं कर रहे हो । झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला न बनो । अपने धर्म, कुल और यशकी रक्षा करो ॥

प्रेक्षस्व भीष्मं युधि भीमवेगं
सर्वांस्तपन्तं मम सैन्यसंघान् ।
शरौघजालैरतितिग्मवेगैः
कालं यथा कालकृतं क्षणेन ॥ २२ ॥

'देखो ! जैसे यमराज समयानुसार उपस्थित होकर क्षणभरमें देहधारीका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार ये युद्धमें भयंकर वेगशाली भीष्म अत्यन्त प्रचण्ड वेगवाले बाणसमूहोंके द्वारा मेरी समस्त सेनाओंको कितना संताप दे रहे हैं ॥ २२ ॥

निकृत्तचापः समरेऽनपेक्षः
पराजितः शान्तनवेन चाजौ ।
विहाय बन्धूनथ सोदरांश्च
क्व यास्यसे नानुरूपं तवेदम् ॥ २३ ॥

'युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया; फिर भी तुम उनकी ओरसे निरपेक्ष हो रहे हो । अपने सगे भाइयोंको छोड़कर कहाँ जाओगे ? यह कायदा तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा हि भीष्मं तमनन्तवीर्यं
भग्नं च सैन्यं द्रवमाणमेवम् ।
भीतोऽसि नूनं द्रुपदस्य पुत्र
तथा हि ते मुखवर्णोऽप्रहृष्टः ॥ २४ ॥

'द्रुपदकुमार ! अनन्त पराक्रमी भीष्मको तथा उनके डरसे इस प्रकार हतोत्साह होकर भागती हुई मेरी इस सेनाको देखकर निश्चय ही तुम डर गये हो; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्ति कुछ ऐसी ही अप्रसन्न दिखायी देती है ॥ २४ ॥

अज्ञायमाने च धनंजयेऽपि
महाहवे सम्प्रसक्ते नृवीरे ।
कथं हि भीष्मात् प्रथितः पृथिव्यां
भयं त्वमद्य प्रकरोषि वीर ॥ २५ ॥

'वीर ! नरवीर अर्जुन कहीं महायुद्धमें फँसे हुए हैं । उनका इस समय पता नहीं है । ऐसे समयमें तुम आज भूमण्डलके विख्यात वीर होकर भीष्मसे भय कैसे कर रहे हो ?' ॥ २५ ॥

स धर्मराजस्य वचो निशम्य
रूक्षाक्षरं विप्रलापानुबद्धम् ।
प्रत्यादेशं मन्यमानो महात्मा
प्रतत्वरे भीष्मवधाय राजन् ॥ २६ ॥

राजन् ! धर्मराजके इस वचनमें प्रत्येक अक्षर रूखेपनसे भरा हुआ था । उसके द्वारा उन्होंने कितनी ही मनके विपरीत बातें कही थीं, तथापि उस वचनको सुनकर महामना शिखण्डीने इसे अपने लिये आदेश माना और तुरंत ही भीष्मका वध करनेके लिये सचेष्ट हो गया ॥ २६ ॥

तमापतन्तं महता जवेन
शिखण्डिनं भीष्ममभिद्रवन्तम् ।
निवारयामास हि शल्य एन-
मस्त्रेण घोरेण सुदुर्जयेन ॥ २७ ॥

शिखण्डीको बड़े वेगसे आते और भीष्मपर धावा करते देख शल्यने अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर अस्त्रसे उसे रोक दिया ॥

स चापि दृष्ट्वा समुदीर्यमाण-
मस्त्रं युगान्ताग्निसमप्रकाशम् ।
न सम्मुमोह द्रुपदस्य पुत्रो
राजन् महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ॥ २८ ॥

राजन् ! प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस अस्त्रको प्रकट हुआ देखकर देवराज इन्द्रके समान प्रभाव-

* भीष्मपितामहने शिखण्डीको अपने ऊपर प्रहार करनेके लिये आया देखकर ही उसके धनुषको काट दिया था, उसके शरीरपर कोई प्रहार नहीं किया । अतः कोई दोष नहीं है ।

शाली द्रुपदकुमार शिखण्डी घबराया नहीं ॥ २८ ॥

तस्थौ च तत्रैव महाधनुष्मा-
ञ्शरैस्तदस्त्रं प्रतिबाधमानः।
अथाददे वारुणमन्यदस्त्रं
शिखण्ड्यथोग्रं प्रतिघातमस्य ॥ २९ ॥

वह महाधनुर्धर वीर अपने बाणोंद्वारा शल्यके अस्त्रका निवारण करता हुआ वहीं डटा रहा। फिर शिखण्डीने शल्यके अस्त्रका प्रतिघात करनेवाले अन्य भयंकर वारुणास्त्रको हाथमें लिया ॥ २९ ॥

तदस्त्रमस्त्रेण विदार्यमाणं
खस्थाः सुरा ददृशुः पार्थिवाश्च।
भीष्मस्तु राजन् समरे महात्मा
धनुश्च चित्रं ध्वजमेव चापि ॥ ३० ॥
छित्त्वानदत् पाण्डुसुतस्य वीरो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।

आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा रणक्षेत्रमें आये हुए राजाओंने देखा, शिखण्डीके दिव्यास्त्रसे शल्यका अस्त्र विदीर्ण हो रहा है। राजन्! महात्मा एवं वीर भीष्म युद्धस्थलमें अजमीढ़कुलनन्दन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके विचित्र धनुष और ध्वजको काटकर गर्जना करने लगे ॥ ३०½ ॥

ततः समुत्सृज्य धनुः सबाणं
युधिष्ठिरं वीक्ष्य भयाभिभूतम् ॥ ३१ ॥
गदां प्रगृह्याभिपपात संख्ये
जयद्रथं भीमसेनः पदातिः।

तब धनुष-बाण फेंककर भयसे दबे हुए युधिष्ठिरको देखकर भीमसेन गदा लेकर युद्धमें पैदल ही राजा जयद्रथपर टूट पड़े ॥ ३१½ ॥

तमापतन्तं सहसा जवेन
जयद्रथः सगदं भीमसेनम् ॥ ३२ ॥
विव्याध घोरैर्यमदण्डकल्पैः
शितैः शरैः पञ्चशतैः समन्तात्।

इस प्रकार सहसा हाथमें गदा लिये भीमसेनको वेगपूर्वक आते देख जयद्रथने यमदण्डके समान भयंकर पाँच सौ तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

अचिन्तयित्वा स शरांस्तरस्वी
वृकोदरः क्रोधपरीतचेताः ॥ ३३ ॥
जघान वाहान् समरे समन्तात्
पारावतान् सिन्धुराजस्य संख्ये।

वेगशाली भीमसेन उसके बाणोंकी कोई परवा न करते हुए मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे। तत्पश्चात् उन्होंने समरभूमिमें सिन्धुराजके कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला ॥ ३३½ ॥

ततोऽभिवीक्ष्याप्रतिमप्रभाव-
स्तवात्मजस्त्वरमाणो रथेन ॥ ३४ ॥
अभ्याययौ भीमसेनं निहन्तुं
समुद्यतास्त्रः सुरराजकल्पः।

यह देखकर आपका अनुपम प्रभावशाली पुत्र देवराजसदृश दुर्योधन भीमसेनको मारनेके लिये हथियार उठाये बड़ी उतावलीके साथ रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ॥ ३४½ ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया तर्जयानः ॥ ३५ ॥

तब भीमसेन भी सहसा सिंहनाद करके गदाद्वारा गर्जन-तर्जन करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़े ॥ ३५ ॥

(जयद्रथो भग्नवाहो रथं तं
त्यक्त्वा ययौ यत्र राजा कुरूणाम्।
स सौबलः सानुगः सानुजश्च
दृष्ट्वा भीमं मूढचेता भयार्तः ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर जयद्रथ उस रथको छोड़कर जहाँ शकुनि, सेवकवृन्द तथा छोटे भाइयोंसहित कुरुराज दुर्योधन था, वहीं चला गया। भीमसेनको देखकर जयद्रथका मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। वह भयसे पीड़ित हो रहा था॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया हन्तुकामः।
स सौबलं तव पुत्रं निरीक्ष्य
दुर्योधनं सानुजं रोषयुक्तः ॥)

भीमसेन भी शकुनि और भाइयोंसहित आपके पुत्र दुर्योधनको देखकर रोषमें भर गये और सहसा गर्जना करके गदाद्वारा जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े ॥

समुद्यतां तां यमदण्डकल्पां
दृष्ट्वा गदां ते कुरवः समन्तात्।
विहाय सर्वे तव पुत्रमुग्रं
पातं गदायाः परिहर्तुकामाः ॥ ३६ ॥
अपक्रान्तास्तुमुले सम्प्रमर्दे
सुदारुणे भारत मोहनीये।
अमूढचेतास्त्वथ चित्रसेनो
महागदामापतन्तीं निरीक्ष्य ॥ ३७ ॥

यमदण्डके समान भयंकर उस गदाको उठी हुई देख समस्त कौरव आपके पुत्रको वहीं छोड़कर गदाके उग्र आघातसे बचनेके लिये चारों ओर भाग गये। भारत! मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त दारुण एवं भयंकर जनसंहारमें उस महागदाको आती देख केवल चित्रसेनका चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ था ॥ ३६-३७ ॥

रथं समुत्सृज्य पदातिराजौ
प्रगृह्य खड्गं विपुलं च चर्म।

अवप्लुतः सिंह इवाचलाग्रा-
ज्जगामान्यं भूमिप भूमिदेशम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! वह अपने रथको छोड़कर हाथमें बहुत बड़ी ढाल और तलवार ले पर्वतके शिखरसे सिंहकी भाँति कूद पड़ा और पैदल ही विचरता हुआ युद्धस्थलके दूसरे प्रदेशमें चला गया ॥ ३८ ॥

गदापि सा प्राप्य रथं सुचित्रं
साश्वं ससूतं विनिहत्य संख्ये।
जगाम भूमिं ज्वलिता महोल्का
भ्रष्टाम्बराद् गामिव सम्पतन्ती ॥ ३९ ॥

वह गदा भी चित्रसेनके विचित्र रथपर पहुँचकर उसे घोड़े और सारथिसहित चूर-चूर करके आकाशसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाली जलती हुई विशाल उल्काके समान रणभूमिमें जा गिरी ॥ ३९ ॥

आश्चर्यभूतं सुमहत् त्वदीया
दृष्ट्वैव तद् भारत सम्प्रहृष्टाः।
सर्वे विनेदुः सहिताः समन्तात्
पुपूजिरे तव पुत्रस्य शौर्यम् ॥ ४० ॥

भारत ! इस समय आपके समस्त सैनिक चित्रसेनका वह महान् आश्चर्यमय कार्य देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी सब ओरसे एक साथ आपके पुत्रके शौर्यकी प्रशंसा और गर्जना करने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

**विरथं तं समासाद्य चित्रसेनं यशस्विनम्।
रथमारोपयामास विकर्णस्तनयस्तव ॥ १ ॥**

संजय कहते हैं—राजन्! रथहीन हुए अपने यशस्वी भाई चित्रसेनके पास जाकर आपके पुत्र विकर्णने उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १ ॥

**तस्मिंस्तथा वर्तमाने तुमुले संकुले भृशम्।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ २ ॥**

जब इस प्रकार भयंकर और घमासान युद्ध होने लगा, उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्मने तुरंत ही राजा युधिष्ठिर-पर धावा किया ॥ २ ॥

**ततः सरथनागाश्वाः समकम्पन्त सृंजयाः।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मेनिरे च युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥**

यह देख सृंजयवीर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित काँप उठे। उन्होंने युधिष्ठिरको मौतके मुखमें पड़ा हुआ ही समझा ॥ ३ ॥

**युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो यमाभ्यां सहितः प्रभुः।
महेष्वासं नरव्याघ्रं भीष्मं शान्तनवं ययौ ॥ ४ ॥**

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी नकुल और सहदेवके साथ महाधनुर्धर पुरुषसिंह शान्तनुनन्दन भीष्मका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ४ ॥

**ततः शरसहस्राणि प्रमुञ्चन् पाण्डवो युधि।
भीष्मं संछादयामास यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५ ॥**

जैसे मेघ सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

**तेन सम्यक् प्रणीतानि शरजालानि मारिष।
प्रतिजग्राह गाङ्गेयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥**

आर्य ! उनके द्वारा अच्छी तरह चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणोंके समूहको गङ्गानन्दन भीष्मने ग्रहण कर लिया (अपने बाणोंद्वारा विफल कर दिया) ॥ ६ ॥

**तथैव शरजालानि भीष्मेणास्तानि मारिष।
आकाशे समदृश्यन्त खगमानां व्रजा इव ॥ ७ ॥**

आर्य ! इसी प्रकार भीष्मके चलाये हुए बाणसमूह भी आकाशमें पक्षियोंके झुंडके समान दिखायी देने लगे ॥ ७ ॥

**निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ॥ ८ ॥**

शान्तनुनन्दन भीष्मने युद्धस्थलमें आधे निमेषमें ही

पृथक्-पृथक् बाणोंका जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको अदृश्य कर दिया ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ॥ ९ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने कुरुवंशी महात्मा भीष्मपर विषधर सर्पके समान नाराचका प्रहार किया ॥ ९ ॥

असम्प्राप्तं ततस्तं तु क्षुरप्रेण महारथः ।
चिच्छेद समरे राजन् भीष्मस्तस्य धनुश्च्युतम् ॥ १० ॥

राजन् ! परंतु महारथी भीष्मने युधिष्ठिरके धनुषसे छूटे हुए उस नाराचको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही समरभूमिमें एक क्षुरप्रद्वारा काट गिराया ॥ १० ॥

तं तु छित्त्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार रणभूमिमें कालके समान भयंकर उस नाराचको काटकर भीष्मने कौरवराज युधिष्ठिरके सुवर्णाभूषणोंसे युक्त घोड़ोंको मार डाला ॥ ११ ॥

(हताश्वे तु रथे तिष्ठञ्शक्तिं चिक्षेप धर्मराट् ।
तामापतन्तीं सहसा कालपाशोपमां शिताम् ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥)

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथमें खड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मपर शक्ति चलायी । कालपाशके समान तीखी एवं भयंकर उस शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे रणभूमिमें काट गिराया ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथको त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही महामना नकुलके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १२ ॥

यमावपि हि संक्रुद्धः समासाद्य रणे तदा ।
शरैः संछादयामास भीष्मः परपुरंजयः ॥ १३ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें नकुल और सहदेवको पाकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मने अत्यन्त कुपित हो उन्हें बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

तौ तु दृष्ट्वा महाराज भीष्मबाणप्रपीडितौ ।
जगाम परमां चिन्तां भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाराज ! नकुल और सहदेवको भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित देख युधिष्ठिर अपने मनमें भीष्मके वधकी इच्छा लेकर गहन विचार करने लगे ॥ १४ ॥

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समचोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ॥ १५ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने वशवर्ती नरेशों तथा सुहृद्गणोंको यह आदेश दिया कि सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्मको मार डालो ॥ १५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ॥ १६ ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त राजाओंने विशाल रथसमूहके द्वारा पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स समन्तात् परिवृतः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ॥ १७ ॥

राजन् ! सब ओरसे घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियोंको धराशायी करते हुए अपने धनुषके द्वारा क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ॥ १८ ॥

जैसे सिंहका बच्चा वनके भीतर मृगोंके झुंडमें घुसकर खेल कर रहा हो, उसी प्रकार कुन्तीकुमारोंने युद्धमें विचरते हुए कुरुवंशी भीष्मको वहाँ देखा ॥ १८ ॥

तर्जयानं रणे वीरांस्त्रासयानं च सायकैः ।
दृष्ट्वा त्रेसुर्महाराज सिंहं मृगगणा इव ॥ १९ ॥

महाराज ! वे रणभूमिमें वीरोंको डाँटते और बाणोंके द्वारा उन्हें त्रास देते थे । जैसे मृगोंके समूह सिंहको देखकर डर जाते हैं, उसी प्रकार सब राजा भीष्मको देखकर भयभीत हो गये ॥ १९ ॥

रणे भारतसिंहस्य ददृशुः क्षत्रिया गतिम् ।
अग्नेर्वायुसहायस्य यथा कक्षं दिधक्षतः ॥ २० ॥

जैसे वायुकी सहायतासे घास-फूसको जलानेकी इच्छावाली अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भरतवंशके सिंह भीष्मके स्वरूपको रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंने अत्यन्त तेजस्वी देखा ॥ २० ॥

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ॥ २१ ॥

भीष्म उस युद्धस्थलमें रथियोंके मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़के वृक्षोंसे पके हुए फलोंको गिरा रहा हो ॥ २१ ॥

पतद्भिश्च महाराज शिरोभिर्धरणीतले ।
बभूव तुमुलः शब्दः पततामश्मनामिव ॥ २२ ॥

महाराज ! भूतलपर पटापट गिरते हुए मस्तकोंका आकाशसे पृथ्वीपर पड़नेवाले पत्थरोंके समान भयंकर शब्द हो रहा था ॥ २२ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान्॥ २३॥

उस भयानक तुमुल युद्धके होते समय सभी सेनाओंका आपसमें भारी संघर्ष हो गया॥ २३॥

भिन्नेषु तेषु व्यूहेषु क्षत्रिया इतरेतरम्।
एकमेकं समाहूय युद्धायैवावतस्थिरे॥ २४॥

उन सबका व्यूह भङ्ग हो जानेपर भी सम्पूर्ण क्षत्रिय परस्पर एक-एकको ललकारते हुए युद्धके लिये डटे ही रहे॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम्।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ २५॥

शिखण्डी भरतवंशके पितामह भीष्मके पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा और बोला—'खड़ा रह, खड़ा रह'॥ २५॥

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे।
प्रययौ सृंजयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः॥२६॥

किंतु भीष्मने शिखण्डीके स्त्रीत्वका चिन्तन करके युद्धमें उसकी अवहेलना कर दी और सृंजयवंशी क्षत्रियोंपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया॥ २६॥

सृंजयास्तु ततो दृष्ट्वा हृष्टं भीष्मं महारणे।
सिंहनादांश्च विविधांश्चक्रुः शङ्खविमिश्रितान्॥ २७॥

तब सृंजयगण उस महायुद्धमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए भीष्मको देखकर शङ्खध्वनिके साथ नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे॥ २७॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो॥ २८॥

प्रभो! जब सूर्य पश्चिम दिशामें ढलने लगे, उस समय युद्धका रूप और भी भयंकर हो गया। रथसे रथ और हाथी-से हाथी भिड़ गये॥ २८॥

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः।
पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः॥ २९॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि ये दोनों शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे कौरवसेनाको अत्यन्त पीड़ा देने लगे॥ २९॥

शस्त्रैश्च बहुभी राजञ्जघ्नतुस्तावकान् रणे।
ते हन्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ॥ ३०॥
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम्।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावका रणे॥ ३१॥

राजन्! उन दोनोंने युद्धमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों-द्वारा आपके सैनिकोंका संहार करना आरम्भ किया। भरत-श्रेष्ठ! उनके द्वारा समरमें मारे जाते हुए आपके सैनिक युद्ध-विषयक श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर ही संग्राम छोड़कर भाग नहीं रहे थे। आपके योद्धा भी रणक्षेत्रमें पूर्ण उत्साहके साथ शत्रुओंका संहार करते थे॥ ३०-३१॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तावकानां महात्मनाम्।
वध्यतां समरे राजन् पार्षतेन महात्मना॥ ३२॥

राजन्! महामना धृष्टद्युम्न समराङ्गणमें जब आपके योद्धाओंका वध कर रहे थे, उस समय उन महामनस्वी वीरोंका आर्तक्रन्दन बड़े जोरसे सुनायी देता था॥ ३२॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां महारथौ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पार्षतं प्रत्युपस्थितौ॥ ३३॥

आपके सैनिकोंका वह घोर आर्तनाद सुनकर अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये उपस्थित हुए॥ ३३॥

तौ तस्य तुरगान् हत्वा त्वरमाणौ महारथौ।
छादयामासतुरुभौ शरवर्षेण पार्षतम्॥ ३४॥

उन दोनों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्न-के घोड़ोंको मारकर उन्हें भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया॥

अवप्लुत्याथ पाञ्चाल्यो रथात् तूर्णं महाबलः।
आरुरोह रथं तूर्णं सात्यकेस्तु महात्मनः॥ ३५॥

तब महाबली धृष्टद्युम्न तुरंत ही अपने रथसे कूदकर महामना सात्यकिके रथपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ गये॥ ३५॥

ततो युधिष्ठिरो राजा महत्या सेनया वृतः।
आवन्त्यौ समरे क्रुद्धावभ्ययात् स परंतपौ॥ ३६॥

तदनन्तर विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको तपानेवाले और क्रोधमें भरे हुए विन्द-अनुविन्दपर आक्रमण किया॥ ३६॥

तथैव तव पुत्रोऽपि सर्वोद्योगेन मारिष।
विन्दानुविन्दौ समरे परिवार्यावतस्थिवान्॥ ३७॥

आर्य! इसी प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन भी सम्पूर्ण उद्योगसे समरभूमिमें विन्द और अनुविन्दकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया॥ ३७॥

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान्॥ ३८॥

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित होकर क्षत्रियोंके साथ संग्रामभूमिमें उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंके साथ करते हैं॥ ३८॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव।
व्यधमत् सर्वपञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः॥ ३९॥

आपके पुत्रका प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्धमें कुपित

होकर समस्त पाञ्चालोंका विनाश करने लगे, मानो आग रूईके ढेरको जला रही हो ॥ ३९ ॥

दुर्योधनपुरोगास्तु पुत्रास्तव विशाम्पते ।
परिवार्य रणे भीष्मं युयुधुः पाण्डवैः सह ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! आपके दुर्योधन आदि पुत्र रणक्षेत्रमें भीष्मको घेरकर पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वांस्त्वरध्वमिति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, तब राजा दुर्योधनने आपके सभी योद्धाओंसे कहा—जल्दी करो ॥ ४१ ॥

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ॥ ४२ ॥
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।
गोमायुगणसंकीर्णा क्षणेन क्षणदामुखे ॥ ४३ ॥

फिर तो वे सब योद्धा वेगसे युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम प्रकट करने लगे। उसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये और उनका प्रकाश लुप्त हो गया। इस प्रकार संध्या होते-होते क्षणभरमें रक्तके प्रवाहसे परिपूर्ण भयानक नदी बह चली और उसके तटपर गीदड़ोंकी भीड़ जमा हो गयी ॥४२-४३॥

शिवाभिरशिवाभिश्च रुवद्भिर्भैरवं रवम् ।
घोरमायोधनं जज्ञे भूतसंघैः समाकुलम् ॥ ४४ ॥

भैरव रव फैलानेवाली अमङ्गलमयी सियारिनों तथा भूतगणोंसे व्याप्त होकर वह युद्धका मैदान अत्यन्त भयानक हो गया ॥ ४४ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च तथान्ये पिशिताशिनः ।
समन्ततो व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४५ ॥

चारों ओर राक्षस, पिशाच तथा अन्य मांसाहारी जन्तु सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दिखायी देने लगे ॥ ४५ ॥

अर्जुनोऽथ सुशर्मादीन् राज्ञस्तान् सपदानुगान् ।
विजित्य पृतनामध्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर अर्जुन राजा दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सुशर्मा आदिको सेनामें पराजित करके अपने शिविरको चले गये ।४६।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भ्रातृभ्यां सहितस्तथा।
ययौ स्वशिबिरं राजा निशायां सेनया वृतः ॥ ४७ ॥

तथा सेनासे घिरे हुए कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिर भी दोनों भाई नकुल-सहदेवके साथ रातमें अपने शिविरमें पधारे ॥

भीमसेनोऽपि राजेन्द्र दुर्योधनमुखान् रथान् ।
अवजित्य ततः संख्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! तब भीमसेन भी दुर्योधन आदि रथियोंको युद्धमें जीतकर शिविरको लौट गये ॥ ४८ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिः परिवार्य महारणे ।
भीष्मं शान्तनवं तूर्णं प्रयातः शिबिरं प्रति ॥ ४९ ॥

राजा दुर्योधन भी महायुद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको घेरकर तुरंत ही अपने शिविरको लौट गया ॥ ४९ ॥

द्रोणो द्रौणिः कृपः शल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।
परिवार्य चमूं सर्वां प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ५० ॥

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य तथा यदुवंशी कृतवर्मा—ये सारी सेनाको घेरकर अपने शिविरकी ओर चल दिये ॥ ५० ॥

तथैव सात्यकी राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
परिवार्य रणे योधान् ययतुः शिबिरं प्रति ॥ ५१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार सात्यकि और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी युद्धमें अपने योद्धाओंको घेरकर शिविरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५१ ॥

एवमेते महाराज तावकाः पाण्डवैः सह ।
पर्यवर्तन्त सहिता निशाकाले परंतप ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! इस प्रकार रातके समय आपके योद्धा पाण्डवोंके साथ अपने-अपने शिविरमें लौट आये ॥ ५२ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ॥ ५३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् पाण्डव तथा कौरव अपने शिबिरमें जाकर आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ॥ ५३ ॥

रक्षां कृत्वा ततः शूरा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि ।
अपनीय च शल्यानि स्नात्वा च विविधैर्जलैः ॥ ५४ ॥
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे संस्तूयन्तश्च वन्दिभिः ।
गीतवादित्रशब्देन व्यक्रीडन्त यशस्विनः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर उभय पक्षके शूरवीरोंने सब ओर सैनिक गुल्मोंको* नियुक्त करके विधिपूर्वक अपने-अपने शिविरोंकी रक्षाकी व्यवस्था की। फिर अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर भाँति-भाँतिके जलसे स्नान करके स्वस्तिवाचन करानेके अनन्तर बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे सभी यशस्वी वीर गीत और वाद्योंके शब्दोंसे क्रीडा-विनोद करने लगे ॥ ५४-५५ ॥

मुहूर्तादिव तत् सर्वमभवत् स्वर्गसंनिभम् ।
न हि युद्धकथां कांचित् तत्राकुर्वन् महारथाः॥ ५६ ॥

* गुल्मका अर्थ है—प्रधान पुरुषोंसे युक्त रक्षकदल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घुड़सवार और ४५ पैदल सैनिक होते हैं।

दो घड़ीतक वहाँका सब कुछ स्वर्गसदृश जान पड़ा। उस समय वहाँ महारथियोंने युद्धकी कोई बातचीत नहीं की॥

ते प्रसुप्ते बले तत्र परिश्रान्तजने नृप।
हस्त्यश्वबहुले रात्रौ प्रेक्षणीये बभूवतुः॥ ५७॥

नरेश्वर! जिनमें हाथी और घोड़ोंकी अधिकता थी, उन दोनों पक्षकी सेनाओंमें सब लोग परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे। रातके समय जब दोनों सेनाएँ सो गयीं, उस समय वे देखने योग्य हो गयीं॥ ५७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमदिवसयुद्धावहारे षडशीतितमोऽध्यायः॥ ८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धका विरामविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः।
कुरवः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुखका अनुभव करके वह रात बिताकर पुनः युद्धके लिये निकले॥ १॥

ततः शब्दो महानासीत् सैन्ययोरुभयोर्नृप।
निर्गच्छमानयोः संख्ये सागरप्रतिमो महान्॥ २॥

महाराज! वे दोनों सेनाएँ जब युद्धके लिये शिबिरसे बाहर निकलने लगीं, उस समय संग्रामभूमिमें महासागरकी गर्जनाके समान महान् घोष होने लगा॥ २॥

ततो दुर्योधनो राजा चित्रसेनो विविंशतिः।
भीष्मश्च रथिनां श्रेष्ठो भारद्वाजश्च वै नृप॥ ३॥
एकीभूताः सुसंयत्ताः कौरवाणां महाचमूम्।
व्यूहाय विदधू राजन् पाण्डवान् प्रति दंशिताः॥ ४॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन, चित्रसेन, विविंशति, रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तथा द्रोणाचार्य—ये सब संगठित एवं सावधान होकर पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये कवच बाँधकर कौरवोंके विशाल सैन्यकी व्यूह-रचना करने लगे॥ ३-४॥

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम्॥ ५॥

प्रजानाथ! आपके ताऊ भीष्मने समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर महाव्यूहका निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगोंके समान प्रतीत होते थे॥ ५॥

अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः॥ ६॥

शान्तनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण सेनाओंके आगे-आगे चले। उनके साथ मालवा, दक्षिण प्रान्त तथा अवन्तीदेशके योद्धा थे॥

ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान्।
पुलिन्दैः पारदैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः॥ ७॥

उनके पीछे पुलिन्द, पारद, क्षुद्रक तथा मालवदेशीय वीरोंके साथ प्रतापी द्रोणाचार्य थे॥ ७॥

द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान्।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशाम्पते॥ ८॥

प्रजेश्वर! द्रोणके पीछे मागध, कलिंग और पिशाच सैनिकोंके साथ प्रतापी राजा भगदत्त जा रहे थे, जो बड़े सावधान थे॥ ८॥

प्राग्ज्योतिषादनु नृपः कौसल्योऽथ बृहद्बलः।
मेकलैः कुरुविन्दैश्च त्रैपुरैश्च समन्वितः॥ ९॥

प्राग्ज्योतिषपुरनरेशके पीछे कोसलदेशके राजा बृहद्बल थे, जो मेकल, कुरुविन्द तथा त्रिपुराके सैनिकोंके साथ थे॥

बृहद्बलात् ततः शूरस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः।
काम्बोजैर्बहुभिः सार्धं यवनैश्च सहस्रशः॥ १०॥

बृहद्बलके बाद शूरवीर त्रिगर्त थे, जो प्रस्थलाके अधिपति थे। उनके साथ बहुत-से काम्बोज और सहस्रों यवन योद्धा थे॥ १०॥

द्रौणिस्तु रभसः शूरस्त्रैगर्तादनु भारत।
प्रययौ सिंहनादेन नादयानो धरातलम्॥ ११॥

भारत! त्रिगर्तके पीछे वेगशाली वीर अश्वत्थामा चल रहे थे, जो अपने सिंहनादसे समस्त धरातलको निनादित कर रहे थे॥ ११॥

तथा सर्वेण सैन्येन राजा दुर्योधनस्तदा।
द्रौणेरनन्तरं प्रायात् सोदर्यैः परिवारितः॥ १२॥

अश्वत्थामाके पीछे सम्पूर्ण सेना तथा भाइयोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन चल रहा था॥ १२॥

दुर्योधनादनु ततः कृपः शारद्वतो ययौ।
एवमेष महाव्यूहः प्रययौ सागरोपमः॥ १३॥

दुर्योधनके पीछे शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य चल रहे थे। इस प्रकार यह सागरके समान महाव्यूह युद्धके लिये प्रस्थान कर रहा था ॥ १३ ॥

रेजुस्तत्र पताकाश्च श्वेतच्छत्राणि वा विभो।
अङ्गदान्यत्र चित्राणि महार्हाणि धनूंषि च ॥ १४ ॥

प्रभो! उस सेनामें बहुत-सी पताकाएँ और श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे। विचित्र रंगके बहुमूल्य बाजूबन्द और धनुष सुशोभित होते थे ॥ १४ ॥

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ॥ १५ ॥

राजन्! आपके सैनिकोंका वह महाव्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिरने तुरंत ही सेनापति धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ १५ ॥

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम्।
प्रतिव्यूहं त्वमपि हि कुरु पार्षत सत्वरम् ॥ १६ ॥

'महाधनुर्धर द्रुपदकुमार! देखो, शत्रुसेनाका व्यूह सागरके समान बनाया गया है। तुम भी उसके मुकाबिलेमें शीघ्र ही अपनी सेनाका व्यूह बना लो' ॥ १६ ॥

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम्।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ॥ १७ ॥

महाराज! तदनन्तर क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नने अत्यन्त दारुण शृङ्गाटक (सिंघाड़े) के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रुके व्यूहका विनाश करनेवाला था ॥ १७ ॥

शृङ्गाभ्यां भीमसेनश्च सात्यकिश्च महारथः।
रथैरनेकसाहस्रैस्तथा हयपदातिभिः ॥ १८ ॥

उसके दोनों शृङ्गोंके स्थानमें भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंके साथ मौजूद थे ॥ १८ ॥

ताभ्यां बभौ नरश्रेष्ठः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
मध्ये युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १९ ॥

भीमसेन और सात्यकिके बीचमें यानी उस व्यूहके अग्रभागमें नरश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन खड़े हुए, जिनके सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। मध्यदेशमें राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव थे ॥

अथोत्तरे महेष्वासाः सहसैन्या नराधिपाः।
व्यूहं तं पूरयामासुर्व्यूहशास्त्रविशारदाः ॥ २० ॥

इनके बाद सेनासहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्रके पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने उस व्यूहको प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गसे परिपूर्ण किया था ॥ २० ॥

अभिमन्युस्ततः पश्चाद् विराटश्च महारथः।
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ २१ ॥

उस व्यूहके पिछले भागमें अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्षमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे ॥ २१ ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ॥ २२ ॥

भरतनन्दन! इस प्रकार अपनी सेनाके इस महाव्यूहका निर्माण करके युद्धकी कामना और विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव समरभूमिमें खड़े थे ॥ २२ ॥

भेरीशब्दैश्च विमलैर्विमिश्रैः शङ्खनिःस्वनैः।
क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैर्नादिताः सर्वतो दिशः ॥ २३ ॥

उस समय रणभेरियाँ बज रही थीं। उनके निर्मल शब्दोंसे मिली हुई शङ्ख-ध्वनियों तथा गर्जनसे, ताल ठोंकने और उच्चस्वरसे पुकारने आदिके शब्दोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ २३ ॥

ततः शूराः समासाद्य समरे ते परस्परम्।
नेत्रैरनिमिषै राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ २४ ॥

राजन्! तदनन्तर समस्त शूरवीर समरभूमिमें पहुँचकर परस्पर एक-दूसरेको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ २४ ॥

नामभिस्ते मनुष्येन्द्र पूर्वं योधाः परस्परम्।
युद्धाय समवर्तन्त समाहूयेतरेतरम् ॥ २५ ॥

नरेन्द्र! पहले उन योद्धाओंने एक-दूसरेके नाम ले-लेकर पुकार-पुकारकर युद्धके लिये परस्पर आक्रमण किया ॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम्।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आपके और पाण्डवोंके सैनिक एक-दूसरेपर अस्त्रोंद्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होने लगा ॥ २६ ॥

नाराचा निशिताः संख्ये सम्पतन्ति स्म भारत।
व्यात्तानना भयकरा उरगा इव संघशः ॥ २७ ॥

भारत! उस समय युद्धमें तीखे नाराच नामक बाण इस प्रकार पड़ते थे, मानो मुख फैलाये हुए भयंकर नाग झुंड-के-झुंड गिर रहे हों ॥ २७ ॥

निष्पेतुर्विमलाः शक्त्यस्तैलधौताः सुतेजनाः।
अम्बुदेभ्यो यथा राजन् भ्राजमानाः शतह्रदाः ॥ २८ ॥

राजन्! तेलकी धोयी चमचमाती हुई तीखी शक्तियाँ बादलोंसे गिरनेवाली कान्तिमती बिजलियोंके समान सब ओर गिर रही थीं ॥ २८ ॥

गदाश्च विमलैः पट्टैः पिनद्धाः स्वर्णभूषितैः।
पतन्त्यस्तत्र दृश्यन्ते गिरिशृङ्गोपमाः शुभाः ॥ २९ ॥

सुवर्णभूषित निर्मल लोहपत्रसे जड़ी हुई सुन्दर गदाएँ

पर्वत-शिखरोंके समान वहाँ गिरती दिखायी देती थीं ॥२९॥

निस्त्रिंशाश्च व्यदृश्यन्त विमलाम्बरसंनिभाः।
आर्षभाणि विचित्राणि शतचन्द्राणि भारत ॥ ३० ॥
अशोभन्त रणे राजन् पात्यमानानि सर्वशः।

भारत! स्वच्छ आकाशके सदृश खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे विभूषित ऋषभचर्मकी विचित्र ढालें दृष्टिगोचर हो रही थीं। राजन्! रणभूमिमें गिरायी जाती हुई वे सब-की-सब तलवारें और ढालें बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३०½ ॥

तेऽन्योन्यं समरे सेने युध्यमाने नराधिप ॥ ३१ ॥
अशोभेतां यथा देवदैत्यसेने समुद्यते।

नरेश्वर! दोनों पक्षोंकी सेनाएँ समरभूमिमें एक-दूसरीसे जूझ रही थीं। उस समय परस्पर युद्धके लिये उद्यत हुई देवसेना और दैत्यसेनाके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥

अभ्यद्रवन्त समरे तेऽन्योन्यं वै समन्ततः ॥ ३२ ॥

वे कौरव-पाण्डव सैनिक सब ओर समराङ्गणमें एक-दूसरेपर धावा करने लगे ॥ ३२ ॥

रथास्तु रथिभिस्तूर्णं प्रेषिताः परमाहवे।
युगैर्युगानि संश्लिष्य युयुधुः पार्थिवर्षभाः ॥ ३३ ॥

रथी अपने रथोंको तुरंत ही उस महायुद्धमें दौड़ाकर ले आये। श्रेष्ठ नरेश रथके जुओंसे जुए भिड़ाकर युद्ध करने लगे ॥

दन्तिनां युध्यमानानां संघर्षात् पावकोऽभवत्।
दन्तेषु भरतश्रेष्ठ सधूमः सर्वतोदिशम् ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण दिशाओंमें परस्पर जूझते हुए दन्तार हाथियोंके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे उनमें धूमसहित अग्नि प्रकट हो जाती थी ॥ ३४ ॥

प्रासैरभिहताः केचिद् गजयोधाः समन्ततः।
पतमानाः स्म दृश्यन्ते गिरिशृङ्गान्नगा इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथीसवार प्रासोंसे घायल होकर पर्वत-शिखरसे गिरनेवाले वृक्षोंके समान सब ओर हाथियोंकी पीठोंसे गिरते दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

पादाताश्चाप्यदृश्यन्त निघ्नन्तोऽथ परस्परम्।
चित्ररूपधराः शूरा नखरप्रासयोधिनः ॥ ३६ ॥

बघनखों एवं प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पैदल सैनिक एक दूसरेपर प्रहार करते हुए विचित्र रूपधारी दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

अन्योन्यं ते समासाद्य कुरुपाण्डवसैनिकाः।
अस्त्रैर्नानाविधैर्घोरै रणे निन्युर्यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव सैनिक रणक्षेत्रमें एक दूसरेसे भिड़कर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्रोंद्वारा विपक्षियोंको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ ३७ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन्।
अभ्यागमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ॥ ३८ ॥

इतनेहीमें शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते और धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको मूर्च्छित करते हुए समरभूमिमें पाण्डवसैनिकोंपर चढ़ आये ॥

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम्।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयंकर नाद करते हुए युद्धके लिये संनद्ध होकर उनका सामना करनेको दौड़े ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत।
नराश्वरथनागानां व्यतिषक्तं परस्परम् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! फिर तो आपके और पाण्डवोंके योद्धाओंमें परस्पर घमासान युद्ध छिड़ गया। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धारम्भे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत

संजय उवाच

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस समरमें कुपित हो सब ओर अपना प्रताप प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डवसैनिक उनकी ओर देख न सके ॥ १ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात्।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं मर्दयन्तं शितैः शरैः ॥ २ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ीं, जो अपने तीखे बाणोंसे पाण्डवसेनाका मर्दन कर रहे थे ॥ २ ॥

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सहसृंजयान्।
पञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ॥ ३ ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणोंके द्वारा सोमक, सृंजय और पाञ्चाल महाधनुर्धरोंको रणभूमिमें गिराने लगे ॥ ३ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ।
भीष्ममेवाभ्ययुस्तूर्णं त्यक्त्वा मृत्युकृतं भयम् ॥ ४ ॥

भीष्मके द्वारा घायल किये जाते हुए वे सोमक (सृंजय) और पाञ्चाल भी मृत्युका भय छोड़कर तुरंत भीष्मपर ही टूट पड़े ॥ ४ ॥

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि ।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ॥ ५ ॥

राजन् ! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धके मैदानमें सहसा उन रथियोंकी भुजाओं और मस्तकोंको काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

विरथान् रथिनश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
पतितान्युत्तमाङ्गानि हयेभ्यो हयसादिनाम् ॥ ६ ॥

आपके ताऊ देवव्रतने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया। घोड़ोंसे घुड़सवारोंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ॥

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान् ।
अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ॥ ७ ॥

महाराज ! हमने देखा, भीष्मके अस्त्रसे मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमिमें पड़े हैं और उनके पास कोई मनुष्य नहीं है ॥ ७ ॥

न तत्रासीत् पुमान् कश्चित् पाण्डवानां विशाम्पते।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली भीमसेनके सिवा पाण्डवपक्षका कोई भी वीर भीष्मके सामने नहीं ठहर सका ॥ ८ ॥

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे ।
ततो निष्टानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ॥ ९ ॥
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः ।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ॥ १० ॥

वे ही युद्धमें भीष्मका सामना करते हुए उनपर अपने बाणोंका प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेनमें युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओंमें भयंकर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्षमें भरकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ९-१० ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
भीष्मं जुगोप समरे वर्तमाने जनक्षये ॥ ११ ॥

जिस समय युद्धमें वह जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और भीष्मकी रक्षा करने लगा ॥ ११ ॥

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः ।
प्रद्रुताश्वे रथे तस्मिन् द्रवमाणे समन्ततः ॥ १२ ॥

इसी समय रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने भीष्मके सारथिको मार डाला। फिर तो उनके घोड़े उस रथको लेकर रणभूमिमें चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ १२ ॥

(चचार युधि राजेन्द्र भीमो भीमपराक्रमः ।
सुनाभस्तव पुत्रो वै भीमसेनमुपाद्रवत् ॥
जघान निशितैर्बाणैर्भीमं विव्याध सप्तभिः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः शरेण नतपर्वणा ॥)
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! भयंकर पराक्रमी भीमसेन युद्धमें सब ओर विचरने लगे। उस समय आपके पुत्र सुनाभने भीमसेनपर धावा किया और उन्हें सात तीखे बाणोंसे बींध डाला। भारत ! तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले क्षुरप्रनामक बाणसे शीघ्र ही सुनाभका सिर काट दिया। उस तीखे क्षुरप्रसे मारा जाकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे।
नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ॥ १४ ॥

महाराज ! आपके उस महारथी पुत्रके मारे जानेपर उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं मौजूद थे, भीमसेनका यह अपराध सहन न कर सके ॥ १४ ॥

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ॥ १५ ॥
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामारिमर्दनाः ॥ १६ ॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक और अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषासे सुसजित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये संग्रामभूमिमें युद्धकी इच्छासे पाण्डुपुत्र भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १५-१६ ॥

महोदरस्तु समरे भीमं विव्याध पत्रिभिः ।
नवभिर्वज्रसंकाशैर्नमुचिं वृत्रहा यथा ॥ १७ ॥

जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचि नामक दैत्यपर प्रहार किया था, उसी प्रकार महोदरने समरभूमिमें अपने वज्र-सरीखे नौ बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ॥ १७ ॥

आदित्यकेतुः सप्तत्या बह्वाशी चापि पञ्चभिः ।
नवत्या कुण्डधारश्च विशालाक्षश्च पञ्चभिः ॥ १८ ॥

अपराजितो महाराज पराजिष्णुर्महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आदित्यकेतुने सत्तर, बह्वाशीने पाँच, कुण्डधारने नब्बे, विशालाक्षने पाँच और अपराजितने महारथी महाबली भीमसेनको पराजित करनेके लिये उन्हें बहुत-से बाणोंद्वारा पीडित किया ॥ १८-१९ ॥

रणे पण्डितकश्चैनं त्रिभिर्बाणैः समार्पयत् ।
स तन्न ममृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ॥ २० ॥

पण्डितकने उस युद्धमें तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया । तब भीम उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये हुए प्रहारको सहन न कर सके ॥ २० ॥

धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ॥ २१ ॥
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ।

उन शत्रुसूदन वीरने बायें हाथसे धनुषको अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे समर-भूमिमें आपके पुत्र अपराजितका सुन्दर नासिकासे युक्त मस्तक काट डाला ॥

पराजितस्य भीमेन निपपात शिरो महीम् ॥ २२ ॥
अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २३ ॥

भीमसेनसे पराजित हुए अपराजितका मस्तक धरतीपर जा गिरा । तत्पश्चात् भीमसेनने एक दूसरे भल्लके द्वारा सब लोगोंके देखते-देखते महारथी कुण्डधारको यमराजके लोकमें भेज दिया ॥ २२-२३ ॥

ततः पुनरमेयात्मा प्रसंधाय शिलीमुखम् ।
प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने समरमें पुनः एक बाणका संधान करके उसे पण्डितककी ओर चलाया ॥

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम् ।
यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालचोदितः ॥ २५ ॥

जैसे कालप्रेरित सर्प किसी मनुष्यको शीघ्र ही डँसकर लापता हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितककी हत्या करके धरतीमें समा गया ॥ २५ ॥

विशालाक्षशिरश्छित्त्वा पातयामास भूतले ।
त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ॥ २६ ॥

उसके बाद उदार हृदयवाले भीमने अपने पूर्व क्लेशोंका स्मरण करके तीन बाणोंद्वारा विशालाक्षके मस्तकको काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ २६ ॥

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे ।
विव्याध समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने महाधनुर्धर महोदरकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया । उससे मारा जाकर वह युद्धमें धरतीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

आदित्यकेतोः केतुं च छित्त्वा बाणेन संयुगे ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ॥ २८ ॥

भारत ! तदनन्तर भीमने रणक्षेत्रमें एक बाणसे आदित्यकेतुकी ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्लके द्वारा उसका मस्तक भी काट दिया ॥ २८ ॥

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने झुकी हुई गाँठ-वाले बाणसे मारकर बह्वाशीको यमलोक भेज दिया ॥२९॥

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते ।
मन्यमाना हि तत् सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेनके द्वारा सभामें की हुई उस प्रतिज्ञाको सत्य मानकर वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

ततो दुर्योधनो राजा भ्रातृव्यसनकर्शितः ।
अब्रवीत् तावकान् योधान् भीमोऽयं युधि वध्यताम् ३१

भाइयोंके मरनेसे राजा दुर्योधनको बड़ा कष्ट हुआ । अतः उसने आपके समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि इस भीमसेनको युद्धमें मार डालो ॥ ३१ ॥

एवमेते महेष्वासाः पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भ्रातॄन् संदृश्य निहतान् प्रास्मरंस्ते हि तद् वचः ॥ ३२ ॥
यदुक्तवान् महाप्राज्ञः क्षत्ता हितमनामयम् ।
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दिव्यदर्शिनः ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर पुत्र अपने भाइयोंको मारा गया देख उन बातोंकी याद करने लगे, जिन्हें महाज्ञानी विदुरने कहा था । वे सोचने लगे—दिव्यदर्शी विदुरने हमारे कुशल एवं हितके लिये जो बात कही थी, वह आज सिरपर आ गयी ॥ ३२-३३ ॥

लोभमोहसमाविष्टः पुत्रप्रीत्या जनाधिप ।
न बुध्यसे पुरा यत् तत् तथ्यमुक्तं वचो महत् ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! आपने अपने पुत्रोंके प्रति प्रेमके कारण लोभ और मोहके वशीभूत हो, विदुरने पहले जो सत्य एवं हितकी महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी, उसपर ध्यान नहीं दिया ॥३४॥

तथैव च वधार्थाय पुत्राणां पाण्डवो बली ।
नूनं जातो महाबाहुर्यथा हन्ति स्म कौरवान् ॥ ३५ ॥

उनके कथनानुसार ही बलवान् पाण्डुपुत्र महाबाहु भीम आपके पुत्रोंके वधका कारण बनते जा रहे हैं और उसी प्रकार वे कौरवोंका सर्वनाश कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ॥ ३६ ॥

उस समय राजा दुर्योधन युद्धभूमिमें भीष्मके पास जाकर महान् दुःखसे व्याप्त एवं अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप करने लगा—॥ ३६ ॥

निहता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि ।
यतमानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ॥ ३७ ॥

'पितामह ! भीमसेनने युद्धमें मेरे शूरवीर बन्धुओंको मार डाला और दूसरे भी समस्त सैनिक विजयके लिये पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी असफल हो उनके हाथसे मारे जा रहे हैं।३७।

भवांश्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते ।
सोऽहं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ॥ ३८ ॥

'आप मध्यस्थ बने रहनेके कारण सदा हमलोगोंकी उपेक्षा करते हैं। मैं बड़े बुरे मार्गपर चढ़ आया। मेरे इस दुर्भाग्यको देखिये' ॥ ३८ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ॥ ३९ ॥

यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म अपने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥३९॥

उक्तमेतन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या च यशस्विन्या तत् त्वं तात न बुद्धवान् ॥४०॥

'तात ! मैंने, द्रोणाचार्यने, विदुरने तथा यशस्विनी गान्धारी देवीने भी पहले ही यह सब बात कह दी थी, परंतु तुमने इसपर ध्यान नहीं दिया ॥ ४० ॥

समयश्च मया पूर्वं कृतो वै शत्रुकर्शन ।
नाहं युधि नियोक्तव्यो नाप्याचार्यः कथंचन ॥ ४१ ॥

'शत्रुसूदन ! मैंने पहले ही यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि तुम्हें मुझे या द्रोणाचार्यको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं लगाना चाहिये (क्योंकि हमलोगोंका कौरवों तथा पाण्डवोंके प्रति समान स्नेह है) ॥ ४१ ॥

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे ।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४२ ॥

'मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे जिस-जिसको युद्धमें (अपने सामने आया हुआ) देख लेंगे, उसे प्रतिदिनके संग्राममें अवश्य मार डालेंगे।४२।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम् ।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ ४३ ॥

'अतः राजन् ! तुम स्थिर होकर युद्धके विषयमें अपना दृढ़ निश्चय बना लो और स्वर्गको ही अन्तिम आश्रय मानकर रणभूमिमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ ४३ ॥

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युद्ध्यस्व भारत ॥४४॥

'भारत ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवोंको जीत नहीं सकते । अतः युद्धके लिये पहले अपनी बुद्धिको स्थिर कर लो । उसके बाद युद्ध करो'॥४४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सुनाभादिधृतराष्ट्रपुत्रवधे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सुनाभ आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वधविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार

धृतराष्ट्र उवाच

दृष्ट्वा मे निहतान् पुत्रान् बहूनेकेन संजय ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव किमकुर्वत संयुगे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! एकमात्र भीमसेनके द्वारा युद्धमें मेरे बहुत-से पुत्रोंको मारा गया देख भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यने क्या किया ? ॥ १ ॥

अहन्यहनि मे पुत्राः क्षयं गच्छन्ति संजय ।
मन्येऽहं सर्वथा सूत दैवेनोपहता भृशम् ॥ २ ॥

मेरे पुत्र प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। सूत ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि हमलोग सर्वथा अत्यन्त दुर्भाग्यके मारे हुए हैं ॥ २ ॥

यत्र मे तनयाः सर्वे जीयन्ते न जयन्त्युत ।
यत्र भीष्मस्य द्रोणस्य कृपस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
सौमदत्तेश्च वीरस्य भगदत्तस्य चोभयोः ।
अश्वत्थाम्नस्तथा तात शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ४ ॥
अन्येषां चैव शूराणां मध्यगास्तनया मम ।
यदहन्यन्त संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ ५ ॥

दुर्भाग्यके अधीन होनेके कारण ही मेरे पुत्र हारते जा रहे हैं; विजयी नहीं हो रहे हैं। जहाँ भीष्म, द्रोण, महामना कृपाचार्य, वीरवर भूरिश्रवा, भगदत्त, अश्वत्थामा तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य शूरवीरोंके बीचमें रहकर भी मेरे पुत्र प्रतिदिन संग्राममें मारे जाते हैं, वहाँ दुर्भाग्यके

सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३–५ ॥

न हि दुर्योधनो मन्दः पुरा प्रोक्तमबुध्यत ।
वार्यमाणो मया तात भीष्मेण विदुरेण च ॥ ६ ॥
गान्धार्या चैव दुर्मेधाः सततं हितकाम्यया ।
नाबुध्यत पुरा मोहात् तस्य प्राप्तमिदं फलम् ॥ ७ ॥
यद् भीमसेनः समरे पुत्रान् मम विचेतसः ।
अहन्यहनि संक्रुद्धो नयते यमसादनम् ॥ ८ ॥

मूर्ख दुर्योधनने पहले मेरी कही हुई बातोंपर ध्यान नहीं दिया । तात ! मैंने, भीष्मने, विदुरने तथा गान्धारीने भी सदा हितकी इच्छासे दुर्बुद्धि दुर्योधनको बार-बार मना किया; परंतु मोहवश पूर्वकालमें हमारी ये बातें उसके समझमें नहीं आयीं । उसीका यह फल अब प्राप्त हुआ है, जिससे भीमसेन समराङ्गणमें कुपित होकर मेरे मूर्ख पुत्रोंको प्रतिदिन यमलोक भेज रहा है ॥ ६–८ ॥

संजय उवाच

इदं तत् समनुप्राप्तं क्षत्तुर्वचनमुत्तमम् ।
न बुद्धवानसि विभो प्रोच्यमानं हितं तदा ॥ ९ ॥

संजयने कहा—प्रभो ! उस समय आपने जो विदुरजीके कहे हुए उत्तम एवं हितकारक वचनको नहीं सुना (सुनकर भी उसपर ध्यान नहीं दिया), उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥

निवारय सुतान् द्यूतात् पाण्डवान् मा द्रुहेति च ।
सुहृदां हितकामानां ब्रुवतां तत् तदेव च ॥ १० ॥
न शुश्रूषसि तद् वाक्यं मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ।
तदेव त्वामनुप्राप्तं वचनं साधुभाषितम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था कि 'आप अपने पुत्रोंको जूआ खेलने-से रोकिये । पाण्डवोंसे द्रोह न कीजिये ।' आपका हित चाहने-वाले अन्यान्य सुहृदोंने भी आपसे वे ही बातें कही थीं; परंतु जैसे मरणासन्न पुरुषको हितकारक ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आप उन हितकर वचनोंको सुनना भी नहीं चाहते थे । अतः श्रेष्ठ विदुरने जैसा बताया था, वैसा ही परिणाम आपके सामने आया है ॥ १०-११ ॥

विदुरद्रोणभीष्माणां तथान्येषां हितैषिणाम् ।
अकृत्वा वचनं पथ्यं क्षयं गच्छन्ति कौरवाः ॥ १२ ॥

विदुर, द्रोण, भीष्म तथा अन्य हितैषियोंके हितकर वचनोंको न माननेके कारण इन कौरवोंका विनाश हो रहा है ॥

तदेतत् समनुप्राप्तं पूर्वमेव विशाम्पते ।
तस्मात् त्वं शृणु तत्त्वेन यथा युद्धमवर्तत ॥ १३ ॥

प्रजापालक नरेश ! यह सब तो पहलेसे ही प्राप्त है । अब आप जिस प्रकार युद्ध हुआ, उसका यथावत् समाचार सुनिये ॥ १३ ॥

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

राजन् ! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जो सम्पूर्ण जगत्के योद्धाओंका विनाश करनेवाला था । वह सब मैं कह रहा हूँ, सुनिये ॥ १४ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
संरब्धान्यभ्यवर्तन्त भीष्ममेव जिघांसया ॥ १५ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे क्रोधमें भरी हुई उनकी सारी सेनाएँ भीष्मपर ही टूट पड़ीं । वे भीष्मको मार डालना चाहती थीं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा महारथी सात्यकि—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥

विराटो द्रुपदश्चैव सहिताः सर्वसोमकैः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीष्ममेव महारथम् ॥ १७ ॥

राजा विराट और सम्पूर्ण सोमकोंसहित द्रुपदने संग्राम-में महारथी भीष्मपर ही चढ़ाई की ॥ १७ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! केकय, धृष्टकेतु और कवचधारी कुन्तिभोज—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही धावा किया ।१८।

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ॥ १९ ॥

अर्जुन, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी चेकितान—ये दुर्योधनके भेजे हुए समस्त राजाओंपर चढ़ आये ॥ १९ ॥

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ॥ २० ॥

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोधमें भरे हुए भीमसेन—इन सबने कौरवोंपर धावा किया ॥ २० ॥

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवै राजन्नवध्यन्त परे रणे ॥ २१ ॥

राजन् ! पाण्डवोंने तीन दलोंमें विभक्त होकर कौरवोंका वध आरम्भ किया । इसी प्रकार कौरव भी रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करने लगे ॥ २१ ॥

द्रोणस्तु रथिनःश्रेष्ठान् सोमकान् सृंजयैः सह ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥ २२ ॥

द्रोणाचार्यने श्रेष्ठ रथी सोमकों और सृञ्जयोंको यमलोक भेजनेके लिये क्रोधपूर्वक उनके ऊपर धावा बोल दिया ॥२२॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् सृंजयानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् भारद्वाजेन धन्विना ॥ २३ ॥

राजन्! धनुर्धर द्रोणाचार्यके द्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए महामना सृञ्जयोंका महान् आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ २३ ॥

द्रोणेन निहतास्तत्र क्षत्रिया बहवो रणे।
विचेष्टन्तो ह्यदृश्यन्त व्याधिक्लिष्टा नरा इव ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्यके मारे हुए बहुत-से क्षत्रिय रणभूमिमें व्याधिग्रस्त मनुष्योंकी भाँति छटपटाते हुए दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

कूजतां क्रन्दतां चैव स्तनतां चैव भारत।
अनिशं शुश्रुवे शब्दः क्षुत्क्लिष्टानां नृणामिव ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! भूखसे पीडित मनुष्योंकी भाँति कूजते, क्रन्दन करते और गरजते हुए योद्धाओंका शब्द निरन्तर सुनायी देता था ॥ २५ ॥

तथैव कौरवेयाणां भीमसेनो महाबलः।
चकार कदनं घोरं क्रुद्धः काल इवापरः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन क्रोधमें भरे हुए दूसरे कालके समान कौरव सैनिकोंका घोर संहार करने लगे ॥ २६ ॥

वध्यतां तत्र सैन्यानामन्योन्येन महारणे।
प्रावर्तत नदी घोरा रुधिरौघप्रवाहिनी ॥ २७ ॥

उस महायुद्धमें परस्पर मारकाट करनेवाले सैनिकोंकी रक्तराशिको प्रवाहित करनेवाली एक भयंकर नदी बह चली ॥

स संग्रामो महाराज घोररूपोऽभवन्महान्।
कुरूणां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ २८ ॥

महाराज! कौरवों और पाण्डवोंका वह घोर महासंग्राम यमलोककी वृद्धि करनेवाला था ॥ २८ ॥

ततो भीमो रणे क्रुद्धो रभसश्च विशेषतः।
गजानीकं समासाद्य प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २९ ॥

तब युद्धमें विशेष वेगशाली भीमसेनने कुपित हो हाथियोंकी सेनामें प्रवेशकर उन्हें कालके गालमें भेजना आरम्भ किया ॥

तत्र भारत भीमेन नाराचाभिहता गजाः।
पेतुर्नेदुश्च सेदुश्च दिशश्च परिबभ्रमुः ॥ ३० ॥

भारत! वहाँ भीमके नाराचोंसे पीडित हुए हाथी गिरते, चिग्घाड़ते, बैठ जाते अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगाने लगते थे ॥ ३० ॥

छिन्नहस्ता महानागाश्छिन्नगात्राश्च मारिष।
क्रौञ्चवद् व्यनदन् भीताः पृथिवीमधिशेरते ॥ ३१ ॥

आर्य! सूँड़ तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंके कट जानेसे हाथी भयभीत हो क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते और धराशायी हो जाते थे ॥ ३१ ॥

नकुलः सहदेवश्च हयानीकमभिद्रुतौ।
ते हयाः काञ्चनापीडा रुक्मभाण्डपरिच्छदाः ॥ ३२ ॥
वध्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः।

नकुल और सहदेवने घुड़सवारोंकी सेनापर आक्रमण किया। राजन्! उन घोड़ोंने सोनेकी कलँगी तथा सोनेके ही अन्यान्य आभूषण धारण किये थे। वे सब सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें मरकर गिरते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

पतद्भिस्तुरगै राजन् समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ३३ ॥
निर्जिह्वैश्च श्वसद्भिश्च कूजद्भिश्च गतासुभिः।
हयैर्बभौ नरश्रेष्ठ नानारूपधरैर्धरा ॥ ३४ ॥

राजन्! वहाँ गिरते हुए घोड़ोंकी लाशोंसे सारी पृथ्वी पट गयी। किन्हींकी जीभ निकल आयी थी, कोई लंबी साँस खींच रहे थे, कोई धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करते और कितनोंके प्राण निकल गये थे। नरश्रेष्ठ! इस प्रकार विभिन्न रूपधारी घोड़ोंसे आच्छादित होनेके कारण इस पृथ्वीकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

अर्जुनेन हतैः संख्ये तथा भारत राजभिः।
प्रबभौ वसुधा घोरा तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ३५ ॥

भारत! प्रजानाथ! जहाँ-तहाँ अर्जुनके द्वारा युद्धमें मारे गये राजाओंसे भरी हुई वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥

रथैर्भग्नैर्ध्वजैश्छिन्नैर्निकृत्तैश्च महायुधैः।
चामरैर्व्यजनैश्चैव छत्रैश्च सुमहाप्रभैः ॥ ३६ ॥
हारैर्निष्कैः सकेयूरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः।
उष्णीषैरपविद्धैश्च पताकाभिश्च सर्वशः ॥ ३७ ॥
अनुकर्षैः शुभै राजन् योक्त्रैश्चैव सरश्मिभिः।
संकीर्णा वसुधा भाति वसन्ते कुसुमैरिव ॥ ३८ ॥

राजन्! टूटे हुए रथ, कटे हुए ध्वज, छिन्न-भिन्न हुए बड़े-बड़े आयुध, चवँर, व्यजन, अत्यन्त प्रकाशमान छत्र, सोनेके हार, केयूर, कुण्डलमण्डित मस्तक, गिरे हुए शिरोभूषण (पगड़ी आदि), पताका, सुन्दर अनुकर्ष,* जोत और बागडोर आदिसे आच्छादित हुई वह संग्रामभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो वसन्त ऋतुमें उसपर भाँति-भाँतिके फूल गिरे हुए हों ॥ ३६—३८ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डूनामपि भारत।
क्रुद्धे शान्तनवे भीष्मे द्रोणे च रथसत्तमे ॥ ३९ ॥
अश्वत्थाम्नि कृपे चैव तथैव कृतवर्मणि।
तथेतरेषु क्रुद्धेषु तावकानामपि क्षयः ॥ ४० ॥

भारत! शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—इनके कुपित होनेसे पाण्डव सैनिकोंका भी इस प्रकार यह संहार हुआ था। साथ ही पाण्डवोंके कुपित होनेसे आपके योद्धाओंका भी ऐसा ही विकट विनाश हुआ था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

* रथके नीचे रहनेवाली लकड़ीको अनुकर्ष कहते हैं, जिसके सहारे पहिये रहते हैं।

नवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध

संजय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये।
शकुनिः सौबलः श्रीमान् पाण्डवान् समुपाद्रवत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! जिस समय बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय सुबलपुत्र श्रीमान् शकुनिने पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

तथैव सात्वतो राजन् हार्दिक्यः परवीरहा।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानां वरूथिनीम्॥ २॥

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले सात्वतवंशी कृतवर्माने उस संग्राममें पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥२॥

ततः काम्बोजमुख्यानां नदीजानां च वाजिनाम्।
आरट्टानां महीजानां सिन्धुजानां च सर्वशः॥ ३॥
वनायुजानां शुभ्राणां तथा पर्वतवासिनाम्।
वाजिनां बहुभिः संख्ये समन्तात् परिवारयन्॥ ४॥
ये चापरे तित्तिरिजा जवना वातरंहसः।
सुवर्णालंकृतैरेतैर्वर्मवद्भिः सुकल्पितैः॥ ५॥
हयैर्वातजवैर्मुख्यैः पाण्डवस्य सुतो बली।
अभ्यवर्तत तत् सैन्यं हृष्टरूपः परंतपः॥ ६॥

तत्पश्चात् काम्बोज देशके अच्छे घोड़े, दरियाई घोड़े, मही, सिन्धु, वनायु, आरट्ट तथा पर्वतीय प्रान्तोंमें होनेवाले सुन्दर घोड़े—इन सबकी बहुत बड़ी सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ शत्रुओंको संताप देनेवाला पाण्डुनन्दन अर्जुनका बलवान् पुत्र इरावान् हर्षमें भरकर रणभूमिमें कौरवोंकी उस सेनापर चढ़ आया। उसके साथ तित्तिर प्रदेशके शीघ्रगामी घोड़े भी मौजूद थे, जो वायुके समान वेगशाली थे। वे सबके सब सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके शरीरोंमें कवच बँधे हुए थे और उन्हें सुन्दर साज-बाजसे सजाया गया था। वे सभी घोड़े अच्छी जातिके तथा वायुके तुल्य शीघ्रगामी थे॥

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान् नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥ ७॥

अर्जुनका पराक्रमी पुत्र श्रीमान् इरावान् नागराज कौरव्यकी पुत्रीके गर्भसे बुद्धिमान् अर्जुनद्वारा उत्पन्न किया गया था।७।

ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥ ८॥
भार्यार्थे तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्।
एवमेष समुत्पन्नः परपक्षेऽर्जुनात्मजः॥ ९॥

नागराजकी वह पुत्री संतानहीन थी। उसके मनोनीत पतिको* गरुड़ने मार डाला था, जिससे वह अत्यन्त दीन एवं दयनीय हो रही थी। ऐरावतवंशी कौरव्यनागने उसे अर्जुनको अर्पित किया और अर्जुनने कामके अधीन हुई उस नागकन्याको भार्यारूपमें ग्रहण किया था। इस प्रकार यह अर्जुनपुत्र उत्पन्न हुआ था। वह सदा मातृकुलमें ही रहा॥८-९॥

स नागलोके संवृद्धो मात्रा च परिरक्षितः।
पितृव्येण परित्यक्तः पार्थद्वेषाद् दुरात्मना॥ १०॥

वह नागलोकमें ही माताद्वारा पाल-पोसकर बड़ा किया गया और सब प्रकारसे वहीं उसकी रक्षा की गयी थी। उस बालकके किसी दुरात्मा वयोवृद्ध सम्बन्धीने अर्जुनके प्रति द्वेष होनेके कारण इनके उस पुत्रको त्याग दिया था॥ १०॥

रूपवान् बलसम्पन्नो गुणवान् सत्यविक्रमः।
इन्द्रलोकं जगामाशु श्रुत्वा तत्रार्जुनं गतम्॥ ११॥

इरावान् भी रूपवान्, बलवान्, गुणवान् और सत्यपराक्रमी था, बड़े होनेपर जब उसने सुना कि मेरे पिता अर्जुन इस समय इन्द्रलोकमें गये हुए हैं, तब वह शीघ्र ही वहीं जा पहुँचा॥ ११॥

सोऽभिगम्य महाबाहुः पितरं सत्यविक्रमः।
अभ्यवादयदव्यग्रो विनयेन कृताञ्जलिः॥ १२॥
न्यवेदयत चात्मानमर्जुनस्य महात्मनः।
इरावानस्मि भद्रं ते पुत्रश्चाहं तव प्रभो॥ १३॥
मातुः समागमो यश्च तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
तच्च सर्वं यथावृत्तमनुसस्मार पाण्डवः॥ १४॥

उस सत्यपराक्रमी महाबाहु वीरने अपने पिताके पास पहुँचकर शान्तभावसे उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक हाथ जोड़ महामना अर्जुनके समक्ष अपना परिचय देते हुए

---

* यहाँ मूलमें 'पतौ' पाठ है। व्याकरणके अनुसार 'पति' शब्दका सप्तमीके एक वचनमें 'पत्यौ' रूप होता है। अतः जहाँ 'पतौ' पदका प्रयोग है, वहाँ मुख्य 'पति' का वाचक पति शब्द नहीं है। 'पतिरिवाचरतीति पतिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आचारक्विबन्त 'पति' शब्दका यहाँ प्रयोग है, जिसका अर्थ है—पतिसदृश। तात्पर्य यह कि जिसके लिये कन्याका वाग्दान किया गया है, वह मनोनीत पति ही विवाहके पहलेतक 'पतितुल्य' है। विवाहके बाद साक्षात् 'पति' होता है। इस नागकन्याके मनोनीत पतिको गरुड़ने मार डाला था, इसीलिये 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पाराशर-वचनके अनुसार उसका अर्जुनके साथ सम्बन्ध हुआ और धर्मात्मा अर्जुनने उसे पत्नीरूपसे ग्रहण किया।

बोला—'प्रभो ! आपका कल्याण हो। मैं आपका ही पुत्र इरावान् हूँ।' उसकी माताके साथ अर्जुनका जो समागम हुआ था, वह सब उसने निवेदन किया। पाण्डुनन्दन अर्जुनको वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे स्मरण हो आया॥१२—१४॥

परिष्वज्य सुतं चापि आत्मनः सदृशं गुणैः।
प्रीतिमानानयत् पार्थो देवराजनिवेशने॥ १५॥

गुणोंमें अपने ही समान उस पुत्रको हृदयसे लगाकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे देवराजके भवनमें ले गये॥

सोऽर्जुनेन समाज्ञप्तो देवलोके तदा नृप।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः स्वकार्यं प्रति भारत॥ १६॥

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! उन दिनों देवलोकमें अर्जुनने प्रेमपूर्वक अपने महाबाहु पुत्रको अपना सब कार्य बताते हुए कहा— ॥ १६ ॥

युद्धकाले त्वयास्माकं साह्यं देयमिति प्रभो।
बाढमित्येवमुक्त्वा तु युद्धकाल इहागतः॥ १७॥

'शक्तिशाली पुत्र ! युद्धके अवसरपर तुम हमलोगोंको सहायता देना।' तब बहुत अच्छा कहकर इरावान् चला गया और अब युद्धके अवसरपर यहाँ आया है ॥ १७ ॥

कामवर्णजवैरश्वैर्बहुभिः संवृतो नृप।
ते हयाः काञ्चनापीडा नानावर्णा मनोजवाः॥ १८॥

नरेश्वर ! इरावान्‌के साथ इच्छानुसार रूप-रंग और वेगवाले बहुत-से घोड़े मौजूद थे। वे सब-के-सब सोनेके शिरोभूषण धारण करनेवाले तथा मनके समान वेगशाली थे। उनके रंग अनेक प्रकारके थे ॥ १८ ॥

उत्पेतुः सहसा राजन् हंसा इव महोदधौ।
ते त्वदीयान् समासाद्य हयसंघान् मनोजवान्॥ १९॥
क्रोडैः क्रोडानभिघ्नन्तो घोणाभिश्च परस्परम्।
निपेतुः सहसा राजन् सुवेगाभिहता भुवि॥ २०॥

राजन् ! वे घोड़े महासागरमें उड़नेवाले हंसोंके समान सहसा उछले और आपके मनके समान वेगशाली अश्वोंके समुदायमें पहुँचकर छातीसे उनकी छातीमें तथा नासिकासे एक दूसरेकी नासिकापर चोट करने लगे। वे सहसा वेगपूर्वक टकराकर पृथ्वीपर गिरते थे ॥ १९-२० ॥

निपतद्भिस्तथा तैश्च हयसंघैः परस्परम्।
शुश्रुवे दारुणः शब्दः सुपर्णपतने यथा॥ २१॥

वे अश्वोंके समुदाय परस्पर टकराकर जब गिरते थे, उस समय गरुडके वेगपूर्वक उतरनेके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ २१ ॥

तथैव तावका राजन् समेत्यान्योन्यमाहवे।
परस्परवधं घोरं चक्रुस्ते हयसादिनः॥ २२॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके और पाण्डवोंके घुड़सवार युद्धमें एक दूसरेसे भिड़कर आपसमें भयंकर मार-काट करते थे ॥ २२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम्।
उभयोरपि संशान्ता हयसङ्घाः समन्ततः॥ २३॥

इस प्रकार अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध छिड़ जानेपर दोनों पक्षोंके अश्वसमूह चारों ओर नष्ट हो गये ॥ २३ ॥

प्रक्षीणसायकाः शूरा निहताश्वाः श्रमातुराः।
विलयं समनुप्राप्तास्तक्षमाणाः परस्परम्॥ २४॥

शूरवीर योद्धाओंके पास बाण समाप्त हो गये। उनके घोड़े मारे गये। वे परिश्रमसे पीड़ित हो परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए विनष्ट हो गये ॥ २४ ॥

ततः क्षीणे हयानीके किंचिच्छेषे च भारत।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि॥ २५॥

भारत ! इस प्रकार जब घुड़सवारोंकी सेना नष्ट हो गयी और उसका अल्पभाग ही अवशिष्ट रह गया; उस अवस्थामें शकुनिके शूरवीर भाई युद्धके मुहानेपर निकले॥

वायुवेगसमस्पर्शाञ्जवे वायुसमांश्च ते।
आरुह्य बलसम्पन्नान् वयःस्थांस्तुरगोत्तमान्॥ २६॥
गजो गवाक्षो वृषभश्चर्मवानार्जवः शुकः।
षडेते बलसम्पन्ना निर्ययुर्महतो बलात्॥ २७॥

जिनका स्पर्श वायुवेगके समान दुःसह था, जो वेगमें वायुकी समानता करते थे, ऐसे बलसम्पन्न नयी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंपर सवार हो गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान्, आर्जव और शुक—ये छः बलवान् वीर अपनी विशाल सेनासे बाहर निकले ॥ २६-२७ ॥

वार्यमाणाः शकुनिना तैश्च योधैर्महाबलैः।
संनद्धा युद्धकुशला रौद्ररूपा महाबलाः॥ २८॥

यद्यपि शकुनिने उन्हें मना किया, अन्यान्य महाबली योद्धाओंने भी उन्हें रोका, तथापि वे युद्धकुशल, महाबली रौद्ररूपधारी क्षत्रिय कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २८ ॥

तदनीकं महाबाहो भित्त्वा परमदुर्जयम्।
बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः॥ २९॥
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः।

महाबाहो ! उस समय उन युद्धदुर्मद गान्धारदेशीय वीरोंने विजय अथवा स्वर्गकी अभिलाषा लेकर विशाल सेनाके साथ पाण्डव-वाहिनीके परम दुर्जयव्यूहका भेदन करके हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो उसके भीतर प्रवेश किया॥२९½॥

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान्॥ ३०॥

अब्रवीत् समरे योधान् विचित्रान् दारुणायुधान्।
यथैते धार्तराष्ट्रस्य योधाः सानुगवाहनाः ॥ ३१ ॥
हन्यन्ते समरे सर्वे तथा नीतिर्विधीयताम्।

तब उन्हें सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान्‌ने भी समरभूमिमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रवाले अपने विचित्र योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुम सब लोग संग्राममें ऐसी नीति बना लो, जिससे दुर्योधनके ये समस्त योद्धा अपने सेवकों और सवारियोंसहित मार डाले जायँ' ॥ ३०-३१½ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा ते सर्वे योधा इरावतः ॥ ३२ ॥
जघ्नुस्तेषां बलानीकं दुर्जयं समरे परैः।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इरावान्‌के समस्त सैनिकोंने उन छहों वीरोंके सैन्यसमूहको, जो समराङ्गणमें दूसरोंके लिये दुर्जय था, मार डाला ॥ ३२½ ॥

तदनीकमनीकेन समरे वीक्ष्य पातितम् ॥ ३३ ॥
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सुबलस्यात्मजा रणे।
इरावन्तमभिद्रुत्य सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३४ ॥

अपनी सेनाको समरभूमिमें शत्रुकी सेनाद्वारा मार गिरायी गयी देख सुबलके सभी पुत्र इसे सह न सके। उन्होंने इरावान्‌पर धावा करके उसे सब ओरसे घेर लिया॥ ३३-३४ ॥

ताडयन्तः शितैः प्रासैश्चोदयन्तः परस्परम्।
ते शूराः पर्यधावन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ३५ ॥

वे छहों शूर तीखे प्रासोंसे मारते और एक दूसरेको बढ़ावा देते हुए इरावान्‌पर टूट पड़े तथा उसे अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ३५ ॥

इरावानथ निर्भिन्नः प्रासैस्तीक्ष्णैर्महात्मभिः।
स्रवता रुधिरेणाक्तस्तोत्रैर्विद्ध इव द्विपः ॥ ३६ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके तीखे प्रासोंसे क्षत-विक्षत होकर इरावान् बहते हुए रक्तसे नहा उठा। अङ्कुशोंसे घायल हुए हाथीके समान व्याकुल हो गया ॥ ३६ ॥

पुरतोऽपि च पृष्ठे च पार्श्वयोश्च भृशाहतः।
एको बहुभिरत्यर्थं धैर्याद् राजन् न विव्यथे ॥ ३७ ॥

राजन् ! वह अकेला था और उसपर प्रहार करनेवालोंकी संख्या बहुत थी। वह आगे-पीछे और अगल-बगलमें अत्यन्त घायल हो गया था; तो भी धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

इरावानपि संक्रुद्धः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः।
मोहयामास समरे विद्ध्वा परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

अब इरावान्‌को भी बड़ा क्रोध हुआ। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उस वीरने समरमें तीखे बाणोंद्वारा बींधकर उन सबको मूर्छित कर दिया ॥ ३८ ॥

प्रासानुद्धृत्य तरसा स्वशरीरादरिंदमः।
तैरेव ताडयामास सुबलस्यात्मजान् रणे ॥ ३९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले इरावान्‌ने अपने शरीरसे वेगपूर्वक प्रासोंको निकालकर उन्हींके द्वारा रणभूमिमें सुबल-पुत्रोंपर प्रहार किया ॥ ३९ ॥

विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम्।
पदातिर्द्रुतमागच्छज्जिघांसुः सौबलान् युधि ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् तीखी तलवार और ढाल निकालकर इरावान्‌ने युद्धमें सुबलपुत्रोंको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत उनके ऊपर पैदल ही धावा किया ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यागतप्राणाः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
भूयः क्रोधसमाविष्टा इरावन्तमभिद्रुताः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्रोंमें प्राणशक्ति पुनः लौट आयी। अतः वे सबके सब सचेत होनेपर पुनः क्रोधमें भर गये और इरावान्‌पर दौड़े ॥ ४१ ॥

इरावानपि खड्गेन दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अभ्यवर्तत तान् सर्वान् सौबलान् बलदर्पितः ॥ ४२ ॥

इरावान् भी बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाता हुआ खड्गके द्वारा उन समस्त सुबलपुत्रोंका सामना करने लगा ॥ ४२ ॥

लाघवेनाथ चरतः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
अन्तरं नाभ्यगच्छन्त चरन्तः शीघ्रगैर्हयैः ॥ ४३ ॥

वह अकेला बड़ी फुर्तीसे पैंतरे बदल रहा था और वे सभी सुबलपुत्र शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा विचर रहे थे, तो भी वे अपनेमें उसकी अपेक्षा कोई विशेषता न ला सके ॥४३॥

भूमिष्ठमथ तं संख्ये सम्प्रदृश्य ततः पुनः।
परिवार्य भृशं सर्वे ग्रहीतुमुपचक्रमुः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर इरावान्‌को भूमिपर स्थित देख वे सभी सुबलपुत्र युद्धमें उसे पुनः भलीभाँति घेरकर बन्दी बनानेकी तैयारी करने लगे ॥ ४४ ॥

अथाभ्याशगतानां स खड्गेनामित्रकर्शनः।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ॥ ४५ ॥

तब शत्रुसूदन इरावान्‌ने निकट आनेपर कभी दाहिने और कभी बायें हाथसे तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओंके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४५ ॥

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान्।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ॥ ४६ ॥

उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओंको भी उसने काट डाला। इस प्रकार अङ्ग-अङ्ग कट जानेसे वे प्राणशून्य हो मरकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

वृषभस्तु महाराज बहुधा विपरिक्षतः ।
अमुच्यत महारौद्रात् तस्माद् वीरावकर्तनात् ॥ ४७ ॥

महाराज ! वृषभ बहुत घायल हो गया था तो भी वीरोंका उच्छेद करनेवाले उस महाभयंकर संग्रामसे उसने अपने आपको किसी प्रकार मुक्त कर लिया ॥ ४७ ॥

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ४८ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिंदमम् ।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ॥ ४९ ॥

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा और वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर दीखनेवाले राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र (अलम्बुष) के पास दौड़ा गया । वह राक्षस शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था । पूर्वकालमें किये गये बकासुरवधके कारण वह भीमसेनका वैरी बन बैठा था ॥ ४८-४९ ॥

पश्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली ।
मायावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ॥ ५० ॥

उसके पास जाकर दुर्योधनने कहा—'वीर ! देखो, अर्जुनका यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है । इसने मेरा अप्रिय करनेके लिये मेरी सेनाका संहार कर डाला है ॥५०॥

त्वं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः ।
कृतवैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ॥ ५१ ॥

'तात ! तुम इच्छानुसार चलनेवाले तथा मायामय अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल हो । कुन्तीकुमार भीमने तुम्हारे साथ वैर भी किया है । अतः तुम युद्धमें इस इरावान्‌को अवश्य मार डालो' ॥ ५१ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः ।
प्रययौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ॥ ५२ ॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भयानक दिखायी देनेवाला राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुनकुमार इरावान् था, उस स्थानपर गया ॥ ५२ ॥

आरूढैर्युद्धकुशलैर्विमलप्रासयोधिभिः ।
वीरैः प्रहारिभिर्युक्तैः स्वैरनीकैः समावृतः ॥ ५३ ॥
हतशेषैर्महाराज द्विसाहस्रैर्हयोत्तमैः ।
निहन्तुकामः समरे इरावन्तं महाबलम् ॥ ५४ ॥

उसके साथ निर्मल प्रास नामक अस्त्रसे युद्ध करनेवाले संग्रामकुशल तथा प्रहार करनेमें समर्थ वीरोंसे युक्त बहुत-सी सेनाएँ थीं । उसके सभी सैनिक सवारियोंपर बैठे हुए थे । उन सबसे घिरा हुआ वह समरभूमिमें महाबली इरावान्‌को मार डालनेकी इच्छासे युद्धस्थलमें गया । महाराज ! मरनेसे बचे हुए दो हजार उत्तम घोड़े उसके साथ थे ॥ ५३-५४ ॥

इरावानपि संक्रुद्धस्त्वरमाणः पराक्रमी ।
हन्तुकाममित्रघ्नो राक्षसं प्रत्यवारयत् ॥ ५५ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाला पराक्रमी इरावान् भी क्रोधमें भरा हुआ था । उसने उसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले उस राक्षसका बड़ी उतावलीके साथ निवारण किया ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसः सुमहाबलः ।
त्वरमाणस्ततो मायां प्रयोक्तुमुपचक्रमे ॥ ५६ ॥

इरावान्‌को आते देख उस महाबली राक्षसने शीघ्रतापूर्वक मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

तेन मायामयाः सृष्टा हयास्तावन्त एव हि ।
स्वारूढा राक्षसैर्घोरैः शूलपट्टिशधारिभिः ॥ ५७ ॥

उसने मायामय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिनपर शूल और पट्टिश धारण करनेवाले भयंकर राक्षस सवार थे॥

ते संरब्धाः समागम्य द्विसाहस्राः प्रहारिणः ।
अचिराद् गमयामासुः प्रेतलोकं परस्परम् ॥ ५८ ॥

वे दो हजार प्रहारकुशल योद्धा क्रोधमें भरे हुए आकर इरावान्‌के सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे । इस प्रकार दोनों ओरके योद्धाओंने परस्पर प्रहार करके शीघ्र ही एक दूसरेको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५८ ॥

तस्मिंस्तु निहते सैन्ये तावुभौ युद्धदुर्मदौ ।
संग्रामे समतिष्ठेतां यथा वै वृत्रवासवौ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जब दोनों ओरकी सेनाएँ मार डाली गयीं, तब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों वीर इरावान् तथा अलम्बुष राक्षस ही युद्धभूमिमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान डटे रहे ॥ ५९ ॥

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम् ।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ॥ ६० ॥

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुषको अपने ऊपर धावा करते देख महाबली इरावान् भी क्रोधमें भरकर उसके ऊपर टूट पड़ा॥

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः ।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ॥ ६१ ॥

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान्‌ने अपने खड्गसे उसके देदीप्यमान धनुष और भाथेको शीघ्र ही काट डाला ॥ ६१ ॥

स निकृत्तं धनुर्दृष्ट्वा खं जवेन समाविशत् ।
इरावन्तमभिक्रुद्धं मोहयन्निव मायया ॥ ६२ ॥

धनुषको कटा हुआ देख वह राक्षस क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌को अपनी मायासे मोहित-सा करता हुआ बड़े वेगसे आकाशमें उड़ गया ॥ ६२ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य इरावानपि राक्षसम् ।
विमोहयित्वा मायाभिस्तस्य गात्राणि सायकैः ॥ ६३ ॥

चिच्छेद सर्वमर्मज्ञः कामरूपो दुरासदः।
तथा स राक्षसश्रेष्ठः शरैः कृत्तः पुनः पुनः ॥ ६४ ॥
सम्बभूव महाराज समवाप च यौवनम्।
माया हि सहजा तेषां वयो रूपं च कामजम् ॥ ६५ ॥

तब इरावान् भी आकाशमें उछलकर उस राक्षसको अपनी मायाओंसे मोहित करके उसके अङ्गोंको सायकों द्वारा छिन्न-भिन्न करने लगा। वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानोंको जाननेवाला और दुर्जय था। वह बाणोंसे कटनेपर भी पुनः ठीक हो जाता था। महाराज! वह नयी जवानी प्राप्त कर लेता था; क्योंकि राक्षसोंमें माया-का बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप तथा अवस्था धारण कर लेते हैं ॥ ६३—६५ ॥

एवं तद् राक्षसस्याङ्गं छिन्नं छिन्नं बभूव ह।
इरावानपि संक्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ॥ ६६ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन चिच्छेद च पुनः पुनः।

इस प्रकार उस राक्षसका जो-जो अङ्ग कटता, वह पुनः नये सिरेसे उत्पन्न हो जाता था। इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षसको बारंबार तीखे फरसेसे काटने लगा ॥ ६६½ ॥

स तेन बलिना वीरश्छिद्यमान इरावता ॥ ६७ ॥
राक्षसोऽप्यनदद् घोरं स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।

बलवान् इरावान्के फरसेसे छिन्न-भिन्न हुआ वह वीर राक्षस घोर आर्तनाद करने लगा। उसका वह शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ६७½ ॥

परश्वधक्षतं रक्षः सुस्राव बहु शोणितम् ॥ ६८ ॥
ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे।
आर्ष्यशृङ्गिस्तथा दृष्ट्वा समरे शत्रुमूर्जितम् ॥ ६९ ॥
कृत्वा घोरं महद् रूपं ग्रहीतुमुपचक्रमे।
अर्जुनस्य सुतं वीरमिरावन्तं यशस्विनम् ॥ ७० ॥

फरसेसे बारंबार छिदनेके कारण राक्षसके शरीरसे बहुत-सा रक्त बह गया। इससे राक्षस ऋष्यशृंगके बलवान् पुत्र अलम्बुषने समरभूमिमें अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया। उसने युद्धस्थलमें अपने शत्रुको प्रबल हुआ देख अत्यन्त भयंकर एवं विशाल रूप धारण करके अर्जुनके वीर एवं यशस्वी पुत्र इरावान्को कैद करनेका प्रयत्न आरम्भ किया॥

संग्रामशिरसो मध्ये सर्वेषां तत्र पश्यताम्।
तां दृष्ट्वा तादृशीं मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ ७१ ॥
इरावानपि संक्रुद्धो मायां स्रष्टुं प्रचक्रमे।

युद्धके मुहानेपर समस्त योद्धाओंके देखते-देखते वह इरावान्को पकड़ना चाहता था। उस दुरात्मा राक्षसकी वैसी माया देखकर क्रोधमें भरे हुए इरावान्ने भी मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ७१½ ॥

तस्य क्रोधाभिभूतस्य समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ७२ ॥
योऽन्वयो मातृकस्तस्य स एनमभिपेदिवान्।

संग्राममें पीठ न दिखानेवाला इरावान् जब क्रोधमें भरकर युद्ध कर रहा था, उसी समय उसके मातृकुलके नागोंका समुदाय उसकी सहायताके लिये वहाँ आ पहुँचा ॥

स नागैर्बहुभी राजन्निरावान् संवृतो रणे ॥ ७३ ॥
दधार सुमहद् रूपमनन्त इव भोगवान्।

राजन्! रणभूमिमें बहुतेरे नागोंसे घिरे हुए इरावान्ने विशाल शरीरवाले शेषनागकी भाँति बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया ॥ ७३½ ॥

ततो बहुविधैर्नागैश्छादयामास राक्षसम् ॥ ७४ ॥
छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर उसने बहुत-से नागोंद्वारा राक्षसको आच्छादित कर दिया। नागोंद्वारा आच्छादित होनेपर उस राक्षसराजने कुछ सोच-विचारकर गरुडका रूप धारण कर लिया और समस्त नागोंको भक्षण करना आरम्भ किया ॥ ७४-७५ ॥

मायया भक्षिते तस्मिन्नन्वये तस्य मातृके।
विमोहितमिरावन्तं न्यहनद् राक्षसोऽसिना ॥ ७६ ॥

जब उस राक्षसने इरावान्के मातृकुलके सब नागोंको भक्षण कर लिया, तब मोहित हुए इरावान्को तलवारसे मार डाला ॥ ७६ ॥

सकुण्डलं समुकुटं पद्मेन्दुसदृशप्रभम्।
इरावतः शिरो रक्षः पातयामास भूतले ॥ ७७ ॥

इरावान्के कमल और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा कुण्डल एवं मुकुटसे मण्डित मस्तकको काटकर राक्षसने धरतीपर गिरा दिया ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तु विहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार राक्षसद्वारा अर्जुनके वीर पुत्र इरावान्के मारे जानेपर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोक-रहित हो गये ॥ ७८ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे तादृशे भैरवे पुनः।
महान् व्यतिकरो घोरः सेनयोः समपद्यत ॥ ७९ ॥

फिर तो उस भयंकर एवं महान् संग्राममें दोनों सेनाओंका अत्यन्त भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ७९ ॥

गजा हयाः पदाताश्च विमिश्रा दन्तिभिर्हताः।
रथाश्वा दन्तिनश्चैव पत्तिभिस्तत्र सूदिताः ॥ ८० ॥

तथा पत्तिरथौघाश्च हयाश्च बहवो रणे।
रथिभिर्निहता राजंस्तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

राजन्! आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंके उस संकुल युद्धमें दोनों पक्षोंके मिले हुए हाथी, घोड़े और पैदल दन्तार हाथियोंद्वारा मारे गये। रथ, घोड़े और हाथियोंको पैदल योद्धाओंने मार गिराया तथा बहुत-से पैदल, रथियोंके समूह और घुड़सवार रथी योद्धाओंके द्वारा मार डाले गये॥

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ॥ ८२ ॥

अर्जुनको अपने औरस पुत्र इरावान्‌के मारे जानेका पता नहीं लगा था। वे समराङ्गणमें भीष्मकी रक्षा करनेवाले शूरवीर नरेशोंका संहार कर रहे थे॥ ८२॥

तथैव तावका राजन् सृंजयाश्च सहस्रशः।
जुह्वतः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ८३ ॥

राजन्! इसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक तथा सहस्रों सृंजय वीर समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको मार रहे थे॥ ८३॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः।
बाहुभिः समयुध्यन्त समवेताः परस्परम् ॥ ८४ ॥

कवच, रथ और धनुषके नष्ट हो जानेपर बाल बिखेरे हुए बहुतेरे योद्धा परस्पर भिड़कर भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे॥ ८४॥

तथा मर्मातिगैर्भीष्मो निजघान महारथान्।
कम्पयन् समरे सेनां पाण्डवानां परंतपः ॥ ८५ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले भीष्म समराङ्गणमें अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्डव-सेनाको कम्पित करते हुए उसके बड़े-बड़े रथियोंको मार रहे थे॥ ८५॥

तेन यौधिष्ठिरे सैन्ये बहवो मानवा हताः।
दन्तिनः सादिनश्चैव रथिनोऽथ हयास्तथा ॥ ८६ ॥

उन्होंने युधिष्ठिरकी सेनाके बहुत-से पैदलों, सवारोंसहित हाथियों, रथारोहियों और घुड़सवारोंको मार डाला॥८६॥

तत्र भारत भीष्मस्य रणे दृष्ट्वा पराक्रमम्।
अत्यद्भुतमपश्याम शक्रस्येव पराक्रमम् ॥ ८७ ॥

भारत! हमने उस युद्धमें भीष्मका इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत पराक्रम देखा था॥ ८७॥

तथैव भीमसेनस्य पार्षतस्य च भारत।
रौद्रमासीद् रणे युद्धं सात्यकस्य च धन्विनः ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा धनुर्धर सात्यकिका भयानक युद्ध चल रहा था॥

दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रान्तं पाण्डवान् भयमाविशत्।
एक एव रणे शक्तो निहन्तुं सर्वसैनिकान् ॥ ८९ ॥
किं पुनः पृथिवीशूरैर्योधव्रातैः समावृतः।
इत्यब्रुवन् महाराज रणे द्रोणेन पीडिताः ॥ ९० ॥

द्रोणाचार्यका पराक्रम देखकर तो पाण्डवोंके मनमें भय समा गया। महाराज! वे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यसे पीड़ित होकर कहने लगे कि 'रणभूमिमें अकेले द्रोणाचार्य ही समस्त सैनिकोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। फिर जब ये भूमण्डलके सुविख्यात शूरवीर योद्धाओंके समुदायोंसे घिरे हुए हैं, तब तो इनकी विजयके लिये कहना ही क्या है?'॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे भरतर्षभ।
उभयोः सेनयोः शूरा नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ९१ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस भयंकर संग्राममें दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सके॥ ९१॥

आविष्टा इव युध्यन्ते रक्षोभूता महाबलाः।
तावकाः पाण्डवेयाश्च संरब्धास्तात धन्विनः ॥ ९२ ॥

तात! आपके और पाण्डव पक्षके महाबली धनुर्धर वीर भूतोंसे आविष्ट-से होकर राक्षसोंके समान बनकर क्रोधपूर्वक एक दूसरेसे जूझ रहे थे॥ ९२॥

न स्म पश्यामहे कंचित् प्राणान् यः परिरक्षति।
संग्रामे दैत्यसंकाशे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ९३ ॥

बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस दैत्योंके तुल्य संग्राममें हमने किसीको ऐसा नहीं देखा, जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर रहा हो॥ ९३॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि इरावद्वधे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें इरावान्‌का वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९०॥

एकनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

इरावन्तं तु निहतं दृष्ट्वा पार्था महारथाः।
संग्रामे किमकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इरावान्‌को संग्राममें मारा गया देख महारथी कुन्तीपुत्रोंने क्या किया? यह मुझसे कहो।' १॥

संजय उवाच

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः॥ २॥

संजय बोले—राजन्! इरावान्‌को युद्धभूमिमें मारा गया देख भीमसेनका पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा॥ २॥

नदतस्तस्य शब्देन पृथिवी सागराम्बरा।
सपर्वतवना राजंश्चचाल सुभृशं तदा॥ ३॥
अन्तरिक्षं दिशश्चैव सर्वाश्च प्रदिशस्तथा।

नरेश्वर! उस राक्षसकी गर्जनासे समुद्र, आकाश, पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी जोर-जोरसे हिलने लगी। अन्तरिक्ष, दिशाएँ तथा समस्त कोणोंके प्रदेश भी काँपने लगे॥ ३½॥

तं श्रुत्वा सुमहानादं तव सैन्यस्य भारत॥ ४॥
ऊरुस्तम्भः समभवद् वेपथुः स्वेद एव च।

भारत! घटोत्कचका महान् सिंहनाद सुनकर आपके सैनिकोंकी जाँघें अकड़ गयीं, शरीर काँपने लगा और सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना निकलने लगा॥ ४½॥

सर्व एव महाराज तावका दीनचेतसः॥ ५॥
सर्वतः समचेष्टन्त सिंहभीता गजा इव।

महाराज! आपके सभी सैनिक सब ओरसे दीनचित्त हो सिंहसे डरे हुए हाथियोंकी भाँति भयपूर्ण चेष्टाएँ करने लगे॥ ५½॥

नर्दित्वा सुमहानादं निर्घातमिव राक्षसः॥ ६॥
ज्वलितं शूलमुद्यम्य रूपं कृत्वा विभीषणम्।
नानारूपप्रहरणैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः॥ ७॥
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः।

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर गर्जना करके काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए उस राक्षसने भीषणरूप बना प्रज्वलित त्रिशूल हाथमें ले भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े राक्षसोंके साथ आकर आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया॥ ६—७½॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम्॥ ८॥
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम्।

अत्यन्त क्रोधमें भरे भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको आक्रमण करते देख उसके भयसे अपनी सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग चली॥ ८½॥

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत्॥ ९॥
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः।

तब राजा दुर्योधनने विशाल धनुष लेकर बारंबार सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ घटोत्कचपर धावा किया॥

पृष्ठतोऽनुययौ चैनं स्रवद्भिः पर्वतोपमैः॥ १०॥
कुञ्जरैर्दशसाहस्रैर्वङ्गानामधिपः स्वयम्।

उसके पीछे मदकी धारा बहानेवाले पर्वताकार दस हजार गजराजोंकी सेना लिये स्वयं वङ्गदेशका राजा भी गया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम्॥ ११॥
पुत्रं तव महाराज चुकोप स निशाचरः।

महाराज! हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए आपके पुत्र दुर्योधनको आते हुए देख वह निशाचर कुपित हो उठा॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्॥ १२॥
राक्षसानां च राजेन्द्र दुर्योधनबलस्य च।

राजेन्द्र! फिर तो दुर्योधनकी सेना तथा राक्षसोंमें भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा॥ १२½॥

गजानीकं च सम्प्रेक्ष्य मेघवृन्दमिवोदितम्॥ १३॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा राक्षसाः शस्त्रपाणयः।

घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी सेनाको देखकर क्रोधमें भरे हुए राक्षस हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उसकी ओर दौड़े॥ १३½॥

नदन्तो विविधान् नादान् मेघा इव सविद्युतः॥ १४॥
शरशक्त्यृष्टिनाराचैर्निघ्नन्तो गजयोधिनः।
भिन्दिपालैस्तथा शूलैर्मुद्गरैः सपरश्वधैः॥ १५॥
पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च निजघ्नुस्ते महागजान्।

वे भाँति-भाँतिकी गर्जना करते हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पाते थे। बाण, शक्ति, ऋष्टि, नाराच, भिन्दिपाल, शूल, मुद्गर, फरसों, पर्वत-शिखर तथा वृक्षोंका प्रहार करके वे गजारोहियों तथा विशाल गजोंका वध करने लगे॥ १४-१५½॥

भिन्नकुम्भान् विरुधिरान् भिन्नगात्रांश्च वारणान्॥ १६॥
अपश्याम महाराज वध्यमानान् निशाचरैः।

महाराज! निशाचरोंद्वारा मारे जानेवाले गजराजोंको हमने देखा था। उनके कुम्भस्थल फट गये थे, शरीर रक्त-हीन हो गये और उनके भिन्न-भिन्न अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे॥ १६½॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु भग्नेषु गजयोधिषु॥ १७॥
दुर्योधनो महाराज राक्षसान् समुपाद्रवत्।
अमर्षवशमापन्नस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः॥ १८॥

महाराज! इस प्रकार गजारोहियोंके भग्न एवं नष्ट हो जानेपर दुर्योधनने अमर्षके वशीभूत हो अपने जीवनका मोह छोड़कर उन राक्षसोंपर धावा किया॥ १७-१८॥

मुमोच निशितान् बाणान् राक्षसेषु परंतप।
जघान च महेष्वासः प्रधानांस्तत्र राक्षसान्॥ १९॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाधनुर्धर दुर्योधनने राक्षसोंपर तीखे बाणोंका प्रहार किया और उनमेंसे प्रधान-प्रधान राक्षसोंको मार डाला ॥ १९ ॥

संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव।
वेगवन्तं महारौद्रं विद्युज्जिह्वं प्रमाथिनम् ॥ २० ॥
शरैश्चतुर्भिश्चतुरो निजघान महाबलः।

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने वेगवान्, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी—इन चार राक्षसोंको चार बाणोंसे मार डाला ॥ २०½ ॥

ततः पुनरमेयात्मा शरवर्षं दुरासदम् ॥ २१ ॥
मुमोच भरतश्रेष्ठो निशाचरबलं प्रति।

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने उस निशाचर-सेनाके ऊपर दुर्धर्ष बाणोंकी वर्षा आरम्भ की॥

तत् तु दृष्ट्वा महत् कर्म पुत्रस्य तव मारिष ॥ २२ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल भैमसेनिर्महाबलः।

आर्य ! आपके पुत्रका वह महान् कर्म देखकर भीमसेन-का महाबली पुत्र घटोत्कच क्रोधसे जल उठा ॥ २२½ ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ॥ २३ ॥
अभिदुद्राव वेगेन दुर्योधनमरिंदमम्।

उसने इन्द्रके वज्रके समान कान्तिमान् विशाल धनुषको खींचकर शत्रुदमन दुर्योधनपर बड़े वेगसे धावा किया ॥

तमापतन्तमुद्वीक्ष्य कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ २४ ॥
न विव्यथे महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव।

महाराज ! कालप्रेरित मृत्युके समान उस घटोत्कचको आते देख आपका पुत्र दुर्योधन तनिक भी व्यथित नहीं हुआ॥

अथैनमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः ॥ २५ ॥
अद्यानृण्यं गमिष्यामि पितॄणां मातुरेव च।
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः ॥ २६ ॥
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः।
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ॥ २७ ॥
सभामानीय दुर्बुद्धे बहुधा क्लेशिता त्वया।
तव च प्रियकामेन आश्रमस्था दुरात्मना ॥ २८ ॥
सैन्धवेन परामृष्टा परिभूय पितॄन् मम।
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम ॥ २९ ॥
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम्।

तदनन्तर क्रूर घटोत्कच क्रोधसे लाल आँखें करके दुर्योधनसे बोला—'ओ दुष्ट ! आज मैं अपने उन पितरों और माताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घ-कालतक वनमें रहनेके लिये विवश कर दिया था। तू बड़ा क्रूर है। दुर्बुद्धि नरेश ! तूने जो पाण्डवोंको द्यूतमें छलपूर्वक हराया था और जो एक ही वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाको रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर ले जाकर नाना प्रकारके क्लेश दिये थे तथा तेरा ही प्रिय करनेकी इच्छा-वाले दुरात्मा सिन्धुराजने मेरे पितरोंकी अवहेलना करके आश्रममें रहनेवाली द्रौपदीका अपहरण किया था, कुलाधम ! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो इन अपमानोंका और अन्य सब अत्याचारोंका भी आज मैं बदला चुका लूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ३० ॥
संदश्य दशनैरोष्ठं सृक्किणी परिसंलिहन्।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत्।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर हिडिम्बाकुमारने दाँतोंसे ओठ चबाते और जीभसे मुँहके कोनोंको चाटते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर दुर्योधनपर बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि की। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा ऋतुमें मेघ पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कच-युद्धविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध

संजय उवाच

ततस्तद् बाणवर्षं तु दुःसहं दानवैरपि।
दधार युधि राजेन्द्रो यथा वर्षं महाद्विपः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दानवोंके लिये भी दुःसह उस बाणवर्षाको राजाधिराज दुर्योधनने युद्धमें उसी प्रकार धारण किया, जैसे महान् गजराज जलकी वर्षाको अपने ऊपर धारण करता है ॥ १ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षाको लेकर भारी संशयमें पड़ गया ॥ २ ॥

मुमोच निशितांस्तीक्ष्णान् नाराचान् पञ्चविंशतिम्।

तेऽपतन् सहसा राजंस्तस्मिन्राक्षसपुङ्गवे ॥ ३ ॥
आशीविषा इव क्रुद्धाः पर्वते गन्धमादने ।

उसने अत्यन्त तीखे पचीस नाराच छोड़े। महाराज! वे सब सहसा उस राक्षसराज घटोत्कचपर जाकर गिरे, मानो गन्धमादन पर्वतपर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प कहींसे आ पड़े हों ॥ ३½ ॥

स तैर्विद्धः स्रवन् रक्तं प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ४ ॥
दध्रे मतिं विनाशाय राज्ञः स पिशिताशनः ।

उन बाणोंसे घायल होकर वह राक्षस कुम्भस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति अपने शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित करने लगा। उसने राजा दुर्योधनका विनाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ४½ ॥

जग्राह च महाशक्तिं गिरीणामपि दारिणीम् ॥ ५ ॥
सम्प्रदीप्तां महोल्काभामशनिं ज्वलितामिव ।

तत्पश्चात् उसने पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालनेवाली प्रज्वलित उल्का एवं वज्रके समान प्रकाशित होनेवाली एक महाशक्ति हाथमें ली ॥ ५½ ॥

समुद्यच्छन् महाबाहुर्जिघांसुस्तनयं तव ॥ ६ ॥
तामुद्यतामभिप्रेक्ष्य वङ्गानामधिपस्त्वरन् ।
कुञ्जरं गिरिसंकाशं राक्षसं प्रत्यचोदयत् ॥ ७ ॥

महाबाहु घटोत्कच आपके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे वह शक्ति ऊपरको उठा रहा था। उसे उठी हुई देख वंगदेशके राजाने बड़ी उतावलीके साथ अपने पर्वताकार गजराजको उस राक्षसकी ओर बढ़ाया ॥ ६-७ ॥

स नागप्रवरेणाजौ बलिना शीघ्रगामिना ।
यतो दुर्योधनरथस्तं मार्गं प्रत्यवर्तत ॥ ८ ॥

वे वंगनरेश उस शीघ्रगामी महाबली गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके मैदानमें उसी मार्गपर चले, जहाँ दुर्योधनका रथ खड़ा था ॥ ८ ॥

रथं च वारयामास कुञ्जरेण सुतस्य ते ।
मार्गमावारितं दृष्ट्वा राज्ञा वङ्गेन धीमता ॥ ९ ॥
घटोत्कचो महाराज क्रोधसंरक्तलोचनः ।

उन्होंने अपने हाथीके द्वारा आपके पुत्रका मार्ग रोक दिया। महाराज! बुद्धिमान् वंगनरेशके द्वारा दुर्योधनके रथका मार्ग रुका हुआ देख घटोत्कचके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ॥ ९½ ॥

उद्यतां तां महाशक्तिं तस्मिंश्चिक्षेप वारणे ॥ १० ॥
स तयाभिहतो राजंस्तेन बाहुप्रमुक्तया ।
संजातरुधिरोत्पीडः पपात च ममार च ॥ ११ ॥

उसने उस उठायी हुई महाशक्तिको उस हाथीपर ही चला दिया। राजन्! घटोत्कचकी भुजाओंसे छूटी हुई उस शक्तिके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और उससे रक्तका स्रोत बहने लगा। फिर वह तत्काल ही भूमिपर गिरा और मर गया ॥ १०-११ ॥

पतत्यथ गजे चापि वङ्गानामीश्वरो बली ।
जवेन समभिद्रुत्य जगाम धरणीतलम् ॥ १२ ॥

हाथीके गिरते समय बलवान् वंगनरेश उसकी पीठसे वेगपूर्वक कूदकर धरतीपर आ गये ॥ १२ ॥

दुर्योधनोऽपि सम्प्रेक्ष्य पतितं वरवारणम् ।
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा जगाम परमां व्यथाम् ॥ १३ ॥

उस श्रेष्ठ गजराजको गिरा हुआ देख सारी कौरवसेना भाग खड़ी हुई। यह सब देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १३ ॥

(अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम् ।)
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य आत्मनश्चाभिमानिताम् ।
प्राप्तेऽपक्रमणे राजा तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

वह घटोत्कचके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसका सामना करनेमें असमर्थ हो गया। क्षत्रियधर्म तथा अपने अभिमानको सामने रखकर पलायनका अवसर प्राप्त होनेपर भी राजा दुर्योधन पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ १४ ॥

संधाय च शितं बाणं कालाग्निसमतेजसम् ।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उसने प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी एवं तीखे बाणको धनुषपर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचरपर छोड़ दिया ॥ १५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बाणमिन्द्राशनिप्रभम् ।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ॥ १६ ॥

इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कचने अपनी फुर्तीके कारण अपने आपको उससे बचा लिया ॥ १६ ॥

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ॥ १७ ॥

इसके बाद क्रोधसे आँखें लाल करके वह पुनः भयंकर गर्जना करने लगा। जैसे प्रलयकालमें संवर्तक मेघकी गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरवसेनाको दहला दिया ॥ १७ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तस्य भीमस्य रक्षसः ।
आचार्यमुपसङ्गम्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

यथैष निनदो घोरः श्रूयते राक्षसेरितः।
हैडिम्बो युध्यते नूनं राज्ञा दुर्योधनेन ह ॥ १९ ॥

उस भयानक राक्षसकी वह घोर गर्जना सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने द्रोणाचार्यके पास जाकर इस प्रकार कहा—'आचार्य ! यह राक्षसके मुखसे निकली हुई जैसी घोर गर्जना सुनायी दे रही है, उससे अनुमान होता है कि अवश्य ही हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच राजा दुर्योधनके साथ जूझ रहा है॥

नैष शक्यो हि संग्रामे जेतुं भूतेन केनचित्।
तत्र गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ २० ॥

'इसे कोई भी प्राणी संग्राममें जीत नहीं सकता, अतः आपका कल्याण हो, वहाँ जाइये और राजा दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

अभिद्रुतो महाभागो राक्षसेन महात्मना।
एतद्धि वः परं कृत्यं सर्वेषां नः परंतपाः ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है महाभाग दुर्योधन उस महाकाय राक्षसके आक्रमणका शिकार हो रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो ! आपके तथा हम सब लोगोंके लिये यही सर्वोत्तम कृत्य है' ॥ २१ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र कौरवः ॥ २२ ॥

भीष्मकी यह बात सुनकर सब महारथी उत्तम वेगका आश्रय ले बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ कुरुराज दुर्योधन मौजूद था ॥ २२ ॥

द्रोणश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः।
कृपो भूरिश्रवाः शल्य आवन्त्यः सबृहद्बलः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः।
रथाश्चानेकसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ॥ २४ ॥
अभिद्रुतं परीप्सन्तः पुत्रं दुर्योधनं तव।
तदनीकमनाधृष्यं पालितं तु महारथैः ॥ २५ ॥

द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अवन्तीका राजकुमार, बृहद्बल, अश्वत्थामा, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा उनके अनुयायी अनेक सहस्र रथी—ये सब लोग राक्षसके द्वारा आक्रान्त हुए आपके पुत्र दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये गये। उन महारथियोंसे पालित होकर वह सेना अजेय हो गयी ॥ २३—२५ ॥

आततायिनमायान्तं प्रेक्ष्य राक्षससत्तमः।
नाकम्पत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ॥ २६ ॥

युद्धमें आततायी दुर्योधनको आते देख राक्षसशिरोमणि महाबाहु घटोत्कच मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ २६ ॥

प्रगृह्य विपुलं चापं ज्ञातिभिः परिवारितः।
शूलमुद्गरहस्तैश्च नानाप्रहरणैरपि ॥ २७ ॥

उसके जाति-बन्धु हाथोंमें शूल, मुद्गर आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उसे सब ओरसे घेरे हुए थे और उसने एक विशाल धनुष ले रक्खा था ॥ २७ ॥

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
राक्षसानां च मुख्यस्य दुर्योधनबलस्य च ॥ २८ ॥

तदनन्तर राक्षसशिरोमणि घटोत्कच तथा दुर्योधनकी सेनामें रोमाञ्चकारी एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २८ ॥

धनुषां कूजतां शब्दः सर्वतस्तुमुलो रणे।
अश्रूयत महाराज वंशानां दह्यतामिव ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें सब ओर बाँसोंके दग्ध होनेके समान धनुषोंकी टंकारका भयंकर शब्द सुनायी देने लगा ॥

अस्त्राणां पात्यमानानां कवचेषु शरीरिणाम्।
शब्दः समभवद् राजन् गिरीणामिव भिद्यताम् ॥ ३० ॥

राजन् ! देहधारियोंके कवचोंपर पड़नेवाले अस्त्रोंका ऐसा शब्द होता था, मानो पर्वत विदीर्ण हो रहे हों ॥ ३० ॥

वीरबाहुविसृष्टानां तोमराणां विशाम्पते।
रूपमासीद् वियत्स्थानां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! वीरोंकी भुजाओंसे छोड़े गये तोमर जब आकाशमें आते, उस समय उनका स्वरूप तीव्र गतिसे उड़नेवाले सर्पोंके समान जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो विस्फार्य सुमहद् धनुः।
राक्षसेन्द्रो महाबाहुर्विनदन् भैरवं रवम् ॥ ३२ ॥
आचार्यस्यार्धचन्द्रेण क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम्।
सोमदत्तस्य भल्लेन ध्वजं चोन्मथ्य चानदत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाबाहु राक्षसराज घटोत्कचने अत्यन्त क्रुद्ध हो भैरव गर्जना करते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर अर्धचन्द्राकार बाणसे द्रोणाचार्यके धनुषको काट डाला। फिर एक भल्लके द्वारा सोमदत्तके ध्वजको खण्डित करके सिंहनाद किया ॥ ३२-३३ ॥

बाह्लीकं च त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
कृपमेकेन विव्याध चित्रसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे बाह्लीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। एक बाणसे कृपाचार्यको और तीनसे चित्रसेनको भी बींध डाला ॥ ३४ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
जत्रुदेशे समासाद्य विकर्णं समताडयत् ॥ ३५ ॥

इसके बाद उसने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उसपर उत्तम रीतिसे बाणोंका संधान करके विकर्णके गलेकी हँसलीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

न्यषीदत् स्वरथोपस्थे शोणितेन परिप्लुतः।
ततः पुनरमेयात्मा नाराचान् दश पञ्च च ॥ ३६ ॥
भूरिश्रवसि संक्रुद्धः प्राहिणोद् भरतर्षभ।

इससे विकर्ण अपने रथके पिछले भागमें व्याकुल होकर बैठ गया, उसका सारा शरीर रक्तसे नहा उठा था। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न घटोत्कचने क्रुद्ध होकर भूरिश्रवापर पंद्रह नाराच चलाये ॥ ३६½ ॥

ते वर्म भित्त्वा तस्याशु विविशुर्धरणीतलम् ॥ ३७ ॥
विविंशतेश्च द्रौणेश्च यन्तारौ समताडयत्।
तौ पेततू रथोपस्थे रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ॥ ३८ ॥

वे नाराच उसके कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही धरतीमें समा गये। साथ ही घटोत्कचने विविंशति और अश्वत्थामाके सारथियोंपर गहरा आघात किया। वे दोनों घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर रथकी बैठकमें गिर पड़े ३७-३८

सिंधुराज्ञोऽर्धचन्द्रेण वाराहं स्वर्णभूषितम्।
उन्ममाथ महाराज द्वितीयेनाच्छिनद् धनुः ॥ ३९ ॥

महाराज! उसने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सिन्धुराज जयद्रथकी वाराहचिह्नसे युक्त सुवर्णभूषित ध्वजा काट डाली और दूसरे बाणसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।३९।

चतुर्भिरथ नाराचैरावन्त्यस्य महात्मनः।
जघान चतुरो वाहान् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ४० ॥

इसके बाद क्रोधसे लाल आँखें करके घटोत्कचने चार नाराचोंद्वारा महामना अवन्तीनरेशके चारों घोड़ोंको मार डाला॥

पूर्णायतविसृष्टेन पीतेन निशितेन च।
निर्बिभेद महाराज राजपुत्रं बृहद्बलम् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये पानीदार तीखे बाणसे उसने राजकुमार बृहद्बलको विदीर्ण कर दिया ॥ ४१ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत्।
भृशं क्रोधेन चाविष्टो रथस्थो राक्षसाधिपः ॥ ४२ ॥

उस बाणसे वह गहराईतक बिंध गया और व्यथित होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा। इधर राक्षसराज घटोत्कच अत्यन्त क्रोधसे आविष्ट हो रथपर बैठा रहा॥

चिक्षेप निशितांस्तीक्ष्णाञ्छरानाशीविषोपमान्।
बिभिदुस्ते महाराज शल्यं युद्धविशारदम् ॥ ४३ ॥

महाराज! रथपर बैठे-ही-बैठे उसने विषधर सर्पोंके समान अत्यन्त तीखे बाण चलाये। उन बाणोंने युद्धविशारद राजा शल्यको पूर्णरूपसे घायल कर दिया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कचका युद्धविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलायन

संजय उवाच

विमुखीकृत्य सर्वांस्तु तावकान् युधि राक्षसः।
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ दुर्योधनमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! वह राक्षस युद्धस्थलमें आपके समस्त सैनिकोंको संग्रामसे विमुख करके दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसकी ओर दौड़ा ॥ १ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राजानं प्रति वेगितम्।
अभ्यधावञ्जिघांसन्तस्तावका युद्धदुर्मदाः ॥ २ ॥

उसे राजा दुर्योधनकी ओर बड़े वेगसे आते देख आपके रणदुर्मद पुत्र और सैनिक मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥ २ ॥

तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः।
तमेकमभ्यधावन्त नदन्तः सिंहसंघवत् ॥ ३ ॥

उन सभी महारथियोंने चार-चार हाथके धनुष खींचते और सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करते हुए उस एकमात्र योद्धा घटोत्कचपर धावा किया ॥ ३ ॥

अथैनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवाकिरन्।
पर्वतं वारिधाराभिः शरदीव बलाहकाः ॥ ४ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार उन सब कौरव वीरोंने चारों ओरसे घटोत्कचपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स गाढविद्धो व्यथितस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
उत्पपात तदाऽऽकाशं समन्ताद् वैनतेयवत् ॥ ५ ॥

आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध

उस समय उन बाणोंके गहरे आघातसे वह अङ्कुशकी मार खाये हुए हाथीकी भाँति व्यथित हो उठा और तुरंत ही गरुड़के समान आकाशमें सब ओर उड़ने लगा ॥ ५ ॥

व्यनदत् सुमहानादं जीमूत इव शारदः ।
दिशः खं विदिशश्चैव नादयन् भैरवस्वनः ॥ ६ ॥

आकाशमें स्थित होकर शरद्‌ऋतुके बादलकी भाँति वह अपने भयंकर स्वरसे अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओंको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ६ ॥

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिंदमम् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षस घटोत्कचकी उस गर्जनाको सुनकर राजा युधिष्ठिरने शत्रुदमन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ॥ ८ ॥

'राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियोंसे निश्चय ही युद्ध कर रहा है। भैरवनाद करते हुए उस राक्षसका जैसा शब्द सुनायी देता है, उससे यही जान पड़ता है ॥ ८ ॥

अतिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।
पितामहश्च संक्रुद्धः पञ्चालान् हन्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥

'मैं उस राक्षसशिरोमणिपर बहुत बड़ा भार देख रहा हूँ। उधर पितामह भीष्म भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर पाञ्चालोंको मार डालनेके लिये उद्यत हैं ॥ ९ ॥

तेषां च रक्षणार्थाय युध्यते फाल्गुनः परैः ।
एतज्ज्ञात्वा महाबाहो कार्यद्वयमुपस्थितम् ॥ १० ॥
गच्छ रक्षस्व हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ।

'उनकी रक्षाके लिये अर्जुन शत्रुओंसे युद्ध करते हैं। महाबाहो ! अपने ऊपर दो कार्य उपस्थित हैं, ऐसा जानकर तुम जाओ और अत्यन्त संशयमें पड़े हुए हिडिम्बाकुमारकी रक्षा करो' ॥ १०½ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ॥ ११ ॥
प्रययौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ।

भाईकी यह आज्ञा मानकर भीमसेन सिंहनादसे सम्पूर्ण नरेशोंको भयभीत करते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे चल दिये ॥ ११½ ॥

वेगेन महता राजन् पर्वकाले यथोदधिः ॥ १२ ॥
तमन्वगात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ १३ ॥
अभिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ।
क्षत्रदेवश्च विक्रान्तः क्षत्रधर्मा तथैव च ॥ १४ ॥
अनूपाधिपतिश्चैव नीलः स्वबलमास्थितः ।
महता रथवंशेन हैडिम्बं पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पूर्णिमाको समुद्र बड़े वेगसे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन अत्यन्त वेगसे आगे बढ़े। उनके पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू, अभिमन्यु आदि योद्धा, द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र, पराक्रमी क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा, अनूपदेशके राजा नील, जिन्हें अपने बलका पूरा भरोसा था—इन सब वीरोंने विशाल रथसेनाके साथ हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको सब ओरसे घेर लिया ॥ १२–१५ ॥

कुञ्जरैश्च सदा मत्तैः षट्सहस्रैः प्रहारिभिः ।
अभ्यरक्षन्त सहिता राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥ १६ ॥

सदा उन्मत्त रहनेवाले, प्रहारकुशल छः हजार गजराजोंके साथ आकर उपर्युक्त वीरोंने एक साथ ही राक्षसराज घटोत्कचकी रक्षा की ॥ १६ ॥

सिंहनादेन महता नेमिघोषेण चैव ह ।
खुरशब्दनिपातैश्च कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १७ ॥

वे महान् सिंहनाद, रथके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टाप पड़नेसे होनेवाले महान् शब्दके द्वारा वसुधाको कम्पित कर रहे थे ॥ १७ ॥

तेषामापततां श्रुत्वा शब्दं तं तावकं बलम् ।
भीमसेनभयोद्विग्नं विवर्णवदनं तथा ॥ १८ ॥

उन सबके आनेसे जो कोलाहल हुआ, उसे सुनकर भीमसेनके भयसे उद्विग्न हुए आपके सैनिकोंका मुख उदास हो गया ॥ १८ ॥

परिवृत्तं महाराज परित्यज्य घटोत्कचम् ।
ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।

महाराज ! उस समय रक्षकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए घटोत्कचको छोड़कर संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्षके उन महामनस्वी योद्धाओंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ १९½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ २० ॥
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए उभय पक्षके महारथी भीषण युद्ध करने लगे ॥ २०½ ॥

व्यतिषक्तं महारौद्रं युद्धं भीरुभयावहम् ॥ २१ ॥
हया गजैः समाजग्मुः पादाता रथिभिः सह ।

धीरे-धीरे अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो भीरु मनुष्योंको डरानेवाला था। घुड़सवार हाथीसवारोंके और पैदल रथियोंके साथ भिड़ गये ॥ २१½ ॥

अन्योन्यं समरे राजन् प्रार्थयानाः समभ्ययुः ॥ २२ ॥
सहसा चाभवत् तीव्रं संनिपातान्महद् रजः ।
गजाश्वरथपत्तीनां पदनेमिसमुद्धतम् ॥ २३ ॥

राजन्! वे समराङ्गणमें एक दूसरेको ललकारते हुए जूझ रहे थे। उस समय उस भीषण संघर्षसे सहसा बड़े जोरकी धूल उठी, जो हाथी, घोड़े और पैदलोंके पैरों तथा रथके पहियोंके धक्केसे उठायी गयी थी ॥ २२-२३ ॥

धूम्रारुणं रजस्तीव्रं रणभूमिं समावृणोत्।
नैव स्वे न परे राजन् समजानन् परस्परम् ॥ २४ ॥

महाराज! काले और लाल रंगकी उस दुःसह धूलने समस्त रणभूमिको ढक लिया। उस समय अपने और शत्रु-पक्षके योद्धा एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रं न जानीते पुत्रो वा पितरं तथा।
निर्मर्यादे तथाभूते वैशसे लोमहर्षणे ॥ २५ ॥

उस मर्यादाशून्य रोमाञ्चकारी जनसंहारमें पिता पुत्रको और पुत्र पिताको नहीं पहचान पाता था ॥ २५ ॥

शस्त्राणां भरतश्रेष्ठ मनुष्याणां च गर्जताम्।
सुमहानभवच्छब्दः प्रेतानामिव भारत ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ! शस्त्रोंके आघात और मनुष्योंकी गर्जनाका महान् शब्द भूत-प्रेतोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥

गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरङ्गिणी।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला ॥ २७ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रक्त और आँतोंकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसमें केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे ॥ २७ ॥

नराणां चैव कायेभ्यः शिरसां पततां रणे।
शुश्रुवे सुमहाञ्छब्दः पततामश्मनामिव ॥ २८ ॥

मनुष्योंके शरीरोंसे रणभूमिमें कटकर गिरते हुए मस्तकोंका महान् शब्द पत्थरोंकी वर्षाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च छिन्नगात्रैश्च वारणैः।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ॥ २९ ॥

बिना सिरके मनुष्यों, कटे हुए अङ्गोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ोंसे वहाँकी सारी भूमि पट गयी थी ॥

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥

नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए महारथी सर्वथा युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ३० ॥

हया हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः।
समाहत्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ॥ ३१ ॥

घुड़सवारोंद्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ोंसे भिड़कर आपसमें टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्रमें गिर पड़ते थे ॥ ३१ ॥

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम्।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ॥ ३२ ॥

मनुष्य मनुष्योंपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोधसे लाल आँखें किये छातीसे छाती भिड़ाकर एक दूसरेको मारने लगे॥

प्रेषिताश्च महामात्रैर्वारणाः परवारणैः।
अभ्यघ्नन्त विषाणाग्रैर्वारणानेव संयुगे ॥ ३३ ॥

महावतोंके द्वारा आगे बढ़ाये हुए हाथी विपक्षी हाथियोंसे टक्कर लेकर युद्धस्थलमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे हाथियों-पर ही चोट करते थे ॥ ३३ ॥

ते जातरुधिरोत्पीडाः पताकाभिरलंकृताः।
संसक्ताः प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

उस समय उनके मस्तकसे रक्तकी धारा बहने लगती थी। परस्पर भिड़े हुए वे हाथी पताकाओंसे अलंकृत होनेके कारण विद्युत्सहित मेघोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

केचिद् भिन्ना विषाणाग्रैर्भिन्नकुम्भाश्च तोमरैः।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त गर्जमाना घना इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथी दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण हो रहे थे। कितनोंके कुम्भस्थल तोमरोंकी मारसे फट गये थे और वे गर्जते हुए बादलोंके समान चीत्कार करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ३५ ॥

केचिद्धस्तैर्द्विधा छिन्नैश्छिन्नगात्रास्तथापरे।
निपेतुस्तुमुले तस्मिंश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३६ ॥

किन्हींकी सूँड़ोंके दो टुकड़े हो गये थे, किन्हींके सभी अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे हाथी पंख कटे पर्वतोंके समान उस भयानक युद्धमें धड़ाधड़ गिर रहे थे ॥ ३६ ॥

पार्श्वैस्तु दारितैरन्ये वारणैर्वरवारणाः।
मुमुचुः शोणितं भूरि धातूनिव महीधराः ॥ ३७ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ हाथी हाथियोंके आघातसे ही अपना पार्श्व-भाग विदीर्ण हो जानेके कारण उसी प्रकार प्रचुरमात्रामें अपना रक्त बहा रहे थे, जैसे पर्वत गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरने बहाते हों ॥ ३७ ॥

नाराचनिहतास्त्वन्ये तथा विद्धाश्च तोमरैः।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त विशृंगा इव पर्वताः ॥ ३८ ॥

कुछ हाथी नाराचोंसे घायल किये गये थे, कितनोंके शरीरोंमें तोमर धँसे हुए थे और वे सबके सब घोर चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस समय वे शृङ्गहीन पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

केचित् क्रोधसमाविष्टा मदान्धा निरवग्रहाः।
रथान् हयान् पदातींश्च ममृदुः शतशो रणे ॥ ३९ ॥

कितने ही मदान्ध गजराज क्रोधमें भरे होनेके कारण काबूमें नहीं आते थे। उन्होंने रणभूमिमें सैकड़ों रथों, घोड़ों और पैदल सिपाहियोंको पैरों तले रौंद डाला ॥ ३९ ॥

तथा हया हयारोहैस्ताडिताः प्रासतोमरैः।
तेन तेनाभ्यवर्तन्त कुर्वन्तो व्याकुला दिशः ॥ ४० ॥

इसी प्रकार घुड़सवारोंद्वारा प्रास और तोमरोंकी मारसे घायल किये हुए घोड़े सम्पूर्ण दिशाओंको व्याकुल करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ४० ॥

रथिनो रथिभिः सार्धं कुलपुत्रास्तनुत्यजः।
परां शक्तिं समास्थाय चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ४१ ॥

कितने ही कुलीन रथी अपने शरीरोंको निछावर करके भारी-से-भारी शक्ति लगाकर विपक्षी रथियोंके साथ निर्भयकी भाँति महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥ ४१ ॥

स्वयंवर इवामर्दे प्रजह्रुरितरेतरम्।
प्रार्थयाना यशो राजन् स्वर्गं वा युद्धशालिनः ॥ ४२ ॥

राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले वीर स्वर्ग अथवा यश पानेकी इच्छा रखकर स्वयंवरकी भाँति उस युद्धमें एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे।
धार्तराष्ट्रं महत् सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमाञ्चकारी संग्राममें दुर्योधनकी विशाल सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेनाको मारी गयी देख क्रोधमें भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधनने शत्रुदमन भीमसेनपर धावा किया ॥ १ ॥

प्रगृह्य सुमहच्चापमिन्द्राशनिसमस्वनम्।
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत् ॥ २ ॥

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंकी भारी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

अर्धचन्द्रं च संधाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम्।
भीमसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ॥ ३ ॥

इतना ही नहीं, उसने कुपित होकर पंखयुक्त अत्यन्त तीखे अर्धचन्द्राकार बाणका प्रयोग करके भीमसेनके धनुषको काट दिया ॥ ३ ॥

तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः।
प्रसंदधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥ ४ ॥

फिर उसीको उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ एक तीखे बाणका संधान किया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था ॥ ४ ॥

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत्।
स गाढविद्धो व्यथितः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५ ॥
समालम्बे तेजस्वी ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।

महाराज! उस बाणके द्वारा दुर्योधनने भीमसेनकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी। उससे अत्यन्त घायल होकर तेजस्वी भीमसेन व्यथित हो उठे और मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए उन्होंने अपने सुवर्णभूषित ध्वजका सहारा ले लिया ॥ ५½ ॥

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ॥ ६ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः।

भीमसेनको इस प्रकार व्यथितचित्त देखकर घटोत्कच जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवकी भाँति क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ६½ ॥

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ॥ ७ ॥
समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः।

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेगसे राजा दुर्योधनको ललकारते हुए उसकी ओर दौड़े ॥ ७½ ॥

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ॥ ८ ॥
भारद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं तावकानां महारथान्।
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ ९ ॥
संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे।

क्रोधमें भरे हुए इन समस्त योद्धाओंको वेगपूर्वक धावा

करते देख द्रोणाचार्यने आपके महारथियोंसे कहा—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो। शीघ्र जाओ और संकटके समुद्रमें डूबकर महान् प्राणसंशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनकी रक्षा करो ॥ ८-९½ ॥

एते क्रुद्धा महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १० ॥
भीमसेनं पुरस्कृत्य दुर्योधनमुपाद्रवन् ।
नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो जये धृताः ॥ ११ ॥
नदन्तो भैरवान् नादांस्त्रासयन्तश्च भूमिपान् ।

'ये महाधनुर्धर पाण्डव महारथी कुपित हो भीमसेनको आगे करके दुर्योधनपर धावा कर रहे हैं और विजयका दृढ़ संकल्प ले नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भैरव गर्जना करते तथा भूमिपालोंको त्रास पहुँचाते हैं' ।१०-११½।

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ॥ १२ ॥
तावकाः समवर्तन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ।

आचार्यका यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओंने पाण्डवसेनापर आक्रमण किया ॥१२½॥

कृपो भूरिश्रवाः शल्यो द्रोणपुत्रो विविंशतिः ॥ १३ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च सैन्धवोऽथ बृहद्बलः ।
आवन्त्यौ च महेष्वासौ कौरवं पर्यवारयन् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, सिंधुराज जयद्रथ, बृहद्बल तथा अवन्तीके राजकुमार महाधनुर्धर विन्द और अनुविन्द—इन सबने दुर्योधनको उसकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर लिया।१३-१४।

ते विंशतिपदं गत्वा सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

वे बीस कदम आगे बढ़कर प्रहार करने लगे, फिर तो पाण्डव तथा कौरव योद्धा एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ १६ ॥

कौरव महारथियोंसे पूर्वोक्त बात कहनेके पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने अपने विशाल धनुषको खींचकर भीमसेनको छब्बीस बाण मारे ॥ १६ ॥

भूयश्चैनं महाबाहुः शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ १७ ॥

साथ ही उन महाबाहुने उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो वर्षाऋतुमें मेघ पर्वत-शिखरपर जलकी धारा गिरा रहा हो ॥ १७ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
त्वरमाणो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ॥ १८ ॥

तब महाबली महाधनुर्धर भीमसेनने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यकी बायीं पसलीमें दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! उन बाणोंसे उन्हें गहरा आघात लगा। वे वयोवृद्ध तो थे ही, सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ॥ १९ ॥

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ॥ २० ॥

आचार्य द्रोणको व्यथासे पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर टूट पड़े।२०।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य कालान्तकयमोपमौ ।
भीमसेनो महाबाहुर्गदामादाय सत्वरम् ॥ २१ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर उन दोनों महारथियोंको आक्रमण करते देख महाबाहु भीमसेनने तुरंत ही गदा हाथमें ले ली और वे रथसे कूदकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २१½ ॥

समुद्यम्य गदां गुर्वीं यमदण्डोपमां रणे ॥ २२ ॥
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ॥ २३ ॥

उन्होंने हाथमें जो भारी गदा उठायी थी, वह रणभूमिमें यमदण्डके समान भयानक जान पड़ती थी। शृङ्गधारी कैलास पर्वतके समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेनको देखकर दुर्योधन और अश्वत्थामाने एक साथ उनपर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों वीरोंको एक साथ शीघ्रतापूर्वक आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ॥ २५ ॥

क्रोधमें भरकर भयंकर दिखायी देनेवाले भीमसेनको देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

भारद्वाजमुखाः सर्वे भीमसेनजिघांसया ।
नानाविधानि शस्त्राणि भीमस्योरस्यपातयन् ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्य आदि सभी योद्धा भीमसेनके वधकी इच्छासे

उनकी छातीपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ॥ २७ ॥
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥

वे सब एक साथ होकर चारों ओरसे पाण्डुकुमार भीमसेनको पीड़ा देने लगे। महारथी भीमसेनको पीड़ित और उनके प्राणोंको संकटमें पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी रक्षाके लिये दौड़ आये ॥ २७–२८ ॥

अनूपाधपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
नीलो नीलाम्बुदप्रख्यः संक्रुद्धो द्रौणिमभ्ययात्॥ २९ ॥

अनूप देशका शूरवीर राजा नील भीमसेनका प्रिय सखा था। उसकी अङ्गकान्ति श्याम मेघके समान सुन्दर थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामापर आक्रमण किया।२९।

स्पर्धते हि महेष्वासो नित्यं द्रोणसुतेन सः ।
स विस्फार्य महच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्रिणा॥ ३० ॥
यथा शक्रो महाराज पुरा विव्याध दानवम् ।
विप्रचित्तिं दुराधर्षं देवतानां भयंकरम् ॥ ३१ ॥
येन लोकत्रयं क्रोधात् त्रासितं स्वेन तेजसा ।

वह महाधनुर्धर वीर प्रतिदिन द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ स्पर्धा रखता था। महाराज ! उसने अपने विशाल धनुषको खींचकर एक पंखयुक्त बाणसे अश्वत्थामाको उसी प्रकार घायल कर दिया, जैसे इन्द्रने पूर्वकालमें देवताओंके लिये भयंकर विप्रचित्ति नामक दुर्धर्ष दानवको घायल किया था, उस दानवने अपने क्रोध एवं तेजसे तीनों लोकोंको भयभीत कर रक्खा था ॥ ३०-३१½ ॥

तथा नीलेन निर्भिन्नः सुमुक्तेन पतत्त्रिणा ॥ ३२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो द्रौणिः क्रोधसमन्वितः ।

नीलके छोड़े हुए उस पंखयुक्त बाणसे विदीर्ण होकर अश्वत्थामाके शरीरसे रक्तका प्रवाह बह चला। इससे अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३२½ ॥

स विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ३३ ॥
दध्रे नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ।

तदनन्तर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर टंकार करनेवाले अपने विचित्र धनुषको खींचकर नीलको मार डालनेका विचार किया ॥ ३३½ ॥

ततः संधाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ॥
जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ।
सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उसने लोहारके माँजे हुए सात चमकीले भल्लोंको धनुषपर रखकर चलाया। उनमेंसे चारके द्वारा उसने नीलके चारों घोड़ोंको और पाँचवेंसे सारथिको मार डाला। छठेसे ध्वजको काट गिराया और सातवें भल्लसे नीलकी छातीमें प्रहार किया ॥३४–३५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
मोहितं वीक्ष्य राजानं नीलमभ्रचयोपमम् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचोऽभिसंक्रुद्धो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ ३७ ॥
तथेतरे चाभ्यधावन् राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।

उस बाणसे अधिक घायल हो जानेके कारण वे व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये। नील मेघसमूहके समान श्याम वर्णवाले राजा नीलको अचेत हुआ देख अपने भाई-बन्धुओंसे घिरा हुआ घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा। उसके साथ ही दूसरे-दूसरे रणदुर्मद राक्षसोंने भी उसपर धावा किया ॥ ३६–३७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ३८ ॥
अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ।

देखनेमें अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कचको धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ उसपर आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

निजघान च संक्रुद्धो राक्षसान् भीमदर्शनान् ॥ ३९ ॥
येऽभवन्नग्रतः क्रुद्धा राक्षसस्य पुरःसराः ।

उसने कुपित हो उन भयंकर राक्षसोंको मारना आरम्भ किया, जो घटोत्कचके आगे खड़े होकर क्रोधपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ३९½ ॥

विमुखांश्चैव तान् दृष्ट्वा द्रौणिचापच्युतैः शरैः ॥ ४० ॥
अक्रुद्ध्यत महाकायो भैमसेनिर्घटोत्कचः ।

अश्वत्थामाके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल हो उन राक्षसोंको भागते देख विशालकाय भीमसेनकुमार घटोत्कच कुपित हो उठा ॥ ४०½ ॥

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ॥ ४१ ॥
मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ।

तत्पश्चात् उस मायावी राक्षसराजने समराङ्गणमें अश्वत्थामाको मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर माया प्रकट की ॥ ४१½ ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ॥ ४२ ॥
अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ।
विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ॥ ४३ ॥
द्रोणं दुर्योधनं शल्यमश्वत्थामानमेव च ।
प्रायशश्च महेष्वासा ये प्रधानाः स्म कौरवाः ॥ ४४ ॥
विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ।
हयाश्चैव हयारोहाः संनिकृत्ताः सहस्रशः ॥ ४५ ॥

तब उस मायासे डरकर आपके सभी सैनिक युद्धसे विमुख हो गये। उन्होंने एक दूसरेको तथा द्रोण, दुर्योधन, शल्य और अश्वत्थामाको भी इस प्रकार देखा—सबके सब छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिरकर छटपटा रहे हैं और खूनसे लथपथ होकर दयनीय दशाको पहुँच गये हैं। कौरवोंमें जो महान् धनुर्धर एवं प्रधान वीर हैं, प्रायः वे सभी रथी विध्वंसको प्राप्त हो गये हैं। सब राजा मार गिराये गये हैं तथा हजारों घोड़े और घुड़सवार टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं ॥४२–४५॥

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।
मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ॥ ४६ ॥
युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।
घटोत्कचप्रयुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ॥ ४७ ॥

यह सब देखकर आपकी सेना शिबिरकी ओर भाग चली। राजन्! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'वीरो! युद्ध करो। भागो मत। रणभूमिमें तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कचद्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है।' परंतु वे अचेत होनेके कारण ठहर न सके ॥ ४६–४७ ॥

नैव ते श्रद्दधुर्भीता वदतोरावयोर्वचः ।
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ॥ ४८ ॥
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे ।

वे इतने डर गये थे कि हम दोनोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कचके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ४८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः समन्तान्नेदिरे भृशम् ॥ ४९ ॥
एवं तव बलं सर्वं हैडिम्बेन दुरात्मना ।
सूर्यास्तमनवेलायां प्रभग्नं विद्रुतं दिशः ॥ ५० ॥

चारों ओर शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे जोर-जोरसे बजने लगे। इस प्रकार सूर्यास्तके समय दुरात्मा घटोत्कचसे खदेड़ी गयी आपकी सारी सेना सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमयुद्धदिवसे घटोत्कचयुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें घटोत्कचका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डवसेनाके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा ।
(पराजयं राक्षसेन नामृष्यत परंतपः ।)
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ॥ १ ॥
तस्य सर्वं यथावृत्तमाख्यातुमुपचक्रमे ।
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम् ॥ २ ॥
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।

संजय कहते हैं—महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाला राजा दुर्योधन उस महान् युद्धमें एक राक्षसके द्वारा प्राप्त हुई अपनी पराजयको नहीं सह सका। उसने गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर उन्हें विनीतभावसे प्रणाम करनेके पश्चात् सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे कह सुनाया। उस दुर्धर्ष वीरने बारंबार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कचकी विजय और अपनी पराजयकी कथा कही ॥ १-२½ ॥

अब्रवीच्च तदा राजन् भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ३ ॥
भवन्तं समुपाश्रित्य वासुदेवं यथा परैः ।
पाण्डवैर्विग्रहो घोरः समारब्धो मया प्रभो ॥ ४ ॥

राजन्! फिर उसने कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मसे कहा—'प्रभो! जैसे मेरे शत्रु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका सहारा लेकर पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध छेड़ा है ॥३-४॥

एकादश समाख्याता अक्षौहिण्यश्च या मम ।
निदेशे तव तिष्ठन्ति मया सार्धं परंतप ॥ ५ ॥

'परंतप! मेरे साथ ही मेरी ये प्रसिद्ध ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपकी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं भरतशार्दूल भीमसेनपुरोगमैः ।
घटोत्कचं समाश्रित्य पाण्डवैर्युधि निर्जितः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! ऐसा शक्तिशाली होनेपर भी मुझे भीमसेन आदि पाण्डवोंने घटोत्कचका सहारा लेकर युद्धमें परास्त कर दिया है ॥ ६ ॥

तन्मे दहति गात्राणि शुष्कवृक्षमिवानलः ।
यदिच्छामि महाभाग त्वत्प्रसादात् परंतप ॥ ७ ॥
राक्षसापसदं हन्तुं स्वयमेव पितामह ।
त्वां समाश्रित्य दुर्धर्षं तन्मे कर्तुं त्वमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाभाग ! जैसे आग सूखे पेड़को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह अपमान मेरे अङ्ग-अङ्गको दग्ध कर रहा है । शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह ! मैं आपकी कृपासे स्वयं ही उस नीच एवं दुर्धर्ष राक्षसको मारना चाहता हूँ । आपका सहारा लेकर उसपर विजयी होना चाहता हूँ । अतः आप मेरे इस मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ७-८ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञो भरतसत्तम ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनका यह वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने उससे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
यथा त्वया महाराज वर्तितव्यं परंतप ॥ १० ॥

'राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! तुम्हें जिस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, वह सुनो ॥ १० ॥

आत्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिंदम ।
धर्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ॥ ११ ॥

'तात ! शत्रुदमन ! तुम युद्धमें सदा अपनी रक्षा करो । अनघ ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिरसे ही संग्राम करना चाहिये ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः ।
राजधर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ॥ १२ ॥

'अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेनके साथ भी तुम युद्ध कर सकते हो । राजधर्मको सामने रखकर यह बात कही गयी है । राजा राजासे ही युद्ध करता है ॥ १२ ॥

(न तु कार्यस्त्वया राजन् हैडिम्बेन दुरात्मना ॥)
अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः ।
शल्यश्च सौमदत्तिश्च विकर्णश्च महारथः॥ १३ ॥
तव च भ्रातरः श्रेष्ठा दुःशासनपुरोगमाः ।
त्वदर्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ॥ १४ ॥

'राजन् ! तुम्हें दुरात्मा घटोत्कचके साथ कदापि युद्ध नहीं करना चाहिये । मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा, शल्य, भूरिश्रवा, महारथी विकर्ण तथा दुःशासन आदि तुम्हारे अच्छे भ्राता—ये सब लोग तुम्हारे लिये उस महाबली राक्षससे युद्ध करेंगे ॥ १३-१४ ॥

रौद्रे तस्मिन् राक्षसेन्द्रे यदि तेऽनुशयो महान् ।
अयं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः ॥ १५ ॥
भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ।

'यदि उस भयंकर राक्षसराज घटोत्कचपर तुम्हारा अधिक रोष है तो उस दुष्टके साथ युद्ध करनेके लिये राजा भगदत्त जायँ; क्योंकि युद्धमें ये इन्द्रके समान पराक्रमी हैं' ॥ १५½ ॥

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥
समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

इतना कहकर बोलनेमें कुशल भीष्मने राजाधिराज दुर्योधनके सामने ही राजा भगदत्तसे यह बात कही—॥ १६½ ॥

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम् ॥ १७ ॥
वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'महाराज ! तुम रणदुर्मद घटोत्कचका सामना करनेके लिये शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्रमें आगे बढ़नेसे रोको ॥ १७½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं यथेन्द्रस्तारकं पुरा ॥ १८ ॥
तव दिव्यानि चास्त्राणि विक्रमश्च परंतप ।
समागमश्च बहुभिः पुराभूदमरैः सह ॥ १९ ॥

'पूर्वकालमें इन्द्रने जैसे तारकासुरकी प्रगति रोक दी थी, उसी प्रकार तुम भी उस क्रूरकर्मा राक्षसको रोक दो । परंतप ! तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं । तुममें पराक्रम भी महान् है और पूर्वकालमें बहुत-से देवताओंके साथ तुम्हारा युद्ध भी हो चुका है ॥ १८-१९ ॥

त्वं तस्य नृपशार्दूल प्रतियोद्धा महाहवे ।
स्वबलेनोच्छ्रितो राजञ्जहि राक्षसपुङ्गवम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें घटोत्कचका सामना करनेवाले योद्धा केवल तुम्हीं हो । राजन् ! तुम अपने ही बलसे उत्कर्षको प्राप्त होकर राक्षस-शिरोमणि घटोत्कचको मार डालो' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः ।
प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ॥ २१ ॥

सेनापति भीष्मका यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरंत ही शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ २१ ॥

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम् ।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २२ ॥
भीमसेनोऽभिमन्युश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
द्रौपदेयाः सत्यधृतिः क्षत्रदेवश्च भारत ॥ २३ ॥
चेदिपो वसुदानश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।

भारत ! गर्जते हुए मेघके समान राजा भगदत्तको धावा करते देख भीमसेन, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सत्यधृति, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु, वसुदान

और दशार्णराज—ये सभी पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोधमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आये ॥ २२-२३½ ॥

सुप्रतीकेन तांश्चापि भगदत्तोऽप्युपाद्रवत् ॥ २४ ॥
ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ २५ ॥

भगदत्तने भी सुप्रतीक नामक हाथीपर आरूढ़ होकर उनपर धावा किया । फिर तो पाण्डवोंका भगदत्तके साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ २४-२५ ॥

प्रयुक्ता रथिभिर्बाणा भीमवेगाः सुतेजनाः ।
ते निपेतुर्महाराज नागेषु च रथेषु च ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंद्वारा प्रयुक्त हुए भयंकर वेगशाली तेज बाण हाथियों और रथोंपर गिरने लगे ॥ २६ ॥

प्रभिन्नाश्च महानागा विनीता हस्तिसादिभिः।
परस्परं समासाद्य संनिपेतुरभीतवत् ॥ २७ ॥

जिनके मस्तकसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे बड़े-बड़े गजराज गजारोहियोंद्वारा प्रेरित हो एक दूसरेके पास पहुँचकर निर्भीक हो परस्पर भिड़ जाते थे ॥ २७ ॥

मदान्धा रोषसंरब्धा विषाणाग्रैर्महाहवे ।
बिभिदुर्दन्तमुसलैः समासाद्य परस्परम् ॥ २८ ॥

उस महायुद्धमें रोषपूर्ण मदान्ध हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे अथवा दाँतरूपी मूसलोंसे परस्पर भिड़कर एक दूसरेको विदीर्ण करने लगे ॥ २८ ॥

हयाश्च चामरापीडाः प्रासपाणिभिरास्थिताः ।
चोदिताः सादिभिः क्षिप्रं निपेतुरितरेतरम् ॥ २९॥

चामरभूषित अश्व प्रासधारी सवारोंसे संचालित हो तुरंत ही एक दूसरेपर टूट पड़ते थे ॥ २९ ॥

पादाताश्च पदात्योघैस्ताडिताः शक्तितोमरैः ।
न्यपतन्त तदा भूमौ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३० ॥

उस समय पैदल सिपाही पैदलोंद्वारा ही शक्ति और तोमरोंसे घायल हो सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें धराशायी हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथै राजन् कर्णिनालीकसायकैः ।
निहत्य समरे वीरान् सिंहनादान् विनेदिरे ॥ ३१ ॥

राजन् ! रथी लोग रथोंपर आरूढ़ हो कर्णी, नालीक और सायकोंद्वारा समरमें वीरोंका वध करके सिंहनाद कर रहे थे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।
भगदत्तो महेष्वासो भीमसेनमथाद्रवत् ॥ ३२ ॥

जब इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय महाधनुर्धर भगदत्तने भीमसेनपर धावा किया ॥ ३२ ॥

कुञ्जरेण प्रभिन्नेन सप्तधा स्रवता मदम् ।
पर्वतेन यथा तोयं स्रवमाणेन सर्वशः ॥ ३३ ॥

वे जिस हाथीपर आरूढ़ थे, उसके कुम्भस्थलसे मदकी सात धाराएँ गिर रही थीं । वह सब ओरसे जलके झरने बहानेवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

किरञ्छरसहस्राणि सुप्रतीकशिरोगतः ।
ऐरावतस्थो मघवान् वारिधारा इवानघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप नरेश ! भगदत्त सुप्रतीककी पीठपर बैठकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो देवराज इन्द्र ऐरावत-पर आरूढ़ हो जलकी धारा गिरा रहे हों ॥ ३४ ॥

स भीमं शरधाराभिस्ताडयामास पार्थिवः ।
पर्वतं वारिधाराभिस्तपान्ते जलदो यथा ॥ ३५ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार राजा भगदत्त भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः पादरक्षान् परःशतान् ।
निजघान महेष्वासः संरब्धः शरवृष्टिभिः ॥ ३६ ॥

तब महाधनुर्धर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो अपने बाणोंकी बौछारसे हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैकड़ों योद्धाओंको मार गिराया ॥ ३६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् क्रुद्धो भगदत्तः प्रतापवान् ।
चोदयामास नागेन्द्रं भीमसेनरथं प्रति ॥ ३७ ॥

उन सबको मारा गया देख प्रतापी भगदत्तने कुपित हो उस गजराजको भीमसेनके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३७ ॥

स नागः प्रेषितस्तेन बाणो ज्याचोदितो यथा ।
अभ्यधावत वेगेन भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

उनके द्वारा प्रेरित होकर वह गजराज धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए बाणकी भाँति शत्रुदमन भीमसेनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ ३८ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त वेगेन भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस हाथीको आते देख भीमसेन आदि पाण्डव महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥३९॥

केकयाश्चाभिमन्युश्च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
दशार्णाधिपतिः शूरः क्षत्रदेवश्च मारिष ॥ ४० ॥
चेदिपश्चित्रकेतुश्च संरब्धाः सर्व एव ते ।
उत्तमास्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महाबलाः ॥ ४१ ॥
तमेकं कुञ्जरं क्रुद्धाः समन्तात् पर्यवारयन् ।

आर्य ! केकयराजकुमार, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शूरवीर दशार्णराज, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु तथा

चित्रकेतु—ये सभी महाबली वीर रोषावेषमें भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए उस एकमात्र हाथीको क्रोधपूर्वक चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४०-४१½ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्व्यरोचत महाद्विपः ॥ ४२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो धातुचित्र इवाद्रिराट् ।

अनेक बाणोंसे घायल हुआ वह महान् गज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाले गिरिराजके समान सुशोभित हुआ ॥ ४२½ ॥

दशार्णाधिपतिश्चापि गजं भूमिधरोपमम् ॥ ४३ ॥
समास्थितोऽभिदुद्राव भगदत्तस्य वारणम् ।

तदनन्तर दशार्णदेशके राजा भी एक पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो भगदत्तके हाथीकी ओर बढ़े ॥ ४३½ ॥

तमापतन्तं समरे गजं गजपतिः स च ॥ ४४ ॥
दधार सुप्रतीकोऽपि वेलेव मकरालयम् ।

समरभूमिमें अपनी ओर आते हुए उस हाथीको गजराज सुप्रतीकने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोके रहती है ॥ ४४½ ॥

वारितं प्रेक्ष्य नागेन्द्रं दशार्णस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥
साधु साध्विति सैन्यानि पाण्डवेयान्यपूजयन् ।

महामना दशार्णनरेशके गजराजको रोका गया देख समस्त पाण्डव सैनिक भी साधु-साधु कहकर सुप्रतीककी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५½ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ४६ ॥
प्राहिणोत् तस्य नागस्य प्रमुखे नृपसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेशने कुपित होकर दशार्णनरेशके हाथीको सामनेसे चौदह तोमर मारे ॥ ४६½ ॥

वर्म मुख्यं तनुत्राणं शातकुम्भपरिष्कृतम् ॥ ४७ ॥
विदार्य प्राविशन् क्षिप्रं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे तोमर हाथीपर पड़े हुए सुवर्णभूषित श्रेष्ठ कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही उसके शरीरमें घुस गये ॥ ४७½ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो नागो भरतसत्तम ॥ ४८ ॥
उपावृत्तमदः क्षिप्रमभ्यवर्तत वेगितः ।

भरतश्रेष्ठ ! उन तोमरोंसे अत्यन्त घायल हो वह हाथी व्यथित हो उठा । उसका सारा मद उतर गया और वह बड़े वेगसे पीछेकी ओर लौट पड़ा ॥ ४८½ ॥

स प्रदुद्राव वेगेन प्रणदन् भैरवं रवम् ॥ ४९ ॥
सम्मर्दयानः स्वबलं वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

जैसे वायु अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार वह हाथी भयानक स्वरमें चिग्घाड़ता और अपनी ही सेनाको रौंदता हुआ बड़े वेगसे भाग चला ४९½

तस्मिन् पराजिते नागे पाण्डवानां महारथाः॥ ५० ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैर्युद्धायैवावतस्थिरे ।

उस हाथीके पराजित हो जानेपर भी पाण्डव महारथी उच्च स्वरसे सिंहनाद करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ॥५०½॥

ततो भीमं पुरस्कृत्य भगदत्तमुपाद्रवन् ॥ ५१ ॥
किरन्तो विविधान् बाणाञ्शस्त्राणि विविधानि च ।

तत्पश्चात् पाण्डवसैनिक भीमसेनको आगे करके नाना प्रकारके बाणों तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भगदत्तपर टूट पड़े ॥ ५१½ ॥

तेषामापततां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम् ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा स निनदं घोरममर्षाद् गतसाध्वसः ।
भगदत्तो महेष्वासः स्वनागं प्रत्यचोदयत् ॥ ५३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरकर आक्रमण करनेवाले, अमर्षशील उन पाण्डवोंका वह घोर सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर भगदत्तने अमर्षवश बिना किसी भयके अपने हाथीको उनकी ओर बढ़ाया ॥ ५२-५३ ॥

अङ्कुशाङ्गुष्ठनुदितः स गजप्रवरो युधि ।
तस्मिन् क्षणे समभवत् सांवर्तक इवानलः ॥ ५४ ॥

उस समय उनके अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो वह गजराज युद्धस्थलमें संवर्तक[1] अग्निकी भाँति भयंकर हो उठा ॥ ५४ ॥

रथसंघांस्तथा नागान् हयांश्च हयसादिभिः ।
पादातांश्च सुसंक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५५ ॥
अमृद्नात् समरे नागः सम्प्रधावंस्ततस्ततः ।

उस हाथीने अत्यन्त कुपित होकर रथके समूहों, हाथियों, घुड़सवारोंसहित घोड़ों तथा सैकड़ों-हजारों पैदल सिपाहियोंको भी समराङ्गणमें इधर-उधर दौड़ते हुए रौंद डाला ॥ ५५½ ॥

तेन संलोड्यमानं तु पाण्डवानां बलं महत् ॥ ५६ ॥
संचुकोच महाराज चर्मेवाग्नौ समाहितम् ।

महाराज ! उस हाथीके द्वारा आलोडित होकर पाण्डवोंकी वह विशाल सेना आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो गयी ॥ ५६½ ॥

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता ॥ ५७ ॥
घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ।

बुद्धिमान् भगदत्तके द्वारा अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी

१. प्रलयकालकी अग्निका नाम संवर्तक है ।

हुई देख घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर धावा किया ॥ ५७½ ॥

विकटः परुषो राजन् दीप्तास्यो दीप्तलोचनः ॥ ५८ ॥
रूपं विभीषणं कृत्वा रोषेण प्रज्वलन्निव ।

राजन् ! उस समय वह अत्यन्त भयानक रूप बनाकर रोषसे प्रज्वलित-सा हो उठा । उसकी आकृति विकट एवं निष्ठुर दिखायी देती थी तथा मुख और नेत्र उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८½ ॥

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम् ॥ ५९ ॥
नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ।

उस महाबली निशाचरने हाथीको मार डालनेकी इच्छासे एक निर्मल त्रिशूल हाथमें लिया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था । फिर सहसा उसे चला दिया ।५९½।

स विस्फुलिङ्गमालाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥ ६० ॥
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः ।
चिक्षेप रुचिरं तीक्ष्णमर्धचन्द्रं सुदारुणम् ॥ ६१ ॥

वह त्रिशूल चारों ओरसे आगकी चिनगारियोंके समूहसे घिरा हुआ था । उसे सहसा अपने ऊपर आते देख प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश भगदत्तने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण और सुन्दर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया ॥ ६०-६१ ॥

चिच्छेद तन्महच्छूलं तेन बाणेन वेगवान् ।
उत्पपात द्विधा च्छिन्नं शूलं हेमपरिष्कृतम् ॥ ६२ ॥
महाशनिर्यथा भ्रष्टा शक्रमुक्ता नभोगता ।

उन वेगवान् नरेशने उक्त बाणके द्वारा उस महान् त्रिशूलको काट डाला । वह सुवर्णभूषित त्रिशूल दो टुकड़ोंमें कटकर ऊपरकी ओर उछला । उस समय वह इन्द्रके हाथसे छूटकर आकाशसे गिरते हुए महान् वज्रके समान सुशोभित हुआ ॥ ६२½ ॥

शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः ॥ ६३ ॥
रुक्मदण्डां महाशक्तिं जग्राहाग्निशिखोपमाम् ।
चिक्षेप तां राक्षसस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

त्रिशूलको दो टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ देख राजा भगदत्तने आगकी लपटोंसे वेष्टित तथा सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक महाशक्ति हाथमें ली और उसे राक्षसपर चला दिया । फिर वे बोले—खड़ा रह, खड़ा रह ॥ ६३-६४ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव ।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ॥ ६५ ॥

आकाशमें प्रकाशित होनेवाली अशनि (वज्र) के समान उस महाशक्तिको गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कचने उछलकर तुरंत ही उसे पकड़ लिया और सिंहके समान गर्जना की ॥ ६५ ॥

बभञ्ज चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत ।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६६ ॥

भारत ! फिर उसने तुरंत ही राजा भगदत्तके देखते-देखते उस शक्तिको घुटनेपर रखकर तोड़ डाला । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ६६ ॥

तदवेक्ष्य कृतं कर्म राक्षसेन बलीयसा ।
दिवि देवाः सगन्धर्वा मुनयश्चापि विस्मिताः ॥ ६७ ॥

महाबली राक्षसके द्वारा किये गये इस महान् कर्मको देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और मुनि बड़े विस्मित हुए ॥ ६७ ॥

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः ।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ॥ ६८ ॥

महाराज ! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवोंने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनादसे पृथ्वीको गुँजा दिया ॥६८॥

तं तु श्रुत्वा महानादं प्रहृष्टानां महात्मनाम् ।
नामृष्यत महेष्वासो भगदत्तः प्रतापवान् ॥ ६९ ॥

हर्षमें भरे हुए उन महामना वीरोंका महान् सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर एवं प्रतापी राजा भगदत्त न सह सके ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।
तर्जयामास वेगेन पाण्डवानां महारथान् ॥ ७० ॥

उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचकर पाण्डव महारथियोंको वेगपूर्वक डाँट बतायी ॥ ७० ॥

विसृजन् विमलांस्तीक्ष्णान् नाराचाञ्ज्वलनप्रभान् ।
भीममेकेन विव्याध राक्षसं नवभिः शरैः ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले निर्मल और तीखे नाराचोंका प्रहार करते हुए एकके द्वारा भीमसेनको घायल किया और नौ बाणोंसे राक्षस घटोत्कचको बींध डाला ॥ ७१ ॥

अभिमन्युं त्रिभिश्चैव केकयान् पञ्चभिस्तथा ।
पूर्णायतविसृष्टेन शरेणानतपर्वणा ॥ ७२ ॥
बिभेद दक्षिणं बाहुं क्षत्रदेवस्य चाहवे ।
पपात सहसा तस्य सशरं धनुरुत्तमम् ॥ ७३ ॥

फिर तीन बाणोंसे अभिमन्युको और पाँचसे केकयराजकुमारोंको घायल किया । तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा उन्होंने युद्धमें क्षत्रदेवकी दाहिनी बाँह काट डाली । उसके कटनेके साथ ही सहसा उनका बाणसहित उत्तम धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७२-७३ ॥

द्रौपदेयांस्ततः पञ्च पञ्चभिः समताडयत् ।
भीमसेनस्य च क्रोधान्निजघान तुरङ्गमान् ॥ ७४ ॥

इसके बाद भगदत्तने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और क्रोधपूर्वक भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७४ ॥

ध्वजं केसरिणं चास्य चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः ।
निर्बिभेद त्रिभिश्चान्यैः सारथिं चास्य पत्रिभिः॥ ७५ ॥

फिर तीन बाणोंसे उनके सिंहचिह्नित ध्वजको काट दिया और अन्य तीन पंखयुक्त बाण मारकर उनके सारथिको भी विदीर्ण कर डाला ॥ ७५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
विशोको भरतश्रेष्ठ भगदत्तेन संयुगे ॥ ७६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगदत्तके द्वारा युद्धमें अधिक घायल होकर भीमसेनका सारथि विशोक व्यथित हो उठा और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ॥ ७६ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विरथो रथिनां वरः ।
गदां प्रगृह्य वेगेन प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रथहीन होनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन हाथमें गदा लेकर उस उत्तम रथसे वेगपूर्वक कूद पड़े॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम् ।
तावकानां भयं घोरं समपद्यत भारत ॥ ७८ ॥

भारत ! शृङ्गयुक्त पर्वतके समान उन्हें गदा उठाये आते देख आपके सैनिकोंके मनमें घोर भय समा गया॥७८॥

एतस्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
आजगाम महाराज निघ्नञ्शत्रून् समन्ततः ॥ ७९ ॥
यत्र तौ पुरुषव्याघ्रौ पितापुत्रौ महाबलौ ।
प्राग्ज्योतिषेण संयुक्तौ भीमसेनघटोत्कचौ ॥ ८० ॥

महाराज ! इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे पाण्डुनन्दन अर्जुन सब ओरसे शत्रुओंका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों पुरुषसिंह महाबली पिता-पुत्र भीमसेन और घटोत्कच भगदत्तके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ७९-८० ॥

दृष्ट्वा च पाण्डवो भ्रातॄन् युध्यमानान् महारथान्।
त्वरितो भरतश्रेष्ठ तत्रायुध्यत् किरञ्छरान् ॥ ८१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन अर्जुन अपने महारथी भाइयोंको युद्ध करते देख स्वयं भी बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही युद्धमें प्रवृत्त हो गये ॥ ८१ ॥

ततो दुर्योधनो राजा त्वरमाणो महारथः ।
सेनामचोदयत् क्षिप्रं रथनागाश्वसंकुलाम् ॥ ८२ ॥

तब महारथी राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको शीघ्र ही युद्धके लिये प्रेरित किया॥ ८२ ॥

तामापतन्तीं सहसा कौरवाणां महाचमूम् ।
अभिदुद्राव वेगेन पाण्डवः श्वेतवाहनः ॥ ८३ ॥

कौरवोंकी उस विशाल वाहिनीको आती देख श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े॥ ८३ ॥

भगदत्तश्च समरे तेन नागेन भारत ।
विमृद्नन् पाण्डवबलं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ८४ ॥

भारत ! भगदत्तने भी समरभूमिमें उस हाथीके द्वारा पाण्डवसेनाको कुचलते हुए युधिष्ठिरपर धावा किया ॥८४॥

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष ।
पञ्चालैः पाण्डवेयैश्च केकयैश्चोद्यतायुधैः ॥ ८५ ॥

आर्य ! उस समय हथियार उठाये हुए पाञ्चालों, पाण्डवों तथा केकयोंके साथ भगदत्तका बड़ा भारी युद्ध हुआ॥

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ॥ ८६ ॥

भीमसेनने भी समरभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको इरावान्‌के वधका यथावत् वृत्तान्त अच्छी तरह सुना दिया ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

षण्णवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनंजयः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन् पन्नगो यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्र इरावान्‌के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वे सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः ।
इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा ॥ २ ॥

नरेश्वर ! तब उन्होंने समरभूमिमें भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! निश्चय ही महाज्ञानी विदुरने पहले ही यह सब देख लिया था ॥ २ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च क्षयं घोरं महामतिः।
स ततो निवारितवान् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ३ ॥

'कौरवों और पाण्डवोंका यह भयंकर विनाश परम बुद्धिमान् विदुरकी दृष्टिमें पहले ही आ गया था। इसलिये उन्होंने राजा धृतराष्ट्रको मना किया था ॥ ३ ॥

अन्ये च बहवो वीराः संग्रामे मधुसूदन।
निहताः कौरवैः संख्ये तथास्माभिश्च कौरवाः ॥ ४ ॥

'मधुसूदन ! और भी बहुत-से वीरोंको संग्राममें कौरवोंने मारा और हमने कौरव सैनिकोंका संहार किया ॥ ४ ॥

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम्।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! धनके लिये यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है। धिक्कार है उस धनको, जिसके लिये इस प्रकार जाति-भाइयोंका विनाश किया जाता है ॥ ५ ॥

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम्।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ॥६॥

'मनुष्यका निर्धन रहकर मर जाना अच्छा है, परंतु जाति-भाइयोंके वधसे धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है। कृष्ण ! हम वहाँ आये हुए इन जाति-भाइयोंको मारकर क्या प्राप्त कर लेंगे ॥ ६ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च।
क्षत्रिया निधनं यान्ति कर्णदुर्मन्त्रितेन च ॥ ७ ॥

'दुर्योधनके अपराधसे और सुबलपुत्र शकुनि तथा कर्णकी कुमन्त्रणासे ये क्षत्रिय मारे जा रहे हैं ॥ ७ ॥

इदानीं च विजानामि सुकृतं मधुसूदन।
कृतं राज्ञा महाबाहो याचता च सुयोधनम् ॥ ८ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! राजा युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पहले जो याचना की थी, वही उत्तम कार्य था; यह बात अब मेरी समझमें आ रही है ॥ ८ ॥

राज्यार्धं पञ्च वा ग्रामान् नाकार्षीत् स च दुर्मतिः।
दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूराञ्शयानान् धरणीतले ॥ ९ ॥
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्।

'युधिष्ठिरने आधा राज्य अथवा पाँच गाँव माँगे थे, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधनने उनकी माँग पूरी नहीं की। आज क्षत्रिय वीरोंको रणभूमिमें सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूँ। क्षत्रियोंकी इस जीविकाको धिक्कार है।९½।

अशक्तमिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ॥ १० ॥
युद्धं तु मे न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन।

'मधुसूदन ! रणक्षेत्रमें मेरे मुखसे ऐसी बात सुनकर ये क्षत्रिय मुझे असमर्थ समझेंगे, परंतु इन जाति-भाइयोंके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ १०½ ॥

संचोदय हयाञ्शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ॥ ११ ॥
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम्।

(तथापि मैं आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा; अतः) 'आप शीघ्र ही अपने घोड़ोंको दुर्योधनकी सेनाकी ओर हाँकिये, जिससे इन दोनों भुजाओंद्वारा अपार सैन्यसागरको पार करूँ ॥ ११½ ॥

नायं यापयितुं कालो विद्यते माधव कश्चित् ॥ १२ ॥
एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा।
चोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥ १३ ॥

'माधव ! यह समयको व्यर्थ बितानेका अवसर नहीं है।' अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले केशवने वायुके समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ोंको आगे बढ़ाया १२-१३

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य भारत।
मारुतोद्धतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ १४ ॥

भारत ! तदनन्तर जैसे पूर्णिमाको वायुकी प्रेरणासे समुद्रका वेग बढ़ जानेसे उसकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हुआ॥

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ॥ १५ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें पाण्डवोंके साथ भीष्मका भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष हो रहा था ॥ १५ ॥

ततो राजंस्तव सुता भीमसेनमुपाद्रवन्।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ॥ १६ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्रके सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिमें भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः कृपश्च रथिनां वरः।
भगदत्तः सुशर्मा च धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, भगदत्त और सुशर्माने अर्जुनपर धावा किया ॥ १७ ॥

हार्दिक्यो बाह्लिकश्चैव सात्यकिं समभिद्रुतौ।
अम्बष्ठकस्तु नृपतिरभिमन्युमवस्थितः ॥ १८ ॥

कृतवर्मा और बाह्लीक सात्यकिपर टूट पड़े। राजा अम्बष्ठने अभिमन्युका सामना किया ॥ १८ ॥

शेषास्त्वन्ये महाराज शेषानेव महारथान्।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! शेष अन्य महारथियोंने शत्रुपक्षके शेष

महारथियोंपर आक्रमण किया। फिर तो उनमें घोर एवं भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १९ ॥

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ॥ २० ॥

जनेश्वर ! जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें आपके पुत्रोंको देखकर भीमसेन क्रोधसे जल उठे ॥ २० ॥

पुत्रास्तु तव कौन्तेयं छादयाञ्चक्रिरे शरैः।
प्रावृषीव महाराज जलदा इव पर्वतम् ॥ २१ ॥

परंतु महाराज ! आपके पुत्रोंने कुन्तीनन्दन भीमको अपने बाणोंसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षाऋतुमें बादल पर्वतको जलकी धाराओंसे ढक लेते हैं ॥ २१ ॥

स च्छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते।
सृक्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ॥ २२ ॥
व्यूढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! आपके पुत्रोंद्वारा बारंबार बाणोंकी वर्षासे आच्छादित किये जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँह-के कोनोंको चाटते हुए सिंहके समान शौर्यका अभिमान रखने-वाले वीर भीमसेनने एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा आपके पुत्र व्यूढोरस्कको मार गिराया। उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी ॥ २२-२३ ॥

अपरेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन तु।
अपातयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् जैसे सिंह छोटे-से मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भीमने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे आपके पुत्र कुण्डलीको धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

ततः सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान्।
ससर्ज त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ॥ २५ ॥

आर्य ! इसके बाद भीमने बड़ी उतावलीके साथ बहुत-से तीखे और पानीदार बाण हाथमें लिये और आपके पुत्रों-को लक्ष्य करके छोड़ दिये ॥ २५ ॥

प्रेषिता भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना।
अपातयन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ॥ २६ ॥

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उन बाणोंने आपके बहुत-से महारथी पुत्रोंको मारकर रथोंसे नीचे गिरा दिया ॥ २६ ॥

अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम्।
दीर्घबाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ॥ २७ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ।२७।

प्रपतन्त स्म वीरास्ते विरेजुर्भरतर्षभ।
वसन्ते पुष्पशबलाश्चूताः प्रपतिता इव ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सभी वीर वहाँ गिरकर वसन्त ऋतुमें धराशायी हुए पुष्पयुक्त आम्रवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ॥ २९ ॥

तब उस महायुद्धमें आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेन-को कालके समान समझकर वहाँसे भाग चले ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे वीरं निर्दहन्तं सुतांस्तव।
यथाद्रिं वारिधाराभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ॥ ३० ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंको दग्ध करते हुए वीर भीमसेनपर द्रोणाचार्यने सब ओरसे उसी प्रकार बाणों-की वर्षा आरम्भ की, जैसे बादल पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं ॥ ३० ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम्।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ॥ ३१ ॥

महाराज ! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीमका अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाणोंकी वर्षा करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रोंको मार डाला ॥३१॥

यथा गोवृषभो वर्षं संधारयति खात् पतत्।
भीमस्तथा द्रोणमुक्तं शरवर्षमदीधरत् ॥ ३२ ॥

जैसे साँड़ आकाशसे गिरती हुई जल-वर्षाको अपने शरीरपर शान्त भावसे धारण और सहन करता है, उसी प्रकार भीमसेन द्रोणाचार्यकी छोड़ी हुई बाण-वर्षाको धारण कर रहे थे ॥ ३२ ॥

अद्भुतं च महाराज तत्र चक्रे वृकोदरः।
यत् पुत्रांस्तेऽवधीत् संख्ये द्रोणं चैव न्यवारयत् ॥३३॥

महाराज ! भीमसेनने उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध तो किया ही, द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था। यह उन्होंने अद्भुत पराक्रम किया ॥ ३३ ॥

पुत्रेषु तव वीरेषु चिक्रीडार्जुनपूर्वजः।
मृगेष्विव महाराज चरन् व्याघ्रो महाबलः ॥ ३४ ॥

राजन् ! जैसे महाबली व्याघ्र मृगोंके झुंडमें विचरता हो, उसी प्रकार भीमसेन आपके वीर पुत्रोंके समुदायमें खेल रहे थे ॥ ३४ ॥

यथा हि पशुमध्यस्थो द्रावयेत पशून् वृकः।
वृकोदरस्तव सुतांस्तथा व्यद्रावयद् रणे ॥ ३५ ॥

जैसे भेड़िया पशुओंके बीचमें रहकर भी उन्हें विदीर्ण

कर डालता है, उसी प्रकार भीमसेन रणभूमिमें आपके पुत्रोंको भगा रहे थे ॥ ३५ ॥

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ॥ ३६ ॥

दूसरी ओर गङ्गानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य—ये तीनों महारथी युद्धमें वेगसे आगे बढ़नेवाले पाण्डुकुमार अर्जुनका निवारण कर रहे थे ॥ ३६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ३७ ॥

परंतु अतिरथी वीर अर्जुनने रणभूमिमें उनके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके आपकी सेनाके प्रमुख वीरोंको यमराजके पास भेज दिया ॥ ३७ ॥

अभिमन्युस्तु राजानमम्बष्ठं लोकविश्रुतम् ।
विरथं रथिनां श्रेष्ठं वारयामास सायकैः ॥ ३८ ॥

अभिमन्युने रथियोंमें श्रेष्ठ लोकविख्यात राजा अम्बष्ठको सायकोंद्वारा रथहीन करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३८ ॥

विरथो वध्यमानस्तु सौभद्रेण यशस्विना ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णमम्बष्ठो वसुधाधिपः ॥ ३९ ॥
असिं चिक्षेप समरे सौभद्रस्य महात्मनः ।
आरुरोह रथं चैव हार्दिक्यस्य महाबलः ॥ ४० ॥

यशस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युसे पीड़ित एवं रथहीन होकर राजा अम्बष्ठ अपने रथसे कूद पड़े और महामना सुभद्राकुमारपर उन्होंने रणक्षेत्रमें तलवार चलायी । फिर वे महाबली नरेश कृतवर्माके रथपर जा बैठे ॥ ३९-४० ॥

आपतन्तं तु निस्त्रिंशं युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवाद् व्यंसयामास सौभद्रः परवीरहा ॥ ४१ ॥

युद्धके पैतरोंको जाननेमें कुशल तथा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने अपनी ओर आती हुई अम्बष्ठकी तलवारको अपनी फुर्तीके कारण निष्फल कर दिया ॥ ४१ ॥

व्यंसितं वीक्ष्य निस्त्रिंशं सौभद्रेण रणे तदा ।
साधु साध्विति सैन्यानां प्रणादोऽभूद् विशाम्पते ॥४२॥

प्रजानाथ ! उस समय रणक्षेत्रमें अम्बष्ठकी चलायी हुई तलवारको सुभद्राकुमारद्वारा निष्फल की गयी देख समस्त सैनिकोंके मुखसे निकली हुई 'साधु-साधु' (वाह-वाह) की ध्वनि गूँज उठी ॥ ४२ ॥

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेनाके साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करने लगे॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
(पाण्डवानां च राजेन्द्र सैनिकानां सुदारुणः ।)
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ॥ ४४ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! एक दूसरेपर सुदृढ़ प्रहार और दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर महान् संग्राम होने लगा ॥ ४४ ॥

अन्योन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ॥ ४५ ॥

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्रमें एक दूसरेके केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनोंसे प्रहार करते हुए लड़ रहे थे ॥ ४५ ॥

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ॥ ४६ ॥

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओंद्वारा भी एक दूसरेको यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ४६ ॥

न्यहनच्च पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
व्याकुलीकृतसर्वाङ्गा युयुधुस्तत्र मानवाः ॥ ४७ ॥

उस युद्धमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला । सबके सभी अङ्ग व्याकुल हो गये थे, तो भी सब लोग युद्ध कर रहे थे ॥ ४७ ॥

रणे चारूणि चापानि हेमपृष्ठानि मारिष ।
हतानामपविद्धानि कलापाश्च महाधनाः ॥ ४८ ॥

आर्य ! उस रणक्षेत्रमें मारे गये नरेशोंके सुवर्णमय पृष्ठसे विभूषित सुन्दर धनुष तथा बहुमूल्य तरकस जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे ॥ ४८ ॥

जातरूपमयैः पुङ्खै राजतैर्निशिताः शराः ।
तैलधौता व्यराजन्त निर्मुक्तभुजगोपमाः ॥ ४९ ॥

सोने अथवा चाँदीके पंखोंसे युक्त तथा तेलके धोये हुए तीखे बाण केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ४९ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मचित्राणि धन्विनाम् ॥ ५० ॥

हमने देखा कि रणभूमिमें धनुर्धर वीरोंकी तलवारें और ढालें फेंकी पड़ी हैं । तलवारोंमें हाथीके दाँतकी मूँठें लगी थीं और उनमें यथास्थान सुवर्ण जड़ा हुआ था । इसी प्रकार ढालोंमें सुवर्णमय विचित्र तारक चिह्न दिखायी देते थे ॥ ५० ॥

सुवर्णविकृतप्रासान् पट्टिशान् हेमभूषितान् ।
जातरूपमयाश्चर्ष्टीः शक्तीश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५१ ॥

सुवर्णभूषित प्रास, स्वर्णजटित पट्टिश, सोनेकी बनी हुई ऋष्टियाँ तथा स्वर्णभूषित चमकीली शक्तियाँ यत्र-तत्र पड़ी हुई थीं ॥ ५१ ॥

सुसंनाहाश्च पतिता मुसलानि गुरूणि च ।
परिघान् पट्टिशांश्चैव भिन्दिपालांश्च मारिष ॥ ५२ ॥

आर्य ! वहाँ सुन्दर कवच पड़े थे । भारी मुसल, परिघ, पट्टिश और भिन्दिपाल भी इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे ॥

पतितान् विविधांश्चापांश्चित्रान् हेमपरिष्कृतान् ।
कुथा बहुविधाकाराश्चामरान् व्यजनानि च ॥ ५३ ॥

नाना प्रकारके विचित्र एवं स्वर्णभूषित धनुष गिरे हुए थे । हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले भाँति-भाँतिके कम्बल तथा चँवर और व्यजन भी यत्र-तत्र गिरे दिखायी देते थे ॥

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ॥ ५४ ॥

भाँति भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको हाथोंमें लेकर पृथ्वीपर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखायी देते थे ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ॥ ५५ ॥

किन्हींके शरीर गदाकी चोटसे चूर-चूर हो गये थे, किन्हींके मस्तक मुसलोंकी मारसे फट गये थे तथा कितने ही मनुष्य घोड़े, हाथी एवं रथोंसे कुचल गये थे । ये सभी वहाँ पृथ्वीपर प्राणहीन होकर सो गये थे ॥ ५५ ॥

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ॥ ५६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्योंके मृत शरीरोंसे सारी वसुधा आच्छादित हो उस समय पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ५६ ॥

समरे पतितैश्चैव शक्त्यृष्टिशरतोमरैः ।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैरयस्कुन्तैः परश्वधैः ॥ ५७ ॥
परिघैर्भिन्दिपालैश्च शतघ्नीभिश्च मारिष ।
शरीरैः शस्त्रनिर्भिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ५८ ॥

आर्य ! समरभूमिमें गिरे हुए बाण, तोमर, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, पट्टिश, प्रास, लोहेके भाले, फरसे, परिघ, भिन्दिपाल तथा शतघ्नी (तोप)—इन अस्त्र-शस्त्रों तथा इनके द्वारा विदीर्ण हुए मृत शरीरोंसे सारी पृथ्वी पट गयी थी ॥ ५७-५८ ॥

विशब्दैरल्पशब्दैश्च शोणितौघपरिप्लुतैः ।
गतासुभिरमित्रघ्न विबभौ निचिता मही ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज ! वहाँ पृथ्वीपर कुछ ऐसे लोग गिरे थे, जिनके मुखसे शब्द नहीं निकल पाता था । कुछ ऐसे थे, जो बहुत थोड़ा बोल पाते थे । प्रायः सभी लोग खूनसे लथपथ हो रहे थे और बहुत-से ऐसे शरीर पड़े थे, जो सर्वथा प्राणहीन हो चुके थे । इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि मानो चुन दी गयी थी ॥ ५९ ॥

सतलत्रैः सकेयूरैर्बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ॥ ६० ॥
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
पतितैर्ऋषभाक्षाणां बभौ भारत मेदिनी ॥ ६१ ॥

भारत ! रणभूमिमें गिरे हुए बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंकी दस्तानों और केयूरोंसे युक्त चन्दनचर्चित भुजाओंसे, हाथीकी सूँड़के समान प्रतीत होनेवाली छिन्न-भिन्न हुई जाँघोंसे तथा उत्तम चूड़ामणि (मुकुट) से आबद्ध कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ ६०-६१ ॥

कवचैः शोणितादिग्धैर्विप्रकीर्णैश्च काञ्चनैः ।
रराज सुभृशं भूमिः शान्तार्चिभिरिवानलैः ॥ ६२ ॥

रक्तमें सनकर इधर-उधर बिखरे हुए सुवर्णमय कवचोंसे वह युद्धभूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो वहाँ जिसकी लपटें शान्त हो गयी हैं, ऐसी आग जगह-जगह पड़ी हो ॥

विप्रविद्धैः कलापैश्च पतितैश्च शरासनैः ।
विप्रकीर्णैः शरैश्चैव रुक्मपुङ्खैः समन्ततः ॥ ६३ ॥

चारों ओर तरकस फेंके पड़े थे, धनुष गिरे थे और सोनेके पंखवाले बाण बिखरे हुए थे ॥ ६३ ॥

रथैश्च सर्वतो भग्नैः किङ्किणीजालभूषितैः ।
वाजिभिश्च हतैर्बाणैः स्रस्तजिह्वैः सशोणितैः ॥ ६४ ॥

सब ओर क्षुद्रघण्टिकाओंके जालसे विभूषित टूटे-फूटे रथ पड़े थे । बाणोंसे मारे गये घोड़े खूनसे लथपथ हो जीभ निकाले ढेर हो रहे थे ॥ ६४ ॥

अनुकर्षैः पताकाभिरुपासङ्गैर्ध्वजैरपि ।
प्रवीराणां महाशङ्खैर्विप्रकीर्णैश्च पाण्डुरैः ॥ ६५ ॥

अनुकर्ष, पताका, उपासङ्ग, ध्वज तथा बड़े-बड़े वीरोंके श्वेत महाशङ्ख बिखरे पड़े थे ॥ ६५ ॥

स्रस्तहस्तैश्च मातङ्गैः शयानैर्विबभौ मही ।
नानारूपैरलंकारैः प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ ६६ ॥

जिनकी सूँड़ें कट गयी थीं, ऐसे मतवाले हाथी धराशायी हो रहे थे । उन सबके द्वारा वह रणभूमि भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत युवतीके समान सुशोभित हो रही थी ॥

दन्तिभिश्चापरैस्तत्र सप्रासैर्गाढवेदनैः ।
करैः शब्दं विमुञ्चद्भिः शीकरं च मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥

कुछ दन्तार हाथी प्रास धँस जानेके कारण गहरी व्यथासे युक्त सूँड़ोंद्वारा बारंबार शब्द करते और पानीके कण फेंकते थे ॥

विबभौ तद् रणस्थानं स्यन्दमानैरिवाचलैः ।
नानारागैः कम्बलैश्च परिस्तोमैश्च दन्तिनाम् ॥ ६८ ॥
वैदूर्यमणिदण्डैश्च पतितैरङ्कुशैः शुभैः ।

उनके कारण वह युद्धस्थल जलके स्रोत बहानेवाले

पर्वतोंसे युक्त-सा प्रतीत होता था। वहाँ नाना प्रकारके रंगवाले कम्बल, हाथियोंके झूल तथा वैदूर्यमणिके दण्डवाले सुन्दर अङ्कुश गिरे हुए थे ॥ ६८½ ॥

घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां पतिताभिः समन्ततः ॥ ६९ ॥
विपाटितविचित्राभिः कुथाभिरङ्कुशैस्तथा ।
ग्रैवेयैश्चित्ररूपैश्च रुक्मकक्ष्याभिरेव च ॥ ७० ॥

चारों ओर गजराजोंके घंटे पड़े हुए थे। हाथियोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले फटे हुए विचित्र कम्बल और अङ्कुश सब ओर गिरे हुए थे। गलेके विचित्र आभूषण और सुनहरे रस्से भी जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे ॥ ६९-७० ॥

यन्त्रैश्च बहुधाच्छिन्नैस्तोमरैश्चापि काञ्चनैः ।
अश्वानां रेणुकपिलै रुक्मच्छन्नैरुरश्छदैः ॥ ७१ ॥
सादिनां भुजगैश्छिन्नैः पतितैः साङ्गदैस्तथा ।
प्रासैश्च विमलैस्तीक्ष्णैर्विमलाभिस्तथर्ष्टिभिः ॥ ७२ ॥

अनेक टुकड़ोंमें कटे हुए यन्त्र, सुवर्णमय तोमर, धूलसे कपिल वर्णके दिखायी देनेवाले अश्वोंकी छातीको ढकनेवाले सुनहरे कवच, बाजूबंदसहित घुड़सवारोंके हाथोंमें धारण किये हुए तीखे और चमकीले प्रास तथा चमचमाती हुई ऋष्टियाँ छिन्न-भिन्न होकर यत्र-तत्र पड़ी थीं ॥ ७१-७२ ॥

उष्णीषैश्च तथा चित्रैर्विप्रविद्धैस्ततस्ततः ।
विचित्रैर्बाणवर्षैश्च जातरूपपरिष्कृतैः ॥ ७३ ॥
अश्वास्तरपरिस्तोमै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
नरेन्द्रचूडामणिभिर्विचित्रैश्च महाधनैः ॥ ७४ ॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए विचित्र उष्णीष (पगड़ी आदि), पानीकी तरह बरसाये गये सुवर्णभूषित नाना प्रकारके बाण, घोड़ोंकी जीन, झूल और उनकी पीठपर बिछाने योग्य रंकु-नामक मृगोंके कोमल चर्ममय आसन, जो पैरोंसे कुचलकर धूलमें सन गये थे तथा नरेशोंके मुकुटमें आबद्ध बहुमूल्य एवं विचित्र मणिरत्न सब ओर बिखरे पड़े थे ॥ ७३-७४ ॥

छत्रैस्तथापविद्धैश्च चामरैर्व्यजनैरपि ।
पद्मेन्दुद्युतिभिश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः ॥ ७५ ॥
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः ।
अपविद्धैर्महाराज सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलैः ॥ ७६ ॥
ग्रहनक्षत्रशबला द्यौरिवासीद् वसुन्धरा ।

इधर-उधर गिरे हुए राजाओंके छत्र, चँवर, व्यजन, वीर योद्धाओंके मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित, कमल एवं चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा मूँछोंसे युक्त और अत्यन्त अलंकृत कटे हुए मस्तक, जिनमें सोनेके सुन्दर कुण्डल जगमगा रहे थे, फेंके हुए-से पड़े थे। महाराज ! इन सब वस्तुओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशके समान विचित्र शोभा धारण कर रही थी।७५-७६½।

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत ॥ ७७ ॥
परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे ।

भारत ! इस प्रकार आपकी और पाण्डवोंकी वे दोनों विशाल सेनाएँ एक दूसरीसे भिड़कर युद्धस्थलमें रौंदी जा रही थीं ॥ ७७½ ॥

तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत ॥ ७८ ॥
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान् ।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः ॥ ७९ ॥

भरतनन्दन ! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रम-से चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे और बहुतेरे योद्धा रौंद डाले गये थे, रात हो गयी थी एवं हमें अपने सेवक नहीं दिखायी दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्धभूमिसे लौटनेका आदेश दे दिया ॥

रजनीमुखे सुरौद्रे तु वर्तमाने महाभये ।
अवहारं ततः कृत्वा सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
न्यविशन्त यथाकालं गत्वा स्वशिबिरं तदा ॥ ८० ॥

फिर उस महाभयानक तथा अत्यन्त रौद्र रूपवाले प्रदोष-कालमें कौरव तथा पाण्डव एक साथ अपनी सेनाओंको लौटाकर यथासमय शिबिरमें जा पहुँचे और विश्राम करने लगे ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धावहारे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरमें लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मसे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः॥ १॥
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम्।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति॥ २॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण—ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्यके विषयमें गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणाका मुख्य विषय यह था कि पाण्डवोंको दल-बलसहित युद्धमें कैसे जीता जा सकता है?॥ १-२॥

ततो दुर्योधनो राजा सर्वांस्तानाह मन्त्रिणः।
सूतपुत्रं समाभाष्य सौबलं च महाबलम्॥ ३॥

उस समय राजा दुर्योधनने सूतपुत्र कर्ण तथा महाबली शकुनिको सम्बोधित करके उन सब मन्त्रियोंसे कहा—॥ ३॥

द्रोणो भीष्मः कृपः शल्यः सौमदत्तिश्च संयुगे।
न पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम्॥ ४॥

'मित्रो! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य तथा भूरिश्रवा—ये लोग युद्धमें कुन्तीके पुत्रोंको कभी कोई बाधा नहीं पहुँचाते हैं। इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता॥

अवध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम।
सोऽस्मि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे॥ ५॥

'वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेनाका संहार कर रहे हैं। कर्ण! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रोंका युद्धमें क्षय होता चला जा रहा है॥ ५॥

(त्वयि युद्धविमुखे चापि जितश्चास्मि हि पाण्डवैः।
द्रोणस्य प्रमुखे वीरा हतास्ते भ्रातरो मम॥
भीमसेनेन राधेय मम चैवानुपश्यतः।)

'राधानन्दन! तुम युद्धसे मुँह मोड़कर बैठ रहे हो, इसलिये पाण्डवोंने मुझे परास्त कर दिया। द्रोणाचार्यके सामने ही मेरे देखते-देखते भीमसेनने मेरे वीर भाइयोंको मार डाला॥

निकृतः पाण्डवैः शूरैरवध्यैर्दैवतैरपि।
सोऽहं संशयमापन्नः प्रहरिष्ये कथं रणे॥ ६॥

'पाण्डव शूरवीर और देवताओंके लिये भी अवध्य हैं। उनके द्वारा पराजित होकर मैं जीवनके संशयमें पड़ गया हूँ। ऐसी दशामें रणक्षेत्रमें मैं कैसे युद्ध करूँगा?'॥ ६॥

(एवमुक्तस्तु राधेयो दुर्योधनमरिंदमम्।)
तमब्रवीन्महाराजं सूतपुत्रो नराधिपम्।

यह सुनकर सूतपुत्र कर्णने शत्रुदमन नरनाथ महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा॥ ६½॥

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव॥ ७॥
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात्।

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा, परंतु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्धसे हट जायँ॥ ७½॥

निवृत्ते युधि गाङ्गेये न्यस्तशस्त्रे च भारत॥ ८॥
अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः।
पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप॥ ९॥

भरतवंशी नरेश! जब युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्म हथियार डाल देंगे और उससे सर्वथा निवृत्त हो जायँगे, उस समय मैं युद्धमें भीष्मके देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको एक साथ मार डालूँगा, यह मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ॥

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान्॥ १०॥

भीष्म सदा ही पाण्डवोंपर दया करते हैं; अतः युद्धमें वे इन महारथियोंको जीतनेमें सर्वथा असमर्थ हैं॥ १०॥

अभिमानी रणे भीष्मो नित्यं चापि रणप्रियः।
स कथं पाण्डवान् युद्धे जेष्यते तात संगतान्॥ ११॥

तात! भीष्म युद्धमें अभिमान रखनेवाले तथा सदा युद्धको प्रिय माननेवाले हैं; तथापि पाण्डवोंपर दया रखनेके कारण वे उन सबको संग्राममें कैसे जीत सकेंगे?॥ ११॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत॥ १२॥

भारत! अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे भीष्मजीके शिबिरमें जाकर अपने उन पूजनीय वृद्ध पितामहको राजी करके उनसे हथियार रखवा दो॥ १२॥

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान्।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ १३ ॥

राजन् ! भीष्मके हथियार डाल देनेपर पाण्डवोंको केवल मेरे द्वारा युद्धमें सुहृदों और बान्धवोंसहित मारा गया समझो ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अब्रवीद् भ्रातरं तत्र दुःशासनमिदं वचः ॥ १४ ॥
अनुयात्रं यथा सर्वं सज्जीभवति सर्वशः।
दुःशासन तथा क्षिप्रं सर्वमेवोपपादय ॥ १५ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने वहाँ अपने भाई दुःशासनसे इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! तुम शीघ्र सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करो, जिससे यात्रासम्बन्धी सब आवश्यक तैयारी सम्पन्न हो जाय' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् कर्णमाह जनेश्वरः।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ॥ १६ ॥
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिंदम।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ॥ १७ ॥

राजन् ! दुःशासनसे ऐसा कहकर जनेश्वर दुर्योधनने कर्णसे कहा, 'शत्रुदमन ! मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीष्मको युद्धसे हटनेके लिये राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्मके हट जानेपर तुम युद्धके मैदानमें शत्रुओंपर प्रहार करना' ॥ १६-१७ ॥

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन तुरंत ही अपने भाइयोंके साथ शिबिरसे बाहर निकला, मानो देवताओं-के साथ इन्द्र अपने भवनसे बाहर आये हों ॥ १८ ॥

ततस्तं नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम्।
आरोहयद्धयं तूर्णं भ्राता दुःशासनस्तदा ॥ १९ ॥

उस समय भाई दुःशासनने अपने ज्येष्ठ भ्राता सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको घोड़ेपर चढ़ाया ॥ १९ ॥

अङ्गदी बद्धमुकुटो हस्ताभरणवान् नृप।
धार्तराष्ट्रो महाराज विबभौ स पथि व्रजन् ॥ २० ॥

नरेश्वर ! महाराज ! माथेपर मुकुट, भुजाओंमें अङ्गद तथा हाथोंमें वलय आदि आभूषण धारण किये मार्गपर जाता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी शोभा पा रहा था ॥

भण्डीपुष्पनिकाशेन तपनीयनिभेन च।
अनुलिप्तः परार्ध्येन चन्दनेन सुगन्धिना ॥ २१ ॥

उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्णके समान पीतवर्णका बहु-मूल्य सुगन्धित चन्दन लगा रक्खा था ॥ २१ ॥

अरजोऽम्बरसंवीतः सिंहखेलगतिर्नृप।
शुशुभे विमलार्चिष्मान् नभसीव दिवाकरः ॥ २२ ॥

राजन् ! उसके सारे अङ्ग निर्मल वस्त्रसे ढके हुए थे। वह सिंहके समान मस्तानी चालसे चलता था और अपनी निर्मल प्रभाके कारण आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २२ ॥

तं प्रयान्तं नरव्याघ्रं भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः सर्वलोकस्य धन्विनः ॥ २३ ॥
भ्रातरश्च महेष्वासास्त्रिदशा इव वासवम्।

भीष्मके शिबिरकी ओर जाते हुए पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे सारे जगत्के महाधनुर्धर कौरवपक्षीय नरेश तथा विशाल धनुष धारण करनेवाले उसके भाई उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे इन्द्रके पीछे देवता चलते हैं ॥ २३½ ॥

हयानन्ये समारुह्य गजानन्ये च भारत ॥ २४ ॥
रथानन्ये नरश्रेष्ठं परिवव्रुः समन्ततः।

भारत ! कुछ लोग घोड़ोंपर और कुछ लोग हाथियोंपर चढ़े थे। दूसरे लोग रथोंपर आरूढ़ हो सब ओरसे नरश्रेष्ठ दुर्योधनको घेरे हुए थे ॥ २४½ ॥

आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः ॥ २५ ॥
प्रादुर्बभूवुः सहिताः शक्रस्येवामरा दिवि।

राजा दुर्योधनकी रक्षाके लिये समस्त सुहृद् अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ हो गये थे, जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रकी रक्षाके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २५½ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः कौरवाणां महाबलः ॥ २६ ॥
प्रययौ सदनं राजा गाङ्गेयस्य यशस्विनः।
अन्वीयमानः सततं सोदरैः परिवारितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कौरवोंसे पूजित हो महाबली कौरवराज दुर्योधन यशस्वी भीष्मके शिबिरमें गया। उसके भाई उसे घेरकर निरन्तर उसीके साथ-साथ रहे ॥ २६-२७ ॥

दक्षिणं दक्षिणः काले सम्भृत्य स्वभुजं तदा।
हस्तिहस्तोपमं शैक्षं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥ २८ ॥
प्रगृह्णन्नञ्जलीन् नृणामुद्यतान् सर्वतो दिशः।
शुश्राव मधुरा वाचो नानादेशनिवासिनाम् ॥ २९ ॥

उदार स्वभाववाले राजा दुर्योधनने उस समय सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ, हाथीकी सूँड़के समान विशाल तथा अस्त्र-प्रहारकी शिक्षामें निपुणताको प्राप्त हुई अपनी दाहिनी भुजाको ऊपर उठाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उठी हुई विभिन्न देशके निवासी मनुष्योंकी प्रणामाञ्जलियोंको स्वीकार करते हुए उनकी मधुर बातें सुनीं ॥ २८-२९ ॥

संस्तूयमानः सूतैश्च मागधैश्च महायशाः।
पूजयानश्च तान् सर्वान् सर्वलोकेश्वरेश्वरः ॥ ३० ॥
(एवं स प्रययौ राजा सर्वसैन्यसमावृतः।)

सम्पूर्ण जगत्का अधीश्वर महायशस्वी राजा दुर्योधन सम्पूर्ण सेनाओंसे घिरकर सूतों और मागधोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता और सब लोगोंका समादर करता हुआ (भीष्मके शिबिरकी ओर) आगे बढ़ता गया ॥ ३० ॥

प्रदीपैः काञ्चनैस्तत्र गन्धतैलावसेचितैः।
परिवव्रुर्महाराजं प्रज्वलद्भिः समन्ततः ॥ ३१ ॥

सुगन्धित तेलसे भरे हुए सोनेके जलते दीपक लिये बहुत-से सेवक महाराज दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहे थे ॥ ३१ ॥

स तैः परिवृतो राजा प्रदीपैः काञ्चनैर्ज्वलन् ।
शुशुभे चन्द्रमा युक्तो दीप्तैरिव महाग्रहैः ॥ ३२ ॥

उन सुवर्णमय प्रदीपोंसे घिरकर प्रकाशित होनेवाला राजा दुर्योधन दीप्तिमान् महाग्रहोंसे संयुक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३२ ॥

काञ्चनोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः ।
प्रोत्सारयन्तः शनकैस्तं जनं सर्वतो दिशम् ॥ ३३ ॥

सुनहरी पगड़ी धारण करके हाथोंमें बेंत और झर्झर लिये बहुतेरे सिपाही धीरे-धीरे सब ओरसे लोगोंकी भीड़को हटाते हुए चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सम्प्राप्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम् ।
अवतीर्य हयाच्चापि भीष्मं प्राप्य जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
अभिवाद्य ततो भीष्मं निषण्णः परमासने ।
काञ्चने सर्वतोभद्रे स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन भीष्मके सुन्दर निवासस्थानके निकट पहुँचकर घोड़ेसे उतर पड़ा और भीष्मजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त सर्वतोभद्रनामक सर्वोत्तम स्वर्णमय सिंहासनपर बैठ गया॥३४-३५॥

उवाच प्राञ्जलिर्भीष्मं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।
त्वां वयं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन ॥ ३६ ॥
उत्सहेम रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ।
किमु पाण्डुसुतान् वीरान् ससुहृद्गणबान्धवान्॥ ३७ ॥
तस्मादर्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो ।
जहि पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ॥ ३८ ॥

इसके बाद नेत्रोंमें आँसू भरकर हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठसे वह भीष्मसे इस प्रकार बोला—'शत्रुसूदन ! हम लोग आपका आश्रय लेकर युद्धके मैदानमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंको भी जीतनेका उत्साह रखते हैं; फिर मित्रों और बान्धवोंसहित वीर पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है । अतः प्रभो ! गङ्गानन्दन ! आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये । जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप वीर पाण्डवोंको मार डालिये ॥ ३६—३८ ॥

अहं सर्वान् महाराज निहनिष्यामि सोमकान् ।
पञ्चालान् केकयैः सार्धं करूषांश्चेति भारत ॥ ३९ ॥
त्वद्वचः सत्यमेवास्तु जहि पार्थान् समागतान् ।
सोमकांश्च महेष्वासान् सत्यवाग् भव भारत ॥ ४० ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! मैं केकयोंसहित सम्पूर्ण सोमकों, पाञ्चालों और करूषोंको मार डालूँगा—आपकी यह बात सत्य हो । भारत ! आप युद्धमें सामने आये हुए कुन्तीपुत्रों और महाधनुर्धर सोमकोंका वध कीजिये और ऐसा करके अपने वचनको सत्य कीजिये ॥ ३९-४० ॥

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ॥ ४१ ॥
अनुजानीहि समरे कर्णमाहवशोभिनम् ।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ४२ ॥

'शक्तिशाली राजन् ! यदि पाण्डवोंके प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेषभाव रखनेके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं तो समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णको युद्धके लिये आज्ञा दे दीजिये । वह सुहृदों और बान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रोंको अवश्य जीत लेगा' ॥ ४१-४२ ॥

स एवमुक्त्वा नृपतिः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
नोवाच वचनं किञ्चिद् भीष्मं सत्यपराक्रमम् ॥ ४३ ॥

सत्यपराक्रमी भीष्मसे ऐसा कहकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन और कुछ नहीं बोला ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मं प्रति दुर्योधनवाक्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मके प्रति दुर्योधनका वचनविषयक सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था

संजय उवाच

वाक्शल्यैस्तव पुत्रेण सोऽतिविद्धो महामनाः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो नोवाचाप्रियमण्वपि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रद्वारा वाग्बाणोंसे अत्यन्त विद्ध होकर महामना भीष्मको महान् दुःख हुआ; तथापि उन्होंने उससे कोई किञ्चिन्मात्र भी अप्रिय वचन नहीं कहा ॥ १ ॥

स ध्यात्वा सुचिरं कालं दुःखरोषसमन्वितः ।
श्वसमानो यथा नागः प्रणुन्नो वाक्शलाकया ॥ २ ॥

वे दुःख और रोषसे युक्त होकर दीर्घकालतक कुछ सोचते हुए लंबी साँस खींचते रहे । वाणीरूपी अङ्कुशसे पीड़ित होकर वे हाथीके समान व्यथाका अनुभव करने लगे॥

उद्वृत्य चक्षुषी कोपान्निर्दहन्निव भारत ।
सदेवासुरगन्धर्वं लोकं लोकविदां वरः ॥ ३ ॥

भारत ! फिर क्रोधसे दोनों आँखें चढ़ाकर लोकवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्म इस प्रकार देखने लगे, मानो देवताओं, असुरों और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालेंगे ॥

अब्रवीत् तव पुत्रं स सामपूर्वमिदं वचः।
किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि ॥ ४ ॥
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम्।
जुह्वानं समरे प्राणांस्तव वै प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥

फिर आपके पुत्रको सान्त्वना देते हुए वे उससे इस प्रकार बोले—'बेटा दुर्योधन ! तुम इस प्रकार वाग्बाणोंसे मुझे क्यों छेद रहे हो ? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओंपर विजय पानेकी चेष्टा करता हूँ और तुम्हारे प्रिय साधनमें लगा हुआ हूँ । इतना ही नहीं, तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं समराग्निमें अपने प्राणोंको होम देनेके लिये भी तैयार हूँ ४-५

यदा तु पाण्डवः शूरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत्।
पराजित्य रणे शक्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

'परंतु तुम्हें याद होगा, जब शूरवीर पाण्डुनन्दन अर्जुनने युद्धमें देवराज इन्द्रको परास्त करके खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था, वही उनकी अजेयताका पूरा प्रमाण है ॥ ६॥

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! जब गन्धर्वलोग तुम्हें बलपूर्वक पकड़ ले गये थे, उस समय भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने ही तुम्हें छुड़ाया था। उनके अनन्त पराक्रमको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ ७ ॥

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ८ ॥

'प्रभो ! उस अवसरपर तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे। यह अर्जुनकी अद्भुत शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ८ ॥

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥

'उन दिनों विराटनगरमें हम सब लोग एक साथ युद्धके लिये डटे हुए थे, परंतु अर्जुनने अकेले ही हमलोगोंपर आक्रमण किया। यह उनकी अपरिमित शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ९ ॥

द्रोणं च युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे।
वासांसि स समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १० ॥

'अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यको तथा मुझे भी युद्धमें परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे। यह उनकी अजेयताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ १० ॥

तथा द्रौणिं महेष्वासं शारद्वतमथापि च।
गोग्रहे जितवान् पूर्वं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ११ ॥

'पूर्वकालमें उसी गोग्रहके अवसरपर पाण्डुकुमारने महाधनुर्धर अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यको भी परास्त कर दिया था। यह दृष्टान्त उन्हें समझनेके लिये पर्याप्त है ॥ ११॥

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम्।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १२ ॥

'उन दिनों सदा अपने पुरुषार्थका अभिमान रखनेवाले कर्णको भी जीतकर अर्जुनने उसके वस्त्र छीनकर उत्तराको अर्पित किये थे। यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १२ ॥

निवातकवचान् युद्धे वासवेनापि दुर्जयान्।
जितवान् समरे पार्थः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १३ ॥

'जिन्हें परास्त करना इन्द्रके लिये भी कठिन था, उन निवातकवचोंको अर्जुनने युद्धमें परास्त कर दिया था। उनकी अलौकिक शक्तिको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा॥

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं तदा।
यस्य गोप्ता जगद्गोप्ता शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥
वासुदेवोऽनन्तशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः।
सर्वेश्वरो देवदेवः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥

'विश्वरक्षक, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले अनन्तशक्ति, सृष्टि और संहारके एकमात्र कर्ता देवाधिदेव सनातन परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव जिनकी रक्षा करनेवाले हैं, उन वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धके मैदानमें कौन जीत सकता है ॥ १४-१५ ॥

उक्तोऽसि बहुशो राजन् नारदाद्यैर्महर्षिभिः।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ॥ १६ ॥

'राजन् ! सुयोधन ! यह बात नारद आदि महर्षियोंने तुमसे कई बार कही है, परंतु तुम मोहवश कहने और न कहने योग्य बातको समझते ही नहीं हो ॥ १६ ॥

मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान्।
तथा त्वमपि गान्धारे विपरीतानि पश्यसि ॥ १७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जैसे मरणासन्न मनुष्य सभी वृक्षोंको सुनहरे रंगका देखता है, उसी प्रकार तुम भी सब कुछ विपरीत ही देख रहे हो ॥ १७ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृंजयैः।
युद्ध्यस्व तानद्य रणे पश्यामः पुरुषो भव ॥ १८ ॥
(अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः।)

'तुमने स्वयं ही पाण्डवों तथा सृञ्जयोंके साथ महान् वैर ठाना है। अतः अब तुम्हीं युद्ध करो। हम सब लोग देखते हैं। तुम स्वयं पुरुषत्वका परिचय दो। पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥

अहं तु सोमकान् सर्वान् पञ्चालांश्च समागतान्।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ॥ १९ ॥

'किंतु पुरुषसिंह ! मैं केवल शिखण्डीको छोड़कर युद्धमें आये हुए समस्त सोमकों और पाञ्चालोंको भी मार डालूँगा ॥ १९ ॥

तैर्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम् ।
तान् वा निहत्य समरे प्रीतिं दास्याम्यहं तव ॥ २० ॥

'या तो उन्हींके हाथों युद्धमें मारा जाकर मैं यमलोकका रास्ता लूँगा अथवा उन्हींको समराङ्गणमें मारकर मैं तुम्हें हर्ष प्रदान करूँगा ॥ २० ॥

पूर्वं हि स्त्री समुत्पन्ना शिखण्डी राजवेश्मनि ।
वरदानात् पुमाञ्जातः सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी॥ २१ ॥

'शिखण्डी पहले राजभवनमें स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ था; फिर वरदानसे पुरुष हो गया, अतः मेरी दृष्टिमें तो यह स्त्रीरूपा शिखण्डिनी ही है ॥ २१ ॥

तमहं न हनिष्यामि प्राणत्यागेऽपि भारत ।
यासौ प्राङ्‌निर्मिता धात्रा सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ॥ २२॥

'भारत ! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी मैं उसे नहीं मारूँगा। जिसे विधाताने पहले स्त्री बनाया था, वह शिखण्डिनी आज भी मेरी दृष्टिमें स्त्री ही है ॥ २२ ॥

सुखं स्वपिहि गान्धारे श्वोऽपि कर्ता महारणम् ।
यं जनाः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ॥ २३॥

'गान्धारीनन्दन ! अब तुम सुखसे जाकर सो रहो। कल मैं बड़ा भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक करते रहेंगे, जबतक कि यह पृथ्वी बनी रहेगी' ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर ।
अभिवाद्य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुर्योधन अपने उन गुरुजनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके पश्चात् अपने शिविरको चला गया ॥ २४ ॥

आगम्य तु ततो राजा विसृज्य च महाजनम् ।
प्रविवेश ततस्तूर्णं क्षयं शत्रुक्षयङ्करः ॥ २५ ॥

वहाँ आकर शत्रुओंका विनाश करनेवाले राजा दुर्योधनने लोगोंके उस महान् समुदायको तुरंत विदा कर दिया और स्वयं शिविरके भीतर प्रवेश किया ॥ २५ ॥

प्रविष्टः स निशां तां च गमयामास पार्थिवः ।
प्रभातायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः ॥ २६ ॥
राज्ञः समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ।
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान् ॥ २७ ॥

भूपाल ! वहाँ जाकर राजाने सुखसे रात बितायी और सवेरा होनेपर उसने प्रातःकाल उठकर राजाओंको यह आज्ञा दी— 'राजसिंहो ! तुम सब लोग सेनाको युद्धके लिये तैयार करो, आज पितामह भीष्म रणभूमिमें कुपित होकर सोमकोंका संहार करेंगे' ॥ २६-२७ ॥

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा रात्रौ विलपितं बहु ।
मन्यमानः स तं राजन् प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥ २८ ॥

राजन् ! रातमें दुर्योधनके अनेक प्रकारके विलापको सुनकर भीष्मने यह समझ लिया कि अब दुर्योधन मुझे युद्धसे हटाना चाहता है ॥ २८ ॥

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।
दीर्घं दध्यौ शान्तनवो योद्धुकामोऽर्जुनं रणे ॥ २९ ॥

इससे उनके मनमें बड़ा खेद हुआ। भीष्मने पराधीनताकी भूरि-भूरि निन्दा करके रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेका संकल्प लेकर दीर्घकालतक विचार किया ॥ २९ ॥

इङ्गितेन तु तज्ज्ञात्वा गाङ्गेयेन विचिन्तितम् ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमचोदयत् ॥ ३० ॥

महाराज ! गङ्गानन्दन भीष्मने क्या सोचा है ? इस बातको संकेतसे समझकर दुर्योधनने दुःशासनसे कहा— ॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
द्वाविंशतिमनीकानि सर्वाण्येवाभिचोदय ॥ ३१ ॥

'दुःशासन ! तुम शीघ्र ही भीष्मकी रक्षा करनेवाले रथोंको जोतकर तैयार कराओ। अपने पास कुल बाईस सेनाएँ हैं। उन सबको भीष्मकी रक्षामें ही नियुक्त कर दो॥

इदं हि समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।
पाण्डवानां ससैन्यानां वधो राज्यस्य चागमः ॥ ३२ ॥

'आज वह अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम बहुत वर्षोंसे विचार करते आ रहे हैं। आज सेनासहित समस्त पाण्डवोंका वध तथा राज्यका लाभ होगा ॥ ३२ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
स नो गुप्तः सहायः स्याद्धन्यात् पार्थांश्च संयुगे॥ ३३ ॥

'इस विषयमें मैं भीष्मकी रक्षाको ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ। वे सुरक्षित रहनेपर हमारे सहायक होंगे और संग्राम-भूमिमें कुन्तीकुमारोंका वध कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ॥ ३४ ॥

'विशुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा भीष्मने मुझसे कहा है कि 'राजन् ! मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता; क्योंकि वह पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हुआ था और इसीलिये युद्धमें मुझे उसका परित्याग कर देना है ॥ ३४ ॥

लोकस्तद् वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
राज्यं स्फीतं महाबाहो स्त्रियश्च त्यक्तवान् पुरा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! सारा संसार यह जानता है कि मैंने पूर्वकालमें पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे समृद्धिशाली राज्य तथा स्त्रियोंका परित्याग कर दिया था ॥ ३५ ॥

नैवं चाहं स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कथंचन ।
हन्यां युधि नरश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं कभी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी किसी प्रकार युद्धमें मार नहीं सकता; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ३६ ॥

अयं स्त्रीपूर्वको राजञ्छिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
उद्योगे कथितं यत्तत् तथा जाता शिखण्डिनी ॥ ३७ ॥
कन्या भूत्वा पुमाञ्जातः स च मां योधयिष्यति ।
तस्याहं प्रमुखे बाणान् न मुञ्चेयं कथंचन ॥ ३८ ॥

'राजन् ! तुमने भी सुना होगा, यह शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें पैदा हुआ था । यह बात मैंने तुमसे युद्धकी तैयारीके समय बता दी थी । इस प्रकार कन्यारूपमें उत्पन्न हुई शिखण्डिनी पहले स्त्री होकर अब पुरुष हो गयी है । वह पुरुष बना हुआ शिखण्डी यदि मुझसे युद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर किसी प्रकार भी बाण नहीं चलाऊँगा ॥ ३७-३८ ॥

युद्धे हि क्षत्रियांस्तात पाण्डवानां जयैषिणः ।
सर्वानन्यान् हनिष्यामि सम्प्राप्तान् रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

'तात ! पाण्डव-पक्षके दूसरे जो जो विजयाभिलाषी क्षत्रिय युद्धके मुहानेपर मेरे सामने आयेंगे, उन सबका मैं वध करूँगा' ॥

एवं मां भरतश्रेष्ठ गाङ्गेयः प्राह शास्त्रवित् ।
तत्र सर्वात्मना मन्ये गाङ्गेयस्यैव पालनम् ॥ ४० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुःशासन ! शास्त्रोंके ज्ञाता गङ्गानन्दन भीष्मने इस प्रकार मुझसे कहा है । अतः युद्धभूमिमें सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षाको ही मैं अपना मुख्य कर्तव्य मानता हूँ ॥ ४० ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे ।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ॥ ४१ ॥

'यदि महायुद्धमें सिंहकी रक्षा नहीं की जाय तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परंतु हम भेड़ियेके सदृश शिखण्डी-के हाथसे सिंहके समान भीष्मका वध नहीं होने देंगे ॥ ४१ ॥

मातुलः शकुनिः शल्यः कृपो द्रोणो विविंशतिः ।
यत्ता रक्षन्तु गाङ्गेयं तस्मिन् गुप्ते ध्रुवो जयः ॥ ४२ ॥

'(अतः उनकी रक्षाके लिये सारी आवश्यक व्यवस्था करो ।) मामा शकुनि, शल्य, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और विविंशति—ये सब लोग सावधान होकर गङ्गानन्दन भीष्मकी रक्षा करें । उनके सुरक्षित रहनेपर हमारी विजय निश्चित है' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा ।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ॥ ४३ ॥

उस समय दुर्योधनकी यह बात सुनकर उन सब वीरोंने रथकी विशाल सेनाद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४३ ॥

पुत्राश्च तव गाङ्गेयं परिवार्य ययुर्मुदा ।
कम्पयन्तो भुवं द्यां च क्षोभयन्तश्च पाण्डवान् ॥ ४४ ॥

आपके सब पुत्र भी भीष्मको चारों ओरसे घेरकर प्रसन्नतापूर्वक चले । वे उस समय भूलोक और स्वर्गलोकको भी कँपाते हुए पाण्डवोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे ॥

ते रथैः सुसम्प्रयुक्तैर्दन्तिभिश्च महारथाः ।
परिवार्य रणे भीष्मं दंशिताः समवस्थिताः ॥ ४५ ॥

वे समस्त कौरव महारथी सुशिक्षित रथों और हाथियोंसे भीष्मको घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथा देवासुरे युद्धे त्रिदशा वज्रधारिणम् ।
सर्वे ते स्म व्यतिष्ठन्त रक्षन्तस्तं महारथम् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार देवासुर-संग्रामके समय देवताओंने वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सब कौरव योद्धा महारथी भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पुनर्भ्रातरमब्रवीत् ।
सव्यं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ॥ ४७ ॥
गोप्तारावर्जुनस्यैतावर्जुनोऽपि शिखण्डिनः ।
रक्ष्यमाणः स पार्थेन तथास्माभिर्विवर्जितः ॥ ४८ ॥
यथा भीष्मं न नो हन्याद् दुःशासन तथा कुरु ।

तब राजा दुर्योधनने अपने भाईसे पुनः इस प्रकार कहा—'दुःशासन ! अर्जुनके रथके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिने पहियेकी रक्षा उत्तमौजा करते हैं । इस प्रकार अर्जुनके ये दो रक्षक हैं और अर्जुन भी शिखण्डीकी रक्षा करते हैं । अर्जुनसे सुरक्षित और हमलोगोंसे उपेक्षित होकर शिखण्डी हमारे भीष्मको जिस प्रकार मार न सके, ऐसी व्यवस्था करो' ॥

भ्रातुस्तद् वचनं श्रुत्वा पुत्रो दुःशासनस्तव ॥ ४९ ॥
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।

बड़े भाईकी यह बात सुनकर आपका पुत्र दुःशासन भीष्मको आगे करके सेनाके साथ युद्धके मैदानमें गया ॥

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम् ॥ ५० ॥
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ।

भीष्मको रथोंके समूहसे घिरा हुआ देख रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ५०½ ॥

शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप ।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ॥ ५१ ॥

'नरेश्वर ! पाञ्चालराजकुमार ! आज तुम पुरुषसिंह शिखण्डी-को भीष्मके सामने उपस्थित करो । मैं उसकी रक्षा करूँगा' ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

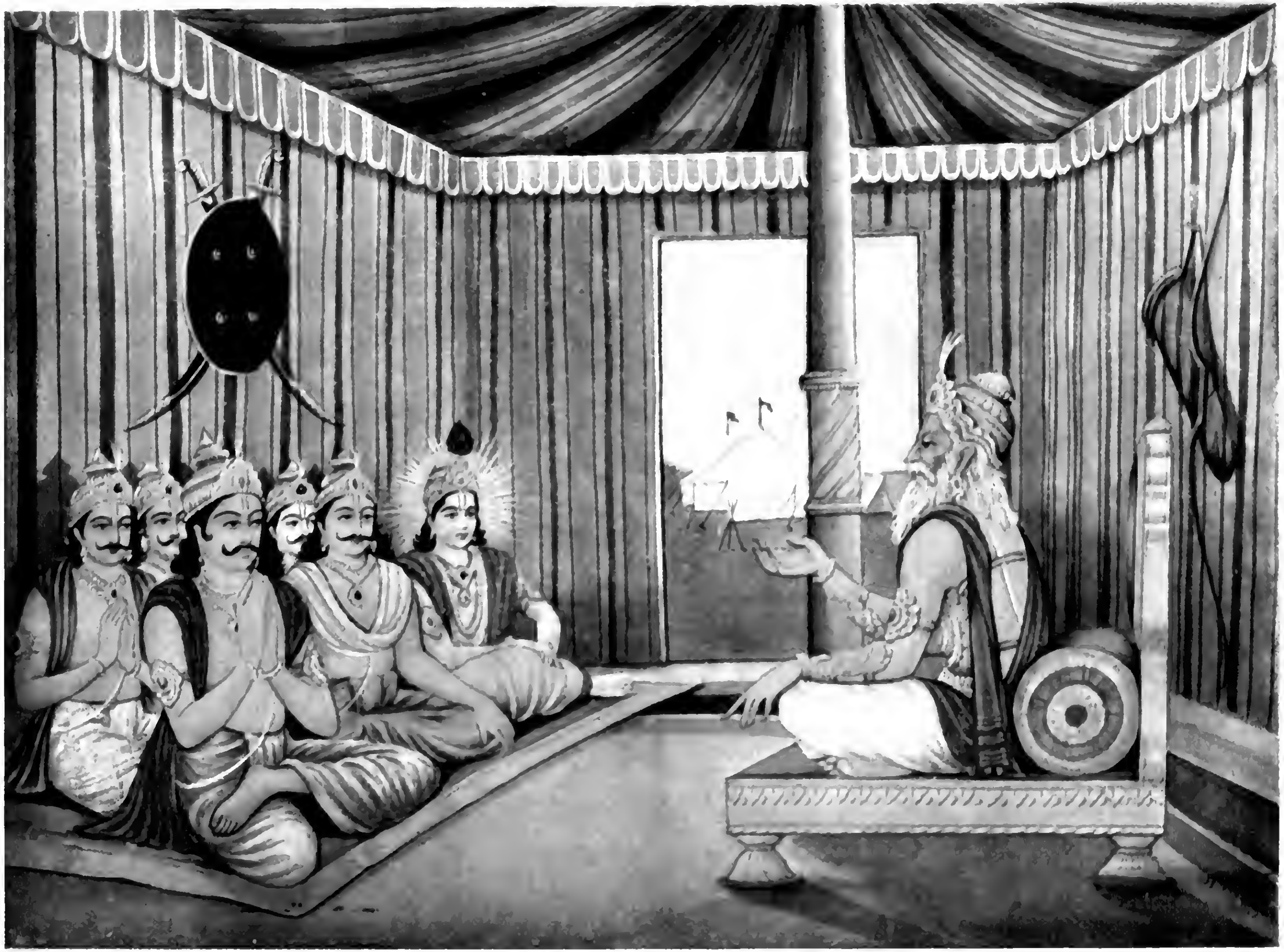

भीष्मपितामहकी सेवामें श्रीकृष्णसहित पाण्डव

एकोनशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धके लिये उभयपक्षकी सेनाओंकी व्यूहरचना और उनके घमासान युद्धका आरम्भ तथा विनाशसूचक उत्पातोंका वर्णन

संजय उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो निर्ययौ सह सेनया।
व्यूहं चाव्यूहत महत् सर्वतोभद्रमात्मनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म सेनाके साथ शिबिरसे बाहर निकले। उन्होंने अपनी सेनाको सर्वतोभद्रनामक महान् व्यूहके रूपमें संगठित किया॥

कृपश्च कृतवर्मा च शैब्यश्चैव महारथः।
शकुनिः सैन्धवश्चैव काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २ ॥
भीष्मेण सहिताः सर्वे पुत्रैश्च तव भारत।
अग्रतः सर्वसैन्यानां व्यूहस्य प्रमुखे स्थिताः ॥ ३ ॥

भारत ! कृपाचार्य, कृतवर्मा, महारथी शैब्य, शकुनि, सिन्धुराज जयद्रथ तथा काम्बोजराज सुदक्षिण—ये सब नरेश भीष्म तथा आपके पुत्रोंके साथ सम्पूर्ण सेनाके आगे तथा व्यूहके प्रमुख भागमें खड़े हुए थे ॥ २-३ ॥

द्रोणो भूरिश्रवाः शल्यो भगदत्तश्च मारिष।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ॥ ४ ॥

आर्य ! द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य तथा भगदत्त—ये कवच बाँधकर व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे॥

अश्वत्थामा सोमदत्तश्चावन्त्यौ च महारथौ।
महत्या सेनया युक्ता वामं पक्षमपालयन् ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा अवन्तीके दोनों राजकुमार महारथी विन्द और अनुविन्द—ये विशाल सेनाके साथ व्यूहके वाम पक्षका संरक्षण कर रहे थे ॥ ५ ॥

दुर्योधनो महाराज त्रिगर्तैः सर्वतो वृतः।
व्यूहमध्ये स्थितो राजन् पाण्डवान् प्रति भारत ॥ ६ ॥

महाराज ! भरतवंशी नरेश ! त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ दुर्योधन पाण्डवोंका सामना करनेके लिये व्यूहके मध्यभागमें खड़ा हुआ ॥ ६ ॥

अलम्बुषो रथश्रेष्ठः श्रुतायुश्च महारथः।
पृष्ठतः सर्वसैन्यानां स्थितौ व्यूहस्य दंशितौ ॥ ७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अलम्बुष और महारथी श्रुतायु—ये दोनों कवच धारण करके सम्पूर्ण सेनाओं तथा व्यूहके पृष्ठभागमें खड़े थे॥

एवं च तं तदा व्यूहं कृत्वा भारत तावकाः।
संनद्धाः समदृश्यन्त प्रतपन्त इवाग्नयः ॥ ८ ॥

भारत ! इस प्रकार व्यूहरचना करके उस समय आपके पुत्र कवच आदिसे सुसज्जित हो प्रज्वलित अग्नियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः।
नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ ९ ॥
अग्रतः सर्वसैन्यानां स्थिता व्यूहस्य दंशिताः।

उधर राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, माद्रीके दोनों पुत्र नकुल और सहदेव सब सेनाओं तथा व्यूहके अग्रभागमें कवच बाँधकर खड़े हुए ॥ ९½ ॥

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ १० ॥
स्थिताः सैन्येन महता परानीकविनाशनाः।

धृष्टद्युम्न, राजा विराट और महारथी सात्यकि—ये शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले वीर भी विशाल सेनाके साथ व्यूहमें यथास्थान स्थित थे ॥ १०½ ॥

शिखण्डी विजयश्चैव राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ११ ॥
चेकितानो महाबाहुः कुन्तिभोजश्च वीर्यवान्।
स्थिता रणे महाराज महत्या सेनया वृताः ॥ १२ ॥

महाराज ! शिखण्डी, अर्जुन, राक्षस घटोत्कच, महाबाहु चेकितान तथा पराक्रमी कुन्तिभोज—ये विशाल सेनासे घिरे हुए वीर युद्धभूमिमें यथायोग्य स्थानपर खड़े थे ॥ ११-१२ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासो द्रुपदश्च महाबलः।
युयुधानो महेष्वासो युधामन्युश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
केकया भ्रातरश्चैव स्थिता युद्धाय दंशिताः।

महाधनुर्धर अभिमन्यु, महाबली द्रुपद, विशाल धनुष धारण करनेवाले युयुधान, पराक्रमी युधामन्यु और पाँचों भाई केकय-राजकुमार—ये कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १३½ ॥

एवं तेऽपि महाव्यूहं प्रतिव्यूह्य सुदुर्जयम् ॥ १४ ॥
पाण्डवाः समरे शूराः स्थिता युद्धाय दंशिताः।

इस प्रकार शूरवीर पाण्डव भी समराङ्गणमें अत्यन्त दुर्जय महाव्यूहकी रचना करके कवच बाँध युद्धके लिये तैयार थे ॥ १४½ ॥

तावकास्तु रणे यत्ताः सहसेना नराधिपाः ॥ १५ ॥
अभ्युद्ययू रणे पार्थान् भीष्मं कृत्वाग्रतो नृप।
तथैव पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ १६ ॥

राजन् ! आपकी सेनाके नरेश अपनी-अपनी सेनाओंके साथ युद्धके लिये उद्यत हो भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ आये। नरेश्वर ! उसी प्रकार भीमसेन आदि पाण्डवोंने भी आपकी सेनापर आक्रमण किया ॥ १५-१६ ॥

भीष्मं योद्धुमभीप्सन्तः संग्रामे विजयैषिणः ।
क्ष्वेडाः किलकिलाः शङ्खान् क्रकचान् गोविषाणिकाः ॥
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयन्तश्च पुष्करान् ।
पाण्डवा अभ्यवर्तन्त नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १८ ॥

संग्राममें भीष्मके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले विजयाभिलाषी पाण्डव सिंहनाद, किल-किल शब्द, शङ्खध्वनि, क्रकच, गोशृंग, भेरी, मृदंग, पणव तथा पुष्कर आदि बाजोंको बजाते तथा भैरव-गर्जना करते हुए कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १७-१८ ॥

भेरीमृदङ्गशङ्खानां दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
उत्कृष्टसिंहनादैश्च वल्गितैश्च पृथग्विधैः ॥ १९ ॥
वयं प्रतिनदन्तस्तानगच्छाम त्वरान्विताः ।
सहसैवाभिसंक्रुद्धास्तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ॥ २० ॥

भेरी, मृदंग, शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि एवं उच्चस्वरसे सिंहनाद करते तथा अनेक प्रकारसे अपनी शेखी बघारते हुए हमलोगोंने भी बड़ी उतावलीके साथ अत्यन्त क्रुद्ध हो सहसा उनपर आक्रमण किया और उनकी गर्जनाका उत्तर हम भी अपनी गर्जनाद्वारा ही देने लगे । उस समय उभय पक्षके सैनिकोंमें महान् युद्ध होने लगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽन्योन्यं प्रधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
ततः शब्देन महता प्रचकम्पे वसुन्धरा ॥ २१ ॥

दोनों पक्षके योद्धा एक दूसरेपर धावा करते हुए अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे । उस समय जो महान् कोलाहल हुआ, उससे सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ २१ ॥

पक्षिणश्च महाघोरं व्याहरन्तो विबभ्रमुः ।
सप्रभश्चोदितः सूर्यो निष्प्रभः समपद्यत ॥ २२ ॥

पक्षी अत्यन्त घोर शब्द करते हुए आकाशमें चक्कर काटने लगे । सूर्य यद्यपि तेजस्वी रूपमें उदित हुआ था, तथापि उस समय निस्तेज हो गया ॥ २२ ॥

ववुश्च वातास्तुमुलाः शंसन्तः सुमहद् भयम् ।
घोराश्च घोरनिर्ह्रादाः शिवास्तत्र ववाशिरे ॥ २३ ॥

महान् भयकी सूचना देनेवाली भयंकर वायु बड़े वेगसे बहने लगी । घोर वज्रपातके-से भयानक शब्द सुनायी देने लगे । सियारिनें अशुभ बोली बोलने लगीं ॥ २३ ॥

वेदयन्त्यो महाराज महद् वैशसमागतम् ।
दिशः प्रज्वलिता राजन् पांसुवर्षं पपात च ॥ २४ ॥
रुधिरेण समुन्मिश्रमस्थिवर्षं तथैव च ।
रुदतां वाहनानां च नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ २५ ॥

महाराज ! वे गीदड़ियाँ सिरपर आये हुए विकट विनाशकी सूचना दे रही थीं । राजन् ! दिशाएँ जलती प्रतीत होने लगीं । सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी । रक्तमिश्रित हड्डियाँ बरसने लगीं । रोते हुए वाहनोंके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे ॥२४-२५॥

सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रं प्रध्यायन्तो विशाम्पते ।
अन्तर्हिता महानादाः श्रूयन्ते भरतर्षभ ॥ २६ ॥
रक्षसां पुरुषादानां नदतां भैरवान् रवान् ।

प्रजानाथ ! वे सारे वाहन भारी चिन्तामें पड़कर मल-मूत्र करने लगे । भरतश्रेष्ठ ! भयंकर गर्जना करनेवाले नरभक्षी राक्षसोंके महान् शब्द सुनायी पड़ते थे; परंतु उनके बोलनेवाले अदृश्य थे ॥ २६½ ॥

सम्पतन्तश्च दृश्यन्ते गोमायुबलवायसाः ॥ २७ ॥
श्वानश्च विविधैर्नादैर्वाशन्तस्तत्र मारिष ।

चारों ओरसे गीदड़ और बलशाली कौए वहाँ टूटे पड़ते थे । आर्य ! वहाँ कुत्ते भी नाना प्रकारकी आवाजमें भूँकते देखे जाते थे ॥ २७½ ॥

ज्वलिताश्च महोल्का वै समाहत्य दिवाकरम् ।
निपेतुः सहसा भूमौ वेदयन्त्यो महद् भयम् ॥ २८ ॥

बड़ी-बड़ी प्रज्वलित उल्काएँ सूर्यदेवसे टकराकर महान् भयकी सूचना देती हुई सहसा पृथ्वीपर गिर रही थीं ॥२८॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
ततस्तयोः पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः ।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ २९ ॥
नरेन्द्रनागाश्वसमाकुलाना-
मभ्यायतीनामशिवे मुहूर्ते ।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ३० ॥

उस महान् संग्राममें पाण्डव तथा कौरव-पक्षकी विशाल सेनाएँ शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंसे उसी प्रकार काँप रही थीं, जैसे वायुके वेगसे समूचा वनप्रान्त हिलने लगता है । उस अमङ्गलजनक मुहूर्तमें नरेशों, हाथियों और अश्वोंसे परिपूर्ण हो परस्पर आक्रमण करती हुई उभय पक्षकी उन विशाल सेनाओंका भयंकर शब्द वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि परस्परव्यूहरचनायामुत्पातदर्शने एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें परस्पर व्यूह-रचनाके पश्चात् उत्पातदर्शनविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और अभिमन्युका राक्षस अलम्बुषके साथ घोर युद्ध एवं अभिमन्युके द्वारा नष्ट होती हुई कौरवसेनाका युद्धभूमिसे पलायन

संजय उवाच

अभिमन्यू रथोदारः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
अभिदुद्राव तेजस्वी दुर्योधनबलं महत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रथियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी अभिमन्यु पिङ्गल वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथद्वारा दुर्योधनकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ॥ १ ॥

विकिरञ्शरवर्षाणि वारिधारा इवाम्बुदः ।
न शेकुः समरे क्रुद्धं सौभद्रमरिसूदनम् ॥ २ ॥
(क्रोडरूपं हरिमिव प्रविशन्तं महार्णवम् ।)
शस्त्रौघिणं गाहमानं सेनासागरमक्षयम् ।
निवारयितुमप्याजौ त्वदीयाः कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

जैसे बादल जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार वह बाणोंकी वृष्टि कर रहा था । जैसे वाराहरूपधारी भगवान् विष्णुने महासागरमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार शत्रुसूदन सुभद्राकुमार समरमें कुपित हो शस्त्रोंके प्रवाहसे युक्त कौरवोंके अक्षय सैन्यसमुद्रमें प्रवेश कर रहा था । कुरुनन्दन ! उस समय आपके सैनिक उसे युद्धमें रोक न सके ॥ २–३ ॥

तेन मुक्ता रणे राजञ्शराः शत्रुनिबर्हणाः ।
क्षत्रियाननयञ्शूरान् प्रेतराजनिवेशनम् ॥ ४ ॥

राजन् ! रणक्षेत्रमें अभिमन्युके छोड़े हुए शत्रुनाशक बाणोंने बहुत-से शूरवीर क्षत्रियोंको यमराजके लोकमें पहुँचा दिया ॥ ४ ॥

यमदण्डोपमान् घोराञ्ज्वलिताशीविषोपमान् ।
सौभद्रः समरे क्रुद्धः प्रेषयामाससायकान् ॥ ५ ॥

सुभद्राकुमार समराङ्गणमें क्रुद्ध होकर यमदण्डके समान घोर तथा प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पोंके समान भयंकर सायकोंका प्रहार कर रहा था ॥ ५ ॥

सरथान् रथिनस्तूर्णं हयांश्चैव ससादिनः ।
गजारोहांश्च सगजान् दारयामास फाल्गुनिः ॥ ६ ॥

अर्जुनकुमारने रथोंसहित रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंसहित गजारोहियोंको तुरंत ही विदीर्ण कर डाला ॥ ६ ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म महत् संख्ये महीभृतः ।
पूजयांचक्रिरे हृष्टाः प्रशशंसुश्च फाल्गुनिम् ॥ ७ ॥

युद्धमें ऐसा महान् पराक्रम करते हुए अभिमन्यु और उसके कर्मकी सभी राजाओंने प्रसन्न होकर भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७ ॥

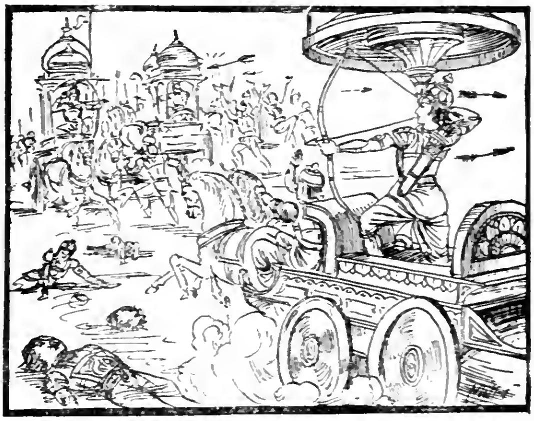

तान्यनीकानि सौभद्रो द्रावयामास भारत ।
तूलराशीनिवाकाशे मारुतः सर्वतो दिशम् ॥ ८ ॥

भारत ! जैसे हवा रूईके ढेरको आकाशमें उड़ा देती है, उसी प्रकार सुभद्राकुमारने सम्पूर्ण सेनाओंको चारों दिशाओंमें भगा दिया ॥ ८ ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि भारत ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्के मग्ना इव द्विपाः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युके द्वारा खदेड़ी जाती हुई आपकी सेनाएँ कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके समान किसीको अपना रक्षक न पा सकीं ॥ ९ ॥

विद्राव्य सर्वसैन्यानि तावकानि नरोत्तम ।
अभिमन्युः स्थितो राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! आपकी सम्पूर्ण सेनाओंको खदेड़कर अभिमन्यु धूमरहित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥ १० ॥

न चैनं तावका राजन् विषेहुररिघातिनम् ।
प्रदीप्तं पावकं यद्वत् पतङ्गाः कालचोदिताः ॥ ११ ॥

राजन् ! आपके सैनिक शत्रुघाती अभिमन्युका वेग नहीं सह सके । जैसे कालप्रेरित फतिंगे प्रज्वलित अग्निकी आँच नहीं सह पाते (उसीमें झुलस कर मर जाते हैं), वही दशा आपके सैनिकोंकी थी ॥ ११ ॥

प्रहरन् सर्वशत्रुभ्यः पाण्डवानां महारथः ।
अदृश्यत महेष्वासः सवज्र इव वासवः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंपर प्रहार करता हुआ पाण्डव-महारथी महाधनुर्धर अभिमन्यु वज्रधारी इन्द्रके समान दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ १२ ॥

हेमपृष्ठं धनुश्चास्य ददृशे विचरद् दिशः ।
तोयदेषु यथा राजन् राजमाना शतह्रदा ॥ १३ ॥

राजन् ! अभिमन्युके धनुषका पृष्ठभाग सुवर्णसे जटित था, वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करता हुआ बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीके समान सुशोभित होता था ॥ १३ ॥

शराश्च निशिताः पीता निश्चरन्ति स्म संयुगे ।
वनात् फुल्लद्रुमाद् राजन् भ्रमराणामिव व्रजाः ॥ १४ ॥

युद्धके मैदानमें उसके धनुषसे तीखे और चमचमाते बाण इस प्रकार छूटते थे, मानो विकसित वृक्षावलियोंसे भरे हुए वनप्रान्तसे भ्रमरोंके समूह निकल रहे हों ॥ १४ ॥

तथैव चरतस्तस्य सौभद्रस्य महात्मनः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन ददृशुर्नान्तरं जनाः ॥ १५ ॥

महामना सुभद्राकुमार अभिमन्यु सुवर्णमय रथके द्वारा पूर्ववत् रणभूमिमें विचरता रहा; लोगोंने उसकी गतिमें कोई अन्तर नहीं देखा ॥ १५ ॥

मोहयित्वा कृपं द्रोणं द्रौणिं च सबृहद्बलम् ।
सैन्धवं च महेष्वासो व्यचरल्लघु सुष्ठु च ॥ १६ ॥

महाधनुर्धर अभिमन्यु कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल और सिन्धुराज जयद्रथ--सबको मोहित करके सुन्दर और शीघ्र गतिसे सब ओर विचरता रहा ॥ १६ ॥

मण्डलीकृतमेवास्य धनुः पश्याम भारत ।
सूर्यमण्डलसंकाशं दहतस्तव वाहिनीम् ॥ १७ ॥

भारत ! आपकी सेनाको भस्म करते हुए उस अभिमन्युके धनुषको हम सदा सूर्यमण्डलके सदृश मण्डलाकार हुआ ही देखते थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः प्रतपन्तं तरस्विनम् ।
द्विफाल्गुनमिमं लोकं मेनिरे तस्य कर्मभिः ॥ १८ ॥

सबको संताप देते हुए उस वेगशाली वीरको देखकर समस्त शूरवीर क्षत्रिय उसके कर्मोंद्वारा यह मानने लगे कि इस लोकमें दो अर्जुन हो गये हैं ॥ १८ ॥

तेनार्दिता महाराज भारती सा महाचमूः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ॥ १९ ॥

महाराज ! अभिमन्युसे पीडित हुई भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना मदोन्मत्त युवतीकी भाँति वहीं चक्कर काट रही थी ॥ १९ ॥

द्रावयित्वा महासैन्यं कम्पयित्वा महारथान् ।
नन्दयामास सुहृदो मयं जित्वेव वासवः ॥ २० ॥

मयासुरपर विजय पानेवाले इन्द्रकी भाँति अभिमन्युने उस विशाल सेनाको भगाकर, महारथियोंको कँपाकर अपने सुहृदोंको आनन्दित किया ॥ २० ॥

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि संयुगे ।
चक्रुरार्तस्वनं घोरं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ २१ ॥

उसके द्वारा युद्धमें खदेड़े हुए आपके सैनिक मेघोंकी गर्जनाके समान घोर आर्तनाद करने लगे ॥ २१ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धूतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ २२ ॥
दुर्योधनस्तदा राजन्नार्ष्यशृङ्गिमभाषत ।
एष कार्ष्णिर्महाबाहो द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पूर्णिमाके दिन वायुके थपेड़ोंसे उद्वेलित हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आपकी सेनाका वह भयंकर चीत्कार सुनकर उस समय दुर्योधनने राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र अलम्बुषसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! यह अर्जुनका पुत्र द्वितीय अर्जुनके समान पराक्रमी है ॥ २२-२३ ॥

चमूं द्रावयते क्रोधाद् वृत्रो देवचमूमिव ।
तस्य चान्यन्न पश्यामि संयुगे भेषजं महत् ॥ २४ ॥
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं सर्वविद्यासु पारगम् ।

'जैसे वृत्रासुर देवताओंकी सेनाको मार भगाता था, उसी प्रकार वह भी क्रोधपूर्वक मेरी सेनाको खदेड़ रहा है। मैं युद्धस्थलमें सम्पूर्ण विद्याओंके पारंगत तथा राक्षसोंमें सर्वश्रेष्ठ तुम-जैसे वीरको छोड़कर दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो उस रोगकी सबसे उत्तम दवा हो सके ॥ २४½ ॥

स गत्वा त्वरितं वीरं जहि सौभद्रमाहवे ॥ २५ ॥
वयं पार्थं हनिष्यामो भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।

'अतः तुम तुरंत जाकर युद्धके मैदानमें वीर सुभद्राकुमारका वध करो और हमलोग भीष्म तथा द्रोणाचार्यको आगे करके अर्जुनको मार डालेंगे' ॥ २५½ ॥

स एवमुक्तो बलवान् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ २६ ॥
प्रययौ समरे तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ।
नर्दमानो महानादं प्रावृषीव बलाहकः ॥ २७ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर उसकी आज्ञासे बलवान् एवं प्रतापी राक्षसराज अलम्बुष तुरंत ही वर्षाकालके मेघकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करता हुआ समर-भूमिमें गया ॥ २६-२७ ॥

तस्य शब्देन महता पाण्डवानां बलं महत् ।
प्राचलत् सर्वतो राजन् वातोद्धूत इवार्णवः ॥ २८ ॥

राजन् ! उसके महान् गर्जनसे वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रके

समान पाण्डवोंकी विशाल सेनामें सब ओर हलचल मच गयी ॥ २८ ॥

बहवश्च महाराज तस्य नादेन भीषिताः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य निपेतुर्धरणीतले ॥ २९ ॥

महाराज ! उसके सिंहनादसे भयभीत हो बहुत-से सैनिक अपने प्यारे प्राणोंको त्यागकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥२९॥

कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे तद् रक्षः समुपाद्रवत् ॥ ३० ॥

अभिमन्यु भी हर्ष और उत्साहमें भरकर हाथमें धनुष-बाण लिये रथकी बैठकमें नृत्य-सा करता हुआ उस राक्षसकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः सम्प्राप्यैवार्जुनिं रणे ।
नातिदूरे स्थितां तस्य द्रावयामास वै चमूम् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरा हुआ वह राक्षस युद्धमें अभिमन्यु-के समीप पहुँचकर पास ही खड़ी हुई उसकी सेनाको भगाने लगा ॥ ३१ ॥

तां वध्यमानां च तथा पाण्डवानां महाचमूम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे रक्षो देवसेनां यथा बलः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पीड़ित हुई पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीपर उस राक्षसने युद्धमें उसी प्रकार धावा किया, जैसे बल नामक दैत्यने देवसेनापर आक्रमण किया था ॥ ३२ ॥

विमर्दः सुमहानासीत् तस्य सैन्यस्य मारिष ।
रक्षसा घोररूपेण वध्यमानस्य संयुगे ॥ ३३ ॥

आर्य ! युद्धस्थलमें भयंकर राक्षसके द्वारा मारी जाती हुई उस सेनाका महान् संहार होने लगा ॥ ३३ ॥

ततः शरसहस्रैस्तां पाण्डवानां महाचमूम् ।
व्यद्रावयद् रणे रक्षो दर्शयन् स्वपराक्रमम् ॥ ३४ ॥

उस समय राक्षसने अपना पराक्रम दिखाते हुए रणक्षेत्रमें सहस्रों बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ३४ ॥

सा वध्यमाना च तथा पाण्डवानामनीकिनी ।
रक्षसा घोररूपेण प्रदुद्राव रणे भयात् ॥ ३५ ॥

उस घोर राक्षसके द्वारा उस प्रकार मारी जाती हुई वह पाण्डवसेना भयके मारे रणभूमिसे भाग चली ॥ ३५ ॥

प्रमृद्य च रणे सेनां पद्मिनीं वारणो यथा ।
ततोऽभिदुद्राव रणे द्रौपदेयान् महाबलान् ॥ ३६ ॥

जैसे हाथी कमलमण्डित सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार रणभूमिमें पाण्डवसेनाको रौंदकर अलम्बुषने महाबली द्रौपदीपुत्रोंपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ।
राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पञ्च रविं यथा ॥ ३७ ॥

द्रौपदीके पाँचों पुत्र महान् धनुर्धर तथा प्रहार करनेमें कुशल थे । उन्होंने संग्रामभूमिमें कुपित हो उस राक्षसपर उसी प्रकार धावा किया, मानो पाँच ग्रह सूर्यदेवपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ३७ ॥

वीर्यवद्भिस्ततस्तैस्तु पीडितो राक्षसोत्तमः ।
यथा युगक्षये घोरे चन्द्रमाः पञ्चभिर्ग्रहैः ॥ ३८ ॥

उस समय उन पराक्रमी द्रौपदीपुत्रोंद्वारा वह श्रेष्ठ राक्षस उसी प्रकार पीड़ित होने लगा; जैसे भयानक प्रलयकाल आनेपर चन्द्रमा पाँच ग्रहोंद्वारा पीड़ित होते हैं ॥ ३८ ॥

प्रतिविन्ध्यस्ततो रक्षो बिभेद निशितैः शरैः ।
सर्वपारशवैस्तूर्णैरकुण्ठाग्रैर्महाबलः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् महाबली प्रतिविन्ध्यने पूर्णतः लोहेके बने हुए अप्रतिहत धारवाले शीघ्रगामी तीखे बाणोंद्वारा उस राक्षसको विदीर्ण कर डाला ॥ ३९ ॥

स तैर्भिन्नतनुत्राणः शुशुभे राक्षसोत्तमः ।
मरीचिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४० ॥

वे बाण उसके कवचको छेदकर शरीरमें धँस गये । उनके द्वारा राक्षसराज अलम्बुषकी वैसी ही शोभा हुई, मानो महान् मेघ सूर्यकी किरणोंसे ओतप्रोत हो रहा हो ॥ ४० ॥

विषक्तैः स शरैश्चापि तपनीयपरिच्छदैः ।
आर्ष्यशृङ्गिर्बभौ राजन् दीप्तशृङ्ग इवाचलः ॥ ४१ ॥

राजन् ! शरीरमें धँसे हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा राक्षस अलम्बुष चमकीले शिखरोंवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः पञ्च राक्षसेन्द्रं महाहवे ।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैस्तपनीयविभूषितैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन पाँचों भाइयोंने उस महासमरमें सुवर्ण-भूषित तीक्ष्ण बाणोंद्वारा राक्षसराज अलम्बुषको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२ ॥

स निर्भिन्नः शरैर्घोरैर्भुजगैः कोपितैरिव ।
अलम्बुषो भृशं राजन् नागेन्द्र इव चुक्रुधे ॥ ४३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए सर्पोंके समान उन घोर सायकों-द्वारा अत्यन्त घायल हुआ अलम्बुष अङ्कुशविद्ध गजराजकी भाँति कुपित हो उठा ॥ ४३ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज मुहूर्तमथ मारिष ।
प्रविवेश तमो दीर्घं पीडितस्तैर्महारथैः ॥ ४४ ॥

महाराज ! उन महारथियोंके बाणोंसे अत्यन्त आहत और पीडित हो अलम्बुष दो घड़ीतक भारी मोह (मूर्छा) में डूबा रहा ॥ ४४ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां क्रोधेन द्विगुणीकृतः।
चिच्छेद सायकांस्तेषां ध्वजांश्चैव धनूंषि च ॥ ४५ ॥

तदनन्तर होशमें आकर वह दूने क्रोधसे जल उठा। फिर उसने उनके सायकों, ध्वजों और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४५ ॥

एकैकं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्मयन्निव।
अलम्बुषो रथोपस्थे नृत्यन्निव महारथः ॥ ४६ ॥

इसके बाद रथकी बैठकमें नृत्य-सा करते हुए महारथी अलम्बुषने मुसकराते हुए उनमेंसे एक-एकको पाँच-पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ४६ ॥

त्वरमाणः सुसंरब्धो हयांस्तेषां महात्मनाम्।
जघान राक्षसः क्रुद्धः सारथींश्च महाबलः ॥ ४७ ॥

फिर अत्यन्त उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे हुए उस महाबली राक्षसने कुपित हो उन महामनस्वी पाँचों भाइयोंके घोड़ों और सारथियोंको भी मार डाला ॥ ४७ ॥

बिभेद च सुसंरब्धः पुनश्चैनान् सुसंशितैः।
शरैर्बहुविधाकारैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

इसके बाद पुनः कुपित हो भाँति-भाँतिके सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंद्वारा उन सबको गहरी चोट पहुँचायी।४८।

विरथांश्च महेष्वासान् कृत्वा तत्र स राक्षसः।
अभिदुद्राव वेगेन हन्तुकामो निशाचरः ॥ ४९ ॥

उन महाधनुर्धर वीरोंको रथहीन करके युद्धमें उन्हें मार डालनेकी इच्छासे निशाचर अलम्बुषने बड़े वेगसे उनपर धावा किया ॥ ४९ ॥

तानर्दितान् रणे तेन राक्षसेन दुरात्मना।
दृष्ट्वार्जुनसुतः संख्ये राक्षसं समुपाद्रवत् ॥ ५० ॥

उन पाँचों भाइयोंको रणक्षेत्रमें दुरात्मा राक्षसके द्वारा अत्यन्त पीड़ित देख अर्जुनकुमार अभिमन्युने पुनः उसके ऊपर आक्रमण किया ॥ ५० ॥

तयोः समभवद् युद्धं वृत्रवासवयोरिव।
ददृशुस्तावकाः सर्वे पाण्डवाश्च महारथाः ॥ ५१ ॥

फिर उन दोनोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर युद्ध होने लगा। आपके और पाण्डवपक्षके सभी महारथी उस युद्धको देखने लगे ॥ ५१ ॥

तौ समेतौ महायुद्धे क्रोधदीप्तौ परस्परम्।
महाबलौ महाराज क्रोधसंरक्तलोचनौ ॥ ५२ ॥
परस्परमवेक्षेतां कालानलसमौ युधि।
तयोः समागमो घोरो बभूव कटुकोदयः ॥ ५३ ॥
यथा देवासुरे युद्धे शक्रशम्बरयोः पुरा ॥ ५४ ॥

महाराज! उस महायुद्धमें क्रोधसे उद्दीप्त हो आँखें लाल-लाल करके एक दूसरेसे भिड़े हुए वे दोनों महाबली वीर युद्धमें काल और अग्निके समान परस्पर देखने लगे। उनका वह घोर संग्राम अत्यन्त कटु परिणामको प्रकट करनेवाला था। पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्र और शम्बरासुरमें जैसा भयंकर युद्ध हुआ था, वैसा ही उनमें भी हुआ ॥ ५२–५४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युसमागमे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका संग्रामविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५४½ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, अर्जुनके साथ भीष्मका तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोणाचार्यके साथ सात्यकिका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

आर्जुनिं समरे शूरं विनिघ्नन्तं महारथान्।
अलम्बुषः कथं युद्धे प्रत्ययुध्यत संजय ॥ १ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं कथं चैव सौभद्रः परवीरहा।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन यथावृत्तं स्म संयुगे ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! समरमें बड़े-बड़े महारथियोंका संहार करते हुए शूरवीर अर्जुनकुमार अभिमन्युके साथ राक्षस अलम्बुषने किस प्रकार युद्ध किया? इसी प्रकार शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सुभद्राकुमारने राक्षस अलम्बुषके साथ कैसे युद्ध किया? युद्धस्थलमें उन दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी वृत्तान्त हो, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १-२ ॥

धनंजयश्च किं चक्रे मम सैन्येषु संयुगे।
भीमो वा रथिनां श्रेष्ठो राक्षसो वा घटोत्कचः ॥ ३ ॥
नकुलः सहदेवो वा सात्यकिर्वा महारथः।
एतदाचक्ष्व मे सत्यं कुशलो ह्यसि संजय ॥ ४ ॥

उस युद्धके मैदानमें अर्जुनने मेरी सेनाओंके साथ क्या किया? रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा राक्षस घटोत्कच या नकुल-सहदेव एवं महारथी सात्यकिने क्या किया? संजय! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताओ; क्योंकि तुम इन बातोंके बतानेमें कुशल हो ॥ ३-४ ॥

संजय उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि संग्रामं लोमहर्षणम्।

यथाभूद् राक्षसेन्द्रस्य सौभद्रस्य च मारिष ॥ ५ ॥
अर्जुनश्च यथा संख्ये भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च रणे चक्रुः पराक्रमम् ॥ ६ ॥
तथैव तावकाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अद्भुतानि विचित्राणि चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—आर्य ! मैं बड़े दुःखके साथ उस रोमाञ्चकारी संग्रामका वर्णन करूँगा, जो राक्षसराज अलम्बुष और सुभद्राकुमार अभिमन्युमें हुआ था तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेवने युद्धमें किस प्रकार पराक्रम किया और उसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि आपके सभी योद्धाओंने निर्भीक-से होकर अद्भुत और विचित्र कर्म किये—यह सब भी मुझसे सुनिये ॥ ५–७ ॥

अलम्बुषस्तु समरे अभिमन्युं महारथम् ।
विनद्य सुमहानादं तर्जयित्वा मुहुर्मुहुः ॥ ८ ॥
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

अलम्बुषने समरभूमिमें महारथी अभिमन्युको जोर-जोरसे गर्जना करके बारंबार डाँट बतायी और 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर बड़े वेगसे उसपर धावा किया ॥ ८½ ॥

अभिमन्युश्च वेगेन सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ९ ॥
आर्ष्यश्रृङ्गिं महेष्वासं पितुरत्यन्तवैरिणम् ।

इसी प्रकार वीर अभिमन्युने भी बारंबार सिंहनाद करते हुए अपने पितृव्य भीमसेनके अत्यन्त वैरी महाधनुर्धर अलम्बुषपर वेगसे आक्रमण किया ॥ ९½ ॥

ततः समीयतुः संख्ये त्वरितौ नरराक्षसौ ॥ १० ॥
रथाभ्यां रथिनौ श्रेष्ठौ यथा वै देवदानवौ ।

फिर तो वे मनुष्य तथा राक्षस दोनों वीर तुरंत ही युद्धस्थलमें एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे, अतः देवता और दानवकी भाँति रथोंद्वारा एक-दूसरेका सामना करने लगे ॥ १०½ ॥

मायावी राक्षसश्रेष्ठो दिव्यास्त्रश्चैव फाल्गुनिः ॥ ११ ॥

राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष मायावी था और अर्जुनकुमार अभिमन्युको दिव्यास्त्रोंका ज्ञान था ॥ ११ ॥

ततः कार्ष्णिर्महाराज निशितैः सायकैस्त्रिभिः ।
आर्ष्यश्रृङ्गिं रणे विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीन तीखे सायकोंसे रणक्षेत्रमें अलम्बुषको बींधकर पुनः पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १२ ॥

अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः कार्ष्णिं नवभिराशुगैः ।
हृदि विव्याध वेगेन तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥ १३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अलम्बुषने भी नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनपुत्र अभिमन्युकी छातीमें उसी प्रकार वेगपूर्वक प्रहार किया, जैसे अङ्कुशद्वारा गजराजपर प्रहार किया जाता है ॥ १३ ॥

ततः शरसहस्रेण क्षिप्रकारी निशाचरः ।
अर्जुनस्य सुतं संख्ये पीडयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक सारे कार्य करनेवाले निशाचरने एक हजार बाण मारकर युद्धस्थलमें अर्जुनके पुत्रको पीड़ित कर दिया ॥ १४ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः ।
बिभेद निशितैर्बाणै राक्षसेन्द्रं महोरसि ॥ १५ ॥

इससे क्रुद्ध होकर अभिमन्युने राक्षसराज अलम्बुषकी चौड़ी छातीमें झुकी हुई गाँठवाले नौ पैने बाण मारे ॥ १५ ॥

ते तस्य विविशुस्तूर्णं कायं निर्भिद्य मर्मसु ।
स तैर्विभिन्नसर्वाङ्गः शुशुभे राक्षसोत्तमः ॥ १६ ॥
पुष्पितैः किंशुकै राजन् संस्तीर्ण इव पर्वतः ।

वे बाण राक्षसके शरीरको विदीर्ण करके उसके मर्मस्थानोंमें धँस गये। राजन् ! उन बाणोंसे सम्पूर्ण अङ्गोंके क्षत-विक्षत हो जानेपर राक्षसराज अलम्बुष खिले हुए पलाशके वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतकी भाँति सुशोभित होने लगा ।१६½।

संधारयाणश्च शरान् हेमपुङ्खान् महाबलः ॥ १७ ॥
विबभौ राक्षसश्रेष्ठः सज्वाल इव पर्वतः ।

सुवर्णमय पंखसे युक्त उन बाणोंको अपने अङ्गोंमें धारण किये महाबली राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष अग्निकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ १७½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज आर्ष्यश्रृङ्गिरमर्षणः ॥ १८ ॥
महेन्द्रप्रतिमं कार्ष्णिं छादयामास पत्त्रिभिः ।

महाराज ! तब अमर्षशील अलम्बुषने कुपित होकर देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनकुमारको पंखवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १८½ ॥

तेन ते विशिखा मुक्ता यमदण्डोपमाः शिताः ॥ १९ ॥
अभिमन्युं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसके द्वारा छोड़े हुए यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे बाण अभिमन्युके शरीरको छेदकर धरतीमें समा गये ॥

तथैवार्जुनिना मुक्ताः शराः कनकभूषणाः ॥ २० ॥
अलम्बुषं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसी प्रकार अभिमन्युके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण भी अलम्बुषको विदीर्ण करके पृथ्वीमें समा गये ॥ २०½ ॥

सौभद्रस्तु रणे रक्षः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥
चक्रे विमुखमासाद्य मयं शक्र इवाहवे ।

जैसे इन्द्र युद्धस्थलमें मयासुरको विमुख कर देते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्युने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा मारकर उस राक्षसको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २१½ ॥

विमुखं च ततो रक्षो वध्यमानं रणेऽरिणा ॥ २२ ॥

प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापनाम् ।

फिर समराङ्गणमें शत्रुसे पीड़ित एवं विमुख हुए राक्षसने शत्रुओंको तपानेवाली अपनी (अन्धकारमयी) तामसी महामाया प्रकट की ॥ २२½ ॥

ततस्ते तमसा सर्वे वृताश्चासन् महीपते ॥ २३ ॥
नाभिमन्युमपश्यन्त नैव स्वान् न परान् रणे ।

महीपते ! तब वे समस्त पाण्डव सैनिक अन्धकारसे आच्छादित हो गये । अतः न तो रणक्षेत्रमें अभिमन्युको देख पाते थे और न अपने तथा शत्रुपक्षके सैनिकोंको ही ॥

अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः ॥ २४ ॥
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दनः ।
ततः प्रकाशमभवज्जगत् सर्वं महीपते ॥ २५ ॥

यह भयंकर एवं महान् अन्धकार देखकर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अभिमन्युने अत्यन्त उग्र भास्करास्त्रको प्रकट किया । राजन् ! इससे सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश छा गया ॥

तां चाभिजघ्निवान् मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ।
संक्रुद्धश्च महावीर्यो राक्षसेन्द्रं नरोत्तमः ॥ २६ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

इस प्रकार महापराक्रमी नरश्रेष्ठ अभिमन्युने उस दुरात्मा राक्षसकी मायाको नष्ट कर दिया और अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे समरभूमिमें आच्छादित कर दिया ॥ २६½ ॥

बह्वीस्तथान्या मायाश्च प्रयुक्तास्तेन रक्षसा ॥ २७ ॥
सर्वास्त्रविदमेयात्मा वारयामास फाल्गुनिः ।

उस राक्षसने और भी बहुत-सी जिन-जिन मायाओंका प्रयोग किया, उन सबको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अभिमन्युने नष्ट कर दिया ॥ २७½ ॥

हतमायं ततो रक्षो वध्यमानं च सायकैः ॥ २८ ॥
रथं तत्रैव संत्यज्य प्राद्रवन्महतो भयात् ।

अपनी माया नष्ट हो जानेपर सायकोंकी मार खाता हुआ राक्षस अलम्बुष अत्यन्त भयके कारण अपने रथको वहीं छोड़कर भाग गया ॥ २८½ ॥

तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे ॥ २९ ॥
आर्जुनिः समरे सैन्यं तावकं सम्ममर्द ह ।
मदान्धो गन्धनागेन्द्रः सपद्मां पद्मिनीमिव ॥ ३० ॥

मायाद्वारा युद्ध करनेवाले उस राक्षसके पराजित हो जानेपर अर्जुनकुमार अभिमन्युने तुरंत ही रणक्षेत्रमें आपकी सेनाका उसीप्रकार मर्दन आरम्भ किया, जैसे गन्धयुक्त मदान्ध गजराज कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणीको मथ डालता है ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः सैन्यं दृष्ट्वाभिविद्रुतम् ।
महता शरवर्षेण सौभद्रं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको भागती हुई देख शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी भारी बाण-वर्षा करके सुभद्राकुमार अभिमन्युको रोक दिया ॥ ३१ ॥

कोष्ठीकृत्य च तं वीरं धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
एकं सुबहवो युद्धे ततक्षुः सायकैर्दृढम् ॥ ३२ ॥

फिर आपके महारथी पुत्रोंने वीर अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया और युद्धस्थलमें उस अकेलेको बहुत-से योद्धाओंने सायकोंद्वारा जोर-जोरसे घायल करना आरम्भ किया॥

स तेषां रथिनां वीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
सदृशो वासुदेवस्य विक्रमेण बलेन च ॥ ३३ ॥
उभयोः सदृशं कर्म स पितुर्मातुलस्य च ।
रणे बहुविधं चक्रे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वीर अभिमन्यु अपने पिता अर्जुनके समान पराक्रमी था । बल और विक्रममें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी समानता करता था । सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ उस वीरने रणक्षेत्रमें उन कौरव रथियोंके साथ अपने पिता और मामा दोनोंके सदृश अनेक प्रकारका शौर्यपूर्ण कार्य किया ॥ ३३-३४ ॥

ततो धनंजयो वीरो विनिघ्नंस्तव सैनिकान् ।
आससाद रणे भीष्मं पुत्रप्रेप्सुरमर्षणः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुन समराङ्गणमें आपके सैनिकोंका संहार करते हुए अपने पुत्रकी रक्षाके लिये अमर्षमें भरकर भीष्मके पास आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

तथैव समरे राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
आससाद रणे पार्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसे सूर्यपर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार आपके पितृव्य देवव्रत भीष्मने समरभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ३६ ॥

ततः सरथनागाश्वाः पुत्रास्तव जनेश्वर ।
परिवव्रू रणे भीष्मं जुगुपुश्च समन्ततः ॥ ३७ ॥

जनेश्वर ! उस समय आपके पुत्र रथ, हाथी, घोड़ोंकी सेना साथ लेकर युद्धस्थलमें भीष्मको घेरकर खड़े हो गये और सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवार्य धनंजयम् ।
रणाय महते युक्ता दंशिता भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! उसी प्रकार पाण्डव अर्जुनको सब ओरसे घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो महायुद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३८ ॥

शारद्वतस्ततो राजन् भीष्मस्य प्रमुखे स्थितम् ।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ॥ ३९ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके सामने खड़े हुए अर्जुनको कृपाचार्यने पचीस बाण मारे ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्गम्याथ विव्याध सात्यकिस्तं शितैः शरैः।
पाण्डवप्रियकामार्थे शार्दूल इव कुञ्जरम् ॥ ४० ॥

तब जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार सात्यकिने आगे बढ़कर पाण्डुनन्दन अर्जुनका प्रिय करनेके लिये कृपाचार्यको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥

गौतमोऽपि त्वरायुक्तो माधवं नवभिः शरैः।
हृदि विव्याध संक्रुद्धः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ४१ ॥

यह देख कृपाचार्यने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी उतावलीके साथ सात्यकिकी छातीमें कङ्कपत्रविभूषित नौ बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ ४१ ॥

शैनेयोऽपि ततः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान्।
गौतमान्तकरं तूर्णं समाधत्त शिलीमुखम् ॥ ४२ ॥

तब वेगशाली सात्यकिने भी क्रोधमें भरकर अपने धनुषको झुकाया और तुरंत ही उसपर कृपाचार्यका अन्त करनेवाला बाण रक्खा ॥ ४२ ॥

तमापतन्तं वेगेन शक्राशनिसमद्युतिम्।
द्विधा चिच्छेद संक्रुद्धो द्रौणिः परमकोपनः ॥ ४३ ॥

उस बाणका प्रकाश इन्द्रके वज्रके समान था। उसे वेगसे आते देख परम क्रोधी अश्वत्थामाने अत्यन्त कुपित हो उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ४३ ॥

समुत्सृज्याथ शैनेयो गौतमं रथिनां वरः।
अभ्यद्रवद् रणे द्रौणिं राहुः खे शशिनं यथा ॥ ४४ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने कृपाचार्यको छोड़कर जैसे आकाशमें राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अश्वत्थामापर धावा किया ॥ ४४ ॥

तस्य द्रोणसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद भारत।
अथैनं छिन्नधन्वानं ताडयामास सायकैः ॥ ४५ ॥

भारत ! उस द्रोणपुत्रने सात्यकिके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें सायकोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शत्रुघ्नं भारसाधनम्।
द्रौणिं षष्ट्या महाराज बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४६ ॥

महाराज ! तब सात्यकिने भार-साधनमें समर्थ एवं शत्रु-विनाशक दूसरा धनुष हाथमें लेकर साठ बाणोंद्वारा अश्वत्थामाकी भुजाओं तथा छातीको छेद डाला ॥ ४६ ॥

स विद्धो व्यथितश्चैव मुहूर्तं कश्मलायुतः।
निषसाद रथोपस्थे ध्वजयष्टिं समाश्रितः ॥ ४७ ॥

इससे अत्यन्त घायल और व्यथित होकर मूर्छित हो ध्वजका सहारा ले वह दो घड़ीतक रथके पिछले भागमें बैठा रहा ॥ ४७ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
वार्ष्णेयं समरे क्रुद्धो नाराचेन समार्पयत् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् प्रतापी द्रोणपुत्रने होशमें आकर कुपित हो समरभूमिमें सात्यकिको नाराचसे घायल कर दिया ॥ ४८ ॥

शैनेयं स तु निर्भिद्य प्राविशद् धरणीतलम्।
वसन्तकाले बलवान् बिलं सर्पशिशुर्यथा ॥ ४९ ॥

वह नाराच सात्यकिको छेदकर उसी प्रकार धरतीमें समा गया, जैसे वसन्त ऋतुमें बलवान् सर्प-शिशु बिलमें घुसता है ॥ ४९ ॥

अथापरेण भल्लेन माधवस्य ध्वजोत्तमम्।
चिच्छेद समरे द्रौणिः सिंहनादं मुमोच ह ॥ ५० ॥

इसके बाद दूसरे भल्लसे समरभूमिमें अश्वत्थामाने सात्यकिके उत्तम ध्वजको काट डाला और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५० ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैश्छादयामास भारत।
निदाघान्ते महाराज यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५१ ॥

भारत ! महाराज ! तदनन्तर जैसे वर्षा ऋतुमें बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने पुनः अपने भयंकर बाणोंद्वारा सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥

सात्यकोऽपि महाराज शरजालं निहत्य तत्।
द्रौणिमभ्यकिरत् तूर्णं शरजालैरनेकधा ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! उस समय सात्यकिने भी उस बाण-समूहको नष्ट करके तुरंत ही अश्वत्थामाके ऊपर अनेक प्रकारके बाणोंका जाल-सा बिछा दिया ॥ ५२ ॥

तापयामास च द्रौणिं शैनेयः परवीरहा।
विमुक्तो मेघजालेन यथैव तपनस्तथा ॥ ५३ ॥

फिर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले युयुधानने मेघोंकी घटासे मुक्त हुए सूर्यकी भाँति द्रोणपुत्रको संताप देना आरम्भ किया ॥ ५३ ॥

शराणां च सहस्रेण पुनरेव समुद्यतः।
सात्यकिश्छादयामास ननाद च महाबलः ॥ ५४ ॥

महाबली सात्यकिने पुनः एक हजार बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया और बड़े जोरसे गर्जना की॥

दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं राहुणेव निशाकरम्।
अभ्यद्रवत शैनेयं भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥

जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रस लेता है, उसी प्रकार सात्यकिके द्वारा अपने पुत्रपर ग्रहण लगा हुआ देख प्रतापी द्रोणाचार्यने उनके ऊपर धावा किया ॥ ५५ ॥

विव्याध च सुतीक्ष्णेन पृषत्केन महामृधे।
परीप्सन् स्वसुतं राजन् वार्ष्णेयेनाभिपीडितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! उस महायुद्धमें सात्यकिद्वारा पीड़ित हुए

अपने पुत्रकी रक्षा करनेके लिये आचार्यने तीखे बाणसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ५६ ॥

सात्यकिस्तु रणे हित्वा गुरुपुत्रं महारथम् ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या सर्वपारशवैः शरैः ॥ ५७ ॥

तब सात्यकिने रणक्षेत्रमें गुरुपुत्र महारथी अश्वत्थामाको छोड़कर पूर्णतः लोहेके बने हुए बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींध डाला ॥ ५७ ॥

तदन्तरममेयात्मा कौन्तेयः शत्रुतापनः ।
अभ्यद्रवद् रणे क्रुद्धो द्रोणं प्रति महारथः ॥ ५८ ॥

इसी समय शत्रुओंको संताप देनेवाले अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धस्थलमें कुपित हो द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ॥ ५८ ॥

ततो द्रोणश्च पार्थश्च समेयातां महामृधे ।
यथा बुधश्च शुक्रश्च महाराज नभस्तले ॥ ५९ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्य और अर्जुन उस महासमरमें एक दूसरेसे भिड़ गये, मानो आकाशमें बुध और शुक्र एक दूसरेपर आक्रमण कर रहे हों ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युयुद्धे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका युद्धविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सुशर्माके साथ अर्जुनका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाण्डवश्च धनंजयः ।
समीयतू रणे यत्तौ तावुभौ पुरुषर्षभौ ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! महाधनुर्धर द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुन—इन दोनों पुरुषसिंहोंने रणक्षेत्रमें किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेका सामना किया ? ॥ १ ॥

प्रियो हि पाण्डवो नित्यं भारद्वाजस्य धीमतः ।
आचार्यश्च रणे नित्यं प्रियः पार्थस्य संजय ॥ २ ॥

सूत ! युद्धस्थलमें बुद्धिमान् द्रोणाचार्यको पाण्डुपुत्र अर्जुन सदा ही प्रिय लगते हैं और अर्जुनको भी आचार्य रणक्षेत्रमें सदा ही प्रिय रहे हैं ॥ २ ॥

तावुभौ रथिनौ संख्ये हृष्टौ सिंहाविवोत्कटौ ।
कथं समीयतुर्यत्तौ भारद्वाजधनंजयौ ॥ ३ ॥

उस दिन संग्रामभूमिमें दो प्रचण्ड सिंहोंकी भाँति हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वे दोनों रथी द्रोणाचार्य और धनंजय किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेसे युद्ध करते थे ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

न द्रोणः समरे पार्थं जानीते प्रियमात्मनः ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य पार्थो वा गुरुमाहवे ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! समरभूमिमें द्रोणाचार्य अर्जुनको अपना प्रिय नहीं समझते हैं और अर्जुन भी क्षत्रियधर्मको आगे रखकर युद्धस्थलमें गुरुको अपना प्रिय नहीं मानते हैं ॥ ४ ॥

न क्षत्रिया रणे राजन् वर्जयन्ति परस्परम् ।
निर्मर्यादं हि युध्यन्ते पितृभिर्भ्रातृभिः सह ॥ ५ ॥

राजन् ! क्षत्रियलोग रणक्षेत्रमें आपसमें किसीको नहीं छोड़ते हैं। वे पिता और भाइयोंके साथ भी मर्यादा[1]-शून्य होकर युद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

रणे भारत पार्थेन द्रोणो विद्धस्त्रिभिः शरैः ।
नाचिन्तयच्च तान् बाणान् पार्थचापच्युतान् युधि ॥ ६ ॥

भारत ! उस रणक्षेत्रमें अर्जुनने द्रोणाचार्यको तीन बाणोंसे घायल किया; परंतु अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने कुछ भी नहीं समझा ॥

शरवृष्ट्या पुनः पार्थश्छादयामास तं रणे ।
स प्रजज्वाल रोषेण गहनेऽग्निरिवोर्जितः ॥ ७ ॥

तब अर्जुनने समरभूमिमें अपने बाणोंकी वर्षासे पुनः द्रोणाचार्यको ढक दिया। यह देख वे रोषसे जल उठे, मानो वनमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो ॥ ७ ॥

ततोऽर्जुनं रणे द्रोणः शरैः संनतपर्वभिः ।
छादयामास राजेन्द्र नचिरादेव भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! तब द्रोणाचार्यने युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अर्जुनको शीघ्र ही आच्छादित कर दिया ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
द्रोणस्य समरे राजन् पार्ष्णिग्रहणकारणात् ॥ ९ ॥

राजन् ! तब राजा दुर्योधनने सुशर्माको समरभूमिमें द्रोणाचार्यके पृष्ठभागकी रक्षाके लिये प्रेरित किया ॥ ९ ॥

त्रिगर्तराडपि क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
छादयामास समरे पार्थं बाणैरयोमुखैः ॥ १० ॥

उसकी आज्ञा पाकर त्रिगर्तराज सुशर्माने भी समरमें

---

१. यहाँपर 'मर्यादा' शब्द सम्बन्धकी मर्यादाके लिये प्रयुक्त हुआ है।

क्रोधपूर्वक धनुषको अत्यन्त खींचकर लोहमुख बाणोंके द्वारा अर्जुनको ढक दिया ॥ १० ॥

ताभ्यां मुक्ताः शरा राजन्नन्तरिक्षे विरेजिरे ।
हंसा इव महाराज शरत्काले नभस्तले ॥ ११ ॥

महाराज ! जैसे शरद् ऋतुके आकाशमें हंस उड़ते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंके छोड़े हुए बाण आकाशमें सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शराः प्राप्य कौन्तेयं समन्ताद् विविशुः प्रभो ।
फलभारनतं यद्वत् स्वादुवृक्षं विहङ्गमाः ॥ १२ ॥

प्रभो ! वे बाण सब ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुनके ऊपर पड़कर उनके शरीरमें धँसने लगे, मानो फलोंके भारसे झुके स्वादिष्ट वृक्षपर चारों ओरसे पक्षी टूटे पड़ते हों ॥ १२ ॥

अर्जुनस्तु रणे नादं विनद्य रथिनां वरः ।
त्रिगर्तराजं समरे सपुत्रं विव्यधे शरैः ॥ १३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने सिंहनाद करके समराङ्गणमें पुत्रसहित त्रिगर्तराज सुशर्माको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
पार्थमेवाभ्यवर्तन्त मरणे कृतनिश्चयाः ॥ १४ ॥

जैसे प्रलयकालमें साक्षात् काल सबको मार डालता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मार खाकर त्रिगर्तदेशीय सैनिक मरने-का निश्चय करके पुनः उन्हींपर टूट पड़े ॥ १४ ॥

मुमुचुः शरवृष्टिं च पाण्डवस्य रथं प्रति ।
शरवृष्टिं ततस्तां तु शरवर्षैः समन्ततः ॥ १५ ॥
प्रतिजग्राह राजेन्द्र तोयवृष्टिमिवाचलः ।

उन्होंने पाण्डुनन्दन अर्जुनके रथपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी । राजेन्द्र ! अर्जुनने सब ओरसे होनेवाली उस बाण-वर्षाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे पर्वत जलकी वर्षाको धारण करता है ॥ १५½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम बीभत्सोर्हस्तलाघवम् ॥ १६ ॥
विमुक्तां बहुभिर्योधैः शस्त्रवृष्टिं दुरासदाम् ।
यदेको वारयामास मारुतोऽभ्रगणानिव ॥ १७ ॥

उस युद्धमें हमने अर्जुनके हाथोंकी अद्भुत फुर्ती देखी, जैसे हवा बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार बहुत-से योद्धाओंद्वारा की हुई उस दुःसह बाण-वर्षाका उन्होंने अकेले ही निवारण कर दिया ॥ १६-१७ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य तुतुपुर्देवदानवाः ।
अथ क्रुद्धो रणे पार्थस्त्रिगर्तान् प्रति भारत ॥ १८ ॥
मुमोचास्त्रं महाराज वायव्यं पृतनामुखे ।
प्रादुरासीत् ततो वायुः क्षोभयाणो नभस्तलम् ॥ १९ ॥
पातयन् वै तरुगणान् विनिघ्नंश्चैव सैनिकान् ।

महाराज ! अर्जुनके उस पराक्रमसे देवता और दानव सभी संतुष्ट हुए । भारत ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने युद्धके मुहानेपर त्रिगर्त-सेनाओंको लक्ष्य करके वायव्यास्त्रका प्रयोग किया; फिर तो आकाशको विक्षुब्ध कर देनेवाली वायु प्रकट हुई, जो वृक्षोंको गिराने और सैनिकोंको नष्ट करने लगी ॥ १८-१९½ ॥

ततो द्रोणोऽभिवीक्ष्यैव वायव्यास्त्रं सुदारुणम् ॥ २० ॥
शैलमन्यन्महाराज घोरमस्त्रं मुमोच ह ।

महाराज ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अत्यन्त भयंकर वायव्यास्त्रको देखकर उसका निवारण करनेके लिये भयानक पर्वतास्त्रका प्रयोग किया ॥ २०½ ॥

द्रोणेन युधि निर्मुक्ते तस्मिन्नस्त्रे नराधिप ॥ २१ ॥
प्रशशाम ततो वायुः प्रसन्नाश्च दिशो दश ।

नरेश्वर ! द्रोणाचार्यके द्वारा युद्धमें पर्वतास्त्रका प्रयोग होनेपर वायु शान्त और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥

ततः पाण्डुसुतो वीरस्त्रिगर्तस्य रथव्रजान् ॥ २२ ॥
निरुत्साहान् रणे चक्रे विमुखान् विपराक्रमान् ।

तब वीरवर पाण्डुपुत्र अर्जुनने त्रिगर्तराजके रथसमूहोंको उत्साहरहित एवं पराक्रमशून्य करके उन्हें युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २२½ ॥

ततो दुर्योधनश्चैव कृपश्च रथिनां वरः ॥ २३ ॥
अश्वत्थामा तथा शल्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लिकः सह बाह्लिकैः ॥ २४ ॥
महता रथवंशेन पार्थस्यावारयन् दिशः ।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा, शल्य, काम्बोजराज सुदक्षिण, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ राजा बाह्लीक इन सबने रथियोंकी विशाल सेना साथ लेकर उसके द्वारा पार्थकी सम्पूर्ण दिशाओंको अर्थात् उनके सभी मार्गोंको रोक दिया ॥

तथैव भगदत्तश्च श्रुतायुश्च महाबलः ॥ २५ ॥
गजानीकेन भीमस्य ताववारयतां दिशः ।

उसी प्रकार भगदत्त तथा महाबली श्रुतायुने हाथियोंकी सेनाद्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ॥ २५½ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव सौबलश्च विशाम्पते ॥ २६ ॥
शरौघैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्माद्रीपुत्राववारयन् ।

प्रजानाथ ! भूरिश्रवा, शल और शकुनिने तीखे और चमकीले बाण-समूहोंकी वर्षा करके माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको रोका ॥ २६½ ॥

भीष्मस्तु संहतः संख्ये धार्तराष्ट्रैः ससैनिकैः ॥ २७ ॥
युधिष्ठिरं समासाद्य सर्वतः पर्यवारयत् ।

भीष्मने सैनिकोंसहित आपके पुत्रोंके साथ संगठित होकर युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ २७½ ॥

आपतन्तं गजानीकं दृष्ट्वा पार्थो वृकोदरः ॥ २८ ॥
लेलिहन् सृक्किणी वीरो मृगराडिव कानने ।

हाथियोंकी सेनाको आते देख वीर कुन्तीकुमार भीमसेन जैसे वनमें सिंह अपने जबड़ोंको चाटता है, उसी प्रकार मुँहके दोनों कोनोंको चाटने लगे ॥ २८½ ॥

भीमस्तु रथिनां श्रेष्ठो गदां गृह्य महाहवे ॥ २९ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तव सैन्यान्यभीषयत् ।

तत्पश्चात् उस महासमरमें रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन गदा लेकर तुरंत रथसे कूद पड़े और आपकी सेनाओंको भयभीत करने लगे ॥ २९½ ॥

तमुद्वीक्ष्य गदाहस्तं ततस्ते गजसादिनः ॥ ३० ॥
परिवव्रू रणे यत्ता भीमसेनं समन्ततः ।

गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको देखकर उन गजारोही सैनिकोंने उन्हें यत्नपूर्वक चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३०½ ॥

गजमध्यमनुप्राप्तः पाण्डवः स व्यराजत ॥ ३१ ॥
मेघजालस्य महतो यथा मध्यगतो रविः ।

उस गजसेनाके बीचमें पड़े हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन महान् मेघ-समूहके मध्यमें स्थित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ३१½ ॥

व्यधमत् स गजानीकं गदया पाण्डवर्षभः ॥ ३२ ॥
महाभ्रजालमतुलं मातरिश्वेव संततम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेनने अपनी गदाकी चोटसे सारी गज-सेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु महान् मेघोंकी सब ओर फैली हुई अनुपम घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥

ते वध्यमाना बलिना भीमसेनेन दन्तिनः ॥ ३३ ॥
आर्तनादं रणे चक्रुर्गर्जन्तो जलदा इव ।

महाबली भीमसेनकी गदासे आहत हुए दन्तार हाथी युद्ध-स्थलमें गरजते हुए मेघोंके समान आर्तनाद करने लगे ॥

बहुधा दारितश्चैव विषाणैस्तत्र दन्तिभिः ॥ ३४ ॥
फुल्लाशोकनिभः पार्थः शुशुभे रणमूर्धनि ।

हाथियोंके दाँतोंसे अनेक बार विदीर्ण हुए भीमसेन युद्धके मुहानेपर खिले हुए अशोकके समान शोभा पा रहे थे ॥

विषाणे दन्तिनं गृह्य निर्विषाणमथाकरोत् ॥ ३५ ॥
विषाणेन च तेनैव कुम्भेऽभ्याहत्य दन्तिनम् ।
पातयामास समरे दण्डहस्त इवान्तकः ॥ ३६ ॥

उन्होंने किसी दन्तार हाथीका दाँत पकड़कर उखाड़ लिया और उस हाथीको दन्तहीन बना दिया । फिर उसी दाँतके द्वारा उसके कुम्भस्थलमें प्रहार करके दण्डधारी यमराज-की भाँति समराङ्गणमें उसे मार गिराया ॥ ३५-३६ ॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रन्मेदोमज्जाकृतच्छविः ।
कृताभ्यङ्गः शोणितेन रुद्रवत् प्रत्यदृश्यत ॥ ३७ ॥

खूनसे रँगी हुई गदा लेकर मेदा और मज्जाके लेपसे अपनी शोभा बिगाड़कर रक्तका उबटन लगाये हुए भीमसेन भगवान् रुद्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ३७ ॥

एवं ते वध्यमानाश्च हतशेषा महागजाः ।
प्राद्रवन्त दिशो राजन् विमृद्नन्तः स्वकं बलम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! इस प्रकार भीमसेनकी मार खाकर मरनेसे बचे हुए महान् गज अपनी ही सेनाको रौंदते हुए सम्पूर्ण दिशाओं-में भागने लगे ॥ ३८ ॥

द्रवद्भिस्तैर्महानागैः समन्ताद् भरतर्षभ ।
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सब ओर भागते हुए उन महान् गजराजोंके साथ ही दुर्योधनकी सारी सेना युद्धभूमिसे विमुख हो चली ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमपराक्रमविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और रक्तमयी रणनदीका वर्णन

संजय उवाच

मध्यन्दिने महाराज संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो रौद्रो भीष्मस्य सह सोमकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! दोपहर होते-होते भीष्म-का सोमकोंके साथ लोकविनाशक भयंकर संग्राम होने लगा ॥

गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
व्यधमन्निशितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको नष्ट करना आरम्भ किया ॥ २ ॥

सम्ममर्द च तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा इव ॥ ३ ॥

राजन्! जैसे बैलोंके समुदाय कटे हुए धानके बोझोंका मर्दन करते हैं, उसी प्रकार आपके ताऊ देवव्रतने उस सेनाको रौंद डाला ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च विराटो द्रुपदस्तथा।
भीष्ममासाद्य समरे शरैर्जघ्नुर्महारथम् ॥ ४ ॥

तब धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, विराट और द्रुपदने समरभूमिमें महारथी भीष्मके पास पहुँचकर उन्हें बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा विराटं च शरैस्त्रिभिः।
द्रुपदस्य च नाराचं प्रेषयामास भारत ॥ ५ ॥

भारत! तदनन्तर भीष्मने विराट और धृष्टद्युम्नको तीन बाणोंसे घायल करके द्रुपदपर नाराचका प्रहार किया ॥ ५ ॥

तेन विद्धा महेष्वासा भीष्मेणामित्रकर्षिणा।
चुक्रुधुः समरे राजन् पादस्पृष्टा इवोरगाः ॥ ६ ॥

राजन्! शत्रुसूदन भीष्मके द्वारा घायल हुए वे महाधनुर्धर वीर पैरोंसे कुचले हुए सर्पोंकी भाँति समराङ्गणमें अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ६ ॥

शिखण्डी तं च विव्याध भरतानां पितामहम्।
स्त्रीमयं मनसा ध्यात्वा नास्मै प्राहरदच्युतः॥ ७ ॥

शिखण्डीने भरतवंशियोंके पितामह भीष्मको बींध डाला; परंतु मन-ही-मन उसे स्त्रीरूप मानकर अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले भीष्मने उसपर प्रहार नहीं किया ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे क्रोधेनाग्निरिव ज्वलन्।
पितामहं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ८ ॥

धृष्टद्युम्न रणक्षेत्रमें क्रोधसे अग्निकी भाँति जल उठे। उन्होंने तीन बाणोंसे पितामह भीष्मको उनकी छाती और भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ८ ॥

द्रुपदः पञ्चविंशत्या विराटो दशभिः शरैः।
शिखण्डी पञ्चविंशत्या भीष्मं विव्याध सायकैः॥ ९ ॥

द्रुपदने पचीस, विराटने दस और शिखण्डीने पचीस सायकोंद्वारा भीष्मको घायल कर दिया ॥ ९ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज शोणितौघपरिप्लुतः।
वसन्ते पुष्पशबलो रक्ताशोक इवाबभौ ॥ १० ॥

महाराज! उनके सायकोंसे अत्यन्त घायल होनेके कारण वे रक्तप्रवाहसे नहा उठे और वसन्त ऋतुमें पुष्पोंसे भरे हुए रक्ताशोककी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १० ॥

तान् प्रत्यविध्यद् गाङ्गेयस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
द्रुपदस्य च भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ११ ॥

आर्य! उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने उन सबको तीन-तीन सीधे जानेवाले बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्लके द्वारा द्रुपदका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मं विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैः सुशितै रणमूर्धनि ॥ १२ ॥

तब उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर युद्धके मुहानेपर पाँच तीखे बाणोंद्वारा भीष्मको और तीन बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ १२ ॥

तथा भीमो महाराज द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
केकया भ्रातरः पञ्च सात्यकिश्चैव सात्वतः ॥ १३ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं युधिष्ठिरपुरोगमाः।
रिरक्षिषन्तः पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ १४ ॥

महाराज! भीम, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाँचों भाई केकयराजकुमार, सात्वतवंशी सात्यकि, युधिष्ठिर आदि पाण्डव-सैनिक तथा धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चाल सैनिक द्रुपदकी रक्षाके लिये गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ १३-१४ ॥

तथैव तावकाः सर्वे भीष्मरक्षार्थमुद्यताः।
प्रत्युद्ययुः पाण्डुसेनां सहसैन्या नराधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर! इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक भीष्मकी रक्षाके लिये सेनासहित उद्यत हो पाण्डवसेनापर चढ़ आये ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तव तेषां च संकुलम्।
नराश्वरथनागानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १६ ॥

तब वहाँ उन सबके पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवारोंमें अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १६ ॥

रथी रथिनमासाद्य प्राहिणोद् यमसादनम्।
तथेतरान् समासाद्य नरनागाश्वसादिनः ॥ १७ ॥

रथीने रथीका सामना करके उसे यमलोक पहुँचा दिया। पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारोंने भी एक दूसरेसे भिड़कर ऐसा ही किया ॥ १७ ॥

अनयन् परलोकाय शरैः संनतपर्वभिः।
शरैश्च विविधैर्घोरैस्तत्र तत्र विशाम्पते ॥ १८ ॥

प्रजानाथ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ सब योद्धा झुकी हुई गाँठवाले नाना प्रकारके भयंकर बाणोंद्वारा अपने विपक्षियोंको परलोकके अतिथि बनाने लगे ॥ १८ ॥

रथास्तु रथिभिर्हीना हतसारथयस्तथा।
विप्रद्रुताश्वाः समरे दिशो जग्मुः समन्ततः ॥ १९ ॥

कितने ही रथ रथियों और सारथियोंसे शून्य हो भागते हुए घोड़ोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे ॥

मृद्नन्तस्ते नरान् राजन् हयांश्च सुबहून् रणे।
वातायमाना दृश्यन्ते गन्धर्वनगरोपमाः ॥ २० ॥

राजन्! वे रथ उस रणक्षेत्रमें आपके बहुत-से पैदल

मनुष्यों तथा घोड़ोंको कुचलते हुए हवाके समान तीव्र गतिसे भाग रहे थे और गन्धर्वनगरके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथैर्हीना वर्मिणस्तेजसा युताः ।
कुण्डलोष्णीषिणः सर्वे निष्काङ्गदविभूषणाः ॥ २१ ॥
देवपुत्रसमाः सर्वे शौर्ये शक्रसमा युधि ।
ऋद्ध्या वैश्रवणं चाति नयेन च बृहस्पतिम् ॥ २२ ॥
सर्वलोकेश्वराः शूरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।
विप्रद्रुता व्यदृश्यन्त प्राकृता इव मानवाः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! कितने ही रथी रथोंसे हीन हो गये थे । वे कवच, कुण्डल और पगड़ी धारण किये बड़े तेजस्वी दिखायी देते थे । उन सबने कण्ठमें स्वर्णमय पदक और भुजाओंमें बाजूबंद धारण कर रक्खे थे । वे देखनेमें देवकुमारोंके समान सुन्दर और युद्धमें इन्द्रके समान शौर्यसम्पन्न थे । वे समृद्धिमें कुबेर और नीतिज्ञतामें बृहस्पतिजीसे भी बढ़कर थे । ऐसे सर्वलोकेश्वर शूरवीर भी रथहीन हो गँवार मनुष्योंकी भाँति जहाँ-तहाँ भागते दिखायी देते थे ॥ २१—२३ ॥

दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ हीनाः परमसादिभिः ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि निपेतुः सर्वशब्दगाः ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ ! कितने ही दन्तार हाथी अपने श्रेष्ठ सवारोंसे रहित हो अपनी ही सेनाको कुचलते हुए प्रत्येक शब्दके पीछे दौड़ते थे ॥ २४ ॥

चर्मभिश्चामरैश्चित्रैः पताकाभिश्च मारिष ।
छत्रैः सितैर्हेमदण्डैश्चामरैश्च समन्ततः ॥ २५ ॥
विशीर्णैर्विप्रधावन्तो दृश्यन्ते स्म दिशो दश ।
नवमेघप्रतीकाशा जलदोपमनिःस्वनाः ॥ २६ ॥

माननीय महाराज ! ढाल, विचित्र चँवर, पताका, श्वेत छत्र, सुवर्णदण्डभूषित चामर—ये चारों ओर बिखरे पड़े थे और (इन्हींके ऊपरसे) नूतन मेघोंकी घटाके सदृश हाथी मेघों-के समान भयंकर गर्जना करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २५-२६ ॥

तथैव दन्तिभिर्हीना गजारोहा विशाम्पते ।
प्रधावन्तोऽन्वदृश्यन्त तव तेषां च संकुले ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! इसी प्रकार हाथियोंसे रहित हाथीसवार भी आपके और पाण्डवोंके भयानक युद्धमें इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ २७ ॥

नानादेशसमुत्थांश्च तुरगान् हेमभूषितान् ।
वातायमानानद्राक्षं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २८ ॥

अनेक देशोंमें उत्पन्न, सुवर्णभूषित और वायुके समान वेगशाली सैकड़ों और हजारों घोड़ोंको हमने रणभूमिसे भागते देखा है ॥ २८ ॥

अश्वारोहान् हतैरश्वैर्गृहीतासीन् समन्ततः ।
द्रवमाणानपश्याम द्राव्यमाणांश्च संयुगे ॥ २९ ॥

हमने युद्धमें बहुत-से घुड़सवारोंको देखा, जो घोड़ोंके मारे जानेपर हाथमें तलवार लिये सब ओर भागते और शत्रुओंद्वारा खदेड़े जाते थे ॥ २९ ॥

गजो गजं समासाद्य द्रवमाणं महाहवे ।
ययौ प्रमृद्य तरसा पादातान् वाजिनस्तथा ॥ ३० ॥

उस महायुद्धमें एक हाथी भागते हुए दूसरे हाथीके पास पहुँचकर अपने वेगसे बहुतेरे पैदल सिपाहियों तथा घोड़ोंको कुचलता हुआ उसका अनुसरण करता था ॥३०॥

तथैव च रथान् राजन् प्रममर्द रणे गजः ।
रथाश्चैव समासाद्य पतितांस्तुरगान् भुवि ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें एक हाथी बहुत-से रथोंको रौंद डालता था और रथ पृथ्वीपर पड़े हुए घोड़ोंको कुचलकर भागते जाते थे ॥ ३१ ॥

व्यमृद्नन् समरे राजंस्तुरगाश्च नरान् रणे ।
एवं ते बहुधा राजन् प्रत्यमृद्नन् परस्परम् ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! समराङ्गणमें बहुत-से घोड़ोंने पैदल मनुष्योंको कुचल दिया । राजन् ! इस प्रकार वे सैनिक अनेक बार एक दूसरेको कुचलते रहे ॥ ३२ ॥

तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे वर्तमाने महाभये ।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितान्त्रतरङ्गिणी ॥ ३३ ॥

उस महाभयंकर घोर युद्धमें रक्त, आँत और तरंगोंसे युक्त एक भयानक नदी बह चली ॥ ३३ ॥

अस्थिसंघातसम्बाधा केशशैवलशाद्वला ।
रथह्रदा शरावर्ता हयमीना दुरासदा ॥ ३४ ॥

वह हड्डियोंके समूहरूपी शिलाखण्डोंसे भरी थी । केश ही उसमें सेवार और घासके समान जान पड़ते थे । रथ कुण्ड और बाण भँवरके समान प्रतीत होते थे । घोड़े ही उस दुर्गम नदीके मत्स्य थे ॥ ३४ ॥

शीर्षोपलसमाकीर्णा हस्तिग्राहसमाकुला ।
कवचोष्णीषफेनौघा धनुर्वेगासिकच्छपा ॥ ३५ ॥

कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान बिखरे थे । हाथी ही उसमें विशाल ग्राहके समान जान पड़ते थे, कवच और पगड़ी फेनराशिके समान थे, धनुष ही उसका वेगयुक्त प्रवाह और खड्ग ही वहाँ कच्छपके समान प्रतीत होते थे ॥ ३५ ॥

पताकाध्वजवृक्षाढ्या मर्त्यकूलापहारिणी ।
क्रव्यादहंससंकीर्णा यमराष्ट्रविवर्धनी ॥ ३६ ॥

पताका और ध्वजाएँ किनारेके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं । मनुष्योंकी लाशें ही उसके कगारें थीं, जिन्हें वह अपने वेगसे तोड़-तोड़कर बहा रही थी । मांसाहारी पक्षी ही उसके आस-पास हंसोंके समान भरे हुए थे । वह नदी यमके राज्यको बढ़ा रही थी ॥ ३६ ॥

तां नदीं क्षत्रियाः शूरा रथनागहयप्लवैः ।
प्रतेरुर्बहवो राजन् भयं त्यक्त्वा महारथाः ॥ ३७ ॥

राजन् ! बहुत-से शूरवीर महारथी क्षत्रिय नौकाके समान घोड़े, रथ, हाथी आदिपर चढ़कर भयसे रहित हो उस नदीके पार जा रहे थे ॥ ३७ ॥

अपोवाह रणे भीरून् कश्मलेनाभिसंवृतान् ।
यथा वैतरणी प्रेतान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ३८ ॥

जैसे वैतरणी नदी मरे हुए प्राणियोंको प्रेतराजके नगरमें पहुँचाती है, उसी प्रकार वह रक्तमयी नदी डरपोक और कायरोंको मूर्छित-से करके रणभूमिसे दूर हटाने लगी ॥ ३८ ॥

प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र दृष्ट्वा तद् वैशसं महत् ।
दुर्योधनापराधेन गच्छन्ति क्षत्रियाः क्षयम् ॥ ३९ ॥

वहाँ खड़े हुए क्षत्रिय वह अत्यन्त भयंकर मारकाट देखकर यह पुकार-पुकारकर कह रहे थे कि दुर्योधनके अपराधसे ही सारे क्षत्रिय विनाशको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ३९ ॥

गुणवत्सु कथं द्वेषं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
कृतवान् पाण्डुपुत्रेषु पापात्मा लोभमोहितः ॥ ४० ॥

पापात्मा राजा धृतराष्ट्रने लोभसे मोहित होकर गुणवान् पाण्डवोंसे द्वेष क्यों किया ? ॥ ४० ॥

एवं बहुविधा वाचः श्रूयन्ते स्म परस्परम् ।
पाण्डवस्तवसंयुक्ताः पुत्राणां ते सुदारुणाः ॥ ४१ ॥

महाराज ! इस प्रकार वहाँ परस्पर कही हुई पाण्डवोंकी प्रशंसा तथा आपके पुत्रोंकी अत्यन्त भयंकर निन्दासे युक्त नाना प्रकारकी बातें सुनायी पड़ती थीं ॥ ४१ ॥

ता निशम्य ततो वाचः सर्वयोधैरुदाहृताः ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ४२ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं चैव शल्यं चोवाच भारत ।
युध्यध्वमनहंकाराः किं चिरं कुरुथेति च ॥ ४३ ॥

भारत ! तब सम्पूर्ण योद्धाओंके मुखसे निकली हुई उन बातोंको सुनकर सम्पूर्ण लोकोंका अपराध करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे कहा—'आपलोग अहंकार छोड़कर युद्ध करें; विलम्ब क्यों कर रहे हैं?' ॥ ४२-४३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
अक्षद्यूतकृतं राजन् सुघोरं वैशसं तदा ॥ ४४ ॥

राजन् ! तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवोंके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा, जो कपटपूर्ण द्यूतके कारण सम्भव हुआ था और जिसमें बड़ी भारी मारकाट मच रही थी ॥

यत् पुरा न निगृह्णासि वार्यमाणो महात्मभिः ।
वैचित्रवीर्य तस्येदं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ४५ ॥

विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र ! पूर्वकालमें महात्मा पुरुषोंके मना करनेपर भी जो आपने उनकी बातें नहीं मानीं, उसीका यह भयंकर फल प्राप्त हुआ है, इसे देखिये ॥ ४५ ॥

न हि पाण्डुसुता राजन् ससैन्याः सपदानुगाः ।
रक्षन्ति समरे प्राणान् कौरवा वापि संयुगे ॥ ४६ ॥

राजन् ! सेना और सेवकोंसहित पाण्डव अथवा कौरव समरभूमिमें अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं करते हैं—प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

एतस्मात् कारणाद् घोरो वर्तते स्वजनक्षयः ।
दैवाद् वा पुरुषव्याघ्र तव चापनयान्नृप ॥ ४७ ॥

पुरुषसिंह ! नरेश्वर ! इस कारणसे अथवा दैवकी प्रेरणासे या आपके ही अन्यायसे होनेवाले इस युद्धमें स्वजनोंका घोर संहार हो रहा है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घमासान युद्धविषयक एक सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय, कौरव-पाण्डव सैनिकोंका घोर युद्ध, अभिमन्युसे चित्रसेनकी, द्रोणसे द्रुपदकी और भीमसेनसे बाह्लीककी पराजय तथा सात्यकि और भीष्मका युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तान् नरव्याघ्रः सुशर्मानुचरान् नृपान् ।
अनयत् प्रेतराजस्य सदनं सायकैः शितैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! पुरुषसिंह अर्जुन अपने तीखे बाणोंसे सुशर्माके अनुगामी नरेशोंको यमलोक भेजने लगे ॥ १ ॥

सुशर्मापि ततो बाणैः पार्थं विव्याध संयुगे ।
वासुदेवं च सप्तत्या पार्थं च नवभिः पुनः ॥ २ ॥

तब सुशर्माने भी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल कर दिया । फिर उसने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सत्तर और अर्जुनको नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तं निवार्य शरौघेण शक्रसूनुर्महारथः ।

सुशर्मणो रणे योद्धान् प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ३ ॥

यह देख इन्द्रपुत्र महारथी अर्जुनने अपने बाणसमूहोंके द्वारा सुशर्माको रोककर रणक्षेत्रमें उसके योद्धाओंको यमलोक पहुँचाना आरम्भ किया ॥ ३ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
व्यद्रवन्त रणे राजन् भये जाते महारथाः ॥ ४ ॥

राजन् ! जैसे युगान्तमें साक्षात् कालके द्वारा सारी प्रजा मारी जाती है, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए सारे महारथी युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ॥ ४ ॥

उत्सृज्य तुरगान् केचिद् रथान् केचिच्च मारिष ।
गजानन्ये समुत्सृज्य प्राद्रवन्त दिशो दश ॥ ५ ॥

आर्य ! कुछ लोग घोड़ोंको, कुछ दूसरे लोग रथोंको और इसी प्रकार कुछ लोग हाथियोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५ ॥

अपरे तु तदाऽऽदाय वाजिनागरथान् रणे ।
त्वरया परया युक्ताः प्राद्रवन्त विशाम्पते ॥ ६ ॥
पादाताश्चापि शस्त्राणि समुत्सृज्य महारणे ।
निरपेक्षा व्यधावन्त तेन तेन स्म भारत ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! दूसरे लोग उस समय बड़ी उतावलीके साथ अपने हाथी, घोड़े एवं रथको साथ ले रणभूमिसे भाग निकले । भारत ! उस महायुद्धमें पैदल सिपाही भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको फेंककर उनकी कोई अपेक्षा न रखकर जिधरसे राह मिली, उधरसे ही भागने लगे ॥ ६-७ ॥

वार्यमाणाः सुबहुशस्त्रैगर्तेन सुशर्मणा ।
तथान्यैः पार्थिवश्रेष्ठैर्न व्यतिष्ठन्त संयुगे ॥ ८ ॥

यद्यपि त्रिगर्तराज सुशर्मा तथा अन्य श्रेष्ठ नरेशोंने भी बारंबार रोकनेका प्रयत्न किया, तथापि वे सैनिक युद्धमें ठहर न सके ॥ ८ ॥

तद् बलं प्रद्रुतं दृष्ट्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं सर्वसैन्यपुरस्कृतः ॥ ९ ॥
सर्वोद्योगेन महता धनंजयमुपाद्रवत् ।
त्रिगर्ताधिपतेरर्थे जीवितस्य विशाम्पते ॥ १० ॥

उस सेनाको भागती देख आपके पुत्र दुर्योधनने रणभूमिमें भीष्मको आगे करके सम्पूर्ण सेनाओंके साथ महान् प्रयत्नपूर्वक धनंजयपर धावा किया । प्रजानाथ ! उसके आक्रमणका उद्देश्य था त्रिगर्तराजके जीवनकी रक्षा ॥ ९-१० ॥

स एकः समरे तस्थौ किरन् बहुविधाञ्शरान् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः शेषा हि प्रद्रुता नराः ॥ ११ ॥

केवल दुर्योधन ही अपने समस्त भाइयोंके साथ नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करता हुआ समरभूमिमें खड़ा रहा । शेष सब मनुष्य भाग गये ॥ ११ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सर्वोद्योगेन दंशिताः ।
प्रययुः फाल्गुनार्थाय यत्र भीष्मो व्यतिष्ठत ॥ १२ ॥

राजन् ! उसी प्रकार पाण्डव भी कवच बाँधकर सम्पूर्ण उद्योगके साथ अर्जुनकी रक्षाके लिये उसी स्थानपर गये, जहाँ भीष्म स्थित थे ॥ १२ ॥

ज्ञायमाना रणे वीर्यं घोरं गाण्डीवधन्वनः ।
हाहाकारकृतोत्साहा भीष्मं जग्मुः समन्ततः ॥ १३ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके भयंकर पराक्रमको जाननेके कारण वे लोग उत्साहके साथ कोलाहल और सिंहनाद करते हुए सब ओरसे भीष्मपर आक्रमण करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तालध्वजः शूरः पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १४ ॥

तदनन्तर तालचिह्नित ध्वजावाले शूरवीर भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युद्धमें पाण्डवसेनाको आच्छादित कर दिया ॥ १४ ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कुरवः सह पाण्डवैः ।
अयुध्यन्त महाराज मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ १५ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् समस्त कौरव एकत्र संगठित होकर दोपहर होते-होते पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १६ ॥

शूरवीर सात्यकि कृतवर्माको पाँच बाणोंसे घायल करके समरभूमिमें सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए खड़े रहे ॥१६॥

तथैव द्रुपदो राजा द्रोणं विद्ध्वा शितैः शरैः ।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं चास्य पञ्चभिः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार राजा द्रुपदने द्रोणाचार्यको तीखे बाणोंसे एक बार घायल करके सत्तर बाणोंद्वारा पुनः घायल किया और पाँच बाणोंसे उनके सारथिको भी भारी चोट पहुँचायी॥

भीमसेनस्तु राजानं बाह्लीकं प्रपितामहम् ।
विद्ध्वा नदन्महानादं शार्दूल इव कानने ॥ १८ ॥

भीमसेनने अपने प्रपितामह राजा बाह्लीकको बाणोंद्वारा घायल करके वनमें सिंहके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥१८॥

आर्जुनिश्चित्रसेनेन विद्धो बहुभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥ १९ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको चित्रसेनने बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया था, तो भी शूरवीर अभिमन्यु सहस्रों बाणोंकी वर्षा करता हुआ युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ १९ ॥

चित्रसेनं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध समरे भृशम् ।
समागतौ तौ तु रणे महामात्रौ व्यरोचताम् ॥ २० ॥

यथा दिवि महाघोरौ राजन् बुधशनैश्चरौ ।

उसने तीन बाणोंसे समराङ्गणमें चित्रसेनको अत्यन्त घायल कर दिया । राजन् ! जैसे आकाशमें दो महाघोर ग्रह बुध और शनैश्चर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार दो महान् वीर चित्रसेन और अभिमन्यु रणभूमिमें शोभा पा रहे थे।२०½।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं च नवभिः शरैः ॥ २१ ॥
ननाद बलवन्नादं सौभद्रः परवीरहा ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने चित्रसेनके चारों घोड़ोंको मारकर नौ बाणोंसे उसके सारथिको भी नष्ट कर दिया । तत्पश्चात् बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २१½ ॥

हताश्वात्तु रथात् तूर्ण सोऽवप्लुत्य महारथः॥ २२ ॥
आरुरोह रथं तूर्णं दुर्मुखस्य विशाम्पते ।

प्रजानाथ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी चित्रसेन तुरंत ही रथसे कूद पड़े और दुर्मुखके रथपर आरूढ़ हो गये ॥२२½॥

द्रोणश्च द्रुपदं भित्त्वा शरैः संनतपर्वभिः ॥ २३ ॥
सारथिं चास्य विव्याध त्वरमाणः पराक्रमी ।

पराक्रमी द्रोणाचार्यने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे द्रुपदको घायल करके बड़ी उतावलीके साथ उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ २३½॥

पीड्यमानस्ततो राजा द्रुपदो वाहिनीमुखे ॥ २४ ॥
अपायाज्जवनैरश्वैः पूर्ववैरमनुस्मरन् ।

इस प्रकार युद्धके मुहानेपर द्रोणाचार्यसे पीड़ित हो राजा द्रुपद पूर्व वैरका स्मरण करते हुए शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग गये ॥ २४½ ॥

भीमसेनस्तु राजानं मुहूर्तादिव वाह्लिकम् ॥ २५ ॥
व्यश्वसूतरथं चक्रे सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

भीमसेनने दो ही घड़ीमें सारी सेनाके देखते-देखते राजा बाह्लीकको घोड़े, सारथि तथा रथसे शून्य कर दिया ॥२५½॥

ससम्भ्रमो महाराज संशयं परमं गतः ॥ २६ ॥
अवप्लुत्य ततो वाहाद् बाह्लीकः पुरुषोत्तमः ।
आरुरोह रथं तूर्णं लक्ष्मणस्य महारणे ॥ २७ ॥

महाराज ! नरश्रेष्ठ बाह्लीक बड़ी घबराहटमें पड़ गये । उनका जीवन अत्यन्त संशयमें पड़ गया । उस अवस्थामें वे रथसे कूदकर शीघ्र ही उस महायुद्धमें लक्ष्मणके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ २६-२७ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं वारयित्वा महारणे ।
शरैर्बहुविधै राजन्नाससाद पितामहम् ॥ २८ ॥

राजन् ! दूसरी ओर उस महायुद्धमें सात्यकिने कृतवर्माको रोककर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए पितामह भीष्मपर धावा किया ॥ २८ ॥

स विद्ध्वा भारतं षष्ट्या निशितैर्लोमवाहिभिः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे विधुन्वानो महद् धनुः ॥२९॥

उन्होंने अपने विशाल धनुषकी टंकार फैलाते तथा रथकी बैठकमें नृत्य करते हुए-से पंखयुक्त साठ तीखे बाणोंद्वारा भरतवंशी पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तस्यायसीं महाशक्तिं चिक्षेपाथ पितामहः ।
हेमचित्रां महावेगां नागकन्योपमां शुभाम् ॥ ३० ॥

पितामहने सात्यकिपर लोहेकी बनी हुई एक विशाल शक्ति चलायी, जो सुवर्णजटित, अत्यन्त वेगशालिनी तथा सर्पिणीके समान आकारवाली एवं सुन्दर थी ॥ ३० ॥

तामापतन्तीं सहसा मृत्युकल्पां सुदुर्जयाम् ।
व्यंसयामास वार्ष्णेयो लाघवेन महायशाः ॥ ३१ ॥

उस अत्यन्त दुर्जय मृत्युस्वरूपा शक्तिको सहसा आती देख महायशस्वी सात्यकिने अपनी फुर्तीके कारण उसको असफल कर दिया ॥ ३१ ॥

अनासाद्य तु वार्ष्णेयं शक्तिः परमदारुणा ।
न्यपतद् धरणीपृष्ठे महोल्केव महाप्रभा ॥ ३२ ॥

वह परम भयंकर शक्ति सात्यकितक न पहुँचकर अत्यन्त तेजस्विनी बड़ी भारी उल्काके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥३२॥

वार्ष्णेयस्तु ततो राजन् स्वां शक्तिं कनकप्रभाम् ।
वेगवद् गृह्य चिक्षेप पितामहरथं प्रति ॥ ३३ ॥

राजन् ! तब सात्यकिने भी अपनी सुनहरी प्रभावाली शक्ति लेकर उसे भीष्मके रथपर बड़े वेगसे चलाया ॥ ३३ ॥

वार्ष्णेयभुजवेगेन प्रणुन्ना सा महाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन कालरात्रिर्यथा नरम् ॥ ३४ ॥

उस महासमरमें सात्यकिकी भुजाओंके वेगसे चलायी हुई वह शक्ति अत्यन्त वेगपूर्वक भीष्मकी ओर चली, मानो कालरात्रि मनुष्यकी ओर जा रही हो ॥ ३४ ॥

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारतः ।
क्षुरप्राभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यां सा व्यशीर्यत मेदिनीम्॥३५॥

परंतु भरतवंशी भीष्मने अपने अत्यन्त तीखे दो क्षुरप्रोंसे उस सहसा आती हुई शक्तिको दो जगहसे काट दिया । वह छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः प्रहसञ्छत्रुकर्शनः॥ ३६ ॥

शक्तिको काटकर हँसते हुए शत्रुसूदन गङ्गानन्दन भीष्मने कुपित हो सात्यकिकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ३६ ॥

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
परिवव्रू रणे भीष्मं माधवत्राणकारणात् ॥ ३७ ॥

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र ! उस समय मधुवंशी सात्यकिको बचानेके लिये पाण्डवोंने रथ, घोड़े और हाथियों-की सेनाके साथ आकर युद्धभूमिमें भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३७ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् युद्धमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कौरवों तथा पाण्डवोंमें परस्पर घोर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि वार्ष्णेययुद्धे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिका युद्धविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये आदेश, युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवके द्वारा शकुनिकी घुड़सवार-सेनाकी पराजय तथा शल्यके साथ उन सबका युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मं रणे क्रुद्धं पाण्डवैरभिसंवृतम् ।
यथा मेघैर्महाराज तपान्ते दिवि भास्करम् ॥ १ ॥
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमभाषत ।

संजय कहते हैं—महाराज ! ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें (वर्षारम्भ होनेपर) जैसे मेघ आकाशमें सूर्यदेवको ढक लेते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने युद्धभूमिमें क्रुद्ध हुए भीष्मको सब ओरसे घेर लिया है। यह देखकर आपके पुत्र दुर्योधनने दुःशासनसे कहा— ॥ १½ ॥

एष शूरो महेष्वासो भीष्मः शूरनिषूदनः ॥ २ ॥
छादितः पाण्डवैः शूरैः समन्ताद् भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! ये शूरवीरोंका नाश करनेवाले महाधनुर्धर शौर्यसम्पन्न भीष्म पराक्रमी पाण्डवोंद्वारा चारों ओरसे घेर लिये गये हैं ॥ २½ ॥

तस्य कार्यं त्वया वीर रक्षणं सुमहात्मनः ॥ ३ ॥
रक्ष्यमाणो हि समरे भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
निहन्यात् समरे यत्तान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह ॥ ४ ॥

'वीर ! तुम्हें उन महात्मा भीष्मकी रक्षा करनी चाहिये। युद्धमें सुरक्षित रहनेपर हमारे पितामह भीष्म समराङ्गणमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले पाण्डवोंसहित पाञ्चालोंका संहार कर डालेंगे ॥ ३-४ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
गोप्ता ह्येष महेष्वासो भीष्मोऽस्माकं महाव्रतः ॥ ५ ॥

'अतः इस अवसरपर मैं भीष्मजीकी रक्षाको ही प्रधान कार्य समझता हूँ; क्योंकि ये महाव्रती महाधनुर्धर भीष्म हमलोगोंके रक्षक हैं ॥ ५ ॥

स भवान् सर्वसैन्येन परिवार्य पितामहम् ।
समरे कर्म कुर्वाणं दुष्करं परिरक्षतु ॥ ६ ॥

'अतः तुम सम्पूर्ण सेनाके साथ समरभूमिमें दुष्कर कर्म करनेवाले पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करो' ॥ ६ ॥

स एवमुक्तः समरे पुत्रो दुःशासनस्तव ।
परिवार्य स्थितो भीष्मं सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥
(पालयामास महता यत्नेन च सुसंयतः ।)

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुःशासन समरभूमिमें अपनी विशाल सेनाके साथ जा भीष्मको सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया और बड़े यत्नसे सावधान रहकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ७ ॥

ततः शतसहस्राणां हयानां सुबलात्मजः ।
विमलप्रासहस्तानामृष्टितोमरधारिणाम् ॥ ८ ॥
दर्पितानां सुवेशानां बलस्थानां पताकिनाम् ।
शिक्षितैर्युद्धकुशलैरुपेतानां नरोत्तमैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि एक लाख घुड़सवारोंकी सेनाके साथ युद्धके लिये आ पहुँचा। वे सभी सैनिक अपने हाथोंमें चमकते हुए प्रास, ऋष्टि और तोमर लिये हुए थे। सबको अपने शौर्यका अभिमान था। सभी बलवान्, सुन्दर वेशभूषासे सुसज्जित और ध्वजा-पताकासे सुशोभित थे। अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाये हुए युद्धकुशल श्रेष्ठ पैदल सिपाहियोंकी भी बहुत बड़ी संख्या उन घुड़सवारोंके साथ थी॥

(एवं बहुसहस्रैश्च योधानां युद्धशालिनाम् ।
संवृतः शकुनिस्तस्थौ युद्धायैव सुदंशितः ॥)

इस प्रकार युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले कई हजार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि कवच धारण करके युद्धके लिये ही वहाँ खड़ा हो गया ॥

नकुलं सहदेवं च धर्मराजं च पाण्डवम् ।
न्यवारयन्नरश्रेष्ठान् परिवार्य समन्ततः ॥ १० ॥

राजन्! शकुनि नकुल, सहदेव तथा धर्मराज युधिष्ठिर—इन तीनों श्रेष्ठ पुरुषोंको सब ओरसे घेरकर इन्हें आगे बढ़नेसे रोकने लगा ॥ १० ॥

ततो दुर्योधनो राजा शूराणां हयसादिनाम्।
अयुतं प्रेषयामास पाण्डवानां निवारणे ॥ ११ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधनने पाण्डवोंकी प्रगतिको रोकनेके लिये दस हजार घुड़सवार सैनिक और भेजे ॥ ११ ॥

तैः प्रविष्टैर्महावेगैर्गरुत्मद्भिरिवाहवे ।
(शुशुभे स महातेजाः शकुनिः सुबलात्मजः।
तैरश्वैः सुमहावेगैर्मरुद्भिरिव वासवः ॥)

गरुड़के समान अत्यन्त वेगशाली वे अश्व रणभूमिमें यथास्थान पहुँच गये । जैसे मरुद्गणोंसे महातेजस्वी इन्द्रकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन अत्यन्त वेगशाली अश्वोंके द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सुबलपुत्र शकुनि सुशोभित होने लगा॥

खुराहता धरा राजंश्चकम्पे च ननाद च ॥ १२ ॥

राजन्! उन घोड़ोंकी टापसे आहत होकर यह पृथ्वी काँपने और भयंकर शब्द करने लगी ॥ १२ ॥

खुरशब्दश्च सुमहान् वाजिनां शुश्रुवे तदा।
महावंशवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ॥ १३ ॥

उस समय घोड़ोंकी टापोंका महान् शब्द सब ओर उसी प्रकार सुनायी देने लगा, मानो पर्वतपर जलते हुए बड़े-बड़े बाँसोंके जंगलमें उनके पोरोंके फटनेका शब्द हो रहा हो॥१३॥

उत्पतद्भिश्च तैस्तत्र समुद्भूतं महद् रजः।
दिवाकररथं प्राप्य छादयामास भास्करम् ॥ १४ ॥

वहाँ घोड़ोंके उछलने-कूदनेसे जो बड़े जोरकी धूलि ऊपरको उठी, उसने मानो सूर्यके रथके समीप पहुँचकर उन्हें आच्छादित कर दिया ॥ १४ ॥

वेगवद्भिर्हयैस्तैस्तु क्षोभिता पाण्डवी चमूः।
निपतद्भिर्महावेगैर्हंसैरिव महत् सरः ॥ १५ ॥

उन वेगशाली अश्वोंने पाण्डव-सेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध कर दिया, जैसे महान् वेगसे उड़नेवाले हंस किसी विशाल जलाशयमें पड़कर उसे मथ डालते हैं ॥ १५ ॥

(तुरगैर्वायुवेगैश्च तत् सैन्यं व्याकुलीकृतम् ।)
हेषतां चैव शब्देन न प्राज्ञायत किञ्चन।

वायुके समान वेगवाले उन अश्वोंने पाण्डव-सेनाको व्याकुल कर दिया । उनके हिनहिनानेकी आवाजसे दबकर दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ॥ १५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १६ ॥
प्रत्यघ्नंस्तरसा वेगं समरे हयसादिनाम्।
उद्वृत्तस्य महाराज प्रावृट्कालेऽतिपूर्यतः ॥ १७ ॥
पौर्णमास्यामम्बुवेगं यथा वेला महोदधेः।

महाराज! तब राजा युधिष्ठिर तथा पाण्डुपुत्र माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवने समरभूमिमें उन घुड़सवारोंका वेग नष्ट कर दिया। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाऋतुमें अधिक जलसे परिपूर्ण होकर मर्यादा तोड़नेवाले समुद्रके पूर्णिमा तिथिमें बढ़े हुए वेगको तटकी भूमि रोक देती है॥ १६-१७½ ॥

ततस्ते रथिनो राजञ्छरैः संनतपर्वभिः ॥ १८ ॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि कायेभ्यो हयसादिनाम्।

राजन्! तत्पश्चात् वे रथी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा घुड़सवारोंके मस्तक काटने लगे ॥ १८½ ॥

ते निपेतुर्महाराज निहता दृढधन्विभिः ॥ १९ ॥
नागैरिव महानागा यथावद् गिरिगह्वरे ।

महाराज! उन सुदृढ़ धनुर्धरोंद्वारा मारे गये वे घुड़सवार रणभूमिमें उसी प्रकार गिरते थे, जैसे पर्वतोंकी कन्दरामें बड़े-बड़े हाथी हाथियोंसे ही मारे जाकर गिरते हैं ॥ १९½ ॥

तेऽपि प्रासैः सुनिशितैः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २० ॥
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि विचरन्तो दिशो दश ।

वे घुड़सवार भी दसों दिशाओंमें विचरते हुए झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणों तथा प्रासोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंके मस्तक काट गिराते थे ॥ २०½ ॥

अभ्याहता हयारोहा ऋष्टिभिर्भरतर्षभ ॥ २१ ॥
अत्यजन्नुत्तमाङ्गानि फलानीव महाद्रुमाः ।

भरतश्रेष्ठ ! ऋष्टियोंद्वारा मारे गये घुड़सवार अपने मस्तकोंको उसी प्रकार गिराते थे, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष अपने पके हुए फलोंको गिराते हैं ॥ २१½ ॥

ससादिनो हया राजंस्तत्र तत्र निषूदिताः ॥ २२ ॥
पतिताः पात्यमानाश्च प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

राजन्! सवारोंसहित वहाँ मारे गये बहुत-से घोड़े सब ओर गिरे और गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २२½ ॥

वध्यमाना हयाश्चैव प्राद्रवन्त भयार्दिताः ॥ २३ ॥
यथा सिंहं समासाद्य मृगाः प्राणपरायणाः।

जैसे सिंहका सामना पड़ जानेपर मृग भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये भागते हैं, उसी प्रकार मारे जाते हुए घोड़े भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे ॥२३½॥

पाण्डवाश्च महाराज जित्वा शत्रून् महामृधे ॥ २४ ॥
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च ताडयामासुराहवे ।

महाराज ! पाण्डव उस महासमरमें शत्रुओंको जीतकर शङ्ख फूँकने और नगाड़े पीटने लगे ॥ २४½ ॥

ततो दुर्योधनो दीनो दृष्ट्वा सैन्यं पराजितम् ॥ २५ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठ मद्रराजमिदं वचः ।

भरतश्रेष्ठ ! तब अपनी सेनाको पराजित देख दुर्योधनने दीन होकर मद्रराज शल्यसे इस प्रकार कहा—॥ २५½

एष पाण्डुसुतो ज्येष्ठो यमाभ्यां सहितो रणे ॥ २६ ॥
पश्यतां वो महाबाहो सेनां द्रावयति प्रभो ।
तं वारय महाबाहो वेलेव मकरालयम् ॥ २७ ॥
त्वं हि संश्रूयसेऽत्यर्थमसह्यबलविक्रमः ।

'महाबाहो ! ये ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर नकुल और सहदेवको साथ लेकर रणभूमिमें आपलोगोंके देखते-देखते मेरी सेनाको खदेड़ रहे हैं। प्रभो ! महाबाहो ! जैसे तटप्रान्त समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकता है, उसी प्रकार आप भी युधिष्ठिरको आगे बढ़नेसे रोकिये; क्योंकि आपका बल और पराक्रम अत्यन्त असह्य सुना जाता है' ॥ २६-२७½ ॥

पुत्रस्य तव तद् वाक्यं श्रुत्वा शल्यः प्रतापवान् ॥ २८ ॥
स ययौ रथवंशेन यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

राजन् ! आपके पुत्रकी यह बात सुनकर प्रतापी राजा शल्य रथसमूहके साथ उसी स्थानपर गये, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ २८½ ॥

तदापतद् वै सहसा शल्यस्य सुमहद् बलम् ॥ २९ ॥
महौघवेगं समरे वारयामास पाण्डवः ।
मद्रराजं च समरे धर्मराजो महारथः ॥ ३० ॥

उस समय सहसा अपनी ओर आती हुई राजा शल्यकी उस विशाल वाहिनी तथा स्वयं मद्रराजको भी पाण्डुपुत्र महारथी धर्मराज युधिष्ठिरने महान् जल-प्रवाहके समान समर-भूमिमें रोक दिया ॥ २९-३० ॥

दशभिः सायकैस्तूर्णमाजघान स्तनान्तरे ।
नकुलः सहदेवश्च तं सप्तभिरजिह्मगैः ॥ ३१ ॥

उन्होंने शल्यकी छातीमें तुरंत ही दस बाण मारे तथा नकुल और सहदेवने भी सीधे जानेवाले सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३१ ॥

मद्रराजोऽपि तान् सर्वानाजघान त्रिभिस्त्रिभिः।
युधिष्ठिरं पुनः षष्ट्या विव्याध निशितैः शरैः ॥३२ ॥

तब मद्रराज शल्यने भी उनको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया। फिर युधिष्ठिरको उन्होंने साठ तीखे बाण मारे ॥

माद्रीपुत्रौ च सम्भ्रान्तौ द्वाभ्यां द्वाभ्यामताडयत्।
(पुनः स बहुभिर्बाणैराजघान युधिष्ठिरम् ।)

इसके बाद दो-दो बाणोंसे उन्होंने उत्तम कुलमें उत्पन्न माद्रीकुमारोंको घायल किया तथा अनेक बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको भी पुनः चोट पहुँचायी ॥ ३२½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्दृष्ट्वा राजानमाहवे ॥३३॥
मद्रराजरथं प्राप्तं मृत्योरास्यगतं यथा ।
अभ्यपद्यत संग्रामे युधिष्ठिरममित्रजित् ॥ ३४ ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें राजा युधिष्ठिरको मृत्युके मुखमें पड़े हुएके समान मद्रराजके रथके समीप पहुँचा हुआ देखकर युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥

(आपतन्नेव भीमस्तु मद्रराजमताडयत् ।
सर्वपारशवैस्तीक्ष्णैर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥
ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्येन महता वृतौ ।
राजानमभ्यपद्येतामञ्जसा शरवर्षिणौ ॥)

भीमसेनने आते ही पूर्णतः लोहेके बने हुए और मर्मस्थानों-को विदीर्ण करनेमें समर्थ तीखे नाराचोंसे मद्रराज शल्यको गहरी चोट पहुँचायी । तब भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी विशाल सेनाके साथ अनायास ही बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ राजा शल्यकी रक्षाके लिये आ पहुँचे ॥

ततो युद्धं महाघोरं प्रावर्तत सुदारुणम् ।
अपरां दिशमास्थाय पतमाने दिवाकरे ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जब सूर्यदेव पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर अस्ताचलको जा रहे थे, उसी समय दोनों सेनाओंमें अत्यन्त दारुण महाघोर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा पराजित पाण्डवसेनाका पलायन और भीष्मको मारनेके लिये उद्यत हुए श्रीकृष्णको अर्जुनका रोकना

संजय उवाच

ततः पिता तव क्रुद्धो निशितैः सायकोत्तमैः ।
आजघान रणे पार्थान् सहसेनान् समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब आपके ताऊ देवव्रत कुपित हो रणभूमिमें अपने तीखे एवं श्रेष्ठ सायकोंद्वारा सेना-सहित कुन्तीकुमारोंको सब ओरसे घायल करने लगे ॥ १ ॥

भीमं द्वादशभिर्विद्ध्वा सात्यकिं नवभिः शरैः ।
नकुलं च त्रिभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ॥२॥

युधिष्ठिरं द्वादशभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

उन्होंने भीमसेनको बारह, सात्यकिको नौ, नकुलको तीन और सहदेवको सात बाणोंसे घायल करके राजा युधिष्ठिरकी दोनों भुजाओं और छातीमें बारह बाण मारे ॥ २½ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा ननाद सुमहाबलः ॥ ३ ॥
तं द्वादशाख्यैर्नकुलो माधवश्च त्रिभिः शरैः ।
धृष्टद्युम्नश्च सप्तत्या भीमसेनश्च सप्तभिः ॥ ४ ॥
युधिष्ठिरो द्वादशभिः प्रत्यविध्यत् पितामहम् ।

तदनन्तर धृष्टद्युम्नको भी अपने बाणोंद्वारा बींधकर महाबली भीष्मने सिंहके समान गर्जना की । तब नकुलने बारह, सात्यकिने तीन, धृष्टद्युम्नने सत्तर, भीमसेनने सात तथा युधिष्ठिरने बारह बाण मारकर पितामह भीष्मको घायल कर दिया ॥ ३–४½ ॥

द्रोणस्तु सात्यकिं विद्ध्वा भीमसेनमविध्यत ॥ ५ ॥
एकैकं पञ्चभिर्बाणैर्यमदण्डोपमैः शितैः ।

द्रोणाचार्यने यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे पाँच-पाँच बाणोंद्वारा सात्यकि और भीमसेनमेंसे प्रत्येकको घायल किया । पहले सात्यकिको चोट पहुँचाकर फिर भीमसेनपर गहरा आघात किया ॥ ५½ ॥

तौ च तं प्रत्यविध्येतां त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥ ६ ॥
तोत्रैरिव महानागं द्रोणं ब्राह्मणपुङ्गवम् ।

तब उन दोनोंने भी अङ्कुशोंसे महान् गजराजके समान सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ॥ ६½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः॥७॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
संग्रामे नाजहुर्भीष्मं वध्यमानाः शितैः शरैः ॥ ८ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि और वसाति देशके योद्धा शत्रुओंके तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी संग्रामभूमिमें भीष्मको छोड़कर नहीं भागे ॥ ७-८ ॥

तथैवान्ये महीपाला नानादेशसमागताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त विविधायुधपाणयः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार विभिन्न देशोंसे आये हुए अन्य भूपाल भी हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये पाण्डवोंपर आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् परिवव्रुः पितामहम् ।
स समन्तात् परिवृतो रथौघैरपराजितः ॥ १० ॥
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः प्रजज्वाल दहन् परान् ।

राजन् ! पाण्डवोंने भी पितामह भीष्मको घेर लिया । चारों ओरसे रथसमूहोंद्वारा घिरे हुए अपराजित वीर भीष्म गहन वनमें लगायी हुई आगके समान शत्रुओंको दग्ध करते हुए प्रज्वलित हो उठे ॥ १०½ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ॥ ११ ॥
शरस्फुलिङ्गो भीष्माग्निर्ददाह क्षत्रियर्षभान् ।

रथ ही उनके लिये अग्निशालाके समान था, धनुष ज्वालाओंके समान प्रकाशित होता था, खड्ग, शक्ति और गदा आदि अस्त्र-शस्त्र समिधाका काम कर रहे थे । बाण चिनगारियोंके समान थे । इस प्रकार भीष्मरूपी अग्नि वहाँ क्षत्रिय-शिरोमणियोंको दग्ध करने लगी ॥ ११½ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्गार्ध्रपक्षैः सुतेजनैः ॥ १२ ॥
कर्णिनालीकनाराचैश्छादयामास तद् बलम् ।
अपातयद् ध्वजांश्चैव रथिनश्च शितैः शरैः ॥ १३ ॥

उन्होंने स्वर्णभूषित गृध्र-पंखयुक्त तेज बाणों तथा कर्णी, नालीक और नाराचोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनाको आच्छादित कर दिया । तीखे बाणोंसे ध्वजोंको काट डाला और रथियोंको भी मार गिराया ॥ १२-१३ ॥

मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ।
निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे॥१४॥
अकरोत् स महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

ध्वजाएँ काटकर उन्होंने रथ-समूहोंको मुण्डित ताल-वनोंके समान कर दिया । राजन् ! युद्धस्थलमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीष्मने बहुत-से रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे रहित कर दिया ॥ १४½ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ १५ ॥
निशम्य सर्वभूतानि समकम्पन्त भारत ।
अमोघा ह्यपतन् बाणाः पितुस्ते भरतर्षभ ॥ १६ ॥

उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी । भारत ! उसे सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे । भरतश्रेष्ठ ! आपके ताऊ भीष्मके बाण कभी खाली नहीं जाते थे ॥ १५-१६ ॥

नासज्जन्त तनुत्रेषु भीष्मचापच्युताः शराः ।
हतवीरान् रथान् राजन् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ॥१७ ॥
अपश्याम महाराज ह्रियमाणान् रणाजिरे ।

राजन् ! भीष्मके धनुपसे छूटे हुए बाण कवचोंमें नहीं अटकते थे (उन्हें छिन्न-भिन्न करके भीतर घुस जाते थे) । महाराज !

हमने समराङ्गणमें ऐसे बहुत-से रथ देखे, जिनके रथी और सारथि तो मार दिये गये थे; परंतु वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए होनेके कारण वे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे ॥ १७½ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ १८ ॥
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।
अपरावर्तिनः सर्वे सुवर्णविकृतध्वजाः ॥ १९ ॥
संग्रामे भीष्ममासाद्य व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
निमग्नाः परलोकाय सवाजिरथकुञ्जराः॥ २० ॥

चेदि, काशि और करूष देशके चौदह हजार विख्यात महारथी थे । वे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर पाण्डवोंके लिये अपना शरीर निछावर कर चुके थे । उनमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखानेवाला नहीं था । उन सबकी ध्वजाएँ सोनेकी बनी हुई थीं । मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मजीके सामने पहुँचकर वे सब-के-सब महारथी युद्धरूपी समुद्रमें डूब गये । भीष्मजीने घोड़े, रथ और हाथियोंसहित उन सबको परलोकका पथिक बना दिया ॥ १८–२० ॥

भग्नाक्षोपस्करान् कांश्चिद् भग्नचक्रांश्च भारत ।
अपश्याम महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! हमने वहाँ सैकड़ों और हजारों ऐसे रथ देखे, जिनके धुरे आदि सामान टूट गये थे और पहियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ॥ २१ ॥

सवरूथै रथैर्भग्नै रथिभिश्च निपातितैः ।
शरैः सुकवचैश्छिन्नैः पट्टिशैश्च विशाम्पते ॥ २२ ॥
गदाभिर्भिन्दिपालैश्च निशितैश्च शिलीमुखैः ।
अनुकर्षैरुपासङ्गैश्चक्रैर्भग्नैश्च मारिष ॥ २३ ॥
बाहुभिः कार्मुकैः खड्गैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
तलत्रैरङ्गुलित्रैश्च ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ २४ ॥
चापैश्च बहुधा च्छिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।

माननीय प्रजानाथ ! वरूथोंसहित टूटे हुए रथ, मारे गये रथी, कटे हुए बाण, कवच, पट्टिश, गदा, भिन्दिपाल, तीखे सायक, छिन्न-भिन्न हुए अनुकर्ष, उपासंग, पहिये, कटी हुई बाँह, धनुष, खड्ग, कुण्डलोंसहित मस्तक, तलत्राण, अङ्गुलित्राण, गिराये गये ध्वज और अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए चाप—इन सबके द्वारा वहाँकी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥

हतारोहा गजा राजन् हयाश्च हतसादिनः ॥ २५ ॥
न्यपतन्त गतप्राणाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! जिनके सवार मार दिये गये थे, ऐसे हाथी और घोड़े सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें निष्प्राण होकर पड़े थे ॥ २५½ ॥

यतमानाश्च ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ २६ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

पाण्डव वीर बहुत प्रयत्न करनेपर भी भीष्मके बाणोंसे पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोक नहीं पा रहे थे ॥ २६½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ २७ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज ! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मजीके द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेनामें भगदड़ मच गयी थी । दो आदमी भी एक साथ नहीं भागते थे ॥ २७½ ॥

आविद्धरथनागाश्वं पतितध्वजसंकुलम् ॥ २८ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी । उसके रथ, हाथी और घोड़े बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे । ध्वजाएँ कटकर धराशायी हो गयी थीं ॥ २८½ ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ २९ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात् कृतः ।

उस भीषण मारकाटमें दैवसे प्रेरित होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्यारे मित्रको मार डाला ॥ २९½ ॥

विमुच्य कवचानन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३० ॥
प्रकीर्य केशान् धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके दूसरे सैनिक कवच उतारकर केश बिखेरे हुए सब ओर भागते दिखायी देते थे ॥ ३०½ ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथकूबरम् ॥ ३१ ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सारी सेना (सिंहसे डरी हुई) गौओंके समुदायकी भाँति घबराहटमें पड़ गयी थी । रथके कूबर उलट-पलट हो गये थे और समस्त सैनिक आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ३२ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस सेनामें भगदड़ पड़ी देख यादवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको रोककर कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—॥ ३२½ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यः काङ्क्षितस्तव ॥ ३३ ॥
प्रहरास्मिन् नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पार्थ ! तुम्हें जिस अवसरकी अभिलाषा और प्रतीक्षा थी, वह आ पहुँचा । पुरुषसिंह ! यदि तुम मोहसे मोहित नहीं हो रहे हो तो इन भीष्मपर प्रहार करो ॥ ३३½ ॥

यत् पुरा कथितं वीर राज्ञां तेषां समागमे ॥ ३४ ॥
विराटनगरे तात संजयस्य समीपतः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ॥ ३५ ॥
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संगरे ।

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्ममनुस्मृत्य युध्यस्व विगतज्वरः ।

'वीर ! तात ! पूर्वकालमें विराटनगरके भीतर जब सम्पूर्ण राजा एकत्र हुए थे, उनके सामने और संजयके समीप जो तुमने यह कहा था कि 'मैं युद्धमें, जो मेरा सामना करने आयेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण सैनिकोंको सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ।' शत्रुदमन कुन्तीनन्दन ! अपने उस कथनको सत्य कर दिखाओ । तुम क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करके सारी चिन्ताएँ छोड़कर युद्ध करो' ॥ ३४—३६½॥

इत्युक्तो वासुदेवेन तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ॥ ३७ ॥
अकाम इव बीभत्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने मुँह नीचे किये तिरछी दृष्टिसे देखते हुए अनिच्छुककी भाँति उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३७½ ॥

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम् ॥ ३८ ॥
दुःखानि वनवासे वा किं नु मे सुकृतं भवेत् ।

'प्रभो ! अवध्य महापुरुषोंका वध करके नरकसे भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवासमें रहकर कष्ट भोगूँ—इन दोनोंमें कौन मेरे लिये पुण्यदायक होगा ? ३८½।

चोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्ये वचनं तव ॥ ३९ ॥
पातयिष्यामि दुर्धर्षं भीष्मं कुरुपितामहम् ।

'अच्छा, जहाँ भीष्म हैं, उसी ओर घोड़ोंको बढ़ाइये । आज मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको मार गिराऊँगा' । ३९½।

स चाश्वान् रजतप्रख्यांश्चोदयामास माधवः॥ ४० ॥
यतो भीष्मस्ततो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ।

राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने चाँदीके समान श्वेत वर्णवाले घोड़ोंको उसी ओर हाँका, जहाँ अंशुमाली सूर्यके समान दुर्निरीक्ष्य भीष्म युद्ध कर रहे थे ॥ ४०½ ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ॥ ४१ ॥
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ।

महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनको भीष्मके साथ युद्ध करनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह भागती हुई विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ४१½ ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठः सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ४२ ॥
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ।

तब बारंबार सिंहनाद करते हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने धनंजयके रथपर शीघ्र ही बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥४२½॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ॥ ४३ ॥
शरवर्षेण महता न प्राज्ञायत भारत ।

भारत ! एक ही क्षणमें बाणोंकी उस भारी वर्षाके कारण सारथि और घोड़ोंसहित उनका वह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता था ॥ ४३½ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्वरः ॥ ४४ ॥
चोदयामास तानश्वान् वितुन्नान् भीष्मसायकैः ।

भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी घबराहटके धैर्य धारणकर भीष्मके सायकोंसे क्षत-विक्षत हुए उन घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँक रहे थे ॥ ४४½ ॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ॥ ४५ ॥
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा शितैः शरैः ।

तब कुन्तीकुमारने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीखे बाणोंद्वारा भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ४५½ ॥

स छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ॥ ४६ ॥
निमेषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ।

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुकुलरत्न भीष्मने पुनः दूसरा धनुष हाथमें ले पलक मारते-मारते उसके ऊपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ४६½ ॥

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ॥ ४७ ॥
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ।

तदनन्तर मेघोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस धनुषको उन्होंने दोनों हाथोंसे खींचा । इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट दिया ॥ ४७½ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ॥ ४८ ॥
गाङ्गेयस्त्वब्रवीत् पार्थं धन्विश्रेष्ठमरिंदम ।

शत्रुदमन नरेश ! उस समय शान्तनुकुमार गङ्गानन्दन भीष्मने धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनकी उस फुर्तीके लिये उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस प्रकार कहा—॥४८½॥

साधु साधु महाबाहो साधु कुन्तीसुतेति च ॥ ४९ ॥
समाभाष्यैवमपरं प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
मुमोच समरे भीष्मः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५० ॥

'महाबाहो ! कुन्तीकुमार ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, तुम्हें साधुवाद ।' ऐसा कहकर भीष्मने पुनः दूसरा सुन्दर धनुष लेकर समराङ्गणमें अर्जुनके रथकी ओर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४९-५० ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलानि निदर्शयन् ॥५१॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंके हाँकनेकी कलामें अपनी अद्भुत शक्ति दिखायी । वे भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते जा रहे थे ॥ ५१ ॥

(सारथ्यं निपुणं कुर्वन् प्रत्यदृश्यत संयुगे ।
भीष्मस्तावत् सुसंक्रुद्धः पुनर्बाणान् मुमोच ह ॥

पार्थाय युधि राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत्।
अर्जुनस्तु सुसंक्रुद्धः पितामहमरिंदमः।
अवर्षद् बाणवर्षेण योद्धुं ह्यभिमुखे स्थितम् ॥
तावुभौ युधि दुर्धर्षौ युयुधाते परस्परम्।)

युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्ण कुशलतापूर्वक सारथ्यकर्म करते दिखायी दिये। राजेन्द्र ! भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धमें पार्थके ऊपर बारंबार बाणोंकी वर्षा करते रहे। यह अद्भुत-सी बात थी। फिर शत्रुदमन अर्जुनने भी क्रोधमें भरकर युद्धके लिये अपने सामने खड़े हुए भीष्मपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। वे दोनों रण-दुर्जय वीर एक दूसरेसे युद्ध कर रहे थे ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणोल्लिखिताङ्कितौ ॥ ५२ ॥

उस समय पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो सींगोंके आघातसे घायल हुए दो रोषभरे साँड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५२ ॥

(भीष्मोऽतीव सुसंक्रुद्धः पृषत्कैरर्जुनं बलात्।
जघान समरे मूर्ध्नि सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥)

तत्पश्चात् भीष्मने भी रणक्षेत्रमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक अर्जुनके मस्तकपर आघात किया। उसके बाद वे बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे ॥

वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य पार्थस्य मृदुयुद्धताम्।
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ॥ ५३ ॥
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः।
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ॥५४॥
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे भीष्मके प्रति कोमलता दिखा रहे हैं और उधर भीष्म युद्धमें सेनाके मध्यभागमें खड़े हो निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हुए दोपहरके सूर्यके समान तप रहे हैं। पाण्डव-सेनाके चुने हुए उत्तमोत्तम वीरोंको मार रहे हैं और युधिष्ठिर-सेनामें प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहे हैं ॥ ५३-५४½ ॥

नामृष्यत महाबाहुर्माधवः परवीरहा ॥ ५५ ॥
उत्सृज्य रजतप्रख्यान् हयान् पार्थस्य मारिष।
वासुदेवस्ततो योगी प्रचस्कन्द महारथात् ॥ ५६ ॥
अभिदुद्राव भीष्मं स भुजप्रहरणो बली।
प्रतोदपाणिस्तेजस्वी सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥ ५७ ॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महाबाहु माधवको यह सहन नहीं हुआ। आर्य! वे योगेश्वर भगवान् वासुदेव चाँदीके समान सफेद रंगवाले अर्जुनके घोड़ोंको छोड़कर उस विशाल रथसे कूद पड़े और केवल भुजाओंका ही आयुध लिये हाथोंमें चाबुक उठाये बारंबार सिंहनाद करते हुए बलवान् एवं तेजस्वी श्रीहरि भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ५५–५७॥

दारयन्निव पद्भ्यां स जगतीं जगदीश्वरः।
क्रोधताम्रेक्षणः कृष्णो जिघांसुरमितद्युतिः ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधसे लाल आँखें करके भीष्मको मार डालनेकी इच्छा लेकर पैरोंकी धमकसे वसुधाको विदीर्ण-सी कर रहे थे ॥५८॥

ग्रसन्तमिव चेतांसि तावकानां महाहवे।
दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे भीष्मायोद्यतमन्तिके ॥ ५९ ॥
हतो भीष्मो हतो भीष्मस्तत्र तत्र वचो महत्।
अश्रूयत महाराज वासुदेवभयात् तदा ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण उस महायुद्धमें आपके पुत्रों और सैनिकोंकी चेतनाको मानो अपना ग्रास बनाये ले रहे थे। महाराज ! उस मारकाटमें माधवको समीप आकर भीष्मके वधके लिये उद्यत हुआ देख उस समय उन वासुदेवके भयसे चारों ओर यह महान् कोलाहल सुनायी देने लगा कि 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये' ॥ ५९-६० ॥

पीतकौशेयसंवीतो मणिश्यामो जनार्दनः।
शुशुभे विद्रवन् भीष्मं विद्युन्माली यथाम्बुदः ॥ ६१ ॥

रेशमी पीताम्बर धारण किये इन्द्रनीलमणिके समान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भीष्मकी ओर दौड़ते समय ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो विद्युन्मालासे अलंकृत श्याममेघ जा रहा हो।६१।

स सिंह इव मातङ्गं यूथर्षभ इवर्षभम्।
अभिदुद्राव वेगेन विनदन् यादवर्षभः ॥ ६२ ॥

यादवशिरोमणि बारंबार गर्जना करते हुए भीष्मके ऊपर उसी प्रकार वेगसे धावा कर रहे थे, जैसे सिंह गजराजपर और गोयूथका स्वामी साँड़ दूसरे साँड़पर आक्रमण करता है ॥ ६२ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पुण्डरीकाक्षमाहवे।
असम्भ्रमं रणे भीष्मो विचकर्ष महद् धनुः ॥ ६३ ॥

उस महासमरमें कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख भीष्म उस रणक्षेत्रमें तनिक भी भयभीत न होकर अपने विशाल धनुषको खींचने लगे ॥ ६३ ॥

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ६४ ॥

साथ ही व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके बोले—'आइये, आइये, कमलनयन ! देवदेव ! आपको नमस्कार है ॥ ६४ ॥

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥ ६५ ॥

श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।

'सात्वतशिरोमणे ! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये । देव ! निष्पाप श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा ।६५½।

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।

'गोविन्द ! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया । अनघ ! मैं आपका दास हूँ । आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझपर प्रहार कीजिये' ॥ ६६½ ॥

अन्वगेव ततः पार्थः समभिद्रुत्य केशवम् ॥ ६७ ॥
निजग्राह महाबाहुर्बाहुभ्यां परिगृह्य वै ।

इधर महाबाहु अर्जुन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें पकड़कर काबूमें कर लिया ॥ ६७½ ॥

निगृह्यमाणः पार्थेन कृष्णो राजीवलोचनः ॥ ६८ ॥
जगामैवैनमादाय वेगेन पुरुषोत्तमः ।

अर्जुनके द्वारा पकड़े जानेपर भी कमलनयन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें लिये-दिये ही वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ ६८½ ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलाच्चरणौ परवीरहा ॥ ६९ ॥
निजग्राह हृषीकेशं कथंचिद् दशमे पदे ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने बलपूर्वक भगवान्‌के चरणोंको पकड़ लिया और इस प्रकार दसवें कदमतक जाते-जाते वे किसी प्रकार हृषीकेशको रोकनेमें सफल हो सके।६९½।

तत एवमुवाचार्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणम् ॥ ७० ॥
निःश्वसन्तं यथा नागमर्जुनः प्रणयात् सखा ।
निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ॥ ७१ ॥

उस समय श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे व्याप्त हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे । उनके सखा अर्जुन आर्तभावसे प्रेमपूर्वक बोले—'महाबाहो ! लौटिये, अपनी प्रतिज्ञाको झूटी न कीजिये ॥ ७०-७१ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ॥७२॥

'केशव ! आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' उस वचनकी रक्षा कीजिये । अन्यथा माधव ! लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे ॥ ७२ ॥

ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ॥ ७३ ॥

'केशव ! यह सारा भार मुझपर है । मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और सुकृतकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पितामह भीष्मका वध करूँगा ॥ ७३ ॥

अन्तं यथा गमिष्यामि शत्रूणां शत्रुसूदन ।
अद्यैव पश्य दुर्धर्षं पात्यमानं महारथम् ॥ ७४ ॥
तारापतिमिवापूर्णमन्तकाले यदृच्छया ।

'शत्रुसूदन ! मैं सब शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा। देखिये, आज ही मैं पूर्ण चन्द्रमाके समान दुर्जय वीर महारथी भीष्मको उनके अन्तिम समयमें इच्छानुसार मार गिराता हूँ' ।७४½।

माधवस्तु वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ॥ ७५ ॥
(अभवत् परमप्रीतो ज्ञात्वा पार्थस्य विक्रमम् ।)
न किंचिदुक्त्वा सक्रोध आरुरोह रथं पुनः ।

महामना अर्जुनका यह वचन सुनकर उनके पराक्रमको जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऊपरसे कुछ भी न बोलकर पुनः क्रोधपूर्वक ही रथपर जा बैठे ॥ ७५½ ॥

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ भीष्मः शान्तनवः पुनः ॥ ७६ ॥
ववर्ष शरवर्षेण मेघो वृष्ट्या यथाचलौ ।

पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथपर बैठे देख शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा गिरा रहा हो।७६½।

प्राणानादत्त योधानां पिता देवव्रतस्तव ॥ ७७ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तेजांसि शिशिरात्यये ।

राजन् ! आपके ताऊ देवव्रत उसी प्रकार पाण्डव योद्धाओंके प्राण लेने लगे, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य अपनी किरणोंद्वारा सबके तेज हर लेते हैं ॥ ७७½ ॥

यथा कुरूणां सैन्यानि बभञ्जुर्युधि पाण्डवाः ॥ ७८ ॥
तथा पाण्डवसैन्यानि बभञ्ज युधि ते पिता ।

महाराज ! जैसे पाण्डवोंने युद्धमें कौरव-सेनाओंको खदेड़ा था, उसी प्रकार आपके ताऊ भीष्मने भी पाण्डव-सेनाओंको मार भगाया ॥ ७८½ ॥

हतविद्रुतसैन्यास्तु निरुत्साहा विचेतसः ॥ ७९ ॥
निरीक्षितुं न शेकुस्ते भीष्ममप्रतिमं रणे ।
मध्यंगतमिवादित्यं प्रतपन्तं स्वतेजसा ॥ ८० ॥

घायल होकर भागे हुए सैनिक उत्साहशून्य और अचेत हो रहे थे । वे रणक्षेत्रमें अनुपम वीर भीष्मजीकी ओर आँख उठाकर देख भी न सके, ठीक उसी तरह, जैसे दोपहरमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर कोई भी देख नहीं पाता ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण शतशोऽथ सहस्रशः ।
कुर्वाणं समरे कर्माण्यतिमानुषविक्रमम् ॥ ८१ ॥
वीक्षांचक्रुर्महाराज पाण्डवा भयपीडिताः ।

महाराज ! भीष्मके द्वारा मारे जाते हुए सैकड़ों और हजारों पाण्डव सैनिक समरमें अलौकिक पराक्रम प्रकट करनेवाले भीष्मको भयसे पीड़ित होकर देख रहे थे ॥८१½॥

तथा पाण्डवसैन्यानि द्राव्यमाणानि भारत ॥ ८२ ॥
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः पङ्कगता इव ।
पिपीलिका इव क्षुण्णा दुर्बला बलिना रणे ॥ ८३ ॥

भारत ! भागती हुई पाण्डव-सेनाएँ कीचड़में फँसी हुई गायोंकी भाँति किसीको अपना रक्षक नहीं पाती थीं। समर-भूमिमें बलवान् भीष्मने उन दुर्बल सैनिकोंको चींटियोंकी भाँति मसल डाला ॥ ८२-८३ ॥

महारथं भारत दुष्प्रकम्पं
शरौघिणं प्रतपन्तं नरेन्द्रान् ।
भीष्मं न शेकुः प्रतिवीक्षितुं ते
शरार्चिषं सूर्यमिवातपन्तम् ॥ ८४ ॥

भारत ! महारथी भीष्म अविचलभावसे खड़े होकर बाणोंकी वर्षा करते और पाण्डव-पक्षीय नरेशोंको संताप देते थे। बाणरूपी किरणावलियोंसे सुशोभित और सूर्यकी भाँति तपते हुए भीष्मकी ओर वे देख भी नहीं पाते थे ॥ ८४ ॥

विमृद्नतस्तस्य तु पाण्डुसेना-
मस्तं जगामाथ सहस्ररश्मिः ।
ततो बलानां श्रमकर्शितानां
मनोऽवहारं प्रति सम्बभूव ॥ ८५ ॥

भीष्म पाण्डव-सेनाको जब इस प्रकार रौंद रहे थे, उसी समय सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये। उस समय परिश्रमसे थकी हुई समस्त सेनाओंके मनमें यही इच्छा हो रही थी कि अब युद्ध बंद हो जाय ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसयुद्धसमाप्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धकी समाप्तिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धकी समाप्ति, रातमें पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंका भीष्मसे मिलकर उनके वधका उपाय जानना

संजय उवाच

युध्यतामेव तेषां तु भास्करेऽस्तमुपागते ।
संध्या समभवद् घोरा नापश्याम ततो रणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंके युद्ध करते समय ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और भयंकर संध्याकाल आ गया। फिर हमलोगोंने युद्ध नहीं देखा ॥ १ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा संध्यां संदृश्य भारत ।
वध्यमानं च भीष्मेण त्यक्तास्त्रं भयविह्वलम् ॥ २ ॥
(निरुत्साहं बलं दृष्ट्वा पीडितं शरविक्षतम् ।)
स्वसैन्यं च परावृत्तं पलायनपरायणम् ।
भीष्मं च युधि संरब्धं पीडयन्तं महारथम् ॥ ३ ॥
सोमकांश्च जितान् दृष्ट्वा निरुत्साहान् महारथान् ।
(निशामुखं च सम्प्रेक्ष्य घोररूपं भयानकम् ।)
चिन्तयित्वा ततो राजा अवहारमरोचयत् ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने देखा कि संध्या हो गयी। भीष्मके द्वारा गहरी चोट खाकर मेरी सेनाने भयसे व्याकुल हो हथियार डाल दिया है। किसीमें लड़नेका उत्साह नहीं रह गया है। सारी सेना बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अत्यन्त पीड़ित हो गयी है। कितने ही सैनिक युद्धसे विमुख हो भागने लग गये हैं। उधर महारथी भीष्म क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें सबको पीड़ा दे रहे हैं। सोमकवंशी महारथी पराजित होकर अपना उत्साह खो बैठे हैं और घोररूप भयानक प्रदोषकाल आ पहुँचा है। इन सब बातोंपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने सेनाको युद्धसे लौटा लेना ही ठीक समझा ॥ २—४ ॥

(कथं जयेम भीष्मं वै महाबलपराक्रमम् ।
बुद्धिं स्वशिबिरं गन्तुं चक्रे राजा युधिष्ठिरः ॥)

महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीष्मको हम किस प्रकार जीत सकेंगे, यही सोचते हुए राजा युधिष्ठिरने अपने शिबिरमें जानेका विचार किया ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
तथैव तव सैन्यानामवहारो ह्यभूत् तदा ॥ ५ ॥

इसके बाद महाराज युधिष्ठिरने अपनी सेनाको पीछे लौटा लिया। इसी प्रकार आपकी सेना भी उस समय युद्धस्थलसे शिबिरकी ओर लौट चली ॥ ५ ॥

ततोऽवहारं सैन्यानां कृत्वा तत्र महारथाः ।
न्यविशन्त कुरुश्रेष्ठ संग्रामे क्षतविक्षताः ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार संग्राममें क्षत-विक्षत हुए वे सब महारथी सेनाको लौटाकर शिबिरमें विश्राम करने लगे ॥ ६ ॥

भीष्मस्य समरे कर्म चिन्तयानास्तु पाण्डवाः ।
नालभन्त तदा शान्तिं भीष्मबाणप्रपीडिताः ॥ ७ ॥

पाण्डव भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्हें समराङ्गणमें भीष्मके पराक्रमका चिन्तन करके तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ७ ॥

भीष्मोऽपि समरे जित्वा पाण्डवान् सहसृंजयान् ।
पूज्यमानस्तव सुतैर्वन्द्यमानश्च भारत ॥ ८ ॥

न्यविशत् कुरुभिः सार्धं हृष्टरूपैः समन्ततः ।

भारत ! भीष्म भी समरभूमिमें सृंजयों तथा पाण्डवोंको जीतकर आपके पुत्रोंद्वारा प्रशंसित और अभिवन्दित हो अत्यन्त हर्षमें भरे हुए कौरवोंके साथ शिविरमें गये ॥ ८½ ॥

ततो रात्रिः समभवत् सर्वभूतप्रमोहिनी ॥ ९ ॥
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।
सृंजयाश्च दुराधर्षा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण भूतोंको मोहमयी निद्रामें डालनेवाली रात्रि आ गयी । उस भयंकर रात्रिके आरम्भकालमें वृष्णि-वंशियोंसहित दुर्धर्ष सृंजय और पाण्डव गुप्तमन्त्रणाके लिये एक साथ बैठे ॥ ९-१० ॥

आत्मनिःश्रेयसं सर्वे प्राप्तकालं महाबलाः ।
मन्त्रयामासुरव्यग्रा मन्त्रनिश्चयकोविदाः ॥ ११ ॥

उस समय वे समस्त महाबली वीर समयानुसार अपनी भलाईके प्रश्नपर स्वस्थचित्तसे विचार करने लगे । वे सभी लोग मन्त्रणा करके किसी निश्चयपर पहुँच जानेमें कुशल थे ।११।

(हनिष्याम यथा भीष्मं जयेम पृथिवीमिमाम् ॥)
ततो युधिष्ठिरो राजा मन्त्रयित्वा चिरं नृप ।
वासुदेवं समुद्वीक्ष्य वचनं चेदमाददे ॥ १२ ॥

उनमें यह विचार होने लगा कि हम भीष्मको कैसे मार सकेंगे और किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय प्राप्त करेंगे । नरेश्वर ! उस समय राजा युधिष्ठिरने दीर्घकालतक गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १२ ॥

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
गजं नलवनानीव विमृद्नन्तं बलं मम ॥ १३ ॥

'श्रीकृष्ण ! देखिये, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेनाका उसी प्रकार विनाश कर रहे हैं, जैसे हाथी सरकंडोंके जंगलोंको रौंद डालते हैं ॥ १३ ॥

(मम माधव सैन्येषु वध्यमानेषु तेन वै ।
कथं योत्स्याम दुर्धर्षं श्रेयो मेऽत्र विधीयताम् ॥
त्वमेव गतिरस्माकं नान्यां गतिमुपास्महे ।
न युद्धं रोचते मह्यं भीष्मेण सह माधव ।
हन्ति भीष्मो महावीरो मम सैन्यं च संयुगे ॥)

'माधव ! इनके द्वारा जब हमारी सेनाएँ मारी जा रही हैं, उस अवस्थामें इन दुर्धर्ष वीर भीष्मके साथ हमलोग कैसे युद्ध करें ? यहाँ जिस प्रकार हमारा भला हो, वह उपाय कीजिये । माधव ! आप ही हमारे आश्रय हैं । हम दूसरे किसीका सहारा नहीं लेते । हमें भीष्मजीके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता है । इधर महावीर भीष्म युद्धस्थलमें हमारी सेनाका संहार करते चले जा रहे हैं ।

न चैवैनं महात्मानमुत्सहामो निरीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्येषु प्रवृद्धमिव पावकम् ॥ १४ ॥

'ये प्रज्वलित अग्निके समान बाणोंकी लपटोंसे हमारी सेनामें सबको चाटते (भस्म करते) जा रहे हैं, हमलोग इन महात्माकी ओर देख भी नहीं पा रहे हैं ॥ १४ ॥

यथा घोरो महानागस्तक्षको वै विषोल्बणः ।
तथा भीष्मो रणे क्रुद्धस्तीक्ष्णशस्त्रः प्रतापवान् ॥ १५ ॥
गृहीतचापः समरे प्रमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।

'जैसे महानाग तक्षक अपने प्रचण्ड विषके कारण भयंकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीष्म युद्धस्थलमें जब हाथमें धनुष लेकर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगते हैं, उस समय अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंके कारण बड़े भयानक जान पड़ते हैं ॥ १५½ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च देवराट् ॥ १६ ॥
वरुणः पाशभृच्चापि सगदो वा धनेश्वरः ।
न तु भीष्मः सुसंक्रुद्धः शक्यो जेतुं महाहवे ॥ १७ ॥

'समरभूमिमें क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेरको भी जीता जा सकता है; परंतु इस महासमरमें कुपित भीष्मको पराजित करना असम्भव है ॥ १६-१७ ॥

सोऽहमेवंगते कृष्ण निमग्नः शोकसागरे ।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य संयुगे ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण ! ऐसी स्थितिमें मैं अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण युद्धस्थलमें भीष्मको सामने देखकर शोकके समुद्रमें डूबा जा रहा हूँ ॥ १८ ॥

वनं यास्यामि दुर्धर्ष श्रेयो वै तत्र मे गतम् ।
न युद्धं रोचते कृष्ण हन्ति भीष्मो हि नः सदा ॥ १९ ॥

'दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण ! अब मैं वनको चला जाऊँगा । मेरे लिये वनमें जाना ही कल्याणकारी होगा । मुझे युद्ध अच्छा नहीं लग रहा है; क्योंकि उसमें भीष्म सदा ही हमारे सैनिकोंका विनाश करते आ रहे हैं ॥ १९ ॥

यथा प्रज्वलितं वह्निं पतङ्गः समभिद्रवन् ।
एकतो मृत्युमभ्येति तथाहं भीष्ममीयिवान् ॥ २० ॥

'जैसे पतंग प्रज्वलित आगकी ओर दौड़ा जाकर एक-मात्र मृत्युको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमने भी भीष्म-पर आक्रमण करके मृत्युका ही वरण किया है ॥ २० ॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे शूराः सायकैर्भृशपीडिताः ॥ २१ ॥

'वार्ष्णेय ! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं क्षीण होता जा रहा हूँ । मेरे शूरवीर भाई बाणोंकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

मत्कृते भ्रातृसौहार्दाद् राज्यभ्रष्टा वनं गताः ।
परिक्लिष्टा तथा कृष्णा मत्कृते मधुसूदन ॥ २२ ॥

'मधुसूदन ! मेरे लिये भ्रातृस्नेहवश ये भाई राज्यसे वञ्चित हुए और वनमें भी गये । मेरे ही कारण कृष्णाको भरी सभामें अपमानका कष्ट भोगना पड़ा ॥ २२ ॥

जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ।
जीवितस्याद्य शेषेण चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ २३ ॥

'इस समय मैं जीवनको ही बहुत मानता हूँ । आज तो जीवन भी दुर्लभ हो रहा है । अबसे जीवनके जितने दिन शेष हैं, उनके द्वारा मैं उत्तम धर्मका ही आचरण करूँगा ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सह केशव ।
स्वधर्मस्याविरोधेन हितं व्याहर केशव ॥ २४ ॥

'केशव ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो मुझे स्वधर्मके अनुकूल कोई हितकारक सलाह दीजिये' २४

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य कारुण्याद् बहुविस्तरम् ।
प्रत्युवाच ततः कृष्णः सान्त्वयानो युधिष्ठिरम् ॥ २५ ॥

करुणासे प्रेरित होकर कहे हुए युधिष्ठिरके ये विस्तृत वचन सुनकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए कहा ॥

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर ।
यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ॥ २६ ॥

'धर्मपुत्र ! सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीकुमार ! विषाद न कीजिये, आपके भाई बड़े ही शूरवीर, दुर्जय तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २६ ॥

अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ॥ २७ ॥

'अर्जुन और भीमसेन वायु तथा अग्निके समान तेजस्वी हैं । माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रममें दो इन्द्रों-के समान हैं ॥ २७ ॥

मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद् योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव ।
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महाराज ! आप सौहार्दवश मुझे भी आज्ञा दीजिये । मैं भीष्मके साथ युद्ध करूँगा । भला आप-की आज्ञा मिल जानेपर मैं इस महासमरमें क्या नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥ २९ ॥

'यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते हैं तो मैं युद्धमें पुरुषप्रवर भीष्मको ललकारकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ २९ ॥

यदि भीष्मे हते वीरे जयं पश्यसि पाण्डव ।
हन्तास्म्येकरथेनाद्य कुरुवृद्धं पितामहम् ॥ ३० ॥

'पाण्डुनन्दन ! यदि भीष्मके मारे जानेपर ही आपको अपनी विजय दिखायी दे रही है तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे आज कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्मको मार डालूँगा॥

पश्य मे विक्रमं राजन् महेन्द्रस्येव संयुगे ।
विमुञ्चन्तं महास्त्राणि पातयिष्यामि तं रथात् ॥ ३१ ॥

'राजन् ! कल युद्धमें इन्द्रके समान मेरा पराक्रम देखियेगा। मैं बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले भीष्मको रथसे मार गिराऊँगा ॥ ३१ ॥

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥ ३२ ॥

'जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें संदेह नहीं है । जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं ॥ ३२ ॥

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥ ३३ ॥

'राजन् ! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं । मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा।

एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥ ३४ ॥

'ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकते हैं । तात ! हमलोगोंमें यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक दूसरेको संकटसे उबारेंगे ॥ ३४ ॥

स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम् ।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत् तत् पार्थेन पूर्वतः ॥ ३५ ॥
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य संनिधौ ।
परिरक्ष्यमिदं तावद् वचः पार्थस्य धीमतः ॥ ३६ ॥

'राजेन्द्र ! आप मुझे युद्धके काममें नियुक्त कीजिये । मैं आपका योद्धा बनूँगा । युद्धके पहले उपप्लव्यनगरमें सब-लोगोंके सामने अर्जुनने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं गङ्गा-नन्दन भीष्मका वध करूँगा, बुद्धिमान् पार्थके उस वचन-का पालन करना मेरे लिये आवश्यक है ॥ ३५-३६ ॥

अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः ।
अथवा फाल्गुनस्यैष भारः परिमितो रणे ॥ ३७ ॥

'अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा की हो, उसकी पूर्ति करना मेरा कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है अथवा रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये यह बहुत थोड़ा भार है ॥ ३७ ॥

स हनिष्यति संग्रामे भीष्मं परपुरञ्जयम् ।
अशक्यमपि कुर्याद्धि रणे पार्थः समुद्यतः ॥ ३८ ॥

'वे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मको युद्धमें अवश्य मार डालेंगे । कुन्तीपुत्र अर्जुन उद्यत हो जायँ तो युद्धमें असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ॥ ३८ ॥

त्रिदशान् वा समुद्युक्तान् सहितान् दैत्यदानवैः ।
निहन्यादर्जुनः संख्ये किमु भीष्मं नराधिप ॥ ३९ ॥

'नरेश्वर ! दैत्यों और दानवोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी अर्जुन युद्धमें मार सकते हैं; फिर भीष्मको मारना कौन बड़ी बात है ॥ ३९ ॥

विपरीतो महावीर्यो गतसत्त्वोऽल्पजीवनः ।
भीष्मः शान्तनवो नूनं कर्तव्यं नावबुध्यते ॥ ४० ॥

'महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म तो हमारे विपरीत

पक्षका आश्रय लेनेवाले और बलहीन हैं। इनके जीवनके दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं, तथापि यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं' ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव।
सर्वे ह्येते न पर्याप्तास्तव वेगविधारणे ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो! माधव! आप जैसा कहते हैं, ठीक ऐसी ही बात है। ये समस्त कौरव आपका वेग धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४१ ॥

नियतं समवाप्स्यामि सर्वमेतद् यथेप्सितम्।
यस्य मे पुरुषव्याघ्र भवान् पक्षे व्यवस्थितः ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह! जिसके पक्षमें आप खड़े हैं, वह मैं यह सब अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण कर लूँगा ॥ ४२ ॥

सेन्द्रानपि रणे देवाञ्जयेयं जयतां वर।
त्वया नाथेन गोविन्द किमु भीष्मं महारथम् ॥ ४३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ गोविन्द! आपको अपना रक्षक पाकर मैं युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी जीत सकता हूँ; फिर महारथी भीष्मपर विजय पाना कौन बड़ी बात है ॥ ४३ ॥

न तु त्वामनृतं कर्तुमुत्सहे स्वात्मगौरवात्।
अयुध्यमानः साहाय्यं यथोक्तं कुरु माधव ॥ ४४ ॥

माधव! परंतु मैं अपनी गुरुताका प्रभाव डालकर आपको असत्यवादी नहीं बना सकता। आप युद्ध किये बिना ही पूर्वोक्त सहायता करते रहिये ॥ ४४ ॥

समयस्तु कृतः कश्चिन्मम भीष्मेण संयुगे।
मन्त्रयिष्ये तवार्थाय न तु योत्स्ये कथञ्चन ॥ ४५ ॥
दुर्योधनार्थे योत्स्यामि सत्यमेतदिति प्रभो।

मेरी भीष्मजीके साथ एक शर्त हो चुकी है। उन्होंने कहा है कि 'मैं युद्धमें तुम्हारे हितके लिये सलाह दे सकता हूँ, परंतु तुम्हारी ओरसे किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। युद्ध तो मैं केवल दुर्योधनके लिये ही करूँगा।' प्रभो! यह बिल्कुल सच्ची बात है ॥ ४५½ ॥

स हि राज्यस्य मे दाता मन्त्रस्यैव च माधव ॥ ४६ ॥
तस्माद् देवव्रतं भूयो वधोपायार्थमात्मनः।
भवता सहिताः सर्वे प्रयाम मधुसूदन ॥ ४७ ॥

अतः माधव! भीष्मजी मुझे राज्य और मन्त्र (हितकर सलाह) दोनों देंगे। इसलिये मधुसूदन! हम सब लोग पुनः आपके साथ देवव्रत भीष्मके पास उन्हींसे उनके वधका उपाय पूछने चलें ॥ ४६-४७ ॥

तद् वयं सहिता गत्वा भीष्ममाशु नरोत्तमम्।
नचिरात् सर्वे वार्ष्णेय मन्त्रं पृच्छाम कौरवम् ॥ ४८ ॥

वृष्णिनन्दन! हम सब लोग शीघ्र ही एक साथ कुरुवंशी नरश्रेष्ठ भीष्मके पास चलें और उनसे सलाह लें ॥ ४८ ॥

स वक्ष्यति हितं वाक्यं सत्यमस्माञ्जनार्दन।
यथा च वक्ष्यते कृष्ण तथा कर्तास्मि संयुगे ॥ ४९ ॥

जनार्दन! पूछनेपर वे हमें सत्य और हितकर बात बता देंगे। श्रीकृष्ण! वे जैसा कहेंगे, युद्धमें वैसा ही करूँगा ॥ ४९ ॥

स नो जयस्य दाता स्यान्मन्त्रस्य च दृढव्रतः।
बालाः पित्रा विहीनाश्च तेन संवर्धिता वयम् ॥ ५० ॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले भीष्मजी हमारे लिये विजय और सलाहके भी दाता हो सकते हैं। बाल्यावस्थामें जब हम पितृहीन हो गये थे, उस समय उन्होंने ही हमारा पालन-पोषण किया था ॥ ५० ॥

तं चेत् पितामहं वृद्धं हन्तुमिच्छामि माधव।
पितुः पितरमिष्टं च धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५१ ॥

माधव! यद्यपि वे हमारे पिताके भी पिता और प्रिय हैं, तो भी उन बूढ़े पितामह भीष्मको भी मैं मारना चाहता हूँ। क्षत्रियकी इस जीविकाको धिक्कार है! ॥ ५१ ॥

संजय उवाच

ततोऽब्रवीन्महाराज वार्ष्णेयः कुरुनन्दनम्।
रोचते मे महाप्राज्ञ राजेन्द्र तव भाषितम् ॥ ५२ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! तब भगवान् श्रीकृष्णने कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'महामते राजेन्द्र! आपका कथन मुझे ठीक जान पड़ता है ॥ ५२ ॥

देवव्रतः कृती भीष्मः प्रेक्षितेनापि निर्दहेत्।
गम्यतां स वधोपायं प्रष्टुं सागरगासुतः ॥ ५३ ॥

'देवव्रत भीष्म पुण्यात्मा पुरुष हैं। वे दृष्टिपातमात्रसे सबको दग्ध कर सकते हैं; अतः गङ्गानन्दन भीष्मसे उनके वधका उपाय पूछनेके लिये आप अवश्य उनके पास चलें ॥

वक्तुमर्हति सत्यं स त्वया पृष्टो विशेषतः।
ते वयं तत्र गच्छामः प्रष्टुं कुरुपितामहम् ॥ ५४ ॥
गत्वा शान्तनवं वृद्धं मन्त्रं पृच्छाम भारत।
स वो दास्यति मन्त्रं यं तेन योत्स्यामहे परान् ॥ ५५ ॥

'विशेषतः आपके पूछनेपर वे अवश्य सच्ची बात बतायेंगे। अतः हम सब लोग मिलकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मसे अभीष्ट प्रश्न पूछनेके लिये साथ-साथ वहाँ चलें और भारत! चलकर उनसे हितकारक मन्त्रणा पूछें। वे आपको ऐसी मन्त्रणा देंगे, जिससे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ५४-५५ ॥

एवमामन्त्र्य ते वीराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वजम्।
जग्मुस्ते सहिताः सर्वे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ५६ ॥

वे वीर पाण्डव इस प्रकार सलाह करके सब एक साथ

मिलकर अपने पिता पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मपितामहके पास गये; उनके साथ पराक्रमी भगवान् वासुदेव भी थे ।५६।

विमुक्तशस्त्रकवचा भीष्मस्य सदनं प्रति ।
प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रणिपेदिरे ॥ ५७ ॥

उन सबने अस्त्र-शस्त्र और कवच रख दिये थे । वे भीष्मके शिविरकी ओर गये और उसके भीतर प्रवेश करके उन्होंने भीष्मको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ५७ ॥

पूजयन्तो महाराज पाण्डवा भरतर्षभम् ।
प्रणम्य शिरसा चैनं भीष्मं शरणमभ्ययुः ॥ ५८ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने भरतश्रेष्ठ भीष्मकी पूजा करते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हींकी शरण ली ॥ ५८ ॥

तानुवाच महाबाहुर्भीष्मः कुरुपितामहः ।
स्वागतं तव वार्ष्णेय स्वागतं ते धनंजय ॥ ५९ ॥
स्वागतं धर्मपुत्राय भीमाय यमयोस्तथा ।
किं वा कार्यं करोम्यद्य युष्माकं प्रीतिवर्धनम् ॥ ६० ॥
(युद्धादन्यत्र हे वत्साः व्रियन्तां मा विशङ्कथ ।)
सर्वात्मनापि कर्तास्मि यदपि स्यात् सुदुष्करम् ।

उस समय कुरुकुलके पितामह महाबाहु भीष्मने उन सब लोगोंसे कहा—'वृष्णिनन्दन ! आपका स्वागत है । धनंजय ! तुम्हारा भी स्वागत है । धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन और नकुल-सहदेव सबका स्वागत है । आज मैं तुम सब लोगोंकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ । पुत्रो ! युद्धके अतिरिक्त जो चाहो, माँग लो, संकोच न करो । तुम्हारी माँग अत्यन्त दुष्कर हो तो भी मैं उसे सब प्रकारसे पूर्ण करूँगा' ॥ ५९-६०½ ॥

तथा ब्रुवाणं गाङ्गेयं प्रीतियुक्तं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
उवाच राजा दीनात्मा प्रीतियुक्तमिदं वचः ।

गङ्गानन्दन भीष्म जब बारंबार इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक कह रहे थे, उस समय राजा युधिष्ठिरने दीन हृदयसे प्रेमपूर्वक यह बात कही—॥ ६१½ ॥

कथं जयेम सर्वज्ञ कथं राज्यं लभेमहि ॥ ६२ ॥

'सर्वज्ञ ! युद्धमें हमारी जीत कैसे हो ? हम किस प्रकार राज्य प्राप्त करें ? ॥ ६२ ॥

प्रजानां संशयो न स्यात् कथं तन्मे वद प्रभो ।
भवान् हि नो वधोपायं ब्रवीतु स्वयमात्मनः ॥ ६३ ॥

'प्रभो ! हमारी प्रजाका जीवन संकटमें न पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कृपया यह सब मुझे बताइये । आप स्वयं ही हमें अपने वधका उपाय बताइये ॥ ६३ ॥

भवन्तं समरे वीर विषहेम कथं वयम् ।
न हि ते सूक्ष्ममप्यस्ति रन्ध्रं कुरुपितामह ॥ ६४ ॥

'वीर ! समरभूमिमें हमलोग आपका वेग कैसे सह सकते हैं ? कुरुकुलके वृद्ध पितामह ! आपमें कोई छोटा-सा भी छिद्र (दोष) नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६४ ॥

मण्डलेनैव धनुषा दृश्यसे संयुगे सदा ।
आददानं संदधानं विकर्षन्तं धनुर्न च ॥ ६५ ॥
पश्यामस्त्वां महाबाहो रथे सूर्यमिवापरम् ।

'आप युद्धमें सदा मण्डलाकार धनुषके साथ ही परिलक्षित होते हैं । महाबाहो ! आप रथपर दूसरे सूर्यके समान विराजमान होकर कब बाण हाथमें लेते हैं, कब धनुषपर रखते हैं और कब उसकी डोरीको खींचते हैं, यह सब हमलोग नहीं देख पाते हैं ॥ ६५½ ॥

रथाश्वनरनागानां हन्तारं परवीरहन् ॥ ६६ ॥
कोऽथ वोत्सहते जेतुं त्वां पुमान् भरतर्षभ ।

'शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! आप रथ, अश्व, पैदल मनुष्य और हाथियोंका भी संहार करनेवाले हैं। कौन पुरुष आपको जीतनेका साहस कर सकता है ? ॥ ६६½ ॥

वर्षता शरवर्षाणि संयुगे वैशसं कृतम् ॥ ६७ ॥
क्षयं नीता हि पृतना संयुगे महती मम ।

'आपने युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षा करके भारी संहार मचा रखा है । रणक्षेत्रमें मेरी विशाल सेना आपके द्वारा नष्ट हो चुकी है ॥ ६७½ ॥

यथा युधि जयेम त्वां यथा राज्यं भृशं मम ॥ ६८ ॥
मम सैन्यस्य च क्षेमं तन्मे ब्रूहि पितामह ।

'पितामह ! हमलोग युद्धमें जिस प्रकार आपको जीत सकें, जिस प्रकार हमें विपुल राज्यकी प्राप्ति हो सके और जिस प्रकार मेरी सेना भी सकुशल रह सके, वह उपाय मुझे बताइये' ॥ ६८½ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः पाण्डवान् पाण्डुपूर्वजः॥ ६९ ॥
न कथञ्चन कौन्तेय मयि जीवति संयुगे ।
जयो भवति सर्वज्ञ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७० ॥

तब पाण्डुके पितृतुल्य शान्तनुकुमार भीष्मजीने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'कुन्तीकुमार ! मेरे जीते-जी युद्धमें किसी प्रकार तुम्हारी विजय नहीं हो सकती । सर्वज्ञ ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ ६९-७० ॥

निर्जिते मयि युद्धेन रणे जेष्यथ पाण्डवाः ।
क्षिप्रं मयि प्रहरध्वं यदीच्छथ रणे जयम् ॥ ७१ ॥

'पाण्डवो ! यदि युद्धके द्वारा मैं किसी प्रकार जीत लिया जाऊँ, तभी तुमलोग रणक्षेत्रमें विजयी हो सकोगे । यदि युद्धमें विजय चाहते हो तो मुझपर शीघ्र ही (घातक) प्रहार करो ॥ ७१ ॥

अनुजानामि वः पार्थाः प्रहरध्वं यथासुखम् ।
एवं हि सुकृतं मन्ये भवतां विदितो ह्यहम् ॥ ७२ ॥
हते मयि हतं सर्वं तस्मादेवं विधीयताम् ।

'कुन्तीकुमारो ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम सुखपूर्वक मेरे ऊपर प्रहार करो। मैं तुम्हारे लिये यह पुण्यकी बात मानता हूँ कि तुम्हें मेरे इस प्रभावका ज्ञान हो गया कि मेरे मारे जानेपर सारी कौरव-सेना मरी हुई ही हो जायगी; अतः ऐसा ही करो (मुझे मार डालो)' ॥ ७२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तस्मादुपायं नो यथा युद्धे जयेमहि ॥ ७३ ॥
भवन्तं समरे क्रुद्धं दण्डहस्तमिवान्तकम्।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! हमलोग युद्धमें दण्डधारी यमराजकी भाँति क्रोधमें भरे हुए आपको जिस प्रकार जीत सकें, वैसा उपाय हमें आप ही बताइये ॥ ७३½ ॥

शक्यो वज्रधरो जेतुं वरुणोऽथ यमस्तथा ॥ ७४ ॥
न भवान् समरे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।

वज्रधारी इन्द्र, वरुण और यम—इन सबको जीता जा सकता है; परंतु आपको तो समरभूमिमें इन्द्र आदि देवता और असुर भी नहीं जीत सकते ॥ ७४½ ॥

भीष्म उवाच

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ॥ ७५ ॥
नाहं जेतुं रणे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ॥ ७६ ॥

भीष्मने कहा—महाबाहो ! पाण्डुनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, यह सत्य है। जबतक मेरे हाथमें शस्त्र होगा, जबतक मैं श्रेष्ठ धनुष लेकर युद्धके लिये सावधान एवं प्रयत्नशील रहूँगा, तबतक इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें मुझे जीत नहीं सकते ॥ ७५-७६ ॥

ततो मां न्यस्तशस्त्रं तु एते हन्युर्महारथाः।
निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे ॥ ७७ ॥
द्रवमाणे च भीते च तवास्मीति च वादिनि।
स्त्रियां स्त्रीनामधेये च विकले चैकपुत्रके ॥ ७८ ॥
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम।

जब मैं अस्त्र-शस्त्र डाल दूँ, उस अवस्थामें ये महारथी मुझे मार सकते हैं। जिसने शस्त्र नीचे डाल दिया हो, जो गिर पड़ा हो, जो कवच और ध्वजसे शून्य हो गया हो, जो भयभीत होकर भागता हो, अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह रहा हो, जो स्त्री हो, स्त्रियों-जैसा नाम रखता हो, विकल हो, जो अपने पिताका इकलौता पुत्र हो, अथवा जो नीच जातिका हो, ऐसे मनुष्यके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ७७-७८½ ॥

इमं मे शृणु राजेन्द्र संकल्पं पूर्वचिन्तितम् ॥ ७९ ॥
अमङ्गल्यध्वजं दृष्ट्वा न युध्येयं कदाचन।

राजेन्द्र ! मेरे पहलेसे सोचे हुए इस संकल्पको सुनो, जिसकी ध्वजामें कोई अमङ्गलसूचक चिह्न हो, ऐसे पुरुषको देखकर मैं कभी उसके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ ७९½ ॥

य एष द्रौपदो राजंस्तव सैन्ये महारथः ॥ ८० ॥
शिखण्डी समरामर्षी शूरश्च समितिञ्जयः।
यथाभवच्च स्त्री पूर्वं पश्चात् पुंस्त्वं समागतः ॥ ८१ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो यह द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समरभूमिमें अमर्षशील, शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी है। वह पहले स्त्री था, फिर पुरुषभावको प्राप्त हुआ है ॥ ८०-८१ ॥

जानन्ति च भवन्तोऽपि सर्वमेतद् यथातथम्।
अर्जुनः समरे शूरः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ ८२ ॥
मामेव विशिखैस्तीक्ष्णैरभिद्रवतु दंशितः।

ये सारी बातें जैसे हुई हैं, वह सब तुमलोग भी जानते हो। शूरवीर अर्जुन समराङ्गणमें कवच धारण करके शिखण्डीको आगे रखकर मुझपर तीखे बाणोंद्वारा आक्रमण करे ॥

अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् स्त्रीपूर्वे च विशेषतः ॥ ८३ ॥
न प्रहर्तुमभीप्सामि गृहीतेषुः कथञ्चन।

शिखण्डीकी ध्वजा अमाङ्गलिक चिह्नसे युक्त है तथा विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है; इसलिये मैं हाथमें बाण लिये रहनेपर भी किसी प्रकार उसके ऊपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥ ८३½ ॥

तदन्तरं समासाद्य पाण्डवो मां धनंजयः ॥ ८४ ॥
शरैर्घातयतु क्षिप्रं समन्ताद् भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! इसी अवसरका लाभ लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओरसे शीघ्रतापूर्वक बाणोंद्वारा मार डालनेका प्रयत्न करे ॥ ८४½ ॥

न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम् ॥ ८५ ॥
ऋते कृष्णान्महाभागात् पाण्डवाद् वा धनञ्जयात्।

मैं महाभाग भगवान् श्रीकृष्ण अथवा पाण्डुपुत्र धनंजयके सिवा दूसरे किसीको जगत्में ऐसा नहीं देखता, जो युद्धके लिये उद्यत होनेपर मुझे मार सके ॥ ८५½ ॥

एष तस्मात् पुरोधाय कञ्चिदन्यं ममाग्रतः ॥ ८६ ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः।
मां पातयतु बीभत्सुरेवं तव जयो ध्रुवम् ॥ ८७ ॥

इसलिये यह अर्जुन श्रेष्ठ धनुष तथा दूसरे अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्धमें सावधानीके साथ प्रयत्नशील हो और उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त किसी पुरुषको अथवा शिखण्डीको मेरे सामने खड़ा करके स्वयं बाणोंद्वारा मुझे मार गिरावे। इसी प्रकार तुम्हारी निश्चितरूपसे विजय हो सकती है ॥ ८६-८७ ॥

एतत् कुरुष्व कौन्तेय यथोक्तं मम सुव्रत।
संग्रामे धार्तराष्ट्रांश्च हन्याः सर्वान् समागतान् ॥ ८८ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! तुम

मेरे ऊपर जैसे मैंने बतायी है, वैसी ही नीतिका प्रयोग करो। ऐसा करके ही तुम रणक्षेत्रमें आये हुए सम्पूर्ण धृतराष्ट्रपुत्रों एवं उनके सैनिकोंको मार सकते हो ॥ ८८ ॥

संजय उवाच

ते तु ज्ञात्वा ततः पार्था जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ।
अभिवाद्य महात्मानं भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ८९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! यह सब जानकर कुन्तीके सभी पुत्र कुरुकुलके वृद्ध पितामह महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरकी ओर चले गये ॥ ८९ ॥

तथोक्तवति गाङ्गेये परलोकाय दीक्षिते ।
अर्जुनो दुःखसंतप्तः सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥ ९० ॥

गङ्गानन्दन भीष्म परलोककी दीक्षा ले चुके थे। उन्होंने जब पूर्वोक्त बात बतायी, तब अर्जुन दुःखसे संतप्त एवं लज्जित होकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ९० ॥

गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता ।
पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव ॥ ९१ ॥

'माधव! कुरुकुलके वृद्ध गुरुजन विशुद्ध-बुद्धि, मतिमान् पितामह भीष्मसे मैं रणक्षेत्रमें कैसे युद्ध करूँगा ॥ ९१ ॥

क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः ।
पांसुरूषितगात्रेण महात्मा परुषीकृतः ॥ ९२ ॥

'वासुदेव! बचपनमें खेलते समय मैंने अपने धूलि-धूसर शरीरसे उन महामनस्वी महात्माको सदा दूषित किया है ॥

यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज ।
तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः ॥ ९३ ॥
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत ।
इति मामब्रवीद् बाल्ये यः स वध्यः कथं मया ॥ ९४ ॥

'गदाग्रज! कहते हैं, मैं बचपनमें अपने पिता महात्मा पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मजीकी गोदमें चढ़कर जब उन्हें तात कहकर पुकारता था, उस समय उस बाल्यावस्थामें ही वे मुझसे इस प्रकार कहते थे—'भरतनन्दन! मैं तुम्हारा तात नहीं, तुम्हारे पिताका तात हूँ।' वे ही वृद्ध पितामह मेरे द्वारा मारने योग्य कैसे हो सकते हैं? ॥ ९३-९४ ॥

कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना ।
जयो वास्तु वधो वा मे कथं वा कृष्ण मन्यसे ॥ ९५ ॥

'भले ही वे मेरी सेनाका नाश कर डालें, मेरी विजय हो अथवा मृत्यु; परंतु मैं उन महात्मा भीष्मके साथ युद्ध नहीं करूँगा; अथवा श्रीकृष्ण! आप कैसा ठीक समझते हैं? ॥

(कथमस्मद्विधः कृष्ण जानन् धर्मं सनातनम् ।
न्यस्तशस्त्रे च वृद्धे च प्रहरेद्धि पितामहे ॥)

'श्रीकृष्ण! अपने सनातन धर्मको जाननेवाला मेरे-जैसा पुरुष हथियार डालकर बैठे हुए अपने बूढ़े पितामहपर प्रहार कैसे करेगा?' ॥

वासुदेव उवाच

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे ।
क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि ॥ ९६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—विजयी कुन्तीकुमार! तुम क्षत्रियधर्ममें स्थित हो। युद्धमें तुम पहले भीष्मके वधकी प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे? ॥ ९६ ॥

पातयैनं रथात् पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम् ।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति ॥ ९७ ॥

पार्थ! तुम युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्मको रथसे मार गिराओ। रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको मारे बिना तुम्हारी विजय नहीं होगी ॥ ९७ ॥

दृष्टमेतत् पुरा देवैर्गमिष्यति यमक्षयम् ।
यद् दृष्टं हि पुरा पार्थ तत् तथा न तदन्यथा ॥ ९८ ॥

इस बातको देवताओंने पहलेसे ही देख रक्खा है। भीष्म इसी प्रकार यमलोकको जायँगे। पार्थ! जिसे देवताओंने देखा है, वह उसी प्रकार होगा। उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ ९८ ॥

न हि भीष्मं दुराधर्षं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
त्वदन्यः शक्नुयाद् योद्धुमपि वज्रधरः स्वयम् ॥ ९९ ॥

दुर्धर्ष वीर भीष्म मुँह फैलाये हुए कालके समान प्रतीत होते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई, भले ही वह साक्षात् वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उनके साथ युद्ध नहीं कर सकता॥

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम ।
यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः ॥१००॥

अर्जुन! तुम स्थिर होकर भीष्मको मारो और मेरी यह बात सुनो, जिसे पूर्वकालमें महाबुद्धिमान् बृहस्पतिजीने देवराज इन्द्रको बताया था ॥ १०० ॥

ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम् ।
आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः ॥१०१॥

कोई बड़े-से-बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुणसम्पन्न पुरुष ही क्यों न हों, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करनेके लिये आ रहे हों तो उस आततायीको अवश्य मार डालना चाहिये॥

शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः क्षत्रियाणां धनंजय ।
योद्धव्यं रक्षितव्यं च यष्टव्यं चानसूयुभिः ॥१०२॥

धनंजय! यह क्षत्रियोंका निश्चित सनातन धर्म है। उन्हें किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओंकी रक्षा और यज्ञ करते रहने चाहिये ॥ १०२ ॥

अर्जुन उवाच

शिखण्डी निधनं कृष्ण भीष्मस्य भविता ध्रुवम् ।
दृष्ट्वैव हि सदा भीष्मः पाञ्चाल्यं विनिवर्तते ॥१०३॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! शिखण्डी निश्चय ही

भीष्मकी मृत्युका कारण होगा; क्योंकि भीष्म उस पाञ्चाल-राजकुमारको देखते ही सदा युद्धसे निवृत्त हो जाते हैं।१०३।

ते वयं प्रमुखे तस्य पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
गाङ्गेयं पातयिष्याम उपायेनेति मे मतिः ॥१०४॥

अतः हम सब लोग उनके सामने शिखण्डीको खड़ा करके शस्त्रप्रहाररूप उपायद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको मार गिरायेंगे, यही मेरा विचार है ॥ १०४ ॥

अहमन्यान् महेष्वासान् वारयिष्यामि सायकैः।
शिखण्ड्यपि युधां श्रेष्ठं भीष्ममेवाभियोधयेत् ॥१०५॥

मैं बाणोंद्वारा अन्य महाधनुर्धरोंको रोकूँगा। शिखण्डी भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मके साथ ही युद्ध करे ॥ १०५ ॥

श्रुतं हि कुरुमुख्यस्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
कन्या ह्येषा पुरा भूत्वा पुरुषः समपद्यत ॥१०६॥

कुरुकुलके प्रधान वीर भीष्मका यह निश्चय है कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ है ॥ १०६ ॥

(अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीष्मस्य वधसंयुतम्।
जहृषुर्हृष्टरोमाणः सकृष्णाः पाण्डवास्तदा ॥)

अर्जुनका भीष्मके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला यह वचन सुनकर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उस समय हर्षातिरेकके कारण उनके शरीरोंमें रोमाञ्च हो आया ॥

इत्येवं निश्चयं कृत्वा पाण्डवाः सहमाधवाः।
अनुमान्य महात्मानं प्रययुर्हृष्टमानसाः।
शयनानि यथास्वानि भेजिरे पुरुषर्षभाः ॥१०७॥

ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्णसहित पाण्डव मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो महात्मा भीष्मसे विदा लेकर चले गये और उन पुरुषशिरोमणियोंने अपनी-अपनी शय्याओंका आश्रय लिया ॥ १०७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसावहारोत्तरमन्त्रे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धके समाप्त होनेके पश्चात् परस्पर गुप्तमन्त्रणाविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ११४½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

दसवें दिन उभय पक्षकी सेनाका रणके लिये प्रस्थान तथा भीष्म और शिखण्डीका समागम एवं अर्जुनका शिखण्डीको भीष्मका वध करनेके लिये उत्साहित करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यवर्तत संयुगे।
पाण्डवांश्च कथं भीष्मस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! शिखण्डीने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार आक्रमण किया और भीष्मने भी पाण्डवोंपर किस तरह चढ़ाई की? यह सब मुझे बताओ॥१॥

संजय उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सूर्यस्योदयनं प्रति।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेष्वानकेषु च ॥ २ ॥
ध्मायत्सु दधिवर्णेषु जलजेषु समन्ततः।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य निर्याताः पाण्डवा युधि ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर रणभेरियाँ बज उठीं, मृदङ्ग और ढोल पीटे जाने लगे, दहीके समान श्वेतवर्णवाले शङ्ख सब ओर बजाये जाने लगे। उस समय समस्त पाण्डव शिखण्डीको आगे करके युद्धके लिये शिविरसे बाहर निकले ॥ २–३ ॥

कृत्वा व्यूहं महाराज सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
शिखण्डी सर्वसैन्यानामग्र आसीद् विशाम्पते ॥ ४ ॥

महाराज! प्रजानाथ! उस दिन शिखण्डी समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाले व्यूहका निर्माण करके स्वयं सब सेनाके सामने खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

चक्ररक्षौ ततस्तस्य भीमसेनधनंजयौ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चैव वीर्यवान् ॥ ५ ॥

उस समय भीमसेन और अर्जुन शिखण्डीके रथके पहियोंके रक्षक बन गये। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्युने उसके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला॥

सात्यकिश्चेकितानश्च तेषां गोप्ता महारथः।
धृष्टद्युम्नस्ततः पश्चात् पञ्चालैरभिरक्षितः ॥ ६ ॥

सात्यकि और चेकितान भी उन्हींके साथ थे। पाञ्चाल वीरोंसे सुरक्षित महारथी धृष्टद्युम्न उन सबके पीछे रहकर सबकी रक्षा करते रहे ॥ ६ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमाभ्यां सहितः प्रभुः।
प्रययौ सिंहनादेन नादयन् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर नकुल-सहदेवके साथ अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये चले ॥ ७ ॥

विराटस्तु ततः पश्चात् स्वेन सैन्येन संवृतः।
द्रुपदश्च महाबाहो ततः पश्चादुपाद्रवत् ॥ ८ ॥

उनके पीछे अपनी सेनाके साथ राजा विराट चलने लगे । महाबाहो ! विराटके पीछे द्रुपदने धावा किया ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
जघनं पालयामासुः पाण्डुसैन्यस्य भारत ॥ ९ ॥

भारत ! इसके बाद पाँचों भाई केकय तथा पराक्रमी धृष्टकेतु—ये पाण्डवसेनाके जघनभागकी रक्षा करने लगे ॥ ९ ॥

एवं व्यूह्य महासैन्यं पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

इस प्रकार पाण्डवोंने अपनी विशाल सेनाके व्यूहका निर्माण करके संग्राममें अपने जीवनका मोह छोड़कर आपकी सेनापर धावा किया ॥ १० ॥

तथैव कुरवो राजन् भीष्मं कृत्वा महारथम् ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार कौरवोंने भी महारथी भीष्मको सब सेनाओंके आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ाई की ॥ ११ ॥

पुत्रैस्तव दुराधर्षो रक्षितः सुमहाबलैः ।
(प्रययौ पाण्डवानीकं भीष्मः शान्तनुनन्दनः ।)
ततो द्रोणो महेष्वासः पुत्रश्चास्य महाबलः ॥ १२ ॥

दुर्धर्ष वीर शान्तनुनन्दन भीष्म आपके महाबली पुत्रोंसे सुरक्षित हो पाण्डवोंकी सेनाकी ओर बढ़े । उनके पीछे महाधनुर्धर द्रोणाचार्य और महाबली अश्वत्थामा चले ॥ १२ ॥

भगदत्तस्ततः पश्चाद् गजानीकेन संवृतः ।
कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तमनुव्रतौ ॥ १३ ॥

इन दोनोंके पीछे हाथियोंकी विशाल सेनासे घिरे हुए राजा भगदत्त चले । कृपाचार्य और कृतवर्माने भगदत्तका अनुसरण किया ॥ १३ ॥

काम्बोजराजो बलवांस्ततः पश्चात् सुदक्षिणः ।
मागधश्च जयत्सेनः सौबलश्च बृहद्बलः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् बलवान् काम्बोजराज सुदक्षिण, मगधदेशीय जयत्सेन तथा सुबलपुत्र बृहद्बल चले ॥ १४ ॥

तथैवान्ये महेष्वासाः सुशर्मप्रमुखा नृपाः ।
जघनं पालयामासुस्तव सैन्यस्य भारत ॥ १५ ॥

भारत ! इसी प्रकार सुशर्मा आदि अन्य महाधनुर्धर राजाओंने आपकी सेनाके जघनभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १५ ॥

दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवो युधि ।
आसुरानकरोद् व्यूहान् पैशाचानथ राक्षसान्॥ १६ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें प्रतिदिन असुर, पिशाच तथा राक्षसव्यूहोंका निर्माण किया करते थे ॥ १६ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
अन्योन्यं निघ्नतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ १७ ॥

भारत ! (उस दिन भी व्यूह-रचनाके बाद) आपके और पाण्डवोंकी सेनामें युद्ध आरम्भ हुआ । राजन् ! परस्पर घातक प्रहार करनेवाले उन वीरोंका युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १७ ॥

अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
भीष्मं युद्धेऽभ्यवर्तन्त किरन्तो विविधाञ्छरान् ॥१८॥

अर्जुन आदि कुन्तीकुमारोंने शिखण्डीको आगे करके युद्धमें नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ भीष्मपर चढ़ाई की ॥ १८ ॥

तत्र भारत भीमेन ताडितास्तावकाः शरैः ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नाः परलोकं ययुस्तदा ॥ १९ ॥

भारत ! वहाँ भीमसेनके द्वारा बाणोंसे ताड़ित हुए आपके सैनिक खूनसे लथपथ होकर परलोकगामी होने लगे ॥१९॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
तव सैन्यं समासाद्य पीडयामासुरोजसा ॥ २० ॥

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने आपकी सेनापर धावा करके उसे बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ २० ॥

ते वध्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ।
नाशक्नुवन् वारयितुं पाण्डवानां महद् बलम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके सैनिक समरभूमिमें मारे जाने लगे । वे पाण्डवोंकी विशाल सेनाको रोक न सके ॥ २१ ॥

ततस्तु तावकं सैन्यं वध्यमानं समन्ततः ।
सुसम्प्राप्तं दश दिशः काल्यमानं महारथैः ॥ २२ ॥

उन महारथी वीरोंद्वारा सब ओरसे मारी और खदेड़ी जाती हुई आपकी सेना सब दिशाओंमें भाग खड़ी हुई ।२२।

त्रातारं नाध्यगच्छन्त तावका भरतर्षभ ।
वध्यमानाः शितैर्बाणैः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डवों और सृंजयोंके तीखे बाणोंसे घायल होनेवाले आपके सैनिकोंको कोई रक्षक नहीं मिलता था ।२३।

धृतराष्ट्र उवाच

पीड्यमानं बलं दृष्ट्वा पार्थैर्भीष्मः पराक्रमी ।
यदकार्षीद् रणे क्रुद्धस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! कुन्तीकुमारोंके द्वारा अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख युद्धमें क्रुद्ध हुए पराक्रमी भीष्मने क्या किया ? यह मुझे बताओ ॥ २४ ॥

कथं वा पाण्डवान् युद्धे प्रत्युद्यातः परंतपः ।
विनिघ्नन् सोमकान् वीरस्तदाचक्ष्व ममानघ ॥ २५ ॥

अनघ ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर भीष्मने युद्धस्थलमें सोमकोंका संहार करते हुए उस समय पाण्डवोंपर किस प्रकार आक्रमण किया ? वह सब भी मुझे बताओ ॥ २५ ॥

संजय उवाच

आचक्षे ते महाराज यदकार्षीत् पिता तव ।
पीडिते तव पुत्रस्य सैन्ये पाण्डवसृंजयैः ॥ २६ ॥

संजयने कहा—महाराज ! पाण्डवों तथा सृंजयोंद्वारा आपके पुत्रकी सेनाके पीड़ित होनेपर आपके ताऊ भीष्मने जो कुछ किया था, वह सब आपको बता रहा हूँ ॥ २६ ॥

प्रहृष्टमनसः शूराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अभ्यवर्तन्त निघ्नन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ २७ ॥

पाण्डुके बड़े भैया ! शूरवीर पाण्डव मनमें हर्ष और उत्साह भरकर आपके पुत्रकी सेनाका संहार करते हुए आगे बढ़े ॥ २७ ॥

तं विनाशं मनुष्येन्द्र नरवारणवाजिनाम् ।
नामृष्यत तदा भीष्मः सैन्यघातं रणे परैः ॥ २८ ॥

नरेन्द्र ! उस समय मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके उस विनाशको—रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये जानेवाले अपनी सेनाके संहारको भीष्मजी नहीं सह सके ॥ २८ ॥

स पाण्डवान् महेष्वासः पञ्चालांश्चैव सृंजयान् ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च शितैरञ्जलिकैस्तथा ॥ २९ ॥
अभ्यवर्षत दुर्धर्षस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।

वे महाधनुर्धर दुर्धर्ष वीर भीष्म अपने जीवनका मोह छोड़कर पाण्डवों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंपर तीखे नाराच, वत्सदन्त और अञ्जलिक आदि बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २९½ ॥

स पाण्डवानां प्रवरान् पञ्च राजन् महारथान् ॥ ३० ॥
आत्तशस्त्रो रणे यत्नाद् वारयामास सायकैः ।

राजन् ! वे अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवपक्षके पाँच श्रेष्ठ महारथियोंका रणक्षेत्रमें बाणोंद्वारा यत्नपूर्वक निवारण करने लगे ॥ ३०½ ॥

नानाशस्त्रास्त्रवर्षैस्तान् वीर्यामर्षप्रवेरितैः ॥ ३१ ॥
निजघ्ने समरे क्रुद्धो हस्त्यश्वं चामितं बहु ।

उन्होंने बल और क्रोधसे चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाद्वारा समराङ्गणमें उन पाँचों महारथियोंको मार डाला और कुपित होकर असंख्य हाथी-घोड़ोंका भी संहार कर डाला ॥ ३१½ ॥

रथिनोऽपातयद् राजन् रथेभ्यः पुरुषर्षभः ॥ ३२ ॥
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यः पादातांश्च समागतान् ।
गजारोहान् गजेभ्यश्च परेषां जयकारिणः ॥ ३३ ॥

राजन् ! पुरुषश्रेष्ठ भीष्मने कितने ही रथियोंको रथोंसे, घुड़सवारोंको घोड़ोंकी पीठोंसे, शत्रुओंपर विजय पानेवाले हाथीसवारोंको हाथियोंसे तथा सामने आये हुए पैदल सिपाहियोंको भी मार गिराया ॥ ३२-३३ ॥

तमेकं समरे भीष्मं त्वरमाणं महारथम् ।
पाण्डवाः समवर्तन्त वज्रहस्तमिवासुराः ॥ ३४ ॥

समरभूमिमें फुर्ती दिखानेवाले एकमात्र महारथी भीष्मपर समस्त पाण्डवोंने उसी प्रकार धावा किया, जैसे असुर वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करते हैं ॥ ३४ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शान् विमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।
दिक्ष्वदृश्यत सर्वासु घोरं संधारयन् वपुः ॥ ३५ ॥

भीष्म इन्द्रके वज्रके समान दुःसह स्पर्शवाले पैने बाणोंकी वर्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण दिशाओंमें भयंकर स्वरूप धारण किये दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

मण्डलीभूतमेवास्य नित्यं धनुरदृश्यत ।
संग्रामे युद्ध्यमानस्य शक्रचापोपमं महत् ॥ ३६ ॥

संग्रामभूमिमें युद्ध करते हुए भीष्मका इन्द्रधनुषके समान विशाल धनुष सदा मण्डलाकार ही दिखायी देता था ॥

तद् दृष्ट्वा समरे कर्म पुत्रास्तव विशाम्पते ।
विस्मयं परमं गत्वा पितामहमपूजयन् ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! रणक्षेत्रमें आपके पुत्र पितामहके उस कर्मको देखकर अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३७ ॥

पार्था विमनसो भूत्वा प्रैक्षन्त पितरं तव ॥ ३८ ॥
युध्यमानं रणे शूरं विप्रचित्तिमिवामराः ।

उस समय कुन्तीके पुत्र खिन्नचित्त होकर रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए आपके ताऊ शूरवीर भीष्मकी ओर उसी प्रकार देखने लगे, जैसे देवता विप्रचित्ति नामक दानवको देखते हैं ॥ ३८½ ॥

न चैनं वारयामासुर्व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ३९ ॥
दशमेऽहनि सम्प्राप्ते रथानीकं शिखण्डिनः ।
अदहन्निशितैर्बाणैः कृष्णवर्त्मेव काननम् ॥ ४० ॥

वे मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मको रोक न सके । दसवाँ दिन आनेपर भीष्म जैसे दावाग्नि वनको जला देती है, उसी प्रकार शिखण्डीकी रथसेनाको तीखे बाणोंकी आगमें भस्म करने लगे ॥ ३९-४० ॥

तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
आशीविषमिव क्रुद्धं कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ ४१ ॥

तब शिखण्डीने तीन बाणोंसे भीष्मकी छातीमें प्रहार किया । उस समय वे कालप्रेरित मृत्यु तथा क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान जान पड़ते थे ॥ ४१ ॥

स तेनातिभृशं विद्धः प्रेक्ष्य भीष्मः शिखण्डिनम् ।
अनिच्छन्निव संक्रुद्धः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

शिखण्डीके द्वारा अत्यन्त घायल हो भीष्म उसकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो बिना इच्छाके ही हँसते हुए इस प्रकार बोले —॥ ४२ ॥

काममभ्यस वा मा वा न त्वां योत्स्ये कथंचन ।
यैव हि त्वं कृता धात्रा सैव हि त्वं शिखण्डिनी ॥ ४३ ॥

'अरे, तू इच्छानुसार प्रहार कर या न कर । मैं तेरे साथ किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा । विधाताने जिस रूपमें तुझे उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है' ॥ ४३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिखण्डी क्रोधमूर्छितः ।
उवाचैनं तथा भीष्मं सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४४ ॥

उनकी यह बात सुनकर शिखण्डी क्रोधसे मूर्छित-सा हो गया और अपने मुँहके कोनोंको चाटता हुआ भीष्मसे इस प्रकार बोला—॥ ४४ ॥

जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रियाणां क्षयंकर ।
मया श्रुतं च ते युद्धं जामदग्न्येन वै सह ॥ ४५ ॥

'क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले महाबाहु भीष्म ! मैं भी आपको जानता हूँ । मैंने सुना है कि आपने जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ॥ ४५ ॥

दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं मया च बहुशः श्रुतः ।
जानन्नपि प्रभावं ते योत्स्येऽद्याहं त्वया सह ॥ ४६ ॥

'आपका यह दिव्य प्रभाव बहुत बार मेरे सुननेमें आया है । आपके उस प्रभावको जानकर भी मैं आज आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ४६ ॥

पाण्डवानां प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च नरोत्तम ।
अद्य त्वां योधयिष्यामि रणे पुरुषसत्तम ॥ ४७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर ! आज पाण्डवोंका और अपना भी प्रिय करनेके लिये रणक्षेत्रमें खूब डटकर आपका सामना करूँगा ॥ ४७ ॥

ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि शपे सत्येन तेऽग्रतः ।
एतच्छ्रुत्वा च मद्वाक्यं यत् कृत्यं तत् समाचर॥ ४८ ॥

'मैं आपके सामने सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज आपको निश्चय ही मार डालूँगा । मेरी यह बात सुनकर आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये ॥ ४८ ॥

काममभ्यस वा मा वा न मे जीवन् प्रमोक्ष्यसे ।
सुदृष्टः क्रियतां भीष्म लोकोऽयं समितिंजय ॥ ४९ ॥

'युद्धविजयी भीष्मजी ! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार कीजिये या न कीजिये; परंतु आज आप मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेंगे । अब इस संसारको अच्छी तरह देख लीजिये' ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।
अविध्यत रणे भीष्मं प्रणुन्नं वाक्यसायकैः ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर शिखण्डीने जिन्हें पहले वचनरूपी बाणोंसे पीडित किया था, उन्हीं भीष्मको झुकी हुई गाँठवाले पाँच सायकोंद्वारा घायल कर दिया ।५०।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सव्यसाची महारथः ।
कालोऽयमिति संचिन्त्य शिखण्डिनमचोदयत्॥ ५१ ॥

उसके उस कथनको सुनकर महारथी सव्यसाची अर्जुनने यह सोचकर कि यही इसके उत्साह बढ़ानेका अवसर है, शिखण्डीसे इस प्रकार कहा—॥ ५१ ॥

अहं त्वामनुयास्यामि परान् विद्रावयञ्शरैः ।
अभिद्रव सुसंरब्धो भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ ५२ ॥

'वीर ! मैं बाणोंद्वारा शत्रुओंको भगाता हुआ सदा तुम्हारा साथ दूँगा । अतः तुम भयंकर पराक्रमी भीष्मपर रोषपूर्वक आक्रमण करो ॥ ५२ ॥

न हि ते संयुगे पीडां शक्तः कर्तुं महाबलः ।
तस्मादद्य महाबाहो यत्नाद् भीष्ममभिद्रव ॥ ५३ ॥

'महाबाहो ! युद्धमें महाबली भीष्म तुम्हें पीड़ा नहीं दे सकते, इसलिये आज यत्नपूर्वक इनके ऊपर धावा करो ।५३।

अहत्वा समरे भीष्मं यदि यास्यसि मारिष ।
अवहास्योऽस्य लोकस्य भविष्यसि मया सह ॥ ५४ ॥

'आर्य ! यदि समरभूमिमें भीष्मको मारे बिना लौट जाओगे तो मेरेसहित तुम इस लोकमें उपहासके पात्र बन जाओगे ॥ ५४ ॥

नावहास्या यथा वीर भवेम परमाहवे ।
तथा कुरु रणे यत्नं साधयस्व पितामहम् ॥ ५५ ॥

'वीर ! इस महायुद्धमें जैसे भी हमलोग हँसीके पात्र न बनें, वैसा प्रयत्न करो । रणक्षेत्रमें पितामह भीष्मको अवश्य मार डालो ॥ ५५ ॥

अहं ते रक्षणं युद्धे करिष्यामि महाबल ।
वारयन् रथिनः सर्वान् साधयस्व पितामहम् ॥ ५६ ॥

'महाबली वीर ! इस युद्धमें मैं सब रथियोंको रोककर सदा तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा । तुम पितामहको मारनेका कार्य सिद्ध कर लो ॥ ५६ ॥

द्रोणं च द्रोणपुत्रं च कृपं चाथ सुयोधनम् ।
चित्रसेनं विकर्णं च सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ ५७ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम्।
भगदत्तं तथा शूरं मागधं च महाबलम् ॥ ५८ ॥
सौमदत्तिं तथा शूरमार्ष्यशृङ्गिं च राक्षसम् ।
त्रिगर्तराजं च रणे सह सर्वैर्महारथैः ॥ ५९ ॥
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।

'मैं द्रोणाचार्य, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुर्योधन, चित्रसेन, विकर्ण, सिन्धुराज जयद्रथ, अवन्तीके राजकुमार

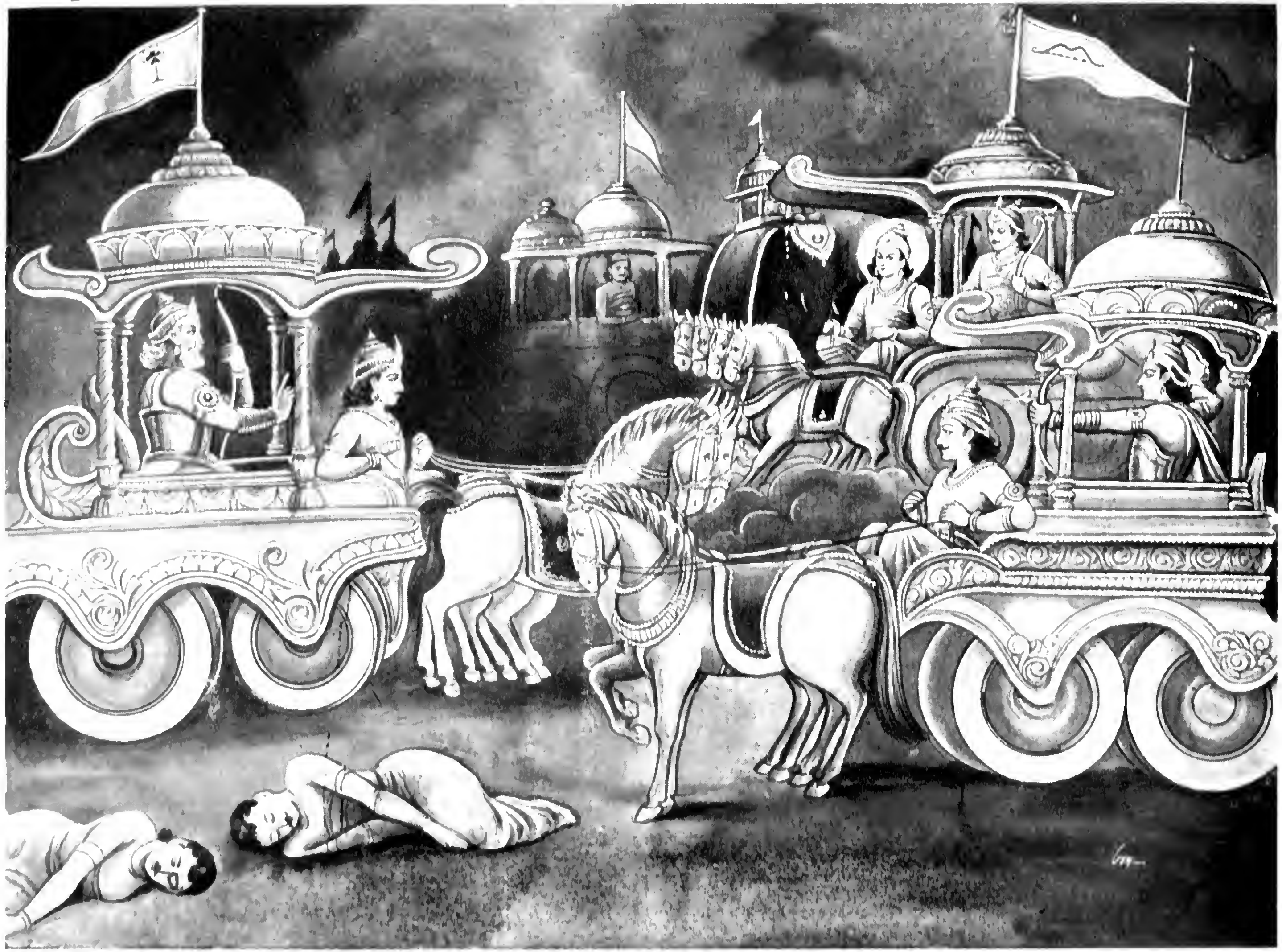

भीष्मजीका शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करना

विन्द-अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण, शूरवीर भगदत्त, महाबली मगधराज, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, राक्षस अलम्बुष तथा त्रिगर्तराज सुशर्माको रणक्षेत्रमें सब महारथियोंके साथ उसी प्रकार रोक रक्खूँगा, जैसे तटभूमि समुद्रको आगे बढ़ने नहीं देती है ॥ ५७–५९½ ॥

कुरूंश्च सहितान् सर्वान् युध्यमानान् महाबलान् ।
निवारयिष्यामि रणे साधयस्व पितामहम् ॥ ६० ॥

'युद्धमें एक साथ लगे हुए समस्त महाबली कौरवोंको भी मैं युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दूँगा। तुम पितामह भीष्मके वधका कार्य सिद्ध करो' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मशिखण्डीसमागमे अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और शिखण्डीका समागमविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ १०८

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और दुर्योधनका संवाद तथा भीष्मके द्वारा लाखों सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यधावत् पितामहम् ।
पाञ्चाल्यः समरे क्रुद्धो धर्मात्मानं यतव्रतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीने समरभूमिमें कुपित होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा पितामह गङ्गानन्दन भीष्मपर किस प्रकार धावा किया ?

केऽरक्षन् पाण्डवानीके शिखण्डिनमुदायुधाः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले जिगीषन्तो महारथाः ॥ २ ॥

पाण्डवोंकी सेनाके किन-किन वीर महारथियोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर विजयकी अभिलाषासे उस शीघ्रताके समय अपनी शीघ्रकारिताका परिचय देते हुए शिखण्डीका संरक्षण किया ? २

कथं शान्तनवो भीष्मः स तस्मिन् दशमेऽहनि ।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः ॥ ३ ॥

महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने दसवें दिन पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ ३ ॥

न मृष्यामि रणे भीष्मं प्रत्युद्यातं शिखण्डिना ।
कच्चिन्न रथभङ्गोऽस्य धनुर्वाशीर्यतास्यतः ॥ ४ ॥

रणक्षेत्रमें शिखण्डीने भीष्मपर आक्रमण किया, यह मुझसे सहन नहीं हो रहा है। कहीं उनका रथ तो नहीं टूट गया था अथवा बाणोंका प्रहार करते-करते उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो गये थे ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

नाशीर्यत धनुश्चास्य रथभङ्गो न चाप्यभूत् ।
युध्यमानस्य संग्रामे भीष्मस्य भरतर्षभ ॥ ५ ॥
निघ्नतः समरे शत्रूञ्शरैः संनतपर्वभिः ।

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! संग्राममें युद्ध करते समय भीष्मके न तो धनुषके ही टुकड़े-टुकड़े हुए थे और न उनका रथ ही टूटा था। वे समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते जा रहे थे ॥ ५½ ॥

अनेकशतसाहस्रास्तावकानां महारथाः ॥ ६ ॥
तथा दन्तिगणा राजन् हयाश्चैव सुसज्जिताः ।
अभ्यवर्तन्त युद्धाय पुरस्कृत्य पितामहम् ॥ ७ ॥

राजन् ! आपके कई लाख महारथी, हाथी और घोड़े सुसज्जित हो पितामह भीष्मको आगे करके युद्धके लिये बढ़ रहे थे॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्य स चापि समितिञ्जयः ।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम् ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! युद्धविजयी भीष्म अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमारोंके सैनिकोंका निरन्तर संहार कर रहे थे ८

युध्यमानं महेष्वासं विनिघ्नन्तं पराञ्शरैः ।
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं सर्वे ते नाभ्यवारयन् ॥ ९ ॥

बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारते हुए युद्धपरायण महाधनुर्धर भीष्मको पाण्डवोंसहित सारे पाञ्चाल योद्धा भी आगे बढ़नेसे रोक न सके ॥ ९ ॥

दशमेऽहनि सम्प्राप्ते ततस्तां रिपुवाहिनीम् ।
कीर्यमाणां शितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

दसवें दिन शत्रुकी सेनापर भीष्मके द्वारा सैकड़ों और हजारों पैने बाणोंकी वर्षा की जाने लगी परंतु पाण्डव इसे रोक न सके ॥

न हि भीष्मं महेष्वासं पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अशक्नुवन् रणे जेतुं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र ! पाशधारी यमराजके समान महाधनुर्धर भीष्मको युद्धमें जीतनेके लिये पाण्डव कभी समर्थ न हो सके ॥ ११ ॥

अथोपायान्महाराज सव्यसाची धनंजयः ।
त्रासयन् रथिनः सर्वान् बीभत्सुरपराजितः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और बायें हाथसे भी बाण चलानेमें समर्थ धनंजय अर्जुन समस्त रथियोंको भयभीत करते हुए उनके निकट आये ॥ १२ ॥

सिंहवद् विनदन्नुच्चैर्धनुर्ज्यां विक्षिपन् मुहुः ।
शरौघान् विसृजन् पार्थो व्यचरत् कालवद् रणे॥ १३ ॥

वे कुन्तीकुमार सिंहके समान उच्च स्वरसे गर्जना करते हुए बारंबार अपने धनुषकी डोरी खींचते और बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें कालके समान विचरते थे।१३।

तस्य शब्देन वित्रस्तास्तावका भरतर्षभ।
सिंहस्येव मृगा राजन् व्यद्रवन्त महाभयात् ॥ १४ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! जैसे सिंहके शब्दसे अत्यन्त भयभीत होकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनके सिंहनादसे संत्रस्त हुए आपके सैनिक महान् भयके कारण भागने लगे।१४।

जयन्तं पाण्डवं दृष्ट्वा त्वत्सैन्यं चाभिपीडितम्।
दुर्योधनस्ततो भीष्ममब्रवीद् भृशपीडितः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनको जीतते और आपकी सेनाको पीड़ित होती देख दुर्योधन अत्यन्त पीड़ित होकर भीष्मसे बोला—।१५।

एष पाण्डुसुतस्तात श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
दहते मामकान् सर्वान् कृष्णवर्त्मेव काननम् ॥ १६ ॥

'तात! ये श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, मेरे सारे सैनिकोंको उसी प्रकार दग्ध करते हैं, जैसे दावानल वनको ॥ १६ ॥

पश्य सैन्यानि गाङ्गेय द्रवमाणानि सर्वशः।
पाण्डवेन युधां श्रेष्ठ काल्यमानानि संयुगे ॥ १७ ॥

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन! देखिये, मेरी सेनाएँ सब ओर भाग रही हैं और अर्जुन युद्धस्थलमें खड़े हो उन्हें खदेड़ रहे हैं ॥ १७ ॥

यथा पशुगणान् पालः संकालयति कानने।
तथेदं मामकं सैन्यं काल्यते शत्रुतापन ॥ १८ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह! जैसे चरवाहा जंगलमें पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार मेरी यह सेना अर्जुनके द्वारा हाँकी जा रही है ॥ १८ ॥

धनंजयशरैर्भग्नं द्रवमाणं ततस्ततः।
भीमोऽप्येवं दुराधर्षो विद्रावयति मे बलम् ॥ १९ ॥

'धनंजयके बाणोंसे आहत हो व्यूह भंग करके इधर-उधर भागनेवाली मेरी सेनाको ये दुर्धर्ष वीर भीमसेन भी पीछेसे खदेड़ रहे हैं ॥ १९ ॥

सात्यकिश्चेकितानश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
अभिमन्युः सुविक्रान्तो वाहिनीं द्रवते मम ॥ २० ॥

'सात्यकि, चेकितान, पाण्डु और माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव और पराक्रमी अभिमन्यु भी मेरी सेनाको भगा रहे हैं ॥ २० ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा शूरो राक्षसश्च घटोत्कचः।
व्यद्रावयेतां सहसा सैन्यं मम महारणे ॥ २१ ॥

'धृष्टद्युम्न तथा शूरवीर राक्षस घटोत्कचने भी सहसा इस महासमरमें आकर मेरी सेनाको मार भगाया है ॥ २१ ॥

वध्यमानस्य सैन्यस्य सर्वैरेतैर्महारथैः।
नान्यां गतिं प्रपश्यामि स्थाने युद्धे च भारत ॥ २२ ॥
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र देवतुल्यपराक्रम।
पर्याप्तस्तु भवाञ्शीघ्रं पीडितानां गतिर्भव ॥ २३ ॥

'भारत! इन सब महारथियोंद्वारा मारी जाती हुई अपनी सेनाको मैं युद्धमें ठहरानेके लिये आपके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं देखता। देवतुल्य पराक्रमी पुरुषसिंह! केवल आप ही उसकी रक्षामें समर्थ हैं। अतः हम पीड़ितोंके लिये आप शीघ्र ही आश्रयदाता होइये' ॥ २२-२३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज पिता देवव्रतस्तव।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २४ ॥
तव संधारयन् पुत्रमब्रवीच्छान्तनोः सुतः।
दुर्योधन विजानीहि स्थिरो भूत्वा विशाम्पते ॥ २५ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके ताऊ शान्तनुनन्दन देवव्रतने दो घड़ीतक कुछ चिन्तन करनेके पश्चात् अपना एक निश्चय करके आपके पुत्र दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—'प्रजानाथ दुर्योधन! सुस्थिर होकर इधर ध्यान दो ॥ २४–२५ ॥

पूर्वकालं तव मया प्रतिज्ञातं महाबल।
हत्वा दशसहस्राणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
संग्रामाद् व्यपयातव्यमेतत् कर्म ममाह्निकम्।
इति तत् कृतवांश्चाहं यथोक्तं भरतर्षभ ॥ २७ ॥

'महाबली नरेश! पूर्वकालमें मैंने तुम्हारे लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि दस हजार महामनस्वी क्षत्रियोंका वध करके ही मुझे संग्रामभूमिसे हटना होगा और यह मेरा दैनिक कर्म होगा। भरतश्रेष्ठ! जैसा मैंने कहा था, वैसा अबतक करता आया हूँ ॥ २६–२७ ॥

अद्य चापि महत् कर्म प्रकरिष्ये महाबल।
अहं वाद्य हतः शेष्ये हनिष्ये वाद्य पाण्डवान् ॥ २८ ॥

'महाबली वीर! आज भी मैं महान् कर्म करूँगा। या तो आज मैं ही मारा जाकर रणभूमिमें सो जाऊँगा या पाण्डवोंका ही संहार करूँगा ॥ २८ ॥

अद्य ते पुरुषव्याघ्र प्रतिमोक्ष्ये ऋणं तव।
भर्तृपिण्डकृतं राजन् निहतः पृतनामुखे ॥ २९ ॥

'पुरुषसिंह! नरेश! तुम स्वामी हो, मुझपर तुम्हारे अन्नका ऋण है; आज युद्धके मुहानेपर मारा जाकर मैं तुम्हारे उस ऋणको उतार दूँगा' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठ क्षत्रियान् प्रवपञ्छरैः।
आससाद दुराधर्षः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर दुर्धर्ष वीर भीष्मने क्षत्रियोंपर अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं गाङ्गेयं भरतर्षभ ।
आशीविषमिव क्रुद्धं पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ३१ ॥

सेनाके मध्यभागमें स्थित हुए विषधर सर्पके समान कुपित भीष्मको पाण्डव सैनिक रोकने लगे ॥ ३१ ॥

दशमेऽहनि भीष्मस्तु दर्शयञ्शक्तिमात्मनः ।
राजञ्छतसहस्राणि सोऽवधीत् कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥

किंतु राजन् ! कुरुनन्दन ! दसवें दिन भीष्मने अपनी शक्तिका परिचय देते हुए लाखों पाण्डव-सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ३२ ॥

पञ्चालानां च ये श्रेष्ठा राजपुत्रा महारथाः ।
तेषामादत्त तेजांसि जलं सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा धरतीका जल सोख लेते हैं, उसी प्रकार भीष्मजीने पाञ्चालोंमें जो श्रेष्ठ महारथी राजकुमार थे, उन सबके तेज हर लिये ॥ ३३ ॥

हत्वा दश सहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
सारोहाणां महाराज हयानां चायुतं तथा ॥ ३४ ॥
पूर्णे शतसहस्रे द्वे पादातानां नरोत्तमः ।
प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥ ३५ ॥

महाराज ! सवारोंसहित दस हजार वेगशाली हाथियों, उतने ही घोड़ों और घुड़सवारों तथा दो लाख पैदल सैनिकोंको नरश्रेष्ठ भीष्मने रणभूमिमें धूमरहित अग्निकी भाँति फूँक डाला ॥ ३४-३५ ॥

न चैनं पाण्डवेयानां केचिच्छेकुर्निरीक्षितुम् ।
उत्तरं मार्गमास्थाय तपन्तमिव भास्करम् ॥ ३६ ॥

उत्तरायणका आश्रय लेकर तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रतापी भीष्मकी ओर पाण्डवोंमेंसे कोई देखनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३६ ॥

ते पाण्डवेयाः संरब्धा महेष्वासेन पीडिताः ।
वधायाभ्यद्रवन् भीष्मं सृंजयाश्च महारथाः ॥ ३७ ॥

महाधनुर्धर भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव तथा सृंजय महारथी भीष्मके वधके लिये उनपर टूट पड़े ॥ ३७ ॥

संयुद्ध्यमानो बहुभिर्भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
अवकीर्णो महामेरुः शैलो मेघैरिवावृतः ॥ ३८ ॥

बहुत-से योद्धाओंके साथ अकेले युद्ध करते हुए शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय बाणोंसे आच्छादित हो मेघोंके समूहसे आवृत हुए महान् पर्वत मेरुकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३८ ॥

पुत्रास्तु तव गाङ्गेयं समन्तात् पर्यवारयन् ।
महत्या सेनया सार्धं ततो युद्धमवर्तत ॥ ३९ ॥

राजन् ! आपके पुत्रोंने विशाल सेनाके साथ आकर गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया । तत्पश्चात् वहाँ विकट युद्ध होने लगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधन-संवादविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१०९।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके प्रोत्साहनसे शिखण्डीका भीष्मपर आक्रमण और दोनों सेनाओंके प्रमुख वीरोंका परस्पर युद्ध तथा दुःशासनका अर्जुनके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।
शिखण्डिनमथोवाच समभ्येहि पितामहम् ॥ १ ॥
न चापि भीस्त्वया कार्या भीष्मादद्य कथंचन ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्ये रथोत्तमात् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रणभूमिमें भीष्मका पराक्रम देखकर अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम पितामहका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो । आज भीष्मजीसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये । मैं स्वयं अपने पैने बाणोंद्वारा इनको उत्तम रथसे मार गिराऊँगा' ॥ १-२ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जब अर्जुनने शिखण्डीसे ऐसा कहा, तब उसने पार्थके उस कथनको सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा राजन् सौभद्रश्च महारथः ।
हृष्टावाद्रवतां भीष्मं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥ ४ ॥

राजन् ! पार्थका वह भाषण सुनकर धृष्टद्युम्न तथा सुभद्राकुमार महारथी अभिमन्यु—ये दोनों वीर हर्ष और उत्साहमें भरकर भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं पुत्रस्य तव पश्यतः ॥ ५ ॥

दोनों वृद्ध नरेश विराट और द्रुपद तथा कवचधारी कुन्तिभोज भी आपके पुत्रके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ॥ ५ ॥

नकुलः सहदेवश्च धर्मराजश्च वीर्यवान्।
तथेतराणि सैन्यानि सर्वाण्येव विशाम्पते ॥ ६ ॥
समाद्रवन्त गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम्।

प्रजानाथ ! नकुल, सहदेव, पराक्रमी धर्मराज युधिष्ठिर तथा दूसरे समस्त सैनिक अर्जुनका उपर्युक्त वचन सुनकर भीष्मजीकी ओर बढ़ने लगे ॥ ६½ ॥

प्रत्युद्ययुस्तावकाश्च समेतांस्तान् महारथान् ॥ ७ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं तन्मे निगदतः शृणु।

इस प्रकार एकत्र हुए पाण्डव महारथियोंपर आपके पुत्रोंने भी जिस प्रकार अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार आक्रमण किया, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ ७½ ॥

चित्रसेनो महाराज चेकितानं समभ्ययात् ॥ ८ ॥
भीष्मप्रेप्सुं रणे यान्तं वृषं व्याघ्रशिशुर्यथा।

महाराज ! चित्रसेनने भीष्मके पास पहुँचनेकी इच्छासे रणमें जाते हुए चेकितानका सामना किया, मानो बाघका बच्चा बैलका सामना कर रहा हो ॥ ८½ ॥

धृष्टद्युम्नं महाराज भीष्मान्तिकमुपागतम् ॥ ९ ॥
त्वरमाणं रणे यत्तं कृतवर्मा न्यवारयत्।

राजन् ! कृतवर्माने भीष्मजीके निकट पहुँचकर युद्धके लिये उतावलीपूर्वक प्रयत्न करनेवाले धृष्टद्युम्नको रोका ॥ ९½ ॥

भीमसेनं सुसंक्रुद्धं गाङ्गेयस्य वधैषिणम् ॥ १० ॥
त्वरमाणो महाराज सौमदत्तिर्न्यवारयत्।

महाराज ! भीमसेन भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर गङ्गा-नन्दन भीष्मका वध करना चाहते थे; परंतु सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाने तुरंत आकर उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया ।१०½।

तथैव नकुलं शूरं किरन्तं सायकान् बहून् ॥ ११ ॥
विकर्णो वारयामास इच्छन् भीष्मस्य जीवितम्।

इसी प्रकार शूरवीर नकुल बहुतसे सायकोंकी वर्षा कर रहे थे, परंतु भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विकर्णने उन्हें रोक दिया ॥ ११½ ॥

सहदेवं तथा राजन् यान्तं भीष्मरथं प्रति ॥ १२ ॥
वारयामास संक्रुद्धः कृपः शारद्वतो युधि।

राजन् ! युद्धस्थलमें भीष्मके रथकी ओर जाते हुए सहदेव-को कुपित हुए शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने रोक दिया ॥ १२½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं भैमसेनिं महाबलम् ॥ १३ ॥
भीष्मस्य निधनं प्रेप्सुं दुर्मुखोऽभ्यद्रवद् बली।

भीष्मकी मृत्यु चाहनेवाले क्रूरकर्मा राक्षस महाबली भीमसेनकुमार घटोत्कचपर बलवान् दुर्मुखने आक्रमण किया ॥

सात्यकिं समरे यान्तं तव पुत्रो न्यवारयत् ॥ १४ ॥
(भीष्मस्य वधमिच्छन्तं पाण्डवप्रीतिकाम्यया।)

पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका वध चाहनेवाले सात्यकिको युद्धके लिये जाते देख आपके पुत्र दुर्योधनने रोका ॥

अभिमन्युं महाराज यान्तं भीष्मरथं प्रति।
सुदक्षिणो महाराज काम्बोजः प्रत्यवारयत् ॥ १५ ॥

महाराज ! भीष्मके रथकी ओर अग्रसर होनेवाले अभिमन्युको काम्बोजराज सुदक्षिणने रोका ॥ १५ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ समेतावरिमर्दनौ।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो वारयामास भारत ॥ १६ ॥

भारत ! एक साथ आये हुए शत्रुमर्दन बूढ़े नरेश विराट और द्रुपदको क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाने रोक दिया ॥

तथा पाण्डुसुतं ज्येष्ठं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
भारद्वाजो रणे यत्तो धर्मपुत्रमवारयत् ॥ १७ ॥

भीष्मके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव धर्म-पुत्र युधिष्ठिरको युद्धमें द्रोणाचार्यने यत्नपूर्वक रोका ॥ १७ ॥

अर्जुनं रभसं युद्धे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
भीष्मप्रेप्सुं महाराज भासयन्तं दिशो दश ॥ १८ ॥
दुःशासनो महेष्वासो वारयामास संयुगे।

महाराज ! दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए वेग-शाली वीर अर्जुन युद्धमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको मारना चाहते थे । उस समय महाधनुर्धर दुःशासनने युद्धके मैदानमें आकर उन्हें रोका ॥ १८½ ॥

अन्ये च तावका योधाः पाण्डवानां महारथान् ॥१९॥
भीष्मस्याभिमुखान् यातान् वारयामासुराहवे।

राजन् ! इसी प्रकार आपके अन्य योद्धाओंने भीष्मके सम्मुख गये हुए पाण्डव महारथियोंको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १९½ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु सैन्यानि प्राक्रोशत पुनः पुनः ॥ २० ॥
अभिद्रवत संरब्धा भीष्ममेकं महाबलम्।
एषोऽर्जुनो रणे भीष्मं प्रयाति कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥
अभिद्रवत मा भैष्ट भीष्मो हि प्राप्स्यते न वः।
अर्जुनं समरे योद्धुं नोत्सहेतापि वासवः ॥ २२ ॥
किमु भीष्मो रणे वीरा गतसत्त्वोऽल्पजीवितः।

धृष्टद्युम्न अपने सैनिकोंसे बारंबार पुकार-पुकारकर कहने लगे—'वीरो ! तुम सब लोग उत्साहित होकर एकमात्र महाबली भीष्मपर आक्रमण करो । ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अर्जुन रणक्षेत्रमें भीष्मपर चढ़ाई करते हैं । तुम भी उनपर टूट पड़ो । डरो मत । भीष्म तुमलोगोंको नहीं पा सकेंगे । इन्द्र भी समराङ्गणमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर ये धैर्य और शक्तिसे शून्य भीष्म रणक्षेत्रमें उनका सामना कैसे कर सकते हैं ? अब इनका जीवन थोड़ा ही शेष रहा है' ॥ २०–२२½ ॥

इति सेनापतेः श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ २३ ॥
अभ्यद्रवन्त संहृष्टा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ।

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डव महारथी अत्यन्त हर्षमें भरकर गङ्गानन्दन भीष्मके रथपर टूट पड़े ॥ २३½ ॥

आगच्छमानान् समरे वार्योघान् प्रलयानिव ॥ २४ ॥
अवारयन्त संहृष्टास्तावकाः पुरुषर्षभाः ।

युद्धमें प्रलयकालीन जलप्रवाहके समान आते हुए उन वीरोंको आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने हर्ष और उत्साहमें भरकर रोका ॥ २४½ ॥

दुःशासनो महाराज भयं त्यक्त्वा महारथः ॥ २५ ॥
भीष्मस्य जीविताकाङ्क्षी धनंजयमुपाद्रवत् ।

महाराज ! महारथी दुःशासनने भय छोड़कर भीष्मकी जीवन-रक्षाके लिये धनंजयपर धावा किया ॥ २५½ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥ २६ ॥
अभ्यद्रवन्त संग्रामे तव पुत्रान् महारथाः ।

इसी प्रकार शूरवीर महारथी पाण्डवोंने युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्मके रथकी ओर खड़े हुए आपके पुत्रोंपर आक्रमण किया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम चित्ररूपं विशाम्पते ॥ २७ ॥
दुःशासनरथं प्राप्य यत् पार्थो नात्यवर्तत ।

प्रजानाथ ! वहाँ हमने सबसे अद्भुत और विचित्र बात यह देखी कि अर्जुन दुःशासनके रथके पास पहुँचकर वहाँसे आगे न बढ़ सके ॥ २७½ ॥

यथा वारयते वेला क्षुब्धतोयं महार्णवम् ॥ २८ ॥
तथैव पाण्डवं क्रुद्धं तव पुत्रो न्यवारयत् ।

जैसे तटकी भूमि विक्षुब्ध जलराशिवाले महासागरको रोके रहती है, उसी प्रकार आपके पुत्रने क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको रोक दिया था ॥ २८½ ॥

उभौ तौ रथिनां श्रेष्ठावुभौ भारत दुर्जयौ ॥ २९ ॥
उभौ चन्द्रार्कसदृशौ कान्त्या दीप्त्या च भारत ।
तथा तौ जातसंरम्भावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३० ॥
(दुःशासनार्जुनौ वीरौ वृत्रेन्द्रसमतेजसौ ।)
समीयतुर्महासंख्ये मयशक्रौ यथा पुरा ।

भारत ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और दुर्जय वीर थे । दोनों ही कान्ति और दीप्तिमें चन्द्रमा और सूर्यके समान जान पड़ते थे और भारत ! दुःशासन तथा अर्जुन दोनों वीर वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान तेजस्वी थे । वे दोनों क्रोधमें भरकर एक दूसरेके वधकी अभिलाषा रखते थे । उस महायुद्धमें वे उसी प्रकार एक दूसरेसे भिड़े हुए थे, जैसे पूर्वकालमें मयासुर और इन्द्र आपसमें लड़ते थे ॥ २९–३०½ ॥

दुःशासनो महाराज पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ॥ ३१ ॥
वासुदेवं च विंशत्या ताडयामास संयुगे ।

महाराज ! दुःशासनने तीन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको और बीस बाणोंसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको युद्धमें घायल किया ॥ ३१½ ॥

ततोऽर्जुनो जातमन्युर्वार्ष्णेयं वीक्ष्य पीडितम् ॥ ३२ ॥
दुःशासनं शतेनाजौ नाराचानां समार्पयत् ।

भगवान् श्रीकृष्णको बाणोंसे पीड़ित हुआ देख अर्जुनका क्रोध उमड़ आया और उन्होंने दुःशासनको युद्धमें सौ नाराचोंसे घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ ३३ ॥
(यथैव पन्नगा राजंस्तटाकं तृषितास्तथा ।)

वे नाराच रणक्षेत्रमें दुःशासनका कवच विदीर्ण करके उसका रक्त पीने लगे, मानो प्यासे सर्प तालाबमें घुस गये हों ॥

दुःशासनस्त्रिभिः क्रुद्धः पार्थं विव्याध पत्रिभिः ।
ललाटे भरतश्रेष्ठ शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब दुःशासनने कुपित होकर अर्जुनके ललाटमें झुकी हुई गाँठवाले तीन पंखयुक्त बाण मारे ॥ ३४ ॥

ललाटस्थैस्तु तैर्बाणैः शुशुभे पाण्डवो रणे ।
यथा मेरुर्महाराज शृङ्गैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ॥ ३५ ॥

ललाटमें लगे हुए उन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन युद्धमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे मेरुपर्वत अपने तीन अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित होता है ॥ ३५ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः पुत्रेण तव धन्विना ।
व्यराजत रणे पार्थः किंशुकः पुष्पवानिव ॥ ३६ ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा युद्धमें अधिक घायल किये जानेपर महाधनुर्धर अर्जुन खिले हुए पलाश वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ३६ ॥

दुःशासनं ततः क्रुद्धः पीडयामास पाण्डवः ।
पर्वणीव सुसंक्रुद्धो राहुः पूर्णं निशाकरम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कुपित हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन दुःशासनको उसी प्रकार पीड़ा देने लगे, जैसे पूर्णिमाके दिन अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ राहु पूर्ण चन्द्रमाको पीड़ा देता है ॥ ३७ ॥

पीड्यमानो बलवता पुत्रस्तव विशाम्पते ।
विव्याध समरे पार्थं कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! बलवान् अर्जुनके द्वारा पीड़ित होनेपर आपके पुत्रने शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त बाणोंद्वारा समरभूमिमें उन कुन्तीकुमारको बींध डाला ॥ ३८ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा रथं चास्य त्रिभिः शरैः ।
आजघान ततः पश्चात् पुत्रं ते निशितैः शरैः ॥ ३९ ॥

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे दुःशासनके रथ और धनुषको छिन्न-भिन्न करके आपके उस पुत्रको पैने बाणोंद्वारा अच्छी तरह घायल किया ॥ ३९ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मस्य प्रमुखे स्थितः।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४० ॥

तब दुःशासनने दूसरा धनुष ले भीष्मके सामने खड़े होकर अर्जुनकी दोनों भुजाओं और छातीमें पचीस बाण मारे ॥ ४० ॥

तस्य क्रुद्धो महाराज पाण्डवः शत्रुतापनः।
अप्रैषीद् विशिखान् घोरान् यमदण्डोपमान् बहून् ॥ ४१ ॥

महाराज ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो दुःशासनपर यमदण्डके समान भयंकर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४१ ॥

अप्राप्तानेव तान् बाणांश्चिच्छेद तनयस्तव।
यतमानस्य पार्थस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४२ ॥

परंतु आपके पुत्रने अर्जुनके प्रयत्नशील होते हुए भी उन बाणोंको अपने पास आनेके पहले ही काट डाला। वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४२ ॥

पार्थं च निशितैर्बाणैरविध्यत् तनयस्तव।
ततः क्रुद्धो रणे पार्थः शरान् संधाय कार्मुके ॥ ४३ ॥
प्रेषयामास समरे स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान्।

बाणोंको काटनेके पश्चात् आपके पुत्रने कुन्तीकुमार अर्जुनको तीखे बाणोंद्वारा बींध डाला, तब रणक्षेत्रमें अर्जुनने कुपित होकर अपने धनुषपर स्वर्णमय पंखसे युक्त एवं शिलापर रगड़कर तेज किये हुए बाणोंका संधान किया और उन्हें दुःशासनपर चलाया ॥ ४३½ ॥

न्यमज्जंस्ते महाराज तस्य काये महात्मनः ॥ ४४ ॥
यथा हंसा महाराज तडागं प्राप्य भारत।

महाराज ! भरतनन्दन ! जैसे हंस तालाबमें पहुँचकर उसके भीतर गोते लगाते हैं, उसी प्रकार वे बाण महामना दुःशासनके शरीरमें धँस गये ॥ ४४½ ॥

पीडितश्चैव पुत्रस्ते पाण्डवेन महात्मना ॥ ४५ ॥
हित्वा पार्थं रणे तूर्णं भीष्मस्य रथमाव्रजत्।
अगाधे मज्जतस्तस्य द्वीपो भीष्मोऽभवत् तदा ॥ ४६ ॥

इस प्रकार महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनके द्वारा पीड़ित होकर आपका पुत्र दुःशासन युद्धमें अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही भीष्मके रथपर जा बैठा। उस समय अगाध समुद्रमें डूबते हुए दुःशासनके लिये भीष्मजी द्वीप हो गये ॥४५-४६॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां पुत्रस्तव विशाम्पते।
अवारयत् ततः शूरो भूय एव पराक्रमी ॥ ४७ ॥
शरैः सुनिशितैः पार्थं यथा वृत्रं पुरंदरः।
निर्बिभेद महाकायो विव्यथे नैव चार्जुनः ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर होश-हवास ठीक होनेपर आपके पराक्रमी एवं शूरवीर पुत्र दुःशासनने पुनः अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको रोका, मानो इन्द्रने वृत्रासुरकी गतिको अवरुद्ध कर दिया हो। महाकाय दुःशासनने अर्जुनको अपने बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया; परंतु वे तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अर्जुनदुःशासनसमागमे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अर्जुन और दुःशासनका युद्धविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव पक्षके प्रमुख महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन

संजय उवाच

सात्यकिं दंशितं युद्धे भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।
आर्ष्यशृङ्गिर्महेष्वासो वारयामास संयुगे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धस्थलमें कवचधारी सात्यकिको भीष्मसे युद्ध करनेके लिये उद्यत देख महाधनुर्धर राक्षस अलम्बुषने आकर उन्हें रोका ॥ १ ॥

माधवस्तु सुसंक्रुद्धो राक्षसं नवभिः शरैः।
आजघान रणे राजन् प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! यह देख सात्यकिने अत्यन्त कुपित हो उस रणक्षेत्रमें राक्षस अलम्बुषको हँसते हुए-से नौ बाण मारे ॥ २ ॥

तथैव राक्षसो राजन् माधवं नवभिः शरैः।
अर्दयामास राजेन्द्र संक्रुद्धः शिनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! तब उस राक्षसने भी अत्यन्त कुपित होकर मधुवंशी सात्यकिको नौ बाणोंसे पीड़ित किया ॥ ३ ॥

शैनेयः शरसंघं तु प्रेषयामास संयुगे।
राक्षसाय सुसंक्रुद्धो माधवः परवीरहा ॥ ४ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी सात्यकिका क्रोध बहुत बढ़ गया और समरभूमिमें उन्होंने राक्षसपर बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४ ॥

ततो रक्षो महाबाहुं सात्यकिं सत्यविक्रमम्।
विव्याध विशिखैस्तीक्ष्णैः सिंहनादं ननाद च ॥ ५ ॥

तदनन्तर राक्षसने सत्यपराक्रमी महाबाहु सात्यकिको तीखे सायकोंसे बींध डाला और सिंहके समान गर्जना की ॥ ५ ॥

माधवस्तु भृशं विद्धो राक्षसेन रणे तदा।
वार्यमाणश्च तेजस्वी जहास च ननाद च ॥ ६ ॥

उस समय राक्षसके द्वारा रणक्षेत्रमें रोके जाने और अत्यन्त घायल होनेपर भी मधुवंशी तेजस्वी सात्यकि हँसने और गर्जना करने लगे ॥ ६ ॥

भगदत्तस्ततः क्रुद्धो माधवं निशितैः शरैः।
ताडयामास समरे तोत्रैरिव महागजम् ॥ ७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए भगदत्तने पैने बाणोंद्वारा मधुवंशी सात्यकिको समरभूमिमें उसी प्रकार पीड़ित किया, जैसे महावत अंकुशोंद्वारा महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥७॥

विहाय राक्षसं युद्धे शैनेयो रथिनां वरः।
प्राग्ज्योतिषाय चिक्षेप शरान् संनतपर्वणः ॥ ८ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने युद्धमें उस राक्षसको छोड़कर प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तपर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाण चलाये ॥ ८ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषो राजा माधवस्य महद् धनुः।
चिच्छेद शतधारेण भल्लेन कृतहस्तवत् ॥ ९ ॥

यह देख प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तने सात्यकिके विशाल धनुषको एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति सौ धारवाले भल्लके द्वारा काट डाला ॥ ९ ॥

अथान्यद् धनुरादाय वेगवत् परवीरहा।
भगदत्तं रणे क्रुद्धं विव्याध निशितैः शरैः ॥ १० ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सात्यकिने दूसरा वेगवान् धनुष लेकर पैने बाणोंद्वारा युद्धमें क्रुद्ध हुए भगदत्तको बींध डाला ॥ १० ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन्।
शक्तिं कनकवैदूर्यभूषितामायसीं दृढाम् ॥ ११ ॥
यमदण्डोपमां घोरां चिक्षेप परमाहवे।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भगदत्त अपने मुँहके दोनों कोने चाटने लगे। फिर उन्होंने उस महायुद्धमें कनक और वैदूर्य मणियोंसे विभूषित लोहेकी बनी हुई सुदृढ़ एवं यमदण्डके समान भयंकर शक्ति चलायी ११½

तामापतन्तीं सहसा तस्य बाहुबलेरिताम् ॥ १२ ॥
सात्यकिः समरे राजन् द्विधा चिच्छेद सायकैः।

उनके बाहुबलसे प्रेरित होकर समरभूमिमें सहसा अपने ऊपर गिरती हुई उस शक्तिके सात्यकिने बाणोंद्वारा दो टुकड़े कर दिये ॥ १२½ ॥

ततः पपात सहसा महोल्केव हतप्रभा ॥ १३ ॥
शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते।
महता रथवंशेन वारयामास माधवम् ॥ १४ ॥

तब वह शक्ति प्रभाहीन हुई बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ी। प्रजानाथ! भगदत्तकी शक्तिको नष्ट हुई देख आपके पुत्रने विशाल रथसेनाके साथ आकर सात्यकिको रोका ॥ १३–१४ ॥

तथा परिवृतं दृष्ट्वा वार्ष्णेयानां महारथम्।
दुर्योधनो भृशं क्रुद्धो भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ॥ १५ ॥

वृष्णिवंशी महारथी सात्यकिको रथसेनासे घिरा हुआ देख दुर्योधनने अत्यन्त कुपित होकर अपने समस्त भाइयोंसे कहा—॥ १५ ॥

तथा कुरुत कौरव्या यथा वः सात्यको युधि।
न जीवन् प्रतिनिर्याति महतोऽस्माद् रथव्रजात् ॥ १६ ॥

'कौरवो! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इस समराङ्गणमें आये हुए सात्यकि हमारे इस महान् रथसमुदायसे जीवित न निकलने पावें ॥ १६ ॥

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डवानां महद् बलम्।
तथेति च वचस्तस्य परिगृह्य महारथाः ॥ १७ ॥
शैनेयं योधयामासुर्भीष्मायाभ्युद्यतं रणे।

'सात्यकिके मारे जानेपर मैं पाण्डवोंकी विशाल सेनाको मरी हुई ही मानता हूँ।' दुर्योधनकी इस बातको मानकर कौरव महारथियोंने रणभूमिमें भीष्मका सामना करनेके लिये उद्यत हुए सात्यकिसे युद्ध आरम्भ किया ॥ १७½ ॥

(अभिमन्युं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्याभ्युद्यतं वधे।)
काम्बोजराजो बलवान् वारयामास संयुगे ॥ १८ ॥

इसी प्रकार भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत होकर आते हुए अर्जुनकुमार अभिमन्युको बलवान् काम्बोजराजने युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १८ ॥

आर्जुनिं नृपतिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः।
पुनरेव चतुःषष्ट्या राजन् विव्याध तं नृप ॥ १९ ॥

राजन्! नरेश्वर! काम्बोजराजने झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाणोंद्वारा अभिमन्युको घायल करके पुनः चौसठ बाणोंसे मारकर उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १९ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य नवभिरिच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ॥ २० ॥

तदनन्तर समराङ्गणमें भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले काम्बोजराज सुदक्षिणने अभिमन्युको पुनः पाँच बाण मारे और नौ बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ २० ॥

तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे।
यदाभ्यधावद् गाङ्गेयं शिखण्डी शत्रुकर्शनः ॥ २१ ॥

जब शत्रुसूदन शिखण्डीने गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया था, उस समय उन दोनों (अभिमन्यु और सुदक्षिण) के संघर्षमें वहाँ बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २१ ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयन्तौ महाचमूम्।
भीष्मं च युधि संरब्धावाद्रवन्तौ महारथौ ॥ २२ ॥

बूढ़े राजा महारथी विराट और द्रुपद दुर्योधनकी उस

विशाल सेनाको रोकते हुए अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें भीष्मपर चढ़ आये ॥ २२ ॥

अश्वत्थामा रणे क्रुद्धः समायाद्रथसत्तमः ।
ततः प्रववृते युद्धं तयोस्तस्य च भारत ॥ २३ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा रणभूमिमें कुपित होकर आया । भारत ! फिर अश्वत्थामाका विराट और द्रुपदके साथ भारी युद्ध छिड़ गया ॥ २३ ॥

विराटो दशभिर्भल्लैराजघान परंतप ।
यतमानं महेष्वासं द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ २४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! राजा विराटने संग्राममें शोभा पानेवाले प्रयत्नशील एवं महाधनुर्धर अश्वत्थामाको भल्ल नामक दस बाणोंसे घायल किया ॥ २४ ॥

द्रुपदश्च त्रिभिर्बाणैर्विव्याध निशितैस्तदा ।
गुरुपुत्रं समासाद्य प्रहरन्तौ महाबलौ ॥ २५ ॥
अश्वत्थामा ततस्तौ तु विव्याध बहुभिः शरैः ।
विराटद्रुपदौ वीरौ भीष्मं प्रति समुद्यतौ ॥ २६ ॥

उस समय द्रुपदने भी तीन तीखे बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको घायल कर दिया । इस प्रकार प्रहार करते हुए उन दोनों महाबली नरेशोंको अश्वत्थामाने अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला । विराट और द्रुपद दोनों वीर भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत थे ॥ २५–२६ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम वृद्धयोश्चरितं महत् ।
यद् द्रौणिसायकान् घोरान् प्रत्यवारयतां युधि ॥ २७॥

राजन् ! वहाँ उन दोनों बूढ़े नरेशोंका हमने अद्भुत एवं महान् पराक्रम यह देखा कि वे युद्धमें अश्वत्थामाके भयंकर बाणोंका निवारण करते जा रहे थे ॥ २७ ॥

सहदेवं तथा यान्तं कृपः शारद्वतोऽभ्ययात् ।
यथा नागो वने नागं मत्तो मत्तमुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्मपर चढ़ाई करनेवाले सहदेवको शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने सामने आकर रोका, मानो वनमें किसी मतवाले हाथीपर मदोन्मत्त गजराजने आक्रमण किया हो ॥ २८ ॥

कृपश्च समरे शूरो माद्रीपुत्रं महारथम् ।
आजघान शरैस्तूर्णं सप्तत्या रुक्मभूषणैः ॥ २९ ॥

शूरवीर कृपाचार्यने समरभूमिमें महारथी माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित सत्तर बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया ॥२९॥

तस्य माद्रीसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद सायकैः ।
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध नवभिः शरैः ॥ ३० ॥

तब माद्रीकुमार सहदेवने भी अपने सायकोंद्वारा उनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे भारसाधनम् ।
माद्रीपुत्रं सुसंहृष्टो दशभिर्निशितैः शरैः ॥ ३१ ॥
आजघानोरसि क्रुद्ध इच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ।

तदनन्तर भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले कृपाचार्यने समराङ्गणमें भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर अत्यन्त हर्षके साथ सहदेवकी छातीमें क्रोधपूर्वक दस तीखे बाण मारे ॥ ३१½ ॥

तथैव पाण्डवो राजञ्छारद्वतममर्षणम् ॥ ३२ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ।
तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं भयावहम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डुकुमार सहदेवने भी कुपित हो भीष्मके वधकी इच्छासे अमर्षशील कृपाचार्यकी छातीमें अपने बाणोंद्वारा प्रहार किया। उन दोनोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर एवं भयंकर हो चला ॥ ३२-३३ ॥

नकुलं तु रणे क्रुद्धो विकर्णः शत्रुतापनः ।
विव्याध सायकैः षष्ट्या रक्षन् भीष्मं महाबलम् ॥ ३४॥

दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी विकर्णने युद्धके मैदानमें महाबली भीष्मकी रक्षामें तत्पर हो साठ बाणोंद्वारा नकुलको घायल कर दिया ॥ ३४ ॥

नकुलोऽपि भृशं विद्धस्तव पुत्रेण धीमता ।
विकर्णं सप्तसप्तत्या निर्बिभेद शिलीमुखैः ॥ ३५ ॥

आपके बुद्धिमान् पुत्र विकर्णद्वारा अत्यन्त घायल होकर नकुलने भी सतहत्तर बाणोंसे विकर्णको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तत्र तौ नरशार्दूलौ भीष्महेतोः परंतपौ ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ गोष्ठे गोवृषभाविव ॥ ३६ ॥

जैसे गोशालामें दो साँड़ आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों पुरुषसिंह वीर विकर्ण और नकुल भीष्मकी रक्षाके लिये एक दूसरेपर घातक प्रहार कर रहे थे ॥

घटोत्कचं रणे यान्तं निघ्नन्तं तव वाहिनीम् ।
दुर्मुखः समरे प्रायाद् भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ३७ ॥

उसी समय पराक्रमी दुर्मुखने समरभूमिमें भीष्मकी रक्षाके लिये राक्षस घटोत्कचपर आक्रमण किया, जो युद्धके मैदानमें आपकी सेनाका संहार करता हुआ आगे बढ़ रहा था ॥ ३७ ॥

हैडिम्बस्तु रणे राजन् दुर्मुखं शत्रुतापनम् ।
आजघानोरसि क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा ॥ ३८ ॥

राजन् ! उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले दुर्मुखको क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३८ ॥

भीमसेनसुतं चापि दुर्मुखः सुमुखैः शरैः ।
षष्ट्या वीरो नदन् हृष्टो विव्याध रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

तब वीर दुर्मुखने हर्षपूर्वक गर्जना करते हुए अपने तीखी नोकवाले बाणोंद्वारा भीमसेनके पुत्र घटोत्कचको युद्धके मुहानेपर साठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम्।
हार्दिक्यो वारयामास रथश्रेष्ठं महारथः ॥ ४०॥

इसी प्रकार भीष्मके वधकी इच्छासे आते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको महारथी कृतवर्माने रोक दिया ॥ ४० ॥

हार्दिक्यः पार्षतं चापि विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः।
पुनः पञ्चाशता तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ४१ ॥

कृतवर्माने द्रुपदकुमारको लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे बींधकर फिर तुरंत ही पचास बाणोंसे घायल किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४१ ॥

आजघान महाबाहुः पार्षतं तं महारथम्।
तं चैव पार्षतो राजन् हार्दिक्यं नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
विव्याध निशितैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः।

इस प्रकार महाबाहु कृतवर्माने महारथी धृष्टद्युम्नको गहरी चोट पहुँचायी। राजन्! तब धृष्टद्युम्नने भी कंकपत्र-विभूषित सीधे जानेवाले तीखे एवं पैने नौ बाणोंसे कृतवर्मा-को क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४२½ ॥

तयोः समभवद् युद्धं भीष्महेतोर्महाहवे ॥ ४३ ॥
अन्योन्यातिशये युक्तं यथा वृत्रमहेन्द्रयोः।

उस समय भीष्मजीके निमित्त उस महान् संग्राममें वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनों वीरोंका घोर युद्ध होने लगा, जिसमें वे एक दूसरेसे आगे बढ़ जानेके प्रयत्नमें लगे थे ॥ ४३½ ॥

भीमसेनं तथाऽऽयान्तं भीष्मं प्रति महारथम् ॥ ४४ ॥
भूरिश्रवाभ्ययात् तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

इसी तरह महारथी भीष्मकी ओर आते हुए भीमसेन-पर भूरिश्रवाने तुरंत आक्रमण किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४४½ ॥

सौमदत्तिरथो भीममाजघान स्तनान्तरे ॥ ४५ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन रुक्मपुङ्खेन संयुगे।

तदनन्तर सोमदत्तकुमारने युद्धस्थलमें सुवर्णमय पंखसे युक्त अत्यन्त तीखे नाराचद्वारा भीमसेनकी छातीमें प्रहार किया ॥ ४५½ ॥

उरःस्थेन बभौ तेन भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
स्कन्दशक्त्या यथा क्रौञ्चः पुरा नृपतिसत्तम।

नृपश्रेष्ठ! छातीमें लगे हुए उस बाणसे प्रतापी भीमसेन वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पूर्वकालमें कार्तिकेयकी शक्तिसे आविद्ध होनेपर क्रौञ्च पर्वतकी शोभा हुई थी ॥ ४६½ ॥

तौ शरान् सूर्यसंकाशान् कर्मारपरिमार्जितान् ॥ ४७ ॥
अन्योन्यस्य रणे क्रुद्धौ चिक्षिपाते नरर्षभौ।

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों नरश्रेष्ठ युद्धमें एक दूसरेपर लोहारके द्वारा माँजकर साफ किये हुए सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार कर रहे थे ॥ ४७½ ॥

भीमो भीष्मवधाकाङ्क्षी सौमदत्तिं महारथम् ॥ ४८ ॥
तथा भीष्मजये गृध्नुः सौमदत्तिस्तु पाण्डवम्।
कृतप्रतिकृते यत्तौ योधयामासतू रणे ॥ ४९ ॥

भीमसेन भीष्मके वधकी इच्छा रखकर महारथी भूरिश्रवा-पर चोट करते थे और भूरिश्रवा भीष्मकी विजय चाहता हुआ पाण्डुकुमार भीमसेनपर प्रहार करता था। वे दोनों युद्धमें एक दूसरेके अस्त्रोंका प्रतीकार करते हुए लड़ रहे थे ४८-४९

युधिष्ठिरं तु कौन्तेयं महत्या सेनया वृतम्।
भीष्माभिमुखमायान्तं भारद्वाजो न्यवारयत् ॥ ५० ॥
(तत्र युद्धमभूद् घोरं तयोः पुरुषसिंहयोः।)

दूसरी ओर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको विशाल सेनाके साथ भीष्मके सम्मुख आते देख द्रोणाचार्यने रोक दिया; वहाँ उन दोनों पुरुषसिंहोंमें घोर युद्ध हुआ ॥ ५० ॥

द्रोणस्य रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम्।
श्रुत्वा प्रभद्रका राजन् समकम्पन्त मारिष ॥ ५१ ॥

राजन्! द्रोणाचार्यके रथकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। आर्य! उसे सुनकर प्रभद्रक वीर काँप उठे ॥ ५१ ॥

सा सेना महती राजन् पाण्डुपुत्रस्य संयुगे।
द्रोणेन वारिता यत्ता न चचाल पदात् पदम् ॥ ५२ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना द्रोणके द्वारा जब रोक दी गयी, तब प्रयत्न करनेपर भी वह एक पग भी आगे न बढ़ सकी ॥ ५२ ॥

चेकितानं रणे यत्तं भीष्मं प्रति जनेश्वर।
चित्रसेनस्तव सुतः क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ५३ ॥

जनेश्वर! दूसरी ओर भीष्मके प्रति प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करनेवाले क्रोधमें भरे हुए चेकितानको रणभूमिमें आपके पुत्र चित्रसेनने रोक दिया ॥ ५३ ॥

भीष्महेतोः पराक्रान्तश्चित्रसेनः पराक्रमी।
चेकितानं परं शक्त्या योधयामास भारत ॥ ५४ ॥
तथैव चेकितानोऽपि चित्रसेनमवारयत्।
तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे ॥ ५५ ॥

पराक्रमी चित्रसेन भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम दिखा रहा था। भारत! उसने पूरी शक्ति लगाकर चेकितानके साथ युद्ध किया। इसी प्रकार चेकितानने भी चित्रसेनकी गति रोक दी। उन दोनोंकी मुठभेड़में वहाँ महान् युद्ध होने लगा ॥ ५४-५५ ॥

अर्जुनो वार्यमाणस्तु बहुशस्तत्र भारत।
विमुखीकृत्य पुत्रं ते सेनां तव ममर्द ह ॥ ५६ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ बारंबार रोके जानेपर भी अर्जुनने आपके पुत्रको युद्धसे विमुख करके आपकी सेनाको रौंद डाला ॥

दुःशासनोऽपि परया शक्त्या पार्थमवारयत् ।
कथं भीष्मं न नो हन्यादिति निश्चित्य भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! उस समय दुःशासन भी यह निश्चय करके कि ये किसी प्रकार हमारे भीष्मको मार न सकें, पूरी शक्ति लगाकर अर्जुनको रोकनेका प्रयत्न करता रहा ॥ ५७ ॥

(पार्थोऽपि समरे राजन् दुःशासनमताडयत् ।
ताडिते बहुधा पुत्रे पार्थबाणैरजिह्मगैः ॥
बभूव व्यथिता सेना दृष्ट्वा पार्थपराक्रमम् ।
पुनश्च ताडिता तेन पार्थेनामिततेजसा ॥)

राजन् ! अर्जुनने भी समरमें दुःशासनको अपने बाणोंसे बहुत घायल किया । सीधे जानेवाले अर्जुनके बाणोंसे आपके पुत्रके बार-बार घायल होनेपर पार्थके उस पराक्रमको देखकर आपकी सारी सेना व्यथित हो उठी । अमित तेजस्वी अर्जुनने उसे बारंबार पीड़ित किया ॥

सा वध्यमाना समरे पुत्रस्य तव वाहिनी ।
लोड्यते रथिभिः श्रेष्ठैस्तत्र तत्रैव भारत ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! उस संग्राममें आपके पुत्रकी सारी सेनाको जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ रथियोंने बाणोंसे विद्ध करके मथ डाला था ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका अश्वत्थामाको अशुभ शकुनोंकी सूचना देते हुए उसे भीष्मकी रक्षाके लिये धृष्टद्युम्नसे युद्ध करनेका आदेश देना

संजय उवाच

अथ वीरो महेष्वासो मत्तवारणविक्रमः ।
समादाय महच्चापं मत्तवारणवारणम् ॥ १ ॥
विधुन्वानो नरश्रेष्ठो द्रावयाणो वरूथिनीम् ।
पृतनां पाण्डवेयानां गाहमाना महाबलः ॥ २ ॥
निमित्तानि निमित्तज्ञः सर्वतो वीक्ष्य वीर्यवान् ।
प्रतपन्तमनीकानि द्रोणः पुत्रमभाषत ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महाधनुर्धर, मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, वीर, नरश्रेष्ठ, महाबली तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता एवं अद्भुत शक्तिशाली द्रोणाचार्य मतवाले हाथियोंकी गतिको कुण्ठित कर देनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर उसे खींचने और विपक्षी सेनाको भगाने लगे । उन्होंने पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करते समय सब ओर बुरे निमित्त (शकुन) देखकर शत्रुसेनाको संताप देते हुए पुत्र अश्वत्थामासे इस प्रकार कहा—॥ १–३ ॥

अयं हि दिवसस्तात यत्र पार्थो महाबलः ।
जिघांसुः समरे भीष्मं परं यत्नं करिष्यति ॥ ४ ॥

'तात ! यही वह दिन है, जब कि महाबली अर्जुन समरभूमिमें भीष्मको मार डालनेकी इच्छासे महान् प्रयत्न करेंगे॥

उत्पतन्ति हि मे बाणा धनुः प्रस्फुरतीव च ।
योगमस्त्राणि गच्छन्ति क्रूरे मे वर्तते मतिः ॥ ५ ॥

'मेरे बाण तरकससे उछले पड़ते हैं, धनुष फड़क उठता है, अस्त्र स्वयं ही धनुषसे संयुक्त हो जाते हैं और मेरे मनमें क्रूरकर्म करनेका संकल्प हो रहा है ॥ ५ ॥

दिक्ष्वशान्तानि घोराणि व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
नीचैर्गृध्रा निलीयन्ते भारतानां चमूं प्रति ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण दिशाओंमें पशु और पक्षी अशान्तिपूर्ण भयंकर बोली बोल रहे हैं । गीध नीचे आकर कौरव-सेनामें छिप रहे हैं॥

नष्टप्रभ इवादित्यः सर्वतो लोहिता दिशः ।
रसते व्यथते भूमिः कम्पतीव च सर्वशः ॥ ७ ॥

'सूर्यकी प्रभा मन्द-सी पड़ गयी है । सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो रही हैं । पृथिवी सब ओरसे कोलाहलपूर्ण, व्यथित और कम्पित-सी हो रही है ॥ ७ ॥

कङ्का गृध्रा बलाकाश्च व्याहरन्ति मुहुर्मुहुः ।
शिवाश्चैवाशिवा घोरा वेदयन्त्यो महद् भयम्॥ ८ ॥
(ववाशिरे भयकरा दीप्तास्याभिमुखे रवेः ।)

'कंक, गीध और बगले बारंबार बोल रहे हैं । अमङ्गलमयी घोररूपवाली गीदड़ियाँ महान् भयकी सूचना देती हुई सूर्यकी ओर मुँह करके भयानक बोली बोला करती हैं और उनका मुँह प्रज्वलित-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलात् ।
सकबन्धश्च परिघो भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

'सूर्यमण्डलके मध्यभागसे बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरी हैं । कबन्धयुक्त परिघ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ॥

परिवेषस्तथा घोरश्चन्द्रभास्करयोरभूत् ।
वेदयानो भयं घोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १० ॥

'चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर भयंकर घेरा पड़ने लगा है, जो क्षत्रियोंके शरीरका विनाश करनेवाले घोर भयकी सूचना दे रहा है ॥ १० ॥

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः ।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च ॥ ११ ॥

'कौरवराज धृतराष्ट्रके देवालयोंकी देवमूर्तियाँ हिलती, हँसती, नाचती तथा रोती जान पड़ती हैं ॥ ११ ॥

अपसव्यं ग्रहाश्चक्रुरलक्ष्माणं दिवाकरम् ।
अवाक्शिराश्च भगवानुपातिष्ठत चन्द्रमाः ॥ १२ ॥

'ग्रहोंने सूर्यकी वामावर्त परिक्रमा करके उन्हें अशुभ लक्षणोंका सूचक बना दिया है, भगवान् चन्द्रमा अपने दोनों कोनोंके सिरे नीचे करके उदित हुए हैं ॥ १२ ॥

वपूंषि च नरेन्द्राणां विगताभानि लक्षये ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु न च भ्राजन्ति दंशिताः ॥ १३ ॥

'राजाओंके शरीरोंको मैं श्रीहीन देख रहा हूँ। दुर्योधन-की सेनाओंमें जो लोग कवच धारण करके स्थित हैं, उनकी शोभा नहीं हो रही है ॥ १३ ॥

सेनयोरुभयोश्चापि समन्ताच्छ्रूयते महान् ।
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो गाण्डीवस्य च निःस्वनः ॥ १४ ॥

'दोनों ही सेनाओंमें चारों ओर पाञ्चजन्य शङ्खका गम्भीर घोष और गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनि सुनायी देती है ॥

ध्रुवमास्थाय बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि संयुगे ।
अपास्यान्यान् रणे योधानभ्येष्यति पितामहम् ॥ १५ ॥

'इससे यह निश्चय जान पड़ता है कि अर्जुन युद्धस्थलमें उत्तम अस्त्रोंका आश्रय ले दूसरे योद्धाओंको दूर हटाकर रणभूमिमें पितामह भीष्मके पास पहुँच जायँगे ॥ १५ ॥

हृष्यन्ति रोमकूपाणि सीदतीव च मे मनः ।
चिन्तयित्वा महाबाहो भीष्मार्जुनसमागमम् ॥ १६ ॥

'महाबाहो ! भीष्म और अर्जुनके युद्धका विचार करके मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं और मन शिथिल-सा होता जा रहा है ॥ १६ ॥

तं चेह निकृतिप्रज्ञं पाञ्चाल्यं पापचेतसम् ।
पुरस्कृत्य रणे पार्थो भीष्मस्यायोधनं गतः ॥ १७ ॥

'शठताके पूरे पण्डित उस पापात्मा पाञ्चाल-राजकुमार शिखण्डीको यहाँ रणमें आगे करके कुन्तीकुमार अर्जुन भीष्मसे युद्ध करनेके लिये गये हैं ॥ १७ ॥

अब्रवीच्च पुरा भीष्मो नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्री ह्येषा विहिता धात्रा दैवाच्च स पुनः पुमान् ॥ १८ ॥

'भीष्मने पहले ही यह कह दिया था कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि विधाताने इसे स्त्री ही बनाया था। फिर भाग्यवश यह पुरुष हो गया ॥ १८ ॥

अमङ्गल्यध्वजश्चैव याज्ञसेनिर्महाबलः ।
न चामङ्गलिके तस्मिन् प्रहरेदापगासुतः ॥ १९ ॥

'इसके सिवा द्रुपदका यह महाबली पुत्र अपनी ध्वजामें अमङ्गलसूचक चिह्न धारण करता है। अतः इस अमाङ्गलिक शिखण्डीपर गङ्गानन्दन भीष्म कभी प्रहार नहीं करेंगे॥१९॥

एतद् विचिन्तयानस्य प्रज्ञा सीदति मे भृशम् ।
अभ्युद्यतो रणे पार्थः कुरुवृद्धमुपाद्रवत् ॥ २० ॥

'इन सब बातोंपर जब मैं विचार करता हूँ, तब मेरी बुद्धि अत्यन्त शिथिल हो जाती है। आज अर्जुनने पूरी तैयारीके साथ रणभूमिमें कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीपर धावा किया है ॥ २० ॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधो भीष्मश्चार्जुनसङ्गतः ।
मम चास्त्रसमारम्भः प्रजानामशिवं ध्रुवम् ॥ २१ ॥

'युधिष्ठिरका क्रोध करना, भीष्म और अर्जुनका संघर्ष होना और मेरा अपने विविध अस्त्रोंके प्रयोगके लिये उद्योग करना—ये तीनों बातें निश्चय ही प्रजाजनोंके अमङ्गलकी सूचना देनेवाली हैं ॥ २१ ॥

मनस्वी बलवाञ्छूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः ।
दूरपाती दृढेषुश्च निमित्तज्ञश्च पाण्डवः ॥ २२ ॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुन मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्र-विद्याके पण्डित, शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले, दूर-तकका लक्ष्य वेधनेवाले, सुदृढ़ बाणोंका संग्रह रखनेवाले तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता हैं ॥ २२ ॥

अजेयः समरे चापि देवैरपि सवासवैः ।
बलवान् बुद्धिमांश्चैव जितक्लेशो युधां वरः ॥ २३ ॥

'इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उन्हें युद्धमें पराजित नहीं कर सकते। वे बलवान्, बुद्धिमान्, क्लेशोंपर विजय पानेवाले और योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥

विजयी च रणे नित्यं भैरवास्त्रश्च पाण्डवः ।
तस्य मार्गं परिहरन् द्रुतं गच्छ यतव्रत ॥ २४ ॥

'उन्हें युद्धमें सदा विजय प्राप्त होती है। पाण्डुनन्दन अर्जुनके अस्त्र बड़े भयंकर हैं। उत्तम व्रतका पालन करने-वाले पुत्र ! इसलिये तुम उनका रास्ता छोड़कर शीघ्र भीष्म-जीकी रक्षाके लिये चले जाओ ॥ २४ ॥

पश्याद्यैतन्महाघोरे संयुगे वैशसं महत् ।
हेमचित्राणि शूराणां महान्ति च शुभानि च ॥ २५ ॥
कवचान्यवदीर्यन्ते शरैः संनतपर्वभिः ।
छिद्यन्ते च ध्वजाग्राणि तोमराश्च धनूंषि च ॥ २६ ॥

'देखो, इस महाघोर संग्राममें आज यह कैसा महान् जन-संहार हो रहा है ? शूरवीरोंके स्वर्णजटित, शुभ एवं महान् कवच अर्जुनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा विदीर्ण किये जा रहे हैं। ध्वजके अग्रभाग, तोमर और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं ॥ २५-२६ ॥

प्रासाश्च विमलास्तीक्ष्णाः शक्त्यश्च कनकोज्ज्वलाः।
वैजयन्त्यश्च नागानां संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ २७ ॥

'चमकीले प्रास, सुवर्णजटित होनेके कारण सुनहरी कान्तिसे प्रकाशित होनेवाली तीखी शक्तियाँ और हाथियोंपर फहराती हुई वैजयन्ती पताकाएँ क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जा रही हैं॥ २७ ॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणान् पुत्रोपजीविभिः।
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे विजयाय च ॥ २८ ॥

'बेटा ! आश्रित रहकर जीविका चलानेवाले पुरुषोंके लिये यह अपने प्राणोंकी रक्षाका अवसर नहीं है। तुम स्वर्गको सामने रखकर यश और विजयकी प्राप्तिके लिये भीष्मजीके पास जाओ ॥ २८ ॥

रथनागहयावर्तां महाघोरां सुदुर्गमाम्।
रथेन संग्रामनदीं तरत्येष कपिध्वजः ॥ २९ ॥

'यह युद्ध एक महाघोर और अत्यन्त दुर्गम नदीके समान है। उसमें रथ, हाथी और घोड़े भँवर हैं, कपिध्वज अर्जुन रथरूपी नौकाके द्वारा इसे पार कर रहे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मण्यता दमो दानं तपश्च चरितं महत्।
इहैव दृश्यते पार्थे भ्राता यस्य धनंजयः ॥ ३० ॥
भीमसेनश्च बलवान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
वासुदेवश्च वार्ष्णेयो यस्य नाथो व्यवस्थितः ॥ ३१ ॥

'यहाँ केवल कुन्तीकुमार युधिष्ठिरमें ही ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, इन्द्रियसंयम, दान, तप और श्रेष्ठ सदाचार आदि सद्गुण दिखायी देते हैं, जिनके फलस्वरूप उन्हें अर्जुन, बलवान् भीम तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल और सहदेव-जैसे भाई मिले हैं एवं वृष्णिनन्दन भगवान् वासुदेव उनके रक्षक और सहायक बनकर सदा साथ रहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

तस्यैष मन्युप्रभवो धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः।
तपोदग्धशरीरस्य कोपो दहति भारतीम् ॥ ३२ ॥

'इस दुर्बुद्धि दुर्योधनका शरीर उन्हींकी तपस्यासे दग्धप्राय हो गया है और इसकी भारती सेनाको उन्हींकी क्रोधाग्नि जलाकर भस्म किये देती है ॥ ३२ ॥

एष संदृश्यते पार्थो वासुदेवव्यपाश्रयः।
दारयन् सर्वसैन्यानि धार्तराष्ट्राणि सर्वशः ॥ ३३ ॥

'देखो, भगवान् वासुदेवकी शरणमें रहनेवाले ये अर्जुन कौरवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंको सब ओरसे विदीर्ण करते हुए इधर ही आते दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

एतदालोक्यते सैन्यं क्षोभ्यमाणं किरीटिना।
महोर्मिनद्धं सुमहत् तिमिनेव महाजलम् ॥ ३४ ॥

'जैसे तिमि नामक महामत्स्य उत्ताल-तरंगोंसे युक्त महासागरके जलको मथ डालता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मथित हो यह कौरव-सेना विक्षुब्ध होती दिखायी देती है ॥ ३४ ॥

हाहाकिलकिलाशब्दाः श्रूयन्ते च चमूमुखे।
याहि पाञ्चालदायादमहं यास्ये युधिष्ठिरम् ॥ ३५ ॥

'सेनाके प्रमुख भागमें हाहाकार और किलकिलाहटके शब्द सुनायी देते हैं। तुम द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये जाओ और मैं युधिष्ठिरपर चढ़ाई करूँगा॥ ३५॥

दुर्गमं ह्यन्तरं राज्ञो व्यूहस्यामिततेजसः।
समुद्रकुक्षिप्रतिमं सर्वतोऽतिरथैः स्थितैः ॥ ३६ ॥

'अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके व्यूहके भीतर प्रवेश करना समुद्रके अंदर प्रवेश करनेके समान बहुत कठिन है; क्योंकि उनके चारों ओर अतिरथी योद्धा खड़े हैं ॥ ३६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
पर्यरक्षन्त राजानं यमौ च मनुजेश्वरम् ॥ ३७ ॥

'सात्यकि, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, भीमसेन और नकुल, सहदेव नरेश्वर राजा युधिष्ठिरकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

उपेन्द्रसदृशः श्यामो महाशाल इवोद्गतः।
एष गच्छत्यनीकाग्रे द्वितीय इव फाल्गुनः ॥ ३८ ॥

'यह देखो, भगवान् विष्णुके समान श्याम और महान् शाल वृक्षके समान ऊँचा अभिमन्यु द्वितीय अर्जुनके समान सेनाके आगे-आगे चल रहा है ॥ ३८ ॥

उत्तमास्त्राणि चाधत्स्व गृहीत्वा च महद् धनुः।
पार्षतं याहि राजानं युध्यस्व च वृकोदरम् ॥ ३९ ॥

'तुम अपने उत्तम अस्त्रोंको धारण करो और विशाल धनुष लेकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा भीमसेनके साथ युद्ध करो ॥ ३९ ॥

को हि नेच्छेत् प्रियं पुत्रं जीवन्तं शाश्वतीः समाः।
क्षत्रधर्मं तु सम्प्रेक्ष्य ततस्त्वां नियुनज्म्यहम् ॥ ४० ॥

'अपना प्यारा पुत्र नित्य-निरन्तर जीवित रहे, यह कौन नहीं चाहता है तथापि क्षत्रिय-धर्मपर दृष्टि रखकर मैं तुम्हें इस कार्यमें नियुक्त कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

एष चातिरणे भीष्मो दहते वै महाचमूम्।
युद्धेषु सदृशस्तात यमस्य वरुणस्य च ॥ ४१ ॥

'तात ! ये भीष्म रणक्षेत्रमें यमराज और वरुणके समान पराक्रम दिखाते हुए पाण्डवोंकी विशाल सेनाको अत्यन्त दग्ध कर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

(पुत्रं समनुशास्यैवं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
महारणे महाराज धर्मराजमयोधयत् ॥)

महाराज ! अपने पुत्रको इस प्रकार आदेश देकर प्रतापी द्रोणाचार्य इस महायुद्धमें धर्मराजके साथ युद्ध करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्रोणाश्वत्थामसंवादे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्रोण और अश्वत्थामाका संवादविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके दस प्रमुख महारथियोंके साथ अकेले घोर युद्ध करते हुए भीमसेनका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

भगदत्तः कृपः शल्यः कृतवर्मा तथैव च ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ १ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च तथा दुर्मर्षणादयः ।
दशैते तावका योधा भीमसेनमयोधयन् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—ये दस योद्धा भीमसेनके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १-२ ॥

महत्या सेनया युक्ता नानादेशसमुत्थया ।
भीष्मस्य समरे राजन् प्रार्थयाना महद् यशः ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! इनके साथ अनेक देशोंसे आयी हुई विशाल सेना मौजूद थी । ये समरभूमिमें भीष्मके महान् यशकी रक्षा करना चाहते थे ॥ ३ ॥

शल्यस्तु नवभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत् ।
कृतवर्मा त्रिभिर्बाणैः कृपश्च नवभिः शरैः ॥ ४ ॥

शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी । फिर कृतवर्माने तीन और कृपाचार्यने उन्हें नौ बाण मारे ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च भगदत्तश्च मारिष ।
दशभिर्दशभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयन् ॥ ५ ॥

आर्य ! फिर लगे हाथ चित्रसेन, विकर्ण और भगदत्तने भी दस-दस बाण मारकर भीमसेनको घायल कर दिया ॥

सैन्धवश्च त्रिभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ॥ ६ ॥
दुर्मर्षणस्तु विंशत्या पाण्डवं निशितैः शरैः ।

फिर सिन्धुराज जयद्रथने तीन, अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने पाँच-पाँच तथा दुर्मर्षणने बीस तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन भीमसेनको चोट पहुँचायी ॥ ६½ ॥

स तान् सर्वान् महाराज राजमानान् पृथक्पृथक् ॥ ७ ॥
प्रवीरान् सर्वलोकस्य धार्तराष्ट्रान् महारथान् ।
जघान समरे वीरः पाण्डवः परवीरहा ॥ ८ ॥

महाराज ! तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार वीर भीमसेनने सम्पूर्ण जगत्के उन समस्त राजाओं, प्रमुख वीरों तथा आपके महारथी पुत्रोंको पृथक्-पृथक् बाण मारकर समराङ्गणमें घायल कर दिया ॥ ७-८ ॥

सप्तभिः शल्यमाविध्यत् कृतवर्माणमष्टभिः ।
कृपस्य सशरं चापं मध्ये चिच्छेद भारत ॥ ९ ॥

भारत ! भीमसेनने शल्यको सात और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बींध डाला । फिर कृपाचार्यके बाणसहित धनुषको बीचसे ही काट दिया ॥ ९ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं पुनर्विव्याध सप्तभिः ।
विन्दानुविन्दौ च तथा त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ १० ॥

धनुष कट जानेपर उन्होंने पुनः सात बाणोंसे कृपाचार्यको घायल किया । फिर विन्द और अनुविन्दको तीन-तीन बाण मारे ॥ १० ॥

दुर्मर्षणं च विंशत्या चित्रसेनं च पञ्चभिः ।
विकर्णं दशभिर्बाणैः पञ्चभिश्च जयद्रथम् ॥ ११ ॥
विद्ध्वा भीमोऽनदद्धृष्टः सैन्धवं च पुनस्त्रिभिः ।

तत्पश्चात् दुर्मर्षणको बीस, चित्रसेनको पाँच, विकर्णको दस तथा जयद्रथको पाँच बाणोंसे बींधकर भीमसेनने बड़े हर्षके साथ सिंहनाद किया और जयद्रथको पुनः तीन बाणोंसे बींध डाला ॥ ११½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय गौतमो रथिनां वरः ॥ १२ ॥
भीमं विव्याध संरब्धो दशभिर्निशितैः शरैः ।

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष लेकर क्रोधपूर्वक चलाये हुए दस तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ १२½ ॥

स विद्धो दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपः ॥ १३ ॥
(व्यनदत् समरे शूरः सिंहवद् रणमूर्धनि ।)

जैसे महान् गजराज अङ्कुशोंसे पीड़ित होनेपर चिग्घाड़ उठता है, उसी प्रकार उन दस बाणोंसे घायल होनेपर शूरवीर भीमसेनने युद्धके मुहानेपर सिंहके समान गर्जना की ॥ १३ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान् ।
गौतमं ताडयामास शरैर्बहुभिराहवे ॥ १४ ॥

महाराज ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने रणक्षेत्रमें कृपाचार्यको अनेक बाणोंद्वारा घायल किया ॥ १४ ॥

सैन्धवस्य तथाश्वांश्च सारथिं च त्रिभिः शरैः।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय कालान्तकसमद्युतिः ॥ १५ ॥

इसके बाद प्रलयकालीन यमराजके समान तेजस्वी भीमसेनने तीन बाणोंद्वारा सिन्धुराज जयद्रथके घोड़ों तथा सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ १५ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः।
शरांश्चिक्षेप निशितान् भीमसेनस्य संयुगे ॥ १६ ॥

तब उस अश्वहीन रथसे तुरंत ही कूदकर महारथी जयद्रथने युद्धस्थलमें भीमसेनके ऊपर बहुत-से तीखे बाण चलाये ॥ १६ ॥

तस्य भीमो धनुर्मध्ये द्वाभ्यां चिच्छेद मारिष।
भल्लाभ्यां भरतश्रेष्ठ सैन्धवस्य महात्मनः ॥१७॥

माननीय भरतश्रेष्ठ ! उस समय भीमसेनने दो भल्ल मारकर महामना सिन्धुराजके धनुषको बीचसे ही काट दिया १७

स छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
चित्रसेनरथं राजन्नारुरोह त्वरान्वितः ॥ १८ ॥

राजन् ! धनुषके कटने तथा घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुआ जयद्रथ तुरंत ही चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ १८ ॥

अत्यद्भुतं रणे कर्म कृतवांस्तत्र पाण्डवः।
महारथाञ्शरैर्विद्ध्वा वारयित्वा च मारिष ॥ १९ ॥
विरथं सैन्धवं चक्रे सर्वलोकस्य पश्यतः।

आर्य ! वहाँ पाण्डुनन्दन भीमसेनने रणक्षेत्रमें यह अद्भुत कर्म किया कि सब महारथियोंको बाणोंसे घायल करके रोक दिया और सब लोगोंके देखते-देखते सिन्धुराजको रथहीन कर दिया ॥ १९½ ॥

तदा न ममृषे शल्यो भीमसेनस्य विक्रमम् ॥ २० ॥
स संधाय शरांस्तीक्ष्णान् कर्मारपरिमार्जितान्।
भीमं विव्याध समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ २१ ॥

उस समय राजा शल्य भीमसेनके उस पराक्रमको न सह सके। उन्होंने लोहारके माँजे हुए पैने बाणोंका संधान करके समरभूमिमें भीमसेनको बींध डाला और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २०—२१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ चित्रसेनश्च संयुगे ॥ २२ ॥
दुर्मर्षणो विकर्णश्च सिन्धुराजश्च वीर्यवान्।
भीमं ते विव्यधुस्तूर्णं शल्यहेतोररिंदमाः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा, पराक्रमी भगदत्त, अवन्तीके विन्द और अनुविन्द, चित्रसेन, दुर्मर्षण, विकर्ण और पराक्रमी सिन्धुराज जयद्रथ शत्रुओंका दमन करनेवाले इन वीरोंने राजा शल्यकी रक्षाके लिये भीमसेनको तुरंत ही घायल कर दिया २२-२३

स च तान् प्रतिविव्याध पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः।
शल्यं विव्याध सप्तत्या पुनश्च दशभिः शरैः ॥ २४ ॥

फिर भीमसेनने भी उन सबको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके तुरंत ही बदला लिया। इसके बाद उन्होंने शल्यको पहले सत्तर और फिर दस बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

तं शल्यो नवभिर्भित्त्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य भल्लेन गाढं विव्याध मर्मणि ॥ २५ ॥

यह देख शल्यने भीमसेनको पहले नौ बाणोंसे विदीर्ण करके फिर पाँच बाणोंद्वारा घायल किया। साथ ही एक भल्लके द्वारा उनके सारथिके भी मर्मस्थानोंमें अधिक चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

विशोकं प्रेक्ष्य निर्भिन्नं भीमसेनः प्रतापवान्।
मद्रराजं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २६ ॥

उस समय प्रतापी भीमसेनने अपने सारथि विशोकको अत्यन्त क्षत-विक्षत हुआ देख तीन बाणोंसे मद्रराज शल्यकी भुजाओं तथा छातीमें प्रहार किया ॥ २६ ॥

(भगदत्तं तथा वीरं कृतवर्माणमाहवे।)
तथेतरान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
ताडयामास समरे सिंहवद् विननाद च ॥ २७ ॥

भगदत्त, वीरवर कृतवर्मा तथा अन्य महाधनुर्धर वीरोंको उन्होंने तीन-तीन सीधे जानेवाले सायकोंद्वारा समरभूमिमें मारा और सिंहके समान गर्जना की ॥ २७ ॥

ते हि यत्ता महेष्वासाः पाण्डवं युद्धकोविदम्।
त्रिभिस्त्रिभिरकुण्ठाग्रैर्भृशं मर्मस्वताडयन् ॥ २८ ॥

तब उन सभी महाधनुर्धरोंने एक साथ प्रयत्न करके तीखे अग्रभागवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा युद्धकुशल पाण्डुपुत्र भीमके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २८ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो भीमसेनो न विव्यथे।
पर्वतो वारिधाराभिर्वर्षमाणैरिवाम्बुदैः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा अत्यन्त घायल होनेपर भी महाधनुर्धर भीमसेन बादलोंकी बरसायी हुई जल-धाराओंसे पर्वतकी भाँति तनिक भी व्यथित एवं विचलित नहीं हुए ॥ २९ ॥

स तु क्रोधसमाविष्टः पाण्डवानां महारथः।
मद्रेश्वरं त्रिभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा महायशाः ॥ ३० ॥
कृपं च नवभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा समन्ततः।
प्राग्ज्योतिषं शतैराजौ राजन् विव्याध सायकैः ॥ ३१ ॥

राजन् ! तब क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंके महारथी महायशस्वी भीमसेनने मद्रराज शल्यको तीन और कृपाचार्यको नौ बाणोंद्वारा सब ओरसे अत्यन्त घायल करके प्राग्ज्योतिष-

नरेश भगदत्तको सैकड़ों बाणोंद्वारा समरभूमिमें बींध डाला ॥ ३०–३१ ॥

ततस्तु सशरं चापं सात्वतस्य महात्मनः ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति भीमसेनने अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा महामना कृतवर्माके बाणसहित धनुषको काट डाला ॥ ३२ ॥

तथान्यद् धनुरादाय कृतवर्मा वृकोदरम् ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचेन परंतपः ॥ ३३ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले कृतवर्माने दूसरा धनुष लेकर भीमसेनकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें नाराचके द्वारा प्रहार किया ॥ ३३ ॥

भीमस्तु समरे विद्ध्वा शल्यं नवभिरायसैः ।
भगदत्तं त्रिभिश्चैव कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु विव्याध गौतमप्रभृतीन् रथान् ।
तेऽपि तं समरे राजन् विव्यधुर्निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने समराङ्गणमें लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे राजा शल्यको बेधकर तीन बाणोंसे भगदत्तको, आठसे कृतवर्माको और दो-दो बाणोंद्वारा कृपाचार्य आदि रथियोंको बींध डाला । राजन् ! फिर उन्होंने भी अपने तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ३४–३५ ॥

स तथा पीड्यमानोऽपि सर्वशस्त्रैर्महारथैः ।
मत्वा तृणेन तांस्तुल्यान् विचचार गतव्यथः ॥ ३६ ॥

उन महारथियोंद्वारा सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित किये जानेपर भी भीमसेन उन्हें तिनकोंके समान मानकर व्यथारहित हो विचरण करने लगे ॥ ३६ ॥

ते चापि रथिनां श्रेष्ठा भीमाय निशिताञ्छरान् ।
प्रेषयामासुरव्यग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ उन वीरोंने भी व्यग्रतारहित हो भीमसेनपर सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें तीखे बाण चलाये ॥ ३७ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भगदत्तो महारथः ।
चिक्षेप समरे वीरः स्वर्णदण्डां महामते ॥ ३८ ॥

महामते ! उस समरभूमिमें वीर महारथी भगदत्तने भीमसेनपर स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एक महावेगशालिनी शक्ति चलायी ॥ ३८ ॥

तोमरं सैन्धवो राजा पट्टिशं च महाभुजः ।
शतघ्नीं च कृपो राजञ्छरं शल्यश्च संयुगे ॥ ३९ ॥

सिन्धुदेशके राजा महाबाहु जयद्रथने तोमर और पट्टिश चलाया । राजन् ! कृपाचार्यने शतघ्नीका प्रयोग किया तथा राजा शल्यने युद्धस्थलमें एक बाण मारा ॥ ३९ ॥

अथेतरे महेष्वासाः पञ्च पञ्च शिलीमुखान् ।
भीमसेनं समुद्दिश्य प्रेषयामासुरोजसा ॥ ४० ॥

इनके सिवा दूसरे धनुर्धर वीरोंने भी भीमसेनको लक्ष्य करके बलपूर्वक पाँच-पाँच बाण चलाये ॥ ४० ॥

तोमरं च द्विधा चक्रे क्षुरप्रेणानिलात्मजः ।
पट्टिशं च त्रिभिर्बाणैश्चिच्छेद तिलकाण्डवत् ॥ ४१ ॥

परंतु वायुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रसे जयद्रथके चलाये हुए तोमरके दो टुकड़े कर दिये; फिर तीन बाण मारकर पट्टिशको तिलके डंटलके समान टूक-टूक कर डाला ॥ ४१ ॥

स बिभेद शतघ्नीं च नवभिः कङ्कपत्रिभिः ।
मद्रराजप्रयुक्तं च शरं छित्त्वा महारथः ॥ ४२ ॥
शक्तिं चिच्छेद सहसा भगदत्तेरितां रणे ।

तत्पश्चात् कंकपत्रयुक्त नौ बाणोंद्वारा शतघ्नीको छिन्न-भिन्न कर दिया । इसके बाद महारथी भीमसेनने मद्रराज शल्यके चलाये हुए बाणको काटकर रणक्षेत्रमें भगदत्तकी चलायी हुई शक्तिके भी सहसा टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।४२½।

तथेतराञ्छरान् घोरान् शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४३ ॥
भीमसेनो रणश्लाघी त्रिधैकैकं समाच्छिनत् ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा अन्यान्य योद्धाओंके चलाये हुए भयंकर शरसमूहोंको भी युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने काटकर एक-एकके तीन-तीन टुकड़े कर दिये । इस प्रकार शत्रुओंके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करके भीमसेनने उन सभी महाधनुर्धर वीरोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

ततो धनंजयस्तत्र वर्तमाने महारणे ।
आजगाम रथेनाजौ भीमं दृष्ट्वा महारथम् ॥ ४५ ॥
निघ्नन्तं समरे शत्रून् योधयानं च सायकैः ।

तब उस महासमरमें महारथी भीमसेनको, जो समरभूमिमें सायकोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध कर रहे थे, देखकर रथके द्वारा अर्जुन भी वहाँ आ पहुँचे ।४५½।

तौ तु तत्र महात्मानौ समेतौ वीक्ष्य पाण्डवौ ॥ ४६ ॥
न शशंसुर्जयं तत्र तावकाः पुरुषर्षभाः ।

उन दोनों महामनस्वी पाण्डव बन्धुओंको एकत्र हुआ देख आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने वहाँ अपनी विजयकी आशा त्याग दी ॥ ४६½ ॥

अथार्जुनो रणे भीमं योधयन्तं महारथान् ॥ ४७ ॥
भीष्मस्य निधनाकाङ्क्षी पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
आससाद रणे वीरांस्तावकान् दश भारत ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! उस रणक्षेत्रमें भीम जिनके साथ युद्ध कर रहे थे, आपके पक्षके उन दस महारथी वीरोंके सामने भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले अर्जुन भी शिखण्डीको आगे किये आ पहुँचे ॥ ४७-४८ ॥

ये स्म भीमं रणे राजन् योधयन्तो व्यवस्थिताः ।
बीभत्सुस्तानथाविध्यद् भीमस्य प्रियकाम्यया ॥ ४९ ॥

राजन् ! जो लोग रणक्षेत्रमें भीमसेनके साथ युद्ध करते हुए खड़े थे, उन सबको अर्जुनने भीमका प्रिय करनेकी इच्छासे अच्छी तरह घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
अर्जुनस्य वधार्थाय भीमसेनस्य चोभयोः ॥ ५० ॥

तब राजा दुर्योधनने अर्जुन और भीमसेन दोनोंके वधके लिये सुशर्माको भेजा ॥ ५० ॥

सुशर्मन् गच्छ शीघ्रं त्वं बलौघैः परिवारितः ।
जहि पाण्डुसुतावेतौ धनंजयवृकोदरौ ॥ ५१ ॥

भेजते समय उसने कहा—'सुशर्मन् ! तुम विशाल सेनाके साथ शीघ्र जाओ और अर्जुन तथा भीमसेन इन दोनों पाण्डुकुमारोंको मार डालो' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य त्रैगर्तः प्रस्थलाधिपः ।
अभिद्रुत्य रणे भीममर्जुनं चैव धन्विनौ ॥ ५२ ॥
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयत् ।
ततः प्रववृते युद्धमर्जुनस्य परैः सह ॥ ५३ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रस्थलाके स्वामी त्रिगर्तराज सुशर्माने रणक्षेत्रमें धावा करके भीमसेन और अर्जुन दोनों धनुर्धर वीरोंको अनेक सहस्र रथोंद्वारा सब ओरसे घेर लिया। उस समय अर्जुनका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध होने लगा ।५२-५३।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंके साथ युद्धमें भीमसेन और अर्जुनका अद्भुत पुरुषार्थ

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे शल्यं यतमानं महारथम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय रणक्षेत्रमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले महारथी शल्यको अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा करके ढक दिया ॥ १ ॥

सुशर्माणं कृपं चैव त्रिभिस्त्रिभिरविध्यत ।
प्राग्ज्योतिषं च समरे सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ २ ॥
चित्रसेनं विकर्णं च कृतवर्माणमेव च ।
दुर्मर्षणं च राजेन्द्र ह्यावन्त्यौ च महारथौ ॥ ३ ॥
एकैकं त्रिभिरानर्च्छत् कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

उसके बाद सुशर्मा और कृपाचार्यको भी तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला । राजेन्द्र ! फिर समराङ्गणमें प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण, कृतवर्मा, दुर्मर्षण तथा महारथी विन्द और अनुविन्द—इनमेंसे प्रत्येकको गीधकी पाँखसे युक्त तीन-तीन बाणोंद्वारा विशेष पीड़ा दी ॥ २–३½ ॥

शरैरतिरथो युद्धे पीडयन् वाहिनीं तव ॥ ४ ॥
जयद्रथो रणे पार्थं विद्ध्वा भारत सायकैः ।
भीमं विव्याध तरसा चित्रसेनरथे स्थितः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अतिरथी वीर अर्जुनने युद्धमें आपकी सेनाको बाणसमूहोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया । भारत ! चित्रसेनके रथपर बैठे हुए जयद्रथने रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल करके भीमसेनको भी बहुत-से सायकोंद्वारा वेगपूर्वक बींध डाला ॥ ४–५ ॥

शल्यश्च समरे जिष्णुं कृपश्च रथिनां वरः ।
विव्यधाते महाराज बहुधा मर्मभेदिभिः ॥ ६ ॥

महाराज ! फिर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य तथा शल्यने भी समराङ्गणमें मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले बाणोंद्वारा अर्जुनको बारंबार घायल किया ॥ ६ ॥

चित्रसेनादयश्चैव पुत्रास्तव विशाम्पते ।
पञ्चभिः पञ्चभिस्तूर्णं संयुगे निशितैः शरैः ॥ ७ ॥
आजघ्नुरर्जुनं संख्ये भीमसेनं च मारिष ।

माननीय प्रजानाथ ! चित्रसेन आदि आपके पुत्रोंने भी युद्धस्थलमें तुरंत ही पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा अर्जुन और भीमसेनको घायल कर दिया ॥ ७½ ॥

तौ तत्र रथिनां श्रेष्ठौ कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ८ ॥
अपीडयेतां समरे त्रिगर्तानां महद् बलम् ।

उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुनने समरभूमिमें त्रिगर्तोंकी विशाल सेनाको पीड़ित कर दिया ॥ ८½ ॥

सुशर्मापि रणे पार्थं शरैर्नवभिराशुगैः ॥ ९ ॥
ननाद बलवन्नादं त्रासयानो महद् बलम् ।

इधर सुशर्माने भी रणक्षेत्रमें नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा

अर्जुनको घायल करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ९½ ॥

अन्ये च रथिनः शूरा भीमसेनधनंजयौ ॥ १० ॥
विव्यधुर्निशितैर्बाणै रुक्मपुङ्खैरजिह्मगैः ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर महारथियोंने भीमसेन और अर्जुनको सुवर्णपंखयुक्त, सीधे जानेवाले पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १०½ ॥

तेषां च रथिनां मध्ये कौन्तेयौ भरतर्षभौ ॥ ११ ॥
क्रीडमानौ रथोदारौ चित्ररूपौ व्यदृश्यताम् ।

उन समस्त रथियोंके बीचमें खड़े होकर खेल-से करते हुए भरतभूषण उदार महारथी कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन विचित्र दिखायी देते थे ॥ ११½ ॥

आमिषेप्सू गवां मध्ये सिंहाविव मदोत्कटौ ॥ १२ ॥

जैसे मांसकी इच्छा रखनेवाले दो मदोन्मत्त सिंह गौओंके झुंडमें खड़े हुए हों, उसी प्रकार भीमसेन और अर्जुन उस रणभूमिमें सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

छित्त्वा धनूंषि शूराणां शरांश्च बहुधा रणे ।
पातयामासतुर्वीरौ शिरांसि शतशो नृणाम् ॥ १३ ॥

उन दोनों वीरोंने रणक्षेत्रमें सैकड़ों शूरवीर मनुष्योंके धनुष और बाणोंको बारंबार छिन्न-भिन्न करके उनके मस्तकोंको भी काट गिराया ॥ १३ ॥

रथाश्च बहवो भग्ना हयाश्च शतशो हताः ।
गजाश्च सगजारोहाः पेतुरुर्व्यां महाहवे ॥ १४ ॥

उस महासमरमें बहुत-से रथ टूट गये, सैकड़ों घोड़े मारे गये तथा कितने ही हाथी और हाथीसवार धराशायी हो गये १४

रथिनः सादिनश्चापि तत्र तत्र निषूदिताः ।
दृश्यन्ते बहवो राजन् वेपमानाः समन्ततः ॥ १५ ॥

राजन् ! बहुत-से रथी और घुड़सवार जहाँ-तहाँ चारों ओर मारे जाकर काँपते और छटपटाते हुए दिखायी देते थे १५

हतैर्गजपदात्योघैर्वाजिभिश्च निषूदितैः ।
रथैश्च बहुधा भग्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १६ ॥

वहाँ मरकर गिरे हुए हाथियों, पैदल सिपाहियों, घोड़ों तथा टूटे हुए बहुत-से रथोंद्वारा पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ १६ ॥

छत्रैश्च बहुधा छिन्नैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।
(चामरैर्हेमदण्डैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
अङ्कुशैरपविद्धैश्च परिस्तोमैश्च भारत ॥ १७ ॥
(घण्टाभिश्च कशाभिश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)

भारत ! अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए छत्रों, ध्वजाओं, स्वर्णमय दण्डसे विभूषित चामरों, फेंके हुए अङ्कुशों, चाबुकों, घण्टों और झूलोंसे वहाँकी भूमि ढक गयी थी ॥ १७ ॥

केयूरैरङ्गदैर्हारै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
(कुण्डलैर्मणिचित्रैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
उष्णीषैर्ऋष्टिभिश्चैव चामरव्यजनैरपि ॥ १८ ॥

केयूर, अङ्गद, हार तथा मणिजटित कुण्डल आदि आभूषणों, रंकु मृगके कोमल चर्म, वीरोंकी पगड़ियों, ऋष्टि आदि अस्त्रों तथा चामर और व्यजन आदिसे भी वहाँकी धरती आच्छादित हो गयी थी ॥ १८ ॥

तत्र तत्रापविद्धैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां समास्तीर्यत मेदिनी ॥ १९ ॥

जहाँ-तहाँ गिरी हुई राजाओंकी चन्दनचर्चित भुजाओं और जाँघोंसे वह रणभूमि पट गयी थी ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
शरैः संवार्य तान् वीरान् यज्जघान महाबलः ॥ २० ॥

महाराज ! मैंने उस रणक्षेत्रमें अर्जुनका अद्भुत पराक्रम यह देखा कि उन महाबली वीरने शत्रुपक्षके उन सब प्रमुख वीरोंको बाणोंद्वारा रोककर अनेकों वीरोंको मार डाला था ॥

पुत्रस्तु तव तं दृष्ट्वा भीमार्जुनपराक्रमम् ।
गाङ्गेयस्य रथाभ्याशमुपजग्मे महाबलः ॥ २१ ॥

आपका पुत्र महाबली दुर्योधन भीमसेन और अर्जुनका वह पराक्रम देखकर स्वयं भी गङ्गानन्दन भीष्मके रथके समीप जा पहुँचा ॥ २१ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ नाजहुः संयुगं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कृपाचार्य, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ तथा अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने भी युद्धको नहीं छोड़ा ॥

ततो भीमो महेष्वासः फाल्गुनश्च महारथः ।
कौरवाणां चमूं घोरां भृशं दुद्रुवतू रणे ॥ २३ ॥

तदनन्तर महाधनुर्धर भीमसेन तथा महारथी अर्जुन रणक्षेत्रमें कौरवोंकी उस भयंकर सेनाको जोर-जोरसे खदेड़ने लगे॥

ततो बर्हिणवाजानामयुतान्यर्बुदानि च ।
धनंजयरथे तूर्णं पातयन्ति स्म भूमिपाः ॥ २४ ॥

तब बहुत-से भूमिपाल मिलकर तुरंत ही अर्जुनके रथपर मोरपंखयुक्त अनेक अयुत एवं अर्बुद बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

ततस्ताञ्शरजालेन संनिवार्य महारथान् ।
पार्थः समन्तात् समरे प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २५ ॥

तब अर्जुनने सब ओरसे बाणोंका जाल-सा बिछाकर उन महारथी भूमिपालोंको रोक दिया और तुरंत ही उन्हें मृत्युके लोकमें पहुँचा दिया ॥ २५ ॥

शल्यस्तु समरे जिष्णुं क्रीडन्निव महारथः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥

तब महारथी शल्यने क्रीड़ा करते हुए-से कुपित हो समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा अर्जुनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २६ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा हस्तावापं च पञ्चभिः।
अथैनं सायकैस्तीक्ष्णैर्भृशं विव्याध मर्मणि ॥ २७ ॥

यह देख अर्जुनने पाँच बाणोंसे उनके धनुष और दस्तानेको काटकर तीखे सायकोंद्वारा उनके मर्मस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय समरे भारसाधनम्।
मद्रेश्वरो रणे जिष्णुं ताडयामास रोषितः ॥ २८ ॥
त्रिभिः शरैर्महाराज वासुदेवं च पञ्चभिः।
भीमसेनं च नवभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २९ ॥

महाराज ! फिर मद्रराजने भी भार-साधनमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें अर्जुनपर रोषपूर्वक तीन बाणोंद्वारा प्रहार किया। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पाँच बाणोंसे घायल करके उन्होंने भीमसेनकी भुजाओं तथा छातीमें नौ बाण मारे॥

ततो द्रोणो महाराज मागधश्च महारथः।
दुर्योधनसमादिष्टौ तं देशमुपजग्मतुः ॥ ३० ॥
यत्र पार्थो महाराज भीमसेनश्च पाण्डवः।
कौरव्यस्य महासेनां जघ्नतुः सुमहारथौ ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर दुर्योधनकी आज्ञा पाकर द्रोण तथा महारथी मगधनरेश उसी स्थानपर आये, जहाँ पाण्डुकुमार अर्जुन और भीमसेन—ये दोनों महारथी दुर्योधनकी विशाल सेनाका संहार कर रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

जयत्सेनस्तु समरे भीमं भीमायुधं युधि।
विव्याध निशितैर्बाणैरष्टभिर्भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मगधराज जयत्सेन[1]ने युद्धके मैदानमें भयानक अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भीमसेनको आठ पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३२ ॥

तं भीमो दशभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ३३ ॥

तब भीमसेनने जयत्सेनको दस बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्ल मारकर उसके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ३३ ॥

उद्भ्रान्तैस्तुरगैः सोऽथ द्रवमाणैः समन्ततः।
मागधोऽपसृतो राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३४ ॥

फिर तो उसके घबराये हुए घोड़े चारों ओर भागने लगे और इस प्रकार वह मगधदेशका राजा सारी सेनाके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा दिया गया ॥ ३४ ॥

द्रोणश्च विवरं दृष्ट्वा भीमसेनं शिलीमुखैः।
विव्याध बाणैर्निशितैः पञ्चषष्टिभिरायसैः ॥ ३५ ॥

इसी समय द्रोणाचार्यने अवसर देखकर लोहेके बने हुए पैंसठ पैने बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ ३५ ॥

तं भीमः समरश्लाघी गुरुं पितृसमं रणे।
विव्याध पञ्चभिर्भल्लैस्तथा षष्ट्या च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने भी रणक्षेत्रमें पिताके समान पूजनीय गुरु द्रोणाचार्यको पैंसठ भल्लोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३६ ॥

अर्जुनस्तु सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः।
व्यधमत् तस्य तत्सैन्यं महाभ्राणि यथानिलः॥ ३७ ॥

इधर अर्जुनने लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा सुशर्माको घायल करके जैसे वायु महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उसकी सेनाकी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥३७॥

ततो भीष्मश्च राजा च कौसल्यश्च बृहद्बलः।
समवर्तन्त संक्रुद्धा भीमसेनधनंजयौ ॥ ३८ ॥

तब भीष्म, राजा दुर्योधन और कोशलनरेश बृहद्बल— ये तीनों अत्यन्त कुपित होकर भीमसेन और अर्जुनपर चढ़ आये ॥ ३८ ॥

तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
अभ्यद्रवन् रणे भीष्मं व्यादितास्यमिवान्तकम्॥ ३९ ॥

इसी प्रकार शूरवीर पाण्डव तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न- ये रणक्षेत्रमें मुँह फैलाये हुए यमराजके समान प्रतीत होनेवाले भीष्मपर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम्।
अभ्यद्रवत संहृष्टो भयं त्यक्त्वा महारथात् ॥ ४० ॥

शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके निकट पहुँचकर उन महारथी भीष्मसे सम्भावित भयको त्यागकर बड़े हर्षके साथ उनपर धावा किया ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
अयोधयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृंजयैः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र रणभूमिमें शिखण्डीको आगे करके समस्त सृंजयोंको साथ ले भीष्मके साथ युद्ध करने लगे॥

तथैव तावकाः सर्वे पुरस्कृत्य यतव्रतम्।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे॥ ४२ ॥

इसी प्रकार आपके समस्त योद्धा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले भीष्मको युद्धमें आगे रखकर शिखण्डी आदि पाण्डव महारथियोंका सामना करने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कौरवाणां भयावहम्।
तत्र पाण्डुसुतैः सार्धं भीष्मस्य विजयं प्रति ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वहाँ भीष्मकी विजयके उद्देश्यसे कौरवोंका पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४३ ॥

तावकानां जये भीष्मो ग्लह आसीद् विशाम्पते।
तत्र हि द्यूतमासक्तं विजयायेतराय वा ॥ ४४ ॥

---

१. जयत्सेन नामके दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं, एक पाण्डव-पक्षमें और दूसरे कौरवपक्षमें रहे होंगे।

प्रजानाथ ! उस युद्धरूपी जूएमें आपके पुत्रोंकी ओरसे विजयके लिये भीष्मको ही दाँवपर लगाया था। इस प्रकार वहाँ विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत उपस्थित हो गया॥

धृष्टद्युम्नस्तु राजेन्द्र सर्वसैन्यान्यचोदयत्।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं मा भैष्ट रथसत्तमाः॥ ४५॥

राजेन्द्र ! उस समय धृष्टद्युम्नने अपनी समस्त सेनाओंको प्रेरणा देते हुए कहा—'श्रेष्ठ रथियो ! गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा करो। उनसे तनिक भी भय न मानो' ॥ ४५ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा पाण्डवानां वरूथिनी।
भीष्मं समभ्ययात् तूर्णं प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥ ४६॥

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी उस महासमरमें प्राणोंका मोह छोड़कर तुरंत ही भीष्मकी ओर बढ़ चली ॥ ४६ ॥

भीष्मोऽपि रथिनां श्रेष्ठः प्रतिजग्राह तां चमूम्।
आपतन्तीं महाराज वेलामिव महोदधिः॥ ४७॥

महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने भी अपने ऊपर आती हुई उस विशाल सेनाको युद्धके लिये उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे तटभूमिको महासागर ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमार्जुनपराक्रमे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेन और अर्जुनका पराक्रमविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके आदेशसे युधिष्ठिरका उनपर आक्रमण तथा कौरव-पाण्डव-सैनिकोंका भीषण युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शान्तनवो भीष्मो दशमेऽहनि संजय।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः॥ १॥
कुरवश्च कथं युद्धे पाण्डवान् प्रत्यवारयन्।
आचक्ष्व मे महायुद्धं भीष्मस्याहवशोभिनः॥ २॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! दसवें दिन महापराक्रमी शान्तनुकुमार भीष्मने पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया तथा कौरवोंने पाण्डवोंको युद्धमें किस प्रकार रोका ? रणक्षेत्रमें शोभा पानेवाले भीष्मके उस महायुद्धका वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

कुरवः पाण्डवैः सार्धं यदयुध्यन्त भारत।
यथा च तदभूद् युद्धं तत् तु वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥ ३॥

संजयने कहा—भारत ! कौरवोंने पाण्डवोंके साथ जो युद्ध किया और जिस प्रकार वह युद्ध हुआ, वह सब इस समय बताता हूँ ॥ ३ ॥

गमिताः परलोकाय परमास्त्रैः किरीटिना।
अहन्यहनि संक्रुद्धास्तावकानां महारथाः॥ ४॥

किरीटधारी अर्जुनने प्रतिदिन अपने उत्तम अस्त्रोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए आपके महारथियोंको परलोकमें पहुँचाया है॥

यथाप्रतिज्ञं कौरव्यः स चापि समितिंजयः।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम्॥ ५॥

इसी प्रकार युद्धविजयी कुरुकुलनन्दन भीष्मने भी सदा अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धमें कुन्तीपुत्रोंके सैनिकोंका संहार किया है ॥ ५ ॥

कुरुभिः सहितं भीष्मं युध्यमानं परंतप।
अर्जुनं च सपाञ्चाल्यं संशयो विजयेऽभवत्॥ ६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! एक ओरसे कौरवोंसहित भीष्म युद्ध कर रहे थे और दूसरी ओरसे पाञ्चालदेशीय वीरोंके सहित अर्जुन उनका सामना कर रहे थे, यह देखकर सबके मनमें संशय हो गया कि किस पक्षकी विजय होगी ॥ ६ ॥

दशमेऽहनि तस्मिंस्तु भीष्मार्जुनसमागमे।
अवर्तत महारौद्रः सततं समितिक्षयः॥ ७॥

दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके उस युद्धमें निरन्तर महाभयंकर जनसंहार होने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन्नयुतशो राजन् भूयशश्च परंतपः।
भीष्मः शान्तनवो योधाञ्जघान परमास्त्रवित्॥ ८॥

राजन् ! उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उस युद्धमें कई अयुत योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ८ ॥

येषामज्ञातकल्पानि नामगोत्राणि पार्थिव।
ते हतास्तत्र भीष्मेण शूराः सर्वेऽनिवर्तिनः॥ ९॥

भूपाल ! जिनके नाम और गोत्र प्रायः अज्ञात थे तथा जो सभी युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते थे, वे शूरवीर वहाँ भीष्मके हाथों मारे गये ॥ ९ ॥

दशाहानि ततस्तप्त्वा भीष्मः पाण्डववाहिनीम्।
निरविद्यत धर्मात्मा जीवितेन परंतप॥ १०॥

परंतप ! इस प्रकार दस दिनोंतक धर्मात्मा भीष्म पाण्डवसेनाको संतप्त करके अन्ततोगत्वा अपने जीवनसे ही ऊब गये ॥ १० ॥

स क्षिप्रं वधमन्विच्छन्नात्मनोऽभिमुखो रणे।
न हन्यां मानवश्रेष्ठान् संग्रामे सुबहूनिति ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वा महाबाहुः पिता देवव्रतस्तव।
अभ्याशस्थं महाराज पाण्डवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

अब वे रणक्षेत्रमें सम्मुख रहकर शीघ्र ही अपने वधकी इच्छा करने लगे। महाराज! आपके ताऊ महाबाहु देवव्रतने यह सोचकर कि अब मैं संग्राममें बहुसंख्यक श्रेष्ठ मानवोंका वध न करूँ, अपने निकटवर्ती पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शृणुष्व वचनं तात धर्म्यं स्वर्ग्यं च जल्पतः ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, महाज्ञानी तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हें धर्मके अनुकूल तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली एक बात बता रहा हूँ, तुम मेरे उस वचनको सुनो ॥ १३ ॥

निर्विण्णोऽस्मि भृशं तात देहेनानेन भारत।
घ्नतश्च मे गतः कालः सुबहून् प्राणिनो रणे ॥ १४ ॥

'तात भरतनन्दन! अब मैं इस देहसे ऊब गया हूँ; क्योंकि रणभूमिमें बहुत-से प्राणियोंका वध करते हुए ही मेरा समय बीता है ॥ १४ ॥

तस्मात् पार्थं पुरोधाय पञ्चालान् सृंजयांस्तथा।
मद्वधे क्रियतां यत्नो मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १५ ॥

'इसलिये यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अर्जुन तथा पाञ्चालों और सृंजयोंको आगे करके मेरे वधके लिये प्रयत्न करो' ॥ १५ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय पाण्डवः सत्यदर्शनः।
भीष्मं प्रति ययौ राजा संग्रामे सह सृंजयैः ॥ १६ ॥

भीष्मके इस अभिप्रायको जानकर सत्यदर्शी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर रणभूमिमें सृंजयवीरोंको साथ ले भीष्मकी ओर आगे बढ़े ॥ १६ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजन् पाण्डवश्च युधिष्ठिरः।
श्रुत्वा भीष्मस्य तां वाचं चोदयामासतुर्बलम् ॥ १७ ॥
अभिद्रवध्वं युध्यध्वं भीष्मं जयत संयुगे।
रक्षिताः सत्यसंधेन जिष्णुना रिपुजिष्णुना ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय भीष्मजीका वह वचन सुनकर धृष्टद्युम्न और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपनी सेनाको आज्ञा दी—'वीरो! आगे बढ़ो। युद्ध करो और संग्राममें भीष्मपर विजय पाओ। तुम सब लोग शत्रुविजयी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हो ॥ १७-१८ ॥

अयं चापि महेष्वासः पार्षतो वाहिनीपतिः।
भीमसेनश्च समरे पालयिष्यति वो ध्रुवम् ॥ १९ ॥

'ये महाधनुर्धर सेनापति धृष्टद्युम्न तथा भीमसेन भी समराङ्गणमें निश्चय ही तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे ॥१९॥

मा वो भीष्माद् भयं किञ्चिदस्त्वद्य युधि सृंजयाः।
ध्रुवं भीष्मं विजेष्यामः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्॥ २० ॥

'सृंजय वीरो! आज तुम युद्धमें भीष्मजीसे तनिक भी भय न करो। हम शिखण्डीको आगे करके भीष्मपर अवश्य ही विजय पायेंगे' ॥ २० ॥

ते तथा समयं कृत्वा दशमेऽहनि पाण्डवाः।
ब्रह्मलोकपरा भूत्वा संजग्मुः क्रोधमूर्छिताः ॥ २१ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य पाण्डवं च धनंजयम्।
भीष्मस्य पातने यत्नं परमं ते समास्थिताः ॥ २२ ॥

तब वे पाण्डव सैनिक दसवें दिन वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मलोकको अपना लक्ष्य बनाकर क्रोधसे मूर्छित हो शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनको आगे करके आगे बढ़े और भीष्मको मार गिरानेका महान् प्रयत्न करने लगे २१-२२

ततस्तव सुतादिष्टा नानाजनपदेश्वराः।
द्रोणेन सहपुत्रेण सहसेना महाबलाः ॥ २३ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञा पाकर नाना देशोंके स्वामी महाबली नरेशगण अपनी विशाल सेनासहित द्रोण तथा अश्वत्थामाके साथ अग्रसर हुए ॥ २३ ॥

दुःशासनश्च बलवान् सह सर्वैः सहोदरैः।
भीष्मं समरमध्यस्थं पालयाञ्चक्रिरे तदा ॥ २४ ॥

उस समय वे सब वीर और समस्त भाइयोंसहित बलवान् दुःशासन समरभूमिमें खड़े हुए भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥

ततस्तु तावकाः शूराः पुरस्कृत्य महाव्रतम्।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे ॥२५॥

तदनन्तर आपके पक्षके शूरवीर सैनिक महाव्रती भीष्मको आगे करके रणक्षेत्रमें शिखण्डी आदि पाण्डवसैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २५॥

चेदिभिस्तु सपञ्चालैः सहितो वानरध्वजः।
ययौ शान्तनवं भीष्मं पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥ २६ ॥

वानरचिह्नित ध्वजासे विभूषित अर्जुनने चेदि तथा पाञ्चालदेशके वीरोंके साथ शिखण्डीको आगे करके शान्तनुनन्दन भीष्मपर चढ़ाई की॥ २६ ॥

द्रोणपुत्रं शिनेर्नप्ता धृष्टकेतुस्तु पौरवम्।
अभिमन्युः सहामात्यं दुर्योधनमयोधयत् ॥ २७ ॥

सात्यकि अश्वत्थामाके साथ, धृष्टकेतु पौरवके साथ तथा मन्त्रियोंसहित दुर्योधनके साथ अभिमन्यु युद्ध करने लगे ॥

विराटस्तु सहानीकः सहसेनं जयद्रथम्।
वृद्धक्षत्रस्य दायादमाससाद परंतप ॥ २८ ॥

परंतप! सेनासहित विराटने सैनिकोंसहित वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथपर आक्रमण किया ॥ २८ ॥

मद्रराजं महेष्वासं सहसैन्यं युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽभिगुप्तस्तु नागानीकमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने महाधनुर्धर मद्रराज शल्य तथा उनकी सेनापर धावा किया। सब ओरसे सुरक्षित हुए भीमसेन हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यमनावार्यं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
द्रौणिं प्रति ययौ यत्तः पाञ्चाल्यः सह सोदरैः ॥ ३० ॥

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अनिवार्य और दुर्धर्ष वीर अश्वत्थामापर भाइयोंसहित धृष्टद्युम्नने प्रयत्नपूर्वक आक्रमण किया॥

कर्णिकारध्वजं चैव सिंहकेतुररिंदमः ।
प्रत्युज्जगाम सौभद्रं राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३१ ॥

कर्णिकारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युपर सिंहचिह्नित ध्वजावाले शत्रुदमन राजकुमार बृहद्बलने आक्रमण किया ॥ ३१ ॥

शिखण्डिनं च पुत्रास्ते पाण्डवं च धनंजयम् ।
राजभिः समरे पार्थमभिपेतुर्जिघांसवः ॥ ३२ ॥

शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनपर आपके पुत्रोंने समस्त राजाओंको साथ लेकर युद्धस्थलमें आक्रमण किया । वे उन दोनोंको मार डालना चाहते थे ॥ ३२ ॥

तस्मिन्नतिमहाभीमे सेनयोर्वै पराक्रमे ।
सम्प्रधावत्स्वनीकेषु मेदिनी समकम्पत ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उन दोनों सेनाओंके वीर जब अत्यन्त भयानक पराक्रम प्रकट करने लगे और समस्त सैनिक इधर-उधर दौड़ने लगे; उस समय यह सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥३३॥

तान्यनीकान्यनीकेषु समसज्जन्त भारत ।
तावकानां परेषां च दृष्ट्वा शान्तनवं रणे ॥ ३४ ॥

भारत ! आपके और शत्रुपक्षके सब सैनिक युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको देखकर विरोधी सैनिकोंके साथ जम-कर युद्ध करने लगे ॥ ३४ ॥

ततस्तेषां प्रतप्तानामन्योन्यमभिधावताम् ।
प्रादुरासीन्महाशब्दो दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ३५ ॥

भरतनन्दन ! एक दूसरेपर धावा करनेवाले उन संतप्त सैनिकोंका महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥ ३५ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषश्च वारणानां च बृंहितैः ।
सिंहनादश्च सैन्यानां दारुणः समपद्यत ॥ ३६ ॥

शङ्खों और दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष तथा हाथियोंकी गर्जनाके साथ सैनिकोंका सिंहनाद बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३६ ॥

सा च सर्वनरेन्द्राणां चन्द्रार्कसदृशी प्रभा ।
वीराङ्गदकिरीटेषु निष्प्रभा समपद्यत ॥ ३७ ॥

समस्त राजाओंकी चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली प्रभा वीरोंके अङ्गद और किरीटोंके सामने अत्यन्त फीकी पड़ गयी ॥ ३७ ॥

रजोमेघास्तु संजज्ञुः शस्त्रविद्युद्भिरावृताः ।
धनुषां चापि निर्घोषो दारुणः समपद्यत ॥ ३८ ॥

धूल मेघोंकी घटा-सी छा गयी । उसमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक बिजलीकी प्रभाके समान व्याप्त हो रही थी, धनुषोंकी टङ्कारध्वनि अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ३८ ॥

बाणशङ्खप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
रथघोषश्च संजज्ञे सेनयोरुभयोरपि ॥ ३९ ॥

बाणों, शङ्खों तथा भेरियोंके सम्मिलित शब्द जोर-जोरसे सुनायी देने लगे । साथ ही दोनों सेनाओंमें रथोंकी घरघराहट भी दूरतक फैलने लगी ॥ ३९ ॥

प्रासशक्त्यृष्टिसङ्घैश्च बाणौघैश्च समाकुलम् ।
निष्प्रकाशमिवाकाशं सेनयोः समपद्यत ॥ ४० ॥

दोनों सेनाओंके प्रास, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंके समुदायोंसे भरा हुआ वहाँका आकाश प्रकाशहीन-सा जान पड़ता था ॥ ४० ॥

अन्योन्यं रथिनः पेतुर्वाजिनश्च महाहवे ।
कुञ्जरान् कुञ्जरा जघ्नुः पादातांश्च पदातयः ॥ ४१ ॥

उस महासमरमें रथी और घोड़े एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे । हाथी हाथियोंको और पैदल पैदल सिपाहियोंको मार रहे थे ॥ ४१ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
भीष्महेतोर्नरव्याघ्र श्येनयोरामिषे यथा ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये दो श्येन पक्षी आपसमें लड़ते हैं, उसी प्रकार वहाँ भीष्मके लिये कौरवोंका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हो रहा था ॥ ४२ ॥

तेषां समागमो घोरो बभूव युधि संगतः ।
अन्योन्यस्य वधार्थाय जिगीषूणां महाहवे ॥ ४३ ॥

उस महासमरमें एक दूसरेके वधके लिये एकत्र हुए विजया-भिलाषी सैनिकोंका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपदेशे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मका उपदेशविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन तथा भीष्मका पराक्रम

संजय उवाच

अभिमन्युर्महाराज तव पुत्रमयोधयत् ।
महत्या सेनया युक्तं भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीको पराजित करनेके लिये पराक्रमी अभिमन्युने विशाल सेनासहित आये हुए आपके पुत्रके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ १ ॥

दुर्योधनो रणे कार्ष्णिं नवभिर्नतपर्वभिः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः पुनश्चैनं त्रिभिः शरैः ॥ २ ॥

दुर्योधनने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे अभिमन्युकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । फिर कुपित होकर उसने उन्हें तीन बाण और मारे ॥ २ ॥

तस्य शक्तिं रणे कार्ष्णिर्मृत्योर्घोरां स्वसामिव ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो दुर्योधनरथं प्रति ॥ ३ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने रणक्षेत्रमें दुर्योधनके रथपर एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युकी बहिन-सी प्रतीत होती थी ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां विशाम्पते ।
द्विधा चिच्छेद ते पुत्रः क्षुरप्रेण महारथः ॥ ४ ॥
तां शक्तिं पतितां दृष्ट्वा कार्ष्णिः परमकोपनः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! उस भयंकर शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख आपके महारथी पुत्र दुर्योधनने एक क्षुरप्रके द्वारा उसके दो टुकड़े कर डाले । उस शक्तिको गिरी हुई देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अर्जुनकुमारने दुर्योधनकी छाती तथा भुजाओंमें चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

पुनश्चैनं शरैर्घोरैराजघान स्तनान्तरे ।
दशभिर्भरतश्रेष्ठ भरतानां महारथः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भरतकुलके महारथी वीर अभिमन्युने पुनः दुर्योधनकी छातीमें दस भयानक बाण मारे ॥ ६ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं चित्ररूपं च भारत ।
इन्द्रियप्रीतिजननं सर्वपार्थिवपूजितम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंका वह भयंकर युद्ध विचित्र एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला था । समस्त भूपाल उस युद्धकी प्रशंसा करते थे ॥ ७ ॥

भीष्मस्य निधनार्थाय पार्थस्य विजयाय च ।
युयुधाते रणे वीरौ सौभद्रकुरुपुङ्गवौ ॥ ८ ॥

भीष्मके वध और अर्जुनकी विजयके लिये उस युद्धके मैदानमें सुभद्राकुमार अभिमन्यु और कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन—ये दोनों वीर युद्ध कर रहे थे ॥ ८ ॥

सात्यकिं रभसं युद्धे द्रौणिर्ब्राह्मणपुङ्गवः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो नाराचेन परंतपः ॥ ९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले ब्राह्मणशिरोमणि द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कुपित हो युद्धमें अत्यन्त वेगशाली सात्यकिको लक्ष्य करके उनकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया ॥ ९ ॥

शैनेयोऽपि गुरोः पुत्रं सर्वमर्मसु भारत ।
अताडयदमेयात्मा नवभिः कङ्कवाजितैः ॥ १० ॥

भारत ! तब अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न सात्यकिने भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें नौ कंकपत्रयुक्त बाण मारे ॥ १० ॥

अश्वत्थामा तु समरे सात्यकिं नवभिः शरैः ।
त्रिंशता च पुनस्तूर्णं बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ११ ॥

अश्वत्थामाने समरभूमिमें सात्यकिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर तुरंत ही तीस बाणोंद्वारा उनकी भुजाओं तथा छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो द्रोणपुत्रेण सात्वतः ।
द्रोणपुत्रं त्रिभिर्बाणैराजघान महायशाः ॥ १२ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अत्यन्त घायल होकर महायशस्वी महाधनुर्धर सात्यकिने तीन बाणोंसे उसे भी घायल कर दिया ॥

पौरवो धृष्टकेतुं च शरैराच्छाद्य संयुगे ।
बहुधा दारयांचक्रे महेष्वासं महारथः ॥ १३ ॥

महारथी पौरवने युद्धमें महाधनुर्धर धृष्टकेतुको बाणोंद्वारा आच्छादित करके उन्हें बारंबार घायल किया ॥ १३ ॥

तथैव पौरवं युद्धे धृष्टकेतुर्महारथः ।
त्रिंशता निशितैर्बाणैर्विव्याधाशु महाभुजः ॥ १४ ॥

उसी प्रकार महारथी महाबाहु धृष्टकेतुने युद्धस्थलमें तीस पैने बाणोंद्वारा पौरवको भी तुरंत ही घायल कर दिया ।१४।

पौरवस्तु धनुश्छित्त्वा धृष्टकेतोर्महारथः ।
ननाद बलवन्नादं विव्याध च शितैः शरैः ॥ १५ ॥

तब महारथी पौरवने धृष्टकेतुके धनुषको काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उसे तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पौरवं निशितैः शरैः ।
आजघान महाराज त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥ १६ ॥

महाराज ! धृष्टकेतुने दूसरा धनुष लेकर तिहत्तर तीखे शिलीमुख बाणोंद्वारा पौरवको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

तौ तु तत्र महेष्वासौ महामात्रौ महारथौ ।
महता शरवर्षेण परस्परमविध्यताम् ॥ १७ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर, महाबली और महारथी वीर एक दूसरेको युद्धमें भारी बाणवर्षाद्वारा घायल कर रहे थे ॥१७॥

अन्योन्यस्य धनुश्छित्त्वा हयान् हत्वा च भारत ।
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ ॥ १८ ॥

भारत ! दोनोंने एक दूसरेका धनुष काटकर घोड़ोंको भी मार डाला और रथहीन हो दोनों ही एक दूसरेपर कुपित हो परस्पर खड्गयुद्धके लिये आमने-सामने आये ॥ १८ ॥

आर्षभे चर्मणी चित्रे शतचन्द्रपुरस्कृते ।
तारकाशतचित्रे च निस्त्रिंशौ सुमहाप्रभौ ॥ १९ ॥

उनके हाथोंमें सौ-सौ चन्द्र और तारकाके चिह्नोंसे युक्त ऋषभके चर्मकी बनी हुई ढालें और चमकीले खड्ग शोभा पाते थे ॥ १९ ॥

प्रगृह्य विमलौ राजंस्तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।
वासितासंगमे यत्तौ सिंहाविव महावने ॥ २० ॥

राजन् ! जैसे महान् वनमें एक सिंहनीके लिये दो सिंह लड़ते हों, उसी प्रकार चमकीले खड्ग लेकर धृष्टकेतु और पौरव दोनों विजयके लिये प्रयत्नशील हो एक दूसरेपर टूट पड़े ॥ २० ॥

मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।
चेरतुर्दर्शयन्तौ च प्रार्थयन्तौ परस्परम् ॥ २१ ॥

वे आगे बढ़ने और पीछे हटने आदि विचित्र पैंतरे दिखाते एवं एक दूसरेको ललकारते हुए रणभूमिमें विचरते थे ॥ २१ ॥

पौरवो धृष्टकेतुं तु शङ्खदेशे महासिना ।
ताडयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २२ ॥

पौरवने अपने महान् खड्गसे धृष्टकेतुकी कनपटीपर क्रोधपूर्वक प्रहार किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

चेदिराजोऽपि समरे पौरवं पुरुषर्षभम् ।
आजघान शिताग्रेण जत्रुदेशे महासिना ॥ २३ ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने भी समरमें पुरुषरत्न पौरवके गलेकी हँसलीपर तीखी धारवाले महान् खड्गसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ २३ ॥

तावन्योन्यं महाराज समासाद्य महाहवे ।
अन्योन्यवेगाभिहतौ निपेततुररिंदमौ ॥ २४ ॥

महाराज ! शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर उस महायुद्धमें परस्पर भिड़कर एक दूसरेके वेगपूर्वक किये हुए आघातसे अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

ततः स्वरथमारोप्य पौरवं तनयस्तव ।
जयत्सेनो रथेनाजावपोवाह रणाजिरात् ॥ २५ ॥

तब आपके पुत्र जयत्सेनने पौरवको अपने रथपर बिठा लिया और उस रथके द्वारा ही वह उसे समराङ्गणसे बाहर हटा ले गया ॥ २५ ॥

धृष्टकेतुं तु समरे माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ।
अपोवाह रणे क्रुद्धः सहदेवः पराक्रमी ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रतापी एवं पराक्रमी माद्रीकुमार सहदेव कुपित हो धृष्टकेतुको अपने रथपर चढ़ाकर समरभूमिसे बाहर हटा ले गये ॥ २६ ॥

चित्रसेनः सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
पुनर्विव्याध तं षष्ट्या पुनश्च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥

चित्रसेनने पाण्डवदलके सुशर्मा नामक राजाको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके पुनः साठ तथा नौ सायकोंद्वारा उन्हें पीड़ित कर दिया ॥ २७ ॥

सुशर्मा तु रणे क्रुद्धस्तव पुत्रं विशाम्पते ।
दशभिर्दशभिश्चैव विव्याध निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! तब सुशर्माने रणभूमिमें कुपित होकर आपके पुत्र चित्रसेनको दस-दस तीखे बाणोंद्वारा दो बार घायल किया ॥ २८ ॥

चित्रसेनश्च तं राजंस्त्रिंशता नतपर्वभिः ।
आजघान रणे क्रुद्धः स च तं प्रत्यविध्यत ॥ २९ ॥
भीष्मस्य समरे राजन् यशो मानं च वर्धयन् ।

राजन् ! चित्रसेनने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले तीस बाणोंसे रणक्षेत्रमें सुशर्माको गहरी चोट पहुँचायी । महाराज ! उसने समरमें भीष्मके यश और सम्मान दोनोंको बढ़ाया २९½

सौभद्रो राजपुत्रं तु बृहद्बलमयोधयत् ॥ ३० ॥
पार्थहेतोः पराक्रान्तो भीष्मस्यायोधनं प्रति ।

राजन् ! भीष्मजीके साथ युद्ध करनेमें अर्जुनकी सहायताके लिये पराक्रम करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने राजकुमार बृहद्बलके साथ युद्ध किया ॥ ३०½ ॥

आर्जुनिं कोसलेन्द्रस्तु विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः ॥ ३१ ॥
पुनर्विव्याध विंशत्या शरैः संनतपर्वभिः ।

कोसलनरेशने लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे अर्जुनकुमारको घायल करके पुनः झुकी हुई गाँठवाले बीस बाणोंद्वारा उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३१½ ॥

सौभद्रः कोसलेन्द्रं तु विव्याधाष्टभिरायसैः ॥ ३२ ॥
नाकम्पयत संग्रामे विव्याध च पुनः शरैः ।

तब सुभद्राकुमारने कोसलनरेशको लोहेके आठ बाणोंसे बींध डाला तो भी संग्राममें उसे विचलित न कर सका । इसके बाद उसने फिर अनेक बाणोंद्वारा बृहद्बलको घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

कौसल्यस्य धनुश्चापि पुनश्चिच्छेद फाल्गुनिः ॥ ३३ ॥
आजघान शरैश्चापि त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ।

तदनन्तर अर्जुनकुमारने कोसलनरेशका धनुष भी काट दिया और कंकपत्रयुक्त तीस सायकोंद्वारा उनपर गहरा प्रहार किया ॥ ३३½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय राजपुत्रो बृहद्बलः ॥ ३४ ॥
फाल्गुनिं समरे क्रुद्धो विव्याध बहुभिः शरैः ।

तब राजकुमार बृहद्बलने दूसरा धनुष लेकर समरभूमिमें कुपित हो अर्जुनकुमार अभिमन्युको बहुतेरे बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३४½ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् भीष्महेतोः परंतप ॥ ३५ ॥
संरब्धयोर्महाराज समरे चित्रयोधिनोः ।
यथा देवासुरे युद्धे बलिवासवयोरभूत् ॥ ३६ ॥

परंतप ! महाराज ! इस प्रकार समराङ्गणमें क्रोधपूर्वक विचित्र युद्ध करनेवाले उन दोनों वीरोंमें भीष्मके लिये बड़ा

भारी युद्ध हुआ, मानो देवासुरसंग्राममें राजा बलि और इन्द्र-में द्वन्द्वयुद्ध हो रहा हो ॥ ३५-३६ ॥

भीमसेनो गजानीकं योधयन् बह्वशोभत ।
यथा शक्रो वज्रपाणिर्दारयन् पर्वतोत्तमान् ॥ ३७ ॥

तथा जैसे वज्रधारी इन्द्र बड़े-बड़े पर्वतोंको विदीर्ण कर डालते हैं, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंकी सेनाके साथ युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३७ ॥

ते वध्यमाना भीमेन मातङ्गा गिरिसंनिभाः ।
निपेतुरुर्व्यां सहिता नादयन्तो वसुन्धराम् ॥ ३८ ॥

भीमसेनके द्वारा मारे जाते हुए वे पर्वत सरीखे बहुसंख्यक गजराज (अपने चीत्कारसे) इस पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एक साथ ही धराशायी हो जाते थे ॥ ३८ ॥

गिरिमात्रा हि ते नागा भिन्नाञ्जनचयोपमाः ।
विरेजुर्वसुधां प्राप्ता विकीर्णा इव पर्वताः ॥ ३९ ॥

कटे हुए कोयलेकी राशिके समान काले और गिरिराजके समान ऊँचे शरीरवाले वे हाथी पृथ्वीपर गिरकर इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरो महेष्वासो मद्रराजानमाहवे ।
महत्या सेनया गुप्तं पीडयामास संगतम् ॥ ४० ॥

महाधनुर्धर युधिष्ठिरने विशाल सेनासे सुरक्षित मद्रराज शल्यको उस युद्धमें सामने पाकर बाणोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ४० ॥

मद्रेश्वरश्च समरे धर्मपुत्रं महारथम् ।
पीडयामास संरब्धो भीष्महेतोः पराक्रमी ॥ ४१ ॥

भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम करनेवाले मद्रराज शल्यने भी युद्धमें कुपित हो महारथी धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ित किया ॥

विराटं सैन्धवो राजा विद्ध्वा संनतपर्वभिः ।
नवभिः सायकैस्तीक्ष्णैस्त्रिंशता पुनरार्पयत् ॥ ४२ ॥

सिन्धुराज जयद्रथने झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा राजा विराटको घायल करके पुनः उन्हें तीस बाण मारे॥

विराटश्च महाराज सैन्धवं वाहिनीपतिः ।
त्रिंशद्भिर्निशितैर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ४३ ॥

महाराज ! सेनापति विराटने भी सिन्धुराज जयद्रथकी छातीमें तीस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥४३॥

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशौ चित्रवर्मायुधध्वजौ ।
रेजतुश्चित्ररूपौ तौ संग्रामे मत्स्यसैन्धवौ ॥ ४४ ॥

उस संग्राममें मत्स्यराज और सिन्धुराज दोनोंके ही धनुष और खड्ग विचित्र थे । दोनोंने विचित्र कवच, आयुध और ध्वज धारण किये थे । वे दोनों ही विचित्र रूप धारण करके बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४४ ॥

द्रोणः पाञ्चालपुत्रेण समागम्य महारणे ।
महासमुदयं चक्रे शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४५ ॥

द्रोणाचार्यने उस महासमरमें पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नसे भिड़कर झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बड़ा भारी युद्ध किया ॥ ४५ ॥

ततो द्रोणो महाराज पार्षतस्य महद् धनुः ।
छित्त्वा पञ्चाशतेषूणां पार्षतं समविध्यत ॥ ४६ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके विशाल धनुषको काटकर पचास बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ॥४६॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणस्य मिषतो युद्धे प्रेषयामास सायकान् ॥ ४७ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनके ऊपर बहुत-से बाण चलाये ॥ ४७ ॥

तान्छरान्छरघातेन चिच्छेद स महारथः ।
द्रोणो द्रुपदपुत्राय प्राहिणोत् पञ्च सायकान् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर महारथी द्रोणने अपने बाणोंके आघातसे धृष्टद्युम्नके सारे बाणोंको काट दिया और द्रुपदपुत्रपर पाँच बाण चलाये ॥ ४८ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणाय चिक्षेप गदां यमदण्डोपमां रणे ॥ ४९ ॥

महाराज ! तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने कुपित हो द्रोणाचार्यपर गदा चलायी, जो रणभूमिमें यमदण्डके समान भयंकर थी ॥ ४९ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमपट्टविभूषिताम् ।
शरैः पञ्चाशता द्रोणो वारयामास संयुगे ॥ ५० ॥

उस स्वर्णपत्रविभूषित गदाको सहसा अपनी ओर आती देख द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें पचासों बाण मारकर उसे दूर गिरा दिया ॥ ५० ॥

सा छिन्ना बहुधा राजन् द्रोणचापच्युतैः शरैः ।
चूर्णीकृता विशीर्यन्ती पपात वसुधातले ॥ ५१ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा नाना प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुई वह गदा चूर-चूर होकर पृथ्वीपर बिखर गयी ॥ ५१ ॥

गदां विनिहतां दृष्ट्वा पार्षतः शत्रुतापनः ।
द्रोणाय शक्तिं चिक्षेप सर्वपारशवीं शुभाम् ॥ ५२ ॥

अपनी गदाको निष्फल हुई देख शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने द्रोणके ऊपर पूर्णतः लोहेकी बनी हुई सुन्दर शक्ति चलायी ॥ ५२ ॥

तां द्रोणो नवभिर्बाणैश्चिच्छेद युधि भारत ।
पार्षतं च महेष्वासं पीडयामास संयुगे ॥ ५३ ॥

भारत ! द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें नौ बाण मारकर उस

शक्तिके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नको भी उस रणक्षेत्रमें बहुत पीड़ित किया ॥ ५३ ॥

एवमेतन्महायुद्धं द्रोणपार्षतयोरभूत् ।
भीष्मं प्रति महाराज घोररूपं भयानकम् ॥ ५४ ॥

महाराज ! इस प्रकार द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भीष्मके लिये यह घोररूप एवं भयानक महायुद्ध हुआ ॥ ५४ ॥

अर्जुनः प्राप्य गाङ्गेयं पीडयन् निशितैः शरैः ।
अभ्यद्रवत संयत्तो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ५५ ॥

अर्जुनने गङ्गानन्दन भीष्मके निकट पहुँचकर उन्हें तीखे बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए बड़ी सावधानीके साथ उनपर चढ़ाई की। ठीक वैसे ही, जैसे वनमें कोई मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर आक्रमण कर रहा हो ॥

प्रत्युद्ययौ च तं राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
त्रिधा भिन्नेन नागेन मदान्धेन महाबलः ॥ ५६ ॥

तब प्रतापी एवं महाबली राजा भगदत्तने मदान्ध गजराजपर आरूढ़ हो अर्जुनके ऊपर धावा किया । उस हाथीके कुम्भस्थलमें तीन जगहसे मदकी धारा चू रही थी ॥

तमापतन्तं सहसा महेन्द्रगजसंनिभम् ।
परं यत्नं समास्थाय बीभत्सुः प्रत्यपद्यत ॥ ५७ ॥

देवराज इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान उस गजराजको सहसा आते देख अर्जुनने बड़ा यत्न करके उसका सामना किया॥

ततो गजगतो राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
अर्जुनं शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ५८ ॥

तब हाथीपर बैठे हुए प्रतापी राजा भगदत्तने युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ।५८।

अर्जुनस्तु ततो नागमायान्तं रजतोपमैः ।
विमलैरायसैस्तीक्ष्णैरविध्यत महारणे ॥ ५९ ॥

अर्जुनने भी अपने सामने आते हुए उस हाथीको चाँदीके समान चमकीले लोहमय तीखे बाणोंद्वारा उस महासमरमें बींध डाला ॥ ५९ ॥

शिखण्डिनं च कौन्तेयो याहियाहीत्यचोदयत् ।
भीष्मं प्रति महाराज जह्येनमिति चाब्रवीत् ॥ ६० ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार अर्जुन शिखण्डीको बार-बार यह प्रेरणा देते और कहते थे कि तुम भीष्मकी ओर बढ़ो और इन्हें मार डालो ॥ ६० ॥

प्राग्ज्योतिषस्ततो हित्वा पाण्डवं पाण्डुपूर्वज ।
प्रययौ त्वरितो राजन् द्रुपदस्य रथं प्रति ॥ ६१ ॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता महाराज ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त पाण्डुनन्दन अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही द्रुपदके रथकी ओर चल दिये ॥ ६१ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज भीष्ममभ्यद्रवद् द्रुतम् ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य ततो युद्धमवर्तत ॥ ६२ ॥

महाराज ! तब अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके बड़े वेगसे भीष्मपर धावा किया । फिर तो भारी युद्ध छिड़ गया॥

ततस्ते तावकाः शूराः पाण्डवं रभसं युधि ।
समभ्यधावन् क्रोशन्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर युद्धमें आपके शूरवीर सैनिक कोलाहल करते और ललकारते हुए वेगशाली पाण्डुकुमार अर्जुनकी ओर दौड़ पड़े । वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ६३ ॥

नानाविधान्यनीकानि पुत्राणां ते जनाधिप ।
अर्जुनो व्यधमत् काले दिवीवाभ्राणि मारुतः ॥ ६४ ॥

जनेश्वर ! जैसे आकाशमें फैले हुए बादलोंको हवा छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने उस अवसरपर आपके पुत्रोंकी विविध सेनाओंको विनष्ट कर दिया ॥ ६४ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
इषुभिस्तूर्णमव्यग्रो बहुभिः स समाचिनोत् ॥ ६५ ॥

उसी समय शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके सामने पहुँचकर स्वस्थचित्तसे अनेक बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें आच्छादित कर दिया ॥ ६५ ॥

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ।
शरसंघमहाज्वालः क्षत्रियान् समरेऽदहत् ॥ ६६ ॥

वे अग्निके समान प्रज्वलित हो समरभूमिमें क्षत्रियोंको दग्ध कर रहे थे । रथ ही अग्निशाला थी, धनुष लपटके समान प्रतीत होता था, खड्ग, शक्ति और गदाएँ ईंधनका काम दे रही थीं, बाणोंका समुदाय ही उस अग्निकी महाज्वाला थी ॥ ६६ ॥

यथाग्निः सुमहानिद्धः कक्षे चरति सानिलः ।
तथा जज्वाल भीष्मोऽपि दिव्यान्यस्त्राण्युदीरयन् ६७

जैसे प्रज्वलित अग्नि वायुका सहारा पाकर घास-फूँसके जंगलमें विचरती है, इसी प्रकार दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए भीष्मजी भी शत्रुसेनामें प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

सोमकांश्च रणे भीष्मो जघ्ने पार्थपदानुगान् ।
न्यवारयत तत् सैन्यं पाण्डवस्य महारथः ॥ ६८ ॥

भीष्मने युद्धमें अर्जुनका अनुसरण करनेवाले सोमकवंशियोंको भी बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी । साथ ही उन महारथी वीरने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनाको भी आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६८ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः शितैः संनतपर्वभिः ।
नादयन् स दिशो भीष्मः प्रदिशश्च महाहवे ॥ ६९ ॥

झुकी हुई गाँठवाले, सुवर्णपंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारकर भीष्म उस महायुद्धमें सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको भी शब्दायमान करने लगे ॥ ६९ ॥

पातयन् रथिनो राजन् हयांश्च सहसादिभिः।
मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ॥ ७० ॥

राजन्! रथियोंको गिराकर और सवारोंसहित घोड़ोंको मारकर उन्होंने रथोंके समुदायको मुण्डित ताड़वनके समान कर दिया ॥ ७० ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे।
चकार समरे भीष्मः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७१ ॥

नरेश्वर! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उस समराङ्गणमें रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे शून्य कर दिया ॥ ७१ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वतो राजन् समकम्पन्त सैनिकाः ॥ ७२ ॥

राजन्! वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकारध्वनि सुनकर सब ओरके सैनिक काँपने लगे॥

अमोघा न्यपतन् बाणाः पितुस्ते मनुजेश्वर।
नासज्जन्त शरीरेषु भीष्मचापच्युताः शराः ॥ ७३ ॥

मनुजेश्वर! आपके ताऊके द्वारा चलाये हुए बाण कभी खाली नहीं जाते थे। भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायक मनुष्योंके शरीरोंमें नहीं अटकते थे ॥ ७३ ॥

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् सुयुक्ताञ्जवनैर्हयैः।
वातायमानानद्राक्षं ह्रियमाणान् विशाम्पते ॥ ७४ ॥

प्रजानाथ! हमने तेज घोड़ोंसे जुते हुए बहुत-से ऐसे रथ देखे, जिनमें कोई मनुष्य नहीं था और वे रथ वायुके समान शीघ्र गतिसे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे॥

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥ ७५ ॥

वहाँ चेदि, काशि और करूष देशोंके चौदह हजार महारथी मौजूद थे, जिनकी बड़ी ख्याति थी, जो कुलीन होनेके साथ ही पाण्डवोंके लिये प्राणोंका परित्याग करनेको उद्यत थे ॥ ७५ ॥

अपरावर्तिनः शूराः सुवर्णविकृतध्वजाः।
संग्रामे भीष्ममासाद्य सवाजिरथकुञ्जराः ॥ ७६ ॥
जग्मुस्ते परलोकाय व्यादितास्यमिवान्तकम्।

वे युद्धसे पीठ न दिखानेवाले, शौर्यसम्पन्न तथा सुवर्णमय ध्वज धारण करनेवाले थे। वे सब-के-सब युद्धमें मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मके पास पहुँचकर घोड़े, रथ और हाथियोंसहित परलोकके पथिक हो गये ॥ ७६½ ॥

न तत्रासीद् रणे राजन् सोमकानां महारथः ॥ ७७ ॥
यः सम्प्राप्य रणे भीष्मं जीविते स्म मनो दधे।

राजन्! उस समय सोमकोंमें एक भी महारथी ऐसा नहीं था, जो युद्धभूमिमें भीष्मके पास पहुँचकर अपने मनमें जीवन-रक्षाकी आशा रखता हो ॥ ७७½ ॥

तांश्च सर्वान् रणे योधान् प्रेतराजपुरं प्रति ॥ ७८ ॥
नीतानमन्यन्त जना दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम्।

उस समय लोगोंने भीष्मका अद्भुत पराक्रम देखकर यह मान लिया कि युद्धके मैदानमें जितने योद्धा उपस्थित हैं, वे सब यमराजके लोकमें गये हुएके ही समान हैं॥ ७८½ ॥

न कश्चिदेनं समरे प्रत्युद्याति महारथः ॥ ७९ ॥
ऋते पाण्डुसुतं वीरं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
शिखण्डिनं च समरे पाञ्चाल्यममितौजसम् ॥ ८० ॥

उस समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे और श्वेत घोड़े जिनके रथमें जुते हुए थे, उन पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनको तथा अमित तेजस्वी पाञ्चालराजपुत्र शिखण्डीको छोड़कर दूसरा कोई महारथी ऐसा नहीं था, जो समराङ्गणमें भीष्मके सामने जानेका साहस करता ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११६॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका युद्ध, दुःशासनका पराक्रम तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मका मूर्च्छित होना

संजय उवाच

शिखण्डी तु रणे भीष्ममासाद्य पुरुषर्षभम्।
दशभिर्निशितैर्भल्लैराजघान स्तनान्तरे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! शिखण्डीने रणक्षेत्रमें पुरुषरत्न भीष्मजीके सामने पहुँचकर उनकी छातीमें दस तीखे भल्ल नामक बाण मारे ॥ १ ॥

शिखण्डिनं तु गाङ्गेयः क्रोधदीप्तेन चक्षुषा।
सम्प्रैक्षत कटाक्षेण निर्दहन्निव भारत ॥ २ ॥

भारत! गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे प्रज्वलित हुई दृष्टि एवं कनखियोंसे शिखण्डीकी ओर इस प्रकार देखा, मानो वे उसे भस्म कर डालेंगे ॥ २ ॥

स्त्रीत्वं तस्य स्मरन् राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः।
नाजघान रणे भीष्मः स च तन्नावबुद्धवान् ॥ ३ ॥

राजन्! किंतु उसके स्त्रीत्वका विचार करके भीष्मजीने युद्धस्थलमें उसपर कोई आघात नहीं किया। इस बातको सब लोगोंने देखा; पर शिखण्डी इस बातको नहीं समझ सका॥

अर्जुनस्तु महाराज शिखण्डिनमभाषत ।
अभिद्रवस्व त्वरितं जहि चैनं पितामहम् ॥ ४ ॥

महाराज ! उस समय अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर ! तुम झटपट आगे बढ़ो और इन पितामह भीष्मका वध कर डालो ॥ ४ ॥

किं ते विवक्षया वीर जहि भीष्मं महारथम् ।
न ह्यन्यमनुपश्यामि कञ्चिद् यौधिष्ठिरे बले ॥ ५ ॥
यः शक्तः समरे भीष्मं प्रतियोद्धुमिहाहवे ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

'वीर ! इस विषयमें बार-बार विचारने या संदेह निवारणके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है । तुम महारथी भीष्मको शीघ्र मार डालो । युधिष्ठिरकी सेनामें तुम्हारे सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो समरभूमिमें भीष्मका सामना कर सके । पुरुषसिंह ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५–६ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पितामहमवाकिरत् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर शिखण्डी तुरंत ही पितामह भीष्मपर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥

अचिन्तयित्वा तान् बाणान् पिता देवव्रतस्तव ।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं वारयामास सायकैः ॥ ८ ॥

परंतु आपके पितृतुल्य देवव्रतने उन बाणोंकी कुछ भी परवा न करके समरमें कुपित हुए अर्जुनको अपने बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ ८ ॥

तथैव च चमूं सर्वां पाण्डवानां महारथः ।
अप्रैषीत् स शरैस्तीक्ष्णैः परलोकाय मारिष ॥ ९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार महारथी भीष्मने पाण्डवोंकी उस सारी सेनाको (जो उनके सामने मौजूद थी) अपने तीखे बाणोंद्वारा मारकर परलोक भेज दिया ॥ ९ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् सैन्येन महता वृताः ।
भीष्मं संछादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १० ॥

राजन् ! फिर विशाल सेनासे घिरे हुए पाण्डवोंने अपने बाणोंद्वारा भीष्मको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे बादल सूर्यदेवको आच्छादित कर देते हैं ॥ १० ॥

स समन्तात् परिवृतो भारतो भरतर्षभ ।
निर्ददाह रणे शूरान् वने वह्निरिव ज्वलन् ॥ ११ ॥

भरतभूषण ! उस रणक्षेत्रमें सब ओरसे घिरे हुए भीष्म वनमें प्रज्वलित हुए दावानलके समान शूरवीरोंको दग्ध करने लगे ॥ ११ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ।
अयोधयच्च यत् पार्थं जुगोप च पितामहम् ॥ १२ ॥

उस समय वहाँ हमने आपके पुत्र दुःशासनका अद्भुत पराक्रम देखा ! एक तो वह अर्जुनके साथ युद्ध कर रहा था और दूसरे पितामह भीष्मकी रक्षामें भी तत्पर था ॥ १२ ॥

कर्मणा तेन समरे तव पुत्रस्य धन्विनः ।
दुःशासनस्य तुतुषुः सर्वे लोका महात्मनः ॥ १३ ॥

राजन् ! युद्धमें आपके धनुर्धर महामनस्वी पुत्र दुःशासनके उस पराक्रमसे सब लोग बड़े संतुष्ट हुए ॥ १३ ॥

यदेकः समरे पार्थान् सार्जुनान् समयोधयत् ।
न चैनं पाण्डवा युद्धे वारयामासुरुल्बणम् ॥ १४ ॥

वह समरभूमिमें अकेला ही अर्जुनसहित समस्त कुन्तीकुमारोंसे युद्ध कर रहा था; किंतु वहाँ पाण्डव उस प्रचण्ड पराक्रमी दुःशासनको रोक नहीं पाते थे ॥ १४ ॥

दुःशासनेन समरे रथिनो विरथीकृताः ।
सादिनश्च महेष्वासा हस्तिनश्च महाबलाः ॥ १५ ॥
विनिर्भिन्नाः शरैस्तीक्ष्णैर्निपेतुर्वसुधातले ।

दुःशासनने वहाँ युद्धके मैदानमें कितने ही रथियोंको रथहीन कर दिया । उसके तीखे बाणोंसे विदीर्ण होकर बहुत-से महाधनुर्धर घुड़सवार और महाबली गजारोही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १५½ ॥

शरातुरास्तथैवान्ये दन्तिनो विद्रुता दिशः ॥ १६ ॥
यथाग्निरिन्धनं प्राप्य ज्वलेद् दीप्तार्चिरुल्बणम् ।
तथा जज्वाल पुत्रस्ते पाण्डुसेनां विनिर्दहन् ॥ १७ ॥

उसके बाणोंसे आतुर होकर बहुत-से दन्तार हाथी भी चारों दिशाओंमें भागने लगे । जैसे आग ईंधन पाकर दहकती हुई लपटोंके साथ प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाको दग्ध करता हुआ आपका पुत्र दुःशासन अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था॥१६–१७॥

तं भारतमहामात्रं पाण्डवानां महारथः ।
जेतुं नोत्सहते कश्चिन्नाभ्युद्यातुं कथंचन ॥ १८ ॥
ऋते महेन्द्रतनयाच्छ्वेताश्वात् कृष्णसारथेः ।

कृष्णसारथि, श्वेतवाहन महेन्द्रकुमार अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई भी पाण्डव महारथी भरतकुलके उस महाबली वीरको जीतने या उसके सामने जानेका साहस किसी प्रकार न कर सका ॥ १८½ ॥

स हि तं समरे राजन् निर्जित्य विजयोऽर्जुनः ॥ १९ ॥
भीष्ममेवाभिदुद्राव सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजन् ! विजयी अर्जुनने समरभूमिमें दुःशासनको जीतकर समस्त सेनाओंके देखते-देखते भीष्मपर ही आक्रमण किया ॥ १९½ ॥

विजितस्तव पुत्रोऽपि भीष्मबाहुव्यपाश्रयः ॥ २० ॥
पुनः पुनः समाश्वस्य प्रायुध्यत मदोत्कटः ।

अर्जुनस्तु रणे राजन् योधयन् संव्यराजत ॥ २१ ॥

भीष्मकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवाला आपका मदोन्मत्त पुत्र दुःशासन पराजित होनेपर भी बार-बार सुस्ताकर बड़े वेग-से युद्ध करता था। राजन्! अर्जुन उस रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २०–२१ ॥

शिखण्डी तु रणे राजन् विव्याधैव पितामहम्।
शरैरशनिसंस्पर्शैस्तथा सर्पविषोपमैः ॥ २२॥

महाराज! उस समय रणक्षेत्रमें शिखण्डी वज्रके समान स्पर्शवाले तथा सर्पविषके समान भयंकर बाणोंद्वारा पितामह भीष्मको घायल करने लगा ॥ २२ ॥

न च स्म ते रुजं चक्रुः पितुस्तव जनेश्वर।
स्मयमानस्तु गाङ्गेयस्तान् बाणाञ्जगृहे तदा ॥२३ ॥

परंतु जनेश्वर! उसके चलाये हुए वे बाण आपके ताऊके शरीरमें कोई घाव या वेदना नहीं उत्पन्न कर पाते थे। गङ्गानन्दन भीष्म उस समय मुसकराते हुए उन बाणोंकी चोट सह रहे थे ॥

उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जलधाराः प्रतीच्छति।
तथा जग्राह गाङ्गेयः शरधाराः शिखण्डिनः ॥ २४ ॥

जैसे गर्मीसे कष्ट पानेवाला मनुष्य अपने ऊपर जल-की धारा ग्रहण करता है, उसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्म शिखण्डीकी बाणधाराको ग्रहण कर रहे थे ॥ २४ ॥

तं क्षत्रिया महाराज ददृशुर्घोरमाहवे।
भीष्मं दहन्तं सैन्यानि पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

महाराज! उस युद्धस्थलमें समस्त क्षत्रियोंने देखा, भयंकर रूपधारी भीष्म महामना पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध कर रहे थे ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत्तव सुतः सर्वसैन्यानि मारिष।
अभिद्रवत संग्रामे फाल्गुनं सर्वतो रणे ॥ २६ ॥

आर्य! उस समय आपके पुत्रने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! तुमलोग समरभूमिमें अर्जुनपर चारों ओरसे धावा करो ॥ २६ ॥

भीष्मो वः समरे सर्वान् पालयिष्यति धर्मवित्।
ते भयं सुमहत् त्यक्त्वा पाण्डवान् प्रति युध्यत ॥२७ ॥

'धर्मज्ञ भीष्म समराङ्गणमें तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे। अतः तुमलोग महान् भयका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ २७ ॥

हेमतालेन महता भीष्मस्तिष्ठति पालयन्।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणां समरे शर्म वर्म च ॥ २८ ॥

'सुवर्णमय तालचिह्नसे युक्त विशाल ध्वजसे सुशोभित होनेवाले भीष्मजी हम सबकी रक्षा करते हुए युद्धके मैदानमें खड़े हैं। हम सभी धृतराष्ट्रपुत्रोंके लिये ये ही कल्याणकारी आश्रय और कवच हैं ॥ २८ ॥

त्रिदशाऽपि समुद्युक्ता नालं भीष्मं समासितुम्।
किमु पार्था महात्मानं मर्त्यभूता महाबलाः ॥ २९ ॥

'यदि सम्पूर्ण देवता भी एकत्र हो युद्धके लिये उद्योग करें तो वे भी भीष्मका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर कुन्तीके महाबली पुत्र तो मरणधर्मा मनुष्य ही हैं। वे उन महात्मा भीष्मका सामना क्या कर सकते हैं? ॥ २९ ॥

तस्माद् द्रवत मा योधाः फाल्गुनं प्राप्य संयुगे।
अहमद्य रणे यत्तो योधयिष्यामि पाण्डवम् ॥ ३० ॥
सहितः सर्वतो यत्तैर्भवद्भिर्वसुधाधिपैः।

'अतः योद्धाओ! युद्धभूमिमें अर्जुनको सामने पाकर पीछे न भागो। मैं स्वयं समराङ्गणमें प्रयत्नपूर्वक आज पाण्डुकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। तुम सब नरेश सब ओरसे सावधान होकर मेरे साथ रहो' ॥ ३०½ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजंस्तव पुत्रस्य धन्विनः ॥ ३१ ॥
सर्वे योधाः सुसंरब्धा बलवन्तो महाबलाः।

राजन्! आपके धनुर्धर पुत्रकी ये जोशभरी बातें सुनकर वे सभी महाबली और शक्तिशाली योद्धा रोषमें भर गये ॥ ३१½ ॥

ते विदेहाः कलिङ्गाश्च दासेरकगणाश्च ह ॥ ३२ ॥
अभिपेतुर्निषादाश्च सौवीराश्च महारणे।
बाह्लीका दरदाश्चैव प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ३३ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः।
शाल्वाः शकास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ३४ ॥
अभिपेतू रणे पार्थं पतङ्गा इव पावकम्।

वे विदेह, कलिंग, दासेरक, निषाद, सौवीर, बाह्लीक, दरद, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, शक, त्रिगर्त, अम्बष्ठ और केकयदेशोंके नरेशगण उस महायुद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर उसी प्रकार धावा करने लगे, जैसे पतंग प्रज्वलित आगपर टूटे पड़ते हैं ॥ ३२-३४½ ॥

शलभा इव राजेन्द्र पार्थमप्रतिमं रणे।
एतान् सर्वान् सहानीकान् महाराज महारथान् ॥३५॥
दिव्यान्यस्त्राणि संचिन्त्य प्रसंधाय धनंजयः।
स तैरस्त्रैर्महावेगैर्ददाह सुमहाबलः ॥ ३६ ॥
शरप्रतापैर्बीभत्सुः पतङ्गानिव पावकः।

राजेन्द्र! उस रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन अप्रतिम तेजस्वी वीर थे और पूर्वोक्त नरेश उनके सामने पतंगोंके समान दौड़े चले आ रहे थे। महाराज! महाबली धनंजयने दिव्यास्त्रोंका चिन्तन करके उनका धनुषपर संधान किया और उन महावेगशाली अस्त्रोंद्वारा सेनासहित इन समस्त महारथियोंको जलाकर भस्म कर डाला। जैसे आग पतंगोंको जलाती है, उसी प्रकार अर्जुनने अपने बाणोंके प्रतापसे उन सबको दग्ध कर दिया ॥ ३५–३६½ ॥

तस्य बाणसहस्राणि सृजतो दृढधन्विनः ॥ ३७ ॥
दीप्यमानमिवाकाशे गाण्डीवं समदृश्यत ।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुन जब सहस्रों बाणों-की सृष्टि करने लगे, उस समय उनका गाण्डीव धनुष आकाशमें प्रज्वलित-सा दिखायी देने लगा ॥ ३७½ ॥

ते शरार्ता महाराज विप्रकीर्णमहाध्वजाः ॥ ३८ ॥
नाभ्यवर्तन्त राजानः सहिता वानरध्वजम् ।

महाराज ! वे सब नरेश बाणोंसे पीड़ित हो गये थे । उनके विशाल ध्वज छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये थे । वे सब राजा एक साथ मिलकर भी कपिध्वज अर्जुनके सामने टिक न सके ॥ ३८½ ॥

सध्वजा रथिनः पेतुर्हयारोहा हयैः सह ॥ ३९ ॥
सगजाश्च गजारोहाः किरीटिशरताडिताः ।
ततोऽर्जुनभुजोत्सृष्टैरावृताऽऽसीद् वसुन्धरा ॥ ४० ॥
विद्रवद्भिश्च बहुधा बलै राज्ञां समन्ततः ।

किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो रथी अपने ध्वजोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े, घुड़सवार घोड़ोंके साथ ही धराशायी हो गये और हाथियोंसहित हाथीसवार भी ढह गये । अर्जुनकी भुजाओंसे छूटे हुए बाणोंसे एवं अनेक भागोंमें विभक्त होकर चारों ओर भागती हुई राजाओंकी सेनाओंसे वहाँकी सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही थी ॥ ३९-४०½ ॥

अथ पार्थो महाराज द्रावयित्वा वरूथिनीम् ॥ ४१ ॥
दुःशासनाय सुबहून् प्रेषयामास सायकान् ।

महाराज ! उस समय अर्जुनने आपकी सेनाको भगाकर दुःशासनपर बहुत-से सायकोंका प्रहार किया ॥ ४१½ ॥

ते तु भित्त्वा तव सुतं दुःशासनमयोमुखाः ॥ ४२ ॥
धरणीं विविशुः सर्वे वल्मीकमिव पन्नगाः ।

वे समस्त लोहमुख बाण आपके पुत्र दुःशासनको विदीर्ण करके उसी प्रकार धरतीमें समा गये, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं ॥ ४२½ ॥

हयांश्चास्य ततो जघ्ने सारथिं च न्यपातयत् ॥ ४३ ॥
विविंशतिं च विंशत्या विरथं कृतवान् प्रभुः ।
आजघान भृशं चैव पञ्चभिर्नतपर्वभिः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली अर्जुनने दुःशासनके घोड़ों तथा सारथिको भी मार गिराया और विविंशतिको भी बीस बाणों-से मारकर उसे रथहीन कर दिया । इसके बाद पुनः झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा उसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

कृपं विकर्णं शल्यं च विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
चकार विरथांश्चैव कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन कुन्तीकुमार अर्जुनने कृपाचार्य, विकर्ण तथा शल्यको भी लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा रथहीन कर दिया ॥ ४५ ॥

एवं ते विरथाः सर्वे कृपः शल्यश्च मारिष ।
दुःशासनो विकर्णश्च तथैव च विविंशतिः ॥ ४६ ॥
सम्प्राद्रवन्त समरे निर्जिताः सव्यसाचिना ।

माननीय नरेश ! इस प्रकार रथहीन हुए वे सब महारथी कृपाचार्य, शल्य, विकर्ण, दुःशासन तथा विविंशति अर्जुनसे परास्त हो उस समरभूमिमें इधर-उधर भाग गये ४६½

पूर्वाह्णे भरतश्रेष्ठ पराजित्य महारथान् ॥ ४७ ॥
प्रजज्वाल रणे पार्थो विधूम इव पावकः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार दसवें दिनके पूर्वाह्णकालमें उन महारथियोंको पराजित करके कुन्तीकुमार अर्जुन रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ४७½ ॥

तथैव शरवर्षेण भास्करो रश्मिवानिव ॥ ४८ ॥
अन्यानपि महाराज तापयामास पार्थिवान् ।

महाराज ! इसी प्रकार अंशुमाली सूर्यके समान अन्यान्य राजाओंको भी वे अपने बाणोंकी वर्षासे संतप्त करने लगे ४८½

पराङ्मुखीकृत्य तथा शरवर्षैर्महारथान् ॥ ४९ ॥
प्रावर्तयत संग्रामे शोणितोदां महानदीम् ।
मध्येन कुरुसैन्यानां पाण्डवानां च भारत ॥ ५० ॥

और भारत ! उन सब महारथियोंको बाण-वर्षाद्वारा विमुख करके अर्जुनने संग्रामभूमिमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच रक्तकी बहुत बड़ी नदी बहा दी ॥ ४९-५० ॥

गजाश्च रथसङ्घाश्च बहुधा रथिभिर्हताः ।
रथाश्च निहता नागैर्हयाश्चैव पदातिभिः ॥ ५१ ॥

रथियोंद्वारा बहुत-से हाथी तथा रथसमूह नष्ट कर दिये गये । हाथियोंने कितने ही रथ चौपट कर दिये और पैदल सिपाहियोंने सवारोंसहित बहुतसे घोड़े मार गिराये ॥ ५१ ॥

अन्तराच्छिद्यमानानि शरीराणि शिरांसि च ।
निपेतुर्दिक्षु सर्वासु गजाश्वरथयोधिनाम् ॥ ५२ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथोंपर बैठकर युद्ध करनेवाले सैनिकोंके शरीर और मस्तक बीच-बीचसे कटकर सब दिशाओंमें गिर रहे थे ॥ ५२ ॥

छन्नमायोधनं राजन् कुण्डलाङ्गदधारिभिः ।
पतितैः पात्यमानैश्च राजपुत्रैर्महारथैः ॥ ५३ ॥

राजन् ! वहाँ गिरे और गिराये जाते हुए कुण्डल और अङ्गदधारी महारथी राजकुमारोंके मृत शरीरोंसे सारी युद्धभूमि आच्छादित हो रही थी ॥ ५३ ॥

रथनेमिनिकृत्तैश्च गजैश्चैवावपोथितैः ।
पादाताश्चाप्यधावन्त साश्वाश्च हययोधिनः ॥ ५४ ॥

उनमेंसे कितने ही रथोंके पहियोंसे कट गये थे और कितनोंहीको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे पकड़कर धरतीपर दे मारा था एवं कितने ही पैदल सैनिक तथा अपने अश्वोंसहित घुड़सवार योद्धा वहाँसे भाग गये थे ॥ ५४ ॥

गजाश्च रथयोधाश्च परिपेतुः समन्ततः।
विकीर्णाश्च रथा भूमौ भग्नचक्रयुगध्वजाः ॥ ५५ ॥

वहाँ सब ओर हाथी तथा रथयोद्धा धराशायी हो रहे थे। पहिये, जूए और ध्वजोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे बहु-संख्यक रथ धरतीपर बिखरे पड़े थे ॥ ५५ ॥

तद् गजाश्वरथौघानां रुधिरेण समुक्षितम्।
छन्नमायोधनं रेजे रक्ताभ्रमिव शारदम् ॥ ५६ ॥

हाथी, घोड़े तथा रथियोंके समुदायके रक्तसे ढकी और भीगी हुई वह सारी युद्धभूमि शरद्‌ऋतुकी संध्याके लाल बादलोंके समान शोभा पा रही थी ॥ ५६ ॥

श्वानः काकाश्च गृध्राश्च वृका गोमायुभिः सह।
प्रणेदुर्भक्ष्यमासाद्य विकृताश्च मृगद्विजाः ॥ ५७ ॥

कुत्ते, कौए, गीध, भेड़िये तथा गीदड़ आदि विकराल पशु-पक्षी वहाँ अपना आहार पाकर हर्षनाद करने लगे ।५७।

ववुर्बहुविधाश्चैव दिक्षु सर्वासु मारुताः।
दृश्यमानेषु रक्षःसु भूतेषु च नदत्सु च ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक प्रकारकी वायु प्रवाहित हो रही थी। सब ओर राक्षस और भूतगण गरजते दिखायी देते थे ॥ ५८ ॥

काञ्चनानि च दामानि पताकाश्च महाधनाः।
धूयमाना व्यदृश्यन्त सहसा मारुतेरिताः ॥ ५९ ॥

सोनेके हार बिखरे पड़े थे, बहुमूल्य पताकाएँ सहसा वायुसे प्रेरित होकर फहराती दिखायी देती थीं ॥ ५९ ॥

श्वेतच्छत्रसहस्राणि सध्वजाश्च महारथाः।
विकीर्णाः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६० ॥

सहस्रों सफेद छत्र इधर-उधर गिरे थे, ध्वजोंसहित सैकड़ों और हजारों महारथी सब ओर बिखरे दिखायी देते थे ॥

सपताकाश्च मातङ्गा दिशो जग्मुः शरातुराः।
क्षत्रियाश्च मनुष्येन्द्र गदाशक्तिधनुर्धराः ॥ ६१ ॥
समन्ततश्च दृश्यन्ते पतिता धरणीतले।

बाणोंकी वेदनासे आतुर हो पताकाओंसहित बड़े-बड़े हाथी चारों दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे। नरेन्द्र ! गदा, शक्ति और धनुष धारण किये हुए बहुत-से क्षत्रिय सब ओर पृथ्वीपर पड़े दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ६१½ ॥

ततो भीष्मो महाराज दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ॥ ६२ ॥
अभ्यधावत कौन्तेयं मिषतां सर्वधन्विनाम्।

महाराज ! तदनन्तर भीष्मने दिव्य अस्त्र प्रकट करते हुए वहाँ समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ॥ ६२½ ॥

तं शिखण्डी रणे यान्तमभ्यद्रवत दंशितः ॥ ६३ ॥
ततः समाहरद् भीष्मस्तदस्त्रं पावकोपमम्।

उस समय कवचधारी शिखण्डीने युद्धके लिये आगे बढ़ते हुए भीष्मपर आक्रमण किया। शिखण्डीको सामने देख भीष्मने अपने अग्निके समान तेजस्वी उस दिव्यास्त्रको समेट लिया ॥ ६३½ ॥

त्वरितः पाण्डवो राजन् मध्यमः श्वेतवाहनः।
निजघ्ने तावकं सैन्यं मोहयित्वा पितामहम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! इसी बीचमें मध्यम पाण्डव श्वेतवाहन अर्जुन तुरंत ही पितामह भीष्मको मूर्छित करके आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका अद्भुत पराक्रम करते हुए पाण्डवसेनाका भीषण संहार

संजय उवाच

समं व्यूढेष्वनीकेषु भूयिष्ठेष्वनिवर्तिनः।
ब्रह्मलोकपराः सर्वे समपद्यन्त भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतनन्दन ! दोनों पक्षकी सेनाओंको समानरूपसे व्यूहबद्ध करके खड़ा किया गया था। अधिकांश सैनिक उस व्यूहमें ही स्थित थे। वे सब-के-सब युद्धमें पीठ न दिखानेवाले तथा ब्रह्मलोकको ही अपना परम लक्ष्य मानकर युद्धमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १ ॥

न ह्यनीकमनीकेन समसज्जत संकुले।
रथा न रथिभिः सार्धं पादाता न पदातिभिः ॥ २ ॥

परंतु उस घमासान युद्धमें (सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और युद्धके निश्चित नियमोंका उल्लङ्घन होने लगा) सेना सेनाके साथ योग्यतानुसार नहीं लड़ती थी, न रथी रथियोंके साथ युद्ध करते थे, न पैदल पैदलोंके साथ ॥ २ ॥

अश्वा नाश्वैरयुध्यन्त गजा न गजयोधिभिः।
उन्मत्तवन्महाराज युध्यन्ते तत्र भारत ॥ ३ ॥

घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ और हाथीसवार हाथीसवारोंके साथ नहीं लड़ते थे। भरतवंशी महाराज ! सब लोग उन्मत्त-से

होकर वहाँ योग्यताका विचार किये बिना सबके साथ युद्ध करते थे ॥ ३ ॥

महान् व्यतिकरो रौद्रः सेनयोः समपद्यत।
नरनागगणेष्वेवं विकीर्णेषु च सर्वशः॥ ४ ॥

उन दोनों सेनाओंमें अत्यन्त भयंकर घोलमेल हो गया। इसी तरह मनुष्य और हाथियोंके समूह सब ओर बिखर गये थे ॥ ४ ॥

क्षये तस्मिन् महारौद्रे निर्विशेषमजायत।
ततः शल्यः कृपश्चैव चित्रसेनश्च भारत॥ ५ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च रथानास्थाय भास्वरान्।
पाण्डवानां रणे शूरा ध्वजिनीं समकम्पयन्॥ ६ ॥

उस महाभयंकर युद्धमें किसीकी कोई विशेष पहचान नहीं रह गयी थी । भारत ! तदनन्तर शल्य, कृपाचार्य, चित्रसेन, दुःशासन और विकर्ण—ये कौरववीर चमचमाते हुए रथोंपर बैठकर पाण्डवोंपर चढ़ आये और रणक्षेत्रमें उनकी सेनाको कँपाने लगे ॥ ५-६ ॥

सा वध्यमाना समरे पाण्डुसेना महात्मभिः।
भ्राम्यते बहुधा राजन् मारुतेनेव नौर्जले॥ ७ ॥

राजन् ! जैसे वायुके थपेड़े खाकर नौका जलमें चक्कर काटने लगती है, उसी प्रकार उन महामनस्वी वीरोंद्वारा समराङ्गणमें मारी जाती हुई पाण्डवसेना बहुधा इधर-उधर भटक रही थी ॥ ७ ॥

यथा हि शैशिरः कालो गवां मर्माणि कृन्तति।
तथा पाण्डुसुतानां वै भीष्मो मर्माणि कृन्तति॥ ८ ॥

जैसे शिशिरकाल गौओंके मर्मस्थानोंका उच्छेद करने लगता है, उसी प्रकार भीष्म पाण्डवोंके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करने लगे ॥ ८ ॥

तथैव तव सैन्यस्य पार्थेन च महात्मना।
नवमेघप्रतीकाशाः पातिता बहुधा गजाः॥ ९ ॥

इसी प्रकार महात्मा अर्जुनने आपकी सेनाके नूतन मेघ-के समान काले रंगवाले बहुत-से हाथी मार गिराये ॥ ९ ॥

मृद्यमानाश्च दृश्यन्ते पार्थेन नरयूथपाः।
इषुभिस्ताड्यमानाश्च नाराचैश्च सहस्रशः॥ १० ॥
पेतुरार्तस्वरं घोरं कृत्वा तत्र महागजाः।

अर्जुनके द्वारा बहुत-से पैदलोंके यूथपति मिट्टीमें मिलते दिखायी दे रहे थे। नाराचों और बाणोंसे पीड़ित हुए सहस्रों महान् गज घोर आर्तनाद करके पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ १०½ ॥

आनद्धाभरणैः कायैर्निहतानां महात्मनाम्॥ ११ ॥
छन्नमायोधनं रेजे शिरोभिश्च सकुण्डलैः।

मारे गये महामनस्वी वीरोंके आभरणभूषित शरीरों और कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे आच्छादित हुई वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ११½ ॥

तस्मिन्नेव महाराज महावीरवरक्षये॥ १२ ॥
भीष्मे च युधि विक्रान्ते पाण्डवे च धनंजये।
ते पराक्रान्तमालोक्य राजन् युधि पितामहम्॥ १३ ॥
अभ्यवर्तन्त ते पुत्राः सर्वे सैन्यपुरस्कृताः।
इच्छन्तो निधनं युद्धे स्वर्गं कृत्वा परायणम्॥ १४ ॥
पाण्डवानभ्यवर्तन्त तस्मिन् वीरवरक्षये।

महाराज ! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महायुद्धमें जब एक ओर भीष्म और दूसरी ओर पाण्डुनन्दन धनंजय पराक्रम प्रकट कर रहे थे, उस समय पितामह भीष्म-को महान् पराक्रममें प्रवृत्त देख आपके सभी पुत्र सेनाओंके साथ स्वर्गको अपना परम लक्ष्य बनाकर युद्धमें मृत्यु चाहते हुए पाण्डवोंपर चढ़ आये ॥ १२–१४½ ॥

पाण्डवाऽपि महाराज स्मरन्तो विविधान् बहून्॥ १५ ॥
क्लेशान् कृतान् सपुत्रेण त्वया पूर्वं नराधिप।
भयं त्यक्त्वा रणे शूरा ब्रह्मलोकाय तत्पराः॥ १६ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च योधयन्ति प्रहृष्टवत्।

राजन् ! नरेश्वर ! शूरवीर पाण्डव भी पुत्रोंसहित आपके दिये हुए नाना प्रकारके अनेक क्लेशोंका स्मरण करके युद्धमें भय छोड़कर ब्रह्मलोक जानेके लिये उत्सुक हो बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके सैनिकों और पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे १५-१६½

सेनापतिस्तु समरे प्राह सेनां महारथः॥ १७ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं सोमकाः सृञ्जयैः सह।

उस समय समरभूमिमें पाण्डव-सेनापति महारथी धृष्टद्युम्नने अपनी सेनासे कहा—'सोमको ! तुम सृंजय वीरोंको साथ लेकर गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ो' ॥ १७½ ॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा सोमकाः सृञ्जयाश्च ते॥ १८ ॥
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं शरवृष्ट्या समाहताः।

सेनापतिकी यह बात सुनकर सोमक और सृंजय वीर बाणोंकी भारी वर्षासे घायल होनेपर भी गङ्गानन्दन भीष्म-की ओर दौड़े ॥ १८½ ॥

वध्यमानस्ततो राजन् पिता शान्तनवस्तव॥ १९ ॥
अमर्षवशमापन्नो योधयामास सृञ्जयान्।

राजन् ! तब आपके पितृतुल्य शान्तनुनन्दन भीष्म बाणोंकी मार खाकर अमर्षमें भर गये और सृंजयोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १९½ ॥

तस्य कीर्तिमतस्तात पुरा रामेण धीमता॥ २० ॥
सम्प्रदत्तास्त्रशिक्षा वै परानीकविनाशनी।
स तां शिक्षामधिष्ठाय कुर्वन् परबलक्षयम्॥ २१ ॥
अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भीष्मो दश सहस्राणि जघान परवीरहा॥ २२ ॥

तात ! पूर्वकालमें परम बुद्धिमान् परशुरामजीने उन

यशस्वी भीष्मको शत्रुसेनाका विनाश करनेवाली जो अस्त्र-शिक्षा प्रदान की थी, उसका आश्रय लेकर पाण्डव-पक्षीय शत्रुसेनाका संहार करते हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह एवं शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भीष्म नित्यप्रति दस हजार मुख्य योद्धाओंका वध करते आ रहे थे ॥ २०—२२ ॥

तस्मिंस्तु दशमे प्राप्ते दिवसे भरतर्षभ ।
भीष्मेणैकेन मत्स्येषु पञ्चालेषु च संयुगे ॥ २३ ॥
गजाश्वममितं हत्वा हताः सप्त महारथाः ।
हत्वा पञ्च सहस्राणि रथानां प्रपितामहः ॥ २४ ॥
नराणां च महायुद्धे सहस्राणि चतुर्दश ।
दन्तिनां च सहस्राणि हयानामयुतं पुनः ॥ २५ ॥
शिक्षाबलेन निहतं पित्रा तव विशाम्पते ।

भरतश्रेष्ठ ! उस दसवें दिनके आनेपर एकमात्र भीष्मने युद्धमें मत्स्य और पाञ्चालदेशकी सेनाओंके अगणित हाथी, घोड़ोंको मारकर सात महारथियोंका वध कर डाला। प्रजानाथ ! फिर पाँच हजार रथियोंका वध करके आपके पितृतुल्य भीष्मने अपने अस्त्र-शिक्षाबलसे उस महायुद्धमें चौदह हजार पैदल सिपाहियों, एक हजार हाथियों और दस हजार घोड़ोंका संहार कर डाला ॥ २३—२५½ ॥

ततः सर्वमहीपानां क्षपयित्वा वरूथिनीम् ॥ २६ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीको निपातितः ।
शतानीकं च समरे हत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ २७ ॥
सहस्राणि महाराज राज्ञां भल्लैरपातयत् ।

तदनन्तर समस्त भूमिपालोंकी सेनाका उच्छेद करके राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकको मार गिराया। महाराज! शतानीकको रणक्षेत्रमें मारकर प्रतापी भीष्मने भल्ल नामक बाणोंद्वारा एक हजार नरेशोंको धराशायी कर दिया।२६-२७½।

उद्विग्नाः समरे योधा विक्रोशन्ति धनंजयम् ॥ २८ ॥
ये च केचन पार्थानामभियाता धनंजयम् ।
राजानो भीष्ममासाद्य गतास्ते यमसादनम्॥ २९ ॥

उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा भीष्मके भयसे उद्विग्न हो अर्जुनको पुकारने लगे । पाण्डवपक्षके जो कोई नरेश अर्जुनके साथ गये थे, वे भीष्मके सामने पहुँचते ही यमलोकके पथिक हो गये ॥ २८-२९ ॥

एवं दश दिशो भीष्मः शरजालैः समन्ततः ।
अतीत्य सेनां पार्थानामवतस्थे चमूमुखे ॥ ३० ॥

इस प्रकार भीष्मने दसों दिशाओंमें सब ओर अपने बाणोंका जाल-सा बिछा दिया और कुन्तीकुमारोंकी सेनाको परास्त करके वे सेनाके प्रमुख भागमें स्थित हो गये ॥ ३० ॥

स कृत्वा सुमहत् कर्म तस्मिन् वै दशमेऽहनि ।
सेनयोरन्तरे तिष्ठन् प्रगृहीतशरासनः ॥ ३१ ॥

दसवें दिन यह महान् पराक्रम करके हाथमें धनुष लिये वे दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

न चैनं पार्थिवाः केचिच्छक्ता राजन् निरीक्षितुम्।
मध्यं प्राप्तं यथा ग्रीष्मे तपन्तं भास्करं दिवि ॥ ३२ ॥

राजन् ! जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आकाशके मध्यभागमें पहुँचे हुए दोपहरके तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार उस समय कोई राजा भीष्मकी ओर आँख उठाकर देखनेका भी साहस न कर सके ॥ ३२ ॥

यथा दैत्यचमूं शक्रस्तापयामास संयुगे ।
तथा भीष्मः पाण्डवेयांस्तापयामास भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने संग्रामभूमिमें दैत्योंकी सेनाको संतप्त किया था, उसी प्रकार भीष्मजी पाण्डव-योद्धाओंको संताप दे रहे थे ॥ ३३ ॥

तथा चैनं पराक्रान्तमालोक्य मधुसूदनः ।
उवाच देवकीपुत्रः प्रीयमाणो धनंजयम् ॥ ३४ ॥

उन्हें इस प्रकार पराक्रम करते देख मधु दैत्यको मारने-वाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ३४ ॥

एष शान्तनवो भीष्मः सेनयोरन्तरे स्थितः ।
संनिहत्य बलादेनं विजयस्ते भविष्यति ॥ ३५ ॥

'अर्जुन ! ये शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हैं । यदि तुम बलपूर्वक इन्हें मार सको तो तुम्हारी विजय हो जायगी ॥ ३५ ॥

बलात् संस्तम्भयस्वैनं यत्रैषा भिद्यते चमूः ।
न हि भीष्मशरानन्यः सोढुमुत्सहते विभो ॥ ३६ ॥

'जहाँ ये इस सेनाका संहार कर रहे हैं, वहीं पहुँचकर इन्हें बलपूर्वक स्तम्भित कर दो (जिससे ये आगे या पीछे किसी ओर हट न सकें)। विभो ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो भीष्मके बाणोंकी चोट सह सके' ॥ ३६ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे राजंश्चोदितो वानरध्वजः ।
सध्वजं सरथं साश्वं भीष्ममन्तर्दधे शरैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌से प्रेरित होकर कपिध्वज अर्जुनने उसी क्षण अपने बाणोंद्वारा ध्वज, रथ और घोड़ों-सहित भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

स चापि कुरुमुख्यानामृषभः पाण्डवेरितान् ।
शरव्रातैः शरव्रातान् बहुधा विदुधाव तान् ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ वीरोंमें प्रधान भीष्मने भी अपने बाणसमूहों-द्वारा अर्जुनके चलाये हुए बाणसमुदायके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

(तथा पुनर्जघानाशु पाण्डवानां महारथान् ।
शरैरशनिकल्पैश्च शिताग्रैश्च सुपर्वभिः ॥)

तत्पश्चात् उत्तम गाँठ और तीखी धारवाले वज्रतुल्य बाणोंद्वारा वे पुनः पाण्डव महारथियोंका शीघ्रतापूर्वक वध करने लगे ॥

ततः पञ्चालराजश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान्।
पाण्डवो भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ३९ ॥
यमौ च चेकितानश्च केकयाः पञ्च चैव ह।
सात्यकिश्च महाबाहुः सौभद्रोऽथ घटोत्कचः ॥ ४० ॥
द्रौपदेयाः शिखण्डी च कुन्तिभोजश्च वीर्यवान्।
सुशर्मा च विराटश्च पाण्डवेया महाबलाः ॥ ४१ ॥
एते चान्ये च बहवः पीडिता भीष्मसायकैः।
समुद्धृताः फाल्गुनेन निमग्नाः शोकसागरे ॥ ४२ ॥

इसी समय पाञ्चालराज द्रुपद, पराक्रमी धृष्टकेतु, पाण्डुनन्दन भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, चेकितान, पाँच केकयराजकुमार, महाबाहु सात्यकि, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शिखण्डी, पराक्रमी कुन्तिभोज, सुशर्मा तथा विराट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली पाण्डव सैनिक भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो शोकके समुद्रमें डूब रहे थे; परंतु अर्जुनने उन सबका उद्धार कर दिया ॥ ३९–४२ ॥

ततः शिखण्डी वेगेन प्रगृह्य परमायुधम्।
भीष्ममेवाभिदुद्राव रक्ष्यमाणः किरीटिना ॥ ४३ ॥

तब शिखण्डी अपने उत्तम अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर बड़े वेगसे भीष्मकी ही ओर दौड़ा। उस समय किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ ४३ ॥

ततोऽस्यानुचरान् हत्वा सर्वान् रणविभागवित्।
भीष्ममेवाभिदुद्राव बीभत्सुरपराजितः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् युद्धविभागके अच्छे ज्ञाता और किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुनने भीष्मके पीछे चलनेवाले समस्त योद्धाओंको मारकर स्वयं भी भीष्मपर ही धावा किया ॥४४॥

सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
विराटो द्रुपदश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४५ ॥
दुद्रुवुर्भीष्ममेवाजौ रक्षिता दृढधन्वना।

इनके साथ सात्यकि, चेकितान, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवने भी युद्धमें भीष्मपर ही आक्रमण किया। ये सब-के-सब सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुनसे सुरक्षित थे ॥४५½॥

अभिमन्युश्च समरे द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ॥ ४६ ॥
दुद्रुवुः समरे भीष्मं समुद्यतमहायुधाः।

द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु भी महान् अस्त्र-शस्त्र लिये उस समराङ्गणमें भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥४६½॥

ते सर्वे दृढधन्वानः संयुगेष्वपलायिनः ॥ ४७ ॥
बहुधा भीष्ममानर्च्छुर्मार्गणैः क्षतमार्गणैः।

ये सभी वीर सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले थे। इन्होंने शत्रुओंके बाणोंको नष्ट करनेवाले सायकोंद्वारा भीष्मको बारंबार पीड़ित किया ।४७½।

विधूय तान् बाणगणान् ये मुक्ताः पार्थिवोत्तमैः ॥ ४८ ॥
पाण्डवानामदीनात्मा व्यगाहत वरूथिनीम्।

परंतु उदारचेता भीष्म उन श्रेष्ठ राजाओंके छोड़े हुए समस्त बाणसमूहोंका नाश करके पाण्डवोंकी विशाल सेनामें घुस गये ॥ ४८½ ॥

चक्रे शरविघातं च क्रीडन्निव पितामहः ॥ ४९ ॥
नाभिसंधत्त पाञ्चाल्ये स्मयमानो मुहुर्मुहुः।
स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मृत्य भीष्मो बाणाञ्शिखण्डिने ॥५०॥

वहाँ पितामह भीष्म खेल-सा करते हुए अपने बाणोंद्वारा पाण्डवसैनिकोंके अस्त्र-शस्त्रोंका विनाश करने लगे। परंतु शिखण्डीके स्त्रीत्वका स्मरण करके वे बारंबार मुसकराकर रह जाते थे; उसपर बाण नहीं चलाते थे ॥ ४९-५० ॥

जघान द्रुपदानीके रथान् सप्त महारथः।
ततः किलकिलाशब्दः क्षणेन समभूत् तदा ॥ ५१ ॥
मत्स्यपाञ्चालचेदीनां तमेकमभिधावताम्।

महारथी भीष्मने द्रुपदकी सेनाके सात रथियोंको मार डाला। तब एकमात्र भीष्मपर धावा करनेवाले मत्स्य, पाञ्चाल और चेदिदेशके योद्धाओंका महान् कोलाहल क्षणभरमें वहाँ गूँज उठा ॥ ५१½ ॥

ते नराश्वरथव्रातैर्मार्गणैश्च परंतप ॥ ५२ ॥
तमेकं छादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम्।
भीष्मं भागीरथीपुत्रं प्रतपन्तं रणे रिपून् ॥ ५३ ॥

परंतप ! जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार उन वीरोंने पैदल, घुड़सवार तथा रथियोंके समुदायसे एवं बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भीष्मको आच्छादित कर दिया। उस समय गङ्गानन्दन भीष्म अकेले युद्धके मैदानमें शत्रुओंको अत्यन्त संतप्त कर रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तस्य च तेषां च युद्धे देवासुरोपमे।
किरीटी भीष्ममागच्छत् पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥५४॥

तदनन्तर भीष्म तथा उन योद्धाओंमें देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध होने लगा। इसी बीचमें किरीटधारी अर्जुन शिखण्डीको आगे करके भीष्मके समीप जा पहुँचे ॥५४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मपराक्रमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मपराक्रमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंद्वारा सुरक्षित होनेपर भी अर्जुनका भीष्मको रथसे गिराना, शरशय्यापर स्थित भीष्मके समीप हंसरूपधारी ऋषियोंका आगमन एवं उनके कथनसे भीष्मका उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए प्राण धारण करना

संजय उवाच

एवं ते पाण्डवाः सर्वे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
विव्यधुः समरे भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शिखण्डीको आगे करके सभी पाण्डवोंने समरभूमिमें भीष्मको सब ओरसे घेरकर बींधना आरम्भ किया ॥ १ ॥

शतघ्नीभिः सुघोराभिः परिघैश्च परश्वधैः ।
मुद्गरैर्मुसलैः प्रासैः क्षेपणीयैश्च सर्वशः ॥ २ ॥
शरैः कनकपुङ्खैश्च शक्तितोमरकम्पनैः ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च भुशुण्डीभिश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
अताडयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृञ्जयाः ।

समस्त सृंजय वीर एक साथ संगठित हो भयंकर शतघ्नी, परिघ, फरसे, मुद्गर, मुसल, प्रास, गोफन, स्वर्णमय पंखवाले बाण, शक्ति, तोमर, कम्पन, नाराच, वत्सदन्त और भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें भीष्मको सब ओरसे पीड़ा देने लगे ॥ २-३½ ॥

स विशीर्णतनुत्राणः पीडितो बहुभिस्तदा ॥ ४ ॥
न विव्यथे तदा भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

उस समय बहुसंख्यक योद्धाओंके द्वारा अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे पीड़ित होनेके कारण भीष्मका कवच छिन्न-भिन्न हो गया । उनके मर्मस्थान विदीर्ण होने लगे, तो भी उनके मनमें व्यथा नहीं हुई ॥ ४½ ॥

संदीप्तशरचापाग्निरस्त्रप्रसृतमारुतः ॥ ५ ॥
नेमिनिर्ह्रादसंतापो महास्त्रोदयपावकः ।
चित्रचापमहाज्वालो वीरक्षयमहेन्धनः ॥ ६ ॥
युगान्ताग्निसमप्रख्यः परेषां समपद्यत ।

वे शत्रुओंके लिये प्रलयकालकी अग्निके समान अद्भुत तेजसे प्रज्वलित हो उठे । धनुष और बाण ही धधकती हुई आग थे । अस्त्रोंका प्रसार ही वायुका सहारा था । रथोंके पहियोंकी घरघराहट उस आगकी आँच थी । बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्राकट्य अंगारके समान था । विचित्र चाप ही उस आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान था । बड़े-बड़े वीर ही ईंधनके समान उसमें गिरकर भस्म हो रहे थे ॥ ५-६½ ॥

विवृत्य रथसङ्घानामन्तरेण विनिःसृतः ॥ ७ ॥
दृश्यते स नरेन्द्राणां पुनर्मध्यगतश्चरन् ।

पितामह भीष्म एक ही क्षणमें रथकी पंक्ति तोड़कर घेरेसे बाहर निकल आते और पुनः राजाओंकी सेनाके मध्यभागमें प्रवेश करके वहाँ विचरते दिखायी देते थे ॥ ७½ ॥

ततः पञ्चालराजं च धृष्टकेतुमचिन्त्य च ॥ ८ ॥
पाण्डवानीकिनीमध्यमाससाद विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! तत्पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपद तथा धृष्टकेतुकी कुछ भी परवा न करके वे पाण्डवसेनाके भीतर घुस आये ।८½।

ततः सात्यकिभीमौ च पाण्डवं च धनंजयम् ॥ ९ ॥
द्रुपदं च विराटं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
भीमघोषैर्महावेगैर्मर्मावरणभेदिभिः ॥ १० ॥
षडेतान् निशितैर्भीष्मः प्रविव्याधोत्तमैः शरैः ।

फिर भयंकर शब्द करनेवाले, महान् वेगशाली, मर्मस्थानों और कवचोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले, तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा उन्होंने सात्यकि, भीमसेन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, विराट, द्रुपद तथा उनके पुत्र धृष्टद्युम्न—इन छः महारथियोंको अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ९-१०½ ॥

तस्य ते निशितान् बाणान् संनिवार्य महारथाः॥ ११ ॥
दशभिर्दशभिर्भीष्ममर्दयामासुरोजसा ।

तब उन महारथी वीरोंने भीष्मके उन तीखे बाणोंका निवारण करके पुनः दस-दस बाणोंद्वारा भीष्मको बलपूर्वक पीड़ित किया ॥ ११½ ॥

शिखण्डी तु महाबाणान् यान् मुमोच महारथः ॥ १२ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने जिन महान् बाणोंका प्रयोग किया था, वे सब सुवर्णमय पंखसे युक्त और शिलापर रगड़कर तेज किये गये थे, तो भी भीष्मजीके शरीरमें घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ॥ १२½ ॥

ततः किरीटी संरब्धो भीष्ममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तब किरीटधारी अर्जुनने कुपित हो शिखण्डीको आगे किये हुए ही भीष्मपर धावा किया और उनके धनुषको काट डाला ॥ १३½ ॥

भीष्मस्य धनुषश्छेदं नामृष्यन्त महारथाः ॥ १४ ॥
द्रोणश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तस्तथैव च ॥ १५ ॥
सप्तैते परमक्रुद्धाः किरीटिनमभिद्रुताः ।
तत्र शस्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महारथाः ॥ १६ ॥

अभिपेतुर्भृशं क्रुद्धाश्छादयन्तश्च पाण्डवम् ।

भीष्मके धनुषका काटा जाना कौरव महारथियोंको सहन नहीं हुआ। द्रोण, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये सात महारथी अत्यन्त क्रुद्ध हो किरीटधारी अर्जुनकी ओर दौड़े तथा अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाणोंसे आच्छादित करने लगे ॥ १४–१६½ ॥

तेषामापततां शब्दः शुश्रुवे फाल्गुनं प्रति ॥ १७ ॥
उद्वृत्तानां यथा शब्दः समुद्राणां युगक्षये ।

अर्जुनके प्रति आक्रमण करते हुए उन वीरोंका सिंहनाद उसी प्रकार सुनायी पड़ा, जैसे प्रलयकालमें अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़नेवाले समुद्रोंकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है ॥ १७½ ॥

घ्नतानयत गृह्णीत विद्ध्यध्वमवकर्तत ॥ १८ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

अर्जुनके रथके समीप 'मार डालो, ले आओ, पकड़ लो, बींध डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो' इस प्रकार भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ १८½ ॥

तं शब्दं तुमुलं श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ १९ ॥
अभ्यधावन् परीप्सन्तः फाल्गुनं भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उस भयानक शब्दको सुनकर पाण्डव महारथी अर्जुनकी रक्षाके लिये दौड़े ॥ १९½ ॥

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २० ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ राक्षसश्च घटोत्कचः ।
अभिमन्युश्च संक्रुद्धः सप्तैते क्रोधमूर्च्छिताः ॥ २१ ॥
समभ्यधावंस्त्वरिताश्चित्रकार्मुकधारिणः ।

सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, राक्षस घटोत्कच और अभिमन्यु—ये सात वीर क्रोधसे मूर्छित हो तुरंत ही विचित्र धनुष धारण किये वहाँ दौड़े आये २०-२१½

तेषां समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २२ ॥
संग्रामे भरतश्रेष्ठ देवानां दानवैरिव ।

भरतभूषण ! उनका वह भयंकर युद्ध देवासुर-संग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २२½ ॥

शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठो रक्ष्यमाणः किरीटिना ॥ २३ ॥
अविध्यद् दशभिर्भीष्मं छिन्नधन्वानमाहवे ।
सारथिं दशभिश्चास्य ध्वजं चैकेन चिच्छिदे ॥ २४ ॥
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो वेगवत्तरम् ।
(जघान निशितैर्बाणैरर्जुनं परवीरहा ।)
तदप्यस्य शितैर्बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद फाल्गुनः ॥ २५ ॥

भीष्मजीका धनुष कट गया था। उसी अवस्थामें अर्जुनसे सुरक्षित शिखण्डीने दस बाणोंसे उन्हें और दस बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया। तत्पश्चात् एक बाणसे ध्वजको काट गिराया। तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तीखे बाणोंसे अर्जुनको घायल करना आरम्भ किया। यह देख अर्जुनने उस धनुषको भी तीन पैने बाणोंद्वारा काट डाला। २३–२५।

एवं स पाण्डवः क्रुद्ध आत्तमात्तं पुनः पुनः ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य सव्यसाची परंतपः ॥ २६ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी, सव्यसाची पाण्डुनन्दन अर्जुन जो-जो धनुष भीष्म लेते, उसी-उसीको काट डालते थे ॥ २६ ॥

स छिन्नधन्वा संक्रुद्धः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शक्तिं जग्राह तरसा गिरीणामपि दारणीम् ॥ २७ ॥

धनुष कट जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए भीष्मने बलपूर्वक एक शक्ति हाथमें ली, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाली थी ॥ २७ ॥

तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ २८ ॥
समादत्त शितान् भल्लान् पञ्च पाण्डवनन्दनः ।
तस्य चिच्छेद तां शक्तिं पञ्चधा पञ्चभिः शरैः ॥ २९ ॥
संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ भीष्मबाहुप्रवेरिताम् ।

भरतश्रेष्ठ ! फिर उसे क्रोधपूर्वक उन्होंने अर्जुनके रथकी ओर चला दिया। प्रज्वलित वज्रके समान उस शक्तिको आती देख पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुनने अपने हाथमें भल्लनामक पाँच तीखे बाण लिये और कुपित हो उन पाँच बाणोंद्वारा भीष्मकी भुजाओंसे प्रेरित हुई उस शक्तिके पाँच टुकड़े कर दिये ॥ २८-२९½ ॥

सा पपात तथा छिन्ना संक्रुद्धेन किरीटिना ॥ ३० ॥
मेघवृन्दपरिभ्रष्टा विच्छिन्नेव शतह्रदा ।

क्रोधमें भरे हुए अर्जुनद्वारा काटी हुई वह शक्ति मेघोंके समूहसे निर्मुक्त होकर गिरी हुई बिजलीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३०½ ॥

छिन्नां तां शक्तिमालोक्य भीष्मः क्रोधसमन्वितः ॥ ३१ ॥
अचिन्तयद् रणे वीरो बुद्ध्या परपुरंजयः ।

अपनी उस शक्तिको छिन्न-भिन्न हुई देख भीष्मजी क्रोधमें निमग्न हो गये और शत्रुनगरविजयी उन वीरशिरोमणिने रण-क्षेत्रमें अपनी बुद्धिके द्वारा इस प्रकार विचार किया—॥ ३१½ ॥

शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् ॥ ३२ ॥
यद्येषां न भवेद् गोप्ता विष्वक्सेनो महाबलः ।

'यदि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण उन पाण्डवोंकी रक्षा न करते तो मैं इन सबको केवल एक धनुषके ही द्वारा मार सकता था ॥ ३२½ ॥

(अजय्यश्चैव लोकानां सर्वेषामिति मे मतिः ।)
कारणद्वयमास्थाय नाहं योत्स्यामि पाण्डवान् ॥ ३३ ॥
अवध्यत्वाच्च पाण्डूनां स्त्रीभावाच्च शिखण्डिनः ।

'भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके लिये अजेय हैं; ऐसा मेरा विश्वास है । इस समय मैं दो कारणोंका आश्रय लेकर पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करूँगा । एक तो ये पाण्डुकी संतान होनेके कारण मेरे लिये अवध्य हैं और दूसरे मेरे सामने शिखण्डी आ गया है, जो पहले स्त्री था ॥ ३३½ ॥

पित्रा तुष्टेन मे पूर्वं यदा कालीमुदावहम् ॥ ३४ ॥
स्वच्छन्दमरणं दत्तमवध्यत्वं रणे तथा ।
तस्मान्मृत्युमहं मन्ये प्राप्तकालमिवात्मनः ॥ ३५ ॥

'पूर्वकालमें जब मैंने माता सत्यवतीका विवाह पिताजीके साथ कराया था, उस समय मेरे पिताने संतुष्ट होकर मुझे दो वर दिये थे—'जब तुम्हारी इच्छा होगी, तभी तुम मरोगे तथा युद्धमें कोई भी तुम्हें मार न सकेगा ।' ऐसी दशामें मुझे स्वेच्छासे ही मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिये । मैं समझता हूँ कि अब उसका अवसर आ गया है' ॥ ३४-३५ ॥

एवं ज्ञात्वा व्यवसितं भीष्मस्यामिततेजसः ।
ऋषयो वसवश्चैव वियत्स्था भीष्ममब्रुवन् ॥ ३६ ॥

अमिततेजस्वी भीष्मके इस निश्चयको जानकर आकाशमें खड़े हुए ऋषियों और वसुओंने उनसे इस प्रकार कहा—॥

यत् ते व्यवसितं तात तदस्माकमपि प्रियम् ।
तत् कुरुष्व महाराज युद्धे बुद्धिं निवर्तय ॥ ३७ ॥

'तात ! तुमने जो निश्चय किया है, वह हमलोगोंको भी बहुत प्रिय है । महाराज ! अब तुम वही करो । युद्धकी ओरसे अपनी चित्तवृत्ति हटा लो' ॥ ३७ ॥

अस्य वाक्यस्य निधने प्रादुरासीच्छिवोऽनिलः ।
अनुलोमः सुगन्धी च पृषतैश्च समन्वितः ॥ ३८ ॥

यह बात समाप्त होते ही जलकी बूँदोंके साथ सुखद, शीतल, सुगन्धित एवं मनके अनुकूल वायु चलने लगी ॥३८॥

देवदुन्दुभयश्चैव सम्प्रणेदुर्महास्वनाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च भीष्मस्योपरि मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! देवताओंकी दुन्दुभियाँ जोर-जोरसे बज उठीं । भीष्मके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३९ ॥

न च तच्छुश्रुवे कश्चित् तेषां संवदतां नृप ।
ऋते भीष्मं महाबाहुं मां चापि मुनितेजसा ॥ ४० ॥

राजन् ! उस समय उपर्युक्त बातें कहनेवाले ऋषियोंका शब्द महाबाहु भीष्म तथा मुझको छोड़कर और कोई नहीं सुन सका । मुझे तो महर्षि व्यासके प्रभावसे ही वह बात सुनायी पड़ी ॥ ४० ॥

सम्भ्रमश्च महानासीत् त्रिदशानां विशाम्पते ।
पतिष्यति रथाद् भीष्मे सर्वलोकप्रिये तदा ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय भीष्म रथसे गिरना चाहते हैं, यह जानकर उस समय सम्पूर्ण देवताओंको भी महान् आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥

इति देवगणानां च वाक्यं श्रुत्वा महातपाः ।
ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ४२ ॥
भिद्यमानः शितैर्बाणैः सर्वावरणभेदिभिः ।

देवताओंकी वह बात सुनकर महातपस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा विदीर्ण होनेपर भी अर्जुनको जीतनेका प्रयत्न न कर सके ॥ ४२½ ॥

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम् ॥ ४३ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः ।

महाराज ! उस समय शिखण्डीने कुपित होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीकी छातीमें नौ पैने बाण मारे ॥४३½॥

स तेनाभिहतः संख्ये भीष्मः कुरुपितामहः ॥ ४४ ॥
नाकम्पत महाराज क्षितिकम्पे यथाचलः ।

नरेश्वर ! युद्धमें शिखण्डीके द्वारा आहत होकर भी कुरुवंशियोंके पितामह भीष्म उसी प्रकार कम्पित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होनेपर भी पर्वत नहीं हिलता ॥ ४४½ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ॥ ४५ ॥
गाङ्गेयं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तदनन्तर अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मको पचीस बाण मारे ॥ ४५½ ॥

पुनः पुनः शतैरेनं त्वरमाणो धनंजयः ॥ ४६ ॥
सर्वगात्रेषु संक्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ।

तत्पश्चात् पुनः उन्होंने अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक सौ बाणोंद्वारा भीष्मके सम्पूर्ण अङ्गों और सभी मर्मस्थानोंमें आघात किया ॥ ४६ ॥

एवमन्यैरपि भृशं विद्ध्यमानः सहस्रशः ॥ ४७ ॥
तानप्याशु शरैर्भीष्मः प्रविव्याध महारथः ।

इसी प्रकार दूसरे लोगोंने भी सहस्रों बाणोंद्वारा भीष्मजीको घायल किया । तब महारथी भीष्मने भी तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा उन सबको बींध डाला ॥ ४७½ ॥

तैश्च मुक्ताञ्छरान् भीष्मो युधि सत्यपराक्रमः ॥ ४८ ॥
निवारयामास शरैः समं संनतपर्वभिः ।

सत्यपराक्रमी भीष्म युद्धस्थलमें अन्य सब राजाओंद्वारा छोड़े हुए बाणोंका झुकी हुई गाँठवाले अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही निवारण कर देते थे ॥ ४८½ ॥

शिखण्डी तु रणे बाणान् यान् मुमोच महारथः ॥ ४९ ॥
न चक्रुस्ते रुजं तस्य रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने रणक्षेत्रमें जिनका प्रयोग किया था, वे शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखयुक्त बाण भीष्मजीके शरीरमें कोई घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके॥

ततः किरीटी संक्रुद्धो भीष्ममेवाभ्यवर्तत ॥ ५० ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत्।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुन शिखण्डीको आगे रखकर पुनः भीष्मकी ही ओर बढ़े। उन्होंने भीष्मजीके धनुषको काट दिया॥ ५०½ ॥

अथैनं नवभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ॥ ५१ ॥
सारथिं विशिखैश्चास्य दशभिः समकम्पयत्।

तदनन्तर नौ बाणोंसे उन्हें घायल करके एक बाणसे उनके ध्वजको भी काट डाला। फिर दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको कम्पित कर दिया ॥ ५१½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो बलवत्तरम् ॥ ५२ ॥
तदप्यस्य शितैर्भल्लैस्त्रिधा त्रिभिरघातयत्।

तब गङ्गानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त प्रबल धनुष हाथमें लिया; परंतु अर्जुनने तीन तीखे भल्लोंद्वारा मारकर उसे भी तीन जगहसे खण्डित कर दिया ॥ ५२½ ॥

निमेषार्धेन कौन्तेय आत्तमात्तं महारणे ॥ ५३ ॥
एवमस्य धनूंष्याजौ चिच्छेद सुबहून्यथ।

उस महायुद्धमें भीष्म जो-जो धनुष हाथमें लेते थे कुन्तीकुमार अर्जुन उसे आधे निमेषमें काट डालते थे। इस प्रकार उन्होंने रणक्षेत्रमें उनके बहुत-से धनुष खण्डित कर दिये॥

ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ॥ ५४ ॥
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत्।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनपर हाथ उठाना बंद कर दिया। फिर भी अर्जुनने उन्हें पचीस बाण मारे ॥५४½॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो दुःशासनमभाषत ॥ ५५ ॥
एष पार्थो रणे क्रुद्धः पाण्डवानां महारथः।
शरैरनेकसाहस्रैर्मामेवाभ्यहनद् रणे ॥ ५६ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भीष्मने दुःशासनसे कहा—'ये पाण्डव महारथी अर्जुन युद्धमें क्रुद्ध होकर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा मुझे घायल कर चुके हैं॥

न चैष समरे शक्यो जेतुं वज्रभृता अपि।
न चापि सहिता वीरा देवदानवराक्षसाः ॥ ५७ ॥
मां चापि शक्ता निर्जेतुं किमु मर्त्या महारथाः।

'इन्हें वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें जीत नहीं सकते। इसी प्रकार समस्त देवता, दानव तथा राक्षस वीर एक साथ आ जायँ तो मुझे भी वे युद्धमें परास्त नहीं कर सकते; फिर दूसरे मानव महारथियोंकी तो बात ही क्या है?' ॥ ५७½ ॥

एवं तयोः संवदतोः फाल्गुनो निशितैः शरैः ॥ ५८ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य भीष्मं विव्याध संयुगे।

इस प्रकार दुःशासन और भीष्ममें जब बातचीत हो रही थी, उसी समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया॥

ततो दुःशासनं भूयः स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ५९ ॥
अतिविद्धः शितैर्बाणैर्भृशं गाण्डीवधन्वना।
वज्राशनिसमस्पर्शा अर्जुनेन शरा युधि ॥ ६० ॥
मुक्ताः सर्वेऽव्यवच्छिन्ना नेमे बाणाः शिखण्डिनः।

तब वे पुनः दुःशासनसे मुसकराते हुए-से बोले—'गाण्डीवधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें ऐसे बाण छोड़े हैं, जिनका स्पर्श वज्र और विद्युत्‌के समान असह्य है। उनके तीखे बाणोंसे मैं अत्यन्त घायल हो गया हूँ। ये अविच्छिन्न रूपसे छूटनेवाले समस्त बाण शिखण्डीके नहीं हो सकते; ॥ ५९-६०½ ॥

निकृन्तमाना मर्माणि दृढावरणभेदिनः ॥ ६१ ॥
मुसला इव मे घ्नन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः।
वज्रदण्डसमस्पर्शा वज्रवेगदुरासदाः ॥ ६२ ॥

'क्योंकि ये मेरे सुदृढ़ कवचको छेदकर मर्मस्थानोंमें आघात कर रहे हैं, ये बाण मेरे शरीरपर मुसलके समान चोट करते हैं। इनका स्पर्श वज्र और यमदण्डके समान असह्य है। इनका वेग वज्रके समान होनेके कारण निवारण करना कठिन है। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं ॥ ६१-६२ ॥

मम प्राणानारुजन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः।
नाशयन्तीव मे प्राणान् यमदूता इवाहिताः ॥ ६३ ॥

'ये मेरे प्राणोंमें व्यथा उत्पन्न कर देते हैं। अहितकारी यमदूतोंके समान मेरे प्राणोंका विनाश-सा कर रहे हैं। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

गदापरिघसंस्पर्शा नेमे बाणाः शिखण्डिनः।
भुजगा इव संक्रुद्धा लेलिहाना विषोल्बणाः ॥ ६४ ॥

'इनका स्पर्श गदा और परिघकी चोटके समान प्रतीत होता है, ये क्रोधमें भरे हुए प्रचण्ड विषवाले सर्पोंके समान डसे लेते हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं ॥ ६४ ॥

समाविशन्ति मर्माणि नेमे बाणाः शिखण्डिनः।
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ॥ ६५ ॥
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमासे गवा इव।

'ये बाण मेरे मर्मस्थानोंमें प्रवेश कर रहे हैं, अतः शिखण्डीके नहीं हैं। ये अर्जुनके बाण हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं। जैसे केंकड़ीके बच्चे अपनी माताका उदर विदीर्ण करके बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार ये बाण मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंको छेदे डालते हैं ॥ ६५½ ॥

सर्वे ह्यपि न मे दुःखं कुर्युरन्ये नराधिपाः ॥ ६६ ॥
वीरं गाण्डीवधन्वानमृते जिष्णुं कपिध्वजम्।

'गाण्डीवधारी वीर कपिध्वज अर्जुनको छोड़कर अन्य सभी नरेश अपने प्रहारोंद्वारा मुझे इतनी पीड़ा नहीं दे सकते' ॥ ६६½ ॥

इति ब्रुवञ्छान्तनवो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ॥ ६७ ॥
शक्तिं भीष्मः स पार्थाय ततश्चिक्षेप भारत ।
तामस्य विशिखैश्छित्त्वा त्रिधा त्रिभिरपातयत् ॥ ६८ ॥

भारत ! ऐसा कहते हुए शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालेंगे। फिर उन्होंने अर्जुनपर एक शक्ति चलायी; परंतु अर्जुनने तीन बाणोंद्वारा उनकी उस शक्तिको तीन जगहसे काट गिराया ॥ ६७-६८ ॥

पश्यतां कुरुवीराणां सर्वेषां तव भारत ।
चर्माथादत्त गाङ्गेयो जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ६९ ॥
खड्गं चान्यतरप्रेप्सुर्मृत्योरग्रे जयाय वा ।

भरतनन्दन ! समस्त कौरव वीरोंके देखते-देखते गङ्गानन्दन भीष्मने मृत्यु अथवा विजय इन दोमेंसे किसी एकका वरण करनेके लिये अपने हाथमें सुवर्णभूषित ढाल और तलवार ले ली ॥ ६९½ ॥

तस्य तच्छतधा चर्म व्यधमत् सायकैस्तथा ॥ ७० ॥
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।

परंतु वे अभी अपने रथसे उतर भी नहीं पाये थे कि अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उनकी ढालके सौ टुकड़े कर दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ७०½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वान्यनीकान्यचोदयत् ॥ ७१ ॥
अभिद्रवत गाङ्गेयं मा वोऽस्तु भयमण्वपि ।

इसी समय राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी—'वीरो ! गङ्गानन्दन भीष्मपर आक्रमण करो। उनकी ओरसे तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये' ॥ ७१½ ॥

अथ ते तोमरैः प्रासैर्बाणौघैश्च समन्ततः ॥ ७२ ॥
पट्टिशैश्च सुनिस्त्रिंशैर्नाराचैश्च तथा शितैः ।
वत्सदन्तैश्च भल्लैश्च तमेकमभिदुद्रुवुः ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे पाण्डव सैनिक सब ओरसे तोमर, प्रास, बाणसमुदाय, पट्टिश, खड्ग, तीखे नाराच, वत्सदन्त तथा भल्लोंका प्रहार करते हुए एकमात्र भीष्मकी ओर दौड़े ॥

सिंहनादस्ततो घोरः पाण्डवानामभूत् तदा ।
तथैव तव पुत्राश्च नेदुर्भीष्मजयैषिणः ॥ ७४ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंकी सेनामें घोर सिंहनाद हुआ। इसी प्रकार भीष्मकी विजय चाहनेवाले आपके पुत्र भी उस समय गर्जना करने लगे ॥ ७४ ॥

तमेकमभ्यरक्षन्त सिंहनादांश्च चक्रिरे ।
तत्रासीत् तुमुलं युद्धं तावकानां परैः सह ॥ ७५ ॥

आपके सैनिक एकमात्र भीष्मकी रक्षा और सिंहनाद करने लगे। वहाँ आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ भयंकर युद्ध हुआ ॥ ७५ ॥

दशमेऽहनि राजेन्द्र भीष्मार्जुनसमागमे ।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधेरिव ॥ ७६ ॥

राजेन्द्र ! दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके संघर्षमें दो घड़ीतक ऐसा दृश्य दिखायी दिया, मानो समुद्रमें गङ्गाजीके गिरते समय उनके जलमें भारी भँवर उठ रही हो ॥ ७६ ॥

सैन्यानां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम् ।
असौम्यरूपा पृथिवी शोणिताक्ताभवत् तदा ॥ ७७ ॥

उस समय एक दूसरेको मारनेवाले युद्धपरायण सैनिकोंके रक्तसे रंजित हो वहाँकी सारी पृथ्वी भयानक हो गयी थी ॥

समं च विषमं चैव न प्राज्ञायत किंचन ।
योधानामयुतं हत्वा तस्मिन् स दशमेऽहनि ॥ ७८ ॥
अतिष्ठदाहवे भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

वहाँ ऊँची और नीची भूमिका भी कुछ ज्ञान नहीं हो पाता था, दसवें दिनके उस युद्धमें अपने मर्मस्थानोंके विदीर्ण होते रहनेपर भी भीष्मजी दस हजार योद्धाओंको मारकर वहाँ खड़े हुए थे ॥ ७८½ ॥

ततः सेनामुखे तस्मिन् स्थितः पार्थो धनुर्धरः ॥ ७९ ॥
मध्येन कुरुसैन्यानां द्रावयामास वाहिनीम् ।

उस समय सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए धनुर्धर अर्जुनने कौरवसेनाके भीतर प्रवेश करके आपके सैनिकोंको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ७९½ ॥

(तथा च तव सैन्यानि तापयामासुरोजसा ।
शरैरशनिसंकाशैः पाण्डवाश्चेतरे नृपाः ॥
तत्राद्भुतमपश्याम पाण्डवानां पराक्रमम् ।
द्रावयामासुरिषुभिः सर्वान् भीष्मपदानुगान् ॥)

पाण्डवों तथा अन्य राजाओंने वज्रके समान बाणोंद्वारा आपकी सेनाओंको बलपूर्वक पीड़ित किया। वहाँ हमने पाण्डवोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे भीष्मका अनुगमन करनेवाले समस्त योद्धाओंको मार भगाया ॥

वयं श्वेतहयाद् भीताः कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ८० ॥
पीड्यमानाः शितैः शस्त्रैः प्राद्रवाम रणे तदा ।

राजन् ! उस समय श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर उनके तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो हम सभी लोग रणभूमिसे भागने लगे थे ॥ ८०½ ॥

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः ॥ ८१ ॥
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
शाल्वाश्रयास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ॥ ८२ ॥
सर्व एते महात्मानः शरार्ता व्रणपीडिताः ।
संग्रामे न जहुर्भीष्मं युध्यमानं किरीटिना ॥ ८३ ॥

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्वाश्रय, त्रिगर्त,

अम्बष्ठ और केकय—इन सभी देशोंके ये सारे महामनस्वी वीर बाणोंसे घायल और घावोंसे पीड़ित होनेपर भी अर्जुनके साथ युद्ध करनेवाले भीष्मको संग्रामभूमिमें छोड़ न सके ॥

ततस्तमेकं बहवः परिवार्य समन्ततः ।
परिकाल्य कुरून् सर्वाञ्शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ८४ ॥

तदनन्तर एकमात्र भीष्मको पाण्डव-पक्षीय बहुत-से योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया और समस्त कौरवोंको सब ओर खदेड़कर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ८४ ॥

निपातयत गृह्णीत युध्यध्वमवकृन्तत ।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो राजन् भीष्मरथं प्रति ॥ ८५ ॥

राजन् ! उस समय भीष्मके रथके समीप 'मार गिराओ, पकड़ लो, युद्ध करो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो' इत्यादि भयंकर शब्द गूँज रहे थे ॥ ८५ ॥

निहत्य समरे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ८६ ॥

महाराज ! समरमें भीष्म सैकड़ों और हजारों वीरोंका वध करके स्वयं इस स्थितिमें पहुँच गये थे कि उनके शरीरमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया था, जो बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ ८६ ॥

एवंभूतस्तव पिता शरैर्विशकलीकृतः ।
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद् रथात् ॥ ८७ ॥
किंचिच्छेषे दिनकरे पुत्राणां तव पश्यताम् ।

इस प्रकार आपके ताऊ भीष्म युद्धस्थलमें अर्जुनके तीखे बाणोंसे अत्यन्त विद्ध हो गये थे—उनका शरीर छिद-कर छलनी हो रहा था । वे उसी अवस्थामें, जब कि दिन थोड़ा ही शेष था, आपके पुत्रोंके देखते-देखते पूर्व दिशाकी ओर मस्तक किये रथसे नीचे गिर पड़े ॥ ८७½ ॥

हाहेति दिवि देवानां पार्थिवानां च भारत ॥ ८८ ॥
पतमाने रथाद् भीष्मे बभूव सुमहास्वनः ।

भारत ! रथसे भीष्मके गिरते समय आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा भूतलवर्ती राजाओंमें बड़े जोरसे हाहाकार मच गया ॥ ८८½ ॥

सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य महात्मानं पितामहम् ॥ ८९ ॥
सह भीष्मेण सर्वेषां प्रापतन् हृदयानि नः ।

महाराज ! महात्मा पितामह भीष्मको रथसे नीचे गिरते देखकर हम सब लोगोंके हृदय भी उनके साथ ही गिर पड़े ॥

स पपात महाबाहुर्वसुधामनुनादयन् ॥ ९० ॥
इन्द्रध्वज इवोत्सृष्टः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
धरणीं न स पस्पर्श शरसंघैः समावृतः ॥ ९१ ॥

वे महाबाहु भीष्म सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे । वे कटी हुई इन्द्रकी ध्वजाके समान पृथ्वीको शब्दायमान करते हुए गिर पड़े । उनके सारे अङ्गोंमें सब ओर बाण बिंधे हुए थे । इसलिये गिरनेपर भी उनका धरतीसे स्पर्श नहीं हुआ ॥

शरतल्पे महेष्वासं शयानं पुरुषर्षभम् ।
रथात् प्रपतितं चैनं दिव्यो भावः समाविशत् ॥ ९२ ॥

रथसे गिरकर बाणशय्यापर सोये हुए पुरुषप्रवर महाधनुर्धर भीष्मके भीतर दिव्यभावका आवेश हुआ ॥ ९२ ॥

अभ्यवर्षच्च पर्जन्यः प्राकम्पत च मेदिनी ।
पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम् ॥ ९३ ॥

आकाशसे मेघ वर्षा करने लगा, धरती काँपने लगी, गिरते-गिरते उन्होंने देखा, अभी सूर्य दक्षिणायनमें हैं (यह मृत्युके लिये उत्तम समय नहीं है) ॥ ९३ ॥

संज्ञां चोपालभद् वीरः कालं संचिन्त्य भारत ।
अन्तरिक्षे च शुश्राव दिव्या वाचः समन्ततः ॥ ९४ ॥

भारत ! समयका विचार करके वीरवर भीष्मने अपने होश-हवाशको ठीक रक्खा । उस समय आकाशमें सब ओर-से यह दिव्य वाणी सुनायी दी ॥ ९४ ॥

कथं महात्मा गाङ्गेयः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
कालकर्ता नरव्याघ्रः सम्प्राप्ते दक्षिणायने ॥ ९५ ॥

महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा कालपर भी प्रभुत्व रखनेवाले थे । इन्होंने दक्षिणायनमें मृत्यु क्यों स्वीकार की ? ॥

स्थितोऽस्मीति च गाङ्गेयस्तच्छ्रुत्वा वाक्यमब्रवीत् ।
धारयामास च प्राणान् पतितोऽपि महीतले ॥ ९६ ॥
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः ।
तस्य तन्मतमाज्ञाय गङ्गा हिमवतः सुता ॥ ९७ ॥
महर्षीन् हंसरूपेण प्रेषयामास तत्र वै ।

उनकी वह बात सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मने कहा—'मैं अभी जीवित हूँ ।' कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म पृथ्वी-पर गिरकर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणोंको रोके हुए हैं । उनके इस अभिप्रायको जानकर हिमालयनन्दिनी गङ्गादेवीने महर्षियोंको हंसरूपसे वहाँ भेजा ॥ ९६–९७½ ॥

ततः सम्पातिनो हंसास्त्वरिता मानसौकसः ॥ ९८ ॥
आजग्मुः सहिता द्रष्टुं भीष्मं कुरुपितामहम् ।
यत्र शेते नरश्रेष्ठः शरतल्पे पितामहः ॥ ९९ ॥

वे मानससरोवरमें निवास करनेवाले हंसरूपधारी महर्षि एक साथ उड़ते हुए बड़ी उतावलीके साथ कुरुकुल-के वृद्धपितामह भीष्मका दर्शन करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे नरश्रेष्ठ बाणशय्यापर सो रहे थे ॥ ९८-९९ ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य ऋषयो हंसरूपिणः ।
अपश्यञ्छरतल्पस्थं भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ॥ १०० ॥

उन हंसरूपधारी ऋषियोंने वहाँ पहुँचकर कुरुकुलधुरन्धर वीर भीष्मको बाणशय्यापर सोये हुए देखा ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
गाङ्गेयं भरतश्रेष्ठं दक्षिणेन च भास्करम् ॥१०१॥
इतरेतरमामन्त्र्य प्राहुस्तत्र मनीषिणः ।

उन भरतश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन भीष्मका दर्शन करके ऋषियोंने उनकी प्रदक्षिणा की । फिर दक्षिणायन-युक्त सूर्यके सम्बन्धमें परस्पर सलाह करके वे मनीषी मुनि इस प्रकार बोले- ॥ १०१½ ॥

भीष्मः कथं महात्मा सन् संस्थाता दक्षिणायने ॥१०२॥
इत्युक्त्वा प्रस्थिता हंसा दक्षिणामभितो दिशम् ।

'भीष्मजी महात्मा होकर दक्षिणायनमें कैसे अपनी मृत्यु स्वीकार करेंगे' ऐसा कहकर वे हंसगण दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १०२½ ॥

सम्प्रेक्ष्य वै महाबुद्धिश्चिन्तयित्वा च भारत ॥१०३॥
तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथंचन ।
दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ॥१०४॥

भारत ! हंसोंके जाते समय उन्हें देखकर परम बुद्धिमान् भीष्मने कुछ चिन्तन करके उनसे कहा—'मैं सूर्यके दक्षिणायन रहते किसी प्रकार यहाँसे प्रस्थान नहीं करूँगा। यह मेरे मनका निश्चित विचार है ॥ १०३-१०४ ॥

गमिष्यामि स्वकं स्थानमासीद् यन्मे पुरातनम् ।
उदगायन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः ॥१०५॥

'हंसो ! सूर्यके उत्तरायण होनेपर ही मैं उस लोककी यात्रा करूँगा, जो मेरा पुरातन स्थान है । यह मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ १०५ ॥

धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकाङ्क्षया ।
ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गो हि यतो मम ॥१०६॥

'मैं उत्तरायणकी प्रतीक्षामें अपने प्राणोंको धारण किये रहूँगा; क्योंकि मैं जब इच्छा करूँ, तभी अपने प्राणोंको छोडूँ, यह शक्ति मुझे प्राप्त है ॥ १०६ ॥

तस्मात् प्राणान् धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ।
यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना ॥१०७॥
छन्दतो मृत्युरित्येवं तस्य चास्तु वरस्तथा ।
धारयिष्ये ततः प्राणानुत्सर्गे नियते सति ॥१०८॥

'अतः उत्तरायणमें मृत्यु प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं अपने प्राणोंको धारण करूँगा । मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वर दिया था कि तुम्हें अपनी इच्छा होनेपर ही मृत्यु प्राप्त होगी, उनका वह वरदान सफल हो । मैं प्राणत्यागका नियत समय आनेतक अवश्य इन प्राणोंको रोक रक्खूँगा' ॥ १०७-१०८ ॥

इत्युक्त्वा तांस्तदा हंसान् स शेते शरतल्पगः ।
एवं कुरूणां पतिते शृङ्गे भीष्मे महौजसि ॥१०९॥
पाण्डवाः सृंजयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ।

उस समय उन हंसोंसे ऐसा कहकर वे बाणशय्यापर पूर्ववत् सोये रहे । इस प्रकार कुरुकुलशिरोमणि महापराक्रमी भीष्मके गिर जानेपर पाण्डव और सृंजय हर्षसे सिंहनाद करने लगे ॥ १०९½ ॥

तस्मिन् हते महासत्त्वे भरतानां पितामहे ॥११०॥
न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्ते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उन महान् शक्तिशाली एवं भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ११०½ ॥

सम्मोहश्चैव तुमुलः कुरूणामभवत् तदा ॥१११॥
कृपदुर्योधनमुखा निःश्वस्य रुरुदुस्ततः ।

उस समय कौरवोंपर बड़ा भयंकर मोह छा गया । कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब लोग सिसक-सिसककर रोने लगे ॥ १११½ ॥

विषादाच्च चिरं कालमतिष्ठन् विगतेन्द्रियाः ॥११२॥
दध्युश्चैव महाराज न युद्धे दधिरे मनः ।
ऊरुग्राहगृहीताश्च नाभ्यधावन्त पाण्डवान् ॥११३॥

वे सब लोग विषादके कारण दीर्घकालतक ऐसी अवस्थामें पड़े रहे, मानो उनकी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हों । महाराज ! वे भारी चिन्तामें डूब गये । युद्धमें उनका मन नहीं लगता था । वे पाण्डवोंपर धावा न कर सके, मानो किसी महान् ग्राहने उन्हें पकड़ लिया हो ॥ ११२-११३ ॥

अवध्ये शन्तनोः पुत्रे हते भीष्मे महौजसि ।
अभावः सहसा राजन् कुरुराजस्य तर्कितः ॥११४॥

राजन् ! महातेजस्वी शान्तनुपुत्र भीष्म अवध्य थे, तो भी मारे गये । इससे सहसा सब लोगोंने यही अनुमान किया कि कुरुराज दुर्योधनका विनाश भी अवश्यम्भावी है ॥११४॥

हतप्रवीरास्तु वयं निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।
कर्तव्यं नाभिजानीमो निर्जिताः सव्यसाचिना ॥११५॥

सव्यसाची अर्जुनने हम सब लोगोंपर विजय पायी । उनके तीखे बाणोंसे हमलोग क्षत-विक्षत हो रहे थे और हमारे प्रमुख वीर उनके हाथों मारे गये थे । उस अवस्थामें हमें अपना कर्तव्य नहीं सूझता था ॥ ११५ ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा परत्र च परां गतिम् ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खाञ्शूराः परिघबाहवः ॥११६॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले शूरवीर पाण्डवोंने इहलोकमें विजय पाकर परलोकमें भी उत्तम गति निश्चित कर ली । वे सब-के-सब बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे ॥११६॥

सोमकाश्च सपञ्चालाः प्राहृष्यन्त जनेश्वर।
ततस्तूर्यसहस्रेषु नदत्सु स महाबलः ॥११७॥
आस्फोटयामास भृशं भीमसेनो ननाद च।

जनेश्वर ! पाञ्चालों और सोमकोंके तो हर्षकी सीमा न रही। सहस्रों रणवाद्य बजने लगे। उस समय महाबली भीमसेन जोर-जोरसे ताल ठोकने और सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥ ११७½ ॥

सेनयोरुभयोश्चापि गाङ्गेये निहते विभौ ॥११८॥
संन्यस्य वीराः शस्त्राणि प्राध्यायन्त समन्ततः।

शक्तिशाली गङ्गानन्दन भीष्मके मारे जानेपर सब ओर दोनों सेनाओंके सब वीर अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ॥ ११८½ ॥

प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये जग्मुर्मोहं तथापरे ॥११९॥

कुछ फूट-फूटकर रोने-चिल्लाने लगे, कुछ इधर-उधर भागने लगे और कुछ वीर मोहको प्राप्त (मूर्छित) हो गये ॥ ११९ ॥

क्षत्रं चान्येऽभ्यनिन्दन्त भीष्मं चान्येऽभ्यपूजयन्।
ऋषयः पितरश्चैव प्रशशंसुर्महाव्रतम् ॥१२०॥

कुछ लोग क्षात्रधर्मकी निन्दा कर रहे थे और कुछ भीष्मजीकी प्रशंसा कर रहे थे। ऋषियों और पितरोंने महान् व्रतधारी भीष्मकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १२० ॥

भरतानां च ये पूर्वे ते चैनं प्रशशंसिरे।
महोपनिषदं चैव योगमास्थाय वीर्यवान् ॥१२१॥
जपञ्शान्तनवो धीमान् कालाकाङ्क्षी स्थितोऽभवत्१२२

भरतवंशके पूर्वजोंने भी भीष्मजीकी बड़ी बड़ाई की। परम पराक्रमी एवं बुद्धिमान् शान्तनुनन्दन भीष्म महान् उपनिषदोंके सारभूत योगका आश्रय ले प्रणवका जप करते हुए उत्तरायणकालकी प्रतीक्षामें बाणशय्यापर सोये रहे ॥ १२१–१२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मनिपातने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मजीके रथसे गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १२५ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीकी महत्ता तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मको तकिया देना एवं उभय पक्षकी सेनाओंका अपने शिविरमें जाना और श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

कथमासंस्तदा योधा हीना भीष्मेण संजय।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भीष्मजी बलवान् और देवताके समान थे। उन्होंने अपने पिताके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था। उस दिन उनके रथसे गिर जानेके कारण उनके सहयोगसे वञ्चित हुए मेरे पक्षके योद्धाओंकी क्या दशा हुई ? ॥ १ ॥

तदैव निहतान् मन्ये कुरूनन्यांश्च पाण्डवैः।
न प्राहरद् यदा भीष्मो घृणित्वाद् द्रुपदात्मजम्॥ २ ॥

भीष्मजीने अपनी दयालुताके कारण जब द्रुपदकुमार शिखण्डीपर प्रहार करनेसे हाथ खींच लिया, तभी मैंने यह समझ लिया था कि अब पाण्डवोंके हाथसे अन्य कौरव भी अवश्य मारे जायँगे ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं मन्ये किमन्यत् प्रभविष्यति।
अद्याहं पितरं श्रुत्वा निहतं स्म सुदुर्मतिः ॥ ३ ॥

मेरी समझमें इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि आज अपने ताऊ भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनकर भी जीवित हूँ। मेरी बुद्धि बहुत ही खोटी है ॥ ३ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम संजय।
श्रुत्वा विनिहतं भीष्मं शतधा यन्न दीर्यते ॥ ४ ॥

संजय ! निश्चय ही मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है; क्योंकि आज भीष्मजीके मारे जानेका समाचार सुनकर भी यह सैकड़ों टुकड़ोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ४ ॥

यदन्यन्निहतेनाजौ भीष्मेण जयमिच्छता।
चेष्टितं कुरुसिंहेन तन्मे कथय सुव्रत ॥ ५ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले संजय ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कुरुकुलसिंह भीष्म जब युद्धमें मारे गये, उस समय उन्होंने दूसरी कौन-कौन-सी चेष्टाएँ की थीं ? वह सब मुझसे कहो ॥ ५ ॥

पुनःपुनर्न मृष्यामि हतं देवव्रतं रणे।
न हतो जामदग्न्येन दिव्यैरस्त्रैरयं पुरा ॥ ६ ॥
स हतो द्रौपदेयेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।

रणभूमिमें देवव्रत भीष्मका मारा जाना मुझे बारंबार असह्य हो उठता है। जो भीष्म पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामके दिव्यास्त्रोंद्वारा भी नहीं मारे जा सके, वे ही

द्रुपदकुमार पाञ्चालदेशीय शिखण्डीके हाथसे मारे गये; यह कितने दुःखकी बात है ॥ ६½ ॥

संजय उवाच

सायाह्ने निहतो भूमौ धार्तराष्ट्रान् विषादयन् ॥ ७ ॥
पञ्चालानां ददौ हर्षं भीष्मः कुरुपितामहः ।

संजयने कहा—महाराज ! कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्म सायंकालमें जब रणभूमिमें गिरे, उस समय उन्होंने आपके पुत्रोंको बड़े विषादमें डाल दिया और पाञ्चालोंको हर्ष मनानेका अवसर दे दिया ॥ ७½ ॥

स शेते शरतल्पस्थो मेदिनीमस्पृशंस्तदा ॥ ८ ॥
भीष्मे रथात् प्रपतिते प्रच्युते धरणीतले ।
हाहेति तुमुलः शब्दो भूतानां समपद्यत ॥ ९ ॥

वे पृथ्वीका स्पर्श किये बिना ही उस समय बाणशय्यापर सो रहे थे । भीष्मके रथसे गिरकर धरतीपर पड़ जानेपर समस्त प्राणियोंमें भयंकर हाहाकार मच गया ॥ ८-९ ॥

सीमावृक्षे निपतिते कुरूणां समितिंजये ।
सेनयोरुभयो राजन् क्षत्रियान् भयमाविशत् ॥ १० ॥

राजन् ! कुरुकुलके युद्धविजयी वीर भीष्म दोनों दलोंके लिये सीमावर्ती वृक्षके समान थे । उनके गिर जानेसे उभय पक्षकी सेनाओंमें जो क्षत्रिय थे, उनके मनमें भारी भय समा गया ॥ १० ॥

भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा विशीर्णकवचध्वजम् ।
कुरवः पर्यवर्तन्त पाण्डवाश्च विशाम्पते ॥ ११ ॥

प्रजानाथ ! जिनके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मजीको उस अवस्थामें देखकर कौरव और पाण्डव दोनों ही उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥

खं तमःसंवृतमभूदासीद् भानुर्गतप्रभः ।
ररास पृथिवी चैव भीष्मे शान्तनवे हते ॥ १२ ॥

उस समय आकाशमें अन्धकार छा गया । सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी । शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी भयानक शब्द करने लगी ॥ १२ ॥

अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ह्ययं ब्रह्मविदां वरः ।
इत्यभाषन्त भूतानि शयानं पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥

वहाँ सोये हुए पुरुषप्रवर भीष्मको देखकर कुछ दिव्य प्राणी कहने लगे, 'ये ब्रह्मज्ञानियोंके शिरोमणि हैं, ये ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १३ ॥

अयं पितरमाज्ञाय कामार्तं शान्तनुं पुरा ।
ऊर्ध्वरेतसमात्मानं चकार पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥

'इन्हीं पुरुषसिंहने पूर्वकालमें अपने पिता शान्तनुको कामासक्त जानकर अपने आपको ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) बना लिया' ॥ १४ ॥

इति स्म शरतल्पस्थं भरतानां महत्तमम् ।
ऋषयस्त्वभ्यभाषन्त सहिताः सिद्धचारणैः ॥ १५ ॥

इस प्रकार सिद्धों और चारणोंसहित ऋषिगण भरतकुलके महापुरुष भीष्मको बाणशय्यापर स्थित देख पूर्वोक्त बातें कहते थे ॥ १५ ॥

हते शान्तनवे भीष्मे भरतानां पितामहे ।
न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्तव हि मारिष ॥ १६ ॥

आर्य ! भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी नहीं सूझता था ॥१६॥

विषण्णवदनाश्चासन् हतश्रीकाश्च भारत ।
अतिष्ठन् व्रीडिताश्चैव ह्रिया युक्ता ह्यधोमुखाः॥ १७ ॥

भारत ! उनके मुखपर विषाद छा गया था । वे श्रीहीन और लज्जित हो नीचेकी ओर मुँह लटकाये खड़े थे ॥

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा संग्रामशिरसि स्थिताः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् हेमजालपरिष्कृतान् ॥ १८ ॥

पाण्डव विजय पाकर युद्धके मुहानेपर खड़े थे और सब-के-सब सोनेकी जालियोंसे विभूषित बड़े-बड़े शङ्खोंको बजा रहे थे ॥ १८ ॥

हर्षात् तूर्यसहस्रेषु वाद्यमानेषु चानघ ।
अपश्याम महाराज भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥
विक्रीडमानं कौन्तेयं हर्षेण महता युतम् ।
निहत्य तरसा शत्रुं महाबलसमन्वितम् ॥ २० ॥

निष्पाप महाराज ! जब हर्षातिरेकसे सहस्रों बाजे बज रहे थे, उस समय हमने कुन्तीकुमार महाबली भीमसेनको देखा । वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शत्रुको वेगपूर्वक मार देनेके कारण अत्यन्त हर्षके साथ नाच रहे थे १९-२०

सम्मोहश्चापि तुमुलः कुरूणामभवत् ततः ।
कर्णदुर्योधनौ चापि निःश्वसेतां मुहुर्मुहुः ॥ २१ ॥

उस समय कौरवोंपर भयंकर मोह छा गया था । कर्ण और दुर्योधन भी बारंबार लंबी साँसें खींच रहे थे ॥२१॥

तथा निपतिते भीष्मे कौरवाणां पितामहे ।
हाहाभूतमभूत् सर्वं निर्मर्यादमवर्तत ॥ २२ ॥

कौरवपितामह भीष्मके इस प्रकार रथसे गिर जानेपर सर्वत्र हाहाकार मच गया । कहीं कोई मर्यादा नहीं रह गयी ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च पतितं भीष्मं पुत्रो दुःशासनस्तव ।
उत्तमं जवमास्थाय द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥
भ्रात्रा प्रस्थापितो वीरः स्वेनानीकेन दंशितः ।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रः स्वसैन्यं स विषादयन् ॥ २४ ॥

भीष्मजीको रणभूमिमें गिरा देख आपका वीर पुत्र पुरुषसिंह दुःशासन अपने भाईके भेजनेपर अपनी ही सेनासे

घिरा हुआ बड़े वेगसे द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर दौड़ा गया। उस समय वह कौरव-सेनाको विषादमें डाल रहा था ॥ २३-२४ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कुरवः पर्यवारयन्।
दुःशासनं महाराज किमयं वक्ष्यतीति च ॥ २५ ॥

महाराज! दुःशासनको आते देख समस्त कौरवसैनिक उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये कि देखें, यह क्या कहता है ॥ २५ ॥

ततो द्रोणाय निहतं भीष्ममाचष्ट कौरवः।
द्रोणस्तत्राप्रियं श्रुत्वा मुमोह भरतर्षभ ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ! दुःशासनने द्रोणाचार्यसे भीष्मके मारे जानेका समाचार बताया। वह अप्रिय बात सुनते ही द्रोणाचार्य मूर्छित हो गये ॥ २६ ॥

स संज्ञामुपलभ्याशु भारद्वाजः प्रतापवान्।
निवारयामास तदा स्वान्यनीकानि मारिष ॥ २७ ॥

आर्य! सचेत होनेपर प्रतापी द्रोणाचार्यने शीघ्र ही अपनी सेनाओंको युद्धसे रोक दिया ॥ २७ ॥

विनिवृत्तान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवाऽपि स्वसैनिकान्।
दूतैः शीघ्राश्वसंयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

कौरवोंको युद्धसे लौटते देख पाण्डवोंने भी शीघ्रगामी अश्वोंपर चढ़े हुए दूतोंद्वारा सब ओर आदेश भेजकर अपने सैनिकोंका भी युद्ध बंद करा दिया ॥ २८ ॥

निवृत्तेषु च सैन्येषु पारम्पर्येण सर्वशः।
निर्मुक्तकवचाः सर्वे भीष्ममीयुर्नराधिपाः ॥ २९ ॥

बारी-बारीसे सब सेनाओंके युद्धसे निवृत्त हो जानेपर सब राजा कवच खोलकर भीष्मके पास आये ॥ २९ ॥

व्युपरम्य ततो युद्धाद् योधाः शतसहस्रशः।
उपतस्थुर्महात्मानं प्रजापतिमिवामराः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लाखों योद्धा युद्धसे विरत होकर जैसे देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार महात्मा भीष्मके पास आये ॥ ३० ॥

ते तु भीष्मं समासाद्य शयानं भरतर्षभम्।
अभिवाद्यावतिष्ठन्त पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥ ३१ ॥

वे पाण्डव तथा कौरव बाणशय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ भीष्मकी सेवामें पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये ॥

अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव प्रणिपत्याग्रतः स्थितान्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३२ ॥

पाण्डव तथा कौरव जब प्रणाम करके उनके सामने खड़े हुए, तब शान्तनुनन्दन धर्मात्मा भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ३२ ॥

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वो महारथाः।
तुष्यामि दर्शनाच्चाहं युष्माकममरोपमाः ॥ ३३ ॥

'महाभाग नरेशगण! आपलोगोंका स्वागत है। देवोपम महारथियो! आपका स्वागत है। मैं आपलोगोंके दर्शनसे बहुत संतुष्ट हूँ' ॥ ३३ ॥

अभिमन्त्र्याथ तानेवं शिरसा लम्बताब्रवीत्।
शिरो मे लम्बतेऽत्यर्थमुपधानं प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उन सब लोगोंसे स्वागत-भाषण करके अपने लटकते हुए शिरके द्वारा ही वे बोले—'राजाओ! मेरा शिर बहुत लटक रहा है। इसके लिये आपलोग मुझे तकिया दें' ॥ ३४ ॥

ततो नृपाः समाजह्रुस्तनूनि च मृदूनि च।
उपधानानि मुख्यानि नैच्छत् तानि पितामहः ॥ ३५ ॥

तब राजालोग तत्काल बढ़िया, कोमल और महीन वस्त्रके बने हुए बहुत-से तकिये ले आये; परंतु पितामह भीष्मने उन्हें लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३५ ॥

अथाब्रवीन्नरव्याघ्रः प्रहसन्निव तान् नृपान्।
नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीष्मने हँसते हुए-से उन राजाओंसे कहा—'भूमिपालो! ये तकिये वीरशय्याके अनुरूप नहीं हैं' ॥

ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठमभ्यभाषत पाण्डवम्।
धनंजयं दीर्घबाहुं सर्वलोकमहारथम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद वे सम्पूर्ण लोकोंके विख्यात महारथी नरश्रेष्ठ महाबाहु पाण्डुपुत्र धनंजयकी ओर देखकर इस प्रकार बोले— ॥ ३७ ॥

धनंजय महाबाहो शिरो मे तात लम्बते।
दीयतामुपधानं वै यद् युक्तमिह मन्यसे ॥ ३८ ॥

'महाबाहु धनंजय! मेरा शिर लटक रहा है। बेटा! यहाँ इसके अनुरूप जो तकिया तुम्हें ठीक जान पड़े, वह ला दो' ॥

संजय उवाच

समारोप्य महच्चापमभिवाद्य पितामहम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब अर्जुनने पितामह भीष्मको प्रणाम करके अपना विशाल धनुष चढ़ा लिया और आँसूभरे नेत्रोंसे देखकर इस प्रकार कहा— ॥ ३९ ॥

आज्ञापय कुरुश्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वर।
प्रेष्योऽहं तव दुर्धर्ष क्रियतां किं पितामह ॥ ४० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें अग्रगण्य कुरुश्रेष्ठ! दुर्जय वीर पितामह! मैं आपका सेवक हूँ; आज्ञा दीजिये; क्या सेवा करूँ?' ॥ ४० ॥

तमब्रवीच्छान्तनवः शिरो मे तात लम्बते।
उपधानं कुरुश्रेष्ठ फाल्गुनोपदधत्स्व मे ॥ ४१ ॥

तब शान्तनुनन्दनने उनसे कहा—'तात! मेरा शिर

लटक रहा है। कुरुश्रेष्ठ फाल्गुन ! तुम मेरे लिये तकिया लगा दो ॥ ४१ ॥

शयनस्यानुरूपं वै शीघ्रं वीर प्रयच्छ मे।
त्वं हि पार्थ समर्थो वै श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ४२ ॥
क्षत्रधर्मस्य वेत्ता च बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः।

'वीर कुन्तीकुमार ! इस शय्याके अनुरूप शीघ्र मुझे तकिया दो। तुम्हीं उसे देनेमें समर्थ हो; क्योंकि सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें तुम्हारा बहुत ऊँचा स्थान है। तुम क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता तथा बुद्धि और सत्त्व आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥४२½॥

फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा व्यवसायमरोचयत्॥ ४३॥
गृह्यानुमन्त्र्य गाण्डीवं शरान् संनतपर्वणः।
अनुमान्य महात्मानं भरतानां महारथम् ॥ ४४ ॥
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णाच्छिरः शरैः।

अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर इस कार्यके लिये प्रयत्न करना स्वीकार किया और गाण्डीव धनुष ले उसे अभिमन्त्रित करके झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंको धनुषपर रक्खा। तत्पश्चात् भरतकुलके महात्मा महारथी भीष्मकी अनुमति ले उन अत्यन्त वेगशाली तीन तीखे बाणोंद्वारा उनके मस्तकको अनुगृहीत किया (कुछ ऊँचा करके स्थिर कर दिया)॥

अभिप्राये तु विदिते धर्मात्मा सव्यसाचिना ॥ ४५ ॥
अतुष्यद् भरतश्रेष्ठो भीष्मो धर्मार्थतत्त्ववित्।

सव्यसाची अर्जुनने उनके अभिप्रायको समझकर जब ठीक तकिया लगा दिया, तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मात्मा भरतश्रेष्ठ भीष्म बहुत संतुष्ट हुए॥४५½॥

उपधानेन दत्तेन प्रत्यनन्दद् धनंजयम् ॥ ४६ ॥
प्राह सर्वान् समुद्वीक्ष्य भरतान् भारतं प्रति।
कुन्तीपुत्रं युधां श्रेष्ठं सुहृदां प्रीतिवर्धनम् ॥ ४७ ॥

उन्होंने वह तकिया देनेसे अर्जुनकी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया और समस्त भरतवंशियोंकी ओर देखकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ, सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले, भरतकुल-भूषण, कुन्तीपुत्र अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ ४६–४७ ॥

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ॥ ४८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुमने मेरी शय्याके अनुरूप मुझे तकिया प्रदान किया है। यदि इसके विपरीत तुमने और कोई तकिया दिया होता तो मैं कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता ॥ ४८ ॥

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥ ४९ ॥

'महाबाहो ! अपने धर्ममें स्थित रहनेवाले क्षत्रियको युद्धस्थलमें इसी प्रकार बाणशय्यापर शयन करना चाहिये' ॥

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं सर्वांस्तानब्रवीद् वचः।
राज्ञश्च राजपुत्रांश्च पाण्डवानभिसंस्थितान्॥ ५० ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर भीष्मने पाण्डवोंके पास खड़े हुए उन समस्त राजाओं और राजपुत्रोंसे कहा—॥ ५० ॥

पश्यध्वमुपधानं मे पाण्डवेनाभिसंधितम्।
शिश्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्तनं रवेः ॥ ५१ ॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुनने मेरे शिरमें यह तकिया लगाया है, उसे आपलोग देखें। मैं इस शय्यापर तबतक शयन करूँगा, जबतक कि सूर्य उत्तरायणमें नहीं लौट आते हैं ॥

ये तदा मां गमिष्यन्ति ते च प्रेक्ष्यन्ति मां नृपाः।
दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदाऽऽगन्ता दिवाकरः॥ ५२ ॥
नूनं सप्ताश्वयुक्तेन रथेनोत्तमतेजसा।
विमोक्ष्येऽहं तदा प्राणान् सुहृदः सुप्रियानिव ॥ ५३ ॥

'सात घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम तेजस्वी रथके द्वारा जब सूर्य कुबेरकी निवासभूत उत्तर दिशाके पथपर आ जायँगे, उस समय जो राजा मेरे पास आयेंगे, वे मेरी ऊर्ध्व गतिको देख सकेंगे। निश्चय ही उसी समय मैं अत्यन्त प्रियतम सुहृदोंकी भाँति अपने प्यारे प्राणोंका त्याग करूँगा॥५२-५३॥

परिखा खन्यतामत्र ममावसदने नृपाः।
उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शरशताचितः ॥ ५४ ॥

'राजाओ ! मेरे इस स्थानके चारों ओर खाई खोद दो। मैं यहीं इसी प्रकार सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त शरीरके द्वारा भगवान् सूर्यकी उपासना करूँगा ॥ ५४ ॥

उपारमध्वं संग्रामाद् वैरमुत्सृज्य पार्थिवाः।

'भूपालगण ! अब आपलोग आपसका वैरभाव छोड़कर युद्धसे विरत हो जायँ' ॥ ५४½ ॥

संजय उवाच

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः ॥५५॥
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः।

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शरीरसे बाणको निकाल फेंकनेकी कलामें कुशल वैद्य भीष्मजीकी सेवामें उपस्थित हुए। वे समस्त आवश्यक उपकरणोंसे युक्त और कुशल पुरुषोंद्वारा भलीभाँति शिक्षा पाये हुए थे ॥ ५५½ ॥

तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव ॥५६॥
धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः।
एवंगते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम् ॥५७॥

उन्हें देखकर गङ्गानन्दन भीष्मने आपके पुत्र दुर्योधनसे कहा—'वत्स ! इन चिकित्सकोंको धन देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दो। मुझे यहाँ इस अवस्थामें अब इन वैद्योंसे क्या काम है?

क्षत्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम्।
नैष धर्मो महीपालाः शरतल्पगतस्य मे ॥५८॥
एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः।

'क्षत्रिय-धर्ममें जिसकी प्रशंसा की गयी है, उस उत्तम गतिको मैं प्राप्त हुआ हूँ। भूपालो ! मैं बाणशय्यापर सोया

हुआ हूँ। अब मेरा यह धर्म नहीं है कि इन बाणोंको निकालकर चिकित्सा कराऊँ। नरेश्वरो! मेरे इस शरीरको इन बाणोंके साथ ही दग्ध कर देना चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥५९॥
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः।

भीष्मकी यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधनने यथायोग्य सम्मान करके वैद्योंको विदा किया ॥ ५९½ ॥

ततस्ते विस्मयं जग्मुर्नानाजनपदेश्वराः ॥६०॥
स्थितिं धर्मे परां दृष्ट्वा भीष्मस्यामिततेजसः।

तदनन्तर विभिन्न जनपदोंके स्वामी नरेशगण अमिततेजस्वी भीष्मकी यह धर्मविषयक उत्तम निष्ठा देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ६०½ ॥

उपधानं ततो दत्त्वा पितुस्ते मनुजेश्वराः ॥६१॥
सहिताः पाण्डवाः सर्वे कुरवश्च महारथाः।
उपगम्य महात्मानं शयानं शयने शुभे ॥६२॥
तेऽभिवाद्य ततो भीष्मं कृत्वा च त्रिः प्रदक्षिणम्।
विधाय रक्षां भीष्मस्य सर्व एव समन्ततः ॥६३॥
वीराः स्वशिबिराण्येव ध्यायन्तः परमातुराः।
निवेशायाभ्युपागच्छन् सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥६४॥

राजन्! आपके पितृतुल्य भीष्मको उपर्युक्त तकिया देकर उन नरेश, पाण्डव तथा महारथी कौरव सभीने एक साथ सुन्दर बाणशय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की और सब ओरसे भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था करके सभी वीर अपने शिबिरको ही चल दिये। वे अत्यन्त आतुर होकर भीष्मका ही चिन्तन कर रहे थे। सायंकालमें खूनसे लथपथ हुए वे सब लोग अपने निवासस्थानपर गये ॥ ६१—६४ ॥

निविष्टान् पाण्डवांश्चैव प्रीयमाणान् महारथान्।
भीष्मस्य पतने हृष्टानुपगम्य महाबलः ॥६५॥
उवाच माधवः काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दिष्ट्या जयसि कौरव्य दिष्ट्या भीष्मो निपातितः।६६।

पाण्डव महारथी भीष्मके गिर जानेसे बहुत प्रसन्न थे और हर्षमें भरकर विश्राम कर रहे थे। उस समय महाबली भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उनके पास पहुँचकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'कुरुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीत रहे हो। यह भी भाग्यकी ही बात है कि भीष्म रथसे गिरा दिये गये ॥ ६५-६६ ॥

अवध्यो मानुषैरेव सत्यसंधो महारथः।
अथवा दैवतैः सार्धं सर्वशास्त्रस्य पारगः ॥६७॥
त्वां तु चक्षुर्हणं प्राप्य दग्धो घोरेण चक्षुषा।

'ये सत्यप्रतिज्ञ महारथी भीष्म सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् थे। इन्हें मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता मिलकर भी मार नहीं सकते थे। आप दृष्टिपातमात्रसे ही दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं। आपके पास पहुँचकर भीष्म आपकी घोर दृष्टिसे ही नष्ट हो गये हैं' ॥ ६७½ ॥

एवमुक्तो धर्मराजः प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥६८॥
तव प्रसादाद् विजयः क्रोधात् तव पराजयः।
त्वं हि नः शरणं कृष्ण भक्तानामभयंकरः ॥६९॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! आप हमारे आश्रय हैं तथा आप ही भक्तोंको अभय दान करनेवाले हैं। आपके ही कृपा-प्रसादसे विजय होती है और आपके ही रोषसे पराजय प्राप्त होती है ॥ ६८-६९ ॥

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां त्वमसि केशव।
रक्षिता समरे नित्यं नित्यं चापि हिते रतः ॥७०॥
सर्वथा त्वां समासाद्य नाश्चर्यमिति मे मतिः।

'केशव! आप समरभूमिमें सदा जिनकी रक्षा करते हैं और नित्यप्रति जिनके हितमें तत्पर रहते हैं, उनकी विजय हो तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी शरण लेनेपर सर्वथा विजयकी प्राप्ति कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, ऐसा मेरा निश्चय है' ॥ ७०½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच स्मयमानो जनार्दनः।
तवैवैतद् युक्तरूपं वचनं पार्थिवोत्तम ॥७१॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ! आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है' ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपधानदाने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मको तकिया देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२०

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका दिव्य जल प्रकट करके भीष्मजीकी प्यास बुझाना तथा भीष्मजीका अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

व्युष्टायां तु महाराज शर्वर्यां सर्वपार्थिवाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च उपातिष्ठन् पितामहम् ॥ १ ॥
तं वीरशयने वीरं शयानं कुरुसत्तम।
अभिवाद्योपतस्थुर्वै क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब रात बीती और

सबेरा हुआ, उस समय सब राजा, पाण्डव तथा आपके पुत्र पुनः वीर-शय्यापर सोये हुए वीर पितामह भीष्मकी सेवामें उपस्थित हुए। कुरुश्रेष्ठ ! वे सब क्षत्रिय क्षत्रिय-शिरोमणि भीष्मजीको प्रणाम करके उनके समीप खड़े हो गये॥

कन्याश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैर्माल्यैश्च सर्वशः।
अवाकिरञ्छान्तनवं तत्र गत्वा सहस्रशः॥ ३॥

सहस्रों कन्याएँ वहाँ जाकर चन्दन-चूर्ण, लाजा (खील) और माला-फूल आदि सब प्रकारकी शुभ सामग्री शान्तनु-नन्दन भीष्मके ऊपर बिखेरने लगीं॥ ३॥

स्त्रियो वृद्धास्तथा बालाः प्रेक्षकाश्च पृथग्जनाः।
समभ्ययुः शान्तनवं भूतानीव तमोनुदम्॥ ४॥

स्त्रियाँ, बूढ़े, बालक तथा अन्य साधारण जन शान्तनु-कुमार भीष्मजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये, मानो समस्त प्रजा अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यकी उपासनाके लिये उपस्थित हुई हो॥ ४॥

तूर्याणि शतसंख्यानि तथैव नटनर्तकाः।
शिल्पिनश्च तथाऽऽजग्मुः कुरुवृद्धं पितामहम्॥ ५॥

सैकड़ों बाजे और बजानेवाले, नट, नर्तक और बहुत-से शिल्पी कुरुवंशके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मके पास आये॥

उपारम्य च युद्धेभ्यः संनाहान् विप्रमुच्य ते।
आयुधानि च निक्षिप्य सहिताः कुरुपाण्डवाः॥ ६॥
अन्वासन्त दुराधर्षं देवव्रतमरिंदमम्।
अन्योन्यं प्रीतिमन्तस्ते यथापूर्वं यथावयः॥ ७॥

कौरव तथा पाण्डव युद्धसे निवृत्त हो कवच खोलकर अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर पहलेकी भाँति परस्पर प्रेमभाव रखते हुए अवस्थाकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार यथोचित क्रमसे शत्रुदमन दुर्जय वीर देवव्रत भीष्मके समीप एक साथ बैठ गये॥ ६-७॥

सा पार्थिवशताकीर्णा समितिर्भीष्मशोभिता।
शुशुभे भारती दीप्ता दिवीवादित्यमण्डलम्॥ ८॥

सैकड़ों राजाओंसे भरी और भीष्मसे सुशोभित हुई वह भरतवंशियोंकी दीप्तिशालिनी सभा आकाशमें सूर्यमण्डलकी भाँति उस रणभूमिमें शोभा पाने लगी॥ ८॥

विबभौ च नृपाणां सा गङ्गासुतमुपासताम्।
देवानामिव देवेशं पितामहमुपासताम्॥ ९॥

गङ्गानन्दन भीष्मके पास बैठी हुई राजाओंकी वह मण्डली देवेश्वर ब्रह्माजीकी उपासना करनेवाले देवताओंके समान सुशोभित हो रही थी॥ ९॥

भीष्मस्तु वेदनां धैर्यान्निगृह्य भरतर्षभ।
अभितप्तः शरैश्चैव निःश्वसन्नुरगो यथा॥१०॥
शराभितप्तकायोऽपि शस्त्रसम्पातमूर्छितः।
पानीयमिति सम्प्रेक्ष्य राज्ञस्तान् प्रत्यभाषत॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मजी बाणोंसे संतप्त होकर सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे। वे अपनी वेदनाको धैर्यपूर्वक सह रहे थे। बाणोंकी जलनसे उनका सारा शरीर जल रहा था। वे शस्त्रोंके आघातसे मूर्छित-से हो रहे थे। उस समय उन्होंने राजाओंकी ओर देखकर केवल इतना ही कहा 'पानी'॥१०-११॥

ततस्ते क्षत्रिया राजन्नुपाजह्रुः समन्ततः।
भक्ष्यानुच्चावचान् राजन् वारिकुम्भांश्च शीतलान्॥१२॥

राजन् ! तब वे क्षत्रियनरेश चारों ओरसे भोजनकी उत्तमोत्तम सामग्री और शीतल जलसे भरे हुए घड़े ले आये॥ १२॥

उपानीतं तु पानीयं दृष्ट्वा शान्तनवोऽब्रवीत्।
नाद्यातीता मया शक्या भोगाः केचन मानुषाः॥१३॥
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः शरशय्यां गतो ह्यहम्।
प्रतीक्षमाणस्तिष्ठामि निवृत्तिं शशिसूर्ययोः॥१४॥

उनके द्वारा लाये हुए उस जलको देखकर शान्तनु-नन्दन भीष्मने कहा—'अब मैं मनुष्यलोकके कोई भी भोग अपने उपयोगमें नहीं ला सकता, मैं उन्हें छोड़ चुका हूँ। यद्यपि यहाँ बाणशय्यापर सो रहा हूँ, तथापि मनुष्यलोकसे ऊपर उठ चुका हूँ। केवल सूर्य-चन्द्रमाके उत्तरपथपर आनेकी प्रतीक्षामें यहाँ रुका हुआ हूँ'॥ १३-१४॥

एवमुक्त्वा शान्तनवो निन्दन् वाक्येन पार्थिवान्।
अर्जुनं द्रष्टुमिच्छामीत्यभ्यभाषत भारत॥१५॥

भारत ! ऐसा कहकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी वाणीद्वारा अन्य राजाओंकी निन्दा करते हुए कहा—'अब मैं अर्जुनको देखना चाहता हूँ'॥ १५॥

अथोपेत्य महाबाहुरभिवाद्य पितामहम्।
अतिष्ठत् प्राञ्जलिः प्रह्वः किं करोमीति चाब्रवीत्॥१६॥

तब महाबाहु अर्जुन पितामह भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े हो गये और विनयपूर्वक बोले—'मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं कौन-सी सेवा करूँ ?'॥ १६॥

तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन्नभिवाद्याग्रतः स्थितम्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः प्रीतो धनंजयम्॥१७॥

राजन् ! प्रणाम करके आगे खड़े हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको देखकर धर्मात्मा भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ १७॥

दह्यतीव शरीरं मे संवृतस्य तवेषुभिः।
मर्माणि परिदूयन्ते मुखं च परिशुष्यति॥१८॥

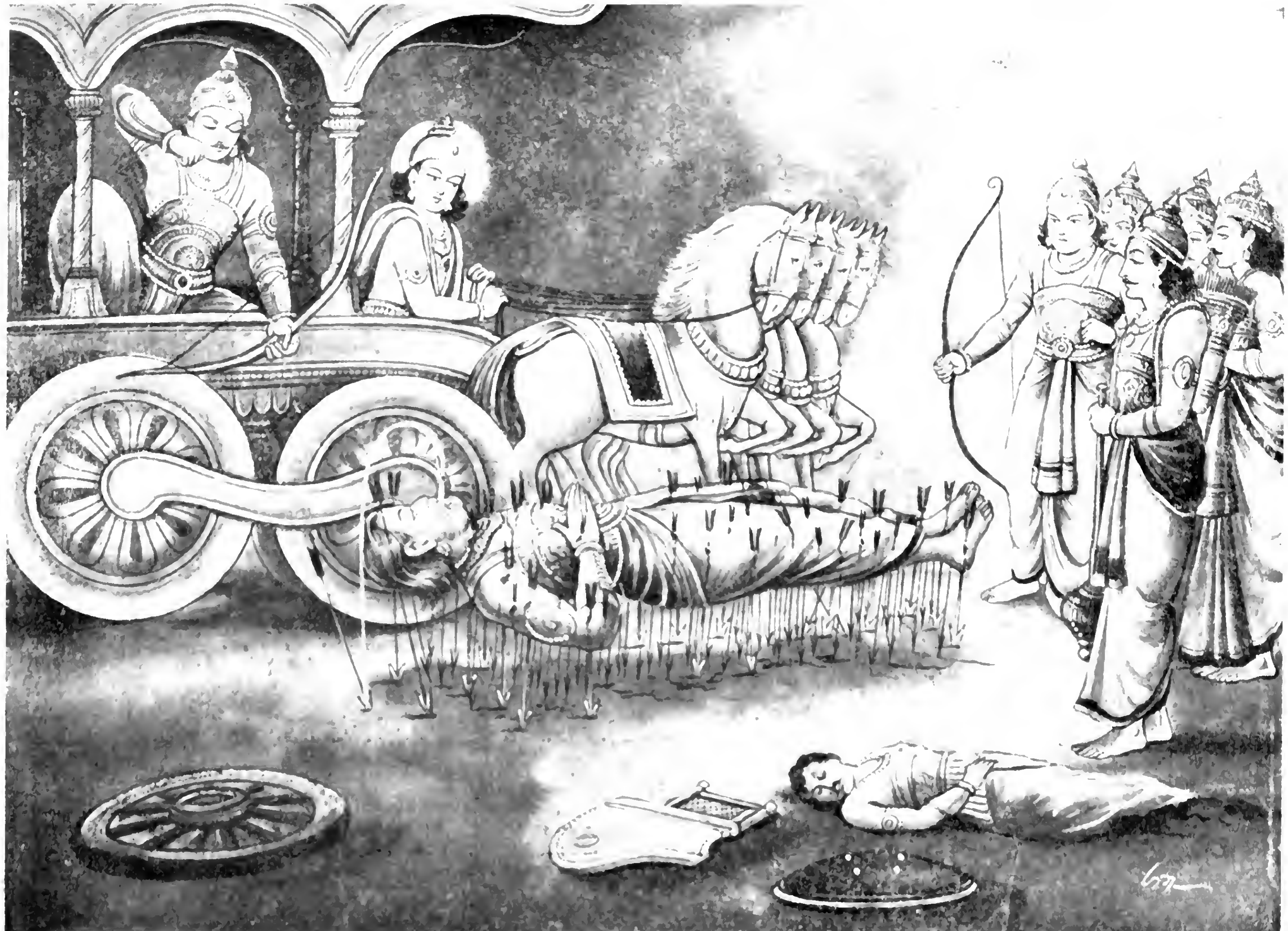

अर्जुनका बाणद्वारा पृथ्वीसे जल प्रकट करके भीष्मजीको पिलाना

'अर्जुन ! तुम्हारे बाणोंसे मेरे सम्पूर्ण अङ्ग बिंधे हुए हैं; अतः मेरा यह शरीर दग्ध-सा हो रहा है। सारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। मुँह सूखता जा रहा है ॥ १८ ॥

वेदनार्तशरीरस्य प्रयच्छापो ममार्जुन।
त्वं हि शक्तो महेष्वास दातुमापो यथाविधि ॥१९॥

'महाधनुर्धर अर्जुन ! वेदनासे पीड़ित शरीरवाले मुझ वृद्धको तुम पानी लाकर दो। तुम्हीं विधिपूर्वक मेरे लिये दिव्य जल प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १९ ॥

अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारुह्य वीर्यवान्।
अधिज्यं बलवत् कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः॥२०॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर पराक्रमी अर्जुन रथपर आरूढ़ हो गये और गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसे खींचने लगे ॥ २० ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
वित्रेसुः सर्वभूतानि सर्वे श्रुत्वा च पार्थिवाः ॥२१॥

उनके धनुषकी टंकारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर सभी प्राणी और समस्त भूपाल डर गये ॥ २१ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा रथेन रथिनां वरः।
शयानं भरतश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥२२॥
संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः।
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः ॥२३॥
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र अर्जुनने शरशय्यापर सोये हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम भरतशिरोमणि भीष्मकी रथद्वारा ही परिक्रमा करके अपने धनुषपर एक तेजस्वी बाणका संधान किया और सब लोगोंके देखते-देखते मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस बाणको पर्जन्यास्त्रसे संयुक्त करके भीष्मके दाहिने पार्श्वमें पृथ्वीपर उसे चलाया ॥ २२–२३½ ॥

उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा ॥२४॥
शीतस्यामृतकल्पस्य दिव्यगन्धरसस्य च।
अतर्पयत् ततः पार्थः शीतया जलधारया ॥२५॥
भीष्मं कुरूणामृषभं दिव्यकर्मपराक्रमम्।

फिर तो शीतल, अमृतके समान मधुर तथा दिव्य सुगन्ध एवं दिव्यरससे संयुक्त जलकी सुन्दर स्वच्छ धारा ऊपरकी ओर उठ (कर भीष्मके मुखमें पड़) ने लगी। उस शीतल जलधारासे अर्जुनने दिव्यकर्म एवं पराक्रमवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्मको तृप्त कर दिया ॥ २४–२५½ ॥

कर्मणा तेन पार्थस्य शक्रस्येव विकुर्वतः ॥२६॥
विस्मयं परमं जग्मुस्ततस्ते वसुधाधिपाः।

इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके उस अद्भुत कर्मसे वहाँ बैठे हुए समस्त भूपाल बड़े विस्मयको प्राप्त हुए ॥ २६½ ॥

तत् कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोरतिमानुषविक्रमम् ॥२७॥
सम्प्रावेपन्त कुरवो गावः शीतार्दिता इव।

अर्जुनका वह अलौकिक कर्म देखकर समस्त कौरव सर्दीकी सतायी हुई गौओंके समान थर-थर काँपने लगे ॥ २७½ ॥

विस्मयाच्चोत्तरीयाणि व्याविध्यन् सर्वतो नृपाः ॥२८॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषस्तुमुलः सर्वतोऽभवत्।

वहाँ बैठे हुए नरेशगण आश्चर्यसे चकित हो सब ओर अपने दुपट्टे हिलाने लगे। चारों ओर शङ्ख और नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि गूँज उठी ॥ २८½ ॥

तृप्तः शान्तनवश्चापि राजन् बीभत्सुमब्रवीत् ॥२९॥
सर्वपार्थिववीराणां संनिधौ पूजयन्निव।

राजन् ! उस जलसे तृप्त होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनसे समस्त वीरनरेशोंके समीप उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २९½ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ॥३०॥
कथितो नारदेनासि पूर्वर्षिरमितद्युते।
वासुदेवसहायस्त्वं महत् कर्म करिष्यसि ॥३१॥
यन्नोत्सहति देवेन्द्रः सह देवैरपि ध्रुवम्।

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुममें ऐसे पराक्रमका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। अमिततेजस्वी वीर ! मुझे नारदजीने पहले ही बता दिया था कि तुम पुरातन महर्षि नर हो और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे इस भूतलपर ऐसे-ऐसे महान् कर्म करोगे, जिन्हें निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओंके साथ देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते। ३०-३१½।

विदुस्त्वां निधनं पार्थ सर्वक्षत्रस्य तद्विदः ॥३२॥
धनुर्धराणामेकस्त्वं पृथिव्यां प्रवरो नृषु ॥३३॥

'पार्थ ! जानकार लोग तुम्हें सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी मृत्युरूप जानते हैं। तुम भूतलपर मनुष्योंमें श्रेष्ठ और धनुर्धरोंमें प्रधान हो ॥ ३२-३३ ॥

मनुष्या जगति श्रेष्ठाः पक्षिणां पतगेश्वरः।
सरितां सागरः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥३४॥

'जंगम प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं, पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ श्रेष्ठ माने जाते हैं, सरिताओंमें समुद्र श्रेष्ठ है और चौपायोंमें गौ उत्तम मानी गयी है ॥ ३४ ॥

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः।
जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम् ॥३५॥

'तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, पर्वतोंमें हिमालय महान्

है, जातियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है और तुम सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हो ॥ ३५ ॥

न वै श्रुतं धार्तराष्ट्रेण वाक्यं
मयोच्यमानं विदुरेण चैव ।
द्रोणेन रामेण जनार्दनेन
मुहुर्मुहुः संजयेनापि चोक्तम् ॥ ३६ ॥

'मैंने, विदुरने, द्रोणाचार्यने, परशुरामजीने, भगवान् श्रीकृष्णने तथा संजयने भी बारंबार युद्ध न करनेकी सलाह दी है; परंतु दुर्योधनने हमलोगोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ ३६ ॥

परीतबुद्धिर्हि विसंज्ञकल्पो
दुर्योधनो न च तच्छ्रद्दधाति ।
स शेष्यते वै निहतश्चिराय
शास्त्रातिगो भीमबलाभिभूतः ॥ ३७ ॥

'दुर्योधनकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, वह अचेत-सा हो रहा है; इसलिये हमलोगोंकी बातपर विश्वास नहीं करता है। वह शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहा है। इसलिये भीमसेनके बलसे पराजित हो मारा जाकर रणभूमिमें दीर्घकाल-के लिये सो जायगा' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तद्वचः कौरवेन्द्रो
दुर्योधनो दीनमना बभूव ।
तमब्रवीच्छान्तनवोऽभिवीक्ष्य
निबोध राजन् भव वीतमन्युः ॥ ३८ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर कौरवराज दुर्योधन मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने उसकी ओर देखकर कहा—'राजन्! मेरी बातपर ध्यान दो और क्रोधशून्य हो जाओ ॥ ३८ ॥

दृष्टं दुर्योधनैतत् ते यथा पार्थेन धीमता ।
जलस्य धारा जनिता शीतस्यामृतगन्धिनः ॥३९॥

'दुर्योधन ! बुद्धिमान् अर्जुनने जिस प्रकार शीतल, अमृतके समान मधुर गन्धयुक्त जलकी धारा प्रकट की है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है ॥ ३९ ॥

एतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् नान्यः कश्चन विद्यते ।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ॥ ४० ॥
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा ॥ ४१ ॥
सर्वस्मिन् मानुषे लोके वेत्त्येको हि धनंजयः ।
कृष्णो वा देवकीपुत्रो नान्यो वेदेह कश्चन ॥ ४२ ॥

'इस संसारमें ऐसा पराक्रम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंको इस समस्त मानव-जगत्में एकमात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं। दूसरा कोई यहाँ इन अस्त्रोंको नहीं जानता है॥४०-४२॥

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथंचन ।
अमानुषाणि कर्माणि यस्यैतानि महात्मनः ॥ ४३ ॥
तेन सत्त्ववता संख्ये शूरेणाहवशोभिना ।
कृतिना समरे राजन् संधिर्भवतु मा चिरम् ॥ ४४ ॥

'तात ! पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धमें किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है। जिन महामनस्वी पुरुषके ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं; जो धैर्यवान्, युद्धमें शूरता दिखानेवाले तथा संग्राममें सुशोभित होनेवाले हैं, राजन्! उन अस्त्र-विधाके विद्वान् अर्जुनके साथ इस समरभूमिमें तुम्हारी शीघ्र संधि हो जानी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो।४३-४४।

यावत् कृष्णो महाबाहुः स्वाधीनः कुरुसत्तम ।
तावत् पार्थेन शूरेण संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४५ ॥

'तात ! कुरुश्रेष्ठ ! जबतक महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोगोंके प्रेमके अधीन हैं, तभीतक शूरवीर अर्जुनके साथ तुम्हारी संधि हो जाय तो ठीक है ॥ ४५ ॥

यावन्न ते चमूः सर्वाः शरैः संनतपर्वभिः ।
नाशयत्यर्जुनस्तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४६ ॥

'तात ! जबतक अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा तुम्हारी सारी सेनाका विनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक उनके साथ तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये ॥ ४६ ॥

यावत् तिष्ठन्ति समरे हतशेषाः सहोदराः ।
नृपाश्च बहवो राजंस्तावत् संधिः प्रयुज्यताम् ॥ ४७ ॥

'राजन् ! इस समरभूमिमें मरनेसे बचे हुए तुम्हारे सहोदर भाई जबतक मौजूद हैं और जबतक बहुत-से नरेश भी जीवन धारण कर रहे हैं, तभीतक तुम अर्जुनके साथ संधि कर लो ॥ ४७ ॥

न निर्दहति ते यावत् क्रोधदीप्तेक्षणश्चमूम् ।
युधिष्ठिरो रणे तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ॥ ४८ ॥

'तात ! जबतक युधिष्ठिर रणभूमिमें क्रोधसे प्रज्वलितनेत्र होकर तुम्हारी सारी सेनाको भस्म नहीं कर डालते हैं, तभी-तक उनके साथ तुम्हें संधि कर लेनी चाहिये ॥ ४८ ॥

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
यावच्चमूं महाराज नाशयन्ति न सर्वशः ॥ ४९ ॥
तावत् ते पाण्डवैर्वीरैः सौहार्दं मम रोचते ।
युद्धं मदन्तमेवास्तु तात संशाम्य पाण्डवैः ॥ ५० ॥

'महाराज ! नकुल-सहदेव तथा पाण्डुपुत्र भीमसेन—ये सब मिलकर जबतक तुम्हारी सेनाका सर्वनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक पाण्डववीरोंके साथ तुम्हारा सौहार्द स्थापित हो जाय, यही मुझे अच्छा लगता है। तात ! मेरे साथ ही इस युद्धका

भी अन्त हो जाय। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो।४९-५०।

एतत् तु रोचतां वाक्यं यदुक्तोऽसि मयानघ।
एतत् क्षेममहं मन्ये तव चैव कुलस्य च ॥ ५१ ॥

'अनघ ! मैंने जो बातें तुमसे कही हैं, वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत हों। मैं संधिको ही तुम्हारे तथा कौरवकुलके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ॥ ५१ ॥

त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व पार्थैः
पर्याप्तमेतद् यत् कृतं फाल्गुनेन।
भीष्मस्यान्तादस्तु वः सौहृदं च
जीवन्तु शेषाः साधु राजन् प्रसीद ॥ ५२ ॥

'राजन् ! तुम क्रोध छोड़कर कुन्तीकुमारोंके साथ संधि स्थापित कर लो। अर्जुनने आजतक जो कुछ किया है, उतना ही बहुत है। मुझ भीष्मके जीवनका अन्त होनेसे (तुम्हारे वैरका भी अन्त हो जाय) तुमलोगोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो और जो लोग मरनेसे बचे हैं, वे अच्छी तरह जीवित रहें। इसके लिये तुम प्रसन्न हो जाओ ॥ ५२ ॥

राज्यस्यार्धं दीयतां पाण्डवाना-
मिन्द्रप्रस्थं धर्मराजोऽभियातु।
मा मित्रध्रुक् पार्थिवानां जघन्यः
पापां कीर्तिं प्राप्स्यसे कौरवेन्द्र ॥ ५३ ॥

'तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। कौरवराज! ऐसा करनेसे तुम राजाओंमें मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओगे तथा तुम्हें पापपूर्ण अपयश नहीं प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

ममावसानाच्छान्तिरस्तु प्रजानां
संगच्छन्तां पार्थिवाः प्रीतिमन्तः।
पिता पुत्रं मातुलं भागिनेयो
भ्राता चैव भ्रातरं प्रैतु राजन् ॥ ५४ ॥

'राजन् ! मेरे जीवनका अन्त होनेसे प्रजाओंमें शान्ति हो जाय। सब राजा प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरेसे मिलें। पिता पुत्रसे, भानजा मामासे और भाई भाईसे मिले ॥ ५४ ॥

न चेदेवं प्राप्तकालं वचो मे
मोहाविष्टः प्रतिपत्स्यस्यबुद्ध्या।
तप्स्यस्यन्ते एतदन्ताः स्थ सर्वे
सत्यामेतां भारतीमीरयामि ॥ ५५ ॥

'दुर्योधन ! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खताके कारण मेरे इस समयोचित वचनको नहीं मानोगे तो अन्तमें पछताओगे और इस युद्धमें ही तुम सब लोगोंका अन्त हो जायगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ ५५ ॥

एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो
मध्ये राज्ञां भारतं श्रावयित्वा।
तूष्णीमासीच्छल्यसंतप्तमर्मा
योज्यात्मानं वेदनां संनियम्य ॥ ५६ ॥

गङ्गानन्दन भीष्म समस्त राजाओंके बीच सौहार्दवश दुर्योधनको यह बात सुनाकर मौन हो गये। बाणोंसे उनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। उन्होंने उस व्यथाको किसी प्रकार काबूमें करके अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगा दिया ॥ ५६ ॥

संजय उवाच

धर्मार्थसहितं वाक्यं श्रुत्वा हितमनामयम्।
नारोचयत पुत्रस्ते मुमूर्षुरिव भेषजम् ॥ ५७ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई दवा अच्छी नहीं लगती है, उसी प्रकार महात्मा भीष्मका वह धर्म और अर्थसे युक्त परम हितकर और निर्दोष वचन भी आपके पुत्रको पसंद नहीं आया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि दुर्योधनं प्रति भीष्मवाक्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दुर्योधनके प्रति भीष्मका कथनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और कर्णका रहस्यमय संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे जग्मुः स्वानालयान् पुनः।
तूष्णीम्भूते महाराज भीष्मे शान्तनुनन्दने ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! शान्तनुनन्दन भीष्मके चुप हो जानेपर सब राजा वहाँसे उठकर अपने-अपने विश्राम-स्थानको चले गये ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं राधेयः पुरुषर्षभः।
ईषदागतसंत्रासस्त्वरयोपजगाम ह ॥ २ ॥

भीष्मजीको रथसे गिराया गया सुनकर पुरुषप्रवर राधानन्दन कर्णके मनमें कुछ भय समा गया। वह बड़ी उतावलीके साथ उनके पास आया ॥ २ ॥

स ददर्श महात्मानं शरतल्पगतं तदा।

जन्मशय्यागतं वीरं कार्तिकेयमिव प्रभुम् ॥ ३ ॥

उस समय उसने देखा, महात्मा भीष्म शरशय्यापर सो रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे वीरवर भगवान् कार्तिकेय जन्मकालमें शरशय्या (सरकण्डोंके बिछावन) पर सोये थे ॥३॥

निमीलिताक्षं तं वीरं साश्रुकण्ठस्तदा वृषः ।
भीष्म भीष्म महाबाहो इत्युवाच महाद्युतिः ॥ ४ ॥
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र इति चैनमुवाच ह ॥ ५ ॥

वीर भीष्मके नेत्र बंद थे। उन्हें देखकर महातेजस्वी कर्णकी आँखोंमें आँसू छलक आये और अश्रुगद्गदकण्ठ होकर उसने कहा—'भीष्म ! भीष्म ! महाबाहो ! कुरुश्रेष्ठ ! मैं वही राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा आपकी आँखोंमें गड़ा रहता था और जिसे आप सर्वत्र द्वेषदृष्टिसे देखते थे।' कर्णने यह बात उनसे कही ॥ ४-५ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुवृद्धो हि बली संवृतलोचनः ।
शनैरुद्वीक्ष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
रहितं धिष्ण्यमालोक्य समुत्सार्य च रक्षिणः ।
पितेव पुत्रं गाङ्गेयः परिरभ्यैकपाणिना ॥ ७ ॥

उसकी बात सुनकर बंद नेत्रोंवाले बलवान् कुरुवृद्ध भीष्मने धीरेसे आँखें खोलकर देखा और उस स्थानको एकान्त देख पहरेदारोंको दूर हटाकर एक हाथसे कर्णका उसी प्रकार सस्नेह आलिङ्गन किया, जैसे पिता अपने पुत्रको गलेसे लगाता है। तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा—॥६-७॥

एह्येहि मे विप्रतीप स्पर्धसे त्वं मया सह ।
यदि मां नाधिगच्छेथा न ते श्रेयो ध्रुवं भवेत् ॥ ८ ॥

'आओ, आओ, कर्ण ! तुम सदा मुझसे लाग-डाँट रखते रहे। सदा मेरे साथ स्पर्धा करते रहे। आज यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण नहीं होता ॥८॥

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
सूर्यजस्त्वं महाबाहो विदितो नारदान्मया ॥ ९ ॥

'वत्स ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं। महाबाहो ! तुम सूर्यके पुत्र हो। मैंने नारदजीसे तुम्हारा परिचय प्राप्त किया था ॥ ९ ॥

कृष्णद्वैपायनाच्चैव तच्च सत्यं न संशयः ।
न च द्वेषोऽस्ति मे तात त्वयि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे भी तुम्हारे जन्मका वृत्तान्त ज्ञात हुआ था और जो कुछ ज्ञात हुआ, वह सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें द्वेष नहीं है; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

तेजोवधनिमित्तं तु परुषं त्वाहमब्रुवम् ।
अकस्मात् पाण्डवान् सर्वानवाक्षिपसि सुव्रत ॥ ११ ॥
येनासि बहुशो राज्ञा चोदितः सूतनन्दन ।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वीर ! मैं कभी-कभी तुमसे जो कठोर वचन बोल दिया करता था, उसका उद्देश्य था, तुम्हारे उत्साह और तेजको नष्ट करना; क्योंकि सूतनन्दन ! तुम राजा दुर्योधनके उकसानेसे अकारण ही समस्त पाण्डवोंपर बहुत बार आक्षेप किया करते थे ॥ ११½ ॥

जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ॥ १२ ॥
नीचाश्रयान्मत्सरेण द्वेषिणी गुणिनामपि ।
तेनासि बहुशो रूक्षं श्रावितः कुरुसंसदि ॥ १३ ॥

'तुम्हारा जन्म (कन्यावस्थामें ही कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण) धर्मलोपसे हुआ है; इसीलिये नीच पुरुषोंके आश्रयसे तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणवान् पाण्डवोंसे भी द्वेष रखनेवाली हो गयी है और इसीके कारण कौरव-सभामें मैंने तुम्हें अनेक बार कटुवचन सुनाये हैं ॥१२-१३॥

जानामि समरे वीर्यं शत्रुभिर्दुःसहं भुवि ।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम् ॥ १४ ॥

'मैं जानता हूँ, तुम्हारा पराक्रम समरभूमिमें शत्रुओंके लिये दुःसह है। तुम ब्राह्मण-भक्त, शूरवीर तथा दानमें उत्तम निष्ठा रखनेवाले हो ॥ १४ ॥

न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम ।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ॥ १५ ॥

'देवोपम वीर ! मनुष्योंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। मैं सदा अपने कुलमें फूट पड़नेके डरसे तुम्हें कटुवचन सुनाता रहा ॥ १५ ॥

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा ।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ॥ १६ ॥

'बाण चलाने, दिव्यास्त्रोंका संधान करने, फुर्ती दिखाने तथा अस्त्र-बलमें तुम अर्जुन तथा महात्मा श्रीकृष्णके समान हो ॥ १६ ॥

कर्ण काशिपुरं गत्वा त्वयैकेन धनुष्मता ।
कन्यार्थे कुरुराजस्य राजानो मृदिता युधि ॥ १७ ॥

'कर्ण ! तुमने कुरुराज दुर्योधनके लिये कन्या लानेके निमित्त अकेले काशीपुरमें जाकर केवल धनुषकी सहायतासे वहाँ आये हुए समस्त राजाओंको युद्धमें परास्त कर दिया था ॥

तथा च बलवान् राजा जरासंधो दुरासदः ।
समरे समरश्लाघिन् न त्वया सदृशोऽभवत् ॥ १८ ॥

'युद्धकी श्लाघा रखनेवाले वीर ! यद्यपि राजा जरासंध

दुर्जय एवं बलवान् था, तथापि वह रणभूमिमें तुम्हारी समानता न कर सका ॥ १८ ॥

ब्रह्मण्यः सत्त्वयोधी च तेजसा च बलेन च ।
देवगर्भसमः संख्ये मनुष्यैरधिको युधि ॥ १९ ॥

'तुम ब्राह्मणभक्त, धैर्यपूर्वक युद्ध करनेवाले तथा तेज और बलसे सम्पन्न हो । संग्राम-भूमिमें देवकुमारोंके समान जान पड़ते हो और प्रत्येक युद्धमें मनुष्योंसे अधिक पराक्रमी हो॥

व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे यस्त्वां प्रति पुरा कृतः ।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २० ॥

'मैंने पहले जो तुम्हारे प्रति क्रोध किया था, वह अब दूर हो गया है; क्योंकि प्रारब्धके विधानको कोई पुरुषार्थद्वारा नहीं टाल सकता ॥ २० ॥

सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन ।
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ २१ ॥

'शत्रुसूदन ! वीर पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं । महाबाहो ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने उन भाइयोंसे मिल जाओ ॥ २१ ॥

मया भवतु निर्वृत्तं वैरमादित्यनन्दन ।
पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः ॥ २२ ॥

'सूर्यनन्दन ! मेरी मृत्युके द्वारा ही यह वैरकी आग बुझ जाय और भूमण्डलके समस्त नरेश अब दुःख-शोकसे रहित एवं निर्भय हो जायँ' ॥ २२ ॥

कर्ण उवाच

जानाम्येव महाबाहो सर्वमेतन्न संशयः ।
यथा वदसि मे भीष्म कौन्तेयोऽहं न सूतजः ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—महाबाहो ! भीष्म ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे मैं भी जानता हूँ । यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है । वास्तवमें मैं कुन्तीका ही पुत्र हूँ, सूतपुत्र नहीं हूँ ॥ २३ ॥

अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या सूतेन च विवर्धितः ।
(पुरा दुर्योधनेनाहं स्नेहं वै कृतवान् मुदा ।
तव कार्यं करिष्यामि यद् यत् सर्वं दुरासदम् ॥
इत्येवं वै प्रतिज्ञातं वचनं वै सुयोधने ।)
भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे ॥ २४ ॥

परंतु माता कुन्तीने तो मुझे पानीमें बहा दिया और सूतने मुझे पाल-पोषकर बड़ा किया । पूर्वकालसे ही मैं दुर्योधनके साथ स्नेह करता आया हूँ और प्रसन्नतापूर्वक रहा हूँ । दुर्योधनसे मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि तुम्हारा जो-जो दुष्कर कार्य होगा, वह सब मैं पूरा करूँगा । दुर्योधनका ऐश्वर्य भोगकर मैं उसे निष्फल नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः ।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ॥ २५ ॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण ।
मा चैतद् व्याधिमरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ॥ २६ ॥
कोपिताः पाण्डवा नित्यं समाश्रित्य सुयोधनम् ।

जैसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुनकी सहायताके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उसी प्रकार मेरे धन, शरीर, स्त्री, पुत्र तथा यश सब कुछ दुर्योधनके लिये निछावर हैं । यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरुनन्दन भीष्म ! मैंने दुर्योधनका आश्रय लेकर पाण्डवोंका क्रोध सदा इसलिये बढ़ाया है कि यह क्षत्रिय-जाति रोगोंका शिकार होकर न मरे (युद्धमें वीर गति प्राप्त करे) ॥ २५-२६½ ॥

अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं यो न शक्यो निवर्तितुम्॥ २७ ॥
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ।

यह युद्ध अवश्यम्भावी है । इसे कोई टाल नहीं सकता । भला, दैवको पुरुषार्थके द्वारा कौन मिटा सकता है ॥२७½॥

पृथिवीक्षयशंसीनि निमित्तानि पितामह ॥ २८ ॥
भवद्भिरुपलब्धानि कथितानि च संसदि ।

पितामह ! आपने भी तो ऐसे निमित्त (लक्षण) देखे थे, जो भूमण्डलके विनाशकी सूचना देनेवाले थे । आपने कौरव-सभामें उनका वर्णन भी किया था ॥ २८½ ॥

पाण्डवा वासुदेवश्च विदिता मम सर्वशः ॥ २९ ॥
अजेयाः पुरुषैरन्यैरिति तांश्चोत्सहामहे ।
विजयिष्ये रणे पाण्डूनिति मे निश्चितं मनः ॥ ३० ॥

पाण्डवों तथा भगवान् वासुदेवको मैं सब प्रकारसे जानता हूँ, वे दूसरे पुरुषोंके लिये सर्वथा अजेय हैं, तथापि मैं उनसे युद्ध करनेका उत्साह रखता हूँ और मेरे मनका यह निश्चित विश्वास है कि मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा ॥

न च शक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
धनंजयेन योत्स्येऽहं स्वधर्मप्रीतमानसः ॥ ३१ ॥

पाण्डवोंके साथ हमलोगोंका यह वैर अत्यन्त भयंकर हो गया है । अब इसे दूर नहीं किया जा सकता । मैं अपने धर्मके अनुसार प्रसन्नचित्त होकर अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा ॥

अनुजानीष्व मां तात युद्धाय कृतनिश्चयम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्ध्येयमिति मे मतिः ॥ ३२ ॥

तात ! मैं युद्धके लिये निश्चय कर चुका हूँ । वीर ! मेरा विचार है कि आपकी आज्ञा लेकर युद्ध करूँ; अतः आप मुझे इसके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें॥ ३२ ॥

दुरुक्तं विप्रतीपं वा रभसाच्चापलात् तथा ।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३३ ॥

मैंने क्रोधके आवेगसे अथवा चपलताके कारण यहाँ जो कुछ आपके प्रति कटुवचन कहा हो या आपके प्रतिकूल आचरण किया हो, वह सब आप कृपापूर्वक क्षमा कर दें ॥

भीष्म उवाच

न चेच्छक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
अनुजानामि कर्ण त्वां युद्धयस्व स्वर्गकाम्यया ॥ ३४ ॥

भीष्मने कहा—कर्ण ! यदि यह भयंकर वैर अब नहीं छोड़ा जा सकता तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करो ॥ ३४ ॥

निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा रणे स ह ।
यथाशक्ति यथोत्साहं सतां वृत्तेषु वृत्तवान् ॥ ३५ ॥

दीनता और क्रोध छोड़कर अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार सत्पुरुषोंके आचारमें स्थित रहकर युद्ध करो । तुम रणक्षेत्रमें पराक्रम कर चुके हो और आचारवान् तो हो ही ॥

अहं त्वामनुजानामि यदिच्छसि तदाप्नुहि ।
क्षत्रधर्मजिताँल्लोकानवाप्स्यसि धनंजयात् ॥ ३६ ॥

कर्ण ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ । तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त करो । धनंजयके हाथसे मारे जानेपर तुम्हें क्षत्रियधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी उपलब्धि होगी ॥ ३६ ॥

युध्यस्व निरहङ्कारो बलवीर्यव्यपाश्रयः ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३७॥

तुम अभिमानशून्य होकर बल और पराक्रमका सहारा ले युद्ध करो, क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं है ॥ ३७ ॥

प्रशमे हि कृतो यत्नः सुमहान् सुचिरं मया ।
न चैव शकितः कर्तुं कर्ण सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३८ ॥

कर्ण ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ । मैंने कौरवों और पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये दीर्घकालतक महान् प्रयत्न किया था; किंतु मैं उसमें कृतकार्य न हो सका ॥३८॥

संजय उवाच

इत्युक्तवति गाङ्गेये अभिवाद्योपमन्त्र्य च ।
राधेयो रथमारुह्य प्रायात् तव सुतं प्रति ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! गङ्गानन्दन भीष्मके ऐसा कहनेपर राधानन्दन कर्ण उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्र दुर्योधनके पास चला गया ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-कर्णसंवादविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

भीष्मपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	५६१०॥	(२९९॥)	४११॥।-	६०२२।-
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	७१॥	(४॥)	६≡	७७॥≡
भीष्मपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				६१००

श्रवणमहिमा

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् बहुवृत्तान्तं भीष्मपर्वाखिलं मया ।
श्रृण्वते ते महाराज प्रोक्तं पापहरं शुभम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! बहुत से वृत्तान्तोंसे भरा हुआ यह सम्पूर्ण भीष्मपर्व मैंने तुमसे कहा है और तुमने श्रोता बनकर सुना है । यह पर्व सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और शुभ है ॥ १ ॥

यः श्रावयेत् सदा राजन् ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
श्रद्धावन्तश्च ये चापि श्रोष्यन्ति मनुजा भुवि ॥ २ ॥
विधूय सर्वपापानि विहायान्ते कलेवरम् ।
प्रयान्ति तत् पदं विष्णोर्यत् प्राप्य न निवर्तते ॥ ३ ॥

राजन् ! जो सदा वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पर्वकी कथा सुनायेगा और जो मनुष्य इस भूतलपर श्रद्धापूर्वक इस पर्वको सुनेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके अन्तमें यह शरीर छोड़कर भगवान् विष्णुके उस परमपदको प्राप्त कर लेंगे, जहाँ जाकर जीव इस जगत्में नहीं लौटता है॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भारतं भरतर्षभ ।
श्रृणुयात् सिद्धिमन्विच्छन्निह वामुत्र मानवः॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अतः इस लोक या परलोकमें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य पूर्ण प्रयत्नपूर्वक महाभारतको अवश्य सुने ॥ ४ ॥

भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।
भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दद्यात् पानीयमुत्तमम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! भीष्मपर्व सुन लेनेपर मनुष्य ब्राह्मणोंको गन्ध और माल्य आदिसे अलङ्कृत करके उत्तम भोजन कराये तथा पवित्र जलका दान करे ॥ ५ ॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(चतुर्थ खण्ड)

[द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(चतुर्थ खण्ड)

[द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १५) पंद्रह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

द्रोणपर्व

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

(द्रोणाभिषेकपर्व)

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

(संशप्तकवधपर्व)

(अभिमन्युवधपर्व)

(घटोत्कचवधपर्व)

(द्रोणवधपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

श्रीहरिः

कर्णपर्व

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

* श्रीहरिः *

शल्यपर्व

चित्र-सूची

* श्रीहरिः *

सौप्तिकपर्व

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

* श्रीहरिः *

स्त्रीपर्व

चित्र-सूची

(सादा)

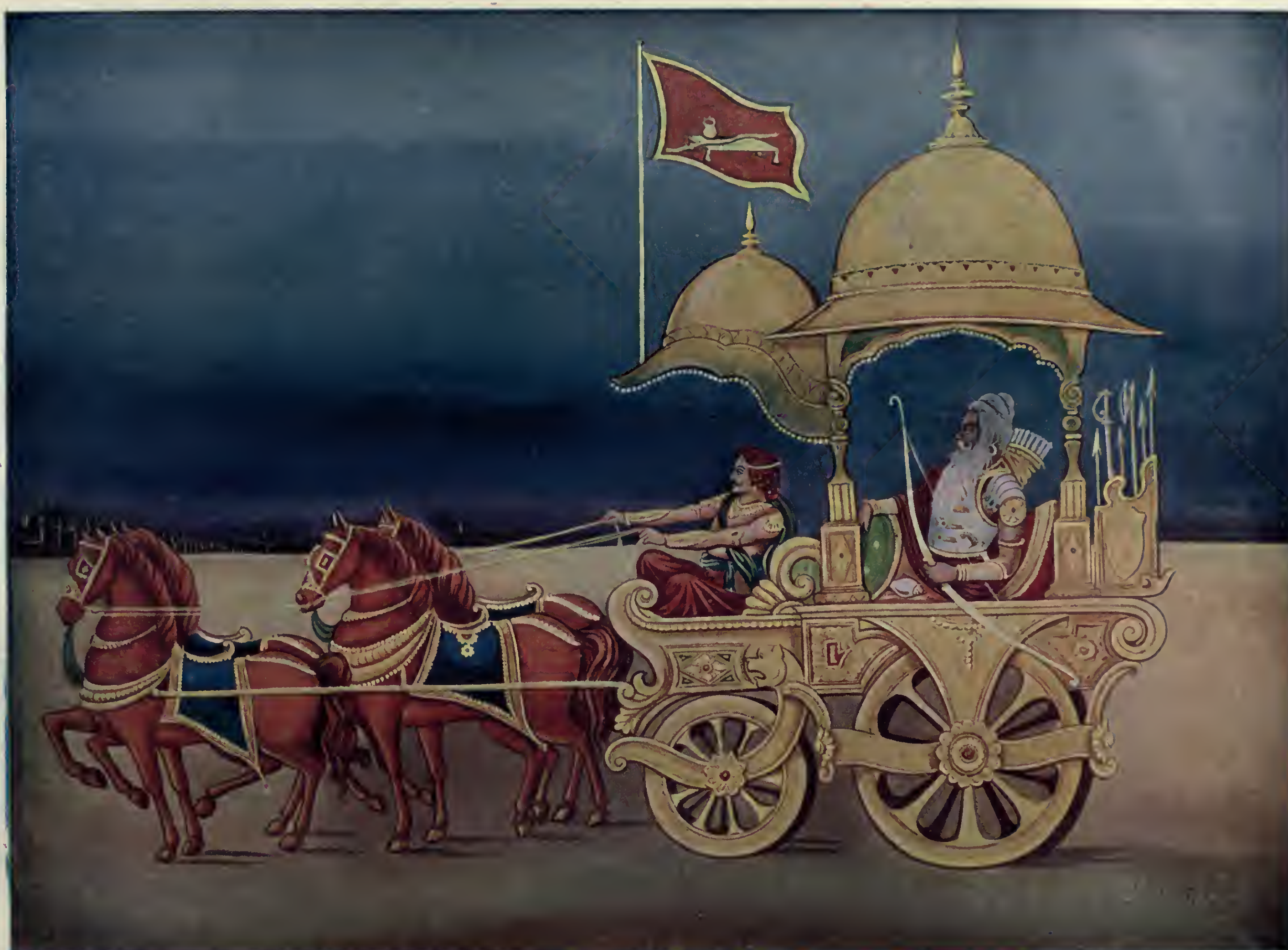

सेनापति द्रोणाचार्य

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

द्रोणपर्व

(द्रोणाभिषेकपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भीष्मजीके धराशायी होनेसे कौरवोंका शोक तथा उनके द्वारा कर्णका स्मरण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

तमप्रतिमसत्त्वौजोबलवीर्यसमन्वितम् ।
हतं देवव्रतं श्रुत्वा पाञ्चाल्येन शिखण्डिना ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रस्ततो राजा शोकव्याकुललोचनः ।
किमचेष्टत विप्रर्षे हते पितरि वीर्यवान् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! अनुपम सत्त्व, ओज, बल और पराक्रमसे सम्पन्न देवव्रत भीष्मको पाञ्चालराज शिखण्डीके हाथसे मारा गया सुनकर राजा धृतराष्ट्रके नेत्र शोकसे व्याकुल हो उठे होंगे । ब्रह्मर्षे ! अपने ज्येष्ठ पिताके मारे जानेपर पराक्रमी धृतराष्ट्रने कैसी चेष्टा की ? ॥ १-२ ॥

तस्य पुत्रो हि भगवन् भीष्मद्रोणमुखै रथैः ।
पराजित्य महेष्वासान् पाण्डवान् राज्यमिच्छति ॥ ३ ॥

भगवन् ! उनका पुत्र दुर्योधन भीष्म, द्रोण आदि महारथियोंके द्वारा महाधनुर्धर पाण्डवोंको पराजित करके स्वयं राज्य हथिया लेना चाहता था ॥ ३ ॥

तस्मिन् हते तु भगवन् केतौ सर्वधनुष्मताम् ।
यदचेष्टत कौरव्यस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ४ ॥

भगवन् ! तपोधन ! सम्पूर्ण धनुर्धरोंके ध्वजस्वरूप भीष्मजीके मारे जानेपर कुरुवंशी दुर्योधनने जो प्रयत्न किया हो, वह सब मुझे बताइये ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

निहतं पितरं श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।
लेभे न शान्तिं कौरव्यश्चिन्ताशोकपरायणः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! ज्येष्ठ पिताको मारा गया सुनकर कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र चिन्ता और शोकमें डूब गये । उन्हें क्षणभरको भी शान्ति नहीं मिल रही थी ॥

तस्य चिन्तयतो दुःखमनिशं पार्थिवस्य तत् ।
आजगाम विशुद्धात्मा पुनर्गावल्गणिस्तदा ॥ ६ ॥

वे भूपाल निरन्तर उस दुःखदायिनी घटनाका ही चिन्तन करते रहे । उसी समय विशुद्ध अन्तःकरणवाला गवल्गणपुत्र संजय पुनः उनके पास आया ॥ ६ ॥

शिबिरात् संजयं प्राप्तं निशि नागाह्वयं पुरम् ।
आम्बिकेयो महाराज धृतराष्ट्रोऽन्वपृच्छत ॥ ७ ॥

महाराज ! रातके समय कुरुक्षेत्रके शिबिरसे हस्तिनापुरमें आये हुए संजयसे अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने वहाँका समाचार पूछा ॥ ७ ॥

श्रुत्वा भीष्मस्य निधनमप्रहृष्टमना भृशम् ।
पुत्राणां जयमाकाङ्क्षन् विललापातुरो यथा ॥ ८ ॥

भीष्मकी मृत्युका वृत्तान्त सुनकर उनका मन सर्वथा अप्रसन्न एवं उत्साहशून्य हो गया था । वे अपने पुत्रोंकी विजय चाहते हुए आतुरकी भाँति विलाप कर रहे थे ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संशोच्य तु महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
किमकार्षुः परं तात कुरवः कालचोदिताः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात ! संजय ! भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्मके लिये अत्यन्त शोक करके कालप्रेरित कौरवोंने आगे कौन-सा कार्य किया ॥ ९ ॥

तस्मिन् विनिहते शूरे दुराधर्षे महात्मनि ।
किं नु स्वित् कुरवोऽकार्षुर्निमग्नाः शोकसागरे ॥ १० ॥

उन दुर्धर्ष वीर महात्मा भीष्मके मारे जानेपर तो समस्त कुरुवंशी शोकके समुद्रमें डूब गये होंगे; फिर उन्होंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १० ॥

तदुदीर्णं महत् सैन्यं त्रैलोक्यस्यापि संजय ।
भयमुत्पादयेत् तीव्रं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥

संजय ! महात्मा पाण्डवोंकी वह विशाल एवं प्रचण्ड सेना तो तीनों लोकोंके हृदयमें तीव्र भय उत्पन्न कर सकती है ॥

को हि दौर्योधने सैन्ये पुमानासीन्महारथः ।
यं प्राप्य समरे वीरा न त्रस्यन्ति महाभये ॥ १२ ॥

उस महान् भयके अवसरपर दुर्योधनकी सेनामें कौन ऐसा वीर महारथी पुरुष था, जिसका आश्रय पाकर समराङ्गणमें वीर कौरव भयभीत नहीं हुए हैं ॥ १२ ॥

देवव्रते तु निहते कुरूणामृषभे तदा ।
किमकार्षुर्नृपतयस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १३ ॥

संजय ! कुरुश्रेष्ठ देवव्रतके मारे जानेपर उस समय सब राजाओंने कौन-सा कार्य किया ? यह मुझे बताओ ॥ १३ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नेकमना वचनं ब्रुवतो मम ।
यत् ते पुत्रास्तदाकार्षुर्हते देवव्रते मृधे ॥ १४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! उस युद्धमें देवव्रत भीष्मके मारे जानेपर उस समय आपके पुत्रोंने जो कार्य किया, वह सब मैं बता रहा हूँ । मेरे इस कथनको आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ १४ ॥

निहते तु तदा भीष्मे राजन् सत्यपराक्रमे ।
तावकाः पाण्डवेयाश्च प्राध्यायन्त पृथक् पृथक् ॥ १५ ॥

राजन् ! जब सत्यपराक्रमी भीष्म मार दिये गये, उस समय आपके पुत्र और पाण्डव अलग-अलग चिन्ता करने लगे ॥ १५ ॥

विस्मिताश्च प्रहृष्टाश्च क्षत्रधर्मं निशाम्य ते ।
स्वधर्मं निन्दमानास्ते प्रणिपत्य महात्मने ॥ १६ ॥
शयनं कल्पयामासुर्भीष्मायामितकर्मणे ।
सोपधानं नरव्याघ्र शरैः संनतपर्वभिः ॥ १७ ॥

पुरुषसिंह ! वे क्षत्रिय-धर्मका विचार करके अत्यन्त विस्मित और प्रसन्न हुए । फिर अपने कठोरतापूर्ण धर्मकी निन्दा करते हुए उन्होंने महात्मा भीष्मको प्रणाम किया और उन अमित पराक्रमी भीष्मके लिये झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा तकिये और शय्याकी रचना की ॥ १६-१७ ॥

विधाय रक्षां भीष्माय समाभाष्य परस्परम् ।
अनुमान्य च गाङ्गेयं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ १८ ॥
क्रोधसंरक्तनयनाः समवेत्य परस्परम् ।
पुनर्युद्धाय निर्जग्मुः क्षत्रियाः कालचोदिताः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार परस्पर वार्तालाप करके भीष्मजीकी रक्षाकी व्यवस्था कर दी और उन गङ्गानन्दन देवव्रतकी अनुमति ले उनकी परिक्रमा करके आपसमें मिलकर वे कालप्रेरित क्षत्रिय क्रोधसे लाल आँखें किये पुनः युद्धके लिये निकले ॥ १८-१९ ॥

ततस्तूर्यनिनादैश्च भेरीणां निनदेन च ।
तावकानामनीकानि परेषां च विनिर्ययुः ॥ २० ॥

तदनन्तर बाजोंकी ध्वनि और नगाड़ोंकी गड़गड़ाहटके साथ आपकी तथा पाण्डवोंकी भी सेनाएँ युद्धके लिये निकलीं ॥

व्यावृत्तेऽर्यम्णि राजेन्द्र पतिते जाह्नवीसुते ।
अमर्षवशमापन्नाः कालोपहतचेतसः ॥ २१ ॥
अनादृत्य वचः पथ्यं गाङ्गेयस्य महात्मनः ।
निर्ययुर्भरतश्रेष्ठाः शस्त्राण्यादाय सत्वराः ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! जिस समय गङ्गानन्दन भीष्म रथसे गिरे थे, उस समय सूर्य पश्चिम दिशामें ढल चुके थे । यद्यपि महात्मा गङ्गानन्दन भीष्मने उन सबको युद्ध बंद कर देनेकी सलाह दी थी, तथापि कालसे विवेकशक्ति नष्ट हो जानेके कारण वे भरतश्रेष्ठ क्षत्रिय उनके हितकर वचनकी अवहेलना करके

अमर्षके वशीभूत हो हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये तुरंत ही युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २१-२२ ॥

मोहात् तव सपुत्रस्य वधाच्छान्तनवस्य च ।
कौरव्या मृत्युसाद्भूताः सहिताः सर्वराजभिः ॥ २३ ॥

पुत्रसहित आपके मोह (अविवेक) से और शान्तनुनन्दन भीष्मका वध हो जानेसे समस्त राजाओंसहित सम्पूर्ण कुरुवंशी मृत्युके अधीन हो गये हैं ॥ २३ ॥

अजावय इवागोपा वने श्वापदसंकुले ।
भृशमुद्विग्नमनसो हीना देवव्रतेन ते ॥ २४ ॥

जैसे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें बिना रक्षककी भेड़ और बकरियाँ भयसे उद्विग्न रहती हैं, उसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक देवव्रतसे रहित हो मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे थे ॥ २४ ॥

पतिते भरतश्रेष्ठे बभूव कुरुवाहिनी ।
द्यौरिवापेतनक्षत्रा हीनं खमिव वायुना ॥ २५ ॥
विपन्नसस्येव मही वाक् चैवासंस्कृता तथा ।
आसुरीव यथा सेना निगृहीते नृपे बलौ ॥ २६ ॥

भरतशिरोमणि भीष्मके धराशायी हो जानेपर कौरव-सेना नक्षत्ररहित आकाश, वायुशून्य अन्तरिक्ष, नष्ट हुई खेतीवाली भूमि, असंस्कृत वाणी तथा राजा बलिके बाँध लिये जानेपर नायकविहीन हुई असुरोंकी सेनाके समान उद्विग्न, असमर्थ और श्रीहीन हो गयी ॥ २५-२६ ॥

विधवेव वरारोहा शुष्कतोयेव निम्नगा ।
वृकैरिव वने रुद्धा पृषती हतयूथपा ॥ २७ ॥
शरभाहतसिंहेव महती गिरिकन्दरा ।
भारती भरतश्रेष्ठे पतिते जाह्नवीसुते ॥ २८ ॥

गङ्गानन्दन भरतश्रेष्ठ भीष्मके धराशायी होनेपर भरतवंशियोंकी सेना विधवा सुन्दरीके समान, जिसका पानी सूख गया हो, उस नदीके समान, जिसे भेड़ियोंने वनमें घेर रक्खा हो और जिसका साथी यूथप मार डाला गया हो, उस चितकबरी मृगीके समान तथा शरभने जिसमें रहनेवाले सिंहको मार डाला हो, उस विशाल कन्दराके समान भयभीत, विचलित और श्रीहीन जान पड़ती थी ॥ २७-२८ ॥

विष्वग्वाताहता रुग्णा नौरिवासीन्महार्णवे ।
बलिभिः पाण्डवैर्वीरैर्लब्धलक्षैर्भृशार्दिता ॥ २९ ॥

वीर और बलवान् पाण्डव अपने लक्ष्यको सफलतापूर्वक मार गिरानेवाले थे, उनके द्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर आपकी सेना महासागरमें चारों ओरसे वायुके थपेड़े खाकर टूटी हुई नौकाके समान बड़ी विपत्तिमें फँस गयी ॥ २९ ॥

सा तदाऽऽसीद् भृशं सेना व्याकुलाश्वरथद्विपा ।
विपन्नभूयिष्ठनरा कृपणा ध्वस्तमानसा ॥ ३० ॥

उस समय आपकी सेनाके घोड़े, रथ और हाथी सब अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे। उसके अधिकांश सैनिक अपने प्राण खो चुके थे। उसका दिल बैठ गया था और वह अत्यन्त दीन हो रही थी ॥ ३० ॥

तस्यां त्रस्ता नृपतयः सैनिकाश्च पृथग्विधाः ।
पाताल इव मज्जन्तो हीना देवव्रतेन ते ॥ ३१ ॥

उस सेनाके भिन्न-भिन्न सैनिक, नरेशगण अत्यन्त भयभीत हो देवव्रत भीष्मके बिना मानो पातालमें डूब रहे थे ॥ ३१ ॥

कर्णं हि कुरवोऽस्मार्षुः स हि देवव्रतोपमः ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं रोचमानमिवातिथिम् ॥ ३२ ॥
बन्धुमापद्गतस्येव तमेवोपागमन्मनः ।
चुक्रुशुः कर्ण कर्णेति तत्र भारत पार्थिवाः ॥ ३३ ॥

उस समय कौरवोंने कर्णका स्मरण किया। जैसे गृहस्थका मन अतिथिकी ओर तथा आपत्तिमें पड़े हुए मनुष्यका मन अपने मित्र या भाई-बन्धुकी ओर जाता है, उसी प्रकार कौरवोंका मन समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं तेजस्वी वीर कर्णकी ओर गया; क्योंकि वही भीष्मके समान पराक्रमी समझा जाता था। भारत ! वहाँ सब राजा 'कर्ण ! कर्ण !' की पुकार करने लगे ॥ ३२-३३ ॥

राधेयं हितमस्माकं सूतपुत्रं तनुत्यजम् ।
स हि नायुध्यत तदा दशाहानि महायशाः ॥ ३४ ॥
सामात्यबन्धुः कर्णो वै तमानयत मा चिरम् ।

वे कहने लगे कि 'राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण हमारा हितैषी है। हमारे लिये अपना शरीर निछावर किये हुए है। अपने मन्त्रियों और बन्धुओंके साथ महायशस्वी कर्णने दस दिनोंतक युद्ध नहीं किया है। उसे शीघ्र बुलाओ। देर न करो ॥

भीष्मेण हि महाबाहुः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥ ३५ ॥
रथेषु गण्यमानेषु बलविक्रमशालिषु ।
संख्यातोऽर्धरथः कर्णो द्विगुणः सन् नरर्षभः ॥ ३६ ॥

राजन् ! बात यह हुई थी कि जब बल और पराक्रमसे सुशोभित रथियोंकी गणना की जा रही थी, उस समय समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते भीष्मजीने महाबाहु नरश्रेष्ठ कर्णको अर्धरथी बता दिया। यद्यपि वह दो रथियोंके समान है ॥

रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीः शूरसम्मतः ।
सासुरानपि देवेशान् रणे यो योद्धुमुत्सहेत् ॥ ३७ ॥

रथियों और अतिरथियोंकी संख्यामें वह अग्रगण्य और शूरवीरके सम्मानका पात्र है। रणक्षेत्रमें असुरोंसहित सम्पूर्ण देवेश्वरोंके साथ भी वह युद्ध करनेका उत्साह रखता है ॥

स तु तेनैव कोपेन राजन् गाङ्गेयमुक्तवान् ।
त्वयि जीवति कौरव्य नाहं योत्स्ये कदाचन ॥ ३८ ॥
त्वया तु पाण्डवेयेषु निहतेषु महामृधे ।
दुर्योधनमनुज्ञाप्य वनं यास्यामि कौरव ॥ ३९ ॥

राजन् ! अर्धरथी बतानेके कारण ही क्रोधवश उसने गङ्गानन्दन भीष्मसे कहा—'कुरुनन्दन ! आपके जीते-जी मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा। कौरव ! यदि आप उस महासमरमें पाण्डुपुत्रोंको मार डालेंगे तो मैं दुर्योधनकी अनुमति लेकर वनको चला जाऊँगा ॥ ३८-३९ ॥

पाण्डवैर्वा हते भीष्मे त्वयि स्वर्गमुपेयुषि ।
हन्तास्म्येकरथेनैव कृत्स्नान् यान् मन्यसे रथान् ॥४०॥

'अथवा यदि पाण्डवोंके द्वारा मारे जाकर आप स्वर्गलोकमें पहुँच गये तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे उन सबको मार डालूँगा, जिन्हें आप रथी मानते हैं' ॥ ४० ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दशाहानि महायशाः ।
नायुध्यत ततः कर्णः पुत्रस्य तव सम्मते ॥ ४१ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु महायशस्वी कर्ण आपके पुत्रकी सम्मति ले दस दिनोंतक युद्धमें सम्मिलित नहीं हुआ ॥४१॥

भीष्मः समरविक्रान्तः पाण्डवेयस्य भारत ।
जघान समरे योधानसंख्येयपराक्रमः ॥ ४२ ॥

भारत ! समरभूमिमें पराक्रम प्रकट करनेवाले अनन्त पराक्रमी भीष्मने युद्धस्थलमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके बहुत-से योद्धाओंको मार डाला ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तु निहते शूरे सत्यसंधे महौजसि ।
त्वत्सुताः कर्णमस्मार्षुस्तर्तुकामा इव प्लवम् ॥ ४३ ॥

उन महापराक्रमी सत्यप्रतिज्ञ शूरवीर भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंने कर्णका उसी प्रकार स्मरण किया, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पुरुष नावकी इच्छा करते हैं ॥ ४३ ॥

तावकास्तव पुत्राश्च सहिताः सर्वराजभिः ।
हा कर्ण इति चाक्रन्दन् कालोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ४४ ॥

समस्त राजाओंसहित आपके पुत्र और सैनिक 'हा कर्ण' कहकर विलाप करने लगे और बोले—'कर्ण ! तुम्हारे पराक्रमका यह अवसर आया है' ॥ ४४ ॥

एवं ते स्म हि राधेयं सूतपुत्रं तनुत्यजम् ।
चुक्रुशुः सहिता योधास्तत्र तत्र महाबलाः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार आपके महाबली योद्धालोग राधानन्दन सूतपुत्र कर्णको, जो दुर्योधनके लिये अपना शरीर निछावर किये बैठा था, एक साथ पुकारने लगे ॥ ४५ ॥

जामदग्न्याभ्यनुज्ञातमस्त्रे दुर्वारपौरुषम् ।
अगमन्नो मनः कर्णं बन्धुमात्ययिकेष्विव ॥ ४६ ॥

राजन् ! कर्णने जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की है और उसका पराक्रम दुर्निवार्य है। इसीलिये हमलोगोंका मन कर्णकी ओर गया, ठीक वैसे ही, जैसे बड़ी भारी आपत्तिके समय मनुष्यका मन अपने मित्रों तथा सगे-सम्बन्धियोंकी ओर जाता है ॥ ४६ ॥

स हि शक्तो रणे राजंस्त्रातुमस्मान् महाभयात् ।
त्रिदशानिव गोविन्दः सततं सुमहाभयात् ॥ ४७ ॥

राजन् ! जैसे भगवान् विष्णु देवताओंकी सदा अत्यन्त महान् भयसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कर्ण हमें भारी भयसे उबारनेमें समर्थ है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तु संजयं कर्णं कीर्तयन्तं पुनः पुनः ।
आशीविषवदुच्छ्वस्य धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब संजय इस प्रकार बार-बार कर्णका नाम ले रहा था, उस समय राजा धृतराष्ट्रने विषधर सर्पके समान उच्छ्वास लेकर इस प्रकार कहा ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यत् तद्वैकर्तनं कर्णमगमद् वो मनस्तदा ।
अप्यपश्यत राधेयं सूतपुत्रं तनुत्यजम् ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! जब तुमलोगोंका मन विकर्तनपुत्र कर्णकी ओर गया, तब क्या तुमने शरीर निछावर करनेवाले सूतपुत्र राधानन्दन कर्णको वहाँ देखा ? ॥ ४९ ॥

अपि तन्न मृषाकार्षीत् कच्चित् सत्यपराक्रमः।
सम्भ्रान्तानां तदार्तानां त्रस्तानां त्राणमिच्छताम् ॥ ५० ॥

कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि संकटमें पड़कर घबराये हुए और भयभीत होकर अपनी रक्षा चाहते हुए कौरवोंकी प्रार्थनाको सत्यपराक्रमी कर्णने निष्फल कर दिया हो ? ॥५०॥

अपि तत् पूरयांचक्रे धनुर्धरवरो युधि ।
यत्तद् विनिहते भीष्मे कौरवाणामपाकृतम् ॥ ५१ ॥

भीष्मके मारे जानेपर युद्धस्थलमें कौरवोंके पक्षमें जो कमी आ गयी थी, क्या उसे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्णने पूरा कर दिया ? ॥ ५१ ॥

तत् खण्डं पूरयन् कर्णः परेषामादधद् भयम् ।
स हि वै पुरुषव्याघ्रो लोके संजय कथ्यते ॥ ५२ ॥

क्या उस खण्डित अंशकी पूर्ति करके कर्णने शत्रुओंके मनमें भय उत्पन्न किया ? संजय ! जगत्में कर्णको 'पुरुषसिंह' कहा जाता है ॥ ५२ ॥

आर्तानां बान्धवानां च क्रन्दतां च विशेषतः ।
परित्यज्य रणे प्राणांस्तत्त्राणार्थं च शर्म च ।
कृतवान् मम पुत्राणां जयाशां सफलामपि ॥ ५३ ॥

क्या उसने रणभूमिमें शोकार्त होकर विशेषरूपसे क्रन्दन करनेवाले अपने उन बन्धुजनोंकी रक्षा एवं कल्याणके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करके मेरे पुत्रोंकी विजयाभिलाषाको सफल किया ? ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें धृतराष्ट्र-प्रश्नविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

कर्णकी रणयात्रा

संजय उवाच

हतं भीष्ममथाधिरथिर्विदित्वा
भिन्नां नावमिवात्यगाधे कुरूणाम्।
सोदर्यवद् व्यसनात् सूतपुत्रः
संतारयिष्यंस्तव पुत्रस्य सेनाम्॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अधिरथनन्दन सूतपुत्र कर्ण यह जानकर कि भीष्मजीके मारे जानेपर कौरवोंकी सेना अगाध महासागरमें टूटी हुई नौकाके समान संकटमें पड़ गयी है, सगे भाईके समान आपके पुत्रकी सेनाको संकटसे उबारनेके लिये चला ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु कर्णः पुरुषेन्द्रमच्युतं
निपातितं शान्तनवं महारथम्।
अथोपयायात् सहसारिकर्षणो
धनुर्धराणां प्रवरस्तदा नृप ॥ २ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् योद्धाओंके मुखसे अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पुरुषप्रवर शान्तनुनन्दन महारथी भीष्मके मारे जानेका विस्तृत वृत्तान्त सुनकर धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ शत्रुसूदन कर्ण सहसा दुर्योधनके समीप चल दिया ॥ २ ॥

हते तु भीष्मे रथसत्तमे परै-
र्निमज्जतीं नावमिवार्णवे कुरून्।
पितेव पुत्रांस्त्वरितोऽभ्ययात् ततः
संतारयिष्यंस्तव पुत्रस्य सेनाम्॥ ३ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मके शत्रुओंद्वारा मारे जानेपर, जैसे पिता अपने पुत्रोंको संकटसे बचानेके लिये जाता हो, उसी प्रकार सूतपुत्र कर्ण डूबती हुई नौकाके समान आपके पुत्रकी सेना-को संकटसे उबारनेके लिये बड़ी उतावलीके साथ दुर्योधनके निकट आ पहुँचा ॥ ३ ॥

(सम्मृज्य दिव्यं धनुराततज्यं
स रामदत्तं रिपुसंघहन्ता।
बाणांश्च कालानलवायुकल्पा-
नुल्लालयन् वाक्यमिदं बभाषे ॥)

शत्रुसमूहका विनाश करनेवाले कर्णने परशुरामजीके दिये हुए दिव्य धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली और उसपर हाथ फेरकर कालाग्नि तथा वायुके समान शक्तिशाली बाणोंको ऊपर उठाते हुए इस प्रकार कहा ॥

कर्ण उवाच

यस्मिन् धृतिर्बुद्धिपराक्रमौजः
सत्यं स्मृतिर्वीरगुणाश्च सर्वे।
अस्त्राणि दिव्यान्यथ संनतिर्ह्रीः
प्रिया च वागनसूया च भीष्मे ॥ ४ ॥
सदा कृतज्ञे द्विजशत्रुघातके
सनातनं चन्द्रमसीव लक्ष्म।
स चेत् प्रशान्तः परवीरहन्ता
मन्ये हतानेव च सर्ववीरान् ॥ ५ ॥

कर्ण बोला—ब्राह्मणोंके शत्रुओंका विनाश करनेवाले तथा अपने ऊपर किये हुए उपकारोंका आभार माननेवाले जिन वीरशिरोमणि भीष्मजीमें चन्द्रमामें सदा सुशोभित होनेवाले शशचिह्नके समान सदा धृति, बुद्धि, पराक्रम, ओज, सत्य, स्मृति, विनय, लज्जा, प्रिय वाणी तथा अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव)—ये सभी वीरोचित गुण तथा दिव्यास्त्रशोभा पाते थे, वे शत्रुवीरोंके हन्ता देवव्रत यदि सदा-के लिये शान्त हो गये तो मैं सम्पूर्ण वीरोंको मारा गया ही मानता हूँ ॥ ४-५ ॥

नेह ध्रुवं किंचन जातु विद्यते
लोके ह्यस्मिन् कर्मणोऽनित्ययोगात्।
सूर्योदये को हि विमुक्तसंशयो
भावं कुर्वीतार्यमहाव्रते हते ॥ ६ ॥

निश्चय ही इस संसारमें कर्मोंके अनित्य सम्बन्धसे कभी कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती है। श्रेष्ठ एवं महान् व्रतधारी भीष्मजीके मारे जानेपर कौन संशयरहित होकर कह सकता है कि कल सूर्योदय होगा ही (अर्थात् जीवन अनित्य होनेके कारण हममेंसे कौन कलका सूर्योदय देख सकेगा, यह कहना कठिन है। जब मृत्युंजयी भीष्मजी भी मारे गये, तब हमारे जीवनकी क्या आशा है !) ॥ ६ ॥

वसुप्रभावे वसुवीर्यसम्भवे
गते वसूनेव वसुन्धराधिपे।
वसूनि पुत्रांश्च वसुन्धरां तथा
कुरूंश्च शोचध्वमिमां च वाहिनीम् ॥ ७ ॥

भीष्मजीमें वसु देवताओंके समान प्रभाव था। वसुओंके

समान शक्तिशाली महाराज शान्तनुसे उनकी उत्पत्ति हुई थी। ये वसुधाके स्वामी भीष्म अब वसु देवताओंको ही प्राप्त हो गये हैं; अतः उनके अभावमें तुम सभी लोग अपने धन, पुत्र, वसुन्धरा, कुरुवंश, कुरुदेशकी प्रजा तथा इस कौरव सेनाके लिये शोक करो ॥ ७ ॥

संजय उवाच

महाप्रभावे वरदे निपातिते
लोकेश्वरे शास्तरि चामितौजसि।
पराजितेषु भरतेषु दुर्मनाः
कर्णो भृशं न्यश्वसदश्रु वर्तयन् ॥ ८ ॥

संजय कहते हैं—महान् प्रभावशाली वर देनेमें समर्थ लोकेश्वर शासक तथा अमित तेजस्वी भीष्मके मारे जानेपर भरतवंशियोंकी पराजय होनेसे कर्ण मन-ही-मन बहुत दुखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ लंबी साँस खींचने लगा॥

इदं च राधेयवचो निशम्य
सुताश्च राज्ञस्तव सैनिकाश्च ह।
परस्परं चुक्रुशुरार्तिजं मुहु-
स्तदाश्रु नेत्रैर्मुमुचुश्च शब्दवत् ॥ ९ ॥

राजन्! राधानन्दन कर्णकी यह बात सुनकर आपके पुत्र और सैनिक एक दूसरेकी ओर देखकर शोकवश बारंबार फूट-फूटकर रोने तथा नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ ९ ॥

प्रवर्तमाने तु पुनर्महाहवे
विगाह्यमानासु चमूषु पार्थिवैः।
अथाब्रवीद्धर्षकरं तदा वचो
रथर्षभान् सर्वमहारथर्षभः ॥ १० ॥

पाण्डवसेनाके राजालोगोंद्वारा जब कौरव-सेनाका ध्वंस होने लगा और बड़ा भारी संग्राम आरम्भ हो गया, तब सम्पूर्ण महारथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण समस्त श्रेष्ठ रथियोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाता हुआ इस प्रकार बोला—॥ १० ॥

जगत्यनित्ये सततं प्रधावति
प्रचिन्तयन्नस्थिरमद्य लक्षये।
भवत्सु तिष्ठत्स्विह पातितो मृधे
गिरिप्रकाशः कुरुपुङ्गवः कथम् ॥ ११ ॥

'सदा मृत्युकी ओर दौड़ लगानेवाले इस अनित्य संसारमें आज मुझे बहुत चिन्तन करनेपर भी कोई वस्तु स्थिर नहीं दिखायी देती; अन्यथा युद्धमें आप-जैसे शूर-वीरोंके रहते हुए पर्वतके समान प्रकाशित होनेवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्म कैसे मार गिराये गये? ॥ ११ ॥

निपातिते शान्तनवे महारथे
दिवाकरे भूतलमास्थिते यथा।
न पार्थिवाः सोढुमलं धनंजयं
गिरिप्रवोढारमिवानिलं द्रुमाः ॥ १२ ॥

'महारथी शान्तनुनन्दन भीष्मका रणमें गिराया जाना सूर्यके आकाशसे गिरकर पृथ्वीपर आ पड़नेके समान है। यह हो जानेपर समस्त भूपाल अर्जुनका वेग सहन करनेमें असमर्थ हैं, जैसे पर्वतोंको भी ढोनेवाले वायुका वेग साधारण वृक्ष नहीं सह सकते हैं ॥ १२ ॥

हतप्रधानं त्विदमार्तरूपं
परैर्हतोत्साहमनाथमद्य वै।
मया कुरूणां परिपाल्यमाहवे
बलं यथा तेन महात्मना तथा ॥ १३ ॥

'आज यह कौरवदल अपने प्रधान सेनापतिके मारे जानेसे अनाथ एवं अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। शत्रुओंने इसके उत्साहको नष्ट कर दिया है। इस समय संग्रामभूमिमें मुझे इस कौरवसेनाकी उसी प्रकार रक्षा करनी है, जैसे महात्मा भीष्म किया करते थे ॥ १३ ॥

समाहितं चात्मनि भारमीदृशं
जगत् तथानित्यमिदं च लक्षये।
निपातितं चाहवशौण्डमाहवे
कथं नु कुर्यामहमीदृशे भयम् ॥ १४ ॥

'मैंने यह भार अपने ऊपर ले लिया। जब मैं यह देखता हूँ कि सारा जगत् अनित्य है तथा युद्धकुशल भीष्म भी युद्धमें मारे गये हैं, तब ऐसे अवसरपर मैं भय किस लिये करूँ? ॥ १४ ॥

अहं तु तान् कुरुवृषभानजिह्मगैः
प्रवेशयन् यमसदनं चरन् रणे।

यशः परं जगति विभाव्य वर्तिता
परैर्हतो भुवि शयिताथवा पुनः ॥ १५ ॥

'मैं उन कुरुप्रवर पाण्डवोंको अपने सीधे जानेवाले बाणों-द्वारा यमलोकमें पहुँचाकर रणभूमिमें विचरूँगा और संसारमें उत्तम यशका विस्तार करके रहूँगा अथवा शत्रुओंके हाथसे मारा जाकर युद्धभूमिमें सदाके लिये सो जाऊँगा ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरो धृतिमतिसत्यसत्त्ववान्
वृकोदरो गजशततुल्यविक्रमः ।
तथार्जुनस्त्रिदशवरात्मजो युवा
न तद्बलं सुजयमिहामरैरपि ॥ १६ ॥

'युधिष्ठिर धैर्य, बुद्धि, सत्य और सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं। भीमसेनका पराक्रम सैकड़ों हाथियोंके समान है तथा अर्जुन भी देवराज इन्द्रके पुत्र एवं तरुण हैं। अतः पाण्डवोंकी सेनाको सम्पूर्ण देवता भी सुगमतापूर्वक नहीं जीत सकते ॥

यमौ रणे यत्र यमोपमौ बले
ससात्यकिर्यत्र च देवकीसुतः ।
न तद्बलं कापुरुषोऽभ्युपेयिवान्
निवर्तते मृत्युमुखान्न चासुभृत्॥ १७ ॥

'जहाँ रणभूमिमें यमराजके समान नकुल और सहदेव विद्यमान हैं, जहाँ सात्यकि तथा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उस सेनामें कोई कायर मनुष्य प्रवेश कर जाय तो वह मौतके मुखसे जीवित नहीं निकल सकता ॥ १७ ॥

तपोऽभ्युदीर्णं तपसैव बाध्यते
बलं बलेनैव तथा मनस्विभिः ।
मनश्च मे शत्रुनिवारणे ध्रुवं
स्वरक्षणे चाचलवद् व्यवस्थितम् ॥ १८ ॥

'मनस्वी पुरुष बढ़े हुए तपका तपसे और प्रचण्ड बलका बलसे ही निवारण करते हैं। यह सोचकर मेरा मन भी शत्रुओंको रोकनेके लिये दृढ़ निश्चय किये हुए है तथा अपनी रक्षाके लिये भी पर्वतकी भाँति अविचल भावसे स्थित है ॥

एवं चैषां बाधमानः प्रभावं
गत्वैवाहं ताञ्जयाम्यद्य सूत ।
मित्रद्रोहो मर्षणीयो न मेऽयं
भग्ने सैन्ये यः समेयात् स मित्रम्॥ १९॥

फिर कर्ण अपने सारथिसे कहने लगा—'सूत! इस प्रकार मैं युद्धमें जाकर इन शत्रुओंके बढ़ते हुए प्रभावको नष्ट करते हुए आज इन्हें जीत लूँगा। मेरे मित्रोंके साथ कोई द्रोह करे, यह मुझे सह्य नहीं। जो सेनाके भाग जानेपर भी साथ देता है, वही मित्र है ॥

कर्तास्म्येतत् सत्पुरुषार्यकर्म
त्यक्त्वा प्राणाननुयास्यामि भीष्मम्।
सर्वान् संख्ये शत्रुसंघान् हनिष्ये
हतस्तैर्वा वीरलोकं प्रपत्स्ये ॥ २० ॥

'या तो मैं सत्पुरुषोंके करनेयोग्य इस श्रेष्ठ कार्यको सम्पन्न करूँगा अथवा अपने प्राणोंका परित्याग करके भीष्मजीके ही पथपर चला जाऊँगा। मैं संग्रामभूमिमें शत्रुओंके समस्त समुदायोंका संहार कर डालूँगा अथवा उन्हींके हाथसे मारा जाकर वीर-लोक प्राप्त कर लूँगा ॥ २० ॥

सम्प्राक्रुष्टे रुदितस्त्रीकुमारे
पराहते पौरुषे धार्तराष्ट्रे ।
मया कृत्यमिति जानामि सूत
तस्माद् राज्ञस्त्वद्य शत्रून् विजेष्ये॥ २१ ॥

'सूत! दुर्योधनका पुरुषार्थ प्रतिहत हो गया है। उसके स्त्री-बच्चे रो-रोकर 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहे हैं। ऐसे अवसर-पर मुझे क्या करना चाहिये, यह मैं जानता हूँ। अतः आज मैं राजा दुर्योधनके शत्रुओंको अवश्य जीतूँगा ॥ २१ ॥

कुरून् रक्षन् पाण्डुपुत्राञ्जिघांस-
स्त्यक्त्वा प्राणान् घोररूपे रणेऽस्मिन् ।
सर्वान् संख्ये शत्रुसंघान् निहत्य
दास्याम्यहं धार्तराष्ट्राय राज्यम् ॥ २२ ॥

'कौरवोंकी रक्षा और पाण्डवोंके वधकी इच्छा करके मैं प्राणोंकी भी परवा न कर इस महाभयंकर युद्धमें समस्त शत्रुओंका संहार कर डालूँगा और दुर्योधनको सारा राज्य सौंप दूँगा ॥ २२ ॥

निबध्यतां मे कवचं विचित्रं
हैमं शुभ्रं मणिरत्नावभासि ।
शिरस्त्राणं चार्कसमानभासं
धनुः शरांश्चाग्निविषाहिकल्पान् ॥ २३ ॥

'तुम मेरे शरीरमें मणियों तथा रत्नोंसे प्रकाशित सुन्दर एवं विचित्र सुवर्णमय कवच बाँध दो और मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी शिरस्त्राण रख दो। अग्नि, विष तथा सर्पके समान भयंकर बाण एवं धनुष ले आओ ॥ २३ ॥

उपासङ्गान् षोडश योजयन्तु
धनूंषि दिव्यानि तथाऽऽहरन्तु ।
असींश्च शक्तीश्च गदाश्च गुर्वीः
शङ्खं च जाम्बूनदचित्रनालम् ॥ २४ ॥

'मेरे सेवक बाणोंसे भरे हुए सोलह तरकस रख दें, दिव्य धनुष ले आ दें, बहुत-से खड्गों, शक्तियों, भारी गदाओं तथा सुवर्णजटित विचित्र नालवाले शङ्खको भी ले आकर रख दें ॥

इमां रौक्मीं नागकक्ष्यां विचित्रां
ध्वजं चित्रं दिव्यमिन्दीवराङ्कम् ।
श्लक्ष्णैर्वस्त्रैर्विप्रमृज्यानयन्तु
चित्रां मालां चारुबद्धां सलाजाम्।२५।

'हाथीको बाँधनेके लिये बनी हुई इस विचित्र सुनहरी

रस्सीको तथा कमलके चिह्नसे युक्त दिव्य एवं अद्भुत ध्वजको स्वच्छ सुन्दर वस्त्रोंसे पोंछकर ले आवें। इसके सिवा सुन्दर ढंगसे गुँथी हुई विचित्र माला और खील आदि माङ्गलिक वस्तुएँ प्रस्तुत करें ॥ २५ ॥

अश्वानग्र्यान् पाण्डुराभ्रप्रकाशान्
पुष्टान् स्नातान् मन्त्रपूताभिरद्भिः।
तप्तैर्भाण्डैः काञ्चनैरभ्युपेता-
ञ्शीघ्राञ्छीघ्रं सूतपुत्रानयस्व ॥ २६ ॥

'सूतपुत्र ! तुम शीघ्र ही मेरे लिये श्रेष्ठ एवं शीघ्रगामी घोड़े ले आओ, जो श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल तथा मन्त्रपूत जलसे नहाये हुए हों, शरीरसे हृष्टपुष्ट हों और जिन्हें सोनेके आभूषणोंसे सजाया गया हो ॥ २६ ॥

रथं चाग्र्यं हेममालावनद्धं
रत्नैश्चित्रं सूर्यचन्द्रप्रकाशैः।
द्रव्यैर्युक्तं सम्प्रहारोपपन्नै-
र्वाहैर्युक्तं तूर्णमावर्तयस्व ॥ २७ ॥

'उन्हीं घोड़ोंसे जुता हुआ सुन्दर रथ शीघ्र ले आओ, जो सोनेकी मालाओंसे अलंकृत, सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित होनेवाले विचित्र रत्नोंसे जटित तथा युद्धोपयोगी सामग्रियोंसे सम्पन्न हो ॥ २७ ॥

चित्राणि चापानि च वेगवन्ति
ज्याश्चोत्तमाः संनहनोपपन्नाः।
तूणांश्च पूर्णान् महतः शराणा-
मासाद्य गात्रावरणानि चैव ॥ २८ ॥

'विचित्र एवं वेगशाली धनुष, उत्तम प्रत्यञ्चा, कवच, बाणोंसे भरे हुए विशाल तरकस और शरीरके आवरण—इन सबको लेकर शीघ्र तैयार हो जाओ ॥ २८ ॥

प्रायात्रिकं चानयताशु सर्वं
दध्ना पूर्णं वीर कांस्यं च हैमम्।
आनीय मालामवबध्य चाङ्गे
प्रवादयन्त्वाशु जयाय भेरीः ॥ २९ ॥

'वीर ! रणयात्राकी सारी आवश्यक सामग्री, दहीसे भरे हुए कांस्य और सुवर्णके पात्र आदि सब कुछ शीघ्र ले आओ। यह सब लानेके पश्चात् मेरे गलेमें माला पहनाकर विजय-यात्राके लिये तुमलोग तुरंत नगाड़े बजवा दो ॥ २९ ॥

प्रयाहि सूताशु यतः किरीटी
वृकोदरो धर्मसुतो यमौ च।
तान् वा हनिष्यामि समेत्य संख्ये
भीष्माय गच्छामि हतो द्विषद्भिः ॥ ३० ॥

'सूत ! यह सब कार्य करके तुम शीघ्र ही रथ लेकर उस स्थानपर चलो, जहाँ किरीटधारी अर्जुन, भीमसेन, धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा नकुल-सहदेव खड़े हैं। वहाँ युद्धस्थलमें उनसे भिड़कर या तो उन्हींको मार डालूँगा या स्वयं ही शत्रुओंके हाथसे मारा जाकर भीष्मके पास चला जाऊँगा ॥ ३० ॥

यस्मिन् राजा सत्यधृतिर्युधिष्ठिरः
समास्थितो भीमसेनार्जुनौ च।
वासुदेवः सात्यकिः सृंजयाश्च
मन्ये बलं तदजय्यं महीपैः ॥ ३१ ॥

'जिस सेनामें सत्यधृति राजा युधिष्ठिर खड़े हों, भीमसेन, अर्जुन, वासुदेव, सात्यकि तथा सृञ्जय मौजूद हों, उस सेनाको मैं राजाओंके लिये अजेय मानता हूँ ॥ ३१ ॥

तं चेन्मृत्युः सर्वहरोऽभिरक्षेत्
सदाप्रमत्तः समरे किरीटिनम्।
तथापि हन्तास्मि समेत्य संख्ये
यास्यामि वा भीष्मपथा यमाय ॥ ३२ ॥

'तथापि मैं समरभूमिमें सावधान रहकर युद्ध करूँगा और यदि सबका संहार करनेवाली मृत्यु स्वयं आकर अर्जुनकी रक्षा करे तो भी मैं युद्धके मैदानमें उनका सामना करके उन्हें मार डालूँगा अथवा स्वयं ही भीष्मके मार्गसे यमराजका दर्शन करनेके लिये चला जाऊँगा ॥ ३२ ॥

न त्वेवाहं न गमिष्यामि तेषां
मध्ये शूराणां तत्र चाहं ब्रवीमि।
मित्रद्रुहो दुर्बलभक्तयो ये
पापात्मानो न ममैते सहायाः ॥ ३३ ॥

'अब ऐसा तो नहीं हो सकता कि मैं उन शूरवीरोंके बीचमें न जाऊँ। इस विषयमें मैं इतना ही कहता हूँ कि जो मित्रद्रोही हों, जिनकी स्वामिभक्ति दुर्बल हो तथा जिनके मनमें पाप भरा हो; ऐसे लोग मेरे साथ न रहें' ॥ ३३ ॥

संजय उवाच

समृद्धिमन्तं रथमुत्तमं दृढं
सकूबरं हेमपरिष्कृतं शुभम्।
पताकिनं वातजवैर्हयोत्तमै-
र्युक्तं समास्थाय ययौ जयाय ॥ ३४ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कर्ण वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए, कूबर और पताकासे युक्त, सुवर्णभूषित, सुन्दर, समृद्धिशाली, सुदृढ़ तथा श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो युद्धमें विजय पानेके लिये चल दिया ॥

सम्पूज्यमानः कुरुभिर्महात्मा
रथर्षभो देवगणैर्यथेन्द्रः।
ययौ तदायोधनमुग्रधन्वा
यत्रावसानं भरतर्षभस्य ॥ ३५ ॥

उस समय देवगणोंसे इन्द्रकी भाँति समस्त कौरवोंसे

वरूथिना महता सध्वजेन
सुवर्णमुक्तामणिरत्नमालिना ।
सदश्वयुक्तेन रथेन कर्णो
मेघस्वनेनार्क इवामितौजाः ॥ ३६ ॥

सुवर्ण, मुक्ता, मणि तथा रत्नोंकी मालासे अलंकृत सुन्दर ध्वजासे सुशोभित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा अमित तेजस्वी कर्ण विशाल सेना साथ लिये युद्धभूमिकी ओर चल दिया ॥ ३६ ॥

हुताशनाभः स हुताशनप्रभे
शुभः शुभे वै स्वरथे धनुर्धरः ।
स्थितो रराजाधिरथिर्महारथः
स्वयं विमाने सुरराडिवास्थितः ॥ ३७ ॥

पूजित हो रथियोंमें श्रेष्ठ, भयंकर धनुर्धर, महामनस्वी कर्ण युद्धके उस मैदानमें गया, जहाँ भरतशिरोमणि भीष्मका देहावसान हुआ था ॥ ३५ ॥

अग्निके समान तेजस्वी अपने सुन्दर रथपर बैठा हुआ अग्निसदृश कान्तिमान्, सुन्दर एवं धनुर्धर महारथी अधिरथपुत्र कर्ण विमानमें विराजमान देवराज इन्द्रके समान सुशोभित हुआ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि कर्णनिर्याणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें कर्णकी रणयात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

भीष्मजीके प्रति कर्णका कथन

संजय उवाच

शरतल्पे महात्मानं शयानममितौजसम् ।
महावातसमूहेन समुद्रमिव शोषितम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अमित तेजस्वी महात्मा भीष्म बाण-शय्यापर सो रहे थे । उस समय वे प्रलयकालीन महावायुसमूहसे सोख लिये गये समुद्रके समान जान पड़ते थे ॥ १ ॥

दृष्ट्वा पितामहं भीष्मं सर्वक्षत्रान्तकं गुरुम् ।
दिव्यैरस्त्रैर्महेष्वासं पातितं सव्यसाचिना ॥ २ ॥
जयाशा तव पुत्राणां सम्भग्ना शर्म वर्म च ।
अपाराणामिव द्वीपमगाधे गाधमिच्छताम् ॥ ३ ॥

समस्त क्षत्रियोंका अन्त करनेमें समर्थ गुरु एवं पितामह महाधनुर्धर भीष्मको सव्यसाची अर्जुनने अपने दिव्यास्त्रोंके द्वारा मार गिराया था । उन्हें उस अवस्थामें देखकर आपके पुत्रोंकी विजयकी आशा भंग हो गयी । उन्हें अपने कल्याणकी भी आशा नहीं रही । उनके रक्षाकवच भी छिन्न-भिन्न हो गये । कहीं पार न पानेवाले तथा अथाह समुद्रमें थाह चाहनेवाले कौरवोंके लिये भीष्मजी द्वीपके समान आश्रय थे, जो पार्थद्वारा धराशायी कर दिये गये थे ॥ २-३ ॥

स्रोतसा यामुनेनेव शरौघेण परिप्लुतम् ।
महेन्द्रेणेव मैनाकमसह्यं भुवि पातितम् ॥ ४ ॥

वे यमुनाके जलप्रवाहके समान बाणसमूहसे व्याप्त हो रहे थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो महेन्द्रने असह्य मैनाक पर्वतको धरतीपर गिरा दिया हो ॥ ४ ॥

नभश्च्युतमिवादित्यं पतितं धरणीतले ।
शतक्रतुमिवाचिन्त्यं पुरा वृत्रेण निर्जितम् ॥ ५ ॥

वे आकाशसे च्युत होकर पृथ्वीपर पड़े हुए सूर्यके समान तथा पूर्वकालमें वृत्रासुरसे पराजित हुए अचिन्त्य देवराज इन्द्रके सदृश प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥

मोहनं सर्वसैन्यस्य युधि भीष्मस्य पातनम् ।
ककुदं सर्वसैन्यानां लक्ष्म सर्वधनुष्मताम् ॥ ६ ॥
धनंजयशरैर्व्याप्तं पितरं ते महाव्रतम् ।
तं वीरशयने वीरं शयानं पुरुषर्षभम् ॥ ७ ॥
भीष्ममाधिरथिर्दृष्ट्वा भरतानां महाद्युतिः ।
अवतीर्य रथादार्तो बाष्पव्याकुलिताक्षरम् ॥ ८ ॥
अभिवाद्याञ्जलिं बद्ध्वा वन्दमानोऽभ्यभाषत ।

उस युद्धस्थलमें भीष्मका गिराया जाना समस्त सैनिकोंको मोहमें डालनेवाला था । आपके ज्येष्ठ पिता महान् व्रतधारी

भीष्म समस्त सैनिकोंमें श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंके शिरोमणि थे। वे अर्जुनके बाणोंसे व्याप्त होकर वीरशय्यापर सो रहे थे। उन भरतवंशी वीर पुरुषप्रवर भीष्मको उस अवस्थामें देखकर अधिरथपुत्र महातेजस्वी कर्ण अत्यन्त आर्त होकर रथसे उतर पड़ा और अञ्जलि बाँध अभिवादनपूर्वक प्रणाम करके आँसूसे गद्गद वाणीमें इस प्रकार बोला—॥ ६–८½ ॥

कर्णोऽहमस्मि भद्रं ते वद मामभि भारत ॥ ९ ॥
पुण्यया क्षेम्यया वाचा चक्षुषा चावलोकय ।

'भारत ! आपका कल्याण हो। मैं कर्ण हूँ। आप अपनी पवित्र एवं मङ्गलमयी वाणीद्वारा मुझसे कुछ कहिये और कल्याणमयी दृष्टिद्वारा मेरी ओर देखिये ॥ ९½ ॥

न नूनं सुकृतस्येह फलं कश्चित् समश्नुते ॥ १० ॥
यत्र धर्मपरो वृद्धः शेते भुवि भवानिह ।

'निश्चय ही इस लोकमें कोई भी अपने पुण्यकर्मोंका फल यहाँ नहीं भोगता है; क्योंकि आप वृद्धावस्थातक सदा धर्ममें ही तत्पर रहे हैं, तो भी यहाँ इस दशामें धरतीपर सो रहे हैं ॥ १०½ ॥

कोशसंचयने मन्त्रे व्यूहे प्रहरणेषु च ॥ ११ ॥
नाहमन्यं प्रपश्यामि कुरूणां कुरुपुङ्गव ।
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो यः कुरूंस्तारयेद् भयात् ॥ १२ ॥
योधांस्तु बहुधा हत्वा पितृलोकं गमिष्यति ।

'कुरुश्रेष्ठ ! कोश-संग्रह, मन्त्रणा, व्यूह-रचना तथा अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें आपके समान कौरववंशमें दूसरा कोई मुझे नहीं दिखायी देता, जो अपनी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो समस्त कौरवोंको भयसे उबार सके तथा यहाँ बहुत-से योद्धाओंका वध करके अन्तमें पितृ-लोकको प्राप्त हो ॥ ११-१२½ ॥

अद्यप्रभृति संक्रुद्धा व्याघ्रा इव मृगक्षयम् ॥ १३ ॥
पाण्डवा भरतश्रेष्ठ करिष्यन्ति कुरुक्षयम् ।

'भरतश्रेष्ठ ! आजसे क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उसी प्रकार कौरवोंका विनाश करेंगे, जैसे व्याघ्र हिरनोंका ॥ १३½ ॥

अद्य गाण्डीवघोषस्य वीर्यज्ञाः सव्यसाचिनः ॥ १४ ॥
कुरवः संत्रसिष्यन्ति वज्रपाणेरिवासुराः ।

'आज गाण्डीवकी टंकार करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमको जाननेवाले कौरव उनसे उसी प्रकार डरेंगे, जैसे वज्रधारी इन्द्रसे असुर भयभीत होते हैं ॥ १४½ ॥

अद्य गाण्डीवमुक्ताना-
मशनीनामिव स्वनः ॥ १५ ॥
त्रासयिष्यति बाणानां
कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ।

'आज गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंका वज्रपातके समान शब्द कौरवों तथा अन्य राजाओंको भयभीत कर देगा ॥ १५½ ॥

समिद्धोऽग्निर्यथा वीर
महाज्वालो द्रुमान् दहेत् ॥ १६ ॥
धार्तराष्ट्रान् प्रधक्ष्यन्ति
तथा बाणाः किरीटिनः ।

'वीर ! जैसे बड़ी-बड़ी लपटोंसे युक्त प्रज्वलित हुई आग वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनके बाण धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा उनके सैनिकोंको जला डालेंगे ॥ १६½ ॥

येन येन प्रसरतो वाय्वग्नी सहितौ वने ॥ १७ ॥
तेन तेन प्रदहतो भूरिगुल्मतृणद्रुमान् ।

'वायु और अग्निदेव—ये दोनों एक साथ वनमें जिस-जिस मार्गसे फैलते हैं, उसी-उसीके द्वारा बहुत-से तृण, वृक्ष और लताओंको भस्म करते जाते हैं ॥ १७½ ॥

यादृशोऽग्निः समुद्भूतस्तादृक् पार्थो न संशयः ॥ १८ ॥
यथा वायुर्नरव्याघ्र तथा कृष्णो न संशयः ।

'पुरुषसिंह ! जैसी प्रज्वलित अग्नि होती है, वैसे ही कुन्तीकुमार अर्जुन हैं—इसमें संशय नहीं है और जैसी वायु होती है, वैसे ही श्रीकृष्ण हैं, इसमें भी संशय नहीं है ॥ १८½ ॥

नदतः पाञ्चजन्यस्य रसतो गाण्डिवस्य च ॥ १९ ॥
श्रुत्वा सर्वाणि सैन्यानि त्रासं यास्यन्ति भारत ।

'भारत ! बजते हुए पाञ्चजन्य और टंकारते हुए गाण्डीव धनुषकी भयंकर ध्वनि सुनकर आज सारी कौरव सेनाएँ भयभीत हो उठेंगी ॥ १९½ ॥

कपिध्वजस्योत्पततो रथस्यामित्रकर्षिणः ॥ २० ॥
शब्दं सोढुं न शक्ष्यन्ति त्वामृते वीर पार्थिवाः ।

'वीर ! शत्रुसूदन कपिध्वज अर्जुनके उड़ते हुए रथकी घरघराहटको आपके सिवा दूसरे राजा नहीं सह सकेंगे ॥ २०½ ॥

को ह्यर्जुनं योधयितुं त्वदन्यः पार्थिवोऽर्हति ॥ २१ ॥
यस्य दिव्यानि कर्माणि प्रवदन्ति मनीषिणः ।
अमानुषैश्च संग्रामस्त्र्यम्बकेण महात्मना ॥ २२ ॥
तस्माच्चैव वरं प्राप्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
कोऽन्यः शक्तो रणे जेतुं पूर्वं यो न जितस्त्वया॥ २३ ॥

'आपके सिवा दूसरा कौन राजा अर्जुनसे युद्ध कर सकता है ? मनीषी पुरुष जिनके दिव्य कर्मोंका बखान करते हैं, जो मानवेतर प्राणियों--असुरों तथा दैत्योंसे भी संग्राम कर चुके हैं, त्रिनेत्रधारी महात्मा भगवान् शङ्करके साथ भी जिन्होंने युद्ध किया है और उनसे वह उत्तम वर प्राप्त किया है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है, जिन्हें पहले आप भी जीत नहीं सके हैं, उन्हें आज दूसरा कौन युद्धमें जीत सकता है ? ॥ २१–२३ ॥

जितो येन रणे रामो भवता वीर्यशालिना ।
क्षत्रियान्तकरो घोरो देवदानवदर्पहा ॥ २४ ॥

'आप अपने पराक्रमसे शोभा पानेवाले वीर थे । आपने देवताओं तथा दानवोंका दर्प दलन करनेवाले क्षत्रियहन्ता घोर परशुरामजीको भी युद्धमें जीत लिया है ॥ २४ ॥

तमद्याहं पाण्डवं युद्धशौण्ड-
ममृष्यमाणो भवता चानुशिष्टः ।
आशीविषं दृष्टिहरं सुघोरं
शूरं शक्ष्याम्यस्त्रबलान्निहन्तुम् ॥ २५ ॥

'आज यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अमर्षमें भरकर दृष्टि हर लेनेवाले विषधर सर्पके समान अत्यन्त भयंकर युद्ध-कुशल शूरवीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको अपने अस्त्रबलसे मार सकूँगा' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि कर्णवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेक पर्वमें कर्णवाक्यविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

भीष्मजीका कर्णको प्रोत्साहन देकर युद्धके लिये भेजना तथा कर्णके आगमनसे कौरवोंका हर्षोल्लास

संजय उवाच

तस्य लालप्यतः श्रुत्वा कुरुवृद्धः पितामहः ।
देशकालोचितं वाक्यमब्रवीत् प्रीतमानसः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! इस प्रकार बहुत कुछ बोलते हुए कर्णकी बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मने प्रसन्न-चित्त होकर देश और कालके अनुसार यह बात कही--॥ १ ॥

समुद्र इव सिन्धूनां ज्योतिषामिव भास्करः ।
सत्यस्य च यथा सन्तो बीजानामिव चोर्वरा ॥ २ ॥
पर्जन्य इव भूतानां प्रतिष्ठा सुहृदां भव ।
बान्धवास्त्वानुजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः ॥ ३ ॥

'कर्ण ! जैसे सरिताओंका आश्रय समुद्र, ज्योतिर्मय पदार्थोंका सूर्य, सत्यका साधु पुरुष, बीजोंका उर्वरा भूमि और प्राणियोंकी जीविकाका आधार मेघ है, उसी प्रकार तुम भी अपने सुहृदोंके आश्रयदाता बनो । जैसे देवता सहस्रलोचन इन्द्रका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार समस्त बन्धु-बान्धव तुम्हारा आश्रय लेकर जीवन धारण करें ॥

मानहा भव शत्रूणां मित्राणां नन्दिवर्धनः ।
कौरवाणां भव गतिर्यथा विष्णुर्दिवौकसाम् ॥ ४ ॥

'तुम शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले और मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले होओ । जैसे भगवान् विष्णु देवताओंके आश्रय हैं, उसी प्रकार तुम कौरवोंके आधार बनो ॥ ४ ॥

स्वबाहुबलवीर्येण धार्तराष्ट्रजयैषिणा ।
कर्ण राजपुरं गत्वा काम्बोजा निर्जितास्त्वया ॥ ५ ॥

'कर्ण ! तुमने दुर्योधनके लिये विजयकी इच्छा रखकर अपनी भुजाओंके बल और पराक्रमसे राजपुरमें जाकर समस्त काम्बोजोंपर विजय पायी है ॥ ५ ॥

गिरिव्रजगताश्चापि नग्नजित्प्रमुखा नृपाः ।
अम्बष्ठाश्च विदेहाश्च गान्धाराश्च जितास्त्वया ॥ ६ ॥

'गिरिव्रजके निवासी नग्नजित् आदि नरेश, अम्बष्ठ, विदेह और गान्धारदेशीय क्षत्रियोंको भी तुमने परास्त किया है ॥ ६ ॥

हिमवद्दुर्गनिलयाः किराता रणकर्कशाः ।
दुर्योधनस्य वशगास्त्वया कर्ण पुरा कृताः ॥ ७ ॥

'कर्ण ! पूर्वकालमें तुमने हिमालयके दुर्गमें निवास करने-वाले रणकर्कश किरातोंको भी जीतकर दुर्योधनके अधीन कर दिया था ॥ ७ ॥

उत्कला मेकलाः पौण्ड्राः कलिङ्गान्ध्राश्च संयुगे ।
निषादाश्च त्रिगर्ताश्च बाह्लीकाश्च जितास्त्वया ॥ ८ ॥

'उत्कल, मेकल, पौण्ड्र, कलिंग, अंध्र, निषाद, त्रिगर्त और बाह्लीक आदि देशोंके राजाओंको भी तुमने परास्त किया है ॥ ८ ॥

तत्र तत्र च संग्रामे दुर्योधनहितैषिणा ।
बहवश्च जिताः कर्ण त्वया वीरा महौजसा ॥ ९ ॥

'कर्ण ! इनके सिवा और भी जहाँ-तहाँ संग्राम-भूमिमें दुर्योधनका हित चाहनेवाले तुम महापराक्रमी शूरवीरने बहुत-से वीरोंपर विजय पायी है ॥ ९ ॥

यथा दुर्योधनस्तात सज्ञातिकुलबान्धवः ।
तथा त्वमपि सर्वेषां कौरवाणां गतिर्भव ॥ १० ॥

'तात ! कुटुम्बी, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित दुर्योधन जैसे सब कौरवोंका आधार है, उसी प्रकार तुम भी कौरवोंके आश्रयदाता बनो ॥ १० ॥

शिवेनाभिवदामि त्वां गच्छ युध्यस्व शत्रुभिः।
अनुशाधि कुरून् संख्ये धत्स्व दुर्योधने जयम् ॥ ११ ॥

'मैं तुम्हारा कल्याणचिन्तन करते हुए तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, जाओ, शत्रुओंके साथ युद्ध करो। रणक्षेत्रमें कौरव सैनिकोंको कर्तव्यका आदेश दो और दुर्योधनको विजय प्राप्त कराओ ॥ ११ ॥

भवान् पौत्रसमोऽस्माकं यथा दुर्योधनस्तथा ।
तवापि धर्मतः सर्वे यथा तस्य वयं तथा ॥ १२ ॥

'दुर्योधनकी तरह तुम भी मेरे पौत्रके समान हो। धर्मतः जैसे मैं उसका हितैषी हूँ, उसी प्रकार तुम्हारा भी हूँ ॥ १२ ॥

यौनात् सम्बन्धकाल्लोके विशिष्टं संगतं सताम्।
सद्भिः सह नरश्रेष्ठ प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! संसारमें यौन (कौटुम्बिक) सम्बन्धकी अपेक्षा साधु पुरुषोंके साथ की हुई मैत्रीका सम्बन्ध श्रेष्ठ है; यह मनीषी महात्मा कहते हैं ॥ १३ ॥

स सत्यसंगतो भूत्वा ममेदमिति निश्चितः ।
कुरूणां पालय बलं यथा दुर्योधनस्तथा ॥ १४ ॥

'तुम सच्चे मित्र होकर और यह सब कुछ मेरा ही है, ऐसा निश्चित विचार रखकर दुर्योधनके ही समान समस्त कौरवदलकी रक्षा करो' ॥ १४ ॥

निशम्य वचनं तस्य चरणावभिवाद्य च ।
ययौ वैकर्तनः कर्णः समीपं सर्वधन्विनाम् ॥ १५ ॥

भीष्मजीका यह वचन सुनकर विकर्तनपुत्र कर्णने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और वह फिर सम्पूर्ण धनुर्धर सैनिकोंके समीप चला गया ॥ १५ ॥

सोऽभिवीक्ष्य नरौघाणां स्थानमप्रतिमं महत् ।
व्यूढप्रहरणोरस्कं सैन्यं तत् समबृंहयत् ॥ १६ ॥

वहाँ कर्णने कौरव सैनिकोंका वह अनुपम एवं विशाल स्थान देखा। समस्त सैनिक व्यूहाकारमें खड़े थे और अपने वक्षःस्थलके समीप अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको बाँधे हुए थे। कर्णने उस समय सारी कौरव-सेनाको उत्साहित किया ॥

हृषिताः कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः ।
उपागतं महाबाहुं सर्वानीकपुरःसरम् ॥ १७ ॥
कर्णं दृष्ट्वा महात्मानं युद्धाय समुपस्थितम् ।

समस्त सेनाओंके आगे चलनेवाले महाबाहु, महामनस्वी कर्णको आया और युद्धके लिये उपस्थित हुआ देख दुर्योधन आदि समस्त कौरव हर्षसे खिल उठे ॥ १७½ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितरवैः सिंहनादरवैरपि ।
धनुःशब्दैश्च विविधैः कुरवः समपूजयन् ॥ १८ ॥

उन समस्त कौरवोंने उस समय गर्जने, ताल ठोकने, सिंहनाद करने तथा नाना प्रकारसे धनुषकी टंकार फैलाने आदिके द्वारा कर्णका स्वागत-सत्कार किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि कर्णाश्वासे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें कर्णका आश्वासनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके समक्ष सेनापति-पदके लिये द्रोणाचार्यका नाम प्रस्तावित करना

संजय उवाच

रथस्थं पुरुषव्याघ्रं दृष्ट्वा कर्णमवस्थितम् ।
हृष्टो दुर्योधनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! पुरुषसिंह कर्णको रथपर बैठा देख दुर्योधनने प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

सनाथमिव मन्येऽहं भवता पालितं बलम् ।
अत्र किं नु समर्थं यद्धितं तत् सम्प्रधार्यताम् ॥ २ ॥

'कर्ण ! तुम्हारे द्वारा इस सेनाका संरक्षण हो रहा है, इससे मैं इसे सनाथ हुई-सी मानता हूँ। अब यहाँ हमारे लिये क्या करना उपयोगी और हितकर है, इसका निश्चय करो' ॥ २ ॥

कर्ण उवाच

ब्रूहि नः पुरुषव्याघ्र त्वं हि प्राज्ञतमो नृप ।
यथा चार्थपतिः कृत्यं पश्यते न तथेतरः ॥ ३ ॥

कर्णने कहा—पुरुषसिंह नरेश्वर ! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो। स्वयं ही अपना विचार हमें बताओ; क्योंकि धनका स्वामी उसके सम्बन्धमें आवश्यक कर्तव्यका जैसा विचार करता है, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

ते स्म सर्वे तव वचः श्रोतुकामा नरेश्वर ।
नान्याय्यं हि भवान् वाक्यं ब्रूयादिति मतिर्मम ॥ ४ ॥

अतः नरेश्वर ! हम सब लोग तुम्हारी ही बात सुनना चाहते हैं। मेरा विश्वास है कि तुम कोई ऐसी बात नहीं कहोगे, जो न्यायसंगत न हो ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

भीष्मः सेनाप्रणेताऽऽसीद् वयसा विक्रमेण च ।
श्रुतेन चोपसम्पन्नः सर्वैर्योधगणैस्तथा ॥ ५ ॥
तेनातियशसा कर्ण घ्नता शत्रुगणान् मम ।
सुयुद्धेन दशाहानि पालिताः स्मो महात्मना ॥ ६ ॥

दुर्योधनने कहा—कर्ण ! पहले आयु, बल-पराक्रम और विद्यामें सबसे बढ़े-चढ़े पितामह भीष्म हमारे सेनापति थे । वे अत्यन्त यशस्वी महात्मा पितामह समस्त योद्धाओंको साथ ले उत्तम युद्ध-प्रणालीद्वारा मेरे शत्रुओंका संहार करते हुए दस दिनोंतक हमारा पालन करते आये हैं ॥ ५-६ ॥

तस्मिन्नसुकरं कर्म कृतवत्यास्थिते दिवम् ।
कं नु सेनाप्रणेतारं मन्यसे तदनन्तरम् ॥ ७ ॥

वे तो अत्यन्त दुष्कर कर्म करके अब स्वर्गलोकके पथपर आरूढ़ हो गये हैं । ऐसी दशामें उनके बाद तुम किसे सेनापति बनाये जाने योग्य मानते हो ? ॥ ७ ॥

न विना नायकं सेना मुहूर्तमपि तिष्ठति ।
आहवेष्वाहवश्रेष्ठ नेतृहीनेव नौर्जले ॥ ८ ॥

समराङ्गणके श्रेष्ठ वीर ! सेनापतिके बिना कोई सेना दो घड़ी भी संग्राममें टिक नहीं सकती है । ठीक उसी तरह, जैसे मल्लाहके बिना नाव जलमें स्थिर नहीं रह सकती है ॥

यथा ह्यकर्णधारा नौ रथश्चासारथिर्यथा ।
द्रवेद् यथेष्टं तद्वत् स्यादृते सेनापतिं बलम् ॥ ९ ॥

जैसे बिना नाविककी नाव जहाँ-कहीं भी जलमें बह जाती है और बिना सारथिका रथ चाहे जहाँ भटक जाता है, उसी प्रकार सेनापतिके बिना सेना भी जहाँ चाहे भाग सकती है ॥ ९ ॥

अदेशिको यथा सार्थः सर्वः कृच्छ्रं समृच्छति ।
अनायका तथा सेना सर्वान् दोषान् समर्छति ॥ १० ॥

जैसे कोई मार्गदर्शक न होनेपर यात्रियोंका सारा दल भारी संकटमें पड़ जाता है, उसी प्रकार सेनानायकके बिना सेनाको सब प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है ॥

स भवान् वीक्ष्य सर्वेषु मामकेषु महात्मसु ।
पश्य सेनापतिं युक्तमनु शान्तनवादिह ॥ ११ ॥

अतः तुम मेरे पक्षके सब महामनस्वी वीरोंपर दृष्टि डालकर यह देखो कि भीष्मजीके बाद अब कौन उपयुक्त सेनापति हो सकता है ॥ ११ ॥

यं हि सेनाप्रणेतारं भवान् वक्ष्यति संयुगे ।
तं वयं सहिताः सर्वे करिष्यामो न संशयः ॥ १२ ॥

इस युद्धस्थलमें तुम जिसे सेनापतिपदके योग्य बताओगे, निःसंदेह हम सब लोग मिलकर उसीको सेनानायक बनायेंगे ॥ १२ ॥

कर्ण उवाच

सर्व एव महात्मान इमे पुरुषसत्तमाः ।
सेनापतित्वमर्हन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥ १३ ॥

कर्णने कहा—राजन् ! ये सभी महामनस्वी पुरुषप्रवर नरेश सेनापति होनेके योग्य हैं । इस विषयमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १३ ॥

कुलसंहनज्ञानैर्बलविक्रमबुद्धिभिः ।
युक्ताः श्रुतज्ञा धीमन्त आहवेष्वनिवर्तिनः ॥ १४ ॥

जो राजा यहाँ मौजूद हैं, वे सभी अपने कुल, शरीर, ज्ञान, बल, पराक्रम और बुद्धिकी दृष्टिसे सेनापति-पदके योग्य हैं । ये सब-के-सब वेदज्ञ, बुद्धिमान् और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १४ ॥

युगपन्न तु ते शक्याः कर्तुं सर्वे पुरःसराः ।
एक एव तु कर्तव्यो यस्मिन् वैशेषिका गुणाः ॥ १५ ॥

परंतु सब-के-सब एक ही समय सेनापति नहीं बनाये जा सकते, इसलिये जिस एकमें सभी विशिष्ट गुण हों, उसीको अपनी सेनाका प्रधान बनाना चाहिये ॥ १५ ॥

अन्योन्यस्पर्धिनां ह्येषां यद्येकं यं करिष्यसि ।
शेषा विमनसो व्यक्तं न योत्स्यन्ति हितास्तव ॥ १६ ॥

किंतु ये सभी नरेश परस्पर एक दूसरेसे स्पर्धा रखनेवाले हैं । यदि इनमेंसे किसी एकको सेनापति बना लोगे तो शेष सब लोग मन-ही-मन अप्रसन्न हो तुम्हारे हितकी भावनासे युद्ध नहीं करेंगे, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है ॥ १६ ॥

अयं च सर्वयोधानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।
युक्तः सेनापतिः कर्तुं द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ॥ १७ ॥

इसलिये जो इन समस्त योद्धाओंके आचार्य, वयोवृद्ध गुरु तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य द्रोण ही इस समय सेनापति बनाये जानेके योग्य हैं ॥ १७ ॥

को हि तिष्ठति दुर्धर्षे द्रोणे शस्त्रभृतां वरे ।
सेनापतिः स्यादन्योऽस्माच्छुक्राङ्गिरसदर्शनात् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, दुर्जय वीर द्रोणाचार्यके रहते हुए इन शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान महानुभावको छोड़कर दूसरा कौन सेनापति हो सकता है ? ॥ १८ ॥

न च सोऽप्यस्ति ते योधः सर्वराजसु भारत ।
द्रोणं यः समरे यान्तं नानुयास्यति संयुगे ॥ १९ ॥

भारत ! समस्त राजाओंमें तुम्हारा कोई भी ऐसा योद्धा नहीं है, जो समरभूमिमें आगे जानेवाले द्रोणाचार्यके पीछे-पीछे न जाय ॥ १९ ॥

एष सेनाप्रणेतॄणामेष शस्त्रभृतामपि ।
एष बुद्धिमतां चैव श्रेष्ठो राजन् गुरुस्तव ॥ २० ॥

यथा दुर्योधनस्तात सज्ञातिकुलबान्धवः ।
तथा त्वमपि सर्वेषां कौरवाणां गतिर्भव ॥ १० ॥

'तात ! कुटुम्बी, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित दुर्योधन जैसे सब कौरवोंका आधार है, उसी प्रकार तुम भी कौरवोंके आश्रयदाता बनो ॥ १० ॥

शिवेनाभिवदामि त्वां गच्छ युध्यस्व शत्रुभिः।
अनुशाधि कुरून् संख्ये धत्स्व दुर्योधने जयम् ॥ ११ ॥

'मैं तुम्हारा कल्याणचिन्तन करते हुए तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, जाओ, शत्रुओंके साथ युद्ध करो । रणक्षेत्रमें कौरव सैनिकोंको कर्तव्यका आदेश दो और दुर्योधनको विजय प्राप्त कराओ ॥ ११ ॥

भवान् पौत्रसमोऽस्माकं यथा दुर्योधनस्तथा ।
तवापि धर्मतः सर्वे यथा तस्य वयं तथा ॥ १२ ॥

'दुर्योधनकी तरह तुम भी मेरे पौत्रके समान हो । धर्मतः जैसे मैं उसका हितैषी हूँ, उसी प्रकार तुम्हारा भी हूँ ॥ १२ ॥

यौनात् सम्बन्धकाल्लोके विशिष्टं संगतं सताम् ।
सद्भिः सह नरश्रेष्ठ प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! संसारमें यौन (कौटुम्बिक) सम्बन्धकी अपेक्षा साधु पुरुषोंके साथ की हुई मैत्रीका सम्बन्ध श्रेष्ठ है; यह मनीषी महात्मा कहते हैं ॥ १३ ॥

स सत्यसंगतो भूत्वा ममेदमिति निश्चितः ।
कुरूणां पालय बलं यथा दुर्योधनस्तथा ॥ १४ ॥

'तुम सच्चे मित्र होकर और यह सब कुछ मेरा ही है, ऐसा निश्चित विचार रखकर दुर्योधनके ही समान समस्त कौरवदलकी रक्षा करो' ॥ १४ ॥

निशम्य वचनं तस्य चरणावभिवाद्य च ।
ययौ वैकर्तनः कर्णः समीपं सर्वधन्विनाम् ॥ १५ ॥

भीष्मजीका यह वचन सुनकर विकर्तनपुत्र कर्णने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और वह फिर सम्पूर्ण धनुर्धर सैनिकोंके समीप चला गया ॥ १५ ॥

सोऽभिवीक्ष्य नरौघाणां स्थानमप्रतिमं महत् ।
व्यूढप्रहरणोरस्कं सैन्यं तत् समबृंहयत् ॥ १६ ॥

वहाँ कर्णने कौरव सैनिकोंका वह अनुपम एवं विशाल स्थान देखा । समस्त सैनिक व्यूहाकारमें खड़े थे और अपने वक्षःस्थलके समीप अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको बाँधे हुए थे । कर्णने उस समय सारी कौरव-सेनाको उत्साहित किया ॥

हृषिताः कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः ।
उपागतं महाबाहुं सर्वानीकपुरःसरम् ॥ १७ ॥
कर्णं दृष्ट्वा महात्मानं युद्धाय समुपस्थितम् ।

समस्त सेनाओंके आगे चलनेवाले महाबाहु, महामनस्वी कर्णको आया और युद्धके लिये उपस्थित हुआ देख दुर्योधन आदि समस्त कौरव हर्षसे खिल उठे ॥ १७½ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितरवैः सिंहनादरवैरपि ।
धनुःशब्दैश्च विविधैः कुरवः समपूजयन् ॥ १८ ॥

उन समस्त कौरवोंने उस समय गर्जने, ताल ठोकने, सिंहनाद करने तथा नाना प्रकारसे धनुषकी टंकार फैलाने आदिके द्वारा कर्णका स्वागत-सत्कार किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि कर्णाश्वासे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें कर्णका आश्वासनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके समक्ष सेनापति-पदके लिये द्रोणाचार्यका नाम प्रस्तावित करना

संजय उवाच

रथस्थं पुरुषव्याघ्रं दृष्ट्वा कर्णमवस्थितम् ।
हृष्टो दुर्योधनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! पुरुषसिंह कर्णको रथपर बैठा देख दुर्योधनने प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

सनाथमिव मन्येऽहं भवता पालितं बलम् ।
अत्र किं नु समर्थं यद्धितं तत् सम्प्रधार्यताम् ॥ २ ॥

'कर्ण ! तुम्हारे द्वारा इस सेनाका संरक्षण हो रहा है, इससे मैं इसे सनाथ हुई-सी मानता हूँ । अब यहाँ हमारे लिये क्या करना उपयोगी और हितकर है, इसका निश्चय करो' ॥ २ ॥

कर्ण उवाच

ब्रूहि नः पुरुषव्याघ्र त्वं हि प्राज्ञतमो नृप ।
यथा चार्थपतिः कृत्यं पश्यते न तथेतरः ॥ ३ ॥

कर्णने कहा—पुरुषसिंह नरेश्वर ! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो । स्वयं ही अपना विचार हमें बताओ; क्योंकि धनका स्वामी उसके सम्बन्धमें आवश्यक कर्तव्यका जैसा विचार करता है, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

ते स्म सर्वे तव वचः श्रोतुकामा नरेश्वर ।
नान्याय्यं हि भवान् वाक्यं ब्रूयादिति मतिर्मम ॥ ४ ॥

अतः नरेश्वर ! हम सब लोग तुम्हारी ही बात सुनना चाहते हैं । मेरा विश्वास है कि तुम कोई ऐसी बात नहीं कहोगे, जो न्यायसंगत न हो ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

भीष्मः सेनाप्रणेताऽऽसीद् वयसा विक्रमेण च ।
श्रुतेन चोपसम्पन्नः सर्वैर्योधगणैस्तथा ॥ ५ ॥
तेनातियशसा कर्ण घ्नता शत्रुगणान् मम ।
सुयुद्धेन दशाहानि पालिताः स्मो महात्मना ॥ ६ ॥

दुर्योधनने कहा—कर्ण ! पहले आयु, बल-पराक्रम और विद्यामें सबसे बढ़े-चढ़े पितामह भीष्म हमारे सेनापति थे । वे अत्यन्त यशस्वी महात्मा पितामह समस्त योद्धाओंको साथ ले उत्तम युद्ध-प्रणालीद्वारा मेरे शत्रुओंका संहार करते हुए दस दिनोंतक हमारा पालन करते आये हैं ॥ ५-६ ॥

तस्मिन्नसुकरं कर्म कृतवत्यास्थिते दिवम् ।
कं नु सेनाप्रणेतारं मन्यसे तदनन्तरम् ॥ ७ ॥

वे तो अत्यन्त दुष्कर कर्म करके अब स्वर्गलोकके पथपर आरूढ़ हो गये हैं । ऐसी दशामें उनके बाद तुम किसे सेनापति बनाये जाने योग्य मानते हो ? ॥ ७ ॥

न विना नायकं सेना मुहूर्तमपि तिष्ठति ।
आहवेष्वाहवश्रेष्ठ नेतृहीनेव नौर्जले ॥ ८ ॥

समराङ्गणके श्रेष्ठ वीर ! सेनापतिके बिना कोई सेना दो घड़ी भी संग्राममें टिक नहीं सकती है । ठीक उसी तरह, जैसे मल्लाहके बिना नाव जलमें स्थिर नहीं रह सकती है ॥

यथा ह्यकर्णधारा नौ रथश्चासारथिर्यथा ।
द्रवेद् यथेष्टं तद्वत् स्यादृते सेनापतिं बलम् ॥ ९ ॥

जैसे बिना नाविककी नाव जहाँ-कहीं भी जलमें बह जाती है और बिना सारथिका रथ चाहे जहाँ भटक जाता है, उसी प्रकार सेनापतिके बिना सेना भी जहाँ चाहे भाग सकती है ॥ ९ ॥

अदेशिको यथा सार्थः सर्वः कृच्छ्रं समृच्छति ।
अनायका तथा सेना सर्वान् दोषान् समर्छति ॥ १० ॥

जैसे कोई मार्गदर्शक न होनेपर यात्रियोंका सारा दल भारी संकटमें पड़ जाता है, उसी प्रकार सेनानायकके बिना सेनाको सब प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है ॥

स भवान् वीक्ष्य सर्वेषु मामकेषु महात्मसु ।
पश्य सेनापतिं युक्तमनु शान्तनवादिह ॥ ११ ॥

अतः तुम मेरे पक्षके सब महामनस्वी वीरोंपर दृष्टि डालकर यह देखो कि भीष्मजीके बाद अब कौन उपयुक्त सेनापति हो सकता है ॥ ११ ॥

यं हि सेनाप्रणेतारं भवान् वक्ष्यति संयुगे ।
तं वयं सहिताः सर्वे करिष्यामो न संशयः ॥ १२ ॥

इस युद्धस्थलमें तुम जिसे सेनापतिपदके योग्य बताओगे, निःसंदेह हम सब लोग मिलकर उसीको सेनानायक बनायेंगे ॥ १२ ॥

कर्ण उवाच

सर्व एव महात्मान इमे पुरुषसत्तमाः ।
सेनापतित्वमर्हन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥ १३ ॥

कर्णने कहा—राजन् ! ये सभी महामनस्वी पुरुषप्रवर नरेश सेनापति होनेके योग्य हैं । इस विषयमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १३ ॥

कुलसंहननज्ञानैर्बलविक्रमबुद्धिभिः ।
युक्ताः श्रुतज्ञा धीमन्त आहवेष्वनिवर्तिनः ॥ १४ ॥

जो राजा यहाँ मौजूद हैं, वे सभी अपने कुल, शरीर, ज्ञान, बल, पराक्रम और बुद्धिकी दृष्टिसे सेनापति-पदके योग्य हैं । ये सब-के-सब वेदज्ञ, बुद्धिमान् और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १४ ॥

युगपन्न तु ते शक्याः कर्तुं सर्वे पुरःसराः ।
एक एव तु कर्तव्यो यस्मिन् वैशेषिका गुणाः ॥ १५ ॥

परंतु सब-के-सब एक ही समय सेनापति नहीं बनाये जा सकते, इसलिये जिस एकमें सभी विशिष्ट गुण हों, उसीको अपनी सेनाका प्रधान बनाना चाहिये ॥ १५ ॥

अन्योन्यस्पर्धिनां ह्येषां यद्येकं यं करिष्यसि ।
शेषा विमनसो व्यक्तं न योत्स्यन्ति हितास्तव ॥ १६ ॥

किंतु ये सभी नरेश परस्पर एक दूसरेसे स्पर्धा रखनेवाले हैं । यदि इनमेंसे किसी एकको सेनापति बना लोगे तो शेष सब लोग मन-ही-मन अप्रसन्न हो तुम्हारे हितकी भावनासे युद्ध नहीं करेंगे, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है ॥ १६ ॥

अयं च सर्वयोधानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।
युक्तः सेनापतिः कर्तुं द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ॥ १७ ॥

इसलिये जो इन समस्त योद्धाओंके आचार्य, वयोवृद्ध गुरु तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य द्रोण ही इस समय सेनापति बनाये जानेके योग्य हैं ॥ १७ ॥

को हि तिष्ठति दुर्धर्षे द्रोणे शस्त्रभृतां वरे ।
सेनापतिः स्यादन्योऽस्माच्छुक्राङ्गिरसदर्शनात् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, दुर्जय वीर द्रोणाचार्यके रहते हुए इन शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान महानुभावको छोड़कर दूसरा कौन सेनापति हो सकता है ? ॥ १८ ॥

न च सोऽप्यस्ति ते योधः सर्वराजसु भारत ।
द्रोणं यः समरे यान्तं नानुयास्यति संयुगे ॥ १९ ॥

भारत ! समस्त राजाओंमें तुम्हारा कोई भी ऐसा योद्धा नहीं है, जो समरभूमिमें आगे जानेवाले द्रोणाचार्यके पीछे-पीछे न जाय ॥ १९ ॥

एष सेनाप्रणेतॄणामेष शस्त्रभृतामपि ।
एष बुद्धिमतां चैव श्रेष्ठो राजन् गुरुस्तव ॥ २० ॥

राजन्! तुम्हारे ये गुरुदेव समस्त सेनापतियों, शस्त्रधारियों और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

एवं दुर्योधनाचार्यमाशु सेनापतिं कुरु।
जिगीषन्तोऽसुरान् संख्ये कार्तिकेयमिवामराः॥ २१ ॥

अतः दुर्योधन! जैसे असुरोंपर विजयकी इच्छा रखनेवाले देवताओंने रणक्षेत्रमें कार्तिकेयको अपना सेनापति बनाया था, इसी प्रकार तुम भी आचार्य द्रोणको शीघ्र सेनापति बनाओ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि कर्णवाक्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें कर्णवाक्यविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दुर्योधनका द्रोणाचार्यसे सेनापति होनेके लिये प्रार्थना करना

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
सेनामध्यगतं द्रोणमिदं वचनमब्रवीत्॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! कर्णका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने सेनाके मध्यभागमें स्थित हुए आचार्य द्रोणसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

वर्णश्रैष्ठ्यात् कुलोत्पत्त्या श्रुतेन वयसा धिया।
वीर्याद् दाक्ष्यादधृष्यत्वादर्थज्ञानान्नयाज्जयात्॥ २ ॥
तपसा च कृतज्ञत्वाद् वृद्धः सर्वगुणैरपि।
युक्तो भवत्समो गोप्ता राज्ञामन्यो न विद्यते॥ ३ ॥
स भवान् पातु नः सर्वान् देवानिव शतक्रतुः।
भवन्नेत्राः पराञ्जेतुमिच्छामो द्विजसत्तम॥ ४ ॥

दुर्योधन बोला—द्विजश्रेष्ठ! आप उत्तम वर्ण, श्रेष्ठ कुलमें जन्म, शास्त्रज्ञान, अवस्था, बुद्धि, पराक्रम, युद्धकौशल, अजेयता, अर्थज्ञान, नीति, विजय, तपस्या तथा कृतज्ञता आदि समस्त गुणोंके द्वारा सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपके समान योग्य संरक्षक इन राजाओंमें भी दूसरा नहीं है। अतः जैसे इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमलोगोंकी रक्षा करें। हम आपके नेतृत्वमें रहकर शत्रुओंपर विजय पाना चाहते हैं ॥ २–४ ॥

Brijendra.

रुद्राणामिव कापाली वसूनामिव पावकः।
कुबेर इव यक्षाणां मरुतामिव वासवः॥ ५ ॥
वसिष्ठ इव विप्राणां तेजसामिव भास्करः।
पितॄणामिव धर्मेन्द्रो यादसामिव चाम्बुराट्॥ ६ ॥
नक्षत्राणामिव शशी दितिजानामिवोशनाः।
श्रेष्ठः सेनाप्रणेतॄणां स नः सेनापतिर्भव॥ ७ ॥

रुद्रोंमें शंकर, वसुओंमें पावक, यक्षोंमें कुबेर, देवताओंमें इन्द्र, ब्राह्मणोंमें वसिष्ठ, तेजोमय पदार्थोंमें भगवान् सूर्य, पितरोंमें धर्मराज, जलचरोंमें वरुणदेव, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा और दैत्योंमें शुक्राचार्यके समान आप समस्त सेनानायकोंमें श्रेष्ठ हैं; अतः हमारे सेनापति होइये ॥ ५–७ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च वशगाः सन्तु तेऽनघ।
ताभिः शत्रून् प्रतिव्यूह्य जहीन्द्रो दानवानिव॥ ८ ॥

अनघ! मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपके अधीन रहें। उन सबके द्वारा शत्रुओंके मुकाबलेमें व्यूह बनाकर आप मेरे विरोधियोंका उसी प्रकार नाश कीजिये, जैसे इन्द्र दैत्योंका नाश करते हैं ॥ ८ ॥

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः।
अनुयास्यामहे त्वाजौ सौरभेया इवर्षभम्॥ ९ ॥

जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे चलते हैं, उसी प्रकार आप हमलोगोंके आगे चलिये। जैसे बछड़े साँड़के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार युद्धमें हम सब लोग आपके पीछे चलेंगे ॥

उग्रधन्वा महेष्वासो दिव्यं विस्फारयन् धनुः।
अग्रे भवं त्वां तु दृष्ट्वा नार्जुनः प्रहरिष्यति॥ १० ॥

आपको अग्रगामी सेनापतिके रूपमें देखकर भयंकर

दुर्योधनद्वारा द्रोणाचार्यका सेनापतिके पदपर अभिषेक

धनुष धारण करनेवाले महाधनुर्धर अर्जुन अपने दिव्य धनुषकी टंकार फैलाते हुए भी प्रहार नहीं करेंगे ॥ १० ॥

ध्रुवं युधिष्ठिरं संख्ये सानुबन्धं सबान्धवम् ।
जेष्यामि पुरुषव्याघ्र भवान् सेनापतिर्यदि ॥ ११ ॥

पुरुषसिंह ! यदि आप मेरे सेनापति हो जायँ तो मैं युद्धमें निश्चय ही भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियोंसहित युधिष्ठिरको जीत लूँगा ॥ ११ ॥

संजय उवाच

एवमुक्ते ततो द्रोणं जयेत्यूचुर्नराधिपाः ।
सिंहनादेन महता हर्षयन्तस्तवात्मजम् ॥ १२ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर सब राजा अपने महान् सिंहनादसे आपके पुत्रका हर्ष बढ़ाते हुए द्रोणसे बोले--'आचार्य ! आपकी जय हो' ॥ १२ ॥

सैनिकाश्च मुदा युक्ता वर्धयन्ति द्विजोत्तमम् ।
दुर्योधनं पुरस्कृत्य प्रार्थयन्तो महद् यशः ।
दुर्योधनं ततो राजन् द्रोणो वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

दूसरे सैनिक भी प्रसन्न होकर दुर्योधनको आगे करके महान् यशकी अभिलाषा रखते हुए द्रोणाचार्यकी प्रशंसा करके उनका उत्साह बढ़ाने लगे । राजन् ! उस समय द्रोणाचार्यने दुर्योधनसे कहा ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि द्रोणप्रोत्साहने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें द्रोणको उत्साह-प्रदानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका सेनापतिके पदपर अभिषेक, कौरव-पाण्डव-सेनाओंका युद्ध और द्रोणका पराक्रम

द्रोण उवाच

वेदं षडङ्गं वेदाहमर्थविद्यां च मानवीम् ।
त्रैयम्बकमथेष्वस्त्रं शस्त्राणि विविधानि च ॥ १ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! मैं छहों अङ्गोंसहित वेद, मनुजीका कहा हुआ अर्थशास्त्र, भगवान् शंकरकी दी हुई बाण-विद्या और अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र भी जानता हूँ ॥ १ ॥

ये चाप्युक्ता मयि गुणा भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
चिकीर्षुस्तानहं सर्वान् योधयिष्यामि पाण्डवान् ॥ २ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले तुमलोगोंने मुझमें जो-जो गुण बताये हैं, उन सबको प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ २ ॥

पार्षतं तु रणे राजन् न हनिष्ये कथंचन ।
स हि सृष्टो वधार्थाय ममैव पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

राजन् ! मैं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको युद्धस्थलमें किसी प्रकार भी नहीं मारूँगा; क्योंकि वह पुरुषप्रवर धृष्टद्युम्न मेरे ही वधके लिये उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

योधयिष्यामि सैन्यानि नाशयन् सर्वसोमकान् ।
न च मां पाण्डवा युद्धे योधयिष्यन्ति हर्षिताः ॥ ४ ॥

मैं समस्त सोमकोंका संहार करते हुए पाण्डव-सेनाओंके साथ युद्ध करूँगा; परंतु पाण्डवलोग युद्धमें प्रसन्नतापूर्वक मेरा सामना नहीं करेंगे ॥ ४ ॥

संजय उवाच

स एवमभ्यनुज्ञातश्चक्रे सेनापतिं ततः ।
द्रोणं तव सुतो राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आचार्य द्रोणकी अनुमति मिल जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनने उन्हें शास्त्रीय विधिके अनुसार सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया ॥

अथाभिषिषिचुर्द्रोणं दुर्योधनमुखा नृपाः ।
सैनापत्ये यथा स्कन्दं पुरा शक्रमुखाः सुराः ॥ ६ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्वकालमें इन्द्र आदि देवताओंने स्कन्दको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था, उसी प्रकार दुर्योधन आदि राजाओंने भी द्रोणाचार्यका अभिषेक किया ।६।

ततो वादित्रघोषेण शङ्खानां च महास्वनैः ।
प्रादुरासीत् कृते द्रोणे हर्षः सेनापतौ तदा ॥ ७ ॥

उस समय वाद्योंके घोष तथा शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनिके साथ द्रोणाचार्यके सेनापति बना लिये जानेपर सब लोगोंके हृदयमें महान् हर्ष प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

ततः पुण्याहघोषेण स्वस्तिवादस्वनेन च ।
संस्तवैर्गीतशब्दैश्च सूतमागधवन्दिनाम् ॥ ८ ॥
जयशब्दैर्द्विजाग्र्याणां सुभगानर्तितैस्तथा ।
सत्कृत्य विधिना द्रोणं मेनिरे पाण्डवाञ्जितान् ॥ ९ ॥

पुण्याहवाचन, स्वस्तिवाचन, सूत, मागध और वन्दीजनोंके स्तोत्र, गीत तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके जय-जयकारके शब्दसे एवं नाचनेवाली स्त्रियोंके नृत्यसे द्रोणाचार्यका विधिवत् सत्कार करके कौरवोंने यह मान लिया कि अब पाण्डव पराजित हो गये ॥ ८-९ ॥

सैनापत्यं तु सम्प्राप्य भारद्वाजो महारथः ।
युयुत्सुर्व्यूह्य सैन्यानि प्रायात् तव सुतैः सह ॥ १० ॥

राजन् ! महारथी द्रोणाचार्य सेनापतिका पद पाकर अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करके आपके

पुत्रोंको साथ ले युद्धके लिये उत्सुक हो आगे बढ़े ॥ १० ॥

सैन्धवश्च कलिङ्गश्च विकर्णश्च तवात्मजः।
दक्षिणं पार्श्वमास्थाय समतिष्ठन्त दंशिताः ॥ ११ ॥

सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गनरेश और आपके पुत्र विकर्ण–ये तीनों उनके दक्षिण पार्श्वका आश्रय ले कवच बाँधकर खड़े हुए ॥ ११ ॥

प्रपक्षः शकुनिस्तेषां प्रवरैर्हयसादिभिः।
ययौ गान्धारकैः सार्धं विमलप्रासयोधिभिः ॥ १२ ॥

गान्धार देशके प्रधान-प्रधान घुड़सवारोंके साथ, जो चमकीले प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले थे, गान्धारराज शकुनि उन दक्षिण पार्श्वके योद्धाओंका प्रपक्ष (सहायक) बनकर चला॥

कृपश्च कृतवर्मा च चित्रसेनो विविंशतिः।
दुःशासनमुखा यत्ताः सव्यं पक्षमपालयन् ॥ १३ ॥

कृपाचार्य, कृतवर्मा, चित्रसेन, विविंशति और दुःशासन आदि वीर योद्धा बड़ी सावधानीके साथ द्रोणाचार्यके वाम पार्श्वकी रक्षा करने लगे ॥ १३ ॥

तेषां प्रपक्षाः काम्बोजाः सुदक्षिणपुरःसराः।
ययुरश्वैर्महावेगैः शकाश्च यवनैः सह ॥ १४ ॥

उनके सहायक या प्रपक्ष थे सुदक्षिण आदि काम्बोज-देशीय सैनिक। ये सब लोग शकों और यवनोंके साथ महान् वेगशाली घोड़ोंपर सवार हो युद्धके लिये आगे बढ़े ॥१४॥

मद्रास्त्रिगर्ताः साम्बष्ठाः प्रतीच्योदीच्यमालवाः।
शिबयः शूरसेनाश्च शूद्राश्च मलदैः सह ॥ १५ ॥
सौवीराः कितवाः प्राच्या दाक्षिणात्याश्च सर्वशः।
तवात्मजं पुरस्कृत्य सूतपुत्रस्य पृष्ठतः ॥ १६ ॥
हर्षयन्तः स्वसैन्यानि ययुस्तव सुतैः सह।

मद्र, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, शिबि, शूरसेन, शूद्र, मलद, सौवीर, कितव, प्राच्य तथा दाक्षिणात्य वीर—ये सबके सब आपके पुत्र दुर्योधनको आगे करके सूतपुत्र कर्णके पृष्ठभागमें रहकर अपनी सेनाओंको हर्ष प्रदान करते हुए आपके पुत्रोंके साथ चले ॥ १५-१६½ ॥

प्रवरः सर्वयोधानां बलेषु बलमादधत् ॥ १७ ॥
ययौ वैकर्तनः कर्णः प्रमुखे सर्वधन्विनाम्।

समस्त योद्धाओंमें श्रेष्ठ विकर्तनपुत्र कर्ण सारी सेनाओंमें नूतन शक्ति और उत्साहका संचार करता हुआ सम्पूर्ण धनुर्धरोंके आगे-आगे चला ॥ १७½ ॥

तस्य दीप्तो महाकायः स्वान्यनीकानि हर्षयन् ॥ १८ ॥
हस्तिकक्ष्यो महाकेतुर्बभौ सूर्यसमद्युतिः।

उसका अत्यन्त कान्तिमान् विशाल ध्वज बहुत ऊँचा था। उसमें हाथीको बाँधनेवाली साँकलका चिह्न सुशोभित था। वह ध्वज अपने सैनिकोंका हर्ष बढ़ाता हुआ सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ १८½ ॥

न भीष्मव्यसनं कश्चिद् दृष्ट्वा कर्णममन्यत ॥ १९ ॥
विशोकाश्चाभवन् सर्वे राजानः कुरुभिः सह।

कर्णको देखकर किसीको भी भीष्मजीके मारे जानेका दुःख नहीं रह गया। कौरवोंसहित सब राजा शोक-रहित हो गये ॥ १९½ ॥

हृष्टाश्च बहवो योधास्तत्राजल्पन्त वेगतः ॥ २० ॥
न हि कर्णं रणे दृष्ट्वा युधि स्थास्यन्ति पाण्डवाः।

हर्षमें भरे हुए बहुत-से योद्धा वहाँ वेगपूर्वक बोल उठे–'इस रणक्षेत्रमें कर्णको उपस्थित देख पाण्डवलोग ठहर नहीं सकेंगे ॥ २०½ ॥

कर्णो हि समरे शक्तो जेतुं देवान् सवासवान् ॥ २१ ॥
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान्।

'क्योंकि कर्ण समराङ्गणमें इन्द्रके सहित देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ है। फिर, जो बल और पराक्रममें कर्णकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके हैं, उन पाण्डवोंको युद्धमें पराजित करना उसके लिये कौन बड़ी बात है ॥ २१½ ॥

भीष्मेण तु रणे पार्थाः पालिता बाहुशालिना ॥ २२ ॥
तांस्तु कर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्नाशयिष्यति संयुगे।

'अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीष्मने तो युद्धमें कुन्तीकुमारोंकी रक्षा की है; परंतु कर्ण अपने तीखे बाणों-द्वारा उनका विनाश कर डालेगा' ॥ २२½ ॥

एवं ब्रुवन्तस्तेऽन्योन्यं हृष्टरूपा विशाम्पते ॥ २३ ॥
राधेयं पूजयन्तश्च प्रशंसन्तश्च निर्ययुः।
अस्माकं शकटव्यूहो द्रोणेन विहितोऽभवत् ॥ २४ ॥

प्रजानाथ! इस प्रकार प्रसन्न होकर परस्पर बात करते तथा राधानन्दन कर्णकी प्रशंसा और आदर करते हुए आपके सैनिक युद्धके लिये चले। उस समय द्रोणाचार्यने हमारी सेनाके द्वारा शकटव्यूहका निर्माण किया था ॥ २३-२४ ॥

परेषां क्रौञ्च एवासीद् व्यूहो राजन् महात्मनाम्।
प्रीयमाणेन विहितो धर्मराजेन भारत ॥ २५ ॥

राजन्! हमारे महामनस्वी शत्रुओंकी सेनाका क्रौञ्चव्यूह दिखायी देता था। भारत! धर्मराज युधिष्ठिरने स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक उस व्यूहकी रचना की थी ॥ २५ ॥

व्यूहप्रमुखतस्तेषां तस्थतुः पुरुषर्षभौ।
वानरध्वजमुच्छ्रित्य विष्वक्सेनधनंजयौ ॥ २६ ॥

पाण्डवोंके उस व्यूहके अग्रभागमें अपनी वानरध्वजा-को बहुत ऊँचेतक फहराते हुए पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन खड़े हुए थे ॥ २६ ॥

ककुदं सर्वसैन्यानां धाम सर्वधनुष्मताम्।
आदित्यपथगः केतुः पार्थस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥
दीपयामास तत् सैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः।

अमित तेजस्वी अर्जुनका वह ध्वज सूर्यके मार्गतक फैला हुआ था। वह सम्पूर्ण सेनाओंके लिये श्रेष्ठ आश्रय तथा समस्त धनुर्धरोंके तेजका पुञ्ज था। वह ध्वज पाण्डुनन्दन महात्मा युधिष्ठिरकी सेनाको अपनी दिव्य प्रभासे उद्भासित कर रहा था ॥ २७½ ॥

यथा प्रज्वलितः सूर्यो युगान्ते वै वसुंधराम् ॥ २८ ॥
दीप्यन् दृश्येत हि तथा केतुः सर्वत्र धीमतः।

जैसे प्रलयकालमें प्रज्वलित सूर्य सारी वसुधाको देदीप्यमान करते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् अर्जुनका वह विशाल ध्वज सर्वत्र प्रकाशमान दिखायी देता था ॥

योधानामर्जुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम् ॥ २९ ॥
वासुदेवश्च भूतानां चक्राणां च सुदर्शनम्।

समस्त योद्धाओंमें अर्जुन श्रेष्ठ है, धनुषोंमें गाण्डीव श्रेष्ठ है, सम्पूर्ण चेतन सत्ताओंमें सच्चिदानन्दघन वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं और चक्रोंमें सुदर्शन श्रेष्ठ है ॥२९½॥

चत्वार्येतानि तेजांसि वहञ्श्वेतहयो रथः ॥ ३० ॥
परेषामग्रतस्तस्थौ कालचक्रमिवोद्यतम्।
एवं तौ सुमहात्मानौ बलसेनाग्रगावुभौ ॥ ३१ ॥

श्वेत घोड़ोंसे सुशोभित वह रथ इन चार तेजोंको धारण करता हुआ शत्रुओंके सामने उठे हुए कालचक्रके समान खड़ा हुआ। इस प्रकार वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन अपनी सेनाके अग्रभागमें सुशोभित हो रहे थे ॥

तावकानां मुखे कर्णः परेषां च धनंजयः।
ततो जयाभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥ ३२ ॥
अवेक्षेतां तदान्योन्यं समरे कर्णपाण्डवौ।

राजन्! आपकी सेनाके प्रमुख भागमें कर्ण और शत्रुओंकी सेनाके अग्रभागमें अर्जुन खड़े थे। वे दोनों उस समय विजयके लिये रोषावेशमें भरकर एक-दूसरेका वध करनेकी इच्छासे रणक्षेत्रमें परस्पर दृष्टिपात करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततः प्रयाते सहसा भारद्वाजे महारथे ॥ ३३ ॥
आर्तनादेन घोरेण वसुधा समकम्पत।

तदनन्तर सहसा महारथी द्रोणाचार्य आगे बढ़े। फिर तो भयंकर आर्तनादके साथ सारी पृथ्वी काँप उठी ॥ ३३½ ॥

ततस्तुमुलमाकाशमावृणोत् सदिवाकरम् ॥ ३४ ॥
वातोद्धूतं रजस्तीव्रं कौशेयनिकरोपमम्।
ववर्ष द्यौरनभ्रापि मांसास्थिरुधिराण्युत ॥ ३५ ॥

इसके बाद प्रचण्ड वायुके वेगसे बड़े जोरकी धूल उठी, जो रेशमी वस्त्रोंके समुदाय-सी प्रतीत होती थी। उस तीव्र एवं भयंकर धूलने सूर्यसहित समूचे आकाशको ढक लिया। आकाशमें मेघोंकी घटा नहीं थी, तो भी वहाँसे मांस, रक्त तथा हड्डियोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३४-३५ ॥

गृध्राः श्येना बकाः कङ्का वायसाश्च सहस्रशः।
उपर्युपरि सेनां ते तदा पर्यपतन् नृप ॥ ३६ ॥

नरेश्वर! उस समय गीध, बाज, बगले, कंक और हजारों कौवे आपकी सेनाके ऊपर-ऊपर उड़ने लगे ॥ ३६ ॥

गोमायवश्च प्राक्रोशन् भयदान् दारुणान् रवान्।
अकार्षुरपसव्यं च बहुशः पृतनां तव ॥ ३७ ॥
चिखादिषन्तो मांसानि पिपासन्तश्च शोणितम्।

गीदड़ जोर-जोरसे दारुण एवं भयदायक बोली बोलने लगे और मांस खाने तथा रक्त पीनेकी इच्छासे बारंबार आपकी सेनाको दाहिने करके घूमने लगे ॥ ३७½ ॥

अपतद् दीप्यमाना च सनिर्घाता सकम्पना ॥ ३८ ॥
उल्का ज्वलन्ती संग्रामे पुच्छेनावृत्य सर्वशः।

उस समय एक प्रज्वलित एवं देदीप्यमान उल्का युद्धस्थलमें अपने पुच्छभागद्वारा सबको घेरकर भारी गर्जना और कम्पनके साथ पृथ्वीपर गिरी ॥ ३८½ ॥

परिवेषो महांश्चापि सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ॥ ३९ ॥
भास्करस्याभवद् राजन् प्रयाते वाहिनीपतौ।

राजन्! सेनापति द्रोणके युद्धके लिये प्रस्थान करते ही सूर्यके चारों ओर बहुत बड़ा घेरा पड़ गया और बिजली चमकनेके साथ ही मेघ-गर्जना सुनायी देने लगी ॥ ३९½ ॥

एते चान्ये च बहवः प्रादुरासन् सुदारुणाः ॥ ४० ॥
उत्पाता युधि वीराणां जीवितक्षयकारिणः।

ये तथा और भी बहुत-से भयंकर उत्पात प्रकट हुए, जो युद्धमें वीरोंकी जीवन-लीलाके विनाशकी सूचना देनेवाले थे ॥

ततः प्रववृते युद्धं परस्परवधैषिणाम् ॥ ४१ ॥
कुरुपाण्डवसैन्यानां शब्देनापूरयज्जगत्।

तदनन्तर एक-दूसरेके वधकी इच्छावाले कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाओंमें भयंकर युद्ध होने लगा और उनके कोलाहलसे सारा जगत् व्याप्त हो गया ॥ ४१½ ॥

ते त्वन्योन्यं सुसंरब्धाः पाण्डवाः कौरवैः सह ॥ ४२ ॥
अभ्यघ्नन् निशितैः शस्त्रैर्जयगृद्धाः प्रहारिणः।

क्रोधमें भरे हुए पाण्डव तथा कौरव विजयकी अभिलाषा लेकर एक-दूसरेको तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारने लगे। वे सभी योद्धा प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ ४२½ ॥

स पाण्डवानां महतीं महेष्वासो महाद्युतिः ॥ ४३ ॥
वेगेनाभ्यद्रवत् सेनां किरञ्छरशतैः शितैः।

महाधनुर्धर महातेजस्वी द्रोणाचार्यने पाण्डवोंकी विशाल सेनापर सैकड़ों पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ४३½ ॥

द्रोणमभ्युद्यतं दृष्ट्वा पाण्डवाः सह सृञ्जयैः ॥ ४४ ॥
प्रत्यगृह्णंस्तदा राजञ्छरवर्षैः पृथक् पृथक्।

राजन्! उस समय द्रोणाचार्यको युद्धके लिये उद्यत देख सृंजयोंसहित पाण्डवोंने पृथक्-पृथक बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका सामना किया ॥ ४४½ ॥

विक्षोभ्यमाणा द्रोणेन भिद्यमाना महाचमूः ॥ ४५ ॥
व्यशीर्यत सपाञ्चाला वातेनेव बलाहकाः ।

जैसे वायु बादलोंको उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके द्वारा क्षत-विक्षत हुई पाञ्चालोंसहित पाण्डवोंकी विशाल सेना तितर-बितर हो गयी ॥ ४५½ ॥

बहूनीह विकुर्वाणो दिव्यान्यस्त्राणि संयुगे ॥ ४६ ॥
अपीडयत् क्षणेनैव द्रोणः पाण्डवसृञ्जयान् ।

द्रोणने युद्धमें बहुत-से दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करके क्षणभरमें पाण्डवों तथा सृञ्जयोंको पीड़ित कर दिया ॥ ४६½ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन वासवेनेव दानवाः ॥ ४७ ॥
पञ्चालाः समकम्पन्त धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।

जैसे इन्द्र दानवोंको पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यसे पीड़ित हो धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चाल योद्धा भयसे काँपने लगे॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो याज्ञसेनिर्महारथः ॥ ४८ ॥
अभिनच्छरवर्षेण द्रोणानीकमनेकधा ।

तब दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता यज्ञसेनकुमार शूरवीर महारथी धृष्टद्युम्नने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रोणाचार्यकी सेनाको बारंबार घायल किया ॥ ४८½ ॥

द्रोणस्य शरवर्षाणि शरवर्षेण पार्षतः ॥ ४९ ॥
संनिवार्य ततः सर्वान् कुरूनप्यवधीद् बली ।

बलवान् द्रुपदपुत्रने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रोणाचार्यकी बाणवृष्टिको रोककर समस्त कौरव सैनिकोंको मारना आरम्भ किया ॥ ४९½ ॥

संयम्य तु ततो द्रोणः समवस्थाप्य चाहवे ॥ ५० ॥
स्वमनीकं महेष्वासः पार्षतं समुपाद्रवत् ।

तब महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने अपनी सेनाको काबूमें करके उसे युद्धस्थलमें स्थिर भावसे खड़ा कर दिया और द्रुपदकुमारपर धावा किया ॥ ५०½ ॥

स बाणवर्षं सुमहदसृजत् पार्षतं प्रति ॥ ५१ ॥
मघवान् समभिक्रुद्धः सहसा दानवानिव ।

जैसे क्रोधमें भरे हुए इन्द्र सहसा दानवोंपर बाणोंकी बौछार करते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५१½ ॥

ते कम्प्यमाना द्रोणेन बाणैः पाण्डवसृञ्जयाः ॥ ५२ ॥
पुनः पुनरभज्यन्त सिंहेनेवेतरे मृगाः ।

जैसे सिंह दूसरे मृगोंको भगा देता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके बाणोंसे विकम्पित हुए पाण्डव तथा सृंजय बारंबार युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ॥ ५२½ ॥

तथा पर्यचरद् द्रोणः पाण्डवानां बले बली ।
अलातचक्रवद् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५३ ॥

राजन्! बलवान् द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनामें अलातचक्रकी भाँति चारों ओर चक्कर लगाने लगे। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ५३ ॥

खचरनगरकल्पं कल्पितं शास्त्रदृष्ट्या
चलदनिलपताकं ह्लादनं वल्गिताश्वम्।
स्फटिकविमलकेतुं त्रासनं शात्रवाणां
रथवरमधिरूढः संजहारारिसेनाम् ॥५४॥

शास्त्रोक्त विधिसे निर्मित हुआ आचार्य द्रोणका वह श्रेष्ठ रथ आकाशचारी गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था। वायुके वेगसे उसकी पताका फहरा रही थी। वह रथीके मनको आह्लाद प्रदान करनेवाला था। उसके घोड़े उछल-उछलकर चल रहे थे। उसका ध्वज-दण्ड स्फटिक मणिके समान स्वच्छ एवं उज्ज्वल था। वह शत्रुओंको भयभीत करनेवाला था। उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ होकर द्रोणाचार्य शत्रुसेनाका संहार कर रहे थे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि द्रोणपराक्रमे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें द्रोणपराक्रमविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यके पराक्रम और वधका संक्षिप्त समाचार

संजय उवाच

तथा द्रोणमभिघ्नन्तं साश्वसूतरथद्विपान् ।
व्यथिताः पाण्डवा दृष्ट्वा न चैनं पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! द्रोणाचार्यको इस प्रकार घोड़े, सारथि, रथ और हाथियोंका संहार करते देखकर भी व्यथित हुए पाण्डव-सैनिक उन्हें रोक न सके ॥ १ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नधनंजयौ ।
अब्रवीत् सर्वतो यत्तैः कुम्भयोनिर्निवार्यताम् ॥ २ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और अर्जुनसे कहा—'वीरो! मेरे सैनिकोंको सब ओरसे प्रयत्नशील होकर द्रोणाचार्यको रोकना चाहिये' ॥ २ ॥

तत्रैनमर्जुनश्चैव पार्षतश्च सहानुगः ।
प्रत्यगृह्णात् ततः सर्वे समापेतुर्महारथाः ॥ ३ ॥

यह सुनकर वहाँ अर्जुन और सेवकोंसहित धृष्टद्युम्नने

द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो सभी महारथी उनपर टूट पड़े॥

केकया भीमसेनश्च सौभद्रोऽथ घटोत्कचः।
युधिष्ठिरो यमौ मत्स्या द्रुपदस्यात्मजास्तथा॥ ४॥
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा धृष्टकेतुः ससात्यकिः।
चेकितानश्च संक्रुद्धो युयुत्सुश्च महारथः॥ ५॥
ये चान्ये पार्थिवा राजन् पाण्डवस्यानुयायिनः।
कुलवीर्यानुरूपाणि चक्रुः कर्माण्यनेकशः॥ ६॥

राजन्! केकयराजकुमार, भीमसेन, अभिमन्यु, घटोत्कच, युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव, मत्स्यदेशीय सैनिक, द्रुपदके सभी पुत्र, हर्ष और उत्साहमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टकेतु, सात्यकि, कुपित चेकितान और महारथी युयुत्सु—ये तथा और भी जो भूमिपाल पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अनुयायी थे, वे सब अपने कुल और पराक्रमके अनुकूल अनेक प्रकारके वीरोचित कार्य करने लगे॥ ४—६॥

संरक्ष्यमाणां तां दृष्ट्वा पाण्डवैर्वाहिनीं रणे।
व्यावृत्य चक्षुषी कोपाद् भारद्वाजोऽन्ववैक्षत॥ ७॥

उस रणक्षेत्रमें पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित हुई उनकी सेनाकी ओर द्रोणाचार्यने क्रोधपूर्वक आँखें फाड़-फाड़कर देखा॥७॥

स तीव्रं कोपमास्थाय रथे समरदुर्जयः।
व्यधमत् पाण्डवानीकमभ्राणीव सदागतिः॥ ८॥

जैसे वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार रथपर बैठे हुए रणदुर्जय वीर द्रोणाचार्य प्रचण्ड कोप धारण करके पाण्डवसेनाका संहार करने लगे॥ ८॥

रथानश्वान् नरान् नागानभिधावन्नितस्ततः।
चचारोन्मत्तवद् द्रोणो वृद्धोऽपि तरुणो यथा॥ ९॥

वे बूढ़े होकर भी जवानके समान फुर्तीले थे। द्रोणाचार्य उन्मत्तकी भाँति युद्धस्थलमें इधर-उधर चारों ओर विचरते और रथों, घोड़ों, पैदल मनुष्यों तथा हाथियोंपर धावा करते थे॥ ९॥

तस्य शोणितदिग्धाङ्गाः शोणास्ते वातरंहसः।
आजानेया हया राजन्नविश्रान्ता ध्रुवं ययुः॥ १०॥

उनके घोड़े स्वभावतः लाल रंगके थे। उसपर भी उनके सारे अंग खूनसे लथपथ होनेके कारण वे और भी लाल दिखायी देते थे। उनका वेग वायुके समान तीव्र था। राजन्! उन घोड़ोंकी नस्ल अच्छी थी और वे बिना विश्राम किये निरन्तर दौड़ लगाते रहते थे॥ १०॥

तमन्तकमिव क्रुद्धमापतन्तं यतव्रतम्।
दृष्ट्वा सम्प्राद्रवन् योधाः पाण्डवस्य ततस्ततः॥ ११॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले द्रोणाचार्यको क्रोधमें भरे हुए कालके समान आते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके सारे सैनिक इधर-उधर भाग चले॥ ११॥

तेषां प्राद्रवतां भीमः पुनरावर्ततामपि।
पश्यतां तिष्ठतां चासीच्छब्दः परमदारुणः॥ १२॥

वे कभी भागते, कभी पुनः लौटते और कभी चुपचाप खड़े होकर युद्ध देखते थे; इस प्रकारकी हलचलमें पड़े हुए उन योद्धाओंका अत्यन्त दारुण भयंकर कोलाहल चारों ओर गूँज उठा॥ १२॥

शूराणां हर्षजननो भीरूणां भयवर्धनः।
द्यावापृथिव्योर्विवरं पूरयामास सर्वतः॥ १३॥

वह कोलाहल शूरवीरोंका हर्ष और कायरोंका भय बढ़ानेवाला था। वह आकाश और पृथ्वीके बीचमें सब ओर व्याप्त हो गया॥ १३॥

ततः पुनरपि द्रोणो नाम विश्रावयन् युधि।
अकरोद् रौद्रमात्मानं किरञ्छरशतैः परान्॥ १४॥

तब द्रोणाचार्यने पुनः रणभूमिमें अपना नाम सुना-सुनाकर शत्रुओंपर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते हुए अपने भयंकर स्वरूपको प्रकट किया॥ १४॥

स तथा तेष्वनीकेषु पाण्डुपुत्रस्य मारिष।
कालवद् व्यचरद् द्रोणो युवेव स्थविरो बली॥१५॥

आर्य! बलवान् द्रोणाचार्य वृद्ध होकर भी तरुणके समान फुर्ती दिखाते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंमें कालके समान विचरने लगे॥ १५॥

उत्कृत्य च शिरांस्युग्रान् बाहूनपि सुभूषणान्।
कृत्वा शून्यान् रथोपस्थानुदक्रोशन्महारथान्॥ १६॥

वे योद्धाओंके मस्तकों और आभूषणोंसे भूषित भयंकर भुजाओंको भी काटकर रथकी बैठकोंको सूनी कर देते और महारथियोंकी ओर देख-देखकर दहाड़ते थे॥ १६॥

तस्य हर्षप्रणादेन बाणवेगेन वा विभो।
प्राकम्पन्त रणे योधा गावः शीतार्दिता इव॥ १७॥

प्रभो! उनके हर्षपूर्वक किये हुए सिंहनाद अथवा बाणोंके वेगसे उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा सर्दीसे पीड़ित हुई गायोंकी भाँति थर-थर काँपने लगे॥ १७॥

द्रोणस्य रथघोषेण मौर्वीनिष्पेषणेन च।
धनुःशब्देन चाकाशे शब्दः समभवन्महान्॥ १८॥

द्रोणाचार्यके रथकी घरघराहट, प्रत्यञ्चाको दबा-दबाकर खींचनेके शब्द और धनुषकी टंकारसे आकाशमें महान् कोलाहल होने लगा॥ १८॥

अथास्य धनुषो बाणा निश्चरन्तः सहस्रशः।
व्याप्य सर्वा दिशः पेतुर्नागाश्वरथपत्तिषु॥ १९॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे सहस्रों बाण निकलकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंपर बड़े वेगसे गिरने लगे॥ १९॥

तं कार्मुकमहावेगमस्त्रज्वलितपावकम्।

द्रोणमासादयांचक्रुः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ २० ॥

द्रोणाचार्यके धनुषका वेग महान् था। उन्होंने अस्त्रोंद्वारा आग-सी प्रज्वलित कर दी थी। पाण्डव और पाञ्चाल सैनिक उनके पास पहुँचकर उन्हें रोकनेकी चेष्टा करने लगे॥

तान् सकुञ्जरपत्त्यश्वान् प्राहिणोद् यमसादनम्।
चक्रेऽचिरेण च द्रोणो महीं शोणितकर्दमाम्॥ २१ ॥

द्रोणाचार्यने हाथी, घोड़े और पैदलोंसहित उन समस्त योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दिया और थोड़ी ही देरमें भूतलपर रक्तकी कीच मचा दी ॥ २१ ॥

तन्वता परमास्त्राणि शरान् सततमस्यता।
द्रोणेन विहितं दिक्षु शरजालमदृश्यत ॥ २२ ॥

द्रोणाचार्यने निरन्तर बाणोंकी वर्षा और उत्तम अस्त्रोंका विस्तार करके सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंका जाल-सा बुन दिया, जो स्पष्ट दिखलायी दे रहा था ॥ २२ ॥

पदातिषु रथाश्वेषु वारणेषु च सर्वशः।
तस्य विद्युदिवाभ्रेषु चरन् केतुरदृश्यत ॥ २३ ॥

पैदल सैनिकों, रथियों, घुड़सवारों तथा हाथीसवारोंमें सब ओर विचरता हुआ उनका ध्वज बादलोंमें विद्युत्-सा दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २३ ॥

स केकयानां प्रवरांश्च पञ्च
पञ्चालराजं च शरैः प्रमथ्य।
युधिष्ठिरानीकमदीनसत्त्वो
द्रोणोऽभ्ययात् कार्मुकबाणपाणिः॥ २४॥

पाँचों श्रेष्ठ केकय राजकुमारों तथा पाञ्चालराज द्रुपदको अपने बाणोंसे मथकर उदार हृदयवाले द्रोणाचार्यने हाथोंमें धनुषबाण लेकर युधिष्ठिरकी सेनापर आक्रमण किया ॥ २४ ॥

तं भीमसेनश्च धनंजयश्च
शिनेश्च नप्ता द्रुपदात्मजश्च।
शैब्यात्मजः काशिपतिः शिबिश्च
हृष्टा नदन्तो व्यकिरञ्छरौघैः ॥ २५ ॥

यह देख भीमसेन, अर्जुन, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शैब्यकुमार, काशिराज तथा शिबि गर्जना करते हुए उनके ऊपर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

(तेषां शरा द्रोणशरैर्निकृत्ता
भूमावदृश्यन्त विवर्तमानाः।
श्रेणीकृताः संयति मोघवेगा
द्वीपे नदीनामिव काशरोहाः ॥)

इन सबके बाण द्रोणाचार्यके सायकोंद्वारा छिन्न-भिन्न एवं निष्फल हो युद्धस्थलमें धरतीपर लोटते दिखायी देने लगे, मानो नदियोंके द्वीपमें ढेर-के-ढेर कास अथवा सरकण्डे काटकर बिछा दिये गये हों ॥

तेषामथ द्रोणधनुर्विमुक्ताः
पतत्रिणः काञ्चनचित्रपुङ्खाः।
भित्त्वा शरीराणि गजाश्वयूनां
जग्मुर्महीं शोणितदिग्धवाजाः ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय विचित्र पंखोंसे युक्त बाण हाथी, घोड़े और युवकोंके शरीरोंको छेदकर धरतीमें घुस गये। उस समय उनके पंख रक्तसे रँग गये थे ॥ २६ ॥

सा योधसंघैश्च रथैश्च भूमिः
शरैर्विभिन्नैर्गजवाजिभिश्च।
प्रच्छाद्यमाना पतितैर्बभूव
समावृता द्यौरिव कालमेघैः ॥ २७ ॥

जैसे वर्षाकालके मेघोंकी घटासे आकाश आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार वहाँ बाणोंसे विदीर्ण होकर गिरे हुए योद्धाओंके समूहों, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे सारी रणभूमि पट गयी थी ॥ २७ ॥

शैनेयभीमार्जुनवाहिनीशं
सौभद्रपाञ्चालसकाशिराजम्।
अन्यांश्च वीरान् समरे ममर्द
द्रोणः सुतानां तव भूतिकामः ॥ २८ ॥

सात्यकि, भीमसेन और अर्जुन जिसमें सेनापति थे तथा जिसके भीतर अभिमन्यु, द्रुपद एवं काशिराज-जैसे योद्धा मौजूद थे, उस सेनाको तथा अन्यान्य महावीरोंको भी द्रोणाचार्यने समराङ्गणमें रौंद डाला; क्योंकि वे आपके पुत्रोंको ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराना चाहते थे ॥ २८ ॥

एतानि चान्यानि च कौरवेन्द्र
कर्माणि कृत्वा समरे महात्मा।
प्रताप्य लोकानिव कालसूर्यो
द्रोणो गतः स्वर्गमितो हि राजन्॥ २९ ॥

राजन्! कौरवेन्द्र! युद्धस्थलमें ये तथा और भी बहुत-से वीरोचित कर्म करके महात्मा द्रोणाचार्य प्रलयकालके सूर्यकी भाँति सम्पूर्ण लोकोंको तपाकर यहाँसे स्वर्गमें चले गये ॥२९॥

एवं रुक्मरथः शूरो हत्वा शतसहस्रशः।
पाण्डवानां रणे योधान् पार्षतेन निपातितः ॥ ३० ॥

इस प्रकार सुवर्णमय रथवाले शूरवीर द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें पाण्डवपक्षके लाखों योद्धाओंका संहार करके अन्तमें धृष्टद्युम्नके द्वारा मार गिराये गये ॥ ३० ॥

अक्षौहिणीमभ्यधिकां शूराणामनिवर्तिनाम्।
निहत्य पश्चाद् धृतिमानगच्छत् परमां गतिम्॥ ३१ ॥

धैर्यशाली द्रोणाचार्यने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीरोंकी एक अक्षौहिणीसे भी अधिक सेनाका संहार करके पीछे स्वयं भी परम गति प्राप्त कर ली ॥ ३१ ॥

पाण्डवैः सह पञ्चालैरशिवैः क्रूरकर्मभिः ।
हतो रुक्मरथो राजन् कृत्वा कर्म सुदुष्करम्॥ ३२ ॥

राजन् ! सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्य अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके अन्तमें पाण्डवोंसहित अमङ्गलकारी क्रूरकर्मा पाञ्चालोंके हाथसे मारे गये ॥ ३२ ॥

ततो निनादो भूतानामाकाशे समजायत ।
सैन्यानां च ततो राजन्नाचार्ये निहते युधि॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! युद्धस्थलमें आचार्य द्रोणके मारे जानेपर आकाशमें स्थित अदृश्य भूतोंका तथा कौरव-सैनिकोंका आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ ३३ ॥

द्यां धरां खं दिशो वापि प्रदिशश्चानुनादयन् ।
अहो धिगिति भूतानां शब्दः समभवद् भृशम्॥ ३४ ॥

उस समय स्वर्गलोक, भूलोक, अन्तरिक्षलोक, दिशाओं तथा विदिशाओंको भी प्रतिध्वनित करता हुआ समस्त प्राणियोंका 'अहो ! धिक्कार है !' यह शब्द वहाँ जोर-जोरसे गूँजने लगा ॥ ३४ ॥

देवताः पितरश्चैव पूर्वे ये चास्य बान्धवाः ।
ददृशुर्निहतं तत्र भारद्वाजं महारथम् ॥ ३५ ॥

देवता, पितर तथा जो इनके पूर्ववर्ती भाई-बन्धु थे, उन्होंने भी वहाँ भरद्वाजनन्दन महारथी द्रोणाचार्यको मारा गया देखा ॥

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा सिंहनादान् प्रचक्रिरे ।
सिंहनादेन महता समकम्पत मेदिनी ॥ ३६ ॥

पाण्डव विजय पाकर सिंहनाद करने लगे । उनके उस महान् सिंहनादसे पृथ्वी काँप उठी ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि द्रोणवधश्रवणे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें द्रोणवधश्रवणविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यकी मृत्युका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रका शोक करना

धृतराष्ट्र उवाच

किं कुर्वाणं रणे द्रोणं जघ्नुः पाण्डवसृंजयाः ।
तथा निपुणमस्त्रेषु सर्वशस्त्रभृतामपि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्य क्या कर रहे थे कि पाण्डव तथा सृंजय उनपर चोट कर सके ? वे तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और अस्त्र-विद्यामें निपुण थे ॥१॥

रथभङ्गो बभूवास्य धनुर्वाशीर्यतास्यतः ।
प्रमत्तो वाभवद् द्रोणस्ततो मृत्युमुपेयिवान्॥ २ ॥

उनका रथ टूट गया था या बाणोंका प्रहार करते समय धनुष ही खण्डित हो गया था अथवा द्रोणाचार्य असावधान थे, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी ? ॥ २ ॥

कथं नु पार्षतस्तात शत्रुभिर्दुष्प्रधर्षणम् ।
किरन्तमिषुसंघातान् रुक्मपुङ्खाननेकशः ॥ ३ ॥
क्षिप्रहस्तं द्विजश्रेष्ठं कृतिनं चित्रयोधिनम् ।
दूरेषुपातिनं दान्तमस्त्रयुद्धेषु पारगम् ॥ ४ ॥
पाञ्चालपुत्रो न्यवधीद् दिव्यास्त्रधरमच्युतम्।
कुर्वाणं दारुणं कर्म रणे यत्तं महारथम् ॥ ५ ॥

तात ! द्रोणाचार्य तो शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्जय थे। वे सुवर्णमय पंखवाले बाणसमूहोंकी बारंबार वर्षा करते थे। उनके हाथोंमें फुर्ती थी । वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले और विद्वान् थे । दूरतक बाण मारनेवाले और अस्त्र-युद्धमें पारंगत थे । फिर उन जितेन्द्रिय दिव्यास्त्रधारी और अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नने कैसे मार दिया ? वे तो रणक्षेत्रमें कठोर कर्म करनेवाले, विजयके लिये प्रयत्नशील और महारथी वीर थे ॥ ३–५ ॥

व्यक्तं हि दैवं बलवत् पौरुषादिति मे मतिः ।
यद् द्रोणो निहतः शूरः पार्षतेन महात्मना ॥ ६ ॥

निश्चय ही पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव ही प्रबल है, ऐसा मेरा विश्वास है; क्योंकि द्रोणाचार्य-जैसे शूरवीर महामना धृष्टद्युम्नके हाथसे मारे गये ॥ ६ ॥

अस्त्रं चतुर्विधं वीरे यस्मिन्नासीत् प्रतिष्ठितम् ।
तमिष्वस्त्रधराचार्यं द्रोणं शंससि मे हतम् ॥ ७ ॥

जिन वीर सेनापतिमें चार प्रकारके अस्त्र प्रतिष्ठित थे, उन धनुर्धरोंके आचार्य द्रोणको तुम मुझे मारा गया बता रहे हो ॥ ७ ॥

श्रुत्वा हतं रुक्मरथं वैयाघ्रपरिवारितम् ।
जातरूपशिरस्त्राणं नाद्य शोकमपानुदे ॥ ८ ॥

व्याघ्रचर्मसे आच्छादित सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो सुनहरा शिरस्त्राण (टोप या पगड़ी) धारण करनेवाले द्रोणाचार्यको मारा गया सुनकर आज मैं अपने शोकको किसी प्रकार दूर नहीं कर पाता हूँ ॥ ८ ॥

न नूनं परदुःखेन म्रियते कोऽपि संजय ।
यत्र द्रोणमहं श्रुत्वा हतं जीवामि मन्दधीः ॥ ९ ॥

संजय ! निश्चय ही कोई भी दूसरेके दुःखसे नहीं मरता है, तभी तो मैं मन्दबुद्धि मनुष्य द्रोणाचार्यको मारा गया सुनकर भी जी रहा हूँ ॥ ९ ॥

दैवमेव परं मन्ये नन्वनर्थं हि पौरुषम् ।
अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम ॥ १० ॥
यच्छ्रुत्वा निहतं द्रोणं शतधा न विदीर्यते ।

मैं तो दैवको ही श्रेष्ठ मानता हूँ । पुरुषार्थ तो अनर्थका ही कारण है । निश्चय ही मेरा यह अत्यन्त सुदृढ़ हृदय लोहेका बना हुआ है, जिससे द्रोणाचार्यको मारा गया सुनकर भी इसके सौ टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १०½ ॥

ब्राह्मे दैवे तथेष्वस्त्रे यमुपासन् गुणार्थिनः ॥ ११ ॥
ब्राह्मणा राजपुत्राश्च स कथं मृत्युना हृतः ।

गुणार्थी ब्राह्मण तथा राजकुमार ब्राह्म और दैव अस्त्रोंके लिये जिनकी उपासना करते थे, उन्हें मृत्यु कैसे हर ले गयी ? ॥ ११½ ॥

शोषणं सागरस्येव मेरोरिव विसर्पणम् ॥ १२ ॥
पतनं भास्करस्येव न मृष्ये द्रोणपातनम् ।

द्रोणका रणभूमिमें गिराया जाना समुद्रके सूखने, मेरु पर्वतके चलने-फिरने और सूर्यके आकाशसे टूटकर गिरनेके समान है । मैं इसे किसी प्रकार सहन नहीं कर पाता ॥ १२½ ॥

दुष्टानां प्रतिषेद्धाऽऽसीद् धार्मिकाणां च रक्षिता ॥ १३ ॥
योऽहासीत् कृपणस्यार्थे प्राणानपि परंतपः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणाचार्य दुष्टोंको दण्ड देनेवाले और धार्मिकोंके रक्षक थे । उन्होंने मुझ कृपणके लिये अपने प्राणतक दे दिये ॥ १३½ ॥

मन्दानां मम पुत्राणां जयाशा यस्य विक्रमे ॥ १४ ॥
बृहस्पत्युशनस्तुल्यो बुद्ध्या स निहतः कथम् ।

मेरे मूर्ख पुत्रोंको जिनके ही पराक्रमके भरोसे विजयकी आशा बनी हुई थी तथा जो बुद्धिमें बृहस्पति और शुक्राचार्यके समान थे, वे द्रोणाचार्य कैसे मारे गये ? ॥ १४½ ॥

ते च शोणा बृहन्तोऽश्वाश्छन्ना जालैर्हिरण्मयैः ॥ १५ ॥
रथे वातजवा युक्ताः सर्वशस्त्रातिगा रणे ।
बलिनो ह्रेषिणो दान्ताः सैन्धवाः साधुवाहिनः ॥ १६ ॥
दृढाः संग्राममध्येषु कच्चिदासन्नविह्वलाः ।
करिणां बृंहतां युद्धे शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ १७ ॥
ज्याक्षेपशरवर्षाणां शस्त्राणां च सहिष्णवः ।
आशंसन्तः पराञ्जेतुं जितश्वासा जितव्यथाः ॥ १८ ॥

जिनके रंग लाल थे, जो विशाल एवं दृढ़ शरीरवाले थे, जिन्हें सोनेकी जालियोंसे आच्छादित किया जाता था, जो रथमें जोते जानेपर वायुके समान वेगसे चलते थे, संग्राममें सब प्रकारके शस्त्रोंद्वारा किये जानेवाले प्रहारको बचा जाते थे, जो बलवान्, सुशिक्षित और रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले थे, रणभूमिमें जो दृढ़तापूर्वक डटे रहते और जोर-ज़ोरसे हिनहिनाते थे, धनुषोंकी टंकारके साथ होनेवाली बाणवर्षा तथा अस्त्र-शस्त्रोंके आघातको सहन करनेमें समर्थ एवं शत्रुओंको जीतनेका उत्साह रखनेवाले थे, जो पीडा तथा श्वासको जीत चुके थे, वे सिन्धुदेशीय घोड़े युद्ध-स्थलमें चिग्घाड़ते हुए हाथियों और शङ्खों एवं नगाड़ोंकी आवाजसे घबराये तो नहीं थे ? ॥ १५–१८ ॥

हयाः पराजिताः शीघ्रा भारद्वाजरथोद्वहाः ।
ते स्म रुक्मरथे युक्ता नरवीरसमास्थिताः ॥ १९ ॥
कथं नाभ्यतरंस्तात पाण्डवानामनीकिनीम् ।

क्या द्रोणाचार्यके रथको वहन करनेवाले वे शीघ्रगामी अश्व पराजित हो गये थे ? तात ! द्रोणाचार्यके सुवर्णमय रथमें जुते हुए और उन्हीं नरवीर आचार्यकी सवारीमें काम आनेवाले वे घोड़े पाण्डवसेनाको पार कैसे नहीं कर सके ? १९½

जातरूपपरिष्कारमास्थाय रथमुत्तमम् ॥ २० ॥
भारद्वाजः किमकरोद् युधि सत्यपराक्रमः ।

उस सुवर्णभूषित उत्तम रथपर आरूढ़ हो सत्यपराक्रमी द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें क्या किया ? ॥ २०½ ॥

विद्यां यस्योपजीवन्ति सर्वलोकधनुर्धराः ॥ २१ ॥
स सत्यसंधो बलवान् द्रोणः किमकरोद् युधि ।

समस्त जगत्के धनुर्धर जिनकी विद्याका आश्रय लेकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सत्यपराक्रमी बलवान् द्रोणाचार्यने युद्धमें क्या किया ? ॥ २१½ ॥

दिवि शक्रमिव श्रेष्ठं महामात्रं धनुर्भृताम् ॥ २२ ॥
के नु तं रौद्रकर्माणं युद्धे प्रत्युद्ययू रथाः ।

स्वर्गमें देवराज इन्द्रके समान जो इस लोकमें श्रेष्ठ और समस्त धनुर्धरोंमें महान् थे, उन भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये उस रणक्षेत्रमें कौन-कौनसे रथी गये थे ? ॥ २२½ ॥

ननु रुक्मरथं दृष्ट्वा प्राद्रवन्ति स्म पाण्डवाः ॥ २३ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं रणे तस्मिन् महाबलम् ।

उस समराङ्गणमें दिव्य अस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले तथा सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए महाबली द्रोणाचार्यको देखकर तो समस्त पाण्डव योद्धा भाग खड़े होते थे ॥ २३½ ॥

उताहो सर्वसैन्येन धर्मराजः सहानुजः ॥ २४ ॥
पाञ्चाल्यप्रग्रहो द्रोणं सर्वतः समवारयत् ।

भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने अपनी सारी सेनाके साथ जाकर धृष्टद्युम्नरूपी डोरीकी सहायतासे द्रोणाचार्यको घेर तो नहीं लिया था ? ॥ २४½ ॥

नूनमावारयत् पार्थो रथिनोऽन्यानजिह्मगैः ॥ २५ ॥
ततो द्रोणं समारोहत् पार्षतः पापकर्मकृत् ।

निश्चय ही अर्जुनने अपने सीधे जानेवाले बाणोंके द्वारा अन्य रथियोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया था । इसीलिये पापकर्मा धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यपर चढ़ाई कर सका ॥ २५½ ॥

न ह्यहं परिपश्यामि वधे कंचन शुष्मिणः ॥ २६ ॥
धृष्टद्युम्नादृते रौद्रात् पाल्यमानात् किरीटिना।

किरीटधारी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित भयंकर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नको छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त तेजस्वी द्रोणाचार्यके वधमें समर्थ हो ॥ २६½ ॥

तैर्वृतः सर्वतः शूरः पाञ्चाल्यापसदस्ततः ॥ २७ ॥
केकयैश्चेदिकारूषैर्मत्स्यैरन्यैश्च भूमिपैः ।
व्याकुलीकृतमाचार्यं पिपीलैरुरगं यथा ॥ २८ ॥
कर्मण्यसुकरे सक्तं जघानेति मतिर्मम ।

केकय, चेदि, कारूष, मत्स्यदेशीय सैनिकों तथा अन्य भूमिपालोंने आचार्यको उसी प्रकार व्याकुल कर दिया होगा, जैसे बहुत-सी चींटियाँ सर्पको विह्वल कर देती हैं; उसी अवस्थामें उन पाण्डव-सैनिकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए नीच धृष्टद्युम्नने दुष्कर कर्ममें लगे हुए द्रोणाचार्यको मार डाला होगा, यही बात मेरे मनमें आती है ॥ २७–२८½ ॥

योऽधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गानाख्यानपञ्चमान् ।२९।
ब्राह्मणानां प्रतिष्ठाऽऽसीत् स्रोतसामिव सागरः ।
क्षत्रं च ब्रह्म चैवेह योऽभ्यतिष्ठत् परंतपः ॥ ३० ॥
स कथं ब्राह्मणो वृद्धः शस्त्रेण वधमाप्तवान् ।

जो छहों अङ्गों तथा पञ्चम वेदस्थानीय इतिहास-पुराणों-सहित चारों वेदोंका अध्ययन करके ब्राह्मणोंके लिये उसी प्रकार आश्रय बने हुए थे, जैसे नदियोंके लिये समुद्र है। जो शत्रुओंको संताप देनेवाले तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनोंके धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले थे, वे वृद्ध ब्राह्मण द्रोणाचार्य शस्त्रद्वारा कैसे मारे गये ? ॥ २९-३०½ ॥

अमर्षिणा मर्षितवान् क्लिश्यमानान् सदा मया॥ ३१ ॥
अनर्हमाणान् कौन्तेयान् कर्मणस्तस्य तत्फलम् ।

मैंने अमर्षमें भरकर सदा कष्ट भोगनेके अयोग्य कुन्तीकुमारोंको क्लेश ही दिया है; परंतु मेरे इस बर्तावको द्रोणाचार्यने चुपचाप सह लिया था। उनके उसी कर्मका यह वधरूपी फल प्राप्त हुआ है ॥ ३१½ ॥

यस्य कर्मानुजीवन्ति लोके सर्वधनुर्भृतः ॥ ३२ ॥
स सत्यसंधः सुकृती श्रीकामैर्निहतः कथम् ।

जगत्के सम्पूर्ण धनुर्धर जिनके शिक्षणरूपी कर्मका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ पुण्यात्मा द्रोणाचार्यको राजलक्ष्मीके लोभियोंने कैसे मार डाला ? ॥ ३२½॥

दिवि शक्र इव श्रेष्ठो महासत्त्वो महाबलः ॥ ३३ ॥
स कथं निहतः पार्थैः क्षुद्रमत्स्यैर्यथा तिमिः ।

स्वर्गलोकमें इन्द्रके समान जो इस लोकमें सबसे श्रेष्ठ थे, उन महान् सत्त्वशाली, महाबली द्रोणाचार्यको कुन्तीके पुत्रोंने उसी प्रकार मार डाला, जैसे छोटे मत्स्योंने मिलकर तिमि नामक महामत्स्यको मार डाला हो। यह कैसे सम्भव हुआ ? ॥ ३३½ ॥

क्षिप्रहस्तश्च बलवान् दृढधन्वारिमर्दनः ॥ ३४ ॥
न यस्य विजयाकाङ्क्षी विषयं प्राप्य जीवति ।
यं द्वौ न जहतः शब्दौ जीवमानं कदाचन ॥ ३५ ॥
ब्राह्मश्च वेदकामानां ज्याघोषश्च धनुष्मताम् ।

जो शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले, बलवान्, दृढधन्वा तथा शत्रुओंका मर्दन करनेवाले थे, कोई भी विजयाभिलाषी वीर जिनके बाणोंका लक्ष्य बन जानेपर जीवित नहीं रह सकता था, जिन्हें जीते-जी दो शब्दोंने कभी नहीं छोड़ा था—एक तो वेदाध्ययनकी इच्छावाले लोगोंके समक्ष वेदध्वनिका शब्द और दूसरा धनुर्धारियोंके बीचमें प्रत्यञ्चाकी टंकार-का शब्द ॥ ३४-३५½ ॥

अदीनं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम् ॥ ३६ ॥
नाहं मृष्ये हतं द्रोणं सिंहद्विरदविक्रमम् ।

सिंह और हाथीके समान पराक्रमी, उदार, लज्जाशील और किसीसे पराजित न होनेवाले पुरुषसिंह द्रोणका वध मैं नहीं सहन कर सकता ॥ ३६½ ॥

कथं संजय दुर्धर्षमनाधृष्ययशोबलम् ॥ ३७ ॥
पश्यतां पुरुषेन्द्राणां समरे पार्षतोऽवधीत् ।

संजय ! जिनके यश और बलका तिरस्कार होना असम्भव था, उन दुर्धर्ष वीर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें सम्पूर्ण नरेशोंके देखते-देखते धृष्टद्युम्नने कैसे मार डाला ? ॥ ३७½ ॥

के पुरस्तादयुध्यन्त रक्षन्तो द्रोणमन्तिकात् ॥ ३८ ॥
के नु पश्चादवर्तन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम् ।

कौन-कौनसे वीर उस समय निकटसे द्रोणाचार्यकी रक्षा करते हुए उनके आगे रहकर युद्ध करते थे और कौन-कौन योद्धा दुर्गम मार्गपर पैर बढ़ाते हुए उनके पीछे रहकर रक्षा करते थे ? ॥ ३८½ ॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं सव्यं के च महात्मनः ॥ ३९ ॥
पुरस्तात् के च वीरस्य युध्यमानस्य संयुगे ।
के च तस्मिंस्तनूंस्त्यक्त्वा प्रतीपं मृत्युमाव्रजन्॥४०॥

कौन वीर उन महात्माके दाहिने पहियेकी और कौन बायें पहियेकी रक्षा करते थे ? कौन उस युद्धस्थलमें युद्ध-परायण वीरवर द्रोणाचार्यके आगे थे और किन लोगोंने अपने शरीरका मोह छोड़कर विपक्षियोंका सामना करते हुए उस रणक्षेत्रमें मृत्युका वरण किया था ॥ ३९-४० ॥

द्रोणस्य समरे वीराः केऽकुर्वन्त परां धृतिम् ।
कच्चिन्नैनं भयान्मन्दाः क्षत्रिया व्यजहन् रणे ॥ ४१ ॥
रक्षितारस्ततः शून्ये कच्चित् तैर्न हतः परैः ।

किन वीरोंने युद्धमें द्रोणाचार्यको उत्तम धैर्य प्रदान

किया ? उनकी रक्षा करनेवाले मूर्ख क्षत्रियोंने भयभीत होकर युद्धस्थलमें उन्हें अकेला तो नहीं छोड़ दिया ? और इस प्रकार शत्रुओंने सूनेमें तो उन्हें नहीं मार डाला ? ॥४१३/४॥

न स पृष्ठमरेस्त्रासाद् रणे शौर्यात् प्रदर्शयेत् ॥ ४२ ॥
परामप्यापदं प्राप्य स कथं निहतः परैः ।

जो बड़ी-से-बड़ी आपत्ति पड़नेपर भी रणमें अपने शौर्यके कारण शत्रुको भयवश पीठ नहीं दिखा सकते थे, वे विपक्षियोंद्वारा किस प्रकार मारे गये ? ॥ ४२१/२ ॥

एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ॥ ४३ ॥
पराक्रमेद् यथाशक्त्या तच्च तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

संजय ! बड़े भारी संकटमें पड़नेपर श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये कि वह यथाशक्ति पराक्रम दिखावे; यह बात द्रोणाचार्यमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित थी ॥ ४३१/२ ॥

मुह्यते मे मनस्तात कथा तावन्निवार्यताम् ।
भूयस्तु लब्धसंज्ञस्त्वां परिपृच्छामि संजय ॥ ४४ ॥

तात ! इस समय मेरा मन मोहित हो रहा है; अतः तुम यह कथा बंद करो ! संजय ! फिर होशमें आनेपर तुमसे यह समाचार पूछूँगा ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि धृतराष्ट्रशोके नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें धृतराष्ट्रका शोकविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका शोकसे व्याकुल होना और संजयसे युद्धविषयक प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

एतत् पृष्ट्वा सूतपुत्रं हृच्छोकेनार्दितो भृशम् ।
जये निराशः पुत्राणां धृतराष्ट्रोऽपतत् क्षितौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सूतपुत्र संजयसे इस प्रकार प्रश्न करते-करते हार्दिक शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो अपने पुत्रोंकी विजयकी आशा टूट जानेके कारण राजा धृतराष्ट्र अचेत-से होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तं विसंज्ञं निपतितं सिषिचुः परिचारिकाः ।
जलेनात्यर्थशीतेन वीजन्त्यः पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

उस समय अचेत पड़े हुए राजा धृतराष्ट्रको उनकी दासियाँ पंखा झलने लगीं और उनके ऊपर परम सुगन्धित एवं अत्यन्त शीतल जल छिड़कने लगीं ॥ २ ॥

पतितं चैनमालोक्य समन्ताद् भरतस्त्रियः ।
परिवव्रुर्महाराजमस्पृशंश्चैव पाणिभिः ॥ ३ ॥

महाराजको गिरा देख धृतराष्ट्रकी बहुत-सी स्त्रियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और उन्हें हाथोंसे सहलाने लगीं ॥

उत्थाप्य चैनं शनकै राजानं पृथिवीतलात् ।
आसनं प्रापयामासुर्बाष्पकण्ठ्यो वराननाः ॥ ४ ॥

फिर उन सुमुखी स्त्रियोंने राजाको धीरे-धीरे धरतीसे उठाकर सिंहासनपर बिठाया । उस समय उनके नेत्रोंसे आँसू झर रहे थे और कण्ठ गद्गद हो रहे थे ॥ ४ ॥

आसनं प्राप्य राजा तु मूर्छयाभिपरिप्लुतः ।
निश्चेष्टोऽतिष्ठत तदा वीज्यमानः समन्ततः ॥ ५ ॥

सिंहासनपर पहुँचकर भी राजा धृतराष्ट्र मूर्छासे पीड़ित हो निश्चेष्ट हो गये । उस समय सब ओरसे उनके ऊपर व्यजन डुलाया जा रहा था ॥ ५ ॥

स लब्ध्वा शनकैः संज्ञां वेपमानो महीपतिः ।
पुनर्गावल्गणिं सूतं पर्यपृच्छद् यथातथम् ॥ ६ ॥

फिर धीरे-धीरे होशमें आनेपर काँपते हुए राजा धृतराष्ट्रने पुनः सूतजातीय संजयसे युद्धका यथावत् समाचार पूछा ॥६॥

धृतराष्ट्र उवाच

यः स उद्यन्निवादित्यो ज्योतिषा प्रणुदंस्तमः ।
अजातशत्रुमायान्तं कस्तं द्रोणादवारयत् ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—जो उगते हुए सूर्यकी भाँति अपनी प्रभासे अन्धकार दूर कर देते हैं, उन अजातशत्रु युधिष्ठिरको द्रोणके समीप आनेसे किसने रोका था ? ॥ ७ ॥

प्रभिन्नमिव मातङ्गं यथा क्रुद्धं तरस्विनम् ।
प्रसन्नवदनं दृष्ट्वा प्रतिद्विरदगामिनम् ॥ ८ ॥
वासितासंगमे यद्वदजय्यं प्रति यूथपैः ।
निजघान रणे वीरान् वीरः पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
यो ह्येको हि महावीर्यो निर्दहेद् घोरचक्षुषा ।
कृत्स्नं दुर्योधनबलं धृतिमान् सत्यसंगरः ॥ १० ॥
चक्षुर्हणं जये सक्तमिष्वासधरमच्युतम् ।
दान्तं बहुमतं लोके के शूराः पर्यवारयन् ॥ ११ ॥

जो मदकी धारा बहानेवाले, हथिनीके साथ समागमके समय आये हुए विपक्षी हाथीपर आक्रमण करनेवाले तथा गजयूथपतियोंके लिये अजेय मतवाले गजराजके समान वेगशाली और पराक्रमी हैं, कौरवोंके प्रति जिनका क्रोध बढ़ा हुआ है, जिन पुरुषप्रवर वीरने रणक्षेत्रमें बहुत-से वीरोंका संहार किया है, जो महापराक्रमी, धैर्यवान् एवं सत्यप्रतिज्ञ हैं और अपनी भयंकर दृष्टिसे अकेले ही दुर्योधनकी सम्पूर्ण सेनाको भस्म कर सकते हैं, जो क्रोधभरी दृष्टिसे ही शत्रुका संहार करनेमें समर्थ हैं, विजयके लिये प्रयत्नशील, अपनी

मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले, जितेन्द्रिय तथा लोकमें विशेष सम्मानित हैं, उन प्रसन्नवदन धनुर्धर युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यके सामने आते देख मेरे पक्षके किन शूरवीरोंने रोका था ? ॥ ८—११ ॥

के दुष्प्रधर्षं राजानमिष्वासधरमच्युतम् ।
समासेदुर्नरव्याघ्रं कौन्तेयं तत्र मामकाः ॥ १२ ॥

जो धर्मसे कभी विचलित नहीं होते हैं, उन महाधनुर्धर दुर्धर्ष वीर पुरुषसिंह कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरपर मेरे किन योद्धाओंने आक्रमण किया था ? ॥ १२ ॥

तरसैवाभिपद्याथ यो वै द्रोणमुपाद्रवत् ।
यः करोति महत् कर्म शत्रूणां वै महाबलः ॥ १३ ॥
महाकायो महोत्साहो नागायुतसमो बले ।
तं भीमसेनमायान्तं के शूराः पर्यवारयन् ॥ १४ ॥

जिन्होंने वेगसे ही पहुँचकर द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया था, जो शत्रुके समक्ष महान् पराक्रम प्रकट करते हैं, जो महाबली, महाकाय और महान् उत्साही हैं तथा जिनमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन भीमसेनको आते देख किन वीरोंने रोका था ? ॥ १३-१४ ॥

यदाऽऽयाज्जलदप्रख्यो रथः परमवीर्यवान् ।
पर्जन्य इव बीभत्सुस्तुमुलामशनीं सृजन् ॥ १५ ॥
विसृजञ्छरजालानि वर्षाणि मघवानिव ।
अवस्फूर्जन् दिशः सर्वास्तलनेमिस्वनेन च ॥ १६ ॥
चापविद्युत्प्रभो घोरो रथगुल्मबलाहकः ।
स नेमिघोषस्तनितः शरशब्दातिबन्धुरः ॥ १७ ॥
रोषानिलसमुद्धूतो मनोऽभिप्रायशीघ्रगः ।
मर्मातिगो बाणधरस्तुमुलः शोणितोदकैः ॥ १८ ॥
सम्प्लावयन् दिशः सर्वा मानवैरास्तरन् महीम् ।

जो मेघके समान श्यामवर्णवाले परम पराक्रमी महारथी अर्जुन विद्युत्की उत्पत्ति करते हुए बादलोंके समान भयंकर वज्रास्त्रका प्रयोग करते हैं, जो जलकी वर्षा करनेवाले इन्द्रके समान बाणसमूहोंकी वृष्टि करते हैं तथा जो अपने धनुषकी टंकार और रथके पहियेकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको शब्दायमान कर देते हैं, वे स्वयं भयंकर मेघस्वरूप जान पड़ते हैं । धनुष ही उनके समीप विद्युत्प्रभाके समान प्रकाशित होता है । रथियोंकी सेना उनकी फैली हुई घटाएँ जान पड़ती हैं । रथके पहियोंकी घरघराहट मेघ-गर्जनाके समान प्रतीत होती है । उनके बाणोंकी सनसनाहट वर्षाके शब्दकी भाँति अत्यन्त मनोहर लगती है । क्रोधरूपी वायु उन्हें आगे बढ़नेकी प्रेरणा देती है । वे मनोरथकी भाँति शीघ्रगामी और विपक्षियोंके मर्मस्थलोंको विदीर्ण कर डालनेवाले हैं । बाण धारण करके वे बड़े भयानक प्रतीत होते और रक्तरूपी जलसे सम्पूर्ण दिशाओंको आप्लावित करते हुए मनुष्योंकी लाशोंसे धरतीको पाट देते हैं ॥ १५–१८½ ॥

भीमनिःस्वनितो रौद्रो दुर्योधनपुरोगमान् ॥ १९ ॥
युद्धेऽभ्यषिञ्चद् विजयो गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
गाण्डीवं धारयन् धीमान् कीदृशं वो मनस्तदा ॥ २० ॥

जिस समय भयंकर गर्जना करनेवाले रौद्ररूपधारी बुद्धिमान् अर्जुनने युद्धमें गाण्डीव धारण करके सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्रपंखयुक्त बाणोंद्वारा दुर्योधन आदि मेरे पुत्रों और सैनिकोंको घायल करना आरम्भ किया, उस समय तुमलोगोंके मनकी कैसी अवस्था हुई थी ? ॥ १९-२० ॥

इषुसम्बाधमाकाशं कुर्वन् कपिवरध्वजः ।
यदाऽऽयात् कथमासीत् तु तदा पार्थं समीक्षताम् ॥ २१ ॥

वानरके चिह्नसे युक्त श्रेष्ठ ध्वजावाले अर्जुन जब आकाशको अपने बाणोंसे ठसाठस भरते हुए तुमलोगोंपर चढ़ आये थे, उस समय उन्हें देखकर तुम्हारे मनकी कैसी दशा हुई थी ? ॥ २१ ॥

कच्चिद् गाण्डीवशब्देन न प्रणश्यति वै बलम् ।
यद्वः सभैरवं कुर्वन्नर्जुनो भृशमन्वयात् ॥ २२ ॥

जिस समय अर्जुनने अत्यन्त भयंकर सिंहनाद करते हुए तुमलोगोंका पीछा किया था, उस समय गाण्डीवकी टंकार सुनकर हमारी सेना भाग तो नहीं गयी थी ? ॥ २२ ॥

कच्चिन्नापानुदत् प्राणानिषुभिर्वो धनंजयः ।
वातो वेगादिवाविध्यन्मेघाञ्शरगणैर्नृपान् ॥ २३ ॥

उस अवसरपर पार्थने अपने बाणोंद्वारा तुम्हारे सैनिकोंके प्राण तो नहीं ले लिये थे ? जैसे वायु वेगपूर्वक चलकर मेघोंकी घटाको छिन्न-छिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने वेगसे चलाये हुए बाण-समूहोंद्वारा विपक्षी नरेशोंको घायल कर दिया होगा ॥ २३ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं रणे सोढुं नरोऽर्हति ।
यमुपश्रुत्य सेनाग्रे जनः सर्वो विदीर्यते ॥ २४ ॥

सेनाके प्रमुख भागमें जिनका नाम सुनकर ही सारे सैनिक विदीर्ण हो जाते (भाग निकलते) हैं, उन्हीं गाण्डीवधारी अर्जुनका वेग रणक्षेत्रमें कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥

यत्सेनाः समकम्पन्त यद्वीरानस्पृशद् भयम् ।
के तत्र नाजहुर्द्रोणं के क्षुद्राः प्राद्रवन् भयात् ॥ २५ ॥

जहाँ सारी सेनाएँ काँप उठीं, समस्त वीरोंके मनमें भय समा गया, वहाँ किन वीरोंने द्रोणाचार्यका साथ नहीं छोड़ा और कौन-कौनसे अधम सैनिक भयके मारे मैदान छोड़कर भाग गये ? ॥ २५ ॥

के वा तत्र तनूंस्त्यक्त्वा प्रतीपं मृत्युमाव्रजन् ।
अमानुषाणां जेतारं युद्धेष्वपि धनंजयम् ॥ २६ ॥

मानवेतर प्राणियों (देवताओं और दैत्यों) पर भी विजय पानेवाले वीर अर्जुनको युद्धमें अपने प्रतिकूल पाकर किन वीरोंने वहाँ अपने शरीरोंको निछावर करके मृत्युको स्वीकार किया ? ॥ २६ ॥

न च वेगं सिताश्वस्य विसहिष्यन्ति मामकाः।
गाण्डीवस्य च निर्घोषं प्रावृड्जलदनिःस्वनम् ॥ २७ ॥

मेरे सैनिक श्वेतवाहन अर्जुनके वेग और वर्षाकालके मेघकी गम्भीर गर्जना की भाँति गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनिको नहीं सह सकेंगे ॥ २७ ॥

विष्वक्सेनो यस्य यन्ता यस्य योद्धा धनंजयः।
अशक्यः स रथो जेतुं मन्ये देवासुरैरपि ॥ २८ ॥

जिसके सारथि भगवान् श्रीकृष्ण और योद्धा वीर धनंजय हैं, उस रथको जीतना मैं देवताओं तथा असुरोंके लिये भी असम्भव मानता हूँ ॥ २८ ॥

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः।
मेधावी निपुणो धीमान् युधि सत्यपराक्रमः ॥ २९ ॥
आरावं विपुलं कुर्वन् व्यथयन् सर्वसैनिकान्।
यदाऽऽयान्नकुलो द्रोणं के शूराः पर्यवारयन् ॥ ३० ॥

सुकुमार, तरुण, शूरवीर, दर्शनीय (सुन्दर), मेधावी, युद्धकुशल, बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी पाण्डुपुत्र नकुल जब युद्धमें जोर-जोरसे गर्जना करके समस्त सैनिकोंको पीडित करते हुए द्रोणाचार्यपर चढ़ आये, उस समय किन वीरोंने उन्हें रोका था ?॥ २९-३० ॥

आशीविष इव क्रुद्धः सहदेवो यदाभ्ययात्।
कदनं करिष्यञ्छत्रूणां तेजसा दुर्जयो युधि ॥ ३१ ॥
आर्यव्रतममोघेषुं ह्रीमन्तमपराजितम्।
सहदेवं तमायान्तं के शूराः पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए तथा तेजसे दुर्जय सहदेव जब युद्धमें शत्रुओंका संहार करते हुए द्रोणाचार्यके सामने आये, उस समय श्रेष्ठ व्रतधारी अमोघ बाणोंवाले लज्जाशील और अपराजित वीर सहदेवको आते देख किन शूरवीरोंने उन्हें रोका था ? ॥ ३१-३२ ॥

यस्तु सौवीरराजस्य प्रमथ्य महतीं चमूम्।
आदत्त महिषीं भोजां काम्यां सर्वाङ्गशोभनाम् ॥ ३३ ॥
सत्यं धृतिश्च शौर्यं च ब्रह्मचर्यं च केवलम्।
सर्वाणि युयुधानेऽस्मिन् नित्यानि पुरुषर्षभे ॥ ३४ ॥

जिन्होंने सौवीरराजकी विशाल सेनाको मथकर उनकी सर्वाङ्गसुन्दरी कमनीय कन्या भोजाको अपनी रानी बनानेके लिये हर लिया था, उन पुरुषशिरोमणि सात्यकिमें सत्य, धैर्य, शौर्य और विशुद्ध ब्रह्मचर्य आदि सारे सद्गुण सदा विद्यमान रहते हैं॥

बलिनं सत्यकर्माणमदीनमपराजितम्।
वासुदेवसमं युद्धे वासुदेवादनन्तरम् ॥ ३५ ॥
धनंजयोपदेशेन श्रेष्ठमिष्वस्त्रकर्मणि।
पार्थेन सममस्त्रेषु कस्तं द्रोणादवारयत् ॥ ३६ ॥

वे सात्यकि बलवान्, सत्यपराक्रमी, उदार, अपराजित, युद्धमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान शक्तिशाली, अवस्थामें उनसे कुछ छोटे, अर्जुनसे ही शिक्षा पाकर बाणविद्यामें श्रेष्ठ तथा अस्त्रोंके संचालनमें कुन्तीकुमार अर्जुनके तुल्य यशस्वी हैं। उन वीरवर सात्यकिको किसने द्रोणाचार्यके पास आनेसे रोका ? ॥ ३५-३६ ॥

वृष्णीनां प्रवरं वीरं शूरं सर्वधनुष्मताम्।
रामेण सममस्त्रेषु यशसा विक्रमेण च ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ शूरवीर सात्यकि सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें उत्तम हैं। वे अस्त्र-विद्या, यश तथा पराक्रममें परशुरामजीके समान हैं ॥ ३७ ॥

सत्यं धृतिर्मतिः शौर्यं ब्राह्मं चास्त्रमनुत्तमम्।
सात्वते तानि सर्वाणि त्रैलोक्यमिव केशवे ॥ ३८ ॥

जैसे भगवान् श्रीकृष्णमें तीनों लोक स्थित हैं, उसी प्रकार सात्वतवंशी सात्यकिमें सत्य, धैर्य, बुद्धि, शौर्य तथा परम उत्तम ब्रह्मास्त्र विद्यमान हैं ॥ ३८ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं दुर्वारमपि दैवतैः।
समासाद्य महेष्वासं के शूराः पर्यवारयन् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार सर्वसद्गुणसम्पन्न महाधनुर्धर सात्यकिको रोकना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उनके पास पहुँचकर किन शूरवीरोंने उन्हें आगे बढ़नेसे रोका ? ॥३९॥

पञ्चालेषूत्तमं वीरमुत्तमाभिजनप्रियम्।
नित्यमुत्तमकर्माणमुत्तमौजसमाहवे ॥ ४० ॥
युक्तं धनंजयहिते ममानर्थार्थमुत्थितम्।
यमवैश्रवणादित्यमहेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ४१ ॥
महारथं समाख्यातं द्रोणायोद्यतमाहवे।
त्यजन्तं तुमुले प्राणान् के शूराः समवारयन् ॥ ४२ ॥

पाञ्चालोंमें उत्तम, श्रेष्ठ कुल एवं ख्यातिके प्रेमी, सदा सत्कर्म करनेवाले, संग्राममें उत्तम आत्मबलका परिचय देनेवाले, अर्जुनके हितसाधनमें तत्पर, मेरा अनर्थ करनेके लिये उद्यत रहनेवाले, यमराज, कुबेर, सूर्य, इन्द्र और वरुणके समान तेजस्वी, विख्यात महारथी तथा भयंकर युद्धमें अपने प्राणोंको निछावर करके द्रोणाचार्यसे भिड़नेके लिये सदा तैयार रहनेवाले वीर धृष्टद्युम्नको किन शूरवीरोंने रोका ? ॥

एकोऽपसृत्य चेदिभ्यः पाण्डवान् यः समाश्रितः।
धृष्टकेतुं समायान्तं द्रोणं कस्तं न्यवारयत् ॥ ४३ ॥

जिसने अकेले ही चेदिदेशसे आकर पाण्डव-पक्षका आश्रय लिया है, उस धृष्टकेतुको द्रोणके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ४३ ॥

योऽवधीत् केतुमान् वीरो राजपुत्रं दुरासदम्।
अपरान्तगिरिद्वारे द्रोणात् कस्तं न्यवारयत् ॥ ४४ ॥

जिस वीरने अपरान्त पर्वतके द्वारदेशमें स्थित दुर्जय राजकुमारका वध किया, उस केतुमान्‌को द्रोणाचार्यके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ४४ ॥

स्त्रीपुंसयोर्नरव्याघ्रो यः स वेद गुणागुणान् ।
शिखण्डिनं याज्ञसेनिमम्लानमनसं युधि ॥ ४५ ॥
देवव्रतस्य समरे हेतुं मृत्योर्महात्मनः ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं के शूराः पर्यवारयन् ॥ ४६ ॥

जो पुरुषसिंह स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण-अवगुणको अपने अनुभवद्वारा जानता है, युद्धस्थलमें जिसका मन कभी म्लान (उत्साहशून्य) नहीं होता, जो समराङ्गणमें महात्मा भीष्मकी मृत्युमें हेतु बन चुका है, उस द्रुपदपुत्र शिखण्डीको द्रोणाचार्यके सम्मुख आनेसे किन वीरोंने रोका था?॥

यस्मिन्नभ्यधिका वीरे गुणाः सर्वे धनंजयात् ।
यस्मिन्नस्त्राणि सत्यं च ब्रह्मचर्यं च सर्वदा ॥ ४७ ॥
वासुदेवसमं वीर्ये धनंजयसमं बले ।
तेजसाऽऽदित्यसदृशं बृहस्पतिसमं मतौ ॥ ४८ ॥
अभिमन्युं महात्मानं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं के शूराः समवारयन् ॥ ४९ ॥

जिस वीरमें अर्जुनसे भी अधिक मात्रामें समस्त गुण मौजूद हैं, जिसमें अस्त्र, सत्य तथा ब्रह्मचर्य सदा प्रतिष्ठित हैं, जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्ण, बलमें अर्जुन, तेजमें सूर्य और बुद्धिमें बृहस्पतिके समान है, वह महामना अभिमन्यु जब मुँह फैलाये हुए कालके समान द्रोणाचार्यके सम्मुख जा रहा था, उस समय किन शूरवीरोंने उसे रोका था ? ॥४७-४९॥

तरुणस्तरुणप्रज्ञः सौभद्रः परवीरहा ।
यदाभ्यधावद् वै द्रोणं तदाऽऽसीद् वो मनः कथम्॥५०॥

तरुण अवस्था और तरुण बुद्धिवाले शत्रुवीरोंके हन्ता सुभद्राकुमारने जब द्रोणाचार्यपर धावा किया था, उस समय तुमलोगोंका मन कैसा हो रहा था ? ॥ ५० ॥

द्रौपदेया नरव्याघ्राः समुद्रमिव सिन्धवः ।
यद् द्रोणमाद्रवन् संख्ये के शूरास्तान् न्यवारयन्॥५१॥

पुरुषसिंह द्रौपदीकुमार समुद्रकी ओर जानेवाली नदियोंकी भाँति जब द्रोणाचार्यपर धावा कर रहे थे, उस समय युद्धमें किन शूरवीरोंने उनको रोका था ? ॥ ५१ ॥

एते द्वादश वर्षाणि क्रीडामुत्सृज्य बालकाः ।
अस्त्रार्थमवसन् भीष्मे बिभ्रतो व्रतमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

इन द्रौपदीकुमारोंने बारह वर्षोंतक खेल-कूद छोड़कर अस्त्रोंकी शिक्षा पानेके लिये उत्तम ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए भीष्मके समीप निवास किया था ॥ ५२ ॥

क्षत्रंजयः क्षत्रदेवः क्षत्रवर्मा च मानदः ।
धृष्टद्युम्नात्मजा वीराः के तान् द्रोणादवारयन् ॥ ५३ ॥

क्षत्रंजय, क्षत्रदेव तथा दूसरोंको मान देनेवाले क्षत्रवर्मा—ये धृष्टद्युम्नके तीन वीर पुत्र हैं । उन्हें द्रोणके पास आनेसे किन वीरोंने रोका था ? ॥ ५३ ॥

शताद् विशिष्टं यं युद्धे सममन्यन्त वृष्णयः ।
चेकितानं महेष्वासं कस्तं द्रोणादवारयत् ॥ ५४ ॥

जिन्हें युद्धके मैदानमें वृष्णिवंशियोंने सौ वीरोंसे भी अधिक माना है, उन महाधनुर्धर चेकितानको द्रोणके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ५४ ॥

वार्धक्षेमिः कलिङ्गानां यः कन्यामाहरद् युधि ।
अनाधृष्टिरदीनात्मा कस्तं द्रोणादवारयत् ॥ ५५ ॥

वृद्धक्षेमके पुत्र उदारचित्त अनाधृष्टिने युद्धस्थलमें कलिंग-राजकी कन्याका अपहरण किया था । उन्हें द्रोणके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ५५ ॥

भ्रातरः पञ्च कैकेया धार्मिकाः सत्यविक्रमाः ।
इन्द्रगोपकसंकाशा रक्तवर्मायुधध्वजाः ॥ ५६ ॥
मातृष्वसुः सुता वीराः पाण्डवानां जयार्थिनः ।
तान् द्रोणं हन्तुमायातान् के वीराः पर्यवारयन्॥ ५७ ॥

केकय देशके सत्यपराक्रमी, धर्मात्मा पाँच वीर राज-कुमार लाल रंगके कवच, आयुध और ध्वज धारण करनेवाले हैं तथा उनके शरीरकी कान्ति भी इन्द्रगोपके समान लाल रंगकी ही है; वे पाण्डवोंकी मौसीके बेटे हैं । वे जब पाण्डवों-की विजयके लिये द्रोणाचार्यको मारनेके लिये उनपर चढ़ आये, उस समय किन वीरोंने उन्हें रोका था ? ॥५६-५७॥

यं योधयन्तो राजानो नाजयन् वारणावते ।
षण्मासानपि संरब्धा जिघांसन्तो युधाम्पतिम्॥ ५८ ॥
धनुष्मतां वरं शूरं सत्यसंधं महाबलम् ।
द्रोणात् कस्तं नरव्याघ्रं युयुत्सुं पर्यवारयत् ॥ ५९ ॥

वारणावत नगरमें सब राजालोग मार डालनेकी इच्छासे क्रोधमें भरकर छः महीनोंतक युद्ध करते रहनेपर भी योद्धाओं-में श्रेष्ठ जिस वीरको परास्त न कर सके, धनुर्धरोंमें उत्तम, शौर्यसम्पन्न, सत्यप्रतिज्ञ, महाबली, उस पुरुषसिंह युयुत्सुको द्रोणाचार्यके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ५८-५९ ॥

यः पुत्रं काशिराजस्य वाराणस्यां महारथम् ।
समरे स्त्रीषु गृध्यन्तं भल्लेनापाहरद् रथात् ॥ ६० ॥
धृष्टद्युम्नं महेष्वासं पार्थानां मन्त्रधारिणम् ।
युक्तं दुर्योधनानर्थे सृष्टं द्रोणवधाय च ॥ ६१ ॥
निर्दहन्तं रणे योधान् दारयन्तं च सर्वतः ।
द्रोणाभिमुखमायान्तं के शूराः पर्यवारयन् ॥ ६२ ॥

जिसने काशीपुरीमें काशिराजके महारथी पुत्रको, जो

स्त्रियोंके प्रति आसक्त था, समरभूमिमें भल्ल नामक बाणद्वारा रथसे मार गिराया; जो कुन्तीकुमारोंकी गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित रखनेवाला तथा दुर्योधनका अनर्थ करनेके लिये उद्यत रहनेवाला है तथा जिसकी उत्पत्ति द्रोणाचार्यके वधके लिये हुई है; वह महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न जब रणक्षेत्रमें योद्धाओंको अपने बाणोंकी अग्निसे जलाता और सब ओरसे सारी सेनाको विदीर्ण करता हुआ द्रोणाचार्यके सम्मुख आ रहा था, उस समय किन शूरवीरोंने उसे रोका था ? ॥ ६०–६२ ॥

उत्सङ्ग इव संवृद्धं द्रुपदस्यास्त्रवित्तमम् ।
शैखण्डिनं शस्त्रगुप्तं के च द्रोणादवारयन् ॥ ६३ ॥

जो द्रुपदकी गोदमें पला हुआ था और शस्त्रोंद्वारा सुरक्षित था, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ उस शिखण्डीपुत्रको द्रोणाचार्यके पास आनेसे किन वीरोंने रोका ? ॥ ६३ ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां चर्मवत् समवेष्टयत् ।
महता रथघोषेण मुख्यारिघ्नो महारथः ॥ ६४ ॥
दशाश्वमेधानाजह्रे स्वन्नपानाप्तदक्षिणान् ।
निरर्गलान् सर्वमेधान् पुत्रवत् पालयन् प्रजाः ॥ ६५ ॥
गङ्गास्रोतसि यावन्त्यः सिकता अप्यशेषतः ।
तावतीर्गा ददौ वीर उशीनरसुतोऽध्वरे ॥ ६६ ॥

जैसे चमड़ेको अंगोंमें लपेट लिया जाता है, उसी प्रकार जिन्होंने अपने रथके महान् घोषद्वारा इस सारी पृथ्वीको व्याप्त कर लिया था, जो प्रधान-प्रधान शत्रुओंका वध करनेवाले और महारथी वीर थे, जिन्होंने प्रजाका पुत्रकी भाँति पालन करते हुए सुन्दर अन्न, पान तथा प्रचुर दक्षिणासे युक्त एवं विघ्नरहित दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और कितने ही सर्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये, वे राजा उशीनरके वीर पुत्र सर्वत्र विख्यात हैं, गङ्गाजीके स्रोतमें जितने सिकता-कण बहते हैं, उतनी ही अर्थात् असंख्य गौएँ उशीनरकुमारने अपने यज्ञमें ब्राह्मणोंको दी थीं ॥ ६४–६६ ॥

न पूर्वे नापरे चक्रुरिदं केचन मानवाः ।
इतीदं चुक्रुशुर्देवाः कृते कर्मणि दुष्करे ॥ ६७ ॥

राजा जब उस दुष्कर यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण कर चुके, तब सम्पूर्ण देवताओंने यह पुकार-पुकारकर कहा कि 'ऐसा यज्ञ पहलेके और बादके भी मनुष्योंने कभी नहीं किया था'॥

पश्यामस्त्रिषु लोकेषु न तं संस्थास्नुचारिषु।
जातं चापि जनिष्यन्तं द्वितीयं चापि साम्प्रतम्॥ ६८ ॥
अन्यमौशीनराच्छैब्याद् धुरो वोढारमित्युत ।
गतिं यस्य न यास्यन्ति मानुषा लोकवासिनः ॥ ६९ ॥

स्थावर-जंगमरूप तीनों लोकोंमें एकमात्र उशीनरपौत्र शैब्यको छोड़कर दूसरे किसी ऐसे राजाको न तो हम इस समय उत्पन्न हुआ देखते हैं और न भविष्यमें किसीके उत्पन्न होनेका लक्षण ही देख पाते हैं, जो इस महान् भारको वहन करनेवाला हो । इस मर्त्यलोकके निवासी मनुष्य उनकी गतिको नहीं पा सकेंगे ॥ ६८-६९ ॥

तस्य नप्तारमायान्तं शैब्यं कः समवारयत् ।
द्रोणायाभिमुखं यत्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ७० ॥

उन्हीं उशीनरका पौत्र शैब्य सावधान हो जब द्रोणाचार्यके सम्मुख आ रहा था, उस समय मुँह फैलाये हुए कालके समान उस वीरको किसने रोका ? ॥ ७० ॥

विराटस्य रथानीकं मत्स्यस्यामित्रघातिनः ।
प्रेप्सन्तं समरे द्रोणं के वीराः पर्यवारयन् ॥ ७१ ॥

शत्रुघाती मत्स्यराज विराटकी रथसेनाको, जो द्रोणाचार्यको नष्ट करनेकी इच्छासे खोजती हुई आ रही थी, किन वीरोंने रोका था ? ॥ ७१ ॥

सद्यो वृकोदराज्जातो महाबलपराक्रमः ।
मायावी राक्षसो वीरो यस्मान्मम महद् भयम् ॥ ७२ ॥
पार्थानां जयकामं तं पुत्राणां मम कण्टकम् ।
घटोत्कचं महात्मानं कस्तं द्रोणादवारयत् ॥ ७३ ॥

जो भीमसेनसे तत्काल प्रकट हुआ तथा जिससे मुझे महान् भय बना रहता है, वह महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न मायावी राक्षस वीर घटोत्कच कुन्तीकुमारोंकी विजय चाहता है और मेरे पुत्रोंके लिये कंटक बना हुआ है, उस महाकाय घटोत्कचको द्रोणाचार्यके पास आनेसे किसने रोका ? ॥ ७२-७३ ॥

एते चान्ये च बहवो येषामर्थाय संजय ।
त्यक्तारः संयुगे प्राणान् किं तेषामजितं युधि ॥ ७४ ॥

संजय ! ये तथा और भी बहुत-से वीर जिनके लिये युद्धमें प्राण त्याग करनेको तैयार हैं, उनके लिये कौन-सी ऐसी वस्तु होगी, जो जीती न जा सके ॥ ७४ ॥

येषां च पुरुषव्याघ्रः शार्ङ्गधन्वा व्यपाश्रयः ।
हितार्थी चापि पार्थानां कथं तेषां पराजयः ॥ ७५ ॥

शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण जिनके आश्रय तथा हित चाहनेवाले हैं, उन कुन्तीकुमारोंकी पराजय कैसे हो सकती है ? ॥ ७५ ॥

लोकानां गुरुरत्यर्थं लोकनाथः सनातनः ।
नारायणो रणे नाथो दिव्यो दिव्यात्मकः प्रभुः ॥ ७६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के परम गुरु हैं, समस्त लोकोंके सनातन स्वामी हैं, संग्रामभूमिमें सबकी रक्षा करनेवाले दिव्य स्वरूप, सामर्थ्यशाली, दिव्य नारायण हैं ॥ ७६ ॥

यस्य दिव्यानि कर्माणि प्रवदन्ति मनीषिणः ।

तान्यहं कीर्तयिष्यामि भक्त्या स्थैर्यार्थमात्मनः॥ ७७ ॥

मनीषी पुरुष जिनके दिव्य कर्मोंका वर्णन करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका अपने मनकी स्थिरताके लिये भक्तिपूर्वक वर्णन करूँगा ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी संक्षिप्त लीलाओंका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना

धृतराष्ट्र उवाच

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य संजय ।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित्॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंका वर्णन सुनो । भगवान् गोविन्दने जो-जो कार्य किये हैं, वैसा दूसरा कोई पुरुष कदापि नहीं कर सकता ॥ १ ॥

संवर्धता गोपकुले बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु संजय ॥ २ ॥

संजय ! बाल्यावस्थामें ही जब कि वे गोपकुलमें पल रहे थे, महात्मा श्रीकृष्णने अपनी भुजाओंके बल और पराक्रमको तीनों लोकोंमें विख्यात कर दिया ॥ २ ॥

उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥ ३ ॥

यमुनाके तटवर्ती वनमें उच्चैःश्रवाके समान बलशाली और वायुके समान वेगवान् अश्वराज केशी रहता था । उसे श्रीकृष्णने मार डाला ॥ ३ ॥

दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥ ४ ॥

इसी प्रकार एक भयंकर कर्म करनेवाला दानव वहाँ बैलका रूप धारण करके रहता था, जो गौओंके लिये मृत्युके समान प्रकट हुआ था । उसे भी श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें अपने हाथोंसे ही मार डाला ॥ ४ ॥

प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम् ।
मुरं चान्तकसंकाशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्णने प्रलम्ब, नरकासुर, जम्भासुर, पीठ नामक महान् असुर और यमराजसदृश मुरका भी संहार किया ॥ ५ ॥

तथा कंसो महातेजा जरासंधेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥ ६ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णने पराक्रम करके ही जरासंधके द्वारा सुरक्षित महातेजस्वी कंसको उसके गणोंसहित रणभूमिमें मार गिराया ॥ ६ ॥

सुनामा रणविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान्॥ ७ ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥ ८ ॥

शत्रुहन्ता श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ जाकर युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले, बलवान्, वेगवान्, सम्पूर्ण अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति, भोजराज कंसके मझले भाई शूरसेन देशके राजा सुनामाको समरमें सेनासहित दग्ध कर डाला ॥

दुर्वासा नाम विप्रर्षिस्तथा परमकोपनः ।
आराधितः सदारेण स चास्मै प्रददौ वरान् ॥ ९ ॥

पत्नीसहित श्रीकृष्णने परम क्रोधी ब्रह्मर्षि दुर्वासाकी आराधना की । अतः उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें बहुत-से वर दिये ॥ ९ ॥

तथा गान्धारराजस्य सुतां वीरः स्वयंवरे ।
निर्जित्य पृथिवीपालानावहत् पुष्करेक्षणः ॥ १० ॥
अमृष्यमाणा राजानो यस्य जात्या हया इव ।
रथे वैवाहिके युक्ताः प्रतोदेन कृतव्रणाः ॥ ११ ॥

कमलनयन वीर श्रीकृष्णने स्वयंवरमें गान्धारराजकी पुत्रीको प्राप्त करके समस्त राजाओंको जीतकर उसके साथ विवाह किया । उस समय अच्छी जातिके घोड़ोंकी भाँति श्रीकृष्णके वैवाहिक रथमें जुते हुए वे असहिष्णु राजालोग कोड़ोंकी मारसे घायल कर दिये गये थे ॥ १०-११ ॥

जरासंधं महाबाहुमुपायेन जनार्दनः ।
परेण घातयामास समग्राक्षौहिणीपतिम् ॥ १२ ॥

जनार्दन श्रीकृष्णने समस्त अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति महाबाहु जरासंधको उपायपूर्वक दूसरे योद्धा (भीमसेन) के द्वारा मरवा दिया ॥ १२ ॥

चेदिराजं च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत् तदा ॥ १३ ॥

बलवान् श्रीकृष्णने राजाओंकी सेनाके अधिपति पराक्रमी चेदिराज शिशुपालको अग्रपूजनके समय विवाद करनेके कारण पशुकी भाँति मार डाला ॥ १३ ॥

सौभं दैत्यपुरं खस्थं शाल्वगुप्तं दुरासदम् ।

समुद्रकुक्षौ विक्रम्य पातयामास माधवः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् माधवने आकाशमें स्थित रहनेवाले सौभ नामक दुर्धर्ष दैत्य-नगरको, जो राजा शाल्वद्वारा सुरक्षित था, समुद्रके बीच पराक्रम करके मार गिराया ॥ १४ ॥

अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान्।
वात्स्यगार्ग्यकरूषांश्च पौण्ड्रांश्चाप्यजयद् रणे ॥ १५ ॥

उन्होंने रणक्षेत्रमें अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, काशि, कोसल, वत्स, गर्ग, करूष तथा पौण्ड्र आदि देशोंपर विजय पायी थी ॥ १५ ॥

आवन्त्यान् दाक्षिणात्यांश्च पर्वतीयान् दशेरकान् ।
काश्मीरकानौरसिकान् पिशाचांश्च समुद्गलान्॥ १६॥
काम्बोजान् वाटधानांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च संजय।
त्रिगर्तान् मालवांश्चैव दरदांश्च सुदुर्जयान् ॥ १७ ॥
नानादिग्भ्यश्च सम्प्राप्तान् खशांश्चैव शकांस्तथा।
जितवान् पुण्डरीकाक्षो यवनं च सहानुगम् ॥ १८ ॥

संजय ! इसी प्रकार कमलनयन श्रीकृष्णने अवन्ती, दक्षिण प्रान्त, पर्वतीय देश, दशेरक, काश्मीर, औरसिक, पिशाच, मुद्गल, काम्बोज, वाटधान, चोल, पाण्ड्य, त्रिगर्त, मालव, अत्यन्त दुर्जय दरद आदि देशोंके योद्धाओंको तथा नाना दिशाओंसे आये हुए खशों, शकों और अनुयायियोंसहित कालयवनको भी जीत लिया ॥ १६–१८ ॥

प्रविश्य मकरावासं यादोगणनिषेवितम् ।
जिगाय वरुणं संख्ये सलिलान्तर्गतं पुरा ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें श्रीकृष्णने जल-जन्तुओंसे भरे हुए समुद्रमें प्रवेश करके जलके भीतर निवास करनेवाले वरुण देवताको युद्धमें परास्त किया ॥ १९ ॥

युधि पञ्चजनं हत्वा दैत्यं पातालवासिनम् ।
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो दिव्यं शङ्खमवाप्तवान् ॥ २० ॥

इसी प्रकार हृषीकेशने पाताल-निवासी पञ्चजन नामक दैत्यको युद्धमें मारकर दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख प्राप्त किया ॥

खाण्डवे पार्थसहितस्तोषयित्वा हुताशनम् ।
आग्नेयमस्त्रं दुर्धर्षं चक्रं लेभे महाबलः ॥ २१ ॥

खाण्डव वनमें अर्जुनके साथ अग्निदेवको संतुष्ट करके महाबली श्रीकृष्णने दुर्धर्ष आग्नेय अस्त्र चक्रको प्राप्त किया था॥

वैनतेयं समारुह्य त्रासयित्वामरावतीम् ।
महेन्द्रभवनाद् वीरः पारिजातमुपानयत् ॥ २२ ॥

वीर श्रीकृष्ण गरुड़पर आरूढ़ हो अमरावती पुरीमें जाकर वहाँके निवासियोंको भयभीत करके महेन्द्रभवनसे पारिजात वृक्ष उठा ले आये ॥ २२ ॥

तच्च मर्षितवाञ्शक्रो जानंस्तस्य पराक्रमम् ।
राज्ञां चाप्यजितं कञ्चित् कृष्णेनेह न शुश्रुम ॥ २३ ॥

उनके पराक्रमको इन्द्र अच्छी तरह जानते थे, इसलिये उन्होंने वह सब चुपचाप सह लिया। राजाओंमेंसे किसीको भी मैंने ऐसा नहीं सुना है, जिसे श्रीकृष्णने जीत न लिया हो॥

यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम संजय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥ २४ ॥

संजय ! उस दिन मेरी सभामें कमलनयन श्रीकृष्णने जो महान् आश्चर्य प्रकट किया था, उसे इस संसारमें उनके सिवा दूसरा कौन कर सकता है ? ॥ २४ ॥

यच्च भक्त्या प्रसन्नोऽहमद्राक्षं कृष्णमीश्वरम् ।
तन्मे सुविदितं सर्वं प्रत्यक्षमिव चागमम् ॥ २५ ॥

मैंने प्रसन्न होकर भक्तिभावसे भगवान् श्रीकृष्णके उस ईश्वरीय रूपका जो दर्शन किया, वह सब मुझे आज भी अच्छी तरह स्मरण है। मैंने उन्हें प्रत्यक्षकी भाँति जान लिया था ॥ २५ ॥

नान्तो विक्रमयुक्तस्य बुद्ध्या युक्तस्य वा पुनः ।
कर्मणां शक्यते गन्तुं हृषीकेशस्य संजय ॥ २६ ॥

संजय ! बुद्धि और पराक्रमसे युक्त भगवान् हृषीकेशके कर्मोंका अन्त नहीं जाना जा सकता ॥ २६ ॥

तथा गदश्च साम्बश्च प्रद्युम्नोऽथ विदूरथः ।
अगावहोऽनिरुद्धश्च चारुदेष्णः ससारणः ॥ २७ ॥
उल्मुको निशठश्चैव झिल्ली बभ्रुश्च वीर्यवान् ।
पृथुश्च विपृथुश्चैव शमीकोऽथारिमेजयः ॥ २८ ॥
एतेऽन्ये बलवन्तश्च वृष्णिवीराः प्रहारिणः ।
कथंचित् पाण्डवानीकं श्रयेयुः समरे स्थिताः॥ २९ ॥
आहूता वृष्णिवीरेण केशवेन महात्मना ।
ततः संशयितं सर्वं भवेदिति मतिर्मम ॥ ३० ॥

यदि गद, साम्ब, प्रद्युम्न, विदूरथ, अगावह, अनिरुद्ध, चारुदेष्ण, सारण, उल्मुक, निशठ, झिल्ली, पराक्रमी बभ्रु, पृथु, विपृथु, शमीक तथा अरिमेजय—ये तथा दूसरे भी बलवान् एवं प्रहारकुशल वृष्णिवंशी योद्धा वृष्णिवंशके प्रमुख वीर महात्मा केशवके बुलानेपर पाण्डव-सेनामें आ जायँ और समर-भूमिमें खड़े हो जायँ तो हमारा सारा उद्योग संशयमें पड़ जाय; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २७–३० ॥

नागायुतबलो वीरः कैलासशिखरोपमः ।
वनमाली हली रामस्तत्र यत्र जनार्दनः ॥ ३१ ॥

वनमाला और हल धारण करनेवाले वीर बलराम कैलास-शिखरके समान गौरवर्ण हैं। उनमें दस हजार हाथियों-का बल है। वे भी उसी पक्षमें रहेंगे, जहाँ श्रीकृष्ण हैं ॥

यमाहुः सर्वपितरं वासुदेवं द्विजातयः ।
अपि वा ह्येष पाण्डूनां योत्स्यतेऽर्थाय संजय ॥ ३२ ॥

संजय ! जिन भगवान् वासुदेवको द्विजगण सबका पिता बताते हैं, क्या वे पाण्डवोंके लिये स्वयं युद्ध करेंगे ? ॥३२॥

स यदा तात संनह्येत् पाण्डवार्थाय संजय ।
न तदा प्रतिसंयोद्धा भविता तत्र कश्चन ॥ ३३ ॥

तात ! संजय ! जब पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्ण कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो जायँ, उस समय वहाँ कोई भी योद्धा उनका सामना करनेको तैयार न होगा ॥ ३३ ॥

यदि स्म कुरवः सर्वे जयेयुर्नाम पाण्डवान् ।
वार्ष्णेयोऽर्थाय तेषां वै गृह्णीयाच्छस्त्रमुत्तमम्॥ ३४ ॥

यदि सब कौरव पाण्डवोंको जीत लें तो वृष्णिवंशभूषण भगवान् श्रीकृष्ण उनके हितके लिये अवश्य उत्तम शस्त्र ग्रहण कर लेंगे ॥ ३४ ॥

ततः सर्वान् नरव्याघ्रो हत्वा नरपतीन् रणे ।
कौरवांश्च महाबाहुः कुन्त्यै दद्यात् स मेदिनीम्॥ ३५ ॥

उस दशामें पुरुषसिंह महाबाहु श्रीकृष्ण सब राजाओं तथा कौरवोंको रणभूमिमें मारकर सारी पृथ्वी कुन्तीको दे देंगे ॥ ३५ ॥

यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ।
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद् रथः ॥३६ ॥

जिसके सारथि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता श्रीकृष्ण तथा योद्धा अर्जुन हैं, रणभूमिमें उस रथका सामना करनेवाला दूसरा कौन रथ होगा ? ॥ ३६ ॥

न केनचिदुपायेन कुरूणां दृश्यते जयः ।
तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यथा युद्धमवर्तत ॥ ३७ ॥

किसी भी उपायसे कौरवोंकी जय होती नहीं दिखायी देती । इसलिये तुम मुझसे सब समाचार कहो । वह युद्ध किस प्रकार हुआ ? ॥ ३७ ॥

अर्जुनः केशवस्यात्मा कृष्णोऽप्यात्मा किरीटिनः।
अर्जुने विजयो नित्यं कृष्णे कीर्तिश्च शाश्वती ॥ ३८ ॥

अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं और श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनके आत्मा हैं । अर्जुनमें विजय नित्य विद्यमान है और श्रीकृष्णमें कीर्तिका सनातन निवास है ॥ ३८ ॥

सर्वेष्वपि च लोकेषु बीभत्सुरपराजितः ।
प्राधान्येनैव भूयिष्ठममेयाः केशवे गुणाः ॥ ३९ ॥

अर्जुन सम्पूर्ण लोकोंमें कभी कहीं भी पराजित नहीं हुए हैं । श्रीकृष्णमें असंख्य गुण हैं । यहाँ प्रायः प्रधान गुणके नाम लिये गये हैं ॥ ३९ ॥

मोहाद् दुर्योधनः कृष्णं यो न वेत्तीह केशवम्।
मोहितो दैवयोगेन मृत्युपाशपुरस्कृतः ॥ ४० ॥

दुर्योधन मोहवश सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् केशवको नहीं जानता है, वह दैवयोगसे मोहित हो मौतके फंदेमें फँस गया ॥ ४० ॥

न वेद कृष्णं दाशार्हमर्जुनं चैव पाण्डवम् ।
पूर्वदेवौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ ॥ ४१ ॥

यह दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनको नहीं जानता है, वे दोनों पूर्वदेवता महात्मा नर और नारायण हैं ॥ ४१ ॥

एकात्मानौ द्विधाभूतौ दृश्येते मानवैर्भुवि ।
मनसाऽपि हि दुर्धर्षौ सेनामेतां यशस्विनौ ॥ ४२ ॥
नाशयेतामिहेच्छन्तौ मानुषत्वाच्च नेच्छतः ।

उनकी आत्मा तो एक है; परंतु इस भूतलके मनुष्योंको वे शरीरसे दो होकर दिखायी देते हैं । उन्हें मनसे भी पराजित नहीं किया जा सकता । वे यशस्वी श्रीकृष्ण और अर्जुन यदि इच्छा करें तो मेरी सेनाको तत्काल नष्ट कर सकते हैं; परंतु मानव-भावका अनुसरण करनेके कारण ये वैसी इच्छा नहीं करते हैं ॥ ४२½ ॥

युगस्येव विपर्यासो लोकानामिव मोहनम् ॥ ४३ ॥
भीष्मस्य च वधस्तात द्रोणस्य च महात्मनः ।

तात ! भीष्म तथा महात्मा द्रोणका वध युगके उलट जानेकी-सी बात है । सम्पूर्ण लोकोंको यह घटना मानो मोहमें डालनेवाली है ॥ ४३½ ॥

न ह्येव ब्रह्मचर्येण न वेदाध्ययनेन च ॥ ४४ ॥
न क्रियाभिर्न चास्त्रेण मृत्योः कश्चिन्निवार्यते ।

जान पड़ता है, कोई भी न तो ब्रह्मचर्यके पालनसे, न वेदोंके स्वाध्यायसे, न कर्मोंके अनुष्ठानसे और न अस्त्रोंके प्रयोगसे ही अपनेको मृत्युसे बचा सकता है ॥ ४४½ ॥

लोकसम्भावितौ वीरौ कृतास्त्रौ युद्धदुर्मदौ ॥ ४५ ॥
भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा किं नु जीवामि संजय ।

संजय ! लोकसम्मानित, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा युद्धदुर्मद वीरवर भीष्म और द्रोणाचार्यके मारे जानेका समाचार सुनकर मैं किसलिये जीवित रहूँ ? ॥ ४५½ ॥

यां तां श्रियमसूयामः पुरा दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ ४६ ॥
अद्य तामनुजानीमो भीष्मद्रोणवधेन ह ।

पूर्वकालमें राजा युधिष्ठिरके पास जिस प्रसिद्ध राजलक्ष्मीको देखकर हमलोग उनसे डाह करने लगे थे, आज भीष्म और द्रोणाचार्यके वधसे हम उसके कटु फलका अनुभव कर रहे हैं ॥ ४६½ ॥

मत्कृते चाप्यनुप्राप्तः कुरूणामेष संक्षयः ॥ ४७ ॥
पक्वानां हि वधे सूत वज्रायन्ते तृणान्युत ।

सूत ! मेरे ही कारण यह कौरवोंका विनाश प्राप्त हुआ

है। जो कालसे परिपक्व हो गये हैं, उनके वधके लिये तिनके भी वज्रका काम करते हैं ॥ ४७½ ॥

अनन्तमिदमैश्वर्यं लोके प्राप्तो युधिष्ठिरः ॥ ४८ ॥
यस्य कोपान्महात्मानौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ।

युधिष्ठिर इस संसारमें अनन्त ऐश्वर्यके भागी हुए हैं। जिनके कोपसे महात्मा भीष्म और द्रोण मार गिराये गये ॥४८½॥

प्राप्तः प्रकृतितो धर्मो न धर्मो मामकान् प्रति ॥ ४९ ॥
क्रूरः सर्वविनाशाय कालोऽसौ नातिवर्तते ।

युधिष्ठिरको धर्मका स्वाभाविक फल प्राप्त हुआ है, किंतु मेरे पुत्रोंको उसका फल नहीं मिल रहा है। सबका विनाश करनेके लिये प्राप्त हुआ यह क्रूर काल बीत नहीं रहा है ॥ ४९½ ॥

अन्यथा चिन्तिता ह्यर्था नरैस्तात मनस्विभिः ॥ ५० ॥
अन्यथैव प्रपद्यन्ते दैवादिति मतिर्मम ।

तात ! मनस्वी पुरुषोंद्वारा अन्य प्रकारसे सोचे हुए कार्य भी दैवयोगसे कुछ और ही प्रकारके हो जाते हैं; ऐसा मेरा अनुभव है ॥ ५०½ ॥

तस्मादपरिहार्येऽर्थे सम्प्राप्ते कृच्छ्र उत्तमे ।
अपारणीये दुश्चिन्त्ये यथाभूतं प्रचक्ष्व मे ॥ ५१ ॥

अतः इस अनिवार्य अपार दुश्चिन्त्य एवं महान् संकटके प्राप्त होनेपर जो घटना जिस प्रकार हुई हो, वह मुझे बताओ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

दुर्योधनका वर माँगना और द्रोणाचार्यका युधिष्ठिरको अर्जुनकी अनुपस्थितिमें जीवित पकड़ लानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
यथा स न्यपतद् द्रोणः सूदितः पाण्डुसृञ्जयैः ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज ! मैं बड़े दुःखके साथ आपसे उन सब घटनाओंका वर्णन करूँगा। द्रोणाचार्य किस प्रकार गिरे हैं और पाण्डवों तथा सृञ्जयोंने कैसे उनका वध किया है ? इन सब बातोंको मैंने प्रत्यक्ष देखा था ॥ १ ॥

सेनापतित्वं सम्प्राप्य भारद्वाजो महारथः ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पुत्रं ते वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

सेनापतिका पद प्राप्त करके महारथी द्रोणाचार्यने सारी सेनाके बीचमें आपके पुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥२॥

यत् कौरवाणामृषभादापगेयादनन्तरम् ।
सैनापत्येन यद् राजन् मामद्य कृतवानसि ॥ ३ ॥
सदृशं कर्मणस्तस्य फलं प्राप्नुहि भारत ।
करोमि कामं कं तेऽद्य प्रवृणीष्व यमिच्छसि ॥ ४ ॥

'राजन् ! तुमने कौरवश्रेष्ठ गङ्गापुत्र भीष्मके बाद जो आज मुझे सेनापति बनाया है, भरतनन्दन ! इस कार्यके अनुरूप कोई फल मुझसे प्राप्त करो। आज तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? तुम्हें जिस वस्तुकी इच्छा हो, उसे ही माँग लो' ॥ ३-४ ॥

ततो दुर्योधनो राजा कर्णदुःशासनादिभिः ।
सम्मन्त्र्योवाच दुर्धर्षमाचार्यं जयतां वरम् ॥ ५ ॥

तब राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन आदिके साथ सलाह करके विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्जय आचार्य द्रोणसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

ददासि चेद् वरं मह्यं जीवग्राहं युधिष्ठिरम् ।
गृहीत्वा रथिनां श्रेष्ठं मत्समीपमिहानय ॥ ६ ॥

आचार्य ! यदि आप मुझे वर दे रहे हैं तो रथियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको जीवित पकड़कर यहाँ मेरे पास ले आइये' ॥ ६ ॥

ततः कुरूणामाचार्यः श्रुत्वा पुत्रस्य ते वचः ।
सेनां प्रहर्षयन् सर्वामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

आपके पुत्रकी वह बात सुनकर कुरुकुलके आचार्य द्रोण सारी सेनाको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार बोले—॥७॥

धन्यः कुन्तीसुतो राजन् यस्य ग्रहणमिच्छसि।
न वधार्थं सुदुर्धर्ष वरमद्य प्रयाचसे ॥ ८ ॥

'राजन् ! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर धन्य हैं, जिन्हें तुम जीवित पकड़ना चाहते हो। उन दुर्धर्ष वीरके वधके लिये आज तुम मुझसे याचना नहीं कर रहे हो ॥ ८ ॥

किमर्थं च नरव्याघ्र न वधं तस्य काङ्क्षसे ।
नाशंससि क्रियामेतां मत्तो दुर्योधन ध्रुवम् ॥ ९ ॥

'पुरुषसिंह ! तुम्हें उनके वधकी इच्छा क्यों नहीं हो रही है ? दुर्योधन ! तुम मेरे द्वारा निश्चितरूपसे युधिष्ठिरका वध कराना क्यों नहीं चाहते हो ? ॥ ९ ॥

आहोस्विद् धर्मराजस्य द्वेष्टा तस्य न विद्यते ।
यदीच्छसि त्वं जीवन्तं कुलं रक्षसि चात्मनः ॥ १० ॥

'अथवा इसका कारण यह तो नहीं है कि धर्मराज युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला इस संसारमें कोई है ही नहीं । इसीलिये तुम उन्हें जीवित देखना और अपने कुलकी रक्षा करना चाहते हो ॥ १० ॥

अथवा भरतश्रेष्ठ निर्जित्य युधि पाण्डवान् ।
राज्यं सम्प्रति दत्त्वा च सौभ्रात्रं कर्तुमिच्छसि॥ ११ ॥

'अथवा भरतश्रेष्ठ ! तुम युद्धमें पाण्डवोंको जीतकर इस समय उनका राज्य वापस दे सुन्दर भ्रातृभावका आदर्श उपस्थित करना चाहते हो ॥ ११ ॥

धन्यः कुन्तीसुतो राजा सुजातं चास्य धीमतः।
अजातशत्रुता सत्या तस्य यत् स्निह्यते भवान्॥१२ ॥

'कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर धन्य हैं। उन बुद्धिमान् नरेशका जन्म बहुत ही उत्तम है और वे जो अजातशत्रु कहलाते हैं, वह भी ठीक है; क्योंकि तुम भी उनपर स्नेह रखते हो' ॥ १२ ॥

द्रोणेन चैवमुक्तस्य तव पुत्रस्य भारत ।
सहसा निःसृतो भावो योऽस्य नित्यं हृदि स्थितः॥ १३ ॥

भारत ! द्रोणाचार्यके ऐसा कहनेपर तुम्हारे पुत्रके मनका भाव जो सदा उसके हृदयमें बना रहता था, सहसा प्रकट हो गया ॥ १३ ॥

नाकारो गूहितुं शक्यो बृहस्पतिसमैरपि ।
तस्मात्तव सुतो राजन् प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् पुरुष भी अपने आकारको छिपा नहीं सकते। राजन् ! इसीलिये आपका पुत्र अत्यन्त प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला—॥ १४ ॥

वधे कुन्तिसुतस्याजौ नाचार्य विजयो मम ।
हते युधिष्ठिरे पार्था हन्युः सर्वान् हि नो ध्रुवम् ॥१५ ॥

'आचार्य ! युद्धके मैदानमें कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके मारे जानेसे मेरी विजय नहीं हो सकती; क्योंकि युधिष्ठिरका वध होनेपर कुन्तीके पुत्र हम सब लोगोंको अवश्य ही मार डालेंगे ॥ १५ ॥

न च शक्या रणे सर्वे निहन्तुममरैरपि ।
(यदि सर्वे हनिष्यन्ते पाण्डवाः ससुता मृधे ।
ततः कृत्स्नं वशे कृत्वा निःशेषं नृपमण्डलम्॥
ससागरवनां स्फीतां विजित्य वसुधामिमाम् ।
विष्णुर्दास्यति कृष्णायै कुन्त्यै वा पुरुषोत्तमः ॥)
य एव तेषां शेषः स्यात् स एवास्मान् न शेषयेत्॥ १६ ॥

'सम्पूर्ण देवता भी समस्त पाण्डवोंको रणक्षेत्रमें नहीं मार सकते। यदि सारे पाण्डव अपने पुत्रोंसहित युद्धमें मार डाले जायँगे तो भी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण नरेशमण्डलको अपने वशमें करके समुद्र और वनोंसहित इस सारी समृद्धिशालिनी वसुधाको जीतकर द्रौपदी अथवा कुन्तीको दे डालेंगे। अथवा पाण्डवोंमेंसे जो भी शेष रह जायगा, वही हमलोगोंको शेष नहीं रहने देगा ॥ १६ ॥

सत्यप्रतिज्ञे त्वानीते पुनर्द्यूतेन निर्जिते ।
पुनर्यास्यन्त्यरण्याय पाण्डवास्तमनुव्रताः ॥ १७ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिरको जीते-जी पकड़ ले आनेपर यदि उन्हें पुनः जूएमें जीत लिया जाय तो उनमें भक्ति रखनेवाले पाण्डव पुनः वनमें चले जायँगे ॥ १७ ॥

सोऽयं मम जयो व्यक्तं दीर्घकालं भविष्यति ।
अतो न वधमिच्छामि धर्मराजस्य कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'इस प्रकार निश्चय ही मेरी विजय दीर्घकालतक बनी रहेगी। इसीलिये मैं कभी धर्मराज युधिष्ठिरका वध करना नहीं चाहता' ॥ १८ ॥

तस्य जिह्ममभिप्रायं ज्ञात्वा द्रोणोऽथ तत्त्ववित्।
तं वरं सान्तरं तस्मै ददौ संचिन्त्य बुद्धिमान्॥ १९ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्य प्रत्येक बातके वास्तविक तात्पर्यको तत्काल समझ लेनेवाले थे। दुर्योधनके उस कुटिल मनोभावको जानकर बुद्धिमान् द्रोणने मन-ही-मन कुछ विचार किया और अन्तर रखकर उसे वर दिया ॥ १९ ॥

द्रोण उवाच

न चेद् युधिष्ठिरं वीरः पालयत्यर्जुनो युधि ।
मन्यस्व पाण्डवश्रेष्ठमानीतं वशमात्मनः ॥ २० ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! यदि वीरवर अर्जुन युद्धमें युधिष्ठिरकी रक्षा न करते हों, तब तुम पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरको अपने वशमें आया हुआ ही समझो ॥ २० ॥

न हि शक्यो रणे पार्थः सेन्द्रैर्देवासुरैरपि ।
प्रत्युद्यातुमतस्तात नैतदामर्षयाम्यहम् ॥ २१ ॥

तात ! रणक्षेत्रमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी अर्जुनका सामना नहीं कर सकते हैं। अतः मुझमें भी उन्हें जीतनेका उत्साह नहीं है ॥ २१ ॥

असंशयं स मे शिष्यो मत्पूर्वश्चास्त्रकर्मणि ।
तरुणः सुकृतैर्युक्त एकायनगतश्च ह ॥ २२ ॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च भूयः स समवाप्तवान्।
अमर्षितश्च ते राजंस्ततो नामर्षयाम्यहम् ॥ २३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि अर्जुन मेरा शिष्य है और उसने पहले मुझसे ही अस्त्रविद्या सीखी है, तथापि वह तरुण है। अनेक प्रकारके पुण्य कर्मोंसे युक्त है। विजय अथवा मृत्यु—इन दोनोंमेंसे एकका वरण करनेका दृढ़ निश्चय कर चुका है। इन्द्र और रुद्र आदि देवताओंसे पुनः बहुत-से दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा पा चुका है और तुम्हारे प्रति उसका अमर्ष बढ़ा हुआ है। इसलिये राजन् ! मैं अर्जुनसे लड़नेका उत्साह नहीं रखता हूँ ॥ २२-२३ ॥

स चापक्रम्यतां युद्धाद् येनोपायेन शक्यते ।
अपनीते ततः पार्थे धर्मराजो जितस्त्वया ॥ २४ ॥

अतः जिस उपायसे भी सम्भव हो, तुम उन्हें युद्धसे दूर हटा दो। कुन्तीकुमार अर्जुनके रणक्षेत्रसे हट जानेपर समझ लो कि तुमने धर्मराजको जीत लिया ॥ २४ ॥

ग्रहणे हि जयस्तस्य न वधे पुरुषर्षभ।
एतेन चाप्युपायेन ग्रहणं समुपैष्यसि ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ ! उनको पकड़ लेनेमें ही तुम्हारी विजय है, उनके वधमें नहीं; परंतु इसी उपायसे तुम उन्हें पकड़ पाओगे ॥ २५ ॥

अहं गृहीत्वा राजानं सत्यधर्मपरायणम्।
आनयिष्यामि ते राजन् वशमद्य न संशयः ॥ २६ ॥
यदि स्थास्यति संग्रामे मुहूर्तमपि मेऽग्रतः।
अपनीते नरव्याघ्रे कुन्तीपुत्रे धनंजये ॥ २७ ॥

राजन् ! पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र अर्जुनके युद्धसे हट जानेपर यदि वे दो घड़ी भी मेरे सामने संग्राममें खड़े रहेंगे तो मैं आज सत्यधर्मपरायण राजा युधिष्ठिरको पकड़कर तुम्हारे वशमें ला दूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २६-२७ ॥

फाल्गुनस्य समीपे तु न हि शक्यो युधिष्ठिरः।
ग्रहीतुं समरे राजन् सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ २८ ॥

राजन् ! अर्जुनके समीप तो समरभूमिमें इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता और असुर भी युधिष्ठिरको नहीं पकड़ सकते हैं ॥ २८ ॥

संजय उवाच

सान्तरं तु प्रतिज्ञाते राज्ञो द्रोणेन निग्रहे।
गृहीतं तममन्यन्त तव पुत्राः सुबालिशाः ॥ २९ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! द्रोणाचार्यने कुछ अन्तर रखकर जब राजा युधिष्ठिरको पकड़ लानेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब आपके मूर्ख पुत्र उन्हें कैद हुआ ही मानने लगे ॥ २९ ॥

पाण्डवेयेषु सापेक्षं द्रोणं जानाति ते सुतः।
ततः प्रतिज्ञास्थैर्यार्थं स मन्त्रो बहुलीकृतः ॥ ३० ॥

आपका पुत्र दुर्योधन यह जानता था कि द्रोणाचार्य पाण्डवोंके प्रति पक्षपात रखते हैं, अतः उसने उनकी प्रतिज्ञाको स्थिर रखनेके लिये उस गुप्त बातको भी बहुत लोगोंमें फैला दिया ॥ ३० ॥

ततो दुर्योधनेनापि ग्रहणं पाण्डवस्य तत्।
(स्कन्धावारेषु सर्वेषु यथास्थानेषु मारिष।)
सैन्यस्थानेषु सर्वेषु सुघोषितमरिंदम ॥ ३१ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले आर्य धृतराष्ट्र ! तदनन्तर दुर्योधनने युद्धकी सारी छावनियोंमें तथा सेनाके विश्राम करनेके प्रायः सभी स्थानोंपर द्रोणाचार्यकी युधिष्ठिरको पकड़ लानेकी उस प्रतिज्ञाको घोषित करवा दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि द्रोणप्रतिज्ञायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें द्रोणप्रतिज्ञाविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरको आश्वासन देना तथा युद्धमें द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

सान्तरे तु प्रतिज्ञाते राज्ञो द्रोणेन निग्रहे।
ततस्ते सैनिकाः श्रुत्वा तं युधिष्ठिरनिग्रहम् ॥ १ ॥
सिंहनादरवांश्चक्रुर्बाहुशब्दांश्च कृत्स्नशः।
तच्च सर्वं यथान्यायं धर्मराजेन भारत ॥ २ ॥
आप्तैराशु परिज्ञातं भारद्वाजचिकीर्षितम्।

संजय कहते हैं--राजन् ! जब द्रोणाचार्यने कुछ अन्तर रखकर राजा युधिष्ठिरको कैद करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब आपके सैनिकोंने युधिष्ठिरके पकड़े जानेका उद्योग सुनकर जोर-जोरसे सिंहनाद करना और भुजाओंपर ताल ठोकना आरम्भ किया। भरतनन्दन ! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने शीघ्र ही अपने विश्वसनीय गुप्तचरोंद्वारा यथायोग्य सारी बातें पूर्णरूपसे जान लीं कि द्रोणाचार्य क्या करना चाहते हैं ॥ १-२½ ॥

ततः सर्वान् समानाय्य भ्रातॄनन्यांश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
अब्रवीद् धर्मराजस्तु धनंजयमिदं वचः।
श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र द्रोणस्याद्य चिकीर्षितम् ॥ ४ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको और दूसरे राजाओंको सब ओरसे बुलवाकर धनंजय अर्जुनसे कहा--'पुरुषसिंह ! आज द्रोण क्या करना चाहते हैं, यह तुमने सुना ही होगा ? ॥ ३-४ ॥

यथा तन्न भवेत् सत्यं तथा नीतिर्विधीयताम्।
सान्तरं हि प्रतिज्ञातं द्रोणेनामित्रकर्षिणा ॥ ५ ॥

'अतः तुम ऐसी नीति बताओ, जिससे उनकी इच्छा सफल न हो। शत्रुसूदन द्रोणने कुछ अन्तर रखकर प्रतिज्ञा की है ॥ ५ ॥

तच्चान्तरं महेष्वास त्वयि तेन समाहितम्।
स त्वमद्य महाबाहो युध्यस्व मदनन्तरम् ॥ ६ ॥
यथा दुर्योधनः कामं नेमं द्रोणादवाप्नुयात्।

'महाधनुर्धर अर्जुन ! वह अन्तर उन्होंने तुम्हींपर डाल रक्खा है। अतः महाबाहो ! आज तुम मेरे समीप रहकर ही युद्ध करो, जिससे दुर्योधन द्रोणाचार्यसे अपने इस मनोरथको पूर्ण न करा सके' ॥ ६½ ॥

अर्जुन उवाच

यथा मे न वधः कार्य आचार्यस्य कदाचन ॥ ७ ॥

तथा तव परित्यागो न मे राजंश्चिकीर्षितः ।

अर्जुन बोले—राजन् ! जिस प्रकार मेरे लिये आचार्यका कभी वध न करना कर्तव्य है, उसी प्रकार किसी भी दशामें आपका परित्याग करना मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ ७½ ॥

अप्येवं पाण्डव प्राणानुत्सृजेयमहं युधि ॥ ८ ॥
प्रतीपो नाहमाचार्ये भवेयं वै कथंचन ।

पाण्डुनन्दन ! इस नीतिके अनुसार बर्ताव करते हुए मैं युद्धमें अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा; परंतु किसी प्रकार भी आचार्यका शत्रु नहीं बनूँगा ॥ ८½ ॥

त्वां निगृह्याहवे राज्यं धार्तराष्ट्रोऽयमिच्छति ॥ ९ ॥
न स तं जीवलोकेऽस्मिन् कामं प्राप्येत् कथंचन ।

महाराज ! यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जो आपको युद्धमें कैद करके सारा राज्य हथिया लेना चाहता है, वह इस जगत्में अपने उस मनोरथको किसी प्रकार पूर्ण नहीं कर सकता ॥

प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ॥ १० ॥
न त्वां द्रोणो निगृह्णीयाज्जीवमाने मयि ध्रुवम् ।

नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े और पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, तो भी मेरे जीते-जी द्रोणाचार्य आपको पकड़ नहीं सकते; यह ध्रुव सत्य है ॥ १०½ ॥

यदि तस्य रणे साह्यं कुरुते वज्रभृत् स्वयम् ॥ ११ ॥
विष्णुर्वा सहितो देवैर्न त्वां प्राप्स्यत्यसौ मृधे ।
मयि जीवति राजेन्द्र न भयं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥
द्रोणादस्त्रभृतां श्रेष्ठात् सर्वशस्त्रभृतामपि ।

राजेन्द्र ! यदि रणक्षेत्रमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र अथवा भगवान् विष्णु सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर दुर्योधनकी सहायता करें, तो भी मेरे जीते-जी वह आपको पकड़ नहीं सकेगा; अतः आपको सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे भय नहीं करना चाहिये ॥ ११-१२½ ॥

अन्यच्च ब्रूयां राजेन्द्र प्रतिज्ञां मम निश्चलाम् ॥ १३ ॥
न स्मराम्यनृतं तावन्न स्मरामि पराजयम् ।
न स्मरामि प्रतिश्रुत्य किंचिदप्यनृतं कृतम् ॥ १४ ॥

महाराज ! मैं अपनी दूसरी भी निश्चल प्रतिज्ञा आपको सुनाता हूँ । मैंने कभी झूठ कहा हो, इसका स्मरण नहीं है । मेरी कहीं पराजय हुई हो, इसकी भी याद नहीं है और मैंने प्रतिज्ञा करके उसे तनिक भी झूठी कर दिया हो, इसका भी मुझे स्मरण नहीं है ॥ १३-१४ ॥

संजय उवाच

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्चानकैः सह ।
प्रावाद्यन्त महाराज पाण्डवानां निवेशने ॥ १५ ॥
सिंहनादश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्दश्च गगनस्पृक् सुभैरवः ॥ १६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पाण्डवोंके शिविरमें शङ्ख, भेरी, मृदंग और आनक आदि बाजे बजने लगे । महात्मा पाण्डवोंका सिंहनाद सहसा प्रकट हुआ । धनुषकी टंकारका भयंकर शब्द आकाशमें गूँजने लगा ॥

श्रुत्वा शङ्खस्य निर्घोषं पाण्डवस्य महौजसः ।
त्वदीयेष्वप्यनीकेषु वादित्राण्यभिजघ्निरे ॥ १७ ॥

महातेजस्वी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनामें वह शङ्खध्वनि सुनकर आपकी सेनाओंमें भी भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे॥

ततो व्यूढान्यनीकानि तव तेषां च भारत ।
शनैरुपेयुरन्योन्यं योध्यमानानि संयुगे ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर आपकी और उनकी भी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर धीरे-धीरे युद्धके लिये एक-दूसरीके समीप आने लगीं ॥ १८ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च द्रोणपाञ्चाल्ययोरपि ॥ १९ ॥

तदनन्तर कौरवों तथा पाण्डवोंमें और द्रोणाचार्य तथा धृष्टद्युम्नमें रोमाञ्चकारी भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १९ ॥

यतमानाः प्रयत्नेन द्रोणानीकविशातने ।
न शेकुः सृञ्जया युद्धे तद्धि द्रोणेन पालितम् ॥ २० ॥

संजय योद्धा उस युद्धमें द्रोणाचार्यकी सेनाका विनाश करनेके लिये बड़े यत्नके साथ चेष्टा करने लगे, परंतु सफल न हो सके; क्योंकि वह सेना आचार्य द्रोणके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित थी ॥ २० ॥

तथैव तव पुत्रस्य रथोदाराः प्रहारिणः ।
न शेकुः पाण्डवीं सेनां पाल्यमानां किरीटिना ॥ २१ ॥

इसी प्रकार आपके पुत्रकी सेनाके उदार महारथी, जो प्रहार करनेमें कुशल थे, पाण्डवसेनाको परास्त न कर सके; क्योंकि किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ २१ ॥

आस्तां ते स्तिमिते सेने रक्ष्यमाणे परस्परम् ।
सम्प्रसुप्ते यथा नक्तं वनराज्यौ सुपुष्पिते ॥ २२ ॥

जैसे रातमें सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित दो वनश्रेणियाँ प्रसुप्त (सिकुड़े हुए पत्तोंसे युक्त) देखी जाती हैं, उसी प्रकार वे सुरक्षित हुई दोनों सेनाएँ आमने-सामने निश्चलभावसे खड़ी थीं ॥ २२ ॥

ततो रुक्मरथो राजन्नर्केणेव विराजता ।
वरूथिना विनिष्पत्य व्यचरत् पृतनामुखे ॥ २३ ॥

राजन् ! तदनन्तर सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्य सूर्यके समान प्रकाशमान आवरणयुक्त रथके द्वारा आगे बढ़कर सेनाके प्रमुख भागमें विचरने लगे ॥ २३ ॥

तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे पाण्डुसृञ्जयाः ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य युद्धस्थलमें केवल रथके द्वारा उद्यत होकर अकेले ही शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे। उस समय पाण्डव तथा संजय भयके मारे उन्हें अनेक-सा मान रहे थे ॥ २४ ॥

तेन मुक्ताः शरा घोरा विचेरुः सर्वतोदिशम्।
त्रासयन्तो महाराज पाण्डवेयस्य वाहिनीम् ॥ २५ ॥

महाराज ! उनके द्वारा छोड़े हुए भयंकर बाण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनाको भयभीत करते हुए चारों ओर विचर रहे थे ॥ २५ ॥

मध्यंदिनमनुप्राप्तो गभस्तिशतसंवृतः।
यथा दृश्येत घर्मांशुस्तथा द्रोणोऽप्यदृश्यत ॥ २६ ॥

दोपहरके समय सहस्रों किरणोंसे व्याप्त प्रचण्ड तेजवाले भगवान् सूर्य जैसे दिखायी देते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्य भी दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २६ ॥

न चैनं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति भारत।
वीक्षितुं समरे क्रुद्धं महेन्द्रमिव दानवः ॥ २७ ॥

भरतनन्दन ! जैसे दानवदल क्रोधमें भरे हुए देवराज इन्द्रकी ओर देखनेका साहस नहीं करता है, उसी प्रकार पाण्डवसेनाका कोई भी वीर समरभूमिमें द्रोणाचार्यकी ओर आँख उठाकर देख न सका ॥ २७ ॥

मोहयित्वा ततः सैन्यं भारद्वाजः प्रतापवान्।
धृष्टद्युम्नबलं तूर्णं व्यधमन्निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

इस प्रकार प्रतापी द्रोणाचार्यने पाण्डव-सेनाको मोहित करके पैने बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २८ ॥

स दिशः सर्वतो रुध्वा संवृत्य खमजिह्मगैः।
पार्षतो यत्र तत्रैव ममृदे पाण्डुवाहिनीम् ॥ २९ ॥

उन्होंने अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध करके आकाशको भी आच्छादित कर दिया और जहाँ धृष्टद्युम्न खड़ा था, वहीं वे पाण्डव-सेनाका मर्दन करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि अर्जुनकृतयुधिष्ठिराश्वासने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें अर्जुनके द्वारा युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रोणका पराक्रम, कौरव-पाण्डववीरोंका द्वन्द्वयुद्ध, रणनदीका वर्णन तथा अभिमन्युकी वीरता

संजय उवाच

ततः स पाण्डवानीके जनयन् सुमहद् भयम्।
व्यचरत् पृतनां द्रोणो दहन् कक्षमिवानलः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य पाण्डव-दलमें महान् भय उत्पन्न करते और सारी सेनाको जलाते हुए सब ओर विचरने लगे ॥ १ ॥

निर्दहन्तमनीकानि साक्षादग्निमिवोत्थितम्।
दृष्ट्वा रुक्मरथं क्रुद्धं समकम्पन्त सृञ्जयाः ॥ २ ॥

सुवर्णमय रथवाले द्रोणको वहाँ प्रकट हुए साक्षात् अग्निदेवके समान क्रोधमें भरकर सम्पूर्ण सेनाओंको दग्ध करते देख समस्त संजय वीर काँप उठे ॥ २ ॥

सततं कृष्यतः संख्ये धनुषोऽस्याशुकारिणः।
ज्याघोषः शुश्रुवेऽत्यर्थं विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ ३ ॥

बाण चलानेमें शीघ्रता करनेवाले द्रोणाचार्यके युद्धमें निरन्तर खींचे जाते हुए धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार-घोष वज्रकी गड़गड़ाहटके समान बड़े जोर-जोरसे सुनायी दे रहा था ॥ ३ ॥

रथिनः सादिनश्चैव नागानश्वान् पदातिनः।
रौद्रा हस्तवता मुक्ताः सम्मृद्नन्ति स्म सायकाः ॥ ४ ॥

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले द्रोणाचार्यके छोड़े हुए भयंकर बाण पाण्डव-सेनाके रथियों, घुड़सवारों, हाथियों, घोड़ों और पैदल योद्धाओंको गर्दमें मिला रहे थे ॥ ४ ॥

नानद्यमानः पर्जन्यः प्रवृद्धः शुचिसंक्षये।
अश्मवर्षमिवावर्षत् परेषामावहद् भयम् ॥ ५ ॥

आषाढ़ मास बीत जानेपर वर्षाके प्रारम्भमें जैसे मेघ अत्यन्त गर्जन-तर्जनके साथ फैलकर आकाशमें छा जाता और पत्थरोंकी वर्षा करने लगता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य भी बाणोंकी वर्षा करके शत्रुओंके मनमें भय उत्पन्न करने लगे ॥

विचरन् स तदा राजन् सेनां संक्षोभयन् प्रभुः।
वर्धयामास संत्रासं शात्रवाणाममानुषम् ॥ ६ ॥

राजन् ! शक्तिशाली द्रोणाचार्य उस समय रणभूमिमें विचरते और पाण्डव-सेनाको क्षुब्ध करते हुए शत्रुओंके मनमें लोकोत्तर भयकी वृद्धि करने लगे ॥ ६ ॥

तस्य विद्युदिवाभ्रेषु चापं हेमपरिष्कृतम्।
भ्रमद्रथाम्बुदे चास्मिन् दृश्यते स्म पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उनके घूमते हुए रथरूपी मेघमण्डलमें सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्के समान बारंबार प्रकाशित दिखायी देता था ॥

स वीरः सत्यवान् प्राज्ञो धर्मनित्यः सदा पुनः।
युगान्तकालवद् घोरां रौद्रां प्रावर्तयन्नदीम् ॥ ८ ॥

उन सत्यपरायण परम बुद्धिमान् तथा नित्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले वीर द्रोणाचार्यने उस रणक्षेत्रमें प्रलयकालके समान अत्यन्त भयंकर रक्तकी नदी प्रवाहित कर दी ॥ ८ ॥

अमर्षवेगप्रभवां क्रव्यादगणसंकुलाम् ।
बलौघैः सर्वतः पूर्णां ध्वजवृक्षापहारिणीम् ॥ ९ ॥

उस नदीका प्राकट्य क्रोधके आवेगसे हुआ था । मांस-भक्षी जन्तुओंसे वह घिरी हुई थी । सेनारूपी प्रवाहद्वारा वह सब ओरसे परिपूर्ण थी और ध्वजरूपी वृक्षोंको तोड़-फोड़कर बहा रही थी ॥ ९ ॥

शोणितोदां रथावर्तां हस्त्यश्वकृतरोधसम् ।
कवचोडुपसंयुक्तां मांसपङ्कसमाकुलाम् ॥ १० ॥

उस नदीमें जलकी जगह रक्तराशि भरी हुई थी, रथोंकी भँवरें उठ रही थीं, हाथी और घोड़ोंकी ऊँची-ऊँची लाशें उस नदीके ऊँचे किनारोंके समान प्रतीत होती थीं । उसमें कवच नावकी भाँति तैर रहे थे तथा वह मांसरूपी कीचड़से भरी हुई थी ॥ १० ॥

मेदोमज्जास्थिसिकतामुष्णीषचयफेनिलाम् ।
संग्रामजलदापूर्णां प्रासमत्स्यसमाकुलाम् ॥ ११ ॥

मेद, मज्जा और हड्डियाँ वहाँ बालुकाराशिके समान प्रतीत होती थीं । पगड़ियोंका समूह उसमें फेनके समान जान पड़ता था । संग्रामरूपी मेघ उस नदीको रक्तकी वर्षाद्वारा भर रहा था । वह नदी प्रासरूपी मत्स्योंसे भरी हुई थी ॥

नरनागाश्वकलिलां शरवेगौघवाहिनीम् ।
शरीरदारुसंघट्टां रथकच्छपसंकुलाम् ॥ १२ ॥

वहाँ पैदल, हाथी और घोड़े ढेर-के-ढेर पड़े हुए थे । बाणोंका वेग ही उस नदीका प्रखर प्रवाह था, जिसके द्वारा वह प्रवाहित हो रही थी । शरीररूपी काष्ठसे ही मानो उसका घाट बनाया गया था । रथरूपी कछुओंसे वह नदी व्याप्त हो रही थी ॥ १२ ॥

उत्तमाङ्गैः पङ्कजिनीं निस्त्रिंशझषसंकुलाम् ।
रथनागह्रदोपेतां नानाभरणभूषिताम् ॥ १३ ॥

योद्धाओंके कटे हुए मस्तक कमल-पुष्पके समान जान पड़ते थे, जिनके कारण वह कमलवनसे सम्पन्न दिखायी देती थी । उसके भीतर असंख्य डूबती-बहती तलवारोंके कारण वह नदी मछलियोंसे भरी हुई-सी जान पड़ती थी । रथ और हाथियोंसे यत्र-तत्र घिरकर वह नदी गहरे कुण्डके रूपमें परिणत हो गयी थी । वह भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित-सी प्रतीत होती थी ॥ १३ ॥

महारथशतावर्तां भूमिरेणूर्मिमालिनीम् ।
महावीर्यवतां संख्ये सुतरां भीरुदुस्तराम् ॥ १४ ॥

सैकड़ों विशाल रथ उसके भीतर उठती हुई भँवरोंके समान प्रतीत होते थे । वह धरतीकी धूल और तरंगमालाओंसे व्याप्त हो रही थी । उस युद्धस्थलमें वह नदी महापराक्रमी वीरोंके लिये सुगमतासे पार करने योग्य और कायरोंके लिये दुस्तर थी ॥ १४ ॥

शरीरशतसम्बाधां गृध्रकङ्कनिषेविताम् ।
महारथसहस्राणि नयन्तीं यमसादनम् ॥ १५ ॥

उसके भीतर सैकड़ों लाशें पड़ी हुई थीं । गीध और कङ्क उस नदीका सेवन करते थे । वह सहस्रों महारथियोंको यमराजके लोकमें ले जा रही थी ॥ १५ ॥

शूलव्यालसमाकीर्णां प्राणिवाजिनिषेविताम् ।
छिन्नक्षत्रमहाहंसां मुकुटाण्डजसेविताम् ॥ १६ ॥

उसके भीतर शूल सर्पोंके समान व्याप्त हो रहे थे । विभिन्न प्राणी ही वहाँ जल-पक्षीके रूपमें निवास करते थे । कटे हुए क्षत्रिय-समुदाय उसमें विचरनेवाले बड़े-बड़े हंसोंके समान प्रतीत होते थे । वह नदी राजाओंके मुकुटरूपी जल-पक्षियोंसे सेवित दिखायी देती थी ॥ १६ ॥

चक्रकूर्मां गदानक्रां शरक्षुद्रझषाकुलाम् ।
बकगृध्रसृगालानां घोरसंघैर्निषेविताम् ॥ १७ ॥

उसमें रथोंके पहिये कछुओंके समान, गदाएँ नाकोंके समान और बाण छोटी-छोटी मछलियोंके समान भरे हुए थे । बगलों, गीधों और गीदड़ोंके भयानक समुदाय उसके तटपर निवास करते थे ॥ १७ ॥

निहतान् प्राणिनः संख्ये द्रोणेन बलिना रणे ।
वहन्तीं पितृलोकाय शतशो राजसत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! बलवान् द्रोणाचार्यके द्वारा रणभूमिमें मारे गये सैकड़ों प्राणियोंको वह पितृलोकमें पहुँचा रही थी ॥ १८ ॥

शरीरशतसम्बाधां केशशैवलशाद्वलाम् ।
नदीं प्रावर्तयद् राजन् भीरूणां भयवर्धिनीम् ॥ १९ ॥

उसके भीतर सैकड़ों लाशें बह रही थीं । केश सेवार तथा घासोंके समान प्रतीत होते थे । राजन् ! इस प्रकार द्रोणाचार्यने वहाँ खूनकी नदी बहायी थी, जो कायरोंका भय बढ़ानेवाली थी ॥

तर्जयन्तमनीकानि तानि तानि महारथम् ।
सर्वतोऽभ्यद्रवन् द्रोणं युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ २० ॥

उस समय समस्त सेनाओंको अपने गर्जन-तर्जनसे डराते हुए महारथी द्रोणाचार्यपर युधिष्ठिर आदि योद्धा सब ओरसे टूट पड़े ॥ २० ॥

तानभिद्रवतः शूरांस्तावका दृढविक्रमाः ।
सर्वतः प्रत्यगृह्णन्त तदभूल्लोमहर्षणम् ॥ २१ ॥

उन आक्रमण करनेवाले पाण्डव वीरोंको आपके सुदृढ़ पराक्रमी सैनिकोंने सब ओरसे रोक दिया । उस समय दोनों दलोंमें रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ २१ ॥

शतमायस्तु शकुनिः सहदेवं समाद्रवत् ।
सनियन्तृध्वजरथं विव्याध निशितैः शरैः ॥ २२ ॥

सैकड़ों मायाओंको जाननेवाले शकुनिने सहदेवपर धावा किया और उनके सारथि, ध्वज एवं रथसहित उन्हें अपने पैने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २२ ॥

तस्य माद्रीसुतः केतुं धनुः सूतं हयानपि ।
नातिक्रुद्धः शरैश्छित्त्वा षष्ट्या विव्याध सौबलम्॥२३॥

तब माद्रीकुमार सहदेवने अधिक कुपित न होकर शकुनिके ध्वज, धनुष, सारथि और घोड़ोंको अपने बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न करके साठ बाणोंसे सुबलपुत्र शकुनिको भी बींध डाला ॥ २३ ॥

सौबलस्तु गदां गृह्य प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ।
स तस्य गदया राजन् रथात् सूतमपातयत् ॥ २४ ॥

यह देख सुबलपुत्र शकुनि गदा हाथमें लेकर उस श्रेष्ठ रथसे कूद पड़ा । राजन् ! उसने अपनी गदाद्वारा सहदेवके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ॥ २४ ॥

ततस्तौ विरथौ राजन् गदाहस्तौ महाबलौ ।
चिक्रीडतू रणे शूरौ सश्रृङ्गाविव पर्वतौ ॥ २५ ॥

महाराज ! उस समय वे दोनों महाबली शूरवीर रथहीन हो गदा हाथमें लेकर रणक्षेत्रमें खेल-सा करने लगे, मानो शिखरवाले दो पर्वत परस्पर टकरा रहे हों ॥ २५ ॥

द्रोणः पाञ्चालराजानं विद्ध्वा दशभिराशुगैः ।
बहुभिस्तेन चाभ्यस्तस्तं विव्याध ततोऽधिकैः॥ २६ ॥

द्रोणाचार्यने पाञ्चालराज द्रुपदको दस शीघ्रगामी बाणोंसे बींध डाला । फिर द्रुपदने भी बहुत-से बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया । तब द्रोणने भी और अधिक सायकोंद्वारा द्रुपदको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २६ ॥

विविंशतिं भीमसेनो विंशत्या निशितैः शरैः ।
विद्ध्वा नाकम्पयद् वीरस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २७ ॥

वीर भीमसेन बीस तीखे बाणोंद्वारा विविंशतिको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके । यह एक अद्भुत-सी बात हुई।२७।

विविंशतिस्तु सहसा व्यश्वकेतुशरासनम् ।
भीमं चक्रे महाराज ततः सैन्यान्यपूजयन् ॥ २८ ॥

महाराज ! फिर विविंशतिने भी सहसा आक्रमण करके भीमसेनके घोड़े, ध्वज और धनुष काट डाले; यह देख सारी सेनाओंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २८ ॥

स तन्न ममृषे वीरः शत्रोर्विक्रममाहवे ।
ततोऽस्य गदया दान्तान् हयान् सर्वानपातयत् ॥२९॥

वीर भीमसेन युद्धमें शत्रुके इस पराक्रमको न सह सके । उन्होंने अपनी गदाद्वारा उसके समस्त सुशिक्षित घोड़ोंको मार डाला ॥ २९ ॥

हताश्वात् सरथाद् राजन् गृह्य चर्म महाबलः ।
अभ्यायाद् भीमसेनं तु मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ३० ॥

राजन् ! घोड़ोंके मारे जानेपर महाबली विविंशति ढाल और तलवार लिये रथसे कूद पड़ा और जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त गजराजपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनपर चढ़ाई की ॥ ३० ॥

शल्यस्तु नकुलं वीरः स्वस्रीयं प्रियमात्मनः ।
विव्याध प्रहसन् बाणैर्लालयन् कोपयन्निव ॥ ३१ ॥

वीर राजा शल्यने अपने प्यारे भानजे नकुलको हँसकर लाड़ लड़ाते और कुपित करते हुए-से अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३१ ॥

तस्याश्वानातपत्रं च ध्वजं सूतमथो धनुः ।
निपात्य नकुलः संख्ये शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

तब प्रतापी नकुलने उस युद्धस्थलमें शल्यके घोड़ों, छत्र, ध्वज, सारथि और धनुषको काट गिराया और विजयी होकर अपना शङ्ख बजाया ॥ ३२ ॥

धृष्टकेतुः कृपेणास्तान् छित्त्वा बहुविधाञ्छरान् ।
कृपं विव्याध सप्तत्या लक्ष्म चास्याहरत् त्रिभिः॥३३॥

धृष्टकेतुने कृपाचार्यके चलाये हुए अनेक बाणोंको काटकर उन्हें सत्तर बाणोंसे घायल कर दिया और तीन बाणोंद्वारा उनके चिह्नस्वरूप ध्वजको भी काट गिराया ॥ ३३ ॥

तं कृपः शरवर्षेण महता समवारयत् ।
विव्याध च रणे विप्रो धृष्टकेतुममर्षणम् ॥ ३४ ॥

तब ब्राह्मण कृपाचार्यने भारी बाण-वर्षाके द्वारा अमर्षशील धृष्टकेतुको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोका और घायल कर दिया ॥ ३४ ॥

सात्यकिः कृतवर्माणं नाराचेन स्तनान्तरे ।
विद्ध्वा विव्याध सप्तत्या पुनरन्यैः स्मयन्निव ॥ ३५ ॥

सात्यकिने मुसकराते हुए-से एक नाराचद्वारा कृतवर्माकी छातीमें चोट की और पुनः अन्य सत्तर बाणोंद्वारा उसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३५ ॥

तं भोजः सप्तसप्तत्या विद्ध्वाऽऽशु निशितैः शरैः ।
नाकम्पयत शैनेयं शीघ्रो वायुरिवाचलम् ॥ ३६ ॥

तब भोजवंशी कृतवर्माने तुरंत ही सतहत्तर पैने बाणोंद्वारा सात्यकिको बींध डाला, तथापि वह उन्हें विचलित न कर सका । जैसे तेज चलनेवाली वायु पर्वतको नहीं हिला पाती है ॥ ३६ ॥

सेनापतिः सुशर्माणं भृशं मर्मस्वताडयत् ।
स चापि तं तोमरेण जत्रुदेशेऽभ्यताडयत् ॥ ३७ ॥

दूसरी ओर सेनापति धृष्टद्युम्नने त्रिगर्तराज सुशर्माको उसके मर्मस्थानोंमें अत्यन्त चोट पहुँचायी । यह देख सुशर्माने भी तोमरद्वारा धृष्टद्युम्नके गलेकी हँसलीपर प्रहार किया ३७

वैकर्तनं तु समरे विराटः प्रत्यवारयत् ।
सह मत्स्यैर्महावीर्यैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३८ ॥

समर-भूमिमें महापराक्रमी मत्स्यदेशीय वीरोंके साथ विराटने विकर्तनपुत्र कर्णको रोका । वह अद्भुत-सी बात थी ॥

तत् पौरुषमभूत् तत्र सूतपुत्रस्य दारुणम् ।
यत् सैन्यं वारयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३९ ॥

वहाँ सूतपुत्र कर्णका भयंकर पुरुषार्थ प्रकट हुआ। उसने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उनकी समस्त सेनाकी प्रगति रोक दी ॥ ३९ ॥

द्रुपदस्तु स्वयं राजा भगदत्तेन संगतः ।
तयोर्युद्धं महाराज चित्ररूपमिवाभवत् ॥ ४० ॥

महाराज ! तदनन्तर राजा द्रुपद स्वयं जाकर भगदत्तसे भिड़ गये। महाराज ! फिर उन दोनोंमें विचित्र-सा युद्ध होने लगा ॥ ४० ॥

भगदत्तस्तु राजानं द्रुपदं नतपर्वभिः ।
सनियन्तृध्वजरथं विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ४१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ भगदत्तने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे राजा द्रुपदको उनके सारथि, रथ और ध्वजसहित बींध डाला ॥४१॥

द्रुपदस्तु ततः क्रुद्धो भगदत्तं महारथम् ।
आजघानोरसि क्षिप्रं शरेणानतपर्वणा ॥ ४२ ॥

यह देख द्रुपदने कुपित हो शीघ्र ही झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा महारथी भगदत्तकी छातीमें प्रहार किया ॥४२॥

युद्धं योधवरौ लोके सौमदत्तिशिखण्डिनौ ।
भूतानां त्रासजननं चक्रातेऽस्त्रविशारदौ ॥ ४३ ॥

भूरिश्रवा और शिखण्डी—ये दोनों संसारके श्रेष्ठ योद्धा और अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ थे। उन दोनोंने सम्पूर्ण भूतोंको त्रास देनेवाला युद्ध किया ॥ ४३ ॥

भूरिश्रवा रणे राजन् याज्ञसेनिं महारथम् ।
महता सायकौघेन छादयामास वीर्यवान् ॥ ४४ ॥

राजन् ! पराक्रमी भूरिश्रवाने रणक्षेत्रमें द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डीको सायकसमूहोंकी भारी वर्षा करके आच्छादित कर दिया ॥ ४४ ॥

शिखण्डी तु ततः क्रुद्धः सौमदत्तिं विशाम्पते ।
नवत्या सायकानां तु कम्पयामास भारत ॥ ४५ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! तब क्रोधमें भरे हुए शिखण्डीने नब्बे बाण मारकर सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाको कम्पित कर दिया ॥ ४५ ॥

राक्षसौ रौद्रकर्माणौ हैडिम्बालम्बुषावुभौ ।
चक्रातेऽत्यद्भुतं युद्धं परस्परजयैषिणौ ॥ ४६ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले राक्षस घटोत्कच और अलम्बुष—ये दोनों एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त अद्भुत युद्ध करने लगे ॥ ४६ ॥

मायाशतसृजौ दृप्तौ मायाभिरितरेतरम् ।
अन्तर्हितौ चेरतुस्तौ भृशं विस्मयकारिणौ ॥ ४७ ॥

वे घमंडमें भरे हुए निशाचर सैकड़ों मायाओंकी सृष्टि करते और मायाद्वारा ही एक-दूसरेको परास्त करना चाहते थे। वे लोगोंको अत्यन्त आश्चर्यमें डालते हुए अदृश्यभावसे विचर रहे थे ॥ ४७ ॥

चेकितानोऽनुविन्देन युयुधे चातिभैरवम् ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ ॥ ४८ ॥

चेकितान अनुविन्दके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध करने लगे, मानो देवासुर—संग्राममें महाबली बल और इन्द्र लड़ रहे हों ॥ ४८ ॥

लक्ष्मणः क्षत्रदेवेन विमर्दमकरोद् भृशम् ।
यथा विष्णुः पुरा राजन् हिरण्याक्षेण संयुगे ॥ ४९ ॥

राजन् ! जैसे पूर्वकालमें भगवान् विष्णु हिरण्याक्षके साथ युद्ध करते थे, उसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें लक्ष्मण क्षत्रदेवके साथ भारी संग्राम कर रहा था ॥ ४९ ॥

ततः प्रचलिताश्वेन विधिवत्कल्पितेन च ।
रथेनाभ्यपतद् राजन् सौभद्रं पौरवो नदन् ॥ ५० ॥

राजन् ! तदनन्तर विधिपूर्वक सजाये हुए चञ्चल घोड़ों-वाले रथपर आरूढ़ हो गर्जना करते हुए राजा पौरवने सुभद्रा-कुमार अभिमन्युपर आक्रमण किया ॥ ५० ॥

ततोऽभ्ययात् सत्वरितो युद्धाकाङ्क्षी महाबलः ।
तेन चक्रे महद् युद्धमभिमन्युररिंदमः ॥ ५१ ॥

तब शत्रुओंका दमन और युद्धकी अभिलाषा करनेवाले महाबली अभिमन्यु भी तुरंत सामने आया और उनके साथ महान् युद्ध करने लगा ॥ ५१ ॥

पौरवस्त्वथ सौभद्रं शरव्रातैरवाकिरत् ।
तस्यार्जुनिर्ध्वजं छत्रं धनुश्चोर्व्यामपातयत् ॥ ५२ ॥

पौरवने सुभद्राकुमारपर बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। यह देख अर्जुनपुत्र अभिमन्युने उनके ध्वज, छत्र और धनुषको काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ ५२ ॥

सौभद्रः पौरवं त्वन्यैर्विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ॥ ५३ ॥

फिर अन्य सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा पौरवको घायल करके अभिमन्युने पाँच बाणोंसे उनके घोड़ों और सारथिको भी क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५३ ॥

ततः प्रहर्षयन् सेनां सिंहवद् विनदन् मुहुः ।
समादत्तार्जुनिस्तूर्णं पौरवान्तकरं शरम् ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् अपनी सेनाका हर्ष बढ़ाते और बारंबार सिंह-

के समान गर्जना करते हुए अर्जुनकुमार अभिमन्युने तुरंत ही एक ऐसा बाण हाथमें लिया, जो राजा पौरवका अन्त कर डालनेमें समर्थ था ॥ ५४ ॥

तं तु संधितमाज्ञाय सायकं घोरदर्शनम् ।
द्वाभ्यां शराभ्यां हार्दिक्यश्चिच्छेद सशरं धनुः ॥५५॥

उस भयानक दिखायी देनेवाले सायकको धनुषपर चढ़ाया हुआ जान कृतवर्माने दो बाणोंद्वारा अभिमन्युके सायकसहित धनुषको काट डाला ॥ ५५ ॥

तदुत्सृज्य धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
उद्ववर्ह सितं खड्गमाददानः शरावरम् ॥ ५६ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर चमचमाती हुई तलवार खींच ली और ढाल हाथमें ले ली ॥ ५६ ॥

स तेनानेकतारेण चर्मणा कृतहस्तवत् ।
भ्रान्तासिर्व्यचरन्मार्गान् दर्शयन् वीर्यमात्मनः॥५७॥

उसने अपनी शक्तिका परिचय देते हुए सुशिक्षित हाथोंवाले पुरुषकी भाँति अनेक ताराओंके चिह्नोंसे युक्त ढालके साथ अपनी तलवारको घुमाते और अनेक पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरना आरम्भ किया ॥ ५७ ॥

भ्रामितं पुनरुद्भ्रान्तमाधूतं पुनरुत्थितम् ।
चर्मनिस्त्रिंशयो राजन् निर्विशेषमदृश्यत ॥ ५८ ॥

राजन् ! उस समय नीचे घुमाने, ऊपर घुमाने, अगल-बगलमें चारों ओर घुमाने और फिर ऊपर उठानेकी क्रियाएँ इतनी तेजीसे हो रही थीं कि ढाल और तलवारमें कोई अन्तर ही नहीं दिखायी देता था ॥ ५८ ॥

स पौरवरथस्येषामाप्लुत्य सहसा नदन् ।
पौरवं रथमास्थाय केशपक्षे परामृशत् ॥ ५९ ॥

तब अभिमन्यु सहसा गर्जता हुआ उछलकर पौरवके रथके ईषादण्डपर चढ़ गया। फिर उसने पौरवकी चुटिया पकड़ ली ५९

जघानास्य पदा सूतमसिनापातयद् ध्वजम् ।
विक्षोभ्याम्भोनिधिं तार्क्ष्यस्तं नागमिव चाक्षिपत् ६०

उसने पैरोंके आघातसे पौरवके सारथिको मार डाला और तलवारसे उनके ध्वजको काट गिराया। फिर जैसे गरुड़ समुद्रको क्षुब्ध करके नागको पकड़कर दे मारते हैं, उसी प्रकार उसने भी पौरवको रथसे नीचे पटक दिया ॥ ६० ॥

तमागलितकेशान्तं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
उक्षाणमिव सिंहेन पात्यमानमचेतसम् ॥ ६१ ॥

उस समय सम्पूर्ण राजाओंने देखा, जैसे सिंहने किसी बैलको गिराकर अचेत कर दिया हो, उसी प्रकार अभिमन्युने पौरवको गिरा दिया है। वे अचेत पड़े हैं और उनके सिरके बाल कुछ उखड़ गये हैं ॥ ६१ ॥

तमार्जुनिवशं प्राप्तं कृष्यमाणमनाथवत् ।
पौरवं पातितं दृष्ट्वा नामृष्यत जयद्रथः ॥ ६२ ॥

पौरव अभिमन्युके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति खींचे जा रहे हैं और गिरा दिये गये हैं। यह देखकर जयद्रथ सहन न कर सका ॥ ६२ ॥

स बर्हिबर्हावततं किंकिणीशतजालवत् ।
चर्म चादाय खड्गं च नदन् पर्यपतद् रथात् ॥ ६३ ॥

वह मोरकी पाँखसे आच्छादित और सैकड़ों क्षुद्रघंटिकाओंके समूहसे अलंकृत ढाल और खड्ग लेकर गर्जता हुआ अपने रथसे कूद पड़ा ॥ ६३ ॥

ततः सैन्धवमालोक्य कार्ष्णिरुत्सृज्य पौरवम् ।
उत्पपात रथात् तूर्णं श्येनवन्निपपात च ॥ ६४ ॥

तब अर्जुनपुत्र अभिमन्यु जयद्रथको आते देख पौरवको छोड़कर तुरंत ही पौरवके रथसे कूद पड़ा और बाजके समान जयद्रथपर झपटा ॥ ६४ ॥

प्रासपट्टिशनिस्त्रिंशाञ्छत्रुभिः सम्प्रचोदितान् ।
चिच्छेद चासिना कार्ष्णिश्चर्मणा संरुरोध च॥ ६५ ॥

अभिमन्यु शत्रुओंके चलाये हुए प्रास, पट्टिश और तलवारोंको अपनी तलवारसे काट देते और अपनी ढालपर भी रोक लेते थे ॥

स दर्शयित्वा सैन्यानां स्वबाहुबलमात्मनः ।
तमुद्यम्य महाखड्गं चर्म चाथ पुनर्बली ॥ ६६ ॥
वृद्धक्षत्रस्य दायादं पितुरत्यन्तवैरिणम् ।
ससाराभिमुखः शूरः शार्दूल इव कुञ्जरम् ॥ ६७ ॥

शूर एवं बलवान् अभिमन्यु सैनिकोंको अपना बाहुबल दिखाकर पुनः विशाल खड्ग और ढाल हाथमें ले अपने पिताके अत्यन्त वैरी वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथके सम्मुख उसी प्रकार चला, जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है ॥ ६६-६७ ॥

तौ परस्परमासाद्य खड्गदन्तनखायुधौ ।
हृष्टवत् सम्प्रजह्राते व्याघ्रकेसरिणाविव ॥ ६८ ॥

वे दोनों खड्ग, दन्त और नखका आयुधके रूपमें उपयोग करते थे और बाघ तथा सिंहोंके समान एक-दूसरेसे भिड़कर बड़े हर्ष और उत्साहके साथ परस्पर प्रहार कर रहे थे।६८।

सम्पातेष्वभिघातेषु निपातेष्वसिचर्मणोः ।
न तयोरन्तरं कश्चिद् ददर्श नरसिंहयोः ॥ ६९ ॥

ढाल और तलवारके सम्पात (प्रहार), अविघात (बदले के लिये प्रहार) और निपात (ऊपर-नीचे तलवार चलाने) की कलामें उन दोनों पुरुषसिंह अभिमन्यु और जयद्रथमें किसीको कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ६९ ॥

अवक्षेपोऽसिनिर्ह्रादः शस्त्रान्तरनिदर्शनम् ।
बाह्यान्तरनिपातश्च निर्विशेषमदृश्यत ॥ ७० ॥

खड्गका प्रहार, खड्ग-संचालनके शब्द, अन्यान्य शस्त्रोंके

प्रदर्शन तथा बाहर-भीतरकी चोटें करनेमें उन दोनों वीरोंकी समान योग्यता दिखायी देती थी ॥ ७० ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव चरन्तौ मार्गमुत्तमम् ।
ददृशाते महात्मानौ सपक्षाविव पर्वतौ ॥ ७१ ॥

वे दोनों महामनस्वी वीर बाहर और भीतर चोट करनेके उत्तम पैंतरे बदलते हुए पंखयुक्त दो पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ७१ ॥

ततो विक्षिपतः खड्गं सौभद्रस्य यशस्विनः ।
शरावरणपक्षान्ते प्रजहार जयद्रथः ॥ ७२ ॥

इसी समय तलवार चलाते हुए यशस्वी सुभद्राकुमारकी ढालपर जयद्रथने प्रहार किया ॥ ७२ ॥

रुक्मपत्रान्तरे सक्तस्तस्मिंश्चर्मणि भास्वरे ।
सिन्धुराजबलोद्धूतः सोऽभज्यत महानसिः ॥ ७३ ॥

उस चमकीली ढालपर सोनेका पत्र जड़ा हुआ था। उसके ऊपर जयद्रथने जब बलपूर्वक प्रहार किया, तब उससे टकराकर उसका वह विशाल खड्ग टूट गया ॥ ७३ ॥

भग्नमाज्ञाय निस्त्रिंशमवप्लुत्य पदानि षट् ।
अदृश्यत निमेषेण स्वरथं पुनरास्थितः ॥ ७४ ॥

अपनी तलवार टूटी हुई जानकर जयद्रथ छः पग उछल पड़ा और पलक मारते-मारते पुनः अपने रथपर बैठा हुआ दिखायी दिया ॥ ७४ ॥

तं कार्ष्णिं समरान्मुक्तमास्थितं रथमुत्तमम् ।
सहिताः सर्वराजानः परिवव्रुः समन्ततः ॥ ७५ ॥

उस समय अर्जुनपुत्र अभिमन्यु युद्धसे मुक्त होकर अपने उत्तम रथपर जा बैठा । इतनेहीमें सब राजाओंने एक साथ आकर उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ७५ ॥

ततश्चर्म च खड्गं च समुत्क्षिप्य महाबलः ।
ननादार्जुनदायादः प्रेक्षमाणो जयद्रथम् ॥ ७६ ॥

तब महाबली अर्जुनकुमारने ढाल और तलवार ऊपर उठाकर जयद्रथकी ओर देखते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया॥

सिन्धुराजं परित्यज्य सौभद्रः परवीरहा ।
तापयामास तत् सैन्यं भुवनं भास्करो यथा ॥ ७७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने सिन्धुराज जयद्रथको छोड़कर, जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत्को तपाते हैं, उसी प्रकार उस सेनाको संताप देना आरम्भ किया ॥ ७७ ॥

तस्य सर्वायसीं शक्तिं शल्यः कनकभूषणाम् ।
चिक्षेप समरे घोरां दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ७८ ॥

तब शल्यने समरभूमिमें अभिमन्युपर सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई एक स्वर्णभूषित भयंकर शक्ति छोड़ी, जो अग्निशिखाके समान प्रज्वलित हो रही थी ॥ ७८ ॥

तामवप्लुत्य जग्राह विकोशं चाकरोदसिम् ।
वैनतेयो यथा कार्ष्णिः पतन्तमुरगोत्तमम् ॥ ७९ ॥

जैसे गरुड़ उड़ते हुए श्रेष्ठ नागको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार अभिमन्युने उछलकर उस शक्तिको पकड़ लिया और म्यानसे तलवार खींच ली ॥ ७९ ॥

तस्य लाघवमाज्ञाय सत्त्वं चामिततेजसः ।
सहिताः सर्वराजानः सिंहनादमथानदन् ॥ ८० ॥

अमिततेजस्वी अभिमन्युकी वह फुर्ती और शक्ति देखकर सब राजा एक साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ८० ॥

ततस्तामेव शल्यस्य सौभद्रः परवीरहा ।
मुमोच भुजवीर्येण वैदूर्यविकृतां शिताम् ॥ ८१ ॥

उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने वैदूर्यमणिकी बनी हुई तीखी धारवाली उसी शक्तिको अपने बाहुबलसे शल्यपर चला दिया ॥ ८१ ॥

सा तस्य रथमासाद्य निर्मुक्तभुजगोपमा ।
जघान सूतं शल्यस्य रथाच्चैनमपातयत् ॥ ८२ ॥

केंचुलसे छूटकर निकले हुए सर्पके समान प्रतीत होनेवाली उस शक्तिने शल्यके रथपर पहुँचकर उनके सारथिको मार डाला और उसे रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ८२ ॥

ततो विराटद्रुपदौ धृष्टकेतुर्युधिष्ठिरः ।
सात्यकिः केकया भीमो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ॥ ८३ ॥
यमौ च द्रौपदेयाश्च साधु साध्विति चुक्रुशुः ।

यह देखकर विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, युधिष्ठिर, सात्यकि, केकयराजकुमार, भीमसेन, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र 'साधु, साधु' (बहुत अच्छा, बहुत अच्छा) कहकर कोलाहल करने लगे ॥ ८३½ ॥

बाणशब्दाश्च विविधाः सिंहनादाश्च पुष्कलाः॥ ८४ ॥
प्रादुरासन् हर्षयन्तः सौभद्रमपलायिनम् ।

उस समय युद्धभूमिमें पीठ न दिखानेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युका हर्ष बढ़ाते हुए नाना प्रकारके बाण-संचालन-जनित शब्द और महान् सिंहनाद प्रकट होने लगे ॥ ८४½ ॥

तन्नामृष्यन्त पुत्रास्ते शत्रोर्विजयलक्षणम् ॥ ८५ ॥
अथैनं सहसा सर्वे समन्तान्निशितैः शरैः ।
अभ्याकिरन् महाराज जलदा इव पर्वतम् ॥ ८६ ॥

महाराज ! उस समय आपके पुत्र शत्रुकी विजयकी सूचना देनेवाले उस सिंहनादको नहीं सह सके। वे सब-के-सब सहसा सब ओरसे अभिमन्युपर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ॥ ८५-८६ ॥

तेषां च प्रियमन्विच्छन् सूतस्य च पराभवम् ।
आर्तायनिरमित्रघ्नः क्रुद्धः सौभद्रमभ्ययात् ॥ ८७ ॥

अपने सारथिको मारा गया देख कौरवोंका प्रिय करनेकी इच्छावाले शत्रुसूदन शल्यने कुपित होकर सुभद्राकुमारपर पुनः आक्रमण किया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें अभिमन्युका पराक्रमविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

शल्यके साथ भीमसेनका युद्ध तथा शल्यकी पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि सुविचित्राणि द्वन्द्वयुद्धानि संजय।
त्वयोक्तानि निशम्याहं स्पृहयामि सचक्षुषाम्॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने बहुत-से अत्यन्त विचित्र द्वन्द्वयुद्धोंका वर्णन किया है, उनकी कथा सुनकर मैं नेत्रवाले लोगोंके सौभाग्यकी स्पृहा करता हूँ ॥ १ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेषु कथयिष्यन्ति मानवाः।
कुरूणां पाण्डवानां च युद्धं देवासुरोपमम्॥ २ ॥

देवताओं और असुरोंके समान इस कौरव-पाण्डव-युद्धको संसारके मनुष्य अत्यन्त आश्चर्यकी वस्तु बतायेंगे ॥ २ ॥

न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतो युद्धमुत्तमम्।
तस्मादार्तायनेर्युद्धं सौभद्रस्य च शंस मे॥ ३ ॥

इस समय इस उत्तम युद्ध-वृत्तान्तको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है; अतः शल्य और सुभद्राकुमारके युद्धका वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ ३ ॥

संजय उवाच

सादितं प्रेक्ष्य यन्तारं शल्यः सर्वायसीं गदाम्।
समुत्क्षिप्य नदन् क्रुद्धः प्रचस्कन्द रथोत्तमात्॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! राजा शल्य अपने सारथिको मारा गया देख कुपित हो उठे और पूर्णतः लोहेकी बनी हुई गदा उठाकर गर्जते हुए अपने उत्तम रथसे कूद पड़े ॥ ४ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं दण्डहस्तमिवान्तकम्।
जवेनाभ्यपतद् भीमः प्रगृह्य महतीं गदाम्॥ ५ ॥

उन्हें प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्नि तथा दण्डधारी यमराजके समान आते देख भीमसेन विशाल गदा हाथमें लेकर बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ ५ ॥

सौभद्रोऽप्यशनिप्रख्यां प्रगृह्य महतीं गदाम्।
एह्येहीत्यब्रवीच्छल्यं यत्नाद् भीमेन वारितः॥ ६ ॥

उधरसे अभिमन्यु भी वज्रके समान विशाल गदा हाथमें लेकर आ पहुँचा और 'आओ, आओ' कहकर शल्यको ललकारने लगा । उस समय भीमसेनने बड़े प्रयत्नसे उसको रोका ॥ ६ ॥

वारयित्वा तु सौभद्रं भीमसेनः प्रतापवान्।
शल्यमासाद्य समरे तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ ७ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्युको रोककर प्रतापी भीमसेन राजा शल्यके पास जा पहुँचे और समरभूमिमें पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ ७ ॥

तथैव मद्रराजोऽपि भीमं दृष्ट्वा महाबलम्।
ससाराभिमुखस्तूर्णं शार्दूल इव कुञ्जरम्॥ ८ ॥

इसी प्रकार मद्रराज शल्य भी महाबली भीमसेनको देखकर तुरंत उन्हींकी ओर बढ़े, मानो सिंह किसी गजराजपर आक्रमण कर रहा हो ॥ ८ ॥

ततस्तूर्यनिनादाश्च शङ्खानां च सहस्रशः।
सिंहनादाश्च संजज्ञुर्भेरीणां च महास्वनाः॥ ९ ॥

उस समय सहस्रों रणवाद्यों और शङ्खोंके शब्द वहाँ गूँज उठे । वीरोंके सिंहनाद प्रकट होने लगे और नगाड़ोंके गम्भीर घोष सर्वत्र व्याप्त हो गये ॥ ९ ॥

पश्यतां शतशो ह्यासीदन्योन्यमभिधावताम्।
पाण्डवानां कुरूणां च साधु साध्विति निःस्वनः॥ १० ॥

एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए सैकड़ों दर्शकों, कौरवों और पाण्डवोंके साधुवादका महान् शब्द वहाँ सब ओर गूँजने लगा ॥ १० ॥

न हि मद्राधिपादन्यः सर्वराजसु भारत।
सोढुमुत्सहते वेगं भीमसेनस्य संयुगे॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! समस्त राजाओंमें मद्रराज शल्यके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं था, जो युद्धमें भीमसेनके वेगको सहनेका साहस कर सके ॥ ११ ॥

तथा मद्राधिपस्यापि गदावेगं महात्मनः।
सोढुमुत्सहते लोके युधि कोऽन्यो वृकोदरात्॥ १२ ॥

इसी प्रकार संसारमें भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें महामनस्वी मद्रराज शल्यकी गदाके वेगको सह सकता है ॥ १२ ॥

पट्टैर्जाम्बूनदैर्बद्धा बभूव जनहर्षणी।
प्रजज्वाल तदाऽऽविद्धा भीमेन महती गदा॥ १३ ॥

उस समय भीमसेनके द्वारा घुमायी गयी विशाल गदा सुवर्णपत्रसे जटित होनेके कारण अग्निके समान प्रज्वलित हो रही थी। वह वीरजनोंके हृदयमें हर्ष और उत्साहकी वृद्धि करनेवाली थी ॥ १३ ॥

तथैव चरतो मार्गान् मण्डलानि च सर्वशः।
महाविद्युत्प्रतीकाशा शल्यस्य शुशुभे गदा॥ १४ ॥

इसी प्रकार गदायुद्धके विभिन्न मार्गों और मण्डलोंसे विचरते हुए महाराज शल्यकी महाविद्युत्के समान प्रकाशमान गदा बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १४ ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मण्डलानि विचेरतुः।
आवर्तितगदाशृङ्गावुभौ शल्यवृकोदरौ॥ १५ ॥

वे शल्य और भीमसेन दोनों गदारूप सींगोंको घुमा-घुमाकर साँड़ोंकी भाँति गरजते हुए पैंतरे बदल रहे थे ॥ १५ ॥

मण्डलावर्तमार्गेषु गदाविहरणेषु च।
निर्विशेषमभूद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः॥ १६ ॥

मण्डलाकार घूमनेके मार्गों (पैंतरों) और गदाके

प्रहारोंमें उन दोनों पुरुषसिंहोंकी योग्यता एक-सी जान पड़ती थी ॥ १६ ॥

ताडिता भीमसेनेन शल्यस्य महती गदा।
साग्निज्वाला महारौद्रा तदा तूर्णमशीर्यत ॥ १७ ॥

उस समय भीमसेनकी गदासे टकराकर शल्यकी विशाल एवं महाभयंकर गदा आगकी चिनगारियाँ छोड़ती हुई तत्काल छिन्न-भिन्न होकर बिखर गयी ॥ १७ ॥

तथैव भीमसेनस्य द्विषताभिहता गदा।
वर्षाप्रदोषे खद्योतैर्वृतो वृक्ष इवाबभौ ॥ १८ ॥

इसी प्रकार शत्रुके आघात करनेपर भीमसेनकी गदा भी चिनगारियाँ छोड़ती हुई वर्षाकालकी संध्याके समय जुगनुओंसे जगमगाते हुए वृक्षकी भाँति शोभा पाने लगी ॥

गदा क्षिप्ता तु समरे मद्रराजेन भारत।
व्योम दीपयमाना सा ससृजे पावकं मुहुः ॥ १९ ॥

भारत ! तब मद्रराज शल्यने समरभूमिमें दूसरी गदा चलायी, जो आकाशको प्रकाशित करती हुई बारंबार अंगारोंकी वर्षा कर रही थी ॥ १९ ॥

तथैव भीमसेनेन द्विषते प्रेषिता गदा।
तापयामास तत् सैन्यं महोल्का पतती यथा ॥ २० ॥

इसी प्रकार भीमसेनने शत्रुको लक्ष्य करके जो गदा चलायी थी, वह आकाशसे गिरती हुई बड़ी भारी उल्काके समान कौरव-सेनाको संतप्त करने लगी ॥ २० ॥

ते गदे गदिनां श्रेष्ठौ समासाद्य परस्परम्।
श्वसन्त्यौ नागकन्ये वा ससृजाते विभावसुम् ॥ २१ ॥

वे दोनों गदाएँ गदाधारियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन और शल्यको पाकर परस्पर टकराती हुई फुफकारती नागकन्याओं-की भाँति अग्निकी सृष्टि करती थीं ॥ २१ ॥

नखैरिव महाव्याघ्रौ दन्तैरिव महागजौ।
तौ विचेरतुरासाद्य गदाग्र्याभ्यां परस्परम् ॥ २२ ॥

जैसे दो बड़े व्याघ्र पंजोंसे और दो विशाल हाथी दाँतोंसे आपसमें प्रहार करते हैं, उसी प्रकार भीमसेन और शल्य गदाओंके अग्रभागसे एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए विचर रहे थे ॥ २२ ॥

ततो गदाग्राभिहतौ क्षणेन रुधिरोक्षितौ।
ददृशाते महात्मानौ किंशुकाविव पुष्पितौ ॥ २३ ॥

एक ही क्षणमें गदाके अग्रभागसे घायल होकर वे दोनों महामनस्वी वीर खूनसे लथपथ हो फूलोंसे भरे हुए दो पलाश वृक्षोंके समान दिखायी देने लगे ॥ २३ ॥

शुश्रुवे दिक्षु सर्वासु तयोः पुरुषसिंहयोः।
गदाभिघातसंह्लादः शक्राशनिरवोपमः ॥ २४ ॥

उन दोनों पुरुषसिंहोंकी गदाओंके टकरानेका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें सुनायी देता था ॥ २४ ॥

गदया मद्रराजेन सव्यदक्षिणमाहतः।
नाकम्पत तदा भीमो भिद्यमान इवाचलः ॥ २५ ॥

उस समय मद्रराजकी गदासे बायें-दायें चोट खाकर भी भीमसेन विचलित नहीं हुए। जैसे पर्वत वज्रका आघात सहकर भी अविचल भावसे खड़ा रहता है ॥ २५ ॥

तथा भीमगदावेगैस्ताड्यमानो महाबलः।
धैर्यान्मद्राधिपस्तस्थौ वज्रैर्गिरिरिवाहतः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार भीमसेनकी गदाके वेगसे आहत होकर महाबली मद्रराज वज्राघातसे पीड़ित पर्वतकी भाँति धैर्यपूर्वक खड़े रहे ॥ २६ ॥

आपेततुर्महावेगौ समुच्छ्रितगदावुभौ।
पुनरन्तरमार्गस्थौ मण्डलानि विचेरतुः ॥ २७ ॥

वे दोनों महावेगशाली वीर गदा उठाये एक-दूसरेपर टूट पड़े। फिर अन्तर्मार्गमें स्थित हो मण्डलाकार गतिसे विचरने लगे ॥ २७ ॥

अथाप्लुत्य पदान्यष्टौ संनिपत्य गजाविव।
सहसा लोहदण्डाभ्यामन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् आठ पग चलकर दोनों दो हाथियोंकी भाँति परस्पर टूट पड़े और सहसा लोहेके डंडोंसे एक-दूसरेको मारने लगे ॥ २८ ॥

तौ परस्परवेगाच्च गदाभ्यां च भृशाहतौ।
युगपत् पेततुर्वीरौ क्षिताविन्द्रध्वजाविव ॥ २९ ॥

वे दोनों वीर परस्परके वेगसे और गदाओंद्वारा अत्यन्त घायल हो दो इन्द्रध्वजोंके समान एक ही समय पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

ततो विह्वलमानं तं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
शल्यमभ्यपतत् तूर्णं कृतवर्मा महारथः ॥ ३० ॥

उस समय शल्य अत्यन्त विह्वल होकर बारंबार लम्बी साँस खींच रहे थे। इतनेहीमें महारथी कृतवर्मा तुरंत राजा शल्यके पास आ पहुँचा ॥ ३० ॥

दृष्ट्वा चैनं महाराज गदयाभिनिपीडितम्।
विचेष्टन्तं यथा नागं मूर्च्छयाभिपरिप्लुतम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! आकर उसने देखा कि राजा शल्य गदासे पीड़ित एवं मूर्छासे अचेत हो आहत हुए नागकी भाँति छटपटा रहे हैं ॥ ३१ ॥

ततः स्वरथमारोप्य मद्राणामधिपं रणे।
अपोवाह रणात् तूर्णं कृतवर्मा महारथः ॥ ३२ ॥

यह देख महारथी कृतवर्मा युद्धस्थलमें मद्रराज शल्यको अपने रथपर बिठाकर तुरंत ही रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥

क्षीबवद् विह्वलो वीरो निमेषात् पुनरुत्थितः।
भीमोऽपि सुमहाबाहुर्गदापाणिरदृश्यत ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाबाहु वीर भीमसेन भी मदोन्मत्तकी भाँति

विह्वल हो पलक मारते-मारते उठकर खड़े हो गये और हाथमें गदा लिये दिखायी देने लगे ॥ ३३ ॥

ततो मद्राधिपं दृष्ट्वा तव पुत्राः पराङ्मुखम्।
सनागपत्त्यश्वरथाः समकम्पन्त मारिष ॥ ३४ ॥

आर्य ! उस समय मद्रराज शल्यको युद्धसे विमुख हुआ देख हाथी, घोड़े, रथ और पैदल-सेनाओंसहित आपके सारे पुत्र भयसे काँप उठे ॥ ३४ ॥

ते पाण्डवैरर्द्यमानास्तावका जितकाशिभिः।
भीता दिशोऽन्वपद्यन्त वातनुन्ना घना इव ॥ ३५ ॥

विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंद्वारा पीड़ित हो आपके सभी सैनिक भयभीत हो हवाके उड़ाये हुए बादलोंकी भाँति चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ ३५ ॥

निर्जित्य धार्तराष्ट्रांस्तु पाण्डवेया महारथाः।
व्यरोचन्त रणे राजन् दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ३६ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपके पुत्रोंको जीतकर महारथी पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंकी भाँति रणक्षेत्रमें प्रकाशित होने लगे ॥ ३६ ॥

सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च हर्षिताः।
भेरीश्च वादयामासुर्मृदङ्गांश्चानकैः सह ॥ ३७ ॥

उन्होंने हर्षित होकर बारंबार सिंहनाद किये और बहुत-से शङ्ख बजाये; साथ ही उन्होंने भेरी, मृदङ्ग और आनक आदि वाद्योंको भी बजवाया ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि शल्यापयाने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें शल्यका पलायनविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

वृषसेनका पराक्रम, कौरव-पाण्डव वीरोंका तुमुल युद्ध, द्रोणाचार्यके द्वारा पाण्डवपक्षके अनेक वीरोंका वध तथा अर्जुनकी विजय

संजय उवाच

तद् बलं सुमहद् दीर्णं त्वदीयं प्रेक्ष्य वीर्यवान्।
दधारैको रणे राजन् वृषसेनोऽस्त्रमायया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपकी विशाल सेनाको तितर-बितर हुई देख एकमात्र पराक्रमी वृषसेनने अपने अस्त्रोंकी मायासे रणक्षेत्रमें उसे धारण किया (भागनेसे रोका)॥

शरा दश दिशो मुक्ता वृषसेनेन संयुगे।
विचेरुस्ते विनिर्भिद्य नरवाजिरथद्विपान् ॥ २ ॥

उस युद्धस्थलमें वृषसेनके छोड़े हुए बाण हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्योंको विदीर्ण करते हुए दसों दिशाओंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

तस्य दीप्ता महाबाणा विनिश्चेरुः सहस्रशः।
भानोरिव महाराज घर्मकाले मरीचयः ॥ ३ ॥

महाराज ! जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें सूर्यसे निकलकर सहस्रों किरणें सब ओर फैलती हैं, उसी प्रकार वृषसेनके धनुषसे सहस्रों तेजस्वी महाबाण निकलने लगे ॥ ३ ॥

तेनार्दिता महाराज रथिनः सादिनस्तथा।
निपेतुरुर्व्यां सहसा वातभग्ना इव द्रुमाः ॥ ४ ॥

राजन् ! जैसे प्रचण्ड आँधीसे सहसा बड़े-बड़े वृक्ष टूटकर गिर जाते हैं, उसी प्रकार वृषसेनके द्वारा पीड़ित हुए रथी और अन्य योद्धागण सहसा धरतीपर गिरने लगे ॥ ४ ॥

हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च महारथः।
अपातयद् रणे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! उस महारथी वीरने रणभूमिमें घोड़ों, रथों और हाथियोंके सैकड़ों-हजारों समूहोंको मार गिराया ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तमेकं समरे विचरन्तमभीतवत्।
सहिताः सर्वराजानः परिवव्रुः समन्ततः ॥ ६ ॥

उसे अकेले ही समरभूमिमें निर्भय विचरते देख सब राजाओंने एक साथ आकर सब ओरसे घेर लिया ॥ ६ ॥

नाकुलिस्तु शतानीको वृषसेनं समभ्ययात्।
विव्याध चैनं दशभिर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥ ७ ॥

इसी समय नकुलके पुत्र शतानीकने वृषसेनपर आक्रमण किया और दस मर्मभेदी नाराचोंद्वारा उसे बींध डाला ॥७॥

तस्य कर्णात्मजश्चापं छित्त्वा केतुमपातयत्।
तं भ्रातरं परीप्सन्तो द्रौपदेयाः समभ्ययुः ॥ ८ ॥

तब कर्णके पुत्रने शतानीकके धनुषको काटकर उनके ध्वजको भी गिरा दिया। यह देख अपने भाईकी रक्षा करनेके लिये द्रौपदीके दूसरे पुत्र भी वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

कर्णात्मजं शरव्रातैरदृश्यं चक्रुरञ्जसा।
तान् नदन्तोऽभ्यधावन्त द्रोणपुत्रमुखा रथाः ॥ ९ ॥
छादयन्तो महाराज द्रौपदेयान् महारथान्।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पर्वताञ्जलदा इव ॥ १० ॥

उन्होंने अपने बाण-समूहोंकी वर्षासे कर्णकुमार वृषसेनको अनायास ही आच्छादित करके अदृश्य कर दिया। महाराज! यह देख अश्वत्थामा आदि महारथी सिंहनाद करते हुए उनपर टूट पड़े और जैसे मेघ पर्वतोंपर जलकी धारा गिराते हैं, उसी प्रकार वे नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही महारथी द्रौपदीपुत्रोंको आच्छादित करने लगे ॥

तान् पाण्डवाः प्रत्यगृह्णंस्त्वरिताः पुत्रगृद्धिनः।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः सृञ्जयाश्चोद्यतायुधाः ॥ ११ ॥

तब पुत्रोंकी प्राणरक्षा चाहनेवाले पाण्डवोंने तुरंत आकर उन कौरव महारथियोंको रोका। पाण्डवोंके साथ पाञ्चाल, केकय, मत्स्य और सृंजयदेशीय योद्धा भी अस्त्र-शस्त्र लिये उपस्थित थे ॥ ११ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहल्लोमहर्षणम्।
त्वदीयैः पाण्डुपुत्राणां देवानामिव दानवैः ॥ १२ ॥

राजन्! फिर तो दानवोंके साथ देवताओंकी भाँति आपके सैनिकोंके साथ पाण्डवोंका अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १२ ॥

एवं युयुधिरे वीराः संरब्धाः कुरुपाण्डवाः।
परस्परमुदीक्षन्तः परस्परकृतागसः ॥ १३ ॥

इस प्रकार एक-दूसरेके अपराध करनेवाले कौरव-पाण्डव वीर परस्पर क्रोधपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए युद्ध करने लगे ॥१३॥

तेषां ददृशिरे कोपाद् वपूंष्यमिततेजसाम्।
युयुत्सूनामिवाकाशे पतत्त्रिवरभोगिनाम् ॥ १४ ॥

क्रोधवश युद्ध करते हुए उन अमित तेजस्वी राजाओंके शरीर आकाशमें युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए पक्षिराज गरुड़ तथा नागोंके समान दिखायी देते थे ॥ १४ ॥

भीमकर्णकृपद्रोणद्रौणिपार्षतसात्यकैः ।
बभासे स रणोद्देशः कालसूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

भीम, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोण, अश्वत्थामा, धृष्टद्युम्न तथा सात्यकि आदि वीरोंसे वह रणक्षेत्र ऐसी शोभा पा रहा था, मानो वहाँ प्रलयकालके सूर्यका उदय हुआ हो ॥ १५ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं निघ्नतामितरेतरम्।
महाबलानां बलिभिर्दानवानां यथा सुरैः ॥ १६ ॥

उस समय एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महाबली वीरोंमें वैसा ही भयंकर युद्ध हो रहा था, जैसे पूर्वकालमें बलवान् देवताओंके साथ महाबली दानवोंका संग्राम हुआ था ॥

ततो युधिष्ठिरानीकमुद्धतार्णवनिःस्वनम्।
त्वदीयमवधीत् सैन्यं सम्प्रद्रुतमहारथम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उत्ताल तरंगोंसे युक्त महासागरकी भाँति गर्जना करती हुई युधिष्ठिरकी सेना आपकी सेनाका संहार करने लगी। इससे कौरवसेनाके बड़े-बड़े रथी भाग खड़े हुए ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा शत्रुभिर्भृशमर्दितम्।
अलं द्रुतेन वः शूरा इति द्रोणोऽभ्यभाषत ॥ १८ ॥

शत्रुओंके द्वारा अच्छी तरह रौंदी गयी आपकी सेनाको भागती देख द्रोणाचार्यने कहा—'शूरवीरो! तुम भागो मत, इससे कोई लाभ न होगा' ॥ १८ ॥

(भारद्वाजममर्षश्च विक्रमश्च समाविशत्।
समुद्धृत्य निषङ्गाच्च धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥
महाशरधनुष्पाणिर्यन्तारमिदमब्रवीत् ।

उस समय द्रोणाचार्यमें अमर्ष और पराक्रम दोनोंका समावेश हुआ। उन्होंने धनुषकी प्रत्यञ्चाको पोंछकर तूणीरसे बाण निकाला और उस महान् बाण एवं धनुषको हाथमें लेकर सारथिसे इस प्रकार कहा ॥

द्रोण उवाच

सारथे याहि यत्रैव पाण्डरेण विराजता ॥
ध्रियमाणेन छत्रेण राजा तिष्ठति धर्मराट्।

द्रोणाचार्य बोले—सारथे! वहीं चलो, जहाँ सुन्दर श्वेत छत्र धारण किये धर्मराज राजा युधिष्ठिर खड़े हैं ॥

तदेतद् दीर्यते सैन्यं धार्तराष्ट्रमनेकधा ॥
एतत् संस्तम्भयिष्यामि प्रतिवार्य युधिष्ठिरम्।

यह धृतराष्ट्रकी सेना तितर-बितर हो अनेक भागोंमें बँटी जा रही है। मैं युधिष्ठिरको रोककर इस सेनाको स्थिर करूँगा (भागनेसे रोकूँगा) ॥

न हि मामभिवर्षन्ति संयुगे तात पाण्डवाः ॥
मात्स्याः पाञ्चालराजानः सर्वे च सहसोमकाः।

तात! ये पाण्डव, मत्स्य, पाञ्चाल और समस्त सोमक वीर मुझपर बाण-वर्षा नहीं कर सकते ॥

अर्जुनो मत्प्रसादाद्धि महास्त्राणि समाप्तवान् ॥
न मामुत्सहते तात न भीमो न च सात्यकिः।

अर्जुनने भी मेरी ही कृपासे बड़े-बड़े अस्त्रोंको प्राप्त किया है। तात! वे भीमसेन और सात्यकि भी मुझसे लड़नेका साहस नहीं कर सकते ॥

मत्प्रसादाद्धि बीभत्सुः परमेष्वासतां गतः ॥
ममैवास्त्रं विजानाति धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः।

अर्जुन मेरे ही प्रसादसे महान् धनुर्धर हो गये हैं। धृष्टद्युम्न भी मेरे ही दिये हुए अस्त्रोंका ज्ञान रखता है ॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणांस्तात जयैषिणा ॥
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे च जयाय च।

तात सारथे! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वीरके लिये यह प्राणोंकी रक्षा करनेका अवसर नहीं है। तुम स्वर्ग-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यश और विजयके लिये आगे बढ़ो ॥

संजय उवाच

एवं संचोदितो यन्ता द्रोणमभ्यवहत् ततः ॥
तदाश्वहृदयेनाश्वानभिमन्त्र्याशु हर्षयन्।
रथेन सवरूथेन भास्वरेण विराजता ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार प्रेरित होकर सारथि अश्वहृदय नामक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके घोड़ोंका हर्ष बढ़ाता हुआ आवरणयुक्त प्रकाशमान एवं तेजस्वी रथके द्वारा शीघ्रतापूर्वक द्रोणाचार्यको आगे ले चला ॥

तं करूषाश्च मत्स्याश्च चेदयश्च ससात्वताः।
पाण्डवाश्च सपञ्चालाः सहिताः पर्यवारयन् ॥)

उस समय करूष, मत्स्य, चेदि, सात्वत, पाण्डव

विह्वल हो पलक मारते-मारते उठकर खड़े हो गये और हाथमें गदा लिये दिखायी देने लगे ॥ ३३ ॥

ततो मद्राधिपं दृष्ट्वा तव पुत्राः पराङ्मुखम्।
सनागपत्त्यश्वरथाः समकम्पन्त मारिष ॥ ३४ ॥

आर्य ! उस समय मद्रराज शल्यको युद्धसे विमुख हुआ देख हाथी, घोड़े, रथ और पैदल-सेनाओंसहित आपके सारे पुत्र भयसे काँप उठे ॥ ३४ ॥

ते पाण्डवैरर्द्यमानास्तावका जितकाशिभिः।
भीता दिशोऽन्वपद्यन्त वातनुन्ना घना इव ॥ ३५ ॥

विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंद्वारा पीड़ित हो आपके सभी सैनिक भयभीत हो हवाके उड़ाये हुए बादलोंकी भाँति चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ ३५ ॥

निर्जित्य धार्तराष्ट्रांस्तु पाण्डवेया महारथाः।
व्यरोचन्त रणे राजन् दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ३६ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपके पुत्रोंको जीतकर महारथी पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंकी भाँति रणक्षेत्रमें प्रकाशित होने लगे ॥ ३६ ॥

सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च हर्षिताः।
भेरीश्च वादयामासुर्मृदङ्गांश्चानकैः सह ॥ ३७ ॥

उन्होंने हर्षित होकर बारंबार सिंहनाद किये और बहुत-से शङ्ख बजाये; साथ ही उन्होंने भेरी, मृदङ्ग और आनक आदि वाद्योंको भी बजवाया ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि शल्यापयाने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें शल्यका पलायनविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

वृषसेनका पराक्रम, कौरव-पाण्डव वीरोंका तुमुल युद्ध, द्रोणाचार्यके द्वारा पाण्डवपक्षके अनेक वीरोंका वध तथा अर्जुनकी विजय

संजय उवाच

तद् बलं सुमहद् दीर्णं त्वदीयं प्रेक्ष्य वीर्यवान्।
दधारैको रणे राजन् वृषसेनोऽस्त्रमायया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपकी विशाल सेनाको तितर-बितर हुई देख एकमात्र पराक्रमी वृषसेनने अपने अस्त्रोंकी मायासे रणक्षेत्रमें उसे धारण किया (भागनेसे रोका)॥

शरा दश दिशो मुक्ता वृषसेनेन संयुगे।
विचेरुस्ते विनिर्भिद्य नरवाजिरथद्विपान् ॥ २ ॥

उस युद्धस्थलमें वृषसेनके छोड़े हुए बाण हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्योंको विदीर्ण करते हुए दसों दिशाओंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

तस्य दीप्ता महाबाणा विनिश्चेरुः सहस्रशः।
भानोरिव महाराज घर्मकाले मरीचयः ॥ ३ ॥

महाराज ! जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें सूर्यसे निकलकर सहस्रों किरणें सब ओर फैलती हैं, उसी प्रकार वृषसेनके धनुषसे सहस्रों तेजस्वी महाबाण निकलने लगे ॥ ३ ॥

तेनार्दिता महाराज रथिनः सादिनस्तथा।
निपेतुरुर्व्यां सहसा वातभग्ना इव द्रुमाः ॥ ४ ॥

राजन् ! जैसे प्रचण्ड आँधीसे सहसा बड़े-बड़े वृक्ष टूटकर गिर जाते हैं, उसी प्रकार वृषसेनके द्वारा पीड़ित हुए रथी और अन्य योद्धागण सहसा धरतीपर गिरने लगे ॥ ४ ॥

हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च महारथः।
अपातयद् रणे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! उस महारथी वीरने रणभूमिमें घोड़ों, रथों और हाथियोंके सैकड़ों-हजारों समूहोंको मार गिराया ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तमेकं समरे विचरन्तमभीतवत्।
सहिताः सर्वराजानः परिवव्रुः समन्ततः ॥ ६ ॥

उसे अकेले ही समरभूमिमें निर्भय विचरते देख सब राजाओंने एक साथ आकर सब ओरसे घेर लिया ॥ ६ ॥

नाकुलिस्तु शतानीको वृषसेनं समभ्ययात्।
विव्याध चैनं दशभिर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥ ७ ॥

इसी समय नकुलके पुत्र शतानीकने वृषसेनपर आक्रमण किया और दस मर्मभेदी नाराचोंद्वारा उसे बींध डाला ॥७॥

तस्य कर्णात्मजश्चापं छित्त्वा केतुमपातयत्।
तं भ्रातरं परीप्सन्तो द्रौपदेयाः समभ्ययुः ॥ ८ ॥

तब कर्णके पुत्रने शतानीकके धनुषको काटकर उनके ध्वजको भी गिरा दिया। यह देख अपने भाईकी रक्षा करनेके लिये द्रौपदीके दूसरे पुत्र भी वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

कर्णात्मजं शरव्रातैरदृश्यं चक्रुरञ्जसा।
तान् नदन्तोऽभ्यधावन्त द्रोणपुत्रमुखा रथाः ॥ ९ ॥
छादयन्तो महाराज द्रौपदेयान् महारथान्।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पर्वताञ्जलदा इव ॥ १० ॥

उन्होंने अपने बाण-समूहोंकी वर्षासे कर्णकुमार वृषसेनको अनायास ही आच्छादित करके अदृश्य कर दिया। महाराज! यह देख अश्वत्थामा आदि महारथी सिंहनाद करते हुए उनपर टूट पड़े और जैसे मेघ पर्वतोंपर जलकी धारा गिराते हैं, उसी प्रकार वे नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही महारथी द्रौपदीपुत्रोंको आच्छादित करने लगे ॥

तान् पाण्डवाः प्रत्यगृह्णंस्त्वरिताः पुत्रगृद्धिनः।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः सृञ्जयाश्चोद्यतायुधाः ॥ ११ ॥

तब पुत्रोंकी प्राणरक्षा चाहनेवाले पाण्डवोंने तुरंत आकर उन कौरव महारथियोंको रोका। पाण्डवोंके साथ पाञ्चाल, केकय, मत्स्य और संजयदेशीय योद्धा भी अस्त्र-शस्त्र लिये उपस्थित थे ॥ ११ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहल्लोमहर्षणम्।
त्वदीयैः पाण्डुपुत्राणां देवानामिव दानवैः ॥ १२ ॥

राजन्! फिर तो दानवोंके साथ देवताओंकी भाँति आपके सैनिकोंके साथ पाण्डवोंका अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १२ ॥

एवं युयुधिरे वीराः संरब्धाः कुरुपाण्डवाः।
परस्परमुदीक्षन्तः परस्परकृतागसः ॥ १३ ॥

इस प्रकार एक-दूसरेके अपराध करनेवाले कौरव-पाण्डव वीर परस्पर क्रोधपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए युद्ध करने लगे ॥१३॥

तेषां ददृशिरे कोपाद् वपूंष्यमिततेजसाम्।
युयुत्सूनामिवाकाशे पतत्रिवरभोगिनाम् ॥ १४ ॥

क्रोधवश युद्ध करते हुए उन अमित तेजस्वी राजाओंके शरीर आकाशमें युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए पक्षिराज गरुड़ तथा नागोंके समान दिखायी देते थे ॥ १४ ॥

भीमकर्णकृपद्रोणद्रौणिपार्षतसात्यकैः।
बभासे स रणोद्देशः कालसूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

भीम, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोण, अश्वत्थामा, धृष्टद्युम्न तथा सात्यकि आदि वीरोंसे वह रणक्षेत्र ऐसी शोभा पा रहा था, मानो वहाँ प्रलयकालके सूर्यका उदय हुआ हो ॥ १५ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं निघ्नतामितरेतरम्।
महाबलानां बलिभिर्दानवानां यथा सुरैः ॥ १६ ॥

उस समय एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महाबली वीरोंमें वैसा ही भयंकर युद्ध हो रहा था, जैसे पूर्वकालमें बलवान् देवताओंके साथ महाबली दानवोंका संग्राम हुआ था ॥

ततो युधिष्ठिरानीकमुद्धतार्णवनिःस्वनम्।
त्वदीयमवधीत् सैन्यं सम्प्रद्रुतमहारथम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उत्ताल तरंगोंसे युक्त महासागरकी भाँति गर्जना करती हुई युधिष्ठिरकी सेना आपकी सेनाका संहार करने लगी। इससे कौरवसेनाके बड़े-बड़े रथी भाग खड़े हुए ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा शत्रुभिर्भृशमर्दितम्।
अलं द्रुतेन वः शूरा इति द्रोणोऽभ्यभाषत ॥ १८ ॥

शत्रुओंके द्वारा अच्छी तरह रौंदी गयी आपकी सेनाको भागती देख द्रोणाचार्यने कहा—'शूरवीरो! तुम भागो मत, इससे कोई लाभ न होगा' ॥ १८ ॥

(भारद्वाजममर्षश्च विक्रमश्च समाविशत्।
समुद्धृत्य निषङ्गाच्च धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥
महाशरधनुष्पाणिर्यन्तारमिदमब्रवीत्।

उस समय द्रोणाचार्यमें अमर्ष और पराक्रम दोनोंका समावेश हुआ। उन्होंने धनुषकी प्रत्यञ्चाको पोंछकर तूणीरसे बाण निकाला और उस महान् बाण एवं धनुषको हाथमें लेकर सारथिसे इस प्रकार कहा ॥

द्रोण उवाच

सारथे याहि यत्रैव पाण्डरेण विराजता ॥
ध्रियमाणेन छत्रेण राजा तिष्ठति धर्मराट्।

द्रोणाचार्य बोले—सारथे! वहीं चलो, जहाँ सुन्दर श्वेत छत्र धारण किये धर्मराज राजा युधिष्ठिर खड़े हैं ॥

तदेतद् दीर्यते सैन्यं धार्तराष्ट्रमनेकधा ॥
एतत् संस्तम्भयिष्यामि प्रतिवार्य युधिष्ठिरम्।

यह धृतराष्ट्रकी सेना तितर-बितर हो अनेक भागोंमें बँटी जा रही है। मैं युधिष्ठिरको रोककर इस सेनाको स्थिर करूँगा (भागनेसे रोकूँगा) ॥

न हि मामभिवर्षन्ति संयुगे तात पाण्डवाः ॥
मात्स्याः पाञ्चालराजानः सर्वे च सहसोमकाः।

तात! ये पाण्डव, मत्स्य, पाञ्चाल और समस्त सोमक वीर मुझपर बाण-वर्षा नहीं कर सकते ॥

अर्जुनो मत्प्रसादाद्धि महास्त्राणि समाप्तवान् ॥
न मामुत्सहते तात न भीमो न च सात्यकिः।

अर्जुनने भी मेरी ही कृपासे बड़े-बड़े अस्त्रोंको प्राप्त किया है। तात! वे भीमसेन और सात्यकि भी मुझसे लड़नेका साहस नहीं कर सकते ॥

मत्प्रसादाद्धि बीभत्सुः परमेष्वासतां गतः ॥
ममैवास्त्रं विजानाति धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः।

अर्जुन मेरे ही प्रसादसे महान् धनुर्धर हो गये हैं। धृष्टद्युम्न भी मेरे ही दिये हुए अस्त्रोंका ज्ञान रखता है॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणांस्तात जयैषिणा ॥
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे च जयाय च।

तात सारथे! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वीरके लिये यह प्राणोंकी रक्षा करनेका अवसर नहीं है। तुम स्वर्ग-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यश और विजयके लिये आगे बढ़ो ॥

संजय उवाच

एवं संचोदितो यन्ता द्रोणमभ्यवहत् ततः ॥
तदाश्वहृदयेनाश्वानभिमन्त्र्याशु हर्षयन्।
रथेन सवरूथेन भास्वरेण विराजता ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार प्रेरित होकर सारथि अश्वहृदय नामक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके घोड़ोंका हर्ष बढ़ाता हुआ आवरणयुक्त प्रकाशमान एवं तेजस्वी रथके द्वारा शीघ्रतापूर्वक द्रोणाचार्यको आगे ले चला ॥

तं करूषाश्च मत्स्याश्च चेदयश्च ससात्वताः।
पाण्डवाश्च सपञ्चालाः सहिताः पर्यवारयन् ॥)

उस समय करूष, मत्स्य, चेदि, सात्वत, पाण्डव

तथा पाञ्चाल वीरोंने एक साथ आकर द्रोणाचार्यको रोका ॥

ततः शोणहयः क्रुद्धश्चतुर्दन्त इव द्विपः ।
प्रविश्य पाण्डवानीकं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ १९ ॥

तब लाल घोड़ोंवाले द्रोणाचार्यने कुपित हो चार दाँतोंवाले गजराजके समान पाण्डवसेनामें घुसकर युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ १९ ॥

तमाविध्यच्छितैर्बाणैः कङ्कपत्रैर्युधिष्ठिरः ।
तस्य द्रोणो धनुश्छित्त्वा तं द्रुतं समुपाद्रवत् ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने गीधकी पाँखोंसे युक्त पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको बींध डाला। तब द्रोणाचार्यने उनका धनुष काटकर बड़े वेगसे उनपर आक्रमण किया ॥ २० ॥

चक्ररक्षः कुमारस्तु पञ्चालानां यशस्करः ।
दधार द्रोणमायान्तं वेलेव सरितां पतिम् ॥ २१ ॥

उस समय पाञ्चालोंके यशको बढ़ानेवाले कुमारने, जो युधिष्ठिरके रथ-चक्रकी रक्षा कर रहे थे, आते हुए द्रोणाचार्यको उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटभूमि समुद्रको रोकती है ॥ २१ ॥

द्रोणं निवारितं दृष्ट्वा कुमारेण द्विजर्षभम् ।
सिंहनादरवो ह्यासीत् साधु साध्विति भाषितम् ॥ २२ ॥

कुमारके द्वारा द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको रोका गया देख पाण्डव-सेनामें जोर-जोरसे सिंहनाद होने लगा और सब लोग कहने लगे 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ॥ २२ ॥

कुमारस्तु ततो द्रोणं सायकेन महाहवे ।
विव्याधोरसि संक्रुद्धः सिंहवच्च नदन् मुहुः ॥ २३ ॥

कुमारने उस महायुद्धमें कुपित हो बारंबार सिंहनाद करते हुए एक बाणद्वारा द्रोणाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥

संवार्य च रणे द्रोणं कुमारस्तु महाबलः ।
शरैरनेकसाहस्रैः कृतहस्तो जितश्रमः ॥ २४ ॥

इतना ही नहीं, उस महाबली कुमारने कई हजार बाणोंद्वारा रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यको रोक दिया; क्योंकि उनके हाथ अस्त्र-संचालनकी कलामें दक्ष थे और उन्होंने परिश्रमको जीत लिया था ॥ २४ ॥

तं शूरमार्यव्रतिनं मन्त्रास्त्रेषु कृतश्रमम् ।
चक्ररक्षं परामृद्नात् कुमारं द्विजपुङ्गवः ॥ २५ ॥

परंतु द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यने शूर, आर्यव्रती एवं मन्त्रास्त्रविद्यामें परिश्रम किये हुए चक्र-रक्षक कुमारको परास्त कर दिया ॥ २५ ॥

स मध्यं प्राप्य सैन्यानां सर्वाः प्रविचरन् दिशः ।
तव सैन्यस्य गोप्ताऽऽसीद् भारद्वाजो द्विजर्षभः ॥ २६ ॥

राजन्! भरद्वाजनन्दन विप्रवर द्रोणाचार्य आपकी सेनाके संरक्षक थे। वे पाण्डव-सेनाके बीचमें घुसकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगे ॥ २६ ॥

शिखण्डिनं द्वादशभिर्विंशत्या चोत्तमौजसम् ।
नकुलं पञ्चभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ॥ २७ ॥
युधिष्ठिरं द्वादशभिर्द्रौपदेयांस्त्रिभिस्त्रिभिः ।
सात्यकिं पञ्चभिर्विद्ध्वा मत्स्यं च दशभिः शरैः ॥ २८ ॥

उन्होंने शिखण्डीको बारह, उत्तमौजाको बीस, नकुलको पाँच और सहदेवको सात बाणोंसे घायल करके युधिष्ठिरको बारह, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको तीन-तीन, सात्यकिको पाँच और विराटको दस बाणोंसे बींध डाला ॥ २७-२८ ॥

व्यक्षोभयद् रणे योधान् यथा मुख्यमभिद्रवन् ।
अभ्यवर्तत सम्प्रेप्सुः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥

राजन्! उन्होंने रणक्षेत्रमें मुख्य-मुख्य योद्धाओंपर धावा करके उन सबको क्षोभमें डाल दिया और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको पकड़नेके लिये उनपर वेगसे आक्रमण किया ॥

युगन्धरस्ततो राजन् भारद्वाजं महारथम् ।
वारयामास संक्रुद्धं वातोद्धतमिवार्णवम् ॥ ३० ॥

राजन्! उस समय वायुके थपेड़ोंसे विक्षुब्ध हुए महासागरके समान क्रोधमें भरे हुए महारथी द्रोणाचार्यको राजा युगन्धरने रोक दिया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरं स विद्ध्वा तु शरैः संनतपर्वभिः ।
युगन्धरं तु भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ३१ ॥

तब झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको घायल करके द्रोणाचार्यने एक भल्ल नामक बाणद्वारा मारकर युगन्धरको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ३१ ॥

ततो विराटद्रुपदौ केकयाः सात्यकिः शिबिः ।
व्याघ्रदत्तश्च पाञ्चाल्यः सिंहसेनश्च वीर्यवान् ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवः परीप्सन्तो युधिष्ठिरम् ।
आवव्रुस्तस्य पन्थानं किरन्तः सायकान् बहून् ॥ ३३ ॥

यह देख विराट, द्रुपद, केकय, सात्यकि, शिबि, पाञ्चालदेशीय व्याघ्रदत्त तथा पराक्रमी सिंहसेन—ये तथा और भी बहुत-से नरेश राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करनेके लिये बहुत-से सायकोंकी वर्षा करते हुए द्रोणाचार्यकी राह रोककर खड़े हो गये ॥ ३२-३३ ॥

व्याघ्रदत्तस्तु पाञ्चाल्यो द्रोणं विव्याध मार्गणैः ।
पञ्चाशता शितै राजंस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३४ ॥

राजन्! पाञ्चालदेशीय व्याघ्रदत्तने पचास तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। तब सब लोग जोर-जोरसे हर्षनाद करने लगे ॥ ३४ ॥

त्वरितं सिंहसेनस्तु द्रोणं विद्ध्वा महारथम् ।
प्राहसत् सहसा हृष्टस्त्रासयन् वै महारथान् ॥ ३५ ॥

हर्षमें भरे हुए सिंहसेनने तुरंत ही महारथी द्रोणाचार्यको घायल करके अन्य महारथियोंके मनमें त्रास उत्पन्न करते हुए सहसा जोरसे अट्टहास किया ॥ ३५ ॥

ततो विस्फार्य नयने धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
तलशब्दं महत् कृत्वा द्रोणस्तं समुपाद्रवत् ॥ ३६ ॥

तब द्रोणाचार्यने आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए धनुषकी डोरी साफ कर महान् टंकारघोष करके सिंहसेन पर आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

ततस्तु सिंहसेनस्य शिरः कायात् सकुण्डलम्।
व्याघ्रदत्तस्य चाक्रम्य भल्लाभ्यामाहरद् बली॥३७॥

फिर बलवान् द्रोणने आक्रमणके साथ ही भल्ल नामक दो बाणोंद्वारा सिंहसेन और व्याघ्रदत्तके शरीरसे उनके कुण्डलमण्डित मस्तक काट डाले ॥ ३७ ॥

तान् प्रमथ्य शरव्रातैः पाण्डवानां महारथान्।
युधिष्ठिररथाभ्याशे तस्थौ मृत्युरिवान्तकः ॥ ३८ ॥

इसके बाद पाण्डवोंके उन अन्य महारथियोंको भी अपने बाणसमूहोंसे मथित करके विनाशकारी यमराजके समान वे युधिष्ठिरके रथके समीप खड़े हो गये ॥ ३८ ॥

ततोऽभवन्महाशब्दो राजन् यौधिष्ठिरे बले।
हतो राजेति योधानां समीपस्थे यतव्रते ॥ ३९ ॥

राजन्! नियम एवं व्रतका पालन करनेवाले द्रोणाचार्य युधिष्ठिरके बहुत निकट आ गये। तब उनकी सेनाके सैनिकोंमें महान् हाहाकार मच गया। सब लोग कहने लगे 'हाय, राजा मारे गये' ॥ ३९ ॥

अब्रुवन् सैनिकास्तत्र दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रमम्।
अद्य राजा धार्तराष्ट्रः कृतार्थो वै भविष्यति ॥ ४० ॥

वहाँ द्रोणाचार्यका पराक्रम देख कौरव-सैनिक कहने लगे, 'आज राजा दुर्योधन अवश्य कृतार्थ हो जायँगे ॥ ४० ॥

अस्मिन् मुहूर्ते द्रोणस्तु पाण्डवं गृह्य हर्षितः।
आगमिष्यति नो नूनं धार्तराष्ट्रस्य संयुगे ॥ ४१ ॥

'इस मुहूर्तमें द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें निश्चय ही राजा युधिष्ठिरको पकड़कर बड़े हर्षके साथ हमारे राजा दुर्योधनके समीप ले आयेंगे' ॥ ४१ ॥

एवं संजल्पतां तेषां तावकानां महारथः।
आयाज्जवेन कौन्तेयो रथघोषेण नादयन् ॥ ४२ ॥

राजन्! जब आपके सैनिक ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय उनके समक्ष कुन्तीनन्दन महारथी अर्जुन अपने रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े वेगसे आ पहुँचे ॥ ४२ ॥

शोणितोदां रथावर्तां कृत्वा विशसने नदीम्।
शूरास्थिचयसंकीर्णां प्रेतकूलापहारिणीम् ॥ ४३ ॥
तां शरौघमहाफेनां प्रासमत्स्यसमाकुलाम्।
नदीमुत्तीर्य वेगेन कुरून् विद्राव्य पाण्डवः ॥ ४४ ॥
ततः किरीटी सहसा द्रोणानीकमुपाद्रवत्।

वे उस मार-काटसे भरे हुए संग्राममें रक्तकी नदी बहा

कर आये थे। उसमें शोणित ही जल था। रथकी भँवरें उठ रही थीं। शूरवीरोंकी हड्डियाँ उसमें शिलाखण्डोंके समान बिखरी हुई थीं। प्रेतोंके कंकाल उस नदीके कूल-किनारे जान पड़ते थे, जिन्हें वह अपने वेगसे तोड़-फोड़कर बहाये लिये जाती थी। बाणोंके समुदाय उसमें फेनोंके बहुत बड़े ढेरके समान जान पड़ते थे। प्रास आदि शस्त्र उसमें मत्स्यके समान छाये हुए थे। उस नदीको वेगपूर्वक पार करके कौरव-सैनिकोंको भगाकर पाण्डुनन्दन किरीटधारी अर्जुनने सहसा द्रोणाचार्यकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ४३-४४½ ॥

छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥ ४५ ॥
शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान् संदधानस्य चानिशम्।
नान्तरं ददृशे कश्चित् कौन्तेयस्य यशस्विनः ॥ ४६ ॥

वे अपने बाणोंके महान् समुदायसे द्रोणाचार्यको मोहमें डालते हुए-से आच्छादित करने लगे। यशस्वी कुन्तीकुमार अर्जुन इतनी शीघ्रताके साथ निरन्तर बाणोंको धनुषपर रखते और छोड़ते थे कि किसीको इन दोनों क्रियाओंमें तनिक भी अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ४५-४६ ॥

न दिशो नान्तरिक्षं च न द्यौर्नैव च मेदिनी।
अदृश्यन्त महाराज बाणभूता इवाभवन् ॥ ४७ ॥

महाराज! न दिशाएँ, न अन्तरिक्ष, न आकाश और न पृथिवी ही दिखायी देती थी। सम्पूर्ण दिशाएँ बाणमय हो रही थीं ॥ ४७ ॥

नादृश्यत तदा राजंस्तत्र किंचन संयुगे।
बाणान्धकारे महति कृते गाण्डीवधन्वना ॥ ४८ ॥

राजन्! उस रणक्षेत्रमें गाण्डीवधारी अर्जुनने बाणोंके

द्वारा महान् अन्धकार फैला दिया था । उसमें कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ४८ ॥

सूर्ये चास्तमनुप्राप्ते तमसा चाभिसंवृते ।
नाज्ञायत तदा शत्रुर्न सुहृन्न च कश्चन ॥ ४९ ॥

सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, सम्पूर्ण जगत् अन्धकारसे व्याप्त हो गया, उस समय न कोई शत्रु पहचाना जाता था न मित्र ॥ ४९ ॥

ततोऽवहारं चक्रुस्ते द्रोणदुर्योधनादयः ।
तान् विदित्वा पुनस्त्रस्तानयुद्धमनसः परान् ॥ ५० ॥
स्वान्यनीकानि बीभत्सुः शनकैरवहारयत् ।

तब द्रोणाचार्य और दुर्योधन आदिने अपनी सेनाको पीछे लौटा लिया । शत्रुओंका मन अब युद्धसे हट गया है और वे बहुत डर गये हैं, यह जानकर अर्जुनने भी धीरे-धीरे अपनी सेनाओंको युद्धभूमिसे हटा लिया ॥ ५०½ ॥

ततोऽभितुष्टुवुः पार्थं प्रहृष्टाः पाण्डुसृंजयाः ॥ ५१ ॥
पञ्चालाश्च मनोज्ञाभिर्वाग्भिः सूर्यमिवर्षयः ।

उस समय हर्षमें भरे हुए पाण्डव, सृंजय और पाञ्चाल वीर जैसे ऋषिगण सूर्यदेवकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार मनोहर वाणीसे कुन्तीकुमार अर्जुनके गुणगान करने लगे ॥ ५१½ ॥

एवं स्वशिविरं प्रायाज्जित्वा शत्रून् धनंजयः ॥ ५२ ॥
पृष्ठतः सर्वसैन्यानां मुदितो वै सकेशवः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार शत्रुओंको जीतकर सब सेनाओंके पीछे श्रीकृष्णसहित अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने शिबिरको गये ॥ ५२-५३ ॥

मसारगल्वर्कसुवर्णरूपै-
र्वज्रप्रवालस्फटिकैश्च मुख्यैः ।
चित्रे रथे पाण्डुसुतो बभासे
नक्षत्रचित्रे वियतीव चन्द्रः ॥ ५४ ॥

जैसे नक्षत्रोंद्वारा चितकबरे प्रतीत होनेवाले आकाशमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रनील, पद्मराग, सुवर्ण, वज्रमणि, मूँगे तथा स्फटिक आदि प्रधान-प्रधान मणिरत्नोंसे विभूषित विचित्र रथमें बैठे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन शोभा पा रहे थे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणाभिषेकपर्वणि प्रथमदिवसावहारे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणाभिषेकपर्वमें द्रोणके प्रथम दिनके युद्धमें सेनाको पीछे लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १० श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

(संशप्तकवधपर्व)

सप्तदशोऽध्यायः

सुशर्मा आदि संशप्तक वीरोंकी प्रतिज्ञा तथा अर्जुनका युद्धके लिये उनके निकट जाना

संजय उवाच

ते सेने शिबिरं गत्वा न्यविशेतां विशाम्पते ।
यथाभागं यथान्यायं यथागुल्मं च सर्वशः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! वे दोनों सेनाएँ अपने शिबिरमें जाकर ठहर गयीं । जो सैनिक जिस विभाग और जिस सैन्यदलमें नियुक्त थे, उसीमें यथायोग्य स्थानपर जाकर सब ओर ठहर गये ॥ १ ॥

कृत्वावहारं सैन्यानां द्रोणः परमदुर्मनाः ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

सेनाओंको युद्धसे लौटाकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो दुर्योधनकी ओर देखते हुए लज्जित होकर बोले—॥ २ ॥

उक्तमेतन्मया पूर्वं न तिष्ठति धनंजये ।
शक्यो ग्रहीतुं संग्रामे देवैरपि युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

'राजन् ! मैंने पहले ही कह दिया था कि अर्जुनके रहते हुए सम्पूर्ण देवता भी युद्धमें युधिष्ठिरको पकड़ नहीं सकते हैं ॥ ३ ॥

इति तद् वः प्रयततां कृतं पार्थेन संयुगे ।
मा विशङ्कीर्वचो मह्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ४ ॥

'तुम सब लोगोंके प्रयत्न करनेपर भी उस युद्धस्थलमें अर्जुनने मेरे पूर्वोक्त कथनको सत्य कर दिखाया है । तुम मेरी बातपर संदेह न करना । वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन मेरे लिये अजेय हैं ॥ ४ ॥

अपनीते तु योगेन केनचिच्छ्वेतवाहने ।
तत एष्यति मे राजन् वशमेष युधिष्ठिरः ॥ ५ ॥

'राजन् ! यदि किसी उपायसे श्वेतवाहन अर्जुन दूर हटा दिये जायँ तो ये राजा युधिष्ठिर मेरे वशमें आ जायँगे ॥

कश्चिदाहूय तं संख्ये देशमन्यं प्रकर्षतु ।
तमजित्वा न कौन्तेयो निवर्तेत कथंचन ॥ ६ ॥

'यदि कोई वीर अर्जुनको युद्धके लिये ललकारकर दूसरे स्थानमें खींच ले जाय तो वह कुन्तीकुमार उसे परास्त किये बिना किसी प्रकार नहीं लौट सकता ॥ ६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये धर्मराजमहं नृप ।
ग्रहीष्यामि चमूं भित्त्वा धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥ ७ ॥

'नरेश्वर ! इस सूने अवसरमें मैं धृष्टद्युम्नके देखते-देखते पाण्डव-सेनाको विदीर्ण करके धर्मराज युधिष्ठिरको अवश्य पकड़ लूँगा ॥ ७ ॥

अर्जुनेन विहीनस्तु यदि नोत्सृजते रणम् ।
मामुपायान्तमालोक्य गृहीतं विद्धि पाण्डवम् ॥ ८ ॥

'अर्जुनसे अलग रहनेपर यदि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर मुझे निकट आते देख युद्धस्थलका परित्याग नहीं कर देंगे तो तुम निश्चय समझो, वे मेरी पकड़में आ जायँगे ॥ ८ ॥

एवं तेऽहं महाराज धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
समानेष्यामि सगणं वशमद्य न संशयः ॥ ९ ॥
यदि तिष्ठति संग्रामे मुहूर्तमपि पाण्डवः ।
अथापयाति संग्रामाद् विजयात् तद् विशिष्यते॥ १० ॥

'महाराज ! यदि अर्जुनके बिना दो घड़ी भी युद्धभूमिमें खड़े रहे तो मैं तुम्हारे लिये धर्मपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको आज उनके गणोंसहित अवश्य पकड़ लाऊँगा; इसमें संदेह नहीं है और यदि वे संग्रामसे भाग जाते हैं तो यह हमारी विजयसे भी बढ़कर है' ॥ ९-१० ॥

संजय उवाच

द्रोणस्य तद् वचः श्रुत्वा त्रिगर्ताधिपतिस्तदा ।
भ्रातृभिः सहितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! द्रोणाचार्यका यह वचन सुनकर उस समय भाइयोंसहित त्रिगर्तराज सुशर्माने इस प्रकार कहा—॥ ११ ॥

वयं विनिकृता राजन् सदा गाण्डीवधन्वना ।
अनागःस्वपि चागस्तत् कृतमस्मासु तेन वै ॥ १२ ॥

'महाराज ! गाण्डीवधारी अर्जुनने हमेशा हमलोगोंका अपमान किया है । यद्यपि हम सदा निरपराध रहे हैं तो भी उनके द्वारा सर्वदा हमारे प्रति अपराध किया गया है ॥१२॥

ते वयं स्मरमाणास्तान् विनिकारान् पृथग्विधान् ।
क्रोधाग्निना दह्यमाना न शेमहि सदा निशि ॥ १३ ॥

'हम पृथक्-पृथक् किये गये उन अपराधोंको याद करके क्रोधाग्निसे दग्ध होते रहते हैं तथा रातमें हमें कभी नींद नहीं आती है ॥ १३ ॥

स नो दिष्ट्यास्त्रसम्पन्नश्चक्षुर्विषयमागतः ।
कर्तारः स्म वयं कर्म यच्चिकीर्षाम हृद्गतम् ॥ १४ ॥

'अब हमारे सौभाग्यसे अर्जुन स्वयं ही अस्त्र-शस्त्र धारण करके आँखोंके सामने आ गये हैं । इस दशामें हम मन-ही-मन जो कुछ करना चाहते थे, वह प्रतिशोधात्मक कार्य अवश्य करेंगे ॥ १४ ॥

भवतश्च प्रियं यत् स्यादस्माकं च यशस्करम् ।
वयमेनं हनिष्यामो निकृष्यायोधनाद् बहिः ॥१५॥

'उससे आपका तो प्रिय होगा ही, हमलोगोंके सुयशकी भी वृद्धि होगी । हम इन्हें युद्धस्थलसे बाहर खींच ले जायँगे और मार डालेंगे ॥ १५ ॥

अद्यास्त्वनर्जुना भूमिरत्रिगर्ताथ वा पुनः ।
सत्यं ते प्रतिजानीमो नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ १६ ॥

'आज हम आपके सामने यह सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि यह भूमि या तो अर्जुनसे सूनी हो जायगी या त्रिगर्तोंमेंसे कोई इस भूतलपर नहीं रह जायगा । मेरा यह कथन कभी मिथ्या नहीं होगा' ॥ १६ ॥

एवं सत्यरथश्चोक्त्वा सत्यवर्मा च भारत ।
सत्यव्रतश्च सत्येषुः सत्यकर्मा तथैव च ॥ १७ ॥
सहिता भ्रातरः पञ्च रथानामयुतेन च ।
न्यवर्तन्त महाराज कृत्वा शपथमाहवे ॥ १८ ॥

भरतनन्दन ! सुशर्माके ऐसा कहनेपर सत्यरथ, सत्यवर्मा, सत्यव्रत, सत्येषु तथा सत्यकर्मा नामवाले उसके पाँच भाइयोंने भी इसी प्रतिज्ञाको दुहराया । उनके साथ दस हजार रथियोंकी सेना भी थी । महाराज ! ये लोग युद्धके लिये शपथ खाकर लौटे थे ॥

मालवास्तुण्डिकेराश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।
सुशर्मा च नरव्याघ्रस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः ॥ १९ ॥
मावेल्लकैर्ललित्थैश्च सहितो मद्रकैरपि ।
रथानामयुतेनैव सोऽगमद् भ्रातृभिः सह ॥ २० ॥

महाराज ! ऐसी प्रतिज्ञा करके प्रस्थलाधिपति पुरुषसिंह त्रिगर्तराज सुशर्मा तीस हजार रथियोंसहित मालव, तुण्डिकेर, मावेलक, ललित्थ, मद्रकगण तथा दस हजार रथियोंसे युक्त अपने भाइयोंके साथ युद्धके लिये (शपथ ग्रहण करनेको) गया ॥ १९-२० ॥

नानाजनपदेभ्यश्च रथानामयुतं पुनः ।
समुत्थितं विशिष्टानां शपथार्थमुपागमत् ॥ २१ ॥

विभिन्न देशोंसे आये हुए दस हजार श्रेष्ठ महारथी भी वहाँ शपथ लेनेके लिये उठकर गये ॥ २१ ॥

ततो ज्वलनमानर्च्य हुत्वा सर्वे पृथक् पृथक् ।
जगृहुः कुशचीराणि चित्राणि कवचानि च ॥ २२ ॥

उन सबने पृथक्-पृथक् अग्निदेवकी पूजा करके हवन किया तथा कुशके चीर और विचित्र कवच धारण कर लिये ॥ २२ ॥

ते च बद्धतनुत्राणा घृताक्ताः कुशचीरिणः ।
मौर्वीमेखलिनो वीराः सहस्रशतदक्षिणाः ॥ २३ ॥

कवच बाँधकर कुश-चीर धारण कर लेनेके पश्चात् उन्होंने अपने अङ्गोंमें घी लगाया और 'मौर्वी' नामक तृणविशेषकी बनी हुई मेखला धारण की । वे सभी वीर पहले यज्ञ करके लाखों स्वर्ण-मुद्राएँ दक्षिणामें बाँट चुके थे ॥

यज्वानः पुत्रिणो लोक्याः कृतकृत्यास्तनुत्यजः ।
योक्ष्यमाणास्तदाऽऽत्मानं यशसा विजयेन च ॥ २४ ॥

उन सबने पूर्वकालमें यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, वे

सभी पुत्रवान् तथा पुण्यलोकोंमें जानेके अधिकारी थे, उन्होंने अपने कर्तव्यको पूरा कर लिया था। वे हर्षपूर्वक युद्धमें अपने शरीरका त्याग करनेको उद्यत थे और अपने आपको यश एवं विजयसे संयुक्त करने जा रहे थे ॥ २४ ॥

ब्रह्मचर्यश्रुतिमुखैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
प्राप्याँल्लोकान् सुयुद्धेन क्षिप्रमेव यियासवः॥ २५ ॥

ब्रह्मचर्यपालन, वेदोंके स्वाध्याय तथा पर्याप्त दक्षिणा-वाले यज्ञोंके अनुष्ठान आदि साधनोंसे जिन पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है, उन सबमें वे उत्तम युद्धके द्वारा ही शीघ्र पहुँचनेकी इच्छा रखते थे ॥ २५ ॥

ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा च निष्कान् दत्त्वा पृथक् पृथक्।
गाश्च वासांसि च पुनः समाभाष्य परस्परम् ॥ २६ ॥
(द्विजमुख्यैः समुदितैः कृतस्वस्त्ययनाशिषः।
मुदिताश्च प्रहृष्टाश्च जलं संस्पृश्य निर्मलम् ॥)
प्रज्वाल्य कृष्णवर्त्मानमुपागम्य रणव्रतम्।
तस्मिन्नग्नौ तदा चक्रुः प्रतिज्ञां दृढनिश्चयाः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे तृप्त करके उन्हें अलग-अलग स्वर्णमुद्राओं, गौओं तथा वस्त्रोंकी दक्षिणा देकर परस्पर बात-चीत करके उन्होंने वहाँ एकत्र हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्ति-वाचन कराया, आशीर्वाद प्राप्त किया और हर्षोल्लासपूर्वक निर्मल जलका स्पर्श करके अग्निको प्रज्वलित किया। फिर समीप आकर युद्धका व्रत ले अग्निके सामने ही दृढ़ निश्चय-पूर्वक प्रतिज्ञा की ॥ २६-२७ ॥

शृण्वतां सर्वभूतानामुच्चैर्वाचो बभाषिरे।
सर्वे धनंजयवधे प्रतिज्ञां चापि चक्रिरे ॥ २८ ॥

उन सभीने समस्त प्राणियोंके सुनते हुए अर्जुनका वध करनेके लिये प्रतिज्ञा की और उच्च स्वरसे यह बात कही—॥

ये वै लोकाश्चाव्रतिनां ये चैव ब्रह्मघातिनाम्।
मद्यपस्य च ये लोका गुरुदाररतस्य च ॥ २९ ॥
ब्रह्मस्वहारिणश्चैव राजपिण्डापहारिणः।
शरणागतं च त्यजतो याचमानं तथा घ्नतः ॥ ३० ॥
अगारदाहिनां चैव ये च गां निघ्नतामपि।
अपकारिणां च ये लोका ये च ब्रह्मद्विषामपि ॥ ३१ ॥
स्वभार्यामृतुकालेषु मोहाद् वै नाभिगच्छताम्।
श्राद्धमैथुनिकानां च ये चाप्यात्मापहारिणाम्॥ ३२ ॥
न्यासापहारिणां ये च श्रुतं नाशयतां च ये।
क्लीबेन युध्यमानानां ये च नीचानुसारिणाम् ॥ ३३ ॥
नास्तिकानां च ये लोका येऽग्निमातृपितृत्यजाम्।
(सस्यमाक्रमतां ये च प्रत्यादित्यं प्रमेहताम्।)
तानाप्नुयामहे लोकान् ये च पापकृतामपि ॥ ३४ ॥
यद्यहत्वा वयं युद्धे निवर्तेम धनंजयम्।
तेन चाभ्यर्दितास्त्रासाद् भवेम हि पराङ्मुखाः॥३५॥

'यदि हमलोग अर्जुनको युद्धमें मारे बिना लौट आवें अथवा उनके बाणोंसे पीड़ित हो भयके कारण युद्धसे पराङ्मुख हो जायँ तो हमें वे ही पापमय लोक प्राप्त हों, जो व्रत-का पालन न करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, मद्य पीनेवाले, गुरुस्त्री-गामी, ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेवाले, राजाकी दी हुई जीविकाको छीन लेनेवाले, शरणागतको त्याग देनेवाले, याचकको मारनेवाले, घरमें आग लगानेवाले, गोवध करनेवाले, दूसरोंकी बुराईमें लगे रहनेवाले, ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाले, ऋतुकालमें भी मोहवश अपनी पत्नीके साथ समागम न करनेवाले, श्राद्धके दिन मैथुन करनेवाले, अपनी जाति छिपानेवाले, धरोहर-को हड़प लेनेवाले, अपनी प्रतिज्ञा तोड़नेवाले, नपुंसकके साथ युद्ध करनेवाले, नीच पुरुषोंका सङ्ग करनेवाले, ईश्वर और परलोकपर विश्वास न करनेवाले, अग्नि, माता और पिताकी सेवाका परित्याग करनेवाले, खेतीको पैरोंसे कुचलकर नष्ट कर देनेवाले, सूर्यकी ओर मुँह करके मूत्रत्याग करनेवाले तथा पापपरायण पुरुषोंको प्राप्त होते हैं ॥ २९–३५ ॥

यदि त्वसुकरं लोके कर्म कुर्याम संयुगे।
इष्टाँल्लोकान् प्राप्नुयामो वयमद्य न संशयः ॥ ३६ ॥

'यदि आज हम युद्धमें अर्जुनको मारकर लोकमें असम्भव माने जानेवाले कर्मको भी कर लेंगे तो मनोवाञ्छित पुण्यलोकोंको प्राप्त करेंगे, इसमें संशय नहीं है'॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा तदा राजंस्तेऽभ्यवर्तन्त संयुगे।
आह्वयन्तोऽर्जुनं वीराः पितृजुष्टां दिशं प्रति ॥ ३७ ॥

राजन्! ऐसा कहकर वे वीर संशप्तकगण उस समय अर्जुनको ललकारते हुए युद्धस्थलमें दक्षिण दिशाकी ओर जाकर खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

आहूतस्तैर्नरव्याघ्रैः पार्थः परपुरंजयः।
धर्मराजमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ३८ ॥

उन पुरुषसिंह संशप्तकोंद्वारा ललकारे जानेपर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमार अर्जुन तुरंत ही धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले– ॥ ३८ ॥

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
संशप्तकाश्च मां राजन्नाह्वयन्ति महामृधे ॥ ३९ ॥

'राजन्! मेरा यह निश्चित व्रत है कि यदि कोई मुझे युद्धके लिये बुलाये तो मैं पीछे नहीं हटूँगा। ये संशप्तक मुझे महायुद्धमें बुला रहे हैं ॥ ३९ ॥

एष च भ्रातृभिः सार्धं सुशर्माऽऽह्वयते रणे।
वधाय सगणस्यास्य मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४० ॥

'यह सुशर्मा अपने भाइयोंके साथ आकर मुझे युद्धके लिये ललकार रहा है, अतः गणोंसहित इस सुशर्माका

वध करनेके लिये मुझे आज्ञा देनेकी कृपा करें ॥ ४० ॥

नैतच्छक्नोमि संसोढुमाह्वानं पुरुषर्षभ ।
सत्यं ते प्रतिजानामि हतान् विद्धि परान् युधि ॥ ४१ ॥

'पुरुषप्रवर! मैं शत्रुओंकी यह ललकार नहीं सह सकता। आपसे सच्ची प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि इन शत्रुओंको युद्धमें मारा गया ही समझिये' ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते तत्त्वतस्तात यद् द्रोणस्य चिकीर्षितम्।
यथा तदनृतं तस्य भवेत् तत् त्वं समाचर ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात! द्रोणाचार्य क्या करना चाहते हैं, यह तो तुमने अच्छी तरह सुन ही लिया होगा। उनका वह संकल्प जैसे भी झूठा हो जाय, वही तुम करो ॥ ४२ ॥

द्रोणो हि बलवाञ्छूरः कृतास्त्रश्च जितश्रमः ।
प्रतिज्ञातं च तेनैतद् ग्रहणं मे महारथ ॥ ४३ ॥

महारथी वीर! आचार्य द्रोण बलवान्, शौर्यसम्पन्न और अस्त्रविद्यामें निपुण हैं, उन्होंने परिश्रमको जीत लिया है तथा वे मुझे पकड़कर दुर्योधनके पास ले जानेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं ॥ ४३ ॥

अर्जुन उवाच

अयं वै सत्यजिद् राजन्नद्य त्वां रक्षिता युधि ।
ध्रियमाणे च पाञ्चाल्ये नाचार्यः काममाप्स्यति ॥ ४४ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! ये पाञ्चालराजकुमार सत्यजित् आज युद्धस्थलमें आपकी रक्षा करेंगे। इनके जीते-जी आचार्य अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सकेंगे ॥ ४४ ॥

हते तु पुरुषव्याघ्रे रणे सत्यजिति प्रभो ।
सर्वैरपि समेतैर्वा न स्थातव्यं कथंचन ॥ ४५ ॥

प्रभो! यदि पुरुषसिंह सत्यजित् रणभूमिमें वीरगतिको प्राप्त हो जायँ तो आप सब लोगोंके साथ होनेपर भी किसी तरह युद्धभूमिमें न ठहरियेगा ॥ ४५ ॥

संजय उवाच

अनुज्ञातस्ततो राज्ञा परिष्वक्तश्च फाल्गुनः ।
प्रेम्णा दृष्टश्च बहुधा ह्याशिषश्चास्य योजिताः ॥ ४६ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब राजा युधिष्ठिरने अर्जुनको जानेकी आज्ञा दे दी और उनको हृदयसे लगा लिया। प्रेमपूर्वक उन्हें बार-बार देखा और आशीर्वाद दिया ॥ ४६ ॥

विहायैनं ततः पार्थस्त्रिगर्तान् प्रत्ययाद् बली ।
क्षुधितः क्षुद्विघातार्थं सिंहो मृगगणानिव ॥ ४७ ॥

तदनन्तर बलवान् कुन्तीकुमार अर्जुन राजा युधिष्ठिरको वहीं छोड़कर त्रिगर्तोंकी ओर बढ़े, मानो भूखा सिंह अपनी भूख मिटानेके लिये मृगोंके झुंडकी ओर जा रहा हो ॥४७॥

ततो दौर्योधनं सैन्यं मुदा परमया युतम् ।
ऋतेऽर्जुनं भृशं क्रुद्धं धर्मराजस्य निग्रहे ॥ ४८ ॥

तब दुर्योधनकी सेना बड़ी प्रसन्नताके साथ अर्जुनके बिना राजा युधिष्ठिरको कैद करनेके लिये अत्यन्त क्रोधपूर्वक प्रयत्न करने लगी ॥ ४८ ॥

ततोऽन्योन्येन ते सैन्ये समाजग्मतुरोजसा ।
गङ्गासरय्वौ वेगेन प्रावृषीवोल्बणोदके ॥ ४९ ॥

तत्पश्चात् दोनों सेनाएँ बड़े वेगसे परस्पर भिड़ गयीं, मानो वर्षा ऋतुमें जलसे लबालब भरी हुई गङ्गा और सरयू वेगपूर्वक आपसमें मिल रही हों ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि धनंजययाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें अर्जुनकी रणयात्राविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ५०½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

संशप्तक-सेनाओंके साथ अर्जुनका युद्ध और सुधन्वाका वध

संजय उवाच

ततः संशप्तका राजन् समे देशे व्यवस्थिताः ।
व्यूह्यानीकं रथैरेव चन्द्राकारं मुदा युताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर संशप्तक योद्धा रथोंद्वारा ही सेनाका चन्द्राकार व्यूह बनाकर समतल प्रदेशमें प्रसन्नतापूर्वक खड़े हो गये ॥ १ ॥

ते किरीटिनमायान्तं दृष्ट्वा हर्षेण मारिष ।
उदक्रोशन् नरव्याघ्राः शब्देन महता तदा ॥ २ ॥

आर्य! किरीटधारी अर्जुनको आते देख पुरुषसिंह संशप्तक हर्षपूर्वक बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥

स शब्दः प्रदिशः सर्वा दिशः खं च समावृणोत् ।
आवृतत्वाच्च लोकस्य नासीत् तत्र प्रतिस्वनः ॥ ३ ॥

उस सिंहनादने सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं तथा आकाशको व्याप्त कर लिया। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक व्याप्त हो जानेसे वहाँ दूसरी कोई प्रतिध्वनि नहीं होती थी ॥ ३ ॥

सोऽतीव सम्प्रहृष्टांस्तानुपलभ्य धनंजयः ।
किंचिदभ्युत्स्मयन् कृष्णमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

अर्जुनने उन सबको अत्यन्त हर्षमें भरा हुआ देख किंचित् मुसकराते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥

पश्यैतान् देवकीमातर्मुमूर्षूनद्य संयुगे ।

भ्रातॄंस्त्रैगर्तकानेवं रोदितव्ये प्रहर्षितान् ॥ ५ ॥

'देवकीनन्दन ! देखिये तो सही, ये त्रिगर्तदेशीय सुशर्मा आदि सब भाई मृत्युके निकट पहुँचे हुए हैं। आज युद्धस्थलमें जहाँ इन्हें रोना चाहिये, वहाँ ये हर्षसे उछल रहे हैं ॥ ५ ॥

अथवा हर्षकालोऽयं त्रैगर्तानामसंशयम्।
कुनरैर्दुरवापान् हि लोकान् प्राप्स्यन्त्यनुत्तमान् ॥ ६ ॥

'अथवा इसमें संदेह नहीं कि यह इन त्रिगर्तोंके लिये हर्षका ही अवसर है; क्योंकि ये उन परम उत्तम लोकोंमें जायँगे, जो दुष्ट मनुष्योंके लिये दुर्लभ हैं' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्हृषीकेशं ततोऽर्जुनः।
आससाद रणे व्यूढां त्रिगर्तानामनीकिनीम् ॥ ७ ॥

भगवान् हृषीकेशसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने युद्धमें त्रिगर्तोंकी व्यूहाकार खड़ी हुई सेनापर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

स देवदत्तमादाय शङ्खं हेमपरिष्कृतम्।
दध्मौ वेगेन महता घोषेणापूरयन् दिशः ॥ ८ ॥

उन्होंने सुवर्णजटित देवदत्त नामक शङ्ख लेकर उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको परिपूर्ण करते हुए उसे बड़े वेगसे बजाया ॥ ८ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता संशप्तकवरूथिनी।
विचेष्टावस्थिता संख्ये ह्यश्मसारमयी यथा ॥ ९ ॥

उस शङ्खनादसे भयभीत हो वह संशप्तक-सेना युद्ध-भूमिमें लोहेकी प्रतिमाके समान निश्चेष्ट खड़ी हो गयी॥९॥

(सा सेना भरतश्रेष्ठ निश्चेष्टा शुशुभे तदा।
चित्रे पटे यथा न्यस्ता कुशलैः शिल्पिभिर्नरैः ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह निश्चेष्ट हुई सेना ऐसी सुशोभित हुई, मानो कुशल कलाकारोंद्वारा चित्रपटमें अङ्कित की गयी हो ॥

स्वनेन तेन सैन्यानां दिवमावृण्वता तदा।
सस्वना पृथिवी सर्वा तथैव च महोदधिः ॥
स्वनेन सर्वसैन्यानां कर्णास्तु बधिरीकृताः।)

सम्पूर्ण आकाशमें फैले हुए उस शङ्खनादने समूची पृथ्वी और महासागरको भी प्रतिध्वनित कर दिया। उस ध्वनिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके कान बहरे हो गये ॥

वाहास्तेषां विवृत्ताक्षाः स्तब्धकर्णशिरोधराः।
विष्टब्धचरणा मूत्रं रुधिरं च प्रसुस्रुवुः ॥ १० ॥

उनके घोड़े आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। उनके कान और गर्दन स्तब्ध हो गये, चारों पैर अकड़ गये और वे मूत्रके साथ-साथ रुधिरका भी त्याग करने लगे ॥ १० ॥

उपलभ्य ततः संज्ञामवस्थाप्य च वाहिनीम्।
युगपत् पाण्डुपुत्राय चिक्षिपुः कङ्कपत्रिणः ॥ ११ ॥

थोड़ी देरमें चेत होनेपर संशप्तकोंने अपनी सेनाको स्थिर किया और एक साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुनपर कंकपक्षीकी पाँखवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ११ ॥

तान्यर्जुनः सहस्राणि दशपञ्चभिराशुगैः।
अनागतान्येव शरैश्चिच्छेदाशु पराक्रमी ॥ १२ ॥

परंतु पराक्रमी अर्जुनने पंद्रह शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उनके सहस्रों बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही शीघ्रतापूर्वक काट डाला ॥

ततोऽर्जुनं शितैर्बाणैर्दशभिर्दशभिः पुनः।
प्राविध्यन्त ततः पार्थस्तानविध्यत् त्रिभिस्त्रिभिः ॥१३॥

तदनन्तर संशप्तकोंने दस-दस तीखे बाणोंसे पुनः अर्जुनको बींध डाला, यह देख उन कुन्तीकुमारने भी तीन-तीन बाणोंसे संशप्तकोंको घायल कर दिया ॥ १३ ॥

एकैकस्तु ततः पार्थं राजन् विव्याध पञ्चभिः।
स च तान् प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमी ॥१४॥

राजन् ! फिर उनमेंसे एक-एक योद्धाने अर्जुनको पाँच-पाँच बाणोंसे बींध डाला और पराक्रमी अर्जुनने भी दो-दो बाणोंद्वारा उन सबको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ॥ १४ ॥

भूय एव तु संक्रुद्धास्त्वर्जुनं सहकेशवम्।
आपूरयञ्शरैस्तीक्ष्णैस्तडागमिव वृष्टिभिः ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त कुपित हो संशप्तकोंने पुनः श्रीकृष्ण-सहित अर्जुनको पैने बाणोंद्वारा उसी प्रकार परिपूर्ण करना आरम्भ किया, जैसे मेघ वर्षाद्वारा सरोवरको पूर्ण करते हैं ॥ १५ ॥

ततः शरसहस्राणि प्रापतन्नर्जुनं प्रति।
भ्रमराणामिव व्राताः फुल्लं द्रुमगणं वने ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनपर एक ही साथ हजारों बाण गिरे, मानो वनमें फूले हुए वृक्षपर भौंरोंके समूह आ गिरे हों ॥

ततः सुबाहुस्त्रिंशद्भिरद्रिसारमयैः शरैः।
अविध्यदिषुभिर्गाढं किरीटे सव्यसाचिनम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर सुबाहुने लोहेके बने हुए तीस बाणोंद्वारा अर्जुनके किरीटमें गहरा आघात किया ॥ १७ ॥

तैः किरीटी किरीटस्थैर्हेमपुङ्खैरजिह्मगैः।
शातकुम्भमयापीडो बभौ सूर्य इवोत्थितः ॥ १८ ॥

सोनेके पंखोंसे युक्त सीधे जानेवाले वे बाण उनके किरीटमें चारों ओरसे धँस गये। उन बाणोंद्वारा किरीटधारी अर्जुनकी वैसी ही शोभा हुई जैसे स्वर्णमय मुकुटसे मण्डित भगवान् सूर्य उदित एवं प्रकाशित हो रहे हों ॥ १८ ॥

हस्तावापं सुबाहोस्तु भल्लेन युधि पाण्डवः।
चिच्छेद तं चैव पुनः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १९ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने भल्लका प्रहार करके युद्धमें सुबाहुके दस्तानेको काट दिया और उसके ऊपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

ततः सुशर्मा दशभिः सुरथस्तु किरीटिनम्।
सुधर्मा सुधनुश्चैव सुबाहुश्च समार्पयत् ॥ २० ॥

यह देख सुशर्मा, सुरथ, सुधर्मा, सुधन्वा और सुबाहुने दस-दस बाणोंसे किरीटधारी अर्जुनको घायल कर दिया ॥ २० ॥

तांस्तु सर्वान् पृथग्बाणैर्वानरप्रवरध्वजः।
प्रत्यविध्यद् ध्वजांश्चैषां भल्लैश्चिच्छेद सायकान् २१

फिर कपिध्वज अर्जुनने भी पृथक्-पृथक् बाण मारकर उन सबको घायल कर दिया। भल्लोंद्वारा उनकी ध्वजाओं तथा सायकोंको भी काट गिराया ॥ २१ ॥

सुधन्वनो धनुश्छित्त्वा हयांश्चास्यावधीच्छरैः।
अथास्य सशिरस्त्राणं शिरः कायादपातयत् ॥ २२ ॥

सुधन्वाका धनुष काटकर उसके घोड़ोंको भी बाणोंसे मार डाला। फिर शिरस्त्राणसहित उसके मस्तकको भी काटकर धड़से नीचे गिरा दिया ॥ २२ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे त्रस्तास्तस्य पदानुगाः।
व्यद्रवन्त भयाद् भीता यत्र दौर्योधनं बलम् ॥ २३ ॥

वीरवर सुधन्वाके धराशायी हो जानेपर उसके अनुगामी सैनिक भयभीत हो गये, वे भयके मारे वहीं भाग गये, जहाँ दुर्योधनकी सेना थी ॥ २३ ॥

ततो जघान संक्रुद्धो वासविस्तां महाचमूम्।
शरजालैरविच्छिन्नैस्तमः सूर्य इवांशुभिः ॥ २४ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए इन्द्रकुमार अर्जुनने बाण-समूहोंकी अविच्छिन्न वर्षा करके उस विशाल वाहिनीका उसी प्रकार संहार आरम्भ किया, जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंद्वारा महान् अन्धकारका नाश करते हैं ॥ २४ ॥

ततो भग्ने बले तस्मिन् विप्रलीने समन्ततः।
सव्यसाचिनि संक्रुद्धे त्रैगर्तान् भयमाविशत् ॥ २५ ॥

तदनन्तर जब संशप्तकोंकी सारी सेना भागकर चारों ओर छिप गयी और सव्यसाची अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भर गये, तब उन त्रिगर्तदेशीय योद्धाओंके मनमें भारी भय समा गया ॥ २५ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन शरैः संनतपर्वभिः।
अमुह्यंस्तत्र तत्रैव त्रस्ता मृगगणा इव ॥ २६ ॥

अर्जुनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी मार खाकर वे सभी सैनिक वहाँ भयभीत मृगोंकी भाँति मोहित हो गये ॥ २६ ॥

ततस्त्रिगर्तराट् क्रुद्धस्तानुवाच महारथान्।
अलं द्रुतेन वः शूरा न भयं कर्तुमर्हथ ॥ २७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए त्रिगर्तराजने अपने उन महारथियोंसे कहा—'शूरवीरो! भागनेसे कोई लाभ नहीं है। तुम भय न करो ॥ २७ ॥

शप्त्वाथ शपथान् घोरान् सर्वसैन्यस्य पश्यतः।
गत्वा दौर्योधनं सैन्यं किं वै वक्ष्यथ मुख्यशः ॥ २८ ॥

'सारी सेनाके सामने भयंकर शपथ खाकर अब यदि दुर्योधनकी सेनामें जाओगे तो तुम सभी श्रेष्ठ महारथी क्या जवाब दोगे ? ॥ २८ ॥

नावहास्याः कथं लोके
कर्मणानेन संयुगे।
भवेम सहिताः सर्वे
निवर्तध्वं यथाबलम् ॥ २९ ॥

'हमें युद्धमें ऐसा कर्म करके किसी प्रकार संसारमें उपहासका पात्र नहीं बनना चाहिये। अतः तुम सब लोग लौट आओ। हमें यथाशक्ति एक साथ संगठित होकर युद्धभूमिमें डटे रहना चाहिये' ॥ २९ ॥

एवमुक्तास्तु ते राज-
न्नुदक्रोशन् मुहुर्मुहुः।
शङ्खांश्च दध्मिरे वीरा हर्षयन्तः परस्परम् ॥ ३० ॥

राजन्! त्रिगर्तराजके ऐसा कहनेपर वे सभी वीर बारंबार गर्जना करने और एक दूसरेमें हर्ष एवं उत्साह भरते हुए शङ्ख बजाने लगे ॥ ३० ॥

ततस्ते संन्यवर्तन्त संशप्तकगणाः पुनः।

नारायणाश्च गोपाला मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३१ ॥

तब वे समस्त संशप्तकगण और नारायणी सेनाके ग्वाले मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिका अवसर मानकर पुनः लौट आये ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि सुधन्ववधे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें सुधन्वाका वधविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

संशप्तकगणोंके साथ अर्जुनका घोर युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु संनिवृत्तांस्तान् संशप्तकगणान् पुनः ।
वासुदेवं महात्मानमर्जुनः समभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उन संशप्तकगणोंको पुनः लौटा हुआ देख अर्जुनने महात्मा श्रीकृष्णसे कहा—॥ १ ॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश संशप्तकगणान् प्रति ।
नैते हास्यन्ति संग्रामं जीवन्त इति मे मतिः ॥ २ ॥

'हृषीकेश ! घोड़ोंको इन संशप्तकगणोंकी ओर ही बढ़ाइये । मुझे ऐसा जान पड़ता है, ये जीते-जी रणभूमिका परित्याग नहीं करेंगे ॥ २ ॥

पश्य मेऽस्त्रबलं घोरं बाह्वोरिष्वसनस्य च ।
अद्यैतान् पातयिष्यामि क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव ॥ ३ ॥

'आज आप मेरे अस्त्र, भुजाओं और धनुषका बल देखिये । क्रोधमें भरे हुए रुद्रदेव जैसे पशुओं (जगत्के जीवों) का संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन्हें मार गिराऊँगा' ॥

ततः कृष्णः स्मितं कृत्वा प्रतिनन्द्य शिवेन तम् ।
प्रावेशयत दुर्धर्षो यत्र यत्रैच्छदर्जुनः ॥ ४ ॥

तब श्रीकृष्णने मुसकराकर अर्जुनकी मङ्गलकामना करते हुए उनका अभिनन्दन किया और दुर्धर्ष वीर अर्जुनने जहाँ-जहाँ जानेकी इच्छा की, वहीं-वहीं उस रथको पहुँचाया ॥

स रथो भ्राजतेऽत्यर्थमुह्यमानो रणे तदा ।
उह्यमानमिवाकाशे विमानं पाण्डुरैर्हयैः ॥ ५ ॥

रणभूमिमें श्वेत घोड़ोंद्वारा खींचा जाता हुआ वह रथ उस समय आकाशमें उड़नेवाले विमानके समान अत्यन्त शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

मण्डलानि ततश्चक्रे गतप्रत्यागतानि च ।
यथा शक्ररथो राजन् युद्धे देवासुरे पुरा ॥ ६ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंके संग्राममें इन्द्रका रथ जिस प्रकार चलता था, उसी प्रकार अर्जुनका रथ भी कभी आगे बढ़कर और कभी पीछे हटकर मण्डलाकार गतिसे घूमने लगा ॥ ६ ॥

अथ नारायणाः क्रुद्धा विविधायुधपाणयः ।
छादयन्तः शरव्रातैः परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए नारायणी सेनाके गोपोंने हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र शस्त्र लेकर अर्जुनको अपने बाण-समूहोंसे आच्छादित करते हुए उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७ ॥

अदृश्यं च मुहूर्तेन चक्रुस्ते भरतर्षभ ।
कृष्णेन सहितं युद्धे कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने दो ही घड़ीमें श्रीकृष्णसहित कुन्तीकुमार अर्जुनको युद्धमें अदृश्य कर दिया ॥ ८ ॥

क्रुद्धस्तु फाल्गुनः संख्ये द्विगुणीकृतविक्रमः ।
गाण्डीवं धनुरामृज्य तूर्णं जग्राह संयुगे ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने कुपित होकर युद्धमें अपना द्विगुण पराक्रम प्रकट करते हुए गाण्डीव धनुषको सब ओरसे पोंछकर उसे तुरंत हाथमें लिया ॥ ९ ॥

बद्ध्वा च भ्रुकुटिं वक्त्रे क्रोधस्य प्रतिलक्षणम् ।
देवदत्तं महाशङ्खं पूरयामास पाण्डवः ॥ १० ॥

फिर पाण्डुकुमारने भौंहें टेढ़ी करके क्रोधको सूचित करनेवाले अपने महान् शङ्ख देवदत्तको बजाया ॥ १० ॥

अथास्त्रमरिसंघघ्नं त्वाष्ट्रमभ्यस्यदर्जुनः ।
ततो रूपसहस्राणि प्रादुरासन् पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

तदनन्तर अर्जुनने शत्रु-समूहोंका नाश करनेवाले त्वाष्ट्र नामक अस्त्रका प्रयोग किया । फिर तो उस अस्त्रसे सहस्रों रूप पृथक्-पृथक् प्रकट होने लगे ॥ ११ ॥

आत्मनः प्रतिरूपैस्तैर्नानारूपैर्विमोहिताः ।
अन्योन्येनार्जुनं मत्वा स्वमात्मानं च जघ्निरे ॥ १२ ॥

अपने ही समान आकृतिवाले उन नाना रूपोंसे मोहित हो वे एक दूसरेको अर्जुन मानकर अपने तथा अपने ही सैनिकोंपर प्रहार करने लगे ॥ १२ ॥

अयमर्जुनोऽयं गोविन्द इमौ पाण्डवयादवौ ।
इति ब्रुवाणाः सम्मूढा जघ्नुरन्योन्यमाहवे ॥ १३ ॥

ये अर्जुन हैं, ये श्रीकृष्ण हैं, ये दोनों अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं—इस प्रकार बोलते हुए वे मोहाच्छन्न हो युद्धमें एक दूसरेपर आघात करने लगे ॥ १३ ॥

मोहिताः परमास्त्रेण क्षयं जग्मुः परस्परम् ।
अशोभन्त रणे योधाः पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ १४ ॥

उस दिव्यास्त्रसे मोहित हो वे परस्परके आघातसे क्षीण होने लगे । उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा फूले हुए पलाश वृक्षके समान शोभा पा रहे थे ॥ १४ ॥

ततः शरसहस्राणि तैर्विमुक्तानि भस्मसात् ।

कृत्वा तदस्त्रं तान् वीराननयद् यमसादनम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उस दिव्यास्त्रने संशप्तकोंके छोड़े हुए सहस्रों बाणोंको भस्म करके बहुसंख्यक वीरोंको यमलोक पहुँचा दिया॥

अथ प्रहस्य बीभत्सुर्ललित्थान् मालवानपि ।
मावेल्लकांस्त्रिगर्तांश्च यौधेयांश्चार्दयच्छरैः ॥ १६ ॥

इसके बाद अर्जुनने हँसकर ललित्थ, मालव, मावेल्लक, त्रिगर्त तथा यौधेय सैनिकोंको बाणोंद्वारा गहरी पीड़ा पहुँचायी॥

हन्यमाना वीरेण क्षत्रियाः कालचोदिताः ।
व्यसृजञ्छरजालानि पार्थे नानाविधानि च ॥ १७ ॥

वीर अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए क्षत्रियगण कालसे प्रेरित हो अर्जुनके ऊपर नाना प्रकारके बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ १७ ॥

न ध्वजो नार्जुनस्तत्र न रथो न च केशवः ।
प्रत्यदृश्यत घोरेण शरवर्षेण संवृतः ॥ १८ ॥

उस भयंकर बाण-वर्षासे ढक जानेके कारण वहाँ न ध्वज दिखायी देता था ,न रथ; न अर्जुन दृष्टिगोचर हो रहे थे, न भगवान् श्रीकृष्ण ॥ १८ ॥

ततस्ते लब्धलक्षत्वादन्योन्यमभिचुक्रुशुः ।
हतौ कृष्णाविति प्रीत्या वासांस्यादुधुवुस्तदा ॥ १९ ॥

उस समय 'हमने अपने लक्ष्यको मार लिया' ऐसा समझकर वे एक दूसरेकी ओर देखते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन मारे गये—ऐसा सोचकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने कपड़े हिलाने लगे ॥ १९ ॥

भेरीमृदङ्गशङ्खांश्च दध्मुर्वीराः सहस्रशः ।
सिंहनादरवांश्चोग्रांश्चक्रिरे तत्र मारिष ॥ २० ॥

आर्य ! वे सहस्रों वीर वहाँ भेरी, मृदङ्ग और शङ्ख बजाने तथा भयानक सिंहनाद करने लगे ॥ २० ॥

ततः प्रसिष्विदे कृष्णः खिन्नश्चार्जुनमब्रवीत् ।
क्वासि पार्थ न पश्ये त्वां कच्चिज्जीवसि शत्रुहन् ॥ २१ ॥

उस समय श्रीकृष्ण पसीने-पसीने हो गये और खिन्न होकर अर्जुनसे बोले—"पार्थ ! कहाँ हो । मैं तुम्हें देख नहीं पाता हूँ । शत्रुओंका नाश करनेवाले वीर ! क्या तुम जीवित हो ?" ॥ २१ ॥

तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा त्वरमाणो धनंजयः ।
वायव्यास्त्रेण तैरस्तां शरवृष्टिमपाहरत् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णका वह वचन सुनकर अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ वायव्यास्त्रका प्रयोग करके शत्रुओंद्वारा की हुई उस बाण-वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ २२ ॥

ततः संशप्तकव्रातान् साश्वद्विपरथायुधान् ।
उवाह भगवान् वायुः शुष्कपर्णचयानिव ॥ २३ ॥

तदनन्तर भगवान् वायुदेवने घोड़े, हाथी, रथ और आयुधोंसहित संशप्तक-समूहोंको वहाँसे सूखे पत्तोंके ढेरकी भाँति उड़ाना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

उह्यमानास्तु ते राजन् बह्वशोभन्त वायुना ।
प्रडीनाः पक्षिणः काले वृक्षेभ्य इव मारिष ॥ २४ ॥

माननीय महाराज ! वायुके द्वारा उड़ाये जाते हुए वे सैनिक समय-समयपर वृक्षोंसे उड़नेवाले पक्षियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ २४ ॥

तांस्तथा व्याकुलीकृत्य त्वरमाणो धनंजयः ।
जघान निशितैर्बाणैः सहस्राणि शतानि च ॥ २५ ॥

उन सबको व्याकुल करके अर्जुन अपने पैने बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक उनके सौ-सौ और हजार-हजार योद्धाओंका एक साथ संहार करने लगे ॥ २५ ॥

शिरांसि भल्लैरहरद् बाहूनपि च सायुधान् ।
हस्तिहस्तोपमांश्चोरूञ्शरैरुर्व्यामपातयत् ॥ २६ ॥

उन्होंने भल्लोंद्वारा उनके सिर उड़ा दिये, आयुधोंसहित भुजाएँ काट डालीं और हाथीकी सूँड़के समान मोटी जाँघोंको भी बाणोंद्वारा पृथ्वीपर काट गिराया ॥ २६ ॥

पृष्ठच्छिन्नान् विचरणान् बाहुपार्श्वेक्षणाकुलान् ।
नानाङ्गावयवैर्हीनांश्चकारारीन् धनंजयः ॥ २७ ॥

धनंजयने शत्रुओंको शरीरके अनेक अङ्गोंसे विहीन कर दिया । किन्हींकी पीठ काट ली तो किन्हींके पैर उड़ा दिये । कितने ही सैनिक बाहु, पसली और नेत्रोंसे वञ्चित होकर व्याकुल हो रहे थे ॥ २७ ॥

गन्धर्वनगराकारान् विधिवत्कल्पितान् रथान् ।
शरैर्विशकलीकुर्वंश्चक्रे व्यश्वरथद्विपान् ॥ २८ ॥

उन्होंने गन्धर्वनगरोंके समान प्रतीत होनेवाले और विधिवत् सजे हुए रथोंके अपने बाणोंद्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिये और शत्रुओंको हाथी, घोड़े एवं रथोंसे वञ्चित कर दिये॥

मुण्डतालवनानीव तत्र तत्र चकाशिरे ।
छिन्ना रथध्वजव्राताः केचित्तत्र क्वचित् क्वचित् ॥ २९॥

वहाँ कहीं-कहीं रथवर्ती ध्वजोंके समूह ऊपरसे कट जानेके कारण मुण्डित तालवनोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥२९॥

सोत्तरायुधिनो नागाः सपताकांकुशध्वजाः ।
पेतुः शक्राशनिहता द्रुमवन्त इवाचलाः ॥ ३० ॥

पताका, अङ्कुश और ध्वजोंसे विभूषित गजराज वहाँ इन्द्रके वज्रसे मारे हुए वृक्षयुक्त पर्वतोंके समान ऊपर चढ़े हुए योद्धाओंसहित धराशायी हो गये ॥ ३० ॥

चामरापीडकवचाः स्रस्तान्त्रनयनास्तथा ।
सारोहास्तुरगाः पेतुः पार्थबाणहताः क्षितौ ॥ ३१ ॥

चामर, माला और कवचोंसे युक्त बहुत-से घोड़े अर्जुनके बाणोंसे मारे जाकर सवारोंसहित धरतीपर पड़े थे । उनकी आँतें और आँखें बाहर निकल आयी थीं ॥ ३१ ॥

विप्रविद्धासिनखराश्छिन्नवर्मर्ष्टिशक्तयः ।
पत्तयश्छिन्नवर्माणः कृपणाः शेरते हताः ॥ ३२ ॥

पैदल सैनिकोंके खड्ग एवं नखर कटकर गिरे हुए थे । कवच, ऋष्टि और शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे । कवच कट जानेसे अत्यन्त दीन हो वे मरकर पृथ्वीपर पड़े थे ॥ ३२ ॥

तैर्हतैर्हन्यमानैश्च पतद्भिः पतितैरपि ।
भ्रमद्भिर्निष्टनद्भिश्च क्रूरमायोधनं बभौ ॥ ३३ ॥

कितने ही वीर मारे गये थे और कितने ही मारे जा रहे थे । कुछ गिर गये थे और कुछ गिर रहे थे । कितने ही चक्कर काटते और आघात करते थे । इन सबके द्वारा वह युद्ध-स्थल अत्यन्त क्रूरतापूर्ण जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

रजश्च सुमहज्जातं शान्तं रुधिरवृष्टिभिः ।
मही चाप्यभवद् दुर्गा कबन्धशतसंकुला ॥ ३४ ॥

रक्तकी वर्षासे वहाँकी उड़ती हुई भारी धूलराशि शान्त हो गयी और सैकड़ों कबन्धों (बिना सिरकी लाशों) से आच्छादित होनेके कारण उस भूमिपर चलना कठिन हो गया ॥

तद् बभौ रौद्रबीभत्सं बीभत्सोर्यानमाहवे ।
आक्रीडमिव रुद्रस्य घ्नतः कालात्यये पशून् ॥ ३५ ॥

रणक्षेत्रमें अर्जुनका वह भयंकर एवं बीभत्स रथ प्रलय-कालमें पशुओं (जगत्के जीवों) का संहार करनेवाले रुद्र-देवके क्रीडास्थल-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ३५ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन व्याकुलाश्च रथद्विपाः ।
तमेवाभिमुखाः क्षीणाः शक्रस्यातिथितां गताः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए रथ और हाथी व्याकुल होकर उन्हींकी ओर मुँह करके प्राणत्याग करनेके कारण इन्द्रलोकके अतिथि हो गये ॥ ३६ ॥

सा भूमिर्भरतश्रेष्ठ निहतैस्तैर्महारथैः ।
आस्तीर्णा सम्बभौ सर्वा प्रेतीभूतैः समन्ततः ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ मारे गये महारथियोंसे आच्छादित हुई वह सारी भूमि सब ओरसे प्रेतोंद्वारा घिरी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ३७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव प्रमत्ते सव्यसाचिनि ।
व्यूढानीकस्ततो द्रोणो युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ३८ ॥

जब इधर सव्यसाची अर्जुन उस युद्धमें भली प्रकार लगे हुए थे, उसी समय अपनी सेनाका व्यूह बनाकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ ३८ ॥

तं प्रत्यगृह्णंस्त्वरिता व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
युधिष्ठिरं परीप्सन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ॥ ३९ ॥

व्यूह-रचनापूर्वक प्रहार करनेमें कुशल योद्धाओंने युधिष्ठिरको पकड़नेकी इच्छासे तुरंत ही उनपर चढ़ाई कर दी, वह युद्ध बड़ा भयानक हुआ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि अर्जुनसंशप्तकयुद्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें अर्जुन-संशप्तक-युद्धविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यके द्वारा गरुड़व्यूहका निर्माण, युधिष्ठिरका भय, धृष्टद्युम्नका आश्वासन, धृष्टद्युम्न और दुर्मुखका युद्ध तथा संकुल युद्धमें गजसेनाका संहार

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु भारद्वाजो महारथः ।
उक्त्वा सुबहु राजेन्द्र वचनं वै सुयोधनम् ॥ १ ॥
विधाय योगं पार्थेन संशप्तकगणैः सह ।
निष्क्रान्ते च तदा पार्थे संशप्तकवधं प्रति ॥ २ ॥
व्यूढानीकस्ततो द्रोणः पाण्डवानां महाचमूम् ।
अभ्ययाद् भरतश्रेष्ठ धर्मराजजिघृक्षया ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजेन्द्र ! महारथी द्रोणाचार्यने वह रात बिताकर दुर्योधनसे बहुत कुछ बातें कहीं और संशप्तकोंके साथ अर्जुनके युद्धका योग लगा दिया । भरतश्रेष्ठ ! फिर संशप्तकोंका वध करनेके लिये अर्जुन जब दूर निकल गये, तब सेनाकी व्यूहरचना करके धर्मराज युधिष्ठिर-को पकड़नेके लिये द्रोणाचार्यने पाण्डवोंकी विशाल सेनापर आक्रमण किया ॥ १—३ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा सुपर्णं तु भारद्वाजकृतं तदा ।
व्यूहेन मण्डलार्धेन प्रत्यव्यूहद् युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यके बनाये हुए गरुड़व्यूहको देखकर युधिष्ठिर-

ने अपनी सेनाका मण्डलार्धव्यूह बनाया ॥ ४ ॥

मुखं त्वासीत् सुपर्णस्य भारद्वाजो महारथः।
शिरो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः।
चक्षुषी कृतवर्माऽऽसीद् गौतमश्चास्यतां वरः॥ ५ ॥

गरुड़व्यूहमें गरुड़के मुँहके स्थानपर महारथी द्रोणाचार्य खड़े थे। शिरोभागमें भाइयों तथा अनुगामी सैनिकोंसहित राजा दुर्योधन उपस्थित हुआ। बाण चलानेवालोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य और कृतवर्मा उस व्यूहकी आँखके स्थानमें स्थित हुए ॥ ५ ॥

भूतशर्मा क्षेमशर्मा करकाशश्च वीर्यवान्।
कलिङ्गाः सिंहलाः प्राच्याः शूराभीरा दशेरकाः॥ ६ ॥
शका यवनकाम्बोजास्तथा हंसपथाश्च ये।
ग्रीवायां शूरसेनाश्च दरदा मद्रकेकयाः॥ ७ ॥
गजाश्वरथपत्त्योघास्तस्थुः परमदंशिताः।

भूतशर्मा, क्षेमशर्मा, पराक्रमी करकाश, कलिङ्ग, सिंहल, पूर्वदिशाके सैनिक, शूर आभीरगण, दाशेरकगण, शक, यवन, काम्बोज, शूरसेन, दरद, मद्र, केकय तथा हंसपथ नामवाले देशोंके निवासी शूरवीर एवं हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल सैनिकोंके समूह उत्तम कवच धारण करके उस गरुड़के ग्रीवाभागमें खड़े थे ॥ ६-७½ ॥

भूरिश्रवास्तथा शल्यः सोमदत्तश्च बाह्लिकः॥ ८ ॥
अक्षौहिण्या वृता वीरा दक्षिणं पार्श्वमास्थिताः।

भूरिश्रवा, शल्य, सोमदत्त तथा बाह्लिक—ये वीरगण अक्षौहिणी सेनाके साथ व्यूहके दाहिने पार्श्वमें स्थित थे।८½।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः॥ ९ ॥
वामं पार्श्वं समाश्रित्य द्रोणपुत्राग्रतः स्थिताः।

अवन्तीके विन्द और अनुविन्द तथा काम्बोजराज सुदक्षिण—ये बायें पार्श्वका आश्रय लेकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके आगे खड़े हुए ॥ ९½ ॥

पृष्ठे कलिङ्गाः साम्बष्ठा मागधाः पौण्ड्रमद्रकाः॥ १० ॥
गान्धाराः शकुनाः प्राच्याः पर्वतीया वसातयः।

पृष्ठभागमें कलिङ्ग, अम्बष्ठ, मगध, पौण्ड्र, मद्रक, गन्धार, शकुन, पूर्वदेश, पर्वतीय प्रदेश और वसाति आदि देशोंके वीर थे ॥ १०½ ॥

पुच्छे वैकर्तनः कर्णः सपुत्रज्ञातिबान्धवः॥ ११ ॥
महत्या सेनया तस्थौ नानाजनपदोत्थया।

पुच्छभागमें अपने पुत्र, जाति-भाई तथा कुटुम्बके बन्धु-बान्धवोंसहित भिन्न-भिन्न देशोंकी विशाल सेना साथ लिये विकर्तनपुत्र कर्ण खड़ा था ॥ ११½ ॥

जयद्रथो भीमरथः सम्पातिर्ऋषभो जयः॥ १२ ॥
भूमिंजयो वृषक्राथो नैषधश्च महाबलः।
वृता बलेन महता ब्रह्मलोकपुरस्कृताः॥ १३ ॥
व्यूहस्योरसि ते राजन् स्थिता युद्धविशारदाः।

राजन्! उस व्यूहके हृदयस्थानमें जयद्रथ, भीमरथ, सम्पाति, ऋषभ, जय, भूमिंजय, वृषक्राथ तथा महाबली निषधराज बहुत बड़ी सेनाके साथ खड़े थे। ये सब-के-सब ब्रह्मलोककी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर लड़नेवाले तथा युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे ॥ १२-१३½ ॥

द्रोणेन विहितो व्यूहः पदात्यश्वरथद्विपैः॥ १४ ॥
वातोद्धूतार्णवाकारः प्रवृत्त इव लक्ष्यते।

इस प्रकार पैदल, अश्वारोही, गजारोही तथा रथियोंद्वारा आचार्य द्रोणका बनाया हुआ वह व्यूह वायुके झकोरोंसे उछलते हुए समुद्रके समान दिखायी देता था ॥ १४½ ॥

तस्य पक्षप्रपक्षेभ्यो निष्पतन्ति युयुत्सवः॥ १५ ॥
सविद्युत्स्तनिता मेघाः सर्वदिग्भ्य इवोष्णगे।

उसके पक्ष और प्रपक्ष भागोंसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धा उसी प्रकार निकलने लगे, जैसे वर्षाकालमें विद्युत्से प्रकाशित गर्जते हुए मेघ सम्पूर्ण दिशाओंसे प्रकट होने लगते हैं ॥ १५½ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषो मध्ये विधिवत् कल्पितं गजम्॥ १६॥
आस्थितः शुशुभे राजन्नंशुमानुदये यथा।

राजन्! उस व्यूहके मध्यभागमें विधिपूर्वक सजाये हुए हाथीपर आरूढ़ हो प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त उदयाचलपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १६½ ॥

माल्यदामवता राजन् श्वेतच्छत्रेण धार्यता॥ १७ ॥
कृत्तिकायोगयुक्तेन पौर्णमास्यामिवेन्दुना।

राजन्! सेवकोंने राजा भगदत्तके ऊपर मुक्तामालाओंसे अलंकृत श्वेत छत्र लगा रक्खा था। उनका वह छत्र कृत्तिका नक्षत्रके योगसे युक्त पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा दे रहा था ॥ १७½ ॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यो मदान्धो द्विरदो बभौ॥ १८ ॥
अतिवृष्टो महामेघैर्यथा स्यात् पर्वतो महान्।

राजाका काली कज्जल-राशिके समान मदान्ध गजराज अपने मस्तककी मदवर्षाके कारण महान् मेघोंकी अतिवृष्टिसे आर्द्र हुए विशाल पर्वतके समान शोभा पा रहा था ॥१८½॥

नानानृपतिभिर्वीरैर्विविधायुधभूषणैः॥ १९ ॥
समन्वितः पर्वतीयैः शक्रो देवगणैरिव।

जैसे इन्द्र देवगणोंसे घिरकर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित, वीर एवं बहुसंख्यक पर्वतीय नृपतियोंसे घिरे हुए भगदत्तकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १९½ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रेक्ष्य व्यूहं तमतिमानुषम्॥ २० ॥
अजय्यमरिभिः संख्ये पार्षतं वाक्यमब्रवीत्।
ब्राह्मणस्य वशं नाहमियामद्य यथा प्रभो।
पारावतसवर्णाश्व तथा नीतिर्विधीयताम्॥ २१ ॥

राजा युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यके रचे हुए उस अलौकिक तथा शत्रुओंके लिये अजेय व्यूहको देखकर युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नसे इस प्रकार कहा—'कबूतरके समान रंगवाले घोड़ों-पर चलनेवाले वीर ! आज तुम ऐसी नीतिका प्रयोग करो, जिससे मैं उस ब्राह्मणके वशमें न होऊँ' ॥ २०-२१ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

द्रोणस्य यतमानस्य वशं नैष्यसि सुव्रत ।
अहमावारयिष्यामि द्रोणमद्य सहानुगम् ॥ २२ ॥

धृष्टद्युम्न बोले—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! द्रोणाचार्य कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, आप उनके वशमें नहीं होंगे। आज मैं सेवकोंसहित द्रोणाचार्यको रोकूँगा ॥

मयि जीवति कौरव्य नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ।
न हि शक्तो रणे द्रोणो विजेतुं मां कथंचन ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! मेरे जीते-जी आपको किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये। द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें मुझे किसी प्रकार जीत नहीं सकते ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा किरन् बाणान् द्रुपदस्य सुतो बली ।
पारावतसवर्णाश्वः स्वयं द्रोणमुपाद्रवत् ॥ २४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ऐसा कहकर कबूतरके समान रंगवाले घोड़े रखनेवाले महाबली द्रुपदपुत्रने बाणोंका जाल-सा बिछाते हुए स्वयं द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥२४॥

अनिष्टदर्शनं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नमवस्थितम् ।
क्षणेनैवाभवद् द्रोणो नातिहृष्टमना इव ॥ २५ ॥

जिसका दर्शन अनिष्टका सूचक था, उस धृष्टद्युम्नको सामने खड़ा देख द्रोणाचार्य क्षणभरमें अत्यन्त अप्रसन्न और उदास हो गये ॥ २५ ॥

(स हि जातो महाराज द्रोणस्य निधनं प्रति ।
मर्त्यधर्मतया तस्माद् भारद्वाजो व्यमुह्यत ॥)

महाराज ! वह द्रोणाचार्यका वध करनेके लिये पैदा हुआ था; इसलिये उसे देखकर मर्त्यभावका आश्रय ले द्रोणाचार्य मोहित हो गये ॥

तं तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रस्ते दुर्मुखः शत्रुकर्षणः ।
प्रियं चिकीर्षुर्द्रोणस्य धृष्टद्युम्नमवारयत् ॥ २६ ॥

राजन् ! शत्रुओंका संहार करनेवाले आपके पुत्र दुर्मुख-ने द्रोणाचार्यको उदास देख धृष्टद्युम्नको आगे बढ़नेसे रोक दिया। वह द्रोणाचार्यका प्रिय करना चाहता था ॥ २६ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः सुघोरः समपद्यत ।
पार्षतस्य च शूरस्य दुर्मुखस्य च भारत ॥ २७ ॥

भरतनन्दन ! उस समय शूरवीर धृष्टद्युम्न तथा दुर्मुखमें तुमुल युद्ध होने लगा, धीरे-धीरे उसने अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर लिया ॥ २७ ॥

पार्षतः शरजालेन क्षिप्रं प्रच्छाद्य दुर्मुखम् ।
भारद्वाजं शरौघेण महता समवारयत् ॥ २८ ॥

धृष्टद्युम्नने शीघ्र ही अपने बाणोंके जालसे दुर्मुखको आच्छादित करके महान् बाणसमूहद्वारा द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २८ ॥

द्रोणमावारितं दृष्ट्वा भृशायस्तस्तवात्मजः ।
नानालिङ्गैः शरव्रातैः पार्षतं सममोहयत् ॥ २९ ॥

द्रोणाचार्यको रोका गया देख आपका पुत्र अत्यन्त प्रयत्न करके नाना प्रकारके बाण-समूहोंद्वारा धृष्टद्युम्नको मोहित करने लगा ॥ २९ ॥

तयोर्विषक्तयोः संख्ये पाञ्चाल्यकुरुमुख्ययोः ।
द्रोणो यौधिष्ठिरं सैन्यं बहुधा व्यधमच्छरैः ॥ ३० ॥

वे दोनों पाञ्चालराजकुमार और कुरुकुलके प्रधान वीर जब युद्धमें पूर्णतः आसक्त हो रहे थे, उसी समय द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरकी सेनाको अपनी बाण-वर्षाद्वारा अनेक प्रकारसे तहस-नहस कर डाला ॥ ३० ॥

अनिलेन यथाभ्राणि विच्छिन्नानि समन्ततः ।
तथा पार्थस्य सैन्यानि विच्छिन्नानि कचित् कचित् ॥३१॥

जैसे वायुके वेगसे बादल सब ओरसे फट जाते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरकी सेनाएँ भी कहीं-कहींसे छिन्न-भिन्न हो गयीं ॥ ३१ ॥

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम् ।
तत उन्मत्तवद् राजन् निर्मर्यादमवर्तत ॥ ३२ ॥

राजन् ! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा मनोहर लगा; परंतु आगे चलकर उनमें पागलोंकी तरह मर्यादा-शून्य मारकाट होने लगी ॥ ३२ ॥

नैव स्वे न परे राजन्नाज्ञायन्त परस्परम् ।
अनुमानेन संज्ञाभिर्युद्धं तत् समवर्तत ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! उस समय वहाँ आपसमें अपने-परायेकी पहचान नहीं हो पाती थी। केवल अनुमान अथवा नाम बतानेसे ही शत्रु-मित्रका विचार करके युद्ध हो रहा था ॥ ३३ ॥

चूडामणिषु निष्केषु भूषणेष्वपि वर्मसु ।
तेषामादित्यवर्णाभा रश्मयः प्रचकाशिरे ॥ ३४ ॥

उन वीरोंके मुकुटों, हारों, आभूषणों तथा कवचोंमें सूर्यके समान प्रभामयी रश्मियाँ प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३४ ॥

तत्प्रकीर्णपताकानां रथवारणवाजिनाम् ।
बलाकाशबलाभ्राभं ददृशे रूपमाहवे ॥ ३५ ॥

उस युद्धस्थलमें फहराती हुई पताकाओंसे युक्त रथों, हाथियों और घोड़ोंका रूप बकपंक्तियोंसे चितकबरे प्रतीत होनेवाले मेघोंके समान दिखायी देता था ॥ ३५ ॥

नरानेव नरा जघ्नुरुदग्राश्च हया हयान् ।
रथांश्च रथिनो जघ्नुर्वारणा वरवारणान् ॥ ३६ ॥

पैदल पैदलोंको मार रहे थे, प्रचण्ड घोड़े घोड़ोंका संहार कर रहे थे, रथी रथियोंका वध करते थे और हाथी बड़े-बड़े हाथियोंको चोट पहुँचा रहे थे ॥ ३६ ॥

समुच्छ्रितपताकानां गजानां परमद्विपैः ।
क्षणेन तुमुलो घोरः संग्रामः समपद्यत ॥ ३७ ॥

जिनके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं, उन गजराजोंका शत्रुपक्षके बड़े-बड़े हाथियोंके साथ क्षणभरमें अत्यन्त भयंकर संग्राम छिड़ गया ॥ ३७ ॥

तेषां संसक्तगात्राणां कर्षतामितरेतरम् ।
दन्तसंघातसंघर्षात् सधूमोऽग्निरजायत ॥ ३८ ॥

वे एक दूसरेसे अपने शरीरोंको सटाकर आपसमें खींचातानी करते थे। दाँतोंसे दाँतोंपर टक्कर लगनेसे धूमसहित आग-सी उठने लगती थी ॥ ३८ ॥

विप्रकीर्णपताकास्ते विषाणजनिताग्नयः ।
बभूवुः खं समासाद्य सविद्युत इवाम्बुदाः ॥ ३९ ॥

उन हाथियोंकी पीठपर फहराती हुई पताकाएँ वहाँसे टूट-टूटकर गिरने लगीं। उनके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे आग प्रकट होने लगी। इससे वे आकाशमें छाये हुए बिजलीसहित मेघोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३९ ॥

विक्षिपद्भिर्नदद्भिश्च निपतद्भिश्च वारणैः ।
सम्बभूव मही कीर्णा मेघैर्द्यौरिव शारदी ॥ ४० ॥

कोई हाथी दूसरे योद्धाओंको उठाकर फेंकते थे, कोई गरज रहे थे और कुछ हाथी मरकर धराशायी हो रहे थे। उनकी लाशोंसे आच्छादित हुई भूमि शरद्‌ऋतुके आरम्भमें मेघोंसे आच्छादित आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ४० ॥

तेषामाहन्यमानानां बाणतोमरऋष्टिभिः ।
वारणानां रवो जज्ञे मेघानामिव सम्प्लवे ॥ ४१ ॥

बाण, तोमर तथा ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे मारे जाते हुए गजराजोंका चीत्कार प्रलयकालके मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ४१ ॥

तोमराभिहताः केचिद् बाणैश्च परमद्विपाः ।
वित्रेसुः सर्वनागानां शब्दमेवापरेऽव्रजन् ॥ ४२ ॥

कुछ बड़े हाथी तोमरोंकी मारसे घायल हो रहे थे, कुछ बाणोंकी चोटसे क्षत-विक्षत हो अत्यन्त भयभीत हो गये थे और कुछ सम्पूर्ण हाथियोंके शब्दका अनुसरण करते हुए उन्हींकी ओर बढ़े जा रहे थे ॥ ४२ ॥

विषाणाभिहताश्चापि केचित् तत्र गजा गजैः ।
चक्रुरार्तस्वनं घोरमुत्पातजलदा इव ॥ ४३ ॥

कुछ हाथी वहाँ हाथियोंद्वारा दाँतोंसे घायल किये जानेपर उत्पातकालके मेघोंके समान भयंकर आर्तनाद कर रहे थे ॥

प्रतीपाः क्रियमाणाश्च वारणा वरवारणैः ।
उन्मथ्य पुनराजग्मुः प्रेरिताः परमाङ्कुशैः ॥ ४४ ॥

कितने ही हाथी शत्रुपक्षके श्रेष्ठ हाथियोंद्वारा घायल हो युद्धभूमिसे विमुख कर दिये गये थे। वे पुनः महावतोंद्वारा उत्तम अङ्कुशोंसे हाँके जानेपर अपनी ही सेनाको रौंदते हुए पुनः लौट आये ॥ ४४ ॥

महामात्रैर्महामात्रास्ताडिताः शरतोमरैः ।
गजेभ्यः पृथिवीं जग्मुर्मुक्तप्रहरणाङ्कुशाः ॥ ४५ ॥

महावतोंने बाणों और तोमरोंसे महावतोंको भी घायल कर दिया था। अतः वे हाथियोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े और उनके आयुध एवं अङ्कुश हाथोंसे छूटकर इधर-उधर जा गिरे ॥ ४५ ॥

निर्मनुष्याश्च मातङ्गा विनदन्तस्ततस्ततः ।
छिन्नाभ्राणीव सम्पेतुः सम्प्रविश्य परस्परम् ॥ ४६ ॥

कितने ही गजराज मनुष्योंसे शून्य हो इधर-उधर चीत्कार करते हुए फिर रहे थे। वे एक दूसरेकी सेनामें घुसकर फटे हुए बादलोंके समान छिन्न-भिन्न हो धरतीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

हतान् परिवहन्तश्च पतितान् पतितायुधान् ।
दिशो जग्मुर्महानागाः केचिदेकचरा इव ॥ ४७ ॥

कितने ही बड़े-बड़े हाथी अपनी पीठपर मरकर गिरे हुए आयुधशून्य सवारोंको ढोते हुए अकेले विचरनेवाले गजराजोंके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगा रहे थे ॥

ताडितास्ताड्यमानाश्च तोमरर्ष्टिपरश्वधैः ।
पेतुरार्तस्वनं कृत्वा तदा विशसने गजाः ॥ ४८ ॥

उस समय बहुतसे हाथी उस युद्धस्थलमें तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी मार खाकर घायल हो आर्तनाद करके धरतीपर गिर जाते थे ॥ ४८ ॥

तेषां शैलोपमैः कायैर्निपतद्भिः समन्ततः ।
आहता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ॥ ४९ ॥

उनके पर्वताकार शरीरोंके गिरनेसे सब ओरसे आहत हुई भूमि सहसा काँपने और आर्तनाद करने लगी ॥ ४९ ॥

सादितैः सगजारोहैः सपताकैः समन्ततः ।
मातङ्गैः शुशुभे भूमिर्विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ ५० ॥

वहाँ मारे जाकर पताकाओं तथा गजारोहियोंसहित सब ओर गिरे हुए हाथियोंसे आच्छादित हुई वह भूमि ऐसी शोभा पा रही थी, मानो इधर-उधर बिखरे हुए पर्वत-खण्डोंसे व्याप्त हो रही हो ॥ ५० ॥

गजस्थाश्च महामात्रा निर्भिन्नहृदया रणे ।
रथिभिः पातिता भल्लैर्विकीर्णाङ्कुशतोमराः ॥ ५१ ॥

उस रणक्षेत्रमें कितने ही रथियोंने अपने भल्लोंद्वारा हाथीपर बैठे हुए महावतोंकी छाती छेदकर उन्हें सहसा मार गिराया। उन महावतोंके अङ्कुश और तोमर इधर-उधर बिखर गये थे ॥ ५१ ॥

क्रौञ्चवद् विनदन्तोऽन्ये नाराचाभिहता गजाः ।
परान् स्वांश्चापि मृद्नन्तः परिपेतुर्दिशो दश ॥ ५२ ॥

कितने ही हाथी नाराचोंसे घायल हो क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चिग्घाड़ रहे थे और अपने तथा शत्रुपक्षके सैनिकोंको भी रौंदते हुए दसों दिशाओंमें भाग रहे थे ॥ ५२ ॥

गजाश्वरथयोधानां शरीरौघसमावृता ।
बभूव पृथिवी राजन् मांसशोणितकर्दमा ॥ ५३ ॥

राजन् ! हाथी, घोड़े तथा रथ-योद्धाओंकी लाशोंसे ढकी हुई वहाँकी भूमिपर रक्त और मांसकी कीच जम गयी थी॥

प्रमथ्य च विषाणाग्रैः समुत्क्षिप्ताश्च वारणैः ।
सचक्राश्च विचक्राश्च रथैरेव महारथाः ॥ ५४ ॥

कितने ही हाथियोंने अपने दाँतोंके अग्रभागसे पहियेवाले तथा बिना पहियेके बड़े-बड़े रथोंको रथियोंसहित चकनाचूर करके अपनी सूँड़ोंसे उछालकर फेंक दिया ॥ ५४ ॥

रथाश्च रथिभिर्हीना निर्मनुष्याश्च वाजिनः ।
हतारोहाश्च मातङ्गा दिशो जग्मुर्भयातुराः ॥ ५५ ॥

रथियोंसे रहित रथ, सवारोंसे शून्य घोड़े और जिनके सवार मार डाले गये हैं ऐसे हाथी भयसे व्याकुल हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग रहे थे ॥ ५५ ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
इत्यासीत् तुमुलं युद्धं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५६ ॥

वहाँ पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला। ऐसा भयंकर युद्ध हो रहा था कि किसीको कुछ भी ज्ञात नहीं होता था ॥ ५६ ॥

आगुल्फेभ्योऽवसीदन्ते नरा लोहितकर्दमैः ।
दीप्यमानैः परिक्षिप्ता दावैरिव महाद्रुमाः ॥ ५७ ॥

मनुष्योंके पैर रक्तकी कीचमें टखनोंतक धँस जाते थे। उस समय वे दहकते हुए दावानलसे घिरे हुए बड़े-बड़े वृक्षोंके समान जान पड़ते थे ॥ ५७ ॥

शोणितैः सिच्यमानानि वस्त्राणि कवचानि च ।
छत्राणि च पताकाश्च सर्वं रक्तमदृश्यत ॥ ५८ ॥

योद्धाओंके वस्त्र, कवच, ध्वज और पताकाएँ रक्तसे सींच उठी थीं। वहाँ सब कुछ रक्तसे रँगकर लाल-ही-लाल दिखायी देता था ॥ ५८ ॥

हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्च निपातिताः ।
संक्षुण्णाः पुनरावृत्य बहुधा रथनेमिभिः ॥ ५९ ॥

रणभूमिमें गिराये हुए घोड़ों, रथों और पैदलोंके समुदाय बारंबार आते-जाते रथोंके पहियोंसे कुचलकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे ॥ ५९ ॥

सगजौघमहावेगः परासुनरशैवलः ।
रथौघतुमुलावर्तः प्रबभौ सैन्यसागरः ॥ ६० ॥

वह सेनाका समुद्र हाथियोंके समूहरूपी महान् वेग, मरे हुए मनुष्यरूपी सेवार तथा रथसमूहरूपी भयंकर भँवरोंके कारण अद्भुत शोभा पा रहा था ॥ ६० ॥

तं वाहनमहानौभिर्योधा जयधनैषिणः ।
अवगाह्याथ मज्जन्तो नैव मोहं प्रचक्रिरे ॥ ६१ ॥

विजयरूपी धनकी इच्छा रखनेवाले योद्धारूपी व्यापारी वाहनरूपी बड़ी-बड़ी नौकाओंद्वारा उस सैन्य-समुद्रमें उतरकर डूबते हुए भी प्राणोंका मोह नहीं करते थे ॥ ६१ ॥

शरवर्षाभिवृष्टेषु योधेष्वञ्चितलक्ष्मसु ।
न तेष्वचित्ततां लेभे कश्चिदाहतलक्षणः ॥ ६२ ॥

वहाँ समस्त योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा हो रही थी। कहीं उनके चिह्न लुप्त नहीं थे। उनमेंसे कोई भी योद्धा अपनी ध्वज आदि चिह्नोंके नष्ट हो जानेपर भी मोहको नहीं प्राप्त हुआ ॥ ६२ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे घोररूपे भयंकरे ।
मोहयित्वा परान् द्रोणो युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार जब अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध चल रहा था, उस समय शत्रुओंको मोहित करके द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि संकुलयुद्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

एकविंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यके द्वारा सत्यजित्, शतानीक, दृढसेन, क्षेम, वसुदान तथा पाञ्चालराजकुमार आदिका वध और पाण्डव-सेनाकी पराजय

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो द्रोणं दृष्ट्वाऽन्तिकमुपागतम् ।
महता शरवर्षेण प्रत्यगृह्णादभीतवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर युधिष्ठिरने द्रोणको अपने समीप आया देख एक निर्भय वीरकी भाँति बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके उन्हें रोक दिया ॥ १ ॥

ततो हलहलाशब्द आसीद् यौधिष्ठिरे बले ।
जिघृक्षति महासिंहे गजानामिव यूथपम् ॥ २ ॥

उस समय युधिष्ठिरकी सेनामें महान् कोलाहल मच गया। जैसे विशाल सिंह हाथियोंके यूथपतियोंको पकड़ना चाहता हो,

उसी प्रकार द्रोणाचार्य युधिष्ठिरको अपने काबूमें करना चाहते थे ॥ २ ॥

दृष्ट्वा द्रोणं ततः शूरः सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
युधिष्ठिरमभिप्रेप्सुराचार्यं समुपाद्रवत् ॥ ३ ॥

यह देख सत्यपराक्रमी शूरवीर सत्यजित् युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये द्रोणाचार्यपर टूट पड़ा ॥ ३ ॥

तत आचार्यपाञ्चाल्यौ युयुधाते महाबलौ ।
विक्षोभयन्तौ तत् सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥ ४ ॥

फिर तो आचार्य और पाञ्चालराजकुमार दोनों महाबली वीर इन्द्र और बलिकी भाँति उस सेनाको विक्षुब्ध करते हुए आपसमें जूझने लगे ॥ ४ ॥

ततो द्रोणं महेष्वासः सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
अविध्यन्निशिताग्रेण परमास्त्रं विदर्शयन् ॥ ५ ॥

सत्यपराक्रमी महाधनुर्धर सत्यजित्ने अपने उत्तम अस्त्रका प्रदर्शन करते हुए तेज धारवाले एक बाणसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ ५ ॥

तथास्य सारथेः पञ्च शरान् सर्पविषोपमान् ।
अमुञ्चदन्तकप्रख्यान् सम्मुमोहास्य सारथिः ॥ ६ ॥

फिर उनके सारथिपर सर्पविष एवं यमराजके समान भयंकर पाँच बाणोंका प्रहार किया । उन बाणोंकी चोटसे द्रोणाचार्यका सारथि मूर्च्छित हो गया ॥ ६ ॥

अथास्य सहसाविध्यद्धयान् दशभिराशुगैः ।
दशभिर्दशभिः क्रुद्ध उभौ च पार्ष्णिसारथी ॥ ७ ॥

इसके बाद सत्यजित्ने सहसा दस शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उनके घोड़ोंको बींध डाला और कुपित होकर दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी दस-दस बाण मारे ॥ ७ ॥

मण्डलं तु समावृत्य विचरन् पृतनामुखे ।
ध्वजं चिच्छेद च क्रुद्धो द्रोणस्यामित्रकर्षणः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् शत्रुसूदन सत्यजित्ने अत्यन्त कुपित हो सेनाके प्रमुख भागमें मण्डलाकार विचरते हुए अपने बाणद्वारा द्रोणाचार्यके ध्वजको भी काट डाला ॥ ८ ॥

द्रोणस्तु तत् समालोक्य चरितं तस्य संयुगे ।
मनसा चिन्तयामास प्राप्तकालमरिंदमः ॥ ९ ॥

तब शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें उसका वह पराक्रम देख मन-ही-मन समयोचित कर्तव्यका चिन्तन किया ॥ ९ ॥

ततः सत्यजितं तीक्ष्णैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
अविध्यच्छीघ्रमाचार्यश्छित्त्वास्य सशरं धनुः ॥ १० ॥

तदनन्तर आचार्यने सत्यजित्के बाणसहित धनुषको काटकर मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले दस पैने बाणोंद्वारा उसे शीघ्र ही घायल कर दिया ॥ १० ॥

स शीघ्रतरमादाय धनुरन्यत् प्रतापवान् ।
द्रोणमभ्यहनद् राजंस्त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ॥ ११ ॥

राजन्! धनुष कट जानेपर प्रतापी वीर सत्यजित्ने शीघ्र ही दूसरा धनुष लेकर कंककी पाँखसे युक्त तीस बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा सत्यजिता द्रोणं ग्रस्यमानमिवाहवे ।
वृकः शरशतैस्तीक्ष्णैः पाञ्चाल्यो द्रोणमार्दयत् ॥ १२ ॥

उस युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यको सत्यजित्के बाणोंका ग्रास बनते देख पाञ्चाल वीर वृकने भी सैकड़ों पैने बाण मारकर द्रोणाचार्यको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ १२ ॥

संछाद्यमानं समरे द्रोणं दृष्ट्वा महारथम् ।
चुक्रुशुः पाण्डवा राजन् वस्त्राणि दुधुवुश्च ह ॥ १३ ॥

राजन् ! महारथी द्रोणाचार्यको समरभूमिमें बाणोंद्वारा आच्छादित होते देख समस्त पाण्डव-सैनिक गर्जने और वस्त्र हिलाने लगे ॥ १३ ॥

वृकस्तु परमक्रुद्धो द्रोणं षष्ट्या स्तनान्तरे ।
विव्याध बलवान् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! बलवान् वृकने अत्यन्त कुपित होकर द्रोणाचार्यकी छातीमें साठ बाण मारे । वह अद्भुत-सी बात थी ॥

द्रोणस्तु शरवर्षेण च्छाद्यमानो महारथः ।
वेगं चक्रे महावेगः क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥ १५ ॥

इस प्रकार बाण-वर्षासे आच्छादित होनेपर महान् वेगशाली महारथी द्रोणने क्रोधसे आँखें फाड़कर देखते हुए अपना विशेष वेग प्रकट किया ॥ १५ ॥

ततः सत्यजितश्चापं छित्त्वा द्रोणो वृकस्य च ।
षड्भिः ससूतं सहयं शरैर्द्रोणोऽवधीद् वृकम् ॥ १६ ॥

आचार्य द्रोणने सत्यजित् और वृक दोनोंके धनुष काटकर छः बाणोंद्वारा उन्होंने सारथि और घोड़ोंसहित वृकको मार डाला ॥ १६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सत्यजिद् वेगवत्तरम् ।
साश्वं ससूतं विशिखैर्द्रोणं विव्याध सध्वजम् ॥ १७ ॥

इतनेहीमें अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष लेकर सत्यजित्ने अपने बाणोंद्वारा घोड़े, सारथि और ध्वजसहित द्रोणाचार्यको बींध डाला ॥ १७ ॥

स तन्न ममृषे द्रोणः पाञ्चाल्येनार्दितो मृधे ।
ततस्तस्य विनाशाय सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥ १८ ॥

संग्राममें पाञ्चालराजकुमार सत्यजित्से पीड़ित होकर द्रोणाचार्य उसके पराक्रमको न सह सके । इसलिये तुरंत ही उसके विनाशके लिये उन्होंने बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥

हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ च पार्ष्णिसारथी ।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शरवर्षैः सहस्रशः ॥ १९ ॥

द्रोणने सत्यजित्के घोड़ों, ध्वज, धनुषकी मुष्टि तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंपर सहस्रों बाणोंकी वर्षा की ॥ १९ ॥

तथा संछिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ।

पाञ्चाल्यः परमास्त्रज्ञः शोणाश्वं समयोधयत् ॥ २० ॥

इस प्रकार बारंबार धनुषोंके काटे जानेपर भी उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता पाञ्चालवीर सत्यजित् लाल घोड़ोंवाले द्रोणाचार्यसे युद्ध करता ही रहा ॥ २० ॥

स सत्यजितमालोक्य तथोदीर्णं महाहवे।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद शिरस्तस्य महात्मनः ॥ २१ ॥

उस महासमरमें सत्यजित्को प्रचण्ड होते देख द्रोणाचार्यने अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा उस महामनस्वी वीरका मस्तक काट डाला ॥ २१ ॥

तस्मिन् हते महामात्रे पञ्चालानां महारथे।
अपायाज्जवनैरश्वैर्द्रोणात् त्रस्तो युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

उस महाबली महारथी पाञ्चाल वीरके मारे जानेपर युधिष्ठिर द्रोणाचार्यसे अत्यन्त भयभीत हो गये और वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा युद्धस्थलसे दूर चले गये ॥२२॥

पञ्चालाः केकया मत्स्या चेदिकारूषकोसलाः।
युधिष्ठिरमभीप्सन्तो दृष्ट्वा द्रोणमुपाद्रवन् ॥ २३ ॥

उस समय युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, चेदि, कारूष और कोसल देशोंके योद्धा द्रोणाचार्यको देखते ही उनपर टूट पड़े ॥ २३ ॥

ततो युधिष्ठिरं प्रेप्सुराचार्यः शत्रुपूगहा।
व्यधमत् तान्यनीकानि तूलराशिमिवानलः ॥ २४ ॥

तब शत्रुसमूहोंका नाश करनेवाले द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरको पकड़नेके लिये उन समस्त सैनिकोंका उसी प्रकार संहार कर डाला, जैसे आग रूईके ढेरको जला देती है ॥ २४ ॥

निर्दहन्तमनीकानि तानि तानि पुनः पुनः।
द्रोणं मत्स्यादवरजः शतानीकोऽभ्यवर्तत ॥ २५ ॥

उन समस्त सैनिकोंको बार-बार बाणोंकी आगसे दग्ध करते देख विराटके छोटे भाई शतानीक द्रोणाचार्यपर चढ़ आये ॥ २५ ॥

सूर्यरश्मिप्रतीकाशैः कर्मारपरिमार्जितैः।
षड्भिः ससूतं सहयं द्रोणं विद्ध्वानदद् भृशम् ।२६।

उन्होंने कारीगरके द्वारा स्वच्छ किये हुए सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले छः बाणोंद्वारा सारथि और घोड़ोंसहित द्रोणाचार्यको घायल करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

क्रूराय कर्मणे युक्तश्चिकीर्षुः कर्म दुष्करम्।
अवाकिरच्छरशतैर्भारद्वाजं महारथम् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् दुष्कर पराक्रम करनेकी इच्छासे क्रूरतापूर्ण कर्म करनेके लिये तत्पर हो उन्होंने महारथी द्रोणाचार्यपर सौ बाणोंकी वर्षा की ॥ २७ ॥

तस्य चानदतो द्रोणः शिरः कायात् सकुण्डलम्।
क्षुरेणापाहरत् तूर्णं ततो मत्स्याः प्रदुद्रुवुः ॥ २८ ॥

तब द्रोणाचार्यने वहाँ गर्जना करते हुए शतानीकके कुण्डलसहित मस्तकको क्षुर नामक बाणद्वारा तुरंत ही धड़से काट गिराया। यह देख मत्स्यदेशके सैनिक भाग खड़े हुए ॥

मत्स्याञ्जित्वाऽजयच्चेदीन् करूषान् केकयानपि।
पञ्चालान् सृञ्जयान् पाण्डून् भारद्वाजः पुनः पुनः २९

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने मत्स्यदेशीय योद्धाओंको जीतकर चेदि, करूष, केकय, पाञ्चाल, सृंजय तथा पाण्डवसैनिकोंको भी बारंबार परास्त किया ॥ २९ ॥

तं दहन्तमनीकानि क्रुद्धमग्निं यथा वनम्।
दृष्ट्वा रुक्मरथं वीरं समकम्पन्त सृंजयाः ॥ ३० ॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि सारे वनको जला देती है, उसी प्रकार क्रोधमें भरकर शत्रुकी सेनाओंको दग्ध करते हुए सुवर्णमय रथवाले वीर द्रोणाचार्यको देखकर सृंजयवंशी क्षत्रिय काँपने लगे ॥ ३० ॥

उत्तमं ह्याददानस्य धनुरस्याशुकारिणः।
ज्याघोषो निघ्नतोऽमित्रान् दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ।३१।

उत्तम धनुष लेकर शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाने और शत्रुओंका वध करनेवाले द्रोणाचार्यकी प्रत्यञ्चाका शब्द सम्पूर्ण दिशाओंमें सुनायी पड़ता था ॥ ३१ ॥

नागानश्वान् पदातींश्च रथिनो गजसादिनः।
रौद्रा हस्तवता मुक्ताः प्रमथ्नन्ति स्म सायकाः ॥३२॥

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले द्रोणाचार्यके छोड़े हुए भयंकर सायक हाथियों, घोड़ों, पैदलों, रथियों और गजारोहियोंको मथे डालते थे ॥ ३२ ॥

नानद्यमानः पर्जन्यो मिश्रवातो हिमात्यये।
अश्मवर्षमिवावर्षत् परेषां भयमादधत् ॥ ३३ ॥

जैसे हेमन्त ऋतुके अन्तमें अत्यन्त गर्जना करता हुआ वायुयुक्त मेघ पत्थरोंकी वर्षा करता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य शत्रुओंको भयभीत करते हुए उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करते थे ॥ ३३ ॥

सर्वा दिशः समचरत् सैन्यं विक्षोभयन्निव।
बली शूरो महेष्वासो मित्राणामभयंकरः ॥ ३४ ॥

बलवान्, शूरवीर, महाधनुर्धर और मित्रोंको अभय प्रदान करनेवाले द्रोणाचार्य सारी सेनामें हलचल मचाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें विचर रहे थे ॥ ३४ ॥

तस्य विद्युदिवाभ्रेषु चापं हेमपरिष्कृतम्।
दिक्षु सर्वासु पश्यामो द्रोणस्यामिततेजसः ॥ ३५ ॥

जैसे बादलोंमें बिजली चमकती है, उसी प्रकार अमित तेजस्वी द्रोणाचार्यके सुवर्णभूषित धनुषको हम सम्पूर्ण दिशाओंमें चमकता हुआ देखते थे ॥ ३५ ॥

शोभमानां ध्वजे चास्य वेदीमद्राक्ष्म भारत।
हिमवच्छिखराकारां चरतः संयुगे भृशम् ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन! युद्धमें तीव्रवेगसे विचरते हुए आचार्यके ध्वजमें जो

वेदीका चिह्न बना हुआ था, वह हमें हिमालयके शिखरकी भाँति शोभायमान दिखायी देता था ॥ ३६ ॥

द्रोणस्तु पाण्डवानीके चकार कदनं महत्।
यथा दैत्यगणे विष्णुः सुरासुरनमस्कृतः ॥ ३७ ॥

जैसे देव-दानववन्दित भगवान् विष्णु दैत्योंकी सेनामें भयानक संहार मचाते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यने पाण्डव सेनामें भारी मारकाट मचा रक्खी थी ॥ ३७ ॥

स शूरः सत्यवाक् प्राज्ञो बलवान् सत्यविक्रमः।
महानुभावः कल्पान्ते रौद्रां भीरुविभीषणाम् ॥ ३८ ॥
कवचोर्मिध्वजावर्तां मर्त्यकूलापहारिणीम्।
गजवाजिमहाग्राहामसिमीनां दुरासदाम् ॥ ३९ ॥
वीरास्थिशर्करां रौद्रां भेरीमुरजकच्छपाम्।
चर्मवर्मप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम् ॥ ४० ॥
शरौघिणीं धनुःस्रोतां बाहुपन्नगसंकुलाम्।
रणभूमिवहां तीव्रां कुरुसृञ्जयवाहिनीम् ॥ ४१ ॥
मनुष्यशीर्षपाषाणां शक्तिमीनां गदोडुपाम्।
उष्णीषफेनवसनां विकीर्णान्त्रसरीसृपाम् ॥ ४२ ॥
वीरापहारिणीमुग्रां मांसशोणितकर्दमाम्।
हस्तिग्राहां केतुवृक्षां क्षत्रियाणां निमज्जनीम् ॥ ४३ ॥
क्रूरां शरीरसंघट्टां सादिनक्रां दुरत्ययाम्।
द्रोणः प्रावर्तयत् तत्र नदीमन्तकगामिनीम् ॥ ४४ ॥
क्रव्यादगणसंजुष्टां श्वशृगालगणायुताम्।
निषेवितां महारौद्रैः पिशिताशैः समन्ततः ॥ ४५ ॥

उन शौर्य-सम्पन्न, सत्यवादी, विद्वान्, बलवान् और सत्य-पराक्रमी महानुभाव द्रोणने उस युद्धस्थलमें रक्तकी भयंकर नदी बहा दी, जो प्रलयकालकी जलराशिके समान जान पड़ती थी। वह नदी भीरु पुरुषोंको भयभीत करनेवाली थी। उसमें कवच लहरें और ध्वजाएँ भँवरें थीं। वह मनुष्यरूपी तटोंको गिरा रही थी। हाथी और घोड़े उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहों-के समान थे। तलवारें मछलियाँ थीं। उसे पार करना अत्यन्त कठिन था। वीरोंकी हड्डियाँ बालू और कंकड़-सी जान पड़ती थीं। वह देखनेमें बड़ी भयानक थी। ढोल और नगाड़े उसके भीतर कछुए-से प्रतीत होते थे। ढाल और कवच उसमें डोंगियोंके समान तैर रहे थे। वह घोर नदी केशरूपी सेवार और घाससे युक्त थी। बाण ही उसके प्रवाह थे। धनुष स्रोतके समान प्रतीत होते थे। कटी हुई भुजाएँ पानीके सर्पोंके समान वहाँ भरी हुई थीं। वह रण-भूमिके भीतर तीव्र वेगसे प्रवाहित हो रही थी। कौरव और संजय दोनोंको वह नदी बहाये लिये जाती थी। मनुष्योंके मस्तक उसमें प्रस्तर-खण्डका भ्रम उत्पन्न करते थे। शक्तियाँ मीनके समान थीं। गदाएँ नाक थीं। उष्णीष-वस्त्र (पगड़ी) फेनके तुल्य चमक रहे थे। बिखरी हुई आँतें सर्पाकार प्रतीत होती थीं। वीरोंका अपहरण करनेवाली वह उग्र नदी मांस तथा रक्तरूपी कीचड़से भरी थी। हाथी उसके भीतर ग्राह थे। ध्वजाएँ वृक्षके तुल्य थीं। वह नदी क्षत्रियोंको अपने भीतर डुबोनेवाली थी। वहाँ क्रूरता छा रही थी। शरीर (लाशें) ही उसमें उतरनेके लिये घाट थे। योद्धागण मगर-जैसे जान पड़ते थे। उसको पार करना बहुत कठिन था। वह नदी लोगोंको यमलोकमें ले जानेवाली थी। मांसाहारी जन्तु उसके आस-पास डेरा डाले हुए थे। वहाँ कुत्ते और सियारों-के झुंड जुटे हुए थे। उसके सब ओर महाभयंकर मांस-भक्षी पिशाच निवास करते थे ॥ ३८–४५ ॥

तं दहन्तमनीकानि रथोदारं कृतान्तवत्।
सर्वतोऽभ्यद्रवन् द्रोणं कुन्तीपुत्रपुरोगमाः ॥ ४६ ॥

समस्त सेनाओंको दग्ध करनेवाले यमराजके समान भयंकर उदार महारथी द्रोणाचार्यपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर आदि सब वीर सब ओरसे टूट पड़े ॥ ४६ ॥

ते द्रोणं सहिताः शूराः सर्वतः प्रत्यवारयन्।
गभस्तिभिरिवादित्यं तपन्तं भुवनं यथा ॥ ४७ ॥

उन सभी शूरवीरोंने एक साथ आकर द्रोणाचार्यको सब ओरसे उसी प्रकार घेर लिया, जैसे जगत्को तपानेवाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे घिरे रहते हैं ॥ ४७ ॥

तं तु शूरं महेष्वासं तावकाऽभ्युद्यतायुधाः।
राजानो राजपुत्राश्च समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ४८ ॥

आपकी सेनाके राजा और राजकुमारोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर उन शौर्यसम्पन्न महाधनुर्धर द्रोणाचार्यको उनकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ ४८ ॥

शिखण्डी तु ततो द्रोणं पञ्चभिर्नतपर्वभिः।
क्षत्रवर्मा च विंशत्या वसुदानश्च पञ्चभिः ॥ ४९ ॥
उत्तमौजास्त्रिभिर्बाणैः क्षत्रदेवश्च सप्तभिः।
सात्यकिश्च शतेनाजौ युधामन्युस्तथाष्टभिः ॥ ५० ॥
युधिष्ठिरो द्वादशभिर्द्रोणं विव्याध सायकैः।
धृष्टद्युम्नश्च दशभिश्चेकितानस्त्रिभिः शरैः ॥ ५१ ॥

उस समय शिखण्डीने झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणों-द्वारा द्रोणाचार्यको बींध डाला। तत्पश्चात् क्षत्रवर्माने बीस, वसुदानने पाँच, उत्तमौजाने तीन, क्षत्रदेवने सात, सात्यकिने सौ, युधामन्युने आठ और युधिष्ठिरने बारह बाणोंद्वारा युद्ध-स्थलमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। धृष्टद्युम्नने दस और चेकितानने उन्हें तीन बाण मारे ॥ ४९–५१ ॥

ततो द्रोणः सत्यसंधः प्रभिन्न इव कुञ्जरः।
अभ्यतीत्य रथानीकं दृढसेनमपातयत् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ द्रोणने मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति रथ-सेनाको लाँघकर दृढसेनको मार गिराया ॥

ततो राजानमासाद्य प्रहरन्तमभीतवत्।
अविध्यन्नवभिः क्षेमं स हतः प्रापतद् रथात् ॥ ५३ ॥

फिर निर्भय-से प्रहार करते हुए राजा क्षेमके पास पहुँचकर उन्हें नौ बाणोंसे बींध डाला। उन बाणोंसे मारे जाकर वे रथसे नीचे गिर गये ॥ ५३ ॥

स मध्यं प्राप्य सैन्यानां सर्वाः प्रविचरन् दिशः।
त्राता ह्यभवदन्येषां न त्रातव्यः कथञ्चन ॥ ५४ ॥

यद्यपि वे शत्रुसेनाके भीतर घुसकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचर रहे थे, तथापि वे ही दूसरोंके रक्षक थे, स्वयं किसी प्रकार किसीके रक्षणीय नहीं हुए ॥ ५४ ॥

शिखण्डिनं द्वादशभिर्विंशत्या चोत्तमौजसम्।
वसुदानं च भल्लेन प्रैषयद् यमसादनम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने शिखण्डीको बारह और उत्तमौजाको बीस बाणोंसे घायल करके वसुदानको एक ही भल्लसे मारकर यमलोक भेज दिया ॥ ५५ ॥

अशीत्या क्षत्रवर्माणं षड्विंशत्या सुदक्षिणम्।
क्षत्रदेवं तु भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् क्षत्रवर्माको अस्सी और सुदक्षिणको छब्बीस बाणोंसे आहत करके क्षत्रदेवको भल्लसे घायलकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ५६ ॥

युधामन्युं चतुःषष्ट्या त्रिंशता चैव सात्यकिम्।
विद्ध्वा रुक्मरथस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ५७ ॥

युधामन्युको चौसठ तथा सात्यकिको तीस बाणोंसे घायल करके सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्य राजा युधिष्ठिरकी ओर दौड़े॥

ततो युधिष्ठिरः क्षिप्रं गुरुतो राजसत्तमः।
अपायाज्जवनैरश्वैः पाञ्चाल्यो द्रोणमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर गुरुके निकटसे तीव्रगामी अश्वोंद्वारा शीघ्र ही दूर चले गये और पाञ्चाल देशका एक राजकुमार द्रोणका सामना करनेके लिये आगे बढ़ आया ॥

तं द्रोणः सधनुष्कं तु साश्वयन्तारमाक्षिणोत्।
स हतः प्रापतद् भूमौ रथाज्ज्योतिरिवाम्बरात्॥ ५९ ॥

परंतु द्रोणने धनुष, घोड़े और सारथिसहित उसे क्षत-विक्षत कर दिया। उनके द्वारा मारा गया वह राजकुमार आकाशसे उल्काकी भाँति रथसे भूमिपर गिर पड़ा ॥५९॥

तस्मिन् हते राजपुत्रे पञ्चालानां यशस्करे।
हत द्रोणं हत द्रोणमित्यासीन्निःस्वनो महान् ॥ ६० ॥

पाञ्चालोंका यश बढ़ानेवाले उस राजकुमारके मारे जानेपर वहाँ 'द्रोणको मार डालो, द्रोणको मार डालो' इस प्रकार महान् कोलाहल होने लगा ॥ ६० ॥

तांस्तथा भृशसंरब्धान् पञ्चालान् मत्स्यकेकयान्।
सृञ्जयान् पाण्डवांश्चैव द्रोणो व्यक्षोभयद् बली ।६१।

इस प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाञ्चाल, मत्स्य, केकय, सृंजय और पाण्डव योद्धाओंको बलवान् द्रोणाचार्यने क्षोभमें डाल दिया ॥ ६१ ॥

सात्यकिं चेकितानं च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ।
वार्धक्षेमिं चैत्रसेनिं सेनाबिन्दुं सुवर्चसम् ॥ ६२ ॥
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् नानाजनपदेश्वरान्।
सर्वान् द्रोणोऽजयद् युद्धे कुरुभिः परिवारितः॥६३॥

कौरवोंसे घिरे हुए द्रोणाचार्यने युद्धमें सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, वृद्धक्षेमके पुत्र, चित्रसेनकुमार, सेनाबिन्दु तथा सुवर्चा—इन सबको तथा अन्य बहुत-से विभिन्न देशोंके राजाओंको परास्त कर दिया ॥ ६२-६३ ॥

तावकाश्च महाराज जयं लब्ध्वा महाहवे।
पाण्डवेयान् रणे जघ्नुर्द्रवमाणान् समन्ततः ॥ ६४ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंने उस महासमरमें विजय प्राप्त करके सब ओर भागते हुए पाण्डव-योद्धाओंको मारना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

ते दानवा इवेन्द्रेण वध्यमाना महात्मना।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः समकम्पन्त भारत ॥ ६५ ॥

भरतनन्दन ! इन्द्रके द्वारा मारे जानेवाले दानवोंकी भाँति महामना द्रोणकी मार खाकर पाञ्चाल, केकय और मत्स्यदेशके सैनिक काँपने लगे ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि द्रोणयुद्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें द्रोणाचार्यका युद्धविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

द्रोणके युद्धके विषयमें दुर्योधन और कर्णका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

भारद्वाजेन भग्नेषु पाण्डवेषु महामृधे।
पञ्चालेषु च सर्वेषु कच्चिदन्योऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा क्षत्रियाणां यशस्करीम्।
असेवितां कापुरुषैः सेवितां पुरुषर्षभैः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! द्रोणाचार्यने उस महासमरमें जब पाण्डवों तथा समस्त पाञ्चालोंको मार भगाया, तब क्षत्रियोंके लिये यशका विस्तार करनेवाली, कायरोंद्वारा न अपनायी जानेवाली और श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित युद्धविषयक उत्तम बुद्धिका आश्रय लेकर क्या कोई दूसरा वीर भी उनके सामने आया?

स हि वीरोन्नतः शूरो यो भग्नेषु निवर्तते।
अहो नासीत् पुमान् कश्चिद् दृष्ट्वा द्रोणं व्यवस्थितम्॥३॥

वही वीरोंमें उन्नतिशील और शौर्यसम्पन्न है, जो सैनिकोंके भाग जानेपर भी स्वयं युद्धक्षेत्रमें लौटकर आ जाय। अहो! क्या उस समय द्रोणाचार्यको डटा हुआ देखकर पाण्डवोंमें कोई भी वीर पुरुष नहीं था (जो द्रोणाचार्यका सामना कर सके)३

जृम्भमाणमिव व्याघ्रं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम्।
त्यजन्तमाहवे प्राणान् संनद्धं चित्रयोधिनम्॥ ४॥
महेष्वासं नरव्याघ्रं द्विषतां भयवर्धनम्।
कृतज्ञं सत्यनिरतं दुर्योधनहितैषिणम्॥ ५॥
भारद्वाजं तथानीके दृष्ट्वा शूरमवस्थितम्।
के शूराः संन्यवर्तन्त तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ६॥

जँभाई लेते हुए व्याघ्र तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति पराक्रमी, युद्धमें प्राणोंका विसर्जन करनेके लिये उद्यत, कवच आदिसे सुसज्जित, विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले, शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले, कृतज्ञ, सत्यपरायण, दुर्योधनके हितैषी तथा शूरवीर, भरद्वाज-नन्दन महाधनुर्धर पुरुषसिंह द्रोणाचार्यको युद्धमें डटा हुआ देख किन शूरवीरोंने लौटकर उनका सामना किया? संजय! यह वृत्तान्त मुझसे कहो॥ ४–६॥

संजय उवाच

तान् दृष्ट्वा चलितान् संख्ये प्रणुन्नान् द्रोणसायकैः।
पञ्चालान् पाण्डवान् मत्स्यान् सृञ्जयांश्चेदिकेकयान्॥ ७॥
द्रोणचापविमुक्तेन शरौघेणाशुहारिणा।
सिन्धोरिव महौघेन ह्रियमाणान् यथा प्लवान्॥ ८॥
कौरवाः सिंहनादेन नानावाद्यस्वनेन च।
रथद्विपनरांश्चैव सर्वतः समवारयन्॥ ९॥

संजयने कहा—महाराज! कौरवोंने देखा कि पाञ्चाल, पाण्डव, मत्स्य, सृंजय, चेदि और केकयदेशीय योद्धा युद्धमें द्रोणाचार्यके बाणोंसे पीड़ित हो विचलित हो उठे हैं तथा जैसे समुद्रकी महान् जलराशि बहुत-से नावोंको बहा ले जाती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटकर शीघ्र ही प्राण हर लेनेवाले बाण-समुदायने पाण्डव-सैनिकोंको मार भगाया है। तब वे सिंहनाद एवं नाना प्रकारके रणवाद्योंका गम्भीर घोष करते हुए शत्रुओंके रथारोहियों, हाथीसवारों तथा पैदल सैनिकोंको सब ओरसे रोकने लगे॥ ७–९॥

तान् पश्यन् सैन्यमध्यस्थो राजा स्वजनसंवृतः।
दुर्योधनोऽब्रवीत् कर्णं प्रहृष्टः प्रहसन्निव॥ १०॥

सेनाके बीचमें खड़े हो स्वजनोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनने पाण्डव-सैनिकोंकी ओर देखते हुए अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्णसे हँसते हुए-से कहा॥ १०॥

दुर्योधन उवाच

पश्य राधेय पञ्चालान् प्रणुन्नान् द्रोणसायकैः।
सिंहेनेव मृगान् वन्यांस्त्रासितान् दृढधन्वना॥ ११॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन! देखो, सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले द्रोणाचार्यके बाणोंसे ये पाञ्चाल सैनिक उसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, जैसे सिंह वनवासी मृगोंको त्रस्त कर देता है॥ ११॥

नैते जातु पुनर्युद्धमीहेयुरिति मे मतिः।
यथा तु भग्ना द्रोणेन वातेनेव महाद्रुमाः॥ १२॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये फिर कभी युद्धकी इच्छा नहीं करेंगे। जैसे वायु बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ देती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यने युद्धसे इनके पाँव उखाड़ दिये हैं॥ १२॥

अर्द्यमानाः शरैरेते रुक्मपुङ्खैर्महात्मना।
पथा नैकेन गच्छन्ति घूर्णमानास्ततस्ततः॥ १३॥

महामना द्रोणके सुवर्णमय पंखयुक्त बाणोंद्वारा पीड़ित होकर ये इधर-उधर चक्कर काटते हुए एक ही मार्गसे नहीं भाग रहे हैं॥ १३॥

संनिरुद्धाश्च कौरव्यैर्द्रोणेन च महात्मना।
एतेऽन्ये मण्डलीभूताः पावकेनेव कुञ्जराः॥ १४॥

कौरव सैनिकों तथा महामना द्रोणने इनकी गति रोक दी है। जैसे दावानलसे हाथी घिर जाते हैं, उसी प्रकार ये तथा अन्य पाण्डव-योद्धा कौरवोंसे घिर गये हैं॥ १४॥

भ्रमरैरिव चाविष्टा द्रोणस्य निशितैः शरैः।
अन्योन्यं समलीयन्त पलायनपरायणाः॥ १५॥

भ्रमरोंके समान द्रोणके पैने बाणोंसे घायल होकर ये रणभूमिसे पलायन करते हुए एक दूसरेकी आड़में छिप रहे हैं १५

एष भीमो महाक्रोधी हीनः पाण्डवसृञ्जयैः।
मदीयैरावृतो योधैः कर्ण नन्दयतीव माम्॥ १६॥

यह महाक्रोधी भीमसेन पाण्डव तथा सृञ्जयोंसे रहित हो मेरे योद्धाओंसे घिर गया है। कर्ण! इस अवस्थामें भीमसेन मुझे आनन्दित-सा कर रहा है॥ १६॥

व्यक्तं द्रोणमयं लोकमद्य पश्यति दुर्मतिः।
निराशो जीवितान्नूनमद्य राज्याच्च पाण्डवः॥ १७॥

निश्चय ही आज जीवन और राज्यसे निराश हो यह दुर्बुद्धि पाण्डुकुमार सारे संसारको द्रोणमय ही देख रहा होगा १७

कर्ण उवाच

नैष जातु महाबाहुर्जीवन्नाहवमुत्सृजेत्।
न चेमान् पुरुषव्याघ्र सिंहनादान् सहिष्यति॥ १८॥

कर्ण बोला—राजन्! यह महाबाहु भीमसेन जीते-जी कभी युद्ध नहीं छोड़ सकता है। पुरुषसिंह! तुम्हारे सैनिक जो ये सिंहनाद कर रहे हैं, इन्हें भीमसेन कभी नहीं सहेगा १८

न चापि पाण्डवा युद्धे भज्येरन्निति मे मतिः।
शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः॥ १९॥

पाण्डव शूरवीर, बलवान्, अस्त्र-विद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं। ये रणभूमिसे कभी भाग नहीं सकते हैं। मेरा यही विश्वास है॥ १९॥

विषाग्निद्यूतसंक्लेशान् वनवासं च पाण्डवाः।
स्मरमाणा न हास्यन्ति संग्राममिति मे मतिः ॥ २० ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि पाण्डव तुम्हारे द्वारा दिये हुए विष, अग्निदाह और द्यूतके क्लेशों तथा वनवासको याद करके कभी युद्धभूमि नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥

निवृत्तो हि महाबाहुरमितौजा वृकोदरः।
वरान् वरान् हि कौन्तेयो रथोदारान् हनिष्यति ॥ २१ ॥

अमिततेजस्वी महाबाहु कुन्तीपुत्र वृकोदर इधरकी ओर लौटे हैं। वे बड़े-बड़े उदार महारथियोंको चुन-चुनकर मारेंगे ॥ २१ ॥

असिना धनुषा शक्त्या हयैर्नागैर्नरै रथैः।
आयसेन च दण्डेन व्रातान् व्रातान् हनिष्यति ॥२२॥

वे खड्ग, धनुष, शक्ति, घोड़े, हाथी, मनुष्य एवं रथोंद्वारा और लोहेके डंडेसे समूह-के-समूह सैनिकोंका संहार कर डालेंगे ॥ २२ ॥

तमेनमनुवर्तन्ते सात्यकिप्रमुखा रथाः।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः पाण्डवाश्च विशेषतः ॥ २३ ॥

देखो, भीमसेनके पीछे सात्यकि आदि महारथी तथा पाञ्चाल, केकय, मत्स्य और विशेषतः पाण्डव योद्धा भी आ रहे हैं ॥ २३ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च विक्रान्ताश्च महारथाः।
विनिघ्नन्तश्च भीमेन संरब्धेनाभिचोदिताः ॥ २४ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेनसे प्रेरित हो वे शूरवीर,बलवान् पराक्रमी महारथी सैनिक हमारे सैनिकोंको मारते आ रहे हैं२४

ते द्रोणमभिवर्तन्ते सर्वतः कुरुपुङ्गवाः।
वृकोदरं परीप्सन्तः सूर्यमभ्रगणा इव ॥ २५ ॥

वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव भीमसेनकी रक्षाके लिये द्रोणाचार्यको सब ओरसे उसी प्रकार घेर रहे हैं, जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं२५

(समरेषु तु निर्दिष्टाः पाण्डवाः कृष्णबान्धवाः।
ह्रीमन्तः शत्रुमरणे निपुणाः पुण्यलक्षणाः ॥
बहवः पार्थिवा राजंस्तेषां वशगता रणे।
मावमंस्थाः पाण्डवांस्त्वं नारायणपुरोगमान् ॥)

राजन्! पाण्डवोंके सहायक बन्धु श्रीकृष्ण हैं। वे उन्हें युद्धविषयक कर्तव्यका निर्देश किया करते हैं। वे लज्जाशील, शत्रुओंको मारनेकी कलामें निपुण तथा पवित्र लक्षणोंसे युक्त हैं। रणभूमिमें बहुत-से भूपाल उनके वशमें आ चुके हैं। अतः भगवान् नारायण जिनके अगुआ हैं, उन पाण्डवोंकी तुम अवहेलना न करो ॥

एकायनगता ह्येते पीडयेयुर्यतव्रतम्।
अरक्ष्यमाणं शलभा यथा दीपं मुमूर्षवः ॥ २६ ॥

ये सब एक रास्तेपर चल रहे हैं। यदि व्रत और नियमका पालन करनेवाले द्रोणाचार्यकी रक्षा न की गयी तो ये उन्हें उसी प्रकार पीड़ा देंगे, जैसे मरनेकी इच्छावाले पतङ्ग दीपकको बुझा देनेकी चेष्टा करते हैं ॥ २६ ॥

असंशयं कृतास्त्राश्च पर्याप्ताश्चापि वारणे।
अतिभारमहं मन्ये भारद्वाजे समाहितम् ॥ २७ ॥

इसमें संदेह नहीं कि वे पाण्डव योद्धा अस्त्र-विद्यामें निपुण तथा द्रोणाचार्यकी गतिको रोकनेमें समर्थ हैं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इस समय भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यपर बहुत बड़ा भार आ पहुँचा है ॥ २७ ॥

शीघ्रमनुगमिष्यामो यत्र द्रोणो व्यवस्थितः।
कोका इव महानागं मा वै हन्युर्यतव्रतम् ॥ २८ ॥

अतः हमलोग शीघ्र वहीं चलें, जहाँ द्रोणाचार्य खड़े हैं। कहीं ऐसा न हो कि कुछ भेड़िये (-जैसे पाण्डव सैनिक) महान् गजराज-जैसे व्रतधारी द्रोणाचार्यका वध कर डालें २८

संजय उवाच

राधेयस्य वचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रायाद् द्रोणरथं प्रति ॥ २९ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! राधानन्दन कर्णकी बात सुनकर राजा दुर्योधन अपने भाइयोंके साथ द्रोणाचार्यके रथकी ओर चल दिया ॥ २९ ॥

तत्रारावो महानासीदेकं द्रोणं जिघांसताम्।
पाण्डवानां निवृत्तानां नानावर्णैर्हयोत्तमैः ॥ ३० ॥

वहाँ अनेक प्रकारके रंगवाले उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए रथोंद्वारा एकमात्र द्रोणाचार्यको मार डालनेकी इच्छासे लौटे हुए पाण्डव-सैनिकोंका महान् कोलाहल प्रकट हो रहा था ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि द्रोणयुद्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें द्रोणाचार्यका युद्धविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवसेनाके महारथियोंके रथ, घोड़े, ध्वज तथा धनुषोंका विवरण

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वेषामेव मे ब्रूहि रथचिह्नानि संजय।
ये द्रोणमभ्यवर्तन्त क्रुद्धा भीमपुरोगमाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! क्रोधमें भरे हुए भीमसेन

आदि जो योद्धा द्रोणाचार्यपर चढ़ाई कर रहे थे, उन सबके रथोंके (घोड़े-ध्वजा आदि) चिह्न कैसे थे ? यह मुझे बताओ॥

संजय उवाच

ऋक्षवर्णैर्हयैर्दृष्ट्वा व्यायच्छन्तं वृकोदरम् ।
रजताश्वस्ततः शूरः शैनेयः संन्यवर्तत ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रीछके समान रंगवाले घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीमसेनको आते देख चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंवाले शूरवीर सात्यकि भी लौट पड़े॥

सारङ्गाश्वो युधामन्युः स्वयं प्रत्वरयन् हयान् ।
पर्यवर्तत दुर्धर्षः क्रुद्धो द्रोणरथं प्रति ॥ ३ ॥

सारंगके[1] समान (सफेद, नीले और लाल) रंगके घोड़ोंसे युक्त युधामन्यु, स्वयं ही अपने घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँकता हुआ द्रोणाचार्यके रथकी ओर लौट पड़ा। वह दुर्जय वीर क्रोधमें भरा हुआ था ॥ ३ ॥

पारावतसवर्णैस्तु हेमभाण्डैर्महाजवैः ।
पाञ्चालराजस्य सुतो धृष्टद्युम्नो न्यवर्तत ॥ ४ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न कबूतरके[2] समान (सफेद और नीले) रंगवाले सुवर्णभूषित एवं अत्यन्त वेगशाली घोड़ोंके द्वारा लौट आया ॥ ४ ॥

पितरं तु परिप्रेप्सुः क्षत्रधर्मा यतव्रतः ।
सिद्धिं चास्य परां काङ्क्षन् शोणाश्वः संन्यवर्तत ॥ ५ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला क्षत्रधर्मा अपने पिता धृष्टद्युम्नकी रक्षा और उनके अभीष्ट मनोरथकी उत्तम सिद्धि चाहता हुआ लाल रंगके घोड़ोंसे युक्त रथपर आरूढ़ हो लौट आया ॥ ५ ॥

पद्मपत्रनिभांश्चाश्वान् मल्लिकाक्षान् स्वलंकृतान् ।
शैखण्डिः क्षत्रदेवस्तु स्वयं प्रत्वरयन् ययौ ॥ ६ ॥

शिखण्डीका पुत्र क्षत्रदेव, कमलपत्रके समान रंग तथा निर्मल नेत्रोंवाले सजे-सजाये घोड़ोंको स्वयं ही शीघ्रतापूर्वक हाँकता हुआ वहाँ आया ॥ ६ ॥

दर्शनीयास्तु काम्बोजाः शुकपत्रपरिच्छदाः ।
वहन्तो नकुलं शीघ्रं तावकानभिदुद्रुवुः ॥ ७ ॥

तोतेकी पाँखके समान रोमवाले दर्शनीय काम्बोजदेशीय[3] घोड़े नकुलको वहन करते हुए बड़ी शीघ्रताके साथ आपके सैनिकोंकी ओर दौड़े ॥ ७ ॥

कृष्णास्तु मेघसंकाशा अवहन्नुत्तमौजसम् ।
दुर्धर्षायाभिसंधाय क्रुद्धं युद्धाय भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! दुर्धर्ष युद्धका संकल्प लेकर क्रोधमें भरे हुए उत्तमौजाको मेघके समान श्याम वर्णवाले घोड़े युद्धस्थलकी ओर ले जा रहे थे ॥ ८ ॥

तथा तित्तिरिकल्माषा हया वातसमा जवे ।
अवहंस्तुमुले युद्धे सहदेवमुदायुधम् ॥ ९ ॥

इसी प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न सहदेवको तीतरके समान चितकबरे रंगवाले तथा वायुके समान वेगशाली घोड़े उस भयंकर युद्धमें ले गये ॥ ९ ॥

दन्तवर्णास्तु राजानं कालवाला युधिष्ठिरम् ।
भीमवेगा नरव्याघ्रमवहन् वातरंहसः ॥ १० ॥

हाथीके दाँतके समान सफेद रंग, काली पूँछ तथा वायुके समान तीव्र एवं भयंकर वेगवाले घोड़े नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरको रणक्षेत्रमें ले गये ॥ १० ॥

हेमोत्तमप्रतिच्छन्नैर्हयैर्वातसमैर्जवे ।
अभ्यवर्तन्त सैन्यानि सर्वाण्येव युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥

सोनेके उत्तम आवरणोंसे ढके हुए, वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा सारी सेनाओंने महाराज युधिष्ठिरको सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ ११ ॥

राज्ञस्त्वनन्तरो राजा पाञ्चाल्यो द्रुपदोऽभवत् ।
जातरूपमयच्छत्रः सर्वैस्तैरभिरक्षितः ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिरके पीछे पाञ्चालराज द्रुपद चल रहे थे। उनका छत्र सोनेका बना हुआ था। वे भी समस्त सैनिकोंद्वारा सुरक्षित थे ॥ १२ ॥

ललामैर्हरिभिर्युक्तः सर्वशब्दक्षमैर्युधि ।
राज्ञां मध्ये महेष्वासः शान्तभीरभ्यवर्तत ॥ १३ ॥

वे 'ललाम'[1] और 'हरि'[2] संज्ञावाले घोड़ोंसे, जो सब

---

१. नीलकण्ठी टीकामें अश्व-शास्त्रके अनुसार घोड़ोंके रंग और लक्षण आदिका परिचय दिया गया है। उसमेंसे कुछ आवश्यक बातें यहाँ यथास्थान उद्धृत की जाती हैं। सारंगका रंग सूचित करनेवाला रंग इस प्रकार है—

सितनीलारुणो वर्णः सारंगसदृशश्च सः ।

२. कबूतरका रंग बतानेवाला वचन यों मिलता है—

पारावतकपोताभः सितनीलसमन्वयात् ।

३. काम्बोज (काबुल) के घोड़ोंका लक्षण—

महाललाटजघनस्कन्धवक्षोजवाः हयाः ।
दीर्घग्रीवायता ह्रस्वमुष्काः काम्बोजकाः स्मृताः ॥

जिनके ललाट, जाँघें, कंधे, छाती और वेग महान् होते हैं, गर्दन लम्बी और चौड़ी होती है तथा अण्डकोष बहुत छोटे होते हैं, वे काबुली घोड़े माने गये हैं।

१. जिस घोड़ेके ललाटके मध्यभागमें ताराके समान श्वेत चिह्न हो, उसके उस चिह्नका नाम ललाम है। उससे युक्त अश्व भी ललाम ही कहलाता है। यथा—

श्वेतं ललाटमध्यस्थं तारारूपं हयस्य यत् ।
ललामं चापि तत्प्राहुर्ललामोऽश्वस्तदन्वितः ॥

२. 'हरि'का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सकेशराणि रोमाणि सुवर्णाभानि यस्य तु ।
हरिः स वर्णतोऽश्वस्तु पीतकौशेयसंनिभः ॥

जिसकी गर्दनके बड़े-बड़े बाल और शरीरके रोएँ सुनहरे रंगके हों, जो रंगमें रेशमी पीताम्बरके समान जान पड़ता हो, वह घोड़ा 'हरि' कहलाता है।

प्रकारके शब्दोंको सुनकर उन्हें सहन करनेमें समर्थ थे, सुशोभित हो रहे थे। उस युद्धस्थलमें समस्त राजाओंके मध्यभागमें महाधनुर्धर राजा द्रुपद निर्भय होकर द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये आये ॥ १३ ॥

तं विराटोऽन्वयाच्छीघ्रं सह सर्वैर्महारथैः।
केकयाश्च शिखण्डी च धृष्टकेतुस्तथैव च ॥ १४ ॥
स्वैः स्वैः सैन्यैः परिवृता मत्स्यराजानमन्वयुः।

द्रुपदके पीछे सम्पूर्ण महारथियोंके साथ राजा विराट शीघ्रतापूर्वक चल रहे थे। केकयराजकुमार, शिखण्डी तथा धृष्टकेतु—ये अपनी-अपनी सेनाओंसे घिरकर मत्स्यराज विराटके पीछे चल रहे थे ॥ १४½ ॥

तं तु पाटलिपुष्पाणां समवर्णा हयोत्तमाः ॥ १५ ॥
वहमाना व्यराजन्त मत्स्यस्यामित्रघातिनः।

शत्रुसूदन मत्स्यराज विराटके रथको जो वहन करते हुए शोभा पा रहे थे, वे उत्तम घोड़े पाडरके फूलोंके समान लाल और सफेद रंगवाले थे ॥ १५½ ॥

हरिद्रासमवर्णास्तु जवना हेममालिनः ॥ १६ ॥
पुत्रं विराटराजस्य सत्वरं समुदावहन्।

हल्दीके समान पीले रंगवाले तथा सुवर्णमय माला धारण करनेवाले वेगशाली घोड़े विराटराजके पुत्रको शीघ्रतापूर्वक रणभूमिकी ओर ले जा रहे थे ॥ १६½ ॥

इन्द्रगोपकवर्णैश्च भ्रातरः पञ्च केकयाः ॥ १७ ॥
जातरूपसमाभासाः सर्वे लोहितकध्वजाः।

पाँच भाई केकय-राजकुमार इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान रंगवाले घोड़ोंद्वारा रणभूमिमें लौट रहे थे। उन पाँचों भाइयोंकी कान्ति सुवर्णके समान थी तथा वे सबके सब लाल रंगकी ध्वजा-पताका धारण किये हुए थे ॥१७½॥

ते हेममालिनः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १८ ॥
वर्षन्त इव जीमूताः प्रत्यदृश्यन्त दंशिताः।

सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित वे सभी युद्धविशारद शूरवीर मेघोंके समान बाणवर्षा करते हुए कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

आमपात्रनिकाशास्तु पाञ्चाल्यममितौजसम् ॥ १९ ॥
दत्तास्तुम्बुरुणा दिव्याः शिखण्डिनमुदावहन्।

अमित तेजस्वी पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीको तुम्बुरुके दिये हुए मिट्टीके कच्चे बर्तनके समान रंगवाले दिव्य अश्व वहन करते थे ॥ १९½ ॥

तथा द्वादश साहस्राः पञ्चालानां महारथाः ॥ २० ॥
तेषां तु षट् सहस्राणि ये शिखण्डिनमन्वयुः।

पाञ्चालोंके जो बारह हजार महारथी युद्धमें लड़ रहे थे, उनमेंसे छः हजार इस समय शिखण्डीके पीछे चलते थे ॥

पुत्रं तु शिशुपालस्य नरसिंहस्य मारिष ॥ २१ ॥
आक्रीडन्तो वहन्ति स्म सारङ्गशबला हयाः।

आर्य ! पुरुषसिंह शिशुपालके पुत्रको सारंगके समान चितकबरे अश्व खेल करते हुए-से वहन कर रहे थे ॥२१½॥

धृष्टकेतुस्तु चेदीनामृषभोऽतिबलोदितः ॥ २२ ॥
काम्बोजैः शबलैरश्वैरभ्यवर्तत दुर्जयः।

चेदिदेशका श्रेष्ठ राजा अत्यन्त बलवान् दुर्जय वीर धृष्टकेतु काम्बोजदेशीय चितकबरे घोड़ोंद्वारा युद्धभूमिकी ओर लौट रहा था ॥ २२½ ॥

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं सुकुमारं हयोत्तमाः ॥ २३ ॥
पलालधूमसंकाशाः सैन्धवाः शीघ्रमावहन्।

केकयदेशके सुकुमार राजकुमार बृहत्क्षत्रको पुआलके धूएँके समान उज्ज्वलनील वर्णवाले सिन्धुदेशीय[1] अच्छी जातिके घोड़ोंने शीघ्रतापूर्वक रणभूमिमें पहुँचाया ॥ २३½ ॥

मल्लिकाक्षाः पद्मवर्णा बाह्लिजाताः स्वलंकृताः ॥ २४ ॥
शूरं शिखण्डिनः पुत्रमृक्षदेवमुदावहन्।

शिखण्डीके शूरवीर पुत्र ऋक्षदेवको पद्मके[2] समान वर्ण और निर्मल नेत्रवाले बाह्लिक[3] देशके सजे-सजाये घोड़ोंने रणभूमिमें पहुँचाया ॥ २४½ ॥

रुक्मभाण्डप्रतिच्छन्नाः कौशेयसदृशा हयाः ॥ २५ ॥
क्षमावन्तोऽवहन् संख्ये सेनाबिन्दुमरिंदमम्।

सोनेके आभूषणों तथा कवचोंसे सुशोभित रेशमके समान श्वेतपीत रोमवाले सहनशील घोड़ोंने शत्रुओंका दमन करनेवाले सेनाबिन्दुको युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ २५½ ॥

युवानमवहन् युद्धे क्रौञ्चवर्णा हयोत्तमाः ॥ २६ ॥
काश्यस्याभिभुवः पुत्रं सुकुमारं महारथम्।

क्रौञ्च[4] वर्णके उत्तम घोड़ोंने काशिराज अभिभूके सुकुमार एवं युवा पुत्रको, जो महारथी वीर था, युद्धभूमिमें पहुँचाया॥

---

१. सिंधु देशके घोड़ोंकी गर्दन लम्बी, मूत्रेन्द्रिय मुँहतक पहुँचनेवाली, आँखें बड़ी-बड़ी, कद ऊँचा तथा रोएँ सूक्ष्म होते हैं। सिंधी घोड़े बड़े बलिष्ठ होते हैं, जैसा कि बताया गया है—

दीर्घग्रीवा मुखालम्बमेहनाः पृथुलोचनाः।
महान्तस्तनुरोमाणो बलिनः सैन्धवा हयाः ॥

२. पद्मवर्णका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

सितरक्तसमायोगात् पद्मवर्णः प्रकीर्त्यते।

सफेद और लाल रंगोंके सम्मिश्रणसे जो रंग होता है, वह पद्मवर्ण कहलाता है।

३. बाह्लिक देशके घोड़े भी प्रायः काबुली घोड़ोंके समान ही होते हैं। उनमें विशेषता इतनी ही है कि उनका पीठभाग काम्बोजदेशीय घोड़ोंकी अपेक्षा बड़ा होता है।

जैसा कि निम्नाङ्कित वचनसे स्पष्ट है—

काम्बोजसमसंस्थाना बाह्लिजाताश्च वाजिनः।
विशेषः पुनरेतेषां दीर्घपृष्ठाङ्गतोच्यते ॥

४. जिनके रोएँ तथा केसर (गर्दनके बाल) सफेद होते हैं,

श्वेतास्तु प्रतिविन्ध्यं तं कृष्णग्रीवा मनोजवाः।
यन्तुः प्रेष्यकरा राजन् राजपुत्रमुदावहन् ॥ २७ ॥

राजन्! मनके समान वेगशाली तथा काली गर्दनवाले श्वेतवर्णके घोड़े, जो सारथिकी आज्ञा माननेवाले थे, राजकुमार प्रतिविन्ध्यको रणमें ले गये ॥ २७ ॥

सुतसोमं तु यः सौम्यं पार्थः पुत्रमजीजनत्।
माषपुष्पसवर्णास्तमवहन् वाजिनो रणे ॥ २८ ॥

कुन्तीकुमार भीमसेनने जिस सौम्यरूपवाले पुत्र सुतसोमको जन्म दिया था, उसे उड़दके फूलकी भाँति सफेद और पीले रंगवाले घोड़ोंने रणक्षेत्रमें पहुँचाया ॥ २८ ॥

सहस्रसोमप्रतिमो बभूव
पुरे कुरूणामुदयेन्दुनाम्नि।
तस्मिञ्जातः सोमसंक्रन्दमध्ये
यस्मात् तस्मात् सुतसोमोऽभवत् सः ॥ २९ ॥

कौरवोंके उदयेन्दु नामक पुर (इन्द्रप्रस्थ) में सोमाभिषव (सोमरस निकालने) के दिन सहस्रों चन्द्रमाओंके समान कान्तिमान् वह बालक उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम सुतसोम रक्खा गया था ॥ २९ ॥

नाकुलिं तु शतानीकं शालपुष्पनिभा हयाः।
आदित्यतरुणप्रख्याः श्लाघनीयमुदावहन् ॥ ३० ॥

नकुलके स्पृहणीय पुत्र शतानीकको शालपुष्पके समान रक्त-पीत वर्णवाले और बालसूर्यके समान कान्तिमान् अश्व रणभूमिमें ले गये ॥ ३० ॥

काञ्चनापिहितैर्योक्त्रैर्मयूरग्रीवसंनिभाः।
द्रौपदेयं नरव्याघ्रं श्रुतकर्माणमाहवे ॥ ३१ ॥

मोरकी गर्दनके समान नीले रंगवाले घोड़ोंने सुनहरी रस्सियोंसे आबद्ध हो द्रौपदीपुत्र सहदेवकुमार पुरुषसिंह श्रुतकर्माको युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ३१ ॥

श्रुतकीर्तिं श्रुतनिधिं द्रौपदेयं हयोत्तमाः।
ऊहुः पार्थसमं युद्धे चाषपत्रनिभा हयाः ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार युद्धमें अर्जुनकी समानता करनेवाले, शास्त्रज्ञानके भण्डार द्रौपदीनन्दन अर्जुनकुमार श्रुतकीर्तिको नीलकण्ठकी पाँखके समान रंगवाले उत्तम घोड़े रणक्षेत्रमें ले गये ॥

यमाहुरध्यर्धगुणं कृष्णात् पार्थाच्च संयुगे।
अभिमन्युं पिशङ्गास्तं कुमारमवहन् रणे ॥ ३३ ॥

जिसे युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डयोढ़ा बताया गया है, उस सुभद्राकुमार अभिमन्युको रणक्षेत्रमें कपिलवर्णवाले घोड़े ले गये ॥ ३३ ॥

एकस्तु धार्तराष्ट्रेभ्यः पाण्डवान् यः समाश्रितः।
तं बृहन्तो महाकाया युयुत्सुमवहन् रणे ॥ ३४ ॥
पलालकाण्डवर्णास्तु वार्धक्षेमिं तरस्विनम्।
ऊहुः सुतुमुले युद्धे हयाः कृष्णाः स्वलंकृताः ॥ ३५ ॥

आपके पुत्रोंमेंसे जो एक युयुत्सु पाण्डवोंकी शरणमें जा चुके हैं, उन्हें पुआलके डंठलके समान रंगवाले, विशालकाय एवं बृहद् अश्वोंने युद्धभूमिमें पहुँचाया। उस भयंकर युद्धमें काले रंगके सजे-सजाये घोड़ोंने वृद्धक्षेमके वेगशाली पुत्रको युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ३४-३५ ॥

कुमारं शितिपादास्तु रुक्मचित्रैरुरश्छदैः।
सौचित्तिमवहन् युद्धे यन्तुः प्रेष्यकरा हयाः ॥ ३६ ॥

सुचित्तके पुत्र कुमार सत्यधृतिको सुवर्णमय विचित्र कवचोंसे सुसज्जित और काले रंगके पैरोंवाले, सारथिकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले उत्तम घोड़ोंने युद्धक्षेत्रमें उपस्थित किया ॥ ३६ ॥

रुक्मपीठावकीर्णास्तु कौशेयसदृशा हयाः।
सुवर्णमालिनः क्षान्ताः श्रेणिमन्तमुदावहन् ॥ ३७ ॥

सुनहरी पीठसे युक्त, रेशमके समान रोमवाले, सुवर्णमालाधारी तथा सहनशक्तिसे सम्पन्न घोड़ोंने श्रेणिमान्को युद्धमें पहुँचाया ॥ ३७ ॥

रुक्ममालाधराः शूरा हेमपृष्ठाः स्वलंकृताः।
काशिराजं नरश्रेष्ठं श्लाघनीयमुदावहन् ॥ ३८ ॥

सुवर्णमाला धारण करनेवाले शूरवीर और सुवर्ण रंगके पृष्ठभागवाले सजे-सजाये घोड़े स्पृहणीय नरश्रेष्ठ काशिराजको रणभूमिमें ले गये ॥ ३८ ॥

अस्त्राणां च धनुर्वेदे ब्राह्मे वेदे च पारगम्।
तं सत्यधृतिमायान्तमरुणाः समुदावहन् ॥ ३९ ॥

अस्त्रोंके ज्ञानमें, धनुर्वेदमें तथा ब्राह्मवेदमें भी पारङ्गत पूर्वोक्त सत्यधृतिको अरुणवर्णके अश्वोंने युद्धक्षेत्रमें उपस्थित किया ॥

यः स पाञ्चालसेनानीर्द्रोणमंशमकल्पयत्।
पारावतसवर्णास्तं धृष्टद्युम्नमुदावहन् ॥ ४० ॥

जो पाञ्चालोंके सेनापति हैं, जिन्होंने द्रोणाचार्यको अपना भाग निश्चित कर रक्खा था, उन धृष्टद्युम्नको कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंने युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ४० ॥

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ ४१ ॥

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र युद्धदुर्मद सत्यधृति, श्रेणिमान्, वसुदान[1] और काशिराजके पुत्र अभिभू चल रहे थे ॥ ४१ ॥

युक्तैः परमकाम्बोजैर्जवनैर्हेममालिभिः।
भीषयन्तो द्विषत्सैन्यं यमवैश्रवणोपमाः ॥ ४२ ॥

त्वचा, गुह्यभाग, नेत्र, ओठ और खुर काले होते हैं, ऐसे घोड़ोंको महर्षियोंने क्रौञ्चवर्णका बताया है। यथा—

सितलोमकेसराढ्याः कृष्णत्वग्गुह्यलोचनोष्ठखुराः।
ये स्युर्मुनिभिर्वोढा निर्दिष्टाः क्रौञ्चवर्णास्ते ॥

१–ये वसुदान २१। ५५ में मारे गये वसुदानसे भिन्न हैं। इन्हें कहीं-कहीं 'काश्य' बताया गया है। सम्भव है, ये ही काशिराज हों।

ये सबके सब यम और कुबेरके समान पराक्रमी योद्धा वेगशाली, सुवर्णमालाओंसे अलंकृत एवं सुशिक्षित, उत्तम काबुली घोड़ोंद्वारा शत्रुसेनाको भयभीत करते हुए धृष्टद्युम्न-का अनुसरण कर रहे थे ॥ ४२ ॥

प्रभद्रकास्तु काम्बोजाः षट्सहस्राण्युदायुधाः।
नानावर्णैर्हयैः श्रेष्ठैर्हेमवर्णरथध्वजाः ॥ ४३ ॥
शरव्रातैर्विधुन्वन्तः शत्रून् विततकार्मुकाः।
समानमृत्यवो भूत्वा धृष्टद्युम्नं समन्वयुः ॥ ४४ ॥

इनके सिवा छः हजार काम्बोजदेशीय प्रभद्रक नाम-वाले योद्धा हथियार उठाये, भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए सुनहरे रंगके रथ और ध्वजासे सम्पन्न हो धनुष फैलाये अपने बाण-समूहोंद्वारा शत्रुओंको भयसे कम्पित करते हुए सब समानरूपसे मृत्युको स्वीकार करनेके लिये उद्यत हो धृष्टद्युम्नके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ४३–४४ ॥

बभ्रुकौशेयवर्णास्तु सुवर्णवरमालिनः।
ऊहुरम्लानमनसश्चेकितानं हयोत्तमाः ॥ ४५ ॥

नेवले तथा रेशमके समान रंगवाले (पिङ्गल-गौर वर्णके) उत्तम अश्व, जो सुन्दर सुवर्णकी मालासे विभूषित तथा प्रसन्न चित्तवाले थे, चेकितानको युद्धस्थलमें ले गये ॥ ४५ ॥

इन्द्रायुधसवर्णैस्तु कुन्तिभोजो हयोत्तमैः।
आयात् सदश्वैः पुरुजिन्मातुलः सव्यसाचिनः ॥ ४६ ॥

अर्जुनके मामा पुरुजित् कुन्तिभोज इन्द्रधनुषके समान रंगवाले उत्तम श्रेणीके सुन्दर अश्वोंद्वारा उस युद्धभूमिमें आये ॥

अन्तरिक्षसवर्णास्तु तारकाचित्रिता इव।
राजानं रोचमानं ते हयाः संख्ये समावहन् ॥ ४७ ॥

राजा रोचमानको ताराओंसे चित्रित अन्तरिक्षके समान चितकबरे घोड़ोंने युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ४७ ॥

कर्बुराः शितिपादास्तु स्वर्णजालपरिच्छदाः।
जारासंधिं हयाः श्रेष्ठाः सहदेवमुदावहन् ॥ ४८ ॥

जरासंधके पुत्र सहदेवको काले पैरोंवाले चितकबरे श्रेष्ठ घोड़े, जो सोनेकी जालीसे विभूषित थे, रणभूमिमें ले गये॥४८॥

ये तु पुष्करनालस्य समवर्णा हयोत्तमाः।
जवे श्येनसमाश्चित्राः सुदामानमुदावहन् ॥ ४९ ॥

कमलके नालकी भाँति श्वेतवर्णवाले और श्येन पक्षीके समान वेगशाली उत्तम एवं विचित्र अश्व सुदामाको लेकर रणक्षेत्रमें उपस्थित हुए ॥ ४९ ॥

शशलोहितवर्णास्तु पाण्डुरोद्गतराजयः।
पाञ्चाल्यं गोपतेः पुत्रं सिंहसेनमुदावहन् ॥ ५० ॥

जिनके रंग खरगोशके समान और लोहित हैं तथा जिनके अंगोंमें श्वेतपीत रोमावलियाँ सुशोभित होती हैं, वे घोड़े उन गोपतिपुत्र पाञ्चालराजकुमार सिंहसेनको युद्धस्थलमें ले गये थे५०

पञ्चालानां नरव्याघ्रो यः ख्यातो जनमेजयः।
तस्य सर्षपपुष्पाणां तुल्यवर्णा हयोत्तमाः ॥ ५१ ॥

पाञ्चालोंमें विख्यात जो पुरुषसिंह जनमेजय हैं, उनके उत्तम घोड़े सरसोंके फूलोंके समान पीले रंगके थे ॥ ५१ ॥

माषवर्णाश्च जवना बृहन्तो हेममालिनः।
दधिपृष्ठाश्चित्रमुखाः पाञ्चाल्यमवहन् द्रुतम् ॥ ५२ ॥

उड़दके समान रंगवाले, स्वर्णमालाविभूषित, दधिके समान श्वेत पृष्ठभागसे युक्त और चितकबरे मुखवाले वेगशाली विशाल अश्व पाञ्चालराजकुमारको संग्रामभूमिमें शीघ्रतापूर्वक ले गये।५२।

शूराश्च भद्रकाश्चैव शरकाण्डनिभा हयाः।
पद्मकिञ्जल्कवर्णाभा दण्डधारमुदावहन् ॥ ५३ ॥

शूर, सुन्दर मस्तकवाले, सरकण्डेके पोरुओंके समान श्वेत-गौर तथा कमलके केसरकी भाँति कान्तिमान् घोड़े दण्डधारको रणभूमिमें ले गये ॥ ५३ ॥

रासभारुणवर्णाभाः पृष्ठतो मूषिकप्रभाः।
वल्गन्त इव संयत्ता व्याघ्रदत्तमुदावहन् ॥ ५४ ॥

गदहेके समान मलिन एवं अरुण वर्णवाले, पृष्ठभागमें चूहेके समान श्याम-मलिन कान्ति धारण करनेवाले तथा विनीत घोड़े व्याघ्रदत्तको युद्धमें उछलते-कूदते हुए-से ले गये॥

हरयः कालकाश्चित्राश्चित्रमाल्यविभूषिताः।
सुधन्वानं नरव्याघ्रं पाञ्चाल्यं समुदावहन् ॥ ५५ ॥

काले मस्तकवाले, विचित्र वर्ण तथा विचित्र मालाओंसे विभूषित घोड़े पाञ्चालदेशीय पुरुषसिंह सुधन्वाको लेकर रणभूमिमें उपस्थित हुए ॥ ५५ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शा इन्द्रगोपकसंनिभाः।
काये चित्रान्तराश्चित्राश्चित्रायुधमुदावहन् ॥ ५६ ॥

इन्द्रके वज्रके समान जिनका स्पर्श अत्यन्त दुःसह है, जो वीरबहूटीके समान लाल रंगवाले हैं, जिनके शरीरमें विचित्र चिह्न शोभा पाते हैं तथा जो देखनेमें भी अद्भुत हैं, वे घोड़े चित्रायुधको युद्धभूमिमें ले गये ॥ ५६ ॥

बिभ्रतो हेममालास्तु चक्रवाकोदरा हयाः।
कोसलाधिपतेः पुत्रं सुक्षत्रं वाजिनोऽवहन् ॥ ५७ ॥

सुवर्णकी माला धारण किये चक्रवाकके उदरके समान कुछ-कुछ श्वेतवर्णवाले घोड़े कोसलनरेशके पुत्र सुक्षत्रको युद्धमें ले गये ॥ ५७ ॥

शबलास्तु बृहन्तोऽश्वा दान्ता जाम्बूनदस्रजः।
युद्धे सत्यधृतिं क्षैमिमवहन् प्रांशवः शुभाः ॥ ५८ ॥

चितकबरे, विशालकाय, वशमें किये हुए, सुवर्णकी मालासे विभूषित तथा ऊँचे कदवाले सुन्दर अश्वोंने क्षेमकुमार सत्यधृतिको युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ५८ ॥

१. यद्यपि सिंहसेन और व्याघ्रदत्तके मारे जानेका वर्णन (१६। ३७ में) आ चुका है। तथापि यहाँ घोड़ोंके वर्णनके प्रसंगमें संजयने सामान्यतः सबके घोड़ोंका उल्लेख कर दिया है। मृत्युसे पहले वे दोनों वैसे ही घोड़ोंपर आरूढ हो रणभूमिमें पधारे थे।

एकवर्णेन सर्वेण ध्वजेन कवचेन च ।
अश्वैश्च धनुषा चैव शुक्लैः शुक्लो न्यवर्तत ॥ ५९ ॥

जिनके ध्वज, कवच और धनुष ये सब कुछ एक ही रंगके थे, वे राजा शुक्ल शुक्लवर्णके अश्वोंद्वारा युद्धके मैदानमें लौट आये ॥ ५९ ॥

समुद्रसेनपुत्रं तु सामुद्रा रुद्रतेजसम् ।
अश्वाः शशाङ्कसदृशाश्चन्द्रसेनमुदावहन् ॥ ६० ॥

समुद्रसेनके पुत्र, भयानक तेजसे युक्त चन्द्रसेनको चन्द्रमाके समान सफेद रंगवाले समुद्री घोड़ोंने युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ ६० ॥

नीलोत्पलसवर्णास्तु तपनीयविभूषिताः ।
शैब्यं चित्ररथं संख्ये चित्रमाल्याऽवहन् हयाः ॥ ६१ ॥

नील-कमलके समान रंगवाले, सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित विचित्र मालाओंवाले अश्व विचित्र रथसे युक्त राजा शैब्यको युद्धस्थलमें ले गये ॥ ६१ ॥

कलायपुष्पवर्णास्तु श्वेतलोहितराजयः ।
रथसेनं हयश्रेष्ठाः समूहुर्युद्धदुर्मदम् ॥ ६२ ॥

जिनके रंग केरावके फूलके समान हैं, जिनकी रोमराजि श्वेतलोहित वर्णकी है, ऐसे श्रेष्ठ घोड़ोंने रणदुर्मद रथसेनको संग्रामभूमिमें पहुँचाया ॥ ६२ ॥

यं तु सर्वमनुष्येभ्यः प्राहुः शूरतरं नृपम् ।
तं पटच्चरहन्तारं शुकवर्णाऽवहन् हयाः ॥ ६३ ॥

जिन्हें सब मनुष्योंसे अधिक शूरवीर नरेश कहा जाता है, जो चोरों और लुटेरोंका नाश करनेवाले हैं, उन समुद्रप्रान्तके अधिपतिको तोतेके समान रंगवाले घोड़े रणभूमिमें ले गये ॥

चित्रायुधं चित्रमाल्यं चित्रवर्मायुधध्वजम् ।
ऊहुः किंशुकपुष्पाणां समवर्णा हयोत्तमाः ॥ ६४ ॥

जिनके माला, कवच, अस्त्र-शस्त्र- और ध्वज सब कुछ विचित्र हैं, उन राजा चित्रायुधको पलाशके फूलोंके समान लाल रंगवाले उत्तम घोड़े संग्राममें ले गये ॥ ६४ ॥

एकवर्णेन सर्वेण ध्वजेन कवचेन च ।
धनुषा रथवाहैश्च नीलैर्नीलोऽभ्यवर्तत ॥ ६५ ॥

जिनके ध्वज, कवच और धनुष सब एक रंगके थे, वे राजा नील अपने रथमें जुते हुए नील रंगके घोड़ोंद्वारा रणक्षेत्रमें उपस्थित हुए ॥ ६५ ॥

नानारूपै रत्नचित्रैर्वरूथरथकार्मुकैः ।
वाजिध्वजपताकाभिश्चित्रैश्चित्रोऽभ्यवर्तत ॥ ६६ ॥

जिनके रथका आवरण, रथ तथा धनुष नाना प्रकारके रत्नोंसे जटित एवं अनेक रूपवाले थे, जिनके घोड़े, ध्वजा और पताकाएँ भी विचित्र प्रकारकी थीं, वे राजा चित्र चितकबरे घोड़ोंद्वारा युद्धके मैदानमें आये ॥ ६६ ॥

ये तु पुष्करपर्णस्य तुल्यवर्णा हयोत्तमाः ।
ते रोचमानस्य सुतं हेमवर्णमुदावहन् ॥ ६७ ॥

जिनके रंग कमलपत्रके समान थे, वे उत्तम घोड़े रोचमानके पुत्र हेमवर्णको रणभूमिमें ले गये ॥ ६७ ॥

योधाश्च भद्रकाराश्च शरदण्डानुदण्डयः ।
श्वेताण्डाः कुक्कुटाण्डाभा दण्डकेतुं हयाऽवहन् ॥ ६८ ॥

युद्ध करनेमें समर्थ, कल्याणमय कार्य करनेवाले, सरकण्डेके समान श्वेतगौर पीठवाले, श्वेत अण्डकोशधारी तथा मुर्गीके अण्डेके समान सफेद घोड़े दण्डकेतुको युद्धस्थलमें ले गये ॥ ६८ ॥

केशवेन हते संख्ये पितर्यथ नराधिपे ।
भिन्ने कपाटे पाण्ड्यानां विद्रुतेषु च बन्धुषु ॥ ६९ ॥
भीष्मादवाप्य चास्त्राणि द्रोणाद् रामात् कृपात् तथा ।
अस्त्रैः समत्वं सम्प्राप्य रुक्मिकर्णार्जुनाच्युतैः ॥ ७० ॥
इयेष द्वारकां हन्तुं कृत्स्नां जेतुं च मेदिनीम् ।
निवारितस्ततः प्राज्ञैः सुहृद्भिर्हितकाम्यया ॥ ७१ ॥
वैरानुबन्धमुत्सृज्य स्वराज्यमनुशास्ति यः ।
स सागरध्वजः पाण्ड्यश्चन्द्ररश्मिनिभैर्हयैः ॥ ७२ ॥
वैडूर्यजालसंछन्नैर्वीर्यद्रविणमाश्रितः ।
दिव्यं विस्फारयंश्चापं द्रोणमभ्यद्रवद् बली ॥ ७३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंसे जब युद्धमें पाण्ड्यदेशके राजा तथा वर्तमान नरेशके पिता मारे गये, पाड्यराजधानीका फाटक तोड़-फोड़ दिया गया और सारे बन्धु-बान्धव भाग गये, उस समय जिसने भीष्म, द्रोण, परशुराम तथा कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या सीखकर उसमें रुक्मी, कर्ण, अर्जुन और श्रीकृष्णकी समानता प्राप्त कर ली; फिर द्वारकाको नष्ट करने और सारी पृथ्वीपर विजय पानेका संकल्प किया; यह देख विद्वान् सुहृदोंने हितकी कामना रखकर जिसे वैसा दुःसाहस करनेसे रोक दिया और अब जो वैरभाव छोड़कर अपने राज्यका शासन कर रहा है और जिसके रथपर सागरके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती है, पराक्रमरूपी धनका आश्रय लेनेवाले उस बलवान् राजा पाण्ड्यने अपने दिव्य धनुषकी टंकार करते हुए वैदूर्यमणिकी जालीसे आच्छादित तथा चन्द्र-किरणोंके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥

आटरूषकवर्णाभा हयाः पाण्ड्यानुयायिनाम् ।
अवहन् रथमुख्यानामयुतानि चतुर्दश ॥ ७४ ॥

वासक पुष्पोंके समान रंगवाले घोड़े राजा पाण्ड्यके पीछे चलनेवाले एक लाख चालीस हजार श्रेष्ठ रथोंका भार वहन कर रहे थे ॥ ७४ ॥

नानावर्णेन रूपेण नानाकृतिमुखा हयाः ।
रथचक्रध्वजं वीरं घटोत्कचमुदावहन् ॥ ७५ ॥

अनेक प्रकारके रंग-रूपसे युक्त विभिन्न आकृति और मुखवाले घोड़े रथके पहियेके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले वीर घटोत्कचको रणभूमिमें ले गये ॥ ७५ ॥

---

१. इन्हींका वर्णन पहले श्लोक ५६ में भी आ चुका है ।

भारतानां समेतानामुत्सृज्यैको मतानि यः ।
गतो युधिष्ठिरं भक्त्या त्यक्त्वा सर्वमभीप्सितम्॥७६॥
लोहिताक्षं महाबाहुं बृहन्तं तमरट्टजाः ।
महासत्त्वा महाकायाः सौवर्णस्यन्दने स्थितम् ॥ ७७ ॥

जो एकत्र हुए सम्पूर्ण भरतवंशियोंके मतोंका परित्याग करके अपने सम्पूर्ण मनोरथोंको छोड़कर केवल भक्तिभावसे युधिष्ठिरके पक्षमें चले गये, उन लाल नेत्र और विशाल भुजावाले राजा बृहन्तको, जो सुवर्णमय रथपर बैठे हुए थे, अरट्टदेशके महापराक्रमी, विशालकाय और सुनहरे रंगवाले घोड़े रणभूमिमें ले गये ॥ ७६-७७ ॥

सुवर्णवर्णा धर्मज्ञमनीकस्थं युधिष्ठिरम् ।
राजश्रेष्ठं हयश्रेष्ठाः सर्वतः पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ७८ ॥

धर्मके ज्ञाता तथा सेनाके मध्यभागमें विद्यमान नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर सुवर्णके समान रंगवाले श्रेष्ठ घोड़े उनके साथ-साथ चल रहे थे ॥ ७८ ॥

वर्णैरुच्चावचैरन्यैः सदश्वानां प्रभद्रकाः ।
संन्यवर्तन्त युद्धाय बहवो देवरूपिणः ॥ ७९ ॥

अन्य भिन्न-भिन्न प्रकारके वर्णोंसे युक्त सुन्दर अश्वोंका आश्रय ले प्रभद्रक नामवाले देवताओं-जैसे रूपवान् बहुसंख्यक प्रभद्रकगण युद्धके लिये लौट पड़े ॥ ७९ ॥

ते यत्ता भीमसेनेन सहिताः काञ्चनध्वजाः ।
प्रत्यदृश्यन्त राजेन्द्र सेन्द्रा इव दिवौकसः ॥ ८० ॥

राजेन्द्र ! भीमसेनसहित पूरी सावधानीसे युद्धके लिये उद्यत हुए ये सुवर्णमय ध्वजवाले राजालोग इन्द्रसहित देवताओंके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ ८० ॥

अत्यरोचत तान् सर्वान् धृष्टद्युम्नः समागतान् ।
सर्वाण्यति च सैन्यानि भारद्वाजो व्यरोचत ॥ ८१ ॥

वहाँ एकत्र हुए उन सब राजाओंकी अपेक्षा धृष्टद्युम्नकी अधिक शोभा हो रही थी और समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य सुशोभित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

अतीव शुशुभे तस्य ध्वजः कृष्णाजिनोत्तरः ।
कमण्डलुर्महाराज जातरूपमयः शुभः ॥ ८२ ॥

महाराज ! काले मृगचर्म और कमण्डलुके चिह्नसे युक्त उनका सुवर्णमय सुन्दर ध्वज अत्यन्त शोभा पा रहा था ॥

ध्वजं तु भीमसेनस्य वैदूर्यमणिलोचनम् ।
भ्राजमानं महासिंहं राजन्तं दृष्टवानहम् ॥ ८३ ॥

वैदूर्यमणिमय नेत्रोंसे सुशोभित महासिंहके चिह्नसे युक्त भीमसेनकी चमकीली ध्वजा फहराती हुई बड़ी शोभा पा रही थी । उसे मैंने देखा था ॥ ८३ ॥

ध्वजं तु कुरुराजस्य पाण्डवस्य महौजसः ।
दृष्टवानस्मि सौवर्णं सोमं ग्रहगणान्वितम् ॥ ८४ ॥

महातेजस्वी कुरुराज पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सुवर्णमयी ध्वजाको मैंने चन्द्रमा तथा ग्रहगणोंके चिह्नसे सुशोभित देखा है ॥ ८४ ॥

मृदङ्गौ चात्र विपुलौ दिव्यौ नन्दोपनन्दकौ ।
यन्त्रेणाहन्यमानौ च सुस्वनौ हर्षवर्धनौ ॥ ८५ ॥

इस ध्वजामें नन्द-उपनन्द नामक दो विशाल एवं दिव्य मृदंग लगे हुए हैं । वे यन्त्रके द्वारा बिना बजाये बजते हैं और सुन्दर शब्दका विस्तार करके सबका हर्ष बढ़ाते हैं ॥

शरभं पृष्ठसौवर्णं नकुलस्य महाध्वजम् ।
अपश्याम रथेऽत्युग्रं भीषयाणमवस्थितम् ॥ ८६ ॥

नकुलकी विशाल ध्वजा शरभके चिह्नसे युक्त तथा पृष्ठ-भागमें सुवर्णमयी है । हमने देखा, वह अत्यन्त भयंकर रूपसे उनके रथपर फहराती और सबको भयभीत करती थी ॥ ८६ ॥

हंसस्तु राजतः श्रीमान् ध्वजे घण्टापताकवान् ।
सहदेवस्य दुर्धर्षो द्विषतां शोकवर्धनः ॥ ८७ ॥

सहदेवकी ध्वजामें घंटा और पताकाके साथ चाँदीके बने सुन्दर हंसका चिह्न था । वह दुर्धर्ष ध्वज शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था ॥ ८७ ॥

पञ्चानां द्रौपदेयानां प्रतिमा ध्वजभूषणम् ।
धर्ममारुतशक्राणामश्विनोश्च महात्मनोः ॥ ८८ ॥

क्रमशः धर्म, वायु, इन्द्र तथा महात्मा अश्विनीकुमारोंकी प्रतिमाएँ पाँचों द्रौपदीपुत्रोंके ध्वजोंकी शोभा बढ़ाती थीं ॥

अभिमन्योः कुमारस्य शार्ङ्गपक्षी हिरण्मयः ।
रथे ध्वजवरो राजंस्तप्तचामीकरोज्ज्वलः ॥ ८९ ॥

राजन् ! कुमार अभिमन्युके रथका श्रेष्ठ ध्वज तपाये हुए सुवर्णसे निर्मित होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान था । उसमें सुवर्णमय शार्ङ्गपक्षीका चिह्न था ॥ ८९ ॥

घटोत्कचस्य राजेन्द्र ध्वजे गृध्रो व्यरोचत ।
अश्वाश्च कामगास्तस्य रावणस्य पुरा यथा ॥ ९० ॥

राजेन्द्र ! राक्षस घटोत्कचकी ध्वजामें गीध शोभा पाता था । पूर्वकालमें रावणके रथकी भाँति उसके रथमें भी इच्छानुसार चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे ॥ ९० ॥

माहेन्द्रं च धनुर्दिव्यं धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वायव्यं भीमसेनस्य धनुर्दिव्यमभून्नृप ॥ ९१ ॥

राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिरके पास महेन्द्रका दिया हुआ दिव्य धनुष शोभा पाता था । इसी प्रकार भीमसेनके पास वायु देवताका दिया हुआ दिव्य धनुष था ॥ ९१ ॥

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय ब्रह्मणा सृष्टमायुधम् ।
तद् दिव्यमजरं चैव फाल्गुनार्थाय वै धनुः ॥ ९२ ॥

तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीने जिस आयुधकी सृष्टि की थी, वह कभी जीर्ण न होनेवाला दिव्य गाण्डीव धनुष अर्जुनको प्राप्त हुआ था ॥ ९२ ॥

वैष्णवं नकुलायाथ सहदेवाय चाश्विजम्।
घटोत्कचाय पौलस्त्यं धनुर्दिव्यं भयानकम् ॥ ९३ ॥

नकुलको वैष्णव तथा सहदेवको अश्विनीकुमार-सम्बन्धी धनुष प्राप्त था तथा घटोत्कचके पास पौलस्त्य नामक भयानक दिव्य धनुष विद्यमान था ॥ ९३ ॥

रौद्रमाग्नेयकौबेरं याम्यं गिरिशमेव च।
पञ्चानां द्रौपदेयानां धनूरत्नानि भारत ॥ ९४ ॥

भरतनन्दन ! पाँचों द्रौपदीपुत्रोंके दिव्य धनुषरत्न क्रमशः रुद्र, अग्नि, कुबेर, यम तथा भगवान् शङ्करसे सम्बन्ध रखनेवाले थे ॥ ९४ ॥

रौद्रं धनुर्वरं श्रेष्ठं लेभे यद् रोहिणीसुतः।
तत् तुष्टः प्रददौ रामः सौभद्राय महात्मने ॥ ९५ ॥

रोहिणीनन्दन बलरामने जो रुद्रसम्बन्धी श्रेष्ठ धनुष प्राप्त किया था, उसे उन्होंने संतुष्ट होकर महामना सुभद्राकुमार अभिमन्युको दे दिया था ॥ ९५ ॥

एते चान्ये च बहवो ध्वजा हेमविभूषिताः।
तत्रादृश्यन्त शूराणां द्विषतां शोकवर्धनाः ॥ ९६ ॥

ये तथा और भी बहुत-सी राजाओंकी सुवर्णभूषित ध्वजाएँ वहाँ दिखायी देती थीं, जो शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाली थीं ॥

तदभूद् ध्वजसम्बाधमकापुरुषसेवितम्।
द्रोणानीकं महाराज पटे चित्रमिवार्पितम् ॥ ९७ ॥

महाराज ! उस समय वीर पुरुषोंसे भरी हुई द्रोणाचार्यकी वह ध्वजविशिष्ट सेना पटमें अङ्कित किये हुए चित्रके समान प्रतीत होती थी ॥ ९७ ॥

शुश्रुवुर्नामगोत्राणि वीराणां संयुगे तदा।
द्रोणमाद्रवतां राजन् स्वयंवर इवाहवे ॥ ९८ ॥

राजन् ! उस समय युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यपर आक्रमण करनेवाले वीरोंके नाम और गोत्र उसी प्रकार सुनायी पड़ते थे, जैसे स्वयंवरमें सुने जाते हैं ॥ ९८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि हयध्वजादिकथने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें अश्व और ध्वज आदिका वर्णन विषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका अपना खेद प्रकाशित करते हुए युद्धके समाचार पूछना

धृतराष्ट्र उवाच

व्यथयेयुरिमे सेनां देवानामपि संजय।
आहवे ये न्यवर्तन्त वृकोदरमुखा नृपाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! भीमसेन आदि जो-जो नरेश युद्धमें लौटकर आये थे, वे तो देवताओंकी सेनाको भी पीड़ित कर सकते हैं ॥ १ ॥

सम्प्रयुक्तः किलैवायं दिष्टैर्भवति पूरुषः।
तस्मिन्नेव च सर्वार्थाः प्रदृश्यन्ते पृथग्विधाः ॥ २ ॥

निश्चय ही यह मनुष्य दैवसे प्रेरित होता है। सबके पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण मनोरथ दैवपर ही अवलम्बित दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

दीर्घं विप्रोषितः कालमरण्ये जटिलोऽजिनी।
अज्ञातश्चैव लोकस्य विजहार युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
स एव महतीं सेनां समावर्तयदाहवे।
किमन्यद् दैवसंयोगान्मम पुत्रस्य चाभवत् ॥ ४ ॥

जो राजा युधिष्ठिर दीर्घकालतक जटा और मृगचर्म धारण करके वनमें रहे और कुछ कालतक लोगोंसे अज्ञात रहकर भी विचरे हैं, वे ही आज रणभूमिमें विशाल सेना जुटाकर चढ़ आये हैं, इसमें मेरे तथा पुत्रोंके दैवयोगके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३-४ ॥

युक्त एव हि भाग्येन ध्रुवमुत्पद्यते नरः।
स तथाऽऽकृष्यते तेन न यथा स्वयमिच्छति ॥ ५ ॥

निश्चय ही मनुष्य भाग्यसे युक्त होकर ही जन्म ग्रहण करता है। भाग्य उसे उस अवस्थामें भी खींच ले जाता है, जिसमें वह स्वयं नहीं जाना चाहता ॥ ५ ॥

द्यूतव्यसनमासाद्य क्लेशितो हि युधिष्ठिरः।
स पुनर्भागधेयेन सहायानुपलब्धवान् ॥ ६ ॥

हमने द्यूतके संकटमें डालकर युधिष्ठिरको भारी क्लेश पहुँचाया था, परंतु उन्होंने भाग्यसे पुनः बहुतेरे सहायकोंको प्राप्त कर लिया है ॥ ६ ॥

अद्य मे केकया लब्धाः काशिकाःकोसलाश्च ये।
चेदयश्चापरे वङ्गा मामेव समुपाश्रिताः ॥ ७ ॥
पृथिवी भूयसी तात मम पार्थस्य नो तथा।
इति मामब्रवीत् सूत मन्दो दुर्योधनः पुरा ॥ ८ ॥

सूत संजय ! आजसे बहुत पहलेकी बात है, मूर्ख दुर्योधनने मुझसे कहा था कि 'पिताजी ! इस समय केकय, काशी, कोसल तथा चेदिदेशके लोग मेरी सहायताके लिये आ गये हैं। दूसरे वंगवासियोंने भी मेरा ही आश्रय लिया है। तात ! इस भूमण्डलका बहुत बड़ा भाग मेरे साथ है, अर्जुनके साथ नहीं है' ॥ ७-८ ॥

तस्य सेनासमूहस्य मध्ये द्रोणः सुरक्षितः।
निहतः पार्षतेनाजौ किमन्यद् भागधेयतः ॥ ९ ॥

उसी विशाल सेनासमूहके मध्य सुरक्षित हुए द्रोणाचार्य-

को युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नने मार डाला, इसमें भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ९ ॥

मध्ये राज्ञां महाबाहुं सदा युद्धाभिनन्दिनम्।
सर्वास्त्रपारगं द्रोणं कथं मृत्युरुपेयिवान् ॥ १० ॥

राजाओंके बीचमें सदा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले सम्पूर्ण अस्त्र-विद्याके पारंगत विद्वान् महाबाहु द्रोणाचार्यको कैसे मृत्यु प्राप्त हुई ? ॥ १० ॥

समनुप्राप्तकृच्छ्रोऽहं मोहं परममागतः।
भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ११ ॥

मुझपर महान् संकट आ पहुँचा है। मेरी बुद्धिपर अत्यन्त मोह छा गया है। मैं भीष्म और द्रोणाचार्यको मारा गया सुनकर जीवित नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

यन्मां क्षत्ताब्रवीत् तात प्रपश्यन् पुत्रगृद्धिनम्।
दुर्योधनेन तत् सर्वं प्राप्तं सूत मया सह ॥ १२ ॥

तात ! मुझे अपने पुत्रोंके प्रति अत्यन्त आसक्त देखकर विदुरने मुझसे जो कुछ कहा था, मेरे साथ दुर्योधनको वह सब प्राप्त हो रहा है ॥ १२ ॥

नृशंसं तु परं नु स्यात् त्यक्त्वा दुर्योधनं यदि।
पुत्रशेषं चिकीर्षेयं कृत्स्नं न मरणं व्रजेत् ॥ १३ ॥

यदि मैं दुर्योधनको त्यागकर शेष पुत्रोंकी रक्षा करना चाहूँ तो यह अत्यन्त निष्ठुरताका कार्य अवश्य होगा, परंतु मेरे सारे पुत्रोंकी तथा अन्य सब लोगोंकी भी मृत्यु नहीं होगी ॥ १३ ॥

यो हि धर्मं परित्यज्य भवत्यर्थपरो नरः।
सोऽस्माच्च हीयते लोकात् क्षुद्रभावं च गच्छति॥१४॥

जो मनुष्य धर्मका परित्याग करके अर्थपरायण हो जाता है, वह इस लोकसे (लौकिक स्वार्थसे) भ्रष्ट हो जाता है और नीच गतिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

अद्य चाप्यस्य राष्ट्रस्य हतोत्साहस्य संजय।
अवशेषं न पश्यामि ककुदे मृदिते सति ॥ १५ ॥

संजय ! आज इस राष्ट्रका उत्साह भंग हो गया। प्रधानके मारे जानेसे अब मुझे किसीका जीवन शेष रहता नहीं दिखायी देता ॥ १५ ॥

कथं स्यादवशेषो हि धुर्ययोरभ्यतीतयोः।
यौ नित्यमुपजीवामः क्षमिणौ पुरुषर्षभौ ॥ १६ ॥

हमलोग सदा जिन सर्वसमर्थ पुरुषसिंहोंका आश्रय लेकर जीवन धारण करते थे, उन धुरंधर वीरोंके इस लोकसे चले जानेपर अब हमारी सेनाका कोई भी सैनिक कैसे जीवित बच सकता है ॥ १६ ॥

व्यक्तमेव च मे शंस यथा युद्धमवर्तत।
केऽयुध्यन् के व्यपाकुर्वन् के क्षुद्राः प्राद्रवन् भयात्॥१७॥

संजय ! वह युद्ध जिस प्रकार हुआ था, सब साफ-साफ मुझसे बताओ। कौन-कौन वीर युद्ध करते थे, कौन किसको परास्त करते थे और कौन-कौनसे क्षुद्र सैनिक भयके कारण युद्धके मैदानसे भाग गये थे ॥ १७ ॥

धनंजयं च मे शंस यद् यच्चक्रे रथर्षभः।
तस्माद् भयं नो भूयिष्ठं भ्रातृव्याच्च वृकोदरात्॥१८॥

धनंजय अर्जुनके विषयमें भी मुझे बताओ। रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने क्या-क्या किया था। मुझे उनसे तथा शत्रुस्वरूप भीमसेनसे अधिक भय लगता है ॥ १८ ॥

यथाऽऽसीच्च निवृत्तेषु पाण्डवेयेषु संजय।
मम सैन्यावशेषस्य संनिपातः सुदारुणः ॥ १९ ॥

संजय ! पाण्डव-सैनिकोंके पुनः युद्धभूमिमें लौट आनेपर मेरी शेष सेनाके साथ जिस प्रकार उनका अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ था, वह कहो ॥ १९ ॥

कथं च वो मनस्तात निवृत्तेष्वभवत् तदा।
मामकानां च ये शूराः के कांस्तत्र न्यवारयन्॥ २० ॥

तात ! पाण्डव-सैनिकोंके लौटनेपर तुमलोगोंके मनकी कैसी दशा हुई ? मेरे पुत्रोंकी सेनामें जो शूरवीर थे, उनमेंसे किन लोगोंने शत्रुपक्षके किन वीरोंको रोका था ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव सैनिकोंके द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

महद् भैरवमासीन्नः संनिवृत्तेषु पाण्डुषु।
दृष्ट्वा द्रोणं छाद्यमानं तैर्भास्करमिवाम्बुदैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! पाण्डव-सैनिकोंके लौटनेपर जैसे बादलोंसे सूर्य ढक जाते हैं, उसी प्रकार उनके बाणोंसे द्रोणाचार्य आच्छादित होने लगे। यह देखकर हमलोगोंने उनके साथ बड़ा भयंकर संग्राम किया ॥ १ ॥

तैश्चोद्धूतं रजस्तीव्रमवचक्रे चमूं तव।
ततो हतममंस्याम द्रोणं दृष्टिपथे हते ॥ २ ॥

उन सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई तीव्र धूलने आपकी सारी सेनाको ढक दिया। फिर तो हमारी दृष्टिका मार्ग अवरुद्ध हो गया और हमने समझ लिया कि द्रोण मारे गये ॥ २ ॥

तांस्तु शूरान् महेष्वासान् क्रूरं कर्म चिकीर्षतः।
दृष्ट्वा दुर्योधनस्तूर्णं स्वसैन्यं समचूचुदत् ॥ ३ ॥

उन महाधनुर्धर-शूरवीरोंको क्रूर कर्म करनेके लिये उत्सुक देख दुर्योधनने तुरंत ही अपनी सेनाको इस प्रकार आज्ञा दी—॥

यथाशक्ति यथोत्साहं यथासत्त्वं नराधिपाः ।
वारयध्वं यथायोगं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ४ ॥

'नरेश्वरो ! तुम सब लोग अपनी शक्ति, उत्साह और बलके अनुसार यथोचित उपायद्वारा पाण्डवोंकी सेनाको रोको'॥

ततो दुर्मर्षणो भीममभ्यगच्छत् सुतस्तव ।
आराद् दृष्ट्वा किरन् बाणैर्जिघृक्षुस्तस्य जीवितम्॥ ५ ॥

तब आपके पुत्र दुर्मर्षणने भीमसेनको अपने पास ही देखकर उनके प्राण लेनेकी इच्छासे बाणोंकी वर्षा करते हुए उनपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

तं बाणैरवतस्तार क्रुद्धो मृत्युरिवाहवे ।
तं च भीमोऽतुदद् बाणैस्तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।६।

उसने क्रोधमें भरी हुई मृत्युके समान युद्धस्थलमें बाणोंद्वारा भीमसेनको ढक दिया । साथ ही भीमसेनने भी अपने बाणोंद्वारा उसे गहरी चोट पहुँचायी । इस प्रकार उन दोनोंमें महाभयंकर युद्ध होने लगा ॥ ६ ॥

त ईश्वरसमादिष्टाः प्राज्ञाः शूराः प्रहारिणः ।
राज्यं मृत्युभयं त्यक्त्वा प्रत्यतिष्ठन् परान् युधि॥७॥

अपने स्वामी राजा दुर्योधनकी आज्ञा पाकर वे प्रहार करनेमें कुशल बुद्धिमान् शूरवीर राज्यको और मृत्युके भयको छोड़कर युद्धस्थलमें शत्रुओंका सामना करने लगे ॥ ७ ॥

कृतवर्मा शिनेः पौत्रं द्रोणं प्रेप्सुं विशाम्पते ।
पर्यवारयदायान्तं शूरं समरशोभिनम् ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! द्रोणको अपने वशमें करनेकी इच्छासे आगे बढ़ते हुए संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर सात्यकिको कृतवर्माने रोक दिया ॥ ८ ॥

तं शैनेयः शरव्रातैः क्रुद्धः क्रुद्धमवारयत् ।
कृतवर्मा च शैनेयं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ९ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने कुपित हुए कृतवर्माको अपने बाणसमूहोंद्वारा आगे बढ़नेसे रोका और कृतवर्माने सात्यकिको । ठीक उसी तरह, जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले गजराजको रोक देता है ॥ ९ ॥

सैन्धवः क्षत्रवर्माणमायान्तं निशितैः शरैः ।
उग्रधन्वा महेष्वासं यत्तो द्रोणादवारयत् ॥ १० ॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले सिंधुराज जयद्रथने महाधनुर्धर क्षत्रवर्माको अपने तीखे बाणोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक द्रोणाचार्यकी ओर आनेसे रोक दिया ॥ १० ॥

क्षत्रवर्मा सिन्धुपतेश्छित्त्वा केतनकार्मुके ।
नाराचैर्दशभिः क्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ ११ ॥

क्षत्रवर्माने कुपित हो सिंधुराज जयद्रथके ध्वज और धनुष काटकर दस नाराचोंद्वारा उसके सभी मर्मस्थानोंमें चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सैन्धवः कृतहस्तवत् ।
विव्याध क्षत्रवर्माणं रणे सर्वायसैः शरैः ॥ १२ ॥

तब सिंधुराजने दूसरा धनुष लेकर सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए बाणोंद्वारा रणक्षेत्रमें क्षत्रवर्माको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

युयुत्सुं पाण्डवार्थाय यतमानं महारथम् ।
सुबाहुर्भारतं शूरं यत्तो द्रोणादवारयत् ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके हितके लिये प्रयत्न करनेवाले भरतवंशी महारथी शूरवीर युयुत्सुको सुबाहुने प्रयत्नपूर्वक द्रोणाचार्यकी ओर आनेसे रोक दिया ॥ १३ ॥

सुबाहोः सधनुर्बाणावस्यतः परिघोपमौ ।
युयुत्सुः शितपीताभ्यां क्षुराभ्यामच्छिनद् भुजौ॥१४॥

तब युयुत्सुने प्रहार करते हुए सुबाहुकी परिघके समान मोटी एवं धनुष-बाणोंसे युक्त दोनों भुजाओंको अपने तीखे और पानीदार दो छूरों-द्वारा काट गिराया ॥ १४ ॥

राजानं पाण्डवश्रेष्ठं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
वेलेव सागरं क्षुब्धं मद्रराट् समवारयत् ॥ १५ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको मद्रराज शल्यने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे क्षुब्ध महासागरको तटकी भूमि रोक देती है ॥ १५ ॥

तं धर्मराजो बहुभिर्मर्मभिद्भिरवाकिरत् ।
मद्रेशस्तं चतुःषष्ट्या शरैर्विद्ध्वानदद् भृशम् ॥१६॥

धर्मराज युधिष्ठिरने शल्यपर बहुत-से मर्मभेदी बाणोंकी वर्षा की । तब मद्रराज भी चौंसठ बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको घायल करके जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १६ ॥

तस्य नानदतः केतुमुच्चकर्त च कार्मुकम् ।
क्षुराभ्यां पाण्डवो ज्येष्ठस्तत उच्चुकुशुर्जनाः ॥ १७ ॥

तब ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने दो छुरोंद्वारा गर्जना करते हुए राजा शल्यके ध्वज और धनुषको काट डाला । यह देख सब लोग हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ १७ ॥

तथैव राजा बाह्लीको राजानं द्रुपदं शरैः ।
आद्रवन्तं सहानीकः सहानीकं न्यवारयत् ॥ १८ ॥

इसी प्रकार अपनी सेनासहित राजा बाह्लिकने सैनिकोंके साथ धावा करते हुए राजा द्रुपदको अपने बाणोंद्वारा रोक दिया ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं वृद्धयोः सहसेनयोः ।
यथा महायूथपयोर्द्विपयोः सम्प्रभिन्नयोः ॥ १९ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाले दो विशाल गजयूथपतियोंमें लड़ाई होती है, उसी प्रकार सेनासहित उन दोनों वृद्ध नरेशोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ विराटं मत्स्यमार्च्छताम् ।
सहसैन्यौ सहानीकं यथेन्द्राग्नी पुरा बलिम् ॥ २० ॥

अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने अपनी सेनाओंको साथ लेकर विशाल वाहिनीसहित मत्स्यराज विराट-पर उसी प्रकार धावा किया, जैसे पूर्वकालमें अग्नि और इन्द्रने राजा बलिपर आक्रमण किया था ॥ २० ॥

तदुत्पिञ्जलकं युद्धमासीद् देवासुरोपमम्।
मत्स्यानां केकयैः सार्धमभीताश्वरथद्विपम् ॥ २१ ॥

उस समय मत्स्यदेशीय सैनिकोंका केकयदेशीय योद्धाओंके साथ देवासुर-संग्रामके समान अत्यन्त घमासान युद्ध हुआ। उसमें हाथी, घोड़े और रथ सभी निर्भय होकर एक-दूसरेसे लड़ रहे थे ॥ २१ ॥

नाकुलिं तु शतानीकं भूतकर्मा सभापतिः ।
अस्यन्तमिषुजालानि यान्तं द्रोणादवारयत् ॥ २२ ॥

नकुलका पुत्र शतानीक बाण-समूहोंकी वर्षा करता हुआ द्रोणाचार्यकी ओर बढ़ रहा था। उस समय भूतकर्मा सभा-पतिने उसे द्रोणकी ओर आनेसे रोक दिया ॥ २२ ॥

ततो नकुलदायादस्त्रिभिर्भल्लैः सुसंशितैः ।
चक्रे विबाहुशिरसं भूतकर्माणमाहवे ॥ २३ ॥

तदनन्तर नकुलके पुत्रने तीन तीखे भल्लोंद्वारा युद्धमें भूतकर्माकी बाहु तथा मस्तक काट डाले ॥ २३ ॥

सुतसोमं तु विक्रान्तमायान्तं तं शरौघिणम् ।
द्रोणायाभिमुखं वीरं विविंशतिरवारयत् ॥ २४ ॥

पराक्रमी वीर सुतसोम बाण-समूहोंकी बौछार करता हुआ द्रोणाचार्यके सम्मुख आ रहा था। उसे विविंशतिने रोक दिया ॥ २४ ॥

सुतसोमस्तु संक्रुद्धः स्वपितृव्यमजिह्मगैः ।
विविंशतिं शरैर्भित्त्वा नाभ्यवर्तत दंशितः ॥ २५ ॥

तब सुतसोमने अत्यन्त कुपित हो अपने चाचा विविंशति-को सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा घायल कर दिया और स्वयं एक वीर पुरुषकी भाँति कवच बाँधे सामने खड़ा रहा ॥

अथ भीमरथः शाल्वमाशुगैरायसैः शितैः ।
षड्भिः साश्वनियन्तारमनयद् यमसादनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर भीमरथने छः तीखे लोहमय शीघ्रगामी बाणों-द्वारा सारथिसहित शाल्वको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २६ ॥

श्रुतकर्माणमायान्तं मयूरसदृशैर्हयैः ।
चैत्रसेनिर्महाराज तव पौत्रं न्यवारयत् ॥ २७ ॥

महाराज ! श्रुतकर्मा मोरके समान रंगवाले घोड़ोंपर आ रहा था। उस आपके पौत्र श्रुतकर्माको चित्रसेनके पुत्रने रोका ॥ २७ ॥

तौ पौत्रौ तव दुर्धर्षौ परस्परवधैषिणौ ।
पितॄणामर्थसिद्ध्यर्थं चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥ २८ ॥

आपके दोनों दुर्जय पौत्र एक-दूसरेके वधकी इच्छा रखकर अपने पितृगणोंका मनोरथ सिद्ध करनेके लिये अच्छी तरह युद्ध करने लगे ॥ २८ ॥

तिष्ठन्तमग्रे तं दृष्ट्वा प्रतिविन्ध्यं महाहवे ।
द्रौणिर्मानं पितुः कुर्वन् मार्गणैः समवारयत् ॥ २९ ॥

उस महासमरमें प्रतिविन्ध्यको द्रोणाचार्यके सामने खड़ा देख पिताका सम्मान करते हुए अश्वत्थामाने बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ २९ ॥

तं क्रुद्धं प्रतिविव्याध प्रतिविन्ध्यः शितैः शरैः ।
सिंहलाङ्गूललक्ष्माणं पितुरर्थे व्यवस्थितम् ॥ ३० ॥

जिसके ध्वजमें सिंहके पूँछका चिह्न था और जो पिताकी इष्ट सिद्धिके लिये खड़ा था, उस क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाको प्रतिविन्ध्यने अपने पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ३० ॥

प्रवपन्निव बीजानि बीजकाले नरर्षभ ।
द्रौणायनिर्द्रौपदेयं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! तब द्रोणपुत्र भी द्रौपदीकुमार प्रतिविन्ध्यपर बाणोंकी वर्षा करने लगा, मानो किसान बीज बोनेके समयपर खेतमें बीज डाल रहा हो ॥ ३१ ॥

आर्जुनिं श्रुतकीर्तिं तु द्रौपदेयं महारथम् ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं दौःशासनिरवारयत् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर अर्जुन-पुत्र द्रौपदीकुमार महारथी श्रुतकीर्तिको द्रोणाचार्यके सामने जाते देख दुःशासनके पुत्रने रोका ॥३२॥

तस्य कृष्णसमः कार्ष्णिस्त्रिभिर्भल्लैः सुसंशितैः ।
धनुर्ध्वजं च सूतं च छित्त्वा द्रोणान्तिकं ययौ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनके समान पराक्रमी अर्जुनकुमार तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा दुःशासनपुत्रके धनुष, ध्वज और सारथिके टुकड़े-टुकड़े करके द्रोणाचार्यके समीप जा पहुँचा ॥ ३३ ॥

यस्तु शूरतमो राजन्नुभयोः सेनयोर्मतः ।
तं पटच्चरहन्तारं लक्ष्मणः समवारयत् ॥ ३४ ॥

राजन् ! जो दोनों सेनाओंमें सबसे अधिक शूरवीर माना जाता था, डाकू और लुटेरोंको मारनेवाले उस समुद्री प्रान्तोंके अधिपतिको दुर्योधनपुत्र लक्ष्मणने रोका ॥ ३४ ॥

स लक्ष्मणस्येष्वसनं छित्त्वा लक्ष्म च भारत ।
लक्ष्मणे शरजालानि विसृजन् बह्वशोभत ॥ ३५ ॥

भारत ! तब वह लक्ष्मणके धनुष और ध्वजचिह्नको काटकर उसके ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करता हुआ बहुत शोभा पाने लगा ॥ ३५ ॥

विकर्णस्तु महाप्राज्ञो याज्ञसेनिं शिखण्डिनम् ।
पर्यवारयदायान्तं युवानं समरे युवा ॥ ३६ ॥

परम बुद्धिमान् नवयुवक विकर्णने युवावस्थासे सम्पन्न द्रुपदकुमार शिखण्डीको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोका ॥ ३६ ॥

ततस्तमिषुजालेन याज्ञसेनिः समावृणोत् ।
विधूय तद् बाणजालं बभौ तव सुतो बली ॥ ३७ ॥

तब शिखण्डीने अपने बाणसमूहसे विकर्णको आच्छादित कर दिया । आपका बलवान् पुत्र उस सायक-जालको छिन्न-भिन्न करके बड़ी शोभा पाने लगा ॥ ३७ ॥

अङ्गदोऽभिमुखं वीरमुत्तमौजसमाहवे ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं शरौघेण न्यवारयत् ॥ ३८ ॥

अङ्गदने वीर उत्तमौजाको अपने और द्रोणाचार्यके सामने आते देख युद्धस्थलमें अपने बाण-समुदायकी वर्षासे रोक दिया ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तयोः पुरुषसिंहयोः ।
सैनिकानां च सर्वेषां तयोश्च प्रीतिवर्धनः ॥ ३९ ॥

उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया । वह संग्राम समस्त सैनिकोंकी तथा उन दोनोंकी भी प्रसन्नताको बढ़ा रहा था ॥ ३९ ॥

दुर्मुखस्तु महेष्वासो वीरं पुरुजितं बली ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं वत्सदन्तैरवारयत् ॥ ४० ॥

महाधनुर्धर बलवान् दुर्मुखने द्रोणाचार्यके सामने जाते हुए वीर पुरुजित्को वत्सदन्तोंके प्रहारद्वारा रोक दिया ॥

स दुर्मुखं भ्रुवोर्मध्ये नाराचेनाभ्यताडयत् ।
तस्य तद् विबभौ वक्त्रं सनालमिव पङ्कजम् ॥ ४१ ॥

तब पुरुजित्ने एक नाराचद्वारा दुर्मुखपर उसकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें प्रहार किया । उस समय दुर्मुखका मुख मृणालयुक्त कमलके समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

कर्णस्तु केकयान् भ्रातॄन् पञ्च लोहितकध्वजान् ।
द्रोणायाभिमुखं यातान्शरवर्षैरवारयत् ॥ ४२ ॥

कर्णने लाल रंगकी ध्वजासे सुशोभित पाँचों भाई केकय-राजकुमारोंको द्रोणाचार्यके सम्मुख जाते देख उन्हें बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ॥ ४२ ॥

ते चैनं भृशसंतप्ताः शरवर्षैरवाकिरन् ।
स च तांश्छादयामास शरजालैः पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

तब वे अत्यन्त संतप्त हो कर्णपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे और कर्णने भी अपने बाणोंके समूहसे उन्हें बार-बार आच्छादित कर दिया ॥ ४३ ॥

नैव कर्णो न ते पञ्च ददृशुर्बाणसंवृताः ।
साश्वसूतध्वजरथाः परस्परशराचिताः ॥ ४४ ॥

कर्ण तथा वे पाँचों राजकुमार एक-दूसरेके बरसाये हुए बाण-समूहोंसे व्याप्त एवं आच्छादित होकर घोड़े, सारथि, ध्वज तथा रथसहित अदृश्य हो गये थे ॥ ४४ ॥

पुत्रास्ते दुर्जयश्चैव जयश्च विजयश्च ह ।
नीलकाश्यजयत्सेनांस्त्रयस्त्रीन् प्रत्यवारयन् ॥ ४५ ॥

राजन् ! आपके तीन पुत्र दुर्जय, जय और विजयने नील, काश्य तथा जयत्सेन—इन तीनोंको रोक दिया ॥ ४५ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरमीक्षितृप्रीतिवर्धनम् ।
सिंहव्याघ्रतरक्षूणां यथर्क्षमहिषर्षभैः ॥ ४६ ॥

उन सबमें भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो सिंह, व्याघ्र और तेंदुओं (जरखों) का रीछों, भैंसों तथा साँड़ोंके साथ होनेवाले युद्धके समान दर्शकोंके हर्षको बढ़ानेवाला था ॥ ४६ ॥

क्षेमधूर्तिबृहन्तौ तु भ्रातरौ सात्वतं युधि ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं शरैस्तीक्ष्णैस्ततक्षतुः ॥ ४७ ॥

क्षेमधूर्ति और बृहन्त—ये दोनों भाई युद्धमें द्रोणाचार्यके सामने जाते हुए सात्यकिको अपने पैने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ॥ ४७ ॥

तयोस्तस्य च तद् युद्धमत्यद्भुतमिवाभवत् ।
सिंहस्य द्विपमुख्याभ्यां प्रभिन्नाभ्यां यथा वने ॥ ४८ ॥

जैसे वनमें दो मदस्रावी गजराजोंके साथ एक सिंहका युद्ध हो रहा हो, उसी प्रकार उन दोनों भाइयों तथा सात्यकिका युद्ध अत्यन्त अद्भुत-सा हो रहा था ॥ ४८ ॥

राजानं तु तथाम्बष्ठमेकं युद्धाभिनन्दिनम् ।
चेदिराजः शरानस्यन् क्रुद्धो द्रोणादवारयत् ॥ ४९ ॥

युद्धका अभिनन्दन करनेवाले राजा अम्बष्ठको क्रोधमें भरे हुए चेदिराजने बाणोंकी वर्षा करते हुए द्रोणाचार्यके पास आनेसे रोक दिया ॥ ४९ ॥

ततोऽम्बष्ठोऽस्थिभेदिन्या निरभिद्यच्छलाकया ।
स त्यक्त्वा सशरं चापं रथाद् भूमिमुपागमत् ॥ ५० ॥

तब अम्बष्ठने हड्डियोंको छेद देनेवाली शलाकाद्वारा चेदिराजको विदीर्ण कर दिया । वे बाणसहित धनुषको त्यागकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५० ॥

वार्धक्षेमिं तु वार्ष्णेयं कृपः शारद्वतः शरैः ।
अक्षुद्रः क्षुद्रकैर्द्रोणात् क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ५१ ॥

शरद्वान्के पुत्र श्रेष्ठ कृपाचार्यने क्रोधमें भरे हुए वृष्णिवंशी वार्धक्षेमिको अपने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यके पास आनेसे रोका ॥

युध्यन्तौ कृपवार्ष्णेयौ येऽपश्यंश्चित्रयोधिनौ ।
ते युद्धासक्तमनसो नान्यां बुबुधिरे क्रियाम् ॥ ५२ ॥

कृपाचार्य और वृष्णिवंशी वीर वार्धक्षेमि विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले थे । जिन लोगोंने उन दोनोंको युद्ध करते देखा, उनका मन उसीमें आसक्त हो गया । उन्हें दूसरी किसी क्रियाका भान नहीं रहा ॥ ५२ ॥

सौमदत्तिस्तु राजानं मणिमन्तमतन्द्रितम् ।
पर्यवारयदायान्तं यशो द्रोणस्य वर्धयन् ॥ ५३ ॥

सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाने द्रोणाचार्यका यश बढ़ाते हुए उनपर आक्रमण करनेवाले आलस्यरहित राजा मणिमान्को रोक दिया ॥ ५३ ॥

स सौमदत्तेस्त्वरितश्चित्रेष्वसनकेतने ।
पुनः पताकां सूतं च छत्रं चापातयद् रथात् ॥ ५४ ॥

तब उन्होंने तुरंत ही भूरिश्रवाके विचित्र धनुष, ध्वजा-पताका, सारथि और छत्रको रथसे काट गिराया ॥ ५४ ॥

अथाप्लुत्य रथात् तूर्णं यूपकेतुरमित्रहा ।
साश्वसूतध्वजरथं तं चकर्त वरासिना ॥ ५५ ॥

यह देख यूपके चिह्नसे सुशोभित ध्वजवाले शत्रुसूदन भूरिश्रवाने तुरंत ही रथसे कूदकर लंबी तलवारसे घोड़े, सारथि, ध्वज एवं रथसहित राजा मणिमान्‌को काट डाला ॥

रथं च स्वं समास्थाय धनुरादाय चापरम् ।
स्वयं यच्छन् हयान् राजन् व्यधमत् पाण्डवीं चमूम्॥५६

राजन् ! तत्पश्चात् भूरिश्रवा अपने रथपर बैठकर स्वयं ही घोड़ोंको काबूमें रखता हुआ दूसरा धनुष हाथमें ले पाण्डव-सेनाका संहार करने लगा ॥ ५६ ॥

पाण्ड्यमिन्द्रमिवायान्तमसुरान् प्रति दुर्जयम् ।
समर्थः सायकौघेन वृषसेनो न्यवारयत् ॥ ५७ ॥

जैसे इन्द्र असुरोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यपर धावा करनेवाले दुर्जय वीर पाण्ड्यको शक्तिशाली वीर वृषसेनने अपने सायक-समूहसे रोक दिया ॥ ५७ ॥

गदापरिघनिर्स्त्रिंशपट्टिशायोघनोपलैः ।
कडङ्गरैर्भुशुण्डीभिः प्रासैस्तोमरसायकैः ॥ ५८ ॥
मुसलैर्मुद्गरैश्चक्रैर्भिन्दिपालपरश्वधैः ।
पांसुवाताग्निसलिलैर्भस्मलोष्टतृणद्रुमैः ॥ ५९ ॥
आतुदन् प्ररुजन् भञ्जन् निघ्नन् विद्रावयन् क्षिपन् ।
सेनां विभीषयन्नायाद् द्रौणप्रेप्सुर्घटोत्कचः ॥ ६० ॥

तत्पश्चात् गदा, परिघ, खड्ग, पट्टिश, लोहेके घन, पत्थर, कडङ्गर, भुशुण्डि, प्रास, तोमर, सायक, मुसल, मुद्गर, चक्र, भिन्दिपाल, फरसा, धूल, हवा, अग्नि, जल, भस्म, मिट्टीके ढेले, तिनके तथा वृक्षोंसे कौरव-सेनाको पीडा देता, शत्रुओं-का अङ्ग-भङ्ग करता, तोड़ता-फोड़ता, मारता-भगाता, फेंकता एवं सारी सेनाको भयभीत करता हुआ घटोत्कच वहाँ द्रोणाचार्यको पकड़नेके लिये आया ॥ ५८—६० ॥

तं तु नानाप्रहरणैर्नानायुद्धविशेषणैः ।
राक्षसं राक्षसः क्रुद्धः समाजघ्ने ह्यलम्बुषः ॥ ६१ ॥

उस समय उस राक्षसको क्रोधमें भरे हुए अलम्बुष नामक राक्षसने ही अनेकानेक युद्धोंमें उपयोगी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ६१ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं रक्षोग्रामणिमुख्ययोः ।
तादृग् यादृक् पुरावृत्तं शम्बरामरराजयोः ॥ ६२ ॥

उन दोनों श्रेष्ठ राक्षसयूथपतियोंमें वैसा ही युद्ध हुआ, जैसा कि पूर्वकालमें शम्बरासुर तथा देवराज इन्द्रमें हुआ था ॥६२॥

(भारद्वाजस्तु सेनान्यं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
तमेव राजन्नायान्तमतिक्रम्य परान् रिपून् ॥
महता शरजालेन किरन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
अवारयन्महाराज सामात्यं सपदानुगम् ॥

महाराज ! भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने देखा कि पाण्डव-सेनापति महारथी धृष्टद्युम्न दूसरे शत्रुओंको लाँघकर अपने मन्त्रियों तथा सेवकोंसहित मेरी ही ओर आ रहा है और शत्रुसेनापर बाणोंका भारी जाल-सा बिखेर रहा है, तब उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर उसे रोका ॥

अथान्ये पार्थिवा राजन् बहुत्वान्नातिकीर्तिताः ।
समसज्जन्त सर्वे ते यथायोगं यथाबलम् ॥

राजन् ! इसी प्रकार अन्य सब राजा भी अपने बल और साधनोंके अनुसार शत्रुओंके साथ भिड़ गये । उनकी संख्या बहुत होनेके कारण सबके नामोंका उल्लेख नहीं किया गया है ॥

हयैर्हयांस्तथा जग्मुः कुञ्जरैरेव कुञ्जराः ।
पदातयः पदातीभी रथैरेव महारथाः ॥
अकुर्वन्नार्यकर्माणि तत्रैव पुरुषर्षभाः ।
कुलवीर्यानुरूपाणि संसृष्टाश्च परस्परम् ॥)

घोड़ोंसे घोड़े, हाथियोंसे हाथी, पैदलोंसे पैदल तथा बड़े-बड़े रथोंसे महान् रथ जूझ रहे थे । उस युद्धमें पुरुष-शिरोमणि वीर अपने कुल और पराक्रमके अनुरूप एक-दूसरेसे भिड़कर आर्यजनोचित कर्म कर रहे थे ॥

एवं द्वन्द्वशतान्यासन् रथवारणवाजिनाम् ।
पदातीनां च भद्रं ते तव तेषां च संकुले ॥ ६३ ॥

महाराज ! आपका कल्याण हो । इस प्रकार आपके और पाण्डवोंके उस भयंकर संग्राममें रथ, हाथी, घोड़ों और पैदल सैनिकोंके सैकड़ों द्वन्द्व आपसमें युद्ध कर रहे थे ॥६३॥

नैतादृशो दृष्टपूर्वः संग्रामो नैव च श्रुतः ।
द्रोणस्याभावभावे तु प्रसक्तानां यथाभवत् ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्यके वध और संरक्षणमें लगे हुए पाण्डव तथा कौरव सैनिकोंमें जैसा संग्राम हुआ था, ऐसा पहले कभी न तो देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ ६४ ॥

इदं घोरमिदं चित्रमिदं रौद्रमिति प्रभो ।
तत्र युद्धान्यदृश्यन्त प्रततानि बहूनि च ॥ ६५ ॥

प्रभो ! वहाँ भिन्न-भिन्न दलोंमें बहुत-से विस्तृत युद्ध दृष्टिगोचर हो रहे थे, जिन्हें देखकर दर्शक कहते थे 'यह घोर युद्ध हो रहा है, यह विचित्र संग्राम दिखायी देता है और यह अत्यन्त भयंकर मारकाट हो रही है' ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ७० श्लोक हैं)

षड्‌विंशोऽध्यायः

भीमसेनका भगदत्तके हाथीके साथ युद्ध, हाथी और भगदत्तका भयानक पराक्रम

धृतराष्ट्र उवाच

तेष्वेवं संनिवृत्तेषु प्रत्युद्यातेषु भागशः ।
कथं युयुधिरे पार्था मामकाश्च तरस्विनः ॥ १ ॥
किमर्जुनश्चाप्यकरोत् संशप्तकबलं प्रति ।
संशप्तका वा पार्थस्य किमकुर्वत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार जब सैनिक पृथक्-पृथक् युद्धके लिये लौटे और कौरव-योद्धा आगे बढ़कर सामना करनेके लिये उद्यत हुए, उस समय मेरे तथा कुन्तीके वेगशाली पुत्रोंने आपसमें किस प्रकार युद्ध किया ? संशप्तकोंकी सेनापर चढ़ाई करके अर्जुनने क्या किया ? अथवा संशप्तकोंने अर्जुनका क्या कर लिया ? ॥१-२॥

संजय उवाच

तथा तेषु निवृत्तेषु प्रत्युद्यातेषु भागशः ।
स्वयमभ्यद्रवद् भीमं नागानीकेन ते सुतः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! इस प्रकार जब पाण्डव-सैनिक पृथक्-पृथक् युद्धके लिये लौटे और कौरव-योद्धा आगे बढ़कर सामना करनेके लिये उद्यत हुए, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने हाथियोंकी सेना साथ लेकर स्वयं ही भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३ ॥

स नाग इव नागेन गोवृषेणेव गोवृषः ।
समाहूतः स्वयं राज्ञा नागानीकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

जैसे हाथीसे हाथी और साँड़से साँड़ भिड़ जाता है, उसी प्रकार राजा दुर्योधनके ललकारनेपर भीमसेन स्वयं ही हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ ४ ॥

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चान्वितः ।
अभिनत् कुञ्जरानीकमचिरेणैव मारिष ॥ ५ ॥

आदरणीय नरेश ! कुन्तीकुमार भीमसेन युद्धमें कुशल तथा बाहुबलसे सम्पन्न हैं । उन्होंने थोड़ी ही देरमें हाथियोंकी उस सेनाको विदीर्ण कर डाला ॥ ५ ॥

ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तः सर्वतो मदम् ।
भीमसेनस्य नाराचैर्विमुखा विमदीकृताः ॥ ६ ॥

वे पर्वतके समान विशालकाय हाथी सब ओर मदकी धारा बहा रहे थे; परंतु भीमसेनके नाराचोंसे विद्ध होनेपर उनका सारा मद उतर गया । वे युद्धसे विमुख होकर भाग चले ॥ ६ ॥

विधमेदभ्रजालानि यथा वायुः समुद्धतः ।
व्यधमत् तान्यनीकानि तथैव पवनात्मजः ॥ ७ ॥

जैसे जोरसे उठी हुई वायु मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न कर डालती है, उसी प्रकार पवनपुत्र भीमसेनने उन समस्त गजसेनाओंको तहस-नहस कर डाला ॥ ७ ॥

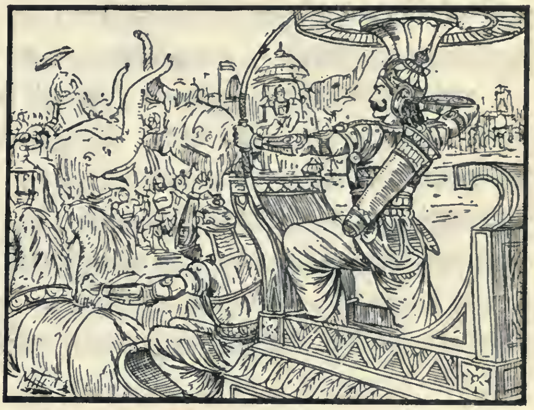

स तेषु विसृजन् बाणान् भीमो नागेष्वशोभत ।
भुवनेष्विव सर्वेषु गभस्तीनुदितो रविः ॥ ८ ॥

जैसे उदित हुए सूर्य समस्त भुवनोंमें अपनी किरणोंका विस्तार करते हैं, उसी प्रकार भीमसेन उन हाथियोंपर बाणोंकी वर्षा करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ ८ ॥

ते भीमबाणाभिहताः संस्यूता विबभुर्गजाः ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य व्योम्नि नानाबलाहकाः ॥ ९ ॥

वे भीमके बाणोंसे मारे जाकर परस्पर सटे हुए हाथी आकाशमें सूर्यकी किरणोंसे गुँथे हुए नाना प्रकारके मेघोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

तथा गजानां कदनं कुर्वाणमनिलात्मजम् ।
क्रुद्धो दुर्योधनोऽभ्येत्य प्रत्यविध्यच्छितैः शरैः ॥ १० ॥

इस प्रकार गजसेनाका संहार करते हुए पवनपुत्र भीमसेनके पास आकर क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने उन्हें पैने बाणोंसे बींध डाला ॥ १० ॥

ततः क्षणेन क्षितिपं क्षतजप्रतिमेक्षणः ।
क्षयं निनीषुर्निशितैर्भीमो विव्याध पत्रिभिः ॥ ११ ॥

यह देख भीमसेनकी आँखें खूनके समान लाल हो गयीं । उन्होंने क्षणभरमें राजा दुर्योधनका नाश करनेकी इच्छासे पंखयुक्त पैने बाणोंद्वारा उसे बींध डाला ॥ ११ ॥

स शराचितसर्वाङ्गः क्रुद्धो विव्याध पाण्डवम् ।
नाराचैरर्करश्म्याभैर्भीमसेनं स्मयन्निव ॥ १२ ॥

दुर्योधनके सारे अङ्ग बाणोंसे व्याप्त हो गये थे । अतः उसने कुपित होकर सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी नाराचोंद्वारा पाण्डुनन्दन भीमसेनको मुसकराते हुए-से घायल कर दिया ॥ १२ ॥

तस्य नागं मणिमयं रत्नचित्रध्वजे स्थितम् ।
भल्लाभ्यां कार्मुकं चैव क्षिप्रं चिच्छेद पाण्डवः ॥ १३ ॥

राजन् ! उसके रत्न-निर्मित विचित्र ध्वजके ऊपर मणि-

मय नाग विराजमान था। उसे पाण्डुनन्दन भीमने शीघ्र ही दो भल्लोंसे काट गिराया और उसके धनुषके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥ १३॥

दुर्योधनं पीड्यमानं दृष्ट्वा भीमेन मारिष ।
चुक्षोभयिषुरभ्यागादङ्गो मातङ्गमास्थितः ॥ १४ ॥

आर्य! भीमसेनके द्वारा दुर्योधनको पीड़ित होते देख क्षोभमें डालनेकी इच्छासे मतवाले हाथीपर बैठे हुए राजा अंग उनका सामना करनेके लिये आ गये॥ १४॥

तमापतन्तं नागेन्द्रमम्बुदप्रतिमस्वनम् ।
कुम्भान्तरे भीमसेनो नाराचैरार्दयद् भृशम् ॥ १५ ॥

वह गजराज मेघके समान गर्जना करनेवाला था। उसे अपनी ओर आते देख भीमसेनने उसके कुम्भस्थलमें नाराचोंद्वारा बड़ी चोट पहुँचायी॥ १५॥

तस्य कायं विनिर्भिद्य न्यमज्जद् धरणीतले।
ततः पपात द्विरदो वज्राहत इवाचलः ॥ १६ ॥

भीमसेनका नाराच उस हाथीके शरीरको विदीर्ण करके धरतीमें समा गया, इससे वह गजराज वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १६॥

तस्यावर्जितनागस्य म्लेच्छस्याधः पतिष्यतः।
शिरश्चिच्छेद भल्लेन क्षिप्रकारी वृकोदरः ॥ १७ ॥

वह म्लेच्छजातीय अंग हाथीसे अलग नहीं हुआ था। उस हाथीके साथ-साथ वह नीचे गिरना ही चाहता था कि शीघ्रकारी भीमसेनने एक भल्लके द्वारा उसका सिर काट दिया॥ १७॥

तस्मिन् निपतिते वीरे सम्प्राद्रवत् सा चमूः।
सम्भ्रान्ताश्वद्विपरथा पदातानवमृद्नती ॥ १८ ॥

उस वीरके धराशायी होते ही उसकी वह सारी सेना भागने लगी। घोड़े, हाथी तथा रथ सभी घबराहटमें पड़कर इधर-उधर चक्कर काटने लगे। वह सेना अपने ही पैदल सिपाहियोंको रौंदती हुई भाग रही थी॥ १८॥

तेष्वनीकेषु भग्नेषु विद्रवत्सु समन्ततः ।
प्राग्ज्योतिषस्ततो भीमं कुञ्जरेण समाद्रवत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार उन सेनाओंके व्यूह भंग होने तथा चारों ओर भागनेपर प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्तने अपने हाथीके द्वारा भीमसेनपर धावा किया॥ १९॥

येन नागेन मघवानजयद् दैत्यदानवान् ।
तदन्वयेन नागेन भीमसेनमुपाद्रवत् ॥ २० ॥

इन्द्रने जिस ऐरावत हाथीके द्वारा दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी थी, उसीके वंशमें उत्पन्न हुए गजराजपर आरूढ़ हो भगदत्तने भीमसेनपर चढ़ाई की थी॥ २०॥

स नागप्रवरो भीमं सहसा समुपाद्रवत् ।
चरणाभ्यामथो द्वाभ्यां संहतेन करेण च ॥ २१ ॥

वह गजराज अपने दो पैरों तथा सिकोड़ी हुई सूँड़के द्वारा सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा॥ २१॥

व्यावृत्तनयनः क्रुद्धः प्रमथन्निव पाण्डवम् ।
वृकोदररथं साश्वमविशेषमचूर्णयत् ॥ २२ ॥

उसके नेत्र सब ओर घूम रहे थे। वह क्रोधमें भरकर पाण्डुनन्दन भीमसेनको मानो मथ डालेगा, इस भावसे भीमसेनके रथकी ओर दौड़ा और उसे घोड़ोंसहित सामान्यतः चूर्ण कर दिया॥ २२॥

पद्भ्यां भीमोऽप्यथो धावंस्तस्य गात्रेष्वलीयत।
जानन्नञ्जलिकावेधं नापाक्रामत पाण्डवः ॥ २३ ॥

भीमसेन पैदल दौड़कर उस हाथीके शरीरमें छिप गये। पाण्डुपुत्र भीम अञ्जलिकावेध[1] जानते थे। इसलिये वहाँसे भागे नहीं॥ २३॥

गात्राभ्यन्तरगो भूत्वा करेणाताडयन्मुहुः।
लालयामास तं नागं वधाकाङ्क्षिणमव्ययम् ॥ २४ ॥

वे उसके शरीरके नीचे होकर हाथसे बारंबार थपथपाते हुए वधकी आकांक्षा रखनेवाले उस अविनाशी गजराजको लाड़-प्यार करने लगे॥ २४॥

कुलालचक्रवन्नागस्तदा तूर्णमथाभ्रमत् ।
नागायुतबलः श्रीमान् कालयानो वृकोदरम् ॥ २५ ॥

१. हाथीके निचले भागमें कोई ऐसा स्थान होता है, जिसमें दोनों हाथोंके द्वारा थपथपानेसे हाथीको सुख मिलता है। इस अवस्थामें वह महावतके मारनेपर भी टस-से-मस नहीं होता। भीमसेन इस कलाको जानते थे। इसीका नाम 'अञ्जलिकावेध' है।

उस समय वह हाथी तुरंत ही कुम्हारके चाकके समान सब ओर घूमने लगा । उसमें दस हजार हाथियोंका बल था । वह शोभायमान गजराज भीमसेनको मार डालनेका प्रयत्न कर रहा था ॥ २५ ॥

भीमोऽपि निष्क्रम्य ततः सुप्रतीकाग्रतोऽभवत्।
भीमं करेणावनम्य जानुभ्यामभ्यताडयत् ॥ २६ ॥

भीमसेन भी उसके शरीरके नीचेसे निकलकर उस हाथीके सामने खड़े हो गये । उस समय हाथीने अपनी सूँड़से गिराकर उन्हें दोनों घुटनोंसे कुचल डालनेका प्रयत्न किया ॥२६॥

ग्रीवायां वेष्टयित्वैनं स गजो हन्तुमैहत ।
करवेष्टं भीमसेनो भ्रमं दत्त्वा व्यमोचयत् ॥ २७ ॥

इतना ही नहीं, उस हाथीने उन्हें गलेमें लपेटकर मार डालनेकी चेष्टा की । तब भीमसेन उसे भ्रममें डालकर उसकी सूँड़के लपेटसे अपने आपको छुड़ा लिया ॥ २७ ॥

पुनर्गात्राणि नागस्य प्रविवेश वृकोदरः ।
यावत् प्रतिगजायातं स्वबले प्रत्यवैक्षत ॥ २८ ॥

तदनन्तर भीमसेन पुनः उस हाथीके शरीरमें ही छिप गये और अपनी सेनाकी ओरसे उस हाथीका सामना करनेके लिये किसी दूसरे हाथीके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे ॥

भीमोऽपि नागगात्रेभ्यो विनिःसृत्यापयाज्जवात्।
ततः सर्वस्य सैन्यस्य नादः समभवन्महान् ॥ २९ ॥

थोड़ी देर बाद भीम हाथीके शरीरसे निकलकर बड़े वेगसे भाग गये । उस समय सारी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ २९ ॥

अहो धिङ् निहतो भीमः कुञ्जरेणेति मारिष ।
तेन नागेन संत्रस्ता पाण्डवानामनीकिनी ॥ ३० ॥
सहसाभ्यद्रवद् राजन् यत्र तस्थौ वृकोदरः।

आर्य ! उस समय सबके मुँहसे यही बात निकल रही थी—'अहो ! इस हाथीने भीमसेनको मार डाला, यह कितनी बुरी बात है ।' राजन् ! उस हाथीसे भयभीत हो पाण्डवोंकी सारी सेना सहसा वहीं भाग गयी, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा हतं मत्वा वृकोदरम् ॥ ३१ ॥
भगदत्तं सपाञ्चाल्यः सर्वतः समवारयत्।

तब राजा युधिष्ठिरने भीमसेनको मारा गया जानकर पाञ्चालदेशीय सैनिकोंको साथ ले भगदत्तको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३१½ ॥

तं रथं रथिनां श्रेष्ठाः परिवार्य परंतपाः ॥ ३२ ॥
अवाकिरञ्शरैस्तीक्ष्णैः शतशोऽथ सहस्रशः।

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे श्रेष्ठ रथी उन महारथी भगदत्तको सब ओरसे घेरकर उनके ऊपर सैकड़ों और हजारों पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

स विघातं पृषत्कानामङ्कुशेन समाहरन् ॥ ३३ ॥
गजेन पाण्डुपञ्चालान् व्यधमत् पर्वतेश्वरः ।

पर्वतराज भगदत्तने उन बाणोंके प्रहारका अङ्कुशद्वारा निवारण किया और हाथीको आगे बढ़ाकर पाण्डव तथा पाञ्चाल योद्धाओंको कुचल डाला ॥ ३३½ ॥

तदद्भुतमपश्याम भगदत्तस्य संयुगे ॥ ३४ ॥
तथा वृद्धस्य चरितं कुञ्जरेण विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें हाथीके द्वारा बूढ़े राजा भगदत्तका हमलोगोंने अद्भुत पराक्रम देखा ॥ ३४½ ॥

ततो राजा दशार्णानां प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ३५ ॥
तिर्यग्यातेन नागेन समदेनाशुगामिना ।

तत्पश्चात् दशार्णराजने मदस्रावी, शीघ्रगामी तथा तिरछी दिशा (पार्श्वभाग) की ओरसे आक्रमण करनेवाले गजराजके द्वारा भगदत्तपर धावा किया ॥ ३५½ ॥

तयोर्युद्धं समभवन्नागयोर्भीमरूपयोः ॥ ३६ ॥
सपक्षयोः पर्वतयोर्यथा सद्रुमयोः पुरा ।

वे दोनों हाथी बड़े भयंकर रूपवाले थे । उन दोनोंका युद्ध वैसा ही प्रतीत हुआ, जैसा कि पूर्वकालमें पंखयुक्त एवं वृक्षावलीसे विभूषित दो पर्वतोंमें युद्ध हुआ करता था ॥

प्राग्ज्योतिषपतेर्नागः संनिवृत्यापसृत्य च ॥ ३७ ॥
पार्श्वे दशार्णाधिपतेर्भित्त्वा नागमपातयत् ।

प्राग्ज्योतिषनरेशके हाथीने लौटकर और पीछे हटकर दशार्णराजके हाथीके पार्श्वभागमें गहरा आघात किया और उसे विदीर्ण करके मार गिराया ॥ ३७½ ॥

तोमरैः सूर्यरश्म्याभैर्भगदत्तोऽथ सप्तभिः ॥ ३८ ॥
जघान द्विरदस्थं तं शत्रुं प्रचलितासनम् ।

तत्पश्चात् राजा भगदत्तने सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले सात तोमरोंद्वारा हाथीपर बैठे हुए शत्रु दशार्णराजको, जिसका आसन विचलित हो गया था, मार डाला ॥ ३८½॥

व्यवच्छिद्य तु राजानं भगदत्तं युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
रथानीकेन महता सर्वतः पर्यवारयत् ।

तब युधिष्ठिरने राजा भगदत्तको अपने बाणोंसे घायल करके विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घेर लिया ॥

स कुञ्जरस्थो रथिभिः शुशुभे सर्वतो वृतः ॥ ४० ॥
पर्वते वनमध्यस्थो ज्वलन्निव हुताशनः ।

जैसे वनके भीतर पर्वतके शिखरपर दावानल प्रज्वलित हो रहा हो, उसी प्रकार सब ओर रथियोंसे घिरकर हाथीकी पीठपर बैठे हुए राजा भगदत्त सुशोभित हो रहे थे ॥४०½॥

मण्डलं सर्वतः श्लिष्टं रथिनामुग्रधन्विनाम् ॥ ४१ ॥
किरतां शरवर्षाणि स नागः पर्यवर्तत ।

बाणोंकी वर्षा करते हुए भयंकर धनुर्धर रथियोंका मण्डल उस हाथीपर सब ओरसे आक्रमण कर रहा था और वह हाथी चारों ओर चक्कर काट रहा था ॥ ४१½ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा परिगृह्य महागजम् ॥ ४२ ॥
प्रेषयामास सहसा युयुधानरथं प्रति ।

उस समय प्राग्ज्योतिषपुरके राजाने उस महान् गजराजको सब ओरसे काबूमें करके सहसा सात्यकिके रथकी ओर बढाया ॥ ४२½ ॥

शिनेः पौत्रस्य तु रथं परिगृह्य महाद्विपः ॥ ४३ ॥
अभिचिक्षेप वेगेन युयुधानस्त्वपाक्रमत् ।

युयुधान (सात्यकि) अपने रथको छोड़कर दूर हट गये और उस महान् गजराजने शिनि-पौत्र सात्यकिके उस रथको सूँड़से पकड़कर बड़े वेगसे फेंक दिया ॥ ४३½ ॥

बृहतः सैन्धवानश्वान् समुत्थाप्याथ सारथिः ॥ ४४ ॥
तस्थौ सात्यकिमासाद्य सम्प्लुतस्तं रथं प्रति ।

तदनन्तर सारथिने अपने रथके विशाल सिंधी घोड़ोंको उठाकर खड़ा किया और कूदकर रथपर जा चढ़ा । फिर रथसहित सात्यकिके पास जाकर खड़ा हो गया ॥ ४४½ ॥

स तु लब्ध्वान्तरं नागस्त्वरितो रथमण्डलात् ॥ ४५ ॥
निश्चक्राम ततः सर्वान् परिचिक्षेप पार्थिवान् ।

इसी बीचमें अवसर पाकर वह गजराज बड़ी उतावलीके साथ रथोंके घेरेसे पार निकल गया और समस्त राजाओंको उठा-उठाकर फेंकने लगा ॥ ४५½ ॥

ते त्वाशुगतिना तेन त्रास्यमाना नरर्षभाः ॥ ४६ ॥
तमेकं द्विरदं संख्ये मेनिरे शतशो द्विपान् ।

उस शीघ्रगामी गजराजसे डराये हुए नरश्रेष्ठ नरेश युद्धस्थलमें उस एकको ही सैकड़ों हाथियोंके समान मानने लगे॥

ते गजस्थेन काल्यन्ते भगदत्तेन पाण्डवाः ॥ ४७ ॥
ऐरावतस्थेन यथा देवराजेन दानवाः ।

जैसे देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर बैठकर दानवोंका नाश करते हैं, उसी प्रकार अपने हाथीकी पीठपर बैठे हुए राजा भगदत्त पाण्डव-सैनिकोंका संहार कर रहे थे ॥ ४७½ ॥

तेषां प्रद्रवतां भीमः पञ्चालानामितस्ततः ॥ ४८ ॥
गजवाजिकृतः शब्दः सुमहान् समजायत ।

उस समय इधर-उधर भागते हुए पाञ्चाल-सैनिकोंके हाथी-घोड़ोंका महान् भयंकर चीत्कार शब्द प्रकट हुआ॥४८½॥

भगदत्तेन समरे काल्यमानेषु पाण्डुषु ॥ ४९ ॥
प्राग्ज्योतिषमभिक्रुद्धः पुनर्भीमः समभ्ययात् ।

भगदत्तके द्वारा समरभूमिमें पाण्डव-सैनिकोंके खदेड़े जानेपर भीमसेन कुपित हो पुनः प्राग्ज्योतिषके स्वामी भगदत्तपर चढ़ आये ॥ ४९½ ॥

तस्याभिद्रवतो वाहान् हस्तमुक्तेन वारिणा ॥ ५० ॥
सिक्त्वा व्यत्रासयन्नागस्ते पार्थमहरंस्ततः ।

उस समय आक्रमण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंपर उस हाथीने सूँड़से जल छोड़कर उन्हें भयभीत कर दिया । फिर तो वे घोड़े भीमसेनको लेकर दूर भाग गये ॥ ५०½ ॥

ततस्तमभ्ययात् तूर्णं रुचिपर्वाऽऽकृतीसुतः ॥ ५१ ॥
समभ्यञ्छरवर्षेण रथस्थोऽन्तकसंनिभः ।

तब आकृतीपुत्र रुचिपर्वाने तुरंत ही उस हाथीपर आक्रमण किया । वह रथपर बैठकर साक्षात् यमराजके समान जान पड़ता था । उसने बाणोंकी वर्षासे उस हाथीको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५१½ ॥

ततः स रुचिपर्वाणं शरेणानतपर्वणा ॥ ५२ ॥
सुपर्वा पर्वतपतिर्निन्ये वैवस्वतक्षयम् ।

यह देख जिनके अङ्गोंकी जोड़ सुन्दर है उन पर्वतराज भगदत्तने झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा रुचिपर्वाको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५२½ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे सौभद्रो द्रौपदीसुतः ॥ ५३ ॥
चेकितानो धृष्टकेतुर्युयुत्सुश्चार्दयन् द्विपम् ।
त एनं शरधाराभिर्धाराभिरिव तोयदाः ॥ ५४ ॥
सिषिचुर्भैरवान् नादान् विनदन्तो जिघांसवः ।

उस वीरके मारे जानेपर अभिमन्यु, द्रौपदीकुमार, चेकितान, धृष्टकेतु तथा युयुत्सुने भी उस हाथीको पीडा देना आरम्भ किया । ये सब लोग उस हाथीको मार डालनेकी इच्छासे विकट गर्जना करते हुए अपने बाणोंकी धारासे सींचनेलगे, मानो मेघ पर्वतको जलकी धारासे नहला रहे हों ॥ ५३-५४½ ॥

ततः पार्ष्ण्यङ्कुशाङ्गुष्ठैः कृतिना चोदितो द्विपः । ५५।
प्रसारितकरः प्रायात् स्तब्धकर्णेक्षणो द्रुतम् ।
सोऽधिष्ठाय पदा वाहान् युयुत्सोः सूतमारुजत् ॥५६॥

तदनन्तर विद्वान् राजा भगदत्तने अपने पैरोंकी एँड़ी, अङ्कुश एवं अङ्गुष्ठसे प्रेरित करके हाथीको आगे बढ़ाया । फिर तो अपने कानोंको खड़े करके एकटक आँखोंसे देखते हुए सूँड़ फैलाकर उस हाथीने शीघ्रतापूर्वक धावा किया और युयुत्सुके घोड़ोंको पैरोंसे दबाकर उनके सारथिको मार डाला॥५५-५६॥

युयुत्सुस्तु रथाद् राजन्नपाक्रामत् त्वरान्वितः ।
ततः पाण्डवयोधास्ते नागराजं शरैर्द्रुतम् ॥ ५७ ॥
सिषिचुर्भैरवान् नादान् विनदन्तो जिघांसवः ।

राजन् ! युयुत्सु बड़ी उतावलीके साथ रथसे उतरकर दूर चले गये थे । तत्पश्चात् पाण्डव योद्धा उस गजराजको शीघ्रतापूर्वक मार डालनेकी इच्छासे भैरव-गर्जना करते हुए अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उसे सींचने लगे ॥ ५७½ ॥

पुत्रस्तु तव सम्भ्रान्तः सौभद्रस्याप्लुतो रथम् ॥५८॥
स कुञ्जरस्थो विसृजन्निषूनरिषु पार्थिवः ।
बभौ रश्मीनिवादित्यो भुवनेषु समुत्सृजन् ॥ ५९ ॥

उस समय घबराये हुए आपके पुत्र युयुत्सु अभिमन्युके रथपर जा बैठे । हाथीकी पीठपर बैठे हुए राजा भगदत्त शत्रुओंपर बाण-वर्षा करते हुए सम्पूर्ण लोकोंमें अपनी

किरणोंका विस्तार करनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५८-५९ ॥

तमार्जुनिर्द्वादशभिर्युयुत्सुर्दशभिः शरैः ।
त्रिभिस्त्रिभिर्द्रौपदेया धृष्टकेतुश्च विव्यधुः ॥ ६० ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युने बारह, युयुत्सुने दस और द्रौपदीके पुत्रों तथा धृष्टकेतुने तीन-तीन बाणोंसे भगदत्तके उस हाथीको घायल कर दिया ॥ ६० ॥

सोऽतियत्नार्पितैर्बाणैराचितो द्विरदो बभौ।
संस्यूत इव सूर्यस्य रश्मिभिर्जलदो महान् ॥ ६१ ॥

अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक चलाये हुए उन बाणोंसे हाथीका सारा शरीर व्याप्त हो रहा था । उस अवस्थामें वह सूर्यकी किरणोंमें पिरोये हुए महामेघके समान शोभा पा रहा था ॥

नियन्तुः शिल्पयत्नाभ्यां प्रेरितोऽरिशरार्दितः ।
परिचिक्षेप तान् नागः स रिपून् सव्यदक्षिणम् ॥ ६२॥

महावतके कौशल और प्रयत्नसे प्रेरित होकर वह हाथी शत्रुओंके बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी उन विपक्षियोंको दायें-बायें उठाकर फेंकने लगा ॥ ६२ ॥

गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने।
आवेष्टयत तां सेनां भगदत्तस्तथा मुहुः ॥ ६३ ॥

जैसे ग्वाला जंगलमें पशुओंको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भगदत्तने पाण्डवसेनाको बार-बार घेर लिया ॥ ६३ ॥

क्षिप्रं श्येनाभिपन्नानां वायसानामिव स्वनः ।
बभूव पाण्डवेयानां भृशं विद्रवतां स्वनः ॥ ६४ ॥

जैसे बाज पक्षीके चंगुलमें फँसे हुए अथवा उसके आक्रमणसे त्रस्त हुए कौओंमें शीघ्र ही काँव-काँवका कोलाहल होने लगता है, उसी प्रकार भागते हुए पाण्डव योद्धाओंका आर्तनाद जोर-जोरसे सुनायी दे रहा था ॥ ६४ ॥

स नागराजः प्रवराङ्कुशाहतः
पुरा सपक्षोऽद्रिवरो यथा नृप ।
भयं तदा रिपुषु समादधद् भृशं
वणिग्जनानां क्षुभितो यथार्णवः॥ ६५ ॥

नरेश्वर ! उस समय विशाल अङ्कुशकी मार खाकर वह गजराज पूर्वकालके पंखधारी श्रेष्ठ पर्वतकी भाँति शत्रुओंको उसी प्रकार अत्यन्त भयभीत करने लगा, जैसे विक्षुब्ध महासागर व्यापारियोंको भयमें डाल देता है ॥ ६५ ॥

ततो ध्वनिर्द्विरदरथाश्वपार्थिवै-
र्भयाद् द्रवद्भिर्जनितोऽतिभैरवः ।
क्षितिं वियद् द्यां विदिशो दिशस्तथा
समावृणोत् पार्थिव संयुगे ततः ॥६६॥

महाराज ! तदनन्तर भयसे भागते हुए हाथी, रथ, घोड़े तथा राजाओंने वहाँ अत्यन्त भयंकर आर्तनाद फैला दिया । उनके उस भयंकर शब्दने युद्धस्थलमें पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग तथा दिशा-विदिशाओंको सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ ६६ ॥

स तेन नागप्रवरेण पार्थिवो
भृशं जगाहे द्विपतामनीकिनीम् ।
पुरा सुगुप्तां विबुधैरिवाहवे
विरोचनो देववरूथिनीमिव ॥६७॥

उस गजराजके द्वारा राजा भगदत्तने शत्रुओंकी सेनामें अच्छी तरह प्रवेश किया । जैसे पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके समय देवताओंद्वारा सुरक्षित देवसेनामें विरोचनने प्रवेश किया था ॥ ६७ ॥

भृशं ववौ ज्वलनसखो वियद् रजः
समावृणोन्मुहुरपि चैव सैनिकान् ।
तमेकनागं गणशो यथा गजान्
समन्ततो द्रुतमथ मेनिरे जनाः ॥६८॥

उस समय वहाँ बड़े जोरसे वायु चलने लगी । आकाशमें धूल छा गयी । उस धूलने समस्त सैनिकोंको ढक दिया । उस समय सब लोग चारों ओर दौड़ लगानेवाले उस एकमात्र हाथीको हाथियोंके झुंड-सा मानने लगे ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका संशप्तक-सेनाके साथ भयंकर युद्ध और उसके अधिकांश भागका वध

संजय उवाच

यन्मां पार्थस्य संग्रामे कर्माणि परिपृच्छसि ।
तच्छृणुष्व महाबाहो पार्थो यदकरोद् रणे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाबाहो ! आप जो मुझसे युद्धमें अर्जुनके पराक्रम पूछ रहे हैं, उन्हें बताता हूँ । अर्जुनने रणक्षेत्रमें जो कुछ किया था, वह सुनिये ॥ १ ॥

रजो दृष्ट्वा समुद्भूतं श्रुत्वा च गजनिःस्वनम् ।
भगदत्ते विकुर्वाणे कौन्तेयः कृष्णमब्रवीत् ॥ २ ॥

भगदत्तके विचित्र रूपसे युद्ध करते समय वहाँ धूल उड़ती देखकर और हाथीके चिग्घाड़नेका शब्द सुनकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—॥ २ ॥

यथा प्राग्ज्योतिषो राजा गजेन मधुसूदन ।
त्वरमाणो विनिष्क्रान्तो ध्रुवं तस्यैष निःस्वनः ॥ ३ ॥

'मधुसूदन ! राजा भगदत्त अपने हाथीपर सवार

जिस प्रकार उतावलीके साथ युद्धके लिये निकले थे, उससे जान पड़ता है निश्चय ही यह महान् कोलाहल उन्हींका है ॥

इन्द्रादनवरः संख्ये गजयानविशारदः ।
प्रथमो गजयोधानां पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'मेरा तो यह विश्वास है कि वे युद्धमें इन्द्रसे कम नहीं हैं। भगदत्त हाथीकी सवारीमें कुशल और गजारोही योद्धाओंमें इस पृथ्वीपर सबसे प्रधान हैं ॥ ४ ॥

स चापि द्विरदश्रेष्ठः सदाऽप्रतिगजो युधि ।
सर्वशस्त्रातिगः संख्ये कृतकर्मा जितक्लमः ॥ ५ ॥

'और उनका वह गजश्रेष्ठ सुप्रतीक भी युद्धमें अपना शानी नहीं रखता है। वह सब शस्त्रोंका उल्लङ्घन करके युद्धमें अनेक बार पराक्रम प्रकट कर चुका है। उसने परिश्रमको जीत लिया है ॥ ५ ॥

सहः शस्त्रनिपातानामग्निस्पर्शस्य चानघ ।
स पाण्डवबलं सर्वमद्यैको नाशयिष्यति ॥ ६ ॥

'अनघ ! वह सम्पूर्ण शस्त्रोंके आघात तथा अग्निके स्पर्शको भी सह सकनेवाला है। आज वह अकेला ही समस्त पाण्डवसेनाका विनाश कर डालेगा ॥ ६ ॥

न चावाभ्यामृतेऽन्योऽस्ति शक्तस्तं प्रतिबाधितुम्।
त्वरमाणस्ततो याहि यतः प्राग्ज्योतिषाधिपः ॥ ७ ॥

'हम दोनोंके सिवा दूसरा कोई नहीं है, जो उसे बाधा देनेमें समर्थ हो। अतः आप शीघ्रतापूर्वक वहीं चलिये, जहाँ प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त विद्यमान हैं ॥ ७ ॥

दृप्तं संख्ये द्विपबलाद् वयसा चापि विस्मितम् ।
अद्यैनं प्रेषयिष्यामि बलहन्तुः प्रियातिथिम् ॥ ८ ॥

'अपने हाथीके बलसे युद्धमें घमंड दिखानेवाले और अवस्थामें भी बड़े होनेका अहंकार रखनेवाले इन राजा भगदत्तको मैं देवराज इन्द्रका प्रिय अतिथि बनाकर स्वर्गलोक भेज दूँगा' ॥ ८ ॥

वचनादथ कृष्णस्तु प्रययौ सव्यसाचिनः ।
दीर्यते भगदत्तेन यत्र पाण्डववाहिनी ॥ ९ ॥

सव्यसाची अर्जुनके इस वचनसे प्रेरित हो श्रीकृष्ण उस स्थानपर रथ लेकर गये, जहाँ भगदत्त पाण्डवसेनाका संहार कर रहे थे ॥ ९ ॥

तं प्रयान्तं ततः पश्चादाह्वयन्तो महारथाः ।
संशप्तकाः समारोहन् सहस्राणि चतुर्दश ॥ १०॥

अर्जुनको जाते देख पीछेसे चौदह हजार संशप्तक महारथी उन्हें ललकारते हुए चढ़ आये ॥ १० ॥

दशैव तु सहस्राणि त्रिगर्तानां महारथाः ।
चत्वारि च सहस्राणि वासुदेवस्य चानुगाः ॥ ११ ॥

उनमें दस हजार महारथी तो त्रिगर्तदेशके थे और चार हजार भगवान् श्रीकृष्णके सेवक (नारायणी सेनाके सैनिक) थे ॥ ११ ॥

दीर्यमाणां चमूं दृष्ट्वा भगदत्तेन मारिष ।
आहूयमानस्य च तैरभवद्धृदयं द्विधा ॥ १२ ॥

आर्य ! राजा भगदत्तके द्वारा अपनी सेनाको विदीर्ण होती देखकर तथा पीछेसे संशप्तकोंकी ललकार सुनकर उनका हृदय दुविधेमें पड़ गया ॥ १२ ॥

किं नु श्रेयस्करं कर्म भवेदद्येति चिन्तयन् ।
इह वा विनिवर्तेयं गच्छेयं वा युधिष्ठिरम् ॥१३ ॥

वे सोचने लगे—आज मेरे लिये कौन-सा कार्य श्रेयस्कर होगा। यहाँसे संशप्तकोंकी ओर लौट चलूँ अथवा युधिष्ठिरके पास जाऊँ ॥ १३ ॥

तस्य बुद्ध्या विचार्यैवमर्जुनस्य कुरूद्वह ।
अभवद् भूयसी बुद्धिः संशप्तकवधे स्थिरा ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! बुद्धिसे इस प्रकार विचार करनेपर अर्जुनके मनमें यह भाव अत्यन्त दृढ़ हुआ कि संशप्तकोंके वधका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥

स संनिवृत्तः सहसा कपिप्रवरकेतनः ।
एको रथसहस्राणि निहन्तुं वासवी रणे ॥१५ ॥

श्रेष्ठ वानरचिह्नसे सुशोभित ध्वजावाले इन्द्रकुमार अर्जुन उपर्युक्त बात सोचकर सहसा लौट पड़े। वे रणक्षेत्रमें अकेले ही हजारों रथियोंका संहार करनेको उद्यत थे ॥१५॥

सा हि दुर्योधनस्यासीन्मतिः कर्णस्य चोभयोः ।
अर्जुनस्य वधोपाये तेन द्वैधमकल्पयत् ॥ १६ ॥

अर्जुनके वधका उपाय सोचते हुए दुर्योधन और कर्ण दोनोंके मनमें यही विचार उत्पन्न हुआ था। इसीलिये उसने युद्धको दो भागोंमें बाँट दिया ॥ १६ ॥

स तु दोलायमानोऽभूद् द्वैधीभावेन पाण्डवः ।
वधेन तु नराग्र्याणामकरोत् तां मृषा तदा ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन एक बार दुविधामें पड़कर चञ्चल हो गये थे, तथापि नरश्रेष्ठ संशप्तक वीरोंके वधका निश्चय करके उन्होंने उस दुविधाको मिथ्या कर दिया था ॥ १७ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
असृजन्नर्जुने राजन् संशप्तकमहारथाः ॥ १८ ॥

राजन् ! तदनन्तर संशप्तक महारथियोंने अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाणोंकी वर्षा की ॥ १८ ॥

नैव कुन्तीसुतः पार्थो नैव कृष्णो जनार्दनः ।
न हया न रथो राजन् दृश्यन्ते स्म शरैश्चिताः ॥१९ ॥

महाराज ! उस समय न तो कुन्तीकुमार अर्जुन, न जनार्दन श्रीकृष्ण, न घोड़े और न रथ ही दिखायी देते थे। सब-के-सब वहाँ बाणोंके ढेरसे आच्छादित हो गये थे॥१९॥

तदा मोहमनुप्राप्तः सिष्विदे हि जनार्दनः ।
ततस्तान् प्रायशः पार्थो ब्रह्मास्त्रेण निजघ्निवान् ॥२०॥

उस अवस्थामें भगवान् जनार्दन पसीने-पसीने हो गये। उनपर मोह-सा छा गया। यह देख अर्जुनने ब्रह्मास्त्रसे उन

सबको अधिकांशमें नष्ट कर दिया ॥ २० ॥

शतशः पाणयश्छिन्नाः सेषुज्यातलकार्मुकाः।
केतवो वाजिनः सूता रथिनश्चापतन् क्षितौ ॥ २१॥

सैकड़ों भुजाएँ बाण, प्रत्यञ्चा और धनुषसहित कट गयीं। ध्वज, घोड़े, सारथि और रथी सभी धराशायी हो गये॥

द्रुमाचलाग्राम्बुधरैः समकायाः सुकल्पिताः।
हतारोहाः क्षितौ पेतुर्द्विपाः पार्थशराहताः ॥ २२ ॥

वृक्ष, पर्वत-शिखर और मेघोंके समान विशाल एवं ऊँचे शरीरवाले, सजे-सजाये हाथी, जिनके सवार पहले ही मार दिये गये थे, अर्जुनके बाणोंसे आहत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥

विप्रविद्धकुथा नागाश्छिन्नभाण्डाः परासवः।
सारोहास्तु रणे पेतुर्मथिता मार्गणैर्भृशम् ॥ २३ ॥

उस रणक्षेत्रमें बहुत-से हाथी अर्जुनके बाणोंसे मथित होकर सवारोंसहित प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय उनके झूल चिथड़े-चिथड़े होकर दूर जा पड़े थे और उनके आभूषणोंके भी टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ॥ २३ ॥

सर्ष्टिप्रासासिनखराः समुद्गरपरश्वधाः।
विच्छिन्ना बाहवः पेतुर्नृणां भल्लैः किरीटिना॥ २४॥

किरीटधारी अर्जुनके भल्लनामक बाणोंसे ऋष्टि, प्रास, खड्ग, नखर, मुद्गर और फरसोंसहित वीरोंकी भुजाएँ कट-कर गिर गयीं ॥ २४ ॥

बालादित्याम्बुजेन्दूनां तुल्यरूपाणि मारिष।
संच्छिन्नान्यर्जुनशरैः शिरांस्युर्व्यां प्रपेदिरे ॥ २५ ॥

आर्य! योद्धाओंके मस्तक, जो बालसूर्य, कमल और चन्द्रमाके समान सुन्दर थे, अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

जज्वालालंकृता सेना पत्रिभिः प्राणिभोजनैः।
नानारूपैस्तदामित्रान् क्रुद्धे निघ्नति फाल्गुने ॥२६॥

जब क्रोधमें भरे हुए अर्जुन नाना प्रकारके प्राणनाशक बाणोंद्वारा शत्रुओंका नाश करने लगे, उस समय आभूषणों-से विभूषित हुई संशप्तकोंकी सारी सेना जलने लगी ॥ २६ ॥

क्षोभयन्तं तदा सेनां द्विरदं नलिनीमिव।
धनंजयं भूतगणाः साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २७ ॥

जैसे हाथी कमलोंसे भरे हुए सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार अर्जुनको सारी सेनाका विनाश करते देख सब प्राणी 'साधु-साधु' कहकर अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे ॥

दृष्ट्वा तत् कर्म पार्थस्य वासवस्येव माधवः।
विस्मयं परमं गत्वा प्राञ्जलिस्तमुवाच ह ॥ २८ ॥

इन्द्रके समान अर्जुनका वह पराक्रम देख भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त आश्चर्यमें पड़कर हाथ जोड़े हुए बोले—॥२८॥

कर्मैतत् पार्थ शक्रेण यमेन धनदेन च।
दुष्करं समरे यत् ते कृतमद्येति मे मतिः ॥ २९ ॥

'पार्थ! मेरा ऐसा विश्वास है कि आज समर-भूमिमें तुमने जो कार्य किया है, यह इन्द्र, यम और कुबेरके लिये भी दुष्कर है ॥ २९ ॥

युगपच्चैव संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः।
पतिता एव मे दृष्टाः संशप्तकमहारथाः ॥ ३० ॥

'इस संग्राममें मैंने सैकड़ों और हजारों संशप्तक महारथियों-को एक साथ ही गिरते देखा है' ॥ ३० ॥

संशप्तकांस्ततो हत्वा भूयिष्ठा ये व्यवस्थिताः।
भगदत्ताय याहीति कृष्णं पार्थोऽभ्यनोदयत् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वहाँ खड़े हुए संशप्तक योद्धाओंमेंसे अधिकांशका वध करके अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'अब भगदत्तके पास चलिये' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि संशप्तकवधे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें संशप्तकोंका वधविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संशप्तकोंका संहार करके अर्जुनका कौरव-सेनापर आक्रमण तथा भगदत्त और उनके हाथीका पराक्रम

संजय उवाच

यियासतस्ततः कृष्णः पार्थस्याश्वान् मनोजवान्।
सम्प्रैषीद्धेमसंछन्नान् द्रोणानीकाय सत्वरन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणकी सेना-के समीप जानेकी इच्छावाले अर्जुनके सुवर्णभूषित एवं मनके समान वेगशाली अश्वोंको भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी उतावली-के साथ द्रोणाचार्यकी सेनातक पहुँचनेके लिये हाँका ॥ १ ॥

तं प्रयान्तं कुरुश्रेष्ठं स्वान् भ्रातॄन् द्रोणतापितान्।
सुशर्मा भ्रातृभिः सार्धं युद्धार्थी पृष्ठतोऽन्वयात् ॥२॥

द्रोणाचार्यके सताये हुए अपने भाइयोंके पास जाते हुए कुरुश्रेष्ठ अर्जुनको भाइयोंसहित सुशर्माने युद्धकी इच्छासे ललकारा और पीछेसे उनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

ततः श्वेतहयः कृष्णमब्रवीदजितं जयः।
एष मां भ्रातृभिः सार्धं सुशर्माऽऽह्वयतेऽच्युत ॥ ३ ॥

तब श्वेतवाहन अर्जुनने अपराजित श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा, 'अच्युत! यह भाइयोंसहित सुशर्मा मुझे पुनः युद्धके लिये बुला रहा है ॥ ३ ॥

दीर्यते चोत्तरेणैव तत् सैन्यं मधुसूदन।

द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य कृतं संशप्तकैरिदम् ॥ ४ ॥

'उधर उत्तर दिशाकी ओर अपनी सेनाका नाश किया जा रहा है। मधुसूदन! इन संशप्तकोंने आज मेरे मनको दुविधामें डाल दिया है ॥ ४ ॥

किं नु संशप्तकान् हन्मि स्वान् रक्षाम्यहितार्दितान्।
इति मे त्वं मतं वेत्सि तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ५ ॥

'क्या मैं संशप्तकोंका वध करूँ अथवा शत्रुओंद्वारा पीड़ित हुए अपने सैनिकोंकी रक्षा करूँ। इस प्रकार मेरा मन संकल्प-विकल्पमें पड़ा है, सो आप जानते ही हैं। बताइये, अब मेरे लिये क्या करना अच्छा होगा' ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु दाशार्हः स्यन्दनं प्रत्यवर्तयत्।
येन त्रिगर्ताधिपतिः पाण्डवं समुपाह्वयत् ॥ ६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने रथको उसी ओर लौटाया, जिस ओरसे त्रिगर्तराज सुशर्मा उन पाण्डुकुमारको युद्धके लिये ललकार रहा था ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनः सुशर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः।
ध्वजं धनुश्चास्य तथा क्षुराभ्यां समकृन्तत ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने सुशर्माको सात बाणोंसे घायल करके दो छुरोंद्वारा उसके ध्वज और धनुषको काट डाला ॥ ७ ॥

त्रिगर्ताधिपतेश्चापि भ्रातरं षड्भिराशुगैः।
साश्वं ससूतं त्वरितः पार्थः प्रैषीद् यमक्षयम्॥ ८ ॥

साथ ही त्रिगर्तराजके भाईको भी छः बाण मारकर अर्जुनने उसे घोड़े और सारथिसहित तुरंत यमलोक भेज दिया॥

ततो भुजगसंकाशां सुशर्मा शक्तिमायसीम्।
चिक्षेपार्जुनमादिश्य वासुदेवाय तोमरम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर सुशर्माने सर्पके समान आकृतिवाली लोहेकी बनी हुई एक शक्तिको अर्जुनके ऊपर चलाया और वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्णपर तोमरसे प्रहार किया ॥ ९ ॥

शक्तिं त्रिभिः शरैश्छित्त्वा तोमरं त्रिभिरर्जुनः।
सुशर्माणं शरव्रातैर्मोहयित्वा न्यवर्तयत् ॥ १० ॥

अर्जुनने तीन बाणोंद्वारा शक्ति तथा तीन बाणोंद्वारा तोमरको काटकर सुशर्माको अपने बाण-समूहोंद्वारा मोहित करके पीछे लौटा दिया ॥ १० ॥

तं वासवमिवायान्तं भूरिवर्षं शरौघिणम्।
राजंस्तावकसैन्यानां नोग्रं कश्चिदवारयत् ॥ ११ ॥

राजन्! इसके बाद वे इन्द्रके समान बाण-समूहोंकी भारी वर्षा करते हुए जब आपकी सेनापर आक्रमण करने लगे, उस समय आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उन उग्ररूप-धारी अर्जुनको रोक न सका ॥ ११ ॥

ततो धनंजयो बाणैः सर्वानेव महारथान्।
आयाद् विनिघ्नन् कौरव्यान् दहन् कक्षमिवानलः॥१२॥

तत्पश्चात् जैसे अग्नि घास-फूँसके समूहको जला डालती है, उसी प्रकार अर्जुन अपने बाणोंद्वारा समस्त कौरव महारथियों-को क्षत-विक्षत करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ १२ ॥

तस्य वेगमसह्यं तं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः।
नाशक्नुवंस्ते संसोढुं स्पर्शमग्नेरिव प्रजाः ॥ १३ ॥

परम बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके उस असह्य वेगको कौरव सैनिक उसी प्रकार नहीं सह सके, जैसे प्रजा अग्निका स्पर्श नहीं सहन कर पाती ॥ १३ ॥

संवेष्टयन्ननीकानि शरवर्षेण पाण्डवः।
सुपर्णपातवद् राजन्नायात् प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ १४ ॥

राजन्! अर्जुनने बाणोंकी वर्षासे कौरव सेनाओंको आच्छादित करते हुए गरुड़के समान वेगसे भगदत्तपर आक्रमण किया ॥ १४ ॥

यत् तदानामयज्जिष्णुर्भरतानामपापिनाम् ।
धनुः क्षेमकरं संख्ये द्विषतामश्रुवर्धनम् ॥ १५ ॥
तदेव तव पुत्रस्य राजन् दुर्द्यूतदेविनः।
कृते क्षत्रविनाशाय धनुरायच्छदर्जुनः ॥ १६ ॥

महाराज! विजयी अर्जुनने युद्धमें शत्रुओंकी अश्रुधारा-को बढ़ानेवाले जिस धनुषको कभी निष्पाप भरतवंशियोंका कल्याण करनेके लिये नवाया था, उसीको कपटद्यूत खेलने-वाले आपके पुत्रके अपराधके कारण सम्पूर्ण क्षत्रियोंका विनाश करनेके लिये हाथमें लिया ॥ १५-१६ ॥

तथा विक्षोभ्यमाणा सा पार्थेन तव वाहिनी।
व्यशीर्यत महाराज नौरिवासाद्य पर्वतम् ॥ १७ ॥

नरेश्वर! कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा मथी जाती हुई आपकी वाहिनी उसी प्रकार छिन्न-भिन्न होकर बिखर गयी, जैसे नाव किसी पर्वतसे टकराकर टूक-टूक हो जाती है ॥

ततो दशसहस्राणि न्यवर्तन्त धनुष्मताम्।
मतिं कृत्वा रणे क्रूरां वीरा जयपराजये ॥ १८ ॥

तदनन्तर दस हजार धनुर्धर वीर जय अथवा पराजयके हेतुभूत युद्धका क्रूरतापूर्ण निश्चय करके लौट आये ॥१८॥

व्यपेतहृदयत्रासा आवव्रुस्तं महारथाः।
आर्च्छत् पार्थो गुरुं भारं सर्वभारसहो युधि ॥ १९ ॥

उन महारथियोंने अपने हृदयसे भयको निकालकर अर्जुनको वहाँ घेर लिया। युद्धमें समस्त भारोंको सहन करने-वाले अर्जुनने उनसे लड़नेका भारी भार भी अपने ही ऊपर ले लिया ॥ १९ ॥

यथा नलवनं क्रुद्धः प्रभिन्नः षष्टिहायनः।
मृद्नीयात् तद्वदायस्तः पार्थोऽमृद्नाच्चमूं तव ॥ २० ॥

जैसे साठ वर्षका मदस्रावी हाथी क्रोधमें भरकर नरकुलों-के जंगलको रौंदकर धूलमें मिला देता है, उसी प्रकार प्रयत्नशील पार्थने आपकी सेनाको मटियामेट कर दिया॥

तस्मिन् प्रमथिते सैन्ये भगदत्तो नराधिपः।

तेन नागेन सहसा धनंजयमुपाद्रवत् ॥ २१ ॥

उस सेनाके मथ डाले जानेपर राजा भगदत्तने उसी सुप्रतीक हाथीके द्वारा सहसा धनंजयपर धावा किया ॥२१॥

तं रथेन नरव्याघ्रः प्रत्यगृह्णाद् धनंजयः ।
स संनिपातस्तुमुलो बभूव रथनागयोः ॥ २२ ॥

नरश्रेष्ठ अर्जुनने रथके द्वारा ही उस हाथीका सामना किया। रथ और हाथीका वह संघर्ष बड़ा भयंकर था ॥२२॥

कल्पिताभ्यां यथाशास्त्रं रथेन च गजेन च ।
संग्रामे चेरतुर्वीरौ भगदत्तधनंजयौ ॥ २३ ॥

शास्त्रीय विधिके अनुसार निर्मित और सुसज्जित रथ तथा सुशिक्षित हाथीके द्वारा वीरवर अर्जुन और भगदत्त संग्रामभूमिमें विचरने लगे ॥ २३ ॥

ततो जीमूतसंकाशान्नागादिन्द्र इव प्रभुः ।
अभ्यवर्षच्छरौघेण भगदत्तो धनंजयम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर इन्द्रके समान शक्तिशाली राजा भगदत्त अर्जुनपर मेघ-सदृश हाथीसे बाणसमूहरूपी जलराशिकी वर्षा करने लगे ॥ २४ ॥

स चापि शरवर्षं तं शरवर्षेण वासविः ।
अप्राप्तमेव चिच्छेद भगदत्तस्य वीर्यवान् ॥ २५ ॥

इधर पराक्रमी इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तकी बाण-वर्षाको अपने पासतक पहुँचनेके पहले ही छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २५ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा शरवर्षं निवार्य तत् ।
शरैर्जघ्ने महाबाहुं पार्थं कृष्णं च मारिष ॥ २६ ॥

आर्य ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेश राजा भगदत्तने भी विपक्षीकी उस बाण-वर्षाका निवारण करके महाबाहु अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

ततस्तु शरजालेन महताभ्यवकीर्य तौ ।
चोदयामास तं नागं वधायाच्युतपार्थयोः ॥ २७ ॥

फिर उनके ऊपर बाणोंका महान् जाल-सा बिछाकर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंके वधके लिये उस गजराजको आगे बढ़ाया॥

तमापतन्तं द्विरदं दृष्ट्वा क्रुद्धमिवान्तकम् ।
चक्रेऽपसव्यं त्वरितः स्यन्दनेन जनार्दनः ॥ २८ ॥

क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उस हाथीको आक्रमण करते देख भगवान् श्रीकृष्णने तुरंत ही रथद्वारा उसे अपने दाहिने कर दिया ॥ २८ ॥

तं प्राप्तमपि नेयेष परावृत्तं महाद्विपम् ।
सारोहं मृत्युसात्कर्तुं स्मरन् धर्मं धनंजयः ॥ २९ ॥

यद्यपि वह महान् गजराज आक्रमण करते समय अपने बहुत निकट आ गया था, तो भी अर्जुनने धर्मका स्मरण करके सवारोंसहित उस हाथीको मृत्युके अधीन करनेकी इच्छा नहीं की* ॥ २९ ॥

स तु नागो द्विपरथान् हयांश्चामृद्य मारिष ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय ततः क्रुद्धो धनंजयः ॥ ३० ॥

आदरणीय महाराज ! उस हाथीने बहुत-से हाथियों, रथों और घोड़ोंको कुचलकर यमलोक भेज दिया। यह देख अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुन और भगदत्तका युद्ध, श्रीकृष्णद्वारा भगदत्तके वैष्णवास्त्रसे अर्जुनकी रक्षा तथा अर्जुनद्वारा हाथीसहित भगदत्तका वध

धृतराष्ट्र उवाच

तथा क्रुद्धः किमकरोद् भगदत्तस्य पाण्डवः ।
प्राग्ज्योतिषो वा पार्थस्य तन्मे शंस यथातथम्॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डुकुमार अर्जुनने भगदत्तका और भगदत्तने अर्जुनका क्या किया ? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

प्राग्ज्योतिषेण संसक्तावुभौ दाशार्हपाण्डवौ ।
मृत्युदंष्ट्रान्तिकं प्राप्तौ सर्वभूतानि मेनिरे ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भगदत्तसे युद्धमें उलझे हुए श्रीकृष्णऔर अर्जुन दोनोंको समस्त प्राणियोंने मौतकी दाढ़ोंमें पहुँचा हुआ ही माना ॥ २ ॥

तथा तु शरवर्षाणि पातयत्यनिशं प्रभो ।
गजस्कन्धान्महाराज कृष्णयोः स्यन्दनस्थयोः ॥ ३ ॥

शक्तिशाली महाराज ! हाथीकी पीठसे भगदत्त रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनपर निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥

अथ कार्ष्णायसैर्बाणैः पूर्णकार्मुकनिःसृतैः ।
अविध्यद् देवकीपुत्रं हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ ४ ॥

* भगदत्तके हाथीने जब आक्रमण किया, उस समय श्रीकृष्ण रथको बगलमें हटाकर उसके आघातसे बच गये। अर्जुनने हाथीके सवारोंको सचेत नहीं किया था; उस दशामें हाथीको मारना युद्धके लिये स्वीकृत नियमके विरुद्ध होता। उसमें नियम था—'समाभाष्य प्रहर्तव्यम्'—'विपक्षीको सावधान करके उसके ऊपर प्रहार करना चाहिये।' इसीलिये अर्जुनने धर्मका विचार करके उसे उस समय नहीं मारा।

उन्होंने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े हुए लोहेके बने और शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंख-युक्त बाणोंसे देवकीपुत्र श्रीकृष्णको घायल कर दिया ॥ ४ ॥

अग्निस्पर्शसमास्तीक्ष्णा भगदत्तेन चोदिताः ।
निर्भिद्य देवकीपुत्रं क्षितिं जग्मुः सुवाससः ॥ ५ ॥

भगदत्तके चलाये हुए अग्निके स्पर्शके समान तीक्ष्ण और सुन्दर पंखवाले बाण देवकीपुत्र श्रीकृष्णके शरीरको छेदकर धरतीमें समा गये ॥ ५ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा परिवारं निहत्य च ।
लालयन्निव राजानं भगदत्तमयोधयत् ॥ ६ ॥

तब अर्जुनने राजा भगदत्तका धनुष काटकर उनके परिवारको मार डाला और उन्हें लाड़ लड़ाते हुए-से उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ६ ॥

सोऽर्करश्मिनिभांस्तीक्ष्णांस्तोमरान् वै चतुर्दश ।
अप्रेषयत् सव्यसाची द्विधैकैकमथाच्छिनत् ॥ ७ ॥

भगदत्तने सूर्यकी किरणोंके समान तीखे चौदह तोमर चलाये, परंतु सव्यसाची अर्जुनने उनमेंसे प्रत्येकके दो-दो टुकड़े कर डाले ॥ ७ ॥

ततो नागस्य तद् वर्म व्यधमत् पाकशासनिः ।
शरजालेन महता तद् व्यशीर्यत भूतले ॥ ८ ॥

तब इन्द्रकुमारने भारी बाण-वर्षाके द्वारा उस हाथीके कवचको काट डाला, जिससे कवच जीर्ण-शीर्ण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

शीर्णवर्मा स तु गजः शरैः सुभृशमर्दितः ।
बभौ धारानिपाताक्तो व्यभ्रः पर्वतराडिव ॥ ९ ॥

कवच कट जानेपर हाथीको बाणोंके आघातसे बड़ी पीड़ा होने लगी। वह खूनकी धारासे नहा उठा और बादलों-से रहित एवं (गैरिकमिश्रित) जलधारासे भीगे हुए गिरिराजके समान शोभा पाने लगा ॥ ९ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषः शक्तिं हेमदण्डामयस्मयीम् ।
व्यसृजद् वासुदेवाय द्विधा तामर्जुनोऽच्छिनत् । १० ।

तब भगदत्तने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको लक्ष्य करके सुवर्णमय दण्डसे युक्त लोहमयी शक्ति चलायी । परंतु अर्जुनने उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ १० ॥

ततश्छत्रं ध्वजं चैव छित्त्वा राज्ञोऽर्जुनः शरैः ।
विव्याध दशभिस्तूर्णमुत्स्मयन् पर्वतेश्वरम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा राजा भगदत्तके छत्र और ध्वजको काटकर मुसकराते हुए दस बाणोंद्वारा तुरंत ही उन पर्वतेश्वरको बींध डाला ॥ ११ ॥

सोऽतिविद्धोऽर्जुनशरैः सुपुङ्खैः कङ्कपत्रिभिः ।
भगदत्तस्ततः क्रुद्धः पाण्डवस्य जनाधिपः ॥ १२ ॥

अर्जुनके कङ्कपत्रयुक्त सुन्दर पाँखवाले बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो राजा भगदत्त उन पाण्डुपुत्रपर कुपित हो उठे ॥ १२ ॥

व्यसृजत् तोमरान् मूर्ध्नि श्वेताश्वस्योन्ननाद च ।
तैरर्जुनस्य समरे किरीटं परिवर्तितम् ॥ १३ ॥

उन्होंने श्वेतवाहन अर्जुनके मस्तकपर तोमरोंका प्रहार किया और जोरसे गर्जना की । उन तोमरोंने समरभूमिमें अर्जुनके किरीटको उलट दिया ॥ १३ ॥

परिवृत्तं किरीटं तद् यमयन्नेव पाण्डवः ।
सुदृष्टः क्रियतां लोक इति राजानमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उलटे हुए किरीटको ठीक करते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगदत्तसे कहा—'राजन् ! अब इस संसारको अच्छी तरह देख लो' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु संक्रुद्धः शरवर्षेण पाण्डवम् ।
अभ्यवर्षत् सगोविन्दं धनुरादाय भास्वरम् ॥ १५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगदत्तने अत्यन्त कुपित हो एक तेजस्वी धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णसहित अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १५ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा तूणीरान् संनिकृत्य च ।
त्वरमाणो द्विसप्तत्या सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ १६ ॥

अर्जुनने उनके धनुषको काटकर उनके तूणीरोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये । फिर तुरंत ही बहत्तर बाणोंसे उनके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

विद्धस्ततोऽतिव्यथितो वैष्णवास्त्रमुदीरयन् ।
अभिमन्त्र्याङ्कुशं क्रुद्धो व्यसृजत् पाण्डवोरसि ॥ १७ ॥

उन बाणोंसे घायल हो अत्यन्त पीड़ित होकर भगदत्तने वैष्णवास्त्र प्रकट किया । उसने कुपित हो अपने अङ्कुशको ही वैष्णवास्त्रसे अभिमन्त्रित करके पाण्डुनन्दन अर्जुनकी छातीपर छोड़ दिया ॥ १७ ॥

विसृष्टं भगदत्तेन तदस्त्रं सर्वघाति वै ।
उरसा प्रतिजग्राह पार्थं संछाद्य केशवः ॥ १८ ॥

भगदत्तका छोड़ा हुआ वह अस्त्र सबका विनाश करनेवाला था । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको ओटमें करके स्वयं ही अपनी छातीपर उसकी चोट सह ली ॥ १८ ॥

वैजयन्त्यभवन्माला तदस्त्रं केशवोरसि ।
पद्मकोशविचित्राढ्या सर्वर्तुकुसुमोत्कटा ॥ १९ ॥
ज्वलनार्केन्दुवर्णाभा पावकोज्ज्वलपल्लवा ।
तया पद्मपलाशिन्या वातकम्पितपत्रया ॥ २० ॥
शुशुभेऽभ्यधिकं शौरिरतसीपुष्पसंनिभः ।
(केशवः केशिमथनः शार्ङ्गधन्वारिमर्दनः ।
संध्याभ्रैरिव संछन्नः प्रावृट्काले नगोत्तमः ॥)

भगवान् श्रीकृष्णकी छातीपर आकर वह अस्त्र वैजयन्ती मालाके रूपमें परिणत हो गया। वह माला कमलकोशकी विचित्र शोभासे युक्त तथा सभी ऋतुओंके पुष्पोंसे सम्पन्न थी। उससे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रभा फैल रही थी। उसका एक-एक दल अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। कमलदलोंसे सुशोभित तथा हवासे हिलते हुए दलोंवाली उस वैजयन्ती मालासे तीसीके फूलोंके समान श्यामवर्णवाले केशिहन्ता, शूरसेननन्दन, शार्ङ्गधन्वा, शत्रुसूदन भगवान् केशव अधिकाधिक शोभा पाने लगे, मानो वर्षाकालमें संध्याके मेघोंसे आच्छादित श्रेष्ठ पर्वत सुशोभित हो रहा हो ॥ १९-२०½ ॥

ततोऽर्जुनः क्लान्तमनाः केशवं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥
अयुध्यमानस्तुरगान् संयन्तास्मीति चानघ ।
इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्ष प्रतिज्ञां स्वां न रक्षसि ॥ २२ ॥
यद्यहं व्यसनी वा स्यामशक्तो वा निवारणे ।
ततस्त्वयैवं कार्यं स्यान्न तत्कार्यं मयि स्थिते ॥ २३ ॥

उस समय अर्जुनके मनमें बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—'अनघ! आपने तो प्रतिज्ञा की है कि मैं युद्ध न करके घोड़ोंको काबूमें रखूँगा—केवल सारथिका काम करूँगा; किंतु कमलनयन! आप वैसी बात कहकर भी अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं कर रहे हैं। यदि मैं संकटमें पड़ जाता अथवा अस्त्रका निवारण करनेमें असमर्थ हो जाता तो उस समय आपका ऐसा करना उचित होता। जब मैं युद्धके लिये तैयार खड़ा हूँ, तब आपको ऐसा नहीं करना चाहिये ॥ २१-२३ ॥

सबाणः सधनुश्चाहं ससुरासुरमानुषान् ।
शक्तो लोकानिमाञ्जेतुं तच्चापि विदितं तव ॥ २४ ॥

'आपको तो यह भी विदित है कि यदि मेरे हाथमें धनुष और बाण हो तो मैं देवता, असुर और मनुष्योंसहित इन सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पा सकता हूँ' ॥ २४ ॥

ततोऽर्जुनं वासुदेवः प्रत्युवाचार्थवद् वचः ।
शृणु गुह्यमिदं पार्थ पुरा वृत्तं यथानघ ॥ २५ ॥

तब वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ये रहस्यपूर्ण वचन कहे—'अनघ! कुन्तीनन्दन! इस विषयमें यह गोपनीय रहस्यकी बात सुनो, जो पूर्वकालमें घटित हो चुकी है ॥ २५ ॥

चतुर्मूर्तिरहं शश्वल्लोकत्राणार्थमुद्यतः ।
आत्मानं प्रविभज्येह लोकानां हितमादधे ॥ २६ ॥

'मैं चार स्वरूप धारण करके सदा सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये उद्यत रहता हूँ। अपनेको ही यहाँ अनेक रूपोंमें विभक्त करके समस्त संसारका हित साधन करता हूँ ॥२६॥

एका मूर्तिस्तपश्चर्यां कुरुते मे भुवि स्थिता ।
अपरा पश्यति जगत् कुर्वाणं साध्वसाधुनी ॥ २७ ॥

'मेरी एक मूर्ति इस भूमण्डलपर (बदरिकाश्रममें नर-नारायणके रूपमें) स्थित हो तपश्चर्या करती है। दूसरी (परमात्मस्वरूपा) मूर्ति शुभाशुभकर्म करनेवाले जगत्को साक्षीरूपसे देखती रहती है ॥ २७ ॥

अपरा कुरुते कर्म मानुषं लोकमाश्रिता ।
शेते चतुर्थी त्वपरा निद्रां वर्षसहस्रिकम् ॥ २८ ॥

'तीसरी मूर्ति (मैं स्वयं जो) मनुष्यलोकका आश्रय ले नाना प्रकारके कर्म करती है और चौथी मूर्ति वह है, जो सहस्र युगोंतक एकार्णवके जलमें शयन करती है ॥ २८ ॥

यासौ वर्षसहस्रान्ते मूर्तिरुत्तिष्ठते मम ।
वरार्हेभ्यो वराञ्छ्रेष्ठांस्तस्मिन् काले ददाति सा ॥२९॥

'सहस्र-युगके पश्चात् मेरा वह चौथा स्वरूप जब योग-निद्रासे उठता है, उस समय वर पानेके योग्य श्रेष्ठ भक्तोंको उत्तम वर प्रदान करता है ॥ २९ ॥

तं तु कालमनुप्राप्तं विदित्वा पृथिवी तदा ।
अयाचत वरं यन्मां नरकार्थाय तच्छृणु ॥ ३० ॥

'एक बार जब कि वही समय प्राप्त था, पृथ्वीदेवीने अपने पुत्र नरकासुरके लिये मुझसे जो वर माँगा, उसे सुनो ॥ ३० ॥

देवानां दानवानां च अवध्यस्तनयोऽस्तु मे ।
उपेतो वैष्णवास्त्रेण तन्मे त्वं दातुमर्हसि ॥ ३१ ॥

'मेरा पुत्र वैष्णवास्त्रसे सम्पन्न होकर देवताओं और दानवोंके लिये अवध्य हो जाय, इसलिये आप कृपापूर्वक मुझे वह अपना अस्त्र प्रदान करें' ॥ ३१ ॥

एवं वरमहं श्रुत्वा जगत्यास्तनये तदा ।
अमोघमस्त्रं प्रायच्छं वैष्णवं परमं पुरा ॥ ३२ ॥

'उस समय पृथ्वीके मुँहसे अपने पुत्रके लिये इस प्रकार याचना सुनकर मैंने पूर्वकालमें अपना परम उत्तम अमोघ वैष्णव-अस्त्र उसे दे दिया ॥ ३२ ॥

अवोचं चैतदस्त्रं वै ह्यमोघं भवतु क्षमे ।
नरकस्याभिरक्षार्थं नैनं कश्चिद् वधिष्यति ॥ ३३ ॥

'उसे देते समय मैंने कहा—'वसुधे! यह अमोघ वैष्णवास्त्र नरकासुरकी रक्षाके लिये उसके पास रहे। फिर उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकेगा ॥ ३३ ॥

अनेनास्त्रेण ते गुप्तः सुतः परबलार्दनः ।
भविष्यति दुराधर्षः सर्वलोकेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

'इस अस्त्रसे सुरक्षित रहकर तुम्हारा पुत्र शत्रुओंकी सेनाको पीड़ित करनेवाला और सदा सम्पूर्ण लोकोंमें दुर्धर्ष बना रहेगा' ॥ ३४ ॥

तथेत्युक्त्वा गता देवी कृतकामा मनस्विनी।
स चाप्यासीद् दुराधर्षो नरकः शत्रुतापनः ॥ ३५ ॥

'तब 'जो आज्ञा' कहकर मनस्विनी पृथ्वीदेवी कृतार्थ होकर चली गयी। वह नरकासुर भी (उस अस्त्रको पाकर) शत्रुओंको संताप देनेवाला तथा अत्यन्त दुर्जय हो गया ॥३५॥

तस्मात् प्राग्ज्योतिषं प्राप्तं तदस्त्रं पार्थ मामकम्।
नास्यावध्योऽस्ति लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ॥ ३६ ॥

'पार्थ ! नरकासुरसे वह मेरा अस्त्र इस प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तको प्राप्त हुआ। आर्य ! इन्द्र तथा रुद्रसहित तीनों लोकोंमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो इस अस्त्रके लिये अवध्य हो ॥ ३६ ॥

तन्मया त्वत्कृते चैतदन्यथा व्यपनामितम्।
विमुक्तं परमास्त्रेण जहि पार्थ महासुरम् ॥ ३७ ॥

'अतः मैंने तुम्हारी रक्षाके लिये उस अस्त्रको दूसरे प्रकारसे उसके पाससे हटा दिया है। पार्थ ! अब वह महान् असुर उस उत्कृष्ट अस्त्रसे वञ्चित हो गया है। अतः तुम उसे मार डालो ॥ ३७ ॥

वैरिणं जहि दुर्धर्षं भगदत्तं सुरद्विषम्।
यथाहं जघ्निवान् पूर्वं हितार्थं नरकं तथा ॥ ३८ ॥

'दुर्जय वीर भगदत्त तुम्हारा वैरी और देवताओंका द्रोही है। अतः तुम उसका वध कर डालो; जैसे कि मैंने पूर्वकालमें लोकहितके लिये नरकासुरका संहार किया था' ॥

एवमुक्तस्तदा पार्थः केशवेन महात्मना।
भगदत्तं शितैर्बाणैः सहसा समवाकिरत् ॥ ३९ ॥

महात्मा केशवके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन उसी समय भगदत्तपर सहसा पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे। ३९।

ततः पार्थो महाबाहुरसम्भ्रान्तो महामनाः।
कुम्भयोरन्तरे नागं नाराचेन समार्पयत् ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् महाबाहु महामना पार्थने बिना किसी घबराहटके हाथीके कुम्भस्थलमें एक नाराचका प्रहार किया ॥ ४० ॥

स समासाद्य तं नागं बाणो वज्र इवाचलम्।
अभ्यगात् सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः ॥ ४१ ॥

वह नाराच उस हाथीके मस्तकपर पहुँचकर उसी प्रकार लगा, जैसे वज्र पर्वतपर चोट करता है। जैसे सर्प बाँबीमें समा जाता है, उसी प्रकार वह बाण हाथीके कुम्भस्थलमें पंखसहित घुस गया ॥ ४१ ॥

स करी भगदत्तेन प्रेर्यमाणो मुहुर्मुहुः।
न करोति वचस्तस्य दरिद्रस्येव योषिता ॥ ४२ ॥

वह हाथी बारंबार भगदत्तके हाँकनेपर भी उनकी आज्ञाका पालन नहीं करता था, जैसे दुष्टा स्त्री अपने दरिद्र स्वामीकी बात नहीं मानती है ॥ ४२ ॥

स तु विष्टभ्य गात्राणि दन्ताभ्यामवनिं ययौ।
नदन्नार्तस्वनं प्राणानुत्ससर्ज महाद्विपः ॥ ४३ ॥

उस महान् गजराजने अपने अंगोंको निश्चेष्ट करके दोनों दाँत धरतीपर टेक दिये और आर्तस्वरसे चीत्कार करके प्राण त्याग दिये ॥ ४३ ॥

ततो गाण्डीवधन्वानमभ्यभाषत केशवः।
अयं महत्तरः पार्थ पलितेन समावृतः ॥ ४४ ॥
वलीसंछन्ननयनः शूरः परमदुर्जयः।
अक्ष्णोरुन्मीलनार्थाय बद्धपट्टो ह्यसौ नृपः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! यह भगदत्त बहुत बड़ी अवस्थाका है। इसके सारे बाल पक गये हैं और ललाट आदि अंगोंमें झुर्रियाँ पड़ जानेके कारण पलकें झपी रहनेसे इसके नेत्र प्रायः बंद-से रहते हैं। यह शूर-वीर तथा अत्यन्त दुर्जय है। इस राजाने अपने दोनों नेत्रोंको खुले रखनेके लिये पलकोंको कपड़ेकी पट्टीसे ललाटमें बाँध रक्खा है' ॥ ४४-४५ ॥

देववाक्यात् प्रचिच्छेद शरेण भृशमर्जुनः।
छिन्नमात्रेंऽशुके तस्मिन् रुद्धनेत्रो बभूव सः ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके कहनेसे अर्जुनने बाण मारकर भगदत्तके शिरकी पट्टी अत्यन्त छिन्न-भिन्न कर दी। उस पट्टीके कटते ही भगदत्तकी आँखें बंद हो गयीं ॥ ४६ ॥

तमोमयं जगन्मेने भगदत्तः प्रतापवान्।
ततश्चन्द्रार्धबिम्बेन बाणेन नतपर्वणा ॥ ४७ ॥
बिभेद हृदयं राज्ञो भगदत्तस्य पाण्डवः।

फिर तो प्रतापी भगदत्तको सारा जगत् अन्धकारमय प्रतीत होने लगा। उस समय झुकी हुई गाँठवाले एक अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनने राजा भगदत्तके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया ॥ ४७½ ॥

स भिन्नहृदयो राजा भगदत्तः किरीटिना ॥ ४८ ॥
शरासनं शरांश्चैव गतासुः प्रमुमोच ह।
शिरसस्तस्य विभ्रष्टं पपात च वरांशुकम्।
नालताडनविभ्रष्टं पलाशं नलिनादिव ॥ ४९ ॥

किरीटधारी अर्जुनके द्वारा हृदय विदीर्ण कर दिये जानेपर राजा भगदत्तने प्राणशून्य हो अपने धनुष-बाण त्याग दिये। उनके सिरसे पगड़ी और पट्टीका वह सुन्दर वस्त्र खिसककर गिर गया, जैसे कमलनालके ताडनसे उसका पत्ता टूटकर गिर जाता है ॥ ४८-४९ ॥

स हेममाली तपनीयभाण्डात्
पपात नागाद् गिरिसंनिकाशात्।

अर्जुनके द्वारा भगदत्तका वध

सुपुष्पितो मारुतवेगरुग्णो
महीधराग्रादिव कर्णिकारः ॥ ५० ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उस पर्वताकार हाथीसे सुवर्णमालाधारी भगदत्त पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे टूटकर पर्वतके शिखरसे नीचे गिर पड़ा हो ॥ ५० ॥

निहत्य तं नरपतिमिन्द्रविक्रमं
सखायमिन्द्रस्य तदैन्द्रिराहवे ।
ततोऽपरांस्तव जयकाङ्क्षिणो नरान्
बभञ्ज वायुर्बलवान् द्रुमानिव ॥ ५१ ॥

राजन् ! इस प्रकार इन्द्रकुमार अर्जुनने इन्द्रके सखा तथा इन्द्रके समान ही पराक्रमी राजा भगदत्तको युद्धमें मारकर आपकी सेनाके अन्य विजयाभिलाषी वीर पुरुषोंको भी उसी प्रकार मार गिराया, जैसे प्रबल वायु वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि भगदत्तवधे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें भगदत्तवधविषयक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वृषक और अचलका वध, शकुनिकी माया और उसकी पराजय तथा कौरव, सेनाका पलायन

संजय उवाच

प्रियमिन्द्रस्य सततं सखायममितौजसम् ।
हत्वा प्राग्ज्योतिषं पार्थः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जो सदा इन्द्रके प्रिय सखा रहे हैं, उन अमित तेजस्वी प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तको मारकर अर्जुन दाहिनी ओर घूमे ॥ १ ॥

ततो गान्धारराजस्य सुतौ परपुरंजयौ ।
अर्देतामर्जुनं संख्ये भ्रातरौ वृषकाचलौ ॥ २ ॥

उधरसे गान्धारराज सुबलके दो पुत्र शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले वृषक और अचल दोनों भाई आ पहुँचे और युद्धमें अर्जुनको पीड़ित करने लगे ॥ २ ॥

तौ समेत्यार्जुनं वीरौ पुरः पश्चाच्च धन्विनौ ।
अविध्येतां महावेगैर्निशितैराशुगैर्भृशम् ॥ ३ ॥

उन दोनों धनुर्धर वीरोंने अर्जुनपर आगे और पीछेसे भी आक्रमण करके अत्यन्त वेगशाली पैने बाणोंद्वारा उन्हें बहुत घायल कर दिया ॥ ३ ॥

वृषकस्य हयान् सूतं धनुश्छत्रं रथं ध्वजम् ।
तिलशो व्यधमत् पार्थः सौबलस्य शितैः शरैः ॥ ४ ॥

तब कुन्तीकुमार अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा सुबलपुत्र वृषकके घोड़ों, सारथि, रथ, धनुष, छत्र और ध्वजाको तिल-तिल करके काट डाला ॥ ४ ॥

ततोऽर्जुनः शरव्रातैर्नानाप्रहरणैरपि ।
गान्धारानाकुलांश्चक्रे सौबलप्रमुखान् पुनः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अपने बाणसमूहों तथा नाना प्रकारके आयुधोंद्वारा सुबलपुत्र आदि समस्त गान्धारोंको पुनः व्याकुल कर दिया ॥ ५ ॥

ततः पञ्चशतान् वीरान् गान्धारानुद्यतायुधान् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय क्रुद्धो बाणैर्धनंजयः ॥ ६ ॥

फिर क्रोधमें भरे हुए धनंजयने हथियार उठाये हुए पाँच सौ गान्धारदेशीय वीरोंको अपने बाणोंसे मारकर यमलोक भेज दिया ॥ ६ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवतीर्य महाभुजः ।
आरुरोह रथं भ्रातुरन्यच्च धनुराददे ॥ ७ ॥

महाबाहु वृषक उस अश्वहीन रथसे शीघ्र उतरकर अपने भाई अचलके रथपर जा चढ़ा। फिर उसने अपने हाथमें दूसरा धनुष ले लिया ॥ ७ ॥

तावेकरथमारूढौ भ्रातरौ वृषकाचलौ ।
शरवर्षेण बीभत्सुमविध्येतां मुहुर्मुहुः ॥ ८ ॥

इस प्रकार एक रथपर बैठे हुए वे दोनों भाई वृषक और अचल बारंबार बाणोंकी वर्षासे अर्जुनको घायल करने लगे ॥ ८ ॥

स्यालौ तव महात्मानौ राजानौ वृषकाचलौ ।
भृशं विजघ्नतुः पार्थमिन्द्रं वृत्रबलाविव ॥ ९ ॥

महाराज ! आपके दोनों साले महामनस्वी राजकुमार वृषक और अचल, इन्द्रको वृत्रासुर तथा बलासुरके समान, अर्जुनको अत्यन्त घायल करने लगे ॥ ९ ॥

लब्धलक्ष्यौ तु गान्धारावहतां पाण्डवं पुनः ।
निदाघवार्षिकौ मासौ लोकं घर्मांशुभिर्यथा ॥ १० ॥

जैसे गर्मीके दो महीने सूर्यकी उष्ण किरणोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको संतप्त करते रहते हैं, उसी प्रकार वे दोनों भाई गान्धारराजकुमार लक्ष्य वेधनेमें सफल होकर पाण्डुपुत्र अर्जुनपर बारंबार आघात करने लगे ॥ १० ॥

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ राजानौ वृषकाचलौ ।
संश्लिष्टाङ्गौ स्थितौ राजञ्जघानैकेषुणार्जुनः ॥ ११ ॥

राजन् ! वे नरश्रेष्ठ राजकुमार वृषक और अचल रथपर एक दूसरेसे सटकर खड़े थे । उसी अवस्थामें अर्जुनने एक ही बाणसे उन दोनोंको मार डाला ॥ ११ ॥

तौ रथात् सिंहसंकाशौ लोहिताक्षौ महाभुजौ ।
राजन् सम्पेततुर्वीरौ सोदर्यावेकलक्षणौ ॥ १२ ॥

महाराज ! वे दोनों वीर परस्पर सगे भाई होनेके कारण एक-जैसे लक्षणोंसे युक्त थे । दोनों ही सिंहके समान पराक्रमी, लाल नेत्रोंवाले तथा विशाल भुजाओंसे सुशोभित थे । वे दोनों एक ही साथ रथसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

तयोर्भूमिं गतौ देहौ रथाद् बन्धुजनप्रियौ ।
यशो दश दिशः पुण्यं गमयित्वा व्यवस्थितौ ॥ १३ ॥

उन दोनों भाइयोंके शरीर उनके बन्धुजनोंके लिये अत्यन्त प्रिय थे । वे अपने पवित्र यशको दसों दिशाओंमें फैलाकर रथसे भूतलपर गिरे और वहीं स्थिर हो गये ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा विनिहतौ संख्ये मातुलावपलायिनौ ।
भृशं मुमुचुरश्रूणि पुत्रास्तव विशाम्पते ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! युद्धसे पीठ न दिखानेवाले अपने दोनों मामाओंको युद्धमें मारा गया देख आपके सभी पुत्र अपने नेत्रोंसे आँसुओंकी अत्यन्त वर्षा करने लगे ॥ १४ ॥

निहतौ भ्रातरौ दृष्ट्वा मायाशतविशारदः ।
कृष्णौ सम्मोहयन् मायां विदधे शकुनिस्ततः ॥ १५ ॥

अपने दोनों भाइयोंको मारा गया देख सैकड़ों मायाओंके प्रयोगमें निपुण शकुनिने श्रीकृष्ण और अर्जुनको मोहित करते हुए उनके प्रति मायाका प्रयोग किया ॥ १५ ॥

लगुडायोगुडाश्मानः शतघ्न्यश्च सशक्तयः ।
गदापरिघनिस्त्रिंशशूलमुद्गरपट्टिशाः ॥ १६ ॥
सकम्पनर्ष्टिनखरा मुसलानि परश्वधाः ।
क्षुराः क्षुरप्रनालीका वत्सदन्तास्थिसन्धयः ॥ १७ ॥
चक्राणि विशिखाः प्रासा विविधान्यायुधानि च ।
प्रपेतुः शतशो दिग्भ्यः प्रदिग्भ्यश्चार्जुनं प्रति ॥ १८ ॥

फिर तो अर्जुनके ऊपर दंडे, लोहेके गोले, पत्थर, शतघ्नी, शक्ति, गदा, परिघ, खड्ग, शूल, मुद्गर, पट्टिश, कम्पन, ऋष्टि, नखर, मुसल, फरसे, छूरे, क्षुरप्र, नालीक, वत्सदन्त, अस्थिसंधि, चक्र, बाण, प्रास तथा अन्य नाना प्रकारके सैकड़ों अस्त्र-शस्त्र सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंसे आ-आकर पड़ने लगे ॥ १६–१८ ॥

खरोष्ट्रमहिषाः सिंहा व्याघ्राः सृमरचित्रकाः ।
ऋक्षाः शालावृका गृध्राः कपयश्च सरीसृपाः ॥ १९ ॥
विविधानि च रक्षांसि क्षुधितान्यर्जुनं प्रति ।
संक्रुद्धान्यभ्यधावन्त विविधानि वयांसि च ॥ २० ॥

गदहे, ऊँट, भैंसे, सिंह, व्याघ्र, रोझ, चीते, रीछ, कुत्ते, गीध, बन्दर, साँप तथा नाना प्रकारके भूखे राक्षस एवं भाँति-भाँतिके पक्षी अत्यन्त कुपित हो अर्जुनपर धावा करने लगे ॥ १९-२० ॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
विसृजन्निषुजालानि सहसा तान्यताडयत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता शूरवीर कुन्तीपुत्र धनंजय सहसा बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उन सबको मारने लगे ॥

ते हन्यमानाः शूरेण प्रवरैः सायकैर्दृढैः ।
विरुवन्तो महारावान् विनेशुः सर्वतो हताः ॥ २२ ॥

शूरवीर अर्जुनके सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ सायकोंद्वारा मारे जाते हुए वे समस्त हिंसक पशु सब ओरसे घायल हो घोर चीत्कार करते हुए वहीं नष्ट हो गये ॥ २२ ॥

ततस्तमः प्रादुरभूदर्जुनस्य रथं प्रति ।
तस्माच्च तमसो वाचः क्रूराः पार्थमभर्त्सयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके रथके समीप अन्धकार प्रकट हुआ और उस अन्धकारसे क्रूरतापूर्ण बातें कानोंमें, पड़कर अर्जुनको डाँट बताने लगीं ॥ २३ ॥

तत् तमो भैरवं घोरं भयकर्तृ महाहवे ।
उत्तमास्त्रेण महता ज्यौतिषेणार्जुनोऽवधीत् ॥ २४ ॥

उस महासमरमें प्रकट हुए उस भयदायक घोर एवं भयानक अंधकारको अर्जुनने अपने विशाल उत्तम ज्योतिर्मय अस्त्रद्वारा नष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

हते तस्मिञ्जलौघास्तु प्रादुरासन् भयानकाः ।
अम्भसस्तस्य नाशार्थमादित्यास्त्रमथार्जुनः ॥ २५ ॥
प्रायुङ्क्ताम्भस्ततस्तेन प्रायशोऽस्त्रेण शोषितम् ।

उस अंधकारका निवारण हो जानेपर बड़े भयंकर जलप्रवाह प्रकट होने लगे । तब अर्जुनने उस जलके निवारणके लिये आदित्यास्त्रका प्रयोग किया । उस अस्त्रने वहाँका सारा जल सोख लिया ॥ २५½ ॥

एवं बहुविधा मायाः सौबलस्य कृताः कृताः ॥ २६ ॥
जघानास्त्रबलेनाशु प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।

इस प्रकार सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा बारंबार प्रयुक्त हुई नाना प्रकारकी मायाओंको उस समय अर्जुनने अपने अस्त्रबलसे हँसते-हँसते शीघ्र ही नष्ट कर दिया ॥ २६½ ॥

तदा हतासु मायासु त्रस्तोऽर्जुनशराहतः ॥ २७ ॥
अपायाज्जवनैरश्वैः शकुनिः प्राकृतो यथा ।

तब मायाओंका नाश हो जानेपर अर्जुनके बाणोंसे आहत एवं भयभीत होकर शकुनि अधम मनुष्योंकी भाँति तेज चलनेवाले घोड़ोंके द्वारा भाग खड़ा हुआ ॥ २७½ ॥

ततोऽर्जुनोऽस्त्रविच्छ्रैष्ठ्यं दर्शयन्नात्मनोऽरिपु ॥ २८ ॥
अभ्यवर्षच्छरौघेण कौरवाणामनीकिनीम् ।

तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता अर्जुन शत्रुओंको अपनी फुर्ती दिखाते हुए कौरव-सेनापर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ॥

सा हन्यमाना पार्थेन तव पुत्रस्य वाहिनी ॥ २९ ॥
द्वैधीभूता महाराज गङ्गेवासाद्य पर्वतम् ।

महाराज ! अर्जुनके द्वारा मारी जाती हुई आपके पुत्रकी विशाल सेना उसी प्रकार दो भागोंमें बट गयी, मानो गङ्गा किसी विशाल पर्वतके पास पहुँचकर दो धाराओंमें विभक्त हो गयी हों ॥ २९½ ॥

द्रोणमेवान्वपद्यन्त केचित् तत्र नरर्षभाः ॥ ३० ॥
केचिद् दुर्योधनं राजन्नर्द्यमानाः किरीटिना ।

राजन् ! किरीटधारी अर्जुनसे पीडित हो आपकी सेनाके कितने ही नरश्रेष्ठ द्रोणाचार्यके पीछे जा छिपे और कितने ही सैनिक राजा दुर्योधनके पास भाग गये ॥ ३०½ ॥

नापश्याम ततस्त्वेनं सैन्ये वै रजसावृते ॥ ३१ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषः श्रुतो दक्षिणतो मया ।

महाराज ! उस समय हमलोग उड़ती हुई धूलराशिसे व्याप्त हुई सेनामें कहीं अर्जुनको देख नहीं पाते थे । मुझे तो दक्षिण दिशाकी ओर केवल उनके धनुषकी टंकार सुनायी देती थी ॥ ३१½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वादित्राणां च निःस्वनम् ॥ ३२ ॥
गाण्डीवस्य तु निर्घोषो व्यतिक्रम्यास्पृशद् दिवम् ।

शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, वाद्योंके शब्द तथा गाण्डीव धनुषके गम्भीर घोष आकाशको लाँघकर स्वर्गतक जा पहुँचे ॥ ३२½ ॥

ततः पुनर्दक्षिणतः संग्रामश्चित्रयोधिनाम् ॥ ३३ ॥
सुयुद्धं चार्जुनस्यासीदहं तु द्रोणमन्वियाम् ।

तत्पश्चात् पुनः दक्षिण दिशामें विचित्र युद्ध करनेवाले योद्धाओंका अर्जुनके साथ बड़ा भारी युद्ध होने लगा और मैं द्रोणाचार्यके पास चला गया ॥ ३३½ ॥

यौधिष्ठिराण्यनीकानि प्रहरन्ति ततस्ततः ॥ ३४ ॥
नानाविधान्यनीकानि पुत्राणां तव भारत ।
अर्जुनो व्यधमत् काले दिवीवाभ्राणि मारुतः ॥ ३५ ॥

भरतनन्दन ! युधिष्ठिरकी सेनाके सैनिक इधर-उधरसे घातक प्रहार कर रहे थे। जैसे वायु आकाशमें बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस समय अर्जुन आपके पुत्रोंकी विभिन्न सेनाओंका विनाश करने लगे ॥ ३४-३५ ॥

तं वासवमिवायान्तं भूरिवर्षं शरौघिणम् ।
महेष्वासा नरव्याघ्रा नोग्रं केचिदवारयन् ॥ ३६ ॥

इन्द्रकी भाँति बाणरूपी जलराशिकी अत्यन्त वर्षा करनेवाले भयंकर वीर अर्जुनको आते देख कोई भी महाधनुर्धर पुरुषसिंह कौरव योद्धा उन्हें रोक न सके ॥ ३६ ॥

ते हन्यमानाः पार्थेन त्वदीया व्यथिता भृशम् ।
स्वानेव बहवो जघ्नुर्विद्रवन्तस्ततस्ततः ॥ ३७ ॥

अर्जुनकी मार खाकर आपके सैनिक अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे । उनमेंसे बहुतेरे तो इधर-उधर भागते समय अपने ही पक्षके योद्धाओंको मार डालते थे ॥ ३७ ॥

तेऽर्जुनेन शरा मुक्ताः कङ्कपत्रास्तनुच्छिदः ।
शलभा इव सम्पेतुः संवृण्वाना दिशो दश ॥ ३८ ॥

अर्जुनके द्वारा छोड़े हुए कंकपक्षसे युक्त बाण विपक्षी वीरोंके शरीरोंको छेद डालनेवाले थे । वे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करते हुए टिड्डीदलके समान वहाँ सब ओर गिरने लगे ॥ ३८॥

तुरगं रथिनं नागं पदातिमपि मारिष ।
विनिर्भिद्य क्षितिं जग्मुर्वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ३९ ॥

आर्य ! वे बाण घोड़े, रथी, हाथी और पैदल सैनिकोंको भी विदीर्ण करके उसी प्रकार धरतीमें समा जाते थे, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३९ ॥

न च द्वितीयं व्यसृजत् कुञ्जराश्वनरेषु सः ।
पृथगेकशरारुग्णा निपेतुस्ते गतासवः ॥ ४० ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंपर अर्जुन दूसरा बाण नहीं छोड़ते थे । वे सब-के-सब पृथक्-पृथक् एक ही बाणसे घायल हो प्राणशून्य होकर धरतीपर गिर पड़ते थे ॥ ४० ॥

हतैर्मनुष्यैर्द्विरदैश्च सर्वतः
शराभिसृष्टैश्च हयैर्निपातितैः ।
तदा श्वगोमायुबलाभिनादितं
विचित्रमायोधशिरो बभूव तत् ॥ ४१ ॥

बाणोंके आघातसे घायल होकर ढेर-के-ढेर मनुष्य मरे पड़े थे । चारों ओर हाथी धराशायी हो रहे थे और बहुत-से घोड़े मार डाले गये थे । उस समय कुत्तों और गीदड़ोंके समूहसे कोलाहलपूर्ण होकर वह युद्धका प्रमुख भाग अद्भुत प्रतीत हो रहा था ॥ ४१ ॥

पिता सुतं त्यजति सुहृद्वरं सुहृत्
तथैव पुत्रः पितरं शरातुरः ।
स्वरक्षणे कृतमतयस्तदा जना-
स्त्यजन्ति वाहानपि पार्थपीडिताः ॥४२॥

वहाँ पिता पुत्रको त्याग देता था, सुहृद् अपने श्रेष्ठ सुहृद्को छोड़ देता था तथा पुत्र बाणोंके आघातसे आतुर होकर अपने पिताको भी छोड़कर चल देता था। उस समय अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुए सब लोग अपने-अपने प्राण बचानेकी ओर ध्यान देकर सवारियोंको भी छोड़कर भाग जाते थे ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि शकुनिपलायने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें शकुनिका पलायनविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव सेनाओंका घमासान युद्ध तथा अश्वत्थामाके द्वारा राजा नीलका वध

धृतराष्ट्र उवाच

तेष्वनीकेषु भग्नेषु पाण्डुपुत्रेण संजय।
चलितानां द्रुतानां च कथमासीन्मनो हि वः॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! पाण्डुपुत्र अर्जुनके द्वारा पराजित हो जब सारी सेनाएँ भाग खड़ी हुई, उस समय विचलित हो पलायन करते हुए तुमलोगोंके मनकी कैसी अवस्था हो रही थी? ॥ १॥

अनीकानां प्रभग्नानामवस्थानमपश्यताम्।
दुष्करं प्रतिसंधानं तन्ममाचक्ष्व संजय॥ २॥

भागती हुई सेनाओंको जब अपने ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं दिखायी देता हो, उस समय उन सबको संगठित करके एक स्थानपर ले आना बड़ा कठिन काम होता है। अतः संजय! तुम मुझे वह सब समाचार ठीक-ठीक बताओ॥

संजय उवाच

तथापि तव पुत्रस्य प्रियकामा विशाम्पते।
यशः प्रवीरा लोकेषु रक्षन्तो द्रोणमन्वयुः॥ ३॥

संजयने कहा—प्रजानाथ! यद्यपि सेनाओंमें भगदड़ पड़ गयी थी, तथापि बहुत-से विश्वविख्यात वीरोंने आपके पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने यशकी रक्षा करते हुए उस समय द्रोणाचार्यका साथ दिया॥ ३॥

समुद्यतेषु चास्त्रेषु सम्प्राप्ते च युधिष्ठिरे।
अकुर्वन्नार्यकर्माणि भैरवे सत्यभीतवत्॥ ४॥
अन्तरं भीमसेनस्य प्रापतन्नामितौजसः।
सात्यकेश्चैव वीरस्य धृष्टद्युम्नस्य वा विभो॥ ५॥

प्रभो! वह भयंकर संग्राम छिड़ जानेपर समस्त योद्धा निर्भय-से होकर आर्यजनोचित्त पुरुषार्थ प्रकट करने लगे। जब सब ओरसे हथियार उठे हुए थे और राजा युधिष्ठिर सामने आ पहुँचे थे, उस दशामें भीमसेन, सात्यकि अथवा वीर धृष्टद्युम्नकी असावधानीका लाभ उठाकर अमिततेजस्वी कौरव-योद्धा पाण्डव-सेनापर टूट पड़े॥ ४-५॥

द्रोणं द्रोणमिति क्रूराः पञ्चालाः समचोदयन्।
मा द्रोणमिति पुत्रास्ते कुरून् सर्वानचोदयन्॥ ६॥

क्रूर स्वभाववाले पाञ्चालसैनिक एक-दूसरेको प्रेरित करने लगे, अरे! द्रोणाचार्यको पकड़ लो, द्रोणाचार्यको बंदी बना लो और आपके पुत्र समस्त कौरवोंको आदेश दे रहे थे कि देखना, द्रोणाचार्यको शत्रु पकड़ न पावें॥ ६॥

द्रोणं द्रोणमिति ह्येके मा द्रोणमिति चापरे।
कुरूणां पाण्डवानां च द्रोणद्यूतमवर्तत॥ ७॥

एक ओरसे आवाज आती थी 'द्रोणको पकड़ो, द्रोणको पकड़ो।' दूसरी ओरसे उत्तर मिलता, 'द्रोणाचार्यको कोई नहीं पकड़ सकता।' इस प्रकार द्रोणाचार्यको दाँवपर रखकर कौरव और पाण्डवोंमें युद्धका जूआ आरम्भ हो गया था॥

यं यं प्रमथते द्रोणः पञ्चालानां रथव्रजम्।
तत्र तत्र तु पाञ्चाल्यो धृष्टद्युम्नोऽभ्यवर्तत॥ ८॥

पाञ्चालोंके जिस-जिस रथसमुदायको द्रोणाचार्य मथ डालनेका प्रयत्न करते, वहाँ-वहाँ पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न उनका सामना करनेके लिये आ जाता था॥ ८॥

तथा भागविपर्यासैः संग्रामे भैरवे सति।
वीराः समासदन् वीरान् कुर्वन्तो भैरवं रवम्॥ ९॥

इस प्रकार भागविपर्ययद्वारा भयंकर संग्राम आरम्भ होनेपर भैरव-गर्जना करते हुए उभय पक्षके वीरोंने विपक्षी वीरोंपर आक्रमण किया॥ ९॥

अकम्पनीयाः शत्रूणां बभूवुस्तत्र पाण्डवाः।
अकम्पयन्ननीकानि स्मरन्तः क्लेशमात्मनः॥ १०॥

उस समय पाण्डवोंको शत्रुदलके लोग विचलित न कर सके। वे अपनेको दिये गये क्लेशोंको याद करके आपके सैनिकोंको कँपा रहे थे॥ १०॥

ते त्वमर्षवशं प्राप्ता ह्रीमन्तः सत्त्वचोदिताः।
त्यक्त्वा प्राणान् न्यवर्तन्त घ्नन्तो द्रोणं महाहवे॥ ११॥

पाण्डव लज्जाशील, सत्त्वगुणसे प्रेरित और अमर्षके अधीन हो रहे थे। वे प्राणोंकी परवा न करके उस महान् समरमें द्रोणाचार्यका वध करनेके लिये लौट रहे थे॥ ११॥

अयसामिव सम्पातः शिलानामिव चाभवत्।
दीव्यतां तुमुले युद्धे प्राणैरमिततेजसाम्॥ १२॥

उस भयंकर युद्धमें प्राणोंकी बाजी लगाकर खेलनेवाले अमिततेजस्वी वीरोंका संघर्ष लोहों तथा पत्थरोंके परस्पर टकरानेके समान भयंकर शब्द करता था॥ १२॥

न तु स्मरन्ति संग्राममपि वृद्धास्तथाविधम्।
दृष्टपूर्वं महाराज श्रुतपूर्वमथापि वा॥ १३॥

महाराज! बड़े-बूढ़े लोग भी पहलेके देखे अथवा सुने हुए किसी भी वैसे संग्रामका स्मरण नहीं करते हैं॥ १३॥

प्राकम्पतेव पृथिवी तस्मिन् वीरावसादने।
निवर्तता बलौघेन महता भारपीडिता॥ १४॥

वीरोंका विनाश करनेवाले उस युद्धमें लौटते हुए विशाल सैनिक-समूहके महान् भारसे पीडित हो यह पृथ्वी काँपने-सी लगी॥ १४॥

घूर्णतोऽपि बलौघस्य दिवं स्तब्ध्वेव निःस्वनः।
अजातशत्रोस्तत्सैन्यमाविवेश सुभैरवः॥ १५॥

वहाँ सब ओर चक्कर काटते हुए सैन्य-समूहका अत्यन्त भयंकर कोलाहल आकाशको स्तब्ध-सा करके अजातशत्रु युधिष्ठिरकी सेनामें व्याप्त हो गया॥ १५॥

समासाद्य तु पाण्डूनामनीकानि सहस्रशः।
द्रोणेन चरता संख्ये प्रभग्नानि शितैः शरैः ॥ १६ ॥

रणभूमिमें विचरते हुए द्रोणाचार्यने पाण्डव-सेनामें प्रवेश करके अपने तीखे बाणोंद्वारा सहस्रों सैनिकोंके पाँव उखाड़ दिये ॥

तेषु प्रमथ्यमानेषु द्रोणेनाद्भुतकर्मणा।
पर्यवारयदासाद्य द्रोणं सेनापतिः स्वयम् ॥ १७ ॥

अद्भुत पराक्रम करनेवाले द्रोणाचार्यके द्वारा जब उन सेनाओंका मन्थन होने लगा, उस समय स्वयं सेनापति धृष्टद्युम्नने द्रोणके पास पहुँचकर उन्हें रोका ॥ १७ ॥

तदद्भुतमभूद् युद्धं द्रोणपाञ्चालयोस्तथा।
नैव तस्योपमा काचिदिति मे निश्चिता मतिः ॥ १८ ॥

वहाँ द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें अद्भुत युद्ध होने लगा, जिसकी कहीं कोई तुलना नहीं थी, यह मेरा निश्चित मत है॥

ततो नीलोऽनलप्रख्यो ददाह कुरुवाहिनीम्।
शरस्फुलिङ्गश्चापार्चिर्दहन् कक्षमिवानलः ॥ १९ ॥

तदनन्तर अग्निके समान कान्तिमान् नील बाणरूपी चिनगारियों तथा धनुषरूपी लपटोंका विस्तार करते हुए कौरव-सेनाको दग्ध करने लगे, मानो आग घास-फूसके ढेरको जला रही हो ॥ १९ ॥

तं दहन्तमनीकानि द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
पूर्वाभिभाषी सुश्लक्ष्णं स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ २० ॥

राजा नीलको कौरव-सेनाका दहन करते देख प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने, जो पहले स्वयं ही वार्तालाप आरम्भ करनेवाला था, मुसकराते हुए मधुर वचनोंमें कहा—॥२०॥

नील किं बहुभिर्दग्धैस्तव योधैः शरार्चिषा।
मयैकेन हि युध्यस्व क्रुद्धः प्रहर चाशु माम् ॥ २१ ॥

'नील ! तुमको बाणोंकी ज्वालासे इन बहुत-से योद्धाओंको दग्ध करनेसे क्या लाभ ? तुम अकेले मुझसे ही युद्ध करो और कुपित होकर मेरे ऊपर शीघ्र प्रहार करो' ॥ २१ ॥

तं पद्मनिकराकारं पद्मपत्रनिभेक्षणम्।
व्याकोशपद्माभमुखो नीलो विव्याध सायकैः ॥ २२ ॥

नीलका मुख विकसित कमलके समान कान्तिमान् था। उन्होंने पद्म-समूहकी-सी आकृति तथा कमल-दलके सदृश नेत्रोंवाले अश्वत्थामाको अपने बाणोंसे बींध डाला ॥ २२ ॥

तेनापि विद्धः सहसा द्रौणिर्भल्लैः शितैस्त्रिभिः।
धनुर्ध्वजं च छत्रं च द्विषतः स न्यकृन्तत ॥ २३ ॥

उनके द्वारा घायल होकर अश्वत्थामाने सहसा तीन तीखे भल्लोंद्वारा अपने शत्रु नीलके धनुष, ध्वज तथा छत्रको काट डाला।

स प्लुतः स्यन्दनात्तस्मान्नीलश्चर्मवरासिभृत्।
द्रौणायनेः शिरः कायाद्धर्तुमैच्छत् पतत्रिवत् ॥ २४ ॥

तब नील ढाल और सुन्दर तलवार हाथमें लेकर उस रथसे कूद पड़े। जैसे पक्षी किसी मनचाही वस्तुको लेनेके लिये झपट्टा मारता है, उसी प्रकार नीलने भी अश्वत्थामाके धड़से उसका सिर उतार लेनेका विचार किया ॥ २४ ॥

तस्योन्नतांसं सुनसं शिरः कायात् सकुण्डलम्।
भल्लेनापाहरद् द्रौणिः स्मयमान इवानघ ॥ २५ ॥

निष्पाप नरेश ! उस समय अश्वत्थामाने मुसकराते हुए-से भल्ल मारकर उसके द्वारा नीलके ऊँचे कंधों, सुन्दर नासिकाओं तथा कुण्डलोंसहित मस्तकको धड़से काट गिराया ॥ २५ ॥

सम्पूर्णचन्द्राभमुखः पद्मपत्रनिभेक्षणः।
प्रांशुरुत्पलपत्राभो निहतो न्यपतद् भुवि ॥ २६ ॥

पूर्णचन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुख और कमल-दलके समान सुन्दर नेत्रवाले राजा नील बड़े ऊँचे कदके थे। उनकी अङ्गकान्ति नील-कमल-दलके समान श्याम थी। वे अश्वत्थामाद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततः प्रविव्यथे सेना पाण्डवी भृशमाकुला।
आचार्यपुत्रेण हते नीले ज्वलिततेजसि ॥ २७ ॥

आचार्यपुत्रके द्वारा प्रज्वलित तेजवाले राजा नीलके मारे जानेपर पाण्डवसेना अत्यन्त व्याकुल और व्यथित हो उठी ॥ २७॥

अचिन्तयंश्च ते सर्वे पाण्डवानां महारथाः।
कथं नो वासविस्त्रायाच्छत्रुभ्य इति मारिष ॥ २८ ॥

आर्य ! उस समय समस्त पाण्डव महारथी यह सोचने लगे कि इन्द्रकुमार अर्जुन शत्रुओंके हाथसे हमारी रक्षा कैसे कर सकते हैं ? ॥ २८ ॥

दक्षिणेन तु सेनायाः कुरुते कदनं बली।
संशप्तकावशेषस्य नारायणबलस्य च ॥ २९ ॥

वे बलवान् अर्जुन तो इस सेनाके दक्षिण भागमें बचे-खुचे संशप्तकों और नारायणी सेनाके सैनिकोंका संहार कर रहे हैं ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि नीलवधे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें नीलवधविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव सेनाओंका घमासान युद्ध, भीमसेनका कौरव महारथियोंके साथ संग्राम, भयंकर संहार, पाण्डवोंका द्रोणाचार्यपर आक्रमण, अर्जुन और कर्णका युद्ध, कर्णके भाइयोंका वध तथा कर्ण और सात्यकिका संग्राम

संजय उवाच

प्रतिघातं तु सैन्यस्य नामृष्यत वृकोदरः।
सोऽभ्याहनद् गुरुं षष्ट्या कर्णं च दशभिः शरैः ॥१॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपनी सेनाका वह विनाश भीमसेनसे नहीं सहा गया। उन्होंने गुरुदेवको साठ और कर्णको दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १ ॥

तस्य द्रोणः शितैर्बाणैस्तीक्ष्णधारैरजिह्मगैः ।
जीवितान्तमभिप्रेप्सुर्मर्माण्याशु जघान ह ॥ २ ॥

तब द्रोणाचार्यने सीधे जानेवाले, तीखी धारसे युक्त पैने बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके मर्मस्थानोंपर आघात किया । वे भीमसेनके प्राणोंका अन्त कर देना चाहते थे॥२॥

आनन्तर्यमभिप्रेप्सुः षड्विंशत्या समार्पयत् ।
कर्णो द्वादशभिर्बाणैरश्वत्थामा च सप्तभिः ॥ ३ ॥

इस आघात-प्रतिघातको निरन्तर जारी रखनेकी इच्छासे द्रोणाचार्यने भीमसेनको छब्बीस, कर्णने बारह और अश्वत्थामाने सात बाण मारे ॥ ३ ॥

षड्भिर्दुर्योधनो राजा तत एनमथाकिरत् ।
भीमसेनोऽपि तान् सर्वान् प्रत्यविध्यन्महाबलः॥ ४ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधनने उनके ऊपर छः बाणोंद्वारा प्रहार किया । फिर महाबली भीमसेनने उन सबको अपने बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ४ ॥

द्रोणं पञ्चाशतेषूणां कर्णं च दशभिः शरैः ।
दुर्योधनं द्वादशभिर्द्रौणिमष्टाभिराशुगैः ॥ ५ ॥

उन्होंने द्रोणको पचास, कर्णको दस, दुर्योधनको बारह और अश्वत्थामाको आठ बाण मारे ॥ ५ ॥

आरावं तुमुलं कुर्वन्नभ्यवर्तत तान् रणे ।
तस्मिन् संत्यजति प्राणान् मृत्युसाधारणीकृते ॥ ६ ॥
अजातशत्रुस्तान् योधान् भीमं त्रातेत्यचोदयत् ।
ते ययुर्भीमसेनस्य समीपममितौजसः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् भयंकर गर्जना करते हुए भीमने रणक्षेत्रमें उन सबका सामना किया । भीमसेन मृत्युके तुल्य अवस्थामें पहुँच गये थे और अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते थे । उसी समय अजातशत्रु युधिष्ठिरने अपने योद्धाओंको यह कहकर आगे बढ़नेकी आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग भीमसेनकी रक्षा करो।' यह सुनकर वे अमित तेजस्वी वीर भीमसेनके समीप चले ॥ ६-७ ॥

युयुधानप्रभृतयो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
ते समेत्य सुसंरब्धाः सहिताः पुरुषर्षभाः ॥ ८ ॥
महेष्वासवरैर्गुप्ता द्रोणानीकं बिभित्सवः ।
समापेतुर्महावीर्या भीमप्रभृतयो रथाः ॥ ९ ॥

सात्यकि आदि महारथी तथा पाण्डुकुमार माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव—ये सभी पुरुषश्रेष्ठ वीर परस्पर मिलकर एक साथ अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़े-बड़े धनुर्धरोंसे सुरक्षित हो द्रोणाचार्यकी सेनाको विदीर्ण कर डालनेकी इच्छासे उसपर टूट पड़े । वे भीम आदि सभी महारथी अत्यन्त पराक्रमी थे॥

तान् प्रत्यगृह्णादव्यग्रो द्रोणोऽपि रथिनां वरः ।
महारथानतिबलान् वीरान् समरयोधिनः ॥ १० ॥

उस समय रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोणने घबराहट छोड़कर उन अत्यन्त बलवान् समरभूमिमें युद्ध करनेवाले महारथी वीरोंको रोक दिया ॥ १० ॥

बाह्यं मृत्युभयं कृत्वा तावकान् पाण्डवा ययुः ।
सादिनः सादिनोऽभ्यघ्नंस्तथैव रथिनो रथान् ॥ ११ ॥

परंतु पाण्डववीर मौतके भयको बाहर छोड़कर आपके सैनिकोंपर चढ़ आये । घुड़सवार घुड़सवारोंको तथा रथारोही योद्धा रथियोंको मारने लगे ॥ ११ ॥

आसीच्छक्त्यासिसम्पातो युद्धमासीत् परश्वधैः ।
प्रकृष्टमसियुद्धं च बभूव कटुकोदयम् ॥ १२ ॥

उस युद्धमें शक्ति और खड्गोंके घातक प्रहार हो रहे थे । फरसोंसे मार-काट हो रही थी । तलवार खींचकर उसके द्वारा ऐसा भयंकर युद्ध हो रहा था कि उसका कटु परिणाम प्रत्यक्ष सामने आ रहा था ॥ १२ ॥

कुञ्जराणां च सम्पाते युद्धमासीत् सुदारुणम् ।
अपतत् कुञ्जरादन्यो हयादन्यस्त्ववाक्शिराः ॥ १३ ॥

हाथियोंके संघर्षमें अत्यन्त दारुण संग्राम होने लगा । कोई हाथीसे गिरता था तो कोई घोड़ेसे ही औंधे सिर धराशायी हो रहा था ॥ १३ ॥

नरो बाणविनिर्भिन्नो रथादन्यश्च मारिष ।
तत्रान्यस्य च सम्मर्दे पतितस्य विवर्मणः ॥ १४ ॥
शिरः प्रध्वंसयामास वक्षस्याक्रम्य कुञ्जरः ।

आर्य ! उस युद्धमें कितने मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर रथसे नीचे गिर जाते थे । कितने ही योद्धा कवचशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे और सहसा कोई हाथी उनकी छातीपर पैर रखकर उनके मस्तकको भी कुचल देता था ॥ १४½ ॥

अपरांश्चापरेऽमृद्नन् वारणाः पतितान् नरान् ॥ १५ ॥
विषाणैश्चावनिं गत्वा व्यभिन्दन् रथिनो बहून् ।

दूसरे हाथियोंने भी दूसरे बहुत-से गिरे हुए मनुष्योंको अपने पैरोंसे रौंद डाला । अपने दाँतोंसे धरतीपर आघात करके बहुत-से रथियोंको चीर डाला ॥ १५½ ॥

नरान्त्रैः केचिदपरे विषाणालग्नसंश्रयैः ॥ १६ ॥
बभ्रमुः समरे नागा मृद्नन्तः शतशो नरान् ।

कितने ही गजराज अपने दाँतोंमें लगी हुई मनुष्योंकी आँतें लिये समर-भूमिमें सैकड़ों योद्धाओंको कुचलते हुए चक्कर लगा रहे थे ॥ १६½ ॥

कार्ष्णायसतनुत्राणान् नराश्वरथकुञ्जरान् ॥ १७ ॥
पतितान् पोथयाञ्चक्रुर्द्विपाः स्थूलनलानिव ।

काले रंगके लोहमय कवच धारण करके रणभूमिमें गिरे हुए कितने ही मनुष्यों, रथों, घोड़ों और हाथियोंको बड़े-बड़े गजराजोंने मोटे नरकुलोंके समान रौंद डाला ॥ १७½ ॥

गृध्रपत्राधिवासांसि शयनानि नराधिपाः ॥ १८ ॥
ह्रीमन्तः कालसम्पर्कात् सुदुःखान्यनुशेरते ।

बड़े-बड़े राजा कालसंयोगसे अत्यन्त दुःखदायिनी तथा गीधकी पाँखरूपी बिछौनोंसे युक्त शय्याओंपर लज्जापूर्वक सो रहे थे ॥ १८½ ॥

हन्ति स्मात्र पिता पुत्रं रथेनाभ्येत्य संयुगे ॥ १९ ॥
पुत्रश्च पितरं मोहान्निर्मर्यादमवर्तत ।

वहाँ पिता रथके द्वारा युद्धके मैदानमें आकर पुत्रका ही वध कर डालता था और पुत्र भी मोहवश पिताके प्राण ले रहा था। इस प्रकार वहाँ मर्यादाशून्य युद्ध हो रहा था ॥

रथो भग्नो ध्वजश्छिन्नश्छत्रमुर्व्यां निपातितम् ॥ २० ॥
युगार्धं छिन्नमादाय प्रदुद्राव तथा हयः ।

कितने ही रथ टूट गये, ध्वज कट गये, छत्र पृथ्वीपर गिरा दिये गये और जूए खण्डित हो गये। उन खण्डित हुए आधे जूओंको ही लेकर घोड़े तेजीसे भाग रहे थे ॥ २०½ ॥

सासिर्बाहुर्निपतितः शिरश्छिन्नं सकुण्डलम् ॥ २१ ॥
गजेनाक्षिप्य बलिना रथः संचूर्णितः क्षितौ ।

कितने ही वीरोंकी भुजाएँ तलवारसहित काट गिरायी गयीं, कितनोंके कुण्डलमण्डित मस्तक धड़से अलग कर दिये गये। कहीं किसी बलवान् हाथीने रथको उठाकर फेंक दिया और वह पृथ्वीपर गिरकर चूर-चूर हो गया ॥ २१½ ॥

रथिना ताडितो नागो नाराचेनापतत् क्षितौ ॥ २२ ॥
सारोहश्चापतद् वाजी गजेनाभ्याहतो भृशम् ।
निर्मर्यादं महद् युद्धमवर्तत सुदारुणम् ॥ २३ ॥

किसी रथीने नाराचके द्वारा गजराजपर आघात किया और वह धराशायी हो गया। किसी हाथीके वेगपूर्वक आघात करनेपर सवारसहित घोड़ा धरतीपर ढेर हो गया। इस प्रकार वहाँ मर्यादाशून्य अत्यन्त भयंकर एवं महान् युद्ध होने लगा ॥ २२-२३ ॥

हा तात हा पुत्र सखे क्वासि तिष्ठ क्व धावसि ।
प्रहराहर जह्येनं स्मितक्ष्वेडितगर्जितैः ॥ २४ ॥
इत्येवमुच्चरन्ति स्म श्रूयन्ते विविधा गिरः ।

उस समय सभी सैनिक 'हा तात ! हा पुत्र ! सखे ! तुम कहाँ हो ? ठहरो, कहाँ भागे जा रहे हो ? मारो, लाओ, इसका वध कर डालो'—इस प्रकारकी बातें कह रहे थे। हास्य, उछल-कूद और गर्जनाके साथ उनके मुखसे नाना प्रकारकी बातें सुनायी देती थीं ॥ २४½ ॥

नरस्याश्वस्य नागस्य समसज्जत शोणितम् ॥ २५ ॥
उपाशाम्यद् रजो भौमं भीरून् कश्मलमाविशत् ।

मनुष्य, घोड़े और हाथीके रक्त एक-दूसरेसे मिल रहे थे। उस रक्तप्रवाहसे वहाँकी उड़ती हुई भयंकर धूल शान्त हो गयी। उस रक्तराशिको देखकर भीरु पुरुषोंपर मोह छा जाता था ॥ २५½ ॥

चक्रेण चक्रमासाद्य वीरो वीरस्य संयुगे ॥ २६ ॥
अतीतेषुपथे काले जहार गदया शिरः ।

किसी वीरने अपने चक्रके द्वारा शत्रुपक्षीय वीरके चक्रका निवारण करके युद्धमें बाणप्रहारके योग्य अवसर न होनेके कारण गदासे ही उसका सिर उड़ा दिया ॥ २६½ ॥

आसीत् केशपरामर्शो मुष्टियुद्धं च दारुणम् ॥ २७ ॥
नखैर्दन्तैश्च शूराणामद्वीपे द्वीपमिच्छताम् ।

कुछ लोगोंमें एक-दूसरेके केश पकड़कर युद्ध होने लगा। कितने ही योद्धाओंमें अत्यन्त भयंकर मुक्कोंकी मार होने लगी। कितने ही शूरवीर उस निराश्रय स्थानमें आश्रय ढूँढ़ रहे थे और नखों तथा दाँतोंसे एक-दूसरेको चोट पहुँचा रहे थे ॥ २७½ ॥

तत्राच्छिद्यत शूरस्य सखड्गो बाहुरुद्यतः ॥ २८ ॥
सधनुश्चापरस्यापि सशरः साङ्कुशस्तथा ।
आक्रोशदन्यमन्योऽत्र तथान्यो विमुखोऽद्रवत् ॥ २९ ॥

उस युद्धमें एक शूरवीरकी खड्गसहित ऊपर उठी हुई भुजा काट डाली गयी। दूसरेकी भी धनुष-बाण और अङ्कुश-सहित बाँह खण्डित हो गयी। वहाँ एक सैनिक दूसरेको पुकारता था और दूसरा युद्धसे विमुख होकर भागा जा रहा था ॥ २८-२९ ॥

अन्यः प्राप्तस्य चान्यस्य शिरः कायादपाहरत् ।
सशब्दमद्रवच्चान्यः शब्दादन्योऽत्रसद् भृशम् ॥ ३० ॥

किसी दूसरे वीरने सामने आये हुए अन्य योद्धाके मस्तक-को धड़से अलग कर दिया। यह देख कोई तीसरा वीर बड़े जोरसे कोलाहल करता हुआ भागा। उसके उस आर्तनादसे एक अन्य योद्धा अत्यन्त डर गया ॥ ३० ॥

स्वानन्योऽथ परानन्यो जघान निशितैः शरैः ।
गिरिशृङ्गोपमश्चात्र नाराचेन निपातितः ॥ ३१ ॥
मातङ्गो न्यपतद् भूमौ नदीरोध इवोष्णगे ।

कोई अपने ही सैनिकोंको और कोई शत्रु-योद्धाओंको अपने तीखे बाणोंसे मार रहा था। उस युद्धमें पर्वतशिखरके समान विशालकाय हाथी नाराचसे मारा जाकर वर्षाकालमें नदीके तटकी भाँति धरतीपर गिरा और ढेर हो गया ॥ ३१½ ॥

तथैव रथिनं नागः क्षरन् गिरिरिवारुजन् ॥ ३२ ॥
अभ्यतिष्ठत् पदा भूमौ सहाश्वं सहसारथिम् ।

झरने बहानेवाले पर्वतकी भाँति किसी मदस्रावी गजराजने सारथि और अश्वोंसहित रथीको पैरोंसे भूमिपर दबाकर उन सबको कुचल डाला ॥ ३२½ ॥

शूरान् प्रहरतो दृष्ट्वा कृतास्त्रान् रुधिरोक्षितान् ॥ ३३ ॥
बहूनप्याविशन्मोहो भीरून् हृदयदुर्बलान् ।

अस्त्र-विद्यामें निपुण और खूनसे लथपथ हुए शूरवीरोंको परस्पर प्रहार करते देख बहुत-से दुर्बल हृदयवाले भीरु मनुष्योंके मनमें मोहका संचार होने लगा ॥ ३३½ ॥

सर्वमाविग्नमभवन्न प्राज्ञायत किंचन ॥ ३४ ॥
सैन्येन रजसा ध्वस्तं निर्मर्यादमवर्तत ।

उस समय सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे व्याप्त होकर सारा जन-समूह उद्विग्न हो रहा था, किसीको कुछ नहीं

सूझता था। उस युद्धमें किसी भी नियम या मर्यादाका पालन नहीं हो रहा था ॥ ३४½ ॥

ततः सेनापतिः शीघ्रमयं काल इति ब्रुवन् ॥ ३५ ॥
नित्याभित्वरितानेव त्वरयामास पाण्डवान् ।

तब सेनापति धृष्टद्युम्नने यही उपयुक्त अवसर है, ऐसा कहते हुए सदा शीघ्रता करनेवाले पाण्डवोंको और भी जल्दी करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३५½ ॥

कुर्वन्तः शासनं तस्य पाण्डवा बाहुशालिनः ॥ ३६ ॥
सरो हंसा इवापेतुर्घ्नन्तो द्रोणरथं प्रति ।

तदनन्तर अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले पाण्डव सेनापतिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वहाँ द्रोणाचार्यके रथपर प्रहार करते हुए उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे बहुत-से हंस किसी सरोवरपर सब ओरसे उड़कर आते हैं ॥ ३६½ ॥

गृह्णीताद्रवतान्योन्यं विभीता विनिकृन्तत ॥ ३७ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो दुर्धर्षस्य रथं प्रति ।

उस समय दुर्धर्ष वीर द्रोणाचार्यके रथके समीप सब ओरसे यही भयानक आवाज आने लगी कि 'दौड़ो, पकड़ो और निर्भय होकर शत्रुओंको काट डालो' ॥ ३७½ ॥

ततो द्रोणः कृपः कर्णो द्रौणी राजा जयद्रथः ॥ ३८ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ शल्यश्चैतान् न्यवारयन् ।

तब द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, राजा जयद्रथ, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा राजा शल्यने मिलकर इन आक्रमणकारियोंको रोका ।३८½।

ते त्वार्यधर्मसंरब्धा दुर्निवारा दुरासदाः ॥ ३९ ॥
शरार्ता न जहुर्द्रोणं पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।

वे पाण्डवोंसहित पाञ्चालवीर आर्यधर्मके अनुसार विजयके लिये प्रयत्नशील थे। उन्हें रोकना या पराजित करना बहुत कठिन था। वे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी द्रोणाचार्यको छोड़ न सके ॥ ३९½ ॥

ततो द्रोणोऽतिसंक्रुद्धो विसृजञ्छतशः शरान् ॥ ४० ॥
चेदिपञ्चालपाण्डूनामकरोत् कदनं महत् ।

यह देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके चेदि, पाञ्चाल तथा पाण्डव-योद्धाओंका महान् संहार आरम्भ किया ॥ ४०½ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषः शुश्रुवे दिक्षु मारिष ॥ ४१ ॥
वज्रसंह्लादसंकाशस्त्रासयन् मानवान् बहून् ।

आर्य ! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाका गम्भीर घोष सम्पूर्ण दिशाओंमें सुनायी देता था। वह वज्रकी गर्जनाके समान घोर शब्द बहुसंख्यक मनुष्योंको भयभीत कर रहा था ॥ ४१½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे जिष्णुर्जित्वा संशप्तकान् बहून् ॥ ४२ ॥
अभ्ययात् तत्र यत्रासौ द्रोणः पाण्डून् प्रमर्दति ।

इसी समय अर्जुन बहुत-से संशप्तकोंपर विजय प्राप्त करके उस स्थानपर आये, जहाँ आचार्य द्रोण पाण्डव-सैनिकोंका मर्दन कर रहे थे ॥ ४२½ ॥

ताञ्छरौघान् महावर्तान् शोणितोदान् महाह्रदान् ॥ ४३ ॥
तीर्णः संशप्तकान् हत्वा प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।

संशप्तक योद्धा महान् सरोवरोंके समान थे, बाणोंके समूह ही उनके जल-प्रवाह थे, धनुष ही उनमें उठी हुई बड़ी-बड़ी भँवरोंके समान जान पड़ते थे तथा प्रवाहित होनेवाला रक्त ही उन सरोवरोंका जल था। अर्जुन संशप्तकोंका वध करके उन महान् सरोवरोंके पार होकर वहाँ आते दिखायी दिये थे ॥

तस्य कीर्तिमतो लक्ष्म सूर्यप्रतिमतेजसः ॥ ४४ ॥
दीप्यमानमपश्याम तेजसा वानरध्वजम् ।

सूर्यके समान तेजस्वी एवं यशस्वी अर्जुनके चिह्नस्वरूप वानरध्वजको हमने दूरसे ही देखा, जो अपने दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहा था ॥ ४४½ ॥

संशप्तकसमुद्रं तमुच्छोष्यास्त्रगभस्तिभिः ॥ ४५ ॥
स पाण्डवयुगान्तार्कः कुरूनप्यभ्यतीतपत् ।

वे पाण्डुवंशके प्रलयकालीन सूर्य अपनी अस्त्रमयी किरणोंसे उस संशप्तकरूपी समुद्रको सोखकर कौरव-सैनिकोंको भी संतप्त करने लगे ॥ ४५½ ॥

प्रददाह कुरून् सर्वानर्जुनः शस्त्रतेजसा ॥ ४६ ॥
युगान्ते सर्वभूतानि धूमकेतुरिवोत्थितः ।

जैसे प्रलयकालमें प्रकट हुई अग्नि सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने अपने अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे समस्त कौरव-सैनिकोंको जलाना आरम्भ किया ॥ ४६½ ॥

तेन बाणसहस्रौघैर्गजाश्वरथयोधिनः ॥ ४७ ॥
ताड्यमानाः क्षितिं जग्मुर्मुक्तकेशाः शरार्दिताः ।

हाथी, घोड़े तथा रथपर आरूढ़ होकर युद्ध करनेवाले बहुत-से योद्धा अर्जुनके सहस्रों बाण-समूहोंसे आहत एवं पीड़ित हो बाल खोले हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४७½ ॥

केचिदार्तस्वनं चक्रुर्विनेशुरपरे पुनः ॥ ४८ ॥
पार्थबाणहताः केचिन्निपेतुर्विगतासवः ।

कोई आर्तनाद करने लगे, कोई नष्ट हो गये, कोई अर्जुनके बाणोंसे मारे जाकर प्राणशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े॥

तेषामुत्पतितान् कांश्चित् पतितांश्च पराङ्मुखान् ॥ ४९ ॥
न जघानार्जुनो योधान् योधव्रतमनुस्मरन् ।

उन योद्धाओंमेंसे जो लोग रथसे कूद पड़े थे या धरतीपर गिर गये थे अथवा युद्धसे विमुख होकर भाग चले थे, उन सबको एक वीर सैनिकके लिये निश्चित नियमका निरन्तर स्मरण रखते हुए अर्जुनने नहीं मारा ॥ ४९½ ॥

ते विकीर्णरथाश्चित्राः प्रायशश्च पराङ्मुखाः ॥ ५० ॥
कुरवः कर्ण कर्णेति हाहेति च विचुक्रुशुः ।

कौरव-सैनिकोंके रथ टूट-फूटकर बिखर गये। उनकी

विचित्र अवस्था हो गयी । वे प्रायः युद्धसे विमुख हो गये और 'हा कर्ण, हा कर्ण' कहकर पुकारने लगे ॥ ५०½ ॥

तमाधिरथिराक्रन्दं विज्ञाय शरणैषिणाम् ॥ ५१ ॥
मा भैष्टेति प्रतिश्रुत्य ययावभिमुखोऽर्जुनम् ।

तब अधिरथपुत्र कर्णने उन शरणार्थी सैनिकोंकी करुण पुकार सुनकर 'डरो मत' इस प्रकार उन्हें आश्वासन देकर अर्जुनका सामना करनेके लिये प्रस्थान किया ॥५१½॥

स भारतरथश्रेष्ठः सर्वभारतहर्षणः ॥ ५२ ॥
प्रादुश्चक्रे तदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ।

उस समय अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके श्रेष्ठ महारथी तथा सम्पूर्ण भारतीय सेनाका हर्ष बढ़ानेवाले कर्णने आग्नेयास्त्र प्रकट किया ॥ ५२½ ॥

तस्य दीप्तशरौघस्य दीप्तचापधरस्य च ॥ ५३ ॥
शरौघाञ्छरजालेन विदुधाव धनंजयः ।

प्रज्वलित बाणसमूह तथा देदीप्यमान धनुष धारण करनेवाले कर्णके उन बाण-समूहोंको अर्जुनने अपने बाणोंके समुदायद्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ५३½ ॥

तथैवाधिरथिस्तस्य बाणाञ्ज्वलिततेजसः ॥ ५४ ॥
अस्त्रमस्त्रेण संवार्य प्राणदद् विसृजञ्छरान् ।

उसी प्रकार अधिरथकुमार कर्णने भी प्रज्वलित तेज-वाले अर्जुनके बाणोंका तथा उनके प्रत्येक अस्त्रका अपने अस्त्रोंद्वारा निवारण करके बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५४½ ॥

धृष्टद्युम्नश्च भीमश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ ५५ ॥
विव्यधुः कर्णमासाद्य त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।

इसी समय धृष्टद्युम्न, भीम तथा महारथी सात्यकिने भी कर्णके पास पहुँचकर उसे तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया॥

अर्जुनास्त्रं तु राधेयः संवार्य शरवृष्टिभिः ॥ ५६ ॥
तेषां त्रयाणां चापानि चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः ।

तब राधानन्दन कर्णने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा अर्जुन-के बाणोंका निवारण करके अपने तीन बाणोंद्वारा धृष्टद्युम्न आदि तीनों वीरोंके धनुषोंको भी काट दिया ॥ ५६½ ॥

ते निकृत्तायुधाः शूरा निर्विषा भुजगा इव ॥ ५७ ॥
रथशक्तीः समुत्क्षिप्य भृशं सिंहा इवानदन् ।

अपने धनुष कट जानेपर विषहीन भुजङ्गमोंके समान उन शूरवीरोंने रथ-शक्तियोंको ऊपर उठाकर सिंहोंके समान भयंकर गर्जना की ॥ ५७½ ॥

ता भुजाग्रैर्महावेगा निसृष्टा भुजगोपमाः ॥ ५८ ॥
दीप्यमाना महाशक्त्यो जग्मुराधिरथिं प्रति ।

उनके हाथोंसे छूटी हुई वे अत्यन्त वेगशालिनी सर्पाकार महाशक्तियाँ अपनी प्रभासे प्रकाशित होती हुई कर्णकी ओर चलीं ॥ ५८½ ॥

ता निकृत्य शरव्रातैस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥ ५९ ॥
ननाद बलवान् कर्णः पार्थाय विसृजञ्छरान् ।

परंतु बलवान् कर्णने सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणसमूहों-द्वारा उन शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े करके अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए सिंहनाद किया ॥ ५९½ ॥

अर्जुनश्चापि राधेयं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ॥ ६० ॥
कर्णादवरजं बाणैर्जघान निशितैः शरैः ।

अर्जुनने भी राधानन्दन कर्णको सात शीघ्रगामी बाणों-द्वारा बींधकर अपने पैने बाणोंसे उसके छोटे भाईको मार डाला ॥ ६०½ ॥

ततः शत्रुंजयं हत्वा पार्थः षड्भिरजिह्मगैः ॥ ६१ ॥
जहार सद्यो भल्लेन विपाटस्य शिरो रथात् ।

तत्पश्चात् सीधे जानेवाले छः सायकोंद्वारा शत्रुञ्जयका संहार करके एक भल्लद्वारा रथपर बैठे हुए विपाटका मस्तक तत्काल काट गिराया ॥ ६१½ ॥

पश्यतां धार्तराष्ट्राणामेकेनैव किरीटिना ॥ ६२ ॥
प्रमुखे सूतपुत्रस्य सोदर्या निहतास्त्रयः ।

इस प्रकार धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते एकमात्र अर्जुनने युद्धके मुहानेपर सूतपुत्र कर्णके तीन भाइयोंका वध कर डाला॥

ततो भीमः समुत्पत्य स्वरथाद् वैनतेयवत् ॥ ६३ ॥
वरासिना कर्णपक्षान् जघान दश पञ्च च ।

तदनन्तर भीमसेनने गरुड़की भाँति अपने रथसे उछल-कर उत्तम खड्गद्वारा कर्णपक्षके पंद्रह योद्धाओंको मार डाला॥

पुनस्तु रथमास्थाय धनुरादाय चापरम् ॥ ६४ ॥
विव्याध दशभिः कर्णं सूतमश्वांश्च पञ्चभिः ।

फिर भी उन्होंने अपने रथपर बैठकर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और दस बाणोंद्वारा कर्णको तथा पाँच बाणोंसे उसके सारथि और घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ ६४½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽप्यसिवरं चर्म चादाय भास्वरम् ॥ ६५ ॥
जघान चन्द्रवर्माणं बृहत्क्षत्रं च नैषधम् ।

धृष्टद्युम्नने भी श्रेष्ठ खड्ग और चमकीली ढाल लेकर चन्द्रवर्मा तथा निषधराज बृहत्क्षत्रका काम तमाम कर दिया॥

ततः स्वरथमास्थाय पाञ्चाल्योऽन्यच्च कार्मुकम् ॥ ६६ ॥
आदाय कर्णं विव्याध त्रिसप्तत्या नदन् रणे ।

तदनन्तर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने अपने रथपर बैठकर दूसरा धनुष ले रणक्षेत्रमें गर्जना करते हुए तिहत्तर बाणोंद्वारा कर्णको बींध डाला ॥ ६६½ ॥

शैनेयोऽप्यन्यदादाय धनुरिन्दुसमद्युतिः ॥ ६७ ॥
सूतपुत्रं चतुःषष्ट्या विद्ध्वा सिंह इवानदत् ।

तत्पश्चात् चन्द्रमाके समान कान्तिमान् सात्यकिने भी दूसरा धनुष हाथमें लेकर सूतपुत्र कर्णको चौसठ बाणोंसे घायल करके सिंहके समान गर्जना की ॥ ६७½ ॥

भल्लाभ्यां साधुमुक्ताभ्यां छित्त्वा कर्णस्य कार्मुकम् ॥ ६८ ॥
पुनः कर्णं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

इसके बाद उन्होंने अच्छी तरह छोड़े हुए दो भल्लों-द्वारा कर्णके धनुषको काटकर पुनः तीन बाणोंद्वारा कर्णकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें भी चोट पहुँचायी ॥ ६८½ ॥

ततो दुर्योधनो द्रोणो राजा चैव जयद्रथः ॥ ६९ ॥
निमज्जमानं राधेयमुज्जह्रुः सात्यकार्णवात् ।

तत्पश्चात् दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा राजा जयद्रथने डूबते हुए राधानन्दन कर्णका सात्यकिरूपी समुद्रसे उद्धार किया ॥

पत्त्यश्वरथमातङ्गास्त्वदीयाः शतशोऽपरे ॥ ७० ॥
कर्णमेवाभ्यधावन्त त्रास्यमानाः प्रहारिणः ।

उस समय आपकी सेनाके अन्य सैकड़ों पैदल, घुड़सवार, रथी और गजारोही योद्धा सात्यकिसे संत्रस्त होकर कर्णके ही पीछे दौड़े गये ॥ ७०½ ॥

धृष्टद्युम्नश्च भीमश्च सौभद्रोऽर्जुन एव च ॥ ७१ ॥
नकुलः सहदेवश्च सात्यकिं जुगुपू रणे ।

उधर धृष्टद्युम्न, भीमसेन, अभिमन्यु, अर्जुन, नकुल तथा सहदेवने रणक्षेत्रमें सात्यकिका संरक्षण आरम्भ किया ।७१½।

एवमेष महारौद्रः क्षयार्थं सर्वधन्विनाम् ॥ ७२ ॥
तावकानां परेषां च त्यक्त्वा प्राणानभूद् रणः ।

महाराज ! इस प्रकार आपके तथा शत्रुपक्षके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके विनाशके लिये उनमें परस्पर प्राणोंकी परवा न करके अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ७२½ ॥

पदातिरथनागाश्वा गजाश्वरथपत्तिभिः ॥ ७३ ॥
रथिनो नागपत्त्यश्वै रथपत्ती रथद्विपैः ।

पैदल, रथ, हाथी और घोड़े क्रमशः हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंके साथ युद्ध करने लगे । रथी हाथियों, पैदलों और घोड़ोंके साथ भिड़ गये । रथी और पैदल सैनिक रथियों और हाथियोंका सामना करने लगे ॥ ७३½ ॥

अश्वैरश्वा गजैर्नागा रथिनो रथिभिः सह ॥ ७४ ॥
संयुक्ताः समदृश्यन्त पत्तयश्चापि पत्तिभिः ।

घोड़ोंसे घोड़े, हाथियोंसे हाथी, रथियोंसे रथी और पैदलों-से पैदल जूझते दिखायी दे रहे थे ॥ ७४½ ॥

एवं सुकलिलं युद्धमासीत् क्रव्यादहर्षणम् ।
महद्भिस्तैरभीतानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ ७५ ॥

इस प्रकार उन निर्भीक सैनिकोंका महान् शक्तिशाली विपक्षी योद्धाओंके साथ अत्यन्त घमासान युद्ध हो रहा था, जो कच्चा मांस खानेवाले पशु-पक्षियों तथा पिशाचोंके हर्षकी वृद्धि और यमराजके राष्ट्रकी समृद्धि करनेवाला था ॥ ७५ ॥

ततो हता नररथवाजिकुञ्जरै-
रनेकशो द्विपरथपत्तिवाजिनः ।
गजैर्गजा रथिभिरुदायुधा रथा
हयैर्हयाः पत्तिगणैश्च पत्तयः ॥ ७६ ॥

उस समय पैदल, रथी, घुड़सवार और हाथीसवारोंके द्वारा बहुत-से हाथीसवार, रथी, पैदल और घुड़सवार मारे गये । हाथियोंने हाथियोंको, रथियोंने शस्त्र उठाये हुए रथियोंको, घुड़सवारोंने घुड़सवारोंको और पैदल योद्धाओंने पैदल योद्धाओंको मार गिराया ॥ ७६ ॥

रथैर्द्विपा द्विरदवरैर्महाहया
हयैर्नरा वररथिभिश्च वाजिनः ।
निरस्तजिह्वादशनेक्षणाः क्षितौ
क्षयं गताः प्रमथितवर्मभूषणाः ॥ ७७ ॥

रथियोंने हाथियोंको, गजराजोंने बड़े-बड़े घोड़ोंको, घुड़सवारोंने पैदलोंको तथा श्रेष्ठ रथियोंने घुड़सवारोंको धराशायी कर दिया । उनकी जिह्वा, दाँत और नेत्र—ये सब बाहर निकल आये थे । कवच और आभूषण टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े थे । ऐसी अवस्थामें वे सब योद्धा पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये थे ॥ ७७ ॥

तथा परैर्बहुकरणैर्वरायुधै-
र्हता गताः प्रतिभयदर्शनाः क्षितिम् ।
विपोथिता हयगजपादताडिता
भृशाकुला रथमुखनेमिभिः क्षताः ॥ ७८ ॥

शत्रुओंके पास बहुत-से साधन थे । उनके हाथमें उत्तम अस्त्र-शस्त्र थे । उनके द्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हुए सैनिक बड़े भयंकर दिखायी देते थे । कितने ही योद्धा हाथियों और घोड़ोंके पैरोंसे आहत होकर धरतीपर गिर पड़ते थे । कितने ही बड़े-बड़े रथोंके पहियोंसे कुचलकर क्षत-विक्षत हो अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे ॥ ७८ ॥

प्रमोदने श्वापदपक्षिरक्षसां
जनक्षये वर्तति तत्र दारुणे ।
महाबलास्ते कुपिताः परस्परं
निषूदयन्तः प्रविचेरुरोजसा ॥ ७९ ॥

वहाँ वह भयंकर जनसंहार हिंसक जन्तुओं, पक्षियों तथा राक्षसोंको आनन्द प्रदान करनेवाला था । उसमें कुपित हुए वे महाबली शूरवीर एक दूसरेको मारते हुए बलपूर्वक विचरण कर रहे थे ॥ ७९ ॥

ततो बले भृशलुलिते परस्परं
निरीक्षमाणे रुधिरौघसम्प्लुते ।
दिवाकरेऽस्तंगिरिमास्थिते शनै-
रुभे प्रयाते शिबिराय भारत ॥ ८० ॥

भरतनन्दन ! दोनों ओरकी सेनाएँ अत्यन्त आहत होकर खूनसे लथपथ हो एक दूसरीकी ओर देख रही थीं, इतनेहीमें सूर्यदेव अस्ताचलको जा पहुँचे। फिर तो वे दोनों ही धीरे-धीरे अपने-अपने शिबिरकी ओर चल दीं ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि संशप्तकवधपर्वणि द्वादशदिवसावहारे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत संशप्तकवधपर्वमें बारहवें दिनके युद्धमें सेनाका युद्धसे विरत हो अपने शिबिरको प्रस्थानविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(अभिमन्युवधपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका उपालम्भ, द्रोणाचार्यकी प्रतिज्ञा और अभिमन्युवधके वृत्तान्तका संक्षेपसे वर्णन

संजय उवाच

पूर्वमस्मासु भग्नेषु फाल्गुनेनामितौजसा।
द्रोणे च मोघसंकल्पे रक्षिते च युधिष्ठिरे ॥ १ ॥
सर्वे विध्वस्तकवचास्तावका युधि निर्जिताः।
रजस्वला भृशोद्विग्ना वीक्षमाणा दिशो दश ॥ २ ॥
अवहारं ततः कृत्वा भारद्वाजस्य सम्मते।
लब्धलक्ष्यैः शरैर्भिन्ना भृशावहसिता रणे ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब अमित तेजस्वी अर्जुनने पहले ही हम सब लोगोंको भगा दिया, द्रोणाचार्यका संकल्प व्यर्थ हो गया तथा राजा युधिष्ठिर सर्वथा सुरक्षित रह गये, तब आपके समस्त सैनिक द्रोणाचार्यकी सम्मतिसे युद्ध बंद करके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो दसों दिशाओंकी ओर देखते हुए शिबिरकी ओर चल दिये। वे सब-के-सब युद्धमें पराजित होकर धूलमें भर गये थे। उनके कवच छिन्न-भिन्न हो गये थे तथा कभी न चूकनेवाले अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण होकर वे रणक्षेत्रमें अत्यन्त उपहासके पात्र बन गये ॥ १–३ ॥

श्लाघमानेषु भूतेषु फाल्गुनस्यामितान् गुणान्।
केशवस्य च सौहार्दे कीर्त्यमानेऽर्जुनं प्रति ॥ ४ ॥

समस्त प्राणी अर्जुनके असंख्य गुणोंकी प्रशंसा तथा उनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके सौहार्दका बखान कर रहे थे॥

अभिशस्ता इवाभूवन् ध्यानमूकत्वमास्थिताः।
ततः प्रभातसमये द्रोणं दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस समय आपके महारथीगण कलङ्कित-से हो रहे थे। वे ध्यानस्थसे होकर मूक हो गये थे। तदनन्तर प्रातःकाल दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर उनसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ ५ ॥

प्रणयादभिमानाच्च द्विषद्‌वृद्ध्या च दुर्मनाः।
शृण्वतां सर्वयोधानां संरब्धो वाक्यकोविदः ॥ ६ ॥

शत्रुओंके अभ्युदयसे वह मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया था। द्रोणाचार्यके प्रति उसके हृदयमें प्रेम था। उसे अपने शौर्यपर अभिमान भी था। अतः अत्यन्त कुपित हो बातचीतमें कुशल राजा दुर्योधनने समस्त योद्धाओंके सुनते हुए इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

नूनं वयं वध्यपक्षे भवतो द्विजसत्तम।
तथा हि नाग्रहीः प्राप्तं समीपेऽद्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! निश्चय ही हमलोग आपकी दृष्टिमें शत्रुवर्गके अन्तर्गत हैं। यही कारण है कि आज आपने अत्यन्त निकट आनेपर भी राजा युधिष्ठिरको नहीं पकड़ा है ॥ ७ ॥

इच्छतस्ते न मुच्येत चक्षुःप्राप्तो रणे रिपुः।
जिघृक्षतो रक्ष्यमाणः सामरैरपि पाण्डवैः ॥ ८ ॥

'रणक्षेत्रमें कोई शत्रु आपके नेत्रोंके समक्ष आ जाय और उसे आप पकड़ना चाहें तो सम्पूर्ण देवताओंके साथ सारे पाण्डव उसकी रक्षा क्यों न कर रहे हों, निश्चय ही वह आपसे छूटकर नहीं जा सकता ॥ ८ ॥

वरं दत्त्वा मम प्रीतः पश्चाद् विकृतवानसि।
आशाभङ्गं न कुर्वन्ति भक्तस्यार्याः कथंचन ॥ ९ ॥

'आपने प्रसन्न होकर पहले तो मुझे वर दिया और पीछे उसे उलट दिया; परंतु श्रेष्ठ पुरुष किसी प्रकार भी अपने भक्तकी आशा भंग नहीं करते हैं' ॥ ९ ॥

ततोऽप्रीतस्तथोक्तः सन् भारद्वाजोऽब्रवीन्नृपम्।
नार्हसे मां तथा ज्ञातुं घटमानं तव प्रिये ॥ १० ॥

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्यको तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। वे दुखी होकर राजासे इस प्रकार बोले—'राजन् ! तुमको मुझे इस प्रकार प्रतिज्ञा भङ्ग करने-

वाला नहीं समझना चाहिये। मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर तुम्हारा प्रिय करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ ॥ १० ॥

ससुरासुरगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः।
नालं लोका रणे जेतुं पाल्यमानं किरीटिना ॥ ११ ॥

'परंतु एक बात याद रक्खो, किरीटधारी अर्जुन रण-क्षेत्रमें जिसकी रक्षा कर रहे हों, उसे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं जीत सकते ॥ ११ ॥

विश्वसृग् यत्र गोविन्दः पृतनानीस्तथार्जुनः।
तत्र कस्य बलं क्रामेदन्यत्र त्र्यम्बकात् प्रभोः ॥ १२ ॥

'जहाँ जगत्स्रष्टा भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन सेनानायक हों, वहाँ भगवान् शंकरके सिवा दूसरे किस पुरुषका बल काम कर सकता है ॥ १२ ॥

सत्यं तात ब्रवीम्यद्य नैतज्जात्वन्यथा भवेत्।
अद्यैकं प्रवरं कंचित् पातयिष्ये महारथम् ॥ १३ ॥

'तात ! आज मैं एक सच्ची बात कहता हूँ, यह कभी झूठी नहीं हो सकती। आज मैं पाण्डवपक्षके किसी श्रेष्ठ महारथीको अवश्य मार गिराऊँगा॥ १३ ॥

तं च व्यूहं विधास्यामि योऽभेद्यस्त्रिदशैरपि।
योगेन केनचिद् राजन्नर्जुनस्त्वपनीयताम् ॥ १४ ॥

'राजन्! आज उस व्यूहका निर्माण करूँगा, जिसे देवता भी तोड़ नहीं सकते; परंतु किसी उपायसे अर्जुनको यहाँसे दूर हटा दो ॥ १४ ॥

न ह्यज्ञातमसाध्यं वा तस्य संख्येऽस्ति किंचन।
तेन ह्युपात्तं सकलं सर्वज्ञानमितस्ततः ॥ १५ ॥

'युद्धके सम्बन्धमें कोई ऐसी बात नहीं है, जो अर्जुनके लिये अज्ञात अथवा असाध्य हो। उन्होंने इधर-उधरसे युद्ध-विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है' ॥ १५॥

द्रोणेन व्याहृते त्वेवं संशप्तकगणाः पुनः।
आह्वयन्नर्जुनं संख्ये दक्षिणामभितो दिशम् ॥ १६ ॥

द्रोणाचार्यके ऐसा कहनेपर पुनः संशप्तकगणोंने दक्षिण दिशामें जा अर्जुनको युद्धके लिये ललकारा ॥ १६ ॥

ततोऽर्जुनस्याथ परैः सार्धं समभवद् रणः।
तादृशो यादृशो नान्यः श्रुतो दृष्टोऽपि वा क्वचित् ॥ १७॥

वहाँ अर्जुनका शत्रुओंके साथ ऐसा घोर संग्राम हुआ, जैसा दूसरा कोई कहीं न तो देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ १७ ॥

तत्र द्रोणेन विहितो व्यूहो राजन् व्यरोचत।
चरन् मध्यंदिने सूर्यः प्रतपन्निव दुर्दृशः ॥ १८ ॥

राजन्! उस समय वहाँ द्रोणाचार्यने जिस व्यूहका निर्माण किया, वह मध्याह्नकालमें विचरते हुए सूर्यकी भाँति शत्रुओंको संताप देता-सा सुशोभित हो रहा था। उसे जीतना तो दूर रहा, उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी अत्यन्त कठिन था ॥ १८ ॥

तं चाभिमन्युर्वचनात् पितुर्ज्येष्ठस्य भारत।
बिभेद दुर्भिदं संख्ये चक्रव्यूहमनेकधा ॥ १९ ॥

भारत ! यद्यपि उस चक्रव्यूहका भेदन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था तो भी वीर अभिमन्युने अपने ताऊ युधिष्ठिरकी आज्ञासे उस व्यूहका बारंबार भेदन किया ॥१९॥

स कृत्वा दुष्करं कर्म हत्वा वीरान् सहस्रशः।
षट्सु वीरेषु संसक्तो दौःशासनिवशं गतः ॥ २० ॥

अभिमन्युने वह दुष्कर कर्म करके सहस्रों वीरोंका वध किया और अन्तमें छः वीरोंके साथ अकेला ही उलझकर दुःशासनपुत्रके हाथसे मारा गया ॥ २० ॥

सौभद्रः पृथिवीपाल जहौ प्राणान् परंतपः।
वयं परमसंहृष्टाः पाण्डवाः शोककर्शिताः।
सौभद्रे निहते राजन्नवहारमकुर्महि ॥ २१ ॥

भूपाल ! शत्रुओंको संताप देनेवाले सुभद्राकुमारने जब प्राण त्याग दिये, उस समय हमलोगोंको बड़ा हर्ष हुआ और पाण्डव शोकसे व्याकुल हो गये। राजन्! सुभद्राकुमारके मारे जानेपर हमलोगोंने युद्ध बंद कर दिया ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

पुत्रं पुरुषसिंहस्य संजयाप्राप्तयौवनम्।
रणे विनिहतं श्रुत्वा भृशं मे दीर्यते मनः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पुरुषसिंह अर्जुनका वह पुत्र अभी युवावस्थामें भी नहीं पहुँचा था। उसे युद्धमें मारा गया सुनकर मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण हो रहा है ॥ २२ ॥

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयं विहितो धर्मकर्तृभिः।
यत्र राज्येप्सवः शूरा बाले शस्त्रमपातयन् ॥ २३ ॥

धर्मशास्त्रके निर्माताओंने यह क्षत्रिय-धर्म अत्यन्त कठोर बनाया है, जिसमें स्थित होकर राज्यके लोभी शूर-वीरोंने एक बालकपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया ॥ २३ ॥

बालमत्यन्तसुखिनं विचरन्तमभीतवत्।
कृतास्त्रा बहवो जघ्नुर्ब्रूहि गावल्गणे कथम् ॥ २४ ॥

संजय ! वह अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाला बालक जब निर्भय-सा होकर युद्धमें विचर रहा था, उस समय अस्त्र-विद्याके पारंगत बहुसंख्यक शूरवीरोंने उसका वध कैसे किया? यह मुझे बताओ ॥ २४ ॥

बिभित्सता रथानीकं सौभद्रेणामितौजसा।
विक्रीडितं यथा संख्ये तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २५ ॥

संजय ! अमित तेजस्वी सुभद्राकुमारने युद्धके मैदानमें रथियोंकी सेनाको विदीर्ण करनेकी इच्छासे जिस प्रकार युद्ध-का खेल किया था, वह सब मुझे बताओ ॥ २५ ॥

संजय उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र सौभद्रस्य निपातनम्।
तत् ते कार्त्स्न्येन वक्ष्यामि शृणु राजन् समाहितः ॥ २६॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! आप जो मुझसे सुभद्राकुमारके मारे जानेका वृत्तान्त पूछ रहे हैं, वह सब मैं आपको पूर्णरूपसे बताऊँगा । राजन् ! आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥

विक्रीडितं कुमारेण यथानीकं बिभित्सता ।
आरुग्णाश्च यथा वीरा दुःसाध्याश्चापि विप्लवे ॥ २७ ॥

आपकी सेनाके व्यूहका भेदन करनेकी इच्छासे कुमार अभिमन्युने जिस प्रकार रणक्रीड़ा की थी और उस प्रलयंकर संग्राममें जैसे-जैसे दुर्जय वीरोंके भी पाँव उखाड़ दिये थे, वह सब बता रहा हूँ ॥ २७ ॥

दावाग्न्यभिपरीतानां भूरिगुल्मतृणद्रुमे ।
वनौकसामिवारण्ये त्वदीयानामभूद् भयम् ॥ २८ ॥

जैसे प्रचुर लता-गुल्म, घास-पात और वृक्षोंसे भरे हुए वनमें दावानलसे घिरे हुए वनवासियोंको महान् भयका सामना करना पड़ता है, उसी प्रकार अभिमन्युसे आपके सैनिकोंको अत्यन्त भय प्राप्त हुआ था ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युवधसंक्षेपकथने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युवधका संक्षेपसे वर्णनविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

संजयके द्वारा अभिमन्युकी प्रशंसा, द्रोणाचार्यद्वारा चक्रव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

समरेऽत्युग्रकर्माणः कर्मभिर्व्यञ्जितश्रमाः ।
सकृष्णाः पाण्डवाः पञ्च देवैरपि दुरासदाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णसहित पाँचों पाण्डव देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं । वे समरभूमिमें अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले हैं । उनके कर्मोंद्वारा ही उनका परिश्रम अभिव्यक्त होता है ॥ १ ॥

सत्त्वकर्मान्वयैर्बुद्ध्या कीर्त्या च यशसा श्रिया ।
नैव भूतो न भविता नैव तुल्यगुणः पुमान् ॥ २ ॥

सत्त्वगुण, कर्म, कुल, बुद्धि, कीर्ति, यश और श्रीके द्वारा युधिष्ठिरके समान पुरुष दूसरा कोई न तो हुआ है और न होनेवाला ही है ॥ २ ॥

सत्यधर्मरतो दान्तो विप्रपूजादिभिर्गुणैः ।
सदैव त्रिदिवं प्राप्तो राजा किल युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

कहते हैं, राजा युधिष्ठिर सत्यधर्मपरायण और जितेन्द्रिय होनेके साथ ही ब्राह्मण-पूजन आदि सद्गुणोंके द्वारा सदा ही स्वर्गलोकको प्राप्त हैं ॥ ३ ॥

युगान्ते चान्तको राजन् जामदग्न्यश्च वीर्यवान् ।
रथस्थो भीमसेनश्च कथ्यन्ते सदृशास्त्रयः ॥ ४ ॥

राजन् ! प्रलयकालके यमराज, पराक्रमी परशुराम और रथपर बैठे हुए भीमसेन—ये तीनों एक समान कहे जाते हैं ॥

प्रतिज्ञाकर्मदक्षस्य रणे गाण्डीवधन्वनः ।
उपमां नाधिगच्छामि पार्थस्य सदृशीं क्षितौ ॥ ५ ॥

रणभूमिमें प्रतिज्ञापूर्वक कर्म करनेमें कुशल, गाण्डीवधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके लिये तो मुझे इस पृथ्वीपर कोई उनके योग्य उपमा ही नहीं मिलती है ॥ ५ ॥

गुरुवात्सल्यमत्यन्तं नैभृत्यं विनयो दमः ।
नकुलेऽप्रातिरूप्यं च शौर्यं च नियतानि षट् ॥ ६ ॥

बड़े भाईके प्रति अत्यन्त भक्ति, अपने पराक्रमको प्रकाशित न करना, विनयशीलता, इन्द्रिय-संयम, उपमारहित रूप तथा शौर्य—ये नकुलमें छः गुण निश्चितरूपसे निवास करते हैं ॥ ६ ॥

श्रुतगाम्भीर्यमाधुर्यसत्यरूपपराक्रमैः ।
सदृशो देवयोर्वीरः सहदेवः किलाश्विनोः ॥ ७ ॥

वेदाध्ययन, गम्भीरता, मधुरता, सत्य, रूप और पराक्रमकी दृष्टिसे वीर सहदेव सर्वथा अश्विनीकुमारोंके समान हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

ये च कृष्णे गुणाः स्फीताः पाण्डवेषु च ये गुणाः ।
अभिमन्यौ किलैकस्था दृश्यन्ते गुणसंचयाः ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णमें जो उज्ज्वल गुण हैं तथा पाण्डवोंमें जो उज्ज्वल गुण विद्यमान हैं, वे समस्त गुणसमुदाय अभिमन्युमें निश्चय ही एकत्र हुए दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरस्य वीर्येण कृष्णस्य चरितेन च ।
कर्मभिर्भीमसेनस्य सदृशो भीमकर्मणः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरके पराक्रम, श्रीकृष्णके उत्तम चरित्र एवं भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके वीरोचित कर्मोंके समान ही अभिमन्युके भी पराक्रम, चरित्र और कर्म थे ॥ ९ ॥

धनंजयस्य रूपेण विक्रमेण श्रुतेन च ।
विनयात् सहदेवस्य सदृशो नकुलस्य च ॥ १० ॥

वह रूप, पराक्रम और शास्त्रज्ञानमें अर्जुनके समान तथा विनयशीलतामें नकुल और सहदेवके तुल्य था ॥१०॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिमन्युमहं सूत सौभद्रमपराजितम् ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कथमायोधने हतः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूत ! मैं किसीसे भी पराजित न होनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युके विषयमें सारा वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । वह युद्धमें कैसे मारा गया ? ॥ ११ ॥

संजय उवाच

स्थिरो भव महाराज शोकं धारय दुर्धरम्।
महान्तं बन्धुनाशं ते कथयिष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥

संजयने कहा—महाराज ! स्थिर हो जाइये और जिसे धारण करना कठिन है, उस शोकको अपने हृदयमें ही रोके रखिये। मैं आपसे बन्धु-बान्धवोंके महान् विनाशका वर्णन करूँगा, उसे सुनिये ॥ १२ ॥

चक्रव्यूहो महाराज आचार्येणाभिकल्पितः।
तत्र शक्रोपमाः सर्वे राजानो विनिवेशिताः ॥ १३ ॥

राजन् ! आचार्य द्रोणने जिस चक्रव्यूहका निर्माण किया था, उसमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले समस्त राजाओंका समावेश कर रक्खा था ॥ १३ ॥

अरास्थानेषु विन्यस्ताः कुमाराः सूर्यवर्चसः।
संघातो राजपुत्राणां सर्वेषामभवत् तदा ॥ १४ ॥

उसमें अरोंके स्थानमें सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार खड़े किये गये थे। उस समय वहाँ समस्त राजकुमारोंका समुदाय उपस्थित हो गया था ॥ १४ ॥

कृताभिसमयाः सर्वे सुवर्णविकृतध्वजाः।
रक्ताम्बरधराः सर्वे सर्वे रक्तविभूषणाः ॥ १५ ॥

उन सबने प्राणोंके रहते युद्धसे विमुख न होनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी। उन सबकी ध्वजाएँ सुवर्णमयी थीं, सबने लाल वस्त्र धारण कर रक्खे थे और सबके आभूषण भी लाल रंगके ही थे ॥ १५ ॥

सर्वे रक्तपताकाश्च सर्वे वै हेममालिनः।
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गाः स्रग्विणः सूक्ष्मवाससः ॥ १६ ॥

सबके रथोंपर लाल रंगकी पताकाएँ फहरा रही थीं, सबने सोनेकी मालाएँ पहन रक्खी थीं, सबके अङ्गोंमें चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था और सभी फूलोंके गजरों तथा महीन वस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥ १६ ॥

सहिताः पर्यधावन्त कार्ष्णिं प्रति युयुत्सवः।
तेषां दश सहस्राणि बभूवुर्दृढधन्विनाम् ॥ १७ ॥

वे सब एक साथ युद्धके लिये उत्सुक होकर अर्जुन-पुत्र अभिमन्युकी ओर दौड़े। सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले उन आक्रमणकारी वीरोंकी संख्या दस हजार थी ॥ १७ ॥

पौत्रं तव पुरस्कृत्य लक्ष्मणं प्रियदर्शनम्।
अन्योन्यसमदुःखास्ते अन्योन्यसमसाहसाः ॥ १८ ॥

उन्होंने आपके प्रियदर्शन पौत्र लक्ष्मणको आगे करके धावा किया था। उन सबने एक दूसरेके दुःखको समान समझा था और वे परस्पर समानभावसे साहसी थे ॥ १८ ॥

अन्योन्यं स्पर्धमानाश्च अन्योन्यस्य हिते रताः।
दुर्योधनस्तु राजेन्द्र सैन्यमध्ये व्यवस्थितः ॥ १९ ॥

वे एक दूसरेसे होड़ लगाये रखते थे और आपसमें एक दूसरेके हित-साधनमें तत्पर रहते थे। राजेन्द्र ! राजा दुर्योधन सेनाके मध्यभागमें विराजमान था ॥ १९ ॥

कर्णदुःशासनकृपैर्वृतो राजा महारथैः।
देवराजोपमः श्रीमाञ्छ्वेतच्छत्राभिसंवृतः ॥ २० ॥

उसके ऊपर श्वेतछत्र तना हुआ था। वह कर्ण, दुःशासन तथा कृपाचार्य आदि महारथियोंसे घिरकर देवराज इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ॥ २० ॥

चामरव्यजनाक्षेपैरुदयन्निव भास्करः।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य द्रोणोऽवस्थितनायकः ॥ २१ ॥

उसके दोनों ओर चँवर और व्यजन डुलाये जा रहे थे। वह उदयकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। उस सेनाके अग्रभागमें सेनापति द्रोणाचार्य खड़े थे ॥ २१ ॥

सिन्धुराजस्तथातिष्ठच्छ्रीमान् मेरुरिवाचलः।
सिन्धुराजस्य पार्श्वस्था अश्वत्थामपुरोगमाः ॥ २२ ॥

वहीं सिंधुराज श्रीमान् राजा जयद्रथ भी मेरु पर्वतकी भाँति खड़ा था। उसके पार्श्व भागमें अश्वत्थामा आदि महारथी विद्यमान थे ॥ २२ ॥

सुतास्तव महाराज त्रिंशत्त्रिदशसंनिभाः।
गान्धारराजः कितवः शल्यो भूरिश्रवास्तथा ॥ २३ ॥
पार्श्वतः सिन्धुराजस्य व्यराजन्त महारथाः।

महाराज ! देवताओंके समान शोभा पानेवाले आपके तीस पुत्र, जुआरी गान्धारराज शकुनि, शल्य तथा भूरिश्रवा—ये महारथी वीर सिंधुराज जयद्रथके पार्श्वभागमें सुशोभित हो रहे थे ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २४ ॥
तावकानां परेषां च मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर 'मरनेपर ही युद्धसे निवृत्त होंगे' ऐसा निश्चय करके आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि चक्रव्यूहनिर्माणे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें चक्रव्यूहका निर्माणविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और अभिमन्युका संवाद तथा व्यूहभेदनके लिये अभिमन्युकी प्रतिज्ञा

संजय उवाच

तदनीकमनाधृष्यं भारद्वाजेन रक्षितम्।
पार्थाः समभ्यवर्तन्त भीमसेनपुरोगमाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित उस दुर्धर्ष सेनाका भीमसेन आदि कुन्तीपुत्रोंने डटकर सामना किया ॥ १ ॥

चक्रव्यूह

सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
कुन्तिभोजश्च विक्रान्तो द्रुपदश्च महारथः ॥ २ ॥
आर्जुनिः क्षत्रधर्मा च बृहत्क्षत्रश्च वीर्यवान् ।
चेदिपो धृष्टकेतुश्च माद्रीपुत्रौ घटोत्कचः ॥ ३ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्तः शिखण्डी चापराजितः ।
उत्तमौजाश्च दुर्धर्षो विराटश्च महारथः ॥ ४ ॥
द्रौपदेयाश्च संरब्धाः शैशुपालिश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महावीर्याः सृञ्जयाश्च सहस्रशः ॥ ५ ॥
एते चान्ये च सगणाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
समभ्यधावन् सहसा भारद्वाजं युयुत्सवः ॥ ६ ॥

सात्यकि, चेकितान, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, पराक्रमी कुन्तिभोज, महारथी द्रुपद, अभिमन्यु, क्षत्रधर्मा, शक्तिशाली बृहत्क्षत्र, चेदिराज धृष्टकेतु, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, घटोत्कच, पराक्रमी युधामन्यु, किसीसे परास्त न होनेवाला वीर शिखण्डी, दुर्धर्षवीर उत्तमौजा, महारथी विराट, क्रोधमें भरे हुए द्रौपदीपुत्र, बलवान् शिशुपालकुमार, महापराक्रमी केकयराजकुमार तथा सहस्रों सृंजयवंशी क्षत्रिय—ये तथा और भी अस्त्रविद्यामें पारंगत एवं रणदुर्मद बहुत-से शूर-वीर अपने दलबलके साथ वहाँ उपस्थित थे। इन सबने युद्धकी अभिलाषासे द्रोणाचार्यपर सहसा धावा किया ॥२–६॥

समीपे वर्तमानांस्तान् भारद्वाजोऽतिवीर्यवान् ।
असम्भ्रान्तः शरौघेण महता समवारयत् ॥ ७ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य बड़े पराक्रमी थे। शत्रुओंके आक्रमणसे उन्हें तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने अपने समीप आये हुए पाण्डव-वीरोंको बाणसमूहोंकी भारी वृष्टि करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७ ॥

महौघः सलिलस्येव गिरिमासाद्य दुर्भिदम् ।
द्रोणं ते नाभ्यवर्तन्त वेलामिव जलाशयाः ॥ ८ ॥

जैसे दुर्भेद्य पर्वतके पास पहुँचकर जलका महान् प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है तथा जिस प्रकार सम्पूर्ण जलाशय (समुद्र) अपनी तटभूमिको नहीं लाँघ पाते, उसी प्रकार वे पाण्डव-सैनिक द्रोणाचार्यके अत्यन्त निकट न पहुँच सके ॥ ८ ॥

पीड्यमानाः शरै राजन् द्रोणचापविनिःसृतैः ।
न शेकुः प्रमुखे स्थातुं भारद्वाजस्य पाण्डवाः॥ ९ ॥

राजन्! द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर पाण्डववीर उनके सामने नहीं ठहर सके ॥९॥

तदद्भुतमपश्याम द्रोणस्य भुजयोर्बलम् ।
यदेनं नाभ्यवर्तन्त पञ्चालाः सृञ्जयैः सह ॥ १० ॥

उस समय हमलोगोंने द्रोणाचार्यकी भुजाओंका वह अद्भुत बल देखा, जिससे कि सृंजयोंसहित सम्पूर्ण पाञ्चालवीर उनके सामने टिक न सके ॥ १० ॥

तमायान्तमभिक्रुद्धं द्रोणं दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ।
बहुधा चिन्तयामास द्रोणस्य प्रतिवारणम् ॥ ११ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन्हीं द्रोणाचार्यको आते देख राजा युधिष्ठिरने उन्हें रोकनेके उपायपर बारंबार विचार किया ॥

अशक्यं तु तमन्येन द्रोणं मत्वा युधिष्ठिरः ।
अविषह्यं गुरुं भारं सौभद्रे समवासृजत् ॥ १२ ॥

इस समय द्रोणाचार्यका सामना करना दूसरेके लिये असम्भव जानकर युधिष्ठिरने वह दुःसह एवं महान् भार सुभद्राकुमार अभिमन्युपर रख दिया ॥ १२ ॥

वासुदेवादनवरं फाल्गुनाच्चामितौजसम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नमभिमन्युमिदं वचः ॥ १३ ॥

अमिततेजस्वी अभिमन्यु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण तथा अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं था, वह शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ था; अतः उससे युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥

एत्य नो नार्जुनो गर्हेद् यथा तात तथा कुरु ।
चक्रव्यूहस्य न वयं विद्मो भेदं कथंचन ॥ १४ ॥

'तात! संशप्तकोंके साथ युद्ध करके लौटनेपर अर्जुन जिस प्रकार हमलोगोंकी निन्दा न करें (हमें असमर्थ न बतावें), वैसा कार्य करो। हमलोग तो किसी तरह भी चक्रव्यूहके भेदनकी प्रक्रियाको नहीं जानते हैं ॥ १४ ॥

त्वं वार्जुनो वा कृष्णो वा भिन्द्यात् प्रद्युम्न एव वा ।
चक्रव्यूहं महाबाहो पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १५ ॥

'महाबाहो! तुम, अर्जुन, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही चक्रव्यूहका भेदन कर सकते हो। पाँचवाँ कोई योद्धा इस कार्यके योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

अभिमन्यो वरं तात याचतां दातुमर्हसि ।
पितॄणां मातुलानां च सैन्यानां चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

'तात अभिमन्यु! तुम्हारे पिता और मामाके पक्षके समस्त योद्धा तथा सम्पूर्ण सैनिक तुमसे याचना कर रहे हैं। तुम्हीं इन्हें वर देनेके योग्य हो ॥ १६ ॥

धनंजयो हि नस्तात गर्हयेदेत्य संयुगात् ।
क्षिप्रमस्त्रं समादाय द्रोणानीकं विशातय ॥ १७ ॥

'तात! यदि हम विजयी नहीं हुए तो युद्धसे लौटनेपर अर्जुन निश्चय ही हमलोगोंको कोसेंगे, अतः शीघ्र अस्त्र लेकर तुम द्रोणाचार्यकी सेनाका विनाश कर डालो' ॥ १७ ॥

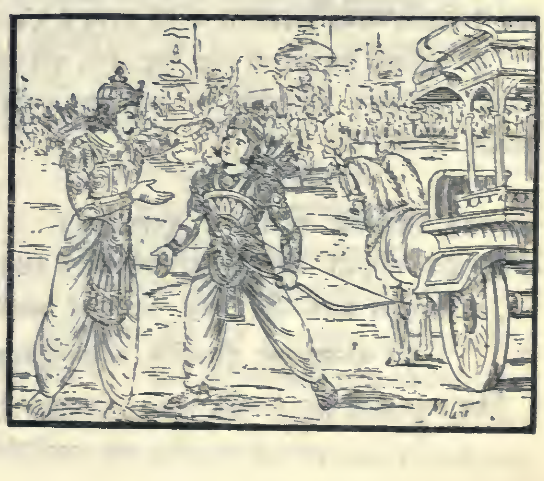

अभिमन्युरुवाच

द्रोणस्य दृढमत्युग्रमनीकप्रवरं युधि।
पितॄणां जयमाकाङ्क्षन्नवगाहेऽविलम्बितम् ॥ १८ ॥

अभिमन्युने कहा—महाराज ! मैं अपने पितृवर्गकी विजयकी अभिलाषासे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यकी अत्यन्त भयंकर, सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ सेनामें शीघ्र ही प्रवेश करता हूँ ॥ १८ ॥

उपदिष्टो हि मे पित्रा योगोऽनीकविशातने।
नोत्सहे हि विनिर्गन्तुमहं कस्यांचिदापदि ॥ १९ ॥

पिताजीने मुझे चक्रव्यूहके भेदनकी विधि तो बतायी है; परंतु किसी आपत्तिमें पड़ जानेपर मैं उस व्यूहसे बाहर नहीं निकल सकता ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भिन्ध्यनीकं युधां श्रेष्ठ द्वारं संजनयस्व नः।
वयं त्वानुगमिष्यामो येन त्वं तात यास्यसि ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—योद्धाओंमें श्रेष्ठ वीर ! तुम व्यूहका भेदन करो और हमारे लिये द्वार बना दो ! तात ! फिर तुम जिस मार्गसे जाओगे, उसीके द्वारा हम भी तुम्हारे पीछे-पीछे चले चलेंगे ॥ २० ॥

धनंजयसमं युद्धे त्वां वयं तात संयुगे।
प्रणिधायानुयास्यामो रक्षन्तः सर्वतोमुखाः ॥ २१ ॥

बेटा ! हमलोग युद्धस्थलमें तुम्हें अर्जुनके समान मानते हैं। हम अपना ध्यान तुम्हारी ही ओर रखकर सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ ही चलेंगे ॥ २१ ॥

भीम उवाच

अहं त्वानुगमिष्यामि धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः।
पञ्चालाः केकया मत्स्यास्तथा सर्वे प्रभद्रकाः ॥ २२ ॥

भीमसेन बोले—बेटा ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। धृष्टद्युम्न, सात्यकि, पाञ्चालदेशीय योद्धा, केकयराजकुमार, मत्स्य देशके सैनिक तथा समस्त प्रभद्रकगण भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे ॥ २२ ॥

सकृद् भिन्नं त्वया व्यूहं तत्र तत्र पुनः पुनः।
वयं प्रध्वंसयिष्यामो निघ्नमाना वरान् वरान् ॥ २३ ॥

तुम जहाँ-जहाँ एक बार भी व्यूह तोड़ दोगे, वहाँ-वहाँ हमलोग मुख्य-मुख्य योद्धाओंका वध करके उस व्यूहको बारंबार नष्ट करते रहेंगे ॥ २३ ॥

अभिमन्युरुवाच

अहमेतत् प्रवेक्ष्यामि द्रोणानीकं दुरासदम्।
पतङ्ग इव संक्रुद्धो ज्वलितं जातवेदसम् ॥ २४ ॥

अभिमन्युने कहा—जैसे पतङ्ग जलती हुई आगमें कूद पड़ता है, उसी प्रकार मैं भी कुपित हो द्रोणाचार्यके दुर्गम सैन्य-व्यूहमें प्रवेश करूँगा ॥ २४ ॥

तत् कर्माद्य करिष्यामि हितं यद् वंशयोर्द्वयोः।
मातुलस्य च यत् प्रीतिं करिष्यति पितुश्च मे ॥ २५ ॥

आज मैं वह पराक्रम करूँगा, जो पिता और माता दोनोंके कुलोंके लिये हितकर होगा तथा वह मामा श्रीकृष्ण तथा पिता अर्जुन-दोनोंको प्रसन्न करेगा ॥ २५ ॥

शिशुनैकेन संग्रामे काल्यमानानि संघशः।
द्रक्ष्यन्ति सर्वभूतानि द्विषत्सैन्यानि वै मया ॥ २६ ॥

यद्यपि मैं अभी बालक हूँ तो भी आज समस्त प्राणी देखेंगे कि मैंने अकेले ही समूह-के-समूह शत्रुसैनिकोंका युद्धमें संहार कर डाला है ॥ २६ ॥

नाहं पार्थेन जातः स्यां न च जातः सुभद्रया।
यदि मे संयुगे कश्चिज्जीवितो नाद्य मुच्यते ॥ २७ ॥

यदि आज मेरे साथ युद्ध करके कोई भी सैनिक जीवित बच जाय तो मैं अर्जुनका पुत्र नहीं और सुभद्राकी कोखसे मेरा जन्म नहीं ॥ २७ ॥

यदि चैकरथेनाहं समग्रं क्षत्रमण्डलम्।
न करोम्यष्टधा युद्धे न भवाम्यर्जुनात्मजः ॥ २८ ॥

यदि मैं युद्धमें एकमात्र रथकी सहायतासे सम्पूर्ण क्षत्रिय-मण्डलके आठ टुकड़े न कर दूँ तो अर्जुनका पुत्र नहीं ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं सौभद्र वर्धताम्।
यत् समुत्सहसे भेत्तुं द्रोणानीकं दुरासदम् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुभद्रानन्दन ! ऐसी ओजस्वी बातें कहते हुए तुम्हारा बल निरन्तर बढ़ता रहे; क्योंकि तुम द्रोणाचार्यके दुर्गम सैन्यमें प्रवेश करनेका उत्साह रखते हो ॥

रक्षितं पुरुषव्याघ्रैर्महेष्वासैर्महाबलैः।
साध्यरुद्रमरुत्तुल्यैर्वस्वग्न्यादित्यविक्रमैः ॥ ३० ॥

द्रोणाचार्यकी सेना उन महाबली महाधनुर्धर पुरुषसिंह वीरोंद्वारा सुरक्षित है, जो कि साध्य, रुद्र तथा मरुद्गणोंके समान बलवान् और वसु, अग्नि एवं सूर्यके समान पराक्रमी हैं ॥

संजय उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा स यन्तारमचोदयत्।
सुमित्राश्वान् रणे क्षिप्रं द्रोणानीकाय चोदय ॥ ३१ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महाराज युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अभिमन्युने अपने सारथिको यह आज्ञा दी—'सुमित्र ! तुम शीघ्र ही घोड़ोंको रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर हाँक ले चलो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युप्रतिज्ञायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युकी प्रतिज्ञाविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

अभिमन्युका उत्साह तथा उसके द्वारा कौरवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका संहार

संजय उवाच

सौभद्रस्तद् वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः।
अचोदयत यन्तारं द्रोणानीकाय भारत॥ १॥

संजय कहते हैं—भारत! बुद्धिमान् युधिष्ठिरका पूर्वोक्त वचन सुनकर सुभद्राकुमार अभिमन्युने अपने सारथिको द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर चलनेका आदेश दिया॥ १॥

तेन संचोद्यमानस्तु याहि याहीति सारथिः।
प्रत्युवाच ततो राजन्नभिमन्युमिदं वचः॥ २॥

राजन्! 'चलो, चलो' ऐसा कहकर अभिमन्युके बारंबार प्रेरित करनेपर सारथिने उससे इस प्रकार कहा—॥२॥

अतिभारोऽयमायुष्मन्नाहितस्त्वयि पाण्डवैः।
सम्प्रधार्य क्षणं बुद्ध्या ततस्त्वं योद्धुमर्हसि॥ ३॥

'आयुष्मन्! पाण्डवोंने आपके ऊपर यह बहुत बड़ा भार रख दिया है। पहले आप क्षणभर रुककर बुद्धिपूर्वक अपने कर्तव्यका निश्चय कर लीजिये। उसके बाद युद्ध कीजिये॥

आचार्यो हि कृती द्रोणः परमास्त्रे कृतश्रमः।
अत्यन्तसुखसंवृद्धस्त्वं चायुद्धविशारदः॥ ४॥

'द्रोणाचार्य अस्त्रविद्याके विद्वान् हैं और उत्तम अस्त्रोंके अभ्यासके लिये उन्होंने विशेष परिश्रम किया है। इधर आप अत्यन्त सुख एवं लाड़-प्यारमें पले हैं। युद्धकी कलामें आप उनके-जैसे विज्ञ नहीं हैं'॥ ४॥

ततोऽभिमन्युः प्रहसन् सारथिं वाक्यमब्रवीत्।
सारथे को न्वयं द्रोणः समग्रं क्षत्रमेव वा॥ ५॥
ऐरावतगतं शक्रं सहामरगणैरहम्।
अथवा रुद्रमीशानं सर्वभूतगणार्चितम्।
योधयेयं रणमुखे न मे क्षत्रेऽद्य विस्मयः॥ ६॥

तब अभिमन्युने हँसते-हँसते सारथिसे इस प्रकार कहा—'सारथे! इन द्रोणाचार्य अथवा सम्पूर्ण क्षत्रियमण्डलकी तो बात ही क्या, मैं तो ऐरावतपर चढ़े हुए सम्पूर्ण देवगणों-सहित इन्द्रके अथवा समस्त प्राणियोंद्वारा पूजित एवं सबके ईश्वर रुद्रदेवके साथ भी सामने खड़ा होकर युद्ध कर सकता हूँ। अतः इस समय इस क्षत्रियसमूहके साथ युद्ध करनेमें मुझे आज कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है॥ ५-६॥

न ममैतद् द्विषत्सैन्यं कलामर्हति षोडशीम्।
अपि विश्वजितं विष्णुं मातुलं प्राप्य सूतज॥ ७॥
पितरं चार्जुनं युद्धे न भीर्मामुपयास्यति।

'शत्रुओंकी यह सारी सेना मेरी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है। सूतनन्दन! विश्वविजयी विष्णुस्वरूप मामा श्रीकृष्णको तथा पिता अर्जुनको भी युद्धमें विपक्षीके रूपमें सामने पाकर मुझे भय नहीं होगा'॥ ७½॥

अभिमन्युश्च तां वाचं कदर्थीकृत्य सारथेः॥ ८॥
याहीत्येवाब्रवीदेनं द्रोणानीकाय मा चिरम्।

अभिमन्युने सारथिके पूर्वोक्त कथनकी अवहेलना करके उससे यही कहा—'तुम शीघ्र द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर चलो'॥

ततः संनोदयामास हयानाशु त्रिहायनान्॥ ९॥
नातिहृष्टमनाः सूतो हेमभाण्डपरिच्छदान्।

तब सारथिने सुवर्णमय आभूषणोंसे भूषित तथा तीन वर्षकी अवस्थावाले घोड़ोंको शीघ्र आगे बढ़ाया। उस समय उसका मन अधिक प्रसन्न नहीं था॥ ९½॥

ते प्रेषिताः सुमित्रेण द्रोणानीकाय वाजिनः॥ १०॥
द्रोणमभ्यद्रवन् राजन् महावेगपराक्रमम्।

राजन्! सारथि सुमित्रद्वारा द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर हाँके हुए वे घोड़े महान् वेगशाली और पराक्रमी द्रोणकी ओर दौड़े॥ १०½॥

तमुदीक्ष्य तथाऽऽयान्तं सर्वे द्रोणपुरोगमाः।
अभ्यवर्तन्त कौरव्याः पाण्डवाश्च तमन्वयुः॥ ११॥

अभिमन्युको इस प्रकार आते देख द्रोणाचार्य आदि कौरव-वीर उनके सामने आकर खड़े हो गये और पाण्डव-योद्धा उनका अनुसरण करने लगे॥ ११॥

स कर्णिकारप्रवरोच्छ्रितध्वजः
सुवर्णवर्मार्जुनिरर्जुनाद् वरः।
युयुत्सया द्रोणमुखान् महारथान्
समासदत् सिंहशिशुर्यथा द्विपान्॥१२॥

अभिमन्युके ऊँचे एवं श्रेष्ठ ध्वजपर कर्णिकारका चिह्न बना हुआ था। उसने सुवर्णका कवच धारण कर रक्खा था। वह अर्जुनकुमार अपने पिता अर्जुनसे भी श्रेष्ठ वीर था। जैसे सिंहका बच्चा हाथियोंपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार

अभिमन्युने युद्धकी इच्छासे द्रोण आदि महारथियोंपर धावा किया ॥ १२ ॥

ते विंशतिपदे यत्ताः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधाविव ॥ १३ ॥

अभिमन्यु बीस पग ही आगे बढ़े थे कि सामना करनेके लिये उद्यत हुए द्रोणाचार्य आदि योद्धा उनपर प्रहार करने लगे । उस समय उस सैन्यसागरमें अभिमन्युके प्रवेश करनेसे दो घड़ीतक सेनाकी वही दशा रही, जैसी कि समुद्रमें गङ्गाकी भँवरोंसे युक्त जलराशिके मिलनेसे होती है ॥ १३ ॥

शूराणां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम् ।
संग्रामस्तुमुलो राजन् प्रावर्तत सुदारुणः ॥ १४ ॥

राजन् ! युद्धमें तत्पर हो एक-दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए उन शूरवीरोंमें अत्यन्त दारुण एवं भयंकर संघर्ष होने लगा ॥ १४ ॥

प्रवर्तमाने संग्रामे तस्मिन्नतिभयंकरे ।
द्रोणस्य मिषतो व्यूहं भित्त्वा प्राविशदार्जुनिः ॥ १५ ॥

वह अति भयंकर संग्राम चल ही रहा था कि द्रोणाचार्यके देखते-देखते अर्जुनकुमार अभिमन्यु व्यूह तोड़कर भीतर घुस गया ॥ १५ ॥

(तदभेद्यमनाधृष्यं द्रोणानीकं सुदुर्जयम् ।
भित्त्वाऽऽर्जुनिरसम्भ्रान्तो विवेशाचिन्त्यविक्रमः ॥)

अभिमन्युका पराक्रम अचिन्त्य था । उसने बिना किसी घबराहटके द्रोणाचार्यके अत्यन्त दुर्जय एवं दुर्धर्ष सैन्य-व्यूहको भंग करके उसके भीतर प्रवेश किया ॥

तं प्रविष्टं विनिघ्नन्तं शत्रुसंघान् महाबलम् ।
हस्त्यश्वरथपत्त्यौघाः परिवव्रुरुदायुधाः ॥ १६ ॥

व्यूहके भीतर घुसकर शत्रुसमूहोंका विनाश करते हुए महाबली अभिमन्युको हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये गजारोही, अश्वारोही, रथी और पैदल योद्धाओंके भिन्न-भिन्न दलोंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

नानावादित्रनिनदैः क्ष्वेडितोत्क्रुष्टगर्जितैः ।
हुंकारैः सिंहनादैश्च तिष्ठ तिष्ठेति निःस्वनैः ॥ १७ ॥
घोरैर्हलहलाशब्दैर्मा गास्तिष्ठेहि मामिति ।
असावहममुत्रेति प्रवदन्तो मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥
बृंहितैः सिंजितैर्हासैः करनेमिस्वनैरपि ।
संनादयन्तो वसुधामभिदुद्रुवुरार्जुनिम् ॥ १९ ॥

नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनि, कोलाहल, ललकार, गर्जना, हुंकार, सिंहनाद, 'ठहरो, ठहरो'की आवाज और घोर हलहला शब्दके साथ 'न जाओ, खड़े रहो, मेरे पास आओ, तुम्हारा शत्रु मैं तो यहाँ हूँ' इत्यादि बातें बारंबार कहते हुए वीर सैनिक हाथियोंके चिग्घाड़, घुँघुरुओंकी रुनझुन, अट्टहास, हाथोंकी तालीके शब्द तथा पहियोंकी घर्घराहटसे सारी वसुधाको गुँजाते हुए अर्जुनकुमारपर टूट पड़े ॥ १७-१९ ॥

तेषामापततां वीरः शीघ्रयोधी महाबलः ।
क्षिप्रास्त्रो न्यवधीद् राजन् मर्मज्ञो मर्मभेदिभिः ॥ २० ॥

राजन् ! महाबली वीर अभिमन्यु शीघ्रतापूर्वक युद्ध करनेमें कुशल, जल्दी-जल्दी अस्त्र चलानेवाला और शत्रुओंके मर्मस्थानोंको जाननेवाला था । वह अपनी ओर आते हुए शत्रुसैनिकोंका मर्मभेदी बाणोंद्वारा वध करने लगा ॥ २० ॥

ते हन्यमाना विवशा नानालिङ्गैः शितैः शरैः ।
अभिपेतुः सुबहुशः शलभा इव पावकम् ॥ २१ ॥

नाना प्रकारके चिह्नोंसे सुशोभित पैने बाणोंकी मार खाकर वे बहुसंख्यक कौरववीर विवश हो धरतीपर गिर पड़े, मानो ढेर-के-ढेर फतिंगे जलती आगमें पड़ गये हों ॥ २१ ॥

ततस्तेषां शरीरैश्च शरीरावयवैश्च सः ।
संतस्तार क्षितिं क्षिप्रं कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ २२ ॥

जैसे यज्ञमें वेदीके ऊपर कुश बिछाये जाते हैं, उसी प्रकार अभिमन्युने तुरंत ही शत्रुओंके शरीरों तथा विभिन्न अवयवोंके द्वारा सारी रणभूमिको पाट दिया ॥ २२ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणान् सशरासनसायकान् ।
सासिचर्माङ्कुशाभीषून् सतोमरपरश्वधान् ॥ २३ ॥
सगदायोगुडप्रासान् सर्ष्टितोमरपट्टिशान् ।
सभिन्दिपालपरिघान् सशक्तिवरकम्पनान् ॥ २४ ॥
सप्रतोदमहाशङ्खान् सकुन्तान् सकचग्रहान् ।
समुद्गरक्षेपणीयान् सपाशपरिघोपलान् ॥ २५ ॥
सकेयूराङ्गदान् बाहून् हृद्यगन्धानुलेपनान् ।
संचिच्छेदार्जुनिस्तूर्णं त्वदीयानां सहस्रशः ॥ २६ ॥

महाराज ! अर्जुनकुमार अभिमन्युने आपके सहस्रों सैनिकोंकी उन भुजाओंको तुरंत काट डाला, जिनमें मनोहर सुगन्धयुक्त चन्दनका लेप लगा हुआ था । वीरोंकी उन भुजाओंमें गोहके चमड़ेसे बने हुए दस्ताने बँधे हुए थे । धनुष और बाण शोभा पाते थे । किन्हीं भुजाओंमें ढाल, तलवार, अङ्कुश और बागडोर दिखायी देती थीं । किन्हींमें तोमर और फरसे शोभा पाते थे । किन्हींमें गदा, लोहेकी गोलियाँ, प्रास, ऋष्टि, तोमर, पट्टिश, भिन्दिपाल, परिघ, श्रेष्ठ शक्ति, कम्पन, प्रतोद, महाशङ्ख और कुन्त दृष्टिगोचर हो रहे थे । किन्हीं-किन्हीं भुजाओंने शत्रुओंकी चोटियाँ पकड़ रक्खी थीं । किन्हींमें मुद्गर फेंकने योग्य अन्यान्य अस्त्र, पाश, परिघ तथा प्रस्तरखण्ड दिखायी देते थे । वीरोंकी वे सभी भुजाएँ केयूर और अङ्गद आदि आभूषणोंसे विभूषित थीं ॥ २३–२६ ॥

तैः स्फुरद्भिर्महाराज शुशुभे भूः सुलोहितैः ।
पञ्चास्यैः पन्नगैश्छिन्नैर्गरुडेनेव मारिष ॥ २७ ॥

अभिमन्युके द्वारा कौरव-सेनाके प्रमुख वीरोंका संहार

आदरणीय महाराज ! खूनसे लथपथ होकर तड़पती हुई उन भुजाओंसे इस पृथ्वीकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे गरुड़के द्वारा छिन्न-भिन्न किये हुए पाँच मुखवाले सर्पोंके शरीरोंसे आच्छादित हुई वसुधा सुशोभित होती है ॥ २७ ॥

सुनासाननकेशान्तैरव्रणैश्चारुकुण्डलैः ।
संदष्टौष्ठपुटैः क्रोधात् क्षरद्भिः शोणितं बहु ॥ २८ ॥
स चारुमुकुटोष्णीषैर्मणिरत्नविभूषितैः ।
विनालनलिनाकारैर्दिवाकरशशिप्रभैः ॥ २९ ॥
हितप्रियंवदैः काले बहुभिः पुण्यगन्धिभिः ।
द्विषच्छिरोभिः पृथिवीं स वै तस्तार फाल्गुनिः ॥ ३० ॥

जिनमें सुन्दर नासिका, सुन्दर मुख और सुन्दर केशान्त भागकी अद्भुत शोभा हो रही थी, जिनमें फोड़े-फुंसी या घावके चिह्न नहीं थे, जो मनोहर कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहे थे, जिनके ओष्ठपुट क्रोधके कारण दाँतों तले दबे हुए थे, जो अधिकाधिक रक्तकी धारा बहा रहे थे, जिनके ऊपर मनोहर मुकुट और पगड़ीकी शोभा होती थी, जो मणिरत्नमय आभूषणोंसे विभूषित थे, जिनकी प्रभा सूर्य और चन्द्रमाके समान जान पड़ती थी, जो बिना नालके प्रफुल्ल कमलके समान प्रतीत होते थे, जो समय-समयपर हित एवं प्रियकी बातें बताते थे, जिनकी संख्या बहुत अधिक थी तथा जो पवित्र सुगन्धसे सुवासित थे, शत्रुओंके उन मस्तकोंद्वारा अभिमन्युने वहाँकी सारी पृथ्वीको पाट दिया ॥ २८–३० ॥

गन्धर्वनगराकारान् विधिवत् कल्पितान् रथान् ।
वीषामुखान् द्वित्रिवेणून् न्यस्तदण्डकबन्धुरान् ॥३१॥
विजङ्घाकूबरांस्तत्र विनेमिदशनानपि ।
विचक्रोपस्करोपस्थान् भग्नोपकरणानपि ॥ ३२ ॥
प्रपातितोपस्तरणान् हतयोधान् सहस्रशः ।
शरैर्विशकलीकुर्वन् दिक्षु सर्वास्वदृश्यत ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार अभिमन्यु अपने बाणोंसे शत्रुओंके गन्धर्वनगरके समान विशाल तथा विधिपूर्वक सुसज्जित बहुसंख्यक रथोंके टुकड़े-टुकड़े करता हुआ सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहा था। उन रथोंके प्रधान ईषादण्ड नष्ट हो गये थे। त्रिवेणु चूर-चूर हो गये थे। स्तम्भदण्ड उखड़ गये थे। उसके बन्धन टूट गये थे। जङ्घा (नीचेका स्थान) और कूबर (जूएका आधारभूत काष्ठ) टूट-फूट गये थे। पहियोंके ऊपरी भाग और अरे चौपट कर दिये गये थे। पहिये, रथकी सजावटके समान और बैठकें नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं। सारी सामग्री तथा रथके अवयव चूर-चूर हो गये थे। रथकी छतरी और आवरणको गिरा दिया गया था तथा उन रथोंके समस्त योद्धा मार डाले गये थे। इस तरह सहस्रों रथोंकी धज्जियाँ उड़ गयी थीं ॥ ३१–३३ ॥

पुनर्द्विपान् द्विपारोहान् वैजयन्त्यङ्कुशध्वजान् ।
तूणान् वर्माण्यथो कक्ष्या ग्रैवेयांश्च सकम्बलान् ॥ ३४ ॥
घण्टाः शुण्डाविषाणाग्रान् छत्रमालाः पदानुगान् ।
शरैर्निशितधाराग्रैः शात्रवाणामशातयत् ॥ ३५ ॥

रथोंका संहार करके अभिमन्युने पुनः तीखी धारवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंके हाथियों, गजारोहियों, उनके झंडों, अङ्कुशों, ध्वजाओं, तूणीरों, कवचों, रस्सों, कण्ठाभूषणों, झूलों, घंटों, सूँड़ों, दाँतों, छत्रों, मालाओं और पादरक्षकोंको भी काट डाला ॥३४-३५॥

वनायुजान् पर्वतीयान् काम्बोजानथ बाह्लिकान् ।
स्थिरबालधिकर्णाक्षाञ्जवनान् साधुवाहिनः ॥ ३६ ॥
आरूढाञ्शिक्षितैर्योधैः शक्त्यृष्टिप्रासयोधिभिः ।
विध्वस्तचामरमुखान् विप्रविद्धप्रकीर्णकान् ॥ ३७ ॥
निरस्तजिह्वानयनान् निष्कीर्णान्त्रयकृद्घनान् ।
हतारोहांश्छिन्नघण्टान् क्रव्यादगणमोदकान् ॥ ३८ ॥
निकृत्तचर्मकवचाञ्शकृन्मूत्रासृगाप्लुतान् ।
निपातयन्नश्ववरांस्तावकान् स व्यरोचत ॥ ३९ ॥
एको विष्णुरिवाचिन्त्यं कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।

राजन् ! आपके वनायुज, पर्वतीय, काम्बोज तथा बाह्लिक देशीय श्रेष्ठ घोड़ोंको, जो पूँछ, कान और नेत्रोंको निश्चल करके दौड़नेवाले, वेगवान् और अच्छी तरह सवारीका काम देनेवाले थे तथा जिनके ऊपर शक्ति, ऋष्टि एवं प्रासद्वारा युद्ध करनेवाले सुशिक्षित योद्धा सवार थे, धराशायी करता हुआ अकेला वीर अभिमन्यु एकमात्र भगवान् विष्णुकी भाँति अचिन्त्य एवं दुष्कर कर्म करके बड़ी शोभा पा रहा था। उन घोड़ोंके मस्तक और गर्दनके चँवरके समान बड़े-बड़े बाल और मुख बाणोंके आघातसे नष्ट हो गये थे। वे सब-के-सब घायल हो गये थे। कितने ही अश्वोंके सिर छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये थे। कितनोंकी जिह्वा और नेत्र बाहर निकल आये थे। आँत और जिगरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे। उन सबके सवार मार डाले गये थे। उनके गलेके घुँघुरू कटकर गिर गये थे। वे घोड़े मृत्युके अधीन होकर मांसभक्षी प्राणियोंका हर्ष बढ़ा रहे थे। उनके चमड़े और कवच टूक-टूक हो गये थे और वे मल-मूत्र तथा रक्तमें डूबे हुए थे ३६–३९½

तथा निर्मथितं तेन त्र्यङ्गं तव बलं महत् ॥ ४० ॥
यथासुरबलं घोरं त्र्यम्बकेण महौजसा ।

जैसे महान् तेजस्वी त्रिनेत्रधारी भगवान् रुद्रने असुरोंकी सेनाको मथ डाला था, उसी प्रकार अभिमन्युने रथ, हाथी और घोड़े—इन तीन अङ्गोंसे युक्त आपकी विशाल सेनाको रौंद डाला ॥ ४०½ ॥

कृत्वा कर्म रणेऽसह्यं परैरार्जुनिराहवे ॥ ४१ ॥
अभिनच्च पदात्योघांस्त्वदीयानेव सर्वशः ।

इस प्रकार अर्जुनकुमार अभिमन्युने रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये असह्य पराक्रम करके आपके पैदल योद्धाओंके समूहोंका सभी प्रकारसे विनाश आरम्भ किया ॥ ४१½ ॥

एवमेकेन तां सेनां सौभद्रेण शितैः शरैः ॥ ४२ ॥
भृशं विप्रहतां दृष्ट्वा स्कन्देनेवासुरीं चमूम् ।
त्वदीयास्तव पुत्राश्च वीक्षमाणा दिशो दश ॥ ४३ ॥
संशुष्कास्याश्चलन्नेत्राः प्रस्विन्ना रोमहर्षिणः ।
पलायनकृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ॥ ४४ ॥

जैसे कार्तिकेयने असुरोंकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, उसी प्रकार एकमात्र सुभद्राकुमार अभिमन्युने अपने तीखे बाणोंद्वारा समस्त कौरवसेनाको अत्यन्त छिन्न-भिन्न कर डाला है; यह देखकर आपके पुत्र और सैनिक भयभीत हो दसों दिशाओंकी ओर देखने लगे । उनके मुख सूख गये थे, नेत्र चञ्चल हो उठे थे, सारे अङ्गोंमें पसीना हो आया था और उनके रोंगटे खड़े हो गये थे । अब वे भागनेमें उत्साह दिखाने लगे । शत्रुओंको जीतनेके लिये उनके मनमें तनिक भी उत्साह नहीं रह गया था ॥ ४२–४४ ॥

गोत्रनामभिरन्योन्यं क्रन्दन्तो जीवितैषिणः ।
हतान् पुत्रान् पितॄन् भ्रातॄन् बन्धून् संबन्धिनस्तथा ॥ ४५ ॥
प्रातिष्ठन्त समुत्सृज्य त्वरयन्तो हयद्विपान् ॥ ४६ ॥

वे जीवनकी इच्छा रखकर अपने-अपने सगे-सम्बन्धियोंके गोत्र और नामका उच्चारण करके एक दूसरेके लिये क्रन्दन कर रहे थे । उस समय आपके सैनिक इतने डर गये थे कि वहाँ मारे गये अपने पुत्रों, पितृतुल्य सम्बन्धियों, भाई-बन्धुओं तथा नातेदारोंको भी छोड़कर अपने घोड़ों और हाथियोंको उतावलीके साथ हाँकते हुए रणभूमिसे पलायन कर गये ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युका पराक्रमविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम, उसके द्वारा अश्मकपुत्रका वध, शल्यका मूर्छित होना और कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

तां प्रभग्नां चमूं दृष्ट्वा सौभद्रेणामितौजसा ।
दुर्योधनो भृशं क्रुद्धः स्वयं सौभद्रमभ्ययात् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अमिततेजस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युने कौरवसेनाको मार भगाया है, यह देखकर अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ दुर्योधन स्वयं सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आया ॥ १ ॥

ततो राजानमावृत्तं सौभद्रं प्रति संयुगे ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् योधान् परीप्सध्वं नराधिपम् ॥ २ ॥

उस युद्धस्थलमें राजा दुर्योधनको अभिमन्युकी ओर लौटते देख द्रोणाचार्यने समस्त योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! कौरव-नरेशकी सब ओरसे रक्षा करो ॥ २ ॥

पुराभिमन्युर्लक्ष्यं नः पश्यतां हन्ति वीर्यवान् ।
तमाद्रवत मा भैष्ट क्षिप्रं रक्षत कौरवम् ॥ ३ ॥

'बलवान् अभिमन्यु हमारे देखते-देखते अपने लक्ष्यभूत राजा दुर्योधनको पहले ही मार डालेगा; अतः तुम सब लोग दौड़ो, भय न करो, शीघ्र ही कुरुवंशी दुर्योधनकी रक्षा करो' ॥ ३ ॥

ततः कृतज्ञा बलिनः सुहृदो जितकाशिनः ।
त्रास्यमाना भयाद् वीरं परिवव्रुस्तवात्मजम् ॥ ४ ॥

महाराज ! तदनन्तर अस्त्र-शिक्षामें निपुण, बलवान्, हितैषी और विजयशाली योद्धाओंने (रक्षाके लिये) आपके वीर पुत्रको चारों ओरसे घेर लिया; यद्यपि वे अभिमन्युके भयसे बहुत डरते थे ॥ ४ ॥

द्रोणो द्रौणिः कृपः कर्णः कृतवर्मा च सौबलः ।
बृहद्बलो मद्रराजो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ॥ ५ ॥
पौरवो वृषसेनश्च विसृजन्तः शिताञ्छरान् ।
सौभद्रं शरवर्षेण महता समवाकिरन् ॥ ६ ॥

द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, कृतवर्मा, सुबलपुत्र शकुनि, बृहद्बल, मद्रराज शल्य, भूरि, भूरिश्रवा, शल, पौरव तथा वृषसेन—ये अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे । इन्होंने महान् बाणवर्षाद्वारा अभिमन्युको आच्छादित कर दिया ॥ ५-६ ॥

सम्मोहयित्वा तमथ दुर्योधनममोचयन् ।
आस्याद् ग्रासमिवाक्षिप्तं ममृषे नार्जुनात्मजः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उसे मोहित करके इन वीरोंने दुर्योधनको छुड़ा लिया । तब मानो मुँहसे ग्रास छिन गया हो, यह मानकर अर्जुनकुमार अभिमन्यु इसे सहन न कर सका ॥ ७ ॥

ताञ्छरौघेण महता साश्वसूतान् महारथान् ।
विमुखीकृत्य सौभद्रः सिंहनादमथानदत् ॥ ८ ॥

अतः अपनी भारी बाणवर्षासे उन महारथियोंको उनके सारथि और घोड़ोंसहित युद्धसे विमुख करके सुभद्राकुमारने सिंहके समान गर्जना की ॥ ८ ॥

तस्य नादं ततः श्रुत्वा सिंहस्येवामिषैषिणः।
नामृष्यन्त सुसंरब्धाः पुनर्द्रोणमुखा रथाः ॥ ९ ॥

मांस चाहनेवाले सिंहके समान अभिमन्युकी वह गर्जना सुनकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोण आदि महारथी न सह सके ॥ ९ ॥

त एनं कोष्ठकीकृत्य रथवंशेन मारिष।
व्यसृजन्निषुजालानि नानालिङ्गानि सङ्घशः ॥ १० ॥

आर्य ! तब उन महारथियोंने रथसेनाद्वारा उसे कोष्ठमें आबद्ध-सा करके उसके ऊपर नाना प्रकारके चिह्नवाले समूह-के-समूह बाण बरसाने आरम्भ किये ॥ १० ॥

तान्यन्तरिक्षे चिच्छेद पौत्रस्ते निशितैः शरैः।
तांश्चैव प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ११ ॥

परंतु आपके उस वीर पौत्रने अपने पैने बाणोंद्वारा शत्रुओंके उन सायक-समूहोंको आकाशमें ही काट दिया और उन सभी महारथियोंको घायल भी कर डाला—यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ११ ॥

ततस्ते कोपितास्तेन शरैराशीविषोपमैः।
परिवव्रुर्जिघांसन्तः सौभद्रमपराजितम् ॥ १२ ॥

तब अभिमन्युसे चिढ़े हुए उन योद्धाओंने विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा किसीसे परास्त न होनेवाले सुभद्राकुमारको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसे घेर लिया ॥

समुद्रमिव पर्यस्तं त्वदीयं तं बलार्णवम्।
दधारैकोऽऽर्जुनिर्बाणैर्वेलेव भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय जैसे सब ओरसे उछलते हुए समुद्रको तटभूमि रोक लेती है, उसी प्रकार आपके सैन्य-सागरको एकमात्र अर्जुनकुमारने आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

शूराणां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम्।
अभिमन्योः परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः॥१४॥

उस समय एक दूसरेपर प्रहार करते हुए युद्धपरायण विपक्षी वीरों तथा अभिमन्युमें कोई भी युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तु घोरे संग्रामे वर्तमाने भयंकरे।
दुःसहो नवभिर्बाणैरभिमन्युमविध्यत ॥ १५ ॥
दुःशासनो द्वादशभिः कृपः शारद्वतस्त्रिभिः।
द्रोणस्तु सप्तदशभिः शरैराशीविषोपमैः ॥ १६ ॥

इस प्रकार वह भयंकर एवं घोर संग्राम चल रहा था। उसमें आपके पुत्र दुःसहने नौ, दुःशासनने बारह, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने तीन और द्रोणाचार्यने विषधर सर्पके समान भयंकर सतरह बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला १५-१६

विविंशतिस्तु सप्तत्या कृतवर्मा च सप्तभिः।
बृहद्बलस्तथाष्टाभिरश्वत्थामा च सप्तभिः ॥ १७ ॥
भूरिश्रवास्त्रिभिर्बाणैर्मद्रेशः षड्भिराशुगैः।
द्वाभ्यां शराभ्यां शकुनिस्त्रिभिर्दुर्योधनो नृपः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार विविंशतिने सत्तर, कृतवर्माने सात, बृहद्बलने आठ, अश्वत्थामाने सात, भूरिश्रवाने तीन, मद्रराज शल्यने छः, शकुनिने दो और राजा दुर्योधनने तीन बाणोंसे अभिमन्युको घायल कर दिया ॥ १७-१८ ॥

स तु तान् प्रतिविव्याध त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
नृत्यन्निव महाराज चापहस्तः प्रतापवान् ॥ १९ ॥

महाराज ! उस समय धनुष हाथमें लिये प्रतापी अभिमन्युने जैसे नाच रहा हो, इस प्रकार सब ओर घूम-घूमकर उन सब महारथियोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥

ततोऽभिमन्युः संक्रुद्धस्त्रास्यमानस्तवात्मजैः।
विदर्शयन् वै सुमहच्छिक्षौरसकृतं बलम् ॥ २० ॥

तब आपके सभी पुत्रोंने मिलकर अभिमन्युको त्रास देना आरम्भ किया, फिर तो वह क्रोधसे जल उठा और अपनी अस्त्र-शिक्षा तथा हृदयका महान् बल दिखाने लगा ॥ २०॥

गरुडानिलरंहोभिर्यन्तुर्वाक्यकरैर्हयैः ।
दान्तैरश्मकदायादस्त्वरमाणो ह्यवारयत् ॥ २१ ॥
विव्याध दशभिर्बाणैस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

इतनेमें ही अश्मकके पुत्रने सारथिके आदेशका पालन करनेवाले, गरुड और वायुके समान वेगशाली सुशिक्षित घोड़ोंद्वारा बड़ी तेजीसे वहाँ आकर अभिमन्युको रोका और दस बाण मारकर उसे घायल कर दिया, साथ ही इस प्रकार कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २१½ ॥

तस्याभिमन्युर्दशभिर्हयान् सूतं ध्वजं शरैः ॥ २२ ॥
बाहू धनुः शिरश्चोर्व्यां स्मयमानोऽभ्यपातयत्।

तब अभिमन्युने मुसकराकर अश्मकपुत्रके घोड़ों, सारथि, ध्वज, भुजाओं, धनुष तथा मस्तकको भी दस बाणोंसे पृथ्वीपर काट गिराया ॥ २२½ ॥

ततस्तस्मिन् हते वीरे सौभद्रेणाश्मकेश्वरे ॥ २३ ॥
संचचाल बलं सर्वं पलायनपरायणम्।

सुभद्रा कुमार अभिमन्युकेद्वारा वीर अश्मकराजकुमारके मारे जानेपर सारी सेना विचलित हो भागने लगी ॥२३½॥

ततः कर्णः कृपो द्रोणो द्रौणिर्गान्धारराट् शलः ॥ २४ ॥
शल्यो भूरिश्रवाः क्राथः सोमदत्तो विविंशतिः।
वृषसेनः सुषेणश्च कुण्डभेदी प्रतर्दनः ॥ २५ ॥
वृन्दारको ललित्थश्च प्रबाहुर्दीर्घलोचनः।
दुर्योधनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २६ ॥

तदनन्तर कर्ण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, गान्धारराज शकुनि, शल, शल्य, भूरिश्रवा, क्राथ, सोम-

दत्त, विविंशति, वृषसेन, सुषेण, कुण्डभेदी, प्रतर्दन, वृन्दारक, ललित्थ, प्रबाहु, दीर्घलोचन तथा अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने अभिमन्युपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २४—२६ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासैरभिमन्युरजिह्मगैः ।
शरमादत्त कर्णाय वर्मकायावभेदिनम् ॥ २७ ॥

इन महाधनुर्धर वीरोंके चलाये हुए बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर अभिमन्युने कर्णको लक्ष्य करके एक ऐसा बाण हाथमें लिया, जो उसके कवच और कायाको विदीर्ण कर डालनेवाला था ॥ २७ ॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं देहं निर्भिद्य चाशुगः ।
प्राविशद् धरणीं वेगाद् वल्मीकमिव पन्नगः ॥ २८ ॥

जैसे सर्प बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार अभिमन्युका छोड़ा हुआ वह बाण कर्णके शरीर और कवचको विदीर्ण करके बड़े वेगसे धरतीमें समा गया ॥ २८ ॥

स तेनातिप्रहारेण व्यथितो विह्वलन्निव ।
संचचाल रणे कर्णः क्षितिकम्पे यथाचलः ॥ २९ ॥

जैसे भूकम्प होनेपर पर्वत भी हिलने लगता है, उसी प्रकार उस अत्यन्त गहरे आघातसे व्यथित एवं विह्वल-सा होकर कर्ण उस रणभूमिमें विचलित हो उठा ॥ २९ ॥

तथान्यैर्निशितैर्बाणैः सुषेणं दीर्घलोचनम् ।
कुण्डभेदिं च संक्रुद्धस्त्रिभिस्त्रीनवधीद् बली ॥ ३० ॥

फिर बलवान् अभिमन्युने अत्यन्त कुपित होकर दूसरे तीन पैने बाणोंद्वारा सुषेण, दीर्घलोचन तथा कुण्डभेदी—इन तीन वीरोंको घायल कर दिया ॥ ३० ॥

कर्णस्तं पञ्चविंशत्या नाराचानां समार्दयत् ।
अश्वत्थामा च विंशत्या कृतवर्मा च सप्तभिः ॥ ३१ ॥

तब कर्णने पचीस, अश्वत्थामाने बीस तथा कृतवर्माने सात नाराचोंद्वारा अभिमन्युको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

स शराचितसर्वाङ्गः क्रुद्धः शक्रात्मजात्मजः ।
विचरन् दृश्यते सैन्ये पाशहस्त इवान्तकः ॥ ३२ ॥

उस समय इन्द्रकुमार अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके सम्पूर्ण अङ्गोंमें बाण ही-बाण व्याप्त हो रहे थे, वह क्रोधमें भरे हुए पाशधारी यमराजके समान शत्रुसेनामें विचरता दिखायी देता था ॥ ३२ ॥

शल्यं च शरवर्षेण समीपस्थमवाकिरत् ।
उदक्रोशन्महाबाहुस्तव सैन्यानि भीषयन् ॥ ३३ ॥

राजा शल्य अभिमन्युके पास ही खड़े थे, अतः वह महाबाहु वीर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा। उसने आपकी सेनाको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥

ततः स विद्धोऽस्त्रविदा मर्मभिद्भिरजिह्मगैः ।
शल्यो राजन् रथोपस्थे निषसाद मुमोह च ॥ ३४ ॥

राजन्! अस्त्रवेत्ता अभिमन्युके चलायेहुए मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल होकर राजा शल्य रथकी बैठकमें धम्मसे बैठ गये और मूर्छित हो गये ॥ ३४ ॥

तं हि दृष्ट्वा तथा विद्धं सौभद्रेण यशस्विना ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा भारद्वाजस्य पश्यतः ॥ ३५ ॥

यशस्वी सुभद्राकुमारके द्वारा घायल किये हुए शल्यको इस प्रकार भय हुआ देख द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनकी सारी सेना रणभूमिसे भाग चली ॥ ३५ ॥

सम्प्रेक्ष्य तं महाबाहुं रुक्मपुङ्खैः समावृतम् ।
त्वदीयाः प्रपलायन्ते मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ ३६ ॥

महाबाहु शल्यको अभिमन्युके सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे व्याप्त हुआ देख आपके सभी सैनिक सिंहके सताये हुए मृगोंकी भाँति जोर-जोरसे भागने लगे ॥ ३६ ॥

स तु रणयशसाभिपूज्यमानः
पितृसुरचारणसिद्धयक्षसंघैः ।
अवनितलगतैश्च भूतसङ्घै-
रतिविबभौ हुतभुग्यथाऽऽज्यसिक्तः ॥ ३७ ॥

देवताओं, पितरों, चारणों, सिद्धों तथा यक्षसमूहों एवं भूतलवर्ती भूतसमुदायोंसे प्रशंसित होकर युद्धविषयक सुयशसे प्रकाशित होनेवाला अभिमन्यु घृतकी धारासे अभिषिक्त हुए अग्निदेवके समान अत्यन्त शोभा पाने लगा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युपराक्रमविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

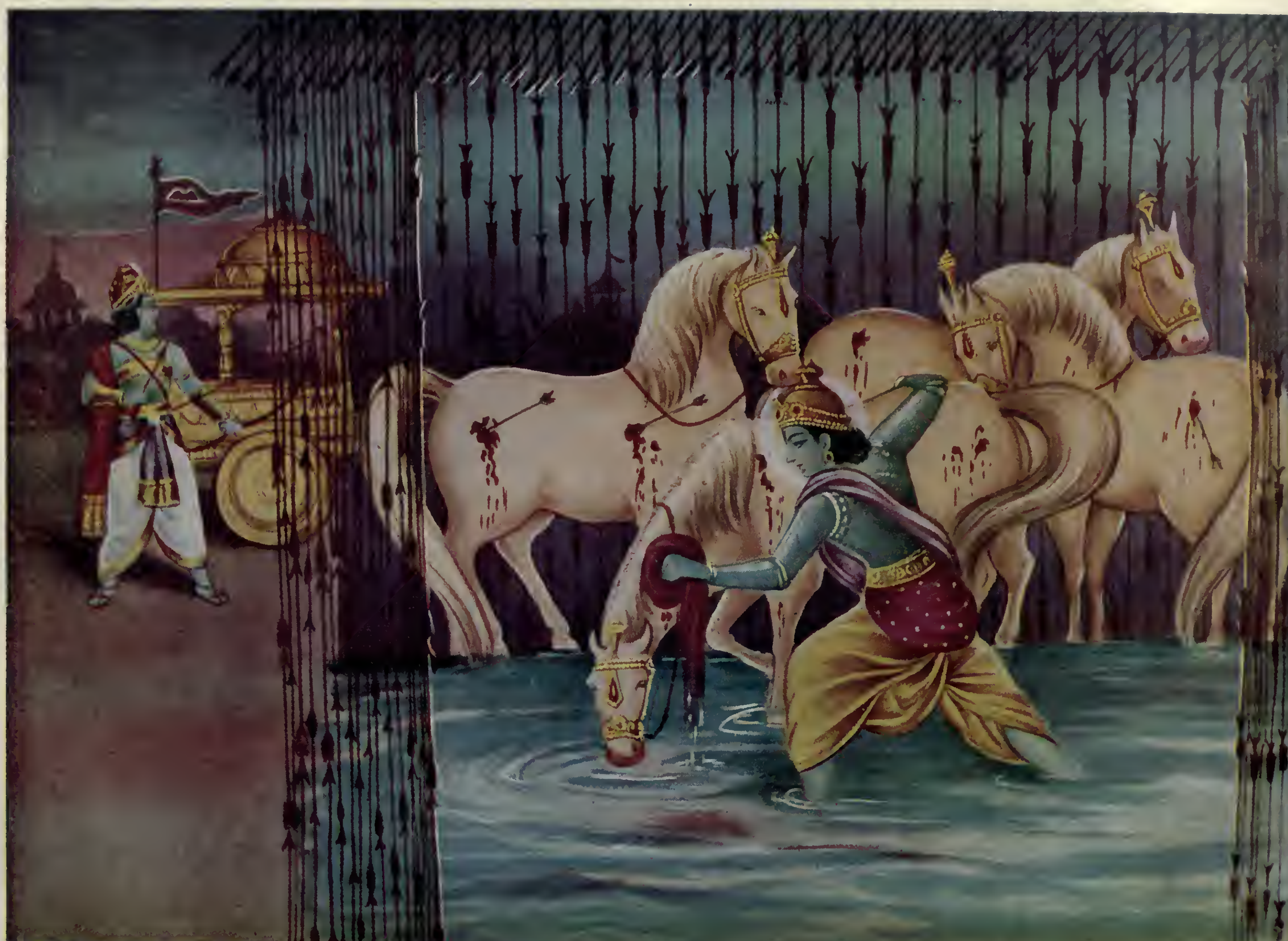

श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनके अश्वोंकी परिचर्या

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा शल्यके भाईका वध तथा द्रोणाचार्यकी रथसेनाका पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रमथमानं तं महेष्वासानजिह्मगैः।
आर्जुनिं मामकाः संख्ये के त्वेनं समवारयन्॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! अर्जुनकुमार अभिमन्यु जब इस प्रकार अपने बाणोंद्वारा बड़े-बड़े धनुर्धरोंको मथ रहा था, उस समय मेरे पक्षके किन योद्धाओंने उसे युद्धमें रोका था?॥

संजय उवाच

शृणु राजन् कुमारस्य रणे विक्रीडितं महत्।
बिभित्सतो रथानीकं भारद्वाजेन रक्षितम्॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! रणक्षेत्रमें कुमार अभिमन्युकी विशाल रणक्रीड़ाका वर्णन सुनिये। वह द्रोणाचार्यद्वारा सुरक्षित रथियोंकी सेनाको विदीर्ण करना चाहता था॥ २॥

मद्रेशं सादितं दृष्ट्वा सौभद्रेणाशुगै रणे।
शल्यादवरजः क्रुद्धः किरन् बाणान् समभ्ययात्॥ ३॥

सुभद्राकुमारने रणभूमिमें अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा घायल करके मद्रराज शल्यको धराशायी कर दिया, यह देखकर उनका छोटा भाई कुपित हो बाणोंकी वर्षा करता हुआ अभिमन्युपर चढ़ आया॥ ३॥

स विद्ध्वा दशभिर्बाणैः साश्वयन्तारमार्जुनिम्।
उदक्रोशन्महाशब्दं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ ४॥

उसने दस बाणोंद्वारा घोड़े और सारथिसहित अभिमन्युको क्षत-विक्षत करके बड़े जोरसे गर्जना की और कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ ४॥

तस्यार्जुनिः शिरोग्रीवं पाणिपादं धनुर्हयान्।
छत्रं ध्वजं नियन्तारं त्रिवेणुं तल्पमेव च॥ ५॥
चक्रं युगं च तूणीरं ह्यनुकर्षं च सायकैः।
पताकां चक्रगोप्तारौ सर्वोपकरणानि च॥ ६॥
लघुहस्तः प्रचिच्छेद ददृशे तं न कश्चन।
स पपात क्षितौ क्षीणः प्रविद्धाभरणाम्बरः॥ ७॥
वायुनेव महाशैलः सम्भग्नोऽमिततेजसा।

तब शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले अर्जुनकुमारने अपने सायकोंद्वारा शल्यके भाईके मस्तक, ग्रीवा, हाथ, पैर, धनुष, अश्व, छत्र, ध्वज, सारथि, त्रिवेणु, तल्प (शय्या), पहिये, जूआ, तरकस, अनुकर्ष, पताका, चक्ररक्षक तथा अन्य समस्त उपकरणोंको काट डाला। उस समय कोई भी उसे देख न सका। जैसे वायुके वेगसे कोई महान् पर्वत टूटकर गिर पड़े, उसी प्रकार अमिततेजस्वी अभिमन्युका मारा हुआ वह शल्यराजका भाई छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके वस्त्र और आभूषणोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे॥ ५—७½॥

अनुगास्तस्य वित्रस्ताः प्राद्रवन् सर्वतो दिशः॥ ८॥
आर्जुनेः कर्म तद् दृष्ट्वा सम्प्रणेदुः समन्ततः।
नादेन सर्वभूतानि साधु साध्विति भारत॥ ९॥

उसके सेवक भयभीत होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये। भारत! अर्जुनकुमारके उस अद्भुत पराक्रमको देखकर समस्त प्राणी साधुवाद देते हुए सब ओर हर्षध्वनि करने लगे॥ ८-९॥

शल्यभ्रातर्यथारुग्णे बहुशस्तस्य सैनिकाः।
कुलाधिवासनामानि श्रावयन्तोऽर्जुनात्मजम्॥ १०॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा विविधायुधपाणयः।

शल्यके भाईके मारे जानेपर उसके बहुत-से सैनिक अपने कुल और निवासस्थानके नाम सुनाते हुए कुपित हो हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये अर्जुनकुमार अभिमन्युकी ओर दौड़े॥ १०½॥

रथैरश्वैर्गजैश्चान्ये पद्भिश्चान्ये बलोत्कटाः॥ ११॥
बाणशब्देन महता रथनेमिस्वनेन च।
हुंकारैः क्ष्वेडितोत्क्रुष्टैः सिंहनादैः सगर्जितैः॥ १२॥
ज्यातलत्रस्वनैरन्ये गर्जन्तोऽर्जुननन्दनम्।
ब्रुवन्तश्च न नो जीवन् मोक्ष्यसे जीवितादिति॥ १३॥

कितने ही वीर रथ, घोड़े और हाथीपर सवार होकर आये। दूसरे बहुत-से प्रचण्ड बलशाली योद्धा पैदल ही दौड़ पड़े। बाणोंकी सनसनाहट, रथके पहियोंकी जोर-जोरसे होनेवाली घर्घराहट, हुङ्कार, कोलाहल, ललकार, सिंहनाद, गर्जना, धनुषकी टङ्कार तथा हस्तत्राणके चट-चट शब्दके साथ गर्जन-तर्जन करते हुए अन्यान्य बहुत-से योद्धा अर्जुनकुमार अभिमन्युपर यह कहते हुए टूट पड़े, 'अब तू हमारे हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। तुझे जीवनसे ही हाथ धोना पड़ेगा'॥ ११—१३॥

तांस्तथा ब्रुवतो दृष्ट्वा सौभद्रः प्रहसन्निव।
यो योऽस्मै प्राहरत् पूर्वं तं तं विव्याध पत्रिभिः॥ १४॥

उनको ऐसा कहते देख सुभद्राकुमार अभिमन्यु मानो जोर-जोरसे हँसने लगा और जिस-जिस योद्धाने उसपर पहले प्रहार किया, उस-उसको उसने भी अपने पंखयुक्त बाणोंद्वारा घायल कर दिया॥ १४॥

संदर्शयिष्यन्नस्त्राणि विचित्राणि लघूनि च।
आर्जुनिः समरे शूरो मृदुपूर्वमयुध्यत॥ १५॥

शूरवीर अर्जुनकुमारने समराङ्गणमें अपने विचित्र एवं शीघ्रगामी अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए पहले मृदुभावसे ही युद्ध किया॥ १५॥

वासुदेवादुपात्तं यदस्त्रं यच्च धनंजयात् ।
अदर्शयत तत् कार्ष्णिः कृष्णाभ्यामविशेषवत् ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनसे अभिमन्युने जो-जो अस्त्र प्राप्त किये थे, उनका उन्हीं दोनोंकी भाँति वह युद्धस्थलमें प्रदर्शन करने लगा ॥ १६ ॥

दूरमस्य गुरुं भारं साध्वसं च पुनः पुनः ।
संदधद् विसृजंश्चेषून् निर्विशेषमदृश्यत ॥ १७ ॥

भारी भार और भय उससे दूर हो गया था । वह बारंबार बाणोंका संधान करता और छोड़ता हुआ एक-सा दिखायी देता था ॥ १७ ॥

चापमण्डलमेवास्य विस्फुरद् दिक्ष्वदृश्यत ।
सुदीप्तस्य शरत्काले सवितुर्मण्डलं यथा ॥ १८ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवका मण्डल दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार अभिमन्युका मण्डलाकार धनुष ही सम्पूर्ण दिशाओंमें उद्भासित होता दिखायी देता था ॥ १८ ॥

ज्याशब्दः शुश्रुवे तस्य तलशब्दश्च दारुणः ।
महाशनिमुचः काले पयोदस्येव निःस्वनः ॥ १९ ॥

उसके धनुषकी प्रत्यञ्चा और हथेलीका शब्द वर्षाकालमें महान् वज्र गिरानेवाले मेघकी गर्जनाके समान भयंकर सुनायी पड़ता था ॥ १९ ॥

ह्रीमानमर्षी सौभद्रो मानकृत् प्रियदर्शनः ।
सम्मिमानयिषुर्वीरानिष्वस्त्रैश्चाप्ययुध्यत ॥ २० ॥

लज्जाशील, अमर्षी, दूसरोंको मान देनेवाला और देखनेमें प्रिय लगनेवाला सुभद्राकुमार अभिमन्यु विपक्षी वीरोंका सम्मान करनेकी इच्छासे धनुष-बाणोंद्वारा युद्ध करता रहा ॥

मृदुर्भूत्वा महाराज दारुणः समपद्यत ।
वर्षाभ्यतीतो भगवाञ्छरदीव दिवाकरः ॥ २१ ॥

महाराज ! जैसे वर्षाकाल बीतनेपर शरत्कालमें भगवान् सूर्य प्रचण्ड हो उठते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु पहले मृदु होकर अन्तमें शत्रुओंके लिये अति उग्र हो उठा ॥ २१ ॥

शरान् विचित्रान् सुबहून् रुक्मपुङ्खाञ्छिलाशितान् ।
मुमोच शतशः क्रुद्धो गभस्तीनिव भास्करः ॥ २२ ॥

जैसे सूर्य अपनी सहस्रों किरणोंको सब ओर बिखेर देते हैं, उसी प्रकार क्रोधमें भरा हुआ अभिमन्यु सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखसे युक्त सैकड़ों विचित्र एवं बहुसंख्यक बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २२ ॥

क्षुरप्रैर्वत्सदन्तैश्च विपाठैश्च महायशाः ।
नाराचैरर्धचन्द्राभैर्भल्लैरञ्जलिकैरपि ॥ २३ ॥
अवाकिरद् रथानीकं भारद्वाजस्य पश्यतः ।
ततस्तत्सैन्यमभवद् विमुखं शरपीडितम् ॥ २४ ॥

उस महायशस्वी वीरने द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनकी रथसेनापर क्षुरप्र, वत्सदन्त, विपाठ, नाराच, अर्धचन्द्राकार बाण, भल्ल एवं अञ्जलिक आदिकी वर्षा आरम्भ कर दी । इससे उन बाणोंद्वारा पीड़ित हुई वह सेना युद्धसे विमुख होकर भाग चली ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युपराक्रमविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यके द्वारा अभिमन्युके पराक्रमकी प्रशंसा तथा दुर्योधनके आदेशसे दुःशासनका अभिमन्युके साथ युद्ध आरम्भ करना

धृतराष्ट्र उवाच

द्वैधीभवति मे चित्तं ह्रिया तुष्ट्या च संजय ।
मम पुत्रस्य यत् सैन्यं सौभद्रः समवारयत् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! सुभद्राकुमारने मेरे पुत्रकी सेनाको जो आगे बढ़नेसे रोक दिया, इसे सुनकर लज्जा और प्रसन्नतासे मेरे चित्तकी दो अवस्थाएँ हो रही हैं ॥ १ ॥

विस्तरेणैव मे शंस सर्वं गावल्गणे पुनः ।
विक्रीडितं कुमारस्य स्कन्दस्येवासुरैः सह ॥ २ ॥

गवल्गणनन्दन ! जैसे कुमार कार्तिकेयने असुरोंके साथ रणक्रीड़ा की थी, उसी प्रकार कुमार अभिमन्युने जो युद्धका खेल किया था, वह सब मुझसे विस्तारपूर्वक कहो ॥

संजय उवाच

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि विमर्दमतिदारुणम् ।
एकस्य च बहूनां च यथाऽऽसीत् तुमुलो रणः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—महाराज ! मैं अत्यन्त खेदके साथ आपको उस अत्यन्त भयंकर नरसंहारका वृत्तान्त बता रहा हूँ, जिसके लिये एक वीरका बहुत-से महारथियोंके साथ तुमुल युद्ध हुआ था ॥ ३ ॥

अभिमन्युः कृतोत्साहः कृतोत्साहानरिंदमान् ।
रथस्थो रथिनः सर्वांस्तावकानभ्यवर्षयत् ॥ ४ ॥

अभिमन्यु युद्धके लिये उत्साहसे भरा था । वह रथपर बैठकर आपके उत्साहभरे शत्रुदमन समस्त रथारोहियोंपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४ ॥

द्रोणं कर्णं कृपं शल्यं द्रौणिं भोजं बृहद्बलम् ।
दुर्योधनं सौमदत्तिं शकुनिं च महाबलम् ॥ ५ ॥

नानानृपान् नृपसुतान् सैन्यानि विविधानि च ।
अलातचक्रवत् सर्वांश्चरन् बाणैः समार्पयत् ॥ ६ ॥

द्रोण, कर्ण, कृप, शल्य, अश्वत्थामा, भोजवंशी कृतवर्मा, बृहद्बल, दुर्योधन, भूरिश्रवा, महाबली शकुनि, अनेकानेक नरेश, राजकुमार तथा उनकी विविध प्रकारकी सेनाओंपर अभिमन्यु अलातचक्रकी भाँति चारों ओर घूमकर बाणोंका प्रहार कर रहा था ॥ ५-६ ॥

निघ्नन्नमित्रान् सौभद्रः परमास्त्रैः प्रतापवान् ।
अदर्शयत तेजस्वी दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ७ ॥

भारत ! प्रतापी एवं तेजस्वी वीर सुभद्राकुमार अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा शत्रुओंका नाश करता हुआ सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ ७ ॥

तद् दृष्ट्वा चरितं तस्य सौभद्रस्यामितौजसः ।
समकम्पन्त सैन्यानि त्वदीयानि सहस्रशः ॥ ८ ॥

अमिततेजस्वी अभिमन्युका वह चरित्र देखकर आपके सहस्रों सैनिक भयसे काँपने लगे ॥ ८ ॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनः कृपमाभाष्य सत्वरम् ॥ ९ ॥
घट्टयन्निव मर्माणि पुत्रस्य तव भारत ।
अभिमन्युं रणे दृष्ट्वा तदा रणविशारदम् ॥ १० ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् और प्रतापी वीर द्रोणाचार्यके नेत्र हर्षसे खिल उठे । भारत ! उन्होंने युद्धविशारद अभिमन्युको युद्धमें स्थित देखकर आपके पुत्रके मर्मस्थलपर चोट करते हुए-से उस समय तुरंत ही कृपाचार्यको सम्बोधित करके कहा—॥ ९-१० ॥

एष गच्छति सौभद्रः पार्थानां प्रथितो युवा ।
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥
नकुलं सहदेवं च भीमसेनं च पाण्डवम् ।
बन्धून् सम्बन्धिनश्चान्यान् मध्यस्थान् सुहृदस्तथा ॥ १२ ॥

'यह पार्थकुलका प्रसिद्ध तरुण वीर सुभद्राकुमार अभिमन्यु अपने समस्त सुहृदोंको, राजा युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पाण्डुपुत्र भीमसेनको, अन्यान्य भाई-बन्धुओं, सम्बन्धियों तथा मध्यस्थ सुहृदोंको भी आनन्द प्रदान करता हुआ जा रहा है ॥ ११-१२ ॥

नास्य युद्धे समं मन्ये कंचिदन्यं धनुर्धरम् ।
इच्छन् हन्यादिमां सेनां किमर्थमपि नेच्छति ॥ १३ ॥

'मैं दूसरे किसी धनुर्धर वीरको युद्धभूमिमें इसके समान नहीं मानता । यदि यह चाहे तो इस सारी सेनाको नष्ट कर सकता है; परंतु न जाने यह क्यों ऐसा चाहता नहीं है' ॥

द्रोणस्य प्रीतिसंयुक्तं श्रुत्वा वाक्यं तवात्मजः ।
आर्जुनिं प्रति संक्रुद्धो द्रोणं दृष्ट्वा स्मयन्निव ॥ १४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णमब्रवीद् बाह्लिकं नृपः ।
दुःशासनं मद्रराजं तांस्तथान्यान् महारथान् ॥ १५ ॥

अभिमन्युके सम्बन्धमें द्रोणाचार्यका यह प्रीतियुक्त वचन सुनकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन क्रोधमें भर गया और द्रोणाचार्यकी ओर देखकर मुसकराता हुआ-सा कर्ण, बाह्लिक, दुःशासन, मद्रराज शल्य तथा अन्य महारथियोंसे बोला—॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यो ब्रह्मवित्तमः ।
अर्जुनस्य सुतं मूढं नायं हन्तुमिहेच्छति ॥ १६ ॥

ये सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आचार्य तथा सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता द्रोण अर्जुनके इस मूढ़ पुत्रको मारना नहीं चाहते हैं ॥ १६ ॥

न ह्यस्य समरे मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ।
किमङ्ग पुनरेवान्यो मर्त्यः सत्यं ब्रवीमि वः ॥ १७ ॥

'प्रिय सैनिको ! मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कहता हूँ । यदि ये युद्धमें मारनेके लिये उद्यत हो जायँ तो इनके सामने यमराज भी युद्ध नहीं कर सकता; फिर दूसरा कोई मनुष्य तो इनके सामने टिक ही कैसे सकता है ? ॥ १७ ॥

अर्जुनस्य सुतं त्वेष शिष्यत्वादभिरक्षति ।
शिष्याः पुत्राश्च दयितास्तदपत्यं च धर्मिणाम् ॥ १८ ॥

'परंतु ये अर्जुनके पुत्रकी रक्षा करते हैं; क्योंकि अर्जुन इनके शिष्य हैं । शिष्य और पुत्र तो प्रिय होते ही हैं । उनकी संतानें भी धर्मात्मा पुरुषोंको प्रिय जान पड़ती हैं ॥

संरक्ष्यमाणो द्रोणेन मन्यते वीर्यमात्मनः ।
आत्मसम्भावितो मूढस्तं प्रमथ्नीत मा चिरम् ॥ १९ ॥

'यह द्रोणाचार्यसे रक्षित होनेके कारण अपने बल और पराक्रमपर अभिमान कर रहा है । यह मूर्ख अभिमन्यु आत्मश्लाघा करनेवाला है । तुम सब लोग मिलकर इसे शीघ्र ही मथ डालो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सात्वतीपुत्रमभ्ययुः ।
संरब्धास्ते जिघांसन्तो भारद्वाजस्य पश्यतः ॥ २० ॥

राजा दुर्योधनके ऐसा कहनेपर वे सब वीर अत्यन्त कुपित हो सुभद्राकुमार अभिमन्युको मार डालनेकी इच्छासे द्रोणाचार्यके देखते-देखते उसपर टूट पड़े ॥ २० ॥

दुःशासनस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत् कुरुशार्दूल दुर्योधनमिदं वचः ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस समय दुर्योधनके उपर्युक्त वचनको सुनकर दुःशासनने उससे यह बात कही—॥ २१ ॥

अहमेनं हनिष्यामि महाराज ब्रवीमि ते ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां पञ्चालानां च पश्यताम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! मैं आपसे (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ । मैं पाञ्चालों और पाण्डवोंके देखते-देखते इस अभिमन्युको मार डालूँगा ॥ २२ ॥

ग्रसिष्याम्यद्य सौभद्रं यथा राहुर्दिवाकरम् ।
उत्क्रुश्य चाब्रवीद् वाक्यं कुरुराजमिदं पुनः ॥ २३ ॥

'जैसे राहु सूर्यपर ग्रहण लगाता है, उसी प्रकार आज मैं सुभद्राकुमार अभिमन्युको ग्रस लूँगा।' इतना कहकर उसने जोर-जोरसे गर्जना करके पुनः कुरुराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

श्रुत्वा कृष्णौ मया ग्रस्तं सौभद्रमतिमानिनौ ।
गमिष्यतः प्रेतलोकं जीवलोकान्न संशयः ॥ २४ ॥

'सुभद्राकुमार अभिमन्युको मेरे द्वारा कालकवलित हुआ सुनकर अत्यन्त अभिमानी श्रीकृष्ण और अर्जुन इस जीवलोकसे प्रेतलोकको चले जायँगे—इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

तौ च श्रुत्वा मृतौ व्यक्तं पाण्डोः क्षेत्रोद्भवाः सुताः ।
एकाह्ना ससुहृद्वर्गाः क्लैब्याद्धास्यन्ति जीवितम् ॥ २५ ॥

'उन दोनोंको मरा हुआ सुनकर पाण्डुके क्षेत्रमें उत्पन्न हुए ये चारों पाण्डव कायरतावश अपने सुहृद्वर्गके साथ एक ही दिन प्राण त्याग देंगे ॥ २५ ॥

तस्मादस्मिन् हते शत्रौ हताः सर्वेऽहितास्तव ।
शिवेन मां ध्याहि राजन्नेष हन्मि रिपूंस्तव ॥ २६ ॥

'अतः इस अपने शत्रु अभिमन्युके मारे जानेपर आपके सारे दुश्मन स्वतः नष्ट हो जायँगे। राजन्! आप मेरा कल्याण मनाइये। मैं अभी आपके शत्रुओंका नाश किये देता हूँ' ॥

एवमुक्त्वानदद् राजन् पुत्रो दुःशासनस्तव।
सौभद्रमभ्ययात् क्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २७ ॥

महाराज! ऐसा कहकर आपका पुत्र दुःशासन जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। वह क्रोधमें भरकर सुभद्राकुमारपर बाणोंकी वर्षा करता हुआ उसके सामने गया ॥ २७ ॥

तमतिक्रुद्धमायान्तं तव पुत्रमरिंदमः ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैः षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ २८ ॥

आपके पुत्रको अत्यन्त कुपित हो आते देख शत्रुसूदन अभिमन्युने छब्बीस पैने बाणोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥

दुःशासनस्तु संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ।
अयोधयत सौभद्रमभिमन्युश्च तं रणे ॥ २९ ॥

मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान क्रोधमें भरा हुआ दुःशासन उस रणक्षेत्रमें अभिमन्युसे और अभिमन्यु दुःशासनसे युद्ध करने लगे ॥ २९ ॥

तौ मण्डलानि चित्राणि रथाभ्यां सव्यदक्षिणम् ।
चरमाणावयुध्येतां रथशिक्षाविशारदौ ॥ ३० ॥

रथ-युद्धकी शिक्षामें निपुण वे दोनों योद्धा अपने रथोंद्वारा दायें-बायें विचित्र मण्डलाकार गतिसे विचरते हुए युद्ध करने लगे ॥ ३० ॥

अथ पणवमृदङ्गदुन्दुभीनां
क्रकचमहानकभेरिझर्झराणाम् ।
निनदमतिभृशं नराः प्रचक्रु-
र्लवणजलोद्भवसिंहनादमिश्रम् ॥ ३१ ॥

उस समय बाजे बजानेवाले लोग ढोल, मृदंग, दुन्दुभि, क्रकच, बड़ी ढोल, भेरी और झाँझके अत्यन्त भयंकर शब्द करने लगे। उसमें शङ्ख और सिंहनादकी भी ध्वनि मिली हुई थी॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि दुःशासनयुद्धे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें दुःशासनयुद्धविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा दुःशासन और कर्णकी पराजय

संजय उवाच

(ततः समभवद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः ।
तस्मिन् काले महाबाहुः सौभद्रः परवीरहा ॥
सशरं कार्मुकं छित्त्वा लाघवेन व्यपातयत् ।
दुःशासनं शरैर्घोरैः संततक्ष समन्ततः ॥)

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर उन दोनों पुरुषसिंहोंमें घोर युद्ध होने लगा। उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबाहु सुभद्राकुमारने बड़ी फुर्तीके साथ दुःशासनके बाणसहित धनुषको काट गिराया और उसे अपने भयंकर बाणोंद्वारा सब ओरसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥

शरविक्षतगात्रं तु प्रत्यमित्रमवस्थितम् ।
अभिमन्युः स्मयन् धीमान् दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

इसके बाद बुद्धिमान् अभिमन्यु किंचित् मुसकराकर सामने विपक्षमें खड़े हुए दुःशासनसे, जिसका शरीर बाणोंसे अत्यन्त घायल हो गया था, इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या पश्यामि संग्रामे मानिनं शूरमागतम् ।
निष्ठुरं त्यक्तधर्माणमाक्रोशनपरायणम् ॥ २ ॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं युद्धमें सामने आये हुए और अपनेको शूरवीर माननेवाले तुझ अभिमानी, निष्ठुर, धर्मत्यागी और दूसरोंकी निन्दामें तत्पर रहनेवाले शत्रुको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥ २ ॥

यत् सभायां त्वया राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शृण्वतः ।
कोपितः परुषैर्वाक्यैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥
जयोन्मत्तेन भीमश्च बह्वबद्धं प्रभाषितः ।
अक्षकूटं समाश्रित्य सौबलस्यात्मनो बलम् ॥ ४ ॥
तत् त्वयेदमनुप्राप्तं तस्य कोपान्महात्मनः ।

'ओ मूर्ख ! तूने द्यूतक्रीडामें विजय पानेसे उन्मत्त होकर सभामें राजा धृतराष्ट्रके सुनते हुए जो अपने निष्ठुर वचनोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको कुपित किया था और शकुनिके आत्मबल—जूएमें छल-कपटका आश्रय लेकर जो भीमसेनके प्रति बहुत-सी अंट-संट बातें कही थीं, इससे उन महात्मा धर्मराजको जो क्रोध हुआ, उसीका यह फल है कि तुझे आज यह दुर्दिन प्राप्त हुआ है ॥ ३–४½ ॥

परवित्तापहारस्य क्रोधस्याप्रशमस्य च ॥ ५ ॥
लोभस्य ज्ञाननाशस्य द्रोहस्यात्याहितस्य च।
पितॄणां मम राज्यस्य हरणस्योग्रधन्विनाम् ॥ ६ ॥
तत् त्वयेदमनुप्राप्तं प्रकोपाद् वै महात्मनाम् ।

'दूसरोंके धनका अपहरण, क्रोध, अशान्ति, लोभ, ज्ञानलोप, द्रोह, दुःसाहसपूर्ण बर्ताव तथा मेरे उग्र धनुर्धर पितरोंके राज्यका अपहरण—इन सभी बुराइयोंके फलस्वरूप उन महात्मा पाण्डवोंके क्रोधसे तुझे आज यह बुरा दिन प्राप्त हुआ है ॥ ५–६½ ॥

स तस्योग्रमधर्मस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ ७ ॥
शासितास्म्यद्य ते बाणैः सर्वसैन्यस्य पश्यतः।
अद्याहमनृणस्तस्य कोपस्य भविता रणे ॥ ८ ॥

'दुर्मते ! तू अपने उस अधर्मका भयंकर फल प्राप्त कर । आज मैं सारी सेनाओंके देखते-देखते अपने बाणोंद्वारा तुझे दण्ड दूँगा । आज मैं युद्धमें उन महात्मा पितरोंके उस क्रोधका बदला चुकाकर उऋण हो जाऊँगा ॥ ७–८ ॥

अमर्षितायाः कृष्णायाः काङ्क्षितस्य च मे पितुः।
अद्य कौरव्य भीमस्य भवितास्म्यनृणो युधि ॥ ९ ॥

'कुरुकुलकलङ्क ! आज रोषमें भरी हुई माता कृष्णा तथा पितृतुल्य (ताऊ) भीमसेनका अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करके इस युद्धमें उनके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे रणम् ।
एवमुक्त्वा महाबाहुर्बाणं दुःशासनान्तकम् ॥ १० ॥
संदधे परवीरघ्नः कालाग्न्यनिलवर्चसम् ।

'यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा ।' ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महाबाहु अभिमन्युने काल, अग्नि और वायुके समान तेजस्वी बाणका संधान किया, जो दुःशासनके प्राण लेनेमें समर्थ था ॥ १०½ ॥

तस्योरस्तूर्णमासाद्य जत्रुदेशे विभिद्य तम् ॥ ११ ॥
जगाम सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः।
अथैनं पञ्चविंशत्या पुनरेव समार्पयत् ॥ १२ ॥

वह बाण तुरंत ही उसके वक्षःस्थलपर पहुँचकर उसके गलेकी हँसलीको विदीर्ण करता हुआ पंखसहित भीतर घुस गया, मानो कोई सर्प बाँबीमें समा गया हो । तत्पश्चात् अभिमन्युने दुःशासनको पचीस बाण और मारे ॥ ११–१२ ॥

शरैरग्निसमस्पर्शैराकर्णसमचोदितैः ।
स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १३ ॥
दुःशासनो महाराज कश्मलं चाविशन्महत् ।

धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए उन बाणोंद्वारा, जिनका स्पर्श अग्निके समान दाहक था, गहरी चोट खाकर दुःशासन व्यथित हो रथकी बैठकमें बैठ गया । महाराज ! उस समय उसे भारी मूर्छा आ गयी ॥ १३½ ॥

सारथिस्त्वरमाणस्तु दुःशासनमचेतनम् ॥ १४ ॥
रणमध्यादपोवाह सौभद्रशरपीडितम् ।

तब अभिमन्युके बाणोंसे पीड़ित एवं अचेत हुए दुःशासनको सारथि बड़ी उतावलीके साथ युद्धस्थलसे बाहर हटा ले गया ॥ १४½ ॥

पाण्डवा द्रौपदेयाश्च विराटश्च समीक्ष्य तम् ॥ १५ ॥
पञ्चालाः केकयाश्चैव सिंहनादमथानदन् ।

उस समय पाण्डव, पाँचों द्रौपदीकुमार, राजा विराट, पाञ्चाल और केकय दुःशासनको पराजित हुआ देख जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५½ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि नानालिङ्गानि सर्वशः ॥ १६ ॥
प्रावादयन्त संहृष्टाः पाण्डूनां तत्र सैनिकाः ।
अपश्यन् स्मयमानाश्च सौभद्रस्य विचेष्टितम् ॥ १७ ॥

पाण्डवोंके सैनिक वहाँ हर्षमें भरकर नाना प्रकारके सभी रणवाद्य बजाने लगे और मुसकराते हुए वे सुभद्राकुमारका पराक्रम देखने लगे ॥ १६–१७ ॥

अत्यन्तवैरिणं दृप्तं दृष्ट्वा शत्रुं पराजितम् ।
धर्ममारुतशक्राणामश्विनोः प्रतिमास्तथा ॥ १८ ॥
धारयन्तो ध्वजाग्रेषु द्रौपदेया महारथाः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ १९ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च मत्स्याः पञ्चालसृंजयाः ।
पाण्डवाश्च मुदा युक्ता युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ २० ॥
अभ्यद्रवन्त त्वरिता द्रोणानीकं बिभित्सवः ।

घमंडमें भरे हुए अपने कट्टर शत्रुको पराजित हुआ देख अपनी ध्वजाओंके अग्रभागमें धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारोंकी प्रतिमा धारण करनेवाले महारथी द्रौपदीकुमार, सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, केकय-राजकुमार, धृष्टकेतु, मत्स्य, पाञ्चाल, सृंजय तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डव बड़े हर्षके साथ उतावले होकर द्रोणाचार्यके व्यूहका भेदन करनेकी इच्छासे उसपर टूट पड़े ॥ १८–२०½ ॥

ततोऽभवन्महायुद्धं त्वदीयानां परैः सह ॥ २१ ॥
जयमाकाङ्क्षमाणानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।

तदनन्तर विजयकी अभिलाषा रखकर युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके शूरवीर सैनिकोंका शत्रुओंके साथ महान् युद्ध होने लगा ॥ २१½ ॥

तथा तु वर्तमाने वै संग्रामेऽतिभयंकरे ॥ २२ ॥
दुर्योधनो महाराज राधेयमिदमब्रवीत् ।

महाराज ! जब इस प्रकार अत्यन्त भयंकर संग्राम हो रहा था, उस समय दुर्योधनने राधापुत्र कर्णसे यों कहा—॥

पश्य दुःशासनं वीरमभिमन्युवशं गतम् ॥ २३ ॥
प्रतपन्तमिवादित्यं निघ्नन्तं शात्रवान् रणे।

'कर्ण ! देखो, वीर दुःशासन सूर्यके समान शत्रु-सैनिकोंको संतप्त करता हुआ युद्धमें उन्हें मार रहा था, इसी अवस्थामें वह अभिमन्युके वशमें पड़ गया है ॥ २३½ ॥

अथ चैते सुसंरब्धाः सिंहा इव बलोत्कटाः ॥ २४ ॥
सौभद्रमुद्यतास्त्रातुमभ्यधावन्त पाण्डवाः ।

'इधर ये क्रोधमें भरे हुए पाण्डव सुभद्राकुमारकी रक्षा करनेके लिये उद्यत हो प्रचण्ड बलशाली सिंहोंके समान धावा कर चुके हैं' ॥ २४½ ॥

ततः कर्णः शरैस्तीक्ष्णैरभिमन्युं दुरासदम् ॥ २५ ॥
अभ्यवर्षत संक्रुद्धः पुत्रस्य हितकृत् तव ।

यह सुनकर आपके पुत्रका हित करनेवाला कर्ण अत्यन्त क्रोधमें भरकर दुर्द्धर्ष वीर अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २५½ ॥

तस्य चानुचरांस्तीक्ष्णैर्विव्याध परमेषुभिः ॥ २६ ॥
अवज्ञापूर्वकं शूरः सौभद्रस्य रणाजिरे ।

शूरवीर कर्णने समराङ्गणमें सुभद्राकुमारके सेवकोंको भी तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा अवहेलनापूर्वक बींध डाला ॥

अभिमन्युस्तु राधेयं त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥ २७ ॥
अविध्यत् त्वरितो राजन् द्रोणं प्रेप्सुर्महामनाः।

राजन् ! उस समय महामनस्वी अभिमन्युने द्रोणाचार्यके समीप पहुँचनेकी इच्छा रखकर तुरंत ही तिहत्तर बाणोंद्वारा कर्णको घायल कर दिया ॥ २७½ ॥

तं तथा नाशकत् कश्चिद् द्रोणाद् वारयितुं रथी ॥ २८ ॥
आरुजन्तं रथव्रातान् वज्रहस्तात्मजात्मजम्।

कोई भी रथी रथसमूहोंको नष्ट-भ्रष्ट करते हुए इन्द्र-कुमार अर्जुनके उस पुत्रको द्रोणाचार्यकी ओर जानेसे रोक न सका ॥ २८½ ॥

ततः कर्णो जयप्रेप्सुर्मानी सर्वधनुष्मताम् ॥ २९ ॥
सौभद्रं शतशोऽविध्यदुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ।
सोऽस्त्रैरस्त्रविदां श्रेष्ठो रामशिष्यः प्रतापवान् ॥ ३० ॥
समरे शत्रुदुर्धर्षमभिमन्युमपीडयत् ।

विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले, सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें मानी, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परशुरामजीके शिष्य और प्रतापी वीर कर्णने अपने उत्तम अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए सैकड़ों बाणोंद्वारा शत्रुदुर्जय सुभद्राकुमार अभिमन्युको बींध डाला और समराङ्गणमें उसे पीड़ा देना आरम्भ किया ॥

स तथा पीड्यमानस्तु राधेयेनास्त्रवृष्टिभिः ॥ ३१ ॥
समरेऽमरसंकाशः सौभद्रो न व्यशीर्यत ।

कर्णके द्वारा उसकी अस्त्रवर्षासे पीड़ित होनेपर भी देवतुल्य अभिमन्यु समरभूमिमें शिथिल नहीं हुआ ॥ ३१½ ॥

ततः शिलाशितैस्तीक्ष्णैर्भल्लैरानतपर्वभिः ॥ ३२ ॥
छित्त्वा धनूंषि शूराणामार्जुनिः कर्णमार्दयत् ।

तत्पश्चात् अर्जुनकुमारने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए झुकी हुई गाँठवाले तीखे भल्लोंद्वारा शूरवीरोंके धनुष काट-कर कर्णको सब ओरसे पीड़ा दी ॥ ३२½ ॥

धनुर्मण्डलनिर्मुक्तैः शरैराशीविषोपमैः ॥ ३३ ॥
सच्छत्रध्वजयन्तारं साश्वमाशु स्मयन्निव ।

उसने मुसकराते हुए-से अपने मण्डलाकार धनुषसे छूटे हुए विषधर सर्पोंके समान भयानक बाणोंद्वारा छत्र, ध्वज, सारथि और घोड़ोंसहित कर्णको शीघ्र ही घायल कर दिया ॥

कर्णोऽपि चास्य चिक्षेप बाणान् संनतपर्वणः ॥ ३४ ॥
असम्भ्रान्तश्च तान् सर्वानगृह्णात् फाल्गुनात्मजः ।

कर्णने भी उसके ऊपर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाण चलाये; परंतु अर्जुनकुमारने उन सबको बिना किसी घबराहटके सह लिया ॥ ३४½ ॥

ततो मुहूर्तात् कर्णस्य बाणेनैकेन वीर्यवान् ॥ ३५ ॥
सध्वजं कार्मुकं वीरश्छित्त्वा भूमावपातयत् ।

तदनन्तर दो ही घड़ीमें पराक्रमी वीर अभिमन्युने एक बाण मारकर कर्णके ध्वजसहित धनुषको पृथ्वीपर काट गिराया॥

ततः कृच्छ्रगतं कर्णं दृष्ट्वा कर्णादनन्तरः ॥ ३६ ॥
सौभद्रमभ्ययात् तूर्णं दृढमुद्यम्य कार्मुकम् ।
तत उच्चुक्रुशुः पार्थास्तेषां चानुचरा जनाः ।
वादित्राणि च संजघ्नुः सौभद्रं चापि तुष्टुवुः ॥ ३७ ॥

कर्णको संकटमें पड़ा देख उसका छोटा भाई सुदृढ़ धनुष हाथमें लेकर तुरंत ही सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा। उस समय कुन्तीके सभी पुत्र और उनके अनुगामी सैनिक जोर-जोरसे गरजने, बाजे बजाने और अभिमन्युकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि कर्णदुःशासनपराभवे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें कर्ण तथा दुःशासनकी पराजयविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा कर्णके भाईका वध तथा कौरवसेनाका संहार और पलायन

संजय उवाच

सोऽतिगर्जन् धनुष्पाणिर्ज्यां विकर्षन् पुनः पुनः।
तयोर्महात्मनोस्तूर्णं रथान्तरमवापतत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! कर्णका वह भाई हाथमें धनुष ले अत्यन्त गरजता और प्रत्यञ्चाको बार-बार खींचता हुआ तुरंत ही उन दोनों महामनस्वी वीरोंके रथोंके बीचमें आ पहुँचा ॥ १ ॥

सोऽविध्यद् दशभिर्बाणैरभिमन्युं दुरासदम्।
सच्छत्रध्वजयन्तारं साश्वमाशु स्मयन्निव ॥ २ ॥

उसने मुसकराते हुए-से दस बाण मारकर दुर्जय वीर अभिमन्युको छत्र, ध्वजा, सारथि और घोड़ोंसहित शीघ्र ही घायल कर दिया ॥ २ ॥

पितृपैतामहं कर्म कुर्वाणमतिमानुषम्।
दृष्ट्वार्दितं शरैः कार्ष्णिं त्वदीया हृषिताऽभवन् ॥ ३ ॥

अपने पिता-पितामहोंके अनुसार मानवीय शक्तिसे बढ़कर पराक्रम प्रकट करनेवाले अर्जुनकुमार अभिमन्युको उस समय बाणोंसे पीड़ित देखकर आपके सैनिक हर्षसे खिल उठे॥

तस्याभिमन्युरायम्य स्मयन्नेकेन पत्रिणा।
शिरः प्रच्यावयामास तद्रथात् प्रापतद् भुवि ॥ ४ ॥
कर्णिकारमिवाधूतं वातेनापतितं नगात्।

तब अभिमन्युने मुसकराते हुए-से अपने धनुषको खींचकर एक ही बाणसे कर्णके भाईका मस्तक धड़से अलग कर दिया। उसका वह सिर रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा,

मानो वायुके वेगसे हिलकर उखड़ा हुआ कनेरका वृक्ष पर्वत-शिखरसे नीचे गिर गया हो ॥ ४½ ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा राजन् कर्णो व्यथां ययौ ॥ ५ ॥
विमुखीकृत्य कर्णं तु सौभद्रः कङ्कपत्रिभिः।
अन्यानपि महेष्वासांस्तूर्णमेवाभिदुद्रुवे ॥ ६ ॥

राजन्! अपने भाईको मारा गया देख कर्णको बड़ी व्यथा हुई। इधर सुभद्राकुमार अभिमन्युने गीधकी पाँखवाले बाणोंद्वारा कर्णको युद्धसे भगाकर दूसरे-दूसरे महाधनुर्धर वीरोंपर भी तुरंत ही धावा किया ॥ ५-६ ॥

ततस्तद् विततं सैन्यं हस्त्यश्वरथपत्तिमत्।
क्रुद्धोऽभिमन्युरभिनत् तिग्मतेजा महारथः ॥ ७ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए प्रचण्ड तेजस्वी महारथी अभिमन्युने हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसे युक्त उस विशाल चतुरङ्गिणी सेनाको विदीर्ण कर डाला ॥ ७ ॥

कर्णस्तु बहुभिर्बाणैरर्द्यमानोऽभिमन्युना।
अपायाज्जवनैरश्वैस्ततोऽनीकमभज्यत ॥ ८ ॥

अभिमन्युके चलाये हुए बहुसंख्यक बाणोंसे पीड़ित हुआ कर्ण अपने वेगशाली घोड़ोंकी सहायतासे शीघ्र ही रणभूमिसे भाग गया। इससे सारी सेनामें भगदड़ मच गयी॥

शलभैरिव चाकाशे धाराभिरिव चावृते।
अभिमन्योः शरै राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥ ९ ॥

राजन्! उस दिन अभिमन्युके बाणोंसे सारा आकाश-मण्डल इस प्रकार आच्छादित हो गया था, मानो टिड्डी-दलोंसे अथवा वर्षाकी धाराओंसे व्याप्त हो गया हो। उस आकाशमें कुछ भी सूझता नहीं था ॥ ९ ॥

तावकानां तु योधानां वध्यतां निशितैः शरैः।
अन्यत्र सैन्धवाद् राजन् न स्म कश्चिदतिष्ठत ॥ १० ॥

महाराज! पैने बाणोंद्वारा मारे जाते हुए आपके योद्धाओंमेंसे सिंधुराज जयद्रथको छोड़कर दूसरा कोई वहाँ ठहर न सका ॥ १० ॥

सौभद्रस्तु ततः शङ्खं प्रध्माप्य पुरुषर्षभः।
शीघ्रमभ्यपतत् सेनां भारतीं भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब पुरुषप्रवर सुभद्राकुमार अभिमन्युने शङ्ख बजाकर पुनः शीघ्र ही भारतीय सेनापर धावा किया ॥

स कक्षेऽग्निरिवोत्सृष्टो निर्दहंस्तरसा रिपून्।
मध्ये भारतसैन्यानामार्जुनिः पर्यवर्तत ॥ १२ ॥

सूखे जंगलमें छोड़ी हुई आगके समान वेगसे शत्रुओंको दग्ध करता हुआ अभिमन्यु कौरव-सेनाके बीचमें विचरने लगा॥

रथनागाश्वमनुजानर्दयन् निशितैः शरैः।
सम्प्रविश्याकरोद् भूमिं कबन्धगणसंकुलाम् ॥ १३ ॥

उस सेनामें प्रवेश करके उसने अपने तीखे बाणोंद्वारा रथों, हाथियों, घोड़ों और पैदल मनुष्योंको पीड़ित करते हुए सारी रणभूमिको बिना मस्तकके शरीरोंसे पाट दिया ॥ १३ ॥

सौभद्रचापप्रभवैर्निकृत्ताः परमेषुभिः।

स्वानेवाभिमुखान् घ्नन्तः प्राद्रवन् जीवितार्थिनः॥ १४ ॥

सुभद्राकुमारके धनुषसे छूटे हुए उत्तम बाणोंसे क्षत-विक्षत हो आपके सैनिक अपने जीवनकी रक्षाके लिये सामने आये हुए अपने ही पक्षके योद्धाओंको मारते हुए भाग चले ॥

ते घोरा रौद्रकर्माणो विपाठा बहवः शिताः।
निघ्नन्तो रथनागाश्वाञ्जग्मुराशु वसुंधराम्॥ १५ ॥

अभिमन्युके वे भयंकर कर्म करनेवाले, घोर, तीक्ष्ण और बहुसंख्यक विपाठ नामक बाण आपके रथों, हाथियों और घोड़ोंको नष्ट करते हुए शीघ्र ही धरतीमें समा जाते थे ॥

सायुधाः साङ्गुलित्राणाः सगदाः साङ्गदा रणे।
दृश्यन्ते बाहवश्छिन्ना हेमाभरणभूषिताः॥ १६ ॥

उस युद्धमें आयुध, दस्ताने, गदा और बाजूबंदसहित वीरोंकी सुवर्णभूषण-भूषित भुजाएँ कटकर गिरी दिखायी देती थीं ॥ १६ ॥

शराश्चापानि खड्गाश्च शरीराणि शिरांसि च।
सकुण्डलानि स्रग्वीणि भूमावासन् सहस्रशः॥ १७ ॥

उस युद्धभूमिमें धनुष, बाण, खड्ग, शरीर तथा हार और कुण्डलोंसे विभूषित मस्तक सहस्रोंकी संख्यामें छिन्न-भिन्न होकर पड़े थे ॥ १७ ॥

सोपस्करैरधिष्ठानैरीषादण्डैश्च बन्धुरैः।
अक्षैर्विमथितैश्चक्रैर्बहुधा पतितैर्युगैः॥ १८ ॥
शक्तिचापासिभिश्चैव पतितैश्च महाध्वजैः।
चर्मचापशरैश्चैव व्यवकीर्णैः समन्ततः॥ १९ ॥
निहतैः क्षत्रियैरश्वैर्वारणैश्च विशाम्पते।
अगम्यरूपा पृथिवी क्षणेनासीत् सुदारुणा॥ २० ॥

आवश्यक सामग्री, बैठक, ईषादण्ड, बन्धुर, अक्ष, पहिए और जूए चूर-चूर और टुकड़े-टुकड़े होकर गिरे थे। शक्ति, धनुष, खड्ग, गिरे हुए विशाल ध्वज, ढाल और बाण भी छिन्न-भिन्न होकर सब ओर बिखरे पड़े थे। प्रजानाथ! बहुत-से क्षत्रिय, घोड़े और हाथी भी मारे गये थे। इन सबके कारण वहाँकी भूमि क्षणभरमें अत्यन्त भयंकर और अगम्य हो गयी थी ॥ १८–२० ॥

वध्यतां राजपुत्राणां क्रन्दतामितरेतरम्।
प्रादुरासीन्महाशब्दो भीरूणां भयवर्धनः॥ २१ ॥

बाणोंकी चोट खाकर परस्पर क्रन्दन करते हुए राजकुमारोंका महान् शब्द सुनायी पड़ता था, जो कायरोंका भय बढ़ानेवाला था ॥ २१ ॥

स शब्दो भरतश्रेष्ठ दिशः सर्वा व्यनादयत्।
सौभद्रश्चाद्रवत् सेनां घ्नन् वराश्वरथद्विपान्॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! वह शब्द सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर रहा था। सुभद्राकुमार श्रेष्ठ घोड़ों, रथों और हाथियोंका संहार करता हुआ कौरव-सेनापर टूट पड़ा था ॥ २२ ॥

कक्षमग्निरिवोत्सृष्टो निर्दहंस्तरसा रिपून्।
मध्ये भारतसैन्यानामार्जुनिः प्रत्यदृश्यत॥ २३ ॥

सूखे जंगलमें छोड़ी हुई आगकी भाँति अर्जुनकुमार अभिमन्यु वेगसे शत्रुओंको दग्ध करता हुआ कौरवसेनाओंके बीचमें दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २३ ॥

विचरन्तं दिशः सर्वाः प्रदिशश्चापि भारत।
तं तदा नानुपश्यामः सैन्ये च रजसाऽऽवृते॥ २४ ॥

भारत! धूलसे आच्छादित हुई सेनाके भीतर सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंमें विचरते हुए अभिमन्युको उस समय हमलोग देख नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

आददानं गजाश्वानां नृणां चायूंषि भारत।
क्षणेन भूयः पश्यामः सूर्यं मध्यंदिने यथा॥ २५ ॥
अभिमन्युं महाराज प्रतपन्तं द्विषद्गणान्।
स वासवसमः संख्ये वासवस्यात्मजात्मजः।
अभिमन्युर्महाराज सैन्यमध्ये व्यरोचत॥२६ ॥
(यथा पुरा वह्निसुतोऽसुरसैन्येषु वीर्यवान्।)

भरतनन्दन! हाथियों, घोड़ों और पैदल-सैनिकोंकी आयुको छीनते हुए अभिमन्युको हमने क्षणभरमें दोपहरके सूर्यकी भाँति शत्रुसेनाको पुनः तपाते देखा था। महाराज! इन्द्रकुमार अर्जुनका वह पुत्र युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी जान पड़ता था। जैसे पूर्वकालमें पराक्रमी कुमार कार्तिकेय असुरोंकी सेनामें उसका संहार करते हुए सुशोभित होते थे, उसी प्रकार अभिमन्यु कौरव-सेनामें विचरता हुआ शोभा पा रहा था ॥ २५–२६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युका पराक्रमविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके पीछे जानेवाले पाण्डवोंको जयद्रथका वरके प्रभावसे रोक देना

धृतराष्ट्र उवाच

बालमत्यन्तसुखिनं स्वबाहुबलदर्पितम्।
युद्धेषु कुशलं वीरं कुलपुत्रं तनुत्यजम्॥ १ ॥
गाहमानमनीकानि सदश्वैश्च त्रिहायनैः।
अपि यौधिष्ठिरात् सैन्यात् कश्चिदन्वपतद् बली॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! अत्यन्त सुखमें पला हुआ वीर

बालक अभिमन्यु युद्धमें कुशल था। उसे अपने बाहुबलपर गर्व था। वह उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेके कारण अपने शरीरको निछावर करके युद्ध कर रहा था। जिस समय वह तीन सालकी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंके द्वारा मेरी सेनाओंमें प्रवेश कर रहा था, उस समय युधिष्ठिरकी सेनासे क्या कोई बलवान् वीर उसके पीछे-पीछे व्यूहके भीतर आ सका था ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

युधिष्ठिरो भीमसेनः शिखण्डी सात्यकिर्यमौ ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च द्रुपदश्च सकेकयः ॥ ३ ॥
धृष्टकेतुश्च संरब्धो मत्स्याश्चाभ्यपतन् रणे ।
तेनैव तु पथा यान्तः पितरो मातुलैः सह ॥ ४ ॥
अभ्यद्रवन् परीप्सन्तो व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।

संजयने कहा—राजन्! युधिष्ठिर, भीमसेन, शिखण्डी, सात्यकि, नकुल-सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, केकय-राजकुमार, रोषमें भरा हुआ धृष्टकेतु तथा मत्स्यदेशीय योद्धा —ये सब-के-सब युद्धस्थलमें आगे बढ़े। अभिमन्युके ताऊ, चाचा तथा मामागण अपनी सेनाको व्यूहद्वारा संगठित करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हो अभिमन्युकी रक्षाके लिये उसीके बनाये हुए मार्गसे व्यूहमें जानेके उद्देश्यसे एक साथ दौड़ पड़े ॥ ३-४½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः शूरांस्त्वदीया विमुखाऽभवन् ॥ ५ ॥
ततस्तद् विमुखं दृष्ट्वा तव सूनोर्महद् बलम् ।
जामाता तव तेजस्वी संस्तम्भयिषुराद्रवत् ॥ ६ ॥

उन शूरवीरोंको आक्रमण करते देख आपके सैनिक भाग खड़े हुए। आपके पुत्रकी विशाल सेनाको रणसे विमुख हुई देख उसे स्थिरतापूर्वक स्थापित करनेकी इच्छासे आपका तेजस्वी जामाता जयद्रथ वहाँ दौड़ा हुआ आया ॥ ५-६ ॥

सैन्धवस्य महाराज पुत्रो राजा जयद्रथः ।
स पुत्रगृद्धिनः पार्थान् सहसैन्यानवारयत् ॥ ७ ॥

महाराज ! सिंधुनरेशके पुत्र राजा जयद्रथने अपने पुत्रको बचानेकी इच्छा रखनेवाले कुन्तीकुमारोंको सेनासहित आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७ ॥

उग्रधन्वा महेष्वासो दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।
वार्धक्षत्रिरुपासेधत् प्रवणादिव कुञ्जरः ॥ ८ ॥

जैसे हाथी नीची भूमिमें आकर वहींसे शत्रुका निवारण करता है, उसी प्रकार भयंकर एवं महान् धनुष धारण करनेवाले वृद्धक्षत्रकुमार जयद्रथने दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करके शत्रुओंकी प्रगति रोक दी ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अतिभारमहं मन्ये सैन्धवे संजयाहितम् ।
यदेकः पाण्डवान् क्रुद्धान् पुत्रप्रेप्सूनवारयत् ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! मैं तो समझता हूँ, सिंधुराज जयद्रथपर यह बहुत बड़ा भार आ पड़ा था, जो अकेले होनेपर भी उसने पुत्रकी रक्षाके लिये उत्सुक एवं क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंको रोका ॥ ९ ॥

अत्यद्भुतमहं मन्ये बलं शौर्यं च सैन्धवे ।
तस्य प्रब्रूहि मे वीर्यं कर्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ १० ॥

सिंधुराजमें ऐसे बल और शौर्यका होना मैं अत्यन्त आश्चर्यकी बात मानता हूँ। महामना जयद्रथके बल और श्रेष्ठ पराक्रमका मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १० ॥

किं दत्तं हुतमिष्टं वा किं सुतप्तमथो तपः ।
सिंधुराजो हि येनैकः पाण्डवान् समवारयत् ॥ ११ ॥

सिंधुराजने कौन-सा ऐसा दान, होम, यज्ञ अथवा उत्तम तप किया था, जिससे वह अकेला ही समस्त पाण्डवोंको रोकनेमें समर्थ हो सका ॥ ११ ॥

(दमो वा ब्रह्मचर्यं वा सूत यच्चास्य सत्तम ।
देवं कतममाराध्य विष्णुमीशानमब्जजम् ॥
सिन्धुराट् तनये सक्तान् क्रुद्धः पार्थानवारयत् ।
नैवं कृतं महत् कर्म भीष्मेणाशासिषं तथा ॥)

साधुशिरोमणे सूत ! जयद्रथमें जो इन्द्रियसंयम अथवा ब्रह्मचर्य हो, वह बताओ। विष्णु, शिव अथवा ब्रह्मा किस देवताकी आराधना करके सिन्धुराजने अपने पुत्रकी रक्षामें तत्पर हुए पाण्डवोंको क्रोधपूर्वक रोक दिया ? भीष्मने भी ऐसा महान् पराक्रम किया हो, उसका पता मुझे नहीं है ॥

संजय उवाच

द्रौपदीहरणे यत् तद् भीमसेनेन निर्जितः ।
मानात् स तप्तवान् राजा वरार्थी सुमहत् तपः ॥ १२ ॥

संजयने कहा—महाराज ! द्रौपदीहरणके प्रसंगमें जो जयद्रथको भीमसेनसे पराजित होना पड़ा था, उसीसे अभिमानवश अपमानका अनुभव करके राजाने वर प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर बड़ी भारी तपस्या की ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्रियेभ्यः संनिवर्त्य सः ।
क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः ॥ १३ ॥

प्रिय लगनेवाले विषयोंकी ओरसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको हटाकर भूख-प्यास और धूपका कष्ट सहन करता हुआ जयद्रथ अत्यन्त दुर्बल हो गया। उसके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देने लगीं ॥ १३ ॥

देवमाराधयच्छर्वं गृणन् ब्रह्म सनातनम् ।
भक्तानुकम्पी भगवांस्तस्य चक्रे ततो दयाम् ॥ १४ ॥
स्वप्नान्तेऽप्यथ चैवाह हरः सिन्धुपतेः सुतम् ।
वरं वृणीष्व प्रीतोऽस्मि जयद्रथ किमिच्छसि ॥ १५ ॥

वह सनातन ब्रह्मस्वरूप भगवान् शङ्करकी स्तुति करता हुआ उनकी आराधना करने लगा। तब भक्तोंपर दया करनेवाले

भगवान्‌ने उसपर कृपा की और स्वप्नमें जयद्रथको दर्शन देकर उससे कहा—'जयद्रथ ! तुम क्या चाहते हो ? वर माँगो । मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्तस्तु शर्वेण सिन्धुराजो जयद्रथः ।
उवाच प्रणतो रुद्रं प्राञ्जलिर्नियतात्मवान् ॥ १६ ॥

भगवान् शङ्करके ऐसा कहनेपर सिंधुराज जयद्रथने अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर उन रुद्रदेवको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—॥ १६ ॥

पाण्डवेयानहं संख्ये भीमवीर्यपराक्रमान् ।
वारयेयं रथेनैकः समस्तानिति भारत ॥ १७ ॥
एवमुक्तस्तु देवेशो जयद्रथमथाब्रवीत् ।
ददामि ते वरं सौम्य विना पार्थं धनंजयम् ॥ १८ ॥
वारयिष्यसि संग्रामे चतुरः पाण्डुनन्दनान् ।
एवमस्त्विति देवेशमुक्त्वाबुद्ध्यत पार्थिवः ॥ १९ ॥

'प्रभो ! मैं युद्धमें भयंकर बल-पराक्रमसे सम्पन्न समस्त पाण्डवोंको अकेला ही रथके द्वारा परास्त करके आगे बढ़नेसे रोक दूँ' । भारत ! उसके ऐसा कहनेपर देवेश्वर भगवान् शिवने जयद्रथसे कहा—'सौम्य ! मैं तुम्हें वर देता हूँ । तुम कुन्तीपुत्र अर्जुनको छोड़कर शेष चार पाण्डवोंको (एक दिन) युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दोगे ।' तब देवेश्वर महादेवसे 'एवमस्तु' कहकर राजा जयद्रथ जाग उठा ॥ १७–१९ ॥

स तेन वरदानेन दिव्येनास्त्रबलेन च ।
एकः संवारयामास पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २० ॥

उसी वरदानसे अपने दिव्य अस्त्र-बलके द्वारा जयद्रथने अकेले ही पाण्डवोंकी सेनाको रोक दिया ॥ २० ॥

तस्य ज्यातलघोषेण क्षत्रियान् भयमाविशत् ।
परांस्तु तव सैन्यस्य हर्षः परमकोऽभवत् ॥ २१ ॥

उसके धनुषकी टंकार सुनकर शत्रुपक्षके क्षत्रियोंके मनमें भय समा गया; परंतु आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा तु क्षत्रिया भारं सैन्धवे सर्वमाहितम् ।
उत्क्रुश्याभ्यद्रवन् राजन् येन यौधिष्ठिरं बलम् ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय सारा भार जयद्रथके ही ऊपर पड़ा देख आपके क्षत्रियवीर कोलाहल करते हुए जिस ओर युधिष्ठिरकी सेना थी, उसी ओर टूट पड़े ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि जयद्रथयुद्धे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें जयद्रथयुद्धविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके साथ जयद्रथका युद्ध और व्यूहद्वारको रोक रखना

संजय उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र सिन्धुराजस्य विक्रमम् ।
शृणु तत् सर्वमाख्यास्ये यथा पाण्डूनयोधयत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजेन्द्र ! आप मुझसे जो सिंधुराज जयद्रथके पराक्रमका समाचार पूछ रहे हैं, वह सब सुनिये । उसने जिस प्रकार पाण्डवोंके साथ युद्ध किया था, वह सारा वृत्तान्त बताऊँगा ॥ १ ॥

तमूहुर्वाजिनो वश्याः सैन्धवाः साधुवाहिनः ।
विकुर्वाणा बृहन्तोऽश्वाः श्वसनोपमरंहसः ॥ २ ॥

सारथिके वशमें रहकर अच्छी तरह सवारीका काम देनेवाले, वायुके समान वेगशाली तथा नाना प्रकारकी चाल दिखाते हुए चलनेवाले सिंधुदेशीय विशाल अश्व जयद्रथको वहन करते थे ॥ २ ॥

गन्धर्वनगराकारं विधिवत्कल्पितं रथम् ।
तस्याभ्यशोभयत् केतुर्वाराहो राजतो महान् ॥ ३ ॥

विधिपूर्वक सजाया हुआ उसका रथ गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था । उसका रजतनिर्मित एवं वाराह-चिह्नसे युक्त महान् ध्वज उसके रथकी शोभा बढ़ा रहा था ॥

श्वेतच्छत्रपताकाभिश्चामरव्यजनेन च ।
स बभौ राजलिङ्गैस्तैस्तारापतिरिवाम्बरे ॥ ४ ॥

श्वेत छत्र, पताका, चँवर और व्यजन—इन राजचिह्नोंसे वह आकाशमें चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥४॥

मुक्तावज्रमणिस्वर्णैर्भूषितं तदयस्मयम् ।
वरूथं विबभौ तस्य ज्योतिर्भिः खमिवावृतम् ॥ ५ ॥

उसके रथका मुक्ता, मणि, सुवर्ण तथा हीरोंसे विभूषित लोहमय आवरण नक्षत्रोंसे व्याप्त हुए आकाशके समान सुशोभित होता था ॥ ५ ॥

स विस्फार्य महच्चापं किरन्निषुगणान् बहून् ।
तत् खण्डं पूरयामास यद् व्यदारयदार्जुनिः ॥ ६ ॥

उसने अपना विशाल धनुष फैलाकर बहुत-से बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए व्यूहके उस भागको योद्धाओंद्वारा भर दिया, जिसे अभिमन्युने तोड़ डाला था ॥ ६ ॥

स सात्यकिं त्रिभिर्बाणैरष्टभिश्च वृकोदरम् ।
धृष्टद्युम्नं तथा षष्ट्या विराटं दशभिः शरैः ॥ ७ ॥
द्रुपदं पञ्चभिस्तीक्ष्णैः सप्तभिश्च शिखण्डिनम् ।
केकयान् पञ्चविंशत्या द्रौपदेयांस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥
युधिष्ठिरं तु सप्तत्या ततः शेषानपानुदत् ।
इषुजालेन महता तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

उसने सात्यकिको तीन, भीमसेनको आठ, धृष्टद्युम्नको साठ, विराटको दस, द्रुपदको पाँच, शिखण्डीको सात, केकयराजकुमारोंको पचीस, द्रौपदीपुत्रोंको तीन-तीन तथा युधिष्ठिरको सत्तर तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया। तत्पश्चात् बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर उसने शेष सैनिकोंको भी पीछे हटा दिया। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ७—९॥

अथास्य शितपीतेन भल्लेनादिश्य कार्मुकम् ।
चिच्छेद प्रहसन् राजा धर्मपुत्रः प्रतापवान् ॥ १० ॥

तब प्रतापी राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने एक तीखे और पानीदार भल्लके द्वारा उसके धनुषको काटनेकी घोषणा करके हँसते-हँसते काट डाला ॥ १० ॥

अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
विव्याध दशभिः पार्थं तांश्चैवान्यांस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ ११ ॥

उस समय जयद्रथने पलक मारते-मारते दूसरा धनुष हाथमें लेकर युधिष्ठिरको दस तथा अन्य वीरोंको तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला ॥ ११ ॥

तत् तस्य लाघवं ज्ञात्वा भीमो भल्लैस्त्रिभिस्त्रिभिः ।
धनुर्ध्वजं च च्छत्रं च क्षितौ क्षिप्रमपातयत् ॥ १२ ॥

उसकी इस फुर्तीको देख और समझकर भीमसेनने तीन-तीन भल्लोंद्वारा उसके धनुष, ध्वज और छत्रको शीघ्र ही पृथ्वीपर काट गिराया ॥ १२ ॥

सोऽन्यदादाय बलवान् सज्यं कृत्वा च कार्मुकम् ।
भीमस्यापातयत् केतुं धनुरश्वांश्च मारिष ॥ १३ ॥

आर्य ! तब उस बलवान् वीरने दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर भीमके धनुष, ध्वज और घोड़ोंको धराशायी कर दिया ॥ १३ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य च्छिन्नधन्वा रथोत्तमात् ।
सात्यकेराप्लुतो यानं गिर्यग्रमिव केसरी ॥ १४ ॥

धनुष कट जानेपर अपने अश्वहीन उत्तम रथसे कूदकर भीमसेन सात्यकिके रथपर जा बैठे, मानो कोई सिंह पर्वतके शिखरपर जा चढ़ा हो ॥ १४ ॥

ततस्त्वदीयाः संहृष्टाः साधु साध्विति वादिनः ।
सिन्धुराजस्य तत् कर्म प्रेक्ष्याश्रद्धेयमद्भुतम् ॥ १५ ॥

सिंधुराजके उस अद्भुत पराक्रमको, जो सुननेपर विश्वास करने योग्य नहीं था, प्रत्यक्ष देख आपके सभी सैनिक अत्यन्त हर्षमें भरकर उसे साधुवाद देने लगे ॥ १५ ॥

संक्रुद्धान् पाण्डवानेको यद् दधारास्त्रतेजसा ।
तत् तस्य कर्म भूतानि सर्वाण्येवाभ्यपूजयन् ॥ १६ ॥

जयद्रथने अकेले ही अपने अस्त्रोंके तेजसे जो क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंको रोक लिया, उसके उस पराक्रमकी सभी प्राणी प्रशंसा करने लगे ॥ १६ ॥

सौभद्रेण हतैः पूर्वं सोत्तरायोधिभिर्द्विपैः ।
पाण्डूनां दर्शितः पन्थाः सैन्धवेन निवारितः ॥ १७ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्युने पहले गजारोहियोंसहित बहुत-से गजराजोंको मारकर व्यूहमें प्रवेश करनेके लिये जो पाण्डवोंको मार्ग दिखा दिया था, उसे जयद्रथने बंद कर दिया ॥ १७ ॥

यतमानास्तु ते वीरा मत्स्यपञ्चालकेकयाः ।
पाण्डवाश्चान्वपद्यन्त प्रतिशेकुर्न सैन्धवम् ॥ १८ ॥

वे वीर मत्स्य, पाञ्चाल, केकय तथा पाण्डव बारंबार प्रयत्न करके व्यूहपर आक्रमण करते थे; परंतु सिंधुराजके सामने टिक नहीं पाते थे ॥ १८ ॥

यो यो हि यतते भेत्तुं द्रोणानीकं तवाहितः।
तं तमेव वरं प्राप्य सैन्धवः प्रत्यवारयत् ॥ १९ ॥

आपका जो-जो शत्रु द्रोणाचार्यके व्यूहको तोड़नेका प्रयत्न करता, उसी-उसी श्रेष्ठ वीरके पास पहुँचकर जयद्रथ उसे रोक देता था ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि जयद्रथयुद्धे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें जयद्रथका युद्धविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और उसके द्वारा वसातीय आदि अनेक योद्धाओंका वध

संजय उवाच

सैन्धवेन निरुद्धेषु जयगृद्धिषु पाण्डुषु।
सुघोरमभवद्युद्धं त्वदीयानां परैः सह ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंको जब सिंधुराज जयद्रथने रोक दिया, उस समय आपके सैनिकोंका शत्रुओंके साथ बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ १ ॥

प्रविश्याथार्जुनिः सेनां सत्यसंधो दुरासदः।
व्यक्षोभयत तेजस्वी मकरः सागरं यथा ॥ २ ॥

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ दुर्धर्ष और तेजस्वी वीर अभिमन्युने आपकी सेनाके भीतर घुसकर इस प्रकार तहलका मचा दिया, जैसे बड़ा भारी मगर समुद्रमें हलचल पैदा कर देता है ॥ २ ॥

तं तथा शरवर्षेण क्षोभयन्तमरिन्दमम्।
यथा प्रधानाः सौभद्रमभ्ययू रथसत्तमाः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बाणोंकी वर्षासे कौरवसेनामें हलचल मचाते हुए शत्रुदमन सुभद्राकुमारपर आपकी सेनाके प्रधान-प्रधान महारथियोंने एक साथ आक्रमण किया ॥ ३ ॥

तेषां तस्य च सम्मर्दो दारुणः समपद्यत।
सृजतां शरवर्षाणि प्रसक्तममितौजसाम् ॥ ४ ॥

उस समय अति तेजस्वी कौरव योद्धा परस्पर सटे हुए बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४ ॥

रथव्रजेन संरुद्धस्तैरमित्रैस्तथाऽऽर्जुनिः।
वृषसेनस्य यन्तारं हत्वा चिच्छेद कार्मुकम् ॥ ५ ॥

यद्यपि शत्रुओंने अपने रथसमूहके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया था, तो भी उसने वृषसेनके सारथिको घायल करके उसके धनुषको भी काट डाला ॥

तस्य विव्याध बलवाञ्शरैरश्वानजिह्मगैः।
वातायमानैरथ तैरश्वैरपहृतो रणात् ॥ ६ ॥

तब बलवान् वृषसेन अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा अभिमन्युके घोड़ोंको बींधने लगा। इससे उसके घोड़े हवाके समान वेगसे भाग चले। इस प्रकार उन अश्वोंद्वारा वह रणभूमिसे दूर पहुँचा दिया गया ॥ ६ ॥

तेनान्तरेणाभिमन्योर्यन्तापासारयद् रथम्।
रथव्रजास्ततो हृष्टाः साधु साध्विति चुक्रुशुः ॥ ७ ॥

अभिमन्युके कार्यमें इस प्रकार विघ्न आ जानेसे वृषसेनका सारथि अपने रथको वहाँसे दूर हटा ले गया। इससे वहाँ जुटे हुए रथियोंके समुदाय हर्षमें भरकर 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' कहते हुए कोलाहल करने लगे ॥ ७ ॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं प्रमथ्नन्तं शरैररीन्।
आरादायान्तमभ्येत्य वसातीयोऽभ्ययाद् द्रुतम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर सिंहके समान अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंको मथते हुए अभिमन्युको समीप आते देख वसातीय तुरंत वहाँ उपस्थित हो उसका सामना करनेके लिये गया ॥ ८ ॥

सोऽभिमन्युं शरैः षष्ट्या रुक्मपुङ्खैरवाकिरत्।
अब्रवीच्च न मे जीवञ्जीवतो युधि मोक्ष्यसे ॥ ९ ॥

उसने अभिमन्युपर सुवर्णमय पंखवाले साठ बाण बरसाये और कहा—'अब तू मेरे जीते-जी इस युद्धमें जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥ ९ ॥

तमयस्मयवर्माणमिषुणा दूरपातिना।
विव्याध हृदि सौभद्रः स पपात व्यसुः क्षितौ ॥ १० ॥

तब अभिमन्युने लोहमय कवच धारण करनेवाले वसातीयको दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेवाले बाणद्वारा उसकी छातीमें चोट पहुँचायी, जिससे वह प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १० ॥

वसातीयं हतं दृष्ट्वा क्रुद्धाः क्षत्रियपुङ्गवाः।
परिवव्रुस्तदा राजंस्तव पौत्रं जिघांसवः ॥ ११ ॥

राजन् ! वसातीयको मारा गया देख क्रोधमें भरे हुए क्षत्रियशिरोमणि वीरोंने आपके पौत्र अभिमन्युको मार डालनेकी इच्छासे उस समय चारोंओरसे घेर लिया ॥११॥

विस्फारयन्तश्चापानि नानारूपाण्यनेकशः।
तद् युद्धमभवद् रौद्रं सौभद्रस्यारिभिः सह ॥ १२ ॥

वे अपने नाना प्रकारके धनुषोंकी बारंबार टंकार करने लगे । सुभद्राकुमारका शत्रुओंके साथ वह बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ १२ ॥

तेषां शरान् सेष्वसनाञ्शरीराणि शिरांसि च।
सकुण्डलानि स्रग्वीणि क्रुद्धश्चिच्छेद फाल्गुनिः ॥१३॥

उस समय अर्जुनकुमारने कुपित होकर उनके धनुष, बाण, शरीर तथा हार और कुण्डलोंसे युक्त मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ १३ ॥

सखड्गाः साङ्गुलित्राणाः सपट्टिशपरश्वधाः।
अदृश्यन्त भुजाश्छिन्ना हेमाभरणभूषिताः ॥ १४ ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उनकी भुजाएँ खड्ग, दस्ताने, पट्टिश और फरसोंसहित कटी दिखायी देने लगीं ॥

स्रग्भिराभरणैर्वस्त्रैः पातितैश्च महाभुजैः।
वर्मभिश्चर्मभिर्हारैर्मुकुटैश्छत्रचामरैः ॥ १५ ॥
उपस्करैरधिष्ठानैरीषादण्डकबन्धुरैः ।
अक्षैर्विमथितैश्चक्रैर्भग्नैश्च बहुधा युगैः ॥ १६ ॥
अनुकर्षैः पताकाभिस्तथा सारथिवाजिभिः।
रथैश्च भग्नैर्नागैश्च हतैः कीर्णाभवन्मही ॥ १७ ॥

काटकर गिराये हुए हार, आभूषण, वस्त्र, विशाल भुजा, कवच, ढाल, मनोहर मुकुट, छत्र, चँवर, आवश्यक सामग्री, रथकी बैठक, ईषादण्ड, बन्धुर, चूर-चूर हुई धुरी, टूटे हुए पहिये, टूक-टूक हुए जूए, अनुकर्ष, पताका, सारथि, अश्व, टूटे हुए रथ और मरे हुए हाथियोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ १५—१७ ॥

निहतैः क्षत्रियैः शूरैर्नानाजनपदेश्वरैः।
जयगृद्धैर्वृता भूमिर्दारुणा समपद्यत ॥ १८ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले विभिन्न जनपदोंके स्वामी क्षत्रियवीर उस युद्धमें मारे गये । उनकी लाशोंसे पटी हुई पृथ्वी बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

दिशो विचरतस्तस्य सर्वाश्च प्रदिशस्तथा।
रणेऽभिमन्योः क्रुद्धस्य रूपमन्तरधीयत ॥ १९ ॥

उस रणक्षेत्रमें कुपित होकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंमें विचरते हुए अभिमन्युका रूप अदृश्य हो गया था ॥ १९ ॥

काञ्चनं यद्यदस्यासीद् वर्म चाभरणानि च।
धनुषश्च शराणां च तदपश्याम केवलम् ॥ २० ॥

उसके कवच, आभूषण, धनुष और बाणके जो-जो अवयव सुवर्णमय थे, केवल उन्हींको हम दूरसे देख पाते थे ॥

तं तदा नाशकत् कश्चिच्चक्षुर्भ्यामभिवीक्षितुम्।
आददानं शरैर्योधान् मध्ये सूर्यमिव स्थितम् ॥ २१ ॥

अभिमन्यु जिस समय बाणोंद्वारा योद्धाओंके प्राण ले रहा था और व्यूहके मध्यभागमें सूर्यके समान खड़ा था, उस समय कोई वीर उसकी ओर आँख उठाकर देखनेका साहस नहीं कर पाता था ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युपराक्रमे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युका पराक्रमविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा सत्यश्रवा, क्षत्रियसमूह, रुक्मरथ तथा उसके मित्रगणों और सैकड़ों राजकुमारोंका वध और दुर्योधनकी पराजय

संजय उवाच

आददानस्तु शूराणामायूंष्यभवदार्जुनिः।
अन्तकः सर्वभूतानां प्राणान् काल इवागते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! मृत्युकाल उपस्थित होनेपर जैसे यमराज समस्त प्राणियोंके प्राण हर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनकुमार अभिमन्यु भी वीरोंकी आयुका अपहरण करते हुए उनके लिये यमराज ही हो गये थे ॥ १ ॥

स शक्र इव विक्रान्तः शक्रसूनोः सुतो बली।
अभिमन्युस्तदानीकं लोडयन् समदृश्यत ॥ २ ॥

इन्द्रकुमार अर्जुनका बलवान् पुत्र अभिमन्यु इन्द्रके समान पराक्रमी था । वह उस समय सारे व्यूहका मन्थन करता दिखायी देता था ॥ २ ॥

प्रविश्यैव तु राजेन्द्र क्षत्रियेन्द्रान्तकोपमः।
सत्यश्रवसमादत्त व्याघ्रो मृगमिवोल्बणः ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणियोंके लिये यमराजके समान अभिमन्युने उस सेनामें प्रवेश करते ही जैसे उन्मत्त व्याघ्र हरिणको दबोच लेता है, उसी प्रकार सत्यश्रवाको ले बैठा ॥

सत्यश्रवसि चाक्षिप्ते त्वरमाणा महारथाः।
प्रगृह्य विपुलं शस्त्रमभिमन्युमुपाद्रवन् ॥ ४ ॥

सत्यश्रवाके मारे जानेपर उन सभी महारथियोंने प्रचुर अस्त्र-शस्त्र लेकर बड़ी उतावलीके साथ अभिमन्युपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

अहं पूर्वमहं पूर्वमिति क्षत्रियपुङ्गवाः।
स्पर्धमानाः समाजग्मुर्जिघांसन्तोऽर्जुनात्मजम् ॥ ५ ॥

वे सभी क्षत्रियशिरोमणि 'पहले मैं, पहले मैं' इस प्रकार परस्पर होड़ लगाते हुए अर्जुनकुमारको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े ॥ ५ ॥

क्षत्रियाणामनीकानि प्रद्रुतान्यभिधावताम् ।
जग्रास तिमिरासाद्य क्षुद्रमत्स्यानिवार्णवे ॥ ६ ॥

उस समय धावा करनेवाले क्षत्रियोंकी उन आगे बढ़ती हुई सेनाओंको अभिमन्युने उसी प्रकार कालका ग्रास बना लिया, जैसे महासागरमें तिमि नामक महामत्स्य छोटे-छोटे मत्स्योंको निगल जाता है ॥ ६ ॥

ये केचन गतास्तस्य समीपमपलायिनः ।
न ते प्रतिन्यवर्तन्त समुद्रादिव सिन्धवः ॥ ७ ॥

युद्धसे न भागनेवाले जो कोई शूरवीर उस समय अभिमन्युके पास गये, वे फिर नहीं लौटे । जैसे समुद्रमें मिली हुई नदियाँ फिर वहाँसे लौट नहीं पाती हैं ॥ ७ ॥

महाग्राहगृहीतेव वातवेगभयार्दिता ।
समकम्पत सा सेना विभ्रष्टा नौरिवार्णवे ॥ ८ ॥

जिसका समुद्रमें मार्ग भूल गया हो, जो वायुके वेगसे भयाक्रान्त हो रही हो तथा जिसे किसी बहुत बड़े ग्राहने पकड़ लिया हो—ऐसी नौका जैसे डगमगाने लगती है, उसी प्रकार वह सेना अभिमन्युके भयसे काँप रही थी ॥ ८ ॥

अथ रुक्मरथो नाम मद्रेश्वरसुतो बली ।
त्रस्तामाश्वासयन् सेनामत्रस्तो वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

इसी समय मद्रराजका बलवान् पुत्र रुक्मरथ आकर अपनी डरी हुई सेनाको आश्वासन देता हुआ निर्भय होकर बोला— ॥ ९ ॥

अलं त्रासेन वः शूरा नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
अहमेनं ग्रहीष्यामि जीवग्राहं न संशयः ॥ १० ॥

'शूरवीरो ! तुम्हें डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं । यह अभिमन्यु मेरे रहते कुछ भी नहीं है । मैं अभी इसे जीते-जी पकड़ लूँगा । इसमें संशय नहीं है' ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौभद्रमभिदुद्राव वीर्यवान् ।
सुकल्पितेनोह्यमानः स्यन्दनेन विराजता ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर पराक्रमी रुक्मरथ सुन्दर सजे-सजाये तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो सुभद्राकुमार अभिमन्युकी ओर दौड़ा ॥

सोऽभिमन्युं त्रिभिर्बाणैर्विद्ध्वा वक्षस्यथानदत् ।
त्रिभिश्च दक्षिणे बाहौ सव्ये च निशितैस्त्रिभिः ॥ १२ ॥

उसने अभिमन्युकी छातीमें तीन बाण मारकर सिंहनाद किया । फिर तीन बाण दाहिनी और तीन तीखे बाण बायीं भुजामें मारे ॥ १२ ॥

स तस्येष्वसनं छित्त्वा फाल्गुनिः सव्यदक्षिणौ ।
भुजौ शिरश्च स्वक्षिभ्रु क्षितौ क्षिप्रमपातयत् ॥ १३ ॥

तब अर्जुनकुमारने रुक्मरथका धनुष काटकर उसकी बायीं-दायीं भुजाओंको तथा सुन्दर नेत्र एवं भौंहोंसे सुशोभित मस्तकको भी तुरंत ही पृथ्वीपर काट गिराया ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा रुक्मरथं रुग्णं पुत्रं शल्यस्य मानिनम् ।
जीवग्राहं जिघृक्षन्तं सौभद्रेण यशस्विना ॥ १४ ॥
संग्रामदुर्मदा राजन् राजपुत्राः प्रहारिणः ।
वयस्याः शल्यपुत्रस्य सुवर्णविकृतध्वजाः ॥ १५ ॥
तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महाबलाः ।
आर्जुनिं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १६ ॥

राजन् ! राजा शल्यके अभिमानी पुत्र रुक्मरथको जो, अभिमन्युको जीते-जी पकड़ना चाहता था, यशस्वी सुभद्रा-कुमारके द्वारा मारा गया देख शल्यपुत्रके बहुत-से मित्र राजकुमार, जो प्रहार करनेमें कुशल और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, अर्जुनकुमारको चारों ओरसे घेरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उनके ध्वज सुवर्णके बने हुए थे, वे महाबली वीर चार हाथके धनुष खींच रहे थे ॥ १४-१६ ॥

शूरैः शिक्षाबलोपेतैस्तरुणैरत्यमर्षणैः ।
दृष्ट्वैकं समरे शूरं सौभद्रमपराजितम् ॥ १७ ॥
छाद्यमानं शरव्रातैर्हृष्टो दुर्योधनोऽभवत् ।
वैवस्वतस्य भवनं गतं ह्येनममन्यत ॥ १८ ॥

शिक्षा और बलसे सम्पन्न, तरुण अवस्थावाले, अत्यन्त अमर्षशील और शूरवीर राजकुमारोंद्वारा, किसीसे परास्त न होनेवाले शौर्यसम्पन्न सुभद्राकुमारको अकेले ही समराङ्गण-में बाणसमूहोंसे आच्छादित होते देख राजा दुर्योधनको बड़ा हर्ष हुआ । उसने यह मान लिया कि अब अभिमन्यु यम-राजके लोकमें पहुँच गया ॥ १७-१८ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्नानालिङ्गैः सुतेजनैः ।
अदृश्यमार्जुनिं चक्रुर्निमेषात् ते नृपात्मजाः ॥ १९ ॥

उन राजकुमारोंने सोनेके पंखवाले नाना प्रकारके चिह्नों-से सुशोभित और पैने बाणोंद्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको पलक मारते-मारते अदृश्य कर दिया ॥ १९ ॥

ससूताश्वध्वजं तस्य स्यन्दनं तं च मारिष ।
आचितं समपश्याम श्वाविधं शललैरिव ॥ २० ॥

आर्य ! सारथि, घोड़े और ध्वजसहित अभिमन्युके उस रथको मैंने उसी प्रकार बाणोंसे व्याप्त देखा, जैसे साही (सेह) का शरीर काँटोंसे भरा रहता है ॥ २० ॥

स गाढविद्धः क्रुद्धश्च तोत्रैर्गज इवार्दितः ।
गान्धर्वमस्त्रमायच्छद् रथमायां च भारत ॥ २१ ॥

भारत ! बाणोंसे गहरी चोट खाकर अभिमन्यु अङ्कुशसे पीड़ित हुए गजराजकी भाँति कुपित हो उठा । उसने गान्धर्वास्त्रका प्रयोग किया और रथमाया (रथयुद्धकी शिक्षा-में निपुणता) प्रकट की ॥ २१ ॥

अर्जुनेन तपस्तप्त्वा गन्धर्वेभ्यो यदाहृतम् ।
तुम्बुरुप्रमुखेभ्यो वै तेनामोहयताहितान् ॥ २२ ॥

अर्जुनने तपस्या करके तुम्बुरु आदि गन्धर्वोंसे जो अस्त्र प्राप्त किया था, उसीसे अभिमन्युने अपने शत्रुओंको मोहित कर दिया ॥ २२ ॥

एकधा शतधा राजन् दृश्यते स्म सहस्रधा।
अलातचक्रवत् संख्ये क्षिप्रमस्त्राणि दर्शयन् ॥ २३ ॥

राजन्! वह शीघ्रतापूर्वक अस्त्रसंचालनका कौशल दिखाता हुआ युद्धमें अलातचक्रकी भाँति एक, शत तथा सहस्रों रूपोंमें दृष्टिगोचर होता था ॥ २३ ॥

रथचर्यास्त्रमायाभिर्मोहयित्वा परंतपः।
बिभेद शतधा राजञ्शरीराणि महीक्षिताम् ॥ २४ ॥

महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाले अभिमन्युने रथचर्या तथा अस्त्रोंकी मायासे मोहित करके राजाओंके शरीरोंके सौ-सौ टुकड़े कर दिये ॥ २४ ॥

प्राणाः प्राणभृतां संख्ये प्रेषितानि शितैः शरैः।
राजन् प्रापुरमुं लोकं शरीराण्यवनिं ययुः ॥ २५ ॥

राजन्! उस युद्धस्थलमें उसके पैने बाणोंसे प्रेरित हुए प्राणधारियोंके शरीर तो पृथ्वीपर गिर पड़े, परंतु प्राण परलोकमें जा पहुँचे ॥ २५ ॥

धनूंष्यश्वान् नियन्तॄंश्च ध्वजान् बाहूंश्च साङ्गदान्।
शिरांसि च शितैर्बाणैस्तेषां चिच्छेद फाल्गुनिः ॥२६॥

अर्जुनकुमारने अपने तीखे बाणोंद्वारा उनके धनुष, घोड़े, सारथि, ध्वज, अङ्गदयुक्त बाहु तथा मस्तक भी काट डाले ॥ २६ ॥

चूतारामो यथा भग्नः पञ्चवर्षः फलोपगः।
राजपुत्रशतं तद्वत् सौभद्रेण निपातितम् ॥ २७ ॥

जैसे पाँच वर्षोंका लगाया हुआ आमका बाग, जो फल देनेके योग्य हो गया हो, काट दिया जाय, उसी प्रकार सैकड़ों राजकुमारोंको सुभद्राकुमारने वहाँ मार गिराया ॥

क्रुद्धाशीविषसंकाशान् सुकुमारान् सुखोचितान्।
एकेन निहतान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनोऽभवत् ॥ २८ ॥

क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान भयंकर तथा सुख भोगनेके योग्य उन सुकुमार राजकुमारोंको एकमात्र अभिमन्युद्वारा मारा गया देख दुर्योधन भयभीत हो गया ॥

रथिनः कुञ्जरानश्वान् पदातींश्चापि मज्जतः।
दृष्ट्वा दुर्योधनः क्षिप्रमुपायात् तममर्षितः ॥ २९ ॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंको भी अभिमन्यु-रूपी समुद्रमें डूबते देख अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनने शीघ्र ही उसपर धावा किया ॥ २९ ॥

तयोः क्षणमिवापूर्णः संग्रामः समपद्यत।
अथाभवत् ते विमुखः पुत्रः शरशताहतः ॥ ३० ॥

उन दोनोंमें एक क्षणतक अधूरा-सा युद्ध हुआ। इतनेहीमें आपका पुत्र दुर्योधन सैकड़ों बाणोंसे आहत होकर वहाँसे भाग गया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि दुर्योधनपराजये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें दुर्योधनकी पराजयविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा लक्ष्मण तथा क्राथपुत्रका वध और सेनासहित छः महारथियोंका पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदसि मे सूत एकस्य बहुभिः सह।
संग्रामं तुमुलं घोरं जयं चैव महात्मनः ॥ १ ॥
अश्रद्धेयमिवाश्चर्यं सौभद्रस्याथ विक्रमम्।
किं तु नात्यद्भुतं तेषां येषां धर्मो व्यपाश्रयः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूत! जैसा कि तुम बता रहे हो, अकेले महामना अभिमन्युका बहुत-से योद्धाओंके साथ अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ और उसमें विजय भी उसीकी हुई—सुभद्राकुमारका यह पराक्रम आश्चर्यजनक है। उसपर सहसा विश्वास नहीं होता; परंतु जिन लोगोंका धर्म ही आश्रय है, उनके लिये यह कोई अत्यन्त अद्भुत बात नहीं है ॥ १-२ ॥

दुर्योधने च विमुखे राजपुत्रशते हते।
सौभद्रे प्रतिपत्तिं कां प्रत्यपद्यन्त मामकाः ॥ ३ ॥

संजय! जब दुर्योधन भाग गया और सैकड़ों राजकुमार मारे गये, उस समय मेरे पुत्रोंने सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये क्या उपाय किया? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

संशुष्कास्याश्चलन्नेत्राः प्रस्विन्ना लोमहर्षणाः।
पलायनकृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज! आपके सभी सैनिकोंके मुँह सूख गये थे, आँखें भयसे चञ्चल हो रही थीं, सारे अंग पसीने-पसीने हो रहे थे और रोंगटे खड़े हो गये थे। वे भागनेमें ही उत्साह दिखा रहे थे। शत्रुओंको जीतनेका उत्साह उनके मनमें तनिक भी नहीं था ॥ ४ ॥

हतान् भ्रातॄन् पितॄन् पुत्रान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
उत्सृज्योत्सृज्य संजग्मुस्त्वरयन्तो हयद्विपान् ॥ ५ ॥

वे युद्धमें मारे गये भाइयों, पितरों, पुत्रों, सुहृदों, सम्बन्धियों तथा बन्धु-बान्धवोंको छोड़-छोड़कर अपने घोड़े

और हाथियोंको उतावलीके साथ हाँकते हुए भाग रहे थे ॥

तान् प्रभग्नांस्तथा दृष्ट्वा द्रोणो द्रौणिर्बृहद्बलः।
कृपो दुर्योधनः कर्णः कृतवर्माथ सौबलः ॥ ६ ॥
अभ्यधावन् सुसंक्रुद्धाः सौभद्रमपराजितम्।
ते तु पौत्रेण ते राजन् प्रायशो विमुखीकृताः ॥ ७ ॥

राजन्! उन सबको भागते देख द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल, कृपाचार्य, दुर्योधन, कर्ण, कृतवर्मा और शकुनि—

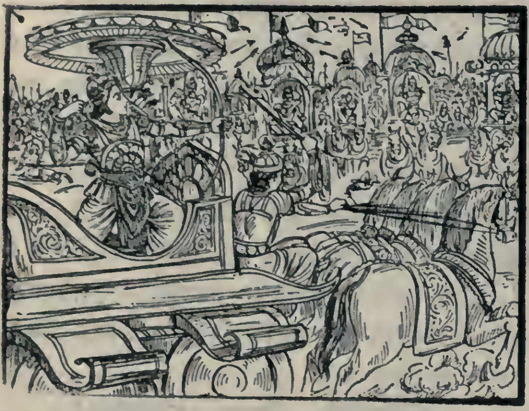

ये सब अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपराजित वीर अभिमन्युपर टूट पड़े; परंतु आपके उस पौत्र अभिमन्युने उन सबको प्रायः युद्धसे भगा दिया ॥ ६-७ ॥

एकस्तु सुखसंवृद्धो बाल्याद् दर्पाच्च निर्भयः।
इष्वस्त्रविन्महातेजा लक्ष्मणोऽर्जुनिमभ्ययात्॥ ८ ॥

उस समय सुखमें पला हुआ, धनुर्वेदका ज्ञाता, एकमात्र महातेजस्वी लक्ष्मण अपने बालस्वभाव तथा अभिमानके कारण निर्भय हो अभिमन्युके सामने आ गया ॥ ८ ॥

तमन्वगेवास्य पिता पुत्रगृद्धी न्यवर्तत।
अनुदुर्योधनं चान्ये न्यवर्तन्त महारथाः ॥ ९ ॥

पुत्रकी रक्षा चाहनेवाला पिता दुर्योधन भी उसीके साथ-साथ लौट पड़ा। फिर दुर्योधनके पीछे दूसरे महारथी लौट आये ॥ ९ ॥

तं तेऽभिषिषिचुर्बाणैर्मेघा गिरिमिवाम्बुभिः।
स तु तान् प्रममाथैको विष्वग्वातो यथाम्बुदान्॥ १० ॥

जैसे बादल किसी पर्वतको अपने जलकी धाराओंसे सींचते हैं, उसी प्रकार वे महारथी अभिमन्युपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। जैसे चारों ओरसे बहनेवाली हवा (चौवाई) बादलोंको उड़ा देती है, उसी प्रकार अकेले अभिमन्युने उन सबको मथ डाला ॥ १० ॥

पौत्रं तव च दुर्धर्षं लक्ष्मणं प्रियदर्शनम्।
पितुः समीपे तिष्ठन्तं शूरमुद्यतकार्मुकम् ॥ ११ ॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धं धनेश्वरसुतोपमम्।
आससाद रणे कार्ष्णिर्मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ १२ ॥

राजन्! आपका प्रियदर्शन पौत्र लक्ष्मण बड़ा दुर्धर्ष वीर था। वह धनुष उठाये अपने पिताके ही पास खड़ा था। अत्यन्त सुखमें पला हुआ वह वीर कुबेरके पुत्रके समान जान पड़ता था। जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजसे भिड़ जाय, उसी प्रकार अर्जुनकुमारने लक्ष्मणपर आक्रमण किया ॥ ११-१२ ॥

लक्ष्मणेन तु संगम्य सौभद्रः परवीरहा।
शरैः सुनिशितैस्तीक्ष्णैर्बाह्वोरुरसि चार्पितः ॥ १३ ॥

लक्ष्मणसे भिड़नेपर उसके द्वारा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारकी भुजाओं और छातीमें अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा प्रहार किया गया ॥ १३ ॥

संक्रुद्धो वै महाराज दण्डाहत इवोरगः।
पौत्रस्तव महाराज तव पौत्रमभाषत ॥ १४ ॥

महाराज! उस प्रहारसे लाठीकी चोट खाये हुए सर्पके समान अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए आपके पौत्र अभिमन्युने आपके दूसरे पौत्र लक्ष्मणसे कहा—॥ १४ ॥

सुदृष्टः क्रियतां लोको ह्यमुं लोकं गमिष्यसि।
पश्यतां बान्धवानां त्वां नयामि यमसादनम् ॥ १५ ॥

'लक्ष्मण! इस संसारको अच्छी तरह देख लो। अब शीघ्र ही परलोककी यात्रा करोगे। इन बान्धव-जनोंके देखते-देखते मैं तुम्हें यमलोक पहुँचाये देता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो भल्लं सौभद्रः परवीरहा।
उद्बबर्ह महाबाहुर्निर्मुक्तोरगसंनिभम् ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबाहु सुभद्राकुमारने केंचुलसे निकले हुए सर्पके समान एक भल्लको तरकससे निकाला ॥ १६ ॥

स तस्य भुजनिर्मुक्तो लक्ष्मणस्य सुदर्शनम्।
सुनसं सुभ्रु केशान्तं शिरोऽहार्षीत् सकुण्डलम् ॥१७॥

अभिमन्युके हाथोंसे छूटे हुए उस भल्लने लक्ष्मणके देखनेमें सुन्दर, सुघड़ नासिका, मनोहर भौंह, सुन्दर केशान्तभाग और रुचिर कुण्डलोंसे युक्त मस्तकको धड़से अलग कर दिया ॥

लक्ष्मणं निहतं दृष्ट्वा हाहेत्युच्चुक्रुशुर्जनाः।
ततो दुर्योधनः क्रुद्धः प्रिये पुत्रे निपातिते ॥ १८ ॥
हतैनमिति चुक्रोश क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।

लक्ष्मणको मारा गया देख सब लोग जोर-जोरसे हाहाकार करने लगे। अपने प्यारे पुत्रके मारे जानेपर क्षत्रियशिरोमणि दुर्योधन कुपित हो उठा और समस्त क्षत्रियोंसे बोला—'अहो! इस अभिमन्युको मार डालो' ॥ १८½ ॥

ततो द्रोणः कृपः कर्णो द्रोणपुत्रो बृहद्बलः ॥ १९ ॥
कृतवर्मा च हार्दिक्यः षड् रथाः पर्यवारयन्।

तब द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल

और हृदिकपुत्र कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने अभिमन्युको घेर लिया ॥ १९½ ॥

तांस्तु विद्ध्वा शितैर्बाणैर्विमुखीकृत्य चार्जुनिः ॥२०॥
वेगेनाभ्यपतत् क्रुद्धः सैन्धवस्य महद् बलम् ।

यह देख अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल करके भगा दिया और क्रोधमें भरकर बड़े वेगसे जयद्रथकी विशाल सेनापर धावा किया ॥ २०½ ॥

आवव्रुस्तस्य पन्थानं गजानीकेन दंशिताः ॥ २१ ॥
कलिङ्गाश्च निषादाश्च क्राथपुत्रश्च वीर्यवान् ।

उस समय कलिङ्गदेशीय सैनिक, निषादगण तथा पराक्रमी क्राथपुत्र—इन सबने कवच धारण करके गजसेनाके द्वारा अभिमन्युका रास्ता रोक दिया ॥ २१½ ॥

तत् प्रसक्तमिवात्यर्थं युद्धमासीद् विशाम्पते ॥ २२ ॥
ततस्तत् कुञ्जरानीकं व्यधमद् धृष्टमार्जुनिः ।
यथा वायुर्नित्यगतिर्जलदाञ्शतशोऽम्बरे ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! तब वहाँ अत्यन्त निकटसे घोर युद्ध आरम्भ हो गया । अर्जुनकुमारने पैने बाणोंद्वारा उस धृष्ट गजसेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे सदागति वायु आकाशमें सैकड़ों मेघखण्डोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २२-२३ ॥

ततः क्राथः शरव्रातैरार्जुनिं समवाकिरत् ।
अथेतरे संनिवृत्ताः पुनर्द्रोणमुखा रथाः ॥ २४ ॥

तदनन्तर क्राथने अर्जुनकुमार अभिमन्युपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी । इतनेहीमें द्रोण आदि दूसरे महारथी भी पुनः लौट आये ॥ २४ ॥

परमास्त्राणि धुन्वानाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ।
तान् निवार्यार्जुनिर्बाणैः क्राथपुत्रमथार्दयत् ॥ २५ ॥

उन सबने अपने उत्तम अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए सुभद्राकुमारपर आक्रमण किया । अभिमन्युने अपने बाणोंद्वारा उन सबका निवारण करके क्राथपुत्रको अधिक पीड़ा दी ॥

शरौघेणाप्रमेयेण त्वरमाणो जिघांसया ।
सधनुर्बाणकेयूरौ बाहू समुकुटं शिरः ॥ २६ ॥
सच्छत्रध्वजयन्तारं रथं चाश्वान् न्यपातयत् ।

फिर उसने असंख्य बाणसमूहोंद्वारा क्राथपुत्रको मार डालनेकी इच्छासे जल्दी करते हुए उसकी धनुष-बाणों और केयूरसहित दोनों भुजाओं, मुकुटमण्डित मस्तक, छत्र, ध्वज और सारथिसहित रथ तथा घोड़ोंको भी मार गिराया ॥

कुलशीलश्रुतिबलैः कीर्त्या चास्त्रबलेन च ।
युक्ते तस्मिन् हते वीराः प्रायशो विमुखाऽभवन् ॥२७॥

कुल, शील, शास्त्रज्ञान, बल, कीर्ति तथा अस्त्र-बलसे सम्पन्न उस वीर क्राथपुत्रके मारे जानेपर आपकी सेनाके प्रायः सभी शूरवीर सैनिक युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि लक्ष्मणवधे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें लक्ष्मणवधविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम, छः महारथियोंके साथ घोर युद्ध और उसके द्वारा वृन्दारक तथा दश हजार अन्य राजाओंके सहित कोसलनरेश बृहद्बलका वध

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रविष्टं तरुणं सौभद्रमपराजितम् ।
कुलानुरूपं कुर्वाणं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ १ ॥
आजानेयैः सुबलिभिर्यान्तमश्वैस्त्रिहायनैः ।
प्लवमानमिवाकाशे के शूराः समवारयन् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! कभी पराजित न होनेवाला तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाला तरुण, सुभद्राकुमार अभिमन्यु जब इस प्रकार जयद्रथकी सेनामें प्रवेश करके अपने कुलके अनुरूप पराक्रम प्रकट कर रहा था और तीन वर्षकी अवस्थावाले अच्छी जातिके बलवान् घोड़ोंद्वारा मानो आकाशमें तैरता हुआ आक्रमण करता था, उस समय किन शूरवीरोंने उसे रोका था ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

अभिमन्युः प्रविश्यैतांस्तावकान् निशितैः शरैः ।
अकरोत् पार्थिवान् सर्वान् विमुखान् पाण्डुनन्दनः ३

संजयने कहा—राजन् ! पाण्डुकुलनन्दन अभिमन्युने उस सेनामें प्रविष्ट होकर आपके इन सभी राजाओंको अपने तीखे बाणोंद्वारा युद्धसे विमुख कर दिया ॥ ३ ॥

तं तु द्रोणः कृपः कर्णो द्रौणिश्च स बृहद्बलः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः षड् रथाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

तब द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और हृदिकपुत्र कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा तु सैन्धवे भारमतिमात्रं समाहितम् ।
सैन्यं तव महाराज युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

महाराज ! सिंधुराज जयद्रथपर बहुत बड़ा भार आया देख आपकी सेनाने राजा युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ ५ ॥

सौभद्रमितरे वीरमभ्यवर्षञ्शराम्बुभिः ।
तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महाबलाः ॥ ६ ॥

तथा कुछ अन्य महाबली योद्धाओंने अपने चार हाथके धनुष खींचते हुए वहाँ सुभद्राकुमार वीर अभिमन्युपर बाणरूपी जलकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ६ ॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सर्वविद्यासु निष्ठितान् ।
व्यष्टम्भयद् रणे बाणैः सौभद्रः परवीरहा ॥ ७ ॥

परंतु शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अभिमन्युने सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण उन समस्त महाधनुर्धरोंको रणक्षेत्रमें अपने बाणोंद्वारा स्तब्ध कर दिया ॥ ७ ॥

द्रोणं पञ्चाशताविध्यद् विंशत्या च बृहद्बलम् ।
अशीत्या कृतवर्माणं कृपं षष्ट्या शिलीमुखैः ॥ ८ ॥
रुक्मपुङ्खैर्महावेगैराकर्णसमचोदितैः ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैरश्वत्थामानमार्जुनिः ॥ ९ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युने द्रोणको पचास, बृहद्बलको बीस, कृतवर्माको असी, कृपाचार्यको साठ और अश्वत्थामाको कानतक खींचकर छोड़े हुए स्वर्णमय पंखयुक्त, महावेगशाली दस बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ८-९ ॥

स कर्णं कर्णिना कर्णे पीतेन च शितेन च ।
फाल्गुनिर्द्विषतां मध्ये विव्याध परमेषुणा ॥ १० ॥

अर्जुनकुमारने शत्रुओंके मध्यमें खड़े हुए कर्णके कानमें पानीदार पैने और उत्तम बाणद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥

पातयित्वा कृपस्याश्वांस्तथोभौ पार्ष्णिसारथी ।
अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ११ ॥

कृपाचार्यके चारों घोड़ों तथा उनके दो पार्श्वरक्षकोंको धराशायी करके उनकी छातीमें दस बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥

ततो वृन्दारकं वीरं कुरूणां कीर्तिवर्धनम् ।
पुत्राणां तव वीराणां पश्यतामवधीद् बली ॥ १२ ॥

तदनन्तर बलवान् अभिमन्युने कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले वीर वृन्दारकको आपके वीर पुत्रोंके देखते-देखते मार डाला ॥ १२ ॥

तं द्रौणिः पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।
वरं वरममित्राणामारुजन्तमभीतवत् ॥ १३ ॥

तब शत्रुदलके प्रधान-प्रधान वीरोंका बेखटके वध करते हुए अभिमन्युको अश्वत्थामाने पचीस बाण मारे ॥ १३ ॥

स तु बाणैः शितैस्तूर्णं प्रत्यविध्यत मारिष ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणामश्वत्थामानमार्जुनिः ॥ १४ ॥

आर्य ! अर्जुनकुमारने भी आपके पुत्रोंके देखते-देखते तुरंत ही अश्वत्थामाको पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १४ ॥

षष्ट्या शराणां तं द्रौणिस्तिग्मधारैः सुतेजनैः ।
उग्रैर्नाकम्पयद् विद्ध्वा मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १५ ॥

तब द्रोणपुत्रने तीखी धारवाले तेज और भयंकर साठ बाणोंद्वारा अभिमन्युको बींध डाला; परंतु बींधकर भी वह मैनाक पर्वतके समान स्थित अभिमन्युको कम्पित न कर सका ॥

स तु द्रौणिं त्रिसप्तत्या हेमपुङ्खैरजिह्मगैः ।
प्रत्यविध्यन्महातेजा बलवानपकारिणम् ॥ १६ ॥

महातेजस्वी बलवान् अभिमन्युने सुवर्णमय पंखसे युक्त तिहत्तर बाणोंद्वारा अपने अपकारी अश्वत्थामाको पुनः घायल कर दिया ॥ १६ ॥

तस्मिन् द्रोणो बाणशतं पुत्रगृद्धी न्यपातयत् ।
अश्वत्थामा तथाष्टौ च परीप्सन् पितरं रणे ॥ १७ ॥

तब अपने पुत्रके प्रति स्नेह रखनेवाले द्रोणाचार्यने अभिमन्युको सौ बाण मारे । साथ ही अश्वत्थामाने भी अपने पिताकी रक्षा करते हुए रणक्षेत्रमें उसपर आठ बाण चलाये ॥

कर्णो द्वाविंशतिं भल्लान् कृतवर्मा च विंशतिम् ।
बृहद्बलस्तु पञ्चाशत् कृपः शारद्वतो दश ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् कर्णने बाईस, कृतवर्माने बीस, बृहद्बलने पचास तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने अभिमन्युको दस भल्ल मारे ॥

तांस्तु प्रत्यवधीत् सर्वान् दशभिर्दशभिः शरैः ।
तैरर्द्यमानः सौभद्रः सर्वतो निशितैः शरैः ॥ १९ ॥

उन सबके चलाये हुए तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे पीड़ित हुए सुभद्राकुमारने उन सभीको दस-दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १९ ॥

तं कोसलानामधिपः कर्णिनाताडयद्धृदि ।
स तस्याश्वान् ध्वजं चापं सूतं चापातयत् क्षितौ ॥२०॥

तत्पश्चात् कोसलनरेश बृहद्बलने एक बाणद्वारा अभिमन्युकी छातीमें चोट पहुँचायी । यह देख अभिमन्युने उनके चारों घोड़ों तथा ध्वज, धनुष एवं सारथिको भी पृथ्वीपर मार गिराया ॥ २० ॥

अथ कोसलराजस्तु विरथः खड्गचर्मभृत् ।
इयेष फाल्गुनेः कायाच्छिरो हर्तुं सकुण्डलम् ॥ २१ ॥

रथहीन होनेपर कोसलनरेशने हाथमें ढाल और तलवार ले ली तथा अभिमन्युके शरीरसे उसके कुण्डलयुक्त

मस्तकको काट लेनेका विचार किया ॥ २१ ॥

स कोसलानामधिपं राजपुत्रं बृहद्बलम् ।
हृदि विव्याध बाणेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ २२ ॥

इतनेहीमें अभिमन्युने एक बाणद्वारा कोसलनरेश राजपुत्र बृहद्बलके हृदयमें गहरी चोट पहुँचायी। इससे उनका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वे गिर पड़े ॥ २२ ॥

बभञ्ज च सहस्राणि दश राज्ञां महात्मनाम् ।
सृजतामशिवा वाचः खड्गकार्मुकधारिणाम् ॥ २३ ॥

इसके बाद अशुभ वचन बोलनेवाले तथा खड्ग एवं धनुष धारण करनेवाले दस हजार महामनस्वी राजाओंका भी उसने संहार कर डाला ॥ २३ ॥

तथा बृहद्बलं हत्वा सौभद्रो व्यचरद् रणे ।
व्यष्टम्भयन्महेष्वासो योधांस्तव शराम्बुभिः ॥ २४ ॥

इस प्रकार महाधनुर्धर अभिमन्यु बृहद्बलका वध करके आपके योद्धाओंको अपने बाणरूपी जलकी वर्षासे स्तब्ध करता हुआ रणक्षेत्रमें विचरने लगा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि बृहद्बलवधे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें बृहद्बलवधविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

अभिमन्युद्वारा अश्वकेतु, भोज और कर्णके मन्त्री आदिका वध एवं छः महारथियोंके साथ घोर युद्ध और उन महारथियोंद्वारा अभिमन्युके धनुष, रथ, ढाल और तलवारका नाश

संजय उवाच

स कर्णं कर्णिना कर्णे पुनर्विव्याध फाल्गुनिः ।
शरैः पञ्चाशता चैनमविध्यत् कोपयन् भृशम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अर्जुनकुमार अभिमन्युने एक बाणद्वारा कर्णके कानमें पुनः चोट पहुँचायी और उसे क्रोध दिलाते हुए उसने पचास बाण मारकर अत्यन्त घायल कर दिया ॥ १ ॥

प्रतिविव्याध राधेयस्तावद्भिरथ तं पुनः ।
शरैराचितसर्वाङ्गो बह्वशोभत भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! तब राधापुत्र कर्णने भी अभिमन्युको उतने ही बाणोंसे बींध डाला। उसका सारा अंग बाणोंसे व्याप्त होनेके कारण वह बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २ ॥

कर्णं चाप्यकरोत् क्रुद्धो रुधिरोत्पीडवाहिनम् ।
कर्णोऽपि विबभौ शूरः शरैश्छिन्नोऽसृगाप्लुतः॥ ३ ॥
(संध्यानुगतपर्यन्तः शरदीव दिवाकरः ।)

फिर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने कर्णको भी बाणोंसे क्षत-विक्षत करके उसे रक्तकी धारा बहानेवाला बना दिया। उस समय शूरवीर कर्ण भी बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो बड़ी शोभा पाने लगा, मानो शरत्कालका सूर्य संध्याके समय सम्पूर्ण रूपसे लाल दिखायी दे रहा हो ॥ ३ ॥

तावुभौ शरचित्राङ्गौ रुधिरेण समुक्षितौ ।
बभूवतुर्महात्मानौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४ ॥

उन दोनोंके शरीर बाणोंसे व्याप्त होनेके कारण विचित्र दिखायी देते थे । दोनों ही रक्तसे भींग गये तथा वे दोनों महामनस्वी वीर फूलोंसे भरे हुए पलाश-वृक्षके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

अथ कर्णस्य सचिवान् षट् शूरांश्चित्रयोधिनः ।
साश्वसूतध्वजरथान् सौभद्रो निजघान ह ॥ ५ ॥

तदनन्तर सुभद्राकुमारने कर्णके विचित्र युद्ध करनेवाले छः शूरवीर मन्त्रियोंको उनके घोड़े, सारथि, रथ तथा ध्वज-सहित मार डाला ॥ ५ ॥

तथेतरान् महेष्वासान् दशभिर्दशभिः शरैः ।
प्रत्यविध्यदसम्भ्रान्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं, उसने बिना किसी घबराहटके दस-दस बाणोंद्वारा अन्य महाधनुर्धरोंको भी आहत कर दिया। वह अद्भुत-सी बात थी ॥ ६ ॥

मागधस्य तथा पुत्रं हत्वा षड्भिरजिह्मगैः ।
साश्वं ससूतं तरुणमश्वकेतुमपातयत् ॥ ७ ॥

इसी प्रकार उसने मगधराजके तरुण पुत्र अश्वकेतुको छः बाणोंद्वारा मारकर उसे घोड़ों और सारथिसहित रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ७ ॥

मार्तिकावतकं भोजं ततः कुञ्जरकेतनम् ।
क्षुरप्रेण समुन्मथ्य ननाद विसृजञ्शरान् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् हाथीके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले मार्तिकावतक-नरेश भोजको एक क्षुरप्रद्वारा नष्ट करके अभिमन्युने बाणों-की वर्षा करते हुए सिंहनाद किया ॥ ८ ॥

तस्य दौःशासनिर्विद्ध्वा चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
सूतमेकेन विव्याध दशभिश्चार्जुनात्मजम् ॥ ९ ॥

तब दुःशासनकुमारने चार बाणोंद्वारा अभिमन्युके चारों घोड़ोंको घायल करके एकसे सारथिको और दस बाणों-द्वारा स्वयं अभिमन्युको बींध डाला ॥ ९ ॥

ततो दौःशासनिं कार्ष्णिर्विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः।
संरम्भाद् रक्तनयनो वाक्यमुच्चैरथाब्रवीत् ॥ १० ॥

यह देख अर्जुनकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके

सात बाणोंद्वारा दुःशासनपुत्रको बींध डाला और उच्च स्वरसे यह बात कही—॥ १० ॥

पिता तवाहवं त्यक्त्वा गतः कापुरुषो यथा।
दिष्ट्या त्वमपि जानीषे योद्धुं न त्वद्य मोक्ष्यसे॥ ११॥

'अरे ! तेरा पिता कायरकी भाँति युद्ध छोड़कर भाग गया है। सौभाग्यकी बात है कि तू भी युद्ध करना जानता है; किंतु आज तू जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥ ११ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कर्मारपरिमार्जितम्।
नाराचं विससर्जास्मै तं द्रौणिस्त्रिभिराच्छिनत्॥ १२॥

यह वचन कहकर अभिमन्युने कारीगरके माँजे हुए एक नाराचको दुःशासनपुत्रपर चलाया; परंतु अश्वत्थामाने तीन बाण मारकर उसे बीचमें ही काट दिया ॥ १२ ॥

तस्यार्जुनिर्ध्वजं छित्त्वा शल्यं त्रिभिरताडयत्।
तं शल्यो नवभिर्बाणैर्गार्ध्रपत्रैरताडयत्॥ १३॥
हृद्यसम्भ्रान्तवद् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत्।

तब अर्जुनकुमारने अश्वत्थामाका ध्वज काटकर शल्यको तीन बाण मारे। राजन् ! शल्यने भी मनमें तनिक भी सम्भ्रम या घबराहटका अनुभव न करते हुए-से गीधके पंखसे युक्त नौ बाणोंद्वारा अभिमन्युको आहत कर दिया। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १३½ ॥

तस्यार्जुनिर्ध्वजं छित्त्वा हत्वोभौ पार्ष्णिसारथी॥ १४॥
तं विव्याधायसैः षड्भिः सोपाक्रामद् रथान्तरम्।

उस समय अभिमन्युने शल्यके ध्वजको काटकर उनके दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी मार डाला और उनको भी लोहेके बने हुए छः बाणोंसे बींध दिया; फिर तो शल्य भागकर दूसरे रथपर चले गये ॥ १४½ ॥

शत्रुंजयं चन्द्रकेतुं मेघवेगं सुवर्चसम्॥ १५॥
सूर्यभासं च पञ्चैतान् हत्वा विव्याध सौबलम्।
तं सौबलस्त्रिभिर्विद्ध्वा दुर्योधनमथाब्रवीत्॥ १६॥

तत्पश्चात् शत्रुंजय, चन्द्रकेतु, मेघवेग, सुवर्चा और सूर्यभास—इन पाँच वीरोंको मारकर अभिमन्युने सुबलपुत्र शकुनिको भी घायल कर दिया। तब शकुनिने भी तीन बाणोंसे अभिमन्युको घायल करके दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

सर्व एनं विमथ्नीमः पुरैकैकं हिनस्ति नः।
अथाब्रवीत् पुनर्द्रोणं कर्णो वैकर्तनो रणे॥ १७॥

'राजन् ! यह एक-एकके साथ युद्ध करके हमें मारे, इसके पहले ही हम सब लोग मिलकर इस अभिमन्युको मथ डालें।' तदनन्तर विकर्तनपुत्र कर्णने रणक्षेत्रमें पुनः द्रोणाचार्यसे पूछा—॥ १७ ॥

पुरा सर्वान् प्रमथ्नाति ब्रूह्यस्य वधमाशु नः।
ततो द्रोणो महेष्वासः सर्वांस्तान् प्रत्यभाषत॥ १८॥

'आचार्य ! अभिमन्यु हमलोगोंको मार डाले' इसके पहले ही हमें शीघ्र यह बताइये कि इसका वध किस प्रकार होगा?' तब महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने उन सबसे कहा—॥ १८ ॥

अस्ति वास्यान्तरं किंचित् कुमारस्याथ पश्यत।
अण्वप्यस्यान्तरं ह्यद्य चरतः सर्वतोदिशम्॥ १९॥

'देखो, क्या इस कुमार अभिमन्युमें कहीं कोई दुर्बलता या छिद्र है? सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरते हुए अभिमन्युमें आज कोई छोटा-सा भी छिद्र हो तो देखो ॥ १९ ॥

शीघ्रतां नरसिंहस्य पाण्डवेयस्य पश्यत।
धनुर्मण्डलमेवास्य रथमार्गेषु दृश्यते॥ २०॥
संदधानस्य विशिखाञ्शीघ्रं चैव विमुञ्चतः।

'इस पुरुषसिंह पाण्डवपुत्रकी शीघ्रता तो देखो। शीघ्रतापूर्वक बाणोंका संधान करते और छोड़ते समय रथके मार्गोंमें इसके धनुषका मण्डलमात्र दिखायी देता है ॥ २०½ ॥

आरुजन्नपि मे प्राणान् मोहयन्नपि सायकैः॥ २१॥
प्रहर्षयति मां भूयः सौभद्रः परवीरहा।
अति मां नन्दयत्येष सौभद्रो विचरन् रणे॥ २२॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला सुभद्राकुमार अभिमन्यु यद्यपि अपने बाणोंद्वारा मेरे प्राणोंको अत्यन्त कष्ट दे रहा है, मुझे मूर्छित किये देता है, तथापि बारंबार मेरा हर्ष बढ़ा रहा है। रणक्षेत्रमें विचरता हुआ सुभद्राका यह पुत्र मुझे अत्यन्त आनन्दित कर रहा है ॥ २१-२२ ॥

अन्तरं यस्य संरब्धा न पश्यन्ति महारथाः।
अस्यतो लघुहस्तस्य दिशः सर्वा महेषुभिः॥ २३॥
न विशेषं प्रपश्यामि रणे गाण्डीवधन्वनः।

'क्रोधमें भरे हुए महारथी इसके छिद्रको नहीं देख पाते हैं। यह शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाता हुआ अपने महान् बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको व्याप्त कर रहा है। मैं युद्धस्थलमें गाण्डीवधारी अर्जुन और इस अभिमन्युमें कोई अन्तर नहीं देख पाता हूँ' ॥ २३½ ॥

अथ कर्णः पुनर्द्रोणमाहार्जुनिशराहतः॥ २४॥
स्थातव्यमिति तिष्ठामि पीड्यमानोऽभिमन्युना।

तदनन्तर कर्णने अभिमन्युके बाणोंसे आहत होकर पुनः द्रोणाचार्यसे कहा—'आचार्य ! मैं अभियन्युके बाणोंसे पीड़ित होता हुआ भी केवल इसलिये यहाँ खड़ा हूँ कि युद्धके मैदानमें डटे रहना ही क्षत्रियका धर्म है (अन्यथा मैं कभी भाग गया होता) ॥ २४½ ॥

तेजस्विनः कुमारस्य शराः परमदारुणाः॥ २५॥
क्षिण्वन्ति हृदयं मेऽद्य घोराः पावकतेजसः।
तमाचार्योऽब्रवीत् कर्णं शनकैः प्रहसन्निव॥ २६॥

'तेजस्वी कुमार अभिमन्युके ये अत्यन्त दारुण और अग्निके समान तेजस्वी घोर बाण आज मेरे वक्षः-

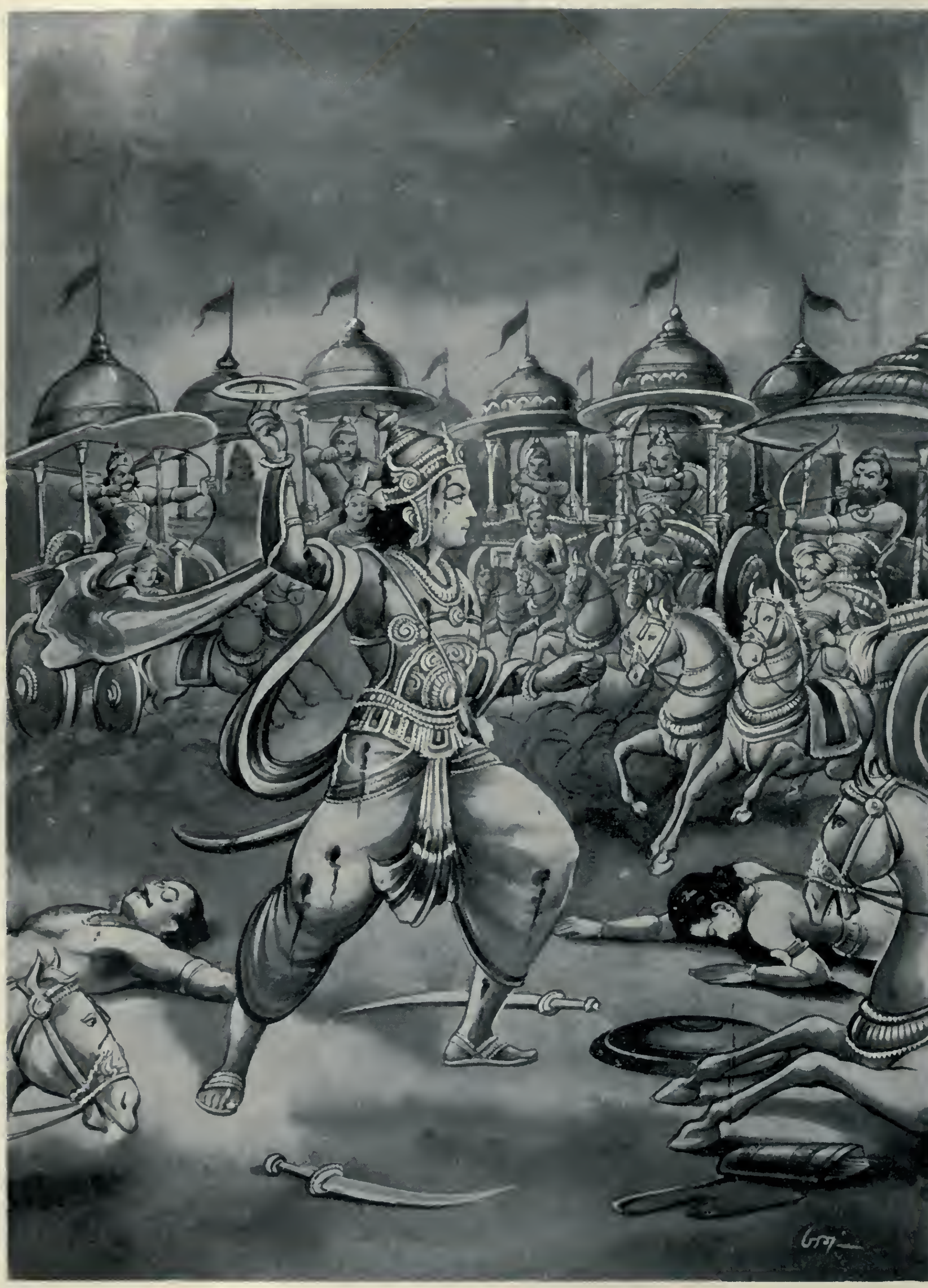

अभिमन्युपर अनेक महारथियोंद्वारा एक साथ प्रहार

स्थलको विदीर्ण किये देते हैं ।' यह सुनकर द्रोणाचार्य ठहाका मारकर हँसते हुए-से धीरे-धीरे कर्णसे इस प्रकार बोले—॥ २५-२६ ॥

अभेद्यमस्य कवचं युवा चाशुपराक्रमः ।
उपदिष्टा मया चास्य पितुः कवचधारणा ॥ २७ ॥
तामेष निखिलां वेत्ति ध्रुवं परपुरंजयः ।
शक्यं त्वस्य धनुश्छेत्तुं ज्यां च बाणैः समाहितैः ॥ २८ ॥

'कर्ण ! अभिमन्युका कवच अभेद्य है । यह तरुण वीर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाला है । मैंने इसके पिताको कवच धारण करनेकी विधि बतायी है । शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला यह वीर कुमार निश्चय ही वह सारी विधि जानता है (अतः इसका कवच तो अभेद्य ही है); परंतु मनोयोगपूर्वक चलाये हुए बाणोंसे इसके धनुष और प्रत्यञ्चाको काटा जा सकता है ॥ २७–२८ ॥

अभीषूंश्च हयांश्चैव तथोभौ पार्ष्णिसारथी ।
एतत् कुरु महेष्वास राधेय यदि शक्यते ॥ २९ ॥

'साथ ही इसके घोड़ोंकी बागडोरोंको, घोड़ोंको तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी नष्ट किया जा सकता है । महाधनुर्धर राधापुत्र ! यदि कर सको तो यही करो ॥ २९ ॥

अथैनं विमुखीकृत्य पश्चात् प्रहरणं कुरु ।
सधनुष्को न शक्योऽयमपि जेतुं सुरासुरैः ॥ ३० ॥

'अभिमन्युको युद्धसे विमुख करके पीछे इसके ऊपर प्रहार करो, धनुष लिये रहनेपर तो इसे सम्पूर्ण देवता और असुर भी जीत नहीं सकते ॥ ३० ॥

विरथं विधनुष्कं च कुरुष्वैनं यदीच्छसि ।
तदाचार्यवचः श्रुत्वा कर्णो वैकर्तनस्त्वरन् ॥ ३१ ॥
अस्यतो लघुहस्तस्य पृषत्कैर्धनुराच्छिनत् ।
अश्वानस्यावधीद् भोजो गौतमः पार्ष्णिसारथी ॥ ३२ ॥

'यदि तुम इसे परास्त करना चाहते हो तो इसके रथ और धनुषको नष्ट कर दो ।' आचार्यकी यह बात सुनकर विकर्तनपुत्र कर्णने बड़ी उतावलीके साथ अपने बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाते हुए अस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले अभिमन्युके धनुषको काट दिया । भोजवंशी कृतवर्माने उसके घोड़े मार डाले और कृपाचार्यने दोनों पार्श्वरक्षकोंका काम तमाम कर दिया ॥ ३१–३२ ॥

शेषास्तु च्छिन्नधन्वानं शरवर्षैरवाकिरन् ।
त्वरमाणास्त्वराकाले विरथं षण्महारथाः ॥ ३३ ॥
शरवर्षैरकरुणा बालमेकमवाकिरन् ।

शेष महारथी धनुष कट जानेपर अभिमन्युके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । इस प्रकार शीघ्रता करनेके अवसरपर शीघ्रता करनेवाले छः निर्दय महारथी एक रथहीन बालकपर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ३३½ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः स्वधर्ममनुपालयन् ॥ ३४ ॥
खड्गचर्मधरः श्रीमानुत्पपात विहायसा ।

धनुष कट जाने और रथ नष्ट हो जानेपर तेजस्वी वीर अभिमन्यु अपने धर्मका पालन करते हुए ढाल और तलवार हाथमें लेकर आकाशमें उछल पड़ा ॥ ३४½ ॥

मार्गैः सकौशिकाद्यैश्च लाघवेन बलेन च ॥ ३५ ॥
आर्जुनिर्व्यचरद् व्योम्नि भृशं वै पक्षिराडिव ।

अर्जुनकुमार अभिमन्यु कौशिक आदि मार्गों (पैतरों) द्वारा तथा शीघ्रकारिता और बल-पराक्रमसे पक्षिराज गरुडकी भाँति भूतलकी अपेक्षा आकाशमें ही अधिक विचरण करने लगा ॥

मय्येव निपतत्येष सासिरित्यूर्ध्वदृष्टयः ॥ ३६ ॥
विव्यधुस्तं महेष्वासं समरे छिद्रदर्शिनः ।

समराङ्गणमें छिद्र देखनेवाले योद्धा 'जान पड़ता है यह मेरे ही ऊपर तलवार लिये टूटा पड़ता है' इस आशङ्कासे ऊपरकी ओर दृष्टि करके महाधनुर्धर अभिमन्युको बींधने लगे ॥

तस्य द्रोणोऽच्छिनन्मुष्टौ खड्गं मणिमयत्सरुम् ॥ ३७ ॥
क्षुरप्रेण महातेजास्त्वरमाणः सपत्नजित् ।

उस समय शत्रुओंपर विजय पानेवाले महातेजस्वी द्रोणाचार्यने शीघ्रता करते हुए एक क्षुरप्रके द्वारा अभिमन्युकी मुट्ठीमें स्थित हुए मणिमय मूठसे युक्त खड्गको काट डाला ॥

राधेयो निशितैर्बाणैर्व्यधमच्चर्म चोत्तमम् ॥ ३८ ॥
व्यसिचर्मेषुपूर्णाङ्गः सोऽन्तरिक्षात् पुनः क्षितिम् ।
आस्थितश्चक्रमुद्यम्य द्रोणं क्रुद्धोऽभ्यधावत ॥ ३९ ॥

राधानन्दन कर्णने अपने पैने बाणोंद्वारा उसके उत्तम ढालके टुकड़े-टुकड़े कर डाले । ढाल और तलवारसे वञ्चित हो जानेपर बाणोंसे भरे हुए शरीरवाला अभिमन्यु पुनः आकाशसे पृथ्वीपर उतर आया और चक्र हाथमें ले कुपित हो द्रोणाचार्यकी ओर दौड़ा ॥ ३८–३९ ॥

स चक्ररेणूज्ज्वलशोभिताङ्गो
बभावतीवोज्ज्वलचक्रपाणिः ।
रणेऽभिमन्युः क्षणमास रौद्रः
स वासुदेवानुकृतिं प्रकुर्वन् ॥ ४० ॥

अभिमन्युका शरीर चक्रकी प्रभासे उज्ज्वल तथा धूलराशिसे सुशोभित था । उसके हाथमें तेजोमय उज्ज्वल चक्र प्रकाशित हो रहा था । इससे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी । उस रणक्षेत्रमें चक्रधारणद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका अनुकरण करता हुआ अभिमन्यु क्षणभरके लिये बड़ा भयंकर प्रतीत होने लगा ॥ ४० ॥

स्रुतरुधिरकृतैकरागवक्त्रो
भ्रुकुटिपुटाकुटिलोऽतिसिंहनादः ।
प्रभुरमितबलो रणेऽभिमन्यु-
र्नृपवरमध्यगतो भृशं व्यराजत् ॥ ४१ ॥

अभिमन्युके वस्त्र उसके शरीरसे बहनेवाले एकमात्र रुधिरके रंगमें रँग गये थे। भौंहें टेढ़ी होनेसे उसका मुखमण्डल सब ओरसे कुटिल प्रतीत होता था और वह बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद कर रहा था। ऐसी अवस्थामें प्रभावशाली अनन्त बलवान् अभिमन्यु उस रणक्षेत्रमें पूर्वोक्त नरेशोंके बीचमें खड़ा होकर अत्यन्त प्रकाशित हो रहा था ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युविरथकरणे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युको रथहीन करनेसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्युका कालिकेय, वसाति और कैकय रथियोंको मार डालना एवं छः महारथियोंके सहयोगसे अभिमन्युका वध और भागती हुई अपनी सेनाको युधिष्ठिरका आश्वासन देना

संजय उवाच

विष्णोः स्वसुर्नन्दकरः स विष्णवायुधभूषणः ।
रराजातिरथः संख्ये जनार्दन इवापरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको आनन्दित करनेवाला तथा श्रीकृष्णके ही समान चक्ररूपी आयुधसे सुशोभित होनेवाला अतिरथी वीर अभिमन्यु उस युद्धस्थलमें दूसरे श्रीकृष्णके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १ ॥

मारुतोद्धूतकेशान्तमुद्यतारिवरायुधम् ।
वपुः समीक्ष्य पृथ्वीशा दुःसमीक्ष्यं सुरैरपि ॥ २ ॥
तच्चक्रं भृशमुद्विग्नाः संचिच्छिदुरनेकधा ।

हवा उसके केशान्तभागको हिला रही थी। उसने अपने हाथमें चक्रनामक उत्तम आयुध उठा रक्खा था। उस समय उसके शरीर और उस चक्रको—जिसकी ओर दृष्टिपात करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था—देखकर समस्त भूपालगण अत्यन्त उद्विग्न हो उठे और उन सबने मिलकर उस चक्रके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ २½ ॥

महारथस्ततः कार्ष्णिः संजग्राह महागदाम् ॥ ३ ॥
विधनुःस्यन्दनासिस्तैर्विचक्रश्चारिभिः कृतः ।
अभिमन्युर्गदापाणिरश्वत्थामानमार्दयत् ॥ ४ ॥

तब महारथी अभिमन्युने एक विशाल गदा हाथमें ले ली। शत्रुओंने उसे धनुष, रथ, खड्ग और चक्रसे भी वञ्चित कर दिया था। इसलिये गदा हाथमें लिये हुए अभिमन्युने अश्वत्थामापर धावा किया ॥ ३-४ ॥

स गदामुद्यतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमशनीमिव ।
अपाक्रामद् रथोपस्थाद् विक्रमांस्त्रीन् नरर्षभः ॥ ५ ॥

प्रज्वलित वज्रके समान उस गदाको ऊपर उठी हुई देख नरश्रेष्ठ अश्वत्थामा अपने रथकी बैठकसे तीन पग पीछे हट गया ॥ ५ ॥

तस्याश्वान् गदया हत्वा तथोभौ पार्ष्णिसारथी ।
शराचिताङ्गः सौभद्रः श्वाविद्वत् समदृश्यत ॥ ६ ॥

उस गदासे अश्वत्थामाके चारों घोड़ों तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंको मारकर बाणोंसे भरे हुए शरीरवाला सुभद्राकुमार साहीके समान दिखायी देने लगा ॥ ६ ॥

ततः सुबलदायादं कालिकेयमपोथयत् ।
जघान चास्यानुचरान् गान्धारान् सप्तसप्ततिम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर उसने सुबलपुत्र कालिकेयको मार गिराया और उसके पीछे चलनेवाले सतहत्तर गान्धारोंका भी संहार कर डाला ॥ ७ ॥

पुनश्चैव वसातीयाञ्जघान रथिनो दश ।
केकयानां रथान् सप्त हत्वा च दश कुञ्जरान् ॥ ८ ॥
दौःशासनिरथं साश्वं गदया समपोथयत् ।

इसके बाद दस वसातीय रथियोंको मार डाला। केकयोंके सात रथों और दस हाथियोंको मारकर दुःशासनकुमारके घोड़ोंसहित रथको भी गदाके आघातसे चूर-चूर कर डाला ॥

ततो दौःशासनिः क्रुद्धो गदामुद्यम्य मारिष ॥ ९ ॥
अभिदुद्राव सौभद्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

आर्य ! इससे दुःशासनपुत्र कुपित हो गदा हाथमें

लेकर अभिमन्युकी ओर दौड़ा और इस प्रकार बोला—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ९½ ॥

तावुद्यतगदौ वीरावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥
भ्रातृव्यौ सम्प्रजह्राते पुरेव त्र्यम्बकान्धकौ ।

वे दोनों वीर एक दूसरेके शत्रु थे। अतः गदा हाथमें लेकर एक दूसरेका वध करनेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे। ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें भगवान् शंकर और अन्धकासुर परस्पर गदाका आघात करते थे॥

तावन्योन्यं गदाग्राभ्यामाहत्य पतितौ क्षितौ ॥ ११ ॥
इन्द्रध्वजाविवोत्सृष्टौ रणमध्ये परंतपौ ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों वीर रणक्षेत्रमें गदाके अग्रभागसे एक दूसरेको चोट पहुँचाकर नीचे गिराये हुए दो इन्द्र-ध्वजोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ११½ ॥

दौःशासनिरथोत्थाय कुरूणां कीर्तिवर्धनः ॥ १२ ॥
उत्तिष्ठमानं सौभद्रं गदया मूर्ध्न्यताडयत् ।

तत्पश्चात् कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले दुःशासनपुत्रने पहले उठकर उठते हुए सुभद्राकुमारके मस्तकपर गदाका प्रहार किया ॥ १२½ ॥

गदावेगेन महता व्यायामेन च मोहितः ॥ १३ ॥
विचेता न्यपतद् भूमौ सौभद्रः परवीरहा ।
एवं विनिहतो राजन्नेको बहुभिराहवे ॥ १४ ॥

गदाके उस महान् वेग और परिश्रमसे मोहित होकर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाला अभिमन्यु अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़ा। राजन्! इस प्रकार उस युद्धस्थलमें बहुत-से योद्धाओंने मिलकर एकाकी अभिमन्युको मार डाला।१३-१४।

क्षोभयित्वा चमूं सर्वां नलिनीमिव कुञ्जरः ।
अशोभत हतो वीरो व्याधैर्वनगजो यथा ॥ १५ ॥

जैसे हाथी कभी सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार सारी सेनाको क्षुब्ध करके व्याधोंके द्वारा जंगली हाथीकी भाँति मारा गया वीर अभिमन्यु वहाँ अद्भुत शोभा पा रहा था॥

तं तथा पतितं शूरं तावकाः पर्यवारयन् ।
दावं दग्ध्वा यथा शान्तं पावकं शिशिरात्यये ॥ १६ ॥
विमृद्य नगशृङ्गाणि संनिवृत्तमिवानिलम् ।
अस्तंगतमिवादित्यं तप्त्वा भारतवाहिनीम् ॥ १७ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं संशुष्कमिव सागरम् ।
पूर्णचन्द्राभवदनं काकपक्षवृताक्षिकम् ॥ १८ ॥
तं भूमौ पतितं दृष्ट्वा तावकास्ते महारथाः ।
मुदा परमया युक्ताश्चुक्रुशुः सिंहवन्मुहुः ॥ १९ ॥

इस प्रकार रणभूमिमें गिरे हुए शूरवीर अभिमन्युको आपके सैनिकोंने चारों ओरसे घेर लिया। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें जंगलको जलाकर आग बुझ गयी हो, जिस प्रकार वायु वृक्षोंकी शाखाओंको तोड़-फोड़कर शान्त हो रही हो, जैसे संसारको संतप्त करके सूर्य अस्ताचलको चले गये हों, जैसे चन्द्रमापर ग्रहण लग गया हो तथा जैसे समुद्र सूख गया हो, उसी प्रकार समस्त कौरव-सेनाको संतप्त करके पूर्णचन्द्रमाके समान मुखवाला अभिमन्यु पृथ्वीपर पड़ा था; उसके सिरके बड़े-बड़े बालों (काकपक्ष) से उसकी आँखें ढक गयी थीं। उस दशामें उसे देखकर आपके महारथी बड़ी प्रसन्नताके साथ बारंबार सिंहनाद करने लगे ॥ १६–१९ ॥

आसीत् परमको हर्षस्तावकानां विशाम्पते ।
इतरेषां तु वीराणां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ २० ॥

प्रजानाथ! आपके पुत्रोंको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु पाण्डव वीरोंके नेत्रोंसे आँसू बहने लगा ॥ २० ॥

अन्तरिक्षे च भूतानि प्राक्रोशन्त विशाम्पते ।
दृष्ट्वा निपतितं वीरं च्युतं चन्द्रमिवाम्बरात् ॥ २१ ॥

महाराज! उस समय अन्तरिक्षमें खड़े हुए प्राणी आकाशसे गिरे हुए चन्द्रमाके समान वीर अभिमन्युको रणभूमिमें पड़ा देख उच्च स्वरसे आपके महारथियोंकी निन्दा करने लगे ॥ २१ ॥

द्रोणकर्णमुखैः षड्भिर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
एकोऽयं निहतः शेते नैष धर्मो मतो हि नः ॥ २२ ॥

द्रोण और कर्ण आदि छः कौरव महारथियोंके द्वारा असहाय अवस्थामें मारा गया यह एक बालक यहाँ सो रहा है। हमारे मतमें यह धर्म नहीं है ॥ २२ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे बह्वशोभत मेदिनी ।
द्यौर्यथा पूर्णचन्द्रेण नक्षत्रगणमालिनी ॥ २३ ॥

वीर अभिमन्युके मारे जानेपर वह रणभूमि पूर्ण चन्द्रमासे युक्त तथा नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत आकाशकी भाँति बड़ी शोभा पा रही थी ॥ २३ ॥

रुक्मपुङ्खैश्च सम्पूर्णा रुधिरौघपरिप्लुता ।
उत्तमाङ्गैश्च शूराणां भ्राजमानैः सकुण्डलैः ॥ २४ ॥
विचित्रैश्च परिस्तोमैः पताकाभिश्च संवृता ।
चामरैश्च कुथाभिश्च प्रविद्धैश्चाम्बरोत्तमैः ॥ २५ ॥
तथाश्वनरनागानामलंकारैश्च सुप्रभैः ।
खड्गैः सुनिशितैः पीतैर्निर्मुक्तैर्भुजगैरिव ॥ २६ ॥
चापैश्च विविधैश्छिन्नैः शक्त्यृष्टिप्रासकम्पनैः ।
विविधैश्चायुधैश्चान्यैः संवृता भूरशोभत ॥ २७ ॥

सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे वहाँकी भूमि भरी हुई थी । रक्तकी धाराओंमें डूबी हुई थी । शूरवीरोंके कुण्डलमण्डित तेजस्वी मस्तकों, हाथियोंके विचित्र झूलों, पताकाओं, चामरों, हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले कम्बलों, इधर-उधर पड़े हुए उत्तम वस्त्रों, हाथी, घोड़े और मनुष्योंके चमकीले आभूषणों, केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान पैने और पानीदार खड्गों, भाँति-भाँतिके कटे हुए धनुषों, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, कम्पन तथा अन्य नाना प्रकारके आयुधोंसे आच्छादित हुई रणभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥

वाजिभिश्चापि निर्जीवैः श्वसद्भिः शोणितोक्षितैः।
सारोहैर्विषमा भूमिः सौभद्रेण निपातितैः ॥ २८ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्युके द्वारा मार गिराये हुए रक्त-स्नात निर्जीव और सजीव घोड़ों और घुड़सवारोंके कारण वह भूमि विषम एवं दुर्गम हो गयी थी ॥ २८ ॥

साङ्कुशैः समहामात्रैः सवर्मायुधकेतुभिः ।
पर्वतैरिव विध्वस्तैर्विशिखैर्मथितैर्गजैः ॥ २९ ॥
पृथिव्यामनुकीर्णैश्च व्यश्वसारथियोधिभिः ।
ह्रदैरिव प्रक्षुभितैर्हतनागै रथोत्तमैः ॥ ३० ॥
पदातिसंघैश्च हतैर्विविधायुधभूषणैः ।
भीरूणां त्रासजननी घोररूपाभवन्मही ॥ ३१ ॥

अङ्कुश, महावत, कवच, आयुध और ध्वजाओंसहित बड़े-बड़े गजराज बाणोंद्वारा मथित होकर भहराये हुए पर्वतों-के समान जान पड़ते थे । जिन्होंने बड़े बड़े गजराजोंको मार डाला था, वे श्रेष्ठ रथ घोड़े, सारथि और योद्धाओंसे रहित हो मथे गये सरोवरोंके समान चूर-चूर होकर पृथ्वीपर बिखरे पड़े थे । नाना प्रकारके आयुधों और आभूषणोंसे युक्त पैदल सैनिकोंके समूह भी उस युद्धमें मारे गये थे । इन सबके कारण वहाँकी भूमि अत्यन्त भयानक तथा भीरु पुरुषों-के मनमें भय उत्पन्न करनेवाली हो गयी थी ॥ २९–३१ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ चन्द्रार्कसदृशद्युतिम् ।
तावकानां परा प्रीतिः पाण्डूनां चाभवद् व्यथा ॥ ३२ ॥

चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमान् अभिमन्युको पृथ्वीपर पड़ा देख आपके पुत्रोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और पाण्डवोंकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी ॥ ३२ ॥

अभिमन्यौ हते राजञ्शिशुकेऽप्राप्तयौवने ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३३ ॥

राजन् ! जो अभी युवावस्थाको प्राप्त नहीं हुआ था, उस बालक अभिमन्युके मारे जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते उनकी सारी सेना भागने लगी ॥ ३३ ॥

दीर्यमाणं बलं दृष्ट्वा सौभद्रे विनिपातिते ।
अजातशत्रुस्तान् वीरानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

सुभद्राकुमारके धराशायी होनेपर अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी देख अजातशत्रु युधिष्ठिरने अपने पक्षके उन वीरोंसे यह वचन कहा—॥ ३४ ॥

स्वर्गमेष गतः शूरो यो हतो न पराङ्मुखः ।
संस्तम्भयत मा भैष्ट विजेष्यामो रणे रिपून् ॥ ३५ ॥

'यह शूरवीर अभिमन्यु जो प्राणोंपर खेल गया, परंतु युद्धमें पीठ न दिखा सका, निश्चय ही स्वर्गलोकमें गया है । तुम सब लोग धैर्य धारण करो । भयभीत न होओ । हम लोग रणक्षेत्रमें शत्रुओंको अवश्य जीतेंगे' ॥ ३५ ॥

इत्येवं स महातेजा दुःखितेभ्यो महाद्युतिः ।
धर्मराजो युधां श्रेष्ठो ब्रुवन् दुःखमपानुदत् ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी और परम कान्तिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ धर्म-राज युधिष्ठिरने अपने दुखी सैनिकोंसे ऐसा कहकर उनके दुःखका निवारण किया ॥ ३६ ॥

युद्धे ह्याशीविषाकारान् राजपुत्रान् रणे रिपून् ।
पूर्वं निहत्य संग्रामे पश्चादार्जुनिरभ्ययात् ॥ ३७ ॥

युद्धमें विषधर सर्पके समान भयंकर शत्रुरूप राजकुमारों-को पहले मारकर पीछेसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु स्वर्गलोक-में गया था ॥ ३७ ॥

हत्वा दश सहस्राणि कौसल्यं च महारथम् ।
कृष्णार्जुनसमः कार्ष्णिः शक्रलोकं गतो ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

दस हजार रथियों और महारथी कोसलनरेश बृहद्बलको मारकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके समान पराक्रमी अभिमन्यु निश्चय ही इन्द्रलोकमें गया है ॥ ३८ ॥

रथाश्वनरमातङ्गान् विनिहत्य सहस्रशः ।
अवितृप्तः स संग्रामादशोच्यः पुण्यकर्मकृत् ।
गतः पुण्यकृतां लोकाञ्शाश्वतान् पुण्यनिर्जितान् ३९

रथ, घोड़े, पैदल और हाथियोंका सहस्रोंकी संख्यामें संहार करके भी वह युद्धसे तृप्त नहीं हुआ था । पुण्यकर्म करनेके कारण अभिमन्यु शोकके योग्य नहीं है । वह पुण्या-त्माओंके पुण्योपार्जित सनातन लोकोंमें जा पहुँचा है ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि अभिमन्युवधे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें अभिमन्युवधविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे (तेरहवें) दिनके युद्धकी समाप्तिपर सेनाका शिबिरको प्रस्थान एवं रणभूमिका वर्णन

संजय उवाच

वयं तु प्रवरं हत्वा तेषां तैः शरपीडिताः ।
निवेशायाभ्युपायामः सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! हमलोग शत्रुओंके उस प्रमुख वीरका वध करके उनके बाणोंसे पीड़ित हो संध्याके समय शिबिरमें विश्रामके लिये चले आये । उस समय हमलोगोंके शरीर रक्तसे भीग गये थे ॥ १ ॥

निरीक्षमाणास्तु वयं परे चायोधनं शनैः ।
अपयाता महाराज ग्लानिं प्राप्ता विचेतसः ॥ २ ॥

महाराज ! हम और शत्रुपक्षके लोग युद्धस्थलको देखते हुए धीरे-धीरे वहाँसे हट गये । पाण्डव-दलके लोग अत्यन्त शोकग्रस्त हो अचेत हो रहे थे ॥ २ ॥

ततो निशाया दिवसस्य चाशिवः
शिवारुतैः संधिरवर्तताद्भुतः ।
कुशेशयापीडनिभे दिवाकरे
विलम्बमानेऽस्तमुपेत्य पर्वतम् ॥ ३ ॥

उस समय जब सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर ढल रहे थे, कमलनिर्मित मुकुटके समान जान पड़ते थे । दिन और रात्रिकी संधिरूप वह अद्भुत संध्या सियारिनोंके भयंकर शब्दोंसे अमङ्गलमयी प्रतीत हो रही थी ॥ ३ ॥

वरासिशक्त्यृष्टिवरूथचर्मणां
विभूषणानां च समाक्षिपन् प्रभाः ।
दिवं च भूमिं च समानयन्निव
प्रियां तनुं भानुरुपैति पावकम् ॥ ४ ॥

सूर्यदेव श्रेष्ठ तलवार, शक्ति, ऋष्टि, वरूथ, ढाल और आभूषणोंकी प्रभाको छीनते तथा आकाश और पृथ्वीको समान अवस्थामें लाते हुए-से अपने प्रिय शरीर—अग्निमें प्रवेश कर रहे थे ॥ ४ ॥

महाभ्रकूटाचलशृङ्गसंनिभै-
र्गजैरनेकैरिव वज्रपातितैः ।
स वैजयन्त्यङ्कुशवर्मयन्तृभि-
र्निपातितैर्नष्टगतिश्चिता क्षितिः ॥ ५ ॥

महान् मेघोंके समुदाय तथा पर्वतशिखरोंके समान विशालकाय बहुसंख्यक हाथी इस प्रकार पड़े थे, मानो वज्रसे मार गिराये गये हों । वैजयन्ती पताका, अङ्कुश, कवच और महावतोंसहित धराशायी किये गये उन गजराजोंकी लाशोंसे सारी धरती पट गयी थी, जिसके कारण वहाँ चलने-फिरनेका मार्ग बंद हो गया था ॥ ५ ॥

हतेश्वरैश्चूर्णितपत्त्युपस्करै-
र्हताश्वसूतैर्विपताककेतुभिः ।
महारथैर्भूः शुशुभे विचूर्णितैः
पुरैरिवामित्रहतैर्नराधिप ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! शत्रुओंके द्वारा तहस-नहस किये गये विशाल नगरोंके समान बड़े-बड़े रथ चूर-चूर होकर गिरे थे । उनके घोड़े और सारथि मार दिये गये थे तथा ध्वजा-पताकाएँ नष्ट कर दी गयी थीं । इसी प्रकार उनके सवार मरे पड़े थे, पैदल सैनिक तथा युद्धसम्बन्धी अन्य उपकरण चूर-चूर हो गये थे । इन सबके द्वारा उस रणभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥

रथाश्ववृन्दैः सह सादिभिर्हतैः
प्रविद्धभाण्डाभरणैः पृथग्विधैः ।
निरस्तजिह्वादशनान्त्रलोचनै-
र्धरा बभौ घोरविरूपदर्शना ॥ ७ ॥

रथों और अश्वोंके समूह सवारोंके साथ नष्ट हो गये थे । भिन्न-भिन्न प्रकारके भाण्ड और आभूषण छिन्न-भिन्न होकर पड़े थे । मनुष्यों और पशुओंकी जिह्वा, दाँत, आँत और आँखें बाहर निकल आयी थीं । इन सबसे वहाँकी भूमि अत्यन्त घोर और विकराल दिखायी देती थी ॥ ७ ॥

प्रविद्धवर्माभरणाम्बरायुधा
विपन्नहस्त्यश्वरथानुगा नराः ।
महार्हशय्यास्तरणोचितास्तदा
क्षितावनाथा इव शेरते हताः ॥ ८ ॥

योद्धाओंके कवच, आभूषण, वस्त्र और आयुध छिन्न-भिन्न हो गये । हाथी, घोड़े तथा रथोंका अनुसरण करनेवाले पैदल मनुष्य अपने प्राण खोकर पड़े थे । जो राजा और राजकुमार बहुमूल्य शय्याओं तथा बिछौनोंपर शयन करनेके योग्य थे, वे ही उस समय मारे जाकर अनाथकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे ॥

अतीव हृष्टाः श्वशृगालवायसा
बकाः सुपर्णाश्च वृकास्तरक्षवः ।
वयांस्यसृक्पान्यथ रक्षसां गणाः
पिशाचसंघाश्च सुदारुणा रणे ॥ ९ ॥

कुत्ते, सियार, कौए, बगले, गरुड़, भेड़िये, तेंदुए, रक्त पीनेवाले पक्षी, राक्षसोंके समुदाय तथा अत्यन्त भयंकर पिशाचगण उस रणभूमिमें बहुत प्रसन्न हो रहे थे ॥ ९ ॥

त्वचो विनिर्भिद्य पिबन् वसामसृक्
तथैव मज्जाः पिशितानि चाश्नुवन् ।
वपां विलुम्पन्ति हसन्ति गान्ति च
प्रकर्षमाणाः कुणपान्यनेकशः ॥ १० ॥

वे मृतकोंकी त्वचा विदीर्ण करके उनके वसा तथा रक्तको पी रहे थे, मज्जा और मांस खा रहे थे, चर्बियोंको काटकर चबा लेते थे तथा बहुत-से मृतकोंको इधर-उधर खींचते हुए वे हँसते और गीत गाते थे ॥ १० ॥

शरीरसंघातवहा ह्यसृग्जला
रथोडुपा कुञ्जरशैलसङ्कटा ।
मनुष्यशीर्षोपलमांसकर्दमा
प्रविद्धनानाविधशस्त्रमालिनी ॥ ११ ॥
भयावहा वैतरणीव दुस्तरा
प्रवर्तिता योधवरैस्तदा नदी ।
उवाह मध्येन रणाजिरे भृशं
भयावहा जीवमृतप्रवाहिनी ॥ १२ ॥

उस समय श्रेष्ठ योद्धाओंने रणभूमिमें रक्तकी नदी बहा दी, जो वैतरणीके समान दुष्कर एवं भयंकर प्रतीत होती थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी ही धारा बहती थी। ढेर-के-ढेर शरीर उसमें बह रहे थे। उसमें तैरते हुए रथ नावके समान जान पड़ते थे। हाथियोंके शरीर वहाँ पर्वतकी चट्टानों-के समान व्याप्त हो रहे थे। मनुष्योंकी खोपड़ियाँ प्रस्तर-खण्डोंके समान और मांस कीचड़के समान जान पड़ते थे। वहाँ टूटे-फूटे पड़े हुए नाना प्रकारके शस्त्रसमूह मालाओंके समान प्रतीत होते थे। वह अत्यन्त भयंकर नदी रणक्षेत्रके मध्यभागमें बहती और मृतकों तथा जीवितोंको भी बहा ले जाती थी ॥ ११–१२ ॥

पिबन्ति चाश्नन्ति च यत्र दुर्दशाः
पिशाचसंघास्तु नदन्ति भैरवाः ।
सुनन्दिताः प्राणभृतां क्षयङ्कराः
समानभक्षाः श्वश‍ृगालपक्षिणः ॥ १३ ॥

जिनकी ओर देखना भी कठिन था, ऐसे भयंकर पिशाचसमूह वहाँ खाते-पीते और गर्जना करते थे। समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाले वे पिशाच बहुत ही प्रसन्न थे। कुत्तों, सियारों और पक्षियोंको भी समानरूपसे भोजनसामग्री प्राप्त हुई थी ॥ १३ ॥

तथा तदायोधनमुग्रदर्शनं
निशामुखे पितृपतिराष्ट्रवर्धनम् ।
निरीक्षमाणाः शनकैर्जहुर्नराः
समुत्थिता नृत्तकबन्धसंकुलम् ॥ १४ ॥

प्रदोषकालमें यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाली वह युद्धभूमि बड़ी भयंकर दिखायी देती थी। वहाँ सब ओर नाचते हुए कबन्ध (धड़) व्याप्त हो रहे थे। यह सब देखते हुए उभय पक्षके योद्धाओंने वहाँसे धीरे-धीरे चलकर उस युद्धस्थलको त्याग दिया ॥ १४ ॥

अपेतविध्वस्तमहार्हभूषणं
निपातितं शक्रसमं महाबलम् ।
रणेऽभिमन्युं ददृशुस्तदा जना
व्यपोढहव्यं सदसीव पावकम् ॥ १५ ॥

उस समय लोगोंने देखा, इन्द्रके समान महाबली अभिमन्यु रणक्षेत्रमें गिरा दिया गया है। उसके बहुमूल्य आभूषण छिन्न-भिन्न होकर शरीरसे दूर जा पड़े हैं और वह यज्ञवेदीपर हविष्यरहित अग्निके समान निस्तेज हो गया है ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे समरभूमिवर्णने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरमें प्रस्थान करते समय समरभूमिका वर्णनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विलाप

संजय उवाच

हते तस्मिन् महावीर्ये सौभद्रे रथयूथपे ।
विमुक्तरथसंनाहाः सर्वे निक्षिप्तकार्मुकाः ॥ १ ॥
उपोपविष्टा राजानं परिवार्य युधिष्ठिरम् ।
तदेव युद्धं ध्यायन्तः सौभद्रगतमानसाः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महापराक्रमी रथयूथपति सुभद्राकुमार अभिमन्युके मारे जानेपर समस्त पाण्डव महारथी रथ और कवचका त्याग कर और धनुषको नीचे डालकर राजा युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर उनके पास बैठ गये। उन सबका मन सुभद्राकुमार अभिमन्युमें ही लगा था और वे उसी युद्धका चिन्तन कर रहे थे ॥ १-२ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा विललाप सुदुःखितः ।
अभिमन्यौ हते वीरे भ्रातुः पुत्रे महारथे ॥ ३ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर अपने भाईके वीर पुत्र महारथी अभिमन्युके मारे जानेके कारण अत्यन्त दुखी हो विलाप करने लगे—॥ ३ ॥

(एष जित्वा कृपं शल्यं राजानं च सुयोधनम् ।
द्रोणं द्रौणिं महेष्वासं तथैवान्यान् महारथान् ॥)
द्रोणानीकमसम्बाधं मम प्रियचिकीर्षया ।
(हत्वा शत्रुगणान् वीरानेष शेते निपातितः ।
कृतास्त्रान् युद्धकुशलान् महेष्वासान् महारथान् ॥
कुलशीलगुणैर्युक्ताञ्छूरान् विख्यातपौरुषान् ।

द्रोणेन विहितं व्यूहमभेद्यममरैरपि ॥
अदृष्टपूर्वमस्माभिः चक्रं चक्रायुधप्रियः ।)
भित्त्वा व्यूहं प्रविष्टोऽसौ गोमध्यमिव केसरी ॥ ४ ॥

'अहो ! कृपाचार्य, शल्य, राजा दुर्योधन, द्रोणाचार्य, महाधनुर्धर अश्वत्थामा तथा अन्य महारथियोंको जीतकर, मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे द्रोणाचार्यके निर्बाध सैन्यव्यूहको विनष्ट करके वीर शत्रुसमूहोंका संहार करनेके पश्चात् यह पुत्र अभिमन्यु मार गिराया गया और अब रणक्षेत्रमें सो रहा है ! जो अस्त्रविद्याके विद्वान्, युद्धकुशल, कुल-शील और गुणोंसे युक्त, शूरवीर तथा अपने पराक्रमके लिये प्रसिद्ध थे, उन महाधनुर्धर महारथियोंको परास्त करके देवताओंके लिये भी जिसका भेदन करना असम्भव है तथा हमने जिसे पहले कभी देखातक नहीं था, उस द्रोणनिर्मित चक्रव्यूहका भेदन करके चक्रधारी श्रीकृष्णका प्यारा भानजा वह अभिमन्यु उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश कर गया, जैसे सिंह गौओंके झुंडमें घुस जाता है ॥ ४ ॥

(विक्रीडितं रणे तेन निघ्नता वै परान् वरान् ।)
यस्य शूरा महेष्वासाः प्रत्यनीकगता रणे ।
प्रभग्ना विनिवर्तन्ते कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ ५ ॥

'उसने रणक्षेत्रमें प्रमुख-प्रमुख शत्रुवीरोंका वध करते हुए अद्भुत रणक्रीडा की थी। युद्धमें उसके सामने जानेपर शत्रुपक्षके अस्त्रविद्याविशारद युद्धदुर्मद और महान् धनुर्धर शूरवीर भी हतोत्साह हो भाग खड़े होते थे ॥ ५ ॥

अत्यन्तशत्रुरस्माकं येन दुःशासनः शरैः ।
क्षिप्रं ह्यभिमुखः संख्ये विसंज्ञो विमुखीकृतः ॥ ६ ॥
स तीर्त्वा दुस्तरं वीरो द्रोणानीकमहार्णवम् ।
प्राप्य दौःशासनिं कार्ष्णिः प्राप्तो वैवस्वतक्षयम् ॥ ७ ॥

'जिस वीर अर्जुनकुमारने युद्धस्थलमें हमारे अत्यन्त शत्रु दुःशासनको सामने आनेपर शीघ्र ही अपने बाणोंसे अचेत करके भगा दिया, वही महासागरके समान दुस्तर द्रोण-सेनाको पार करके भी दुःशासनपुत्रके पास जाकर यमलोकमें पहुँच गया ॥ ६-७ ॥

कथं द्रक्ष्यामि कौन्तेयं सौभद्रे निहतेऽर्जुनम् ।
सुभद्रां वा महाभागां प्रियं पुत्रमपश्यतीम् ॥ ८ ॥

'सुभद्राकुमार अभिमन्युके मार दिये जानेपर अब मैं कुन्तीकुमार अर्जुनकी ओर आँख उठाकर कैसे देखूँगा ? अथवा अपने प्रियपुत्रको अब नहीं देख पानेवाली महाभागा सुभद्राके सामने कैसे जाऊँगा ? ॥ ८ ॥

किंस्विद् वयमपेतार्थमश्लिष्टमसमञ्जसम् ।
तावुभौ प्रतिवक्ष्यामो हृषीकेशधनंजयौ ॥ ९ ॥

'हाय ! हमलोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंके सामने किस प्रकार यह अनर्थपूर्ण, असंगत और अनुचित वृत्तान्त कह सकेंगे ॥ ९ ॥

अहमेव सुभद्रायाः केशवार्जुनयोरपि ।
प्रियकामो जयाकाङ्क्षी कृतवानिदमप्रियम् ॥ १० ॥

'मैंने ही अपने प्रिय कार्यकी इच्छा, विजयकी अभिलाषा रखकर सुभद्रा, श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह अप्रिय कार्य किया है ॥ १० ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषाँल्लोभान्मोहात् प्रवर्तते ।
मधुलिप्सुर्हि नापश्यं प्रपातमहमीदृशम् ॥ ११ ॥

'लोभी मनुष्य किसी कार्यके दोषको नहीं समझता । वह लोभ और मोहके वशीभूत होकर उसमें प्रवृत्त हो जाता है। मैंने मधुके समान मधुर लगनेवाले राज्यको पानेकी लालसा रखकर यह नहीं देखा कि इसमें ऐसे भयंकर पतनका भय है ॥ ११ ॥

यो हि भोज्ये पुरस्कार्यो यानेषु शयनेषु च ।
भूषणेषु च सोऽस्माभिर्बालो युधि पुरस्कृतः ॥ १२ ॥

'हाय ! जिस सुकुमार बालकको भोजन और शयन करने, सवारीपर चलने तथा भूषण, वस्त्र पहननेमें आगे रखना चाहिये था, उसे हमलोगोंने युद्धमें आगे कर दिया ॥ १२ ॥

कथं हि बालस्तरुणो युद्धानामविशारदः ।
सदश्व इव सम्बाधे विषमे क्षेममर्हति ॥ १३ ॥

'वह तरुण कुमार अभी बालक था। युद्धकी कलामें पूरा प्रवीण नहीं हुआ था । फिर गहन वनमें फँसे हुए सुन्दर अश्वकी भाँति वह उस विषम संग्राममें कैसे सकुशल रह सकता था ? ॥ १३ ॥

नो चेद्धि वयमप्येनं महीमनु शयीमहि ।
बीभत्सोः कोपदीप्तस्य दग्धाः कृपणचक्षुषा ॥ १४ ॥

'यदि हमलोग अभिमन्युके साथ ही उस रणक्षेत्रमें शयन न कर सके तो अब क्रोधसे उत्तेजित हुए अर्जुनके शोकाकुल नेत्रोंसे हमें अवश्य दग्ध होना पड़ेगा ॥ १४ ॥

अलुब्धो मतिमान् ह्रीमान् क्षमावान् रूपवान् बली ।
वपुष्मान् मानकृद् वीरः प्रियः सत्यपराक्रमः ॥ १५ ॥
यस्य श्लाघन्ति विबुधाः कर्माण्यूर्जितकर्मणः ।
निवातकवचाञ्जघ्ने कालकेयांश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
महेन्द्रशत्रवो येन हिरण्यपुरवासिनः ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण पौलोमाः सगणा हताः ॥ १७ ॥
परेभ्योऽप्यभयार्थिभ्यो यो ददात्यभयं विभुः ।
तस्यास्माभिर्न शकितस्त्रातुमप्यात्मजो बली ॥ १८ ॥

'जो लोभरहित, बुद्धिमान्, लज्जाशील, क्षमावान्, रूपवान्, बलवान्, सुन्दर शरीरधारी, दूसरोंको मान देनेवाले, प्रीतिपात्र, वीर तथा सत्यपराक्रमी हैं, जिनके कर्मोंकी देवतालोग भी प्रशंसा करते हैं, जिनके कर्म सबल एवं महान् हैं,

जिन पराक्रमी वीरने निवातकवचों तथा कालकेय नामक दैत्योंका विनाश किया था, जिन्होंने आँखोंकी पलक मारते-मारते हिरण्यपुरनिवासी इन्द्रशत्रु पौलोम नामक दानवोंका उनके गणोंसहित संहार कर डाला था तथा जो सामर्थ्यशाली अर्जुन अभयकी इच्छा रखनेवाले शत्रुओंको भी अभय-दान देते हैं, उन्हींके बलवान् पुत्रकी भी हमलोग रक्षा नहीं कर सके ॥ १५-१८ ॥

भयं तु सुमहत् प्राप्तं धार्तराष्ट्रान् महाबलान् ।
पार्थः पुत्रवधात् क्रुद्धः कौरवाञ्शोषयिष्यति ॥ १९ ॥

'अहो ! महाबली धृतराष्ट्रपुत्रोंपर बड़ा भारी भय आ पहुँचा है; क्योंकि अपने पुत्रके वधसे कुपित हुए कुन्तीकुमार अर्जुन कौरवोंको सोख लेंगे—उनका मूलोच्छेद कर डालेंगे ॥ १९ ॥

क्षुद्रः क्षुद्रसहायश्च स्वपक्षक्षयमातुरः ।
व्यक्तं दुर्योधनो दृष्ट्वा शोचन् हास्यति जीवितम् ॥ २० ॥

'दुर्योधन नीच है । उसके सहायक भी ओछे स्वभावके हैं, अतः वह निश्चय ही (अर्जुनके हाथों) अपने पक्षका विनाश देखकर शोकसे व्याकुल हो जीवनका परित्याग कर देगा ॥ २० ॥

न मे जयः प्रीतिकरो न राज्यं
न चामरत्वं न सुरैः सलोकता ।
इमं समीक्ष्याप्रतिवीर्यपौरुषं
निपातितं देववरात्मजात्मजम् ॥ २१ ॥

'जिसके बल और पुरुषार्थकी कहीं तुलना नहीं थी, देवेन्द्रकुमार अर्जुनके पुत्र इस अभिमन्युको रणक्षेत्रमें मारा गया देख अब मुझे विजय, राज्य, अमरत्व तथा देवलोककी प्राप्ति भी प्रसन्न नहीं कर सकती' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि युधिष्ठिरप्रलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें युधिष्ठिरप्रलापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विलाप करते हुए युधिष्ठिरके पास व्यासजीका आगमन और अकम्पन-नारद-संवादकी प्रस्तावना करते हुए मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग आरम्भ करना

संजय उवाच

अथैनं विलपन्तं तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
कृष्णद्वैपायनस्तत्र आजगाम महानृषिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार विलाप करते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास वहाँ महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी आये ॥ १ ॥

अर्चयित्वा यथान्यायमुपविष्टं युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तो भ्रातुः पुत्रवधेन च ॥ २ ॥

उस समय युधिष्ठिरने उनकी यथायोग्य पूजा की और जब वे बैठ गये, तब भतीजेके वधसे शोकसंतप्त हो युधिष्ठिर उनसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

अधर्मयुक्तैर्बहुभिः परिवार्य महारथैः ।
युध्यमानो महेष्वासैः सौभद्रो निहतो रणे ॥ ३ ॥

'मुने ! बहुत-से अधर्मपरायण महाधनुर्धर महारथियोंने चारों ओरसे घेरकर रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए सुभद्राकुमार अभिमन्युको असहायावस्थामें मार डाला है ॥ ३ ॥

बालश्च बालबुद्धिश्च सौभद्रः परवीरहा ।
अनुपायेन संग्रामे युध्यमानो विशेषतः ॥ ४ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला अभिमन्यु अभी बालक था; बालोचित बुद्धिसे युक्त था । विशेषतः संग्राममें वह उपयुक्त साधनोंसे रहित होकर युद्ध कर रहा था ॥ ४ ॥

मया प्रोक्तः स संग्रामे द्वारं संजनयस्व नः ।
प्रविष्टेऽभ्यन्तरे तस्मिन् सैन्धवेन निवारिताः ॥ ५ ॥

'मैंने युद्धस्थलमें उससे कहा था कि तुम व्यूहमें हमारे प्रवेशके लिये द्वार बना दो । तब वह द्वार बनाकर भीतर प्रविष्ट हो गया और जब हमलोग उसी द्वारसे व्यूहमें प्रवेश करने लगे, उस समय सिंधुराज जयद्रथने हमें रोक दिया ॥

ननु नाम समं युद्धमेष्टव्यं युद्धजीविभिः ।
इदं चैवासमं युद्धमीदृशं यत् कृतं परैः ॥ ६ ॥

'युद्धजीवी क्षत्रियोंको अपने समान साधनसम्पन्न वीरके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करनी चाहिये । शत्रुओंने जो अभिमन्युके साथ इस प्रकार युद्ध किया है, यह कदापि समान नहीं है ॥ ६ ॥

तेनास्मि भृशसंतप्तः शोकबाष्पसमाकुलः ।
शमं नैवाधिगच्छामि चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ७ ॥

'इसीलिये मैं अत्यन्त संतप्त हूँ, शोकाश्रुओंसे मेरे नेत्र भरे हुए हैं । मैं बारंबार चिन्तामग्न होकर शान्ति नहीं पा रहा हूँ' ॥ ७ ॥

संजय उवाच

तं तथा विलपन्तं वै शोकव्याकुलमानसम् ।
उवाच भगवान् व्यासो युधिष्ठिरमिदं वचः ॥ ८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शोकसे व्याकुल-

चित्त होकर विलाप करते हुए राजा युधिष्ठिरसे भगवान् वेदव्यासने इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
व्यसनेषु न मुह्यन्ति त्वादृशा भरतर्षभ ॥ ९ ॥

व्यासजी बोले—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ, परम बुद्धिमान्, भरतकुलभूषण युधिष्ठिर ! तुम्हारे-जैसे पुरुष संकटके समय मोहित नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

स्वर्गमेष गतः शूरः शत्रून् हत्वा बहून् रणे ।
अबालसदृशं कर्म कृत्वा वै पुरुषोत्तमः ॥ १० ॥

यह पुरुषोत्तम अभिमन्यु शूरवीर था । इसने रणक्षेत्रमें अबालोचित पराक्रम करके बहुत-से शत्रुओंको मारकर स्वर्गलोककी यात्रा की है ॥ १० ॥

अनतिक्रमणीयो वै विधिरेष युधिष्ठिर ।
देवदानवगन्धर्वान् मृत्युर्हरति भारत ॥ ११ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर! यह विधाताका विधान है । इसका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता । मृत्यु देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंके भी प्राण हर लेती है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले ।
निहताः पृतनामध्ये मृतसंज्ञा महाबलाः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! ये महाबली भूपालगण सेनाके मध्यमें मारे जाकर 'मृत' नाम धारण करके पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥ १२ ॥

नागायुतबलाश्चान्ये वायुवेगबलास्तथा ।
त एते निहताः संख्ये तुल्यरूपा नरैर्नराः ॥ १३ ॥

इनमेंसे कितने ही राजा दस हजार हाथियोंके समान बलवान् थे तथा कितनोंके वेग और बल वायुके समान थे । ये सब मनुष्य एक समान रूपवाले हैं, जो दूसरे मनुष्योंद्वारा युद्धमें मार डाले गये हैं ॥ १३ ॥

नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे क्वचित् ।
विक्रमेणोपसम्पन्नास्तपोबलसमन्विताः ॥ १४ ॥

इन प्राणशक्तिसम्पन्न वीरोंका युद्धमें कहीं कोई वध करनेवाला मुझे नहीं दिखायी देता था; क्योंकि ये सबके सब पराक्रमसे सम्पन्न और तपोबलसे संयुक्त थे ॥ १४ ॥

जेतव्यमिति चान्योन्यं येषां नित्यं हृदि स्थितम् ।
अथ चेमे हताः प्राज्ञाः शेरते विगतायुषः ॥ १५ ॥

जिनके हृदयमें सदा एक-दूसरेको जीतनेकी अभिलाषा रहती थी, वे ही ये बुद्धिमान् नरेश आयु समाप्त होनेपर युद्धमें मारे जाकर धरतीपर सो रहे हैं ॥ १५ ॥

मृता इति च शब्दोऽयं वर्तते च ततोऽर्थवत् ।
इमे मृता महीपालाः प्रायशो भीमविक्रमाः ॥ १६ ॥

अतः इनके विषयमें 'मृत' शब्द सार्थक हो रहा है । ये भयंकर पराक्रमी भूमिपाल प्रायः 'मर गये' कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

निश्चेष्टा निरभीमानाः शूराः शत्रुवशंगताः ।
राजपुत्राश्च संरब्धा वैश्वानरमुखं गताः ॥ १७ ॥

ये शूरवीर राजकुमार चेष्टा और अभिमानसे रहित हो शत्रुओंके अधीन हो गये थे । वे कुपित होकर बाणोंकी आगमें कूद पड़े थे ॥ १७ ॥

अत्र मे संशयः प्राप्तः कुतः संज्ञा मृता इति ।
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिमाः प्रजाः ॥ १८ ॥
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ।

मुझे संदेह होता है कि इन्हें 'मर गये' ऐसा क्यों कहा जाता है ? मृत्यु किसकी होती है ? किस निमित्तसे होती है ? तथा वह किसलिये इन प्रजाओं (प्राणियों) का अपहरण करती है ? देवतुल्य पितामह ! ये सब बातें आप मुझे बताइये ॥

संजय उवाच

तं तथा परिपृच्छन्तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
आश्वासनमिदं वाक्यमुवाच भगवानृषिः ॥ १९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूछते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे मुनिवर भगवान् व्यासने यह आश्वासनजनक वचन कहा ॥ १९ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अकम्पनस्य कथितं नारदेन पुरा नृप ॥ २० ॥

व्यासजी बोले—नरेश्वर ! जानकार लोग इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया करते हैं । वह इतिहास पूर्वकालमें नारदजीने राजा अकम्पनसे कहा था ॥ २० ॥

स चापि राजा राजेन्द्र पुत्रव्यसनमुत्तमम् ।
अप्रसह्यतमं लोके प्राप्तवानिति मे मतिः ॥ २१ ॥

राजेन्द्र ! राजा अकम्पनको भी अपने पुत्रकी मृत्युका बड़ा भारी शोक प्राप्त हुआ था, जो मेरे विचारमें सबसे अधिक असह्य दुःख है ॥ २१ ॥

तदहं सम्प्रवक्ष्यामि मृत्योः प्रभवमुत्तमम् ।
ततस्त्वं मोक्ष्यसे दुःखात् स्नेहबन्धनसंश्रयात् ॥ २२ ॥

इसलिये मैं तुम्हें मृत्युकी उत्पत्तिका उत्तम वृत्तान्त बताऊँगा, उसे सुनकर तुम स्नेह-बन्धनके कारण होनेवाले दुःखसे छूट जाओगे ॥ २२ ॥

समस्तपापराशिघ्नं शृणु कीर्तयतो मम ।
धन्यमाख्यानमायुष्यं शोकघ्नं पुष्टिवर्धनम् ॥ २३ ॥
पवित्रमरिसंघघ्नं मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
यथैव वेदाध्ययनमुपाख्यानमिदं तथा ॥ २४ ॥

यह उपाख्यान समस्त पापराशिका नाश करनेवाला है ।

मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। यह धन और आयुको बढ़ानेवाला, शोकनाशक, पुष्टिवर्धक, पवित्र, शत्रुसमूहका निवारक और मङ्गलकारी कार्योंमें सबसे अधिक मङ्गलकारक है। जैसे वेदोंका स्वाध्याय पुण्यदायक होता है, उसी प्रकार यह उपाख्यान भी है ॥ २३-२४ ॥

श्रवणीयं महाराज प्रातर्नित्यं नृपोत्तमैः।
पुत्रानायुष्मतो राज्यमीहमानैः श्रियं तथा ॥ २५ ॥

महाराज ! दीर्घायु पुत्र, राज्य और धन-सम्पत्ति चाहनेवाले श्रेष्ठ राजाओंको प्रतिदिन प्रातःकाल इस इतिहासका श्रवण करना चाहिये ॥ २५ ॥

पुरा कृतयुगे तात आसीद् राजा ह्यकम्पनः।
स शत्रुवशमापन्नो मध्ये संग्राममूर्धनि ॥ २६ ॥

तात ! प्राचीनकालकी बात है, सत्ययुगमें अकम्पन नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे । वे युद्धमें शत्रुओंके वशमें पड़ गये ॥ २६ ॥

तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले।
श्रीमान् कृतास्त्रो मेधावी युधि शक्रोपमो बली ॥ २७ ॥

राजाके एक पुत्र था, जिसका नाम था हरि । वह बलमें भगवान् नारायणके समान था । वह अस्त्रविद्यामें पारंगत, मेधावी, श्रीसम्पन्न तथा युद्धमें इन्द्रके तुल्य पराक्रमी था ॥

स शत्रुभिः परिवृतो बहुधा रणमूर्धनि।
व्यस्यन् बाणसहस्राणि योधेषु च गजेषु च ॥ २८ ॥

वह रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा घिर जानेपर शत्रुपक्षके योद्धाओं और गजारोहियोंपर बारंबार सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २८ ॥

स कर्म दुष्करं कृत्वा संग्रामे शत्रुतापनः।
शत्रुभिर्निहतः संख्ये पृतनायां युधिष्ठिर ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! वह शत्रुओंको संताप देनेवाला वीर राजकुमार संग्राममें दुष्कर पराक्रम दिखाकर अन्तमें शत्रुओंके हाथसे वहाँ सेनाके बीचमें मारा गया ॥ २९ ॥

स राजा प्रेतकृत्यानि तस्य कृत्वा शुचान्वितः।
शोचन्नहनि रात्रौ च नालभत् सुखमात्मनः ॥ ३० ॥

राजा अकम्पनको बड़ा शोक हुआ । वे पुत्रका अन्त्येष्टि संस्कार करके दिन-रात उसीके शोकमें मग्न रहने लगे । उनकी अन्तरात्माको (थोड़ा-सा भी) सुख नहीं मिला ॥ ३० ॥

तस्य शोकं विदित्वा तु पुत्रव्यसनसम्भवम्।
आजगामाथ देवर्षिर्नारदोऽस्य समीपतः ॥ ३१ ॥

राजा अकम्पनको अपने पुत्रकी मृत्युसे महान् शोक हो रहा है, यह जानकर देवर्षि नारद उनके समीप आये ॥ ३१ ॥

स तु राजा महाभागो दृष्ट्वा देवर्षिसत्तमम्।
पूजयित्वा यथान्यायं कथामकथयत् तदा ॥ ३२ ॥

उस समय महाभाग राजा अकम्पनने देवर्षिप्रवर नारदजीको आया देख उनकी यथायोग्य पूजा करके उनसे अपने पुत्रकी मृत्युका वृत्तान्त कहा ॥ ३२ ॥

तस्य सर्वं समाचष्ट यथावृत्तं नरेश्वरः।
शत्रुभिर्विजयं संख्ये पुत्रस्य च वधं तथा ॥ ३३ ॥

राजाने क्रमशः शत्रुओंकी विजय और युद्धस्थलमें अपने पुत्रके मारे जानेका सब समाचार उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥

मम पुत्रो महावीर्य इन्द्रविष्णुसमद्युतिः।
शत्रुभिर्बहुभिः संख्ये पराक्रम्य हतो बली ॥ ३४ ॥

(वे बोले—) 'देवर्षे ! मेरा पुत्र इन्द्र और विष्णुके समान तेजस्वी, महापराक्रमी और बलवान् था; परंतु युद्धमें बहुत-से शत्रुओंने मिलकर एक साथ पराक्रम करके उसे मार डाला है ॥ ३४ ॥

क एष मृत्युर्भगवन् किंवीर्यबलपौरुषः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ३५ ॥

'भगवन् ! यह मृत्यु क्या है ? इसका वीर्य, बल और पौरुष कैसा है ? बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मैं यह सब यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ ३५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नारदो वरदः प्रभुः।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं महत् ॥ ३६ ॥

राजाकी यह बात सुनकर वर देनेमें समर्थ एवं प्रभावशाली नारदजीने यह पुत्रशोकनाशक उत्तम उपाख्यान कहना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥

नारद उवाच

शृणु राजन् महाबाहो आख्यानं बहुविस्तरम्।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयापि वसुधाधिप ॥ ३७ ॥

नारदजी बोले—पृथ्वीपते ! तुम्हारे पुत्रकी मृत्यु जिस प्रकार घटित हुई है, वह सब वृत्तान्त मैंने भी यथार्थरूपसे सुन लिया है । महाबाहु नरेश ! अब मैं तुम्हारे सामने एक बहुत विस्तृत कथा आरम्भ करता हूँ । तुम ध्यान देकर सुनो ॥

प्रजाः सृष्ट्वा तदा ब्रह्मा आदिसर्गे पितामहः।
असंहृतं महातेजा दृष्ट्वा जगदिदं प्रभुः ॥ ३८ ॥
तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति पार्थिव।
चिन्तयन्न ह्यसौ वेद संहारं वसुधाधिप ॥ ३९ ॥

आदि सृष्टिके समय महातेजस्वी एवं शक्तिशाली पितामह ब्रह्माने जब प्रजावर्गकी सृष्टि की थी, उस समय संहारकी कोई व्यवस्था नहीं की थी, अतः इस सम्पूर्ण जगत्को प्राणियोंसे परिपूर्ण एवं मृत्युरहित देख प्राणियोंके संहारके लिये चिन्तित हो उठे । राजन् ! पृथ्वीपते ! बहुत सोचने-विचारनेपर भी ब्रह्माजीको प्राणियोंके संहारका कोई उपाय नहीं ज्ञात हो सका ॥ ३८-३९ ॥

रुद्रदेवका ब्रह्माजीसे उनके क्रोधकी शान्तिके लिये वर माँगना

तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत ।
तेन सर्वा दिशो व्याप्ताः सान्तर्देशा दिधक्षता ॥ ४० ॥

महाराज ! उस समय क्रोधवश ब्रह्माजीके श्रवण-नेत्र आदि इन्द्रियोंसे अग्नि प्रकट हो गयी । वह अग्नि इस जगत्को दग्ध करनेकी इच्छासे सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओं (कोणों) में फैल गयी ॥ ४० ॥

ततो दिवं भुवं चैव ज्वालामालासमाकुलम् ।
चराचरं जगत् सर्वं ददाह भगवान् प्रभुः ॥ ४१ ॥
ततो हतानि भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
महता क्रोधवेगेन त्रासयन्निव वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर आकाश और पृथ्वीमें सब ओर आगकी प्रचण्ड लपटें व्याप्त हो गयीं । दाह करनेमें समर्थ एवं अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव महान् क्रोधके वेगसे सबको त्रस्त-से करते हुए सम्पूर्ण चराचर जगत्को दग्ध करने लगे । इससे बहुत-से स्थावर-जंगम प्राणी नष्ट हो गये ॥

ततो रुद्रो जटी स्थाणुर्निशाचरपतिर्हरः ।
जगाम शरणं देवं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् राक्षसोंके स्वामी जटाधारी दुःखहारी स्थाणु नामधारी भगवान् रुद्र परमेष्ठी भगवान् ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥

तस्मिन्नापतिते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया ।
अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव महामुनिः ॥ ४४ ॥

प्रजावर्गके हितकी इच्छासे भगवान् रुद्रके आनेपर परमदेव महामुनि ब्रह्माजी अपने तेजसे प्रज्वलित होते हुए-से इस प्रकार बोले—॥ ४४ ॥

किं कुर्मः कामं कामार्ह कामाज्जातोऽसि पुत्रक ।
करिष्यामि प्रियं सर्वं ब्रूहि स्थाणो यदिच्छसि ॥ ४५ ॥

'अपने अभीष्ट मनोरथको प्राप्त करने योग्य पुत्र ! तुम मेरे मानसिक संकल्पसे उत्पन्न हुए हो । मैं तुम्हारी कौन-सी कामना पूर्ण करूँ ? स्थाणो ! तुम जो कुछ चाहते हो, बतलाओ । मैं तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य करूँगा' ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शंकर और ब्रह्माका संवाद, मृत्युकी उत्पत्ति तथा उसे समस्त प्रजाके संहारका कार्य सौंपा जाना

स्थाणुरुवाच

प्रजासर्गनिमित्तं हि कृतो यत्नस्त्वया विभो ।
त्वया सृष्टाश्च वृद्धाश्च भूतग्रामाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

स्थाणु (रुद्रदेव) ने कहा—प्रभो ! आपने प्रजाकी सृष्टिके लिये स्वयं ही यत्न किया है । आपने ही नाना प्रकारके प्राणिसमुदायकी सृष्टि एवं वृद्धि की है ॥ १ ॥

तास्तवेह पुनः क्रोधात् प्रजा दह्यन्ति सर्वशः ।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं प्रसीद भगवन् प्रभो ॥ २ ॥

आपकी वे ही सारी प्रजाएँ पुनः आपके ही क्रोधसे यहाँ दग्ध हो रही हैं । इससे उनके प्रति मेरे हृदयमें करुणा भर आयी है । अतः भगवन् ! प्रभो ! आप उन प्रजाओंपर कृपादृष्टि करके प्रसन्न होइये ॥ २ ॥

ब्रह्मोवाच

संहर्तुं न च मे काम एतदेवं भवेदिति ।
पृथिव्या हितकामं तु ततो मां मन्युराविशत् ॥ ३ ॥

ब्रह्माजी बोले—रुद्र ! मेरी इच्छा यह नहीं है कि इस प्रकार इस जगत्का संहार हो । वसुधाके हितके लिये ही मेरे मनमें क्रोधका आवेश हुआ था ॥ ३ ॥

इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचूचुदत् ।
संहारार्थं महादेव भारेणाभिहता सती ॥ ४ ॥

महादेव ! इस पृथ्वीदेवीने भारसे पीड़ित होकर मुझे जगत्के संहारके लिये प्रेरित किया था । यह सती-साध्वी देवी महान् भारसे दबी हुई थी ॥ ४ ॥

ततोऽहं नाधिगच्छामि तथा बहुविधं तदा ।
संहारमप्रमेयस्य ततो मां मन्युराविशत् ॥ ५ ॥

मैंने अनेक प्रकारसे इस अनन्त जगत्के संहारके उपायपर विचार किया, परंतु मुझे कोई उपाय सूझ न पड़ा । इसीलिये मुझमें क्रोधका आवेश हो गया ॥ ५ ॥

रुद्र उवाच

संहारार्थं प्रसीदस्व मा रुषो वसुधाधिप ।
मा प्रजाः स्थावराश्चैव जंगमाश्च व्यनीनशः ॥ ६ ॥

रुद्रने कहा—वसुधाके स्वामी पितामह ! आप रोष न कीजिये । जगत्का संहार बंद करनेके लिये प्रसन्न होइये । इन स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका विनाश न कीजिये ॥

तव प्रसादाद् भगवन्निदं वर्तेत् त्रिधा जगत् ।
अनागतमतीतं च यच्च सम्प्रति वर्तते ॥ ७ ॥

भगवन् ! आपकी कृपासे यह जगत् भूत, भविष्य और वर्तमान—तीन रूपोंमें विभक्त हो जाय ॥ ७ ॥

भगवन् क्रोधसंदीप्तः क्रोधादग्निमवासृजत् ।
स दहत्यश्मकूटानि द्रुमांश्च सरितस्तथा ॥ ८ ॥

प्रभो ! आपने क्रोधसे प्रज्वलित होकर क्रोधपूर्वक जिस

अग्निकी सृष्टि की है, वह पर्वत-शिखरों, वृक्षों और सरिताओं-को दग्ध कर रही है ॥ ८ ॥

पल्वलानि च सर्वाणि सर्वांश्चैव तृणोलपान्।
स्थावरं जङ्गमं चैव निःशेषं कुरुते जगत् ॥ ९ ॥
तदेतद् भस्मसाद्भूतं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसीद भगवन् स त्वं रोषो न स्याद् वरो मम ॥ १०॥

यह समस्त छोटे-छोटे जलाशयों, सब प्रकारके तृण और लताओं तथा स्थावर और जङ्गम जगत्को सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर रही है। इस प्रकार यह सारा चराचर जगत् जलकर भस्म हो गया। भगवन्! आप प्रसन्न होइये। आपके मनमें रोष न हो, यही मेरे लिये आपकी ओरसे वर प्राप्त हो।९-१०।

सर्वे हि सृष्टा नश्यन्ति तव देव कथंचन।
तस्मान्निवर्ततां तेजस्त्वय्येवेदं प्रलीयताम् ॥ ११ ॥

देव! आपके रचे हुए समस्त प्राणी किसी-न-किसी रूप-में नष्ट होते चले जा रहे हैं; अतः आपका यह तेजस्वरूप क्रोध जगत्के संहारसे निवृत्त हो आपमें ही विलीन हो जाय॥

तत् पश्य देव सुभृशं प्रजानां हितकाम्यया।
यथेमे प्राणिनः सर्वे निवर्तेरंस्तथा कुरु ॥ १२ ॥

प्रभो! आप प्रजावर्गके अत्यन्त हितकी इच्छासे इनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देखिये, जिससे ये समस्त प्राणी नष्ट होनेसे बच जायँ, वैसा कीजिये ॥ १२ ॥

अभावं नेह गच्छेयुरुत्सन्नजननाः प्रजाः।
आदिदेव नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेषु लोककृत् ॥१३॥

संतानोंका नाश हो जानेसे इस जगत्के सम्पूर्ण प्राणियों-का अभाव न हो जाय। आदिदेव! आपने सम्पूर्ण लोकोंमें मुझे लोकस्रष्टाके पदपर नियुक्त किया है ॥ १३ ॥

मा विनश्येज्जगन्नाथ जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसादाभिमुखं देवं तस्मादेवं ब्रवीम्यहम् ॥१४॥

जगन्नाथ! यह चराचर जगत् नष्ट न हो, इसीलिये सदा कृपा करनेको उद्यत रहनेवाले प्रभुके सामने मैं ऐसी प्रार्थना कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

नारद उवाच

श्रुत्वा हि वचनं देवः प्रजानां हितकारणे।
तेजः संधारयामास पुनरेवान्तरात्मनि ॥१५॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! प्रजाके हितके लिये महादेवका यह वचन सुनकर भगवान् ब्रह्माने पुनः अपनी अन्तरात्मामें ही उस तेज (क्रोध) को धारण कर लिया ॥

ततोऽग्निमुपसंहृत्य भगवाँल्लोकसत्कृतः।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च कथयामास वै प्रभुः ॥१६॥

तब विश्ववन्दित भगवान् ब्रह्माने उस अग्निका उपसंहार करके मनुष्योंके लिये प्रवृत्ति (कर्म) और निवृत्ति (ज्ञान) मार्गोंका उपदेश दिया ॥ १६ ॥

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तथा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यो गोभ्यो नारी महात्मनः ॥१७॥
कृष्णरक्ता तथा पिङ्गरक्तजिह्वास्यलोचना।
कुण्डलाभ्यां च राजेन्द्र तप्ताभ्यां तप्तभूषणा ॥१८॥

उस क्रोधाग्निका उपसंहार करते समय महात्मा ब्रह्माजी-की सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे एक नारी प्रकट हुई, जो काले और लाल रंगकी थी। उसकी जिह्वा, मुख और नेत्र पीले और लाल रंगके थे। राजेन्द्र! वह तपाये हुए सोनेके कुण्डलोंसे सुशोभित थी और उसके सभी आभूषण तप्त सुवर्णके बने हुए थे ॥ १७-१८ ॥

सा निःसृत्य तथा खेभ्यो दक्षिणां दिशमाश्रिता।
स्मयमाना च सावेक्ष्य देवौ विश्वेश्वरावुभौ ॥१९॥

वह उनकी इन्द्रियोंसे निकलकर दक्षिण दिशामें खड़ी हुई और उन दोनों देवताओं एवं जगदीश्वरोंकी ओर देख-कर मन्द-मन्द मुसकराने लगी ॥ १९ ॥

तामाहूय तदा देवो लोकादिनिधनेश्वरः।
(उक्तवान् मधुरं वाक्यं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।)
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति ॥२०॥

महीपाल! उस समय सम्पूर्ण लोकोंके आदि और अन्तके स्वामी ब्रह्माजीने उस नारीको अपने पास बुलाकर उसे बारंबार सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें 'मृत्यो' (हे मृत्यु) कह करके पुकारा और कहा—'तू इन समस्त प्रजाओंका संहार कर ॥ २० ॥

त्वं हि संहारबुद्ध्याथ प्रादुर्भूता रुषो मम।
तस्मात् संहर सर्वास्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥२१॥
मम त्वं हि नियोगेन ततः श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।

'देवि ! तू संहारबुद्धिसे मेरे रोषद्वारा प्रकट हुई है, इसलिये मूर्ख और पण्डित सभी प्रजाओंका संहार करती रह, मेरी आज्ञासे तुझे यह कार्य करना होगा । इससे तू कल्याण प्राप्त करेगी' ॥ २१½ ॥

एवमुक्ता तु सा तेन मृत्युः कमललोचना ॥२२॥
दध्यौ चात्यर्थमबला प्ररुरोद च सुस्वरम् ।

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर वह मृत्युनामवाली कमललोचना अबला अत्यन्त चिन्तामग्न हो गयी और फूट-फूटकर रोने लगी ॥ २२½ ॥

पाणिभ्यां प्रतिजग्राह तान्यश्रूणि पितामहः ।
सर्वभूतहितार्थाय तां चाप्यनुनयत् तदा ॥२३॥

पितामह ब्रह्माने उसके उन आँसुओंको समस्त प्राणियोंके हितके लिये अपने दोनों हाथोंमें ले लिया और उस नारीको भी अनुनयसे प्रसन्न किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि मृत्युकथने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें मृत्युवर्णनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २३½ श्लोक हैं)

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मृत्युकी घोर तपस्या, ब्रह्माजीके द्वारा उसे वरकी प्राप्ति तथा नारद-अकम्पन-संवादका उपसंहार

नारद उवाच

विनीय दुःखमबला आत्मन्येव प्रजापतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा लतेवावर्जिता पुनः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वह अबला अपने भीतर ही उस दुःखको दबाकर झुकायी हुई लताके समान विनम्र हो हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे बोली ॥ १ ॥

मृत्युरुवाच

त्वया सृष्टा कथं नारी ईदृशी वदतां वर ।
क्रूरं कर्माहितं कुर्यां तदेव किमु जानती ॥ २ ॥

मृत्युने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रजापते ! आपने मुझे ऐसी नारीके रूपमें क्यों उत्पन्न किया ? मैं जान-बूझकर वही क्रूरतापूर्ण अहितकर कर्म कैसे करूँ ? ॥ २ ॥

बिभेम्यहमधर्माद्धि प्रसीद भगवन् प्रभो ।
प्रियान् पुत्रान् वयस्यांश्च भ्रातॄन् मातॄः पितॄन् पतीन्॥३॥
अपध्यास्यन्ति मे देव मृतेष्वेभ्यो बिभेम्यहम् ।

भगवन् ! मैं पापसे डरती हूँ । प्रभो ! मुझपर प्रसन्न होइये । जब मैं लोगोंके प्यारे पुत्रों, मित्रों, भाइयों, माताओं, पिताओं तथा पतियोंको मारने लगूँगी, देव ! उस समय उनके सम्बन्धी इन लोगोंके मेरे द्वारा मारे जानेपर सदा मेरा अनिष्ट-चिन्तन करेंगे । अतः मैं इन सबसे बहुत डरती हूँ ॥ ३½ ॥

कृपणानां हि रुदतां ये पतन्त्यश्रुबिन्दवः ॥ ४ ॥
तेभ्योऽहं भगवन् भीता शरणं त्वाहमागता ।

भगवन् ! रोते हुए दीन-दुखी प्राणियोंके नेत्रोंसे जो आँसुओंकी बूँदें गिरती हैं, उनसे भयभीत होकर मैं आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ४½ ॥

यमस्य भवनं देव गच्छेयं न सुरोत्तम ॥ ५ ॥
कायेन विनयोपेता मूर्ध्नोदग्रनखेन च ।
एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह ॥ ६ ॥

देव ! सुरश्रेष्ठ ! लोकपितामह ! मैं शरीर और मस्तकको झुकाकर, हाथ जोड़कर विनीतभावसे आपकी शरणागत होकर केवल इसी अभिलाषाकी पूर्ति चाहती हूँ कि मुझे यमराजके भवनमें न जाना पड़े ॥ ५-६ ॥

इच्छेयं त्वत्प्रसादाद्धि तपस्तप्तुं प्रजेश्वर ।
प्रदिशेमं वरं देव त्वं मह्यं भगवन् प्रभो ॥ ७ ॥

प्रजेश्वर ! मैं आपकी कृपासे तपस्या करना चाहती हूँ । देव ! भगवन् ! प्रभो ! आप मुझे यही वर प्रदान करें ॥

त्वया ह्युक्ता गमिष्यामि धेनुकाश्रममुत्तमम् ।
तत्र तप्स्ये तपस्तीव्रं तवैवाराधने रता ॥ ८ ॥

आपकी आज्ञा लेकर मैं उत्तम धेनुकाश्रमको चली जाऊँगी और वहाँ आपकी ही आराधनामें तत्पर रहकर कठोर तपस्या करूँगी ॥ ८ ॥

न हि शक्ष्यामि देवेश प्राणान् प्राणभृतां प्रियान् ।
हर्तुं विलपमानानामधर्मादभिरक्ष माम् ॥ ९ ॥

देवेश्वर ! मैं रोते-विलखते प्राणियोंके प्यारे प्राणोंका अपहरण नहीं कर सकूँगी, आप इस अधर्मसे मुझे बचावें ॥

ब्रह्मोवाच

मृत्यो संकल्पितासि त्वं प्रजासंहारहेतुना ।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा ते विचारणा ॥१०॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो ! प्रजाके संहारके लिये ही मेरे द्वारा संकल्पपूर्वक तेरी सृष्टि की गयी है । जा, तू सारी प्रजाका संहार कर । तेरे मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥

भविता त्वेतदेवं हि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।
भव त्वनिन्दिता लोके कुरुष्व वचनं मम ॥११॥

यह बात इसी प्रकार होनेवाली है । इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । तू लोकमें निन्दित न हो, मेरी आज्ञाका पालन कर ॥ ११ ॥

नारद उवाच

एवमुक्ताभवत् प्रीता प्राञ्जलिर्भगवन्मुखी ।
संहारे नाकरोद् बुद्धिं प्रजानां हितकाम्यया ॥१२॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर उन्हींकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े खड़ी हुई वह नारी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई; परंतु उसने प्रजाके हितकी कामनासे संहार-कार्यमें मन नहीं लगाया ॥ १२ ॥

तूष्णीमासीत् तदा देवः प्रजानामीश्वरेश्वरः ।
प्रसादं चागमत् क्षिप्रमात्मनैव प्रजापतिः ॥१३॥

तब प्रजेश्वरोंके भी स्वामी भगवान् ब्रह्मा चुप हो गये। फिर वे भगवान् प्रजापति तुरंत अपने आप ही प्रसन्नताको प्राप्त हुए॥

स्मयमानश्च देवेशो लोकान् सर्वानवेक्ष्य च ।
लोकास्त्वासन् यथापूर्वं दृष्टास्तेनापमन्युना ॥१४॥

देवेश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकोंकी ओर देखकर मुसकराये। उन्होंने क्रोधशून्य होकर देखा, इसलिये वे सभी लोक पहलेके समान हरे-भरे हो गये ॥ १४ ॥

निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते ।
सा कन्यापि जगामाथ समीपात् तस्य धीमतः ॥१५॥

उन अपराजित भगवान् ब्रह्माका रोष निवृत्त हो जानेपर वह कन्या भी उन परम बुद्धिमान् देवेश्वरके निकटसे अन्यत्र चली गयी ॥ १५ ॥

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा ।
त्वरमाणा च राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥१६॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रजाका संहार करनेके विषयमें कोई प्रतिज्ञा न करके मृत्यु वहाँसे हट गयी और बड़ी उतावलीके साथ धेनुकाश्रममें जा पहुँची ॥ १६ ॥

सा तत्र परमं तीव्रं चचार व्रतमुत्तमम् ।
सा तदा ह्येकपादेन तस्थौ पद्मानि षोडश ॥१७॥
पञ्च चाब्दानि कारुण्यात् प्रजानां तु हितैषिणी ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्रियेभ्यः संनिवर्त्य सा ॥१८॥

उसने वहाँ अत्यन्त कठोर और उत्तम व्रतका पालन आरम्भ किया। उस समय वह दयावश प्रजावर्गका हित करनेकी इच्छासे अपनी इन्द्रियोंको प्रिय विषयोंसे हटाकर इक्कीस पद्म वर्षोंतक एक पैरपर खड़ी रही ॥ १७-१८ ॥

ततस्त्वेकेन पादेन पुनरन्यानि सप्त वै ।
तस्थौ पद्मानि षट् चैव सप्त चैकं च पार्थिव ॥१९॥

नरेश्वर ! तदनन्तर पुनः अन्य इक्कीस पद्म वर्षोंतक वह एक पैरसे खड़ी होकर तपस्या करती रही ॥ १९ ॥

ततः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ।
पुनर्गत्वा ततो नन्दां पुण्यां शीतामलोदकाम् ॥२०॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च सानयत् ।

तात ! इसके बाद दस हजार पद्म वर्षोंतक वह मृगोंके साथ विचरती रही, फिर शीतल एवं निर्मल जलवाली पुण्यमयी नन्दानदीमें जाकर उसके जलमें उसने आठ हजार वर्ष व्यतीत किये ॥ २०½ ॥

धारयित्वा तु नियमं नन्दायां वीतकल्मषा ॥२१॥
सा पूर्वं कौशिकीं पुण्यां जगाम नियमैधिता ।
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः ॥२२॥

इस प्रकार नन्दानदीमें नियमोंके पालनपूर्वक रहकर वह निष्पाप हो गयी। तदनन्तर व्रत-नियमोंसे सम्पन्न हो मृत्यु पहले पुण्यमयी कौशिकी नदीके तटपर गयी और वहाँ वायु तथा जलका आहार करती हुई पुनः कठोर नियमोंका पालन करने लगी ॥ २१-२२ ॥

पञ्चगङ्गासु सा पुण्या कन्या वेतसकेषु च ।
तपोविशेषैर्बहुभिः कर्षयद् देहमात्मनः ॥२३॥

उस पवित्र कन्याने पञ्चगङ्गामें तथा वेतसवनमें बहुत-सी भिन्न-भिन्न तपस्याओंद्वारा अपने शरीरको अत्यन्त दुर्बल कर दिया ॥ २३ ॥

ततो गत्वा तु सा गङ्गां महामेरुं च केवलम् ।
तस्थौ चाश्मेव निश्चेष्टा प्राणायामपरायणा ॥२४॥

इसके बाद वह गङ्गाजीके तट और प्रमुख तीर्थ महामेरुके शिखरपर जाकर प्राणायाममें तत्पर हो प्रस्तर-मूर्तिकी भाँति निश्चेष्ट भावसे बैठी रही ॥ २४ ॥

पुनर्हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः पुरायजन् ।
तत्राङ्गुष्ठेन सा तस्थौ निखर्वं परमा शुभा ॥२५॥

फिर हिमालयके शिखरपर जहाँ पहले देवताओंने यज्ञ किया था, वहाँ वह परम शुभलक्षणा कन्या एक निखर्व वर्षोंतक अँगूठेके बलपर खड़ी रही ॥ २५ ॥

पुष्करेष्वथ गोकर्णे नैमिषे मलये तथा ।
अपाकर्षत् स्वकं देहं नियमैर्मानसप्रियैः ॥२६॥

तदनन्तर पुष्कर, गोकर्ण, नैमिषारण्य तथा मलयाचलके तीर्थोंमें रहकर मनको प्रिय लगनेवाले नियमोंद्वारा उसने अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर दिया ॥ २६ ॥

अनन्यदेवता नित्यं दृढभक्ता पितामहे ।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास धर्मतः ॥२७॥

दूसरे किसी देवतामें मन न लगाकर वह सदा पितामह ब्रह्मामें ही सुदृढ़ भक्तिभाव रखती थी। उस कन्याने अपने धर्माचरणसे पितामहको संतुष्ट कर लिया ॥ २७ ॥

ततस्तामब्रवीत् प्रीतो लोकानां प्रभवोऽव्ययः ।
सौम्येन मनसा राजन् प्रीतः प्रीतमनास्तदा ॥२८॥

राजन् ! तब लोकोंकी उत्पत्तिके कारणभूत अविनाशी ब्रह्मा उस समय मन ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौम्य हृदयसे प्रीतिपूर्वक उससे बोले—॥ २८ ॥

मृत्यो किमिदमत्यन्तं तपांसि चरसीति ह ।
ततोऽब्रवीत् पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम् ॥२९॥

'मृत्यो ! तू किसलिये इस प्रकार अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही है ?' तब मृत्युने भगवान् पितामहसे फिर इस प्रकार कहा—॥ २९ ॥

नाहं हन्यां प्रजा देव स्वस्थाश्चाक्रोशतीस्तथा ।
एतदिच्छामि सर्वेश त्वत्तो वरमहं प्रभो ॥३०॥

'देव ! प्रभो !सर्वेश्वर ! मैं आपसे यही वर पाना चाहती हूँ कि मुझे रोती-चिल्लाती हुई स्वस्थ प्रजाओंका वध न करना पड़े॥

अधर्मभयभीतास्मि ततोऽहं तप आस्थिता ।
भीतायास्तु महाभाग प्रयच्छाभयमव्यय ॥३१॥

'महाभाग ! मैं अधर्मके भयसे बहुत डरती हूँ, इसीलिये तपस्यामें लगी हुई हूँ । अविनाशी परमेश्वर ! मुझ भयभीत अबलाको अभय-दान दीजिये ॥ ३१ ॥

आर्ता चानागसी नारी याचामि भव मे गतिः ।
तामब्रवीत् ततो देवो भूतभव्यभविष्यवित् ॥३२॥

'नाथ ! मैं एक निरपराध नारी हूँ और आपके सामने आर्तभावसे याचना करती हूँ, आप मेरे आश्रयदाता हों ।' तब भूत, भविष्य और वर्तमानके ज्ञाता भगवान् ब्रह्माने उससे कहा—॥ ३२ ॥

अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संहरन्त्या इमाः प्रजाः ।
मया चोक्तं मृषा भद्रे भविता न कथंचन ॥३३॥

'मृत्यो ! इन प्रजाओंका संहार करनेसे तुझे अधर्म नहीं होगा । भद्रे ! मेरी कही हुई बात किसी प्रकार झूठी नहीं हो सकती ॥ ३३ ॥

तस्मात् संहर कल्याणि प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
धर्मः सनातनश्च त्वां सर्वथा पावयिष्यति ॥३४॥

'इसलिये कल्याणि ! तू चार श्रेणियोंमें विभाजित समस्त प्राणियोंका संहार कर । सनातन धर्म तुझे सब प्रकारसे पवित्र बनाये रखेगा ॥ ३४ ॥

लोकपालो यमश्चैव सहाया व्याधयश्च ते ।
अहं च विबुधाश्चैव पुनर्दास्याम ते वरम् ॥३५॥
यथा त्वमेनसा मुक्ता विरजाः ख्यातिमेष्यसि ।

'लोकपाल, यम तथा नाना प्रकारकी व्याधियाँ तेरी सहायता करेंगी । मैं और सम्पूर्ण देवता तुझे पुनः वरदान देंगे, जिससे तू पापमुक्त हो अपने निर्मल स्वरूपसे विख्यात होगी' ॥ ३५½ ॥

सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरिदं विभुम् ॥३६॥
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं प्रसाद्य शिरसा तदा ।

महाराज ! उनके ऐसा कहनेपर मृत्यु हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर भगवान् ब्रह्माको प्रसन्न करके उस समय पुनः यह वचन बोली—॥ ३६½ ॥

यद्येवमेतत् कर्तव्यं मया न स्याद् विना प्रभो ॥३७॥
तवाज्ञा मूर्ध्नि मे न्यस्ता यत् ते वक्ष्यामि तच्छृणु ।

'प्रभो ! यदि इस प्रकार यह कार्य मेरे बिना नहीं हो सकता तो आपकी आज्ञा मैंने शिरोधार्य कर ली है, परंतु इसके विषयमें मैं आपसे जो कुछ कहती हूँ, उसे (ध्यान देकर) सुनिये ॥ ३७½ ॥

लोभः क्रोधोऽभ्यसूयेर्ष्या द्रोहो मोहश्च देहिनाम् ॥३८॥
अह्रीश्चान्योन्यपरुषा देहं भिन्द्युः पृथग्विधाः ।

'लोभ, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, द्रोह, मोह, निर्लज्जता और एक दूसरेके प्रति कही हुई कठोर वाणी—ये विभिन्न दोष ही देहधारियोंकी देहका भेदन करें' ॥ ३८½ ॥

ब्रह्मोवाच

तथा भविष्यते मृत्यो साधु संहर भोः प्रजाः ।
अधर्मस्ते न भविता नापध्यास्याम्यहं शुभे ॥३९॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो ! ऐसा ही होगा । तू उत्तम रीतिसे प्राणियोंका संहार कर । शुभे ! इससे तुझे पाप नहीं लगेगा और मैं भी तेरा अनिष्ट-चिन्तन नहीं करूँगा ॥ ३९ ॥

यान्यश्रुबिन्दूनि करे ममासं-
स्ते व्याधयः प्राणिनामात्मजाताः ।
ते मारयिष्यन्ति नरान् गतासून्
नाधर्मस्ते भविता मा स्म भैषीः ॥ ४० ॥

तेरे आँसुओंकी बूँदें, जिन्हें मैंने हाथमें ले लिया था, प्राणियोंके अपने ही शरीरोंसे उत्पन्न हुई व्याधियाँ बनकर गतायु प्राणियोंका नाश करेंगी । तुझे अधर्मकी प्राप्ति नहीं होगी; इसलिये तू भय न कर ॥ ४० ॥

नाधर्मस्ते भविता प्राणिनां वै
त्वं वै धर्मस्त्वं हि धर्मस्य चेशा ।
धर्म्या भूत्वा धर्मनित्या धरित्री
तस्मात् प्राणान् सर्वथेमान् नियच्छ॥४१॥

निश्चय ही, तुझे पाप नहीं लगेगा । तू प्राणियोंका धर्म और उस धर्मकी स्वामिनी होगी । अतः सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली और धर्मानुकूल जीवन बितानेवाली धरित्री होकर इन समस्त जीवोंके प्राणोंका नियन्त्रण कर ॥ ४१ ॥

सर्वेषां वै प्राणिनां कामरोषौ
संत्यज्य त्वं संहरस्वेह जीवान् ।
एवं धर्मस्त्वां भविष्यत्यनन्तो
मिथ्यावृत्तान् मारयिष्यत्यधर्मः ॥ ४२ ॥

काम और क्रोधका परित्याग करके इस जगत्के समस्त प्राणियोंके प्राणोंका संहार कर । ऐसा करनेसे तुझे अक्षय धर्मकी प्राप्ति होगी । मिथ्याचारी पुरुषोंको तो उनका अधर्म ही मार डालेगा ॥ ४२ ॥

तेनात्मानं पावयस्वात्मना त्वं
पापेऽऽत्मानं मज्जयिष्यन्त्यसत्यात्।
तस्मात् कामं रोषमप्यागतं त्वं
संत्यज्यान्तः संहरस्वेति जीवान् ॥४३॥

तू धर्माचरणद्वारा स्वयं ही अपने आपको पवित्र कर। असत्यका आश्रय लेनेसे प्राणी स्वयं अपने आपको पाप-पङ्कमें डुबो लेंगे। इसलिये अपने मनमें आये हुए काम और क्रोधका त्याग करके तू समस्त जीवोंका संहार कर॥४३॥

नारद उवाच

सा वै भीता मृत्युसंज्ञोपदेशा-
च्छापाद् भीता बाढमित्यब्रवीत् तम्।
सा च प्राणं प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ त्यज्य हरत्यसक्ता ॥ ४४ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! वह मृत्यु नामवाली नारी ब्रह्माजीके उस उपदेशसे और विशेषतः उनके शापके भयसे भीत होकर उनसे बोली—'बहुत अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है'। वही मृत्यु अन्तकाल आनेपर काम और क्रोधका परित्याग करके अनासक्त भावसे समस्त प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण करती है ॥ ४४ ॥

मृत्युस्त्वेषां व्याधयस्तत्प्रसूता
व्याधी रोगो रुज्यते येन जन्तुः।
सर्वेषां च प्राणिनां प्रायणान्ते
तस्माच्छोकं मा कृथा निष्फलं त्वम्।४५।

यही प्राणियोंकी मृत्यु है, इसीसे व्याधियोंकी उत्पत्ति हुई है। व्याधि नाम है रोगका, जिससे प्राणी रुग्ण होता है (उसका स्वास्थ्य भंग होता है)। आयु समाप्त होनेपर सभी प्राणियोंकी मृत्यु इसी प्रकार होती है। अतः राजन्! तुम व्यर्थ शोक न करो ॥ ४५ ॥

सर्वे देवाः प्राणिभिः प्रायणान्ते
गत्वा वृत्ताः संनिवृत्तास्तथैव।
एवं सर्वे प्राणिनस्तत्र गत्वा
वृत्ता देवा मर्त्यवद् राजसिंह ॥ ४६ ॥

आयुके अन्तमें सारी इन्द्रियाँ प्राणियोंके साथ परलोकमें जाकर स्थित होती हैं और पुनः उनके साथ ही इस लोकमें लौट आती हैं। नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार सभी प्राणी देवलोकमें जाकर वहाँ देवस्वरूपमें स्थित होते हैं तथा वे कर्म-देवता मनुष्योंकी भाँति भोगोंकी समाप्ति होनेपर पुनः इस लोकमें लौट आते हैं ॥ ४६ ॥

वायुर्भीमो भीमनादो महौजा
भेत्ता देहान् प्राणिनां सर्वगोऽसौ।
नो वाऽऽवृत्तिं नैव वृत्तिं कदाचित्
प्राप्नोत्युग्रोऽनन्ततेजोविशिष्टः ॥ ४७ ॥

भयंकर शब्द करनेवाला महान् बलशाली भयानक प्राणवायु प्राणियोंके शरीरोंका ही भेदन करता है (चेतन आत्माका नहीं, क्योंकि) वह सर्वव्यापी, उग्र प्रभावशाली और अनन्त तेजसे सम्पन्न है। उसका कभी आवागमन नहीं होता ॥ ४७ ॥

सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टा-
स्तस्मात् पुत्रं मा शुचो राजसिंह।
स्वर्गं प्राप्तो मोदते ते तनूजो
नित्यं रम्यान् वीरलोकानवाप्य ॥ ४८ ॥

राजसिंह! सम्पूर्ण देवता भी मर्त्य (मरणधर्मा) नामसे विभूषित हैं, इसलिये तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें जा पहुँचा है और नित्य रमणीय वीर-लोकोंमें रहकर आनन्दका अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

त्यक्त्वा दुःखं संगतः पुण्यकृद्भि-
रेषा मृत्युर्देवदिष्टा प्रजानाम्।
प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत्
स्वयं कृता प्राणहरा प्रजानाम् ॥ ४९ ॥

वह दुःखका परित्याग करके पुण्यात्मा पुरुषोंसे जा मिला है। प्राणियोंके लिये यह मृत्यु भगवान्की ही दी हुई है; जो समय आनेपर यथोचित रूपसे (प्रजाजनोंका) संहार करती है। प्रजावर्गके प्राण लेनेवाली इस मृत्युको स्वयं ब्रह्माजीने ही रचा है ॥ ४९ ॥

आत्मानं वै प्राणिनो घ्नन्ति सर्वे
नैतान् मृत्युर्दण्डपाणिर्हिनस्ति।
तस्मान्मृतान् नानुशोचन्ति धीरा
मृत्युं ज्ञात्वा निश्चयं ब्रह्मसृष्टम्।
इत्थं सृष्टिं देवक्लृप्तां विदित्वा
पुत्रान्नष्टाच्छोकमाशु त्यजस्व ॥ ५० ॥

सब प्राणी स्वयं ही अपने आपको मारते हैं। मृत्यु हाथमें डंडा लेकर इनका वध नहीं करती है। अतः धीर पुरुष मृत्युको ब्रह्माजीका रचा हुआ निश्चित विधान समझकर मरे हुए प्राणियोंके लिये कभी शोक नहीं करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजीकी बनायी हुई सारी सृष्टिको ही मृत्युके वशीभूत जानकर तुम अपने पुत्रके मर जानेसे प्राप्त होनेवाले शोकका शीघ्र परित्याग कर दो ॥ ५० ॥

द्वैपायन उवाच

एतच्छ्रुत्वार्थवद् वाक्यं नारदेन प्रकाशितम्।
उवाचाकम्पनो राजा सखायं नारदं तथा ॥ ५१ ॥

व्यासजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नारदजीकी कही हुई यह अर्थभरी बात सुनकर राजा अकम्पन अपने मित्र नारदसे इस प्रकार बोले—॥ ५१ ॥

व्यपेतशोकः प्रीतोऽस्मि भगवन्नृषिसत्तम।
श्रुत्वेतिहासं त्वत्तस्तु कृतार्थोऽस्म्यभिवादये ॥ ५२ ॥

'भगवन्! मुनिश्रेष्ठ! आपके मुँहसे यह इतिहास सुनकर मेरा शोक दूर हो गया। मैं प्रसन्न और कृतार्थ हो गया हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ ॥ ५२ ॥

तथोक्तो नारदस्तेन राज्ञा ऋषिवरोत्तमः।
जगाम नन्दनं शीघ्रं देवर्षिरमितात्मवान् ॥ ५३ ॥

राजा अकम्पनके इस प्रकार कहनेपर ऋषियोंमें श्रेष्ठतम अमितात्मा देवर्षि नारद शीघ्र ही नन्दन वनको चले गये ॥

पुण्यं यशस्यं स्वर्ग्यं च धन्यमायुष्यमेव च।
अस्येतिहासस्य सदा श्रवणं श्रावणं तथा ॥ ५४ ॥

जो इस इतिहासको सदा सुनता और सुनाता है, उसके लिये यह पुण्य, यश, स्वर्ग, धन तथा आयु प्रदान करनेवाला है ॥ ५४ ॥

एतदर्थपदं श्रुत्वा तदा राजा युधिष्ठिर।
क्षत्रधर्मं च विज्ञाय शूराणां च परां गतिम् ॥ ५५ ॥
सम्प्राप्तोऽसौ महावीर्यः स्वर्गलोकं महारथः।

युधिष्ठिर! उस समय महारथी महापराक्रमी राजा अकम्पन इस उत्तम अर्थको प्रकाशित करनेवाले वृत्तान्तको सुनकर तथा क्षत्रियधर्म एवं शूरवीरोंकी परम गतिके विषयमें जानकर यथासमय स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ॥ ५५½ ॥

अभिमन्युः परान् हत्वा प्रमुखे सर्वधन्विनाम् ॥ ५६ ॥
युध्यमानो महेष्वासो हतः सोऽभिमुखो रणे।
असिना गदया शक्त्या धनुषा च महारथः।
विरजाः सोमसूनुः स पुनस्तत्र प्रलीयते ॥ ५७ ॥

महाधनुर्धर अभिमन्यु पूर्वजन्ममें चन्द्रमाका पुत्र था, वह महारथी वीर समराङ्गणमें समस्त धनुर्धरोंके सामने शत्रुओंका वध करके खड्ग, शक्ति, गदा और धनुषद्वारा सम्मुख युद्ध करता हुआ मारा गया है तथा दुःखरहित हो पुनः चन्द्रलोकमें ही चला गया है ॥ ५६–५७ ॥

तस्मात् परां धृतिं कृत्वा भ्रातृभिः सह पाण्डव।
अप्रमत्तः सुसंनद्धः शीघ्रं योद्धुमुपाक्रम ॥ ५८ ॥

अतः पाण्डुनन्दन! तुम भाइयोंसहित उत्तम धैर्य धारण करके प्रमाद छोड़कर भलीभाँति कवच आदिसे सुसज्जित हो पुनः शीघ्र ही युद्धके लिये तैयार हो जाओ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें मृत्युप्रजापतिसंवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

षोडशराजकीयोपाख्यानका आरम्भ, नारदजीकी कृपासे राजा सृञ्जयको पुत्रकी प्राप्ति, दस्युओंद्वारा उसका वध तथा पुत्रशोकसंतप्त सृञ्जयको नारदजीका मरुत्तका चरित्र सुनाना

संजय उवाच

श्रुत्वा मृत्युसमुत्पत्तिं कर्माण्यनुपमानि च।
धर्मराजः पुनर्वाक्यं प्रसाद्यैनमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! मृत्युकी उत्पत्ति और उसके अनुपम कर्म सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः व्यासजीको प्रसन्न करके उनसे यह बात कही ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गुरवः पुण्यकर्माणः शक्रप्रतिमविक्रमाः।
स्थाने राजर्षयो ब्रह्मन्ननघाः सत्यवादिनः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! इन्द्रके समान पराक्रमी, श्रेष्ठ, पुण्यकर्मा, निष्पाप तथा सत्यवादी राजर्षिगण अपने योग्य उत्तम स्थान (लोक) में निवास करते हैं ॥ २ ॥

भूय एव तु मां तथ्यैर्वचोभिरभिबृंहय।
राजर्षीणां पुराणानां समाश्वासय कर्मभिः ॥ ३ ॥

अतः आप पुनः उन प्राचीन राजर्षियोंके सत्कर्मोंका बोध करानेवाले अपने यथार्थ वचनोंद्वारा मेरा सौभाग्य बढ़ाइये और मुझे आश्वासन दीजिये ॥ ३ ॥

कियन्त्यो दक्षिणा दत्ताः कैश्च दत्ता महात्मभिः।
राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिस्तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥

पूर्वकालके किन-किन महामनस्वी पुण्यात्मा राजर्षियोंने यज्ञोंमें कितनी-कितनी दक्षिणाएँ दी थीं। यह सब आप मुझे बताइये ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

शैब्यस्य नृपतेः पुत्रः सृञ्जयो नाम नामतः।
सखायौ तस्य चैवोभौ ऋषी पर्वतनारदौ ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! राजा शैब्यके सृंजय नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र था। उसके पर्वत और नारद—ये दो ऋषि मित्र थे ॥ ५ ॥

तौ कदाचिद् गृहं तस्य प्रविष्टौ तद्दिदृक्षया।
विधिवच्चार्चितौ तेन प्रीतौ तत्रोषतुः सुखम् ॥ ६ ॥

एक दिन वे दोनों महर्षि सृंजयसे मिलनेके लिये उसके घर पधारे। उसने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और वे दोनों वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ६ ॥

तं कदाचित् सुखासीनं ताभ्यां सह शुचिस्मिता।
दुहिताभ्यागमत् कन्या सृञ्जयं वरवर्णिनी ॥ ७ ॥

एक समय उन दोनों ऋषियोंके साथ राजा सृंजय सुखपूर्वक बैठे थे। उसी समय पवित्र मुसकानवाली परम सुन्दरी सृंजयकी कुमारी पुत्री वहाँ आयी ॥ ७ ॥

तयाभिवादितः कन्यामभ्यनन्दद् यथाविधि।
तत्सलिङ्गाभिराशीभिरिष्टाभिरभितः स्थिताम् ॥ ८ ॥

आकर उसने राजाको प्रणाम किया। राजाने उसके अनुरूप अभीष्ट आशीर्वाद देकर अपने पार्श्वभागमें खड़ी हुई उस कन्याका विधिपूर्वक अभिनन्दन किया ॥ ८ ॥

तां निरीक्ष्याब्रवीद् वाक्यं पर्वतः प्रहसन्निव।
कस्येयं चञ्चलापाङ्गी सर्वलक्षणसम्मता ॥ ९ ॥

तब महर्षि पर्वतने उस कन्याकी ओर देखकर हँसते हुए-से कहा—'राजन्! यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित चञ्चल कटाक्षवाली कन्या किसकी पुत्री है?॥ ९ ॥

उताहो भाः स्विदर्कस्य ज्वलनस्य शिखा त्वियम्।
श्रीर्ह्रीः कीर्तिर्धृतिः पुष्टिः सिद्धिश्चन्द्रमसः प्रभा ॥ १० ॥

'अहो! यह सूर्यकी प्रभा है या अग्निदेवकी शिखा है अथवा श्री, ह्री, कीर्ति, धृति, पुष्टि, सिद्धि या चन्द्रमाकी प्रभा है?' ॥ १० ॥

एवं ब्रुवाणं देवर्षिं नृपतिः सृञ्जयोऽब्रवीत्।
ममेयं भगवन् कन्या मत्तो वरमभीप्सति ॥ ११ ॥

इस प्रकार पूछते हुए देवर्षि पर्वतसे राजा सृंजयने कहा—'भगवन्! यह मेरी कन्या है, जो मुझसे वर प्राप्त करना चाहती है' ॥ ११ ॥

नारदस्त्वब्रवीदेनं देहि मह्यमिमां नृप।
भार्यार्थं सुमहच्छ्रेयः प्राप्तुं चेदिच्छसे नृप ॥ १२ ॥

इसी समय नारदजी राजासे बोले—'नरेश्वर! यदि तुम परम कल्याण प्राप्त करना चाहते हो तो अपनी इस कन्याको धर्मपत्नी बनानेके लिये मुझे दे दो' ॥ १२ ॥

ददानीत्येव संहृष्टः सृञ्जयः प्राह नारदम्।
पर्वतस्तु सुसंक्रुद्धो नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तब सृंजयने अत्यन्त प्रसन्न होकर नारदजीसे कहा—'दे दूँगा'। यह सुनकर पर्वत अत्यन्त कुपित हो नारदजीसे बोले—॥ १३ ॥

हृदयेन मया पूर्वं वृतां वै वृतवानसि।
यस्माद् वृता त्वया विप्र मा गाः स्वर्गं यथेप्सया ॥ १४ ॥

'ब्रह्मन्! मैंने मन-ही-मन पहले ही जिसका वरण कर लिया था, उसीका तुमने वरण किया है। अतः तुमने मेरी मनोनीत पत्नीको वर लिया है, इसलिये अब तुम इच्छानुसार स्वर्गमें नहीं जा सकते' ॥ १४ ॥

एवमुक्तो नारदस्तं प्रत्युवाचोत्तरं वचः।
मनोवाग्बुद्धिसम्भाषा दत्ता चोदकपूर्वकम् ॥ १५ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राश्च प्रथितं वरलक्षणम्।
न त्वेषा निश्चिता निष्ठा निष्ठा सप्तपदी स्मृता ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर नारदजीने उन्हें यह उत्तर दिया—'मनसे संकल्प करके, वाणीद्वारा प्रतिज्ञा करके, बुद्धिके द्वारा पूर्ण निश्चयके साथ, परस्पर सम्भाषणपूर्वक तथा संकल्पका जल हाथमें लेकर जो कन्यादान किया जाता है, वरके द्वारा जो कन्याका पाणिग्रहण होता है और वैदिक मन्त्रके पाठ किये जाते हैं, यही विधि-विधान कन्या-परिग्रहके साधकरूपसे प्रसिद्ध है; परंतु इतनेसे ही पाणिग्रहणकी पूर्णताका निश्चय नहीं होता है। उसकी पूर्ण निष्ठा तो सप्तपदी ही मानी गयी है ॥ १५-१६ ॥

अनुत्पन्ने च कार्यार्थे मां त्वं व्याहृतवानसि।
तस्मात् त्वमपि न स्वर्गं गमिष्यसि मया विना ॥ १७ ॥

'अतः इस कन्याके ऊपर पतिरूपसे तुम्हारा अधिकार नहीं हुआ है—ऐसी अवस्थामें भी तुमने मुझे शाप दे दिया है, इसलिये तुम भी मेरे बिना स्वर्ग नहीं जा सकोगे' ॥१७॥

अन्योन्यमेवं शप्त्वा वै तस्थतुस्तत्र तौ तदा।
अथ सोऽपि नृपो विप्रान् पानाच्छादनभोजनैः ॥ १८ ॥
पुत्रकामः परं शक्त्या यत्नाच्चोपाचरच्छुचिः।

इस प्रकार एक दूसरेको शाप देकर वे दोनों उस समय वहीं ठहर गये। इधर राजा सृंजयने पुत्रकी इच्छासे पवित्र हो पूरी शक्ति लगाकर बड़े यत्नसे भोजन, पीने योग्य पदार्थ तथा वस्त्र आदि देकर ब्राह्मणोंकी आराधना की ॥ १८½ ॥

तस्य प्रसन्ना विप्रेन्द्राः कदाचित् पुत्रमीप्सवः ॥ १९ ॥
तपःस्वाध्यायनिरता वेदवेदाङ्गपारगाः।
सहिता नारदं प्राहुर्देह्यस्मै पुत्रमीप्सितम् ॥ २० ॥

एक दिन राजापर प्रसन्न होकर उन्हें पुत्र देनेकी इच्छावाले सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो तपस्या और स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे, एक साथ नारदजीसे बोले—'देवर्षे! आप इन राजा सृंजयको अभीष्ट पुत्र प्रदान कीजिये' ॥ १९-२० ॥

तथेत्युक्त्वा द्विजैरुक्तः सृञ्जयं नारदोऽब्रवीत्।
तुभ्यं प्रसन्ना राजर्षे पुत्रमीप्सन्ति ब्राह्मणाः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर नारदजीने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। फिर वे सृंजयसे इस प्रकार बोले—'राजर्षे! ये ब्राह्मणलोग प्रसन्न होकर तुम्हारे लिये अभीष्ट पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २१ ॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते यादृशं पुत्रमीप्सितम्।
तथोक्तः प्राञ्जली राजा पुत्रं वव्रे गुणान्वितम् ॥ २२ ॥
यशस्विनं कीर्तिमन्तं तेजस्विनमरिंदमम्।

यस्य मूत्रं पुरीषं च क्लेदः स्वेदश्च काञ्चनम् ॥ २३ ॥
(सर्वं भवेत् प्रसादाद् वै तादृशं तनयं वृणे ।

'तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें जैसा पुत्र अभीष्ट हो, उसके लिये वर माँगो' । नारदजीके ऐसा कहनेपर राजाने हाथ जोड़कर उनसे एक सद्गुणसम्पन्न, यशस्वी, कीर्तिमान्, तेजस्वी तथा शत्रुदमन पुत्र माँगा । वह बोला—'मुने ! मैं ऐसे पुत्रकी याचना करता हूँ, जिसका मल, मूत्र, थूक और पसीना सब कुछ आपके कृपाप्रसादसे सुवर्णमय हो जाय' ॥

व्यास उवाच

तथा भविष्यतीत्युक्ते जज्ञे तस्येप्सितः सुतः ॥
काञ्चनस्याकरः श्रीमान् प्रसादाच्च सुकाङ्क्षितः ।
अपतत् तस्य नेत्राभ्यां रुदतस्तस्य नेत्रजम् ॥)
सुवर्णष्ठीविरित्येवं तस्य नामाभवत् कृतम् ।
तस्मिन् वरप्रदानेन वर्धयत्यमितं धनम् ॥ २४ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! तब मुनिने कहा—'ऐसा ही होगा' । उनके ऐसा कहनेपर राजाको मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त हुआ । मुनिके प्रसादसे वह शोभाशाली पुत्र सुवर्णकी खान निकला । राजा वैसा ही पुत्र चाहते थे । रोते समय उसके नेत्रोंसे सुवर्णमय आँसू गिरता था । इसीलिये उस पुत्रका नाम सुवर्णष्ठीवी प्रसिद्ध हो गया । वरदानके प्रभावसे वह अनन्त धनराशिकी वृद्धि करने लगा ॥ २४ ॥

कारयामास नृपतिः सौवर्णं सर्वमीप्सितम् ।
गृहप्राकारदुर्गाणि ब्राह्मणावसथान्यपि ॥ २५ ॥
शय्यासनानि यानानि स्थाली पिठरभाजनम् ।
तस्य राज्ञोऽपि यद् वेश्म बाह्याश्चोपस्कराश्च ये ॥ २६ ॥
सर्वं तत् काञ्चनमयं कालेन परिवर्धितम् ।

राजाने घर, परकोटे, दुर्ग एवं ब्राह्मणोंके निवासस्थान सारी अभीष्ट वस्तुएँ सोनेकी बनवा लीं । शय्या, आसन, सवारी, बटलोई, थाली, अन्य बर्तन, उस राजाका महल तथा बाह्य उपकरण—ये सब कुछ सुवर्णमय बन गये थे, जो समयके अनुसार बढ़ रहे थे ॥ २५–२६½ ॥

अथ दस्युगणाः श्रुत्वा दृष्ट्वा चैनं तथाविधम् ॥ २७ ॥
सम्भूय तस्य नृपतेः समारब्धाश्चिकीर्षितुम् ।

तदनन्तर लुटेरोंने राजाके वैभवकी बात सुनकर तथा उन्हें वैसा ही सम्पन्न देखकर संगठित हो उनके यहाँ लूट-पाट आरम्भ कर दी ॥ २७½ ॥

केचित् तत्राब्रुवन् राज्ञः पुत्रं गृह्णीम वै स्वयम् ॥ २८ ॥
सोऽस्याकरः काञ्चनस्य तस्य यत्नं चरामहे ।

उन डाकुओंमेंसे कोई-कोई इस प्रकार बोले—'हम सब लोग स्वयं इस राजाके पुत्रको अधिकारमें कर लें; क्योंकि वही इस सुवर्णकी खान है । अतः हम उसीको पकड़नेका यत्न करें' ॥ २८½ ॥

ततस्ते दस्यवो लुब्धाः प्रविश्य नृपतेर्गृहम् ॥ २९ ॥
राजपुत्रं तथा जह्रुः सुवर्णष्ठीविनं बलात् ।

तब उन लोभी लुटेरोंने राजमहलमें प्रवेश करके राजकुमार सुवर्णष्ठीवीको बलपूर्वक हर लिया ॥ २९½ ॥

गृह्यैनमनुपायज्ञा नीत्वारण्यमचेतसः ॥ ३० ॥
हत्वा विशस्य चापश्यन् लुब्धा वसु न किञ्चन ।
तस्य प्राणैर्विमुक्तस्य नष्टं तद् वरदं वसु ॥ ३१ ॥

योग्य उपायको न जाननेवाले उन विवेकशून्य डाकुओंने उसे वनमें ले जाकर मार डाला और उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े करके देखा, परंतु उन्हें थोड़ा-सा भी धन नहीं दिखायी दिया । उसके प्राणशून्य होते ही वह वरदायक वैभव नष्ट हो गया ॥ ३०–३१ ॥

दस्यवश्च तदान्योन्यं जघ्नुर्मूर्खा विचेतसः ।
हत्वा परस्परं नष्टाः कुमारं चाद्भुतं भुवि ॥ ३२ ॥
असम्भाव्यं गता घोरं नरकं दुष्टकारिणः ।

उस समय वे विचारशून्य मूर्ख एवं दुराचारी दस्यु भूमण्डलके उस अद्भुत और असम्भव कुमारका वध करके परस्पर एक दूसरेको मारने लगे । इस प्रकार मार-पीट करके वे भी नष्ट हो गये और भयंकर नरकमें पड़ गये ॥ ३२½ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं पुत्रं वरदत्तं महातपाः ॥ ३३ ॥
विललाप सुदुःखार्तो बहुधा करुणं नृपः ।

मुनिके वरसे प्राप्त हुए उस पुत्रको मारा गया देख वे महातपस्वी नरेश अत्यन्त दुःखसे आतुर हो नाना प्रकारसे करुणाजनक विलाप करने लगे ॥ ३३½ ॥

विलपन्तं निशम्याथ पुत्रशोकहतं नृपम् ॥ ३४ ॥
प्रत्यदृश्यत देवर्षिर्नारदस्तस्य संनिधौ ।

पुत्रशोकसे पीड़ित हुए राजा सृंजय विलाप कर रहे हैं—यह सुनकर देवर्षि नारद उनके समीप दिखायी दिये । ३४½ ।

उवाच चैनं दुःखार्तं विलपन्तमचेतसम् ॥ ३५ ॥
सृञ्जयं नारदोऽभ्येत्य तन्निबोध युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! दुःखसे पीड़ित हो अचेत होकर विलाप करते हुए राजा सृंजयके निकट आकर नारदजीने जो कुछ कहा था, वह सुनो ॥ ३५½ ॥

(नारद उवाच

त्यज शोकं महाराज वैक्लव्यं त्यज बुद्धिमन् ।
न मृतः शोचतो जीवेन्मुह्यतो वा जनाधिप ॥

नारदजी बोले—महाराज ! शोकका त्याग करो ! बुद्धिमान् नरेश ! व्याकुलता छोड़ो । जनेश्वर ! कोई कितना ही शोक क्यों न करे या दुःखसे मूर्छित क्यों न हो जाय, इससे मरा हुआ मनुष्य जीवित नहीं हो सकता ॥

त्यज मोहं नृपश्रेष्ठ न हि मुह्यन्ति त्वद्विधाः ।
धीरो भव महाराज ज्ञानवृद्धोऽसि मे मतः ॥)

नृपश्रेष्ठ ! मोह त्याग दो ! तुम्हारे-जैसे पुरुष मोहित नहीं होते हैं। महाराज ! धैर्य धारण करो ! मैं तुम्हें ज्ञानमें बढ़ा-चढ़ा मानता हूँ ॥

कामानामवितृप्तस्त्वं सृञ्जयेह मरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यस्य चैते वयं गेहे उषिता ब्रह्मवादिनः ।

सृंजय ! जिसके घरमें ये हम-जैसे ब्रह्मवादी मुनि निवास करते हैं, वह तुम भी यहाँ एक दिन भोगोंसे अतृप्त रहकर ही मर जाओगे ॥ ३६½ ॥

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ ३७ ॥
संवर्तो याजयामास स्पर्धया वै बृहस्पतेः ।
यस्मै राजर्षये प्रादाद् धनं स भगवान् प्रभुः ॥ ३८ ॥
हैमं हिमवतः पादं यियक्षोर्विविधैः स वै ।
यस्य सेन्द्राऽमरगणा बृहस्पतिपुरोगमाः ॥ ३९ ॥
देवा विश्वसृजः सर्वे यजनान्ते समासते ।
यज्ञवाटस्य सौवर्णाः सर्वे चासन् परिच्छदाः ॥ ४० ॥
यस्य सर्वं तदा ह्यन्नं मनोऽभिप्रायगं शुचि ।
कामतो बुभुजुर्विप्राः सर्वे चान्नार्थिनो द्विजाः ॥ ४१ ॥
पयो दधि घृतं क्षौद्रं भक्ष्यं भोज्यं च शोभनम् ।
यस्य यज्ञेषु सर्वेषु वासांस्याभरणानि च ॥ ४२ ॥
ईप्सितान्युपतिष्ठन्त प्रहृष्टान् वेदपारगान् ।
मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्याभवन् गृहे ॥ ४३ ॥
आविक्षितस्य राजर्षेर्विश्वेदेवाः सभासदः ।
यस्य वीर्यवतो राज्ञः सुवृष्ट्या सस्यसम्पदः ॥ ४४ ॥
हविर्भिस्तर्पिता येन सम्यक् क्लृप्तैर्दिवौकसः ।
ऋषीणां च पितॄणां च देवानां सुखजीविनाम् ॥ ४५ ॥
ब्रह्मचर्यश्रुतिमुखैः सर्वैर्दानैश्च सर्वदा ।
शयनासनयानानि स्वर्णराशीश्च दुस्त्यजाः ॥ ४६ ॥
तत् सर्वममितं वित्तं दत्तं विप्रेभ्य इच्छया ।
सोऽनुध्यातस्तु शक्रेण प्रजाः कृत्वा निरामयाः ॥ ४७ ॥
श्रद्दधानो जितॉंल्लोकान् गतः पुण्यदुहोऽक्षयान् ।

सृंजय ! अविक्षितके पुत्र राजा मरुत्त भी मर गये, ऐसा हमने सुना है। बृहस्पतिजीके साथ स्पर्धा रखनेके कारण उनके भाई संवर्तने जिन राजर्षि मरुत्तका यज्ञ कराया था, भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करनेकी इच्छा होनेपर जिन्हें साक्षात् भगवान् शङ्करने प्रचुर धन-राशिके रूपमें हिमालयका एक सुवर्णमय शिखर प्रदान किया था तथा प्रतिदिन यज्ञकार्यके अन्तमें जिनकी सभामें इन्द्र आदि देवता और बृहस्पति आदि समस्त प्रजापतिगण सभासद्‌के रूपमें बैठा करते थे, जिनके यज्ञ-मण्डपकी सारी सामग्रियाँ सोनेकी बनी हुई थीं, जिनके यहाँ उन दिनों सब प्रकारका अन्न, मनकी इच्छाके अनुरूप और पवित्र रूपमें उपलब्ध होता था और सभी भोजनार्थी ब्राह्मण एवं द्विज जहाँ अपनी इच्छाके अनुसार दूध, दही, घी, मधु एवं सुन्दर भक्ष्य-भोज्य पदार्थ भोजन करते थे, जिनके सम्पूर्ण यज्ञोंमें प्रसन्नतासे भरे हुए वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंको अपनी रुचिके अनुसार वस्त्र एवं आभूषण प्राप्त होते थे, जिन अविक्षित-कुमार (राजर्षि मरुत्त) के घरमें मरुद्गण रसोई परोसने-का काम करते थे और विश्वेदेवगण सभासद् थे, जिन पराक्रमी नरेशके राज्यमें उत्तम वृष्टिके कारण खेतीकी उपज बहुत होती थी, जिन्होंने उत्तम विधिसे समर्पित किये हुए हविष्योंद्वारा देवताओंको तृप्त किया था, जो ब्रह्मचर्यपालन और वेदपाठ आदि सत्कर्मोंद्वारा तथा सब प्रकारके दानोंसे सदा ऋषियों, पितरों एवं सुखजीवी देवताओंको भी संतुष्ट करते थे तथा जिन्होंने इच्छानुसार ब्राह्मणोंको शय्या, आसन, सवारी और दुस्त्यज स्वर्णराशि आदि वह सारा अपरिमित धन दान कर दिया था, देवराज इन्द्र जिनका सदा शुभ चिन्तन करते थे, वे श्रद्धालु नरेश मरुत्त अपनी प्रजाको नीरोग करके अपने सत्कर्मोंद्वारा जीते हुए पुण्यफलदायक अक्षय लोकोंमें चले गये ॥ ३७—४७½ ॥

सप्रजः सनृपामात्यः सदारापत्यबान्धवः ॥ ४८ ॥
यौवनेन सहस्राब्दं मरुत्तो राज्यमन्वशात् ।

राजा मरुत्तने युवावस्थामें रहकर प्रजा, मन्त्री, धर्म-पत्नी, पुत्र और भाइयोंके साथ एक हजार वर्षोंतक राज्य-शासन किया था ॥ ४८½ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ४९ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ ५० ॥

श्वैत्य सृंजय ! धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चारों बातोंमें राजा मरुत्त तुमसे बढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। तुम्हारे पुत्रने न तो कोई यज्ञ किया था और न उसमें कोई उदारता ही थी। अतः उसको लक्ष्य करके तुम चिन्ता न करो—नारदजीने राजा सृंजयसे यही बात कही ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा सुहोत्रकी दानशीलता

नारद उवाच

सुहोत्रं नाम राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
एकवीरमशक्यं तममरैरभिवीक्षितुम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! राजा सुहोत्रकी भी मृत्यु सुनी गयी है। वे अपने समयके अद्वितीय वीर थे। देवता भी उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकते थे ॥

यः प्राप्य राज्यं धर्मेण ऋत्विग्ब्रह्मपुरोहितान् ।
अपृच्छदात्मनः श्रेयः पृष्ट्वा तेषां मते स्थितः ॥ २ ॥

उन्होंने धर्मके अनुसार राज्य पाकर ऋत्विजों, ब्राह्मणों तथा पुरोहितोंसे अपने कल्याणका उपाय पूछा और पूछकर वे उनकी सम्मतिके अनुसार चलते रहे ॥ २ ॥

प्रजानां पालनं धर्मो दानमिज्या द्विषज्जयः ।
एतत् सुहोत्रो विज्ञाय धर्मेणैच्छद् धनागमम् ॥ ३ ॥

प्रजापालन, धर्म, दान, यज्ञ और शत्रुओंपर विजय पाना—इन सबको राजा सुहोत्रने अपने लिये श्रेयस्कर जानकर धर्मके द्वारा ही धन पानेकी अभिलाषा की ॥ ३ ॥

धर्मेणाराधयन् देवान् बाणैः शत्रूञ्जयंस्तथा ।
सर्वाण्यपि च भूतानि स्वगुणैरप्यरञ्जयत् ॥ ४ ॥
यो भुक्त्वेमां वसुमतीं म्लेच्छाटविकवर्जिताम् ।
यस्मै ववर्ष पर्जन्यो हिरण्यं परिवत्सरान् ॥ ५ ॥

उन्होंने इस पृथ्वीको म्लेच्छों तथा तस्करोंसे रहित करके इसका उपभोग किया और धर्माचरणद्वारा देवताओंकी आराधना तथा बाणोंद्वारा शत्रुओंपर विजय करते हुए अपने गुणोंसे समस्त प्राणियोंका मनोरञ्जन किया था, उनके लिये मेघने अनेक वर्षोंतक सुवर्णकी वर्षा की थी ॥४-५॥

हैरण्यास्तत्र वाहिन्यः स्वैरिण्यो व्यवहन् पुरा ।
ग्राहान् कर्कटकांश्चैव मत्स्यांश्च विविधान् बहून् ॥६॥

राजा सुहोत्रके राज्यमें पहले स्वच्छन्द गतिसे बहनेवाली स्वर्णरससे भरी हुई सरिताएँ सुवर्णमय ग्राहों, केकड़ों, मत्स्यों तथा नाना प्रकारके बहुसंख्यक जल-जन्तुओंको अपने भीतर बहाया करती थीं ॥ ६ ॥

कामान् वर्षति पर्जन्यो रूप्याणि विविधानि च ।
सौवर्णान्यप्रमेयाणि वाप्यश्च क्रोशसम्मिताः ॥ ७ ॥

मेघ अभीष्ट वस्तुओंकी तथा नाना प्रकारके रजत और असंख्य सुवर्णकी वर्षा करते थे। उनके राज्यमें एक-एक कोसकी लंबी-चौड़ी बावलियाँ थीं ॥ ७ ॥

सहस्रं वामनान् कुब्जान् नक्रान् मकरकच्छपान् ।
सौवर्णान् विहितान् दृष्ट्वा ततोऽस्मयत वै तदा ॥ ८ ॥

उनमें सहस्रों नाटे-कुबड़े ग्राह, मगर और कछुए रहते थे, जिनके शरीर सुवर्णके बने हुए थे। उन्हें देखकर राजाको उन दिनों बड़ा विस्मय होता था ॥ ८ ॥

तत् सुवर्णमपर्यन्तं राजर्षिः कुरुजाङ्गले ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ॥ ९ ॥

राजर्षि सुहोत्रने कुरुजाङ्गल देशमें यज्ञ किया और उस विशाल यज्ञमें अपनी अनन्त सुवर्णराशि ब्राह्मणोंको बाँट दी ॥ ९ ॥

सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
पुण्यैः क्षत्रिययज्ञैश्च प्रभूतवरदक्षिणैः ॥ १० ॥

उन्होंने एक हजार अश्वमेध, सौ राजसूय तथा बहुत-सी श्रेष्ठ दक्षिणावाले अनेक पुण्यमय क्षत्रिय-यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १० ॥

काम्यनैमित्तिकाजस्रैरिष्ट्वां गतिमवाप्तवान् ।
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ११ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १२ ॥

राजाने नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य यज्ञोंके निरन्तर अनुष्ठानसे मनोवाञ्छित गति प्राप्त कर ली । श्वैत्य संजय ! वे भी तुमसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य–इन चारों कल्याणकारी विषयोंमें बहुत बढ़े-चढ़े थे । तुम्हारे पुत्रसे भी वे अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब तुम्हें अपने पुत्रके लिये अनुताप नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे पुत्रने न तो कोई यज्ञ किया था और न उसमें दाक्षिण्य (उदारताका गुण) ही था । नारदजीने राजा सृञ्जयसे यही बात कही ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा पौरवके अद्भुत दानका वृत्तान्त

नारद उवाच

राजानं पौरवं वीरं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
सहस्रं यः सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! हमने वीर राजा पौरवकी भी मृत्यु हुई सुनी है, जिन्होंने दस लाख श्वेत घोड़ोंका दान किया था ॥ १ ॥

तस्याश्वमेधे राजर्षेर्देशाद्देशात् समीयुषाम् ।
शिक्षाक्षरविधिज्ञानां नासीत् संख्या विपश्चिताम् ॥२॥

उन राजर्षिके अश्वमेध, यज्ञमें देश-देशसे आये हुए शिक्षाशास्त्र, अक्षर (विभिन्न देशोंकी लिपि) और यज्ञ-विधिके ज्ञाता विद्वानोंकी गिनती नहीं थी ॥ २ ॥

वेदविद्याव्रतस्नाता वदान्याः प्रियदर्शनाः ।
सुभिक्षाच्छादनगृहाः सुशय्यासनभोजनाः ॥ ३ ॥

वेदविद्याके अध्ययनका व्रत पूर्ण करके स्नातक बने हुए उदार और प्रियदर्शन पण्डितजन राजासे उत्तम अन्न, वस्त्र, गृह, सुन्दर शय्या, आसन और भोजन पाते थे ॥ ३ ॥

नटनर्तकगन्धर्वैः पूर्णकैर्वर्धमानकैः ।
नित्योद्योगैश्च क्रीडद्भिस्तत्र स्म परिहर्षिताः ॥ ४ ॥

नित्य उद्योगशील एवं खेल-कूद करनेवाले नट, नर्तक और गन्धर्वगण कुक्कुटकी-सी आकृतिवाले आरतीके प्यालोंसे अपनी कला दिखाकर उक्त विद्वानोंका मनोरञ्जन एवं हर्ष-वर्द्धन करते रहते थे ॥ ४ ॥

यज्ञे यज्ञे यथाकालं दक्षिणाः सोऽत्यकालयत् ।
द्विपा दशसहस्राख्याः प्रमदाः काञ्चनप्रभाः ॥ ५ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च रथा हेममयास्तथा ।
यः सहस्रं सहस्राणि कन्या हेमविभूषिताः ॥ ६ ॥

राजा पौरव प्रत्येक यज्ञमें यथासमय प्रचुर दक्षिणा बाँटते थे । उन्होंने स्वर्णकी-सी कान्तिवाले दस हजार मतवाले हाथी, ध्वजा और पताकाओंसहित सुवर्णमय बहुत-से रथ तथा एक लाख स्वर्णभूषित कन्याओंका दान किया था ॥ ५-६ ॥

धूर्युजाश्वगजारूढाः सगृहक्षेत्रगोशताः ।
शतं शतसहस्राणि स्वर्णमालिमहात्मनाम् ॥ ७ ॥
गवां सहस्रानुचरान् दक्षिणामत्यकालयत् ।

वे कन्याएँ रथ, अश्व एवं हाथियोंपर आरूढ़ थीं । उनके साथ ही उन्होंने सौ-सौ घर, क्षेत्र और गौएँ प्रदान की थीं । राजाने सुवर्णमालामण्डित विशालकाय एक करोड़ गाय-बैलों और उनके सहस्रों अनुचरोंको दक्षिणारूपसे दान किया था ॥ ७½ ॥

हेमशृङ्ग्यो रौप्यखुराः सवत्साः कांस्यदोहनाः ॥ ८ ॥
दासीदासखरोष्ट्राश्च प्रादादाजाविकं बहु ।

सोनेके सींग, चाँदीके खुर और काँसेके दुग्धपात्रवाली बहुत-सी बछड़ेसहित गौएँ तथा दास, दासी, गदहे, ऊँट एवं बकरी और भेड़ आदि भारी संख्यामें दान किये ॥८½॥

रत्नानां विविधानां च विविधांश्चान्नपर्वतान् ॥ ९ ॥
तस्मिन् संवितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

उस विशाल यज्ञमें नाना प्रकारके रत्नों तथा भाँति-भाँतिके अन्नोंके पर्वत-समान ढेर उन्होंने दक्षिणारूपमें दिये ॥ ९½ ॥

तत्रास्य गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १० ॥

उस यज्ञके सम्बन्धमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले लोग इस प्रकार गाथा गाते हैं—॥ १० ॥

अङ्गस्य यजमानस्य स्वधर्माधिगताः शुभाः ।
गुणोत्तरास्तु क्रतवस्तस्यासन् सार्वकामिकाः ॥ ११ ॥

'यजमान अङ्गनरेशके सभी यज्ञ स्वधर्मके अनुसार प्राप्त और शुभ थे । वे उत्तरोत्तर गुणवान् और सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि करनेवाले थे' ॥ ११ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १२ ॥

संजय ! राजा पौरव धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—

इन चारों बातोंमें तुमसे बढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। श्वैत्य सृंजय ! जब वे भी मर गये, तब तुम यज्ञ और दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। नारदजीने राजा सृंजयसे यही बात कही ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा शिबिके यज्ञ और दानकी महत्ता

नारद उवाच

शिबिमौशीनरं चापि मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत् पर्यवेष्टयत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वीको चमड़ेकी भाँति लपेट लिया था, (सर्वथा अपने अधीन कर लिया था) वे उशीनरपुत्र राजा शिबि भी मरे थे, यह हमने सुना है ॥ १ ॥

साद्रिद्वीपार्णववनां रथघोषेण नादयन्।
स शिबिर्वै रिपून् नित्यं मुख्यान् निघ्नन् सपत्नजित्॥२॥

राजा शिबिने पर्वत, द्वीप, समुद्र और वनोंसहित इस पृथ्वीको अपने रथकी घरघराहटसे प्रतिध्वनित करते हुए प्रधान-प्रधान शत्रुओंको मारकर सदा ही अपने विपक्षियोंपर विजय प्राप्त की थी ॥ २ ॥

तेन यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं पर्याप्तदक्षिणैः।
स राजा वीर्यवान् धीमानवाप्य वसु पुष्कलम् ॥ ३ ॥
सर्वमूर्धाभिषिक्तानां सम्मतः सोऽभवद् युधि।
अयजच्चाश्वमेधैर्यो विजित्य पृथिवीमिमाम् ॥ ४ ॥

उन्होंने प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। वे पराक्रमी और बुद्धिमान् नरेश पर्याप्त धन पाकर युद्धमें सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंकी दृष्टिमें सम्माननीय वीर हो गये थे। उन्होंने इस पृथ्वीको जीतकर अनेक अश्वमेध-यज्ञ किये थे ॥ ३–४ ॥

निरर्गलैर्बहुफलैर्निष्ककोटिसहस्रदः ।
हस्त्यश्वपशुभिर्धान्यैर्मृगैर्गोऽजाविभिस्तथा ॥ ५ ॥
विविधां पृथिवीं पुण्यां शिबिर्ब्राह्मणसात्करोत्।

उनके वे यज्ञ प्रचुर फल देनेवाले थे और सदा निर्बाध-रूपसे चलते रहते थे। उन्होंने सहस्रकोटि स्वर्णमुद्राओंका दान किया था। राजा शिबिने हाथी, घोड़े, मृग, गौ, भेड़ और बकरी आदि पशुओं तथा धान्योंसहित नाना प्रकारके पवित्र भूखण्ड ब्राह्मणोंके अधीन कर दिये थे ॥ ५½ ॥

यावत्यो वर्षतो धारा यावत्यो दिवि तारकाः ॥ ६ ॥
यावत्यः सिकता गाङ्ग्यो यावन्मेरोर्महोपलाः।
उदन्वति च यावन्ति रत्नानि प्राणिनोऽपि च ॥ ७ ॥
तावतीरददद् गा वै शिबिरौशीनरोऽध्वरे।

बरसते हुए मेघसे जितनी धाराएँ गिरती हैं, आकाशमें जितने नक्षत्र दिखायी देते हैं, गङ्गाके किनारे जितने बालूके कण हैं, सुमेरु पर्वतमें जितने स्थूल प्रस्तरखण्ड हैं तथा महासागरमें जितने रत्न और प्राणी निवास करते हैं, उतनी गौएँ उशीनरपुत्र शिबिने यज्ञमें ब्राह्मणोंको दी थीं ॥ ६-७½ ॥

नो यन्तारं धुरस्तस्य कञ्चिदन्यं प्रजापतिः ॥ ८ ॥
भूतं भव्यं भवन्तं वा नाध्यगच्छन्नरोत्तमम्।

प्रजापतिने भी अपनी सृष्टिमें भूत, भविष्य और वर्तमान कालके किसी भी दूसरे नरश्रेष्ठ राजाको ऐसा नहीं पाया, जो शिबिके कार्यभारको सँभाल सकता हो ॥ ८½ ॥

तस्यासन् विविधा यज्ञाः सर्वकामैः समन्विताः ॥ ९ ॥
हेमयूपासनगृहा हेमप्राकारतोरणाः।

उन्होंने नाना प्रकारके बहुत-से यज्ञ किये, जिनमें प्रार्थियोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण की जाती थीं। उन यज्ञोंमें यज्ञस्तम्भ, आसन, गृह, परकोटे और दरवाजे सुवर्णके बने हुए थे ॥ ९½ ॥

शुचि स्वाद्वन्नपानं च ब्राह्मणाः प्रयुतायुताः ॥ १० ॥
नानाभक्ष्यैः प्रियकथाः पयोदधिमहाह्रदाः।
तस्यासन् यज्ञवाटेषु नद्यः शुभ्रान्नपर्वताः ॥ ११ ॥

उन यज्ञोंमें खाने-पीनेकी वस्तुएँ पवित्र और स्वादिष्ट होती थीं। वहाँ दूध-दहीके बड़े-बड़े सरोवर बने हुए थे। वहाँ हजारों और लाखों ब्राह्मण भाँति-भाँतिके खाद्य पदार्थ पाकर प्रसन्नता प्रकट करनेवाली बातें कहते थे। उनकी यज्ञशालाओं-में पीने योग्य पदार्थोंकी नदियाँ बहती थीं और शुद्ध अन्नके पर्वतोंके समान ढेर लगे रहते थे ॥ १०–११ ॥

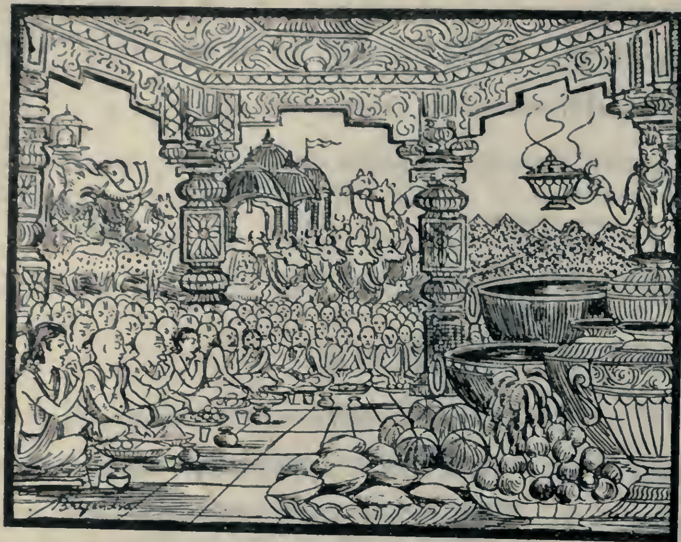

राजन् ! सदा दान करते रहनेपर भी तुम्हारा धन क्षीण नहीं होगा, तुम्हारी श्रद्धा, कीर्ति और पुण्यकर्म भी अक्षय होंगे। तुम्हारे कहनेके अनुसार ही सब प्राणी तुमसे प्रेम करेंगे और अन्तमें तुम्हें उत्तम स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ १२-१३ ॥

एताँल्लब्ध्वा वरानिष्टा-
ञ्छिबिः काले दिवं गतः।
स चेन्ममार सृञ्जय
चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ १४ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं
मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्य-
मभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १५ ॥

इन अभीष्ट वरोंको पाकर राजा शिबि समय आनेपर स्वर्गलोकमें गये। सृंजय ! वे तुम्हारी अपेक्षा पूर्वोक्त चारों बातोंमें बहुत बढ़े-चढ़े थे। तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। श्वित्यनन्दन ! जब वे शिबि भी मर गये, तब तुम्हें यज्ञ और दानसे रहित अपने पुत्रके लिये इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये। नारदजीने राजा सृंजयसे यही बात कही ॥ १४-१५ ॥

पिबत स्नात खादध्वमिति यद् रोचते जनाः।
यस्मै प्रादाद् वरं रुद्रस्तुष्टः पुण्येन कर्मणा ॥ १२ ॥
अक्षयं ददतो वित्तं श्रद्धा कीर्तिस्तथा क्रियाः।
यथोक्तमेव भूतानां प्रियत्वं स्वर्गमुत्तमम् ॥ १३ ॥

वहाँ सबके लिये यह घोषणा की जाती थी कि 'सज्जनो! स्नान करो और जिसकी जैसी रुचि हो उसके अनुसार अन्न-पान लेकर खूब खाओ-पीओ'। भगवान् शिवने राजा शिबिके पुण्यकर्मसे प्रसन्न होकर उन्हें यह वर दिया था कि

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामका चरित्र

नारद उवाच

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यं प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम भी यहाँसे परमधामको चले गये थे, यह मेरे सुननेमें आया है। उनके राज्यमें सारी प्रजा निरन्तर आनन्दमग्न रहती थी। जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार वे समस्त प्रजाका स्नेहपूर्वक संरक्षण करते थे॥

असंख्येया गुणा यस्मिन्नासन्नमिततेजसि।
यश्चतुर्दश वर्षाणि निदेशात् पितुरच्युतः ॥ २ ॥
वने वनितया सार्धमवसल्लक्ष्मणाग्रजः।

वे अत्यन्त तेजस्वी थे और उनमें असंख्य गुण विद्यमान थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामने पिताकी आज्ञासे चौदह वर्षोंतक अपनी पत्नी सीता (और भाई लक्ष्मण) के साथ वनमें निवास किया था ॥ २½ ॥

जघान च जनस्थाने राक्षसान् मनुजर्षभः ॥ ३ ॥
तपस्विनां रक्षणार्थं सहस्राणि चतुर्दश।

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने जनस्थानमें तपस्वी मुनियोंकी रक्षाके लिये चौदह हजार राक्षसोंका वध किया था ॥ ३½ ॥

तत्रैव वसतस्तस्य रावणो नाम राक्षसः ॥ ४ ॥
जहार भार्यां वैदेहीं सम्मोह्यैनं सहानुजम्।

वहीं रहते समय लक्ष्मणसहित श्रीरामको मोहमें डालकर रावण नामक राक्षसने उनकी पत्नी विदेहनन्दिनी सीताको हर लिया ॥ ४½ ॥

(रामां हृतां राक्षसेन भार्यां श्रुत्वा जटायुषः।
आतुरः शोकसंतप्तोऽगच्छद् रामो हरीश्वरम् ॥

अपनी मनोरमा पत्नीके राक्षसद्वारा हर लिये जानेका

समाचार जटायुके मुखसे सुनकर श्रीरामचन्द्रजी आतुर एवं शोकसंतप्त हो वानरराज सुग्रीवके पास गये ॥

तेन रामः सुसङ्गम्य वानरैश्च महाबलैः ।
आजगामोदधेः पारं सेतुं कृत्वा महार्णवे ॥

सुग्रीवसे मिलकर श्रीरामने (उनके साथ मित्रता की और) महाबली वानरोंको साथ ले महासागरमें पुल बाँधकर समुद्रको पार किया ॥

तत्र हत्वा तु पौलस्त्यान् ससुहृद्गणबान्धवान् ।
मायाविनं महाघोरं रावणं लोककण्टकम् ॥)
तमागस्कारिणं रामः पौलस्त्यमजितं परैः ॥ ५ ॥
जघान समरे क्रुद्धः पुरेव त्र्यम्बकोऽन्धकम् ।

वहाँ पुलस्त्यवंशी राक्षसोंको उनके सुहृदों और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर श्रीरामने अपने प्रधान अपराधी अत्यन्त घोर मायावी लोककंटक पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो दूसरोंके द्वारा कभी जीता नहीं गया था, कुपित होकर समरभूमिमें मार डाला। ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें भगवान् शङ्करने अन्धकासुरको मारा था ॥ ५½ ॥

सुरासुरैरवध्यं तं देवब्राह्मणकण्टकम् ॥ ६ ॥
जघान स महाबाहुः पौलस्त्यं सगणं रणे ।

जो देवताओं और असुरोंके लिये भी अवध्य था, देवताओं और ब्राह्मणोंके लिये कण्टकरूप उस पुलस्त्यवंशी रावणका रणक्षेत्रमें महाबाहु श्रीरामचन्द्रजीने उसके दलबल-सहित संहार कर डाला ॥ ६½ ॥

(हत्वा तत्र रिपुं संख्ये भार्यया सह सङ्गतः ।
लङ्केश्वरं च चक्रे स धर्मात्मानं विभीषणम् ॥

इस प्रकार वहाँ युद्धस्थलमें अपने वैरी रावणका वध करके वे धर्मपत्नी सीतासे मिले। तत्पश्चात् धर्मात्मा विभीषणको उन्होंने लङ्काका राजा बना दिया ॥

भार्यया सह संयुक्तस्ततो वानरसेनया ।
अयोध्यामागतो वीरः पुष्पकेण विराजता ॥

तदनन्तर वीर श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी तथा वानरसेनाके साथ शोभाशाली पुष्पकविमानके द्वारा अयोध्यामें आये ॥

तत्र राजन् प्रविष्टः स अयोध्यायां महायशाः ।
मातॄर्वयस्यान् सचिवानृत्विजः सपुरोहितान् ॥
शुश्रूषमाणः सततं मन्त्रिभिश्चाभिषेचितः ।

राजन् ! अयोध्यामें प्रवेश करके महायशस्वी श्रीराम वहाँ माताओं, मित्रों, मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंकी सेवामें सदैव संलग्न रहने लगे। फिर मन्त्रियोंने उनका राज्याभिषेक कर दिया ॥

विसृज्य हरिराजानं हनुमन्तं सहाङ्गदम् ॥
भ्रातरं भरतं वीरं शत्रुघ्नं चैव लक्ष्मणम् ।
पूजयन् परया प्रीत्या वैदेह्या चाभिपूजितः ॥
चतुःसागरपर्यन्तां पृथिवीमन्वशासत ॥)
स प्रजानुग्रहं कृत्वा त्रिदशैरभिपूजितः ॥ ७ ॥

इसके बाद वानरराज सुग्रीव, हनुमान् और अङ्गदको विदा करके अपने वीर भ्राता भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मणका आदर करते हुए विदेहनन्दिनी सीताद्वारा परम प्रेमपूर्वक सम्मानित हो श्रीरामचन्द्रजीने चारों समुद्रोंतककी सारी पृथ्वीका शासन किया और समस्त प्रजाओंपर अनुग्रह करके वे देवताओंद्वारा सम्मानित हुए ॥ ७ ॥

व्याप्य कृत्स्नं जगत् कीर्त्या सुरर्षिगणसेवितः ।
स प्राप्य विधिवद् राज्यं सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥
आजहार महायज्ञं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
निरर्गलं राजसूयमश्वमेधं च तं विभुः ॥ ९ ॥
आजहार सुरेशस्य हविषा मुदमाहरत् ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैरीजे बहुगुणैर्नृपः ॥ १० ॥

देवर्षिगणोंसे सेवित श्रीरामने विधिपूर्वक राज्य पाकर अपनी कीर्तिसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर दिया और समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करते हुए वे धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे। भगवान् रामने निर्बाधरूपसे राजसूय और अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान किया और देवराज इन्द्रको हविष्यसे तृप्त करके उन्हें अत्यन्त आनन्द प्रदान किया। राजा रामने नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे यज्ञ भी किये थे, जो अनेक गुणोंसे सम्पन्न थे ॥

क्षुत्पिपासेऽजयद् रामः सर्वरोगांश्च देहिनाम् ।
सततं गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने भूख और प्यासको जीत लिया था। सम्पूर्ण देहधारियोंके रोगोंको नष्ट कर दिया था। वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हो सदैव अपने तेजसे प्रकाशित होते थे ॥ ११ ॥

अति सर्वाणि भूतानि रामो दाशरथिर्बभौ ।
ऋषीणां देवतानां च मानुषाणां च सर्वशः ॥ १२ ॥
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति ।

दशरथनन्दन श्रीराम (अपने महान् तेजके कारण) सम्पूर्ण प्राणियोंसे बढ़कर शोभा पाते थे। श्रीरामके राज्यशासन करते समय ऋषि, देवता और मनुष्य सभी एक साथ इस पृथ्वीपर निवास करते थे ॥ १२½ ॥

नाहीयत तदा प्राणः प्राणिनां न तदन्यथा ॥ १३ ॥
प्राणोऽपानः समानश्च रामे राज्यं प्रशासति ।

उस समय उनके राज्य शासनकालमें प्राणियोंके प्राण, अपान और समान आदि प्राणवायुका क्षय नहीं होता था; इस नियममें कोई हेर-फेर नहीं था ॥ १३½ ॥

पर्यदीप्यन्त तेजांसि तदानर्थाश्च नाभवन् ॥ १४ ॥
दीर्घायुषः प्रजाः सर्वा युवा न म्रियते तदा ।

(यज्ञों अथवा अग्निहोत्र-गृहोंमें) सब ओर अग्निदेव प्रज्वलित होते रहते थे । उन दिनों किसी प्रकारका अनर्थ नहीं होता था । सारी प्रजा दीर्घायु होती थी । किसी युवककी मृत्यु नहीं हुआ करती थी ॥ १४½ ॥

वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः ॥१५॥
हव्यं कव्यं च विविधं निष्पूर्तं हुतमेव च ।

चारों वेदोंके स्वाध्यायसे प्रसन्न हुए देवता तथा पितृगण नाना प्रकारके हव्य और कव्य प्राप्त करते थे । सब ओर इष्ट (यज्ञयागादि) और पूर्त (वापी, कूप, तडाग और वृक्षारोपण आदि) का अनुष्ठान होता रहता था ॥ १५½ ॥

अदंशमशका देशा नष्टव्यालसरीसृपाः ॥१६॥
नाप्सु प्राणभृतां मृत्युर्नाकाले ज्वलनोऽदहत् ।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें किसी भी देशमें डाँस और मच्छरोंका भय नहीं था । साँप और बिच्छू नष्ट हो गये थे । जलमें पड़नेपर भी किसी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती थी । चिताकी अग्निने किसी भी मनुष्यको असमयमें नहीं जलाया था (किसीकी अकालमृत्यु नहीं हुई थी) ॥ १६½ ॥

अधर्मरुचयो लुब्धा मूर्खा वा नाभवंस्तदा ॥ १७ ॥
शिष्टेष्टयज्ञकर्माणः सर्वे वर्णास्तदाभवन् ।

उन दिनों लोग अधर्ममें रुचि रखनेवाले, लोभी और मूर्ख नहीं होते थे । उस समय सभी वर्णके लोग अपने लिये शास्त्रविहित यज्ञ-यागादि कर्मोंका अनुष्ठान करते थे ॥१७½॥

स्वधां पूजां च रक्षोभिर्जनस्थाने प्रणाशिताम् ॥ १८ ॥
प्रादान्निहत्य रक्षांसि पितृदेवेभ्य ईश्वरः ।

जनस्थानमें राक्षसोंने जो पितरों और देवताओंकी पूजा-अर्चा नष्ट कर दी थी, उसे भगवान् श्रीरामने राक्षसोंको मारकर पुनः प्रचलित किया और पितरोंको श्राद्धका तथा देवताओंको यज्ञका भाग दिया ॥ १८½ ॥

सहस्रपुत्राः पुरुषा दशवर्षशतायुषः ॥ १९ ॥
न च ज्येष्ठाः कनिष्ठेभ्यस्तदा श्राद्धान्यकारयन् ।

श्रीरामके राज्यकालमें एक-एक मनुष्यके हजार-हजार पुत्र होते थे और उनकी आयु भी एक-एक सहस्र वर्षोंकी होती थी । बड़ोंको अपने छोटोंका श्राद्ध नहीं करना पड़ता था ॥ १९½ ॥

(न तस्करा वा व्याधिर्वा विविधोपद्रवाः क्वचित् ।
अनावृष्टिभयं चात्र दुर्भिक्षो व्याधयः क्वचित् ॥
सर्वं प्रसन्नमेवासीदत्यन्तसुखसंयुतम् ।
एवं लोकोऽभवत् सर्वो रामे राज्यं प्रशासति ॥)

श्रीरामके राज्यमें कहीं भी चोर, नाना प्रकारके रोग और भाँति-भाँतिके उपद्रव नहीं थे । दुर्भिक्ष, व्याधि और अनावृष्टिका भय भी कहीं नहीं था । सारा जगत् अत्यन्त सुखसे सम्पन्न और प्रसन्न ही दिखायी देता था । इस प्रकार श्रीरामके राज्य करते समय सब लोग बहुत सुखी थे ॥

श्यामो युवा लोहिताक्षो मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २० ॥
आजानुबाहुः सुभुजः सिंहस्कन्धो महाबलः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २१ ॥
सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत् ।

भगवान् श्रीरामकी श्यामसुन्दर छबि, तरुण अवस्था और कुछ-कुछ अरुणाई लिये बड़ी-बड़ी आँखें थीं । उनकी चाल मतवाले हाथी-जैसी थी, भुजाएँ सुन्दर और घुटनोंतक लंबी थीं । कंधे सिंहके समान थे । उनमें महान् बल था । उनकी कान्ति समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली थी । उन्होंने ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था॥ २०–२१½ ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवत् कथा ॥ २२ ॥
रामाद् रामं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति ।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्य-शासन-कालमें समस्त प्रजाओंमें 'राम, राम, राम' यही चर्चा होती थी । श्रीरामके कारण सारा जगत् ही राममय हो रहा था ॥ २२½ ॥

चतुर्विधाः प्रजा रामः स्वर्गं नीत्वा दिवं गतः ॥ २३ ॥
आत्मानं सम्प्रतिष्ठाप्य राजवंशमिहाष्टधा ।

फिर समयानुसार अपने और भाइयोंके अंशभूत दो-दो पुत्रोंद्वारा आठ प्रकारके राजवंशकी स्थापना करके उन्होंने चारों वर्णोंकी प्रजाको अपने धाममें भेजकर स्वयं ही सदेह परम धामको गमन किया ॥ २३½ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ २४ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ २५ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे श्रीरामचन्द्रजी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे

और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी यहाँ नहीं रह सके, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है! अतः तुम यज्ञ एवं दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। नारदजीने राजा सृंजयसे यही बात कही॥ २४-२५॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

राजा भगीरथका चरित्र

नारद उवाच

भगीरथं च राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
परित्राणाय पूर्वेषां येन गङ्गावतारिता।
यस्येन्द्रो बाहुवीर्येण प्रीतो राज्ञो महात्मनः॥
योऽश्वमेधशतैरीजे समाप्तवरदक्षिणैः।
हविर्मन्त्रान्नसम्पन्नैर्देवानामादधान्मुदम्॥
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः।
असुराणां सहस्राणि बहूनि च सुरेश्वरः॥
अजयद् बाहुवीर्येण भगवाँल्लोकपूजितः।)
येन भागीरथी गङ्गा चयनैः काञ्चनैश्चिता॥ १॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय! हमारे सुननेमें आया है कि राजा भगीरथ भी मर गये, जिन्होंने अपने पूर्वजोंका उद्धार करनेके लिये इस भूतलपर गङ्गाजीको उतारा था। जिन महामना नरेशके बाहुबलसे इन्द्र बहुत प्रसन्न थे, जिन्होंने प्रचुर एवं उत्तम दक्षिणासे युक्त हविष्य, मन्त्र और अन्नसे सम्पन्न सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और देवताओंका आनन्द बढ़ाया, जिनके महान् यज्ञमें इन्द्र सोमरस पीकर मदोन्मत्त हो उठे थे तथा जिनके यहाँ रहकर लोकपूजित भगवान् देवेन्द्रने अपने बाहुबलसे अनेक सहस्र असुरोंको पराजित किया, उन्हीं राजा भगीरथने यज्ञ करते समय गङ्गाके दोनों किनारोंपर सोनेकी ईंटोंके घाट बनवाये थे॥ १॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः।
राज्ञश्च राजपुत्रांश्च ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत॥ २॥

इतना ही नहीं, उन्होंने कितने ही राजाओं तथा राजपुत्रोंको जीतकर उनके यहाँसे सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित दस लाख कन्याएँ लाकर उन्हें ब्राह्मणोंको दान किया था॥ २॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः।
रथे रथे शतं नागाः सर्वे वै हेममालिनः॥ ३॥

वे सभी कन्याएँ रथोंमें बैठी थीं। उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते थे। प्रत्येक रथके पीछे सोनेके हारोंसे अलंकृत सौ-सौ हाथी चलते थे॥ ३॥

सहस्रमश्वाश्चैकैकं गजानां पृष्ठतोऽन्वयुः।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां पश्चादजाविकम्॥ ४॥

एक-एक हाथीके पीछे हजार-हजार घोड़े जा रहे थे और एक-एक घोड़ेके साथ सौ-सौ गौएँ एवं गौओंके पीछे भेड़ और बकरियोंके झुंड चलते थे॥ ४॥

तेनाक्रान्ता जलौघेन दक्षिणा भूयसीर्ददत्।
उपह्वरेऽतिव्यथिता तस्याङ्के निषसाद ह॥ ५॥

राजा भगीरथ गङ्गाके तटपर भूयसी (प्रचुर) दक्षिणा देते हुए निवास करते थे। अतः उनके संकल्पकालिक जलप्रवाहसे आक्रान्त होकर गङ्गादेवी मानो अत्यन्त व्यथित हो उठीं और समीपवर्ती राजाके अङ्कमें आ बैठीं॥ ५॥

तथा भागीरथी गङ्गा उर्वशी चाभवत् पुरा।
दुहितृत्वं गता राज्ञः पुत्रत्वमगमत् तदा॥ ६॥

इस प्रकार भगीरथकी पुत्री होनेसे गङ्गाजी भागीरथी कहलायीं और उनके ऊरुपर बैठनेके कारण उर्वशी नामसे प्रसिद्ध हुईं। राजाके पुत्रीभावको प्राप्त होकर उनका नरकसे त्राण करनेके कारण वे उस समय पुत्रभावको भी प्राप्त हुईं॥ ६॥

तां तु गाथां जगुः प्रीता गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः।
पितृदेवमनुष्याणां शृण्वतां वल्गुवादिनः ॥ ७ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी और मधुरभाषी गन्धर्वोंने प्रसन्न होकर देवताओं, पितरों और मनुष्योंके सुनते हुए यह गाथा गायी थी ॥ ७ ॥

भगीरथं यजमानमैक्ष्वाकुं भूरिदक्षिणम्।
गङ्गा समुद्रगा देवी वव्रे पितरमीश्वरम् ॥ ८ ॥

यज्ञ करते समय भूयसी दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशी, ऐश्वर्यशाली राजा भगीरथको समुद्रगामिनी गङ्गादेवीने अपना पिता मान लिया था ॥ ८ ॥

तस्य सेन्द्रैः सुरगणैर्देवैर्यज्ञः स्वलङ्कृतः।
सम्यक्परिगृहीतश्च शान्तविघ्नो निरामयः ॥ ९ ॥

इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंने उनके यज्ञको सुशोभित किया था। उसमें प्राप्त हुए हविष्यको भलीभाँति ग्रहण करके उसके विघ्नोंको शान्त करते हुए उसे निर्बाधरूपसे पूर्ण किया था ॥ ९ ॥

यो य इच्छेत विप्रो वै यत्र यत्रात्मनः प्रियम्।
भगीरथस्तदा प्रीतस्तत्र तत्राददद् वशी ॥ १० ॥

जिस-जिस ब्राह्मणने जहाँ-जहाँ अपने मनको प्रिय लगनेवाली जिस-जिस वस्तुको पाना चाहा, जितेन्द्रिय राजाने वहीं-वहीं प्रसन्नतापूर्वक वह वस्तु उसे तत्काल समर्पित की ॥

नादेयं ब्राह्मणस्यासीद् यस्य यत्स्यात् प्रियं धनम्।
सोऽपि विप्रप्रसादेन ब्रह्मलोकं गतो नृपः ॥ ११ ॥

उनके पास जो भी प्रिय धन था, वह ब्राह्मणके लिये अदेय नहीं था। राजा भगीरथ ब्राह्मणोंकी कृपासे ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

येन यातौ मखमुखौ दिशाशाविह पादपाः।
तेनावस्थातुमिच्छन्ति तं गत्वा राजमीश्वरम् ॥ १२ ॥

शत्रुओंकी दशा और आशाका हनन करनेवाले संजय! राजा भगीरथने यज्ञोंमें प्रधान ज्ञानयज्ञ और ध्यानयज्ञको ग्रहण किया था। इसलिये किरणोंका पान करनेवाले महर्षिगण भी उस ब्रह्मलोकमें जितेन्द्रिय राजा भगीरथके निकट जाकर उसी स्थानपर रहनेकी इच्छा करते थे ॥ १२ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १३ ॥
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत्।

श्वैत्य संजय! वे भगीरथ उपर्युक्त चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़कर थे। तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा उनका पुण्य बहुत अधिक था। जब वे भी जीवित न रह सके, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? अतः तुम यज्ञानुष्ठान और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। नारदजीने राजा संजयसे यही बात कही ॥ १३½ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल १७ श्लोक हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

राजा दिलीपका उत्कर्ष

नारद उवाच

दिलीपं चैलविलं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यस्य यज्ञशतेष्वासन् प्रयुतायुतशो द्विजाः।
तन्त्रज्ञानार्थसम्पन्ना यज्वानः पुत्रपौत्रिणः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय! इलविलाके पुत्र राजा दिलीपकी भी मृत्यु सुनी गयी है, जिनके सौ यज्ञोंमें लाखों ब्राह्मण नियुक्त थे। वे सभी ब्राह्मण वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके तात्पर्यको जाननेवाले, यज्ञकर्ता तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न थे ॥ १ ॥

य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ॥ २ ॥

पृथ्वीपति दिलीपने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें धन-धान्यसे सम्पन्न इस सारी पृथ्वीको ब्राह्मणोंके लिये दान कर दिया था ॥ २ ॥

दिलीपस्य तु यज्ञेषु कृतः पन्था हिरण्मयः।
तं धर्म इव कुर्वाणाः सेन्द्रा देवाः समागमन् ॥ ३ ॥

राजा दिलीपके यज्ञोंमें सोनेकी सड़कें बनायी गयी थीं। इन्द्र आदि देवता मानो धर्मकी प्राप्तिके लिये उन्हें अलंकृत करते हुए उनके यहाँ पधारते थे ॥ ३ ॥

सहस्रं यत्र मातङ्गा गच्छन्ति पर्वतोपमाः।
सौवर्णं चाभवत् सर्वं सदः परमभास्वरम् ॥ ४ ॥

वहाँ पर्वतोंके समान विशालकाय सहस्रों गजराज विचरा करते थे। राजाका सभामण्डप सोनेका बना हुआ था, जो सदा देदीप्यमान रहता था ॥ ४ ॥

मोदक और विविध भोज्यपदार्थ खाकर मतवाले हो सड़कोंपर लेट जाते थे। मेरे मतमें उनके यहाँ यह एक अद्भुत बात थी, जिसकी दूसरे राजाओंसे तुलना नहीं हो सकती थी। राजा दिलीप युद्ध करते समय जलमें भी चले जाते तो उनके रथके पहिये वहाँ डूबते नहीं थे ॥ ८½ ॥

राजानं दृढधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ॥ ९ ॥
येऽपश्यन् भूरिदाक्षिण्यं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले तथा प्रचुर दक्षिणा देनेवाले सत्यवादी राजा दिलीपका जो लोग दर्शन कर लेते थे, वे मनुष्य भी स्वर्गलोकके अधिकारी हो जाते थे ॥ ९½ ॥

पञ्च शब्दा न जीर्यन्ति खट्वाङ्गस्य निवेशने ॥ १० ॥
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषः पिबताश्नीत खादत ।

खट्वाङ्ग (दिलीप) के भवनमें ये पाँच प्रकारके शब्द कभी बंद नहीं होते थे—वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायका शब्द, धनुषकी प्रत्यञ्चाकी ध्वनि तथा अतिथियोंके लिये कहे जानेवाले 'खाओ, पीओ और अन्न ग्रहण करो' ये तीन शब्द ॥ १०½ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ११ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १२ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे दिलीप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे, तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है ? अतः जिसने अभी यज्ञ नहीं किया, दक्षिणाएँ नहीं बाँटीं, अपने उस पुत्रके लिये तुम शोक न करो—इस प्रकार नारदजीने कहा ॥ ११-१२ ॥

रसानां चाभवन् कुल्या भक्ष्याणां चापि पर्वताः ।
सहस्रव्यामा नृपते यूपाश्चासन् हिरण्मयाः ॥ ५ ॥

वहाँ रसकी नहरें बहती थीं और अन्नके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे। राजन् ! उनके यज्ञमें सहस्र-व्याम-विस्तृत सुवर्णमय यूप सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

चषालं प्रचषालं च यस्य यूपे हिरण्मये ।
नृत्यन्तेऽप्सरसस्तस्य षट् सहस्राणि सप्त च ॥ ६ ॥

उनके यूपमें सुवर्णमय चषाल[1] और प्रचषाल लगे हुए थे। उनके यहाँ तेरह हजार अप्सराएँ नृत्य करती थीं ॥ ६ ॥

यत्र वीणां वादयति प्रीत्या विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त राजानं सत्यशीलिनम् ॥ ७ ॥

उस समय वहाँ साक्षात् गन्धर्वराज विश्वावसु प्रेमपूर्वक वीणा बजाते थे। समस्त प्राणी राजा दिलीपको सत्यवादी मानते थे ॥ ७ ॥

रागखाण्डवभोज्यैश्च मत्ताः पथिषु शेरते ।
तदेतदद्भुतं मन्ये अन्यैर्न सदृशं नृपैः ॥ ८ ॥
यदप्सु युध्यमानस्य चक्रे न परिपेततुः ।

उनके यहाँ आये हुए अतिथि 'रागखाण्डव' नामक

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजा मान्धाताकी महत्ता

नारद उवाच

मान्धाता चेद्यौवनाश्वो मृतः सृञ्जय शुश्रुम ।
देवासुरमनुष्याणां त्रैलोक्यविजयी नृपः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! युवनाश्वके पुत्र राजा मान्धाता भी मरे थे, यह सुना गया है। वे देवता, असुर और मनुष्य—तीनों लोकोंमें विजयी थे ॥ १ ॥

यं देवावश्विनौ गर्भात् पितुः पूर्वं चकर्षतुः ।
मृगयां विचरन् राजा तृषितः क्लान्तवाहनः ॥ २ ॥

१. यज्ञीय यूप या स्तम्भके ऊपर लगाये जानेवाले काठके छल्लेको 'चषाल' कहते हैं, इसीका उत्कृष्ट रूप 'प्रचषाल' है।

पूर्वकालमें दोनों अश्विनीकुमार नामक देवताओंने उन्हें पिताके पेटसे निकाला था। एक समयकी बात है, राजा युवनाश्व वनमें शिकार खेलनेके लिये विचर रहे थे। वहाँ उनका घोड़ा थक गया और उन्हें भी प्यास लग गयी ॥२॥

धूमं दृष्ट्वागमत् सत्रं पृषदाज्यमवाप सः।
तं दृष्ट्वा युवनाश्वस्य जठरे सूनुतां गतम् ॥ ३ ॥
गर्भाद्धि जह्रतुर्देवावश्विनौ भिषजां वरौ।

इतनेमें दूरसे उठता हुआ धूआँ देखकर वे उसी ओर चले और एक यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे। वहाँ एक पात्रमें रक्खे हुए घृतमिश्रित अभिमन्त्रित जलको उन्होंने पी लिया। उस जलको युवनाश्वके पेटमें पुत्ररूपमें परिणत हुआ देख वैद्योंमें श्रेष्ठ अश्विनीकुमार नामक देवताओंने उसे पिताके गर्भसे बाहर निकाला ॥ ३½ ॥

तं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देववर्चसम् ॥ ४ ॥
अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कमयं धास्यतीति वै।
मामेवायं धयत्वग्रे इति ह स्माह वासवः ॥ ५ ॥

देवताके समान तेजस्वी उस शिशुको पिताकी गोदमें शयन करते देख देवता आपसमें कहने लगे, यह किसका दूध पीयेगा? यह सुनकर इन्द्रने कहा—यह पहले मेरा ही दूध पीये ॥ ४-५ ॥

ततोऽङ्गुलिभ्यो हीन्द्रस्य प्रादुरासीत् पयोऽमृतम्।
मां धास्यतीति कारुण्याद् यदिन्द्रो ह्यन्वकम्पयत् ॥६॥
तस्मात्तु मान्धातेत्येवं नाम तस्याद्भुतं कृतम्।

तदनन्तर इन्द्रकी अङ्गुलियोंसे अमृतमय दूध प्रकट हो गया; क्योंकि इन्द्रने करुणावश 'मां धास्यति' (मेरा दूध पीयेगा) ऐसा कहकर उसपर कृपा की थी, इसलिये उसका 'मान्धाता' यह अद्भुत नाम निश्चित कर दिया गया ॥६½॥

ततस्तु धारां पयसो घृतस्य च महात्मनः ॥ ७ ॥
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत्।
अपिबत् पाणिमिन्द्रस्य स चाप्यह्नाभ्यवर्धत ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् महामना मान्धाताके मुखमें इन्द्रके हाथने दूध और घीकी धारा बहायी। वह बालक इन्द्रका हाथ पीने लगा और एक ही दिनमें बहुत बढ़ गया ॥ ७-८ ॥

सोऽभवद् द्वादशसमो द्वादशाहेन वीर्यवान्।
इमां च पृथिवीं कृत्स्नामेकाह्ना स व्यजीजयत् ॥ ९ ॥

वह पराक्रमी राजकुमार बारह दिनोंमें ही बारह वर्षोंकी अवस्थावाले बालकके समान हो गया। (राजा होनेपर) मान्धाताने एक ही दिनमें इस सारी पृथ्वीको जीत लिया ॥ ९ ॥

धर्मात्मा धृतिमान् वीरः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
जनमेजयं सुधन्वानं गयं पूरुं बृहद्रथम् ॥ १० ॥
असितं च नृगं चैव मान्धाता मनुजोऽजयत्।

वे धर्मात्मा, धैर्यवान्, शूरवीर, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। मानव मान्धाताने जनमेजय, सुधन्वा, गय, पूरु, बृहद्रथ, असित और नृगको भी जीत लिया ॥ १०½ ॥

उदेति च यतः सूर्यो यत्र च प्रतितिष्ठति ॥ ११ ॥
तत् सर्वं यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते।

सूर्य जहाँसे उदय होते थे और जहाँ जाकर अस्त होते थे, वह सारा-का-सारा प्रदेश युवनाश्वपुत्र मान्धाताका क्षेत्र (राज्य) कहलाता था ॥ ११½ ॥

सोऽश्वमेधशतैरिष्ट्वा राजसूयशतेन च ॥ १२ ॥
अददद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते।
हैरण्यान् यो जनोत्सेधानायताञ्शतयोजनम् ॥ १३ ॥

राजन्! उन्होंने सौ अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ योजन विस्तृत रोहितक, मत्स्य तथा हिरण्मय (सोनेकी खानोंसे युक्त) जनपदोंको, जो लोगोंमें ऊँची भूमिके रूपमें प्रसिद्ध थे, ब्राह्मणोंको दे दिया ॥१२-१३॥

बहुप्रकारान् सुस्वादून् भक्ष्यभोज्यान्नपर्वतान्।
अतिरिक्तं ब्राह्मणेभ्यो भुञ्जानो हीयते जनः ॥ १४ ॥

अनेक प्रकारके सुस्वादु भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंके पर्वत भी उन्होंने ब्राह्मणोंको दे दिये। ब्राह्मणोंके भोजनसे भी जो अन्न बच गया, उसे दूसरे लोगोंको दिया गया। उस अन्नको खानेवाले लोगोंकी ही वहाँ कमी रहती थी। अन्न कभी नहीं घटता था ॥ १४ ॥

भक्ष्यान्नपाननिचयाः शुशुभुस्त्वन्नपर्वताः।
घृतह्रदाः सूपकूपाः दधिफेना गुडोदकाः ॥ १५ ॥
रुरुधुः पर्वतान् नद्यो मधुक्षीरवहाः शुभाः।

वहाँ भक्ष्य-भोज्य अन्न और पीने योग्य पदार्थोंकी अनेक राशियाँ संचित थीं। अन्नके तो पहाड़ों-जैसे ढेर सुशोभित होते थे। उन पर्वतोंको मधु और दूधकी सुन्दर नदियाँ घेरे हुए थीं। पर्वतोंके चारों ओर घीके कुण्ड और दालके कुएँ भरे थे। वहाँ कई नदियोंमें फेनकी जगह दही और जलके स्थानमें गुड़के रस बहते थे ॥ १५½ ॥

देवासुरा नरा यक्षा गन्धर्वोरगपक्षिणः ॥ १६ ॥
विप्रास्तत्रागताश्चासन् वेदवेदाङ्गपारगाः।
ब्राह्मणा ऋषयश्चापि नासंस्तत्राविपश्चितः ॥ १७ ॥

वहाँ देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, नाग, पक्षी तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण एवं ऋषि भी पधारे थे; किंतु वहाँ कोई मनुष्य ऐसे नहीं थे, जो विद्वान् न हों ॥ १६-१७ ॥

समुद्रान्तां वसुमतीं वसुपूर्णां तु सर्वतः।
स तां ब्राह्मणसात्कृत्वा जगामास्तं तदा नृपः ॥ १८ ॥

उस समय राजा मान्धाता सब ओरसे धन-धान्यसे सम्पन्न समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको ब्राह्मणोंके अधीन करके सूर्यके समान अस्त हो गये ॥ १८ ॥

गतः पुण्यकृतां लोकान् व्याप्य स्वयशसा दिशः।
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ १९ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ २० ॥

उन्होंने अपने सुयशसे सम्पूर्ण दिशाओंको व्याप्त करके पुण्यात्माओंके लोकोंमें पदार्पण किया । श्वैत्य सृंजय ! वे पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है । अतः तुम यज्ञ और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो । ऐसा नारदजीने कहा ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

राजा ययातिका उपाख्यान

नारद उवाच

ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
राजसूयशतैरिष्ट्वा सोऽश्वमेधशतेन च ॥ १ ॥
पुण्डरीकसहस्रेण वाजपेयशतैस्तथा ।
अतिरात्रसहस्रेण चातुर्मास्यैश्च कामतः ।
अग्निष्टोमैश्च विविधैः सत्रैश्च प्राज्यदक्षिणैः ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! नहुषनन्दन राजा ययातिकी भी मृत्यु हुई थी, यह मैंने सुना है । राजाने सौ राजसूय, सौ अश्वमेध, एक हजार पुण्डरीक याग, सौ वाजपेय यज्ञ, एक सहस्र अतिरात्र याग तथा अपनी इच्छाके अनुसार चातुर्मास्य और अग्निष्टोम आदि नाना प्रकारके प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ १-२ ॥

अब्राह्मणानां यद् वित्तं पृथिव्यामस्ति किंचन ।
तत् सर्वं परिसंख्याय ततो ब्राह्मणसात्करोत् ॥ ३ ॥

इस पृथ्वीपर ब्राह्मणद्रोहियोंके पास जो कुछ धन था, वह सब उनसे छीनकर उन्होंने ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया ॥

सरस्वती पुण्यतमा नदीनां
तथा समुद्राः सरितः साद्रयश्च ।
ईजानाय पुण्यतमाय राज्ञे
घृतं पयो दुदुहुर्नाहुषाय ॥ ४ ॥

नदियोंमें परम पवित्र सरस्वती नदी, समुद्रों, पर्वतों तथा अन्य सरिताओंने यज्ञमें लगे हुए परम पुण्यात्मा राजा ययातिको घी और दूध प्रदान किये ॥ ४ ॥

व्यूढे देवासुरे युद्धे कृत्वा देवसहायताम् ।
चतुर्धा व्यभजत् सर्वां चतुर्भ्यः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥
यज्ञैर्नानाविधैरिष्ट्वा प्रजामुत्पाद्य चोत्तमाम् ।
देवयान्यां चौशनस्यां शर्मिष्ठायां च धर्मतः ॥ ६ ॥
देवारण्येषु सर्वेषु विजहारामरोपमः ।
आत्मनः कामचारेण द्वितीय इव वासवः ॥ ७ ॥

देवासुरसंग्राम छिड़ जानेपर उन्होंने देवताओंकी सहायता करके नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा परमात्माका यजन किया और इस सारी पृथ्वीको चार भागोंमें विभक्त करके उसे ऋत्विज, अध्वर्यु, होता तथा उद्गाता—इन चार प्रकारके ब्राह्मणोंको बाँट दिया । फिर शुक्रकन्या देवयानी और दानवराजकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे धर्मतः उत्तम संतान उत्पन्न करके वे देवोपम नरेश दूसरे इन्द्रकी भाँति समस्त देवकाननोंमें अपनी इच्छाके अनुसार विहार करते रहे ।५–७।

यदा नाभ्यगमच्छान्तिं कामानां सर्ववेदवित् ।
ततो गाथामिमां गीत्वा सदारः प्राविशद् वनम् ॥ ८ ॥

जब भोगोंके उपभोगसे उन्हें शान्ति नहीं मिली, तब सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता राजा ययाति निम्नाङ्कित गाथाका गान करके अपनी पत्नियोंके साथ वनमें चले गये ॥ ८ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ ९ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्री आदि भोग्य पदार्थ हैं, वे सब एक मनुष्यको भी संतोष करानेके लिये पर्याप्त नहीं हैं; ऐसा समझकर मनको शान्त करना चाहिये ॥ ९ ॥

एवं कामान् परित्यज्य ययातिर्धृतिमेत्य च ।
पूरुं राज्ये प्रतिष्ठाप्य प्रयातो वनमीश्वरः ॥ १० ॥

इस प्रकार ऐश्वर्यशाली राजा ययातिने धैर्यका आश्रय ले कामनाओंका परित्याग करके अपने पुत्र पूरुको राज्य-सिंहासनपर बिठाकर वनको प्रस्थान किया ॥ १० ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ ११ ॥

श्वैत्य संजय ! वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य– इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी जीवित न रह सके, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? अतः तुम अपने उस पुत्रके लिये शोक न करो, जिसने न तो यज्ञ किया था और न दक्षिणा ही दी थी। ऐसा नारदजीने कहा ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

राजा अम्बरीषका चरित्र

नारद उवाच

नाभागमम्बरीषं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञां चैकस्त्वयोधयत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! मैंने सुना है कि नाभागके पुत्र राजा अम्बरीष भी मृत्युको प्राप्त हुए थे, जिन्होंने अकेले ही दस लाख राजाओंसे युद्ध किया था ॥ १ ॥

जिगीषमाणाः संग्रामे समन्ताद् वैरिणोऽभ्ययुः।
अस्त्रयुद्धविदो घोराः सृजन्तश्चाशिवा गिरः ॥ २ ॥

राजाके शत्रुओंने उन्हें युद्धमें जीतनेकी इच्छासे चारों ओरसे उनपर आक्रमण किया था। वे सब अस्त्रयुद्धकी कलामें निपुण और भयंकर थे तथा राजाके प्रति अभद्र वचनोंका प्रयोग कर रहे थे ॥ २ ॥

बललाघवशिक्षाभिस्तेषां सोऽस्त्रबलेन च।
छत्रायुधध्वजरथांश्छित्त्वा प्रासान् गतव्यथः ॥ ३ ॥

परंतु राजा अम्बरीषको इससे तनिक भी व्यथा नहीं हुई। उन्होंने शारीरिक बल, अस्त्र-बल, हाथोंकी फुर्ती और युद्धसम्बन्धी शिक्षाके द्वारा शत्रुओंके छत्र, आयुध, ध्वजा, रथ और प्रासोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३ ॥

त एनं मुक्तसंनाहाः प्रार्थयन् जीवितैषिणः।
शरण्यमीयुः शरणं तवास्म इति वादिनः ॥ ४ ॥

तब वे शत्रु अपने प्राण बचानेके लिये कवच खोलकर उनसे प्रार्थना करने लगे और हम सब प्रकारसे आपके हैं; ऐसा कहते हुए उन शरणदाता नरेशकी शरणमें चले गये ॥ ४ ॥

स तु तान् वशगान् कृत्वा जित्वा चेमां वसुन्धराम्।
ईजे यज्ञशतैरिष्टैर्यथाशास्त्रं तथानघ ॥ ५ ॥

अनघ ! इस प्रकार उन शत्रुओंको वशीभूत करके इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पाकर उन्होंने शास्त्रविधिके अनुसार सौ अभीष्ट यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

बुभुजुः सर्वसम्पन्नमन्नमन्ये जनाः सदा।
तस्मिन् यज्ञे तु विप्रेन्द्राः संतृप्ताः परमार्चिताः ॥ ६ ॥

उन यज्ञोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी सदा सर्वगुण-सम्पन्न अन्न भोजन करते और अत्यन्त आदर-सत्कार पाकर अत्यन्त संतुष्ट होते थे ॥ ६ ॥

मोदकान् पूरिकापूपान् स्वादपूर्णाश्च शष्कुलीः।
करम्भान् पृथुमृद्वीका अन्नानि सुकृतानि च ॥ ७ ॥
सूपान् मैरेयकापूपान् रागखाण्डवपानकान्।
मृष्टान्नानि सुयुक्तानि मृदूनि सुरभीणि च ॥ ८ ॥
घृतं मधु पयस्तोयं दधीनि रसवन्ति च।
फलं मूलं च सुस्वादु द्विजास्तत्रोपभुञ्जते ॥ ९ ॥

लड्डू, पूरी, पुए, स्वादिष्ट कचौड़ी, करम्भ, मोटे मुनक्के, तैयार अन्न, मैरेयक, अपूप, रागखाण्डव, पानक, शुद्ध एवं सुन्दर ढंगसे बने हुए मधुर और सुगन्धित भोज्य पदार्थ, घी, मधु, दूध, जल, दही, सरस वस्तुएँ तथा सुस्वादु फल, मूल वहाँ ब्राह्मणलोग भोजन करते थे ॥ ७–९ ॥

मादनीयानि पापानि विदित्वा चात्मनः सुखम्।
अपिबन्त यथाकामं पानपा गीतवादितैः ॥ १० ॥

मादक वस्तुएँ पापजनक होती हैं, यह जानकर भी पीनेवाले लोग अपने सुखके लिये गीत और वाद्योंके साथ इच्छानुसार उनका पान करते थे ॥ १० ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति क्षीबा हृष्टाः पठन्ति च ।
नाभागस्तुतिसंयुक्ता ननृतुश्च सहस्रशः ॥ ११ ॥

पीकर मतवाले बने हुए सहस्रों मनुष्य वहाँ हर्षमें भरकर गाथा गाते, अम्बरीषकी स्तुतिसे युक्त कविताएँ पढ़ते और नृत्य करते थे ॥ ११ ॥

तेषु यज्ञेष्वम्बरीषो दक्षिणामत्यकालयत् ।
राज्ञां शतसहस्राणि दश प्रयुतयाजिनाम् ॥ १२ ॥

उन यज्ञोंमें राजा अम्बरीषने दस लाख यज्ञकर्ता ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें दस लाख राजाओंको ही दे दिया था ॥ १२ ॥

हिरण्यकवचान् सर्वाञ्श्वेतच्छत्रप्रकीर्णकान् ।
हिरण्यस्यन्दनारूढान् सानुयात्रपरिच्छदान् ॥ १३ ॥

वे सब राजा सोनेके कवच धारण किये, श्वेत छत्र लगाये, सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए तथा अपने अनुगामी सेवकों और आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न थे ॥ १३ ॥

ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।
मूर्धाभिषिक्तांश्च नृपान् राजपुत्रशतानि च ॥ १४ ॥
सदण्डकोशनिचयान् ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ।

उस विस्तृत यज्ञमें यजमान अम्बरीषने उन मूर्धाभिषिक्त नरेशों और सैकड़ों राजकुमारोंको दण्ड और खजानोंसहित ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया ॥ १४½ ॥

नैवं पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ॥ १५ ॥
यदम्बरीषो नृपतिः करोत्यमितदक्षिणः ।
इत्येवमनुमोदन्ते प्रीता यस्य महर्षयः ॥ १६ ॥

महर्षिलोग उनके ऊपर प्रसन्न होकर उनके कार्योंका अनुमोदन करते हुए कहते थे कि असंख्य दक्षिणा देनेवाले राजा अम्बरीष जैसा यज्ञ कर रहे हैं, वैसा न तो पहलेके राजाओंने किया और न आगे कोई करेंगे ॥ १५–१६ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १७ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी जीवित न रह सके, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है ! अतः तुम यज्ञ और दानदक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो । ऐसा नारदजीने कहा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

राजा शशबिन्दुका चरित्र

नारद उवाच

शशबिन्दुं च राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
ईजे स विविधैर्यज्ञैः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! मेरे सुननेमें आया है कि राजा शशबिन्दुकी भी मृत्यु हो गयी थी । उन सत्यपराक्रमी श्रीमान् नरेशने नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

तस्य भार्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ।
एकैकस्यां च भार्यायां सहस्रं तनयाऽभवन् ॥ २ ॥

महामना शशबिन्दुके एक लाख स्त्रियाँ थीं और प्रत्येक स्त्रीके गर्भसे एक-एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ २ ॥

ते कुमाराः पराक्रान्ताः सर्वे नियुतयाजिनः ।
राजानः क्रतुभिर्मुख्यैरीजाना वेदपारगाः ॥ ३ ॥

वे सभी राजकुमार अत्यन्त पराक्रमी और वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे । वे राजा होनेपर दस लाख यज्ञ करनेका संकल्प ले प्रधान-प्रधान यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुके थे ॥ ३ ॥

हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानाः कुमाराः शशबिन्दवः ॥ ४ ॥

शशबिन्दुके उन सभी पुत्रोंने सोनेके कवच धारण कर रक्खे थे । वे सब उत्तम धनुर्धर थे और अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुके थे ॥ ४ ॥

तानश्वमेधे राजेन्द्रो ब्राह्मणेभ्योऽददत् पिता ।
शतं शतं रथगजा एकैकं पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ५ ॥

पिता महाराज शशबिन्दुने अश्वमेध-यज्ञ करके उसमें अपने वे सभी पुत्र ब्राह्मणोंको दे डाले । एक-एक राजकुमारके पीछे सौ-सौ रथ और हाथी गये थे ॥ ५ ॥

राजपुत्रं तदा कन्यास्तपनीयस्वलंकृताः ।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागे नागे शतं रथाः ॥ ६ ॥

उस समय प्रत्येक राजकुमारके साथ सुवर्णभूषित सौ-सौ कन्याएँ थीं । एक-एक कन्याके पीछे सौ-सौ हाथी

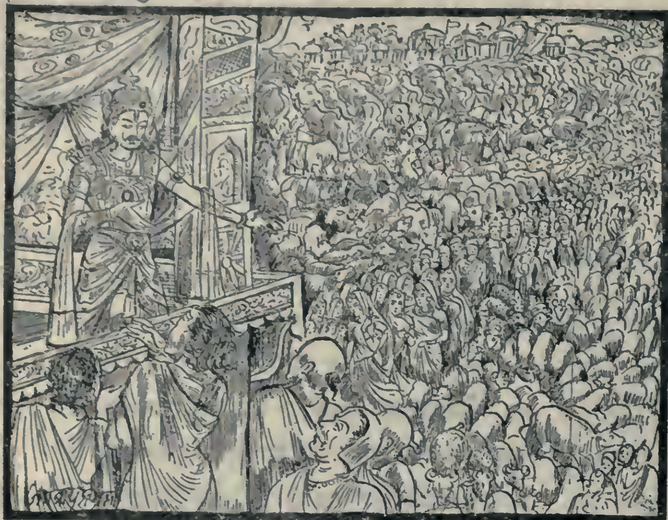

और प्रत्येक हाथीके पीछे सौ-सौ रथ थे ॥ ६ ॥

रथे रथे शतं चाश्वा बलिनो हेममालिनः ।
अश्वे अश्वे गोसहस्रं गवां पञ्चाशदाविकाः ॥ ७ ॥

हर एक रथके साथ सोनेके हारोंसे विभूषित सौ-सौ बलवान् अश्व थे । प्रत्येक अश्वके पीछे हजार-हजार गौएँ तथा एक-एक गायके पीछे पचास-पचास भेंड़ें थीं ॥ ७ ॥

एतद् धनमपर्याप्तमश्वमेधे महामखे ।
शशबिन्दुर्महाभागो ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ॥ ८ ॥

यह अपार धन महाभाग शशबिन्दुने अपने अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंके लिये दान किया था ॥ ८ ॥

वार्क्षाश्च यूपा यावन्त अश्वमेधे महामखे ।
ते तथैव पुनश्चान्ये तावन्तः काञ्चनाऽभवन् ॥ ९ ॥

उनके महायज्ञ अश्वमेधमें जितने काष्ठके यूप थे, वे तो ज्यों-के-त्यों थे ही, फिर उतने ही और सुवर्णमय यूप बनाये गये थे ॥ ९ ॥

भक्ष्यान्नपाननिचयाः पर्वताः क्रोशमुच्छ्रिताः ।
तस्याश्वमेधे निर्वृत्ते राज्ञः शिष्टास्त्रयोदश ॥ १० ॥

उस यज्ञमें भक्ष्य-भोज्य अन्न-पानके पर्वतोंके समान एक कोस ऊँचे ढेर लगे हुए थे । राजाका अश्वमेध-यज्ञ पूरा हो जानेपर अन्नके तेरह पर्वत बच गये थे ॥ १० ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णां शान्तविघ्नामनामयाम् ।
शशबिन्दुरिमां भूमिं चिरं भुक्त्वा दिवं गतः ॥ ११ ॥

शशबिन्दुके राज्यकालमें यह पृथ्वी हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी थी । यहाँ कोई विघ्न-बाधा और रोग-व्याधि नहीं थी । शशबिन्दु इस वसुधाका दीर्घकालतक उपभोग करके अन्तमें स्वर्गलोकको चले गये ॥ ११ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १२ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रोंसे तो बहुत अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? अतः तुम यज्ञ और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो । ऐसा नारदजीने कहा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजा गयका चरित्र

नारद उवाच

गयं चामूर्तरयसं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यो वै वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! राजा अमूर्तरयके पुत्र गयकी भी मृत्यु सुनी गयी है । राजा गयने सौ वर्षोंतक नियमपूर्वक अग्निहोत्र करके होमावशिष्ट अन्नका ही भोजन किया ॥ १ ॥

तस्मै ह्यग्निर्वरं प्रादात् ततो वव्रे वरं गयः ।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्रतेन नियमेन च ॥ २ ॥
गुरूणां च प्रसादेन वेदानिच्छामि वेदितुम् ।
स्वधर्मेणाविहिंस्यान्यान् धनमिच्छामि चाक्षयम् ॥ ३ ॥
विप्रेषु ददतश्चैव श्रद्धा भवतु नित्यशः ।
अनन्यासु सवर्णासु पुत्रजन्म च मे भवेत् ॥ ४ ॥
अन्नं मे ददतः श्रद्धा धर्मे मे रमतां मनः ।
अविघ्नं चास्तु मे नित्यं धर्मकार्येषु पावक ॥ ५ ॥

इससे प्रसन्न होकर अग्निदेवने उन्हें वर देनेकी इच्छा प्रकट की । (अग्निदेवकी आज्ञासे) गयने उनसे यह वरदान माँगा—'मैं तप, ब्रह्मचर्य, व्रत, नियम और गुरुजनोंकी कृपासे वेदोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ । दूसरोंको कष्ट पहुँचाये बिना अपने धर्मके अनुसार चलकर अक्षय धन

पाना चाहता हूँ। ब्राह्मणोंको दान देता रहूँ और इस कार्यमें प्रतिदिन मेरी अधिकाधिक श्रद्धा बढ़ती रहे। अपने ही वर्णकी पतिव्रता कन्याओंसे मेरा विवाह हो और उन्हींके गर्भसे मेरे पुत्र उत्पन्न हों। अन्नदानमें मेरी श्रद्धा बढ़े तथा धर्ममें ही मेरा मन लगा रहे। अग्निदेव! मेरे धर्मसम्बन्धी कार्योंमें कभी कोई विघ्न न आवे' ॥ २–५ ॥

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत।
गयो ह्यवाप्य तत् सर्वं धर्मेणारीनजीजयत्॥ ६॥

'ऐसा ही होगा' यों कहकर अग्निदेव वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा गयने वह सब कुछ पाकर धर्मसे ही शत्रुओंपर विजय पायी॥ ६॥

स दर्शपौर्णमासाभ्यां कालेष्वाग्रयणेन च।
चातुर्मास्यैश्च विविधैर्यज्ञैश्चावाप्तदक्षिणैः॥ ७॥
अयजच्छ्रद्धया राजा परिसंवत्सरान् शतम्।

राजाने यथासमय सौ वर्षोंतक बड़ी श्रद्धाके साथ दर्श, पौर्णमास, आग्रयण और चातुर्मास्य आदि नाना प्रकारके यज्ञ किये तथा उनमें प्रचुर दक्षिणा दी॥ ७½॥

गवां शतसहस्राणि शतमश्वशतानि च॥ ८॥
शतं निष्कसहस्राणि गवां चाप्ययुतानि षट्।
उत्थायोत्थाय स प्रादात् परिसंवत्सरान् शतम्॥ ९॥

वे सौ वर्षोंतक प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर एक लाख साठ हजार गौ, दस हजार अश्व तथा एक लाख स्वर्णमुद्रा दान करते थे॥ ८-९॥

नक्षत्रेषु च सर्वेषु ददन्नक्षत्रदक्षिणाः।
ईजे च विविधैर्यज्ञैर्यथा सोमोऽङ्गिरा यथा॥ १०॥

वे सोम और अङ्गिराकी भाँति सम्पूर्ण नक्षत्रोंमें नक्षत्र-दक्षिणा देते हुए नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते थे॥ १०॥

सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा य इमां मणिशर्कराम्।
विप्रेभ्यः प्राददद् राजा सोऽश्वमेधे महामखे॥ ११॥

राजा गयने अश्वमेध नामक महायज्ञमें मणिमय रेतवाली सोनेकी पृथ्वी बनवाकर ब्राह्मणोंको दान की थी॥ ११॥

जाम्बूनदमया यूपाः सर्वे रत्नपरिच्छदाः।
गयस्यासन् समृद्धास्तु सर्वभूतमनोहराः॥ १२॥

गयके यज्ञमें सम्पूर्ण यूप जाम्बूनद नामक सुवर्णके बने हुए थे। उन्हें रत्नोंसे विभूषित किया गया था। वे समृद्धिशाली यूप सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको हर लेते थे॥ १२॥

सर्वकामसमृद्धं च प्रादादन्नं गयस्तदा।
ब्राह्मणेभ्यः प्रहृष्टेभ्यः सर्वभूतेभ्य एव च॥ १३॥

राजा गयने यज्ञ करते समय हर्षसे उल्लसित हुए ब्राह्मणों तथा अन्य समस्त प्राणियोंको सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न उत्तम अन्न दिया था॥ १३॥

स समुद्रवनद्वीपनदीनदवनेषु च।
नगरेषु च राष्ट्रेषु दिवि व्योम्नि च येऽवसन्॥ १४॥
भूतग्रामाश्च विविधाः संतृप्ता यज्ञसम्पदा।
गयस्य सदृशो यज्ञो नास्त्यन्य इति तेऽब्रुवन्॥ १५॥

समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कानन, नगर, राष्ट्र, आकाश तथा स्वर्गमें जो नाना प्रकारके प्राणिसमुदाय रहते थे, वे उस यज्ञकी सम्पत्तिसे तृप्त होकर कहने लगे, राजा गयके समान दूसरे किसीका यज्ञ नहीं हुआ है॥ १४-१५॥

षट्त्रिंशद् योजनायामा त्रिंशद् योजनमायता।
पश्चात् पुरश्चतुर्विंशद् वेदी ह्यासीद्धिरण्मयी॥ १६॥
गयस्य यजमानस्य मुक्तावज्रमणिस्तृता।
प्रादात् स ब्राह्मणेभ्योऽथ वासांस्याभरणानि च॥ १७॥
यथोक्ता दक्षिणाश्चान्या विप्रेभ्यो भूरिदक्षिणः।

यजमान गयके यज्ञमें छत्तीस योजन लम्बी, तीस योजन चौड़ी और आगे-पीछे (अर्थात् नीचेसे ऊपरको) चौबीस योजन ऊँची सुवर्णमयी वेदी बनवायी गयी थी*। उसके ऊपर हीरे-मोती एवं मणिरत्न बिछाये गये थे। प्रचुर दक्षिणा देनेवाले गयने ब्राह्मणोंको वस्त्र, आभूषण तथा अन्य शास्त्रोक्त दक्षिणाएँ दी थीं॥ १६-१७½॥

यत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः॥ १८॥
कुल्याः कुशलवाहिन्यो रसानामभवंस्तदा।
वस्त्राभरणगन्धानां राशयश्च पृथग्विधाः॥ १९॥

उस यज्ञमें खाने-पीनेसे बचे हुए अन्नके पचीस पर्वत शेष थे। रसोंको कौशलपूर्वक प्रवाहित करनेवाली कितनी ही छोटी-छोटी नदियाँ तथा वस्त्र, आभूषण और सुगन्धित पदार्थोंकी विभिन्न राशियाँ भी उस समय शेष रह गयी थीं॥ १८-१९॥

यस्य प्रभावाच्च गयस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
वटश्चाक्षय्यकरणः पुण्यं ब्रह्मसरश्च तत्॥ २०॥

उस यज्ञके प्रभावसे राजा गय तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये। साथ ही पुण्यको अक्षय्य करनेवाला अक्षयवट तथा पवित्र तीर्थ ब्रह्मसरोवर भी उनके कारण प्रसिद्ध हो गये॥

* एक विद्वान् व्याख्याकारने ऐसे स्थलोंमें योजनका अर्थ 'बित्ता' माना है। इसके अनुसार वह वेदी १८ हाथ लंबी १५ हाथ चौड़ी और १२ हाथ ऊँची थी।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ २१ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे धर्म-ज्ञानादि चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंके लिये क्या कहना है ? अतः तुम यज्ञानुष्ठान और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये अनुताप न करो। ऐसा नारदजीने कहा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६६॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजा रन्तिदेवकी महत्ता

नारद उवाच

सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्य द्विशतसाहस्रा आसन् सूदा महात्मनः ॥ १ ॥
गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः ।
पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम् ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! सुना है कि संकृतिके पुत्र रन्तिदेव भी जीवित नहीं रह सके। उन महामना नरेशके यहाँ दो लाख रसोइये थे, जो घरपर आये हुए ब्राह्मण अतिथियोंको अमृतके समान मधुर कच्चा-पक्का उत्तम अन्न दिन-रात परोसते रहते थे ॥ १-२ ॥

न्यायेनाधिगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ।
वेदानधीत्य धर्मेण यश्चक्रे द्विषतो वशे ॥ ३ ॥

उन्होंने ब्राह्मणोंको न्यायपूर्वक प्राप्त हुए धनका दान किया और चारों वेदोंका अध्ययन करके धर्मके द्वारा समस्त शत्रुओंको अपने वशमें कर लिया ॥ ३ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददन्निष्कान् सौवर्णान् स प्रभावतः।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति ह स्म प्रभाषते ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंको सोनेके चमकीले निष्क देते हुए वे बार-बार प्रत्येक ब्राह्मणसे यही कहते थे कि यह निष्क तुम्हारे लिये है, यह निष्क तुम्हारे लिये है ॥ ४ ॥

तुभ्यं तुभ्यमिति प्रादान्निष्कान् निष्कान् सहस्रशः।
ततः पुनः समाश्वास्य निष्कानेव प्रयच्छति ॥ ५ ॥

'तुम्हारे लिये, तुम्हारे लिये' कहकर वे हजारों निष्क दान किया करते थे। इतनेपर भी जो ब्राह्मण पाये बिना रह जाते, उन्हें पुनः आश्वासन देकर वे बहुत-से निष्क ही देते थे ॥ ५ ॥

अल्पं दत्तं मयाद्येति निष्ककोटिं सहस्रशः ।
एकाह्ना दास्यति पुनः कोऽन्यस्तत् सम्प्रदास्यति॥ ६ ॥

राजा रन्तिदेव एक दिनमें सहस्रों कोटि निष्क दान करके भी यह खेद प्रकट किया करते थे कि आज मैंने बहुत कम दान किया; ऐसा सोचकर वे पुनः दान देते थे। भला दूसरा कौन इतना दान दे सकता है ? ॥ ६ ॥

द्विजपाणिवियोगेन दुःखं मे शाश्वतं महत्।
भविष्यति न संदेह एवं राजाददद् वसु ॥ ७ ॥

ब्राह्मणोंके हाथका वियोग होनेपर मुझे सदा महान् दुःख होगा, इसमें संदेह नहीं है। यह विचारकर राजा रन्तिदेव बहुत धन दान करते थे ॥ ७ ॥

सहस्रशश्च सौवर्णान् वृषभान् गोशतानुगान्।
साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनं तथा ॥ ८ ॥

सृंजय ! एक हजार सुवर्णके बैल, प्रत्येकके पीछे सौ-सौ गायें और एक सौ आठ स्वर्णमुद्राएँ—इतने धनको निष्क कहते हैं ॥ ८ ॥

अध्यर्धमासमददद् ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः।
अग्निहोत्रोपकरणं यज्ञोपकरणं च यत् ॥ ९ ॥

राजा रन्तिदेव प्रत्येक पक्षमें ब्राह्मणोंको (करोड़ों) निष्क दिया करते थे। इसके साथ अग्निहोत्रके उपकरण और यज्ञकी सामग्री भी होती थी। उनका यह नियम सौ वर्षोंतक चलता रहा ॥ ९ ॥

ऋषिभ्यः करकान् कुम्भान् स्थालीः पिठरमेव च।
शयनासनयानानि प्रासादांश्च गृहाणि च ॥ १० ॥
वृक्षांश्च विविधान् दद्यादन्नानि च धनानि च।
सर्वं सौवर्णमेवासीद् रन्तिदेवस्य धीमतः ॥ ११ ॥

वे ऋषियोंको करवे, घड़े, बटलोई, पिठर, शय्या, आसन, सवारी, महल और घर, भाँति-भाँतिके वृक्ष तथा अन्न-धन दिया करते थे। बुद्धिमान् रन्तिदेवकी सारी देय वस्तुएँ सुवर्णमय ही होती थीं ॥ १०-११ ॥

तत्रास्य गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
रन्तिदेवस्य तां दृष्ट्वा समृद्धिमतिमानुषीम् ॥ १२ ॥

राजा रन्तिदेवकी वह अलौकिक समृद्धि देखकर पुराणवेत्ता पुरुष वहाँ इस प्रकार उनकी यशोगाथा गाया करते थे ॥ १२ ॥

नैतादृशं दृष्टपूर्वं कुबेरसदनेष्वपि।
धनं च पूर्यमाणं नः किं पुनर्मनुजेष्विति ॥ १३ ॥

हमने कुबेरके भवनमें भी पहले कभी ऐसा (रन्तिदेवके समान) भरा-पूरा धनका भंडार नहीं देखा है; फिर मनुष्योंके यहाँ तो हो ही कैसे सकता है ? ॥ १३ ॥

व्यक्तं वस्वोकसारेयमित्यूचुस्तत्र विस्मिताः।

वास्तवमें रन्तिदेवकी समृद्धिका सारतत्त्व उनका सुवर्णमय राजभवन और स्वर्णराशि ही है। इस प्रकार विस्मित होकर लोग उस गाथाका गान करने लगे ॥ १३½ ॥

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत् ॥ १४ ॥
आलभ्यन्त तदा गावः सहस्राण्येकविंशतिः।

संकृतिपुत्र रन्तिदेवके यहाँ जिस रातमें अतिथियोंका समुदाय निवास करता था, उस समय वहाँ इक्कीस हजार गौएँ छूकर दान की जाती थीं ॥ १४½ ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १५ ॥
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मासं यथा पुरा।

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये रसोइये पुकार-पुकारकर कहते थे, आपलोग खूब दाल और कढ़ी खाइये। यह आज जैसी स्वादिष्ट बनी है, वैसी पहले एक महीनेतक नहीं बनी थी ॥ १५½ ॥

रन्तिदेवस्य यत् किंचित् सौवर्णमभवत् तदा ॥ १६ ॥
तत् सर्वं वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।

उन दिनों राजा रन्तिदेवके पास जो कुछ भी सुवर्णमयी सामग्री थी, वह सब उन्होंने उस विस्तृत यज्ञमें ब्राह्मणोंको बाँट दी ॥ १६½ ॥

प्रत्यक्षं तस्य हव्यानि प्रतिगृह्णन्ति देवताः ॥ १७ ॥
कव्यानि पितरः काले सर्वकामान् द्विजोत्तमाः।

उनके यज्ञमें देवता और पितर प्रत्यक्ष दर्शन देकर यथासमय हव्य और कव्य ग्रहण करते थे तथा श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंको पाते थे ॥ १७½ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ १८ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १९ ॥

श्वैत्य सृंजय ! वे रन्तिदेव चारों कल्याणमय गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या बात है। अतः तुम यज्ञ और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। ऐसा नारदजीने कहा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा भरतका चरित्र

नारद उवाच

दौष्यन्तिं भरतं चापि मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैः कृतवान् यः शिशुर्वने ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! दुष्यन्तपुत्र राजा भरतकी भी मृत्यु हुई सुनी गयी है, जिन्होंने शैशवावस्थामें ही वनमें ऐसे-ऐसे कर्म किये थे, जो दूसरोंके लिये सर्वथा दुष्कर है ॥ १ ॥

हिमावदातान् यः सिंहान् नखदंष्ट्रायुधान् बली।
निर्वीर्यांस्तरसा कृत्वा विचकर्ष बबन्ध च ॥ २ ॥

बलवान् भरत बाल्यावस्थामें ही नखों और दाढ़ोंसे

प्रहार करनेवाले बरफके समान सफेद रंगके सिंहोंको अपने बाहुबलके वेगसे पराजित एवं निर्बल करके उन्हें खींच लाते और बाँध देते थे ॥ २ ॥

क्रूरांश्चोग्रतरान् व्याघ्रान् दमित्वा चाकरोद् वशे ।
मनःशिला इव शिलाः संयुक्ता जतुराशिभिः ॥ ३ ॥

वे अत्यन्त भयंकर और क्रूर स्वभाववाले व्याघ्रोंका दमन करके उन्हें अपने वशमें कर लेते थे । मैनसिलके समान पीली और लाक्षाराशिसे संयुक्त लाल रंगकी बड़ी-बड़ी शिलाओंको वे सुगमतापूर्वक हाथसे उठा लेते थे ॥ ३ ॥

व्यालादींश्चातिबलवान् सुप्रतीकान् गजानपि ।
दंष्ट्रासु गृह्य विमुखाञ्छुष्कास्यानकरोद् वशे ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलवान् भरत सर्प आदि जन्तुओंको और सुप्रतीक जातिके गजराजोंके भी दाँत पकड़ लेते और उनके मुख सुखाकर उन्हें विमुख करके अपने अधीन कर लेते थे ॥

महिषानप्यतिबलो बलिनो विचकर्ष ह ।
सिंहानां च सुदृप्तानां शतान्याकर्षयद् बलात् ॥ ५ ॥

भरतका बल असीम था । वे बलवान् भैंसों और सौ-सौ गर्वीले सिंहोंको भी बलपूर्वक घसीट लाते थे ॥ ५ ॥

बलिनः सृमरान् खड्गान् नानासत्त्वानि चाप्युत ।
कृच्छ्रप्राणं वने बद्ध्वा दमयित्वाप्यवासृजत् ॥ ६ ॥

बलवान् सामरों, गैंड़ों तथा अन्य नाना प्रकारके हिंसक जन्तुओंको वे वनमें बाँध लेते और उनका दमन करते-करते उन्हें अधमरा करके छोड़ते थे ॥ ६ ॥

तं सर्वदमनेत्याहुर्द्विजास्तेनास्य कर्मणा ।
तं प्रत्यषेधज्जननी मा सत्त्वानि विजीजहि ॥ ७ ॥

उनके इस कर्मसे ब्राह्मणोंने उनका नाम सर्वदमन रख दिया । माता शकुन्तलाने भरतको मना किया कि तू जंगली जीवोंको सताया न कर ॥ ७ ॥

सोऽश्वमेधशतेनेष्ट्वा यमुनामनु वीर्यवान् ।
त्रिशताश्वान् सरस्वत्यां गङ्गामनु चतुःशतान् ॥ ८ ॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
पुनरीजे महायज्ञैः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ९ ॥

पराक्रमी महाराज भरत जब बड़े हुए, तब उन्होंने यमुनाके तटपर सौ, सरस्वतीके तटपर तीन सौ और गङ्गाजीके किनारे चार सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके पुनः उत्तम दक्षिणाओंसे सम्पन्न एक हजार अश्वमेध और सौ राजसूय महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया ॥ ८-९ ॥

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यामिष्ट्वा विश्वजिता अपि ।
वाजपेयसहस्राणां सहस्रैश्च सुसंवृतैः ॥ १० ॥
इष्ट्वा शाकुन्तलो राजा तर्पयित्वा द्विजान् धनैः ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ११ ॥
जाम्बूनदस्य शुद्धस्य कनकस्य महायशाः ।

इसके बाद भरतने अग्निष्टोम और अतिरात्र याग करके विश्वजित् नामक यज्ञ किया । तत्पश्चात् सर्वथा सुरक्षित दस लाख वाजपेय यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करके महायशस्वी शकुन्तलाकुमार राजा भरतने धनद्वारा ब्राह्मणों-को तृप्त करते हुए आचार्य कण्वको विशुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए एक हजार कमल भेंट किये ॥ १०-११½ ॥

यस्य यूपः शतव्यामः परिणाहेन काञ्चनः ॥ १२ ॥
समागम्य द्विजैः सार्धं सेन्द्रैर्देवैः समुच्छ्रितः ।

इन्द्र आदि देवताओंने वहाँ ब्राह्मणोंके साथ मिलकर राजा भरतके यज्ञमें सोनेके बने हुए सौ व्याम (चार सौ हाथ) लंबे सुवर्णमय यूपका आरोपण किया ॥ १२½ ॥

अलंकृतान् राजमानान् सर्वरत्नैर्मनोहरैः ॥ १३ ॥
हैरण्यानश्वान् द्विरदान् रथानुष्ट्रानजाविकम् ।
दासीदासं धनं धान्यं गाः सवत्साः पयस्विनीः ॥ १४ ॥
ग्रामान् गृहांश्च क्षेत्राणि विविधांश्च परिच्छदान् ।
कोटीशतायुतांश्चैव ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ॥ १५ ॥
चक्रवर्ती ह्यदीनात्मा जितारिर्ह्यजितः परैः ।

शत्रुविजयी, दूसरोंसे पराजित न होनेवाले अदीनचित्त चक्रवर्ती सम्राट् भरतने ब्राह्मणोंको सम्पूर्ण मनोहर रत्नोंसे विभूषित, कान्तिमान् एवं सुवर्णशोभित घोड़े, हाथी, रथ, ऊँट, बकरी, भेड़, दास, दासी, धन-धान्य, दूध देनेवाली सवत्सा गायें, गाँव, घर, खेत तथा वस्त्राभूषण आदि नाना प्रकारकी सामग्री एवं दस लाख कोटि स्वर्णमुद्राएँ दी थीं ॥ १३—१५½ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ १६ ॥
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
अयज्वानमदाक्षिण्यमभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ १७ ॥

श्वैत्य संजय ! चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मृत्युसे बच न सके, तब दूसरे कैसे बच सकते हैं ? अतः तुम यज्ञ और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। ऐसा नारदजीने कहा ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा पृथुका चरित्र

नारद उवाच

पृथुं वैन्यं च राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यमभ्यषिञ्चन् साम्राज्ये राजसूये महर्षयः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—संजय ! वेनके पुत्र राजा पृथु भी जीवित नहीं रह सके; यह हमने सुना है। महर्षियोंने राजसूय-यज्ञमें उन्हें सम्राट्के पदपर अभिषिक्त किया था ॥ १ ॥

यत्नतः प्रथितेत्यूचुः सर्वानभिभवन् पृथुः ।
क्षतान्नस्त्रास्यते सर्वानित्येवं क्षत्रियोऽभवत् ॥ २ ॥

'ये समस्त शत्रुओंको पराजित करके अपने प्रयत्नसे प्रथित (विख्यात) होंगे'—ऐसा महर्षियोंने कहा था। इसलिये वे 'पृथु' कहलाये। ऋषियोंने यह भी कहा कि 'ये क्षतसे हमारा त्राण करेंगे', इसलिये वे 'क्षत्रिय' इस सार्थक नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २ ॥

पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन् ।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥ ३ ॥

वेनकुमार पृथुको देखकर प्रजाने कहा, हम इनमें अनुरक्त हैं। इसलिये उस प्रजारञ्जनजनित अनुरागके कारण उनका नाम 'राजा' हुआ ॥ ३ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी आसीद् वैन्यस्य कामधुक् ।
सर्वाः कामदुघा गावः पुटके पुटके मधु ॥ ४ ॥

वेननन्दन पृथुके लिये यह पृथ्वी कामधेनु हो गयी थी। उनके राज्यमें बिना जोते ही पृथ्वीसे अनाज पैदा होता था। उस समय सभी गौएँ कामधेनुके समान थीं। पत्ते-पत्तेमें मधु भरा रहता था ॥ ४ ॥

आसन् हिरण्मया दर्भाः सुखस्पर्शाः सुखावहाः ।
तेषां चीराणि संवीताः प्रजास्तेष्वेव शेरते ॥ ५ ॥

कुश सुवर्णमय होते थे। उनका स्पर्श कोमल था और वे सुखद जान पड़ते थे। उन्हींके चीर बनाकर प्रजा उनसे अपना शरीर ढकती थी तथा उन कुशोंकी ही चटाइयोंपर सोती थी ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि स्वादूनि च मधूनि च ।
तेषामासीत् तदाहारो निराहाराश्च नाभवन् ॥ ६ ॥

वृक्षोंके फल अमृतके समान मधुर और स्वादिष्ट होते थे। उन दिनों उन फलोंका ही आहार किया जाता था। कोई भी भूखा नहीं रहता था ॥ ६ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या ह्यकुतोभयाः ।
न्यवसन्त यथाकामं वृक्षेषु च गुहासु च ॥ ७ ॥

सभी मनुष्य नीरोग थे। सबकी सारी इच्छाएँ पूर्ण होती थीं और उन्हें कहींसे भी कोई भय नहीं था। वे अपनी इच्छाके अनुसार वृक्षोंके नीचे और पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करते थे ॥ ७ ॥

प्रविभागो न राष्ट्राणां पुराणां चाभवत् तदा ।
यथासुखं यथाकामं तथैता मुदिताः प्रजाः ॥ ८ ॥

उस समय राष्ट्रों और नगरोंका विभाग नहीं था। सबको इच्छानुसार सुख और भोग प्राप्त थे। इससे यह सारी प्रजा प्रसन्न थी ॥ ८ ॥

तस्य संस्तम्भिता ह्यापः समुद्रमभियास्यतः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥ ९ ॥

राजा पृथु जब समुद्रमें यात्रा करते थे, तब पानी थम जाता था और पर्वत उन्हें जानेके लिये मार्ग दे देते थे। उनके रथकी ध्वजा कभी खण्डित नहीं हुई थी ॥ ९ ॥

तं वनस्पतयः शैला देवासुरनरोरगाः ।
सप्तर्षयः पुण्यजना गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ॥ १० ॥
पितरश्च सुखासीनमभिगम्येदमब्रुवन् ।
सम्राडसि क्षत्रियोऽसि राजा गोप्ता पितासि नः ॥ ११ ॥
देह्यस्मभ्यं महाराज प्रभुः सन्नीप्सितान् वरान् ।
यैर्वयं शाश्वतीस्तृप्तीर्वर्तयिष्यामहे सुखम् ॥ १२ ॥

एक दिन सुखपूर्वक बैठे हुए राजा पृथुके पास वनस्पति, पर्वत, देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, सप्तर्षि, पुण्यजन (यक्ष), गन्धर्व, अप्सरा तथा पितरोंने आकर इस प्रकार कहा—'महाराज ! तुम हमारे सम्राट् हो, क्षत्रिय हो तथा राजा, रक्षक और पिता हो। तुम हमें अभीष्ट वर दो, जिससे हमलोग अनन्त कालतक तृप्ति और सुखका अनुभव करें। तुम ऐसा करनेमें समर्थ हो' ॥ १०—१२ ॥

तथेत्युक्त्वा पृथुर्वैन्यो गृहीत्वाऽऽजगवं धनुः ।
शरांश्चाप्रतिमान् घोरांश्चिन्तयित्वाब्रवीन्महीम् ॥ १३॥

'बहुत अच्छा' ऐसा ही होगा, यह कहकर वेनकुमार पृथुने अपना आजगव नामक धनुष और जिनकी कहीं तुलना नहीं थी, ऐसे भयंकर बाण हाथमें ले लिये और कुछ सोचकर पृथ्वीसे कहा—॥ १३ ॥

एह्येहि वसुधे क्षिप्रं क्षरैभ्यः काङ्क्षितं पयः ।
ततो दास्यामि भद्रं ते अन्नं यस्य यथेप्सितम् ॥ १४ ॥

'वसुधे ! तुम्हारा कल्याण हो । आओ-आओ, इन प्रजाजनोंके लिये शीघ्र ही मनोवाञ्छित दूधकी धारा बहाओ। तब मैं जिसका जैसा अभीष्ट अन्न है, उसे वैसा दे सकूँगा'॥१४॥

वसुधोवाच

दुहितृत्वेन मां वीर संकल्पयितुमर्हसि ।
तथेत्युक्त्वा पृथुः सर्वं विधानमकरोद् वशी ॥ १५ ॥

वसुधा बोली—वीर ! तुम मुझे अपनी पुत्री मान लो, तब जितेन्द्रिय राजा पृथुने 'तथास्तु' कहकर वहाँ सारी आवश्यक व्यवस्था की ॥ १५ ॥

ततो भूतनिकायास्तां वसुधां दुदुहुस्तदा ।
तां वनस्पतयः पूर्वं समुत्तस्थुर्दुधुक्षवः ॥ १६ ॥

तदनन्तर प्राणियोंके समुदायने उस समय वसुधाको दुहना आरम्भ किया । सबसे पहले दूधकी इच्छावाले वनस्पति उठे ॥ १६ ॥

सातिष्ठद् वत्सला वत्सं दोग्धृपात्राणि चेच्छती।
वत्सोऽभूत् पुष्पितः शालः प्लक्षो दोग्धाभवत् तदा १७
छिन्नप्ररोहणं दुग्धं पात्रमौदुम्बरं शुभम् ।

उस समय गोरूपधारिणी पृथ्वी वात्सल्य-स्नेहसे परिपूर्ण हो बछड़े, दुहनेवाले और दुग्धपात्रकी इच्छा करती हुई खड़ी हो गयी । वनस्पतियोंमेंसे खिला हुआ शालवृक्ष बछड़ा हो गया । पाकरका पेड़ दुहनेवाला बन गया । गूलर सुन्दर दुग्धपात्रका काम देने लगा । कटनेपर पुनः पनप जाना यही दूध था ॥ १७½ ॥

उदयः पर्वतो वत्सो मेरुर्दोग्धा महागिरिः ॥ १८ ॥
रत्नान्योषधयो दुग्धं पात्रमश्ममयं तथा ।

पर्वतोंमें उदयाचल बछड़ा, महागिरि मेरु दुहनेवाला, रत्न और ओषधि दूध तथा प्रस्तर ही दुग्धपात्र था ॥ १८½ ॥

दोग्धा चासीत् तदा देवो दुग्धमूर्जस्करं प्रियम् ॥१९॥

देवताओंमें भी उस समय कोई दुहनेवाला और कोई बछड़ा बन गया । उन्होंने पुष्टिकारक अमृतमय प्रिय दूध दुह लिया१९

असुरा दुदुहुर्मायामामपात्रे तु ते तदा ।
दोग्धा द्विमूर्धा तत्रासीद् वत्सश्चासीद् विरोचनः॥२०॥

असुरोंने कच्चे बर्तनमें मायामय दूधका ही दोहन किया । उस समय द्विमूर्धा दुहनेवाला और विरोचन बछड़ा बना था ॥

कृषिं च सस्यं च नरा दुदुहुः पृथिवीतले ।
स्वायम्भुवो मनुर्वत्सस्तेषां दोग्धाभवत् पृथुः ॥२१॥

भूतलके मनुष्योंने कृषिकर्म और खेतीकी उपजको ही दूधके रूपमें दुहा । उनके बछड़ेके स्थानपर स्वायम्भू मनु थे और दुहनेका कार्य पृथुने किया ॥ २१ ॥

अलाबुपात्रे च तथा विषं दुग्धा वसुंधरा ।
धृतराष्ट्रोऽभवद् दोग्धा तेषां वत्सस्तु तक्षकः ॥ २२ ॥

सर्पोंने तुम्बीके बर्तनमें पृथ्वीसे विषका दोहन किया । उनकी ओरसे दुहनेवाला धृतराष्ट्र और बछड़ा तक्षक था॥२२॥

सप्तर्षिभिर्ब्रह्म दुग्धा तथा चाक्लिष्टकर्मभिः ।
दोग्धा बृहस्पतिः पात्रं छन्दो वत्सश्च सोमराट् ॥ २३ ॥

अक्लिष्टकर्मा सप्तर्षियोंने ब्रह्म (वेद एवं तप) का दोहन किया । उनके दोग्धा बृहस्पति, पात्र छन्द और बछड़ा राजा सोम थे ॥ २३ ॥

अन्तर्धानं चामपात्रे दुग्धा पुण्यजनैर्विराट् ।
दोग्धा वैश्रवणस्तेषां वत्सश्चासीद् वृषध्वजः ॥ २४ ॥

यक्षोंने कच्चे बर्तनमें पृथ्वीसे अन्तर्धान विद्याका दोहन किया । उनके दोग्धा कुबेर और बछड़ा महादेवजी थे ॥२४॥

पुण्यगन्धान् पद्मपात्रे गन्धर्वाप्सरसोऽदुहन् ।
वत्सश्चित्ररथस्तेषां दोग्धा विश्वरुचिः प्रभुः ॥ २५ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंने कमलके पात्रमें पवित्र गन्धको ही दूधके रूपमें दुहा । उनका बछड़ा चित्ररथ और दुहनेवाले गन्धर्वराज विश्वरुचि थे ॥ २५ ॥

स्वधां रजतपात्रेषु दुदुहुः पितरश्च ताम् ।
वत्सो वैवस्वतस्तेषां यमो दोग्धान्तकस्तदा ॥ २६ ॥

पितरोंने पृथ्वीसे चाँदीके पात्रमें स्वधारूपी दूधका दोहन किया । उस समय उनकी ओरसे वैवस्वत यम बछड़ा और अन्तक दुहनेवाले थे ॥ २६ ॥

एवं निकायैस्तैर्दुग्धा पयोऽभीष्टं हि सा विराट् ।
यैर्वर्तयन्ति ते ह्यद्य पात्रैर्वत्सैश्च नित्यशः ॥ २७ ॥

संजय ! इस प्रकार सभी प्राणियोंने बछड़ों और पात्रोंकी कल्पना करके पृथ्वीसे अपने अभीष्ट दूधका दोहन किया था, जिससे वे आजतक निरन्तर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २७ ॥

यज्ञैश्च विविधैरिष्ट्वा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।
संतर्पयित्वा भूतानि सर्वैः कामैर्मनःप्रियैः ॥ २८ ॥

तदनन्तर प्रतापी वेनकुमार पृथुने नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन करके मनको प्रिय लगनेवाले सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति कराकर सब प्राणियोंको तृप्त किया ॥ २८ ॥

हैरण्यानकरोद् राजा ये केचित् पार्थिवा भुवि ।
तान् ब्राह्मणेभ्यः प्रायच्छदश्वमेधे महामखे ॥ २९ ॥

भूतलपर जो कोई भी पार्थिव पदार्थ हैं, उनकी सोनेकी आकृति बनवाकर राजा पृथुने महायज्ञ अश्वमेधमें उन्हें ब्राह्मणोंको दान किया ॥ २९ ॥

इमां च पृथिवीं सर्वां
मणिरत्नविभूषिताम्।
सौवर्णीमकरोद् राजा
ब्राह्मणेभ्यश्च तां ददौ ॥ ३१ ॥

राजा पृथुने इस सारी पृथ्वीकी भी मणि तथा रत्नोंसे विभूषित सुवर्णमयी प्रतिमा बनवायी और उसे ब्राह्मणोंको दे दिया ॥ ३१ ॥

स चेन्ममार सृञ्जय
चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरस्तुभ्यं
मा पुत्रमनुतप्यथाः।
अयज्वानमदाक्षिण्य-
मभि श्वैत्येत्युदाहरत् ॥ ३२ ॥

षष्टिनागसहस्राणि षष्टिनागशतानि च।
सौवर्णानकरोद् राजा ब्राह्मणेभ्यश्च तान् ददौ ॥ ३० ॥

राजाने छाछठ हजार सोनेके हाथी बनवाये और उन्हें ब्राह्मणोंको दे दिया ॥ ३० ॥

श्वैत्य सृंजय ! चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या गिनती है ! अतः तुम यज्ञानुष्ठान और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो। ऐसा नारदजीने कहा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

परशुरामजीका चरित्र

नारद उवाच

रामो महातपाः शूरो वीरलोकनमस्कृतः।
जामदग्न्योऽप्यतियशा अवितृप्तो मरिष्यति ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—सृंजय ! महातपस्वी शूरवीर, वीरजनवन्दित महायशस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामजी भी अतृप्त अवस्थामें ही मौतके मुखमें चले जायँगे ॥ १ ॥

यः स्वाद्यमनुपर्येति भूमिं कुर्वन्निमां सुखाम्।
न चासीद् विक्रिया यस्य प्राप्य श्रियमनुत्तमाम् ॥ २ ॥

जिन्होंने इस पृथ्वीको सुखमय बनाते हुए आदि युगके धर्मका जहाँ निरन्तर प्रचार किया था तथा परम उत्तम सम्पत्तिको पाकर भी जिनके मनमें किसी प्रकारका विकार नहीं आया ॥ २ ॥

यः क्षत्रियैः परामृष्टे वत्से पितरि चाब्रुवन्।
ततोऽवधीत् कार्तवीर्यमजितं समरे परैः ॥ ३ ॥

जब क्षत्रियोंने गायके बछड़ेको पकड़ लिया और पिता जमदग्निको मार डाला, तब जिन्होंने मौन रहकर ही समर-भूमिमें दूसरोंसे कभी पराजित न होनेवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनका वध किया था ॥ ३ ॥

क्षत्रियाणां चतुःषष्टिमयुतानि सहस्रशः।
तदा मृत्योः समेतानि एकेन धनुषाजयत् ॥ ४ ॥

उस समय मरने-मारनेका निश्चय करके एकत्र हुए चौसठ करोड़ क्षत्रियोंको उन्होंने एकमात्र धनुषके द्वारा जीत लिया ॥ ४ ॥

ब्रह्मद्विषां चाथ तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश।
पुनरन्यानि जग्राह दन्तक्रूरं जघान ह ॥ ५ ॥

उसी युद्धके सिलसिलेमें परशुरामजीने चौदह हजार दूसरे ब्रह्मद्रोहियोंका दमन किया और दन्तक्रूर नामक राजा-को भी मार डाला ॥ ५ ॥

सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमसिनावधीत्।
उद्बन्धनात् सहस्रं च सहस्रमुदके धृतम् ॥ ६ ॥

उन्होंने एक सहस्र क्षत्रियोंको मूसलसे मार गिराया, एक सहस्र राजपूतोंको तलवारसे काट डाला, फिर एक सहस्र क्षत्रियोंको वृक्षोंकी शाखाओंमें फाँसीपर लटकाकर मार डाला और पुनः एक सहस्रको पानीमें डुबो दिया ॥ ६ ॥

दन्तान् भङ्क्त्वा सहस्रस्य कर्णान् नासा न्यकृन्तत।
ततः सप्तसहस्राणां कटुधूपमपाययत् ॥ ७ ॥

एक सहस्र राजपूतोंके दाँत तोड़कर नाक और कान काट डाले तथा सात हजार राजाओंको कड़वा धूप पिला दिया ॥

शिष्टान् बद्ध्वा च हत्वा वै तेषां मूर्ध्नि विभिद्य च।
गुणावतीमुत्तरेण खाण्डवाद् दक्षिणेन च।
गिर्यन्ते शतसाहस्रा हैहयाः समरे हताः ॥ ८ ॥
सरथाश्वगजा वीरा निहतास्तत्र शेरते।
पितुर्वधामर्षितेन जामदग्न्येन धीमता ॥ ९ ॥

शेष क्षत्रियोंको बाँधकर उनका वध कर डाला। उनमेंसे कितनोंके ही मस्तक विदीर्ण कर डाले। गुणावतीसे उत्तर और खाण्डव वनसे दक्षिण पर्वतके निकटवर्ती प्रदेशमें लाखों हैहयवंशी क्षत्रिय वीर पिताके वधसे कुपित हुए बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा समरभूमिमें मारे गये। वे अपने रथ, घोड़े और हाथियोंसहित मारे जाकर वहाँ धराशायी हो गये ॥

निजघ्ने दशसाहस्रान् रामः परशुना तदा।
न ह्यमृष्यत ता वाचो यास्तैर्भृशमुदीरिताः ॥ १० ॥
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजोत्तमाः।

परशुरामजीने उस समय अपने फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंको काट डाला। आश्रमवासियोंने आर्तभावसे जो बातें कही थीं, वहाँके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने 'भृगुवंशी परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इस प्रकार कहकर जो करुण क्रन्दन किया था, उनकी वह कातर पुकार परशुरामजीसे नहीं सही गयी ॥ १०½ ॥

ततः काश्मीरदरदान् कुन्तिक्षुद्रकमालवान् ॥ ११ ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च विदेहांस्ताम्रलिप्तकान्।
रक्षोवाहान् वीतिहोत्रांस्त्रिगर्तान् मार्तिकावतान् ॥ १२ ॥
शिबीनन्यांश्च राजन्यान् देशान् देशान् सहस्रशः।
निजघान शितैर्बाणैर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ १३ ॥

तदनन्तर प्रतापी परशुरामने काश्मीर, दरद, कुन्ति, क्षुद्रक, मालव, अंग, वंग, कलिंग, विदेह, ताम्रलिप्त, रक्षोवाह, वीतिहोत्र, त्रिगर्त, मार्तिकावत, शिबि तथा अन्य सहस्रों देशोंके क्षत्रियोंका अपने तीखे बाणोंद्वारा संहार किया ॥

कोटीशतसहस्राणि क्षत्रियाणां सहस्रशः।
इन्द्रगोपकवर्णस्य बन्धुजीवनिभस्य च ॥ १४ ॥
रुधिरस्य परीवाहैः पूरयित्वा सरांसि च।
सर्वानष्टादश द्वीपान् वशमानीय भार्गवः ॥ १५ ॥
ईजे क्रतुशतैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः।

सहस्रों और लाखों कोटि क्षत्रियोंके इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीट तथा बन्धुजीव (दुपहरिया)-पुष्पके समान रंगवाले रक्तकी धाराओंसे भृगुनन्दन परशुरामने कितने ही तालाब भर दिये और समस्त अठारह द्वीपोंको अपने वशमें करके उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त सौ पवित्र यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ १४-१५½ ॥

वेदीमष्टनलोत्सेधां सौवर्णां विधिनिर्मिताम् ॥ १६ ॥
सर्वरत्नशतैः पूर्णां पताकाशतमालिनीम्।
ग्राम्यारण्यैः पशुगणैः सम्पूर्णां च महीमिमाम् ॥ १७ ॥
रामस्य जामदग्न्यस्य प्रतिजग्राह कश्यपः।

उस यज्ञमें विधिपूर्वक बत्तीस हाथ ऊँची सोनेकी वेदी बनायी गयी थी, जो सब प्रकारके सैकड़ों रत्नोंसे परिपूर्ण और सौ पताकाओंसे सुशोभित थी। जमदग्निनन्दन परशुरामकी उस वेदीको तथा ग्रामीण और जंगली पशुओंसे भरीपूरी इस पृथ्वीको भी महर्षि कश्यपने दक्षिणारूपसे ग्रहण किया॥

ततः शतसहस्राणि द्विपेन्द्रान् हेमभूषणान् ॥ १८ ॥
निर्दस्युं पृथिवीं कृत्वा शिष्टेष्टजनसंकुलाम्।
कश्यपाय ददौ रामो हयमेधे महामखे ॥ १९ ॥

उस समय परशुरामजीने लाखों गजराजोंको सोनेके आभूषणोंसे विभूषित करके तथा पृथ्वीको चोर-डाकुओंसे सूनी और साधु पुरुषोंसे भरी पूरी करके महायज्ञ अश्वमेधमें कश्यपजीको दे दिया ॥ १८-१९ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
इष्ट्वा क्रतुशतैर्वीरो ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत ॥ २० ॥

वीर एवं शक्तिशाली परशुरामजीने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य करके सैकड़ों यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया और इस वसुधाको ब्राह्मणोंके अधिकारमें दे दिया॥

सप्तद्वीपां वसुमतीं मारीचोऽगृह्णत द्विजः।
रामं प्रोवाच निर्गच्छ वसुधातो ममाज्ञया ॥ २१ ॥

ब्रह्मर्षि कश्यपने जब सातों द्वीपोंसे युक्त यह पृथ्वी दानमें ले ली, तब उन्होंने परशुरामजीसे कहा—'अब तू मेरी आज्ञासे इस पृथ्वीसे निकल जाओ' (और कहीं अन्यत्र जाकर रहो) ॥ २१ ॥

स कश्यपस्य वचनात् प्रोत्सार्य सरितां पतिम्।
इषुपाते युधां श्रेष्ठः कुर्वन् ब्राह्मणशासनम् ॥ २२ ॥
अध्यावसद् गिरिश्रेष्ठं महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्।

कश्यपके इस आदेशसे योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामने जितनी दूर बाण फेंका जा सकता है, समुद्रको उतनी ही दूर पीछे हटाकर ब्राह्मणकी आज्ञाका पालन करते हुए उत्तम पर्वत गिरिश्रेष्ठ महेन्द्रपर निवास किया ॥ २२½ ॥

एवं गुणशतैर्युक्तो भृगूणां कीर्तिवर्धनः ॥ २३ ॥
जामदग्न्यो ह्यतियशा मरिष्यति महाद्युतिः।

इस प्रकार भृगुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले महायशस्वी, महातेजस्वी और सैकड़ों गुणोंसे सम्पन्न जमदग्निनन्दन परशुराम भी एक-न-एक दिन मरेंगे ही ॥ २३½ ॥

त्वया चतुर्भद्रतरः पुत्रात् पुण्यतरस्तव ॥ २४ ॥
अयज्वानमदाक्षिण्यं मा पुत्रमनुतप्यथाः।

सृंजय ! चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा हैं। अतः तुम यज्ञानुष्ठान और दान-दक्षिणासे रहित अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥

एते चतुर्भद्रतरास्त्वया भद्रशताधिकाः।
मृता नरवरश्रेष्ठ मरिष्यन्ति च सृञ्जय ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ सृंजय ! अबतक जिन लोगोंका वर्णन किया गया है, ये चतुर्विध कल्याणकारी गुणोंमें तो तुमसे बढ़कर थे ही, तुम्हारी अपेक्षा उनमें सैकड़ों मङ्गलकारी गुण अधिक भी थे; तथापि वे मर गये और जो विद्यमान हैं, वे भी मरेंगे ही ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

नारदजीका सृंजयके पुत्रको जीवित करना और व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाकर अन्तर्धान होना

व्यास उवाच

पुण्यमाख्यानमायुष्यं श्रुत्वा षोडशराजकम्।
अव्याहरन्नरपतिस्तूष्णीमासीत् स सृञ्जयः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! इन सोलह राजाओंका पवित्र एवं आयुकी वृद्धि करनेवाला उपाख्यान सुनकर राजा सृंजय कुछ भी नहीं बोलते हुए मौन रह गये ॥ १ ॥

तमब्रवीत् तथाऽऽसीनं नारदो भगवानृषिः।
श्रुतं कीर्तयतो मह्यं गृहीतं ते महाद्युते ॥ २ ॥

उन्हें इस प्रकार चुपचाप बैठे देख भगवान् नारद-मुनिने उनसे पूछा—'महातेजस्वी नरेश ! मैंने जो कुछ कहा है, उसे तुमने सुना और समझा है न ? ॥ २ ॥

आहोस्विदन्ततो नष्टं श्राद्धं शूद्रीपताविव।
स एवमुक्तः प्रत्याह प्राञ्जलिः सृञ्जयस्तदा ॥ ३ ॥

'अथवा ऐसा तो नहीं हुआ कि जैसे शूद्रजातिकी स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मणको दिया हुआ श्राद्धका दान नष्ट (निष्फल) हो जाता है, उसी प्रकार मेरा यह सारा कहना अन्ततोगत्वा व्यर्थ हो गया हो।' उनके इस प्रकार पूछने-पर उस समय सृंजयने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाबाहो धन्यमाख्यानमुत्तमम्।
राजर्षीणां पुराणानां यज्वनां दक्षिणावताम् ॥ ४ ॥
विस्मयेन हृते शोके तमसीवार्कतेजसा।
विपाप्मास्म्यव्यथोपेतो ब्रूहि किं करवाण्यहम् ॥ ५ ॥

'महाबाहु महर्षे ! यज्ञ करने और दक्षिणा देनेवाले प्राचीन राजर्षियोंका यह परम उत्तम सराहनीय उपाख्यान सुनकर मुझे ऐसा विस्मय हुआ है कि उसने मेरा सारा शोक हर लिया है। ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यका तेज सारा अन्धकार हर लेता है। अब मैं पाप (दुःख) और व्यथासे शून्य हो गया हूँ। बताइये, आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ' ॥

नारद उवाच

दिष्ट्यापहृतशोकस्त्वं वृणीष्वेह यदिच्छसि।
तत् तत् प्रपत्स्यसे सर्वं न मृषावादिनो वयम् ॥ ६ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा शोक दूर हो गया। अब तुम्हारी जो इच्छा हो, यहाँ मुझसे माँग लो। तुम्हारी वह सारी अभिलषित वस्तु तुम्हें प्राप्त हो जायगी। हमलोग झूठ नहीं बोलते हैं ॥ ६ ॥

सृंजय उवाच

एतेनैव प्रतीतोऽहं प्रसन्नो यद्भवान् मम।
प्रसन्नो यस्य भगवान् न तस्यास्तीह दुर्लभम् ॥ ७ ॥

सृंजयने कहा—मुने ! आप मुझपर प्रसन्न हैं, इतने-से ही मैं पूर्ण संतुष्ट हूँ। जिसपर आप प्रसन्न हों, उसे इस जगत्में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ७ ॥

नारद उवाच

मृतं ददानि ते पुत्रं दस्युभिर्निहतं वृथा।
उद्धृत्य नरकात् कष्टात् पशुवत् प्रोक्षितं यथा ॥ ८ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! लुटेरोंने तुम्हारे पुत्रको प्रोक्षित पशुकी भाँति व्यर्थ ही मार डाला है। तुम्हारे उस मरे हुए पुत्रको मैं कष्टप्रद नरकसे निकालकर तुम्हें पुनः वापस दे रहा हूँ ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

प्रादुरासीत् ततः पुत्रः सृञ्जयस्याद्भुतप्रभः।
प्रसन्नेनर्षिणा दत्तः कुबेरतनयोपमः ॥ ९ ॥

व्यासजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीके इतना कहते ही सृंजयका अद्भुत कान्तिमान् पुत्र वहाँ प्रकट हो गया। उसे ऋषिने प्रसन्न होकर राजाको दिया था। वह देखनेमें कुबेर-के पुत्रके समान जान पड़ता था ॥ ९ ॥

ततः संगम्य पुत्रेण प्रीतिमानभवन्नृपः।
ईजे च क्रतुभिः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ १० ॥

अपने उस पुत्रसे मिलकर राजा सृंजयको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त पुण्यमय यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया ॥ १० ॥

अकृतार्थश्च भीतश्च न च सान्नाहिको हतः।
अयज्वा त्वनपत्यश्च ततोऽसौ जीवितः पुनः ॥ ११ ॥

सृंजयका पुत्र कवच बाँधकर युद्धमें लड़ता हुआ नहीं

मारा गया था। उसे अकृतार्थ और भयभीत अवस्थामें अपने प्राणोंका त्याग करना पड़ा था। वह यज्ञकर्मसे रहित और संतानहीन भी था। इसलिये नारदजीने पुनः उसे जीवित कर दिया था ॥ ११ ॥

शूरो वीरः कृतार्थश्च प्रताप्यारीन् सहस्रशः।
अभिमन्युर्गतो वीरः पृतनाभिमुखो हतः ॥ १२ ॥

परंतु शूरवीर अभिमन्यु तो कृतार्थ हो चुका है। वह वीर शत्रुसेनाके सम्मुख युद्धतत्पर हो सहस्रों वैरियोंको संतप्त करके मारा गया और स्वर्गलोकमें जा पहुँचा है ॥१२॥

ब्रह्मचर्येण यान् कांश्चित् प्रज्ञया च श्रुतेन च।
इष्टैश्च क्रतुभिर्यान्ति तांस्ते पुत्रोऽक्षयान् गतः ॥ १३ ॥

पुण्यात्मा पुरुष ब्रह्मचर्यपालन, उत्तम ज्ञान, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय तथा यज्ञोंके अनुष्ठानसे जिन किन्हीं लोकोंमें जाते हैं, उन्हीं अक्षय लोकोंमें तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु भी गया है ॥ १३ ॥

विद्वांसः कर्मभिः पुण्यैः स्वर्गमीहन्ति नित्यशः।
न तु स्वर्गादयं लोकः काम्यते स्वर्गवासिभिः ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष पुण्यकर्मोंद्वारा सदा स्वर्गलोकमें जानेकी इच्छा करते हैं; परंतु स्वर्गवासी पुरुष स्वर्गसे इस लोकमें आनेकी कामना नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

तस्मात् स्वर्गगतं पुत्रमर्जुनस्य हतं रणे।
न चेहानयितुं शक्यं किंचिदप्राप्यमीहितम् ॥ १५ ॥

अर्जुनका पुत्र युद्धमें मारे जानेके कारण स्वर्गलोकमें गया हुआ है। अतः उसे यहाँ नहीं लाया जा सकता। कोई अप्राप्य वस्तु केवल इच्छा करनेमात्रसे नहीं सुलभ हो सकती ॥ १५ ॥

यां योगिनो ध्यानविविक्तदर्शनाः
प्रयान्ति यां चोत्तमयज्विनो जनाः।
तपोभिरिद्धैरनुयान्ति यां तथा
तामक्षयां ते तनयो गतो गतिम् ॥ १६ ॥

जिन्होंने ध्यानके द्वारा पवित्र ज्ञानमयी दृष्टि प्राप्त कर ली है, वे योगी निष्कामभावसे उत्तम यज्ञ करनेवाले पुरुष तथा अपनी उज्ज्वल तपस्याओंद्वारा तपस्वी मुनि जिस अक्षय गतिको पाते हैं, तुम्हारे पुत्रने भी वही गति प्राप्त की है॥

अन्तात् पुनर्भावगतो विराजते
राजेव वीरो ह्यमृतात्मरश्मिभिः।
तामैन्दवीमात्मतनुं द्विजोचितां
गतोऽभिमन्युर्न स शोकमर्हति ॥ १७ ॥

वीर अभिमन्यु मृत्युके पश्चात् पुनः पूर्वभावको प्राप्त होकर चन्द्रमासे उत्पन्न अपने द्विजोचित शरीरमें प्रतिष्ठित हो अपनी अमृतमयी किरणोंसे राजा सोमके समान प्रकाशित हो रहा है। अतः उसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये॥

एवं ज्ञात्वा स्थिरो भूत्वा जह्यरीन् धैर्यमाप्नुहि।
जीवन्त एव नः शोच्या न तु स्वर्गगतोऽनघ ॥ १८ ॥

राजन्! ऐसा जानकर सुस्थिर हो धैर्यका आश्रय लो और उत्साहपूर्वक शत्रुओंका वध करो। अनघ! हमें इस संसारमें जीवित पुरुषोंके लिये ही शोक करना चाहिये। जो स्वर्गमें चला गया है, उसके लिये शोक करना उचित नहीं है॥

शोचतो हि महाराज अघमेवाभिवर्धते।
तस्माच्छोकं परित्यज्य श्रेयसे प्रयतेद् बुधः ॥ १९ ॥
प्रहर्षमभिमानं च सुखप्राप्तिं च चिन्तयन्।

महाराज! शोक करनेसे केवल दुःख ही बढ़ता है। अतः विद्वान् पुरुष उत्कृष्ट हर्ष, अतिशय सम्मान और सुख-प्राप्तिका चिन्तन करते हुए शोकका परित्याग करके अपने कल्याणके लिये ही प्रयत्न करे ॥ १९½ ॥

एतद् बुद्ध्वा बुधाः शोकं न शोकः शोक उच्यते ॥२०॥

यही सब सोच-समझकर ज्ञानवान् पुरुष शोक नहीं करते हैं। शोकको शोक नहीं कहते हैं (उसका अनुभव करनेवाला मन ही शोकरूप होता है) ॥ २० ॥

एवं विद्वान् समुत्तिष्ठ प्रयतो भव मा शुचः।
श्रुतस्ते सम्भवो मृत्योस्तपांस्यनुपमानि च ॥ २१ ॥

राजन्! ऐसा जानकर तुम युद्धके लिये उठो। मन और इन्द्रियोंको संयममें रक्खो तथा शोक न करो। तुमने मृत्युकी उत्पत्ति और उसकी अनुपम तपस्याका वृत्तान्त सुन लिया है ॥ २१ ॥

सर्वभूतसमत्वं च चञ्चलाश्च विभूतयः।
सृञ्जयस्य तु तं पुत्रं मृतं संजीवितं पुनः ॥ २२ ॥

मृत्यु सम्पूर्ण प्राणियोंको समभावसे प्राप्त होती है और धन-ऐश्वर्य चञ्चल है—यह बात भी जान ली है। सृंजयका पुत्र मरा और पुनः जीवित हुआ, यह कथा भी तुमने सुन ही ली है ॥ २२ ॥

एवं विद्वान् महाराज मा शुचः साधयाम्यहम्।
एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २३ ॥

महाराज! यह सब तुम जानते हो। अतः शोक न करो। अब मैं अपनी साधनामें लग रहा हूँ। ऐसा कहकर भगवान् व्यास वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

वागीशाने भगवति व्यासे व्यभ्रनभःप्रभे।
गते मतिमतां श्रेष्ठे समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥
पूर्वेषां पार्थिवेन्द्राणां महेन्द्रप्रतिमौजसाम्।
न्यायाधिगतवित्तानां तां श्रुत्वा यज्ञसम्पदम् ॥ २५ ॥
सम्पूज्य मनसा विद्वान् विशोकोऽभूद् युधिष्ठिरः।
पुनश्चाचिन्तयद् दीनः किंस्विद् वक्ष्ये धनंजयम् ॥२६॥

बिना बादलके आकाशकी-सी कान्तिवाले, बुद्धिमानोंमें

श्रेष्ठ वागीश्वर भगवान् व्यास जब युधिष्ठिरको आश्वासन देकर चले गये, तब देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी और न्यायसे धन प्राप्त करनेवाले प्राचीन राजाओंके उस यज्ञ-वैभवकी कथा सुनकर विद्वान् युधिष्ठिर मन-ही-मन उनके प्रति आदरकी भावना करते हुए शोकसे रहित हो गये। तदनन्तर फिर दीनभावसे यह सोचने लगे कि अर्जुनसे मैं क्या कहूँगा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि अभिमन्युवधपर्वणि षोडशराजकीये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत अभिमन्युवधपर्वमें षोडशराजकीयोपाख्यानविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(प्रतिज्ञापर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अभिमन्युकी मृत्युके कारण अर्जुनका विषाद और क्रोध

(*धृतराष्ट्र उवाच*

अथ संशप्तकैः सार्धं युध्यमाने धनंजये।
अभिमन्यौ हते चापि बाले बलवतां वरे॥
महर्षिसत्तमे याते युधिष्ठिरपुरोगमाः।
पाण्डवाः किमथाकार्षुः शोकेन हतचेतसः॥
कथं संशप्तकेभ्यो वा निवृत्तो वानरध्वजः।
केन वा कथितस्तस्य प्रशान्तः सुतपावकः॥
एतन्मे शंस तत्त्वेन सर्वमेवेह संजय।)

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध कर रहे थे, जब बलवानोंमें श्रेष्ठ बालक अभिमन्यु मारा गया और जब महर्षियोंमें श्रेष्ठ व्यास (युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर) चले गये, तब शोकसे व्याकुल चित्तवाले युधिष्ठिर और अन्य पाण्डवोंने क्या किया ? कपिध्वज अर्जुन संशप्तकोंकी ओरसे कैसे लौटे तथा किसने उनसे कहा कि तुम्हारा अग्निके समान तेजस्वी पुत्र सदाके लिये शान्त हो गया। इन सब बातोंको तुम यथार्थ-रूपसे मुझे बताओ ॥

संजय उवाच

तस्मिन्नहनि निर्वृत्ते घोरे प्राणभृतां क्षये।
आदित्येऽस्तं गते श्रीमान् संध्याकाल उपस्थिते॥ १ ॥
व्यपयातेषु वासाय सर्वेषु भरतर्षभ।
हत्वा संशप्तकव्रातान् दिव्यैरस्त्रैः कपिध्वजः॥ २ ॥
प्रायात् स शिबिरं जिष्णुर्जैत्रमास्थाय तं रथम्।
गच्छन्नेव च गोविन्दं साश्रुकण्ठोऽभ्यभाषत॥ ३ ॥

संजय बोले—भरतश्रेष्ठ ! प्राणधारियोंका संहार करनेवाले उस भयङ्कर दिनके बीत जानेपर जब सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और संध्याकाल उपस्थित हुआ, उस समय समस्त सैनिक जब शिबिरमें विश्रामके लिये चल दिये, तब विजयशील श्रीमान् कपिध्वज अर्जुन अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा संशप्तकसमूहोंका वध करके अपने उस विजयी रथपर बैठे हुए शिबिरकी ओर चले। चलते-चलते ही वे अश्रुगद्गदकण्ठ हो भगवान् गोविन्दसे इस प्रकार बोले—॥ १-३ ॥

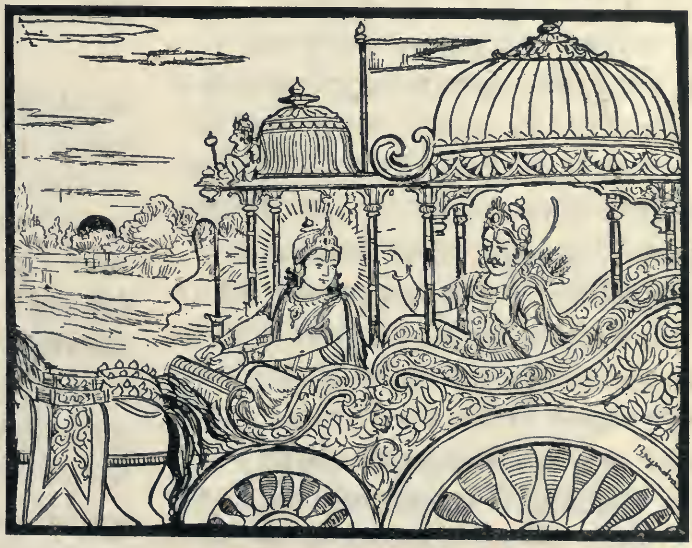

किं नु मे हृदयं त्रस्तं वाक् च सज्जति केशव।
स्पन्दन्ति चाप्यनिष्टानि गात्रं सीदति चाच्युत॥ ४ ॥

'केशव ! न जाने क्यों आज मेरा हृदय धड़क रहा है, वाणी लड़खड़ा रही है, अनिष्टसूचक बायें अङ्ग फड़क रहे हैं और शरीर शिथिल होता जा रहा है ॥ ४ ॥

अनिष्टं चैव मे श्लिष्टं हृदयान्नापसर्पति।
भुवि ये दिक्षु चात्युग्रा उत्पातास्त्रासयन्ति माम्॥ ५ ॥

'मेरे हृदयमें अनिष्टकी चिन्ता घुसी हुई है, जो किसी प्रकार वहाँसे निकलती ही नहीं है। पृथ्वीपर तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें होनेवाले भयंकर उत्पात मुझे डरा रहे हैं ॥ ५ ॥

बहुप्रकारा दृश्यन्ते सर्व एवाघशंसिनः ।
अपि स्वस्ति भवेद् राज्ञः सामात्यस्य गुरोर्मम ॥ ६ ॥

'ये उत्पात अनेक प्रकारके दिखायी देते हैं और सब-के-सब भारी अमङ्गलकी सूचना दे रहे हैं । क्या मेरे पूज्य भ्राता राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल होंगे ?' ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच

व्यक्तं शिवं तव भ्रातुः सामात्यस्य भविष्यति ।
मा शुचः किञ्चिदेवान्यत् तत्रानिष्टं भविष्यति ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! शोक न करो । मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि मन्त्रियोंसहित तुम्हारे भाईका कल्याण ही होगा । इस अपशकुनके अनुसार कोई दूसरा ही अनिष्ट हुआ होगा ॥ ७ ॥

संजय उवाच

ततः संध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने ।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रयातौ रथमास्थितौ ॥ ८ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! तदनन्तर वे दोनों वीर उस वीरसंहारक रणभूमिमें संध्या-वन्दन करके पुनः रथपर बैठकर युद्धसम्बन्धी बातें करते हुए आगे बढ़े ॥ ८ ॥

ततः स्वशिबिरं प्राप्तौ हतानन्दं हतत्विषम् ।
वासुदेवोऽर्जुनश्चैव कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ९ ॥

फिर श्रीकृष्ण और अर्जुन जो अत्यन्त दुष्कर कर्म करके आ रहे थे, अपने शिविरके निकट आ पहुँचे । उस समय वह शिविर आनन्दशून्य और श्रीहीन दिखायी देता था॥

ध्वस्ताकारं समालक्ष्य शिविरं परवीरहा ।
बीभत्सुरब्रवीत् कृष्णमस्वस्थहृदयस्ततः ॥ १० ॥

अपनी छावनीको विध्वस्त हुई-सी देखकर शत्रुवीरोंका संहारकरनेवाले अर्जुनका हृदय चिन्तित हो उठा । अतः वे भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

नदन्ति नाद्य तूर्याणि मङ्गल्यानि जनार्दन ।
मिश्रा दुन्दुभिनिर्घोषैः शङ्खाश्चाडम्बरैः सह ॥ ११ ॥

'जनार्दन ! आज इस शिविरमें माङ्गलिक बाजे नहीं बज रहे हैं । दुन्दुभि-नाद तथा तुरहीके शब्दोंके साथ मिली हुई शङ्खध्वनि भी नहीं सुनायी देती है ॥ ११ ॥

वीणा नैवाद्य वाद्यन्ते शम्यातालस्वनैः सह ।
मङ्गल्यानि च गीतानि न गायन्ति पठन्ति च ॥ १२ ॥
स्तुतियुक्तानि रम्याणि ममानीकेषु वन्दिनः ।

'ढाक और करतारकी ध्वनिके साथ आज वीणा भी नहीं बज रही है । मेरी सेनाओंमें वन्दीजन न तो मङ्गलगीत गा रहे हैं और न स्तुतियुक्त मनोहर श्लोकोंका ही पाठ करते हैं ॥ १२½ ॥

योधाश्चापि हि मां दृष्ट्वा निवर्तन्ते ह्यधोमुखाः ॥ १३ ॥
कर्माणि च यथापूर्वं कृत्वा नाभिवदन्ति माम् ।
अपि स्वस्ति भवेदद्य भ्रातृभ्यो मम माधव ॥ १४ ॥

'मेरे सैनिक मुझे देखकर नीचे मुख किये लौट जाते हैं। पहलेकी भाँति अभिवादन करके मुझसे युद्धका समाचार नहीं बता रहे हैं । माधव ! क्या आज मेरे भाई सकुशल होंगे ? ॥ १३-१४ ॥

न हि शुद्ध्यति मे भावो दृष्ट्वा स्वजनमाकुलम् ।
अपि पाञ्चालराजस्य विराटस्य च मानद ॥ १५ ॥
सर्वेषां चैव योधानां सामग्र्यं स्यान्ममाच्युत ।

'आज इन स्वजनोंको व्याकुल देखकर मेरे हृदयकी आशंका नहीं दूर होती है । दूसरोंको मान देनेवाले अच्युत श्रीकृष्ण ! राजा द्रुपद, विराट तथा मेरे अन्य सब योद्धाओं-का समुदाय तो सकुशल होगा न ? ॥ १५½ ॥

न च मामद्य सौभद्रः प्रहृष्टो भ्रातृभिः सह ।
रणादायान्तमुचितं प्रत्युद्याति हसन्निव ॥ १६ ॥

'आज प्रतिदिनकी भाँति सुभद्राकुमार अभिमन्यु अपने भाइयोंके साथ हर्षमें भरकर हँसता हुआ-सा युद्धसे लौटते हुए मेरी उचित अगवानी करने नहीं आ रहा है (इसका क्या कारण है ?)' ॥ १६ ॥

संजय उवाच

एवं संकथयन्तौ तौ प्रविष्टौ शिबिरं स्वकम् ।
ददृशाते भृशास्वस्थान् पाण्डवान् नष्टचेतसः ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार बातें करते हुए उन दोनोंने शिविरमें पहुँचकर देखा कि पाण्डव अत्यन्त व्याकुल और हतोत्साह हो रहे हैं ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च विमना वानरध्वजः ।
अपश्यंश्चैव सौभद्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

भाइयों तथा पुत्रोंको इस अवस्थामें देख और सुभद्राकुमार अभिमन्युको वहाँ न पाकर कपिध्वज अर्जुनका मन अत्यन्त उदास हो गया तथा वे इस प्रकार बोले—॥ १८ ॥

मुखवर्णोऽप्रसन्नो वः सर्वेषामेव लक्ष्यते ।
न चाभिमन्युं पश्यामि न च मां प्रतिनन्दथ ॥ १९ ॥

'आज आप सभी लोगोंके मुखकी कान्ति अप्रसन्न दिखायी दे रही है, इधर मैं अभिमन्युको नहीं देख पाता हूँ और आपलोग भी मुझसे प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप नहीं कर रहे हैं ॥ १९ ॥

मया श्रुतश्च द्रोणेन चक्रव्यूहो विनिर्मितः ।
न च वस्तस्य भेत्तास्ति विना सौभद्रमर्भकम् ॥ २० ॥

'मैंने सुना है कि आचार्य द्रोणने चक्रव्यूहकी रचना की थी । आपलोगोंमेंसे बालक अभिमन्युके सिवा दूसरा कोई उस व्यूहका भेदन नहीं कर सकता था ॥ २० ॥

न चोपदिष्टस्तस्यासीन्मयानीकाद् विनिर्गमः ।
कच्चिन्न बालो युष्माभिः परानीकं प्रवेशितः ॥ २१ ॥

'परंतु मैंने उसे उस व्यूहसे निकलनेका ढंग अभी नहीं बताया था। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि आपलोगोंने उस बालकको शत्रुके व्यूहमें भेज दिया हो ? ॥ २१ ॥

भित्त्वानीकं महेष्वासः परेषां बहुशो युधि ।
कच्चिन्न निहतः संख्ये सौभद्रः परवीरहा ॥ २२ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला महाधनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्यु युद्धमें शत्रुओंके उस व्यूहका अनेकों बार भेदन करके अन्तमें वहीं मारा तो नहीं गया ? ॥ २२ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुं जातं सिंहमिवाद्रिषु ।
उपेन्द्रसदृशं ब्रूत कथमायोधने हतः ॥ २३ ॥

'पर्वतोंमें उत्पन्न हुए सिंहके समान लाल नेत्रोंवाले, श्रीकृष्णतुल्य पराक्रमी महाबाहु अभिमन्युके विषयमें आप लोग बतावें। वह युद्धमें किस प्रकार मारा गया ? ॥ २३ ॥

सुकुमारं महेष्वासं वासवस्यात्मजात्मजम् ।
सदा मम प्रियं ब्रूत कथमायोधने हतः ॥ २४ ॥

'इन्द्रके पौत्र तथा मुझे सदा प्रिय लगनेवाले सुकुमार शरीर महाधनुर्धर अभिमन्युके विषयमें बताइये। वह युद्धमें कैसे मारा गया ? ॥ २४ ॥

सुभद्रायाः प्रियं पुत्रं द्रौपद्याः केशवस्य च ।
अम्बायाश्च प्रियं नित्यं कोऽवधीत् कालमोहितः ॥ २५ ॥

'सुभद्रा और द्रौपदीके प्यारे पुत्र अभिमन्युको, जो श्रीकृष्ण और माता कुन्तीका सदा दुलारा रहा है, किसने कालसे मोहित होकर मारा है ? ॥ २५ ॥

सदृशो वृष्णिवीरस्य केशवस्य महात्मनः ।
विक्रमश्रुतमाहात्म्यैः कथमायोधने हतः ॥ २६ ॥

'वृष्णिकुलके वीर महात्मा केशवके समान पराक्रमी, शास्त्रज्ञ और महत्त्वशाली अभिमन्यु युद्धमें किस प्रकार मारा गया है ? ॥ २६ ॥

वार्ष्णेयीदयितं शूरं मया सततलालितम् ।
यदि पुत्रं न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ॥ २७ ॥

'सुभद्राके प्राणप्यारे शूरवीर पुत्रको, जिसको मैंने सदा लाड़-प्यार किया है, यदि नहीं देखूँगा तो मैं भी यमलोक चला जाऊँगा ॥ २७ ॥

मृदुकुञ्चितकेशान्तं बालं बालमृगेक्षणम् ।
मत्तद्विरदविक्रान्तं शालपोतमिवोद्गतम् ॥ २८ ॥
स्मिताभिभाषिणं शान्तं गुरुवाक्यकरं सदा ।
बाल्येऽप्यतुलकर्माणं प्रियवाक्यममत्सरम् ॥ २९ ॥
महोत्साहं महाबाहुं दीर्घराजीवलोचनम् ।
भक्तानुकम्पिनं दान्तं न च नीचानुसारिणम् ॥ ३० ॥
कृतज्ञं ज्ञानसम्पन्नं कृतास्त्रमनिवर्तिनम् ।
युद्धाभिनन्दिनं नित्यं द्विषतां भयवर्धनम् ॥ ३१ ॥
स्वेषां प्रियहिते युक्तं पितॄणां जयगृद्धिनम् ।
न च पूर्वं प्रहर्तारं संग्रामे नष्टसम्भ्रमम् ॥ ३२ ॥
यदि पुत्रं न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ।

'जिसके केशप्रान्त कोमल और घुँघराले थे, दोनों नेत्र मृगछौनेके समान चञ्चल थे, जिसका पराक्रम मतवाले हाथीके समान और शरीर नूतन शालवृक्षके समान ऊँचा था, जो मुसकराकर बातें करता था, जिसका मन शान्त था, जो सदा गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करता था, बाल्यावस्थामें भी जिसके पराक्रमकी कोई तुलना नहीं थी, जो सदा प्रिय वचन बोलता और किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता था, जिसमें महान् उत्साह भरा था, जिसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और दोनों नेत्र विकसित कमलके समान सुन्दर एवं विशाल थे, जो भक्तजनोंपर दया करता, इन्द्रियोंको वशमें रखता और नीच पुरुषोंका साथ कभी नहीं करता था, जो कृतज्ञ, ज्ञानवान्, अस्त्र-विद्यामें पारङ्गत, युद्धसे मुँह न मोड़नेवाला, युद्धका अभिनन्दन करनेवाला तथा सदा शत्रुओंका भय बढ़ानेवाला था, जो स्वजनोंके प्रिय और हितमें तत्पर तथा अपने पितृकुलकी विजय चाहनेवाला था, संग्राममें जिसे कभी घबराहट नहीं होती थी और जो शत्रुपर पहले प्रहार नहीं करता था, अपने उस पुत्र बालक अभिमन्युको यदि नहीं देखूँगा तो मैं भी यमलोककी राह लूँगा ॥ २८–३२½ ॥

रथेषु गण्यमानेषु गणितं तं महारथम् ॥ ३३ ॥
मयाध्यर्धगुणं संख्ये तरुणं बाहुशालिनम् ।
प्रद्युम्नस्य प्रियं नित्यं केशवस्य ममैव च ॥ ३४ ॥
यदि पुत्रं न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ।

'रथियोंकी गणना होते समय जो महारथी गिना गया था, जिसे युद्धमें मेरी अपेक्षा ड्योढ़ा समझा जाता था तथा अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाला जो तरुण वीर प्रद्युम्नको, श्रीकृष्णको और मुझे भी सदैव प्रिय था, उस पुत्रको यदि मैं नहीं देखूँगा तो यमराजके लोकमें चला जाऊँगा ॥

सुनसं सुललाटान्तं स्वक्षिभ्रूदशनच्छदम् ॥ ३५ ॥
अपश्यतस्तद्वदनं का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

'जिसकी नासिका, ललाटप्रान्त, नेत्र, भौंह तथा ओष्ठ—ये सभी परम सुन्दर थे, अभिमन्युके उस मुखको न देखनेपर मेरे हृदयमें क्या शान्ति होगी ? ॥ ३५½ ॥

तन्त्रीस्वनसुखं रम्यं पुंस्कोकिलसमध्वनिम् ॥ ३६ ॥
अशृण्वतः स्वनं तस्य का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

'अभिमन्युका स्वर वीणाकी ध्वनिके समान सुखद, मनोहर तथा कोयलकी काकलीके तुल्य मधुर था। उसे न सुननेपर मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ ३६½ ॥

रूपं चाप्रतिमं तस्य त्रिदशैश्चापि दुर्लभम् ॥ ३७ ॥
अपश्यतो हि वीरस्य का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

'उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। देवताओंके लिये भी वैसा रूप दुर्लभ है। यदि वीर अभिमन्युके उस रूपको नहीं देख पाता हूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ३७½ ॥

अभिवादनदक्षं तं पितॄणां वचने रतम् ॥ ३८ ॥
नाद्याहं यदि पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

'प्रणाम करनेमें कुशल और पितृवर्गकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर अभिमन्युको यदि आज मैं नहीं देखता हूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ ३८½ ॥

सुकुमारः सदा वीरो महार्हशयनोचितः ॥ ३९ ॥
भूमावनाथवच्छेते नूनं नाथवतां वरः ।

'जो सदा बहुमूल्य शय्यापर सोनेके योग्य और सुकुमार था, वह सनाथशिरोमणि वीर अभिमन्यु आज निश्चय ही अनाथकी भाँति पृथ्वीपर सो रहा है ॥ ३९½ ॥

शयानं समुपासन्ति यं पुरा परमस्त्रियः ॥ ४० ॥
तमद्य विप्रविद्धाङ्गमुपासन्त्यशिवाः शिवाः ।

'आजसे पहले सोते समय परम सुन्दरी स्त्रियाँ जिसकी उपासना करती थीं, अपने क्षत-विक्षत अङ्गोंसे पृथ्वीपर पड़े हुए उस अभिमन्युके पास आज अमङ्गलजनक शब्द करनेवाली सियारिनें बैठी होंगी ॥ ४०½ ॥

यः पुरा बोध्यते सुप्तः सूतमागधवन्दिभिः ॥ ४१ ॥
बोधयन्त्यद्य तं नूनं श्वापदा विकृतैः स्वनैः ।

'जिसे पहले सो जानेपर सूत, मागध और बन्दीजन जगाया करते थे, उसी अभिमन्युको आज निश्चय ही हिंसक जन्तु अपने भयंकर शब्दोंद्वारा जगाते होंगे ॥ ४१½ ॥

छत्रच्छायासमुचितं तस्य तद् वदनं शुभम् ॥ ४२ ॥
नूनमद्य रजोध्वस्तं रणरेणुः करिष्यति ।

'उसका वह सुन्दर मुख सदा छत्रकी छायामें रहने योग्य था; परंतु आज युद्धभूमिमें उड़ती हुई धूल उसे आच्छादित कर देगी ॥ ४२½ ॥

हा पुत्रकावितृप्तस्य सततं पुत्रदर्शने ॥ ४३ ॥
भाग्यहीनस्य कालेन यथा मे नीयसे बलात् ।

'हा पुत्र ! मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। निरन्तर तुम्हें देखते रहनेपर भी मुझे तृप्ति नहीं होती थी, तो भी काल आज बलपूर्वक तुम्हें मुझसे छीनकर लिये जा रहा है ॥ ४३½ ॥

सा च संयमनी नूनं सदा सुकृतिनां गतिः ॥ ४४ ॥
स्वभाभिर्भासिता रम्या त्वयात्यर्थं विराजते ।

'निश्चय ही वह संयमनी पुरी सदा पुण्यवानोंका आश्रय है; जो आज अपनी प्रभासे प्रकाशित और मनोहारिणी होती हुई भी तुम्हारे द्वारा अत्यन्त उद्भासित हो उठी होगी ॥ ४४½ ॥

नूनं वैवस्वतश्च त्वां वरुणश्च प्रियातिथिम् ॥ ४५ ॥
शतक्रतुर्धनेशश्च प्राप्तमर्चन्त्यभीरुकम् ।

'अवश्य ही आज वैवस्वत यम, वरुण, इन्द्र और कुबेर वहाँ तुम-जैसे निर्भय वीरको अपने प्रिय अतिथिके रूपमें पाकर तुम्हारा बड़ा आदर-सत्कार करते होंगे' ॥ ४५½ ॥

एवं विलप्य बहुधा भिन्नपोतो वणिग् यथा ॥ ४६ ॥
दुःखेन महताऽऽविष्टो युधिष्ठिरमपृच्छत ।

इस प्रकार बारंबार विलाप करके टूटे हुए जहाजवाले व्यापारीकी भाँति महान् दुःखसे व्याप्त हो अर्जुनने युधिष्ठिरसे इस प्रकार पूछा—॥ ४६½ ॥

कच्चित्स कदनं कृत्वा परेषां कुरुनन्दन ॥ ४७ ॥
स्वर्गतोऽभिमुखः संख्ये युध्यमानो नरर्षभैः ।

'कुरुनन्दन ! क्या उन श्रेष्ठ वीरोंके साथ युद्ध करता हुआ अभिमन्यु रणभूमिमें शत्रुओंका संहार करके सम्मुख मारा जाकर स्वर्गलोकमें गया है ? ॥ ४७½ ॥

स नूनं बहुभिर्यत्तैर्युध्यमानो नरर्षभैः ॥ ४८ ॥
असहायः सहायार्थी मामनुध्यातवान् ध्रुवम् ।

'अवश्य ही बहुत-से श्रेष्ठ एवं सावधानीके साथ प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले योद्धाओंके साथ अकेले लड़ते हुए अभिमन्युने सहायताकी इच्छासे मेरा बारंबार स्मरण किया होगा॥

पीड्यमानः शरैस्तीक्ष्णैः कर्णद्रोणकृपादिभिः ॥ ४९ ॥
नानालिङ्गैः सुधौताग्रैर्मम पुत्रोऽल्पचेतनः ।
इह मे स्यात् परित्राणं पितेति स पुनः पुनः ॥ ५० ॥
इत्येवं विलपन् मन्ये नृशंसैर्भुवि पातितः ।

'जब कर्ण, द्रोण और कृपाचार्य आदिने चमकते हुए अग्रभागवाले नाना प्रकारके तीखे बाणोंद्वारा मेरे पुत्रको पीड़ित किया होगा और उसकी चेतना मन्द होने लगी होगी, उस समय अभिमन्युने बारंबार विलाप करते हुए यह कहा होगा कि यदि यहाँ मेरे पिताजी होते तो मेरे प्राणोंकी रक्षा हो जाती। मैं समझता हूँ, उसी अवस्थामें उन निर्दयी शत्रुओंने उसे पृथ्वीपर मार गिराया होगा ॥ ४९-५०½ ॥

अथवा मत्प्रसूतः स स्वस्रीयो माधवस्य च ॥ ५१ ॥
सुभद्रायां च सम्भूतो न चैवं वक्तुमर्हति ।

'अथवा वह मेरा पुत्र, श्रीकृष्णका भानजा था, सुभद्राकी कोखसे उत्पन्न हुआ था; इसलिये ऐसी दीनतापूर्ण बात नहीं कह सकता था ॥ ५१½ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम ॥ ५२ ॥
अपश्यतो दीर्घबाहुं रक्ताक्षं यन्न दीर्यते ।

'निश्चय ही मेरा यह हृदय अत्यन्त सुदृढ़ एवं वज्रसारका बना हुआ है, तभी तो लाल नेत्रोंवाले महाबाहु अभिमन्युको न देखनेपर भी यह फट नहीं जाता है ॥ ५२½ ॥

कथं बाले महेष्वासा नृशंसा मर्मभेदिनः ॥ ५३ ॥
स्वस्रीये वासुदेवस्य मम पुत्रेऽक्षिपञ्शरान् ।

'उन क्रूरकर्मा महान् धनुर्धरोंने श्रीकृष्णके भानजे और मेरे बालक पुत्रपर मर्मभेदी बाणोंका प्रहार कैसे किया ? ॥

यो मां नित्यमदीनात्मा प्रत्युद्गम्याभिनन्दति ॥ ५४ ॥
उपायान्तं रिपून् हत्वा सोऽद्य मां किं न पश्यति ।

'जब मैं शत्रुओंको मारकर शिबिरको लौटता था, उस समय जो प्रतिदिन प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़कर मेरा अभिनन्दन करता था, वह अभिमन्यु आज मुझे क्यों नहीं देख रहा है ? ॥

नूनं स पातितः शेते धरण्यां रुधिरोक्षितः ॥ ५५ ॥
शोभयन् मेदिनीं गात्रैरादित्य इव पातितः ।

'निश्चय ही शत्रुओंने उसे मार गिराया है और वह खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ा सो रहा है एवं आकाशसे नीचे गिराये हुए सूर्यकी भाँति वह अपने अङ्गोंसे इस भूमिकी शोभा बढ़ा रहा है ॥ ५५½ ॥

सुभद्रामनुशोचामि या पुत्रमपलायिनम् ॥ ५६ ॥
रणे विनिहतं श्रुत्वा शोकार्ता वै विनङ्क्ष्यति ।

'मुझे बारंबार सुभद्राके लिये शोक हो रहा है, जो युद्धसे मुँह न मोड़नेवाले अपने वीर पुत्रको रणभूमिमें मारा गया सुनकर शोकसे आतुर हो प्राण त्याग देगी ॥ ५६½ ॥

सुभद्रा वक्ष्यते किं मामभिमन्युमपश्यती ॥ ५७ ॥
द्रौपदी चैव दुःखार्ते ते च वक्ष्यामि किं न्वहम् ।

'अभिमन्युको न देखकर सुभद्रा मुझे क्या कहेगी ? द्रौपदी भी मुझसे किस प्रकार वार्तालाप करेगी ? इन दोनों दुःखकातर देवियोंको मैं क्या जवाब दूँगा ? ॥ ५७½ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं यन्न यास्यति ॥ ५८ ॥
सहस्रधा वधूं दृष्ट्वा रुदतीं शोककर्शिताम् ।

'निश्चय ही मेरा हृदय वज्रसारका बना हुआ है, जो शोकसे कातर हुई बहू उत्तराको रोती देखकर सहस्रों टुकड़ोंमें विदीर्ण नहीं हो जाता ? ॥ ५८½ ॥

दृप्तानां धार्तराष्ट्राणां सिंहनादो मया श्रुतः ॥ ५९ ॥
युयुत्सुश्चापि कृष्णेन श्रुतो वीरानुपालभन् ।

'मैंने घमंडमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंका सिंहनाद सुना है और श्रीकृष्णने यह भी सुना है कि युयुत्सु उन कौरववीरोंको इस प्रकार उपालम्भ दे रहा था ॥ ५९½ ॥

अशक्नुवन्तो बीभत्सुं बालं हत्वा महारथाः ॥ ६० ॥
किं मोदध्वमधर्मज्ञाः पाण्डवं दृश्यतां बलम् ।

'युयुत्सु कह रहा था, धर्मको न जाननेवाले महारथी कौरवो ! अर्जुनपर जब तुम्हारा वश न चला, तब तुम एक बालककी हत्या करके क्यों आनन्द मना रहे हो ? कल पाण्डवोंका बल देखना ॥ ६०½ ॥

किं तयोर्विप्रियं कृत्वा केशवार्जुनयोर्मृधे ॥ ६१ ॥
सिंहवन्नदथ प्रीताः शोककाल उपस्थिते ।

'रणक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका अपराध करके तुम्हारे लिये शोकका अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें तुमलोग प्रसन्न होकर सिंहनाद कैसे कर रहे हो ? ॥ ६१½ ॥

आगमिष्यति वः क्षिप्रं फलं पापस्य कर्मणः ॥ ६२ ॥
अधर्मो हि कृतस्तीव्रः कथं स्यादफलश्चिरम् ।

'तुम्हारे पापकर्मका फल तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा । तुमलोगोंने घोर पाप किया है । उसका फल मिलनेमें अधिक विलम्ब कैसे हो सकता है ? ॥ ६२½ ॥

इति तान् परिभाषन् वै वैश्यापुत्रो महामतिः॥ ६३ ॥
अपायाच्छस्त्रमुत्सृज्य कोपदुःखसमन्वितः ।

'राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीका परम बुद्धिमान् पुत्र युयुत्सु कोप और दुःखसे युक्त हो कौरवोंसे उपर्युक्त बातें कहकर शस्त्र त्यागकर चला आया है ॥ ६३½ ॥

किमर्थमेतन्नाख्यातं त्वया कृष्ण रणे मम ॥ ६४ ॥
अधाक्षं तानहं क्रूरांस्तदा सर्वान् महारथान् ।

'श्रीकृष्ण ! आपने रणक्षेत्रमें ही यह बात मुझसे क्यों नहीं बता दी ? मैं उसी समय उन समस्त क्रूर महारथियोंको जलाकर भस्म कर डालता' ॥ ६४½ ॥

संजय उवाच

पुत्रशोकार्दितं पार्थं ध्यायन्तं साश्रुलोचनम् ॥ ६५ ॥
निगृह्य वासुदेवस्तं पुत्राधिभिरभिप्लुतम् ।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णस्तीव्रशोकसमन्वितम् ॥ ६६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार अर्जुनको पुत्रशोकसे पीड़ित और उसीका चिन्तन करते हुए नेत्रोंसे आँसू बहाते देख भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें पकड़कर सँभाला । वे पुत्रवियोगके कारण होनेवाली गहरी मनोव्यथामें डूबे हुए थे और तीव्र शोक उन्हें संतप्त कर रहा था । भगवान् बोले—'मित्र ! ऐसे व्याकुल न होओ ॥ ६५-६६ ॥

सर्वेषामेष वै पन्थाः शूराणामनिवर्तिनाम् ।
क्षत्रियाणां विशेषेण येषां युद्धेन जीविका ॥ ६७ ॥

'युद्धमें पीठ न दिखानेवाले सभी शूरवीरोंका यही मार्ग है । विशेषतः उन क्षत्रियोंको, जिनकी युद्धसे जीविका चलती है, इस मार्गसे जाना ही पड़ता है ॥ ६७ ॥

एषा वै युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
विहिता सर्वशास्त्रज्ञैर्गतिर्मतिमतां वर ॥ ६८ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ वीर ! जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं, उन युद्धपरायण शूरवीरोंके लिये सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंने यही गति निश्चित की है ॥ ६८ ॥

ध्रुवं हि युद्धे मरणं शूराणामनिवर्तिनाम् ।

गतः पुण्यकृतां लोकानभिमन्युर्न संशयः ॥ ६९ ॥

'पीछे पैर न हटानेवाले शूरवीरोंका युद्धमें मरण अवश्यम्भावी है। अभिमन्यु पुण्यात्मा पुरुषोंके लोकमें गया है, इसमें संशय नहीं है ॥ ६९ ॥

एतच्च सर्ववीराणां काङ्क्षितं भरतर्षभ।
संग्रामेऽभिमुखो मृत्युं प्राप्नुयादिति मानद ॥ ७० ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले भरतश्रेष्ठ! संग्राममें सम्मुख युद्ध करते हुए वीरको मृत्युकी प्राप्ति हो, यही सम्पूर्ण शूरवीरोंका अभीष्ट मनोरथ हुआ करता है ॥ ७० ॥

स च वीरान् रणे हत्वा राजपुत्रान् महाबलान्।
वीरैराकाङ्क्षितं मृत्युं सम्प्राप्तोऽभिमुखं रणे ॥ ७१॥

'अभिमन्युने रणक्षेत्रमें महाबली वीर राजकुमारोंका वध करके वीर पुरुषोंद्वारा अभिलषित संग्राममें सम्मुख मृत्यु प्राप्त की है ॥ ७१ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र पूर्वैरेष सनातनः।
धर्मकृद्भिः कृतो धर्मः क्षत्रियाणां रणे क्षयः ॥ ७२॥

'पुरुषसिंह! शोक न करो। प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंने संग्राममें वध होना क्षत्रियोंका सनातन धर्म नियत किया है।७२।

इमे ते भ्रातरः सर्वे दीना भरतसत्तम।
त्वयि शोकसमाविष्टे नृपाश्च सुहृदस्तव ॥ ७३ ॥

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे शोकाकुल हो जानेसे ये तुम्हारे सभी भाई, नरेशगण तथा सुहृद् दीन हो रहे हैं ॥ ७३ ॥

एतांश्च वचसा साम्ना समाश्वासय मानद।
विदितं वेदितव्यं ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ ७४ ॥

'मानद! इन सबको अपने शान्तिपूर्ण वचनसे आश्वासन दो। तुम्हें जाननेयोग्य तत्त्वका ज्ञान हो चुका है। अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये' ॥ ७४ ॥

एवमाश्वासितः पार्थः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
ततोऽब्रवीत् तदा भ्रातॄन् सर्वान् पार्थः सगद्गदान्।७५।

अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्णके इस प्रकार समझाने-बुझानेपर अर्जुन उस समय वहाँ गद्गद कण्ठवाले अपने सब भाइयोंसे बोले—॥ ७५ ॥

स दीर्घबाहुः पृथ्वंसो दीर्घराजीवलोचनः।
अभिमन्युर्यथावृत्तः श्रोतुमिच्छाम्यहं तथा ॥ ७६ ॥

'मोटे कंधों, बड़ी भुजाओं तथा कमलसदृश विशाल नेत्रोंवाला अभिमन्यु संग्राममें जिस प्रकार लड़ा था, वह सब वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ७६ ॥

सनागस्यन्दनहयान् द्रक्ष्यध्वं निहतान् मया।
संग्रामे सानुबन्धांस्तान् मम पुत्रस्य वैरिणः ॥ ७७॥

'कल आपलोग देखेंगे कि मेरे पुत्रके वैरी अपने हाथी, रथ, घोड़े और सगे-सम्बन्धियोंसहित युद्धमें मेरेद्वारा मार डाले गये ॥ ७७ ॥

कथं च वः कृतास्त्राणां सर्वेषां शस्त्रपाणिनाम्।
सौभद्रो निधनं गच्छेद् वज्रिणापि समागतः ॥७८॥

'आप सब लोग अस्त्रविद्याके पण्डित और हाथमें हथियार लिये हुए थे। सुभद्राकुमार अभिमन्यु साक्षात् वज्रधारी इन्द्रसे भी युद्ध करता हो तो भी आपके सामने कैसे मारा जा सकता था? ॥ ७८ ॥

यद्येवमहमज्ञास्यमशक्तान् रक्षणे मम।
पुत्रस्य पाण्डुपञ्चालान् मया गुप्तो भवेत् ततः ॥ ७९ ॥

'यदि मैं ऐसा जानता कि पाण्डव और पाञ्चाल मेरे पुत्रकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं तो मैं स्वयं उसकी रक्षा करता ॥

कथं च वो रथस्थानां शरवर्षाणि मुञ्चताम्।
नीतोऽभिमन्युर्निधनं कदर्थीकृत्य वः परैः ॥ ८० ॥

'आपलोग रथपर बैठे हुए बाणोंकी वर्षा कर रहे थे तो भी शत्रुओंने आपकी अवहेलना करके कैसे अभिमन्युको मार डाला? ॥ ८० ॥

अहो वः पौरुषं नास्ति न च वोऽस्ति पराक्रमः।
यत्राभिमन्युः समरे पश्यतां वो निपातितः ॥ ८१ ॥

'अहो! आपलोगोंमें पुरुषार्थ नहीं है और पराक्रम भी नहीं है; क्योंकि समरभूमिमें आपलोगोंके देखते-देखते अभिमन्यु मार डाला गया ॥ ८१ ॥

आत्मानमेव गर्हेयं यदहं वै सुदुर्बलान्।
युष्मानाज्ञाय निर्यातो भीरूनकृतनिश्चयान् ॥ ८२ ॥

'मैं अपनी ही निन्दा करूँगा; क्योंकि आपलोगोंको अत्यन्त दुर्बल, डरपोक और सुदृढ़ निश्चयसे रहित जानकर भी मैं (अभिमन्युको आपलोगोंके भरोसे छोड़कर) अन्यत्र चला गया ॥ ८२ ॥

आहोस्विद् भूषणार्थाय वर्म शस्त्रायुधानि वः।
वाचस्तु वक्तुं संसत्सु मम पुत्रमरक्षताम् ॥ ८३ ॥

'अथवा आपलोगोंके ये कवच और अस्त्र-शस्त्र क्या शरीरका आभूषण बनानेके लिये हैं! मेरे पुत्रकी रक्षा न करके वीरोंकी सभामें केवल बातें बनानेके लिये हैं?' ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा ततो वाक्यं तिष्ठंश्चापवरासिमान्।
न स्माशक्यत बीभत्सुः केनचित्प्रसमीक्षितुम् ॥ ८४॥

ऐसा कहकर फिर अर्जुन धनुष और श्रेष्ठ तलवार लेकर खड़े हो गये। उस समय कोई उनकी ओर आँख उठाकर देख भी न सका ॥ ८४ ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धं निःश्वसन्तं मुहुर्मुहुः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तमश्रुपूर्णमुखं तदा ॥ ८५ ॥

वे यमराजके समान कुपित हो बारंबार लंबी साँसें छोड़ रहे थे। उस समय पुत्रशोकसे संतप्त हुए अर्जुनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ ८५ ॥

न भाषितुं शक्नुवन्ति द्रष्टुं वा सुहृदोऽर्जुनम् ।
अन्यत्र वासुदेवाद्वा ज्येष्ठाद्वा पाण्डुनन्दनात् ॥ ८६ ॥

उस अवस्थामें वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अथवा ज्येष्ठ पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको छोड़कर दूसरे सगे-सम्बन्धी न तो उनसे कुछ बोल सकते थे और न तो देखनेका ही साहस करते थे ॥ ८६ ॥

सर्वास्ववस्थासु हितावर्जुनस्य मनोनुगौ ।
बहुमानात् प्रियत्वाच्च तावेनं वक्तुमर्हतः ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर सभी अवस्थाओंमें अर्जुनके हितैषी और उनके मनके अनुकूल चलनेवाले थे; क्योंकि अर्जुनके प्रति उनका बड़ा आदर और प्रेम था। अतः वे ही दोनों इनसे उस समय कुछ कहनेका अधिकार रखते थे ॥ ८७ ॥

ततस्तं पुत्रशोकेन भृशं पीडितमानसम् ।
राजीवलोचनं क्रुद्धं राजा वचनमब्रवीत् ॥ ८८ ॥

तदनन्तर मन-ही-मन पुत्रशोकसे अत्यन्त पीड़ित हुए क्रोधभरे कमलनयन अर्जुनसे राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि अर्जुनकोपे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनकोपविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ९१½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके मुखसे अभिमन्युवधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनकी जयद्रथको मारनेके लिये शपथपूर्ण प्रतिज्ञा

युधिष्ठिर उवाच

त्वयि याते महाबाहो संशप्तकबलं प्रति ।
प्रयत्नमकरोत् तीव्रमाचार्यो ग्रहणे मम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! जब तुम संशप्तक सेनाके साथ युद्धके लिये चले गये, उस समय आचार्य द्रोणने मुझे पकड़नेके लिये घोर प्रयत्न किया ॥ १ ॥

व्यूढानीका वयं द्रोणं वारयामः स्म सर्वशः ।
प्रतिव्यूह्य रथानीकं यतमानं तथा रणे ॥ २ ॥

वे रथोंकी सेनाका व्यूह बनाकर बारंबार उद्योग करते थे और हमलोग रणक्षेत्रमें अपनी सेनाको व्यूहाकारमें संघटित करके सब प्रकारसे द्रोणाचार्यको आगे बढ़नेसे रोक देते थे ॥ २ ॥

स वार्यमाणो रथिभिर्मयि चापि सुरक्षिते ।
अस्मानभिजगामाशु पीडयन् निशितैः शरैः ॥ ३ ॥

जब रथियोंके द्वारा आचार्य रोक दिये गये और मैं सर्वथा सुरक्षित रह गया, तब उन्होंने अपने तीखे बाणोंद्वारा हमें पीड़ा देते हुए हमलोगोंपर तीव्र वेगसे आक्रमण किया ॥

ते पीड्यमाना द्रोणेन द्रोणानीकं न शक्नुमः ।
प्रतिवीक्षितुमप्याजौ भेत्तुं तत् कुत एव तु ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यसे पीड़ित होनेके कारण हमलोग उनके सैन्य-व्यूहकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे; फिर युद्धभूमिमें उसका भेदन तो कर ही कैसे सकते थे ? ॥ ४ ॥

वयं त्वप्रतिमं वीर्ये सर्वे सौभद्रमात्मजम् ।
उक्तवन्तः स्म तं तात भिन्ध्यनीकमिति प्रभो ॥ ५ ॥

तब हम सब लोग अनुपम पराक्रमी अपने पुत्र सुभद्रानन्दन अभिमन्युसे बोले—'तात ! तुम इस व्यूहका भेदन करो; क्योंकि तुम ऐसा करनेमें समर्थ हो' ॥ ५ ॥

स तथा नोदितोऽस्माभिः सदश्व इव वीर्यवान् ।
असह्यमपि तं भारं वोढुमेवोपचक्रमे ॥ ६ ॥

हमारे इस प्रकार आज्ञा देनेपर उस पराक्रमी वीरने अच्छे घोड़ेकी भाँति उस असह्य भारको भी वहन करनेका ही प्रयत्न किया ॥ ६ ॥

स तवास्त्रोपदेशेन वीर्येण च समन्वितः ।
प्राविशत् तद्बलं बालः सुपर्ण इव सागरम् ॥ ७ ॥

तुम्हारे दिये हुए अस्त्र-विद्याके उपदेश और पराक्रमसे सम्पन्न बालक अभिमन्युने उस सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे गरुड़ समुद्रमें घुस जाते हैं ॥ ७ ॥

तेऽनुयाता वयं वीरं सात्वतीपुत्रमाहवे ।
प्रवेष्टुकामास्तेनैव येन स प्राविशच्चमूम् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् हमलोग रणक्षेत्रमें वीर सुभद्राकुमार अभिमन्युके पीछे उस व्यूहमें प्रवेश करनेकी इच्छासे चले। हम भी उसी मार्गसे उसमें घुसना चाहते थे, जिसके द्वारा उसने शत्रुसेनामें प्रवेश किया था ॥ ८ ॥

ततः सैन्धवको राजा क्षुद्रस्तात जयद्रथः ।
वरदानेन रुद्रस्य सर्वान् नः समवारयत् ॥ ९ ॥

तात ! ठीक इसी समय नीच सिंधुनरेश राजा जयद्रथने सामने आकर भगवान् शंकरके दिये हुए वरदानके प्रभावसे हम सब लोगोंको रोक दिया ॥ ९ ॥

ततो द्रोणः कृपः कर्णो द्रौणिः कौसल्य एव च ।
कृतवर्मा च सौभद्रं षड् रथाः पर्यवारयन् ॥ १० ॥

तदनन्तर द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने सुभद्राकुमारको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १० ॥

परिवार्य तु तैः सर्वैर्युधि बालो महारथैः ।

यतमानः परं शक्त्या बहुभिर्विरथीकृतः ॥ ११ ॥

घिरा होनेपर भी वह बालक पूरी शक्ति लगाकर उन सबको जीतनेका प्रयत्न करता रहा; तथापि वे संख्यामें अधिक थे, अतः उन समस्त महारथियोंने उसे घेरकर रथहीन कर दिया ॥ ११ ॥

ततो दौःशासनिः क्षिप्रं तथा तैर्विरथीकृतम् ।
संशयं परमं प्राप्य दिष्टान्तेनाभ्ययोजयत् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् दुःशासनपुत्रने अभिमन्युके प्रहारसे भारी प्राणसंकटमें पड़कर पूर्वोक्त महारथियोंद्वारा रथहीन किये हुए अभिमन्युको शीघ्र ही (गदाके आघातसे) मार डाला ॥ १२ ॥

स तु हत्वा सहस्राणि नराश्वरथदन्तिनाम् ।
अष्टौ रथसहस्राणि नव दन्तिशतानि च ॥ १३ ॥
राजपुत्रसहस्रे द्वे वीरांश्चालक्षितान् बहून् ।
बृहद्बलं च राजानं स्वर्गेणाजौ प्रयोज्य ह ॥ १४ ॥
ततः परमधर्मात्मा दिष्टान्तमुपजग्मिवान् ।

इसके पहले उसने हजारों हाथी, रथ, घोड़े और मनुष्योंको मार डाला था । आठ हजार रथों और नौ सौ हाथियोंका संहार किया था । दो हजार राजकुमारों तथा और भी बहुत-से अलक्षित वीरोंका वध करके राजा बृहद्बलको भी युद्धस्थलमें स्वर्गलोकका अतिथि बनाया । इसके बाद परम धर्मात्मा अभिमन्यु स्वयं मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १३-१४½ ॥

(गतः सुकृतिनां लोकान् ये च स्वर्गजितां शुभाः ।
अदीनस्त्रासयञ्छत्रून् नन्दयित्वा च बान्धवान् ॥
असकृन्नाम विश्राव्य पितॄणां मातुलस्य च ।
वीरो दिष्टान्तमापन्नः शोचयन् बान्धवान् बहून् ॥
ततः स्म शोकसंतप्ता भवताद्य समेयुषः ।)

वह पुण्यात्माओंके लोकोंमें गया है । अपने पुण्यके बलसे स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको जो शुभ लोक सुलभ होते हैं, वे ही उसे भी प्राप्त हुए हैं । उसने कभी युद्धमें दीनता नहीं दिखायी । वह वीर शत्रुओंको त्रास और बान्धवोंको आनन्द प्रदान करता हुआ अपने पितरों और मामाके नामको बारंबार विख्यात करके अपने बहुसंख्यक बन्धुओंको शोकमें डालकर मृत्युको प्राप्त हुआ है । तभीसे हमलोग शोकसे संतप्त हैं और इस समय तुमसे हमारी भेंट हुई है ॥

एतावदेव निर्वृत्तमस्माकं शोकवर्धनम् ॥ १५ ॥
स चैवं पुरुषव्याघ्रः स्वर्गलोकमवाप्तवान् ।

यही हमलोगोंके लिये शोक बढ़ानेवाली घटना घटित हुई है। पुरुषसिंह अभिमन्यु इस प्रकार स्वर्गलोकमें गया है ॥

ततोऽर्जुनो वचः श्रुत्वा धर्मराजेन भाषितम् ॥ १६ ॥
हा पुत्र इति निःश्वस्य व्यथितो न्यपतद् भुवि ।

धर्मराज युधिष्ठिरकी कही हुई यह बात सुनकर अर्जुन व्यथासे पीड़ित हो लंबी साँस खींचते हुए 'हा पुत्र' कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १६½ ॥

विषण्णवदनाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ १७ ॥
नेत्रैरनिमिषैर्दीनाः प्रत्यवैक्षन् परस्परम् ।

उस समय सबके मुखपर विषाद छा गया । सब लोग अर्जुनको घेरकर दुखी हो एकटक नेत्रोंसे एक दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ १७½ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां वासविः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥
कम्पमानो ज्वरेणेव निःश्वसंश्च मुहुर्मुहुः ।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य श्वसमानोऽश्रुनेत्रवान् ॥ १९ ॥
उन्मत्त इव विप्रेक्षन्निदं वचनमब्रवीत् ।

तदनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन होशमें आकर क्रोधसे व्याकुल हो मानो ज्वरसे काँप रहे हों—इस प्रकार बारंबार लंबी साँस खींचते और हाथपर हाथ मलते हुए नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे और उन्मत्तके समान देखते हुए इस तरह बोले ॥

अर्जुन उवाच

सत्यं वः प्रतिजानामि श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ।
न चेद् वधभयाद् भीतो धार्तराष्ट्रान् प्रहास्यति ॥ २० ॥
न चास्माञ्शरणं गच्छेत् कृष्णं वा पुरुषोत्तमम् ।
भवन्तं वा महाराज श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—मैं आपलोगोंके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कल जयद्रथको अवश्य मार डालूँगा । महाराज ! यदि वह मारे जानेके भयसे डरकर धृतराष्ट्रपुत्रोंको छोड़ नहीं देगा, मेरी, पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी अथवा आपकी शरणमें नहीं आ जायगा तो कल उसे अवश्य मार डालूँगा ॥

धार्तराष्ट्रप्रियकरं मयि विस्मृतसौहृदम् ।
पापं बालवधे हेतुं श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ॥ २२ ॥

जो धृतराष्ट्रके पुत्रोंका प्रिय कर रहा है, जिसने मेरे प्रति अपना सौहार्द भुला दिया है तथा जो बालक अभिमन्युके वधमें कारण बना है, उस पापी जयद्रथको कल अवश्य मार डालूँगा ॥ २२ ॥

रक्षमाणाश्च तं संख्ये ये मां योत्स्यन्ति केचन ।
अपि द्रोणकृपौ राजन् छादयिष्यामि ताञ्छरैः ॥ २३ ॥

राजन् ! युद्धमें जयद्रथकी रक्षा करते हुए जो कोई मेरे साथ युद्ध करेंगे, वे द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ही क्यों न हों, उन्हें अपने बाणोंके समूहसे आच्छादित कर दूँगा ॥ २३ ॥

यद्येतदेवं संग्रामे न कुर्यां पुरुषर्षभाः ।
मा स्म पुण्यकृतां लोकान् प्राप्नुयां शूरसम्मतान् ॥ २४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ वीरो ! यदि संग्रामभूमिमें मैं ऐसा न कर सकूँ तो पुण्यात्मा पुरुषोंके उन लोकोंको, जो शूरवीरोंको प्रिय हैं, न प्राप्त करूँ ॥ २४ ॥

अर्जुनका जयद्रथवधके लिये प्रतिज्ञा करना

ये लोका मातृहन्तॄणां ये चापि पितृघातिनाम्।
गुरुदारगतानां ये पिशुनानां च ये सदा ॥ २५ ॥
साधूनसूयतां ये च ये चापि परिवादिनाम्।
ये च निक्षेपहर्तॄणां ये च विश्वासघातिनाम् ॥ २६ ॥
भुक्तपूर्वां स्त्रियं ये च विन्दतामघशंसिनाम्।
ब्रह्मघ्नानां च ये लोका ये च गोघातिनामपि ॥ २७ ॥
पायसं वा यवान्नं वा शाकं कृसरमेव वा।
संयावापूपमांसानि ये च लोका वृथाश्नताम् ॥ २८ ॥
तानन्हायाधिगच्छेयं न चेद्धन्यां जयद्रथम्।

माता-पिताकी हत्या करनेवालोंको जो लोक प्राप्त होते हैं, गुरु-पत्नीगामी और चुगलखोरोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, साधुपुरुषोंकी निन्दा करनेवालों और दूसरोंको कलंक लगानेवालोंको जो लोक प्राप्त होते हैं, धरोहर हड़पने और विश्वासघात करनेवालोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, दूसरेके उपभोगमें आयी हुई स्त्रीको ग्रहण करनेवाले, पापकी बातें करनेवाले, ब्रह्महत्यारे और गोघातियोंको जो लोक प्राप्त होते हैं, खीर, यवान्न, साग, खिचड़ी, हलुआ, पूआ आदिको बलिवैश्वदेव किये बिना ही खानेवाले मनुष्योंको जो लोक प्राप्त होते हैं, यदि मैं कल जयद्रथका वध न कर डालूँ तो मुझे भी तत्काल उन्हीं लोकोंको जाना पड़े ॥ २५—२८½ ॥

वेदाध्यायिनमत्यर्थं संशितं वा द्विजोत्तमम् ॥ २९ ॥
अवमन्यमानो यान् याति वृद्धान् साधून् गुरूंस्तथा।
स्पृशतो ब्राह्मणं गां च पादेनाग्निं च या भवेत् ॥ ३० ॥
याऽप्सु श्लेष्म पुरीषं च मूत्रं वा मुञ्चतां गतिः।
तां गच्छेयं गतिं कष्टां न चेद्धन्यां जयद्रथम् ॥ ३१॥

वेदोंका स्वाध्याय अथवा अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणकी तथा बड़े-बूढ़ों, साधु पुरुषों और गुरुजनोंकी अवहेलना करनेवाला पुरुष जिन नरकोंमें पड़ता है, ब्राह्मण, गौ और अग्निको पैरसे छूनेवाले पुरुषकी जो गति होती है तथा जलमें थूक अथवा मल-मूत्र छोड़नेवालोंकी जो दुर्गति होती है, यदि मैं कल जयद्रथको न मारूँ तो उसी कष्टदायिनी गतिको मैं भी प्राप्त करूँ ॥ २९—३१ ॥

नग्नस्य स्नायमानस्य या च वन्ध्यातिथेर्गतिः।
उत्कोचिनां मृषोक्तीनां वञ्चकानां च या गतिः ॥ ३२ ॥
आत्मापहारिणां या च या च मिथ्याभिशंसिनाम्।
भृत्यैः संदिश्यमानानां पुत्रदाराश्रितैस्तथा ॥ ३३ ॥
असंविभज्य क्षुद्राणां या गतिर्मिष्टमश्नताम्।
तां गच्छेयं गतिं घोरां न चेद्धन्यां जयद्रथम् ॥३४ ॥

नंगे नहानेवाले तथा अतिथिको भोजन दिये बिना ही उसे असफल लौटा देनेवाले पुरुषकी जो गति होती है; घूसखोर, असत्यवादी तथा दूसरोंके साथ वञ्चना (ठगी) करनेवालोंकी जो दुर्गति होती है; आत्माका हनन करनेवाले, दूसरोंपर झूठे दोषारोपण करनेवाले, भृत्योंकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले तथा स्त्री, पुत्र एवं आश्रित जनोंके साथ यथायोग्य बँटवारा किये बिना ही अकेले मिष्टान्न उड़ानेवाले क्षुद्र पुरुषोंको जिस घोर नारकी गतिकी प्राप्ति होती है, यदि मैं कल जयद्रथको न मारूँ तो मुझे भी वही दुर्गति प्राप्त हो ।३२—३४।

संश्रितं चापि यस्त्यक्त्वा साधुं तद्वचने रतम्।
न बिभर्ति नृशंसात्मा निन्दते चोपकारिणम् ॥ ३५ ॥
अर्हते प्रातिवेश्याय श्राद्धं यो न ददाति च।
अनर्हेभ्यश्च यो दद्याद् वृषलीपतये तथा ॥ ३६ ॥
मद्यपो भिन्नमर्यादः कृतघ्नो भर्तृनिन्दकः।
तेषां गतिमियां क्षिप्रं न चेद्धन्यां जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

जो नृशंस स्वभावका मनुष्य शरणागत, साधुपुरुष तथा आज्ञापालनमें तत्पर रहनेवाले पुरुषको त्यागकर उसका भरण-पोषण नहीं करता, जो उपकारीकी निन्दा करता है, पड़ोसमें रहनेवाले योग्य व्यक्तिको श्राद्धका दान नहीं देता और अयोग्य व्यक्तियोंको तथा शूद्राके स्वामी ब्राह्मणको देता है, जो मद्य पीनेवाला, धर्म-मर्यादाको तोड़नेवाला, कृतघ्न और स्वामीकी निन्दा करनेवाला है—इन सभी लोगोंको जो दुर्गति प्राप्त होती है, उसीको मैं भी शीघ्र ही प्राप्त करूँ; यदि कल जयद्रथका वध न कर डालूँ ॥ ३५—३७ ॥

भुञ्जानानां तु सव्येन उत्सङ्गे चापि खादताम्।
पालाशमासनं चैव तिन्दुकैर्दन्तधावनम् ॥ ३८ ॥
ये चावर्जयतां लोकाः स्वपतां च तथोषसि।

जो बायें हाथसे भोजन करते हैं, गोदमें रखकर खाते हैं, जो पलासके आसनका और तेंदूकी दातुनका त्याग नहीं करते तथा उषःकालमें सोते हैं, उनको जो नरक-लोक प्राप्त होते हैं (वे ही मुझे भी मिलें; यदि मैं जयद्रथको न मार डालूँ) ॥ ३८½ ॥

शीतभीताश्च ये विप्रा रणभीताश्च क्षत्रियाः ॥ ३९ ॥
एककूपोदकग्रामे वेदध्वनिविवर्जिते।
षण्मासं तत्र वसतां तथा शास्त्रं विनिन्दताम् ॥ ४० ॥
दिवामैथुनिनां चापि दिवसेषु च शेरते।
अगारदाहिनां चैव गरदानां च ये मताः ॥ ४१ ॥
अग्न्यातिथ्यविहीनाश्च गोपानेषु च विघ्नदाः।
रजस्वलां सेवयन्तः कन्यां शुल्केन दायिनः ॥ ४२ ॥
या च वै बहुयाजिनां ब्राह्मणानां श्ववृत्तिनाम्।
आस्यमैथुनिकानां च ये दिवा मैथुने रताः ॥ ४३ ॥
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य यो वै लोभाद् ददाति न।
तेषां गतिं गमिष्यामि श्वो न हन्यां जयद्रथम् ॥ ४४ ॥

जो ब्राह्मण होकर सर्दीसे और क्षत्रिय होकर युद्धसे डरते हैं, जिस गाँवमें एक ही कुएँका जल पीया जाता हो और जहाँ कभी वेदमन्त्रोंकी ध्वनि न हुई हो, ऐसे स्थानोंमें

जो छः महीनोंतक निवास करते हैं, जो शास्त्रकी निन्दामें तत्पर रहते, दिनमें मैथुन करते और सोते हैं, जो दूसरोंके घरोंमें आग लगाते और दूसरोंको जहर दे देते हैं, जो कभी अग्निहोत्र और अतिथि-सत्कार नहीं करते तथा गायोंके पानी पीनेमें विघ्न डालते हैं, जो रजस्वला स्त्रीका सेवन करते और शुल्क लेकर कन्या देते हैं, जो बहुतोंकी पुरोहिती करते, ब्राह्मण होकर सेवा-वृत्तिसे जीविका चलाते, मुँहमें मैथुन करते अथवा दिनमे स्त्री-सहवास करते हैं, जो ब्राह्मणको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर लोभवश नहीं देते हैं, उन सबको जिन लोकों अथवा दुर्गतिकी प्राप्ति होती है, उन्हींको मैं भी प्राप्त होऊँ; यदि कलतक जयद्रथको न मार डालूँ ॥ ३९—४४ ॥

धर्मादपेता ये चान्ये मया नात्रानुकीर्तिताः ।
ये चानुकीर्तितास्तेषां गतिं क्षिप्रमवाप्नुयाम् ॥ ४५ ॥
यदि व्युष्टामिमां रात्रिं श्वो न हन्यां जयद्रथम् ।

ऊपर जिन पापियोंका नाम मैंने गिनाया है तथा जिन दूसरे पापियोंका नाम नहीं गिनाया है, उनको जो दुर्गति प्राप्त होती है, उसीको शीघ्र ही मैं भी प्राप्त करूँ; यदि यह रात बीतनेपर कल जयद्रथको न मार डालूँ ॥ ४५½ ॥

इमां चाप्यपरां भूयः प्रतिज्ञां मे निबोधत ॥ ४६॥
यद्यस्मिन्नहते पापे सूर्योऽस्तमुपयास्यति ।
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ ४७ ॥

अब आपलोग पुनः मेरी यह दूसरी प्रतिज्ञा भी सुन लें । यदि इस पापी जयद्रथके मारे जानेसे पहले ही सूर्यदेव अस्ताचलको पहुँच जायँगे तो मैं यहीं प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४६—४७ ॥

असुरसुरमनुष्याः पक्षिणो वोरगा वा
पितृरजनिचरा वा ब्रह्मदेवर्षयो वा ।
चरमचरमपीदं यत्परं चापि तस्मात्
तदपि ममरिपुं तं रक्षितुं नैव शक्ताः॥४८॥

देवता, असुर, मनुष्य, पक्षी, नाग, पितर, निशाचर, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, यह चराचर जगत् तथा इसके परे जो कुछ है, वह—ये सब मिलकर भी मेरे शत्रु जयद्रथकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ ४८ ॥

यदि विशति रसातलं तदग्र्यं
वियदपि देवपुरं दितेः पुरं वा ।
तदपि शरशतैरहं प्रभाते
भृशमभिमन्युरिपोः शिरोऽभिहर्ता ॥ ४९ ॥

यदि जयद्रथ पातालमें घुस जाय या उससे भी आगे बढ़ जाय अथवा आकाश, देवलोक या दैत्योंके नगरमें जाकर छिप जाय तो भी मैं कल अपने सैकड़ों बाणोंसे अभिमन्युके उस घोर शत्रुका सिर अवश्य काट लूँगा ॥४९॥

एवमुक्त्वा विचिक्षेप गाण्डीवं सव्यदक्षिणम् ।
तस्य शब्दमतिक्रम्य धनुःशब्दोऽस्पृशद् दिवम्॥ ५० ॥

ऐसा कहकर अर्जुनने दाहिने और बायें हाथसे भी गाण्डीव धनुषकी टङ्कार की । उसकी ध्वनि दूसरे शब्दोंको दबाकर सम्पूर्ण आकाशमें गूँज उठी ॥ ५० ॥

अर्जुनेन प्रतिज्ञाते पाञ्चजन्यं जनार्दनः ।
प्रदध्मौ तत्र संक्रुद्धो देवदत्तं च फाल्गुनः ॥ ५१ ॥

अर्जुनके इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेनेपर भगवान् श्रीकृष्णने भी अत्यन्त कुपित होकर पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया । इधर अर्जुनने भी देवदत्त नामक शङ्खको फूँका ॥ ५१ ॥

स पाञ्चजन्योऽच्युतवक्त्रवायुना
भृशं सुपूर्णोदरनिःसृतध्वनिः ।
जगत् सपातालवियद्दिगीश्वरं
प्रकम्पयामास युगात्यये यथा ॥ ५२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके मुखकी वायुसे भीतरी भाग भर जानेके कारण अत्यन्त भयंकर ध्वनि प्रकट करनेवाले पाञ्चजन्यने आकाश, पाताल, दिशा और दिक्पालों-सहित सम्पूर्ण जगत्को कम्पित कर दिया, मानो प्रलय-काल आ गया हो ॥ ५२ ॥

ततो वादित्रघोषाश्च प्रादुरासन् सहस्रशः ।
सिंहनादश्च पाण्डूनां प्रतिज्ञाते महात्मना ॥ ५३ ॥

महामना अर्जुनने जब उक्त प्रतिज्ञा कर ली, उस समय पाण्डवोंके शिविरमें अनेक बाजोंके हजारों शब्द और पाण्डव वीरोंका सिंहनाद भी सब ओर गूँजने लगा ॥ ५३ ॥

(*भीम उवाच*

प्रतिज्ञोद्भवशब्देन कृष्णशङ्खस्वनेन च ।
निहतो धार्तराष्ट्रोऽयं सानुबन्धः सुयोधनः ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन ! तुम्हारी प्रतिज्ञाके शब्दसे और भगवान् श्रीकृष्णके इस शङ्खनादसे मुझे विश्वास हो गया कि यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अपने सगे-सम्बन्धियों-सहित अवश्य मारा जायगा ॥

अथ मृदिततमाग्र्यदाममाल्यं
तव सुतशोकमयं च रोषजातम् ।
व्यपनुदति महाप्रभावमेत-
न्नरवर वाक्यमिदं महार्थमिष्टम् ॥)

नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा यह वचन महान् अर्थसे युक्त और मुझे अत्यन्त प्रिय है । यह अत्यन्त प्रभावशाली वाक्य तुम्हारे पुत्रशोकमय उस रोष-समूहका निवारण कर रहा है, जिसने तुम्हारे गलेके सुन्दर पुष्पहारको मसल डाला था ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि अर्जुनप्रतिज्ञायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनप्रतिज्ञाविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५७½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

जयद्रथका भय तथा दुर्योधन और द्रोणाचार्यका उसे आश्वासन देना

संजय उवाच

श्रुत्वा तु तं महाशब्दं पाण्डूनां जयगृद्धिनाम्।
चारैः प्रवेदिते तत्र समुत्थाय जयद्रथः॥ १॥
शोकसम्मूढहृदयो दुःखेनाभिपरिप्लुतः।
मज्जमान इवागाधे विपुले शोकसागरे॥ २॥
जगाम समितिं राज्ञां सैन्धवो विमृशन् बहु।
स तेषां नरदेवानां सकाशे पर्यदेवयत्॥ ३॥

संजय कहते हैं—राजन्! सिंधुराज जयद्रथने जब विजयाभिलाषी पाण्डवोंका वह महान् शब्द सुना और गुप्तचरोंने आकर जब अर्जुनकी प्रतिज्ञाका समाचार निवेदन किया, तब वह सहसा उठकर खड़ा हो गया, उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया। वह दुःखसे व्याप्त हो शोकके विशाल एवं अगाध महासागरमें डूबता हुआ-सा बहुत सोच-विचारकर राजाओंकी सभामें गया और उन नरदेवोंके समीप रोने-बिलखने लगा॥ १–३॥

अभिमन्योः पितुर्भीतः सव्रीडो वाक्यमब्रवीत्।
योऽसौ पाण्डोः किल क्षेत्रे जातः शक्रेण कामिना॥ ४॥
स निनीषति दुर्बुद्धिर्मां किलैकं यमक्षयम्।
तत् स्वस्ति वोऽस्तु यास्यामि स्वगृहं जीवितेप्सया॥ ५॥

जयद्रथ अभिमन्युके पितासे बहुत डर गया था, इसलिये लज्जित होकर बोला—'राजाओ! कामी इन्द्रने पाण्डुकी पत्नीके गर्भसे जिसको जन्म दिया है, वह दुर्बुद्धि अर्जुन केवल मुझको ही यमलोक भेजना चाहता है; यह बात सुननेमें आयी है। अतः आपलोगोंका कल्याण हो। अब मैं अपने प्राण बचानेकी इच्छासे अपनी राजधानीको चला जाऊँगा॥ ४-५॥

अथवास्त्रप्रतिबलास्त्रात मां क्षत्रियर्षभाः।
पार्थेन प्रार्थितं वीरास्ते संदत्त ममाभयम्॥ ६॥

'अथवा क्षत्रियशिरोमणि वीरो! आपलोग अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें अर्जुनके समान ही शक्तिशाली हैं। उधर अर्जुनने मेरे प्राण लेनेकी प्रतिज्ञा की है। इस अवस्थामें आप मेरी रक्षा करें और मुझे अभयदान दें॥ ६॥

द्रोणदुर्योधनकृपाः कर्णमद्रेशबाह्लिकाः।
दुःशासनादयः शक्तास्त्रातुं मामन्तकार्दितम्॥ ७॥
किमङ्ग पुनरेकेन फाल्गुनेन जिघांसता।
न त्रायेयुर्भवन्तो मां समस्ताः पतयः क्षितेः॥ ८॥

'द्रोणाचार्य, दुर्योधन, कृपाचार्य, कर्ण, मद्रराज शल्य, बाह्लिक तथा दुःशासन आदि वीर मुझे यमराजके संकटसे भी बचानेमें समर्थ हैं। प्रिय नरेशगण! फिर जब अकेला अर्जुन ही मुझे मारनेकी इच्छा रखता है तो उसके हाथसे आप समस्त भूपतिगण मेरी रक्षा क्यों नहीं कर सकते हैं॥ ७-८॥

प्रहर्षं पाण्डवेयानां श्रुत्वा मम महद् भयम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुमूर्षोरिव पार्थिवाः॥ ९॥

'राजाओ! पाण्डवोंका हर्षनाद सुनकर मुझे महान् भय हो रहा है। मरणासन्न मनुष्यकी भाँति मेरे सारे अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं॥ ९॥

वधो नूनं प्रतिज्ञातो मम गाण्डीवधन्वना।
तथा हि हृष्टाः क्रोशन्ति शोककाले स्म पाण्डवाः॥ १०॥

'निश्चय ही गाण्डीवधारी अर्जुनने मेरे वधकी प्रतिज्ञा कर ली है, तभी शोकके समय भी पाण्डव योद्धा बड़े हर्षके साथ गर्जना करते हैं॥ १०॥

तन्न देवा न गन्धर्वा नासुरोरगराक्षसाः।
उत्सहन्तेऽन्यथाकर्तुं कुत एव नराधिपाः॥ ११॥

'उस प्रतिज्ञाको देवता, गन्धर्व, असुर, नाग तथा राक्षस भी पलट नहीं सकते हैं। फिर ये नरेश उसे भङ्ग करनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं!॥ ११॥

तस्मान्मामनुजानीत भद्रं वोऽस्तु नरर्षभाः।
अदर्शनं गमिष्यामि न मां द्रक्ष्यन्ति पाण्डवाः॥ १२॥

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो! आपका कल्याण हो। आपलोग मुझे जानेकी आज्ञा दें। मैं अदृश्य हो जाऊँगा। पाण्डव मुझे नहीं देख सकेंगे'॥ १२॥

एवं विलपमानं तं भयाद् व्याकुलचेतसम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् राजा दुर्योधनोऽब्रवीत्॥ १३॥

भयसे व्याकुलचित्त होकर विलाप करते हुए जयद्रथसे राजा दुर्योधनने अपने कार्यकी गुरुताका विचार करके इस प्रकार कहा—॥ १३॥

न भेतव्यं नरव्याघ्र को हि त्वां पुरुषर्षभ।
मध्ये क्षत्रियवीराणां तिष्ठन्तं प्रार्थयेद् युधि॥ १४॥

'पुरुषसिंह! नरश्रेष्ठ! तुम्हें भय नहीं करना चाहिये।

युद्धस्थलमें इन क्षत्रिय वीरोंके बीचमें खड़े रहनेपर कौन तुम्हें मारनेकी इच्छा कर सकता है ? ॥ १४ ॥

अहं वैकर्तनः कर्णश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनो दुरासदः ॥ १५ ॥
पुरुमित्रो जयो भोजः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
सत्यव्रतो महाबाहुर्विकर्णो दुर्मुखश्च ह ॥ १६ ॥
दुःशासनः सुबाहुश्च कालिङ्गश्चाप्युदायुधः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ द्रोणो द्रौणिश्च सौबलः॥१७॥
एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
ससैन्यास्त्वाभियास्यन्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः॥१८॥

'मैं, सूर्यपुत्र कर्ण, चित्रसेन, विविंशति, भूरिश्रवा, शल, शल्य, दुर्धर्ष वीर वृषसेन, पुरुमित्र, जय, भोज, काम्बोज-राज सुदक्षिण, सत्यव्रत, महाबाहु विकर्ण, दुर्मुख, दुःशासन, सुबाहु, अस्त्र-शस्त्रधारी कलिंगराज, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, द्रोण, अश्वत्थामा और शकुनि–ये तथा और भी बहुत-से नरेश जो विभिन्न देशोंके अधिपति हैं, अपनी सेनाके साथ तुम्हारी रक्षाके लिये चलेंगे । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ १५–१८ ॥

त्वं चापि रथिनां श्रेष्ठः स्वयं शूरोऽमितद्युते ।
स कथं पाण्डवेयेभ्यो भयं पश्यसि सैन्धव ॥ १९ ॥

'अमित तेजस्वी सिंधुराज ! तुम स्वयं भी तो रथियोंमें श्रेष्ठ शूरवीर हो, फिर पाण्डुके पुत्रोंसे अपने लिये भय क्यों देख रहे हो ? ॥ १९ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च मदीयास्तव रक्षणे ।
यत्ता योत्स्यन्ति मा भैस्त्वं सैन्धव व्येतु ते भयम्॥२०॥

'मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तुम्हारी रक्षाके लिये उद्यत होकर युद्ध करेंगी; अतः सिंधुराज ! तुम भय मत मानो । तुम्हारा भय निकल जाना चाहिये' ॥ २० ॥

संजय उवाच

एवमाश्वासितो राजन् पुत्रेण तव सैन्धवः ।
दुर्योधनेन सहितो द्रोणं रात्रावुपागमत् ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनके आश्वासन देनेपर जयद्रथ उसके साथ रात्रिके समय द्रोणाचार्यके पास गया ॥ २१ ॥

उपसंग्रहणं कृत्वा द्रोणाय स विशाम्पते ।
उपोपविश्य प्रणतः पर्यपृच्छदिदं तदा ॥ २२ ॥

महाराज ! उस समय उसने द्रोणाचार्यके चरण छूकर विधि-पूर्वक प्रणाम किया और पास बैठकर प्रणतभावसे इस प्रकार पूछा–॥ २२ ॥

निमित्ते दूरपातित्वे लघुत्वे दृढवेधने ।
मम ब्रवीतु भगवान् विशेषं फाल्गुनस्य च ॥ २३ ॥

'दूरतक बाण चलानेमें, लक्ष्य वेधनेमें, हाथकी फुर्तीमें तथा अचूक निशाना मारनेमें मुझमें और अर्जुनमें कितना अन्तर है, यह पूज्य गुरुदेव मुझे बतावें ॥ २३ ॥

विद्याविशेषमिच्छामि ज्ञातुमाचार्य तत्त्वतः ।
अर्जुनस्यात्मनश्चैव याथातथ्यं प्रचक्ष्व मे ॥ २४ ॥

'आचार्य ! मैं अर्जुनकी और अपनी विद्याविषयक विशेषताको ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ । आप मुझे यथार्थ बात बताइये' ॥ २४ ॥

द्रोण उवाच

सममाचार्यकं तात तव चैवार्जुनस्य च ।
योगाद् दुःखोषितत्वाच्च तस्मात्त्वत्तोऽधिकोऽर्जुनः।२५।

द्रोणाचार्यने कहा—तात ! यद्यपि तुम्हारा और अर्जुनका आचार्यत्व मैंने समानरूपसे ही किया है, तथापि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंकी प्राप्ति एवं अभ्यास और क्लेशसहनकी दृष्टिसे अर्जुन तुमसे बढ़े-चढ़े हैं ॥ २५ ॥

न तु ते युधि संत्रासः कार्यः पार्थात् कथञ्चन ।
अहं हि रक्षिता तात भयात्त्वां नात्र संशयः ॥ २६ ॥
न हि मद्बाहुगुप्तस्य प्रभवन्त्यमरा अपि ।
व्यूहयिष्यामि तं व्यूहं यं पार्थो न तरिष्यति ॥ २७ ॥

वत्स ! तो भी तुम्हें युद्धमें किसी प्रकार भी अर्जुनसे डरना नहीं चाहिये; क्योंकि मैं उनके भयसे तुम्हारी रक्षा करनेवाला हूँ—इसमें संशय नहीं है । मेरी भुजाएँ जिसकी रक्षा करती हों, उसपर देवताओंका भी जोर नहीं चल सकता । मैं ऐसा व्यूह बनाऊँगा, जिसे अर्जुन पार नहीं कर सकेंगे ॥ २६-२७ ॥

तस्माद् युद्ध्यस्व मा भैस्त्वं स्वधर्ममनुपालय ।
पितृपैतामहं मार्गमनुयाहि महारथ ॥ २८ ॥

इसलिये तुम डरो मत । उत्साहपूर्वक युद्ध करो और अपने क्षत्रिय-धर्मका पालन करो । महारथी वीर ! अपने बाप-दादोंके मार्गपर चलो ॥ २८ ॥

अधीत्य विधिवद् वेदानग्नयः सुहुतास्त्वया ।
इष्टं च बहुभिर्यज्ञैर्न ते मृत्युभयङ्करः ॥ २९ ॥

तुमने वेदोंका विधिपूर्वक अध्ययन करके भलीभाँति अग्निहोत्र किया है । बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान भी कर लिया है । तुम्हें तो मृत्युका भय करना ही नहीं चाहिये ॥ २९ ॥

दुर्लभं मानुषैर्मन्दैर्महाभाग्यमवाप्य तु ।
भुजवीर्यार्जिताँल्लोकान् दिव्यान् प्राप्स्यस्यनुत्तमान् ॥

जो मन्दभागी मनुष्योंके लिये दुर्लभ है, रणक्षेत्रमें मृत्युरूप उस परम सौभाग्यको पाकर तुम अपने बाहुबलसे

१. यद्यपि अब दुर्योधनके पास पूरी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ नहीं रह गयी थीं; तथापि ग्यारह भागोंमें विभक्त उन सेनाओंमेंसे जो लोग शेष बचे थे, उन्हींको लेकर यहाँ 'ग्यारह अक्षौहिणी' का उल्लेख किया गया है ।

जीते हुए परम उत्तम दिव्य लोकोंमें पहुँच जाओगे ॥ ३० ॥

कुरवः पाण्डवाश्चैव वृष्णयोऽन्ये च मानवाः ।
अहं च सह पुत्रेण अध्रुवा इति चिन्त्यताम् ॥ ३१ ॥

कौरव-पाण्डव, वृष्णिवंशी योद्धा, अन्य मनुष्य तथा पुत्रसहित मैं—ये सभी अस्थिर (नाशवान्) हैं—ऐसा चिन्तन करो ॥ ३१ ॥

पर्यायेण वयं सर्वे कालेन बलिना हताः ।
परलोकं गमिष्यामः स्वैः स्वैः कर्मभिरन्विताः ॥ ३२ ॥

बारी-बारीसे हम सभी लोग बलवान् कालके हाथों मारे जाकर अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके साथ परलोकमें चले जायँगे ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वा तु यॉंल्लोकान् प्राप्नुवन्ति तपस्विनः ।
क्षत्रधर्माश्रिता वीराः क्षत्रियाः प्राप्नुवन्ति तान् ॥ ३३ ॥

तपस्वीलोग तपस्या करके जिन लोकोंको पाते हैं, क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेनेवाले वीर क्षत्रिय उन्हें अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३३ ॥

एवमाश्वासितो राजा भारद्वाजेन सैन्धवः ।
अपानुदद् भयं पार्थाद् युद्धाय च मनो दधे ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर राजा जयद्रथने अर्जुनका भय छोड़ दिया और युद्ध करनेका विचार किया॥

ततः प्रहर्षः सैन्यानां तवाप्यासीद् विशाम्पते ।
वादित्राणां ध्वनिश्चोग्रः सिंहनादरवैः सह ॥ ३५ ॥

महाराज ! तदनन्तर आपकी सेनामें भी हर्षध्वनि होने लगी, सिंहनादके साथ-साथ रणवाद्योंकी भयंकर ध्वनि गूँज उठी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि जयद्रथाश्वासे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें जयद्रथको आश्वासनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको कौरवोंके जयद्रथकी रक्षाविषयक उद्योगका समाचार बताना

संजय उवाच

प्रतिज्ञाते तु पार्थेन सिन्धुराजवधे तदा ।
वासुदेवो महाबाहुर्धनंजयमभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने सिंधुराज जयद्रथके वधकी प्रतिज्ञा कर ली, उस समय महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—॥ १ ॥

भ्रातॄणां मतमज्ञाय त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ।
सैन्धवं चास्मि हन्तेति तत्साहसमिदं कृतम् ॥ २ ॥

'धनंजय ! तुमने अपने भाइयोंका मत जाने बिना ही जो वाणीद्वारा यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं सिंधुराज जयद्रथको मार डालूँगा, यह तुमने दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है ॥ २ ॥

असम्मन्त्र्य मया सार्धमतिभारोऽयमुद्यतः ।
कथं तु सर्वलोकस्य नावहास्या भवेमहि ॥ ३ ॥

'मेरे साथ सलाह किये बिना ही तुमने यह बड़ा भारी भार उठा लिया । ऐसी दशामें हम सम्पूर्ण लोकोंके उपहास-पात्र कैसे नहीं बनेंगे ? ॥ ३ ॥

धार्तराष्ट्रस्य शिबिरे मया प्रणिहिताश्चराः ।
त इमे शीघ्रमागम्य प्रवृत्तिं वेदयन्ति नः ॥ ४ ॥

'मैंने दुर्योधनके शिविरमें अपने गुप्तचर भेजे थे । वे शीघ्र ही वहाँसे लौटकर अभी-अभी वहाँका समाचार मुझे बता गये हैं ॥ ४ ॥

त्वया वै सम्प्रतिज्ञाते सिन्धुराजवधे प्रभो ।
सिंहनादः सवादित्रः सुमहानिह तैः श्रुतः ॥ ५ ॥

'शक्तिशाली अर्जुन ! जब तुमने सिंधुराजके वधकी प्रतिज्ञा की थी, उस समय यहाँ रणवाद्योंके साथ-साथ महान् सिंहनाद किया गया था, जिसे कौरवोंने सुना था ॥ ५ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता धार्तराष्ट्राः ससैन्धवाः ।
नाकस्मात् सिंहनादोऽयमिति मत्वा व्यवस्थिताः ॥ ६ ॥

'उस शब्दसे जयद्रथसहित सभी धृतराष्ट्रपुत्र संत्रस्त हो उठे । वे यह सोचकर कि यह सिंहनाद अकारण नहीं हुआ है, सावधान हो गये ॥ ६ ॥

सुमहाञ्शब्दसम्पातः कौरवाणां महाभुज ।
आसीन्नागाश्वपत्तीनां रथघोषश्च भैरवः ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! फिर तो कौरवोंके दलमें भी बड़े जोरका कोलाहल मच गया । हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथ-सेनाओं-का भयंकर घोष सब ओर गूँजने लगा ॥ ७ ॥

अभिमन्योर्वधं श्रुत्वा ध्रुवमार्तो धनंजयः ।
रात्रौ निर्यास्यति क्रोधादिति मत्वा व्यवस्थिताः ॥ ८ ॥

'वे यह समझकर युद्धके लिये उद्यत हो गये कि अभिमन्यु-के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको अवश्य ही महान् कष्ट हुआ होगा; अतः वे क्रोध करके रातमें ही युद्धके लिये निकल पड़ेंगे ॥ ८ ॥

तैर्यतद्भिरियं सत्या श्रुता सत्यवतस्तव ।
प्रतिज्ञा सिन्धुराजस्य वधे राजीवलोचन ॥ ९ ॥

'कमलनयन ! युद्धके लिये तैयार होते-होते उन कौरवोंने सदा सत्य बोलनेवाले तुम्हारी जयद्रथ-वधविषयक यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनी ॥ ९ ॥

ततो विमनसः सर्वे त्रस्ताः क्षुद्रमृगा इव ।
आसन् सुयोधनामात्याः स च राजा जयद्रथः ॥ १० ॥

'फिर तो दुर्योधनके मन्त्री और स्वयं राजा जयद्रथ—ये सब-के-सब (सिंहसे डरे हुए) क्षुद्र मृगोंके समान भयभीत और उदास हो गये ॥ १० ॥

अथोत्थाय सहामात्यैर्दीनः शिबिरमात्मनः ।
आयात् सौवीरसिन्धूनामीश्वरो भृशदुःखितः ॥ ११ ॥

'तदनन्तर सिंधुसौवीरदेशका स्वामी जयद्रथ अत्यन्त दुखी और दीन हो मन्त्रियोंसहित उठकर अपने शिविरमें आया ॥ ११ ॥

स मन्त्रकाले सम्मन्त्र्य सर्वा नैःश्रेयसीं क्रियाम्।
सुयोधनमिदं वाक्यमब्रवीद् राजसंसदि ॥ १२ ॥

'उसने मन्त्रणाके समय अपने लिये श्रेयस्कर सिद्ध होनेवाले समस्त कार्योंके सम्बन्धमें मन्त्रियोंसे परामर्श करके राजसभामें आकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

मामसौ पुत्रहन्तेति श्वोऽभियाता धनंजयः ।
प्रतिज्ञातो हि सेनाया मध्ये तेन वधो मम ॥ १३ ॥

'राजन् ! मुझे अपने पुत्रका घातक समझकर अर्जुन कल सवेरे मुझपर आक्रमण करनेवाला है; क्योंकि उसने अपनी सेनाके बीचमें मेरे वधकी प्रतिज्ञा की है ॥ १३ ॥

तां न देवा न गन्धर्वा नासुरोरगराक्षसाः ।
उत्सहन्तेऽन्यथा कर्तुं प्रतिज्ञां सव्यसाचिनः ॥ १४ ॥

'सव्यसाची अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको देवता, गन्धर्व, असुर, नाग और राक्षस भी अन्यथा नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

ते मां रक्षत संग्रामे मा वो मूर्ध्नि धनंजयः ।
पदं कृत्वाऽऽप्नुयाल्लक्ष्यं तस्मादत्र विधीयताम् ॥ १५ ॥

'अतः आपलोग संग्राममें मेरी रक्षा करें । कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन आपलोगोंके सिरपर पैर रखकर अपने लक्ष्यतक पहुँच जाय; अतः इसके लिये आप आवश्यक व्यवस्था करें ॥ १५ ॥

अथ रक्षा न मे संख्ये क्रियते कुरुनन्दन ।
अनुजानीहि मां राजन् गमिष्यामि गृहान् प्रति ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन ! यदि आप युद्धमें मेरी रक्षा न कर सकें तो मुझे आज्ञा दें; राजन् ! मैं अपने घर चला जाऊँगा' ॥१६॥

एवमुक्तस्त्ववाक्शीर्षो विमनाः स सुयोधनः ।
श्रुत्वा तं समयं तस्य ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ १७ ॥

'जयद्रथके ऐसा कहनेपर दुर्योधन अपना सिर नीचे किये मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया और तुम्हारी उस प्रतिज्ञाको सुनकर उसे बड़ी भारी चिन्ता हो गयी ॥ १७ ॥

तमार्तमभिसंप्रेक्ष्य राजा किल स सैन्धवः ।
मृदु चात्महितं चैव साक्षेपमिदमुक्तवान् ॥ १८ ॥

'दुर्योधनको उद्विग्नचित्त देखकर सिन्धुराज जयद्रथने व्यंग्य करते हुए कोमल वाणीमें अपने हितकी बात इस प्रकार कही—॥ १८ ॥

नेह पश्यामि भवतां तथावीर्यं धनुर्धरम् ।
योऽर्जुनस्यास्त्रमस्त्रेण प्रतिहन्यान्महाहवे ॥ १९ ॥

'राजन् ! आपकी सेनामें किसी भी ऐसे पराक्रमी धनुर्धरको नहीं देखता, जो उस महायुद्धमें अपने अस्त्रद्वारा अर्जुनके अस्त्रका निवारण कर सके ॥ १९ ॥

वासुदेवसहायस्य गाण्डीवं धुन्वतो धनुः ।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेत् साक्षादपि शतक्रतुः ॥ २० ॥

'श्रीकृष्णके साथ आकर गाण्डीव धनुषका संचालन करते हुए अर्जुनके सामने कौन खड़ा हो सकता है ? साक्षात् इन्द्र भी तो उसका सामना नहीं कर सकते ॥ २० ॥

महेश्वरोऽपि पार्थेन श्रूयते योधितः पुरा ।
पदातिना महावीर्यो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥ २१ ॥

'मैंने सुना है कि पूर्वकालमें हिमालयपर्वतपर पैदल अर्जुनने महापराक्रमी भगवान् महेश्वरके साथ भी युद्ध किया था॥

दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ।
जघानैकरथेनैव देवराजप्रचोदितः ॥ २२ ॥

'देवराज इन्द्रकी आज्ञा पाकर उसने एकमात्र रथकी सहायतासे हिरण्यपुरवासी सहस्रों दानवोंका संहार कर डाला था॥

समायुक्तो हि कौन्तेयो वासुदेवेन धीमता ।
सामरानपि लोकांस्त्रीन् हन्यादिति मतिर्मम ॥ २३ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके साथ रहकर कुन्तीकुमार अर्जुन देवताओंसहित तीनों लोकोंको नष्ट कर सकता है ॥ २३ ॥

सोऽहमिच्छाम्यनुज्ञातं रक्षितुं वा महात्मना ।
द्रोणेन सहपुत्रेण वीरेण यदि मन्यसे ॥ २४ ॥

'इसलिये मैं यहाँसे चले जानेकी अनुमति चाहता हूँ । अथवा यदि आप ठीक समझें तो पुत्रसहित वीर महामना द्रोणाचार्यके द्वारा मैं अपनी रक्षाका आश्वासन चाहता हूँ' ।२४।

स राज्ञा स्वयमाचार्यो भृशमत्रार्थितोऽर्जुन ।
संविधानं च विहितं रथाश्च किल सज्जिताः ॥ २५ ॥

'अर्जुन ! तब राजा दुर्योधनने स्वयं ही आचार्य द्रोणसे जयद्रथकी रक्षाके लिये बड़ी प्रार्थना की है । अतः उसकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध कर लिया गया है तथा रथ भी सजा दिये गये हैं ॥ २५ ॥

कर्णो भूरिश्रवा द्रौणिर्वृषसेनश्च दुर्जयः ।
कृपश्च मद्रराजश्च षडेतेऽस्य पुरोगमाः ॥ २६ ॥

'कलके युद्धमें कर्ण, भूरिश्रवा, अश्वत्थामा, दुर्जय वीर वृषसेन, कृपाचार्य और मद्रराज शल्य ये—छः महारथी उसके आगे रहेंगे ॥ २६ ॥

शकटः पद्मकश्चार्धो व्यूहो द्रोणेन निर्मितः।
पद्मकर्णिकमध्यस्थः सूचीपार्श्वे जयद्रथः ॥ २७ ॥
स्थास्यते रक्षितो वीरैः सिंधुराट् स सुदुर्मदः।

'द्रोणाचार्यने ऐसा व्यूह बनाया है, जिसका अगला आधा भाग शकटके आकारका है और पिछला कमलके समान। कमलव्यूहके मध्यकी कर्णिकाके बीच सूचीव्यूहके पार्श्व भागमें युद्धदुर्मद सिन्धुराज जयद्रथ खड़ा होगा और अन्यान्य वीर उसकी रक्षा करते रहेंगे ॥ २७½ ॥

धनुष्यस्त्रे च वीर्ये च प्राणे चैव तथौरसे ॥ २८ ॥
अविषह्यतमा ह्येते निश्चिताः पार्थ षड् रथाः।
एतानजित्वा षड् रथान् नैव प्राप्यो जयद्रथः ॥२९॥

'पार्थ ! ये पूर्व निश्चित छः महारथी धनुष, बाण, पराक्रम, प्राणशक्ति तथा मनोबलमें अत्यन्त असह्य माने गये हैं। इन छः महारथियोंको जीते बिना जयद्रथको प्राप्त करना असम्भव है ॥ २८-२९ ॥

तेषामेकैकशो वीर्यं षण्णां त्वमनुचिन्तय।
सहिता हि नरव्याघ्र न शक्या जेतुमञ्जसा ॥ ३० ॥

'पुरुषसिंह ! पहले तुम इन छः महारथियोंमें एक-एकके बल-पराक्रमका विचार करो। फिर जब ये छः एक साथ होंगे, उस समय इन्हें सुगमतासे नहीं जीता जा सकता।३०।

भूयस्तु मन्त्रयिष्यामि नीतिमात्महिताय वै।
मन्त्रज्ञैः सचिवैः सार्धं सुहृद्भिः कार्यसिद्धये ॥ ३१ ॥

'अब मैं पुनः अपने हितका ध्यान रखते हुए कार्यकी सिद्धिके लिये मन्त्रज्ञ मन्त्रियों और हितैषी सुहृदोंके साथ सलाह करूँगा'॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके वीरोचित वचन

अर्जुन उवाच

षड् रथान् धार्तराष्ट्रस्य मन्यसे यान् बलाधिकान्।
तेषां वीर्यं ममार्धेन न तुल्यमिति मे मतिः ॥ १ ॥
अस्त्रमस्त्रेण सर्वेषामेतेषां मधुसूदन।
मया द्रक्ष्यसि निर्भिन्नं जयद्रथवधैषिणा ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—मधुसूदन ! दुर्योधनके जिन छः महारथियोंको आप बलमें अधिक मानते हैं, उनका पराक्रम मेरे आधेके बराबर भी नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है। जयद्रथके वधकी इच्छासे मेरे युद्ध करते समय आप देखेंगे कि मैंने इन सबके अस्त्रोंको अपने अस्त्रसे काट गिराया है ॥ १-२ ॥

द्रोणस्य मिषतश्चाहं सगणस्य विलप्यतः।
मूर्धानं सिन्धुराजस्य पातयिष्यामि भूतले ॥ ३ ॥

मैं द्रोणाचार्यके देखते-देखते अपने सैनिकोंसहित विलाप करते हुए सिन्धुराज जयद्रथका मस्तक पृथ्वीपर गिरा दूँगा ॥ ३॥

यदि साध्याश्च रुद्राश्च वसवश्च सहाश्विनः।
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवाः सहेश्वराः ॥ ४ ॥
पितरः सहगन्धर्वाः सुपर्णाः सागराद्रयः।
द्यौर्वियत् पृथिवी चेयं दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ ५ ॥
ग्रामारण्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्रातारः सिन्धुराजस्य भवन्ति मधुसूदन ॥ ६ ॥
तथापि बाणैर्निहतं श्वो द्रष्टासि रणे मया।
सत्येन च शपे कृष्ण तथैवायुधमालभे ॥ ७ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण ! यदि साध्य, रुद्र, वसु, अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, देवेश्वरगण, पितर, गन्धर्व, गरुड़, समुद्र, पर्वत, स्वर्ग, आकाश, यह पृथ्वी, दिशाएँ, दिक्पाल, गाँवों तथा जंगलोंमें निवास करनेवाले प्राणी और सम्पूर्ण चराचर जीव भी सिन्धुराज जयद्रथकी रक्षाके लिये उद्यत हो जायँ तो भी मैं सत्यकी शपथ खाकर और अपना धनुष छूकर कहता हूँ कि कल युद्धमें आप मेरे बाणोंद्वारा जयद्रथको मारा गया देखेंगे ॥ ४-७ ॥

यस्तु गोप्ता महेष्वासस्तस्य पापस्य दुर्मतेः।
तमेव प्रथमं द्रोणमभियास्यामि केशव ॥ ८ ॥

केशव ! उस दुर्बुद्धि पापी जयद्रथकी रक्षाका बीड़ा उठाये हुए जो महाधनुर्धर आचार्य द्रोण हैं, पहले उन्हींपर आक्रमण करूँगा ॥ ८ ॥

तस्मिन् द्यूतमिदं बद्धं मन्यते स सुयोधनः।
तस्मात् तस्यैव सेनाग्रं भित्त्वा यास्यामि सैन्धवम् ॥९॥

दुर्योधन आचार्यपर ही इस युद्धरूपी द्यूतको आबद्ध (अवलम्बित) मानता है; अतः उसीकी सेनाके अग्रभागका भेदन करके मैं सिन्धुराजके पास जाऊँगा ॥ ९ ॥

द्रष्टासि श्वो महेष्वासान् नाराचैस्तिग्मतेजितैः।
शृङ्गाणीव गिरेर्वज्रैर्दार्यमाणान् मया युधि ॥ १० ॥

जैसे इन्द्र अपने वज्रद्वारा पर्वतोंके शिखरोंको विदीर्ण कर देते हैं, उसी प्रकार कल युद्धमें मैं अच्छी तरह तेज किये हुए नाराचोंद्वारा बड़े-बड़े धनुर्धरोंको चीर डालूँगा; यह आप देखेंगे ॥ १० ॥

नरनागाश्वदेहेभ्यो विस्रविष्यति शोणितम्।

पतद्भ्यः पतितेभ्यश्च विभिन्नेभ्यः शितैः शरैः ॥ ११ ॥

मेरे तीखे बाणोंद्वारा विदीर्ण होकर गिरते और गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरीरोंसे खूनकी धारा बह चलेगी ॥ ११ ॥

गाण्डीवप्रेषिता बाणा मनोऽनिलसमा जवे ।
नृनागाश्वान् विदेहासून् कर्तारश्च सहस्रशः ॥१२॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाण मन और वायुके समान वेगशाली होते हैं। वे शत्रुओंके सहस्रों हाथी-घोड़े और मनुष्योंको शरीर और प्राणोंसे शून्य कर देंगे ॥ १२ ॥

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राद् रुद्राच्च यन्मया ।
उपात्तमस्त्रं घोरं तद् द्रष्टारोऽत्र नरा युधि ॥१३॥

यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा रुद्रसे मैंने जो भयंकर अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन्हें कलके युद्धमें सब लोग देखेंगे ॥१३॥

ब्राह्मेणास्त्रेण चास्त्राणि हन्यमानानि संयुगे ।
मया द्रष्टासि सर्वेषां सैन्धवस्याभिरक्षिणाम् ॥१४॥

जयद्रथके समस्त रक्षकोंद्वारा छोड़े हुए अस्त्रोंको मैं युद्धमें ब्रह्मास्त्रद्वारा काट डालूँगा, यह आप देखेंगे ॥१४॥

शरवेगसमुत्कृत्तै राज्ञां केशव मूर्धभिः ।
आस्तीर्यमाणां पृथिवीं द्रष्टासि श्वो मया युधि ॥१५॥

केशव ! कलके युद्धमें आप देखेंगे कि इस पृथ्वीपर मेरे बाणोंके वेगसे कटे हुए राजाओंके मस्तक बिछ गये हैं।१५।

क्रव्यादांस्तर्पयिष्यामि द्रावयिष्यामि शात्रवान् ।
सुहृदो नन्दयिष्यामि प्रमथिष्यामि सैन्धवम् ॥ १६ ॥

कल मैं मांसभोजी प्राणियोंको तृप्त कर दूँगा, शत्रुसैनिकोंको मार भगाऊँगा, सुहृदोंको आनन्द प्रदान करूँगा और सिन्धुराज जयद्रथको मथ डालूँगा ॥ १६ ॥

बह्वागस्कृत् कुसम्बन्धी पापदेशसमुद्भवः ।
मया सैन्धवको राजा हतः स्वान् शोचयिष्यति ॥१७॥

सिन्धुराज जयद्रथ पापपूर्ण प्रदेशमें उत्पन्न हुआ है। उसने बहुत-से अपराध किये हैं। वह एक दुष्ट सम्बन्धी है। अतः कल मेरेद्वारा मारा जाकर अपने सुजनोंको शोकमें निमग्न कर देगा ॥ १७ ॥

सर्वक्षीरान्नभोक्तारं पापाचारं रणाजिरे ।
मया सराजकं बाणैर्भिन्नं द्रक्ष्यसि सैन्धवम् ॥ १८ ॥

सदा सब प्रकारसे दूध-भात खानेवाले पापाचारी जयद्रथको रणाङ्गणमें आप राजाओंसहित मेरे बाणोंद्वारा विदीर्ण हुआ देखेंगे ॥ १८ ॥

तथा प्रभाते कर्तास्मि यथा कृष्ण सुयोधनः ।
नान्यं धनुर्धरं लोके मंस्यते मत्समं युधि ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं कल सबेरे ऐसा युद्ध करूँगा, जिससे दुर्योधन रणक्षेत्रके भीतर संसारके दूसरे किसी धनुर्धरको मेरे समान नहीं मानेगा ॥ १९ ॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं योद्धा चाहं नरर्षभ ।
त्वं च यन्ता हृषीकेश किं नु स्यादजितं मया॥ २०॥

नरश्रेष्ठ हृषीकेश ! जहाँ गाण्डीव-जैसा दिव्य धनुष है, मैं योद्धा हूँ और आप सारथि हैं, वहाँ मैं किसको नहीं जीत सकता ? ॥ २० ॥

तव प्रसादाद् भगवन् किमिवास्ति रणे मम ।
अविषह्यं हृषीकेश किं जानन् मां विगर्हसे ॥ २१ ॥

भगवन् ! आपकी कृपासे इस युद्धस्थलमें कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो मेरे लिये असह्य हो। हृषीकेश ! आप यह जानते हुए भी क्यों मेरी निन्दा करते हैं ? ॥ २१ ॥

यथा लक्ष्म स्थिरं चन्द्रे समुद्रे च यथा जलम् ।
एवमेतां प्रतिज्ञां मे सत्यां विद्धि जनार्दन ॥ २२ ॥

जनार्दन ! जैसे चन्द्रमामें काला चिह्न स्थिर है, जैसे समुद्रमें जलकी सत्ता सुनिश्चित है, उसी प्रकार आप मेरी इस प्रतिज्ञाको भी सत्य समझें ॥ २२ ॥

मावमंस्था ममास्त्राणि मावमंस्था धनुर्दृढम् ।
मावमंस्था बलं बाह्वोर्मावमंस्था धनंजयम् ॥ २३ ॥

प्रभो ! आप मेरे अस्त्रोंका अनादर न करें। मेरे इस सुदृढ़ धनुषकी अवहेलना न करें। इन दोनों भुजाओंके बलका तिरस्कार न करें और अपने इस सखा धनंजयका अपमान न करें ॥ २३ ॥

तथाभियामि संग्रामं न जीयेयं जयामि च ।
तेन सत्येन संग्रामे हतं विद्धि जयद्रथम् ॥ २४ ॥

मैं संग्राममें इस प्रकार चलूँगा, जिससे कोई मुझे जीत न सके, वरं मैं ही विजयी होऊँ। इस सत्यके प्रभावसे आप रणक्षेत्रमें जयद्रथको मारा गया ही समझें ॥ २४ ॥

ध्रुवं वै ब्राह्मणे सत्यं ध्रुवा साधुषु संनतिः ।
श्रीर्ध्रुवापि च यज्ञेषु ध्रुवो नारायणे जयः ॥ २५ ॥

जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणमें सत्य, साधुपुरुषोंमें नम्रता और यज्ञोंमें लक्ष्मीका होना ध्रुव सत्य है, उसी प्रकार जहाँ आप नारायण विद्यमान हैं, वहाँ विजय भी अटल है ॥ २५ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं स्वयमात्मानमात्मना ।
संदिदेशार्जुनो नर्दन् वासविः केशवं प्रभुम् ॥ २६ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इन्द्रकुमार अर्जुनने गर्जना करते हुए इस प्रकार उपर्युक्त बातें कहकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता तथा सब कुछ करनेमें समर्थ अपने आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको स्वयं ही मनसे सोचकर इस प्रकार आदेश दिया—॥ २६ ॥

यथा प्रभातां रजनीं कल्पितः स्याद् रथो मम ।

तथा कार्यं त्वया कृष्ण कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ २७ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप ऐसा प्रबन्ध कर लें कि कल सबेरा होते ही मेरा रथ तैयार हो जाय; क्योंकि हमलोगोंपर महान् कार्यभार आ पड़ा है' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वण्यर्जुनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके अशुभसूचक उत्पात, कौरवसेनामें भय और श्रीकृष्णका अपनी बहिन सुभद्राको आश्वासन देना

संजय उवाच

तां निशां दुःखशोकार्तौ निःश्वसन्ताविवोरगौ।
निद्रां नैवोपलेभाते वासुदेवधनंजयौ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुःख और शोकसे पीड़ित हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन सर्पोंके समान लंबी साँस खींच रहे थे । उन दोनोंको उस रातमें नींद नहीं आयी ॥ १ ॥

नरनारायणौ क्रुद्धौ ज्ञात्वा देवाः सवासवाः ।
व्यथिताश्चिन्तयामासुः किंस्विदेतद् भविष्यति॥ २ ॥

नर और नारायणको कुपित जान इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता व्यथित हो चिन्ता करने लगे; यह क्या होनेवाला है ! ।२।

ववुश्च दारुणा वाता रूक्षा घोराभिशंसिनः ।
सकबन्धस्तथाऽऽदित्ये परिधिः समदृश्यत ॥ ३ ॥

रूक्ष, भयसूचक एवं दारुण वायु बहने लगी।(दूसरे दिन सूर्योदय होनेपर)सूर्यमण्डलमें कबन्धयुक्त घेरा देखा गया॥३॥

शुष्काशन्यश्च निष्पेतुः सनिर्घाताः सविद्युतः ।
चचाल चापि पृथिवी सशैलवनकानना ॥ ४ ॥

बिना वर्षाके ही वज्र गिरने लगे । आकाशमें बिजलीकी चमकके साथ भयंकर गर्जना होने लगी । पर्वत, वन और काननोंसहित पृथ्वी काँपने लगी ॥ ४ ॥

चुक्षुभुश्च महाराज सागरा मकरालयाः ।
प्रतिस्रोतः प्रवृत्ताश्च तथा गन्तुं समुद्रगाः ॥ ५ ॥

महाराज ! ग्राहोंके निवासस्थान समुद्रोंमें ज्वार आ गया । समुद्रगामिनी नदियाँ उल्टी धारामें बहकर अपने उद्गमकी ओर जाने लगीं ॥ ५ ॥

रथाश्वनरनागानां प्रवृत्तमधरोत्तरम् ।
क्रव्यादानां प्रमोदार्थं यमराष्ट्रविवृद्धये ॥ ६ ॥

मांसभक्षी प्राणियोंके आनन्द और यमराजके राज्यकी वृद्धिके लिये रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंके नीचे-ऊपरके ओष्ठ फड़कने लगे ॥ ६ ॥

वाहनानि शकृन्मूत्रे मुमुचू रुरुदुश्च ह ।
तान् दृष्ट्वा दारुणान् सर्वानुत्पाताँल्लोमहर्षणान्॥ ७ ॥
सर्वे ते व्यथिताः सैन्यास्त्वदीया भरतर्षभ ।
श्रुत्वा महाबलस्योग्रां प्रतिज्ञां सव्यसाचिनः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! हाथी, घोड़े आदि वाहन मल-मूत्र करने और रोने लगे । उन सब भयंकर एवं रोमाञ्चकारी उत्पातोंको देखकर और महाबली सव्यसाची अर्जुनकी उस भयंकर प्रतिज्ञाको सुनकर आपके सभी सैनिक व्यथित हो उठे ॥

अथ कृष्णं महाबाहुरब्रवीत् पाकशासनिः ।
आश्वासय सुभद्रां त्वं भगिनीं स्नुषया सह ॥ ९ ॥
स्नुषां चास्या वयस्याश्च विशोकाः कुरु माधव ।
साम्ना सत्येन युक्तेन वचसाऽऽश्वासय प्रभो ॥ १० ॥

इधर इन्द्रकुमार महाबाहु अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'माधव ! आप पुत्रवधू उत्तरासहित अपनी बहिन सुभद्राको धीरज बँधाइये । उत्तरा और उसकी सखियोंका शोक दूर कीजिये । प्रभो ! शान्तिपूर्ण, सत्य और युक्तियुक्त वचनोंद्वारा इन सबको आश्वासन दीजिये' ॥ ९-१० ॥

ततोऽर्जुनगृहं गत्वा वासुदेवः सुदुर्मनाः ।
भगिनीं पुत्रशोकार्तामाश्वासयत दुःखिताम् ॥ ११ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त उदास मनसे अर्जुनके शिविरमें गये और पुत्रशोकसे पीड़ित हुई अपनी दुखिया बहिनको आश्वासन देने लगे ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच

मा शोकं कुरु वार्ष्णेयि कुमारं प्रति सस्नुषा ।
सर्वेषां प्राणिनां भीरु निष्ठैषा कालनिर्मिता ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—वृष्णिनन्दिनी ! तुम और पुत्रवधू उत्तरा कुमार अभिमन्युके लिये शोक न करो ।

भीरु ! काल एक दिन सभी प्राणियोंकी ऐसी ही अवस्था कर देता है ॥ १२ ॥

कुले जातस्य धीरस्य क्षत्रियस्य विशेषतः ।
सदृशं मरणं ह्येतत् तव पुत्रस्य मा शुचः ॥ १३ ॥

तुम्हारा पुत्र उत्तम कुलमें उत्पन्न धीर-वीर और विशेषतः क्षत्रिय था । यह मृत्यु उसके योग्य ही हुई है; इसलिये शोक न करो ॥ १३ ॥

दिष्ट्या महारथो धीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
क्षात्रेण विधिना प्राप्तो वीराभिलषितां गतिम् ॥ १४ ॥

यह सौभाग्यकी बात है कि पिताके तुल्य पराक्रमी धीर महारथी अभिमन्यु क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करके उस उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है, जिसकी वीर पुरुष अभिलाषा करते हैं ॥ १४ ॥

जित्वा सुबहुशः शत्रून् प्रेषयित्वा च मृत्यवे ।
गतः पुण्यकृतां लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥ १५ ॥

वह बहुत-से शत्रुओंको जीतकर और बहुतोंको मृत्युके लोकमें भेजकर पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले उन अक्षय लोकोंमें गया है, जो सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च ।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः ॥ १६ ॥

तपस्या, ब्रह्मचर्य, शास्त्रज्ञान और सद्बुद्धिके द्वारा साधुपुरुष जिस गतिको पाना चाहते हैं, वही गति तुम्हारे पुत्रको भी प्राप्त हुई है ॥ १६ ॥

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा ।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम् ॥ १७ ॥

सुभद्रे ! तुम वीरमाता, वीरपत्नी, वीरकन्या और वीर भाइयोंकी बहिन हो । तुम पुत्रके लिये शोक न करो । वह उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है ॥ १७ ॥

प्राप्स्यते चाप्यसौ पापः सैन्धवो बालघातकः ।
अस्यावलेपस्य फलं ससुहृद्गणबान्धवः ॥ १८ ॥
व्युष्टायां तु वरारोहे रजन्यां पापकर्मकृत् ।
न हि मोक्ष्यति पार्थात् स प्रविष्टोऽप्यमरावतीम् ॥ १९ ॥

वरारोहे ! बालककी हत्या करानेवाला वह पापकर्मा पापी सिंधुराज जयद्रथ रात बीतनेपर प्रातःकाल होते ही अपने सुहृदों और बन्धु-बान्धवोंसहित इस अपराधका फल पायेगा । वह अमरावतीपुरीमें जाकर छिप जाय तो भी अर्जुनके हाथसे उसका छुटकारा नहीं होगा ॥ १८-१९ ॥

श्वः शिरः श्रोष्यसे तस्य सैन्धवस्य रणे हृतम् ।
समन्तपञ्चकाद् बाह्यं विशोका भव मा रुदः ॥ २० ॥

तुम कल ही सुनोगी कि रणक्षेत्रमें जयद्रथका मस्तक काट लिया गया है और वह समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर जा गिरा है । अतः शोक त्याग दो और रोना बंद करो ॥ २० ॥

क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः ॥ २१ ॥

शूरवीर अभिमन्युने क्षत्रिय-धर्मको आगे रखकर सत्पुरुषोंकी गति पायी है, जिसे हमलोग और इस संसारके दूसरे शस्त्रधारी क्षत्रिय भी पाना चाहते हैं ॥ २१ ॥

व्यूढोरस्को महाबाहुरनिवर्ती रथप्रणुत् ।
गतस्तव वरारोहे पुत्रः स्वर्गं ज्वरं जहि ॥ २२ ॥

सुन्दरी ! चौड़ी छाती और विशाल भुजाओंसे सुशोभित युद्धसे पीछे न हटनेवाला तथा शत्रुपक्षके रथियोंपर विजय पानेवाला तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें गया है। तुम चिन्ता छोड़ो॥

अनुयातश्च पितरं मातृपक्षं च वीर्यवान् ।
सहस्रशो रिपून् हत्वा हतः शूरो महारथः ॥ २३ ॥

बलवान्, शूरवीर और महारथी अभिमन्यु पितृकुल तथा मातृकुलकी मर्यादाका अनुसरण करते हुए सहस्रों शत्रुओंको मारकर मरा है ॥ २३ ॥

आश्वासय स्नुषां राज्ञि मा शुचः क्षत्रिये भृशम् ।
श्वः प्रियं सुमहच्छ्रुत्वा विशोका भव नन्दिनि ॥ २४ ॥

रानी बहिन ! अधिक चिन्ता छोड़ो और बहूको धीरज बँधाओ । अपने कुलको आनन्दित करनेवाली क्षत्रियकन्ये ! कल अत्यन्त प्रिय समाचार सुनकर शोकरहित हो जाओ ॥२४॥

यत् पार्थेन प्रतिज्ञातं तत् तथा न तदन्यथा ।
चिकीर्षितं हि ते भर्तुर्न भवेज्जातु निष्फलम् ॥ २५ ॥

अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा कर ली है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी। उसे कोई पलट नहीं सकता। तुम्हारे स्वामी जो कुछ करना चाहते हैं, वह कभी निष्फल नहीं होता॥

यदि च मनुजपन्नगाः पिशाचा रजनिचराः पतगाः सुरासुराश्च।
रणगतमभियान्ति सिन्धुराजं न स भविता सह तैरपि प्रभाते ॥ २६ ॥

यदि मनुष्य, नाग, पिशाच, निशाचर, पक्षी, देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें आये हुए सिंधुराज जयद्रथकी सहायताके लिये आ जायँ तो भी वह कल उन सहायकोंके साथ ही जीवनसे हाथ धो बैठेगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि सुभद्राश्वासने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें सुभद्राको श्रीकृष्णका आश्वासनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

सुभद्राका विलाप और श्रीकृष्णका सबको आश्वासन

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
सुभद्रा पुत्रशोकार्ता विललाप सुदुःखिता ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महात्मा केशवका यह कथन सुनकर पुत्रशोकसे व्याकुल और अत्यन्त दुःखित हुई सुभद्रा इस प्रकार विलाप करने लगी—॥ १ ॥

हा पुत्र मम मन्दायाः कथमेत्यासि संयुगे।
निधनं प्राप्तवांस्तात पितुस्तुल्यपराक्रमः ॥ २ ॥

'हा पुत्र ! हा बेटा अभिमन्यु ! तुम मुझ अभागिनीके गर्भमें आकर क्रमशः पिताके तुल्य पराक्रमी होकर युद्धमें मारे कैसे गये ? ॥ २ ॥

कथमिन्दीवरश्यामं सुदंष्ट्रं चारुलोचनम्।
मुखं ते दृश्यते वत्स गुण्ठितं रणरेणुना ॥ ३ ॥

'वत्स ! नील कमलके समान श्याम, सुन्दर दन्तपङ्क्तियोंसे सुशोभित, मनोहर नेत्रोंवाला तुम्हारा मुख आज युद्धकी धूलसे आच्छादित होकर कैसा दिखायी देता होगा ? ॥ ३ ॥

नूनं शूरं निपतितं त्वां पश्यन्त्यनिवर्तिनम्।
सुशिरोग्रीवबाह्वंसं व्यूढोरस्कं नतोदरम् ॥ ४ ॥
चारूपचितसर्वाङ्गं स्वक्षं शस्त्रक्षताचितम्।
भूतानि त्वां निरीक्षन्ते नूनं चन्द्रमिवोदितम् ॥ ५ ॥

'बेटा ! तुम शूरवीर थे। युद्धसे कभी पीछे पैर नहीं हटाते थे। मस्तक, ग्रीवा, बाहु और कंधे आदि तुम्हारे सभी अङ्ग सुन्दर थे, छाती चौड़ी थी, उदर एवं नाभिदेश नीचा था, समस्त अङ्ग मनोहर और हृष्ट-पुष्ट थे। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विशेषतः नेत्र बड़े सुन्दर थे तथा तुम्हारे सारे अङ्ग शस्त्रजनित आघातसे व्याप्त थे। इस दशामें तुम धरतीपर पड़े होगे और निश्चय ही समस्त प्राणी उदय होते हुए चन्द्रमाके समान तुम्हें देख रहे होंगे ॥ ४-५ ॥

शयनीयं पुरा यस्य स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम्।
भूमावद्य कथं शेषे विप्रविद्धः सुखोचितः ॥ ६ ॥

'हाय ! पहले जिसके शयन करनेके लिये बहुमूल्य बिछौनेसे ढकी हुई शय्या बिछायी जाती थी, वही बेटा अभिमन्यु सुख भोगनेके योग्य होकर भी आज बाणविद्ध शरीरसे भूतलपर कैसे सो रहा होगा ? ॥ ६ ॥

योऽन्वास्यत पुरा वीरो वरस्त्रीभिर्महाभुजः।
कथमन्वास्यते सोऽद्य शिवाभिः पतितो मृधे ॥ ७ ॥

'जिस महाबाहु वीरके पास पहले सुन्दरी स्त्रियाँ बैठा करती थीं, वही आज युद्धभूमिमें पड़ा होगा और उसके आस-पास सियारिनें बैठी होंगी; यह सब कैसे सम्भव हुआ ?॥

योऽस्तूयत पुरा हृष्टैः सूतमागधवन्दिभिः।
सोऽद्य क्रव्याद्गणैर्घोरैर्विनदद्भिरुपास्यते ॥ ८ ॥

'पहले हर्षमें भरे हुए सूत, मागध और वन्दीजन जिसकी स्तुति किया करते थे, उसीकी आज विकट गर्जना करते हुए भयंकर मांसभक्षी जन्तुओंके समुदाय उपासना करते होंगे ॥

पाण्डवेषु च नाथेषु वृष्णिवीरेषु वा विभो।
पञ्चालेषु च वीरेषु हतः केनास्यनाथवत् ॥ ९ ॥

'शक्तिशाली पुत्र ! तुम्हारे रक्षक पाण्डवों, वृष्णिवीरों तथा पाञ्चालवीरोंके होते हुए भी तुम्हें अनाथकी भाँति किसने मारा ? ॥ ९ ॥

अतृप्तदर्शना पुत्र दर्शनस्य तवानघ।
मन्दभाग्या गमिष्यामि व्यक्तमद्य यमक्षयम् ॥ १० ॥

'बेटा ! तुम्हें देखनेके लिये मेरी आँखें तरस रही हैं, इनकी प्यास नहीं बुझी। अनघ ! कितनी मन्दभागिनी हूँ। निश्चय ही आज मैं यमलोकको चली जाऊँगी ॥ १० ॥

विशालाक्षं सुकेशान्तं चारुवाक्यं सुगन्धि च।
तव पुत्र कदा भूयो मुखं द्रक्ष्यामि निर्व्रणम् ॥ ११ ॥

'वत्स ! बड़े-बड़े नेत्र, सुन्दर केशप्रान्त, मनोहर वाक्य और उत्तम सुगंधसे युक्त तुम्हारा घावरहित सुन्दर मुख मैं फिर कब देख पाऊँगी ? ॥ ११ ॥

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य धनुष्मताम् ।
धिग् वीर्यं वृष्णिवीराणां पञ्चालानां च धिग् बलम् ॥ १२ ॥

'भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके धनुषधारणको धिक्कार है, वृष्णिवंशी वीरोंके पराक्रमको धिक्कार है तथा पाञ्चालोंके बलको भी धिक्कार है ! ॥ १२ ॥

धिक्केकयांस्तथा चेदीन् मत्स्यांश्चैवाथ सृञ्जयान् ।
ये त्वां रणगतं वीरं न शेकुरभिरक्षितुम् ॥ १३ ॥

'केकय, चेदि तथा मत्स्यदेशके वीरों और सृंजयवंशी क्षत्रियोंको भी धिक्कार है, जो युद्धमें गये हुए तुम-जैसे वीरकी रक्षा न कर सके ॥ १३ ॥

अद्य पश्यामि पृथिवीं शून्यामिव हतत्विषम् ।
अभिमन्युमपश्यन्ती शोकव्याकुललोचना ॥ १४ ॥

'अभिमन्युको न देखनेके कारण मेरे नेत्र शोकसे व्याकुल हो रहे हैं । आज मुझे सारी पृथ्वी सूनी एवं कान्तिहीन-सी दिखायी देती है ॥ १४ ॥

स्वस्रीयं वासुदेवस्य पुत्रं गाण्डीवधन्वनः ।
कथं त्वातिरथं वीरं द्रक्ष्याम्यद्य निपातितम् ॥ १५ ॥

'वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके भानजे और गाण्डीवधारी अर्जुनके अतिरथी वीर पुत्र अभिमन्युको आज मैं धरतीपर पड़ा हुआ कैसे देख सकूँगी ? ॥ १५ ॥

एह्येहि तृषितो वत्स स्तनौ पूर्णौ पिबाशु मे ।
अङ्कमारुह्य मन्दाया ह्यतृप्तायाश्च दर्शने ॥ १६ ॥

'बेटा ! आओ, आओ । तुम्हें प्यास लगी होगी । तुम्हें देखनेके लिये प्यासी हुई मुझ अभागिनी माताकी गोदमें बैठकर मेरे दूधसे भरे हुए इन स्तनोंको शीघ्र पी लो ॥ १६ ॥

हा वीर दृष्टो नष्टश्च धनं स्वप्न इवासि मे ।
अहो ह्यनित्यं मानुष्यं जलबुद्बुदचञ्चलम् ॥ १७ ॥

'हा वीर ! तुम सपनेमें मिले हुए धनकी भाँति मुझे दिखायी दिये और नष्ट हो गये । अहो ! यह मनुष्य-जीवन पानीके बुलबुलेके समान चञ्चल एवं अनित्य है ॥ १७ ॥

इमां ते तरुणीं भार्यां तवाधिभिरभिप्लुताम् ।
कथं संधारयिष्यामि विवत्सामिव धेनुकाम् ॥ १८ ॥

'बेटा ! तुम्हारी यह तरुणी पत्नी तुम्हारे विरहशोकमें डूबी हुई है । जिसका बछड़ा खो गया हो, उस गायकी भाँति व्याकुल है । मैं इसे कैसे धीरज बँधाऊँगी ? ॥ १८ ॥

(उत्तरामुत्तमां जात्या सुशीलां प्रियभाषिणीम् ।
शनकैः परिरभ्यैनां स्नुषां मम यशस्विनीम् ॥
सुकुमारीं विशालाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
बालपल्लवतन्वङ्गीं मत्तमातङ्गगामिनीम् ॥
बिम्बाधरोष्ठीमबलामभिमन्यो प्रहर्षय ।)

'यह उत्तरा जातिसे उत्तम, सुशीला, प्रियभाषिणी, यशस्विनी तथा मेरी प्यारी बहू है । यह सुकुमारी है । इसके नेत्र बड़े-बड़े और मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति परम मनोहर है । इसके अङ्ग नूतन पल्लवोंके समान कृश हैं । यह मतवाले हाथीके समान मन्दगतिसे चलनेवाली है । इसके ओठ बिम्बफलके समान लाल हैं । बेटा अभिमन्यु ! तुम मेरी इस बहूको धीरे-धीरे हृदयसे लगाकर आनन्दित करो ॥

अहो ह्यकाले प्रस्थानं कृतवानसि पुत्रक ।
विहाय फलकाले मां सुगृद्धां तव दर्शने ॥ १९ ॥

'अहो वत्स ! जब पुत्रके होनेका फल मिलनेका समय आया है, तब तुम मुझे अपने दर्शनोंके लिये भी तरसती हुई छोड़कर असमयमें ही चल बसे ॥ १९ ॥

नूनं गतिः कृतान्तस्य प्राज्ञैरपि सुदुर्विदा ।
यत्र त्वं केशवे नाथे संग्रामेऽनाथवद्धतः ॥ २० ॥

'निश्चय ही कालकी गति बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अत्यन्त दुर्बोध है, जिसके अधीन होकर तुम श्रीकृष्ण-जैसे संरक्षकके रहते हुए संग्राम-भूमिमें अनाथकी भाँति मारे गये ॥

यज्वनां दानशीलानां ब्राह्मणानां कृतात्मनाम् ।
चरितब्रह्मचर्याणां पुण्यतीर्थावगाहिनाम् ॥ २१ ॥
कृतज्ञानां वदान्यानां गुरुशुश्रूषिणामपि ।
सहस्रदक्षिणानां च या गतिस्तामवाप्नुहि ॥ २२ ॥

'वत्स ! यज्ञकर्ता, दानी, जितेन्द्रिय, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, पुण्यतीर्थोंमें नहानेवाले, कृतज्ञ, उदार, गुरुसेवा-परायण और सहस्रोंकी संख्यामें दक्षिणा देनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको जो गति प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी मिले ॥ २१-२२ ॥

या गतिर्युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
हत्वारीन् निहतानां च संग्रामे तां गतिं व्रज ॥ २३ ॥

'संग्राममें युद्धतत्पर हो कभी पीछे पैर न हटानेवाले और शत्रुओंको मारकर मरनेवाले शूरवीरोंको जो गति प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी मिले ॥ २३ ॥

गोसहस्रप्रदातॄणां क्रतुदानां च या गतिः ।
नैवेशिकं चाभिमतं ददतां या गतिः शुभा ॥ २४ ॥

'सहस्र गोदान करनेवाले, यज्ञके लिये दान देनेवाले तथा मनके अनुरूप सब सामग्रियोंसहित निवासस्थान प्रदान करनेवाले पुरुषोंको जो शुभ गति प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी मिले ॥

ब्राह्मणेभ्यः शरण्येभ्यो निधिं निदधतां च या ।
या चापि न्यस्तदण्डानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ २५ ॥

'जो शरणागत वत्सल ब्राह्मणोंके लिये निधि स्थापित करते

हैं तथा किसी भी प्राणीको दण्ड नहीं देते, उन्हें जिस गतिकी प्राप्ति होती है, बेटा ! वही गति तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ २५ ॥

ब्रह्मचर्येण यां यान्ति मुनयः संशितव्रताः ।
एकपत्न्यश्च यां यान्ति तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ २६ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनि ब्रह्मचर्यके द्वारा जिस गतिको पाते हैं और पतिव्रता स्त्रियोंको जिस गतिकी प्राप्ति होती है, बेटा ! वही गति तुम्हें भी सुलभ हो ॥२६॥

राज्ञां सुचरितैर्या च गतिर्भवति शाश्वती ।
चतुराश्रमिणां पुण्यैः पावितानां सुरक्षितैः ॥ २७ ॥
दीनानुकम्पिनां या च सततं संविभागिनाम् ।
पैशुन्याच्च निवृत्तानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ २८ ॥

'पुत्र ! सदाचारके पालनसे राजाओंको तथा सुरक्षित पुण्यके प्रभावसे पवित्र हुए चारों आश्रमोंके लोगोंको जो सनातन गति प्राप्त होती है; दीनोंपर दया करनेवाले, उत्तम वस्तुओंको घरमें बाँटकर उपयोगमें लेनेवाले तथा चुगलीसे दूर रहनेवाले लोगोंको जो गति प्राप्त होती है, वही गति तुम्हें भी मिले ॥ २७-२८ ॥

व्रतिनां धर्मशीलानां गुरुशुश्रूषिणामपि ।
अमोघातिथिनां या च तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ २९ ॥

'वत्स ! व्रतपरायण, धर्मशील, गुरुसेवक एवं अतिथिको निराश न लौटानेवाले लोगोंको जिस गतिकी प्राप्ति होती है, वह तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ २९ ॥

कृच्छ्रेषु या धारयतामात्मानं व्यसनेषु च ।
गतिः शोकाग्निदग्धानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ ३० ॥

'बेटा ! जो लोग भारी-से-भारी कठिनाइयोंमें और संकटोंमें पड़नेपर तथा शोकाग्निसे दग्ध होनेपर भी धैर्य धारण करके अपने आपको स्थिर रखते हैं, उन्हें मिलनेवाली गतिको तुम भी प्राप्त करो ॥ ३० ॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषां कल्पयन्तीह ये सदा ।
स्वदारनिरतानां च या गतिस्तामवाप्नुहि ॥ ३१ ॥

'जो सदा इस जगत्‌में माता-पिताकी सेवा करते हैं और अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखते हैं, उनकी जैसी गति होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३१ ॥

ऋतुकाले स्वकां भार्यां गच्छतां या मनीषिणाम् ।
परस्त्रीभ्यो निवृत्तानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ ३२ ॥

'पुत्र ! ऋतुकालमें अपनी स्त्रीसे सहवास करते हुए परायी स्त्रियोंसे सदा दूर रहनेवाले मनीषी पुरुषोंको जो गति प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी मिले ॥ ३२ ॥

साम्ना ये सर्वभूतानि पश्यन्ति गतमत्सराः ।
नारुंतुदानां क्षमिणां या गतिस्तामवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

'जो ईर्ष्या-द्वेषसे दूर रहकर समस्त प्राणियोंको समभावसे देखते हैं तथा जो किसीके मर्मस्थानको वाणीद्वारा चोट नहीं पहुँचाते एवं सबके प्रति क्षमाभाव रखते हैं, उनकी जो गति होती है, उसीको तुम भी प्राप्त करो ॥ ३३ ॥

मधुमांसनिवृत्तानां मदाद् दम्भात् तथानृतात् ।
परोपतापत्यक्तानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ ३४ ॥

'पुत्र ! जो मद्य और मांसका सेवन नहीं करते, मद, दम्भ और असत्यसे अलग रहते और दूसरोंको संताप नहीं देते हैं, उन्हें मिलनेवाली सद्गति तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३४ ॥

ह्रीमन्तः सर्वशास्त्रज्ञा ज्ञानतृप्ता जितेन्द्रियाः ।
यां गतिं साधवो यान्ति तां गतिं व्रज पुत्रक ॥ ३५ ॥

'बेटा ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता, लज्जाशील, ज्ञानसे परितृप्त, जितेन्द्रिय श्रेष्ठपुरुष जिस गतिको पाते हैं, उसीको तुम भी प्राप्त करो' ॥ ३५ ॥

एवं विलपतीं दीनां सुभद्रां शोककर्शिताम् ।
अन्वपद्यत पाञ्चाली वैराटीसहितां तदा ॥ ३६ ॥

इस प्रकार उत्तरासहित विलाप करती हुई दीन-दुखी एवं शोकसे दुर्बल सुभद्राके पास उस समय द्रौपदी भी आ पहुँची ॥ ३६ ॥

ताः प्रकामं रुदित्वा च विलप्य च सुदुःखिताः ।
उन्मत्तवत् तदा राजन् विसंज्ञा न्यपतन् क्षितौ ॥ ३७ ॥

राजन् ! वे सब-की-सब अत्यन्त दुखी हो इच्छानुसार रोती और विलाप करती हुई पगली-सी हो गयीं और मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ ३७ ॥

सोपचारस्तु कृष्णश्च दुःखितां भृशदुःखितः ।
सिक्त्वाम्भसा समाश्वास्य तत्तदुक्त्वा हितं वचः ३८
विसंज्ञकल्पां रुदतीं मर्मविद्धां प्रवेपतीम् ।
भगिनीं पुण्डरीकाक्ष इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

तब कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त दुखी हो उन सबको होशमें लानेके लिये उपचार करने लगे । उन्होंने अपनी दुःखिनी बहिन सुभद्रापर जल छिड़ककर नाना प्रकारके हितकर वचन कहते हुए उसे आश्वासन दिया । पुत्र-शोकसे मर्माहत हो वह रोती हुई काँप रही थी और अचेत-सी हो गयी थी । उस अवस्थामें भगवान्‌ने उससे कहा— ॥ ३८-३९ ॥

सुभद्रे मा शुचः पुत्रं पाञ्चाल्याश्वासयोत्तराम् ।
गतोऽभिमन्युः प्रथितां गतिं क्षत्रियपुङ्गवः ॥ ४० ॥

'सुभद्रे ! तुम पुत्रके लिये शोक न करो । द्रुपदकुमारी ! तुम उत्तराको धीरज बँधाओ । वह क्षत्रियशिरोमणि सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ है ॥ ४० ॥

ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने ।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः ॥ ४१ ॥

'सुमुखि ! हमारी इच्छा तो यह है कि हमारे कुलमें और भी जितने पुरुष हैं, वे सब यशस्वी अभिमन्युकी ही गति प्राप्त करें ॥ ४१ ॥

कुर्याम तद् वयं कर्म क्रियासु सुहृदश्च नः ।
कृतवान् यादृगद्यैकस्तव पुत्रो महारथः ॥ ४२ ॥

'तुम्हारे महारथी पुत्रने अकेले ही आज जैसा पराक्रम किया है, उसे हम और हमारे सुहृद् भी कार्यरूपमें परिणत करें' ॥

एवमाश्वास्य भगिनीं द्रौपदीमपि चोत्तराम् ।
पार्थस्यैव महाबाहुः पार्श्वमागादरिंदमः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार अपनी बहिन सुभद्रा, उत्तरा तथा द्रौपदीको आश्वासन देकर शत्रुदमन महाबाहु श्रीकृष्ण पुनः अर्जुनके ही पास चले आये ॥ ४३ ॥

ततोऽभ्यनुज्ञाय नृपान् कृष्णो बन्धूंस्तथार्जुनम् ।
विवेशान्तःपुरे राजंस्ते च जग्मुर्यथालयम् ॥ ४४ ॥

राजन् ! तदनन्तर श्रीकृष्ण राजाओं, बन्धुजनों तथा अर्जुनसे अनुमति ले अन्तःपुरमें गये और वे राजालोग भी अपने-अपने शिविरमें चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि सुभद्राप्रविलापे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें सुभद्रा-विलापविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनकी विजयके लिये रात्रिमें भगवान् शिवका पूजन करवाना, जागते हुए पाण्डव सैनिकोंकी अर्जुनके लिये शुभाशंसा तथा अर्जुनकी सफलताके लिये श्रीकृष्णके दारुकके प्रति उत्साहभरे वचन

संजय उवाच

ततोऽर्जुनस्य भवनं प्रविश्याप्रतिमं विभुः ।
स्पृष्ट्वाम्भः पुण्डरीकाक्षः स्थण्डिले शुभलक्षणे ॥ १ ॥
संतस्तार शुभां शय्यां दर्भैर्वैदूर्यसंनिभैः ।
ततो माल्येन विधिवल्लाजैर्गन्धैः सुमङ्गलैः ॥ २ ॥
अलंचकार तां शय्यां परिवार्यायुधोत्तमैः ।
ततः स्पृष्टोदके पार्थे विनीताः परिचारकाः ॥ ३ ॥
दर्शयन्तोऽन्तिके चक्रुर्नैशं त्रैयम्बकं बलिम् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके अनुपम भवनमें प्रवेश करके जलका स्पर्श किया और शुभ लक्षणोंसे युक्त वेदीपर वैदूर्यमणिके सदृश कुशोंकी सुन्दर शय्या बिछायी। तत्पश्चात् विधिपूर्वक परम मङ्गलकारी अक्षत, गन्ध एवं पुष्पमाला आदिसे उस शय्याको सजाया। उसके चारों ओर उत्तम आयुध रख दिये। इसके बाद जब अर्जुन आचमन कर चुके, तब विनीत (सुशिक्षित) परिचारकोंने उन्हें दिखाते हुए उनके निकट ही भगवान् शंकरका निशीथ-पूजन किया ॥ १–३½ ॥

ततः प्रीतमनाः पार्थो गन्धमाल्यैश्च माधवम् ॥ ४ ॥
अलंकृत्योपहारं तं नैशं तस्मै न्यवेदयत् ।
स्मयमानस्तु गोविन्दः फाल्गुनं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णको गन्ध और मालाओंसे अलंकृत करके रात्रिका वह सारा उपहार उन्हींको समर्पित किया। तब मुसकराते हुए भगवान् गोविन्द अर्जुनसे बोले—॥ ४–५ ॥

सुप्यतां पार्थ भद्रं ते कल्याणाय व्रजाम्यहम् ।
स्थापयित्वा ततो द्वाःस्थान् गोप्तॄंश्चात्तायुधान् नरान् ॥ ६ ॥
दारुकानुगतः श्रीमान् विवेश शिबिरं स्वकम् ।

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारा कल्याण हो। अब शयन करो। मैं तुम्हारे कल्याण-साधनके लिये ही जा रहा हूँ' ऐसा कहकर वहाँ अस्त्र-शस्त्र लिये हुए मनुष्योंको द्वारपाल एवं रक्षक नियुक्त करके भगवान् श्रीकृष्ण दारुकके साथ अपने शिविरमें चले गये ॥

शिश्ये च शयने शुभ्रे बहुकृत्यं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥
पार्थाय सर्वं भगवान् शोकदुःखापहं विधिम् ।
व्यदधात् पुण्डरीकाक्षस्तेजोद्युतिविवर्धनम् ॥ ८ ॥
योगमास्थाय युक्तात्मा सर्वेषामीश्वरेश्वरः ।
श्रेयस्कामः पृथुयशा विष्णुर्जिष्णुप्रियंकरः ॥ ९ ॥

वहाँ बहुत से कार्योंका चिन्तन करते हुए उन्होंने शुभ्र शय्यापर शयन किया। कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनका यश महान् है। वे विष्णुरूप गोविन्द अर्जुनका प्रिय करनेवाले हैं और सदा उनके कल्याणकी कामना रखते हैं। उन युक्तात्मा श्रीहरिने उत्तम योगका आश्रय ले अर्जुनके लिये वह सारा विधि-विधान सम्पन्न किया, जो उनके शोक और दुःखको दूर करनेवाला तथा तेज और कान्तिको बढ़ानेवाला था ॥ ७–९ ॥

न पाण्डवानां शिबिरे कश्चित् सुष्वाप तां निशाम् ।
प्रजागरः सर्वजनं ह्याविवेश विशाम्पते ॥ १० ॥

राजन् ! उस रातमें पाण्डवोंके शिविरमें कोई नहीं सोया। सब लोगोंमें जागरणका आवेश हो गया था ॥ १० ॥

पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञातो महात्मना ।
सहसा सिन्धुराजस्य वधो गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥
तत् कथं नु महाबाहुर्वासविः परवीरहा ।
प्रतिज्ञां सफलां कुर्यादिति ते समचिन्तयन् ॥ १२ ॥

सब लोग इसी चिन्तामें पड़े थे कि पुत्रशोकसे संतप्त हुए गाण्डीवधारी महामना अर्जुनने सहसा सिंधुराज जयद्रथके वधकी प्रतिज्ञा कर ली है । शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वे महाबाहु इन्द्रकुमार अपनी उस प्रतिज्ञाको कैसे सफल करेंगे ?

कष्टं हीदं व्यवसितं पाण्डवेन महात्मना ।
पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञा महती कृता ॥ १३ ॥
स च राजा महावीर्यः पारयत्वर्जुनः स ताम् ।
भ्रातरश्चापि विक्रान्ता बहुलानि बलानि च ॥ १४ ॥

महामना पाण्डवने यह बड़ा कष्टप्रद निश्चय किया है । उन्होंने पुत्रशोकसे संतप्त होकर बड़ी भारी प्रतिज्ञा कर ली है । उधर राजा जयद्रथका पराक्रम भी महान् है, तथापि अर्जुन अपनी उस प्रतिज्ञाको पूरी कर लेंगे; क्योंकि उनके भाई भी बड़े पराक्रमी हैं और उनके पास सेनाएँ भी बहुत हैं ॥ १३–१४ ॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सर्वं तस्मै निवेदितम् ।
स हत्वा सैन्धवं संख्ये पुनरेतु धनंजयः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जयद्रथको सब बातें बता दी होंगी । अर्जुन युद्धमें सिंधुराज जयद्रथको मारकर पुनः सकुशल लौट आवें (यही हमारी शुभ कामना है) ॥ १५ ॥

जित्वा रिपुगणांश्चैव पारयत्वर्जुनो व्रतम् ।
श्वोऽहत्वा सिन्धुराजं वै धूमकेतुं प्रवेक्ष्यति ॥ १६ ॥
न ह्यसावनृतं कर्तुमलं पार्थो धनंजयः ।
धर्मपुत्रः कथं राजा भविष्यति मृतेऽर्जुने ॥ १७ ॥

अर्जुन शत्रुओंको जीतकर अपना व्रत पूरा करें । यदि वे कल सिंधुराजको न मार सके तो अग्निमें प्रवेश कर जायँगे । कुन्तीकुमार धनंजय अपनी बात झूठी नहीं कर सकते । यदि अर्जुन मर गये तो धर्मपुत्र युधिष्ठिर कैसे राजा होंगे ? ॥ १६–१७ ॥

तस्मिन् हि विजयः कृत्स्नः पाण्डवेन समाहितः ।
यदि नोऽस्ति कृतं किञ्चिद् यदि दत्तं हुतं यदि ॥ १८ ॥
फलेन तस्य सर्वस्य सव्यसाची जयत्वरीन् ।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनपर ही सारा विजयका भार रख दिया । यदि हमलोगोंका किया हुआ कुछ भी सत्कर्म शेष हो, यदि हमने दान और होम किये हों तो हमारे उन सभी शुभकर्मोंके फलसे सव्यसाची अर्जुन अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करें ॥ १८½ ॥

एवं कथयतां तेषां जयमाशंसतां प्रभो ॥ १९ ॥
कृच्छ्रेण महता राजन् रजनी व्यत्यवर्तत ।

राजन् ! प्रभो ! इस प्रकार बातें करते और अर्जुनकी विजय चाहते हुए उन सभी सैनिकोंकी वह रात्रि महान् कष्टसे बीती थी ॥ १९½ ॥

तस्यां रजन्यां मध्ये तु प्रतिबुद्धो जनार्दनः ॥ २० ॥
स्मृत्वा प्रतिज्ञां पार्थस्य दारुकं प्रत्यभाषत ।

भगवान् श्रीकृष्ण उस रात्रिके मध्यकालमें जाग उठे और अर्जुनकी प्रतिज्ञाको स्मरण करके दारुकसे बोले—॥ २०½॥

अर्जुनेन प्रतिज्ञातमार्तेन हतबन्धुना ॥ २१ ॥
जयद्रथं वधिष्यामि श्वोभूत इति दारुक ।

'दारुक ! अपने पुत्र अभिमन्युके मारे जानेसे शोकार्त होकर अर्जुनने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं कल जयद्रथका वध कर डालूँगा' ॥ २१½ ॥

तत्तु दुर्योधनः श्रुत्वा मन्त्रिभिर्मन्त्रयिष्यति ॥ २२ ॥
यथा जयद्रथं पार्थो न हन्यादिति संयुगे ।

'यह सब सुनकर दुर्योधन अपने मन्त्रियोंके साथ ऐसी मन्त्रणा करेगा' जिससे अर्जुन समरभूमिमें जयद्रथको मार न सकें॥

अक्षौहिण्यो हि ताः सर्वा रक्षिष्यन्ति जयद्रथम्॥ २३ ॥
द्रोणश्च सह पुत्रेण सर्वास्त्रविधिपारगः ।

'वे सारी अक्षौहिणी सेनाएँ जयद्रथकी रक्षा करेंगी तथा सम्पूर्ण अस्त्र-विधिके पारंगत विद्वान् द्रोणाचार्य भी अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ उसकी रक्षामें रहेंगे ॥ २३½ ॥

एको वीरः सहस्राक्षो दैत्यदानवदर्पहा ॥ २४ ॥
सोऽपि तं नोत्सहेताजौ हन्तुं द्रोणेन रक्षितम् ।

'त्रिलोकीके एकमात्र वीर हैं सहस्रनेत्रधारी इन्द्र, जो दैत्यों और दानवोंके भी दर्पका दलन करनेवाले हैं; परंतु वे भी द्रोणाचार्यसे सुरक्षित जयद्रथको युद्धमें मार नहीं सकते ॥

सोऽहं श्वस्तत् करिष्यामि यथा कुन्तीसुतोऽर्जुनः ।२५।
अप्राप्तेऽस्तं दिनकरे हनिष्यति जयद्रथम् ।

'अतः मैं कल वह उद्योग करूँगा, जिससे कुन्तीपुत्र अर्जुन सूर्यदेवके अस्त होनेसे पहले जयद्रथको मार डालेंगे ॥

न हि दारा न मित्राणि ज्ञातयो न च बान्धवाः ॥ २६ ॥
कश्चिदन्यः प्रियतरः कुन्तीपुत्रान्ममार्जुनात् ।

'मुझे स्त्री, मित्र, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु तथा दूसरा कोई भी कुन्तीपुत्र अर्जुनसे अधिक प्रिय नहीं है ॥ २६½ ॥

अनर्जुनमिमं लोकं मुहूर्तमपि दारुक ॥ २७ ॥
उदीक्षितुं न शक्तोऽहं भविता न च तत् तथा ।

'दारुक ! मैं अर्जुनसे रहित इस संसारको दो घड़ी भी नहीं देख सकता । ऐसा हो ही नहीं सकता (कि मेरे रहते अर्जुनका कोई अनिष्ट हो) ॥ २७½ ॥

अहं विजित्य तान् सर्वान् सहसा सहयद्विपान् ॥ २८ ॥
अर्जुनार्थे हनिष्यामि सकर्णान् ससुयोधनान् ।

'मैं अर्जुनके लिये हाथी, घोड़े, कर्ण और दुर्योधन-

सहित उन समस्त शत्रुओंको जीतकर सहसा उनका संहार कर डालूँगा ॥ २८½ ॥

श्वो निरीक्षन्तु मे वीर्यं त्रयो लोका महाहवे ॥ २९ ॥
धनंजयार्थे समरे पराक्रान्तस्य दारुक ।

'दारुक ! कलके महासमरमें तीनों लोक धनंजयके लिये युद्धमें पराक्रम प्रकट करते हुए मेरे बल और प्रभावको देखें ॥

श्वो नरेन्द्रसहस्राणि राजपुत्रशतानि च ॥ ३० ॥
साश्वद्विपरथान्याजौ विद्रविष्यामि दारुक ।

'दारुक ! कल युद्धमें मैं सहस्रों राजाओं तथा सैकड़ों राजकुमारोंको उनके घोड़े, हाथी एवं रथोंसहित मार भगाऊँगा ॥

श्वस्तां चक्रप्रमथितां द्रक्ष्यसे नृपवाहिनीम् ॥ ३१ ॥
मया क्रुद्धेन समरे पाण्डवार्थे निपातिताम् ।

'तुम कल देखोगे कि मैंने समराङ्गणमें कुपित होकर पाण्डुपुत्र अर्जुनके लिये सारी राजसेनाको चक्रसे चूर-चूर करके धरतीपर मार गिराया है ॥ ३१½ ॥

श्वः सदेवाः सगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ ३२ ॥
ज्ञास्यन्ति लोकाः सर्वे मां सुहृदं सव्यसाचिनः ।

'कल देवता, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस आदि समस्त लोक यह अच्छी तरह जान लेंगे कि मैं सव्यसाची अर्जुनका हितैषी मित्र हूँ ॥ ३२½ ॥

यस्तं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्तं चानु स मामनु ॥ ३३ ॥
इति संकल्प्यतां बुद्ध्या शरीरार्द्धं ममार्जुनः ।

'जो अर्जुनसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो अर्जुनका अनुगामी है, वह मेरा अनुगामी है, तुम अपनी बुद्धिसे यह निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है ॥ ३३½ ॥

यथा त्वं मे प्रभातायामस्यां निशि रथोत्तमम् ॥ ३४ ॥
कल्पयित्वा यथाशास्त्रमादाय व्रज संयतः ।

'कल प्रातःकाल तुम शास्त्रविधिके अनुसार मेरे उत्तम रथको सुसज्जित करके सावधानीके साथ लेकर युद्धस्थलमें चलना ॥ ३४½ ॥

गदां कौमोदकीं दिव्यां शक्तिं चक्रं धनुः शरान् ॥ ३५ ॥
आरोप्य वै रथे सूत सर्वोपकरणानि च ।
स्थानं च कल्पयित्वाथ रथोपस्थे ध्वजस्य मे ॥ ३६ ॥
वैनतेयस्य वीरस्य समरे रथशोभिनः ।

'सूत ! कौमोदकी गदा, दिव्य शक्ति, चक्र, धनुष, बाण तथा अन्य सब आवश्यक सामग्रियोंको रथपर रखकर उसके पिछले भागमें समराङ्गणमें रथपर शोभा पानेवाले वीर विनतानन्दन गरुड़के चिह्नवाले ध्वजके लिये भी स्थान बना लेना ॥ ३५–३६½ ॥

छत्रं जाम्बूनदैर्जालैरर्कज्वलनसप्रभैः ॥ ३७ ॥
विश्वकर्मकृतैर्दिव्यैरश्वानपि विभूषितान् ।
बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥ ३८ ॥
युक्तान् वाजिवरान् यत्तः कवची तिष्ठ दारुक ।

'दारुक ! साथ ही उसमें छत्र लगाकर अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले तथा विश्वकर्माके बनाये हुए दिव्य सुवर्णमय जालोंसे विभूषित मेरे चारों श्रेष्ठ घोड़ों—बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य तथा सुग्रीवको जोत लेना और स्वयं भी कवच धारण करके तैयार रहना ॥ ३७–३८½ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषमार्षभेणैव पूरितम् ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा च भैरवं नादमुपेयास्त्वं जवेन माम् ।

'पाञ्चजन्य शङ्खका ऋषभ स्वरसे बजाया हुआ शब्द और भयंकर कोलाहल सुनते ही तुम बड़े वेगसे मेरे पास पहुँच जाना ॥ ३९½ ॥

एकाह्नाहममर्षं च सर्वदुःखानि चैव ह ॥ ४० ॥
भ्रातुः पैतृष्वसेयस्य व्यपनेष्यामि दारुक ।

'दारुक ! मैं अपनी बुआजीके पुत्र भाई अर्जुनके सारे दुःख और अमर्षको एक ही दिनमें दूर कर दूँगा ॥४०½॥

सर्वोपायैर्यतिष्यामि यथा बीभत्सुराहवे ॥ ४१ ॥
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां हनिष्यति जयद्रथम् ।

'सभी उपायोंसे ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे अर्जुन युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते जयद्रथको मार डालें ॥ ४१½ ॥

यस्य यस्य च बीभत्सुर्वधे यत्नं करिष्यति ।
आशंसे सारथे तत्र भवितास्य ध्रुवो जयः ॥ ४२ ॥

'सारथे ! कल अर्जुन जिस-जिस वीरके वधका प्रयत्न करेंगे, मैं आशा करता हूँ, वहाँ-वहाँ उनकी निश्चय ही विजय होगी' ॥ ४२ ॥

दारुक उवाच

जय एव ध्रुवस्तस्य कुत एव पराजयः ।
यस्य त्वं पुरुषव्याघ्र सारथ्यमुपजग्मिवान् ॥ ४३ ॥

दारुक बोला—पुरुषसिंह ! आप जिनके सारथि बने हुए हैं, उनकी विजय तो निश्चित है ही । उनकी पराजय कैसे हो सकती है ? ॥ ४३ ॥

एवं चैतत् करिष्यामि यथा मामनुशाससि ।
सुप्रभातामिमां रात्रिं जयाय विजयस्य हि ॥ ४४ ॥

अर्जुनकी विजयके लिये कल सबेरे जो कुछ करनेकी आप मुझे आज्ञा देते हैं, उसे उसी रूपमें मैं अवश्य पूर्ण करूँगा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि कृष्णदारुकसम्भाषणे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें श्रीकृष्ण और दारुककी बातचीतविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७९॥

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ शिवजीके समीप जाना और उनकी स्तुति करना

संजय उवाच

कुन्तीपुत्रस्तु तं मन्त्रं स्मरन्नेव धनंजयः ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् मुमोहाचिन्त्यविक्रमः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इधर अचिन्त्य पराक्रमशाली कुन्तीपुत्र अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये (वनवासकालमें व्यासजीके बताये हुए शिवसम्बन्धी) मन्त्रका चिन्तन करते-करते नींदसे मोहित हो गये ॥ १ ॥

तं तु शोकेन संतप्तं स्वप्ने कपिवरध्वजम् ।
आससाद महातेजा ध्यायन्तं गरुडध्वजः ॥ २ ॥

उस समय स्वप्नमें महातेजस्वी गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्ण शोकसंतप्त हो चिन्तामें पड़े हुए कपिध्वज अर्जुनके पास आये ॥ २ ॥

प्रत्युत्थानं च कृष्णस्य सर्वावस्थो धनंजयः ।
न लोपयति धर्मात्मा भक्त्या प्रेम्णा च सर्वदा॥ ३ ॥

धर्मात्मा धनंजय किसी भी अवस्थामें क्यों न हों, सदा प्रेम और भक्तिके साथ खड़े होकर श्रीकृष्णका स्वागत करते थे । अपने इस नियमका वे कभी लोप नहीं होने देते थे ॥ ३ ॥

प्रत्युत्थाय च गोविन्दं स तस्मा आसनं ददौ ।
न चासने स्वयं बुद्धिं बीभत्सुर्व्यदधात् तदा ॥ ४ ॥

अर्जुनने खड़े होकर गोविन्दको बैठनेके लिये आसन दिया और स्वयं उस समय किसी आसनपर बैठनेका विचार उन्होंने नहीं किया ॥ ४ ॥

ततः कृष्णो महातेजा जानन् पार्थस्य निश्चयम् ।
कुन्तीपुत्रमिदं वाक्यमासीनः स्थितमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब महातेजस्वी श्रीकृष्ण पार्थके इस निश्चयको जानकर अकेले ही आसनपर बैठ गये और खड़े हुए कुन्तीकुमारसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

मा विषादे मनः पार्थ कृथाः कालो हि दुर्जयः ।
कालः सर्वाणि भूतानि नियच्छति परे विधौ ॥ ६ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम अपने मनको विषादमें न डालो; क्योंकि कालपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है । काल ही समस्त प्राणियोंको विधाताके अवश्यम्भावी विधानमें प्रवृत्त कर देता है ॥ ६ ॥

किमर्थं च विषादस्ते तद् ब्रूहि द्विपदां वर ।
न शोच्यं विदुषां श्रेष्ठ शोकः कार्यविनाशनः ॥ ७ ॥

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! बताओ तो सही, तुम्हें किस लिये विषाद हो रहा है ? विद्वद्वर ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक समस्त कर्मोंका विनाश करनेवाला है ॥

यत् तु कार्यं भवेत् कार्यं कर्मणा तत् समाचर ।
हीनचेष्टस्य यः शोकः स हि शत्रुर्धनंजय ॥ ८ ॥

'जो कार्य करना हो, उसे प्रयत्नपूर्वक करो । धनंजय ! उद्योगहीन मनुष्यका जो शोक है, वह उसके लिये शत्रुके समान है ॥ ८ ॥

शोचन् नन्दयते शत्रून् कर्शयत्यपि बान्धवान् ।
क्षीयते च नरस्तस्मान्न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'शोक करनेवाला पुरुष अपने शत्रुओंको आनन्दित करता और बन्धु-बान्धवोंको दुःखसे दुर्बल बनाता है । इसके सिवा वह स्वयं भी शोकके कारण क्षीण होता जाता है । अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये' ॥ ९ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन बीभत्सुरपराजितः ।
आबभाषे तदा विद्वानिदं वचनमर्थवत् ॥ १० ॥

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर किसीसे पराजित न होनेवाले विद्वान् अर्जुनने यह अर्थयुक्त वचन उस समय कहा—॥ १० ॥

मया प्रतिज्ञा महती जयद्रथवधे कृता ।
श्वोऽस्मि हन्ता दुरात्मानं पुत्रघ्नमिति केशव ॥ ११ ॥

'केशव ! मैंने जयद्रथ-वधके लिये यह भारी प्रतिज्ञा कर ली है कि कल मैं अपने पुत्रके घातक दुरात्मा सिंधुराजको अवश्य मार डालूँगा ॥ ११ ॥

मत्प्रतिज्ञाविघातार्थं धार्तराष्ट्रैः किलाच्युत ।
पृष्ठतः सैन्धवः कार्यः सर्वैर्गुप्तो महारथैः ॥ १२ ॥

'परंतु अच्युत ! धृतराष्ट्र-पक्षके सभी महारथी मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग करनेके लिये सिंधुराजको निश्चय ही सबसे पीछे खड़े करेंगे और वह उन सबके द्वारा सुरक्षित होगा ॥ १२ ॥

दश चैका च ताः कृष्ण अक्षौहिण्यः सुदुर्जयाः ।
हतावशेषास्तत्रेमा हन्त माधव संख्यया ॥ १३ ॥
ताभिः परिवृतः संख्ये सर्वैश्चैव महारथैः ।
कथं शक्येत संद्रष्टुं दुरात्मा कृष्ण सैन्धवः ॥ १४ ॥

'माधव ! श्रीकृष्ण ! कौरवोंकी वे ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ, जो अत्यन्त दुर्जय हैं और उनमें मरनेसे बचे हुए जितने सैनिक विद्यमान हैं, उनसे तथा पूर्वोक्त सभी महारथियोंसे युद्धस्थलमें घिरे होनेपर दुरात्मा सिंधुराजको कैसे देखा जा सकता है ? ॥ १३-१४ ॥

प्रतिज्ञापारणं चापि न भविष्यति केशव ।
प्रतिज्ञायां च हीनायां कथं जीवेत मद्विधः ॥ १५ ॥

'केशव ! ऐसी अवस्थामें प्रतिज्ञाकी पूर्ति नहीं हो

सकेगी और प्रतिज्ञा भङ्ग होनेपर मेरे-जैसा पुरुष कैसे जीवन धारण कर सकता है ? ॥ १५ ॥

दुःखोपायस्य मे वीर विकाङ्क्षा परिवर्तते ।
द्रुतं च याति सविता तत एतद् ब्रवीम्यहम् ॥ १६ ॥

'वीर ! अब इस कष्टसाध्य (जयद्रथवधरूपी कार्य) की ओरसे मेरी अभिलाषा परिवर्तित हो रही है । इसके सिवा इन दिनों सूर्य जल्दी अस्त हो जाते हैं; इसलिये मैं ऐसा कह रहा हूँ' ॥ १६ ॥

शोकस्थानं तु तच्छ्रुत्वा पार्थस्य द्विजकेतनः ।
संस्पृश्याम्भस्ततः कृष्णः प्राङ्मुखः समवस्थितः ॥१७॥
इदं वाक्यं महातेजा बभाषे पुष्करेक्षणः ।
हितार्थं पाण्डुपुत्रस्य सैन्धवस्य वधे कृती ॥ १८ ॥

अर्जुनके शोकका आधार क्या है, यह सुनकर महातेजस्वी विद्वान् गरुड़ध्वज कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण आचमन करके पूर्वाभिमुख होकर बैठे और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हित तथा सिंधुराज जयद्रथके वधके लिये इस प्रकार बोले—१७-१८

पार्थ पाशुपतं नाम परमास्त्रं सनातनम् ।
येन सर्वान् मृधे दैत्याञ्जघ्ने देवो महेश्वरः ॥ १९ ॥

'पार्थ ! पाशुपत नामक एक परम उत्तम सनातन अस्त्र है, जिससे युद्धमें भगवान् महेश्वरने समस्त दैत्योंका वध किया था ॥ १९ ॥

यदि तद् विदितं तेऽद्य श्वो हन्तासि जयद्रथम् ।
अथाज्ञातं प्रपद्यस्व मनसा वृषभध्वजम् ॥ २० ॥
तं देवं मनसा ध्यात्वा जोषमास्व धनंजय ।
ततस्तस्य प्रसादात् त्वं भक्तः प्राप्स्यसि तन्महत् ॥२१॥

'यदि वह अस्त्र आज तुम्हें विदित हो तो तुम अवश्य कल जयद्रथको मार सकते हो और यदि तुम्हें उसका ज्ञान न हो तो मन-ही-मन भगवान् वृषभध्वज (शिव) की शरण लो । धनंजय ! तुम मनमें उन महादेवजीका ध्यान करते हुए चुपचाप बैठ जाओ । तब उनके दया-प्रसादसे तुम उनके भक्त होनेके कारण उस महान् अस्त्रको प्राप्त कर लोगे' ॥

ततः कृष्णवचः श्रुत्वा संस्पृश्याम्भो धनंजयः ।
भूमावासीन एकाग्रो जगाम मनसा भवम् ॥ २२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अर्जुन जलका आचमन करके धरतीपर एकाग्र होकर बैठ गये और मनसे महादेवजीका चिन्तन करने लगे ॥ २२ ॥

ततः प्रणिहितो ब्राह्मे मुहूर्ते शुभलक्षणे ।
आत्मानमर्जुनोऽपश्यद् गगने सहकेशवम् ॥ २३ ॥

तब शुभ लक्षणोंसे युक्त ब्राह्म मुहूर्तमें ध्यानस्थ होनेपर अर्जुनने अपने आपको भगवान् श्रीकृष्णके साथ आकाशमें जाते देखा ॥ २३ ॥

पुण्यं हिमवतः पादं मणिमन्तं च पर्वतम् ।
ज्योतिर्भिश्च समाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २४ ॥

पवित्र हिमालयके शिखर तथा तेजःपुञ्जसे व्याप्त एवं सिद्धों और चारणोंसे सेवित मणिमान् पर्वतको भी देखा ॥२४॥

वायुवेगगतिः पार्थः खं भेजे सहकेशवः ।
केशवेन गृहीतः स दक्षिणे विभुना भुजे ॥ २५ ॥

उस समय अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ वायुवेगके समान तीव्रगतिसे आकाशमें बहुत ऊँचे उठ गये । भगवान् केशवने उनकी दाहिनी बाँह पकड़ रक्खी थी ॥ २५ ॥

प्रेक्षमाणो बहून् भावाञ्जगामाद्भुतदर्शनान् ।
उदीच्यां दिशि धर्मात्मा सोऽपश्यच्छ्वेतपर्वतम् ॥२६॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा अर्जुनने अद्भुत दिखायी देनेवाले बहुत-से पदार्थोंको देखते हुए क्रमशः उत्तर दिशामें जाकर श्वेत पर्वतका दर्शन किया ॥ २६ ॥

कुबेरस्य विहारे च नलिनीं पद्मभूषिताम् ।
सरिच्छ्रेष्ठां च तां गङ्गां वीक्षमाणो बहूदकाम् ॥ २७ ॥

इसके बाद उन्होंने कुबेरके उद्यानमें कमलोंसे विभूषित सरोवर तथा अगाध जलराशिसे भरी हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाका अवलोकन किया ॥ २७ ॥

सदा पुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतां स्फटिकोपलाम् ।
सिंहव्याघ्रसमाकीर्णां नानामृगसमाकुलाम् ॥ २८ ॥

गङ्गाके तटपर स्फटिकमणिमय पत्थर सुशोभित होते थे । सदा फूल और फलोंसे भरे हुए वृक्षसमूह वहाँकी शोभा बढ़ा रहे थे । गङ्गाके उस तटप्रान्तमें बहुत-से सिंह और व्याघ्र विचरण करते थे । नाना प्रकारके मृग वहाँ सब ओर भरे हुए थे ॥ २८ ॥

पुण्याश्रमवतीं रम्यां मनोज्ञाण्डजसेविताम् ।
मन्दरस्य प्रदेशांश्च किन्नरोद्गीतनादितान् ॥ २९ ॥

अनेक पवित्र आश्रमोंसे युक्त और मनोहर पक्षियोंसे सेवित रमणीय गङ्गानदीका दर्शन करते हुए आगे बढ़नेपर उन्हें मन्दराचलके प्रदेश दिखायी दिये, जो किन्नरोंके उच्चस्वरसे गाये हुए मधुर गीतोंसे मुखरित हो रहे थे ।२९।

हेमरूप्यमयैः शृङ्गैर्नानौषधिविदीपितान् ।
तथा मन्दारवृक्षैश्च पुष्पितैरुपशोभितान् ॥ ३० ॥

सोने और चाँदीके शिखर तथा फूलोंसे भरे हुए पारिजातके वृक्ष उन पर्वतीय प्रान्तोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा भाँति-भाँतिकी तेजोमयी ओषधियाँ वहाँ अपना प्रकाश फैला रही थीं ॥ ३० ॥

स्निग्धाञ्जनचयाकारं सम्प्राप्तः कालपर्वतम् ।
ब्रह्मतुङ्गं नदीश्चान्यास्तथा जनपदानपि ॥ ३१ ॥

वे क्रमशः आगे बढ़ते हुए स्निग्ध कज्जलराशिके समान आकारवाले काल पर्वतके समीप जा पहुँचे । फिर

अर्जुनका स्वप्नदर्शन

ब्रह्मतुंग पर्वत, अन्यान्य नदियों तथा बहुत-से जनपदोंको भी उन्होंने देखा ॥ ३१ ॥

स तुङ्गं शतशृङ्गं च शर्यातिवनमेव च ।
पुण्यमश्वशिरःस्थानं स्थानमाथर्वणस्य च ॥ ३२ ॥
वृषदंशं च शैलेन्द्रं महामन्दरमेव च ।
अप्सरोभिः समाकीर्णं किन्नरैश्चोपशोभितम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर क्रमशः उच्चतम शतशृङ्ग, शर्यातिवन, पवित्र अश्वशिरःस्थान, आथर्वण मुनिका स्थान और गिरिराज वृषदंशका अवलोकन करते हुए वे महा-मन्दराचलपर जा पहुँचे, जो अप्सराओंसे व्याप्त और किन्नरोंसे सुशोभित था ॥ ३२–३३ ॥

तस्मिञ्शैले व्रजन् पार्थः सकृष्णः समवैक्षत ।
शुभैः प्रस्रवणैर्जुष्टां हेमधातुविभूषिताम् ॥ ३४ ॥
चन्द्ररश्मिप्रकाशाङ्गीं पृथिवीं पुरमालिनीम् ।

उस पर्वतके ऊपरसे जाते हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने नीचे देखा कि नगरों एवं गाँवोंके समुदायसे सुशोभित, सुवर्णमय धातुओंसे विभूषित तथा सुन्दर झरनोंसे युक्त पृथ्वीके सम्पूर्ण अङ्ग चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ३४½ ॥

समुद्रांश्चाद्भुताकारानपश्यद् बहुलाकरान् ॥ ३५ ॥
वियद् द्यां पृथिवीं चैव तथा विष्णुपदं व्रजन् ।
विस्मितः सह कृष्णेन क्षिप्तो बाण इवाभ्यगात् ॥ ३६ ॥

बहुत-से रत्नोंकी खानोंसे युक्त समुद्र भी अद्भुत आकारमें दृष्टिगोचर हो रहे थे । इस प्रकार पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाशका एक साथ दर्शन करके आश्चर्यचकित हुए अर्जुन श्रीकृष्णके साथ विष्णुपद (उच्चतम आकाश) में यात्रा करने लगे । वे धनुषसे चलाये हुए बाणके समान आगे बढ़ रहे थे ॥ ३५-३६ ॥

ग्रहनक्षत्रसोमानां सूर्याग्न्योश्च समत्विषम् ।
अपश्यत तदा पार्थो ज्वलन्तमिव पर्वतम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार अर्जुनने एक पर्वतको देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था । ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य और अग्निके समान उसकी प्रभा सब ओर फैल रही थी ॥ ३७ ॥

समासाद्य तु तं शैलं शैलाग्रे समवस्थितम् ।
तपोनित्यं महात्मानमपश्यद् वृषभध्वजम् ॥ ३८ ॥

उस पर्वतपर पहुँचकर अर्जुनने उसके एक शिखरपर खड़े हुए नित्य तपस्यापरायण परमात्मा भगवान् वृषभध्वजका दर्शन किया ॥ ३८ ॥

सहस्रमिव सूर्याणां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
शूलिनं जटिलं गौरं वल्कलाजिनवाससम् ॥ ३९ ॥

वे अपने तेजसे सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रहे थे । उनके हाथमें त्रिशूल, मस्तकपर जटा और श्रीअङ्गोंपर वल्कल एवं मृगचर्मके वस्त्र शोभा पा रहे थे । उनकी कान्ति गौरवर्णकी थी ॥ ३९ ॥

नयनानां सहस्रैश्च विचित्राङ्गं महौजसम् ।
पार्वत्या सहितं देवं भूतसंघैश्च भास्वरैः ॥ ४० ॥

सहस्रों नेत्रोंसे युक्त उनके श्रीविग्रहकी विचित्र शोभा हो रही थी । वे तेजस्वी महादेव अपनी धर्मपत्नी पार्वतीजीके साथ विराजमान थे और तेजोमय शरीरवाले भूतोंके समुदाय उनकी सेवामें उपस्थित थे ॥ ४० ॥

गीतवादित्रसंनादैर्हास्यलास्यसमन्वितम् ।
वल्गितास्फोटितोत्क्रुष्टैः पुण्यैर्गन्धैश्च सेवितम् ॥ ४१ ॥

उनके सम्मुख गीतों और वाद्योंकी मधुर ध्वनि हो रही थी । हास्य-लास्य (नृत्य) का प्रदर्शन किया जा रहा था । प्रमथगण उछल-कूदकर बाहें फैलाकर और उच्चस्वरसे बोल-बोलकर अपनी कलाओंसे भगवान्‌का मनोरंजन करते थे । उनकी सेवामें पवित्र, सुगन्धित पदार्थ प्रस्तुत किये गये थे ॥

स्तूयमानं स्तवैर्दिव्यैर्ऋषिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
गोप्तारं सर्वभूतानामिष्वासधरमच्युतम् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मवादी महर्षिगण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे । अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे समस्त प्राणियोंके रक्षक भगवान् शिव धनुष धारण किये हुए (अद्भुत शोभा पा रहे) थे ॥ ४२ ॥

वासुदेवस्तु तं दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम् ।
पार्थेन सह धर्मात्मा गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥ ४३ ॥

अर्जुनसहित धर्मात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उन्हें देखते ही वहाँकी पृथ्वीपर माथा टेककर प्रणाम किया और उन सनातन ब्रह्मस्वरूप भगवान् शिवकी स्तुति करने लगे ॥

लोकादिं विश्वकर्माणमजमीशानमव्ययम् ।
मनसः परमं योनिं खं वायुं ज्योतिषां निधिम् ॥ ४४ ॥
स्रष्टारं वारिधाराणां भुवश्च प्रकृतिं पराम् ।
देवदानवयक्षाणां मानवानां च साधनम् ॥ ४५ ॥
योगानां च परं धाम दृष्टं ब्रह्मविदां निधिम् ।
चराचरस्य स्रष्टारं प्रतिहर्तारमेव च ॥ ४६ ॥
कालकोपं महात्मानं शक्रसूर्यगुणोदयम् ।
ववन्दे तं तदा कृष्णो वाङ्मनोबुद्धिकर्मभिः ॥ ४७ ॥

वे जगत्‌के आदि कारण, लोकस्रष्टा, अजन्मा, ईश्वर, अविनाशी, मनकी उत्पत्तिके प्रधान कारण, आकाश एवं वायुस्वरूप, तेजके आश्रय, जलकी सृष्टि करनेवाले, पृथ्वीके भी परम कारण, देवताओं, दानवों, यक्षों तथा मनुष्योंके भी प्रधान कारण, सम्पूर्ण योगोंके परम आश्रय, ब्रह्मवेत्ताओंकी

प्रत्यक्ष निधि, चराचर जगत्की सृष्टि और संहार करनेवाले तथा इन्द्रके ऐश्वर्य आदि और सूर्यदेवके प्रताप आदि गुणोंको प्रकट करनेवाले परमात्मा थे। उनके क्रोधमें कालका निवास था। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने मन, वाणी, बुद्धि और क्रियाओंद्वारा उनकी वन्दना की ॥ ४४–४७ ॥

यं प्रपद्यन्ति विद्वांसः सूक्ष्माध्यात्मपदैषिणः।
तमजं कारणात्मानं जग्मतुः शरणं भवम् ॥ ४८ ॥

सूक्ष्म अध्यात्मपदकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् जिनकी शरण लेते हैं, उन्हीं कारणस्वरूप अजन्मा भगवान् शिवकी शरणमें श्रीकृष्ण और अर्जुन भी गये ॥ ४८ ॥

अर्जुनश्चापि तं देवं भूयो भूयोऽभ्यवन्दत।
ज्ञात्वा तं सर्वभूतादिं भूतभव्यभवोद्भवम् ॥ ४९ ॥

अर्जुनने भी उन्हें समस्त भूतोंका आदि कारण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान जगत्का उत्पादक जानकर बारंबार उन महादेवजीके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

ततस्तावागतौ दृष्ट्वा नरनारायणावुभौ।
सुप्रसन्नमनाः शर्वः प्रोवाच प्रहसन्निव ॥ ५० ॥

उन दोनों नर और नारायणको वहाँ आया देख भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए-से बोले—॥

स्वागतं वो नरश्रेष्ठावुत्तिष्ठेतां गतक्लमौ।
किं च वामीप्सितं वीरौ मनसः क्षिप्रमुच्यताम्॥ ५१ ॥

'नरश्रेष्ठो! तुम दोनोंका स्वागत है। उठो। तुम्हारा श्रम दूर हो। वीरो! तुम दोनोंके मनकी अभीष्ट वस्तु क्या है? यह शीघ्र बताओ ॥ ५१ ॥

येन कार्येण सम्प्राप्तौ युवां तत् साधयामि किम्।
व्रियतामात्मनः श्रेयस्तत् सर्वं प्रददानि वाम् ॥ ५२ ॥

'तुम दोनों जिस कार्यसे यहाँ आये हो, वह क्या है? मैं उसे सिद्ध कर दूँगा। अपने लिये कल्याणकारी वस्तुको माँगो। मैं तुम दोनोंको सब कुछ दे सकता हूँ' ॥ ५२ ॥

ततस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रत्युत्थाय कृताञ्जली।
वासुदेवार्जुनौ शर्वं तुष्टुवाते महामती ॥ ५३ ॥
भक्त्या स्तवेन दिव्येन महात्मानावनिन्दितौ ॥ ५४ ॥

भगवान् शंकरकी यह बात सुनकर अनिन्दित महात्मा परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हाथ जोड़कर खड़े हो गये और दिव्य स्तोत्रद्वारा भक्तिभावसे उन भगवान् शिवकी स्तुति करने लगे ॥ ५३-५४ ॥

कृष्णार्जुनावूचतुः

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च।
पशूनां पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने ॥ ५५ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले—भव (सबकी उत्पत्ति करनेवाले), शर्व (संहारकारी), रुद्र[1] (दुःख दूर करनेवाले), वरदाता, पशुपति (जीवोंके पालक), सदा उग्ररूपमें रहनेवाले और जटाजूटधारी भगवान् शिवको नमस्कार है ॥५५॥

महादेवाय भीमाय त्र्यम्बकाय च शान्तये।
ईशानाय मखघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥ ५६ ॥

महान् देवता, भयंकर रूपधारी, तीन नेत्र धारण करनेवाले, शान्तिस्वरूप, सबका शासन करनेवाले, दक्ष-यज्ञनाशक तथा अन्धकासुरका विनाश करनेवाले भगवान् शंकरको प्रणाम है ॥ ५६ ॥

कुमारगुरवे तुभ्यं नीलग्रीवाय वेधसे।
पिनाकिने हविष्याय सत्याय विभवे सदा ॥ ५७ ॥

प्रभो! आप कुमार कार्तिकेयके पिता, कण्ठमें नील चिह्न धारण करनेवाले, लोकस्रष्टा, पिनाकधारी, हविष्यके अधिकारी, सत्यस्वरूप और सर्वत्र व्यापक हैं, आपको सदैव नमस्कार है ॥ ५७ ॥

विलोहिताय धूम्राय व्याधायानपराजिते।
नित्यनीलशिखण्डाय शूलिने दिव्यचक्षुषे ॥ ५८ ॥
हन्त्रे गोप्त्रे त्रिनेत्राय व्याधाय वसुरेतसे।
अचिन्त्यायाम्बिकाभर्त्रे सर्वदेवस्तुताय च ॥ ५९ ॥
वृषध्वजाय मुण्डाय जटिने ब्रह्मचारिणे।
तप्यमानाय सलिले ब्रह्मण्यायाजिताय च ॥ ६० ॥
विश्वात्मने विश्वसृजे विश्वमावृत्य तिष्ठते।
नमो नमस्ते सेव्याय भूतानां प्रभवे सदा ॥ ६१ ॥

विशेष लोहित एवं धूम्रवर्णवाले, मृगव्याधस्वरूप, समस्त प्राणियोंको पराजित करनेवाले, सर्वदा नीलकेश धारण करनेवाले, त्रिशूलधारी, दिव्यलोचन, संहारक, पालक, त्रिनेत्रधारी, पापरूपी मृगोंके बधिक, हिरण्यरेता (अग्नि), अचिन्त्य, अम्बिकापति, सम्पूर्ण देवताओंद्वारा प्रशंसित, वृषभ-चिह्नसे युक्त ध्वजा धारण करनेवाले, मुण्डित मस्तक, जटाधारी, ब्रह्मचारी, जलमें तप करनेवाले, ब्राह्मणभक्त, अपराजित, विश्वात्मा, विश्वस्रष्टा, विश्वको व्याप्त करके स्थित, सबके सेवन करनेयोग्य तथा सदा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारणभूत आप भगवान् शिवको बारंबार नमस्कार है।५८-६१।

ब्रह्मवक्त्राय सर्वाय शङ्कराय शिवाय च।
नमोऽस्तु वाचस्पतये प्रजानां पतये नमः ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण जिनके मुख हैं, उन सर्वस्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिवको नमस्कार है। वाणीके अधीश्वर और प्रजाओंके पालक आपको नमस्कार है ॥ ६२ ॥

नमो विश्वस्य पतये महतां पतये नमः।
नमः सहस्रशिरसे सहस्रभुजमृत्यवे ॥ ६३ ॥
सहस्रनेत्रपादाय नमोऽसंख्येयकर्मणे।

१. रुर्दुःखं तद् द्रावयति इति रुद्रः।

विश्वके स्वामी और महापुरुषोंके पालक भगवान् शिवको नमस्कार है, जिनके सहस्रों सिर और सहस्रों भुजाएँ हैं, जो मृत्युस्वरूप हैं, जिनके नेत्र और पैर भी सहस्रोंकी संख्यामें हैं तथा जिनके कर्म असंख्य हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है ६३ ।

नमो हिरण्यवर्णाय हिरण्यकवचाय च ।
भक्तानुकम्पिने नित्यं सिध्यतां नो वरः प्रभो ॥ ६४ ॥

सुवर्णके समान जिनका रंग है, जो सुवर्णमय कवच धारण करते हैं, उन आप भक्तवत्सल भगवान्‌को मेरा नित्य नमस्कार है । प्रभो ! हमारा अभीष्ट वर सिद्ध हो ॥ ६४ ॥

संजय उवाच

एवं स्तुत्वा महादेवं वासुदेवः सहार्जुनः ।
प्रसादयामास भवं तदा ह्यस्त्रोपलब्धये ॥ ६५ ॥

संजय कहते हैं—इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके उस समय अर्जुनसहित भगवान् श्रीकृष्णने पाशुपतास्त्रकी प्राप्तिके लिये भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि अर्जुनस्वप्ने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनस्वप्नविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनको स्वप्नमें ही पुनः पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति

संजय उवाच

ततः पार्थः प्रसन्नात्मा प्राञ्जलिर्वृषभध्वजम् ।
ददर्शोत्फुल्लनयनः समस्तं तेजसां निधिम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुन्तीकुमार अर्जुनने प्रसन्नचित्त हो हाथ जोड़कर समस्त तेजोंके भण्डार भगवान् वृषभध्वजका हर्षोत्फुल्ल नेत्रोंसे दर्शन किया ॥ १ ॥

तं चोपहारं सुकृतं नैशं नैत्यकमात्मना ।
ददर्श त्र्यम्बकाभ्याशे वासुदेवनिवेदितम् ॥ २ ॥

उन्होंने अपनेद्वारा समर्पित किये हुए रात्रिकालके उस नैत्यिक उपहारको, जिसे श्रीकृष्णको निवेदित किया था, भगवान् त्रिनेत्रधारी शिवके समीप रक्खा हुआ देखा ॥ २ ॥

ततोऽभिपूज्य मनसा कृष्णं शर्वं च पाण्डवः ।
इच्छाम्यहं दिव्यमस्त्रमित्यभाषत शङ्करम् ॥ ३ ॥

तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्ण और शिवकी पूजा करके भगवान् शङ्करसे कहा—'प्रभो ! मैं आपसे दिव्य अस्त्र प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ ३ ॥

ततः पार्थस्य विज्ञाय वरार्थे वचनं तदा ।
वासुदेवार्जुनौ देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४ ॥

उस समय अर्जुनका वर-प्राप्तिके लिये वह वचन सुनकर महादेवजी मुसकराने लगे और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनसे बोले— ॥

स्वागतं वां नरश्रेष्ठौ विज्ञातं मनसेप्सितम् ।
येन कामेन सम्प्राप्तौ भवद्भ्यां तं ददाम्यहम् ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम दोनोंका स्वागत है । तुम्हारा मनोरथ मुझे विदित है । तुम दोनों जिस कामनासे यहाँ आये हो, उसे मैं तुम्हें दे रहा हूँ ॥ ५ ॥

सरोऽमृतमयं दिव्यमभ्याशे शत्रुसूदनौ ।
तत्र मे तद् धनुर्दिव्यं शरश्च निहितः पुरा ॥ ६ ॥
येन देवारयः सर्वे मया युधि निपातिताः ।
तत आनीयतां कृष्णौ सशरं धनुरुत्तमम् ॥ ७ ॥

'शत्रुसूदन वीरो ! यहाँ पास ही दिव्य अमृतमय सरोवर है, वहीं पूर्वकालमें मेरा वह दिव्य धनुष और बाण रक्खा गया था, जिसके द्वारा मैंने युद्धमें सम्पूर्ण देव-शत्रुओंको मार गिराया था । कृष्ण ! तुम दोनों उस सरोवरसे बाणसहित वह उत्तम धनुष ले आओ' ॥ ६-७ ॥

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ सर्वपारिषदैः सह ।
प्रस्थितौ तत्सरो दिव्यं दिव्यैश्वर्यशतैर्युतम् ॥ ८ ॥
निर्दिष्टं यद् वृषाङ्केण पुण्यं सर्वार्थसाधकम् ।
तौ जग्मतुरसम्भ्रान्तौ नरनारायणावृषी ॥ ९ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे दोनों वीर भगवान् शङ्करके पार्षदगणोंके साथ सैकड़ों दिव्य ऐश्वर्योंसे सम्पन्न तथा सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले उस पुण्यमय दिव्य सरोवरकी ओर प्रस्थित हुए, जिसकी ओर जानेके लिये महादेवजीने स्वयं ही संकेत किया था । वे दोनों नर-नारायण ऋषि बिना किसी घबराहटके वहाँ जा पहुँचे ॥ ८-९ ॥

ततस्तौ तत् सरो गत्वा सूर्यमण्डलसंनिभम् ।
नागमन्तर्जले घोरं ददृशातेऽर्जुनाच्युतौ ॥ १० ॥

उस सरोवरके तटपर पहुँचकर अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनोंने जलके भीतर एक भयंकर नाग देखा, जो सूर्यमण्डलके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १० ॥

द्वितीयं चापरं नागं सहस्रशिरसं वरम् ।
वमन्तं विपुला ज्वाला ददृशातेऽग्निवर्चसम् ॥ ११ ॥

वहीं उन्होंने अग्निके समान तेजस्वी और सहस्र फणोंसे युक्त दूसरा श्रेष्ठ नाग भी देखा, जो अपने मुखसे आगकी प्रचण्ड ज्वालाएँ उगल रहा था ॥ ११ ॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च संस्पृश्याम्भः कृताञ्जली ।
तौ नागावुपतस्थाते नमस्यन्तौ वृषध्वजम् ॥ १२ ॥

तब श्रीकृष्ण और अर्जुन जलसे आचमन करके हाथ जोड़ भगवान् शङ्करको प्रणाम करते हुए उन दोनों नागोंके निकट खड़े हो गये ॥ १२ ॥

गृणन्तौ वेदविद्वांसौ तद् ब्रह्म शतरुद्रियम् ।
अप्रमेयं प्रणमतो गत्वा सर्वात्मना भवम् ॥ १३ ॥

वे दोनों ही वेदोंके विद्वान् थे। अतः उन्होंने शतरुद्री मन्त्रोंका पाठ करते हुए साक्षात् ब्रह्मस्वरूप अप्रमेय शिवकी सब प्रकारसे शरण लेकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १३ ॥

ततस्तौ रुद्रमाहात्म्याद्धित्वा रूपं महोरगौ ।
धनुर्बाणश्च शत्रुघ्नं तद् द्वन्द्वं समपद्यत ॥ १४ ॥

तदनन्तर भगवान् शङ्करकी महिमासे वे दोनों महानाग अपने उस रूपको छोड़कर दो शत्रुनाशक धनुष-बाणके रूपमें परिणत हो गये ॥ १४ ॥

तौ तज्जगृहतुः प्रीतौ धनुर्बाणं च सुप्रभम् ।
आजह्रतुर्महात्मानौ ददतुश्च महात्मने ॥ १५ ॥

उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनने उस प्रकाशमान धनुष और बाणको हाथमें ले लिया । फिर वे उन्हें महादेवजीके पास ले आये और उन्हीं महात्माके हाथोंमें अर्पित कर दिया ॥ १५ ॥

ततः पार्श्वाद् वृषाङ्कस्य ब्रह्मचारी न्यवर्तत ।
पिङ्गाक्षस्तपसः क्षेत्रं बलवान् नीललोहितः ॥ १६ ॥

तब भगवान् शङ्करके पार्श्वभागसे एक ब्रह्मचारी प्रकट हुआ, जो पिङ्गल नेत्रोंसे युक्त, तपस्याका क्षेत्र, बलवान् तथा नील-लोहित वर्णका था ॥ १६ ॥

स तद् गृह्य धनुःश्रेष्ठं तस्थौ स्थानं समाहितः ।
विचकर्षाथ विधिवत् सशरं धनुरुत्तमम् ॥ १७ ॥

वह एकाग्रचित्त हो उस श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर एक धनुर्धरको जैसे खड़ा होना चाहिये, वैसे खड़ा हुआ । फिर उसने बाणसहित उस उत्तम धनुषको विधिपूर्वक खींचा ।१७।

तस्य मौर्वीं च मुष्टिं च स्थानं चालक्ष्य पाण्डवः ।
श्रुत्वा मन्त्रं भवप्रोक्तं जग्राहाचिन्त्यविक्रमः ॥ १८ ॥

उस समय अचिन्त्य पराक्रमी पाण्डुपुत्र अर्जुनने उसका मुट्ठीसे धनुष पकड़ना, धनुषकी डोरीको खींचना और विशेष प्रकारसे उसका खड़ा होना—इन सब बातोंकी ओर लक्ष्य रखते हुए भगवान् शङ्करके द्वारा उच्चारित मन्त्रको सुनकर मनसे ग्रहण कर लिया ॥ १८ ॥

स सरस्येव तं बाणं मुमोचातिबलः प्रभुः ।
चकार च पुनर्वीरस्तस्मिन् सरसि तद् धनुः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त बलशाली वीर भगवान् शिवने उस बाणको उसी सरोवरमें छोड़ दिया । फिर उस धनुषको भी वहीं डाल दिया ॥ १९ ॥

ततः प्रीतं भवं ज्ञात्वा स्मृतिमानर्जुनस्तदा ।
वरमारण्यके दत्तं दर्शनं शङ्करस्य च ॥ २० ॥
मनसा चिन्तयामास तन्मे सम्पद्यतामिति ।

तब स्मरणशक्तिसे सम्पन्न अर्जुनने भगवान् शङ्करको अत्यन्त प्रसन्न जानकर वनवासके समय जो भगवान् शङ्करका दर्शन और वरदान प्राप्त हुआ था, उसका मन-ही-मन चिन्तन किया और यह इच्छा की कि मेरा वह मनोरथ पूर्ण हो ॥२०½॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय प्रीतः प्रादाद् वरं भवः ॥ २१ ॥
तच्च पाशुपतं घोरं प्रतिज्ञायाश्च पारणम् ।

उनके इस अभिप्रायको जानकर भगवान् शङ्करने प्रसन्न हो वरदानके रूपमें वह घोर पाशुपत अस्त्र, जो उनकी प्रतिज्ञाकी पूर्ति करानेवाला था, दे दिया ॥ २१½ ॥

ततः पाशुपतं दिव्यमवाप्य पुनरीश्वरात् ॥ २२ ॥
संहृष्टरोमा दुर्धर्षः कृतं कार्यममन्यत ।

भगवान् शङ्करसे उस दिव्य पाशुपतास्त्रको पुनः प्राप्त करके दुर्धर्ष वीर अर्जुनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि अब मेरा कार्य पूर्ण हो जायगा ॥

ववन्दतुश्च संहृष्टौ शिरोभ्यां तं महेश्वरम् ॥ २३ ॥
अनुज्ञातौ क्षणे तस्मिन् भवेनार्जुनकेशवौ ।
प्राप्तौ स्वशिबिरं वीरौ मुदा परमया युतौ ॥ २४ ॥

फिर तो अत्यन्त हर्षमें भरे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महापुरुषोंने मस्तक नवाकर भगवान् महेश्वरको प्रणाम किया और उनकी आज्ञा ले उसी क्षण वे दोनों वीर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने शिबिरको लौट आये ॥ २३-२४ ॥

तथा भवेनानुमतौ महासुरनिघातिना ।
इन्द्राविष्णू यथा प्रीतौ जम्भस्य वधकाङ्क्षिणौ ॥ २५ ॥

जैसे पूर्वकालमें जम्भासुरके वधकी इच्छा रखनेवाले इन्द्र और विष्णु महासुरविनाशक भगवान् शङ्करकी अनुमति पाकर प्रसन्नतापूर्वक लौटे थे, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन भी आनन्दित होकर अपने शिबिरमें आये ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि अर्जुनस्य पुनः पाशुपतास्त्रप्राप्तौ एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनको पुनः पाशुपतास्त्रकी प्राप्तिविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका प्रातःकाल उठकर स्नान और नित्यकर्म आदिसे निवृत्त हो ब्राह्मणोंको दान देना, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सिंहासनपर बैठना और वहाँ पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करना

संजय उवाच

तयोः संवदतोरेवं कृष्णदारुकयोस्तथा।
सात्यगाद् रजनी राजन्नथ राजाऽन्वबुध्यत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इधर श्रीकृष्ण और दारुकमें पूर्वोक्त प्रकारसे बातें हो ही रही थीं कि वह रात बीत गयी। दूसरी ओर राजा युधिष्ठिर भी जाग गये ॥ १ ॥

पठन्ति पाणिस्वनिका मागधा मधुपर्किकाः।
वैतालिकाश्च सूताश्च तुष्टुवुः पुरुषर्षभम् ॥ २ ॥

उस समय हाथसे ताली देकर गीत गानेवाले तथा माङ्गलिक वस्तुओंको प्रस्तुत करनेवाले सूत, मागध और वैतालिक जन पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे ॥ २ ॥

नर्तकाश्चाप्यनृत्यन्त जगुर्गीतानि गायकाः।
कुरुवंशस्तवार्थानि मधुरं रक्तकण्ठिनः ॥ ३ ॥

नर्तक नाचने और रागयुक्त कण्ठवाले गायक कुरुकुलकी स्तुतिसे युक्त मधुर गीत गाने लगे ॥ ३ ॥

मृदङ्गा झर्झरा भेर्यः पणवानकगोमुखाः।
आडम्बराश्च शङ्खाश्च दुन्दुभ्यश्च महास्वनाः ॥ ४ ॥
एवमेतानि सर्वाणि तथान्यान्यपि भारत।
वादयन्ति सुसंहृष्टाः कुशलाः साधुशिक्षिताः ॥ ५ ॥

भारत! सुशिक्षित एवं कुशल वादक अत्यन्त हर्षमें भरकर मृदङ्ग, झाँझ, भेरी, पणव, आनक, गोमुख, आडम्बर, शङ्ख और बड़े जोरसे बजनेवाली दुन्दुभियाँ तथा दूसरे प्रकारके वाद्योंको भी बजाने लगे ॥ ४-५ ॥

स मेघसमनिर्घोषो महाञ्शब्दोऽस्पृशद् दिवम्।
पार्थिवप्रवरं सुप्तं युधिष्ठिरमबोधयत् ॥ ६ ॥

वाद्योंका वह मेघके समान गम्भीर एवं महान् घोष आकाशतक फैल गया। उस ध्वनिने सोये हुए नृपश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरको जगा दिया ॥ ६ ॥

प्रतिबुद्धः सुखं सुप्तो महार्हे शयनोत्तमे।
उत्थायावश्यकार्यार्थं ययौ स्नानगृहं नृपः ॥ ७ ॥

बहुमूल्य एवं उत्तम शय्यापर सुखपूर्वक सोकर जगे हुए राजा युधिष्ठिर वहाँसे उठकर आवश्यक कार्यके लिये स्नान करने गये ॥ ७ ॥

ततः शुक्लाम्बराः स्नातास्तरुणाः शतमष्ट च।
स्नापकाः काञ्चनैः कुम्भैः पूर्णैः समुपतस्थिरे ॥ ८ ॥

वहाँ स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण किये हुए एक सौ आठ युवक सोनेके घड़ोंमें जल भरकर उन्हें नहलानेके लिये उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

भद्रासने सूपविष्टः परिधायाम्बरं लघु।
सस्नौ चन्दनसंयुक्तैः पानीयैरभिमन्त्रितैः ॥ ९ ॥

उस समय एक हल्का वस्त्र पहनकर राजा युधिष्ठिर भद्रासन (चौकी) पर बैठ गये और चन्दनयुक्त मन्त्रपूत जलसे स्नान करने लगे ॥ ९ ॥

उत्सादितः कषायेण बलवद्भिः सुशिक्षितैः ।
आप्लुतः साधिवासेन जलेन स सुगन्धिना ॥ १० ॥

सबसे पहले बलवान् तथा सुशिक्षित पुरुषोंने सर्वौषधि आदिद्वारा तैयार किये हुए उबटनसे उनके शरीरको अच्छी तरह मला, फिर उन्होंने अधिवासित एवं सुगन्धित जलसे स्नान किया ॥ १० ॥

राजहंसनिभं प्राप्य उष्णीषं शिथिलार्पितम् ।
जलक्षयनिमित्तं वै वेष्टयामास मूर्धनि ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् राजहंसके समान सफेद ढीली-ढाली पगड़ी लेकर माथेका जल सुखानेके लिये उसे मस्तकपर लपेट लिया ॥ ११ ॥

हरिणा चन्दनेनाङ्गमुपलिप्य महाभुजः ।
स्रग्वी चाक्लिष्टवसनः प्राङ्मुखः प्राञ्जलिः स्थितः ॥ १२ ॥

फिर वे महाबाहु युधिष्ठिर अपने सारे अङ्गोंमें हरिचन्दनका अनुलेपन करके नूतन वस्त्र और पुष्पमाला धारण किये हाथ जोड़े पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये ॥ १२ ॥

जजाप जप्यं कौन्तेयः सतां मार्गमनुष्ठितः ।
ततोऽग्निशरणं दीप्तं प्रविवेश विनीतवत् ॥ १३ ॥

सत्पुरुषोंके मार्गपर चलनेवाले कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने जपने योग्य गायत्री मन्त्रका जप किया और प्रज्वलित अग्निसे प्रकाशित अग्निशालामें विनीतभावसे प्रवेश किया ॥ १३ ॥

समिद्भिः सपवित्राभिरग्निमाहुतिभिस्तथा ।
मन्त्रपूताभिरर्चित्वा निश्चक्राम गृहात् ततः ॥ १४ ॥

वहाँ पवित्री (कुशके दो पत्तों) सहित समिधाओं तथा मन्त्रपूत आहुतियोंसे अग्निदेवकी पूजा करके वे उस अग्निहोत्रगृहसे बाहर निकले ॥ १४ ॥

द्वितीयां पुरुषव्याघ्रः कक्ष्यां निर्गम्य पार्थिवः ।
ततो वेदविदो वृद्धानपश्यद् ब्राह्मणर्षभान् ॥ १५ ॥

फिर शिविरकी दूसरी ड्योढ़ी पार करके पुरुषसिंह राजा युधिष्ठिरने वेदवेत्ता वृद्ध ब्राह्मणशिरोमणियोंको देखा ॥ १५ ॥

दान्तान् वेदव्रतस्नातान् स्नातानवभृथेषु च ।
सहस्रानुचरान् सौरान् सहस्रं चाष्ट चापरान् ॥ १६ ॥

वे सबके-सब जितेन्द्रिय, वेदाध्ययनके व्रतमें निष्णात, यज्ञान्तस्नानसे पवित्र तथा सूर्यदेवके उपासक थे। वे संख्यामें एक हजार आठ थे और उनके साथ एक सहस्र अनुचर थे ॥ १६ ॥

अक्षतैः सुमनोभिश्च वाचयित्वा महाभुजः ।
तान् द्विजान् मधुसर्पिर्भ्यां फलैः श्रेष्ठैः सुमङ्गलैः ॥ १७ ॥
प्रादात् काञ्चनमेकैकं निष्कं विप्राय पाण्डवः ।

तब महाबाहु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने अक्षत-फूल देकर उन ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उनमेंसे प्रत्येक ब्राह्मणको मधु, घी एवं श्रेष्ठ माङ्गलिक फलोंके साथ एक-एक स्वर्णमुद्रा प्रदान की ॥ १७½ ॥

अलंकृतं चाश्वशतं वासांसीष्टाश्च दक्षिणाः ॥ १८ ॥
तथा गाः कपिला दोग्ध्रीः सवत्साः पाण्डुनन्दनः ।
हेमशृङ्गा रौप्यखुरा दत्त्वा चक्रे प्रदक्षिणम् ॥ १९ ॥

इसके सिवा उन पाण्डुनन्दनने ब्राह्मणोंको सजे-सजाये सौ घोड़े, उत्तम वस्त्र, इच्छानुसार दक्षिणा और बछड़ोंसहित दूध देनेवाली बहुत-सी कपिला गौएँ दीं । उन गौओंके सींगोंमें सोने और खुरोंमें चाँदी मढ़े हुए थे। उन सबको देकर युधिष्ठिरने उन (गौओं एवं ब्राह्मणों)की परिक्रमा की ॥

स्वस्तिकान् वर्धमानांश्च नन्द्यावर्तांश्च काञ्चनान् ।
माल्यं च जलकुम्भांश्च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ २० ॥
पूर्णान्यक्षतपात्राणि रुचकं रोचनास्तथा ।
स्वलंकृताः शुभाः कन्या दधिसर्पिर्मधूदकम् ॥ २१ ॥
मङ्गल्यान् पक्षिणश्चैव यच्चान्यदपि पूजितम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च कौन्तेयो बाह्यां कक्ष्यां ततोऽगमत् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् सोनेके बने हुए स्वस्तिक, सिकोरे, बन्द मुँहवाले अर्घपात्र, माला, जलसे भरे हुए कलश, प्रज्वलित अग्नि, अक्षतसे भरे हुए पूर्णपात्र, बिजौरा नीबू, गोरोचन, आभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, दही, घी, मधु, जल, माङ्गलिक पक्षी तथा अन्यान्य भी जो प्रशस्त वस्तुएँ हैं, उन सबको देखकर और उनमेंसे कुछका स्पर्श करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बाहरी ड्योढ़ीमें प्रवेश किया ॥ २०—२२ ॥

ततस्तस्यां महाबाहोस्तिष्ठतः परिचारकाः ।
सौवर्णं सर्वतोभद्रं मुक्तावैदूर्यमण्डितम् ॥ २३ ॥
परार्ध्यास्तरणास्तीर्णं सोत्तरच्छदमृद्धिमत् ।
विश्वकर्मकृतं दिव्यमुपजह्रुर्वरासनम् ॥ २४ ॥

उस ड्योढ़ीमें खड़े हुए महाबाहु युधिष्ठिरके सेवकोंने उनके लिये सोनेका बना हुआ एक सर्वतोभद्र नामक श्रेष्ठ आसन दिया, जिसमें मुक्ता और वैदूर्यमणि जड़ी हुई थी । उसपर बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था। उसके ऊपर सुन्दर चादर बिछायी गयी थी । वह दिव्य एवं समृद्धिशाली सिंहासन साक्षात् विश्वकर्माका बनाया हुआ था ॥ २३-२४ ॥

तत्र तस्योपविष्टस्य भूषणानि महात्मनः ।
उपाजह्रुर्महार्हाणि प्रेष्याः शुभ्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥

वहाँ बैठे हुए महात्मा राजा युधिष्ठिरको उनके सेवकोंने सब प्रकारके उज्ज्वल एवं बहुमूल्य आभूषण भेंट किये ॥ २५ ॥

मुक्ताभरणवेषस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
रूपमासीन्महाराज द्विषतां शोकवर्धनम् ॥ २६ ॥

महाराज ! मुक्तामय आभूषणोंसे विभूषित वेशवाले महात्मा कुन्तीनन्दनका स्वरूप उस समय शत्रुओंका शोक बढ़ा रहा था ॥ २६ ॥

चामरैश्चन्द्ररश्म्याभैर्हेमदण्डैः सुशोभनैः ।
दोधूयमानैः शुशुभे विद्युद्भिरिव तोयदः ॥ २७ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत तथा सुवर्णमय दण्ड-वाले सुन्दर, शोभाशाली अनेक चँवर डुलाये जा रहे थे। उनसे राजा युधिष्ठिरकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे बिजलियोंसे मेघ सुशोभित होता है ॥ २७ ॥

संस्तूयमानः सूतैश्च वन्द्यमानश्च वन्दिभिः ।
उपगीयमानो गन्धर्वैरास्ते स्म कुरुनन्दनः ॥ २८ ॥

उस समय सूतगण स्तुति करते थे, वन्दीजन वन्दना कर रहे थे और गन्धर्वगण उनके सुयशके गीत गाते थे। इन सबसे घिरे हुए युधिष्ठिर वहाँ सिंहासनपर विराजमान थे। २८।

ततो मुहूर्तादासीत् स्यन्दनानां स्वनो महान् ।
नेमिघोषश्च रथिनां खुरघोषश्च वाजिनाम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें रथोंका महान् शब्द गूँज उठा। रथियोंके रथोंके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टापोंके शब्द सुनायी देने लगे ॥ २९ ॥

ह्रादेन गजघण्टानां शङ्खानां निनदेन च ।
नराणां पदशब्दैश्च कम्पतीव स्म मेदिनी ॥ ३० ॥

हाथियोंके घंटोंकी घनघनाहट, शङ्खोंकी ध्वनि तथा पैदल चलनेवाले मनुष्योंके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती थी ॥ ३० ॥

ततः शुद्धान्तमासाद्य जानुभ्यां भूतले स्थितः ।
शिरसा वन्दनीयं तमभिवाद्य जनेश्वरम् ॥ ३१ ॥
कुण्डली बद्धनिस्त्रिंशः संनद्धकवचो युवा ।
अभिप्रणम्य शिरसा द्वाःस्थो धर्मात्मजाय वै ॥ ३२ ॥
न्यवेदयद्धृषीकेशमुपयान्तं महात्मने ।

इसी समय कानोंमें कुण्डल पहने, कमरमें तलवार बाँधे और वक्षःस्थलपर कवच धारण किये एक तरुण द्वारपालने उस ड्योढ़ीके भीतर प्रवेश करके धरतीपर दोनों घुटने टेक दिये और वन्दनीय महाराज युधिष्ठिरको मस्तक नवाकर प्रणाम किया। इस प्रकार सिरसे प्रणाम करके उसने धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरको यह सूचना दी कि भगवान् श्रीकृष्ण पधार रहे हैं ॥ ३१-३२½ ॥

सोऽब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः स्वागतेनैव माधवम् ॥ ३३ ॥
अर्घ्यं चैवासनं चास्मै दीयतां परमार्चितम् ।

तब पुरुषसिंह युधिष्ठिरने द्वारपालसे कहा—'तुम माधवको स्वागतपूर्वक ले आओ और उन्हें अर्घ्य तथा परम उत्तम आसन अर्पित करो' ॥ ३३½ ॥

ततः प्रवेश्य वार्ष्णेयमुपवेश्य वरासने ।
पूजयामास विधिवद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

तब द्वारपालने भगवान् श्रीकृष्णको भीतर ले आकर एक श्रेष्ठ आसनपर बैठा दिया। तत्पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिरने स्वयं ही विधिपूर्वक उनका पूजन किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि युधिष्ठिरसज्जतायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें युधिष्ठिरके सुसज्जित होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनकी प्रतिज्ञाको सफल बनानेके लिये युधिष्ठिरकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना और श्रीकृष्णका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिनन्द्य जनार्दनम् ।
उवाच परमप्रीतः कौन्तेयो देवकीसुतम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न हो देवकीनन्दन जनार्दनका अभिनन्दन करके पूछा—॥ १ ॥

सुखेन रजनी व्युष्टा कच्चित् ते मधुसूदन ।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ॥ २ ॥

'मधुसूदन! क्या आपकी रात सुखपूर्वक बीती है? अच्युत! क्या आपकी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न हैं?' ॥ २ ॥

वासुदेवोऽपि तद्युक्तं पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरम् ।
ततश्च प्रकृतीः क्षत्ता न्यवेदयदुपस्थिताः ॥ ३ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने भी उनसे समयोचित प्रश्न किये। तत्पश्चात् सेवकने आकर सूचना दी कि मन्त्री, सेना-पति आदि उपस्थित हैं ॥ ३ ॥

अनुज्ञातश्च राज्ञा स प्रावेशयत तं जनम्।
विराटं भीमसेनं च धृष्टद्युम्नं च सात्यकिम् ॥ ४ ॥
चेदिपं धृष्टकेतुं च द्रुपदं च महारथम्।
शिखण्डिनं यमौ चैव चेकितानं सकेकयम् ॥ ५ ॥
युयुत्सुं चैव कौरव्यं पाञ्चाल्यं चोत्तमौजसम्।
युधामन्युं सुबाहुं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ६ ॥

उस समय महाराजकी अनुमति पाकर विराट, भीमसेन, धृष्टद्युम्न, सात्यकि, चेदिराज धृष्टकेतु, महारथी द्रुपद, शिखण्डी, नकुल, सहदेव, चेकितान, केकयराजकुमार, कुरुवंशी युयुत्सु, पाञ्चाल वीर उत्तमौजा, युधामन्यु, सुबाहु तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सब लोगोंको द्वारपाल भीतर ले आया॥४—६॥

एते चान्ये च बहवः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम्।
उपतस्थुर्महात्मानं विविशुश्चासने शुभे ॥ ७ ॥

ये तथा और भी बहुत-से क्षत्रियशिरोमणि महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए और सुन्दर आसनपर बैठे॥

एकस्मिन्नासने वीरावुपविष्टौ महाबलौ।
कृष्णश्च युयुधानश्च महात्मानौ महाद्युती ॥ ८ ॥

महाबली और महातेजस्वी महात्मा श्रीकृष्ण और सात्यकि ये दोनों वीर एक ही आसनपर बैठे थे ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरस्तेषां शृण्वतां मधुसूदनम्।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षमाभाष्य मधुरं वचः ॥ ९ ॥

तब युधिष्ठिरने उन सब लोगोंके सुनते हुए कमलनयन भगवान् मधुसूदनको सम्बोधित करके मधुर वाणीमें कहा—॥

एकं त्वां वयमाश्रित्य सहस्राक्षमिवामराः।
प्रार्थयामो जयं युद्धे शाश्वतानि सुखानि च ॥ १० ॥

'प्रभो ! जैसे देवता इन्द्रका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार हमलोग एकमात्र आपका सहारा लेकर युद्धमें विजय और शाश्वत सुख पाना चाहते हैं ॥ १० ॥

त्वं हि राज्यविनाशं च द्विषद्भिश्च निराक्रियाम्।
क्लेशांश्च विविधान् कृष्ण सर्वांस्तानपि वेद नः ॥ ११ ॥

'श्रीकृष्ण ! शत्रुओंने जो हमारे राज्यका नाश करके हमारा तिरस्कार किया और भाँति-भाँतिके क्लेश दिये, उन सबको आप अच्छी तरह जानते हैं ॥ ११ ॥

त्वयि सर्वेश सर्वेषामस्माकं भक्तवत्सल।
सुखमायत्तमत्यर्थं यात्रा च मधुसूदन ॥ १२ ॥

'भक्तवत्सल सर्वेश्वर ! मधुसूदन ! हम सब लोगोंका सुख और जीवननिर्वाह पूर्णरूपसे आपके ही अधीन है॥१२॥

स तथा कुरु वार्ष्णेय यथा त्वयि मनो मम।
अर्जुनस्य यथा सत्या प्रतिज्ञा स्याच्चिकीर्षिता ॥ १३ ॥

'वार्ष्णेय ! हमारा मन आपमें ही लगा हुआ है। अतः आप ऐसा करें, जिससे अर्जुनकी अभीष्ट प्रतिज्ञा सत्य होकर रहे॥

स भवांस्तारयत्वस्माद् दुःखामर्षमहार्णवात्।
पारं तितीर्षतामद्य प्लवो नो भव माधव ॥ १४ ॥

'माधव ! आज इस दुःख और अमर्षके महासागरसे पार होनेकी इच्छावाले हम सब लोगोंके लिये आप नौका बन जाइये। आप ही इस संकटसे हमारा उद्धार कीजिये ॥ १४ ॥

न हि तत् कुरुते संख्ये रथी रिपुवधोद्यतः।
यथा वै कुरुते कृष्ण सारथिर्यत्नमास्थितः ॥ १५ ॥

'श्रीकृष्ण! संग्राममें शत्रुवधके लिये उद्यत हुआ रथी भी वैसा कार्य नहीं कर पाता, जैसा कि प्रयत्नशील सारथि कर दिखाता है ॥ १५ ॥

यथैव सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीञ्जनार्दन।
तथैवास्मान् महाबाहो वृजिनात् त्रातुमर्हसि ॥ १६ ॥

'महाबाहु जनार्दन ! जैसे आप वृष्णिवंशियोंको सम्पूर्ण आपत्तियोंसे बचाते हैं, उसी प्रकार हमारी भी इस संकटसे रक्षा कीजिये ॥ १६ ॥

त्वमगाधेऽप्लवे मग्नान् पाण्डवान् कुरुसागरे।
समुद्धर प्लवो भूत्वा शङ्खचक्रगदाधर ॥ १७ ॥

'शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले परमेश्वर ! नौका-रहित अगाध कौरव-सागरमें निमग्न पाण्डवोंका आप स्वयं ही नौका बनकर उद्धार कीजिये ॥ १७ ॥

नमस्ते देवदेवेश सनातन विशातन।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ १८ ॥

'शत्रुनाशक ! सनातन देवदेवेश्वर ! विष्णो ! जिष्णो ! हरे ! कृष्ण ! वैकुण्ठ ! पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है ॥

नारदस्त्वां समाचख्यौ पुराणमृषिसत्तमम्।
वरदं शार्ङ्गिणं श्रेष्ठं तत् सत्यं कुरु माधव ॥ १९ ॥

'माधव ! देवर्षि नारदने बताया है कि आप शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले, सर्वोत्तम वरदायक, पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नारायण हैं, उनकी वह बात सत्य कर दिखाइये ॥ १९ ॥

इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षो धर्मराजेन संसदि।
तोयमेघस्वनो वाग्मी प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ २०॥

उस राजसभामें धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उत्तम

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको आश्वासन

वक्ता कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने सजल मेघके समान गम्भीर वाणीमें उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

सामरेष्वपि लोकेषु सर्वेषु न तथाविधः।
शरासनधरः कश्चिद् यथा पार्थो धनंजयः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन्! देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कोई भी वैसा धनुर्धर नहीं है, जैसे आपके भाई कुन्तीकुमार धनंजय हैं ॥ २१ ॥

वीर्यवानस्त्रसम्पन्नः पराक्रान्तो महाबलः।
युद्धशौण्डः सदामर्षी तेजसा परमो नृणाम् ॥ २२ ॥

वे शक्तिशाली, अस्त्रज्ञानसम्पन्न, पराक्रमी, महाबली, युद्धकुशल, सदा अमर्षशील और मनुष्योंमें परम तेजस्वी हैं ॥

स युवा वृषभस्कन्धो दीर्घबाहुर्महाबलः।
सिंहर्षभगतिः श्रीमान् द्विषतस्ते हनिष्यति ॥ २३ ॥

अर्जुनके कंधे वृषभके समान सुपुष्ट हैं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, उनकी चाल भी श्रेष्ठ सिंहके सदृश है, वे महान् बलवान् युवक और श्रीसम्पन्न हैं, अतः आपके शत्रुओंको अवश्य मार डालेंगे ॥ २३ ॥

अहं च तत् करिष्यामि यथा कुन्तीसुतोऽर्जुनः।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्यानि धक्ष्यत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ २४ ॥

मैं भी वही करूँगा, जिससे कुन्तीपुत्र अर्जुन दुर्योधनकी सारी सेनाओंको उसी प्रकार जला डालेंगे, जैसे आग ईंधनको जलाती है ॥ २४ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं सौभद्रघातिनम्।
अपुनर्दर्शनं मार्गमिषुभिः क्षेप्स्यतेऽर्जुनः ॥ २५ ॥

आज सुभद्राकुमार अभिमन्युकी हत्या करनेवाले उस नीच पापी जयद्रथको अर्जुन अपने बाणोंद्वारा उस मार्गपर डाल देंगे, जहाँ जानेपर उस जीवका पुनः इस लोकमें दर्शन नहीं होता ॥ २५ ॥

तस्याद्य गृध्राः श्येनाश्च चण्डगोमायवस्तथा।
भक्षयिष्यन्ति मांसानि ये चान्ये पुरुषादकाः ॥ २६ ॥

आज गीध, बाज, क्रोधमें भरे हुए गीदड़ तथा अन्य नरभक्षी जीव-जन्तु जयद्रथका मांस खायेंगे ॥ २६ ॥

यद्यस्य देवा गोप्तारः सेन्द्राः सर्वे तथाप्यसौ।
राजधानीं यमस्याद्य हतः प्राप्स्यति संकुले ॥ २७ ॥

यदि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उसकी रक्षाके लिये आ जायँ तथापि वह आज संग्राममें मारा जाकर यमराजकी राजधानीमें अवश्य जा पहुँचेगा ॥ २७ ॥

निहत्य सैन्धवं जिष्णुरद्य त्वामुपयास्यति।
विशोको विज्वरो राजन् भव भूतिपुरस्कृतः ॥ २८ ॥

राजन्! आज विजयशील अर्जुन जयद्रथको मारकर ही आपके पास आयेंगे, आप ऐश्वर्यसे सम्पन्न रहकर शोक और चिन्ताको त्याग दीजिये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनको आशीर्वाद, अर्जुनका स्वप्न सुनकर समस्त सुहृदोंकी प्रसन्नता, सात्यकि और श्रीकृष्णके साथ रथपर बैठकर अर्जुनकी रणयात्रा तथा अर्जुनके कहनेसे सात्यकिका युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये जाना

संजय उवाच

तथा तु वदतां तेषां प्रादुरासीद् धनंजयः।
दिदृक्षुर्भरतश्रेष्ठं राजानं ससुहृद्गणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन लोगोंमें बात-चीत हो ही रही थी कि सुहृदोंसहित भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरका दर्शन करनेकी इच्छासे अर्जुन वहाँ आ गये ॥

तं निविष्टं शुभां कक्ष्यामभिवन्द्याग्रतः स्थितम्।
तमुत्थायार्जुनं प्रेम्णा सस्वजे पाण्डवर्षभः ॥ २ ॥

उस सुन्दर ड्योढ़ीमें प्रवेश करके राजाको प्रणाम करनेके पश्चात् उनके सामने खड़े हुए अर्जुनको पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उठकर प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया ॥ २ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय परिष्वज्य च बाहुना।
आशिषः परमाः प्रोच्य स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ३ ॥

उनका मस्तक सूँघकर और एक बाँहसे उनका आलिंगन करके उन्हें उत्तम आशीर्वाद देते हुए राजाने मुसकराकर कहा—॥ ३ ॥

व्यक्तमर्जुन संग्रामे ध्रुवस्ते विजयो महान्।
यादृग्रूपा च ते च्छाया प्रसन्नश्च जनार्दनः ॥ ४ ॥

'अर्जुन ! आज संग्राममें तुम्हें निश्चय ही महान् विजय प्राप्त होगी, यह बात स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर हो रही है; क्योंकि इसीके अनुरूप तुम्हारे मुखकी कान्ति है और भगवान् श्रीकृष्ण भी प्रसन्न हैं' ॥ ४ ॥

तमब्रवीत् ततो जिष्णुर्महदाश्चर्यमुत्तमम् ।
दृष्टवानस्मि भद्रं ते केशवस्य प्रसादजम् ॥ ५ ॥

तब विजयशील अर्जुनने उनसे कहा—'राजन् ! आपका कल्याण हो। आज मैंने बहुत उत्तम और आश्चर्यजनक स्वप्न देखा है। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही वैसा स्वप्न प्रकट हुआ था' ॥ ५ ॥

ततस्तत् कथयामास यथा दृष्टं धनंजयः ।
आश्वासनार्थं सुहृदां त्र्यम्बकेण समागमम् ॥ ६ ॥

यों कहकर अर्जुन अपने सुहृदोंके आश्वासनके लिये जिस प्रकार भगवान् शंकरसे मिलनका स्वप्न देखा था, वह सब कह सुनाया ॥ ६ ॥

ततः शिरोभिरवनिं स्पृष्ट्वा सर्वे च विस्मिताः ।
नमस्कृत्य वृषाङ्काय साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ७ ॥

यह स्वप्न सुनकर वहाँ आये हुए सब लोग आश्चर्यचकित हो उठे और सबने धरतीपर मस्तक टेककर भगवान् शंकरको प्रणाम करके कहा—'यह तो बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ' ॥ ७ ॥

अनुज्ञातास्ततः सर्वे सुहृदो धर्मसूनुना ।
त्वरमाणाः सुसंनद्धा हृष्टा युद्धाय निर्ययुः ॥ ८ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर कवच धारण किये हुए समस्त सुहृद् हर्षमें भरकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे युद्धके लिये निकले ॥ ८ ॥

अभिवाद्य तु राजानं युयुधानाच्युतार्जुनाः ।
हृष्टा विनिर्ययुस्ते वै युधिष्ठिरनिवेशनात् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके सात्यकि, श्रीकृष्ण और अर्जुन बड़े हर्षके साथ उनके शिबिरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

रथेनैकेन दुर्धर्षौ युयुधानजनार्दनौ ।
जग्मतुः सहितौ वीरावर्जुनस्य निवेशनम् ॥ १० ॥

दुर्धर्ष वीर सात्यकि और श्रीकृष्ण एक रथपर आरूढ़ हो एक साथ अर्जुनके शिविरमें गये ॥ १० ॥

तत्र गत्वा हृषीकेशः कल्पयामास सूतवत् ।
रथं रथवरस्याजौ वानरर्षभलक्षणम् ॥ ११ ॥

वहाँ पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने एक सारथिके समान रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के चिह्नसे युक्त ध्वजावाले रथको युद्धके लिये सुसज्जित किया ॥ ११ ॥

स मेघसमनिर्घोषस्तप्तकाञ्चनसप्रभः ।
बभौ रथवरः क्लृप्तः शिशुर्दिवसकृद् यथा ॥ १२ ॥

मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाला और तपाये हुए सुवर्णके समान प्रभासे उद्भासित होनेवाला वह सजाया हुआ श्रेष्ठ रथ प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥

ततः पुरुषशार्दूलः सज्जं सज्जपुरःसरः ।
कृताह्निकाय पार्थाय न्यवेदयत तं रथम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर युद्धके लिये सुसज्जित पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ पुरुषसिंह श्रीकृष्णने नित्य-कर्म सम्पन्न करके बैठे हुए अर्जुनको यह सूचित किया कि रथ तैयार है ॥ १३ ॥

तं तु लोकवरः पुंसां किरीटी हेमवर्मभृत् ।
चापबाणधरो वाहं प्रदक्षिणमवर्तत ॥ १४ ॥

तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ लोकप्रवर अर्जुनने सोनेके कवच और किरीट धारण करके धनुष-बाण लेकर उस रथकी परिक्रमा की॥

तपोविद्यावयोवृद्धैः क्रियावद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
स्तूयमानो जयाशीभिरारुरोह महारथम् ॥ १५ ॥

उस समय तपस्या, विद्या तथा अवस्थामें बड़े-बूढ़े, क्रियाशील, जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन्हें विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति-प्रशंसा कर रहे थे। उनकी की हुई वह स्तुति सुनते हुए अर्जुन उस विशाल रथपर आरूढ़ हुए ॥ १५ ॥

जैत्रैः सांग्रामिकैर्मन्त्रैः पूर्वमेव रथोत्तमम् ।
अभिमन्त्रितमर्चिष्मानुदयं भास्करो यथा ॥ १६ ॥

उस उत्तम रथको पहलेसे ही विजयसाधक युद्धसम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किया गया था। उसपर आरूढ़ हुए तेजस्वी अर्जुन उदयाचलपर चढ़े हुए सूर्यके समान जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

स रथे रथिनां श्रेष्ठः काञ्चने काञ्चनावृतः ।
विबभौ विमलोऽर्चिष्मान् मेराविव दिवाकरः ॥ १७ ॥

सुवर्णमय कवचसे आवृत हो उस स्वर्णमय रथपर आरूढ़ हुए रथियोंमें श्रेष्ठ उज्ज्वल कान्तिधारी तेजस्वी अर्जुन मेरु पर्वतपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहे थे ॥

अन्वारुरुहतुः पार्थं युयुधानजनार्दनौ ।
शर्यातेर्यज्ञमायान्तं यथेन्द्रं देवमश्विनौ ॥ १८ ॥

अर्जुनके बैठनेके बाद सात्यकि और श्रीकृष्ण भी उस रथपर आरूढ़ हो गये, मानो राजा शर्यातिके यज्ञमें आते हुए इन्द्रदेवके साथ दोनों अश्विनीकुमार आ रहे हों ॥१८॥

अथ जग्राह गोविन्दो रश्मीन् रश्मिविदां वरः ।
मातलिर्वासवस्येव वृत्रं हन्तुं प्रयास्यतः ॥ १९ ॥

उन घोड़ोंकी रास पकड़नेकी कलामें सर्वश्रेष्ठ भगवान् गोविन्दने रथकी बागडोर अपने हाथमें ले ली, ठीक उसी प्रकार जैसे, वृत्रासुरका वध करनेके लिये जानेवाले इन्द्रके रथकी बागडोर मातलिने पकड़ी थी ॥ १९ ॥

स ताभ्यां सहितः पार्थो रथप्रवरमास्थितः ।

सहितो बुधशुक्राभ्यां तमो निघ्नन् यथा शशी ॥ २० ॥

सात्यकि और श्रीकृष्ण दोनोंके साथ उस श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए अर्जुन बुध और शुक्रके साथ स्थित हुए अन्धकार-नाशक चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे ॥ २० ॥

सैन्धवस्य वधं प्रेप्सुः प्रयातः शत्रुपूगहा ।
सहाम्बुपतिमित्राभ्यां यथेन्द्रस्तारकामये ॥ २१ ॥

शत्रुसमूहका नाश करनेवाले अर्जुन जब सात्यकि और श्रीकृष्णके साथ सिंधुराज जयद्रथका वध करनेकी इच्छासे प्रस्थित हुए, उस समय वरुण और मित्रके साथ तारकामय संग्राममें जानेवाले इन्द्रके समान सुशोभित हुए ॥ २१ ॥

ततो वादित्रनिर्घोषैर्माङ्गल्यैश्च स्तवैः शुभैः ।
प्रयान्तमर्जुनं वीरं मागधाश्चैव तुष्टुवुः ॥ २२ ॥

तदनन्तर रणवाद्योंके घोष तथा शुभ एवं माङ्गलिक स्तुतियोंके साथ यात्रा करते हुए वीर अर्जुनकी मागधजन स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

सजयाशीः सपुण्याहः सूतमागधनिःस्वनः ।
युक्तो वादित्रघोषेण तेषां रतिकरोऽभवत् ॥ २३ ॥

विजयसूचक आशीर्वाद तथा पुण्याहवाचनके साथ सूत, मागध एवं बन्दीजनोंका शब्द रणवाद्योंकी ध्वनिसे मिलकर उन सबकी प्रसन्नताको बढ़ा रहा था ॥ २३ ॥

तमनुप्रयतो वायुः पुण्यगन्धवहः शुभः ।
ववौ संहर्षयन् पार्थं द्विषतश्चापि शोषयन् ॥ २४ ॥

अर्जुनके प्रस्थान करनेपर पीछेसे मङ्गलमय पवित्र एवं सुगन्धयुक्त वायु बहने लगी, जो अर्जुनका हर्ष बढ़ाती हुई उनके शत्रुओंका शोषण कर रही थी ॥ २४ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे राजन् विविधानि शुभानि च ।
प्रादुरासन् निमित्तानि विजयाय बहूनि च ।
पाण्डवानां त्वदीयानां विपरीतानि मारिष ॥ २५ ॥

माननीय महाराज ! उस समय बहुत-से ऐसे शुभ शकुन प्रकट हुए, जो पाण्डवोंकी विजय और आपके सैनिकोंकी पराजयकी सूचना दे रहे थे ॥ २५ ॥

दृष्ट्वार्जुनो निमित्तानि विजयाय प्रदक्षिणम् ।
युयुधानं महेष्वासमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

अर्जुनने अपने दाहिने प्रकट होनेवाले उन विजयसूचक शुभ लक्षणोंको देखकर महाधनुर्धर सात्यकिसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

युयुधानाद्य युद्धे मे दृश्यते विजयो ध्रुवः ।
यथा हीमानि लिङ्गानि दृश्यन्ते शिनिपुङ्गव ॥ २७ ॥

'शिनिप्रवर युयुधान ! आज जैसे ये शुभ लक्षण दिखायी देते हैं, उनसे युद्धमें मेरी निश्चित विजय दृष्टिगोचर हो रही है ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र सैन्धवको नृपः ।
यियासुर्यमलोकाय मम वीर्यं प्रतीक्षते ॥ २८ ॥

'अतः मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ सिंधुराज जयद्रथ यमलोकमें जानेकी इच्छासे मेरे पराक्रमकी प्रतीक्षा कर रहा है ॥ २८ ॥

यथा परमकं कृत्यं सैन्धवस्य वधो मम ।
तथैव सुमहत् कृत्यं धर्मराजस्य रक्षणम् ॥ २९ ॥

'मेरे लिये सिंधुराज जयद्रथका वध जैसे अत्यन्त महान् कार्य है, उसी प्रकार धर्मराजकी रक्षा भी परम महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है ॥ २९ ॥

स त्वमद्य महाबाहो राजानं परिपालय ।
यथैव हि मया गुप्तस्त्वया गुप्तो भवेत् तथा ॥ ३० ॥

'महाबाहो ! आज तुम्हीं राजा युधिष्ठिरकी सब ओरसे रक्षा करो । जिस प्रकार वे मेरे द्वारा सुरक्षित होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा भी उनकी सुरक्षा हो सकती है ॥ ३० ॥

न पश्यामि च तं लोके यस्त्वां युद्धे पराजयेत् ।
वासुदेवसमं युद्धे स्वयमप्यमरेश्वरः ॥ ३१ ॥

'मैं संसारमें ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें तुम्हें पराजित कर सके । तुम संग्रामभूमिमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान हो । साक्षात् देवराज इन्द्र भी तुम्हें नहीं जीत सकते ॥ ३१ ॥

त्वयि चाहं पराश्वस्तः प्रद्युम्ने वा महारथे ।
शक्नुयां सैन्धवं हन्तुमनपेक्षो नरर्षभ ॥ ३२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस कार्यके लिये मैं तुमपर अथवा महारथी प्रद्युम्नपर ही पूरा भरोसा करता हूँ । सिंधुराज जयद्रथका वध तो मैं किसीकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना ही कर सकता हूँ ॥

मय्यपेक्षा न कर्तव्या कथंचिदपि सात्वत ।
राजन्येव परा गुप्तिः कार्या सर्वात्मना त्वया ॥ ३३ ॥

'सात्वतवीर ! तुम किसी प्रकार भी मेरा अनुसरण न करना । तुम्हें सब प्रकारसे राजा युधिष्ठिरकी ही पूर्णरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

न हि यत्र महाबाहुर्वासुदेवो व्यवस्थितः ।
किंचिद् व्यापद्यते तत्र यत्राहमपि च ध्रुवम् ॥ ३४ ॥

'जहाँ महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं और मैं भी उपस्थित हूँ, वहाँ अवश्य ही कोई कार्य बिगड़ नहीं सकता है' ॥ ३४ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन सात्यकिः परवीरहा ।
तथेत्युक्त्वागमत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सात्यकि 'बहुत अच्छा' कहकर जहाँ राजा युधिष्ठिर थे, वहीं चले गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि प्रतिज्ञापर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत प्रतिज्ञापर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

(जयद्रथवधपर्व)

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

श्वोभूते किमकार्षुस्ते दुःखशोकसमन्विताः ।
अभिमन्यौ हते तत्र के वायुध्यन्त मामकाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! अभिमन्युके मारे जानेपर दुःख और शोकमें डूबे हुए पाण्डवोंने सबेरा होनेपर क्या किया ? तथा मेरे पक्षवाले योद्धाओंमेंसे किन लोगोंने युद्ध किया?॥१॥

जानन्तस्तस्य कर्माणि कुरवः सव्यसाचिनः ।
कथं तत् किल्बिषं कृत्वा निर्भया ब्रूहि मामकाः ॥ २ ॥

सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमको जानते हुए भी मेरे पक्षवाले कौरव योद्धा उनका अपराध करके कैसे निर्भय रह सके ? यह बताओ ॥ २ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं क्रुद्धं मृत्युमिवान्तकम् ।
आयान्तं पुरुषव्याघ्रं कथं ददृशुराहवे ॥ ३ ॥

पुत्रशोकसे संतप्त हो क्रोधमें भरे हुए प्राणान्तकारी मृत्युके समान आते हुए पुरुषसिंह अर्जुनकी ओर मेरे पुत्र युद्धमें कैसे देख सके ? ॥ ३ ॥

कपिराजध्वजं संख्ये विधुन्वानं महद् धनुः ।
दृष्ट्वा पुत्रपरिद्यूनं किमकुर्वत मामकाः ॥ ४ ॥

जिनकी ध्वजामें कपिराज हनुमान् विराजमान हैं, उन पुत्रवियोगसे व्यथित हुए अर्जुनको युद्धस्थलमें अपने विशाल धनुषकी टंकार करते देख मेरे पुत्रोंने क्या किया ? ॥ ४ ॥

किं नु संजय संग्रामे वृत्तं दुर्योधनं प्रति ।
परिदेवो महानद्य श्रुतो मे नाभिनन्दनम् ॥ ५ ॥

संजय ! संग्रामभूमिमें दुर्योधनपर क्या बीता है ? इन दिनों मैंने महान् विलापकी ध्वनि सुनी है । आमोद-प्रमोदके शब्द मेरे कानोंमें नहीं पड़े हैं ॥ ५ ॥

बभूवुर्ये मनोग्राह्याः शब्दाः श्रुतिसुखावहाः ।
न श्रूयन्तेऽद्य सर्वे ते सैन्धवस्य निवेशने ॥ ६ ॥

पहले सिंधुराजके शिविरमें जो मनको प्रिय लगनेवाले और कानोंको सुख देनेवाले शब्द होते रहते थे, वे सब अब नहीं सुनायी पड़ते हैं ॥ ६ ॥

स्तुवतां नाद्य श्रूयन्ते पुत्राणां शिबिरे मम ।
सूतमागधसंघानां नर्तकानां च सर्वशः ॥ ७ ॥

मेरे पुत्रोंके शिविरमें अब स्तुति करनेवाले सूतों, मागधों एवं नर्तकोंके शब्द सर्वथा नहीं सुनायी पड़ते हैं ॥ ७ ॥

शब्देन नादिताभीक्ष्णमभवद् यत्र मे श्रुतिः ।
दीनानामद्य तं शब्दं न शृणोमि समीरितम् ॥ ८ ॥

जहाँ मेरे कान निरन्तर स्वजनोंके आनन्द-कोलाहलसे गूँजते रहते थे, वहीं आज मैं अपने दीन दुखी पुत्रोंके द्वारा उच्चारित वह हर्षसूचक शब्द नहीं सुन रहा हूँ ॥ ८ ॥

निवेशने सत्यधृतेः सोमदत्तस्य संजय ।
आसीनोऽहं पुरा तात शब्दमश्रौषमुत्तमम् ॥ ९ ॥

तात संजय ! पहले मैं यथार्थ धैर्यशाली सोमदत्तके भवनमें बैठा हुआ उत्तम शब्द सुना करता था ॥ ९ ॥

तदद्य पुण्यहीनोऽहमार्तस्वरनिनादितम् ।
निवेशनं गतोत्साहं पुत्राणां मम लक्षये ॥ १० ॥

परंतु आज पुण्यहीन मैं अपने पुत्रोंके घरको उत्साह-शून्य एवं आर्तनादसे गूँजता हुआ देख रहा हूँ ॥ १० ॥

विविंशतेर्दुर्मुखस्य चित्रसेनविकर्णयोः ।
अन्येषां च सुतानां मे न तथा श्रूयते ध्वनिः ॥ ११ ॥

विविंशति, दुर्मुख, चित्रसेन, विकर्ण तथा मेरे अन्य पुत्रोंके घरोंमें अब पूर्ववत् आनन्दित ध्वनि नहीं सुनी जाती है ॥ ११ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या यं शिष्याः पर्युपासते ।
द्रोणपुत्रं महेष्वासं पुत्राणां मे परायणम् ॥ १२ ॥
वितण्डालापसंलापैर्द्रुतवादित्रवादितैः ।
गीतैश्च विविधैरिष्टै रमते यो दिवानिशम् ॥ १३ ॥
उपास्यमानो बहुभिः कुरुपाण्डवसात्वतैः ।
सूत तस्य गृहे शब्दो नाद्य द्रौणेर्यथा पुरा ॥ १४ ॥

सूत संजय ! मेरे पुत्रोंके परम आश्रय जिस महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाकी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी जातियोंके शिष्य उपासना (निकट रहकर सेवा) करते रहे हैं, जो वितण्डावाद, भाषण, पारस्परिक बातचीत, द्रुतस्वरमें बजाये हुए वाद्योंके शब्दों तथा भाँति-भाँतिके अभीष्ट गीतोंसे दिन-रात मन बहलाया करता था, जिसके पास बहुत-से कौरव, पाण्डव और सात्वतवंशी वीर बैठा करते थे, उस अश्वत्थामाके घरमें आज पहलेके समान हर्षसूचक शब्द नहीं हो रहा है ॥ १२—१४ ॥

द्रोणपुत्रं महेष्वासं गायना नर्तकाश्च ये ।
अत्यर्थमुपतिष्ठन्ति तेषां न श्रूयते ध्वनिः ॥ १५ ॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्रकी सेवामें जो गायक और नर्तक अधिक उपस्थित होते थे, उनकी ध्वनि अब नहीं सुनायी देती है ॥ १५ ॥

विन्दानुविन्दयोः सायं शिबिरे यो महाध्वनिः ॥ १६ ॥
श्रूयते सोऽद्य न तथा केकयानां च वेश्मसु ।

नित्यं प्रमुदितानां च तालगीतस्वनो महान् ॥ १७ ॥
नृत्यतां श्रूयते तात गणानां सोऽद्य न स्वनः ।

विन्द और अनुविन्दके शिविरमें संध्याके समय जो महान् शब्द सुनायी पड़ता था, वह अब नहीं सुननेमें आता है। तात सदा अनन्दित रहनेवाले केकयोंके भवनोंमें झुंड-के झुंड नर्तकोंका ताल-स्वरके साथ गीतका जो महान् शब्द सुनायी पड़ता था, वह अब नहीं सुना जाता है ॥

सप्त तन्तून् वितन्वाना याजका यमुपासते ॥ १८ ॥
सौमदत्तिं श्रुतनिधिं तेषां न श्रूयते ध्वनिः ।

वेद-विद्याके भण्डार जिस सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाके यहाँ सातों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले याजक सदा रहा करते थे, अब वहाँ उन ब्राह्मणोंकी आवाज नहीं सुनायी देती है ॥

ज्याघोषो ब्रह्मघोषश्च तोमरासिरथध्वनिः ॥ १९ ॥
द्रोणस्यासीदविरतो गृहे तं न शृणोम्यहम् ।

द्रोणाचार्यके घरमें निरन्तर धनुषकी प्रत्यञ्चाका घोष, वेदमन्त्रोंके उच्चारणकी ध्वनि तथा तोमर, तलवार एवं रथके शब्द गूँजते रहते थे; परंतु अब मैं वहाँ वह शब्द नहीं सुन रहा हूँ ॥ १९½ ॥

नानादेशसमुत्थानां गीतानां योऽभवत् स्वनः ॥ २० ॥
वादित्रनादितानां च सोऽद्य न श्रूयते महान् ।

नाना प्रदेशोंसे आये हुए लोगोंके गाये हुए गीतोंका और बजाये हुए बाजोंका भी जो महान् शब्द श्रवण गोचर होता था, वह अब नहीं सुनायी देता है ॥ २०½ ॥

यदा प्रभृत्युपप्लव्याच्छान्तिमिच्छञ्जनार्दनः ॥ २१ ॥
आगतः सर्वभूतानामनुकम्पार्थमच्युतः ।
ततोऽहमब्रुवं सूत मन्दं दुर्योधनं तदा ॥ २२ ॥

संजय ! जब अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् जनार्दन समस्त प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये शान्ति स्थापित करनेकी इच्छा लेकर उपप्लव्यसे हस्तिनापुरमें पधारे थे, उस समय मैंने अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा था—॥

वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ।
कालप्राप्तमहं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ २३ ॥

'बेटा ! भगवान् श्रीकृष्णको साधन बनाकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। मैं इसीको समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन ! तुम इसे टालो मत ॥ २३ ॥

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम् ।
हितार्थमभिजल्पन्तं न तवास्ति रणे जयः ॥ २४ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे हितकी ही बात कहते हैं और स्वयं संधिके लिये याचना कर रहे हैं। ऐसी दशामें यदि तुम इनकी बात नहीं मानोगे तो युद्धमें तुम्हारी विजय नहीं होगी'॥

प्रत्याचष्ट स दाशार्हमृषभं सर्वधन्विनाम् ।
अनुनेयानि जल्पन्तमनयान्नान्वपद्यत ॥ २५ ॥

परंतु उसने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णकी बात माननेसे इनकार कर दिया। यद्यपि वे अनुनयपूर्ण वचन बोलते थे, तथापि दुर्योधनने अन्यायवश उन्हें नहीं माना ॥ २५ ॥

(कर्णदुःशासनमते सौबलस्य च दुर्मतेः ।
प्रत्याख्यातो महाबाहुः कुलान्तकरणेन मे ॥)

कर्ण, दुःशासन और खोटी बुद्धिवाले शकुनिके मतमें आकर मेरे कुलका नाश करनेवाले दुर्योधनने महाबाहु श्रीकृष्णका तिरस्कार कर दिया ॥

ततो दुःशासनस्यैव कर्णस्य च मतं द्वयोः ।
अन्ववर्तत मां हित्वा कृष्टः कालेन दुर्मतिः ॥ २६ ॥

फिर तो कालसे आकृष्ट हुए दुर्बुद्धि दुर्योधनने मुझे छोड़कर दुःशासन और कर्ण इन्हीं दोनोंके मतका अनुसरण किया ॥ २६ ॥

न ह्यहं द्यूतमिच्छामि विदुरो न प्रशंसति ।
सैन्धवो नेच्छति द्यूतं भीष्मो न द्यूतमिच्छति ॥२७॥

मैं जूआ खेलना नहीं चाहता था, विदुर भी उसकी प्रशंसा नहीं करते थे, सिंधुराज जयद्रथ भी जूआ नहीं चाहते थे और भीष्मजी भी द्यूतकी अभिलाषा नहीं रखते थे ॥

शल्यो भूरिश्रवाश्चैव पुरुमित्रो जयस्तथा ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणो द्यूतं नेच्छन्ति संजय ॥२८॥

संजय ! शल्य, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य भी जूआ होने देना नहीं चाहते थे ॥

एतेषां मतमादाय यदि वर्तेत पुत्रकः ।
सज्ञातिमित्रः ससुहृच्चिरं जीवेदनामयः ॥२९॥

यदि बेटा दुर्योधन इन सबकी राय लेकर चलता तो भाई-बन्धु, मित्र और सुहृदोंसहित दीर्घकालतक नीरोग एवं स्वस्थ रहकर जीवन धारण करता ॥ २९ ॥

श्लक्ष्णा मधुरसम्भाषा ज्ञातिबन्धुप्रियंवदाः ।
कुलीनाः सम्मताः प्राज्ञाः सुखं प्राप्स्यन्ति पाण्डवाः॥३०॥

'पाण्डव सरल, मधुरभाषी, भाई-बन्धुओंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले, कुलीन, सम्मानित और विद्वान् हैं; अतः उन्हें सुखकी प्राप्ति होगी ॥ ३० ॥

धर्मापेक्षी नरो नित्यं सर्वत्र लभते सुखम् ।
प्रेत्यभावे च कल्याणं प्रसादं प्रतिपद्यते ॥३१॥

'धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला मनुष्य सदा सर्वत्र सुखका भागी होता है। मृत्युके पश्चात् भी उसे कल्याण एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

अर्हास्ते पृथिवीं भोक्तुं समर्थाः साधनेऽपि च ।
तेषामपि समुद्रान्ता पितृपैतामही मही ॥३२॥

'पाण्डव पृथ्वीका राज्य भोगनेमें और उसे प्राप्त करनेमें भी समर्थ हैं। यह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी उनके बाप-दादोंकी भी है ॥ ३२ ॥

नियुज्यमानाः स्थास्यन्ति पाण्डवा धर्मवर्त्मनि।
सन्ति मे ज्ञातयस्तात येषां श्रोष्यन्ति पाण्डवाः ॥३३॥

'तात! पाण्डवोंको यदि आदेश दिया जाय तो वे उसे मानकर सदा धर्ममार्गपर ही स्थिर रहेंगे। मेरे अनेक ऐसे भाई-बन्धु हैं, जिनकी बात पाण्डव सुनेंगे ॥ ३३ ॥

शल्यस्य सोमदत्तस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
द्रोणस्याथ विकर्णस्य बाह्लीकस्य कृपस्य च ॥३४॥
अन्येषां चैव वृद्धानां भरतानां महात्मनाम्।
त्वदर्थं ब्रुवतां तात करिष्यन्ति वचो हि ते ॥३५॥

'वत्स! शल्य, सोमदत्त, महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य, विकर्ण, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा अन्य जो बड़े-बूढ़े महामना भरतवंशी हैं, वे यदि तुम्हारे लिये उनसे कुछ कहेंगे तो पाण्डव उनकी बात अवश्य मानेंगे ॥ ३४-३५ ॥

कं वा त्वं मन्यसे तेषां यस्तान् ब्रूयादतोऽन्यथा।
कृष्णो न धर्मं संजह्यात् सर्वे ते हि तदन्वयाः ॥३६॥

'बेटा दुर्योधन! तुम उपर्युक्त व्यक्तियोंमेंसे किसको ऐसा मानते हो जो पाण्डवोंके विषयमें इसके विपरीत कह सके। श्रीकृष्ण कभी धर्मका परित्याग नहीं कर सकते और समस्त पाण्डव उन्हींके मार्गका अनुसरण करनेवाले हैं ॥३६॥

मयापि चोक्तास्ते वीरा वचनं धर्मसंहितम्।
नान्यथा प्रकरिष्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥३७॥

'मेरे कहनेपर भी वे मेरे धर्मयुक्त वचनकी अवहेलना नहीं करेंगे; क्योंकि वीर पाण्डव धर्मात्मा हैं' ॥ ३७ ॥

इत्यहं विलपन् सूत बहुशः पुत्रमुक्तवान्।
न च मे श्रुतवान् मूढो मन्ये कालस्य पर्ययम् ॥३८॥

सूत! इस प्रकार विलाप करते हुए मैंने अपने पुत्र दुर्योधनसे बहुत कुछ कहा, परंतु उस मूर्खने मेरी एक नहीं सुनी। अतः मैं समझता हूँ कि कालचक्रने पलटा खाया है ॥ ३८ ॥

वृकोदरार्जुनौ यत्र वृष्णिवीरश्च सात्यकिः।
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ॥३९॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः शिखण्डी चापराजितः।
अश्मकाः केकयाश्चैव क्षत्रधर्मा च सौमकिः ॥४०॥
चैद्यश्च चेकितानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः।
द्रौपदेया विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४१॥
यमौ च पुरुषव्याघ्रौ मन्त्री च मधुसूदनः।
क एतान्जातु युध्येत लोकेऽस्मिन् वै जिजीविषुः ॥४२॥

जिस पक्षमें भीमसेन, अर्जुन, वृष्णिवीर सात्यकि, पाञ्चालवीर उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, दुर्धर्ष धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर शिखण्डी, अश्मक, केकयराजकुमार, सोमकपुत्र क्षत्रधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराजके पुत्र अभिभू, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, राजा विराट और महारथी द्रुपद हैं, जहाँ पुरुषसिंह नकुल, सहदेव और मन्त्रदाता मधुसूदन हैं, वहाँ इस संसारमें कौन ऐसा वीर है, जो जीवित रहनेकी इच्छा रखकर इन वीरोंके साथ कभी युद्ध करेगा ॥ ३९-४२ ॥

दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणान् प्रसहेद् वा परान् मम।
अन्यो दुर्योधनात् कर्णाच्छकुनेश्चापि सौबलात् ॥४३॥
दुःशासनचतुर्थानां नान्यं पश्यामि पञ्चमम्।

अथवा दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा चौथे दुःशासनके सिवा मैं पाँचवें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले मेरे इन शत्रुओंका वेग सह सके ॥ ४३½ ॥

येषामभीषुहस्तः स्याद् विष्वक्सेनो रथे स्थितः ॥ ४४ ॥
संनद्धश्चार्जुनो योद्धा तेषां नास्ति पराजयः।

रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण हाथोंमें बागडोर लेकर जिनका सारथ्य करते हैं तथा जिनकी ओरसे कवचधारी अर्जुन युद्ध करनेवाले हैं, उनकी कभी पराजय नहीं हो सकती ॥ ४४½ ॥

तेषामथ विलापानां नायं दुर्योधनः स्मरेत् ॥ ४५ ॥
हतौ हि पुरुषव्याघ्रौ भीष्मद्रोणौ त्वमात्थ वै।

संजय! यह दुर्योधन मेरे उन विलापोंको कभी याद नहीं करेगा। तुम कहते हो कि 'पुरुषसिंह भीष्म और द्रोणाचार्य मारे गये' ॥ ४५½ ॥

तेषां विदुरवाक्यानामुक्तानां दीर्घदर्शनात् ॥ ४६ ॥
दृष्ट्वेमां फलनिर्वृत्तिं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
सेनां दृष्ट्वाभिभूतां मे शैनेयेनार्जुनेन च ॥ ४७ ॥

विदुरने भविष्यमें होनेवाली दूरतककी घटनाओंको ध्यानमें रखकर जो बातें कही थीं, उन्हींके अनुसार इस समय हमें यह फल मिल रहा है। इसे देखकर मैं यह समझता हूँ कि मेरे पुत्र सात्यकि और अर्जुनके द्वारा अपनी सेनाका संहार देखते हुए शोक कर रहे होंगे ॥ ४६-४७ ॥

शून्यान् दृष्ट्वा रथोपस्थान् मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
हिमात्यये यथा कक्षं शुष्कं वातेरितो महान् ॥ ४८ ॥
अग्निर्दहेत् तथा सेनां मामिकां स धनंजयः।
आचक्ष्व मम तत् सर्वं कुशलो ह्यसि संजय ॥४९॥

बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य देखकर मेरे पुत्र शोकमें डूब गये होंगे; ऐसा मेरा विश्वास है। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें वायुका सहारा पाकर बढ़ी हुई अग्नि सूखे घासको जला डालती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरी सेनाको दग्ध कर डालेंगे। संजय! तुम कथा कहनेमें कुशल हो; अतः युद्धका सारा समाचार मुझसे कहो ॥ ४८-४९ ॥

यदुपायात सायाह्ने कृत्वा पार्थस्य किल्बिषम्।
अभिमन्यौ हते तात कथमासीन्मनो हि वः ॥ ५० ॥

तात ! जब तुमलोग अभिमन्युके मारे जानेपर अर्जुनका महान् अपराध करके सायंकालमें शिबिरको लौटे थे, उस समय तुम्हारे मनकी क्या अवस्था थी ? ॥ ५० ॥

न जातु तस्य कर्माणि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अपकृत्य महत् तात सोढुं शक्ष्यन्ति मामकाः ॥ ५१ ॥

तात ! गाण्डीवधारी अर्जुनका महान् अपकार करके मेरे पुत्र युद्धमें उनके पराक्रमको कभी नहीं सह सकेंगे ॥५१॥

किन्नु दुर्योधनः कृत्यं कर्णः कृत्यं किमब्रवीत्।
दुःशासनः सौबलश्च तेषामेवं गतेष्वपि ॥ ५२ ॥

उस समय उनकी ऐसी अवस्था होनेपर भी दुर्योधनने कौन-सा कर्तव्य निश्चित किया ? कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिने क्या करनेकी सलाह दी ? ॥ ५२ ॥

सर्वेषां समवेतानां पुत्राणां मम संजय।
यद् वृत्तं तात संग्रामे मन्दस्यापनयैर्भृशम् ॥ ५३ ॥
लोभानुगस्य दुर्बुद्धेः क्रोधेन विकृतात्मनः।
राज्यकामस्य मूढस्य रागोपहतचेतसः।
दुर्नीतं वा सुनीतं वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ५४ ॥

तात संजय ! युद्धमें मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनके अत्यन्त अन्यायसे एकत्र हुए मेरे अन्य सभी पुत्रोंपर जो कुछ बीता था तथा लोभका अनुसरण करनेवाले, क्रोधसे विकृत चित्तवाले, रागसे दूषित हृदयवाले, राज्यकामी मूढ़ और दुर्बुद्धि दुर्योधनने जो न्याय अथवा अन्याय किया हो, वह सब मुझसे कहो ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उपालम्भ

संजय उवाच

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान्।
शुश्रूषस्व स्थिरो भूत्वा तव ह्यपनयो महान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! मैंने सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है, वह सब आपको अभी बताऊँगा। स्थिर होकर सुननेकी इच्छा कीजिये। इस परिस्थितिमें आपका महान् अन्याय ही कारण है ॥ १ ॥

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृगयं तव।
विलापो निष्फलो राजन् मा शुचो भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन् ! जैसे पानी निकल जानेपर वहाँ पुल बाँधना व्यर्थ है, उसी प्रकार इस समय आपका यह विलाप भी निष्फल है। आप शोक न कीजिये ॥ २ ॥

अनतिक्रमणीयोऽयं कृतान्तस्याद्भुतो विधिः।
मा शुचो भरतश्रेष्ठ दिष्टमेतत् पुरातनम् ॥ ३ ॥

कालके इस अद्भुत विधानका उल्लङ्घन करना असम्भव है। भरतभूषण ! शोक त्याग दीजिये। यह सब पुरातन प्रारब्धका फल है ॥ ३ ॥

यदि त्वं हि पुरा द्यूतात् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
निवर्तयेथाः पुत्रांश्च न त्वां व्यसनमाव्रजेत् ॥ ४ ॥

यदि आप कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा अपने पुत्रोंको पहले ही जूएसे रोक देते तो आपपर यह संकट नहीं आता ॥

युद्धकाले पुनः प्राप्ते तदैव भवता यदि।
निवर्तिताः स्युः संरब्धा न त्वां व्यसनमाव्रजेत् ॥ ५ ॥

फिर जब युद्धका अवसर आया, उसी समय यदि आपने क्रोधमें भरे हुए अपने पुत्रोंको बलपूर्वक रोक दिया होता तो आपपर यह संकट नहीं आ सकता था ॥ ५ ॥

दुर्योधनं चाविधेयं बध्नीतेति पुरा यदि।
कुरूनचोदयिष्यस्त्वं न त्वां व्यसनमाव्रजेत् ॥ ६ ॥

यदि आप पहले ही कौरवोंको यह आज्ञा दे देते कि इस दुर्विनीत दुर्योधनको कैद कर लो तो आपपर यह संकट नहीं आता ॥ ६ ॥

तत् ते बुद्धिव्यभीचारमुपलप्स्यन्ति पाण्डवाः।
पञ्चाला वृष्णयः सर्वे ये चान्येऽपि नराधिपाः ॥ ७ ॥

आपकी बुद्धिके वैपरीत्यका फल पाण्डव, पाञ्चाल, समस्त वृष्णिवंशी तथा अन्य जो-जो नरेश हैं, वे सभी भोगेंगे ॥७॥

स कृत्वा पितृकर्म त्वं पुत्रं संस्थाप्य सत्पथे।
वर्तेथा यदि धर्मेण न त्वां व्यसनमाव्रजेत् ॥ ८ ॥

यदि आपने अपने पुत्रको सन्मार्गमें स्थापित करके पिताके कर्तव्यका पालन करते हुए धर्मके अनुसार बर्ताव किया होता तो आपपर यह संकट नहीं आता ॥ ८ ॥

त्वं तु प्राज्ञतमो लोके हित्वा धर्मं सनातनम्।
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्चान्वगा मतम् ॥ ९ ॥

आप संसारमें बड़े बुद्धिमान् समझे जाते हैं तो भी आपने सनातनधर्मका परित्याग करके दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके मतका अनुसरण किया है ॥ ९ ॥

तत् तं विलपितं सर्वं मया राजन् निशामितम्।

अर्थे निविशमानस्य विषमिश्रं यथा मधु ॥ १० ॥

राजन् ! आप स्वार्थमें सने हुए हैं। आपका यह सारा विलाप-कलाप मैंने सुन लिया । यह विषमिश्रित मधुके समान ऊपरसे ही मीठा है (इसके भीतर घातक कटुता भरी हुई है) ॥ १० ॥

नामन्यत तदा कृष्णो राजानं पाण्डवं पुरा ।
न भीष्मं नैव च द्रोणं यथा त्वां मन्यतेऽच्युतः ॥ ११ ॥

अपनी महिमासे च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण पहले आपका जैसा सम्मान करते थे, वैसा उन्होंने पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीष्म तथा द्रोणाचार्यका भी समादर नहीं किया है ॥ ११ ॥

अजानात् स यदा तु त्वां राजधर्मादधश्च्युतम् ।
तदाप्रभृति कृष्णस्त्वां न तथा बहु मन्यते ॥ १२ ॥

परंतु जबसे श्रीकृष्णने यह जान लिया है कि आप राजोचित धर्मसे नीचे गिर गये हैं, तबसे वे आपका उस तरह अधिक आदर नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

परुषाण्युच्यमानांश्च यथा पार्थानुपेक्षसे ।
तस्यानुबन्धः प्राप्तस्त्वां पुत्राणां राज्यकामुक ॥ १३ ॥

पुत्रोंको राज्य दिलानेकी अभिलाषा रखनेवाले महाराज ! कुन्तीके पुत्रोंको कठोर बातें (गालियाँ) सुनायी जाती थीं और आप उनकी उपेक्षा करते थे । आज उसी अन्यायका फल आपको प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

पितृपैतामहं राज्यमपवृत्तं तदानघ ।
अथ पार्थैर्जितां कृत्स्नां पृथिवीं प्रत्यपद्यथाः ॥ १४ ॥

निष्पाप नरेश ! आपने उन दिनों बाप-दादोंके राज्यको तो अपने अधिकारमें कर ही लिया था; फिर कुन्तीके पुत्रोंद्वारा जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका विशाल साम्राज्य भी हड़प लिया ॥ १४ ॥

पाण्डुना निर्जितं राज्यं कौरवाणां यशस्तथा ।
ततश्चाप्यधिकं भूयः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥ १५ ॥

राजा पाण्डुने भूमण्डलका राज्य जीता और कौरवोंके यशका विस्तार किया था । फिर धर्मपरायण पाण्डवोंने अपने पितासे भी बढ़-चढ़कर राज्य और सुयशका प्रसार किया है ।१५।

तेषां तत् तादृशं कर्म त्वामासाद्य सुनिष्फलम् ।
यत् पित्र्याद् भ्रंशिता राज्यात् त्वयेहामिषगृद्धिना॥१६॥

परंतु उनका वैसा महान् कर्म भी आपको पाकर अत्यन्त निष्फल हो गया; क्योंकि आपने राज्यके लोभमें पड़कर उन्हें अपने पैतृक राज्यसे भी वञ्चित कर दिया ॥ १६ ॥

यत् पुनर्युद्धकाले त्वं पुत्रान् गर्हयसे नृप ।
बहुधा व्याहरन् दोषान् न तद्योपपद्यते ॥१७॥

नरेश्वर ! आज जब युद्धका अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें जो आप अपने पुत्रोंके नाना प्रकारके दोष बताते हुए उनकी निन्दा कर रहे हैं यह इस समय आपको शोभा नहीं देता है ॥ १७ ॥

न हि रक्षन्ति राजानो युध्यन्तो जीवितं रणे ।
चमूं विगाह्य पार्थानां युध्यन्ते क्षत्रियर्षभाः ॥१८॥

राजा लोग रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर रहे हैं । वे क्षत्रियशिरोमणि नरेश पाण्डवोंकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं ॥ १८ ॥

यां तु कृष्णार्जुनौ सेनां यां सात्यकिवृकोदरौ ।
रक्षेरन् को नु तां युध्येच्चमूमन्यत्र कौरवैः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण, अर्जुन, सात्यकि तथा भीमसेन जिस सेनाकी रक्षा करते हों, उसके साथ कौरवोंके सिवा दूसरा कौन युद्ध कर सकता है ? ॥ १९ ॥

येषां योद्धा गुडाकेशो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
येषां च सात्यकिर्योद्धा येषां योद्धा वृकोदरः ॥ २० ॥
को हि तान् विषहेद् योद्धुं मर्त्यधर्मा धनुर्धरः ।
अन्यत्र कौरवेयेभ्यो ये वा तेषां पदानुगाः ॥ २१ ॥

जिनके योद्धा गुडाकेश अर्जुन हैं, जिनके मन्त्री भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले योद्धा सात्यकि और भीमसेन हैं, उनके साथ कौरवों तथा उनके चरणचिह्नों-पर चलनेवाले अन्य नरेशोंको छोड़कर दूसरा कौन मरणधर्मा धनुर्धर युद्ध करनेका साहस कर सकता है ? ॥ २०-२१ ॥

यावत् तु शक्यते कर्तुमन्तरज्ञैर्जनाधिपैः ।
क्षत्रधर्मरतैः शूरैस्तावत् कुर्वन्ति कौरवाः ॥ २२ ॥

अवसरको जाननेवाले, क्षत्रिय-धर्मपरायण, शूरवीर राजा लोग जितना कर सकते हैं, कौरवपक्षी नरेश उतना पराक्रम करते हैं ॥ २२ ॥

यथा तु पुरुषव्याघ्रैर्युद्धं परमसंकटम् ।
कुरूणां पाण्डवैः सार्धं तत् सर्वं शृणु तत्त्वतः ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह पाण्डवोंके साथ कौरवोंका जिस प्रकार अत्यन्त संकटपूर्ण युद्ध हुआ है, वह सब आप ठीक-ठीक सुनिये ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि संजयवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें संजय-वाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

कौरव-सैनिकोंका उत्साह तथा आचार्य द्रोणके द्वारा चक्रशकटव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
स्वान्यनीकानि सर्वाणि प्राक्रामद् व्यूहितुं ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! वह रात बीतनेपर प्रातःकाल शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने अपनी सारी सेनाओंका व्यूह बनाना आरम्भ किया ॥ १ ॥

शूराणां गर्जतां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम्।
श्रूयन्ते स्म गिरश्चित्राः परस्परवधैषिणाम् ॥ २ ॥

राजन्! उस समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेके वधकी इच्छासे गर्जना करनेवाले अमर्षशील शूरवीरोंकी विचित्र बातें सुनायी देती थीं ॥ २ ॥

विस्फार्य च धनूंष्यन्ये ज्याः परे परिमृज्य च।
विनिःश्वसन्तः प्राक्रोशन् क्वेदानीं स धनंजयः ॥ ३ ॥

कोई धनुष खींचकर और कोई प्रत्यञ्चापर हाथ फेरकर रोषपूर्ण उच्छ्वास लेते हुए चिल्ला-चिल्लाकर कहते थे कि इस समय वह अर्जुन कहाँ है? ॥ ३ ॥

विकोशान् सुत्सरूनन्ये कृतधारान् समाहितान्।
पीतानाकाशसंकाशानसीन् केचिच्च चिक्षिपुः॥ ४ ॥

कितने ही योद्धा आकाशके समान निर्मल पानीदार, सँभालकर रक्खी हुई, सुन्दर मूठ और तेजधारवाली तलवारोंको म्यानसे निकालकर चलाने लगे ॥ ४ ॥

चरन्तस्त्वसिमार्गांश्च धनुर्मार्गांश्च शिक्षया।
संग्राममनसः शूरा दृश्यन्ते स्म सहस्रशः ॥ ५ ॥

मनमें संग्रामके लिये पूर्ण उत्साह रखनेवाले सहस्रों शूरवीर अपनी शिक्षाके अनुसार खड्गयुद्ध और धनुर्युद्धके मार्गों (पैंतरों) का प्रदर्शन करते दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

सघण्टाश्चन्दनादिग्धाः स्वर्णवज्रविभूषिताः।
समुत्क्षिप्य गदाश्चान्ये पर्यपृच्छन्त पाण्डवम् ॥ ६ ॥

दूसरे बहुत-से योद्धा घंटानादसे युक्त, चन्दनचर्चित तथा सुवर्ण एवं हीरोंसे विभूषित गदाएँ ऊपर उठाकर पूछते थे कि पाण्डुपुत्र अर्जुन कहाँ है? ॥ ६ ॥

अन्ये बलमदोन्मत्ताः परिघैर्बाहुशालिनः।
चक्रुः सम्बाधमाकाशमुच्छ्रितेन्द्रध्वजोपमैः ॥ ७ ॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले कितने ही योद्धा अपने बलके मदसे उन्मत्त हो ऊँचे फहराते हुए इन्द्र-ध्वजके समान उठे हुए परिघोंसे सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त कर रहे थे ॥

नानाप्रहरणैश्चान्ये विचित्रस्रगलङ्कृताः।
संग्राममनसः शूरास्तत्र तत्र व्यवस्थिताः ॥ ८ ॥

दूसरे शूरवीर योद्धा विचित्र मालाओंसे अलंकृत हो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये मनमें युद्धके लिये उत्साहित होकर जहाँ-तहाँ खड़े थे ॥ ८ ॥

क्वार्जुनः क्व स गोविन्दः क्व च मानी वृकोदरः।
क्व च ते सुहृदस्तेषामाह्वयन्ते रणे तदा ॥ ९ ॥

वे उस समय रणक्षेत्रमें शत्रुओंको ललकारते हुए इस प्रकार कहते थे, कहाँ है अर्जुन? कहाँ हैं श्रीकृष्ण? कहाँ है घमंडी भीमसेन? और कहाँ हैं उनके सारे सुहृद्? ॥ ९ ॥

ततः शङ्खमुपाध्माय त्वरयन् वाजिनः स्वयम्।
इतस्ततस्तान् रचयन् द्रोणश्चरति वेगितः ॥ १० ॥

तदनन्तर द्रोणाचार्य शङ्ख बजाकर स्वयं ही अपने घोड़ोंको उतावलीके साथ हाँकते और उन सैनिकोंका व्यूह-निर्माण करते हुए इधर-उधर बड़े वेगसे विचर रहे थे ॥ १० ॥

तेष्वनीकेषु सर्वेषु स्थितेष्वाहवनन्दिषु।
भारद्वाजो महाराज जयद्रथमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

महाराज! युद्धसे प्रसन्न होनेवाले उन समस्त सैनिकोंके व्यूहबद्ध हो जानेपर द्रोणाचार्यने जयद्रथसे कहा—॥ ११ ॥

त्वं चैव सौमदत्तिश्च कर्णश्चैव महारथः।
अश्वत्थामा च शल्यश्च वृषसेनः कृपस्तथा ॥ १२ ॥
शतं चाश्वसहस्राणां रथानामयुतानि षट्।
द्विरदानां प्रभिन्नानां सहस्राणि चतुर्दश ॥ १३ ॥
पदातीनां सहस्राणि दंशितान्येकविंशतिः।
गव्यूतिषु त्रिमात्रासु मामनासाद्य तिष्ठत ॥ १४ ॥

'राजन्! तुम, भूरिश्रवा, महारथी कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य, वृषसेन तथा कृपाचार्य, एक लाख घुड़सवार, साठ हजार रथ, चौदह हजार मदस्रावी गजराज तथा इक्कीस हजार कवचधारी पैदल सैनिकोंको साथ लेकर मुझसे छः कोसकी दूरीपर जाकर डटे रहो ॥ १२–१४ ॥

तत्रस्थं त्वां न संसोढुं शक्ता देवाः सवासवाः।
किं पुनः पाण्डवाः सर्वे समाश्वसिहि सैन्धव ॥ १५ ॥

'सिंधुराज! वहाँ रहनेपर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी तुम्हारा सामना नहीं कर सकते; फिर समस्त पाण्डव तो कर ही कैसे सकते हैं? अतः तुम धैर्य धारण करो' ॥ १५ ॥

एवमुक्तः समाश्वस्तः सिन्धुराजो जयद्रथः।
सम्प्रायात् सह गान्धारैर्वृतस्तैश्च महारथैः ॥ १६ ॥
वर्मिभिः सादिभिर्यत्तैः प्रासपाणिभिरास्थितैः।

उनके ऐसा कहनेपर सिंधुराज जयद्रथको बड़ा आश्वासन मिला। वह गान्धार महारथियोंसे घिरा हुआ युद्धके लिये चल दिया। कवचधारी घुड़सवार हाथोंमें प्रास लिये पूरी सावधानीके साथ उन्हें घेरे हुए चल रहे थे ॥ १६½ ॥

चामरापीडिनः सर्वे जाम्बूनदविभूषिताः ॥ १७ ॥
जयद्रथस्य राजेन्द्र हयाः साधुप्रवाहिनः ।
ते चैव सप्तसाहस्राम्रिसाहस्राश्च सैन्धवाः ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! जयद्रथके घोड़े सवारीमें बहुत अच्छा काम देते थे । वे सबके सब चवँरकी कलँगीसे सुशोभित और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित थे । उन सिंधुदेशीय अश्वोंकी संख्या दस हजार थी ॥ १७-१८ ॥

मत्तानां सुविरूढानां हस्त्यारोहैर्विशारदैः ।
नागानां भीमरूपाणां वर्मिणां रौद्रकर्मिणाम् ॥ १९ ॥
अध्यर्धेन सहस्रेण पुत्रो दुर्मर्षणस्तव ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां युध्यमानो व्यवस्थितः ॥ २० ॥

जिनपर युद्धकुशल हाथीसवार आरूढ थे, ऐसे भयंकर रूप तथा पराक्रमवाले डेढ़ हजार कवचधारी मतवाले गजराजोंके साथ आकर आपका पुत्र दुर्मर्षण युद्धके लिये उद्यत हो सम्पूर्ण सेनाओंके आगे खड़ा हुआ ॥ १९-२० ॥

ततो दुःशासनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजौ ।
सिन्धुराजार्थसिद्ध्यर्थमग्रानीके व्यवस्थितौ ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् आपके दो पुत्र दुःशासन और विकर्ण सिन्धुराज जयद्रथके अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए ॥ २१ ॥

दीर्घो द्वादश गव्यूतिः पश्चार्धे पञ्च विस्तृतः ।
व्यूहस्तु चक्रशकटो भारद्वाजेन निर्मितः ॥ २२ ॥

आचार्य द्रोणने चक्रगर्भ शकट-व्यूहका निर्माण किया था, जिसकी लम्बाई बारह गव्यूति (चौबीस कोस) थी और पिछले भागकी चौड़ाई पाँच गव्यूति (दस कोस) थी ॥२२॥

नानानृपतिभिर्वीरैस्तत्र तत्र व्यवस्थितैः ।
रथाश्वगजपत्त्योघैर्द्रोणेन विहितः स्वयम् ॥ २३ ॥

यत्र-तत्र खड़े हुए अनेक नरपतियों तथा हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल सैनिकोंद्वारा द्रोणाचार्यने स्वयं उस व्यूहकी रचना की थी ॥ २३ ॥

पश्चार्धे तस्य पद्मस्तु गर्भव्यूहः सुदुर्भिदः ।
सूची पद्मस्य गर्भस्थो गूढो व्यूहः कृतःपुनः ॥ २४ ॥

उस चक्रशकटव्यूहके पिछले भागमें पद्मनामक एक गर्भव्यूह बनाया गया था, जो अत्यन्त दुर्भेद्य था । उस पद्मव्यूहके मध्यभागमें सूची नामक एक गूढ़ व्यूह और बनाया गया था ॥ २४ ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य द्रोणो व्यवस्थितः ।
सूचीमुखे महेष्वासः कृतवर्मा व्यवस्थितः ॥ २५ ॥

इस प्रकार इस महाव्यूहकी रचना करके द्रोणाचार्य युद्धके लिये तैयार खड़े थे । सूचीमुख व्यूहके प्रमुख भागमें महाधनुर्धर कृतवर्मा खड़ा किया गया था ॥ २५ ॥

अनन्तरं च काम्बोजो जलसंधश्च मारिष ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च तदनन्तरमेव च ॥ २६ ॥

आर्य ! कृतवर्माके पीछे काम्बोजराज और जलसंध खड़े हुए, तदनन्तर दुर्योधन और कर्ण स्थित हुए ॥२६॥

ततः शतसहस्राणि योधानामनिवर्तिनाम् ।
व्यवस्थितानि सर्वाणि शकटे मुखरक्षिणाम् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् युद्धमें पीठ न दिखानेवाले एक लाख योद्धा खड़े हुए थे । वे सबके सब शकटव्यूहके प्रमुख भागकी रक्षाके लिये नियुक्त थे ॥ २७ ॥

तेषां च पृष्ठतो राजा बलेन महता वृतः ।
जयद्रथस्ततो राजा सूचीपार्श्वे व्यवस्थितः ॥ २८ ॥

उनके पीछे विशाल सेनाके साथ स्वयं राजा जयद्रथ सूचीव्यूहके पार्श्वभागमें खड़ा था ॥ २८ ॥

शकटस्य तु राजेन्द्र भारद्वाजो मुखे स्थितः ।
अनु तस्याभवद् भोजो जुगोपैनं ततः स्वयम् ॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! उस शकटव्यूहके मुहानेपर भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य थे और उनके पीछे भोज था, जो स्वयं आचार्यकी रक्षा करता था ॥ २९ ॥

श्वेतवर्माम्बरोष्णीषो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
धनुर्विस्फारयन् द्रोणस्तस्थौ क्रुद्ध इवान्तकः ॥ ३० ॥

द्रोणाचार्यका कवच श्वेत रंगका था । उनके वस्त्र और उष्णीष (पगड़ी) भी श्वेत ही थे । छाती चौड़ी और भुजाएँ विशाल थीं । उस समय धनुष खींचते हुए द्रोणाचार्य वहाँ क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान खड़े थे ॥ ३० ॥

पताकिनं शोणहयं वेदिकृष्णाजिनध्वजम् ।
द्रोणस्य रथमालोक्य प्रहृष्टाः कुरवोऽभवन् ॥ ३१ ॥

उस समय वेदी और काले मृगचर्मके चिह्नसे युक्त ध्वजवाले, पताकासे सुशोभित और लाल घोड़ोंसे जुते हुए द्रोणाचार्यके रथको देखकर समस्त कौरव बड़े प्रसन्न हुए ३१

सिद्धचारणसंघानां विस्मयः सुमहानभूत् ।
द्रोणेन विहितं दृष्ट्वा व्यूहं क्षुब्धार्णवोपमम् ॥ ३२ ॥

द्रोणाचार्यद्वारा रचित वह महाव्यूह क्षुब्ध महासागरके समान जान पड़ता था । उसे देखकर सिद्धों और चारणोंके समुदायोंको महान् विस्मय हुआ ॥ ३२ ॥

सशैलसागरवनां नानाजनपदाकुलाम् ।
ग्रसेद् व्यूहः क्षितिं सर्वामिति भूतानि मेनिरे ॥ ३३ ॥

उस समय समस्त प्राणी ऐसा मानने लगे कि वह व्यूह पर्वत, समुद्र और काननोंसहित अनेकानेक जनपदोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको अपना ग्रास बना लेगा ॥ ३३ ॥

बहुरथमनुजाश्वपत्तिनागं
प्रतिभयनिःस्वनमद्भुतानुरूपम् ।

अहितहृदयभेदनं महद् वै
शकटमवेक्ष्य कृतं ननन्द राजा ॥ ३४ ॥

बहुत-से रथ, पैदल मनुष्य, घोड़े और हाथियोंसे परिपूर्ण, भयंकर कोलाहलसे युक्त एवं शत्रुओंके हृदयको विदीर्ण करनेमें समर्थ, अद्भुत और समयके अनुरूप बने हुए उस महान् शकटव्यूहको देखकर राजा दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि कौरवव्यूहनिर्माणे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें कौरव-सेनाके व्यूहका निर्माणविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

कौरव-सेनाके लिये अपशकुन, दुर्मर्षणका अर्जुनसे लड़नेका उत्साह तथा अर्जुनका रणभूमिमें प्रवेश एवं शङ्खनाद

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु समुत्क्रुष्टेषु मारिष।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेषु नदत्सु च ॥ १ ॥
अनीकानां च संह्रादे वादित्राणां च निःस्वने।
प्रध्मापितेषु शङ्खेषु संनादे लोमहर्षणे ॥ २ ॥
अभिहारयत्सु शनकैर्भरतेषु युयुत्सुषु।
रौद्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते सव्यसाची व्यदृश्यत ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—आर्य ! जब इस प्रकार कौरव-सेनाओंकी व्यूह-रचना हो गयी, युद्धके लिये उत्सुक सैनिक कोलाहल करने लगे, नगाड़े पीटे जाने लगे, मृदङ्ग बजने लगे, सैनिकोंकी गर्जनाके साथ-साथ रणवाद्योंकी तुमुल ध्वनि फैलने लगी, शङ्ख फूँके जाने लगे, रोमाञ्चकारी शब्द गूँजने लगा और युद्धके इच्छुक भरतवंशी वीर जब कवच धारण करके धीरे-धीरे प्रहारके लिये उद्यत होने लगे, उस समय उग्र मुहूर्त आनेपर युद्धभूमिमें सव्यसाची अर्जुन दिखायी दिये ॥

बलानां वायसानां च पुरस्तात् सव्यसाचिनः।
बहुलानि सहस्राणि प्राक्रीडंस्तत्र भारत ॥ ४ ॥

भारत ! वहाँ सव्यसाची अर्जुनके सम्मुख आकाशमें कई हजार कौए और वायस क्रीडा करते हुए उड़ रहे थे ॥ ४ ॥

मृगाश्च घोरसंनादाः शिवाश्चाशिवदर्शनाः।
दक्षिणेन प्रयातानामस्माकं प्राणदंस्तथा ॥ ५ ॥

और जब हमलोग आगे बढ़ने लगे, तब भयंकर शब्द करनेवाले पशु और अशुभ दर्शनवाले सियार हमारे दाहिने आकर कोलाहल करने लगे ॥ ५ ॥

(लोकक्षये महाराज यादृशास्तादृशा हि ते।
अशिवा धार्तराष्ट्राणां शिवाः पार्थस्य संयुगे ॥)

महाराज ! उस लोक-संहारकारी युद्धमें जैसे-तैसे अपशकुन प्रकट होने लगे, जो आपके पुत्रोंके लिये अमङ्गलकारी और अर्जुनके लिये मङ्गलकारी थे ॥

सनिर्घाता ज्वलन्त्यश्च पेतुरुल्काः सहस्रशः।
चचाल च मही कृत्स्ना भये घोरे समुत्थिते ॥ ६ ॥

महान् भय उपस्थित होनेके कारण आकाशसे भयंकर गर्जनाके साथ सहस्रों जलती हुई उल्काएँ गिरने लगीं और सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ ६ ॥

विष्वग्वाताः सनिर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
ववुरायाति कौन्तेये संग्रामे समुपस्थिते ॥ ७ ॥

अर्जुनके आने और संग्रामका अवसर उपस्थित होनेपर रेतकी वर्षा करनेवाली विकट गर्जन-तर्जनके साथ रूखी एवं चौबाई हवा चलने लगी ॥ ७ ॥

नाकुलिश्च शतानीको धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
पाण्डवानामनीकानि प्राज्ञौ तौ व्यूहतुस्तदा ॥ ८ ॥

उस समय नकुलपुत्र शतानीक और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन दोनों बुद्धिमान् वीरोंने पाण्डव सैनिकोंके व्यूहका निर्माण किया ॥ ८ ॥

ततो रथसहस्रेण द्विरदानां शतेन च।
त्रिभिरश्वसहस्रैश्च पदातीनां शतैः शतैः ॥ ९ ॥
अध्यर्धमात्रे धनुषां सहस्रे तनयस्तव।
अग्रतः सर्वसैन्यानां स्थित्वा दुर्मर्षणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

तदनन्तर एक हजार रथी, सौ हाथीसवार, तीन हजार घुड़सवार और दस हजार पैदल सैनिकोंके साथ आकर अर्जुन-से डेढ़ हजार धनुषकी दूरीपर स्थित हो समस्त कौरव सैनिकोंके आगे होकर आपके पुत्र दुर्मर्षणने इस प्रकार कहा—॥ ९-१० ॥

अद्य गाण्डीवधन्वानं तपन्तं युद्धदुर्मदम्।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ११ ॥

'जिस प्रकार तटभूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकती है, उसी प्रकार आज मैं युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले शत्रु-संतापी गाण्डीवधारी अर्जुनको रोक दूँगा ॥ ११ ॥

अद्य पश्यन्तु संग्रामे धनंजयममर्षणम्।
विषक्तं मयि दुर्धर्षमश्मकूटमिवाश्मनि ॥ १२ ॥

'आज सब लोग देखें, जैसे पत्थर दूसरे प्रस्तरसमूहसे टकराकर रह जाता है, उसी प्रकार अमर्षशील दुर्धर्ष अर्जुन युद्धस्थलमें मुझसे भिड़कर अवरुद्ध हो जायँगे ॥ १२ ॥

तिष्ठध्वं रथिनो यूयं संग्राममभिकाङ्क्षिणः।

युध्यामि संहतानेतान् यशो मानं च वर्धयन् ॥ १३ ॥

'संग्रामकी इच्छा रखनेवाले रथियो ! आपलोग चुपचाप खड़े रहें। मैं कौरवकुलके यश और मानकी वृद्धि करता हुआ आज इन संगठित होकर आये हुए शत्रुओंके साथ युद्ध करूँगा' ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवन्महाराज महात्मा स महामतिः।
महेष्वासैर्वृतो राजन् महेष्वासो व्यवस्थितः ॥ १४ ॥

राजन् ! महाराज ! ऐसा कहता हुआ वह महामनस्वी महाबुद्धिमान् एवं महाधनुर्धर दुर्मर्षण बड़े-बड़े धनुर्धरोंसे घिरकर युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥ १४ ॥

ततोऽन्तक इव क्रुद्धः सवज्र इव वासवः।
दण्डपाणिरिवासह्यो मृत्युः कालेन चोदितः ॥ १५ ॥
शूलपाणिरिवाक्षोभ्यो वरुणः पाशवानिव।
युगान्ताग्निरिवार्चिष्मान् प्रधक्ष्यन् वै पुनः प्रजाः ॥ १६ ॥
क्रोधामर्षबलोद्धूतो निवातकवचान्तकः।
जयो जेता स्थितः सत्ये पारयिष्यन् महाव्रतम् ॥ १७ ॥
आमुक्तकवचः खड्गी जाम्बूनदकिरीटभृत्।
शुभ्रमाल्याम्बरधरः स्वङ्गदश्चारुकुण्डलः ॥ १८ ॥
रथप्रवरमास्थाय नरो नारायणानुगः।
विधुन्वन् गाण्डिवं संख्ये बभौ सूर्य इवोदितः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, दण्डधारी असह्य अन्तक, कालप्रेरक मृत्यु, किसीसे भी क्षुब्ध न होनेवाले त्रिशूलधारी रुद्र, पाशधारी वरुण तथा पुनः समस्त प्रजाको दग्ध करनेके लिये उठे हुए ज्वालाओंसे युक्त प्रलयकालीन अग्निदेवके समान दुर्धर्ष वीर अर्जुन युद्धस्थलमें अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे। वे क्रोध, अमर्ष और बलसे प्रेरित होकर आगे बढ़ रहे थे। उन्होंने ही पूर्वकालमें निवातकवच नामक दानवोंका संहार किया था। वे जय नामके अनुसार ही विजयी होते थे। सत्यमें स्थित होकर अपने महान् व्रतको पूर्ण करनेके लिये उद्यत थे। उन्होंने कवच बाँध रक्खा था। मस्तकपर जाम्बूनद सुवर्णका बना हुआ किरीट धारण किया था। उनके कमरमें तलवार लटक रही थी। वे नरस्वरूप अर्जुन नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अनुसरण करते हुए सुन्दर अंगदों (बाजूबन्द) और मनोहर कुण्डलोंसे सुशोभित हो रहे थे। उन्होंने श्वेत माला और श्वेत वस्त्र पहन रक्खे थे ॥ १५–१९ ॥

सोऽग्रानीकस्य महत इषुपाते धनंजयः।
व्यवस्थाप्य रथं राजञ्शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २० ॥

राजन् ! प्रतापी अर्जुनने अपने सामने खड़ी हुई विशाल शत्रुसेनाके सम्मुख, जितनी दूरसे बाण मारा जा सके उतनी ही दूरीपर अपने रथको खड़ा करके शङ्ख बजाया ॥ २० ॥

अथ कृष्णोऽप्यसम्भ्रान्तः पार्थेन सह मारिष।
प्राध्मापयत् पाञ्चजन्यं शङ्खं प्रवरमोजसा ॥ २१ ॥

आर्य ! तब श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ बिना किसी घबराहटके अपने श्रेष्ठ शङ्ख पाञ्चजन्यको बलपूर्वक बजाया ॥

तयोः शङ्खप्रणादेन तव सैन्ये विशाम्पते।
आसन् संहृष्टरोमाणः कम्पिता गतचेतसः ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उन दोनोंके शङ्खनादसे आपकी सेनाके समस्त योद्धाओंके रोंगटे खड़े हो गये, सब लोग काँपते हुए अचेत-से हो गये ॥ २२ ॥

यथा त्रस्यन्ति भूतानि सर्वाण्यशनिनिःस्वनात्।
तथा शङ्खप्रणादेन वित्रेसुस्तव सैनिकाः ॥ २३ ॥

जैसे वज्रकी गड़गड़ाहटसे सारे प्राणी थर्रा उठते हैं, उसी प्रकार उन दोनों वीरोंकी शङ्खध्वनिसे आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे ॥ २३ ॥

प्रसुस्रुवुः शकृन्मूत्रं वाहनानि च सर्वशः।
एवं सवाहनं सर्वमाविग्नमभवद् बलम् ॥ २४ ॥

सेनाके सभी वाहन भयके मारे मल-मूत्र करने लगे। इस प्रकार सवारियोंसहित सारी सेना उद्विग्न हो गयी ॥ २४ ॥

सीदन्ति स्म नरा राजञ्शङ्खशब्देन मारिष।
विसंज्ञाश्चाभवन् केचित् केचिद् राजन् वितत्रसुः ॥ २५ ॥

आदरणीय महाराज ! अपनी सेनाके सब मनुष्य वह शङ्खनाद सुनकर शिथिल हो गये। नरेश्वर ! कितने ही तो मूर्च्छित हो गये और कितने ही भयसे थर्रा उठे ॥ २५ ॥

ततः कपिर्महानादं सह भूतैर्ध्वजालयैः।
अकरोद् व्यादितास्यश्च भीषयंस्तव सैनिकान् ॥ २६ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनका दुर्मर्षणकी गजसेनामें प्रवेश

तत्पश्चात् अर्जुनकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगणोंके साथ वहाँ बैठे हुए हनूमान्‌जीने मुँह बाकर आपके सैनिकोंको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्चानकैः सह ।
पुनरेवाभ्यहन्यन्त तव सैन्यप्रहर्षणाः ॥ २७ ॥

तब आपकी सेनामें भी पुनः मृदङ्ग और ढोलके साथ शङ्ख तथा नगाड़े बज उठे, जो आपके सैनिकोंके हर्ष और उत्साहको बढ़ानेवाले थे ॥ २७ ॥

नानावादित्रसंह्रादैः क्ष्वेडितास्फोटिताकुलैः ।
सिंहनादैः समुत्कुष्टैः समाधूतैर्महारथैः ॥ २८ ॥
तस्मिंस्तु तुमुले शब्दे भीरूणां भयवर्धने ।
अतीव हृष्टो दाशार्हमब्रवीत् पाकशासनिः ॥ २९ ॥

नाना प्रकारके रणवाद्योंकी ध्वनिसे, गर्जन-तर्जन करनेसे, ताल ठोंकनेसे, सिंहनादसे और महारथियोंके ललकारनेसे जो शब्द होते थे, वे सब मिलकर भयंकर हो उठे और भीरु पुरुषोंके हृदयमें भय उत्पन्न करने लगे । उस समय अत्यन्त हर्षमें भरे हुए इन्द्रपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अर्जुनरणप्रवेशे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अर्जुनका रणभूमिमें प्रवेशविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्मर्षणकी गजसेनाका संहार और समस्त सैनिकोंका पलायन

अर्जुन उवाच

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्र दुर्मर्षणः स्थितः ।
एतद् भित्त्वा गजानीकं प्रवेक्ष्याम्यरिवाहिनीम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हृषीकेश ! जहाँ दुर्मर्षण खड़ा है, उसी ओर घोड़ोंको बढ़ाइये । मैं उसकी इस गजसेनाका भेदन करके शत्रुओंकी विशाल वाहिनीमें प्रवेश करूँगा ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाबाहुः केशवः सव्यसाचिना ।
अचोदयद्धयांस्तत्र यत्र दुर्मर्षणः स्थितः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सव्यसाची अर्जुनके ऐसा कहनेपर महाबाहु श्रीकृष्णने, जहाँ दुर्मर्षण खड़ा था, उसी ओर घोड़ोंको हाँका ॥ २ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः सम्प्रवृत्तः सुदारुणः ।
एकस्य च बहूनां च रथनागनरक्षयः ॥ ३ ॥

उस समय एक वीरका बहुत-से योद्धाओंके साथ बड़ा भयंकर घमासान युद्ध छिड़ गया, जो रथों, हाथियों और मनुष्योंका संहार करनेवाला था ॥ ३ ॥

ततः सायकवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
परानवाकिरत् पार्थः पर्वतानिव नीरदः ॥ ४ ॥

तदनन्तर अर्जुन बाणोंकी वर्षा करते हुए जल बरसानेवाले मेघके समान प्रतीत होने लगे । जैसे मेघ पानीकी वर्षा करके पर्वतोंको आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने अपनी बाणवर्षासे शत्रुओंको ढक दिया ॥ ४ ॥

ते चापि रथिनः सर्वे त्वरिताः कृतहस्तवत् ।
अवाकिरन् बाणजालैस्तत्र कृष्णधनंजयौ ॥ ५ ॥

उधर उन समस्त कौरव रथियोंने भी सिद्धहस्त पुरुषोंकी भाँति शीघ्रतापूर्वक अपने बाणसमूहोंद्वारा वहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्वार्यमाणः परैर्युधि ।
शिरांसि रथिनां पार्थः कायेभ्योऽपाहरच्छरैः ॥ ६ ॥

उस समय युद्धस्थलमें शत्रुओंके द्वारा रोके जानेपर महाबाहु अर्जुन कुपित हो उठे और अपने बाणोंद्वारा रथियोंके मस्तकोंको उनके शरीरोंसे काटकर गिराने लगे ॥ ६ ॥

उद्भ्रान्तनयनैर्वक्त्रैः संदष्टौष्ठपुटैः शुभैः ।
सकुण्डलशिरस्त्राणैर्वसुधा समकीर्यत ॥ ७ ॥

कुण्डल और टोपोंसहित उन रथियोंके घूमते हुए नेत्रों तथा दाँतोंद्वारा चबाये जाते हुए ओठोंवाले सुन्दर मुखोंसे सारी रणभूमि पट गयी ॥ ७ ॥

पुण्डरीकवनानीव विध्वस्तानि समन्ततः ।
विनिकीर्णानि योधानां वदनानि चकाशिरे ॥ ८ ॥

सब ओर बिखरे हुए योद्धाओंके मुख कटकर गिरे हुए कमल-समूहोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ८ ॥

तपनीयतनुत्राणाः संसिक्ता रुधिरेण च ।
संसक्ता इव दृश्यन्ते मेघसंघाः सविद्युतः ॥ ९ ॥

सुवर्णमय कवच धारण किये और खूनसे लथपथ हो एक दूसरेसे सटे हुए हताहत योद्धाओंके शरीर विद्युत्सहित मेघसमूहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

शिरसां पततां राजञ्शब्दोऽभूद् वसुधातले ।
कालेन परिपक्वानां तालानां पततामिव ॥ १० ॥

राजन् ! कालसे परिपक्व हुए ताड़के फलोंके पृथ्वीपर गिरनेसे जैसा शब्द होता है, उसी प्रकार रणभूमिमें कटकर गिरते हुए योद्धाओंके मस्तकोंका शब्द होता था ॥ १० ॥

ततः कबन्धं किंचित् तु धनुरालम्ब्य तिष्ठति ।
किंचित् खड्गं विनिष्कृष्य भुजेनोद्यम्य तिष्ठति ॥ ११ ॥

कोई-कोई कबन्ध (बिना सिरका धड़) धनुष लेकर

खड़ा था और कोई तलवार खींचकर उसे हाथमें उठाये खड़ा हुआ था ॥ ११ ॥

पतितानि न जानन्ति शिरांसि पुरुषर्षभाः ।
अमृष्यमाणाः संग्रामे कौन्तेयं जयगृद्धिनः ॥१२॥

संग्राममें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कितने ही श्रेष्ठ पुरुष कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति अमर्षशील होकर यह भी न जान पाये कि उनके मस्तक कब कटकर गिर गये ॥१२॥

हयानामुत्तमाङ्गैश्च हस्तिहस्तैश्च मेदिनी ।
बाहुभिश्च शिरोभिश्च वीराणां समकीर्यत ॥१३॥

घोड़ोंके मस्तकों, हाथियोंकी सूँड़ों और वीरोंकी भुजाओं तथा सिरोंसे सारी रणभूमि आच्छादित हो गयी थी॥

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो ।
तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥१४॥

प्रभो ! आपकी सेनाओंके समस्त योद्धाओंकी दृष्टिमें सब ओर अर्जुनमय-सा हो रहा था । वे बार-बार 'यह अर्जुन है, कहाँ अर्जुन है ? यह अर्जुन है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे ॥

अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे ।
पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ॥१५॥

बहुत-से दूसरे सैनिक आपसमें ही एक दूसरेपर तथा अपने ऊपर भी प्रहार कर बैठते थे । वे कालसे मोहित होकर सारे संसारको अर्जुनमय ही मानने लगे ॥ १५ ॥

निष्टनन्तः सरुधिरा विसंज्ञा गाढवेदनाः ।
शयाना बहवो वीराः कीर्तयन्तः स्वबान्धवान् ॥१६॥

बहुत-से वीर रक्तसे भीगे शरीरसे धराशायी होकर गहरी वेदनाके कारण कराहते हुए अपनी चेतना खो बैठते थे और कितने ही योद्धा धरतीपर पड़े-पड़े अपने बन्धु-बान्धवोंको पुकार रहे थे ॥ १६ ॥

सभिन्दिपालाः सप्रासाः सशक्त्यृष्टिपरश्वधाः।
सनिर्व्यूहाः सनिस्त्रिंशाः सशरासनतोमराः ॥१७॥
सबाणवर्माभरणाः सगदाः साङ्गदा रणे ।
महाभुजगसंकाशा बाहवः परिघोपमाः ॥१८॥
उद्वेष्टन्ति विचेष्टन्ति संचेष्टन्ति च सर्वशः ।
वेगं कुर्वन्ति संरब्धा निकृत्ताः परमेषुभिः ॥१९॥

अर्जुनके श्रेष्ठ बाणोंसे कटी हुई वीरोंकी परिघके समान मोटी और महान् सर्पके समान दिखायी देनेवाली भिन्दिपाल, प्रास, शक्ति, ऋष्टि, फरसे, निर्व्यूह, खड्ग, धनुष, तोमर, बाण, कवच, आभूषण, गदा और भुजबंद आदिसे युक्त भुजाएँ आवेशमें भरकर अपना महान् वेग प्रकट करती, ऊपरको उछलती, छटपटाती और सब प्रकारकी चेष्टाएँ करती थीं ॥ १७-१९ ॥

यो यः स समरे पार्थं प्रतिसंचरते नरः ।
तस्य तस्यान्तको बाणः शरीरमुपसर्पति ॥२०॥

जो-जो मनुष्य उस समराङ्गणमें अर्जुनका सामना करनेके लिये चलता था, उस-उसके शरीरपर प्राणान्तकारी बाण आ गिरता था ॥ २० ॥

नृत्यतो रथमार्गेषु धनुर्व्यायच्छतस्तथा ।
न कश्चित् तत्र पार्थस्य ददर्शोऽन्तरमण्वपि ॥ २१ ॥

अर्जुन वहाँ इस प्रकार निरन्तर रथके मार्गोंपर विचरते और खींच रहे थे कि उस समय कोई भी उनपर प्रहार करनेका धनुषको थोड़ा-सा भी अवसर नहीं देख पाता था ॥ २१ ॥

यत्तस्य घटमानस्य क्षिप्रं विक्षिपतः शरान् ।
लाघवात् पाण्डुपुत्रस्य व्यस्मयन्त परे जनाः ॥ २२ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुन पूर्ण सावधान हो विजय पानेकी चेष्टा करते और शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते थे । उस समय उनकी फुर्ती देखकर दूसरे लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ २२॥

हस्तिनं हस्तियन्तारमश्वमाश्विकमेव च ।
अभिनत् फाल्गुनो बाणै रथिनं च ससारथिम् ॥ २३ ॥

अर्जुनने हाथी और महावतको, घोड़े और घुड़सवारको तथा रथी और सारथिको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डाला॥

आवर्तमानमावृत्तं युध्यमानं च पाण्डवः ।
प्रमुखे तिष्ठमानं च न किंचिन्न निहन्ति सः ॥ २४ ॥

जो लौटकर आ रहे थे, जो आ चुके थे, जो युद्ध करते थे और जो सामने खड़े थे—इनमेंसे किसीको भी पाण्डुकुमार अर्जुन मारे बिना नहीं छोड़ते थे ॥ २४ ॥

यथोदयन् वै गगने सूर्यो हन्ति महत् तमः ।
तथार्जुनो गजानीकमवधीत् कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

जैसे आकाशमें उदित हुआ सूर्य महान् अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने कंककी पाँखवाले बाणोंद्वारा उस गजसेनाका संहार कर डाला ॥ २५ ॥

हस्तिभिः पतितैर्भिन्नैस्तव सैन्यमदृश्यत ।
अन्तकाले यथा भूमिर्व्यवकीर्णा महीधरैः ॥ २६ ॥

राजन् ! बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर धरतीपर पड़े हुए हाथियोंसे आपकी सेना वैसी ही दिखायी देती थी, जैसे प्रलयकालमें यह पृथ्वी इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंसे आच्छादित देखी जाती है ॥ २६ ॥

यथा मध्यन्दिने सूर्यो दुष्प्रेक्ष्यः प्राणिभिः सदा ।
तथा धनंजयः क्रुद्धो दुष्प्रेक्ष्यो युधि शत्रुभिः ॥ २७ ॥

जैसे दोपहरके सूर्यकी ओर देखना समस्त प्राणियोंके लिये सदा ही कठिन होता है, उसी प्रकार उस युद्धस्थलमें कुपित हुए अर्जुनकी ओर शत्रुलोग बड़ी कठिनाईसे देख पाते थे ॥ २७ ॥

तत् तथा तव पुत्रस्य सैन्यं युधि परंतप ।
प्रभग्नं द्रुतमाविग्नमतीव शरपीडितम् ॥ २८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! इस प्रकार उस युद्धस्थलमें अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुई आपके पुत्रकी सेनाके पाँव उखड़ गये और वह अत्यन्त उद्विग्न हो तुरंत ही वहाँसे भाग चली ॥

मारुतेनेव महता मेघानीकं व्यदीर्यत।
प्रकाल्यमानं तत् सैन्यं नाशकत् प्रतिवीक्षितुम्॥ २९॥

जैसे बड़े वेगसे उठी हुई वायु बादलोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार दुर्मर्षणकी सेनाका व्यूह टूट गया और वह अर्जुनके खदेड़नेपर इस प्रकार जोर-जोरसे भागने लगी कि उसे पीछे फिरकर देखनेका भी साहस न हुआ ॥

प्रतोदैश्चापकोटीभिर्हुङ्कारैः साधुवाहितैः।
कशापार्ष्ण्यभिघातैश्च वाग्भिरुग्राभिरेव च॥ ३०॥
चोदयन्तो हयांस्तूर्णं पलायन्ते स्म तावकाः।
सादिनो रथिनश्चैव पत्तयश्चार्जुनार्दिताः॥ ३१॥

अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुए आपके पैदल, घुड़सवार और रथी सैनिक चाबुक, धनुषकी कोटि, हुंकार, हाँकनेकी सुन्दर कला, कोड़ोंके प्रहार, चरणोंके आघात तथा भयंकर वाणीद्वारा अपने घोड़ोंको बड़ी उतावलीके साथ हाँकते हुए भाग रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

पार्ष्ण्यङ्गुष्ठाङ्कुशैर्नागं चोदयन्तस्तथा परे।
शरैः सम्मोहिताश्चान्ये तमेवाभिमुखा ययुः।
तव योधा हतोत्साहा विभ्रान्तमनसस्तदा॥ ३२॥

दूसरे गजारोही सैनिक अपने पैरोंके अँगूठों और अंकुशोंद्वारा हाथियोंको हाँकते हुए रणभूमिसे पलायन कर रहे थे। कितने ही योद्धा अर्जुनके बाणोंसे मोहित होकर उन्हींके सामने चले जाते थे। उस समय आपके सभी योद्धाओंका उत्साह नष्ट हो गया था और मनमें बड़ी भारी घबराहट पैदा हो गयी थी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अर्जुनयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः॥ ८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अर्जुनयुद्धविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

अर्जुनके बाणोंसे हताहत होकर सेनासहित दुःशासनका पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन् प्रभग्ने सैन्याग्रे वध्यमाने किरीटिना।
के तु तत्र रणे वीराः प्रत्युदीयुर्धनंजयम्॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! किरीटधारी अर्जुनकी मार खाकर उस अग्रगामी सैन्यदलके पलायन कर जानेपर वहाँ रणक्षेत्रमें किन वीरोंने अर्जुनपर धावा किया था ? ॥ १ ॥

आहोस्विच्छकटव्यूहं प्रविष्टा मोघनिश्चयाः।
द्रोणमाश्रित्य तिष्ठन्तं प्राकारमकुतोभयम्॥ २॥

अथवा ऐसा तो नहीं हुआ कि अपना मनोरथ सफल न होनेपर वे परकोटेकी भाँति खड़े हुए द्रोणाचार्यका आश्रय लेकर सर्वथा निर्भय शकटव्यूहमें घुस गये हों ॥ २ ॥

संजय उवाच

तथार्जुनेन सम्भग्ने तस्मिंस्तव बलेऽनघ।
हतवीरे हतोत्साहे पलायनकृतक्षणे॥ ३॥
पाकशासनिनाभीक्ष्णं वध्यमाने शरोत्तमैः।
न तत्र कश्चित् संग्रामे शशाकार्जुनमीक्षितुम्॥ ४॥

संजयने कहा—निष्पाप नरेश ! जब इन्द्रपुत्र अर्जुनने पूर्वोक्त प्रकारसे आपकी सेनाके वीरोंको मारकर उसे हतोत्साह एवं भागनेके लिये विवश कर दिया, सभी सैनिक पलायन करनेका ही अवसर देखने लगे तथा उनके ऊपर निरन्तर श्रेष्ठ बाणोंकी मार पड़ने लगी, उस समय वहाँ संग्राममें कोई भी अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख न सका ॥ ३-४ ॥

ततस्तव सुतो राजन् दृष्ट्वा सैन्यं तथागतम्।
दुःशासनो भृशं क्रुद्धो युद्धायार्जुनमभ्यगात्॥ ५॥

राजन् ! सेनाकी वह दुरवस्था देखकर आपके पुत्र दुःशासनको बड़ा क्रोध हुआ और वह युद्धके लिये अर्जुनके सामने जा पहुँचा ॥ ५ ॥

स काञ्चनविचित्रेण कवचेन समावृतः।
जाम्बूनदशिरस्त्राणः शूरस्तीव्रपराक्रमः॥ ६॥

उसने अपने-आपको सुवर्णमय विचित्र कवचके द्वारा ढक लिया था, उसके मस्तकपर जाम्बूनद सुवर्णका बना हुआ शिरस्त्राण (टोप) शोभा पा रहा था। वह दुःसह पराक्रम करनेवाला शूरवीर था ॥ ६ ॥

नागानीकेन महता ग्रसन्निव महीमिमाम्।
दुःशासनो महाराज सव्यसाचिनमावृणोत्॥ ७॥

महाराज ! दुःशासनने अपनी विशाल गजसेनाद्वारा अर्जुनको इस प्रकार चारों ओरसे घेर लिया, मानो वह सारी पृथ्वीको ग्रस लेनेके लिये उद्यत हो ॥ ७ ॥

ह्रादेन गजघण्टानां शङ्खानां निनदेन च।
ज्याक्षेपनिनदैश्चैव विरावेण च दन्तिनाम्॥ ८॥
भूर्दिशश्चान्तरिक्षं च शब्देनासीत् समावृतम्।
स मुहूर्तं प्रतिभयो दारुणः समपद्यत॥ ९॥

हाथियोंके घंटोंकी ध्वनि, शङ्खनाद, धनुषकी टंकार और गजराजोंके चिग्घाड़नेके शब्दसे पृथ्वी, दिशाएँ तथा आकाश—ये सभी गूँज उठे थे। उस समय दुःशासन दो घड़ीके लिये अत्यन्त भयंकर एवं दारुण हो उठा ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णमङ्कुशैरभिचोदितान् ।
व्यालम्बहस्तान् संरब्धान् सपक्षानिव पर्वतान् ॥ १० ॥
सिंहनादेन महता नरसिंहो धनंजयः ।
गजानीकममित्राणामभीतो व्यधमच्छरैः ॥ ११ ॥

महावतोंद्वारा अंकुशोंसे हाँके जानेपर लम्बी सूँड़ उठाये और क्रोधमें भरे, पंखधारी पर्वतोंके समान उन हाथियोंको बड़े वेगसे अपने ऊपर आते देख मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्जुनने बड़े जोरसे सिंहनाद करके शत्रुओंकी उस गजसेनाका बिना किसी भयके बाणोंद्वारा संहार कर डाला॥

महोर्मिणमिवोद्धूतं श्वसनेन महार्णवम् ।
किरीटी तद् गजानीकं प्राविशन्मकरो यथा ॥ १२ ॥

वायुद्वारा ऊपर उठाये हुए ऊँची-ऊँची तरंगोंसे युक्त महासागरके समान उस गजसैन्यमें किरीटधारी अर्जुनने मकरके समान प्रवेश किया ॥ १२ ॥

काष्ठातीत इवादित्यः प्रतपन् स युगक्षये ।
ददृशे दिक्षु सर्वासु पार्थः परपुरंजयः ॥ १३ ॥

जैसे प्रलयकालमें सूर्यदेव सीमाका उल्लङ्घन करके तपने लगते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले अर्जुन सम्पूर्ण दिशाओंमें असीम पराक्रम करते हुए दिखायी देने लगे ॥ १३ ॥

खुरशब्देन चाश्वानां नेमिघोषेण तेन च ।
तेन चोत्कृष्टशब्देन ज्यानिनादेन तेन च ॥ १४ ॥
नानावादित्रशब्देन पाञ्चजन्यस्वनेन च ।
देवदत्तस्य घोषेण गाण्डीवनिनदेन च ॥ १५ ॥
मन्दवेगा नरा नागा बभूवुस्ते विचेतसः ।
शरैराशीविषस्पर्शैर्निर्भिन्नाः सव्यसाचिना ॥ १६ ॥

घोड़ोंकी टापोंके शब्दसे, रथके पहियोंकी उस घरघराहटसे, उच्चस्वरसे किये जानेवाले गर्जन-तर्जनकी उस आवाजसे, धनुषकी प्रत्यञ्चाकी उस टंकारसे, भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनिसे, पाञ्चजन्यके हुंकारसे, देवदत्त नामक शङ्खके गम्भीर घोषसे तथा गाण्डीवकी टंकार-ध्वनिसे मनुष्यों और हाथियोंके वेग मन्द पड़ गये और वे सब-के-सब भयके मारे अचेत हो गये। सव्यसाची अर्जुनने विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें विदीर्ण कर दिया ॥ १४–१६ ॥

ते गजा विशिखैस्तीक्ष्णैर्युधि गाण्डीवचोदितैः ।
अनेकशतसाहस्रैः सर्वाङ्गेषु समर्पिताः ॥ १७ ॥

गाण्डीव धनुषद्वारा चलाये हुए लाखों तीखे बाण युद्धस्थलमें खड़े हुए उन हाथियोंके सम्पूर्ण अङ्गोंमें बिंध गये थे ॥ १७ ॥

आरावं परमं कृत्वा वध्यमानाः किरीटिना ।
निपेतुरनिशं भूमौ छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ १८ ॥

अर्जुनके बाणोंकी मार खाकर बड़े जोरसे चीत्कार करके वे हाथी पंख कटे हुए पर्वतोंके समान पृथ्वीपर निरन्तर गिर रहे थे ॥ १८ ॥

अपरे दन्तवेष्टेषु कुम्भेषु च कटेषु च ।
शरैः समर्पिता नागाः क्रौञ्चवद् व्यनदन् मुहुः॥ १९ ॥

कुछ दूसरे गजराज नीचेके ओठोंमें, कुम्भस्थलोंमें और कनपटियोंमें बाणोंसे छिद जानेके कारण कुरर पक्षीके समान बारंबार आर्तनाद कर रहे थे ॥ १९ ॥

गजस्कन्धगतानां च पुरुषाणां किरीटिना ।
छिद्यन्ते चोत्तमाङ्गानि भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ २० ॥

किरीटधारी अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा हाथीकी पीठपर बैठे हुए पुरुषोंके मस्तक भी धड़ाधड़ काटते जा रहे थे ॥ २० ॥

सकुण्डलानां पततां शिरसां धरणीतले ।
पद्मानामिव संघातैः पार्थश्चक्रे निवेदनम् ॥ २१ ॥

पृथ्वीपर गिरते हुए कुण्डलयुक्त मस्तक कमलपुष्पोंके ढेरके समान जान पड़ते थे, मानो अर्जुनने उन मस्तकोंके रूपमें पृथ्वीको पद्मके समूह भेंट किये हों ॥ २१ ॥

यन्त्रबद्धा विकवचा व्रणार्ता रुधिरोक्षिताः ।
भ्रमत्सु युधि नागेषु मनुष्या विललम्बिरे ॥ २२ ॥

युद्धके मैदानमें चक्कर काटते हुए हाथियोंपर बहुत-से मनुष्य इस प्रकार लटक रहे थे, मानो उन्हें किसी यन्त्रसे वहाँ जड़ दिया गया हो। उनके कवच नष्ट हो गये थे। वे घावसे पीड़ित और खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ २२ ॥

केचिदेकेन बाणेन सुयुक्तेन सुपत्रिणा ।
द्वौ त्रयश्च विनिर्भिन्ना निपेतुर्धरणीतले ॥ २३ ॥

कुछ हाथी तो अच्छी तरहसे चलाये हुए सुन्दर पंख-युक्त एक ही बाणद्वारा दो-दो तीन-तीनकी संख्यामें एक साथ विदीर्ण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ २३ ॥

अतिविद्धाश्च नाराचैर्वमन्तो रुधिरं मुखैः ।
सारोहा न्यपतन् भूमौ द्रुमवन्त इवाचलाः ॥ २४ ॥

सवारोंसहित कितने ही हाथी नाराचोंसे अत्यन्त घायल होकर मुँहसे रक्त वमन करते हुए वृक्षयुक्त पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे थे ॥ २४ ॥

मौर्वीं ध्वजं धनुश्चैव युगमीषां तथैव च ।
रथिनां कुट्टयामास भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा रथियोंकी प्रत्यञ्चा, ध्वजा, धनुष, जुआ तथा ईषादण्डके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २५ ॥

न संदधन् न चाकर्षन् न विमुञ्चन् न चोद्वहन् ।
मण्डलेनैव धनुषा नृत्यन् पार्थः स्म दृश्यते ॥ २६ ॥

उस समय अर्जुन मण्डलाकार धनुषके साथ सब ओर नृत्य करते हुए-से दृष्टिगोचर हो रहे थे । वे कब धनुषपर बाणोंको रखते, कब प्रत्यञ्चा खींचते, कब बाण छोड़ते और कब उन्हें तरकससे निकालते हैं, यह कोई नहीं देख पाता था ॥

अतिविद्धाश्च नाराचैर्वमन्तो रुधिरं मुखैः ।
मुहूर्तान्न्यपतन्नन्ये वारणा वसुधातले ॥ २७ ॥

दो ही घड़ीमें और भी बहुत-से हाथी नाराचोंकी मारसे अत्यन्त क्षत-विक्षत होकर मुँहसे रक्त वमन करते हुए धरतीपर लोटने लगे ॥ २७ ॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
अदृश्यन्त महाराज तस्मिन् परमसंकुले ॥ २८ ॥

महाराज ! उस अत्यन्त भयानक युद्धमें चारों ओर असंख्य कबन्ध (धड़) उठे दिखायी देते थे ॥ २८ ॥

सचापाः साङ्गुलित्राणाः सखड्गाः साङ्गदा रणे ।
अदृश्यन्त भुजाश्छिन्ना हेमाभरणभूषिताः ॥ २९ ॥

वीरोंकी कटी हुई स्वर्णमय आभूषणोंसे विभूषित भुजाएँ धनुष, दस्ताने, तलवार और भुजबन्दोंसहित कटकर रणभूमिमें पड़ी दिखायी देती थीं ॥ २९ ॥

सूपस्करैरधिष्ठानैरीषादण्डकबन्धुरैः ।
चक्रैर्विमथितैरक्षैर्भग्नैश्च बहुधा युगैः ॥ ३० ॥
चर्मचापधरैश्चैव व्यवकीर्णैस्ततस्ततः ।
स्रग्भिराभरणैर्वस्त्रैः पतितैश्च महाध्वजैः ॥ ३१ ॥
निहतैर्वारणैरश्वैः क्षत्रियैश्च निपातितैः ।
अदृश्यत मही तत्र दारुणप्रतिदर्शना ॥ ३२ ॥

सुन्दर उपकरणों, बैठकों, ईषादण्ड, बन्धनरज्जुओं और पहियोंसहित रथ चूर-चूर हो रहे थे । उनके धुरे टूट गये थे और जूए टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े थे । बहुत-सी ढालों और धनुषोंको लिये-दिये वे टूटे हुए रथ इधर-उधर बिखरे पड़े थे । बहुत-से हार, आभूषण, वस्त्र और बड़े-बड़े ध्वज धरतीपर गिरे हुए थे । अनेक हाथी और घोड़े मारे गये थे तथा बहुत-से क्षत्रिय भी धराशायी कर दिये गये थे । इन सबके कारण वहाँकी भूमि देखनेमें अत्यन्त भयंकर जान पड़ती थी ॥ ३०–३२ ॥

एवं दुःशासनबलं वध्यमानं किरीटिना ।
सम्प्राद्रवन्महाराज व्यथितं सहनायकम् ॥ ३३ ॥

महाराज ! इस प्रकार किरीटधारी अर्जुनकी मार खाकर अत्यन्त व्यथित हुई दुःशासनकी सेना अपने नायकसहित भाग चली ॥ ३३ ॥

ततो दुःशासनस्त्रस्तः सहानीकः शरार्दितः ।
द्रोणं त्रातारमाकाङ्क्षञ्शकटव्यूहमभ्यगात् ॥ ३४ ॥

तब अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित और भयभीत हो सेनाओंसहित दुःशासन अपने रक्षक द्रोणाचार्यके आश्रयमें जानेकी इच्छा रखकर शकट-व्यूहके भीतर घुस गया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुःशासनसैन्यपराभवे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुःशासनकी सेनाका पराभवविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

अर्जुन और द्रोणाचार्यका वार्तालाप तथा युद्ध एवं द्रोणाचार्यको छोड़कर आगे बढ़े हुए अर्जुनका कौरव सैनिकोंद्वारा प्रतिरोध

संजय उवाच

दुःशासनबलं हत्वा सव्यसाची महारथः ।
सिन्धुराजं परीप्सन् वै द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुःशासनकी सेनाका संहार करके सव्यसाची महारथी अर्जुनने सिन्धुराज जयद्रथको पानेकी इच्छा रखकर द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ १ ॥

स तु द्रोणं समासाद्य व्यूहस्य प्रमुखे स्थितम् ।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं कृष्णस्यानुमतेऽब्रवीत् ॥ २ ॥

व्यूहके मुहानेपर खड़े हुए आचार्य द्रोणके पास पहुँचकर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमति ले हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

शिवेन ध्याहि मां ब्रह्मन् स्वस्ति चैव वदस्व मे ।

भवत्प्रसादादिच्छामि प्रवेष्टुं दुर्भिदां चमूम् ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन् ! आप मेरा कल्याण चिन्तन कीजिये । मुझे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दीजिये । मैं आपकी कृपासे ही इस दुर्भेद्य सेनाके भीतर प्रवेश करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भवान् पितृसमो मह्यं धर्मराजसमोऽपि च ।
तथा कृष्णसमश्चैव सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

'आप मेरे लिये पिता पाण्डु, भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर तथा सखा श्रीकृष्णके समान हैं । यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ४ ॥

अश्वत्थामा यथा तात रक्षणीयस्त्वयानघ ।
तथाहमपि ते रक्ष्यः सदैव द्विजसत्तम ॥ ५ ॥

'तात ! निष्पाप द्विजश्रेष्ठ ! जैसे अश्वत्थामा आपके लिये रक्षणीय हैं, उसी प्रकार मैं भी सदैव आपसे संरक्षण पानेका अधिकारी हूँ ॥ ५ ॥

तव प्रसादादिच्छेयं सिन्धुराजानमाहवे ।
निहन्तुं द्विपदां श्रेष्ठ प्रतिज्ञां रक्ष मे प्रभो ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं आपके प्रसादसे इस युद्धमें सिन्धुराज जयद्रथको मारना चाहता हूँ । प्रभो ! आप मेरी इस प्रतिज्ञाकी रक्षा कीजिये' ॥ ६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तदाचार्यः प्रत्युवाच स्मयन्निव ।
मामजित्वा न बीभत्सो शक्यो जेतुं जयद्रथः ॥ ७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस समय द्रोणाचार्यने उन्हें हँसते हुए-से उत्तर दिया—'अर्जुन ! मुझे पराजित किये बिना जयद्रथको जीतना असम्भव है' ॥ ७ ॥

एतावदुक्त्वा तं द्रोणः शरव्रातैरवाकिरत् ।
सरथाश्वध्वजं तीक्ष्णैः प्रहसन् वै ससारथिम् ॥ ८ ॥

अर्जुनसे इतना ही कहकर द्रोणाचार्यने हँसते-हँसते रथ, घोड़े, ध्वज तथा सारथिसहित उनके ऊपर तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ८ ॥

ततोऽर्जुनः शरव्रातान् द्रोणस्यावार्य सायकैः ।
द्रोणमभ्यद्रवद् बाणैर्घोररूपैर्महत्तरैः ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यके बाणसमूहोंका निवारण करके बड़े-बड़े भयंकर बाणोंद्वारा उनपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

विव्याध चरणे द्रोणमनुमान्य विशाम्पते ।
क्षत्रधर्मं समास्थाय नवभिः सायकैः पुनः ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! उन्होंने द्रोणाचार्यका समादर करते हुए क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले पुनः नौ बाणोंद्वारा उनके चरणोंमें आघात किया ॥ १० ॥

तस्येषूनिषुभिश्छित्त्वा द्रोणो विव्याध तावुभौ ।
विषाग्निज्वलितप्रख्यैरिषुभिः कृष्णपाण्डवौ ॥ ११ ॥

द्रोणाचार्यने अपने बाणोंद्वारा अर्जुनके उन बाणोंको काटकर प्रज्वलित विष एवं अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको घायल कर दिया ॥ ११ ॥

इयेष पाण्डवस्तस्य बाणैश्छेत्तुं शरासनम् ।
तस्य चिन्तयतस्त्वेवं फाल्गुनस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
द्रोणः शरैरसम्भ्रान्तो ज्यां चिच्छेदाशु वीर्यवान् ।
विव्याध च हयानस्य ध्वजं सारथिमेव च ॥ १३ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यके धनुषको काट देनेकी इच्छा की । महामना अर्जुन अभी इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि पराक्रमी द्रोणाचार्यने बिना किसी घबराहटके अपने बाणोंद्वारा शीघ्र ही उनके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट डाली और अर्जुनके घोड़ों, ध्वज और सारथिको भी बींध डाला ॥ १२-१३ ॥

अर्जुनं च शरैर्वीरः स्मयमानोऽभ्यवाकिरत् ।
एतस्मिन्नन्तरे पार्थः सज्यं कृत्वा महद् धनुः ॥ १४ ॥
विशेषयिष्यन्नाचार्यं सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
मुमोच षट्शतान् बाणान् गृहीत्वैकमिव द्रुतम् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, वीर द्रोणाचार्यने मुसकराकर अर्जुनको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित कर दिया । इसी बीचमें सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार अर्जुनने अपने विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और आचार्यसे बढ़कर पराक्रम दिखानेकी इच्छासे तुरंत छः सौ बाण छोड़े । उन बाणोंको उन्होंने इस प्रकार हाथमें ले लिया था, मानो एक ही बाण हो ॥ १४-१५ ॥

पुनः सप्तशतानन्यान् सहस्रं चानिवर्तिनः ।
चिक्षेपायुतशश्चान्यांस्तेऽघ्नन् द्रोणस्य तां चमूम् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सात सौ और फिर एक हजार ऐसे बाण छोड़े जो किसी प्रकार प्रतिहत होनेवाले नहीं थे । तदनन्तर अर्जुनने दस-दस हजार बाणोंद्वारा प्रहार किया । उन सभी बाणोंने द्रोणाचार्यकी उस सेनाका संहार कर डाला ॥ १६ ॥

तैः सम्यगस्तैर्बलिना कृतिना चित्रयोधिना ।
मनुष्यवाजिमातङ्गा विद्धाः पेतुर्गतासवः ॥ १७ ॥

विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले अस्त्रवेत्ता महाबली अर्जुनके द्वारा भलीभाँति चलाये हुए उन बाणोंसे घायल हो बहुत-से मनुष्य, घोड़े और हाथी प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

विसूताश्वध्वजाः पेतुः संछिन्नायुधजीविताः ।
रथिनो रथमुख्येभ्यः सहसा शरपीडिताः ॥ १८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुए बहुतेरे रथी सारथि,

अश्व, ध्वज, अस्त्र-शस्त्र और प्राणोंसे भी वञ्चित हो सहसा श्रेष्ठ रथोंसे नीचे जा गिरे ॥ १८ ॥

चूर्णिताक्षिप्तदग्धानां वज्रानिलहुताशनैः ।
तुल्यरूपा गजाः पेतुर्गिर्यग्राम्बुदवेश्मनाम् ॥१९ ॥

वज्रके आघातसे चूर-चूर हुए पर्वतों, वायुके द्वारा संचालित हुए भयंकर बादलों तथा आगमें जले हुए गृहोंके समान रूपवाले बहुत-से हाथी धराशायी हो रहे थे ॥ १९ ॥

पेतुरश्वसहस्राणि प्रहतान्यर्जुनेषुभिः ।
हंसा हिमवतः पृष्ठे वारिविप्रहता इव ॥ २०॥

अर्जुनके बाणोंसे मारे गये सहस्रों घोड़े रणभूमिमें उसी प्रकार पड़े थे, जैसे वर्षाके जलसे आहत हुए बहुत-से हंस हिमालयकी तलहटीमें पड़े हुए हों ॥ २० ॥

रथाश्वद्विपपत्त्योघाः सलिलौघा इवाद्भुताः ।
युगान्तादित्यरश्म्याभैः पाण्डवास्त्रशरैर्हताः ॥ २१ ॥

प्रलयकालके सूर्यकी किरणोंके समान अर्जुनके तेजस्वी बाणोंद्वारा मारे गये रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंके समूह सूर्यकिरणोंद्वारा सोखे गये अद्भुत जलप्रवाहके समान जान पड़ते थे ॥ २१ ॥

तं पाण्डवादित्यशरांशुजालं
कुरुप्रवीरान् युधि निष्टपन्तम् ।
स द्रोणमेघः शरवृष्टिवेगैः
प्राच्छादयन्मेघ इवार्करश्मीन् ॥ २२ ॥

जैसे बादल सूर्यकी किरणोंको छिपा देता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यरूपी मेघने अपनी बाणवर्षाके वेगसे अर्जुनरूपी सूर्यके इस बाणरूपी किरणसमूहको आच्छादित कर दिया, जो युद्धमें मुख्य-मुख्य कौरव वीरोंको संतप्त कर रहा था ॥ २२ ॥

अथात्यर्थं विसृष्टेन द्विषतामसुभोजिना ।
आजघ्ने वक्षसि द्रोणो नाराचेन धनंजयम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंके प्राण लेनेवाले एक नाराचका प्रहार करके द्रोणाचार्यने अर्जुनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गः क्षितिकम्पे यथाचलः ।
धैर्यमालम्ब्य बीभत्सुर्द्रोणं विव्याध पत्रिभिः ॥ २४ ॥

उस आघातसे अर्जुनका सारा शरीर विह्वल हो गया, मानो भूकम्प होनेपर पर्वत हिल उठा हो । तथापि अर्जुनने धैर्य धारण करके पंखयुक्त बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ २४ ॥

द्रोणस्तु पञ्चभिर्बाणैर्वासुदेवमताडयत् ।
अर्जुनं च त्रिसप्तत्या ध्वजं चास्य त्रिभिः शरैः ॥२५ ॥

फिर द्रोणने भी पाँच बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णको, तिहत्तर बाणोंसे अर्जुनको और तीन बाणोंद्वारा उनके ध्वजको भी चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

विशेषयिष्यञ्छिष्यं च द्रोणो राजन् पराक्रमी ।
अदृश्यमर्जुनं चक्रे निमेषाच्छरवृष्टिभिः ॥ २६ ॥

राजन् ! पराक्रमी द्रोणाचार्यने अपने शिष्य अर्जुनसे अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर पलक मारते-मारते अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा अर्जुनको अदृश्य कर दिया ॥

प्रसक्तान् पततोऽद्राक्ष्म भारद्वाजस्य सायकान् ।
मण्डलीकृतमेवास्य धनुश्चादृश्यताद्भुतम् ॥ २७ ॥

हमने देखा, द्रोणाचार्यके बाण परस्पर सटे हुए गिरते थे । उनका अद्भुत धनुष सदा मण्डलाकार ही दिखायी देता था ॥ २७ ॥

तेऽभ्ययुः समरे राजन् वासुदेवधनंजयौ ।
द्रोणसृष्टाः सुबहवः कङ्कपत्रपरिच्छदाः ॥ २८ ॥

राजन् ! उस समराङ्गणमें द्रोणाचार्यके छोड़े हुए कंकपत्रविभूषित बहुत-से बाण श्रीकृष्ण और अर्जुनपर पड़ने लगे ॥ २८ ॥

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं द्रोणपाण्डवयोस्तदा ।
वासुदेवो महाबुद्धिः कार्यवत्तामचिन्तयत् ॥ २९ ॥

उस समय द्रोणाचार्य और अर्जुनका वैसा युद्ध देखकर परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने मन-ही-मन कर्तव्यका निश्चय कर लिया ॥ २९ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धनंजयमिदं वचः ।
पार्थ पार्थ महाबाहो न नः कालात्ययो भवेत् ॥ ३० ॥
द्रोणमुत्सृज्य गच्छामः कृत्यमेतन्महत्तरम् ।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुनसे इस प्रकार बोले—'अर्जुन ! अर्जुन ! महाबाहो ! हमारा अधिक समय यहाँ न बीत जाय, इसलिये द्रोणाचार्यको छोड़कर आगे चलें; यही इस समय सबसे महान् कार्य है' ॥ ३०½ ॥

पार्थश्चाप्यब्रवीत् कृष्णं यथेष्टमिति केशवम् ॥ ३१ ॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा द्रोणं प्रायान्महाभुजम् ।
परिवृत्तश्च बीभत्सुरगच्छद् विसृजञ्शरान् ॥ ३२ ॥

तब अर्जुनने भी सच्चिदानन्दस्वरूप केशवसे कहा—'प्रभो ! आपकी जैसी रुचि हो, वैसा कीजिये ।' तत्पश्चात् अर्जुन महाबाहु द्रोणाचार्यकी परिक्रमा करके लौट पड़े और बाणोंकी वर्षा करते हुए आगे चले गये ॥ ३१-३२ ॥

ततोऽब्रवीत् स्वयं द्रोणः क्वेदं पाण्डव गम्यते ।
ननु नाम रणे शत्रुमजित्वा न निवर्तसे ॥ ३३ ॥

यह देख द्रोणाचार्यने स्वयं कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम इस प्रकार कहाँ चले जा रहे हो ? तुम तो रणक्षेत्रमें शत्रुको पराजित किये बिना कभी नहीं लौटते थे' ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच

गुरुर्भवान् न मे शत्रुः शिष्यः पुत्रसमोऽस्मि ते ।
न चास्ति स पुमाँल्लोके यस्त्वां युधि पराजयेत् ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोले—ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं। शत्रु नहीं हैं। मैं आपका पुत्रके समान प्रिय शिष्य हूँ। इस जगत्‌में ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो युद्धमें आपको पराजित कर सके॥ ३४॥

संजय उवाच

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्जयद्रथवधोत्सुकः।
त्वरायुक्तो महाबाहुस्त्वत्सैन्यं समुपाद्रवत्॥ ३५॥

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसा कहते हुए महाबाहु अर्जुनने जयद्रथ-वधके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ आपकी सेनापर धावा किया॥ ३५॥

तं चक्ररक्षौ पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
अन्वयातां महात्मानौ विशन्तं तावकं बलम्॥ ३६॥

आपकी सेनामें प्रवेश करते समय उनके पीछे-पीछे पाञ्चाल वीर महामना युधामन्यु और उत्तमौजा चक्र-रक्षक होकर गये॥ ३६॥

ततो जयो महाराज कृतवर्मा च सात्वतः।
काम्बोजश्च श्रुतायुश्च धनंजयमवारयन्॥ ३७॥

महाराज! तब जय, सात्वत-वंशी कृतवर्मा, काम्बोज-नरेश तथा श्रुतायुने सामने आकर अर्जुनको रोका॥ ३७॥

तेषां दश सहस्राणि रथानामनुयायिनाम्।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः॥ ३८॥
मावेल्लका ललित्थाश्च केकया मद्रकास्तथा।
नारायणाश्च गोपालाः काम्बोजानां च ये गणाः॥ ३९॥
कर्णेन विजिताः पूर्वं संग्रामे शूरसम्मताः।
भारद्वाजं पुरस्कृत्य हृष्टात्मानोऽर्जुनं प्रति॥ ४०॥

इनके पीछे दस हजार रथी, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, मावेल्लक, ललित्थ, केकय, मद्रक, नारायण नामक गोपालगण तथा काम्बोजदेशीय सैनिकगण भी थे। इन सबको पूर्वकालमें कर्णने रणभूमिमें जीतकर अपने अधीन कर लिया था। ये सब-के-सब शूरवीरोंद्वारा सम्मानित योद्धा थे और प्रसन्नचित्त हो द्रोणाचार्यको आगे करके अर्जुनपर चढ़ आये थे॥ ३८–४०॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं क्रुद्धं मृत्युमिवान्तकम्।
त्यजन्तं तुमुले प्राणान् संनद्धं चित्रयोधिनम्॥ ४१॥
गाहमानमनीकानि मातङ्गमिव यूथपम्।
महेष्वासं पराक्रान्तं नरव्याघ्रमवारयन्॥ ४२॥

अर्जुन पुत्रशोकसे संतप्त एवं कुपित हुए प्राणान्तक मृत्युके समान प्रतीत होते थे। वे उस भयंकर युद्धमें अपने प्राणोंको निछावर करनेके लिये उद्यत, कवच आदिसे सुसज्जित और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले थे। जैसे यूथपति गज-राज गजसमूहमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार आपकी सेनाओंमें घुसते हुए महाधनुर्धर परम पराक्रमी उन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पूर्वोक्त योद्धाओंने आकर रोका॥ ४१-४२॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अन्योन्यं वै प्रार्थयतां योधानामर्जुनस्य च॥ ४३॥

तदनन्तर एक दूसरेको ललकारते हुए कौरव योद्धाओं तथा अर्जुनमें रोमाञ्चकारी एवं भयंकर युद्ध छिड़ गया॥४३॥

जयद्रथवधप्रेप्सुमायान्तं पुरुषर्षभम्।
न्यवारयन्त सहिताः क्रिया व्याधिमिवोत्थितम्॥४४॥

जैसे चिकित्साकी क्रिया उभड़ते हुए रोगको रोक देती है, उसी प्रकार जयद्रथका वध करनेकी इच्छासे आते हुए पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनको समस्त कौरव वीरोंने एक साथ मिलकर रोक दिया॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्रोणातिक्रमे एकनवतितमोऽध्यायः॥ ९१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्रोणातिक्रमणविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥९१॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्य और कृतवर्माके साथ युद्ध करते हुए कौरव-सेनामें प्रवेश तथा श्रुतायुधका अपनी गदासे और सुदक्षिणका अर्जुनद्वारा वध

संजय उवाच

संनिरुद्धस्तु तैः पार्थो महाबलपराक्रमः।
द्रुतं समनुयातश्च द्रोणेन रथिनां वरः॥ १॥

संजय कहते हैं—रथियोंमें श्रेष्ठ एवं महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न अर्जुन जब उन कौरव सैनिकोंद्वारा रोक दिये गये, उस समय द्रोणाचार्यने भी तुरंत ही उनका पीछा किया॥ १॥

किरन्निषुगणांस्तीक्ष्णान् स रश्मीनिव भास्करः।
तापयामास तत् सैन्यं देहं व्याधिगणो यथा॥ २॥

जैसे रोगोंका समुदाय शरीरको संतप्त कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने कौरवोंकी उस सेनाको अत्यन्त संताप दिया। जैसे सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंका प्रसार करते हैं, उसी प्रकार वे तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे॥ २॥

अश्वो विद्धो रथश्छिन्नः सारोहः पातितो गजः।
छत्राणि चापविद्धानि रथाश्चक्रैर्विना कृताः॥ ३॥

उन्होंने घोड़ोंको घायल कर दिया, रथके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, गजारोहियोंसहित हाथीको मार गिराया, छत्र इधर-उधर बिखेर दिये तथा रथोंको पहियोंसे सूना कर दिया॥३॥

विद्रुतानि च सैन्यानि शरार्तानि समन्ततः।
इत्यासीत् तुमुलं युद्धं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ ४ ॥

उनके बाणोंसे पीड़ित होकर सारे सैनिक सब ओर भाग चले। वहाँ इस प्रकार भयंकर युद्ध हो रहा था कि किसीको कुछ भी भान नहीं हो रहा था ॥ ४ ॥

तेषां संयच्छतां संख्ये परस्परमजिह्मगैः।
अर्जुनो ध्वजिनीं राजन्नभीक्ष्णं समकम्पयत् ॥ ५ ॥

राजन्! उस युद्धस्थलमें कौरव-सैनिक एक दूसरेको काबूमें रखनेका प्रयत्न करते थे और अर्जुन अपने बाणोंद्वारा उनकी सेनाको बारंबार कम्पित कर रहे थे ॥ ५ ॥

सत्यां चिकीर्षमाणस्तु प्रतिज्ञां सत्यसंगरः।
अभ्यद्रवद् रथश्रेष्ठं शोणाश्वं श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्वेतवाहन अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा सच्ची करनेकी इच्छासे लाल घोड़ोंवाले रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य-पर धावा किया ॥ ६ ॥

तं द्रोणः पञ्चविंशत्या मर्मभिद्भिरजिह्मगैः।
अन्तेवासिनमाचार्यो महेष्वासं समार्पयत् ॥ ७ ॥

उस समय आचार्य द्रोणने अपने महाधनुर्धर शिष्य अर्जुनको पचीस मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ७ ॥

तं तूर्णमिव बीभत्सुः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
अभ्यधावदिषूनस्यन्निषुवेगविघातकान् ॥ ८ ॥

तब सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने भी तुरंत ही उनके बाणोंके वेगका विनाश करनेवाले भल्लोंका प्रहार करते हुए उनपर आक्रमण किया ॥ ८ ॥

तस्याशुक्षिप्तान् भल्लान् हि भल्लैः संनतपर्वभिः।
प्रत्यविध्यदमेयात्मा ब्रह्मास्त्रं समुदीरयन् ॥ ९ ॥

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने अर्जुनके तुरंत चलाये हुए उन भल्लोंको झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा ही काट दिया और ब्रह्मास्त्र प्रकट किया ॥ ९ ॥

तदद्भुतमपश्याम द्रोणस्याचार्यकं युधि।
यतमानो युवा नैनं प्रत्यविध्यद् यदर्जुनः ॥ १० ॥

उस युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यकी अद्भुत अस्त्रशिक्षा हमने देखी कि नवयुवक अर्जुन प्रयत्नशील होनेपर भी उन्हें अपने बाणोंद्वारा चोट न पहुँचा सके ॥ १० ॥

क्षरन्निव महामेघो वारिधाराः सहस्रशः।
द्रोणमेघः पार्थशैलं ववर्ष शरवृष्टिभिः ॥ ११ ॥

जैसे महान् मेघ जलकी सहस्रों धाराएँ बरसाता रहता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यरूपी मेघने अर्जुनरूपी पर्वतपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ११ ॥

अर्जुनः शरवर्षं तद् ब्रह्मास्त्रेणैव मारिष।
प्रतिजग्राह तेजस्वी बाणैर्बाणान् निशातयन् ॥ १२ ॥

पूजनीय नरेश! उस समय अपने बाणोंद्वारा उनके बाणोंको काटते हुए तेजस्वी अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रद्वारा ही आचार्यकी उस बाण-वर्षाको रोका ॥ १२ ॥

द्रोणस्तु पञ्चविंशत्या श्वेतवाहनमार्दयत्।
वासुदेवं च सप्तत्या बाह्वोरुरसि चाशुगैः ॥ १३ ॥

तब द्रोणाचार्यने पचीस बाण मारकर श्वेतवाहन अर्जुन-को पीड़ित कर दिया। साथ ही श्रीकृष्णकी भुजाओं तथा वक्षःस्थलमें भी उन्होंने सत्तर बाण मारे ॥ १३ ॥

पार्थस्तु प्रहसन् धीमानाचार्यं सशरौघिणम्।
विसृजन्तं शितान् बाणानवारयत तं युधि ॥ १४ ॥

परम बुद्धिमान् अर्जुनने हँसते हुए ही युद्धस्थलमें तीखे बाणोंकी बौछार करनेवाले द्रोणाचार्यको उनकी बाण-वर्षा-सहित रोक दिया ॥ १४ ॥

अथ तौ वध्यमानौ तु द्रोणेन रथसत्तमौ।
आवर्जयेतां दुर्धर्षं युगान्ताग्निमिवोत्थितम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यके द्वारा घायल किये जाते हुए वे दोनों रथिश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन उस समय प्रलयकालकी अग्निके समान उठे हुए उन दुर्धर्ष आचार्यको छोड़कर अन्यत्र चल दिये ॥ १५ ॥

वर्जयन् निशितान् बाणान् द्रोणचापविनिःसृतान्।
किरीटमाली कौन्तेयो भोजानीकं व्यशातयत् ॥ १६ ॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए तीखे बाणोंका निवारण करते हुए किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनने कृतवर्माकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १६ ॥

सोऽन्तरा कृतवर्माणं काम्बोजं च सुदक्षिणम्।
अभ्ययाद् वर्जयन् द्रोणं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १७ ॥

वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे स्थित द्रोणाचार्यको छोड़ते हुए कृतवर्मा तथा काम्बोजराज सुदक्षिण-के बीचसे होकर निकले ॥ १७ ॥

ततो भोजो नरव्याघ्रो दुर्धर्षं कुरुसत्तमम्।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रो दशभिः कङ्कपत्रिभिः ॥ १८ ॥

तब पुरुषसिंह कृतवर्माने कुरुकुलके श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर अर्जुनको कंकपत्रयुक्त दस बाणोंद्वारा तुरंत ही घायल कर दिया। उस समय उसके मनमें तनिक भी व्यग्रता नहीं हुई ॥ १८ ॥

तमर्जुनः शतेनाजौ राजन् विव्याध पत्रिणाम्।
पुनश्चान्यैस्त्रिभिर्बाणैर्मोहयन्निव सात्वतम् ॥ १९ ॥

राजन्! अर्जुनने कृतवर्माको उस युद्धस्थलमें सौ बाणों-द्वारा बींध डाला। फिर उसे मोहित-सा करते हुए उन्होंने तीन बाण और मारे ॥ १९ ॥

भोजस्तु प्रहसन् पार्थं वासुदेवं च माधवम्।
एकैकं पञ्चविंशत्या सायकानां समार्पयत् ॥ २० ॥

तब कृतवर्माने भी हँसकर कुन्तीकुमार अर्जुन और मधुवंशी भगवान् वासुदेवमेंसे प्रत्येकको पचीस-पचीस बाण मारे ॥

तस्यार्जुनो धनुश्छित्त्वा विव्याधैनं त्रिसप्तभिः ।
शरैरग्निशिखाकारैः क्रुद्धाशीविषसंनिभैः ॥ २१ ॥

यह देख अर्जुनने उसके धनुषको काटकर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर और आगकी लपटोंके समान तेजस्वी इक्कीस बाणोंद्वारा उसे भी घायल कर दिया २१

अथान्यद् धनुरादाय कृतवर्मा महारथः ।
पञ्चभिः सायकैस्तूर्णं विव्याधोरसि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! तब महारथी कृतवर्माने दूसरा धनुष लेकर तुरंत ही पाँच बाणोंसे अर्जुनकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ २२ ॥

पुनश्च निशितैर्बाणैः पार्थं विव्याध पञ्चभिः ।
तं पार्थो नवभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ २३ ॥

फिर पाँच तीखे बाण और मारकर अर्जुनको घायल कर दिया । यह देख अर्जुनने कृतवर्माकी छातीमें नौ बाण मारे ॥

दृष्ट्वा विषक्तं कौन्तेयं कृतवर्मरथं प्रति ।
चिन्तयामास वार्ष्णेयो न नः कालात्ययो भवेत् ॥ २४ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनको कृतवर्माके रथसे उलझे हुए देखकर भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन सोचा कि हमलोगोंका अधिक समय यहीं न व्यतीत हो जाय ॥ २४ ॥

ततः कृष्णोऽब्रवीत् पार्थं कृतवर्मणि मा दयाम् ।
कुरु सम्बन्धकं हित्वा प्रमथ्यैनं विशातय ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'तुम कृतवर्मापर दया न करो । इस समय सम्बन्धी होनेका विचार छोड़कर इसे मथकर मार डालो' ॥ २५ ॥

ततः स कृतवर्माणं मोहयित्वार्जुनः शरैः ।
अभ्यगाज्जवनैरश्वैः काम्बोजानामनीकिनीम् ॥ २६ ॥

तब अर्जुन अपने बाणोंद्वारा कृतवर्माको मूर्छित करके अपने वेगशाली घोड़ोंद्वारा काम्बोजोंकी सेनापर आक्रमण करने लगे ॥

अमर्षितस्तु हार्दिक्यः प्रविष्टे श्वेतवाहने ।
विधुन्वन् सशरं चापं पाञ्चाल्याभ्यां समागतः ॥ २७ ॥

श्वेतवाहन अर्जुनके व्यूहमें प्रवेश कर जानेपर कृतवर्माको बड़ा क्रोध हुआ । वह बाणसहित धनुषको हिलाता हुआ पाञ्चालराजकुमार युधामन्यु और उत्तमौजासे भिड़ गया ॥

चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यावर्जुनस्य पदानुगौ ।
पर्यवारयदायान्तौ कृतवर्मा रथेषुभिः ॥ २८ ॥

वे दोनों पाञ्चाल वीर अर्जुनके चक्ररक्षक होकर उनके पीछे-पीछे जा रहे थे । कृतवर्माने अपने रथ और बाणोंद्वारा वहाँ आते हुए उन दोनों वीरोंको रोक दिया ॥ २८ ॥

तावविध्यत् ततो भोजः कृतवर्मा शितैः शरैः ।
त्रिभिरेव युधामन्युं चतुर्भिश्चोत्तमौजसम् ॥ २९ ॥

भोजवंशी कृतवर्माने अपने तीन तीखे बाणोंद्वारा युधामन्युको और चार बाणोंसे उत्तमौजाको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तावप्येनं विविधतुर्दशभिर्दशभिः शरैः ।
त्रिभिरेव युधामन्युरुत्तमौजास्त्रिभिस्तथा ॥ ३० ॥

तब उन दोनोंने भी कृतवर्माको दस-दस बाणोंसे बींध दिया । फिर युधामन्युने तीन और उत्तमौजाने भी तीन बाणोंद्वारा उसे चोट पहुँचायी ॥ ३० ॥

संचिच्छिदतुरप्यस्य ध्वजं कार्मुकमेव च ।
अथान्यद् धनुरादाय हार्दिक्यः क्रोधमूर्छितः ॥ ३१ ॥
कृत्वा विधनुषौ वीरौ शरवर्षैरवाकिरत् ।
तावन्ये धनुषी सज्ये कृत्वा भोजं विजघ्नतुः ॥ ३२ ॥

साथ ही उन्होंने कृतवर्माके ध्वज और धनुषको भी काट डाला । यह देख कृतवर्मा क्रोधसे मूर्छित हो उठा और उसने दूसरा धनुष हाथमें लेकर उन दोनों वीरोंके धनुष काट दिये । तत्पश्चात् वह उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा । इसी तरह वे दोनों पाञ्चाल वीर भी दूसरे धनुषोंपर डोरी चढ़ाकर भोजवंशी कृतवर्माको चोट पहुँचाने लगे ॥ ३१-३२ ॥

तेनान्तरेण बीभत्सुर्विवेशामित्रवाहिनीम् ।
न लेभाते तु तौ द्वारं वारितौ कृतवर्मणा ॥ ३३ ॥
धार्तराष्ट्रेष्वनीकेषु यतमानौ नरर्षभौ ।

इसी बीचमें अवसर पाकर अर्जुन शत्रुओंकी सेनामें घुस गये । परंतु कृतवर्माद्वारा रोक दिये जानेके कारण वे दोनों नरश्रेष्ठ युधामन्यु और उत्तमौजा प्रयत्न करनेपर भी आपके पुत्रोंकी सेनामें प्रवेश करनेका द्वार न पा सके ३३½

अनीकान्यर्दयन् युद्धे त्वरितः श्वेतवाहनः ॥ ३४ ॥
नावधीत् कृतवर्माणं प्राप्तमप्यरिसूदनः ।

श्वेत घोड़ोंवाले शत्रुसूदन अर्जुन उस युद्धस्थलमें बड़ी उतावलीके साथ शत्रु-सेनाओंको पीड़ा दे रहे थे । परंतु उन्होंने (सम्बन्धका विचार करके) कृतवर्माको सामने पाकर भी मारा नहीं ॥ ३४½ ॥

तं दृष्ट्वा तु तथा यान्तं शूरो राजा श्रुतायुधः ॥ ३५ ॥
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धो विधुन्वानो महद् धनुः ।

अर्जुनको इस प्रकार आगे बढ़ते देख शूरवीर राजा श्रुतायुध अत्यन्त कुपित हो उठे और अपना विशाल धनुष हिलाते हुए उनपर टूट पड़े ॥ ३५½ ॥

स पार्थं त्रिभिरानर्छत् सप्तत्या च जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन पार्थकेतुमताडयत् ।

उन्होंने अर्जुनको तीन और श्रीकृष्णको सत्तर बाण मारे । फिर अत्यन्त तीखे क्षुरप्रसे अर्जुनकी ध्वजापर प्रहार किया ॥ ३६½ ॥

ततोऽर्जुनो नवत्या तु शराणां नतपर्वणाम् ॥ ३७ ॥

आजघान भृशं क्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ।

तब अर्जुनने अत्यन्त कुपित होकर अंकुशोंसे महान् गजराजको पीड़ित करनेकी भाँति झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंसे राजा श्रुतायुधको चोट पहुँचायी ॥ ३७½ ॥

स तन्न ममृषे राजन् पाण्डवेयस्य विक्रमम् ॥ ३८ ॥
अथैनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समार्पयत् ।

राजन् ! उस समय राजा श्रुतायुध पाण्डुकुमार अर्जुनके उस पराक्रमको न सह सके । अतः उन्होंने अर्जुनको सतहत्तर बाण मारे ॥ ३८½ ॥

तस्यार्जुनो धनुश्छित्त्वा शरावापं निकृत्य च ॥ ३९॥
आजघानोरसि क्रुद्धः सप्तभिर्नतपर्वभिः ।

तब अर्जुनने उनका धनुष काटकर उनके तरकसके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये । फिर कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले सात बाणोंद्वारा उनकी छातीपर प्रहार किया ॥ ३९½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४० ॥
वासविं नवभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

फिर तो राजा श्रुतायुधने क्रोधसे अचेत होकर दूसरा धनुष हाथमें लिया और इन्द्रकुमार अर्जुनकी भुजाओं तथा वक्षःस्थलमें नौ बाण मारे ॥ ४०½ ॥

ततोऽर्जुनः स्मयन्नेव श्रुतायुधमरिंदमः ॥ ४१॥
शरैरनेकसाहस्रैः पीडयामास भारत ।

भारत ! यह देख शत्रुदमन अर्जुनने मुसकराते हुए ही श्रुतायुधको कई हजार बाण मारकर पीड़ित कर दिया ४१½

अश्वांश्चास्यावधीत् तूर्णं सारथिं च महारथः ॥ ४२॥
विव्याध चैनं सप्तत्या नाराचानां महाबलः ।

साथ ही उन महारथी एवं महाबली वीरने उनके घोड़ों और सारथिको भी शीघ्रतापूर्वक मार डाला और सत्तर नाराचोंसे श्रुतायुधको भी घायल कर दिया ॥ ४२½ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य स तु राजा श्रुतायुधः ॥ ४३॥
अभ्यद्रवद् रणे पार्थं गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।

घोड़ोंके मारे जानेपर पराक्रमी राजा श्रुतायुध उस रथको छोड़कर हाथमें गदा ले समराङ्गणमें अर्जुनपर टूट पड़े ॥

वरुणस्यात्मजो वीरः स तु राजा श्रुतायुधः ॥ ४४॥
पर्णाशा जननी यस्य शीततोया महानदी ।

वीर राजा श्रुतायुध वरुणके पुत्र थे । शीतसलिला महानदी पर्णाशा उनकी माता थी ॥ ४४½ ॥

तस्य माताब्रवीद् राजन् वरुणं पुत्रकारणात् ॥ ४५॥
अवध्योऽयं भवेल्लोके शत्रूणां तनयो मम ।

राजन् ! उनकी माता पर्णाशा अपने पुत्रके लिये वरुणसे बोली—'प्रभो ! मेरा यह पुत्र संसारमें शत्रुओंके लिये अवध्य हो' ॥ ४५½ ॥

वरुणस्त्वब्रवीत् प्रीतो ददाम्यस्मै वरं हितम् ॥ ४६ ॥
दिव्यमस्त्रं सुतस्तेऽयं येनावध्यो भविष्यति ।

तब वरुणने प्रसन्न होकर कहा—'मैं इसके लिये हितकारक वरके रूपमें यह दिव्य अस्त्र प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा तुम्हारा यह पुत्र अवध्य होगा ॥ ४६½ ॥

नास्ति चाप्यमरत्वं वै मनुष्यस्य कथंचन ॥ ४७ ॥
सर्वेणावश्यमर्तव्यं जातेन सरितां वरे ।

'सरिताओंमें श्रेष्ठ पर्णाशे ! मनुष्य किसी प्रकार भी अमर नहीं हो सकता । जिन लोगोंने यहाँ जन्म लिया है, उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ॥ ४७½ ॥

दुर्धर्षस्त्वेष शत्रूणां रणेषु भविता सदा ॥ ४८ ॥
अस्त्रस्यास्य प्रभावाद् वै व्येतु ते मानसो ज्वरः ।

'तुम्हारा यह पुत्र इस अस्त्रके प्रभावसे रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये सदा ही दुर्धर्ष होगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता निवृत्त हो जानी चाहिये' ॥ ४८½ ॥

इत्युक्त्वा वरुणः प्रादाद् गदां मन्त्रपुरस्कृताम्॥ ४९ ॥
यामासाद्य दुराधर्षः सर्वलोके श्रुतायुधः ।

ऐसा कहकर वरुणदेवने श्रुतायुधको मन्त्रोपदेशपूर्वक वह गदा प्रदान की, जिसे पाकर वे सम्पूर्ण जगत्में दुर्जय वीर माने जाते थे ॥ ४९½ ॥

उवाच चैनं भगवान् पुनरेव जलेश्वरः ॥ ५० ॥
अयुध्यति न मोक्तव्या सा त्वय्येव पतेदिति ।
हन्यादेषा प्रतीपं हि प्रयोक्तारमपि प्रभो ॥ ५१॥

गदा देकर भगवान् वरुणने उनसे पुनः कहा—'वत्स ! जो युद्ध न कर रहा हो, उसपर इस गदाका प्रहार न करना; अन्यथा यह तुम्हारे ऊपर ही आकर गिरेगी । शक्तिशाली पुत्र ! यह गदा प्रतिकूल आचरण करनेवाले प्रयोक्ता पुरुषको भी मार सकती है' ॥ ५०-५१ ॥

न चाकरोत् स तद्वाक्यं प्राप्ते काले श्रुतायुधः ।
स तया वीरघातिन्या जनार्दनमताडयत् ॥ ५२ ॥

परंतु काल आ जानेपर श्रुतायुधने वरुण देवके उक्त आदेशका पालन नहीं किया । उन्होंने उस वीरघातिनी गदाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको चोट पहुँचायी ॥ ५२ ॥

प्रतिजग्राह तां कृष्णः पीनेनांसेन वीर्यवान् ।
नाकम्पयत शौरिं सा विन्ध्यं गिरिमिवानिलः ॥ ५३॥

पराक्रमी श्रीकृष्णने अपने हृष्ट-पुष्ट कंधेपर उस गदाका आघात सह लिया । परंतु जैसे वायु विन्ध्यपर्वतको नहीं हिला सकती है, उसी प्रकार वह गदा श्रीकृष्णको कम्पित न कर सकी ॥ ५३ ॥

प्रत्युद्यान्ती तमेवैषा कृत्येव दुरधिष्ठिता ।
जघान चास्थितं वीरं श्रुतायुधममर्षणम् ॥ ५४ ॥

जैसे दोषयुक्त आभिचारिक क्रियासे उत्पन्न हुई कृत्या उसका प्रयोग करनेवाले यजमानका ही नाश कर देती है, उसी प्रकार उस गदाने लौटकर वहाँ खड़े हुए अमर्षशील वीर श्रुतायुधको मार डाला ॥ ५४ ॥

हत्वा श्रुतायुधं वीरं धरणीमन्वपद्यत।
गदां निवर्तितां दृष्ट्वा निहतं च श्रुतायुधम् ॥ ५५॥
हाहाकारो महांस्तत्र सैन्यानां समजायत।

वीर श्रुतायुधका वध करके वह गदा धरतीपर जा गिरी। लौटी हुई उस गदाको और उसके द्वारा मारे गये वीर श्रुतायुधको देखकर वहाँ आपकी सेनाओंमें महान् हाहाकार मच गया ॥ ५५½ ॥

स्वेनास्त्रेण हतं दृष्ट्वा श्रुतायुधमरिंदमम् ॥ ५६ ॥
अयुध्यमानाय ततः केशवाय नराधिप।
क्षिप्ता श्रुतायुधेनाथ तस्मात् तमवधीद् गदा ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! शत्रुदमन श्रुतायुधको अपने ही अस्त्रसे मारा गया देख यह बात ध्यानमें आयी कि श्रुतायुधने युद्ध न करनेवाले श्रीकृष्णपर गदा चलायी है। इसीलिये उस गदाने उन्हींका वध किया है ॥ ५६–५७ ॥

यथोक्तं वरुणेनाजौ तथा स निधनं गतः।
व्यसुश्चाप्यपतद् भूमौ प्रेक्षतां सर्वधन्विनाम् ॥ ५८ ॥

वरुणदेवने जैसा कहा था, युद्धभूमिमें श्रुतायुधकी उसी प्रकार मृत्यु हुई। वे सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते प्राण-शून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५८ ॥

पतमानस्तु स बभौ पर्णाशायाः प्रियः सुतः।
स भग्न इव वातेन बहुशाखो वनस्पतिः ॥ ५९ ॥

गिरते समय पर्णाशाके प्रिय पुत्र श्रुतायुध आँधीके उखाड़े हुए अनेक शाखाओंवाले वृक्षके समान प्रतीत हो रहे थे ॥५९॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि सेनामुख्याश्च सर्वशः।
प्राद्रवन्त हतं दृष्ट्वा श्रुतायुधमरिंदमम् ॥ ६० ॥

शत्रुसूदन श्रुतायुधको इस प्रकार मारा गया देख सारे सैनिक और सम्पूर्ण सेनापति वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ६० ॥

ततः काम्बोजराजस्य पुत्रः शूरः सुदक्षिणः।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः फाल्गुनं शत्रुसूदनम् ॥ ६१ ॥

तत्पश्चात् काम्बोजराजका शूरवीर पुत्र सुदक्षिण वेगशाली अश्वोंद्वारा शत्रुसूदन अर्जुनका सामना करनेके लिये आया॥

तस्य पार्थः शरान् सप्त प्रेषयामास भारत।
ते तं शूरं विनिर्भिद्य प्राविशन् धरणीतलम् ॥ ६२ ॥

भारत ! अर्जुनने उसके ऊपर सात बाण चलाये। वे बाण उस शूरवीरके शरीरको विदीर्ण करके धरतीमें समा गये ॥ ६२ ॥

सोऽतिविद्धः शरैस्तीक्ष्णैर्गाण्डीवप्रेषितैर्मृधे।
अर्जुनं प्रतिविव्याध दशभिः कङ्कपत्रिभिः ॥ ६३ ॥

गाण्डीव धनुषद्वारा छोड़े हुए तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर सुदक्षिणने उस रणक्षेत्रमें कंककी पाँखवाले दस बाणोंद्वारा अर्जुनको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६३ ॥

वासुदेवं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनः पार्थं च पञ्चभिः।
तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा केतुं चिच्छेद मारिष ॥ ६४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको तीन बाणोंसे घायल करके उसने अर्जुनपर पुनः पाँच बाणोंका प्रहार किया। आर्य ! तब अर्जुनने उसका धनुष काटकर उसकी ध्वजाके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ६४ ॥

भल्लाभ्यां भृशतीक्ष्णाभ्यां तं च विव्याध पाण्डवः।
स तु पार्थं त्रिभिर्विद्ध्वा सिंहनादमथानदत् ॥ ६५ ॥

इसके बाद पाण्डुकुमार अर्जुनने दो अत्यन्त तीखे भल्लोंसे सुदक्षिणको बींध डाला। फिर सुदक्षिण भी तीन बाणोंसे पार्थको घायल करके सिंहके समान दहाड़ने लगा ॥ ६५ ॥

सर्वपारशवीं चैव शक्तिं शूरः सुदक्षिणः।
सघण्टां प्राहिणोद् घोरां क्रुद्धो गाण्डीवधन्वने ॥ ६६ ॥

शूरवीर सुदक्षिणने कुपित होकर पूर्णतः लोहेकी बनी हुई घण्टायुक्त भयंकर शक्ति गाण्डीवधारी अर्जुनपर चलायी॥

सा ज्वलन्ती महोल्केव तमासाद्य महारथम्।
सविस्फुलिङ्गा निर्भिद्य निपपात महीतले ॥ ६७ ॥

वह बड़ी भारी उल्काके समान प्रज्वलित होती और चिनगारियाँ बिखेरती हुई महारथी अर्जुनके पास जा उनके शरीरको विदीर्ण करके पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६७ ॥

शक्त्या त्वभिहतो गाढं मूर्च्छयाभिपरिप्लुतः।
समाश्वास्य महातेजाः सृक्किणी परिलेलिहन् ॥ ६८ ॥
तं चतुर्दशभिः पार्थो नाराचैः कङ्कपत्रिभिः।
साश्वध्वजधनुःसूतं विव्याधाचिन्त्यविक्रमः ॥ ६९ ॥

उस शक्तिके द्वारा गहरी चोट खाकर महातेजस्वी अर्जुन मूर्छित हो गये, फिर धीरे-धीरे सचेत हो अपने मुखके दोनों कोनोंको जीभसे चाटते हुए अचिन्त्य पराक्रमी पार्थने कंकके पाँखवाले चौदह नाराचोंद्वारा घोड़े, ध्वज, धनुष और सारथिसहित सुदक्षिणको घायल कर दिया ॥ ६८-६९ ॥

रथं चान्यैः सुबहुभिश्चक्रे विशकलं शरैः।
सुदक्षिणं तं काम्बोजं मोघसंकल्पविक्रमम् ॥ ७० ॥
बिभेद हृदि बाणेन पृथुधारेण पाण्डवः।

फिर दूसरे बहुत-से बाणोंद्वारा उसके रथको टूक-टूक कर दिया और काम्बोजराज सुदक्षिणके संकल्प एवं पराक्रमको व्यर्थ करके पाण्डुपुत्र अर्जुनने मोटी धारवाले बाणसे उसकी छाती छेद डाली ॥ ७०½ ॥

स भिन्नवर्मा स्रस्ताङ्गः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः ॥ ७१ ॥
पपाताभिमुखः शूरो यन्त्रमुक्त इव ध्वजः।

इससे उसका कवच फट गया, सारे अङ्ग शिथिल हो गये, मुकुट और बाजूबंद गिर गये तथा शूरवीर सुदक्षिण मशीनसे फेंके गये ध्वजके समान मुँहके बल गिर पड़ा ॥

गिरेः शिखरजः श्रीमान् सुशाखः सुप्रतिष्ठितः ॥ ७२ ॥
निर्भग्न इव वातेन कर्णिकारो हिमात्यये ।
शेते स्म निहतो भूमौ काम्बोजास्तरणोचितः ॥ ७३ ॥

जैसे सर्दी बीतनेके बाद पर्वतके शिखरपर उत्पन्न हुआ सुन्दर शाखाओंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं शोभासम्पन्न कनेरका वृक्ष वायुके वेगसे टूटकर गिर जाता है, उसी प्रकार काम्बोज-देशके मुलायम बिछौनोंपर शयन करनेके योग्य सुदक्षिण वहाँ मारा जाकर पृथ्वीपर सो रहा था ॥ ७२-७३ ॥

महार्हाभरणोपेतः सानुमानिव पर्वतः ।
सुदर्शनीयस्ताम्राक्षः कर्णिना स सुदक्षिणः ॥ ७४ ॥
पुत्रः काम्बोजराजस्य पार्थेन विनिपातितः ।

बहुमूल्य आभूषणोंसे विभूषित एवं शिखरयुक्त पर्वतके समान सुदर्शनीय अरुण नेत्रोंवाले काम्बोजराजकुमार सुदक्षिणको अर्जुनने एक ही बाणसे मार गिराया था ॥ ७४½ ॥

धारयन्नग्निसंकाशां शिरसा काञ्चनीं स्रजम् ॥ ७५ ॥
अशोभत महाबाहुर्व्यसुर्भूमौ निपातितः ।

अपने मस्तकपर अग्निके समान दमकते हुए सुवर्णमय हारको धारण किये महाबाहु सुदक्षिण यद्यपि प्राणशून्य करके पृथ्वीपर गिराया गया था, तथापि उस अवस्थामें भी उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ७५½ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि व्यद्रवन्त सुतस्य ते ।
हतं श्रुतायुधं दृष्ट्वा काम्बोजं च सुदक्षिणम् ॥ ७६ ॥

तदनन्तर श्रुतायुध तथा काम्बोजराजकुमार सुदक्षिणको मारा गया देख आपके पुत्रकी सारी सेनाएँ वहाँसे भागने लगीं ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि श्रुतायुधसुदक्षिणवधे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें श्रुतायुध और सुदक्षिणका वधविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा श्रुतायु, अच्युतायु, नियतायु, दीर्घायु, म्लेच्छ सैनिक और अम्बष्ठ आदिका वध

संजय उवाच

हते सुदक्षिणे राजन् वीरे चैव श्रुतायुधे ।
जवेनाभ्यद्रवन् पार्थं कुपिताः सैनिकास्तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! काम्बोजराज सुदक्षिण और वीर श्रुतायुधके मारे जानेपर आपके सारे सैनिक कुपित हो बड़े वेगसे अर्जुनपर टूट पड़े ॥ १ ॥

अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
अभ्यवर्षंस्ततो राजञ्शरवर्षैर्धनंजयम् ॥ २ ॥

महाराज ! वहाँ अभीषाह, शूरसेन, शिबि और वसाति-देशीय सैनिकगण अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तेषां षष्टिशतानन्यान् प्रामथ्नात् पाण्डवः शरैः ।
ते स्म भीताः पलायन्ते व्याघ्रात् क्षुद्रमृगा इव ॥ ३ ॥

उस समय पाण्डुकुमार अर्जुनने उपर्युक्त सेनाओंके छः हजार सैनिकों तथा अन्य योद्धाओंको भी अपने बाणोंद्वारा मथ डाला । जैसे छोटे-छोटे मृग बाघसे डरकर भागते हैं, उसी प्रकार वे अर्जुनसे भयभीत हो वहाँसे पलायन करने लगे ॥

ते निवृत्ताः पुनः पार्थं सर्वतः पर्यवारयन् ।
रणे सपत्नान् निघ्नन्तं जिगीषन्तं परान् युधि ॥ ४ ॥

उस समय अर्जुन रणक्षेत्रमें शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छासे उनका संहार कर रहे थे । यह देख उन भागे हुए सैनिकोंने पुनः लौटकर पार्थको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

तेषामापततां तूर्णं गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ।
शिरांसि पातयामास बाहूंश्चापि धनंजयः ॥ ५ ॥

उन आक्रमण करनेवाले योद्धाओंके मस्तकों और भुजाओंको अर्जुनने गाण्डीव-धनुषद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे तुरंत ही काट गिराया ॥ ५ ॥

शिरोभिः पातितैस्तत्र भूमिरासीन्निरन्तरा ।
अभ्रच्छायेव चैवासीद् ध्वाङ्क्षगृध्रबलैर्युधि ॥ ६ ॥

वहाँ गिराये हुए मस्तकोंसे वह रणभूमि ठसाठस भर गयी थी और उस युद्धस्थलमें कौओं तथा गीधोंकी सेनाके आ जानेसे वहाँ मेघकी छाया-सी प्रतीत होती थी ॥ ६ ॥

तेषु तूत्साद्यमानेषु क्रोधामर्षसमन्वितौ ।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च धनंजयमयुध्यताम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार जब उन समस्त सैनिकोंका संहार होने लगा, तब श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दो वीर क्रोध और अमर्षमें भरकर अर्जुनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

बलिनौ स्पर्धिनौ वीरौ कुलजौ बाहुशालिनौ ।
तावेनं शरवर्षाणि सव्यदक्षिणमस्यताम् ॥ ८ ॥

वे दोनों बलवान्, अर्जुनसे स्पर्धा रखनेवाले, वीर, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले थे । उन दोनोंने अर्जुनपर दायें-बायेंसे बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

त्वरायुक्तौ महाराज प्रार्थयानौ महद् यशः ।
अर्जुनस्य वधप्रेप्सू पुत्रार्थे तव धन्विनौ ॥ ९ ॥

महाराज ! वे दोनों वीर महान् यशकी अभिलाषा रखते हुए आपके पुत्रके लिये अर्जुनके वधकी इच्छा रखकर हाथमें धनुष ले बड़ी उतावलीके साथ बाण चला रहे थे ॥ ९ ॥

तावर्जुनं सहस्रेण पत्रिणां नतपर्वणाम् ।
पूरयामासतुः क्रुद्धौ तटागं जलदौ यथा ॥ १० ॥

जैसे दो मेघ किसी तालाबको भरते हों, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले सहस्रों बाणोंद्वारा अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ १० ॥

श्रुतायुश्च ततः क्रुद्धस्तोमरेण धनंजयम् ।
आजघान रथश्रेष्ठः पीतेन निशितेन च ॥ ११ ॥

फिर रथियोंमें श्रेष्ठ श्रुतायुने कुपित होकर पानीदार तीखी धारवाले तोमरसे अर्जुनपर आघात किया ॥ ११ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुकर्शनः ।
जगाम परमं मोहं मोहयन् केशवं रणे ॥ १२ ॥

उस बलवान् शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किये हुए शत्रुसूदन अर्जुन उस रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णको मोहित करते हुए स्वयं भी अत्यन्त मूर्छित हो गये ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सोऽच्युतायुर्महारथः ।
शूलेन भृशतीक्ष्णेन ताडयामास पाण्डवम् ॥ १३ ॥

इसी समय महारथी अच्युतायुने अत्यन्त तीखे शूलके द्वारा पाण्डुकुमार अर्जुनपर प्रहार किया ॥ १३ ॥

क्षते क्षारं स हि ददौ पाण्डवस्य महात्मनः ।
पार्थोऽपि भृशसंविद्धो ध्वजयष्टिं समाश्रितः ॥ १४ ॥

उसने इस प्रहारद्वारा महामना पाण्डुपुत्र अर्जुनके घावपर नमक छिड़क दिया । अर्जुन भी अत्यन्त घायल होकर ध्वज-दण्डके सहारे टिक गये ॥ १४ ॥

ततः सर्वस्य सैन्यस्य तावकस्य विशाम्पते ।
सिंहनादो महानासीद्धतं मत्वा धनंजयम् ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! उस समय अर्जुनको मरा हुआ मानकर आपके सारे सैनिक जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

कृष्णश्च भृशसंतप्तो दृष्ट्वा पार्थं विचेतनम् ।
आश्वासयत् सुहृद्याभिर्वाग्भिस्तत्र धनंजयम् ॥ १६ ॥

अर्जुनको अचेत हुआ देख भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त संतप्त हो उठे और मनको प्रिय लगनेवाले वचनोंद्वारा वहाँ उन्हें आश्वासन देने लगे ॥ १६ ॥

ततस्तौ रथिनां श्रेष्ठौ लब्धलक्ष्यौ धनंजयम् ।
वासुदेवं च वार्ष्णेयं शरवर्षैः समन्ततः ॥ १७ ॥
सचक्रकूबररथं साश्वध्वजपताकिनम् ।
अदृश्यं चक्रतुर्युद्धे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ श्रुतायु और अच्युतायुने अपना लक्ष्य सामने पाकर अर्जुन तथा वृष्णिवंशी श्रीकृष्णपर चारों ओरसे बाणवर्षा करके चक्र, कूबर, रथ, अश्व, ध्वज और पताका-सहित उन्हें उस रणक्षेत्रमें अदृश्य कर दिया । वह अद्भुत-सी बात हो गयी ॥ १७-१८ ॥

प्रत्याश्वस्तस्तु बीभत्सुः शनकैरिव भारत ।
प्रेतराजपुरं प्राप्य पुनः प्रत्यागतो यथा ॥ १९ ॥

भारत ! फिर अर्जुन धीरे-धीरे सचेत हुए, मानो यमराजके नगरमें पहुँचकर पुनः वहाँसे लौटे हों ॥ १९ ॥

संछन्नं शरजालेन रथं दृष्ट्वा सकेशवम् ।
शत्रू चाभिमुखौ दृष्ट्वा दीप्यमानाविवानलौ ॥ २० ॥
प्रादुश्चक्रे ततः पार्थः शाक्रमस्त्रं महारथः ।
तस्मादासन् सहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ॥ २१ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णसहित अपने रथको बाण समूहसे आच्छादित और सामने खड़े हुए दोनों शत्रुओंको अग्निके समान देदीप्यमान देखकर महारथी अर्जुनने ऐन्द्रास्त्र प्रकट किया । उससे झुकी हुई गाँठवाले सहस्रों बाण प्रकट होने लगे ॥ २०-२१ ॥

ते जघ्नुस्तौ महेष्वासौ ताभ्यां मुक्तांश्च सायकान् ।
विचेरुराकाशगताः पार्थबाणविदारिताः ॥ २२ ॥

उन बाणोंने उन दोनों महाधनुर्धरोंको तथा उनके छोड़े हुए सायकोंको भी छिन्न-भिन्न कर दिया । अर्जुनके बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े होकर उन शत्रुओंके बाण आकाशमें विचरने लगे ॥

प्रतिहत्य शरांस्तूर्णं शरवेगेन पाण्डवः ।
प्रतस्थे तत्र तत्रैव योधयन् वै महारथान् ॥ २३ ॥

अपने बाणोंके वेगसे शत्रुओंके बाणोंको नष्ट करके पाण्डु-कुमार अर्जुनने जहाँ-तहाँ अन्य महारथियोंसे युद्ध करनेके लिये प्रस्थान किया ॥ २३ ॥

तौ च फाल्गुनबाणौघैर्विबाहुशिरसौ कृतौ ।
वसुधामन्वपद्येतां वातनुन्नाविव द्रुमौ ॥ २४ ॥

अर्जुनके उन बाण-समूहोंसे श्रुतायु और अच्युतायुके मस्तक कट गये । भुजाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं । वे दोनों आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंके समान धराशायी हो गये ॥२४॥

श्रुतायुषश्च निधनं वधश्चैवाच्युतायुषः ।
लोकविस्मापनमभूत् समुद्रस्येव शोषणम् ॥ २५ ॥

श्रुतायु और अच्युतायुका वह वध समुद्रशोषणके समान सब लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाला था ॥ २५ ॥

तयोः पदानुगान् हत्वा पुनः पञ्चाशतं रथान् ।
प्रत्यगाद् भारतीं सेनां निघ्नन् पार्थो वरान् वरान्॥२६॥

उन दोनोंके पीछे आनेवाले पचास रथियोंको मारकर अर्जुनने श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारते हुए पुनः कौरवसेनामें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

श्रुतायुषं च निहतं प्रेक्ष्य चैवाच्युतायुषम् ।
नियतायुश्च संक्रुद्धो दीर्घायुश्चैव भारत ॥ २७ ॥

पुत्रौ तयोर्नरश्रेष्ठौ कौन्तेयं प्रतिजग्मतुः ।
किरन्तौ विविधान् बाणान् पितृव्यसनकर्शितौ ॥ २८ ॥

भारत ! श्रुतायु तथा अच्युतायुको मारा गया देख उन दोनोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नियुतायु और दीर्घायु पिताके वधसे दुखी हो अत्यन्त क्रोधमें भरकर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुनका सामना करनेके लिये आये ॥ २७-२८ ॥

तावर्जुनो मुहूर्तेन शरैः संनतपर्वभिः ।
प्रैषयत् परमक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ २९ ॥

तब अर्जुनने अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा दो ही घड़ीमें उन दोनोंको यमराजके घर भेज दिया ॥

लोडयन्तमनीकानि द्विपं पद्मसरो यथा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं पार्थं क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ ३० ॥

जैसे हाथी कमलोंसे भरे हुए सरोवरको मथ डालता हो, उसी प्रकार आपकी सेनाओंका मन्थन करते हुए पार्थको आपके क्षत्रियशिरोमणि योद्धा रोक न सके ॥ ३० ॥

अङ्गास्तु गजवारेण पाण्डवं पर्यवारयन् ।
क्रुद्धाः सहस्रशो राजञ्शिक्षिता हस्तिसादिनः ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसी समय युद्धविषयक शिक्षा पाये हुए अङ्गदेशके सहस्रों गजारोही योद्धाओंने क्रोधमें भरकर हाथियोंके समूहद्वारा पाण्डुकुमार अर्जुनको सब ओरसे घेर लिया ॥

दुर्योधनसमादिष्टाः कुञ्जरैः पर्वतोपमैः ।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च कलिङ्गप्रमुखा नृपाः ॥ ३२ ॥

फिर दुर्योधनकी आज्ञा पाकर पूर्व और दक्षिण देशोंके कलिंग आदि नरेशोंने भी अर्जुनपर पर्वताकार हाथियोंद्वारा घेरा डाल दिया ॥ ३२ ॥

तेषामापततां शीघ्रं गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ।
निचकर्त शिरांस्युग्रो बाहूनपि सुभूषणान् ॥ ३३ ॥

तब उग्ररूपधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सारे आक्रमणकारियोंके मस्तकों तथा उत्तम भूषणभूषित भुजाओंको भी शीघ्र ही काट डाला ॥ ३३ ॥

तैः शिरोभिर्मही कीर्णा बाहुभिश्च सहाङ्गदैः ।
बभौ कनकपाषाणा भुजगैरिव संवृता ॥ ३४ ॥

उस समय उन मस्तकों और भुजबंदसहित भुजाओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि सर्पोंसे घिरी हुई स्वर्ण-प्रस्तरयुक्त भूमिके समान शोभा पा रही थी ॥ ३४ ॥

बाहवो विशिखैश्छिन्नाः शिरांस्युन्मथितानि च ।
पतमानान्यदृश्यन्त द्रुमेभ्य इव पक्षिणः ॥ ३५ ॥

बाणोंसे छिन्न भिन्न हुई भुजाएँ और कटे हुए मस्तक इस प्रकार गिरते दिखायी दे रहे थे, मानो वृक्षोंसे पक्षी गिर रहे हों ॥ ३५ ॥

शरैः सहस्रशो विद्धा द्विपाः प्रस्रुतशोणिताः ।
अदृश्यन्ताद्रयः काले गैरिकाम्बुस्रवा इव ॥ ३६ ॥

सहस्रों बाणोंसे बिंधकर खूनकी धारा बहाते हुए हाथी वर्षाकालमें गेरुमिश्रित जलके झरने बहानेवाले पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

निहताः शेरते स्मान्ये बीभत्सोर्निशितैः शरैः ।
गजपृष्ठगता म्लेच्छा नानाविकृतदर्शनाः ॥ ३७ ॥

अर्जुनके तीखे बाणोंसे मारे जाकर दूसरे-दूसरे म्लेच्छ-सैनिक हाथीकी पीठपर ही लेट गये थे। उनकी नाना प्रकारकी आकृति बड़ी विकृत दिखायी देती थी ॥ ३७ ॥

नानावेषधरा राजन् नानाशस्त्रौघसंवृताः ।
रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा भान्ति चित्रैः शरैर्हताः ॥ ३८ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके वेश धारण करनेवाले तथा अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न योद्धा अर्जुनके विचित्र बाणोंसे मारे जाकर अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ ३८ ॥

शोणितं निर्वमन्ति स्म द्विपाः पार्थशराहताः ।
सहस्रशश्छिन्नगात्राः सारोहाः सपदानुगाः ॥ ३९ ॥

सवारों और अनुचरोंसहित सहस्रों हाथी अर्जुनके बाणोंसे आहत हो मुँहसे रक्त वमन करते थे। उनके सम्पूर्ण अङ्ग छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥ ३९ ॥

चुक्रुशुश्च निपेतुश्च बभ्रमुश्चापरे दिशः ।
भृशं त्रस्ताश्च बहवः स्वानेव ममृदुर्गजाः ॥ ४० ॥
सान्तरायुधिनश्चैव द्विपास्तीक्ष्णविषोपमाः ।

बहुत-से हाथी चिग्घाड़ रहे थे, बहुतेरे धराशायी हो गये थे, दूसरे कितने ही हाथी सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे और बहुत-से गज अत्यन्त भयभीत हो भागते हुए अपने ही पक्षके योद्धाओंको कुचल रहे थे। तीक्ष्ण विषवाले सर्पोंके समान भयंकर वे सभी हाथी गुप्तास्त्रधारी सैनिकोंसे युक्त थे ॥

विदन्त्यसुरमायां ये सुघोरा घोरचक्षुषः ॥ ४१ ॥
यवनाः पारदाश्चैव शकाश्च सह बाह्लिकैः ।
काकवर्णा दुराचाराः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः ॥ ४२ ॥

जो आसुरी मायाको जानते हैं, जिनकी आकृति अत्यन्त भयंकर है तथा जो भयानक नेत्रोंसे युक्त हैं एवं जो कौओंके समान काले, दुराचारी, स्त्रीलम्पट और कलहप्रिय होते हैं वे यवन, पारद, शक और बाह्लीक भी वहाँ युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ ४१-४२ ॥

द्राविडास्तत्र युध्यन्ते मत्तमातङ्गविक्रमाः ।
गोयोनिप्रभवा म्लेच्छाः कालकल्पाः प्रहारिणः ॥ ४३ ॥

मतवाले हाथियोंके समान पराक्रमी द्राविड तथा नन्दिनी गायसे उत्पन्न हुए कालके समान प्रहारकुशल म्लेच्छ भी वहाँ युद्ध कर रहे थे ॥ ४३ ॥

दार्वातिसारा दरदाः पुण्ड्राश्चैव सहस्रशः।
ते न शक्याः स्म संख्यातुं व्रात्याः शतसहस्रशः॥ ४४ ॥

दार्वातिसार, दरद और पुण्ड्र आदि हजारों लाखों संस्कार-शून्य म्लेच्छ वहाँ उपस्थित थे, जिनकी गणना नहीं की जा सकती थी ॥ ४४ ॥

अभ्यवर्षन्त ते सर्वे पाण्डवं निशितैः शरैः।
अवाकिरंश्च ते म्लेच्छा नानायुद्धविशारदाः ॥ ४५ ॥

नाना प्रकारके युद्धोंमें कुशल वे सभी म्लेच्छगण पाण्डुपुत्र अर्जुनपर तीखे बाणोंकी वर्षा करके उन्हें आच्छादित करने लगे ॥ ४५ ॥

तेषामपि ससर्जाशु शरवृष्टिं धनंजयः।
सृष्टिस्तथाविधा ह्यासीच्छलभानामिवायतिः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने उनके ऊपर भी तुरंत बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की। उनकी वह बाण-वृष्टि टिड्डी-दलोंकी सृष्टि-सी प्रतीत होती थी ॥ ४६ ॥

अभ्रच्छायामिव शरैः सैन्ये कृत्वा धनंजयः।
मुण्डार्धमुण्डाञ्जटिलानशुचीञ्जटिलाननान् ॥ ४७ ॥
म्लेच्छानशातयत् सर्वान् समेतानस्त्रतेजसा।

बाणोंद्वारा उस विशाल सेनापर बादलोंकी छाया-सी करके अर्जुनने अपने अस्त्रके तेजसे मुण्डित, अर्धमुण्डित, जटाधारी, अपवित्र तथा दाढ़ीभरे मुखवाले उन समस्त म्लेच्छोंका, जो वहाँ एकत्र थे, संहार कर डाला ॥ ४७½ ॥

शरैश्च शतशो विद्धास्ते संघा गिरिचारिणः।
प्राद्रवन्त रणे भीता गिरिगह्वरवासिनः ॥ ४८॥

उस समय पर्वतोंपर विचरने और पर्वतीय कन्दराओंमें निवास करनेवाले सैकड़ों म्लेच्छ-संघ अर्जुनके बाणोंसे विद्ध एवं भयभीत हो रणभूमिसे भागने लगे ॥ ४८ ॥

गजाश्वसादिम्लेच्छानां पतितानां शितैः शरैः।
बलाः कंका वृका भूमावपिबन् रुधिरं मुदा ॥ ४९॥

अर्जुनके तीखे बाणोंसे मरकर पृथ्वीपर गिरे हुए उन हाथीसवार और घुड़सवार म्लेच्छोंका रक्त कौए, बगले और भेड़िये बड़ी प्रसन्नताके साथ पी रहे थे ॥ ४९ ॥

पत्त्यश्वरथनागैश्च प्रच्छन्नकृतसंक्रमाम्।
शरवर्षप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
प्रावर्तयन्नदीमुग्रां शोणितौघतरङ्गिणीम् ॥ ५० ॥
छिन्नाङ्गुलीक्षुद्रमत्स्यां युगान्ते कालसंनिभाम्।
प्राकरोद् गजसम्बाधां नदीमुत्तरशोणिताम् ॥ ५१ ॥
देहेभ्यो राजपुत्राणां नागाश्वरथसादिनाम्।

उस समय अर्जुनने वहाँ रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी, जो प्रलयकालकी नदीके समान डरावनी प्रतीत होती थी। उसमें पैदल मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंको बिछाकर मानो पुल तैयार किया गया था, बाणोंकी वर्षा ही नौकाके समान जान पड़ती थी। केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे। उस भयंकर नदीसे रक्त-प्रवाहकी ही तरङ्गें उठ रही थीं। कटी हुई अँगुलियाँ छोटी-छोटी मछलियोंके समान जान पड़ती थीं। हाथी, घोड़े और रथोंकी सवारी करनेवाले राजकुमारोंके शरीरोंसे बहनेवाले रक्तसे लबालब भरी हुई उस नदीको अर्जुनने स्वयं प्रकट किया था। उसमें हाथियोंकी लाशें व्याप्त हो रही थीं ॥ ५०-५१½ ॥

यथास्थलं च निम्नं च न स्याद् वर्षति वासवे ॥ ५२ ॥
तथासीत् पृथिवी सर्वा शोणितेन परिप्लुता।

जैसे इन्द्रके वर्षा करते समय ऊँचे-नीचे स्थलका भान नहीं होता है, उसी प्रकार वहाँकी सारी पृथ्वी रक्तकी धारामें डूबकर समतल-सी जान पड़ती थी ॥ ५२½ ॥

षट्सहस्रान् हयान् वीरान् पुनर्दशशतान् वरान् ॥५३॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुनने वहाँ छः हजार घुड़सवारों तथा एक हजार श्रेष्ठ शूरवीर क्षत्रियोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥ ५३½ ॥

शरैः सहस्रशो विद्धा विधिवत्कल्पिता द्विपाः ॥ ५४ ॥
शेरते भूमिमासाद्य शैला वज्रहता इव।

विधिपूर्वक सुसज्जित किये गये हाथी सहस्रों बाणोंसे बिंधकर वज्रके मारे हुए पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे थे॥

सवाजिरथमातङ्गान् निघ्नन् व्यचरदर्जुनः ॥ ५५ ॥
प्रभिन्न इव मातङ्गो मृद्नन् नलवनं यथा।

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी नरकुलके जंगलोंको रौंदता चलता है, उसी प्रकार अर्जुन घोड़े, रथ और हाथियोंसहित सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करते हुए रण-भूमिमें विचर रहे थे ॥ ५५½ ॥

भूरिद्रुमलतागुल्मं शुष्केन्धनतृणोलपम् ॥ ५६ ॥
निर्दहेदनलोऽरण्यं यथा वायुसमीरितः।
सेनारण्यं तव तथा कृष्णानिलसमीरितः ॥ ५७ ॥
शरार्चिरदहत् क्रुद्धः पाण्डवाग्निर्धनंजयः।

जैसे वायुप्रेरित अग्नि सूखे ईंधन, तृण और लताओंसे युक्त तथा बहुसंख्यक वृक्षों और लतागुल्मोंसे भरे हुए जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णरूपी वायुसे प्रेरित हो बाणरूपी ज्वालाओंसे युक्त पाण्डुपुत्र अर्जुनरूपी अग्निने कुपित होकर आपकी सेनारूप वनको दग्ध कर दिया ॥ ५६–५७½ ॥

शून्यान् कुर्वन् रथोपस्थान् मानवैः संस्तरन् महीम् ॥५८
प्रानृत्यदिव सम्बाधे चापहस्तो धनंजयः।

रथकी बैठकोंको सूनी करके धरतीपर मनुष्योंकी लाशोंका बिछौना करते हुए चापधारी धनंजय उस युद्धके मैदानमें नृत्य-सा कर रहे थे ॥ ५८½ ॥

वज्रकल्पैः शरैर्भूमिं कुर्वन्नुत्तरशोणिताम् ॥ ५९ ॥
प्राविशद् भारतीं सेनां संक्रुद्धो वै धनंजयः ।
तं श्रुतायुस्तथाम्बष्ठो व्रजमानं न्यवारयत् ॥ ६० ॥

क्रोधमें भरे हुए धनंजयने वज्रोपम बाणोंद्वारा पृथ्वीको रक्तसे आप्लावित करते हुए कौरवी सेनामें प्रवेश किया । उस समय सेनाके भीतर जाते हुए अर्जुनको श्रुतायु तथा अम्बष्ठने रोका ॥ ५९-६० ॥

तस्यार्जुनः शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ।
न्यपातयद्धयाञ्शीघ्रं यतमानस्य मारिष ॥ ६१ ॥

मान्यवर ! तब अर्जुनने कंककी पाँखोंवाले तीखे बाणों-द्वारा विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले अम्बष्ठके घोड़ोंको शीघ्र ही मार गिराया ॥ ६१ ॥

धनुश्चास्यापरैश्छित्त्वा शरैः पार्थो विचक्रमे ।
अम्बष्ठस्तु गदां गृह्य कोपपर्याकुलेक्षणः ॥ ६२ ॥
आससाद रणे पार्थं केशवं च महारथम् ।

फिर दूसरे बाणोंसे उसके धनुषको भी काटकर पार्थने विशेष बल-विक्रमका परिचय दिया । तब अम्बष्ठकी आँखें क्रोधसे व्याप्त हो गयीं । उसने गदा लेकर रणक्षेत्रमें महारथी श्रीकृष्ण और अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ६२½ ॥

ततः सम्प्रहरन् वीरो गदामुद्यम्य भारत ॥ ६३ ॥
रथमावार्य गदया केशवं समताडयत् ।

भारत ! तदनन्तर वीर अम्बष्ठने प्रहार करनेके लिये उद्यत हो गदा उठाये आगे बढ़कर अर्जुनके रथको रोक दिया और भगवान् श्रीकृष्णपर गदासे आघात किया ।६३½।

गदया ताडितं दृष्ट्वा केशवं परवीरहा ॥ ६४ ॥
अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धः सोऽम्बष्ठं प्रति भारत ।

भरतनन्दन ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको गदासे आहत हुआ देख अम्बष्ठके प्रति अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ६४½ ॥

ततः शरैर्हेमपुङ्खैः सगदं रथिनां वरम् ॥ ६५ ॥
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम् ।

फिर तो जैसे बादल उदित हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार अर्जुनने समराङ्गणमें सोनेके पंखवाले बाणोंद्वारा गदासहित रथियोंमें श्रेष्ठ अम्बष्ठको आच्छादित कर दिया ॥

अथापरैः शरैश्चापि गदां तस्य महात्मनः ॥ ६६ ॥
अचूर्णयत् तदा पार्थस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

तत्पश्चात् दूसरे बहुत-से बाण मारकर अर्जुनने महामना अम्बष्ठकी उस गदाको उसी समय चूर-चूर कर दिया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ६६½ ॥

अथ तां पतितां दृष्ट्वा गृह्यान्यां च महागदाम् ॥ ६७ ॥
अर्जुनं वासुदेवं च पुनः पुनरताडयत् ।

उस गदाको गिरी हुई देख अम्बष्ठने दूसरी विशाल गदा ले ली और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनपर बारंबार प्रहार किया॥

तस्यार्जुनः क्षुरप्राभ्यां सगदावुद्यतौ भुजौ ॥ ६८ ॥
चिच्छेदेन्द्रध्वजाकारौ शिरश्चान्येन पत्रिणा ।

तब अर्जुनने उसकी गदासहित, इन्द्रध्वजके समान उठी हुई दोनों भुजाओंको दो क्षुरप्रोंसे काट डाला और पंख-युक्त दूसरे बाणसे उसके मस्तकको भी काट गिराया ॥६८½॥

स पपात हतो राजन् वसुधामनुनादयन् ॥ ६९ ॥
इन्द्रध्वज इवोत्सृष्टो यन्त्रनिर्मुक्तबन्धनः ।

राजन् ! यन्त्रद्वारा बन्धनमुक्त होकर गिरे हुए इन्द्रध्वज-के समान वह मरकर पृथ्वीपर धमाकेकी आवाज करता हुआ गिर पड़ा ॥ ६९½ ॥

रथानीकावगाढश्च वारणाश्वशतैर्वृतः ।
अदृश्यत तदा पार्थो घनैः सूर्य इवावृतः ॥ ७० ॥

उस समय रथियोंकी सेनामें घुसकर सैकड़ों हाथियों और घोड़ोंसे घिरे हुए कुन्तीकुमार अर्जुन बादलोंमें छिपे हुए सूर्यके समान दिखायी देते थे ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अम्बष्ठवधे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अम्बष्ठवधविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका उपालम्भ सुनकर द्रोणाचार्यका उसके शरीरमें दिव्य कवच बाँधकर उसीको अर्जुनके साथ युद्धके लिये भेजना

संजय उवाच

ततः प्रविष्टे कौन्तेये सिंधुराजजिघांसया ।
द्रोणानीकं विनिर्भिद्य भोजानीकं च दुस्तरम् ॥ १ ॥
काम्बोजस्य च दायादे हते राजन् सुदक्षिणे ।
श्रुतायुधे च विक्रान्ते निहते सव्यसाचिना ॥ २ ॥
विप्रद्रुतेष्वनीकेषु विध्वस्तेषु समन्ततः ।
प्रभग्नं स्वबलं दृष्ट्वा पुत्रस्ते द्रोणमभ्ययात् ॥ ३ ॥
त्वरन्नेकरथेनैव समेत्य द्रोणमब्रवीत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जब कुन्ती-कुमार अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथका वध करनेकी इच्छासे द्रोणाचार्य और कृतवर्माका दुस्तर सेना-व्यूह भेदन करके आपकी सेनामें प्रविष्ट हो गये और सव्यसाची अर्जुनके हाथसे

जब काम्बोजराजकुमार सुदक्षिण तथा पराक्रमी श्रुतायुध मार दिये गये तथा जब सारी सेनाएँ नष्ट भ्रष्ट होकर चारों ओर भाग खड़ी हुईं, उस समय अपनी सम्पूर्ण सेनामें भगदड़ मची देख आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी उतावलीके साथ एकमात्र रथके द्वारा द्रोणाचार्यके पास गया और उनसे मिलकर इस प्रकार बोला—॥ १—३½ ॥

गतः स पुरुषव्याघ्रः प्रमथ्यैतां महाचमूम् ॥ ४ ॥
अथ बुद्ध्या समीक्षस्व किन्नु कार्यमनन्तरम् ।
अर्जुनस्य विघाताय दारुणेऽस्मिञ्जनक्षये ॥ ५ ॥
यथा स पुरुषव्याघ्रो न हन्येत जयद्रथः ।
तथा विधत्स्व भद्रं ते त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ६ ॥

'गुरुदेव ! पुरुषसिंह अर्जुन हमारी इस विशाल सेनाको मथकर व्यूहके भीतर चला गया । अब आप अपनी बुद्धिसे यह विचार कीजिये कि इसके बाद अर्जुनके विनाशके लिये क्या करना चाहिये ? इस भयंकर नरसंहारमें जिस प्रकार भी पुरुषसिंह जयद्रथ न मारे जायँ, वैसा उपाय कीजिये । आपका कल्याण हो । हमारा सबसे बड़ा सहारा आप ही हैं ॥ ४—६ ॥

असौ धनंजयाग्निर्हि कोपमारुतचोदितः ।
सेनाकक्षं दहति मे वह्निः कक्षमिवोत्थितः ॥ ७ ॥

'जैसे सहसा उठा हुआ दावानल सूखे घास-फूँस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार यह धनंजय-रूपी अग्नि कोपरूपी प्रचण्ड वायुसे प्रेरित हो मेरे सैन्यरूपी सूखे वनको दग्ध किये देती है ॥ ७ ॥

अतिक्रान्ते हि कौन्तेये भित्त्वा सैन्यं परंतप ।
जयद्रथस्य गोप्तारः संशयं परमं गताः ॥ ८ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले आचार्य ! जबसे कुन्तीकुमार अर्जुन आपकी सेनाका व्यूह भेदकर आपको भी लाँघकर आगे चले गये हैं, तबसे जयद्रथकी रक्षा करनेवाले योद्धा महान् संशयमें पड़ गये हैं ॥ ८ ॥

स्थिरा बुद्धिर्नरेन्द्राणामासीद् ब्रह्मविदां वर ।
नातिक्रमिष्यति द्रोणं जातु जीवं धनंजयः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! हमारे पक्षके नरेशोंको यह दृढ़ विश्वास था कि अर्जुन द्रोणाचार्यके जीते-जी उन्हें लाँघकर सेनाके भीतर नहीं घुस सकेगा ॥ ९ ॥

योऽसौ पार्थो व्यतिक्रान्तो मिषतस्ते महाद्युते ।
सर्वं ह्यद्यातुरं मन्ये नेदमस्ति बलं मम ॥ १० ॥

'परंतु महातेजस्वी वीर ! आपके देखते-देखते वह कुन्ती-कुमार अर्जुन आपको लाँघकर जो व्यूहमें घुस गया है, इससे मैं अपनी इस सारी सेनाको व्याकुल और विनष्ट हुई-सी मानता हूँ । अब मेरी इस सेनाका अस्तित्व नहीं रहेगा ॥ १० ॥

जानामि त्वां महाभाग पाण्डवानां हिते रतम् ।
तथा मुह्यामि च ब्रह्मन् कार्यवत्तां विचिन्तयन् ॥ ११ ॥

'ब्रह्मन् ! महाभाग ! मैं यह जानता हूँ कि आप पाण्डवों-के हितमें तत्पर रहनेवाले हैं; इसीलिये अपने कार्यकी गुरुताका विचार करके मोहित हो रहा हूँ ॥ ११ ॥

यथाशक्ति च ते ब्रह्मन् वर्तये वृत्तिमुत्तमाम् ।
प्रीणामि च यथाशक्ति तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ १२ ॥

'विप्रवर ! मैं यथाशक्ति आपके लिये उत्तम जीविका-वृत्तिकी व्यवस्था करता रहता हूँ और अपनी शक्तिभर आपको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता रहता हूँ; परंतु इन सब बातोंको आप याद नहीं रखते हैं ॥ १२ ॥

अस्मान्न त्वं सदा भक्तानिच्छस्यमितविक्रम ।
पाण्डवान् सततं प्रीणास्यस्माकं विप्रिये रतान् ॥ १३ ॥

'अमितपराक्रमी आचार्य ! हम आपके चरणोंमें सदा भक्ति रखते हैं तो भी आप हमें नहीं चाहते हैं और जो सदा हमलोगोंका अप्रिय करनेमें तत्पर रहते हैं, उन पाण्डवोंको आप निरन्तर प्रसन्न रखते हैं ॥ १३ ॥

अस्मानेवोपजीवंस्त्वमस्माकं विप्रिये रतः ।
न ह्ययं त्वां विजानामि मधुदिग्धमिव क्षुरम् ॥ १४ ॥

'हमसे ही आपकी जीविका चलती है तो भी आप हमारा ही अप्रिय करनेमें संलग्न रहते हैं । मैं नहीं जानता था कि आप शहदमें डुबोये हुए छुरेके समान हैं ॥ १४ ॥

नादास्यच्चेद् वरं मह्यं भवान् पाण्डवनिग्रहे ।
नावारयिष्यं गच्छन्तमहं सिन्धुपतिं गृहान् ॥ १५ ॥

'यदि आप मुझे अर्जुनको रोके रखनेका वर न देते तो मैं अपने घरको जाते हुए सिन्धुराज जयद्रथको कभी मना नहीं करता ॥ १५ ॥

मया त्वाशंसमानेन त्वत्तस्त्राणमबुद्धिना ।
आश्वासितः सिन्धुपतिर्मोहाद् दत्तश्च मृत्यवे ॥ १६ ॥

'मुझ मूर्खने आपसे संरक्षण पानेका भरोसा करके सिन्धुराज जयद्रथको समझा-बुझाकर यहीं रोक लिया और इस प्रकार मोहवश मैंने उन्हें मौतके हाथमें सौंप दिया ॥ १६ ॥

यमदंष्ट्रान्तरं प्राप्तो मुच्येतापि हि मानवः ।
नार्जुनस्य वशं प्राप्तो मुच्येताजौ जयद्रथः ॥ १७ ॥

'मनुष्य यमराजकी दाढ़ोंमें पड़कर भले ही बच जाय, परंतु रणभूमिमें अर्जुनके वशमें पड़े हुए जयद्रथके प्राण नहीं बच सकते ॥ १७ ॥

स तथा कुरु शोणाश्व यथा मुच्येत सैन्धवः ।
मम चार्तप्रलापानां मा क्रुधः पाहि सैन्धवम् ॥ १८ ॥

'लाल घोड़ोंवाले आचार्य ! आप कोई ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे सिन्धुराज जयद्रथ मृत्युसे छुटकारा पा सके । मैंने आर्त होनेके कारण जो प्रलाप किये हैं, उनके लिये क्रोध न कीजियेगा; जैसे भी हो, सिन्धुराजकी रक्षा कीजिये' ॥ १८ ॥

द्रोण उवाच

नाभ्यसूयामि ते वाक्यमश्वत्थाम्नासि मे समः।
सत्यं तु ते प्रवक्ष्यामि तज्जुषस्व विशाम्पते ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! तुमने जो बात कही है, उसके लिये मैं बुरा नहीं मानता; क्योंकि तुम मेरे लिये अश्वत्थामाके समान हो । परंतु जो सच्ची बात है, वह तुम्हें बता रहा हूँ; उसे ध्यान देकर सुनो ॥ १९ ॥

सारथिः प्रवरः कृष्णः शीघ्राश्चास्य हयोत्तमाः।
अल्पं च विवरं कृत्वा तूर्णं याति धनंजयः ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनके श्रेष्ठ सारथि हैं तथा उनके उत्तम घोड़े भी तेज चलनेवाले हैं । इसलिये थोड़ा-सा भी अवकाश बनाकर अर्जुन तत्काल सेनामें घुस जाते हैं ॥ २० ॥

किं न पश्यसि बाणौघान् क्रोशमात्रे किरीटिनः।
पश्चाद् रथस्य पतितान् क्षिप्ताञ्शीघ्रं हि गच्छतः॥२१॥

क्या तुम देखते नहीं हो कि मेरे चलाये हुए बाणसमूह शीघ्रगामी अर्जुनके रथके एक कोस पीछे पड़े हैं ॥ २१ ॥

न चाहं शीघ्रयानेऽद्य समर्थो वयसान्वितः।
सेनामुखे च पार्थानामेतद् बलमुपस्थितम् ॥ २२॥

मैं बूढ़ा हो गया । अतः अब मैं शीघ्रतापूर्वक रथ चलानेमें असमर्थ हूँ । इधर मेरी सेनाके सामने यह कुन्तीकुमारोंकी भारी सेना उपस्थित है ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरश्च मे ग्राह्यो मिषतां सर्वधन्विनाम्।
एवं मया प्रतिज्ञातं क्षत्रमध्ये महाभुज ॥ २३॥

महाबाहो ! मैंने क्षत्रियोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की है कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते युधिष्ठिरको कैद कर लूँगा ।२३।

धनंजयेन चोत्सृष्टो वर्तते प्रमुखे नृप।
तस्माद् व्यूहमुखं हित्वा नाहं योत्स्यामि फाल्गुनम्॥२४॥

नरेश्वर ! इस समय युधिष्ठिर अर्जुनसे रहित होकर मेरे सामने खड़े हैं । ऐसी अवस्थामें मैं व्यूहका द्वार छोड़कर अर्जुनके साथ युद्ध करनेके लिये नहीं जाऊँगा ॥ २४ ॥

तुल्याभिजनकर्माणं शत्रुमेकं सहायवान्।
गत्वा योधय मा भैस्त्वं त्वं ह्यस्य जगतः पतिः ॥ २५॥

तुम्हारे शत्रु अर्जुन भी तो तुम्हारे-जैसे ही कुल और पराक्रमसे युक्त हैं । इस समय वे अकेले हैं और तुम सहायकोंसे सम्पन्न हो । (वे राज्यसे च्युत हो गये हैं और तुम) इस सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हो । अतः डरो मत । जाकर अर्जुनसे युद्ध करो ॥ २५ ॥

राजा शूरः कृती दक्षो वैरमुत्पाद्य पाण्डवैः।
वीर स्वयं प्रयाह्यत्र यत्र पार्थो धनंजयः ॥ २६ ॥

तुम राजा, शूरवीर, विद्वान् और युद्धकुशल हो । वीर ! तुमने ही पाण्डवोंके साथ वैर बाँधा है । अतः जहाँ कुन्तीकुमार अर्जुन गये हैं, वहाँ उनसे युद्ध करनेके लिये स्वयं ही शीघ्रतापूर्वक जाओ ॥ २६ ॥

दुर्योधन उवाच

कथं त्वामप्यतिक्रान्तः सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
धनंजयो मया शक्य आचार्य प्रतिबाधितुम् ॥ २७ ॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! आप सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं । जो आपको भी लाँघकर आगे बढ़ गया, वह अर्जुन मेरेद्वारा कैसे रोका जा सकता है ? ॥ २७ ॥

अपि शक्यो रणे जेतुं वज्रहस्तः पुरंदरः।
नार्जुनः समरे शक्यो जेतुं परपुरंजयः ॥ २८ ॥

युद्धमें वज्रधारी इन्द्रको भी जीता जा सकता है; परंतु समराङ्गणमें शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले अर्जुनको जीतना असम्भव है ॥ २८ ॥

येन भोजश्च हार्दिक्यो भवांश्च त्रिदशोपमः।
अस्त्रप्रतापेन जितौ श्रुतायुश्च निबर्हितः ॥ २९ ॥
सुदक्षिणश्च निहतः स च राजा श्रुतायुधः।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च म्लेच्छाश्चायुतशो हताः ॥ ३० ॥
तं कथं पाण्डवं युद्धे दहन्तमिव पावकम्।
प्रतियोत्स्यामि दुर्धर्षं तमहं शस्त्रकोविदम् ॥ ३१ ॥

जिसने भोजवंशी कृतवर्मा तथा देवताओंके समान तेजस्वी आपको भी अपने अस्त्रके प्रतापसे पराजित कर दिया, श्रुतायुका संहार कर डाला, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा राजा श्रुतायुधको भी मार डाला, श्रुतायु, अच्युतायु तथा सहस्रों म्लेच्छ सैनिकोंके भी प्राण ले लिये, युद्धमें अग्निके समान शत्रुओंको दग्ध करनेवाले और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता उस दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ मैं कैसे युद्ध कर सकूँगा ?॥

क्षमं च मन्यसे युद्धं मम तेनाद्य संयुगे।
परवानस्मि भवति प्रेष्यवद् रक्ष मद्यशः ॥ ३२ ॥

यदि आज युद्धस्थलमें आप अर्जुनके साथ मेरा युद्ध करना उचित मानते हैं तो मैं एक सेवककी भाँति आपकी आज्ञाके अधीन हूँ । आप मेरे यशकी रक्षा कीजिये ॥ ३२ ॥

द्रोण उवाच

सत्यं वदसि कौरव्य दुराधर्षो धनंजयः।
अहं तु तत् करिष्यामि यथैनं प्रसहिष्यसि ॥ ३३ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—कुरुनन्दन ! तुम ठीक कहते हो । अर्जुन अवश्य दुर्जय वीर हैं । परंतु मैं एक ऐसा उपाय कर दूँगा, जिससे तुम उनका वेग सह सकोगे ॥३३॥

अद्भुतं चाद्य पश्यन्तु लोके सर्वधनुर्धराः।
विषक्तं त्वयि कौन्तेयं वासुदेवस्य पश्यतः ॥ ३४ ॥

आज संसारके सम्पूर्ण धनुर्धर भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही कुन्तीकुमार अर्जुनको तुम्हारे साथ युद्धमें उलझे रहनेकी अद्भुत घटना देखें ॥ ३४ ॥

एष ते कवचं राजंस्तथा बध्नामि काञ्चनम्।
यथा न बाणा नास्त्राणि प्रहरिष्यन्ति ते रणे ॥ ३५॥

राजन् ! मैं यह सुवर्णमय कवच तुम्हारे शरीरमें इस प्रकार बाँध देता हूँ, जिससे युद्धस्थलमें छूटनेवाले बाण और अन्य अस्त्र तुम्हें चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ ३५ ॥

यदि त्वां सासुरसुराः सयक्षोरगराक्षसाः।
योधयन्ति त्रयो लोकाः सनरा नास्ति ते भयम्॥३६॥

यदि मनुष्योंसहित देवता, असुर, यक्ष, नाग, राक्षस तथा तीनों लोकके प्राणी तुमसे युद्ध करते हों तो भी आज तुम्हें कोई भय नहीं होगा ॥ ३६ ॥

न कृष्णो न च कौन्तेयो न चान्यः शस्त्रभृद् रणे।
शरानर्पयितुं कश्चित् कवचे तव शक्ष्यति ॥ ३७॥

इस कवचके रहते हुए श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा दूसरे कोई शस्त्रधारी योद्धा भी तुम्हें बाणोंद्वारा चोट पहुँचानेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥ ३७ ॥

स त्वं कवचमास्थाय क्रुद्धमद्य रणेऽर्जुनम्।
त्वरमाणः स्वयं याहि न त्वासौ विसहिष्यति ॥ ३८॥

अतः तुम यह कवच धारण करके शीघ्रतापूर्वक रणक्षेत्रमें कुपित हुए अर्जुनका सामना करनेके लिये स्वयं ही जाओ। वे तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा त्वरन् द्रोणः स्पृष्ट्वाम्भो वर्म भास्वरम्।
आबबन्धाद्भुततमं जपन् मन्त्रं यथाविधि ॥ ३९॥
रणे तस्मिन् सुमहति विजयाय सुतस्य ते।
विसिस्मापयिषुर्लोकान् विद्यया ब्रह्मवित्तमः ॥ ४०॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने अपनी विद्याके प्रभावसे सब लोगोंको आश्चर्यमें डालनेकी इच्छा रखते हुए तुरंत आचमन करके उस महायुद्धमें आपके पुत्र दुर्योधनकी विजयके लिये उसके शरीरमें विधिपूर्वक मन्त्रजपके साथ-साथ वह अत्यन्त तेजस्वी अद्भुत कवच बाँध दिया ॥ ३९-४०॥

द्रोण उवाच

करोतु स्वस्ति ते ब्रह्म ब्रह्मा चापि द्विजातयः।
सरीसृपाश्च ये श्रेष्ठास्तेभ्यस्ते स्वस्ति भारत ॥ ४१॥

द्रोणाचार्य बोले—भरतनन्दन ! परब्रह्म परमात्मा तुम्हारा कल्याण करें । ब्रह्माजी तथा ब्राह्मण तुम्हारा मङ्गल करें। जो श्रेष्ठ सर्प हैं, उनसे भी तुम्हारा कल्याण हो ॥४१॥

ययातिर्नाहुषश्चैव धुन्धुमारो भगीरथः।
तुभ्यं राजर्षयः सर्वे स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥ ४२॥

नहुषपुत्र ययाति, धुन्धुमार और भगीरथ आदि सभी राजर्षि सदा तुम्हारी भलाई करें ॥ ४२ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वेकपादेभ्यो बहुपादेभ्य एव च।
स्वस्त्यस्त्वपादकेभ्यश्च नित्यं तव महारणे ॥ ४३ ॥

इस महायुद्धमें एक पैरवाले, अनेक पैरवाले तथा पैरोंसे रहित प्राणियोंसे तुम्हारा नित्य मङ्गल हो ॥ ४३ ॥

स्वाहा स्वधा शची चैव स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
लक्ष्मीररुन्धती चैव कुरुतां स्वस्ति तेऽनघ ॥ ४४ ॥

निष्पाप नरेश ! स्वाहा, स्वधा और शची आदि देवियाँ तुम्हारा सदा कल्याण करें । लक्ष्मी और अरुन्धती भी तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ४४ ॥

असितो देवलश्चैव विश्वामित्रस्तथाङ्गिराः।
वसिष्ठः कश्यपश्चैव स्वस्ति कुर्वन्तु ते नृप ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! असित, देवल, विश्वामित्र, अङ्गिरा, वसिष्ठ तथा कश्यप तुम्हारा भला करें ॥ ४५ ॥

धाता विधाता लोकेशो दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्वस्ति तेऽद्य प्रयच्छन्तु कार्तिकेयश्च षण्मुखः ॥४६ ॥

धाता, विधाता, लोकनाथ ब्रह्मा, दिशाएँ, दिक्पाल तथा षडानन कार्तिकेय भी आज तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥४६॥

विवस्वान् भगवान् स्वस्ति करोतु तव सर्वशः।
दिग्गजाश्चैव चत्वारः क्षितिश्च गगनं ग्रहाः ॥ ४७ ॥

भगवान् सूर्य सब प्रकारसे तुम्हारा मङ्गल करें । चारों दिग्गज, पृथ्वी, आकाश और ग्रह तुम्हारा भला करें ॥४७॥

अधस्ताद् धरणीं योऽसौ सदा धारयते नृप।
शेषश्च पन्नगश्रेष्ठः स्वस्ति तुभ्यं प्रयच्छतु ॥ ४८ ॥

राजन् ! जो सदा इस पृथ्वीके नीचे रहकर इसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे पन्नगश्रेष्ठ भगवान् शेषनाग तुम्हें कल्याण प्रदान करें ॥ ४८ ॥

गान्धारे युधि विक्रम्य निर्जिताः सुरसत्तमाः।
पुरा वृत्रेण दैत्येन भिन्नदेहाः सहस्रशः ॥ ४९ ॥

गान्धारीनन्दन ! प्राचीन कालकी बात है, वृत्रासुरने युद्धमें पराक्रमपूर्वक सहस्रों श्रेष्ठ देवताओंके शरीरको विदीर्ण करके उन्हें परास्त कर दिया था ॥ ४९ ॥

हृततेजोबलाः सर्वे तदा सेन्द्रा दिवौकसः।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुर्वृत्राद् भीता महासुरात् ॥ ५० ॥

उस समय तेज और बलसे हीन हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता महान् असुर वृत्रसे भयभीत हो ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥

देवा ऊचुः

प्रमर्दितानां वृत्रेण देवानां देवसत्तम।
गतिर्भव सुरश्रेष्ठ त्राहि नो महतो भयात् ॥ ५१ ॥

देवता बोले—देवप्रवर ! सुरश्रेष्ठ ! वृत्रासुरने जिन्हें सब प्रकारसे कुचल दिया है, उन देवताओंके लिये आप आश्रयदाता हों । महान् भयसे हमारी रक्षा करें ॥ ५१ ॥

अथ पार्श्वे स्थितं विष्णुं शक्रादींश्च सुरोत्तमान् ।
प्राह तथ्यमिदं वाक्यं विषण्णान् सुरसत्तमान् ॥५२॥

तब अपने पास खड़े हुए भगवान् विष्णु तथा विषादमें भरे हुए इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंसे ब्रह्माजीने यह यथार्थ बात कही—॥ ५२ ॥

रक्ष्या मे सततं देवाः सहेन्द्राः सद्विजातयः ।
त्वष्टुः सुदुर्धरं तेजो येन वृत्रो विनिर्मितः ॥ ५३॥

'देवताओ ! इन्द्र आदि देवता और ब्राह्मण सदा ही मेरे रक्षणीय हैं । परंतु वृत्रासुरका जिससे निर्माण हुआ है, वह त्वष्टा प्रजापतिका अत्यन्त दुर्धर्ष तेज है ॥ ५३ ॥

त्वष्ट्रा पुरा तपस्तप्त्वा वर्षायुतशतं तदा ।
वृत्रो विनिर्मितो देवाः प्राप्यानुज्ञां महेश्वरात् ॥ ५४ ॥

'देवगण ! प्राचीन कालमें त्वष्टा प्रजापतिने दस लाख वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् शङ्करसे वरदान पाकर वृत्रासुरको उत्पन्न किया था॥ ५४ ॥

स तस्यैव प्रसादाद् वो हन्यादेव रिपुर्बली ।
नागत्वा शंकरस्थानं भगवान् दृश्यते हरः ॥ ५५ ॥

'वह बलवान् शत्रु भगवान् शङ्करके ही प्रसादसे निश्चय ही तुम सब लोगोंको मार सकता है । अतः भगवान् शङ्करके निवासस्थानपर गये बिना उनका दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वा जेष्यथ वृत्रं तं क्षिप्रं गच्छत मन्दरम् ।
यत्रास्ते तपसां योनिर्दक्षयज्ञविनाशनः ॥ ५६ ॥
पिनाकी सर्वभूतेशो भगनेत्रनिपातनः ।

'उनका दर्शन पाकर तुमलोग वृत्रासुरको जीत सकोगे । अतः शीघ्र ही मन्दराचलको चलो, जहाँ तपस्याके उत्पत्ति-स्थान, दक्षयज्ञविनाशक तथा भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले सर्वभूतेश्वर पिनाकधारी भगवान् शिव विराजमान हैं' ॥ ५६½ ॥

ते गत्वा सहिता देवा ब्रह्मणा सह मन्दरम् ॥ ५७ ॥
अपश्यंस्तेजसां राशिं सूर्यकोटिसमप्रभम् ।

'तब एकत्र हुए उन सब देवताओंने ब्रह्माजीके साथ मन्दराचलपर जाकर करोड़ों सूर्योंके समान कान्तिमान् तेजोराशि भगवान् शिवका दर्शन किया ॥ ५७½ ॥

सोऽब्रवीत् स्वागतं देवा ब्रूत किं करवाण्यहम् ॥५८॥
अमोघं दर्शनं मह्यं कामप्राप्तिरतोऽस्तु वः ।

उस समय भगवान् शिवने कहा—'देवताओ ! तुम्हारा स्वागत है । बोलो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ ? मेरा दर्शन अमोघ है । अतः तुम्हें अपने अभीष्ट मनोरथोंकी प्राप्ति हो' ॥ ५८½ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे प्रत्यूचुस्तं दिवौकसः ॥ ५९ ॥
तेजो हृतं नो वृत्रेण गतिर्भव दिवौकसाम् ।
मूर्तीरीक्षस्व नो देव प्रहारैर्जर्जरीकृताः ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्म गतिर्भव महेश्वर ॥ ६० ॥

उनके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण देवता इस प्रकार बोले—'देव ! वृत्रासुरने हमारा तेज हर लिया है । आप देवताओंके आश्रयदाता हों । महेश्वर ! आप हमारे शरीरोंकी दशा देखिये । हम वृत्रासुरके प्रहारोंसे जर्जर हो गये हैं, इसलिये आपकी शरणमें आये हैं । आप हमें आश्रय दीजिये'।५९-६०।

शर्व उवाच

विदितं वो यथा देवाः कृत्येयं सुमहाबला ।
त्वष्टुस्तेजोभवा घोरा दुर्निवार्याकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥

भगवान् शिव बोले—देवताओ ! तुम्हें विदित हो कि यह प्रजापति त्वष्टाके तेजसे उत्पन्न हुई अत्यन्त प्रबल एवं भयंकर कृत्या है । जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, ऐसे लोगोंके लिये इस कृत्याका निवारण करना अत्यन्त कठिन है ॥ ६१ ॥

अवश्यं तु मया कार्यं साह्यं सर्वदिवौकसाम् ।
ममेदं गात्रजं शक्र कवचं गृह्य भास्वरम् ॥ ६२ ॥

तथापि मुझे सम्पूर्ण देवताओंकी सहायता अवश्य करनी चाहिये । अतः इन्द्र ! मेरे शरीरसे उत्पन्न हुए इस तेजस्वी कवचको ग्रहण करो ॥ ६२ ॥

बधानानेन मन्त्रेण मानसेन सुरेश्वर ।
वधायासुरमुख्यस्य वृत्रस्य सुरघातिनः ॥ ६३ ॥

सुरेश्वर ! मेरे बताये हुए इस मन्त्रका मानसिक जप करके असुरमुख्य देवशत्रु वृत्रका वध करनेके लिये इसे अपने शरीरमें बाँध लो ॥ ६३ ॥

द्रोण उवाच

इत्युक्त्वा वरदः प्रादाद् वर्म तन्मन्त्रमेव च ।
स तेन वर्मणा गुप्तः प्रायाद् वृत्रचमूं प्रति ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्य कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर वरदायक भगवान् शङ्करने वह कवच और उसका मन्त्र उन्हें दे दिया । उस कवचसे सुरक्षित हो इन्द्र वृत्रासुरकी सेनाका सामना करनेके लिये गये ॥ ६४ ॥

नानाविधैश्च शस्त्रौघैः पात्यमानैर्महारणे ।
न संधिः शक्यते भेत्तुं वर्मबन्धस्य तस्य तु ॥ ६५ ॥

उस महान् युद्धमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके समुदाय उनके ऊपर चलाये गये; परंतु उनके द्वारा इन्द्रके उस कवच-बन्धनकी सन्धि भी नहीं काटी जा सकी ॥ ६५ ॥

ततो जघान समरे वृत्रं देवपतिः स्वयम् ।
तं च मन्त्रमयं बन्धं वर्म चाङ्गिरसे ददौ ॥ ६६ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रने स्वयं ही समराङ्गणमें वृत्रासुरको मार डाला । इसके बाद उन्होंने वह कवच तथा उसे

बाँधनेकी मन्त्रयुक्त विधि अङ्गिराको दे दी ॥ ६६ ॥

अङ्गिराः प्राह पुत्रस्य मन्त्रज्ञस्य बृहस्पतेः ।
बृहस्पतिरथोवाच आग्निवेश्याय धीमते ॥ ६७ ॥

अङ्गिराने अपने मन्त्रज्ञ पुत्र बृहस्पतिको उसका उपदेश दिया और बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् आग्निवेश्यको यह विद्या प्रदान की ॥ ६७ ॥

आग्निवेश्यो मम प्रादात् तेन बध्नामि वर्म ते ।
तवाद्य देहरक्षार्थं मन्त्रेण नृपसत्तम ॥ ६८ ॥

आग्निवेश्यने मुझे उसका उपदेश किया था । नृपश्रेष्ठ ! उसी मन्त्रसे आज तुम्हारे शरीरकी रक्षाके लिये मैं यह कवच बाँध रहा हूँ ॥ ६८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो द्रोणस्तव पुत्रं महाद्युतिम् ।
पुनरेव वचः प्राह शनैराचार्यपुङ्गवः ॥ ६९ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! वहाँ आपके महातेजस्वी पुत्रसे यह प्रसंग सुनाकर आचार्यशिरोमणि द्रोणने पुनः धीरेसे यह बात कही—॥ ६९ ॥

ब्रह्मसूत्रेण बध्नामि कवचं तव भारत ।
हिरण्यगर्भेण यथा बद्धं विष्णोः पुरा रणे ॥ ७० ॥

'भारत ! जैसे पूर्वकालमें रणक्षेत्रमें भगवान् ब्रह्माने श्रीविष्णुके शरीरमें कवच बाँधा था, उसी प्रकार मैं भी ब्रह्मसूत्रसे तुम्हारे इस कवचको बाँधता हूँ ॥ ७० ॥

यथा च ब्रह्मणा बद्धं संग्रामे तारकामये ।
शक्रस्य कवचं दिव्यं तथा बध्नाम्यहं तव ॥ ७१ ॥

'तारकामय संग्राममें ब्रह्माजीने इन्द्रके शरीरमें जिस प्रकार दिव्य कवच बाँधा था, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे शरीरमें बाँध रहा हूँ' ॥ ७१ ॥

बद्ध्वा तु कवचं तस्य मन्त्रेण विधिपूर्वकम् ।
प्रेषयामास राजानं युद्धाय महते द्विजः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार मन्त्रके द्वारा राजा दुर्योधनके शरीरमें विधिपूर्वक कवच बाँधकर विप्रवर द्रोणाचार्यने उसे महान् युद्धके लिये भेजा ॥ ७२ ॥

स संनद्धो महाबाहुराचार्येण महात्मना ।
रथानां च सहस्रेण त्रिगर्तानां प्रहारिणाम् ॥ ७३ ॥
तथा दन्तिसहस्रेण मत्तानां वीर्यशालिनाम् ।
अश्वानां नियुतेनैव तथान्यैश्च महारथैः ॥ ७४ ॥
वृतः प्रायान्महाबाहुरर्जुनस्य रथं प्रति ।
नानावादित्रघोषेण यथा वैरोचनिस्तथा ॥ ७५ ॥

महामना आचार्यके द्वारा अपने शरीरमें कवच बँध जानेपर महाबाहु दुर्योधन प्रहार करनेमें कुशल एक सहस्र त्रिगर्तदेशीय रथियों, एक सहस्र पराक्रमशाली मतवाले हाथीसवारों एक लाख घुड़सवारों तथा अन्य महारथियोंसे घिरकर नाना प्रकारके रणवाद्योंकी ध्वनिके साथ अर्जुनके रथकी ओर चला । ठीक उसी तरह, जैसे राजा बलि (इन्द्रके साथ युद्धके लिये) यात्रा करते हैं ॥ ७३–७५ ॥

ततः शब्दो महानासीत् सैन्यानां तव भारत ।
अगाधं प्रस्थितं दृष्ट्वा समुद्रमिव कौरवम् ॥ ७६ ॥

भारत ! उस समय अगाध समुद्रके समान कुरुनन्दन दुर्योधनको युद्धके लिये प्रस्थान करते देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनकवचबन्धने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधनका कवच-बन्धनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

द्रोण और धृष्टद्युम्नका भीषण संग्राम तथा उभय पक्षके प्रमुख वीरोंका परस्पर संकुल युद्ध

संजय उवाच

प्रविष्टयोर्महाराज पार्थवार्ष्णेययो रणे ।
दुर्योधने प्रयाते च पृष्ठतः पुरुषर्षभे ॥ १ ॥
जवेनाभ्यद्रवन् द्रोणं महता निःस्वनेन च ।
पाण्डवाः सोमकैः सार्धं ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस रणक्षेत्रमें जब श्रीकृष्ण और अर्जुन पाण्डवसेनाके भीतर प्रवेश कर गये तथा पुरुषप्रवर दुर्योधन उनका पीछा करता हुआ आगे बढ़ गया, तब सोमकोंसहित पाण्डवोंने बड़ी भारी गर्जनाके साथ द्रोणाचार्यपर वेगपूर्वक धावा किया । फिर तो वहाँ बड़े जोरसे युद्ध होने लगा ॥ १–२ ॥

तद् युद्धमभवत् तीव्रं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च व्यूहस्य पुरतोऽद्भुतम् ॥ ३ ॥

व्यूहके द्वारपर होनेवाला कौरवों तथा पाण्डवोंका वह अद्भुत युद्ध अत्यन्त तीव्र एवं भयंकर था । उसे देखकर लोगोंके रोंगटे खड़े हो जाते थे ॥ ३ ॥

राजन् कदाचिन्नास्माभिर्दृष्टं तादृङ् न च श्रुतम् ।
यादृङ् मध्यगते सूर्ये युद्धमासीद् विशाम्पते ॥ ४ ॥

राजन् ! प्रजानाथ ! वहाँ मध्याह्नकालमें जैसा वह युद्ध हुआ था, वैसा न तो मैंने कभी देखा था और न सुना ही था ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नमुखाः पार्था व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
द्रोणस्य सैन्यं ते सर्वे शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवपक्षीय सब प्रहारकुशल योद्धा

अपनी सेनाका व्यूह बनाकर द्रोणाचार्यकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५ ॥

वयं द्रोणं पुरस्कृत्य सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
पार्षतप्रमुखान् पार्थानभ्यवर्षाम सायकैः ॥ ६ ॥

उस समय हमलोग सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यको आगे करके धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवसैनिकोंपर बाण-वर्षा कर रहे थे ॥ ६ ॥

महामेघाविवोदीर्णौ मिश्रवातौ हिमात्यये ।
सेनाग्रे प्रचकाशेते रुचिरे रथभूषिते ॥ ७ ॥

रथोंसे विभूषित हुई वे दोनों प्रधान एवं सुन्दर सेनाएँ हेमन्तके अन्त (शिशिर) में उठे हुए वायुयुक्त दो महामेघोंके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ ७ ॥

समेत्य तु महासेने चक्रतुर्वेगमुत्तमम् ।
जाह्नवीयमुने नद्यौ प्रावृषीवोल्बणोदके ॥ ८ ॥

वे दोनों विशाल सेनाएँ परस्पर भिड़कर विजयके लिये बड़े वेगसे आगे बढ़नेका प्रयत्न करने लगीं; मानो वर्षा-ऋतुमें जलकी बाढ़ आनेसे बढ़ी हुई गङ्गा और यमुना दोनों नदियाँ बड़े वेगसे मिल रही हों ॥ ८ ॥

नानाशस्त्रपुरोवातो द्विपाश्वरथसंवृतः ।
गदाविद्युन्महारौद्रः संग्रामजलदो महान् ॥ ९ ॥
भारद्वाजानिलोद्धूतः शरधारासहस्रवान् ।
अभ्यवर्षन्महासैन्यः पाण्डुसेनाग्निमुद्धतम् ॥ १० ॥

उस समय महान् सैन्यदलसे संयुक्त एवं हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा हुआ वह संग्राम महान् मेघके समान जान पड़ता था। नाना प्रकारके शस्त्र पूर्ववात (पुरवैया) के तुल्य चल रहे थे। गदाएँ विद्युत्के समान प्रकाशित होती थीं। देखनेमें वह संग्राम-मेघ बड़ा भयंकर जान पड़ता था। द्रोणाचार्य वायुके समान उसे संचालित कर रहे थे तथा उससे बाण-रूपी जलकी सहस्रों धाराएँ गिर रही थीं और इस प्रकार वह अग्निके समान उठी हुई पाण्डव-सेनापर सब ओरसे वर्षा कर रहा था ॥ ९-१० ॥

समुद्रमिव घर्मान्ते विशन् घोरो महानिलः ।
व्यक्षोभयदनीकानि पाण्डवानां द्विजोत्तमः ॥ ११ ॥

जैसे ग्रीष्मऋतुके अन्तमें बड़े जोरसे उठी हुई भयंकर वायु महासागरमें क्षोभ उत्पन्न करके वहाँ ज्वारका दृश्य उपस्थित कर देती है, उसी प्रकार विप्रवर द्रोणाचार्यने पाण्डवसेनामें हलचल मचा दी ॥ ११ ॥

तेऽपि सर्वप्रयत्नेन द्रोणमेव समाद्रवन् ।
बिभित्सन्तो महासेतुं वार्योघाः प्रबला इव ॥ १२ ॥

पाण्डव-योद्धाओंने भी सारी शक्ति लगाकर द्रोणपर ही धावा किया था; मानो पानीके प्रखर प्रवाह किसी महान् पुलको तोड़ डालना चाहते हों ॥ १२ ॥

वारयामास तान् द्रोणो जलौघमचलो यथा ।
पाण्डवान् समरे क्रुद्धान् पञ्चालांश्च सकेकयान् ॥ १३ ॥

जैसे सामने खड़ा हुआ पर्वत आती हुई जलराशिको रोक देता है, उसी प्रकार समराङ्गणमें द्रोणाचार्यने कुपित हुए पाण्डवों, पाञ्चालों तथा केकयोंको रोक दिया था ॥ १३ ॥

अथापरे च राजानः परिवृत्य समन्ततः ।
महाबला रणे शूराः पञ्चालानन्ववारयन् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार दूसरे महाबली शूरवीर नरेश भी उस युद्धस्थलमें सब ओरसे लौटकर पाञ्चालोंका ही प्रतिरोध करने लगे ॥ १४ ॥

ततो रणे नरव्याघ्रः पार्षतः पाण्डवैः सह ।
संजघानासकृद् द्रोणं बिभित्सुररिवाहिनीम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर रणक्षेत्रमें पाण्डवोंसहित नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाके व्यूहका भेदन करनेकी इच्छासे द्रोणाचार्यपर बारंबार प्रहार किया ॥ १५ ॥

यथैव शरवर्षाणि द्रोणो वर्षति पार्षते ।
तथैव शरवर्षाणि धृष्टद्युम्नोऽप्यवर्षत ॥ १६ ॥

आचार्य द्रोण धृष्टद्युम्नपर जैसे बाणोंकी वर्षा करते थे, धृष्टद्युम्न भी द्रोणपर वैसे ही बाण बरसाते थे ॥

सनिस्त्रिंशपुरोवातः शक्तिप्रासर्ष्टिसंवृतः ।
ज्याविद्युच्चापसंह्रादो धृष्टद्युम्नबलाहकः ॥ १७ ॥
शरधाराश्मवर्षाणि व्यसृजत् सर्वतो दिशम् ।
निघ्नन् रथवराश्वौघान् प्लावयामास वाहिनीम् ॥ १८ ॥

उस समय धृष्टद्युम्न एक महामेघके समान जान पड़ते थे। उनकी तलवार पुरवैया हवाके समान चल रही थी। वे शक्ति, प्रास एवं ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। उनकी प्रत्यञ्चा विद्युत्के समान प्रकाशित होती थी। धनुषकी टंकार मेघगर्जनाके समान जान पड़ती थी। उस धृष्टद्युम्नरूपी मेघने श्रेष्ठ रथी और घुड़सवारोंके समूहरूपी खेतीको नष्ट करनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणरूपी जलकी धारा और अस्त्र-शस्त्ररूपी पत्थर बरसाते हुए शत्रु-सेनाको आप्लावित कर दिया ॥ १७-१८ ॥

यं यमार्च्छच्छरैर्द्रोणः पाण्डवानां रथव्रजम् ।
ततस्ततः शरैर्द्रोणमपाकर्षत पार्षतः ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्य बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी जिस-जिस रथसेनापर आक्रमण करते थे, धृष्टद्युम्न तत्काल बाणोंकी वर्षा करके उस-उस ओरसे उन्हें लौटा देते थे ॥ १९ ॥

तथा तु यतमानस्य द्रोणस्य युधि भारत ।
धृष्टद्युम्नं समासाद्य त्रिधा सैन्यमभिद्यत ॥ २० ॥

भारत ! युद्धमें इस प्रकार विजयके लिये प्रयत्नशील हुए द्रोणाचार्यकी सेना धृष्टद्युम्नके पास पहुँचकर तीन भागोंमें बँट गयी ॥ २० ॥

भोजमेकेऽभ्यवर्तन्त जलसंधं तथापरे।
पाण्डवैर्हन्यमानाश्च द्रोणमेवापरे ययुः ॥ २१ ॥

पाण्डव-योद्धाओंकी मार खाकर कुछ सैनिक कृतवर्माके पास चले गये, दूसरे जलसंधके पास भाग गये और शेष सभी योद्धा द्रोणाचार्यका ही अनुसरण करने लगे ॥ २१ ॥

संघट्टयति सैन्यानि द्रोणस्तु रथिनां वरः।
व्यधमच्चापि तान्यस्य धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ २२॥

रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण बारंबार अपनी सेनाओंको संगठित करते और महारथी धृष्टद्युम्न उनकी सब सेनाओंको छिन्न-भिन्न कर देते थे ॥ २२ ॥

धार्तराष्ट्रास्तथाभूता वध्यन्ते पाण्डुसृञ्जयैः।
अगोपाः पशवोऽरण्ये बहुभिः श्वापदैरिव ॥ २३ ॥

जैसे वनमें बिना रक्षकके पशुओंको बहुत-से हिंसक जन्तु मार डालते हैं, उसी प्रकार पाण्डव और सृंजय आपके सैनिकोंका वध कर रहे थे ॥ २३ ॥

कालः स ग्रसते योधान् धृष्टद्युम्नेन मोहितान्।
संग्रामे तुमुले तस्मिन्निति सम्मेनिरे जनाः ॥ २४ ॥

उस भयंकर संग्राममें सब लोग ऐसा मानने लगे कि काल ही धृष्टद्युम्नके द्वारा कौरवयोद्धाओंको मोहित करके उन्हें अपना ग्रास बना रहा है ॥ २४ ॥

कुनृपस्य यथा राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधितस्करैः।
द्राव्यते तद्वदापन्ना पाण्डवैस्तव वाहिनी ॥ २५ ॥

जैसे दुष्ट राजाका राज्य दुर्भिक्ष, भाँति-भाँतिकी बीमारी और चोर-डाकुओंके उपद्रवके कारण उजाड़ हो जाता है, उसी प्रकार पाण्डव सैनिकोंद्वारा विपत्तिमें पड़ी हुई आपकी सेना इधर-उधर खदेड़ी जा रही थी ॥ २५ ॥

अर्करश्मिविमिश्रेषु शस्त्रेषु कवचेषु च।
चक्षूंषि प्रत्यहन्यन्त सैन्येन रजसा तथा ॥ २६ ॥

योद्धाओंके अस्त्र-शस्त्रों और कवचोंपर सूर्यकी किरणें पड़नेसे वहाँ आँखें चौंधिया जाती थीं और सेनासे इतनी धूल उठती थी कि उससे सबके नेत्र बंद हो जाते थे ॥

त्रिधाभूतेषु सैन्येषु वध्यमानेषु पाण्डवैः।
अमर्षितस्ततो द्रोणः पञ्चालान् व्यधमच्छरैः ॥ २७ ॥

जब पाण्डवोंके द्वारा मारी जाती हुई कौरवसेना तीन भागोंमें बँट गयी, तब द्रोणाचार्यने अत्यन्त कुपित होकर अपने बाणोंद्वारा पाञ्चालोंका विनाश आरम्भ किया ॥ २७ ॥

मृद्नतस्तान्यनीकानि निघ्नतश्चापि सायकैः।
बभूव रूपं द्रोणस्य कालाग्नेरिव दीप्यतः ॥ २८॥

पाञ्चालोंकी उन सेनाओंको रौंदते और बाणोंद्वारा उनका संहार करते हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

रथं नागं हयं चापि पत्तिनश्च विशाम्पते।
एकैकेनेषुणा संख्ये निर्बिभेद महारथः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! महारथी द्रोणने उस युद्धस्थलमें शत्रुसेनाके प्रत्येक रथ, हाथी, अश्व और पैदल सैनिकको एक-एक बाणसे घायल कर दिया ॥ २९ ॥

पाण्डवानां तु सैन्येषु नास्ति कश्चित् स भारत।
दधार यो रणे बाणान् द्रोणचापच्युतान् प्रभो ॥ ३० ॥

भारत ! प्रभो ! उस समय पाण्डवोंकी सेनामें कोई ऐसा वीर नहीं था, जो रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए बाणोंको धैर्यपूर्वक सह सका हो ॥ ३० ॥

तत् पच्यमानमर्केण द्रोणसायकतापितम्।
बभ्राम पार्षतं सैन्यं तत्र तत्रैव भारत ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! सूर्यके द्वारा अपनी किरणोंसे पकायी जाती हुई-सी धृष्टद्युम्नकी सेना द्रोणाचार्यके बाणोंसे संतप्त हो जहाँ-तहाँ चक्कर काटने लगी ॥ ३१ ॥

तथैव पार्षतेनापि काल्यमानं बलं तव।
अभवत् सर्वतो दीप्तं शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार धृष्टद्युम्नके द्वारा खदेड़ी जाती हुई आपकी सेना भी सब ओरसे आग लग जानेके कारण प्रज्वलित हुए सूखे वनकी भाँति दग्ध हो रही थी ॥ ३२ ॥

बाध्यमानेषु सैन्येषु द्रोणपार्षतसायकैः।
त्यक्त्वा प्राणान् परं शक्त्या युध्यन्ते सर्वतोमुखाः ॥ ३३॥

द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नके बाणोंद्वारा सेनाओंके पीड़ित होनेपर भी सब लोग प्राणोंका मोह छोड़कर पूरी शक्तिसे सब ओर युद्ध कर रहे थे ॥ ३३ ॥

तावकानां परेषां च युध्यतां भरतर्षभ।
नासीत् कश्चिन्महाराज योऽत्याक्षीत् संयुगं भयात् ॥ ३४॥

भरतभूषण ! महाराज ! वहाँ युद्ध करते हुए आपके और शत्रुओंके योद्धाओंमें कोई ऐसा नहीं था, जिसने भयके कारण युद्धका मैदान छोड़ दिया हो ॥ ३४ ॥

भीमसेनं तु कौन्तेयं सोदर्याः पर्यवारयन्।
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ॥ ३५ ॥

उस समय विविंशति, चित्रसेन तथा महारथी विकर्ण—इन तीनों भाइयोंने कुन्तीपुत्र भीमसेनको घेर लिया ॥ ३५ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान्।
त्रयाणां तव पुत्राणां त्रय एवानुयायिनः ॥ ३६ ॥

अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा पराक्रमी क्षेमधूर्ति—ये तीनों ही आपके पूर्वोक्त तीनों पुत्रोंके अनुयायी थे ॥ ३६ ॥

बाह्लीकराजस्तेजस्वी कुलपुत्रो महारथः।
सहसेनः सहामात्यो द्रौपदेयानवारयत् ॥ ३७ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए तेजस्वी महारथी बाह्लीकराजने सेना और मन्त्रियोंसहित जाकर द्रौपदीपुत्रोंको रोका ॥ ३७ ॥

शैब्यो गोवासनो राजा योधैर्दशशतावरैः ।
काश्यस्याभिभुवः पुत्रं पराक्रान्तमवारयत् ॥ ३८ ॥

शिबिदेशीय राजा गोवासनने कम-से-कम एक सहस्र योद्धा साथ लेकर काशिराज अभिभूके पराक्रमी पुत्रका सामना किया ॥ ३८ ॥

अजातशत्रुं कौन्तेयं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
मद्राणामीश्वरः शल्यो राजा राजानमावृणोत् ॥ ३९ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी अजातशत्रु कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरका सामना मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यने किया ॥

दुःशासनस्त्ववस्थाप्य स्वमनीकममर्षणः ।
सात्यकिं प्रत्ययौ क्रुद्धः शूरो रथवरं युधि ॥ ४० ॥

अमर्षशील शूरवीर दुःशासनने अपनी भागती हुई सेनाको पुनः स्थिरतापूर्वक स्थापित करके कुपित हो युद्धस्थलमें रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिपर आक्रमण किया ॥ ४० ॥

स्वकेनाहमनीकेन संनद्धः कवचावृतः ।
चतुःशतैर्महेष्वासैश्चेकितानमवारयम् ॥ ४१ ॥

अपनी सेना तथा चार सौ महाधनुर्धरोंके साथ कवच धारण करके सुसज्जित हो मैंने चेकितानको रोका ॥ ४१ ॥

शकुनिस्तु सहानीको माद्रीपुत्रमवारयत् ।
गान्धारकैः सप्तशतैश्चापशक्त्यसिपाणिभिः ॥ ४२ ॥

सेनासहित शकुनिने माद्रीपुत्र नकुलका प्रतिरोध किया। उसके साथ हाथोंमें धनुष, शक्ति और तलवार लिये सात सौ गान्धार-देशीय योद्धा मौजूद थे ॥ ४२ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ विराटं मत्स्यमार्च्छताम् ।
प्राणांस्त्यक्त्वा महेष्वासौ मित्रार्थेऽभ्युद्यतायुधौ ॥ ४३ ॥

अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने मत्स्यनरेश विराटपर आक्रमण किया। उन दोनों महाधनुर्धर वीरोंने प्राणोंका मोह छोड़कर अपने मित्र दुर्योधनके लिये हथियार उठाया था ॥ ४३ ॥

शिखण्डिनं याज्ञसेनिं रुन्धानमपराजितम् ।
बाह्लीकः प्रतिसंयत्तः पराक्रान्तमवारयत् ॥ ४४ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले पराक्रमी यज्ञसेन-कुमार शिखण्डीको, जो राह रोककर खड़ा था, बाह्लीकने पूर्ण प्रयत्नशील होकर रोका ॥ ४४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यं क्रूरैः सार्धं प्रभद्रकैः ।
आवन्त्यः सहसौवीरैः क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ४५ ॥

अवन्तीके एक-दूसरे वीरने क्रूर स्वभाववाले प्रभद्रकों और सौवीरदेशीय सैनिकोंके साथ आकर क्रोधमें भरे हुए पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको रोका ॥ ४५ ॥

घटोत्कचं तथा शूरं राक्षसं क्रूरकर्मिणम् ।
अलायुधोऽद्रवत् तूर्णं क्रुद्धमायान्तमाहवे ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरकर युद्धके लिये आते हुए क्रूरकर्मा तथा शूरवीर राक्षस घटोत्कचपर अलायुधने शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ॥

अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं कुन्तिभोजो महारथः ।
सैन्येन महता युक्तः क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ४७ ॥

पाण्डवपक्षके महारथी राजा कुन्तिभोजने विशाल सेनाके साथ आकर कुपित हुए कौरवपक्षीय राक्षसराज अलम्बुषका सामना किया ॥ ४७ ॥

सैन्धवः पृष्ठतस्त्वासीत् सर्वसैन्यस्य भारत ।
रक्षितः परमेष्वासैः कृपप्रभृतिभी रथैः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! उस समय सिंधुराज जयद्रथ सारी सेनाके पीछे महाधनुर्धर कृपाचार्य आदि रथियोंसे सुरक्षित था ॥

तस्यास्तां चक्ररक्षौ द्वौ सैन्धवस्य बृहत्तमौ ।
द्रौणिर्दक्षिणतो राजन् सूतपुत्रश्च वामतः ॥ ४९ ॥

राजन् ! जयद्रथके दो महान् चक्ररक्षक थे। उसके दाहिने चक्रकी अश्वत्थामा और बायें चक्रकी रक्षा सूतपुत्र कर्ण कर रहा था ॥ ४९ ॥

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् सौमदत्तिपुरोगमाः ।
कृपश्च वृषसेनश्च शलः शल्यश्च दुर्जयः ॥ ५० ॥
नीतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सैन्धवस्य विधायैवं रक्षां युयुधिरे ततः ॥ ५१ ॥

भूरिश्रवा आदि वीर उसके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे। कृप, वृषसेन, शल और दुर्जय वीर शल्य—ये सभी नीतिज्ञ, महान् धनुर्धर एवं युद्धकुशल थे और इस प्रकार सिंधुराजकी रक्षाका प्रबन्ध करके वहाँ युद्ध कर रहे थे ॥ ५०-५१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि संकुलयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

दोनों पक्षोंके प्रधान वीरोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

राजन् संग्राममाश्चर्यं शृणु कीर्तयतो मम ।
कुरूणां पाण्डवानां च यथा युद्धमवर्तत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंमें जिस प्रकार युद्ध हुआ था, उस आश्चर्यमय संग्रामका मैं वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनिये ॥ १ ॥

भारद्वाजं समासाद्य व्यूहस्य प्रमुखे स्थितम् ।
अयोधयन् रणे पार्था द्रोणानीकं बिभित्सवः ॥ २ ॥

व्यूहके द्वारपर खड़े हुए द्रोणाचार्यके पास आकर पाण्डवगण उनकी सेनाके व्यूहका भेदन करनेकी इच्छासे रणक्षेत्रमें उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ २ ॥

रक्षमाणः स्वकं व्यूहं द्रोणोऽपि सह सैनिकैः ।
अयोधयद् रणे पार्थान् प्रार्थयानो महद् यशः ॥ ३ ॥

द्रोणाचार्य भी महान् यशकी अभिलाषा रखकर अपने व्यूहकी रक्षा करते हुए बहुत-से सैनिकोंको साथ लेकर समराङ्गणमें कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्धमें संलग्न हो गये ॥ ३ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ विराटं दशभिः शरैः ।
आजघ्नतुः सुसंक्रुद्धौ तव पुत्रहितैषिणौ ॥ ४ ॥

आपके पुत्रका हित चाहनेवाले अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने अत्यन्त कुपित हो राजा विराटको दस बाण मारे ॥ ४ ॥

विराटश्च महाराज तावुभौ समरे स्थितौ ।
पराक्रान्तौ पराक्रम्य योधयामास सानुगौ ॥ ५ ॥

महाराज ! राजा विराटने भी समरभूमिमें अनुचरोंसहित खड़े हुए उन दोनों पराक्रमी वीरोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध किया ॥ ५ ॥

तेषां युद्धं समभवद् दारुणं शोणितोदकम् ।
सिंहस्य द्विपमुख्याभ्यां प्रभिन्नाभ्यां यथा वने ॥ ६ ॥

जैसे वनमें सिंहका दो मदस्रावी महान् हाथियोंके साथ युद्ध हो रहा हो, उसी प्रकार विराट और विन्द-अनुविन्दमें बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जहाँ पानीकी तरह खून बहाया जा रहा था ॥ ६ ॥

बाह्लीकं रभसं युद्धे याज्ञसेनिर्महाबलः ।
आजघ्ने विशिखैस्तीक्ष्णैर्घोरैर्मर्मास्थिभेदिभिः ॥ ७ ॥

महाबली शिखण्डीने युद्धस्थलमें वेगशाली बाह्लीकको मर्मस्थानों और हड्डियोंको विदीर्ण कर देनेवाले भयंकर तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७ ॥

बाह्लीको याज्ञसेनिं तु हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ।
आजघान भृशं क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः ॥ ८ ॥

इससे बाह्लीक अत्यन्त कुपित हो उठे । उन्होंने शानपर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखसे युक्त और झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंद्वारा शिखण्डीको घायल कर दिया ॥ ८ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं शरशक्तिसमाकुलम् ।
भीरूणां त्रासजननं शूराणां हर्षवर्धनम् ॥ ९ ॥

उन दोनोंके उस युद्धने बड़ा भयंकर रूप धारण किया । उसमें बाणों और शक्तियोंका ही अधिक प्रहार हो रहा था । वह भीरु पुरुषोंके हृदयमें भय और शूरवीरोंके हृदयमें हर्षकी वृद्धि करनेवाला था ॥ ९ ॥

ताभ्यां तत्र शरैर्मुक्तैरन्तरिक्षं दिशस्तथा ।
अभवत् संवृतं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १० ॥

उन दोनों भाइयोंके छोड़े हुए बाणोंसे वहाँ आकाश और दिशाएँ—सब कुछ व्याप्त हो गया । कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ १० ॥

शैब्यो गोवासनो युद्धे काश्यपुत्रं महारथम् ।
ससैन्यो योधयामास गजः प्रतिगजं यथा ॥ ११ ॥

शिबिदेशीय गोवासनने सेनासहित सामने जा काशिराजके महारथी पुत्रके साथ रणक्षेत्रमें उसी प्रकार युद्ध किया, जैसे एक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीके साथ युद्ध करता है ॥ ११ ॥

बाह्लीकराजः संक्रुद्धो द्रौपदेयान् महारथान् ।
मनः पञ्चेन्द्रियाणीव शुशुभे योधयन् रणे ॥ १२ ॥

क्रोधमें भरे हुए बाह्लीकराज महारथी द्रौपदीपुत्रोंके साथ रण-क्षेत्रमें युद्ध करते हुए उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे मन पाँचों इन्द्रियोंसे युद्ध करता हुआ सुशोभित होता है ॥ १२ ॥

अयोधयंस्ते सुभृशं तं शरौघैः समन्ततः ।
इन्द्रियार्था यथा देहं शश्वद् देहवतां वर ॥ १३ ॥

देहधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज ! द्रौपदीके पुत्र भी चारों ओरसे बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए वहाँ बाह्लीकराजके साथ उसी प्रकार बड़े वेगसे युद्ध करने लगे, जैसे इन्द्रियोंके विषय शरीरके साथ सदा जूझते रहते हैं ॥ १३ ॥

वार्ष्णेयं सात्यकिं युद्धे पुत्रो दुःशासनस्तव ।
आजघ्ने सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ॥ १४ ॥

आपके पुत्र दुःशासनने युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे बाणोंद्वारा वृष्णिवंशी सात्यकिको घायल कर दिया ॥

सोऽतिविद्धो बलवता महेष्वासेन धन्विना ।
ईषन्मूर्च्छां जगामाशु सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ १५ ॥

बलवान् एवं महान् धनुर्धर दुःशासनके बाणोंसे अत्यन्त बिंध जानेके कारण सत्यपराक्रमी सात्यकिको तुरंत ही थोड़ी-सी मूर्छा आ गयी ॥ १५ ॥

समाश्वस्तस्तु वार्ष्णेयस्तव पुत्रं महारथम् ।
विव्याध दशभिस्तूर्णं सायकैः कङ्कपत्रिभिः ॥ १६ ॥

थोड़ी देरमें स्वस्थ होनेपर सात्यकिने आपके महारथी पुत्र दुःशासनको कंककी पाँखवाले दस बाणोंद्वारा तुरंत ही घायल कर दिया ॥ १६ ॥

तावन्योन्यं दृढं विद्धावन्योन्यशरपीडितौ ।
रेजतुः समरे राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ १७ ॥

राजन् ! वे दोनों एक दूसरेके बाणोंसे पीड़ित और अत्यन्त घायल हो समराङ्गणमें दो खिले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १७ ॥

अलम्बुषस्तु संक्रुद्धः कुन्तिभोजशरार्दितः ।
अशोभत भृशं लक्ष्म्या पुष्पाढ्य इव किंशुकः ॥ १८ ॥

राजा कुन्तिभोजके बाणोंसे पीड़ित हो अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ राक्षस अलम्बुष फूलोंसे लदे हुए पलाश वृक्षके समान एक विशेष शोभासे सम्पन्न दिखायी देने लगा ॥

कुन्तिभोजं ततो रक्षो विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
अनदद् भैरवं नादं वाहिन्याः प्रमुखे तव ॥ १९ ॥

फिर राक्षसने बहुत-से लोहेके बाणोंद्वारा राजा कुन्तिभोजको घायल करके आपकी सेनाके प्रमुख भागमें बड़ी भयंकर गर्जना की ॥ १९ ॥

ततस्तौ समरे शूरौ योधयन्तौ परस्परम् ।
ददृशुः सर्वसैन्यानि शक्रजम्भौ यथा पुरा ॥ २०॥

तदनन्तर सम्पूर्ण सेनाएँ पूर्वकालमें एक दूसरेसे युद्ध करनेवाले इन्द्र और जम्भासुरके समान समराङ्गणमें परस्पर जूझते हुए उन दोनों शूरवीरोंको देखने लगीं ॥ २० ॥

शकुनिं रभसं युद्धे कृतवैरं च भारत ।
माद्रीपुत्रौ च संरब्धौ शरैश्चार्दयतां भृशम् ॥ २१ ॥

भारत ! क्रोधमें भरे हुए दोनों माद्रीकुमारोंने पहलेसे वैर बाँधनेवाले और युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले शकुनिको अपने बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित किया ॥ २१ ॥

तुमुलः स महान् राजन् प्रावर्तत जनक्षयः ।
त्वया संजनितोऽत्यर्थं कर्णेन च विवर्धितः ॥ २२ ॥

राजन् ! इस प्रकार वह महाभयंकर जनसंहार चालू हो गया, जिसकी परिस्थितिको आपने ही उत्पन्न किया है और कर्णने उसे अत्यन्त बढ़ावा दिया है ॥ २२ ॥

रक्षितस्तव पुत्रैश्च क्रोधमूलो हुताशनः ।
य इमां पृथिवीं राजन् दग्धुं सर्वां समुद्यतः ॥ २३ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंने उस क्रोधमूलक वैरकी आगको सुरक्षित रक्खा है, जो इस सारी पृथ्वीको भस्म कर डालनेके लिये उद्यत है ॥ २३ ॥

शकुनिः पाण्डुपुत्राभ्यां कृतः स विमुखः शरैः ।
न स्म जानाति कर्तव्यं युद्धे किंचित् पराक्रमम् ॥ २४ ॥

पाण्डुकुमार नकुल और सहदेवने अपने बाणोंद्वारा शकुनिको युद्धसे विमुख कर दिया। उस समय उसे युद्धविषयक कर्तव्यका ज्ञान न रहा और न कुछ पराक्रमका ही भान हुआ ॥ २४ ॥

विमुखं चैनमालोक्य माद्रीपुत्रौ महारथौ ।
ववर्षतुः पुनर्बाणैर्यथा मेघौ महागिरिम् ॥ २५ ॥

उसे युद्धसे विमुख हुआ देखकर भी महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव उसके ऊपर पुनः उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे दो मेघ किसी महान् पर्वतपर जलकी धारा बरसा रहे हों ॥ २५ ॥

स वध्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ।
सम्प्रायाज्जवनैरश्वैर्द्रोणानीकाय सौबलः ॥ २६ ॥

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंकी मार खाकर सुबलपुत्र शकुनि वेगशाली घोड़ोंकी सहायतासे द्रोणाचार्यकी सेनाके पास जा पहुँचा ॥ २६ ॥

घटोत्कचस्तथा शूरं राक्षसं तमलायुधम् ।
अभ्ययाद् रभसं युद्धे वेगमास्थाय मध्यमम् ॥ २७ ॥

इधर घटोत्कचने अपने प्रतिद्वन्द्वी शूर राक्षस अलायुधका जो युद्धमें बड़ा वेगशाली था, मध्यम वेगका आश्रय ले सामना किया ॥ २७ ॥

तयोर्युद्धं महाराज चित्ररूपमिवाभवत् ।
यादृशं हि पुरा वृत्तं रामरावणयोर्मृधे ॥ २८ ॥

महाराज ! पूर्वकालमें श्रीराम और रावणके युद्धमें जैसी आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, उसी प्रकार उन दोनों राक्षसोंका युद्ध भी विचित्र-सा ही हुआ ॥ २८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा मद्रराजानमाहवे ।
विद्ध्वा पञ्चाशता बाणैः पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ २९ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने युद्धमें मद्रराज शल्यको पचास बाणोंसे घायल करके पुनः सात बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ॥ २९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तयोरत्यद्भुतं नृप ।
यथा पूर्वं महद् युद्धं शम्बरामरराजयोः ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! जैसे पूर्वकालमें शम्बरासुर और देवराज इन्द्रमें महान् युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उस समय उन दोनोंमें अत्यन्त अद्भुत संग्राम होने लगा ॥ ३० ॥

विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च तवात्मजः ।
अयोधयन् भीमसेनं महत्या सेनया वृताः ॥ ३१ ॥

आपके पुत्र विविंशति, चित्रसेन और विकर्ण—ये तीनों विशाल सेनाके साथ रहकर भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नका युद्ध तथा सात्यकिद्वारा धृष्टद्युम्नकी रक्षा

संजय उवाच

तथा तस्मिन् प्रवृत्ते तु संग्रामे लोमहर्षणे ।
कौरवेयांस्त्रिधाभूतान् पाण्डवाः समुपाद्रवन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस रोमाञ्चकारी संग्रामके

होते समय वहाँ तीन भागोंमें बँटे हुए कौरवोंपर पाण्डव-सैनिकोंने धावा किया ॥ १ ॥

जलसंधं महाबाहुं भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।
युधिष्ठिरः सहानीकः कृतवर्माणमाहवे ॥ २ ॥

भीमसेनने महाबाहु जलसंधपर आक्रमण किया और सेनासहित युधिष्ठिरने युद्धस्थलमें कृतवर्मापर धावा बोल दिया॥

किरंस्तु शरवर्षाणि रोचमान इवांशुमान् ।
धृष्टद्युम्नो महाराज द्रोणमभ्यद्रवद् रणे ॥ ३ ॥

महाराज ! जैसे प्रकाशमान सूर्य सहस्रों किरणोंका प्रसार करते हैं, उसी प्रकार धृष्टद्युम्नने बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं त्वरतां सर्वधन्विनाम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च संक्रुद्धानां परस्परम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर परस्पर क्रोधमें भरे और उतावले हुए कौरव-पाण्डवपक्षके सम्पूर्ण धनुर्धरोंका आपसमें युद्ध होने लगा ॥

संक्षये तु तथाभूते वर्तमाने महाभये ।
द्वन्द्वीभूतेषु सैन्येषु युध्यमानेष्वभीतवत् ॥ ५ ॥
द्रोणः पाञ्चालपुत्रेण बली बलवता सह ।
यदक्षिपत् पृषत्कौघांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार जब महाभयंकर जनसंहार होने लगा और सारे सैनिक निर्भय-से होकर द्वन्द्व-युद्ध करने लगे, उस समय बलवान् द्रोणाचार्यने शक्तिशाली पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करते हुए जो बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ की, वह अद्भुत-सी प्रतीत होने लगी ॥ ५-६ ॥

पुण्डरीकवनानीव विध्वस्तानि समन्ततः ।
चक्राते द्रोणपाञ्चाल्यौ नृणां शीर्षाण्यनेकशः ॥ ७ ॥

द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नने मनुष्योंके बहुत-से मस्तक काट गिराये, जो चारों ओर नष्ट होकर पड़े हुए कमलवनोंके समान जान पड़ते थे ॥ ७ ॥

विनिकीर्णानि वीराणामनीकेषु समन्ततः ।
वस्त्राभरणशस्त्राणि ध्वजवर्मायुधानि च ॥ ८ ॥

चारों ओर सेनाओंमें वीरोंके बहुत-से वस्त्र, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, ध्वज, कवच तथा आयुध छिन्न-भिन्न होकर बिखरे पड़े थे ॥ ८ ॥

तपनीयतनुत्राणाः संसिक्ता रुधिरेण च ।
संसक्ता इव दृश्यन्ते मेघसंघाः सविद्युतः ॥ ९ ॥

सुवर्णका कवच बाँधे तथा खूनसे लथपथ हुए सैनिक परस्पर सटे हुए बिजलियोंसहित मेघ-समूहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

कुञ्जराश्वनरानन्ये पातयन्ति स्म पत्रिभिः ।
तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः ॥ १० ॥

बहुत-से दूसरे महारथी चार हाथके धनुष खींचते हुए अपने पंखयुक्त बाणोंद्वारा हाथी, घोड़े और पैदल मनुष्योंको मार गिराते थे ॥ १० ॥

असिचर्माणि चापानि शिरांसि कवचानि च ।
विप्रकीर्यन्त शूराणां सम्प्रहारे महात्मनाम् ॥ ११ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके संग्राममें योद्धाओंके खड्ग, ढाल, धनुष, मस्तक और कवच कटकर इधर-उधर बिखरे जाते थे॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
अदृश्यन्त महाराज तस्मिन् परमसंकुले ॥ १२ ॥

महाराज ! उस महाभयानक युद्धमें चारों ओर असंख्य कबन्ध खड़े दिखायी देते थे ॥ १२ ॥

गृध्राः कङ्का बकाः श्येना वायसा जम्बुकास्तथा ।
बहुशः पिशिताशाश्च तत्रादृश्यन्त मारिष ॥ १३ ॥

आर्य ! वहाँ बहुत-से गीध, कङ्क, बगले, बाज, कौए, सियार तथा अन्य मांसभक्षी प्राणी दृष्टिगोचर होते थे ॥१३॥

भक्षयन्तश्च मांसानि पिबन्तश्चापि शोणितम् ।
विलुम्पन्तश्च केशांश्च मज्जाश्च बहुधा नृप ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! वे मांस खाते, रक्त पीते और केशों तथा मज्जाको बारंबार नोचते थे ॥ १४ ॥

आकर्षन्तः शरीराणि शरीरावयवांस्तथा ।
नराश्वगजसंघानां शिरांसि च ततस्ततः ॥ १५ ॥

मनुष्यों, घोड़ों तथा हाथियोंके समूहोंके सम्पूर्ण शरीरों और अवयवों एवं मस्तकोंको इधर-उधर खींचते थे ॥१५॥

कृतास्त्रा रणदीक्षाभिर्दीक्षिता रणशालिनः ।
रणे जयं प्रार्थयाना भृशं युयुधिरे तदा ॥ १६ ॥

अस्त्रविद्याके ज्ञाता और युद्धमें शोभा पानेवाले वीर रणयज्ञकी दीक्षा लेकर संग्राममें विजय चाहते हुए उस समय बड़े जोरसे युद्ध करने लगे ॥ १६ ॥

असिमार्गान् बहुविधान् विचेरुः सैनिका रणे ।
ऋष्टिभिः शक्तिभिः प्रासैः शूलतोमरपट्टिशैः ॥ १७ ॥
गदाभिः परिघैश्चान्यैरायुधैश्च भुजैरपि ।
अन्योन्यं जघ्निरे क्रुद्धा युद्धरङ्गगता नराः ॥ १८ ॥

समस्त सैनिक उस रणक्षेत्रमें तलवारके बहुत-से पैंतरे दिखाते हुए विचर रहे थे । युद्धकी रंगभूमिमें आये हुए मनुष्य परस्पर कुपित हो एक दूसरेपर ऋष्टि, शक्ति, प्रास, शूल, तोमर, पट्टिश, गदा, परिघ, अन्यान्य आयुध तथा भुजाओंद्वारा चोट पहुँचाते थे ॥ १७-१८ ॥

रथिनो रथिभिः सार्धमश्वारोहाश्च सादिभिः ।
मातङ्गा वरमातङ्गैः पदाताश्च पदातिभिः ॥ १९ ॥

रथी रथियोंके, घुड़सवार घुड़सवारोंके, मतवाले हाथी श्रेष्ठ गजराजोंके और पैदल योद्धा पैदलोंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १९ ॥

क्षीबा इवान्ये चोन्मत्ता रङ्गेष्विव च वारणाः ।
उच्चुक्रुशुरथान्योन्यं जघ्नुरन्योन्यमेव च ॥ २० ॥

रंगस्थलके समान उस रणक्षेत्रमें अन्य बहुत-से मत्त और उन्मत्त हाथी एक दूसरेको देखकर चिग्घाड़ते और परस्पर आघात-प्रत्याघात करते थे ॥ २० ॥

वर्तमाने तथा युद्धे निर्मर्यादे विशाम्पते ।
धृष्टद्युम्नो हयानश्वैर्द्रोणस्य व्यत्यमिश्रयत् ॥ २१ ॥

राजन् ! जिस समय वह मर्यादाशून्य युद्ध हो रहा था, उसी समय धृष्टद्युम्नने अपने रथके घोड़ोंको द्रोणाचार्यके घोड़ोंसे मिला दिया ॥ २१ ॥

ते हयाः साध्वशोभन्त मिश्रिता वातरंहसः ।
पारावतसवर्णाश्च रक्तशोणाश्च संयुगे ॥ २२ ॥

धृष्टद्युम्नके घोड़ोंका रंग कबूतरके समान था और द्रोणाचार्यके घोड़े लाल थे । उस युद्धके मैदानमें परस्पर मिले हुए वे वायुके समान वेगशाली अश्व बड़ी शोभा पा रहे थे ॥

पारावतसवर्णास्ते रक्तशोणविमिश्रिताः ।
हयाः शुशुभिरे राजन् मेघा इव सविद्युतः ॥ २३ ॥

राजन् ! कबूतरके समान वर्णवाले घोड़े लाल रंगके घोड़ोंसे मिलकर बिजलियोंसहित मेघोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥

धृष्टद्युम्नस्तु सम्प्रेक्ष्य द्रोणमभ्याशमागतम् ।
असिचर्माददे वीरो धनुरुत्सृज्य भारत ॥ २४ ॥

भारत ! वीर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अत्यन्त निकट आया हुआ देख धनुष छोड़कर हाथमें ढाल और तलवार ले ली॥

चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म पार्षतः परवीरहा ।
ईषया समतिक्रम्य द्रोणस्य रथमाविशत् ॥ २५ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्न दुष्कर कर्म करना चाहते थे । अतः ईषादण्डके सहारे अपने रथको लाँघकर द्रोणाचार्यके रथपर जा चढ़े ॥ २५ ॥

अतिष्ठद् युगमध्ये स युगसंनहनेषु च ।
जघनार्धेषु चाश्वानां तत् सैन्यान्यभ्यपूजयन् ॥ २६ ॥

वे एक पैर जूएके ठीक बीचमें और दूसरा पैर उस जूएसे सटे हुए (आचार्यके) घोड़ोंके पिछले आधे भागोंपर रखकर खड़े हो गये । उनके इस कार्यकी सभी सैनिकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २६ ॥

खड्गेन चरतस्तस्य शोणाश्वानधितिष्ठतः ।
न ददर्शान्तरं द्रोणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २७ ॥

लाल घोड़ोंपर खड़े हो तलवार घुमाते हुए धृष्टद्युम्नके ऊपर प्रहार करनेके लिये आचार्य द्रोणको थोड़ा-सा भी अवसर नहीं दिखायी दिया । वह अद्भुत-सी बात हुई ॥

यथा श्येनस्य पतनं वनेष्वामिषगृद्धिनः ।
तथैवासीदभीसारस्तस्य द्रोणं जिघांसतः ॥ २८ ॥

जैसे वनमें मांसकी इच्छा रखनेवाला बाज झपट्टा मारता है, उसी प्रकार द्रोणको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धृष्टद्युम्नका यह सहसा आक्रमण हुआ था ॥ २८ ॥

ततः शरशतेनास्य शतचन्द्रं समाक्षिपत् ।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य खड्गं च दशभिः शरैः ॥ २९ ॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यने सौ बाण मारकर द्रुपदकुमारकी ढालको, जिसमें सौ चन्द्राकार चिह्न बने हुए थे, काट गिराया और दस बाणोंसे उनकी तलवारके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये॥

हयांश्चैव चतुःषष्ट्या शराणां जघ्निवान् बली ।
ध्वजं छत्रं च भल्लाभ्यां तथा तौ पार्ष्णिसारथी॥ ३० ॥

बलवान् आचार्यने चौसठ बाणोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको मार डाला । फिर दो भल्लोंसे ध्वज और छत्र काटकर उनके दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी मार गिराया ॥ ३० ॥

अथास्मै त्वरितो बाणमपरं जीवितान्तकम् ।
आकर्णपूर्णं चिक्षेप वज्रं वज्रधरो यथा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर तुरंत ही एक दूसरा प्राणान्तकारी बाण कानतक खींचकर उनके ऊपर चलाया, मानो वज्रधारी इन्द्रने वज्र मारा हो ॥ ३१ ॥

तं चतुर्दशभिस्तीक्ष्णैर्बाणैश्चिच्छेद सात्यकिः ।
ग्रस्तमाचार्यमुख्येन धृष्टद्युम्नं व्यमोचयत् ॥ ३२ ॥

उस समय सात्यकिने चौदह तीखे बाण मारकर उस बाणको काट डाला और इस प्रकार आचार्यप्रवरके चंगुलमें फँसे हुए धृष्टद्युम्नको बचा लिया ॥ ३२ ॥

सिंहेनेव मृगं ग्रस्तं नरसिंहेन मारिष ।
द्रोणेन मोचयामास पाञ्चाल्यं शिनिपुङ्गवः ॥ ३३ ॥

पूजनीय नरेश ! जैसे सिंहने किसी मृगको दबोच लिया हो, उसी प्रकार नरसिंह द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नको ग्रस लिया था; परंतु शिनिप्रवर सात्यकिने उन्हें छुड़ा लिया ॥ ३३ ॥

सात्यकिं प्रेक्ष्य गोप्तारं पाञ्चाल्यं च महाहवे ।
शराणां त्वरितो द्रोणः षड्विंशत्या समार्पयत्॥ ३४ ॥

उस महासमरमें सात्यकि धृष्टद्युम्नके रक्षक हो गये, यह देखकर द्रोणाचार्यने तुरंत ही उनपर छब्बीस बाणोंसे प्रहार किया ॥ ३४ ॥

ततो द्रोणं शिनेः पौत्रो ग्रसन्तमपि सृंजयान् ।
प्रत्यविध्यच्छितैर्बाणैः षड्विंशत्या स्तनान्तरे ॥ ३५ ॥

तब शिनिके पौत्र सात्यकिने सृंजयोंके संहारमें लगे हुए द्रोणाचार्यकी छातीमें छब्बीस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

ततः सर्वे रथास्तूर्णं पाञ्चाल्या जयगृद्धिनः ।

सात्वताभिसृते द्रोणे धृष्टद्युम्नमवाक्षिपन् ॥ ३६ ॥

जब द्रोणाचार्य सात्यकिके साथ उलझ गये, तब विजयाभिलाषी समस्त पाञ्चाल रथी तुरंत ही धृष्टद्युम्नको अपने रथपर बिठाकर दूर हटा ले गये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्रोणधृष्टद्युम्नयुद्धे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नका युद्धविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सात्यकिका अद्भुत युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

बाणे तस्मिन् निकृत्ते तु धृष्टद्युम्ने च मोक्षिते ।
तेन वृष्णिप्रवीरेण युयुधानेन संजय ॥ १ ॥
अमर्षितो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
नरव्याघ्रः शिनेः पौत्रे द्रोणः किमकरोद् युधि ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब वृष्णिवंशके प्रमुख वीर युयुधानने आचार्य द्रोणके उस बाणको काट दिया और धृष्टद्युम्नको प्राणसंकटसे बचा लिया, तब अमर्षमें भरे हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर नरव्याघ्र द्रोणाचार्यने उस युद्धस्थलमें सात्यकिके प्रति क्या किया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

सम्प्रद्रुतः क्रोधविषो व्यादितास्यशरासनः ।
तीक्ष्णधारेषुदशनः शितनाराचदंष्ट्रवान् ॥ ३ ॥
संरम्भामर्षताम्राक्षो महोरग इव श्वसन् ।

संजयने कहा—महाराज ! उस समय क्रोध और अमर्षसे लाल आँखें किये द्रोणाचार्यने फुफकारते हुए महानागके समान बड़े वेगसे सात्यकिपर धावा किया । क्रोध ही उस महानागका विष था, खींचा हुआ धनुष फैलाये हुए मुखके समान जान पड़ता था, तीखी धारवाले बाण दाँतोंके समान थे और तेज धारवाले नाराच दाढ़ोंका काम देते थे ॥ ३½ ॥

नरवीरः प्रमुदितः शोणैरश्वैर्महाजवैः ॥ ४ ॥
उत्पतद्भिरिवाकाशे क्रामद्भिरिव पर्वतम् ।
रुक्मपुङ्खाञ्छरानस्यन् युयुधानमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

हर्षमें भरे हुए नरवीर द्रोणाचार्यने अपने महान् वेगशाली लाल घोड़ोंद्वारा, जो मानो आकाशमें उड़ रहे और पर्वतको लाँघ रहे थे, सुवर्णमय पंखवाले बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ युयुधानपर आक्रमण किया ॥ ४–५ ॥

शरपातमहावर्षं रथघोषबलाहकम् ।
कार्मुकाकर्षविक्षेपं नाराचबहुविद्युतम् ॥ ६ ॥
शक्तिखड्गाशनिधरं क्रोधवेगसमुत्थितम् ।
द्रोणमेघमनावार्यं हयमारुतचोदितम् ॥ ७ ॥

उस समय द्रोणाचार्य अश्वरूपी वायुसे संचालित अनिवार्य मेघके समान हो रहे थे । बाणोंका प्रहार ही उनके द्वारा की जानेवाली महावृष्टि था । रथकी घर्घराहट ही मेघकी गर्जना थी, धनुषका खींचना ही धारावाहिक वृष्टिका साधन था, बहुत-से नाराच ही विद्युत्के समान प्रकाशित होते थे, उस मेघने खड्ग और शक्तिरूपी अशनिको धारण कर रक्खा था और क्रोधके वेगसे ही उसका उत्थान हुआ था ॥ ६-७ ॥

दृष्ट्वैवाभिपतन्तं तं शूरः परपुरंजयः ।
उवाच सूतं शैनेयः प्रहसन् युद्धदुर्मदः ॥ ८ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले रणदुर्मद शूरवीर सात्यकि द्रोणाचार्यको अपने ऊपर आक्रमण करते देख सारथिसे जोर-जोरसे हँसते हुए बोले—॥ ८ ॥

एनं वै ब्राह्मणं शूरं स्वकर्मण्यनवस्थितम् ।
आश्रयं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञो दुःखभयापहम् ॥ ९ ॥
शीघ्रं प्रजवितैरश्वैः प्रत्युद्याहि प्रहृष्टवत् ।
आचार्यं राजपुत्राणां सततं शूरमानिनम् ॥ १० ॥

'सूत ! ये शौर्यसम्पन्न ब्राह्मणदेवता अपने ब्राह्मणोचित कर्ममें स्थिर नहीं हैं । ये धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनके आश्रय होकर उसके दुःख और भयका निवारण करनेवाले हैं । समस्त राजकुमारोंके ये ही आचार्य हैं और सदा अपनेको शूरवीर मानते हैं । तुम प्रसन्नचित्त होकर अपने वेगशाली अश्वोंद्वारा शीघ्र इनका सामना करनेके लिये चलो' ॥ ९–१० ॥

ततो रजतसंकाशा माधवस्य हयोत्तमाः ।
द्रोणस्याभिमुखाः शीघ्रमगच्छन् वातरंहसः ॥ ११ ॥

तदनन्तर चाँदीके समान श्वेत रंगवाले और वायुके समान वेगशाली सात्यकिके उत्तम घोड़े द्रोणाचार्यके सामने शीघ्रतापूर्वक जा पहुँचे ॥ ११ ॥

ततस्तौ द्रोणशैनेयौ युयुधाते परंतपौ ।
शरैरनेकसाहस्रैस्ताडयन्तौ परस्परम् ॥ १२ ॥

फिर तो शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणाचार्य और सात्यकि एक दूसरेपर सहस्रों बाणोंका प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

इषुजालावृतं व्योम चक्रतुः पुरुषर्षभौ ।
पूरयामासतुर्वीरावुभौ दश दिशः शरैः ॥ १३ ॥

उन दोनों पुरुषशिरोमणि वीरोंने आकाशको

बाणोंके समूहसे आच्छादित कर दिया और दसों दिशाओं-को बाणोंसे भर दिया ॥ १३ ॥

मेघाविवातपापाये धाराभिरितरेतरम् ।
न स्म सूर्यस्तदा भाति न ववौ च समीरणः ॥ १४ ॥

जैसे वर्षाकालमें दो मेघ एक दूसरेपर जलकी धाराएँ गिराते हों, उसी प्रकार वे परस्पर बाण-वर्षा कर रहे थे। उस समय न तो सूर्यका पता चलता था और न हवा ही चलती थी ॥ १४ ॥

इषुजालावृतं घोरमन्धकारं समन्ततः ।
अनाधृष्यमिवान्येषां शूराणामभवत् तदा ॥ १५ ॥

चारों ओर बाणोंका जाल-सा बिछ जानेके कारण वहाँ घोर अन्धकार छा गया था। उस समय अन्य शूरवीरोंका वहाँ पहुँचना असम्भव-सा हो गया ॥ १५ ॥

अन्धकारीकृते लोके द्रोणशैनेययोः शरैः ।
तयोः शीघ्रास्त्रविदुषोर्द्रोणसात्वतयोस्तदा ॥ १६ ॥
नान्तरं शरवृष्टीनां ददृशे नरसिंहयोः ।

शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलाको जाननेवाले द्रोणाचार्य तथा सात्वतवंशी सात्यकिके बाणोंसे लोकमें अन्धकार छा जानेपर भी उस समय उन दोनों पुरुषसिंहोंकी बाण-वर्षामें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ १६½ ॥

इषूणां संनिपातेन शब्दो धाराभिघातजः ॥ १७ ॥
शुश्रुवे शक्रमुक्तानामशनीनामिव स्वनः ।

बाणोंके परस्पर टकरानेसे उनकी धारोंके आघात प्रत्या-घातसे जो शब्द होता था, वह इन्द्रके छोड़े हुए वज्रास्त्रोंकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी पड़ता था ॥ १७½ ॥

नाराचैर्व्यतिविद्धानां शराणां रूपमाबभौ ॥ १८ ॥
आशीविषविदष्टानां सर्पाणामिव भारत ।

भरतनन्दन ! नाराचोंसे अत्यन्त विद्ध हुए बाणोंका स्वरूप विषधर नागोंके डँसे हुए सर्पोंके समान जान पड़ता था ॥

तयोर्ज्यातलनिर्घोषः शुश्रुवे युद्धशौण्डयोः ॥ १९ ॥
अजस्रं शैलशृङ्गाणां वज्रेणाहन्यतामिव ।

उन दोनों युद्धकुशल वीरोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाकी टंकारध्वनि ऐसी सुनायी देती थी, मानो पर्वतोंके शिखरोंपर निरन्तर वज्रसे आघात किया जा रहा हो ॥ १९½ ॥

उभयोस्तौ रथौ राजंस्ते चाश्वास्तौ च सारथी ॥ २० ॥
रुक्मपुङ्खैः शरैश्छिन्नाश्चित्ररूपा बभुस्तदा ।

राजन् ! उन दोनोंके वे रथ, वे घोड़े और वे सारथि सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर उस समय विचित्ररूपसे सुशोभित हो रहे थे ॥ २०½ ॥

निर्मलानामजिह्मानां नाराचानां विशाम्पते ॥ २१ ॥
निर्मुक्ताशीविषाभानां सम्पातोऽभूत् सुदारुणः ।

प्रजानाथ ! केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान निर्मल और सीधे जानेवाले नाराचोंका प्रहार वहाँ बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ २१½ ॥

उभयोः पतिते छत्रे तथैव पतितौ ध्वजौ ॥ २२ ॥
उभौ रुधिरसिक्ताङ्गावुभौ च विजयैषिणौ ।

दोनोंके छत्र कटकर गिर गये, ध्वज धराशायी हो गये और दोनों ही विजयकी अभिलाषा रखते हुए खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ २२½ ॥

स्रवद्भिः शोणितं गात्रैः प्रस्रुताविव वारणौ ॥ २३ ॥
अन्योन्यमभ्यविध्येतां जीवितान्तकरैः शरैः ।

सारे अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहनेके कारण वे दोनों वीर मदवर्षी गजराजोंके समान जान पड़ते थे। वे एक दूसरेको प्राणान्तकारी बाणोंसे बेध रहे थे ॥ २३½ ॥

गर्जितोत्क्रुष्टसंनादाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ॥ २४ ॥
उपारमन् महाराज व्याजहार न कश्चन ।

महाराज ! उस समय गरजने, ललकारने और सिंहनाद-के शब्द तथा शङ्खों और दुन्दुभियोंके घोष बंद हो गये थे। कोई बातचीततक नहीं करता था ॥ २४½ ॥

तूष्णीम्भूतान्यनीकानि योधा युद्धादुपारमन् ॥ २५ ॥
ददर्श द्वैरथं ताभ्यां जातकौतूहलो जनः ।

सारी सेनाएँ मौन थीं, योद्धा युद्धसे विरत हो गये थे, सब लोग कौतूहलवश उन दोनोंके द्वैरथ युद्धका दृश्य देखने लगे ॥ २५½ ॥

रथिनो हस्तियन्तारो हयारोहाः पदातयः ॥ २६ ॥
अवैक्षन्ताचलैर्नेत्रैः परिवार्य नरर्षभौ ।

रथी, महावत, घुड़सवार और पैदल सभी उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंको घेरकर उन्हें एकटक नेत्रोंसे निहारने लगे ॥

हस्त्यनीकान्यतिष्ठन्त तथानीकानि वाजिनाम् ॥ २७ ॥
तथैव रथवाहिन्यः प्रतिव्यूह्य व्यवस्थिताः ।

हाथियोंकी सेनाएँ चुपचाप खड़ी थीं, घुड़सवार सैनिकोंकी भी यही दशा थी तथा रथसेनाएँ भी व्यूह बनाकर वहाँ स्थिरभावसे खड़ी थीं ॥ २७½ ॥

मुक्ताविद्रुमचित्रैश्च मणिकाञ्चनभूषितैः ॥ २८ ॥
ध्वजैराभरणैश्चित्रैः कवचैश्च हिरण्मयैः ।
वैजयन्तीपताकाभिः परिस्तोमाङ्कुकम्बलैः ॥ २९ ॥
विमलैर्निशितैः शस्त्रैर्हयानां च प्रकीर्णकैः ।
जातरूपमयीभिश्च राजतीभिश्च मूर्धसु ॥ ३० ॥
गजानां कुम्भमालाभिर्दन्तवेष्टैश्च भारत ।
सबलाकाः सखद्योताः सैरावतशतह्रदाः ॥ ३१ ॥
अदृश्यन्तोष्णपर्याये मेघानामिव वागुराः ।

भारत ! मोती और मूँगोंसे चित्रित तथा मणियों और सुवर्णों-से विभूषित ध्वज, विचित्र आभूषण, सुवर्णमय कवच, वैजयन्ती,

पताका, हाथियोंके झूल और कम्बल, चमचमाते हुए तीखे शस्त्र, घोड़ोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले वस्त्र, हाथियोंके कुम्भस्थलमें और मस्तकोंपर सुशोभित होनेवाली सोने-चाँदीकी मालाएँ तथा दन्तवेष्टन—इन सब वस्तुओंके कारण उभयपक्षकी सेनाएँ वर्षाकालमें बगलोंकी पाँति, खद्योत, ऐरावत और बिजलियोंसे युक्त मेघसमूहोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं ॥ २८–३१½ ॥

अपश्यन्नस्मदीयाश्च ते च यौधिष्ठिराः स्थिताः ॥ ३२ ॥
तद् युद्धं युयुधानस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।

राजन्! हमारी और युधिष्ठिरकी सेनाके सैनिक वहाँ खड़े होकर महामना द्रोण और सात्यकिका वह युद्ध देख रहे थे॥

विमानाग्रगता देवा ब्रह्मसोमपुरोगमाः ॥ ३३ ॥
सिद्धचारणसंघाश्च विद्याधरमहोरगाः ।

ब्रह्मा और चन्द्रमा आदि सब देवता विमानोंपर बैठकर वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये थे। उनके साथ ही सिद्धों और चारणोंके समूह, विद्याधर और बड़े-बड़े नागगण भी थे ॥

गतप्रत्यागताक्षेपैश्चित्रैरस्त्रविघातिभिः ॥ ३४ ॥
विविधैर्विस्मयं जग्मुस्तयोः पुरुषसिंहयोः ।

वे सब लोग उन दोनों पुरुषसिंहोंके विचित्र गमन-प्रत्यागमन, आक्षेप तथा नाना प्रकारके अस्त्रनिवारक व्यापारोंसे आश्चर्यचकित हो रहे थे ॥ ३४½ ॥

हस्तलाघवमस्त्रेषु दर्शयन्तौ महाबलौ ॥ ३५ ॥
अन्योन्यमभिविध्येतां शरैस्तौ द्रोणसात्यकी ।

महावीर द्रोणाचार्य और सात्यकि अस्त्र चलानेमें अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको बेध रहे थे॥

ततो द्रोणस्य दाशार्हः शरांश्चिच्छेद संयुगे ॥ ३६ ॥
पत्रिभिः सुदृढैराशु धनुश्चैव महाद्युतेः ।

इसी बीचमें सात्यकिने महातेजस्वी द्रोणाचार्यके धनुष और बाणोंको पंखयुक्त सुदृढ़ बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शीघ्र ही काट डाला ॥ ३६½ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भारद्वाजोऽपरं धनुः ॥ ३७ ॥
सज्यं चकार तदपि चिच्छेदास्य च सात्यकिः ।

तब भरद्वाजनन्दन द्रोणने पलक मारते-मारते दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी; परंतु सात्यकिने उनके उस धनुषको भी काट डाला ॥ ३७½ ॥

ततस्त्वरन् पुनर्द्रोणो धनुर्हस्तो व्यतिष्ठत ॥ ३८ ॥
सज्यं सज्यं धनुश्चास्य चिच्छेद निशितैः शरैः ।

तब द्रोणाचार्य पुनः बड़ी उतावलीके साथ दूसरा धनुष हाथमें लेकर खड़े हो गये; परंतु ज्यों ही वे धनुषपर डोरी चढ़ाते, त्यों ही सात्यकि अपने तीखे बाणोंद्वारा उसे काट देते थे ॥ ३८½ ॥

एवमेकशतं छिन्नं धनुषां दृढधन्विना ॥ ३९ ॥
न चान्तरं तयोर्दृष्टं संधाने छेदनेऽपि च ।

इस प्रकार सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले सात्यकिने आचार्यके एक सौ धनुष काट डाले; परंतु कब वे संधान करते हैं और सात्यकि कब उस धनुषको काट देते हैं, उन दोनोंके इस कार्यमें किसीको कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया ॥

ततोऽस्य संयुगे द्रोणो दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥ ४० ॥
युयुधानस्य राजेन्द्र मनसैतदचिन्तयत् ।

राजेन्द्र! तदनन्तर रणक्षेत्रमें सात्यकिके उस अमानुषिक पराक्रमको देखकर द्रोणाचार्यने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया ॥ ४०½ ॥

एतदस्त्रबलं रामे कार्तवीर्ये धनंजये ॥ ४१ ॥
भीष्मे च पुरुषव्याघ्रे यदिदं सात्वतां वरे ।
तं चास्य मनसा द्रोणः पूजयामास विक्रमम् ॥ ४२ ॥

सात्वतकुलके श्रेष्ठ वीर सात्यकिमें जो यह अस्त्रबल दिखायी देता है, ऐसा तो केवल परशुराममें, कार्तवीर्य अर्जुनमें, धनंजयमें तथा पुरुषसिंह भीष्ममें ही देखा-सुना गया है। द्रोणाचार्यने मन-ही-मन उनके पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की ॥ ४१-४२ ॥

लाघवं वासवस्येव सम्प्रेक्ष्य द्विजसत्तमः ।
तुतोषास्त्रविदां श्रेष्ठस्तथा देवाः सवासवाः ॥ ४३ ॥

इन्द्रके समान सात्यकिके उस हस्तलाघव तथा पराक्रमको देखकर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ विप्रवर द्रोणाचार्य और इन्द्र आदि देवता भी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४३ ॥

न तामालक्षयामासुर्लघुतां शीघ्रचारिणः ।
देवाश्च युयुधानस्य गन्धर्वाश्च विशाम्पते ॥ ४४ ॥
सिद्धचारणसंघाश्च विदुर्द्रोणस्य कर्म तत् ।

प्रजानाथ! रणभूमिमें शीघ्रतापूर्वक विचरनेवाले सात्यकिकी उस फुर्तीको देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और चारणसमूहोंने पहले कभी नहीं देखा था। वे जानते थे कि केवल द्रोणाचार्य ही वैसा पराक्रम कर सकते हैं (परंतु उस दिन उन्होंने सात्यकिका पराक्रम भी प्रत्यक्ष देख लिया) ॥४४½॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ४५ ॥
अस्त्रैरस्त्रविदां श्रेष्ठो योधयामास भारत ।

भारत! तत्पश्चात् अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रियसंहारक द्रोणाचार्यने दूसरा धनुष हाथमें लेकर विभिन्न अस्त्रोंद्वारा युद्ध आरम्भ किया ॥ ४५½ ॥

तस्यास्त्राण्यस्त्रमायाभिः प्रतिहत्य स सात्यकिः ॥ ४६ ॥
जघान निशितैर्बाणैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

सात्यकिने अपने अस्त्रोंकी मायासे आचार्यके अस्त्रोंका निवारण करके उन्हें तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ४६½ ॥

तस्यातिमानुषं कर्म दृष्ट्वान्यैरसमं रणे ॥ ४७ ॥

युक्तं योगेन योगशास्त्रावकाः समपूजयन् ।

उस रणक्षेत्रमें सात्यकिके उस युक्तियुक्त अलौकिक कर्मको, जिसकी दूसरोंसे कोई तुलना नहीं थी, देखकर आपके रणकौशलवेत्ता सैनिक उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ४७½ ॥

यदस्त्रमस्यति द्रोणस्तदेवास्यति सात्यकिः ॥ ४८ ॥
तमाचार्योऽप्यसम्भ्रान्तोऽयोधयच्छत्रुतापनः ।

द्रोणाचार्य जिस अस्त्रका प्रयोग करते, उसीका सात्यकि भी करते थे। शत्रुओंको संताप देनेवाले आचार्य द्रोण भी घबराहट छोड़कर सात्यकिसे युद्ध करते रहे ॥ ४८½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज धनुर्वेदस्य पारगः ॥ ४९ ॥
वधाय युयुधानस्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ।

महाराज ! तदनन्तर धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् द्रोणाचार्यने कुपित हो सात्यकिके वधके लिये एक दिव्यास्त्र प्रकट किया ॥ ४९½ ॥

तदाग्नेयं महाघोरं रिपुघ्नमुपलक्ष्य सः ॥ ५० ॥
दिव्यमस्त्रं महेष्वासो वारुणं समुदैरयत् ।

शत्रुओंका नाश करनेवाले उस अत्यन्त भयंकर आग्नेयास्त्रको देखकर महाधनुर्धर सात्यकिने भी वारुणनामक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया ॥ ५०½ ॥

हाहाकारो महानासीद् दृष्ट्वा दिव्यास्त्रधारिणौ ॥ ५१ ॥
न विचेरुस्तदाकाशे भूतान्याकाशगाम्यपि ।

उन दोनोंको दिव्यास्त्र धारण किये देख वहाँ महान् हाहाकार मच गया। उस समय आकाशचारी प्राणी भी आकाशमें विचरण नहीं करते थे ॥ ५१½ ॥

अस्त्रे ते वारुणाग्नेये ताभ्यां बाणसमाहिते ॥ ५२ ॥
न यावदभ्यपद्येतां व्यावर्तदथ भास्करः ।

वे वारुण और आग्नेय दोनों अस्त्र उन दोनोंके द्वारा अपने बाणोंमें स्थापित होकर जबतक एक दूसरेके प्रभावसे प्रतिहत नहीं हो गये, तभीतक भगवान् सूर्य दक्षिणसे पश्चिमके आकाशमें ढल गये ॥ ५२½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ ५३ ॥
नकुलः सहदेवश्च पर्यरक्षन्त सात्यकिम् ।

तब राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, नकुल और सहदेव सब ओरसे सात्यकिकी रक्षा करने लगे ॥ ५३½ ॥

धृष्टद्युम्नमुखैः सार्धं विराटश्च सकेकयः ॥ ५४ ॥
मत्स्याः शाल्वेयसेनाश्च द्रोणमाजग्मुरञ्जसा ।

धृष्टद्युम्न आदि वीरोंके साथ विराट, केकयराजकुमार, मत्स्यदेशीय सैनिक तथा शाल्वदेशकी सेनाएँ—ये सब-के-सब अनायास ही द्रोणाचार्यपर चढ़ आये ॥ ५४½ ॥

दुःशासनं पुरस्कृत्य राजपुत्राः सहस्रशः ॥ ५५ ॥
द्रोणमभ्युपपद्यन्त सपत्नैः परिवारितम् ।

उधरसे सहस्रों राजकुमार दुःशासनको आगे करके शत्रुओंसे घिरे हुए द्रोणाचार्यके पास उनकी रक्षाके लिये आ पहुँचे ॥ ५५½ ॥

ततो युद्धमभूद् राजंस्तेषां तव च धन्विनाम् ॥ ५६ ॥
रजसा संवृते लोके शरजालसमावृते ।

राजन् ! तदनन्तर पाण्डवोंके और आपके धनुर्धरोंका परस्पर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग धूलसे आवृत और बाणसमूहसे आच्छादित हो गये थे ॥ ५६½ ॥

सर्वमाविग्नमभवन्न प्राज्ञायत किंचन ।
सैन्येन रजसा ध्वस्ते निर्मर्यादमवर्तत ॥ ५७ ॥

वहाँका सब कुछ उद्विग्न हो रहा था। सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे ध्वस्त होनेके कारण किसीको कुछ ज्ञात नहीं होता था। वहाँ मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्रोणसात्यकियुद्धे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्रोण और सात्यकिका युद्धविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा तीव्र गतिसे कौरवसेनामें प्रवेश, विन्द और अनुविन्दका वध तथा अद्भुत जलाशयका निर्माण

संजय उवाच

(वर्तमाने तदा युद्धे द्रोणस्य सह पाण्डुभिः ॥)
विवर्तमाने त्वादित्ये तत्रास्तशिखरं प्रति ।
रजसा कीर्यमाणे च मन्दीभूते दिवाकरे ॥ १ ॥
तिष्ठतां युध्यमानानां पुनरावर्ततामपि ।
भज्यतां जयतां चैव जगाम तदहः शनैः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब द्रोणाचार्यका पाण्डवोंके साथ युद्ध हो रहा था और सूर्य अस्ताचलके शिखरकी ओर ढल चुके थे, उस समय धूलसे आवृत होनेके कारण दिवाकरकी रश्मियाँ मन्द दिखायी देने लगी थीं। योद्धाओंमेंसे कोई तो खड़े थे, कोई युद्ध करते थे, कोई भागकर पुनः पीछे लौटते थे और कोई विजयी हो रहे थे। इस प्रकार

उन सब लोगोंका वह दिन धीरे-धीरे बीतता चला जा रहा था ॥ १-२ ॥

तथा तेषु विषक्तेषु सैन्येषु जयगृद्धिषु।
अर्जुनो वासुदेवश्च सैन्धवायैव जग्मतुः ॥ ३ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाली वे समस्त सेनाएँ जब युद्धमें इस प्रकार अनुरक्त हो रही थीं, तब अर्जुन और श्रीकृष्ण सिन्धुराज जयद्रथको प्राप्त करनेके लिये ही आगे बढ़ते चले गये ॥ ३ ॥

रथमार्गप्रमाणं तु कौन्तेयो निशितैः शरैः।
चकार यत्र पन्थानं ययौ येन जनार्दनः ॥ ४ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुन अपने तीखे बाणोंद्वारा वहाँ रथके जाने योग्य रास्ता बना लेते थे, जिससे श्रीकृष्ण रथ लिये आगे बढ़ जाते थे ॥ ४ ॥

यत्र यत्र रथो याति पाण्डवस्य महात्मनः।
तत्र तत्रैव दीर्यन्ते सेनास्तव विशाम्पते ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनका रथ जहाँ-जहाँ जाता था, वहीं-वहीं आपकी सेनामें दरार पड़ जाती थी ॥५॥

रथशिक्षां तु दाशार्हो दर्शयामास वीर्यवान्।
उत्तमाधममध्यानि मण्डलानि विदर्शयन् ॥ ६ ॥

दशार्हवंशी परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारके मण्डल दिखाते हुए अपनी उत्तम रथ-शिक्षाका प्रदर्शन करते थे ॥ ६ ॥

ते तु नामाङ्किताः पीताः कालज्वलनसंनिभाः।
स्नायुनद्धाः सुपर्वाणः पृथवो दीर्घगामिनः ॥ ७ ॥
वैणवाश्चायसाश्चोग्रा ग्रसन्तो विविधानरीन्।
रुधिरं पतगैः सार्धं प्राणिनां पपुराहवे ॥ ८ ॥

अर्जुनके बाणोंपर उनका नाम अङ्कित था। उनपर पानी चढ़ाया गया था। वे कालाग्निके समान भयंकर, ताँतमें बँधे हुए, सुन्दर पंखवाले, मोटे तथा दूरतक जानेवाले थे। उनमेंसे कुछ तो बाँसके बने हुए थे और कुछ लोहेके। वे सभी भयंकर थे और नाना प्रकारके शत्रुओंका संहार करते हुए पक्षियोंके साथ उड़कर युद्धस्थलमें प्राणियोंका रक्त पीते थे ॥ ७-८ ॥

रथस्थितोऽग्रतः क्रोशं यानस्यत्यर्जुनः शरान्।
रथे क्रोशमतिक्रान्ते तस्य ते घ्नन्ति शात्रवान् ॥ ९ ॥

रथपर बैठे हुए अर्जुन अपने आगे एक कोसकी दूरीतक जिन बाणोंको फेंकते थे, वे बाण उनके शत्रुओंका जबतक संहार करते, तबतक उनका रथ एक कोस और आगे निकल जाता था ॥ ९ ॥

तार्क्ष्यमारुतरंहोभिर्वाजिभिः साधुवाहिभिः।
तदागच्छद्धृषीकेशः कृत्स्नं विस्मापयञ्जगत् ॥ १० ॥

उस समय भगवान् हृषीकेश अच्छी प्रकारसे रथका भार वहन करनेवाले गरुड़ एवं वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को आश्चर्यचकित करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ १० ॥

न तथा गच्छति रथस्तपनस्य विशाम्पते।
नेन्द्रस्य न तु रुद्रस्य नापि वैश्रवणस्य च ॥ ११ ॥

प्रजानाथ ! सूर्य, इन्द्र, रुद्र तथा कुबेरका भी रथ वैसी तीव्र गतिसे नहीं चलता था, जैसे अर्जुनका चलता था ॥ ११ ॥

नान्यस्य समरे राजन् गतपूर्वस्तथा रथः।
यथा ययावर्जुनस्य मनोऽभिप्रायशीघ्रगः ॥ १२ ॥

राजन् ! समरभूमिमें दूसरे किसीका रथ पहले कभी उस प्रकार तीव्र गतिसे नहीं चला था, जैसे अर्जुनका रथ मनकी अभिलाषाके अनुरूप शीघ्र गतिसे चलता था ॥ १२ ॥

प्रविश्य तु रणे राजन् केशवः परवीरहा।
सेनामध्ये हयांस्तूर्णं चोदयामास भारत ॥ १३ ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने रणभूमिमें सेनाके भीतर प्रवेश करके अपने घोड़ोंको तीव्र वेगसे हाँका ॥ १३ ॥

ततस्तस्य रथौघस्य मध्यं प्राप्य हयोत्तमाः।
कृच्छ्रेण रथमूहुस्तं क्षुत्पिपासासमन्विताः ॥ १४ ॥

तदनन्तर रथियोंके समूहके मध्यभागमें पहुँचकर भूख और प्याससे पीड़ित हुए वे उत्तम घोड़े बड़ी कठिनाईसे उस रथका भार वहन कर पाते थे ॥ १४ ॥

क्षताश्च बहुभिः शस्त्रैर्युद्धशौण्डैरनेकशः।
मण्डलानि विचित्राणि विचेरुस्ते मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

युद्धकुशल योद्धाओंने बहुत-से शस्त्रोंद्वारा उन्हें अनेक बार घायल कर दिया और वे क्षत-विक्षत हो बारंबार विचित्र मण्डलाकार गतिसे विचरण करते रहे ॥ १५ ॥

हतानां वाजिनागानां रथानां च नरैः सह।
उपरिष्टादतिक्रान्ताः शैलाभानां सहस्रशः ॥ १६ ॥

रण-भूमिमें सहस्रों पर्वताकार हाथी, घोड़े, रथ और पैदल मनुष्य मरे पड़े थे। उन सबको अर्जुनके घोड़े ऊपर-ही-ऊपर लाँघ जाते थे ॥ १६ ॥

(श्रमेण महता युक्तास्ते हया वातरंहसः।
मन्दवेगगता राजन् संवृत्तास्तत्र संयुगे ॥)

राजन् ! वे वायुके समान वेगशाली अश्व उस युद्धस्थलमें अधिक परिश्रमसे थक जानेके कारण मन्दगतिसे चलने लगे ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरावावन्त्यौ भ्रातरौ नृप।
सहसेनौ समार्च्छेतां पाण्डवं क्लान्तवाहनम् ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! इसी बीचमें अवन्तीके वीर राजकुमार दोनों

भाई विन्द और अनुविन्द थके हुए घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करनेके लिये अपनी सेनाके साथ आये ॥१७॥

तावर्जुनं चतुःषष्ट्या सप्तत्या च जनार्दनम्।
शराणां च शतैरश्वानविध्येतां मुदान्वितौ ॥ १८ ॥

उन दोनोंने अर्जुनको चौसठ और श्रीकृष्णको सत्तर बाण मारे तथा उनके घोड़ोंको सौ बाणोंसे घायल कर दिया। ऐसा करके उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

तावर्जुनो महाराज नवभिर्नतपर्वभिः।
आजघान रणे क्रुद्धो मर्मज्ञो मर्मभेदिभिः ॥ १९ ॥

महाराज ! मर्मको जाननेवाले अर्जुनने रणक्षेत्रमें कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले नौ मर्मभेदी बाणोंद्वारा उन दोनोंको चोट पहुँचायी ॥ १९ ॥

ततस्तौ तु शरौघेण बीभत्सुं सहकेशवम्।
आच्छादयेतां संरब्धौ सिंहनादं च चक्रतुः ॥ २० ॥

तब उन दोनों भाइयोंने कुपित हो श्रीकृष्णसहित अर्जुनको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २० ॥

तयोस्तु धनुषी चित्रे भल्लाभ्यां श्वेतवाहनः।
चिच्छेद समरे तूर्णं ध्वजौ च कनकोज्ज्वलौ ॥ २१ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुनने समराङ्गणमें दो बाणोंद्वारा उनके दोनों विचित्र धनुषों और सुवर्णके समान प्रकाशित होनेवाले दोनों ध्वजोंको भी तुरंत ही काट डाला ॥ २१ ॥

अथान्ये धनुषी राजन् प्रगृह्य समरे तदा।
पाण्डवं भृशसंक्रुद्धावर्दयामासतुः शरैः ॥ २२ ॥

राजन् ! फिर वे दोनों भाई अत्यन्त कुपित हो उठे और उस समय समराङ्गणमें दूसरे धनुष लेकर उन्होंने बाणोंद्वारा पाण्डुकुमार अर्जुनको गहरी पीड़ा दी ॥ २२ ॥

तयोस्तु भृशसंक्रुद्धः शराभ्यां पाण्डुनन्दनः।
धनुषी चिच्छिदे तूर्णं भूय एव धनंजयः ॥ २३ ॥

यह देख पाण्डुनन्दन धनंजय अत्यन्त क्रोधसे जल उठे और दो बाण मारकर तुरंत ही उन्होंने उन दोनोंके धनुष पुनः काट डाले ॥ २३ ॥

तथान्यैर्विशिखैस्तूर्णं रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः।
जघानाश्वांस्तथा सूतौ पार्ष्णी च सपदानुगौ ॥ २४ ॥

फिर सुवर्णमय पंखोंवाले और शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए दूसरे बाणोंद्वारा उनके घोड़ोंको एवं दोनों सारथियों, पार्श्वरक्षकों तथा पदानुगामी सेवकोंको भी शीघ्र ही मार डाला ॥ २४ ॥

ज्येष्ठस्य च शिरः कायात् क्षुरप्रेण न्यकृन्तत।
स पपात हतः पृथ्व्यां वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ २५ ॥

इसके बाद एक क्षुरप्रद्वारा बड़े भाई विन्दका मस्तक धड़से काट दिया। विन्द आँधीके उखाड़े हुए वृक्षके समान मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥

विन्दं तु निहतं दृष्ट्वा ह्यनुविन्दः प्रतापवान्।
हताश्वं रथमुत्सृज्य गदां गृह्य महाबलः ॥ २६ ॥
अभ्यवर्तत संग्रामे भ्रातुर्वधमनुस्मरन्।

विन्दको मारा गया देख महाबली और प्रतापी अनुविन्द अपने भाईके वधका बारंबार चिन्तन करता हुआ अश्वहीन रथको त्यागकर हाथमें गदा ले संग्रामभूमिमें डटा रहा ॥ २६½ ॥

गदया रथिनां श्रेष्ठो नृत्यन्निव महारथः ॥ २७ ॥
अनुविन्दस्तु गदया ललाटे मधुसूदनम्।
स्पृष्ट्वा नाकम्पयत् क्रुद्धो मैनाकमिव पर्वतम् ॥ २८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी अनुविन्दने कुपित हो नृत्य-सा करते हुए गदाद्वारा मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णके ललाटमें आघात किया; परंतु मैनाकपर्वतके समान श्रीकृष्णको कम्पित न कर सका ॥ २७-२८ ॥

तस्यार्जुनः शरैः षड्भिर्ग्रीवां पादौ भुजौ शिरः।
निचकर्त स संछिन्नः पपाताद्रिचयो यथा ॥ २९ ॥

तब अर्जुनने छः बाणोंद्वारा उसकी गर्दन, दोनों पैरों दोनों भुजाओं तथा मस्तकको भी काट डाला। इस प्रकार छिन्न-भिन्न होकर वह पर्वतसमूहके समान धराशायी हो गया ॥ २९ ॥

ततस्तौ निहतौ दृष्ट्वा तयो राजन् पदानुगाः।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धाः किरन्तः शतशः शरान् ॥ ३० ॥

राजन् ! तब उन दोनों भाइयोंको मारा गया देख उनके सेवकगण अत्यन्त कुपित हो अर्जुनपर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते हुए टूट पड़े ॥ ३० ॥

तानर्जुनः शरैस्तूर्णं निहत्य भरतर्षभ।
व्यरोचत यथा वह्निर्दावं दग्ध्वा हिमात्यये ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन बाणोंद्वारा तुरंत ही उन सबका संहार करके ग्रीष्मऋतुमें वनको जलाकर प्रकाशित होनेवाले अग्निदेवके समान सुशोभित हुए ॥ ३१ ॥

तयोः सेनामतिक्राम्य कृच्छ्रादिव धनंजयः।
विबभौ जलदं हित्वा दिवाकर इवोदितः ॥ ३२ ॥

उन दोनोंकी सेनाका बड़ी कठिनाईसे उल्लङ्घन करके अर्जुन मेघोंका आवरण भेदकर उदित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ३२ ॥

तं दृष्ट्वा कुरवस्त्रस्ताः प्रहृष्टाश्चाभवन् पुनः।
अभ्यवर्तन्त पार्थं च समन्ताद् भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्हें देखकर कौरवसैनिक पहले तो भयभीत हुए। फिर प्रसन्न भी हो गये। वे चारों ओरसे कुन्तीकुमारका सामना करनेके लिये डट गये ॥ ३३ ॥

श्रान्तं चैनं समालक्ष्य ज्ञात्वा दूरे च सैन्धवम्।

सिंहनादेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३४ ॥

अर्जुनको थका हुआ देख और सिन्धुराज जयद्रथको उनसे बहुत दूर जानकर आपके सैनिकोंने महान् सिंहनाद करते हुए उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ ३४ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा सुसंरब्धानुत्स्मयन् पुरुषर्षभः ।
शनकैरिव दाशार्हमर्जुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

उन सबको क्रोधमें भरा देख पुरुषशिरोमणि अर्जुनने मुसकराते हुए धीरे-धीरे भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ ३५ ॥

शरार्दिताश्च ग्लानाश्च हया दूरे च सैन्धवः ।
किमिहानन्तरं कार्यं ज्यायिष्ठं तव रोचते ॥ ३६ ॥

'मेरे घोड़े बाणोंसे पीड़ित हो बहुत थक गये हैं और सिन्धुराज जयद्रथ अभी बहुत दूर है । अतः इस समय यहाँ कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

ब्रूहि कृष्ण यथातत्त्वं त्वं हि प्राज्ञतमः सदा ।
भवन्नेत्रा रणे शत्रून् विजेष्यन्तीह पाण्डवाः ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप ही सदा सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं । अतः मुझे यथार्थ बात बताइये । आपको नायक बनाकर ही पाण्डव इस रणक्षेत्रमें शत्रुओंपर विजयी होंगे ॥ ३७ ॥

मम त्वनन्तरं कृत्यं यद् वै तत् त्वं निबोध मे ।
हयान् विमुच्य हि सुखं विशल्यान् कुरु माधव ॥ ३८ ॥

'माधव ! मेरी दृष्टिमें इस समय जो कर्तव्य है, वह बताता हूँ, आप मुझसे सुनिये । घोड़ोंको खोलकर इन्हें सुख पहुँचानेके लिये इनके शरीरसे बाण निकाल दीजिये' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः प्रत्युवाच तम् ।
ममाप्येतन्मतं पार्थ यदिदं ते प्रभाषितम् ॥ ३९ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'पार्थ ! तुमने इस समय जो बात कही है, यही मुझे भी अभीष्ट है' ॥ ३९ ॥

अर्जुन उवाच

अहमावारयिष्यामि सर्वसैन्यानि केशव ।
त्वमप्यत्र यथान्यायं कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ ४० ॥

अर्जुन बोले—केशव ! मैं इन समस्त सेनाओंको रोक रक्खूँगा । आप भी यहाँ इस समय करनेयोग्य यथोचित कार्य सम्पन्न करें ॥ ४० ॥

संजय उवाच

सोऽवतीर्य रथोपस्थादसम्भ्रान्तो धनंजयः ।
गाण्डीवं धनुरादाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अर्जुन बिना किसी घबराहटके रथकी बैठकसे उतर पड़े और गाण्डीव धनुष हाथमें लेकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

तमभ्यधावन् क्रोशन्तः क्षत्रिया जयकाङ्क्षिणः ।
इदं छिद्रमिति ज्ञात्वा धरणीस्थं धनंजयम् ॥ ४२ ॥

धनंजयको धरतीपर खड़ा जान 'यही अवसर है' ऐसा कहते हुए विजयाभिलाषी क्षत्रिय हल्ला मचाते हुए उनकी ओर दौड़े ॥ ४२ ॥

तमेकं रथवंशेन महता पर्यवारयन् ।
विकर्षन्तश्च चापानि विसृजन्तश्च सायकान् ॥ ४३ ॥

उन सबने महान् रथसमूहके द्वारा एकमात्र अर्जुनको चारों ओर घेर लिया । वे सब-के-सब धनुष खींचते और उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करते थे ॥ ४३ ॥

शस्त्राणि च विचित्राणि क्रुद्धास्तत्र व्यदर्शयन् ।
छादयन्तः शरैः पार्थं मेघा इव दिवाकरम् ॥ ४४ ॥

जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको आच्छादित करते हुए कुपित कौरव-सैनिक वहाँ विचित्र अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करने लगे ॥४४॥

अभ्यद्रवन्त वेगेन क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ।
नरसिंहं रथोदाराः सिंहं मत्ता इव द्विपाः ॥ ४५ ॥

जैसे मतवाले हाथी सिंहपर धावा करते हों, उसी प्रकार वे श्रेष्ठ रथी क्षत्रिय क्षत्रियशिरोमणि नरसिंह अर्जुनपर बड़े वेगसे टूट पड़े थे ॥ ४५ ॥

तत्र पार्थस्य भुजयोर्महद्बलमदृश्यत ।
यत् क्रुद्धो बहुलाः सेनाः सर्वतः समवारयत् ॥ ४६ ॥

उस समय वहाँ अर्जुनकी दोनों भुजाओंका महान् बल देखनेमें आया । उन्होंने कुपित होकर उन विशाल सेनाओंको सब ओर जहाँ-की-तहाँ रोक दिया ॥ ४६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्विषतां सर्वतो विभुः ।
इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं सर्वानेव समावृणोत् ॥ ४७ ॥

शक्तिशाली अर्जुनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका सब ओरसे निवारण करके अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा तुरंत उन सबको ही आच्छादित कर दिया ॥ ४७ ॥

तत्रान्तरिक्षे बाणानां प्रगाढानां विशाम्पते ।
संघर्षेण महार्चिष्मान् पावकः समजायत ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ अन्तरिक्षमें ठसाठस भरे हुए बाणोंकी रगड़से भारी लपटोंसे युक्त आग प्रकट हो गयी ॥ ४८ ॥

तत्र तत्र महेष्वासैः श्वसद्भिः शोणितोक्षितैः ।
हयैर्नागैश्च सम्भिन्नैर्नदद्भिश्चारिकर्षणैः ॥ ४९ ॥
संरब्धैश्चारिभिर्वीरैः प्रार्थयद्भिर्जयं मृधे ।
एकस्थैर्बहुभिः क्रुद्धैरूष्मेव समजायत ॥ ५० ॥

तदनन्तर जहाँ-तहाँ हाँफते और खूनसे लथपथ हुए महाधनुर्धर योद्धाओं, अर्जुनके शत्रुनाशक बाणोंद्वारा विदीर्ण हो चीत्कार करते हुए हाथियों और घोड़ों तथा युद्धमें

विजयकी अभिलाषा लिये रोषावेशमें भरकर एक जगह कुपित खड़े हुए बहुतेरे वीर शत्रुओंके जमघटसे उस स्थानपर गर्मी-सी होने लगी ॥ ४९-५० ॥

शरोर्मिणं ध्वजावर्तं नागनक्रं दुरत्ययम्।
पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ ५१ ॥
असंख्येयमपारं च रथोर्मिणमतीव च।
उष्णीषकमठं छत्रपताकाफेनमालिनम् ॥ ५२ ॥
रणसागरमक्षोभ्यं मातङ्गाङ्गशिलाचितम्।
वेलाभूतस्तदा पार्थः पत्रिभिः समवारयत् ॥ ५३ ॥

उस समय अर्जुनने उस असंख्य, अपार, दुर्लङ्घ्य एवं अक्षोभ्य रण-समुद्रको सीमावर्ती तटप्रान्तके समान होकर अपने बाणोंद्वारा रोक दिया। उस रण-सागरमें बाणोंकी तरङ्गें उठ रही थीं, फहराते हुए ध्वज भौंरोंके समान जान पड़ते थे, हाथी ग्राह थे, पैदल सैनिक मत्स्य और कीचड़के समान प्रतीत होते थे, शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस रण-सिन्धुकी गम्भीर गर्जना थी, रथ ऊँची-ऊँची लहरोंके समान जान पड़ते थे, योद्धाओंकी पगड़ी और टोप कछुओंके समान थे, छत्र और पताकाएँ फेनराशि-सी प्रतीत होती थीं तथा मतवाले हाथियोंकी लाशें ऊँचे-ऊँचे शिलाखण्डोंके समान उस सैन्यसागरको व्याप्त किये हुए थीं ॥ ५१—५३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अर्जुने धरणीं प्राप्ते हयहस्ते च केशवे।
एतदन्तरमासाद्य कथं पार्थो न घातितः ॥ ५४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब अर्जुन धरतीपर उतर आये और भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंकी चिकित्सामें हाथ लगाया, तब यह अवसर पाकर मेरे सैनिकोंने कुन्तीकुमारका वध क्यों नहीं कर डाला? ॥ ५४ ॥

संजय उवाच

सद्यः पार्थिव पार्थेन निरुद्धाः सर्वपार्थिवाः।
रथस्था धरणीस्थेन वाक्यमच्छान्दसं यथा ॥ ५५ ॥

संजयने कहा—महाराज! उस समय पार्थने पृथ्वीपर खड़े होकर रथपर बैठे हुए समस्त भूपालोंको सहसा उसी प्रकार रोक दिया, जैसे वेदविरुद्ध वाक्य अग्राह्य कर दिया जाता है ॥ ५५ ॥

स पार्थः पार्थिवान् सर्वान् भूमिस्थोऽपि रथस्थितान्।
एको निवारयामास लोभः सर्वगुणानिव ॥ ५६ ॥

अर्जुनने अकेले ही पृथ्वीपर खड़े रहकर भी रथपर बैठे हुए समस्त पृथ्वीपतियोंको उसी प्रकार रोक दिया, जैसे लोभ सम्पूर्ण गुणोंका निवारण कर देता है ॥ ५६ ॥

ततो जनार्दनः संख्ये प्रियं पुरुषसत्तमम्।
असम्भ्रान्तो महाबाहुरर्जुनं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर सम्भ्रमरहित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें अपने प्रिय सखा पुरुषप्रवर अर्जुनसे यह बात कही—॥ ५७ ॥

उदपानमिहाश्वानां नालमस्ति रणेऽर्जुन।
परीप्सन्ते जलं चेमे पेयं न त्ववगाहनम् ॥ ५८ ॥

'अर्जुन! यहाँ घोड़ोंके पीनेके लिये पर्याप्त जल नहीं है। ये पीनेयोग्य जल चाहते हैं। इन्हें स्नानकी इच्छा नहीं है' ॥ ५८ ॥

इदमस्तीत्यसम्भ्रान्तो ब्रुवन्नस्त्रेण मेदिनीम्।
अभिहत्यार्जुनश्चक्रे वाजिपानं सरः शुभम् ॥ ५९ ॥

'यह रहा इनके पीनेके लिये जल' ऐसा कहकर अर्जुनने बिना किसी घबराहटके अस्त्रद्वारा पृथ्वीपर आघात करके घोड़ोंके पीनेयोग्य जलसे भरा हुआ सुन्दर सरोवर उत्पन्न कर दिया ॥ ५९ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम्।
सुविस्तीर्णं प्रसन्नाम्भः प्रफुल्लवरपङ्कजम् ॥ ६० ॥

उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी भरे हुए थे, चक्रवाक उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। स्वच्छ जलसे युक्त उस विशाल सरोवरमें सुन्दर कमल खिले हुए थे ॥ ६० ॥

कूर्ममत्स्यगणाकीर्णमगाधमृषिसेवितम्।
आगच्छन्नारदमुनिर्दर्शनार्थं कृतं क्षणात् ॥ ६१ ॥

वह अगाध जलाशय कछुओं और मछलियोंसे भरा था। ऋषिगण उसका सेवन करते थे। तत्काल प्रकट किये हुए ऐसी योग्यतावाले उस सरोवरका दर्शन करनेके लिये देवर्षि नारदजी वहाँ आये ॥ ६१ ॥

शरवंशं शरस्थूणं शराच्छादनमद्भुतम्।
शरवेश्माकरोत् पार्थस्त्वष्टेवाद्भुतकर्मकृत् ॥ ६२ ॥

विश्वकर्माके समान अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुनने वहाँ बाणोंका एक अद्भुत घर बना दिया था, जिनमें बाणोंके ही बाँस, बाणोंके ही खम्भे और बाणोंकी ही छाजन थी ॥ ६२ ॥

ततः प्रहस्य गोविन्दः साधु साध्वित्यथाब्रवीत्।
शरवेश्मनि पार्थेन कृते तस्मिन् महात्मना ॥ ६३ ॥

महामना अर्जुनके द्वारा वह बाणमय गृह निर्मित हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने हँसकर कहा—'शाबास अर्जुन, शाबास' ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि विन्दानुविन्दवधे अर्जुनसरोनिर्माणे च एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें विन्द और अनुविन्दका वध तथा अर्जुनके द्वारा जलाशयका निर्माणविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अश्वपरिचर्या तथा खा-पीकर हृष्ट-पुष्ट हुए अश्वोंद्वारा अर्जुनका पुनः शत्रुसेनापर आक्रमण करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़ना

संजय उवाच

सलिले जनिते तस्मिन् कौन्तेयेन महात्मना ।
निस्तारिते द्विषत्सैन्ये कृते च शरवेश्मनि ॥ १ ॥
वासुदेवो रथात् तूर्णमवतीर्य महाद्युतिः ।
मोचयामास तुरगान् वितुन्नान् कङ्कपत्रिभिः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब महात्मा कुन्तीकुमारने वह जल उत्पन्न कर दिया, शत्रुओंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया और बाणोंका घर बना दिया, तब महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने तुरंत ही रथसे उतरकर कंकपत्रयुक्त बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए घोड़ोंको खोल दिया ॥ १-२ ॥

अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा साधुवादो महानभूत् ।
सिद्धचारणसंघानां सैनिकानां च सर्वशः ॥ ३ ॥

यह अदृष्टपूर्व कार्य देखकर सिद्ध, चारण तथा सैनिकोंके मुखसे निकला हुआ महान् साधुवाद सब ओर गूँज उठा ॥ ३ ॥

पदातिनं तु कौन्तेयं युध्यमानं महारथाः ।
नाशक्नुवन् वारयितुं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

पैदल युद्ध करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुनको समस्त महारथी मिलकर भी न रोक सके; यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४ ॥

आपतत्सु रथौघेषु प्रभूतगजवाजिषु ।
नासम्भ्रमत् तदा पार्थस्तदस्य पुरुषानति ॥ ५ ॥

रथियोंके समूह तथा बहुत-से हाथी-घोड़े सब ओरसे उनपर टूट पड़े थे, तो भी उस समय कुन्तीकुमार अर्जुनको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उनका यह धैर्य और साहस समस्त पुरुषोंसे बढ़-चढ़कर था ॥ ५ ॥

व्यसृजन्त शरौघांस्ते पाण्डवं प्रति पार्थिवाः ।
न चाव्यथत धर्मात्मा वासविः परवीरहा ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण भूपाल पाण्डुनन्दन अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे, तो भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रकुमार धर्मात्मा पार्थ तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ६ ॥

स तानि शरजालानि गदाः प्रासांश्च वीर्यवान् ।
आगतानग्रसत् पार्थः सरितः सागरो यथा ॥ ७ ॥

उन पराक्रमी कुन्तीकुमारने शत्रुओंके उन बाणसमूहों, गदाओं और प्रासोंको अपने पास आनेपर उसी प्रकार ग्रस लिया, जैसे समुद्र सरिताओंको अपनेमें मिला लेता है ॥७॥

अस्त्रवेगेन महता पार्थो बाहुबलेन च ।
सर्वेषां पार्थिवेन्द्राणामग्रसत् तान् शरोत्तमान्॥ ८ ॥

अर्जुनने अस्त्रोंके महान् वेग और बाहुबलसे समस्त राजाधिराजोंके उत्तमोत्तम बाणोंको नष्ट कर दिया ॥ ८ ॥

तत् तु पार्थस्य विक्रान्तं वासुदेवस्य चोभयोः ।
अपूजयन् महाराज कौरवा महदद्भुतम् ॥ ९ ॥

महाराज ! अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंके उस अत्यन्त अद्भुत पराक्रमकी समस्त कौरवोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९ ॥

किमद्भुततमं लोके भवितास्यथवा ह्यभूत् ।
यदश्वान् पार्थगोविन्दौ मोचयामासतू रणे ॥ १० ॥

संसारमें इससे बढ़कर और कोई अत्यन्त अद्भुत घटना क्या होगी अथवा हुई होगी कि अर्जुन और श्रीकृष्णने उस भयंकर संग्राममें भी घोड़ोंको रथसे खोल दिया ॥ १० ॥

भयं विपुलमस्मासु तावधत्तां नरोत्तमौ ।
तेजो विदधतुश्चोग्रं विस्रब्धौ रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने हमलोगोंमें महान् भय उत्पन्न कर दिया और युद्धके मुहानेपर निर्भय और निश्चिन्त होकर अपने भयानक तेजका प्रदर्शन किया ॥ ११ ॥

अथ स्मयन् हृषीकेशः स्त्रीमध्य इव भारत ।
अर्जुनेन कृते संख्ये शरगर्भगृहे तथा ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! युद्धस्थलमें अर्जुनके बनाये हुए उस बाणनिर्मित गृहमें भगवान् श्रीकृष्ण उसी प्रकार मुसकराते हुए निर्भय खड़े थे, मानो वे स्त्रियोंके बीचमें हों ॥ १२ ॥

उपावर्तयदव्यग्रस्तानश्वान् पुष्करेक्षणः ।
मिषतां सर्वसैन्यानां त्वदीयानां विशाम्पते ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! कमलनयन श्रीकृष्णने आपके सम्पूर्ण सैनिकोंके देखते-देखते उद्वेगशून्य होकर उन घोड़ोंको टहलाया ॥

तेषां श्रमं च ग्लानिं च वमथुं वेपथुं व्रणान् ।
सर्वं व्यपानुदत् कृष्णः कुशलो ह्यश्वकर्मणि ॥ १४ ॥

घोड़ोंकी चिकित्सा करनेमें कुशल श्रीकृष्णने उनके परिश्रम, थकावट, वमन, कम्पन और घाव—सारे कष्टोंको दूर कर दिया ॥ १४ ॥

शल्यानुद्धृत्य पाणिभ्यां परिमृज्य च तान् हयान् ।
उपावर्त्य यथान्यायं पाययामास वारि सः ॥१५॥

उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे बाण निकालकर उन घोड़ोंको मला और यथोचित रूपसे टहलाकर उन्हें पानी पिलाया ॥

स तॉंल्लब्धोदकान् स्नातान् जग्धान्नान् विगतक्लमान् ।
योजयामास संहृष्टः पुनरेव रथोत्तमे ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णने पानी पिलाकर उन्हें नहलाया, घास और दाने खिलाये तथा जब उनकी सारी थकावट दूर हो गयी, तब पुनः उस उत्तम रथमें उन्हें बड़ी प्रसन्नताके साथ जोत दिया ॥ १६ ॥

स तं रथवरं शौरिः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
समास्थाय महातेजाः सार्जुनः प्रययौ द्रुतम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीकृष्ण उस उत्तम रथपर अर्जुनसहित आरूढ़ हो बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥

रथं रथवरस्याजौ युक्तं लब्धोदकैर्हयैः ।
दृष्ट्वा कुरुबलश्रेष्ठाः पुनर्विमनसोऽभवन् ॥ १८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके उस रथको समराङ्गणमें पानी पीकर सुस्ताये हुए घोड़ोंसे जुता हुआ देख कौरवसेनाके श्रेष्ठ वीर फिर उदास हो गये ॥ १८ ॥

विनिःश्वसन्तस्ते राजन् भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ।
धिगहो धिग्गतः पार्थः कृष्णश्चेत्यब्रुवन् पृथक् ॥ १९ ॥

राजन् ! टूटे दाँतवाले सर्पोंके समान लंबी सांस खींचते हुए वे पृथक्-पृथक् कहने लगे—'अहो ! हमें धिक्कार है, धिक्कार है, अर्जुन और श्रीकृष्ण तो चले गये' ॥ १९ ॥

त्वत्सेनाः सर्वतो दृष्ट्वा लोमहर्षणमद्भुतम् ।
त्वरध्वमिति चाक्रन्दन् नैतदस्तीति चाब्रुवन् ॥ २० ॥

आपकी सम्पूर्ण सेनाएँ वह अद्भुत रोमाञ्चकारी व्यापार देखकर अपने साथियोंको पुकार-पुकारकर कहने लगीं—'वीरो ! ऐसा नहीं हो सकता । तुम सब लोग शीघ्रतापूर्वक उनका पीछा करो' ॥ २० ॥

सर्वक्षत्रस्य मिषतो रथेनैकेन दंशितौ ।
बालः क्रीडनकेनेव कदर्थीकृत्य नो बलम् ॥ २१ ॥
क्रोशतां यतमानानामसंसक्तौ परंतपौ ।
दर्शयित्वाऽऽत्मनो वीर्यं प्रयातौ सर्वराजसु ॥ २२ ॥

हमलोग चीखते-चिल्लाते तथा रोकनेकी चेष्टा करते ही रह गये; परंतु कुछ न हो सका । शत्रुओंको संताप देनेवाले कवचधारी श्रीकृष्ण और अर्जुन हम सब क्षत्रियोंके देखते-देखते हमारे बलकी अवहेलना करके एकमात्र रथके द्वारा सम्पूर्ण राजमण्डलीमें अपना पराक्रम दिखाकर उसी प्रकार बेरोक-टोक आगे बढ़ गये हैं, जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता हुआ निकल जाता है ॥ २१-२२ ॥

(यथा दैवासुरे युद्धे तृणीकृत्य च दानवान् ।
इन्द्राविष्णू पुरा राजञ्जम्भस्य वधकाङ्क्षिणौ ॥)

राजन् ! पूर्वकालमें जैसे देवासुर-संग्राममें जम्भासुरका वध करनेकी इच्छावाले इन्द्र और भगवान् विष्णु दानवोंको तिनकोंके समान तुच्छ मानते हुए आगे बढ़ गये थे (उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन जयद्रथको मारनेके लिये बड़े वेगसे अग्रसर हो रहे हैं) ॥

तौ प्रयातौ पुनर्दृष्ट्वा तदान्ये सैनिकाब्रुवन् ।
त्वरध्वं कुरवः सर्वे वधे कृष्णकिरीटिनोः ॥ २३ ॥
रथयुक्तो हि दाशार्हो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
जयद्रथाय यात्येष कदर्थीकृत्य नो रणे ॥ २४ ॥

उन दोनोंको पुनः आगे बढ़ते देख दूसरे सैनिक बोल उठे—'कौरवो ! श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध करनेके लिये तुम सब लोग शीघ्र चेष्टा करो। इस रणक्षेत्रमें रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण हमारी अवहेलना करके हम सब धनुर्धरोंके देखते-देखते जयद्रथकी ओर बढ़े जा रहे हैं' ॥ २३–२४ ॥

तत्र केचिन्मिथो राजन् समभाषन्त भूमिपाः ।
अदृष्टपूर्वं संग्रामे तद् दृष्ट्वा महदद्भुतम् ॥ २५ ॥

राजन् ! वहाँ कुछ भूमिपाल समराङ्गणमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका वह अत्यन्त अद्भुत अदृष्टपूर्व कार्य देखकर आपसमें इस प्रकार बातें करने लगे—॥ २५ ॥

सर्वसैन्यानि राजा च धृतराष्ट्रोऽत्ययं गतः ।
दुर्योधनापराधेन क्षत्रं कृत्स्ना च मेदिनी ॥ २६ ॥
विलयं समनुप्राप्ता तच्च राजा न बुध्यते ।

'एकमात्र दुर्योधनके अपराधसे राजा धृतराष्ट्र तथा उनकी सम्पूर्ण सेनाएँ भारी विपत्तिमें फँस गयीं। सारा क्षत्रिय-समाज और सम्पूर्ण पृथ्वी विनाशके द्वारपर जा पहुँची है। इस बातको राजा धृतराष्ट्र नहीं समझ रहे हैं' ॥

इत्येवं क्षत्रियास्तत्र ब्रुवन्त्यन्ये च भारत ॥ २७ ॥
सिन्धुराजस्य यत् कृत्यं गतस्य यमसादनम् ।
तत् करोतु वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित् ॥ २८ ॥

भारत ! इसी प्रकार वहाँ दूसरे क्षत्रिय निम्नाङ्कित बातें कहते थे—'योग्य उपायको न जाननेवाले और मिथ्या-दृष्टि रखनेवाले राजा धृतराष्ट्र यमलोकमें गये हुए सिन्धुराज जयद्रथका जो और्ध्वदैहिक कृत्य है, उसका सम्पादन करें'॥

ततः शीघ्रतरं प्रायात् पाण्डवः सैन्धवं प्रति ।
विवर्तमाने तिग्मांशौ हृष्टैः पीतोदकैर्हयैः ॥ २९ ॥

तदनन्तर पानी पीकर हर्ष और उत्साहमें भरे हुए घोड़ोंद्वारा पाण्डुकुमार अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथकी ओर बड़े वेगसे बढ़ने लगे। उस समय सूर्यदेव अस्ताचलके शिखरकी ओर ढलते चले जा रहे थे ॥ २९ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
नाशक्नुवन् वारयितुं योधाः क्रुद्धमिवान्तकम् ॥ ३० ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए यमराजको रोकना असम्भव है, उसी प्रकार आगे बढ़ते हुए समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु अर्जुनको आपके सैनिक रोक न सके ॥ ३० ॥

विद्राव्य तु ततः सैन्यं पाण्डवः शत्रुतापनः ।
यथा मृगगणान् सिंहः सैन्धवार्थे व्यलोडयत् ॥ ३१ ॥

जैसे सिंह मृगोंके झुंडको खदेड़ता हुआ उन्हें मथ डालता है, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुकुमार अर्जुन आपकी सेनाको खदेड़-खदेड़कर मारने और मथने लगे ॥ ३१ ॥

गाहमानस्त्वनीकानि तूर्णमश्वानचोदयत् ।
बलाकाभं तु दाशार्हः पाञ्चजन्यं व्यनादयत् ॥ ३२ ॥

सेनाके भीतर घुसते हुए श्रीकृष्णने तीव्र वेगसे अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाया और बगुलोंके समान श्वेत रंगवाले अपने पाञ्चजन्य शङ्खको बड़े जोरसे बजाया ॥ ३२ ॥

कौन्तेयेनाग्रतः सृष्टा न्यपतन् पृष्ठतः शराः ।
तूर्णात् तूर्णतरं ह्यश्वाः प्रावहन् वातरंहसः ॥ ३३ ॥

वायुके समान वेगशाली अश्व इतनी तीव्रातितीव्र गतिसे रथको लिये हुए भाग रहे थे कि कुन्तीकुमार अर्जुनद्वारा आगेकी ओर फेंके हुए बाण उनके रथके पीछे गिरते थे ॥ ३३ ॥

ततो नृपतयः क्रुद्धाः परिवव्रुर्धनंजयम् ।
क्षत्रिया बहवश्चान्ये जयद्रथवधैषिणम् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए बहुत-से नरेशों तथा अन्य क्षत्रियोंने जयद्रथ-वधकी इच्छा रखनेवाले अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३४ ॥

सैन्येषु विप्रयातेषु धिष्ठितं पुरुषर्षभम् ।
दुर्योधनोऽन्वयात् पार्थं त्वरमाणो महाहवे ॥ ३५ ॥

सेनाओंके सहसा आक्रमण करनेपर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन कुछ ठहर गये। इसी समय उस महासमरमें राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ उनका पीछा किया ॥ ३५ ॥

वातोद्धूतपताकं तं रथं जलदनिःस्वनम् ।
घोरं कपिध्वजं दृष्ट्वा विषण्णा रथिनोऽभवन् ॥ ३६ ॥

हवा लगनेसे अर्जुनके रथकी पताका फहरा रही थी। उस रथसे मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि हो रही थी और ध्वजापर वानरवीर हनुमान्‌जी विराजमान थे। उस भयंकर रथको देखकर सम्पूर्ण रथी विषादग्रस्त हो गये ॥ ३६ ॥

दिवाकरेऽथ रजसा सर्वतः संवृते भृशम् ।
शरार्ताश्च रणे योधाः शेकुः कृष्णौ न वीक्षितुम् ॥ ३७ ॥

उस समय सब ओर इतनी धूल उड़ रही थी कि सूर्यदेव छिप गये। उस रणक्षेत्रमें बाणोंसे पीड़ित हुए सैनिक श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सैन्यविस्मये शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सेनाविस्मयविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनको आगे बढ़ा देख कौरवसैनिकोंकी निराशा तथा दुर्योधनका युद्धके लिये आना

संजय उवाच

स्रंसन्त इव मज्जानस्तावकानां भयान्नृप।
तौ दृष्ट्वा समतिक्रान्तौ वासुदेवधनंजयौ॥ १॥

संजय कहते हैं—नरेश्वर! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको सबको लाँघकर आगे बढ़ा हुआ देख भयके कारण आपके सैनिकोंकी मज्जा खिसकने लगी॥ १॥

सर्वे तु प्रतिसंरब्धा ह्रीमन्तः सत्त्वचोदिताः।
स्थिरीभूता महात्मानः प्रत्यगच्छन् धनंजयम्॥ २॥

फिर वे लज्जित हुए समस्त महामनस्वी सैनिक धैर्य और साहससे प्रेरित हो युद्धके लिये स्थिरचित्त होकर रोषपूर्वक अर्जुनकी ओर जाने लगे॥ २॥

ये गताः पाण्डवं युद्धे रोषामर्षसमन्विताः।
तेऽद्यापि न निवर्तन्ते सिन्धवः सागरादिव॥ ३॥

जो लोग युद्धमें रोष और अमर्षसे भरकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके सामने गये, वे समुद्रतक गयी हुई नदियोंके समान आजतक नहीं लौटे॥ ३॥

असन्तस्तु न्यवर्तन्त वेदेभ्य इव नास्तिकाः।
नरकं भजमानास्ते प्रत्यपद्यन्त किल्बिषम्॥ ४॥

जैसे नास्तिक पुरुष वेदोंसे (उनकी बतायी हुई विधियोंसे) दूर रहते हैं, उसी प्रकार जो अधम मनुष्य थे, वे ही अर्जुनके सामने जाकर भी लौट आये (पीठ दिखाकर भाग खड़े हुए)। वे नरकमें पड़कर अपने पापका फल भोग रहे होंगे॥

तावतीत्य रथानीकं विमुक्तौ पुरुषर्षभौ।
ददृशाते यथा राहोरास्यान्मुक्तौ प्रभाकरौ॥ ५॥

रथियोंकी सेनाको लाँघकर उनके घेरेसे मुक्त हुए पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन राहुके मुँहसे छूटे हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान दिखायी दिये॥ ५॥

मत्स्याविव महाजालं विदार्य विगतक्लमौ।
तथा कृष्णावदृश्येतां सेनाजालं विदार्य तत्॥ ६॥

जैसे दो मत्स्य किसी महाजालको फाड़कर निकल जानेपर क्लेशशून्य हो जाते हैं, उसी प्रकार उस सेनासमूहको विदीर्ण करके श्रीकृष्ण और अर्जुन क्लेशरहित दिखायी देते थे॥

विमुक्तौ शस्त्रसम्बाधाद् द्रोणानीकात् सुदुर्भिदात्।
अदृश्येतां महात्मानौ कालसूर्याविवोदितौ॥ ७॥

शस्त्रोंसे भरे हुए आचार्य द्रोणके दुर्भेद्य सैन्य-व्यूहसे छुटकारा पाकर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन उदित हुए प्रलयकालके सूर्यके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे॥ ७॥

अस्त्रसम्बाधनिर्मुक्तौ विमुक्तौ शस्त्रसंकटात्।
अदृश्येतां महात्मानौ शत्रुसम्बाधकारिणौ॥ ८॥
विमुक्तौ ज्वलनस्पर्शान्मकरास्याज्झषाविव।

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन अग्निके समान दाहक स्पर्शवाले मगरके मुखसे छूटे हुए दो मत्स्योंके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी बाधाओं तथा संकटोंसे मुक्त दिखायी दे रहे थे॥ ८½॥

अक्षोभयेतां सेनां तौ समुद्रं मकराविव॥ ९॥
तावकास्तव पुत्राश्च द्रोणानीकस्थयोस्तयोः।
नैतौ तरिष्यतो द्रोणमिति चक्रुस्तदा मतिम्॥ १०॥

जैसे दो मगर समुद्रको क्षुब्ध कर देते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंने सारी सेनाको व्याकुल कर दिया। आपके सैनिकों तथा पुत्रोंने उस समय द्रोणाचार्यके सैन्यव्यूहमें घुसे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें यह विचार किया था कि ये दोनों द्रोणको नहीं लाँघ सकेंगे॥ ९-१०॥

तौ तु दृष्ट्वा व्यतिक्रान्तौ द्रोणानीकं महाद्युती।
नाशशंसुर्महाराज सिन्धुराजस्य जीवितम्॥ ११॥

परंतु महाराज! जब वे दोनों महातेजस्वी वीर द्रोणाचार्यके सैन्यव्यूहको लाँघ गये, तब उन्हें देखकर आपके पुत्रोंको सिन्धुराजके जीवित रहनेकी आशा नहीं रह गयी॥ ११॥

आशा बलवती राजन् सिन्धुराजस्य जीविते।
द्रोणहार्दिक्ययोः कृष्णौ न मोक्ष्येते इति प्रभो॥ १२॥

राजन्! प्रभो! सब लोगोंको यह सोचकर कि श्रीकृष्ण और अर्जुन द्रोणाचार्य तथा कृतवर्माके हाथसे नहीं छूट सकेंगे, सिन्धुराजके जीवनकी आशा प्रबल हो उठी थी॥ १२॥

तामाशां विफलीकृत्य संतीर्णौ तौ परंतपौ।
द्रोणानीकं महाराज भोजानीकं च दुस्तरम्॥ १३॥

महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन लोगोंकी उस आशाको विफल करके द्रोणाचार्य तथा कृतवर्माकी दुस्तर सेनाको लाँघ गये॥ १३॥

अथ दृष्ट्वा व्यतिक्रान्तौ ज्वलिताविव पावकौ।
निराशाः सिन्धुराजस्य जीवितं न शशंसिरे॥ १४॥

दो प्रज्वलित अग्नियोंके समान सारी सेनाको लाँघकर खड़े हुए उन दोनों वीरोंको सकुशल देख आपके सैनिकोंने निराश होकर सिन्धुराजके जीवनकी आशा त्याग दी॥ १४॥

मिथश्च समभाषेतामभीतौ भयवर्धनौ।
जयद्रथवधे वाचस्तास्ताः कृष्णधनंजयौ॥ १५॥

दूसरोंका भय बढ़ाने और स्वयं निर्भय रहनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन आपसमें जयद्रथवधके विषयमें इस प्रकार बातें करने लगे—॥ १५॥

असौ मध्ये कृतः षड्भिर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
चक्षुर्विषयसम्प्राप्तो न मे मोक्ष्यति सैन्धवः ॥ १६ ॥

'यद्यपि धृतराष्ट्रके छः महारथी पुत्रोंने जयद्रथको अपने बीचमें छिपा रक्खा है, तथापि यदि वह मेरी आँखोंको दीख गया तो मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकेगा ॥ १६ ॥

यद्यस्य समरे गोप्ता शक्रो देवगणैः सह ।
तथाप्येनं निहंस्याव इति कृष्णावभाषताम् ॥ १७ ॥

'यदि देवताओंसहित साक्षात् इन्द्र भी समराङ्गणमें इसकी रक्षा करें, तो भी हम दोनों इसे अवश्य मार डालेंगे'। इस प्रकार दोनों कृष्ण आपसमें बात कर रहे थे ॥ १७ ॥

इति कृष्णौ महाबाहू मिथोऽकथयतां तदा ।
सिन्धुराजमवेक्षन्तौ त्वत्पुत्रा बहु चुक्रुशुः ॥ १८ ॥

सिन्धुराज जयद्रथकी खोज करते हुए महाबाहु श्रीकृष्ण और अर्जुनने उस समय जब आपसमें उपर्युक्त बातें कहीं, तब आपके पुत्र बहुत कोलाहल करने लगे ॥ १८ ॥

अतीत्य मरुधन्वानं प्रयान्तौ तृषितौ गजौ ।
पीत्वा वारि समाश्वस्तौ तथैवास्तामरिंदमौ ॥ १९ ॥

जैसे मरुभूमिको लाँघकर जाते हुए दो प्यासे हाथी पानी पीकर तृप्त एवं संतुष्ट हो गये हों, उसी प्रकार शत्रुओं-का दमन करनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन भी शत्रुसेनाको लाँघकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे ॥ १९ ॥

व्याघ्रसिंहगजाकीर्णानतिक्रम्य च पर्वतान् ।
वणिजाविव दृश्येतां हीनमृत्यू जरातिगौ ॥ २० ॥

जैसे व्याघ्र, सिंह और हाथियोंसे भरे हुए पर्वतोंको लाँघकर दो व्यापारी प्रसन्न दिखायी देते हों, उसी प्रकार मृत्यु और जरासे रहित श्रीकृष्ण और अर्जुन भी उस सेनाको लाँघकर संतुष्ट दीखते थे ॥ २० ॥

तथा हि मुखवर्णोऽयमनयोरिति मेनिरे ।
तावका वीक्ष्य मुक्तौ तौ विक्रोशन्ति स्म सर्वशः ॥ २१ ॥
द्रोणादाशीविषाकाराज्ज्वलितादिव पावकात् ।
अन्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भास्वन्ताविव भास्करौ ॥ २२ ॥

इन दोनोंके मुखकी कान्ति वैसी ही थी, ऐसा सभी सैनिक मान रहे थे। विषधर सर्प और प्रज्वलित अग्निके समान भयंकर द्रोणाचार्य तथा अन्य नरेशोंके हाथसे छूटे हुए दो प्रकाशमान सूर्योंके सदृश श्रीकृष्ण और अर्जुनको वहाँ देखकर आपके समस्त सैनिक सब ओरसे कोलाहल मचा रहे थे ॥ २१–२२ ॥

विमुक्तौ सागरप्रख्याद् द्रोणानीकादरिंदमौ ।
अदृश्येतां मुदा युक्तौ समुत्तीर्यार्णवं यथा ॥ २३ ॥

समुद्रके समान विशाल द्रोणसेनासे मुक्त हुए वे दोनों शत्रुदमन वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन ऐसे प्रसन्न दिखायी देते थे, मानो महासागर लाँघ गये हों ॥ २३ ॥

अस्त्रौघान्महतो मुक्तौ द्रोणहार्दिक्यरक्षितात् ।
रोचमानावदृश्येतामिन्द्राग्न्योः सदृशौ रणे ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य और कृतवर्माद्वारा सुरक्षित महान् अस्त्र-समुदायसे छूटकर वे दोनों वीर समराङ्गणमें इन्द्र और अग्नि-के समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

उद्भिन्नरुधिरौ कृष्णौ भारद्वाजस्य सायकैः ।
शितैश्चितौ व्यरोचेतां कर्णिकारैरिवाचलौ ॥ २५ ॥

द्रोणाचार्यके तीखे बाणोंसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके शरीर छिदे हुए थे और उनसे रक्तकी धारा बह रही थी। उस समय वे लाल कनेरसे भरे हुए दो पर्वतोंके समान सुशोभित होते थे ॥ २५ ॥

द्रोणग्राहह्रदान्मुक्तौ शक्त्याशीविषसंकटात् ।
अयःशरोग्रमकरात् क्षत्रियप्रवराम्भसः ॥ २६ ॥
ज्याघोषतलनिर्ह्रादाद् गदानिस्त्रिंशविद्युतः ।
द्रोणास्त्रमेघान्निर्मुक्तौ सूर्येन्दू तिमिरादिव ॥ २७ ॥

द्रोणाचार्य जिस सैन्य-सरोवरके ग्राहतुल्य जन्तु थे, जो शक्तिरूपी विषधर सर्पोंसे भरा था, लोहेके बाण जिसके भीतर भयंकर मगरका भय उत्पन्न करते थे, बड़े-बड़े क्षत्रिय जिसमें जलके समान शोभा पाते थे, धनुषकी टंकार जहाँ मेघगर्जनाके समान सुनायी पड़ती थी, गदा और खड्ग जहाँ विद्युत्के समान चमक रहे थे और द्रोणाचार्यके बाण ही जहाँ मेघ बनकर बरस रहे थे, उससे मुक्त हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन राहुसे छूटे हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २६–२७ ॥

बाहुभ्यामिव संतीर्णौ सिन्धुषष्ठाः समुद्रगाः ।
तपान्ते सरितः पूर्णा महाग्राहसमाकुलाः ॥ २८ ॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वर्षा ऋतुमें जलसे लबालब भरी हुई बड़े-बड़े ग्राहोंसे व्याप्त समुद्र-गामिनी इरावती (रावी), विपाशा (ब्यास), वितस्ता (झेलम), शतद्रू (शतलज) और चन्द्रभागा (चनाव)– इन पाँचों नदियोंके साथ छठी सिंधु नदीको श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपनी भुजाओंसे तैरकर पार किया हो ॥ २८ ॥

इति कृष्णौ महेष्वासौ प्रशस्तौ लोकविश्रुतौ ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त द्रोणास्त्रबलवारणात् ॥ २९ ॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यके अस्त्र-बलका निवारण करनेके कारण समस्त प्राणी श्रीकृष्ण और अर्जुनको लोकविख्यात प्रशस्त गुणयुक्त महाधनुर्धर मानने लगे ॥ २९ ॥

जयद्रथं समीपस्थमवेक्षन्तौ जिघांसया ।
रुरुं निपाने लिप्सन्तौ व्याघ्राविव व्यतिष्ठताम् ॥ ३० ॥

जैसे पानी पीनेके घाटपर आये हुए रुरुमृगको दबोच लेनेकी इच्छासे दो व्याघ्र खड़े हों, उसी प्रकार निकटवर्ती

जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर देखते हुए वे दोनों वीर खड़े थे ॥ ३० ॥

यथा हि मुखवर्णोऽयमनयोरिति मेनिरे।
तव योधा महाराज हतमेव जयद्रथम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! उस समय उन दोनोंके मुखपर जैसी समुज्ज्वल कान्ति थी, उसके अनुसार आपके योद्धाओंने जयद्रथको मरा हुआ ही माना ॥ ३१ ॥

लोहिताक्षौ महाबाहू संयुक्तौ कृष्णपाण्डवौ।
सिन्धुराजमभिप्रेक्ष्य हृष्टौ व्यनदतां मुहुः ॥ ३२ ॥

एक साथ बैठे हुए लाल नेत्रोंवाले महाबाहु श्रीकृष्ण और अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथको देखकर हर्षसे उल्लसित हो बारंबार गर्जना करने लगे ॥ ३२ ॥

शौरेरभीषुहस्तस्य पार्थस्य च धनुष्मतः।
तयोरासीत् प्रभा राजन् सूर्यपावकयोरिव ॥ ३३ ॥

राजन् ! हाथोंमें बागडोर लिये श्रीकृष्ण और धनुष धारण किये अर्जुन—इन दोनोंकी प्रभा सूर्य और अग्निके समान जान पड़ती थी ॥ ३३ ॥

हर्ष एव तयोरासीद् द्रोणानीकप्रमुक्तयोः।
समीपे सैन्धवं दृष्ट्वा श्येनयोरामिषं यथा ॥ ३४ ॥

जैसे मांसका टुकड़ा देखकर दो बाजोंको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यकी सेनासे मुक्त हुए उन दोनों वीरोंको अपने पास ही जयद्रथको देखकर सब प्रकारसे हर्ष ही हुआ ॥ ३४ ॥

तौ तु सैन्धवमालोक्य वर्तमानमिवान्तिके।
सहसा पेततुः क्रुद्धौ क्षिप्रं श्येनाविवामिषम् ॥ ३५ ॥

अपने समीप ही खड़े हुए-से सिन्धुराज जयद्रथको देखकर तत्काल वे दोनों वीर कुपित हो उसी प्रकार सहसा उसपर टूट पड़े, जैसे दो बाज मांसपर झपट रहे हों ॥ ३५ ॥

तौ दृष्ट्वा तु व्यतिक्रान्तौ हृषीकेशधनंजयौ।
सिन्धुराजस्य रक्षार्थं पराक्रान्तः सुतस्तव ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन सारी सेनाको लाँघकर आगे बढ़ते चले जा रहे हैं, यह देखकर आपके पुत्र दुर्योधनने सिन्धुराजकी रक्षाके लिये पराक्रम दिखाना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥

द्रोणेनाबद्धकवचो राजा दुर्योधनस्ततः।
ययावेकरथेनाजौ हयसंस्कारवित् प्रभो ॥ ३७ ॥

प्रभो ! घोड़ोंके संस्कारको जाननेवाला राजा दुर्योधन उस समय द्रोणाचार्यके बाँधे हुए कवचको धारण करके एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धभूमिमें गया था ॥ ३७ ॥

कृष्णपार्थौ महेष्वासौ व्यतिक्रम्याथ ते सुतः।
अग्रतः पुण्डरीकाक्षं प्रतीयाय नराधिप ॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! महाधनुर्धर श्रीकृष्ण और अर्जुनको लाँघकर आपका पुत्र कमलनयन श्रीकृष्णके सामने जा पहुँचा ॥

ततः सर्वेषु सैन्येषु वादित्राणि प्रहृष्टवत्।
प्रावाद्यन्त व्यतिक्रान्ते तव पुत्रे धनंजयम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन जब अर्जुनको भी लाँघकर आगे बढ़ गया, तब सारी सेनाओंमें हर्षपूर्ण बाजे बजने लगे ॥ ३९ ॥

सिंहनादरवाश्चासञ्शङ्खशब्दविमिश्रिताः ।
दृष्ट्वा दुर्योधनं तत्र कृष्णयोः प्रमुखे स्थितम् ॥ ४० ॥

दुर्योधनको वहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनके सामने खड़ा देख शङ्खोंकी ध्वनिसे मिले हुए सिंहनादके शब्द सब ओर गूँजने लगे ॥ ४० ॥

ये च ते सिन्धुराजस्य गोप्तारः पावकोपमाः।
ते प्राहृष्यन्त समरे दृष्ट्वा पुत्रं तव प्रभो ॥ ४१ ॥

प्रभो ! सिन्धुराजकी रक्षा करनेवाले जो अग्निके समान तेजस्वी वीर थे, वे आपके पुत्रको समराङ्गणमें डटा हुआ देख बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४१ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं कृष्णो व्यतिक्रान्तं सहानुगम्।
अब्रवीदर्जुनं राजन् प्राप्तकालमिदं वचः ॥ ४२ ॥

राजन् ! सेवकोंसहित दुर्योधन सबको लाँघकर सामने आ गया—यह देखकर श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह समयोचित बात कही ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनागमे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधनका आगमनविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनकी प्रशंसापूर्वक उसे प्रोत्साहन देना, अर्जुन और दुर्योधनका एक दूसरेके सम्मुख आना, कौरव-सैनिकोंका भय तथा दुर्योधनका अर्जुनको ललकारना

वासुदेव उवाच

दुर्योधनमतिक्रान्तमेतं पश्य धनंजय।
अत्यद्भुतमिमं मन्ये नास्त्यस्य सदृशो रथः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—धनंजय ! सबको लाँघकर सामने आये हुए इस दुर्योधनको देखो। मैं तो इसे अत्यन्त अद्भुत योद्धा मानता हूँ। इसके समान दूसरा कोई रथी नहीं है ॥

दूरपाती महेष्वासः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः।
दृढास्त्रश्चित्रयोधी च धार्तराष्ट्रो महाबलः ॥ २ ॥

यह महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेवाला, महान् धनुर्धर, अस्त्र-विद्यामें निपुण और युद्धमें दुर्मद है। इसके अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सुदृढ़ हैं तथा यह विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाला है ॥ २ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धो मानितश्च महारथः।
कृती च सततं पार्थ नित्यं द्वेष्टि च बान्धवान् ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार ! महारथी दुर्योधन अत्यन्त सुखसे पला हुआ सम्मानित और विद्वान् है। यह तुम-जैसे बन्धु-बान्धवोंसे नित्य-निरन्तर द्वेष रखता है ॥ ३ ॥

तेन युद्धमहं मन्ये प्राप्तकालं तवानघ।
अत्र वो द्यूतमायत्तं विजयायेतराय वा ॥ ४ ॥

निष्पाप अर्जुन ! मैं समझता हूँ, इस समय इसीके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। यहाँ तुमलोगोंके अधीन जो रणद्यूत होनेवाला है, वही विजय अथवा पराजयका कारण होगा ॥ ४ ॥

अत्र क्रोधविषं पार्थ विमुञ्च चिरसम्भृतम्।
एष मूलमनर्थानां पाण्डवानां महारथः ॥ ५ ॥

पार्थ ! तुम बहुत दिनोंसे सँजोकर रक्खे हुए अपने क्रोधरूपी विषको इसके ऊपर छोड़ो। महारथी दुर्योधन ही पाण्डवोंके सारे अनर्थोंकी जड़ है ॥ ५ ॥

सोऽयं प्राप्तस्तवाक्षेपं पश्य साफल्यमात्मनः।
कथं हि राजा राज्यार्थी त्वया गच्छेत संयुगम् ॥ ६ ॥

आज यह तुम्हारे बाणोंके मार्गमें आ पहुँचा है। इसे तुम अपनी सफलता समझो; अन्यथा राज्यकी अभिलाषा रखनेवाला राजा दुर्योधन तुम्हारे साथ युद्ध-भूमिमें कैसे उतर सकता था ? ॥ ६ ॥

दिष्ट्या त्विदानीं सम्प्राप्त एष ते बाणगोचरम्।
यथायं जीवितं जह्यात् तथा कुरु धनंजय ॥ ७ ॥

धनंजय ! सौभाग्यवश यह दुर्योधन इस समय तुम्हारे बाणोंके पथमें आ गया है। तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे यह अपने प्राणोंको त्याग दे ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यमदसम्मूढो नैष दुःखमुपेयिवान्।
न च ते संयुगे वीर्यं जानाति पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

पुरुषरत्न ! ऐश्वर्यके घमंडमें चूर रहनेवाले इस दुर्योधनने कभी कष्ट नहीं उठाया है। यह युद्धमें तुम्हारे बल-पराक्रमको नहीं जानता है ॥ ८ ॥

त्वां हि लोकास्त्रयः पार्थ ससुरासुरमानुषाः।
नोत्सहन्ते रणे जेतुं किमुतैकः सुयोधनः ॥ ९ ॥

पार्थ ! देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी रणक्षेत्रमें तुम्हें जीत नहीं सकते। फिर अकेले दुर्योधनकी तो औकात ही क्या है ? ॥ ९ ॥

स दिष्ट्या समनुप्राप्तस्तव पार्थ रथान्तिकम्।
जह्येनं त्वं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥ १० ॥

कुन्तीकुमार ! सौभाग्यकी बात है कि यह तुम्हारे रथके निकट आ पहुँचा है। महाबाहो ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार तुम भी इस दुर्योधनको मार डालो ॥

एष ह्यनर्थे सततं पराक्रान्तस्तवानघ।
निकृत्या धर्मराजं च द्यूते वञ्चितवानयम् ॥ ११ ॥

अनघ ! यह सदा तुम्हारा अनर्थ करनेमें ही पराक्रम दिखाता आया है। इसने धर्मराज युधिष्ठिरको जूएमें छल-कपटसे ठग लिया है ॥ ११ ॥

बहूनि सुनृशंसानि कृतान्येतेन मानद।
युष्मासु पापमतिना अपापेष्वेव नित्यदा ॥ १२ ॥

मानद ! तुमलोग कभी इसकी बुराई नहीं करते थे, तो भी इस पापबुद्धि दुर्योधनने सदा तुमलोगोंके साथ बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव किये हैं ॥ १२ ॥

तमनार्यं सदा क्रुद्धं पुरुषं कामचारिणम्।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि पार्थाविचारयन् ॥ १३ ॥

पार्थ ! तुम युद्धमें श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले बिना किसी सोच-विचारके, सदा क्रोधमें भरे रहनेवाले इस स्वेच्छाचारी दुष्ट पुरुषको मार डालो ॥ १३ ॥

निकृत्या राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव।
परिक्लेशं च कृष्णाया हृदि कृत्वा पराक्रमम् ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन ! दुर्योधनने छलसे तुमलोगोंका राज्य छीन लिया है, तुम्हें जो वनवासका कष्ट भोगना पड़ा है तथा द्रौपदीको जो दुःख और अपमान उठाना पड़ा है—इन सब बातोंको मन-ही-मन याद करके पराक्रम करो ॥ १४ ॥

दिष्ट्यैष तव बाणानां गोचरे परिवर्तते।
प्रतिघाताय कार्यस्य दिष्ट्या च यततेऽग्रतः ॥ १५ ॥

सौभाग्यसे ही यह दुर्योधन तुम्हारे बाणोंकी पहुँचके भीतर चक्कर लगा रहा है। यह भी भाग्यकी बात है कि यह तुम्हारे कार्यमें बाधा डालनेके लिये सामने आकर प्रयत्नशील हो रहा है ॥ १५ ॥

दिष्ट्या जानाति संग्रामे योद्धव्यं हि त्वया सह।
दिष्ट्या च सफलाः पार्थ सर्वे कामा ह्यकामिताः ॥ १६ ॥

पार्थ ! भाग्यवश समराङ्गणमें तुम्हारे साथ युद्ध करना यह अपना कर्तव्य समझता है और भाग्यसे ही न चाहनेपर भी तुम्हारे सारे मनोरथ सफल हो रहे हैं ॥ १६ ॥

तस्माज्जहि रणे पार्थ धार्तराष्ट्रं कुलाधमम्।
यथेन्द्रेण हतः पूर्वं जम्भो देवासुरे मृधे ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार ! जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने देवासुर-संग्राममें जम्भका वध किया था, उसी प्रकार तुम रणक्षेत्रमें कुलकलङ्क धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको मार डालो ॥ १७ ॥

अस्मिन् हते त्वया सैन्यमनाथं भिद्यतामिदम् ।
वैरस्यास्यास्त्ववभृथो मूलं छिन्धि दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥

इसके मारे जानेपर अनाथ हुई इस कौरवसेनाका संहार करो, दुरात्माओंकी जड़ काट डालो, जिससे इस वैररूपी यज्ञका अन्त होकर अवभृथस्नानका अवसर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

संजय उवाच

तं तथेत्यब्रवीत् पार्थः कृत्यरूपमिदं मम ।
सर्वमन्यदनादृत्य गच्छ यत्र सुयोधनः ॥ १९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब कुन्तीकुमार अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'यह मेरे लिये सबसे महान् कर्तव्य प्राप्त हुआ है । अन्य सब कार्योंकी अवहेलना करके आप वहीं चलिये, जहाँ दुर्योधन खड़ा है ॥

येनैतद् दीर्घकालं नो भुक्तं राज्यमकण्टकम् ।
अप्यस्य युधि विक्रम्य छिन्द्यां मूर्धानमाहवे ॥ २० ॥

'जिसने दीर्घकालतक हमारे इस अकंटक राज्यका उपभोग किया है, मैं युद्धमें पराक्रम करके उस दुर्योधनका मस्तक काट डालूँगा ॥ २० ॥

अपि तस्य ह्यनर्हायाः परिक्लेशस्य माधव ।
कृष्णायाः शक्नुयां गन्तुं पदं केशप्रधर्षणे ॥ २१ ॥

'माधव ! जो क्लेश भोगनेके योग्य नहीं है, उस द्रौपदीका केश पकड़कर जो उसे अपमानित किया गया है, उसका बदला इस दुर्योधनको मारकर ही चुका सकता हूँ ॥ २१ ॥

(अप्यहं तानि दुःखानि पूर्ववृत्तानि माधव ।
दुर्योधनं रणे हत्वा प्रतिमोक्ष्ये कथंचन ॥)

'श्रीकृष्ण ! समराङ्गणमें दुर्योधनका वध करके मैं किसी प्रकार उन सभी दुःखोंसे छुटकारा पा जाऊँगा, जो पूर्वकालमें भोगने पड़े हैं' ॥

इत्येवंवादिनौ कृष्णौ हृष्टौ श्वेतान् हयोत्तमान् ।
प्रेषयामासतुः संख्ये प्रेप्सन्तौ तं नराधिपम् ॥ २२ ॥

इस प्रकारकी बातें करते हुए उन दोनों कृष्णोंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधनको अपना लक्ष्य बनानेके लिये हर्षपूर्वक अपने उत्तम सफेद घोड़ोंको उसकी ओर बढ़ाया ॥ २२ ॥

तयोः समीपं सम्प्राप्य पुत्रस्ते भरतर्षभ ।
न चकार भयं प्राप्ते भये महति मारिष ॥ २३ ॥

आर्य ! भरतभूषण ! आपके पुत्रने उन दोनोंके समीप पहुँचकर महान् भयका अवसर प्राप्त होनेपर भी भय नहीं माना ॥

तदस्य क्षत्रियास्तत्र सर्व एवाभ्यपूजयन् ।
यदर्जुनहृषीकेशौ प्रत्युद्यातौ न्यवारयत् ॥ २४ ॥

अपने सामने आये हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनको दुर्योधनने जो रोक दिया, उसके इस कार्यकी वहाँ सभी क्षत्रियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २४ ॥

ततः सर्वस्य सैन्यस्य तावकस्य विशाम्पते ।
महानादो ह्यभूत् तत्र दृष्ट्वा राजानमाहवे ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! युद्धस्थलमें राजा दुर्योधनको उपस्थित देख आपकी सारी सेनामें महान् सिंहनाद होने लगा ॥ २५ ॥

तस्मिञ्जनसमुन्नादे प्रवृत्ते भैरवे सति ।
कदर्थीकृत्य ते पुत्रः प्रत्यमित्रमवारयत् ॥ २६ ॥

जिस समय वह भयंकर जन-कोलाहल हो रहा था, उसी समय आपके पुत्रने अपने शत्रुको कुछ भी न समझकर आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २६ ॥

आवारितस्तु कौन्तेयस्तव पुत्रेण धन्विना ।
संरम्भमगमद् भूयः स च तस्मिन् परंतपः ॥ २७ ॥

आपके धनुर्धर पुत्र दुर्योधनद्वारा रोके जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुन पुनः उसके ऊपर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ २७ ॥

तौ दृष्ट्वा प्रतिसंरब्धौ दुर्योधनधनंजयौ ।
अभ्यवैक्षन्त राजानो भीमरूपाः समन्ततः ॥ २८ ॥

दुर्योधन तथा अर्जुनको परस्पर कुपित देख भयंकर नरेशगण सब ओर खड़े हो चुपचाप देखने लगे ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थं संरब्धं वासुदेवं च मारिष ।
प्रहसन्नेव पुत्रस्ते योद्धुकामः समाह्वयत् ॥ २९ ॥

आर्य ! अर्जुन और श्रीकृष्णको अत्यन्त रोषमें भरे देख आपके पुत्रने जोर-जोरसे हँसते हुए ही युद्धकी इच्छासे उन दोनोंको ललकारा ॥ २९ ॥

ततः प्रहृष्टो दाशार्हः पाण्डवश्च धनंजयः ।
व्यक्रोशेतां महानादं दध्मतुश्चाम्बुजोत्तमौ ॥ ३० ॥

तब हर्षमें भरे हुए श्रीकृष्ण और पाण्डुनन्दन अर्जुनने बड़े जोरसे सिंहनाद किया और अपने उत्तम शङ्खोंको बजाया ॥

तौ हृष्टरूपौ सम्प्रेक्ष्य कौरवेयास्तु सर्वशः ।
निराशाः समपद्यन्त पुत्रस्य तव जीविते ॥ ३१ ॥

उन दोनोंको हर्षोल्लाससे परिपूर्ण देख सम्पूर्ण कौरव-सैनिक आपके पुत्रके जीवनसे निराश हो गये ॥ ३१ ॥

शोकमापुः परे चैव कुरवः सर्व एव ते ।
अमन्यन्त च पुत्रं ते वैश्वानरमुखे हुतम् ॥ ३२ ॥

अन्य सब कौरव भी शोकमग्न हो गये और आपके पुत्रको आगके मुखमें होम दिया गया—ऐसा मानने लगे ॥

तथा तु दृष्ट्वा योधास्ते प्रहृष्टौ कृष्णपाण्डवौ ।
हतो राजा हतो राजेत्यूचिरे च भयार्दिताः ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको इस प्रकार हर्षमग्न देख आपके समस्त सैनिक भयसे पीड़ित हो ऐसा कहते हुए कोलाहल करने लगे कि 'हाय ! राजा दुर्योधन मारे गये, मारे गये' ॥ ३३ ॥

जनस्य संनिनादं तु श्रुत्वा दुर्योधनोऽब्रवीत् ।
व्येतु वो भीरहं कृष्णौ प्रेषयिष्यामि मृत्यवे ॥ ३४ ॥

लोगोंका वह आर्तनाद सुनकर दुर्योधन बोला—'तुम लोगोंका भय दूर हो जाना चाहिये। मैं इन दोनों कृष्णोंको मृत्युके घर भेज दूँगा' ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा सैनिकान् सर्वाञ्जयापेक्षी नराधिपः।
पार्थमाभाष्य संरम्भादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

अपने सम्पूर्ण सैनिकोंसे ऐसा कहकर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजा दुर्योधनने कुन्तीकुमारको सम्बोधित करके क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा— ॥ ३५ ॥

पार्थ यच्छिक्षितं तेऽस्त्रं दिव्यं पार्थिवमेव च।
तद् दर्शय मयि क्षिप्रं यदि जातोऽसि पाण्डुना ॥ ३६ ॥

'पार्थ ! यदि तुम पाण्डुके बेटे हो तो तुमने जो लौकिक एवं दिव्य अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है, उन सबको मेरे ऊपर शीघ्र दिखाओ ॥ ३६ ॥

यद् बलं तव वीर्यं च केशवस्य तथैव च।
तत् कुरुष्व मयि क्षिप्रं पश्यामस्तव पौरुषम् ॥ ३७ ॥

'तुममें और श्रीकृष्णमें जो बल और पराक्रम हो, उसे मेरे ऊपर शीघ्र प्रकट करो। हम देखते हैं कि तुममें कितना पुरुषार्थ है ॥ ३७ ॥

अस्मत्परोक्षं कर्माणि कृतानि प्रवदन्ति ते।
स्वामिसत्कारयुक्तानि यानि तानीह दर्शय ॥ ३८ ॥

'हमारे परोक्षमें लोग स्वामीके सत्कारसे युक्त तुम्हारे किये हुए जिन कर्मोंका वर्णन करते हैं, उन्हें यहाँ दिखाओ'॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनवचने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधनवचनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधन और अर्जुनका युद्ध तथा दुर्योधनकी पराजय

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनं राजा त्रिभिर्मर्मातिगैः शरैः।
अभ्यविध्यन्महावेगैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अर्जुनसे ऐसा कहकर राजा दुर्योधनने तीन अत्यन्त वेगशाली मर्मभेदी बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला और चार बाणोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

वासुदेवं च दशभिः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
प्रतोदं चास्य भल्लेन छित्त्वा भूमावपातयत् ॥ २ ॥

इसी प्रकार दस बाण मारकर उसने श्रीकृष्णकी भी छाती छेद डाली और एक भल्लसे उनके चाबुकको काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ २ ॥

तं चतुर्दशभिः पार्थश्चित्रपुङ्खैः शिलाशितैः।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रस्ते चाभ्रश्यन्त वर्मणि ॥ ३ ॥

तब व्यग्रतारहित अर्जुनने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए विचित्र पंखवाले चौदह बाणोंद्वारा तुरंत उसे घायल किया; परंतु उनके वे बाण दुर्योधनके कवचपर जाकर फिसल गये ॥ ३ ॥

तेषां नैष्फल्यमालोक्य पुनर्नव च पञ्च च।
प्राहिणोन्निशितान् बाणांस्ते चाभ्रश्यन्त वर्मणः॥ ४ ॥

उन्हें निष्फल हुआ देख अर्जुनने पुनः चौदह तीखे बाण चलाये; परंतु वे भी कवचसे फिसल गये ॥ ४ ॥

अष्टाविंशांस्तु तान् बाणानस्तान् विप्रेक्ष्य निष्फलान्।
अब्रवीत् परवीरघ्नः कृष्णोऽर्जुनमिदं वचः ॥ ५ ॥

अर्जुनके चलाये हुए उन अट्ठाईस बाणोंको निष्फल हुआ देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्रीकृष्णने उनसे इस प्रकार कहा—॥५॥

अदृष्टपूर्वं पश्यामि शिलानामिव सर्पणम्।
त्वया सम्प्रेषिताः पार्थ नार्थं कुर्वन्ति पत्रिणः ॥ ६ ॥

'पार्थ ! आज तो मैं प्रस्तरखण्डोंके चलनेके समान ऐसी बात देख रहा हूँ, जिसे पहले कभी नहीं देखा था। तुम्हारे चलाये हुए बाण तो कोई काम नहीं कर रहे हैं ॥६॥

कच्चिद् गाण्डीवजः प्राणस्तथैव भरतर्षभ।
मुष्टिश्च ते यथापूर्वं भुजयोश्च बलं तव ॥ ७ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे गाण्डीव-धनुषकी शक्ति पहले-जैसी ही है न ? तुम्हारी मुट्ठी एवं बाहुबल भी पूर्ववत् हैं न ! ॥

न वा कच्चिदयं कालः प्राप्तः स्यादद्य पश्चिमः।
तव चैवास्य शत्रोश्च तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

'आज तुम्हारी और तुम्हारे इस शत्रुकी अन्तिम भेंटका समय नहीं आया है क्या ? मैं जो पूछता हूँ, उसका उत्तर दो॥

विस्मयो मे महान् पार्थ तव दृष्ट्वा शरानिमान्।
व्यर्थान् निपतितान् संख्ये दुर्योधनरथं प्रति ॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! आज युद्धस्थलमें दुर्योधनके रथके पास निष्फल होकर गिरे हुए तुम्हारे इन बाणोंको देखकर मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है ॥ ९ ॥

वज्राशनिसमा घोराः परकायावभेदिनः।
शराः कुर्वन्ति ते नार्थं पार्थ काद्य विडम्बना ॥ १० ॥

'पार्थ ! वज्र और अशनिके समान भयंकर तथा शत्रुओंके शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले तुम्हारे वे बाण आज कुछ काम नहीं कर रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है ?' ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

द्रोणेनैषा मतिः कृष्ण धार्तराष्ट्रे निवेशिता ।
अभेद्या हि ममास्त्राणामेषा कवचधारणा ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा तो यह विश्वास है कि दुर्योधनको द्रोणाचार्यने अभेद्य कवच बाँधकर उसमें यह अद्भुत शक्ति स्थापित कर दी है । यह कवचधारणा मेरे अस्त्रोंके लिये अभेद्य है ॥ ११ ॥

अस्मिन्नन्तर्हितं कृष्ण त्रैलोक्यमपि वर्मणि ।
एको द्रोणो हि वेदैतदहं तस्माच्च सत्तमात् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण ! इस कवचके भीतर तीनों लोकोंकी शक्ति संनिहित है । एकमात्र आचार्य द्रोण ही इस विद्याको जानते हैं और उन्हीं सद्गुरुसे सीखकर मैं भी इसे जान पाया हूँ ॥

न शक्यमेतत् कवचं बाणैर्भेत्तुं कथंचन ।
अपि वज्रेण गोविन्द स्वयं मघवता युधि ॥ १३ ॥

इस कवचको किसी प्रकार बाणोंद्वारा विदीर्ण नहीं किया जा सकता । गोविन्द ! युद्धस्थलमें साक्षात् देवराज इन्द्र अपने वज्रसे भी इसका विदारण नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

जानंस्त्वमपि वै कृष्ण मां विमोहयसे कथम् ।
यद् वृत्तं त्रिषु लोकेषु यच्च केशव वर्तते ॥ १४ ॥
तथा भविष्यद् यच्चैव तत् सर्वं विदितं तव ।
न त्विदं वेद वै कश्चिद् यथा त्वं मधुसूदन ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! आप यह सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें कैसे डाल रहे हैं ? केशव ! तीनों लोकोंमें जो बात हो चुकी है, जो हो रही है तथा जो कुछ आगे होनेवाली है, वह सब आपको विदित है । मधुसूदन ! इसे आप जैसा जानते हैं, वैसा दूसरा कोई नहीं जानता है ॥ १४-१५ ॥

एष दुर्योधनः कृष्ण द्रोणेन विहितामिमाम् ।
तिष्ठत्यभीतवत् संख्ये बिभ्रत् कवचधारणाम् ॥ १६ ॥

श्रीकृष्ण ! द्रोणाचार्यके द्वारा विधिपूर्वक धारण करायी हुई इस कवचधारणाको ग्रहण करके यह दुर्योधन युद्धस्थलमें निर्भय-सा खड़ा है ॥ १६ ॥

यत्त्वत्र विहितं कार्यं नैष तद् वेत्ति माधव ।
स्त्रीवदेष बिभर्त्येतां युक्तां कवचधारणाम् ॥ १७ ॥

माधव ! इसे धारण करनेपर जिस कर्तव्यके पालनका विधान किया गया है, उसे यह नहीं जानता है । जैसे स्त्रियाँ गहने पहन लेती हैं, उसी प्रकार यह दूसरेके द्वारा दी हुई इस कवचधारणाको अपनाये हुए है ॥ १७ ॥

पश्य बाह्वोश्च मे वीर्यं धनुषश्च जनार्दन ।
पराजयिष्ये कौरव्यं कवचेनापि रक्षितम् ॥ १८ ॥

जनार्दन ! अब आप मेरी भुजाओं और धनुषका बल देखिये । मैं कवचसे सुरक्षित होनेपर भी दुर्योधनको पराजित कर दूँगा ॥ १८ ॥

इदमङ्गिरसे प्रादाद् देवेशो वर्म भास्वरम् ।
तस्माद् बृहस्पतिः प्राप ततः प्राप पुरंदरः ॥ १९ ॥

देवेश्वर ! ब्रह्माजीने यह तेजस्वी कवच अङ्गिराको दिया था । उनसे बृहस्पतिजीने प्राप्त किया था । बृहस्पतिजीसे वह इन्द्रको मिला ॥ १९ ॥

पुनर्ददौ सुरपतिर्मह्यं वर्म ससंग्रहम् ।
दैवं यद्यस्य वर्मैतद् ब्रह्मणा वा स्वयं कृतम् ॥ २० ॥
नैनं गोप्स्यति दुर्बुद्धिमद्य बाणहतं मया ।

फिर देवराज इन्द्रने विधि एवं रहस्यसहित वह कवच मुझे प्रदान किया । यदि दुर्योधनका यह कवच देवताओंद्वारा निर्मित हो अथवा स्वयं ब्रह्माजीका बनाया हुआ हो तो भी आज मेरे बाणोंद्वारा मारे गये इस दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह बचा नहीं सकेगा ॥ २०½ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनो बाणमभिमन्त्र्य व्यकर्षयत् ॥ २१ ॥
मानवास्त्रेण मानार्हस्तीक्ष्णावरणभेदिना ।

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर माननीय अर्जुनने कठोर आवरणका भेदन करनेवाले मानवास्त्रसे अपने बाणोंको अभिमन्त्रित करके धनुषकी डोरीको खींचा ॥ २१½ ॥

विकृष्यमाणांस्तेनैव धनुर्मध्यगताञ्छरान् ॥ २२ ॥
तानस्यास्त्रेण चिच्छेद द्रौणिः सर्वास्त्रघातिना ।

धनुषके बीचमें रखकर अर्जुनके द्वारा खींचे जानेवाले उन बाणोंको अश्वत्थामाने सर्वास्त्रघातक अस्त्रके द्वारा काट डाला॥

तान् निकृत्तानिषून् दृष्ट्वा दूरतो ब्रह्मवादिना ॥ २३ ॥
न्यवेदयत् केशवाय विस्मितः श्वेतवाहनः ।

ब्रह्मवादी अश्वत्थामाके द्वारा दूरसे ही काट दिये गये उन बाणोंको देखकर श्वेतवाहन अर्जुन चकित हो उठे और श्रीकृष्णको सूचित करते हुए बोले—॥ २३½ ॥

नैतदस्त्रं मया शक्यं द्विः प्रयोक्तुं जनार्दन ॥ २४ ॥
अस्त्रं मामेव हन्याद्धि हन्याच्चापि बलं मम ।

'जनार्दन ! इस अस्त्रका मैं दो बार प्रयोग नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर यह मुझे ही मार डालेगा और मेरी सेनाका भी संहार कर देगा' ॥ २४½ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णौ नवभिर्नवभिः शरैः ॥ २५ ॥
अविध्यत रणे राजञ्छरैराशीविषोपमैः ।

राजन् ! इसी समय दुर्योधनने रणक्षेत्रमें विषधर सर्पके समान भयंकर नौ-नौ बाणोंसे श्रीकृष्ण और अर्जुनको घायल कर दिया ॥ २५½ ॥

भूय एवाभ्यवर्षच्च समरे कृष्णपाण्डवौ ॥ २६ ॥
शरवर्षेण महता ततोऽहृष्यन्त तावकाः ।
चक्रुर्वादित्रनिनदान् सिंहनादरवांस्तथा ॥ २७ ॥

उसने समरभूमिमें बड़ी भारी बाणवर्षा करके श्रीकृष्ण और पाण्डुकुमार धनंजयपर पुनः बाणोंकी झड़ी लगा दी। इससे आपके सैनिक बड़े प्रसन्न हुए। वे बाजे बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २६-२७ ॥

ततः क्रुद्धो रणे पार्थः सृक्किणी परिसंलिहन्।
नापश्यच्च ततोऽस्याङ्गं यन्न स्याद् वर्मरक्षितम्॥२८॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें कुपित हुए अर्जुन अपने मुँहके कोने चाटने लगे। उन्होंने दुर्योधनका कोई भी ऐसा अङ्ग नहीं देखा, जो कवचसे सुरक्षित न हो ॥ २८ ॥

ततोऽस्य निशितैर्बाणैः सुमुक्तैरन्तकोपमैः।
हयांश्चकार निर्देहानुभौ च पार्ष्णिसारथी ॥२९॥

तदनन्तर अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए कालोपम तीखे बाणोंद्वारा दुर्योधनके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठ-रक्षकोंको मार डाला ॥ २९ ॥

धनुरस्याच्छिनत् तूर्णं हस्तावापं च वीर्यवान्।
रथं च शकलीकर्तुं सव्यसाची प्रचक्रमे ॥ ३०॥

तत्पश्चात् पराक्रमी सव्यसाची अर्जुनने तुरंत ही उसके धनुष और दस्तानेको काट दिया और रथको टूक-टूक करना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

दुर्योधनं च बाणाभ्यां तीक्ष्णाभ्यां विरथीकृतम्।
आविध्यद्धस्ततलयोरुभयोरर्जुनस्तदा ॥ ३१॥

उस समय पार्थने रथहीन हुए दुर्योधनकी दोनों हथेलियोंमें दो पैने बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

प्रयत्नज्ञो हि कौन्तेयो नखमांसान्तरेषुभिः।
स वेदनाभिराविग्नः पलायनपरायणः ॥ ३२॥

उपायको जाननेवाले कुन्तीकुमारने अपने बाणोंद्वारा दुर्योधनके नखोंके मांसमें प्रहार किया। तब वह वेदनासे व्याकुल हो युद्धभूमिसे भाग चला ॥ ३२ ॥

तं कृच्छ्रामापदं प्राप्तं दृष्ट्वा परमधन्विनः।
समापेतुः परीप्सन्तो धनंजयशरार्दितम् ॥३३॥

धनंजयके बाणोंसे पीड़ित हुए दुर्योधनको भारी विपत्तिमें पड़ा हुआ देख श्रेष्ठ धनुर्धर योद्धा उसकी रक्षाके लिये आ पहुँचे ॥ ३३ ॥

तं रथैर्बहुसाहस्रैः कल्पितैः कुञ्जरैर्हयैः।
पदात्योघैश्च संरब्धैः परिवव्रुर्धनंजयम् ॥३४॥

उन्होंने कई हजार रथों, सजे-सजाये हाथियों, घोड़ों तथा रोषमें भरे हुए पैदल सैनिकोंद्वारा अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया॥ ३४ ॥

अथ नार्जुनगोविन्दौ न रथो वा व्यदृश्यत।
अस्त्रवर्षेण महता जनौघैश्चापि संवृतौ ॥ ३५॥

उस समय बड़ी भारी बाणवर्षा और जनसमुदायसे घिरे हुए अर्जुन, श्रीकृष्ण और उनका रथ—इनमेंसे कोई भी दिखायी नहीं देता था ॥ ३५ ॥

ततोऽर्जुनोऽस्त्रवीर्येण निजघ्ने तां वरूथिनीम्।
तत्र व्यङ्गीकृताः पेतुः शतशोऽथ रथद्विपाः ॥ ३६ ॥

तब अर्जुन अपने अस्त्रबलसे उस कौरवसेनाका विनाश करने लगे। वहाँ सैकड़ों रथ और हाथी अंग-भंग होनेके कारण धराशायी हो गये ॥ ३६ ॥

ते हता हन्यमानाश्च न्यगृह्णंस्तं रथोत्तमम्।
स रथस्तम्भितस्तस्थौ क्रोशमात्रे समन्ततः ॥ ३७ ॥

उन हताहत होनेवाले कौरवसैनिकोंने उत्तम रथी अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया। वे जयद्रथसे एक कोसकी दूरीपर चारों ओरसे रथसेनाद्वारा घिरे हुए खड़े थे ॥ ३७ ॥

ततोऽर्जुनं वृष्णिवीरस्त्वरितो वाक्यमब्रवीत्।
धनुर्विस्फारयात्यर्थमहं ध्मास्यामि चाम्बुजम् ॥ ३८ ॥

तब वृष्णिवीर श्रीकृष्णने तुरंत ही अर्जुनसे कहा—'तुम जोर-जोरसे धनुषको खींचो और मैं अपना शङ्ख बजाऊँगा' ॥

ततो विस्फार्य बलवद् गाण्डीवं जघ्निवान् रिपून्।
महता शरवर्षेण तलशब्देन चार्जुनः ॥ ३९ ॥

यह सुनकर अर्जुनने बड़े जोरसे गाण्डीव धनुषको खींचकर हथेलीके चटचट शब्दके साथ भारी बाणवर्षा करते हुए शत्रुओंका संहार आरम्भ किया ॥ ३९ ॥

पाञ्चजन्यं च बलवान् दध्मौ तारेण केशवः।
रजसा ध्वस्तपक्ष्मान्तः प्रस्विन्नवदनो भृशम् ॥ ४० ॥

बलवान् केशवने उच्चस्वरसे पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। उस समय उनकी पलकें धूलधूसरित हो रही थीं और उनके मुखपर बहुत-सी पसीनेकी बूँदें छा रही थीं ॥ ४० ॥

(तेनाच्युतोष्ठयुगपूरितमारुतेन
शङ्खान्तरोदरविवृद्धविनिःसृतेन।
नादेन सासुरवियत्सुरलोकपाल-
मुद्विग्नमीश्वर जगत् स्फुटतीव सर्वम् ॥)

तस्य शङ्खस्य नादेन धनुषो निःस्वनेन च।
निःसत्त्वाश्च ससत्त्वाश्च क्षितौ पेतुस्तदा जनाः ॥ ४१ ॥

'नरेश्वर! भगवान् श्रीकृष्णके दोनों ओठोंसे भरी हुई वायु शङ्खके भीतरी भागमें प्रवेश करके पुष्ट हो जब गम्भीर नादके रूपमें बाहर निकली, उस समय असुरलोक (पाताल), अन्तरिक्ष, देवलोक और लोकपालोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयसे उद्विग्न हो विदीर्ण होता-सा जान पड़ा। उस शङ्खकी ध्वनि और धनुषकी टंकारसे उद्विग्न हो निर्मल और सबल सभी शत्रु-सैनिक उस समय पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४१ ॥

तैर्विमुक्तो रथो रेजे वाय्वीरित इवाम्बुदः।
जयद्रथस्य गोप्तारस्ततः क्षुब्धाः सहानुगाः ॥ ४२ ॥

उनके घेरेसे मुक्त हुआ अर्जुनका रथ वायुसंचालित मेघके समान शोभा पाने लगा। इससे जयद्रथके रक्षक सेवकों-सहित क्षुब्ध हो उठे ॥ ४२ ॥

ते दृष्ट्वा सहसा पार्थं गोप्तारः सैन्धवस्य तु।
चक्रुर्नादान् महेष्वासाः कम्पयन्तो वसुंधराम् ॥ ४३ ॥

जयद्रथकी रक्षामें नियुक्त हुए महाधनुर्धर वीर सहसा अर्जुनको देखकर पृथ्वीको कँपाते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४३ ॥

बाणशब्दरवांश्चोग्रान् विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः।
प्रादुश्चक्रुर्महात्मानः सिंहनादरवानपि ॥ ४४ ॥

उन महामनस्वी वीरोंने शङ्खध्वनिसे मिले हुए बाण-जनित भयंकर शब्दों और सिंहनादको भी प्रकट किया ।४४।

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां समुत्थितम्।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ वासुदेवधनंजयौ ॥ ४५ ॥

आपके सैनिकोंद्वारा किये हुए उस भयंकर कोलाहल-को सुनकर श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने श्रेष्ठ शङ्खोंको बजाया ॥

तेन शब्देन महता पूरितेयं वसुंधरा।
सशैला सार्णवद्वीपा सपाताला विशाम्पते ॥ ४६ ॥

प्रजानाथ ! उस महान् शब्दसे पर्वत, समुद्र, द्वीप और पातालसहित यह सारी पृथ्वी गूँज उठी ॥ ४६ ॥

स शब्दो भरतश्रेष्ठ व्याप्य सर्वा दिशो दश।
प्रतिसस्वान तत्रैव कुरुपाण्डवयोर्बले ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह शब्द सम्पूर्ण दसों दिशाओंमें व्याप्त होकर वहीं कौरव-पाण्डव सेनाओंमें प्रतिध्वनित होता रहा ॥

तावका रथिनस्तत्र दृष्ट्वा कृष्णधनंजयौ।
सम्भ्रमं परमं प्राप्तास्त्वरमाणा महारथाः ॥ ४८ ॥

आपके रथी और महारथी वहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनको उपस्थित देख बड़े भारी उद्वेगमें पड़कर उतावले हो उठे ॥

अथ कृष्णौ महाभागौ तावका वीक्ष्य दंशितौ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धास्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४९ ॥

आपके योद्धा कवच धारण किये महाभाग श्रीकृष्ण और अर्जुनको आया हुआ देख कुपित हो उनकी ओर दौड़े, यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनपराजये त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधन-पराजयविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका कौरव महारथियोंके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तावका हि समीक्ष्यैवं वृष्ण्यन्धककुरूत्तमौ।
प्रागत्वरञ्जिघांसन्तस्तथैव विजयः परान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके सैनिक इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके श्रेष्ठ पुरुष श्रीकृष्ण तथा कुरुकुल-रत्न अर्जुनको आगे देखकर उनका वध करनेकी इच्छासे उतावले हो उठे। इसी प्रकार अर्जुन भी शत्रुओंके वधकी अभिलाषासे शीघ्रता करने लगे ॥ १ ॥

सुवर्णचित्रैर्वैयाघ्रैः स्वनवद्भिर्महारथैः।
दीपयन्तो दिशः सर्वा ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ २ ॥

वे कौरव सैनिक व्याघ्रचर्मसे आच्छादित सुवर्णजटित और गम्भीर घोष करनेवाले प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी विशाल रथोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ॥ २ ॥

रुक्मपुङ्खैश्च दुष्प्रेक्ष्यैः कार्मुकैः पृथिवीपते।
कूजद्भिरतुलान् नादान् कोपितैस्तुरगैरिव ॥ ३ ॥

पृथ्वीपते ! वे सोनेके पंखवाले दुर्लक्ष्य बाणों और क्रोधमें भरे हुए घोड़ोंके समान अनुपम टंकारध्वनि करनेवाले धनुषोंके द्वारा भी समस्त दिशाओंमें दीप्ति बिखेर रहे थे ॥

भूरिश्रवाः शलः कर्णो वृषसेनो जयद्रथः।
कृपश्च मद्रराजश्च द्रौणिश्च रथिनां वरः ॥ ४ ॥

ते पिबन्त इवाकाशमश्वैरष्टौ महारथाः।
व्यराजयन् दश दिशो वैयाघ्रैर्हेमचन्द्रकैः ॥ ५ ॥

भूरिश्रवा, शल, कर्ण, वृषसेन, जयद्रथ, कृपाचार्य, मद्रराज शल्य तथा रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा—ये आठ महारथी व्याघ्रचर्मद्वारा आच्छादित तथा सुवर्णमय चन्द्रचिह्नोंसे विभूषित अश्वोंद्वारा आकाशको पीते हुए-से दसों दिशाओंको सुशोभित कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

ते दंशिताः सुसंरब्धा रथैर्मेघौघनिःस्वनैः।
समावृण्वन् दश दिशः पार्थस्य निशितैः शरैः ॥ ६ ॥

कौलूतका हयाश्चित्रा वहन्तस्तान् महारथान्।
व्यशोभन्त तदा शीघ्रा दीपयन्तो दिशो दश ॥ ७ ॥

रोसमें भरे हुए उन कवचधारी वीरोंने मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले रथों और पैने बाणों द्वारा अर्जुनकी दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया कुलूतदेशके विचित्र एवं शीघ्रगामी घोड़े उस समय उन महारथियोंके वाहन बनकर दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥

आजानेयैर्महावेगैर्नानादेशसमुत्थितैः।
पार्वतीयैर्नदीजैश्च सैन्धवैश्च हयोत्तमैः ॥ ८ ॥

कुरुयोधवरा राजंस्तव पुत्रं परीप्सवः।
धनंजयरथं शीघ्रं सर्वतः समुपाद्रवन् ॥ ९ ॥

राजन् ! नाना देशोंमें उत्पन्न महान् वेगशाली आजानेय[1], पर्वतीय[2] (पहाड़ी), नदीज[3] (दरियाई) तथा सिंधुदेशीय उत्तम घोड़ोंद्वारा आपके पुत्रकी रक्षाके लिये उत्सुक हुए श्रेष्ठ कौरव योद्धा सब ओरसे शीघ्र ही अर्जुनके रथपर टूट पड़े ॥ ८-९ ॥

ते प्रगृह्य महाशङ्खान् दध्मुः पुरुषसत्तमाः ।
पूरयन्तो दिवं राजन् पृथिवीं च ससागराम् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उन पुरुषप्रवर योद्धाओंने समुद्रसहित पृथ्वी और आकाशको शब्दोंसे व्याप्त करते हुए बड़े-बड़े शङ्ख लेकर बजाये ॥ १० ॥

तथैव दध्मतुः शङ्खौ वासुदेवधनंजयौ ।
प्रवरौ सर्वदेवानां सर्वशङ्खवरौ भुवि ॥ ११ ॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन भूतलके समस्त शङ्खोंमें उत्तम अपने दिव्य शङ्ख बजाने लगे ॥

देवदत्तं च कौन्तेयः पाञ्चजन्यं च केशवः ।
शब्दस्तु देवदत्तस्य धनंजयसमीरितः ॥ १२ ॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिशश्चैव समावृणोत् ।

कुन्तीकुमार अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य । धनंजयके बजाये हुए देवदत्तका शब्द पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥

तथैव पाञ्चजन्योऽपि वासुदेवसमीरितः ॥ १३ ॥
सर्वशब्दानतिक्रम्य पूरयामास रोदसी ।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके बजाये हुए पाञ्चजन्यने भी सम्पूर्ण शब्दोंको दबाकर अपनी ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको भर दिया ॥ १३½ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने दारुणे नादसंकुले ॥ १४ ॥
भीरूणां त्रासजनने शूराणां हर्षवर्धने ।
प्रवादितासु भेरीषु झर्झरेष्वानकेषु च ॥ १५ ॥
मृदङ्गेष्वपि राजेन्द्र वाद्यमानेष्वनेकशः ।
महारथाः समाख्याता दुर्योधनहितैषिणः ॥ १६ ॥
अमृष्यमाणास्तं शब्दं क्रुद्धाः परमधन्विनः ।
नानादेश्या महीपालाः स्वसैन्यपरिरक्षिणः ॥ १७ ॥
अमर्षिता महाशङ्खान् दध्मुर्वीरा महारथाः ।
कृते प्रतिकरिष्यन्तः केशवस्यार्जुनस्य च ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार जब वहाँ भयंकर शब्द व्याप्त हो गया, जो कायरोंको डराने और शूरवीरोंके हर्षको बढ़ानेवाला था, जब भेरी, झाँझ, ढोल और मृदंग आदि अनेक प्रकारके बाजे बजने और बजाये जाने लगे, उस समय दुर्योधनका हित चाहनेवाले विख्यात महारथी उस शब्दको न सह सकनेके कारण कुपित हो उठे । वे नाना देशोंमें उत्पन्न वीर, महारथी, महाधनुर्धर महीपाल, जो अपनी सेनाका संरक्षण कर रहे थे, अमर्षमें भरकर बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे; वे श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रत्येक कार्यका बदला चुकानेको उद्यत थे ॥ १४–१८ ॥

बभूव तव तत् सैन्यं शङ्खशब्दसमीरितम् ।
उद्विग्नरथनागाश्वमस्वस्थमिव वा विभो ॥१९ ॥

प्रभो ! आपकी वह सेना शङ्खके शब्दसे व्याप्त होनेके कारण अस्वस्थ-सी दिखायी देती थी । उसके हाथी, घोड़े और रथी सभी उद्विग्न हो उठे थे ॥ १९ ॥

तत् प्रविद्धमिवाकाशं शूरैः शङ्खविनादितम् ।
बभूव भृशमुद्विग्नं निर्घातैरिव नादितम् ॥ २० ॥

शूरवीरोंने शङ्खध्वनिसे आकाशको विद्ध-सा कर डाला । वह वज्रकी गड़गड़ाहटसे व्याप्त-सा होकर अत्यन्त उद्वेगजनक हो गया ॥ २० ॥

स शब्दः सुमहान् राजन् दिशः सर्वा व्यनादयत् ।
त्रासयामास तत् सैन्यं युगान्त इव सम्भृतः ॥ २१ ॥

राजन् ! प्रलयकालके समान सब ओर फैला हुआ वह महान् शब्द सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने और आपकी सेनाको डराने लगा ॥ २१ ॥

ततो दुर्योधनोऽष्टौ च राजानस्ते महारथाः ।
जयद्रथस्य रक्षार्थं पाण्डवं पर्यवारयन् ॥ २२ ॥

तदनन्तर दुर्योधन तथा आठ महारथी नरेशोंने जयद्रथकी रक्षाके लिये अर्जुनको घेर लिया ॥ २२ ॥

ततो द्रौणिस्त्रिसप्तत्या वासुदेवमताडयत् ।
अर्जुनं च त्रिभिर्भल्लैर्ध्वजमश्वांश्च पञ्चभिः ॥ २३ ॥

उस समय अश्वत्थामाने भगवान् श्रीकृष्णको तिहत्तर

---

१. आजानेयका लक्षण इस प्रकार है—गुणगन्धाः काये ये शुश्रुक्ष्णाः कान्तितो जितक्रोधाः । सारयुता जितेन्द्रियाः क्षुत्तृडाहितं चापि नो दुःखम् ॥ जानन्त्याजानेया निर्दिष्टा वाजिनो धीरैः । अर्थात् जिनके शरीरसे गुड़की-सी गन्ध आती हो, जो कान्तिसे अत्यन्त चिकने और चमकीले जान पड़ते हों, क्रोधको जीत चुके हों, बलवान् और जितेन्द्रिय हों तथा भूख-प्यासके कष्टका अनुभव न करते हों, उन घोड़ोंको धीर पुरुषोंने 'आजानेय' कहा है ।

२. पर्वतीय घोड़ोंका लक्षण यों होना चाहिये—वाहास्तु पर्वतीया बलान्विताः स्निग्धकेशाश्च वृत्तखुरा दृढपादा महाजवास्तेऽतिविख्याताः । अर्थात् अत्यन्त विख्यात 'पर्वतीय' घोड़े बलवान् होते हैं, उनके बाल चिकने, टाप गोल, पैर सुदृढ़ और वेग महान् होते हैं ।

३. नदीज या दरियाई घोड़ोंका लक्षण इस प्रकार है—अश्वाः सकर्णिकाराः क्वचन नदीतीरजाः समुद्दिष्टाः । पूर्वार्धेषूदग्राः पश्चार्धे चानताः किंचित् । कहीं नदीके तटपर उत्पन्न हुए कनेरयुक्त अश्व 'नदीज' कहलाते हैं। वे आगेके आधे शरीरसे ऊँचे और पिछले आधे शरीरसे कुछ नीचे होते हैं ।

बाण मारे, तीन भल्लोंसे अर्जुनको चोट पहुँचायी और पाँचसे उनके ध्वज एवं घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ २३ ॥

तमर्जुनः पृषत्कानां शतैः षड्भिरताडयत्।
अत्यर्थमिव संक्रुद्धः प्रतिविद्धे जनार्दने ॥२४॥

श्रीकृष्णके घायल हो जानेपर अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे। उन्होंने छः सौ बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २४ ॥

कर्णं च दशभिर्विद्ध्वा वृषसेनं त्रिभिस्तथा।
शल्यस्य सशरं चापं मुष्टौ चिच्छेद वीर्यवान् ॥२५॥

फिर पराक्रमी अर्जुनने दस बाणोंसे कर्णको और तीन बाणोंद्वारा वृषसेनको घायल करके राजा शल्यके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला ॥ २५ ॥

गृहीत्वा धनुरन्यत् तु शल्यो विव्याध पाण्डवम्।
भूरिश्रवास्त्रिभिर्बाणैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ॥२६॥

तब शल्यने दूसरा धनुष हाथमें लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुनको बींध डाला। भूरिश्रवाने सानपर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तीन बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥

कर्णो द्वात्रिंशता चैव वृषसेनश्च सप्तभिः।
जयद्रथस्त्रिसप्तत्या कृपश्च दशभिः शरैः ॥२७॥
मद्रराजश्च दशभिर्विव्यधुः फाल्गुनं रणे।

फिर कर्णने बत्तीस, वृषसेनने सात, जयद्रथने तिहत्तर, कृपाचार्यने दस तथा मद्रराज शल्यने भी दस बाण मारकर रणक्षेत्रमें अर्जुनको बींध डाला ॥ २७½ ॥

ततः शराणां षष्ट्या तु द्रौणिः पार्थमवाकिरत् ॥ २८॥
वासुदेवं च विंशत्या पुनः पार्थं च पञ्चभिः।

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने अर्जुनपर साठ बाण बरसाये, फिर श्रीकृष्णको बीस और अर्जुनको भी पाँच बाण मारे ॥

प्रहसंस्तु नरव्याघ्रः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ॥ २९ ॥
प्रत्यविध्यत् स तान् सर्वान् दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उन श्वेतवाहन पुरुषसिंह अर्जुनने जोर-जोरसे हँसते और हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए उन सबको बींधकर बदला चुकाया ॥ २९½ ॥

कर्णं द्वादशभिर्विद्ध्वा वृषसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३० ॥
शल्यस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे व्यकृन्तत।

कर्णको बारह और वृषसेनको तीन बाणोंसे घायल करके राजा शल्यके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे पुनः काट डाला ॥ ३०½ ॥

सौमदत्तिं त्रिभिर्विद्ध्वा शल्यं च दशभिः शरैः॥ ३१ ॥
शितैरग्निशिखाकारैर्द्रौणिं विव्याध चाष्टभिः।

इसके बाद भूरिश्रवाको तीन और शल्यको दस बाणोंसे बींधकर अग्निकी ज्वालाके समान आकारवाले आठ तीखे बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको घायल कर दिया ॥ ३१½ ॥

गौतमं पञ्चविंशत्या सैन्धवं च शतेन ह ॥ ३२ ॥
पुनर्द्रौणिं च सप्तत्या शराणां सोऽभ्यताडयत्।

तत्पश्चात् कृपाचार्यको पचीस, जयद्रथको सौ तथा अश्वत्थामाको पुनः उन्होंने सत्तर बाण मारे ॥ ३२½ ॥

भूरिश्रवास्तु संक्रुद्धः प्रतोदं चिच्छिदे हरेः ॥ ३३ ॥
अर्जुनं च त्रिसप्तत्या बाणानामाजघान ह ॥ ३४ ॥

भूरिश्रवाने कुपित होकर श्रीकृष्णका चाबुक काट डाला और अर्जुनको तिहत्तर बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३३-३४॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैस्तानरीञ्श्वेतवाहनः।
प्रत्यषेधद् द्रुतं क्रुद्धो महावातो घनानिव ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार श्वेतवाहन अर्जुनने कुपित हो सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा उन शत्रुओंको तुरंत पीछे हटा दिया ॥३५॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि संकुलयुद्धे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन तथा कौरव-महारथियोंके ध्वजोंका वर्णन और नौ महारथियोंके साथ अकेले अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

ध्वजान् बहुविधाकारान् भ्राजमानानतिश्रिया।
पार्थानां मामकानां च तान् ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मेरे तथा कुन्तीके पुत्रोंके जो नाना प्रकारके ध्वज अत्यन्त शोभासे उद्भासित हो रहे थे, उनका मुझसे वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

ध्वजान् बहुविधाकाराञ्शृणु तेषां महात्मनाम्।
रूपतो वर्णतश्चैव नामतश्च निबोध मे ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! उन महामनस्वी वीरोंके जो नाना प्रकारकी आकृतिवाले ध्वज फहरा रहे थे, उनका रूप-रंग और नाम मैं बता रहा हूँ, सुनिये ॥ २ ॥

तेषां तु रथमुख्यानां रथेषु विविधा ध्वजाः।
प्रत्यदृश्यन्त राजेन्द्र ज्वलिता इव पावकाः ॥ ३ ॥

राजेन्द्र! उन श्रेष्ठ महारथियोंके रथोंपर भाँति-भाँतिके ध्वज प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी दिखायी देते थे ॥

काञ्चनाः काञ्चनापीडाः काञ्चनस्रगलंकृताः ।
काञ्चनानीव शृङ्गाणि काञ्चनस्य महागिरेः ॥ ४ ॥

वे ध्वज सोनेके बने थे। उनके ऊपरी भागको सुवर्णसे ही सजाया गया था। सोनेकी ही मालाओंसे वे अलंकृत थे। अतः सुवर्णमय महापर्वत सुमेरुके स्वर्णमय शिखरोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ४ ॥

अनेकवर्णा विविधा ध्वजाः परमशोभनाः ।
ते ध्वजाः संवृतास्तेषां पताकाभिः समन्ततः ॥ ५ ॥
नानावर्णविरागाभिः शुशुभुः सर्वतो वृताः ।

वे परम शोभासम्पन्न अनेक प्रकारके बहुरंगे ध्वज सब ओरसे नाना रंगकी पताकाओंद्वारा घिरकर बड़ी शोभा पाते थे ॥ ५½ ॥

पताकाश्च ततस्तास्तु श्वसनेन समीरिताः ॥ ६ ॥
नृत्यमाना व्यदृश्यन्त रङ्गमध्ये विलासिकाः ।

उनकी वे पताकाएँ वायुसे संचालित हो रंगमंचपर नृत्य करनेवाली विलासिनियोंके समान दिखायी देती थीं ॥ ६½ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभाः पताका भरतर्षभ ॥ ७ ॥
दोधूयमाना रथिनां शोभयन्ति महारथान् ।

भरतश्रेष्ठ ! इन्द्रधनुषके समान प्रभावाली फहराती हुई पताकाएँ रथियोंके विशाल रथोंकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ ७½ ॥

सिंहलाङ्गूलमुग्रास्यं ध्वजं वानरलक्षणम् ॥ ८ ॥
धनंजयस्य संग्रामे प्रत्यदृश्यत भैरवम् ।

उस संग्राममें अर्जुनका भयंकर ध्वज वानरके चिह्नसे सुशोभित दिखायी देता था। उस वानरकी पूँछ सिंहके समान थी और उसका मुख बड़ा ही उग्र था ॥ ८½ ॥

स वानरवरो राजन् पताकाभिरलंकृतः ॥ ९ ॥
त्रासयामास तत् सैन्यं ध्वजो गाण्डीवधन्वनः ।

राजन् ! श्रेष्ठ वानरसे सुशोभित तथा पताकाओंसे अलंकृत गाण्डीवधारी अर्जुनका वह ध्वज आपकी उस सेनाको भयभीत किये देता था ॥ ९½ ॥

तथैव सिंहलाङ्गूलं द्रोणपुत्रस्य भारत ॥ १० ॥
ध्वजाग्रं समपश्याम बालसूर्यसमप्रभम् ।

भारत ! इसी प्रकार हमलोगोंने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके श्रेष्ठ ध्वजको प्रातःकालीन सूर्यके समान अरुण कान्तिसे प्रकाशित देखा था। उसमें सिंहकी पूँछका चिह्न था ॥ १०½ ॥

काञ्चनं पवनोद्धूतं शक्रध्वजसमप्रभम् ॥ ११ ॥
नन्दनं कौरवेन्द्राणां द्रौणेर्लक्ष्म समुच्छ्रितम् ।

अश्वत्थामाका इन्द्रध्वजके समान प्रकाशमान सुवर्णमय ऊँचा ध्वज वायुकी प्रेरणासे फहराता हुआ कौरव-नरेशोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥ ११½ ॥

हस्तिकक्ष्या पुनर्हैमी बभूवाधिरथेर्ध्वजः ॥ १२ ॥
आहवे खं महाराज ददृशे पूरयन्निव ।

अधिरथपुत्र कर्णका ध्वज हाथीकी सुवर्णमयी रस्सीके चिह्नसे युक्त था। महाराज ! वह संग्राममें आकाशको भरता हुआ-सा दिखायी देता था ॥ १२½ ॥

पताका काञ्चनी स्रग्वी ध्वजे कर्णस्य संयुगे ॥ १३ ॥
नृत्यतीव रथोपस्थे श्वसनेन समीरिता ।

युद्धस्थलमें कर्णके ध्वजपर सुवर्णमयी मालासे विभूषित पताका वायुसे आन्दोलित हो रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रही थी ॥ १३½ ॥

आचार्यस्य तु पाण्डूनां ब्राह्मणस्य तपस्विनः ॥ १४ ॥
गोवृषो गौतमस्यासीत् कृपस्य सुपरिष्कृतः ।
स तेन भ्राजते राजन् गोवृषेण महारथः ॥ १५ ॥
त्रिपुरघ्नरथो यद्वद् गोवृषेण विराजता ।

पाण्डवोंके आचार्य, तपस्वी ब्राह्मण, गौतमगोत्रीय कृपाचार्यके ध्वजपर एक बैलका सुन्दर चिह्न अङ्कित था। राजन् ! उनका वह विशाल रथ उस वृषभचिह्नसे बड़ी शोभा पा रहा था; ठीक उसी तरह, जैसे त्रिपुरनाशक महादेवजीका रथ सुन्दर वृषभचिह्नसे शोभायमान होता था ॥ १४–१५½ ॥

मयूरो वृषसेनस्य काञ्चनो मणिरत्नवान् ॥ १६ ॥
व्याहरिष्यन्निवातिष्ठत् सेनाग्रमुपशोभयन् ।

वृषसेनका मणिरत्नविभूषित सुवर्णमय ध्वज मयूर-चिह्नसे युक्त था। वह मयूर सेनाके अग्रभागकी शोभा बढ़ाता हुआ इस प्रकार खड़ा था, मानो बोल देगा ॥ १६½ ॥

तेन तस्य रथो भाति मयूरेण महात्मनः ॥ १७ ॥
यथा स्कन्दस्य राजेन्द्र मयूरेण विराजता ।

राजेन्द्र ! जैसे स्वामी स्कन्दका रथ सुन्दर मयूरचिह्नसे शोभित होता है, उसी प्रकार महामना वृषसेनका रथ उस मयूरचिह्नसे शोभा पा रहा था ॥ १७½ ॥

मद्रराजस्य शल्यस्य ध्वजाग्रेऽग्निशिखामिव ॥ १८ ॥
सौवर्णीं प्रतिपश्याम सीतामप्रतिमां शुभाम् ।

मद्रराज शल्यकी ध्वजाके अग्रभागमें हमने अग्निशिखाके समान उज्ज्वल, सुवर्णमय, अनुपम तथा शुभ लक्षणोंसे युक्त एक सीता (हलसे भूमिपर खींची हुई रेखा) देखी थी ॥ १८½ ॥

सा सीता भ्राजते तस्य रथमास्थाय मारिष ॥ १९ ॥
सर्वबीजविरूढेव यथा सीता श्रिया वृता ।

माननीय नरेश ! जैसे खेतमें हलकी नोकसे बनी हुई

रेखा सभी बीजोंके अङ्कुरित होनेपर शोभासम्पन्न दिखायी देती है, उसी प्रकार मद्रराजके रथका आश्रय ले वह सीता (हलद्वारा बनी हुई रेखा) बड़ी शोभा पा रही थी ॥१९½॥

वराहः सिन्धुराजस्य राजतोऽभिविराजते ॥ २० ॥
ध्वजाग्रेऽलोहितार्काभो हेमजालपरिष्कृतः ।

सिन्धुराज जयद्रथकी ध्वजाके अग्रभागमें उज्ज्वल सूर्यके समान श्वेत कान्तिमान् और सोनेकी जालीसे विभूषित चाँदीका बना हुआ वराहचिह्न अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥२०½॥

शुशुभे केतुना तेन राजतेन जयद्रथः ॥ २१ ॥
यथा देवासुरे युद्धे पुरा पूषा स्म शोभते ।

जैसे पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें पूषा शोभा पाते थे, उसी प्रकार उस रजतनिर्मित ध्वजसे जयद्रथकी शोभा हो रही थी ॥ २१½ ॥

सौमदत्तेः पुनर्यूपो यज्ञशीलस्य धीमतः ॥ २२ ॥
ध्वजः सूर्य इवाभाति सोमश्चात्र प्रदृश्यते ।

सदा यज्ञमें लगे रहनेवाले बुद्धिमान् भूरिश्रवाके रथमें यूपका चिह्न बना था । वह ध्वज सूर्यके समान प्रकाशित होता था और उसमें चन्द्रमाका चिह्न भी दृष्टिगोचर होता था ॥ २२½ ॥

स यूपः काञ्चनो राजन् सौमदत्तेर्विराजते ॥ २३ ॥
राजसूये मखश्रेष्ठे यथा यूपः समुच्छ्रितः ।

राजन् ! जैसे यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयमें ऊँचा यूप सुशोभित होता है, भूरिश्रवाका वह सुवर्णमय यूप वैसे ही शोभा पा रहा था ॥ २३½ ॥

शलस्य तु महाराज राजतो द्विरदो महान् ॥ २४ ॥
केतुः काञ्चनचित्राङ्गैर्मयूरैरुपशोभितः ।
स केतुः शोभयामास सैन्यं ते भरतर्षभ ॥ २५ ॥

महाराज ! शलके ध्वजमें चाँदीका महान् गजराज बना हुआ था । भरतश्रेष्ठ ! वह ध्वज सुवर्णनिर्मित विचित्र अङ्गोंवाले मयूरोंसे सुशोभित था और आपकी सेनाकी शोभा बढ़ा रहा था ॥ २४-२५ ॥

यथा श्वेतो महानागो देवराजचमूं तथा ।
नागो मणिमयो राज्ञो ध्वजः कनकसंवृतः ॥ २६ ॥

जैसे श्वेत वर्णका महान् ऐरावत हाथी देवराजकी सेनाको सुशोभित करता है, उसी प्रकार राजा दुर्योधनका सुवर्णमण्डित ध्वज मणिमय गजराजके चिह्नसे उपलक्षित होता था ॥ २६ ॥

किंकिणीशतसंह्रादो भ्राजंश्चित्रो रथोत्तमे ।
व्यभ्राजत भृशं राजन् पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ २७ ॥
ध्वजेन महता संख्ये कुरूणामृषभस्तदा ।

प्रजानाथ ! वह विचित्र ध्वज दुर्योधनके उत्तम रथपर सैकड़ों क्षुद्रघंटिकाओंकी ध्वनिसे शोभायमान था । उस महान् ध्वजसे युद्धस्थलमें आपके पुत्र कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २७½ ॥

नवैते तव वाहिन्यामुच्छ्रिताः परमध्वजाः ॥ २८ ॥
व्यदीपयंस्ते पृतनां युगान्तादित्यसंनिभाः ।

ये नौ उत्तम ध्वज आपकी सेनामें बहुत ऊँचे थे और प्रलयकालके सूर्यके समान अपना प्रकाश फैलाते हुए आपकी सेनाको उद्भासित कर रहे थे ॥ २८½ ॥

दशमस्त्वर्जुनस्यासीदेक एव महाकपिः ॥ २९ ॥
अदीप्यतार्जुनो येन हिमवानिव वह्निना ।

दसवाँ ध्वज एकमात्र अर्जुनका ही था, जो विशाल वानरचिह्नसे सुशोभित था । उससे अर्जुन उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे थे, जैसे अग्निसे हिमालय पर्वत उद्भासित होता है ॥ २९½ ॥

ततश्चित्राणि शुभ्राणि सुमहान्ति महारथाः ॥ ३० ॥
कार्मुकाण्याददुस्तूर्णमर्जुनार्थे परंतपाः ।

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले उन सब महारथियोंने अर्जुनको मारनेके लिये तुरंत ही विचित्र, चमकीले और विशाल धनुष हाथमें ले लिये ॥ ३०½ ॥

तथैव धनुरायच्छत् पार्थः शत्रुविनाशनः ॥ ३१ ॥
गाण्डीवं दिव्यकर्मा तद् राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।

राजन् ! उसी प्रकार दिव्य कर्म करनेवाले शत्रुनाशन पार्थने भी आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप अपने गाण्डीव धनुषको खींचा ॥ ३१½ ॥

तवापराधाद् राजानो निहता बहुशो युधि ॥ ३२ ॥
नानादिग्भ्यः समाहूताः सहयाः सरथद्विपाः ।

महाराज ! आपके अपराधसे उस युद्धस्थलमें अनेक दिशाओंसे आमन्त्रित होकर आये हुए बहुत-से राजा अपने घोड़ों, रथों और हाथियोंसहित मारे गये हैं ॥ ३२½ ॥

तेषामासीद् व्यतिक्षेपो गर्जतामितरेतरम् ॥ ३३ ॥
दुर्योधनमुखानां च पाण्डूनामृषभस्य च ।

उस समय एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करनेवाले दुर्योधन आदि महारथियों तथा पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनमें परस्पर आघात-प्रतिघात होने लगा ॥ ३३½ ॥

तत्राद्भुतं परं चक्रे कौन्तेयः कृष्णसारथिः ॥ ३४ ॥
यदेको बहुभिः सार्धं समागच्छदभीतवत् ।

वहाँ श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उन कुन्तीकुमार अर्जुनने यह अत्यन्त अद्भुत पराक्रम किया कि अकेले ही बहुतोंके साथ निर्भय होकर युद्ध आरम्भ कर दिया ॥३४½॥

अशोभत महाबाहुर्गाण्डीवं विक्षिपन् धनुः ॥ ३५ ॥

जिगीषुस्तान् नरव्याघ्रो जिघांसुश्च जयद्रथम् ।

उनपर विजय पानेकी इच्छा रखकर जयद्रथके वधकी अभिलाषासे गाण्डीव धनुषको खींचते हुए पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३५½ ॥

तत्रार्जुनो नरव्याघ्रः शरैर्मुक्तैः सहस्रशः ॥ ३६ ॥
अदृश्यांस्तावकान् योधान् प्रचक्रे शत्रुतापनः ।

उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरव्याघ्र अर्जुनने अपने छोड़े हुए सहस्रों बाणोंद्वारा आपके योद्धाओंको अदृश्य कर दिया ॥ ३६½ ॥

ततस्तेऽपि नरव्याघ्राः पार्थं सर्वे महारथाः ॥ ३७ ॥
अदृश्यं समरे चक्रुः सायकौघैः समन्ततः ।

तब उन सभी पुरुषसिंह महारथियोंने भी समराङ्गणमें सब ओरसे बाणसमूहोंकी वर्षा करके अर्जुनको अदृश्य कर दिया ॥ ३७½ ॥

संवृते नरसिंहैस्तु कुरूणामृषभेऽर्जुने ।
महानासीत् समुद्धूतस्तस्य सैन्यस्य निःस्वनः ॥ ३८ ॥

जब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन उन पुरुषसिंहोंद्वारा घेर लिये गये, तब उस सेनामें महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि ध्वजवर्णने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें ध्वजवर्णनविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

द्रोण और उनकी सेनाके साथ पाण्डव-सेनाका द्वन्द्वयुद्ध तथा द्रोणाचार्यके साथ युद्ध करते समय रथ-भंग हो जानेपर युधिष्ठिरका पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

अर्जुने सैन्धवं प्राप्ते भारद्वाजेन संवृताः ।
पञ्चालाः कुरुभिः सार्धं किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथके समीप पहुँच गये, तब द्रोणाचार्यद्वारा रोके हुए पाञ्चाल-सैनिकोंने कौरवोंके साथ क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

अपराह्णे महाराज संग्रामे लोमहर्षणे ।
पञ्चालानां कुरूणां च द्रोणद्यूतमवर्तत ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस दिन अपराह्न-कालमें, जब रोमाञ्चकारी युद्ध चल रहा था, पाञ्चालों और कौरवोंमें द्रोणाचार्यको दाँवपर रखकर द्यूत-सा होने लगा ॥ २ ॥

पञ्चाला हि जिघांसन्तो द्रोणं संहृष्टचेतसः ।
अभ्यमुञ्चन्त गर्जन्तः शरवर्षाणि मारिष ॥ ३ ॥

माननीय नरेश ! पाञ्चाल-सैनिक द्रोणको मार डालनेकी इच्छासे प्रसन्नचित्त होकर गर्जना करते हुए उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३ ॥

ततस्तु तुमुलस्तेषां संग्रामोऽवर्तताद्भुतः ।
पञ्चालानां कुरूणां च घोरो देवासुरोपमः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन पाञ्चालों और कौरवोंमें घोर देवासुर-संग्रामके समान अद्भुत एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४ ॥

सर्वे द्रोणरथं प्राप्य पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
तदनीकं बिभित्सन्तो महास्त्राणि व्यदर्शयन् ॥ ५ ॥

समस्त पाञ्चाल पाण्डवोंके साथ द्रोणाचार्यके रथके समीप जाकर उनकी सेनाके व्यूहका भेदन करनेकी इच्छासे बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रदर्शन करने लगे ॥ ५ ॥

द्रोणस्य रथपर्यन्तं रथिनो रथमास्थिताः ।
कम्पयन्तोऽभ्यवर्तन्त वेगमास्थाय मध्यमम् ॥ ६ ॥

वे पाञ्चाल रथी रथपर बैठकर मध्यम वेगका आश्रय ले पृथ्वीको कँपाते हुए द्रोणाचार्यके रथके अत्यन्त निकट जाकर उनका सामना करने लगे ॥ ६ ॥

तमभ्ययाद् बृहत्क्षत्रः केकयानां महारथः ।
प्रवपन् निशितान् बाणान् महेन्द्राशनिसंनिभान् ॥ ७ ॥

केकयदेशके महारथी वीर बृहत्क्षत्रने महेन्द्रके वज्रके समान तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ७ ॥

तं तु प्रत्युद्ययौ शीघ्रं क्षेमधूर्तिर्महायशाः ।
विमुञ्चन् निशितान् बाणाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

उस समय महायशस्वी क्षेमधूर्ति सैकड़ों और हजारों तीखे बाण छोड़ते हुए शीघ्रतापूर्वक बृहत्क्षत्रका सामना करनेके लिये गये ॥ ८ ॥

धृष्टकेतुश्च चेदीनामृषभोऽतिबलोदितः ।
त्वरितोऽभ्यद्रवद् द्रोणं महेन्द्र इव शम्बरम् ॥ ९ ॥

अत्यन्त बलसे विख्यात चेदिराज धृष्टकेतुने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यपर धावा किया, मानो देवराज इन्द्रने शम्बरासुरपर चढ़ाई की हो ॥ ९ ॥

तमापतन्तं सहसा व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
वीरधन्वा महेष्वासस्त्वरमाणः समभ्ययात् ॥ १० ॥

मुँह बाये हुए कालके समान सहसा आक्रमण करनेवाले धृष्टकेतुका सामना करनेके लिये महाधनुर्धर वीरधन्वा बड़े वेगसे आ पहुँचे ॥ १० ॥

युधिष्ठिरं महाराजं जिगीषुं समवस्थितम् ।
सहानीकं ततो द्रोणो न्यवारयत वीर्यवान् ॥ ११ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणाचार्यने विजयकी इच्छासे सेना-सहित खड़े हुए महाराज युधिष्ठिरको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११ ॥

नकुलं कुशलं युद्धे पराक्रान्तं पराक्रमी ।
अभ्यगच्छत् समायान्तं विकर्णस्ते सुतःप्रभो ॥१२॥

प्रभो ! आपके पराक्रमी पुत्र विकर्णने वहाँ आते हुए पराक्रमशाली युद्धकुशल नकुलका सामना किया ॥ १२ ॥

सहदेवं तथाऽऽयान्तं दुर्मुखः शत्रुकर्षणः ।
शरैरनेकसाहस्रैः समवाकिरदाशुगैः ॥ १३ ॥

शत्रुसूदन दुर्मुखने अपने सामने आते हुए सहदेवपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ॥ १३ ॥

सात्यकिं तु नरव्याघ्रं व्याघ्रदत्तस्त्ववारयत् ।
शरैः सुनिशितैस्तीक्ष्णैः कम्पयन् वै मुहुर्मुहुः ॥१४॥

व्याघ्रदत्तने अत्यन्त तेज किये हुए तीखे बाणोंद्वारा बारंबार शत्रुसेनाको कम्पित करते हुए वहाँ पुरुषसिंह सात्यकिको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १४ ॥

द्रौपदेयान् नरव्याघ्रान् मुञ्चतः सायकोत्तमान् ।
संरब्धान् रथिनः श्रेष्ठान् सौमदत्तिरवारयत् ॥१५॥

मनुष्योंमें व्याघ्रके समान पराक्रमी तथा श्रेष्ठ रथी द्रौपदीके पाँचों पुत्र कुपित होकर शत्रुओंपर उत्तम बाणोंकी वर्षा कर रहे थे । सोमदत्तकुमार शलने उन सबको रोक दिया ॥ १५ ॥

भीमसेनं तदा क्रुद्धं भीमरूपो भयानकः ।
प्रत्यवारयदायान्तमार्ष्यश्रृङ्गिर्महारथः ॥ १६ ॥

भयंकर रूपधारी एवं भयानक महारथी ऋष्यश्रृङ्ग-कुमार अलम्बुषने उस समय क्रोधमें भरकर आते हुए भीमसेनको रोका ॥ १६ ॥

तयोः समभवद् युद्धं नरराक्षसयोर्मृधे ।
यादृगेव पुरा वृत्तं रामरावणयोर्नृप ॥ १७ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें जिस प्रकार श्रीराम और रावणका संग्राम हुआ था, उसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें मानव भीमसेन तथा राक्षस अलम्बुषका युद्ध हुआ ॥ १७ ॥

ततो युधिष्ठिरो द्रोणं नवत्या नतपर्वणाम् ।
आजघ्ने भरतश्रेष्ठः सर्वमर्मसु भारत ॥ १८ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर भरतभूषण युधिष्ठिरने झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंसे द्रोणाचार्यके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें आघात किया ॥ १८ ॥

तं द्रोणः पञ्चविंशत्या निजघान स्तनान्तरे ।
रोषितो भरतश्रेष्ठ कौन्तेयेन यशस्विना ॥१९॥

भरतश्रेष्ठ ! यशस्वी कुन्तीकुमारके क्रोध दिलानेपर द्रोणाचार्यने उनकी छातीमें पचीस बाण मारे ॥ १९ ॥

भूय एव तु विंशत्या सायकानां समाचिनोत् ।
साश्वसूतध्वजं द्रोणः पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥ २० ॥

फिर द्रोणने सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते घोड़े, सारथि और ध्वजसहित युधिष्ठिरको बीस बाण मारे ॥ २० ॥

ताञ्शरान् द्रोणमुक्तांस्तु शरवर्षेण पाण्डवः ।
अवारयत धर्मात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ २१ ॥

धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए द्रोणाचार्यके छोड़े हुए उन बाणोंको अपनी बाण-वर्षाद्वारा रोक दिया ॥ २१ ॥

ततो द्रोणो भृशं क्रुद्धो धर्मराजस्य संयुगे ।
चिच्छेद समरे धन्वी धनुस्तस्य महात्मनः ॥ २२ ॥

तब धनुर्धर द्रोणाचार्य उस युद्धस्थलमें महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरपर अत्यन्त कुपित हो उठे । उन्होंने समराङ्गणमें युधिष्ठिरके धनुषको काट दिया ॥ २२ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं त्वरमाणो महारथः ।
शरैरनेकसाहस्रैः पूरयामास सर्वतः ॥ २३ ॥

धनुष काट देनेके पश्चात् महारथी द्रोणाचार्यने बड़ी उतावलीके साथ कई हजार बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया ॥ २३ ॥

अदृश्यं वीक्ष्य राजानं भारद्वाजस्य सायकैः ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त हतमेव युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

राजा युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यके बाणोंसे अदृश्य हुआ देख समस्त प्राणियोंने उन्हें मारा गया ही मान लिया ॥२४॥

केचिच्चैनममन्यन्त तथैव विमुखीकृतम् ।
हतो राजेति राजेन्द्र ब्राह्मणेन महात्मना ॥ २५ ॥

राजेन्द्र ! कुछ लोग ऐसा समझते थे कि युधिष्ठिर पराजित होकर भाग गये । कुछ लोगोंकी यही धारणा थी कि महामनस्वी ब्राह्मण द्रोणाचार्यके हाथसे राजा युधिष्ठिर मार डाले गये ॥ २५ ॥

स कृच्छ्रं परमं प्राप्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
त्यक्त्वा तत् कार्मुकं छिन्नं भारद्वाजेन संयुगे ॥ २६ ॥
आददेऽन्यद् धनुर्दिव्यं भास्वरं वेगवत्तरम् ।

इस प्रकार भारी संकटमें पड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा काट दिये गये उस धनुषको त्यागकर दूसरा प्रकाशमान एवं अत्यन्त वेगशाली दिव्य धनुष धारण किया ॥ २६½ ॥

ततस्तान् सायकांस्तत्र द्रोणमुक्तान् सहस्रशः ॥ २७ ॥
चिच्छेद समरे वीरस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर वीर युधिष्ठिरने समराङ्गणमें द्रोणाचार्यके

चलाये हुए सहस्रों बाणोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २७½ ॥

छित्त्वा तु तान्शरान् राजन् क्रोधसंरक्तलोचनः॥२८॥
शक्तिं जग्राह समरे गिरीणामपि दारिणीम्।
स्वर्णदण्डां महाघोरामष्टघण्टां भयावहाम् ॥ २९ ॥

राजन्! उस समराङ्गणमें क्रोधसे लाल आँखें किये युधिष्ठिरने द्रोणके उन बाणोंको काटकर एक शक्ति हाथमें ली, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर देनेवाली थी। उसमें सोनेका डंडा और आठ घंटियाँ लगी थीं। वह अत्यन्त घोर शक्ति मनमें भय उत्पन्न करनेवाली थी ॥ २८-२९ ॥

समुत्क्षिप्य च तां हृष्टो ननाद बलवद् बली।
नादेन सर्वभूतानि त्रासयन्निव भारत ॥ ३० ॥

भारत! उसे चलाकर हर्षमें भरे हुए बलवान् युधिष्ठिरने बड़े जोरसे सिंहनाद किया। उन्होंने उस सिंहनादसे सम्पूर्ण भूतोंमें भय-सा उत्पन्न कर दिया ॥ ३० ॥

शक्तिं समुद्यतां दृष्ट्वा धर्मराजेन संयुगे।
स्वस्ति द्रोणाय सहसा सर्वभूतान्यथाब्रुवन् ॥ ३१॥

युद्धस्थलमें धर्मराजके द्वारा उठायी हुई उस शक्तिको देखकर समस्त प्राणी सहसा बोल उठे—'द्रोणाय स्वस्ति (द्रोणाचार्यका कल्याण हो)' ॥ ३१ ॥

सा राजभुजनिर्मुक्ता निर्मुक्तोरगसंनिभा।
प्रज्वालयन्ती गगनं दिशः सप्रदिशस्तथा ॥ ३२॥
द्रोणान्तिकमनुप्राप्ता दीप्तास्या पन्नगी यथा।

केंचुलसे छूटे हुए सर्पके समान राजाकी भुजाओंसे मुक्त हुई वह शक्ति आकाश, दिशाओं तथा विदिशाओं (कोणों) को प्रकाशित करती हुई जलते मुखवाली नागिनके समान द्रोणाचार्यके निकट जा पहुँची ॥ ३२½ ॥

तामापतन्तीं सहसा दृष्ट्वा द्रोणो विशाम्पते ॥ ३३ ॥
प्रादुश्चक्रे ततो ब्राह्ममस्त्रमस्त्रविदां वरः।

प्रजानाथ! तब सहसा आती हुई उस शक्तिको देखकर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणने ब्रह्मास्त्र प्रकट किया ॥३३½॥

तदस्त्रं भस्मसात्कृत्वा तां शक्तिं घोरदर्शनाम् ॥ ३४ ॥
जगाम स्यन्दनं तूर्णं पाण्डवस्य यशस्विनः।

वह अस्त्र भयंकर दीखनेवाली उस शक्तिको भस्म करके तुरंत ही यशस्वी युधिष्ठिरके रथकी ओर चला ॥ ३४½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा द्रोणास्त्रं तत् समुद्यतम् ॥ ३५ ॥
अशामयन्महाप्राज्ञो ब्रह्मास्त्रेणैव मारिष।

माननीय नरेश! तब महाप्राज्ञ राजा युधिष्ठिरने द्रोणद्वारा चलाये गये उस ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रद्वारा ही शान्त कर दिया ॥ ३५½ ॥

विद्ध्वा तं च रणे द्रोणं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ॥ ३६ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन चिच्छेदास्य महद् धनुः।

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यको घायल करके तीखे क्षुरप्रसे उनके विशाल धनुषको काट दिया ॥ ३६½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ३७ ॥
गदां चिक्षेप सहसा धर्मपुत्राय मारिष।

आर्य! क्षत्रियमर्दन द्रोणने उस कटे हुए धनुषको फेंककर सहसा धर्मपुत्र युधिष्ठिरपर गदा चलायी ॥ ३७½ ॥

तामापतन्तीं सहसा गदां दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
गदामेवाग्रहीत् क्रुद्धश्चिक्षेप च परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! उस गदाको सहसा अपने ऊपर आती देख क्रोधमें भरे हुए युधिष्ठिरने भी गदा ही उठा ली और द्रोणाचार्यपर चला दी ॥ ३८½ ॥

ते गदे सहसा मुक्ते समासाद्य परस्परम् ॥ ३९ ॥
संघर्षात् पावकं मुक्त्वा समेयातां महीतले।

एकबारगी छोड़ी हुई वे दोनों गदाएँ एक दूसरीसे टकराकर संघर्षसे आगकी चिनगारियाँ छोड़ती हुई

पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ ३९½ ॥

ततो द्रोणो भृशं क्रुद्धो धर्मराजस्य मारिष ॥ ४० ॥
चतुर्भिर्निशितैस्तीक्ष्णैर्हयाञ्जघ्ने शरोत्तमैः।

माननीय नरेश! तब द्रोणाचार्य अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए चार तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा धर्मराजके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ ४०½ ॥

चिच्छेदैकेन भल्लेन धनुश्चेन्द्रध्वजोपमम् ॥ ४१ ॥
केतुमेकेन चिच्छेद पाण्डवं चार्दयत् त्रिभिः ।

फिर एक भल्ल चलाकर उनका धनुष काट दिया। एक भल्लसे इन्द्रध्वजके समान उनकी ध्वजा खण्डित कर दी और तीन बाणोंसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको भी पीड़ा पहुँचायी ॥ ४१½ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य युधिष्ठिरः ॥ ४२॥
तस्थावूर्ध्वभुजो राजा व्यायुधो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथसे तुरंत ही कूदकर राजा युधिष्ठिर बिना आयुधके हाथ ऊपर उठाये धरतीपर खड़े हो गये ॥ ४२½ ॥

विरथं तं समालोक्य व्यायुधं च विशेषतः ॥ ४३॥
द्रोणो व्यमोहयच्छत्रून् सर्वसैन्यानि वा विभो ।

प्रभो ! उन्हें रथ और विशेषतः आयुधसे रहित देख द्रोणाचार्यने शत्रुओं तथा उनकी सम्पूर्ण सेनाओंको मोहित कर दिया ॥ ४३½ ॥

मुञ्चंश्चेषुगणांस्तीक्ष्णाल्लँघुहस्तो दृढव्रतः ॥ ४४ ॥
अभिदुद्राव राजानं सिंहो मृगमिवोल्बणः ।

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले द्रोणके हाथ बड़ी फुर्तीसे चलते थे। जैसे प्रचण्ड सिंह किसी मृगका पीछा करता हो, उसी प्रकार वे तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए राजा युधिष्ठिरकी ओर दौड़े ॥ ४४½ ॥

तमभिद्रुतमालोक्य द्रोणेनामित्रघातिना ॥ ४५ ॥
हाहेति सहसा शब्दः पाण्डूनां समजायत ।

शत्रुनाशक द्रोणाचार्यके द्वारा युधिष्ठिरका पीछा होता देख पाण्डवदलमें सहसा हाहाकार मच गया ॥ ४५½ ॥

हतो राजा हतो राजा भारद्वाजेन मारिष ॥ ४६ ॥
इत्यासीत् सुमहाञ्छब्दः पाण्डुसैन्यस्य भारत ।

भारत ! माननीय नरेश ! पाण्डुसेनामें यह महान् कोलाहल होने लगा कि 'राजा मारे गये, राजा मारे गये' ॥

ततस्त्वरितमारुह्य सहदेवरथं नृपः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर तुरंत ही सहदेवके रथपर आरूढ़ हो अपने वेगशाली घोड़ोंद्वारा वहाँसे हट गये ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि युधिष्ठिरापयाने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें युधिष्ठिरका पलायनविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाके क्षेमधूर्ति, वीरधन्वा, निरमित्र तथा व्याघ्रदत्तका वध और दुर्मुख एवं विकर्णकी पराजय

संजय उवाच

बृहत्क्षत्रमथायान्तं कैकेयं दृढविक्रमम् ।
क्षेमधूर्तिर्महाराज विव्याधोरसि मार्गणैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर सुदृढ़ पराक्रमी केकयराज बृहत्क्षत्रको आते देख क्षेमधूर्तिने अनेक बाणोंद्वारा उनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १ ॥

बृहत्क्षत्रस्तु तं राजा नवत्या नतपर्वणाम् ।
आजघ्ने त्वरितो राजन् द्रोणानीकबिभित्सया ॥ २ ॥

राजन् ! तब राजा बृहत्क्षत्रने भी झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंद्वारा तुरंत ही द्रोणाचार्यके सैन्यव्यूहका विघटन करनेकी इच्छासे क्षेमधूर्तिको घायल कर दिया ॥ २ ॥

क्षेमधूर्तिस्तु संक्रुद्धः कैकेयस्य महात्मनः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन ह ॥ ३ ॥

इससे क्षेमधूर्ति अत्यन्त कुपित हो उठा और उसने पानीदार तीखे भल्लसे महामनस्वी केकयराजका धनुष काट डाला ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरेणानतपर्वणा ।
विव्याध समरे तूर्णं प्रवरं सर्वधन्विनाम् ॥ ४ ॥

धनुष कट जानेपर समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ बृहत्क्षत्रको समराङ्गणमें झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसने तुरंत ही बींध डाला ॥ ४ ॥

अथान्यद् धनुरादाय बृहत्क्षत्रो हसन्निव ।
व्यश्वसूतरथं चक्रे क्षेमधूर्तिं महारथम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर बृहत्क्षत्रने दूसरा धनुष हाथमें लेकर हँसते हँसते महारथी क्षेमधूर्तिको घोड़ों, सारथि और रथसे हीन कर दिया ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
जहार नृपतेः कायाच्छिरो ज्वलितकुण्डलम् ॥ ६ ॥

इसके बाद दूसरे पानीदार तीखे भल्लसे राजा क्षेमधूर्तिके प्रज्वलित कुण्डलोंवाले मस्तकको धड़से अलग कर दिया ॥ ६ ॥

तच्छिन्नं सहसा तस्य शिरः कुञ्चितमूर्धजम् ।
सकिरीटं महीं प्राप्य बभौ ज्योतिरिवाम्बरात् ॥ ७ ॥

सहसा कटा हुआ घुँघराले बालोंवाला क्षेमधूर्तिका वह मस्तक मुकुटसहित पृथ्वीपर गिरकर आकाशसे टूटे हुए तारेके समान प्रतीत हुआ ॥ ७ ॥

तं निहत्य रणे हृष्टो बृहत्क्षत्रो महारथः ।
सहसाभ्यपतत् सैन्यं तावकं पार्थकारणात् ॥ ८ ॥

रणक्षेत्रमें क्षेमधूर्तिका वध करके प्रसन्न हुए महारथी बृहत्क्षत्र युधिष्ठिरके हितके लिये सहसा आपकी सेनापर टूट पड़े॥

धृष्टकेतुं तथाऽऽयान्तं द्रोणहेतोः पराक्रमी।
वीरधन्वा महेष्वासो वारयामास भारत॥ ९॥

भारत! इसी प्रकार द्रोणाचार्यके हितके लिये महाधनुर्धर पराक्रमी वीरधन्वाने वहाँ आते हुए धृष्टकेतुको रोका॥ ९॥

तौ परस्परमासाद्य शरदंष्ट्रौ तरस्विनौ।
शरैरनेकसाहस्रैरन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ १०॥

वे दोनों वेगशाली वीर बाणरूपी दाढ़ोंसे युक्त हो परस्पर भिड़कर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ १०॥

तावुभौ नरशार्दूलौ युयुधाते परस्परम्।
महावने तीव्रमदौ वारणाविव यूथपौ॥ ११॥

महान् वनमें तीव्र मदवाले दो यूथपति गजराजोंके समान वे दोनों पुरुषसिंह परस्पर युद्ध करने लगे॥ ११॥

गिरिगह्वरमासाद्य शार्दूलाविव रोषितौ।
युयुधाते महावीर्यौ परस्परजिघांसया॥ १२॥

दोनों ही महान् पराक्रमी थे और एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे रोषमें भरकर पर्वतकी गुफामें पहुँचकर लड़नेवाले दो सिंहोंके समान आपसमें जूझ रहे थे॥ १२॥

तद् युद्धमासीत् तुमुलं प्रेक्षणीयं विशाम्पते।
सिद्धचारणसंघानां विस्मयाद्भुतदर्शनम्॥ १३॥

प्रजानाथ! उनका वह घमासान युद्ध देखने ही योग्य था। वह सिद्धों और चारणसमूहोंको भी आश्चर्यजनक एवं अद्भुत दिखायी देता था॥ १३॥

वीरधन्वा ततः क्रुद्धो धृष्टकेतोः शरासनम्।
द्विधा चिच्छेद भल्लेन प्रहसन्निव भारत॥ १४॥

भरतनन्दन! तत्पश्चात् वीरधन्वाने कुपित होकर हँसते हुए-से ही एक भल्लद्वारा धृष्टकेतुके धनुषके दो टुकड़े कर दिये॥

तदुत्सृज्य धनुश्छिन्नं चेदिराजो महारथः।
शक्तिं जग्राह विपुलां हेमदण्डामयस्मयीम्॥ १५॥

महारथी चेदिराज धृष्टकेतुने उस कटे हुए धनुषको फेंककर एक लोहेकी बनी हुई स्वर्णदण्डविभूषित विशाल शक्ति हाथमें ले ली॥ १५॥

तां तु शक्तिं महावीर्यां दोर्भ्यामायम्य भारत।
चिक्षेप सहसा यत्तो वीरधन्वरथं प्रति॥ १६॥

भारत! उस अत्यन्त प्रबल शक्तिको दोनों हाथोंसे उठाकर यत्नशील धृष्टकेतुने सहसा वीरधन्वाके रथपर उसे दे मारा॥ १६॥

तया तु वीरघातिन्या शक्त्या त्वभिहतो भृशम्।
निर्भिन्नहृदयस्तूर्णं निपपात रथान्महीम्॥ १७॥

उस वीरघातिनी शक्तिकी गहरी चोट खाकर वीरधन्वाका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १७॥

तस्मिन् विनिहते वीरे त्रैगर्तानां महारथे।
बलं तेऽभज्यत विभो पाण्डवेयैः समन्ततः॥ १८॥

प्रभो! त्रिगर्तदेशके उस महारथी वीरके मारे जानेपर पाण्डव सैनिकोंने चारों ओरसे आपकी सेनाको विघटित कर दिया॥ १८॥

सहदेवे ततः षष्टिं सायकान् दुर्मुखोऽक्षिपत्।
ननाद च महानादं तर्जयन् पाण्डवं रणे॥ १९॥

तदनन्तर दुर्मुखने रणक्षेत्रमें सहदेवपर साठ बाण चलाये और उन पाण्डुकुमारको डाँट बताते हुए बड़े जोरसे गर्जना की॥ १९॥

माद्रेयस्तु ततः क्रुद्धो दुर्मुखं च शितैः शरैः।
भ्राता भ्रातरमायान्तं विव्याध प्रहसन्निव॥ २०॥

यह देख माद्रीकुमार कुपित हो उठे। वे दुर्मुखके भाई लगते थे। उन्होंने अपने पास आते हुए भ्राता दुर्मुखको हँसते हुए-से तीखे बाणोंद्वारा बींध डाला॥ २०॥

तं रणे रभसं दृष्ट्वा सहदेवं महाबलम्।
दुर्मुखो नवभिर्बाणैस्ताडयामास भारत॥ २१॥

भारत! रणक्षेत्रमें महाबली सहदेवका वेग बढ़ता देख दुर्मुखने नौ बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया॥ २१॥

दुर्मुखस्य तु भल्लेन छित्त्वा केतुं महाबलः।
जघान चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः॥ २२॥

तब महाबली सहदेवने एक भल्लसे दुर्मुखकी ध्वजा काटकर चार तीखे बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको मार डाला॥

अथापरेण भल्लेन पीतेन निशितेन ह।
चिच्छेद सारथेः कायाच्छिरो ज्वलितकुण्डलम्॥ २३॥

फिर दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे उसके सारथिके चमकीले कुण्डलवाले मस्तकको धड़से काट गिराया॥ २३॥

क्षुरप्रेण च तीक्ष्णेन कौरव्यस्य महद् धनुः।
सहदेवो रणे छित्त्वा तं च विव्याध पञ्चभिः॥ २४॥

तत्पश्चात् सहदेवने तीखे क्षुरप्रसे समराङ्गणमें दुर्मुखके विशाल धनुषको काटकर उसे भी पाँच बाणोंसे घायल कर दिया॥ २४॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दुर्मुखो विमनास्तदा।
आरुरोह रथं राजन् निरमित्रस्य भारत॥ २५॥

राजन्! भरतनन्दन! तब दुर्मुख दुखी मनसे उस अश्वहीन रथको त्यागकर निरमित्रके रथपर जा चढ़ा॥ २५॥

सहदेवस्ततः क्रुद्धो निरमित्रं महाहवे।
जघान पृतनामध्ये भल्लेन परवीरहा॥ २६॥

इससे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सहदेव कुपित हो उठे और उन्होंने उस महासमरमें सेनाके बीचों-बीच एक भल्लसे निरमित्रको मार डाला ॥ २६ ॥

स पपात रथोपस्थान्निरमित्रो जनेश्वरः ।
त्रिगर्तराजस्य सुतो व्यथयंस्तव वाहिनीम् ॥२७॥

त्रिगर्तराजका पुत्र राजा निरमित्र अपने वियोगसे आपकी सेनाको व्यथित करता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर पड़ा ॥ २७ ॥

तं तु हत्वा महाबाहुः सहदेवो व्यरोचत ।
यथा दाशरथी रामः खरं हत्वा महाबलम् ॥ २८॥

जैसे पूर्वकालमें दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम महाबली खरका वध करके सुशोभित हुए थे, उसी प्रकार महाबाहु सहदेव निरमित्रको मारकर शोभा पा रहे थे ॥ २८ ॥

हाहाकारो महानासीत् त्रिगर्तानां जनेश्वर ।
राजपुत्रं हतं दृष्ट्वा निरमित्रं महारथम् ॥ २९॥

नरेश्वर ! महारथी राजकुमार निरमित्रको मारा गया देख त्रिगर्तोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ॥ २९ ॥

नकुलस्ते सुतं राजन् विकर्णं पृथुलोचनम् ।
मुहूर्ताज्जितवाँल्लोके तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३०॥

राजन् ! नकुलने विशाल नेत्रोंवाले आपके पुत्र विकर्णको दो ही घड़ीमें पराजित कर दिया; यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३० ॥

सात्यकिं व्याघ्रदत्तस्तु शरैः संनतपर्वभिः ।
चक्रेऽदृश्यं साश्वसूतं सध्वजं पृतनान्तरे ॥ ३१॥

व्याघ्रदत्तने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा सेनाके मध्यभागमें घोड़ों, सारथि और ध्वजसहित सात्यकिको अदृश्य कर दिया ॥ ३१ ॥

तान् निवार्य शराञ्शूरः शैनेयः कृतहस्तवत् ।
साश्वसूतध्वजं बाणैर्व्याघ्रदत्तमपातयत् ॥३२॥

तब शूरवीर शिनिनन्दन सात्यकिने सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति उन बाणोंका निवारण करके अपने बाणोंद्वारा घोड़ों, सारथि और ध्वजसहित व्याघ्रदत्तको मार गिराया ॥ ३२ ॥

कुमारे निहते तस्मिन् मागधस्य सुते प्रभो ।
मागधाः सर्वतो यत्ता युयुधानमुपाद्रवन् ॥ ३३ ॥

प्रभो ! मगधनरेशके पुत्र राजकुमार व्याघ्रदत्तके मारे जानेपर मगधदेशीय वीरोंने सब ओरसे प्रयत्नशील होकर युयुधानपर धावा किया ॥ ३३ ॥

विसृजन्तः शरांश्चैव तोमरांश्च सहस्रशः ।
भिन्दिपालांस्तथा प्रासान् मुद्गरान् मुसलानपि ॥ ३४ ॥
अयोधयन् रणे शूराः सात्वतं युद्धदुर्मदम् ।

वे शूरवीर मागध सैनिक बहुत-से बाणों, सहस्रों तोमरों, भिन्दिपालों, प्रासों, मुद्गरों और मुसलोंका प्रहार करते हुए समराङ्गणमें रणदुर्जय सात्यकिके साथ युद्ध करने लगे ॥

तांस्तु सर्वान् स बलवान् सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ॥ ३५ ॥
नातिकृच्छ्राद्धसन्नेव विजिग्ये पुरुषर्षभः ।

बलवान् युद्धदुर्मद पुरुषप्रवर सात्यकिने हँसते हुए ही उन सबको अधिक कष्ट उठाये बिना ही परास्त कर दिया ॥

मागधान् द्रवतो दृष्ट्वा हतशेषान् समन्ततः ॥ ३६ ॥
बलं तेऽभज्यत विभो युयुधानशरार्दितम् ।

प्रभो ! मरनेसे बचे हुए मागधसैनिकोंको चारों ओर भागते देख सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हुई आपकी सेनाका व्यूह भंग हो गया ॥ ३६½ ॥

नाशयित्वा रणे सैन्यं त्वदीयं माधवोत्तमः ॥ ३७ ॥
विधुन्वानो धनुः श्रेष्ठं व्यभ्राजत महायशाः ।

इस प्रकार मधुवंशके श्रेष्ठ वीर महायशस्वी सात्यकि रणक्षेत्रमें आपकी सेनाका विनाश करके अपने उत्तम धनुषको हिलाते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३७½ ॥

भज्यमानं बलं राजन् सात्वतेन महात्मना ॥ ३८ ॥
नाभ्यवर्तत युद्धाय त्रासितं दीर्घबाहुना ।

राजन् ! महामना महाबाहु सात्यकिके द्वारा डरायी गयी और तितर-बितर की हुई आपकी सेना फिर युद्धके लिये सामने नहीं आयी ॥ ३८½ ॥

ततो द्रोणो भृशं क्रुद्धः सहसोद्वृत्य चक्षुषी ।
सात्यकिं सत्यकर्माणं स्वयमेवाभिदुद्रुवे ॥ ३९ ॥

तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने सहसा आँखें घुमाकर सत्यकर्मा सात्यकिपर स्वयं ही आक्रमण किया ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदी-पुत्रोंके द्वारा सोमदत्तकुमार शलका वध तथा भीमसेनके द्वारा अलम्बुषकी पराजय

संजय उवाच

द्रौपदेयान् महेष्वासान् सौमदत्तिर्महायशाः ।
एकैकं पञ्चभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महायशस्वी शलने महाधनुर्धर द्रौपदी-पुत्रोंमेंसे एक-एकको पाँच-पाँच बाणोंसे बींधकर पुनः सात बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ १ ॥

ते पीडिता भृशं तेन रौद्रेण सहसा विभो।
प्रमूढा नैव विविदुर्मृधे कृत्यं स्म किंचन ॥ २ ॥

प्रभो ! उस भयंकर वीरके द्वारा अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण वे सहसा मोहित हो यह नहीं जान सके कि इस समय युद्धमें हमारा कर्तव्य क्या है ? ॥ २ ॥

नाकुलिश्च शतानीकः सौमदत्तिं नरर्षभम्।
द्वाभ्यां विद्ध्वानदद्धृष्टः शराभ्यां शत्रुकर्शनः ॥ ३ ॥

तब नकुलके पुत्र शत्रुसूदन शतानीकने दो बाणोंद्वारा नरश्रेष्ठ शलको घायल करके बड़े हर्षके साथ सिंहनाद किया॥

तथेतरे रणे यत्तास्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः।
विव्यधुः समरे तूर्णं सौमदत्तिममर्षणम् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार अन्य द्रौपदीपुत्रोंने भी समराङ्गणमें प्रयत्नशील होकर अमर्षशील शलको तुरंत ही तीन-तीन बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४ ॥

स तान् प्रति महाराज पञ्च चिक्षेप सायकान्।
एकैकं हृदि चाजघ्ने एकैकेन महायशाः ॥ ५ ॥

महाराज ! तब महायशस्वी शलने उनपर पाँच बाण चलाये, जिनमेंसे एक-एकके द्वारा एक-एककी छाती छेद डाली॥

ततस्ते भ्रातरः पञ्च शरैर्विद्धा महात्मना।
परिवार्य रणे वीरं विव्यधुः सायकैर्भृशम् ॥ ६ ॥

फिर महामना शलके बाणोंसे घायल हुए उन पाँचों भाइयोंने उस वीरको रणक्षेत्रमें चारों ओरसे घेरकर अपने बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ६ ॥

आर्जुनिस्तु हयांस्तस्य चतुर्भिर्निशितैः शरैः।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ ७ ॥

अर्जुनकुमार श्रुतकीर्तिने अत्यन्त कुपित हो चार तीखे बाणोंद्वारा शलके चारों घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ॥ ७ ॥

भैमसेनिर्धनुश्छित्त्वा सौमदत्तेर्महात्मनः।
ननाद बलवन्नादं विव्याध च शितैः शरैः ॥ ८ ॥

फिर भीमसेनके पुत्र सुतसोमने पैने बाणोंद्वारा महामना सोमदत्तकुमारके धनुषको काटकर उन्हें भी बींध डाला और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ८ ॥

यौधिष्ठिरिर्ध्वजं तस्य छित्त्वा भूमावपातयत्।
नाकुलिश्चाथ यन्तारं रथनीडादपाहरत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरकुमार प्रतिविन्ध्यने शलकी ध्वजा काटकर पृथ्वीपर गिरा दी। फिर नकुलपुत्र शतानीकने उनके सारथिको मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥

साहदेविस्तु तं ज्ञात्वा भ्रातृभिर्विमुखीकृतम्।
क्षुरप्रेण शिरो राजन् निचकर्त महात्मनः ॥ १० ॥

राजन् ! अन्तमें सहदेवकुमारने यह जानकर कि मेरे भाइयोंने शलको युद्धसे विमुख कर दिया है, महामनस्वी शलके मस्तकको क्षुरप्रसे काट डाला ॥ १० ॥

तच्छिरो न्यपतद् भूमौ तपनीयविभूषितम्।
भ्राजयत् तं रणोद्देशं बालसूर्यसमप्रभम् ॥ ११ ॥

सोमदत्तकुमारका प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशमान सुवर्णभूषित वह मस्तक उस रणभूमिको प्रकाशित करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ११ ॥

सौमदत्तेः शिरो दृष्ट्वा निहतं तन्महात्मनः।
वित्रस्तास्तावका राजन् प्रदुद्रुवुरनेकधा ॥ १२ ॥

महाराज ! महामना शलके मस्तकको कटा हुआ देख आपके सैनिक अत्यन्त भयभीत हो अनेक दलोंमें बँटकर भागने लगे ॥ १२ ॥

अलम्बुषस्तु समरे भीमसेनं महाबलम्।
योधयामास संक्रुद्धो लक्ष्मणं रावणिर्यथा ॥ १३ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्वकालमें रावणकुमार मेघनादने लक्ष्मणके साथ युद्ध किया था, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए राक्षस अलम्बुषने महाबली भीमसेनके साथ संग्राम आरम्भ किया ॥ १३ ॥

सम्प्रयुद्धौ रणे दृष्ट्वा तावुभौ नरराक्षसौ।
विस्मयः सर्वभूतानां प्रहर्षः समजायत ॥ १४ ॥

उस रणक्षेत्रमें उन दोनों मनुष्य एवं राक्षसको युद्ध करते देख समस्त प्राणियोंको अत्यन्त आश्चर्य और हर्ष हुआ॥

आर्ष्यशृङ्गिं ततो भीमो नवभिर्निशितैः शरैः।
विव्याध प्रहसन् राजन् राक्षसेन्द्रममर्षणम् ॥ १५ ॥

राजन् ! फिर भीमसेनने हँसते हुए नौ पैने बाणोंद्वारा ऋष्यशृङ्गकुमार अमर्षशील राक्षसराज अलम्बुषको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

तद् रक्षः समरे विद्धं कृत्वा नादं भयावहम्।
अभ्यद्रवत् ततो भीमं ये च तस्य पदानुगाः ॥ १६ ॥

तब समराङ्गणमें घायल हुआ वह राक्षस भयंकर गर्जना करके भीमसेनकी ओर दौड़ा। उसके सेवकोंने भी उसीका साथ दिया ॥ १६ ॥

स भीमं पञ्चभिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः।
भैमान् परिजघानाशु रथांस्त्रिशतमाहवे ॥ १७ ॥

उसने झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल करके उनके साथ आये हुए तीन सौ रथियोंका समरभूमिमें शीघ्र ही संहार कर डाला ॥ १७ ॥

पुनश्चतुःशतान् हत्वा भीमं विव्याध पत्रिणा।
सोऽतिविद्धस्तथा भीमो राक्षसेन महाबलः ॥ १८ ॥
निपपात रथोपस्थे मूर्च्छयाभिपरिप्लुतः।

फिर चार सौ योद्धाओंको मारकर भीमसेनको भी एक बाणसे घायल किया। इस प्रकार राक्षसके द्वारा अत्यन्त

घायल किये जानेपर महाबली भीमसेन मूर्छित हो रथकी बैठकमें गिर पड़े ॥ १८½ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां मारुतिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १९ ॥
विकृष्य कार्मुकं घोरं भारसाधनमुत्तमम् ।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैरर्दयामास सर्वतः ॥ २० ॥

तदनन्तर पुनः होशमें आकर क्रोधसे व्याकुल हुए वायुपुत्र भीमने भार वहन करनेमें समर्थ, उत्तम तथा भयंकर धनुष तानकर पैने बाणोंद्वारा सब ओरसे अलम्बुषको पीड़ित कर दिया ॥ १९-२० ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्नीलाञ्जनचयोपमः ।
शुशुभे सर्वतो राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ २१ ॥

राजन् ! काले काजलके ढेरके समान वह राक्षस बहुत-से बाणोंद्वारा सब ओरसे घायल होकर लोहू-लुहान हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान सुशोभित होने लगा ॥ २१ ॥

स वध्यमानः समरे भीमचापच्युतैः शरैः ।
स्मरन् भ्रातृवधं चैव पाण्डवेन महात्मना ॥ २२ ॥
घोरं रूपमथो कृत्वा भीमसेनमभाषत ।

भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा समरभूमिमें घायल होकर और महात्मा पाण्डुकुमार भीमके द्वारा किये गये अपने भाईके वधका स्मरण करके उस राक्षसने भयंकर रूप धारण कर लिया और भीमसेनसे कहा—॥ २२½ ॥

तिष्ठेदानीं रणे पार्थ पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ २३ ॥
बको नाम सुदुर्बुद्धे राक्षसप्रवरो बली ।
परोक्षं मम तद् वृत्तं यद् भ्राता मे हतस्त्वया ॥ २४ ॥

'पार्थ ! इस समय तुम रणक्षेत्रमें डटे रहो और आज मेरा पराक्रम देखो । दुर्मते ! मेरे बलवान् भाई राक्षसराज बकको जो तुमने मार डाला था, वह सब कुछ मेरी आँखोंकी ओटमें हुआ था (मेरे सामने तुम कुछ नहीं कर सकते थे)'॥

एवमुक्त्वा ततो भीममन्तर्धानं गतस्तदा ।
महता शरवर्षेण भृशं तं समवाकिरत् ॥ २५ ॥

भीमसेनसे ऐसा कहकर वह राक्षस उसी समय अन्तर्धान हो गया और फिर उनके ऊपर बाणोंकी भारी वर्षा करने लगा ॥

भीमस्तु समरे राजन्नदृश्ये राक्षसे तदा ।
आकाशं पूरयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥

राजन् ! उस समय समराङ्गणमें राक्षसके अदृश्य हो जानेपर भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा वहाँके समूचे आकाशको भर दिया ॥ २६ ॥

स वध्यमानो भीमेन निमेषाद् रथमास्थितः ।
जगाम धरणीं चैव क्षुद्रः खं सहसागमत् ॥ २७ ॥

भीमसेनके बाणोंकी मार खाकर राक्षस अलम्बुष पलक मारते-मारते अपने रथपर आ बैठा । वह क्षुद्र निशाचर कभी तो धरतीपर आ जाता और कभी सहसा आकाशमें पहुँच जाता था ॥ २७ ॥

उच्चावचानि रूपाणि चकार सुबहूनि च ।
अणुर्बृहत् पुनः स्थूलो नादान् मुञ्चन्निवाम्बुदः ॥ २८ ॥

उसने वहाँ छोटे-बड़े बहुत-से रूप धारण किये । वह मेघके समान गर्जना करता हुआ कभी बहुत छोटा हो जाता और कभी महान्, कभी सूक्ष्मरूप धारण करता और कभी स्थूल बन जाता था ॥ २८ ॥

उच्चावचास्तथा वाचो व्याजहार समन्ततः ।
निपेतुर्गगनाच्चैव शरधाराः सहस्रशः ॥ २९ ॥

इसी प्रकार वहाँ सब ओर घूम-घूमकर वह भिन्न-भिन्न प्रकारकी बोलियाँ भी बोलता था । उस समय भीमसेनपर आकाशसे बाणोंकी सहस्रों धाराएँ गिरने लगीं ॥ २९ ॥

शक्तयः कणपाः प्रासाः शूलपट्टिशतोमराः ।
शतघ्न्यः परिघाश्चैव भिन्दिपालाः परश्वधाः ॥ ३० ॥
शिलाः खड्गा गुडाश्चैव ऋष्टीर्वज्राणि चैव ह ।
सा राक्षसविसृष्टा तु शस्त्रवृष्टिः सुदारुणा ॥ ३१ ॥
जघान पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् रणमूर्धनि ।

शक्ति, कणप, प्रास, शूल, पट्टिश, तोमर, शतघ्नी, परिघ, भिन्दिपाल, फरसे, शिलाएँ, खड्ग, लोहेकी गोलियाँ, ऋष्टि और वज्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी । राक्षस-द्वारा की हुई उस भयंकर शस्त्रवर्षाने युद्धके मुहानेपर पाण्डुपुत्र भीमके बहुत से सैनिकोंका संहार कर डाला ॥

तेन पाण्डवसैन्यानां सूदिता युधि वारणाः ॥ ३२ ॥
हयाश्च बहवो राजन् पत्तयश्च तथा पुनः ।
रथेभ्यो रथिनः पेतुस्तस्य नुन्नाः स सायकैः ॥ ३३ ॥

राजन् ! राक्षस अलम्बुषने युद्धस्थलमें पाण्डव-सेनाके बहुत-से हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकोंका बारंबार संहार किया उसके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर बहुतेरे रथी रथोंसे गिर पड़े ॥ ३२-३३ ॥

शोणितोदां रथावर्तां हस्तिग्राहसमाकुलाम् ।
छत्रहंसां कर्दमिनीं बाहुपन्नगसंकुलाम् ॥ ३४ ॥
नदीं प्रावर्तयामास रक्षोगणसमाकुलाम् ।
वहन्तीं बहुधा राजंश्चेदिपञ्चालसृञ्जयान् ॥ ३५ ॥

उसने युद्धस्थलमें खूनकी नदी बहा दी, जिसमें रक्त ही पानीके समान बहता था, रथ भँवरोंके समान जान पड़ते थे, हाथियोंके शरीर उस नदीमें ग्राहके समान सब ओर छा रहे थे, छत्र हंसोंका भ्रम उत्पन्न करते थे, वहाँ कीच जम गयी थी, कटी हुई भुजाएँ सर्पोंके समान सब ओर व्याप्त हो रही थीं । राजन् ! बारंबार चेदि, पाञ्चाल और संजयोंको बहाती हुई वह नदी राक्षसोंसे घिरी हुई थी॥

तं तथा समरे राजन् विचरन्तमभीतवत्।
पाण्डवा भृशसंविग्नाः प्रापश्यंस्तस्य विक्रमम् ॥ ३६ ॥

महाराज ! उस निशाचरको समराङ्गणमें इस प्रकार निर्भय-सा विचरते देख पाण्डव अत्यन्त उद्विग्न हो उसका पराक्रम देखने लगे ॥ ३६ ॥

तावकानां तु सैन्यानां प्रहर्षः समजायत।
वादित्रनिनदश्चोग्रः सुमहान् रोमहर्षणः ॥ ३७ ॥

उस समय आपके सैनिकोंको महान् हर्ष हो रहा था। वहाँ रणवाद्योंका रोमाञ्चकारी एवं भयंकर शब्द बड़े जोर-जोरसे होने लगा ॥ ३७ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तव सैन्यस्य पाण्डवः।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं समीरितम् ॥ ३८ ॥

आपकी सेनाका वह घोर हर्षनाद सुनकर पाण्डुकुमार भीमसेन नहीं सहन कर सके। ठीक उसी तरह, जैसे हाथी ताल ठोंकनेका शब्द नहीं सह सकता ॥ ३८ ॥

ततः क्रोधाभिताम्राक्षो निर्दहन्निव पावकः।
संदधे त्वाष्ट्रमस्त्रं स स्वयं त्वष्टेव मारुतिः ॥३९ ॥

तब वायुकुमार भीमसेनने जलानेको उद्यत हुए अग्निके समान क्रोधसे लाल आँखें करके त्वाष्ट्र नामक अस्त्रका संधान किया, मानो साक्षात् त्वष्टा ही उसका प्रयोग कर रहे हों ॥

ततः शरसहस्राणि प्रादुरासन् समन्ततः।
तैः शरैस्तव सैन्यस्य विद्रवः सुमहानभूत् ॥ ४० ॥

उससे चारों ओर सहस्रों बाण प्रकट होने लगे। उन बाणोंद्वारा आपकी सेनाका महान् संहार होने लगा ॥ ४० ॥

तदस्त्रं प्रेरितं तेन भीमसेनेन संयुगे।
राक्षसस्य महामायां हत्वा राक्षसमार्दयत् ॥ ४१ ॥

युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उस अस्त्रने राक्षसकी महामायाको नष्ट करके उसे गहरी पीड़ा दी ॥४१॥

स वध्यमानो बहुधा भीमसेनेन राक्षसः।
संत्यज्य समरे भीमं द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ ४२ ॥

बारंबार भीमसेनकी मार खाकर राक्षसराज अलम्बुष रणक्षेत्रमें उनका सामना छोड़कर द्रोणाचार्यकी सेनामें भाग गया ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तु निर्जिते राजन् राक्षसेन्द्रे महात्मना।
अनादयन् सिंहनादैः पाण्डवाः सर्वतो दिशम् ॥ ४३ ॥

राजन् ! महामना भीमसेनके द्वारा राक्षसराज अलम्बुषके पराजित हो जानेपर पाण्डव-सैनिकोंने सम्पूर्ण दिशाओंको अपने सिंहनादोंसे निनादित कर दिया ॥ ४३ ॥

अपूजयन् मारुतिं च संहृष्टास्ते महाबलम्।
प्रह्लादं समरे जित्वा यथा शक्रं मरुद्गणाः ॥ ४४ ॥

उन्होंने अत्यन्त हर्षमें भरकर महाबली भीमसेनकी उसी प्रकार भूरि-भूरि प्रशंसा की, जैसे मरुद्गणोंने समराङ्गणमें प्रह्लादको जीतकर आये हुए देवराज इन्द्रकी स्तुति की थी॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अलम्बुषपराजये अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अलम्बुषकी पराजयविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कचद्वारा अलम्बुषका वध और पाण्डवसेनामें हर्ष-ध्वनि

संजय उवाच

अलम्बुषं तथा युद्धे विचरन्तमभीतवत्।
हैडिम्बिः प्रययौ तूर्णं विव्याध निशितैः शरैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धमें इस प्रकार निर्भय-से विचरते हुए अलम्बुषके पास हिडिम्बाकुमार घटोत्कच बड़े वेगसे जा पहुँचा और उसे अपने तीखे बाणोंद्वारा बींधने लगा ॥

तयोः प्रतिभयं युद्धमासीद् राक्षससिंहयोः।
कुर्वतोर्विविधा मायाः शक्रशम्बरयोरिव ॥ २॥

वे दोनों राक्षसोंमें सिंहके समान पराक्रमी थे और इन्द्र तथा शम्बरासुरके समान नाना प्रकारकी मायाओंका प्रयोग करते थे। उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २ ॥

अलम्बुषो भृशं क्रुद्धो घटोत्कचमताडयत्।
तयोर्युद्धं समभवद् रक्षोग्रामणिमुख्ययोः ॥ ३ ॥
यादृगेव पुरा वृत्तं रामरावणयोः प्रभो।

अलम्बुषने अत्यन्त कुपित होकर घटोत्कचको घायल कर दिया। वे दोनों राक्षस समाजके मुखिया थे। प्रभो ! जैसे पूर्वकालमें श्रीराम और रावणका संग्राम हुआ था, उसी प्रकार उन दोनोंमें भी युद्ध हुआ ॥ ३½ ॥

घटोत्कचस्तु विंशत्या नाराचानां स्तनान्तरे ॥ ४ ॥
अलम्बुषमथो विद्ध्वा सिंहवद् व्यनदन्मुहुः।

घटोत्कचने बीस नाराचोंद्वारा अलम्बुषकी छातीमें गहरी चोट पहुँचाकर बारंबार सिंहके समान गर्जना की ॥

तथैवालम्बुषो राजन् हैडिम्बिं युद्धदुर्मदम् ॥ ५ ॥
विद्ध्वा विद्ध्वा नदद्धृष्टः पूरयन् खं समन्ततः।

राजन् ! इसी प्रकार अलम्बुष भी युद्धदुर्मद घटोत्कचको बारंबार घायल करके समूचे आकाशको हर्षपूर्वक गुँजाता हुआ सिंहनाद करता था ॥ ५½ ॥

तथा तौ भृशसंक्रुद्धौ राक्षसेन्द्रौ महाबलौ ॥ ६ ॥
निर्विशेषमयुध्येतां मायाभिरितरेतरम्।

इस प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए वे दोनों महाबली

राक्षसराज परस्पर मायाओंका प्रयोग करते हुए समानरूपसे युद्ध करने लगे ॥ ६½ ॥

मायाशतसृजौ नित्यं मोहयन्तौ परस्परम् ॥ ७ ॥
मायायुद्धेषु कुशलौ मायायुद्धमयुध्यताम् ।

वे प्रतिदिन सैकड़ों मायाओंकी सृष्टि करनेवाले थे और दोनों ही मायायुद्धमें कुशल थे । अतः एक दूसरेको मोहित करते हुए मायाद्वारा ही युद्ध करने लगे ॥ ७½ ॥

यां यां घटोत्कचो युद्धे मायां दर्शयते नृप ॥ ८ ॥
तां तामलम्बुषो राजन् माययैव निजघ्निवान् ।

नरेश्वर ! घटोत्कच युद्धस्थलमें जो-जो माया दिखाता, उसे अलम्बुष अपनी मायाद्वारा ही नष्ट कर देता था ॥

तं तथा युध्यमानं तु मायायुद्धविशारदम् ॥ ९ ॥
अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं दृष्ट्वाक्रुध्यन्त पाण्डवाः ।

मायायुद्धविशारद राक्षसराज अलम्बुषको इस प्रकार युद्ध करते देख समस्त पाण्डव कुपित हो उठे ॥ ९½ ॥

त एनं भृशसंविग्नाः सर्वतः प्रवरा रथैः ॥ १० ॥
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनादयो नृप ।

राजन् ! वे अत्यन्त उद्विग्न हुए भीमसेन आदि श्रेष्ठ वीर क्रोधमें भरकर रथोंद्वारा सब ओरसे अलम्बुषपर टूट पड़े ॥

त एनं कोष्ठकीकृत्य रथवंशेन मारिष ॥ ११ ॥
सर्वतो व्यकिरन् बाणैरुल्काभिरिव कुञ्जरम् ।

माननीय नरेश ! जैसे जलती हुई उल्काओंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाथीपर प्रहार किया जाता है, उसी प्रकार रथसमूहके द्वारा अलम्बुषको कोष्ठबद्ध करके वे सब लोग चारों ओरसे उसपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ११½ ॥

स तेषामस्त्रवेगं तं प्रतिहत्यास्त्रमायया ॥ १२ ॥
तस्माद् रथव्रजान्मुक्तो वनदाहादिव द्विपः ।

उस समय अलम्बुष अपने अस्त्रोंकी मायासे उनके उस महान् अस्त्रवेगको दबाकर रथसमूहके उस घेरेसे मुक्त हो गया, मानो कोई गजराज दावानलके घेरेसे बाहर हो गया हो ॥

स विस्फार्य धनुर्घोरमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ १३ ॥
मारुतिं पञ्चविंशत्या भैमसेनिं च पञ्चभिः ।

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति घोर टंकार करनेवाले अपने भयंकर धनुषको तानकर भीमसेनको पचीस और उनके पुत्र घटोत्कचको पाँच बाण मारे ॥ १३½ ॥

युधिष्ठिरं त्रिभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ॥ १४ ॥
नकुलं च त्रिसप्तत्या द्रौपदेयांश्च मारिष ।
पञ्चभिः पञ्चभिर्विद्ध्वा घोरं नादं ननाद ह ॥ १५ ॥

आर्य ! उसने युधिष्ठिरको तीन, सहदेवको सात, नकुलको तिहत्तर और द्रौपदी-पुत्रोंको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके घोर गर्जना की ॥ १४-१५ ॥

तं भीमसेनो नवभिः सहदेवस्तु पञ्चभिः ।
युधिष्ठिरः शतेनैव राक्षसं प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

तब भीमसेनने नौ, सहदेवने पाँच और युधिष्ठिरने सौ बाणोंसे राक्षस अलम्बुषको घायल कर दिया ॥ १६ ॥

नकुलस्तु चतुःषष्ट्या द्रौपदेयास्त्रिभिस्त्रिभिः ।
हैडिम्बो राक्षसं विद्ध्वा युद्धे पञ्चाशता शरैः ॥ १७ ॥
पुनर्विव्याध सप्तत्या ननाद च महाबलः ।

तत्पश्चात् नकुलने चौसठ और द्रौपदीकुमारोंने तीन-तीन बाणोंसे अलम्बुषको बींध डाला । तदनन्तर महाबली हिडिम्बाकुमारने युद्धस्थलमें उस राक्षसको पचास बाणोंसे घायल करके पुनः सत्तर बाणोंद्वारा बींध डाला और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ १७½ ॥

तस्य नादेन महता कम्पितेयं वसुंधरा ॥ १८ ॥
सपर्वतवना राजन् सपादपजलाशया ।

राजन् ! उसके महान् सिंहनादसे वृक्षों, जलाशयों, पर्वतों और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी काँप उठी ॥१८½॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासैः सर्वतस्तैर्महारथैः ॥ १९ ॥
प्रतिविव्याध तान् सर्वान् पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।

उन महाधनुर्धर महारथियोंद्वारा सब ओरसे अत्यन्त घायल होकर बदलेमें अलम्बुषने भी पाँच-पाँच बाणोंसे उन सबको वेध दिया ॥ १९½ ॥

तं क्रुद्धं राक्षसं युद्धे प्रतिक्रुद्धस्तु राक्षसः ॥ २० ॥
हैडिम्बो भरतश्रेष्ठ शरैर्विव्याध सप्तभिः ।

भरतश्रेष्ठ ! उस युद्धस्थलमें कुपित हुए राक्षस अलम्बुषको क्रोधमें भरे हुए निशाचर घटोत्कचने सात बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २०½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता राक्षसेन्द्रो महाबलः ॥ २१ ॥
व्यसृजत् सायकांस्तूर्णं रुक्मपुङ्खान् शिलाशितान् ।

बलवान् घटोत्कचद्वारा अत्यन्त क्षत-विक्षत होकर उस महाबली राक्षसराजने तुरंत ही सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥२१½॥

ते शरा नतपर्वाणो विविशू राक्षसं तदा ॥ २२ ॥
रुषिताः पन्नगा यद्वद् गिरिशृङ्गं महाबलाः ।

जैसे रोषमें भरे हुए महाबली सर्प पर्वतके शिखरपर चढ़ जाते हैं, उसी प्रकार अलम्बुषके वे झुकी हुई गाँठवाले बाण उस समय घटोत्कचके शरीरमें घुस गये ॥ २२½ ॥

ततस्ते पाण्डवा राजन् समन्ताच्निशिताञ्शरान् ॥ २३॥
प्रेषयामासुरुद्विग्ना हैडिम्बश्च घटोत्कचः ।

राजन् ! तदनन्तर पाण्डव तथा हिडिम्बाकुमार घटोत्कच सबने उद्विग्न होकर सब ओरसे अलम्बुषपर पैने बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २३½ ॥

स विध्यमानः समरे पाण्डवैर्जितकाशिभिः ॥ २४ ॥
मर्त्यधर्ममनुप्राप्तः कर्तव्यं नान्वपद्यत ।

विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंद्वारा समरभूमिमें विद्ध होकर मर्त्यधर्मको प्राप्त हुए अलम्बुषसे कुछ भी करते न बना ॥ २४½ ॥

ततः समरशौण्डो वै भैमसेनिर्महाबलः ॥ २५ ॥
समीक्ष्य तदवस्थं तं वधायास्य मनो दधे ।

तब समरकुशल महाबली भीमसेन-कुमारने अलम्बुषको उस अवस्थामें देखकर मन-ही-मन उसके वधका निश्चय किया॥

वेगं चक्रे महान्तं च राक्षसेन्द्ररथं प्रति ॥ २६ ॥
दग्धाद्रिकूटशृङ्गाभं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।

उसने जले हुए पर्वतशिखर तथा कटे-छटे कोयलेके पहाड़के समान प्रतीत होनेवाले राक्षसराज अलम्बुषके रथपर पहुँचनेके लिये महान् वेग प्रकट किया ॥ २६½ ॥

रथाद् रथमभिद्रुत्य क्रुद्धो हैडिम्बिराक्षिपत् ॥ २७ ॥
उद्बबर्ह रथाच्चापि पन्नगं गरुडो यथा ।

क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने अपने रथसे अलम्बुषके रथपर कूदकर उसे पकड़ लिया और जैसे गरुड़ सर्पको टाँग लेता है, उसी प्रकार उसने भी अलम्बुषको रथसे उठा लिया ॥

समुत्क्षिप्य च बाहुभ्यामाविध्य च पुनः पुनः ॥ २८ ॥
निष्पिपेष क्षितौ क्षिप्रं पूर्णकुम्भमिवाश्मनि ।

दोनों भुजाओंसे अलम्बुषको ऊपर उठाकर घटोत्कचने बारंबार घुमाया और जैसे जलसे भरे हुए घड़ेको पत्थरपर पटक दिया जाय, उसी प्रकार उसे शीघ्र ही पृथ्वीपर दे मारा॥

बललाघवसम्पन्नः सम्पन्नो विक्रमेण च ॥ २९ ॥
भैमसेनी रणे क्रुद्धः सर्वसैन्यान्यभीषयत् ।

घटोत्कचमें बल और फुर्ती दोनों विद्यमान थे। वह अद्भुत पराक्रमसे सम्पन्न था। उसने रणक्षेत्रमें कुपित होकर आपकी समस्त सेनाओंको भयभीत कर दिया ॥ २९½ ॥

स विस्फारितसर्वाङ्गश्चूर्णितास्थिर्विभीषणः ॥ ३० ॥
घटोत्कचेन वीरेण हतः शालकटङ्कटः ।

वीर घटोत्कचके द्वारा मारे गये शालकटंकटाके पुत्र अलम्बुषके सारे अङ्ग फट गये थे। उसकी हड्डियाँ चूर-चूर हो गयी थीं और वह बड़ा भयंकर दिखायी देता था॥३०½॥

ततः सुमनसः पार्था हते तस्मिन् निशाचरे ॥ ३१ ॥
चुक्रुशुः सिंहनादांश्च वासांस्यादुधुवुश्च ह ।

उस निशाचर अलम्बुषके मारे जानेपर कुन्तीके सभी पुत्र प्रसन्नचित्त हो सिंहनाद करने और वस्त्र हिलाने लगे ॥

तावकाश्च हतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रं महाबलम् ॥ ३२ ॥
अलम्बुषं तथा शूरा विशीर्णमिव पर्वतम् ।
हाहाकारमकार्षुश्च सैन्यानि भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समान महाबली राक्षसराज अलम्बुषको मारा गया देख आपके शूरवीर योद्धा तथा उनकी सारी सेनाएँ हाहाकार करने लगीं। ३२-३३।

जनाश्च तद् ददृशिरे रक्षः कौतूहलान्विताः ।
यदृच्छया निपतितं भूमावङ्गारकं यथा ॥ ३४ ॥

पृथ्वीपर अकस्मात् टूटकर गिरे हुए मंगल ग्रहके समान धराशायी हुए उस राक्षसको बहुत-से मनुष्य कौतूहलवश देखने लगे ॥ ३४ ॥

घटोत्कचस्तु तद्धत्वा रक्षो बलवतां वरम् ।
मुमोच बलवन्नादं वलं हत्वेव वासवः ॥ ३५ ॥

जैसे इन्द्रने बलासुरका वध करके महान् सिंहनाद किया था, उसी प्रकार घटोत्कचने उस बलवानोंमें श्रेष्ठ अलम्बुषको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३५ ॥

(ततोऽभिगम्य राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
स्वकर्मावेदयन्मूर्ध्ना साञ्जलिर्निपपात ह ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय तं ज्येष्ठः परिष्वज्य च पाण्डवः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीद् राजन् हर्षादुत्फुल्ललोचनः ॥
घटोत्कचेन निष्पिष्टे मृते शालकटङ्कटे ।
बभूवुर्मुदिताः सर्वे हते तस्मिन् निशाचरे ॥)

तदनन्तर घटोत्कच धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर हाथ जोड़ मस्तक नवाकर अपना कर्म निवेदन करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। राजन् ! तब ज्येष्ठ पाण्डवने उसका मस्तक सूँघकर उसे हृदयसे लगा लिया और कहा—'वत्स ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।' उस समय युधिष्ठिरके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। शालकटंकटाके पुत्र राक्षस अलम्बुषको जब घटोत्कचने पृथ्वीपर रगड़कर मार डाला, तब सब लोग बहुत प्रसन्न हुए॥

स पूज्यमानः पितृभिः सबान्धवै-
र्घटोत्कचः कर्मणि दुष्करे कृते ।
रिपुं निहत्याभिननन्द वै तदा
ह्यलम्बुषं पक्वमलम्बुषं यथा ॥ ३६ ॥

पके हुए अलम्बुष (मुंडीर) फलके समान अपने शत्रु अलम्बुषको मारकर घटोत्कच वह दुष्कर पराक्रम करनेके कारण अपने पिता पाण्डवों तथा बन्धु-बान्धवोंसे सम्मानित एवं प्रशंसित हो उस समय बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करने लगा ॥ ३६ ॥

ततो निनादः सुमहान् समुत्थितः
सशङ्खनानाविधबाणघोषवान् ।
निशम्य तं प्रत्यनदंस्तु पाण्डवा-
स्ततो ध्वनिर्भुवनमथास्पृशद् भृशम् ।३७।

तत्पश्चात् पाण्डवपक्षमें शङ्खध्वनि तथा नाना प्रकारके

घटोत्कचद्वारा अलम्बुषका वध

बाणोंकी सनसनाहटके शब्दसे मिला हुआ बड़ा भारी आनन्द-कोलाहल प्रकट हुआ। उसे सुनकर समस्त पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। वह आनन्दध्वनि जगत्में बहुत दूरतक फैल गयी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अलम्बुषवधे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अलम्बुषवधविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सात्यकिका युद्ध तथा युधिष्ठिरका सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए उसे अर्जुनकी सहायताके लिये कौरवसेनामें प्रवेश करनेका आदेश

धृतराष्ट्र उवाच

भारद्वाजं कथं युद्धे युयुधानो न्यवारयत्।
संजयाचक्ष्व तत्त्वेन परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सात्यकिने युद्धमें द्रोणाचार्यको किस प्रकार रोका ? यह यथार्थरूपसे बताओ। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें महान् कौतूहल हो रहा है ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् महाप्राज्ञ संग्रामं लोमहर्षणम्।
द्रोणस्य पाण्डवैः सार्धं युयुधानपुरोगमैः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! महामते ! द्रोणाचार्यका सात्यकि आदि पाण्डव-योद्धाओंके साथ जो रोमाञ्चकारी संग्राम हुआ था, उसका वर्णन सुनिये ॥ २ ॥

वध्यमानं बलं दृष्ट्वा युयुधानेन मारिष।
अभ्यद्रवत् स्वयं द्रोणः सात्यकिं सत्यविक्रमम् ॥ ३ ॥

माननीय नरेश ! द्रोणाचार्यने जब अपनी सेनाको युयुधानके द्वारा पीड़ित होते देखा, तब वे सत्यपराक्रमी सात्यकिपर स्वयं ही टूट पड़े ॥ ३ ॥

तमापतन्तं सहसा भारद्वाजं महारथम्।
सात्यकिः पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ ४ ॥

उस समय सहसा आते हुए महारथी द्रोणाचार्यको सात्यकिने पचीस बाण मारे ॥ ४ ॥

द्रोणोऽपि युधि विक्रान्तो युयुधानं समाहितः।
अविध्यत् पञ्चभिस्तूर्णं हेमपुङ्खैः शरैः शितैः ॥ ५ ॥

तब पराक्रमी द्रोणाचार्यने भी युद्धस्थलमें एकाग्रचित्त हो तुरंत ही सोनेके पंखवाले पाँच पैने बाणोंद्वारा युयुधानको घायल कर दिया ॥ ५ ॥

ते वर्म भित्त्वा सुदृढं द्विषत्पिशितभोजनाः।
अभ्ययुर्धरणीं राजञ्श्वसन्त इव पन्नगाः ॥ ६ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्यके बाण शत्रुओंके मांस खानेवाले थे। वे सात्यकिके सुदृढ़ कवचको छिन्न-भिन्न करके फुफकारते हुए सर्पोंके समान धरतीमें समा गये ॥ ६ ॥

दीर्घबाहुरभिक्रुद्धस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
द्रोणं पञ्चाशताविध्यन्नाराचैरग्निसंनिभैः ॥ ७ ॥

तब अंकुशकी मार खाये हुए गजराजके समान अत्यन्त कुपित हुए महाबाहु सात्यकिने अग्निके समान तेजस्वी पचास नाराचोंद्वारा द्रोणाचार्यको वेध दिया ॥ ७ ॥

भारद्वाजो रणे विद्धो युयुधानेन सत्वरम्।
सात्यकिं बहुभिर्बाणैर्यतमानमविध्यत ॥ ८ ॥

सात्यकिके द्वारा समराङ्गणमें घायल हो द्रोणाचार्यने शीघ्र ही बहुत-से बाण मारकर विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले सात्यकिको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासो भूय एव महाबलः।
सात्वतं पीडयामास शरेणानतपर्वणा ॥ ९ ॥

तदनन्तर महाधनुर्धर महाबली द्रोणने पुनः कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले एक बाणद्वारा सात्यकिको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ९ ॥

स वध्यमानः समरे भारद्वाजेन सात्यकिः।
नान्वपद्यत कर्तव्यं किञ्चिदेव विशाम्पते ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! समरभूमिमें द्रोणाचार्यके द्वारा क्षत-विक्षत होकर सात्यकिसे कुछ भी करते नहीं बना ॥ १० ॥

विषण्णवदनश्चापि युयुधानोऽभवन्नृप।
भारद्वाजं रणे दृष्ट्वा विसृजन्तं शिताञ्शरान् ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! रणक्षेत्रमें पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए द्रोणाचार्यको देखकर युयुधानके मुखपर विषाद छा गया ॥ ११ ॥

तं तु सम्प्रेक्ष्य ते पुत्राः सैनिकाश्च विशाम्पते।
प्रहृष्टमनसो भूत्वा सिंहवद् व्यनदन् मुहुः ॥ १२ ॥

प्रजापालक नरेश ! उन्हें उस अवस्थामें देखकर आपके पुत्र और सैनिक प्रसन्नचित्त होकर बारंबार सिंहनाद करने लगे ॥ १२ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं पीड्यमानं च माधवम्।
युधिष्ठिरोऽब्रवीद् राजा सर्वसैन्यानि भारत ॥ १३ ॥

भारत ! उनकी वह घोर गर्जना सुनकर और सात्यकिको पीड़ित देखकर राजा युधिष्ठिरने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा— ॥

एष वृष्णिवरो वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः।
ग्रस्यते युधि वीरेण भानुमानिव राहुणा ॥ १४ ॥
अभिद्रवत गच्छध्वं सात्यकिर्यत्र युध्यते।

'योद्धाओ ! जैसे राहु सूर्यको ग्रस लेता है, उसी प्रकार यह वृष्णिवंशका श्रेष्ठ वीर सत्यपराक्रमी सात्यकि युद्धस्थलमें वीर द्रोणाचार्यके द्वारा कालके गालमें जाना चाहता है। अतः तुमलोग दौड़ो और वहीं जाओ, जहाँ सात्यकि युद्ध करता है' ॥ १४½ ॥

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यमिदमाह जनाधिपः ॥ १५ ॥
अभिद्रव द्रुतं द्रोणं किमु तिष्ठसि पार्षत।
न पश्यसि भयं द्रोणाद् घोरं नः समुपस्थितम् ॥ १६ ॥

इसके बाद राजाने पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नसे इस प्रकार कहा—'द्रुपदनन्दन ! खड़े क्यों हो ? तुरंत ही द्रोणाचार्यपर धावा करो। क्या तुम नहीं देखते कि द्रोणकी ओरसे हमलोगोंपर घोर भय उपस्थित हो गया है ? ॥ १५-१६ ॥

असौ द्रोणो महेष्वासो युयुधानेन संयुगे।
क्रीडते सूत्रबद्धेन पक्षिणा बालको यथा ॥ १७ ॥

'जैसे कोई बालक डोरमें बँधे हुए पक्षीके साथ खेलता है, उसी प्रकार ये महाधनुर्धर द्रोण युद्धस्थलमें युयुधानके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ १७ ॥

तत्रैव सर्वे गच्छन्तु भीमसेनपुरोगमाः।
त्वयैव सहिताः सर्वे युयुधानरथं प्रति ॥ १८ ॥

'अतः तुम्हारे साथ भीमसेन आदि सभी महारथी वहीं युयुधानके रथके समीप जायँ ॥ १८ ॥

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि त्वामहं सहसैनिकः।
सात्यकिं मोक्षयस्वाद्य यमदंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ १९ ॥

'फिर मैं भी सम्पूर्ण सैनिकोंके साथ तुम्हारे पीछे-पीछे आऊँगा। इस समय यमराजकी दाढ़ोंमें पहुँचे हुए सात्यकिको छुड़ाओ' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा सर्वसैन्येन भारत।
अभ्यद्रवद् रणे द्रोणं युयुधानस्य कारणात् ॥ २० ॥

भारत ! ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने उस समय रणक्षेत्रमें युयुधानकी रक्षाके लिये अपनी सारी सेनाके साथ द्रोणाचार्य-पर आक्रमण किया ॥ २० ॥

तत्रारावो महानासीद् द्रोणमेकं युयुत्सताम्।
पाण्डवानां च भद्रं ते सृञ्जयानां च सर्वशः ॥ २१ ॥

राजन् ! आपका भला हो। अकेले द्रोणाचार्यके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे आये हुए पाण्डवों और सृञ्जयोंका वहाँ सब ओर महान् कोलाहल छा गया ॥ २१ ॥

ते समेत्य नरव्याघ्रा भारद्वाजं महारथम्।
अभ्यवर्षञ्शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ॥ २२ ॥

वे मनुष्योंमें व्याघ्रके समान पराक्रमी सैनिक महारथी द्रोणाचार्यके पास जाकर कंक और मोरके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

स्मयन्नेव तु तान् वीरान् द्रोणः प्रत्यग्रहीत् स्वयम्।
अतिथीनागतान् यद्वत् सलिलेनासनेन च ॥ २३ ॥
तर्पितास्ते शरैस्तस्य भारद्वाजस्य धन्विनः।
आतिथेयं गृहं प्राप्य नृपतेऽतिथयो यथा ॥ २४ ॥

राजन् ! जैसे घरपर आये हुए अतिथियोंका जल और आसन आदिके द्वारा सत्कार किया जाता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यने स्वयं उन समस्त आक्रमणकारी वीरोंकी मुसकराते हुए ही अगवानी की। जैसे अतिथिसत्कारमें निपुण गृहस्थके घर जाकर अतिथि तृप्त होते हैं, उसी प्रकार धनुर्धर द्रोणाचार्यके बाणोंसे उन सबकी यथेष्ट तृप्ति की गयी ॥ २३-२४ ॥

भारद्वाजं च ते सर्वे न शेकुः प्रतिवीक्षितुम्।
मध्यंदिनमनुप्राप्तं सहस्रांशुमिव प्रभो ॥ २५ ॥

प्रभो ! जैसे दोपहरके प्रचण्ड मार्तण्डकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार वे समस्त योद्धा भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यकी ओर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ॥ २५ ॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
अतापयच्छरव्रातैर्गभस्तिभिरिवांशुमान् ॥ २६ ॥

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य उन समस्त महाधनुर्धरोंको अपने बाणसमूहोंद्वारा उसी प्रकार संतप्त करने लगे, जैसे अंशुमाली सूर्य अपनी किरणोंसे जगत्‌को संताप देते हैं ॥

वध्यमाना महाराज पाण्डवाः सृञ्जयास्तथा।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्कमग्ना इव द्विपाः ॥ २७ ॥

महाराज ! उस समय द्रोणाचार्यकी मार खाते हुए पाण्डव और सृंजय सैनिक कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके समान कोई रक्षक न पा सके ॥ २७ ॥

द्रोणस्य च व्यदृश्यन्त विसर्पन्तो महाशराः।
गभस्तय इवार्कस्य प्रतपन्तः समन्ततः ॥ २८ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें सब ओर ताप प्रदान करती हुई फैल जाती हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके विशाल बाण सब ओर फैलते और शत्रुओंको संतप्त करते दिखायी देते थे ॥ २८ ॥

तस्मिन् द्रोणेन निहताः पञ्चालाः पञ्चविंशतिः।
महारथाः समाख्याता धृष्टद्युम्नस्य सम्मताः ॥ २९ ॥

उस युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा पाञ्चालोंके पचीस सुप्रसिद्ध महारथी मारे गये, जो धृष्टद्युम्नको बहुत ही प्रिय थे ॥२९॥

पाण्डूनां सर्वसैन्येषु पञ्चालानां तथैव च।
द्रोणं स्म ददृशुः शूरं विनिघ्नन्तं वरान् वरान् ॥ ३० ॥

लोगोंने देखा, पाण्डवों और पाञ्चालोंकी समस्त सेनाओंमें जो मुख्य-मुख्य योद्धा हैं, उन्हें शूरवीर द्रोणाचार्य चुन-चुनकर मार रहे हैं ॥ ३० ॥

केकयानां शतं हत्वा विद्राव्य च समन्ततः।
द्रोणस्तस्थौ महाराज व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३१ ॥

महाराज ! सौ केकय-योद्धाओंको मारकर शेष सैनिकोंको चारों ओर खदेड़नेके पश्चात् द्रोणाचार्य मुँह बाये हुए यमराजके समान खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

पञ्चालान् सृञ्जयान् मत्स्यान् केकयांश्च नराधिप।
द्रोणोऽजयन्महाबाहुः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! महाबाहु द्रोणाचार्यने पाञ्चाल, सृञ्जय, मत्स्य और केकयोंके सैकड़ों तथा सहस्रों वीरोंको परास्त किया॥

तेषां समभवच्छब्दो विद्धानां द्रोणसायकैः।
वनौकसामिवारण्ये व्याप्तानां धूम्रकेतुना ॥ ३३ ॥

जैसे घोर जंगलमें दावानलसे व्याप्त हुए वनवासी जन्तुओंकी क्रन्दनध्वनि सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल हुए उन विपक्षी योद्धाओंका आर्तनाद वहाँ श्रवणगोचर होता था ॥ ३३ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः पितरश्चाब्रुवन् नृप।
एते द्रवन्ति पञ्चालाः पाण्डवाश्च ससैनिकाः ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! उस समय वहाँ आकाशमें खड़े हुए देवता, पितर और गन्धर्व कहते थे, ये पाञ्चाल और पाण्डव अपने सैनिकोंके साथ भागे जा रहे हैं ॥ ३४ ॥

तं तथा समरे द्रोणं निघ्नन्तं सोमकान् रणे।
न चाप्यभिययुः केचिदपरे नैव विव्यधुः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार समराङ्गणमें सोमकोंका वध करते हुए द्रोणाचार्यके सामने न तो कोई जा सके और न कोई उन्हें चोट ही पहुँचा सके ॥ ३५ ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे तस्मिन् वीरवरक्षये।
अशृणोत् सहसा पार्थः पाञ्चजन्यस्य निःस्वनम्॥ ३६ ॥

बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल ही रहा था कि सहसा कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने पाञ्चजन्यकी ध्वनि सुनी ॥ ३६ ॥

पूरितो वासुदेवेन शङ्खराट् स्वनते भृशम्।
युध्यमानेषु वीरेषु सैन्धवस्याभिरक्षिषु ॥ ३७ ॥
नदत्सु धार्तराष्ट्रेषु विजयस्य रथं प्रति।
गाण्डीवस्य च निर्घोषे विप्रणष्टे समन्ततः ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके फूँकनेपर वह शङ्खराज पाञ्चजन्य बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार कर रहा था। सिन्धुराज जयद्रथकी रक्षामें नियुक्त हुए वीरगण युद्धमें संलग्न थे। अर्जुनके रथके पास आपके पुत्र और सैनिक गरज रहे थे तथा गाण्डीव धनुषकी टङ्कार सब ओरसे दब गयी थी ॥३७-३८॥

कश्मलाभिहतो राजा चिन्तयामास पाण्डवः।
न नूनं स्वस्ति पार्थाय यथा नदति शङ्खराट् ॥ ३९ ॥
कौरवाश्च यथा हृष्टा विनदन्ति मुहुर्मुहुः।

तब पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर मोहके वशीभूत होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'जिस प्रकार शङ्खराज पाञ्चजन्यकी ध्वनि हो रही है और जिस तरह कौरव-सैनिक बारंबार हर्षनाद कर रहे हैं, उससे जान पड़ता है, निश्चय ही अर्जुनकी कुशल नहीं है' ॥ ३९½॥

एवं स चिन्तयित्वा तु व्याकुलेनान्तरात्मना ॥ ४० ॥
अजातशत्रुः कौन्तेयः सात्वतं प्रत्यभाषत।
बाष्पगद्गदया वाचा मुह्यमानो मुहुर्मुहुः।
कृत्यस्यानन्तरापेक्षी शैनेयं शिनिपुङ्गवम् ॥ ४१ ॥

ऐसा विचारकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरका हृदय व्याकुल हो उठा। वे चाहते थे कि जयद्रथवधका कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो जाय; अतः बारंबार मोहित हो अश्रुगद्गद वाणीमें शिनिप्रवर सात्यकिको सम्बोधित करके बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

यः स धर्मः पुरा दृष्टः सद्भिः शैनेय शाश्वतः।
साम्पराये सुहृत्कृत्ये तस्य कालोऽयमागतः ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—शैनेय ! साधु पुरुषोंने पूर्वकालमें विपत्तिके समय एक सुहृद्के कर्तव्यके विषयमें जिस सनातन धर्मका साक्षात्कार किया है, आज उसीके पालनका अवसर उपस्थित हुआ है ॥ ४२ ॥

सर्वेष्वपि च योधेषु चिन्तयञ्शिनिपुङ्गव।
त्वत्तः सुहृत्तमं कञ्चिन्नाभिजानामि सात्यके ॥ ४३ ॥

शिनिप्रवर सात्यके ! इस दृष्टिसे विचार करनेपर मैं समस्त योद्धाओंमें किसीको भी तुमसे बढ़कर अपना अतिशय सुहृत् नहीं समझ पाता हूँ ॥ ४३ ॥

यो हि प्रीतमना नित्यं यश्च नित्यमनुव्रतः।
स कार्ये साम्पराये तु नियोज्य इति मे मतिः ॥ ४४ ॥

जो सदा प्रसन्नचित्त रहता हो तथा जो नित्य-निरन्तर अपने प्रति अनुराग रखता हो, उसीको संकटकालमें किसी महत्त्वपूर्ण कार्यका सम्पादन करनेके लिये नियुक्त करना चाहिये, ऐसा मेरा मत है ॥ ४४ ॥

यथा च केशवो नित्यं पाण्डवानां परायणम्।
तथा त्वमपि वार्ष्णेय कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥ ४५ ॥

वार्ष्णेय ! जैसे भगवान् श्रीकृष्ण सदा पाण्डवोंके परम आश्रय हैं, उसी प्रकार तुम भी हो। तुम्हारा पराक्रम भी श्रीकृष्णके समान ही है ॥ ४५ ॥

सोऽहं भारं समाधास्ये त्वयि तं वोढुमर्हसि।
अभिप्रायं च मे नित्यं न वृथा कर्तुमर्हसि ॥ ४६ ॥

अतः मैं तुमपर जो कार्यभार रख रहा हूँ, उसका तुम्हें निर्वाह करना चाहिये। मेरे मनोरथको सदा सफल बनानेकी ही तुम्हें चेष्टा करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

स त्वं भ्रातुर्वयस्यस्य गुरोरपि च संयुगे।
कुरु कृच्छ्रे सहायार्थमर्जुनस्य नरर्षभ ॥ ४७ ॥

नरश्रेष्ठ ! अर्जुन तुम्हारा भाई, मित्र और गुरु है। वह युद्धके मैदानमें संकटमें पड़ा हुआ है। अतः तुम उसकी सहायताके लिये प्रयत्न करो ॥ ४७ ॥

त्वं हि सत्यव्रतः शूरो मित्राणामभयङ्करः।
लोके विख्यायसे वीर कर्मभिः सत्यवागिति ॥ ४८ ॥

तुम सत्यव्रती, शूरवीर तथा मित्रोंको अभय देनेवाले हो। वीर ! तुम अपने कर्मोंद्वारा संसारमें सत्यवादीके रूपमें विख्यात हो ॥ ४८ ॥

यो हि शैनेय मित्रार्थे युध्यमानस्त्यजेत् तनुम्।
पृथिवीं च द्विजातिभ्यो यो दद्यात् स समो भवेत्॥४९॥

शैनेय ! जो मित्रके लिये युद्ध करते हुए शरीरका त्याग करता है तथा जो ब्राह्मणोंको समूची पृथ्वीका दान कर देता है, वे दोनों समान पुण्यके भागी होते हैं ॥ ४९ ॥

श्रुताश्च बहवोऽस्माभी राजानो ये दिवं गताः।
दत्त्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ५०॥

हमने सुना है कि बहुत-से राजा ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक इस समूची पृथ्वीका दान करके स्वर्गलोकमें गये हैं ॥५०॥

एवं त्वामपि धर्मात्मन् प्रयाचेऽहं कृताञ्जलिः।
पृथिवीदानतुल्यं स्यादधिकं वा फलं विभो ॥ ५१॥

धर्मात्मन् ! इसी प्रकार तुमसे भी मैं अर्जुनकी सहायताके लिये हाथ जोड़कर याचना करता हूँ। प्रभो ! ऐसा करनेसे तुम्हें पृथ्वीदानके समान अथवा उससे भी अधिक फल प्राप्त होगा ॥ ५१ ॥

एक एव सदा कृष्णो मित्राणामभयङ्करः।
रणे संत्यजति प्राणान् द्वितीयस्त्वं च सात्यके ॥ ५२ ॥

सात्यके ! मित्रोंको अभय प्रदान करनेवाले एक तो भगवान् श्रीकृष्ण ही सदा हमारे लिये युद्धमें अपने प्राणोंका परित्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं और दूसरे तुम ॥५२॥

विक्रान्तस्य च वीरस्य युद्धे प्रार्थयतो यशः।
शूर एव सहायः स्यान्नेतरः प्राकृतो जनः ॥ ५३ ॥

युद्धमें सुयश पानेकी इच्छा रखकर पराक्रम करनेवाले वीर पुरुषकी सहायता कोई शूरवीर पुरुष ही कर सकता है। दूसरा कोई निम्न कोटिका मनुष्य उसका सहायक नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

ईदृशे तु परामर्दे वर्तमानस्य माधव।
त्वदन्यो हि रणे गोप्ता विजयस्य न विद्यते ॥ ५४ ॥

माधव ! ऐसे घोर युद्धमें लगे हुए रणक्षेत्रमें अर्जुनका सहायक एवं संरक्षक होनेयोग्य तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं है॥

श्लाघन्नेव हि कर्माणि शतशस्तव पाण्डवः।
मम संजनयन् हर्षं पुनः पुनरकीर्तयत् ॥ ५५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने तुम्हारे सैकड़ों कार्योंकी प्रशंसा करते और मेरा हर्ष बढ़ाते हुए बारंबार तुम्हारे गुणोंका वर्णन किया था ॥ ५५ ॥

लघुहस्तश्चित्रयोधी तथा लघुपराक्रमः।
प्राज्ञः सर्वास्त्रविच्छूरो मुह्यते न च संयुगे ॥ ५६ ॥

वह कहता था—'सात्यकिके हाथोंमें बड़ी फुर्ती है। वह विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाला और शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाला है। सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञाता, विद्वान् एवं शूरवीर सात्यकि युद्धस्थलमें कभी मोहित नहीं होता है ॥५६॥

महास्कन्धो महोरस्को महाबाहुर्महाहनुः।
महाबलो महावीर्यः स महात्मा महारथः ॥ ५७ ॥

'उसके कंधे महान्, छाती चौड़ी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और ठोढ़ी विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट हैं। वह महाबली, महापराक्रमी, महामनस्वी और महारथी है ॥ ५७ ॥

शिष्यो मम सखा चैव प्रियोऽस्याहं प्रियश्च मे।
युयुधानः सहायो मे प्रमथिष्यति कौरवान् ॥ ५८ ॥

'सात्यकि मेरा शिष्य और सखा है। मैं उसको प्रिय हूँ और वह मुझे। युयुधान मेरा सहायक होकर मेरे विपक्षी कौरवोंका संहार कर डालेगा ॥ ५८ ॥

अस्मदर्थं च राजेन्द्र संनह्येद् यदि केशवः।
रामो वाप्यनिरुद्धो वा प्रद्युम्नो वा महारथः ॥ ५९ ॥
गदो वा सारणो वापि साम्बो वा सह वृष्णिभिः।
सहायार्थं महाराज संग्रामोत्तममूर्धनि ॥ ६० ॥
तथाप्यहं नरव्याघ्रं शैनेयं सत्यविक्रमम्।
साहाय्ये विनियोक्ष्यामि नास्ति मेऽन्यो हि तत्समः॥६१॥

'राजेन्द्र ! महाराज ! यदि युद्धके श्रेष्ठ मुहानेपर हमारी सहायताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, अनिरुद्ध, महारथी प्रद्युम्न, गद, सारण अथवा वृष्णिवंशियोंसहित साम्ब कवच धारण करके तैयार होंगे, तो भी मैं पुरुषसिंह सत्यपराक्रमी शिनिपौत्र सात्यकिको अवश्य ही अपनी सहायताके कार्यमें नियुक्त करूँगा; क्योंकि मेरी दृष्टिमें दूसरा कोई सात्यकिके समान नहीं है' ॥ ५९–६१ ॥

इति द्वैतवने तात मामुवाच धनंजयः।
परोक्षे त्वद्गुणांस्तथ्यान् कथयन्नार्यसंसदि ॥ ६२ ॥

तात ! इस प्रकार अर्जुनने द्वैतवनमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी सभामें तुम्हारे यथार्थ गुणोंका वर्णन करते हुए परोक्षमें मुझसे उपर्युक्त बातें कही थीं ॥ ६२ ॥

तस्य त्वमेवं संकल्पं न वृथा कर्तुमर्हसि।
धनंजयस्य वार्ष्णेय मम भीमस्य चोभयोः ॥ ६३ ॥

वार्ष्णेय ! अर्जुनका, मेरा, भीमसेनका तथा दोनों माद्रीकुमारोंका तुम्हारे विषयमें जो वैसा संकल्प है, उसे तुम्हें व्यर्थ नहीं करना चाहिये ॥ ६३ ॥

यच्चापि तीर्थानि चरन्नगच्छं द्वारकां प्रति ।
तत्राहमपि ते भक्तिमर्जुनं प्रति दृष्टवान् ॥ ६४ ॥

जब मैं तीर्थोंमें विचरता हुआ द्वारकामें गया था, वहाँ भी अर्जुनके प्रति जो तुम्हारा भक्तिभाव है, उसे मैंने प्रत्यक्ष देखा था ॥ ६४ ॥

न तत् सौहृदमन्येषु मया शैनेय लक्षितम् ।
यथा त्वमस्मान् भजसे वर्तमानानुपप्लवे ॥ ६५ ॥

शैनेय ! इस विनाशकारी संकटमें पड़े हुए हमलोगोंकी तुम जिस प्रकार सेवा एवं सहायता कर रहे हो, वैसा सौहार्द मैंने तुम्हारे सिवा दूसरोंमें नहीं देखा है ॥ ६५ ॥

सोऽभिजात्या च भक्त्या च सख्यस्याचार्यकस्य च ।
सौहृदस्य च वीर्यस्य कुलीनत्वस्य माधव ॥ ६६ ॥
सत्यस्य च महाबाहो अनुकम्पार्थमेव च ।
अनुरूपं महेष्वास कर्म त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ६७ ॥

महाबाहु महाधनुर्धर माधव ! वही तुम हमलोगोंपर कृपा करनेके लिये ही उत्तम कुलमें जन्म-ग्रहण, अर्जुनके प्रति भक्तिभाव, मैत्री, गुरुभाव, सौहार्द, पराक्रम, कुलीनता और सत्यके अनुरूप कर्म करो ॥ ६६-६७ ॥

सुयोधनो हि सहसा गतो द्रोणेन दंशितः ।
पूर्वमेवानुयातास्ते कौरवाणां महारथाः ॥ ६८ ॥

द्रोणाचार्यद्वारा दी गयी कवचधारणासे सुरक्षित हो दुर्योधन सहसा अर्जुनका सामना करनेके लिये गया है। बहुतेरे कौरव महारथियोंने पहलेसे ही उसका पीछा किया था ॥

सुमहान् निनदश्चैव श्रूयते विजयं प्रति ।
स शैनेय जवेनाशु गन्तुमर्हसि मानद ॥ ६९ ॥

जहाँ अर्जुन हैं, उस ओर बड़े जोरकी गर्जना सुनायी दे रही है। अतः दूसरोंको मान देनेवाले शैनेय ! तुम्हें शीघ्रतापूर्वक बड़े वेगसे वहाँ जाना चाहिये ॥ ६९ ॥

भीमसेनो वयं चैव संयत्ताः ससैनिकाः ।
द्रोणमावारयिष्यामो यदि त्वां प्रति यास्यति ॥ ७० ॥

भीमसेन और हमलोग अपने सैनिकोंके साथ सब प्रकार-से सावधान हैं। यदि द्रोणाचार्य तुम्हारा पीछा करेंगे तो हम सब लोग उन्हें रोकेंगे ॥ ७० ॥

पश्य शैनेय सैन्यानि द्रवमाणानि संयुगे ।
महान्तं च रणे शब्दं दीर्यमाणां च भारतीम् ॥ ७१ ॥

शैनेय ! वह देखो, उधर युद्धस्थलमें सेनाएँ भाग रही हैं। रणक्षेत्रमें महान् कोलाहल हो रहा है और मोरचे-बंदी करके खड़ी हुई कौरवी सेनामें दरारें पड़ रही हैं ॥

महामारुतवेगेन समुद्रमिव पर्वसु ।
धार्तराष्ट्रबलं तात विक्षिप्तं सव्यसाचिना ॥ ७२ ॥

तात ! पूर्णिमाके दिन प्रचण्ड वायुके वेगसे विक्षुब्ध हुए समुद्रके समान सव्यसाची अर्जुनके द्वारा पीड़ित हुई दुर्योधनकी सेनामें हलचल मच गयी है ॥ ७२ ॥

रथैर्विपरिधावद्भिर्मनुष्यैश्च हयैश्च ह ।
सैन्यं रजःसमुद्धूतमेतत् सम्परिवर्तते ॥ ७३ ॥

इधर-उधर भागते हुए रथों, मनुष्यों और घोड़ोंके द्वारा उड़ी हुई धूलसे आच्छादित हुई यह सारी सेना चक्कर काट रही है ॥ ७३ ॥

संवृतः सिन्धुसौवीरैर्नखरप्रासयोधिभिः ।
अत्यन्तोपचितैः शूरैः फाल्गुनः परवीरहा ॥ ७४ ॥

शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाला अर्जुन, नखर (बघनखे) और प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले तथा अधिक संख्यामें एकत्र हुए सिन्धु-सौवीर देशके शूरवीर सैनिकोंसे घिर गया है ॥ ७४॥

नैतद् बलमसंवार्य शक्यो जेतुं जयद्रथः ।
एते हि सैन्धवस्यार्थे सर्वे संत्यक्तजीविताः ॥ ७५ ॥

इस सेनाका निवारण किये बिना जयद्रथको जीतना असम्भव है। ये सभी सैनिक सिन्धुराजके लिये अपना जीवन न्यौछावर कर चुके हैं ॥ ७५ ॥

शरशक्तिध्वजवरं हयनागसमाकुलम् ।
पश्यैतद् धार्तराष्ट्राणामनीकं सुदुरासदम् ॥ ७६ ॥

बाण, शक्ति और ध्वजाओंसे सुशोभित तथा घोड़े और हाथियोंसे भरी हुई कौरवोंकी इस दुर्जय सेनाको देखो ॥७६॥

शृणु दुन्दुभिनिर्घोषं शङ्खशब्दांश्च पुष्कलान् ।
सिंहनादरवांश्चैव रथनेमिस्वनांस्तथा ॥ ७७ ॥

सुनो, डंकोंकी आवाज हो रही है, जोर-जोरसे शङ्ख बज रहे हैं, वीरोंके सिंहनाद तथा रथोंके पहियोंकी घर्घराहटके शब्द सुनायी पड़ रहे हैं ॥ ७७ ॥

नागानां शृणु शब्दं च पत्तीनां च सहस्रशः ।
सादिनां द्रवतां चैव शृणु कम्पयतां महीम् ॥ ७८ ॥

हाथियोंके चिग्घाड़नेकी आवाज सुनो। सहस्रों पैदल सिपाहियों तथा पृथ्वीको कम्पित करते हुए दौड़ लगानेवाले घुड़सवारोंके शब्द सुन लो ॥ ७८ ॥

पुरस्तात् सैन्धवानीकं द्रोणानीकं च पृष्ठतः ।
बहुत्वाद्धि नरव्याघ्र देवेन्द्रमपि पीडयेत् ॥ ७९ ॥

नरव्याघ्र ! अर्जुनके सामने सिन्धुराजकी सेना है और पीछे द्रोणाचार्यकी। इसकी संख्या इतनी अधिक है कि यह देवराज इन्द्रको भी पीड़ित कर सकती है ॥ ७९ ॥

अपर्यन्ते बले मग्नो जह्यादपि च जीवितम् ।
तस्मिंश्च निहते युद्धे कथं जीवेत मादृशः ॥ ८० ॥
सर्वथाहमनुप्राप्तः सुकृच्छ्रं त्वयि जीवति ।

इस अनन्त सैन्यसमुद्रमें डूबकर अर्जुन अपने प्राणोंका भी परित्याग कर देगा। युद्धमें उसके मारे जानेपर मेरे-जैसा

मनुष्य कैसे जीवित रह सकता है ? युयुधान ! तुम्हारे जीते-जी मैं सब प्रकारसे बड़े भारी संकटमें पड़ गया हूँ ॥८०½॥

श्यामो युवा गुडाकेशो दर्शनीयश्च पाण्डवः ॥ ८१ ॥
लघ्वस्त्रश्चित्रयोधी च प्रविष्टस्तात भारतीम् ।
सूर्योदये महाबाहुर्दिवसश्चातिवर्तते ॥ ८२ ॥

निद्राविजयी पाण्डुकुमार अर्जुन श्यामवर्णवाला दर्शनीय तरुण है। वह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाता और विचित्र रीतिसे युद्ध करता है। तात ! उस महाबाहु वीरने सूर्योदयके समय अकेले ही कौरवी सेनामें प्रवेश किया था और अब दिन बीतता चला जा रहा है ॥ ८१-८२ ॥

तन्न जानामि वार्ष्णेय यदि जीवति वा न वा ।
कुरूणां चापि तत् सैन्यं सागरप्रतिमं महत् ॥ ८३ ॥
एक एव च बीभत्सुः प्रविष्टस्तात भारतीम् ।
अविषह्यां महाबाहुः सुरैरपि महाहवे ॥ ८४ ॥

वार्ष्णेय ! पता नहीं, इस समयतक अर्जुन जीवित है या नहीं । महासमरमें जिसके वेगको सहन करना देवताओंके लिये भी असम्भव है, कौरवोंकी वह सेना समुद्रके समान विशाल है, तात ! उस कौरवी सेनामें महाबाहु अर्जुनने अकेले ही प्रवेश किया है ॥ ८३-८४ ॥

न हि मे वर्तते बुद्धिरद्य युद्धे कथंचन ।
द्रोणोऽपि रभसो युद्धे मम पीडयते बलम् ॥ ८५ ॥

आज किसी प्रकार मेरी बुद्धि युद्धमें नहीं लग रही है । इधर द्रोणाचार्य भी युद्धस्थलमें बड़े वेगसे आक्रमण करके मेरी सेनाको पीड़ित कर रहे हैं ॥ ८५ ॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथासौ चरति द्विजः ।
युगपच्च समेतानां कार्याणां त्वं विचक्षणः ॥ ८६ ॥

महाबाहो ! विप्रवर द्रोणाचार्य जैसा कार्य कर रहे हैं, वह सब तुम्हारी आँखोंके सामने है । एक ही समय प्राप्त हुए अनेक कार्योंमेंसे किसका पालन आवश्यक है, इसका निर्णय करनेमें तुम कुशल हो ॥ ८६ ॥

महार्थं लघुसंयुक्तं कर्तुमर्हसि मानद ।
तस्य मे सर्वकार्येषु कार्यमेतन्मतं महत् ॥ ८७ ॥
अर्जुनस्य परित्राणं कर्तव्यमिति संयुगे ।

मानद ! सबसे महान् प्रयोजनको तुम्हें शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न करना चाहिये । मुझे तो सब कार्योंमें सबसे महान् कार्य यही जान पड़ता है कि युद्धस्थलमें अर्जुनकी रक्षा की जाय ॥ ८७½ ॥

नाहं शोचामि दाशार्हं गोप्तारं जगतः पतिम् ॥ ८८ ॥
स हि शक्तो रणे तात त्रींल्लोकानपि संगतान् ।
विजेतुं पुरुषव्याघ्रः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ८९ ॥
किं पुनर्धार्तराष्ट्रस्य बलमेतत् सुदुर्बलम् ।

तात ! मैं दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके लिये शोक नहीं करता । वे तो सम्पूर्ण जगत्के संरक्षक और स्वामी हैं । युद्धस्थलमें तीनों लोक संघटित होकर आ जायँ तो भी वे पुरुषसिंह श्रीकृष्ण उन सबको परास्त कर सकते हैं, यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ । फिर दुर्योधनकी इस अत्यन्त दुर्बल सेनाको जीतना उनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ८८–८९½ ॥

अर्जुनस्त्वेष वार्ष्णेय पीडितो बहुभिर्युधि ॥ ९० ॥
प्रजह्यात् समरे प्राणांस्तस्माद् विन्दामि कश्मलम् ।

परंतु वार्ष्णेय ! यह अर्जुन तो युद्धस्थलमें बहुसंख्यक सैनिकोंद्वारा पीड़ित होनेपर समराङ्गणमें अपने प्राणोंका परित्याग कर देगा । इसीलिये मैं शोक और दुःखमें डूबा जा रहा हूँ ॥ ९०½ ॥

तस्य त्वं पदवीं गच्छ गच्छेयुस्त्वादृशा यथा ॥ ९१ ॥
तादृशस्येदृशे काले मादृशेनाभिनोदितः ।

अतः तुम मेरे-जैसे मनुष्यसे प्रेरित हो ऐसे संकटके समय अर्जुन-जैसे प्रिय सखाके पथका अनुसरण करो, जैसा कि तुम्हारे-जैसे वीर पुरुष किया करते हैं ॥ ९१½ ॥

रणे वृष्णिप्रवीराणां द्वावेवातिरथौ स्मृतौ ॥ ९२ ॥
प्रद्युम्नश्च महाबाहुस्त्वं च सात्वत विश्रुतः ।

सात्वत ! वृष्णिवंशी प्रमुख वीरोंमें रणक्षेत्रके लिये दो ही व्यक्ति अतिरथी माने गये हैं—एक तो महाबाहु प्रद्युम्न और दूसरे सुविख्यात वीर तुम ॥ ९२½ ॥

अस्त्रे नारायणसमः संकर्षणसमो बले ॥ ९३ ॥
वीरतायां नरव्याघ्र धनंजयसमो ह्यसि ।

नरव्याघ्र ! तुम अस्त्रविद्याके ज्ञानमें भगवान् श्रीकृष्णके समान, बलमें बलरामजीके तुल्य और वीरतामें धनंजयके समान हो ॥ ९३½ ॥

भीष्मद्रोणावतिक्रम्य सर्वयुद्धविशारदम् ॥ ९४ ॥
त्वामेव पुरुषव्याघ्रं लोके सन्तः प्रचक्षते ।

इस जगत्में भीष्म और द्रोणके बाद तुझ पुरुषसिंह सात्यकिको ही श्रेष्ठ पुरुष सम्पूर्ण युद्धकलामें निपुण बताते हैं ॥९४½॥

(सदेवासुरगन्धर्वान् सकिन्नरमहोरगान् ।
योधयेत् स जगत् सर्वं विजयेत रिपून् बहून् ॥
इति ब्रुवन्ति लोकेषु जनास्तव गुणान् सदा ।
समागमेषु जल्पन्ति पृथगेव च सर्वदा ॥)

जब अच्छे पुरुषोंका समाज जुटता है, उस समय उसमें आये हुए सब लोग संसारमें तुम्हारे गुणोंको सदा-सर्वदा सबसे विलक्षण ही बतलाते हैं । उनका कहना है कि सात्यकि देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर तथा बड़े-बड़े नागोंसहित बहुसंख्यक शत्रुओंपर विजय पा सकते हैं । सम्पूर्ण जगत्से अकेले ही युद्ध कर सकते हैं ॥

नाशक्यं विद्यते लोके सात्यकेरिति माधव ॥ ९५ ॥
तत् त्वां यदभिवक्ष्यामि तत् कुरुष्व महाबल ।
सम्भावना हि लोकस्य मम पार्थस्य चोभयोः ॥ ९६ ॥
नान्यथा तां महाबाहो सम्प्रकर्तुमिहार्हसि ।
परित्यज्य प्रियान् प्राणान् रणे चर विभीतवत् ॥ ९७ ॥

माधव ! लोग कहते हैं कि संसारमें सात्यकिके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं है । महाबली वीर ! सब लोगोंकी तथा मेरी और अर्जुनकी—दोनों भाइयोंकी तुम्हारे विषयमें बड़ी उत्तम भावना है । अतः मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसका पालन करो । महाबाहो ! तुम हमारी पूर्वोक्त धारणाको बदल न देना । समराङ्गणमें प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर निर्भयके समान विचरो ॥ ९५–९७ ॥

न हि शैनेय दाशार्हा रणे रक्षन्ति जीवितम् ।
अयुद्धमनवस्थानं संग्रामे च पलायनम् ॥ ९८ ॥
भीरूणामसतां मार्गो नैष दाशार्हसेवितः ।

शैनेय ! दशार्हकुलके वीर पुरुष रणक्षेत्रमें अपने प्राण बचानेकी चेष्टा नहीं करते हैं । युद्धसे मुँह मोड़ना, युद्धस्थलमें डटे न रहना और संग्रामभूमिमें पीठ दिखाकर भागना यह कायरों और अधम पुरुषोंका मार्ग है । दशार्हकुलके वीर पुरुष इससे दूर रहते हैं ॥ ९८½ ॥

तवार्जुनो गुरुस्तात धर्मात्मा शिनिपुङ्गव ॥ ९९ ॥
वासुदेवो गुरुश्चापि तव पार्थस्य धीमतः ।

तात ! शिनिप्रवर ! धर्मात्मा अर्जुन तुम्हारा गुरु है तथा भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे और बुद्धिमान् अर्जुनके भी गुरु हैं ॥ ९९½ ॥

कारणद्वयमेतद्धि जानंस्त्वामहमब्रुवम् ॥ १०० ॥
मावमंस्था वचो मह्यं गुरुस्तव गुरोर्ह्यहम् ।

इन दोनों कारणोंको जानकर मैं तुमसे इस कार्यके लिये कह रहा हूँ । तुम मेरी बातकी अवहेलना न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे गुरुका भी गुरु हूँ ॥ १००½ ॥

वासुदेवमतं चैव मम चैवार्जुनस्य च ॥ १०१ ॥
सत्यमेतन्मयोक्तं ते याहि यत्र धनंजयः ।

तुम्हारा वहाँ जाना भगवान् श्रीकृष्णको, मुझको तथा अर्जुनको भी प्रिय है । यह मैंने तुमसे सच्ची बात कही है । अतः जहाँ अर्जुन है, वहाँ जाओ ॥ १०१½ ॥

एतद् वचनमाज्ञाय मम सत्यपराक्रम ॥ १०२ ॥
प्रविशैतद् बलं तात धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।

सत्यपराक्रमी वत्स ! तुम मेरी इस बातको मानकर दुर्बुद्धि दुर्योधनकी इस सेनामें प्रवेश करो ॥ १०२½ ॥

प्रविश्य च यथान्यायं संगम्य च महारथैः ।
यथार्हमात्मनः कर्म रणे सात्वत दर्शय ॥ १०३ ॥

सात्वत ! इसमें प्रवेश करके यथायोग्य सब महारथियोंसे मिलकर युद्धमें अपने अनुरूप पराक्रम दिखाओ ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १०५ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकि और युधिष्ठिरका संवाद

संजय उवाच

प्रीतियुक्तं च हृद्यं च मधुराक्षरमेव च ।
कालयुक्तं च चित्रं च न्याय्यं यच्चापि भाषितुम् ॥ १ ॥
धर्मराजस्य तद् वाक्यं निशम्य शिनिपुङ्गवः ।
सात्यकिर्भरतश्रेष्ठ प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! धर्मराजका वह वचन प्रेमपूर्ण, मनको प्रिय लगनेवाला, मधुर अक्षरोंसे युक्त, सामयिक, विचित्र, कहने योग्य तथा न्यायसङ्गत था । भरतश्रेष्ठ ! उसे सुनकर शिनिप्रवर सात्यकिने युधिष्ठिरको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १-२ ॥

श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेतन्मयाच्युत ।
न्याययुक्तं च चित्रं च फाल्गुनार्थे यशस्करम् ॥ ३ ॥

'अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! आपने अर्जुनकी सहायताके लिये जो-जो बातें कही हैं, वह सब मैंने सुन लीं । आपका कथन अद्भुत, न्यायसङ्गत और यशकी वृद्धि करनेवाला है ॥ ३ ॥

एवंविधे तथा काले मादृशं प्रेक्ष्य सम्मतम् ।
वक्तुमर्हसि राजेन्द्र यथा पार्थे तथैव माम् ॥ ४ ॥

'राजेन्द्र ! ऐसे समयमें मेरे-जैसे प्रिय व्यक्तिको देखकर आप जैसी बात कह सकते हैं, वैसी ही कही है । आप अर्जुनसे जो कुछ कह सकते हैं, वही आपने मुझसे भी कहा है ॥ ४ ॥

न मे धनंजयस्यार्थे प्राणा रक्ष्याः कथंचन ।
त्वत्प्रयुक्तः पुनरहं किं न कुर्यां महाहवे ॥ ५ ॥

'महाराज ! अर्जुनके हितके लिये मुझे किसी प्रकार भी अपने प्राणोंकी रक्षाकी चिन्ता नहीं करनी है; फिर आपका आदेश मिलनेपर मैं इस महायुद्धमें क्या नहीं कर सकता हूँ ! ॥ ५ ॥

लोकत्रयं योधयेयं सदेवासुरमानुषम् ।
त्वत्प्रयुक्तो नरेन्द्रेह किमुतैतत् सुदुर्बलम् ॥ ६ ॥

'नरेन्द्र ! आपकी आज्ञा हो तो देवताओं, असुरों तथा मनुष्योंसहित तीनों लोकोंके साथ मैं युद्ध कर सकता हूँ । फिर यहाँ इस अत्यन्त दुर्बल कौरवी सेनाका सामना करना कौन बड़ी बात है ? ॥ ६ ॥

सुयोधनबलं त्वद्य योधयिष्ये समन्ततः ।
विजेष्ये च रणे राजन् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'राजन् ! मैं रणक्षेत्रमें आज चारों ओर घूमकर दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा और उसपर विजय पाऊँगा; यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ७ ॥

कुशल्यहं कुशलिनं समासाद्य धनंजयम् ।
हते जयद्रथे राजन् पुनरेष्यामि तेऽन्तिकम् ॥ ८ ॥

'राजन् ! मैं कुशलपूर्वक रहकर सकुशल अर्जुनके पास पहुँच जाऊँगा और जयद्रथके मारे जानेपर उनके साथ ही आपके पास लौट आऊँगा ॥ ८ ॥

अवश्यं तु मया सर्वं विज्ञाप्यस्त्वं नराधिप ।
वासुदेवस्य यद् वाक्यं फाल्गुनस्य च धीमतः ॥ ९ ॥

'परंतु नरेश्वर ! भगवान् श्रीकृष्ण तथा बुद्धिमान् अर्जुनने युद्धके लिये जाते समय मुझसे जो कुछ कहा था, वह सब आपको सूचित कर देना मेरे लिये अत्यन्त आवश्यक है ॥ ९ ॥

दृढं त्वभिपरीतोऽहमर्जुनेन पुनः पुनः ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ १० ॥

'अर्जुनने सारी सेनाके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए मुझे बारंबार कहकर दृढ़तापूर्वक बाँध लिया है ॥ १० ॥

अद्य माधव राजानमप्रमत्तोऽनुपालय ।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा यावद्धन्मि जयद्रथम् ॥ ११ ॥

'उन्होंने कहा था—'माधव ! आज मैं जबतक जयद्रथका वध करता हूँ, तबतक युद्धमें तुम श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पूरी सावधानीके साथ राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करो ॥ ११ ॥

त्वयि चाहं महाबाहो प्रद्युम्ने वा महारथे ।
नृपं निक्षिप्य गच्छेयं निरपेक्षो जयद्रथम् ॥ १२ ॥

''महाबाहो ! मैं तुमपर अथवा महारथी प्रद्युम्नपर ही भरोसा करके राजाको धरोहरकी भाँति सौंपकर निरपेक्षभावसे जयद्रथके पास जा सकता हूँ ॥ १२ ॥

जानीषे हि रणे द्रोणं रभसं श्रेष्ठसम्मतम् ।
प्रतिज्ञा चापि ते नित्यं श्रुता द्रोणस्य माधव ॥ १३ ॥

''माधव ! तुम जानते ही हो कि रणक्षेत्रमें श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सम्मानित आचार्य द्रोण कितने वेगशाली हैं । उन्होंने जो प्रतिज्ञा कर रक्खी है, उसे भी तुम प्रतिदिन सुनते ही होगे ॥ १३ ॥

ग्रहणे धर्मराजस्य भारद्वाजोऽपि गृध्यति ।
शक्तश्चापि रणे द्रोणो निग्रहीतुं युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

''द्रोणाचार्य भी धर्मराजको बंदी बनाना चाहते हैं और वे समराङ्गणमें राजा युधिष्ठिरको कैद करनेमें समर्थ भी हैं ॥ १४ ॥

एवं त्वयि समाधाय धर्मराजं नरोत्तमम् ।
अहमद्य गमिष्यामि सैन्धवस्य वधाय हि ॥ १५ ॥

''ऐसी अवस्थामें नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरकी रक्षाका सारा भार तुमपर ही रखकर आज मैं सिन्धुराजके वधके लिये जाऊँगा ॥ १५ ॥

जयद्रथं च हत्वाहं द्रुतमेष्यामि माधव ।
धर्मराजं न चेद् द्रोणो निगृह्णीयाद् रणे बलात् ॥ १६ ॥

''माधव ! यदि द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें धर्मराजको बलपूर्वक बंदी न बना सकें तो मैं जयद्रथका वध करके शीघ्र ही लौट आऊँगा ॥ १६ ॥

निगृहीते नरश्रेष्ठे भारद्वाजेन माधव ।
सैन्धवस्य वधो न स्यान्ममाप्रीतिस्तथा भवेत् ॥ १७ ॥

''मधुवंशी वीर ! यदि द्रोणाचार्यने नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरको कैद कर लिया तो सिन्धुराजका वध नहीं हो सकेगा और मुझे भी महान् दुःख होगा ॥ १७ ॥

एवंगते नरश्रेष्ठे पाण्डवे सत्यवादिनि ।
अस्माकं गमनं व्यक्तं वनं प्रति भवेत् पुनः ॥ १८ ॥

''यदि सत्यवादी नरश्रेष्ठ पाण्डुकुमार युधिष्ठिर इस प्रकार बंदी बनाये गये तो निश्चय ही हमें पुनः वनमें जाना पड़ेगा ॥ १८ ॥

सोऽयं मम जयो व्यक्तं व्यर्थ एव भविष्यति ।
यदि द्रोणो रणे क्रुद्धो निगृह्णीयाद् युधिष्ठिरम् ॥ १९ ॥

''यदि द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें कुपित होकर युधिष्ठिरको कैद कर लेंगे तो मेरी यह विजय अवश्य ही व्यर्थ हो जायगी ॥ १९ ॥

स त्वमद्य महाबाहो प्रियार्थं मम माधव ।
जयार्थं च यशोऽर्थं च रक्ष राजानमाहवे ॥ २० ॥

''महाबाहु माधव ! इसलिये तुम आज मेरा प्रिय करने, मुझे विजय दिलाने और मेरे यशकी वृद्धि करनेके लिये युद्धस्थलमें राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करो' ॥ २० ॥

स भवान् मयि निक्षेपो निक्षिप्तः सव्यसाचिना ।
भारद्वाजाद् भयं नित्यं मन्यमानेन वै प्रभो ॥ २१ ॥

'प्रभो ! इस प्रकार द्रोणाचार्यसे निरन्तर भय मानते हुए सव्यसाची अर्जुनने आपको मेरे पास धरोहरके रूपमें रख छोड़ा है ॥ २१ ॥

तस्यापि च महाबाहो नित्यं पश्यामि संयुगे ।
नान्यं हि प्रतियोद्धारं रौक्मिणेयादृते प्रभो ॥ २२ ॥

'महाबाहो ! प्रभो ! मैं प्रतिदिन युद्धस्थलमें रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके सिवा दूसरे किसी वीरको ऐसा नहीं देखता, जो द्रोणाचार्यके सामने खड़ा होकर उनसे युद्ध कर सके ॥२२॥

मां चापि मन्यते युद्धे भारद्वाजस्य धीमतः ।
सोऽहं सम्भावनां चैतामाचार्यवचनं च तत् ॥ २३ ॥
पृष्ठतो नोत्सहे कर्तुं त्वां वा त्यक्तुं महीपते ।

'अर्जुन मुझे भी बुद्धिमान् द्रोणाचार्यका सामना करनेमें समर्थ योद्धा मानते हैं । महीपते ! मैं अपने आचार्यकी इस सम्भावनाको तथा उनके उस आदेशको न तो पीछे ढकेल सकता हूँ और न आपको ही त्याग सकता हूँ ॥ २३½ ॥

आचार्यो लघुहस्तत्वादभेद्यकवचावृतः ॥ २४ ॥
उपलभ्य रणे क्रीडेद् यथा शकुनिना शिशुः ।

'द्रोणाचार्य अभेद्य कवचसे सुरक्षित हैं । वे शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेके कारण रणक्षेत्रमें अपने विपक्षीको पाकर उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं, जैसे कोई बालक पक्षीके साथ खेल रहा हो ॥ २४½ ॥

यदि कार्ष्णिर्धनुष्पाणिरिह स्यान्मकरध्वजः ॥२५ ॥
तस्मै त्वां विसृजेयं वै स त्वां रक्षेद् यथार्जुनः ।

'यदि कामदेवके अवतार श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न यहाँ हाथमें धनुष लेकर खड़े होते तो उन्हें मैं आपको सौंप देता । वे अर्जुनके समान ही आपकी रक्षा कर सकते थे ॥ २५½ ॥

कुरु त्वमात्मनो गुप्तिं कस्ते गोप्ता गते मयि ॥ २६ ॥
यः प्रतीयाद् रणे द्रोणं यावद् गच्छामि पाण्डवम् ।

'आप पहले अपनी रक्षाकी व्यवस्था कीजिये । मेरे चले जानेपर कौन आपका संरक्षण करनेवाला है, जो रणक्षेत्रमें तबतक द्रोणाचार्यका सामना करता रहे, जबतक कि मैं अर्जुनके पास जाता (और लौटता) हूँ ॥ २६½ ॥

मा च ते भयमद्यास्तु राजन्नर्जुनसम्भवम् ॥ २७ ॥
न स जातु महाबाहुर्भारमुद्यम्य सीदति ।

'महाराज ! आज आपके मनमें अर्जुनके लिये भय नहीं होना चाहिये । वे महाबाहु किसी कार्यभारको उठा लेनेपर कभी शिथिल नहीं होते हैं ॥ २७½ ॥

ये च सौवीरका योधास्तथा सैन्धवपौरवाः ॥ २८ ॥
उदीच्या दाक्षिणात्याश्च ये चान्येऽपि महारथाः ।
ये च कर्णमुखा राजन् रथोदाराः प्रकीर्तिताः ॥ २९ ॥
एतेऽर्जुनस्य क्रुद्धस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

'राजन् ! जो सौवीर, सिन्धु तथा पुरुदेशके योद्धा हैं, जो उत्तर और दक्षिणके निवासी एवं अन्य महारथी हैं तथा जो कर्ण आदि श्रेष्ठ रथी बताये गये हैं; वे कुपित हुए अर्जुनकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ॥ २८-२९½ ॥

उद्युक्ता पृथिवी सर्वा ससुरासुरमानुषा ॥ ३० ॥
सराक्षसगणा राजन् सकिन्नरमहोरगा ।
जङ्गमाः स्थावराः सर्वे नालं पार्थस्य संयुगे ॥ ३१ ॥

'नरेश्वर ! देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, किन्नर तथा महान् सर्पगणोंसहित यह समूची पृथ्वी और सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी युद्धके लिये उद्यत हो जायँ, तो भी सब मिलकर भी युद्धस्थलमें अर्जुनका सामना नहीं कर सकते हैं ॥३०-३१॥

एवं ज्ञात्वा महाराज व्येतु ते भीर्धनंजये ।
यत्र वीरौ महेष्वासौ कृष्णौ सत्यपराक्रमौ ॥ ३२ ॥
न तत्र कर्मणो व्यापत् कथञ्चिदपि विद्यते ।

'महाराज ! ऐसा जानकर अर्जुनके विषयमें आपका भय दूर हो जाना चाहिये । जहाँ सत्यपराक्रमी और महाधनुर्धर वीर श्रीकृष्ण एवं अर्जुन विद्यमान हैं, वहाँ किसी प्रकार भी कार्यमें व्याघात नहीं हो सकता ॥ ३२½ ॥

दैवं कृतास्त्रतां योगममर्षमपि चाहवे ॥ ३३ ॥
कृतज्ञतां दयां चैव भ्रातुस्त्वमनुचिन्तय ।

'आपके भाई अर्जुनमें जो दैवीशक्ति, अस्त्रविद्याकी निपुणता, योग, युद्धस्थलमें अमर्ष, कृतज्ञता और दया आदि सद्गुण हैं, उनका आप बारंबार चिन्तन कीजिये ॥ ३३½ ॥

मयि चापि सहाये ते गच्छमानेऽर्जुनं प्रति ॥ ३४ ॥
द्रोणे चित्रास्त्रतां संख्ये राजंस्त्वमनुचिन्तय ।

'राजन् ! मैं आपका सहायक रहा हूँ, यदि मैं भी अर्जुनके पास चला जाता हूँ तो युद्धमें द्रोणाचार्य जिन विचित्र अस्त्रोंका प्रयोग करेंगे, उनपर भी आप अच्छी तरह विचार कर लीजिये ॥ ३४½ ॥

आचार्यो हि भृशं राजन् निग्रहे तव गृध्यति ॥ ३५ ॥
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्यां कर्तुं च भारत ।

'भरतवंशी नरेश ! द्रोणाचार्य आपको कैद करनेकी बड़ी इच्छा रखते हैं । वे अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए उसे सत्य कर दिखाना चाहते हैं ॥ ३५½ ॥

कुरुष्वाद्यात्मनो गुप्तिं कस्ते गोप्ता गते मयि ॥ ३६ ॥
यस्याहं प्रत्ययात् पार्थं गच्छेयं फाल्गुनं प्रति ।

'अब आप अपनी रक्षाका प्रबन्ध कीजिये । पार्थ ! मेरे चले जानेपर कौन आपका रक्षक होगा, जिसपर विश्वास करके मैं अर्जुनके पास चला जाऊँ ॥ ३६½ ॥

न ह्यहं त्वां महाराज अनिक्षिप्य महाहवे ॥ ३७ ॥
क्वचिद् यास्यामि कौरव्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

'महाराज ! कुरुनन्दन ! मैं आपको इस महासमरमें किसी वीरके संरक्षणमें रक्खे बिना कहीं नहीं जाऊँगा; यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३७½ ॥

एतद्विचार्य बहुशो बुद्ध्या बुद्धिमतां वर ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वा श्रेयः परं बुद्ध्या ततो राजन् प्रशाधि माम्॥ ३९ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज ! अपनी बुद्धिसे इस विषयमें बहुत सोच-विचार करके आपको जो परम मङ्गलकारक कृत्य जान पड़े, उसके लिये मुझे आज्ञा दें' ॥ ३८–३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव।
न तु मे शुद्ध्यते भावः श्वेताश्वं प्रति मारिष ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु माधव ! तुम जैसा कहते हो, वही ठीक है। आर्य ! श्वेतवाहन द्रोणाचार्यकी ओरसे मेरा हृदय शुद्ध (निश्चिन्त) नहीं हो रहा है ॥ ४० ॥

करिष्ये परमं यत्नमात्मनो रक्षणे ह्यहम् ।
गच्छ त्वं समनुज्ञातो यत्र यातो धनंजयः ॥ ४१ ॥

मैं अपनी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न करूँगा। तुम मेरी आज्ञासे वहीं जाओ, जहाँ अर्जुन गया है ॥ ४१ ॥

आत्मसंरक्षणं संख्ये गमनं चार्जुनं प्रति ।
विचार्यैतत् स्वयं बुद्ध्या गमनं तत्र रोचय ॥ ४२ ॥

मुझे युद्धमें अपनी रक्षा करनी चाहिये या अर्जुनके पास तुम्हें भेजना चाहिये। इन दोनों बातोंपर तुम स्वयं ही अपनी बुद्धिसे विचार करके वहाँ जाना ही पसंद करो ॥

स त्वमातिष्ठ यानाय यत्र यातो धनंजयः ।
ममापि रक्षणं भीमः करिष्यति महाबलः ॥ ४३ ॥

अतः जहाँ अर्जुन गया है, वहाँ जानेके लिये तुम तैयार हो जाओ। महाबली भीमसेन मेरी भी रक्षा कर लेंगे ॥४३॥

पार्षतश्च ससोदर्यः पार्थिवाश्च महाबलाः ।
द्रौपदेयाश्च मां तात रक्षिष्यन्ति न संशयः ॥ ४४ ॥

तात ! भाइयोंसहित धृष्टद्युम्न, महाबली भूपालगण तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र मेरी रक्षा कर लेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ ४४ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
विराटो द्रुपदश्चैव शिखण्डी च महारथः ॥ ४५ ॥

धृष्टकेतुश्च बलवान् कुन्तिभोजश्च मातुलः ।
नकुलः सहदेवश्च पञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ॥ ४६ ॥
एते समाहितास्तात रक्षिष्यन्ति न संशयः ।

तात ! पाँच भाई केकय-राजकुमार, राक्षस घटोत्कच, विराट, द्रुपद, महारथी शिखण्डी, धृष्टकेतु, बलवान् मामा कुन्तिभोज (पुरुजित्), नकुल, सहदेव, पाञ्चाल तथा सृंजय-वीरगण—ये सभी सावधान होकर निःसंदेह मेरी रक्षा करेंगे ॥ ४५–४६½ ॥

न द्रोणः सह सैन्येन कृतवर्मा च संयुगे ॥ ४७ ॥
समासादयितुं शक्तो न च मां धर्षयिष्यति ।

सेनासहित द्रोणाचार्य तथा कृतवर्मा—ये युद्धस्थलमें मेरे पास नहीं पहुँच सकते और न मुझे परास्त ही कर सकेंगे ॥

धृष्टद्युम्नश्च समरे द्रोणं क्रुद्धं परंतपः ॥ ४८ ॥
वारयिष्यति विक्रम्य वेलेव मकरालयम् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाला धृष्टद्युम्न समराङ्गणमें कुपित हुए द्रोणाचार्यको पराक्रम करके रोक लेगा। ठीक वैसे ही, जैसे तटकी भूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोक देती है ॥

यत्र स्थास्यति संग्रामे पार्षतः परवीरहा ॥ ४९ ॥
द्रोणो न सैन्यं बलवत् क्रामेत् तत्र कथंचन ।

जहाँ शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार संग्राम-भूमिमें खड़ा होगा, वहाँ मेरी प्रबल सेनापर द्रोणाचार्य किसी तरह आक्रमण नहीं कर सकते ॥ ४९½ ॥

एष द्रोणविनाशाय समुत्पन्नो हुताशनात् ॥ ५० ॥
कवची स शरी खड्गी धन्वी च वरभूषणः ।

यह धृष्टद्युम्न, द्रोणाचार्यका नाश करनेके लिये कवच, धनुष, बाण, खड्ग और श्रेष्ठ आभूषणोंके साथ अग्निसे प्रकट हुआ है ॥ ५०½ ॥

विश्रब्धं गच्छ शैनेय मा कार्षीर्मयि सम्भ्रमम् ।
धृष्टद्युम्नो रणे क्रुद्धं द्रोणमावारयिष्यति ॥ ५१ ॥

अतः शिनिनन्दन ! तुम निश्चिन्त होकर जाओ। मेरे लिये संदेह मत करो। धृष्टद्युम्न रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणाचार्यको सर्वथा रोक देगा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि युधिष्ठिरसात्यकिवाक्ये एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें युधिष्ठिर और सात्यकिका संवादविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिकी अर्जुनके पास जानेकी तैयारी और सम्मानपूर्वक विदा होकर उनका प्रस्थान तथा साथ आते हुए भीमको युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये लौटा देना

संजय उवाच

धर्मराजस्य तद् वाक्यं निशम्य शिनिपुङ्गवः ।
स पार्थाद् भयमाशंसन् परित्यागान्महीपतेः ॥ १ ॥
अपवादं ह्यात्मनश्च लोकात् पश्यन् विशेषतः ।

ते मां भीतमिति ब्रूयुरायान्तं फाल्गुनं प्रति ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! धर्मराजका वह कथन सुनकर शिनिप्रवर सात्यकिके मनमें राजाको छोड़कर जानेसे अर्जुनके अप्रसन्न होनेकी आशङ्का उत्पन्न हुई। विशेषतः उन्हें अपने लिये लोकापवादका भय दिखायी देने लगा। वे सोचने लगे—मुझे अर्जुनकी ओर आते देख सब लोग यही कहेंगे कि यह डरकर भाग आया है॥ १–२॥

निश्चित्य बहुधैवं स सात्यकिर्युद्धदुर्मदः।
धर्मराजमिदं वाक्यमब्रवीत् पुरुषर्षभः॥ ३॥

युद्धमें दुर्जय वीर पुरुषरत्न सात्यकिने इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विचार करके धर्मराजसे यह बात कही—॥ ३॥

कृतां चेन्मन्यसे रक्षां स्वस्ति तेऽस्तु विशाम्पते।
अनुयास्यामि बीभत्सुं करिष्ये वचनं तव॥ ४॥

'प्रजानाथ! यदि आप अपनी रक्षाकी व्यवस्था की हुई मानते हैं तो आपका कल्याण हो। मैं अर्जुनके पास जाऊँगा और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा॥ ४॥

न हि मे पाण्डवात् कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
यो मे प्रियतरो राजन् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ ५॥

'राजन्! मैं आपसे सच कहता हूँ कि तीनों लोकोंमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो मुझे पाण्डुनन्दन अर्जुनसे अधिक प्रिय हो॥ ५॥

तस्याहं पदवीं यास्ये संदेशात् तव मानद।
त्वत्कृते न च मे किंचिदकर्तव्यं कथंचन॥ ६॥

'मानद! मैं आपके आदेश और संदेशसे अर्जुनके पथका अनुसरण करूँगा। आपके लिये कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसे मैं किसी प्रकार न कर सकूँ॥ ६॥

यथा हि मे गुरोर्वाक्यं विशिष्टं द्विपदां वर।
तथा तवापि वचनं विशिष्टतरमेव मे॥ ७॥

'नरश्रेष्ठ! मेरे गुरु अर्जुनका वचन मेरे लिये जैसा महत्त्व रखता है, आपका वचन भी वैसा ही है, बल्कि उससे भी बढ़कर है॥ ७॥

प्रिये हि तव वर्तेते भ्रातरौ कृष्णपाण्डवौ।
तयोः प्रिये स्थितं चैव विद्धि मां राजपुङ्गव॥ ८॥

'नृपश्रेष्ठ! दोनों भाई श्रीकृष्ण और अर्जुन आपके प्रिय साधनमें लगे हुए हैं और उन दोनोंके प्रिय कार्यमें आप मुझे तत्पर जानिये॥ ८॥

तवाज्ञां शिरसा गृह्य पाण्डवार्थमहं प्रभो।
भित्त्वेदं दुर्भिदं सैन्यं प्रयास्ये नरपुङ्गव॥ ९॥

'प्रभो! नरश्रेष्ठ! मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके पाण्डुनन्दन अर्जुनके लिये इस दुर्भेद्य सैन्यव्यूहका भेदनकर उनके पास जाऊँगा॥ ९॥

द्रोणानीकं विशाम्येष क्रुद्धो झष इवार्णवम्।
तत्र यास्यामि यत्रासौ राजन् राजा जयद्रथः॥ १०॥

'राजन्! जैसे महामत्स्य महासागरमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार मैं भी कुपित होकर द्रोणाचार्यकी सेनामें घुसता हूँ। मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ राजा जयद्रथ है॥ १०॥

यत्र सेनां समाश्रित्य भीतस्तिष्ठति पाण्डवात्।
गुप्तो रथवरश्रेष्ठैर्द्रौणिकर्णकृपादिभिः॥ ११॥

'पाण्डुनन्दन अर्जुनसे भयभीत हो अपनी सेनाका आश्रय लेकर जयद्रथ जहाँ अश्वत्थामा, कर्ण और कृपाचार्य आदि श्रेष्ठ महारथियोंसे सुरक्षित होकर खड़ा है, वहीं मुझे पहुँचना है॥ ११॥

इतस्त्रियोजनं मन्ये तमध्वानं विशाम्पते।
यत्र तिष्ठति पार्थोऽसौ जयद्रथवधोद्यतः॥ १२॥

'प्रजापालक नरेश! इस समय जहाँ जयद्रथ-वधके लिये उद्यत हुए अर्जुन खड़े हैं, उस स्थानको मैं यहाँसे तीन योजन दूर मानता हूँ॥ १२॥

त्रियोजनगतस्यापि तस्य यास्याम्यहं पदम्।
आसैन्धववधाद् राजन् सुदृढेनान्तरात्मना॥ १३॥

'राजन्! अर्जुनके तीन योजन दूर चले जानेपर भी मैं जयद्रथ-वधके पहले ही सुदृढ़ हृदयसे अर्जुनके स्थानपर पहुँच जाऊँगा॥ १३॥

अनादिष्टस्तु गुरुणा को नु युध्येत मानवः।
आदिष्टस्तु यथा राजन् को न युध्येत मादृशः॥ १४॥

'नरेश्वर! गुरुकी आज्ञा प्राप्त हुए बिना कौन मनुष्य युद्ध करेगा और गुरुकी आज्ञा मिल जानेपर मेरे-जैसा कौन वीर युद्ध नहीं करेगा?॥ १४॥

अभिजानामि तं देशं यत्र यास्याम्यहं प्रभो।
हलशक्तिगदाप्रासचर्मखड्गर्ष्टितोमरम्॥ १५॥
इष्वस्त्रवरसम्बाधं क्षोभयिष्ये बलार्णवम्।

'प्रभो! मुझे जहाँ जाना है, उस स्थानको मैं जानता हूँ। वह हल, शक्ति, गदा, प्रास, ढाल, तलवार, ऋष्टि और तोमरोंसे भरा है। श्रेष्ठ धनुष-बाणोंसे परिपूर्ण शत्रु-सैन्यरूपी महासागरको मैं मथ डालूँगा॥ १५½॥

यदेतत् कुञ्जरानीकं साहस्रमनुपश्यसि॥ १६॥
कुलमाञ्जनकं नाम यत्रैते वीर्यशालिनः।
आस्थिता बहुभिर्म्लेच्छैर्युद्धशौण्डैः प्रहारिभिः॥ १७॥

'महाराज! यह जो आप हजारों हाथियोंकी सेना देखते हैं, इसका नाम है आञ्जनककुल। इसमें पराक्रमशाली गजराज खड़े हैं, जिनके ऊपर प्रहारकुशल और युद्धनिपुण बहुत-से म्लेच्छ योद्धा सवार हैं॥ १६–१७॥

नागा मेघनिभा राजन् क्षरन्त इव तोयदाः।
नैते जातु निवर्तेरन् प्रेषिता हस्तिसादिभिः॥ १८॥
अन्यत्र हि वधादेषां नास्ति राजन् पराजयः।

'राजन् ! ये हाथी मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते हैं और पानी बरसानेवाले बादलोंके समान मदकी वर्षा करते हैं । हाथीसवारोंके हाँकनेपर ये कभी युद्धसे पीछे नहीं हटते हैं । महाराज ! वधके अतिरिक्त और किसी उपायसे इनकी पराजय नहीं हो सकती ॥ १८½ ॥

अथ यान् रथिनो राजन् सहस्रमनुपश्यसि ॥ १९ ॥
एते रुक्मरथा नाम राजपुत्रा महारथाः ।
रथेष्वस्त्रेषु निपुणा नागेषु च विशाम्पते ॥ २० ॥

'राजन् ! आप जिन सहस्रों रथियोंको देख रहे हैं, ये रुक्मरथ नामवाले महारथी राजकुमार हैं । प्रजानाथ ! ये रथों, अस्त्रों और हाथियोंके संचालनमें भी निपुण हैं॥१९-२०॥

धनुर्वेदे गताः पारं मुष्टियुद्धे च कोविदाः ।
गदायुद्धविशेषज्ञा नियुद्धकुशलास्तथा ॥ २१ ॥

'ये सब-के-सब धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् हैं । मुष्टि-युद्धमें भी निपुण हैं, गदायुद्धके विशेषज्ञ हैं और मल्लयुद्धमें भी कुशल हैं ॥ २१ ॥

खड्गप्रहरणे युक्ताः सम्पाते चासिचर्मणोः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च स्पर्धन्ते च परस्परम् ॥ २२ ॥

'तलवार चलानेका भी इन्हें अच्छा अभ्यास है । ये ढाल, तलवार लेकर विचरनेमें समर्थ हैं । शूर और अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् होनेके साथ ही परस्पर स्पर्धा रखते हैं ॥

नित्यं हि समरे राजन् विजिगीषन्ति मानवान् ।
कर्णेन विहिता राजन् दुःशासनमनुव्रताः ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! ये सदा समरभूमिमें मनुष्योंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं । महाराज ! कर्णने इन्हें दुःशासनका अनुगामी बना रक्खा है ॥ २३ ॥

एतांस्तु वासुदेवोऽपि रथोदारान् प्रशंसति ।
सततं प्रियकामाश्च कर्णस्यैते वशे स्थिताः ॥ २४ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण भी इन श्रेष्ठ महारथियोंकी प्रशंसा करते हैं, ये सब-के-सब कर्णके वशमें स्थित हैं और सदा उसका प्रिय करनेकी अभिलाषा रखते हैं ॥ २४ ॥

तस्यैव वचनाद् राजन् निवृत्ताः श्वेतवाहनात् ।
ते न क्लान्ता न च श्रान्ता दृढावरणकार्मुकाः ॥ २५ ॥

'राजन् ! कर्णके ही कहनेसे ये अर्जुनकी ओरसे इधर लौट आये हैं । इनके कवच और धनुष अत्यन्त सुदृढ़ हैं । वे न तो थके हैं और न पीड़ित ही हुए हैं ॥ २५ ॥

मदर्थेऽधिष्ठिता नूनं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ।
एतान् प्रमथ्य संग्रामे प्रियार्थं तव कौरव ॥ २६ ॥
प्रयास्यामि ततः पश्चात् पदवीं सव्यसाचिनः ।

'दुर्योधनके आदेशसे ये निश्चय ही मुझसे युद्ध करनेके लिये खड़े हैं । कुरुनन्दन ! मैं आपका प्रिय करनेके लिये इन सबको संग्राममें मथकर सव्यसाची अर्जुनके मार्गपर जाऊँगा॥

यांस्त्वेतानपरान् राजन् नागान् सप्त शतानिमान् ॥ २७ ॥
प्रेक्षसे वर्मसंछन्नान् किरातैः समधिष्ठितान् ।
किरातराजो यान् प्रादाद् द्विरदान् सव्यसाचिनः ॥ २८ ॥
स्वलंकृतांस्तदा प्रेष्यानिच्छञ्जीवितमात्मनः ।

'महाराज ! जिन दूसरे इन सात सौ हाथियोंको आप देख रहे हैं, जो कवचसे आच्छादित हैं और जिनपर किरात योद्धा चढ़े हुए हैं, ये वे ही हाथी हैं, जिन्हें दिग्विजयके समय अपने प्राण बचानेकी इच्छा रखकर किरातराजने सव्यसाची अर्जुनको भेंट किया था । ये सजे-सजाये हाथी उन दिनों आपके सेवक थे ॥ २७–२८½ ॥

आसन्नेते पुरा राजंस्तव कर्मकरा दृढम् ॥ २९ ॥
त्वामेवाद्य युयुत्सन्ते पश्य कालस्य पर्ययम् ।

'महाराज ! यह कालचक्रका परिवर्तन तो देखिये—जो पूर्वकालमें दृढ़तापूर्वक आपकी सेवा करनेवाले थे, वे आज आपसे ही युद्ध करना चाहते हैं ॥ २९½ ॥

एषामेते महामात्राः किराता युद्धदुर्मदाः ॥ ३० ॥
हस्तिशिक्षाविदश्चैव सर्वे चैवाग्नियोनयः ।
एते विनिर्जिताः संख्ये संग्रामे सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥

'ये रणदुर्मद किरात इन हाथियोंके महावत और इन्हें शिक्षा देनेमें कुशल हैं । ये सब-के-सब अग्निसे उत्पन्न हुए हैं । सव्यसाची अर्जुनने इन सबको संग्रामभूमिमें पराजित कर दिया था ॥ ३०–३१ ॥

मदर्थमद्य संयत्ता दुर्योधनवशानुगाः ।
एतान् हत्वा शरै राजन् किरातान् युद्धदुर्मदान् ॥ ३२ ॥
सैन्धवस्य वधे यत्तमनुयास्यामि पाण्डवम् ।

'राजन् ! आज दुर्योधनके वशीभूत होकर ये मेरे साथ युद्ध करनेको तैयार खड़े हैं । इन रण-दुर्मद किरातोंका अपने बाणोंद्वारा संहार करके मैं सिंधुराजके वधके प्रयत्नमें लगे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनके पास जाऊँगा ॥ ३२½ ॥

ये त्वेते सुमहानागा अञ्जनस्य कुलोद्भवाः ॥ ३३ ॥
कर्कशाश्च विनीताश्च प्रभिन्नकरटामुखाः ।
जाम्बूनदमयैः सर्वे वर्मभिः सुविभूषिताः ॥ ३४ ॥
लब्धलक्ष्या रणे राजन्नैरावणसमा युधि ।
उत्तरात् पर्वतादेते तीक्ष्णैर्दस्युभिरास्थिताः ॥ ३५ ॥

'ये जो बड़े-बड़े गजराज दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये अञ्जन-नामक दिग्गजके कुलमें उत्पन्न हुए हैं* । इनका स्वभाव

---

* अञ्जनके कुलमें उत्पन्न हुए हाथियोंका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

स्निग्धनीलाम्बुदप्रख्या बलिनो विपुलैः करैः ।
सुविभक्तमहाशीर्षा करिणोऽञ्जनवंशजाः ॥

'स्निग्ध एवं नील-वर्णके मेघोंकी घटाके समान काले,

बड़ा ही कठोर है। इन्हें युद्धकी अच्छी शिक्षा मिली है। इनके गण्डस्थल और मुखसे मदकी धारा बहती रहती है। वे सब-के-सब सुवर्णमय कवचोंसे विभूषित हैं। राजन्! ये पहले भी युद्धस्थलमें अपने लक्ष्यपर विजय पा चुके हैं और समराङ्गणमें ऐरावतके समान पराक्रम प्रकट करते हैं। उत्तर पर्वत (हिमाचल-प्रदेश) से आये हुए तीखे स्वभाव-वाले लुटेरे और डाकू इन हाथियोंपर सवार हैं॥३३–३५॥

कर्कशैः प्रवरैर्योधैः कार्ष्णायसतनुच्छदैः।
सन्ति गोयोनयश्चात्र सन्ति वानरयोनयः॥३६॥
अनेकयोनयश्चान्ये तथा मानुषयोनयः।

'ये कर्कश स्वभाववाले तथा श्रेष्ठ योद्धा हैं। उन्होंने काले लोहेके बने हुए कवच धारण कर रक्खे हैं। उनमेंसे बहुत-से दस्यु गायोंके पेटसे उत्पन्न हुए हैं। कितने ही बंदरियोंकी संतानें हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें अनेक योनियोंका सम्मिश्रण है तथा कितने ही मानव-संतान भी हैं॥

अनीकं समवेतानां धूम्रवर्णमुदीर्यते॥३७॥
म्लेच्छानां पापकर्तॄणां हिमदुर्गनिवासिनाम्।

'यहाँ एकत्र हुए हिमदुर्गनिवासी पापाचारी म्लेच्छोंकी यह सेना धूएँके समान काली प्रतीत होती है॥३७½॥

एतद् दुर्योधनो लब्ध्वा समग्रं राजमण्डलम्॥३८॥
कृपं च सौमदत्तिं च द्रोणं च रथिनां वरम्।
सिन्धुराजं तथा कर्णमवमन्यत पाण्डवान्॥३९॥
कृतार्थमथ चात्मानं मन्यते कालचोदितः।

'कालसे प्रेरित हुआ दुर्योधन इन समस्त राजाओंके समुदायको तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, जयद्रथ और कर्णको पाकर पाण्डवोंका अपमान करता है तथा अपने-आपको कृतार्थ मान रहा है॥३८–३९½॥

ते तु सर्वेऽद्य सम्प्राप्ता मम नाराचगोचरम्॥४०॥
न विमोक्ष्यन्ति कौन्तेय यद्यपि स्युर्मनोजवाः।

'कुन्तीनन्दन! वे सब लोग आज मेरे नाराचोंके लक्ष्य बने हुए हैं। वे मनके समान वेगशाली हों तो भी मेरे हाथोंसे छूट नहीं सकेंगे॥४०½॥

तेन सम्भाविता नित्यं परवीर्योपजीविना॥४१॥
विनाशमुपयास्यन्ति मच्छरौघनिपीडिताः।

'दूसरोंके बलपर जीनेवाले दुर्योधनने इन सब लोगोंका सदा आदरपूर्वक भरण-पोषण किया है; परंतु ये मेरे बाण-समूहोंसे पीड़ित होकर आज विनष्ट हो जायँगे॥४१½॥

ये त्वेते रथिनो राजन् दृश्यन्ते काञ्चनध्वजाः॥४२॥
एते दुर्वारणा नाम काम्बोजा यदि ते श्रुताः।

बलवान्, विशाल शुण्डदण्डसे सुशोभित तथा सुन्दर विभागयुक्त विशाल मस्तकवाले हाथी अंजनकुलकी संतानें हैं।

'राजन्! ये जो सोनेकी ध्वजावाले रथी दिखायी देते हैं, ये दुर्वारण नामवाले काम्बोज सैनिक हैं। आपने इनका नाम सुना होगा॥४२½॥

शूराश्च कृतविद्याश्च धनुर्वेदे च निष्ठिताः॥४३॥
संहताश्च भृशं ह्येते अन्योन्यस्य हितैषिणः।

'ये शूर, विद्वान् तथा धनुर्वेदमें परिनिष्ठित हैं। इनमें परस्पर बड़ा संगठन है। ये एक दूसरेका हित चाहनेवाले हैं॥

अक्षौहिण्यश्च संरब्धा धार्तराष्ट्रस्य भारत॥४४॥
यत्ता मदर्थे तिष्ठन्ति कुरुवीराभिरक्षिताः।
अप्रमत्ता महाराज मामेव प्रत्युपस्थिताः॥४५॥

'भरतनन्दन! दुर्योधनकी क्रोधमें भरी हुई ये कई अक्षौहिणी सेनाएँ कौरववीरोंसे सुरक्षित हो मेरे लिये तैयार खड़ी हैं। महाराज! ये सब सावधान होकर मुझपर ही आक्रमण करनेवाली हैं॥४४–४५॥

तानहं प्रमथिष्यामि तृणानीव हुताशनः।
तस्मात् सर्वानुपासंगान् सर्वोपकरणानि च॥४६॥
रथे कुर्वन्तु मे राजन् यथावद् रथकल्पकाः।

'परंतु जैसे आग तिनकोंको जला डालती है, उसी प्रकार मैं उन समस्त कौरव-सैनिकोंको मथ डालूँगा। अतः राजन्! रथको सुसज्जित करनेवाले लोग आज मेरे रथपर यथावत् रूपसे भरे हुए तरकसों तथा अन्य सब आवश्यक उपकरणोंको रख दें॥

अस्मिंस्तु किल सम्मर्दे ग्राह्यं विविधमायुधम्॥४७॥
यथोपदिष्टमाचार्यैः कार्यः पञ्चगुणो रथः।

'इस संग्राममें नाना प्रकारके आयुधोंका उसी प्रकार संग्रह कर लेना चाहिये, जैसा कि आचार्योंने उपदेश किया है। रथपर रक्खी जानेवाली युद्धसामग्री पहलेसे पाँचगुनी कर देनी चाहिये॥४७½॥

काम्बोजैर्हि समेष्यामि तीक्ष्णैराशीविषोपमैः॥४८॥
नानाशस्त्रसमावायैर्विविधायुधयोधिभिः।

'आज मैं विषधर सर्पके समान क्रूर स्वभाववाले उन काम्बोज-सैनिकोंके साथ युद्ध करूँगा, जो नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्पन्न और भाँति-भाँतिके आयुधोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल हैं॥४८½॥

किरातैश्च समेष्यामि विषकल्पैः प्रहारिभिः॥४९॥
लालितैः सततं राज्ञा दुर्योधनहितैषिभिः।

'दुर्योधनका हित चाहनेवाले और विषके समान घातक उन प्रहारकुशल किरात-योद्धाओंके साथ भी संग्राम करूँगा, जिनका राजा दुर्योधनने सदा ही लालन-पालन किया है॥

शकैश्चापि समेष्यामि शक्रतुल्यपराक्रमैः॥५०॥
अग्निकल्पैर्दुराधर्षैः प्रदीप्तैरिव पावकैः।

'प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, दुर्धर्ष एवं इन्द्रके

समान पराक्रमी शकोंके साथ भी आज मैं भिड़ जाऊँगा ॥

तथान्यैर्विविधैर्योधैः कालकल्पैर्दुरासदैः ॥ ५१ ॥
समेष्यामि रणे राजन् बहुभिर्युद्धदुर्मदैः ।

'राजन् ! इनके सिवा और भी जो नाना प्रकारके बहुसंख्यक युद्धदुर्मद, कालके तुल्य भयंकर तथा दुर्जय योद्धा हैं, रणक्षेत्रमें उन सबका सामना करूँगा ॥ ५१½ ॥

तस्माद् वै वाजिनो मुख्या विश्रान्ताः शुभलक्षणाः॥ ५२॥
उपावृत्ताश्च पीताश्च पुनर्युज्यन्तु मे रथे ।

'इसलिये उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न श्रेष्ठ घोड़े, जो विश्राम कर चुके हों, जिन्हें टहलाया गया हो और पानी भी पिला दिया गया हो, पुनः मेरे रथमें जोते जायँ' ॥ ५२½ ॥

संजय उवाच

तस्य सर्वानुपासंगान् सर्वोपकरणानि च ॥ ५३ ॥
रथे चास्थापयद् राजा शस्त्राणि विविधानि च ।

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने सात्यकिके रथपर भरे हुए सारे तरकसों, समस्त उपकरणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंको रखवा दिया ॥ ५३½ ॥

ततस्तान् सर्वतो युक्तान् सदश्वांश्चतुरो जनाः॥ ५४ ॥
रसवत् पाययामासुः पानं मदसमीरणम् ।

तदनन्तर सब प्रकारसे सुशिक्षित उन चारों उत्तम घोड़ोंको सेवकोंने मदमत्त बना देनेवाला रसीला पेय पदार्थ पिलाया ॥ ५४½ ॥

पीतोपवृत्तान् स्नातांश्च जग्धान्नान् समलंकृतान् ॥५५॥
विनीतशल्यांस्तुरगांश्चतुरो हेममालिनः ।
तान् युक्तान् रुक्मवर्णाभान् विनीताञ्शीघ्रगामिनः॥५६॥
संहृष्टमनसोऽव्यग्रान् विधिवत्कल्पितान् रथे।
महाध्वजेन सिंहेन हेमकेसरमालिना ॥ ५७ ॥
संवृते केतकैर्हैमैर्मणिविद्रुमचित्रितैः ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशाभिः पताकाभिरलंकृते ॥ ५८ ॥
हेमदण्डोच्छ्रितच्छत्रे बहुशस्त्रपरिच्छदे ।
योजयामास विधिवद्धेमभाण्डविभूषितान् ॥ ५९ ॥

जब वे पी चुके तो उन्हें टहलाया और नहलाया गया । उसके बाद दाना और चारा खिलाया गया । फिर उन्हें सब प्रकारसे सुसज्जित किया गया । उनके अङ्गोंमें गड़े हुए बाण पहले ही निकाल दिये गये थे । वे चारों घोड़े सोनेकी मालाओंसे विभूषित थे । उन योग्य अश्वोंकी कान्ति सुवर्णके समान थी । वे सुशिक्षित और शीघ्रगामी थे । उनके मनमें हर्ष और उत्साह था । तनिक भी व्यग्रता नहीं थी । उन्हें विधिपूर्वक सजाया गया था । स्वर्णमय अलङ्कारोंसे अलङ्कृत उन अश्वोंको सारथिने विधिपूर्वक रथमें जोता । वह रथ सुवर्णमय केशरोंसे सुशोभित सिंहके चिह्नवाले विशाल ध्वजसे सम्पन्न था । मणियों और मूँगोंसे चित्रित सोनेकी शलाकाओंसे शोभायमान एवं श्वेत पताकाओंसे अलंकृत था । उस रथके ऊपर स्वर्णमय दण्डसे विभूषित छत्र तना हुआ था तथा रथके भीतर नाना प्रकारके शस्त्र तथा अन्य आवश्यक सामान रक्खे गये थे ॥ ५५–५९ ॥

दारुकस्यानुजो भ्राता सूतस्तस्य प्रियः सखा ।
न्यवेदयद् रथं युक्तं वासवस्येव मातलिः ॥ ६० ॥

जैसे मातलि इन्द्रका सारथि और सखा भी है, उसी प्रकार दारुकका छोटा भाई सात्यकिका सारथि और प्रिय सखा था । उसने सात्यकिको यह सूचना दी कि रथ जोतकर तैयार है ॥ ६० ॥

ततः स्नातः शुचिर्भूत्वा कृतकौतुकमङ्गलः ।
स्नातकानां सहस्रस्य स्वर्णनिष्कानथो ददौ ॥ ६१ ॥

तदनन्तर सात्यकिने स्नान करके पवित्र हो यात्राकालिक मङ्गलकृत्य सम्पन्न करनेके पश्चात् एक सहस्र स्नातकोंको सोनेकी मुद्राएँ दान कीं ॥ ६१ ॥

आशीर्वादैः परिष्वक्तः सात्यकिः श्रीमतां वरः ।
ततः स मधुपर्कार्हः पीत्वा कैलातकं मधु ॥ ६२ ॥
लोहिताक्षो बभौ तत्र मदविह्वललोचनः ।
आलभ्य वीरकांस्यं च हर्षेण महतान्वितः ॥ ६३ ॥
द्विगुणीकृततेजा हि प्रज्वलन्निव पावकः ।
उत्सङ्गे धनुरादाय सशरं रथिनां वरः ॥ ६४ ॥
कृतस्वस्त्ययनो विप्रैः कवची समलंकृतः ।
लाजैर्गन्धैस्तथा माल्यैः कन्याभिश्चाभिनन्दितः॥ ६५ ॥

ब्राह्मणोंके आशीर्वाद पाकर तेजस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं मधुपर्कके अधिकारी सात्यकिने कैलातक नामक मधुका पान किया । उसे पीते ही उनकी आँखें लाल हो गयीं । मदसे नेत्र चञ्चल हो उठे, फिर उन्होंने अत्यन्त हर्षमें भरकर वीरकांस्यपात्रका स्पर्श किया । उस समय प्रज्वलित अग्निके समान रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिका तेज दूना हो गया । उन्होंने बाणसहित धनुषको गोदमें लेकर ब्राह्मणोंके मुखसे स्वस्तिवाचनका कार्य सम्पन्न कराकर कवच एवं आभूषण धारण किये, फिर कुमारी कन्याओंने लावा, गन्ध तथा पुष्पमालाओंसे उनका पूजन एवं अभिनन्दन किया ॥ ६२–६५ ॥

युधिष्ठिरस्य चरणावभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
तेन मूर्धन्युपाघ्रात आरुरोह महारथम् ॥ ६६ ॥

इसके बाद सात्यकिने हाथ जोड़कर युधिष्ठिरके चरणोंमें प्रणाम किया और युधिष्ठिरने उनका मस्तक सूँघा । फिर वे उस विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ६६ ॥

ततस्ते वाजिनो हृष्टाः सुपुष्टाः वातरंहसः ।
अजय्या जैत्रमूहुस्तं विकुर्वाणाः स्म सैन्धवाः ॥ ६७ ॥

तदनन्तर वे हृष्ट-पुष्ट वायुके समान वेगशाली एवं अजेय सिंधुदेशीय घोड़े मदमत्त हो उस विजयशील रथको लेकर चल दिये ॥ ६७ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
प्रायात् सात्यकिना सार्धमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार धर्मराजसे सम्मानित भीमसेन भी युधिष्ठिरको प्रणाम करके सात्यकिके साथ चले ॥ ६८ ॥

तौ दृष्ट्वा प्रविविक्षन्तौ तव सेनामरिंदमौ ।
संयत्तास्तावकाः सर्वे तस्थुर्द्रोणपुरोगमाः ॥ ६९ ॥

उन दोनों शत्रुदमन वीरोंको आपकी सेनामें प्रवेश करनेके लिये इच्छुक देख द्रोणाचार्य आदि आपके सारे सैनिक सावधान होकर खड़े हो गये ॥ ६९ ॥

संनद्धमनुगच्छन्तं दृष्ट्वा भीमं स सात्यकिः ।
अभिनन्द्याब्रवीद् वीरस्तदा हर्षकरं वचः ॥ ७० ॥

उस समय भीमसेनको कवच आदिसे सुसज्जित होकर अपने पीछे आते देख उनका अभिनन्दन करके वीर सात्यकिने उनसे यह हर्षवर्धक वचन कहा—॥ ७० ॥

त्वं भीम रक्ष राजानमेतत् कार्यतमं हि ते ।
अहं भित्त्वा प्रवेक्ष्यामि कालपक्वमिदं बलम् ॥ ७१ ॥

'भीमसेन ! तुम राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करो । यही तुम्हारे लिये सबसे महान् कार्य है । जिसे कालने राँधकर पका दिया है, इस कौरवसेनाको चीरकर मैं भीतर प्रवेश कर जाऊँगा ॥

आयत्यां च तदात्वे च श्रेयो राज्ञोऽभिरक्षणम् ।
जानीषे मम वीर्यं त्वं तव चाहमरिंदम ॥ ७२ ॥
तस्माद् भीम निवर्तस्व मम चेदिच्छसि प्रियम् ।

'शत्रुदमन वीर ! इस समय और भविष्यमें भी राजाकी रक्षा करना ही श्रेयस्कर है । तुम मेरा बल जानते हो और मैं तुम्हारा । अतः भीमसेन ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो लौट जाओ ॥ ७२½ ॥

तथोक्तः सात्यकिं प्राह व्रज त्वं कार्यसिद्धये ॥ ७३ ॥
अहं राज्ञः करिष्यामि रक्षां पुरुषसत्तम ।

सात्यकिके ऐसा कहनेपर भीमसेनने उनसे कहा—'अच्छा भैया ! तुम कार्यसिद्धिके लिये आगे बढ़ो। पुरुषप्रवर ! मैं राजाकी रक्षा करूँगा' ॥ ७३½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भीमसेनं स माधवः ॥ ७४ ॥
गच्छ गच्छ ध्रुवं पार्थ ध्रुवो हि विजयो मम ।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर सात्यकिने उनसे कहा—'कुन्तीकुमार ! तुम जाओ । निश्चय ही लौट जाओ । मेरी विजय अवश्य होगी ॥ ७४½ ॥

यन्मे गुणानुरक्तश्च त्वमद्य वशमास्थितः ॥ ७५ ॥
निमित्तानि च धन्यानि यथा भीम वदन्ति माम् ।
निहते सैन्धवे पापे पाण्डवेन महात्मना ॥ ७६ ॥
परिष्वजिष्ये राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।

'भीमसेन ! तुम जो मेरे गुणोंमें अनुरक्त होकर मेरे वशमें हो गये हो तथा इस समय दिखायी देनेवाले शुभ शकुन मुझे जैसी बात बता रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि महात्मा अर्जुनके द्वारा पापी जयद्रथके मारे जानेपर मैं निश्चय ही लौटकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका आलिङ्गन करूँगा' ॥ ७५-७६½ ॥

एतावदुक्त्वा भीमं तु विसृज्य च महायशाः ॥ ७७ ॥
सम्प्रैक्षत् तावकं सैन्यं व्याघ्रो मृगगणानिव ।

भीमसेनसे ऐसा कहकर उन्हें विदा करनेके पश्चात् महायशस्वी सात्यकिने आपकी सेनाकी ओर उसी प्रकार देखा, जैसे बाघ मृगोंके झुंडकी ओर देखता है ॥ ७७½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रविविक्षन्तं सैन्यं तव जनाधिप ॥ ७८ ॥
भूय एवाभवन्मूढं सुभृशं चाप्यकम्पत ।

नरेश्वर ! सात्यकिको अपने भीतर प्रवेश करनेके लिये उत्सुक देख आपकी सेनापर पुनः मोह छा गया और वह बारंबार काँपने लगी ॥ ७८½ ॥

ततः प्रयातः सहसा तव सैन्यं स सात्यकिः ॥ ७९ ॥
दिदृक्षुरर्जुनं राजन् धर्मराजस्य शासनात् ।

राजन् ! तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार अर्जुनसे मिलनेके लिये सात्यकि आपकी सेनाकी ओर वेगपूर्वक बढ़े ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका कौरवसेनामें प्रवेशविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिका द्रोण और कृतवर्माके साथ युद्ध करते हुए काम्बोजोंकी सेनाके पास पहुँचना

संजय उवाच

प्रयाते तव सैन्यं तु युयुधाने युयुत्सया ।
धर्मराजो महाराज स्वेनानीकेन संवृतः ॥ १ ॥
प्रायाद् द्रोणरथं प्रेप्सुर्युयुधानस्य पृष्ठतः ।

संजय कहते हैं—महाराज ! जब युयुधान युद्धकी इच्छासे आपकी सेनाकी ओर बढ़े, उस समय अपने सैनिकोंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणाचार्यके रथका सामना करनेके लिये उनके पीछे-पीछे गये ॥ १½ ॥

ततः पाञ्चालराजस्य पुत्रः समरदुर्मदः ॥ २ ॥
प्राक्रोशत् पाण्डवानीके वसुदानश्च पार्थिवः ।
आगच्छत प्रहरत द्रुतं विपरिधावत ॥ ३ ॥
यथा सुखेन गच्छेत सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
महारथा हि बहवो यतिष्यन्त्यस्य निर्जये ॥ ४ ॥

तदनन्तर समरभूमिमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा राजा वसुदानने पाण्डवसेनामें पुकारकर कहा—'योद्धाओ ! आओ, दौड़ो और शीघ्रतापूर्वक प्रहार करो, जिससे रणदुर्मद सात्यकि सुखपूर्वक आगे जा सकें; क्योंकि बहुत-से कौरव महारथी इन्हें पराजित करनेका प्रयत्न करेंगे' ॥ २–४ ॥

इति ब्रुवन्तो वेगेन निपेतुस्ते महारथाः ।
वयं प्रतिजिगीषन्तस्तत्र तान् समभिद्रुताः ॥ ५ ॥

सेनापतिकी पूर्वोक्त बात दुहराते हुए सभी पाण्डव महारथी बड़े वेगसे वहाँ आ पहुँचे । उस समय हमलोगोंने भी उन्हें जीतनेकी अभिलाषासे उनपर धावा कर दिया ॥

(बाणशब्दरवान् कृत्वा विमिश्राञ्शङ्खनिस्वनैः ।
युयुधानरथं दृष्ट्वा तावका अभिदुद्रुवुः ॥)

युयुधानके रथको देखकर आपके सैनिक शङ्खध्वनिसे मिश्रित बाणोंका शब्द प्रकट करते हुए उनके सामने दौड़े आये॥

ततः शब्दो महानासीद् युयुधानरथं प्रति ।
आकीर्यमाणा धावन्ती तव पुत्रस्य वाहिनी ॥ ६ ॥
सात्वतेन महाराज शतधाभिव्यशीर्यत ।

तदनन्तर सात्यकिके रथके समीप महान् कोलाहल मच गया । महाराज ! चारों ओरसे दौड़कर आती हुई आपके पुत्रकी सेना सात्यकिके बाणोंसे आच्छादित हो सैकड़ों टुकड़ियोंमें बँटकर तितर-बितर हो गयी ॥ ६½ ॥

तस्यां विदीर्यमाणायां शिनेः पौत्रो महारथः ॥ ७ ॥
सप्त वीरान् महेष्वासानग्रानीकेष्वपोथयत् ।

उस सेनाके छिन्न-भिन्न होते ही शिनिके महारथी पौत्रने सेनाके मुहानेपर खड़े हुए सात महाधनुर्धर वीरोंको मार गिराया ॥ ७½ ॥

अथान्यानपि राजेन्द्र नानाजनपदेश्वरान् ॥ ८ ॥
शरैरनलसंकाशैर्निन्ये वीरान् यमक्षयम् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर विभिन्न जनपदोंके स्वामी अन्यान्य वीर राजाओंको भी उन्होंने अपने अग्निसदृश बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ ८½ ॥

शतमेकेन विव्याध शतेनैकं च पत्त्रिणाम् ॥ ९ ॥
द्विपारोहान् द्विपांश्चैव हयारोहान् हयांस्तथा ।
रथिनः साश्वसूतांश्च जघानेशः पशूनिव ॥ १० ॥

वे एक बाणसे सैकड़ों वीरोंको और सैकड़ों बाणोंसे एक-एक वीरको घायल करने लगे । जिस प्रकार भगवान् पशुपति पशुओंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार सात्यकिने हाथीसवारों और हाथियोंको, घुड़सवारों और घोड़ोंको तथा घोड़े और सारथिसहित रथियोंको मार डाला ॥ ९-१० ॥

तं तथाद्भुतकर्माणं शरसम्पातवर्षिणम् ।
न केचनाभ्यधावन् वै सात्यकिं तव सैनिकाः ॥ ११ ॥

इस प्रकार बाणधाराकी वर्षा करनेवाले उस अद्भुत पराक्रमी सात्यकिके सामने जानेका साहस आपके कोई सैनिक न कर सके ॥ ११ ॥

ते भीता मृद्यमानाश्च प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ।
आयोधनं जहुर्वीरा दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ॥ १२ ॥

उस महाबाहु वीरने अपने बाणोंसे रौंदकर आपके सारे सिपाहियोंको मसल डाला । वे वीर सिपाही ऐसे डर गये कि उस अत्यन्त मानी शूरवीरको देखते ही युद्धका मैदान छोड़ देते थे ॥

तमेकं बहुधापश्यन् मोहितास्तस्य तेजसा ।
रथैर्विमथितैश्चैव भग्ननीडैश्च मारिष ॥ १३ ॥
चक्रैर्विमथितैश्छत्त्रैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।
अनुकर्षैः पताकाभिः शिरस्त्राणैः सकाञ्चनैः ॥ १४ ॥
बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः साङ्गदैश्च विशाम्पते ।
हस्तिहस्तोपमैश्चापि भुजङ्गाभोगसंनिभैः ॥ १५ ॥
ऊरुभिः पृथिवी च्छन्ना मनुजानां नराधिप ।

माननीय नरेश ! सारे कौरव सैनिक सात्यकिके तेजसे मोहित हो अकेले होनेपर भी उन्हें अनेक रूपोंमें देखने लगे । वहाँ बहुसंख्यक रथ चूर-चूर हो गये थे । उनकी बैठकें टूट-फूट गयी थीं । पहियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे । छत्र और ध्वज छिन्न-भिन्न होकर धरतीपर पड़े थे । अनुकर्ष, पताका, शिरस्त्राण, सुवर्णभूषित अङ्गदयुक्त चन्दनचर्चित भुजाएँ, हाथीकी सूँड़ तथा सर्पोंके शरीरके समान मोटे-मोटे ऊरु सब ओर बिखरे पड़े थे । नरेश्वर ! मनुष्योंके विभिन्न अंगों तथा रथके पूर्वोक्त अवयवोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी॥

शशाङ्कसंनिभैश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः ॥ १६ ॥
पतितैर्ऋषभाक्षाणां सा बभावति मेदिनी ।

वृषभके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले वीरोंके गिरे हुए मनोहर कुण्डलमण्डित चन्द्रमा-जैसे मुखोंसे वहाँकी भूमि अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥ १६½ ॥

गजैश्च बहुधा छिन्नैः शयानैः पर्वतोपमैः ॥ १७ ॥
रराजातिभृशं भूमिर्विकीर्णैरिव पर्वतैः ।

अनेकों टुकड़ोंमें कटकर धराशायी हुए पर्वताकार गजराजोंसे वहाँकी भूमि इस प्रकार अत्यन्त शोभासम्पन्न हो रही थी, मानो वहाँ बहुत-से पर्वत बिखरे हुए हों ॥

तपनीयमयैर्योक्त्रैर्मुक्ताजालविभूषितैः ॥ १८ ॥
उरश्छदैर्विचित्रैश्च व्यशोभन्त तुरङ्गमाः ।
गतसत्त्वा महीं प्राप्य प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ १९ ॥

कितने ही घोड़े सुनहरी रस्सियों तथा मोतीकी जालियोंसे विभूषित विचित्र आच्छादन वस्त्रोंसे विशेष शोभायमान हो रहे थे। महाबाहु सात्यकिके द्वारा रौंदे जाकर वे धरतीपर पड़े थे और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ॥ १८-१९ ॥

नानाविधानि सैन्यानि तव हत्वा तु सात्वतः ।
प्रविष्टस्तावकं सैन्यं द्रावयित्वा चमूं भृशम् ॥ २० ॥

इस प्रकार आपकी नाना प्रकारकी सेनाओंका संहार करके तथा बहुत-से सैनिकोंको भगाकर सात्यकि आपकी सेनाके भीतर घुस गये ॥ २० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण येन यातो धनंजयः ।
इयेष सात्यकिर्गन्तुं ततो द्रोणेन वारितः ॥ २१ ॥

तदनन्तर जिस मार्गसे अर्जुन गये, उसीसे सात्यकिने भी जानेका विचार किया; परंतु द्रोणाचार्यने उन्हें रोक दिया॥

भारद्वाजं समासाद्य युयुधानश्च सात्यकिः ।
न न्यवर्तत संक्रुद्धो वेलामिव जलाशयः ॥ २२ ॥

अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए सत्यकनन्दन युयुधान द्रोणाचार्यके पास पहुँचकर रुक तो गये; परंतु पीछे नहीं लौटे। जैसे क्षुब्ध जलाशय अपनी तटभूमितक पहुँचकर फिर पीछे नहीं लौटता है ॥ २२ ॥

निवार्य तु रणे द्रोणो युयुधानं महारथम् ।
विव्याध निशितैर्बाणैः पञ्चभिर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यने रणक्षेत्रमें महारथी युयुधानको रोककर मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाले पाँच पैने बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥ २३ ॥

सात्यकिस्तु रणे द्रोणं राजन् विव्याध सप्तभिः ।
हेमपुङ्खैः शिलाधौतैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ॥ २४ ॥

राजन्! तब सात्यकिने भी समराङ्गणमें शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पाँखवाले तथा कंक और मोरकी पाँखोंसे संयुक्त हुए सात बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर डाला ॥ २४ ॥

तं षड्भिः सायकैर्द्रोणः साश्वयन्तारमार्दयत् ।
स तं न ममृषे द्रोणं युयुधानो महारथः ॥ २५ ॥

फिर द्रोणने छः बाण मारकर घोड़ों और सारथिसहित सात्यकिको पीड़ित कर दिया। द्रोणाचार्यके इस पराक्रमको महारथी युयुधान सहन न कर सके ॥ २५ ॥

सिंहनादं ततः कृत्वा द्रोणं विव्याध सात्यकिः ।
दशभिः सायकैश्चान्यैः षड्भिरष्टाभिरेव च ॥ २६ ॥

उन्होंने सिंहनाद करके लगातार दस, छः और आठ बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको गहरी चोट पहुँचायी ॥ २६ ॥

युयुधानः पुनर्द्रोणं विव्याध दशभिः शरैः ।
एकेन सारथिं चास्य चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ २७ ॥
ध्वजमेकेन बाणेन विव्याध युधि मारिष ।

माननीय नरेश! तदनन्तर युयुधानने पुनः दस बाण मारकर द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर एक बाणसे उनके सारथिको, चारसे चारों घोड़ोंको और एक बाणसे उनकी ध्वजाको युद्धस्थलमें बींध डाला ॥ २७½ ॥

तं द्रोणः साश्वयन्तारं सरथध्वजमाशुगैः ॥ २८ ॥
त्वरन् प्राच्छादयद् बाणैः शलभानामिव व्रजैः ।

इसके बाद द्रोणाचार्यने उतावले होकर टिड्डीदलोंके समान अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा घोड़े, सारथि, रथ और ध्वजसहित सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ २८½ ॥

तथैव युयुधानोऽपि द्रोणं बहुभिराशुगैः ॥ २९ ॥
आच्छादयदसम्भ्रान्तस्ततो द्रोण उवाच ह ।

इसी प्रकार सात्यकिने भी बिना किसी घबराहटके बहुत-से शीघ्रगामी बाणोंकी वर्षा करके द्रोणाचार्यको ढक दिया। तब द्रोणाचार्य बोले—॥ २९½ ॥

तवाचार्यो रणं हित्वा गतः कापुरुषो यथा ॥ ३० ॥
युध्यमानं च मां हित्वा प्रदक्षिणमवर्तत ।
त्वं हि मे युध्यतो नाद्य जीवन् यास्यसि माधव ॥ ३१ ॥
यदि मां त्वं रणे हित्वा न यास्याचार्यवद् द्रुतम् ।

'माधव! तुम्हारे आचार्य अर्जुन तो कायरके समान युद्धका मैदान छोड़कर चले गये हैं। मैं युद्ध कर रहा था तो भी मुझे छोड़कर मेरी परिक्रमा करते हुए चल दिये। तुम भी अपने आचार्यके समान तुरंत ही समराङ्गणमें मुझे छोड़कर चले नहीं जाओगे तो युद्धमें तत्पर रहते हुए मेरे हाथसे आज जीवित बचकर नहीं जा सकोगे' ॥ ३०-३१½ ॥

सात्यकिरुवाच

धनंजयस्य पदवीं धर्मराजस्य शासनात् ॥ ३२ ॥
गच्छामि स्वस्ति ते ब्रह्मन् न मे कालात्ययो भवेत् ।
आचार्यानुगतो मार्गः शिष्यैरन्वास्यते सदा ॥ ३३ ॥
तस्मादेव व्रजाम्याशु यथा मे स गुरुर्गतः ।

सात्यकिने कहा—ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो । मैं धर्मराजकी आज्ञासे धनंजयके मार्गपर जा रहा हूँ । आप ऐसा करें, जिससे मुझे विलम्ब न हो । शिष्यगण तो सदासे ही अपने आचार्यके मार्गका ही अनुसरण करते आये हैं । अतः जिस प्रकार मेरे गुरुजी गये हैं, उसी प्रकार मैं भी शीघ्र ही चला जाता हूँ ॥ ३२-३३½ ॥

संजय उवाच

एतावदुक्त्वा शैनेय आचार्यं परिवर्जयन् ॥ ३४ ॥
प्रयातः सहसा राजन् सारथिं चेदमब्रवीत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर सात्यकि सहसा द्रोणाचार्यको छोड़कर चल दिये और सारथिसे इस प्रकार बोले—॥ ३४½ ॥

द्रोणः करिष्यते यत्नं सर्वथा मम वारणे ॥ ३५ ॥
यत्तो याहि रणे सूत शृणु चेदं वचः परम् ।

'सूत ! द्रोणाचार्य मुझे रोकनेके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करेंगे, अतः तुम रणक्षेत्रमें सावधान होकर चलो और मेरी यह दूसरी बात भी सुन लो ॥ ३५½ ॥

एतदालोक्यते सैन्यमावन्त्यानां महाप्रभम् ॥ ३६ ॥
अस्यानन्तरतस्त्वेतद् दाक्षिणात्यं महद् बलम् ।
तदनन्तरमेतच्च बाह्लिकानां महद् बलम् ॥ ३७ ॥

'यह अवन्तिनिवासियोंकी अत्यन्त तेजस्विनी सेना दिखायी देती है । इसके बाद यह दाक्षिणात्योंकी विशाल सेना है । उसके पश्चात् यह बाह्लिकोंकी विशाल वाहिनी है ॥

बाह्लिकाभ्याशतो युक्तं कर्णस्य च महद् बलम् ।
अन्योन्येन हि सैन्यानि भिन्नान्येतानि सारथे ॥ ३८ ॥

'बाह्लिकोंके पास ही उनसे जुड़ी हुई कर्णकी बड़ी भारी सेना खड़ी है । सारथे ! ये सारी सेनाएँ एक दूसरीसे भिन्न हैं॥

अन्योन्यं समुपाश्रित्य न त्यक्ष्यन्ति रणाजिरम् ।
एतदन्तरमासाद्य चोदयाश्वान् प्रहृष्टवत् ॥ ३९ ॥

'ये सब-की-सब एक दूसरीका सहारा लेकर युद्धके लिये डटी हुई हैं । ये कभी भी समराङ्गणका परित्याग नहीं करेंगी । तुम इन्हींके बीचमें होकर प्रसन्नतापूर्वक अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाओ ॥ ३९ ॥

मध्यमं जवमास्थाय वह मामत्र सारथे ।
बाह्लिका यत्र दृश्यन्ते नानाप्रहरणोद्यताः ॥ ४० ॥

'सारथे ! मध्यम वेगका आश्रय लेकर तुम मुझे वहाँ ले चलो, जहाँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये युद्धके लिये उद्यत हुए बाह्लिकदेशीय सैनिक दिखायी देते हैं ॥ ४० ॥

दाक्षिणात्याश्च बहवः सूतपुत्रपुरोगमाः ।
हस्त्यश्वरथसम्बाधं यच्चानीकं विलोक्यते ॥ ४१ ॥
नानादेशसमुत्थैश्च पदातिभिरधिष्ठितम् ।

'जहाँ सूतपुत्र कर्णको आगे करके बहुत-से दाक्षिणात्य योद्धा खड़े हैं, हाथी, घोड़ों और रथोंसे भरी हुई जो वह सेना दृष्टिगोचर हो रही है, उसमें अनेक देशोंके पैदल सैनिक मौजूद हैं; तुम वहाँ भी मेरे रथको ले चलो' ॥ ४१½ ॥

एतावदुक्त्वा यन्तारं ब्राह्मणं परिवर्जयन् ॥ ४२ ॥
स व्यतीयाय यत्रोग्रं कर्णस्य च महद् बलम् ।

सारथिसे ऐसा कहकर सात्यकि ब्राह्मण द्रोणाचार्यको छोड़ते हुए सबको लाँघकर उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ कर्णकी भयकर एवं विशाल सेना खड़ी थी ॥ ४२½ ॥

तं द्रोणोऽनुययौ क्रुद्धो विकिरन् विशिखान् बहून् ॥ ४३ ॥
युयुधानं महाभागं गच्छन्तमनिवर्तिनम् ।

युद्धसे पीछे न हटनेवाले महाभाग युयुधानको आगे बढ़ते देख द्रोणाचार्य कुपित हो उठे और वे बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे दौड़े ॥ ४३½ ॥

कर्णस्य सैन्यं सुमहदभिहत्य शितैः शरैः ॥ ४४ ॥
प्राविशद् भारतीं सेनामपर्यन्तां च सात्यकिः ।

सात्यकि कर्णकी विशाल वाहिनीको अपने पैने बाणोंद्वारा घायल करके अपार कौरवी सेनामें घुस गये ॥ ४४½ ॥

प्रविष्टे युयुधाने तु सैनिकेषु द्रुतेषु च ॥ ४५ ॥
अमर्षी कृतवर्मा तु सात्यकिं पर्यवारयत् ।

सात्यकिके प्रवेश करते ही सारे कौरव-सैनिक भागने लगे । तब क्रोधमें भरे हुए कृतवर्माने उन्हें आ घेरा ॥ ४५½ ॥

तमापतन्तं विशिखैः षड्भिराहत्य सात्यकिः ॥ ४६ ॥
चतुर्भिश्चतुरोऽस्याश्वानाजघानाशु वीर्यवान् ।

उसे आते देख पराक्रमी सात्यकिने छः बाणोंद्वारा उसे चोट पहुँचाकर चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको शीघ्र ही घायल कर दिया ॥ ४६½ ॥

ततः पुनः षोडशभिर्नतपर्वभिराशुगैः ॥ ४७ ॥
सात्यकिः कृतवर्माणं प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

तदनन्तर पुनः झुकी हुई गाँठवाले सोलह बाण मारकर सात्यकिने कृतवर्माकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७½ ॥

स ताड्यमानो विशिखैर्बहुभिस्तिग्मतेजनैः ॥ ४८ ॥
सात्वतेन महाराज कृतवर्मा न चक्षमे ।

महाराज ! सात्यकिके प्रचण्ड तेजवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल होनेपर कृतवर्मा सहन न कर सका ॥ ४८½ ॥

स वत्सदन्तं संधाय जिह्मगानलसंनिभम् ॥ ४९ ॥
आकृष्य राजन्नाकर्णाद् विव्याधोरसि सात्यकिम् ।

राजन् ! वक्रगतिसे चलनेवाले अग्निके समान तेजस्वी

वत्सदन्तनामक बाणको धनुषपर रखकर कृतवर्माने उसे कानतक खींचा और उसके द्वारा सात्यकिकी छातीमें प्रहार किया॥

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ ५० ॥
सपुङ्खपत्रः पृथिवीं विवेश रुधिरोक्षितः ।

वह बाण सात्यकिके शरीर और कवच दोनोंको विदीर्ण करके खूनसे लथपथ हो पङ्ख एवं पत्रसहित धरतीमें समा गया ॥

अथास्य बहुभिर्बाणैरच्छिनत् परमास्त्रवित् ॥ ५१ ॥
समार्गणगणं राजन् कृतवर्मा शरासनम् ।

राजन्! कृतवर्मा उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता है। उसने बहुत-से बाण चलाकर बाणसमूहोंसहित सात्यकिके शरासनको काट दिया ॥ ५१½ ॥

विव्याध च रणे राजन् सात्यकिं सत्यविक्रमम् ॥ ५२॥
दशभिर्विशिखैस्तीक्ष्णैरभिक्रुद्धः स्तनान्तरे ।

नरेश्वर ! इसके बाद क्रोधमें भरे हुए कृतवर्माने सत्यपराक्रमी सात्यकिकी छातीमें पुनः दस पैने बाणोंद्वारा गहरा आघात किया ॥ ५२½ ॥

ततः प्रशीर्णे धनुषि शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥ ५३ ॥
जघान दक्षिणं बाहुं सात्यकिः कृतवर्मणः ।

धनुष कट जानेपर शक्तिशाली शूरवीरोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने कृतवर्माकी दाहिनी भुजापर शक्तिद्वारा ही प्रहार किया ॥ ५३½ ॥

ततोऽन्यत् सुदृढं चापं पूर्णमायम्य सात्यकिः ॥ ५४ ॥
व्यसृजद् विशिखांस्तूर्णं शतशोऽथ सहस्रशः ।
सरथं कृतवर्माणं समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ५५ ॥

तदनन्तर दूसरे सुदृढ़ धनुषको अच्छी तरह खींचकर सात्यकि तुरंत ही सैकड़ों और हजारों बाणोंकी वर्षा की और रथसहित कृतवर्माको सब ओरसे ढक दिया ॥ ५४-५५ ॥

छादयित्वा रणे राजन् हार्दिक्यं स तु सात्यकिः ।
अथास्य भल्लेन शिरः सारथेः समकृन्तत ॥ ५६ ॥

राजन्! रणक्षेत्रमें इस प्रकार कृतवर्माको आच्छादित करके सात्यकिने एक भल्लद्वारा उसके सारथिका सिर काट दिया ॥ ५६ ॥

स पपात हतः सूतो हार्दिक्यस्य महारथात् ।
ततस्ते यन्तृरहिताः प्राद्रवंस्तुरगा भृशम् ॥ ५७ ॥

उनके द्वारा मारा गया सारथि कृतवर्माके विशाल रथसे नीचे गिर पड़ा। फिर तो सारथिके बिना उसके घोड़े बड़े जोरसे भागने लगे ॥ ५७ ॥

अथ भोजस्तु सम्भ्रान्तो निगृह्य तुरगान् स्वयम् ।
तस्थौ वीरो धनुष्पाणिस्तत् सैन्यान्यभ्यपूजयन्॥५८॥

इससे कृतवर्माको बड़ी घबराहट हुई; परंतु वह वीर स्वयं ही घोड़ोंको काबूमें करके हाथमें धनुष ले युद्धके लिये डट गया। उसके इस कर्मकी सभी सैनिकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५८ ॥

स मुहूर्तमिवाश्वस्य सदश्वान् समनोदयत् ।
व्यपेतभीरमित्राणामावहत् सुमहद् भयम् ॥ ५९ ॥

उसने थोड़ी ही देरमें आश्वस्त होकर अपने उत्तम घोड़ोंको आगे बढ़ाया तथा स्वयं निर्भय रहकर शत्रुओंके हृदयमें महान् भय उत्पन्न कर दिया ॥ ५९ ॥

सात्यकिश्चाभ्यगात् तस्मात् स तु भीममुपाद्रवत् ।
युयुधानोऽपि राजेन्द्र भोजानीकाद् विनिःसृतः ॥ ६० ॥
प्रययौ त्वरितस्तूर्णं काम्बोजानां महाचमूम् ।
स तत्र बहुभिः शूरैः संनिरुद्धो महारथैः ॥ ६१ ॥
न चचाल तदा राजन् सात्यकिः सत्यविक्रमः ।

राजेन्द्र ! यही अवसर पाकर सात्यकि वहाँसे आगे निकल गये। तब कृतवर्माने भीमसेनपर धावा किया। कृतवर्माकी सेनासे निकलकर युयुधान तुरंत ही काम्बोजोंकी विशाल वाहिनीके पास आ पहुँचे। वहाँ बहुत-से शूरवीर महारथियोंने उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया। महाराज! तो भी उस समय सत्यपराक्रमी सात्यकि विचलित नहीं हुए ॥ ६०-६१½ ॥

संधाय च चमूं द्रोणो भोजे भारं निवेश्य च ॥ ६२ ॥
अभ्यधावद् रणे यत्तो युयुधानं युयुत्सया ।

द्रोणाचार्यने अपनी बिखरी हुई सेनाको एकत्र करके उसकी रक्षाका भार कृतवर्माको सौंपकर समराङ्गणमें सात्यकिके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे उद्यत हो उनके पीछे-पीछे दौड़े ॥ ६२½ ॥

तथा तमनुधावन्तं युयुधानस्य पृष्ठतः ॥ ६३ ॥
न्यवारयन्त संहृष्टाः पाण्डुसैन्ये बृहत्तमाः ।

इस प्रकार उन्हें युयुधानके पीछे दौड़ते देख पाण्डव-सेनाके प्रमुख वीर हर्षमें भरकर द्रोणाचार्यको रोकनेका प्रयत्न करने लगे ॥ ६३½ ॥

समासाद्य तु हार्दिक्यं रथानां प्रवरं रथम् ॥ ६४ ॥
पञ्चाला विगतोत्साहा भीमसेनपुरोगमाः ।

परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी कृतवर्माके पास पहुँचकर भीमसेनको आगे करके आक्रमण करनेवाले पाञ्चालोंका उत्साह नष्ट हो गया ॥ ६४½ ॥

विक्रम्य वारिता राजन् वीरेण कृतवर्मणा ॥ ६५ ॥
यतमानांश्च तान् सर्वानीषद्विगतचेतसः ।

अभितस्ताञ्शरौघेण क्रान्तवाहानकारयत् ॥ ६६ ॥

राजन्! वीर कृतवर्माने पराक्रम करके उनको रोक दिया। वे सभी वीर कुछ-कुछ शिथिल एवं अचेत-से हो रहे थे, तो भी अपनी विजयके लिये प्रयत्नशील थे; परंतु कृतवर्माने सब ओरसे उनके ऊपर बाण-समूहोंकी वर्षा करके उनके वाहनोंको व्याकुल कर दिया ॥ ६५-६६ ॥

निगृहीतास्तु भोजेन भोजानीकेप्सवो रणे।
अतिष्ठन्नार्यवद् वीराः प्रार्थयन्तो महद्यशः ॥ ६७ ॥

कृतवर्माद्वारा रोके जानेपर वे पाण्डव वीर रणक्षेत्रमें महान् यशकी इच्छा करते हुए उसीकी सेनाके साथ युद्धकी अभिलाषा करके श्रेष्ठ पुरुषोंके समान डटकर खड़े हो गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिप्रवेशविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६८ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विषादयुक्त वचन, संजयका धृतराष्ट्रको ही दोषी बताना, कृतवर्माका भीमसेन और शिखण्डीके साथ युद्ध तथा पाण्डवसेनाकी पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं प्रविचितं बलम्।
व्यूढमेवं यथान्यायमेवं बहु च संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! मेरी सेना इस प्रकार अनेक गुणोंसे सम्पन्न है और इस तरह अधिक संख्यामें इसका संग्रह किया गया है। पाण्डवसेनाकी अपेक्षा यह प्रबल भी है। इसकी व्यूहरचना भी इस प्रकार शास्त्रीय विधिके अनुसार की जाती है और इस तरह बहुत-से योद्धाओंका समूह जुट गया है ॥ १ ॥

नित्यं पूजितमस्माभिरभिकामं च नः सदा।
प्रौढमत्यद्भुताकारं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥ २ ॥

हमलोगोंने सदा अपनी सेनाका आदर-सत्कार किया है तथा वह हमारे प्रति सदासे ही अनुरक्त भी है। हमारे सैनिक युद्धकी कलामें बढ़े-चढ़े हैं। हमारा सैन्य-समुदाय देखनेमें अद्भुत जान पड़ता है तथा इस सेनामें वे ही लोग चुन-चुनकर रक्खे गये हैं, जिनका पराक्रम पहलेसे ही देख लिया गया है ॥ २ ॥

नातिवृद्धमबालं च नाकृशं नातिपीवरम्।
लघुवृत्तायतप्रायं सारगात्रमनामयम् ॥ ३ ॥

इसमें न तो कोई अधिक बूढ़ा है, न बालक है, न अधिक दुबला है और न बहुत ही मोटा है। उनका शरीर हल्का, सुडौल तथा प्रायः लंबा है। शरीरका एक-एक अवयव सारवान् (सबल) तथा सभी सैनिक नीरोग एवं स्वस्थ हैं ॥ ३ ॥

आत्तसंनाहसंछन्नं बहुशस्त्रपरिच्छदम्।
शस्त्रग्रहणविद्यासु बह्वीषु परिनिष्ठितम् ॥ ४ ॥

इन सैनिकोंका शरीर बँधे हुए कवचसे आच्छादित है। इनके पास शस्त्र आदि आवश्यक सामग्रियोंकी बहुतायत है। ये सभी सैनिक शस्त्रग्रहणसम्बन्धी बहुत-सी विद्याओंमें प्रवीण हैं ॥ ४ ॥

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तरप्लुते।
सम्यक्प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ॥ ५ ॥

चढ़ने, उतरने, फैलने, कूद-कूदकर चलने, भली-भाँति प्रहार करने, युद्धके लिये जाने और अवसर देखकर पलायन करनेमें भी कुशल हैं ॥ ५ ॥

नागेष्वश्वेषु बहुशो रथेषु च परीक्षितम्।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥ ६ ॥

हाथियों, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर युद्ध करनेकी कलामें सब लोगोंकी परीक्षा ली जा चुकी है और परीक्षा लेनेके पश्चात् उन्हें यथायोग्य वेतन दिया गया है ॥ ६ ॥

न गोष्ठ्या नोपकारेण न सम्बन्धनिमित्ततः।
नानाहूतं नाप्यभृतं मम सैन्यं बभूव ह ॥ ७ ॥

हमने किसीको भी गोष्ठीद्वारा बहकाकर, उपकार करके अथवा किसी सम्बन्धके कारण सेनामें भर्ती नहीं किया है। इनमें ऐसा भी कोई नहीं है, जिसे बुलाया न गया हो अथवा जिसे बेगारमें पकड़कर लाया गया हो। मेरी सारी सेनाकी यही स्थिति है ॥ ७ ॥

कुलीनार्यजनोपेतं तुष्टपुष्टमनुद्धतम्।
कृतमानोपचारं च यशस्वि च मनस्वि च ॥ ८ ॥

इसमें सभी लोग कुलीन, श्रेष्ठ, हृष्ट-पुष्ट, उद्दण्डताशून्य, पहलेसे सम्मानित, यशस्वी तथा मनस्वी हैं ॥ ८ ॥

सचिवैश्चापरैर्मुख्यैर्बहुभिः पुण्यकर्मभिः।
लोकपालोपमैस्तात पालितं नरसत्तमैः ॥ ९ ॥

तात ! हमारे मन्त्री तथा अन्य बहुतेरे प्रमुख कार्यकर्ता जो पुण्यात्मा, लोकपालोंके समान पराक्रमी और मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं, सदा इस सेनाका पालन करते आये हैं ॥ ९ ॥

बहुभिः पार्थिवैर्गुप्तमस्मत्प्रियचिकीर्षुभिः ।
अस्मानभिसृतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ॥ १० ॥

हमारा प्रिय करनेकी इच्छावाले तथा सेना और अनुचरों-सहित स्वेच्छासे ही हमारे पक्षमें आये हुए बहुत-से भूपालगण भी इसकी रक्षामें तत्पर रहते हैं ॥ १० ॥

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः ।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैरश्वैश्च संवृतम् ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंसे बहकर आयी हुई नदियोंसे परिपूर्ण होनेवाले महासागरके समान हमारी यह सेना अगाध और अपार है। पक्षरहित एवं पक्षियोंके समान तीव्र वेगसे चलने-वाले रथों और घोड़ोंसे यह भरी हुई है ॥ ११ ॥

प्रभिन्नकरटैश्चैव द्विरदैरावृतं महत् ।
यदहन्यत मे सैन्यं किमन्यद् भागधेयतः ॥ १२ ॥

गण्डस्थलसे मद बहानेवाले गजराजोंद्वारा आवृत यह मेरी विशाल वाहिनी यदि शत्रुओंद्वारा मारी गयी है तो इसमें भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥१२ ॥

योधाक्षय्यजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम् ।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्रासझषाकुलम् ॥ १३ ॥
ध्वजभूषणसम्बाधरत्नोपलसुसंचितम् ।
वाहनैरभिधावद्भिर्वायुवेगविकम्पितम् ॥ १४ ॥
द्रोणगम्भीरपातालं कृतवर्ममहाह्रदम् ।
जलसंधमहाग्राहं कर्णचन्द्रोदयोद्धतम् ॥ १५ ॥

संजय ! मेरी सेना भयंकर समुद्रके समान जान पड़ती है। योद्धा ही इसके अक्षय्य जल हैं, वाहन ही इसकी तरङ्गमालाएँ हैं, क्षेपणीय, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र इसमें मछलियोंके समान भरे हुए हैं। ध्वजा और आभूषणोंके समुदाय इसके भीतर रत्नोंके समान संचित हैं। दौड़ते हुए वाहन ही वायुके वेग हैं, जिनसे यह सैन्यसमुद्र कम्पित एवं क्षुब्ध-सा जान पड़ता है। द्रोणाचार्य ही इसकी पातालतक फैली हुई गहराई है। कृतवर्मा इसमें महान् ह्रदके समान है, जलसंध विशाल ग्राह है और कर्णरूपी चन्द्रमाके उदयसे यह सदा उद्वेलित होता रहता है ॥ १३–१५ ॥

गते सैन्यार्णवं भित्त्वा तरसा पाण्डवर्षभे ।
संजयैकरथेनैव युयुधाने च मामकम् ॥ १६ ॥
तत्र शेषं न पश्यामि प्रविष्टे सव्यसाचिनि ।
सात्वते च रथोदारे मम सैन्यस्य संजय ॥ १७ ॥

संजय ! ऐसे मेरे सैन्यरूपी महासागरका वेगपूर्वक भेदन करके जब पाण्डवश्रेष्ठ सव्यसाची अर्जुन तथा सात्वत-वंशी उदार महारथी युयुधान एकमात्र रथकी सहायतासे इसके भीतर घुस गये, तब मैं अपनी सेनाके शेष रहनेकी आशा नहीं देखता हूँ ॥ १६-१७ ॥

तौ तत्र समतिक्रान्तौ दृष्ट्वातीव तरस्विनौ ।
सिन्धुराजं तु सम्प्रेक्ष्य गाण्डीवस्येषुगोचरे ॥ १८ ॥
किं नु वा कुरवः कृत्यं विदधुः कालचोदिताः ।
दारुणैकायने काले कथं वा प्रतिपेदिरे ॥ १९ ॥

उन दोनों अत्यन्त वेगशाली वीरोंको वहाँ सबका उल्लङ्घन करके घुसे हुए देख तथा सिन्धुराज जयद्रथको गाण्डीवसे छूटे हुए बाणोंकी सीमामें उपस्थित पाकर काल-प्रेरित कौरवोंने वहाँ कौन-सा कार्य किया ? उस दारुण संहारके समय, जहाँ मृत्युके सिवा दूसरी कोई गति नहीं थी, किस प्रकार उन्होंने कर्तव्यका निश्चय किया ? ॥१८-१९॥

ग्रस्तान् हि कौरवान् मन्ये मृत्युना तात संगतान् ।
विक्रमोऽपि रणे तेषां न तथा दृश्यते हि वै ॥ २० ॥

तात ! मैं युद्धस्थलमें एकत्र हुए कौरवोंको कालका ग्रास ही मानता हूँ; क्योंकि रणक्षेत्रमें उनका पराक्रम भी पहले-जैसा नहीं दिखायी देता है ॥ २० ॥

अक्षतौ संयुगे तत्र प्रविष्टौ कृष्णपाण्डवौ ।
न च वारयिता कश्चित् तयोरस्तीह संजय ॥ २१ ॥

संजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुन बिना कोई क्षति उठाये युद्धस्थलमें मेरी सेनाके भीतर घुस गये; परंतु इसमें कोई भी वीर उन दोनोंको रोकनेवाला न निकला ॥ २१ ॥

भृताश्च बहवो योधाः परीक्ष्यैव महारथाः ।
वेतनेन यथायोगं प्रियवादेन चापरे ॥ २२ ॥

हमने दूसरे बहुत-से महारथी योद्धाओंकी परीक्षा करके ही उन्हें सेनामें भर्ती किया है और यथायोग्य वेतन देकर तथा प्रिय वचन बोलकर उनका सत्कार किया है ॥२२॥

असत्कारभृतस्तात मम सैन्ये न विद्यते ।
कर्मणा ह्यनुरूपेण लभ्यते भक्तवेतनम् ॥ २३ ॥

तात ! मेरी सेनामें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे अनादर-पूर्वक रक्खा गया हो। सबको उनके कार्यके अनुरूप ही भोजन और वेतन प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

न चायोधोऽभवत् कश्चिन्मम सैन्ये तु संजय ।
अल्पदानभृतस्तात तथा चाभृतको नरः ॥ २४ ॥

तात संजय ! मेरी सेनामें ऐसा एक भी योद्धा नहीं रहा होगा, जिसे थोड़ा वेतन दिया जाता हो अथवा बिना वेतनके ही रक्खा गया हो ॥ २४ ॥

पूजितो हि यथाशक्त्या दानमानासनैर्मया ।
तथा पुत्रैश्च मे तात ज्ञातिभिश्च सबान्धवैः ॥ २५ ॥

तात ! मैंने, मेरे पुत्रोंने तथा कुटुम्बीजनों एवं बन्धु-बान्धवोंने भी सभी सैनिकोंका यथाशक्ति दान, मान और आसन आदि देकर सत्कार किया है ॥ २५ ॥

ते च प्राप्यैव संग्रामे निर्जिताः सव्यसाचिना ।
शैनेयेन परामृष्टाः किमन्यद् भागधेयतः ॥ २६ ॥

तथापि सव्यसाची अर्जुनने संग्रामभूमिमें पहुँचते ही उन सबको पराजित कर दिया है और सात्यकिने भी उन्हें कुचल डाला है। इसे भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ २६ ॥

रक्ष्यते यश्च संग्रामे ये च संजय रक्षिणः ।
एकः साधारणः पन्था रक्ष्यस्य सह रक्षिभिः ॥ २७ ॥

संजय ! संग्राममें जिसकी रक्षा की जाती है और जो लोग रक्षक हैं, उन रक्षकोंसहित रक्षणीय पुरुषके लिये एकमात्र साधारण मार्ग रह गया है पराजय ॥ २७ ॥

अर्जुनं समरे दृष्ट्वा सैन्धवस्याग्रतः स्थितम् ।
पुत्रो मम भृशं मूढः किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ २८ ॥

अर्जुनको समराङ्गणमें सिन्धुराजके सामने खड़ा देख अत्यन्त मोहग्रस्त हुए मेरे पुत्रने कौन-सा कर्तव्य निश्चित किया ? ॥ २८ ॥

सात्यकिं च रणे दृष्ट्वा प्रविशन्तमभीतवत् ।
किं नु दुर्योधनः कृत्यं प्राप्तकालममन्यत ॥ २९ ॥

सात्यकिको रणक्षेत्रमें निर्भय-सा प्रवेश करते देख दुर्योधनने उस समयके लिये कौन-सा कर्तव्य उचित माना ?॥ २९ ॥

सर्वशस्त्रातिगौ सेनां प्रविष्टौ रथिसत्तमौ ।
दृष्ट्वा कां वै धृतिं युद्धे प्रत्यपद्यन्त मामकाः ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण शस्त्रोंकी पहुँचसे परे होकर जब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकि और अर्जुन मेरी सेनामें प्रविष्ट हो गये, तब उन्हें देखकर मेरे पुत्रोंने युद्धस्थलमें किस प्रकार धैर्य धारण किया?॥

दृष्ट्वा कृष्णं तु दाशार्हमर्जुनार्थे व्यवस्थितम् ।
शिनीनामृषभं चैव मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३१ ॥

मैं समझता हूँ कि अर्जुनके लिये रथपर बैठे हुए दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको तथा शिनिप्रवर सात्यकिको देखकर मेरे पुत्र शोकमग्न हो गये होंगे ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वा सेनां व्यतिक्रान्तां सात्वतेनार्जुनेन च ।
पलायमानांश्च कुरून् मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३२ ॥

सात्यकि और अर्जुनको सेना लाँघकर जाते और कौरव सैनिकोंको युद्धस्थलसे भागते देखकर मैं समझता हूँ कि मेरे पुत्र शोकमें डूब गये होंगे ॥ ३२ ॥

विद्रुतान् रथिनो दृष्ट्वा निरुत्साहान् द्विषज्जये ।
पलायनकृतोत्साहान् मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३३ ॥

मेरे मनमें यह बात आती है कि अपने रथियोंको शत्रु-विजयकी ओरसे उत्साहशून्य होकर भागते और भागनेमें ही बहादुरी दिखाते देख मेरे पुत्र शोक कर रहे होंगे॥३३॥

शून्यान् कृतान् रथोपस्थान् सात्वतेनार्जुनेन च ।
हतांश्च योधान् संदृश्य मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३४ ॥

सात्यकि और अर्जुनने हमारी रथोंकी बैठकें सूनी कर दी हैं और योद्धाओंको मार गिराया है, यह देखकर मैं सोचता हूँ कि मेरे पुत्र बहुत दुखी हो गये होंगे ॥३४॥

व्यश्वनागरथान् दृष्ट्वा तत्र वीरान् सहस्रशः ।
धावमानान् रणे व्यग्रान् मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः॥ ३५ ॥

सहस्रों वीरोंको वहाँ युद्धके मैदानमें घोड़े, रथ और हाथियोंसे रहित एवं उद्विग्न होकर भागते देखकर मैं मानता हूँ कि मेरे पुत्र शोकमग्न हो गये होंगे ॥ ३५ ॥

महानागान् विद्रवतो दृष्ट्वार्जुनशराहतान् ।
पतितान् पततश्चान्यान् मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके बाणोंसे आहत होकर बड़े-बड़े गजराजोंको भागते, गिरते और गिरे हुए देखकर मैं समझता हूँ कि मेरे पुत्र शोक कर रहे होंगे ॥ ३६ ॥

विहीनांश्च कृतानश्वान् विरथांश्च कृतान् नरान् ।
तत्र सात्यकिपार्थाभ्यां मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३७ ॥

सात्यकि और अर्जुनने घोड़ोंको सवारोंसे हीन और मनुष्योंको रथसे वञ्चित कर दिया है। यह देख-सुनकर मेरे पुत्र शोकमें डूब रहे होंगे ॥ ३७ ॥

हयौघान् निहतान् दृष्ट्वा द्रवमाणांस्ततस्ततः ।
रणे माधवपार्थाभ्यां मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३८ ॥

रणक्षेत्रमें सात्यकि और अर्जुनद्वारा मारे गये तथा इधर-उधर भागते हुए अश्वसमूहोंको देखकर मैं मानता हूँ कि मेरे पुत्र शोकदग्ध हो रहे होंगे ॥ ३८ ॥

पत्तिसंघान् रणे दृष्ट्वा धावमानांश्च सर्वशः ।
निराशा विजये सर्वे मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ३९ ॥

पैदल सिपाहियोंको रणक्षेत्रमें सब ओर भागते देख मैं समझता हूँ, मेरे सभी पुत्र विजयसे निराश हो शोक कर रहे होंगे ॥ ३९ ॥

द्रोणस्य समतिक्रान्तावनीकमपराजितौ ।
क्षणेन दृष्ट्वा तौ वीरौ मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥ ४० ॥

मेरे मनमें यह बात आती है कि किसीसे पराजित न होनेवाले दोनों वीर अर्जुन और सात्यकिको क्षणभरमें द्रोणा-

चार्यकी सेनाका उल्लङ्घन करते देख मेरे पुत्र शोकाकुल हो गये होंगे ॥ ४० ॥

सम्मूढोऽस्मि भृशं तात श्रुत्वा कृष्णधनंजयौ ।
प्रविष्टौ मामकं सैन्यं सात्वतेन सहाच्युतौ ॥ ४१ ॥

तात ! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुनके सात्यकिसहित अपनी सेनामें घुसनेका समाचार सुनकर मैं अत्यन्त मोहित हो रहा हूँ ॥ ४१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पृतनां शिनीनां प्रवरे रथे ।
भोजानीकं व्यतिक्रान्ते किमकुर्वत कौरवाः ॥ ४२ ॥

शिनिप्रवर महारथी सात्यकि जब कृतवर्माकी सेनाको लाँघकर कौरवी सेनामें प्रविष्ट हो गये, तब कौरवोंने क्या किया ? ॥ ४२ ॥

तथा द्रोणेन समरे निगृहीतेषु पाण्डुषु ।
कथं युद्धमभूत् तत्र तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ४३ ॥

संजय ! जब द्रोणाचार्यने समर-भूमिमें पूर्वोक्त प्रकारसे पाण्डवोंको रोक दिया, तब वहाँ किस प्रकार युद्ध हुआ ? यह सब मुझे बताओ ॥ ४३ ॥

द्रोणो हि बलवाञ्श्रेष्ठः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
पञ्चालास्ते महेष्वासं प्रत्यविध्यन् कथं रणे ॥ ४४ ॥
बद्धवैरास्ततो द्रोणे धनंजयजयैषिणः ।

द्रोणाचार्य अस्त्रविद्यामें निपुण, युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले, बलवान् एवं श्रेष्ठ वीर हैं। पाञ्चालसैनिकोंने उस समय रणक्षेत्रमें महाधनुर्धर द्रोणको किस प्रकार घायल किया ? क्योंकि वे द्रोणाचार्यसे वैर बाँधकर अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखते थे ॥ ४४½ ॥

भारद्वाजसुतस्तेषु दृढवैरो महारथः ॥ ४५ ॥
अर्जुनश्चापि यच्चक्रे सिन्धुराजवधं प्रति ।
तन्मे सर्वं समाचक्ष्व कुशलो ह्यसि संजय ॥ ४६ ॥

संजय ! भरद्वाजके पुत्र महारथी अश्वत्थामा भी पाञ्चालोंसे दृढ़तापूर्वक वैर बाँधे हुए थे। अर्जुनने सिन्धुराज जयद्रथका वध करनेके लिये जो-जो उपाय किया, वह सब मुझसे कहो; क्योंकि तुम कथा कहनेमें कुशल हो ॥ ४५–४६ ॥

संजय उवाच

आत्मापराधात् सम्भूतं व्यसनं भरतर्षभ ।
प्राप्य प्राकृतवद् वीर न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! यह सारी विपत्ति आपको अपने ही अपराधसे प्राप्त हुई है। वीर ! इसे पाकर निम्न कोटिके मनुष्योंकी भाँति शोक न कीजिये ॥ ४७ ॥

पुरा यदुच्यसे प्राज्ञैः सुहृद्भिर्विदुरादिभिः ।
मा हार्षीः पाण्डवान् राजन्निति तन्न त्वया श्रुतम् ॥ ४८ ॥

पहले जब आपके बुद्धिमान् सुहृद् विदुर आदिने आपसे कहा था कि राजन् ! आप पाण्डवोंके राज्यका अपहरण न कीजिये, तब आपने उनकी यह बात नहीं सुनी थी ॥ ४८ ॥

सुहृदां हितकामानां वाक्यं यो न शृणोति ह ।
स महद् व्यसनं प्राप्य शोचते वै यथा भवान् ॥ ४९ ॥

जो हितैषी सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, वह भारी संकटमें पड़कर आपके ही समान शोक करता है ॥ ४९ ॥

याचितोऽसि पुरा राजन् दाशार्हेण शमं प्रति ।
न च तं लब्धवान् कामं त्वत्तः कृष्णो महायशाः ॥ ५० ॥

राजन् ! दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने पहले आपसे शान्तिके लिये याचना की थी; परंतु आपकी ओरसे उन महायशस्वी श्रीकृष्णकी वह इच्छा पूरी नहीं की गयी ॥

तव निर्गुणतां ज्ञात्वा पक्षपातं सुतेषु च ।
द्वैधीभावं तथा धर्मे पाण्डवेषु च मत्सरम् ॥ ५१ ॥
तव जिह्ममभिप्रायं विदित्वा पाण्डवान् प्रति ।
आर्तप्रलापांश्च बहून् मनुजाधिपसत्तम ॥ ५२ ॥
सर्वलोकस्य तत्त्वज्ञः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
वासुदेवस्ततो युद्धं कुरूणामकरोन्महत् ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण लोकोंके तत्त्वज्ञ तथा सर्वलोकेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब यह जान लिया कि आप सर्वथा सद्गुणशून्य हैं, अपने पुत्रोंपर पक्षपात रखते हैं, धर्मके विषयमें आपके मनमें दुविधा बनी हुई है, पाण्डवोंके प्रति आपके हृदयमें डाह है, आप उनके प्रति कुटिलतापूर्ण मनसूबे बाँधते रहते हैं और व्यर्थ ही आर्त मनुष्योंके समान बहुत-सी बातें बनाते हैं, तब उन्होंने कौरव-पाण्डवोंके महान् युद्धका आयोजन किया ॥ ५१–५३ ॥

आत्मापराधात् सुमहान् प्राप्तस्ते विपुलः क्षयः ।
नैनं दुर्योधने दोषं कर्तुमर्हसि मानद ॥ ५४ ॥

मानद ! अपने ही अपराधसे आपके सामने यह महान् जनसंहार प्राप्त हुआ है। आपको यह सारा दोष दुर्योधनपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥ ५४ ॥

न हि ते सुकृतं किंचिदादौ मध्ये च भारत ।
दृश्यते पृष्ठतश्चैव त्वन्मूलो हि पराजयः ॥ ५५ ॥

भारत ! मुझे तो आगे, पीछे या बीचमें आपका कोई भी शुभ कर्म नहीं दिखायी देता। इस पराजयकी जड़ आप ही हैं ॥ ५५ ॥

तस्मादवस्थितो भूत्वा ज्ञात्वा लोकस्य निर्णयम् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं घोरं देवासुरोपमम् ॥ ५६ ॥

इसलिये स्थिर होकर और लोकके नियत स्वभावको

जानकर देवासुर-संग्रामके समान भयंकर इस कौरव-पाण्डव-युद्धका यथार्थ वृत्तान्त सुनिये ॥ ५६ ॥

प्रविष्टे तव सैन्यं तु शैनेये सत्यविक्रमे।
भीमसेनमुखाः पार्थाः प्रतीयुर्वाहिनीं तव ॥ ५७ ॥

जब सत्यपराक्रमी सात्यकि कौरव-सेनामें प्रविष्ट हो गये, तब भीमसेन आदि कुन्तीकुमारोंने आपकी विशाल वाहिनीपर आक्रमण किया ॥ ५७ ॥

आगच्छतस्तान् सहसा क्रुद्धरूपान् सहानुगान्।
दधारैको रणे पाण्डून् कृतवर्मा महारथः ॥ ५८ ॥

सेवकोंसहित कुपित होकर सहसा आक्रमण करनेवाले उन पाण्डववीरोंको रणक्षेत्रमें एकमात्र महारथी कृतवर्माने रोका ॥

यथोद्वृत्तं वारयते वेला वै सलिलार्णवम्।
पाण्डुसैन्यं तथा संख्ये हार्दिक्यः समवारयत् ॥ ५९ ॥

जैसे उद्वेलित हुए महासागरको किनारेकी भूमि आगे बढ़नेसे रोकती है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें कृतवर्माने पाण्डव-सेनाको रोक दिया ॥ ५९ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम हार्दिक्यस्य पराक्रमम्।
यदेनं सहिताः पार्था नातिचक्रमुराहवे ॥ ६० ॥

वहाँ हमने कृमवर्माका अद्भुत पराक्रम देखा। सारे पाण्डव एक साथ मिलकर भी समराङ्गणमें उसे लाँघ न सके॥

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा कृतवर्माणमाशुगैः।
शङ्खं दध्मौ महाबाहुर्हर्षयन् सर्वपाण्डवान् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीमने तीन बाणोंद्वारा कृतवर्माको घायल करके समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए शङ्ख बजाया॥

सहदेवस्तु विंशत्या धर्मराजश्च पञ्चभिः।
शतेन नकुलश्चापि हार्दिक्यं समविध्यत ॥ ६२ ॥

सहदेवने बीस, धर्मराजने पाँच और नकुलने सौ बाणोंसे कृतवर्माको बींध डाला ॥ ६२ ॥

द्रौपदेयास्त्रिसप्तत्या सप्तभिश्च घटोत्कचः।
धृष्टद्युम्नस्त्रिभिश्चापि कृतवर्माणमार्दयत् ॥ ६३ ॥

द्रौपदीके पुत्रोंने तिहत्तर, घटोत्कचने सात और धृष्टद्युम्नने तीन बाणोंद्वारा उसे गहरी चोट पहुँचायी ॥६३॥

विराटो द्रुपदश्चैव याज्ञसेनिश्च पञ्चभिः।
शिखण्डी चैव हार्दिक्यं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ॥६४॥
पुनर्विव्याध विंशत्या सायकानां हसन्निव।

विराट, द्रुपद और उनके पुत्र धृष्टद्युम्नने पाँच-पाँच बाणोंसे उसको घायल किया। फिर शिखण्डीने पहले पाँच बाणोंद्वारा चोट करके फिर हँसते हुए ही बीस बाणोंसे कृतवर्माको बींध डाला ॥ ६४½ ॥

कृतवर्मा ततो राजन् सर्वतस्तान् महारथान् ॥ ६५ ॥
एकैकं पञ्चभिर्विद्ध्वा भीमं विव्याध सप्तभिः।
धनुर्ध्वजं चास्य तथा रथाद् भूमावपातयत् ॥ ६६ ॥

राजन्! उस समय कृतवर्माने चारों ओर बाण चलाकर उन महारथियोंमेंसे प्रत्येकको पाँच बाणोंद्वारा बींध डाला और भीमसेनको सात बाणोंसे घायल कर दिया। फिर तत्काल ही उनके धनुष और ध्वजको काटकर रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६५–६६ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं त्वरमाणो महारथः।
आजघानोरसि क्रुद्धः सप्तत्या निशितैः शरैः ॥ ६७ ॥

भीमसेनका धनुष कट जानेपर महारथी कृतवर्माने कुपित हो बड़ी उतावलीके साथ सत्तर पैने बाणोंद्वारा उनकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ ६७ ॥

स गाढविद्धो बलवान् हार्दिक्यस्य शरोत्तमैः।
चचाल रथमध्यस्थः क्षितिकम्पे यथाचलः ॥ ६८ ॥

कृतवर्माके श्रेष्ठ बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हुए बलवान् भीमसेन रथके भीतर बैठे हुए ही भूकम्पके समय हिलनेवाले पर्वतके समान काँपने लगे ॥ ६८ ॥

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा धर्मराजपुरोगमाः।
विसृजन्तः शरान् राजन् कृतवर्माणमार्दयन् ॥ ६९ ॥

राजन्! भीमसेनको वैसी अवस्थामें देखकर धर्मराज आदि महारथियोंने बाणोंकी वर्षा करके कृतवर्माको बड़ी पीड़ा दी ॥ ६९ ॥

तं तथा कोष्ठकीकृत्य रथवंशेन मारिष।
विव्यधुः सायकैर्हृष्टा रक्षार्थं मारुतेर्मृधे ॥ ७० ॥

माननीय नरेश! हर्षमें भरे हुए पाण्डव सैनिक भीमसेन-की रक्षाके लिये अपने रथसमूहद्वारा कृतवर्माको कोष्ठबद्ध-सा करके उसे युद्धस्थलमें अपने बाणोंका निशाना बनाने लगे ॥ ७० ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः।
शक्तिं जग्राह समरे हेमदण्डामयस्मयीम् ॥ ७१ ॥

इसी बीचमें महाबली भीमसेनने सचेत होकर समराङ्गणमें सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक लोहेकी शक्ति हाथमें ले ली॥

चिक्षेप च रथात् तूर्णं कृतवर्मरथं प्रति।
सा भीमभुजनिर्मुक्ता निर्मुक्तोरगसंनिभा ॥ ७२ ॥
कृतवर्माणमभितः प्रजज्वाल सुदारुणा।

और शीघ्र ही उसे अपने रथसे कृतवर्माके रथपर चला दिया। भीमसेनके हाथोंसे छूटी हुई, केंचुलसे निकले हुए सर्पके समान वह भयङ्कर शक्ति कृतवर्माके समीप जाकर प्रज्वलित हो उठी ॥ ७२½ ॥

तामापतन्तीं सहसा युगान्ताग्निसमप्रभाम् ॥ ७३ ॥
द्वाभ्यां शराभ्यां हार्दिक्यो निजघान द्विधा तदा ।

उस समय अपने ऊपर आती हुई प्रलयकालकी अग्निके समान उस शक्तिको सहसा दो बाण मारकर कृतवर्माने उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ ७३½ ॥

सा छिन्ना पतिता भूमौ शक्तिः कनकभूषणा ॥ ७४ ॥
द्योतयन्ती दिशो राजन् महोल्केव नभश्च्युता ।

राजन् ! सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करती हुई वह सुवर्णभूषित शक्ति कटकर आकाशसे गिरी हुई बड़ी भारी उल्काके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ७४½ ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा भीमश्चुक्रोध वै भृशम् ॥ ७५ ॥
ततोऽन्यद् धनुरादाय वेगवत् सुमहास्वनम् ।
भीमसेनो रणे क्रुद्धो हार्दिक्यं समवारयत् ॥ ७६ ॥

अपनी शक्तिको कटी हुई देख भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने बड़ी भारी टङ्कारध्वनि करनेवाले दूसरे वेगशाली धनुषको हाथमें लेकर समराङ्गणमें कुपित हो कृतवर्माका सामना किया ॥ ७५–७६ ॥

अथैनं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।
भीमो भीमबलो राजंस्तव दुर्मन्त्रितेन च ॥ ७७ ॥

राजन् ! आपकी ही कुमन्त्रणासे वहाँ भयङ्कर बलशाली भीमसेनने कृतवर्माकी छातीमें पाँच बाण मारे ॥ ७७ ॥

भोजस्तु क्षतसर्वाङ्गो भीमसेनेन मारिष ।
रक्ताशोक इवोत्फुल्लो व्यभ्राजत रणाजिरे ॥ ७८ ॥

माननीय नरेश ! भीमसेनने उन बाणोंद्वारा कृतवर्माके सम्पूर्ण अङ्गोंको क्षत-विक्षत कर दिया । वह रणाङ्गणमें खूनसे लथपथ हो खिले हुए लाल फूलोंवाले अशोकवृक्षके समान सुशोभित होने लगा ॥ ७८ ॥

ततः क्रुद्धस्त्रिभिर्बाणैर्भीमसेनं हसन्निव ।
अभिहत्य दृढं युद्धे तान् सर्वान् प्रत्यविध्यत ॥ ७९ ॥
त्रिभिस्त्रिभिर्महेष्वासो यतमानान् महारथान् ।

तदनन्तर उस महाधनुर्धरने क्रोधमें भरकर हँसते हुए ही तीन बाणोंद्वारा भीमसेनको गहरी चोट पहुँचाकर युद्धमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महारथियोंको तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला ॥ ७९½ ॥

तेऽपि तं प्रत्यविध्यन्त सप्तभिः सप्तभिः शरैः ॥ ८० ॥
शिखण्डिनस्ततः क्रुद्धः क्षुरप्रेण महारथः ।
धनुश्चिच्छेद समरे प्रहसन्निव सात्वतः ॥ ८१ ॥

तब उन महारथियोंने भी कृतवर्माको सात-सात बाण मारे । उस समय क्रोधमें भरे हुए महारथी कृतवर्माने हँसते हुए ही समराङ्गणमें एक क्षुरप्रद्वारा शिखण्डीका धनुष काट डाला ॥ ८०–८१ ॥

शिखण्डी तु ततः क्रुद्धश्छिन्ने धनुषि सत्वरः ।
असिं जग्राह समरे शतचन्द्रं च भास्वरम् ॥ ८२ ॥

धनुष कट जानेपर शिखण्डीने तुरंत ही कुपित हो उस युद्धस्थलमें सौ चन्द्रमाओंके चिह्नसे युक्त चमकीली ढाल और तलवार हाथमें ले ली ॥ ८२ ॥

भ्रामयित्वा महच्चर्म चामीकरविभूषितम् ।
तमसिं प्रेषयामास कृतवर्मरथं प्रति ॥ ८३ ॥

उसने स्वर्णभूषित विशाल ढालको घुमाकर कृतवर्माके रथपर वह तलवार दे मारी ॥ ८३ ॥

स तस्य सशरं चापं छित्त्वा राजन् महानसिः ।
अभ्यगाद् धरणीं राजंश्च्युतं ज्योतिरिवाम्बरात् ॥ ८४ ॥

राजन् ! वह महान् खड्ग कृतवर्माके बाणसहित धनुषको काटकर आकाशसे टूटे हुए तारेके समान धरतीमें समा गया ॥ ८४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु त्वरमाणं महारथाः ।
विव्यधुः सायकैर्गाढं कृतवर्माणमाहवे ॥ ८५ ॥

इसी समय पाण्डव महारथियोंने युद्धमें जल्दी-जल्दी हाथ चलानेवाले कृतवर्माको अपने बाणोंद्वारा भारी चोट पहुँचायी ॥ ८५ ॥

अथान्यद् धनुरादाय त्यक्त्वा तच्च महद् धनुः ।
विशीर्णं भरतश्रेष्ठ हार्दिक्यः परवीरहा ॥ ८६ ॥
विव्याध पाण्डवान् युद्धे त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।
शिखण्डिनं च विव्याध त्रिभिः पञ्चभिरेव च ॥ ८७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कृतवर्माने टूटे हुए उस विशाल धनुषको त्यागकर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और युद्धमें पाण्डवोंको तीन-तीन बाण मारकर घायल कर दिया । साथ ही शिखण्डीको भी तीन और पाँच बाणोंसे बींध डाला ॥ ८६-८७ ॥

धनुरन्यत् समादाय शिखण्डी तु महायशाः ।
अवारयत् कूर्मनखैराशुगैर्हृदिकात्मजम् ॥ ८८ ॥

तत्पश्चात् महायशस्वी शिखण्डीने भी दूसरा धनुष लेकर कछुओंके नखोंके समान धारवाले बाणोंद्वारा कृतवर्माका सामना किया ॥ ८८ ॥

ततः क्रुद्धो रणे राजन् हृदिकस्यात्मसम्भवः ।
अभिदुद्राव वेगेन याज्ञसेनिं महारथम् ॥ ८९ ॥
भीष्मस्य समरे राजन् मृत्योर्हेतुं महात्मनः ।
विदर्शयन् बलं शूरः शार्दूल इव कुञ्जरम् ॥ ९० ॥

राजन्! जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें कुपित हुए शूरवीर कृतवर्माने समराङ्गणमें महात्मा भीष्मकी मृत्युका कारण बने हुए महारथी शिखण्डीपर अपने बलका प्रदर्शन करते हुए बड़े वेगसे धावा किया ॥ ८९-९० ॥

तौ दिशां गजसंकाशौ ज्वलिताविव पावकौ।
समापेततुरन्योन्यं शरसङ्घैररिंदमौ ॥ ९१ ॥

प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर अपने बाण-समूहोंद्वारा दो दिग्गजोंके समान एक दूसरेपर टूट पड़े ॥ ९१ ॥

विधुन्वानौ धनुःश्रेष्ठे संदधानौ च सायकान्।
विसृजन्तौ च शतशो गभस्तीनिव भास्वरौ ॥ ९२ ॥

जैसे दो सूर्य पृथक्-पृथक् अपनी किरणोंका विस्तार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों वीर अपने श्रेष्ठ धनुष हिलाते और उनपर सैकड़ों बाणोंका संधान करके छोड़ते थे ॥ ९२ ॥

तापयन्तौ शरैस्तीक्ष्णैरन्योन्यं तौ महारथौ।
युगान्तप्रतिमौ वीरौ रेजतुर्भास्कराविव ॥ ९३ ॥

अपने पैने बाणोंद्वारा एक दूसरेको संताप देते हुए वे दोनों महारथी वीर प्रलयकालके दो सूर्योंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९३ ॥

कृतवर्मा च समरे याज्ञसेनिं महारथम्।
विद्ध्वेषुभिस्त्रिसप्तत्या पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ ९४ ॥

कृतवर्माने समराङ्गणमें महारथी शिखण्डीको पहले तिहत्तर बाणोंसे घायल करके फिर सात बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ९४ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं मूर्च्छयाभिपरिप्लुतः ॥ ९५ ॥

उन बाणोंकी गहरी चोट खाकर शिखण्डी व्यथित एवं मूर्छित हो धनुष-बाण त्यागकर रथकी बैठकमें बैठ गया ॥ ९५ ॥

तं विषण्णं रणे दृष्ट्वा तावकाः पुरुषर्षभ।
हार्दिक्यं पूजयामासुर्वासांस्यादुधुवुश्च ह ॥ ९६ ॥

नरश्रेष्ठ! रणक्षेत्रमें शिखण्डीको विषादग्रस्त देख आपके सैनिक कृतवर्माकी प्रशंसा करने और वस्त्र हिलाने लगे ॥ ९६ ॥

शिखण्डिनं तथा ज्ञात्वा हार्दिक्यशरपीडितम्।
अपोवाह रणाद् यन्ता त्वरमाणो महारथम् ॥ ९७ ॥

महारथी शिखण्डीको कृतवर्माके बाणोंसे पीड़ित जान सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया ॥ ९७ ॥

सादितं तु रथोपस्थे दृष्ट्वा पार्थाः शिखण्डिनम्।
परिवव्रू रथैस्तूर्णं कृतवर्माणमाहवे ॥ ९८ ॥

कुन्तीकुमारोंने शिखण्डीको रथके पिछले भागमें बेसुध होकर बैठा देख तुरंत ही कृतवर्माको रणभूमिमें अपने रथोंद्वारा चारों ओरसे घेर लिया ॥ ९८ ॥

तत्राद्भुतं परं चक्रे कृतवर्मा महारथः।
यदेकः समरे पार्थान् वारयामास सानुगान् ॥ ९९ ॥

वहाँ महारथी कृतवर्माने अत्यन्त अद्भुत पराक्रम प्रकट किया। उसने अकेले होनेपर भी सेवकोंसहित समस्त पाण्डवोंका समरभूमिमें सामना किया ॥ ९९ ॥

पार्थाञ्जित्वाजयच्चेदीन् पञ्चालान् सृञ्जयानपि।
केकयांश्च महावीर्यान् कृतवर्मा महारथः ॥१००॥

महारथी कृतवर्माने पाण्डवोंको जीतकर चेदिदेशीय सैनिकोंको परास्त किया, फिर पाञ्चालों, सृंजयों और महापराक्रमी केकयोंको भी हरा दिया ॥ १०० ॥

ते वध्यमानाः समरे हार्दिक्येन स्म पाण्डवाः।
इतश्चेतश्च धावन्तो नैव चक्रुर्धृतिं रणे ॥१०१॥

समराङ्गणमें कृतवर्माके बाणोंकी मार खाकर पाण्डव सैनिक इधर-उधर भागने लगे। वे रणभूमिमें कहीं भी स्थिर न हो सके ॥ १०१ ॥

जित्वा पाण्डुसुतान् युद्धे भीमसेनपुरोगमान्।
हार्दिक्यः समरेऽतिष्ठद् विधूम इव पावकः ॥१०२॥

युद्धमें भीमसेन आदि पाण्डवोंको जीतकर कृतवर्मा उस रणक्षेत्रमें धूमरहित अग्निके समान शोभा पाता हुआ खड़ा था ॥ १०२ ॥

ते द्राव्यमाणाः समरे हार्दिक्येन महारथाः।
विमुखाः समपद्यन्त शरवृष्टिभिरार्दिताः ॥१०३॥

समराङ्गणमें कृतवर्माके द्वारा खदेड़े गये और उसकी बाणवर्षासे पीड़ित हुए पूर्वोक्त सभी महारथियोंने युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे कृतवर्मपराक्रमे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका कौरवसेनामें प्रवेश तथा कृतवर्माका पराक्रमविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

अर्जुनका जयद्रथके मस्तकको काटकर समन्त-पञ्चक क्षेत्रसे बाहर फेंकना

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके द्वारा कृतवर्माकी पराजय, त्रिगर्तोंकी गजसेनाका संहार और जलसंधका वध

संजय उवाच

शृणुष्वैकमना राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
द्राव्यमाणे बले तस्मिन् हार्दिक्येन महात्मना ॥ १ ॥
लज्जयावनते चापि प्रहृष्टेश्चापि तावकैः ।
द्वीपो य आसीत् पाण्डूनामगाधे गाधमिच्छताम् ॥ २॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आप मुझसे जो कुछ पूछ रहे हैं, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनिये । महामना कृतवर्माके द्वारा खदेड़ी जानेके कारण जब पाण्डवसेना लज्जासे नतमस्तक हो गयी और आपके सैनिक हर्षसे उल्लसित हो उठे, उस समय अथाह सैन्य-समुद्रमें थाह पानेकी इच्छावाले पाण्डव सैनिकोंके लिये जो द्वीप बनकर आश्रयदाता हुआ (उस सात्यकिका पराक्रम श्रवण कीजिये) ॥ १-२ ॥

श्रुत्वा स निनदं भीमं तावकानां महाहवे ।
शैनेयस्त्वरितो राजन् कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ३ ॥

राजन् ! उस महासमरमें आपके सैनिकोंका भयंकर सिंहनाद सुनकर सात्यकिने तुरंत ही कृतवर्मापर आक्रमण किया ॥ ३ ॥

उवाच सारथिं तत्र क्रोधामर्षसमन्वितः ।
हार्दिक्याभिमुखं सूत कुरु मे रथमुत्तमम् ॥ ४ ॥

उन्होंने क्रोध और अमर्षमें भरकर वहाँ सारथिसे कहा—'सूत ! तुम मेरे उत्तम रथको कृतवर्माके सामने ले चलो ॥ ४ ॥

कुरुते कदनं पश्य पाण्डुसैन्ये ह्यमर्षितः ।
एनं जित्वा पुनः सूत यास्यामि विजयं प्रति ॥ ५ ॥

'देखो, वह अमर्षयुक्त होकर पाण्डवसेनामें संहार मचा रहा है । सारथे ! इसे जीतकर मैं पुनः अर्जुनके पास चलूँगा' ॥ ५ ॥

एवमुक्ते तु वचने सूतस्तस्य महामते ।
निमेषान्तरमात्रेण कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ६ ॥

महामते ! सात्यकिके ऐसा कहनेपर सारथि पलक गिरते-गिरते रथ लेकर कृतवर्माके पास जा पहुँचा ॥ ६ ॥

कृतवर्मा तु हार्दिक्यः शैनेयं निशितैः शरैः ।
अवाकिरत् सुसंक्रुद्धस्ततोऽक्रुद्ध्यत् स सात्यकिः॥ ७ ॥

हृदिकपुत्र कृतवर्माने अत्यन्त कुपित हो सात्यकिपर पैने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी । इससे सात्यकिका क्रोध भी बहुत बढ़ गया ॥ ७ ॥

अथाशु निशितं भल्लं शैनेयः कृतवर्मणः ।
प्रेषयामास समरे शरांश्च चतुरोऽपरान् ॥ ८ ॥

उन्होंने तुरंत ही कृतवर्मापर समरभूमिमें एक तीखे भल्लका प्रहार किया । फिर चार बाण और मारे ॥ ८ ॥

ते तस्य जघ्निरे वाहान् भल्लेनास्याच्छिनद् धनुः ।
पृष्ठरक्षं तथा सूतमविध्यन्निशितैः शरैः ॥ ९ ॥

उन चारों बाणोंने कृतवर्माके चारों घोड़ोंको मार डाला । सात्यकिने भल्लसे उसके धनुषको काट दिया । फिर पैने बाणोंद्वारा उसके पृष्ठरक्षक और सारथिको भी क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ९ ॥

ततस्तं विरथं कृत्वा सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
सेनामस्यार्दयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी सात्यकिने कृतवर्माको रथहीन करके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसकी सेनाको पीड़ित करना आरम्भ किया ॥ १० ॥

अभज्यताथ पृतना शैनेयशरपीडिता ।
ततः प्रायात् स त्वरितः सात्यकिः सत्यविक्रमः॥ ११ ॥

सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हो कृतवर्माकी सेना भाग खड़ी हुई । तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकि तुरंत आगे बढ़ गये ॥ ११ ॥

शृणु राजन् यदकरोत् तव सैन्येषु वीर्यवान् ।
अतीत्य स महाराज द्रोणानीकमहार्णवम् ॥ १२ ॥

महाराज ! पराक्रमी सात्यकिने द्रोणाचार्यके सैन्य-समुद्रको लाँघकर आपकी सेनाओंमें जो पराक्रम किया, उसका वर्णन सुनिये ॥ १२ ॥

पराजित्य तु संहृष्टः कृतवर्माणमाहवे ।
यन्तारमब्रवीच्छूरः शनैर्याहीत्यसम्भ्रमम् ॥ १३ ॥

उस महासमरमें कृतवर्माको पराजित करके हर्षमें भरे हुए शूरवीर सात्यकि बिना किसी घबराहटके सारथिसे बोले—'सूत ! धीरे-धीरे चलो' ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा तु तव तत् सैन्यं रथाश्वद्विपसंकुलम् ।
पदातिजनसम्पूर्णमब्रवीत् सारथिं पुनः ॥ १४ ॥

रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई आपकी सेनाको देखकर सात्यकिने पुनः सारथिसे कहा—॥१४ ॥

यदेतन्मेघसंकाशं द्रोणानीकस्य सव्यतः ।
सुमहत् कुञ्जरानीकं यस्य रुक्मरथो मुखम् ॥ १५ ॥
एते हि बहवः सूत दुर्निवाराश्च संयुगे ।
दुर्योधनसमादिष्टा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥ १६ ॥

'सूत ! द्रोणाचार्यकी सेनाके बायें भागमें जो यह मेघोंकी घटाके समान विशाल गजसेना दिखायी देती है, इसके मुहानेपर रुक्मरथ खड़ा है । इसमें बहुत-से ऐसे शूरवीर हैं,

जिन्हें युद्धमें रोकना अत्यन्त कठिन है। ये दुर्योधनकी आज्ञासे प्राणोंका मोह छोड़कर मेरे साथ युद्ध करनेके लिये खड़े हैं ॥ १५-१६ ॥

(न चाजित्वा रणे ह्येतान्शक्यः प्राप्तुं जयद्रथः।
नापि पार्थो मया सूत शक्यः प्राप्तुं कथंचन ॥
एते तिष्ठन्ति सहिताः सर्वविद्यासु निष्ठिताः ॥)

'सूत ! इन्हें रणमें परास्त किये बिना न तो जयद्रथको प्राप्त किया जा सकता है और न किसी प्रकार अर्जुन ही मुझे मिल सकते हैं। ये समस्त विद्याओंमें प्रवीण योद्धा एक साथ संगठित होकर खड़े हैं ॥

राजपुत्रा महेष्वासाः सर्वे विक्रान्तयोधिनः।
त्रिगर्तानां रथोदाराः सुवर्णविकृतध्वजाः ॥ १७ ॥

'ये त्रिगर्तदेशके उदार महारथी राजकुमार महान् धनुर्धर हैं और सभी पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले हैं। इन सबकी ध्वजा सुवर्णमयी है ॥ १७ ॥

मामेवाभिमुखा वीरा योत्स्यमाना व्यवस्थिताः।
अत्र मां प्रापय क्षिप्रमश्वांश्चोदय सारथे ॥ १८ ॥
त्रिगर्तैः सह योत्स्यामि भारद्वाजस्य पश्यतः।

'ये समस्त वीर मेरी ही ओर मुँह करके युद्ध करनेके लिये खड़े हैं। सारथे ! घोड़ोंको हाँको और मुझे शीघ्र ही इनके पास पहुँचा दो। मैं द्रोणाचार्यके देखते-देखते त्रिगर्तोंके साथ युद्ध करूँगा' ॥ १८½ ॥

ततः प्रायाच्छनैः सूतः सात्वतस्य मते स्थितः ॥ १९ ॥
रथेनादित्यवर्णेन भास्वरेण पताकिना।

तदनन्तर सात्यकिकी सम्मतिके अनुसार सारथि सूर्यके समान तेजस्वी तथा पताकाओंसे विभूषित रथके द्वारा धीरे-धीरे आगे बढ़ा ॥ १९½ ॥

तमूहुः सारथेर्वश्या वल्गमाना हयोत्तमाः॥ २० ॥
वायुवेगसमाः संख्ये कुन्देन्दुरजतप्रभाः।

उस रथके उत्तम घोड़े कुन्द, चन्द्रमा और चाँदीके समान श्वेत रंगके थे; वे सारथिके अधीन रहनेवाले और वायुके समान वेगशाली थे तथा युद्धमें उछलते हुए उस रथका भार वहन करते थे ॥ २०½ ॥

आपतन्तं रणे तं तु शङ्खवर्णैर्हयोत्तमैः ॥ २१ ॥
परिवव्रुस्ततः शूरा गजानीकेन सर्वतः।
किरन्तो विविधांस्तीक्ष्णान् सायकाँल्लघुवेधिनः॥ २२ ॥

शङ्खके समान श्वेत रंगवाले उन उत्तम घोड़ोंद्वारा रणभूमिमें आते हुए सात्यकिको त्रिगर्तदेशीय शूरवीरोंने सब ओरसे गजसेनाद्वारा घेर लिया। शीघ्रतापूर्वक लक्ष्य वेधनेवाले वे समस्त सैनिक नाना प्रकारके तीखे बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २१-२२ ॥

सात्वतो निशितैर्बाणैर्गजानीकमयोधयत्।
पर्वतानिव वर्षेण तपान्ते जलदो महान् ॥ २३ ॥

सात्यकिने भी पैने बाणोंद्वारा गजसेनाके साथ युद्ध प्रारम्भ किया, मानो वर्षाकालमें महान् मेघ पर्वतोंपर जलकी धारा बरसा रहा हो ॥ २३ ॥

वज्राशनिसमस्पर्शैर्वध्यमानाः शरैर्गजाः।
प्राद्रवन् रणमुत्सृज्य शिनिवीरसमीरितैः ॥ २४ ॥

शिनिवंशके वीर सात्यकिद्वारा चलाये हुए वज्र और बिजलीके समान स्पर्शवाले उन बाणोंकी मार खाकर उस सेनाके हाथी युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ॥ २४ ॥

शीर्णदन्ता विरुधिरा भिन्नमस्तकपिण्डकाः।
विशीर्णकर्णास्यकरा विनियन्तृपताकिनः ॥ २५ ॥
सम्भिन्नमर्मघण्टाश्च विनिकृत्तमहाध्वजाः।
हतारोहा दिशो राजन् भेजिरे भ्रष्टकम्बलाः ॥ २६ ॥

उन हाथियोंके दाँत टूट गये, सारे अङ्गोंसे खूनकी धाराएँ बहने लगीं, कुम्भस्थल और गण्डस्थल फट गये, कान, मुख और शुण्ड छिन्न-भिन्न हो गये, महावत मारे गये और ध्वजा-पताकाएँ टूटकर गिर गयीं। उनके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये, घंटे टूट गये और विशाल ध्वज कटकर गिर पड़े। सवार मारे गये तथा झूल खिसककर गिर गये थे। राजन् ! ऐसी अवस्थामें उन हाथियोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी ॥ २५-२६ ॥

रुवन्तो विविधान् नादान् जलदोपमनिःस्वनाः।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च भल्लरञ्जलिकैस्तथा ॥ २७

क्षुरप्रैरर्धचन्द्रैश्च सात्वतेन विदारिताः ।
क्षरन्तोऽसृक् तथा मूत्रं पुरीषं च प्रदुद्रुवुः ॥ २८ ॥

उनके चिग्घाड़नेकी ध्वनि मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वे सात्यकिके चलाये हुए नाराच, वत्सदन्त, भल्ल, अञ्जलिक, क्षुरप्र और अर्द्धचन्द्र नामक बाणोंसे विदीर्ण हो नाना प्रकारसे आर्तनाद करते, रक्त बहाते तथा मल-मूत्र छोड़ते हुए भाग रहे थे ॥ २७–२८ ॥

बभ्रमुश्च स्खलुश्चान्ये पेतुर्मम्लुस्तथापरे ।
एवं तत् कुञ्जरानीकं युयुधानेन पीडितम् ॥ २९ ॥
शरैरग्न्यर्कसंकाशैः प्रदुद्राव समन्ततः ।

उनमेंसे कुछ हाथी चक्कर काटने लगे, कुछ लड़खड़ाने लगे, कुछ धराशायी हो गये और कुछ पीड़ाके मारे अत्यन्त शिथिल हो गये थे। इस प्रकार युयुधानके अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा पीड़ित हुई हाथियोंकी वह सेना सब ओर भाग गयी ॥ २९½ ॥

तस्मिन् हते गजानीके जलसंधो महाबलः ॥ ३० ॥
यत्तः सम्प्रापयन्नागं रजताश्वरथं प्रति ।

उस गजसेनाके नष्ट होनेपर महाबली जलसंध युद्धके लिये उद्यत हो श्वेत घोड़ोंवाले सात्यकिके रथके समीप अपना हाथी ले आया ॥ ३०½ ॥

रुक्मवर्मधरः शूरस्तपनीयाङ्गदः शुचिः ॥ ३१ ॥
कुण्डली मुकुटी खड्गी रक्तचन्दनरूषितः ।
शिरसा धारयन् दीप्तां तपनीयमयीं स्रजम् ॥ ३२ ॥
उरसा धारयन् निष्कं कण्ठसूत्रं च भास्वरम् ।

शूरवीर एवं पवित्र जलसंधने अपने शरीरमें सोनेका कवच धारण कर रक्खा था। उसकी दोनों भुजाओंमें सोनेके ही बाजूबंद शोभा पा रहे थे। दोनों कानोंमें कुण्डल और मस्तकपर किरीट चमक रहे थे। उसके हाथमें तलवार थी और सम्पूर्ण शरीरमें रक्त चन्दनका लेप लगा हुआ था। उसने अपने सिरपर सोनेकी बनी हुई चमकीली माला और वक्षःस्थलपर प्रकाशमान पदक एवं कण्ठहार धारण कर रक्खे थे ॥ ३१-३२½ ॥

चापं च रुक्मविकृतं विधुन्वन् गजमूर्धनि ॥ ३३ ॥
अशोभत महाराज सविद्युदिव तोयदः ।

महाराज! हाथीकी पीठपर बैठकर अपने सोनेके बने हुए धनुषको हिलाता हुआ जलसंध बिजलीसहित मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ ३३½ ॥

तमापतन्तं सहसा मागधस्य गजोत्तमम् ॥ ३४ ॥
सात्यकिर्वारयामास वेलेव मकरालयम् ।

सहसा अपनी ओर आते हुए मगधराजके उस गजराजको सात्यकिने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको रोक देती है ॥ ३४½ ॥

नागं निवारितं दृष्ट्वा शैनेयस्य शरोत्तमैः ॥ ३५ ॥
अक्रुद्ध्यत रणे राजन् जलसंधो महाबलः ।

राजन्! सात्यकिके उत्तम बाणोंसे उस हाथीको अवरुद्ध हुआ देख महाबली जलसंध रणक्षेत्रमें कुपित हो उठा ॥ ३५½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज मार्गणैर्भारसाधनैः ॥ ३६ ॥
अविध्यत शिनेः पौत्रं जलसंधो महोरसि ।

महाराज! क्रोधमें भरे हुए जलसंधने भार सहन करनेमें समर्थ बाणोंद्वारा शिनिपौत्र सात्यकिकी विशाल छातीपर गहरा आघात किया ॥ ३६½ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ ३७ ॥
अस्यतो वृष्णिवीरस्य निचकर्त शरासनम् ।

तत्पश्चात् दूसरे तीखे, पैने और पानीदार भल्लसे उसने बाण फेंकते हुए वृष्णिवीर सात्यकिके धनुषको काट डाला ॥

सात्यकिं छिन्नधन्वानं प्रहसन्निव भारत ॥ ३८ ॥
अविध्यन्मागधो वीरः पञ्चभिर्निशितैः शरैः ।

भारत! धनुष काटनेके पश्चात् सात्यकिको उस मागध वीरने हँसते हुए ही पाँच तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्जलसंधेन वीर्यवान् ॥ ३९ ॥
नाकम्पत महाबाहुस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

जलसंधके बहुत-से बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत होनेपर भी पराक्रमी महाबाहु सात्यकि कम्पित नहीं हुए। यह अद्भुत-सी बात थी ॥ ३९½ ॥

अचिन्तयन् वै स शरान्नात्यर्थं सम्भ्रमाद् बली॥ ४० ॥
धनुरन्यत् समादाय तिष्ठ तिष्ठेत्युवाच ह ।

बलवान् सात्यकिने उसके बाणोंको कुछ भी न गिनते हुए अधिक संभ्रममें न पड़कर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४०½ ॥

एतावदुक्त्वा शैनेयो जलसंधं महोरसि ॥ ४१ ॥
विव्याध षष्ट्या सुभृशं शराणां प्रहसन्निव ।

ऐसा कहकर सात्यकिने हँसते हुए ही साठ बाणोंद्वारा जलसंधकी चौड़ी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४१½ ॥

क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन मुष्टिदेशे महद् धनुः ॥ ४२ ॥
जलसंधस्य चिच्छेद विव्याध च त्रिभिः शरैः ।

फिर अत्यन्त तीखे क्षुरप्रसे जलसंधके विशाल धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया और तीन बाण मारकर उसे घायल भी कर दिया ॥ ४२½ ॥

जलसंधस्तु तत् त्यक्त्वा सशरं वै शरासनम् ॥ ४३ ॥
तोमरं व्यसृजत् तूर्णं सात्यकिं प्रति मारिष ।

माननीय नरेश! जलसंधने बाणसहित उस धनुषको त्यागकर सात्यकिपर तुरंत ही तोमरका प्रहार किया ॥४३½॥

स निर्भिद्य भुजं सव्यं माधवस्य महारणे ॥ ४४ ॥

अभ्यगाद् धरणीं घोरः श्वसन्निव महोरगः ।

फुफकारते हुए महान् सर्पके समान वह भयंकर तोमर उस महासमरमें सात्यकिकी बायीं भुजाको विदीर्ण करता हुआ धरतीमें समा गया ॥

निर्भिन्ने तु भुजे सव्ये सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ ४५ ॥
त्रिंशद्भिर्विशिखैस्तीक्ष्णैर्जलसंधमताडयत् ।

अपनी बायीं भुजाके घायल होनेपर सत्यपराक्रमी सात्यकिने तीस तीखे बाणोंद्वारा जलसंधको आहत कर दिया॥

प्रगृह्य तु ततः खड्गं जलसंधो महाबलः ॥ ४६ ॥
आर्षभं चर्म च महच्छतचन्द्रकसंकुलम् ।
आविध्य च ततः खड्गं सात्वतायोत्ससर्ज ह ॥ ४७ ॥

तब महाबली जलसंधने सौ चन्द्राकार चमकीले चिह्नोंसे युक्त वृषभ-चर्मकी बनी हुई विशाल ढाल और तलवार हाथमें ले ली तथा उस तलवारको घुमाकर सात्यकिपर छोड़ दिया ॥

शैनेयस्य धनुश्छित्त्वा स खड्गो न्यपतन्महीम् ।
अलातचक्रवच्चैव व्यरोचत महीं गतः ॥ ४८ ॥

वह खड्ग सात्यकिके धनुषको काटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। धरतीपर पहुँचकर वह अलातचक्रके समान प्रकाशित हो रहा था॥

अथान्यद् धनुरादाय सर्वकायावदारणम् ।
शालस्कन्धप्रतीकाशमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ४९ ॥
विस्फार्य विव्यधे क्रुद्धो जलसंधं शरेण ह ।

तब सात्यकिने साखूके तनेके समान विशाल, इन्द्रके वज्रकी भाँति घोर टंकार करनेवाले तथा सबके शरीरको विदीर्ण करनेमें समर्थ दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसे कान-तक खींचा और कुपित हो एक बाणसे जलसंधको बींध डाला॥

ततः साभरणौ बाहू क्षुराभ्यां माधवोत्तमः ॥ ५० ॥
सात्यकिर्जलसंधस्य चिच्छेद प्रहसन्निव ।

फिर मधुवंशशिरोमणि सात्यकिने हँसते हुए-से दो छुरोंका प्रहार करके जलसंधकी आभूषणभूषित दोनों भुजाओंको काट दिया ॥ ५०½ ॥

तौ बाहू परिघप्रख्यौ पेततुर्गजसत्तमात् ॥ ५१ ॥
वसुंधराधराद् भ्रष्टौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।

उसकी वे परिघके समान मोटी भुजाएँ उस गजराजकी पीठसे नीचे गिर पड़ीं, मानो पर्वतसे पाँच-पाँच मस्तकोंवाले दो नाग पृथ्वीपर गिरे हों ॥ ५१½ ॥

ततः सुदंष्ट्रं सुमहच्चारुकुण्डलमण्डितम् ॥ ५२ ॥
क्षुरेणास्य तृतीयेन शिरश्चिच्छेद सात्यकिः ।

तदनन्तर सात्यकिने तीसरे छुरेसे उसके सुन्दर दाँतोंवाले मनोहर कुण्डलमण्डित विशाल मस्तकको काट गिराया ॥

तत्पातितशिरोबाहुकबन्धं भीमदर्शनम् ॥ ५३ ॥
द्विरदं जलसंधस्य रुधिरेणाभ्यषिञ्चत ।

मस्तक और भुजाओंके गिर जानेसे अत्यन्त भयंकर दिखायी देनेवाले जलसंधके उस धड़ने अपने खूनसे उस हाथीको नहला दिया ॥ ५३½ ॥

जलसंधं निहत्याजौ त्वरमाणस्तु सात्वतः ॥ ५४ ॥
विमानं पातयामास गजस्कन्धाद् विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! युद्धस्थलमें जलसंधको मारकर फुर्ती करने-वाले सात्यकिने हाथीकी पीठसे उसके हौदेको भी गिरा दिया॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गो जलसंधस्य कुञ्जरः ॥ ५५ ॥
विलम्बमानमवहत् संश्लिष्टं परमासनम् ।

खूनसे भीगे शरीरवाला जलसंधका वह हाथी अपनी पीठसे सटकर लटकते हुए उस हौदेको ढो रहा था ॥५५½॥

शरार्दितः सात्वतेन मर्दमानः स्ववाहिनीम् ॥ ५६ ॥
घोरमार्तस्वरं कृत्वा विदुद्राव महागजः ।

सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हो वह महान् गजराज घोर चीत्कार करके अपनी ही सेनाको कुचलता हुआ भाग निकला॥

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ ५७ ॥
जलसंधं हतं दृष्ट्वा वृष्णीनामृषभेण तु ।

आर्य ! वृष्णिप्रवर सात्यकिके द्वारा जलसंधको मारा गया देख आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥५७½॥

विमुखाश्चाभ्यधावन्त तव योधाः समन्ततः ॥ ५८ ॥
पलायनकृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ।

आपके योद्धा शत्रुओंपर विजय पानेका उत्साह खो बैठे। अब वे भाग निकलनेमें ही उत्साह दिखाने लगे और युद्धसे मुँह मोड़कर चारों ओर भाग गये ॥ ५८½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ॥ ५९ ॥
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्युयुधानं महारथम् ।

राजन् ! इसी समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य अपने वेगशाली घोड़ोंद्वारा महारथी युयुधानका सामना करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ५९½ ॥

तमुदीर्णं तथा दृष्ट्वा शैनेयं नरपुङ्गवाः ॥ ६० ॥
द्रोणेनैव सह क्रुद्धाः सात्यकिं समुपाद्रवन् ।

शिनिपौत्र सात्यकिको बढ़ते देख नरश्रेष्ठ कौरव महारथी द्रोणाचार्यके साथ ही कुपित हो उनपर टूट पड़े ॥ ६०½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां सात्वतस्य च ।
द्रोणस्य च रणे राजन् घोरं देवासुरोपमम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! फिर तो उस रणक्षेत्रमें कौरवोंसहित द्रोणाचार्य तथा सात्यकिका देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे जलसंधवधो नाम पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिके कौरवसेनामें प्रवेशके अवसरपर जलसंधका वध नामक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ६२½ श्लोक हैं)

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिका पराक्रम तथा दुर्योधन और कृतवर्माकी पुनः पराजय

संजय उवाच

ते किरन्तः शरव्रातान् सर्वे यत्ताः प्रहारिणः।
त्वरमाणा महाराज युयुधानमयोधयन्॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! वे प्रहारकुशल सम्पूर्ण योद्धा सावधान हो बड़ी फुर्तीके साथ बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए वहाँ युयुधानके साथ युद्ध करने लगे॥ १॥

तं द्रोणः सप्तसप्तत्या जघान निशितैः शरैः।
दुर्मर्षणो द्वादशभिर्दुःसहो दशभिः शरैः॥ २॥

द्रोणाचार्यने सात्यकिको सतहत्तर तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। फिर दुर्मर्षणने बारह और दुःसहने दस बाणोंसे उन्हें बींध डाला॥ २॥

विकर्णश्चापि निशितैस्त्रिंशद्भिः कङ्कपत्रिभिः।
विव्याध सव्ये पार्श्वे तु स्तनाभ्यामन्तरे तथा॥ ३॥

तत्पश्चात् विकर्णने भी कंककी पाँखवाले तीस तीखे बाणोंसे सात्यकिकी बायीं पसली और छाती छेद डाली॥३॥

दुर्मुखो दशभिर्बाणैस्तथा दुःशासनोऽष्टभिः।
चित्रसेनश्च शैनेयं द्वाभ्यां विव्याध मारिष॥ ४॥

आर्य! तदनन्तर दुर्मुखने दस, दुःशासनने आठ और चित्रसेनने दो बाणोंसे सात्यकिको घायल कर दिया॥ ४॥

दुर्योधनश्च महता शरवर्षेण माधवम्।
अपीडयद् रणे राजञ्शूराश्चान्ये महारथाः॥ ५॥

राजन्! उस रणक्षेत्रमें दुर्योधन तथा अन्य शूरवीर महारथियोंने भारी बाण-वर्षा करके सात्यकिको पीडित कर दिया॥ ५॥

सर्वतः प्रतिविद्धस्तु तव पुत्रैर्महारथैः।
तान् प्रत्यविध्यद् वार्ष्णेयः पृथक् पृथगजिह्मगैः॥ ६॥

आपके महारथी पुत्रोंद्वारा सब ओरसे घायल किये जानेपर वृष्णिवंशी वीर सात्यकिने उन सबको पृथक्-पृथक् अपने बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया॥ ६॥

भारद्वाजं त्रिभिर्बाणैर्दुःसहं नवभिः शरैः।
विकर्णं पञ्चविंशत्या चित्रसेनं च सप्तभिः॥ ७॥
दुर्मर्षणं द्वादशभिरष्टाभिश्च विविंशतिम्।
सत्यव्रतं च नवभिर्विजयं दशभिः शरैः॥ ८॥

उन्होंने द्रोणाचार्यको तीन, दुःसहको नौ, विकर्णको पचीस, चित्रसेनको सात, दुर्मर्षणको बारह, विविंशतिको आठ, सत्यव्रतको नौ तथा विजयको दस बाणोंसे घायल किया॥

ततो रुक्माङ्गदं चापं विधुन्वानो महारथः।
अभ्ययात् सात्यकिस्तूर्णं पुत्रं तव महारथम्॥ ९॥

तदनन्तर महारथी सात्यकिने सोनेके अङ्गदसे विभूषित अपने विशाल धनुषको हिलाते हुए तुरंत ही आपके महारथी पुत्र दुर्योधनपर आक्रमण किया॥ ९॥

राजानं सर्वलोकस्य सर्वलोकमहारथम्।
शरैरभ्याहनद् गाढं ततो युद्धमभूत् तयोः॥ १०॥

सब लोगोंके राजा और समस्त संसारके विख्यात महारथी दुर्योधनको उन्होंने अपने बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। फिर तो उन दोनोंमें भारी युद्ध छिड़ गया॥ १०॥

विमुञ्चन्तौ शरांस्तीक्ष्णान् संदधानौ च सायकान्।
अदृश्यं समरेऽन्योन्यं चक्रतुस्तौ महारथौ॥ ११॥

उन दोनों महारथियोंने समरभूमिमें बाणोंका संधान और तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए एक दूसरेको अदृश्य कर दिया॥ ११॥

सात्यकिः कुरुराजेन निर्विद्धो बह्वशोभत।
अस्रवद् रुधिरं भूरि स्वरसं चन्दनो यथा॥ १२॥

सात्यकि कुरुराज दुर्योधनके बाणोंसे बिंधकर अधिक मात्रामें रक्त बहाने लगे। उस समय वे अपना रस बहाते हुए लाल चन्दनवृक्षके समान अधिक शोभा पा रहे थे॥

सात्वतेन च बाणौघैर्निर्विद्धस्तनयस्तव।
शातकुम्भमयापीडो बभौ यूप इवोच्छ्रितः॥ १३॥

सात्यकिके बाणसमूहोंसे घायल होकर आपका पुत्र दुर्योधन सुवर्णमय मुकुट धारण किये ऊँचे यूपके समान सुशोभित हो रहा था॥ १३॥

माधवस्तु रणे राजन् कुरुराजस्य धन्विनः।
धनुश्चिच्छेद समरे क्षुरप्रेण हसन्निव॥ १४॥

राजन्! रणक्षेत्रमें सात्यकिने धनुर्धर दुर्योधनके धनुषको एक क्षुरप्रद्वारा हँसते हुए-से काट दिया॥ १४॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैर्बहुभिराचिनोत्।
निर्भिन्नश्च शरैस्तेन द्विषता क्षिप्रकारिणा॥ १५॥
नामृष्यत रणे राजा शत्रोर्विजयलक्षणम्।

धनुष कट जानेपर उन्होंने बहुत-से बाण मारकर दुर्योधनके शरीरको चुन दिया। शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले अपने शत्रु सात्यकिके बाणोंद्वारा विदीर्ण होकर राजा दुर्योधन रणभूमिमें विपक्षीके उस विजयसूचक पराक्रमको सह न सका॥१५½॥

अथान्यद् धनुरादाय हेमपृष्ठं दुरासदम्॥ १६॥
विव्याध सात्यकिं तूर्णं सायकानां शतेन ह।

उसने सोनेकी पीठवाले दूसरे दुर्धर्ष धनुषको लेकर शीघ्र ही सौ बाणोंसे सात्यकिको घायल कर दिया॥१६½॥

सोऽतिविद्धो बलवता तव पुत्रेण धन्विना॥ १७॥
अमर्षवशमापन्नस्तव पुत्रमपीडयत्।

आपके बलवान् और धनुर्धर पुत्रके द्वारा अत्यन्त घायल किये जानेपर सात्यकिने भी अमर्षके वशीभूत होकर आपके पुत्रको बड़ी पीड़ा दी ॥ १७½ ॥

पीडितं नृपतिं दृष्ट्वा तव पुत्रा महारथाः ॥ १८ ॥
सात्यकिं शरवर्षेण छादयामासुरोजसा ।

राजाको पीड़ित देखकर आपके अन्य महारथी पुत्रोंने बलपूर्वक बाणोंकी वर्षा करके सात्यकिको आच्छादित कर दिया॥

स च्छाद्यमानो बहुभिस्तव पुत्रैर्महारथैः ॥ १९ ॥
एकैकं पञ्चभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध सप्तभिः ।
दुर्योधनं च त्वरितो विव्याधाष्टभिराशुगैः ॥ २० ॥

आपके बहुसंख्यक महारथी पुत्रोंद्वारा बाणोंसे आच्छादित किये जानेपर सात्यकिने उनमेंसे एक-एकको पहले पाँच-पाँच बाणोंसे घायल किया । फिर सात-सात बाणोंसे बींध डाला । तत्पश्चात् तुरंत ही आठ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा दुर्योधनको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ १९–२० ॥

प्रहसंश्चास्य चिच्छेद कार्मुकं रिपुभीषणम् ।
नागं मणिमयं चैव शरैर्ध्वजमपातयत् ॥ २१ ॥

इसके बाद युयुधानने हँसते हुए ही दुर्योधनके शत्रु-भीषण धनुषको और मणिमय नागसे चिह्नित ध्वजको भी बाणोंद्वारा काट गिराया ॥ २१ ॥

हत्वा तु चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ।
सारथिं पातयामास क्षुरप्रेण महायशाः ॥ २२ ॥

फिर चार तीखे बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको मारकर महायशस्वी सात्यकिने क्षुरप्रद्वारा उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव कुरुराजं महारथम् ।
अवाकिरच्छरैर्हृष्टो बहुभिर्मर्मभेदिभिः ॥ २३ ॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सात्यकिने महारथी कुरुराज दुर्योधनपर बहुत-से मर्मभेदी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥

स वध्यमानः समरे शैनेयस्य शरोत्तमैः ।
प्राद्रवत् सहसा राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ २४ ॥
आप्लुतश्च ततो यानं चित्रसेनस्य धन्विनः ।

राजन् ! सात्यकिके श्रेष्ठ बाणोंद्वारा समराङ्गणमें क्षत-विक्षत होकर आपका पुत्र दुर्योधन सहसा भागा और धनुर्धर चित्रसेनके रथपर जा चढ़ा ॥ २४½ ॥

हाहाभूतं जगच्चासीद् दृष्ट्वा राजानमाहवे ॥ २५ ॥
ग्रस्यमानं सात्यकिना खे सोममिव राहुणा ।

जैसे आकाशमें राहु चन्द्रमापर ग्रहण लगाता है, उसी प्रकार सात्यकिद्वारा राजा दुर्योधनको ग्रस्त होते देख वहाँ सब लोगोंमें हाहाकार मच गया ॥ २५½ ॥

तं तु शब्दमथ श्रुत्वा कृतवर्मा महारथः ॥ २६ ॥
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्रास्ते माधवः प्रभुः ।

उस कोलाहलको सुनकर महारथी कृतवर्मा सहसा वहीं आ पहुँचा, जहाँ शक्तिशाली सात्यकि खड़े थे ॥ २६½ ॥

विधुन्वानो धनुः श्रेष्ठं चोदयंश्चैव वाजिनः ॥ २७ ॥
भर्त्सयन् सारथिं चाग्रे याहि याहीति सत्वरम् ।

वह अपने श्रेष्ठ धनुषको कँपाता, घोड़ोंको हाँकता और 'आगे बढ़ो, जल्दी चलो' कहकर सारथिको फटकारता हुआ वहाँ आया ॥ २७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ २८ ॥
युयुधानो महाराज यन्तारमिदमब्रवीत् ।

महाराज ! मुँह बाये हुए कालके समान कृतवर्माको वहाँ आते देख युयुधानने अपने सारथिसे कहा—॥२८½॥

कृतवर्मा रथेनैष द्रुतमापतते शरी ॥ २९ ॥
प्रत्युद्याहि रथेनैनं प्रवरं सर्वधन्विनाम् ।

'सूत ! यह कृतवर्मा बाण लेकर रथके द्वारा तीव्र वेगसे आ रहा है । यह सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ है । तुम रथके द्वारा इसकी अगवानी करो' ॥ २९½ ॥

ततः प्रजविताश्वेन विधिवत् कल्पितेन च ॥ ३० ॥
आससाद रणे भोजं प्रतिमानं धनुष्मताम् ।

तदनन्तर सात्यकि विधिपूर्वक सजाये गये तेज घोड़ों-वाले रथके द्वारा रणभूमिमें धनुर्धरोंके आदर्शभूत कृतवर्माके पास जा पहुँचे ॥ ३०½ ॥

ततः परमसंक्रुद्धौ ज्वलिताविव पावकौ ॥ ३१ ॥
समेयातां नरव्याघ्रौ व्याघ्राविव तरस्विनौ ।

तत्पश्चात् प्रज्वलित पावक और वेगशाली व्याघ्रोंके समान वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर अत्यन्त कुपित हो एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ ३१½ ॥

कृतवर्मा तु शैनेयं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ ३२ ॥
निशितैः सायकैस्तीक्ष्णैर्यन्तारं चास्य पञ्चभिः ।

कृतवर्माने सात्यकिपर तेजधारवाले छब्बीस तीखे बाण चलाये और पाँच बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

चतुरश्चतुरो वाहांश्चतुर्भिः परमेषुभिः ॥ ३३ ॥
अविध्यत् साधुदान्तान् वै सैन्धवान् सात्वतस्य हि ।

इसके बाद चार उत्तम बाण मारकर उसने सात्यकिके सुशिक्षित एवं विनीत चारों सिंधी घोड़ोंको भी बींध डाला ॥

रुक्मध्वजो रुक्मपृष्ठं महद् विस्फार्य कार्मुकम् ॥३४॥
रुक्माङ्गदी रुक्मवर्मा रुक्मपुङ्खैरवारयत् ।

तदनन्तर सोनेके केयूर और सोनेके ही कवच धारण करनेवाले सुवर्णमय ध्वजासे सुशोभित कृतवर्माने सोनेकी पीठ-वाले अपने विशाल धनुषकी टंकार करके स्वर्णमय पंखवाले बाणोंसे सात्यकिको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३४½ ॥

ततोऽशीतिं शिनेः पौत्रः सायकान् कृतवर्मणे ॥ ३५ ॥
प्राहिणोत् त्वरया युक्तो द्रष्टुकामो धनंजयम् ।

तव शिनिपौत्र सात्यकिने बड़ी उतावलीके साथ मनमें अर्जुनके दर्शनकी कामना लिये वहाँ कृतवर्माको अस्सी बाण मारे ॥ ३५½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुतापनः ॥ ३६ ॥
समकम्पत दुर्धर्षः क्षितिकम्पे यथाचलः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाला दुर्धर्ष वीर कृतवर्मा अपने बलवान् शत्रु सात्यकिके द्वारा अत्यन्त घायल होकर उसी प्रकार काँपने लगा, जैसे भूकम्पके समय पर्वत हिलने लगता है ॥

त्रिषष्ट्या चतुरोऽस्याश्वान् सप्तभिः सारथिं तथा ।३७।
विव्याध निशितैस्तूर्णं सात्यकिः सत्यविक्रमः ।

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने तिरसठ बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको और सात तीखे बाणोंसे उसके सारथिको भी शीघ्र ही क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३७½ ॥

सुवर्णपुङ्खं विशिखं समाधाय च सात्यकिः ॥ ३८ ॥
व्यसृजत् तं महाज्वालं संक्रुद्धमिव पन्नगम् ।

अब सात्यकिने अपने धनुषपर सुवर्णमय पंखवाले अत्यन्त तेजस्वी बाणका संधान किया, जो क्रोधमें भरे हुए सर्पके समान प्रतीत होता था । उस बाणको उन्होंने कृतवर्मा-पर छोड़ दिया ॥ ३८½ ॥

सोऽविध्यत् कृतवर्माणं यमदण्डोपमः शरः ॥ ३९ ॥
जाम्बूनदविचित्रं च वर्म निर्भिद्य भानुमत् ।
अभ्यगाद् धरणीमुग्रो रुधिरेण समुक्षितः ॥ ४० ॥

सात्यकिका वह बाण यमदण्डके समान भयंकर था । उसने कृतवर्माके सुवर्णजटित चमकीले कवचको छिन्न-भिन्न करके उसे गहरी चोट पहुँचायी तथा खूनसे लथपथ होकर वह धरतीमें समा गया ॥ ३९–४० ॥

संजातरुधिरश्चाजौ सात्वतेषुभिरर्दितः ।
सशरं धनुरुत्सृज्य न्यपतत् स्यन्दनोत्तमात् ॥ ४१ ॥

युद्धस्थलमें सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हो कृतवर्मा खून-की धारा बहाता हुआ धनुष-बाण छोड़कर उस उत्तम रथसे उसके पिछले भागमें गिर पड़ा ॥ ४१ ॥

स सिंहदंष्ट्रो जानुभ्यां पतितोऽमितविक्रमः ।
शरार्दितः सात्यकिना रथोपस्थे नरर्षभः ॥ ४२ ॥

सिंहके समान दाँतोंवाला अमितपराक्रमी नरश्रेष्ठ कृतवर्मा सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हो घुटनोंके बलसे रथकी बैठकमें गिर गया ॥ ४२ ॥

सहस्रबाहुसदृशमक्षोभ्यमिव सागरम् ।
निवार्य कृतवर्माणं सात्यकिः प्रययौ ततः ॥ ४३ ॥

सहस्रबाहु अर्जुनके समान दुर्जय तथा महासागरके समान अक्षोभ्य कृतवर्माको इस प्रकार पराजित करके सात्यकि वहाँसे आगे बढ़ गये ॥ ४३ ॥

खड्गशक्तिधनुःकीर्णां गजाश्वरथसंकुलाम् ।
प्रवर्तितोग्ररुधिरां शतशः क्षत्रियर्षभैः ॥ ४४ ॥
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां मध्येन शिनिपुङ्गवः ।
अभ्यगाद्वाहिनीं हित्वा वृत्रहेवासुरीं चमूम् ॥ ४५ ॥

जैसे वृत्रनाशक इन्द्र असुरोंकी सेनाको लाँघकर जा रहे हों, उसी प्रकार शिनिप्रवर सात्यकि सम्पूर्ण सैनिकोंके देखते-देखते उनके बीचसे होकर उस सेनाका परित्याग करके चल दिये । उस कौरवसेनामें सैकड़ों क्षत्रियशिरोमणियोंने भयानक रक्तकी धारा बहा दी थी । वहाँ हाथी, घोड़े तथा रथ खचाखच भरे हुए थे और खड्ग, शक्ति एवं धनुष सब ओर व्याप्त थे ॥ ४४–४५ ॥

समाश्वस्य च हार्दिक्यो गृह्य चान्यन्महद् धनुः ।
तस्थौ स तत्र बलवान् वारयन् युधि पाण्डवान् ॥ ४६ ॥

उधर बलवान् कृतवर्मा आश्वस्त होकर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर युद्धस्थलमें पाण्डवोंका सामना करता हुआ वहीं खड़ा रहा ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे दुर्योधनकृतवर्मपराजये षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिके कौरव-सेनामें प्रवेशके पश्चात् दुर्योधन और कृतवर्माकी पराजयविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकि और द्रोणाचार्यका युद्ध, द्रोणकी पराजय तथा कौरव-सेनाका पलायन

संजय उवाच

काल्यमानेषु सैन्येषु शैनेयेन ततस्ततः ।
भारद्वाजः शरव्रातैर्महद्भिः समवाकिरत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब सात्यकि जहाँ-तहाँ जा-जाकर आपकी सेनाओंको कालके गालमें भेजने लगे, तब भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने उनपर महान् बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो द्रोणसात्वतयोरभूत् ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां बलिवासवयोरिव ॥ २ ॥

राजन् ! सम्पूर्ण सैनिकोंके देखते-देखते बलि और इन्द्र-

के समान द्रोणाचार्य और सात्यकिका वह युद्ध बड़ा भयंकर हो गया ॥ २ ॥

ततो द्रोणः शिनेः पौत्रं चित्रैः सर्वायसैः शरैः ।
त्रिभिराशीविषाकारैर्ललाटे समविध्यत ॥ ३ ॥

उस समय द्रोणाचार्यने सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए विचित्र तथा विषधर सर्पके समान भयंकर तीन बाणोंद्वारा शिनिपौत्र सात्यकिके ललाटमें गहरा आघात किया ॥ ३ ॥

तैर्ललाटार्पितैर्बाणैर्युयुधानस्त्वजिह्मगैः ।
व्यरोचत महाराज त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ४ ॥

महाराज ! ललाटमें धँसे हुए उन सीधे जानेवाले बाणोंके द्वारा युयुधान तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान सुशोभित हुए॥

ततोऽस्य बाणानपरानिन्द्राशनिसमस्वनान् ।
भारद्वाजोऽन्तरप्रेक्षी प्रेषयामास संयुगे ॥ ५ ॥

द्रोणाचार्य अवसर देखते रहते थे । उन्होंने मौका पाकर इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करनेवाले और भी बहुत-से बाण युद्धस्थलमें सात्यकिपर चलाये ॥ ५ ॥

तान् द्रोणचापनिर्मुक्तान् दाशार्हः पततः शरान् ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां सुपुङ्खाभ्यां चिच्छेद परमास्त्रवित् ॥ ६॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटकर गिरते हुए उन बाणोंको दशार्हकुलनन्दन परमास्त्रवेत्ता सात्यकिने उत्तम पंखोंसे युक्त दो दो बाणोंद्वारा काट डाला ॥ ६ ॥

तामस्य लघुतां द्रोणः समवेक्ष्य विशाम्पते ।
प्रहस्य सहसाविध्यत् त्रिंशता शिनिपुङ्गवम् ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! सात्यकिकी वह फुर्ती देखकर द्रोणाचार्य हँस पड़े । उन्होंने सहसा तीस बाण मारकर शिनिप्रवर सात्यकिको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

पुनः पञ्चाशतेषूणां शितेन च समार्पयत् ।
लघुतां युयुधानस्य लाघवेन विशेषयन् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने युयुधानकी फुर्तीको अपनी फुर्तीसे मन्द सिद्ध करते हुए तेजधारवाले पचास बाणोंद्वारा पुनः उन्हें घायल कर दिया ॥ ८ ॥

समुत्पतन्ति वल्मीकाद् यथा क्रुद्धा महोरगाः ।
तथा द्रोणरथाद् राजन्नापतन्ति तनुच्छिदः ॥ ९ ॥

राजन् ! जैसे बाँबीसे क्रोधमें भरे हुए बहुत-से सर्प प्रकट होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके रथसे शरीरको छेद डालनेवाले बाण प्रकट होकर वहाँ सब ओर गिरने लगे॥

तथैव युयुधानेन सृष्टाः शतसहस्रशः ।
अवाकिरन् द्रोणरथं शरा रुधिरभोजनाः ॥ १० ॥

उसी प्रकार युयुधानके चलाये हुए लाखों रुधिरभोजी बाण द्रोणाचार्यके रथपर बरसने लगे ॥ १० ॥

लाघवाद् द्विजमुख्यस्य सात्वतस्य च मारिष ।
विशेषं नाध्यगच्छाम समावास्तां नरर्षभौ ॥ ११ ॥

माननीय नरेश ! हाथोंकी फुर्तीकी दृष्टिसे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्य और सात्यकिमें हमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ा था । वे दोनों ही नरश्रेष्ठ समान प्रतीत होते थे ॥ ११ ॥

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं नवभिर्नतपर्वभिः ।
आजघान भृशं क्रुद्धो ध्वजं च निशितैः शरैः ॥ १२ ॥

तदनन्तर सात्यकिने अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यपर गहरा आघात किया तथा तीखे बाणोंसे उनके ध्वजको भी चोट पहुँचायी ॥ १२ ॥

सारथिं च शतेनैव भारद्वाजस्य पश्यतः ।
लाघवं युयुधानस्य दृष्ट्वा द्रोणो महारथः ॥ १३ ॥
सप्तत्या सारथिं विद्ध्वा तुरङ्गांश्च त्रिभिस्त्रिभिः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद माधवस्य रथे स्थितम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् द्रोणके देखते-देखते सात्यकिने सौ बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया । युयुधानकी यह फुर्ती देखकर महारथी द्रोणने सत्तर बाणोंसे सात्यकिके सारथिको बींधकर तीन-तीन बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया । फिर एक बाणसे सात्यकिके रथपर फहराते हुए ध्वजको भी काट डाला ॥ १३–१४ ॥

अथापरेण भल्लेन हेमपुङ्खेन पत्रिणा ।
धनुश्चिच्छेद समरे माधवस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

इसके बाद सुवर्णमय पंखवाले दूसरे भल्लसे आचार्यने समराङ्गणमें महामनस्वी सात्यकिके धनुषको भी खण्डित कर दिया ॥ १५ ॥

सात्यकिस्तु ततः क्रुद्धो धनुस्त्यक्त्वा महारथः ।
गदां जग्राह महतीं भारद्वाजाय चाक्षिपत् ॥ १६ ॥

इससे महारथी सात्यकिको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने धनुष त्यागकर विशाल गदा हाथमें ले ली और उसे द्रोणाचार्यपर दे मारा ॥ १६ ॥

तामापतन्तीं सहसा पट्टबद्धामयस्मयीम् ।
न्यवारयच्छरैर्द्रोणो बहुभिर्बहुरूपिभिः ॥ १७ ॥

वह लोहेकी गदा रेशमी वस्त्रसे बँधी हुई थी । उसे सहसा अपने ऊपर आती देख द्रोणाचार्यने अनेक रूपवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उसका निवारण कर दिया ॥ १७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
विव्याध बहुभिर्वीरं भारद्वाजं शिलाशितैः ॥ १८ ॥

तब सत्यपराक्रमी सात्यकिने दूसरा धनुष लेकर सानपर तेज किये हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा वीर द्रोणाचार्यको बींध डाला ॥ १८ ॥

स विद्ध्वा समरे द्रोणं सिंहनादममुञ्चत ।
तं वै न ममृषे द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ १९ ॥

इस प्रकार समराङ्गणमें द्रोणको घायल करके सात्यकिने

सिंहके समान गर्जना की। उसे सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य सहन न कर सके ॥ १९ ॥

ततः शक्तिं गृहीत्वा तु रुक्मदण्डामयस्मयीम्।
तरसा प्रेषयामास माधवस्य रथं प्रति ॥ २० ॥

उन्होंने सोनेकी डंडेवाली लोहेकी शक्ति लेकर उसे सात्यकिके रथपर बड़े वेगसे चलाया ॥ २० ॥

अनासाद्य तु शैनेयं सा शक्तिः कालसंनिभा।
भित्त्वा रथं जगामोग्रा धरणीं दारुणस्वना ॥ २१ ॥

वह कालके समान विकराल शक्ति सात्यकितक न पहुँचकर उनके रथको विदीर्ण करके भयंकर शब्द करती हुई पृथ्वीमें समा गयी ॥ २१ ॥

ततो द्रोणं शिनेः पौत्रो राजन् विव्याध पत्रिणा।
दक्षिणं भुजमासाद्य पीडयन् भरतर्षभ ॥ २२ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! तब शिनिके पौत्रने एक बाणसे द्रोणाचार्यकी दाहिनी भुजापर चोट करके उसे पीड़ा देते हुए आचार्यको घायल कर दिया ॥ २२ ॥

द्रोणोऽपि समरे राजन् माधवस्य महद् धनुः।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद रथशक्त्या च सारथिम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर! तब समरभूमिमें द्रोणाचार्यने भी सात्यकिके विशाल धनुषको अर्द्धचन्द्राकार बाणसे काट दिया तथा रथ-शक्तिका प्रहार करके सारथिको भी गहरी चोट पहुँचायी॥२३॥

मुमोह सारथिस्तस्य रथशक्त्या समाहतः।
स रथोपस्थमासाद्य मुहूर्तं संन्यषीदत ॥ २४ ॥

द्रोणकी रथशक्तिसे आहत हो सारथि मूर्छित हो गया। वह रथकी बैठकमें पहुँचकर वहाँ दो घड़ीतक चुपचाप बैठा रहा ॥ २४ ॥

चकार सात्यकी राजन् सूतकर्मातिमानुषम्।
अयोधयच्च यद् द्रोणं रश्मीश्चग्राह च स्वयम् ॥ २५ ॥

महाराज! उस समय सात्यकिने लोकोत्तर सारथ्य कर्म कर दिखाया। वे द्रोणाचार्यसे युद्ध भी करते रहे और स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर भी सँभाले रहे ॥ २५ ॥

ततः शरशतेनैव युयुधानो महारथः।
अविध्यद् ब्राह्मणं संख्ये हृष्टरूपो विशाम्पते ॥ २६ ॥

प्रजानाथ! उस युद्धस्थलमें महारथी सात्यकिने हर्षमें भरकर विप्रवर द्रोणाचार्यको सौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥

तस्य द्रोणः शरान् पञ्च प्रेषयामास भारत।
ते घोराः कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ २७ ॥

भारत! फिर द्रोणाचार्यने सात्यकिपर पाँच बाण चलाये। वे भयंकर बाण उस रणक्षेत्रमें सात्यकिका कवच फाड़कर उनका लोहू पीने लगे ॥ २७ ॥

निर्विद्धस्तु शरैर्घोरैरक्रुद्ध्यत् सात्यकिर्भृशम्।
सायकान् व्यसृजच्चापि वीरो रुक्मरथं प्रति ॥ २८ ॥

उन भयंकर बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर वीर सात्यकिको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्यपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ २८ ॥

ततो द्रोणस्य यन्तारं निपात्यैकेषुणा भुवि।
अश्वान् व्यद्रावयद् बाणैर्हतसूतांस्ततस्ततः ॥ २९ ॥

एक बाणसे युयुधानने द्रोणाचार्यके सारथिको धरतीपर गिरा दिया और सारथिहीन घोड़ोंको अपने बाणोंसे इधर-उधर मार भगाया ॥ २९ ॥

स रथः प्रद्रुतः संख्ये मण्डलानि सहस्रशः।
चकार राजतो राजन् भ्राजमान इवांशुमान् ॥ ३० ॥

राजन्! वह चाँदीका बना हुआ रथ* युद्धस्थलमें दौड़ लगाता हुआ हजारों चक्कर काटता रहा! उस समय उसकी अंशुमाली सूर्यके समान शोभा हो रही थी ॥ ३० ॥

अभिद्रवत गृह्णीत हयान् द्रोणस्य धावत।
इति स्म चुक्रुशुः सर्वे राजपुत्राः सराजकाः ॥ ३१ ॥

उस समय समस्त राजा और राजकुमार पुकार-पुकारकर कहने लगे—'अरे! दौड़ो, दौड़ो! द्रोणाचार्यके घोड़ोंको पकड़ो' ॥ ३१ ॥

ते सात्यकिमपास्याशु राजन् युधि महारथाः।
यतो द्रोणस्ततः सर्वे सहसा समुपाद्रवन् ॥ ३२ ॥

नरेश्वर! उस युद्धस्थलमें वे सभी महारथी शीघ्र ही सात्यकिका सामना छोड़कर जहाँ द्रोणाचार्य थे, वहीं सहसा भाग गये ॥ ३२ ॥

तान् दृष्ट्वा प्रद्रुतान् संख्ये सात्वतेन शरार्दितान्।
प्रभग्नं पुनरेवासीत् तव सैन्यं समाकुलम् ॥ ३३ ॥

सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित हो उन सबको युद्धस्थलसे पलायन करते देख आपकी संगठित हुई सारी सेना पुनः भाग खड़ी हुई ॥ ३३ ॥

व्यूहस्यैव पुनर्द्वारं गत्वा द्रोणो व्यवस्थितः।
वातायमानैस्तैरश्वैर्नीतो वृष्णिशरार्दितैः ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्य पुनः व्यूहके ही द्वारपर जाकर खड़े हो गये। सात्यकिके बाणोंसे पीड़ित होकर वायुके समान वेगसे भागनेवाले उनके घोड़ोंने ही उन्हें वहाँ पहुँचा दिया ॥ ३४ ॥

पाण्डुपाञ्चालसम्भिन्नं व्यूहमालोक्य वीर्यवान्।
शैनेये नाकरोद् यत्नं व्यूहमेवाभ्यरक्षत ॥ ३५ ॥

पराक्रमी द्रोणने अपने व्यूहको पाण्डवों और पाञ्चालोंद्वारा भङ्ग हुआ देख सात्यकिको रोकनेका प्रयत्न छोड़

* अट्ठाईसवें श्लोकमें द्रोणके रथको सोनेका बताया है और इसमें चाँदीका बताया है। इससे यह समझना चाहिये कि उस रथमें सोना और चाँदी दोनों ही धातुएँ लगी हुई थीं।

दिया। वे पुनः व्यूहकी ही रक्षा करने लगे ॥ ३५ ॥

निवार्य पाण्डुपञ्चालान् द्रोणाग्निः प्रदहन्निव।
तस्थौ क्रोधेध्मसंदीप्तः कालसूर्य इवोद्यतः ॥ ३६ ॥

क्रोधरूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुई द्रोणरूपी अग्नि पाण्डवों और पाञ्चालोंको रोककर सबको दग्ध करती हुई-सी खड़ी हो गयी और प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होने लगी॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे सात्यकिपराक्रमे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका कौरवसेनामें प्रवेश तथा पराक्रमविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा सुदर्शनका वध

संजय उवाच

द्रोणं स जित्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथैव हार्दिक्यमुखांस्त्वदीयान्।
प्रहस्य सूतं वचनं बभाषे
शिनिप्रवीरः कुरुपुङ्गवाग्र्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—कुरुवंशशिरोमणे ! द्रोणाचार्य तथा कृतवर्मा आदि आपके प्रमुख महारथियोंको जीतकर नरवीर सात्यकिने अपने सारथिसे हँसते हुए कहा--॥ १ ॥

निमित्तमात्रं वयमद्य सूत
दग्धारयः केशवफाल्गुनाभ्याम्।
हतान् निहन्मेह नरर्षभेण
वयं सुरेशात्मसमुद्भवेन ॥ २ ॥

'सारथे ! इस विजयमें आज हमलोग तो निमित्तमात्र हो रहे हैं। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने ही हमारे इन शत्रुओंको दग्ध कर दिया है। देवराजके पुत्र नरश्रेष्ठ अर्जुनके मारे हुए सैनिकोंको ही हमलोग यहाँ मार रहे हैं' ॥ २ ॥

तमेवमुक्त्वा शिनिपुङ्गवस्तदा
महामृधे सोऽग्र्यधनुर्धरोऽरिहा।
किरन् समन्तात् सहसा शरान् बली
समापतच्छ्येन इवामिषं यथा ॥ ३ ॥

उस महासमरमें सारथिसे ऐसा कहकर धनुर्धरशिरोमणि शत्रुसूदन शिनिप्रवर बलवान् सात्यकिने सहसा सब ओर बाणोंकी वर्षा करते हुए शत्रुओंपर उसी प्रकार आक्रमण किया, जैसे बाज मांसके टुकड़ेपर झपटता है ॥ ३ ॥

तं यान्तमश्वैः शशिशङ्खवर्णै-
र्विगाह्य सैन्यं पुरुषप्रवीरम्।
नाशक्नुवन् वारयितुं समन्ता-
दादित्यरश्मिप्रतिमं रथाग्र्यम् ॥ ४ ॥

सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान रथियोंमें श्रेष्ठ नरवीर सात्यकि आपकी सेनामें घुसकर चन्द्रमा और शङ्खके समान श्वेतवर्णवाले घोड़ोंद्वारा आगे बढ़ते चले जा रहे थे। उस समय किसी ओरसे कोई योद्धा उन्हें रोक न सके ॥ ४ ॥

असह्यविक्रान्तमदीनसत्त्वं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः।
सहस्रनेत्रप्रतिमप्रभावं
दिवीव सूर्यं जलदव्यपाये ॥ ५ ॥

भारत ! सात्यकिका पराक्रम असह्य था। उनका धैर्य और बल महान् था। वे इन्द्रके समान प्रभावशाली तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले शरत्कालके सूर्यके समान प्रचण्ड तेजस्वी थे। आपके समस्त सैनिक मिलकर भी उन्हें रोक न सके ॥ ५ ॥

अमर्षपूर्णस्त्वतिचित्रयोधी
शरासनी काञ्चनवर्मधारी।
सुदर्शनः सात्यकिमापतन्तं
न्यवारयद् राजवरः प्रसह्य ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त विचित्र युद्ध करनेवाले, सुवर्ण-कवचधारी धनुर्धर नृपश्रेष्ठ सुदर्शनने अपनी ओर आते हुए सात्यकिको अमर्षमें भरकर बलपूर्वक रोका ॥ ६ ॥

तयोरभूद् भारत सम्प्रहारः
सुदारुणस्तं समतिप्रशंसन्।
योधास्त्वदीयाश्च हि सोमकाश्च
वृत्रेन्द्रयोर्युद्धमिवामरौघाः ॥ ७ ॥

भारत ! उन दोनों वीरोंमें बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। जैसे देवगण वृत्रासुर और इन्द्रके युद्धकी गाथा गाते हैं, उसी प्रकार आपके योद्धाओं तथा सोमकोंने भी उन दोनोंके उस युद्धकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७ ॥

शरैः सुतीक्ष्णैः शतशोऽभ्यविध्यत्
सुदर्शनः सात्वतमुख्यमाजौ।
अनागतानेव तु तान् पृषत्कां-
श्चिच्छेद राजञ्शिनिपुङ्गवोऽपि ॥ ८ ॥

राजन् ! सुदर्शनने समराङ्गणमें सात्वतशिरोमणि सात्यकिपर सैकड़ों सुतीक्ष्ण बाणोंद्वारा प्रहार किया; परंतु शिनिप्रवर सात्यकिने उन बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही काट डाला ॥ ८ ॥

तथैव शक्रप्रतिमोऽपि सात्यकिः
सुदर्शने यान् क्षिपति स्म सायकान् ।
द्विधा त्रिधा तानकरोत् सुदर्शनः
शरोत्तमैः स्यन्दनवर्यमास्थितः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार इन्द्रके समान पराक्रमी सात्यकि भी सुदर्शनपर जिन-जिन बाणोंका प्रहार करते थे, श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए सुदर्शन भी अपने उत्तम बाणोंद्वारा उन सबके दो-दो-तीन-तीन टुकड़े कर देते थे ॥ ९ ॥

तान् वीक्ष्य बाणान् निहतांस्तदानीं
सुदर्शनः सात्यकिबाणवेगैः ।
क्रोधाद् दिधक्षन्निव तिग्मतेजाः
शरानमुञ्चत् तपनीयचित्रान् ॥ १० ॥

उस समय सात्यकिके वेगशाली बाणोंद्वारा अपने चलाये हुए बाणोंको नष्ट हुआ देख प्रचण्ड तेजस्वी राजा सुदर्शनने क्रोधसे उन्हें जला डालनेकी इच्छा रखते हुए-से सुवर्णजटित विचित्र बाणोंका उनपर प्रहार आरम्भ किया ॥ १० ॥

पुनः स बाणैस्त्रिभिरग्निकल्पै-
राकर्णपूर्णैर्निशितैः सुपुङ्खैः ।
विव्याध देहावरणं विभिद्य
ते सात्यकेराविविशुः शरीरम् ॥ ११ ॥

फिर उन्होंने अग्निके समान तेजस्वी तथा कानतक खींचकर छोड़े हुए सुन्दर पंखवाले तीन तीखे बाणोंसे सात्यकिको बींध दिया। वे बाण सात्यकिका कवच विदीर्ण करके उनके शरीरमें समा गये ॥ ११ ॥

तथैव तस्यावनिपालपुत्रः
संधाय बाणैरपरैर्ज्वलद्भिः ।
आजघ्निवांस्तान् रजतप्रकाशां-
श्चतुर्भिरश्वांश्चतुरः प्रसह्य ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन राजकुमार सुदर्शनने अन्य चार तेजस्वी बाणोंका संधान करके उनके द्वारा चाँदीके समान चमकनेवाले सात्यकिके उन चारों घोड़ोंको भी बलपूर्वक घायल कर दिया ॥ १२ ॥

तथा तु तेनाभिहतस्तरस्वी
नप्ता शिनेरिन्द्रसमानवीर्यः ।
सुदर्शनस्येषुगणैः सुतीक्ष्णै-
र्हयान् निहत्याशु ननाद नादम् ॥ १३ ॥

सुदर्शनके द्वारा इस प्रकार घायल होनेपर इन्द्रके समान बलवान् और वेगशाली शिनिपौत्र सात्यकिने अपने सुतीक्ष्ण बाणसमूहोंसे सुदर्शनके अश्वोंका शीघ्र ही संहार करके उच्चस्वरसे सिंहनाद किया ॥ १३ ॥

अथास्य सूतस्य शिरो निकृत्य
भल्लेन शक्राशनिसंनिभेन ।
सुदर्शनस्यापि शिनिप्रवीरः
क्षुरेण कालानलसंनिभेन ॥ १४ ॥
सकुण्डलं पूर्णशशिप्रकाशं
भ्राजिष्णु वक्त्रं विचकर्त देहात् ।
यथा पुरा वज्रधरः प्रसह्य
बलस्य संख्येऽतिबलस्य राजन् ॥ १५ ॥

राजन्! तत्पश्चात् इन्द्रके वज्रतुल्य भल्लसे उनके सारथिका सिर काटकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने कालाग्निके समान तेजस्वी छुरेसे सुदर्शनके पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशमान शोभाशाली कुण्डलमण्डित मस्तकको भी धड़से काट गिराया। ठीक उसी प्रकार, जैसे पूर्वकालमें वज्रधारी इन्द्रने समराङ्गणमें अत्यन्त बलवान् बलासुरका सिर बलपूर्वक काट लिया था ॥ १४-१५ ॥

निहत्य तं पार्थिवपुत्रपौत्रं
रणे यदूनामृषभस्तरस्वी ।
मुदा समेतः परया महात्मा
रराज राजन् सुरराजकल्पः ॥ १६ ॥

नरेश्वर! राजाके पुत्र एवं पौत्र सुदर्शनका रणभूमिमें वध करके यदुकुलतिलक देवेन्द्रसदृश पराक्रमी वेगशाली महामनस्वी सात्यकि अत्यन्त प्रसन्न होकर विजयश्रीसे सुशोभित होने लगे ॥ १६ ॥

ततो ययावर्जुन एव येन
निवार्य सैन्यं तव मार्गणौघैः ।
सदश्वयुक्तेन रथेन राजँ-
ल्लोकं विसिस्मापयिषुर्नृवीरः ॥ १७ ॥

राजन्! तदनन्तर लोगोंको आश्चर्यचकित करनेकी इच्छावाले नरवीर सात्यकि अपने सुन्दर अश्वोंसे जुते हुए रथके द्वारा बाणसमूहोंसे आपकी सेनाको हटाते हुए उसी मार्गसे चल दिये, जिससे अर्जुन गये थे ॥ १७ ॥

तत् तस्य विस्मापयनीयमग्र्य-
मपूजयन् योधवराः समेताः ।
प्रवर्तमानानिषुगोचरेऽरीन्
ददाह बाणैर्हुतभुग् यथैव ॥ १८ ॥

उनके उस आश्चर्यजनक उत्तम पराक्रमकी वहाँ एकत्र हुए समस्त योद्धाओंने बड़ी प्रशंसा की। सात्यकि अपने बाणोंके पथमें आये हुए शत्रुओंको उन बाणोंद्वारा अग्निदेवके समान दग्ध कर रहे थे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सुदर्शनवधे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सुदर्शनवधविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकि और उनके सारथिका संवाद तथा सात्यकिद्वारा काम्बोजों और यवन आदिकी सेनाकी पराजय

संजय उवाच

ततः स सात्यकिर्धीमान् महात्मा वृष्णिपुङ्गवः।
सुदर्शनं निहत्याजौ यन्तारं पुनरब्रवीत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वृष्णिवंशावतंस बुद्धिमान् महामनस्वी सात्यकिने युद्धमें सुदर्शनको मारकर सारथिसे फिर इस प्रकार कहा—॥ १॥

रथाश्वनागकलिलं शरशक्त्यूर्मिमालिनम्।
खड्गमत्स्यं गदाग्राहं शूरायुधमहास्वनम्॥ २॥
प्राणापहारिणं रौद्रं वादित्रोत्क्रुष्टनादितम्।
योधानामसुखस्पर्शं दुर्धर्षमजयैषिणाम्॥ ३॥
तीर्णाः स्म दुस्तरं तात द्रोणानीकमहार्णवम्।
जलसंधबलेनाजौ पुरुषादैरिवावृतम्॥ ४॥

'तात! रथ, घोड़े और हाथियोंसे भरी हुई द्रोणाचार्यकी सेना महासागरके समान थी। उसमें बाण और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्र तरंगमालाओंके समान प्रतीत होते थे। खड्ग मत्स्यके समान और गदा ग्राहके तुल्य थी। शूरवीरोंके आयुधोंके प्रहारसे जो महान् शब्द होता था, वही मानो महासागरका भयानक गर्जन था। बाजे बजानेकी ध्वनि और वीरोंके ललकारनेकी आवाजसे उस गर्जनका स्वर और भी बढ़ा हुआ था। योद्धाओंके लिये उसका स्पर्श अत्यन्त दुःखदायक था। जो विजयकी अभिलाषा नहीं रखते, ऐसे लोगोंके लिये वह प्राणनाशक भयंकर सैन्य-समुद्र दुर्धर्ष था। युद्धस्थलमें खड़ी हुई जलसंधकी सेनाने उसे राक्षसोंके समान घेर रक्खा था। उस दुस्तर सेना-सागरसे हमलोग पार हो गये हैं॥ २-४॥

अतोऽन्यत् पृतनाशेषं मन्ये कुनदिकामिव।
तर्तव्यामल्पसलिलां चोदयाश्वानसम्भ्रमम्॥ ५॥

'उससे भिन्न जो शेष सेना है, उसे मैं सुगमतापूर्वक लाँघनेयोग्य थोड़े जलवाली छोटी नदीके समान समझता हूँ। अतः तुम निर्भय होकर घोड़ोंको आगे बढ़ाओ॥ ५॥

हस्तप्राप्तमहं मन्ये साम्प्रतं सव्यसाचिनम्।
निर्जित्य दुर्धरं द्रोणं सपदानुगमाहवे॥ ६॥

'सेवकोंसहित दुर्धर्ष वीर द्रोणाचार्यको युद्धस्थलमें जीतकर मैं ऐसा मानता हूँ कि इस समय सव्यसाची अर्जुन हमारे हाथमें ही आ गये हैं॥ ६॥

हार्दिक्यं योधवर्यं च मन्ये प्राप्तं धनंजयम्।
न हि मे जायते त्रासो दृष्ट्वा सैन्यान्यनेकशः॥ ७॥
वह्नेरिव प्रदीप्तस्य वने शुष्कतृणोलपे।

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ कृतवर्माको पराजित करके मैं ऐसा समझता हूँ कि अर्जुन मुझे मिल गये। जैसे सूखे तृण और लतावाले वनमें प्रज्वलित हुई अग्निके लिये कहीं कोई बाधा नहीं रहती, उसी प्रकार मुझे इन अनेक सेनाओंको देखकर तनिक भी त्रास नहीं हो रहा है॥ ७½॥

पश्य पाण्डवमुख्येन यातां भूमिं किरीटिना॥ ८॥
पत्त्यश्वरथनागौघैः पतितैर्विषमीकृताम्।

'देखो, पाण्डवप्रवर किरीटधारी अर्जुन जिस मार्गसे गये हैं, वहाँकी भूमि धराशायी हुए पैदलों, घोड़ों, रथों और हाथियोंके समुदायसे विषम एवं दुर्लङ्घ्य हो गयी है॥८½॥

द्रवते तद् यथा सैन्यं तेन भग्नं महात्मना॥ ९॥
रथैर्विपरिधावद्भिर्गजैरश्वैश्च सारथे।
कौशेयारुणसंकाशमेतदुद्धूयते रजः॥ १०॥

'सारथे! उन्हीं महात्मा अर्जुनकी खदेड़ी हुई वह सेना इधर-उधर भाग रही है। दौड़ते हुए रथों, हाथियों और घोड़ोंसे लाल रेशमके समान यह धूल ऊपरको उठ रही है॥ ९-१०॥

अभ्याशस्थमहं मन्ये श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
स एष श्रूयते शब्दो गाण्डीवस्यामितौजसः॥ ११॥

'इससे मैं समझता हूँ कि श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे श्वेतवाहन अर्जुन हमारे निकट ही हैं, तभी यह अमितशक्तिशाली गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनायी दे रही है॥११॥

यादृशानि निमित्तानि मम प्रादुर्भवन्ति वै।
अनस्तंगत आदित्ये हन्ता सैन्धवमर्जुनः॥ १२॥

'इस समय मेरे सामने जैसे शुभ शकुन प्रकट हो रहे हैं, उनसे जान पड़ता है अर्जुन सूर्यास्त होनेके पहले ही जयद्रथको मार डालेंगे॥ १२॥

शनैर्विश्रम्भयन्नश्वान् याहि यत्रारिवाहिनी।
यत्रैते सतलत्राणाः सुयोधनपुरोगमाः॥ १३॥

'सूत! धीरे-धीरे घोड़ोंको आराम देते हुए उस ओर चलो, जहाँ वह शत्रुसेना खड़ी है, जहाँ ये तलत्राण धारण किये दुर्योधन आदि योद्धा उपस्थित हैं॥ १३॥

दंशिताः क्रूरकर्माणः काम्बोजा युद्धदुर्मदाः।
शरबाणासनधरा यवनाश्च प्रहारिणः॥ १४॥
शकाः किराता दरदा बर्बरास्ताम्रलिप्तकाः।
अन्ये च बहवो म्लेच्छा विविधायुधपाणयः॥ १५॥
यत्रैते सतलत्राणाः सुयोधनपुरोगमाः।
मामेवाभिमुखाः सर्वे तिष्ठन्ति समरार्थिनः॥ १६॥

'जहाँ कवच धारण किये रणदुर्मद क्रूरकर्मा काम्बोज, धनुष-बाण धारण किये प्रहारकुशल यवन, शक, किरात,

सात्यकिका कौरव-सेनामें प्रवेश और युद्ध

दरद, बर्बर, ताम्रलिप्त तथा हाथोंमें भाँति-भाँतिके आयुध धारण किये अन्य बहुत-से म्लेच्छ—ये सबके सब जहाँ दुर्योधन-को अगुआ बनाकर दस्ताने पहने युद्धकी इच्छासे मेरी ओर मुँह करके खड़े हैं, वहीं चलो ॥ १४–१६ ॥

एतान् सरथनागाश्वान् निहत्याजौ सपत्तिनः ।
इदं दुर्गं महाघोरं तीर्णमेवोपधारय ॥ १७ ॥

'इन सबको युद्धस्थलमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदलों-सहित मार लेनेपर निश्चितरूपसे समझ लो कि हमलोग इस अत्यन्त भयंकर दुर्गम संकटसे पार हो गये' ॥ १७ ॥

सूत उवाच

न सम्भ्रमो मे वार्ष्णेय विद्यते सत्यविक्रम ।
यद्यपि स्यात् तव क्रुद्धो जामदग्न्योऽग्रतः स्थितः॥ १८ ॥

सारथिने कहा—सत्यपराक्रमी वृष्णिनन्दन ! आपके सामने क्रोधमें भरे हुए जमदग्निनन्दन परशुराम भी खड़े हो जायँ तो मुझे भय नहीं होगा ॥ १८ ॥

द्रोणो वा रथिनां श्रेष्ठः कृपो मद्रेश्वरोऽपि वा ।
तथापि सम्भ्रमो न स्यात् त्वामाश्रित्य महाभुज॥ १९ ॥

महाबाहो ! रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, कृपाचार्य अथवा मद्रराज शल्य ही क्यों न खड़े हों, तथापि आपके आश्रित रहकर मुझे कदापि भय नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

त्वया सुबहवो युद्धे निर्जिताः शत्रुसूदन ।
दंशिताः क्रूरकर्माणः काम्बोजा युद्धदुर्मदाः ॥ २० ॥
शरबाणासनधरा यवनाश्च प्रहारिणः ।
शकाः किराता दरदा बर्बरास्ताम्रलिप्तकाः ॥ २१ ॥
अन्ये च बहवो म्लेच्छा विविधायुधपाणयः ।
न च मे सम्भ्रमः कश्चिद् भूतपूर्वः कथंचन ॥ २२ ॥
किमुतैतत् समासाद्य धीरसंयुगगोष्पदम् ।
आयुष्मन् कतरेण त्वां प्रापयामि धनंजयम् ॥ २३ ॥

शत्रुसूदन ! आपने पहले भी युद्धमें बहुतेरे कवचधारी, क्रूरकर्मा रणदुर्मद काम्बोजोंको परास्त किया है । धनुष-बाण धारण करनेवाले प्रहारकुशल यवनोंको जीता है । शकों, किरातों, दरदों, बर्बरों, ताम्रलिप्तों तथा हाथोंमें नाना प्रकार-के आयुध लिये अन्य बहुत-से म्लेच्छोंको पराजित किया है । इन अवसरोंपर पहले कभी कोई किसी प्रकारका भय नहीं हुआ था । फिर इस गायकी खुरके समान तुच्छ युद्धस्थलमें आकर क्या भय हो सकता है ? आयुष्मन् ! बताइये, इन दो मार्गोंमेंसे किसके द्वारा आपको अर्जुनके पास पहुँचाऊँ२०–२३

केषां क्रुद्धोऽसि वार्ष्णेय केषां मृत्युरुपस्थितः ।
केषां संयमनीमद्य गन्तुमुत्सहते मनः ॥ २४ ॥

वार्ष्णेय ! आप किनके ऊपर क्रुद्ध हैं, किनकी मौत आ गयी है और किनका मन आज यमपुरीमें जानेके लिये उत्साहित हो रहा है ? ॥ २४ ॥

के त्वां युधि पराक्रान्तं कालान्तकयमोपमम् ।
दृष्ट्वा विक्रमसम्पन्नं विद्रविष्यन्ति संयुगे ॥ २५ ॥
केषां वैवस्वतो राजा स्मरतेऽद्य महाभुज ।

युद्धमें काल, अन्तक और यमके समान पराक्रम दिखाने-वाले आप-जैसे बल-विक्रमसम्पन्न वीरको देखकर आज कौन-कौन-से योद्धा मैदान छोड़कर भागनेवाले हैं ? महाबाहो ! आज राजा यम किनका स्मरण कर रहे हैं ? ॥ २५½ ॥

सात्यकिरुवाच

मुण्डानेतान् हनिष्यामि दानवानिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञां पारयिष्यामि काम्बोजानेव मां वह ।
अद्यैषां कदनं कृत्वा प्रियं यास्यामि पाण्डवम् ॥ २७ ॥

सात्यकि बोले—सूत ! जैसे इन्द्र दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार आज मैं इन मथमुंडे काम्बोजोंका ही वध करूँगा और ऐसा करके अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लूँगा । अतः तुम उन्हींकी ओर मुझे ले चलो । इन सबका संहार करके ही आज मैं अपने प्रिय सुहृद् पाण्डुनन्दन अर्जुनके पास चलूँगा ॥ २६-२७ ॥

अद्य द्रक्ष्यन्ति मे वीर्यं कौरवाः ससुयोधनाः ।
मुण्डानीके हते सूत सर्वसैन्येषु चासकृत् ॥ २८ ॥
अद्य कौरवसैन्यस्य दीर्यमाणस्य संयुगे ।
श्रुत्वा विरावं बहुधा संतप्स्यति सुयोधनः ॥ २९ ॥

आज दुर्योधनसहित समस्त कौरव मेरा पराक्रम देखेंगे । सूत ! आज इन सिरमुण्डोंके मारे जाने तथा अन्य सारी सेनाओंका बारंबार विनाश होनेपर युद्धस्थलमें छिन्न-भिन्न होती हुई कौरवसेनाका नाना प्रकारसे आर्तनाद सुनकर दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ २८-२९ ॥

अद्य पाण्डवमुख्यस्य श्वेताश्वस्य महात्मनः ।
आचार्यस्य कृतं मार्गं दर्शयिष्यामि संयुगे ॥ ३० ॥

आज रणक्षेत्रमें मैं अपने आचार्य पाण्डवप्रवर श्वेत-वाहन महात्मा अर्जुनके प्रकट किये हुए मार्गको दिखाऊँगा ॥ ३० ॥

अद्य मद्बाणनिहतान् योधमुख्यान् सहस्रशः ।
दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा पश्चात्तापं गमिष्यति ॥ ३१ ॥

आज मेरे बाणोंसे अपने सहस्रों प्रमुख योद्धाओंको मारा गया देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त पश्चात्ताप करेगा ॥ ३१ ॥

अद्य मे क्षिप्रहस्तस्य क्षिपतः सायकोत्तमान् ।
अलातचक्रप्रतिमं धनुर्द्रक्ष्यन्ति कौरवाः ॥ ३२ ॥

आज शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाकर उत्तम बाणोंका प्रहार करते हुए मेरे धनुषको कौरवलोग अलातचक्रके समान देखेंगे ॥ ३२ ॥

मत्सायकचिताङ्गानां रुधिरं स्रवतां मुहुः।
सैनिकानां वधं दृष्ट्वा संतप्स्यति सुयोधनः ॥ ३३ ॥

मैं अपने बाणोंसे सारे कौरवसैनिकोंका शरीर व्याप्त कर दूँगा और वे बारंबार रक्त बहाते हुए प्राण त्याग देंगे। इस प्रकार अपने सैनिकोंका संहार देखकर सुयोधन संतप्त हो उठेगा॥ ३३ ॥

अद्य मे क्रुद्धरूपस्य निघ्नतश्च वरान् वरान्।
द्विरर्जुनमिमं लोकं मंस्यतेऽद्य सुयोधनः ॥ ३४ ॥

आज क्रोधमें भरकर मैं कौरवसेनाके उत्तमोत्तम वीरोंको चुन-चुनकर मारूँगा, जिससे दुर्योधनको यह मालूम होगा कि अब संसारमें दो अर्जुन प्रकट हो गये हैं ॥ ३४ ॥

अद्य राजसहस्राणि निहतानि मया रणे।
दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा संतप्स्यति महामृधे ॥ ३५ ॥

आज महासमरमें मेरे द्वारा सहस्रों राजाओंका विनाश देखकर राजा दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ ३५ ॥

अद्य स्नेहं च भक्तिं च पाण्डवेषु महात्मसु।
हत्वा राजसहस्राणि दर्शयिष्यामि राजसु ॥ ३६ ॥
बलं वीर्यं कृतज्ञत्वं मम ज्ञास्यन्ति कौरवाः।

आज सहस्रों राजाओंका संहार करके मैं इन राजाओंके समाजमें महात्मा पाण्डवोंके प्रति अपने स्नेह और भक्तिका प्रदर्शन करूँगा। अब कौरवोंको मेरे बल, पराक्रम और कृतज्ञताका परिचय मिल जायगा ॥ ३६½ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तदा सूतः शिक्षितान् साधुवाहिनः ॥ ३७ ॥
शशाङ्कसंनिकाशान् वै वाजिनो व्यनुदद् भृशम्।

संजय कहते हैं—राजन्! सात्यकिके ऐसा कहनेपर सारथिने चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णवाले उन घोड़ोंको, जो सुशिक्षित और अच्छी प्रकार सवारीका काम देनेवाले थे, बड़े वेगसे हाँका ॥ ३७½ ॥

ते पिबन्त इवाकाशं युयुधानं हयोत्तमाः ॥ ३८ ॥
प्रापयन् यवनाञ्शीघ्रं मनःपवनरंहसः।

मन और वायुके समान वेगवाले उन उत्तम घोड़ोंने आकाशको पीते हुए-से चलकर युयुधानको शीघ्र ही यवनोंके पास पहुँचा दिया ॥ ३८½ ॥

सात्यकिं ते समासाद्य पृतनास्वनिवर्तिनम् ॥ ३९ ॥
बहवो लघुहस्ताश्च शरवर्षैरवाकिरन्।

युद्धमें कभी पीछे न हटनेवाले सात्यकिको अपनी सेनाओंके बीच पाकर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले बहुतेरे यवनोंने उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३९½ ॥

तेषामिषूनथास्त्राणि वेगवान् नतपर्वभिः ॥ ४० ॥
अच्छिनत् सात्यकी राजन् नैनं ते प्राप्नुवञ्शराः।

राजन्! वेगशाली सात्यकिने झुकी हुई गाँठवाले अपने बाणोंद्वारा उन सबके बाणों तथा अन्य अस्त्रोंको काट गिराया। वे बाण उनके पासतक पहुँच न सके ॥ ४०½ ॥

रुक्मपुङ्खैः सुनिशितैर्गार्ध्रपत्रैरजिह्मगैः ॥ ४१ ॥
उच्चकर्त शिरांस्युग्रो यवनानां भुजानपि।
शैक्यायसानि वर्माणि कांस्यानि च समन्ततः ॥ ४२ ॥

उन भयंकर वीरने सब ओर घूम-घूमकर सोनेके पुङ्ख और गीधकी पाँखवाले तीखे बाणोंसे यवनोंके मस्तक, भुजाएँ तथा लाल लोहे एवं काँसके बने हुए कवच भी काट डाले ॥ ४१–४२ ॥

भित्त्वा देहांस्तथा तेषां शरा जग्मुर्महीतलम्।
ते हन्यमाना वीरेण म्लेच्छाः सात्यकिना रणे ॥ ४३ ॥
शतशोऽभ्यपतंस्तत्र व्यसवो वसुधातले।

वे बाण उनके शरीरोंको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस गये। वीर सात्यकिके द्वारा रणभूमिमें आहत होकर सैकड़ों म्लेच्छ प्राण त्यागकर धराशायी हो गये ॥ ४३½ ॥

सुपूर्णायतमुक्तैस्तानव्यवच्छिन्नपिण्डितैः ॥ ४४ ॥
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ च बिभेद यवनाञ्शरैः।

वे कानतक खींचकर छोड़े हुए और अविच्छिन्न गतिसे परस्पर सटकर निकलते हुए बाणोंद्वारा पाँच, छः, सात और आठ यवनोंको एक ही साथ विदीर्ण कर डालते थे ॥ ४४½ ॥

काम्बोजानां सहस्रैश्च शकानां च विशाम्पते ॥ ४५ ॥
शबराणां किरातानां बर्बराणां तथैव च।
अगम्यरूपां पृथिवीं मांसशोणितकर्दमाम् ॥ ४६ ॥
कृतवांस्तत्र शैनेयः क्षपयंस्तावकं बलम्।

प्रजानाथ! सात्यकिने आपकी सेनाका संहार करते हुए वहाँकी भूमिको सहस्रों काम्बोजों, शकों, शबरों, किरातों और बर्बरोंकी लाशोंसे पाटकर अगम्य बना दिया था। वहाँ मांस और रक्तकी कीच जम गयी थी ॥ ४५–४६½ ॥

दस्यूनां सशिरस्त्राणैः शिरोभिर्लूनमूर्धजैः ॥ ४७ ॥
दीर्घकूर्चैर्मही कीर्णा विबर्हैरण्डजैरिव।

उन लुटेरोंके लंबी दाढ़ीवाले शिरस्त्राणयुक्त मुण्डित मस्तकोंसे आच्छादित हुई रणभूमि पंखहीन पक्षियोंसे व्याप्त हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ४७½ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गैस्तैस्तदायोधनं बभौ ॥ ४८ ॥
कबन्धैः संवृतं सर्वं ताम्राभ्रैः खमिवावृतम्।

जिनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे, उन कबन्धोंसे भरा हुआ वह सारा रणक्षेत्र लाल रंगके बादलोंसे ढके हुए आकाशके समान जान पड़ता था ॥ ४८½ ॥

वज्राशनिसमस्पर्शैः सुपर्वभिरजिह्मगैः ॥ ४९ ॥
ते सात्वतेन निहताः समावव्रुर्वसुंधराम्।

वज्र और विद्युत्के समान कठोर स्पर्शवाले सुन्दर पर्वयुक्त बाणोंद्वारा सात्यकिके हाथसे मारे गये उन यवनोंने वहाँकी भूमिको अपनी लाशोंसे ढक लिया ॥४९½॥

अल्पावशिष्टाः सम्भग्नाः कृच्छ्रप्राणा विचेतसः ॥ ५० ॥
जिताः संख्ये महाराज युयुधानेन दंशिताः ।
पार्ष्णिभिश्च कशाभिश्च ताडयन्तस्तुरङ्गमान् ॥ ५१ ॥
जवमुत्तममास्थाय सर्वतः प्राद्रवन् भयात् ।

महाराज ! थोड़ेसे यवन शेष रह गये थे, जो बड़ी कठिनाईसे अपने प्राण बचाये हुए थे। वे अपने समुदायसे भ्रष्ट होकर अचेत-से हो रहे थे। उन सभी कवचधारी यवनोंको युयुधानने युद्धस्थलमें जीत लिया था। वे हाथों और कोड़ोंसे अपने घोड़ोंको पीटते हुए उत्तम वेगका आश्रय ले चारों ओर भयके मारे भाग गये ॥ ५०-५१½ ॥

काम्बोजसैन्यं विद्राव्य दुर्जयं युधि भारत ॥ ५२ ॥
यवनानां च तत् सैन्यं शकानां च महद् बलम् ।
ततः स पुरुषव्याघ्रः सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ ५३ ॥
प्रविष्टस्तावकाञ्जित्वा सूतं याहीत्यचोदयत् ।

भरतनन्दन ! उस रणक्षेत्रमें दुर्जय काम्बोजसेनाको, यवनसेनाको तथा शकोंकी विशाल वाहिनीको खदेड़कर सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह सात्यकि आपके सैनिकोंपर विजयी हो कौरवसेनामें घुस गये और सारथिको आदेश देते हुए बोले—'आगे बढ़ो' ॥ ५२-५३½ ॥

तत् तस्य समरे कर्म दृष्ट्वान्यैरकृतं पुरा ॥ ५४ ॥
चारणाः सहगन्धर्वाः पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ।

जिसे पहले दूसरोंने नहीं किया था, समराङ्गणमें सात्यकिके उस पराक्रमको देखकर चारणों और गन्धर्वोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५४½ ॥

तं यान्तं पृष्ठगोप्तारमर्जुनस्य विशाम्पते ।
चारणाः प्रेक्ष्य संहृष्टास्त्वदीयाश्चाभ्यपूजयन् ॥ ५५ ॥

प्रजानाथ ! अर्जुनके पृष्ठरक्षक सात्यकिको जाते देख चारणोंको बड़ा हर्ष हुआ और आपके सैनिकोंने भी उनकी बड़ी सराहना की ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे यवनपराजये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिके कौरवसेनामें प्रवेशके प्रसंगमें यवनोंकी पराजयविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा दुर्योधनकी सेनाका संहार तथा भाइयोंसहित दुर्योधनका पलायन

संजय उवाच

जित्वा यवनकाम्बोजान् युयुधानस्ततोऽर्जुनम् ।
जगाम तव सैन्यस्य मध्येन रथिनां वरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रथियोंमें श्रेष्ठ युयुधान यवनों और काम्बोजोंको पराजित करके आपकी सेनाके बीचसे होते हुए अर्जुनकी ओर चले ॥ १ ॥

चारुदंष्ट्रो नरव्याघ्रो विचित्रकवचध्वजः ।
मृगं व्याघ्र इवाजिघ्रंस्तव सैन्यमभीषयत् ॥ २ ॥

पुरुषसिंह सात्यकिके दाँत बड़े सुन्दर थे। उनके कवच और ध्वज भी विचित्र थे। वे मृगकी गन्ध लेते हुए व्याघ्रके समान आपकी सेनाको भयभीत कर रहे थे ॥ २ ॥

स रथेन चरन् मार्गान् धनुरभ्रामयद् भृशम् ।
रुक्मपृष्ठं महावेगं रुक्मचन्द्रकसंकुलम् ॥ ३ ॥

युयुधान रथके द्वारा विभिन्न मार्गोंपर विचरते हुए अपने उस महावेगशाली धनुषको जोर-जोरसे घुमा रहे थे, जिसका पृष्ठभाग सोनेसे मढ़ा था और जो सुवर्णमय चन्द्राकार चिह्नोंसे व्याप्त था ॥ ३ ॥

रुक्माङ्गदशिरस्त्राणो रुक्मवर्मसमावृतः ।
रुक्मध्वजधनुः शूरो मेरुशृङ्गमिवाबभौ ॥ ४ ॥

उनके भुजबंद और शिरस्त्राण सुवर्णके बने हुए थे। वे स्वर्णमय कवचसे आच्छादित थे। सोनेके ध्वज और धनुषसे सुशोभित शूरवीर सात्यकि मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

सधनुर्मण्डलः संख्ये तेजोभास्कररश्मिवान् ।
शरदीवोदितः सूर्यो नृसूर्यो विरराज ह ॥ ५ ॥

युद्धस्थलमें मण्डलाकार धनुष धारण किये अपने तेजस्वरूप सूर्यरश्मियोंसे प्रकाशित, मानव-सूर्य सात्यकि शरत्कालमें उगे हुए सूर्यदेवके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥

वृषभस्कन्धविक्रान्तो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
तावकानां बभौ मध्ये गवां मध्ये यथा वृषः ॥ ६ ॥

उनके कंधे और चाल-ढाल वृषभके समान थे। नेत्र भी वृषभके ही तुल्य बड़े-बड़े थे। वे नरश्रेष्ठ सात्यकि आपके सैनिकोंके बीचमें उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे गौओंके झुंडमें साँड़की शोभा होती है ॥ ६ ॥

मत्तद्विरदसंकाशं मत्तद्विरदगामिनम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं यूथमध्ये व्यवस्थितम् ॥ ७ ॥
व्याघ्रा इव जिघांसन्तस्त्वदीयाः समुपाद्रवन् ।

मतवाले हाथीके समान पराक्रमी और मदोन्मत्त गजराज-

के समान मन्दगतिसे चलनेवाले सात्यकि जब मदस्रावी मातङ्गके समान कौरवसैनिकोंके मध्यभागमें खड़े हुए, उस समय आपके योद्धा उन्हें मार डालनेकी इच्छासे भूखे बाघोंके समान उनपर टूट पड़े ॥ ७½ ॥

द्रोणानीकमतिक्रान्तं भोजानीकं च दुस्तरम् ॥ ८ ॥
जलसंधार्णवं तीर्त्वा काम्बोजानां च वाहिनीम् ।
हार्दिक्यमकरान्मुक्तं तीर्णं वै सैन्यसागरम् ॥ ९ ॥
परिवव्रुः सुसंक्रुद्धास्त्वदीयाः सात्यकिं रथाः।

वे सात्यकि जब द्रोणाचार्य और कृतवर्माकी दुस्तर सेनाको लाँघकर जलसंधरूपी सिन्धुको पार करके काम्बोजोंकी सेनाका संहारकर कृतवर्मारूपी ग्राहके चंगुलसे छूटकर आपकी सेनाके समुद्रसे पार हो गये, उस समय अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए आपके रथियोंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ८–९½ ॥

दुर्योधनश्चित्रसेनो दुःशासनविविंशती ॥ १० ॥
शकुनिर्दुःसहश्चैव युवा दुर्धर्षणः क्रथः ।
अन्ये च बहवः शूराः शस्त्रवन्तो दुरासदाः ॥ ११ ॥
पृष्ठतः सात्यकिं यान्तमन्वधावन्नमर्षिणः ।

दुर्योधन, चित्रसेन, दुःशासन, विविंशति, शकुनि, दुःसह, तरुण वीर दुर्धर्ष क्रथ तथा अन्य बहुत-से दुर्जय शूरवीर, अमर्षमें भरकर अस्त्र-शस्त्र लिये वहाँ आगे बढ़ते हुए सात्यकिके पीछे-पीछे दौड़े ॥ १०–११½ ॥

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ १२ ॥
मारुतोद्धूतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ।

माननीय नरेश ! पूर्णिमाके दिन वायुके झकोरोंसे वेगपूर्वक ऊपर उठनेवाले महासागरके समान आपकी सेनामें बड़े जोर-जोरसे गर्जन-तर्जनका शब्द होने लगा ॥ १२½ ॥

तानभिद्रवतः सर्वान् समीक्ष्य शिनिपुङ्गवः ॥ १३ ॥
शनैर्याहीति यन्तारमब्रवीत् प्रहसन्निव ।

उन सबको आक्रमण करते देख शिनिप्रवर सात्यकिने अपने सारथिसे हँसते हुए-से कहा—'सूत ! धीरे-धीरे चलो ॥

इदमेतत् समुद्धूतं धार्तराष्ट्रस्य यद् बलम् ॥ १४ ॥
मामेवाभिमुखं तूर्णं गजाश्वरथपत्तिमत् ।
नादयन् वै दिशः सर्वा रथघोषेण सारथे ॥ १५ ॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च कम्पयन् सागरानपि ।
एतद् बलार्णवं सूत वारयिष्ये महारणे ॥ १६ ॥
पौर्णमास्यामिवोद्धूतं वेलेव मकरालयम् ।

'सूत ! यह हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसे भरी हुई जो दुर्योधनकी सेना युद्धके लिये उद्यत हो मेरी ही ओर तीव्र वेगसे चली आ रही है, इस सेना-समुद्रको मैं इस महान् समराङ्गणमें अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं सागरोंको भी कँपाता हुआ आगे बढ़नेसे रोकूँगा । ठीक उसी तरह, जैसे तटकी भूमि पूर्णिमाको उद्वेलित होनेवाले महासागरको रोक देती है ॥ १४–१६½ ॥

पश्य मे सूत विक्रान्तमिन्द्रस्येव महामृधे ॥ १७ ॥
एष सैन्यानि शत्रूणां विधमामि शितैः शरैः ।

'सारथे ! इस महायुद्धमें देवराज इन्द्रके समान मेरा पराक्रम तुम देखो । मैं अभी-अभी अपने पैने बाणोंसे शत्रुओंकी सेनाओंका संहार कर डालता हूँ ॥ १७½ ॥

निहतानाहवे पश्य पदात्यश्वरथद्विपान् ॥ १८ ॥
मच्छरैरग्निसंकाशैर्विद्धदेहान् सहस्रशः ।

'इस युद्धस्थलमें मेरे द्वारा मारे गये सहस्रों पैदलों, घुड़सवारों, रथियों और हाथीसवारोंको देखना, जिनके शरीर मेरे अग्निसदृश बाणोंद्वारा विदीर्ण हुए होंगे' ॥ १८½ ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य सात्यकेरमितौजसः ॥ १९ ॥
समीपे सैनिकास्ते तु शीघ्रमीयुर्युयुत्सवः ।
जह्याद्रवस्व तिष्ठेति पश्य पश्येति वादिनः ॥ २० ॥

अमित तेजस्वी सात्यकि जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय युद्धके लिये उत्सुक हुए आपके सारे सैनिक शीघ्र ही उनके समीप आ पहुँचे । वे 'दौड़ो, मारो, ठहरो, देखो-देखो' इत्यादि बातें बोल रहे थे ॥ १९–२० ॥

तानेवं ब्रुवतो वीरान् सात्यकिर्निशितैः शरैः ।
जघान त्रिशतानश्वान् कुञ्जरांश्च चतुःशतान् ॥ २१ ॥
(लघ्वस्त्रश्चित्रयोधी च प्रहसञ्छिनिपुङ्गवः ।)

शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले एवं विचित्र युद्धकी कलामें निपुण शिनिप्रवर सात्यकिने हँसते हुए वहाँ उपर्युक्त बातें बोलनेवाले तीन सौ वीर घुड़सवारों तथा चार सौ हाथीसवारको अपने तीखे बाणोंसे मार गिराया ॥ २१ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तस्य तेषां च धन्विनाम् ।
देवासुररणप्रख्यः प्रावर्तत जनक्षयः ॥ २२ ॥

सात्यकि तथा आपकी सेनाके धनुर्धरोंका वह नरसंहारकारी युद्ध देवासुर-संग्रामके समान अत्यन्त भयंकर हो चला॥

मेघजालनिभं सैन्यं तव पुत्रस्य मारिष ।
प्रत्यगृह्णाच्छिनेः पौत्रः शरैराशीविषोपमैः ॥ २३ ॥

माननीय नरेश ! शिनिपौत्र सात्यकिने अपने विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाली आपके पुत्रकी सेनाका अकेले ही सामना किया ॥

प्रच्छाद्यमानः समरे शरजालैः स वीर्यवान् ।
असम्भ्रमन् महाराज तावकानवधीद् बहून् ॥ २४ ॥

महाराज ! उस समराङ्गणमें पराक्रमी सात्यकि बाणोंके समूहसे आच्छादित हो गये थे, तो भी उन्होंने मनमें तनिक भी घबराहट नहीं आने दी और आपके बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ २४ ॥

आश्चर्यं तत्र राजेन्द्र सुमहद् दृष्टवानहम्।
न मोघः सायकः कश्चित् सात्यकेरभवत् प्रभो ॥ २५ ॥

शक्तिशाली राजेन्द्र! वहाँ सबसे महान् आश्चर्यकी बात मैंने यह देखी कि सात्यकिका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं गया ॥

रथनागाश्वकलिलः पदात्यूर्मिसमाकुलः।
शैनेयवेलामासाद्य स्थितः सैन्यमहार्णवः ॥ २६ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी तथा पैदलरूपी लहरोंसे व्याप्त हुई आपकी सागर-सदृश सेना सात्यकिरूपी तटभूमिके समीप आकर अवरुद्ध हो गयी ॥ २६ ॥

सम्भ्रान्तनरनागाश्वमावर्तत मुहुर्मुहुः।
तत् सैन्यमिषुभिस्तेन वध्यमानं समन्ततः ॥ २७ ॥

सात्यकिके बाणोंद्वारा सब ओरसे मारी जाती हुई आपकी सेनाके पैदल, हाथी और घोड़े सभी घबरा गये और बारंबार चक्कर काटने लगे ॥ २७ ॥

बभ्राम तत्र तत्रैव गावः शीतार्दिता इव।
पदातिनं रथं नागं सादिनं तुरगं तथा ॥ २८ ॥
अविद्धं तत्र नाद्राक्षं युयुधानस्य सायकैः।

सर्दीसे पीड़ित हुई गायोंके समान आपकी सारी सेना वहीं चक्कर लगा रही थी। मैंने वहाँ एक भी पैदल, रथी, हाथी तथा सवारसहित घोड़ेको ऐसा नहीं देखा, जो युयुधानके बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ २८½ ॥

न तादृक् कदनं राजन् कृतवांस्तत्र फाल्गुनः ॥ २९ ॥
यादृक् क्षयमनीकानामकरोत् सात्यकिर्नृप।

राजन्! नरेश्वर! सात्यकिने आपके सैनिकोंका जैसा संहार किया था, वैसा वहाँ अर्जुनने भी नहीं किया था ॥ २९½ ॥

अत्यर्जुनं शिनेः पौत्रो युध्यते पुरुषर्षभः ॥ ३० ॥
वीतभीर्लाघवोपेतः कृतित्वं सम्प्रदर्शयन्।

शिनिपौत्र पुरुषश्रेष्ठ सात्यकि निर्भय हो बड़ी फुर्तीसे अस्त्र चलाते और अपनी कुशलताका प्रदर्शन करते हुए अर्जुनसे भी अधिक पराक्रमपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ३०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सात्वतस्य त्रिभिः शरैः ॥ ३१ ॥
विव्याध सूतं निशितैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
सात्यकिं च त्रिभिर्विद्ध्वा पुनरष्टाभिरेव च ॥ ३२ ॥

तब राजा दुर्योधनने तीन बाणोंसे सात्यकिके सारथिको और चार पैने बाणोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया। तत्पश्चात् सात्यकिको भी पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर आठ बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१-३२ ॥

दुःशासनः षोडशभिर्विव्याध शिनिपुङ्गवम्।
शकुनिः पञ्चविंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर दुःशासनने सोलह, शकुनिने पचीस और चित्रसेनने पाँच बाणोंद्वारा शिनिप्रवर सात्यकिको बींध डाला ॥

दुःसहः पञ्चदशभिर्विव्याधोरसि सात्यकिम्।
उत्स्मयन् वृष्णिशार्दूलस्तथा बाणैः समाहतः ॥ ३४ ॥
तानविध्यन्महाराज सर्वानेव त्रिभिस्त्रिभिः।

इसके बाद दुःसहने सात्यकिकी छातीमें पंद्रह बाण मारे। महाराज! इस प्रकार उन बाणोंसे आहत होकर वृष्णिवंशके सिंह सात्यकिने मुसकराते हुए ही उन सबको ही तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३४½ ॥

गाढविद्धानरीन् कृत्वा मार्गणैः सोऽतितेजनैः ॥ ३५ ॥
शैनेयः श्येनवत् संख्ये व्यचरल्लघुविक्रमः।

उस युद्धस्थलमें शीघ्रतापूर्वक पराक्रम करनेवाले शिनिवंशी सात्यकि अपने अत्यन्त तेज बाणोंद्वारा शत्रुओंको गहरी चोट पहुँचाकर बाजके समान सब ओर विचरने लगे ॥ ३५½ ॥

सौबलस्य धनुश्छित्त्वा हस्तावापं निकृत्य च ॥ ३६ ॥
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे।

उन्होंने सुबलपुत्र शकुनिके धनुष और दस्ताने काटकर दुर्योधनकी छातीमें तीन बाण मारे ॥ ३६½ ॥

चित्रसेनं शतेनैव दशभिर्दुःसहं तथा ॥ ३७ ॥
दुःशासनं तु विंशत्या विव्याध शिनिपुङ्गवः।

फिर शिनिवंशके प्रमुख वीरने चित्रसेनको सौ, दुःसहको दस और दुःशासनको बीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३७½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय श्यालस्तव विशाम्पते ॥ ३८ ॥
अष्टाभिः सात्यकिं विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः।
दुःशासनश्च दशभिर्दुःसहश्च त्रिभिः शरैः ॥ ३९ ॥

प्रजानाथ! तत्पश्चात् आपके सालेने दूसरा धनुष लेकर सात्यकिको पहले आठ बाण मारे। फिर पाँच बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया। दुःशासनने दस और दुःसहने भी तीन बाण मारे ॥ ३८-३९ ॥

दुर्मुखश्च द्वादशभी राजन् विव्याध सात्यकिम्।
दुर्योधनस्त्रिसप्तत्या विद्ध्वा भारत माधवम् ॥ ४० ॥
ततोऽस्य निशितैर्बाणैस्त्रिभिर्विव्याध सारथिम्।

राजन्! दुर्मुखने बारह बाणोंसे सात्यकिको क्षत-विक्षत कर दिया। भारत! इसके बाद दुर्योधनने तिहत्तर बाणोंसे युयुधानको घायल करके तीन पैने बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ ४०½ ॥

तान् सर्वान् सहितान्शूरान् यतमानान् महारथान् ॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्बाणैः पुनर्विव्याध सात्यकिः।

तब सात्यकिने एक साथ विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन समस्त शूरवीर महारथियोंको पुनः पाँच-पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४१½ ॥

ततः स रथिनां श्रेष्ठस्तव पुत्रस्य सारथिम् ॥ ४२ ॥
आजघानाशु भल्लेन स हतो न्यपतद् भुवि।

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने आपके पुत्रके सारथिके ऊपर शीघ्र ही एक भल्लका प्रहार किया। सारथि उसके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४२½ ॥

पतिते सारथौ तस्मिंस्तव पुत्ररथः प्रभो ॥ ४३ ॥
वातायमानैस्तैरश्वैरपानीयत संगरात्।

प्रभो! उस सारथिके धराशायी होनेपर आपके पुत्रका रथ हवाके समान तीव्र वेगसे भागनेवाले घोड़ोंद्वारा युद्धस्थलसे दूर हटा दिया गया ॥ ४३½ ॥

ततस्तव सुता राजन् सैनिकाश्च विशाम्पते ॥ ४४ ॥
राज्ञो रथमभिप्रेक्ष्य विद्रुताः शतशोऽभवन्।

राजन्! प्रजानाथ! तदनन्तर आपके पुत्र और सैनिक राजा दुर्योधनके रथकी वैसी दशा देखकर सैकड़ोंकी संख्यामें भाग खड़े हुए ॥ ४४½ ॥

विद्रुतं तत्र तत् सैन्यं दृष्ट्वा भारत सात्यकिः ॥ ४५ ॥
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णै रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः।

भारत! आपकी सेनाको भागती देख सात्यकिने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४५½ ॥

विद्राव्य सर्वसैन्यानि तावकानि सहस्रशः ॥ ४६ ॥
प्रययौ सात्यकी राजञ्श्वेताश्वस्य रथं प्रति।

राजन्! इस प्रकार आपके सहस्रों सैनिकोंको भगाकर सात्यकि श्वेतवाहन अर्जुनके रथकी ओर चल दिये ॥४६½॥

(तं प्रयान्तं महाबाहुं तावकाः प्रेक्ष्य मारिष।
दृष्टं चादृष्टवत्कृत्वा क्रियामन्यां प्रयोजयन् ॥)

आर्य! महाबाहु सात्यकिको आगे जाते देखकर आपके सैनिक उस देखी हुई घटनाको भी अनदेखी करके दूसरे काममें लग गये ॥

तं शरानाददानं च रक्षमाणं च सारथिम्।
आत्मानं पालयानं च तावकाः समपूजयन् ॥ ४७ ॥

सात्यकि बाणोंको ग्रहण करते हुए अपनी और सारथिकी भी रक्षा करते थे। उनके इस कार्यकी आपके सैनिकोंने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे दुर्योधनपलायने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका शत्रुसेनामें प्रवेश और दुर्योधनका पलायनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके द्वारा पाषाणयोधी म्लेच्छोंकी सेनाका संहार और दुःशासनका सेनासहित पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

सम्प्रमृद्य महत् सैन्यं यान्तं शैनेयमर्जुनम्।
निर्ह्रीका मम ते पुत्राः किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मेरी विशाल सेनाको रौंदकर जाते हुए सात्यकि और अर्जुनको देखकर मेरे उन निर्लज्ज पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

कथं वैषां तदा युद्धे धृतिरासीन्मुमूर्षताम्।
शैनेयचरितं दृष्ट्वा यादृशं सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

वे सब-के-सब मरना चाहते थे। उस समय युद्धस्थलमें अर्जुनके समान ही सात्यकिका चरित्र देखकर उनकी कैसी धारणा हुई थी? ॥ २ ॥

किं नु वक्ष्यन्ति ते क्षात्रं सैन्यमध्ये पराजिताः।
कथं नु सात्यकिर्युद्धे व्यतिक्रान्तो महायशाः ॥ ३ ॥

वे सेनाके बीचमें परास्त होकर अपने क्षात्रबलका क्या वर्णन करेंगे? समराङ्गणमें महायशस्वी सात्यकि किस प्रकार सारी सेनाको लाँघकर आगे बढ़ गये? ॥ ३ ॥

कथं च मम पुत्राणां जीवतां तत्र संजय।
शैनेयोऽभिययौ युद्धे तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ४ ॥

संजय! युद्धस्थलमें मेरे पुत्रोंके जीते-जी शिनिनन्दन सात्यकि किस तरह आगे जा सके? संजय! यह सब मुझे बताओ ॥ ४ ॥

अत्यद्भुतमिदं तात त्वत्सकाशाच्छृणोम्यहम्।
एकस्य बहुभिः सार्धं शत्रुभिस्तैर्महारथैः ॥ ५ ॥

तात! यह मैं तुम्हारे मुँहसे अत्यन्त विचित्र बात सुन रहा हूँ कि शत्रुदलके उन बहुसंख्यक महारथियोंके साथ एकमात्र सात्यकिका ऐसा घोर संग्राम हुआ ॥ ५ ॥

विपरीतमहं मन्ये मन्दभाग्यं सुतं प्रति।
यत्रावध्यन्त समरे सात्वतेन महारथाः ॥ ६ ॥

मैं अपने भाग्यहीन पुत्रके लिये सब कुछ विपरीत ही मान रहा हूँ; क्योंकि समराङ्गणमें अकेले सात्यकिने बहुत-से महारथियोंका वध कर डाला है ॥ ६ ॥

एकस्य हि न पर्याप्तं यत्सैन्यं तस्य संजय।
क्रुद्धस्य युयुधानस्य सर्वे तिष्ठन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

संजय! और सब पाण्डव तो दूर रहें, क्रोधमें भरे हुए अकेले सात्यकिके लिये भी मेरी सारी सेना पर्याप्त नहीं है ॥७॥

निर्जित्य समरे द्रोणं कृतिनं चित्रयोधिनम्।
यथा पशुगणान् सिंहस्तद्वद्धन्ता सुतान् मम ॥ ८ ॥

जैसे सिंह पशुओंको मार डालता है, उसी प्रकार

सात्यकि विचित्र युद्ध करनेवाले विद्वान् द्रोणाचार्यको भी युद्धमें परास्त करके मेरे पुत्रोंका वध कर डालेंगे ॥ ८ ॥

कृतवर्मादिभिः शूरैर्यत्तैर्बहुभिराहवे ।
युयुधानो न शकितो हन्तुं यत् पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

कृतवर्मा आदि बहुत-से शूरवीर समराङ्गणमें प्रयत्न करते ही रह गये; परंतु पुरुषप्रवर सात्यकि मारे न जा सके ॥ ९ ॥

नैतदीदृशकं युद्धं कृतवांस्तत्र फाल्गुनः ।
यादृशं कृतवान् युद्धं शिनेर्नप्ता महायशाः ॥ १० ॥

शिनिके महायशस्वी पौत्र सात्यकिने वहाँ जैसा युद्ध किया, वैसा तो अर्जुनने भी नहीं किया था ॥ १० ॥

संजय उवाच

तव दुर्मन्त्रिते राजन् दुर्योधनकृतेन च ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा यत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ ११ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपकी खोटी सलाह और दुर्योधनकी काली करतूतसे यह सब कुछ हुआ है । भारत ! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ११ ॥

ते पुनः संन्यवर्तन्त कृत्वा संशप्तकान् मिथः ।
परां युद्धे मतिं क्रूरां तव पुत्रस्य शासनात् ॥ १२ ॥

आपके पुत्रकी आज्ञासे युद्धके लिये अत्यन्त क्रूरतापूर्ण निश्चय करके परस्पर शपथ ले वे सभी पराजित योद्धा पुनः लौट आये ॥ १२ ॥

त्रीणि सादिसहस्राणि दुर्योधनपुरोगमाः ।
शककाम्बोजबाह्लीका यवनाः पारदास्तथा ॥ १३ ॥
कुलिन्दास्तङ्गणाम्बष्ठाः पैशाचाश्च सबर्बराः ।
पर्वतीयाश्च राजेन्द्र क्रुद्धाः पाषाणपाणयः ॥ १४ ॥
अभ्यद्रवन्त शैनेयं शलभाः पावकं यथा ।

तीन हजार घुड़सवार और हाथीसवार दुर्योधनको अपना अगुआ बनाकर चले । उनके साथ शक, काम्बोज, बाह्लीक, यवन, पारद, कुलिन्द, तंगण, अम्बष्ठ, पैशाच, बर्बर तथा पर्वतीय योद्धा भी थे । राजेन्द्र ! वे सब-के सब कुपित हो हाथोंमें पत्थर लिये सात्यकिकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे फतिंगे जलती हुई आगपर टूटे पड़ते हैं ॥ १३-१४½ ॥

युक्ताश्च पर्वतीयानां रथाः पाषाणयोधिनाम् ॥ १५ ॥
शूराः पञ्चशता राजन् शैनेयं समुपाद्रवन् ।

राजन् ! पत्थरोंद्वारा युद्ध करनेवाले पर्वतीयोंके पाँच सौ शूरवीर रथी युद्धके लिये सुसज्जित हो सात्यकिपर चढ़ आये ॥ १५½ ॥

ततो रथसहस्रेण महारथशतेन च ॥ १६ ॥
द्विरदानां सहस्रेण द्विसाहस्रैश्च वाजिभिः ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो विविधानि महारथाः ॥ १७ ॥
अभ्यद्रवन्त शैनेयमसंख्येयाश्च पत्तयः ।

तत्पश्चात् एक हजार रथी, सौ महारथी, एक हजार हाथी और दो हजार घुड़सवारोंके साथ बहुत-से महारथी और असंख्य पैदल सैनिक सात्यकिपर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए टूट पड़े ॥ १६-१७½ ॥

तांश्च संचोदयन् सर्वान् घ्नतैनमिति भारत ॥ १८ ॥
दुःशासनो महाराज सात्यकिं पर्यवारयत् ।

भरतवंशी महाराज ! 'इस सात्यकिको मार डालो' इस प्रकार उन समस्त सैनिकोंको प्रेरित करते हुए दुःशासनने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ १८½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयचरितं महत् ॥ १९ ॥
यदेको बहुभिः सार्धमसम्भ्रान्तमयुध्यत ।

वहाँ हमने सात्यकिका अत्यन्त अद्भुत चरित्र देखा कि वे बिना किसी घबराहटके अकेले ही बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १९½ ॥

अवधीच्च रथानीकं द्विरदानां च तद् बलम् ॥ २० ॥
सादिनश्चैव तान् सर्वान् दस्यूनपि च सर्वशः ।

उन्होंने रथसेना और गजसेनाका तथा उन समस्त घुड़सवारों एवं लुटेरे म्लेच्छोंका भी सब प्रकारसे संहार कर डाला ॥ २०½ ॥

तत्र चक्रैर्विमथितैर्भग्नैश्च परमायुधैः ॥ २१ ॥
अक्षैश्च बहुधा भग्नैरीषादण्डकबन्धुरैः ।
कुञ्जरैर्मथितैश्चापि ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ २२ ॥
वर्मभिश्च तथानीकैर्व्यवकीर्णा वसुंधरा ।

वहाँ चूर-चूर हुए चक्कों, टूटे हुए उत्तमोत्तम आयुधों, टूक-टूक हुए धुरों, खण्डित हुए ईषादण्डों और बन्धुरों, मथे गये हाथियों, तोड़कर गिराये हुए ध्वजों, छिन्न-भिन्न कवचों और विनष्ट हुए सैनिकोंकी लाशोंसे वहाँकी पृथ्वी पट गयी थी ॥ २१-२२½ ॥

स्रग्भिराभरणैर्वस्त्रैरनुकर्षैश्च मारिष ॥ २३ ॥
संछन्ना वसुधा तत्र द्यौर्ग्रहैरिव भारत ।

माननीय भरतनरेश ! योद्धाओंके हारों, आभूषणों, वस्त्रों और अनुकर्षोंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि तारोंसे व्याप्त हुए आकाशके समान जान पड़ती थी ॥ २३½ ॥

गिरिरूपधराश्चापि पतिताः कुञ्जरोत्तमाः ॥ २४ ॥
अञ्जनस्य कुले जाता वामनस्य च भारत ।

भारत ! अञ्जन और वामन नामक दिग्गजके कुलमें उत्पन्न हुए पर्वताकार श्रेष्ठ गजराज भी वहाँ धराशायी हो गये थे ॥ २४½ ॥

सुप्रतीककुले जाता महापद्मकुले तथा ॥ २५ ॥
ऐरावतकुले चैव तथान्येषु कुलेषु च ।

जाता दन्तिवरा राजञ्शेरते बहवो हताः ॥ २६ ॥

नरेश्वर! सुप्रतीक, महापद्म, ऐरावत तथा अन्य पुण्डरीक, पुष्पदन्त और सार्वभौम–(इन) दिग्गजोंके कुलोंमें उत्पन्न हुए बहुतेरे दंतार हाथी भी वहाँ धरतीपर लोट रहे थे ॥२५ २६॥

वनायुजान् पर्वतीयान् काम्बोजान् बाह्लिकानपि ।
तथा हयवरान् राजन् निजघ्ने तत्र सात्यकिः ॥ २७ ॥

राजन्! वहाँ सात्यकिने वनायु, काम्बोज (काबुल) और बाह्लीक देशोंमें उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अश्वों तथा पहाड़ी घोड़ोंको भी मार गिराया ॥ २७ ॥

नानादेशसमुत्थांश्च नानाजातींश्च दन्तिनः ।
निजघ्ने तत्र शैनेयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २८ ॥

शिनिके उस वीर पौत्रने अनेक देशोंमें उत्पन्न हुए विभिन्न जातिके सैकड़ों और हजारों हाथियोंका भी संहार कर डाला ॥ २८ ॥

तेषु प्रकाल्यमानेषु दस्यून् दुःशासनोऽब्रवीत् ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ॥ २९ ॥

वे हाथी जब कालके गालमें जा रहे थे, उस समय दुःशासनने लूट-पाट करनेवाले म्लेच्छोंसे इस प्रकार कहा– 'धर्मको न जाननेवाले योद्धाओ! इस तरह भाग जानेसे तुम्हें क्या मिलेगा? लौटो और युद्ध करो' ॥ २९ ॥

तांश्चातिभग्नान् सम्प्रेक्ष्य पुत्रो दुःशासनस्तव ।
पाषाणयोधिनः शूरान् पर्वतीयानचोदयत् ॥ ३० ॥

इतनेपर भी उन्हें जोर-जोरसे भागते देख आपके पुत्र दुःशासनने पत्थरोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पर्वतीयोंको आज्ञा दी–॥ ३० ॥

अश्मयुद्धेषु कुशला नैतज्जानाति सात्यकिः ।
अश्मयुद्धमजानन्तं घ्नतैनं युद्धकामुकम् ॥ ३१ ॥

'वीरो! तुमलोग प्रस्तरोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल हो। सात्यकिको इस कलाका ज्ञान नहीं है। प्रस्तरयुद्धको न जानते हुए भी युद्धकी इच्छा रखनेवाले इस शत्रुको तुम- लोग मार डालो ॥ ३१ ॥

तथैव कुरवः सर्वे नाश्मयुद्धविशारदाः ।
अभिद्रवत मा भैष्ट न वः प्राप्स्यति सात्यकिः ॥ ३२ ॥

'इसी प्रकार समस्त कौरव भी प्रस्तरयुद्धमें प्रवीण नहीं है। अतः तुम डरो मत। आक्रमण करो। सात्यकि तुम्हें नहीं पा सकता' ॥ ३२ ॥

ते पर्वतीया राजानः सर्वे पाषाणयोधिनः ।
अभ्यद्रवन्त शैनेयं राजानमिव मन्त्रिणः ॥ ३३ ॥

जैसे मन्त्री राजाके पास जाते हैं, उसी प्रकार वे पाषाण- योधी समस्त पर्वतीय नरेश सात्यकिकी ओर दौड़े ॥ ३३ ॥

ततो गजशिरःप्रख्यैरुपलैः शैलवासिनः ।
उद्यतैर्युयुधानस्य पुरतस्तस्थुराहवे ॥ ३४ ॥

वे पर्वतनिवासी योद्धा हाथीके मस्तकके समान बड़े-बड़े प्रस्तर हाथमें लेकर समराङ्गणमें युयुधानके सामने युद्धके लिये तैयार होकर खड़े हो गये ॥ ३४ ॥

क्षेपणीयैस्तथाप्यन्ये सात्वतस्य वधैषिणः ।
चोदितास्तव पुत्रेण सर्वतो रुरुधुर्दिशः ॥ ३५ ॥

आपके पुत्र दुःशासनसे प्रेरित होकर सात्यकिके वधकी इच्छा रखनेवाले अन्य बहुतेरे सैनिकोंने भी क्षेपणीयास्त्र उठा- कर सब ओरसे सात्यकिकी सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध कर लिया ॥ ३५ ॥

तेषामापततामेव शिलायुद्धं चिकीर्षताम् ।
सात्यकिः प्रतिसंधाय निशितान् प्राहिणोच्छरान् ।३६।

प्रस्तरयुद्धकी इच्छा रखनेवाले उन योद्धाओंके आक्रमण करते ही सात्यकिने तेज किये हुए बाणोंका संधान करके उन्हें उनपर चलाया ॥ ३६ ॥

तामश्मवृष्टिं तुमुलां पर्वतीयैः समीरिताम् ।
चिच्छेदोरगसंकाशैर्नाराचैः शिनिपुङ्गवः ॥ ३७ ॥

पर्वतीय सैनिकोंद्वारा की हुई उस भयंकर पाषाणवर्षा- को शिनिप्रवर सत्यकिने अपने सर्पतुल्य नाराचोंद्वारा छिन्न- भिन्न कर दिया ॥ ३७ ॥

तैरश्मचूर्णैर्दीप्यद्भिः खद्योतानामिव व्रजैः ।
प्रायः सैन्यान्यहन्यन्त हाहाभूतानि मारिष ॥ ३८ ॥

माननीय नरेश! जुगनुओंकी जमातोंके समान उद्भासित होनेवाले उन प्रस्तरचूर्णोंसे प्रायः सारी सेनाएँ आहत हो हाहाकार करने लगीं ॥ ३८ ॥

ततः पञ्चशतं शूराः समुद्यतमहाशिलाः ।
निकृत्तबाहवो राजन् निपेतुर्धरणीतले ॥ ३९ ॥

राजन्! तदनन्तर बड़े-बड़े प्रस्तरखण्ड उठाये हुए पाँच सौ शूरवीर अपनी भुजाओंके कट जानेसे धरतीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

पुनर्दशशताश्चान्ये शतसाहस्रिणस्तथा ।
सोपलैर्बाहुभिश्छिन्नैः पेतुरप्राप्य सात्यकिम् ॥ ४० ॥

फिर एक हजार दूसरे योद्धा तथा एक लाख अन्य सैनिक सात्यकितक पहुँचने भी नहीं पाये थे कि अपने हाथमें लिये शिला- खण्डोंसे कटी हुई बाहुओंके साथ ही धराशायी हो गये ॥४०॥

(सात्वतस्य च भल्लेन निष्पिष्टैस्तैस्तथाद्रिभिः ।
न्यपतन् निहता म्लेच्छास्तत्र तत्र गतासवः ॥
ते हन्यमानाः समरे सात्वतेन महात्मना ।
अश्मवृष्टिं महाघोरां पातयन्ति स्म सात्वते ॥)

सात्यकिके भल्लसे चूर-चूर हुए शिलाखण्डोंद्वारा मारे गये म्लेच्छ प्राणशून्य होकर जहाँ-तहाँ पड़े थे। महामना

सात्यकिद्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए वे म्लेच्छ सैनिक उनपर बड़ी भयंकर पत्थरोंकी वर्षा करते थे ॥

पाषाणयोधिनः शूरान् यतमानानवस्थितान्।
न्यवधीद् बहुसाहस्रांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४१ ॥

वे पाषाणोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर विजयके लिये यत्नशील होकर रणक्षेत्रमें डटे हुए थे। उनकी संख्या अनेक सहस्र थी; परंतु सात्यकिने उन सबका संहार कर डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ४१ ॥

ततः पुनर्व्यात्तमुखास्तेऽश्मवृष्टीः समन्ततः।
अयोहस्ताः शूलहस्ता दरदास्तङ्गणाः खसाः ॥ ४२ ॥
लम्पाकाश्च कुलिन्दाश्च चिक्षिपुस्तांश्च सात्यकिः।
नाराचैः प्रतिचिच्छेद प्रतिपत्तिविशारदः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर पुनः हाथमें लोहेके गोले और त्रिशूल लिये मुँह फैलाये हुए दरद, तंगण, खस, लम्पाक और कुलिन्द-देशीय म्लेच्छोंने सात्यकिपर चारों ओरसे पत्थर बरसाने आरम्भ किये; परंतु प्रतीकार करनेमें निपुण सात्यकिने अपने नाराचोंद्वारा उन सबको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४२–४३ ॥

अद्रीणां भिद्यमानानामन्तरिक्षे शितैः शरैः।
शब्देन प्राद्रवन् संख्ये रथाश्वगजपत्तयः ॥ ४४ ॥

आकाशमें तीखे बाणोंद्वारा टूटने-फूटनेवाले प्रस्तर-खण्डोंके शब्दसे भयभीत हो रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सैनिक युद्धस्थलमें इधर-उधर भागने लगे ॥ ४४ ॥

अश्मचूर्णैरवाकीर्णा मनुष्यगजवाजिनः।
नाशक्नुवन्नवस्थातुं भ्रमरैरिव दंशिताः ॥ ४५ ॥

पत्थरके चूर्णोंसे व्याप्त हुए मनुष्य, हाथी और घोड़े वहाँ ठहर न सके, मानो उन्हें भ्रमरोंने डस लिया हो ॥ ४५ ॥

हतशिष्टाः सरुधिरा भिन्नमस्तकपिण्डकाः।
(विभिन्नशिरसो राजन् दन्तैश्छिन्नैश्च दन्तिनः।
निर्धूतैश्च करैर्नागा व्यङ्गाश्च शतशः कृताः ॥
हत्वा पञ्चशतान् योधांस्तत्क्षणेनैव मारिष।
व्यचरत् पृतनामध्ये शैनेयः कृतहस्तवत् ॥)
कुञ्जरा वर्जयामासुर्युयुधानरथं तथा ॥ ४६ ॥

जो मरनेसे बचे थे, वे हाथी भी खूनसे लथपथ हो रहे थे। उनके कुम्भस्थल विदीर्ण हो गये थे। राजन्! बहुत-से हाथियोंके सिर क्षत-विक्षत हो गये थे। उनके दाँत टूट गये थे, शुण्डदण्ड खण्डित हो गये थे तथा सैकड़ों गजराजोंके सात्यकिने अङ्ग भंग कर दिये थे। माननीय नरेश! सात्यकि सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति क्षणभरमें पाँच सौ योद्धाओंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें विचरने लगे। उस समय घायल हुए हाथी युयुधानके रथको छोड़कर भाग गये ॥ ४६ ॥

(अश्मनां भिद्यमानानां सायकैः श्रूयते ध्वनिः।
पद्मपत्रेषु धाराणां पतन्तीनामिव ध्वनिः ॥)

बाणोंसे चूर-चूर होनेवाले पत्थरोंकी ऐसी ध्वनि सुनायी पड़ती थी, मानो कमलदलोंपर गिरती हुई जलधाराओंका शब्द कानोंमें पड़ रहा हो ॥

ततः शब्दः समभवत् तव सैन्यस्य मारिष।
माधवेनार्द्यमानस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ ४७ ॥

आर्य! जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्रका गर्जन बहुत बढ़ जाता है, उसी प्रकार सात्यकिके द्वारा पीड़ित हुई आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हो रहा था ॥ ४७ ॥

तं शब्दं तुमुलं श्रुत्वा द्रोणो यन्तारमब्रवीत्।
एष सूत रणे क्रुद्धः सात्वतानां महारथः ॥ ४८ ॥
दारयन् बहुधा सैन्यं रणे चरति कालवत्।
यत्रैष शब्दस्तुमुलस्तत्र सूत रथं नय ॥ ४९ ॥

उस भयंकर शब्दको सुनकर द्रोणाचार्यने अपने सारथि-से कहा—'सूत! यह सात्वतकुलका महारथी वीर सात्यकि रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर कौरवसेनाको बारंबार विदीर्ण करता हुआ कालके समान विचर रहा है। सारथे! जहाँ यह भयानक शब्द हो रहा है, वहीं मेरे रथको ले चलो ॥ ४८-४९ ॥

पाषाणयोधिभिर्नूनं युयुधानः समागतः।
तथा हि रथिनः सर्वे ह्रियन्ते विद्रुतैर्हयैः ॥ ५० ॥

'निश्चय ही युयुधान पाषाणयोधी योद्धाओंसे भिड़ गया है, तभी तो ये भागे हुए घोड़े सम्पूर्ण रथियोंको रणभूमिसे बाहर लिये जा रहे हैं ॥ ५० ॥

विशस्त्रकवचा रुग्णास्तत्र तत्र पतन्ति च।
न शक्नुवन्ति यन्तारः संयन्तुं तुमुले हयान् ॥ ५१ ॥

'ये रथी शस्त्र और कवचसे हीन होकर शस्त्रोंके आघात-से रुग्ण हो यत्र-तत्र गिर रहे हैं। इस भयंकर युद्धमें सारथि अपने घोड़ोंको काबूमें नहीं रख पाते हैं' ॥ ५१ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा भारद्वाजस्य सारथिः।
प्रत्युवाच ततो द्रोणं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ ५२ ॥
सैन्यं द्रवति चायुष्मन् कौरवेयं समन्ततः।
पश्य योधान् रणे भग्नान् धावतो वै ततस्ततः ॥ ५३ ॥

द्रोणाचार्यका यह वचन सुनकर सारथिने सम्पूर्ण शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणसे इस प्रकार कहा—'आयुष्मन्! कौरव-सेना चारों ओर भाग रही है। देखिये, रणक्षेत्रमें वे सब योद्धा व्यूह-भंग करके इधर-उधर दौड़ रहे हैं ॥ ५२-५३ ॥

इमे च संहताः शूराः पञ्चालाः पाण्डवैः सह।
त्वामेव हि जिघांसन्त आद्रवन्ति समन्ततः ॥ ५४ ॥

'ये पाण्डवोंसहित पाञ्चाल वीर संगठित हो आपको मार डालनेकी इच्छासे सब ओरसे आपपर ही आक्रमण कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

अत्र कार्यं समाधत्स्व प्राप्तकालमरिंदम ।
स्थाने वा गमने वापि दूरं यातश्च सात्यकिः ॥ ५५ ॥

'शत्रुदमन ! इस समय जो कर्तव्य प्राप्त हो, उसपर ध्यान दीजिये; यहीं ठहरना है या अन्यत्र जाना है । सात्यकि तो बहुत दूर चले गये' ॥ ५५ ॥

तथैवं वदतस्तस्य भारद्वाजस्य सारथेः ।
प्रत्यदृश्यत शैनेयो निघ्नन् बहुविधान् रथान् ॥ ५६ ॥

द्रोणाचार्यका सारथि जब इस प्रकार कह रहा था, उसी समय शिनिनन्दन सात्यकि बहुतेरे रथियोंका संहार करते दिखायी दिये ॥ ५६ ॥

ते वध्यमानाः समरे युयुधानेन तावकाः ।
युयुधानरथं त्यक्त्वा द्रोणानीकाय दुद्रुवुः ॥ ५७ ॥

समराङ्गणमें युयुधानकी मार खाते हुए आपके सैनिक उनके रथको छोड़कर द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर भाग गये ॥ ५७ ॥

यैस्तु दुःशासनः सार्धं रथैः पूर्वं न्यवर्तत ।
ते भीतास्त्वभ्यधावन्त सर्वे द्रोणरथं प्रति ॥ ५८ ॥

पहले दुःशासन जिन रथियोंके साथ लौटा था, वे सब-के-सब भयभीत होकर द्रोणाचार्यके रथकी ओर भाग गये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिप्रवेशविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका दुःशासनको फटकारना और द्रोणाचार्यके द्वारा वीरकेतु आदि पाञ्चालोंका वध एवं उनका धृष्टद्युम्नके साथ घोर युद्ध, द्रोणाचार्यका मूर्च्छित होना, धृष्टद्युम्नका पलायन, आचार्यकी विजय

संजय उवाच

दुःशासनरथं दृष्ट्वा समीपे पर्यवस्थितम् ।
भारद्वाजस्ततो वाक्यं दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुःशासनके रथको अपने समीप खड़ा हुआ देख द्रोणाचार्य उससे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

दुःशासन रथाः सर्वे कस्माच्चैते प्रविद्रुताः ।
कच्चित् क्षेमं तु नृपतेः कच्चिज्जीवति सैन्धवः ॥ २ ॥

'दुःशासन ! ये सारे रथी कहाँसे भागे आ रहे हैं ? राजा दुर्योधन सकुशल तो हैं न ? क्या सिंधुराज जयद्रथ अभी जीवित है ? ॥ २ ॥

राजपुत्रो भवानत्र राजभ्राता महारथः ।
किमर्थं द्रवते युद्धे यौवराज्यमवाप्य हि ॥ ३ ॥

'तुम तो राजाके बेटे, राजाके भाई और महारथी वीर हो । युवराजका पद प्राप्त करके तुम इस युद्धस्थलमें किस लिये भागे फिरते हो ? ॥ ३ ॥

दासी जितासि द्यूते त्वं यथाकामचरी भव ।
वाससां वाहिका राज्ञो भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मे भव ॥ ४ ॥

'दुःशासन ! तुमने द्रौपदीसे कहा था 'अरी ! तू जूएमें जीती हुई दासी है । अतः हमारी इच्छाके अनुसार आचरण करनेवाली हो जा । मेरे बड़े भाई राजा दुर्योधनकी वस्त्र-वाहिका बन जा ॥ ४ ॥

न सन्ति पतयः सर्वे तेऽद्य षण्ढतिलैः समाः ।
दुःशासनैवं कस्मात् त्वं पूर्वमुक्त्वा पलायसे ॥ ५ ॥

'अब तेरे सम्पूर्ण पति थोथे तिलोंके समान नहींके बराबर हो गये हैं ।' पहले ऐसी बातें कहकर अब तुम युद्धसे भाग क्यों रहे हो ? ॥ ५ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पञ्चालैः पाण्डवैः सह ।
एकं सात्यकिमासाद्य कथं भीतोऽसि संयुगे ॥ ६ ॥

'पाञ्चालों और पाण्डवोंके साथ स्वयं ही बड़ा भारी वैर ठानकर युद्धस्थलमें अकेले सात्यकिका सामना करके कैसे भयभीत हो उठे हो ? ॥ ६ ॥

न जानीषे पुरा त्वं तु गृह्णन्नक्षान् दुरोदरे ।
शरा ह्येते भविष्यन्ति दारुणाशीविषोपमाः ॥ ७ ॥

'क्या पहले तुम जूएमें पासे उठाते समय नहीं जानते थे कि ये एक दिन भयंकर विषधर सर्पोंके समान विनाशकारी बाण बन जायँगे ॥ ७ ॥

अप्रियाणां हि वचसां पाण्डवस्य विशेषतः ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशस्त्वन्मूलो ह्यभवत् पुरा ॥ ८ ॥

'पूर्वकालमें विशेषतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको जो अप्रिय वचन सुनाये गये और द्रौपदीदेवीको जो कष्ट पहुँचाया गया, इन सबकी जड़ तुम्हीं रहे हो ॥ ८ ॥

क्व ते मानश्च दर्पश्च क्व ते वीर्यं क्व गर्जितम् ।
आशीविषसमान् पार्थान् कोपयित्वा क्व यास्यसि ॥ ९ ॥

'कहाँ गया तुम्हारा वह दर्प और अभिमान ? कहाँ है तुम्हारा पराक्रम ? और कहाँ गयी तुम्हारी गर्जना ? विषैले सर्पोंके समान कुन्तीकुमारोंको कुपित करके कहाँ भागे जा रहे हो ? ॥ ९ ॥

शोच्येयं भारती सेना राज्यं चैव सुयोधनः ।
यस्य त्वं कर्कशो भ्राता पलायनपरायणः ॥ १० ॥

'यह कौरवी सेना, यह राज्य और इसका राजा दुर्योधन—ये सभी शोचनीय हो गये हैं; क्योंकि तुम राजाके क्रूरकर्मी भाई होकर आज युद्धमें पीठ दिखाकर भाग रहे हो ॥ १० ॥

ननु नाम त्वया वीर दीर्यमाणा भयार्दिता।
स्वबाहुबलमास्थाय रक्षितव्या ह्यनीकिनी ॥ ११ ॥

'वीर ! तुम्हें तो अपने बाहुबलका आश्रय लेकर इस भागती हुई भयभीत सेनाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

स त्वमद्य रणं हित्वा भीतो हर्षयसे परान्।
विद्रुते त्वयि सैन्यस्य नायके शत्रुसूदन ॥ १२ ॥
कोऽन्यः स्थास्यति संग्रामे भीतो भीते व्यपाश्रये।

'परंतु तुम आज युद्ध छोड़कर भयभीत हो उठे और शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। शत्रुसूदन ! तुम तो सेनापति हो। तुम्हारे भागनेपर दूसरा कौन युद्धभूमिमें ठहर सकेगा ? जब आश्रयदाता या रक्षक ही डर जाय, तब दूसरा क्यों न भयभीत होगा ? ॥ १२½ ॥

एकेन सात्वतेनाद्य युध्यमानस्य तेन वै ॥ १३ ॥
पलायने तव मतिः संग्रामाद्धि प्रवर्तते।
यदा गाण्डीवधन्वानं भीमसेनं च कौरव ॥ १४ ॥
यमौ वा युधि द्रष्टासि तदा त्वं किं करिष्यसि।

'कौरव ! अकेले सात्यकिके साथ युद्ध करते समय, जब आज तुम्हारी बुद्धि संग्रामसे पलायन करनेमें प्रवृत्त हो गयी, तुमने भागनेका विचार कर लिया, तब जिस समय तुम गाण्डीवधारी अर्जुन, भीमसेन अथवा नकुल-सहदेवको युद्धस्थलमें देखोगे, उस समय तुम क्या करोगे ? ॥ १३-१४½ ॥

युधि फाल्गुनबाणानां सूर्याग्निसमवर्चसाम् ॥ १५ ॥
न तुल्याः सात्यकिशरा येषां भीतः पलायसे।

'रणक्षेत्रमें अर्जुनके बाण सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी हैं। उनके समान सात्यकिके बाण नहीं हैं, जिनसे भयभीत होकर तुम भागे जा रहे हो ॥ १५½ ॥

त्वरितो वीर गच्छ त्वं गान्धार्युदरमाविश ॥ १६ ॥
पृथिव्यां धावमानस्य नान्यत् पश्यामि जीवनम्।

'वीर ! जल्दी जाओ। अपनी माता गान्धारीदेवीके पेटमें घुस जाओ; अन्यथा इस भूतलपर दूसरा कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ भाग जानेसे मुझे तुम्हारे जीवनकी रक्षा दिखायी देती हो ॥ १६½ ॥

यदि तावत् कृता बुद्धिः पलायनपरायणा ॥ १७ ॥
पृथिवी धर्मराजाय शमेनैव प्रदीयताम्।

'यदि तुमने भागनेका ही विचार कर लिया है, तब यह पृथ्वीका राज्य शान्तिपूर्वक ही धर्मराज युधिष्ठिरको सौंप दो ॥ १७½ ॥

यावत् फाल्गुननाराचा निर्मुक्तोरगसंनिभाः ॥ १८ ॥
नाविशन्ति शरीरं ते तावत् संशाम्य पाण्डवैः।

'केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान अर्जुनके बाण जबतक तुम्हारे शरीरमें नहीं घुस रहे हैं, तबतक ही तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १८½ ॥

यावत् ते पृथिवीं पार्था हत्वा भ्रातृशतं रणे ॥ १९ ॥
नाक्षिपन्ति महात्मानस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः।

'महामनस्वी कुन्तीकुमार जबतक तुम्हारे सौ भाइयोंको रणक्षेत्रमें मारकर यह सारी पृथ्वी तुमसे छीन नहीं लेते हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १९½ ॥

यावन्न क्रुद्ध्यते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २० ॥
कृष्णश्च समरश्लाघी तावत् संशाम्य पाण्डवैः।

'जबतक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा युद्धकी प्रशंसा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण क्रोध नहीं करते हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ २०½ ॥

यावद् भीमो महाबाहुर्विगाह्य महतीं चमूम् ॥ २१ ॥
सोदरांस्ते न गृह्णाति तावत् संशाम्य पाण्डवैः।

'जबतक महाबाहु भीमसेन विशाल कौरवसेनामें घुसकर तुम्हारे सारे भाइयोंको दबोच नहीं लेते हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ २१½ ॥

पूर्वमुक्तश्च ते भ्राता भीष्मेणासौ सुयोधनः ॥ २२ ॥
अजेयाः पाण्डवाः संख्ये सौम्य संशाम्य तैः सह।
न च तत् कृतवान् मन्दस्तव भ्राता सुयोधनः ॥ २३ ॥

'पूर्वकालमें भीष्मजीने तुम्हारे भाई दुर्योधनसे यह कहा था कि 'सौम्य ! पाण्डव युद्धमें अजेय हैं। तुम उनके साथ संधि कर लो।' परंतु तुम्हारे मूर्ख भ्राता दुर्योधनने वह कार्य नहीं किया ॥ २२-२३ ॥

स युद्धे धृतिमास्थाय यत्तो युध्यस्व पाण्डवैः।
तवापि शोणितं भीमः पास्यतीति मया श्रुतम् ॥ २४ ॥
तच्चाप्यवितथं तस्य तत् तथैव भविष्यति।

'अतः अब तुम रणक्षेत्रमें धैर्य धारण करके प्रयत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करो। मैंने सुना है भीमसेन तुम्हारा भी खून पीयेंगे। भीमसेनकी वह प्रतिज्ञा झूठी नहीं है। वह उसी रूपमें सत्य होगी ॥ २४½ ॥

किं भीमस्य न जानासि विक्रमं त्वं सुबालिश ॥ २५ ॥
यत्त्वया वैरमारब्धं संयुगे प्रपलायिना।

'ओ मूर्ख ! क्या तुम भीमसेनके पराक्रमको नहीं जानते, जो तुमने उनके साथ वैर ठाना और अब युद्धसे भागे जा रहे हो ? ॥ २५½ ॥

गच्छ तूर्णं रथेनैव यत्र तिष्ठति सात्यकिः ॥ २६ ॥
त्वया हीनं बलं ह्येतद् विद्रविष्यति भारत।
आत्मार्थं योधय रणे सात्यकिं सत्यविक्रमम् ॥ २७ ॥

'भरतनन्दन ! अब तुम शीघ्र ही इसी रथके द्वारा जहाँ सात्यकि खड़े हैं, वहाँ जाओ। तुम्हारे न रहनेसे यह सारी सेना भाग जायगी। तुम अपने लाभके लिये रणक्षेत्रमें सत्यपराक्रमी सात्यकिके साथ युद्ध करो' ॥ २६-२७ ॥

एवमुक्तस्तव सुतो नाब्रवीत् किंचिदप्यसौ।
श्रुतं चाश्रुतवत् कृत्वा प्रायाद् येन स सात्यकिः॥२८॥

द्रोणाचार्यके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुःशासन कुछ भी नहीं बोला। वह उनकी सुनी हुई बातोंको भी अनसुनी-सी करके उसी मार्गपर चल दिया, जिससे सात्यकि गये थे ॥

सैन्येन महता युक्तो म्लेच्छानामनिवर्तिनाम्।
आसाद्य च रणे यत्तो युयुधानमयोधयत् ॥२९॥

उसने युद्धसे पीछे न हटनेवाले म्लेच्छोंकी विशाल सेनाके साथ समराङ्गणमें सात्यकिके पास पहुँचकर उनके साथ प्रयत्नपूर्वक युद्ध आरम्भ किया ॥ २९ ॥

द्रोणोऽपि रथिनां श्रेष्ठः पञ्चालान् पाण्डवांस्तथा।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो जवमास्थाय मध्यमम् ॥ ३० ॥

इधर रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी क्रोधमें भरकर मध्यम वेगका आश्रय ले पाञ्चालों और पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ ३० ॥

प्रविश्य च रणे द्रोणः पाण्डवानां वरूथिनीम्।
द्रावयामास योधान् वै शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३१ ॥

द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश करके उनके सैकड़ों और हजारों सैनिकोंको भगाने लगे ॥ ३१ ॥

ततो द्रोणो महाराज नाम विश्राव्य संयुगे।
पाण्डुपाञ्चालमत्स्यानां प्रचक्रे कदनं महत् ॥ ३२ ॥

महाराज ! उस समय आचार्य द्रोण युद्धस्थलमें अपना नाम सुना-सुनाकर पाण्डव, पाञ्चाल तथा मत्स्यदेशीय सैनिकोंका महान् संहार करने लगे ॥ ३२ ॥

तं जयन्तमनीकानि भारद्वाजं ततस्ततः।
पाञ्चालपुत्रो द्युतिमान् वीरकेतुः समभ्ययात् ॥ ३३ ॥

इधर-उधर घूम-घूमकर समस्त सेनाओंको पराजित करते हुए द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये उस समय तेजस्वी पाञ्चालराजकुमार वीरकेतु आया ॥ ३३ ॥

स द्रोणं पञ्चभिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः।
ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य सप्तभिः ॥ ३४ ॥

उसने झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल करके एकसे उनके ध्वजको और सात बाणोंसे उनके सारथिको भी बेध दिया ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतं महाराज दृष्टवानस्मि संयुगे।
यद् द्रोणो रभसं युद्धे पाञ्चाल्यं नाभ्यवर्तत ॥ ३५ ॥

महाराज ! उस युद्धमें मैंने यह अद्भुत बात देखी कि द्रोणाचार्य उस वेगशाली पाञ्चालराजकुमार वीरकेतुकी ओर बढ़ न सके ॥ ३५ ॥

संनिरुद्धं रणे द्रोणं पञ्चाला वीक्ष्य मारिष।
आवव्रुः सर्वतो राजन् धर्मपुत्रजयैषिणः ॥ ३६ ॥

माननीय नरेश ! द्रोणाचार्यको रणक्षेत्रमें अवरुद्ध हुआ देख धर्मपुत्रकी विजय चाहनेवाले पाञ्चालोंने सब ओरसे उन्हें घेर लिया ॥ ३६ ॥

ते शरैरग्निसंकाशैस्तोमरैश्च महाधनैः।
शस्त्रैश्च विविधै राजन् द्रोणमेकमवाकिरन् ॥ ३७ ॥

राजन् ! उन्होंने अग्निके समान तेजस्वी बाणों, बहुमूल्य तोमरों तथा नाना प्रकारके शस्त्रोंकी वर्षा करके अकेले द्रोणाचार्यको ढक दिया ॥ ३७ ॥

निहत्य तान् बाणगणैर्द्रोणो राजन् समन्ततः।
महाजलधरान् व्योम्नि मातरिश्वेव चाबभौ ॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! द्रोणाचार्यने अपने बाण-समूहोंद्वारा चारों ओरसे उन समस्त अस्त्र-शस्त्रोंके टुकड़े-टुकड़े करके आकाशमें महान् मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करनेके पश्चात् प्रवाहित होनेवाले वायुदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३८ ॥

ततः शरं महाघोरं सूर्यपावकसंनिभम्।
संदधे परवीरघ्नो वीरकेतो रथं प्रति ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले आचार्यने सूर्य और अग्निके समान अत्यन्त भयंकर बाणको धनुषपर रक्खा और उसे वीरकेतुके रथपर चला दिया ॥ ३९ ॥

स भित्त्वा तु शरो राजन् पाञ्चालकुलनन्दनम्।
अभ्यगाद् धरणीं तूर्णं लोहितार्द्रो ज्वलन्निव ॥ ४० ॥

राजन् ! वह प्रज्वलित होता हुआ-सा बाण पाञ्चाल-कुलनन्दन वीरकेतुको विदीर्ण करके खूनसे लथपथ हो तुरंत ही धरतीमें समा गया ॥ ४० ॥

ततोऽपतद् रथात् तूर्णं पाञ्चालकुलनन्दनः।
पर्वताग्रादिव महांश्चम्पको वायुपीडितः ॥ ४१ ॥

फिर तो पाञ्चालकुलको आनन्दित करनेवाला वह राजकुमार वायुसे टूटकर पर्वतके शिखरसे नीचे गिरनेवाले चम्पाके विशाल वृक्षके समान तुरंत रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ४१ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महाबले।
पञ्चालास्त्वरिता द्रोणं समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ४२ ॥

उस महान् धनुर्धर महाबली राजकुमारके मारे जानेपर पाञ्चालसैनिकोंने शीघ्र ही आकर द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४२ ॥

चित्रकेतुः सुधन्वा च चित्रवर्मा च भारत।
तथा चित्ररथश्चैव भ्रातृव्यसनकर्शिताः ॥ ४३ ॥

अभ्यद्रवन्त सहिता भारद्वाजं युयुत्सवः।
मुञ्चन्तः शरवर्षाणि तपान्ते जलदा इव ॥ ४४ ॥

भारत ! चित्रकेतु, सुधन्वा, चित्रवर्मा और चित्ररथ—ये चारों वीर अपने भाईकी मृत्युसे दुःखित हो युद्धकी इच्छा रखकर एक साथ ही द्रोणपर टूट पड़े और जिस प्रकार वर्षाकालमें मेघ पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४३-४४ ॥

स वध्यमानो बहुधा राजपुत्रैर्महारथैः।
क्रोधमाहारयत् तेषामभावाय द्विजर्षभः ॥ ४५ ॥

उन महारथी राजकुमारोंद्वारा बारंबार घायल किये जानेपर द्विजश्रेष्ठ द्रोणने उनके विनाशके लिये महान् क्रोध प्रकट किया ॥ ४५ ॥

ततः शरमयं जालं द्रोणस्तेषामवासृजत्।
ते हन्यमाना द्रोणस्य शरैराकर्णचोदितैः ॥ ४६ ॥
कर्तव्यं नाभ्यजानन् वै कुमारा राजसत्तम।

तब द्रोणाचार्यने उनके ऊपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। नृपश्रेष्ठ ! द्रोणाचार्यके कानतक खींचकर छोड़े हुए उन बाणोंद्वारा घायल होकर वे राजकुमार यह भी न जान सके कि हमें क्या करना चाहिये ? ॥ ४६½ ॥

तान् विमूढान् रणे द्रोणः प्रहसन्निव भारत ॥ ४७ ॥
व्यश्वसूतरथांश्चक्रे कुमारान् कुपितो रणे।

भरतनन्दन ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणाचार्यने हँसते हुए-से अपने बाणोंद्वारा उन किंकर्तव्यविमूढ राजकुमारोंको घोड़े, सारथि तथा रथसे हीन कर दिया ॥ ४७½ ॥

अथापरैः सुनिशितैर्भल्लैस्तेषां महायशाः ॥ ४८ ॥
पुष्पाणीव विचिन्वन् हि सोत्तमाङ्गान्यपातयत्।

तत्पश्चात् दूसरे तेज धारवाले भल्लोंसे महायशस्वी द्रोणने उन राजकुमारोंके मस्तक उसी प्रकार काट गिराये, मानो वृक्षोंसे फूल चुन लिये हों ॥ ४८½ ॥

ते रथेभ्यो हताः पेतुः क्षितौ राजन् सुवर्चसः ॥ ४९ ॥
देवासुरे पुरा युद्धे यथा दैतेयदानवाः।

राजन् ! जैसे पूर्वकालके देवासुरसंग्राममें दैत्य और दानव धराशायी हुए थे, उसी प्रकार वे सुन्दर कान्तिवाले राजकुमार मारे जाकर उस समय रथोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े ४९½

तान् निहत्य रणे राजन् भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५० ॥
कार्मुकं भ्रामयामास हेमपृष्ठं दुरासदम्।
(तदस्य भ्राजते राजन् मेघमध्ये तडिद् यथा ॥)

महाराज ! प्रतापी द्रोणने युद्धस्थलमें उन राजकुमारोंका वध करके सुवर्णमय पृष्ठभागवाले दुर्जय धनुषको घुमाना आरम्भ किया। राजन्! उस समय वह धनुष मेघोंकी घटामें बिजलीके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ५०½ ॥

पञ्चालान् निहतान् दृष्ट्वा देवकल्पान् महारथान् ॥ ५१ ॥
धृष्टद्युम्नो भृशोद्विग्नो नेत्राभ्यां पातयञ्जलम्।
अभ्यवर्तत संग्रामे क्रुद्धो द्रोणरथं प्रति ॥ ५२ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी पाञ्चाल महारथियोंको मारा गया देख धृष्टद्युम्न अत्यन्त उद्विग्न हो नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कुपित हो उठे और संग्रामभूमिमें द्रोणाचार्यके रथकी ओर बढ़े ॥ ५१-५२ ॥

ततो हाहेति सहसा नादः समभवन्नृप।
पाञ्चाल्येन रणे दृष्ट्वा द्रोणमावारितं शरैः ॥ ५३ ॥

राजन् ! रणक्षेत्रमें धृष्टद्युम्नके बाणोंसे द्रोणाचार्यकी गति अवरुद्ध हुई देख (कौरवसेनामें) सहसा हाहाकार मच गया ॥ ५३ ॥

स च्छाद्यमानो बहुधा पार्षतेन महात्मना।
न विव्यथे ततो द्रोणः स्मयन्नेवान्वयुध्यत ॥ ५४ ॥

महामना धृष्टद्युम्नके द्वारा बाणोंसे आच्छादित किये जानेपर भी द्रोणाचार्यको तनिक भी व्यथा नहीं हुई। वे मुसकराते हुए ही युद्धमें संलग्न रहे ॥ ५४ ॥

ततो द्रोणं महाराज पाञ्चाल्यः क्रोधमूर्च्छितः।
आजघानोरसि क्रुद्धो नवत्या नतपर्वणाम् ॥ ५५ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नने क्रोधसे अचेत होकर झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यकी छातीमें प्रहार किया ॥ ५५ ॥

स गाढविद्धो बलिना भारद्वाजो महायशाः।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ॥ ५६ ॥

बलवान् वीर धृष्टद्युम्नके द्वारा गहरी चोट पहुँचायी जानेपर महायशस्वी द्रोणाचार्य रथके पिछले भागमें बैठ गये और मूर्छित हो गये ॥ ५६ ॥

तं वै तथागतं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः पराक्रमी।
चापमुत्सृज्य शीघ्रं तु असिं जग्राह वीर्यवान् ॥ ५७ ॥

उनको उस अवस्थामें देखकर बल और पराक्रमसे सम्पन्न धृष्टद्युम्नने धनुष रख दिया और तुरंत ही तलवार हाथमें ले ली ॥ ५७ ॥

अवप्लुत्य रथाच्चापि त्वरितः स महारथः।
आरुरोह रथं तूर्णं भारद्वाजस्य मारिष ॥ ५८ ॥

माननीय नरेश ! महारथी धृष्टद्युम्न शीघ्र ही अपने रथसे कूदकर द्रोणाचार्यके रथपर जा चढ़े ॥ ५८ ॥

हर्तुमिच्छञ्छिरः कायात् क्रोधसंरक्तलोचनः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो द्रोणो धनुर्गृह्य महारवम् ॥ ५९ ॥
आसन्नमागतं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नं जिघांसया।
शरैर्वैतस्तिकै राजन् विव्याधासन्नवेधिभिः ॥ ६० ॥

राजन् ! वे क्रोधसे लाल आँखें करके द्रोणाचार्यके सिरको धड़से अलग कर देना चाहते थे। इसी समय

द्रोणाचार्य होशमें आ गये और उन्होंने अपनेको मार डालनेकी इच्छासे धृष्टद्युम्नको निकट आया देख महान् टङ्कार करनेवाले अपने धनुषको हाथमें लेकर निकटसे वेधनेवाले बित्ते बराबर बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ५९-६० ॥

योधयामास समरे धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
ते हि वैतस्तिका नाम शरा आसन्नयोधिनः ॥ ६१ ॥
द्रोणस्य विहिता राजन् यैर्धृष्टद्युम्नमाक्षिणोत् ।

राजन् ! आचार्य समराङ्गणमें महारथी धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करने लगे । निकटसे युद्ध करनेवाले द्रोणाचार्यके पास उन्हींके बनाये हुए वैतस्तिक नामक बाण थे, जिनके द्वारा उन्होंने धृष्टद्युम्नको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६१½ ॥

स वध्यमानो बहुभिः सायकैस्तैर्महाबलः ॥ ६२ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं भग्नवेगः पराक्रमी ।
आरुह्य स्वरथं वीरः प्रगृह्य च महद् धनुः ॥ ६३ ॥
विव्याध समरे द्रोणं धृष्टद्युम्नो महारथः ।
द्रोणश्चापि महाराज शरैर्विव्याध पार्षतम् ॥ ६४ ॥

महाबली और पराक्रमी धृष्टद्युम्न उन बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल होकर अपना वेग भंग हो जानेके कारण उस रथसे कूद पड़े और पुनः अपने रथपर आरूढ़ हो वे वीर महारथी धृष्टद्युम्न महान् धनुष हाथमें लेकर समराङ्गणमें द्रोणाचार्यको वेधने लगे । महाराज ! द्रोणाचार्यने भी अपने बाणोंद्वारा द्रुपदपुत्रको घायल कर दिया ॥ ६२–६४ ॥

तदद्भुतमभूद् युद्धं द्रोणपाञ्चालयोस्तदा ।
त्रैलोक्यकाङ्क्षिणोरासीच्छक्रप्रह्लादयोरिव ॥ ६५ ॥

जैसे त्रिलोकीके राज्यकी इच्छा रखनेवाले इन्द्र और प्रह्लादमें परस्पर युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उस समय द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें अत्यन्त अद्भुत युद्ध होने लगा ॥६५॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
चरन्तौ युद्धमार्गज्ञौ ततक्षतुरथेषुभिः ॥ ६६ ॥

वे दोनों ही युद्धकी प्रणालीके ज्ञाता थे । अतः विचित्र मण्डल, यमक तथा अन्य प्रकारके मार्गोंका प्रदर्शन करते हुए एक दूसरेको बाणोंसे क्षत-विक्षत करने लगे ॥ ६६ ॥

मोहयन्तौ मनांस्याजौ योधानां द्रोणपार्षतौ ।
सृजन्तौ शरवर्षाणि वर्षास्विव बलाहकौ ॥ ६७ ॥

वर्षाकालके दो मेघोंके समान बाण-वर्षा करते हुए द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें सम्पूर्ण योद्धाओंके मन मोहने लगे ॥ ६७ ॥

छादयन्तौ महात्मानौ शरैर्व्योम दिशो महीम् ।
तदद्भुतं तयोर्युद्धं भूतसङ्घा ह्यपूजयन् ॥ ६८ ॥

वे दोनों महामनस्वी वीर अपने बाणोंद्वारा आकाश, दिशाओं तथा पृथ्वीको आच्छादित करने लगे । उन दोनोंके उस अद्भुत युद्धकी सभी प्राणियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥६८॥

क्षत्रियाश्च महाराज ये चान्ये तव सैनिकाः ।
अवश्यं समरे द्रोणो धृष्टद्युम्नेन सङ्गतः ॥ ६९ ॥
वशमेष्यति नो राजन् पञ्चाला इति चुक्रुशुः ।

महाराज ! सभी क्षत्रियों तथा आपके अन्य सैनिकोंने भी उन दोनोंके युद्धकी प्रशंसा की । राजन् ! पाञ्चालयोद्धा यों कहकर कोलाहल करने लगे कि द्रोणाचार्य समराङ्गणमें धृष्टद्युम्नके साथ उलझे हुए हैं । वे अवश्य ही हमारे अधीन हो जायँगे ॥ ६९½ ॥

द्रोणस्तु त्वरितो युद्धे धृष्टद्युम्नस्य सारथेः ॥ ७० ॥
शिरः प्रच्यावयामास फलं पक्वं तरोरिव ।

इसी समय द्रोणने युद्धमें बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्नके सारथिका सिर वृक्षके पके हुए फलके समान धड़से नीचे गिरा दिया ॥ ७०½ ॥

ततस्तु प्रद्रुता वाहा राजंस्तस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥
तेषु प्रद्रवमाणेषु पञ्चालान् सृञ्जयांस्तथा ।
अयोधयद् रणे द्रोणस्तत्र तत्र पराक्रमी ॥ ७२ ॥

राजन् ! फिर तो महामना धृष्टद्युम्नके घोड़े भाग चले । उनके भाग जानेपर पराक्रमी द्रोणाचार्य रणभूमिमें सब ओर घूम-घूमकर पाञ्चालों और सृञ्जयोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ७१-७२ ॥

विजित्य पाण्डुपञ्चालान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
स्वं व्यूहं पुनरास्थाय स्थितोऽभवदरिंदमः ।
न चैनं पाण्डवा युद्धे जेतुमुत्सेहिरे प्रभो ॥ ७३ ॥

इस प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्य पाण्डवों और पाञ्चालोंको पराजित करके पुनः अपने व्यूहमें आकर खड़े हो गये । प्रभो ! उस समय पाण्डवसैनिक युद्धमें उन्हें जीतनेका साहस न कर सके ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे द्रोणपराक्रमे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका प्रवेश और द्रोणाचार्यका पराक्रमविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७३½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिका घोर युद्ध और दुःशासनकी पराजय

संजय उवाच

ततो दुःशासनो राजञ्शैनेयं समुपाद्रवत्।
किरञ्शतसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दुःशासनने वर्षा करनेवाले मेघके समान लाखों बाण बिखेरते हुए वहाँ शिनि-पौत्र सात्यकिपर धावा कर दिया॥ १॥

स विद्ध्वा सात्यकिं षष्ट्या तथा षोडशभिः शरैः।
नाकम्पयत् स्थितं युद्धे मैनाकमिव पर्वतम्॥ २॥

वह पहले साठ फिर सोलह बाणोंसे बींधकर भी युद्धमें मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़े हुए सात्यकिको कम्पित न कर सका॥ २॥

तं तु दुःशासनः शूरः सायकैरावृणोद् भृशम्।
रथव्रातेन महता नानादेशोद्भवेन च॥ ३॥

शूरवीर दुःशासनने नाना देशोंसे प्राप्त हुए विशाल रथ-समूहके द्वारा तथा बाणोंकी वर्षासे भी सात्यकिको अत्यन्त आवृत कर लिया॥ ३॥

सर्वतो भरतश्रेष्ठ विसृजन् सायकान् बहून्।
पर्जन्य इव घोषेण नादयन् वै दिशो दश॥ ४॥

भरतश्रेष्ठ! उसने मेघके समान अपनी गम्भीर गर्जनासे दसों दिशाओंको निनादित करते हुए चारों ओरसे बहुत-से बाणोंकी वर्षा की॥ ४॥

तमापतन्तमालोक्य सात्यकिः कौरवं रणे।
अभिद्रुत्य महाबाहुश्छादयामास सायकैः॥ ५॥

कुरुवंशी दुःशासनको रणक्षेत्रमें आक्रमण करते देख महाबाहु सात्यकिने उसपर धावा करके अपने बाणोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया॥ ५॥

ते छाद्यमाना बाणौघैर्दुःशासनपुरोगमाः।
प्राद्रवन् समरे भीतास्तव सैन्यस्य पश्यतः॥ ६॥

वे दुःशासन आदि योद्धा सात्यकिके बाण-समूहोंसे आच्छादित होनेपर समरभूमिमें भयभीत हो उठे और आपकी सारी सेनाके देखते-देखते भागने लगे॥ ६॥

तेषु द्रवत्सु राजेन्द्र पुत्रो दुःशासनस्तव।
तस्थौ व्यपेतभी राजन् सात्यकिं चार्दयच्छरैः॥ ७॥

राजेन्द्र! उनके भागनेपर भी आपका पुत्र दुःशासन वहीं निर्भय खड़ा रहा। उसने सात्यकिको अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया॥ ७॥

चतुर्भिर्वाजिनस्तस्य सारथिं च त्रिभिः शरैः।
सात्यकिं च शतेनाजौ विद्ध्वा नादं मुमोच सः॥ ८॥

उसने चार बाणोंसे उसके घोड़ोंको, तीनसे सारथिको और सौ बाणोंसे स्वयं सात्यकिको युद्धभूमिमें घायल करके बड़े जोरसे गर्जना की॥ ८॥

ततः क्रुद्धो महाराज माधवस्तस्य संयुगे।
रथं सूतं ध्वजं तं च चक्रेऽदृश्यमजिह्मगैः॥ ९॥

महाराज! तब मधुवंशी सात्यकिने समराङ्गणमें कुपित होकर दुःशासनके रथ, सारथि और ध्वजको अपने बाणों-द्वारा अदृश्य कर दिया॥ ९॥

स तु दुःशासनं शूरं सायकैरावृणोद् भृशम्।
सशङ्कं समनुप्राप्तमूर्णनाभिरिवोर्णया॥ १०॥
त्वरन् समावृणोद् बाणैर्दुःशासनममित्रजित्।

इतना ही नहीं, उन्होंने शूरवीर दुःशासनको अपने बाणोंसे अत्यन्त आच्छादित कर दिया। जैसे मकड़ी अपने जालेसे किसी जीवको लपेट देती है, उसी प्रकार शङ्कित-भावसे पास आये हुए दुःशासनको शत्रुविजयी सात्यकिने बड़ी उतावलीके साथ अपने बाणोंद्वारा आवृत कर लिया॥ १०½॥

दृष्ट्वा दुःशासनं राजा तथा शरशताचितम्॥ ११॥
त्रिगर्तांश्चोदयामास युयुधानरथं प्रति।

इस प्रकार दुःशासनको सैकड़ों बाणोंसे ढका हुआ देख राजा दुर्योधनने त्रिगर्तोंको युयुधानके रथपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी॥ ११½॥

तेऽगच्छन् युयुधानस्य समीपं क्रूरकर्मणः॥ १२॥
त्रिगर्तानां त्रिसाहस्रा रथा युद्धविशारदाः।

वे त्रिगर्तोंके तीन हजार रथी, जो युद्धमें कुशल थे, कठोर कर्म करनेवाले युयुधानके समीप गये॥ १२½॥

ते तु तं रथवंशेन महता पर्यवारयन्॥ १३॥
स्थिरां कृत्वा मतिं युद्धे भूत्वा संशप्तका मिथः।

उन्होंने युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके परस्पर शपथ ग्रहण करनेके अनन्तर विशाल रथ-सेनाके द्वारा उन्हें घेर लिया॥ १३½॥

तेषां प्रयततां युद्धे शरवर्षाणि मुञ्चताम्॥ १४॥
योधान् पञ्चशतान् मुख्यानग्र्यानीके व्यपोथयत्।

तब सात्यकिने युद्धमें बाणवर्षा करते हुए आक्रमण करनेवाले पाँच सौ प्रमुख योद्धाओंको सेनाके मुहानेपर मार गिराया॥ १४½॥

तेऽपतन् निहतास्तूर्णं शिनिप्रवरसायकैः॥ १५॥
महामारुतवेगेन भग्ना इव नगाद् द्रुमाः।

जैसे आँधीके वेगसे टूटे हुए वृक्ष पर्वतसे नीचे गिरते हैं, उसी प्रकार शिनिश्रेष्ठ सात्यकिके बाणोंसे मारे गये वे त्रिगर्त योद्धा तुरंत ही धराशायी हो गये॥ १५½॥

नागैश्च बहुधा च्छिन्नैर्ध्वजैश्चैव विशाम्पते ॥ १६ ॥
हयैश्च कनकापीडैः पतितैस्तत्र मेदिनी ।
शैनेयशरसंकृत्तैः शोणितौघपरिप्लुतैः ॥ १७ ॥
अशोभत महाराज किंशुकैरिव पुष्पितैः ।

महाराज ! प्रजापालक नरेश ! उस समय गिरे हुए गजराजों, अनेक टुकड़ोंमें कटी हुई ध्वजाओं तथा धरतीपर पड़े हुए, सोनेकी कलँगियोंसे सुशोभित घोड़ोंसे, जो सात्यकिके बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर खूनसे लथपथ हो रहे थे, आच्छादित हुई यह पृथ्वी वैसी ही शोभा पा रही थी, मानो वह लाल फूलोंसे भरे हुए पलाशके वृक्षोंद्वारा ढक गयी हो ॥ १६–१७½ ॥

ते वध्यमानाः समरे युयुधानेन तावकाः ॥ १८ ॥
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्कमग्ना इव द्विपाः ।

जैसे कीचड़में फँसे हुए हाथियोंको कोई रक्षक नहीं मिलता है, उसी प्रकार समराङ्गणमें युयुधानकी मार खाते हुए आपके सैनिक कोई रक्षक न पा सके ॥ १८½ ॥

ततस्ते पर्यवर्तन्त सर्वे द्रोणरथं प्रति ॥ १९ ॥
भयात् पतगराजस्य गर्तानीव महोरगाः ।

जैसे बड़े-बड़े सर्प गरुड़के भयसे बिलोंमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार आपके वे सभी पराजित सैनिक द्रोणाचार्यके रथके पास इकट्ठे हो गये ॥ १९½ ॥

हत्वा पञ्चशतान् योधाञ्छरैराशीविषोपमैः ॥ २० ॥
प्रायात् स शनकैर्वीरो धनंजयरथं प्रति ।

विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा पाँच सौ योद्धाओंका संहार करके वीर सात्यकि धीरे-धीरे धनंजयके रथकी ओर बढ़ने लगे ॥ २०½ ॥

तं प्रयान्तं नरश्रेष्ठं पुत्रो दुःशासनस्तव ॥ २१ ॥
विव्याध नवभिस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।

उस समय आपके पुत्र दुःशासनने वहाँसे जाते हुए नरश्रेष्ठ सात्यकिको झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंद्वारा शीघ्र ही बींध डाला ॥ २१½ ॥

स तु तं प्रतिविव्याध पञ्चभिर्निशितैः शरैः ॥ २२ ॥
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासो गार्ध्रपत्रैरजिह्मगैः ।

तब महाधनुर्धर सात्यकिने भी सोनेके पुंख तथा गीधकी पाँखवाले पाँच तीखे और सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा दुःशासनको वेधकर बदला चुकाया ॥ २२½ ॥

सात्यकिं तु महाराज प्रहसन्निव भारत ॥ २३ ॥
दुःशासनस्त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।

भरतवंशी महाराज ! इसके बाद दुःशासनने हँसते हुए-से ही वहाँ तीन बाणोंद्वारा सात्यकिको घायल करके पुनः पाँच बाणोंसे बींध डाला ॥ २३½ ॥

शैनेयस्तव पुत्रं तु हत्वा पञ्चभिराशुगैः ॥ २४ ॥
धनुश्चास्य रणे छित्त्वा विस्मयन्नर्जुनं ययौ ।

तब शिनिपौत्र सात्यकि पाँच बाणोंसे आपके पुत्रको रणक्षेत्रमें घायल करके उसका धनुष काटकर मुसकराते हुए वहाँसे अर्जुनकी ओर चल दिये ॥ २४½ ॥

ततो दुःशासनः क्रुद्धो वृष्णिवीराय गच्छते ॥ २५ ॥
सर्वपारशवीं शक्तिं विससर्ज जिघांसया ।

तदनन्तर दुःशासनने वहाँसे जाते हुए वृष्णिवीर सात्यकिपर कुपित हो उन्हें मार डालनेकी इच्छासे सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई शक्ति चलायी ॥ २५½ ॥

तां तु शक्तिं तदा घोरां तव पुत्रस्य सात्यकिः ॥ २६ ॥
चिच्छेद शतधा राजन् निशितैः कङ्कपत्रिभिः ।

राजन् ! आपके पुत्रकी उस भयंकर शक्तिको उस समय सात्यकिने कंकपत्रयुक्त तीखे बाणोंद्वारा सौ टुकड़ोंमें खण्डित कर दिया ॥ २६½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय पुत्रस्तव जनेश्वर ॥ २७ ॥
सात्यकिं च शरैर्विद्ध्वा सिंहनादं ननर्द ह ।

जनेश्वर ! तत्पश्चात् आपके पुत्रने दूसरा धनुष लेकर सात्यकिको अपने बाणोंद्वारा घायल करके सिंहके समान गर्जना की ॥ २७½ ॥

सात्यकिस्तु रणे क्रुद्धो मोहयित्वा सुतं तव ॥ २८ ॥
शरैरग्निशिखाकारैराजघान स्तनान्तरे ।
त्रिभिरेव महाभागः शरैः संनतपर्वभिः ।

इससे महाभाग सात्यकिने समराङ्गणमें कुपित होकर आपके पुत्रको मोहित करते हुए झुकी हुई गाँठवाले अग्निकी लपटोंके समान प्रज्वलित तीन बाणोंद्वारा उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २८½ ॥

सर्वायसैस्तीक्ष्णवक्त्रैः पुनर्विव्याध चाष्टभिः ॥ २९ ॥
दुःशासनस्तु विंशत्या सात्यकिं प्रत्यविध्यत ।

फिर लोहेके बने हुए तीखी धारवाले आठ बाणोंसे उसे पुनः घायल कर दिया । तब दुःशासनने भी बीस बाण मारकर सात्यकिको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २९½ ॥

सात्वतोऽपि महाराज तं विव्याध स्तनान्तरे ॥ ३० ॥
त्रिभिरेव महाभागः शरैः संनतपर्वभिः ।

महाराज ! इधर महाभाग सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंद्वारा दुःशासनकी छातीमें चोट पहुँचायी॥

ततोऽस्य वाहान् निशितैः शरैर्जघ्ने महारथः ॥ ३१ ॥
सारथिं च सुसंक्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ।

इसके बाद महारथी युयुधानने अत्यन्त कुपित हो पैने बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको मार डाला । फिर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सारथिको भी यमलोक पहुँचा दिया॥३१½॥

धनुरेकेन भल्लेन हस्तावापं च पञ्चभिः ॥ ३२ ॥

ध्वजं च रथशक्तिं च भल्लाभ्यां परमास्त्रवित्।
चिच्छेद विशिखैस्तीक्ष्णैस्तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥३३॥

तदनन्तर महान् अस्त्रवेत्ता सात्यकिने एक भल्लसे दुःशासनका धनुष, पाँचसे उसके दस्ताने तथा दो भल्लोंसे उसकी ध्वजा एवं रथशक्तिके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इतना ही नहीं, उन्होंने तीखे बाणोंद्वारा उसके दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी मार डाला ॥ ३२-३३ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
त्रिगर्तसेनापतिना स्वरथेनापवाहितः ॥ ३४ ॥

धनुष कट जानेपर रथ, घोड़े और सारथिसे हीन हुए दुःशासनको त्रिगर्त-सेनापतिने अपने रथपर बिठाकर वहाँसे दूर हटा दिया ॥ ३४ ॥

तमभिद्रुत्य शैनेयो मुहूर्तमिव भारत।
न जघान महाबाहुर्भीमसेनवचः स्मरन् ॥ ३५ ॥

भारत ! उस समय महाबाहु सात्यकिने लगभग दो घड़ीतक दुःशासनका पीछा किया; परंतु भीमसेनकी बात याद आ जानेसे उसका वध नहीं किया ॥ ३५ ॥

भीमसेनेन तु वधः सुतानां तव भारत।
प्रतिज्ञातः सभामध्ये सर्वेषामेव संयुगे ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन ! भीमसेनने सभामें सबके सामने ही युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध करनेकी प्रतिज्ञा की थी ॥ ३६ ॥

ततो दुःशासनं जित्वा सात्यकिः संयुगे प्रभो।
जगाम त्वरितो राजन् येन यातो धनंजयः ॥ ३७ ॥

राजन् ! प्रभो ! इस प्रकार समराङ्गणमें दुःशासनपर विजय पाकर सात्यकि तत्काल ही उसी मार्गपर चल दिये, जिससे अर्जुन गये थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे दुःशासनपराजये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका प्रवेश और दुःशासनकी पराजयविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घोर युद्ध तथा पाण्डवोंके साथ दुर्योधनका संग्राम

धृतराष्ट्र उवाच

किं तस्यां मम सेनायां नासन् केचिन्महारथाः।
ये तथा सात्यकिं यान्तं नैवाघ्नन् नाप्यवारयन्॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! क्या मेरी उस सेनामें कोई भी महारथी वीर नहीं थे, जिन्होंने जाते हुए सात्यकिको न तो मारा और न उन्हें रोका ही ॥ १ ॥

एको हि समरे कर्म कृतवान् सत्यविक्रमः।
शक्रतुल्यबलो युद्धे महेन्द्रो दानवेष्विव ॥ २ ॥

जैसे देवराज इन्द्र दानवोंके साथ युद्धमें पराक्रम दिखाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रतुल्य बलशाली सत्यपराक्रमी सात्यकिने समराङ्गणमें अकेले ही महान् कर्म किया ॥ २ ॥

अथवा शून्यमासीत् तद् येन यातः स सात्यकिः।
हतभूयिष्ठमथवा येन यातः स सात्यकिः ॥ ३ ॥

अथवा जिस मार्गसे सात्यकि आगे बढ़े थे, वह वीरोंसे शून्य तो नहीं हो गया था या वहाँके अधिकांश सैनिक मारे तो नहीं गये थे ॥ ३ ॥

यत् कृतं वृष्णिवीरेण कर्म शंससि मे रणे।
नैतदुत्सहते कर्तुं कर्म शक्रोऽपि संजय ॥ ४ ॥

संजय ! तुम रणक्षेत्रमें वृष्णिवंशी वीर सात्यकिके द्वारा किये हुए जिस कर्मकी प्रशंसा कर रहे हो, वह कर्म देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

अश्रद्धेयमचिन्त्यं च कर्म तस्य महात्मनः।
वृष्ण्यन्धकप्रवीरस्य श्रुत्वा मे व्यथितं मनः ॥ ५ ॥

वृष्णि और अंधक वंशके प्रमुख वीर महामना सात्यकिका वह कर्म अचिन्त्य (सम्भावनासे परे) है। उसपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। उसे सुनकर मेरा मन व्यथित हो उठा है ॥ ५ ॥

न सन्ति तस्मात् पुत्रा मे यथा संजय भाषसे।
एको वै बहुलाः सेनाः प्रामृद्नत् सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

संजय ! जैसा कि तुम बता रहे हो, यदि एक ही सत्यपराक्रमी सात्यकिने मेरी बहुत-सी सेनाओंको धूलमें मिला दिया है, तब तो मुझे यह मान लेना चाहिये कि अब मेरे पुत्र जीवित नहीं हैं ॥ ६ ॥

कथं च युध्यमानानामपक्रान्तो महात्मनाम्।
एको बहूनां शैनेयस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ७ ॥

संजय ! जब बहुत-से महामनस्वी वीर युद्ध कर रहे थे, उस समय अकेले सात्यकि उन्हें पराजित करके कैसे आगे बढ़ गये, यह सब मुझे बताओ ॥ ७ ॥

संजय उवाच

राजन् सेनासमुद्योगो रथनागाश्वपत्तिमान्।
तुमुलस्तव सैन्यानां युगान्तसदृशोऽभवत् ॥ ८ ॥

संजयने कहा—राजन् ! रथ, हाथी, घोड़े और पैदलोंसे भरा हुआ आपका सेनासम्बन्धी उद्योग महान् था।

आपके सैनिकोंका समाहार प्रलयकालके समान भयंकर जान पड़ता था ॥ ८ ॥

आहूतेषु समूहेषु तव सैन्यस्य मानद।
नाभूल्लोके समः कश्चित् समूह इति मे मतिः ॥ ९ ॥

मानद ! जब आपकी सेनाके भिन्न-भिन्न समूह सब ओरसे बुलाये गये, उस समय जो महान् समुदाय एकत्र हुआ, उसके समान इस संसारमें दूसरा कोई समूह नहीं था, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ९ ॥

तत्र देवास्त्वभाषन्त चारणाश्च समागताः।
एतदन्ताः समूहा वै भविष्यन्ति महीतले ॥ १० ॥

वहाँ आये हुए देवता तथा चारण ऐसा कहते थे कि इस भूतलपर सारे समूहोंकी अन्तिम सीमा यही होगी ॥१०॥

न च वै तादृशो व्यूह आसीत् कश्चिद् विशाम्पते।
यादृग् जयद्रथवधे द्रोणेन विहितोऽभवत् ॥ ११ ॥

प्रजानाथ ! जयद्रथ-वधके समय द्रोणाचार्यने जैसा व्यूह बनाया था, वैसा दूसरा कोई भी व्यूह नहीं बन सका था ॥

चण्डवातविभिन्नानां समुद्राणामिव स्वनः।
रणेऽभवद् बलौघानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ १२ ॥

प्रचण्ड वायुके थपेड़े खाकर उद्वेलित हुए समुद्रोंके जलसे जैसा भैरव गर्जन सुनायी देता है, उस रणक्षेत्रमें एक दूसरे-पर धावा करनेवाले सैन्य-समूहोंका कोलाहल भी वैसा ही भयंकर था ॥ १२ ॥

पार्थिवानां समेतानां बहून्यासन् नरोत्तम।
तद्बले पाण्डवानां च सहस्राणि शतानि च ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! आपकी और पाण्डवोंकी सेनाओंमें सब ओरसे एकत्र हुए भूमिपालोंके सैकड़ों और हजारों दल थे ॥ १३ ॥

संरब्धानां प्रवीराणां समरे दृढकर्मणाम्।
तत्रासीत् सुमहाशब्दस्तुमुलो लोमहर्षणः ॥ १४ ॥

वे सभी प्रमुख वीर रोषावेशसे परिपूर्ण हो समरभूमिमें सुदृढ़ पराक्रम कर दिखानेवाले थे। वहाँ उन सबका महान् एवं तुमुल कोलाहल रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १४ ॥

(पाण्डवानां कुरूणां च गर्जतामितरेतरम्।
क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दास्तत्रासन् वै सहस्रशः ॥

एक दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले पाण्डवों तथा कौरवों-के सिंहनाद और किलकिलाहटके शब्द वहाँ सहस्रों बार प्रकट होते थे ॥

भेरीशब्दाश्च तुमुला बाणशब्दाश्च भारत।
अन्योन्यं निघ्नतां चैव नराणां शुश्रुवे स्वनः ॥)

भरतनन्दन ! वहाँ नगाड़ोंकी भयानक गड़गड़ाहट, बाणोंकी सनसनाहट तथा परस्पर प्रहार करनेवाले मनुष्योंकी गर्जनाके शब्द बड़े जोरसे सुनायी दे रहे थे ॥

अथाक्रन्दद् भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च मारिष।
नकुलः सहदेवश्च धर्मराजश्च पाण्डवः ॥ १५ ॥

माननीय नरेश ! तदनन्तर भीमसेन, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंसे पुकारकर कहा—॥ १५ ॥

आगच्छत प्रहरत द्रुतं विपरिधावत।
प्रविष्टावरिसेनां हि वीरौ माधवपाण्डवौ ॥ १६ ॥

'वीरो ! आओ, शत्रुओंपर प्रहार करो। बड़े वेगसे इनपर टूट पड़ो; क्योंकि वीर सात्यकि और अर्जुन शत्रुओं-की सेनामें घुस गये हैं ॥ १६ ॥

यथा सुखेन गच्छेतां जयद्रथवधं प्रति।
तथा प्रकुरुत क्षिप्रमिति सैन्यान्यचोदयन् ॥ १७ ॥

'वे दोनों जयद्रथका वध करनेके लिये जैसे सुखपूर्वक आगे जा सकें, उसी प्रकार शीघ्रतापूर्वक प्रयत्न करो।' इस तरह उन्होंने सारी सेनाओंको आदेश दिया ॥ १७ ॥

तयोरभावे कुरवः कृतार्थाः स्युर्वयं जिताः।
ते यूयं सहिता भूत्वा तूर्णमेव बलार्णवम् ॥ १८ ॥
क्षोभयध्वं महावेगाः पवनः सागरं यथा।

(इसके बाद उन्होंने फिर कहा—) 'सात्यकि और अर्जुन-के न होनेपर ये कौरव तो कृतार्थ हो जायँगे और हम पराजित होंगे। अतः तुम सब लोग एक साथ मिलकर महान् वेगका आश्रय ले तुरंत ही इस सैन्य-समुद्रमें हलचल मचा दो। ठीक वैसे ही जैसे प्रचण्ड वायु महासागरको विक्षुब्ध कर देती है' ॥ १८½ ॥

भीमसेनेन ते राजन् पाञ्चाल्येन च नोदिताः ॥ १९ ॥
आजघ्नुः कौरवान् संख्ये त्यक्त्वासूनात्मनः प्रियान्।

राजन् ! भीमसेन तथा धृष्टद्युम्नके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हुए पाण्डव सैनिकोंने अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़-कर युद्धस्थलमें कौरव-योद्धाओंका संहार आरम्भ कर दिया ॥

इच्छन्तो निधनं युद्धे शस्त्रैरुत्तमतेजसः ॥ २० ॥
स्वर्गेप्सवो मित्रकार्ये नाभ्यनन्दन्त जीवितम्।

वे उत्तम तेजवाले नरेश स्वर्गलोक प्राप्त करना चाहते थे। अतः उन्हें युद्धमें शस्त्रोंद्वारा मृत्यु आनेकी अभिलाषा थी। इसीलिये उन्होंने मित्रका कार्य सिद्ध करनेके प्रयत्नमें अपने प्राणोंकी परवा नहीं की ॥ २०½ ॥

तथैव तावका राजन् प्रार्थयन्तो महद् यशः ॥ २१ ॥
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा युद्धायैवावतस्थिरे।

राजन् ! इसी प्रकार आपके सैनिक भी महान् सुयश प्राप्त करना चाहते थे। अतः वे युद्धविषयक श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले वहाँ युद्धके लिये ही डटे रहे ॥ २१½ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयावहे ॥ २२ ॥

जित्वा सर्वाणि सैन्यानि प्रायात् सात्यकिरर्जुनम् ।

जिस समय वह अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध चल रहा था, उसी समय सात्यकि आपकी सारी सेनाओंको जीतकर अर्जुनकी ओर बढ़ चले ॥ २२½ ॥

कवचानां प्रभास्तत्र सूर्यरश्मिविराजिताः ॥ २३ ॥
दृष्टीः संख्ये सैनिकानां प्रतिजघ्नुः समन्ततः ।

वहाँ वीरोंके सुवर्णमय कवचोंकी प्रभाएँ सूर्यकी किरणोंसे उद्भासित हो युद्धस्थलमें सब ओर खड़े हुए सैनिकोंके नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा कर रही थी ॥ २३½ ॥

तथा प्रयतमानानां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ २४ ॥
दुर्योधनो महाराज व्यगाहत महद् बलम् ।

महाराज ! इस प्रकार विजयके लिये प्रयत्नशील हुए महामनस्वी पाण्डवोंकी उस विशाल वाहिनीमें राजा दुर्योधनने प्रवेश किया ॥ २४½ ॥

स संनिपातस्तुमुलस्तेषां तस्य च भारत ॥ २५ ॥
अभवत् सर्वभूतानामभावकरणो महान् ।

भारत ! पाण्डव सैनिकों तथा दुर्योधनका वह भयंकर संग्राम समस्त प्राणियोंके लिये महान् संहारकारी सिद्ध हुआ ॥ २५½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथा यातेषु सैन्येषु तथा कृच्छ्रगतः स्वयम् ॥ २६ ॥
कच्चिद् दुर्योधनः सूत नाकार्षीत् पृष्ठतो रणम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत ! जब इस प्रकार सारी सेनाएँ भाग रही थीं, उस समय स्वयं भी वैसे संकटमें पड़े हुए दुर्योधनने क्या उस युद्धमें पीठ नहीं दिखायी ? ॥ २६½ ॥

एकस्य च बहूनां च संनिपातो महाहवे ॥ २७ ॥
विशेषतो नरपतेर्विषमः प्रतिभाति मे ।

उस महासमरमें बहुत-से योद्धाओंके साथ किसी एक वीरका विशेषतः राजा दुर्योधनका युद्ध करना तो मुझे विषम (अयोग्य) प्रतीत हो रहा है ॥ २७½ ॥

सोऽत्यन्तसुखसंवृद्धो लक्ष्म्या लोकस्य चेश्वरः ॥ २८ ॥
एको बहून् समासाद्य कच्चिन्नासीत् पराङ्मुखः ।

अत्यन्त सुखमें पला हुआ, इस लोक तथा राजलक्ष्मीका स्वामी अकेला दुर्योधन बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध करके रणभूमिसे विमुख तो नहीं हुआ ? ॥ २८½ ॥

संजय उवाच

राजन् संग्राममाश्चर्यं तव पुत्रस्य भारत ॥ २९ ॥
एकस्य बहुभिः सार्धं शृणुष्व गदतो मम ।

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! आपके एकमात्र पुत्र दुर्योधनका शत्रुपक्षके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ जो आश्चर्यजनक संग्राम हुआ था, उसे मैं बताता हूँ, सुनिये ॥ २९½ ॥

दुर्योधनेन समरे पृतना पाण्डवी रणे ॥ ३० ॥
नलिनी द्विरदेनेव समन्तात् प्रतिलोडिता ।

दुर्योधनने समराङ्गणमें पाण्डवसेनाको सब ओरसे उसी प्रकार मथ डाला, जैसे हाथी कमलोंसे भरे हुए किसी पोखरेको ॥ ३०½ ॥

ततस्तां प्रहितां सेनां दृष्ट्वा पुत्रेण ते नृप ॥ ३१ ॥
भीमसेनपुरोगास्तं पञ्चालाः समुपाद्रवन् ।

नरेश्वर ! आपके पुत्रद्वारा आपकी सेनाको आगे बढ़नेके लिये प्रेरित हुई देख भीमसेनको अगुआ बनाकर पाञ्चाल योद्धाओंने दुर्योधन आक्रमण कर दिया ॥ ३१½ ॥

स भीमसेनं दशभिः शरैर्विव्याध पाण्डवम् ॥ ३२ ॥
त्रिभिस्त्रिभिर्यमौ वीरौ धर्मराजं च सप्तभिः ।

तब दुर्योधनने पाण्डुपुत्र भीमसेनको दस बाणोंसे, वीर नकुल और सहदेवको तीन-तीन बाणोंसे तथा धर्मराज युधिष्ठिरको सात बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

विराटद्रुपदौ षड्भिः शतेन च शिखण्डिनम् ॥ ३३ ॥
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या द्रौपदेयांस्त्रिभिस्त्रिभिः ।

तत्पश्चात् उसने राजा विराट और द्रुपदको छः-छः बाणोंसे बींध डाला, फिर शिखण्डीको सौ, धृष्टद्युम्नको बीस और द्रौपदीपुत्रोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ३३½ ॥

शतशश्चापरान् योधान् सद्विपांश्च रथान् रणे ॥ ३४ ॥
शरैरवचकर्तोग्रैः क्रुद्धोऽन्तक इव प्रजाः ।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उसने अपने भयंकर बाणोंद्वारा दूसरे-दूसरे सैकड़ों योद्धाओं, हाथियों और रथोंको उसी प्रकार काट डाला, जैसे क्रोधमें भरा हुआ यमराज समस्त प्राणियोंका विनाश करता है ॥ ३४½ ॥

न संदधन् विमुञ्चन् वा मण्डलीकृतकार्मुकः ॥ ३५ ॥
अदृश्यत रिपून् निघ्नञ्छिक्षयास्त्रबलेन च ।

दुर्योधनने अपने धनुषको खींचकर मण्डलाकार बना दिया था। वह अपनी शिक्षा और अस्त्र-बलसे इतनी शीघ्रताके साथ बाणोंको धनुषपर रखता, चलाता तथा शत्रुओंका वध करता था कि कोई उसके इस कार्यको देख नहीं पाता था ॥ ३५½ ॥

तस्य तान् निघ्नतः शत्रून् हेमपृष्ठं महद् धनुः ॥ ३६ ॥
अजस्रं मण्डलीभूतं ददृशुः समरे जनाः ।

शत्रुओंके संहारमें लगे हुए दुर्योधनके सुवर्णमय पृष्ठवाले विशाल धनुषको सब लोग समराङ्गणमें सदा मण्डलाकार हुआ ही देखते थे ॥ ३६½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भल्लाभ्यामच्छिनद् धनुः ॥ ३७ ॥
तव पुत्रस्य कौरव्य यतमानस्य संयुगे ।

कुरुनन्दन ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने दो भल्ल मारकर

युद्धमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले आपके पुत्रके धनुषको काट दिया ॥ ३७½ ॥

विव्याध चैनं दशभिः सम्यगस्तैः शरोत्तमैः ॥ ३८ ॥
वर्म चाशु समासाद्य ते भित्त्वा क्षितिमाविशन् ।

और उसे विधिपूर्वक चलाये हुए उत्तम दस बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी । वे बाण तुरंत ही उसके कवचमें जा लगे और उसे छेदकर धरतीमें समा गये ॥ ३८½ ॥

ततः प्रमुदिताः पार्थाः परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥
यथा वृत्रवधे देवाः पुरा शक्रं महर्षयः ।

इससे कुन्तीकुमारोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । जैसे पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध होनेपर सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंने इन्द्रको सब ओरसे घेर लिया था, उसी प्रकार पाण्डव भी युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३९½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय तव पुत्रः प्रतापवान् ॥ ४० ॥
तिष्ठ तिष्ठेति राजानं ब्रुवन् पाण्डवमभ्ययात् ।

तत्पश्चात् आपके प्रतापी पुत्रने दूसरा धनुष लेकर 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहते हुए वहाँ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ ४०½ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य तव पुत्रं महामृधे ॥ ४१ ॥
प्रत्युद्ययुः समुदिताः पञ्चाला जयगृद्धिनः ।

उस महासमरमें आपके पुत्रको आते देख विजयकी अभिलाषा रखनेवाले पाञ्चाल सैनिक संघबद्ध हो उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ४१½ ॥

तान् द्रोणः प्रतिजग्राह परीप्सन् युधि पाण्डवम् ॥ ४२ ॥
चण्डवातोद्धुतान् मेघान् गिरिरम्बुमुचो यथा ।

उस समय युद्धमें युधिष्ठिरको पकड़नेकी इच्छावाले द्रोणाचार्यने उन सब योद्धाओंको उसी प्रकार रोक दिया, जैसे प्रचण्ड वायुद्वारा उड़ाये गये जलवर्षी मेघोंको पर्वत रोक देता है ॥ ४२½ ॥

तत्र राजन् महानासीत् संग्रामो लोमहर्षणः ॥ ४३ ॥
पाण्डवानां महाबाहो तावकानां च संयुगे ।
रुद्रस्याक्रीडसदृशः संहारः सर्वदेहिनाम् ॥ ४४ ॥

राजन् ! महाबाहो ! फिर तो वहाँ युद्धस्थलमें पाण्डवों तथा आपके सैनिकोंमें महान् रोमाञ्चकारी संग्राम होने लगा । जो रुद्रकी क्रीडाभूमि (श्मशानके सदृश) सम्पूर्ण देहधारियोंके लिये संहारका स्थान बन गया था ॥ ४३-४४ ॥

ततः शब्दो महानासीत् पुनर्येन धनंजयः ।
अतीव सर्वशब्देभ्यो लोमहर्षकरः प्रभो ॥ ४५ ॥

प्रभो ! तदनन्तर जिधर अर्जुन गये थे, उसी ओर बड़े जोरका कोलाहल होने लगा, जो सम्पूर्ण शब्दोंसे ऊपर उठकर सुननेवालोंके रोंगटे खड़े किये देता था ॥ ४५ ॥

अर्जुनस्य महाबाहो तावकानां च धन्विनाम् ।
मध्ये भारतसैन्यस्य माधवस्य महारणे ॥ ४६ ॥

महाबाहो ! उस महासमरमें कौरवी सेनाके भीतर आपके धनुर्धरोंकी तथा अर्जुन और सात्यकिकी भीषण गर्जना सुनायी देती थी ॥ ४६ ॥

द्रोणस्यापि परैः सार्धं व्यूहद्वारे महारणे ।
एवमेष क्षयो वृत्तः पृथिव्यां पृथिवीपते ।
क्रुद्धेऽर्जुने तथा द्रोणे सात्वते च महारथे ॥ ४७ ॥

पृथ्वीपते ! उस महायुद्धमें व्यूहके द्वारपर शत्रुओंके साथ जूझते हुए द्रोणाचार्यका भी सिंहनाद प्रकट हो रहा था । इस प्रकार अर्जुन, द्रोणाचार्य तथा महारथी सात्यकिके कुपित होनेपर युद्धभूमिमें यह भयंकर विनाशका कार्य सम्पन्न हुआ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रवेशे संकुलयुद्धे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिका प्रवेश और दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४९ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यके द्वारा बृहत्क्षत्र, धृष्टकेतु, जरासन्धपुत्र सहदेव तथा धृष्टद्युम्नकुमार क्षत्रधर्माका वध और चेकितानकी पराजय

संजय उवाच

अपराह्णे महाराज संग्रामः सुमहानभूत् ।
पर्जन्यसमनिर्घोषः पुनर्द्रोणस्य सोमकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपराह्णकालमें सोमकोंके साथ द्रोणाचार्यका पुनः महान् संग्राम छिड़ गया, जिसमें मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर सिंहनाद हो रहा था ॥ १ ॥

शोणाश्वं रथमास्थाय नरवीरः समाहितः ।
समरेऽभ्यद्रवत् पाण्डूनाश्रमास्थाय मध्यमम् ॥ २ ॥

नरवीर द्रोण लाल घोड़ोंवाले रथपर आरूढ़ हो चित्तको एकाग्र करके मध्यम वेगका आश्रय ले समरभूमिमें पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ २ ॥

तव प्रियहिते युक्तो महेष्वासो महाबलः ।
चित्रपुङ्खैः शितैर्बाणैः कलशोत्तमसम्भवः ॥ ३ ॥
(जघान सोमकान् राजन् सृञ्जयान् केकयानपि ।)

राजन्! आपके प्रिय और हित साधनमें लगे हुए महाधनुर्धर महाबली उत्तम कलशजन्मा द्रोणाचार्यने अपने विचित्र पंखोंवाले पैने बाणोंद्वारा सोमकों, सृंजयों तथा केकयोंका संहार आरम्भ किया ॥ ३ ॥

वरान् वरान् हि योधानां विचिन्वन्निव भारत।
आक्रीडत रणे राजन् भारद्वाजः प्रतापवान्॥ ४॥

भरतवंशी नरेश! प्रतापी द्रोणाचार्य मानो उस युद्ध-स्थलमें प्रधान-प्रधान योद्धाओंको चुन रहे हों, इस प्रकार उनके साथ खेल-सा कर रहे थे ॥ ४ ॥

तमभ्ययाद् बृहत्क्षत्रः केकयानां महारथः।
भ्रातॄणां नृप पञ्चानां श्रेष्ठः समरकर्कशः॥ ५॥

नरेश्वर! उस समय रणकर्कश केकय महारथी बृहत्क्षत्र, जो अपने पाँचों भाइयोंमें सबसे बड़े थे, द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ५ ॥

विमुञ्चन् विशिखांस्तीक्ष्णानाचार्यं भृशमार्दयत्।
महामेघो यथा वर्षं विमुञ्चन् गन्धमादने॥ ६॥

उन्होंने गन्धमादन पर्वतपर पानी बरसानेवाले महा-मेघके समान पैने बाणोंकी वर्षा करके आचार्य द्रोणको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ६ ॥

तस्य द्रोणो महाराज स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान्।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् दश पञ्च च॥ ७॥

महाराज! तब द्रोणने अत्यन्त कुपित हो सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सोनेके पंखवाले पंद्रह बाणोंका बृहत्क्षत्रपर प्रहार किया ॥ ७ ॥

तांस्तु द्रोणविनिर्मुक्तान् क्रुद्धाशीविषसंनिभान्।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैर्युधि चिच्छेद हृष्टवत्॥ ८॥

द्रोणाचार्यके छोड़े हुए रोषभरे विषधर सर्पोंके समान उन भयंकर बाणोंमेंसे प्रत्येकको बृहत्क्षत्रने युद्धमें पाँच-पाँच बाण मारकर प्रसन्नतापूर्वक काट डाला ॥ ८ ॥

तदस्य लाघवं दृष्ट्वा प्रहस्य द्विजपुङ्गवः।
प्रेषयामास विशिखानष्टौ संनतपर्वणः॥ ९॥

उनकी इस फुर्तीको देखकर विप्रवर द्रोणने हँसते हुए झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंका प्रहार किया ॥ ९ ॥

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णं द्रोणचापच्युताञ्शरान्।
अवारयच्छरैरेव तावद्भिर्निशितैर्मृधे॥ १०॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको शीघ्र ही अपने ऊपर आते देख बृहत्क्षत्रने उतने ही तीखे बाणोंद्वारा उन्हें युद्धस्थलमें काट गिराया ॥ १० ॥

ततोऽभवन्महाराज तव सैन्यस्य विस्मयः।
बृहत्क्षत्रेण तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम्॥ ११॥
ततो द्रोणो महाराज बृहत्क्षत्रं विशेषयन्।
प्रादुश्चक्रे रणे दिव्यं ब्राह्ममस्त्रं सुदुर्जयम्॥ १२॥

महाराज! इससे आपकी सेनाको बड़ा आश्चर्य हुआ। बृहत्क्षत्रद्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर उनकी अपेक्षा अपनी विशेषता प्रकट करते हुए द्रोणाचार्यने रणक्षेत्रमें परम दुर्जय दिव्य ब्रह्मास्त्र प्रकट किया ॥ ११-१२ ॥

कैकेयोऽस्त्रं समालोक्य मुक्तं द्रोणेन संयुगे।
ब्रह्मास्त्रेणैव राजेन्द्र ब्राह्ममस्त्रमशातयत्॥ १३॥

राजेन्द्र! युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यके द्वारा चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको देखकर केकयनरेशने ब्रह्मास्त्रद्वारा ही उसे शान्त कर दिया ॥ १३ ॥

ततोऽस्त्रे निहते ब्राह्मे बृहत्क्षत्रस्तु भारत।
विव्याध ब्राह्मणं षष्ट्या स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः॥ १४॥

भरतनन्दन! ब्रह्मास्त्रका निवारण हो जानेपर बृहत्क्षत्रने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सोनेके पंखोंसे युक्त साठ बाणोंद्वारा ब्राह्मण द्रोणाचार्यको वेध दिया ॥ १४ ॥

तं द्रोणो द्विपदां श्रेष्ठो नाराचेन समार्पयत्।
स तस्य कवचं भित्त्वा प्राविशद् धरणीतलम्॥ १५॥

तब मनुष्योंमें श्रेष्ठ द्रोणने उनपर नाराच चलाया। वह नाराच बृहत्क्षत्रका कवच विदीर्ण करके धरतीमें समा गया ॥ १५ ॥

कृष्णसर्पो यथा मुक्तो वल्मीकं नृपसत्तम।
तथात्यगान्महीं बाणो भित्त्वा कैकेयमाहवे॥ १६॥

नृपश्रेष्ठ! जैसे काला साँप बाँबीमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण युद्ध-स्थलमें केकयराजकुमार बृहत्क्षत्रको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस गया ॥ १६ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज कैकेयो द्रोणसायकैः।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो व्यावृत्य नयने शुभे॥ १७॥

महाराज! द्रोणाचार्यके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो जानेपर केकयराजकुमारको बड़ा क्रोध हुआ। वे अपनी दोनों सुन्दर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे ॥ १७ ॥

द्रोणं विव्याध सप्तत्या स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।
सारथिं चास्य बाणेन भृशं मर्मस्वताडयत्॥ १८॥

उन्होंने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्ण-पंखयुक्त सत्तर बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींध डाला और एक बाणद्वारा उनके सारथिके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८ ॥

द्रोणस्तु बहुभिर्विद्धो बृहत्क्षत्रेण मारिष।
असृजद् विशिखांस्तीक्ष्णान् कैकेयस्य रथं प्रति॥ १९॥

माननीय नरेश! जब बृहत्क्षत्रने बहुसंख्यक बाणोंसे द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया, तब उन्होंने केकयनरेशके रथपर तीखे सायकोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

व्याकुलीकृत्य तं द्रोणो बृहत्क्षत्रं महारथम्।

अश्वांश्चतुर्भिर्न्यवधीच्चतुरोऽस्य पतत्त्रिभिः ॥ २० ॥

द्रोणाचार्यने महारथी बृहत्क्षत्रको व्याकुल करके अपने चार बाणोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ २० ॥

सूतं चैकेन बाणेन रथनीडादपातयत् ।
द्वाभ्यां ध्वजं च च्छत्रं च च्छित्त्वा भूमावपातयत् ॥२१॥

फिर एक बाणसे मारकर सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और दो बाणोंसे उनके ध्वज और छत्रको भी पृथ्वीपर काट गिराया ॥ २१ ॥

ततः साधुविसृष्टेन नाराचेन द्विजर्षभः ।
हृद्यविध्यद् बृहत्क्षत्रं स च्छिन्नहृदयोऽपतत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर अच्छी तरह चलाये हुए नाराचसे द्विजश्रेष्ठ द्रोणने बृहत्क्षत्रकी छाती छेद डाली । वक्षःस्थल विदीर्ण होनेके कारण बृहत्क्षत्र धरतीपर गिर पड़े ॥ २२ ॥

बृहत्क्षत्रे हते राजन् केकयानां महारथे ।
शैशुपालिरभिक्रुद्धो यन्तारमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

राजन् ! केकय महारथी बृहत्क्षत्रके मारे जानेपर शिशुपालपुत्र धृष्टकेतुने अत्यन्त कुपित हो अपने सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

सारथे याहि यत्रैष द्रोणस्तिष्ठति दंशितः ।
विनिघ्नन् केकयान् सर्वान् पञ्चालानां च वाहिनीम् ॥२४॥

'सारथे ! जहाँ ये द्रोणाचार्य कवच धारण किये खड़े हैं और समस्त केकयों तथा पाञ्चाल-सेनाका संहार कर रहे हैं, वहीं चलो' ॥ २४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सारथी रथिनां वरम् ।
द्रोणाय प्रापयामास काम्बोजैर्जवनैर्हयैः ॥ २५ ॥

उनकी वह बात सुनकर सारथिने काम्बोजदेशीय (काबुली) वेगशाली घोड़ोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टकेतुको द्रोणाचार्यके निकट पहुँचा दिया ॥ २५ ॥

धृष्टकेतुश्च चेदीनामृषभोऽतिबलोदितः ।
वधायाभ्यद्रवद् द्रोणं पतङ्ग इव पावकम् ॥ २६ ॥

अत्यन्त बलसम्पन्न चेदिराज धृष्टकेतु द्रोणाचार्यका वध करनेके लिये उनकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे फतिंगा आगपर टूट पड़ता है ॥ २६ ॥

सोऽविध्यत तदा द्रोणं षष्ट्या साश्वरथध्वजम् ।
पुनश्चान्यैः शरैस्तीक्ष्णैः सुप्तं व्याघ्रं तुदन्निव ॥ २७ ॥

उसने घोड़े, रथ और ध्वजसहित द्रोणाचार्यको उस समय साठ बाणोंसे वेध दिया । फिर सोते हुए शेरको पीड़ित करते हुए-से उसने अन्य तीखे बाणोंद्वारा भी आचार्यको घायल कर दिया ॥ २७ ॥

तस्य द्रोणो धनुर्मध्ये क्षुरप्रेण शितेन च ।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण यतमानस्य शुष्मिणः ॥ २८ ॥

तब द्रोणाचार्यने गीधकी पाँखवाले तीखे क्षुरप्रद्वारा विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले बलवान् धृष्टकेतुके धनुषको बीचसे ही काट दिया ॥ २८ ॥

अथान्यद् धनुरादाय शैशुपालिर्महारथः ।
विव्याध सायकैर्द्रोणं कङ्कबर्हिणवाजितैः ॥ २९ ॥

यह देख महारथी शिशुपालकुमारने दूसरा धनुष हाथमें लेकर कङ्क और मोरकी पाखोंसे युक्त बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

तस्य द्रोणो हयान् हत्वा चतुर्भिश्चतुरः शरैः ।
सारथेश्च शिरः कायाच्चकर्त प्रहसन्निव ॥ ३० ॥

द्रोणाचार्यने चार बाणोंसे धृष्टकेतुके चारों घोड़ोंको मारकर उनके सारथिके भी मस्तकको हँसते हुए-से काटकर धड़से अलग कर दिया ॥ ३० ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या सायकानां समार्पयत् ।
अवप्लुत्य रथाच्चैद्यो गदामादाय सत्वरः ॥ ३१ ॥
भारद्वाजाय चिक्षेप रुषितामिव पन्नगीम् ।

तत्पश्चात् उन्होंने धृष्टकेतुको पचीस बाण मारे । उस समय धृष्टकेतुने शीघ्रतापूर्वक रथसे कूदकर गदा हाथमें ले ली और रोषमें भरी हुई सर्पिणीके समान उसे द्रोणाचार्यपर दे मारा ॥ ३१½ ॥

तामापतन्तीमालोक्य कालरात्रिमिवोद्यताम् ॥ ३२ ॥
अश्मसारमयीं गुर्वीं तपनीयविभूषिताम् ।
शरैरनेकसाहस्रैर्भारद्वाजोऽच्छिनच्छितैः ॥ ३३ ॥

वह गदा लोहेकी बनी हुई और भारी थी । उसमें सोने जड़े हुए थे, उसे उठी हुई कालरात्रिके समान अपने ऊपर गिरती देख द्रोणाचार्यने कई हजार पैने बाणोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३२–३३ ॥

सा छिन्ना बहुभिर्बाणैर्भारद्वाजेन मारिष ।
गदा पपात कौरव्य नादयन्ती धरातलम् ॥ ३४ ॥

माननीय कौरवनरेश ! द्रोणाचार्यद्वारा अनेक बाणोंसे छिन्न-भिन्न की हुई वह गदा भूतलको निनादित करती हुई धमसे गिर पड़ी ॥ ३४ ॥

गदां विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टकेतुरमर्षणः ।
तोमरं व्यसृजद् वीरः शक्तिं च कनकोज्ज्वलाम् ॥३५॥

अपनी गदाको नष्ट हुई देख अमर्षमें भरे हुए वीर धृष्टकेतुने द्रोणाचार्यपर तोमर तथा स्वर्णभूषित तेजस्विनी शक्तिका प्रहार किया ॥ ३५ ॥

तोमरं पञ्चभिर्भित्त्वा शक्तिं चिच्छेद पञ्चभिः ।
तौ जग्मतुर्महीं छिन्नौ सर्पाविव गरुत्मता ॥ ३६ ॥

द्रोणाचार्यने तोमरको पाँच बाणोंसे छिन्न-भिन्न करके पाँच बाणोंद्वारा धृष्टकेतुकी शक्तिके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।

वे दोनों अस्त्र गरुड़के द्वारा खण्डित किये हुए दो सर्पोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततोऽस्य विशिखं तीक्ष्णं वधाय वधकाङ्क्षिणः ।
प्रेषयामास समरे भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् अपने वधकी इच्छा रखनेवाले धृष्टकेतुके वधके लिये प्रतापी द्रोणाचार्यने समरभूमिमें उसके ऊपर एक बाणका प्रहार किया ॥ ३७ ॥

स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ।
अभ्यगाद् धरणीं बाणो हंसः पद्मवनं यथा ॥ ३८ ॥

जैसे हंस कमलवनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार वह बाण अमित तेजस्वी धृष्टकेतुके कवच और वक्षःस्थलको विदीर्ण करके धरतीमें समा गया ॥ ३८ ॥

पतङ्गं हि ग्रसेच्चाषो यथा क्षुद्रं बुभुक्षितः ।
तथा द्रोणोऽग्रसच्छूरो धृष्टकेतुं महाहवे ॥ ३९ ॥

जैसे भूखा हुआ नीलकण्ठ छोटे फतिंगेको खा जाता है, उसी प्रकार शूरवीर द्रोणाचार्यने उस महासमरमें धृष्टकेतुको अपने बाणोंका ग्रास बना लिया ॥ ३९ ॥

निहते चेदिराजे तु तत् खण्डं पित्र्यमाविशत् ।
अमर्षवशमापन्नः पुत्रोऽस्य परमास्त्रवित् ॥ ४० ॥

चेदिराजके मारे जानेपर उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता उसका पुत्र अमर्षके वशीभूत हो पिताके स्थानपर आकर डट गया ॥

तमपि प्रहसन् द्रोणः शरैर्निन्ये यमक्षयम् ।
महाव्याघ्रो महारण्ये मृगशावं यथा बली ॥ ४१ ॥

परंतु हँसते हुए द्रोणाचार्यने उसे भी अपने बाणोंद्वारा उसी प्रकार यमलोक पहुँचा दिया, जैसे बलवान् महाव्याघ्र विशाल वनमें किसी हिरनके बच्चेको दबोच लेता है ॥ ४१॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु पाण्डवेयेषु भारत ।
जरासंधसुतो वीरः स्वयं द्रोणमुपाद्रवत् ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! उन पाण्डव योद्धाओंके इस प्रकार नष्ट होनेपर जरासंधके वीर पुत्र सहदेवने स्वयं ही द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ४२ ॥

स तु द्रोणं महाबाहुः शरधाराभिराहवे ।
अदृश्यमकरोत् तूर्णं जलदो भास्करं यथा ॥ ४३ ॥

जैसे बादल आकाशमें सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार महाबाहु सहदेवने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी धाराओंसे द्रोणाचार्यको तुरंत ही अदृश्य कर दिया ॥ ४३ ॥

तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ।
व्यसृजत् सायकांस्तूर्णं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४४ ॥

उसकी वह फुर्ती देखकर क्षत्रियोंका संहार करनेवाले द्रोणाचार्यने शीघ्र ही उसपर सैकड़ों और सहस्रों बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४४ ॥

छादयित्वा रणे द्रोणो रथस्थं रथिनां वरम् ।
जारासंधिं जघानाशु मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते रथपर बैठे हुए रथियोंमें श्रेष्ठ जरासंधकुमारको अपने बाणोंद्वारा आच्छादित करके उसे शीघ्र ही कालके गालमें डाल दिया ॥ ४५ ॥

यो यः स्म नीयते तत्र तं द्रोणो ह्यन्तकोपमः ।
आदत्त सर्वभूतानि प्राप्ते काले यथान्तकः ॥ ४६ ॥

जैसे काल आनेपर यमराज समस्त प्राणियोंको ग्रस लेता है, उसी प्रकार कालके समान द्रोणाचार्यने जो-जो वीर उनके सामने पहुँचा, उसे-उसे मौतके हवाले कर दिया ॥ ४६ ॥

ततो द्रोणो महाराज नाम विश्राव्य संयुगे ।
शरैरनेकसाहस्रैः पाण्डवेयान् समावृणोत् ॥ ४७ ॥

महाराज ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें अपना नाम सुनाकर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा पाण्डवसैनिकोंको ढक दिया॥

ते तु नामाङ्किता बाणा द्रोणेनास्ताः शिलाशिताः ।
नरान् नागान् हयांश्चैव निजघ्नुः शतशो मृधे ॥ ४८ ॥

द्रोणाचार्यके चलाये हुए वे बाण सानपर चढ़ाकर तेज किये गये थे । उनपर आचार्यके नाम खुदे हुए थे । उन्होंने समरभूमिमें सैकड़ों मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंका संहार कर डाला ॥ ४८ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन शक्रेणेव महासुराः ।
समकम्पन्त पञ्चाला गावः शीतार्दिता इव ॥ ४९ ॥

जैसे सर्दीसे पीड़ित हुई गौएँ थर-थर काँपती हैं और जैसे देवराज इन्द्रकी मार खाकर बड़े-बड़े असुर काँपने लगते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यके बाणोंसे विद्ध होकर पाञ्चाल सैनिक काँप उठे ॥ ४९ ॥

ततो निष्टानको घोरः पाण्डवानामजायत ।
द्रोणेन वध्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर तो द्रोणाचार्यके द्वारा मारी जाती हुई पाण्डवोंकी सेनाओंमें घोर आर्तनाद होने लगा ॥ ५० ॥

प्रताप्यमानाः सूर्येण हन्यमानाश्च सायकैः ।
अन्वपद्यन्त पञ्चालास्तदा संत्रस्तचेतसः ॥ ५१ ॥

भरतनन्दन ! उस समय ऊपरसे तो सूर्य तपा रहे थे और रणभूमिमें द्रोणाचार्यके सायकोंकी मार पड़ रही थी । उस अवस्थामें पाञ्चाल वीर मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत एवं व्याकुल हो उठे ॥ ५१ ॥

मोहिता बाणजालेन भारद्वाजेन संयुगे ।
ऊरुग्राहगृहीतानां पञ्चालानां महारथाः ॥ ५२ ॥

उस युद्धस्थलमें भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके बाण-समूहोंसे आहत हो पाञ्चाल महारथी मूर्छित हो रहे थे । उनकी जाँघें अकड़ गयी थीं ॥ ५२ ॥

चेदयश्च महाराज सृञ्जयाः काशिकोसलाः ।
अभ्यद्रवन्त संहृष्टा भारद्वाजं युयुत्सया ॥ ५३ ॥

महाराज ! उस समय चेदि, सृंजय, काशी और कोसल प्रदेशोंके सैनिक हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धकी अभिलाषासे द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ॥ ५३ ॥

ब्रुवन्तश्च रणेऽन्योन्यं चेदिपञ्चालसृञ्जयाः ।
घ्नत द्रोणं घ्नत द्रोणमिति ते द्रोणमभ्ययुः ॥ ५४ ॥

'द्रोणाचार्यको मार डालो, द्रोणाचार्यको मार डालो' परस्पर ऐसा कहते हुए चेदि, पाञ्चाल और संजय वीरोंने द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ५४ ॥

यतन्तः पुरुषव्याघ्राः सर्वशक्त्या महाद्युतिम् ।
निनीषवो रणे द्रोणं यमस्य सदनं प्रति ॥ ५५ ॥

वे पुरुषसिंह वीर समराङ्गणमें महातेजस्वी आचार्य द्रोणको यमराजके घर भेज देनेकी इच्छासे अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करने लगे ॥ ५५ ॥

यतमानांस्तु तान् वीरान् भारद्वाजः शिलीमुखैः ।
यमाय प्रेषयामास चेदिमुख्यान् विशेषतः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार प्रयत्नमें लगे हुए उन वीरोंको विशेषतः चेदि देशके प्रमुख योद्धाओंको द्रोणाचार्यने अपने बाणोंद्वारा यमलोक भेज दिया ॥ ५६ ॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु चेदिमुख्येषु सर्वशः ।
पञ्चालाः समकम्पन्त द्रोणसायकपीडिताः ॥ ५७ ॥

चेदि देशके प्रधान वीर जब इस प्रकार नष्ट होने लगे, तब द्रोणाचार्यके बाणोंसे पीड़ित हुए पाञ्चाल योद्धा थर-थर काँपने लगे ॥ ५७ ॥

प्राक्रोशन् भीमसेनं ते धृष्टद्युम्नं च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणस्य कर्माणि तथारूपाणि मारिष ॥ ५८ ॥

माननीय भरतनन्दन ! वे द्रोणके वैसे पराक्रमको देखकर भीमसेन तथा धृष्टद्युम्नको पुकारने लगे ॥ ५८ ॥

ब्राह्मणेन तपो नूनं चरितं दुश्चरं महत् ।
तथा हि युधि संक्रुद्धो दहति क्षत्रियर्षभान् ॥ ५९ ॥

और परस्पर कहने लगे—'इस ब्राह्मणने निश्चय ही कोई बड़ी भारी दुष्कर तपस्या की है, तभी तो यह युद्धमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर श्रेष्ठ क्षत्रियोंको दग्ध कर रहा है ॥ ५९ ॥

धर्मो युद्धं क्षत्रियस्य ब्राह्मणस्य परं तपः ।
तपस्वी कृतविद्यश्च प्रेक्षितेनापि निर्दहेत् ॥ ६० ॥

'युद्ध करना तो क्षत्रियका धर्म है । तप करना ही ब्राह्मणका उत्तम धर्म माना गया है । यह तपस्वी और अस्त्रविद्याका विद्वान् ब्राह्मण अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर सकता है' ॥

द्रोणाग्निमस्त्रसंस्पर्शं प्रविष्टाः क्षत्रियर्षभाः ।
बहवो दुस्तरं घोरं यत्रादह्यन्त भारत ॥ ६१ ॥

भारत ! उस युद्धमें बहुत-से क्षत्रियशिरोमणि वीर अस्त्ररूपी दाहक स्पर्शवाले द्रोणाचार्यरूपी भयंकर एवं दुस्तर अग्निमें प्रविष्ट होकर भस्म हो गये ॥ ६१ ॥

यथाबलं यथोत्साहं यथासत्त्वं महाद्युतिः ।
मोहयन् सर्वभूतानि द्रोणो हन्ति बलानि नः ॥ ६२ ॥

पाञ्चाल सैनिक कहने लगे—'महातेजस्वी द्रोण अपने बल, उत्साह और धैर्यके अनुसार समस्त प्राणियोंको मोहित करते हुए हमारी सेनाओंका संहार कर रहे हैं' ॥ ६२ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा क्षत्रधर्मा व्यवस्थितः ।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद क्षत्रधर्मा महाबलः ॥ ६३ ॥
क्रोधसंविग्नमनसो द्रोणस्य सशरं धनुः ।

उनकी यह बात सुनकर क्षत्रधर्मा युद्धके लिये द्रोणाचार्यके सामने आकर खड़ा हो गया । उस महाबली वीरने अर्धचन्द्राकार बाण मारकर क्रोधसे उद्विग्न मनवाले द्रोणाचार्यके धनुष और बाणको काट दिया ॥ ६३½ ॥

स संरब्धतरो भूत्वा द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ६४ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय भास्वरं वेगवत्तरम् ।
तत्राधाय शरं तीक्ष्णं परानीकविशातनम् ॥ ६५ ॥
आकर्णपूर्णमाचार्यो बलवानभ्यवासृजत् ।
स हत्वा क्षत्रधर्माणं जगाम धरणीतलम् ॥ ६६ ॥

इससे क्षत्रियोंका मर्दन करनेवाले द्रोणाचार्य अत्यन्त कुपित हो उठे और अत्यन्त वेगशाली तथा प्रकाशमान दूसरा धनुष हाथमें लेकर उन्होंने एक तीखा बाण अपने धनुषपर रक्खा, जो शत्रुसेनाका विनाश करनेवाला था । बलवान् आचार्यने कानतक धनुषको खींचकर उस बाणको छोड़ दिया । वह बाण क्षत्रधर्माका वध करके धरतीमें समा गया ॥ ६४–६६ ॥

स भिन्नहृदयो वाहान्न्यपतन्मेदिनीतले ।
ततः सैन्यान्यकम्पन्त धृष्टद्युम्नसुते हते ॥ ६७ ॥

क्षत्रधर्मा हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा । इस प्रकार धृष्टद्युम्नकुमारके मारे जानेपर सारी सेनाएँ भयसे काँपने लगीं ॥ ६७ ॥

अथ द्रोणं समारोहच्चेकितानो महाबलः ।
स द्रोणं दशभिर्विद्ध्वा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ६८ ॥
चतुर्भिः सारथिं चास्य चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।

तदनन्तर महाबली चेकितानने द्रोणाचार्यपर चढ़ाई की । उन्होंने दस बाणोंसे द्रोणको घायल करके उनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । साथ ही चार बाणोंसे उनके सारथिको और चार ही बाणोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको भी बींध डाला ६८½

तमाचार्यस्त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ६९ ॥
ध्वजं सप्तभिरुन्मथ्य यन्तारमवधीत् त्रिभिः ।

तब आचार्यने उनकी दोनों भुजाओं और छातीमें कुल तीन बाण मारे। फिर सात सायकोंद्वारा उनकी ध्वजाके टुकड़े-टुकड़े करके तीन बाणोंसे सारथिका वध कर दिया ६९½

तस्य सूते हते तेऽश्वा रथमादाय विद्रुताः ॥ ७० ॥
समरे शरसंवीता भारद्वाजेन मारिष।

चेकितानके सारथिके मारे जानेपर वे घोड़े उनका रथ लेकर भाग चले। आर्य! द्रोणाचार्यने समराङ्गणमें उनके शरीरोंको बाणोंसे भर दिया था ॥ ७०½ ॥

चेकितानरथं दृष्ट्वा हताश्वं हतसारथिम् ॥ ७१ ॥
तान् समेतान् रणे शूरांश्चेदिपञ्चालसृञ्जयान्।
समन्ताद् द्रावयन् द्रोणो बह्वशोभत मारिष ॥ ७२ ॥

जिसके घोड़े और सारथि मार दिये गये थे, चेकितानके उस रथको देखकर तथा रणक्षेत्रमें एकत्र हुए चेदि, पाञ्चाल तथा संजय वीरोंपर दृष्टिपात करके द्रोणाचार्यने उन सबको चारों ओर भगा दिया। आर्य! उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ७१-७२ ॥

आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः।
रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥ ७३ ॥

जिनके कानतकके बाल पक गये थे, शरीरकी कान्ति श्याम थी तथा जो पचासी (या चार सौ) वर्षोंकी अवस्थाके बूढ़े थे, वे द्रोणाचार्य रणक्षेत्रमें सोलह वर्षके नवजवानकी भाँति विचर रहे थे ॥ ७३ ॥

अथ द्रोणं महाराज विचरन्तमभीतवत्।
वज्रहस्तममन्यन्त शत्रवः शत्रुसूदनम् ॥ ७४ ॥

महाराज! रणभूमिमें निर्भय-से विचरते हुए शत्रुसूदन द्रोणको शत्रुओंने वज्रधारी इन्द्र समझा ॥ ७४ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्द्रुपदो बुद्धिमान् नृप।
लुब्धोऽयं क्षत्रियान् हन्ति व्याघ्रः क्षुद्रमृगानिव ॥ ७५ ॥

नरेश्वर! उस समय महाबाहु बुद्धिमान् राजा द्रुपदने कहा—'जैसे बाघ छोटे मृगको मारता है, उसी प्रकार यह व्याध-तुल्य ब्राह्मण क्षत्रियोंका संहार कर रहा है ॥ ७५ ॥

कृच्छ्रान् दुर्योधनो लोकान् पापः प्राप्स्यति दुर्मतिः।
यस्य लोभाद् विनिहताः समरे क्षत्रियर्षभाः ॥ ७६ ॥

'दुर्बुद्धि पापी दुर्योधन अत्यन्त कष्टप्रद लोकोंमें जायगा, जिसके लोभसे इस समराङ्गणमें बहुत-से क्षत्रियशिरोमणि वीर मारे गये हैं ॥ ७६ ॥

शतशः शेरते भूमौ निकृत्ता गोवृषा इव।
रुधिरेण परीताङ्गाः श्वशृगालादनीकृताः ॥ ७७ ॥

'सैकड़ों योद्धा कटकर गाय-बैलोंके समान धरतीपर सो रहे हैं। इन सबके शरीर खूनसे लथपथ हो गये हैं और ये कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन गये हैं' ॥ ७७ ॥

एवमुक्त्वा महाराज द्रुपदोऽक्षौहिणीपतिः।
पुरस्कृत्य रणे पार्थान् द्रोणमभ्यद्रवद् द्रुतम् ॥ ७८ ॥

महाराज! ऐसा कहकर एक अक्षौहिणी सेनाके स्वामी राजा द्रुपदने रणक्षेत्रमें कुन्तीके पुत्रोंको आगे करके तुरंत ही द्रोणाचार्यपर धावा बोल दिया ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्रोणपराक्रमे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्रोणपराक्रमविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७८½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका चिन्तित होकर भीमसेनको अर्जुन और सात्यकिका पता लगानेके लिये भेजना

संजय उवाच

व्यूहेष्वालोड्यमानेषु पाण्डवानां ततस्ततः।
सुदूरमन्वयुः पार्थाः पञ्चालाः सह सोमकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब द्रोणाचार्य पाण्डवोंके व्यूहोंको इस प्रकार जहाँ-तहाँसे रौंदने लगे, तब पार्थ, पाञ्चाल तथा सोमक योद्धा उनसे बहुत दूर हट गये ॥ १ ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे लोमहर्षणे।
संक्षये जगतस्तीव्रे युगान्त इव भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन! वह रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम प्रलयकालमें होनेवाले जगत्के भीषण संहार-सा उपस्थित हुआ था ॥ २ ॥

द्रोणे युधि पराक्रान्ते नर्दमाने मुहुर्मुहुः।
पञ्चालेषु च क्षीणेषु वध्यमानेषु पाण्डुषु ॥ ३ ॥
नापश्यच्छरणं किञ्चिद् धर्मराजो युधिष्ठिरः।
चिन्तयामास राजेन्द्र कथमेतद् भविष्यति ॥ ४ ॥

जब द्रोणाचार्य युद्धमें पराक्रम प्रकट करके बारंबार गर्जना कर रहे थे, पाञ्चाल वीरोंका विनाश हो रहा था और पाण्डव सैनिक मारे जा रहे थे, उस समय धर्मराज युधिष्ठिरको कोई भी अपना आश्रय या रक्षक नहीं दिखायी दिया। राजेन्द्र! वे सोचने लगे कि यह कैसे होगा ? ॥ ३-४ ॥

ततो वीक्ष्य दिशः सर्वाः सव्यसाचिदिदृक्षया।
युधिष्ठिरो ददर्शाथ नैव पार्थं न माधवम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने सव्यसाची अर्जुनको देखनेकी इच्छासे सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टि दौड़ायी; परंतु उन्हें कहीं भी अर्जुन और सात्यकि नहीं दिखायी दिये ॥ ५ ॥

सोऽपश्यन् नरशार्दूलं वानरर्षभलक्षणम्।
गाण्डीवस्य च निर्घोषमशृण्वन् व्यथितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के चिह्नसे युक्त ध्वजवाले पुरुषसिंह अर्जुनको न देखकर और उनके गाण्डीवका गम्भीर घोष न सुनकर उनकी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं ॥ ६ ॥

अपश्यन् सात्यकिं चापि वृष्णीनां प्रवरं रथम् ।
चिन्तयाभिपरीताङ्गो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी सात्यकिको भी न देखनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिरका एक-एक अंग चिन्ताकी आगसे संतप्त हो उठा ॥ ७ ॥

नाध्यगच्छत् तदा शान्तिं तावपश्यन् नरोत्तमौ ।
लोकोपक्रोशभीरुत्वाद् धर्मराजो महामनाः ॥ ८ ॥

महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिर लोकनिन्दाके डरसे बहुत डरते थे । अतः नरश्रेष्ठ अर्जुन और सात्यकिको न देखनेसे उस समय उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ८ ॥

अचिन्तयन्महाबाहुः शैनेयस्य रथं प्रति ।
पदवीं प्रेषितश्चैव फाल्गुनस्य मया रणे ॥ ९ ॥
शैनेयः सात्यकिः सत्यो मित्राणामभयंकरः ।
तदिदं ह्येकमेवासीद् द्विधा जातं ममाद्य वै ॥ १० ॥

महाबाहु युधिष्ठिर सात्यकिके रथके विषयमें मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो ! मैंने ही रणक्षेत्रमें मित्रोंको अभय देनेवाले सत्यवादी शिनिपौत्र सात्यकिको अर्जुनके मार्गपर जानेके लिये भेजा था । इसलिये यह मेरा हृदय जो पहले एक हीकी चिन्तामें निमग्न था, अब दो व्यक्तियोंके लिये चिन्तित होकर दो भागोंमें बँट गया है ९-१०

सात्यकिश्च हि विज्ञेयः पाण्डवश्च धनंजयः ।
सात्यकिं प्रेषयित्वा तु पाण्डवस्य पदानुगम् ॥ ११ ॥
सात्वतस्यापि कं युद्धे प्रेषयिष्ये पदानुगम् ।

'इस समय सात्यकिका भी पता लगाना चाहिये और पाण्डुपुत्र अर्जुनका भी । मैंने पाण्डुपुत्र अर्जुनके पीछे तो सात्यकिको भेज दिया । अब सात्यकिके पीछे किसको युद्धभूमिमें भेजूँगा ? ॥ ११½ ॥

करिष्यामि प्रयत्नेन भ्रातुरन्वेषणं यदि ॥ १२ ॥
युयुधानमनन्विष्य लोको मां गर्हयिष्यति ।

'यदि मैं युयुधानकी खोज न कराकर प्रयत्नपूर्वक केवल अपने भाई अर्जुनका ही अन्वेषण करूँगा तो संसार मेरी निन्दा करेगा ॥ १२½ ॥

भ्रातुरन्वेषणं कृत्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
परित्यजति वार्ष्णेयं सात्यकिं सत्यविक्रमम् ।

'सब लोग यही कहेंगे कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने भाईकी खोज करके वृष्णिवंशी वीर सत्यपराक्रमी सात्यकिकी उपेक्षा कर रहे हैं ॥ १३½ ॥

लोकापवादभीरुत्वात् सोऽहं पार्थं वृकोदरम् ॥ १४ ॥
पदवीं प्रेषयिष्यामि माधवस्य महात्मनः ।

'मुझे लोकनिन्दासे बड़ा भय मालूम होता है । अतः कुन्तीनन्दन भीमसेनको मैं महामनस्वी सात्यकिका पता लगानेके लिये भेजूँगा ॥ १४½ ॥

यथैव च मम प्रीतिरर्जुने शत्रुसूदने ॥ १५ ॥
तथैव वृष्णिवीरेऽपि सात्वते युद्धदुर्मदे ।
अतिभारे नियुक्तश्च मया शैनेयनन्दनः ॥ १६ ॥

'शत्रुसूदन अर्जुनपर जैसा मेरा प्रेम है, वैसा ही रणदुर्मद वृष्णिवंशी वीर सात्यकिपर भी है । मैंने शिनिवंशका आनन्द बढ़ानेवाले सात्यकिको महान् कार्यभार सौंप रक्खा था १५-१६

स तु मित्रोपरोधेन गौरवात्तु महाबलः ।
प्रविष्टो भारतीं सेनां मकरः सागरं यथा ॥ १७ ॥

'उन महाबली सात्यकिने मित्रके अनुरोधसे और अपने लिये गौरवकी बात समझकर समुद्रमें मगरकी भाँति कौरवी सेनामें प्रवेश किया था ॥ १७ ॥

असौ हि श्रूयते शब्दः शूराणामनिवर्तिनाम् ।
मिथः संयुध्यमानानां वृष्णिवीरेण धीमता ॥ १८ ॥

'बुद्धिमान् वृष्णिवंशी वीर सात्यकिके साथ परस्पर युद्ध करनेवाले उन शूरवीरोंका वह महान् कोलाहल सुनायी पड़ता है, जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं ॥ १८ ॥

प्राप्तकालं सुबलवन्निश्चितं बहुधा हि मे ।
तत्रैव पाण्डवेयस्य भीमसेनस्य धन्विनः ॥ १९ ॥
गमनं रोचते मह्यं यत्र यातौ महारथौ ।

'इस समय जो कर्तव्य प्राप्त है, उसपर मैंने अनेक प्रकारसे प्रबल विचार कर लिया है । जहाँ महारथी अर्जुन और सात्यकि गये हैं, वहीं धनुर्धर वीर पाण्डुनन्दन भीमसेनको भी जाना चाहिये—यही मुझे ठीक जँचता है ॥ १९½ ॥

न चाप्यसह्यं भीमस्य विद्यते भुवि किंचन ॥ २० ॥
शक्तो ह्येष रणे यत्तः पृथिव्यां सर्वधन्विनाम् ।
स्वबाहुबलमास्थाय प्रतिव्यूहितुमञ्जसा ॥ २१ ॥

'इस भूतलपर कोई ऐसा कार्य नहीं है, जो भीमसेनके लिये असह्य हो । ये अपने बाहुबलका आश्रय ले रणक्षेत्रमें प्रयत्नशील होकर भूमण्डलके समस्त धनुर्धरोंका अनायास ही सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ २०-२१ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे समाश्रित्य महात्मनः ।
वनवासान्निवृत्ताः स्म न च युद्धेषु निर्जिताः ॥ २२ ॥

'इस महामनस्वी वीरके बाहुबलका आश्रय लेकर हम सब भाई वनवाससे सकुशल लौटे हैं और युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुए हैं ॥ २२ ॥

इतो गते भीमसेने सात्वतं प्रति पाण्डवे ।

सनाथौ भविनारौ हि युधि सात्वतफाल्गुनौ ॥ २३ ॥

'यहाँसे सात्यकिके पथपर पाण्डुपुत्र भीमसेनके जानेपर युद्धस्थलमें डटे हुए सात्यकि और अर्जुन सनाथ हो जायँगे ॥

कामं त्वशोचनीयौ तौ रणे सात्वतफाल्गुनौ ।
रक्षितौ वासुदेवेन स्वयं शस्त्रविशारदौ ॥ २४ ॥

'निश्चय ही सात्यकि और अर्जुन रणक्षेत्रमें शोकके योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे दोनों स्वयं तो शस्त्रविद्यामें कुशल हैं ही, भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा भी पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं ॥२४॥

अवश्यं तु मया कार्यमात्मनः शोकनाशनम् ।
तस्माद् भीमं नियोक्ष्यामि सात्वतस्य पदानुगम् ॥२५॥

'तथापि मुझे अपने मानसिक दुःखको निवारण करनेके लिये ऐसी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये । इसलिये मैं भीमसेनको सात्यकिके मार्गका अनुगामी अवश्य बनाऊँगा ॥२५॥

ततः प्रतिकृतं मन्ये विधानं सात्यकिं प्रति ।
एवं निश्चित्य मनसा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥
यन्तारमब्रवीद् राजा भीमं प्रति नयस्व माम् ।

'ऐसा करके ही मैं समझूँगा कि मैंने सात्यकिके प्रति समुचित कर्तव्यका पालन किया है ।' मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने सारथिसे कहा-'मुझे भीमके पास ले चलो' ॥ २६½ ॥

धर्मराजवचः श्रुत्वा सारथिर्हयकोविदः ॥ २७ ॥
रथं हेमपरिष्कारं भीमान्तिकमुपानयत् ।

धर्मराजकी बात सुनकर अश्वसंचालनमें कुशल सारथिने उनके सुवर्णभूषित रथको भीमसेनके निकट पहुँचा दिया ॥ २७½ ॥

भीमसेनमनुप्राप्य प्राप्तकालमचिन्तयत् ॥ २८ ॥
कश्मलं प्राविशद् राजा बहु तत्र समादिशन् ।

भीमसेनके पास पहुँचकर राजा युधिष्ठिर समयोचित कर्तव्यका चिन्तन करने लगे और वहाँ बहुत कुछ कहते हुए वे मूर्छित से हो गये ॥ २८½ ॥

स कश्मलसमाविष्टो भीममाहूय पार्थिवः ॥ २९ ॥
अब्रवीद् वचनं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

राजन् ! इस प्रकार मोहाविष्ट हुए कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने भीमसेनको सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—२९½

यः सदेवान् सगन्धर्वान् दैत्यांश्चैकरथोऽजयत् ॥३०॥
तस्य लक्ष्म न पश्यामि भीमसेनानुजस्य ते ।

'भीमसेन ! जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे देवताओं-सहित गन्धर्वों और दैत्योंपर भी विजय पायी थी, उन्हीं तुम्हारे छोटे भाई अर्जुनका आज मुझे कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है' ॥ ३०½ ॥

ततोऽब्रवीद् धर्मराजं भीमसेनस्तथागतम् ॥ ३१ ॥
नैवाद्राक्षं न चाश्रौषं तव कश्मलमीदृशम् ।

तब वैसी अवस्थामें पड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे भीमसेनने कहा—'राजन् ! आपकी ऐसी घबराहट तो पहले मैंने न कभी देखी थी और न सुनी ही थी ॥ ३१½ ॥

पुरातिदुःखदीर्णानां भवान् गतिरभूद्धि नः ॥ ३२ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजेन्द्र शाधि किं करवाणि ते ।

'पहले जब कभी हमलोग अत्यन्त दुःखसे अधीर हो उठते थे, तब आप ही हमें सहारा दिया करते थे । राजेन्द्र ! उठिये, उठिये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ ३२½ ॥

न ह्यसाध्यमकार्यं वा विद्यते मम मानद ॥ ३३ ॥
आज्ञापय कुरुश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः ।

'मानद ! इस संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो मेरे लिये असाध्य हो अथवा जिसे मैं आपकी आज्ञा मिलनेपर न करूँ । कुरुश्रेष्ठ ! आज्ञा दीजिये । अपने मनको शोकमें न डालिये' ॥ ३३½ ॥

तमब्रवीदश्रुपूर्णः कृष्णसर्प इव श्वसन् ॥ ३४ ॥
भीमसेनमिदं वाक्यं प्रम्लानवदनो नृपः ।

तब राजा युधिष्ठिर म्लानमुख हो काले सर्पके समान लंबी साँसें खींचते हुए नेत्रोंमें आँसू भरकर भीमसेनसे इस प्रकार बोले—॥ ३४½ ॥

यथा शङ्खस्य निर्घोषः पाञ्चजन्यस्य श्रूयते ॥ ३५ ॥
पूरितो वासुदेवेन संरब्धेन यशस्विना ।
नूनमद्य हतः शेते तव भ्राता धनंजयः ॥ ३६ ॥

'भैया ! इस समय पाञ्चजन्य शङ्खकी जैसी ध्वनि सुनायी देती है और यशस्वी वासुदेवने क्रोधमें भरकर उस शङ्खको जिस तरह बजाया है, उससे जान पड़ता है, आज तुम्हारा भाई अर्जुन निश्चय ही मारा जाकर रणभूमिमें सो रहा है ॥

तस्मिन् विनिहते नूनं युध्यतेऽसौ जनार्दनः ।
यस्य सत्त्ववतो वीर्यं ह्युपजीवन्ति पाण्डवाः ॥ ३७ ॥
यं भयेष्वभिगच्छन्ति सहस्राक्षमिवामराः ।
स शूरः सैन्धवप्रेप्सुरन्वयाद् भारतीं चमूम् ॥ ३८ ॥

'उसके मारे जानेपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही युद्ध कर रहे हैं । जिस शक्तिशाली वीरके पराक्रमका भरोसा करके हम समस्त पाण्डव जी रहे हैं, भयके अवसरोंपर हम उसी प्रकार जिसका आश्रय लेते हैं, जैसे देवता देवराज इन्द्रका, वही शूरवीर अर्जुन सिंधुराज जयद्रथको अपने वशमें करनेके लिये कौरव-सेनामें घुसा है ॥ ३७—३८ ॥

तस्य वै गमनं विद्मो भीम नावर्तनं पुनः ।
श्यामो युवा गुडाकेशो दर्शनीयो महारथः ॥ ३९ ॥

'भीमसेन ! हमें उसके जानेका ही पता है, पुनः लौटनेका नहीं । अर्जुनकी अङ्गकान्ति श्याम है । वह नवयुवक, निद्रापर विजय पानेवाला, देखनेमें सुन्दर और महारथी है ॥

व्यूढोरस्को महाबाहुर्मत्तद्विरदविक्रमः।
चकोरनेत्रस्ताम्रास्यो द्विषतां भयवर्धनः ॥ ४० ॥

'उसकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी बड़ी हैं। उसका पराक्रम मतवाले हाथीके समान है, आँखें चकोरके नेत्रोंके समान विशाल हैं और उसके मुख एवं ओष्ठ लाल-लाल हैं। वह शत्रुओंका भय बढ़ाता है ॥ ४० ॥

(मम प्रियहितार्थं च शक्रलोकादिहागतः।
वृद्धोपसेवी धृतिमान् कृतज्ञः सत्यसङ्गरः ॥
प्रविष्टो महतीं सेनामपर्यन्तां धनंजयः।
प्रविष्टे च चमूं घोरामर्जुने शत्रुनाशने ॥
प्रेषितः सात्वतो वीरः फाल्गुनस्य पदानुगः।
तस्याभिगमनं जाने भीम नावर्तनं पुनः ॥)

'अर्जुन मेरे प्रिय और हितके लिये इन्द्रलोकसे यहाँ आया है। वह वृद्धजनोंका सेवक, धैर्यवन्, कृतज्ञ तथा सत्यप्रतिज्ञ है। वह धनंजय शत्रुओंकी विशाल एवं अपार सेनामें घुसा है। शत्रुनाशन अर्जुनके उस भयंकर सेनामें प्रवेश करनेपर मैंने सात्वतवीर सात्यकिको उसके चरणोंका अनुगामी बनाकर भेजा है। भीमसेन! सात्यकिके भी मुझे जानेका ही पता है, लौटनेका नहीं ॥

तदिदं मम भद्रं ते शोकस्थानमरिंदम।
अर्जुनार्थे महाबाहो सात्वतस्य च कारणात् ॥ ४१ ॥
वर्धते हविषेवाग्निरिध्यमानः पुनः पुनः।
तस्य लक्ष्म न पश्यामि तेन विन्दामि कश्मलम् ॥४२॥

'शत्रुदमन महाबाहु भीम! तुम्हारा कल्याण हो। यही मेरे शोकका कारण है। अर्जुन और सात्यकिके लिये ही मैं दुखी हो रहा हूँ। जैसे बारंबार घी डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार मेरी शोकाग्नि बढ़ती जाती है। मैं अर्जुनका कोई चिह्न नहीं देखता, इसीसे मुझपर मोह छा रहा है ॥ ४१-४२ ॥

तं विद्धि पुरुषव्याघ्रं सात्वतं च महारथम्।
स तं महारथं पश्चादनुयातस्तवानुजम् ॥ ४३ ॥

'उन सात्वतवंशी पुरुषसिंह महारथी सात्यकिका भी पता लगाओ। वे तुम्हारे छोटे भाई महारथी अर्जुनके पीछे गये हैं॥

तमपश्यन्महाबाहुमहं विन्दामि कश्मलम्।
पार्थे तस्मिन् हते चैव युध्यते नूनमग्रणीः ॥ ४४ ॥

'उन महाबाहु सात्यकिको न देखनेके कारण भी मैं भारी घबराहटमें पड़ गया हूँ। पार्थके मारे जानेपर अवश्य ही सात्यकि भी आगे होकर युद्ध कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

सहायो नास्य वै कश्चित् तेन विन्दामि कश्मलम्।
तस्मिन् कृष्णो हते नूनं युध्यते युद्धकोविदः ॥ ४५ ॥

'उनका कोई दूसरा सहायक नहीं है। इससे मुझे बड़ी घबराहट हो रही है। निश्चय ही उनके मारे जानेपर युद्ध-कलाकोविद भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

न हि मे शुध्यते भावस्तयोरेव परंतप।
स तत्र गच्छ कौन्तेय यत्र यातो धनंजयः ॥ ४६ ॥
सात्यकिश्च महावीर्यः कर्तव्यं यदि मन्यसे।
वचनं मम धर्मज्ञ भ्राता ज्येष्ठो भवामि ते ॥ ४७ ॥
न तेऽर्जुनस्तथा ज्ञेयो ज्ञातव्यः सात्यकिर्यथा।
चिकीर्षुर्मत्प्रियं पार्थ स यातः सव्यसाचिनः।
पदवीं दुर्गमां घोरामगम्यामकृतात्मभिः ॥ ४८ ॥

'परंतप! अर्जुन और सात्यकिके जीवनके विषयमें जो मेरे मनमें संशय उत्पन्न हो गया है, वह दूर नहीं हो रहा है। अतः कुन्तीनन्दन! तुम वहीं जाओ, जहाँ अर्जुन और महापराक्रमी सात्यकि गये हैं। धर्मज्ञ! मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञाका पालन करना उचित मानते हो तो ऐसा ही करो। तुम्हें अर्जुनकी उतनी खोज नहीं करनी है, जितनी सात्यकिकी। पार्थ! सात्यकिने मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे सव्यसाची अर्जुनके उस दुर्गम एवं भयंकर पथका अनुसरण किया है, जो अजितात्मा पुरुषोंके लिये अगम्य है ॥ ४६-४८ ॥

दृष्ट्वा कुशलिनौ कृष्णौ सात्वतं चैव सात्यकिम्।
संविदं चैव कुर्यास्त्वं सिंहनादेन पाण्डव ॥ ४९ ॥

'पाण्डुनन्दन! जब तुम भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा सात्वतवंशी वीर सात्यकिको सकुशल देखना, तब उच्च स्वरसे सिंहनाद करके मुझे इसकी सूचना दे देना' ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि युधिष्ठिरचिन्तायां षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें युधिष्ठिरकी चिन्ताविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१२६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका कौरवसेनामें प्रवेश, द्रोणाचार्यके सारथिसहित रथका चूर्ण कर देना तथा उनके द्वारा धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंका वध, अवशिष्ट पुत्रोंसहित सेनाका पलायन

भीमसेन उवाच

ब्रह्मेशानेन्द्रवरुणानवहद् यः पुरा रथः।
तमास्थाय गतौ कृष्णौ न तयोर्विद्यते भयम् ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—महाराज! जो रथ पहले ब्रह्मा,

महादेव, इन्द्र और वरुणकी सवारीमें आ चुका है, उसीपर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्धके लिये गये हैं। अतः उनके लिये तनिक भी भय नहीं है ॥ १ ॥

आज्ञां तु शिरसा बिभ्रदेष गच्छामि मा शुचः।
समेत्य तान् नरव्याघ्रांस्तव दास्यामि संविदम् ॥ २ ॥

तथापि आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके यह मैं जा रहा हूँ। आप शोक या चिन्ता न करें। मैं उन पुरुषसिंहोंसे मिलकर आपको सूचना दूँगा ॥ २ ॥

संजय उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययौ परिदाय युधिष्ठिरम्।
धृष्टद्युम्नाय बलवान् सुहृद्भ्यश्च पुनः पुनः ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर बलवान् भीमसेन राजा युधिष्ठिरको धृष्टद्युम्न तथा अन्य सुहृदोंकी देख-रेखमें सौंपकर वहाँसे चल दिये ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नं चेदमाह भीमसेनो महाबलः।
विदितं ते महाबाहो यथा द्रोणो महारथः ॥ ४ ॥
ग्रहणे धर्मराजस्य सर्वोपायेन वर्तते।

जाते समय महाबली भीमसेनने धृष्टद्युम्नसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! तुम्हें तो यह मालूम ही है कि महारथी द्रोण सारे उपाय करके किस प्रकार धर्मराजको पकड़नेपर तुले हुए हैं ॥ ४½ ॥

न च मे गमने कृत्यं तादृक् पार्षत विद्यते ॥ ५ ॥
यादृशं रक्षणे राज्ञः कार्यमात्ययिकं हि नः।

'अतः द्रुपदनन्दन! मेरे लिये वहाँ जानेकी वैसी आवश्यकता नहीं है, जैसी यहाँ रहकर राजाकी रक्षा करनेकी है। यही हमलोगोंके लिये सबसे महान् कार्य है ॥५½॥

एवमुक्तोऽस्मि पार्थेन प्रतिवक्तुं न चोत्सहे ॥ ६ ॥
प्रयास्ये तत्र यत्रासौ मुमूर्षुः सैन्धवः स्थितः।
धर्मराजस्य वचने स्थातव्यमविशङ्कया ॥ ७ ॥

'परंतु जब कुन्तीनन्दन महाराजने इस प्रकार मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी है, तब मैं उन्हें कोरा जवाब नहीं दे सकता—उनकी आज्ञा टाल नहीं सकता। अतः जहाँ मरणासन्न जयद्रथ खड़ा है, वहीं मैं जाऊँगा। मुझे बिना किसी संशयके धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञाके अधीन रहना चाहिये॥

यास्यामि पदवीं भ्रातुः सात्वतस्य च धीमतः।
सोऽद्य यत्तो रणे पार्थं परिरक्ष युधिष्ठिरम् ॥ ८ ॥
एतद्धि सर्वकार्याणां परमं कृत्यमाहवे।

'अतः अब मैं भाई अर्जुन तथा बुद्धिमान् सात्यकिके पथका अनुसरण करूँगा। अब तुम सावधान हो प्रयत्नपूर्वक रणभूमिमें कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करो। इस युद्धस्थलमें यही हमारे लिये सब कार्योंसे बढ़कर महान् कार्य है' ॥ ८½ ॥

तमब्रवीन्महाराज धृष्टद्युम्नो वृकोदरम् ॥ ९ ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि गच्छ पार्थाविचारयन्।

महाराज! यह सुनकर धृष्टद्युम्नने भीमसेनसे कहा—'कुन्तीनन्दन! तुम कुछ भी सोच-विचार न करके जाओ। मैं तुम्हारी इच्छाके अनुसार सब कार्य करूँगा ॥ ९½ ॥

नाहत्वा समरे द्रोणो धृष्टद्युम्नं कथञ्चन ॥ १० ॥
निग्रहं धर्मराजस्य प्रकरिष्यति संयुगे।

'द्रोणाचार्य संग्राममें धृष्टद्युम्नका वध किये बिना किसी प्रकार धर्मराजको कैद नहीं कर सकेंगे' ॥ १०½ ॥

ततो निक्षिप्य राजानं धृष्टद्युम्ने च पाण्डवम् ॥ ११ ॥
अभिवाद्य गुरुं ज्येष्ठं प्रययौ येन फाल्गुनः।

तब भीमसेन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरको धृष्टद्युम्नके हाथमें सौंपकर अपने बड़े भाईको प्रणाम करके जिस मार्गसे अर्जुन गये थे, उसीपर चल दिये ॥ ११½ ॥

परिष्वक्तश्च कौन्तेयो धर्मराजेन भारत ॥ १२ ॥
आघ्रातश्च तथा मूर्ध्नि श्रावितश्चाशिषः शुभाः।

भारत! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीकुमार भीमसेनको गलेसे लगाया, उनका सिर सूँघा और उन्हें शुभ आशीर्वाद सुनाये ॥ १२½ ॥

कृत्वा प्रदक्षिणान् विप्रानर्चितांस्तुष्टमानसान् ॥ १३ ॥
आलभ्य मङ्गलान्यष्टौ[1] पीत्वा कैरातकं मधु।
द्विगुणद्रविणो वीरो मदरक्तान्तलोचनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर पूजित एवं संतुष्टचित्त हुए ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके आठ प्रकारकी माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करनेके पश्चात् भीमसेनने कैरातक मधुका पान किया। फिर तो वीर भीमसेनका बल और उत्साह दुगुना हो गया, उनके नेत्र मदसे लाल हो गये थे ॥ १३-१४ ॥

विप्रैः कृतस्वस्त्ययनो विजयोत्पादसूचितः।
पश्यन्नेवात्मनो बुद्धिं विजयानन्दकारिणीम् ॥ १५ ॥

उस समय ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया, जिससे विजय-लाभ सूचित होता था। उन्हें अपनी बुद्धि विजयानन्दका अनुभव करती-सी दिखायी दी ॥ १५ ॥

अनुलोमानिलैश्चाशु प्रदर्शितजयोदयः।
भीमसेनो महाबाहुः कवची शुभकुण्डली ॥ १६ ॥
साङ्गदः सतलत्राणः सरथो रथिनां वरः।

अनुकूल हवा चलकर उन्हें शीघ्र ही अवश्यम्भावी विजयकी सूचना देने लगी। रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन

१. अनलो गौर्हिरण्यं च दूर्वागोरोचनामृतम्।
अक्षतं दधि चेत्यष्टौ मङ्गलानि प्रचक्षते ॥
अग्नि, गौ, सुवर्ण, दूर्वा, गोरोचन, अमृत (घी), अक्षत और दही—इन आठ वस्तुओंको माङ्गलिक कहते हैं।

कवच, सुन्दर कुण्डल, बाजूबन्द और तलत्राण (दस्ताने) धारण करके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १६½ ॥

तस्य कार्ष्णायसं वर्म हेमचित्रं महर्द्धिमत् ॥ १७ ॥
विबभौ सर्वतः श्लिष्टं सविद्युदिव तोयदः ।

उनका काले लोहेका बना हुआ सुवर्णजटित बहुमूल्य कवच उनके सारे अङ्गोंमें सटकर बिजलीसहित मेघके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १७½ ॥

पीतरक्तासितसितैर्वासोभिश्च सुवेष्टितः ॥ १८ ॥
कण्ठत्राणेन च बभौ सेन्द्रायुध इवाम्बुदः ।

लाल, पीले, काले और सफेद वस्त्रोंसे अपने शरीरको सुसज्जित करके कण्ठत्राण पहनकर वे इन्द्रधनुषयुक्त मेघके समान शोभा पा रहे थे ॥ १८½ ॥

प्रयाते भीमसेने तु तव सैन्यं युयुत्सया ॥ १९ ॥
पाञ्चजन्यरवो घोरः पुनरासीद् विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! जब भीमसेन युद्धकी इच्छासे आपकी सेनाकी ओर प्रस्थित हुए, उस समय पुनः पाञ्चजन्य शङ्खकी भयंकर ध्वनि प्रकट हुई ॥ १९½ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं त्रैलोक्यत्रासनं महत् ॥ २० ॥
पुनर्भीमं महाबाहुं धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।

त्रिलोकीको डरा देनेवाले उस घोर एवं महान् सिंहनादको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने (जाते हुए) महाबाहु भीमसेनसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ २०½ ॥

एष वृष्णिप्रवीरेण ध्मातः सलिलजो भृशम् ॥ २१ ॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विनादयति शङ्खराट् ।
नूनं व्यसनमापन्ने सुमहत् सव्यसाचिनि ॥ २२ ॥
कुरुभिर्युध्यते सार्धं सर्वैश्चक्रगदाधरः ।

'भीम ! देखो, यह वृष्णिवंशके प्रमुख वीर भगवान् श्रीकृष्णने बड़े जोरसे शङ्ख बजाया है । यह शङ्खराज इस समय पृथ्वी और आकाश दोनोंको अपनी ध्वनिसे परिपूर्ण किये देता है । निश्चय ही सव्यसाची अर्जुनके भारी संकटमें पड़ जानेपर चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके साथ युद्ध कर रहे हैं ॥२१–२२½॥

आह कुन्ती नूनमार्या पापमद्य निदर्शनम् ॥ २३ ॥
द्रौपदी च सुभद्रा च पश्यन्त्यौ सह बन्धुभिः ।

'आज अवश्य ही माता कुन्ती किसी दुःखद अपशकुनकी चर्चा करती होंगी । बन्धुओंसहित द्रौपदी और सुभद्रा भी कोई असगुन देख रही होंगी ॥ २३½ ॥

स भीम त्वरया युक्तो याहि यत्र धनंजयः ॥ २४ ॥
मुह्यन्तीव हि मे सर्वा धनंजयदिदृक्षया ।
दिशश्च प्रदिशः पार्थ सात्वतस्य च कारणात् ॥ २५ ॥

'अतः भीम ! तुम तुरंत ही जहाँ अर्जुन हैं, वहाँ जाओ । आज अर्जुनको देखनेके लिये मेरी सारी दिशाएँ मोहाच्छन्न-सी हो रही हैं । सात्यकिको न देख पानेके कारण भी मेरे लिये सारी दिशाओंमें अँधेरा छा गया है' ॥ २४-२५ ॥

गच्छ गच्छेति गुरुणा सोऽनुज्ञातो वृकोदरः ।
ततः पाण्डुसुतो राजन् भीमसेनः प्रतापवान् ॥ २६ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः ।
ज्येष्ठेन प्रहितो भ्रात्रा भ्राता भ्रातुः प्रियंकरः ॥ २७ ॥

राजन् ! इस प्रकार 'जाओ, जाओ' कहकर बड़े भाईके आज्ञा देनेपर उदरमें वृक नामक अग्निको धारण करनेवाले प्रतापी पाण्डुपुत्र भीमसेन गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहनकर हाथमें धनुष ले वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए । वे भाईका प्रिय करनेवाले भाई थे और बड़े भाईके भेजनेसे ही वहाँसे जानेको उद्यत हुए थे ॥ २६-२७ ॥

आहत्य दुन्दुभिं भीमः शङ्खं प्रध्माप्य चासकृत् ।
विनद्य सिंहनादेन ज्यां विकर्षन् पुनः पुनः ॥ २८ ॥

भीमसेनने बारंबार डंका पीटा और अनेक बार शङ्ख बजाकर बारंबार धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचते हुए सिंहके दहाड़नेके समान भयंकर गर्जना की ॥ २८ ॥

तेन शब्देन वीराणां पातयित्वा मनांस्युत ।
दर्शयन् घोरमात्मानममित्रान् सहसाभ्ययात् ॥२९॥

उस तुमुल शब्दके द्वारा बड़े-बड़े वीरोंके दिल दहलाकर अपना भयंकर रूप दिखाते हुए उन्होंने सहसा शत्रुओंपर धावा बोल दिया ॥ २९ ॥

तमूहुर्जवना दान्ता विरुवन्तो हयोत्तमाः ।
विशोकेनाभिसम्पन्ना मनोमारुतरंहसः ॥ ३० ॥

उस समय विशोक नामक सारथिके द्वारा संचालित होनेवाले, मन और वायुके समान वेगशाली तीव्रगामी और सुशिक्षित सुन्दर घोड़े हर्षसूचक शब्द करते हुए उनका भार वहन करते थे ॥ ३० ॥

आरुजन् विरुजन् पार्थो ज्यां विकर्षंश्च पाणिना ।
सम्प्रकर्षन् विमर्षंश्च सेनाग्रं समलोडयत् ॥ ३१ ॥

कुन्तीकुमार भीम अपने हाथसे धनुषकी डोरी खींचकर चढ़ाते, उसे भलीभाँति कानतक खींचते, बाणोंकी वर्षा करते तथा शत्रुओंको घायल करके उनके अङ्ग-भङ्ग करते हुए सेनाके अग्रभागको मथे डालते थे ॥ ३१ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुं पञ्चालाः सहसोमकाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः शूरा मघवन्तमिवामराः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए महाबाहु भीमसेनके पीछे पाञ्चाल और सोमक वीर भी चले, मानो देवगण देवराज इन्द्रका अनुसरण कर रहे हों ॥ ३२ ॥

तं समेत्य महाराज तावकाः पर्यवारयन् ।

दुःशलश्चित्रसेनश्च कुण्डभेदी विविंशतिः ॥ ३३ ॥
दुर्मुखो दुःसहश्चैव विकर्णश्च शलस्तथा ।
विन्दानुविन्दौ सुमुखो दीर्घबाहुः सुदर्शनः ॥ ३४ ॥
वृन्दारकः सुहस्तश्च सुषेणो दीर्घलोचनः ।
अभयो रौद्रकर्मा च सुवर्मा दुर्विमोचनः ॥ ३५ ॥
शोभन्तो रथिनां श्रेष्ठाः सहसैन्यपदानुगाः ।
संयत्ताः समरे वीरा भीमसेनमुपाद्रवन् ॥ ३६ ॥

महाराज ! उस समय आपके पुत्रोंने भीमसेनका सामना करके उन्हें रोका । दुःशल, चित्रसेन, कुण्डभेदी, विविंशति, दुर्मुख, दुःसह, विकर्ण, शल, विन्द, अनुविन्द, सुमुख, दीर्घबाहु, सुदर्शन, वृन्दारक, सुहस्त, सुषेण, दीर्घलोचन, अभय, रौद्रकर्मा, सुवर्मा और दुर्विमोचन—इन शोभाशाली रथिश्रेष्ठ वीरोंने अपने सैनिकों और सेवकोंके साथ सावधान एवं प्रयत्नशील होकर समराङ्गणमें भीमसेनपर धावा किया॥

तैः समन्ताद् वृतः शूरैः समरेषु महारथः ।
तान् समीक्ष्य तु कौन्तेयो भीमसेनः पराक्रमी ।
अभ्यवर्तत वेगेन सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ३७ ॥

उन शूरवीरोंके द्वारा समरभूमिमें महारथी भीम सब ओरसे घिर गये थे । उन सबको सामने देखकर पराक्रमशाली कुन्तीकुमार भीमसेन उसी प्रकार वेगसे आगे बढ़े, जैसे सिंह क्षुद्र मृगोंकी ओर बढ़ता है ॥ ३७ ॥

ते महास्त्राणि दिव्यानि तत्र वीरा अदर्शयन् ।
छादयन्तः शरैर्भीमं मेघाः सूर्यमिवोदितम् ॥ ३८ ॥

परंतु जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार वे वीरगण अपने बाणोंद्वारा भीमसेनको आच्छादित करते हुए वहाँ बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करने लगे ३८

स तानतीत्य वेगेन द्रोणानीकमुपाद्रवत् ।
अग्रतश्च गजानीकं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३९ ॥

किंतु भीमसेन अपने वेगसे उन सबको लाँघकर द्रोणाचार्यकी सेनापर टूट पड़े और सामने खड़ी हुई गजसेनाको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करने लगे ॥ ३९ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन तद् गजानीकमाशुगैः ।
दिशः सर्वाः समभ्यस्य व्यधमत् पवनात्मजः ॥ ४० ॥

पवनपुत्र भीमने सम्पूर्ण दिशाओंमें बारंबार बाणोंकी वर्षा करके उनके द्वारा थोड़े ही समयमें उस गजसेनाको मार भगाया ॥ ४० ॥

त्रासिताः शरभस्येव गर्जितेन वने मृगाः ।
प्राद्रवन् द्विरदाः सर्वे नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ ४१ ॥

जैसे शरभकी गर्जनासे भयभीत हो वनके सारे मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार भीमसेनसे डरे हुए समस्त गजराज भैरव स्वरसे आर्तनाद करते हुए भाग निकले ॥ ४१ ॥

पुनश्चातीव वेगेन द्रोणानीकमुपाद्रवत् ।
तमवारयदाचार्यो वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ॥ ४२ ॥

फिर उन्होंने बड़े वेगसे द्रोणाचार्यकी सेनापर चढ़ाई की । उस समय उत्ताल तरंगोंके साथ उठे हुए महासागरको जैसे तटकी भूमि रोक देती है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यने भीमसेनको रोका ॥ ४२ ॥

ललाटेऽताडयच्चैनं नाराचेन स्मयन्निव ।
ऊर्ध्वरश्मिरिवादित्यो विबभौ तेन पाण्डवः ॥ ४३ ॥

द्रोणने मुसकराते हुए-से नाराच चलाकर भीमसेनके ललाटमें चोट पहुँचायी । उस नाराचसे पाण्डुपुत्र भीमसेन ऊपर उठी किरणोंवाले सूर्यके समान सुशोभित होने लगे ॥

स मन्यमानस्त्वाचार्यो ममायं फाल्गुनो यथा ।
भीमः करिष्यते पूजामित्युवाच वृकोदरम् ॥ ४४ ॥

द्रोणाचार्य यह समझकर कि यह भीम भी अर्जुनके समान मेरी पूजा करेगा, उनसे इस प्रकार बोले—॥ ४४॥

भीमसेन न ते शक्या प्रवेष्टुमरिवाहिनी ।
मामनिर्जित्य समरे शत्रुमद्य महाबल ॥ ४५ ॥

'महाबली भीमसेन ! तुम समरभूमिमें आज मुझ शत्रुको पराजित किये बिना इस शत्रुसेनामें प्रवेश नहीं कर सकोगे ॥

यदि ते सोऽनुजः कृष्णः प्रविष्टोऽनुमते मम ।
अनीकं न तु शक्यं मे प्रवेष्टुमिह वै त्वया ॥ ४६ ॥

'तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन मेरी अनुमतिसे इस सेनाके भीतर घुस गये हैं । यदि इच्छा हो तो उसी तरह तुम भी जा सकते हो; अन्यथा मेरे इस सैन्यव्यूहमें प्रवेश नहीं करने पाओगे' ॥ ४६ ॥

अथ भीमस्तु तच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यमपेतभीः ।
क्रुद्धः प्रोवाच वै द्रोणं रक्तताम्रेक्षणस्त्वरन् ॥ ४७ ॥

गुरुका यह वचन सुनकर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, वे बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यसे निर्भय होकर बोले ॥ ४७ ॥

तवार्जुनो नानुमते ब्रह्मबन्धो रणाजिरम् ।
प्रविष्टः स हि दुर्धर्षः शक्रस्यापि विशेद् बलम्॥ ४८ ॥

'ब्रह्मबन्धो ! अर्जुन तुम्हारी अनुमतिसे इस समराङ्गणमें नहीं प्रविष्ट हुए हैं । वे तो दुर्जय हैं । देवराज इन्द्रकी सेनामें भी घुस सकते हैं ॥ ४८ ॥

तेन वै परमां पूजां कुर्वता मानितो ह्यसि ।
नार्जुनोऽहं घृणी द्रोण भीमसेनोऽस्मि ते रिपुः ॥ ४९ ॥

'उन्होंने तुम्हारी बड़ी पूजा करके निश्चय ही तुम्हें सम्मान दिया है, परंतु द्रोण ! मैं दयालु अर्जुन नहीं हूँ । मैं तो तुम्हारा शत्रु भीमसेन हूँ ॥ ४९ ॥

पिता नस्त्वं गुरुर्बन्धुस्तथा पुत्रास्तु ते वयम् ।
इति मन्यामहे सर्वे भवन्तं प्रणताः स्थिताः ॥ ५० ॥

'तुम हमारे पिता, गुरु और बन्धु हो और हम तुम्हारे पुत्रके तुल्य हैं। हम सब लोग यही मानते हैं और सदा तुम्हारे सामने प्रणतभावसे खड़े होते हैं ॥ ५० ॥

अद्य तद्विपरीतं ते वदतोऽस्मासु दृश्यते।
यदि त्वं शत्रुमात्मानं मन्यसे तत्तथास्त्विह ॥ ५१ ॥
एष ते सदृशं शत्रोः कर्म भीमः करोम्यहम्।

'परंतु आज तुम्हारे मुँहसे जो बात निकल रही है, उससे हमलोगोंपर तुम्हारा विपरीत भाव लक्षित होता है। यदि तुम अपने आपको शत्रु मानते हो तो ऐसा ही सही। यह मैं भीमसेन तुम्हारे शत्रुके अनुरूप कर्म कर रहा हूँ' ॥ ५१½ ॥

अथोद्भ्राम्य गदां भीमः कालदण्डमिवान्तकः ॥ ५२ ॥
द्रोणाय व्यसृजद् राजन् स रथादवपुप्लुवे।

राजन्! ऐसा कहकर भीमसेनने गदा उठा ली, मानो यमराजने कालदण्ड हाथमें ले लिया हो। उन्होंने उस गदाको घुमाकर द्रोणाचार्यपर दे मारा, किंतु द्रोणाचार्य शीघ्र ही रथसे कूद पड़े ॥ ५२½ ॥

साश्वसूतध्वजं यानं द्रोणस्यापोथयत् तदा ॥ ५३ ॥
प्रामृद्नाच्च बहून् योधान् वायुर्वृक्षानिवौजसा।

जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार उस गदाने उस समय घोड़े, सारथि और ध्वजसहित द्रोणाचार्यके रथको चूर-चूर कर दिया और बहुत-से योद्धाओंको भी धूलमें मिला दिया ॥ ५३½ ॥

तं पुनः परिवव्रुस्ते तव पुत्रा रथोत्तमम् ॥ ५४ ॥
अन्यं तु रथमास्थाय द्रोणः प्रहरतां वरः।
व्यूहद्वारं समासाद्य युद्धाय समुपस्थितः ॥ ५५ ॥

उस समय उस श्रेष्ठ महारथी वीरको आपके पुत्रोंने पुनः आकर चारों ओरसे घेर लिया। योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य दूसरे रथपर बैठकर व्यूहके द्वारपर आ पहुँचे और युद्धके लिये उद्यत हो गये ॥ ५४-५५ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः पराक्रमी।
अग्रतः स्यन्दनानीकं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५६ ॥

महाराज! तब क्रोधमें भरे हुए पराक्रमी भीमसेनने सामने खड़ी हुई रथसेनापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

ते वध्यमानाः समरे तव पुत्रा महारथाः।
भीमं भीमबला युद्धे योधयन्ति जयैषिणः ॥ ५७ ॥

युद्धस्थलमें भयंकर बलशाली विजयाभिलाषी आपके महारथी पुत्र बाणोंकी मार खाकर भी समराङ्गणमें भीमसेनके साथ युद्ध करते रहे ॥ ५७ ॥

ततो दुःशासनः क्रुद्धो रथशक्तिं समाक्षिपत्।
सर्वपारसवीं तीक्ष्णां जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ५८ ॥

उस समय कुपित हुए दुःशासनने पाण्डुनन्दन भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके ऊपर एक तीखी रथशक्ति चलायी, जो सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई थी ॥ ५८ ॥

आपतन्तीं महाशक्तिं तव पुत्रप्रणोदिताम्।
द्विधा चिच्छेद तां भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५९ ॥

आपके पुत्रकी चलायी हुई उस महाशक्तिको अपने ऊपर आती देख भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ५९ ॥

अथान्यैर्विशिखैस्तीक्ष्णैः संक्रुद्धः कुण्डभेदिनम्।
सुषेणं दीर्घनेत्रं च त्रिभिस्त्रीनवधीद् बली ॥ ६० ॥

फिर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् भीमने दूसरे तीन तीखे बाणोंद्वारा कुण्डभेदी, सुषेण तथा दीर्घलोचन (दीर्घरोमा)—इन तीनोंको मार डाला (जो आपके पुत्र थे) ॥ ६० ॥

ततो वृन्दारकं वीरं कुरूणां कीर्तिवर्धनम्।
पुत्राणां तव वीराणां युध्यतामवधीत् पुनः ॥ ६१ ॥

तत्पश्चात् आपके (अन्य) वीर पुत्रोंके युद्ध करते रहनेपर भी उन्होंने पुनः कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले वीर वृन्दारकका वध कर दिया ॥ ६१ ॥

अभयं रौद्रकर्माणं दुर्विमोचनमेव च।
त्रिभिस्त्रीनवधीद् भीमः पुनरेव सुतांस्तव ॥ ६२ ॥

इसके बाद भीमने पुनः तीन बाण मारकर अभय, रौद्रकर्मा तथा दुर्विमोचन (दुर्विरोचन)—आपके इन तीन पुत्रोंको भी मार गिराया ॥ ६२ ॥

वध्यमाना महाराज पुत्रास्तव बलीयसा।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ६३ ॥

महाराज! अत्यन्त बलवान् भीमसेनके बाणोंसे घायल होते हुए आपके पुत्रोंने योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनको फिर चारों ओरसे घेर लिया ॥ ६३ ॥

ते शरैर्भीमकर्माणं ववर्षुः पाण्डवं युधि।
मेघा इवातपापाये धाराभिर्धरणीधरम् ॥ ६४ ॥

जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघ पर्वतपर जलधाराओंकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार वे आपके पुत्र युद्धस्थलमें भयंकर कर्म करनेवाले पाण्डुपुत्र भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥६४॥

स तद् बाणमयं वर्षमश्मवर्षमिवाचलः।
प्रतीच्छन् पाण्डुदायादो न प्राव्यथत शत्रुहा ॥ ६५ ॥

जैसे पत्थरोंकी वर्षा ग्रहण करते हुए पर्वतको कोई पीड़ा नहीं होती, उसी प्रकार शत्रुसूदन पाण्डुपुत्र भीमसेन उस बाण वर्षाको सहन करते हुए भी व्यथित नहीं हुए ॥ ६५ ॥

विन्दानुविन्दौ सहितौ सुवर्माणं च ते सुतम्।
प्रहसन्नेव कौन्तेयः शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ६६ ॥

कुन्तीनन्दन भीमने हँसते हुए ही अपने बाणोंद्वारा एक साथ आये हुए दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको तथा आपके पुत्र सुवर्माको भी यमलोक पहुँचा दिया ॥ ६६ ॥

ततः सुदर्शनं वीरं पुत्रं ते भरतर्षभ ।
विव्याध समरे तूर्णं स पपात ममार च ॥ ६७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने समरभूमिमें आपके वीर पुत्र सुदर्शन (उर्णनाभ) को घायल कर दिया । इससे वह तुरंत ही गिरा और मर गया ॥ ६७ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन तद्रथानीकमाशुगैः ।
दिशः सर्वाः समालोक्य व्यधमत् पाण्डुनन्दनः ॥६८॥

इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीमसेनने सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिपात करके अपने बाणोंद्वारा थोड़े ही समयमें उस रथ-सेनाको नष्ट कर दिया ॥ ६८ ॥

ततो वै रथघोषेण गर्जितेन मृगा इव ।
भज्यमानाश्च समरे तव पुत्रा विशाम्पते ॥ ६९ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर भीमसेनके रथकी घरघराहट और गर्जनासे समराङ्गणमें मृगोंके समान भयभीत हुए आपके पुत्रोंका उत्साह भंग हो गया ॥ ६९ ॥

प्राद्रवन् सहसा सर्वे भीमसेनभयार्दिताः ।
अनुयायाच्च कौन्तेयः पुत्राणां ते महद् बलम् ॥ ७० ॥

वे सब-के-सब भीमसेनके भयसे पीड़ित हो सहसा भाग खड़े हुए । कुन्तीकुमार भीमसेनने आपके पुत्रोंकी विशाल सेनाका दूरतक पीछा किया ॥ ७० ॥

विव्याध समरे राजन् कौरवेयान् समन्ततः ।
वध्यमाना महाराज भीमसेनेन तावकाः ॥ ७१ ॥
त्यक्त्वा भीमं रणाज्जग्मुश्चोदयन्तो हयोत्तमान् ।

राजन् ! उन्होंने रणक्षेत्रमें सब ओर कौरवोंको घायल किया । महाराज ! भीमसेनके द्वारा मारे जाते हुए आपके सभी पुत्र उन्हें छोड़कर अपने उत्तम घोड़ोंको हाँकते हुए रणभूमिसे दूर चले गये ॥ ७१½ ॥

तांस्तु निर्जित्य समरे भीमसेनो महाबलः ॥ ७२ ॥
सिंहनादरवं चक्रे बाहुशब्दं च पाण्डवः ।

उन सबको संग्राममें पराजित करके महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने अपनी भुजाओंपर ताल ठोकी और सिंहके समान गर्जना की ॥ ७२½ ॥

तलशब्दं च सुमहत् कृत्वा भीमो महाबलः ॥ ७३ ॥
भीषयित्वा रथानीकं हत्वा योधान् वरान् वरान् ।
व्यतीत्य रथिनश्चापि द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥ ७४ ॥

बड़े जोरसे ताली बजाकर महाबली भीमने रथसेनाको डरा दिया और श्रेष्ठ-श्रेष्ठ योद्धाओंको चुन-चुनकर मारा । फिर समस्त रथियोंको लाँघकर द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा बोल दिया ॥ ७३-७४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमसेनप्रवेशे भीमपराक्रमे सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनका प्रवेश और भयंकर पराक्रमविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका द्रोणाचार्य और अन्य कौरव योद्धाओंको पराजित करते हुए द्रोणाचार्यके रथको आठ बार फेंक देना तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके समीप पहुँचकर गर्जना करना तथा युधिष्ठिरका प्रसन्न होकर अनेक प्रकारकी बातें सोचना

संजय उवाच

समुत्तीर्णं रथानीकं पाण्डवं विहसन् रणे ।
विवारयिषुराचार्यः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! रथसेनाको पार करके आये हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनको युद्धमें रोकनेकी इच्छासे आचार्य द्रोणने हँसते-हँसते उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥१॥

पिबन्निव शरौघांस्तान् द्रोणचापपरिच्युतान् ।
सोऽभ्यद्रवत सोदर्यान् मोहयन् बलमायया ॥ २ ॥

द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको पीते हुए-से भीमसेन अपने बलकी मायासे समस्त कौरव बन्धुओंको मोहित करते हुए उनपर टूट पड़े ॥ २ ॥

तं मृधे वेगमास्थाय नृपाः परमधन्विनः ।
चोदितास्तव पुत्रैश्च सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उस समय आपके पुत्रोंद्वारा प्रेरित हुए बहुत-से महाधनुर्धर नरेशोंने महान् वेगका आश्रय ले युद्धस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे घेर लिया ॥ ३ ॥

स तैस्तु संवृतो भीमः प्रहसन्निव भारत ।
उद्यच्छन् स गदां तेभ्यः सुघोरां सिंहवन्नदन् ।
अवासृजच्च वेगेन शत्रुपक्षविनाशिनीम् ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! उनसे घिरे हुए भीमने हँसते हुए-से अपनी अत्यन्त भयंकर गदा ऊपर उठायी और सिंहनाद करते हुए उन्होंने शत्रुपक्षका विनाश करनेवाली उस गदाको बड़े वेगसे उन राजाओंपर दे मारा ॥ ४ ॥

इन्द्राशनिरिवेन्द्रेण प्रविद्धा संहतात्मना ।
प्रामथ्नात् सा महाराज सैनिकांस्तव संयुगे ॥ ५ ॥

महाराज ! सुस्थिरचित्तवाले इन्द्र जिस प्रकार अपने वज्र-

कः प्रयोग करते हैं, उसी तरह भीमसेनद्वारा चलायी हुई उस गदाने युद्धस्थलमें आपके सैनिकोंका कचूमर निकाल दिया ॥ ५ ॥

घोषेण महता राजन् पूरयन्तीव मेदिनीम् ।
ज्वलन्ती तेजसा भीमा त्रासयामास ते सुतान् ॥ ६ ॥

राजन् ! तेजसे प्रज्वलित होनेवाली उस भयंकर गदाने अपने महान् घोषसे इस पृथ्वीको परिपूर्ण करके आपके पुत्रोंको भयभीत कर दिया ॥ ६ ॥

तां पतन्तीं महावेगां दृष्ट्वा तेजोऽभिसंवृताम् ।
प्राद्रवंस्तावकाः सर्वे नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ ७ ॥

उस महावेगशालिनी तेजस्विनी गदाको गिरती देख आपके समस्त सैनिक घोर स्वरमें आर्तनाद करते हुए वहाँसे भाग गये ॥ ७ ॥

तं च शब्दमसह्यं वै तस्याः संलक्ष्य मारिष ।
प्रापतन्मनुजास्तत्र रथेभ्यो रथिनस्तदा ॥ ८ ॥

माननीय नरेश ! उस गदाके असह्य शब्दको सुनकर उस समय कितने ही रथी मानव अपने रथोंसे नीचे गिर पड़े ॥

ते हन्यमाना भीमेन गदाहस्तेन तावकाः ।
प्राद्रवन्त रणे भीता व्याघ्रघ्राता मृगा इव ॥ ९ ॥

रणभूमिमें गदाधारी भीमके द्वारा मारे जानेवाले आपके सैनिक व्याघ्रोंके सूँघे हुए मृगोंके समान भयभीत होकर भाग निकले ॥ ९ ॥

स तान् विद्राव्य कौन्तेयः संख्येऽमित्रान् दुरासदान् ।
सुपर्ण इव वेगेन पक्षिराडत्यगाच्चमूम् ॥ १० ॥

कुन्तीकुमार भीमसेन युद्धस्थलमें उन दुर्जय शत्रुओंको भगाकर पक्षिराज गरुडके समान वेगसे उस सेनाको लाँघ गये ॥ १० ॥

तथा तु विप्रकुर्वाणं रथयूथपयूथपम् ।
भारद्वाजो महाराज भीमसेनं समभ्ययात् ॥ ११ ॥

महाराज ! रथयूथपतियोंके भी यूथपति भीमसेनको इस प्रकार सेनाका संहार करते देख द्रोणाचार्य उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ११ ॥

भीमं तु समरे द्रोणो वारयित्वा शरोर्मिभिः ।
अकरोत् सहसा नादं पाण्डूनां भयमादधत् ॥ १२ ॥

उस समराङ्गणमें अपने बाणरूपी तरङ्गोंसे भीमसेनको रोककर आचार्य द्रोणने पाण्डवोंके मनमें भय उत्पन्न करते हुए सहसा सिंहनाद किया ॥ १२ ॥

तद् युद्धमासीत् सुमहद् घोरं देवासुरोपमम् ।
द्रोणस्य च महाराज भीमस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

महाराज ! द्रोणाचार्य तथा महामनस्वी भीमसेनका वह महान् युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ १३ ॥

यदा तु विशिखैस्तीक्ष्णैर्द्रोणचापविनिःसृतैः ।
वध्यन्ते समरे वीराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥
ततो रथादवप्लुत्य वेगमास्थाय पाण्डवः ।
निमील्य नयने राजन् पदातिर्द्रोणमभ्ययात् ॥ १५ ॥
अंसे शिरो भीमसेनः करौ कृत्वोरसि स्थिरौ ।
वेगमास्थाय बलवान् मनोऽनिलगरुत्मताम् ॥ १६ ॥

राजन् ! जब इस प्रकार द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए पैने बाणोंद्वारा समराङ्गणमें सैकड़ों और हजारों वीर मारे जाने लगे, तब बलवान् पाण्डुनन्दन भीम वेगपूर्वक रथसे कूद पड़े तथा दोनों नेत्र मूँदकर सिरको कंधेपर सिकोड़कर दोनों हाथोंको छातीपर सुस्थिर करके मन, वायु तथा गरुडके समान वेगका आश्रय ले पैदल ही द्रोणाचार्यकी ओर दौड़े ॥ १४–१६ ॥

यथा हि गोवृषो वर्षं प्रतिगृह्णाति लीलया ।
तथा भीमो नरव्याघ्रः शरवर्षं समग्रहीत् ॥ १७ ॥

जैसे साँड़ लीलापूर्वक वर्षाका वेग अपने शरीरपर ग्रहण करता है, उसी प्रकार पुरुषसिंह भीमसेनने आचार्यकी उस बाण-वर्षाको अपने शरीरपर ग्रहण किया ॥ १७ ॥

स वध्यमानः समरे रथं द्रोणस्य मारिष ।
ईषायां पाणिना गृह्य प्रचिक्षेप महाबलः ॥ १८ ॥

आर्य ! समराङ्गणमें बाणोंसे आहत होते हुए महाबली भीमने द्रोणाचार्यके रथके ईषादण्डको हाथसे पकड़कर समूचे रथको दूर फेंक दिया ॥ १८ ॥

द्रोणस्तु सत्वरो राजन् क्षिप्तो भीमेन संयुगे ।
रथमन्यं समारुह्य व्यूहद्वारं ययौ पुनः ॥ १९ ॥

राजन् ! उस युद्धस्थलमें भीमसेनद्वारा फेंके गये आचार्य द्रोण तुरंत ही दूसरे रथपर आरूढ़ हो पुनः व्यूहके द्वारपर जा पहुँचे ॥ १९ ॥

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा भग्नोत्साहं गुरुं तदा ।
गत्वा वेगात् पुनर्भीमो धुरं गृह्य रथस्य तु ॥ २० ॥
तमप्यतिरथं भीमश्चिक्षेप भृशरोषितः ।
एवमष्टौ रथाः क्षिप्ता भीमसेनेन लीलया ॥ २१ ॥

उस समय गुरु द्रोणका उत्साह भंग हो गया था । उन्हें उस अवस्थामें आते देख भीमने पुनः वेगपूर्वक आगे बढ़कर उनके रथकी धुरी पकड़ ली और अत्यन्त रोषमें भरकर उन अतिरथी वीर द्रोणको भी पुनः रथके साथ ही फेंक दिया । इस प्रकार भीमसेनने खेल-सा करते हुए आठ रथ फेंके ॥ २०–२१ ॥

व्यदृश्यत निमेषेण पुनः स्वरथमास्थितः ।
दृश्यते तावकैर्योधैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ॥ २२ ॥

परंतु द्रोणाचार्य पुनः पलक मारते-मारते अपने रथपर बैठे दिखायी देते थे । उस समय आपके योद्धा विस्मयसे

भीमसेनके द्वारा द्रोणाचार्यके रथको दूर फेंकनेका उपक्रम

आँखें फाड़-फाड़कर यह दृश्य देख रहे थे ॥ २२ ॥

तस्मिन् क्षणे तस्य यन्ता तूर्णमश्वानचोदयत् ।
भीमसेनस्य कौरव्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! इसी समय भीमसेनका सारथि तुरंत ही घोड़ोंको हाँककर वहाँ ले आया । वह एक अद्भुत-सी बात थी॥

ततः स्वरथमास्थाय भीमसेनो महाबलः ।
अभ्यद्रवत वेगेन तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् महाबली भीमसेन पुनः अपने रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्रकी सेनापर वेगपूर्वक टूट पड़े ॥ २४ ॥

स मृद्नन् क्षत्रियानाजौ वातो वृक्षानिवोद्धतः ।
आगच्छद् दारयन् सेनां सिन्धुवेगो नगानिव॥ २५ ॥

जैसे उठी हुई आँधी वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है और सिंधुका वेग पर्वतोंको विदीर्ण कर देता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें क्षत्रियोंको रौंदते और कौरव-सेनाको विदीर्ण करते हुए भीमसेन आगे बढ़ गये ॥ २५ ॥

भोजानीकं समासाद्य हार्दिक्येनाभिरक्षितम् ।
प्रमथ्य तरसा वीरस्तदप्यतिबलोऽभ्ययात् ॥ २६ ॥

फिर अत्यन्त बलशाली वीर भीमसेन कृतवर्माद्वारा सुरक्षित भोजवंशियोंकी सेनाके पास जा पहुँचे और उसे वेगपूर्वक मथकर आगे चले गये ॥ २६ ॥

संत्रासयन्ननीकानि तलशब्देन पाण्डवः ।
अजयत् सर्वसैन्यानि शार्दूल इव गोवृषान् ॥ २७ ॥

जैसे सिंह गाय-बैलोंको जीत लेता है, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन भीमने ताली बजाकर शत्रुसेनाओंको संत्रस्त करते हुए समस्त सैनिकोंपर विजय पा ली ॥ २७ ॥

भोजानीकमतिक्रम्य दरदानां च वाहिनीम् ।
तथा म्लेच्छगणानन्यान् बहून् युद्धविशारदान्॥ २८ ॥
सात्यकिं चैव सम्प्रेक्ष्य युध्यमानं महारथम् ।
रथेन यत्तः कौन्तेयो वेगेन प्रययौ तदा ॥ २९ ॥

उस समय कुन्तीकुमार भीमसेन भोजवंशियोंकी सेनाको लाँघकर दरदोंकी विशाल वाहिनीको पार कर गये तथा बहुत-से युद्धविशारद म्लेच्छोंको परास्त करके महारथी सात्यकिको शत्रुओंके साथ युद्ध करते देख सावधान हो रथके द्वारा वेगपूर्वक आगे बढ़े ॥

भीमसेनो महाराज द्रष्टुकामो धनंजयम् ।
अतीत्य समरे योधांस्तावकान् पाण्डुनन्दनः ॥ ३० ॥

महाराज ! अर्जुनको देखनेकी इच्छा लिये पाण्डुनन्दन भीमसेन समराङ्गणमें आपके योद्धाओंको लाँघते हुए वहाँ पहुँचे थे ॥ ३० ॥

सोऽपश्यदर्जुनं तत्र युध्यमानं महारथम् ।
सैन्धवस्य वधार्थं हि पराक्रान्तं पराक्रमी ॥ ३१ ॥

पराक्रमी भीमने वहाँ सिंधुराजके वधके लिये पराक्रम करते हुए युद्धतत्पर महारथी अर्जुनको देखा ॥ ३१ ॥

तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रश्चुक्रोश महतो रवान् ।
प्रावृट्काले महाराज नर्दन्निव बलाहकः ॥ ३२ ॥

महाराज ! उन्हें देखते ही पुरुषसिंह भीमने वर्षाकालमें गरजते हुए मेघके समान बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३२ ॥

तं तस्य निनदं घोरं पार्थः शुश्राव नर्दतः ।
वासुदेवश्च कौरव्य भीमसेनस्य संयुगे ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! गरजते हुए भीमसेनके उस भयंकर सिंहनादको युद्धस्थलमें कुन्तीकुमार अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्णने सुना ॥ ३३ ॥

तौ श्रुत्वा युगपद् वीरौ निनदं तस्य शुष्मिणः ।
पुनः पुनः प्राणदतां दिदृक्षन्तौ वृकोदरम् ॥ ३४ ॥

उस महाबली वीरके सिंहनादको एक ही साथ सुनकर उन दोनों वीरोंने भीमसेनको देखनेकी इच्छा प्रकट करते हुए बारंबार गर्जना की ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महानादं मुञ्चन् वै माधवश्च ह ।
अभ्ययातां महाराज नर्दन्तौ गोवृषाविव ॥ ३५ ॥

महाराज ! गरजते हुए दो साँड़ोंके समान अर्जुन और श्रीकृष्ण महान् सिंहनाद करते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनरवं श्रुत्वा फाल्गुनस्य च धन्विनः ।
अप्रीयत महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! भीमसेन तथा धनुर्धर अर्जुनकी गर्जना सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥

विशोकश्चाभवद् राजा श्रुत्वा तं निनदं तयोः ।
धनंजयस्य समरे जयमाशास्तवान् विभुः ॥ ३७ ॥

उन दोनोंका सिंहनाद सुनकर राजाका शोक दूर हो गया । वे शक्तिशाली नरेश समरभूमिमें अर्जुनकी विजयके लिये शुभ कामना करने लगे ॥ ३७ ॥

तथा तु नर्दमाने वै भीमसेने मदोत्कटे ।
स्मितं कृत्वा महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
हृद्गतं मनसा प्राह ध्यात्वा धर्मभृतां वरः ।

मदोन्मत्त भीमसेनके बारंबार गर्जना करनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मुसकराकर मन-ही-मन कुछ सोचते हुए अपने हृदयकी बात इस प्रकार कहने लगे—॥

दत्ता भीम त्वया संवित् कृतं गुरुवचस्तथा ॥ ३९ ॥
न हि तेषां जयो युद्धे येषां द्वेष्टासि पाण्डव ।
दिष्ट्या जीवति संग्रामे सव्यसाची धनंजयः ॥ ४० ॥

'भीम ! तुमने सूचना दे दी और गुरुजनकी आज्ञाका पालन कर दिया । पाण्डुनन्दन ! जिनके शत्रु तुम हो, उन्हें युद्धमें विजय नहीं प्राप्त हो सकती । सौभाग्यकी बात है कि संग्रामभूमिमें सव्यसाची अर्जुन जीवित है ॥ ३९-४० ॥

दिष्ट्या च कुशली वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः।
दिष्ट्या शृणोमि गर्जन्तौ वासुदेवधनंजयौ ॥ ४१ ॥

'यह भी आनन्दकी बात है कि सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि सकुशल हैं। मैं सौभाग्यवश इस समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी गर्जना सुन रहा हूँ ॥ ४१ ॥

येन शक्रं रणे जित्वा तर्पितो हव्यवाहनः।
स हन्ता द्विषतां संख्ये दिष्ट्या जीवति फाल्गुनः॥४२॥

'जिसने रणक्षेत्रमें इन्द्रको जीतकर अग्निदेवको तृप्त किया था, वह शत्रुहन्ता अर्जुन मेरे सौभाग्यसे युद्धस्थलमें जीवित है ॥ ४२ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे वयमाश्रित्य जीविताः।
स हन्ता रिपुसैन्यानां दिष्ट्या जीवति फाल्गुनः॥४३॥

'जिसके बाहुबलका भरोसा करके हम सब लोग जीवन धारण करते हैं, शत्रुसेनाओंका संहार करनेवाला वह अर्जुन हमारे सौभाग्यसे जीवित है ॥ ४३ ॥

निवातकवचा येन देवैरपि सुदुर्जयाः।
निर्जिता धनुषैकेन दिष्ट्या पार्थः स जीवति ॥ ४४ ॥

'जिसने देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय निवातकवच नामक दानवोंको एकमात्र धनुषकी सहायतासे जीत लिया था, वह कुन्तीकुमार अर्जुन हमारे भाग्यसे जीवित है ॥

कौरवान् सहितान् सर्वान् गोग्रहार्थे समागतान्।
योऽजयन्मत्स्यनगरे दिष्ट्या पार्थः स जीवति ॥ ४५ ॥

'विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये एक साथ आये हुए समस्त कौरवोंको जिसने मत्स्य देशकी राजधानीके समीप पराजित किया था, वह पार्थ जीवित है, यह सौभाग्यकी बात है ॥ ४५ ॥

कालकेयसहस्राणि चतुर्दश महारणे।
योऽवधीद् भुजवीर्येण दिष्ट्या पार्थः स जीवति ॥४६॥

'जिसने महासमरमें अपने बाहुबलसे चौदह हजार कालकेय नामक दैत्योंका वध किया था, वह अर्जुन हमारे भाग्यसे जीवित है ॥ ४६ ॥

गन्धर्वराजं बलिनं दुर्योधनकृते च वै।
जितवान् योऽस्त्रवीर्येण दिष्ट्या पार्थः स जीवति ॥४७॥

'जिसने अपने अस्त्र-बलसे दुर्योधनके लिये बलवान् गन्धर्वराज चित्रसेनको परास्त किया था, वह पार्थ सौभाग्यवश जीवित है ॥ ४७ ॥

किरीटमाली बलवाञ्छ्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
मम प्रियश्च सततं दिष्ट्या पार्थः स जीवति ॥ ४८ ॥

'जिसके मस्तकपर किरीट शोभा पाता है, जिसके रथमें श्वेत घोड़े जोते जाते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जिसके सारथि हैं तथा जो सदा ही मुझे प्रिय लगता है, वह बलवान् अर्जुन अभी जीवित है, यह सौभाग्यकी बात है ॥ ४८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तश्चिकीर्षन् कर्म दुष्करम्।
जयद्रथवधान्वेषी प्रतिज्ञां कृतवान् हि यः ॥ ४९ ॥
कच्चित् स सैन्धवं संख्ये हनिष्यति धनंजयः।
कच्चित् तीर्णप्रतिज्ञं हि वासुदेवेन रक्षितम् ॥ ५० ॥
अनस्तमित आदित्ये समेष्याम्यहमर्जुनम्।

'जिसने पुत्रशोकसे संतप्त हो दुष्कर कर्म करनेकी इच्छा रखकर जयद्रथके वधकी अभिलाषासे भारी प्रतिज्ञा कर ली है, वह अर्जुन क्या आज युद्धमें सिंधुराजको मार डालेगा ? क्या सूर्यास्त होनेसे पहले ही प्रतिज्ञा पूर्ण करके लौटे हुए, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित अर्जुनसे मैं मिल सकूँगा ? ॥ ४९–५०½ ॥

कच्चित् सैन्धवको राजा दुर्योधनहिते रतः ॥ ५१ ॥
नन्दयिष्यत्यमित्रान् हि फाल्गुनेन निपातितः।

'क्या दुर्योधनके हितमें तत्पर रहनेवाला राजा जयद्रथ अर्जुनके हाथसे मारा जाकर शत्रुपक्षको आनन्दित करेगा ? ॥

कच्चिद् दुर्योधनो राजा फाल्गुनेन निपातितम् ॥ ५२ ॥
दृष्ट्वा सैन्धवकं संख्ये शममस्मासु धास्यति।

'क्या युद्धमें सिंधुराजको अर्जुनके हाथसे मारा गया देखकर राजा दुर्योधन हमारे साथ संधि कर लेगा ?॥५२½॥

दृष्ट्वा विनिहतान् भ्रातॄन् भीमसेनेन संयुगे ॥ ५३ ॥
कच्चिद् दुर्योधनो मन्दः शममस्मासु धास्यति।

'क्या मूर्ख दुर्योधन संग्रामभूमिमें भीमसेनके हाथसे अपने भाइयोंका वध होता देखकर हमारे साथ संधि कर लेगा ?॥

दृष्ट्वा चान्यान् महायोधान् पातितान् धरणीतले।
कच्चिद् दुर्योधनो मन्दः पश्चात्तापं गमिष्यति ॥ ५४ ॥

'अन्यान्य बड़े-बड़े योद्धाओंको भी धराशायी किये गये देखकर क्या मन्दबुद्धि दुर्योधनको पश्चात्ताप होगा ? ॥५४॥

कच्चिद् भीष्मेण नो वैरं शममेकेन यास्यति।
शेषस्य रक्षणार्थं च संधास्यति सुयोधनः ॥ ५५ ॥

'क्या एकमात्र भीष्मकी मृत्युसे हमलोगोंका वैर शान्त हो जायगा ? क्या शेष वीरोंकी रक्षाके लिये दुर्योधन हमारे साथ संधि कर लेगा ?' ॥ ५५ ॥

एवं बहुविधं तस्य राज्ञश्चिन्तयतस्तदा।
कृपयाभिपरीतस्य घोरं युद्धमवर्तत ॥ ५६ ॥

इस प्रकार राजा युधिष्ठिर जब दयासे द्रवित होकर भाँति-भाँतिकी बातें सोच रहे थे, उस समय दूसरी ओर घोर युद्ध हो रहा था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमसेनप्रवेशे युधिष्ठिरहर्षे अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनका कौरव-सेनामें प्रवेश तथा युधिष्ठिरका हर्षविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका युद्ध तथा कर्णकी पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

निनदन्तं तथा तं तु भीमसेनं महाबलम्।
मेघस्तनितनिर्घोषं के वीराः पर्यवारयन्॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करते हुए महाबली भीमसेनको किन वीरोंने रोका ? ॥ १ ॥

न हि पश्याम्यहं तं वै त्रिषु लोकेषु कंचन।
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य यस्तिष्ठेदग्रतो रणे॥ २॥

मैं तो तीनों लोकोंमें किसीको ऐसा नहीं देखता, जो क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके सामने युद्धस्थलमें खड़ा हो सके॥

गदां युयुत्समानस्य कालस्येवेह संजय।
न हि पश्याम्यहं युद्धे यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान्॥ ३॥

संजय ! मुझे ऐसा कोई वीर पुरुष नहीं दिखायी देता, जो कालके समान गदा उठाकर युद्धकी इच्छा रखनेवाले भीमसेनके सामने समरभूमिमें ठहर सके ॥ ३ ॥

रथं रथेन यो हन्यात् कुञ्जरं कुञ्जरेण च।
कस्तस्य समरे स्थाता साक्षादपि पुरंदरः॥ ४॥

जो रथसे रथको और हाथीसे हाथीको मार सकता है, उस वीर पुरुषके सामने साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, कौन युद्धके लिये खड़ा होगा ? ॥ ४ ॥

क्रुद्धस्य भीमसेनस्य मम पुत्रान् जिघांसतः।
दुर्योधनहिते युक्ताः समतिष्ठन्त केऽग्रतः॥ ५॥

क्रोधमें भरकर मेरे पुत्रोंका वध करनेकी इच्छावाले भीमसेनके आगे दुर्योधनके हितमें तत्पर रहनेवाले कौन-कौन योद्धा खड़े हो सके ? ॥ ५ ॥

भीमसेनदवाग्नेस्तु मम पुत्रांस्तृणोपमान्।
प्रधक्षतो रणमुखे केऽतिष्ठन्नग्रतो नराः॥ ६॥

भीमसेन दावानलके समान हैं और मेरे पुत्र तिनकोंके समान। उन्हें जला डालनेकी इच्छावाले भीमसेनके सामने युद्धके मुहानेपर कौन-कौन-से वीर खड़े हुए ? ॥ ६ ॥

कालयमानांस्तु पुत्रान् मे दृष्ट्वा भीमेन संयुगे।
कालेनेव प्रजाः सर्वाः के भीमं पर्यवारयन्॥ ७॥

जैसे काल समस्त प्रजाको अपना ग्रास बना लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा मेरे पुत्रोंको कालके गालमें जाते देख किन वीरोंने आगे बढ़कर भीमसेनको रोका ?॥

न मेऽर्जुनाद् भयं तादृक् कृष्णान्नापि च सात्वतात्।
हुतभुग्जन्मनो नैव यादृग्भीमाद् भयं मम॥ ८॥

मुझे भीमसेनसे जैसा भय लगता है, वैसा न तो अर्जुनसे और न श्रीकृष्णसे, न सात्यकिसे और न धृष्टद्युम्नसे ही लगता है ॥ ८ ॥

भीमवह्नेः प्रदीप्तस्य मम पुत्रान् दिधक्षतः।
के शूराः पर्यवर्तन्त तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ९॥

संजय ! मेरे पुत्रोंको दग्ध करनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुए भीमरूपी अग्निदेवके सामने कौन-कौन शूरवीर डटे रह सके, यह मुझे बताओ ॥ ९ ॥

संजय उवाच

तथा तु नर्दमानं तं भीमसेनं महाबलम्।
तुमुलेनैव शब्देन कर्णोऽप्यभ्यद्रवद् बली॥ १०॥

संजयने कहा—राजन्! इस प्रकार गरजते हुए महाबली भीमसेनपर बलवान् कर्णने भयंकर सिंहनादके साथ आक्रमण किया ॥ १० ॥

व्याक्षिपन् सुमहच्चापमतिमात्रममर्षणः।
कर्णः सुयुद्धमाकाङ्क्षन् दर्शयिष्यन् बलं मृधे॥ ११॥
रुरोध मार्गं भीमस्य वातस्येव महीरुहः।

अत्यन्त अमर्षशील कर्णने रणभूमिमें अपना बल दिखानेके लिये अपने विशाल धनुषको खींचते और युद्धकी अभिलाषा रखते हुए, जैसे वृक्ष वायुका मार्ग रोकता है, उसी प्रकार भीमसेनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया ॥ ११½ ॥

भीमोऽपि दृष्ट्वा सावेगं पुरो वैकर्तनं स्थितम्॥ १२॥
चुकोप बलवच्चैरथ्रिक्षेपास्य शिलाशितान्।

वीर भीमसेन भी अपने सामने कर्णको खड़ा देख अत्यन्त कुपित हो उठे और तुरंत ही उसके ऊपर सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए बाण बलपूर्वक छोड़ने लगे ॥ १२½ ॥

तान् प्रत्यगृह्णात् कर्णोऽपि प्रतीपं प्राहिणोच्छरान्॥ १३॥

कर्णने भी उन बाणोंको ग्रहण किया और उनके विपरीत बहुत-से बाण चलाये ॥ १३ ॥

ततस्तु सर्वयोधानां यततां प्रेक्षतां तदा।
प्रावेपन्निव गात्राणि कर्णभीमसमागमे॥ १४॥

उस समय कर्ण और भीमसेनके संघर्षमें विजयके लिये प्रयत्नशील होकर देखनेवाले सम्पूर्ण योद्धाओंके शरीर काँपने-से लगे ॥ १४ ॥

रथिनां सादिनां चैव तयोः श्रुत्वा तलस्वनम्।
भीमसेनस्य निनदं श्रुत्वा घोरं रणाजिरे॥ १५॥

उन दोनोंके ताल ठोकनेकी आवाज सुनकर तथा समराङ्गणमें भीमसेनकी घोर गर्जना सुनकर रथियों और घुड़सवारोंके भी शरीर थर-थर काँपने लगे ॥ १५ ॥

खं च भूमिं च संरुद्धां मेनिरे क्षत्रियर्षभाः।
पुनर्घोरेण नादेन पाण्डवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

वहाँ आये हुए क्षत्रियशिरोमणि योद्धा महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनके बारंबार होनेवाले घोर सिंहनादसे आकाश और पृथ्वीको व्याप्त मानने लगे ॥ १६ ॥

समरे सर्वयोधानां धनूंष्यभ्यपतन् क्षितौ।
शस्त्राणि न्यपतन् दोर्भ्यः केषांचिच्चासवोऽद्रवन्॥१७॥

उस समराङ्गणमें प्रायः सम्पूर्ण योद्धाओंके धनुष तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े। कितनोंके तो प्राण ही निकल गये ॥ १७ ॥

वित्रस्तानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः।
वाहनानि च सर्वाणि बभूवुर्विमनांसि च ॥ १८ ॥
प्रादुरासन् निमित्तानि घोराणि सुबहून्युत।
गृध्रकङ्कबलैश्चासीदन्तरिक्षं समावृतम् ॥ १९ ॥
तस्मिन् सुतुमुले राजन् कर्णभीमसमागमे।

सारी सेनाके समस्त वाहन संत्रस्त होकर मल-मूत्र त्यागने लगे। उनका मन उदास हो गया। बहुत-से भयंकर अपशकुन प्रकट होने लगे। राजन्! कर्ण और भीमके उस भयंकर युद्धमें आकाश गीधों, कौवों और कंकोंसे छा गया १८-१९½

ततः कर्णस्तु विंशत्या शराणां भीममार्दयत् ॥ २० ॥
विव्याध चास्य त्वरितः सूतं पञ्चभिराशुगैः।

तदनन्तर कर्णने बीस बाणोंसे भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। फिर तुरंत ही उनके सारथिको पाँच बाणोंसे बींध डाला ॥ २०½ ॥

प्रहस्य भीमसेनोऽपि कर्णं प्रत्याद्रवद् रणे ॥ २१ ॥
सायकानां चतुःषष्ट्या क्षिप्रकारी महायशाः।

तब शीघ्रता करनेवाले महायशस्वी भीमसेनने भी हँसकर चौंसठ बाणोंद्वारा रणभूमिमें कर्णपर आक्रमण किया ॥२१½॥

तस्य कर्णो महेष्वासः सायकांश्चतुरोऽक्षिपत् ॥ २२ ॥
असम्प्राप्तांश्च तान् भीमः सायकैर्नतपर्वभिः।
चिच्छेद बहुधा राजन् दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ २३ ॥

राजन्! फिर महाधनुर्धर कर्णने चार बाण चलाये। परंतु भीमसेनने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाणोंद्वारा अपने पास आनेके पहले ही कर्णके बाणोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ २२-२३ ॥

तं कर्णश्छादयामास शरव्रातैरनेकशः।
संछाद्यमानः कर्णेन बहुधा पाण्डुनन्दनः ॥ २४ ॥
चिच्छेद चापं कर्णस्य मुष्टिदेशे महारथः।
विव्याध चैनं बहुभिः सायकैर्नतपर्वभिः ॥ २५ ॥

तब कर्णने अनेकों बार बाण-समूहोंकी वर्षा करके भीमसेनको आच्छादित कर दिया। कर्णके द्वारा बारंबार आच्छादित होते हुए पाण्डुनन्दन महारथी भीमने कर्णके धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया और झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥ २४-२५ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सज्यं कृत्वा च सूतजः।
विव्याध समरे भीमं भीमकर्मा महारथः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् भयंकर कर्म करनेवाले महारथी सूतपुत्र कर्णने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और समरभूमिमें भीमसेनको घायल कर दिया ॥ २६ ॥

तस्य भीमो भृशं क्रुद्धस्त्रीञ्शरान् नतपर्वणः।
निचखानोरसि क्रुद्धः सूतपुत्रस्य वेगतः ॥ २७ ॥

तब भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने वेगपूर्वक सूतपुत्रकी छातीमें झुकी हुई गाँठवाले तीन बाण धँसा दिये ॥

तैः कर्णोऽराजत शरैरुरोमध्यगतैस्तदा।
महीधर इवोदग्रस्त्रिशृङ्गो भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! ठीक छातीके बीचमें गड़े हुए उन बाणोंद्वारा कर्ण तीन शिखरोंवाले ऊँचे पर्वतके समान सुशोभित हुआ ॥ २८ ॥

सुस्राव चास्य रुधिरं विद्धस्य परमेषुभिः।
धातुप्रस्यन्दिनः शैलाद् यथा गैरिकधातवः ॥ २९ ॥

उन उत्तम बाणोंसे बिंधे हुए कर्णकी छातीसे बहुत रक्त गिरने लगा, मानो धातुकी धाराएँ बहानेवाले पर्वतसे गैरिक धातु (गेरु) प्रवाहित हो रहा हो ॥ २९ ॥

किंचिद् विचलितः कर्णः सुप्रहाराभिपीडितः।
आकर्णपूर्णमाकृष्य भीमं विव्याध सायकैः ॥ ३० ॥

उस गहरे प्रहारसे पीड़ित हो कर्ण कुछ विचलित हो उठा। फिर धनुषको कानतक खींचकर उसने अनेक बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ॥ ३० ॥

चिक्षेप च पुनर्बाणाञ्शतशोऽथ सहस्रशः।
स शरैरर्दितस्तेन कर्णेन दृढधन्विना।
धनुर्ज्यामच्छिनत् तूर्णं भीमस्तस्य क्षुरेण ह ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् उनपर पुनः सैकड़ों और हजारों बाणोंका प्रहार किया। सुदृढ़ धनुर्धर कर्णके बाणोंसे पीड़ित हो भीमसेनने एक क्षुरके द्वारा तुरंत ही उसके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट दी ॥ ३१ ॥

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत्।
वाहांश्च चतुरस्तस्य व्यसूंश्चक्रे महारथः ॥ ३२ ॥

साथ ही उसके सारथिको एक भल्लसे मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया। इतना ही नहीं, महारथी भीमने उसके चारों घोड़ोंके भी प्राण ले लिये ॥ ३२ ॥

हताश्वात् तु रथात् कर्णः समाप्लुत्य विशाम्पते।
स्यन्दनं वृषसेनस्य तूर्णमापुप्लुवे भयात् ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! उस समय कर्ण भयके मारे उस अश्वहीन रथसे कूदकर तुरंत ही वृषसेनके रथपर जा बैठा ॥ ३३ ॥

निर्जित्य तु रणे कर्णं भीमसेनः प्रतापवान् ।
ननाद बलवान् नादं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार बलवान् एवं प्रतापी भीमसेनने रणभूमिमें कर्णको पराजित करके मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद किया ॥ ३४ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा प्रहृष्टोऽभूद् युधिष्ठिरः ।
कर्णं पराजितं मत्वा भीमसेनेन संयुगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनका वह महान् सिंहनाद सुनकर उनके द्वारा युद्धमें कर्णको पराजित हुआ जान राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३५ ॥

समन्ताच्छङ्खनिनदं पाण्डुसेनाकरोत् तदा ।
शत्रुसेनाध्वनिं श्रुत्वा तावका ह्यनदन् भृशम् ॥ ३६ ॥

उस समय पाण्डव-सेना सब ओर शङ्खनाद करने लगी। शत्रुसेनाकी शङ्खध्वनि सुनकर आपके सैनिक भी जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ३६ ॥

स शङ्खबाणनिनदैर्हर्षाद् राजा स्ववाहिनीम् ।
चक्रे युधिष्ठिरः संख्ये हर्षनादैश्च संकुलाम् ॥ ३७ ॥

राजा युधिष्ठिरने युद्धस्थलमें हर्षके कारण अपनी सेनाको शङ्ख और बाणोंकी ध्वनि तथा हर्षनादसे व्याप्त कर दिया ॥

गाण्डीवं व्याक्षिपत् पार्थः कृष्णोऽप्यब्जमवादयत्।
तमन्तर्धाय निनदं भीमस्य नदतो ध्वनिः ।
अश्रूयत तदा राजन् सर्वसैन्येषु दारुणः ॥ ३८ ॥

इसी समय अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकार की और भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया । परंतु उसकी ध्वनिको तिरोहित करके गरजते हुए भीमसेनका भयंकर सिंहनाद सम्पूर्ण सेनाओंमें सुनायी देने लगा ॥ ३८ ॥

ततो व्यायच्छतामस्त्रैः पृथक् पृथगजिह्मगैः ।
मृदुपूर्वं तु राधेयो दृढपूर्वं तु पाण्डवः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर वे दोनों वीर एक दूसरेपर पृथक्-पृथक् सीधे जानेवाले बाणोंका प्रहार करने लगे । राधानन्दन कर्ण मृदुतापूर्वक बाण चलाता था और पाण्डुनन्दन भीमसेन कठोरतापूर्वक ॥ ३९ ॥

(दृष्ट्वा कर्णं च पार्थेन बाधितं बहुभिः शरैः ।
दुर्योधनो महाराज दुःशलं प्रत्यभाषत ॥
कर्णं कृच्छ्रगतं पश्य शीघ्रं यानं प्रयच्छ ह ।

महाराज ! कुन्तीपुत्र भीमसेनके द्वारा कर्णको बहुसंख्यक बाणोंसे पीड़ित हुआ देख, दुर्योधनने दुःशलसे कहा—'दुःशल ! देखो, कर्ण संकटमें पड़ा है । तुम शीघ्र उसके लिये रथ प्रस्तुत करो' ॥

एवमुक्तस्ततो राज्ञा दुःशलः समुपाद्रवत् ।
दुःशलस्य रथं कर्णश्चारुरोह महारथः ॥
तौ पार्थः सहसा गत्वा विव्याध दशभिः शरैः ।
पुनश्च कर्णं विव्याध दुःशलस्य शिरोऽहरत् ॥)

राजाके ऐसा कहनेपर दुःशल कर्णके पास दौड़ा गया; फिर महारथी कर्ण दुःशलके रथपर आरूढ़ हो गया । इसी समय भीमसेनने सहसा जाकर दस बाणोंसे उन दोनोंको घायल कर दिया । तत्पश्चात् पुनः कर्णपर आघात किया और दुःशलका सिर काट लिया ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमप्रवेशे कर्णपराजये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनका प्रवेश और कर्णकी पराजयविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका द्रोणाचार्यको उपालम्भ देना, द्रोणाचार्यका उसे द्यूतका परिणाम दिखाकर युद्धके लिये वापस भेजना और उसके साथ युधामन्यु तथा उत्तमौजाका युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् विलुलिते सैन्ये सैन्धवायार्जुने गते ।
सात्वते भीमसेने च पुत्रस्ते द्रोणमभ्ययात् ॥ १ ॥
त्वरन्नेकरथेनैव बहुकृत्यं विचिन्तयन् ।

संजय कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार जब वह सेना विचलित होकर भाग चली, अर्जुन सिंधुराजके वधके लिये आगे बढ़ गये और उनके पीछे सात्यकि तथा भीमसेन भी वहाँ जा पहुँचे, तब आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी उतावलीके साथ एकमात्र रथद्वारा बहुत-से आवश्यक कार्योंके सम्बन्धमें सोचता-विचारता हुआ द्रोणाचार्यके पास गया ॥ १½ ॥

स रथस्तव पुत्रस्य त्वरया परया युतः ॥ २ ॥
तूर्णमभ्यद्रवद् द्रोणं मनोमारुतवेगवान् ।

आपके पुत्रका वह रथ मन और वायुके समान वेगशाली था । वह बड़ी तेजीके साथ तत्काल द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचा ॥ २½ ॥

उवाच चैनं पुत्रस्ते संरम्भाद् रक्तलोचनः ॥ ३ ॥
ससम्भ्रममिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुनन्दनः ।

उस समय आपका पुत्र कुरुनन्दन दुर्योधन क्रोधसे लाल आँखें करके घबराहटके स्वरमें द्रोणाचार्यसे इस प्रकार बोला—॥ ३½ ॥

अर्जुनो भीमसेनश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ ४ ॥
विजित्य सर्वसैन्यानि सुमहान्ति महारथाः ।
सम्प्राप्ताः सिन्धुराजस्य समीपमनिवारिताः ॥ ५ ॥

'आचार्य ! अर्जुन, भीमसेन और अपराजित वीर सात्यकि—ये तीनों महारथी मेरी सम्पूर्ण एवं विशाल सेनाओं-को पराजित करके सिंधुराज जयद्रथके समीप पहुँच गये हैं। उन्हें कोई रोक नहीं सका है ॥ ४-५ ॥

व्यायच्छन्ति च तत्रापि सर्व एवापराजिताः ।
यदि तावद् रणे पार्थो व्यतिक्रान्तो महारथः ॥ ६ ॥
कथं सात्यकिभीमाभ्यां व्यतिक्रान्तोऽसि मानद ।

'वहाँ भी वे सब-के-सब अपराजित होकर मेरी सेनापर प्रहार कर रहे हैं। मान लिया, महारथी अर्जुन रणभूमिमें (अधिक शक्तिशाली होनेके कारण) आपको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं; परंतु दूसरोंको मान देनेवाले गुरुदेव ! सात्यकि और भीमसेनने किस तरह आपका लंघन किया है ? ॥ ६½ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेऽस्मिन् समुद्रस्येव शोषणम् ॥ ७ ॥
निर्जयस्तव विप्राग्र्य सात्वतेनार्जुनेन च ।
तथैव भीमसेनेन लोकः संवदते भृशम् ॥ ८ ॥

'विप्रवर ! सात्यकि, भीमसेन तथा अर्जुनके द्वारा आपकी पराजय समुद्रको सुखा देनेके समान इस संसारमें एक आश्चर्य-भरी घटना है। लोग बड़े जोरसे इस बातकी चर्चा कर रहे हैं ॥ ७-८ ॥

कथं द्रोणो जितः संख्ये धनुर्वेदस्य पारगः ।
इत्येवं ब्रुवते योधा अश्रद्धेयमिदं तव ॥ ९ ॥

'सारे योद्धा यह कह रहे हैं कि धनुर्वेदके पारंगत आचार्य द्रोण कैसे युद्धमें पराजित हो गये। आपका यह हारना लोगों-के लिये अविश्वसनीय हो गया है ॥ ९ ॥

नाश एव तु मे नूनं मन्दभाग्यस्य संयुगे ।
यत्र त्वां पुरुषव्याघ्रं व्यतिक्रान्तास्त्रयो रथाः ॥ १० ॥

'वास्तवमें मेरा भाग्य ही खोटा है। ये तीनों महारथी जहाँ आप-जैसे पुरुषसिंह वीरको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं, उस युद्धमें मेरा विनाश ही अवश्यम्भावी है ॥ १० ॥

एवं गते तु कृत्येऽस्मिन् ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
यद् गतं गतमेवेदं शेषं चिन्तय मानद ॥ ११ ॥

'ऐसी परिस्थितिमें जो कर्तव्य है,उसके सम्बन्धमें आपकी क्या राय है, यह बताइये। मानद ! जो हो गया सो तो हो ही गया। अब जो शेष कार्य है, उसका विचार कीजिये ११

यत् कृत्यं सिन्धुराजस्य प्राप्तकालमनन्तरम् ।
तत् संविधीयतां क्षिप्रं साधु संचिन्त्य नो द्विज ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन् ! इस समय सिंधुराजकी रक्षाके लिये तुरंत करने योग्य जो कार्य हमारे सामने प्राप्त है, उसे अच्छी तरह सोच-विचारकर शीघ्र सम्पन्न कीजिये' ॥ १२ ॥

द्रोण उवाच

चिन्त्यं बहुविधं तात यत् कृत्यं तच्छृणुष्व मे ।
त्रयो हि समतिक्रान्ताः पाण्डवानां महारथाः ॥ १३ ॥
यावत् तेषां भयं पश्चात् तावदेषां पुरःसरम् ।
तद् गरीयस्तरं मन्ये यत्र कृष्णधनंजयौ ॥ १४ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—तात ! सोचने-विचारनेको तो बहुत कुछ है, किंतु इस समय जो कर्तव्य प्राप्त है, वह मुझसे सुनो। पाण्डवपक्षके तीन महारथी हमारी सेनाको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं। पीछे उनका जितना भय है, उतना ही आगे भी है। परंतु जहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं, वहीं मेरी समझमें अधिक भयकी आशंका है ॥ १३-१४ ॥

सा पुरस्ताच्च पश्चाच्च गृहीता भारती चमूः ।
तत्र कृत्यमहं मन्ये सैन्धवस्याभिरक्षणम् ॥ १५ ॥

इस समय कौरव-सेना आगे और पीछेसे भी शत्रुओंके आक्रमणका शिकार हो रही है। इस परिस्थितिमें मैं सबसे आवश्यक कार्य यही मानता हूँ कि सिंधुराज जयद्रथकी रक्षा की जाय ॥ १५ ॥

स नो रक्ष्यतमस्तात क्रुद्धाद् भीतो धनंजयात् ।
गतौ च सैन्धवं भीमौ युयुधानवृकोदरौ ॥ १६ ॥

तात ! जयद्रथ कुपित हुए अर्जुनसे डरा हुआ है। अतः वह हमारे लिये सबसे रक्षणीय है। भयंकर वीर सात्यकि और भीमसेन भी जयद्रथको ही लक्ष्य करके गये हैं ॥१६॥

सम्प्राप्तं तदिदं द्यूतं यत् तच्छकुनिबुद्धिजम् ।
न सभायां जयो वृत्तो नापि तत्र पराजयः ॥ १७ ॥
इह नो ग्लहमानानामद्य तावज्जयाजयौ ।

शकुनिकी बुद्धिमें जो जूआ खेलनेकी बात पैदा हुई थी, वह वास्तवमें आज इस रूपमें सफल हो रही है। उस दिन सभामें किसी पक्षकी जीत या हार नहीं हुई थी। आज यहाँ जो हमलोग प्राणोंकी बाजी लगाकर जूआ खेल रहे हैं, इसीमें वास्तविक हार-जीत होनेवाली है ॥ १७½ ॥

यान् स तान् ग्लहते घोराञ्छकुनिः कुरुसंसदि ॥ १८ ॥
अक्षान् स मन्यमानः प्राक् शरास्ते हि दुरासदाः ।

शकुनि कौरवसभामें पहले जिन भयंकर पासोंको हाथमें लेकर जूएका खेल खेलता था, उन्हें वह तो पासे ही समझता था, परंतु वास्तवमें वे दुर्धर्ष बाण थे ॥ १८½ ॥

यत्र ते बहवस्तात कौरवेया व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥
सेनां दुरोदरं विद्धि शरानक्षान् विशाम्पते ।
ग्लहं च सैन्धवं राजंस्तत्र द्यूतस्य निश्चयः ॥ २० ॥

तात ! (असली जूआ तो वहाँ हो रहा है) जहाँ तुम्हारे बहुत-से कौरव योद्धा खड़े हैं। इस सेनाको ही तुम जुआरी समझो। प्रजानाथ ! बाणोंको ही पासे मान लो। राजन् ! सिंधुराज जयद्रथको ही बाजी या दाँव समझो। उसीपर जूए-की हार-जीतका फैसला होगा ॥ १९-२० ॥

सैन्धवे तु महद् द्यूतं समासक्तं परैः सह ।
अत्र सर्वे महाराज त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ २१ ॥
सैन्धवस्य रणे रक्षां विधिवत् कर्तुमर्हथ ।
तत्र नो ग्लहमानानां ध्रुवौ जयपराजयौ ॥ २२ ॥

महाराज ! सिंधुराजके ही जीवनकी बाजी लगाकर शत्रुओंके साथ हमारी भारी द्यूतक्रीड़ा चल रही है। यहाँ तुम सब लोग अपने जीवनका मोह छोड़कर रणभूमिमें विधिपूर्वक जयद्रथकी रक्षा करो। निश्चय ही उसीपर हम द्यूतक्रीड़ा करनेवालोंकी असली हार-जीत निर्भर है ॥ २१-२२ ॥

यत्र ते परमेष्वासा यत्ता रक्षन्ति सैन्धवम्।
तत्र गच्छ स्वयं शीघ्रं तांश्च रक्षस्व रक्षिणः ॥ २३ ॥

राजन् ! जहाँ वे महाधनुर्धर योद्धा सावधान होकर सिंधुराजकी रक्षा करने लगे हैं, वहीं तुम स्वयं भी शीघ्र चले जाओ और सिंधुराजके उन रक्षकोंकी रक्षा करो ॥ २३ ॥

इहैव त्वहमासिष्ये प्रेषयिष्यामि चापरान्।
निरोत्स्यामि च पञ्चालान् सहितान् पाण्डुसृञ्जयैः ॥ २४ ॥

मैं तो यहीं रहूँगा और तुम्हारे पास दूसरे-दूसरे रक्षकोंको भेजता रहूँगा। साथ ही पाण्डवों तथा सृंजयोंसहित आये हुए पाञ्चालोंको व्यूहके भीतर जानेसे रोकूँगा ॥ २४ ॥

ततो दुर्योधनोऽगच्छत् तूर्णमाचार्यशासनात्।
उद्यम्यात्मानमुग्राय कर्मणे सपदानुगः ॥ २५ ॥

तदनन्तर आचार्यकी आज्ञासे दुर्योधन अपने आपको उग्र कर्म करनेके लिये तैयार करके अपने अनुचरोंके साथ शीघ्र वहाँसे चला गया ॥ २५ ॥

चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
बाह्येन सेनामभ्येत्य जग्मतुः सव्यसाचिनम् ॥ २६ ॥

अर्जुनके चक्ररक्षक पाञ्चालराजकुमार युधामन्यु और उत्तमौजा सेनाके बाहरी भागसे होकर सव्यसाची अर्जुनके समीप जाने लगे ॥ २६ ॥

यौ तु पूर्वं महाराज वारितौ कृतवर्मणा।
प्रविष्टे त्वर्जुने राजंस्तव सैन्यं युयुत्सया ॥ २७ ॥

महाराज ! जब अर्जुन युद्धकी इच्छासे आपकी सेनाके भीतर घुसे थे, उस समय (ये दोनों भीमके साथ ही थे, किंतु) कृतवर्माने उन दोनोंको पहले रोक दिया था ॥ २७ ॥

पार्श्वे भित्त्वा चमूं वीरौ प्रविष्टौ तव वाहिनीम्।
पार्श्वेन सैन्यमायान्तौ कुरुराजो ददर्श ह ॥ २८ ॥

अब वे दोनों वीर पार्श्वभागसे आपकी सेनाका भेदन करके उसके भीतर घुस गये। पार्श्वभागसे सेनाके भीतर आते हुए उन दोनों वीरोंको कुरुराज दुर्योधनने देखा ॥ २८ ॥

ताभ्यां दुर्योधनः सार्धमकरोत् संख्यमुत्तमम्।
त्वरितस्त्वरमाणाभ्यां भ्रातृभ्यां भारतो बली ॥ २९ ॥

तब उस बलवान् भरतवंशी वीर दुर्योधनने तुरंत आगे बढ़कर बड़ी उतावलीके साथ आते हुए उन दोनों भाइयोंके साथ भारी युद्ध छेड़ दिया ॥ २९ ॥

तावेनमभ्यद्रवतामुभावुद्यतकार्मुकौ।
महारथसमाख्यातौ क्षत्रियप्रवरौ युधि ॥ ३० ॥

वे दोनों क्षत्रियशिरोमणि विख्यात महारथी वीर थे। उन दोनोंने युद्धस्थलमें धनुष उठाकर दुर्योधनपर धावा बोल दिया ॥ ३० ॥

तमविध्यद् युधामन्युस्त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः।
विंशत्या सारथिं चास्य चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ ३१ ॥

युधामन्युने कंकपत्रयुक्त तीस बाणोंद्वारा दुर्योधनको घायल कर दिया। फिर बीस बाणोंसे उसके सारथिको और चारसे चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३१ ॥

दुर्योधनो युधामन्योर्ध्वजमेकेषुणाच्छिनत्।
एकेन कार्मुकं चास्य चकर्त तनयस्तव ॥ ३२ ॥

तब आपके पुत्र दुर्योधनने एक बाणसे युधामन्युकी ध्वजा काट डाली और एकसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥ ३२ ॥

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपाहरत्।
ततोऽविध्यच्छरैस्तीक्ष्णैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ ३३ ॥

इतना ही नहीं, एक भल्ल मारकर उसने युधामन्युके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया। फिर चार तीखे बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥

युधामन्युश्च संक्रुद्धः शरांस्त्रिंशतमाहवे।
व्यसृजत् तव पुत्रस्य त्वरमाणः स्तनान्तरे ॥ ३४ ॥

इससे युधामन्यु भी कुपित हो उठा। उसने युद्धस्थलमें बड़ी उतावलीके साथ आपके पुत्रकी छातीमें तीस बाण मारे ॥

तथोत्तमौजाः संक्रुद्धः शरैर्हेमविभूषितैः।
अविध्यत् सारथिं चास्य प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार उत्तमौजाने भी अत्यन्त कुपित हो अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा उसके सारथिको गहरी चोट पहुँचायी और उसे यमलोक भेज दिया ॥ ३५ ॥

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र पाञ्चाल्यस्योत्तमौजसः।
जघान चतुरोऽस्याश्वानुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ॥ ३६ ॥

राजेन्द्र ! तब दुर्योधनने भी पाञ्चालराज उत्तमौजाके चारों घोड़ों और दोनों पार्श्वरक्षकोंको सारथिसहित मार डाला ॥ ३६ ॥

उत्तमौजा हताश्वस्तु हतसूतश्च संयुगे।
आरुरोह रथं भ्रातुर्युधामन्योरभित्वरन् ॥ ३७ ॥

युद्धमें घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर उत्तमौजा शीघ्रतापूर्वक अपने भाई युधामन्युके रथपर जा चढ़ा ॥ ३७ ॥

स रथं प्राप्य तं भ्रातुर्दुर्योधनहयाञ्छरैः।
बहुभिस्ताडयामास ते हताः प्रापतन् भुवि ॥ ३८ ॥

भाईके रथपर बैठकर उत्तमौजाने अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा दुर्योधनके घोड़ोंपर इतना प्रहार किया कि वे प्राणशून्य होकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

हयेषु पतितेष्वस्य चिच्छेद परमेषुणा।
युधामन्युधनुः शीघ्रं शरावापं च संयुगे ॥ ३९ ॥

घोड़ोंके धराशायी हो जानेपर युधामन्युने उस युद्धस्थलमें उत्तम बाणका प्रहार करके दुर्योधनके धनुष और तरकसको भी शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ॥ ३९ ॥

हताश्वसूतात् स रथादवतीर्य नराधिपः ।
गदामादाय ते पुत्रः पाञ्चाल्यावभ्यधावत ॥ ४० ॥

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर आपका पुत्र राजा दुर्योधन रथसे उतर पड़ा और गदा हाथमें लेकर पाञ्चाल देशके उन दोनों वीरोंकी ओर दौड़ा ॥ ४० ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य क्रुद्धं कुरुपतिं तदा ।
अवप्लुतौ रथोपस्थाद् युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ४१ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको अपनी ओर आते देख दोनों भाई युधामन्यु और उत्तमौजा रथके पिछले भागसे नीचे कूद गये ॥ ४१ ॥

ततः स हेमचित्रं तं गदया स्यन्दनं गदी ।
संक्रुद्धः पोथयामास साश्वसूतध्वजं नृप ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए गदाधारी दुर्योधनने घोड़े, सारथि और ध्वजसहित उस सुवर्णजटित सुन्दर रथको गदाके आघातसे चूर-चूर कर दिया ॥ ४२ ॥

भङ्क्त्वा रथं स पुत्रस्ते हताश्वो हतसारथिः ।
मद्रराजरथं तूर्णमारुरोह परंतपः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार उस रथको तोड़-फोड़कर घोड़ों और सारथिसे हीन हुआ शत्रुसंतापी दुर्योधन शीघ्र ही मद्रराज शल्यके रथपर जा चढ़ा ॥ ४३ ॥

पञ्चालानां ततो मुख्यौ राजपुत्रौ महारथौ ।
रथावन्यौ समारुह्य बीभत्सुमभिजग्मतुः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् पाञ्चालसेनाके वे दोनों प्रधान महारथी राजकुमार युधामन्यु और उत्तमौजा दूसरे दो रथोंपर आरूढ़ होकर अर्जुनके समीप चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनयुद्धे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधनका युद्धविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा कर्णकी पराजय

संजय उवाच

वर्तमाने महाराज संग्रामे लोमहर्षणे ।
व्याकुलेषु च सर्वेषु पीड्यमानेषु सर्वशः ॥ १ ॥
राधेयो भीममानर्च्छद् युद्धाय भरतर्षभ ।
यथा नागो वने नागं मत्तो मत्तमभिद्रवन् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ महाराज ! इस प्रकार रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ जानेपर जब सारी सेनाएँ सब ओरसे पीड़ित और व्याकुल हो गयीं, तब राधानन्दन कर्ण युद्धके लिये पुनः भीमसेनके सामने आया । ठीक उसी तरह, जैसे वनमें एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त हाथीपर आक्रमण करता है ॥ १-२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यौ तौ कर्णश्च भीमश्च सम्प्रयुद्धौ महाबलौ ।
अर्जुनस्य रथोपान्ते कीदृशः सोऽभवद् रणः ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! महाबली कर्ण और भीमसेनने अर्जुनके रथके निकट जाकर जो बड़े वेगसे युद्ध किया, उनका वह संग्राम कैसा हुआ ? ॥ ३ ॥

पूर्वं हि निर्जितः कर्णो भीमसेनेन संयुगे ।
कथं भूयः स राधेयो भीममागान्महारथः ॥ ४ ॥

भीमसेनने युद्धमें जब राधानन्दन महारथी कर्णको पहले ही जीत लिया था, तब वह पुनः उनका सामना करनेके लिये कैसे आया ? ॥ ४ ॥

भीमो वा सूततनयं प्रत्युद्यातः कथं रणे ।
महारथं समाख्यातं पृथिव्यां प्रवरं रथम् ॥ ५ ॥

अथवा भीमसेन भूमण्डलके श्रेष्ठ एवं विख्यात महारथी सूतपुत्र कर्णसे समराङ्गणमें युद्ध करनेके लिये कैसे आगे बढ़े ? ॥ ५ ॥

भीष्मद्रोणावतिक्रम्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
नान्यतो भयमादत्त विना कर्णान्महारथात् ॥ ६ ॥

भीष्म और द्रोणसे पार पाकर धर्मराज युधिष्ठिरको अब महारथी कर्णके सिवा दूसरे किसीसे भय नहीं रह गया है ॥

भयाद् यस्य महाबाहोर्न शेते बहुलाः समाः ।
चिन्तयन् नित्यशो वीर्यं राधेयस्य महात्मनः ।
तं कथं सूतपुत्रं तु भीमोऽयोधयताहवे ॥ ७ ॥

पहले जिस महाबाहु महामना राधानन्दन कर्णके बल-पराक्रमका नित्य चिन्तन करते हुए राजा युधिष्ठिर भयके मारे बहुत वर्षोंतक नींद नहीं लेते थे, उसी सूतपुत्र कर्णके साथ भीमसेनने समरभूमिमें किस तरह युद्ध किया ? ॥ ७ ॥

ब्रह्मण्यं वीर्यसम्पन्नं समरेष्वनिवर्तिनम् ।
कथं कर्णं युधां श्रेष्ठं योधयामास पाण्डवः ॥ ८ ॥

जो ब्राह्मणभक्त, पराक्रमसम्पन्न और समरभूमिमें कभी पीछे न हटनेवाला है, योद्धाओंमें श्रेष्ठ उस कर्णके साथ भीमसेनने किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ ८ ॥

यौ तौ समीयतुर्वीरौ वैकर्तनवृकोदरौ ।
कथं तावत्र युध्येतां महाबलपराक्रमौ ॥ ९ ॥

जो वीर पहले आपसमें भिड़ चुके थे, वे ही महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न कर्ण और भीमसेन यहाँ पुनः कैसे युद्धमें प्रवृत्त हुए ? ॥ ९ ॥

भ्रातृत्वं दर्शितं पूर्वं घृणी चापि स सूतजः।
कथं भीमेन युयुधे कुन्त्या वाक्यमनुस्मरन्॥ १०॥

पहले तो सूतपुत्र कर्णने अर्जुनके सिवा अन्य पाण्डवोंके प्रति बन्धुत्व दिखाया था और वह दयालु भी है ही; तथापि कुन्तीके वचनोंको बारंबार स्मरण करते हुए भी उसने भीमसेनके साथ कैसे युद्ध किया? ॥ १० ॥

भीमो वा सूतपुत्रेण स्मरन् वैरं पुरा कृतम्।
अयुध्यत कथं शूरः कर्णेन सह संयुगे॥ ११॥

अथवा शूरवीर भीमसेनने पहलेके किये हुए वैरका स्मरण करके सूतपुत्र कर्णके साथ उस रणक्षेत्रमें किस प्रकार युद्ध किया? ॥ ११ ॥

आशास्ते च सदा सूत पुत्रो दुर्योधनो मम।
कर्णो जेष्यति संग्रामे समस्तान् पाण्डवानिति॥१२॥

संजय! मेरा बेटा दुर्योधन सदा यही आशा करता है कि कर्ण संग्राममें समस्त पाण्डवोंको जीत लेगा ॥ १२ ॥

जयाशा यत्र पुत्रस्य मम मन्दस्य संयुगे।
स कथं भीमकर्माणं भीमसेनमयोधयत्॥ १३॥

युद्धस्थलमें जिसके ऊपर मेरे मूर्ख पुत्रकी विजयकी आशा लगी हुई है, उस कर्णने भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १३ ॥

यं समासाद्य पुत्रैर्मे कृतं वैरं महारथैः।
तं सूततनयं तात कथं भीमो ह्ययोधयत्॥ १४॥

तात! जिसका आश्रय लेकर मेरे पुत्रोंने महारथी पाण्डवोंके साथ वैर ठाना है, उस सूतपुत्र कर्णके साथ भीमसेनने किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १४ ॥

अनेकान् विप्रकारांश्च सूतपुत्रसमुद्भवान्।
स्मरमाणः कथं भीमो युयुधे सूतसूनुना॥ १५॥

सूतपुत्रके द्वारा किये गये अनेक अपकारोंको स्मरण करके भीमसेनने उसके साथ किस तरह युद्ध किया? ॥१५॥

योऽजयत् पृथिवीं सर्वां रथेनैकेन वीर्यवान्।
तं सूततनयं युद्धे कथं भीमो ह्ययोधयत्॥ १६॥

जिस पराक्रमी वीरने एकमात्र रथकी सहायतासे सारी पृथ्वीको जीत लिया, उस सूतपुत्रके साथ रणभूमिमें भीमसेनने किस तरह युद्ध किया? ॥ १६ ॥

यो जातः कुण्डलाभ्यां च कवचेन सहैव च।
तं सूतपुत्रं समरे भीमः कथमयोधयत्॥ १७॥

जो जन्मसे ही कवच और कुण्डलोंके साथ उत्पन्न हुआ था, उस सूतपुत्रके साथ समराङ्गणमें भीमसेनने किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १७ ॥

यथा तयोर्युद्धमभूद् यश्चासीद् विजयी तयोः।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन कुशलो ह्यसि संजय॥ १८॥

संजय! उन दोनों वीरोंमें जिस प्रकार युद्ध हुआ और उनमेंसे जिस एकको विजय प्राप्त हुई; उसका वह सब समाचार मुझे ठीक-ठीक बताओ; क्योंकि तुम इस कार्यमें कुशल हो ॥ १८ ॥

संजय उवाच

भीमसेनस्तु राधेयमुत्सृज्य रथिनां वरम्।
इयेष गन्तुं यत्रास्तां वीरौ कृष्णधनंजयौ॥ १९॥

संजयने कहा—राजन्! भीमसेनने रथियोंमें श्रेष्ठ राधापुत्र कर्णको छोड़कर वहाँ जानेकी इच्छा की, जहाँ वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन विद्यमान थे ॥ १९ ॥

तं प्रयान्तमभिद्रुत्य राधेयः कङ्कपत्रिभिः।
अभ्यवर्षन्महाराज मेघो वृष्ट्येव पर्वतम्॥ २०॥

महाराज! वहाँसे जाते हुए भीमसेनपर आक्रमण करके राधापुत्र कर्णने उनके ऊपर कङ्कपत्रयुक्त बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ कर दी, जैसे बादल पर्वतपर जलकी वर्षा करता है ॥ २० ॥

फुल्लता पङ्कजेनेव वक्त्रेण विहसन् बली।
आजुहाव रणे यान्तं भीममाधिरथिस्तदा॥ २१॥

बलवान् अधिरथपुत्रने खिलते हुए कमलके समान मुखसे हँसकर जाते हुए भीमसेनको युद्धके लिये ललकारा ॥ २१ ॥

कर्ण उवाच

भीमाहितैस्तव रणे स्वप्नेऽपि न विभावितम्।
तद् दर्शयसि कस्मान्मे पृष्ठं पार्थदिदृक्षया॥ २२॥

कर्णने कहा—भीमसेन! तुम्हारे शत्रुओंने स्वप्नमें भी यह नहीं सोचा था कि तुम युद्धमें पीठ दिखाओगे; परंतु इस समय अर्जुनसे मिलनेके लिये तुम मुझे पीठ क्यों दिखा रहे हो? ॥ २२ ॥

कुन्त्याः पुत्रस्य सदृशं नेदं पाण्डवनन्दन।
तेन मामभितः स्थित्वा शरवर्षैरवाकिर॥ २३॥

पाण्डवनन्दन! तुम्हारा यह कार्य कुन्तीके पुत्रके योग्य नहीं है। अतः मेरे सम्मुख रहकर मुझपर बाणोंकी वर्षा करो ॥ २३ ॥

भीमसेनस्तदाह्वानं कर्णान्नामर्षयद् युधि।
अर्धमण्डलमावृत्य सूतपुत्रमयोधयत्॥ २४॥

कर्णकी ओरसे रणक्षेत्रमें वह युद्धकी ललकार भीमसेन न सह सके। उन्होंने अर्धमण्डल गतिसे घूमकर सूतपुत्रके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ २४ ॥

अवक्रगामिभिर्बाणैरभ्यवर्षन्महायशाः।
दंशितं द्वैरथे यत्तं सर्वशस्त्रविशारदम्॥ २५॥

महायशस्वी भीमसेन सम्पूर्ण शस्त्रोंके चलानेमें निपुण, कवचधारी तथा द्वैरथ युद्धके लिये तैयार कर्णके ऊपर सीधे जानेवाले बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

चिकीर्षुः कलहस्यान्तं जिघांसुः कर्णमक्षिणोत्।
हत्वा तस्यानुगांस्तं च हन्तुकामो महाबलः ॥ २६ ॥

कलहका अन्त करनेकी इच्छासे महाबली भीमसेन कर्णको मार डालना चाहते थे और इसीलिये उसे बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर रहे थे। वे कर्णको मारकर उसके अनुगामी सेवकोंका भी वध करनेकी इच्छा रखते थे ॥ २६ ॥

तस्मै व्यसृजदुग्राणि विविधानि परंतपः।
अमर्षात् पाण्डवः क्रुद्धः शरवर्षाणि मारिष ॥ २७ ॥

माननीय नरेश ! शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेन कुपित हो अमर्षवश कर्णपर नाना प्रकारके भयंकर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २७ ॥

तस्य तानीषुवर्षाणि मत्तद्विरदगामिनः।
सूतपुत्रोऽस्त्रमायाभिरग्रसत् परमास्त्रवित् ॥ २८ ॥

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान रखनेवाले सूतपुत्र कर्णने अपने अस्त्रोंकी मायासे मतवाले हाथीके समान मस्तीसे चलनेवाले भीमसेनकी उस बाणवर्षाको ग्रस लिया ॥ २८ ॥

स यथावन्महाबाहुर्विद्यया वै सुपूजितः।
आचार्यवन्महेष्वासः कर्णः पर्यचरद् बली ॥ २९ ॥

महाबाहु महाधनुर्धर बलवान् कर्ण अपनी विद्याद्वारा आचार्य द्रोणके समान यथावत् पूजित हो रणक्षेत्रमें विचरने लगा ॥ २९ ॥

युध्यमानं तु संरम्भाद् भीमसेनं हसन्निव।
अभ्यपद्यत कौन्तेयं कर्णो राजन् वृकोदरम् ॥ ३० ॥

राजन् ! क्रोधपूर्वक युद्ध करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेनकी हँसी उड़ाता हुआ-सा कर्ण उनके सामने जा पहुँचा ॥३०॥

तन्नामृष्यत कौन्तेयः कर्णस्य स्मितमाहवे।
युध्यमानेषु वीरेषु पश्यत्सु च समन्ततः ॥ ३१ ॥
तं भीमसेनः सम्प्राप्तं वत्सदन्तैः स्तनान्तरे।
विव्याध बलवान् क्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥ ३२ ॥

कुन्तीकुमार भीम युद्धस्थलमें कर्णकी उस हँसीको न सह सके। सब ओर युद्ध करते हुए समस्त वीरोंको देखते-देखते बलवान् भीमसेनने कुपित हो सामने आये हुए कर्णकी छातीमें वत्सदन्त नामक बाणोंद्वारा उसी प्रकार चोट पहुँचायी, जैसे महावत महान् गजराजको अंकुशोंद्वारा पीड़ित करता है ॥ ३१-३२ ॥

पुनश्च सूतपुत्रं तु स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।
सुमुक्तैश्चित्रवर्माणं निर्बिभेद त्रिसप्तभिः ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् विचित्र कवच धारण करनेवाले सूतपुत्रको सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तथा अच्छी तरह छोड़े हुए इक्कीस बाणोंद्वारा पुनः क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३३ ॥

कर्णो जाम्बूनदैर्जालैः संछन्नान् वातरंहसः।
हयान् विव्याध भीमस्य पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ॥ ३४ ॥

उधर कर्णने भीमसेनके सोनेकी जालियोंसे आच्छादित हुए वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पाँच-पाँच बाणोंसे वेध दिया ॥ ३४ ॥

ततो बाणमयं जालं भीमसेनरथं प्रति।
कर्णेन विहितं राजन् निमेषार्धाददृश्यत ॥ ३५ ॥

राजन् ! तदनन्तर आधे निमेषमें ही भीमसेनके रथपर कर्णद्वारा बाणोंका जाल-सा बिछाया जाता दिखायी दिया ॥ ३५ ॥

सरथः सध्वजस्तत्र ससूतः पाण्डवस्तदा।
प्राच्छाद्यत महाराज कर्णचापच्युतैः शरैः ॥ ३६ ॥

महाराज ! वहाँ कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उस समय रथ, ध्वज और सारथिसहित पाण्डुनन्दन भीमसेन आच्छादित हो गये ॥ ३६ ॥

तस्य कर्णश्चतुःषष्ट्या व्यधमत् कवचं दृढम्।
क्रुद्धश्चाप्यहनत् पार्थं नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥ ३७ ॥

कर्णने चौंसठ बाण मारकर भीमसेनके सुदृढ़ कवचकी धज्जियाँ उड़ा दीं। फिर कुपित होकर उसने मर्मभेदी नाराचोंसे कुन्तीकुमारको अच्छी तरह घायल किया ॥३७॥

ततोऽचिन्त्य महाबाहुः कर्णकार्मुकनिःसृतान्।
समाश्लिष्यदसम्भ्रान्तः सूतपुत्रं वृकोदरः ॥ ३८ ॥

महाबाहु भीमसेन कर्णके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंकी कोई परवा न करके बिना किसी घबराहटके सूतपुत्रके इतने समीप पहुँच गये, मानो उससे सटे जा रहे हों ॥३८॥

स कर्णचापप्रभवानिषूनाशीविषोपमान्।
बिभ्रद् भीमो महाराज न जगाम व्यथां रणे ॥ ३९ ॥

महाराज ! कर्णके धनुषसे छूटे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंको अपने शरीरपर धारण करते हुए भीमसेन रणक्षेत्रमें व्यथित नहीं हुए ॥ ३९ ॥

ततो द्वात्रिंशता भल्लैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः।
विव्याध समरे कर्णं भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् अच्छी तरह तेज किये हुए बत्तीस तीखे भल्लोंसे प्रतापी भीमसेनने समराङ्गणमें कर्णको भारी चोट पहुँचायी ॥ ४० ॥

अयत्नेनैव तं कर्णः शरैर्भृशमवाकिरत्।
भीमसेनं महाबाहुं सैन्धवस्य वधैषिणम् ॥ ४१ ॥

उधर कर्ण जयद्रथके वधकी इच्छावाले महाबाहु भीमसेन-पर अनायास ही बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करने लगा ॥४१॥

मृदुपूर्वं तु राधेयो भीममाजावयोधयत्।
क्रोधपूर्वं तथा भीमः पूर्वं वैरमनुस्मरन् ॥ ४२ ॥

राधानन्दन कर्ण तो भीमसेनपर कोमल प्रहार करता हुआ रणभूमिमें उनके साथ युद्ध करता था; परंतु भीमसेन पहलेके वैरको बारंबार स्मरण करते हुए क्रोधपूर्वक उसके साथ जूझ रहे थे ॥ ४२ ॥

तं भीमसेनो नामृष्यदवमानममर्षणः ।
स तस्मै व्यसृजत् तूर्णं शरवर्षममित्रहा ॥ ४३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले अमर्षशील भीमसेन कर्णद्वारा दिखायी जानेवाली कोमलता या ढिलाईको अपने लिये अपमान समझकर उसे सह न सके। अतः उन्होंने भी तुरंत ही उसपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४३ ॥

ते शराः प्रेषितास्तेन भीमसेनेन संयुगे ।
निपेतुः सर्वतो वीरे कूजन्त इव पक्षिणः ॥ ४४ ॥

युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा चलाये हुए वे बाण कूजते हुए पक्षियोंके समान वीर कर्णपर सब ओरसे पड़ने लगे ॥४४॥

हेमपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा भीमसेनधनुश्च्युताः ।
प्राच्छादयंस्ते राधेयं शलभा इव पावकम् ॥ ४५ ॥

भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए चमचमाती हुई धारवाले सुवर्णमय पंखोंसे सुशोभित उन बाणोंने राधानन्दन कर्णको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे पतिंगे आगको आच्छादित कर लेते हैं ॥ ४५ ॥

कर्णस्तु रथिनां श्रेष्ठश्छाद्यमानः समन्ततः ।
राजन् व्यसृजदुग्राणि शरवर्षाणि भारत ॥ ४६ ॥

भरतवंशी नरेश ! इस प्रकार सब ओरसे बाणोंद्वारा आच्छादित होते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णने भी भीमपर भयंकर बाणवर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४६ ॥

तस्य तानशनिप्रख्यानिषून् समरशोभिनः ।
चिच्छेद बहुभिर्भल्लैरसम्प्राप्तान् वृकोदरः ॥ ४७ ॥

परंतु समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णके उन वज्रोपम बाणोंको भीमसेनने अपने पास आनेसे पहले ही बहुत-से भल्लोंद्वारा काट गिराया ॥ ४७ ॥

पुनश्च शरवर्षेण च्छादयामास भारत ।
कर्णो वैकर्तनो युद्धे भीमसेनमरिंदमः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! शत्रुओंका दमन करनेवाले सूर्यपुत्र कर्णने युद्धमें पुनः बाणवर्षा करके भीमसेनको ढक दिया ॥ ४८ ॥

तत्र भारत भीमं तु दृष्टवन्तः स्म सायकैः ।
समाचिततनुं संख्ये श्वाविधं शललैरिव ॥ ४९ ॥

भारत ! उस समय युद्धस्थलमें बाणोंसे चिने हुए शरीर-वाले भीमसेनको सब लोगोंने कंटकोंसे युक्त साहीके समान देखा ॥ ४९ ॥

हेमपुङ्खाञ्छिलाधौतान् कर्णचापच्युताञ्छरान् ।
दधार समरे वीरः स्वरश्मीनिव रश्मिवान् ॥ ५० ॥

वीर भीमसेनने कर्णके धनुषसे छूटे और शिलापर तेज किये हुए सुवर्णपंखयुक्त बाणोंको समराङ्गणमें अपने शरीरपर उसी प्रकार धारण किया था, जैसे अंशुमाली सूर्य अपने किरणोंको धारण करते हैं ॥ ५० ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गो भीमसेनो व्यराजत ।
समृद्धकुसुमापीडो वसन्तेऽशोकवृक्षवत् ॥ ५१ ॥

भीमसेनका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था। वे वसन्तऋतुमें खिले हुए अधिकाधिक पुष्पोंसे सम्पन्न अशोक वृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५१ ॥

तत्तु भीमो महाबाहोः कर्णस्य चरितं रणे ।
नामृष्यत महाबाहुः क्रोधादुद्वृत्तलोचनः ॥ ५२ ॥

महाबाहु भीमसेन रणभूमिमें विशालबाहु कर्णके उस चरित्रको न सह सके। उस समय क्रोधसे उनके नेत्र घूमने लगे ॥ ५२ ॥

स कर्णं पञ्चविंशत्या नाराचानां समार्पयत् ।
महीधरमिव श्वेतं गूढपादैर्विषोल्बणैः ॥ ५३ ॥

उन्होंने कर्णपर पचीस नाराच चलाये; उनके लगनेसे कर्ण छिपे हुए पैरोंवाले विषैले सर्पोंसे युक्त श्वेत पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ५३ ॥

पुनरेव च विव्याध षड्भिरष्टाभिरेव च ।
मर्मस्वमरविक्रान्तः सूतपुत्रं तनुत्यजम् ॥ ५४ ॥

फिर देवोपम-पराक्रमी भीमने अपने शरीरकी परवा न करनेवाले सूतपुत्रको उसके मर्मस्थानोंमें छः और आठ बाण मारकर घायल कर दिया ॥ ५४ ॥

पुनरन्येन बाणेन भीमसेनः प्रतापवान् ।
चिच्छेद कार्मुकं तूर्णं कर्णस्य प्रहसन्निव ॥ ५५ ॥

इसके बाद हँसते हुए-से प्रतापी भीमसेनने दूसरा बाण मारकर तुरंत ही कर्णके धनुषको काट दिया ॥ ५५ ॥

जघान चतुरश्चाश्वान् सूतं च त्वरितः शरैः ।
नाराचैरर्करश्म्याभैः कर्णं विव्याध चोरसि ॥ ५६ ॥

फिर शीघ्रतापूर्वक बाणोंका प्रहार करके उसके चारों घोड़ों और सारथिको भी मार डाला। साथ ही सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी नाराचोंसे कर्णकी छातीमें भारी आघात किया ॥ ५६ ॥

ते जग्मुर्धरणीमाशु कर्णं निर्भिद्य पत्रिणः ।
यथा जलधरं भित्त्वा दिवाकरमरीचयः ॥ ५७ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें बादलोंको भेदकर सब ओर फैल जाती हैं, उसी प्रकार भीमसेनके बाण कर्णके शरीरको छेदकर शीघ्र ही धरतीमें समा गये ॥ ५७ ॥

स वैक्लव्यं महत् प्राप्य छिन्नधन्वा शरार्दितः ।
तथा पुरुषमानी स प्रत्यपायाद् रथान्तरम् ॥ ५८ ॥

यद्यपि कर्णको अपने पुरुषत्वका बड़ा अभिमान था, तो भी भीमसेनके बाणोंसे घायल हो धनुष कट जानेपर रथहीन होनेके कारण वह बड़ी भारी घबराहटमें पड़ गया और दूसरे रथपर बैठनेके लिये वहाँसे भाग निकला ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि कर्णपराजये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें कर्णकी पराजयविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका घोर युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

स्वयं शिष्यो महेशस्य भृगूत्तमधनुर्धरः ।
शिष्यत्वं प्राप्तवान् कर्णस्तस्य तुल्योऽस्त्रविद्यया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! भृगुवंशशिरोमणि धनुर्धर परशुरामजी साक्षात् भगवान् शङ्करके शिष्य हैं तथा कर्ण उन्हींका शिष्यत्व ग्रहण करके अस्त्रविद्यामें उनके समान ही सुयोग्य हो गया था ॥ १ ॥

तद्विशिष्टोऽपि वा कर्णः शिष्यः शिष्यगुणैर्युतः ।
कुन्तीपुत्रेण भीमेन निर्जितः स तु लीलया ॥ २ ॥

अथवा शिष्योचित सद्गुणोंसे सम्पन्न परशुरामका वह शिष्य उनसे भी बढ़-चढ़कर है, तो भी उसे कुन्तीकुमार भीमसेनने खेल-खेलमें ही पराजित कर दिया ॥ २ ॥

यस्मिञ्जयाशा महती पुत्राणां मम संजय ।
तं भीमाद् विमुखं दृष्ट्वा किं नु दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥३॥

संजय ! जिसपर मेरे पुत्रोंको विजयकी बड़ी भारी आशा लगी हुई है, उसे भीमसेनसे पराजित होकर युद्धसे विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या कहा ? ॥ ३ ॥

कथं च युयुधे भीमो वीर्यश्लाघी महाबलः ।
कर्णो वा समरे तात किमकार्षीत् ततः परम् ।
भीमसेनं रणे दृष्ट्वा ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ४ ॥

तात ! अपने पराक्रमसे सुशोभित होनेवाले महाबली भीमसेनने किस प्रकार युद्ध किया ? अथवा कर्णने रणक्षेत्रमें भीमसेनको अग्निके समान तेजसे प्रज्वलित होते देख उसके बाद क्या किया ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

रथमन्यं समास्थाय विधिवत् कल्पितं पुनः ।
अभ्ययात् पाण्डवं कर्णो वातोद्धूत इवार्णवः ॥ ५ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वायुके वेगसे ऊपर उठते हुए समुद्रके समान कर्णने विधिपूर्वक सजाये हुए दूसरे रथपर आरूढ़ होकर पुनः पाण्डुनन्दन भीमपर आक्रमण किया ॥

क्रुद्धमाधिरथिं दृष्ट्वा पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भीमसेनममन्यन्त वैश्वानरमुखे हुतम् ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! उस समय अधिरथपुत्र कर्णको क्रोधमें भरा हुआ देखकर आपके पुत्रोंने यही मान लिया कि भीमसेन अब अग्निके मुखमें दी हुई आहुतिके समान नष्ट हो जायँगे ॥ ६ ॥

चापशब्दं ततः कृत्वा तलशब्दं च भैरवम् ।
अभ्यद्रवत राधेयो भीमसेनरथं प्रति ॥ ७ ॥

तदनन्तर धनुषकी टंकार और हथेलीका भयानक शब्द करते हुए राधानन्दन कर्णने भीमसेनके रथपर धावा बोल दिया ॥

पुनरेव तयो राजन् घोर आसीत् समागमः ।
वैकर्तनस्य शूरस्य भीमस्य च महात्मनः ॥ ८ ॥

राजन् ! शूरवीर कर्ण और महामनस्वी भीमसेन—इन दोनों वीरोंमें पुनः घोर संग्राम छिड़ गया ॥ ८ ॥

संरब्धौ हि महाबाहू परस्परवधैषिणौ ।
अन्योन्यमीक्षांचक्राते दहन्ताविव लोचनैः ॥ ९ ॥

एक दूसरेके वधकी इच्छावाले वे दोनों महाबाहु योद्धा अत्यन्त कुपित हो एक दूसरेको नेत्रोंद्वारा दग्ध-से करते हुए परस्पर दृष्टिपात करने लगे ॥ ९ ॥

क्रोधरक्तेक्षणौ तीव्रौ निःश्वसन्ताविवोरगौ ।
शूरावन्योन्यमासाद्य ततक्षतुररिंदमौ ॥ १० ॥

उन दोनोंकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयी थीं । दोनों ही फुफकारते हुए सर्पोंके समान लंबी साँस खींच रहे थे । दोनों ही शत्रुदमन वीर उग्र हो परस्पर भिड़कर एक दूसरेको बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत करने लगे ॥ १० ॥

व्याघ्राविव सुसंरब्धौ श्येनाविव च शीघ्रगौ ।
शरभाविव संक्रुद्धौ युयुधाते परस्परम् ॥ ११ ॥

वे दो व्याघ्रोंके समान रोषावेशमें भरकर दो बाजोंके समान परस्पर शीघ्रतापूर्वक झपटते थे तथा अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो शरभोंके समान परस्पर युद्ध करते थे ॥ ११ ॥

ततो भीमः स्मरन् क्लेशानक्षद्यूते वनेऽपि च ।
विराटनगरे चैव दुःखं प्राप्तमरिंदमः ॥ १२ ॥
राष्ट्राणां स्फीतरत्नानां हरणं च तवात्मजैः ।
सततं च परिक्लेशान् सपुत्रेण त्वया कृतान् ॥ १३ ॥
दग्धुमैच्छच्च यः कुन्तीं सपुत्रां त्वमनागसम् ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं सभामध्ये दुरात्मभिः ॥ १४ ॥
केशपक्षग्रहं चैव दुःशासनकृतं तथा ।

भीमसेनके द्वारा कर्णकी पराजय

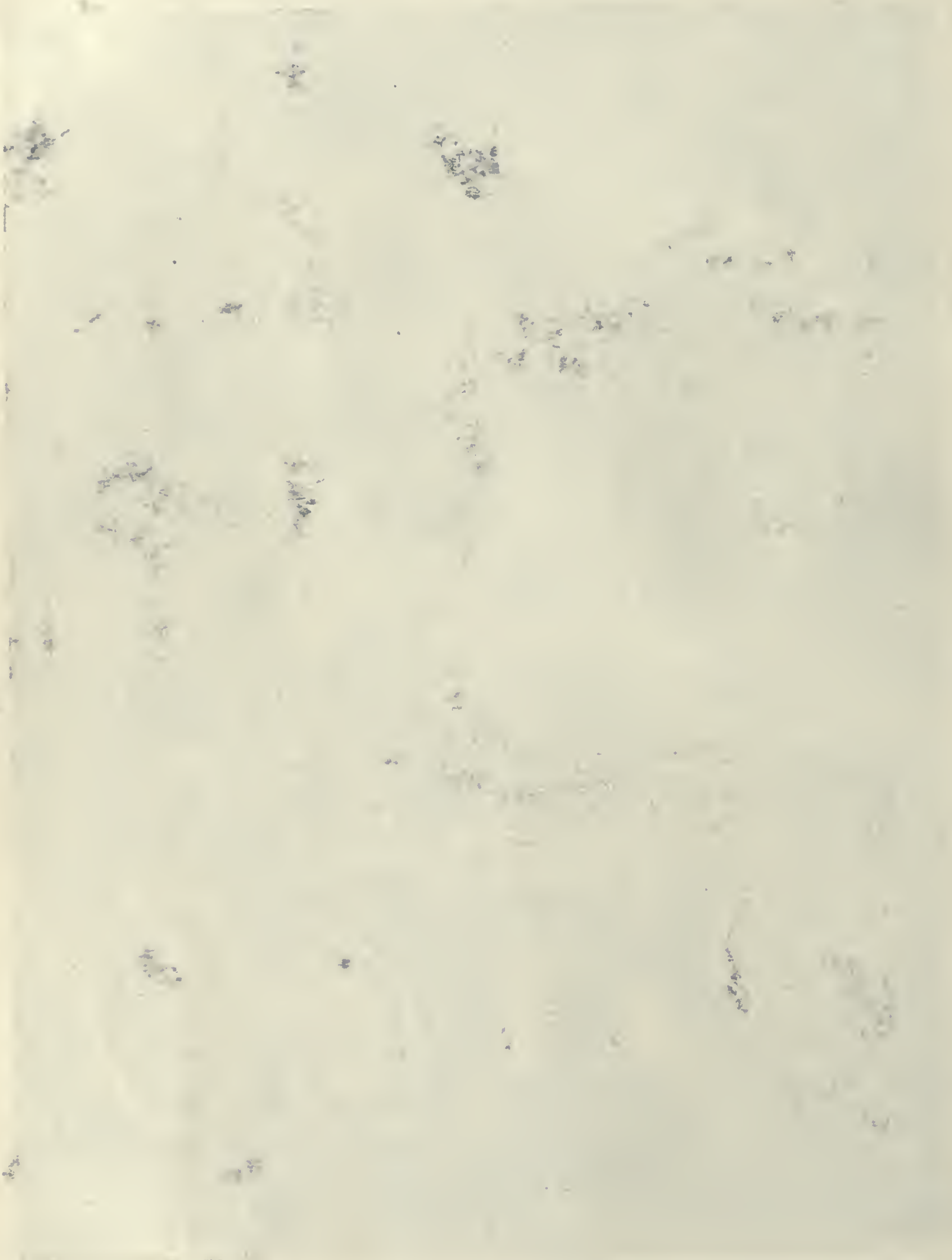

परुषाणि च वाक्यानि कर्णेनोक्तानि भारत ॥ १५ ॥
पतिमन्यं परीप्सस्व न सन्ति पतयस्तव।
पतिता नरके पार्थाः सर्वे षण्ढतिलोपमाः ॥ १६ ॥
समक्षं तव कौरव्य यदूचुः कौरवास्तदा।
दासीभावेन कृष्णां च भोक्तुकामाः सुतास्तव ॥ १७ ॥
यच्चापि तान् प्रव्रजतः कृष्णाजिननिवासिनः।
परुषाण्युक्तवान् कर्णः सभायां संनिधौ तव ॥ १८ ॥
तृणीकृत्य यथा पार्थांस्तव पुत्रो ववल्ग ह।
विषमस्थान् समस्थो हि संरब्धो गतचेतनः ॥ १९ ॥
बाल्यात् प्रभृति चारिघ्नः स्वानि दुःखानि चिन्तयन्।
निरविद्यत धर्मात्मा जीवितेन वृकोदरः ॥ २० ॥

जूआके समय, वनवासकालमें तथा विराटनगरमें जो दुःख प्राप्त हुआ था, उनका स्मरण करके, आपके पुत्रोंने जो पाण्डवोंके राज्यों तथा समुज्ज्वल रत्नोंका अपहरण किया था, उसे याद करके, पुत्रोंसहित आपने पाण्डवोंको जो निरन्तर क्लेश प्रदान किये हैं, उन्हें ध्यानमें लाकर, निरपराध कुन्ती-देवी तथा उनके पुत्रोंको जो आपने जला डालनेकी इच्छा की थी, सभाके भीतर आपके दुरात्मा पुत्रोंने जो द्रौपदीको महान् कष्ट पहुँचाया था, दुःशासनने जो उसके केश पकड़े थे, भारत ! कर्णने जो उसके प्रति कठोर वचन सुनाये थे तथा कुरुनन्दन ! आपकी आँखोंके सामने ही कौरवोंने जो द्रौपदीसे यह कहा था कि 'कृष्णे ! तू दूसरा पति कर ले, तेरे ये पति अब नहीं रहे, कुन्तीके सभी पुत्र थोथे तिलोंके समान निर्वीर्य होकर नरक (दुःख) में पड़ गये हैं।' महाराज ! आपके पुत्र जो द्रौपदीको दासी बनाकर उसका उपभोग करना चाहते थे तथा काले मृगचर्म धारण करके वनकी ओर प्रस्थान करते समय पाण्डवोंके प्रति सभामें आपके समीप ही कर्णने जो कटुवचन सुनाये थे और पाण्डवोंको तिनकोंके समान समझ कर जो आपका पुत्र दुर्योधन उछलता-कूदता था, स्वयं सुखमयी परिस्थितिमें रहते हुए भी जो उस अचेत मूर्खने संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके प्रति क्रोधका भाव दिखाया था, इन सब बातोंको तथा बचपनसे लेकर अबतक आपकी ओरसे प्राप्त हुए अपने दुःखोंको याद करके शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुनाशक धर्मात्मा भीमसेन अपने जीवनसे विरक्त हो उठे थे ॥ १२–२० ॥

ततो विस्फार्य सुमहद्धेमपृष्ठं दुरासदम्।
चापं भरतशार्दूलस्त्यक्तात्मा कर्णमभ्ययात् ॥ २१ ॥

उस समय भरतवंशके उस सिंहने अपने जीवनका मोह छोड़कर सुवर्णमय पृष्ठभागसे सुशोभित दुर्धर्ष एवं विशाल धनुषकी टंकार करते हुए वहाँ कर्णपर धावा किया ॥ २१॥

स सायकमयैर्जालैर्भीमः कर्णरथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोः प्राच्छादयत् प्रभाम् ॥ २२॥

कर्णके रथपर भीमसेनने सानपर चढ़ाकर स्वच्छ किये हुए तेजस्वी बाणोंका जाल-सा बिछाकर सूर्यकी प्रभाको आच्छादित कर दिया ॥ २२ ॥

ततः प्रहस्याधिरथिस्तूर्णमस्य शिलाशितैः।
व्यधमद् भीमसेनस्य शरजालानि पत्रिभिः ॥ २३ ॥

तब अधिरथपुत्र कर्णने हँसकर शिलापर तेज किये हुए पंखयुक्त बाणोंद्वारा भीमसेनके उन बाण-समूहोंको तुरंत ही छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २३ ॥

महारथो महाबाहुर्महाबाणैर्महाबलः।
विव्याधाधिरथिर्भीमं नवभिर्निशितैस्तदा ॥ २४ ॥

महारथी महाबाहु महाबली अधिरथपुत्र कर्णने उस समय नौ तीखे महाबाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया॥२४॥

स तोत्त्रैरिव मातङ्गो वार्यमाणः पतत्रिभिः।
अभ्यधावदसम्भ्रान्तः सूतपुत्रं वृकोदरः ॥ २५ ॥

जैसे मतवाला हाथी अङ्कुशसे रोका जाय, उसी प्रकार पंखयुक्त बाणोंद्वारा रोके जाते हुए भीमसेन तनिक भी घबराहटमें न पड़कर सूतपुत्र कर्णपर चढ़ आये ॥ २५ ॥

तमापतन्तं वेगेन रभसं पाण्डवर्षभम्।
कर्णः प्रत्युद्ययौ युद्धे मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ २६ ॥

जैसे मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर धावा करता है, उसी प्रकार पाण्डवशिरोमणि वेगशाली भीमको वेगपूर्वक आक्रमण करते देख कर्ण भी युद्धस्थलमें उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ॥ २६ ॥

ततः प्रध्माप्य जलजं भेरीशतसमस्वनम्।
अक्षुभ्यत बलं हर्षादुद्धूत इव सागरः ॥ २७ ॥

तदनन्तर कर्णने हर्षपूर्वक सैकड़ों भेरियोंके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले शङ्खको बजाकर सब ओर गुँजा दिया। इससे पाण्डवोंकी सेनामें विक्षुब्ध समुद्रके समान हलचल पैदा हो गयी ॥ २७ ॥

तदुद्धूतं बलं दृष्ट्वा नागाश्वरथपत्तिमत्।
भीमः कर्णं समासाद्य च्छादयामास सायकैः ॥ २८ ॥

हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसे युक्त उस सेनाको विक्षुब्ध हुई देख भीमसेनने कर्णके पास जाकर उसे बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया ॥ २८ ॥

अश्वानृक्षसवर्णांश्च हंसवर्णैर्हयोत्तमैः।
व्यामिश्रयद् रणे कर्णः पाण्डवं छादयञ्छरैः ॥ २९ ॥

उस रणक्षेत्रमें पाण्डुनन्दन भीमको अपने बाणोंसे आच्छादित करते हुए कर्णने रीछके समान रंगवाले अपने काले घोड़ोंको भीमसेनके हंस-सदृश श्वेतवर्णवाले उत्तम घोड़ोंके साथ मिला दिया ॥ २९ ॥

ऋक्षवर्णान् हयान् कर्कैर्मिश्रान् मारुतरंहसः।
निरीक्ष्य तव पुत्राणां हाहाकृतमभूद् बलम् ॥ ३० ॥

रीछके समान रंगवाले और वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको श्वेत अश्वोंके साथ मिला हुआ देख आपके पुत्रोंकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ३० ॥

ते हया वह्वशोभन्त मिश्रिता वातरंहसः ।
सितासिता महाराज यथा व्योम्नि बलाहकाः ॥ ३१ ॥

महाराज ! वायुके समान वेगवाले वे सफेद और काले घोड़े परस्पर मिलकर आकाशमें उठे हुए सफेद और काले बादलोंके समान अधिक शोभा पा रहे थे ॥ ३१ ॥

संरब्धौ क्रोधताम्राक्षौ प्रेक्ष्य कर्णवृकोदरौ ।
संत्रस्ताः समकम्पन्त त्वदीयानां महारथाः ॥ ३२ ॥

रोषावेशमें भरकर क्रोधसे लाल आँखें किये कर्ण और भीमसेनको देखकर आपके महारथी भयभीत हो काँपने लगे ॥

यमराष्ट्रोपमं घोरमासीदायोधनं तयोः ।
दुर्दर्शं भरतश्रेष्ठ प्रेतराजपुरं यथा ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनोंका संग्राम यमराजके राज्यके समान अत्यन्त भयंकर था । प्रेतराजकी पुरीके समान उसकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था ॥ ३३ ॥

समाजमिव तच्चित्रं प्रेक्षमाणा महारथाः ।
नालक्षयञ्जयं व्यक्तमेकस्यैव महारणे ॥ ३४ ॥

उस विचित्र-से समाजको देखते हुए महारथियोंने उस महासमरमें निश्चय ही उन दोनोंमेंसे किसी एक ही व्यक्तिकी विजय होती नहीं देखी ॥ ३४ ॥

तयोः प्रैक्षन्त सम्मर्दं संनिकृष्टं महास्त्रयोः ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् सपुत्रस्य विशाम्पते ॥ ३५ ॥

राजन् ! प्रजानाथ ! पुत्रोंसहित आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप महान् अस्त्रधारी भीमसेन और कर्णका अत्यन्त निकटसे होनेवाला संघर्ष सब लोग देख रहे थे ॥ ३५ ॥

छादयन्तौ हि शत्रुघ्नावन्योन्यं सायकैः शितैः ।
शरजालावृतं व्योम चक्राते ऽद्भुतविक्रमौ ॥ ३६ ॥

उन दोनों अद्भुत पराक्रमी शत्रुहन्ता वीरोंने एक-दूसरेको तीखे बाणोंसे आच्छादित करते हुए आकाशको बाण-समूहोंसे व्याप्त कर दिया ॥ ३६ ॥

तावन्योन्यं जिघांसन्तौ शरैस्तीक्ष्णैर्महारथौ ।
प्रेक्षणीयतरावास्तां वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ ॥ ३७ ॥

पैने बाणोंद्वारा एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छावाले वे दोनों महारथी वीर वर्षा करनेवाले बादलोंके समान अत्यन्त दर्शनीय हो रहे थे ॥ ३७ ॥

सुवर्णविकृतान् बाणान् विमुञ्चन्तावरिंदमौ ।
भास्वरं व्योम चक्राते महोल्काभिरिव प्रभो ॥ ३८ ॥

प्रभो ! उन दोनों शत्रुहन्ता वीरोंने सुवर्णनिर्मित बाणोंकी वर्षा करके आकाशको उसी प्रकार प्रकाशमान कर दिया, जैसे बड़ी-बड़ी उल्काओंके गिरनेसे वह प्रकाशित होने लगता है ॥ ३८ ॥

ताभ्यां मुक्ताः शरा राजन् गार्ध्रपत्राश्चकाशिरे ।
श्रेण्यः शरदि मत्तानां सारसानामिवाम्बरे ॥ ३९ ॥

राजन् ! उन दोनोंके छोड़े हुए गीधकी पाँखवाले बाण शरद् ऋतुके आकाशमें मतवाले सारसोंकी श्रेणियोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ३९ ॥

संसक्तं सूतपुत्रेण दृष्ट्वा भीममरिंदमम् ।
अतिभारममन्येतां भीमे कृष्णधनंजयौ ॥ ४० ॥

शत्रुदमन भीमसेनको सूतपुत्रके साथ उलझा हुआ देख श्रीकृष्ण और अर्जुनने भीमपर यह बहुत बड़ा भार समझा ॥

तत्राधिरथिभीमाभ्यां शरैर्मुक्तैर्दृढं हताः ।
इषुपातमतिक्रम्य पेतुरश्वनरद्विपाः ॥ ४१ ॥

उस युद्धस्थलमें कर्ण और भीमसेनके छोड़े हुए बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए घोड़े, मनुष्य और हाथी बाणोंके गिरनेके स्थानको लाँघकर उससे दूर जा गिरते थे ॥ ४१ ॥

पतद्भिः पतितैश्चान्यैर्गतासुभिरनेकशः ।
कृतो राजन् महाराज पुत्राणां ते जनक्षयः ॥ ४२ ॥

राजन् ! महाराज ! कुछ सैनिक गिर रहे थे, कुछ गिर चुके थे और दूसरे बहुत-से योद्धा प्राणशून्य हो गये थे; उन सबके कारण आपके पुत्रोंकी सेनामें बड़ा भारी नर-संहार हुआ ॥ ४२ ॥

मनुष्याश्वगजानां च शरीरैर्गतजीवितैः ।
क्षणेन भूमिः संजज्ञे संवृता भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
(आक्रीडमिव रुद्रस्य दक्षयज्ञनिबर्हणे ।)

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्य, घोड़े और हाथियोंके निष्प्राण शरीरोंसे वहाँकी भूमि क्षणभरमें ढक गयी और दक्षयज्ञके संहारकालमें रुद्रकी क्रीड़ाभूमिके समान प्रतीत होने लगी ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमकर्णयुद्धे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेन और कर्णका युद्धविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका युद्ध, कर्णके सारथिसहित रथका विनाश तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्जयका वध

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यद्भुतमहं मन्ये भीमसेनस्य विक्रमम् ।
यत् कर्णं योधयामास समरे लघुविक्रमम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मैं भीमसेनके पराक्रमको

अत्यन्त अद्भुत मानता हूँ कि उन्होंने समराङ्गणमें शीघ्रता-पूर्वक पराक्रम दिखानेवाले कर्णके साथ भी युद्ध किया ॥१॥

त्रिदशानपि वा युक्तान् सर्वशस्त्रधरान् युधि ।
वारयेद् यो रणे कर्णः सयक्षासुरमानुषान् ॥ २ ॥
स कथं पाण्डवं युद्धे भ्राजमानमिव श्रिया ।
नातरत् संयुगे पार्थं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३ ॥

संजय ! जो कर्ण रणक्षेत्रमें युद्धके लिये सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करके सुसज्जित हुए देवताओं तथा यक्षों, असुरों और मनुष्योंका भी निवारण कर सकता है, वह युद्ध-में विजय-लक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए-से पाण्डुनन्दन कुन्ती-कुमार भीमसेनको कैसे नहीं लाँघ सका ? इसका कारण मुझे बताओ ॥ २-३ ॥

कथं च युद्धं सम्भूतं तयोः प्राणदुरोदरे ।
अत्र मन्ये समायत्तो जयो वाजय एव च ॥ ४ ॥

उन दोनोंमें प्राणोंकी बाजी लगाकर किस प्रकार युद्ध हुआ ? मैं समझता हूँ कि यहीं उभय पक्षकी जय अथवा विजय निर्भर है ॥ ४ ॥

कर्णं प्राप्य रणे सूत मम पुत्रः सुयोधनः ।
जेतुमुत्सहते पार्थान् सगोविन्दान् ससात्वतान्॥ ५ ॥

सूत ! रणक्षेत्रमें कर्णको पाकर मेरा पुत्र दुर्योधन श्रीकृष्ण तथा सात्यकि आदि यादवोंसहित समस्त कुन्तीकुमारोंको जीतनेका उत्साह रखता है ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तु निर्जितं कर्णमसकृद् भीमकर्मणा ।
भीमसेनेन समरे मोह आविशतीव माम् ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके द्वारा कर्णके बारंबार पराजित होनेकी बात सुनकर मेरे मनपर मोह-सा छा जाता है ॥ ६ ॥

विनष्टान् कौरवान् मन्ये मम पुत्रस्य दुर्नयैः ।
न हि कर्णो महेष्वासान् पार्थाञ्जेष्यति संजय ॥ ७ ॥

मेरे पुत्रकी दुर्नीतियोंके कारण मैं समस्त कौरवोंको नष्ट हुआ ही मानता हूँ । संजय ! कर्ण कभी महाधनुर्धर कुन्ती-कुमारोंको नहीं जीत सकेगा ॥ ७ ॥

कृतवान् यानि युद्धानि कर्णः पाण्डुसुतैः सह ।
सर्वत्र पाण्डवाः कर्णमजयन्त रणाजिरे ॥ ८ ॥

कर्णने पाण्डुपुत्रोंके साथ जो-जो युद्ध किये हैं, उन सबमें पाण्डवोंने ही रणक्षेत्रमें कर्णको जीता है ॥ ८ ॥

अजेयाः पाण्डवास्तात देवैरपि सवासवैः ।
न च तद् बुध्यते मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ ९ ॥

तात ! इन्द्र आदि देवताओंके लिये भी पाण्डवोंपर विजय पाना असम्भव है; परंतु मेरा मूर्ख पुत्र दुर्योधन इस बातको नहीं समझता है ॥ ९ ॥

धनं धनेश्वरस्येव हृत्वा पार्थस्य मे सुतः ।
मधुप्रेप्सुरिवाबुद्धिः प्रपातं नावबुध्यते ॥ १० ॥

मेरा पुत्र कुबेरके समान कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके धनका अपहरण करके ऊँचे स्थानसे मधु लेनेकी इच्छावाले मूर्ख मनुष्यके समान पतनके भयको नहीं समझ रहा है ॥ १० ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो राज्यं हृत्वा महात्मनाम् ।
जितमित्येव मन्वानः पाण्डवानवमन्यते ॥ ११ ॥

वह छल-कपटकी विद्याको जानता है । अतः छलसे ही उन महामनस्वी पाण्डवोंके राज्यका अपहरण करके उसे जीता हुआ मानकर पाण्डवोंका अपमान करता है ॥ ११ ॥

पुत्रस्नेहाभिभूतेन मया चाप्यकृतात्मना ।
धर्मे स्थिता महात्मानो निकृताः पाण्डुनन्दनाः॥ १२ ॥

मुझ अकृतात्माने भी पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर सदा धर्मपर स्थित रहनेवाले महात्मा पाण्डवोंको ठगा है ॥ १२ ॥

शमकामः ससोदर्यो दीर्घप्रेक्षी युधिष्ठिरः ।
अशक्त इति मत्वा तु मम पुत्रैर्निराकृतः ॥ १३ ॥

दूरदर्शी युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित संधिकी अभिलाषा रखते थे; परंतु उन्हें असमर्थ मानकर मेरे पुत्रोंने उनकी बात ठुकरा दी ॥ १३ ॥

तानि दुःखान्यनेकानि विप्रकारांश्च सर्वशः ।
हृदि कृत्वा महाबाहुर्भीमोऽयुध्यत सूतजम् ॥ १४ ॥

अनेक बार दिये गये उन दुःखों और सम्पूर्ण अपकारों-को मनमें रखकर महाबाहु भीमसेनने सूतपुत्र कर्णके साथ युद्ध किया है ॥ १४ ॥

तस्मान्मे संजय ब्रूहि कर्णभीमौ यथा रणे ।
अयुध्येतां युधि श्रेष्ठौ परस्परवधैषिणौ ॥ १५ ॥

अतः संजय ! एक दूसरेके वधकी इच्छावाले युद्धस्थलके श्रेष्ठ वीर कर्ण और भीमसेनने समराङ्गणमें जिस प्रकार युद्ध किया, वह सब मुझे बताओ ॥ १५ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं संग्रामं कर्णभीमयोः ।
परस्परवधप्रेप्स्वोर्वनकुञ्जरयोरिव ॥ १६ ॥

संजयने कहा—राजन् ! कर्ण और भीमसेनके युद्ध-का यथावत् वृत्तान्त सुनिये । वे दोनों जंगली हाथियोंके समान एक दूसरेके वधके लिये उत्सुक थे ॥ १६ ॥

राजन् वैकर्तनो भीमं क्रुद्धः क्रुद्धमरिंदमम् ।
पराक्रान्तं पराक्रम्य विव्याध त्रिंशता शरैः ॥ १७ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए सूर्यपुत्र कर्णने कुपित हुए शत्रुदमन पराक्रमी भीमसेनको अपने बल-पराक्रमका परिचय देते हुए तीस बाणोंसे बींध डाला ॥ १७ ॥

महावेगैः प्रसन्नाग्रैः शातकुम्भपरिष्कृतैः ।

अहनद् भरतश्रेष्ठ भीमं वैकर्तनः शरैः ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्णने चमकते हुए अग्रभागवाले सुवर्ण-जटित महान् वेगशाली बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ॥ १८ ॥

तस्यास्यतो धनुर्भीमश्चकर्त निशितैस्त्रिभिः ।
रथनीडाच्च यन्तारं भल्लेनापातयत् क्षितौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार बाण चलाते हुए कर्णके धनुषको भीमसेनने तीन तीखे बाणोंद्वारा काट डाला और एक भल्ल मारकर सारथिको रथकी बैठकसे नीचे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १९ ॥

स काङ्क्षन् भीमसेनस्य वधं वैकर्तनो भृशम् ।
शक्तिं कनकवैदूर्यचित्रदण्डां परामृशत् ॥ २० ॥

तब भीमसेनके वधकी अभिलाषा रखकर कर्णने वेगपूर्वक एक शक्ति हाथमें ली, जिसका डंडा सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था ॥ २० ॥

प्रगृह्य च महाशक्तिं कालशक्तिमिवापराम् ।
समुत्क्षिप्य च राधेयः संधाय च महाबलः ॥ २१ ॥
चिक्षेप भीमसेनाय जीवितान्तकरीमिव ।

वह महाशक्ति दूसरी कालशक्तिके समान प्रतीत होती थी । महाबली राधापुत्र कर्णने जीवनका अन्त कर देनेवाली उस शक्तिको लेकर ऊपर उठाया और उसे धनुषपर रखकर भीमसेनपर चला दिया ॥ २१½ ॥

शक्तिं विसृज्य राधेयः पुरंदर इवाशनिम् ॥ २२ ॥
ननाद सुमहानादं बलवान् सूतनन्दनः ।
तं च नादं ततः श्रुत्वा पुत्रास्ते हर्षिताऽभवन् ॥ २३ ॥

इन्द्रके वज्रकी भाँति उस शक्तिको छोड़कर बलवान् सूतनन्दन कर्णने बड़े जोरसे गर्जना की । उस समय उस सिंहनादको सुनकर आपके पुत्र बड़े प्रसन्न हुए ॥२२-२३॥

तां कर्णभुजनिर्मुक्तामर्कवैश्वानरप्रभाम् ।
शक्तिं वियति चिच्छेद भीमः सप्तभिराशुगैः ॥ २४ ॥

कर्णके हाथोंसे छूटकर आकाशमें सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिको भीमसेनने सात बाणोंसे आकाशमें ही काट डाला ॥ २४ ॥

छित्त्वा शक्तिं ततो भीमो निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।
मार्गमाण इव प्राणान् सूतपुत्रस्य मारिष ॥ २५ ॥
प्राहिणोत् कृतसंरम्भः शरान् बर्हिणवाससः ।
स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाधौतान् यमदण्डोपमान् मृधे॥ २६ ॥

माननीय नरेश ! केचुलसे छूटी हुई सर्पिणीके समान उस शक्तिके टुकड़े-टुकड़े करके फिर भीमसेनने कुपित हो युद्धस्थलमें सूतपुत्र कर्णके प्राणोंकी खोज करते हुए-से सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए, यमदण्डके समान भयंकर, मयूरपंख एवं स्वर्णपंखसे विभूषित बाणोंको उसके ऊपर चलाना आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

कर्णोऽप्यन्यद् धनुर्गृह्य हेमपृष्ठं दुरासदम् ।
विकृष्य तन्महच्चापं व्यसृजत् सायकांस्तदा ॥ २७ ॥

तब कर्णने भी सुवर्णमय पीठवाले दूसरे दुर्धर्ष एवं विशाल धनुषको हाथमें लेकर खींचा और बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २७ ॥

तान् पाण्डुपुत्रश्चिच्छेद नवभिर्नतपर्वभिः ।
वसुषेणेन निर्मुक्तान् नव राजन् महाशरान् ॥ २८ ॥

राजन् ! वसुषेण (कर्ण) के छोड़े हुए नौ विशाल बाणोंको पाण्डुपुत्र भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंद्वारा काट गिराया ॥ २८ ॥

छित्त्वा भीमो महाराज नादं सिंह इवानदत् ।
तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे ॥ २९ ॥
शार्दूलाविव चान्योन्यमामिषार्थेऽभ्यगर्जताम् ।

महाराज ! भीमसेनने कर्णके बाणोंको काटकर सिंहके समान गर्जना की । वे दोनों बलवान् वीर कभी गायके लिये लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान हँकड़ते और कभी मांसके लिये परस्पर जूझनेवाले दो सिंहोंके समान दहाड़ते थे ॥ २९½ ॥

अन्योन्यं प्रजिहीर्षन्तावन्योन्यस्यान्तरैषिणौ ॥ ३० ॥
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ गोष्ठेष्विव महर्षभौ ।

वे गोशालाओंमें लड़नेवाले दो बड़े-बड़े साँड़ोंके समान एक दूसरेपर चोट करनेकी इच्छा रखते हुए अवसर ढूँढ़ते और परस्पर आँखें तरेर कर देखते थे ॥ ३०½ ॥

महागजाविवासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ॥ ३१ ॥
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

जैसे दो विशाल गजराज अपने दाँतोंके अग्रभागोंद्वारा एक दूसरेसे भिड़ गये हों, उसी प्रकार कर्ण और भीमसेन धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाते थे ॥ ३१½ ॥

निर्दहन्तौ महाराज शस्त्रवृष्ट्या परस्परम् ॥ ३२ ॥
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ कोपाद् विवृतलोचनौ ।
प्रहसन्तौ तथान्योन्यं भर्त्सयन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ३३ ॥
शङ्खशब्दं च कुर्वाणौ युयुधाते परस्परम् ।

महाराज ! वे परस्पर शस्त्रोंकी वर्षा करके एक दूसरेको दग्ध करते, क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते, कभी हँसते और कभी बारंबार एक दूसरेको डाँटते एवं शङ्ख-नाद करते हुए परस्पर जूझ रहे थे ॥३२-३३½॥

तस्य भीमः पुनश्चापं मुष्टौ चिच्छेद मारिष ॥ ३४ ॥
शङ्खवर्णांश्च तानश्वान् बाणैर्निन्ये यमक्षयम् ।
सारथिं च तथाप्यस्य रथनीडादपातयत् ॥ ३५ ॥

आर्य ! भीमसेनने पुनः कर्णके धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला, शङ्खके समान श्वेत रंगवाले उसके घोड़ों-

को भी बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया और उसके सारथिको भी मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ३४-३५ ॥

ततो वैकर्तनः कर्णश्चिन्तां प्राप दुरत्ययाम्।
स च्छाद्यमानः समरे हताश्वो हतसारथिः ॥ ३६ ॥

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर समराङ्गणमें बाणोंद्वारा आच्छादित हुआ सूर्यपुत्रकर्ण दुस्तर चिन्तामें निमग्न हो गया।

मोहितः शरजालेन कर्तव्यं नाभ्यपद्यत।
तथा कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा कर्णं दुर्योधनो नृपः ॥ ३७ ॥
वेपमान इव क्रोधाद् व्यादिदेशाथ दुर्जयम्।
गच्छ दुर्जय राधेयं पुरो ग्रसति पाण्डवः ॥ ३८ ॥
जहि तूबरकं क्षिप्रं कर्णस्य बलमादधत्।

बाण-समूहोंसे मोहित होनेके कारण उसे यह नहीं सूझता था कि अब क्या करना चाहिये। कर्णको इस प्रकार संकटमें पड़ा देख राजा दुर्योधन क्रोधसे काँपने-सा लगा और दुर्जयको आदेश देता हुआ बोला—'दुर्जय ! जाओ। राधानन्दन कर्णको सामने ही पाण्डुपुत्र भीमसेन कालका ग्रास बनाना चाहता है। तुम कर्णका बल बढ़ाते हुए उस बिना दाढ़ी-मूँछके मुंडे भीमसेनको शीघ्र मार डालो'। ३७-३८½।

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा तव पुत्रं तवात्मजः ॥ ३९ ॥
अभ्यद्रवद् भीमसेनं व्यासक्तं विकिरञ्छरैः।

ऐसा आदेश मिलनेपर आपके पुत्र दुर्योधनसे 'बहुत अच्छा' कहकर आपके दूसरे पुत्र दुर्जयने युद्धमें आसक्त हुए भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए आक्रमण किया ॥

स भीमं नवभिर्बाणैरश्वानष्टभिरार्पयत् ॥ ४० ॥
षड्भिः सूतं त्रिभिः केतुं पुनस्तं चापि सप्तभिः।

उसने नौ बाणोंसे भीमसेनको, आठ बाणोंसे उनके घोड़ोंको और छः बाणोंसे सारथिको घायल कर दिया। फिर तीन बाणोंद्वारा उनकी ध्वजापर आघात करके उन्हें भी पुनः सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ४०½ ॥

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धः साश्वयन्तारमाशुगैः ॥ ४१ ॥
दुर्जयं भिन्नमर्माणमनयद् यमसादनम्।

तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा दुर्जय(दुष्पराजय)के मर्मस्थलको विदीर्ण करके उसे सारथि और घोड़ोंसहित यमलोक भेज दिया ॥ ४१½ ॥

स्वलंकृतं क्षितौ क्षुण्णं चेष्टमानं यथोरगम् ॥ ४२ ॥
रुदन्नार्तस्तव सुतं कर्णश्चक्रे प्रदक्षिणम्।

आभूषणभूषित दुर्जय अपने क्षत-विक्षत अङ्गोंसे पृथ्वीपर गिरकर चोट खाये हुए सर्पके समान छटपटाने लगा। उस समय कर्णने शोकार्त होकर रोते-रोते आपके पुत्रकी परिक्रमा की ॥ ४२½ ॥

स तु तं विरथं कृत्वा स्मयन्नत्यन्तवैरिणम् ॥ ४३ ॥
समाचिनोद् बाणगणैः शतघ्नीभिश्च शङ्कुभिः।

इस प्रकार अपने अत्यन्त वैरी कर्णको रथहीन करके मुसकराते हुए भीमसेनने उसे बाण-समूहों, शतघ्नियों और शङ्कुओंसे आच्छादित कर दिया ॥ ४३½ ॥

तथाप्यतिरथः कर्णो भिद्यमानोऽस्य सायकैः ॥ ४४ ॥
न जहौ समरे भीमं क्रुद्धरूपं परंतपः ॥ ४५ ॥

भीमसेनके बाणोंसे क्षत-विक्षत होनेपर भी शत्रुओंको संताप देनेवाला अतिरथी कर्ण समर-भूमिमें कुपित भीमसेनको छोड़कर भागा नहीं ॥ ४४–४५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि कर्णभीमयुद्धे त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें कर्ण और भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ तैंतोसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका युद्ध, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्मुखका वध तथा कर्णका पलायन

संजय उवाच

सर्वथा विरथः कर्णः पुनर्भीमेन निर्जितः।
रथमन्यं समास्थाय पुनर्विव्याध पाण्डवम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सब प्रकारसे रथहीन एवं भीमसेनके द्वारा पुनः पराजित हुए कर्णने दूसरे रथपर बैठकर पाण्डुकुमार भीमसेनको पुनः बींध डाला ॥ १ ॥

महागजाविवासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम्।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २ ॥

जैसे दो विशाल गजराज अपने दाँतोंके अग्रभागोंद्वारा एक दूसरेसे भिड़ गये हों, उसी प्रकार कर्ण और भीमसेन धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ २ ॥

अथ कर्णः शरव्रातैर्भीमसेनं समार्पयत्।
ननाद च महानादं पुनर्विव्याध चोरसि ॥ ३ ॥

तदनन्तर कर्णने अपने बाण-समूहोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया। उसने बड़े जोरसे गर्जना की और पुनः भीमसेनकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३ ॥

तं भीमो दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यदजिह्मगैः।
पुनर्विव्याध सप्तत्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ ४ ॥

तब भीमने सीधे जानेवाले दस बाणोंसे कर्णको मारकर

बदला चुकाया। तत्पश्चात् झुकी हुई गाँठवाले सत्तर बाणों-द्वारा पुनः कर्णको बींध डाला ॥ ४ ॥

कर्णं तु नवभिर्भीमो भित्त्वा राजन् स्तनान्तरे।
ध्वजमेकेन विव्याध सायकेन शितेन ह ॥ ५ ॥

राजन्! भीमसेनने कर्णकी छातीमें नौ बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचाकर एक तीखे बाणसे उसकी ध्वजाको भी छेद दिया ॥ ५ ॥

सायकानां ततः पार्थस्त्रिषष्ट्या प्रत्यविध्यत।
तोत्त्रैरिव महानागं कशाभिरिव वाजिनम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर जैसे विशाल गजराजको अङ्कुशोंसे और घोड़ेको कोड़ोंसे पीटा जाय, उसी प्रकार कुन्तीकुमार भीमने तिरसठ बाणोंद्वारा कर्णको घायल कर दिया ॥ ६ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज पाण्डवेन यशस्विना।
सृक्किणी लेलिहन् वीरः क्रोधरक्तान्तलोचनः ॥ ७ ॥

महाराज! यशस्वी पाण्डुपुत्रके द्वारा अत्यन्त घायल होकर वीर कर्ण क्रोधसे लाल आँखें करके अपने दोनों जबड़ों-को चाटने लगा ॥ ७ ॥

ततः शरं महाराज सर्वकायावदारणम्।
प्राहिणोद् भीमसेनाय बलायेन्द्र इवाशनिम् ॥ ८ ॥

राजन्! तदनन्तर जैसे इन्द्रने बलासुरपर वज्र चलाया था, उसी प्रकार उसने भीमसेनपर समस्त शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले बाणका प्रहार किया ॥ ८ ॥

स निर्भिद्य रणे पार्थं सूतपुत्रधनुश्च्युतः।
अगच्छद् दारयन् भूमिं चित्रपुङ्खः शिलीमुखः ॥ ९ ॥

रणक्षेत्रमें सूतपुत्रके धनुषसे छूटा हुआ वह विचित्र पंखोंवाला बाण भीमसेनको विदीर्ण करके पृथ्वीको चीरता हुआ उसके भीतर समा गया ॥ ९ ॥

ततो भीमो महाबाहुः क्रोधसंरक्तलोचनः।
वज्रकल्पां चतुष्किष्कुं गुर्वीं रुक्माङ्गदां गदाम् ॥ १० ॥
प्राहिणोत् सूतपुत्राय षडस्रामविचारयन्।

तब क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले महाबाहु भीमसेनने चार बित्तेकी बनी हुई वज्रके समान भयंकर तथा सुवर्णमय भुजबंदसे विभूषित छः कोणोंवाली भारी गदा उठाकर उसे बिना विचारे सूतपुत्र कर्णपर चला दिया ॥ १०½ ॥

तया जघानाधिरथेः सदश्वान् साधुवाहिनः ॥ ११ ॥
गदया भारतः क्रुद्धो वज्रेणेन्द्र इवासुरान्।

जैसे कुपित हुए इन्द्रने वज्रसे असुरोंका वध किया था, उसी प्रकार क्रोधमें भरे भरतवंशी भीमने अपनी उस गदासे अधिरथ-पुत्र कर्णके उन उत्तम घोड़ोंको मार डाला, जो अच्छी तरह सवारीका काम देते थे ॥ ११½ ॥

ततो भीमो महाबाहुः क्षुराभ्यां भरतर्षभ ॥ १२ ॥
ध्वजमाधिरथेश्छित्त्वा सूतमभ्यहनच्छरैः।

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् महाबाहु भीमसेनने दो छुरोंसे कर्णकी ध्वजा काटकर अपने बाणोंद्वारा उसके सारथिको भी मार डाला ॥ १२½ ॥

हताश्वसूतमुत्सृज्य स रथं पतितध्वजम् ॥ १३ ॥
विस्फारयन् धनुः कर्णस्तस्थौ भारत दुर्मनाः।

भारत! घोड़े और सारथिके मारे जाने तथा ध्वजाके गिर जानेपर कर्ण उस रथको छोड़कर धनुषकी टंकार करता हुआ दुखी मनसे वहाँ खड़ा हो गया ॥ १३½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम राधेयस्य पराक्रमम् ॥ १४ ॥
विरथो रथिनां श्रेष्ठो वारयामास यद् रिपुम्।

वहाँ हमलोगोंने राधानन्दन कर्णका अद्भुत पराक्रम देखा। रथियोंमें श्रेष्ठ उस वीरने रथहीन होनेपर भी अपने शत्रुको आगे नहीं बढ़ने दिया ॥ १४½ ॥

विरथं तं नरश्रेष्ठं दृष्ट्वाऽऽधिरथिमाहवे ॥ १५ ॥
दुर्योधनस्ततो राजन्नभ्यभाषत दुर्मुखम्।
एष दुर्मुख राधेयो भीमेन विरथीकृतः ॥ १६ ॥
तं रथेन नरश्रेष्ठं सम्पादय महारथम्।

राजन्! नरश्रेष्ठ कर्णको युद्धस्थलमें रथहीन खड़ा देख दुर्योधनने अपने भाई दुर्मुखसे कहा—'दुर्मुख! यह राधानन्दन कर्ण भीमसेनके द्वारा रथसे वञ्चित कर दिया गया है। इस महारथी नरश्रेष्ठ वीरको रथसे सम्पन्न करो' ॥

ततो दुर्योधनवचः श्रुत्वा भारत दुर्मुखः ॥ १७ ॥
त्वरमाणोऽभ्ययात् कर्णं भीमं चावारयच्छरैः।
दुर्मुखं प्रेक्ष्य संग्रामे सूतपुत्रपदानुगम् ॥ १८ ॥
वायुपुत्रः प्रहृष्टोऽभूत् सृक्किणी परिसंलिहन्।

भरतनन्दन! दुर्योधनकी यह बात सुनकर दुर्मुख बड़ी उतावलीके साथ कर्णके समीप आ पहुँचा और भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा रोका। संग्राममें सूतपुत्रके चरणोंका अनुसरण करनेवाले दुर्मुखको देखकर वायुपुत्र भीमसेन बड़े प्रसन्न हुए। वे अपने दोनों गलफर चाटने लगे ॥ १७–१८½ ॥

ततः कर्णं महाराज वारयित्वा शिलीमुखैः ॥ १९ ॥
दुर्मुखाय रथं तूर्णं प्रेषयामास पाण्डवः।

महाराज! तदनन्तर कर्णको अपने बाणोंद्वारा रोककर पाण्डुकुमार भीम तुरंत ही अपने रथको दुर्मुखके पास ले गये ॥ १९½ ॥

तस्मिन् क्षणे महाराज नवभिर्नतपर्वभिः ॥ २० ॥
सुमुखैर्दुर्मुखं भीमः शरैर्निन्ये यमक्षयम्।

राजन्! फिर झुकी हुई गाँठवाले नौ सुमुख बाणोंद्वारा भीमसेनने दुर्मुखको उसी क्षण यमलोक पहुँचा दिया। २०½।

ततस्तमेवाधिरथिः स्यन्दनं दुर्मुखे हते ॥ २१ ॥
आस्थितः प्रबभौ राजन् दीप्यमान इवांशुमान्।

नरेश्वर! दुर्मुखके मारे जानेपर कर्ण उसी रथपर बैठ-कर देदीप्यमान सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ २१½ ॥

शयानं भिन्नमर्माणं दुर्मुखं शोणितोक्षितम् ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा कर्णोऽश्रुपूर्णाक्षो मुहूर्तं नाभ्यवर्तत ।
तं गतासुमतिक्रम्य कृत्वा कर्णः प्रदक्षिणम् ॥ २३ ॥
दीर्घमुष्णं श्वसन् वीरो न किंचित् प्रत्यपद्यत ।

दुर्मुखका मर्मस्थान विदीर्ण हो गया था । वह खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़ा था । उसे उस दशामें देखकर कर्णके नेत्रोंमें आँसू भर आया । वह दो घड़ीतक विपक्षीका सामना न कर सका । जब उसके प्राणपखेरू उड़ गये, तब कर्ण उस शवकी परिक्रमा करके आगे बढ़ा । वह वीर गरम-गरम लंबी साँस खींचता हुआ किसी कर्तव्यका निश्चय न कर सका ॥ २२–२३½ ॥

तस्मिंस्तु विवरे राजन् नाराचान् गार्ध्रवाससः ॥ २४ ॥
प्राहिणोत् सूतपुत्राय भीमसेनश्चतुर्दश ।

राजन् ! इसी अवसरमें भीमसेनने सूतपुत्रपर गीधकी पाँखवाले चौदह नाराच चलाये ॥ २४½ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा स्वर्णचित्रं महौजसः ॥ २५ ॥
हेमपुङ्खा महाराज व्यशोभन्त दिशो दश ।

महाराज ! वे महातेजस्वी सुनहरी पाँखवाले बाण उसके सुवर्णजटित कवचको छिन्न-भिन्न करके दसों दिशाओंको सुशोभित करने लगे ॥ २५½ ॥

अपिबन् सूतपुत्रस्य शोणितं रक्तभोजनाः ॥ २६ ॥
क्रुद्धा इव मनुष्येन्द्र भुजङ्गाः कालचोदिताः ।

नरेन्द्र ! वे रक्तका आहार करनेवाले बाण क्रोधभरे कालप्रेरित भुजंगोंके समान सूतपुत्र कर्णका खून पीने लगे ॥

प्रसर्पमाणा मेदिन्यां ते व्यरोचन्त मार्गणाः ॥ २७ ॥
अर्धप्रविष्टाः संरब्धा बिलानीव महोरगाः ।

जैसे क्रोधमें भरे हुए महान् सर्प बिलोंमें प्रवेश करते समय आधे ही घुस पाये हों, उसी प्रकार वे बाण पृथ्वीमें घुसते हुए शोभा पा रहे थे ॥ २७½ ॥

तं प्रत्यविध्यद् राधेयो जाम्बूनदविभूषितैः ॥ २८ ॥
चतुर्दशभिरत्युग्रैर्नाराचैरविचारयन् ।

तब कर्णने कुछ विचार न करके अत्यन्त भयंकर एवं सुवर्णभूषित चौदह नाराचोंसे भीमसेनको भी घायल कर दिया ॥ २८½ ॥

ते भीमसेनस्य भुजं सव्यं निर्भिद्य पत्रिणः ॥ २९ ॥
प्राविशन् मेदिनीं भीमाः क्रौञ्चं पत्ररथा इव ।

वे पंखधारी भयानक बाण भीमसेनकी बायीं भुजा छेदकर पृथ्वीमें समा गये, मानो पक्षी क्रौञ्च पर्वतको जा रहे हों ॥२९½॥

ते व्यरोचन्त नाराचाः प्रविशन्तो वसुंधराम् ॥ ३० ॥
गच्छत्यस्तं दिनकरे दीप्यमाना इवांशवः ।

वे नाराच इस पृथ्वीमें प्रवेश करते समय वैसी ही शोभा पा रहे थे, जैसे सूर्यके डूबते समय उनकी चमकीली किरणें प्रकाशित होती हैं ॥ ३०½ ॥

स निर्भिन्नो रणे भीमो नाराचैर्मर्मभेदिभिः ॥ ३१ ॥
सुस्राव रुधिरं भूरि पर्वतः सलिलं यथा ।

मर्मभेदी नाराचोंसे रणक्षेत्रमें विदीर्ण हुए भीमसेन उसी प्रकार भूरि-भूरि रक्त बहाने लगे, जैसे पर्वत झरनेका जल गिराता है ॥ ३१½ ॥

स भीमस्त्रिभिरायत्तः सूतपुत्रं पतत्रिभिः ॥ ३२ ॥
सुपर्णवेगैर्विव्याध सारथिं चास्य सप्तभिः ।

तब भीमसेनने भी प्रयत्नपूर्वक गरुडके समान वेगशाली तीन बाणोंद्वारा सूतपुत्र कर्णको तथा सात बाणोंसे उसके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

स विह्वलो महाराज कर्णो भीमशराहतः ॥ ३३ ॥
प्राद्रवज्जवनैरश्वै रणं हित्वा महाभयात् ।

महाराज ! भीमके बाणोंसे आहत होकर कर्ण विह्वल हो उठा और महान् भयके कारण युद्ध छोड़कर शीघ्रगामी घोड़ोंकी सहायतासे भाग निकला ॥ ३३½ ॥

भीमसेनस्तु विस्फार्य चापं हेमपरिष्कृतम् ॥ ३४ ॥
आहवेऽतिरथोऽतिष्ठज्ज्वलन्निव हुताशनः ॥ ३५ ॥

परंतु अतिरथी भीमसेन अपने सुवर्णभूषित धनुषको ताने हुए प्रज्वलित अग्निके समान युद्धस्थलमें ही खड़े रहे ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि कर्णापयाने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें कर्णका पलायनविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३४॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका खेदपूर्वक भीमसेनके बलका वर्णन और अपने पुत्रोंकी निन्दा करना तथा भीमके द्वारा दुर्मर्षण आदि धृतराष्ट्रके पाँच पुत्रोंका वध

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये धिक् पौरुषमनर्थकम् ।
यत्राधिरथिरायत्तो नातरत् पाण्डवं रणे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मैं तो दैवको ही बड़ा मानता हूँ । पुरुषार्थ तो व्यर्थ है । उसे धिक्कार है; क्योंकि उसमें स्थित हुआ अधिरथपुत्र कर्ण सब प्रकारसे प्रयत्न करके भी रणक्षेत्रमें पाण्डुनन्दन भीमसे पार न पा सका ॥ १ ॥

कर्णः पार्थान् सगोविन्दान् जेतुमुत्सहते रणे ।
न च कर्णसमं योधं लोके पश्यामि कञ्चन ॥ २ ॥

'कर्ण युद्धस्थलमें कृष्णसहित समस्त कुन्तीकुमारोंको जीतनेका उत्साह रखता है । मैं संसारमें कर्णके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देख रहा हूँ' ॥ २ ॥

इति दुर्योधनस्याहमश्रौषं जल्पतो मुहुः ।
कर्णो हि बलवाञ्छूरो दृढधन्वा जितक्लमः ॥ ३ ॥
इति मामब्रवीत् सूत मन्दो दुर्योधनः पुरा ।
वसुषेणसहायं मां नालं देवाऽपि संयुगे ॥ ४ ॥
किं नु पाण्डुसुता राजन् गतसत्त्वा विचेतसः ।

इस प्रकार दुर्योधनके मुँहसे मैंने बारंबार सुना है । सूत ! मूर्ख दुर्योधनने पहले मुझसे यह भी कहा था कि 'कर्ण बलवान्, शूरवीर, सुदृढ़ धनुर्धर और युद्धमें श्रम तथा थकावटपर विजय पानेवाला है । राजन् ! कर्णके साथ रहनेपर समरभूमिमें मुझे देवता भी परास्त नहीं कर सकते; फिर शक्तिहीन और विवेकशून्य पाण्डव मेरा क्या कर सकते हैं ?' ॥ ३-४½ ॥

तत्र तं निर्जितं दृष्ट्वा भुजङ्गमिव निर्विषम् ॥ ५ ॥
युद्धात् कर्णमपक्रान्तं किंस्विद् दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

परंतु रणक्षेत्रमें विषहीन सर्पके समान कर्णको पराजित और युद्धसे भागा हुआ देखकर दुर्योधनने क्या कहा था ॥ ५½ ॥

अहो दुर्मुखमेवैकं युद्धानामविशारदम् ॥ ६ ॥
प्रावेशयद्धुतवहं पतङ्गमिव मोहितः ।

अहो ! दुर्योधनने मोहित होकर युद्धकी कलासे अनभिज्ञ दुर्मुखको अकेले ही पतंगकी भाँति आगमें झोंक दिया ॥६½॥

अश्वत्थामा मद्रराजः कृपः कर्णश्च संगताः ॥ ७ ॥
न शक्ताः प्रमुखे स्थातुं नूनं भीमस्य संजय ।

संजय ! अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य, कृपाचार्य और कर्ण—ये सब मिलकर भी निश्चय ही भीमके सामने नहीं ठहर सकते ॥ ७½ ॥

तेऽपि चास्य महाघोरं बलं नागायुतोपमम् ॥ ८ ॥
जानन्तो व्यवसायं च क्रूरं मारुततेजसः ।
किमर्थं क्रूरकर्माणं यमकालान्तकोपमम् ॥ ९ ॥
बलसंरम्भवीर्यज्ञाः कोपयिष्यन्ति संयुगे ।

वे भी वायुके तुल्य तेजस्वी भीमसेनके दस हजार हाथियोंके समान अत्यन्त घोर बलको तथा उनके क्रूरतापूर्ण निश्चयको जानते हैं; उनके बल, पराक्रम और क्रोधसे परिचित हैं । ऐसी दशामें वे यम, काल और अन्तकके समान क्रूर कर्म करनेवाले भीमसेनको युद्धमें अपने ऊपर कैसे कुपित करेंगे ? ॥ ८-९½ ॥

कर्णस्त्वेको महाबाहुः स्वबाहुबलदर्पितः ॥ १० ॥
भीमसेनमनादृत्य रणेऽयुध्यत सूतजः ।

अकेला सूतपुत्र महाबाहु कर्ण ही अपने बाहुबलके घमंडमें भरकर भीमसेनका तिरस्कार करके रणभूमिमें उनके साथ जूझता रहा ॥ १०½ ॥

योऽजयत् समरे कर्णं पुरंदर इवासुरम् ॥ ११ ॥
न स पाण्डुसुतो जेतुं शक्यः केनचिदाहवे ।

जिन्होंने समराङ्गणमें असुरोंपर विजय पानेवाले देवराज इन्द्रके समान कर्णको पराजित कर दिया, उन पाण्डुपुत्र भीमसेनको कोई भी युद्धमें जीत नहीं सकता ॥ ११½ ॥

द्रोणं यः सम्प्रमथ्यैकः प्रविष्टो मम वाहिनीम् ॥ १२ ॥
भीमो धनंजयान्वेषी कस्तमार्च्छेज्जिजीविषुः ।

जो भीमसेन अकेले ही द्रोणाचार्यको मथकर धनंजयका पता लगानेके लिये मेरी सेनामें घुस आये, उनका सामना करनेके लिये जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन पुरुष जा सकता है ? ॥ १२½ ॥

को हि संजय भीमस्य स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः ॥ १३ ॥
उद्यताशनिहस्तस्य महेन्द्रस्येव दानवः ।

संजय ! जैसे हाथमें वज्र लिये हुए देवराज इन्द्रके सामने कोई दानव खड़ा नहीं हो सकता, उसी प्रकार भीमसेनके सम्मुख भला कौन ठहर सकता है ? ॥ १३½ ॥

प्रेतराजपुरं प्राप्य निवर्तेतापि मानवः ॥ १४ ॥
न भीमसेनं सम्प्राप्य निवर्तेत कदाचन ।

मनुष्य यमलोकमें भी जाकर लौट सकता है; परंतु युद्धमें भीमसेनके सामने जाकर कदापि जीवित नहीं लौट सकता ॥ १४½ ॥

पतङ्गा इव वह्निं ते प्राविशन्नल्पचेतसः ॥ १५ ॥
ये भीमसेनं संक्रुद्धमन्वधावन् विमोहिताः ।

मेरे जो मन्दबुद्धि पुत्र मोहित होकर क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी ओर दौड़े थे, वे पतंगोंके समान मानो आगमें ही कूद पड़े थे ॥ १५½ ॥

यत् तत् सभायां भीमेन मम पुत्रवधाश्रयम् ॥ १६ ॥
उक्तं संरम्भिणोग्रेण कुरूणां शृण्वतां तदा ।
तन्नूनमभिसंचिन्त्य दृष्ट्वा कर्णं च निर्जितम् ॥ १७ ॥
दुःशासनः सह भ्रात्रा भयाद् भीमादुपारमत् ।

क्रोधमें भरे हुए भयंकर भीमसेनने सभाभवनमें उस दिन समस्त कौरवोंके सुनते हुए मेरे पुत्रोंके वधके सम्बन्धमें जो प्रतिज्ञा की थी, उसका विचार करके और कर्णको पराजित देखकर अपने भाई दुर्योधनसहित दुःशासन निश्चय ही भयके मारे भीमसेनसे दूर हट गया होगा ॥ १६-१७½ ॥

यश्च संजय दुर्बुद्धिरब्रवीत् समितौ मुहुः ॥ १८ ॥
कर्णो दुःशासनोऽहं च जेष्यामो युधि पाण्डवान् ।

संजय ! खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने सभामें बारंबार कहा था कि 'कर्ण, दुःशासन तथा मैं—तीनों मिलकर युद्धमें अवश्य पाण्डवोंको जीत लेंगे' ॥ १८½ ॥

स नूनं विरथं दृष्ट्वा कर्णं भीमेन निर्जितम् ॥ १९ ॥
प्रत्याख्यानाच्च कृष्णस्य भृशं तप्यति पुत्रकः ।

परंतु अब कर्णको भीमसेनके द्वारा पराजित और रथहीन हुआ देख श्रीकृष्णकी बात न माननेके कारण मेरा वह पुत्र निश्चय ही बड़ा भारी पश्चात्ताप कर रहा होगा ॥ १९½ ॥

दृष्ट्वा भ्रातॄन् हतान् संख्ये भीमसेनेन दंशितान् ॥ २० ॥
आत्मापराधे सुमहन्नूनं तप्यति पुत्रकः ।

अपने कवचधारी भ्राताओंको युद्धमें भीमसेनके द्वारा मारा गया देख मेरे पुत्रको अपने अपराधके लिये अवश्य ही महान् अनुताप हो रहा होगा ॥ २०½ ॥

को हि जीवितमन्विच्छन् प्रतीपं पाण्डवं व्रजेत् ॥ २१ ॥
भीमं भीमायुधं क्रुद्धं साक्षात् कालमिव स्थितम् ।

अपने जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष क्रोधमें भरकर साक्षात् कालके समान खड़े हुए भयानक अस्त्र-शस्त्रधारी पाण्डुपुत्र भीमसेनके विरुद्ध युद्धमें जा सकता है ॥ २१½ ॥

वडवामुखमध्यस्थो मुच्येतापि हि मानवः ॥ २२ ॥
न भीममुखसम्प्राप्तो मुच्येदिति मतिर्मम ।

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि बडवानलके मुखमें पड़ा हुआ मनुष्य शायद जीवित बच जाय; परंतु भीमसेनके सम्मुख युद्धके लिये आया हुआ कोई भी शूरमा जीवित नहीं छूट सकता ॥ २२½ ॥

न पार्था न च पञ्चाला न च केशवसात्यकी ॥ २३ ॥
जानते युधि संरब्धा जीवितं परिरक्षितुम् ।
अहो मम सुतानां हि विपन्नं सूत जीवितम् ॥ २४ ॥

सूत ! युद्धमें क्रुद्ध होनेपर पाण्डव, पाञ्चाल, श्रीकृष्ण तथा सात्यकि—ये कोई भी शत्रुके जीवनकी रक्षा करना नहीं जानते हैं । अहो ! मेरे पुत्रोंका जीवन भारी विपत्तिमें पड़ गया है ॥ २३-२४ ॥

संजय उवाच

यस्त्वं शोचसि कौरव्य वर्तमाने महाभये ।
त्वमस्य जगतो मूलं विनाशस्य न संशयः ॥ २५ ॥

संजयने कहा—कुरुनन्दन ! यह महान् भय जब सिरपर आ गया है, तब आप शोक करने बैठे हैं, यह ठीक नहीं है । इसमें कोई संदेह नहीं कि इस जगत्‌के विनाशका मूल कारण आप ही हैं ॥ २५ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पुत्राणां वचने स्थितः ।
उच्यमानो न गृह्णीषे मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ॥ २६ ॥

पुत्रोंकी हाँमें हाँ मिलाकर आपने स्वयं ही इस महान् वैरकी नींव डाली है और जब इसे मिटानेके लिये आपसे किसीने कोई बात कही, तब आपने उसे नहीं माना, ठीक उसी तरह, जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारक औषध नहीं ग्रहण करता है ॥ २६ ॥

स्वयं पीत्वा महाराज कालकूटं सुदुर्जरम् ।
तस्येदानीं फलं कृत्स्नमवाप्नुहि नरोत्तम ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ ! महाराज ! जिसको पचाना अत्यन्त कठिन है, उस कालकूट विषको स्वयं पीकर अब उसके सारे परिणामोंको आप ही भोगिये ॥ २७ ॥

यत् तु कुत्सयसे योधान् युध्यमानान् महाबलान् ।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा युद्धमवर्तत ॥ २८ ॥

युद्धमें लगे हुए महाबली योद्धाओंको जो आप कोस रहे हैं, वह व्यर्थ है । अब जिस प्रकार वहाँ युद्ध हुआ था, वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा कर्णं तु पुत्रास्ते भीमसेनपराजितम् ।
नामृष्यन्त महेष्वासाः सोदर्याः पञ्च भारत ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! कर्णको भीमसेनसे पराजित हुआ देख आपके पाँच महाधनुर्धर पुत्र जो परस्पर सगे भाई थे, सह न सके ॥ २९ ॥

दुर्मर्षणो दुःसहश्च दुर्मदो दुर्धरो जयः ।
पाण्डवं चित्रसंनाहास्तं प्रतीपमुपाद्रवन् ॥ ३० ॥

उन पाँचोंके नाम ये हैं—दुर्मर्षण, दुःसह, दुर्मद, दुर्धर(दुराधार)और जय । इन सबने विचित्र कवच धारण करके अपने विरोधी पाण्डुपुत्र भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३० ॥

ते समन्तान्महाबाहुं परिवार्य वृकोदरम् ।
दिशः शरैः समावृण्वञ्शलभानामिव व्रजैः ॥ ३१ ॥

उन्होंने महाबाहु भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर टिड्डी-दलोंके समान अपने बाणसमूहोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

आगच्छतस्तान् सहसा कुमारान् देवरूपिणः ।
प्रतिजग्राह समरे भीमसेनो हसन्निव ॥ ३२ ॥

उन देवतुल्य राजकुमारोंको सहसा देख समरभूमिमें भीमसेनने हँसते हुए-से उनका आघात सहन किया ॥ ३२ ॥

तव दृष्ट्वा तु तनयान् भीमसेनपुरोगतान् ।
अभ्यवर्तत राधेयो भीमसेनं महाबलम् ॥ ३३ ॥

आपके पुत्रोंको भीमसेनके सामने गया हुआ देख राधानन्दन कर्ण पुनः महाबली भीमसेनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३३ ॥

विसृजन् विशिखांस्तीक्ष्णान् स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान् ।
तं तु भीमोऽभ्ययात् तूर्णं वार्यमाणः सुतैस्तव ॥ ३४ ॥

वह शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखोंसे युक्त पैने बाणोंकी वर्षा कर रहा था। उस समय आपके पुत्रोंद्वारा रोके जानेपर भी भीमसेन तुरंत ही कर्णके साथ युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ गये ॥ ३४ ॥

कुरवस्तु ततः कर्णं परिवार्य समन्ततः ।
अवाकिरन् भीमसेनं शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३५ ॥

तब उन कौरवोंने कर्णको चारों ओरसे घेरकर भीमसेन-पर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३५ ॥

तान् बाणैः पञ्चविंशत्या साश्वान् राजन् नरर्षभान् ।
ससूतान् भीमधनुषो भीमो निन्ये यमक्षयम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! यह देखकर भीमसेनने पचीस बाणोंका प्रहार करके सारथि और घोड़ोंसहित भयंकर धनुष धारण करनेवाले उन नरश्रेष्ठ राजकुमारोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ३६ ॥

प्रापतन् स्यन्दनेभ्यस्ते सार्धं सूतैर्गतासवः ।
चित्रपुष्पधरा भग्ना वातेनेव महाद्रुमाः ॥ ३७ ॥

वे प्राणशून्य होकर सारथियोंके साथ रथोंसे नीचे गिर पड़े, मानो प्रचण्ड आँधीने विचित्र पुष्प धारण करनेवाले विशाल वृक्षोंको उखाड़कर धराशायी कर दिया हो ॥ ३७ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ।
संवार्याधिरथिं बाणैर्यज्जघान तवात्मजान् ॥ ३८ ॥

वहाँ हमने भीमसेनका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने सूतपुत्र कर्णको अपने बाणोंद्वारा रोककर आपके पुत्रोंको मार डाला ॥ ३८ ॥

स वार्यमाणो भीमेन शितैर्बाणैः समन्ततः ।
सूतपुत्रो महाराज भीमसेनमवैक्षत ॥ ३९ ॥

महाराज ! भीमसेनके पैने बाणोंद्वारा चारों ओरसे रोके जानेपर भी सूतपुत्र कर्णने भीमसेनकी ओर क्रोधपूर्वक देखा ॥ ३९ ॥

तं भीमसेनः संरम्भात् क्रोधसंरक्तलोचनः ।
विस्फार्य सुमहच्चापं मुहुः कर्णमवैक्षत ॥ ४० ॥

इधर क्रोधसे लाल आँखें किये भीमसेन भी अपने विशाल धनुषको फैलाकर कर्णकी ओर रोषपूर्वक बारंबार देखने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमसेनपराक्रमे पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका युद्ध, कर्णका पलायन, धृतराष्ट्रके सात पुत्रोंका वध तथा भीमका पराक्रम

संजय उवाच

तवात्मजांस्तु पतितान् दृष्ट्वा कर्णः प्रतापवान् ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो निर्विण्णोऽभूत् स जीवितात् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रोंको रणभूमिमें गिरा हुआ देख प्रतापी कर्ण अत्यन्त कुपित हो अपने जीवनसे विरक्त हो उठा ॥ १ ॥

आगस्कृतमिवात्मानं मेने चाधिरथिस्तदा ।
यत्प्रत्यक्षं तव सुता भीमेन निहता रणे ॥ २ ॥

उस समय अधिरथपुत्र कर्ण अपने आपको अपराधी-सा मानने लगा; क्योंकि भीमसेनने उसकी आँखोंके सामने रणभूमिमें आपके पुत्रोंको मार डाला था ॥ २ ॥

भीमसेनस्ततः क्रुद्धः कर्णस्य निशिताञ्शरान् ।
निचखान स सम्भ्रान्तः पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३ ॥

तदनन्तर पहलेके वैरका बारंबार स्मरण करके कुपित हुए भीमसेनने कर्णके शरीरमें बड़े वेगसे अपने पैने बाण धँसा दिये ॥ ३ ॥

स भीमं पञ्चभिर्विद्ध्वा राधेयः प्रहसन्निव ।
पुनर्विव्याध सप्तत्या स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ ४ ॥

तब राधानन्दन कर्णने हँसते हुए-से पाँच बाण मारकर भीमसेनको घायल कर दिया। फिर शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले सत्तर बाणोंद्वारा उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४ ॥

अविचिन्त्याथ तान् बाणान् कर्णेनास्तान् वृकोदरः ।
रणे विव्याध राधेयं शतेनानतपर्वणाम् ॥ ५ ॥

कर्णके चलाये हुए उन बाणोंकी कुछ भी परवा न करके भीमसेनने रणभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले सौ बाणोंद्वारा राधापुत्रको घायल कर दिया ॥ ५ ॥

पुनश्च विशिखैस्तीक्ष्णैर्विद्ध्वा मर्मसु पञ्चभिः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सूतपुत्रस्य मारिष ॥ ६ ॥

माननीय नरेश ! फिर पाँच तीखे बाणोंद्वारा सूतपुत्रके मर्मस्थानोंमें चोट पहुँचाकर भीमसेनने एक भल्लद्वारा उसका धनुष काट दिया ॥ ६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय कर्णो भारत दुर्मनाः ।
इषुभिश्छादयामास भीमसेनं परंतपः ॥ ७ ॥

भारत ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले कर्णने खिन्न होकर दूसरा धनुष हाथमें ले भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया ॥ ७ ॥

तस्य भीमो हयान् हत्वा विनिहत्य च सारथिम्।
प्रजहास महाहासं कृते प्रतिकृते पुनः ॥ ८ ॥

भीमसेनने उसके घोड़ों और सारथिको मारकर उसके प्रहारका बदला चुका लेनेके पश्चात् पुनः बड़े जोरसे अट्टहास किया ॥ ८ ॥

इषुभिः कार्मुकं चास्य चकर्त पुरुषर्षभः ।
तत् पपात महाराज स्वर्णपृष्ठं महास्वनम् ॥ ९ ॥

महाराज ! पुरुषशिरोमणि भीमने अपने बाणोंद्वारा कर्णका धनुष भी फिर काट दिया । स्वर्णमय पृष्ठभागसे युक्त और गम्भीर टङ्कार करनेवाला उसका वह धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

अवारोहद् रथात् तस्मादथ कर्णो महारथः ।
गदां गृहीत्वा समरे भीमाय प्राहिणोद् रुषा ॥ १० ॥

महारथी कर्ण उस रथसे उतर गया और गदा लेकर उसने समरभूमिमें भीमसेनपर रोषपूर्वक चला दी ॥ १० ॥

तामापतन्तीमालक्ष्य भीमसेनो महागदाम् ।
शरैरवारयद् राजन् सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ११ ॥

राजन् ! उस विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख भीमसेनने सब सेनाओंके देखते-देखते बाणोंद्वारा उसका निवारण कर दिया ॥ ११ ॥

ततो बाणसहस्राणि प्रेषयामास पाण्डवः ।
सूतपुत्रवधाकाङ्क्षी त्वरमाणः पराक्रमी ॥ १२ ॥

तब सूतपुत्रके वधकी इच्छावाले पराक्रमी पाण्डुपुत्र भीमसेनने बड़ी उतावलीके साथ एक हजार बाण चलाये ॥ १२ ॥

तानिषूनिषुभिः कर्णो वारयित्वा महामृधे ।
कवचं भीमसेनस्य पाटयामास सायकैः ॥ १३ ॥

परंतु कर्णने उस महासमरमें अपने बाणोंद्वारा उन सभी बाणोंका निवारण करके भीमसेनके कवचको बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १३ ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या नाराचानां समार्पयत् ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसने सब सेनाओंके देखते-देखते भीमसेनपर पचीस नाराचोंका प्रहार किया । वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १४ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्नवभिर्नतपर्वभिः ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सूतपुत्रस्य मारिष ॥ १५ ॥

माननीय नरेश ! तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए महाबाहु भीमसेनने सूतपुत्रको झुकी हुई गाँठवाले नौ बाण मारे॥१५॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा तथा बाहुं च दक्षिणम् ।
अभ्ययुर्धरणीं तीक्ष्णा वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ १६ ॥

वे तीखे बाण कर्णके कवच तथा दाहिनी भुजाको विदीर्ण करके बाँबीमें घुसनेवाले सर्पोंके समान धरतीमें समा गये ॥ १६ ॥

स च्छाद्यमानो बाणौघैर्भीमसेनधनुश्च्युतैः ।
पुनरेवाभवत् कर्णो भीमसेनात् पराङ्मुखः ॥ १७ ॥

भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर कर्ण पुनः भीमसेनसे विमुख हो गया (उन्हें पीठ दिखाकर भाग चला) ॥ १७ ॥

तं पराङ्मुखमालोक्य पदातिं सूतनन्दनम् ।
कौन्तेयशरसंछन्नं राजा दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

सूतपुत्र कर्णको युद्धसे विमुख, पैदल तथा भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित देखकर राजा दुर्योधन अपने सैनिकोंसे बोला—॥ १८ ॥

त्वरध्वं सर्वतो यत्ता राधेयस्य रथं प्रति ।
ततस्तव सुता राजञ्छ्रुत्वा भ्रातुर्वचो द्रुतम् ॥ १९ ॥
अभ्ययुः पाण्डवं युद्धे विसृजन्तः शिलीमुखान् ।

'वीरो ! सब ओरसे राधानन्दन कर्णके रथकी ओर शीघ्र आओ और उसकी रक्षाका प्रबन्ध करो ।' राजन् ! तब भाईकी यह बात सुनकर आपके पुत्र शीघ्रतापूर्वक युद्धमें पाण्डुपुत्र भीमपर बाणोंकी वर्षा करते हुए आ पहुँचे ॥१९½॥

चित्रोपचित्रश्चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥ २० ॥
चित्रायुधश्चित्रवर्मा समरे चित्रयोधिनः ।

उनके नाम इस प्रकार हैं–चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन, चित्रायुध और चित्रवर्मा । ये सब-के-सब समरभूमिमें विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले थे ॥ २०½ ॥

तानापतत एवाशु भीमसेनो महारथः ॥ २१ ॥
एकैकेन शरेणाजौ पातयामास ते सुतान् ।
ते हता न्यपतन् भूमौ वातरुग्णा इव द्रुमाः ॥ २२ ॥

महारथी भीमसेनने उनके आते ही शीघ्रतापूर्वक एक-एक बाण मारकर आपके सभी पुत्रोंको युद्धमें धराशायी कर दिया। वे मारे जाकर आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २१-२२ ॥

दृष्ट्वा विनिहतान् पुत्रांस्तव राजन् महारथान्।
अश्रुपूर्णमुखः कर्णः क्षत्तुः सस्मार तद् वचः ॥ २३ ॥

राजन्! आपके महारथी पुत्रोंको इस प्रकार मारा गया देख कर्णके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उस समय उसे विदुरजीकी कही हुई बात याद आयी ॥ २३॥

रथं चान्यं समास्थाय विधिवत् कल्पितं पुनः।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे त्वरमाणः पराक्रमी ॥ २४ ॥

फिर उस पराक्रमी वीरने विधिपूर्वक सजाये हुए दूसरे रथपर बैठकर युद्धमें शीघ्रतापूर्वक पाण्डुपुत्र भीमसेनपर धावा किया ॥ २४ ॥

तावन्योन्यं शरैर्भित्त्वा स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।
व्यभ्राजेतां यथा मेघौ संस्यूतौ सूर्यरश्मिभिः ॥ २५ ॥

वे दोनों एक दूसरेको शिलापर तेज किये हुए सुवर्ण-पंखयुक्त बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत करके सूर्यकी किरणोंमें पिरोये हुए बादलोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ २५ ॥

षट्त्रिंशद्भिस्ततो भल्लैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः।
व्यधमत् कवचं क्रुद्धः सूतपुत्रस्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने प्रचण्ड तेजवाले छत्तीस तीखे भल्लोंका प्रहार करके सूतपुत्रके कवचकी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥ २६ ॥

सूतपुत्रोऽपि कौन्तेयं शरैः संनतपर्वभिः।
पञ्चाशता महाबाहुर्विव्याध भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ! फिर महाबाहु सूतपुत्रने भी कुन्तीकुमार भीमसेनको झुकी हुई गाँठवाले पचास बाणोंसे बींध डाला ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गौ शरैः कृतमहाव्रणौ।
शोणिताक्तौ व्यराजेतां चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥ २८ ॥

उन दोनोंने अपने शरीरमें लाल चन्दन लगा रक्खे थे। इसके सिवा उनके शरीरमें बाणोंके आघातसे बड़े-बड़े घाव हो गये थे। इस प्रकार खूनसे लथपथ हुए वे दोनों योद्धा उदयकालीन सूर्य और चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ २८ ॥

तौ शोणितोक्षितैर्गात्रैः शरैश्छिन्नतनुच्छदौ।
कर्णभीमौ व्यराजेतां निर्मुक्ताविव पन्नगौ ॥ २९ ॥
व्याघ्राविव नरव्याघ्रौ दंष्ट्राभिरितरेतरम्।
शरधारासृजौ वीरौ मेघाविव ववर्षतुः ॥ ३० ॥

बाणोंद्वारा उन दोनोंके कवच कट गये थे और सारे अङ्ग रक्तसे भींग गये थे। उस दशामें वे कर्ण और भीमसेन केंचुल छोड़कर निकले हुए दो सर्पोंके समान शोभा पाने लगे। जैसे दो व्याघ्र अपनी दाढ़ोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों पुरुषव्याघ्र योद्धा परस्पर प्रहार कर रहे थे। वे दोनों वीर दो मेघोंके समान बाणधाराकी वर्षा कर रहे थे ॥ २९-३० ॥

वारणाविव चान्योन्यं विषाणाभ्यामरिंदमौ।
निर्भिन्दन्तौ स्वगात्राणि सायकैश्चारु रेजतुः ॥ ३१ ॥

जैसे दो हाथी अपने दाँतोंसे एक दूसरेपर आघात करते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुदमन वीर अपने बाणोंद्वारा एक दूसरेके शरीरोंको विदीर्ण करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥

नादयन्तौ प्रहर्षन्तौ विक्रीडन्तौ परस्परम्।
मण्डलानि विकुर्वाणौ रथाभ्यां रथसत्तमौ ॥ ३२ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीम और कर्ण सिंहनाद करते, अत्यन्त हर्षसे उत्फुल्ल हो उठते और आपसमें खेल-सा करते हुए रथोंद्वारा मण्डलगतिसे विचरते थे ॥ ३२ ॥

वृषाविवाथ नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे।
सिंहाविव पराक्रान्तौ नरसिंहौ महाबलौ ॥ ३३ ॥
परस्परं वीक्षमाणौ क्रोधसंरक्तलोचनौ।
युयुधाते महावीर्यौ शक्रवैरोचनी यथा ॥ ३४ ॥

जैसे गायके लिये दो बलवान् साँड़ गरजते हुए लड़ जाते हैं, उसी प्रकार वे सिंहके समान पराक्रमी महान् बल-शाली पुरुषसिंह कर्ण और भीम क्रोधसे लाल आँखें करके एक दूसरेको देखते हुए महापराक्रमी इन्द्र और बलिके समान युद्ध कर रहे थे ॥ ३३-३४ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्बाहुभ्यां विक्षिपन् धनुः।
व्यराजत रणे राजन्सविद्युदिव तोयदः ॥ ३५ ॥

राजन्! उस रणक्षेत्रमें महाबाहु भीमसेन अपनी भुजाओंसे धनुषकी टंकार करते हुए बिजलीसहित मेघके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३५ ॥

स नेमिघोषस्तनितश्चापविद्युच्छराम्बुभिः।
भीमसेनमहामेघः कर्णपर्वतमावृणोत् ॥ ३६ ॥

रथके पहियोंकी घरघराहट जिसकी गम्भीर गर्जना थी और धनुष ही विद्युत्के समान प्रकाशित होता था, भीमसेन-रूपी उस महामेघने बाणरूपी जलकी वर्षासे कर्णरूपी पर्वत-को ढक दिया ॥ ३६ ॥

ततः शरसहस्रेण सम्यगस्तेन भारत।
पाण्डवो व्यकिरत् कर्णं भीमो भीमपराक्रमः ॥ ३७ ॥

भरतनन्दन! तदनन्तर अच्छी तरह चलाये हुए सहस्रों बाणोंसे भयंकर पराक्रमी पाण्डुपुत्र भीमने कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

तत्रापश्यंस्तव सुता भीमसेनस्य विक्रमम्।
सुपुङ्खैः कङ्कवासोभिर्यत् कर्णं छादयच्छरैः ॥ ३८ ॥

आपके पुत्रोंने वहाँ भीमसेनका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने कङ्कपत्रयुक्त सुन्दर पंखवाले बाणोंसे कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ ३८ ॥

स नन्दयन् रणे पार्थं केशवं च यशस्विनम् ।
सात्यकिं चक्ररक्षौ च भीमः कर्णमयोधयत् ॥ ३९ ॥

भीमसेन रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन, यशस्वी श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा दोनों चक्ररक्षक युधामन्यु एवं उत्तमौजाको आनन्दित करते हुए कर्णके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ३९ ॥

विक्रमं भुजयोर्वीर्यं धैर्यं च विदितात्मनः ।
पुत्रास्तव महाराज दृष्ट्वा विमनसोऽभवन् ॥ ४० ॥

महाराज ! सुविख्यात भीमसेनके पराक्रम, बाहुबल और धैर्यको देखकर आपके सभी पुत्र उदास हो गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमयुद्धे षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका युद्ध तथा दुर्योधनके सात भाइयोंका वध

संजय उवाच

भीमसेनस्य राधेयः श्रुत्वा ज्यातलनिःस्वनम् ।
नामृष्यत यथा मत्तो गजः प्रतिगजस्वनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भीमसेनके धनुषकी टंकार सुनकर राधानन्दन कर्ण उसे सहन न कर सका । जैसे मतवाला हाथी अपने प्रतिपक्षी गजराजकी गर्जनाको नहीं सहन कर पाता ॥ १ ॥

सोऽपक्रम्य मुहूर्तं तु भीमसेनस्य गोचरात् ।
पुत्रांस्तव ददर्शाथ भीमसेनेन पातितान् ॥ २ ॥

उसने थोड़ी देरके लिये भीमसेनकी दृष्टिसे दूर हटनेपर देखा कि भीमसेनने आपके पुत्रोंको मार गिराया है ॥ २ ॥

तानवेक्ष्य नरश्रेष्ठ विमना दुःखितस्तदा ।
निःश्वसन् दीर्घमुष्णं च पुनः पाण्डवमभ्ययात् ॥ ३ ॥

नरश्रेष्ठ ! उनकी वह अवस्था देखकर उस समय कर्णको बहुत दुःख हुआ । उसका मन उदास हो गया । वह गरम-गरम लंबी साँस खींचता हुआ पुनः पाण्डुनन्दन भीमसेनके सामने आया ॥ ३ ॥

स ताम्रनयनः क्रोधाच्छ्वसन्निव महोरगः ।
बभौ कर्णः शरानस्यन् रश्मीनिव दिवाकरः ॥ ४ ॥

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं और वह फुफकारते हुए महान् सर्पके समान उच्छ्वास खींच रहा था । उस समय बाणोंकी वर्षा करता हुआ कर्ण अपनी किरणोंका प्रसार करते हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

किरणैरिव सूर्यस्य महीध्रो भरतर्षभ ।
कर्णचापच्युतैर्बाणैः प्राच्छाद्यत वृकोदरः ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे पर्वत ढक जाता है, उसी प्रकार कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा भीमसेन आच्छादित हो गये ॥ ५ ॥

ते कर्णचापप्रभवाः शरा बर्हिणवाससः ।
विविशुः सर्वतः पार्थं वासायेवाण्डजा द्रुमम् ॥ ६ ॥

कर्णके धनुषसे छूटे हुए वे मयूरपंखधारी बाण सब ओरसे आकर भीमसेनके शरीरमें उसी प्रकार घुसने लगे, जैसे पक्षी बसेरा लेनेके लिये वृक्षोंपर आ जाते हैं ॥ ६ ॥

कर्णचापच्युता बाणाः सम्पतन्तस्ततस्ततः ।
रुक्मपुङ्खा व्यराजन्त हंसाः श्रेणीकृता इव ॥ ७ ॥

कर्णके धनुषसे छूटकर इधर-उधर पड़नेवाले सुवर्णपंख-युक्त बाण श्रेणीबद्ध हंसोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

चापध्वजोपस्करेभ्यश्छत्रादीषामुखाद् युगात् ।
प्रभवन्तो व्यदृश्यन्त राजन्नाधिरथेः शराः ॥ ८ ॥

राजन् ! उस समय अधिरथपुत्र कर्णके बाण केवल धनुषसे ही नहीं, ध्वज आदि अन्य समानोंसे, छत्रसे, ईषा-दण्ड आदिसे तथा रथके जूएसे भी प्रकट होते दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

खं पूरयन् महावेगान् खगमान् गृध्रवाससः ।
सुवर्णविकृतांश्चित्रान् मुमोचाधिरथिः शरान् ॥ ९ ॥

अधिरथपुत्र कर्णने अन्तरिक्षको व्याप्त करते हुए महान् वेगशाली, आकाशमें विचरनेवाले गृध्रके पंखोंसे युक्त और सुवर्णके बने हुए विचित्र बाण चलाये ॥ ९ ॥

तमन्तकमिवायस्तमापतन्तं वृकोदरः ।
त्यक्त्वा प्राणानतिक्रम्य विव्याध निशितैः शरैः ॥ १० ॥

कर्णको यमराजके समान आयासयुक्त हो आते देख भीमसेन प्राणोंका मोह छोड़कर पराक्रमपूर्वक उसे पैने बाणोंद्वारा बींधने लगे ॥ १० ॥

तस्य वेगमसह्यं स दृष्ट्वा कर्णस्य पाण्डवः ।
महतश्च शरौघांस्तान् न्यवारयत वीर्यवान् ॥ ११ ॥

पराक्रमी पाण्डुपुत्र भीमने कर्णके वेगको असह्य देखकर उसके महान् बाणसमूहोंका निवारण किया ॥ ११ ॥

ततो विधम्याधिरथेः शरजालानि पाण्डवः ।
विव्याध कर्णं विंशत्या पुनरन्यैः शिलाशितैः ॥ १२ ॥

पाण्डुकुमार भीमने अधिरथपुत्रके शरसमूहोंका निवारण

करके शिलापर चढ़ाकर तेज किये हुए बीस अन्य बाणोंद्वारा कर्णको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

यथैव हि स कर्णेन पार्थः प्रच्छादितः शरैः ।
तथैव स रणे कर्णं छादयामास पाण्डवः ॥ १३ ॥

जैसे कर्णने अपने बाणोंद्वारा भीमसेनको आच्छादित किया था, उसी प्रकार पाण्डुपुत्र भीमने भी कर्णको ढक दिया ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा तु भीमसेनस्य विक्रमं युधि भारत ।
अभ्यनन्दंस्त्वदीयाश्च सम्प्रहृष्टाश्च चारणाः ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! युद्धमें भीमसेनका वह पराक्रम देखकर आपके योद्धाओं तथा चारणोंने भी प्रसन्न होकर उनका अभिनन्दन किया ॥ १४ ॥

भूरिश्रवाः कृपो द्रौणिर्मद्रराजो जयद्रथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सात्यकिः केशवार्जुनौ ॥ १५ ॥
कुरुपाण्डवप्रवरा दश राजन् महारथाः ।
साधु साध्विति वेगेन सिंहनादमथानदन् ॥ १६ ॥

राजन् ! भूरिश्रवा, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य, जयद्रथ, उत्तमौजा, युधामन्यु, सात्यकि, श्रीकृष्ण तथा अर्जुन—ये कौरव और पाण्डव-पक्षके दस श्रेष्ठ महारथी 'साधु-साधु' कहकर वेगपूर्वक सिंहनाद करने लगे ॥१५-१६॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
अभ्यभाषत पुत्रस्ते राजन् दुर्योधनस्त्वरन् ॥ १७ ॥
राज्ञः सराजपुत्रांश्च सोदर्यांश्च विशेषतः ।
कर्णं गच्छत भद्रं वः परीप्सन्तो वृकोदरात् ॥ १८ ॥

महाराज ! उस रोमाञ्चकारी भयंकर शब्दके प्रकट होनेपर आपके पुत्र राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ राजाओं, राजकुमारों और विशेषतः अपने भाइयोंसे कहा—'तुम्हारा कल्याण हो, तुम सब लोग भीमसेनसे कर्णकी रक्षा करनेके लिये जाओ ॥ १७-१८ ॥

पुरा निघ्नन्ति राधेयं भीमचापच्युताः शराः ।
ते यतध्वं महेष्वासाः सूतपुत्रस्य रक्षणे ॥ १९ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए बाण राधानन्दन कर्णको पहले ही मार डालें । अतः महाधनुर्धर वीरो ! तुम सब लोग सूतपुत्रकी रक्षाका प्रयत्न करो' ॥१९॥

दुर्योधनसमादिष्टाः सोदर्याः सप्त भारत ।
भीमसेनमभिद्रुत्य संरब्धाः पर्यवारयन् ॥ २० ॥

भारत ! दुर्योधनकी आज्ञा पाकर उसके सात भाइयोंने कुपित हो भीमसेनपर आक्रमण करके उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ २० ॥

ते समासाद्य कौन्तेयमावृण्वञ्शरवृष्टिभिः ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकाः ॥ २१ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ बरसाते हैं, उसी प्रकार उन कौरवोंने कुन्तीकुमारके समीप जाकर उन्हें अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित कर दिया ॥ २१ ॥

तेऽपीडयन् भीमसेनं क्रुद्धाः सप्त महारथाः ।
प्रजासंहरणे राजन् सोमं सप्त ग्रहा इव ॥ २२ ॥

राजन् ! उन सात महारथियोंने कुपित हो भीमसेनको उसी प्रकार पीड़ा दी, जैसे सात ग्रह प्रजाओंके संहारकालमें सोमको पीड़ा देते हैं ॥ २२ ॥

ततो वेगेन कौन्तेयः पीडयित्वा शरासनम् ।
मुष्टिना पाण्डवो राजन् दृढेन सुपरिष्कृतम् ॥ २३ ॥
मनुष्यसमतां ज्ञात्वा सप्त संधाय सायकान् ।
तेभ्यो व्यसृजदायस्तः सूर्यरश्मिनिभान् प्रभुः ॥ २४ ॥

महाराज ! तब कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीमने अत्यन्त स्वच्छ धनुषको सुदृढ़ मुट्ठीसे वेगपूर्वक दबाकर उन सातों भाइयोंको साधारण मनुष्य जानकर उनके लिये धनुषपर सात बाणोंका संधान किया । सूर्यकिरणोंके समान उन चमकीले बाणोंको शक्तिशाली भीमने परिश्रमपूर्वक आपके उन पुत्रोंपर छोड़ दिया ॥ २३-२४ ॥

निरस्यन्निव देहेभ्यस्तनयानामसूंस्तव ।
भीमसेनो महाराज पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! पहलेके वैरका बारंबार स्मरण करके भीमसेनने आपके पुत्रोंके प्राणोंको उनके शरीरोंसे निकालते हुए-से उन बाणोंका प्रहार किया था ॥ २५ ॥

ते क्षिप्ता भीमसेनेन शरा भारत भारतान् ।
विदार्य खं समुत्पेतुः स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ॥ २६ ॥

भारत ! भीमसेनके चलाये हुए वे बाण सुवर्णमय पंखोंसे सुशोभित तथा शिलापर तेज किये गये थे । वे आपके पुत्रोंको विदीर्ण करके आकाशमें उड़ चले ॥ २६ ॥

तेषां विदार्य चेतांसि शरा हेमविभूषिताः ।
व्यराजन्त महाराज सुपर्णा इव खेचराः ॥ २७ ॥

महाराज ! वे स्वर्णविभूषित बाण उन सातों भाइयोंके वक्षःस्थलको विदीर्ण करके आकाशमें विचरनेवाले गरुड़पक्षियोंके समान शोभा पाने लगे ॥ २७ ॥

शोणितादिग्धवाजाग्राः सप्त हेमपरिष्कृताः ।
पुत्राणां तव राजेन्द्र पीत्वा शोणितमुद्गताः ॥ २८ ॥

राजेन्द्र ! वे सुवर्णभूषित सातों बाण आपके पुत्रोंका रक्त पीकर लाल हो ऊपरको उछले थे । उनके पंख और अग्रभागोंपर अधिक रक्त जम गया था ॥ २८ ॥

ते शरैर्भिन्नमर्माणो रथेभ्यः प्रापतन् क्षितौ ।
गिरिसानुरुहा भग्ना द्विपेनेव महाद्रुमाः ॥ २९ ॥

उन बाणोंसे मर्मस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वे सातों

वीर रथोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो किसी हाथीने पर्वतके शिखरपर खड़े हुए विशाल वृक्षोंको तोड़ गिराया हो ॥२९॥

शत्रुंजयः शत्रुसहश्चित्रश्चित्रायुधो दृढः।
चित्रसेनो विकर्णश्च सप्तैते विनिपातिताः ॥ ३० ॥

शत्रुञ्जय, शत्रुसह, चित्र (चित्रवाण), चित्रायुध (अग्रायुध), दृढ़ (दृढवर्मा), चित्रसेन (उग्रसेन) और विकर्ण–इन सातों भाइयोंको भीमसेनने मार गिराया ॥

पुत्राणां तव सर्वेषां निहतानां वृकोदरः।
शोचत्यतिभृशं दुःखाद् विकर्णं पाण्डवः प्रियम् ॥३१॥

राजन् ! वहाँ मारे गये आपके सभी पुत्रोंमेंसे विकर्ण पाण्डवोंको अधिक प्रिय था । पाण्डुनन्दन भीमसेन उसके लिये अत्यन्त दुखी होकर शोक करने लगे ॥ ३१ ॥

प्रतिज्ञेयं मया वृत्ता निहन्तव्यास्तु संयुगे।
विकर्ण तेनासि हतः प्रतिज्ञा रक्षिता मया ॥ ३२ ॥

वे बोले—'विकर्ण ! मैंने यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि युद्धस्थलमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मार डालूँगा ! इसीलिये तुम मेरे हाथसे मारे गये हो। ऐसा करके मैंने अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया है ॥ ३२ ॥

त्वमागाः समरं वीर क्षात्रधर्ममनुस्मरन्।
ततो विनिहतः संख्ये युद्धधर्मो हि निष्ठुरः ॥ ३३ ॥

'वीर ! तुम क्षत्रिय-धर्मका विचार करके समरभूमिमें आ गये। इसीलिये इस युद्धमें मारे गये; क्योंकि युद्धधर्म कठोर होता है ॥ ३३ ॥

विशेषतो हि नृपतेस्तथास्माकं हिते रतः।
न्यायतोऽन्यायतो वापि हतः शेते महाद्युतिः ॥ ३४ ॥
अगाधबुद्धिर्गाङ्गेयः क्षितौ सुरगुरोः समः।
त्याजितः समरे प्राणांस्तस्माद् युद्धं हि निष्ठुरम् ॥३५॥

'जो विशेषतः राजा युधिष्ठिरके और हमारे हितमें तत्पर रहते थे, वे बृहस्पतिके समान अगाध बुद्धिवाले महातेजस्वी गङ्गानन्दन भीष्म भी न्याय अथवा अन्यायसे मारे जाकर समरभूमिमें सो रहे हैं और प्राणत्यागकी परिस्थितिमें डाल दिये गये हैं। इसीसे कहना पड़ता है कि युद्ध अत्यन्त निष्ठुर कर्म है' ॥ ३४-३५ ॥

संजय उवाच

तान् निहत्य महाबाहू राधेयस्यैव पश्यतः।
सिंहनादरवं घोरमसृजत् पाण्डुनन्दनः ॥ ३६ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! राधानन्दन कर्णके देखते-देखते उन सातों भाइयोंको मारकर पाण्डुनन्दन महाबाहु भीमने भयंकर सिंहनाद किया ॥ ३६ ॥

स रवस्तस्य शूरस्य धर्मराजस्य भारत।
आचख्याविव तद् युद्धं विजयं चात्मनो महत् ॥३७॥

भारत ! उस सिंहनादने धर्मराज युधिष्ठिरको शूरवीर भीमके उस युद्धकी तथा अपनी महान् विजयकी मानो सूचना दे दी ॥ ३७ ॥

तं श्रुत्वा तु महानादं भीमसेनस्य धन्विनः।
बभूव परमा प्रीतिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ ३८ ॥

धनुर्धर भीमसेनके उस महानादको सुनकर बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३८ ॥

ततो हृष्टमना राजन् वादित्राणां महास्वनैः।
सिंहनादरवं भ्रातुः प्रतिजग्राह पाण्डवः ॥ ३९ ॥

राजन् ! तब प्रसन्नचित्त होकर युधिष्ठिरने वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके द्वारा भाईके उस सिंहनादको स्वागतपूर्वक ग्रहण किया ॥ ३९ ॥

हर्षेण महता युक्तः कृतसंज्ञो वृकोदरे।
अभ्ययात् समरे द्रोणं सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४० ॥

इस प्रकार भीमसेनको अपनी प्रसन्नताका संकेत करके सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने बड़े हर्षके साथ रणभूमिमें द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया ॥ ४० ॥

एकत्रिंशन्महाराज पुत्रांस्तव निपातितान्।
हतान् दुर्योधनो दृष्ट्वा क्षत्तुः सस्मार तद् वचः ॥४१॥

महाराज ! आपके इकतीस (दुःशलको लेकर बत्तीस) पुत्रोंको मारा गया देखकर दुर्योधनको विदुरजीकी कही हुई बात याद आ गयी ॥ ४१ ॥

तदिदं समनुप्राप्तं क्षत्तुर्निःश्रेयसं वचः।
इति संचिन्त्य ते पुत्रो नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ ४२ ॥

विदुरजीने जो कल्याणकारी वचन कहा था, उसके अनुसार ही यह संकट प्राप्त हुआ है। ऐसा सोचकर आपके पुत्रसे कोई उत्तर देते न बना ॥ ४२ ॥

यद् द्यूतकाले दुर्बुद्धिरब्रवीत् तनयस्तव।
सभामानाय्य पाञ्चालीं कर्णेन सहितोऽल्पधीः॥ ४३ ॥
यच्च कर्णोऽब्रवीत् कृष्णां सभायां परुषं वचः।
प्रमुखे पाण्डुपुत्राणां तव चैव विशाम्पते ॥ ४४ ॥
शृण्वतस्तव राजेन्द्र कौरवाणां च सर्वशः।
विनष्टाः पाण्डवाः कृष्णे शाश्वतं नरकं गताः ॥ ४५ ॥
पतिमन्यं वृणीष्वेति तस्येदं फलमागतम्।

द्यूतके समय कर्णके साथ आपके मन्दमति पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनने पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको सभामें बुलाकर उसके प्रति जो दुर्वचन कहा था तथा प्रजानाथ ! महाराज ! पाण्डवों और आपके सामने समस्त कौरवोंके सुनते हुए कर्णने सभामें द्रौपदीके प्रति जो यह कठोर वचन कहा था कि 'कृष्णे ! पाण्डव नष्ट हो गये। सदाके लिये नरकमें पड़ गये। तू दूसरा पति कर ले', उसी अन्यायका आज यह फल प्राप्त हुआ है ॥ ४३–४५½ ॥

यच्च षण्ढतिलादीनि परुषाणि तवात्मजैः।
श्रावितास्ते महात्मानः पाण्डवाः कोपयिष्णुभिः॥ ४६ ॥

१. किसी-किसी प्रतिमें शत्रुंजय और शत्रुसह—इन दो नामोंके स्थानमें क्रमशः 'दृढसन्ध और 'जरासन्ध' नाम मिलते हैं।

तं भीमसेनः क्रोधाग्निं त्रयोदश समाः स्थितम् ।
उद्गिरंस्तव पुत्राणामन्तं गच्छति पाण्डवः ॥ ४७ ॥

आपके पुत्रोंने जो पाण्डवोंको कुपित करनेके लिये षण्ढतिल (सारहीन तिल या नपुंसक) आदि कठोर बातें उन महामनस्वी पाण्डवोंको सुनायी थीं, उसके कारण पाण्डुपुत्र भीमसेनके हृदयमें तेरह वर्षोंतक जो क्रोधाग्नि धधकती रही है, उसीको निकालते हुए भीमसेन आपके पुत्रोंका अन्त कर रहे हैं ॥ ४६-४७ ॥

विलपंश्च बहु क्षत्ता शमं नालभत त्वयि ।
सपुत्रो भरतश्रेष्ठ तस्य भुङ्क्ष्व फलोदयम् ॥ ४८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! विदुरजीने आपके समीप बहुत विलाप किया, परंतु उन्हें शान्तिकी भिक्षा नहीं प्राप्त हुई । आपके उसी अन्यायका यह फल प्रकट हुआ है । अब आप पुत्रोंसहित इसे भोगिये ॥ ४८ ॥

त्वया वृद्धेन धीरेण कार्यतत्त्वार्थदर्शिना ।
न कृतं सुहृदां वाक्यं दैवमत्र परायणम् ॥ ४९ ॥

आप वृद्ध हैं, धीर हैं, कार्यके तत्त्व और प्रयोजनको देखते और समझते हैं, तो भी आपने हितैषी सुहृदोंकी बातें नहीं मानीं । इसमें दैव ही प्रधान कारण है ॥ ४९ ॥

तन्मा शुचो नरव्याघ्र तवैवापनयो महान् ।
विनाशहेतुः पुत्राणां भवानेव मतो मम ॥ ५० ॥

अतः नरश्रेष्ठ ! आप शोक न कीजिये । इसमें आपका ही महान् अन्याय कारण है । मैं तो आपको ही आपके पुत्रोंके विनाशका मुख्य हेतु मानता हूँ ॥ ५० ॥

हतो विकर्णो राजेन्द्र चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
प्रवराश्चात्मजानां ते सुताश्चान्ये महारथाः ॥ ५१ ॥

राजेन्द्र ! विकर्ण मारा गया । पराक्रमी चित्रसेनको भी प्राणोंका त्याग करना पड़ा । आपके पुत्रोंमें जो प्रमुख थे, वे तथा अन्य महारथी भी कालके गालमें चले गये ॥ ५१॥

यानन्यान् ददृशे भीमश्चक्षुर्विषयमागतान् ।
पुत्रांस्तव महाराज त्वरया तांजघान ह ॥ ५२ ॥

महाराज ! भीमसेनने अपने नेत्रोंके सामने आये हुए जिन-जिन पुत्रोंको देखा, उन सबको तुरंत ही मार डाला ॥

त्वत्कृते ह्यहमद्राक्षं दह्यमानां वरूथिनीम् ।
सहस्रशः शरैर्मुक्तैः पाण्डवेन वृषेण च ॥ ५३ ॥

आपके ही कारण मैंने भीमसेन और कर्णके छोड़े हुए हजारों बाणोंसे राजाओंकी विशाल सेना दग्ध होती देखी है॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमयुद्धे सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेनयुद्धविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१.३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका भयंकर युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

महानपनयः सूत ममैवात्र विशेषतः ।
स इदानीमनुप्राप्तो मन्ये संजय शोचतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले--सूत संजय ! इसमें विशेषतः मेरा ही अन्याय है—यह मैं स्वीकार करता हूँ । इस समय शोकमें डूबे हुए मुझको मेरे उसी अन्यायका फल प्राप्त हुआ है ॥

यद् गतं तद् गतमिति ममासीन्मनसि स्थितम् ।
इदानीमत्र किं कार्यं प्रकरिष्यामि संजय ॥ २ ॥

संजय ! अबतक मेरे मनमें यह बात थी कि जो बीत गया, सो बीत गया । उसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है । परंतु अब यहाँ इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, उसे बताओ । मैं उसका पालन अवश्य करूँगा ॥ २ ॥

यथा ह्येष क्षयो वृत्तो ममापनयसम्भवः ।
वीराणां तन्ममाचक्ष्व स्थिरीभूतोऽस्मि संजय ॥ ३ ॥

सूत ! मेरे अन्यायसे वीरोंका जो यह विनाश हुआ है, वह सब कह सुनाओ । मैं धैर्य धारण करके बैठा हूँ ॥ ३ ॥

संजय उवाच

कर्णभीमौ महाराज पराक्रान्तौ महाबलौ ।
बाणवर्षाण्यसृजतां वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! जलकी वर्षा करनेवाले दो बादलोंके समान महाबली, महापराक्रमी कर्ण और भीमसेन परस्पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४ ॥

भीमनामाङ्किता बाणाः स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ।
विविशुः कर्णमासाद्य च्छिन्दन्त इव जीवितम्॥ ५ ॥

जिनपर भीमसेनके नाम खुदे हुए थे, वे शिलापर तेज किये हुए स्वर्णमय पंखयुक्त बाण कर्णके पास पहुँचकर उसके जीवनका उच्छेद करते हुए-से उसके शरीरमें घुस गये॥

तथैव कर्णनिर्मुक्ताः शरा बर्हिणवाससः ।
छादयाञ्चक्रिरे वीरं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार कर्णके छोड़े हुए मयूरपंखवाले सैकड़ों और हजारों बाणोंने वीर भीमसेनको आच्छादित कर दिया॥

तयोः शरैर्महाराज सम्पतद्भिः समन्ततः ।
बभूव तत्र सैन्यानां संक्षोभः सागरोत्तरः ॥ ७ ॥

महाराज ! चारों ओर गिरते हुए उन दोनोंके बाणोंसे वहाँकी सेनाओंमें समुद्रसे भी बढ़कर महान् क्षोभ होने लगा ॥७॥

भीमचापच्युतैर्बाणैस्तव सैन्यमरिंदम ।
अवध्यत चमूमध्ये घोरैराशीविषोपमैः ॥ ८ ॥

शत्रुदमन ! भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा सेनाके मध्यभागमें आपके सैनिकोंका वध हो रहा था ॥ ८ ॥

वारणैः पतितै राजन् वाजिभिश्च नरैः सह ।
अदृश्यत मही कीर्णा वातभग्नैरिव द्रुमैः ॥ ९ ॥

राजन् ! वहाँ गिरे हुए हाथियों, घोड़ों और पैदल मनुष्योंद्वारा ढकी हुई वह रणभूमि आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंसे आच्छादित-सी दिखायी देती थी ॥ ९ ॥

ते वध्यमानाः समरे भीमचापच्युतैः शरैः ।
प्राद्रवंस्तावका योधाः किमेतदिति चाब्रुवन् ॥ १० ॥

भीमसेनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा समराङ्गणमें मारे जाते हुए आपके सैनिक भाग चले और आपसमें कहने लगे, अरे ! यह क्या हुआ ॥ १० ॥

ततो व्युदस्तं तत् सैन्यं सिन्धुसौवीरकौरवम् ।
प्रोत्सारितं महावेगैः कर्णपाण्डवयोः शरैः ॥ ११ ॥

इस प्रकार कर्ण और भीमसेनके महान् वेगशाली बाणोंद्वारा सिन्धु, सौवीर और कौरवदलकी वह सेना उखड़ गयी और वहाँसे भाग खड़ी हुई ॥ ११ ॥

ते शूरा हतभूयिष्ठा हताश्वरथवारणाः ।
उत्सृज्य भीमकर्णौ च सर्वतो व्यद्रवन् दिशः ॥ १२ ॥

वे शूरवीर सैनिक जिनमें बहुत-से लोग मारे गये थे तथा जिनके हाथी, घोड़े और रथ नष्ट हो चुके थे, भीमसेन और कर्णको छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ १२ ॥

नूनं पार्थार्थमेवास्मान् मोहयन्ति दिवौकसः ।
यत् कर्णभीमप्रभवैर्वध्यते नो बलं शरैः ॥ १३ ॥

'अवश्य ही कुन्तीकुमारोंके हितके लिये ही देवता हमें मोहमें डाल रहे हैं; क्योंकि कर्ण और भीमसेनके बाणोंसे वे हमारी सेनाका वध कर रहे हैं' ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवाणा योधास्ते तावका भयपीडिताः ।
शरपातं समुत्सृज्य स्थिता युद्धदिदृक्षवः ॥ १४ ॥

ऐसा कहते हुए आपके योद्धा भयसे पीड़ित हो बाण मारनेका कार्य छोड़कर युद्धके दर्शक बनकर खड़े हो गये ॥

ततः प्रावर्तत नदी घोररूपा रणाजिरे ।
शूराणां हर्षजननी भीरूणां भयवर्धिनी ॥ १५ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें रक्तकी भयंकर नदी बह चली, जो शूरवीरोंको हर्ष देनेवाली और भीरु पुरुषोंका भय बढ़ानेवाली थी ॥ १५ ॥

वारणाश्वमनुष्याणां रुधिरौघसमुद्भवा ।
संवृता गतसत्त्वैश्च मनुष्यगजवाजिभिः ॥ १६ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रुधिरसमूहसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था । वह प्राणशून्य मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे घिरी हुई थी ॥ १६ ॥

सानुकर्षपताकैश्च द्विपाश्वरथभूषणैः ।
स्यन्दनैरपविद्धैश्च भग्नचक्राक्षकूबरैः ॥ १७ ॥
जातरूपपरिष्कारैर्धनुर्भिः सुमहास्वनैः ।
सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्नाराचैश्च सहस्रशः ॥ १८ ॥
कर्णपाण्डवनिर्मुक्तैर्निर्मुक्तैरिव पन्नगैः ।
प्रासतोमरसंघातैः खड्गैश्च सपरश्वधैः ॥ १९ ॥
सुवर्णविकृतैश्चापि गदामुसलपट्टिशैः ।
ध्वजैश्च विविधाकारैः शक्तिभिः परिघैरपि ॥ २० ॥
शतघ्नीभिश्च चित्राभिर्बभौ भारत मेदिनी ।

भारत ! उस समय अनुकर्ष, पताका, हाथी, घोड़े, रथ, आभूषण, टूटकर बिखरे पड़े हुए स्यन्दन (रथ), टूक-टूक हुए पहिये, धुरी और कूबर, सुवर्णभूषित एवं महान् टङ्कार शब्द करनेवाले धनुष, सोनेके पंखवाले बाण, केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान कर्ण और भीमसेनके छोड़े हुए सहस्रों नाराच, प्रास, तोमर, खड्ग, फरसे, सोनेकी गदा, मुसल, पट्टिश, भाँति-भाँतिके ध्वज, शक्ति, परिघ और विचित्र शतघ्नी आदिसे उस रणभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ १७–२०½ ॥

कनकाङ्गदहारैश्च कुण्डलैर्मुकुटैस्तथा ॥ २१ ॥
वलयैरपविद्धैश्च तत्रैवाङ्गुलिवेष्टकैः ।
चूडामणिभिरुष्णीषैः स्वर्णसूत्रैश्च मारिष ॥ २२ ॥
तनुत्रैः सतलत्रैश्च हारैर्निष्कैश्च भारत ।
वस्त्रैश्छत्रैश्च विध्वस्तैश्चामरव्यजनैरपि ॥ २३ ॥
गजाश्वमनुजैर्भिन्नैः शोणिताक्तैश्च पत्रिभिः ।
तैस्तैश्च विविधैर्भिन्नैस्तत्र तत्र वसुंधरा ॥ २४ ॥
पतितैरपविद्धैश्च विबभौ द्यौरिव ग्रहैः ।

माननीय भरतनन्दन ! इधर-उधर पड़े हुए सोनेके अङ्गद, हार, कुण्डल, मुकुट, वलय, अंगूठी, चूड़ामणि, उष्णीष, सुवर्णमय सूत्र, कवच, दस्ताने, हार, निष्क, वस्त्र, छत्र, टूटे हुए चँवर, व्यजन, विदीर्ण हुए हाथी, घोड़े, मनुष्य, खूनसे लथपथ हुए पंखयुक्त बाण आदि नाना प्रकारकी छिन्न-भिन्न, पतित और फेंकी हुई वस्तुओंसे वहाँकी भूमि ग्रहोंसे आकाशकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ २१–२४½ ॥

अचिन्त्यमद्भुतं चैव तयोः कर्मातिमानुषम् ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा चारणसिद्धानां विस्मयः समजायत ।

उन दोनोंके उस अचिन्त्य, अलौकिक और अद्भुत कर्मको देखकर चारणों और सिद्धोंके मनमें भी महान् विस्मय हो गया ॥ २५½ ॥

अग्नेर्वायुसहायस्य गतिः कक्ष इवाहवे ॥ २६ ॥
आसीद् भीमसहायस्य रौद्रमाधिरथेर्गतम् ।

जैसे वायुकी सहायता पाकर सूखे वनमें तथा घास-फूँस-में अग्निकी गति बढ़ जाती है, उसी प्रकार उस महायुद्धमें भीमसेनके साथ सूतपुत्र कर्णकी भयंकर गति बढ़ गयी थी ॥ २६½ ॥

निपातितध्वजरथं हतवाजिनरद्विपम् ॥ २७ ॥
गजाभ्यां सम्प्रयुक्ताभ्यामासीन्नलवनं यथा ।
मेघजालनिभं सैन्यमासीत् तव नराधिप ॥ २८ ॥
विमर्दः कर्णभीमाभ्यामासीच्च परमो रणे ।

नरेश्वर! जैसे दो हाथी किसीसे प्रेरित होकर नरकुलके वनको रौंद डालते हैं, उसी प्रकार मेघोंकी घटाके समान आपकी सेना बड़ी दुरवस्थामें पड़ गयी थी। उसके रथ और ध्वज गिराये जा चुके थे। हाथी, घोड़े और मनुष्य मारे गये थे। कर्ण और भीमसेनने उस युद्धस्थलमें महान् संहार मचा रक्खा था ॥ २७-२८½ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमकर्णयुद्धे अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीम और कर्णका युद्धविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और कर्णका भयंकर युद्ध, पहले भीमकी और पीछे कर्णकी विजय, उसके बाद अर्जुनके बाणोंसे व्यथित होकर कर्ण और अश्वत्थामाका पलायन

संजय उवाच

ततः कर्णो महाराज भीमं विद्ध्वा त्रिभिः शरैः ।
मुमोच शरवर्षाणि विचित्राणि बहूनि च ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर कर्णने तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल करके उनपर बहुत-से विचित्र बाण बरसाये॥

वध्यमानो महाबाहुः सूतपुत्रेण पाण्डवः ।
न विव्यथे भीमसेनो भिद्यमान इवाचलः ॥ २ ॥

सूतपुत्रके द्वारा बेधे जानेपर भी महाबाहु पाण्डुपुत्र भीमसेनको विद्ध होनेवाले पर्वतके समान तनिक भी व्यथा नहीं हुई ॥ २ ॥

स कर्णं कर्णिना कर्णे पीतेन निशितेन च ।
विव्याध सुभृशं संख्ये तैलधौतेन मारिष ॥ ३ ॥

माननीय नरेश! फिर उन्होंने भी युद्धस्थलमें तेलके धोये हुए पानीदार एवं तीखे 'कर्णी' नामक बाणसे कर्णके कानमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३ ॥

स कुण्डलं महच्चारु कर्णस्यापातयद् भुवि ।
तपनीयं महाराज दीप्तं ज्योतिरिवाम्बरात् ॥ ४ ॥

महाराज! भीमने कर्णके सोनेके बने हुए विशाल एवं सुन्दर कुण्डलको आकाशसे चमकते हुए तारेके समान पृथ्वीपर काट गिराया ॥ ४ ॥

अथापरेण भल्लेन सूतपुत्रं स्तनान्तरे ।
आजघान भृशं क्रुद्धो हसन्निव वृकोदरः ॥ ५ ॥

तदनन्तर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो हँसते हुए-से दूसरे भल्लसे सूतपुत्रकी छातीमें बड़े जोरसे आघात किया ॥

पुनरस्य त्वरन् भीमो नाराचान् दश भारत ।
रणे प्रैषीन्महाबाहुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान् ॥ ६ ॥

भरतनन्दन! फिर महाबाहु भीमने बड़ी उतावलीके साथ केंचुलसे छूटे हुए विषधर सर्पोंके समान दस नाराच उस रणक्षेत्रमें कर्णपर चलाये ॥ ६ ॥

ते ललाटं विनिर्भिद्य सूतपुत्रस्य भारत ।
विविशुश्चोदितास्तेन वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ७ ॥

भारत! उनके चलाये हुए वे नाराच सूतपुत्रका ललाट छेद करके बाँबीमें सर्पोंके समान उसके भीतर घुस गये ॥

ललाटस्थैस्ततो बाणैः सूतपुत्रो व्यरोचत ।
नीलोत्पलमयीं मालां धारयन् वै यथा पुरा ॥ ८ ॥

ललाटमें स्थित हुए उन बाणोंद्वारा सूतपुत्रकी उसी प्रकार शोभा हुई, जैसे वह पहले मस्तकपर नील कमलकी माला धारण करके सुशोभित होता था ॥ ८ ॥

सोऽतिविद्धो भृशं कर्णः पाण्डवेन तरस्विना ।
रथकूबरमालम्ब्य न्यमीलयत लोचने ॥ ९ ॥

वेगवान् पाण्डुपुत्र भीमके द्वारा अत्यन्त घायल कर दिये जानेपर कर्णने रथके कूबरका सहारा लेकर आँखें बंद कर लीं ॥

स मुहूर्तात् पुनः संज्ञां लेभे कर्णः परंतपः ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गः क्रोधमाहारयत् परम् ॥ १० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कर्णको पुनः दो ही घड़ीके बाद चेत हो गया। उस समय उसका सारा शरीर रक्तसे भीग गया था। उस दशामें उसे बड़ा क्रोध हुआ ॥१०॥

ततः क्रुद्धो रणे कर्णः पीडितो दृढधन्वना ।
वेगं चक्रे महावेगो भीमसेनरथं प्रति ॥ ११ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीमसेनसे पीड़ित हुए महान् वेगशाली कर्णने रणभूमिमें कुपित हो भीमसेनके रथकी ओर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ११ ॥

तस्मै कर्णः शतं राजन्निषूणां गार्ध्रवाससाम् ।
अमर्षी बलवान् क्रुद्धः प्रेषयामास भारत ॥ १२ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! अमर्षशील एवं क्रोधमें भरे हुए बलवान् कर्णने भीमसेनपर गीधके पंखवाले सौ बाण चलाये॥

ततः प्रासृजदुग्राणि शरवर्षाणि पाण्डवः।
समरे तमनादृत्य तस्य वीर्यमचिन्तयन् ॥ १३ ॥

तब समरभूमिमें कर्णके पराक्रमको कुछ न समझते हुए उसकी अवहेलना करके पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसके ऊपर भयंकर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १३ ॥

कर्णस्ततो महाराज पाण्डवं नवभिः शरैः।
आजघानोरसि क्रुद्धः क्रुद्धरूपं परंतप ॥ १४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! तब कर्णने कुपित हो क्रोधमें भरे हुए पाण्डुपुत्र भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ १४ ॥

तावुभौ नरशार्दूलौ शार्दूलाविव दंष्ट्रिणौ।
जीमूताविव चान्योन्यं प्रववर्षतुराहवे ॥ १५ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह दाढ़ोंवाले दो सिंहोंके समान परस्पर जूझ रहे थे और आकाशमें दो मेघोंके समान युद्धस्थलमें वे दोनों एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १५ ॥

तलशब्दरवैश्चैव त्रासयेतां परस्परम्।
शरजालैश्च विविधैस्त्रासयामासतुर्मृधे ॥ १६ ॥
अन्योन्यं समरे क्रुद्धौ कृतप्रतिकृतैषिणौ।

वे अपनी हथेलियोंके शब्दसे एक दूसरेको डराते हुए युद्धस्थलमें विविध बाणसमूहोंद्वारा परस्पर त्रास पहुँचा रहे थे। वे दोनों वीर समरमें कुपित हो एक दूसरेके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करनेकी अभिलाषा रखते थे ॥ १६½ ॥

ततो भीमो महाबाहुः सूतपुत्रस्य भारत ॥ १७ ॥
क्षुरप्रेण धनुश्छित्त्वा ननाद परवीरहा।

भरतनन्दन ! तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबाहु भीमसेनने क्षुरप्रके द्वारा सूतपुत्रके धनुषको काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥ १७½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं सूतपुत्रो महारथः ॥ १८ ॥
अन्यत् कार्मुकमादत्त भारघ्नं वेगवत्तरम्।

तब महारथी सूतपुत्र कर्णने उस कटे हुए धनुषको फेंककर भार निवारण करनेमें समर्थ और अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष हाथमें लिया ॥ १८½ ॥

तदप्यथ निमेषार्धाच्चिच्छेदास्य वृकोदरः ॥ १९ ॥
तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं षष्ठमेव हि।
सप्तमं चाष्टमं चैव नवमं दशमं तथा ॥ २० ॥
एकादशं द्वादशं च त्रयोदशमथापि च।
चतुर्दशं पञ्चदशं षोडशं च वृकोदरः ॥ २१ ॥

परंतु भीमसेनने आधे निमेषमें ही उसे भी काट दिया। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें धनुषको भी भीमसेनने काट डाला ॥ १९–२१ ॥

तथा सप्तदशं वेगादष्टादशमथापि वा।
बहूनि भीमश्चिच्छेद कर्णस्यैवं धनूंषि हि ॥ २२ ॥

इतना ही नहीं, भीमने सत्रहवें, अठारहवें तथा और भी बहुत-से कर्णके धनुषोंको वेगपूर्वक काट दिया ॥ २२ ॥

निमेषार्धात् ततः कर्णो धनुर्हस्तो व्यतिष्ठत।
दृष्ट्वा स कुरुसौवीरसिन्धुवीरबलक्षयम् ॥ २३ ॥
सवर्मध्वजशस्त्रैश्च पतितैः संवृतां महीम्।
हस्त्यश्वरथदेहांश्च गतासून् प्रेक्ष्य सर्वशः ॥ २४ ॥
सूतपुत्रस्य संरम्भाद् दीप्तं वपुरजायत।

इतनेपर भी कर्ण आधे ही निमेषमें दूसरा धनुष हाथमें लेकर खड़ा हो गया। कुरु, सौवीर तथा सिंधुदेशके वीरोंकी सेनाका विनाश, सब ओर गिरे हुए कवच, ध्वज तथा अस्त्र-शस्त्रोंसे आच्छादित हुई भूमि और प्राणशून्य हाथी, घोड़े एवं रथियोंके शरीरोंको सब ओर देखकर सूतपुत्र कर्णका शरीर क्रोधसे उद्दीप्त हो उठा ॥ २३–२४½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं कार्तस्वरविभूषितम् ॥ २५ ॥
भीमं प्रैक्षत राधेयो घोरं घोरेण चक्षुषा।

उस समय राधानन्दन कर्णने कुपित हो अपने सुवर्ण-भूषित विशाल धनुषकी टंकार करते हुए भयानक भीमसेनको घोर दृष्टिसे देखा ॥ २५½ ॥

ततः क्रुद्धः शरानस्यन् सूतपुत्रो व्यरोचत ॥ २६ ॥
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्माञ्शरदीव दिवाकरः।

तत्पश्चात् सूतपुत्र कुपित हो बाणोंकी वर्षा करता हुआ शरत्कालके दोपहरके तेजस्वी सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ २६½ ॥

मरीचिविकचस्येव राजन् भानुमतो वपुः ॥ २७ ॥
आसीदाधिरथेर्घोरं वपुः शरशताचितम्।

राजन् ! अधिरथपुत्र कर्णका भयंकर शरीर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त था। वह किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान जान पड़ता था ॥ २७½ ॥

कराभ्यामाददानस्य संदधानस्य चाशुगान् ॥ २८ ॥
कर्षतो मुञ्चतो बाणान् नान्तरं ददृशे रणे।

उस रणभूमिमें दोनों हाथोंसे बाणोंको लेते, धनुषपर रखते, खींचते और छोड़ते हुए कर्णके इन कार्योंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ २८½ ॥

अग्निचक्रोपमं घोरं मण्डलीकृतमायुधम् ॥ २९ ॥
कर्णस्यासीन्महीपाल सव्यदक्षिणमस्यतः।

भूपाल ! दायें-बायें बाण चलाते हुए कर्णका मण्डलाकार धनुष अग्निचक्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥ २९½ ॥

स्वर्णपुङ्खाः सुनिशिताः कर्णचापच्युताः शराः ॥ ३० ॥
प्राच्छादयन्महाराज दिशः सूर्यस्य च प्रभाः ।

महाराज ! कर्णके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखवाले अत्यन्त तीखे बाणोंने सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यकी प्रभाको भी ढक दिया ॥ ३०½ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ॥ ३१ ॥
धनुश्च्युतानां वियति ददृशे बहुधा व्रजः ।

तदनन्तर धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ तथा सुवर्णमय पंखवाले बहुत-से बाणोंके समूह आकाशमें दृष्टिगोचर होने लगे ॥ ३१½ ॥

बाणासनादाधिरथेः प्रभवन्ति स्म सायकाः ॥ ३२ ॥
श्रेणीकृता व्यरोचन्त राजन् क्रौञ्चा इवाम्बरे ।

राजन् ! अधिरथपुत्रके धनुषसे जो बाण छूटते थे, वे श्रेणीबद्ध होकर आकाशमें क्रौञ्च पक्षियोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ३२½ ॥

गार्ध्रपत्राञ्शिलाधौतान् कार्तस्वरविभूषितान् ॥ ३३ ॥
महावेगान् प्रदीप्ताग्रान् मुमोचाधिरथिः शरान् ।

सूतपुत्रने गीधके पाँखवाले, शिलापर तेज किये, सुवर्णभूषित, महान् वेगशाली और प्रज्वलित अग्र भागवाले बहुत-से बाण छोड़े ॥ ३३½ ॥

ते तु चापबलोद्धूताः शातकुम्भविभूषिताः ॥ ३४ ॥
अजस्रमपतन् बाणा भीमसेनरथं प्रति ।

धनुषके बलसे उठे हुए वे सुवर्णभूषित बाण भीमसेनके रथपर लगातार गिर रहे थे ॥ ३४½ ॥

ते व्योम्नि रुक्मविकृता व्यकाशन्त सहस्रशः ॥ ३५ ॥
शलभानामिव व्राताः शराः कर्णसमीरिताः ।

कर्णके चलाये हुए सहस्रों सुवर्णमय बाण आकाशमें टिड्डी-दलोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३५½ ॥

चापादाधिरथेर्बाणाः प्रपतन्तश्चकाशिरे ॥ ३६ ॥
एको दीर्घ इवात्यर्थमाकाशे संस्थितः शरः ।

सूतपुत्रके धनुषसे गिरते हुए बाण ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो एक ही अत्यन्त विशाल-सा बाण आकाशमें खड़ा हो ३६½

पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ ३७ ॥
कर्णः प्राच्छादयत् क्रुद्धो भीमं सायकवृष्टिभिः ।

क्रोधमें भरे हुए कर्णने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल जलकी धाराओंसे पर्वतको ढक देता है ॥ ३७½ ॥

तत्र भारत भीमस्य बलं वीर्यं पराक्रमम् ॥ ३८ ॥
व्यवसायं च पुत्रास्ते ददृशुः सहसैनिकाः ।

भारत ! वहाँ सैनिकोंसहित आपके पुत्रोंने भीमसेनके बल, वीर्य, पराक्रम और उद्योगको देखा ॥ ३८½ ॥

तां समुद्रमिवोद्धूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ॥ ३९ ॥
अचिन्तयित्वा भीमस्तु क्रुद्धः कर्णमुपाद्रवत् ।

क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने समुद्रकी भाँति उठी हुई उस बाण-वर्षाकी तनिक भी परवा न करके कर्णपर धावा बोल दिया ॥ ३९½ ॥

रुक्मपृष्ठं महच्चापं भीमस्यासीद् विशाम्पते ॥ ४० ॥
आकर्षान्मण्डलीभूतं शक्रचापमिवापरम् ।
तस्माच्छराः प्रादुरासन् पूरयन्त इवाम्बरम् ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! सुवर्णमय पृष्ठवाला भीमसेनका विशाल धनुष प्रत्यञ्चा खींचनेसे मण्डलाकार हो दूसरे इन्द्र-धनुषके समान प्रतीत हो रहा था । उससे जो बाण प्रकट होते थे, वे मानो आकाशको भर रहे थे ॥ ४०-४१ ॥

सुवर्णपुङ्खैर्भीमेन सायकैर्नतपर्वभिः ।
गगने रचिता माला काञ्चनीव व्यरोचत ॥ ४२ ॥

भीमसेनने झुकी हुई गाँठ और सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे आकाशमें सोनेकी माला-सी रच डाली थी, जो बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ४२ ॥

ततो व्योम्नि विषक्तानि शरजालानि भागशः ।
आहतानि व्यशीर्यन्त भीमसेनस्य पत्रिभिः ॥ ४३ ॥

उस समय भीमसेनके बाणोंसे आहत होकर आकाशमें फैले हुए बाणोंके जाल टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये ॥ ४३ ॥

कर्णस्य शरजालैश्च भीमसेनस्य चोभयोः ।
अग्निस्फुलिङ्गसंस्पर्शैरञ्जोगतिभिराहवे ॥ ४४ ॥
तैस्तैः कनकपुङ्खानां द्यौरासीत् संवृता व्रजैः ।

कर्ण और भीमसेन दोनोंके बाण-समूह स्पर्श करनेपर आगकी चिनगारियोंके समान प्रतीत होते थे । अनायास ही उनकी युद्धमें सर्वत्र गति थी । सुवर्णमय पंखवाले उन बाणोंके समूहसे सारा आकाश छा गया था ॥ ४४½ ॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न स्म वाति समीरणः ॥ ४५ ॥
शरजालावृते व्योम्नि न प्राज्ञायत किंचन ।

उस समय न तो सूर्यका पता चलता था और न वायु ही चल पाती थी । बाणोंके समूहसे आच्छादित हुए आकाशमें कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ ४५½ ॥

स भीमं छादयन् बाणैः सूतपुत्रः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥
उपारोहदनादृत्य तस्य वीर्यं महात्मनः ।

सूतपुत्र कर्ण नाना प्रकारके बाणोंद्वारा भीमसेनको आच्छादित करता हुआ उन महामनस्वी वीरके पराक्रमका तिरस्कार करके उनपर चढ़ आया ॥ ४६½ ॥

तयोर्विसृजतोस्तत्र शरजालानि मारिष ॥ ४७ ॥
वायुभूतान्यदृश्यन्त संसक्तानीतरेतरम् ।

माननीय नरेश ! उन दोनोंके छोड़े हुए बाण-समूह

वहाँ परस्पर सटकर अत्यन्त वेगके कारण वायुस्वरूप दिखायी देते थे ॥ ४७½ ॥

अन्योन्यशरसंस्पर्शात् तयोर्मनुजसिंहयोः ॥ ४८ ॥
आकाशे भरतश्रेष्ठ पावकः समजायत ।

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनों पुरुषसिंहोंके बाणोंके परस्पर टकरानेसे आकाशमें आग प्रकट हो जाती थी ॥ ४८½ ॥

तथा कर्णः शितान् बाणान् कर्मारपरिमार्जितान्॥४९॥
सुवर्णविकृतान् क्रुद्धः प्राहिणोद् वधकाङ्क्षया ।

कर्णने कुपित होकर भीमसेनके वधकी इच्छासे सुनारके माँजे हुए सुवर्णभूषित तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥४९½॥

तानन्तरिक्षे विशिखैस्त्रिधैकैकमशातयत् ॥ ५० ॥
विशेषयन् सूतपुत्रं भीमस्तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

परंतु भीमसेनने अपनेको सूतपुत्रसे विशिष्ट सिद्ध करते हुए बाणोंद्वारा आकाशमें उन बाणोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े कर डाले और कर्णसे कहा—'अरे ! खड़ा रह' ॥५०½॥

पुनश्चासृजदुग्राणि शरवर्षाणि पाण्डवः ॥ ५१ ॥
अमर्षी बलवान् क्रुद्धो दिधक्षन्निव पावकः ।

फिर क्रोध एवं अमर्षमें भरे हुए बलवान् भीमसेनने जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान भयंकर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५१½ ॥

ततश्चटचटाशब्दो गोधाघातादभूत् तयोः ॥ ५२ ॥
तलशब्दश्च सुमहान् सिंहनादश्च भैरवः ।
रथनेमिनिनादश्च ज्याशब्दश्चैव दारुणः ॥ ५३ ॥

उस समय उन दोनोंके गोहचर्मके बने हुए दस्तानोंके आघातसे चटाचटकी आवाज होने लगी । साथ ही हथेलीका शब्द और महाभयंकर सिंहनाद भी होने लगा । रथके पहियोंकी घरघराहट और प्रत्यञ्चाकी भयंकर टंकार भी कानोंमें पड़ने लगी ॥ ५२-५३ ॥

योधा व्युपारमन् युद्धाद् दिदृक्षन्तः पराक्रमम् ।
कर्णपाण्डवयो राजन् परस्परवधैषिणोः ॥ ५४ ॥

राजन् ! परस्पर वधकी इच्छा रखनेवाले कर्ण और भीमसेनके पराक्रमको देखनेकी अभिलाषासे समस्त योद्धा युद्धसे उपरत हो गये ॥ ५४ ॥

देवर्षिसिद्धगन्धर्वाः साधु साध्वित्यपूजयन् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षं च विद्याधरगणास्तथा ॥ ५५ ॥

देवता, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधरगण 'साधु-साधु' कहकर उन दोनोंकी प्रशंसा और फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५५ ॥

ततो भीमो महाबाहुः संरम्भी दृढविक्रमः ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शरैर्विव्याध सूतजम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सुदृढ़ पराक्रमी महाबाहु भीमसेनने अपने अस्त्रोंद्वारा कर्णके अस्त्रोंका निवारण करके उसे बाणोंसे बींध डाला ॥ ५६ ॥

कर्णोऽपि भीमसेनस्य निवार्येषून् महाबलः ।
प्राहिणोन्नव नाराचानाशीविषसमान् रणे ॥ ५७ ॥

महाबली कर्णने भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके बाणोंका निवारण करके उनके ऊपर विषैले सर्पोंके समान नौ नाराच चलाये ॥ ५७ ॥

तावद्भिरथ तान् भीमो व्योम्नि चिच्छेद पत्रिभिः ।
नाराचान् सूतपुत्रस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ५८ ॥

भीमसेनने उतने ही बाणोंसे आकाशमें सूतपुत्रके सारे नाराच काट डाले और उससे कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥५८॥

ततो भीमो महाबाहुः शरं क्रुद्धान्तकोपमम् ।
मुमोचाधिरथेर्वीरो यमदण्डमिवापरम् ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् महाबाहु वीर भीमसेनने कर्णके ऊपर ऐसा बाण चलाया, जो क्रुद्ध यमराजके समान तथा दूसरे यमदण्डके सदृश भयंकर था ॥ ५९ ॥

तमापतन्तं चिच्छेद राधेयः प्रहसन्निव ।
त्रिभिः शरैः शरं राजन् पाण्डवस्य प्रतापवान् ॥ ६० ॥

राजन् ! अपने ऊपर आते हुए भीमसेनके उस बाणको प्रतापी राधानन्दन कर्णने तीन बाणोंद्वारा हँसते हुए-से काट डाला ॥ ६० ॥

पुनश्चासृजदुग्राणि शरवर्षाणि पाण्डवः ।
तस्य तान्याददे कर्णः सर्वाण्यस्त्राण्यभीतवत् ॥ ६१ ॥

तब पाण्डुनन्दन भीमने पुनः भयानक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी; परंतु कर्णने उन सब अस्त्रोंको निर्भयता-पूर्वक आत्मसात् कर लिया ॥ ६१ ॥

युध्यमानस्य भीमस्य सूतपुत्रोऽस्त्रमायया ।
तस्येषुधी धनुर्ज्यां च बाणैः संनतपर्वभिः ॥ ६२ ॥
रश्मीन् योक्त्राणि चाश्वानां क्रुद्धः कर्णोऽच्छिनन्मृधे ।
तस्याश्वांश्च पुनर्हत्वा सूतं विव्याध पञ्चभिः ॥ ६३ ॥

क्रोधमें भरे हुए सूतपुत्र कर्णने अपने अस्त्रोंकी मायासे तथा झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धपरायण भीमसेनके दो तरकसों, धनुषकी प्रत्यञ्चा, बागडोर तथा घोड़े जोतने-की रस्सियोंको भी युद्धस्थलमें काट डाला । फिर घोड़ोंको भी मारकर सारथिको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ६२-६३ ॥

सोऽपसृत्य द्रुतं सूतो युधामन्यो रथं ययौ ।
विहसन्निव भीमस्य क्रुद्धः कालानलद्युतिः ॥ ६४ ॥
ध्वजं चिच्छेद राधेयः पताकां च व्यपातयत् ।

सारथि वहाँसे भागकर तुरंत ही युधामन्युके रथपर चढ़ गया । इधर क्रोधमें भरे हुए कालाग्निके समान तेजस्वी

राधापुत्र कर्णने भीमसेनका उपहास-सा करते हुए उनकी ध्वजा और पताकाको भी काट गिराया ॥ ६४½ ॥

स विधन्वा महाबाहुरथ शक्तिं परामृशत् ॥ ६५ ॥
तां व्यवासृजदाविध्य क्रुद्धः कर्णरथं प्रति ।

धनुष कट जानेपर कुपित हुए महाबाहु भीमसेनने शक्ति हाथमें ली और उसे घुमाकर कर्णके रथपर दे मारा ॥६५½॥

तामाधिरथिरायस्तः शक्तिं काञ्चनभूषणाम् ॥ ६६ ॥
आपतन्तीं महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ।

कर्ण कुछ थक-सा गया था, तो भी उसने बहुत बड़ी उल्काके समान अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाणोंसे काट दिया ॥ ६६½ ॥

सापतद् दशधा छिन्ना कर्णस्य निशितैः शरैः॥ ६७ ॥
अस्यतः सूतपुत्रस्य मित्रार्थे चित्रयोधिनः ।

मित्रके हितके लिये विचित्र युद्ध करनेवाले तथा बाण-प्रहारमें तत्पर सूतपुत्र कर्णके तीखे बाणोंसे दस टुकड़ोंमें कटकर वह शक्ति धरतीपर गिर पड़ी ॥६७½ ॥

स चर्मादत्त कौन्तेयो जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ६८ ॥
खड्गं चान्यतरप्रेप्सुर्मृत्योरग्रे जयस्य वा ।

तब कुन्तीकुमार भीमसेनने युद्धमें सम्मुख मृत्यु अथवा विजय इन दोमेंसे एकका निश्चित रूपसे वरण करनेकी इच्छा रखकर ढाल और सुवर्णभूषित तलवार हाथमें ले ली ॥ ६८½ ॥

तदस्य तरसा क्रुद्धो व्यधमच्चर्म सुप्रभम् ॥ ६९ ॥
शरैर्बहुभिरत्युग्रैः प्रहसन्निव भारत ।

भारत ! उस समय क्रोधमें भरे हुए कर्णने हँसते हुए-से वेगपूर्वक बहुत-से अत्यन्त भयंकर बाण मारकर भीमसेनकी चमकीली ढाल नष्ट कर दी ॥ ६९½ ॥

स विचर्मा महाराज विरथः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७० ॥
असिं प्रासृजदाविध्य त्वरन् कर्णरथं प्रति ।

महाराज ! ढाल और रथसे रहित हुए भीमसेनने क्रोधसे आतुर हो बड़ी उतावलीके साथ कर्णके रथपर तलवार घुमाकर चला दी ॥ ७०½ ॥

स धनुः सूतपुत्रस्य सज्यं छित्त्वा महानसिः ॥ ७१ ॥
पपात भुवि राजेन्द्र क्रुद्धः सर्प इवाम्बरात् ।

राजेन्द्र ! वह बड़ी तलवार आकाशसे कुपित सर्पकी भाँति आकर सूतपूत्र कर्णके प्रत्यञ्चासहित धनुषको काटती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ७१½ ॥

ततः प्रहस्याधिरथिरन्यदादाय कार्मुकम् ॥ ७२ ॥
शत्रुघ्नं समरे क्रुद्धो दृढज्यं वेगवत्तरम् ।
व्यायच्छत् स शरान् कर्णः कुन्तीपुत्रजिघांसया॥७३॥
सहस्रशो महाराज रुक्मपुङ्खान् सुतेजनान् ।

यह देख अधिरथ-पुत्र कर्ण ठठाकर हँस पड़ा और समराङ्गण-में कुपित हो उसने शत्रुविनाशकारी सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाला अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसपर कुन्तीपुत्रके वधकी इच्छासे सुवर्णमय पंखवाले सहस्रों अत्यन्त तीखे बाणोंका संधान किया ॥ ७२-७३½ ॥

स वध्यमानो बलवान् कर्णचापच्युतैः शरैः ॥ ७४ ॥
वैहायसं प्राक्रमद् वै कर्णस्य व्यथयन्मनः ।

कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल किये जाते हुए बलवान् भीमसेन कर्णके मनमें व्यथा उत्पन्न करते हुए उसे पकड़नेके लिये आकाशमें उछले ॥ ७४½ ॥

स तस्य चरितं दृष्ट्वा संग्रामे विजयैषिणः ॥ ७५ ॥
लयमास्थाय राधेयो भीमसेनमवञ्चयत् ।

संग्राममें विजय चाहनेवाले भीमसेनका वह चरित्र देख राधापुत्र कर्णने अपना अङ्ग सिकोड़कर भीमसेनके आक्रमण-को विफल कर दिया ॥ ७५½ ॥

तं च दृष्ट्वा रथोपस्थे निलीनं व्यथितेन्द्रियम् ॥ ७६ ॥
ध्वजमस्य समासाद्य तस्थौ भीमो महीतले ।

कर्णकी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो गयी थीं । वह रथके पिछले भागमें दुबक गया था । उसे उस अवस्थामें देखकर भीमसेन उसके ध्वजका सहारा लेकर पृथ्वीपर खड़े हो गये ।७६½।

तदस्य कुरवः सर्वे चारणाश्चाभ्यपूजयन् ॥ ७७ ॥
यदियेष रथात् कर्णं हर्तुं तार्क्ष्य इवोरगम् ।

जैसे गरुड़ सर्पको दबोच लेते हैं, उसी प्रकार भीमसेनने कर्णको उसके रथसे पकड़ ले जानेकी जो इच्छा की थी,

भीमसेनका कर्णके रथपर हाथीकी लाश फेंकना

उनके इस कर्मकी समस्त कौरवों तथा चारणोंने भी प्रशंसा की ॥ ७७½ ॥

स चिछन्नधन्वा विरथः स्वधर्ममनुपालयन् ॥ ७८ ॥
स्वरथं पृष्ठतः कृत्वा युद्धायैव व्यवस्थितः ।

धनुष कट जाने तथा रथहीन होनेपर भी स्वधर्मका पालन करते हुए भीमसेन अपने रथको पीछे करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ॥ ७८½ ॥

तद् विहत्यास्य राधेयस्तत एनं समभ्ययात् ॥ ७९ ॥
संरम्भात् पाण्डवं संख्ये युद्धाय समुपस्थितम् ।

उनके रथ आदि साधनोंको नष्ट करके राधानन्दन कर्णने फिर क्रोधपूर्वक रणक्षेत्रमें युद्धके लिये उपस्थित हुए इन पाण्डुपुत्र भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ७९½ ॥

तौ समेतौ महाराज स्पर्धमानौ महाबलौ ॥ ८० ॥
जीमूताविव घर्मान्ते गर्जमानौ नरर्षभौ ।

महाराज ! एक दूसरेसे स्पर्धा रखनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर परस्पर भिड़कर वर्षा ऋतुमें गर्जना करनेवाले दो मेघोंके समान गरज रहे थे ॥ ८०½ ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ॥ ८१ ॥
अमृष्यमाणयोः संख्ये देवदानवयोरिव ।

युद्धस्थलमें अमर्ष और क्रोधसे भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंका संग्राम देव-दानव-युद्धके समान भयंकर हो रहा था ॥ ८१½ ॥

क्षीणशस्त्रस्तु कौन्तेयः कर्णेन समभिद्रुतः ॥ ८२ ॥
दृष्ट्वार्जुनहतान् नागान् पतितान् पर्वतोपमान् ।
रथमार्गविघातार्थं व्यायुधः प्रविवेश ह ॥ ८३ ॥

जब कुन्तीकुमार भीमसेनके सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये, उनके पास एक भी आयुध शेष नहीं रह गया और कर्णके द्वारा उनपर पूर्ववत् आक्रमण होता रहा, तब वे रथके मार्गको बंद कर देनेके लिये अर्जुनके मारे हुए पर्वताकार हाथियोंको वहाँ गिरा देख उनके भीतर प्रवेश कर गये ॥ ८२-८३ ॥

हस्तिनां व्रजमासाद्य रथदुर्गं प्रविश्य च ।
पाण्डवो जीविताकाङ्क्षी राधेयं नाभ्यहारयत् ॥ ८४ ॥

हाथियोंके समूहमें पहुँचकर मानो वे रथके आक्रमणसे बचनेके लिये दुर्गके भीतर प्रविष्ट हो गये हों, ऐसा अनुभव करते हुए पाण्डुपुत्र भीम केवल अपने प्राण बचानेकी इच्छा करने लगे, उन्होंने राधापुत्र कर्णपर प्रहार नहीं किया ॥ ८४ ॥

व्यवस्थानमथाकाङ्क्षन् धनंजयशरैर्हतम् ।
उद्यम्य कुञ्जरं पार्थस्तस्थौ परपुरंजयः ॥ ८५ ॥
महौषधिसमायुक्तं हनूमानिव पर्वतम् ।

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमार भीमसेन यह चाहते थे कि कर्णके बाणोंसे बचनेके लिये कोई व्यवधान (आड़) मिल जाय; इसीलिये वे अर्जुनके बाणोंसे मारे गये एक हाथीकी लाशको उठाकर चुपचाप खड़े हो गये । उस समय वे संजीवन नामक महान् ओषधिसे युक्त पर्वत उठाये हुए हनुमान्‌जीके समान जान पड़ते थे ॥ ८५½ ॥

तमस्य विशिखैः कर्णो व्यधमत् कुञ्जरं पुनः ॥ ८६ ॥
हस्त्यङ्गान्यथ कर्णाय प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ।
चक्राण्यश्वांस्तथा चान्यद् यद् यत् पश्यति भूतले ॥ ८७ ॥
तत् तदादाय चिक्षेप क्रुद्धः कर्णाय पाण्डवः ।
तदस्य सर्वं चिच्छेद क्षिप्तं क्षिप्तं शितैः शरैः ॥ ८८ ॥

कर्णने अपने बाणोंद्वारा उस हाथीके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये । तब पाण्डुनन्दन भीमने हाथीके कटे हुए अंगोंको ही कर्णपर फेंकना शुरू किया । रथोंके पहिये, घोड़ोंकी लाशें तथा और भी जो-जो वस्तुएँ वे धरतीपर पड़ी देखते, उन्हें उठाकर क्रोधपूर्वक कर्णपर फेंकते थे; परंतु वे जो-जो वस्तु फेंकते, उन सबको कर्ण अपने तीखे बाणोंसे काट डालता था ॥ ८६—८८ ॥

भीमोऽपि मुष्टिमुद्यम्य वज्रगर्भां सुदारुणाम् ।
हन्तुमैच्छत् सूतपुत्रं संस्मरन्नर्जुनं क्षणात् ॥ ८९ ॥
शक्तोऽपि नावधीत् कर्णं समर्थः पाण्डुनन्दनः ।
रक्षमाणः प्रतिज्ञां तां या कृता सव्यसाचिना ॥ ९० ॥

अब भीमसेनने अपने अंगूठेको मुट्ठीके भीतर करके वज्रतुल्य अत्यन्त भयंकर घूँसा तानकर सूतपुत्र कर्णको मार डालनेकी इच्छा की । तबतक क्षणभरमें उन्हें अर्जुनकी याद आ गयी । अतः सव्यसाची अर्जुनने पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षा करते हुए पाण्डुनन्दन भीमने समर्थ एवं शक्तिशाली होनेपर भी उस समय कर्णका वध नहीं किया ॥ ८९-९० ॥

तमेवं व्याकुलं भीमं भूयो भूयः शितैः शरैः ।
मूर्च्छयाभिपरीताङ्गमकरोत् सूतनन्दनः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार वहाँ बाणोंके आघातसे व्याकुल हुए भीमसेनको सूतपुत्र कर्णने बारंबार अपने पैने बाणोंकी मारसे मूर्छित-सा कर दिया ॥ ९१ ॥

व्यायुधं नावधीच्चैनं कर्णः कुन्त्या वचः स्मरन् ।
धनुषोऽग्रेण तं कर्णः सोऽभिद्रुत्य परामृशत् ॥ ९२ ॥

परंतु कुन्तीके वचनका स्मरण करके उसने शस्त्रहीन भीमसेनका वध नहीं किया । कर्णने उनके पास जाकर अपने धनुषकी नोकसे उनका स्पर्श किया ॥ ९२ ॥

धनुषा स्पृष्टमात्रेण क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।
आच्छिद्य स धनुस्तस्य कर्णं मूर्धन्यताडयत् ॥ ९३ ॥

धनुषका स्पर्श होते ही वे क्रोधमें भरे हुए सर्पके समान फुफकार उठे और उन्होंने कर्णके हाथसे वह धनुष छीनकर उसे उसीके मस्तकपर दे मारा ॥ ९३ ॥

ताडितो भीमसेनेन क्रोधादारक्तलोचनः ।
विहसन्निव राधेयो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ९४ ॥

भीमसेनकी मार खाकर राधापुत्र कर्णकी आँखें लाल हो गयीं । उसने हँसते हुए-से यह बात कही—॥ ९४ ॥

पुनः पुनस्तूबरक मूढ औदरिकेति च ।
अकृतास्त्रक मा योत्सीर्बाल संग्रामकातर ॥ ९५ ॥

'ओ बिना दाढ़ी-मूछके नपुंसक ! ओ मूर्ख ! अरे पेटू ! तू तो अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानसे सर्वथा शून्य है । युद्धभीरु कायर ! छोकरे ! अब फिर कभी युद्ध न करना ॥ ९५ ॥

यत्र भोज्यं बहुविधं भक्ष्यं पेयं च पाण्डव ।
तत्र त्वं दुर्मते योग्यो न युद्धेषु कदाचन ॥ ९६ ॥

'दुर्बुद्धि पाण्डव ! जहाँ अनेक प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ रक्खी हों, तू वहीं रहनेके योग्य है ! युद्धोंमें तुझे कभी नहीं आना चाहिये ॥ ९६ ॥

मूलपुष्पफलाहारो व्रतेषु नियमेषु च ।
उचितस्त्वं वने भीम न त्वं युद्धविशारदः ॥ ९७ ॥

'भीम ! वनमें रहकर तू फल-मूल और फूल खाकर व्रत एवं नियम आदि पालन करनेके योग्य है । युद्धकौशल तुझमें नाममात्रको भी नहीं है ॥ ९७ ॥

क्व युद्धं क्व मुनित्वं च वनं गच्छ वृकोदर ।
न त्वं युद्धोचितस्तात वनवासरतिर्भवान् ॥ ९८ ॥

'वृकोदर ! कहाँ युद्ध और कहाँ मुनिवृत्ति । जा, जा, वनमें चला जा । तात ! तुझमें युद्धकी योग्यता नहीं है । तू तो वनवासका ही प्रेमी है ॥ ९८ ॥

(सूदं त्वामहमाजाने मात्स्ये प्रेष्यककारकम् ।)
सूदान् भृत्यजनान् दासांस्त्वं गृहे त्वरयन् भृशम् ।
योग्यस्ताडयितुं क्रोधाद् भोजनार्थं वृकोदर ॥ ९९ ॥

'मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ । तू मत्स्यराज विराटका नौकर एक रसोइया रहा है । वृकोदर ! तू तो घरमें रसोइयों, भृत्यजनों तथा दासोंको बहुत जल्दी भोजन तैयार करनेके लिये प्रेरणा देते हुए क्रोधसे उन्हें डाँटने और मारने-पीटनेकी योग्यता रखता है ॥ ९९ ॥

मुनिर्भूत्वाथवा भीम फलान्यादत्स्व दुर्मते ।
वनाय व्रज कौन्तेय न त्वं युद्धविशारदः ॥ १०० ॥

'दुर्मति कुन्तीकुमार भीम ! अथवा तू मुनि होकर वनमें चला जा । वहाँ इधर-उधरसे फल ले आ और खा । तू युद्धमें निपुण नहीं है ॥ १०० ॥

फलमूलाशने शक्तस्त्वं तथातिथिपूजने ।
न त्वां शस्त्रसमुद्योगे योग्यं मन्ये वृकोदर ॥ १०१ ॥

'वृकोदर ! तू फल-मूल खाने और अतिथिसत्कार करनेमें समर्थ है । मैं तुझे हथियार उठानेके योग्य नहीं मानता' ॥

कौमारे यानि वृत्तानि विप्रियाणि विशाम्पते ।
तानि सर्वाणि चाप्येव रूक्षाण्यश्रावयद् भृशम् ॥ १०२ ॥

प्रजापालक नरेश ! कर्णने बाल्यावस्थामें जो अप्रिय वृत्तान्त घटित हुए थे, उन सबका उल्लेख करते हुए बहुत-सी रूखी बातें सुनायीं ॥ १०२ ॥

अथैनं तत्र संलीनमस्पृशद् धनुषा पुनः ।
प्रहसंश्च पुनर्वाक्यं भीममाह वृषस्तदा ॥ १०३ ॥

तत्पश्चात् वहाँ छिपे हुए भीमसेनका कर्णने पुनः धनुषसे स्पर्श किया और उस समय उनका उपहास करते हुए फिर कहा—॥ १०३ ॥

योद्धव्यं मारिषान्यत्र न योद्धव्यं च मादृशैः ।
मादृशैर्युध्यमानानामेतच्चान्यच्च विद्यते ॥ १०४ ॥

'आर्य ! तुझे और लोगोंके साथ युद्ध करना चाहिये । मेरे-जैसे वीरोंके साथ नहीं । मेरे-जैसे योद्धाओंसे जूझनेवालोंकी ऐसी ही अथवा इससे भी बुरी दशा होती है ॥ १०४ ॥

गच्छ वा यत्र तौ कृष्णौ तौ त्वां रक्षिष्यतो रणे ।
गृहं वा गच्छ कौन्तेय किं ते युद्धेन बालक ॥ १०५ ॥

'अथवा जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, वहीं चला जा । वे रणभूमिमें तेरी रक्षा करेंगे । अथवा कुन्तीकुमार ! तू घर चला जा । बच्चे ! तुझे युद्धसे क्या लाभ है ?' ॥ १०५ ॥

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽतिदारुणम् ।
उवाच कर्णं प्रहसन् सर्वेषां शृण्वतां वचः ॥ १०६ ॥

कर्णके ये अत्यन्त कठोर वचन सुनकर भीमसेन ठठाकर हँस पड़े और सबके सुनते हुए उससे इस प्रकार बोले—॥

जितस्त्वमसकृद् दुष्ट कत्थसे किं वृथाऽऽत्मना ।
जयाजयौ महेन्द्रस्य लोके दृष्टौ पुरातनैः ॥ १०७ ॥

'अरे दुष्ट ! मैंने तुझे एक बार नहीं, बारंबार हराया है; फिर क्यों व्यर्थ अपने ही मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है । संसारमें पूर्वपुरुषोंने देवराज इन्द्रकी भी कभी जय और कभी पराजय होती देखी है ॥ १०७ ॥

मल्लयुद्धं मया सार्धं कुरु दुष्कुलसम्भव ।
महाबलो महाभोगी कीचको निहतो यथा ॥ १०८ ॥
तथा त्वां घातयिष्यामि पश्यत्सु सर्वराजसु ।

'नीच कुलमें पैदा हुए कर्ण ! आ, मेरे साथ मल्ल-युद्ध कर ले । जैसे मैंने महान् बलशाली महाभोगी कीचकको पीस डाला था, उसी प्रकार इन समस्त राजाओंके देखते-देखते मैं तुझे अभी मौतके हवाले कर दूँगा' ॥ १०८½ ॥

भीमस्य मतमाज्ञाय कर्णो बुद्धिमतां वरः ॥ १०९ ॥
विरराम रणात् तस्मात् पश्यतां सर्वधन्विनाम् ।

भीमसेनका यह अभिप्राय जानकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ

कर्ण समस्त धनुर्धरोंके सामने ही उस युद्धसे हट गया ॥ १०९½ ॥

एवं तं विरथं कृत्वा कर्णो राजन् व्यकत्थयत् ॥११०॥
प्रमुखे वृष्णिसिंहस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
ततो राजञ्शिलाधौताञ्शराञ्शाखामृगध्वजः ॥१११॥
प्राहिणोत् सूतपुत्राय केशवेन प्रचोदितः ।

राजन्! इस प्रकार कर्णने भीमसेनको रथहीन करके जब वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण और महामना अर्जुनके सामने ही अपनी इतनी प्रशंसा की, तब श्रीकृष्णकी प्रेरणासे कपिध्वज अर्जुनने शिलापर स्वच्छ किये हुए बहुत-से बाणोंको सूतपुत्र कर्णपर चलाया ॥ ११०-१११½ ॥

ततः पार्थभुजोत्सृष्टाः शराः कनकभूषणाः ॥११२॥
गाण्डीवप्रभवाः कर्णं हंसाः क्रौञ्चमिवाविशन् ।

तत्पश्चात् अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये तथा गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए वे सुवर्णभूषित बाण कर्णके शरीरमें उसी प्रकार घुस गये, जैसे हंस क्रौञ्च पर्वतकी गुफाओंमें समा जाते हैं ॥ ११२½ ॥

स भुजङ्गैरिवाविष्टैर्गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ॥११३॥
भीमसेनादपासेधत् सूतपुत्रं धनंजयः ।

इस प्रकार धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छोड़े गये रोष-भरे सर्पोंके समान बाणोंद्वारा सूतपुत्र कर्णको भीमसेनसे दूर हटा दिया ॥ ११३½ ॥

स च्छिन्नधन्वा भीमेन धनंजयशराहतः ॥११४॥
कर्णो भीमादपायासीद् रथेन महता द्रुतम् ।

भीमसेनने कर्णके धनुषको तो पहले-से ही तोड़ दिया था। इसीलिये वह धनंजयके बाणोंसे घायल हो भीमसेनको छोड़कर अपने विशाल रथके द्वारा तुरंत ही वहाँसे दूर हट गया ॥ ११४½ ॥

भीमोऽपि सात्यकेर्वाहं समारुह्य नरर्षभः ॥११५॥
अन्वयाद् भ्रातरं संख्ये पाण्डवं सव्यसाचिनम् ।

इधर नरश्रेष्ठ भीमसेन भी सात्यकिके रथपर आरूढ़ हो युद्धस्थलमें सव्यसाची पाण्डुपुत्र भाई अर्जुनके पास जा पहुँचे ॥ ११५½ ॥

ततः कर्णं समुद्दिश्य त्वरमाणो धनंजयः ॥११६॥
नाराचं क्रोधताम्राक्षः प्रैषीन्मृत्युमिवान्तकः ।

तत्पश्चात् क्रोधसे लाल आँखें किये अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ कर्णको लक्ष्य करके एक नाराच चलाया, मानो यमराजने किसीके लिये मौत भेज दी हो ॥ ११६½ ॥

स गरुत्मानिवाकाशे प्रार्थयन् भुजगोत्तमम् ॥११७॥
नाराचोऽभ्यपतत् कर्णं तूर्णं गाण्डीवचोदितः ।

गाण्डीव धनुषसे छूटा हुआ वह नाराच आकाशमार्गसे तुरंत ही कर्णकी ओर चला, मानो गरुड़ किसी उत्तम सर्पको पकड़नेके लिये जा रहे हों ॥ ११७½ ॥

तमन्तरिक्षे नाराचं द्रौणिश्चिच्छेद पत्रिणा ॥११८॥
धनंजयभयात् कर्णमुज्जिहीर्षन् महारथः ।

उस समय अर्जुनके भयसे कर्णका उद्धार करनेकी इच्छा रखकर महारथी अश्वत्थामाने अपने बाणसे उस नाराचको आकाशमें ही काट दिया ॥ ११८½ ॥

ततो द्रौणिं चतुःषष्ट्या विव्याध कुपितोऽर्जुनः ॥११९॥
शिलीमुखैर्महाराज मा गास्तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

महाराज! तब क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने अश्वत्थामाको चौसठ बाण मारे और कहा—'खड़े रहो, भागना मत' ॥ ११९½ ॥

स तु मत्तगजाकीर्णमनीकं रथसंकुलम् ॥१२०॥
तूर्णमभ्याविशद् द्रौणिर्धनंजयशरार्दितः ।

परंतु अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो अश्वत्थामा तुरंत ही रथसे व्याप्त एवं मतवाले हाथियोंसे भरे हुए व्यूहके भीतर घुस गया ॥ १२०½ ॥

ततः सुवर्णपृष्ठानां चापानां कूजतां रणे ॥१२१॥
शब्दं गाण्डीवघोषेण कौन्तेयोऽभ्यभवद् बली ।

तब बलवान् कुन्तीकुमार अर्जुनने रणक्षेत्रमें टंकार करते हुए सुवर्णमय पृष्ठभागवाले समस्त धनुषोंके सम्मिलित शब्दोंको अपने गाण्डीव धनुषके गम्भीर घोषसे दबा दिया १२१½

धनंजयस्तथा यान्तं पृष्ठतो द्रौणिमभ्यगात् ॥१२२॥
नातिदीर्घमिवाध्वानं शरैः संत्रासयन् बलम् ।

अर्जुन भागते हुए अश्वत्थामाके पीछे-पीछे अपने बाणोंद्वारा कौरवसेनाको संत्रस्त करते हुए कुछ दूरतक गये ॥ १२२½ ॥

विदार्य देहान् नाराचैर्नरवारणवाजिनाम् ॥१२३॥
कङ्कबर्हिणवासोभिर्बलं व्यधमदर्जुनः ।

उस समय उन्होंने कंक और मोरकी पाँखोंसे युक्त नाराचोंद्वारा घोड़ों, हाथियों और मनुष्योंके शरीरोंको विदीर्ण करके सारी सेनाको तहस-नहस कर दिया ॥१२३½॥

तद् बलं भरतश्रेष्ठ सवाजिद्विपमानवम् ॥१२४॥
पाकशासनिरायत्तः पार्थः स निजघान ह ॥१२५॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय सावधान हुए इन्द्रकुमार, कुन्तीपुत्र अर्जुनने हाथी, घोड़ों और मनुष्योंसे भरी हुई उस सेनाका संहार कर डाला ॥ १२४-१२५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भीमकर्णयुद्धे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भीमसेन और कर्णका युद्धविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १२५½ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा राजा अलम्बुषका और दुःशासनके घोड़ोंका वध

धृतराष्ट्र उवाच

अहन्यहनि मे दीप्तं यशः पतति संजय।
हता मे बहवो योधा मन्ये कालस्य पर्ययम्॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! प्रतिदिन मेरा उज्ज्वल यश घटता या मन्द पड़ता जा रहा है, मेरे बहुत-से योद्धा मारे गये, इसे मैं समयका ही फेर समझता हूँ॥ १॥

धनंजयः सुसंक्रुद्धः प्रविष्टो मामकं बलम्।
रक्षितं द्रौणिकर्णाभ्यामप्रवेश्यं सुरैरपि॥ २॥

अश्वत्थामा और कर्णके द्वारा सुरक्षित मेरी सेनामें, जहाँ देवताओंका भी प्रवेश असम्भव था, क्रोधमें भरे हुए अर्जुन प्रविष्ट हो गये॥ २॥

ताभ्यामूर्जितवीर्याभ्यामाप्यायितपराक्रमः।
सहितः कृष्णभीमाभ्यां शिनीनामृषभेण च॥ ३॥

महान् पराक्रमी श्रीकृष्ण और भीमसेन तथा शिनिप्रवर सात्यकिका साथ होनेसे अर्जुनका बल तथा पराक्रम और भी बढ़ गया है॥ ३॥

तदाप्रभृति मां शोको दहत्यग्निरिवाशयम्।
ग्रस्तानिव प्रपश्यामि भूमिपालान् ससैन्धवान्॥ ४॥

जबसे यह बात मुझे मालूम हुई है, तबसे शोक मुझे उसी प्रकार दग्ध कर रहा है, जैसे काष्ठसे पैदा होनेवाली आग अपने आधारभूत काष्ठको ही जला देती है। मैं सिंधुराज जयद्रथसहित समस्त राजाओंको कालके गालमें गया हुआ ही समझता हूँ॥ ४॥

अप्रियं सुमहत् कृत्वा सिन्धुराजः किरीटिनः।
चक्षुर्विषयमापन्नः कथं जीवितमाप्नुयात्॥ ५॥

सिंधुराज जयद्रथ किरीटधारी अर्जुनका महान् अप्रिय करके जब उनकी आँखोंके सामने आ गया है, तब कैसे जीवित रह सकता है?॥ ५॥

अनुमानाच्च पश्यामि नास्ति संजय सैन्धवः।
युद्धं तु तद् यथावृत्तं तन्ममाचक्ष्व तत्त्वतः॥ ६॥

संजय! मैं अनुमानसे यह देख रहा हूँ कि सिंधुराज जयद्रथ अब जीवित नहीं है। अब वह युद्ध जिस प्रकार हुआ था, वह सब यथार्थरूपसे बताओ॥ ६॥

यश्च विक्षोभ्य महतीं सेनामालोड्य चासकृत्।
एकः प्रविष्टः संक्रुद्धो नलिनीमिव कुञ्जरः॥ ७॥
तस्य मे वृष्णिवीरस्य ब्रूहि युद्धं यथातथम्।
धनंजयार्थे यत्तस्य कुशलो ह्यसि संजय॥ ८॥

संजय! जैसे हाथी किसी पोखरेमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जिन्होंने अकेले ही कुपित होकर मेरी विशाल सेनाको क्षुब्ध करके बारंबार उसे मथकर उसके भीतर प्रवेश किया था, उन वृष्णिवंशी वीर सात्यकिने अर्जुनके लिये प्रयत्नपूर्वक जैसा युद्ध किया था, उसका वर्णन करो; क्योंकि तुम कथा कहनेमें कुशल हो॥ ७-८॥

संजय उवाच

तथा तु वैकर्तनपीडितं तं
भीमं प्रयान्तं पुरुषप्रवीरम्।
समीक्ष्य राजन् नरवीरमध्ये
शिनिप्रवीरोऽनुययौ रथेन॥ ९॥

संजयने कहा—राजन्! पुरुषोंमें प्रमुख वीर भीमसेन अर्जुनके पास जाते समय जब पूर्वोक्त प्रकारसे कर्णद्वारा पीड़ित होने लगे, तब उन्हें उस अवस्थामें देखकर शिनिवंशके प्रधान वीर सात्यकिने उन नरवीरोंके समूहमें रथके द्वारा भीमसेनकी सहायताके लिये उनका अनुसरण किया॥ ९॥

नदन् यथा वज्रधरस्तपान्ते
ज्वलन् यथा जलदान्ते च सूर्यः।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
स कम्पयंस्तव पुत्रस्य सेनाम्॥ १०॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र वर्षाकालमें मेघरूपसे गर्जना करते हैं और जैसे सूर्य शरत्कालमें प्रज्वलित होते हैं, उसी प्रकार गरजते और तेजसे प्रज्वलित होते हुए सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषद्वारा आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए शत्रुओंका संहार करने लगे॥ १०॥

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशै-
रायोधने वीरवरं नदन्तम्।
नाशक्नुवन् वारयितुं त्वदीयाः
सर्वे रथा भारत माधवाग्र्यम्॥ ११॥

भारत! उस युद्धस्थलमें रजतवर्णके अश्वोंद्वारा आगे बढ़ते और गरजना करते हुए मधुवंशशिरोमणि वीरवर सात्यकिको आपके सारे रथी मिलकर भी रोक न सके॥ ११॥

अमर्षपूर्णस्त्वनिवृत्तयोधी
शरासनी काञ्चनवर्मधारी।
अलम्बुषः सात्यकिं माधवाग्र्य-
मवारयद् राजवरोऽभिपत्य॥ १२॥

उस समय सोनेका कवच और धनुष धारण किये, युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले, राजाओंमें श्रेष्ठ अलम्बुषने अमर्षमें भरकर मधुकुलके महान् वीर सात्यकिको सहसा सामने आकर रोका॥ १२॥

तयोरभूद् भारत सम्प्रहारो
यथाविधो नैव बभूव कश्चित्।
प्रेक्षन्त एवाहवशोभिनौ तौ
योधास्त्वदीयाश्च परे च सर्वे ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंका जैसा संग्राम हुआ, वैसा दूसरा कोई युद्ध नहीं हुआ था। आपके और शत्रुपक्षके समस्त योद्धा संग्राममें शोभा पानेवाले उन दोनों वीरोंको देखते ही रह गये थे ॥ १३ ॥

आविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राजवरः प्रसह्य।
अनागतानेव तु तान् पृषत्कां-
श्चिच्छेद बाणैः शिनिपुङ्गवोऽपि ॥ १४ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ अलम्बुषने सात्यकिको बलपूर्वक दस बाण मारे। शिनिप्रवर सात्यकिने भी बाणोंद्वारा अपने पास आनेसे पहले ही उन समस्त बाणोंको काट गिराया ॥ १४ ॥

पुनः स बाणैस्त्रिभिरग्निकल्पै-
राकर्णपूर्णैर्निशितैः सपुङ्खैः।
विव्याध देहावरणं विदार्य
ते सात्यकेराविविशुः शरीरम् ॥ १५ ॥

तब अलम्बुषने धनुषको कानतक खींचकर अग्निके समान प्रज्वलित, सुन्दर पंखवाले तीन तीखे बाणोंद्वारा पुनः सात्यकिपर प्रहार किया। वे बाण सात्यकिके कवचको विदीर्ण करके उनके शरीरमें घुस गये ॥ १५ ॥

तैः कायमस्याग्न्यनिलप्रभावै-
र्विदार्य बाणैर्निशितैर्ज्वलद्भिः।
आजघ्निवांस्तान् रजतप्रकाशा-
नश्वांश्चतुर्भिश्चतुरः प्रसह्य ॥ १६ ॥

अग्नि और वायुके समान प्रभावशाली उन प्रज्वलित तीखे बाणोंद्वारा सात्यकिका शरीर विदीर्ण करके अलम्बुषने चाँदीके समान चमकनेवाले उनके उन चारों घोड़ोंको भी चार बाणोंसे हठात् घायल कर दिया ॥ १६ ॥

तथा तु तेनाभिहतस्तरस्वी
नप्ता शिनेश्चक्रधरप्रभावः।
अलम्बुषस्योत्तमवेगवद्भि-
रश्वांश्चतुर्भिर्निजघान बाणैः ॥ १७ ॥

इस प्रकार अलम्बुषके द्वारा घायल होकर चक्रधारी विष्णुके समान प्रभावशाली और वेगवान् वीर शिनिपौत्र सात्यकिने अपने उत्तम वेगवाले चार बाणोंद्वारा राजा अलम्बुषके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ १७ ॥

अथास्य सूतस्य शिरो निकृत्य
भल्लेन कालानलसंनिभेन।
सकुण्डलं पूर्णशशिप्रकाशं
भ्राजिष्णु वक्त्रं निचकर्त देहात् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उनके सारथिका भी मस्तक काटकर कालाग्निके समान तेजस्वी भल्लद्वारा पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिसे

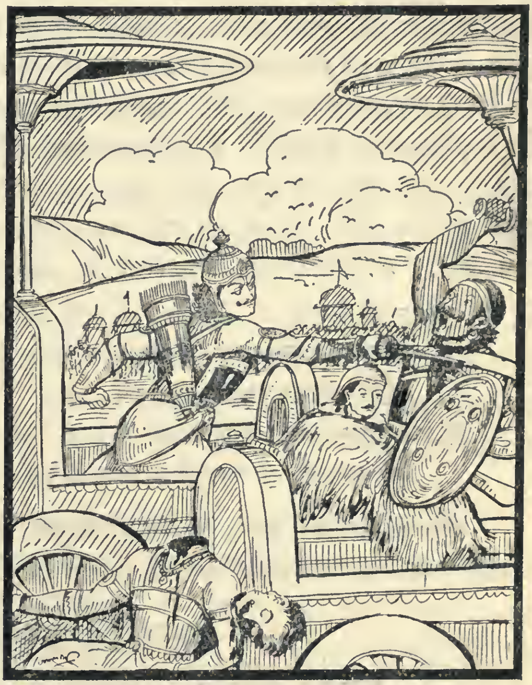

प्रकाशित होनेवाले उनके कुण्डलमण्डित मुखमण्डलको भी धड़से काट गिराया ॥ १८ ॥

निहत्य तं पार्थिवपुत्रपौत्रं
संख्ये यदूनामृषभः प्रमाथी।
ततोऽन्वयादर्जुनमेव वीरः
सैन्यानि राजंस्तव संनिवार्य ॥ १९ ॥

राजन् ! शत्रुओंको मथ डालनेवाले यदुकुलतिलक वीर सात्यकिने इस प्रकार युद्धस्थलमें राजाके पुत्र और पौत्र अलम्बुषको मारकर आपकी सेनाको स्तब्ध करके फिर अर्जुनका ही अनुसरण किया ॥ १९ ॥

अन्वागतं वृष्णिवीरं समीक्ष्य
तथारिमध्ये परिवर्तमानम्।
घ्नन्तं कुरूणामिषुभिर्बलानि
पुनः पुनर्वायुमिवाभ्रपूगान् ॥ २० ॥

ततोऽवहन् सैन्धवाः साधुदान्ता
गोक्षीरकुन्देन्दुहिमप्रकाशाः।
सुवर्णजालावतताः सदश्वा
यतो यतः कामयते नृसिंहः ॥ २१ ॥

अथात्मजास्ते सहिताभिपेतु-
रन्ये च योधास्त्वरितास्त्वदीयाः।

कृत्वा मुखं भारत योधमुख्यं
दुःशासनं त्वत्सुतमाजमीढ ॥ २२ ॥

उस समय गोदुग्ध, कुन्दकुसुम, चन्द्रमा तथा हिमके समान कान्तिवाले सिंधुदेशीय सुशिक्षित सुन्दर घोड़े, जो सोनेकी जालीसे आवृत थे, पुरुषसिंह सात्यकि जहाँ-जहाँ जाना चाहते, वहाँ-वहाँ उन्हें ले जाते थे। अजमीढवंशी भरतनन्दन! इस प्रकार जैसे वायु मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करती रहती है, वैसे ही बारंबार बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका संहार करते और शत्रुओंके बीचमें विचरते हुए वृष्णिवीर सात्यकिको वहाँ आया हुआ देख योद्धाओंमें प्रधान आपके पुत्र दुःशासनको अगुआ बनाकर आपके बहुत-से पुत्र तथा आपके पक्षके अन्य योद्धा भी शीघ्रतापूर्वक एक साथ ही उनपर टूट पड़े ॥ २०–२२ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य संख्ये
शैनेयमाजघ्नुरनीकसाहाः ।
स चापि तान् प्रवरः सात्वतानां
न्यवारयद् बाणजालेन वीरः ॥ २३ ॥

वे सभी बड़ी-बड़ी सेनाओंका आक्रमण सहनेमें समर्थ थे। उन सबने युद्धस्थलमें सात्यकिको चारों ओरसे घेरकर उनपर प्रहार आरम्भ कर दिया। सात्वतशिरोमणि वीर सात्यकिने भी अपने बाणोंके समूहसे उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २३ ॥

निवार्य तांस्तूर्णममित्रघाती
नप्ता शिनेः पत्रिभिरग्निकल्पैः ।
दुःशासनस्याभिजघान वाहा-
नुद्यम्य बाणासनमाजमीढ ॥ २४ ॥

अजमीढनन्दन! उन सबको रोककर शत्रुघाती शिनिपौत्र सात्यकिने तुरंत ही धनुष उठाकर अग्निके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा दुःशासनके घोड़ोंको मार डाला ॥ २४ ॥

ततोऽर्जुनो हर्षमवाप संख्ये
कृष्णश्च दृष्ट्वा पुरुषप्रवीरम् ॥ २५ ॥

उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरुषोंमें प्रधान वीर सात्यकिको उस युद्धभूमिमें उपस्थित देख बड़े प्रसन्न हुए ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अलम्बुषवधे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें अलम्बुषवधविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिका अद्भुत पराक्रम, श्रीकृष्णका अर्जुनको सात्यकिके आगमनकी सूचना देना और अर्जुनकी चिन्ता

संजय उवाच

तमुद्यतं महाबाहुं दुःशासनरथं प्रति ।
त्वरितं त्वरणीयेषु धनंजयजयैषिणम् ॥ १ ॥
त्रिगर्तानां महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
सेनासमुद्रमाविष्टमनन्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महाबाहु सात्यकि जल्दी करने योग्य कार्योंमें बड़ी फुर्ती दिखाते थे। वे अर्जुनकी विजय चाहते थे। उन्हें अनन्त सैन्य-सागरमें प्रविष्ट होकर दुःशासनके रथपर आक्रमण करनेके लिये उद्यत देख सोनेकी ध्वजा धारण करनेवाले त्रिगर्तदेशीय महाधनुर्धर योद्धाओंने सब ओरसे घेर लिया ॥ १-२ ॥

अथैनं रथवंशेन सर्वतः संनिवार्य ते ।
अवाकिरञ्छरव्रातैः क्रुद्धाः परमधन्विनः ॥ ३ ॥

रथसमूहद्वारा सब ओरसे सात्यकिको अवरुद्ध करके उन परम धनुर्धर योद्धाओंने उनपर क्रोधपूर्वक बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३ ॥

अजयद् राजपुत्रांस्तान् भ्राजमानान् महारणे ।
एकः पञ्चाशतं शत्रून् सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥

परंतु उस महासमरमें शोभा पानेवाले अपने शत्रुरूप उन पचास राजकुमारोंको सत्यपराक्रमी सात्यकिने अकेले ही परास्त कर दिया ॥ ४ ॥

सम्प्राप्य भारतीमध्यं तलघोषसमाकुलम् ।
असिशक्तिगदापूर्णमप्लवं सलिलं यथा ॥ ५ ॥
तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयचरितं रणे ।

कौरवसेनाका वह मध्यभाग हथेलियोंके चट-चट शब्दसे गूँज उठा था। खड्ग, शक्ति तथा गदा आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे व्याप्त था और नौकारहित अगाध जलके समान दुस्तर प्रतीत होता था। वहाँ पहुँचकर हमलोगोंने रणभूमिमें सात्यकिका अद्भुत चरित्र देखा ॥ ५½ ॥

प्रतीच्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्राच्यां पश्यामि लाघवात् ॥ ६ ॥
उदीचीं दक्षिणां प्राचीं प्रतीचीं विदिशस्तथा ।
नृत्यन्निवाचरच्छूरो यथा रथशतं तथा ॥ ७ ॥

वे इतनी फुर्तीसे इधर-उधर जाते थे कि मैं उन्हें पश्चिम दिशामें देखकर तुरंत ही पूर्व दिशामें भी उपस्थित देखता था, सैकड़ों रथियोंके समान वे शूरवीर सात्यकि उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम तथा कोणवर्ती दिशाओंमें भी नाचते हुए-से विचर रहे थे ॥ ६-७ ॥

तद् दृष्ट्वा चरितं तस्य सिंहविक्रान्तगामिनः ।
त्रिगर्ताः संन्यवर्तन्त संतप्ताः स्वजनं प्रति ॥ ८ ॥

सिंहके समान पराक्रमसूचक गतिसे चलनेवाले सात्यकिके उस चरित्रको देखकर त्रिगर्तदेशीय योद्धा अपने स्वजनोंके लिये शोक-संताप करते हुए पीछे लौट गये ॥ ८ ॥

तमन्ये शूरसेनानां शूराः संख्ये न्यवारयन् ।
नियच्छन्तः शरव्रातैर्मत्तं द्विपमिवाङ्कुशैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें दूसरे शूरसेनदेशीय शूरवीर सैनिकोंने अपने शरसमूहोंद्वारा उनपर नियन्त्रण करते हुए उन्हें उसी प्रकार रोका, जैसे महावत मतवाले हाथीको अंकुशोंद्वारा रोकते हैं ॥ ९ ॥

तैर्व्यवाहरदार्यात्मा मुहूर्तादेव सात्यकिः ।
ततः कलिङ्गैर्युयुधे सोऽचिन्त्यबलविक्रमः ॥ १० ॥

तब अचिन्त्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न महामना सात्यकिने उनके साथ युद्ध करके दो ही घड़ीमें उन्हें हरा दिया और फिर वे कलिङ्गदेशीय सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

तां च सेनामतिक्रम्य कलिङ्गानां दुरत्ययाम् ।
अथ पार्थं महाबाहुर्धनंजयमुपासदत् ॥ ११ ॥

कलिङ्गोंकी उस दुर्जय सेनाको लाँघकर महाबाहु सात्यकि कुन्तीकुमार अर्जुनके निकट जा पहुँचे ॥ ११ ॥

तरन्निव जले श्रान्तो यथा स्थलमुपेयिवान् ।
तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रं युयुधानः समाश्वसत् ॥ १२ ॥

जैसे जलमें तैरते-तैरते थका हुआ मनुष्य स्थलमें पहुँच जाय, उसी प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनको देखकर युयुधानको बड़ा आश्वासन मिला ॥ १२ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य केशवः पार्थमब्रवीत् ।
असावायाति शैनेयस्तव पार्थ पदानुगः ॥ १३ ॥

सात्यकिको आते देख भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! देखो, यह तुम्हारे चरणोंका अनुगामी शिनिपौत्र सात्यकि आ रहा है ॥ १३ ॥

एष शिष्यः सखा चैव तव सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् योधांस्तृणीकृत्य विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥

'यह सत्यपराक्रमी वीर तुम्हारा शिष्य और सखा भी है। इस पुरुषसिंहने समस्त योद्धाओंको तिनकोंके समान समझकर परास्त कर दिया है ॥ १४ ॥

एष कौरवयोधानां कृत्वा घोरमुपद्रवम् ।
तव प्राणैः प्रियतमः किरीटिन्नेति सात्यकिः ॥ १५ ॥

'किरीटधारी अर्जुन ! जो तुम्हें प्राणोंके समान अत्यन्त प्रिय है, वही यह सात्यकि कौरव योद्धाओंमें घोर उपद्रव मचाकर आ रहा है ॥ १५ ॥

एष द्रोणं तथा भोजं कृतवर्माणमेव च ।
कदर्थीकृत्य विशिखैः फाल्गुनाभ्येति सात्यकिः ॥ १६ ॥

'फाल्गुन ! यह सात्यकि अपने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य तथा भोजवंशी कृतवर्माका भी तिरस्कार करके तुम्हारे पास आ रहा है ॥ १६ ॥

धर्मराजप्रियान्वेषी हत्वा योधान् वरान् वरान् ।
शूरश्चैव कृतास्त्रश्च फाल्गुनाभ्येति सात्यकिः ॥ १७ ॥

'फाल्गुन ! यह शूरवीर एवं उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता सात्यकि धर्मराजके प्रिय तुम्हारे समाचार लेनेके लिये बड़े-बड़े योद्धाओंको मारकर यहाँ आ रहा है ॥ १७ ॥

कृत्वा सुदुष्करं कर्म सैन्यमध्ये महाबलः ।
तव दर्शनमन्विच्छन् पाण्डवाभ्येति सात्यकिः ॥ १८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महाबली सात्यकि कौरवसेनाके भीतर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके तुम्हें देखनेकी इच्छासे यहाँ आ रहा है ॥ १८ ॥

बहूनेकरथेनाजौ योधयित्वा महारथान् ।
आचार्यप्रमुखान् पार्थ प्रयात्येष स सात्यकिः ॥ १९ ॥

'पार्थ ! युद्धस्थलमें द्रोणाचार्य आदि बहुत-से महारथियोंके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे युद्ध करके यह सात्यकि इधर आ रहा है ॥ १९ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य विदार्य च वरूथिनीम् ।
प्रेषितो धर्मराजेन पार्थैषोऽभ्येति सात्यकिः ॥ २० ॥

'कुन्तीकुमार ! अपने बाहुबलका आश्रय ले कौरवसेनाको विदीर्ण करके धर्मराजका भेजा हुआ यह सात्यकि यहाँ आ रहा है ॥ २० ॥

यस्य नास्ति समो योधः कौरवेषु कथंचन ।
सोऽयमायाति कौन्तेय सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ॥ २१ ॥

'कुन्तीनन्दन ! कौरवसेनामें किसी प्रकार भी जिसकी समता करनेवाला एक भी योद्धा नहीं है, वही यह रणदुर्मद सात्यकि यहाँ आ रहा है ॥ २१ ॥

कुरुसैन्याद् विमुक्तो वै सिंहो मध्याद् गवामिव।
निहत्य बहुलाः सेनाः पार्थैषोऽभ्येति सात्यकिः॥ २२ ॥

'पार्थ ! जैसे सिंह गायोंके बीचसे अनायास ही निकल जाता है, उसी प्रकार कौरव-सेनाके घेरेसे छूटकर निकला हुआ यह सात्यकि बहुत-सी शत्रु-सेनाओंका संहार करके इधर आ रहा है ॥ २२ ॥

एष राजसहस्राणां वक्त्रैः पङ्कजसंनिभैः।
आस्तीर्य वसुधां पार्थ क्षिप्रमायाति सात्यकिः ॥ २३ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यह सात्यकि सहस्रों राजाओंके कमल-सदृश मस्तकोंद्वारा इस रणभूमिको पाटकर शीघ्रतापूर्वक इधर आ रहा है ॥ २३ ॥

एष दुर्योधनं जित्वा भ्रातृभिः सहितं रणे।
निहत्य जलसंधं च क्षिप्रमायाति सात्यकिः ॥ २४ ॥

'यह सात्यकि रणभूमिमें भाइयोंसहित दुर्योधनको जीतकर और जलसंधका वध करके शीघ्र यहाँ आ रहा है ॥ २४ ॥

रुधिरौघवतीं कृत्वा नदीं शोणितकर्दमाम्।
तृणवद् व्यस्य कौरव्यानेष ह्यायाति सात्यकिः ॥ २५ ॥

'शोणित और मांसरूपी कीचड़से युक्त खूनकी नदी बहाकर और कौरव-सैनिकोंको तिनकोंके समान उड़ाकर यह सात्यकि इधर आ रहा है' ॥ २५ ॥

ततः प्रहृष्टः कौन्तेयः केशवं वाक्यमब्रवीत्।
न मे प्रियं महाबाहो यन्मामभ्येति सात्यकिः ॥ २६ ॥

तब हर्षमें भरे हुए कुन्तीकुमार अर्जुनने केशवसे कहा—'महाबाहो ! सात्यकि जो मेरे पास आ रहे हैं, यह मुझे प्रिय नहीं है ॥ २६ ॥

न हि जानामि वृत्तान्तं धर्मराजस्य केशव।
सात्वतेन विहीनः स यदि जीवति वा न वा ॥ २७ ॥

'केशव ! पता नहीं, धर्मराजका क्या हाल है ? सात्यकिसे रहित होकर वे जीवित हैं या नहीं ? ॥ २७ ॥

एतेन हि महाबाहो रक्षितव्यः स पार्थिवः।
तमेष कथमुत्सृज्य मम कृष्ण पदानुगः ॥ २८ ॥

'महाबाहो ! सात्यकिको तो उन्हींकी रक्षा करनी चाहिये थी। श्रीकृष्ण ! उन्हें छोड़कर ये मेरे पीछे कैसे चले आये ? ॥ २८ ॥

राजा द्रोणाय चोत्सृष्टः सैन्धवश्चानिपातितः।
प्रत्युद्याति च शैनेयमेष भूरिश्रवा रणे ॥ २९ ॥

'इन्होंने राजा युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यके लिये छोड़ दिया और सिन्धुराज जयद्रथ भी अभी मारा नहीं गया। इसके सिवा ये भूरिश्रवा रणमें शिनिपौत्र सात्यकिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं ॥ २९ ॥

सोऽयं गुरुतरो भारः सैन्धवार्थे समाहितः।
ज्ञातव्यश्च हि मे राजा रक्षितव्यश्च सात्यकिः ॥ ३० ॥

'इस समय सिन्धुराज जयद्रथके कारण यह मुझपर बहुत बड़ा भार आ गया। एक तो मुझे राजाका कुशल-समाचार जानना है, दूसरे सात्यकिकी भी रक्षा करनी है ॥ ३० ॥

जयद्रथश्च हन्तव्यो लम्बते च दिवाकरः।
श्रान्तश्चैष महाबाहुरल्पप्राणश्च साम्प्रतम् ॥ ३१ ॥
परिश्रान्ता हयाश्चास्य हययन्ता च माधव।
न च भूरिश्रवाः श्रान्तः ससहायश्च केशव ॥ ३२ ॥

'इसके सिवा जयद्रथका भी वध करना है। इधर सूर्यदेव अस्ताचलपर जा रहे हैं। माधव ! ये महाबाहु सात्यकि इस समय थककर अल्पप्राण हो रहे हैं। इनके घोड़े और सारथि भी थक गये हैं। किंतु केशव ! भूरिश्रवा और उनके सहायक थके नहीं हैं ॥ ३१-३२ ॥

अपीदानीं भवेदस्य क्षेममस्मिन् समागमे।
कच्चिन्न सागरं तीर्त्वा सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ ३३ ॥
गोष्पदं प्राप्य सीदेत महौजाः शिनिपुङ्गवः।

'क्या इन दोनोंके इस संघर्षमें इस समय सात्यकि सकुशल विजयी हो सकेंगे ? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि सत्यपराक्रमी शिनिप्रवर महाबली सात्यकि समुद्रको पार करके गायकी खुरीके बराबर जलमें डूबने लगें ॥ ३३½ ॥

अपि कौरवमुख्येन कृतास्त्रेण महात्मना ॥ ३४ ॥
समेत्य भूरिश्रवसा स्वस्तिमान् सात्यकिर्भवेत्।

'कौरवकुलके मुख्य वीर अस्त्रवेत्ता महामना भूरिश्रवासे भिड़कर क्या सात्यकि सकुशल रह सकेंगे ॥ ३४½ ॥

व्यतिक्रममिमं मन्ये धर्मराजस्य केशव ॥ ३५ ॥
आचार्याद् भयमुत्सृज्य यः प्रैषयत् सात्यकिम्।

'केशव ! मैं तो धर्मराजके इस कार्यको विपरीत समझता हूँ, जिन्होंने द्रोणाचार्यका भय छोड़कर सात्यकिको इधर भेज दिया ॥ ३५½ ॥

ग्रहणं धर्मराजस्य खगः श्येन इवामिषम् ॥ ३६ ॥
नित्यमाशंसते द्रोणः कच्चित् स्यात् कुशली नृपः॥ ३७॥

'जैसे बाजपक्षी मांसपर झपट्टा मारता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य प्रतिदिन धर्मराजको बंदी बनाना चाहते हैं। क्या राजा युधिष्ठिर सकुशल होंगे ?' ॥३६-३७॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यक्यर्जुनदर्शने एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकि और अर्जुनका परस्पर साक्षात्कारविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भूरिश्रवा और सात्यकिका रोषपूर्वक सम्भाषण और युद्ध तथा सात्यकिका सिर काटनेके लिये उद्यत हुए भूरिश्रवाकी भुजाका अर्जुनद्वारा उच्छेद

संजय उवाच

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य सात्वतं युद्धदुर्मदम्।
क्रोधाद् भूरिश्रवा राजन् सहसा समुपाद्रवत्॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! रणदुर्मद सात्यकिको आते देख भूरिश्रवाने क्रोधपूर्वक सहसा उनपर आक्रमण किया ॥ १ ॥

तमब्रवीन्महाराज कौरव्यः शिनिपुङ्गवम्।
अद्य प्राप्तोऽसि दिष्ट्या मे चक्षुर्विषयमित्युत ॥ २ ॥
चिराभिलषितं काममहं प्राप्स्यामि संयुगे।
न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे रणम् ॥ ३ ॥

महाराज! कुरुनन्दन भूरिश्रवाने उस समय शिनिप्रवर सात्यकिसे इस प्रकार कहा—'युयुधान! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज तुम मेरी आँखोंके सामने आ गये। आज युद्धमें मैं अपनी बहुत दिनोंकी इच्छा पूर्ण करूँगा। यदि तुम मैदान छोड़कर भाग नहीं गये तो आज मेरे हाथसे जीवित नहीं बचोगे ॥ २-३ ॥

अद्य त्वां समरे हत्वा नित्यं शूराभिमानिनम्।
नन्दयिष्यामि दाशार्ह कुरुराजं सुयोधनम् ॥ ४ ॥

'दाशार्ह! तुम सदा अपनेको बड़ा शूरवीर मानते हो। आज मैं समरभूमिमें तुम्हारा वध करके कुरुराज दुर्योधनको आनन्दित करूँगा ॥ ४ ॥

अद्य मद्बाणनिर्दग्धं पतितं धरणीतले।
द्रक्ष्यतस्त्वां रणे वीरौ सहितौ केशवार्जुनौ ॥ ५ ॥

'आज युद्धमें वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक साथ तुम्हें मेरे बाणोंसे दग्ध होकर पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखेंगे ॥५॥

अद्य धर्मसुतो राजा श्रुत्वा त्वां निहतं मया।
सव्रीडो भविता सद्यो येनासीह प्रवेशितः ॥ ६ ॥

'आज जिन्होंने इस सेनाके भीतर तुम्हारा प्रवेश कराया है, वे धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर मेरे द्वारा तुम्हारे मारे जानेका समाचार सुनकर तत्काल लज्जित हो जायँगे ॥ ६ ॥

अद्य मे विक्रमं पार्थो विज्ञास्यति धनंजयः।
त्वयि भूमौ विनिहते शयाने रुधिरोक्षिते ॥ ७ ॥

'आज जब तुम मारे जाकर खूनसे लथपथ हो धरतीपर सो जाओगे, उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुन मेरे पराक्रमको अच्छी तरह जान लेंगे ॥ ७ ॥

चिराभिलषितो ह्येष त्वया सह समागमः।
पुरा देवासुरे युद्धे शक्रस्य बलिना यथा ॥ ८ ॥

'जैसे पूर्वकालमें देवासुर-संग्राममें इन्द्रका राजा बलिके साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारे साथ मेरा युद्ध हो, यह मेरी बहुत दिनोंकी अभिलाषा थी ॥ ८ ॥

अद्य युद्धं महाघोरं तव दास्यामि सात्वत।
ततो ज्ञास्यसि तत्त्वेन मद्वीर्यबलपौरुषम् ॥ ९ ॥

'सात्वत! आज मैं तुम्हें अत्यन्त घोर संग्रामका अवसर दूँगा। इससे तुम मेरे बल, वीर्य और पुरुषार्थका यथार्थ परिचय प्राप्त करोगे ॥ ९ ॥

अद्य संयमनीं याता मया त्वं निहतो रणे।
यथा रामानुजेनाजौ रावणिर्लक्ष्मणेन ह ॥ १० ॥

'जैसे पूर्वकालमें श्रीरामचन्द्रजीके भाई लक्ष्मणके द्वारा युद्धमें रावणकुमार इन्द्रजित् मारा गया था, उसी प्रकार इस रणभूमिमें मेरे द्वारा मारे जाकर तुम आज ही यमराजकी संयमनीपुरीकी ओर प्रस्थान करोगे ॥ १० ॥

अद्य कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजश्च माधव।
हते त्वयि निरुत्साहा रणं त्यक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ ११ ॥

'माधव! आज तुम्हारे मारे जानेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और धर्मराज युधिष्ठिर उत्साहशून्य हो युद्ध बंद कर देंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

अद्य तेऽपचितिं कृत्वा शितैर्माधव सायकैः।
तत्स्त्रियो नन्दयिष्यामि ये त्वया निहता रणे ॥ १२ ॥

'मधुकुलनन्दन! आज तीखे बाणोंसे तुम्हारी पूजा करके मैं उन वीरोंकी स्त्रियोंको आनन्दित करूँगा, जिन्हें रणभूमिमें तुमने मार डाला है ॥ १२ ॥

मच्चक्षुर्विषयं प्राप्तो न त्वं माधव मोक्ष्यसे।
सिंहस्य विषयं प्राप्तो यथा क्षुद्रमृगस्तथा ॥ १३ ॥

'माधव! जैसे कोई क्षुद्र मृग सिंहकी दृष्टिमें पड़कर जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार मेरी आँखोंके सामने आकर अब तुम जीवित नहीं छूट सकोगे' ॥ १३ ॥

युयुधानस्तु तं राजन् प्रत्युवाच हसन्निव।
कौरवेय न संत्रासो विद्यते मम संयुगे ॥ १४ ॥

राजन्! युयुधानने भूरिश्रवाकी यह बात सुनकर हँसते हुए-से यह उत्तर दिया—'कुरुनन्दन! युद्धमें मुझे कभी किसीसे भय नहीं होता है ॥ १४ ॥

नाहं भीषयितुं शक्यो वाङ्मात्रेण तु केवलम्।
स मां निहन्यात् संग्रामे यो मां कुर्यान्निरायुधम्॥१५॥

'मुझे केवल बातें बनाकर नहीं डराया जा सकता। संग्राममें जो मुझे शस्त्रहीन कर दे, वही मेरा वध कर सकता है ॥ १५ ॥

समास्तु शाश्वतीर्हन्याद् यो मां हन्याद्धि संयुगे।
किं वृथोक्तेन बहुना कर्मणा तत् समाचर ॥ १६ ॥

'जो युद्धमें मुझे मार सकता है, वह सदा सर्वत्र अपने शत्रुओंका वध कर सकता है। अस्तु, व्यर्थ ही बहुत-सी बातें बनानेसे क्या लाभ? तुमने जो कुछ कहा है, उसे करके दिखाओ ॥ १६ ॥

शारदस्येव मेघस्य गर्जितं निष्फलं हि ते।
श्रुत्वा त्वद्गर्जितं वीर हास्यं हि मम जायते ॥ १७ ॥

'शरत्कालके मेघके समान तुम्हारे इस गर्जन-तर्जनका कुछ फल नहीं है। वीर! तुम्हारी यह गर्जना सुनकर मुझे हँसी आती है ॥ १७ ॥

चिरकालेप्सितं लोके युद्धमद्यास्तु कौरव।
त्वरते मे मतिस्तात तव युद्धाभिकाङ्क्षिणी ॥ १८ ॥
नाहत्वाहं निवर्तिष्ये त्वामद्य पुरुषाधम।

'कौरव! इस लोकमें मेरी भी तुम्हारे साथ युद्ध करनेकी बहुत दिनोंसे अभिलाषा थी। वह आज पूरी हो जाय। तात! तुमसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाली मेरी बुद्धि मुझे जल्दी करनेके लिये प्रेरणा दे रही है। पुरुषाधम! आज तुम्हारा वध किये बिना मैं पीछे नहीं हटूँगा' ॥ १८½ ॥

अन्योन्यं तौ तथा वाग्भिस्तक्षन्तौ नरपुङ्गवौ ॥ १९ ॥
जिघांसू परमक्रुद्धावभिजघ्नतुराहवे।

इस प्रकार एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर परस्पर वाग्बाणोंका प्रहार करते हुए उस युद्धस्थलमें अत्यन्त कुपित हो बाणोंद्वारा आघात करने लगे ॥ १९½ ॥

समेतौ तौ महेष्वासौ शुष्मिणौ स्पर्धिनौ रणे ॥ २० ॥
द्विरदाविव संक्रुद्धौ वासितार्थे मदोत्कटौ।

वे दोनों महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर उस रणक्षेत्रमें एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए हथिनीके लिये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करनेवाले दो मदोन्मत्त हाथियोंकी तरह एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २०½ ॥

भूरिश्रवाः सात्यकिश्च ववर्षतुररिंदमौ ॥ २१ ॥
शरवर्षाणि घोराणि मेघाविव परस्परम्।

भूरिश्रवा और सात्यकि दोनों शत्रुदमन वीरोंने दो मेघोंकी भाँति परस्पर भयंकर बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २१½ ॥

सौमदत्तिस्तु शैनेयं प्रच्छाद्येषुभिराशुगैः ॥ २२ ॥
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ विव्याध निशितैः शरैः।

भरतश्रेष्ठ! सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाने शिनिप्रवर सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे शीघ्रगामी बाणोंद्वारा आच्छादित करके तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २२½ ॥

दशभिः सात्यकिं विद्ध्वा सौमदत्तिरथापरान् ॥ २३ ॥
मुमोच निशितान् बाणान् जिघांसुः शिनिपुङ्गवम्।

शिनिवंशके प्रधान वीर सात्यकिके वधकी इच्छासे भूरिश्रवाने उन्हें दस बाणोंसे घायल करके उनपर और भी बहुत-से पैने बाण छोड़े ॥ २३½ ॥

तानस्य विशिखांस्तीक्ष्णानन्तरिक्षे विशाम्पते ॥ २४ ॥
अप्राप्तानस्त्रमायाभिरग्रसत् सात्यकिः प्रभो।

प्रजानाथ! प्रभो! सात्यकिने भूरिश्रवाके उन तीखे बाणोंको अपने पास आनेके पूर्व ही अपने अस्त्र-बलसे आकाशमें ही नष्ट कर दिये ॥ २४½ ॥

तौ पृथक् शस्त्रवर्षाभ्यामवर्षतां परस्परम् ॥ २५ ॥
उत्तमाभिजनौ वीरौ कुरुवृष्णियशस्करौ।

वे दोनों वीर उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए थे। एक कुरुकुलकी कीर्तिका विस्तार कर रहा था तो दूसरा वृष्णिवंशका यश बढ़ा रहा था। उन दोनोंने एक दूसरेपर पृथक्-पृथक् अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा की ॥ २५½ ॥

तौ नखैरिव शार्दूलौ दन्तैरिव महाद्विपौ ॥ २६ ॥
रथशक्तिभिरन्योन्यं विशिखैश्चाप्यकृन्तताम्।

जैसे दो सिंह नखोंसे और दो बड़े-बड़े गजराज दाँतोंसे परस्पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर रथ-शक्तियों तथा बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे ॥ २६½ ॥

निर्भिन्दन्तौ हि गात्राणि विक्षरन्तौ च शोणितम् ॥ २७ ॥
व्यष्टम्भयेतामन्योन्यं प्राणद्यूताभिदेविनौ।

प्राणोंकी बाजी लगाकर युद्धका जूआ खेलनेवाले वे दोनों वीर एक दूसरेके अङ्गोंको विदीर्ण करते और खून बहाते हुए एक दूसरेको रोकने लगे ॥ २७½ ॥

एवमुत्तमकर्माणौ कुरुवृष्णियशस्करौ ॥ २८ ॥
परस्परमयुध्येतां वारणाविव यूथपौ।

कुरुकुल तथा वृष्णिवंशके यशका विस्तार करनेवाले उत्तमकर्मा भूरिश्रवा और सात्यकि इस प्रकार दो यूथपति गजराजोंके समान परस्पर युद्ध करने लगे ॥ २८½ ॥

तावदीर्घेण कालेन ब्रह्मलोकपुरस्कृतौ ॥ २९ ॥
यियासन्तौ परं स्थानमन्योन्यं संजगर्जतुः।

ब्रह्मलोकको सामने रखकर परमपद प्राप्त करनेकी इच्छावाले वे दोनों वीर कुछ कालतक एक दूसरेकी ओर देखकर गर्जन-तर्जन करते रहे ॥ २९½ ॥

सात्यकिः सौमदत्तिश्च शरवृष्ट्या परस्परम् ॥ ३० ॥
हृष्टवद् धार्तराष्ट्राणां पश्यतामभ्यवर्षताम्।

सात्यकि और भूरिश्रवा दोनों परस्पर बाणोंकी बौछार कर रहे थे और धृतराष्ट्रके सभी पुत्र हर्षमें भरकर उनके युद्धका दृश्य देख रहे थे ॥ ३०½ ॥

सम्प्रैक्षन्त जनास्तौ तु युध्यमानौ युधाम्पती ॥ ३१ ॥
यूथपौ वासिताहेतोः प्रयुद्धाविव कुञ्जरौ।

जैसे हथिनीके लिये दो यूथपति गजराज परस्पर घोर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार आपसमें लड़नेवाले उन योद्धाओंके अधिपतियोंको सब लोग दर्शक बनकर देखने लगे ॥ ३१½ ॥

अन्योन्यस्य हयान् हत्वा धनुषी विनिकृत्य च ॥ ३२ ॥
विरथावसियुद्धाय समेयातां महारणे ।

दोनोंने दोनोंके घोड़े मारकर धनुष काट दिये तथा उस महासमरमें दोनों ही रथहीन होकर खड्ग-युद्धके लिये एक दूसरेके सामने आ गये ॥ ३२½ ॥

आर्षभे चर्मणी चित्रे प्रगृह्य विपुले शुभे ॥ ३३ ॥
विकोशौ चाप्यसी कृत्वा समरे तौ विचेरतुः ।

बैलके चमड़ेसे बनी हुई दो विचित्र, सुन्दर एवं विशाल ढालें लेकर और तलवारोंको म्यानसे बाहर निकालकर वे दोनों समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ३३½ ॥

चरन्तौ विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भागशः । ३४ ।
मुहुराजघ्नतुः क्रुद्धावन्योन्यमरिमर्दनौ ।
सखड्गौ चित्रवर्माणौ सनिष्काङ्गदभूषणौ ॥ ३५ ॥

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों शत्रुमर्दन वीर पृथक्-पृथक् नाना प्रकारके मार्ग और मण्डल (पैंतरे और दाँव-पेंच) दिखाते हुए एक दूसरेपर बारंबार चोट करने लगे । उनके हाथोंमें तलवारें चमक रही थीं । उन दोनोंके ही कवच विचित्र थे तथा वे निष्क और अङ्गद आदि आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ३४–३५ ॥

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं विप्लुतं स्रुतम् ।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयन्तौ यशस्विनौ ॥ ३६॥
असिभ्यां सम्प्रजह्राते परस्परमरिंदमौ ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों यशस्वी वीर भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, स्रुत, सम्पात और समुदीर्ण आदि गति और पैंतरे दिखाते हुए परस्पर तलवारोंका वार करने लगे ॥ ३६½ ॥

उभौ छिद्रैषिणौ वीरावुभौ चित्रं ववल्गतुः ॥३७ ॥
दर्शयन्तावुभौ शिक्षां लाघवं सौष्ठवं तथा ।
रणे रणकृतां श्रेष्ठावन्योन्यं पर्यकर्षताम् ॥ ३८ ॥

दोनों ही वीर एक दूसरेके छिद्र (प्रहार करनेके अवसर) पानेकी इच्छा रखते हुए विचित्र रीतिसे उछलते-कूदते थे । दोनों ही अपनी शिक्षा, फुर्ती तथा युद्ध-कौशल दिखाते हुए रणभूमिमें एक दूसरेको खींच रहे थे । वे दोनों ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ थे ॥ ३७–३८ ॥

मुहूर्तमिव राजेन्द्र समाहत्य परस्परम् ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां वीरावाश्वसतां पुनः ॥३९ ॥
असिभ्यां चर्मणी चित्रे शतचन्द्रे नराधिप ।
निकृत्य पुरुषव्याघ्रौ बाहुयुद्धं प्रचक्रतुः ॥ ४०॥

राजेन्द्र ! उस समय विश्राम करती हुई सम्पूर्ण सेनाओंके देखते देखते लगभग दो घड़ीतक एक दूसरेपर तलवारोंसे चोट करके दोनोंने दोनोंकी सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित विचित्र ढालें काट डालीं । नरेश्वर ! फिर वे दोनों पुरुषसिंह भुजाओंद्वारा मल्ल-युद्ध करने लगे ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ ४१ ॥

दोनोंके वक्षःस्थल चौड़े और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं । दोनों ही मल्ल-युद्धमें कुशल थे और लोहेके परिघोंके समान सुदृढ़ भुजाओंद्वारा एक दूसरेसे गुथ गये थे ॥ ४१ ॥

तयो राजन् भुजाघातनिग्रहप्रग्रहास्तथा ।
शिक्षाबलसमुद्भूताः सर्वयोधप्रहर्षणाः ॥ ४२ ॥

राजन् ! उन दोनोंके भुजाओंद्वारा आघात, निग्रह (हाथ पकड़ना) और प्रग्रह (गलेमें हाथ लगाना) आदि दाव उनकी शिक्षा और बलके अनुरूप प्रकट होकर समस्त योद्धाओंका हर्ष बढ़ा रहे थे ॥ ४२ ॥

तयोर्नृवरयो राजन् समरे युध्यमानयोः ।
भीमोऽभवन्महाशब्दो वज्रपर्वतयोरिव ॥ ४३ ॥

राजन् ! समरभूमिमें जूझते हुए उन दोनों नरश्रेष्ठोंके पारस्परिक आघातसे प्रकट होनेवाला महान् शब्द वज्र और पर्वतके टकरानेके समान भयंकर जान पड़ता था ॥ ४३ ॥

द्विपाविव विषाणाग्रैः शृङ्गैरिव महर्षभौ ।
भुजयोक्त्रावबन्धैश्च शिरोभ्यां चावघातनैः ॥ ४४ ॥
पादावकर्षसंधानैस्तोमराङ्कुशलासनैः ।
पादोदरविबन्धैश्च भूमावुद्भ्रमणैस्तथा ॥ ४५ ॥
गतप्रत्यागताक्षेपैः पातनोत्थानसम्प्लुतैः ।
युयुधाते महात्मानौ कुरुसात्वतपुङ्गवौ ॥ ४६ ॥

जैसे दो हाथी दाँतोंके अग्रभागसे तथा दो साँड़ सींगोंसे लड़ते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर कभी भुजपाशोंसे बाँधकर, कभी सिरोंकी टक्कर लगाकर, कभी पैरोंसे खींचकर, कभी पैरमें पैर लपेट कर, कभी तोमर-प्रहारके समान ताल ठोंककर, कभी अङ्कुश गड़ानेके समान एक दूसरेको नोचकर, कभी पादबन्ध, उदरबन्ध, उद्भ्रमण[1], गत[2], प्रत्यागत[3], आक्षेप[4], पातन[5], उत्थान[6] और संप्लुत[7] आदि दावोंका प्रदर्शन करते हुए वे दोनों महामनस्वी कुरु और सात्वतवंशके प्रमुख वीर परस्पर युद्ध कर रहे थे ॥४४-४६॥

द्वात्रिंशत्करणानि स्युर्यानि युद्धानि भारत ।
तान्यदर्शयतां तत्र युध्यमानौ महाबलौ ॥ ४७ ॥

---

१. पृथ्वीपर घुमाना । २. प्रतिद्वन्द्वीकी ओर बढ़ना । ३. पीछे लौटना । ४. पछाड़ना ५. पृथ्वीपर पटकना । ६. उछलकर खड़ा होना । ७. पीठ लगाना ।

भारत ! इस प्रकार वे दोनों महाबली वीर परस्पर जूझते हुए मल्ल-युद्धकी जो बत्तीस कलाएँ हैं, उनका प्रदर्शन करने लगे ॥ ४७ ॥

क्षीणायुधे सात्वते युध्यमाने
ततोऽब्रवीदर्जुनं वासुदेवः ।
पश्यस्वैनं विरथं युध्यमानं
रणे वरं सर्वधनुर्धराणाम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर जब अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो जानेपर सात्यकि युद्ध कर रहे थे, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! रणमें समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ इस सात्यकिकी ओर देखो। यह रथहीन होकर युद्ध कर रहा है ॥ ४८ ॥

(सीदन्तं सात्यकिं पश्य पार्थैनं परिरक्ष च ॥)
प्रविष्टो भारतीं भित्त्वा तव पाण्डव पृष्ठतः ।
योधितश्च महावीर्यैः सर्वैर्भारत भारतैः ॥ ४९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! देखो, सात्यकि शिथिल हो गया है। इसकी रक्षा करो। भारत ! पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे पीछे-पीछे यह कौरव-सेनाका व्यूह भेदकर भीतर घुस आया है और भरतवंशके प्रायः सभी महापराक्रमी योद्धाओंके साथ युद्ध कर चुका है ॥ ४९ ॥

(धार्तराष्ट्राश्च ये मुख्या ये च मुख्या महारथाः ।
निहता वृष्णिवीरेण शतशोऽथ सहस्रशः ॥)

'दुर्योधनकी सेनामें जो मुख्य योद्धा और प्रधान महारथी थे, वे सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें इस वृष्णिवंशी वीरके हाथसे मारे गये हैं ॥

परिश्रान्तं युधां श्रेष्ठं सम्प्राप्तो भूरिदक्षिणः ।
युद्धाकाङ्क्षी समायान्तं नैतत् सममिवार्जुन ॥ ५० ॥

'अर्जुन ! यहाँ आता हुआ योद्धाओंमें श्रेष्ठ सात्यकि बहुत थक गया है, तो भी उसके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यज्ञोंमें पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले भूरिश्रवा आये हैं। यह युद्ध समान योग्यताका नहीं है' ॥ ५० ॥

ततो भूरिश्रवाः क्रुद्धः सात्यकिं युद्धदुर्मदः ।
उद्यम्याभ्याहनद् राजन् मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ५१ ॥

राजन् ! इसी समय क्रोधमें भरे हुए रणदुर्मद भूरिश्रवाने उद्योग करके सात्यकिपर उसी प्रकार आघात किया, जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त हाथीपर चोट करता है ॥ ५१ ॥

रथस्थयोर्द्वयोर्युद्धे क्रुद्धयोर्योधमुख्ययोः ।
केशवार्जुनयो राजन् समरे प्रेक्षमाणयोः ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! समराङ्गणमें रथपर बैठे हुए क्रोधभरे योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन वह युद्ध देख रहे थे ॥ ५२ ॥

अथ कृष्णो महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ।
पश्य वृष्ण्यन्धकव्याघ्रं सौमदत्तिवशं गतम् ॥ ५३ ॥

तब महाबाहु श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! देखो, वृष्णि और अंधकवंशका वह श्रेष्ठ वीर भूरिश्रवाके वशमें हो गया है ॥ ५३ ॥

परिश्रान्तं गतं भूमौ कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
तवान्तेवासिनं वीरं पालयार्जुन सात्यकिम् ॥ ५४ ॥

'वह अत्यन्त दुष्कर कर्म करके परिश्रमसे चूर-चूर हो पृथ्वीपर गिर गया है। अर्जुन ! वीर सात्यकि तुम्हारा ही शिष्य है। उसकी रक्षा करो ॥ ५४ ॥

न वशं यज्ञशीलस्य गच्छेदेष वरोऽर्जुन ।
त्वत्कृते पुरुषव्याघ्र तदाशु क्रियतां विभो ॥ ५५ ॥

'पुरुषसिंह अर्जुन ! प्रभो ! यह श्रेष्ठ वीर तुम्हारे लिये यज्ञशील भूरिश्रवाके अधीन न हो जाय, ऐसा शीघ्र प्रयत्न करो'॥

अथाब्रवीद्धृष्टमना वासुदेवं धनंजयः ।
पश्य वृष्णिप्रवीरेण क्रीडन्तं कुरुपुङ्गवम् ॥ ५६ ॥
महाद्विपेनेव वने मत्तेन हरियूथपम् ।

तब अर्जुनने प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन् ! देखिये, जैसे कोई सिंहोंका यूथपति वनमें मतवाले महान् गजके साथ क्रीडा करे, उसी प्रकार कुरुकुल-शिरोमणि भूरिश्रवा वृष्णिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिके साथ रणक्रीडा कर रहे हैं' ॥ ५६½ ॥

संजय उवाच

इत्येवं भाषमाणे तु पाण्डवे वै धनंजये ॥ ५७ ॥
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ।
तदुद्यम्य महाबाहुः सात्यकिं न्यहनद् भुवि ॥ ५८ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन अर्जुन इस प्रकार कह ही रहे थे कि सैनिकोंमें महान् हाहाकार मच गया। महाबाहु भूरिश्रवाने सात्यकिको उठाकर धरतीपर पटक दिया ॥ ५७–५८ ॥

स सिंह इव मातङ्गं विकर्षन् भूरिदक्षिणः ।
व्यरोचत कुरुश्रेष्ठः सात्वतप्रवरं युधि ॥ ५९ ॥

जैसे सिंह किसी मतवाले हाथीको खींचता है, उसी प्रकार प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरुश्रेष्ठ भूरिश्रवा युद्धस्थलमें सात्वत-वंशके प्रमुख वीर सात्यकिको घसीटते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ५९ ॥

अथ कोशाद् विनिष्कृष्य खड्गं भूरिश्रवा रणे ।
मूर्धजेषु निजग्राह पदा चोरस्यताडयत् ॥ ६० ॥

तदनन्तर भूरिश्रवाने रणभूमिमें तलवारको म्यानसे बाहर निकालकर सात्यकिकी चुटिया पकड़ ली और उनकी छातीमें लात मारी ॥ ६० ॥

ततोऽस्य छेत्तुमारब्धः शिरः कायात् सकुण्डलम् ।
तावत्क्षणात् सात्वतोऽपि शिरः सम्भ्रमयंस्त्वरन् ।६१।

फिर उसने उनके कुण्डलमण्डित मस्तकको धड़से अलग कर देनेका उद्योग आरम्भ किया। उस समय सात्यकि भी बड़ी शीघ्रताके साथ अपने मस्तकको घुमाने लगे ॥ ६१ ॥

यथा चक्रं तु कौलालो दण्डविद्धं तु भारत।
सहैव भूरिश्रवसो बाहुना केशधारिणा ॥ ६२ ॥

भारत ! जैसे कुम्हार छेदमें डंडा डालकर अपनी चाकको घुमाता है, उसी प्रकार केश पकड़े हुए भूरिश्रवाके बाँहके साथ ही सात्यकि अपने सिरको घुमाने लगे ॥ ६२ ॥

तं तथा परिकृष्यन्तं दृष्ट्वा सात्वतमाहवे।
वासुदेवस्ततो राजन् भूयोऽर्जुनमभाषत ॥ ६३ ॥

राजन् ! इस प्रकार युद्धभूमिमें केश खींचे जानेके कारण सात्यकिको कष्ट पाते देख भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ ६३ ॥

पश्य वृष्ण्यन्धकव्याघ्रं सौमदत्तिवशं गतम्।
तव शिष्यं महाबाहो धनुष्यनवरं त्वया ॥ ६४ ॥

'महाबाहो ! देखो, वृष्णि और अन्धकवंशका वह सिंह

भूरिश्रवाके वशमें पड़ गया है। यह तुम्हारा शिष्य है और धनुर्विद्यामें तुमसे कम नहीं है ॥ ६४ ॥

असत्यो विक्रमः पार्थ यत्र भूरिश्रवा रणे।
विशेषयति वार्ष्णेयं सात्यकिं सत्यविक्रमम् ॥ ६५ ॥

'पार्थ ! पराक्रम मिथ्या है, जिसका आश्रय लेनेपर भी वृष्णिवंशी सत्यपराक्रमी सात्यकिसे रणभूमिमें भूरिश्रवा बढ़ गये हैं' ॥ ६५ ॥

एवमुक्तो महाबाहुर्वासुदेवेन पाण्डवः।
मनसा पूजयामास भूरिश्रवसमाहवे ॥ ६६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पाण्डुपुत्र महाबाहु अर्जुनने मन-ही-मन युद्धस्थलमें भूरिश्रवाकी प्रशंसा की ॥

विकर्षन् सात्वतश्रेष्ठं क्रीडमान इवाहवे।
संहर्षयति मां भूयः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ॥ ६७ ॥

कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भूरिश्रवा इस युद्धस्थलमें सात्वतकुलके श्रेष्ठ वीर सात्यकिको घसीटते हुए खेल-सा कर रहे हैं और बारंबार मेरा हर्ष बढ़ा रहे हैं ॥ ६७ ॥

प्रवरं वृष्णिवीराणां यन्न हन्याद्धि सात्यकिम्।
महाद्विपमिवारण्ये मृगेन्द्र इव कर्षति ॥ ६८ ॥

जैसे सिंह वनमें किसी महान् गजराजको खींचता है, उसी प्रकार ये भूरिश्रवा वृष्णिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिको खींच रहे हैं, उसे मार नहीं रहे हैं ॥ ६८ ॥

एवं तु मनसा राजन् पार्थः सम्पूज्य कौरवम्।
वासुदेवं महाबाहुरर्जुनः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥

राजन् ! इस प्रकार मन-ही-मन उस कुरुवंशी वीरकी प्रशंसा करके महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ ६९ ॥

सैन्धवे सक्तदृष्टित्वान्नैनं पश्यामि माधवम्।
एतत् त्वसुकरं कर्म यादवार्थे करोम्यहम् ॥ ७० ॥

'प्रभो ! मेरी दृष्टि सिन्धुराज जयद्रथपर लगी हुई थी। इसलिये मैं सात्यकिको नहीं देख रहा था; परंतु अब मैं इस यदुवंशी वीरकी रक्षाके लिये यह दुष्कर कर्म करता हूँ'॥

इत्युक्त्वा वचनं कुर्वन् वासुदेवस्य पाण्डवः।
ततः क्षुरप्रं निशितं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ७१ ॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनने गाण्डीव धनुषपर एक तीखा क्षुरप्र रक्खा ॥ ७१ ॥

पार्थबाहुविसृष्टः स महोल्केव नभश्च्युता।
सखड्गं यज्ञशीलस्य साङ्गदं बाहुमच्छिनत् ॥ ७२ ॥

अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये उस क्षुरप्रने आकाशसे गिरी हुई बहुत बड़ी उल्काके समान उन यज्ञशील भूरिश्रवाके बाजूबंदविभूषित (दाहिनी) भुजाको खड्गसहित काट गिराया ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भूरिश्रवोबाहुच्छेदे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भूरिश्रवाकी भुजाका उच्छेदविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ७३½ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भूरिश्रवाका अर्जुनको उपालम्भ देना, अर्जुनका उत्तर और आमरण अनशनके लिये बैठे हुए भूरिश्रवाका सात्यकिके द्वारा वध

संजय उवाच

स बाहुर्न्यपतद् भूमौ सखड्गः सशुभाङ्गदः।
आदधज्जीवलोकस्य दुःखमद्भुतमुत्तमः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! भूरिश्रवाकी सुन्दर बाजूबंदसे विभूषित वह उत्तम बाँह समस्त प्राणियोंके मनमें अद्भुत दुःखका संचार करती हुई खड्गसहित कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ १॥

प्रहरिष्यन् हृतो बाहुरदृश्येन किरीटिना।
वेगेन न्यपतद् भूमौ पञ्चास्य इव पन्नगः॥ २॥

प्रहार करनेके लिये उद्यत हुई वह भुजा अलक्ष्य अर्जुनके बाणसे कटकर पाँच मुखवाले सर्पकी भाँति बड़े वेगसे पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २॥

स मोघं कृतमात्मानं दृष्ट्वा पार्थेन कौरवः।
उत्सृज्य सात्यकिं क्रोधाद् गर्हयामास पाण्डवम्॥ ३॥

कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा अपनेको असफल किया हुआ देख कुरुवंशी भूरिश्रवाने कुपित हो सात्यकिको छोड़कर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी निन्दा करते हुए कहा॥ ३॥

(स विबाहुर्महाराज एकपक्ष इवाण्डजः।
एकचक्रो रथो यद्वद् धरणीमास्थितो नृपः।
उवाच पाण्डवं चैव सर्वक्षत्रस्य शृण्वतः॥)

महाराज! वे राजा भूरिश्रवा एक बाँहसे रहित हो एक पाँखके पक्षी और एक पहियेके रथकी भाँति पृथ्वीपर खड़े हो सम्पूर्ण क्षत्रियोंके सुनते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनसे बोले॥

भूरिश्रवा उवाच

नृशंसं बत कौन्तेय कर्मेदं कृतवानसि।
अपश्यतो विषक्तस्य यन्मे बाहुमचिच्छिदः॥ ४॥

भूरिश्रवा बोले—कुन्तीकुमार! तुमने यह बड़ा कठोर कर्म किया है; क्योंकि मैं तुम्हें देख नहीं रहा था और दूसरेसे युद्ध करनेमें लगा हुआ था, उस दशामें तुमने मेरी बाँह काट दी है॥ ४॥

किं नु वक्ष्यसि राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
किं कुर्वाणो मया संख्ये हतो भूरिश्रवा रणे॥ ५॥

तुम धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे क्या कहोगे? यही न कि 'भूरिश्रवा किसी और कार्यमें लगे थे और मैंने उसी दशामें उन्हें युद्धमें मार डाला है'॥ ५॥

इदमिन्द्रेण ते साक्षादुपदिष्टं महात्मना।
अस्त्रं रुद्रेण वा पार्थ द्रोणेनाथ कृपेण वा॥ ६॥

पार्थ! इस अस्त्र-विद्याका उपदेश तुम्हें साक्षात् महात्मा इन्द्रने दिया है, या रुद्र, द्रोण अथवा कृपाचार्यने?॥ ६॥

ननु नामास्त्रधर्मज्ञस्त्वं लोकेऽभ्यधिकः परैः।
सोऽयुध्यमानस्य कथं रणे प्रहृतवानसि॥ ७॥

तुम तो इस लोकमें दूसरोंसे अधिक अस्त्र-धर्मके ज्ञाता हो, फिर जो तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर रहा था, उसपर संग्राममें तुमने कैसे प्रहार किया?॥ ७॥

न प्रमत्ताय भीताय विरथाय प्रयाचते।
व्यसने वर्तमानाय प्रहरन्ति मनस्विनः॥ ८॥

मनस्वी पुरुष असावधान, डरे हुए, रथहीन, प्राणोंकी भिक्षा माँगनेवाले तथा संकटमें पड़े हुए मनुष्यपर प्रहार नहीं करते हैं॥ ८॥

इदं तु नीचाचरितमसत्पुरुषसेवितम्।
कथमाचरितं पार्थ पापकर्म सुदुष्करम्॥ ९॥

पार्थ! यह नीच पुरुषोंद्वारा आचरित और दुष्ट पुरुषोंद्वारा सेवित अत्यन्त दुष्कर पापकर्म तुमने कैसे किया?॥ ९॥

आर्येण सुकरं त्वाहुरार्यकर्म धनंजय।
अनार्यकर्म त्वार्येण सुदुष्करतमं भुवि॥ १०॥

धनंजय! श्रेष्ठ पुरुषके लिये श्रेष्ठ कर्म ही सुकर बताया गया है। नीच कर्मका आचरण तो इस पृथ्वीपर उसके लिये अत्यन्त दुष्कर माना गया है॥ १०॥

येषु येषु नरव्याघ्र यत्र यत्र च वर्तते।
आशु तच्छीलतामेति तदिदं त्वयि दृश्यते॥ ११॥

नरव्याघ्र! मनुष्य जहाँ-जहाँ जिन-जिन लोगोंके समीप रहता है, उसमें शीघ्र ही उन लोगोंका शील-स्वभाव आ जाता है; यही बात तुममें भी देखी जाती है॥ ११॥

कथं हि राजवंश्यस्त्वं कौरवेयो विशेषतः।
क्षत्रधर्मादपक्रान्तः सुवृत्तश्चरितव्रतः॥ १२॥

अन्यथा राजाके वंशज और विशेषतः कुरुकुलमें उत्पन्न होकर भी तुम क्षत्रिय-धर्मसे कैसे गिर जाते? तुम्हारा शील-स्वभाव तो बहुत उत्तम था और तुमने श्रेष्ठ व्रतोंका पालन भी किया था॥ १२॥

इदं तु यदतिक्षुद्रं वार्ष्णेयार्थे कृतं त्वया।
वासुदेवमतं नूनं नैतत् त्वय्युपपद्यते॥ १३॥

तुमने सात्यकिको बचानेके लिये जो यह अत्यन्त नीच कर्म किया है, यह निश्चय ही वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका मत है, तुममें यह नीच विचार सम्भव नहीं है॥ १३॥

को हि नाम प्रमत्ताय परेण सह युध्यते ।
ईदृशं व्यसनं दद्याद् यो न कृष्णसखो भवेत् ॥ १४ ॥

कौन ऐसा मनुष्य है, जो दूसरेके साथ युद्ध करनेवाले असावधान योद्धाको ऐसा संकट प्रदान कर सकता है। जो श्रीकृष्णका मित्र न हो, उससे ऐसा कर्म नहीं बन सकता ॥१४॥

व्रात्याः संक्लिष्टकर्माणः प्रकृत्यैव च गर्हिताः ।
वृष्ण्यन्धकाः कथं पार्थ प्रमाणं भवता कृताः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! वृष्णि और अन्धकवंशके लोग तो संस्कार-भ्रष्ट हिंसा-प्रधान कर्म करनेवाले और स्वभावसे ही निन्दित हैं। फिर उनको तुमने प्रमाण कैसे मान लिया ? ॥ १५ ॥

एवमुक्तो रणे पार्थो भूरिश्रवसमब्रवीत् ।

रणभूमिमें भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उससे कहा ॥ १५½ ॥

अर्जुन उवाच

व्यक्तं हि जीर्यमाणोऽपि बुद्धिं जरयते नरः ॥ १६ ॥
अनर्थकमिदं सर्वं यत् त्वया व्याहृतं प्रभो ।
जानन्नेव हृषीकेशं गर्हसे मां च पाण्डवम् ॥ १७ ॥

अर्जुन बोले—प्रभो ! यह स्पष्ट है कि मनुष्यके बूढ़े होनेके साथ-साथ उसकी बुद्धि भी बूढ़ी हो जाती है। तुमने इस समय जो कुछ कहा है, वह सब व्यर्थ है । तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णको और मुझ पाण्डुपुत्र अर्जुनको भी जानते हो, तो भी हमारी निन्दा करते हो ॥१६-१७॥

संग्रामाणां हि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रार्थपारगः ।
न चाधर्ममहं कुर्यां जानंश्चैव हि मुह्यसे ॥ १८ ॥

मैं संग्रामके धर्मोंको जानता हूँ और सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों-के अर्थज्ञानमें पारंगत हूँ। मैं किसी प्रकार अधर्म नहीं कर सकता; यह जानते हुए भी तुम मेरे विषयमें मोहित हो रहे हो ॥ १८ ॥

युध्यन्ति क्षत्रियाः शत्रून् स्वैः स्वैः परिवृता नराः ।
भ्रातृभिः पितृभिः पुत्रैस्तथा सम्बन्धिबान्धवैः ॥१९॥
वयस्यैरथ मित्रैश्च ते च बाहुं समाश्रिताः ।

क्षत्रियलोग अपने-अपने भाई, पिता, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धवों, समान अवस्थावाले साथी और मित्रोंसे घिरकर शत्रुओंके साथ युद्ध करते हैं । वे सब लोग उस प्रधान योद्धाके बाहुबलके आश्रित होते हैं ॥ १९½ ॥

स कथं सात्यकिं शिष्यं सुखसम्बन्धमेव च ॥ २० ॥
अस्मदर्थे च युध्यन्तं त्यक्त्वा प्राणान् सुदुस्त्यजान् ।
मम बाहुं रणे राजन् दक्षिणं युद्धदुर्मदम् ॥ २१ ॥
(निकृष्यमाणं तं दृष्ट्वा कथं शत्रुवशं गतम् ।
त्वया विकृष्यमाणं च दृष्टवानस्मि निष्क्रियम् ॥)

सात्यकि मेरा शिष्य और सुखप्रद सम्बन्धी है। वह मेरे ही लिये अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध कर रहा है। राजन् ! रणदुर्मद सात्यकि युद्धस्थलमें मेरी दाहिनी भुजाके समान है। उसे तुम्हारे द्वारा कष्ट पाते देख मैं कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता था । मैंने देखा है तुम उसे घसीट रहे थे और वह शत्रुके अधीन होकर निश्चेष्ट हो गया था ॥ २०-२१ ॥

न चात्मा रक्षितव्यो वै राजन् रणगतेन हि ।
यो यस्य युज्यतेऽर्थेषु स वै रक्ष्यो नराधिप ॥ २२ ॥

राजन् ! रणभूमिमें गये हुए वीरके लिये केवल अपनी ही रक्षा करना उचित नहीं है। नरेश्वर ! जो जिसके कार्योंमें संलग्न होता है, वह अवश्य ही उसके द्वारा रक्षणीय हुआ करता है ॥ २२ ॥

तै रक्ष्यमाणैः स नृपो रक्षितव्यो महामृधे ।
यद्यहं सात्यकिं पश्ये वध्यमानं महारणे ॥ २३ ॥
ततस्तस्य वियोगेन पापं मेऽनर्थतो भवेत् ।
रक्षितश्च मया यस्मात् तस्मात् क्रुध्यसि किं मयि ॥ २४ ॥

इसी प्रकार उन सुरक्षित होनेवाले सुहृदोंका भी कर्तव्य है कि वे महासमरमें अपने राजाकी रक्षा करें। यदि मैं इस महायुद्धमें सात्यकिको अपने सामने मरते देखता तो उसके वियोगसे मुझे अनर्थकारी पाप लगता। इसीलिये मैंने उसकी रक्षा की है । अतः तुम मुझपर क्यों क्रोध करते हो ? ॥ २३-२४ ॥

यच्च मे गर्हसे राजन्नन्येन सह संगतम् ।
अहं त्वया विनिकृतस्तत्र मे बुद्धिविभ्रमः ॥ २५ ॥

राजन् ! आप जो यह कहकर मेरी निन्दा कर रहे हैं कि 'अर्जुन ! मैं दूसरेके साथ युद्धमें लगा हुआ था, उस दशामें तुमने मेरे साथ छल किया' आपकी इस बातसे मेरी बुद्धिमें भ्रम पैदा हो गया है ॥ २५ ॥

कवचं धुन्वतस्तुभ्यं रथं चारोहतः स्वयम् ।
धनुर्ज्यां कर्षतश्चैव युध्यतः सह शत्रुभिः ॥ २६ ॥
एवं रथगजाकीर्णे हयपत्तिसमाकुले ।
सिंहनादोद्धतरवे गम्भीरे सैन्यसागरे ॥ २७ ॥
स्वैः परैश्च समेतेभ्यः सात्वतेन च संगमे ।
एकस्यैकेन हि कथं संग्रामः सम्भविष्यति ॥ २८ ॥

तुम स्वयं कवच हिलाते हुए रथपर चढ़े थे, धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचते थे और अपने बहुसंख्यक शत्रुओंके साथ युद्ध कर रहे थे । इस प्रकार रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदलोंसे भरे हुए सिंहनादकी भैरव गर्जनासे व्याप्त गम्भीर सैन्य-समुद्रमें जहाँ अपने और शत्रुपक्षके एकत्र हुए लोगोंका परस्पर युद्ध चल रहा था, तुम्हारी सात्यकिके साथ मुठभेड़ हुई थी। ऐसे तुमुल युद्धमें

योद्धाका एक ही योद्धाके साथ संग्राम कैसे माना जा सकता है ? ॥ २६–२८ ॥

बहुभिः सह संगम्य निर्जित्य च महारथान् ।
श्रान्तश्च श्रान्तवाहश्च विमनाः शस्त्रपीडितः ॥ २९ ॥

सात्यकि बहुतसे योद्धाओंके साथ युद्ध करके कितने ही महारथियोंको पराजित करनेके बाद थक गया था। उसके घोड़े भी परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे और वह अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो खिन्नचित्त हो गया था ॥ २९ ॥

ईदृशं सात्यकिं संख्ये निर्जित्य च महारथम् ।
अधिकत्वं विजानीषे स्ववीर्यवशमागतम् ॥ ३० ॥

ऐसी अवस्थामें महारथी सात्यकिको युद्धमें जीतकर तुम यह समझने लगे कि मैं सात्यकिसे बड़ा वीर हूँ और वह मेरे पराक्रमसे वशमें आ गया है ॥ ३० ॥

यदिच्छसि शिरश्चास्य असिना हन्तुमाहवे ।
तथा कृच्छ्रगतं चैव सात्यकिं कः क्षमिष्यति ॥ ३१ ॥

इसीलिये तुम युद्धस्थलमें तलवारसे उसका सिर काट लेना चाहते थे। सात्यकिको वैसे संकटमें देखकर मेरे पक्षका कौन वीर सहन करेगा ? ॥ ३१ ॥

त्वं वै विगर्हयात्मानमात्मानं यो न रक्षसि ।
कथं करिष्यसे वीर यो वा त्वां संश्रयेज्जनः ॥ ३२ ॥

तुम अपनी ही निन्दा करो, जो कि अपनी भी रक्षातक नहीं कर सकते। वीरवर ! फिर जो तुम्हारे आश्रयमें होगा, उसकी रक्षा कैसे कर सकोगे ? ॥ ३२ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्यूपकेतुर्महायशाः ।
युयुधानं समुत्सृज्य रणे प्रायमुपाविशत् ॥ ३३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर यूपके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले महायशस्वी महाबाहु भूरिश्रवा सात्यकिको छोड़कर रणभूमिमें आमरण अनशनका नियम लेकर बैठ गये ॥ ३३ ॥

शरानास्तीर्य सव्येन पाणिना पुण्यलक्षणः ।
यियासुर्ब्रह्मलोकाय प्राणान् प्राणेष्वथाजुहोत् ॥ ३४ ॥

पवित्र लक्षणोंवाले भूरिश्रवाने बायें हाथसे बाण बिछाकर ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छासे प्राणायामके द्वारा प्राणोंको प्राणोंमें ही होम दिया ॥ ३४ ॥

सूर्ये चक्षुः समाधाय प्रसन्नं सलिले मनः ।
ध्यायन् महोपनिषदं योगयुक्तोऽभवन्मुनिः ॥ ३५ ॥

वे नेत्रोंको सूर्यमें और प्रसन्न मनको जलमें समाहित करके महोपनिषत्प्रतिपादित परब्रह्मका चिन्तन करते हुए योगयुक्त मुनि हो गये ॥ ३५ ॥

ततः स सर्वसेनायां जनः कृष्णधनंजयौ ।
गर्हयामास तं चापि शशंस पुरुषर्षभम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर सारी कौरव-सेनाके लोग श्रीकृष्ण और अर्जुनकी निन्दा तथा नरश्रेष्ठ भूरिश्रवाकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३६ ॥

निन्द्यमानौ तथा कृष्णौ नोचतुः किंचिदप्रियम् ।
ततः प्रशस्यमानश्च नाहृष्यद् यूपकेतनः ॥ ३७ ॥

उनके द्वारा निन्दित होनेपर भी श्रीकृष्ण और अर्जुनने कोई अप्रिय बात नहीं कही तथा प्रशंसित होनेपर भी यूपकेतु भूरिश्रवाने हर्ष नहीं प्रकट किया ॥ ३७ ॥

तांस्तथावादिनो राजन् पुत्रांस्तव धनंजयः ।
अमृष्यमाणो मनसा तेषां तस्य च भाषितम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! आपके पुत्र जब भूरिश्रवाकी ही भाँति निन्दाकी बातें कहने लगे, तब अर्जुन उनके तथा भूरिश्रवाके उस कथनको मन-ही-मन सहन न कर सके ॥ ३८ ॥

असंक्रुद्धमना वाचः स्मारयन्निव भारत ।
उवाच पाण्डुतनयः साक्षेपमिव फाल्गुनः ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन ! पाण्डुपुत्र अर्जुनके मनमें तनिक भी क्रोध नहीं हुआ। उन्होंने मानो पुरानी बातें याद दिलाते हुए, कौरवोंपर आक्षेप करते हुए-से कहा—॥ ३९ ॥

मम सर्वेऽपि राजानो जानन्त्येव महाव्रतम् ।
न शक्यो मामको हन्तुं यो मे स्याद् बाणगोचरे ॥ ४० ॥

'सब राजा मेरे इस महान् व्रतको जानते ही हैं कि जो कोई मेरा आत्मीयजन मेरे बाणोंकी पहुँचके भीतर होगा, वह किसी शत्रुके द्वारा मारा नहीं जा सकता ॥ ४० ॥

यूपकेतो निरीक्ष्यैतन्न मामर्हसि गर्हितुम् ।
न हि धर्ममविज्ञाय युक्तं गर्हयितुं परम् ॥ ४१ ॥

'यूपध्वज भूरिश्रवाजी ! इस बातपर ध्यान देकर आपको मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। धर्मके स्वरूपको जाने बिना दूसरे किसीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

आत्तशस्त्रस्य हि रणे वृष्णिवीरं जिघांसतः ।
यदहं बाहुमच्छैत्सं न स धर्मो विगर्हितः ॥ ४२ ॥

'आप तलवार हाथमें लेकर रणभूमिमें वृष्णिवीर सात्यकिका वध करना चाहते थे। उस दशामें मैंने जो आपकी बाँह काट डाली है, वह आश्रित-रक्षारूप धर्म निन्दित नहीं है ॥ ४२ ॥

न्यस्तशस्त्रस्य बालस्य विरथस्य विवर्मणः ।
अभिमन्योर्वधं तात धार्मिकः को नु पूजयेत् ॥ ४३ ॥

तात ! बालक अभिमन्यु शस्त्र, कवच और रथसे हीन हो चुका था, उस दशामें जो उसका वध किया गया, उसकी कौन धार्मिक पुरुष प्रशंसा कर सकता है ॥ ४३ ॥

(दुर्योधनस्य क्षुद्रस्य न प्रमाणेऽवतिष्ठतः ।
सौमदत्तेर्वधः साधुः स वै साहाय्यकारिणः ॥

'जो शास्त्रीय मर्यादामें स्थित नहीं रहता, उस नीच दुर्योधनकी सहायता करनेवाले सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाका जो इस प्रकार वध हुआ है, वह ठीक ही है ॥

अस्मदीया मया रक्ष्याः प्राणबाध उपस्थिते ।
ये मे प्रत्यक्षतो वीरा हन्येरन्निति मे मतिः ॥

'मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि मुझे प्राण-संकट उपस्थित होनेपर आत्मीय जनोंकी रक्षा करनी चाहिये; विशेषतः उन वीरोंकी जो मेरी आँखोंके सामने मारे जा रहे हों ॥

सात्यकिश्च वशं नीतः कौरवेण महात्मना ।
ततो मयैतच्चरितं प्रतिज्ञारक्षणं प्रति ॥

'कुरुवंशी महामना भूरिश्रवाने सात्यकिको अपने वशमें कर लिया था। इसीसे अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये मैंने यह कार्य किया है' ॥

संजय उवाच

पुनश्च कृपयाऽऽविष्टो बहु तत्तद् विचिन्तयन् ।
उवाच चैनं कौरव्यमर्जुनः शोकपीडितः ॥

संजय कहते हैं—राजन्! फिर बहुत-सी भिन्न-भिन्न बातें सोचकर अर्जुन दयासे द्रवित और शोकसे पीड़ित हो उठे तथा कुरुवंशी भूरिश्रवासे इस प्रकार बोले ॥

अर्जुन उवाच

धिगस्तु क्षत्रधर्मं तु यत्र त्वं पुरुषेश्वरः ।
अवस्थामीदृशीं प्राप्तः शरण्यः शरणप्रदः ॥

अर्जुनने कहा—उस क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है, जहाँ दूसरोंको शरण देनेवाले आप-जैसे शरणागतवत्सल नरेश ऐसी अवस्थाको जा पहुँचे हैं ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मादृशः पुरुषोत्तमः ।
प्रहरेत् त्वद्विधं त्वद्य प्रतिज्ञा यदि नो भवेत् ॥)

यदि पहलेसे प्रतिज्ञा न की गयी होती तो संसारमें मेरे-जैसा कौन श्रेष्ठ पुरुष आप-जैसे गुरुजनपर आज ऐसा प्रहार कर सकता था ?॥

एवमुक्तः स पार्थेन शिरसा भूमिमस्पृशत् ।
पाणिना चैव सव्येन प्राहिणोदस्य दक्षिणम् ॥ ४४ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर भूरिश्रवाने अपने मस्तकसे भूमिका स्पर्श किया। बायें हाथसे अपना दाहिना हाथ उठाकर अर्जुनके पास फेंक दिया ॥ ४४ ॥

एतत् पार्थस्य तु वचस्ततः श्रुत्वा महाद्युतिः ।
यूपकेतुर्महाराज तूष्णीमासीदवाङ्मुखः ॥ ४५ ॥

महाराज! पार्थकी उपर्युक्त बात सुनकर यूपचिह्नित ध्वजावाले महातेजस्वी भूरिश्रवा नीचे मुँह किये मौन रह गये ॥४५॥

अर्जुन उवाच

या प्रीतिर्धर्मराजे मे भीमे च बलिनां वरे ।
नकुले सहदेवे च सा मे त्वयि शलाग्रज ॥ ४६ ॥

उस समय अर्जुनने कहा—शलके बड़े भाई भूरिश्रवाजी! मेरा जो प्रेम धर्मराज युधिष्ठिर, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन, नकुल और सहदेवमें है, वही आपमें भी है ॥४६॥

मया त्वं समनुज्ञातः कृष्णेन च महात्मना ।
गच्छ पुण्यकृताँल्लोकाञ्छिबिरौशीनरो यथा ॥ ४७ ॥

मैं और महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आपको यह आज्ञा देते हैं कि आप उशीनर-पुत्र शिबिके समान पुण्यात्मा पुरुषोंके लोकोंमें जायँ ॥ ४७ ॥

वासुदेव उवाच

ये लोका मम विमलाः सकृद् विभाता
ब्रह्माद्यैः सुरवृषभैरपीष्यमाणाः ।
तान् क्षिप्रं व्रज सतताग्निहोत्रयाजिन्
मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयानः ॥ ४८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—निरन्तर अग्निहोत्रद्वारा यजन करनेवाले भूरिश्रवाजी! मेरे जो निरन्तर प्रकाशित होनेवाले निर्मल लोक हैं और ब्रह्मा आदि देवेश्वर भी जहाँ जानेकी सदैव अभिलाषा रखते हैं, उन्हीं लोकोंमें आप शीघ्र पधारिये और मेरे ही समान गरुड़की पीठपर बैठकर विचरनेवाले होइये ॥ ४८ ॥

संजय उवाच

उत्थितः स तु शैनेयो विमुक्तः सौमदत्तिना ।
खड्गमादाय चिच्छित्सुः शिरस्तस्य महात्मनः ॥ ४९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाके छोड़ देनेपर शिनि-पौत्र सात्यकि उठकर खड़े हो गये। फिर उन्होंने तलवार लेकर महामना भूरिश्रवाका सिर काट लेनेका निश्चय किया ॥ ४९ ॥

निहतं पाण्डुपुत्रेण प्रसक्तं भूरिदक्षिणम् ।
इयेष सात्यकिर्हन्तुं शलाग्रजमकल्मषम् ॥ ५० ॥
निकृत्तभुजमासीनं छिन्नहस्तमिव द्विपम् ।

शलके बड़े भाई प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भूरिश्रवा सर्वथा निष्पाप थे। पाण्डुपुत्र अर्जुनने उनकी बाँह काटकर उनका वध-सा ही कर दिया था और इसीलिये वे आमरण अनशनका निश्चय लेकर ध्यान आदि अन्य कार्योंमें आसक्त हो गये थे। उस अवस्थामें सात्यकिने बाँह कट जानेसे सूँड़ कटे हाथीके समान बैठे हुए भूरिश्रवाको मार डालनेकी इच्छा की ॥ ५०½ ॥

क्रोशतां सर्वसैन्यानां निन्द्यमानः सुदुर्मनाः ॥ ५१ ॥
वार्यमाणः स कृष्णेन पार्थेन च महात्मना ।
भीमेन चक्ररक्षाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ॥ ५२ ॥
कर्णेन वृषसेनेन सैन्धवेन तथैव च ।
विक्रोशतां च सैन्यानामवधीत् तं धृतव्रतम् ॥ ५३ ॥

उस समय समस्त सेनाके लोग चिल्ला-चिल्लाकर

सात्यकिकी निन्दा कर रहे थे। परंतु सात्यकिकी मनोदशा बहुत बुरी थी। भगवान् श्रीकृष्ण तथा महात्मा अर्जुन भी उन्हें रोक रहे थे। भीमसेन, चक्ररक्षक युधामन्यु और उत्तमौजा, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, वृषसेन तथा सिंधुराज जयद्रथ भी उन्हें मना करते रहे, किंतु समस्त सैनिकोंके चीखने-चिल्लानेपर भी सात्यकिने उस व्रतधारी भूरिश्रवाका वध कर ही डाला ॥ ५१–५३ ॥

प्रायोपविष्टाय रणे पार्थेन छिन्नबाहवे ।
सात्यकिः कौरवेयाय खड्गेनापाहरच्छिरः ॥ ५४ ॥

रणभूमिमें अर्जुनने जिनकी भुजा काट डाली थी तथा जो आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठे थे, उन भूरिश्रवापर सात्यकिने खड्गका प्रहार किया और उनका सिर काट लिया ॥

नाभ्यनन्दन्त सैन्यानि सात्यकिं तेन कर्मणा ।
अर्जुनेन हतं पूर्वं यज्जघान कुरूद्वहम् ॥ ५५ ॥

अर्जुनने पहले जिन्हें मार डाला था, उन कुरुश्रेष्ठ भूरिश्रवाका सात्यकिने जो वध किया, उनके उस कर्मसे सैनिकोंने उनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ ५५ ॥

सहस्राक्षसमं चैव सिद्धचारणमानवाः ।
भूरिश्रवसमालोक्य युद्धे प्रायगतं हतम् ॥ ५६ ॥
अपूजयन्त तं देवा विस्मितास्तेऽस्य कर्मभिः ।

युद्धमें प्रायोपवेशन करनेवाले, इन्द्रके समान पराक्रमी भूरिश्रवाको मारा गया देख सिद्ध, चारण, मनुष्य और देवताओंने उनका गुणगान किया; क्योंकि वे भूरिश्रवाके कर्मोंसे आश्चर्यचकित हो रहे थे ॥ ५६½ ॥

पक्षवादांश्च सुबहून् प्रावदंस्तव सैनिकाः ॥ ५७ ॥
न वार्ष्णेयस्यापराधो भवितव्यं हि तत् तथा ।
तस्मान्मन्युर्न वः कार्यः क्रोधो दुःखतरो नृणाम् ॥ ५८ ॥

आपके सैनिकोंने सात्यकिके पक्ष और विपक्षमें बहुत-सी बातें कहीं। अन्तमें वे इस प्रकार बोले—'इसमें सात्यकिका कोई अपराध नहीं है। होनहार ही ऐसी थी। इसलिये आपलोगोंको अपने मनमें क्रोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्रोध ही मनुष्योंके लिये अधिक दुःखदायी होता है ५७-५८

हन्तव्यश्चैव वीरेण नात्र कार्या विचारणा ।
विहितो ह्यस्य धात्रैव मृत्युः सात्यकिराहवे ॥ ५९ ॥

'वीर सात्यकिके द्वारा ही भूरिश्रवा मारे जानेवाले थे। विधाताने युद्धस्थलमें ही सात्यकिको उनकी मृत्यु निश्चित कर दिया था; इसलिये इसमें विचार नहीं करना चाहिये ।५९।

सात्यकिरुवाच

न हन्तव्यो न हन्तव्य इति यन्मां प्रभाषत ।
धर्मवादैरधर्मिष्ठा धर्मकञ्चुकमास्थिताः ॥ ६० ॥

सात्यकि बोले—धर्मका चोला पहनकर खड़े हुए अधर्मपरायण पापात्माओ ! इस समय धर्मकी बातें बनाते हुए तुमलोग जो मुझसे बारंबार कह रहे हो कि 'न मारो, न मारो' उसका उत्तर मुझसे सुन लो ॥ ६० ॥

यदा बालः सुभद्रायाः सुतः शस्त्रविना कृतः ।
युष्माभिर्निहतो युद्धे तदा धर्मः क्व वो गतः ॥ ६१ ॥

जब तुमलोगोंने सुभद्राके बालक पुत्र अभिमन्युको युद्धमें शस्त्रहीन करके मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ६१ ॥

मया त्वेतत् प्रतिज्ञातं क्षेपे कस्मिंश्चिदेव हि ।
यो मां निष्पिष्य संग्रामे जीवन् हन्यात् पदा रुषा ॥ ६२ ॥
स मे वध्यो भवेच्छत्रुर्यद्यपि स्यान्मुनिव्रतः ।

मैंने तो पहलेसे ही यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि जिसके द्वारा कभी भी मेरा तिरस्कार हो जायगा अथवा जो संग्रामभूमिमें मुझे पटककर जीते-जी रोषपूर्वक मुझे लात मारेगा, वह शत्रु मुनियोंके समान मौनव्रत लेकर ही क्यों न बैठा हो, अवश्य मेरा वध्य होगा ॥ ६२½ ॥

चेष्टमानं प्रतीघाते सभुजं मां सचक्षुषः ॥ ६३ ॥
मन्यध्वं मृत इत्येवमेतद् वो बुद्धिलाघवम् ।
युक्तो ह्यस्य प्रतीघातः कृतो मे कुरुपुङ्गवाः ॥ ६४ ॥

मेरी बाँहें मौजूद हैं और मैं अपने ऊपर किये गये आघातका बदला लेनेकी निरन्तर चेष्टा करता आया हूँ तो भी तुमलोग आँख रहते हुए भी यदि मुझे मरा हुआ मान लेते हो, तो यह तुम्हारी बुद्धिकी मन्दताका परिचायक है। कुरुश्रेष्ठ वीरो ! मैंने तो भूरिश्रवाका वध करके बदला चुकाया है, जो सर्वथा उचित है ॥ ६३-६४ ॥

यत् तु पार्थेन मां दृष्ट्वा प्रतिज्ञामभिरक्षता।
सखड्गोऽस्य हृतो बाहुरेतेनैवास्मि वञ्चितः ॥ ६५ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए जो मुझे संकटमें देखकर भूरिश्रवाकी तलवारसहित बाँह काट डाली, इसीसे मैं भूरिश्रवाको मारनेके यशसे वञ्चित रह गया॥ ६५ ॥

भवितव्यं हि यद् भावि दैवं चेष्टयतीव च।
सोऽयं हतो विमर्देऽस्मिन् किमत्राधर्मचेष्टितम् ॥ ६६॥

जो होनहार होती है, उसके अनुकूल ही दैव चेष्टा कराता है। इसीके अनुसार इस संग्राममें भूरिश्रवा मारे गये हैं। इसमें अधर्मपूर्ण चेष्टा क्या है ?॥ ६६ ॥

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम ॥ ६७ ॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत् ॥ ६८॥

महर्षि वाल्मीकिने पूर्वकालमें ही इस भूतलपर एक श्लोकका गान किया है। जिसका भावार्थ इस प्रकार है—'वानर ! तुम जो यह कहते हो कि स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये, उसके उत्तरमें मेरा यह कहना है कि उद्योगी मनुष्यके लिये सदा सब समय वह कार्य करने ही योग्य माना गया है, जो शत्रुओंको पीड़ा देनेवाला हो' ॥ ६७-६८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्ते महाराज सर्वे कौरवपुङ्गवाः।
न स्म किंचिदभाषन्त मनसा समपूजयन् ॥ ६९ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! सात्यकिके ऐसा कहनेपर समस्त श्रेष्ठ कौरवोंने उसके उत्तरमें कुछ नहीं कहा। वे मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६९ ॥

मन्त्राभिपूतस्य महाध्वरेषु
यशस्विनो भूरिसहस्रदस्य च।
मुनेरिवारण्यगतस्य तस्य
न तत्र कश्चिद् वधमभ्यनन्दत ॥ ७० ॥

बड़े-बड़े यज्ञोंमें मन्त्रयुक्त अभिषेकसे जो पवित्र हो चुके थे, यज्ञोंमें कई हजार स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देते थे, जिनका यश सर्वत्र फैला हुआ था और जो वनवासी मुनिके समान वहाँ बैठे हुए थे, उन भूरिश्रवाके वधका किसीने भी अभिनन्दन नहीं किया ॥ ७० ॥

सुनीलकेशं वरदस्य तस्य
शूरस्य पारावतलोहिताक्षम्।
अश्वस्य मेध्यस्य शिरो निकृत्तं
न्यस्तं हविर्धानमिवान्तरेण ॥ ७१ ॥

वर देनेवाले भूरिश्रवाका नीले केशोंसे अलंकृत तथा कबूतरके समान लाल नेत्रोंवाला वह कटा हुआ सिर ऐसा जान पड़ता था, मानो अश्वमेधके मेध्य अश्वका कटा हुआ मस्तक अग्निकुण्डके भीतर रक्खा गया हो ॥ ७१ ॥

स तेजसा शस्त्रकृतेन पूतो
महाहवे देहवरं विसृज्य।
आक्रामदूर्ध्वं वरदो वरार्हो
व्यावृत्य धर्मेण परेण रोदसी ॥ ७२ ॥

वरदायक तथा वर पानेके योग्य भूरिश्रवाने उस महायुद्धमें शस्त्रके तेजसे पवित्र हो अपने उत्तम शरीरका परित्याग करके उत्कृष्ट धर्मके द्वारा पृथ्वी और आकाशको लाँघकर ऊर्ध्वलोकमें गमन किया ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि भूरिश्रवोवधे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें भूरिश्रवाका वधविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ८०½ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके भूरिश्रवाद्वारा अपमानित होनेका कारण तथा वृष्णिवंशी वीरोंकी प्रशंसा

धृतराष्ट्र उवाच

अजितो द्रोणराधेयविकर्णकृतवर्मभिः।
तीर्णः सैन्यार्णवं वीरः प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिरे ॥ १ ॥
स कथं कौरवेयेण समरेष्वनिवारितः।
निगृह्य भूरिश्रवसा बलाद् भुवि निपातितः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जो वीर सात्यकि द्रोण, कर्ण, विकर्ण और कृतवर्मासे भी परास्त न हुए और युधिष्ठिरसे की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार कौरव-सेनारूपी समुद्रसे पार हो गये, जिन्हें समराङ्गणमें कोई भी रोक न सका, उन्हींको कुरुवंशी भूरिश्रवाने बलपूर्वक पकड़कर कैसे पृथ्वीपर गिरा दिया ?॥ १-२ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्निहोत्पत्तिं शैनेयस्य यथा पुरा।
यथा च भूरिश्रवसो यत्र ते संशयो नृप ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! जिस विषयमें आपको संशय है, उसे स्पष्ट समझनेके लिये यहाँ पूर्वकालमें सात्यकि और भूरिश्रवाकी उत्पत्ति जिस प्रकार हुई थी, वह प्रसंग सुनिये ॥ ३ ॥

अत्रेः पुत्रोऽभवत् सोमः सोमस्य तु बुधः स्मृतः।
बुधस्यैको महेन्द्राभः पुत्र आसीत् पुरूरवाः ॥ ४ ॥

महर्षि अत्रिके पुत्र सोम हुए। सोमके पुत्र बुध माने

गये हैं। बुधके एक ही पुत्र हुआ पुरूरवा, जो देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी था ॥ ४ ॥

पुरूरवस आयुस्तु आयुषो नहुषः सुतः।
नहुषस्य ययातिस्तु राजा देवर्षिसम्मतः ॥ ५ ॥

पुरूरवाके पुत्र आयु और आयुके पुत्र नहुष हुए। नहुषके राजा ययाति हुए, जिनका देवताओं तथा ऋषियोंमें भी बड़ा आदर था ॥ ५ ॥

ययातेर्देवयान्यां तु यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुतः।
यदोरभूदन्ववाये देवमीढ इति स्मृतः ॥ ६ ॥
यादवस्तस्य तु सुतः शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः।
शूरस्य शौरिर्नृवरो वसुदेवो महायशाः ॥ ७ ॥

ययातिसे देवयानीके गर्भसे जो ज्येष्ठ पुत्र हुआ, उसका नाम यदु था। इन्हीं यदुके वंशमें देवमीढ़ नामसे विख्यात एक यादव हो गये हैं। उनके पुत्रका नाम था शूर, जो तीनों लोकोंमें सम्मानित थे। शूरके पुत्र नरश्रेष्ठ शौरि हुए, जो महायशस्वी वसुदेवके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ६-७ ॥

धनुष्यनवरः शूरः कार्तवीर्यसमो युधि।
तद्वीर्यश्चापि तत्रैव कुले शिनिरभून्नृप ॥ ८ ॥

शूर धनुर्विद्यामें सबसे श्रेष्ठ थे। वे युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी थे। नरेश्वर! जिस कुलमें शूरका जन्म हुआ था, उसीमें उन्हींके समान बलशाली शिनि हुए॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवकस्य महात्मनः।
दुहितुः स्वयंवरे राजन् सर्वक्षत्रसमागमे ॥ ९ ॥

राजन्! इसी समय महात्मा देवककी पुत्री देवकीके स्वयंवरमें सम्पूर्ण क्षत्रिय एकत्र हुए थे ॥ ९ ॥

तत्र वै देवकीं देवीं वसुदेवार्थमाशु वै।
निर्जित्य पार्थिवान् सर्वान् रथमारोपयच्छिनिः ॥१०॥

उस स्वयंवरमें शिनिने शीघ्र ही समस्त राजाओंको जीतकर वसुदेवके लिये देवकी देवीको रथपर बैठा लिया ॥ १० ॥

तां दृष्ट्वा देवकीं शूरो रथस्थां पुरुषर्षभ।
नामृष्यत महातेजाः सोमदत्तः शिनेर्नृप ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ! नरेश्वर! उस समय महातेजस्वी शूरवीर सोमदत्तने देवकी देवीको रथपर बैठे हुए देख शिनिके पराक्रमको सहन नहीं किया ॥ ११ ॥

तयोर्युद्धमभूद् राजन् दिनार्धं चित्रमद्भुतम्।
बाहुयुद्धं सुबलिनोः प्रसक्तं पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

पुरुषप्रवर महाराज! उन दोनों महाबली शिनि और सोमदत्तमें आधे दिनतक विचित्र एवं अद्भुत बाहुयुद्ध हुआ॥

शिनिना सोमदत्तस्तु प्रसह्य भुवि पातितः।
असिमुद्यम्य केशेषु प्रगृह्य च पदा हतः ॥ १३ ॥

उसमें शिनिने सोमदत्तको बलपूर्वक पृथ्वीपर पटक दिया और तलवार उठाकर उनकी चुटिया पकड़ ली एवं उन्हें लात मारी ॥ १३ ॥

मध्ये राजसहस्राणां प्रेक्षकाणां समन्ततः।
कृपया च पुनस्तेन स जीवेति विसर्जितः ॥ १४ ॥

चारों ओरसे सहस्रों नरेश दर्शक बनकर यह युद्ध देख रहे थे। उनके बीचमें पुनः कृपा करके 'जाओ, जीवित रहो' ऐसा कहकर शिनिने सोमदत्तको छोड़ दिया ॥ १४ ॥

तदवस्थः कृतस्तेन सोमदत्तोऽथ मारिष।
प्रासादयन्महादेवममर्षवशमास्थितः ॥ १५ ॥

माननीय नरेश! जब शिनिने सोमदत्तकी ऐसी दुरवस्था कर दी, तब उन्होंने अमर्षके वशीभूत हो आराधनाद्वारा महादेवजीको प्रसन्न किया ॥ १५ ॥

तस्य तुष्टो महादेवो वराणां वरदः प्रभुः।
वरेण च्छन्दयामास स तु वव्रे वरं नृपः ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ देवताओंमें भी सर्वश्रेष्ठ वरदायक तथा सामर्थ्यशाली महादेवजीने संतुष्ट होकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा। तब राजा सोमदत्तने इस प्रकार वर माँगा— ॥ १६ ॥

पुत्रमिच्छामि भगवन् यो निपात्य शिनेः सुतम्।
मध्ये राजसहस्राणां पदा हन्याच्च संयुगे ॥ १७ ॥

'भगवन्! मैं ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो शिनिके पुत्रको सहस्रों राजाओंके बीच युद्धमें पृथ्वीपर गिराकर उसे पैरसे मारे' ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सोमदत्तस्य पार्थिव।
(सशिरःकम्पमाहेदं नैतदेवं भवेन्नृप।
स पूर्वमेव तपसा मामाराध्य जगत्त्रये ॥
कस्याप्यवध्यता मत्तः प्राप्तवान् वरमुत्तमम्।
तवाप्ययं प्रयासस्तु निष्फलो न भविष्यति ॥
तस्य पौत्रं तु समरे त्वत्पुत्रो मोहयिष्यति।
न तु मारयितुं शक्यः कृष्णसंरक्षितो ह्यसौ ॥
अहमेव तु कृष्णोऽस्मि नावयोरन्तरं क्वचित्।)
एवमस्त्विति तत्रोक्त्वा स देवोऽन्तरधीयत ॥ १८ ॥

राजन्! सोमदत्तका यह कथन सुनकर महादेवजीने सिर हिलाकर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। नरेश्वर! शिनिके पुत्रने तो पहले ही तपस्याद्वारा मेरी आराधना करके तीनों लोकोंमें किसीसे भी न मारे जानेका उत्तम वर मुझसे प्राप्त कर लिया है; परंतु तुम्हारा भी यह प्रयास निष्फल नहीं होगा। तुम्हारा पुत्र समरभूमिमें शिनिके पौत्रको तुम्हारी इच्छाके अनुसार मूर्छित कर देगा, परंतु उसके हाथसे वह मारा नहीं जा सकेगा; क्योंकि श्रीकृष्णसे वह सुरक्षित होगा। मैं ही श्रीकृष्ण हूँ। हम दोनोंमें कहीं कोई अन्तर नहीं है। जाओ, ऐसा ही होगा।' ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १८ ॥

स तेन वरदानेन लब्धवान् भूरिदक्षिणम्।
अपातयच्च समरे सौमदत्तिः शिनेः सुतम्॥ १९॥

उसी वरदानके प्रभावसे सोमदत्तने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भूरिश्रवाको पुत्ररूपमें प्राप्त किया और उसने समराङ्गणमें शिनिवंशज सात्यकिको गिरा दिया॥ १९॥

पश्यतां सर्वसैन्यानां पदा चैनमताडयत्।
एतत् ते कथितं राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥२०॥

इतना ही नहीं, उसने सारी सेनाओंके देखते-देखते सात्यकिको लात भी मारी। राजन्! आप मुझसे जो पूछ रहे थे, उसके उत्तरमें यह प्रसंग सुनाया है॥ २०॥

न हि शक्यो रणे जेतुं सात्वतो मनुजर्षभैः।
लब्धलक्ष्याश्च संग्रामे बहुशश्चित्रयोधिनः॥ २१॥

सात्यकिको रणभूमिमें श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ मनुष्य भी नहीं जीत सकते। वृष्णिवंशी योद्धा अपने निशानेको सफलतापूर्वक वेध लेते हैं। वे संग्रामभूमिमें अनेक प्रकारसे विचित्र युद्ध करनेवाले होते हैं॥ २१॥

देवदानवगन्धर्वान् विजेतारो ह्यविस्मिताः।
स्ववीर्यविजये युक्ता नैते परपरिग्रहाः॥ २२॥

देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंपर भी वे विजयी होते हैं। फिर भी इसके लिये उनके मनमें गर्व या विस्मय नहीं होता। वे अपने ही बलसे विजय पानेका उद्योग करते हैं। ये वृष्णिवंशी कभी पराधीन नहीं होते हैं॥ २२॥

न तुल्यं वृष्णिभिरिह दृश्यते किंचन प्रभो।
भूतं भव्यं भविष्यच्च बलेन भरतर्षभ॥ २३॥

शक्तिशाली भरतश्रेष्ठ! भूत, वर्तमान और भविष्य कोई भी जगत् बलमें वृष्णिवंशियोंके समान नहीं दिखायी देता॥ २३॥

न ज्ञातिमवमन्यन्ते वृद्धानां शासने रताः।
न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः॥ २४॥
जेतारो वृष्णिवीराणां किं पुनर्मानवा रणे।

ये अपने कुटुम्बीजनोंकी अवहेलना नहीं करते हैं। सदा बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञामें तत्पर रहते हैं। देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग और राक्षस भी युद्धमें वृष्णिवीरोंपर विजय नहीं पा सकते; फिर मनुष्य किस गिनतीमें हैं?॥ २४½॥

ब्रह्मद्रव्ये गुरुद्रव्ये ज्ञातिस्वे चाप्यहिंसकाः॥ २५॥
एतेषां रक्षितारश्च ये स्युः कस्यांचिदापदि।
अर्थवन्तो न चोत्सिक्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः॥ २६॥

ये ब्राह्मण, गुरु तथा कुटुम्बीजनोंके धन लेनेके लिये कभी हिंसा नहीं करते हैं। इन ब्राह्मण-गुरु आदिमें जो कोई भी किसी आपत्तिमें पड़े हों, उनकी ये वृष्णिवंशी रक्षा करते हैं। ये सब-के-सब धनवान्, अभिमानशून्य, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी होते हैं॥ २५-२६॥

समर्थान् नावमन्यन्ते दीनानभ्युद्धरन्ति च।
नित्यं देवपरा दान्तास्त्रातारश्चाविकत्थनाः॥ २७॥

ये सामर्थ्यशाली पुरुषोंकी अवहेलना नहीं करते और दीन-दुखियोंका उद्धार करते हैं। सदा देवभक्त, जितेन्द्रिय, दूसरोंके संरक्षक तथा आत्मप्रशंसासे दूर रहनेवाले हैं॥

तेन वृष्णिप्रवीराणां चक्रं न प्रतिहन्यते।
अपि मेरुं वहेत् कश्चित् तरेद् वा मकरालयम्।
न तु वृष्णिप्रवीराणां समेत्यान्तं व्रजेन्नृप॥ २८॥

इसीसे वृष्णिवीरोंका यह समूह किसीके द्वारा प्रतिहत नहीं होता है। नरेश्वर! कोई मेरुपर्वतको सिरपर उठा ले अथवा समुद्रको हाथोंसे तैर जाय; परंतु वृष्णिवीरोंके समूहका अन्त नहीं पा सकता॥ २८॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यत्र ते संशयः प्रभो।
कुरुराज नरश्रेष्ठ तव व्यपनयो महान्॥ २९॥

प्रभो! जहाँ आपको संदेह था, वह सब मैंने अच्छी तरह बता दिया है। कुरुराज नरश्रेष्ठ! इस युद्धको चालू करनेमें आपका महान् अन्याय ही कारण है॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि सात्यकिप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें सात्यकिकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१४४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका जयद्रथपर आक्रमण, कर्ण और दुर्योधनकी बातचीत, कर्णके साथ अर्जुनका युद्ध और कर्णकी पराजय तथा सब योद्धाओंके साथ अर्जुनका घोर युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

तदवस्थे हते तस्मिन् भूरिश्रवसि कौरवे।
यथा भूयोऽभवद् युद्धं तन्ममाचक्ष्व संजय॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! उस अवस्थामें कुरुवंशी भूरिश्रवाके मारे जानेपर पुनः जिस प्रकार युद्ध हुआ, वह मुझे बताओ॥ १॥

संजय उवाच

भूरिश्रवसि संक्रान्ते परलोकाय भारत।

वासुदेवं महाबाहुरर्जुनः समचूचुदत् ॥ २ ॥

संजयने कहा—भारत ! भूरिश्रवाके परलोकगामी हो जानेपर महाबाहु अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको प्रेरित करते हुए कहा—॥ २ ॥

चोदयाश्वान् भृशं कृष्ण यतो राजा जयद्रथः ।
श्रूयते पुण्डरीकाक्ष त्रिषु धर्मेषु वर्तते ॥ ३ ॥
प्रतिज्ञां सफलां चापि कर्तुमर्हसि मेऽनघ ।
अस्तमेति महाबाहो त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! जिस ओर राजा जयद्रथ खड़ा है, उसी ओर अब इन घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँकिये। कमलनयन ! सुना जाता है कि वह इस समय तीन धर्मोंमें विद्यमान है। निष्पाप केशव ! मेरी प्रतिज्ञा आप सफल करें । महाबाहो ! सूर्यदेव तीव्रगतिसे अस्ताचलकी ओर जा रहे हैं ॥ ३-४ ॥

एतद्धि पुरुषव्याघ्र महदभ्युद्यतं मया ।
कार्यं संरक्ष्यते चैष कुरुसेनामहारथैः ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह ! मैंने यह बहुत बड़े कार्यके लिये उद्योग आरम्भ किया है। कौरवसेनाके महारथी इस जयद्रथकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ५ ॥

तथा नाभ्येति सूर्योऽस्तं यथा सत्यं भवेद् वचः ।
चोदयाश्वांस्तथा कृष्ण यथा हन्यां जयद्रथम् ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्ण! जबतक सूर्य अस्ताचलको न चले जायँ, तभी-तक जैसे भी मेरी प्रतिज्ञा सच्ची हो जाय और जैसे भी मैं जयद्रथको मार सकूँ, उसी प्रकार शीघ्रतापूर्वक इन घोड़ोंको हाँकिये' ॥ ६ ॥

ततः कृष्णो महाबाहू रजतप्रतिमान् हयान् ।
हयज्ञश्चोदयामास जयद्रथवधं प्रति ॥ ७ ॥

तब अश्वविद्याके ज्ञाता महाबाहु श्रीकृष्णने जयद्रथको मारनेके उद्देश्यसे उसकी ओर चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंको हाँका ॥ ७ ॥

तं प्रयान्तममोघेषुमुत्पतद्भिरिवाशुगैः ।
त्वरमाणा महाराज सेनामुख्याः समाद्रवन् ॥ ८ ॥

महाराज ! जिनके बाण कभी व्यर्थ नहीं जाते, उन अर्जुनको धनुषसे छूटे हुए बाणोंके समान उड़ते हुए-से अश्वोंद्वारा जयद्रथकी ओर जाते देख कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ८ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च वृषसेनोऽथ मद्रराट् ।
अश्वत्थामा कृपश्चैव स्वयमेव च सैन्धवः ॥ ९ ॥

दुर्योधन, कर्ण, वृषसेन, मद्रराज शल्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और स्वयं सिंधुराज जयद्रथ—ये सभी युद्धके लिये डट गये ॥ ९ ॥

समासाद्य च बीभत्सुः सैन्धवं समुपस्थितम् ।
नेत्राभ्यां क्रोधदीप्ताभ्यां सम्प्रेक्षन्निर्दहन्निव ॥ १० ॥

वहाँ उपस्थित हुए सिंधुराजको सामने पाकर अर्जुनने क्रोधसे उद्दीप्त नेत्रोंद्वारा उसे इस प्रकार देखा, मानो जलाकर भस्म कर देंगे ॥ १० ॥

ततो दुर्योधनो राजा राधेयं त्वरितोऽब्रवीत् ।
अर्जुनं प्रेक्ष्य संयातं जयद्रथवधं प्रति ॥ ११ ॥

तब राजा दुर्योधनने अर्जुनको जयद्रथको मारनेके लिये उसकी ओर जाते देख तुरंत ही राधापुत्र कर्णसे कहा—॥

अयं स वैकर्तन युद्धकालो
विदर्शयस्वात्मबलं महात्मन् ।
यथा न वध्येत रणेऽर्जुनेन
जयद्रथः कर्ण तथा कुरुष्व ॥ १२ ॥

'सूर्यपुत्र ! यही वह युद्धका समय आया है । महात्मन् ! तुम इस समय अपना बल दिखाओ । कर्ण ! रणभूमिमें अर्जुनके द्वारा जैसे भी जयद्रथका वध न होने पावे, वैसा प्रयत्न करो॥

अल्पावशेषो दिवसो नृवीर
विघातयस्वाद्य रिपुं शरौघैः ।
दिनक्षयं प्राप्य नरप्रवीर
ध्रुवो हि नः कर्ण जयो भविष्यति ॥ १३ ॥

'नरवीर ! अब दिनका थोड़ा-सा ही भाग शेष है । तुम अपने बाणसमूहोंद्वारा इस समय शत्रुको घायल करके उसके कार्यमें बाधा डालो । मनुष्यलोकके प्रमुख वीर कर्ण ! दिन समाप्त होनेपर तो निश्चय ही हमारी विजय हो जायगी ॥

सैन्धवे रक्ष्यमाणे तु सूर्यस्यास्तमनं प्रति ।
मिथ्याप्रतिज्ञः कौन्तेयः प्रवेक्ष्यति हुताशनम् ॥ १४ ॥

'सूर्यास्त होनेतक यदि सिंधुराज सुरक्षित रहे तो प्रतिज्ञा झूठी होनेके कारण अर्जुन अग्निमें प्रवेश कर जायँगे ॥ १४॥

अनर्जुनायां च भुवि मुहूर्तमपि मानद ।
जीवितुं नोत्सहेरन् वै भ्रातरोऽस्य सहानुगाः ॥ १५ ॥

'मानद ! फिर अर्जुनरहित भूतलपर उनके भाई और अनुगामी सेवक दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते ॥१५॥

विनष्टैः पाण्डवेयैश्च सशैलवनकाननाम् ।
वसुंधरामिमां कर्ण भोक्ष्यामो हतकण्टकाम् ॥ १६ ॥

'कर्ण ! पाण्डवोंके नष्ट हो जानेपर हमलोग पर्वत, वन और काननोंसहित इस निष्कण्टक वसुधाका राज्य भोगेंगे ॥

दैवेनोपहतः पार्थो विपरीतश्च मानद ।
कार्याकार्यमजानानः प्रतिज्ञां कृतवान् रणे ॥ १७ ॥

'मानद ! दैवके मारे हुए अर्जुनकी बुद्धि विपरीत हो गयी थी । इसीलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार न करके उन्होंने रणभूमिमें जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥१७॥

नूनमात्मविनाशाय पाण्डवेन किरीटिना ।
प्रतिज्ञेयं कृता कर्ण जयद्रथवधं प्रति ॥ १८ ॥

'कर्ण ! निश्चय ही किरीटधारी पाण्डव अर्जुनने अपने ही विनाशके लिये जयद्रथ-वधकी यह प्रतिज्ञा कर डाली है॥

कथं जीवति दुर्धर्षे त्वयि राधेय फाल्गुनः।
अनस्तंगत आदित्ये हन्यात् सैन्धवकं नृपम्॥ १९॥

'राधानन्दन ! तुम-जैसे दुर्धर्ष वीरके जीते-जी अर्जुन सिंधुराजको सूर्यास्त होनेसे पहले ही कैसे मार सकेंगे ?॥१९॥

रक्षितं मद्रराजेन कृपेण च महात्मना।
जयद्रथं रणमुखे कथं हन्याद् धनंजयः॥ २०॥

'मद्रराज शल्य और महामना कृपाचार्यसे सुरक्षित हुए जयद्रथको अर्जुन युद्धके मुहानेपर कैसे मार सकेंगे? ॥ २० ॥

द्रौणिना रक्ष्यमाणं च मया दुःशासनेन च।
कथं प्राप्स्यति बीभत्सुः सैन्धवं कालचोदितः॥ २१॥

'मैं, दुःशासन तथा अश्वत्थामा जिनकी रक्षा कर रहे हैं, उन सिंधुराज जयद्रथको अर्जुन कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? जान पड़ता है कि वे कालसे प्रेरित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

युध्यन्ते बहवः शूरा लम्बते च दिवाकरः।
शङ्के जयद्रथं पार्थो नैव प्राप्स्यति मानद॥ २२॥

'मानद ! बहुत-से शूरवीर युद्ध कर रहे हैं, उधर सूर्य भी अस्ताचलपर जा रहे हैं। अतः मुझे संदेह यह होता है कि अर्जुन जयद्रथतक नहीं पहुँच पायेंगे ॥ २२ ॥

स त्वं कर्ण मया सार्धं शूरैश्चान्यैर्महारथैः।
द्रौणिना त्वं हि सहितो मद्रेशेन कृपेण च॥ २३॥
युध्यस्व यत्नमास्थाय परं पार्थेन संयुगे।

'कर्ण ! तुम मेरे, अश्वत्थामाके, मद्रराज शल्यके, कृपाचार्यके तथा अन्य शूरवीर महारथियोंके साथ पूरा प्रयत्न करके रणक्षेत्रमें अर्जुनके साथ युद्ध करो' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु राधेयस्तव पुत्रेण मारिष॥ २४॥
दुर्योधनमिदं वाक्यं प्रत्युवाच कुरूत्तमम्।

आर्य ! आपके पुत्रके ऐसा कहनेपर राधानन्दन कर्णने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ २४½ ॥

दृढलक्ष्येण वीरेण भीमसेनेन धन्विना॥ २५॥
भृशं भिन्नतनुः संख्ये शरजालैरनेकशः।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि रणे सम्प्रति मानद॥ २६॥

'मानद ! सुदृढ़ लक्ष्यवाले वीर धनुर्धर भीमसेनने संग्राममें अपने बाणसमूहोंद्वारा अनेक बार मेरे शरीरको अत्यन्त क्षत-विक्षत कर दिया है। मुझे खड़ा रहना चाहिये (भागना नहीं चाहिये); यह सोचकर ही इस समय मैं रणभूमिमें ठहरा हुआ हूँ ॥ २५–२६ ॥

नाङ्गमिङ्गति किंचिन्मे संतप्तस्य महेषुभिः।
योत्स्यामि तु यथाशक्त्या त्वदर्थं जीवितं मम॥ २७॥

'इस समय मेरा कोई भी अङ्ग किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं कर रहा है। मैं बड़े-बड़े बाणोंकी आगसे संतप्त हूँ, तथापि यथाशक्ति युद्ध करूँगा; क्योंकि यह मेरा जीवन तुम्हारे लिये ही है ॥ २७ ॥

यथा पाण्डवमुख्योऽसौ न हनिष्यति सैन्धवम्।
न हि मे युध्यमानस्य सायकानस्यतः शितान्॥ २८॥
सैन्धवं प्राप्स्यते वीरः सव्यसाची धनंजयः।

'पाण्डवोंके प्रधान वीर अर्जुन जैसे भी किसी तरह सिंधुराजको नहीं मार सकेंगे, वैसा प्रयत्न करूँगा। जबतक मैं युद्धमें तत्पर होकर पैने बाण छोड़ता रहूँगा, तबतक सव्यसाची वीर धनंजय सिंधुराजको नहीं पा सकेंगे ॥ २८½ ॥

यत्तु भक्तिमता कार्यं सततं हितकाङ्क्षिणा॥ २९॥
तत् करिष्यामि कौरव्य जयो दैवे प्रतिष्ठितः।

'कुरुनन्दन ! सदा मित्रका हित चाहनेवाले भक्तिमान् पुरुषको जो कार्य करना चाहिये, वह मैं करूँगा। विजयकी प्राप्ति तो दैवके अधीन है ॥ २९½ ॥

सैन्धवार्थे परं यत्नं करिष्याम्यद्य संयुगे॥ ३०॥
त्वत्प्रियार्थं महाराज जयो दैवे प्रतिष्ठितः।

'महाराज ! आज युद्धस्थलमें आपका प्रिय करनेके लिये मैं सिंधुराजकी रक्षाके निमित्त पूरा प्रयत्न करूँगा। विजय तो दैवके अधीन है ॥ ३०½ ॥

अद्य योत्स्येऽर्जुनमहं पौरुषं स्वं व्यपाश्रितः॥ ३१॥
त्वदर्थे पुरुषव्याघ्र जयो दैवे प्रतिष्ठितः।

'पुरुषसिंह ! आज मैं अपने पुरुषार्थका भरोसा करके तुम्हारे हितके लिये अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। विजयकी प्राप्ति तो दैवके अधीन है ॥ ३१½ ॥

अद्य युद्धं कुरुश्रेष्ठ मम पार्थस्य चोभयोः॥ ३२॥
पश्यन्तु सर्वसैन्यानि दारुणं लोमहर्षणम्।

'कुरुश्रेष्ठ ! आज सारी सेनाएँ मेरे और अर्जुन दोनोंके भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्धको देखें' ॥ ३२½ ॥

कर्णकौरवयोरेवं रणे सम्भाषमाणयोः॥ ३३॥
अर्जुनो निशितैर्बाणैर्जघान तव वाहिनीम्।

जब रणक्षेत्रमें कर्ण और दुर्योधन इस तरह वार्तालाप कर रहे थे, उस समय अर्जुनने अपने पैने बाणोंद्वारा आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ३३½ ॥

चिच्छेद निशितैर्बाणैः शूराणामनिवर्तिनाम्॥ ३४॥
भुजान् परिघसंकाशान् हस्तिहस्तोपमान् रणे।

उन्होंने तीखे बाणोंसे रणभूमिमें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीरोंकी परिघके समान सुदृढ़ तथा हाथीकी सूँड़के समान मोटी भुजाओंको काट डाला ॥ ३४½ ॥

शिरांसि च महाबाहुश्चिच्छेद निशितैः शरैः॥ ३५॥
हस्तिहस्तान् हयग्रीवान् रथाक्षांश्च समन्ततः।

महाबाहु अर्जुनने सब ओर अपने तीखे बाणोंसे शत्रुओंके मस्तक, हाथियोंके शुण्डदण्डों, घोड़ोंकी गर्दनों तथा रथके धुरोंको भी खण्डित कर दिया ॥ ३५½ ॥

शोणिताक्तान् हयारोहान् गृहीतप्रासतोमरान् ॥ ३६ ॥
क्षुरैश्चिच्छेद बीभत्सुर्द्विधैकैकं त्रिधैव च ।

अर्जुनने हाथोंमें प्रास और तोमर लिये खूनसे रँगे हुए घुड़सवारोंमेंसे प्रत्येकके अपने छुरोंद्वारा दो-दो और तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३६½ ॥

हया वारणमुख्याश्च प्रापतन्त समन्ततः ॥ ३७ ॥
ध्वजाश्छत्राणि चापानि चामराणि शिरांसि च ।

बड़े-बड़े हाथी और घोड़े सब ओर धराशायी होने लगे। ध्वज, छत्र, धनुष, चँवर तथा योद्धाओंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ॥ ३७½ ॥

कक्षमग्निरिवोद्भूतः प्रदहंस्तव वाहिनीम् ॥ ३८ ॥
अचिरेण महीं पार्थश्चकार रुधिरोत्तराम् ।

जैसे प्रचण्ड अग्नि घास-फूसके जंगलको जला डालती है, उसी प्रकार अर्जुनने आपकी सेनाको दग्ध करते हुए थोड़ी ही देरमें वहाँकी भूमिको रक्तसे आप्लावित कर दिया ॥ ३८½ ॥

हतभूयिष्ठयोधं तत् कृत्वा तव बलं बली ॥ ३९ ॥
आससाद दुराधर्षः सैन्धवं सत्यविक्रमः ।

सत्यपराक्रमी, बलवान् एवं दुर्धर्ष वीर अर्जुनने आपकी सेनाके अधिकांश योद्धाओंको मारकर सिंधुराजपर आक्रमण किया ॥ ३९½ ॥

बीभत्सुर्भीमसेनेन सात्वतेन च रक्षितः ॥ ४० ॥
प्रबभौ भरतश्रेष्ठ ज्वलन्निव हुताशनः ।

भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन और सात्यकिसे सुरक्षित अर्जुन उस समय प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।४०½।

तं तथावस्थितं दृष्ट्वा त्वदीया वीर्यसम्पदा ॥ ४१ ॥
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवं पुरुषर्षभाः ।

अर्जुनको इस प्रकार बल-पराक्रमकी सम्पत्तिसे युक्त होकर युद्धके लिये डटा हुआ देख आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुष एवं महाधनुर्धर वीर सहन न कर सके ॥ ४१½ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च वृषसेनोऽथ मद्रराट् ॥ ४२ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव स्वयमेव च सैन्धवः ।
संनद्धाः सैन्धवस्यार्थे समावृण्वन् किरीटिनम् ॥४३॥

दुर्योधन, कर्ण, वृषसेन, मद्रराज शल्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा स्वयं सिंधुराज जयद्रथ—इन सबने जयद्रथकी रक्षाके लिये संनद्ध होकर किरीटधारी अर्जुनको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४२–४३ ॥

नृत्यन्तं रथमार्गेषु धनुर्ज्यातलनिःस्वनैः ।
संग्रामकोविदं पार्थं सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४४ ॥
अभीताः पर्यवर्तन्त व्यादितास्यमिवान्तकम् ।

उस समय युद्धकुशल कुन्तीकुमार धनुषकी टङ्कार करते हुए रथके मार्गोंपर नाच रहे थे और मुँह बाये हुए यमराजके समान भयंकर जान पड़ते थे । उन्हें युद्धविशारद समस्त कौरव-महारथियोंने निर्भय हो चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४४½ ॥

सैन्धवं पृष्ठतः कृत्वा जिघांसन्तोऽच्युतार्जुनौ ॥ ४५ ॥
सूर्यास्तमनमिच्छन्तो लोहितायति भास्करे ।

वे श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे सिंधुराज जयद्रथको पीछे करके सूर्यास्त होनेकी इच्छा और प्रतीक्षा करने लगे । उस समय सूर्य लाल-से हो चले थे।४५½।

ते भुजैर्भोगिभोगाभैर्धनूंष्यानम्य सायकान् ॥ ४६ ॥
मुमुचुः सूर्यरश्म्याभाञ्छतशः फाल्गुनं प्रति ।

उन कौरव-सैनिकोंने सर्पके शरीरके समान प्रतीत होनेवाली अपनी भुजाओंद्वारा धनुषोंको नवाकर अर्जुनपर सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले सैकड़ों बाण छोड़े ॥४६½॥

ततस्तानस्यमानांश्च किरीटी युद्धदुर्मदः ॥ ४७ ॥
द्विधा त्रिधाष्टधैकैकं छित्त्वा विव्याध तान् रथान् ।

तदनन्तर रणदुर्मद किरीटधारी अर्जुनने उन छोड़े गये बाणोंमेंसे प्रत्येकके दो-दो, तीन-तीन और आठ-आठ टुकड़े करके उन रथियोंको भी घायल कर दिया ॥ ४७½ ॥

सिंहलाङ्गूलकेतुस्तु दर्शयन् वीर्यमात्मनः ॥ ४८ ॥
शारद्वतीसुतो राजन्नर्जुनं प्रत्यवारयत् ।

राजन् ! जिनकी ध्वजामें सिंहकी पूँछका चिह्न था, उन शारद्वतीपुत्र कृपाचार्यने अपना बल-पराक्रम दिखाते हुए अर्जुनको रोका ॥ ४८½ ॥

स विद्ध्वा दशभिः पार्थं वासुदेवं च सप्तभिः ॥ ४९ ॥
अतिष्ठद् रथमार्गेषु सैन्धवं प्रतिपालयन् ।

वे दस बाणोंसे अर्जुनको और सातसे श्रीकृष्णको घायल करके रथके मार्गोंपर जयद्रथकी रक्षा करते हुए खड़े थे।४९½।

अथैनं कौरवश्रेष्ठाः सर्व एव महारथाः ॥ ५० ॥
महता रथवंशेन सर्वतः प्रत्यवारयन् ।

तत्पश्चात् कौरवसेनाके सभी श्रेष्ठ महारथियोंने विशाल रथसमूहके द्वारा कृपाचार्यको सब ओरसे घेर लिया ॥५०½॥

विस्फारयन्तश्चापानि विसृजन्तश्च सायकान् ॥ ५१ ॥
सैन्धवं पर्यरक्षन्त शासनात् तनयस्य ते ।

वे आपके पुत्रकी आज्ञासे धनुष खींचते और बाण छोड़ते हुए वहाँ जयद्रथकी सब ओरसे रक्षा करने लगे॥५१½॥

ततः पार्थस्य शूरस्य बाह्वोर्बलमदृश्यत ॥ ५२ ॥
इषूणामक्षयत्वं च धनुषो गाण्डिवस्य च ।

तत्पश्चात् वहाँ शूरवीर कुन्तीकुमारकी भुजाओंका बल देखा गया। उनके गाण्डीव धनुष तथा बाणोंकी अक्षयताका परिचय मिला ॥ ५२½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्रौणेः शारद्वतस्य च ॥ ५३ ॥
एकैकं दशभिर्बाणैः सर्वानेव समार्पयत्।

उन्होंने अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके अस्त्रोंका अपने अस्त्रोंद्वारा निवारण करके बारी-बारीसे उन सबको दस-दस बाण मारे ॥ ५३½ ॥

तं द्रौणिः पञ्चविंशत्या वृषसेनश्च सप्तभिः ॥ ५४ ॥
दुर्योधनस्तु विंशत्या कर्णशल्यौ त्रिभिस्त्रिभिः।

अश्वत्थामाने पचीस, वृषसेनने सात, दुर्योधनने बीस तथा कर्ण और शल्यने तीन-तीन बाणोंसे अर्जुनको घायल कर दिया ॥ ५४½ ॥

त एनमभिगर्जन्तो विध्यन्तश्च पुनः पुनः ॥ ५५ ॥
विधुन्वतश्च चापानि सर्वतः प्रत्यवारयन्।

वे अर्जुनको लक्ष्य करके बार-बार गरजते, उन्हें बारंबार बाणोंसे बींधते और धनुषको हिलाते हुए सब ओरसे उन्हें आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ५५½ ॥

श्लिष्टं च सर्वतश्चक्रू रथमण्डलमाशु ते ॥ ५६ ॥
सूर्यास्तमनमिच्छन्तस्त्वरमाणा महारथाः।

उन महारथियोंने सूर्यास्तकी इच्छा रखते हुए बड़ी उतावलीके साथ अपने रथसमूहको परस्पर सटाकर सब ओरसे खड़ा कर दिया ॥ ५६½ ॥

त एनमभिनर्दन्तो विधुन्वाना धनूंषि च ॥ ५७ ॥
सिषिचुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेघा इवाम्बुभिः।

जैसे बादल पर्वतशिखरपर अपने जलकी बूँदोंसे आघात करते हैं, उसी प्रकार वे कौरव-महारथी धनुष हिलाते तथा अर्जुनके सामने गर्जना करते हुए उनपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५७½ ॥

ते महास्त्राणि दिव्यानि तत्र राजन् व्यदर्शयन् ॥५८॥
धनंजयस्य गात्रे तु शूराः परिघबाहवः।

राजन्! परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीरोंने अर्जुनके शरीरपर वहाँ बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन किया॥

हतभूयिष्ठयोधं तत् कृत्वा तव बलं बली ॥ ५९ ॥
आससाद दुराधर्षः सैन्धवं सत्यविक्रमः।

तथापि सत्यपराक्रमी बलवान् एवं दुर्धर्ष वीर अर्जुनने आपकी सेनाके अधिकांश योद्धाओंका संहार करके सिन्धुराजपर आक्रमण किया ॥ ५९½ ॥

तं कर्णः संयुगे राजन् प्रत्यवारयदाशुगैः ॥ ६० ॥
मिषतो भीमसेनस्य सात्वतस्य च भारत।

राजन्! भरतनन्दन! उस युद्धस्थलमें कर्णने भीमसेन और सात्यकिके देखते-देखते अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६०½ ॥

तं पार्थो दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यद् रणाजिरे ॥ ६१ ॥
सूतपुत्रं महाबाहुः सर्वसैन्यस्य पश्यतः।

तब महाबाहु अर्जुनने समराङ्गणमें सारी सेनाके देखते-देखते सूतपुत्र कर्णको दस बाणोंसे घायल कर दिया॥६१½॥

सात्वतश्च त्रिभिर्बाणैः कर्णं विव्याध मारिष ॥ ६२ ॥
भीमसेनस्त्रिभिश्चैव पुनः पार्थश्च सप्तभिः।

माननीय नरेश! तदनन्तर सात्यकिने तीन बाणोंसे कर्णको वेध दिया, फिर भीमसेनने भी उसे तीन बाण मारे और अर्जुनने पुनः सात बाणोंसे कर्णको घायल कर दिया ॥ ६२½ ॥

तान् कर्णः प्रतिविव्याध षष्ट्या षष्ट्या महारथः ॥६३॥
तद् युद्धमभवद् राजन् कर्णस्य बहुभिः सह।

तब महारथी कर्णने उन तीनोंको साठ-साठ बाण मारकर बदला चुकाया। राजन्! कर्णका वह युद्ध अनेक वीरोंके साथ हो रहा था ॥ ६३½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सूतपुत्रस्य मारिष ॥ ६४ ॥
यदेकः समरे क्रुद्धस्त्रीन् रथान् पर्यवारयत्।

आर्य! वहाँ हमने सूतपुत्रका अद्भुत पराक्रम देखा कि समरभूमिमें कुपित होकर उसने अकेले ही तीन-तीन महारथियोंको रोक दिया था ॥ ६४½ ॥

फाल्गुनस्तु महाबाहुः कर्णं वैकर्तनं रणे ॥ ६५ ॥
सायकानां शतेनैव सर्वमर्मस्वताडयत्।

उस समय महाबाहु अर्जुनने रणभूमिमें सौ बाणोंद्वारा सूर्यपुत्र कर्णको उसके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें चोट पहुँचायी ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गः सूतपुत्रः प्रतापवान् ॥ ६६ ॥
शरैः पञ्चाशता वीरः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत।
तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा नामृष्यत रणेऽर्जुनः ॥ ६७ ॥

प्रतापी सूतपुत्र कर्णके सारे अंग खूनसे लथपथ हो गये, तथापि उस वीरने पचास बाणोंसे अर्जुनको भी घायल कर दिया। रणक्षेत्रमें उसकी यह फुर्ती देखकर अर्जुन सहन न कर सके ॥ ६६-६७ ॥

ततः पार्थो धनुश्छित्त्वा विव्याधैनं स्तनान्तरे।
सायकैर्नवभिर्वीरस्त्वरमाणो धनंजयः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार वीर धनंजयने कर्णका धनुष काटकर बड़ी उतावलीके साथ उसकी छातीमें नौ बाणोंका प्रहार किया ॥ ६८ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सूतपुत्रः प्रतापवान्।
सायकैरष्टसाहस्रैश्छादयामास पाण्डवम् ॥ ६९ ॥

तब प्रतापी सूतपुत्रने दूसरा धनुष हाथमें लेकर आठ

हजार बाणोंसे पाण्डुपुत्र अर्जुनको ढक दिया ॥ ६९ ॥

तां बाणवृष्टिमतुलां कर्णचापसमुत्थिताम् ।
व्यधमत् सायकैः पार्थः शलभानिव मारुतः ॥ ७० ॥

कर्णके धनुषसे प्रकट हुई उस अनुपम बाण-वर्षाको अर्जुनने बाणोंद्वारा उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु टिड्डियोंके दलको उड़ा देती है ॥ ७० ॥

छादयामास च तदा सायकैरर्जुनो रणे ।
पश्यतां सर्वयोधानां दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने रणभूमिमें दर्शक बने हुए समस्त योद्धाओंको अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए उस समय कर्णको भी आच्छादित कर दिया ॥ ७१ ॥

वधार्थं चास्य समरे सायकं सूर्यवर्चसम् ।
चिक्षेप त्वरया युक्तस्त्वराकाले धनंजयः ॥ ७२ ॥

साथ ही शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करनेवाले अर्जुनने समरभूमिमें सूतपुत्रका वध करनेके लिये उसके ऊपर सूर्यके समान तेजस्वी बाण चलाया ॥ ७२ ॥

तमापतन्तं वेगेन द्रौणिश्चिच्छेद सायकम् ।
अर्धचन्द्रेण तीक्ष्णेन स च्छिन्नः प्रापतद् भुवि ॥ ७३ ॥

उस बाणको वेगपूर्वक आते देख अश्वत्थामाने तीखे अर्धचन्द्रसे बीचमें ही काट दिया । कटकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा॥

कर्णोऽपि द्विषतां हन्ता छादयामास फाल्गुनम् ।
सायकैर्बहुसाहस्रैः कृतप्रतिकृतेप्सया ॥ ७४ ॥

तब शत्रुहन्ता कर्णने भी उनके किये हुए प्रहारका बदला चुकानेकी इच्छासे अनेक सहस्र बाणोंद्वारा पुनः अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ नरसिंहौ महारथौ ।
सायकैस्तु प्रतिच्छन्नं चक्रतुः खमजिह्मगैः ॥ ७५ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह महारथी दो साँड़ोंके समान हँकड़ते हुए अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा आकाशको आच्छादित करने लगे ॥ ७५ ॥

अदृश्यौ च शरौघैस्तौ निघ्नन्तावितरेतरम् ।
कर्ण पार्थोऽस्मि तिष्ठ त्वं कर्णोऽहं तिष्ठ फाल्गुन ॥ ७६ ॥

वे दोनों एक दूसरेपर चोट करते हुए स्वयं बाणसमूहोंसे ढककर अदृश्य हो गये थे और एक दूसरेको पुकारकर इस प्रकार कहते थे—'कर्ण ! तू खड़ा रह, मैं अर्जुन हूँ;' 'अर्जुन ! खड़ा रह, मैं कर्ण हूँ' ॥ ७६ ॥

इत्येवं तर्जयन्तौ तौ वाक्शल्यैस्तुदतां तदा ।
युध्येतां समरे वीरौ चित्रं लघु च सुष्ठु च ॥ ७७ ॥

इस प्रकार एक दूसरेको ललकारते और डाँटते हुए वे दोनों वीर वाक्यरूपी बाणोंद्वारा परस्पर चोट करते हुए समराङ्गणमें शीघ्रतापूर्वक और सुन्दर ढंगसे विचित्र युद्ध कर रहे थे ॥ ७७ ॥

प्रेक्षणीयौ चाभवतां सर्वयोधसमागमे ।
प्रशस्यमानौ समरे सिद्धचारणपन्नगैः ॥ ७८ ॥
अयुध्येतां महाराज परस्परवधैषिणौ ।

सम्पूर्ण योद्धाओंके उस सम्मेलनमें वे दोनों दर्शनीय हो रहे थे । महाराज ! समरभूमिमें सिद्ध, चारण और नागोंद्वारा प्रशंसित होते हुए कर्ण और अर्जुन एक दूसरेके वधकी इच्छासे युद्ध कर रहे थे ॥ ७८½ ॥

ततो दुर्योधनो राजंस्तावकानभ्यभाषत ॥ ७९ ॥
यत्नाद् रक्षत राधेयं नाहत्वा समरेऽर्जुनम् ।
निवर्तिष्यति राधेय इति मामुक्तवान् वृषः ॥ ८० ॥

राजन् ! तदनन्तर दुर्योधनने आपके सैनिकोंसे कहा—'वीरो ! तुम यत्नपूर्वक राधापुत्र कर्णकी रक्षा करो । वह युद्धस्थलमें अर्जुनका वध किये बिना नहीं लौटेगा; क्योंकि उसने मुझसे यही बात कही है' ॥ ७९-८० ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ।
आकर्णमुक्तैरिषुभिः कर्णस्य चतुरो हयान् ॥ ८१ ॥
अनयत् प्रेतलोकाय चतुर्भिः श्वेतवाहनः ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ८२ ॥

राजन् ! इसी समय कर्णका वह पराक्रम देखकर श्वेतवाहन अर्जुनने कानतक खींचकर छोड़े हुए चार बाणोंद्वारा कर्णके चारों घोड़ोंको प्रेतलोक पहुँचा दिया और एक भल्ल मारकर उसके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ८१-८२ ॥

छादयामास स शरैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ।
संछाद्यमानः समरे हताश्वो हतसारथिः ॥ ८३ ॥

मोहितः शरजालेन कर्तव्यं नाभ्यपद्यत ।

इतना ही नहीं, आपके पुत्रके देखते-देखते उन्होंने कर्णको बाणोंसे ढक दिया। घोड़े और सारथिके मारे जानेपर समराङ्गणमें बाणोंसे ढका हुआ कर्ण बाण-जालसे मोहित हो यह भी नहीं सोच सका कि अब क्या करना चाहिये ॥ ८३½ ॥

तं तथा विरथं दृष्ट्वा रथमारोप्य तं तदा ॥ ८४ ॥
अश्वत्थामा महाराज भूयोऽर्जुनमयोधयत् ।

महाराज ! कर्णको इस प्रकार रथहीन हुआ देख अश्वत्थामाने उस समय उसे रथपर बैठा लिया और वह पुनः अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ८४½ ॥

मद्रराजश्च कौन्तेयमविध्यत् त्रिंशता शरैः ॥ ८५ ॥
शारद्वतस्तु विंशत्या वासुदेवं समार्पयत् ।
धनंजयं द्वादशभिराजघान शिलीमुखैः ॥ ८६ ॥

मद्रराज शल्यने कुन्तीकुमार अर्जुनको तीस बाणोंसे घायल कर दिया। कृपाचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको बीस बाण मारे और अर्जुनपर बारह बाणोंका प्रहार किया ॥ ८५-८६ ॥

चतुर्भिः सिन्धुराजश्च वृषसेनश्च सप्तभिः ।
पृथक् पृथङ्महाराज विव्यधुः कृष्णपाण्डवौ ॥ ८७ ॥

महाराज ! फिर सिन्धुराजने चार और वृषसेनने सात बाणोंद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनको पृथक्-पृथक् घायल कर दिया ॥ ८७ ॥

तथैव तान् प्रत्यविध्यत् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
द्रोणपुत्रं चतुःषष्ट्या मद्रराजं शतेन च ॥ ८८ ॥
सैन्धवं दशभिर्बाणैर्वृषसेनं त्रिभिः शरैः ।
शारद्वतं च विंशत्या विद्ध्वा पार्थो ननाद ह ॥ ८९ ॥

इसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी उन्हें बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया। अर्जुनने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको चौसठ, मद्रराज शल्यको सौ, सिन्धुराज जयद्रथको दस, वृषसेनको तीन और कृपाचार्यको बीस बाणोंसे घायल करके सिंहनाद किया ॥ ८८-८९ ॥

ते प्रतिज्ञाप्रतीघातमिच्छन्तः सव्यसाचिनः ।
सहितास्तावकास्तूर्णमभिपेतुर्धनंजयम् ॥ ९० ॥

यह देख सव्यसाची अर्जुनकी प्रतिज्ञाको भंग करनेकी अभिलाषासे आपके वे सभी सैनिक एक साथ संगठित हो तुरंत उनपर टूट पड़े ॥ ९० ॥

अथार्जुनः सर्वतो वारुणास्त्रं
प्रादुश्चक्रे त्रासयन् धार्तराष्ट्रान् ।
तं प्रत्युदीयुः कुरवः पाण्डुपुत्रं
रथैर्महार्हैः शरवर्षाण्यवर्षन् ॥ ९१ ॥

तदनन्तर अर्जुनने धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करते हुए सब ओर वारुणास्त्र प्रकट किया। कौरव-सैनिक अपने बहुमूल्य रथोंद्वारा पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर बढ़े और उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ९१ ॥

ततस्तु तस्मिंस्तुमुले समुत्थिते
सुदारुणे भारत मोहनीये ।
नोऽमुह्यत प्राप्य स राजपुत्रः
किरीटमाली व्यसृजच्छरौघान् ॥ ९२ ॥

भारत ! सबको मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्धके उपस्थित होनेपर भी किरीटधारी राजकुमार अर्जुन तनिक भी मोहित नहीं हुए। वे बाणसमूहोंकी वर्षा करते ही रहे ॥ ९२ ॥

राज्यप्रेप्सुः सव्यसाची कुरूणां
स्मरन् क्लेशान् द्वादशवर्षवृत्तान् ।
गाण्डीवमुक्तैरिषुभिर्महात्मा
सर्वा दिशो व्यावृणोदप्रमेयः ॥ ९३ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली महामनस्वी सव्यसाची अर्जुन अपना राज्य प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने कौरवोंके दिये हुए क्लेशों और बारह वर्षोंतक भोगे हुए वनवासके कष्टोंको स्मरण करते हुए गाण्डीव धनुषसे छूटनेवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ९३ ॥

प्रदीप्तोल्कमभवच्चान्तरिक्षं
मृतेषु देहेष्वपतन् वयांसि ।
यत् पिङ्गलज्येन किरीटमाली
क्रुद्धो रिपूनाजगवेन हन्ति ॥ ९४ ॥

आकाशमें कितनी ही उल्काएँ प्रज्वलित हो उठीं और योद्धाओंके मृत शरीरोंपर मांसभक्षी पक्षी गिरने लगे; क्योंकि उस समय क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन पीली प्रत्यञ्चावाले गाण्डीव धनुषके द्वारा शत्रुओंका संहार कर रहे थे ॥ ९४ ॥

ततः किरीटी महता महायशाः
शरासनेनास्य शराननीकजित् ।
हयप्रवेकोत्तमनागधूर्गतान्
कुरुप्रवीरानिषुभिर्व्यपातयत् ॥ ९५ ॥

तत्पश्चात् शत्रुसेनाको जीतनेवाले महायशस्वी किरीटधारी अर्जुनने विशाल धनुषके द्वारा बाणोंका प्रहार करके उत्तम घोड़ों और श्रेष्ठ हाथियोंकी पीठपर बैठे हुए प्रमुख कौरव-वीरोंको मार गिराया ॥ ९५ ॥

गदाश्च गुर्वीः परिघानयस्मया-
नसींश्च शक्तीश्च रणे नराधिपाः ।
महान्ति शस्त्राणि च भीमदर्शनाः
प्रगृह्य पार्थं सहसाभिदुद्रुवुः ॥ ९६ ॥

उस रणक्षेत्रमें भयंकर दिखायी देनेवाले कितने ही नरेश

भारी गदाओं, लोहेके परिघों, तलवारों, शक्तियों और बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंको हाथमें लेकर कुन्तीनन्दन अर्जुनपर सहसा टूट पड़े ॥ ९६ ॥

ततो युगान्ताभ्रसमस्वनं मह-
न्महेन्द्रचापप्रतिमं च गाण्डिवम् ।
चकर्ष दोर्भ्यां विहसन् भृशं ययौ
दहंस्त्वदीयान् यमराष्ट्रवर्धनः ॥ ९७ ॥

तब यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाले अर्जुनने प्रलयकालके मेघोंके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले तथा इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होनेवाले विशाल गाण्डीव धनुषको हँसते हुए दोनों हाथोंसे खींचा और आपके सैनिकोंको दग्ध करते हुए वे बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ ९७ ॥

स तानुदीर्णान् सरथान् सवारणान्
पदातिसङ्घांश्च महाधनुर्धरः ।
विपन्नसर्वायुधजीवितान् रणे
चकार वीरो यमराष्ट्रवर्धनान् ॥ ९८ ॥

महाधनुर्धर वीर अर्जुनने रथ, हाथी और पैदलसमूहोंसहित उन कौरव सैनिकोंको प्रचण्ड गतिसे आगे बढ़ते देख उनके सम्पूर्ण आयुधों और जीवनको भी नष्ट करके उन्हें यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला बना दिया ॥ ९८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि संकुलयुद्धे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका अद्भुत पराक्रम और सिन्धुराज जयद्रथका वध

संजय उवाच

श्रुत्वा निनादं धनुषश्च तस्य
विस्पष्टमुत्क्रुष्टमिवान्तकस्य ।
शक्राशनिस्फोटसमं सुघोरं
विकृष्यमाणस्य धनंजयेन ॥ १ ॥
त्रासोद्विग्नं तथोद्भ्रान्तं त्वदीयं तद् बलं नृप ।
युगान्तवातसंक्षुब्धं चलद्वीचितरङ्गितम् ॥ २ ॥
प्रलीनमीनमकरं सागराम्भ इवाभवत् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय अर्जुनके द्वारा खींचे जानेवाले गाण्डीव धनुषकी अत्यन्त भयंकर टंकार यमराजकी सुस्पष्ट गर्जना तथा इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर आपकी सेना भयसे उद्विग्न हो बड़ी घबराहटमें पड़ गयी। उस समय उसकी दशा प्रलयकालकी आँधीसे क्षोभको प्राप्त एवं उत्ताल तरंगोंसे परिपूर्ण हुए उस महासागरके जलकी-सी हो गयी, जिसमें मछली और मगर आदि जलजन्तु छिप जाते हैं ॥ १-२½ ॥

स रणे व्यचरत् पार्थः प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ३ ॥
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वाण्यस्त्राणि दर्शयन् ।

उस रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन एक साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें देखते और सब प्रकारके अस्त्रोंका कौशल दिखाते हुए विचर रहे थे ॥ ३½ ॥

आददानं महाराज संदधानं च पाण्डवम् ॥ ४ ॥
उत्कर्षन्तं सृजन्तं च न स्म पश्याम लाघवात् ।

महाराज ! उस समय अर्जुनकी अद्भुत फुर्तीके कारण हमलोग यह नहीं देख पाते थे कि वे कब बाण निकालते हैं, कब उसे धनुषपर रखते हैं, कब धनुषको खींचते हैं और कब बाण छोड़ते हैं ॥ ४½ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहुरैन्द्रमस्त्रं दुरासदम् ॥ ५ ॥
प्रादुश्चक्रे महाराज त्रासयन् सर्वभारतान् ।

नरेश्वर ! तदनन्तर महाबाहु अर्जुनने कुपित हो कौरव-सेनाके समस्त सैनिकोंको भयभीत करते हुए दुर्धर्ष इन्द्रास्त्रको प्रकट किया ॥ ५½ ॥

ततः शराः प्रादुरासन् दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रिताः ॥ ६ ॥
प्रदीप्ताश्च शिखिमुखाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

इससे दिव्यास्त्रसम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित सैकड़ों तथा सहस्रों प्रज्वलित अग्निमुख बाण प्रकट होने लगे ॥६½॥

आकर्णपूर्णनिर्मुक्तैरग्न्यर्कांशुनिभैः शरैः ॥ ७ ॥
नभोऽभवत् तद् दुष्प्रेक्ष्यमुल्काभिरिव संवृतम् ।

धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये अग्निशिखा तथा सूर्यकिरणोंके समान तेजस्वी बाणोंसे भरा हुआ आकाश उल्काओंसे व्याप्त-सा जान पड़ता था। उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था ॥ ७½ ॥

ततः शस्त्रान्धकारं तत् कौरवैः समुदीरितम् ॥ ८ ॥
अशक्यं मनसाप्यन्यैः पाण्डवः सम्भ्रमन्निव ।
नाशयामास विक्रम्य शरैर्दिव्यास्त्रमन्त्रितैः ॥ ९ ॥
नैशं तमोंऽशुभिः क्षिप्रं दिनादाविव भास्करः ।

तदनन्तर कौरवोंने अस्त्र-शस्त्रोंकी इतनी वर्षा की कि वहाँ अँधेरा छा गया। दूसरे कोई योद्धा उस अन्धकारको नष्ट करनेका विचार भी मनमें नहीं ला सकते थे; परंतु पाण्डुपुत्र अर्जुनने बड़ी शीघ्रता-सी करते हुए दिव्यास्त्र-सम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाणोंसे पराक्रमपूर्वक उसे नष्ट कर दिया। ठीक उसी तरह, जैसे प्रातःकालमें सूर्य अपनी

किरणोंद्वारा रात्रिके अन्धकारको शीघ्र नष्ट कर देते हैं ॥ ८-९½ ॥

ततस्तु तावकं सैन्यं दीप्तैः शरगभस्तिभिः ॥ १० ॥
आक्षिपत् पल्वलाम्बूनि निदाघार्क इव प्रभुः ।

तत्पश्चात् जैसे ग्रीष्मऋतुके शक्तिशाली सूर्य छोटे-छोटे गड्ढोंके पानीको शीघ्र ही सुखा देते हैं, उसी प्रकार सामर्थ्यशाली अर्जुनरूपी सूर्यने अपनी बाणमयी प्रज्वलित किरणोंद्वारा आपकी सेनारूपी जलको शीघ्र ही सोख लिया ॥ १०½ ॥

ततो दिव्यास्त्रविदुषा प्रहिताः सायकांशवः ॥ ११ ॥
समाप्लवन् द्विषत्सैन्यं लोकं भानोरिवांशवः ।

इसके बाद दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता अर्जुनरूपी सूर्यकी छिटकायी हुई बाणरूपी किरणोंने शत्रुओंकी सेनाको उसी प्रकार आप्लावित कर दिया, जैसे सूर्यकी रश्मियाँ सारे जगत्‌को व्याप्त कर लेती हैं ॥ ११½ ॥

अथापरे समुत्सृष्टा विशिखास्तिग्मतेजसः ॥ १२ ॥
हृदयान्याशु वीराणां विविशुः प्रियबन्धुवत् ।

तदनन्तर अर्जुनके छोड़े हुए दूसरे प्रचण्ड तेजस्वी बाण वीर योद्धाओंके हृदयमें प्रिय बन्धुकी भाँति शीघ्र ही प्रवेश करने लगे ॥ १२½ ॥

य एनमीयुः समरे त्वद्योधाः शूरमानिनः ॥ १३ ॥
शलभा इव ते दीप्तमग्निं प्राप्य ययुः क्षयम् ।

समराङ्गणमें अपनेको शूरवीर माननेवाले आपके जो-जो योद्धा अर्जुनके सामने गये, वे जलती आगमें पड़े हुए पतंगोंके समान नष्ट हो गये ॥ १३½ ॥

एवं स मृद्नञ्शत्रूणां जीवितानि यशांसि च ॥ १४ ॥
पार्थश्चचार संग्रामे मृत्युर्विग्रहवानिव ।

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन शत्रुओंके जीवन और यशको धूलमें मिलाते हुए मूर्तिमान् मृत्युके समान संग्रामभूमिमें विचरण करने लगे ॥ १४½ ॥

सकिरीटानि वक्त्राणि साङ्गदान् विपुलान् भुजान् ॥
सकुण्डलयुगान् कर्णान् केषांचिदहरच्छरैः ।

वे अपने बाणोंसे किन्हीं शत्रुओंके मुकुटमण्डित मस्तकों, किन्हींके बाजूबंदविभूषित विशाल भुजाओं तथा किन्हींके दो कुण्डलोंसे अलंकृत दोनों कानोंको काट गिराते थे ॥ १५½ ॥

सतोमरान् गजस्थानां सप्रासान् हयसादिनाम् ॥ १६ ॥
सचर्मणः पदातीनां रथिनां च सधन्वनः ।
सप्रतोदान् नियन्तॄणां बाहूंश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ १७ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुनने हाथीसवारोंकी तोमरयुक्त, घुड़सवारोंकी प्रासयुक्त, पैदल सिपाहियोंकी ढालयुक्त, रथियोंकी धनुषयुक्त और सारथियोंकी चाबुकसहित भुजाओंको काट डाला ॥ १६-१७ ॥

प्रदीप्तोग्रशरार्चिष्मान् बभौ तत्र धनंजयः ।
सविस्फुलिङ्गाग्रशिखो ज्वलन्निव हुताशनः ॥ १८ ॥

उद्दीप्त एवं उग्र बाणरूपी शिखाओंसे युक्त तेजस्वी अर्जुन वहाँ चिनगारियों और लपटोंसे युक्त प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

तं देवराजप्रतिमं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
युगपद् दिक्षु सर्वासु रथस्थं पुरुषर्षभम् ॥ १९ ॥
निक्षिपन्तं महास्त्राणि प्रेक्षणीयं धनंजयम् ।
नृत्यन्तं रथमार्गेषु धनुर्ज्यातलनादिनम् ॥ २० ॥
निरीक्षितुं न शेकुस्ते यत्नवन्तोऽपि पार्थिवाः ।
मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ॥ २१ ॥

देवराज इन्द्रके समान रथपर बैठे हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ नरश्रेष्ठ अर्जुन एक ही साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् अस्त्रोंका प्रहार करते हुए सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। वे अपने धनुषकी टंकार करते हुए रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। जैसे आकाशमें तपते हुए दोपहरके सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार उनकी ओर राजालोग यत्न करनेपर भी देख नहीं पाते थे ॥ १९–२१ ॥

दीप्तोग्रसम्भृतशरः किरीटी विरराज ह ।
वर्षास्विवोदीर्णजलः सेन्द्रधन्वाम्बुदो महान् ॥ २२ ॥

प्रज्वलित एवं भयंकर बाण लिये किरीटधारी अर्जुन वर्षाऋतुमें अधिक जलसे भरे हुए इन्द्रधनुषसहित महामेघके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

महास्त्रसम्प्लवे तस्मिञ्जिष्णुना सम्प्रवर्तिते ।
सुदुस्तरे महाघोरे ममज्जुर्योधपुङ्गवाः ॥ २३ ॥

उस युद्धस्थलमें अर्जुनने बड़े-बड़े अस्त्रोंकी ऐसी बाढ़ ला दी थी, जो परम दुस्तर और अत्यन्त भयंकर थी। उसमें कौरवदलके बहुसंख्यक श्रेष्ठ योद्धा डूब गये ॥ २३ ॥

उत्कृत्तवदनैर्देहैः शरीरैः कृत्तबाहुभिः ।
भुजैश्च पाणिनिर्मुक्तैः पाणिभिर्व्यङ्गुलीकृतैः ॥ २४ ॥
कृत्ताग्रहस्तैः करिभिः कृत्तदन्तैर्मदोत्कटैः ।
हयैश्च विधुरग्रीवै रथैश्च शकलीकृतैः ॥ २५ ॥
निकृत्तान्त्रैः कृत्तपादैस्तथान्यैः कृत्तसंधिभिः ।
निश्चेष्टैर्विस्फुरद्भिश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २६ ॥
मृत्योराघातललितं तत्पार्थायोधनं महत् ।
अपश्याम महीपाल भीरूणां भयवर्धनम् ॥ २७ ॥
आक्रीडमिव रुद्रस्य पुराभ्यर्दयतः पशून् ।

भूपाल! अर्जुनका वह महान् युद्ध मृत्युका क्रीडास्थल बना हुआ था, जो शस्त्रोंके आघातसे ही सुन्दर लगता था। वहाँ बहुत-सी ऐसी लाशें पड़ी थीं, जिनके मस्तक कट गये थे और भुजाएँ काट दी गयी थीं। बहुत-सी ऐसी भुजाएँ दृष्टिगोचर होती थीं, जिनके हाथ नष्ट हो गये थे

और बहुत-से हाथ भी अंगुलियोंसे शून्य थे । कितने ही मदोन्मत्त हाथी धराशायी हो गये थे, जिनकी सूँड़के अग्र-भाग और दाँत काट डाले गये थे । बहुतेरे घोड़ोंकी गर्दनें उड़ा दी गयी थीं और रथोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये थे। किन्हींकी आँतें कट गयी थीं, किन्हींके पाँव काट डाले गये थे तथा कुछ दूसरे लोगोंकी संधियाँ (अंगोंके जोड़) खण्डित हो गयी थीं । कुछ लोग निश्चेष्ट हो गये थे और कुछ पड़े-पड़े छटपटा रहे थे । इनकी संख्या सैकड़ों तथा सहस्रों थी । हमने देखा कि वह युद्धस्थल कायरोंके लिये भयवर्धक हो रहा है । मानो पूर्व (प्रलय) कालमें पशुओं (जीवों) को पीड़ा देनेवाले रुद्रदेवका क्रीडास्थल हो ॥२४-२७½ ॥

गजानां क्षुरनिर्मुक्तैः करैः सभुजगेव भूः ॥ २८ ॥
क्वचिद् बभौ स्रग्विणीव वक्त्रपद्मैः समाचिता ।

क्षुरसे कटे हुए हाथियोंके शुण्डदण्डोंसे यह पृथ्वी सर्प-युक्त-सी जान पड़ती थी । कहीं-कहीं योद्धाओंके मुखकमलों-से व्याप्त होनेके कारण रणभूमि कमलपुष्पोंकी मालाओं-से अलंकृत-सी प्रतीत होती थी ॥ २८½ ॥

विचित्रोष्णीषमुकुटैः केयूराङ्गदकुण्डलैः ॥ २९ ॥
स्वर्णचित्रतनुत्रैश्च भाण्डैश्च गजवाजिनाम् ।
किरीटशतसंकीर्णा तत्र तत्र समाचिता ॥ ३० ॥
विरराज भृशं चित्रा मही नववधूरिव ।

विचित्र पगड़ी, मुकुट, केयूर, अंगद, कुण्डल, स्वर्ण-जटित कवच, हाथी-घोड़ोंके आभूषण तथा सैकड़ों किरीटों-से यत्र-तत्र आच्छादित हुई वह युद्धभूमि नववधूके समान अत्यन्त अद्भुत शोभासे सुशोभित हो रही थी ॥ २९-३०½ ॥

मज्जामेदःकर्दमिनीं शोणितौघतरङ्गिणीम् ॥ ३१ ॥
मर्मास्थिभिरगाधां च केशशैवलशाद्वलाम् ।
शिरोबाहूपलतटां रुग्णक्रोडास्थिसंकटाम् ॥ ३२ ॥
चित्रध्वजपताकाढ्यां छत्रचापोर्मिमालिनीम् ।
विगतासुमहाकायां गजदेहाभिसंकुलाम् ॥ ३३ ॥
रथोडुपशताकीर्णां हयसंघाततरोधसम् ।
रथचक्रयुगेषाक्षकूबरैरतिदुर्गमाम् ॥ ३४ ॥
प्रासासिशक्तिपरशुविशिखाहिदुरासदाम् ।
बलकङ्कमहानक्रां गोमायुमकरोत्कटाम् ॥ ३५ ॥
गृध्रोदग्रमहाग्राहां शिवाविरुतभैरवाम् ।
नृत्यत्प्रेतपिशाचाद्यैर्भूताकीर्णां सहस्रशः ॥ ३६ ॥
गतासुयोधनिश्चेष्टशरीरशतवाहिनीम् ।
महाप्रतिभयां रौद्रां घोरां वैतरणीमिव ॥ ३७ ॥
नदीं प्रवर्तयामास भीरूणां भयवर्धिनीम् ।

अर्जुनने कायरोंका भय बढ़ानेवाली वैतरणीके समान एक अत्यन्त भयंकर रौद्र और घोर रक्तकी नदी बहा दी, जो प्राणशून्य योद्धाओंके सैकड़ों निश्चेष्ट शरीरोंको बहाये लिये जाती थी । मज्जा और मेद ही उसकी कीचड़ थे । उसमें रक्तका ही प्रवाह था और रक्तकी ही तरंगें उठती थीं । वीरोंके मर्मस्थान एवं हड्डियोंसे व्याप्त हुई वह नदी अगाध जान पड़ती थी । केश ही उस नदीके सेवार और घास थे । योद्धाओंके कटे हुए मस्तक और भुजाएँ ही किनारेके छोटे-छोटे प्रस्तर-खण्डोंका काम देती थीं । टूटी हुई छातीकी हड्डियोंसे वह दुर्गम हो रही थी । विचित्र ध्वज और पताकाएँ उसके भीतर पड़ी हुई थीं। छत्र और धनुषरूपी तरंगमालाओंसे वह अलंकृत थी । प्राणशून्य प्राणी ही उसके विशाल शरीरके अवयव थे, हाथियोंकी लाशोंसे वह भरी हुई थी, रथरूपी सैकड़ों नौकाएँ उसपर तैर रही थीं, घोड़ोंके समूह उसके तट थे, रथके पहिये, जूए, ईषादण्ड, धुरी और कूबर आदिके कारण वह नदी अत्यन्त दुर्गम जान पड़ती थी । प्रास, खड्ग, शक्ति, फरसे और बाणरूपी सर्पोंसे युक्त होनेके कारण उसके भीतर प्रवेश करना कठिन था । कौए और कंक आदि जन्तु उसके भीतर निवास करने-वाले बड़े-बड़े नक्र (घड़ियाल) थे । गीदड़रूपी मगरोंके निवाससे उसकी उग्रता और बढ़ गयी थी । गीध ही उसमें प्रचण्ड एवं बड़े-बड़े ग्राह थे । गीदड़ियों-के चीत्कारसे वह नदी बड़ी भयानक प्रतीत होती थी । नाचते हुए प्रेत-पिशाचादि सहस्रों भूतोंसे वह व्याप्त थी ॥ ३१—३७½ ॥

तं दृष्ट्वा तस्य विक्रान्तमन्तकस्येव रूपिणः ॥ ३८ ॥
अभूतपूर्वं कुरुषु भयमागाद् रणाजिरे ।

समराङ्गणमें मूर्तिमान् यमराजके समान अर्जुनके उस अभूतपूर्व पराक्रमको देखकर कौरवोंपर भय छा गया॥३८½॥

तत आदाय वीराणामस्त्रैरस्त्राणि पाण्डवः ॥ ३९ ॥
आत्मानं रौद्रमाचष्ट रौद्रकर्मण्यधिष्ठितः ।

तदनन्तर पाण्डुकुमार अर्जुन अपने अस्त्रोंद्वारा विपक्षी वीरोंके अस्त्र लेकर रौद्रकर्ममें तत्पर हो अपनेको रौद्र सूचित करने लगे ॥ ३९½ ॥

ततो रथवरान् राजन्नत्यतिक्रामदर्जुनः ॥ ४० ॥
मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
न शेकुः सर्वभूतानि पाण्डवं प्रतिवीक्षितुम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् अर्जुन बड़े-बड़े रथियोंको लाँघकर आगे बढ़ गये । उस समय आकाशमें तपते हुए दोपहरके सूर्यके समान पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर सम्पूर्ण प्राणी देख नहीं पाते थे ॥ ४०-४१ ॥

प्रसृतांस्तस्य गाण्डीवाच्छरव्रातान् महात्मनः ।
संग्रामे सम्प्रपश्यामो हंसपङ्क्तिमिवाम्बरे ॥ ४२ ॥

उन महात्माके गाण्डीव धनुषसे छूटकर संग्राममें फैले

हुए बाण-समूहोंको हम आकाशमें हंसोंकी पंक्तिके समान देखते थे ॥ ४२ ॥

विनिवार्य स वीराणामस्त्रैरस्त्राणि सर्वतः ।
दर्शयन् रौद्रमात्मानमुग्रे कर्मणि धिष्ठितः ॥ ४३ ॥

वीरोंके अस्त्र-शस्त्रोंको अस्त्रोंद्वारा सब ओरसे रोककर अपने रौद्रभावका दर्शन कराते हुए वे उग्र कर्ममें संलग्न हो गये ॥ ४३ ॥

स तान् रथवरान् राजन्नत्याक्रामत् तदार्जुनः ।
मोहयन्निव नाराचैर्जयद्रथवधेप्सया ।
विसृजन् दिक्षु सर्वासु शरानसितसारथिः ॥ ४४ ॥
सरथो व्यचरत् तूर्णं प्रेक्षणीयो धनंजयः ।

राजन् ! उस समय जयद्रथ-वधकी इच्छासे अर्जुन नाराचोंद्वारा उन महारथियोंको मोहित करते हुए-से लाँघ गये । श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे धनंजय सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंकी वृष्टि करते हुए रथसहित तुरंत वहाँ विचरने लगे । उस समय उनकी शोभा देखने ही योग्य थी ॥ ४४½ ॥

भ्रमन्त इव शूरस्य शरव्राता महात्मनः ॥ ४५ ॥
अदृश्यन्तान्तरिक्षस्थाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

शूरवीर महात्मा अर्जुनके चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणसमूह आकाशमें घूमते हुए-से दिखायी देते थे ॥ ४५½ ॥

आददानं महेष्वासं संदधानं च सायकम् ॥ ४६ ॥
विसृजन्तं च कौन्तेयं नानुपश्याम वै तदा ।

उस समय हम कुन्तीकुमार महाधनुर्धर अर्जुनको बाण लेते, चढ़ाते और छोड़ते समय देख नहीं पाते थे ॥ ४६½ ॥

तथा सर्वा दिशो राजन् सर्वांश्च रथिनो रणे ॥ ४७ ॥
कदम्बीकृत्य कौन्तेयो जयद्रथमुपाद्रवत् ।

राजन् ! इस प्रकार अर्जुनने रणक्षेत्रमें सम्पूर्ण दिशाओं और समस्त रथियोंको कदम्बके फूलके समान रोमाञ्चित करके जयद्रथपर धावा किया ॥ ४७½ ॥

विव्याध च चतुःषष्ट्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ ४८ ॥
सैन्धवाभिमुखं यान्तं योधाः सम्प्रेक्ष्य पाण्डवम् ।
न्यवर्तन्त रणाद् वीरा निराशास्तस्य जीविते ॥ ४९ ॥

साथ ही उसे झुकी हुई गाँठवाले चौंसठ बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया । पाण्डुपुत्र अर्जुनको सिंधुराजके सम्मुख जाते देख हमारे पक्षके वीर योद्धा उसके जीवनसे निराश होकर युद्धसे निवृत्त हो गये ॥ ४८-४९ ॥

यो योऽभ्यधावदाक्रन्दे तावकः पाण्डवं रणे ।
तस्य तस्यान्तगा बाणाः शरीरे न्यपतन् प्रभो ॥ ५० ॥

प्रभो ! उस घोर संग्राममें आपके पक्षका जो-जो योद्धा पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर बढ़ा, उस-उसके शरीरपर प्राणान्तकारी बाण पड़ने लगे ॥ ५० ॥

कबन्धसंकुलं चक्रे तव सैन्यं महारथः ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः शरैरग्न्यंशुसंनिभैः ॥ ५१ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महारथी अर्जुनने अग्निकी ज्वालाके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा आपकी सेनाको कबन्धोंसे भर दिया ॥

एवं तत् तव राजेन्द्र चतुरङ्गबलं तदा ।
व्याकुलीकृत्य कौन्तेयो जयद्रथमुपाद्रवत् ॥ ५२ ॥

राजेन्द्र ! उस समय इस प्रकार आपकी उस चतुरङ्गिणी सेनाको व्याकुल करके कुन्तीकुमार अर्जुन जयद्रथकी ओर बढ़े ॥ ५२ ॥

द्रौणिं पञ्चाशताविध्यद् वृषसेनं त्रिभिः शरैः ।
कृपायमाणः कौन्तेयः कृपं नवभिरार्दयत् ॥ ५३ ॥

उन्होंने अश्वत्थामाको पचास और वृषसेनको तीन बाणोंसे बींध डाला । कृपाचार्यको कृपापूर्वक केवल नौ बाण मारे ॥ ५३ ॥

शल्यं षोडशभिर्बाणैः कर्णं द्वात्रिंशता शरैः ।
सैन्धवं तु चतुःषष्ट्या विद्ध्वा सिंह इवानदत् । ५४ ।

शल्यको सोलह, कर्णको बत्तीस और सिंधुराजको चौंसठ बाणोंसे घायल करके अर्जुनने सिंहके समान गर्जना की ॥ ५४ ॥

सैन्धवस्तु तथा विद्धः शरैर्गाण्डीवधन्वना ।
न चक्षमे सुसंक्रुद्धस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ५५ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे उस प्रकार घायल होनेपर सिंधुराज सहन न कर सका । वह अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान अत्यन्त कुपित हो उठा । ५५ ।

स वराहध्वजस्तूर्णं गार्धपत्रानजिह्मगान् ।
क्रुद्धाशीविषसंकाशान् कर्मारपरिमार्जितान् ॥ ५६ ॥
आकर्णपूर्णाश्चिक्षेप फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

उसकी ध्वजापर वाराहका चिह्न था । उसने गीधकी पाँखोंसे युक्त, सीधे जानेवाले, सोनारके माँजे हुए तथा कुपित विषधरके समान बहुत-से बाण धनुषको कानतक खींचकर शीघ्रतापूर्वक अर्जुनके रथकी ओर चलाये ॥ ५६½ ॥

त्रिभिस्तु विद्ध्वा गोविन्दं नाराचैः षड्भिरर्जुनम् । ५७ ।
अष्टभिर्वाजिनोऽविध्यद् ध्वजं चैकेन पत्रिणा ।

तीन बाणोंसे श्रीकृष्णको, छः नाराचोंसे अर्जुनको तथा आठ बाणोंसे घोड़ोंको घायल करके जयद्रथने एक बाणसे अर्जुनकी ध्वजाको भी बींध डाला ॥ ५७½ ॥

स विक्षिप्यार्जुनस्तूर्णं सैन्धवप्रहिताञ्शरान् ॥ ५८ ॥
युगपत् तस्य चिच्छेद शराभ्यां सैन्धवस्य ह ।
सारथेश्च शिरः कायाद् ध्वजं च समलंकृतम् ॥ ५९ ॥

परंतु अर्जुनने तुरंत ही जयद्रथके चलाये हुए बाणोंको काट गिराया और एक ही साथ दो बाणोंसे सिंधुराजके सारथिका सिर तथा अलङ्कारोंसे सुशोभित उसका ध्वज भी काट डाला ॥ ५८-५९ ॥

स छिन्नयष्टिः सुमहान् धनंजयशराहतः ।

वराहः सिन्धुराजस्य पपाताग्निशिखोपमः ॥ ६० ॥

धनंजयके बाणोंसे आहत हो अग्निशिखाके समान तेजस्वी वह सिंधुराजका महान् वाराह-ध्वज दण्ड कट जानेसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुतं गच्छति भास्करे ।
अब्रवीत् पाण्डवं राजंस्त्वरमाणो जनार्दनः ॥ ६१ ॥

राजन् ! इसी समय जब कि सूर्यदेव तीव्रगतिसे अस्ताचलकी ओर जा रहे थे, उतावले हुए भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डुपुत्र अर्जुनसे कहा—॥ ६१ ॥

एष मध्ये कृतः षड्भिः पार्थ वीरैर्महारथैः ।
जीवितेप्सुर्महाबाहो भीतस्तिष्ठति सैन्धवः ॥ ६२ ॥

'महाबाहु पार्थ ! यह सिंधुराज जयद्रथ प्राण बचानेकी इच्छासे भयभीत होकर खड़ा है और उसे छः वीर महारथियोंने अपने बीचमें कर रक्खा है ॥ ६२ ॥

एताननिर्जित्य रणे षड् रथान् पुरुषर्षभ ।
न शक्यः सैन्धवो हन्तुं यतो निर्व्याजमर्जुन ॥ ६३ ॥

'नरश्रेष्ठ अर्जुन ! रणभूमिमें इन छः महारथियोंको परास्त किये बिना सिंधुराजको बिना मायाके जीता नहीं जा सकता है ॥ ६३ ॥

योगमत्र विधास्यामि सूर्यस्यावरणं प्रति ।
अस्तंगत इति व्यक्तं द्रक्ष्यत्येकः स सिन्धुराट् ॥ ६४॥

'अतः मैं यहाँ सूर्यदेवको ढकनेके लिये कोई युक्ति करूँगा, जिससे अकेला सिंधुराज ही सूर्यको स्पष्टरूपसे अस्त हुआ देखेगा ॥ ६४ ॥

हर्षेण जीविताकाङ्क्षी विनाशार्थं तव प्रभो ।
न गोप्स्यति दुराचारः स आत्मानं कथंचन ॥ ६५ ॥

'प्रभो ! वह दुराचारी हर्षपूर्वक अपने जीवनकी अभिलाषा रखते हुए तुम्हारे विनाशके लिये उतावला होकर किसी प्रकार भी अपने आपको गुप्त नहीं रख सकेगा ॥६५॥

तत्र छिद्रे प्रहर्तव्यं त्वयास्य कुरुसत्तम ।
व्यपेक्षा नैव कर्तव्या गतोऽस्तमिति भास्करः ॥ ६६ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! वैसा अवसर आनेपर तुम्हें अवश्य उसके ऊपर प्रहार करना चाहिये । इस बातपर ध्यान नहीं देना चाहिये कि सूर्यदेव अस्त हो गये' ॥ ६६ ॥

एवमस्त्विति बीभत्सुः केशवं प्रत्यभाषत ।
ततोऽसृजत् तमः कृष्णः सूर्यस्यावरणं प्रति ॥ ६७ ॥
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ।

यह सुनकर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो! ऐसा ही हो ।' तब योगी, योगयुक्त और योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने सूर्यको छिपानेके लिये अन्धकारकी सृष्टि की ।६७½।

सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः ॥ ६८ ॥
त्वदीया जहृषुर्योधाः पार्थनाशान्नराधिप ।

नरेश्वर ! श्रीकृष्णद्वारा अन्धकारकी सृष्टि होनेपर सूर्यदेव अस्त हो गये, ऐसा मानते हुए आपके योद्धा अर्जुनका विनाश निकट देख हर्षमग्न हो गये ॥ ६८½ ॥

ते प्रहृष्टा रणे राजन् नापश्यन् सैनिका रविम् ॥६९॥
उन्नाम्य वक्त्राणि तदा स च राजा जयद्रथः ।

राजन् ! उस रणक्षेत्रमें हर्षमग्न हुए आपके सैनिकोंने सूर्यकी ओर देखातक नहीं । केवल राजा जयद्रथ उस समय बारंबार मुँह ऊँचा करके सूर्यकी ओर देख रहा था ६९½

वीक्षमाणे ततस्तस्मिन् सिन्धुराजे दिवाकरम् ॥ ७० ॥
पुनरेवाब्रवीत् कृष्णो धनंजयमिदं वचः ।

जब इस प्रकार सिंधुराज दिवाकरकी ओर देखने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्ण पुनः अर्जुनसे इस प्रकार बोले—।७०½।

पश्य सिन्धुपतिं वीरं प्रेक्षमाणं दिवाकरम् ॥ ७१ ॥
भयं हि विप्रमुच्यैतत् त्वत्तो भरतसत्तम ।

'भरतश्रेष्ठ ! देखो, यह वीर सिंधुराज अब तुम्हारा भय छोड़कर सूर्यदेवकी ओर दृष्टिपात कर रहा है ॥ ७१½ ॥

अयं कालो महाबाहो वधायास्य दुरात्मनः ॥ ७२ ॥
छिन्धि मूर्धानमस्याशु कुरु साफल्यमात्मनः ।

'महाबाहो ! इस दुरात्माके वधका यही अवसर है । तुम शीघ्र इसका मस्तक काट डालो और अपनी प्रतिज्ञा सफल करो' ॥ ७२½ ॥

इत्येवं केशवेनोक्तः पाण्डुपुत्रः प्रतापवान् ॥ ७३ ॥
न्यवधीत् तावकं सैन्यं शरैरर्काग्निसंनिभैः ।

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर प्रतापी पाण्डुपुत्र अर्जुनने सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा आपकी सेनाका वध आरम्भ किया ॥ ७३½ ॥

कृपं विव्याध विंशत्या कर्णं पञ्चाशता शरैः ॥ ७४ ॥
शल्यं दुर्योधनं चैव षड्भिः षड्भिरताडयत् ।
वृषसेनं तथाष्टाभिः षष्ट्या सैन्धवमेव च ॥ ७५ ॥

उन्होंने कृपाचार्यको बीस, कर्णको पचास तथा शल्य और दुर्योधनको छः-छः बाण मारे । साथ ही वृषसेनको आठ और सिंधुराज जयद्रथको साठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ७४-७५ ॥

तथैव च महाबाहुस्त्वदीयान् पाण्डुनन्दनः ।
गाढं विद्ध्वा शरै राजन् जयद्रथमुपाद्रवत् ॥ ७६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुनने आपके अन्य सैनिकोंको भी बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचाकर जयद्रथपर धावा किया ॥ ७६ ॥

तं समीपस्थितं दृष्ट्वा लेलिहानमिवानलम् ।
जयद्रथस्य गोप्तारः संशयं परमं गताः ॥ ७७ ॥

अपनी लपटोंसे सबको चाट जानेवाली आगके समान अर्जुनको निकट खड़ा देख जयद्रथके रक्षक भारी संशयमें पड़ गये ॥ ७७ ॥

ततः सर्वे महाराज तव योधा जयैषिणः ।
सिषिचुः शरधाराभिः पाकशासनिमाहवे ॥ ७८ ॥

महाराज ! उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले आपके समस्त योद्धा युद्धस्थलमें इन्द्रकुमार अर्जुनका बाणोंकी धाराओंसे अभिषेक करने लगे ॥ ७८ ॥

संछाद्यमानः कौन्तेयः शरजालैरनेकशः ।
अक्रुध्यत् स महाबाहुरजितः कुरुनन्दनः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार बारंबार बाणसमूहोंसे आच्छादित किये जाने-पर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अपराजित वीर कुन्ती-कुमार महाबाहु अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ७९ ॥

ततः शरमयं जालं तुमुलं पाकशासनिः ।
व्यसृजत् पुरुषव्याघ्रस्तव सैन्यजिघांसया ॥ ८० ॥

फिर उन पुरुषसिंह इन्द्रकुमारने आपकी सेनाके संहारकी इच्छासे बाणोंका भयंकर जाल बिछाना आरम्भ किया ॥८०॥

ते हन्यमाना वीरेण योधा राजन् रणे तव ।
प्रजहुः सैन्धवं भीता द्वौ समं नाप्यधावताम् ॥ ८१ ॥

राजन् ! उस समय रणभूमिमें वीर अर्जुनकी मार खाने-वाले योद्धा भयभीत हो सिंधुराजको छोड़ भाग चले। वे इतने डर गये थे कि दो सैनिक भी एक साथ नहीं भागते थे ॥ ८१ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य विक्रमम् ।
तादृङ् न भावी भूतो वा यच्चकार महायशाः ॥ ८२ ॥

वहाँ हमलोगोंने कुन्तीकुमारका अद्भुत पराक्रम देखा। उन महायशस्वी वीरने उस समय जो पुरुषार्थ प्रकट किया था, वैसा न तो पहले कभी प्रकट हुआ था और न आगे कभी होगा ही ॥ ८२ ॥

द्विपान् द्विपगतांश्चैव हयान् हयगतानपि ।
तथा स रथिनश्चैव न्यहन् रुद्रः पशूनिव ॥ ८३ ॥

जैसे संहारकारी रुद्र समस्त प्राणियोंका विनाश कर डालते हैं, उसी प्रकार उन्होंने हाथियों और हाथीसवारोंको, घोड़ों और घुड़सवारोंको तथा रथों एवं रथियोंको भी नष्ट कर दिया ॥ ८३ ॥

न तत्र समरे कश्चिन्मया दृष्टो नराधिप ।
गजो वाजी नरो वापि यो न पार्थशराहतः ॥ ८४ ॥

नरेश्वर ! उस समरभूमिमें मैंने कोई भी ऐसा हाथी, घोड़ा या मनुष्य नहीं देखा, जो अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हो गया हो ॥ ८४ ॥

रजसा तमसा चैव योधाः संछन्नचक्षुषः ।
कश्मलं प्राविशन् घोरं नान्वजानन् परस्परम् ॥८५॥

उस समय धूल और अन्धकारसे सारे योद्धाओंके नेत्र आच्छादित हो गये थे। वे भयंकर मोहमें पड़ गये। उनके लिये एक दूसरेको पहचानना भी असम्भव हो गया ॥ ८५ ॥

ते शरैर्भिन्नमर्माणः सैनिकाः पार्थचोदितैः ।
बभ्रमुश्चस्खलुः पेतुः सेदुर्मम्लुश्च भारत ॥ ८६ ॥

भारत ! अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे जिनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये थे, वे सैनिक चक्कर काटते, लड़खड़ाते, गिरते, व्यथित होते और प्राणशून्य होकर मलिन हो जाते थे ॥ ८६ ॥

तस्मिन् महाभीषणके प्रजानामिव संक्षये ।
रणे महति दुष्पारे वर्तमाने सुदारुणे ॥ ८७ ॥
शोणितस्य प्रसेकेन शीघ्रत्वादनिलस्य च ।
अशाम्यत् तद् रजो भौममसृक्सिक्ते धरातले ॥८८॥
आनाभि निरमज्जंश्च रथचक्राणि शोणिते ।

समस्त प्राणियोंके प्रलयकालके समान जब वह महाभीषण अत्यन्त दारुण महान् एवं दुर्लङ्घ्य सग्राम चल रहा था, उस समय रक्तकी वर्षासे और वायुके वेगपूर्वक चलनेसे रुधिरसे भीगे हुए धरातलकी धूल शान्त हो गयी। रथके पहिये नाभितक खूनमें डूबे हुए थे ॥ ८७-८८½ ॥

मत्ता वेगवतो राजंस्तावकानां रणाङ्गणे ॥ ८९ ॥
हस्तिनश्च हतारोहा दारिताङ्गाः सहस्रशः ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्त आर्तनादाः प्रदुद्रुवुः ॥ ९० ॥

राजन्! जिनके सवार मार डाले गये थे और समस्त अंग बाणोंसे विदीर्ण हो रहे थे, वे आपके योद्धाओंके वेगवान् और मदमत्त सहस्रों हाथी समरभूमिमें अपनी ही सेनाओंको रौंदते और आर्तनाद करते हुए जोर-जोरसे भागने लगे ॥८९-९०॥

हयाश्च पतितारोहाः पत्तयश्च नराधिप ।
प्रदुद्रुवुर्भयाद् राजन् धनंजयशराहताः ॥ ९१ ॥

नरेश्वर ! राजन् ! घुड़सवार गिर गये थे और घोड़े एवं पैदल सैनिक धनंजयके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो भयके मारे भागे जा रहे थे ॥ ९१ ॥

मुक्तकेशा विकवचाः क्षरन्तः क्षतजं क्षतैः ।
प्रापलायन्त संत्रस्तास्त्यक्त्वा रणशिरो जनाः ॥ ९२ ॥

लोगोंके बाल खुले हुए थे, कवच कटकर गिर गये थे और वे अत्यन्त भयभीत हो युद्धका मुहाना छोड़कर अपने घावोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए जान बचानेके लिये भाग रहे थे ॥ ९२ ॥

ऊरुग्राहगृहीताश्च केचित् तत्राभवन् भुवि ।
हतानां चापरे मध्ये द्विरदानां निलिल्यिरे ॥ ९३ ॥

कुछ लोग बिना हिले-डुले इस प्रकार भूमिपर खड़े थे, मानो उनकी जाँघें अकड़ गयी हों। दूसरे बहुत-से सैनिक वहाँ मारे गये हाथियोंके बीचमें जा छिपे थे ॥ ९३ ॥

एवं तव बलं राजन् द्रावयित्वा धनंजयः।
न्यवधीत् सायकैर्घोरैः सिन्धुराजस्य रक्षिणः ॥ ९४ ॥

राजन्! इस प्रकार अर्जुनने आपकी सेनाको भगाकर भयंकर बाणोंद्वारा सिंधुराजके रक्षकोंको मारना आरम्भ किया॥

द्रौणिं कृपं कर्णशल्यौ वृषसेनं सुयोधनम्।
छादयामास तीव्रेण शरजालेन पाण्डवः ॥ ९५ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने तीखे बाणसमूहसे अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शल्य, वृषसेन तथा दुर्योधनको आच्छादित कर दिया ॥ ९५ ॥

न गृह्णन् न क्षिपन् राजन् मुञ्चन्नापि च संदधत्।
अदृश्यतार्जुनः संख्ये शीघ्रास्त्रत्वात् कथंचन ॥ ९६ ॥

राजन्! उस समय युद्धस्थलमें अर्जुन इतनी फुर्तीसे बाण चलाते थे कि कोई किसी प्रकार भी यह न देख सका कि वे कब बाण लेते हैं, कब उसे धनुषपर रखते हैं, कब प्रत्यञ्चा खींचते हैं और कब वह बाण छोड़ते हैं ॥ ९६ ॥

धनुर्मण्डलमेवास्य दृश्यते स्मास्यतः सदा।
सायकाश्च व्यदृश्यन्त निश्चरन्तः समन्ततः ॥ ९७ ॥

निरन्तर बाण छोड़ते हुए अर्जुनका केवल मण्डलाकार धनुष ही लोगोंकी दृष्टिमें आता था एवं चारों ओर फैलते हुए उनके बाण भी दृष्टिगोचर होते थे ॥ ९७ ॥

कर्णस्य तु धनुश्छित्त्वा वृषसेनस्य चैव ह।
शल्यस्य सूतं भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ९८ ॥

अर्जुनने कर्ण और वृषसेनके धनुष काटकर एक भल्लके द्वारा शल्यके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥

गाढविद्धावुभौ कृत्वा शरैः स्वस्रीयमातुलौ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो द्रौणिशारद्वतौ रणे ॥ ९९ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने रणभूमिमें मामा-भानजे कृपाचार्य और अश्वत्थामा दोनोंको बाणोंद्वारा बींधकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ९९ ॥

एवं तान् व्याकुलीकृत्य त्वदीयानां महारथान्।
उज्जहार शरं घोरं पाण्डवोऽनलसंनिभम् ॥१००॥

इस प्रकार आपके उन महारथियोंको व्याकुल करके पाण्डुकुमार अर्जुनने एक अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर बाण निकाला ॥ १०० ॥

इन्द्राशनिसमप्रख्यं दिव्यमस्त्राभिमन्त्रितम्।
सर्वभारसहं शश्वद् गन्धमाल्यार्चितं महत् ॥१०१॥

वह दिव्य बाण दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित होकर इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहा था। वह सब प्रकारका भार सहन करनेमें समर्थ और महान् था। उसकी गन्ध और मालाओंद्वारा सदा पूजा की जाती थी ॥ १०१ ॥

वज्रेणास्त्रेण संयोज्य विधिवत् कुरुनन्दनः।
समादधन्महाबाहुर्गाण्डीवे क्षिप्रमर्जुनः ॥१०२॥

कुरुनन्दन महाबाहु अर्जुनने उस बाणको विधिपूर्वक वज्रास्त्रसे संयोजित करके शीघ्र ही गाण्डीव धनुषपर रक्खा ॥

तस्मिन् संधीयमाने तु शरे ज्वलनतेजसि।
अन्तरिक्षे महानादो भूतानामभवन्नृप ॥१०३॥

नरेश्वर! जब अर्जुन अग्निके समान तेजस्वी उस बाणका संधान करने लगे, उस समय आकाशचारी प्राणियोंमें महान् कोलाहल होने लगा ॥ १०३ ॥

अब्रवीच्च पुनस्तत्र त्वरमाणो जनार्दनः।
धनंजय शिरश्छिन्धि सैन्धवस्य दुरात्मनः ॥१०४॥

उस समय वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण पुनः उतावले होकर बोल उठे—'धनंजय! तुम दुरात्मा सिंधुराजका मस्तक शीघ्र काट लो ॥ १०४ ॥

अस्तं महीधरश्रेष्ठं यियासति दिवाकरः।
शृणुष्वैतच्च वाक्यं मे जयद्रथवधं प्रति ॥१०५॥

'क्योंकि सूर्य अब पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचलपर जाना ही चाहते हैं। जयद्रथ-वधके विषयमें तुम मेरी यह बात ध्यानसे सुन लो ॥ १०५ ॥

वृद्धक्षत्रः सैन्धवस्य पिता जगति विश्रुतः।
स कालेनेह महता सैन्धवं प्राप्तवान् सुतम् ॥१०६॥

सिंधुराजके पिता वृद्धक्षत्र इस जगत्में विख्यात हैं। उन्होंने दीर्घकालके पश्चात् इस सिंधुराज जयद्रथको अपने पुत्रके रूपमें प्राप्त किया ॥ १०६ ॥

जयद्रथममित्रघ्नं वागुवाचाशरीरिणी।
नृपमन्तर्हिता वाणी मेघदुन्दुभिनिःस्वना ॥१०७॥

'इसके जन्मकालमें मेघके समान गम्भीर स्वरवाली अदृश्य आकाशवाणीने शत्रुसूदन जयद्रथके विषयमें राजाको सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—॥ १०७ ॥

तवात्मजो मनुष्येन्द्र कुलशीलदमादिभिः।
गुणैर्भविष्यति विभो सदृशो वंशयोर्द्वयोः ॥१०८॥

'शक्तिशाली नरेन्द्र! तुम्हारा यह पुत्र कुल, शील और संयम आदि सद्गुणोंके द्वारा दोनों वंशोंके अनुरूप होगा ॥

क्षत्रियप्रवरो लोके नित्यं शूराभिसत्कृतः।
किं त्वस्य युध्यमानस्य संग्रामे क्षत्रियर्षभः ॥१०९॥
शिरश्छेत्स्यति संक्रुद्धः शत्रुरालक्षितो भुवि।

'इस जगत्के क्षत्रियोंमें यह श्रेष्ठ माना जायगा। शूरवीर सदा इसका सत्कार करेंगे; परंतु अन्त समयमें संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय कोई क्षत्रियशिरोमणि वीर इसका शत्रु होकर इसके सामने खड़ा हो क्रोधपूर्वक इसका मस्तक काट डालेगा'॥

एतच्छ्रुत्वा सिन्धुराजो ध्यात्वा चिरमरिंदमः ॥११०॥
ज्ञातीन् सर्वानुवाचेदं पुत्रस्नेहाभिचोदितः।

'यह सुनकर शत्रुओंका दमन करनेवाले सिंधुराज वृद्-

क्षत्र देरतक कुछ सोचते रहे, फिर पुत्रस्नेहसे प्रेरित हो वे समस्त जाति-भाइयोंसे इस प्रकार बोले—॥ ११०½ ॥

संग्रामे युध्यमानस्य वहतो महतीं धुरम् ॥१११॥
धरण्यां मम पुत्रस्य पातयिष्यति यः शिरः ।
तस्यापि शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः ॥११२॥

'संग्राममें युद्धतत्पर हो भारी भार वहन करते हुए मेरे इस पुत्रके मस्तकको जो पृथ्वीपर गिरा देगा, उसके सिरके भी सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे, इसमें संशय नहीं है' ॥

एवमुक्त्वा ततो राज्ये स्थापयित्वा जयद्रथम् ।
वृद्धक्षत्रो वनं यातस्तपश्चोग्रं समास्थितः ॥११३॥

'ऐसा कहकर समय आनेपर वृद्धक्षत्रने जयद्रथको राज्य-सिंहासनपर स्थापित कर दिया और स्वयं वनमें जाकर वे उग्र तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ११३ ॥

सोऽयं तप्यति तेजस्वी तपो घोरं दुरासदम् ।
समन्तपञ्चकादस्माद् बहिर्वानरकेतन ॥११४॥

'कपिध्वज अर्जुन ! वे तेजस्वी राजा वृद्धक्षत्र इस समय इस समन्तपञ्चक-क्षेत्रसे बाहर घोर एवं दुर्धर्ष तपस्या कर रहे हैं ॥ ११४ ॥

तस्माज्जयद्रथस्य त्वं शिरश्छित्त्वा महामृधे ।
दिव्येनास्त्रेण रिपुहन् घोरेणाद्भुतकर्मणा ॥११५॥
सकुण्डलं सिन्धुपतेः प्रभञ्जनसुतानुज ।
उत्सङ्गे पातयस्वास्य वृद्धक्षत्रस्य भारत ॥११६॥

'अतः शत्रुसूदन ! तुम अद्भुत कर्म करनेवाले किसी भयंकर दिव्यास्त्रके द्वारा इस महासमरमें सिंधुराज जयद्रथका कुण्डलसहित मस्तक काटकर उसे इस वृद्धक्षत्रकी गोदमें गिरा दो । भारत ! तुम भीमसेनके छोटे भाई हो (अतः सब कुछ कर सकते हो) ॥ ११५–११६ ॥

अथ त्वमस्य मूर्धानं पातयिष्यसि भूतले ।
तवापि शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः ॥११७॥

'यदि तुम इसके मस्तकको पृथ्वीपर गिराओगे तो तुम्हारे मस्तकके भी सौ टुकड़े हो जायँगे । इसमें संशय नहीं है॥

यथा चेदं न जानीयात् स राजा तपसि स्थितः ।
तथा कुरु कुरुश्रेष्ठ दिव्यमस्त्रमुपाश्रितः ॥११८॥

'कुरुश्रेष्ठ ! राजा वृद्धक्षत्र तपस्यामें संलग्न हैं । तुम दिव्यास्त्रका आश्रय लेकर ऐसा प्रयत्न करो, जिससे उसे इस बातका पता न चले' ॥ ११८ ॥

न ह्यसाध्यमकार्यं वा विद्यते तव किंचन ।
समस्तेष्वपि लोकेषु त्रिषु वासवनन्दन ॥११९॥

'इन्द्रकुमार ! सम्पूर्ण त्रिलोकीमें कोई ऐसा कार्य नहीं है, जो तुम्हारे लिये असाध्य हो अथवा जिसे तुम कर न सको' ॥ ११९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं सृक्किणी परिसंलिहन् ।
इन्द्राशनिसमस्पर्शं दिव्यमन्त्राभिमन्त्रितम् ॥१२०॥
सर्वभारसहं शश्वद् गन्धमाल्यार्चितं शरम् ।
विससर्जार्जुनस्तूर्णं सैन्धवस्य वधे धृतम् ॥१२१॥

श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अपने दोनों गलफर चाटते हुए अर्जुनने सिंधुराजके वधके लिये धनुषपर रक्खे हुए उस बाणको तुरंत ही छोड़ दिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था, जिसे दिव्य मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया था, जो सारे भारोंको सहनेमें समर्थ था और जिसकी प्रतिदिन चन्दन और पुष्पमालाद्वारा पूजा की जाती थी ॥

स तु गाण्डीवनिर्मुक्तः शरः श्येन इवाशुगः ।
छित्त्वा शिरः सिन्धुपतेरुत्पपात विहायसम् ॥१२२॥

गाण्डीव धनुषसे छूटा हुआ वह शीघ्रगामी बाण सिंधुराजका सिर काटकर बाज पक्षीके समान उसे आकाशमें ले उड़ा॥

तच्छिरः सिन्धुराजस्य शरैरूर्ध्वमवाहयत् ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां हर्षणाय च ॥१२३॥

सिंधुराज जयद्रथके उस मस्तकको उन्होंने बाणोंद्वारा ऊपर-ही-ऊपर ढोना आरम्भ किया । इससे अर्जुनके शत्रुओं-को बड़ा दुःख और मित्रोंको महान् हर्ष हुआ ॥ १२३ ॥

शरैः कदम्बकीकृत्य काले तस्मिंश्च पाण्डवः ।
योधयामास तांश्चैव पाण्डवः षण्महारथान् ॥१२४॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने एकके बाद एक करके अनेक बाण मारकर उस मस्तकको कदम्बके फूल-सा बना दिया । साथ ही वे पूर्वोक्त छः महारथियोंसे युद्ध भी करते रहे ॥ १२४ ॥

ततः सुमहदाश्चर्यं तत्रापश्याम भारत ।
समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिरो यद् व्यहरत् ततः ॥१२५॥

भारत ! उस समय हमने समन्तपञ्चकसे बाहर जहाँ वह बाण उस मस्तकको ले गया था, वहाँ बड़े भारी आश्चर्यकी घटना देखी ॥ १२५ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु वृद्धक्षत्रो महीपतिः ।
संध्यामुपास्ते तेजस्वी सम्बन्धी तव मारिष ॥१२६॥

आर्य ! इसी समय आपके तेजस्वी सम्बन्धी राजा वृद्ध-क्षत्र संध्योपासना कर रहे थे ॥ १२६ ॥

उपासीनस्य तस्याथ कृष्णकेशं सकुण्डलम् ।
सिन्धुराजस्य मूर्धानमुत्सङ्गे समपातयत् ॥१२७॥

संध्योपासनामें बैठे हुए वृद्धक्षत्रके अङ्कमें उस बाणने सिंधुराज जयद्रथका वह काले केशोंवाला कुण्डलमण्डित मस्तक डाल दिया ॥ १२७ ॥

तस्योत्सङ्गे निपतितं शिरस्तच्चारुकुण्डलम् ।
वृद्धक्षत्रस्य नृपतेरलक्षितमरिंदम ॥१२८॥

शत्रुदमन नरेश ! जयद्रथका वह सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित सिर राजा वृद्धक्षत्रकी गोदमें उनके बिना देखे ही गिर गया ॥ १२८ ॥

कृतजप्यस्य तस्याथ वृद्धक्षत्रस्य भारत ।
प्रोत्तिष्ठतस्तत् सहसा शिरोऽगच्छद् धरातलम् ॥ १२९ ॥

भरतनन्दन ! जप समाप्त करके जब वृद्धक्षत्र सहसा उठने लगे, तब उनकी गोदसे वह मस्तक पृथ्वीपर जा गिरा ॥

ततस्तस्य नरेन्द्रस्य पुत्रमूर्धनि भूतले ।
गते तस्यापि शतधा मूर्धागच्छदरिंदम ॥ १३० ॥

शत्रुदमन महाराज ! पुत्रका मस्तक पृथ्वीपर गिरते ही राजा वृद्धक्षत्रके मस्तकके भी सौ टुकड़े हो गये ॥ १३० ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ।
वासुदेवं च बीभत्सुं प्रशशंसुर्महारथम् ॥ १३१ ॥

तदनन्तर सारी सेनाएँ भारी आश्चर्यमें पड़ गयीं और सब लोग श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३१ ॥

ततो विनिहते राजन् सिन्धुराजे किरीटिना ।
तमस्तद् वासुदेवेन संहृतं भरतर्षभ ॥ १३२ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! किरीटधारी अर्जुनके द्वारा सिंधुराज जयद्रथके मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने रचे हुए अन्धकारको समेट लिया ॥ १३२ ॥

पश्चाज्ज्ञातं महीपाल तव पुत्रैः सहानुगैः ।
वासुदेवप्रयुक्तेयं मायेति नृपसत्तम ॥ १३३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महीपाल ! पीछे सेवकोंसहित आपके पुत्रोंको यह ज्ञात हुआ कि इस अन्धकारके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण-द्वारा फैलायी हुई माया थी ॥ १३३ ॥

एवं स निहतो राजन् पार्थेनामिततेजसा ।
अक्षौहिणीरष्ट हत्वा जामाता तव सैन्धवः ॥ १३४ ॥

राजन् ! इस प्रकार अमित तेजस्वी अर्जुनने आपकी आठ अक्षौहिणी सेनाओंके संहारकी पूर्ति करके आपके दामाद सिंधुराज जयद्रथको मार डाला ॥ १३४ ॥

हतं जयद्रथं दृष्ट्वा तव पुत्रा नराधिप ।
दुःखादश्रूणि मुमुचुर्निराशाश्चाभवञ्जये ॥ १३५ ॥

नरेश्वर ! जयद्रथको मारा गया देख आपके पुत्र दुःखसे आँसू बहाने लगे और अपनी विजयसे निराश हो गये ॥

ततो जयद्रथे राजन् हते पार्थेन केशवः ।
दध्मौ शङ्खं महाबाहुरर्जुनश्च परंतपः ॥ १३६ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमारद्वारा जयद्रथके मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण तथा शत्रुतापन महाबाहु अर्जुनने अपना-अपना शङ्ख बजाया ॥ १३६ ॥

भीमश्च वृष्णिसिंहश्च युधामन्युश्च भारत ।
उत्तमौजाश्च विक्रान्तः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १३७ ॥

भारत ! तत्पश्चात् भीमसेन, वृष्णिवंशके सिंह, युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजाने पृथक्-पृथक् शङ्ख बजाये ॥ १३७ ॥

श्रुत्वा महान्तं तं शब्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
सैन्धवं निहतं मेने फाल्गुनेन महात्मना ॥ १३८ ॥

उस महान् शङ्खनादको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरको यह निश्चय हो गया कि महात्मा अर्जुनने सिंधुराज जयद्रथको मार डाला ॥ १३८ ॥

ततो वादित्रघोषेण स्वान् योधान् पर्यहर्षयत् ।
अभ्यवर्तत संग्रामे भारद्वाजं युयुत्सया ॥ १३९ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिर भी विजयके बाजे बजवाकर अपने योद्धाओंका हर्ष बढ़ाने लगे । वे युद्धकी इच्छासे संग्रामभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने डटे रहे ॥ १३९ ॥

ततः प्रववृते राजन्नस्तंगच्छति भास्करे ।
द्रोणस्य सोमकैः सार्धं संग्रामो लोमहर्षणः ॥ १४० ॥

राजन् ! तदनन्तर सूर्यास्त होते समय द्रोणाचार्यका सोमकोंके साथ रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ गया ॥ १४० ॥

ते तु सर्वे प्रयत्नेन भारद्वाजं जिघांसवः ।
सैन्धवे निहते राजन्नयुध्यन्त महारथाः ॥ १४१ ॥

नरेश्वर ! सिंधुराजके मारे जानेपर समस्त सोमक महारथी द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे प्रयत्नपूर्वक युद्ध करने लगे ॥

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा सैन्धवं विनिहत्य च ।
अयोधयंस्तु ते द्रोणं जयोन्मत्तास्ततस्ततः ॥ १४२ ॥

पाण्डव सिंधुराजको मारकर विजय पा चुके थे । अतः वे विजयोल्लाससे उन्मत्त हो जहाँ-तहाँसे आकर द्रोणाचार्यके साथ युद्ध करने लगे ॥ १४२ ॥

अर्जुनोऽपि ततो योधांस्तावकान् रथसत्तमान् ।
अयोधयन्महाबाहुर्हत्वा सैन्धवकं नृपम् ॥ १४३ ॥

महाबाहु अर्जुनने भी सिंधुराजको मारकर आपके श्रेष्ठ रथी योद्धाओंके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ १४३ ॥

स देवशत्रूनिव देवराजः
किरीटमाली व्यधमत् समन्तात् ।
यथा तमांस्यभ्युदितस्तमोघ्नः
पूर्वप्रतिज्ञां समवाप्य वीरः ॥ १४४ ॥

जैसे देवराज इन्द्र देवशत्रुओंका संहार करते हैं तथा जैसे तिमिरारि सूर्य उदित होकर अन्धकारका विनाश कर डालते हैं, उसी प्रकार किरीटधारी वीर अर्जुनने अपनी पहली प्रतिज्ञा पूरी करके सब ओरसे आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ १४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि जयद्रथवधे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें जयद्रथवधविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

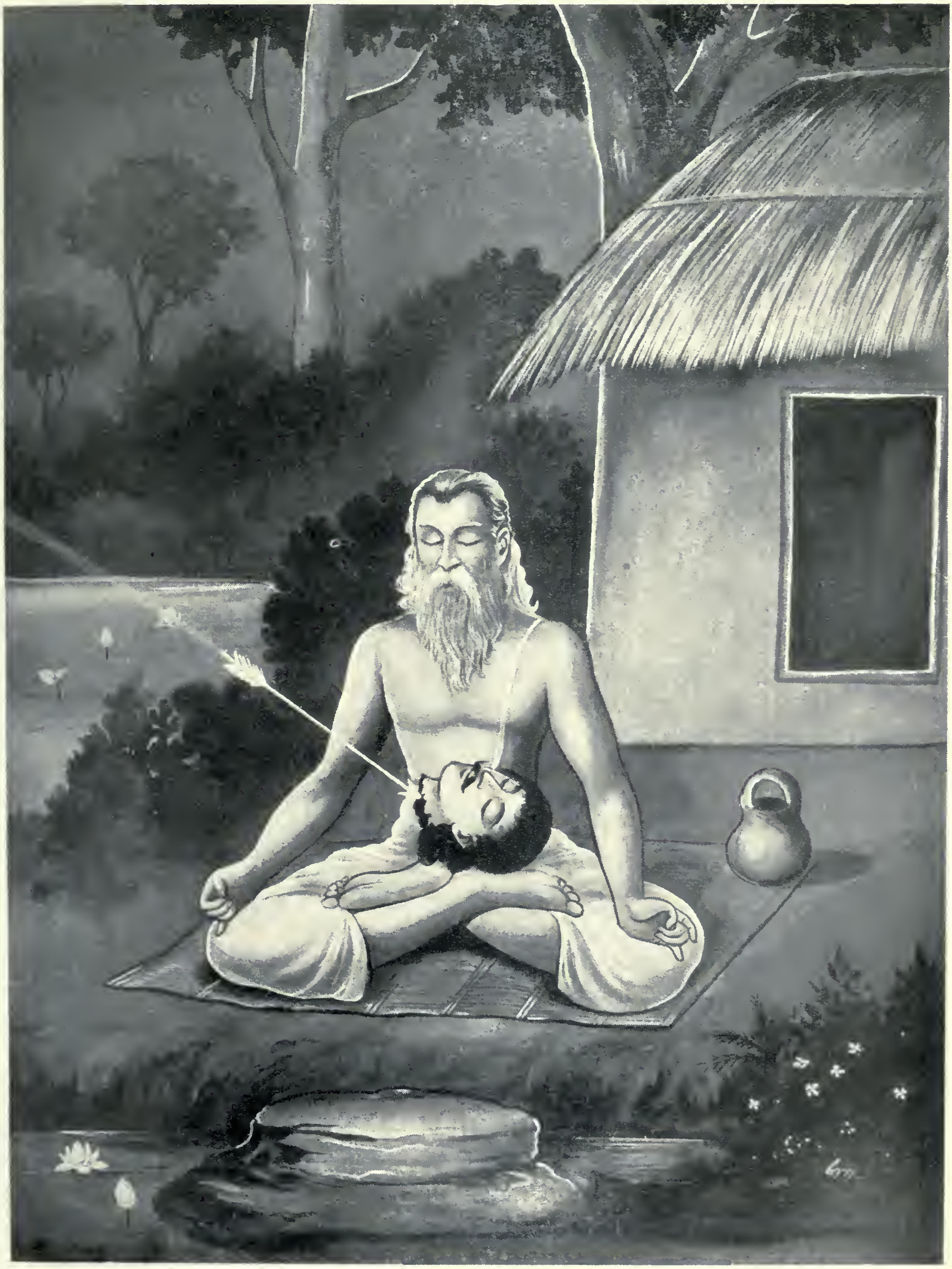

जयद्रथके कटे हुए मस्तकका उसके पिताकी गोदमें गिरना

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके बाणोंसे कृपाचार्यका मूर्छित होना, अर्जुनका खेद तथा कर्ण और सात्यकिका युद्ध एवं कर्णकी पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन् विनिहते वीरे सैन्धवे सव्यसाचिना।
मामका यदकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! सव्यसाची अर्जुनके द्वारा वीर सिंधुराजके मारे जानेपर मेरे पुत्रोंने क्या किया? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा रणे पार्थेन भारत।
अमर्षवशमापन्नः कृपः शारद्वतस्ततः ॥ २ ॥
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत्।
द्रौणिश्चाभ्यद्रवद् राजन् रथमास्थाय फाल्गुनम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—भरतनन्दन! सिंधुराजको अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें मारा गया देख शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अमर्षके वशीभूत हो बाणकी भारी वर्षा करके पाण्डुपुत्र अर्जुनको आच्छादित करने लगे। राजन्! द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने भी रथपर बैठकर अर्जुनपर धावा किया ॥ २-३ ॥

तावेतौ रथिनां श्रेष्ठौ रथाभ्यां रथसत्तमौ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैर्विशिखैरभ्यवर्षताम् ॥ ४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों महारथी दो दिशाओंसे आकर अर्जुनपर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४ ॥

स तथा शरवर्षाभ्यां सुमहद्भ्यां महाभुजः।
पीड्यमानः परामार्तिमगमद् रथिनां वरः ॥ ५ ॥

इस प्रकार दो दिशाओंसे होनेवाली उस भारी बाण-वर्षासे पीड़ित हो रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ ५ ॥

सोऽजिघांसुर्गुरुं संख्ये गुरोस्तनयमेव च।
चकाराचार्यकं तत्र कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ६ ॥

वे युद्धस्थलमें गुरु तथा गुरुपुत्रका वध करना नहीं चाहते थे। अतः कुन्तीपुत्र धनंजयने वहाँ अपने आचार्यका सम्मान किया ॥ ६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्रौणेः शारद्वतस्य च।
मन्दवेगानिषूंस्ताभ्यामजिघांसुरवासृजत् ॥ ७ ॥

उन्होंने अपने अस्त्रोंद्वारा अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके अस्त्रोंका निवारण करके उनका वध करनेकी इच्छा न रखते हुए उनके ऊपर मन्द वेगवाले बाण चलाये ॥ ७ ॥

ते चापि भृशमभ्यघ्नन् विशिखाः पार्थचोदिताः।
बहुत्वात् तु परामार्तिं शराणां तावगच्छताम् ॥ ८ ॥

अर्जुनके चलाये हुए उन बाणोंकी संख्या अधिक होनेके कारण उनके द्वारा उन दोनोंको भारी चोट पहुँची। वे बड़ी वेदनाका अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

अथ शारद्वतो राजन् कौन्तेयशरपीडितः।
अवासीदद् रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ॥ ९ ॥

राजन्! कृपाचार्य अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो मूर्छित हो गये और रथके पिछले भागमें जा बैठे ॥ ९ ॥

विह्वलं तमभिज्ञाय भर्तारं शरपीडितम्।
हतोऽयमिति च ज्ञात्वा सारथिस्तमपावहत् ॥ १० ॥

अपने स्वामीको बाणोंसे पीड़ित एवं विह्वल जानकर और उन्हें मरा हुआ समझकर सारथि रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ १० ॥

तस्मिन् भग्ने महाराज कृपे शारद्वते युधि।
अश्वत्थामाप्यपायासीत् पाण्डवेयाद् रथान्तरम् ॥ ११ ॥

महाराज! युद्धस्थलमें शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके अचेत होकर वहाँसे हट जानेपर अश्वत्थामा भी अर्जुनको छोड़कर दूसरे किसी रथीका सामना करनेके लिये चला गया ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा शारद्वतं पार्थो मूर्च्छितं शरपीडितम्।
रथ एव महेष्वासः सकृपं पर्यदेवयत् ॥ १२ ॥
अश्रुपूर्णमुखो दीनो वचनं चेदमब्रवीत्।

कृपाचार्यको बाणोंसे पीड़ित एवं मूर्छित देखकर महा-धनुर्धर कुन्तीकुमार अर्जुन दयावश रथपर बैठे-बैठे ही विलाप करने लगे। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वे दीनभावसे इस प्रकार कहने लगे—॥ १२½ ॥

पश्यन्निदं महाप्राज्ञः क्षत्ता राजानमुक्तवान् ॥ १३ ॥
कुलान्तकरणे पापे जातमात्रे सुयोधने।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥
अस्माद्धि कुरुमुख्यानां महदुत्पत्स्यते भयम्।

'जिस समय कुलान्तकारी पापी दुर्योधनका जन्म हुआ था, उस समय महाज्ञानी विदुरजीने यही सब विनाशकारी परिणाम देखकर राजा धृतराष्ट्रसे कहा था कि 'इस कुलाङ्गार बालकको परलोक भेज दिया जाय, यही अच्छा होगा; क्योंकि इससे प्रधान-प्रधान कुरुवंशियोंको महान् भय उत्पन्न होगा' ॥ १३-१४½ ॥

तदिदं समनुप्राप्तं वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
तत्कृते ह्यद्य पश्यामि शरतल्पगतं गुरुम्।
धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ॥ १६ ॥

'सत्यवादी विदुरजीका वह कथन आज सत्य हो रहा

है । दुर्योधनके ही कारण आज मैं अपने गुरुको शर-शय्यापर पड़ा देखता हूँ । क्षत्रियके आचार, बल और पुरुषार्थको धिक्कार है ! धिक्कार है !! १५-१६ ॥

को हि ब्राह्मणमाचार्यमभिद्रुह्येत मादृशः ।
ऋषिपुत्रो ममाचार्यो द्रोणस्य परमः सखा ॥ १७ ॥
एष शेते रथोपस्थे कृपो मद्बाणपीडितः ।

'मेरे-जैसा कौन पुरुष ब्राह्मण एवं आचार्यसे द्रोह करेगा ? ये ऋषिकुमार, मेरे आचार्य तथा गुरुवर द्रोणाचार्यके परम सखा कृप मेरे बाणोंसे पीड़ित हो रथकी बैठकमें पड़े हैं ॥ १७½ ॥

अकामयानेन मया विशिखैरर्दितो भृशम् ॥ १८ ॥
अवसीदन् रथोपस्थे प्राणान् पीडयतीव मे ।

'मैंने इच्छा न रहते हुए भी उन्हें बाणोंद्वारा अधिक चोट पहुँचायी है । वे रथकी बैठकमें पड़े-पड़े कष्ट पा रहे हैं और मुझे अत्यन्त पीड़ित-सा कर रहे हैं ॥ १८½ ॥

पुत्रशोकाभितप्तेन शरैरभ्यर्दितेन च ॥ १९ ॥
अभ्यस्तो बहुभिर्बाणैर्दशधर्मगतेन वै ।

'मैंने पुत्रशोकसे संतप्त, बाणोंद्वारा पीड़ित तथा भारी दुरवस्थाको प्राप्त होकर बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्हें अनेक बार चोट पहुँचायी है ॥ १९½ ॥

शोचयत्येष नियतं भूयः पुत्रवधाद्धि माम् ॥ २० ॥
कृपणं स्वरथे सन्नं पश्य कृष्ण यथागतम् ।

'निश्चय ही ये कृपाचार्य आहत होकर मुझे पुत्रवधकी अपेक्षा भी अधिक शोकमें डाल रहे हैं । श्रीकृष्ण ! देखिये, वे अपने रथपर कैसे सन्न और दीन होकर पड़े हैं ॥ २०½ ॥

उपाकृत्य तु वै विद्यामाचार्येभ्यो नरर्षभाः ॥ २१ ॥
प्रयच्छन्तीह ये कामान् देवत्वमुपयान्ति ते ।

'आचार्योंसे विद्या ग्रहण करके जो श्रेष्ठ पुरुष उन्हें उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देते हैं, वे देवत्वको प्राप्त होते हैं ।२१½

ये च विद्यामुपादाय गुरुभ्यः पुरुषाधमाः ॥ २२ ॥
घ्नन्ति तानेव दुर्वृत्तास्ते वै निरयगामिनः ।

'गुरुसे विद्या ग्रहण करके जो नराधम उनपर ही चोट करते हैं, वे दुराचारी मानव निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ २२½ ॥

तदिदं नरकायाद्य कृतं कर्म मया ध्रुवम् ॥ २३ ॥
आचार्यं शरवर्षेण रथे सादयता कृपम् ।

'मैंने आचार्य कृपको अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा रथपर सुला दिया है । निश्चय ही यह कर्म मैंने आज नरकमें जानेके लिये ही किया है ॥ २३½ ॥

यत् तत् पूर्वमुपाकुर्वन्नस्त्रं मामब्रवीत् कृपः ॥ २४ ॥
न कथंचन कौरव्य प्रहर्तव्यं गुराविति ।

'पूर्वकालमें मुझे अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर कृपाचार्यने जो मुझसे यह कहा था कि 'कुरुनन्दन ! तुम्हें गुरुके ऊपर किसी प्रकार भी प्रहार नहीं करना चाहिये' ॥२४½॥

तदिदं वचनं साधोराचार्यस्य महात्मनः ॥ २५ ॥
नानुष्ठितं तमेवाजौ विशिखैरभिवर्षता ।

'उन श्रेष्ठ महात्मा आचार्यका यह वचन युद्धस्थलमें उन्हींपर बाणोंकी वर्षा करके मैंने नहीं माना है ॥ २५½ ॥

नमस्तस्मै सुपूज्याय गौतमायापलायिने ॥ २६ ॥
धिगस्तु मम वार्ष्णेय यदस्मै प्रहराम्यहम् ।

'वार्ष्णेय ! युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले उन परम पूजनीय गौतमवंशी कृपाचार्यको मेरा नमस्कार है । मैं जो उनपर प्रहार करता हूँ, इसके लिये मुझे धिक्कार है' ।२६½।

तथा विलपमाने तु सव्यसाचिनि तं प्रति ॥ २७ ॥
सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा राधेयः समुपाद्रवत् ।

सव्यसाची अर्जुन कृपाचार्यके लिये विलाप कर ही रहे थे कि सिंधुराजको मारा गया देख राधानन्दन कर्णने उनपर धावा कर दिया ॥ २७½ ॥

तमापतन्तं राधेयमर्जुनस्य रथं प्रति ॥ २८ ॥
पाञ्चाल्यौ सात्यकिश्चैव सहसा समुपाद्रवन् ।

राधापुत्र कर्णको अर्जुनके रथकी ओर आते देख दोनों भाई पाञ्चालराजकुमार (युधामन्यु और उत्तमौजा) तथा सात्वतवंशी सात्यकि सहसा उसकी ओर दौड़े ॥ २८½ ॥

उपायान्तं तु राधेयं दृष्ट्वा पार्थो महारथः ॥ २९ ॥
प्रहसन् देवकीपुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ।

राधापुत्रको अपने समीप आते देख महारथी कुन्तीकुमार अर्जुनने देवकीनन्दन श्रीकृष्णसे हँसते हुए कहा—॥ २९½ ॥

एष प्रयात्याधिरथिः सात्यकेः स्यन्दनं प्रति ॥ ३० ॥
न मृष्यति हतं नूनं भूरिश्रवसमाहवे ।

'यह अधिरथपुत्र कर्ण सात्यकिके रथकी ओर जा रहा है । अवश्य ही युद्धस्थलमें भूरिश्रवाका मारा जाना इसके लिये असह्य हो उठा है ॥ ३०½ ॥

यत्र यात्येष तत्र त्वं चोदयाश्वान् जनार्दन ॥ ३१ ॥
न सौमदत्तिपदवीं गमयेत् सात्यकिं वृषः ।

'जनार्दन ! यह जहाँ जाता है, वहीं आप भी अपने घोड़ोंको हाँकिये । कहीं ऐसा न हो कि कर्ण सात्यकिको भूरिश्रवाके पथपर पहुँचा दे' ॥ ३१½ ॥

एवमुक्तो महाबाहुः केशवः सव्यसाचिना ॥ ३२ ॥
प्रत्युवाच महातेजाः कालयुक्तमिदं वचः ।

सव्यसाची अर्जुनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महाबाहु केशवने उनसे यह समयोचित वचन कहा—॥ ३२½ ॥

अलमेष महाबाहुः कर्णायैकोऽपि पाण्डव ॥ ३३ ॥

किं पुनर्द्रौपदेयाभ्यां सहितः सात्वतर्षभः ।

'पाण्डुनन्दन ! यह महाबाहु सात्वतशिरोमणि सात्यकि अकेला भी कर्णके लिये पर्याप्त है। फिर इस समय जब द्रुपदके दोनों पुत्र इसके साथ हैं, तब तो कहना ही क्या है ॥ ३३½ ॥

न च तावत् क्षमः पार्थ तव कर्णेन सङ्गरः ॥ ३४ ॥
प्रज्वलन्ती महोल्केव तिष्ठत्यस्य हि वासवी ।

'कुन्तीकुमार ! इस समय कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध होना ठीक नहीं है; क्योंकि उसके पास बड़ी भारी उल्काके समान प्रज्वलित होनेवाली इन्द्रकी दी हुई शक्ति है ३४½

त्वदर्थं पूज्यमानैषा रक्ष्यते परवीरहन् ॥ ३५ ॥
अतः कर्णः प्रयात्वत्र सात्वतस्य यथातथा ।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन ! तुम्हारे लिये कर्ण उसकी प्रतिदिन पूजा करते हुए उसे सदा सुरक्षित रखता है; अतः कर्ण सात्यकिके पास जैसे-तैसे जाय और युद्ध करे ॥ ३५½ ॥

अहं ज्ञास्यामि कौन्तेय कालमस्य दुरात्मनः ।
यत्रैनं विशिखैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यसि भूतले ॥ ३६ ॥

'कुन्तीकुमार ! मैं उस दुरात्माका अन्तकाल जानता हूँ, जब कि तुम अपने तीखे बाणोंद्वारा उसे पृथ्वीपर मार गिराओगे' ॥ ३६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

योऽसौ कर्णेन वीरस्य वार्ष्णेयस्य समागमः ।
हते तु भूरिश्रवसि सैन्धवे च निपातिते ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भूरिश्रवाके मारे जाने और सिंधुराजके धराशायी किये जानेपर कर्णके साथ वीरवर सात्यकिका जो संग्राम हुआ, वह कैसा था ? ॥ ३७ ॥

सात्यकिश्चापि विरथः कं समारूढवान् रथम् ।
चक्ररक्षौ च पाञ्चाल्यौ तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३८॥

संजय ! सात्यकि भी तो रथहीन हो चुके थे । वे किस रथपर आरूढ़ हुए तथा चक्ररक्षक युधामन्यु और उत्तमौजा इन दोनों पाञ्चाल वीरोंने किसके साथ युद्ध किया ? यह सब मुझे बताओ ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथा वृत्तं महारणे ।
शुश्रूषस्व स्थिरो भूत्वा दुराचरितमात्मनः ॥ ३९ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैं बड़े खेदके साथ उस महासमरमें घटित हुई घटनाओंका आपके समक्ष वर्णन करूँगा । आप स्थिर होकर अपने दुराचारका परिणाम सुनें ॥

पूर्वमेव हि कृष्णस्य मनोगतमिदं प्रभो ।
विजेतव्यो यथा वीरः सात्यकिः सौमदत्तिना ॥ ४० ॥

प्रभो ! भगवान् श्रीकृष्णके मनमें पहले ही यह बात आ गयी थी कि आज वीर सात्यकिको सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा परास्त कर देगा ॥ ४० ॥

अतीतानागते राजन् स हि वेत्ति जनार्दनः ।
ततः सूतं समाहूय दारुकं संदिदेश ह ॥ ४१ ॥
रथो मे युज्यतां कल्यमिति राजन् महाबलः ।
न हि देवा न गन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ॥ ४२ ॥
मानवा वापि जेतारः कृष्णयोः सन्ति केचन ।

राजन् ! वे जनार्दन भूत और भविष्य दोनों कालोंको जानते हैं । इसीलिये उन्होंने अपने सारथि दारुकको बुलाकर पहले ही दिन यह आज्ञा दे दी थी कि कल सबेरेसे ही मेरा रथ जोतकर तैयार रखना । महाराज ! श्रीकृष्णका बल महान् है । श्रीकृष्ण और अर्जुनको परास्त करनेवाले न तो कोई देवता हैं, न गन्धर्व हैं, न यक्ष, नाग तथा राक्षस हैं और न मनुष्य ही हैं ॥४१-४२½॥

पितामहपुरोगाश्च देवाः सिद्धाश्च तं विदुः ॥ ४३ ॥
तयोः प्रभावमतुलं शृणु युद्धं तु तत् तथा ।

उन्हें ब्रह्मा आदि देवता और सिद्ध पुरुष ही यथार्थ रूपसे जान पाते हैं । उन दोनोंके प्रभावकी कहीं तुलना नहीं है । अच्छा, अब युद्धका वृत्तान्त सुनिये ॥ ४३½ ॥

सात्यकिं विरथं दृष्ट्वा कर्णं चाभ्युद्यतं रणे ॥ ४४ ॥
दध्मौ शङ्खं महानादमार्षभेणाथ माधवः ।

सात्यकिको रथहीन और कर्णको युद्धके लिये उद्यत देख भगवान् श्रीकृष्णने बड़े जोरकी ध्वनि करनेवाले शङ्खको ऋषभस्वरसे बजाया ॥ ४४½ ॥

दारुकोऽवेत्य संदेशं श्रुत्वा शङ्खस्य च स्वनम् ॥ ४५ ॥
रथमन्वानयत् तस्मै सुपर्णोच्छ्रितकेतनम् ।

दारुकने उस शङ्खध्वनिको सुनकर भगवान्‌के संदेशको स्मरण करके तुरंत ही उनके लिये अपना रथ ला दिया, जिसपर गरुड़चिह्नसे युक्त ऊँची ध्वजा फहरा रही थी ४५½

स केशवस्यानुमते रथं दारुकसंयुतम् ॥ ४६ ॥
आरुरोह शिनेः पौत्रो ज्वलनादित्यसंनिभम् ।

भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमति पाकर शिनिपौत्र सात्यकि दारुकद्वारा जोते हुए अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी उस रथपर आरूढ़ हुए ॥ ४६½ ॥

कामगैः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ॥ ४७ ॥
हयोदग्रैर्महावेगैर्हेमभाण्डविभूषितैः ।
युक्तं समारुह्य च तं विमानप्रतिमं रथम् ॥ ४८ ॥
अभ्यद्रवत राधेयं प्रवपन् सायकान् बहून् ।

उसमें इच्छानुसार चलनेवाले महान् वेगशाली और सुवर्णमय अलङ्कारोंसे विभूषित शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प

और बलाहक नामवाले श्रेष्ठ अश्व जुते हुए थे। वह रथ विमानके समान जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ होकर बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिने राधापुत्र कर्णपर धावा किया ॥ ४७-४८½ ॥

चक्ररक्षावपि तदा युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ४९ ॥
धनंजयरथं हित्वा राधेयं प्रत्युदीयतुः ।

उस समय चक्ररक्षक युधामन्यु और उत्तमौजाने भी धनंजयका रथ छोड़कर कर्णपर ही आक्रमण किया ४९½

राधेयोऽपि महाराज शरवर्षं समुत्सृजन् ॥ ५० ॥
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धो रणे शैनेयमच्युतम् ।

महाराज ! अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए कर्णने भी उस युद्धस्थलमें अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले सात्यकिपर बाणोंकी वर्षा करते हुए धावा किया ॥ ५०½ ॥

नैव दैवं न गान्धर्वं नासुरं न च राक्षसम् ॥ ५१ ॥
तादृशं भुवि नो युद्धं दिवि वा श्रुतमित्युत ।

राजन् ! मैंने इस पृथ्वीपर या स्वर्गमें देवताओं, गन्धर्वों, असुरों तथा राक्षसोंका भी वैसा युद्ध नहीं सुना था ५१½

उपारमत तत् सैन्यं सरथाश्वनरद्विपम् ॥ ५२ ॥
तयोर्दृष्ट्वा महाराज कर्म सम्मूढचेतसः ।
सर्वे च समपश्यन्त तद् युद्धमतिमानुषम् ॥ ५३ ॥
तयोर्नृवरयो राजन् सारथ्यं दारुकस्य च ।

महाराज ! उन दोनोंका वह संग्राम देखकर सबके चित्तमें मोह छा गया। राजन् ! सभी दर्शकके समान उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंके उस अतिमानव युद्धको और दारुकके सारथ्य कर्मको देखने लगे। हाथी, घोड़े, रथ और मनुष्योंसे युक्त वह चतुरंगिणी सेना भी युद्धसे उपरत हो गयी थी ।५२-५३½।

गतप्रत्यागतावृत्तैर्मण्डलैः संनिवर्तनैः ॥ ५४ ॥
सारथेस्तु रथस्थस्य काश्यपेयस्य विस्मिताः ।
नभस्तलगताश्चैव देवगन्धर्वदानवाः ॥ ५५ ॥
अतीवावहिता द्रष्टुं कर्णशैनेययो रणम् ।
मित्रार्थे तौ पराक्रान्तौ शुष्मिणौ स्पर्धिनौ रणे ॥ ५६ ॥

रथपर बैठे हुए कश्यपगोत्रीय सारथि दारुकके रथ-संचालनकी गमन, प्रत्यागमन, आवर्तन, मण्डल तथा संनिवर्तन आदि विविध रीतियोंसे आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और दानव भी चकित हो उठे तथा कर्ण और सात्यकिके युद्धको देखनेके लिये अत्यन्त सावधान हो गये। वे दोनों बलवान् वीर रणभूमिमें एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए अपने-अपने मित्रके लिये पराक्रम दिखा रहे थे ।५४-५६।

कर्णश्चामरसंकाशो युयुधानश्च सात्यकिः ।
अन्योन्यं तौ महाराज शरवर्षैरवर्षताम् ॥ ५७ ॥

महाराज ! देवताओंके समान तेजस्वी कर्ण तथा सत्यकपुत्र युयुधान दोनों एक दूसरेपर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥

प्रममाथ शिनेः पौत्रं कर्णः सायकवृष्टिभिः ।
अमृष्यमाणो निधनं कौरव्यजलसंधयोः ॥ ५८ ॥

कर्णने भूरिश्रवा और जलसंधके वधको सहन न करनेके कारण अपने बाणोंकी वर्षासे शिनिपौत्र सात्यकिको मथ डाला ॥ ५८ ॥

कर्णः शोकसमाविष्टो महोरग इव श्वसन् ।
स शैनेयं रणे क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा ॥ ५९ ॥
अभ्यधावत वेगेन पुनः पुनररिंदम ।

शत्रुदमन नरेश ! कर्ण उन दोनोंकी मृत्युसे शोकमग्न हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लंबी साँसें खींच रहा था। वह युद्धमें क्रुद्ध हो अपने नेत्रोंसे सात्यकिकी ओर इस प्रकार देख रहा था, मानो वह उन्हें जलाकर भस्म कर देगा। उसने बारंबार वेगपूर्वक सात्यकिपर धावा किया ॥५९½॥

तं तु सक्रोधमालोक्य सात्यकिः प्रत्ययुध्यत ॥ ६० ॥
महता शरवर्षेण गजं प्रति गजो यथा ।

कर्णको कुपित देख सात्यकि बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करते हुए उसका सामना करने लगे, मानो एक हाथी दूसरे हाथीसे लड़ रहा हो ॥ ६०½ ॥

तौ समेतौ नरव्याघ्रौ व्याघ्राविव तरस्विनौ ॥ ६१ ॥
अन्योन्यं संततक्षाते रणेऽनुपमविक्रमौ ।

वेगशाली व्याघ्रोंके समान परस्पर भिड़े हुए वे दोनों पुरुषसिंह युद्धमें अनुपम पराक्रम दिखाते हुए एक दूसरेको क्षत-विक्षत कर रहे थे ॥ ६१½ ॥

ततः कर्णं शिनेः पौत्रः सर्वपारसवैः शरैः ॥ ६२ ॥
बिभेद सर्वगात्रेषु पुनः पुनररिंदम ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ६३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! तदनन्तर शिनिपौत्र सात्यकिने सम्पूर्णतः लोहमय बाणोंद्वारा कर्णको उसके सारे अङ्गोंमें बारंबार चोट पहुँचायी और एक भल्लद्वारा उसके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ६२-६३

अश्वांश्च चतुरः श्वेतान् निजघान शितैः शरैः ।
छित्त्वा ध्वजं रथं चैव शतधा पुरुषर्षभ ॥ ६४ ॥
चकार विरथं कर्णं तव पुत्रस्य पश्यतः ।

नरश्रेष्ठ ! इसके बाद सात्यकिने तीखे बाणोंद्वारा कर्णके चारों श्वेत घोड़ोंको मार डाला और उसके ध्वजको काटकर रथके सैकड़ों टुकड़े करके आपके पुत्रके देखते-देखते कर्णको रथहीन कर दिया ॥ ६४½ ॥

ततो विमनसो राजंस्तावकास्ते महारथाः ॥ ६५ ॥
वृषसेनः कर्णसुतः शल्यो मद्राधिपस्तथा ।
द्रोणपुत्रश्च शैनेयं सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ६६ ॥

राजन्! इससे खिन्नचित्त होकर आपके महारथी वीर कर्ण-पुत्र वृषसेन, मद्रराज शल्य तथा द्रोणकुमार अश्वत्थामाने सात्यकिको सब ओरसे घेर लिया ॥ ६५-६६ ॥

ततः पर्याकुलं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन।
तथा सात्यकिना वीरे विरथे सूतजे कृते ॥ ६७ ॥

सात्यकिके द्वारा वीरवर सूतपुत्र कर्णके रथहीन कर दिये जानेपर सारा सैन्यदल सब ओरसे व्याकुल हो उठा। किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ६७ ॥

हाहाकारस्ततो राजन् सर्वसैन्येष्वभून्महान्।
कर्णोऽपि विरथो राजन् सात्वतेन कृतः शरैः ॥ ६८ ॥
दुर्योधनरथं तूर्णमारुरोह विनिःश्वसन्।

राजन्! उस समय सारी सेनाओंमें महान् हाहाकार होने लगा। महाराज! सात्यकिके बाणोंसे रथहीन किया गया कर्ण भी लंबी साँस खींचता हुआ तुरंत ही दुर्योधनके रथपर जा बैठा ॥ ६८½ ॥

मानयंस्तव पुत्रस्य बाल्यात् प्रभृति सौहृदम् ॥ ६९ ॥
कृतां राज्यप्रदानेन प्रतिज्ञां परिपालयन्।

बचपनसे लेकर सदा ही किये हुए आपके पुत्रके सौहार्दका वह समादर करता था और दुर्योधनको राज्य दिलानेकी जो उसने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी, उसके पालनमें वह तत्पर था ॥ ६९½ ॥

तथा तु विरथं कर्णं पुत्रांश्च तव पार्थिव ॥ ७० ॥
दुःशासनमुखान् वीरान् नावधीत् सात्यकिर्वशी।
रक्षन् प्रतिज्ञां भीमेन पार्थेन च पुराकृताम् ॥ ७१ ॥

राजन्! अपने मनको वशमें करनेवाले सात्यकिने रथहीन हुए कर्णको तथा दुःशासन आदि आपके वीर पुत्रोंको भी उस समय इसलिये नहीं मारा कि वे भीमसेन और अर्जुनकी पहलेसे की हुई प्रतिज्ञाकी रक्षा कर रहे थे ॥ ७०-७१ ॥

विरथान् विह्वलांश्चक्रे न तु प्राणैर्व्ययोजयत्।
भीमसेनेन तु वधः पुत्राणां ते प्रतिश्रुतः ॥ ७२ ॥
अनुद्यूते च पार्थेन वधः कर्णस्य संश्रुतः।

उन्होंने उन सबको रथहीन और अत्यन्त व्याकुल तो कर दिया, परंतु उनके प्राण नहीं लिये। जब दुबारा द्यूत हुआ था, उस समय भीमसेनने आपके पुत्रोंके वधकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनने कर्णको मार डालनेकी घोषणा की थी ॥७२½॥

वधे त्वकुर्वन् यत्नं ते तस्य कर्णमुखास्तदा ॥ ७३ ॥
नाशक्नुवंस्ततो हन्तुं सात्यकिं प्रवरा रथाः।

कर्ण आदि श्रेष्ठ महारथियोंने सात्यकिके वधके लिये पूरा प्रयत्न किया; परंतु वे उन्हें मार न सके ॥ ७३½ ॥

द्रौणिश्च कृतवर्मा च तथैवान्ये महारथाः ॥ ७४ ॥
निर्जिता धनुषैकेन शतशः क्षत्रियर्षभाः।
काङ्क्षता परलोकं च धर्मराजस्य च प्रियम् ॥ ७५ ॥

अश्वत्थामा, कृतवर्मा, अन्यान्य महारथी तथा सैकड़ों क्षत्रियशिरोमणि सात्यकिद्वारा एकमात्र धनुषसे परास्त कर दिये गये। सात्यकि धर्मराजका प्रिय करना और परलोकपर विजय पाना चाहते थे ॥ ७४-७५ ॥

कृष्णयोः सदृशो वीर्ये सात्यकिः शत्रुतापनः।
जितवान् सर्वसैन्यानि तावकानि हसन्निव ॥ ७६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि श्रीकृष्ण और अर्जुनके समान पराक्रमी थे। उन्होंने आपकी सारी सेनाओंको हँसते हुए-से जीत लिया था ॥ ७६ ॥

कृष्णो वापि भवेल्लोके पार्थो वापि धनुर्धरः।
शैनेयो वा नरव्याघ्र चतुर्थस्तु न विद्यते ॥ ७७ ॥

नरव्याघ्र! संसारमें श्रीकृष्ण, कुन्तीकुमार अर्जुन और शिनिपौत्र सात्यकि—ये तीन ही वास्तवमें धनुर्धर हैं। इनके समान चौथा कोई नहीं है ॥ ७७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजय्यं वासुदेवस्य रथमास्थाय सात्यकिः।
विरथं कृतवान् कर्णं वासुदेवसमो युधि ॥ ७८ ॥
दारुकेण समायुक्तः स्वबाहुबलदर्पितः।
कच्चिदन्यं समारूढः सात्यकिः शत्रुतापनः ॥ ७९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! सात्यकि युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णके समान हैं। उन्होंने श्रीकृष्णके ही अजेय रथपर आरूढ़ होकर कर्णको रथहीन कर दिया। उस समय उनके साथ दारुक-जैसा सारथि था और उन्हें अपने बाहुबलका अभिमान तो था ही; परंतु शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि क्या किसी दूसरे रथपर भी आरूढ़ हुए थे? ७८-७९

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कुशलो ह्यसि भाषितुम्।
असह्यं तमहं मन्ये तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ८० ॥

मैं यह सुनना चाहता हूँ। तुम कथा कहनेमें बड़े कुशल हो। मैं तो सात्यकिको किसीके लिये भी असह्य मानता हूँ, अतः संजय! तुम मुझसे सारी बातें स्पष्टरूपसे बताओ ॥ ८० ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं रथमन्यं महामतिः।
दारुकस्यानुजस्तूर्णं कल्पनाविधिकल्पितम् ॥ ८१ ॥

संजयने कहा—राजन्! सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनिये। दारुकका एक छोटा भाई था, जो बड़ा बुद्धिमान् था। वह तुरंत ही रथ सजानेकी विधिसे सुसज्जित किया हुआ एक दूसरा रथ ले आया ॥ ८१ ॥

आयसैः काञ्चनैश्चापि पट्टैः संनद्धकूबरम्।
तारासहस्रखचितं सिंहध्वजपताकिनम् ॥ ८२ ॥

लोहे और सोनेके पट्टोंसे उसका कूबर अच्छी तरह

कसा हुआ था। उसमें सहस्रों तारे जड़े गये थे। उसकी ध्वजा-पताकाओंमें सिंहका चिह्न बना हुआ था ॥ ८२ ॥

अश्वैर्वातजवैर्युक्तं हेमभाण्डपरिच्छदैः।
सैन्धवैरिन्दुसंकाशैः सर्वशब्दातिगैर्दृढैः ॥ ८३ ॥

उस रथमें सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित, वायुके समान वेगशाली, सम्पूर्ण शब्दोंको लाँघ जानेवाले, सुदृढ़ तथा चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण सिन्धी घोड़े जुते हुए थे ८३

चित्रकाञ्चनसंनाहैर्वाजिमुख्यैर्विशाम्पते ।
घण्टाजालाकुलरवं शक्तितोमरविद्युतम् ॥ ८४ ॥

प्रजानाथ! उन घोड़ोंको विचित्र स्वर्णमय कवचोंसे सुसज्जित किया गया था। वे सभी अश्व अच्छी श्रेणीके थे। उनसे जुते हुए उस रथमें क्षुद्र घंटिकाओंके समूहसे निकलती हुई मधुर ध्वनि व्याप्त हो रही थी। वहाँ रक्खे हुए शक्ति और तोमर आदि शस्त्र विद्युत्के समान प्रकाशित होते थे ॥ ८४ ॥

युक्तं सांग्रामिकैर्द्रव्यैर्बहुशस्त्रपरिच्छदैः।
रथं सम्पादयामास मेघगम्भीरनिःस्वनम् ॥ ८५ ॥

उसमें बहुत-से अस्त्र-शस्त्र आदि युद्धोपयोगी आवश्यक सामान एवं द्रव्य यथास्थान रक्खे गये थे। उस रथके चलनेपर मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द होता था। दारुकका छोटा भाई उस रथको सात्यकिके पास ले आया ॥

तं समारुह्य शैनेयस्तव सैन्यमुपाद्रवत्।
दारुकोऽपि यथाकामं प्रययौ केशवान्तिकम् ॥ ८६ ॥

सात्यकिने उसीपर आरूढ़ होकर आपकी सेनापर आक्रमण किया। दारुक भी इच्छानुसार भगवान् श्रीकृष्णके निकट चला गया ॥ ८६ ॥

कर्णस्यापि रथं राजञ्शङ्खगोक्षीरपाण्डुरैः।
चित्रकाञ्चनसंनाहैः सदश्वैर्वेगवत्तरैः ॥ ८७ ॥

राजन्! कर्णके लिये भी एक सुन्दर रथ लाया गया, जिसमें शङ्ख और गोदुग्धके समान श्वेतवर्णवाले, विचित्र सुवर्णमय कवचसे सुसज्जित और अत्यन्त वेगशाली श्रेष्ठ अश्व जुते हुए थे ॥ ८७ ॥

हेमकक्ष्याध्वजोपेतं क्लृप्तयन्त्रपताकिनम्।
अग्र्यं रथं सुयन्तारं बहुशस्त्रपरिच्छदम् ॥ ८८ ॥

उसमें सुवर्णमयी रज्जुसे आवेष्टित ध्वजा फहरा रही थी। वह रथ यन्त्र और पताकाओंसे सुशोभित था। उसके भीतर बहुत-से अस्त्र-शस्त्र आदि आवश्यक सामान रक्खे गये थे। उस श्रेष्ठ रथका सारथि भी सुयोग्य था ॥ ८८ ॥

उपाजह्रुस्तमास्थाय कर्णोऽप्यभ्यद्रवद् रिपून्।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ८९ ॥

दुर्योधनके सेवक वह रथ लेकर आये और कर्णने उसके ऊपर आरूढ़ होकर शत्रुओंपर धावा किया। राजन्! आप मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, वह सब मैंने आपको बता दिया ॥

भूयश्चापि निबोधेमं तवापनयजं क्षयम्।
एकत्रिंशत् तव सुता भीमसेनेन पातिताः ॥ ९० ॥
दुर्मुखं प्रमुखे कृत्वा सततं चित्रयोधिनम्।

अब पुनः आपके ही अन्यायसे होनेवाले इस महान् जनसंहारका वृत्तान्त सुनिये। भीमसेनने अबतक सदा विचित्र युद्ध करनेवाले दुर्मुख आदि आपके इकतीस पुत्रोंको मार गिराया है ॥ ९०½ ॥

शतशो निहताः शूराः सात्वतेनार्जुनेन च ॥ ९१ ॥
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा भगदत्तं च भारत।
एवमेष क्षयो वृत्तो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ९२ ॥

भारत! इसी प्रकार सात्यकि और अर्जुनने भी भीष्म और भगदत्त आदि सैकड़ों शूरवीरोंका संहार कर डाला है। राजन्! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप यह विनाशकार्य सम्पन्न हुआ है ॥ ९१-९२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि कर्णसात्यकियुद्धे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें कर्ण और सात्यकिका युद्धविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णको फटकारना और वृषसेनके वधकी प्रतिज्ञा करना, श्रीकृष्णका अर्जुनको बधाई देकर उन्हें रणभूमिका भयानक दृश्य दिखाते हुए युधिष्ठिरके पास ले जाना

धृतराष्ट्र उवाच

तथा गतेषु शूरेषु तेषां मम च संजय।
किं वै भीमस्तदाकार्षीत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब पाण्डवपक्षके और मेरे शूरवीर सैनिक पूर्वोक्तरूपसे युद्धके लिये उद्यत हो गये, तब भीमसेनने क्या किया? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

विरथो भीमसेनो वै कर्णवाक्शल्यपीडितः।
अमर्षवशमापन्नः फाल्गुनं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! रथहीन भीमसेन कर्णके वाग्बाणोंसे पीड़ित हो अमर्षके वशीभूत हो गये थे। वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

पुनः पुनस्तूबरक मूढ औदरिकेति च।
अकृतास्त्रक मा योत्सीर्बाल संग्रामकातर ॥ ३ ॥
इति मामब्रवीत् कर्णः पश्यतस्ते धनंजय।
एवं वक्ता च मे वध्यस्तेन चोक्तोऽस्मि भारत ॥ ४ ॥

'धनंजय ! कर्णने तुम्हारे सामने ही मुझसे बारंबार कहा है कि 'अरे ! तू निमूछिया, मूर्ख, पेटू, अस्त्रविद्याको न जाननेवाला, बालक और संग्रामभीरु है; अतः युद्ध न कर।' भारत ! जो ऐसा कह दे, वह मेरा वध्य होता है। उसने मुझे ऐसा कह दिया ॥ ३-४ ॥

एतद् व्रतं महाबाहो त्वया सह कृतं मया।
तथैतन्मम कौन्तेय यथा तव न संशयः ॥ ५ ॥

'महाबाहु कुन्तीकुमार ! ऐसा कहनेवालेके वधकी यह प्रतिज्ञा मैंने तुम्हारे साथ ही की थी। यह कर्णका वध जैसे मेरा कार्य है, वैसे ही तुम्हारा भी है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

तद्वधाय नरश्रेष्ठ स्मरैतद् वचनं मम।
यथा भवति तत् सत्यं तथा कुरु धनंजय ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! कर्णके वधके लिये तुम मेरे इस कथनपर भी ध्यान दो। धनंजय ! जैसे भी मेरी वह प्रतिज्ञा सत्य हो सके, वैसा प्रयत्न करो' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य भीमस्यामितविक्रमः।
ततोऽर्जुनोऽब्रवीत् कर्णं किंचिदभ्येत्य संयुगे ॥ ७ ॥

भीमसेनका यह वचन सुनकर अमित पराक्रमी अर्जुन युद्धस्थलमें कर्णके कुछ निकट जाकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

कर्ण कर्ण वृथादृष्टे सूतपुत्रात्मसंस्तुत।
अधर्मबुद्धे शृणु मे यत् त्वां वक्ष्यामि साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

'कर्ण ! कर्ण ! तेरी दृष्टि मिथ्या है। सूतपुत्र ! तू स्वयं ही अपनी प्रशंसा करता है। अधर्मबुद्धे ! मैं इस समय तुझसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुन ॥ ८ ॥

द्विविधं कर्म शूराणां युद्धे जयपराजयौ।
तौ चाप्यनित्यौ राधेय वासवस्यापि युध्यतः ॥ ९ ॥

'राधानन्दन ! युद्धमें शूरवीरोंके दो प्रकारके कर्म (परिणाम) देखे जाते हैं—जय और पराजय। यदि इन्द्र भी युद्ध करें तो उनके लिये भी वे दोनों परिणाम अनिश्चित हैं (अर्थात् यह निश्चित नहीं कि कब किसकी विजय होगी और कब किसकी पराजय) ॥ ९ ॥

(रणमुत्सृज्य निर्लज्ज गच्छसे वै पुनः पुनः।
माहात्म्यं पश्य भीमस्य कर्ण जन्म कुले तथा ॥
नोक्तवान् परुषं यत् त्वां पलायनपरायणम्।

'ओ निर्लज्ज कर्ण ! तू बार-बार युद्ध छोड़कर भाग जाता है, तो भी तुझ भागते हुएके प्रति भीमसेनने कोई कटु वचन नहीं कहा। भीमसेनके इस माहात्म्यको और उनके उत्तम कुलमें जन्म लेनेके कारण प्राप्त हुए अच्छे शील-स्वभावको प्रत्यक्ष देख ले ॥

भूयस्त्वमपि सङ्गम्य सकृदेव यदृच्छया ॥
विरथं कृतवान् वीरं पाण्डवं सूतदायद।
कुलस्य सदृशं चापि राधेय कृतवानसि ॥

'सूतपुत्र ! फिर तूने भी पुनः युद्ध करके केवल एक ही बार दैवेच्छासे पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेनको रथहीन किया है। राधापुत्र ! तूने भीमको कटुवचन सुनाकर अपने कुलके अनुरूप कार्य किया है ॥

त्वमिदानीं नरश्रेष्ठ प्रस्तुतं नावबुध्यसे।
शृगाल इव वन्यान् वै क्षत्रं त्वमवमन्यसे ॥
पित्र्यं कर्मास्य संग्रामस्तव तस्य कुलोचितम्।

'नरश्रेष्ठ ! इस समय जो संकट तेरे सामने प्रस्तुत है, उसे तू नहीं जानता है। जैसे सियार जंगली व्याघ्र आदि जन्तुओंकी अवहेलना करे, उसी प्रकार तू भी क्षत्रियसमाजका अपमान कर रहा है। संग्राम भीमसेनका तो पैतृक कर्म है और तेरा काम तेरे कुलके अनुरूप रथ हाँकना है ॥

अहं त्वामपि राधेय ब्रवीमि रणमूर्धनि ॥
सर्वशस्त्रभृतां मध्ये कुरु कार्याणि सर्वशः।
नैकान्तसिद्धिः संग्रामे वासवस्यापि विद्यते ॥)

'राधापुत्र ! मैं इस युद्धके मुहानेपर सम्पूर्ण शस्त्रधारी योद्धाओंके बीचमें तुझसे कहे देता हूँ, तू अपने सारे कार्य सब प्रकारसे पूर्ण कर ले। संग्राममें इन्द्रको भी एकान्ततः सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥

मुमूर्षुर्युयुधानेन विरथो विकलेन्द्रियः।
मद्वध्यस्त्वमिति ज्ञात्वा जित्वा जीवन् विसर्जितः ॥ १० ॥

'सात्यकिने तुझे रथहीन करके मृत्युके निकट पहुँचा दिया था। तेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं, तो भी 'तू मेरा वध्य है' यह जानकर उन्होंने तुझे जीतकर भी जीवित छोड़ दिया ॥ १० ॥

यदृच्छया रणे भीमं युध्यमानं महाबलम्।
कथंचिद् विरथं कृत्वा यत् त्वं रूक्षमभाषथाः ॥ ११ ॥
अधर्मस्त्वेष सुमहाननार्यचरितं च तत्।

'परंतु तूने रणभूमिमें युद्धपरायण महाबली भीमसेनको दैवेच्छासे किसी प्रकार रथहीन करके जो उनके प्रति कठोर बातें कही थीं, यह तेरा महान् अधर्म है। नीच मनुष्य वैसा कार्य करते हैं ॥ ११½ ॥

नारिं जित्वातिकत्थन्ते न च जल्पन्ति दुर्वचः ॥ १२ ॥
न च कञ्चन निन्दन्ति सन्तः शूरा नरर्षभाः।

'नरश्रेष्ठ शूरवीर सज्जन शत्रुको जीतकर बढ़-बढ़कर बातें

नहीं बनाते, किसीको कटु वचन नहीं कहते और न किसीकी निन्दा ही करते हैं ॥ १२½ ॥

त्वं तु प्राकृतविज्ञानस्तत् तद् वदसि सूतज ॥ १३ ॥
बह्वबद्धमकर्ण्यं च चापलादपरीक्षितम् ।

'सूतपुत्र ! तेरी बुद्धि बहुत ओछी है। इसीलिये तू चपलतावश बिना जाँचे-बूझे बहुत-सी न सुननेयोग्य असम्बद्ध बातें बक जाया करता है ॥ १३½ ॥

युध्यमानं पराक्रान्तं शूरमार्यव्रते रतम् ॥ १४ ॥
यदवोचोऽप्रियं भीमं नैतत् सत्यं वचस्तव ।

'तूने युद्धमें संलग्न, श्रेष्ठ व्रतके पालनमें तत्पर, पराक्रमी और शूरवीर भीमसेनके प्रति जो अप्रिय वचन कहा है, तेरा यह कथन ठीक नहीं है ॥ १४½ ॥

पश्यतां सर्वसैन्यानां केशवस्य ममैव च ॥ १५ ॥
विरथो भीमसेनेन कृतोऽसि बहुशो रणे ।

'सारी सेनाओंके देखते-देखते मेरे और श्रीकृष्णके सामने युद्धस्थलमें भीमसेनने तुझे अनेक बार रथहीन कर दिया है ॥ १५½ ॥

न च त्वां परुषं किंचिदुक्तवान् पाण्डुनन्दनः ॥ १६ ॥
यस्मात् तु बहु रूक्षं च श्रावितस्ते वृकोदरः ।
परोक्षं यच्च सौभद्रो युष्माभिर्निहतो मम ॥ १७ ॥
तस्मादस्यावलेपस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ।

'परंतु उन पाण्डुनन्दन भीमने तुझसे कोई कटु वचन नहीं कहा। तूने जो भीमको बहुत-सी रूखी बातें सुनायी हैं और मेरे परोक्षमें तुमलोगोंने जो मेरे पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युको अन्यायपूर्वक मार डाला है, अपने उस घमंडका तत्काल ही उचित फल तू प्राप्त कर ले ॥ १६-१७½ ॥

त्वया तस्य धनुश्छिन्नमात्मनाशाय दुर्मते ॥ १८ ॥
तस्माद् वध्योऽसि मे मूढ सभृत्यसुतबान्धवः ।

'दुर्मते ! मूढ़ ! तूने अपने विनाशके लिये अभिमन्युका धनुष काट दिया था, अतः तू मेरेद्वारा भृत्य, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित प्राणदण्ड पानेयोग्य है ॥ १८½ ॥

कुरु त्वं सर्वकृत्यानि महत् ते भयमागतम् ॥ १९ ॥
हन्तास्मि वृषसेनं ते प्रेक्षमाणस्य संयुगे ।

'तू अपने सारे कर्तव्य पूर्ण कर ले। तुझे भारी भय आ पहुँचा है। मैं युद्धस्थलमें तेरे देखते-देखते तेरे पुत्र वृषसेनको मार डालूँगा ॥ १९½ ॥

ये चान्येऽप्युपयास्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ॥ २० ॥
तांश्च सर्वान् हनिष्यामि सत्येनायुधमालभे ।

'दूसरे भी जो राजा अपनी बुद्धिपर मोह छा जानेके कारण मेरे समीप आ जायँगे, उन सबका संहार कर डालूँगा। इस सत्यको सामने रखकर मैं अपना धनुष छूता (शपथ खाता) हूँ ॥ २०½ ॥

त्वां च मूढाकृतप्रज्ञमतिमानिनमाहवे ॥ २१ ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनो मन्दो भृशं तप्स्यति पातितम् ।

'ओ मूढ़ ! तुझ अपवित्र बुद्धिवाले अत्यन्त घमंडी सहायकको युद्धस्थलमें धराशायी हुआ देखकर मूर्ख दुर्योधनको भी बड़ा पश्चात्ताप होगा' ॥ २१½ ॥

अर्जुनेन प्रतिज्ञाते वधे कर्णसुतस्य तु ॥ २२ ॥
महान् सुतुमुलः शब्दो बभूव रथिनां तदा ।

इस प्रकार अर्जुनके द्वारा कर्णपुत्र वृषसेनके वधकी प्रतिज्ञा होनेपर उस समय वहाँ रथियोंका महान् एवं भयंकर कोलाहल छा गया ॥ २२½ ॥

तस्मिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ॥ २३ ॥
मन्दरश्मिः सहस्रांशुरस्तं गिरिमुपाद्रवत् ।

उस महाभयानक तुमुल संग्रामके छिड़ जानेपर मन्द किरणोंवाले भगवान् सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ॥२३½॥

ततो राजन् हृषीकेशः संग्रामशिरसि स्थितम् ॥ २४ ॥
तीर्णप्रतिज्ञं बीभत्सुं परिष्वज्यैनमब्रवीत् ।

राजन् ! तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने प्रतिज्ञासे पार होकर युद्धके मुहानेपर खड़े हुए अर्जुनको हृदयसे लगाकर इस प्रकार कहा—॥ २४½ ॥

दिष्ट्या सम्पादिता जिष्णो प्रतिज्ञा महती त्वया ॥ २५॥
दिष्ट्या विनिहतः पापो वृद्धक्षत्रः सहात्मजः ।

'विजयशील अर्जुन ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने अपनी बड़ी भारी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। सौभाग्यसे पापी वृद्धक्षत्र पुत्रसहित मारा गया ॥ २५½ ॥

धार्तराष्ट्रबलं प्राप्य देवसेनापि भारत ॥ २६ ॥
सीदेत समरे जिष्णो नात्र कार्या विचारणा ।

'भारत ! दुर्योधनकी सेनामें पहुँचकर समरभूमिमें देवताओंकी सेना भी शिथिल हो सकती है। जिष्णो ! इस विषयमें कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६½ ॥

न तं पश्यामि लोकेषु चिन्तयन् पुरुषं क्वचित् ॥ २७ ॥
त्वदृते पुरुषव्याघ्र य एतद् योधयेद् बलम् ।

'पुरुषसिंह ! मैं बहुत सोचनेपर भी तीनों लोकोंमें कहीं तुम्हारे सिवा किसी दूसरे पुरुषको ऐसा नहीं देखता, जो इस सेनाके साथ युद्ध कर सके ॥ २७½ ॥

महाप्रभावा बहवस्त्वया तुल्याधिकाऽपि वा ॥ २८ ॥
समेताः पृथिवीपाला धार्तराष्ट्रस्य कारणात् ।

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके लिये बहुत-से महान् प्रभावशाली राजा यहाँ एकत्र हो गये हैं, जिनमेंसे कितने ही तुम्हारे समान या तुमसे भी अधिक बलशाली हैं ॥ २८½ ॥

ते त्वां प्राप्य रणे क्रुद्धा नाभ्यवर्तन्त दंशिताः ॥ २९ ॥
तव वीर्यं बलं चैव रुद्रशक्रान्तकोपमम् ।

'वे भी रणक्षेत्रमें कवच बाँधकर कुपित हो तुम्हारा सामना करनेके लिये आये, परंतु टिक न सके । तुम्हारा बल और पराक्रम रुद्र, इन्द्र तथा यमराजके समान है ॥ २९½ ॥

नेदृशं शक्नुयात् कश्चिद् रणे कर्तुं पराक्रमम् ॥ ३० ॥
यादृशं कृतवानद्य त्वमेकः शत्रुतापनः ।

'युद्धमें कोई भी ऐसा पराक्रम नहीं कर सकता, जैसा कि आज तुमने अकेले ही कर दिखाया है। वास्तवमें तुम शत्रुओं-को संताप देनेवाले हो ॥ ३०½ ॥

एवमेव हते कर्णे सानुबन्धे दुरात्मनि ॥ ३१ ॥
वर्धयिष्यामि भूयस्त्वां विजितारिं हतद्विषम् ।

'इसी प्रकार सगे-सम्बन्धियोंसहित दुरात्मा कर्णके मारे जानेपर शत्रुओंको जीतने और द्वेषी विपक्षियोंको मार डालने-वाले तुझ विजयी वीरको पुनः बधाई दूँगा' ॥ ३१½ ॥

तमर्जुनः प्रत्युवाच प्रसादात् तव माधव ॥ ३२ ॥
प्रतिज्ञेयं मया तीर्णा विबुधैरपि दुस्तरा ।

तब अर्जुनने उनकी बातोंका उत्तर देते हुए कहा—'माधव ! आपकी कृपासे ही मैं इस प्रतिज्ञाको पार कर सका हूँ; अन्यथा इसका पार पाना देवताओंके लिये भी कठिन था ॥ ३२½ ॥

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां नाथोऽसि केशव ॥ ३३ ॥
त्वत्प्रसादान्महीं कृत्स्नां सम्प्राप्स्यति युधिष्ठिरः ।
तव प्रभावो वार्ष्णेय तवैव विजयः प्रभो ।
वर्धनीयास्तव वयं सदैव मधुसूदन ॥ ३४ ॥

'केशव ! आप जिनके रक्षक हैं, उनकी विजय हो, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आपके कृपा-प्रसादसे राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे । वृष्णिनन्दन ! प्रभो ! यह आपका ही प्रभाव और आपकी ही विजय है। मधुसूदन ! आपकी बधाईके पात्र तो हमलोग सदा ही बने रहेंगे' ॥ ३३-३४ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः शनकैर्वाहयन् हयान् ।
दर्शयामास पार्थाय क्रूरमायोधनं महत् ॥ ३५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने धीरे-धीरे घोड़ोंको बढ़ाते हुए उस विशाल एवं क्रूरतापूर्ण संग्रामका दृश्य अर्जुनको दिखाना आरम्भ किया ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

प्रार्थयन्तो जयं युद्धे प्रथितं च महद् यशः ।
पृथिव्यां शेरते शूराः पार्थिवास्त्वच्छरैर्हताः ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! युद्धमें विजय और सब ओर फैले हुए महान् सुयशकी अभिलाषा रखनेवाले ये शूरवीर भूपाल तुम्हारे बाणोंसे मरकर पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥ ३६ ॥

विकीर्णशस्त्राभरणा विपन्नाश्वरथद्विपाः ।
संछिन्नभिन्नमर्माणो वैक्लव्यं परमं गताः ॥ ३७ ॥

इनके अस्त्र-शस्त्र और आभूषण बिखरे पड़े हैं, घोड़े, रथ और हाथी नष्ट हो गये हैं तथा मर्मस्थल छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण ये नरेश भारी व्याकुलतामें पड़ गये हैं ॥ ३७ ॥

ससत्त्वा गतसत्त्वाश्च प्रभया परया युताः ।
सजीवा इव लक्ष्यन्ते गतसत्त्वा नराधिपाः ॥ ३८ ॥

कितने ही राजाओंके प्राण चले गये हैं और कितनोंके प्राण अभी नहीं निकले हैं। जिनके प्राण निकल गये हैं, वे नरेश भी अत्यन्त कान्तिसे प्रकाशित होनेके कारण जीवित-से दिखायी देते हैं ॥ ३८ ॥

तेषां शरैः स्वर्णपुङ्खैः शस्त्रैश्च विविधैः शितैः ।
वाहनैरायुधैश्चैव सम्पूर्णां पश्य मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

देखो, यह सारी पृथ्वी उन राजाओंके सुवर्णमय पंख-वाले बाणों, तेज धारवाले नाना प्रकारके शस्त्रों, वाहनों और आयुधोंसे भरी हुई है ॥ ३९ ॥

वर्मभिश्चर्मभिर्हारैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
उष्णीषैर्मुकुटैः स्रग्भिश्चूडामणिभिरम्बरैः ॥ ४० ॥
कण्ठसूत्रैरङ्गदैश्च निष्कैरपि च सप्रभैः ।
अन्यैश्चाभरणैश्चित्रैर्भाति भारत मेदिनी ॥ ४१ ॥

भारत ! चारों ओर गिरे हुए कवच, ढाल, हार, कुण्डलयुक्त मस्तक, पगड़ी, मुकुट, माला, चूड़ामणि, वस्त्र, कण्ठसूत्र, बाजूबंद, चमकीले निष्क एवं अन्यान्य विचित्र आभूषणोंसे इस रणभूमिकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ ४०-४१ ॥

अनुकर्षैरुपासङ्गैः पताकाभिर्ध्वजैस्तथा।
उपस्करैरधिष्ठानैरीषादण्डकबन्धुरैः ॥ ४२ ॥
चक्रैः प्रमथितैश्चित्रैरक्षैश्च बहुधा रणे।
युगैर्योक्त्रैः कलापैश्च धनुर्भिः सायकैस्तथा ॥ ४३ ॥
परिस्तोमैः कुथाभिश्च परिघैरङ्कुशैस्तथा।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च तूणैः शूलैः परश्वधैः ॥ ४४ ॥
प्रासैश्च तोमरैश्चैव कुन्तैर्यष्टिभिरेव च।
शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैः परशुभिस्तथा ॥ ४५ ॥
मुसलैर्मुद्गरैश्चैव गदाभिः कुणपैस्तथा।
सुवर्णविकृताभिश्च कशाभिर्भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां भाण्डैश्च विविधैरपि।
स्रग्भिश्च नानाभरणैर्वस्त्रैश्चैव महाधनैः ॥ ४७ ॥
अपविद्धैर्बभौ भूमिर्ग्रहैर्द्यौरिव शारदी।

बहुत-से अनुकर्ष, उपासङ्ग, पताका, ध्वज, सजावटकी सामग्री, बैठक, ईषादण्ड, बन्धनरज्जु, टूटे-फूटे पहिये, विचित्र धुरे, नाना प्रकारके जुए, जोत, लगाम, धनुष-बाण, हाथीकी रंगीन झूल, हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले गलीचे, परिघ, अङ्कुश, शक्ति, भिन्दिपाल, तरकस, शूल, फरसे, प्रास, तोमर, कुन्त, डंडे, शतघ्नी, भुसुण्डी, खड्ग, परशु, मुसल, मुद्गर, गदा, कुणप, सोनेके चाबुक, गजराजोंके घण्टे, नाना प्रकारके हौदे और जीन, माला, भाँति-भाँतिके अलंकार तथा बहुमूल्य वस्त्र रणभूमिमें सब ओर बिखरे पड़े हैं। भरतश्रेष्ठ! इनके द्वारा यह भूमि नक्षत्रोंद्वारा शरदृतुके आकाशकी भाँति सुशोभित हो रही है ॥ ४२—४७½ ॥

पृथिव्यां पृथिवीहेतोः पृथिवीपतयो हताः ॥ ४८ ॥
पृथिवीमुपगुह्याङ्गैः सुप्ताः कान्तामिव प्रियाम्।

इस पृथ्वीके राज्यके लिये मारे गये ये पृथ्वीपति अपने सम्पूर्ण अंगोंद्वारा प्यारी प्राणवल्लभाके समान इस भूमिका आलिंगन करके इसपर सो रहे हैं ॥ ४८½ ॥

इमांश्च गिरिकूटाभान् नागानैरावतोपमान् ॥ ४९ ॥
क्षरतः शोणितं भूरि शस्त्रच्छेददरीमुखैः।
दरीमुखैरिव गिरीन् गैरिकाम्बुपरिस्रवान् ॥ ५० ॥
तांश्च बाणहतान् वीर पश्य निष्टनतः क्षितौ।

वीर! देखो, ये पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले ऐरावत-जैसे हाथी शस्त्रोंद्वारा बने हुए घावोंके छिद्रसे उसी प्रकार अधिकाधिक रक्तकी धारा बहा रहे हैं, जैसे पर्वत अपनी कन्दराओंके मुखसे गेरुमिश्रित जलके झरने बहाया करते हैं। वे बाणोंसे मारे जाकर धरतीपर लोट रहे हैं ॥ ४९-५०½ ॥

हयांश्च पतितान् पश्य स्वर्णभाण्डविभूषितान् ॥ ५१ ॥
गन्धर्वनगराकारान् रथांश्च निहतेश्वरान्।
छिन्नध्वजपताकाक्षान् विचक्रान् हतसारथीन् ॥ ५२ ॥

सोनेके जीन एवं साजबाजसे विभूषित इन घोड़ोंको तो देखो, ये भी प्राणशून्य होकर पड़े हैं। ये रथ जिनके स्वामी मारे गये हैं, गन्धर्वनगरके समान दिखायी देते हैं। इनकी ध्वजा, पताका और धुरे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, पहिये नष्ट हो चुके हैं और सारथि भी मार डाले गये हैं ॥ ५१-५२ ॥

निकृत्तकूबरयुगान् भग्नेषाबन्धुरान् प्रभो।
पश्य पार्थ हयान् भूमौ विमानोपमदर्शनान् ॥ ५३ ॥

प्रभो! इन रथोंके कूबर और जुए खण्डित हो गये हैं। ईषादण्ड टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये हैं और इनकी बन्धन-रज्जुओंकी भी धज्जियाँ उड़ गयी हैं। पार्थ! भूमिपर पड़े हुए इन घोड़ोंको तो देखो, ये विमानके समान दिखायी दे रहे हैं ॥ ५३ ॥

पत्तींश्च निहतान् वीर शतशोऽथ सहस्रशः।
धनुर्भृतश्चर्मभृतः शयानान् रुधिरोक्षितान् ॥ ५४ ॥

वीर! अपने मारे हुए इन सैकड़ों और हजारों पैदल सैनिकोंको देखो, जो धनुष और ढाल लिये खूनसे लथपथ हो धरतीपर सो रहे हैं ॥ ५४ ॥

महीमालिङ्ग्य सर्वाङ्गैः पांसुध्वस्तशिरोरुहान्।
पश्य योधान् महाबाहो त्वच्छरैर्भिन्नविग्रहान् ॥ ५५ ॥

महाबाहो! तुम्हारे बाणोंसे जिनके शरीर छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, उन योद्धाओंकी दशा तो देखो। उनके बाल धूलमें सन गये हैं और वे अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके सो रहे हैं ॥ ५५ ॥

निपातितद्विपरथवाजिसंकुल-
मसृग्वसापिशितसमृद्धकर्दमम्।
निशाचरश्ववृकपिशाचमोदनं
महीतलं नरवर पश्य दुर्दृशम् ॥ ५६ ॥

नरश्रेष्ठ! इस भूतलकी दशा देख लो। इसकी ओर दृष्टि डालना कठिन हो रहा है। यह मारे गये हाथियों, चौपट हुए रथों और मरे हुए घोड़ोंसे पट गया है। रक्त, चर्बी और मांससे यहाँ कीच जम गयी है। यह रणभूमि निशाचरों, कुत्तों, भेड़ियों और पिशाचोंके लिये आनन्द-दायिनी बन गयी है ॥ ५६ ॥

इदं महत् त्वय्युपपद्यते प्रभो
रणाजिरे कर्म यशोभिवर्धनम्।
शतक्रतौ चापि च देवसत्तमे
महाहवे जघ्नुषि दैत्यदानवान् ॥ ५७ ॥

प्रभो! समराङ्गणमें यह यशोवर्धक महान् कर्म करनेकी शक्ति तुममें तथा महायुद्धमें दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाले देवराज इन्द्रमें ही सम्भव है ॥ ५७ ॥

संजय उवाच

एवं संदर्शयन् कृष्णो रणभूमिं किरीटिने।

जयद्रथवधके पश्चात् श्रीकृष्ण और अर्जुनका युधिष्ठिरसे मिलना

स्वैः समेतः समुदितैः पाञ्चजन्यं व्यनादयत् ॥ ५८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार किरीटधारी अर्जुनको रणभूमिका दृश्य दिखाते हुए भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ जुटे हुए स्वजनोंसहित पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥५८॥

स दर्शयन्नेव किरीटिनेऽरिहा
जनार्दनस्तामरिभूमिमञ्जसा ।
अजातशत्रुं समुपेत्य पाण्डवं
निवेदयामास हतं जयद्रथम् ॥ ५९ ॥

शत्रुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस प्रकार रणभूमिका दृश्य दिखाते हुए अनायास ही अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास पहुँचकर उनसे यह निवेदन किया कि जयद्रथ मारा गया ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे विजयका समाचार सुनाना और युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा अर्जुन, भीम एवं सात्यकिका अभिनन्दन

संजय उवाच

ततो राजानमभ्येत्य धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे स प्रहृष्टात्मा हते पार्थेन सैन्धवे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अर्जुनद्वारा सिंधुराज जयद्रथके मारे जानेपर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास पहुँच कर भगवान् श्रीकृष्णने हर्षपूर्ण हृदयसे उन्हें प्रणाम किया और कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या वर्धसि राजेन्द्र हतशत्रुर्नरोत्तम ।
दिष्ट्या निस्तीर्णवांश्चैव प्रतिज्ञामनुजस्तव ॥ २ ॥

'राजेन्द्र ! सौभाग्यसे आपका अभ्युदय हो रहा है । नरश्रेष्ठ ! आपका शत्रु मारा गया । आपके छोटे भाईने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली, यह महान् सौभाग्यकी बात है' ॥

स त्वेवमुक्तः कृष्णेन हृष्टः परपुरंजयः ।
ततो युधिष्ठिरो राजा रथादाप्लुत्य भारत ॥ ३ ॥
पर्यष्वजत् तदा कृष्णावानन्दाश्रुपरिप्लुतः ।

भारत ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले राजा युधिष्ठिर हर्षमें भरकर अपने रथसे कूद पड़े और आनन्दके आँसू बहाते हुए उन्होंने उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनको हृदयसे लगा लिया॥३½॥

प्रमृज्य वदनं शुभ्रं पुण्डरीकसमप्रभम् ॥ ४ ॥
अब्रवीद् वासुदेवं च पाण्डवं च धनंजयम् ।

फिर उनके कमलके समान कान्तिमान् सुन्दर मुखपर हाथ फेरते हुए वे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ ४½ ॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य त्वत्तः पुष्करलोचन ॥ ५ ॥
नान्तं गच्छामि हर्षस्य तितीर्षुरुदधेरिव ।
अत्यद्भुतमिदं कृष्ण कृतं पार्थेन धीमता ॥ ६ ॥

'कमलनयन कृष्ण ! जैसे तैरनेकी इच्छावाला पुरुष समुद्रका पार नहीं पाता, उसी प्रकार आपके मुखसे यह प्रिय समाचार सुनकर मेरे हर्षकी सीमा नहीं रह गयी है । बुद्धिमान् अर्जुनने यह अत्यन्त अद्भुत पराक्रम किया है ॥

दिष्ट्या पश्यामि संग्रामे तीर्णभारौ महारथौ ।
दिष्ट्या विनिहतः पापः सैन्धवः पुरुषाधमः ॥ ७ ॥

'आज सौभाग्यवश संग्रामभूमिमें मैं आप दोनों महारथियोंको प्रतिज्ञाके भारसे मुक्त हुआ देखता हूँ । यह बड़े हर्षकी बात है कि पापी नराधम सिंधुराज जयद्रथ मारा गया ॥

कृष्ण दिष्ट्या मम प्रीतिर्महती प्रतिपादिता ।
त्वया गुप्तेन गोविन्द घ्नता पापं जयद्रथम् ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! सौभाग्यवश आपके द्वारा सुरक्षित हुए अर्जुनने पापी जयद्रथको मारकर मुझे महान् हर्ष प्रदान किया है ॥ ८ ॥

किं तु नात्यद्भुतं तेषां येषां नस्त्वं समाश्रयः ।
न तेषां दुष्कृतं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ९ ॥
सर्वलोकगुरुर्येषां त्वं नाथो मधुसूदन ।
त्वत्प्रसादाद्धि गोविन्द वयं जेष्यामहे रिपून् ॥ १० ॥

'परंतु जिनके आप आश्रय हैं, उन हमलोगोंके लिये विजय और सौभाग्यकी प्राप्ति अत्यन्त अद्भुत बात नहीं है । मधुसूदन ! सम्पूर्ण जगत्के गुरु आप जिनके रक्षक हैं, उनके लिये तीनों लोकोंमें कहीं कुछ भी दुष्कर नहीं है । गोविन्द ! हम आपकी कृपासे शत्रुओंपर निश्चय ही विजय पायेंगे ॥

स्थितः सर्वात्मना नित्यं प्रियेषु च हितेषु च ।
त्वां चैवास्माभिराश्रित्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ॥ ११ ॥
सुरैरिवासुरवधे शक्रं शक्रानुजाहवे ।

'उपेन्द्र ! आप सदा सब प्रकारसे हमारे प्रिय और हित-साधनमें लगे हुए हैं । हमलोगोंने आपका ही आश्रय लेकर शस्त्रोंद्वारा युद्धकी तैयारी की है । ठीक उसी तरह, जैसे देवता इन्द्रका आश्रय लेकर युद्धमें असुरोंके वधका उद्योग करते हैं ॥ ११½ ॥

असम्भाव्यमिदं कर्म देवैरपि जनार्दन ॥ १२ ॥
त्वद्बुद्धिबलवीर्येण कृतवानेष फाल्गुनः ।

'जनार्दन ! आपकी ही बुद्धि, बल और पराक्रमसे इस अर्जुनने यह देवताओंके लिये भी असम्भव कर्म कर दिखाया है॥

बाल्यात् प्रभृति ते कृष्ण कर्माणि श्रुतवानहम् ॥ १३ ॥
अमानुषाणि दिव्यानि महान्ति च बहूनि च ।
तदैवाशासिषं शत्रून् हतान् प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ १४ ॥

'श्रीकृष्ण ! बाल्यावस्थासे ही आपने जो बहुत-से अलौकिक, दिव्य एवं महान् कर्म किये हैं, उन्हें जबसे मैंने सुना है, तभीसे यह निश्चितरूपसे जान लिया है कि मेरे शत्रु मारे गये और मैंने भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लिया॥१३-१४॥

त्वत्प्रसादसमुत्थेन विक्रमेणारिसूदन ।
सुरेशत्वं गतः शक्रो हत्वा दैत्यान् सहस्रशः ॥ १५ ॥

'शत्रुसूदन ! आपकी कृपासे प्राप्त हुए पराक्रमद्वारा इन्द्र सहस्रों दैत्योंका संहार करके देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ १५ ॥

त्वत्प्रसादाद्धृषीकेश जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
स्ववर्त्मनि स्थितं वीर जपहोमेषु वर्तते ॥ १६ ॥

'वीर हृषीकेश ! आपके ही प्रसादसे यह स्थावर-जङ्गम-रूप जगत् अपनी मर्यादामें स्थित रहकर जप और होम आदि सत्कर्मोंमें संलग्न होता है ॥ १६ ॥

एकार्णवमिदं पूर्वं सर्वमासीत् तमोमयम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो जगत् प्राप्तं नरोत्तम ॥ १७ ॥

'महाबाहो ! नरश्रेष्ठ ! पहले यह सारा जगत् एकार्णवके जलमें निमग्न हो अन्धकारमें विलीन हो गया था । फिर आपकी ही कृपादृष्टिसे यह वर्तमान रूपमें उपलब्ध हुआ है ॥

स्रष्टारं सर्वलोकानां परमात्मानमव्ययम् ।
ये पश्यन्ति हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करनेवाले आप अविनाशी परमात्मा हृषीकेशका दर्शन पा जाते हैं, वे कभी मोहके वशीभूत नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

पुराणं परमं देवं देवदेवं सनातनम् ।
ये प्रपन्नाः सुरगुरुं न ते मुह्यन्ति कर्हिचित् ॥ १९ ॥

'आप पुराण पुरुष, परमदेव, देवताओंके भी देवता, देवगुरु एवं सनातन परमात्मा हैं । जो लोग आपकी शरणमें जाते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ १९ ॥

अनादिनिधनं देवं लोककर्तारमव्ययम् ।
ये भक्तास्त्वां हृषीकेश दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥

'हृषीकेश ! आप आदि-अन्तसे रहित विश्व-विधाता और अविकारी देवता हैं । जो आपके भक्त हैं, वे बड़े-बड़े संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २० ॥

परं पुराणं पुरुषं पराणां परमं च यत् ।
प्रपद्यतस्तत् परमं परा भूतिर्विधीयते ॥ २१ ॥

'आप परम पुरातन पुरुष हैं । परसे भी पर हैं । आप परमेश्वरकी शरण लेनेवाले पुरुषको परम ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

गायन्ति चतुरो वेदा यश्च वेदेषु गीयते ।
तं प्रपद्य महात्मानं भूतिमश्नाम्यनुत्तमाम् ॥ २२ ॥

'चारों वेद जिनके यशका गान करते हैं, जो सम्पूर्ण वेदोंमें गाये जाते हैं, उन महात्मा श्रीकृष्णकी शरण लेकर मैं सर्वोत्तम ऐश्वर्य (कल्याण) प्राप्त करूँगा ॥ २२ ॥

परमेश परेशेश तिर्यगीश नरेश्वर ।
सर्वेश्वरेश्वरेशेश नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ २३ ॥

'पुरुषोत्तम ! आप परमेश्वर हैं । पशु, पक्षी तथा मनुष्योंके भी ईश्वर हैं । 'परमेश्वर' कहे जानेवाले इन्द्रादि लोकपालोंके भी स्वामी हैं । सर्वेश्वर ! जो सबके ईश्वर हैं, उनके भी आप ही ईश्वर हैं । आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥

त्वमीशेशेश्वरेशान प्रभो वर्धस्व माधव ।
प्रभवाप्यय सर्वस्य सर्वात्मन् पृथुलोचन ॥ २४ ॥

'विशाल नेत्रोंवाले माधव ! आप ईश्वरोंके भी ईश्वर और शासक हैं । प्रभो ! आपका अभ्युदय हो । सर्वात्मन् ! आप ही सबके उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं ॥ २४ ॥

धनंजयसखा यश्च धनंजयहितश्च यः ।
धनंजयस्य गोप्ता तं प्रपद्य सुखमेधते ॥ २५ ॥

'जो अर्जुनके मित्र, अर्जुनके हितैषी और अर्जुनके रक्षक हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेकर मनुष्य सुखी होता है ॥ २५ ॥

मार्कण्डेयः पुराणर्षिश्चरितज्ञस्तवानघ ।
माहात्म्यमनुभावं च पुरा कीर्तितवान् मुनिः ॥ २६ ॥

'निष्पाप श्रीकृष्ण ! प्राचीनकालके महर्षि मार्कण्डेय आपके चरित्रको जानते हैं । उन मुनिश्रेष्ठने पहले (वनवासके समय) आपके प्रभाव और माहात्म्यका मुझसे वर्णन किया था॥२६॥

असितो देवलश्चैव नारदश्च महातपाः ।
पितामहश्च मे व्यासस्त्वामाहुर्विधिमुत्तमम् ॥ २७ ॥

'असित, देवल, महातपस्वी नारद तथा मेरे पितामह व्यासने आपको ही सर्वोत्तम विधि बताया है ॥ २७ ॥

त्वं तेजस्त्वं परं ब्रह्म त्वं सत्यं त्वं महत् तपः ।
त्वं श्रेयस्त्वं यशश्चाग्र्यं कारणं जगतस्तथा ॥ २८ ॥
त्वया सृष्टमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये समनुप्राप्ते त्वां वै निविशते पुनः ॥ २९ ॥

'आप ही तेज, आप ही परब्रह्म, आप ही सत्य, आप ही महान् तप, आप ही श्रेय, आप ही उत्तम यश और

आप ही जगत्के कारण हैं। आपने ही इस सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत्की सृष्टि की है और प्रलयकाल आनेपर यह पुनः आपहीमें लीन हो जाता है ॥२८-२९॥

अनादिनिधनं देवं विश्वस्येशं जगत्पते।
धातारमजमव्यक्तमाहुर्वेदविदो जनाः ॥ ३० ॥
भूतात्मानं महात्मानमनन्तं विश्वतोमुखम्।

'जगत्पते! वेदवेत्ता पुरुष आपको आदि-अन्तसे रहित, दिव्य-स्वरूप, विश्वेश्वर, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, भूतात्मा, महात्मा, अनन्त तथा विश्वतोमुख आदि नामोंसे पुकारते हैं॥

अपि देवा न जानन्ति गुह्यमाद्यं जगत्पतिम् ॥ ३१ ॥
नारायणं परं देवं परमात्मानमीश्वरम्।
ज्ञानयोनिं हरिं विष्णुं मुमुक्षूणां परायणम्।
परं पुराणं पुरुषं पुराणानां परं च यत् ॥ ३२ ॥

'आपका रहस्य गूढ़ है। आप सबके आदि कारण और इस जगत्के स्वामी हैं। आप ही परमदेव, नारायण, परमात्मा और ईश्वर हैं। ज्ञानस्वरूप श्रीहरि तथा मुमुक्षुओंके परम आश्रय भगवान् विष्णु भी आप ही हैं। आपके यथार्थ स्वरूपको देवता भी नहीं जानते हैं। आप ही परम पुराण-पुरुष तथा पुराणोंसे भी परे हैं ॥ ३१-३२ ॥

एवमादिगुणानां ते कर्मणां दिवि चेह च।
अतीतभूतभव्यानां संख्यात्र न विद्यते ॥ ३३ ॥
सर्वतो रक्षणीयाः स्म शक्रेणेव दिवौकसः।
यैस्त्वं सर्वगुणोपेतः सुहृन्न उपपादितः ॥ ३४ ॥

'आपके ऐसे-ऐसे गुणों तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य-कालमें होनेवाले कर्मोंकी गणना करनेवाला इस भूलोकमें या स्वर्गमें भी कोई नहीं है। जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार हम सब लोग आपके द्वारा सर्वथा रक्षणीय हैं। हमें आप सर्वगुणसम्पन्न सुहृद्के रूपमें प्राप्त हुए हैं' ॥ ३३-३४ ॥

इत्येवं धर्मराजेन हरिरुक्तो महायशाः।
अनुरूपमिदं वाक्यं प्रत्युवाच जनार्दनः ॥ ३५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर महायशस्वी भगवान् जनार्दनने उनके कथनके अनुरूप इस प्रकार उत्तर दिया—॥

भवता तपसोग्रेण धर्मेण परमेण च।
साधुत्वादार्जवाच्चैव हतः पापो जयद्रथः ॥ ३६ ॥

'धर्मराज! आपकी उग्र तपस्या, परम धर्म, साधुता तथा सरलतासे ही पापी जयद्रथ मारा गया है ॥ ३६ ॥

अयं च पुरुषव्याघ्र त्वदनुध्यानसंवृतः।
हत्वा योधसहस्राणि न्यहन् जिष्णुर्जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

'पुरुषसिंह! आपने जो निरन्तर शुभ-चिन्तन किया है, उसीसे सुरक्षित हो अर्जुनने सहस्रों योद्धाओंका संहार करके जयद्रथका वध किया है ॥ ३७ ॥

कृतित्वे बाहुवीर्ये च तथैवासम्भ्रमेऽपि च।
शीघ्रतामोघबुद्धित्वे नास्ति पार्थसमः क्वचित् ॥ ३८ ॥

'अस्त्रोंके ज्ञान, बाहुबल, स्थिरता, शीघ्रता और अमोघ-बुद्धिता आदि गुणोंमें कहीं कोई भी कुन्तीकुमार अर्जुनकी समता करनेवाला नहीं है ॥ ३८ ॥

तदयं भरतश्रेष्ठ भ्राता तेऽद्य यदर्जुनः।
सैन्यक्षयं रणे कृत्वा सिन्धुराजशिरोऽहरत् ॥ ३९ ॥

'भरतश्रेष्ठ! इसीलिये आज आपके इस छोटे भाई अर्जुनने संग्राममें शत्रुसेनाका संहार करके सिंधुराजका सिर काट लिया है' ॥ ३९ ॥

ततो धर्मसुतो जिष्णुं परिष्वज्य विशाम्पते।
प्रमृज्य वदनं तस्य पर्याश्वासयत प्रभुः ॥ ४० ॥

प्रजानाथ! तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनका मुँह पोंछकर उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ ४० ॥

अतीव सुमहत् कर्म कृतवानसि फाल्गुन।
असह्यं चाविषह्यं च देवैरपि सवासवैः ॥ ४१ ॥

'फाल्गुन! आज तुमने बड़ा भारी कर्म कर दिखाया। इसका सम्पादन करना अथवा इसके भारको सह लेना इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी असम्भव था ॥ ४१ ॥

दिष्ट्या निस्तीर्णभारोऽसि हतारिश्चासि शत्रुहन्।
दिष्ट्या सत्या प्रतिज्ञेयं कृता हत्वा जयद्रथम् ॥ ४२ ॥

'शत्रुसूदन! आज तुम अपने शत्रुको मारकर प्रतिज्ञाके भारसे मुक्त हो गये। यह सौभाग्यकी बात है। हर्षका विषय है कि तुमने जयद्रथको मारकर अपनी यह प्रतिज्ञा सत्य कर दिखायी' ॥ ४२ ॥

एवमुक्त्वा गुडाकेशं धर्मराजो महायशाः।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन पृष्ठे हस्तेन पार्थिवः ॥ ४३ ॥

महायशस्वी धर्मराज राजा युधिष्ठिरने निद्राविजयी अर्जुनसे ऐसा कहकर उनकी पीठपर पवित्र सुगन्धसे युक्त अपना हाथ फेरा ॥ ४३ ॥

एवमुक्तौ महात्मानावुभौ केशवपाण्डवौ।
तावब्रूतां तदा कृष्णौ राजानं पृथिवीपतिम् ॥ ४४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनने उस समय उन पृथ्वीपति नरेशसे इस प्रकार कहा—॥४४॥

तव कोपाग्निना दग्धः पापो राजा जयद्रथः।
उत्तीर्णं चापि सुमहद् धार्तराष्ट्रबलं रणे ॥ ४५ ॥

'महाराज! पापी राजा जयद्रथ आपकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गया है तथा रणभूमिमें दुर्योधनकी विशाल सेना-से पार पाना भी आपकी कृपासे ही सम्भव हुआ है ॥ ४५ ॥

हन्यन्ते निहताश्चैव विनङ्क्ष्यन्ति च भारत।

तव क्रोधहता ह्येते कौरवाः शत्रुसूदन ॥ ४६ ॥

'भारत ! शत्रुसूदन ! ये सारे कौरव आपके क्रोधसे ही नष्ट होकर मारे गये हैं, मारे जाते हैं और भविष्यमें भी मारे जायँगे ॥ ४६ ॥

त्वां हि चक्षुर्हणं वीरं कोपयित्वा सुयोधनः।
समित्रबन्धुः समरे प्राणांस्त्यक्ष्यति दुर्मतिः ॥ ४७ ॥

'क्रोधपूर्ण दृष्टिपात मात्रसे विरोधीको दग्ध कर देनेवाले आप-जैसे वीरको कुपित करके दुर्बुद्धि दुर्योधन अपने मित्रों और बन्धुओंके साथ समरभूमिमें प्राणोंका परित्याग कर देगा॥

तव क्रोधहतः पूर्वं देवैरपि सुदुर्जयः।
शरतल्पगतः शेते भीष्मः कुरुपितामहः ॥ ४८ ॥

'जिनपर विजय पाना पहले देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे कुरुकुलके पितामह भीष्म आपके क्रोधसे ही दग्ध होकर इस समय बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ४८ ॥

दुर्लभो विजयस्तेषां संग्रामे रिपुसूदन।
याता मृत्युवशं ते वै येषां क्रुद्धोऽसि पाण्डव ॥ ४९ ॥

'शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन ! आप जिनपर कुपित हैं, उनके लिये युद्धमें विजय दुर्लभ है। वे निश्चय ही मृत्युके वशमें हो गये हैं ॥ ४९ ॥

राज्यं प्राणाः श्रियः पुत्राः सौख्यानि विविधानि च।
अचिरात् तस्य नश्यन्ति येषां क्रुद्धोऽसि मानद॥५०॥

'दूसरोंको मान देनेवाले नरेश ! जिनपर आपका क्रोध हुआ है, उनके राज्य, प्राण, सम्पत्ति, पुत्र तथा नाना प्रकारके सौख्य शीघ्र नष्ट हो जायँगे ॥ ५० ॥

विनष्टान् कौरवान् मन्ये सपुत्रपशुबान्धवान्।
राजधर्मपरे नित्यं त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ५१ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! सदा राजधर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाले आपके कुपित होनेपर मैं कौरवोंको पुत्र, पशु तथा बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट हुआ ही मानता हूँ' ॥

ततो भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः।
अभिवाद्य गुरुं ज्येष्ठं मार्गणैः क्षतविक्षतौ ॥ ५२ ॥
क्षितावास्तां महेष्वासौ पाञ्चाल्यैः परिवारितौ।
तौ दृष्ट्वा मुदितौ वीरौ प्राञ्जली चाग्रतः स्थितौ ॥ ५३ ॥
अभ्यनन्दत कौन्तेयस्तावुभौ भीमसात्यकी।

तदनन्तर, बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि अपने ज्येष्ठ गुरु युधिष्ठिरको प्रणाम करके भूमिपर खड़े हो गये। पाञ्चालोंसे घिरे हुए उन दोनों महाधनुर्धर वीरोंको प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़े सामने खड़े देख कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भीम और सात्यकि दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ ५२-५३½ ॥

दिष्ट्या पश्यामि वां शूरौ विमुक्तौ सैन्यसागरात् ॥५४॥
द्रोणग्राहदुराधर्षाद्धार्दिक्यमकरालयात्।

वे बोले--'बड़े सौभाग्यकी बात है कि मैं तुम दोनों शूरवीरोंको शत्रुसेनाके समुद्रसे पार हुआ देख रहा हूँ। वह सैन्यसागर द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके कारण दुर्द्धर्ष है और कृतवर्मा-जैसे मगरोंका वासस्थान बना हुआ है ॥ ५४½ ॥

दिष्ट्या विनिर्जिताः संख्ये पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ॥५५॥
युवां विजयिनौ चापि दिष्ट्या पश्यामि संयुगे।

'युद्धमें सारे भूपाल पराजित हो गये और संग्राम-भूमिमें मैं तुम दोनोंको विजयी देख रहा हूँ—यह बड़े हर्षका विषय है॥

दिष्ट्या द्रोणो जितः संख्ये हार्दिक्यश्च महाबलः॥ ५६ ॥
दिष्ट्या विकर्णिभिः कर्णो रणे नीतः पराभवम्।
विमुखश्च कृतः शल्यो युवाभ्यां पुरुषर्षभौ ॥ ५७ ॥

'हमारे सौभाग्यसे ही आचार्य द्रोण और महाबली कृतवर्मा युद्धमें परास्त हो गये। भाग्यसे ही कर्ण भी तुम्हारे बाणोंद्वारा रणक्षेत्रमें पराभवको पहुँच गया। नरश्रेष्ठ वीरो ! तुम दोनोंने राजा शल्यको भी युद्धसे विमुख कर दिया॥५६-५७॥

दिष्ट्या युवां कुशलिनौ संग्रामात् पुनरागतौ।
पश्यामि रथिनां श्रेष्ठावुभौ युद्धविशारदौ ॥ ५८ ॥

'रथियोंमें श्रेष्ठ तथा युद्धमें कुशल तुम दोनों वीरोंको मैं पुनः रणभूमिसे सकुशल लौटा हुआ देख रहा हूँ—यह मेरे लिये बड़े आनन्दकी बात है ॥ ५८ ॥

मम वाक्यकरौ वीरौ मम गौरवयन्त्रितौ।
सैन्यार्णवं समुत्तीर्णौ दिष्ट्या पश्यामि वामहम् ॥ ५९ ॥

'मेरे प्रति गौरवसे बँधकर मेरी आज्ञाका पालन करनेवाले तुम दोनों वीरोंको मैं सैन्य-समुद्रसे पार हुआ देख रहा हूँ, यह सौभाग्यका विषय है ॥ ५९ ॥

समरश्लाघिनौ वीरौ समरेष्वपराजितौ।
मम वाक्यसमौ चैव दिष्ट्या पश्यामि वामहम् ॥ ६० ॥

'तुम दोनों वीर मेरे कथनके अनुरूप ही युद्धकी श्लाघा रखनेवाले तथा समराङ्गणमें पराजित न होनेवाले हो। सौभाग्यसे मैं तुम दोनोंको यहाँ सकुशल देख रहा हूँ' ॥६०॥

इत्युक्त्वा पाण्डवो राजन् युयुधानवृकोदरौ।
सस्वजे पुरुषव्याघ्रौ हर्षाद् बाष्पं मुमोच ह ॥ ६१ ॥

राजन् ! पुरुषसिंह सात्यकि और भीमसेनसे ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उन दोनोंको हृदयसे लगा लिया और वे हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ ६१ ॥

ततः प्रमुदितं सर्वं बलमासीद् विशाम्पते।
पाण्डवानां रणे हृष्टं युद्धाय तु मनो दधे ॥ ६२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर पाण्डवोंकी सारी सेनाने युद्धस्थलमें प्रसन्न एवं उत्साहित होकर संग्राममें ही मन लगाया ६२

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि युधिष्ठिरहर्षे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें युधिष्ठिरका हर्षविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

व्याकुल हुए दुर्योधनका खेद प्रकट करते हुए द्रोणाचार्यको उपालम्भ देना

संजय उवाच

सैन्धवे निहते राजन् पुत्रस्तव सुयोधनः।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निरुत्साहो द्विषज्जये॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! सिंधुराज जयद्रथके मारे जानेपर आपका पुत्र दुर्योधन बहुत दुखी हो गया। उसके मुँहपर आँसुओंकी धारा बहने लगी। शत्रुओंको जीतनेका उसका सारा उत्साह जाता रहा॥ १॥

दुर्मना निःश्वसन् दुष्टो भग्नदंष्ट्र इवोरगः।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रस्तेऽऽर्तिं परामगात्॥ २॥

जिसके दाँत तोड़ दिये गये हैं, उस दुष्ट सर्पके समान वह मन-ही-मन दुखी हो लंबी साँस खींचने लगा। सम्पूर्ण जगत्का अपराध करनेवाले आपके पुत्रको बड़ी पीड़ा हुई॥

दृष्ट्वा तत्कदनं घोरं स्वबलस्य कृतं महत्।
जिष्णुना भीमसेनेन सात्वतेन च संयुगे॥ ३॥
स विवर्णः कृशो दीनो वाष्पविप्लुतलोचनः।

युद्धस्थलमें अर्जुन, भीमसेन और सात्यकिके द्वारा अपनी सेनाका अत्यन्त घोर संहार हुआ देखकर वह दीन, दुर्बल और कान्तिहीन हो गया। उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये ३½

अमन्यतार्जुनसमो न योद्धा भुवि विद्यते॥ ४॥
न द्रोणो न च राधेयो नाश्वत्थामा कृपो न च।
क्रुद्धस्य समरे स्थातुं पर्याप्ता इति मारिष॥ ५॥

माननीय नरेश! उसे यह निश्चय हो गया कि 'इस भूतलपर अर्जुनके समान कोई दूसरा योद्धा नहीं है। समराङ्गणमें कुपित हुए अर्जुनके सामने न द्रोण, न कर्ण, न अश्वत्थामा और न कृपाचार्य ही ठहर सकते हैं'॥४-५॥

निर्जित्य हि रणे पार्थः सर्वान् मम महारथान्।
अवधीत् सैन्धवं संख्ये न च कश्चिदवारयत्॥ ६॥

वह सोचने लगा कि 'आजके युद्धमें अर्जुनने हमारे सभी महारथियोंको जीतकर सिंधुराजका वध कर डाला, किंतु कोई भी उन्हें समराङ्गणमें रोक न सका॥ ६॥

सर्वथा हतमेवेदं कौरवाणां महद् बलम्।
न ह्यस्य विद्यते त्राता साक्षादपि पुरंदरः॥ ७॥

'कौरवोंकी यह विशाल सेना अब सर्वथा नष्टप्राय ही है। साक्षात् देवराज इन्द्र भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ७॥

यमुपाश्रित्य संग्रामे कृतः शस्त्रसमुद्यमः।
स कर्णो निर्जितः संख्ये हतश्चैव जयद्रथः॥ ८॥

'जिसका भरोसा करके मैंने युद्धके लिये शस्त्र-संग्रहकी चेष्टा की, वह कर्ण भी युद्धस्थलमें परास्त हो गया और जयद्रथ भी मारा ही गया॥ ८॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य शमं याचन्तमच्युतम्।
तृणवत् तमहं मन्ये स कर्णो निर्जितो युधि॥ ९॥

'जिसके पराक्रमका आश्रय लेकर मैंने संधिकी याचना करनेवाले श्रीकृष्णको तिनकेके समान समझा था, वह कर्ण युद्धमें पराजित हो गया'॥ ९॥

एवं क्लान्तमना राजन्नुपायाद् द्रोणमीक्षितुम्।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रस्ते भरतर्षभ॥ १०॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण जगत्का अपराध करनेवाला आपका पुत्र जब इस प्रकार सोचते-सोचते मन-ही-मन बहुत खिन्न हो गया, तब आचार्य द्रोणका दर्शन करनेके लिये उनके पास गया॥ १०॥

ततस्तत्सर्वमाचख्यौ कुरूणां वैशसं महत्।
परान् विजयतश्चापि धार्तराष्ट्रान् निमज्जतः॥ ११॥

तदनन्तर वहाँ उसने कौरवोंके महान् संहारका वह सारा समाचार कहा और यह भी बताया कि शत्रु विजयी हो रहे हैं और महाराज धृतराष्ट्रके सभी पुत्र विपत्तिके समुद्रमें डूब रहे हैं॥ ११॥

दुर्योधन उवाच

पश्य मूर्धाभिषिक्तानामाचार्य कदनं महत्।
कृत्वा प्रमुखतः शूरं भीष्मं मम पितामहम्॥ १२॥

दुर्योधन बोला—आचार्य! जिनके मस्तकपर विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया गया था, उन राजाओंका यह महान् संहार देखिये। मेरे शूरवीर पितामह भीष्मसे लेकर अबतक कितने ही नरेश मारे गये॥ १२॥

तं निहत्य प्रलुब्धोऽयं शिखण्डी पूर्णमानसः।
पाञ्चाल्यैः सहितः सर्वैः सेनाग्रमभिवर्तते॥ १३॥

व्याधों-जैसा बर्ताव करनेवाला यह शिखण्डी भीष्मको मारकर मन-ही-मन उत्साहसे भरा हुआ है और समस्त पाञ्चाल सैनिकोंके साथ सेनाके मुहानेपर खड़ा है॥ १३॥

अपरश्चापि दुर्धर्षः शिष्यस्ते सव्यसाचिना।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः॥ १४॥
अस्मद्विजयकामानां सुहृदामुपकारिणाम्।
गन्तास्मि कथमानृण्यं गतानां यमसादनम्॥ १५॥

सव्यसाची अर्जुनने मेरी सात अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करके आपके दूसरे दुर्धर्ष शिष्य राजा जयद्रथको भी मार डाला है। मुझे विजय दिलानेकी इच्छा रखनेवाले मेरे

जो-जो उपकारी सुहृद् युद्धमें प्राण देकर यमलोकमें जा पहुँचे हैं, उनका ऋण मैं कैसे चुका सकूँगा ? ॥ १४-१५ ॥

ये मदर्थे परीप्सन्ते वसुधां वसुधाधिपाः।
ते हित्वा वसुधैश्वर्यं वसुधामधिशेरते ॥ १६ ॥

जो भूमिपाल मेरे लिये इस भूमिको जीतना चाहते थे, वे स्वयं भूमण्डलका ऐश्वर्य त्यागकर भूमिपर सो रहे हैं ॥ १६ ॥

सोऽहं कापुरुषः कृत्वा मित्राणां क्षयमीदृशम्।
अश्वमेधसहस्रेण पावितुं न समुत्सहे ॥ १७ ॥

मैं कायर हूँ, अपने मित्रोंका ऐसा संहार कराकर हजारों अश्वमेध यज्ञोंसे भी अपनेको पवित्र नहीं कर सकता ॥

मम लुब्धस्य पापस्य तथा धर्मापचायिनः।
व्यायामेन जिगीषन्तः प्राप्ता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

हाय ! मुझ लोभी तथा धर्मनाशक पापीके लिये युद्धके द्वारा विजय चाहनेवाले मेरे मित्रगण यमलोक चले गये ॥

कथं पतितवृत्तस्य पृथिवी सुहृदां द्रुहः।
विवरं नाशकद् दातुं मम पार्थिवसंसदि ॥ १९ ॥

मुझ आचारभ्रष्ट और मित्रद्रोहीके लिये राजाओंके समाजमें यह पृथ्वी फट क्यों नहीं जाती, जिससे मैं उसीमें समा जाऊँ ॥ १९ ॥

योऽहं रुधिरसिक्ताङ्गं राज्ञां मध्ये पितामहम्।
शयानं नाशकं त्रातुं भीष्ममायोधने हतम् ॥ २० ॥

मेरे पितामह भीष्म राजाओंके बीच युद्धस्थलमें मारे गये और अब खूनसे लथपथ होकर बाणशय्यापर पड़े हैं; परंतु मैं उनकी रक्षा न कर सका ॥ २० ॥

तं मामनार्यपुरुषं मित्रद्रुहमधार्मिकम्।
किं वक्ष्यति हि दुर्धर्षः समेत्य परलोकजित् ॥ २१ ॥

वे परलोक-विजयी दुर्धर्ष वीर भीष्म यदि मैं उनके पास जाऊँ तो मुझ नीच, मित्रद्रोही तथा पापात्मा पुरुषसे क्या कहेंगे ? ॥ २१ ॥

जलसंधं महेष्वासं पश्य सात्यकिना हतम्।
मदर्थमुद्यतं शूरं प्राणांस्त्यक्त्वा महारथम् ॥ २२ ॥

आचार्य ! देखिये तो सही, मेरे लिये प्राणोंका मोह छोड़कर राज्य दिलानेको उद्यत हुए महाधनुर्धर शूरवीर महारथी जलसंधको सात्यकिने मार डाला ॥ २२ ॥

काम्बोजं निहतं दृष्ट्वा तथालम्बुषमेव च।
अन्यान् बहूंश्च सुहृदो जीवितार्थोऽद्य को मम ॥ २३ ॥

काम्बोजराज, अलम्बुष तथा अन्यान्य बहुत-से सुहृदोंको मारा गया देखकर भी अब मेरे जीवित रहनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ २३ ॥

व्यायच्छन्तो हताः शूरा मदर्थे येऽपराङ्मुखाः।
यतमानाः परं शक्त्या विजेतुमहितान् मम ॥ २४ ॥
तेषां गत्वाहमानृण्यमद्य शक्त्या परंतप।
तर्पयिष्यामि तानेव जलेन यमुनामनु ॥ २५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले आचार्य ! जो युद्धसे विमुख न होनेवाले शूरवीर सुहृद् मेरे लिये जूझते और मेरे शत्रुओंको जीतनेके लिये यथाशक्ति पूरी चेष्टा करते हुए मारे गये हैं, उनका अपनी शक्तिभर ऋण उतारकर आज मैं यमुनाके जलसे उन सभीका तर्पण करूँगा ॥ २४-२५ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वशस्त्रभृतां वर।
इष्टापूर्तेन च शपे वीर्येण च सुतैरपि ॥ २६ ॥
निहत्य तान् रणे सर्वान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह।
शान्तिं लब्धास्मि तेषां वा रणे गन्ता सलोकताम् ।२७।

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! आज मैं अपने यज्ञ-यागादि तथा कुँआ, बावली बनवाने आदि शुभ कर्मोंकी, पराक्रमकी तथा पुत्रोंकी शपथ खाकर आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब मैं पाण्डवोंके सहित समस्त पाञ्चालोंको युद्धमें मारकर ही शान्ति पाऊँगा अथवा मेरे वे सुहृद् युद्धमें मरकर जिन लोकोंमें गये हैं, उसीमें मैं भी चला जाऊँगा ॥ २६-२७ ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र ते पुरुषर्षभाः।
हता मदर्थे संग्रामे युध्यमानाः किरीटिना ॥ २८ ॥

वे पुरुषशिरोमणि सुहृद् रणभूमिमें मेरे लिये युद्ध करते-करते अर्जुनके हाथसे मारे जाकर जिन लोकोंमें गये हैं, वहीं मैं भी जाऊँगा ॥ २८ ॥

न हीदानीं सहाया मे परीप्सन्त्यनुपस्कृताः।
श्रेयो हि पाण्डून् मन्यन्ते न तथास्मान् महाभुज ।२९।

महाबाहो ! इस समय जो मेरे सहायक हैं, वे अरक्षित होनेके कारण हमारी सहायता करना नहीं चाहते हैं। वे जैसा पाण्डवोंका कल्याण चाहते हैं, वैसा हमलोगोंका नहीं ॥ २९ ॥

स्वयं हि मृत्युर्विहितः सत्यसंधेन संयुगे।
भवानुपेक्षां कुरुते शिष्यत्वादर्जुनस्य हि ॥ ३० ॥

युद्धस्थलमें सत्यप्रतिज्ञ भीष्मने स्वयं ही अपनी मृत्यु स्वीकार कर ली और आप भी हमारी इसलिये उपेक्षा करते हैं कि अर्जुन आपके प्रिय शिष्य हैं ॥ ३० ॥

अतो विनिहताः सर्वे येऽस्मज्जयचिकीर्षवः।
कर्णमेव तु पश्यामि सम्प्रत्यस्मज्जयैषिणम् ॥ ३१ ॥

इसलिये हमारी विजय चाहनेवाले सभी योद्धा मारे गये। इस समय तो मैं केवल कर्णको ही ऐसा देखता हूँ, जो सच्चे हृदयसे मेरी विजय चाहता है ॥ ३१ ॥

यो हि मित्रमविज्ञाय याथातथ्येन मन्दधीः।
मित्रार्थे योजयत्येनं तस्य सोऽर्थोऽवसीदति ॥ ३२ ॥

जो मूर्ख मनुष्य मित्रको ठीक-ठीक पहचाने बिना ही उसे मित्रके कार्यमें नियुक्त कर देता है, उसका वह काम बिगड़ जाता है ॥ ३२ ॥

तादृग् रूपं कृतमिदं मम कार्यं सुहृत्तमैः ।
मोहाल्लुब्धस्य पापस्य जिह्मस्य धनमीहतः ॥ ३३ ॥

मेरे परम सुहृद् कहलानेवालोंने मोहवश धन (राज्य) चाहनेवाले मुझ लोभी, पापी और कुटिलके इस कार्यको उसी प्रकार चौपट कर दिया है ॥ ३३ ॥

हतो जयद्रथश्चैव सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥ ३४ ॥

जयद्रथ और सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा मारे गये। अभीषाह, शूरसेन, शिबि तथा वसातिगण भी चल बसे ॥ ३४ ॥

सोऽहमद्य गमिष्यामि यत्र ते पुरुषर्षभाः ।
हता मदर्थे संग्रामे युध्यमानाः किरीटिना ॥ ३५ ॥

वे नरश्रेष्ठ सुहृद् रणभूमिमें मेरे लिये युद्ध करते-करते अर्जुनके हाथसे मारे जाकर जिन लोकोंमें गये हैं, वहीं आज मैं भी जाऊँगा ॥ ३५ ॥

न हि मे जीवितेनार्थस्तानृते पुरुषर्षभान् ।
आचार्यः पाण्डुपुत्राणामनुजानातु नो भवान् ॥ ३६ ॥

उन पुरुषरत्न मित्रोंके बिना अब मेरे जीवित रहनेका कोई प्रयोजन नहीं है । आप हम पाण्डुपुत्रोंके आचार्य हैं, अतः मुझे जानेकी आज्ञा दें ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि दुर्योधनानुतापे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें दुर्योधनका अनुतापविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका दुर्योधनको उत्तर और युद्धके लिये प्रस्थान

धृतराष्ट्र उवाच

सिन्धुराजे हते तात समरे सव्यसाचिना ।
तथैव भूरिश्रवसि किमासीद् वो मनस्तदा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात ! समराङ्गणमें सव्यसाची अर्जुनके द्वारा सिंधुराज जयद्रथके तथा सात्यकिद्वारा भूरिश्रवाके मारे जानेपर उस समय तुमलोगोंके मनकी कैसी अवस्था हुई ?

दुर्योधनेन च द्रोणस्तथोक्तः कुरुसंसदि ।
किमुक्तवान् परं तस्मै तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

संजय ! दुर्योधनने जब कौरव-सभामें द्रोणाचार्यसे वैसी बातें कहीं, तब उन्होंने उसे क्या उत्तर दिया ? यह मुझे बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

निष्टानको महानासीत् सैन्यानां तव भारत ।
सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा भूरिश्रवसमेव च ॥ ३ ॥

संजयने कहा—भारत ! सिंधुराज जयद्रथ तथा भूरिश्रवाको मारा गया देखकर आपकी सेनाओंमें महान् आर्तनाद होने लगा ॥ ३ ॥

मन्त्रितं तव पुत्रस्य ते सर्वमवमेनिरे ।
येन मन्त्रेण निहताः शतशः क्षत्रियर्षभाः ॥ ४ ॥

वे सब लोग आपके पुत्र दुर्योधनकी उस सारी मन्त्रणाका अनादर करने लगे, जिससे सैकड़ों क्षत्रिय-शिरोमणि कालके गालमें चले गये ॥ ४ ॥

द्रोणस्तु तद् वचः श्रुत्वा पुत्रस्य तव दुर्मनाः ।
मुहूर्तमिव तद् ध्यात्वा भृशमार्तोऽभ्यभाषत ॥ ५ ॥

आपके पुत्रका पूर्वोक्त वचन सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन दुखी हो उठे । उन्होंने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर अत्यन्त आर्तभावसे इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

द्रोण उवाच

दुर्योधन किमेवं मां वाक्शरैरपि कृन्तसि ।
अजय्यं सततं संख्ये ब्रुवाणं सव्यसाचिनम् ॥ ६ ॥

द्रोणाचार्य बोले—दुर्योधन ! तुम क्यों इस प्रकार अपने वचनरूपी बाणोंसे मुझे छेद रहे हो ? मैं तो सदासे ही कहता आया हूँ कि सव्यसाची अर्जुन युद्धमें अजेय हैं ॥

एतेनैवार्जुनं ज्ञातुमलं कौरव संयुगे ।
यच्छिखण्ड्यवधीद् भीष्मं पाल्यमानः किरीटिना ॥७॥

कुरुनन्दन ! अर्जुनको तो केवल इसी बातसे समझ लेना चाहिये था कि उनके द्वारा सुरक्षित होकर शिखण्डीने भी युद्धके मैदानमें भीष्मको मार डाला ॥ ७ ॥

अवध्यं निहतं दृष्ट्वा संयुगे देवदानवैः ।
तदैवाज्ञासिषमहं नेयमस्तीति भारती ॥ ८ ॥

जो देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य थे, उन्हें युद्धमें मारा गया देख मैंने उसी समय यह जान लिया कि यह कौरवसेना अब नहीं रह सकेगी ॥ ८ ॥

यं पुंसां त्रिषु लोकेषु सर्वशूरममंस्महि ।
तस्मिन् निपतिते शूरे किं शेषं पर्युपास्महे ॥ ९ ॥

हमलोग जिन्हें तीनों लोकोंके पुरुषोंमें सबसे अधिक शूरवीर मानते थे, उन शौर्यसम्पन्न भीष्मके मारे जानेपर हम दूसरोंका क्या भरोसा करें ? ॥ ९ ॥

यान् स्म तान् ग्लहते तात शकुनिः कुरुसंसदि ।
अक्षान् न तेऽक्षा निशिता बाणास्ते शत्रुतापनाः ॥१०॥

द्यूतक्रीड़ाके समय विदुरजीने तुमसे कहा था कि 'तात! कौरव-सभामें शकुनि जिन पासोंको फेंक रहा है, उन्हें पासे न समझो, वे किसी दिन शत्रुओंको संताप देनेवाले तीखे बाण बन सकते हैं' ॥ १० ॥

त एते घ्नन्ति नस्तात विशिखाः पार्थचोदिताः।
तांस्तदाऽऽख्यायमानस्त्वं विदुरेण न बुद्धवान् ॥११॥

परंतु वत्स ! उस समय विदुरजीकी कही हुई बातोंको तुमने कुछ नहीं समझा। तात ! वे ही पासे ये अर्जुनके चलाये हुए बाण बनकर हमें मार रहे हैं ॥ ११ ॥

यास्ता विजयतश्चापि विदुरस्य महात्मनः।
धीरस्य वाचो नाश्रौषीः क्षेमाय वदतः शिवाः ॥ १२ ॥
तदिदं वर्तते घोरमागतं वैशसं महत्।
तस्यावमानाद् वाक्यस्य दुर्योधन कृते तव ॥ १३ ॥

दुर्योधन ! विदुरजी धीर हैं, महात्मा पुरुष हैं। उन्होंने तुम्हारे कल्याणके लिये जो मङ्गलकारक वचन कहे थे और जिन्हें तुमने विजयके उल्लासमें अनसुना कर दिया था, उनके उन वचनोंके अनादरसे ही तुम्हारे लिये यह घोर महासंहार प्राप्त हुआ है ॥ १२-१३ ॥

योऽवमन्य वचः पथ्यं सुहृदामाप्तकारिणाम्।
स्वमतं कुरुते मूढः स शोच्यो नचिरादिव ॥ १४ ॥

जो मूर्ख अपने हितैषी मित्रोंके हितकर वचनकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करता है, वह थोड़े ही समयमें शोचनीय दशाको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यच्च नः प्रेक्षमाणानां कृष्णामानाय्य तत्सभाम्।
अनर्हन्तीं कुले जातां सर्वधर्मानुचारिणीम् ॥ १५ ॥
तस्याधर्मस्य गान्धारे फलं प्राप्तमिदं महत्।
नो चेत् पापं परे लोके त्वमच्छेंथास्ततोऽधिकम्॥१६॥

इसके सिवा तुमने हमलोगोंके सामने ही जो द्रौपदीको सभामें बुलाकर अपमानित किया, वह अपमान उसके योग्य नहीं था। वह उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई है और सम्पूर्ण धर्मोंका निरन्तर पालन करती है। गान्धारीनन्दन ! द्रौपदीके अपमानरूपी तुम्हारे अधर्मका ही यह महान् फल प्राप्त हुआ है कि तुम्हारे दलका विनाश हो रहा है। यदि यहाँ यह फल नहीं मिलता तो परलोकमें तुम्हें उस पापका इससे भी अधिक दण्ड भोगना पड़ता ॥ १५-१६ ॥

यच्च तान् पाण्डवान् द्यूते विषमेण विजित्य ह।
प्राव्राजयस्तदारण्ये रौरवाजिनवाससः ॥ १७ ॥

इतना ही नहीं, तुमने पाण्डवोंको जूएमें बेईमानीसे जीतकर और मृगचर्ममय वस्त्र पहनाकर उन्हें वनवास दे दिया (इस अधर्मका भी फल तुम्हें भोगना पड़ता है)।१७।

पुत्राणामिव चैतेषां धर्ममाचरतां सदा।
द्रुह्येत् को नु नरो लोके मदन्यो ब्राह्मणब्रुवः ॥ १८ ॥

पाण्डव मेरे पुत्रके समान हैं और वे सदा धर्मका आचरण करते रहते हैं। संसारमें मेरे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो ब्राह्मण कहलाकर भी उनसे द्रोह करे ॥ १८ ॥

पाण्डवानामयं कोपस्त्वया शकुनिना सह।
आहृतो धृतराष्ट्रस्य सम्मते कुरुसंसदि ॥ १९ ॥

तुमने राजा धृतराष्ट्रकी सम्मतिसे कौरवोंकी सभामें शकुनिके साथ बैठकर पाण्डवोंका यह क्रोध मोल लिया है ॥१९॥

दुःशासनेन संयुक्तः कर्णेन परिवर्धितः।
क्षत्तुर्वाक्यमनादृत्य त्वयाभ्यस्तः पुनः पुनः ॥ २० ॥

इस कार्यमें दुःशासनने तुम्हारा साथ दिया है, कर्णसे भी उस क्रोधको बढ़ावा मिला है और विदुरजीके उपदेशकी अवहेलना करके तुमने बारंबार पाण्डवोंके उस क्रोधको बढ़नेका अवसर दिया है ॥ २० ॥

यत्ताः सर्वे पराभूताः पर्यवारयताऽर्जुनम्।
सिन्धुराजानमाश्रित्य स वो मध्ये कथं हतः ॥ २१ ॥

तुम सब लोगोंने बड़ी सावधानीसे अर्जुनको घेर लिया था। फिर सब-के-सब पराजित कैसे हो गये ? तुमने सिंधुराजको आश्रय दिया था। फिर तुम्हारे बीचमें वह कैसे मारा गया ?॥ २१ ॥

कथं त्वयि च कर्णे च कृपे शल्ये च जीवति।
अश्वत्थाम्नि च कौरव्य निधनं सैन्धवोऽगमत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! तुम और कर्ण तो नहीं मर गये थे, कृपाचार्य, शल्य और अश्वत्थामा तो जीवित थे; फिर तुम्हारे रहते सिंधुराजकी मृत्यु क्यों हुई ? ॥ २२ ॥

युध्यन्तः सर्वराजानस्तेजस्तिग्ममुपासते।
सिन्धुराजं परित्रातुं स वो मध्ये कथं हतः ॥ २३ ॥

युद्ध करते हुए समस्त राजा सिंधुराजकी रक्षाके लिये प्रचण्ड तेजका आश्रय लिये हुए थे। फिर वह आपलोगोंके बीचमें कैसे मारा गया ? ॥ २३ ॥

मय्येव हि विशेषेण तथा दुर्योधन त्वयि।
आशंसत परित्राणमर्जुनात् स महीपतिः ॥ २४ ॥

दुर्योधन ! राजा जयद्रथ विशेषतः मुझपर और तुमपर ही अर्जुनसे अपनी जीवन-रक्षाका भरोसा किये बैठा था ॥ २४ ॥

ततस्तस्मिन् परित्राणमलब्धवति फाल्गुनात्।
न किंचिदनुपश्यामि जीवितस्थानमात्मनः ॥ २५ ॥

तो भी जब अर्जुनसे उसकी रक्षा न की जा सकी, तब मुझे अब अपने जीवनकी रक्षाके लिये भी कोई स्थान दिखायी नहीं देता ॥ २५ ॥

मज्जन्तमिव चात्मानं धृष्टद्युम्नस्य किल्बिषे।

पश्याम्यहत्वा पञ्चालान् सह तेन शिखण्डिना ॥ २६ ॥

मैं धृष्टद्युम्न और शिखण्डीसहित समस्त पाञ्चालोंका वध न करके अपने-आपको धृष्टद्युम्नके पापपूर्ण संकल्पमें डूबता-सा देख रहा हूँ ॥ २६ ॥

तन्मां किमभितप्यन्तं वाक्शरैरेव कृन्तसि ।
अशक्तः सिन्धुराजस्य भूत्वा त्राणाय भारत ॥ २७ ॥

भारत ! ऐसी दशामें तुम स्वयं सिंधुराजकी रक्षामें असमर्थ होकर मुझे अपने वाग्बाणोंसे क्यों छेद रहे हो ? मैं तो स्वयं ही संतप्त हो रहा हूँ ॥ २७ ॥

सौवर्णं सत्यसंधस्य ध्वजमक्लिष्टकर्मणः ।
अपश्यन् युधि भीष्मस्य कथमाशंससे जयम् ॥ २८ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले सत्यप्रतिज्ञ भीष्मके सुवर्णमय ध्वजको अब युद्धस्थलमें फहराता न देखकर भी तुम विजयकी आशा कैसे करते हो ? ॥ २८ ॥

मध्ये महारथानां च यत्राहन्यत सैन्धवः ।
हतो भूरिश्रवाश्चैव किं शेषं तत्र मन्यसे ॥ २९ ॥

जहाँ बड़े-बड़े महारथियोंके बीच सिंधुराज जयद्रथ और भूरिश्रवा मारे गये, वहाँ तुम किसके बचनेकी आशा करते हो ? ॥ २९ ॥

कृप एव च दुर्धर्षो यदि जीवति पार्थिव ।
यो नागात् सिन्धुराजस्य वर्त्म तं पूजयाम्यहम् ॥ ३० ॥

पृथ्वीपते ! दुर्धर्ष वीर कृपाचार्य यदि जीवित हैं, यदि सिंधुराजके पथपर नहीं गये हैं तो मैं उनके बल और सौभाग्यकी प्रशंसा करता हूँ ॥ ३० ॥

यत्रापश्यं हतं भीष्मं पश्यतस्तेऽनुजस्य वै ।
दुःशासनस्य कौरव्य कुर्वाणं कर्म दुष्करम् ॥ ३१ ॥
अवध्यकल्पं संग्रामे देवैरपि सवासवैः ।
न ते वसुन्धरास्तीति तदाहं चिन्तये नृप ॥ ३२ ॥

कुरुनन्दन ! नरेश ! जिन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी युद्धमें नहीं मार सकते थे, दुष्कर कर्म करनेवाले उन्हीं भीष्मको जबसे मैंने तुम्हारे छोटे भाई दुःशासनके देखते-देखते मारा गया देखा है, तबसे मैं यही सोचता हूँ कि अब यह पृथ्वी तुम्हारे अधिकारमें नहीं रह सकती ॥ ३१-३२ ॥

इमानि पाण्डवानां च सृञ्जयानां च भारत ।
अनीकान्याद्रवन्ते मां सहितान्यद्य भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! वह देखो, पाण्डवों और संजयोंकी सेनाएँ एक साथ मिलकर इस समय मुझपर चढ़ी आ रही हैं ॥ ३३ ॥

नाहत्वा सर्वपञ्चालान् कवचस्य विमोक्षणम् ।
कर्तास्मि समरे कर्म धार्तराष्ट्र हितं तव ॥ ३४ ॥

दुर्योधन ! अब मैं समस्त पाञ्चालोंको मारे बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा । मैं समराङ्गणमें वही कार्य करूँगा, जिससे तुम्हारा हित हो ॥ ३४ ॥

राजन् ब्रूयाः सुतं मे त्वमश्वत्थामानमाहवे ।
न सोमकाः प्रमोक्तव्या जीवितं परिरक्षता ॥ ३५ ॥

राजन् ! तुम मेरे पुत्र अश्वत्थामासे जाकर कहना कि 'वह युद्धमें अपने जीवनकी रक्षा करते हुए जैसे भी हो, सोमकोंको जीवित न छोड़े' ॥ ३५ ॥

यच्च पित्रानुशिष्टोऽसि तद् वचः परिपालय ।
आनृशंस्ये दमे सत्ये चार्जवे च स्थिरो भव ॥ ३६ ॥

यह भी कहना कि 'पिताने जो तुम्हें उपदेश दिया है, उसका पालन करो । दया, दम, सत्य और सरलता आदि सद्गुणोंमें स्थिर रहो ॥ ३६ ॥

धर्मार्थकामकुशलो धर्मार्थावप्यपीडयन् ।
धर्मप्रधानकार्याणि कुर्याश्चेति पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

'तुम धर्म, अर्थ और कामके साधनमें कुशल हो । अतः धर्म और अर्थको पीड़ा न देते हुए बारंबार धर्मप्रधान कर्मोंका ही अनुष्ठान करो ॥ ३७ ॥

चक्षुर्मनोभ्यां संतोष्या विप्राः पूज्याश्च शक्तितः ।
न चैषां विप्रियं कार्यं ते हि वह्निशिखोपमाः ॥ ३८ ॥

'विनयपूर्ण दृष्टि और श्रद्धायुक्त हृदयसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट रखना, यथाशक्ति उनका आदर-सत्कार करते रहना । कभी उनका अप्रिय न करना; क्योंकि वे अग्निकी ज्वालाके समान तेजस्वी होते हैं' ॥ ३८ ॥

एष त्वहमनीकानि प्रविशाम्यरिसूदन ।
रणाय महते राजंस्त्वया वाक्शरपीडितः ॥ ३९ ॥

राजन् ! शत्रुसूदन ! अब मैं तुम्हारे वाग्बाणोंसे पीड़ित हो महान् युद्धके लिये शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करता हूँ ॥ ३९ ॥

त्वं च दुर्योधन बलं यदि शक्तोऽसि पालय ।
रात्रावपि च योत्स्यन्ते संरब्धाः कुरुसृञ्जयाः ॥ ४० ॥

दुर्योधन ! यदि तुममें शक्ति हो तो सेनाकी रक्षा करना; क्योंकि इस समय क्रोधमें भरे हुए कौरव और संजय रात्रिमें भी युद्ध करेंगे ॥ ४० ॥

एवमुक्त्वा ततः प्रायाद् द्रोणः पाण्डवसृञ्जयान् ।
मुष्णन् क्षत्रियतेजांसि नक्षत्राणामिवांशुमान् ॥ ४१ ॥

जैसे सूर्य नक्षत्रोंके तेज हर लेते हैं, उसी प्रकार क्षत्रियोंके तेजका अपहरण करते हुए आचार्य द्रोण दुर्योधनसे पूर्वोक्त बातें कहकर पाण्डवों और संजयोंसे युद्ध करनेके लिये चल दिये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें द्रोणवाक्यविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधन और कर्णकी बातचीत तथा पुनः युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा द्रोणेनैवं प्रचोदितः ।
अमर्षवशमापन्नो युद्धायैव मनो दधे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर द्रोणाचार्यसे इस प्रकार प्रेरित हो अमर्षमें भरे हुए राजा दुर्योधनने मन-ही-मन युद्ध करनेका ही निश्चय किया ॥ १ ॥

अब्रवीच्च तदा कर्णं पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
पश्य कृष्णसहायेन पाण्डवेन किरीटिना ॥ २ ॥
आचार्यविहितं व्यूहं भित्त्वा देवैः सुदुर्भिदम् ।
तव व्यायच्छमानस्य द्रोणस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
मिषतां योधमुख्यानां सैन्धवो विनिपातितः ।

उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने कर्णसे इस प्रकार कहा—'कर्ण ! देखो, श्रीकृष्णसहित पाण्डुपुत्र अर्जुनने आचार्यद्वारा

निर्मित व्यूहको, जिसका भेदन करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था, भेदकर तुम्हारे और महात्मा द्रोणके युद्धमें तत्पर रहते हुए भी मुख्य-मुख्य योद्धाओंके देखते-देखते सिंधुराज जयद्रथको मार गिराया है ॥ २-३½ ॥

पश्य राधेय पृथ्वीशाः पृथिव्यां प्रवरा युधि ॥ ४ ॥
पार्थेनैकेन निहताः सिंहेनेवेतरे मृगाः ।

'राधानन्दन ! देखो, जैसे सिंह दूसरे वन्य पशुओंका संहार कर डालता है, उसी प्रकार एकमात्र कुन्तीकुमार अर्जुनद्वारा मारे गये ये भूमण्डलके श्रेष्ठ भूपाल युद्धभूमिमें पड़े हैं ॥ ४½ ॥

मम व्यायच्छमानस्य द्रोणस्य च महात्मनः ॥ ५ ॥
अल्पावशेषं सैन्यं मे कृतं शक्रात्मजेन ह ।

'मेरे और महात्मा द्रोणके परिश्रमपूर्वक युद्ध करते रहनेपर भी इन्द्रपुत्र अर्जुनने मेरी सेनाको अल्पमात्रामें ही जीवित छोड़ा है (अधिकांश सेनाको तो मार ही डाला है)॥५½॥

कथं नियच्छमानस्य द्रोणस्य युधि फाल्गुनः ॥ ६ ॥
भिन्द्यात् सुदुर्भिदं व्यूहं यतमानोऽपि संयुगे ।
प्रतिज्ञाया गतः पारं हत्वा सैन्धवमर्जुनः ॥ ७ ॥

'यदि इस युद्धमें आचार्य द्रोण अर्जुनको रोकनेकी पूरी चेष्टा करते तो प्रयत्न करनेपर भी वे समराङ्गणमें उस दुर्भेद्य व्यूहको कैसे तोड़ सकते थे ? सिंधुराजको मारकर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाके भारसे मुक्त हो गये ॥ ६-७ ॥

पश्य राधेय पृथ्वीशान् पृथिव्यां पातितान् बहून् ।
पार्थेन निहतान् संख्ये महेन्द्रोपमविक्रमान् ॥ ८ ॥

'राधाकुमार ! संग्रामभूमिमें पार्थके मारे और पृथ्वीपर गिराये हुए इन बहुसंख्यक भूपतियोंको देखो, ये सब-के-सब देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे ॥ ८ ॥

अनिच्छतः कथं वीर द्रोणस्य युधि पाण्डवः ।
भिन्द्यात् सुदुर्भिदं व्यूहं यतमानस्य शुष्मिणः॥ ९ ॥

'वीर ! यदि बलवान् द्रोणाचार्य पूरा प्रयत्न करके उन्हें व्यूहमें नहीं घुसने देना चाहते तो वे उस दुर्भेद्य व्यूहको कैसे तोड़ सकते थे ? ॥ ९ ॥

दयितः फाल्गुनो नित्यमाचार्यस्य महात्मनः ।
ततोऽस्य दत्तवान् द्वारमयुद्धेनैव शत्रुहन् ॥ १० ॥

'शत्रुसूदन ! किंतु अर्जुन तो महात्मा आचार्य द्रोणको सदा ही परम प्रिय हैं । इसीलिये उन्होंने युद्ध किये बिना ही उन्हें व्यूहमें घुसनेका मार्ग दे दिया ॥ १० ॥

अभयं सिन्धुराजाय दत्त्वा द्रोणः परंतपः ।
प्रादात् किरीटिने द्वारं पश्य निर्गुणतां मयि ॥ ११ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणाचार्यने सिंधुराजको अभय-दान देकर भी किरीटधारी अर्जुनको व्यूहमें घुसनेका मार्ग दे दिया । देखो, मुझमें कितनी गुणहीनता है ॥११॥

यद्यदास्यदनुज्ञां वै पूर्वमेव गृहान् प्रति ।
प्रस्थातुं सिन्धुराजस्य नाभविष्यज्जनक्षयः ॥ १२ ॥

'यदि उन्होंने पहले ही सिंधुराजको घर जानेकी आज्ञा दे दी होती तो यह इतना बड़ा जनसंहार नहीं होता ॥१२॥

जयद्रथो जीवितार्थी गच्छमानो गृहान् प्रति ।
मयानार्येण संरुद्धो द्रोणात् प्राप्याभयं सखे ॥ १३ ॥

'सखे ! जयद्रथ अपनी जीवनरक्षाके लिये घरकी ओर पधार रहे थे, परंतु मुझ अधमने ही द्रोणाचार्यसे अभय पाकर उन्हें रोक लिया ॥ १३ ॥

(रक्षामि सैन्धवं युद्धे नैनं प्राप्स्यति फाल्गुनः ।
मम सैन्यविनाशाय रुद्धो विप्रेण सैन्धवः ॥

'मैं युद्धमें सिंधुराजकी रक्षा करूँगा; अर्जुन उसे नहीं पा सकेंगे' ऐसा कहकर इस ब्राह्मणने मेरी सेनाका संहार करानेके लिये सिंधुराजको रोक लिया ॥

तस्य मे मन्दभाग्यस्य यतमानस्य संयुगे ।
हतानि सर्वसैन्यानि हतो राजा जयद्रथः ॥

'युद्धमें प्रयत्न करनेपर भी मुझ भाग्यहीनकी सारी सेनाएँ नष्ट हो गयीं और राजा जयद्रथ भी मार डाले गये ॥

पश्य योधवरान् कर्ण शतशोऽथ सहस्रशः ।
पार्थनामाङ्कितैर्बाणैः सर्वे नीता यमक्षयम् ॥

'कर्ण ! इन सैकड़ों-हजारों श्रेष्ठ योद्धाओंको देखो, ये सब-के-सब अर्जुनके नामसे अङ्कित बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचाये गये हैं ॥

कथमेकरथेनाजौ बहूनां नः प्रपश्यताम् ।
विपन्नः सैन्धवो राजा योधाश्चैव सहस्रशः ॥)

'हम बहुसंख्यक योद्धा देखते ही रह गये और युद्धस्थलमें एकमात्र रथकी सहायतासे अर्जुनने मेरे इन सहस्रों योद्धाओं तथा सिंधुराज जयद्रथको भी मार डाला । यह कैसे सम्भव हुआ ॥

अद्य मे भ्रातरः क्षीणाश्चित्रसेनादयो रणे ।
भीमसेनं समासाद्य पश्यतां नो दुरात्मनाम् ॥ १४ ॥

'आज युद्धमें हम दुरात्माओंके देखते-देखते मेरे चित्रसेन आदि भाई भीमसेनसे भिड़कर नष्ट हो गये' ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच

आचार्यं मा विगर्हस्व शक्त्यासौ युध्यते द्विजः ।
यथाबलं यथोत्साहं त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १५ ॥

कर्ण बोला—भाई ! तुम आचार्यकी निन्दा न करो । वह ब्राह्मण तो अपने बल, शक्ति और उत्साहके अनुसार प्राणोंका भी मोह छोड़कर युद्ध करता ही है ॥ १५ ॥

यद्येनं समतिक्रम्य प्रविष्टः श्वेतवाहनः ।
नात्र सूक्ष्मोऽपि दोषः स्यादाचार्यस्य कथंचन ॥ १६ ॥

यदि श्वेतवाहन अर्जुन आचार्य द्रोणका उल्लङ्घन करके सेनामें घुस गये तो इसमें किसी प्रकार आचार्यका कोई सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म दोष नहीं है ॥ १६ ॥

कृती दक्षो युवा शूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः ।
दिव्यास्त्रयुक्तमास्थाय रथं वानरलक्षणम् ॥ १७ ॥

कृष्णेन च गृहीताश्वमभेद्यकवचावृतः ।
गाण्डीवमजरं दिव्यं धनुरादाय वीर्यवान् ॥ १८ ॥
प्रवर्षन् निशितान् बाणान् बाहुद्रविणदर्पितः ।
यदर्जुनोऽभ्ययाद् द्रोणमुपपन्नं हि तस्य तत् ॥ १९ ॥

अर्जुन अस्त्रविद्याके विद्वान्, दक्ष, युवावस्थासे सम्पन्न, शूरवीर, अनेक दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले हैं । वे दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न एवं वानरध्वजसे उपलक्षित रथपर बैठे हुए थे । श्रीकृष्णने उनके घोड़ोंकी बागडोर ले रक्खी थी । वे अभेद्य कवचसे सुरक्षित थे । उन्हें अपने बाहुबलका अभिमान है ही । ऐसी दशामें पराक्रमी अर्जुन कभी जीर्ण न होनेवाले दिव्य गाण्डीव धनुषको लेकर तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए यदि वहाँ आचार्य द्रोणको लाँघ गये तो वह उनके योग्य ही कर्म था ॥ १७—१९ ॥

आचार्यः स्थविरो राजञ्शीघ्रयाने तथाक्षमः ।
बाहुव्यायामचेष्टायामशक्तस्तु नराधिप ॥ २० ॥

राजन् ! नरेश्वर ! आचार्य द्रोण अब बूढ़े हुए । वे शीघ्रतापूर्वक चलनेमें भी असमर्थ हैं । भुजाओंद्वारा परिश्रमपूर्वक की जानेवाली प्रत्येक चेष्टामें अब उनकी शक्ति उतनी काम नहीं देती है ॥ २० ॥

तेनैवमभ्यतिक्रान्तः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
तस्य दोषं न पश्यामि द्रोणस्यानेन हेतुना ॥ २१ ॥

इसीलिये श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे श्वेतवाहन अर्जुन द्रोणाचार्यको लाँघ गये । यही कारण है कि मैं इसमें द्रोणाचार्यका दोष नहीं देख रहा हूँ ॥ २१ ॥

अजय्यान् पाण्डवान् मन्ये द्रोणेनास्त्रविदा मृधे ।
तथा ह्येनमतिक्रम्य प्रविष्टः श्वेतवाहनः ॥ २२ ॥

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि अस्त्रवेत्ता होनेपर भी द्रोण युद्धमें पाण्डवोंको नहीं जीत सकते, तभी तो उन्हें लाँघकर श्वेतवाहन अर्जुन व्यूहमें घुस गये ॥ २२ ॥

दैवादिष्टेऽन्यथाभावो न मन्ये विद्यते क्वचित् ।
यतो नो युध्यमानानां परं शक्त्या सुयोधन ॥ २३ ॥
सैन्धवो निहतो युद्धे दैवमत्र परं स्मृतम् ।

सुयोधन ! दैवके विधानमें कहीं कोई उलट-फेर नहीं हो सकता, यह मेरी मान्यता है; क्योंकि हमलोग सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध कर रहे थे, तो भी रणभूमिमें सिंधुराज मारे गये । इस विषयमें दैव (प्रारब्ध) को ही प्रधान माना गया है ॥ २३½ ॥

परं यत्नं कुर्वतां च त्वया सार्धं रणाजिरे ॥ २४ ॥
हत्वास्माकं पौरुषं वै दैवं पश्चात् करोति नः ।
सततं चेष्टमानानां निकृत्या विक्रमेण च ॥ २५ ॥

समराङ्गणमें तुम्हारे साथ हमलोग भी विजयके लिये

महान् प्रयत्न करते हैं, छल-कपट तथा पराक्रमद्वारा भी सदा विजयकी चेष्टामें लगे रहते हैं, तो भी दैव हमारे पुरुषार्थको नष्ट करके हमें पीछे ढकेल देता है ॥ २४-२५ ॥

दैवोपसृष्टः पुरुषो यत् कर्म कुरुते क्वचित्।
कृतं कृतं हि तत्कर्म दैवेन विनिपात्यते ॥ २६ ॥

दैव या दुर्भाग्यका मारा हुआ पुरुष कहीं जो भी कर्म करता है, उसके किये हुए प्रत्येक कर्मको दैव उलट देता है ॥ २६ ॥

यत् कर्तव्यं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
तत् कार्यमविशङ्केन सिद्धिर्दैवे प्रतिष्ठिता ॥ २७ ॥

मनुष्यको सदा उद्योगशील होकर निःशङ्कभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये; परंतु उसकी सिद्धि दैवके ही अधीन है ॥ २७ ॥

निकृत्या वञ्चिताः पार्था विषयोगैश्च भारत।
दग्धा जतुगृहे चापि द्यूतेन च पराजिताः ॥ २८ ॥
राजनीतिं व्यपाश्रित्य प्रहिताश्चैव काननम्।
यत्नेन च कृतं तत्तद् दैवेन विनिपातितम् ॥ २९ ॥

भारत ! हमलोगोंने कपट करके कुन्तीकुमारोंको छला, उन्हें मारनेके लिये विषका प्रयोग किया, लाक्षागृहमें जलाया, जूएमें हराया और राजनीतिका सहारा लेकर उन्हें वनमें भी भेजा। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक किये हुए हमारे उन सभी कार्योंको दैवने नष्ट कर दिया ॥ २८-२९ ॥

युध्यस्व यत्नमास्थाय दैवं कृत्वा निरर्थकम्।
यततस्तव तेषां च दैवं मार्गेण यास्यति ॥ ३० ॥

फिर भी तुम दैवको व्यर्थ समझकर प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे और पाण्डवोंके अपनी-अपनी विजयके लिये प्रयत्न करते रहनेपर दैव अपने गन्तव्य मार्गसे जाता रहेगा ॥ ३० ॥

न तेषां मतिपूर्वं हि सुकृतं दृश्यते क्वचित्।
दुष्कृतं तव वा वीर बुद्ध्या हीनं कुरूद्वह ॥ ३१ ॥

वीर कुरुश्रेष्ठ ! मुझे तो पाण्डवोंका बुद्धिपूर्वक किया हुआ कहीं कोई सुकृत नहीं दिखायी देता अथवा तुम्हारा बुद्धिहीनतापूर्वक किया हुआ कोई दुष्कृत भी देखनेमें नहीं आता ॥ ३१ ॥

दैवं प्रमाणं सर्वस्य सुकृतस्येतरस्य वा।
अनन्यकर्म दैवं हि जागर्ति स्वपतामपि ॥ ३२ ॥

सुकृत हो या दुष्कृत, सबपर दैवका ही अधिकार है; वही उसका फल देनेवाला है। अपना ही पूर्वकृत कर्म दैव है, जो मनुष्योंके सो जानेपर भी जागता रहता है ॥ ३२ ॥

बहूनि तव सैन्यानि योधाश्च बहवस्तव।
न तथा पाण्डुपुत्राणामेवं युद्धमवर्तत ॥ ३३ ॥

पहले तुम्हारे पास बहुत-सी सेनाएँ और बहुत-से योद्धा थे। पाण्डवोंके पास उतने सैनिक नहीं थे। इस अवस्थामें युद्ध आरम्भ हुआ था ॥ ३३ ॥

तैरल्पैर्बहवो यूयं क्षयं नीताः प्रहारिणः।
शङ्के दैवस्य तत् कर्म पौरुषं येन नाशितम् ॥ ३४ ॥

तथापि उन अल्पसंख्यकोंने तुम बहुसंख्यक योद्धाओंको क्षीण कर दिया। मैं समझता हूँ, वह दैवका ही कर्म है; जिसने तुम्हारे पुरुषार्थका नाश कर दिया है ॥ ३४ ॥

संजय उवाच

एवं सम्भाषमाणानां बहु तत् तज्जनाधिप।
पाण्डवानामनीकानि समदृश्यन्त संयुगे ॥ ३५ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार जब कर्ण और दुर्योधन परस्पर बहुत-सी बातें कर रहे थे, उसी समय युद्धस्थलमें पाण्डवोंकी सेनाएँ दिखायी दीं ॥ ३५ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
तावकानां परैः सार्धं राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३६ ॥

राजन् ! तदनन्तर आपकी कुमन्त्रणाके अनुसार आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध छिड़ गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि जयद्रथवधपर्वणि पुनर्युद्धारम्भे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत जयद्रथवधपर्वमें पुनः युद्धारम्भविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

(घटोत्कचवधपर्व)

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका युद्ध, दुर्योधन और युधिष्ठिरका संग्राम तथा दुर्योधनकी पराजय

संजय उवाच

तदुदीर्णं गजानीकं बलं तव जनाधिप।
पाण्डुसेनामतिक्रम्य योधयामास सर्वतः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—जनेश्वर ! आपकी प्रचण्ड गजसेना पाण्डवसेनाका उल्लङ्घन करके सब ओर फैलकर युद्ध करने लगी ॥ १ ॥

पञ्चालाः कुरवश्चैव योधयन्तः परस्परम्।
यमराष्ट्राय महते परलोकाय दीक्षिताः ॥ २ ॥

पाञ्चाल और कौरव योद्धा महान् यमराज्य एवं परलोककी दीक्षा लेकर परस्पर युद्ध करने लगे ॥ २ ॥

शूराः शूरैः समागम्य शरतोमरशक्तिभिः ।
विव्यधुः समरेऽन्योन्यं निन्युश्चैव यमक्षयम् ॥ ३ ॥

एक पक्षके शूरवीर दूसरे पक्षके शूरवीरोंसे भिड़कर बाण, तोमर और शक्तियोंसे समरभूमिमें एक-दूसरेको चोट पहुँचाने और यमलोक भेजने लगे ॥ ३ ॥

रथिनां रथिभिः सार्धं रुधिरस्रावदारुणम् ।
प्रावर्तत महद् युद्धं निघ्नतामितरेतरम् ॥ ४ ॥

परस्पर प्रहार करनेवाले रथियोंका रथियोंके साथ महान् युद्ध होने लगा, जो खूनकी धारा बहानेके कारण अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था ॥ ४ ॥

वारणाश्च महाराज समासाद्य परस्परम् ।
विषाणैर्दारयामासुः सुसंक्रुद्धा मदोत्कटाः ॥ ५ ॥

महाराज ! अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए मदमत्त हाथी परस्पर भिड़कर दाँतोंके प्रहारसे एक-दूसरेको विदीर्ण करने लगे॥

हयारोहान् हयारोहाः प्रासशक्तिपरश्वधैः ।
बिभिदुस्तुमुले युद्धे प्रार्थयन्तो महद् यशः ॥ ६ ॥

उस भयंकर युद्धमें महान् यशकी अभिलाषा रखते हुए घुड़सवार घुड़सवारोंको प्रास, शक्ति और फरसोंद्वारा घायल कर रहे थे ॥ ६ ॥

पत्तयश्च महाबाहो शतशः शस्त्रपाणयः ।
अन्योन्यमार्दयन् राजन् नित्यं यत्ताः पराक्रमे ॥ ७ ॥

राजन् ! हाथोंमें शस्त्र लिये सैकड़ों पैदल सैनिक सदा पराक्रमके लिये प्रयत्नशील हो एक दूसरेपर चोट कर रहे थे ॥

गोत्राणां नामधेयानां कुलानां चैव मारिष ।
श्रवणाद्धि विजानीमः पञ्चालान् कुरुभिः सह ॥ ८ ॥

आर्य ! नाम, गोत्र और कुलोंका परिचय सुनकर ही हमलोग उस समय कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाले पाञ्चालोंको पहचान पाते थे ॥ ८ ॥

तेऽन्योन्यं समरे योधाः शरशक्तिपरश्वधैः ।
प्रैषयन् परलोकाय विचरन्तो ह्यभीतवत् ॥ ९ ॥

उस समराङ्गणमें वे समस्त योद्धा निर्भय-से विचरते हुए बाण, शक्ति और फरसोंकी मारसे एक दूसरेको परलोक भेज रहे थे ॥ ९ ॥

शरा दश दिशो राजंस्तेषां मुक्ताः सहस्रशः ।
न भ्राजन्ते यथातत्त्वं भास्करेऽस्तंगतेऽपि च ॥ १० ॥

राजन् ! सूर्यास्त हो जानेके कारण उन योद्धाओंके छोड़े हुए सहस्रों बाण दसों दिशाओंमें फैलकर अच्छी तरह प्रकाशित नहीं हो पाते थे ॥ १० ॥

तथा प्रयुध्यमानेषु पाण्डवेयेषु भारत ।
दुर्योधनो महाराज व्यवागाहत तद् बलम् ॥ ११ ॥

भरतवंशी महाराज ! जब इस प्रकार पाण्डव-सैनिक युद्ध कर रहे थे, उस समय दुर्योधनने उस सेनामें प्रवेश किया॥

सैन्धवस्य वधेनैव भृशं दुःखसमन्वितः ।
मर्तव्यमिति संचिन्त्य प्राविशच्च द्विषद्बलम् ॥१२ ॥

वह सिंधुराजके वधसे बहुत दुखी हो गया था । अतः मरनेका ही निश्चय करके उसने शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश किया॥

नादयन् रथघोषेण कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
अभ्यवर्तत पुत्रस्ते पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १३ ॥

अपने रथकी घरघराहटसे दिशाओंको प्रतिध्वनित करता और पृथ्वीको कँपाता हुआ-सा आपका पुत्र पाण्डवसेनाके सम्मुख आया ॥ १३ ॥

स संनिपातस्तुमुलस्तस्य तेषां च भारत ।
अभवत् सर्वसैन्यानामभावकरणो महान् ॥ १४ ॥

भारत ! पाण्डव सैनिकों तथा दुर्योधनका वह भयंकर संग्राम समस्त सेनाओंका महान् विनाश करनेवाला था॥१४॥

(धृतराष्ट्र उवाच

द्रोणः कर्णः कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
नावारयन् कथं युद्धे राजानं राजकाङ्क्षिणः ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—द्रोण, कर्ण, कृप तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा—ये तो राजाके चाहनेवालोंमेंसे हैं, इन्होंने उसे युद्धमें जानेसे रोका क्यों नहीं ? ॥

सर्वोपायैर्हि युद्धेषु रक्षितव्यो महीपतिः ।
एषा नीतिः परा युद्धे दृष्टा तत्र महर्षिभिः ॥

युद्धमें सभी उपायोंसे राजाकी रक्षा करनी चाहिये । महर्षियोंने युद्धविषयक इसी सर्वोत्तम नीतिका साक्षात्कार किया है ॥

प्रविष्टे वा मम सुते परेषां वै महद् बलम् ।
मामका रथिनां श्रेष्ठाः किमकुर्वत संजय ॥

संजय ! जब मेरा पुत्र शत्रुओंकी विशाल सेनामें घुस गया, उस समय मेरे पक्षके श्रेष्ठ रथियोंने क्या किया ? ॥

संजय उवाच

राजन् संग्राममाश्चर्यं पुत्रस्य तव भारत ।
एकस्य च बहूनां च शृणु मे ब्रुवतोऽद्भुतम् ॥

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! आपके पुत्रके आश्चर्यजनक एवं अद्भुत संग्रामका, जो एकका बहुत-से योद्धाओंके साथ हुआ था, वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥

द्रोणेन वार्यमाणोऽसौ कर्णेन च कृपेण च ।
प्राविशत् पाण्डवीं सेनां मकराः सागरं यथा ॥

द्रोणाचार्य, कर्ण और कृपाचार्यके मना करनेपर भी जैसे मगर समुद्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार दुर्योधन पाण्डवसेनामें घुस गया था ॥

किरन्निषुसहस्राणि तत्र तत्र तदा तदा ।
पञ्चालान् पाण्डवांश्चैव विव्याध निशितैः शरैः ॥

जहाँ-तहाँ सब ओर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने तीखे बाणोंद्वारा पाञ्चालों और पाण्डवोंको घायल कर दिया ॥

यथोद्यन् विततं सूर्यो रश्मिभिर्नाशयेत् तमः ।
तथा पुत्रस्तव बलं नाशयत् तन्महाबलः ॥)

जैसे उदयकालका सूर्य अपनी किरणोंद्वारा सर्वत्र फैले हुए अंधकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार आपके महाबली पुत्रने शत्रुसेनाका विनाश कर दिया ॥

यथा मध्यंदिने सूर्यं प्रतपन्तं गभस्तिभिः ।
तथा तव सुतं मध्ये प्रतपन्तं शरार्चिभिः ॥ १५ ॥
न शेकुर्भ्रातरं युद्धे पाण्डवाः समुदीक्षितुम् ।

जैसे अपनी किरणोंसे तपते हुए दोपहरके सूर्यकी ओर कोई देख नहीं पाता, उसी प्रकार अपने बाणोंकी ज्वालाओंसे शत्रुओंको संताप देते हुए सेनाके मध्यभागमें खड़े आपके पुत्र एवं अपने भाई दुर्योधनकी ओर उस युद्धस्थलमें पाण्डव देख नहीं पाते थे ॥ १५½ ॥

पलायनकृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ॥ १६ ॥
पर्यधावन्त पञ्चाला वध्यमाना महात्मना ।

महामनस्वी दुर्योधनकी मार खाकर पाञ्चाल सैनिक इधर-उधर भागने लगे । अब वे पलायन करनेमें ही उत्साह दिखा रहे थे । उनमें शत्रुओंको जीतनेका उत्साह नहीं रह गया था ॥ १६½ ॥

रुक्मपुङ्खैः प्रसन्नाग्रैस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १७ ॥
अर्द्यमानाः शरैस्तूर्णं न्यपतन् पाण्डुसैनिकाः ।

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए सुवर्णमय पंख तथा चमकती हुई धारवाले बाणोंसे पीड़ित होकर बहुतेरे पाण्डव सैनिक तुरंत धराशायी हो गये ॥ १७½ ॥

न तादृशं रणे कर्म कृतवन्तस्तु तावकाः ॥ १८ ॥
यादृशं कृतवान् राजा पुत्रस्तव विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! आपके सैनिकोंने रणभूमिमें वैसा पराक्रम नहीं किया था, जैसा कि आपके पुत्र राजा दुर्योधनने किया॥

पुत्रेण तव सा सेना पाण्डवी मथिता रणे ॥ १९ ॥
नलिनी द्विरदेनेव समन्तात् फुल्लपङ्कजा ।

जैसे हाथी सब ओरसे खिले हुए कमलपुष्पोंसे सुशोभित पोखरेको मथ डालता है, उसी प्रकार आपके पुत्रने रणभूमिमें पाण्डव-सेनाको मथ डाला ॥ १९½ ॥

क्षीणतोयानिलार्काभ्यां हतत्विडिव पद्मिनी ॥ २० ॥
बभूव पाण्डवी सेना तव पुत्रस्य तेजसा ।

जैसे हवा और सूर्यसे पानी सूख जानेके कारण पद्मिनी हतप्रभ हो जाती है, उसी प्रकार आपके पुत्रके तेजसे तप्त होकर पाण्डव-सेना श्रीहीन हो गयी थी ॥ २०½ ॥

पाण्डुसेनां हतां दृष्ट्वा तव पुत्रेण भारत ॥ २१ ॥
भीमसेनपुरोगास्तु पञ्चालाः समुपाद्रवन् ।

भारत ! आपके पुत्रद्वारा पाण्डवसेनाको मारी गयी देख पाञ्चालोंने भीमसेनको अगुआ बनाकर उसपर आक्रमण किया ॥ २१½ ॥

स भीमसेनं दशभिर्माद्रीपुत्रौ त्रिभिस्त्रिभिः ॥ २२ ॥
विराटद्रुपदौ षड्भिः शतेन च शिखण्डिनम् ।
धृष्टद्युम्नं च सप्तत्या धर्मपुत्रं च सप्तभिः ॥ २३ ॥
केकयांश्चैव चेदींश्च बहुभिर्निशितैः शरैः ।

उस समय दुर्योधनने भीमसेनको दस, माद्रीकुमारोंको तीन-तीन, विराट और द्रुपदको छः-छः, शिखण्डीको सौ, धृष्टद्युम्नको सत्तर, धर्मपुत्र युधिष्ठिरको सात और केकय तथा चेदिदेशके सैनिकोंको बहुत-से तीखे बाण मारे ॥२२-२३½॥

सात्वतं पञ्चभिर्विद्ध्वा द्रौपदेयांस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥२४॥
घटोत्कचं च समरे विद्ध्वा सिंह इवानदत् ।

फिर सात्यकिको पाँच बाणोंसे घायल करके द्रौपदीपुत्रोंको तीन-तीन बाण मारे। तत्पश्चात् समरभूमिमें घटोत्कचको घायल करके दुर्योधनने सिंहके समान गर्जना की ॥२४½॥

शतशश्चापरान् योधान् सद्विपांश्च महारणे ॥ २५ ॥
शरैरवचकर्तोग्रैः क्रुद्धोऽन्तक इव प्रजाः ।

उस महायुद्धमें हाथियोंसहित सैकड़ों दूसरे योद्धाओंको क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उसी प्रकार काट डाला, जैसे यमराज प्रजाका विनाश करते हैं ॥

सा तेन पाण्डवी सेना वध्यमाना शिलीमुखैः ॥ २६ ॥
तव पुत्रेण संग्रामे विदुद्राव नराधिप ।

नरेश्वर ! उस संग्राममें आपके पुत्रके चलाये हुए बाणोंकी मार खाकर पाण्डव-सेना इधर-उधर भागने लगी॥२६½॥

तं तपन्तमिवादित्यं कुरुराजं महाहवे ॥ २७ ॥
नाशकन् वीक्षितुं राजन् पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।

राजन् ! उस महासमरमें तपते हुए सूर्यके समान कुरुराज दुर्योधनकी ओर पाण्डवसैनिक देख भी न सके ॥२७½॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कुपितो राजसत्तम ॥ २८ ॥
अभ्यधावत् कुरुपतिं तव पुत्रं जिघांसया ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिर आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥ २८½ ॥

तावुभौ युधि कौरव्यौ समीयतुररिंदमौ ॥ २९ ॥
स्वार्थहेतोः पराक्रान्तौ दुर्योधनयुधिष्ठिरौ ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों कुरुवंशी वीर दुर्योधन

और युधिष्ठिर अपने-अपने स्वार्थके लिये युद्धमें पराक्रम प्रकट करते हुए एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २९½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३० ॥
विव्याध दशभिस्तूर्णं ध्वजं चिच्छेद चेषुणा ।

तब दुर्योधनने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले दस बाणोंद्वारा तुरंत ही युधिष्ठिरको घायल कर दिया और एक बाणसे उनका ध्वज भी काट डाला ॥ ३०½ ॥

इन्द्रसेनं त्रिभिश्चैव ललाटे जघ्निवान् नृप ॥ ३१ ॥
सारथिं दयितं राज्ञः पाण्डवस्य महात्मनः ।

नरेश्वर ! उन्होंने तीन बाणोंद्वारा महात्मा पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके प्रिय सारथि इन्द्रसेनको उसके ललाटप्रदेशमें चोट पहुँचायी ॥ ३१½ ॥

धनुश्च पुनरन्येन चकर्तास्य महारथः ॥ ३२ ॥
चतुर्भिश्चतुरश्चैव बाणैर्विव्याध वाजिनः ।

फिर दूसरे बाणसे महारथी दुर्योधनने राजा युधिष्ठिरका धनुष भी काट दिया और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३२½ ॥

ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धो निमेषादिव कार्मुकम् ॥ ३३ ॥
अन्यदादाय वेगेन कौरवं प्रत्यवारयत् ।

तब राजा युधिष्ठिरने कुपित हो पलक मारते-मारते दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और बड़े वेगसे कुरुवंशी दुर्योधनको रोका ॥ ३३½ ॥

तस्य तान् निघ्नतः शत्रून् रुक्मपृष्ठं महद् धनुः ॥३४॥
भल्लाभ्यां पाण्डवो ज्येष्ठस्त्रिधा चिच्छेद मारिष ।

माननीय नरेश ! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने दो भल्ल मारकर शत्रुओंके संहारमें लगे हुए दुर्योधनके सुवर्णमय पृष्ठवाले विशाल धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३४½ ॥

विव्याध चैनं दशभिः सम्यगस्तैः शितैः शरैः ॥ ३५ ॥
मर्म भित्त्वा तु ते सर्वे संलग्नाः क्षितिमाविशन् ।

साथ ही, उन्होंने अच्छी तरह चलाये हुए दस पैने बाणोंसे दुर्योधनको भी घायल कर दिया । वे सारे बाण दुर्योधनके मर्मस्थानोंमें लगकर उन्हें विदीर्ण करते हुए पृथ्वीमें समा गये।३५½

ततः परिवृता योधाः परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ॥ ३६ ॥
वृत्रहत्यै यथा देवाः परिवव्रुः पुरंदरम् ।

फिर तो भागे हुए पाण्डव-योद्धा लौट आये और युधिष्ठिरको वैसे ही घेरकर खड़े हो गये, जैसे वृत्रासुरके वधके लिये सब देवता इन्द्रको घेरकर खड़े हुए थे ॥३६½॥

ततो युधिष्ठिरो राजा तव पुत्रस्य मारिष ।
शरं च सूर्यरश्म्याभमत्युग्रमनिवारणम् ॥ ३७ ॥
हा हतोऽसीति राजानमुक्त्वामुञ्चद् युधिष्ठिरः ।

आर्य ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने आपके पुत्र राजा दुर्योधनपर सूर्यकिरणोंके समान तेजस्वी, अत्यन्त भयंकर तथा अनिवार्य बाण यह कहकर चलाया कि 'हाय ! तुम मारे गये' ॥ ३७½ ॥

स तेनाकर्णमुक्तेन विद्धो बाणेन कौरवः ॥ ३८ ॥
निषसाद रथोपस्थे भृशं सम्मूढचेतनः ।

कानोंतक खींचकर चलाये हुए उस बाणसे घायल हो कुरुवंशी दुर्योधन अत्यन्त मूर्च्छित हो गया और रथके पिछले भागमें धम्मसे बैठ गया ॥ ३८½ ॥

ततः पाञ्चाल्यसेनानां भृशमासीद् रवो महान् ॥३९॥
हतो राजेति राजेन्द्र मुदितानां समन्ततः ।
बाणशब्दरवश्चोग्रः शुश्रुवे तत्र मारिष ॥ ४० ॥

आदरणीय राजेन्द्र ! उस समय प्रसन्न हुए पाञ्चाल-सैनिकोंने 'राजा दुर्योधन मारा गया' ऐसा कहकर चारों ओर अत्यन्त महान् कोलाहल मचाया । वहाँ बाणोंका भयंकर शब्द भी सुनायी दे रहा था ॥ ३९–४० ॥

अथ द्रोणो द्रुतं तत्र प्रत्यदृश्यत संयुगे ।
हृष्टो दुर्योधनश्चापि दृढमादाय कार्मुकम् ॥ ४१ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति राजानं ब्रुवन् पाण्डवमभ्ययात् ।

तत्पश्चात् तुरंत ही वहाँ युद्ध-स्थलमें द्रोणाचार्य दिखायी दिये । इधर, राजा दुर्योधनने भी हर्ष और उत्साहमें भरकर सुदृढ धनुष हाथमें ले 'खड़े रहो, खड़े रहो' कहते हुए वहाँ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरपर आक्रमण किया॥४१½॥

प्रत्युद्ययुस्तं त्वरिताः पञ्चाला जयगृद्धिनः ॥ ४२ ॥
तान् द्रोणः प्रतिजग्राह परीप्सन् कुरुसत्तमम् ।
चण्डवातोद्धुतान् मेघान् निघ्नन् रश्मिमुचो यथा ॥४३॥

यह देख विजयाभिलाषी पाञ्चाल सैनिक तुरंत ही उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े; परंतु कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी रक्षाके लिये द्रोणाचार्यने उन सबको उसी तरह नष्ट कर दिया, जैसे प्रचण्ड वायुद्वारा उठाये हुए मेघोंको सूर्यदेव नष्ट कर देते हैं ॥ ४२–४३ ॥

ततो राजन् महानासीत् संग्रामो भूरिवर्धनः ।
तावकानां परेषां च समेतानां युयुत्सया ॥ ४४ ॥

राजन् ! तदनन्तर युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका महान् संग्राम होने लगा, जिसमें बहुसंख्यक प्राणियोंका संहार हुआ ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे दुर्योधनपराभवे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रिकालिक युद्धके प्रसंगमें दुर्योधनकी पराजयविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रात्रियुद्धमें पाण्डव-सैनिकोंका द्रोणाचार्यपर आक्रमण और द्रोणाचार्यद्वारा उनका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

यत् तदा प्राविशत् पाण्डूनाचार्यः कुपितो बली।
उक्त्वा दुर्योधनं मन्दं मम शास्त्रातिगं सुतम्॥ १॥
प्रविश्य विचरन्तं च रथे शूरमवस्थितम्।
कथं द्रोणं महेष्वासं पाण्डवाः पर्यवारयन्॥ २॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मेरी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनसे पूर्वोक्त बातें कहकर क्रोधमें भरे हुए बलवान् आचार्य द्रोणने जब वहाँ पाण्डव-सेनामें प्रवेश किया, उस समय रथपर बैठकर सेनाके भीतर प्रवेश करके सब ओर विचरते हुए महाधनुर्धर शूरवीर द्रोणाचार्यको पाण्डवोंने किस प्रकार रोका?॥ १-२॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रमाचार्यस्य महाहवे।
के चोत्तरमरक्षन्त निघ्नतः शात्रवान् बहून्॥ ३॥

उस महासमरमें बहुसंख्यक शत्रुयोद्धाओंका संहार करनेवाले आचार्य द्रोणके दायें चक्रकी किन लोगोंने रक्षा की तथा किन लोगोंने उनके रथके बायें पहियेकी रखवाली की?॥

के चास्य पृष्ठतोऽन्वासन् वीरा वीरस्य योधिनः।
के पुरस्तादवर्तन्त रथिनस्तस्य शात्रवः॥ ४॥

युद्धपरायण वीर रथी आचार्यके पीछे कौन-से वीर थे और शत्रुपक्षके कौन-कौनसे वीर उनके सामने खड़े हुए थे॥

मन्ये तानस्पृशच्छीतमतिवेलमनार्तवम्।
मन्ये ते समवेपन्त गावो वै शिशिरे यथा॥ ५॥

मैं तो समझता हूँ शत्रुओंको बहुत देरतक बिना मौसमके ही सर्दी लगने लगी होगी। जैसे शिशिर ऋतुमें गायें सर्दीके मारे काँपने लगती हैं, उसी तरह वे शत्रुसैनिक भी आचार्यके भयसे थर-थर काँपने लगे होंगे॥ ५॥

यत्प्राविशन्महेष्वासः पञ्चालानपराजितः।
नृत्यन् स रथमार्गेषु सर्वशस्त्रभृतां वरः॥ ६॥

क्योंकि किसीसे परास्त न होनेवाले, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने पाञ्चालोंकी सेनामें रथके मार्गोंपर नृत्य-सा करते हुए प्रवेश किया था॥ ६॥

निर्दहन् सर्वसैन्यानि पञ्चालानां रथर्षभः।
धूमकेतुरिव क्रुद्धः कथं मृत्युमुपेयिवान्॥ ७॥

रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण क्रोधमें भरे हुए धूमकेतुके समान प्रकट होकर पाञ्चालोंकी समस्त सेनाओंको दग्ध कर रहे थे; फिर उनकी मृत्यु कैसे हो गयी?॥ ७॥

संजय उवाच

सायाह्ने सैन्धवं हत्वा राज्ञा पार्थः समेत्य च।
सात्यकिश्च महेष्वासो द्रोणमेवाभ्यधावताम्॥ ८॥

संजयने कहा—राजन्! सायंकाल सिंधुराज जयद्रथका वध करके राजा युधिष्ठिरसे मिलकर कुन्तीकुमार अर्जुन और महाधनुर्धर सात्यकि दोनोंने द्रोणाचार्यपर ही धावा किया॥

तथा युधिष्ठिरस्तूर्णं भीमसेनश्च पाण्डवः।
पृथक्चमूभ्यां संयत्तौ द्रोणमेवाभ्यधावताम्॥ ९॥

इसी प्रकार राजा युधिष्ठिर और पाण्डुपुत्र भीमसेनने भी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ तैयार हो शीघ्रतापूर्वक द्रोणाचार्यपर ही आक्रमण किया॥ ९॥

तथैव नकुलो धीमान् सहदेवश्च दुर्जयः।
धृष्टद्युम्नः सहानीको विराटश्च सकेकयः॥ १०॥
मत्स्याः शाल्वाः ससेनाश्च द्रोणमेव ययुर्युधि।

इसी तरह बुद्धिमान् नकुल, दुर्जय वीर सहदेव, सेनासहित धृष्टद्युम्न, राजा विराट, केकयराजकुमार तथा मत्स्य और शाल्वदेशके सैनिक अपनी सेनाओंके साथ युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यपर ही चढ़ आये॥ १०½॥

द्रुपदश्च तथा राजा पञ्चालैरभिरक्षितः॥ ११॥
धृष्टद्युम्नपिता राजन् द्रोणमेवाभ्यवर्तत।

राजन्! पाञ्चाल सैनिकोंसे सुरक्षित धृष्टद्युम्न-पिता राजा द्रुपदने भी द्रोणाचार्यका ही सामना किया॥ ११½॥

द्रौपदेया महेष्वासा राक्षसश्च घटोत्कचः॥ १२॥
ससैन्यास्ते न्यवर्तन्त द्रोणमेव महाद्युतिम्।

महाधनुर्धर द्रौपदीकुमार तथा राक्षस घटोत्कच भी अपनी सेनाओंके साथ महातेजस्वी द्रोणाचार्यकी ही ओर लौट आये॥ १२½॥

प्रभद्रकाश्च पञ्चालाः षट्सहस्राः प्रहारिणः॥ १३॥
द्रोणमेवाभ्यवर्तन्त पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।

प्रहार करनेमें कुशल छः हजार प्रभद्रक और पाञ्चाल योद्धा भी शिखण्डीको आगे करके द्रोणाचार्यपर ही चढ़ आये॥ १३½॥

तथेतरे नरव्याघ्राः पाण्डवानां महारथाः॥ १४॥
सहिताः संन्यवर्तन्त द्रोणमेव द्विजर्षभम्।

इसी प्रकार पाण्डव-सेनाके अन्य महारथी वीर पुरुषसिंह भी एक साथ द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी ओर ही लौट आये॥ १४½॥

तेषु शूरेषु युद्धाय गतेषु भरतर्षभ॥ १५॥
बभूव रजनी घोरा भीरूणां भयवर्धिनी।

भरतश्रेष्ठ! युद्धके लिये उन शूरवीरोंके आ पहुँचनेपर वह रात बड़ी भयंकर हो गयी, जो भीरु पुरुषोंके भयको बढ़ानेवाली थी॥ १५½॥

योधानामशिवा रौद्रा राजन्नन्तकगामिनी ॥ १६ ॥
कुञ्जराश्वमनुष्याणां प्राणान्तकरणी तदा ।

राजन् ! वह रात्रि समस्त योद्धाओंके लिये अमङ्गलकारक, भयंकर, यमराजके पास ले जानेवाली तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके प्राणोंका अन्त करनेवाली थी ॥ १६½ ॥

तस्यां रजन्यां घोरायां नदन्त्यः सर्वतः शिवाः ॥ १७ ॥
न्यवेदयन् भयं घोरं सज्वालकवलैर्मुखैः ।

उस घोर रजनीमें सब ओर कोलाहल करती हुई सियारिनें अपने मुँहसे आग उगलती हुई घोर भयकी सूचना दे रही थीं ॥ १७½ ॥

उलूकाश्चाप्यदृश्यन्त शंसन्तो विपुलं भयम् ॥ १८ ॥
विशेषतः कौरवाणां ध्वजिन्यामतिदारुणाः ।

विशेषतः कौरवसेनामें महान् भयकी सूचना देनेवाले अत्यन्त दारुण उल्लू पक्षी भी दिखायी दे रहे थे ॥ १८½ ॥

ततः सैन्येषु राजेन्द्र शब्दः समभवन्महान् ॥ १९ ॥
भेरीशब्देन महता मृदङ्गानां स्वनेन च ।
गजानां बृंहितैश्चापि तुरङ्गाणां च हेषितैः ॥ २० ॥
खुरशब्दनिपातैश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर सारी सेनाओंमें रणभेरीकी भारी आवाज, मृदङ्गोंकी ध्वनि, हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और धरतीपर उनकी टाप पड़नेसे चारों ओर अत्यन्त भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ १९–२०½ ॥

ततः समभवद् युद्धं संध्यायामतिदारुणम् ॥ २१ ॥
द्रोणस्य च महाराज सृंजयानां च सर्वशः ।

महाराज ! तत्पश्चात् संध्याकालमें समस्त सृंजय-वीरों तथा द्रोणाचार्यका अत्यन्त दारुण संग्राम होने लगा ॥ २१½ ॥

तमसा चावृते लोके न प्राज्ञायत किंचन ॥ २२ ॥
सैन्येन रजसा चैव समन्तादुत्थितेन ह ।

सारा जगत् अंधकारसे तथा सेनाद्वारा सब ओर उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित होनेके कारण किसीको कुछ भी ज्ञात नहीं होता था ॥ २२½ ॥

नरस्याश्वस्य नागस्य समसज्जत शोणितम् ॥ २३ ॥
नापश्याम रजो भौमं कश्मलेनाभिसंवृताः ।

मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके रक्तमें सन जानेके कारण हमें धरतीकी धूल दिखायी नहीं देती थी । हम सब लोगोंपर मोह-सा छा गया था ॥ २३½ ॥

रात्रौ वंशवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ॥ २४ ॥
घोरश्चटचटाशब्दः शस्त्राणां पतताम‌भूत् ।

जैसे पर्वतपर रातके समय बाँसोंका जंगल जल रहा हो और उन बाँसोंके चटखनेका घोर शब्द सुनायी दे रहा हो, उसी प्रकार शस्त्रोंके आघात-प्रत्याघातसे घोर चटचट शब्द कानोंमें पड़ रहा था ॥ २४½ ॥

मृदङ्गानकनिर्ह्रादैर्झर्झरैः पटहैस्तथा ॥ २५ ॥
फेत्कारैर्हेषितैः शब्दैः सर्वमेवाकुलं बभौ ।

मृदङ्ग और ढोलोंकी आवाजसे, झाँझ और पटहोंकी ध्वनिसे तथा हाथी-घोड़ोंके फुंकार और हींसनेके शब्दोंसे वहाँका सब कुछ व्याप्त जान पड़ता था ॥ २५½ ॥

नैव स्वे न परे राजन् प्राज्ञायन्त तमोवृते ॥ २६ ॥
उन्मत्तमिव तत् सर्वं बभूव रजनीमुखे ।

राजन् ! उस अन्धकाराच्छन्न प्रदेशमें अपने और परायेकी पहचान नहीं होती थी । उस प्रदोषकालमें सब कुछ उन्मत्त-सा जान पड़ता था ॥ २६½ ॥

भौमं रजोऽथ राजेन्द्र शोणितेन प्रणाशितम् ॥ २७ ॥
शातकौम्भैश्च कवचैर्भूषणैश्च तमोऽभ्यगात् ।

राजेन्द्र ! रक्तकी धाराने धरतीकी धूलको नष्ट कर दिया । सोनेके कवचों और आभूषणोंकी चमकसे अंधकार दूर हो गया ॥ २७½ ॥

ततः सा भारती सेना मणिहेमविभूषिता ॥ २८ ॥
द्यौरिवासीत् सनक्षत्रा रजन्यां भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उस समय रात्रिकालमें मणियों तथा सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित हुई वह कौरवसेना नक्षत्रोंसे युक्त आकाशके समान सुशोभित होती थी ॥ २८½ ॥

गोमायुबलसंघुष्टा शक्तिध्वजसमाकुला ॥ २९ ॥
वारणाभिरुता घोरा क्ष्वेडितोत्क्रुष्टनादिता ।

उस सेनाके आसपास सियारोंके समूह अपनी भयंकर बोली बोल रहे थे । शक्तियों तथा ध्वजोंसे सारी सेना व्याप्त थी । कहीं हाथी चिग्घाड़ रहे थे, कहीं योद्धा सिंहनाद कर रहे थे और कहीं एक सैनिक दूसरेको पुकारते तथा ललकारते थे । इन शब्दोंसे कोलाहलपूर्ण हुई वह सेना बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ २९½ ॥

तत्राभवन्महाशब्दस्तुमुलो लोमहर्षणः ॥ ३० ॥
समावृण्वन् दिशः सर्वा महेन्द्राशनिनिःस्वनः ।

थोड़ी देरमें वहाँ रोंगटे खड़े कर देनेवाला अत्यन्त भयंकर महान् शब्द गूँज उठा । ऐसा जान पड़ता था देवराज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहट फैल गयी हो । वह शब्द वहाँ सारी दिशाओंमें छा गया था ॥ ३०½ ॥

सा निशीथे महाराज सेनादृश्यत भारती ॥ ३१ ॥
अङ्गदैः कुण्डलैर्निष्कैः शस्त्रैश्चैवावभासिता ।

महाराज ! रातके समय कौरवसेना अपने बाजूबन्द, कुण्डल, सोनेके हार तथा अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रकाशित हो रही थी ॥ ३१½ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः ॥ ३२ ॥
निशायां प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ।

वहाँ रात्रिमें सुवर्णभूषित हाथी और रथ बिजलीसहित मेघोंके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ३२½ ॥

ऋष्टिशक्तिगदाबाणमुसलप्रासपट्टिशाः ॥ ३३ ॥
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त भ्राजमाना इवाग्नयः ।

वहाँ चारों ओर गिरते हुए ऋष्टि, शक्ति, गदा, बाण मूसल, प्रास और पट्टिश आदि अस्त्र आगके अंगारोंके समान प्रकाशित दिखायी देते थे ॥ ३३½ ॥

दुर्योधनपुरोवातां रथनागबलाहकाम् ॥ ३४ ॥
वादित्रघोषस्तनितां चापविद्युद्ध्वजैर्वृताम् ।
द्रोणपाण्डवपर्जन्यां खड्गशक्तिगदाशनिम् ॥ ३५ ॥
शरधारास्त्रपवनां भृशं शीतोष्णसंकुलाम् ।
घोरां विस्मापनीमुग्रां जीवितच्छिदमप्लवाम् ॥ ३६ ॥
तां प्राविशन्नतिभयां सेनां युद्धचिकीर्षवः ।

युद्ध करनेकी इच्छावाले सैनिकोंने उस अत्यन्त भयंकर सेनामें प्रवेश किया, जो मेघोंकी घटाके समान जान पड़ती थी। दुर्योधन उसके लिये पुरवैया हवाके समान था। रथ और हाथी बादलोंके दल थे। रणवाद्योंकी गम्भीर ध्वनि मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। धनुष और ध्वज बिजलीके समान चमक रहे थे। द्रोणाचार्य और पाण्डव पर्जन्यका काम देते थे। खड्ग, शक्ति और गदाका आघात ही वज्रपात था। बाणरूपी जलकी वहाँ वर्षा होती थी। अस्त्र ही पवनके समान प्रतीत होते थे। सर्दी और गर्मीसे व्याप्त हुई वह अत्यन्त भयंकर उग्र सेना सबको विस्मयमें डालनेवाली और योद्धाओंके जीवनका उच्छेद करनेवाली थी। उससे पार होनेके लिये नौकास्वरूप कोई साधन नहीं था ३४—३६½

तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे महाशब्दनिनादिते ॥ ३७ ॥
भीरूणां त्रासजनने शूराणां हर्षवर्धने ।

महान् शब्दसे मुखरित एवं भयंकर रात्रिका प्रथम पहर बीत रहा था, जो कायरोंको डरानेवाला और शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाला था ॥ ३७½ ॥

रात्रियुद्धे महाघोरे वर्तमाने सुदारुणे ॥ ३८ ॥
द्रोणमभ्यद्रवन् क्रुद्धाः सहिताः पाण्डुसृञ्जयाः ।

जब वह अत्यन्त भयंकर और दारुण रात्रियुद्ध चल रहा था, उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डवों तथा सृंजयोंने द्रोणाचार्यपर एक साथ धावा किया ॥ ३८½ ॥

ये ये प्रमुखतो राजन्नावर्तन्त महारथाः ॥ ३९ ॥
तान् सर्वान् विमुखांश्चक्रे कांश्चिन्निन्ये यमक्षयम् ।

राजन्! जो-जो प्रमुख महारथी द्रोणाचार्यके सामने आये, उन सबको उन्होंने युद्धसे विमुख कर दिया और कितनोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ३९½ ॥

तानि नागसहस्राणि रथानामयुतानि च ॥ ४० ॥
पदातिहयसंघानां प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
द्रोणेनैकेन नाराचैर्निर्भिन्नानि निशामुखे ॥ ४१ ॥

उस प्रदोषकालमें अकेले द्रोणाचार्यने अपने नाराचोंद्वारा एक हजार हाथी, दस हजार रथ तथा लाखों-करोड़ों पैदल एवं घुड़सवार नष्ट कर दिये ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा शिबिका वध तथा भीमसेनद्वारा घुस्से और थप्पड़से कलिङ्गराजकुमारका एवं ध्रुव, जयरात तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुष्कर्ण और दुर्मदका वध

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन् प्रविष्टे दुर्धर्षे सृञ्जयानमितौजसि ।
अमृष्यमाणे संरब्धे का वोऽभूद् वै मतिस्तदा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने जब रोष और अमर्षमें भरकर संजयोंकी सेनामें प्रवेश किया, उस समय तुमलोगोंकी मनोवृत्ति कैसी हुई? ॥ १ ॥

दुर्योधनं तथा पुत्रमुक्त्वा शास्त्रातिगं मम ।
यत् प्राविशदमेयात्मा किं पार्थः प्रत्यपद्यत ॥ २ ॥

गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले मेरे पुत्र दुर्योधनसे पूर्वोक्त बातें कहकर जब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने शत्रुसेनामें पदार्पण किया, तब कुन्तीकुमार अर्जुनने क्या किया? ॥ २ ॥

निहते सैन्धवे वीरे भूरिश्रवसि चैव ह ।
यदाभ्यगान्महातेजाः पञ्चालानपराजितः ॥ ३ ॥
किममन्यत दुर्धर्षे प्रविष्टे शत्रुतापने ।
दुर्योधनस्तु किं कृत्यं प्राप्तकालममन्यत ॥ ४ ॥

सिंधुराज जयद्रथ तथा वीर भूरिश्रवाके मारे जानेपर अपराजित वीर महातेजस्वी द्रोणाचार्य जब पाञ्चालोंकी सेनामें घुसे, उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले उन दुर्धर्ष वीरके प्रवेश कर लेनेपर दुर्योधनने उस अवसरके अनुरूप किस कार्यको मान्यता प्रदान की ॥ ३-४ ॥

के च तं वरदं वीरमन्वयुर्द्विजसत्तमम् ।
के चास्य पृष्ठतोऽगच्छन् वीराः शूरस्य युध्यतः ॥ ५ ॥

उन वरदायक वीर विप्रवर द्रोणाचार्यके पीछे-पीछे कौन गये तथा युद्धपरायण शूरवीर आचार्यके पृष्ठभागमें कौन-कौन-से वीर गये? ॥ ५ ॥

के पुरस्तादवर्तन्त निघ्नन्तः शात्रवान् रणे।
मन्येऽहं पाण्डवान् सर्वान् भारद्वाजशरार्दितान्॥ ६॥
शिशिरे कम्पमाना वै कृशा गाव इव प्रभो।

रणभूमिमें शत्रुओंका संहार करते हुए कौन-कौन-से वीर आचार्यके आगे खड़े थे। प्रभो ! मैं तो समझता हूँ, द्रोणाचार्यके बाणोंसे पीड़ित होकर समस्त पाण्डव शिशिर ऋतुमें दुबली-पतली गायोंके समान थर-थर काँपने लगे होंगे॥

प्रविश्य स महेष्वासः पञ्चालानरिमर्दनः।
कथं नु पुरुषव्याघ्रः पञ्चत्वमुपजग्मिवान्॥ ७॥

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले महाधनुर्धर पुरुषसिंह द्रोणाचार्य पाञ्चालोंकी सेनामें प्रवेश करके कैसे मृत्युको प्राप्त हुए ?॥ ७॥

सर्वेषु योधेषु च संगतेषु
रात्रौ समेतेषु महारथेषु।
संलोड्यमानेषु पृथग्बलेषु
के वस्तदानीं मतिमन्त आसन्॥ ८॥

रात्रिके समय जब समस्त योद्धा और महारथी एकत्र होकर परस्पर जूझ रहे थे और पृथक्-पृथक् सेनाओंका मन्थन हो रहा था, उस समय तुमलोगोंमेंसे किन-किन बुद्धिमानोंकी बुद्धि ठिकाने रह सकी ?॥ ८॥

हतांश्चैव विषक्तांश्च पराभूतांश्च शंससि।
रथिनो विरथांश्चैव कृतान् युद्धेषु मामकान्॥ ९॥

तुम प्रत्येक युद्धमें मेरे रथियोंको हताहत, पराजित तथा रथहीन हुआ बताते हो॥ ९॥

तेषां संलोड्यमानानां पाण्डवैर्हतचेतसाम्।
अन्धे तमसि मग्नानामभवत् का मतिस्तदा॥ १०॥

जब पाण्डवोंने उन सबको मथकर अचेत कर दिया और वे घोर अन्धकारमें डूब गये, तब मेरे उन सैनिकोंने क्या विचार किया ?॥ १०॥

प्रहृष्टांश्चाप्युदग्रांश्च संतुष्टांश्चैव पाण्डवान्।
शंससीहाप्रहृष्टांश्च विभ्रष्टांश्चैव मामकान्॥ ११॥

संजय ! तुम पाण्डवोंको तो हर्ष और उत्साहसे युक्त, आगे बढ़नेवाले और संतुष्ट बताते हो और मेरे सैनिकोंको दुखी एवं युद्धसे विमुख बताया करते हो॥ ११॥

कथमेषां तदा तत्र पार्थानामपलायिनाम्।
प्रकाशमभवद् रात्रौ कथं कुरुषु संजय॥ १२॥

सूत ! युद्धसे पीछे न हटनेवाले इन कुन्तीकुमारोंके दलमें रातके समय कैसे प्रकाश हुआ और कौरवदलमें भी किस प्रकार उजाला सम्भव हुआ ?॥ १२॥

संजय उवाच

रात्रियुद्धे तदा राजन् वर्तमाने सुदारुणे।
द्रोणमभ्यद्रवन् सर्वे पाण्डवाः सह सोमकैः॥ १३॥

संजयने कहा—राजन् ! जब वह अत्यन्त दारुण रात्रियुद्ध चलने लगा, उस समय सोमकोंसहित समस्त पाण्डवोंने द्रोणाचार्यपर धावा किया॥ १३॥

ततो द्रोणः केकयांश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान्।
सम्प्रैषयत् प्रेतलोकं सर्वानिषुभिराशुगैः॥ १४॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यने केकयों और धृष्टद्युम्नके समस्त पुत्रोंको अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा यमलोक भेज दिया॥

तस्य प्रमुखतो राजन् येऽवर्तन्त महारथाः।
तान् सर्वान् प्रेषयामास पितृलोकं स भारत॥ १५॥

भरतवंशी नरेश ! जो-जो महारथी उनके सामने आये, उन सबको आचार्यने पितृलोकमें भेज दिया॥ १५॥

प्रमथ्नन्तं तदा वीरान् भारद्वाजं महारथम्।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः शिबी राजा प्रतापवान्॥ १६॥

इस प्रकार शत्रुवीरोंका संहार करते हुए महारथी द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये प्रतापी राजा शिबि क्रोधपूर्वक आये॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथम्।
विव्याध दशभिर्बाणैः सर्वपारशवैः शितैः॥ १७॥

पाण्डवपक्षके उन महारथी वीरको आते देख आचार्यने सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए दस पैने बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया॥ १७॥

तं शिबिः प्रतिविव्याध त्रिंशता निशितैः शरैः।
सारथिं चास्य भल्लेन स्मयमानो न्यपातयत्॥ १८॥

तब शिबिने तीस तीखे सायकोंसे बेधकर बदला चुकाया और मुसकराते हुए उन्होंने एक भल्लसे उनके सारथिको मार गिराया॥ १८॥

तस्य द्रोणो हयान् हत्वा सारथिं च महात्मनः।
अथास्य सशिरस्त्राणं शिरः कायादपाहरत्॥ १९॥

यह देख द्रोणाचार्यने भी महामना शिबिके घोड़ोंको मारकर सारथिका भी वध कर दिया। फिर उनके शिरस्त्राण-सहित मस्तकको धड़से काट लिया॥ १९॥

ततोऽस्य सारथिं क्षिप्रमन्यं दुर्योधनोऽदिशत्।
स तेन संगृहीताश्वः पुनरभ्यद्रवद् रिपून्॥ २०॥

तत्पश्चात् दुर्योधनने द्रोणाचार्यको शीघ्र ही दूसरा सारथि दे दिया। जब उस नये सारथिने उनके घोड़ोंकी बागडोर सँभाली, तब उन्होंने पुनः शत्रुओंपर धावा किया॥ २०॥

कलिङ्गानामनीकेन कालिङ्गस्य सुतो रणे।
पूर्वं पितृवधात् क्रुद्धो भीमसेनमुपाद्रवत्॥ २१॥

उस रणभूमिमें कलिंगराजकुमारने कलिंगोंकी सेना साथ लेकर भीमसेनपर आक्रमण किया। भीमसेनने पहले उसके पिताका वध किया था। इससे उनके प्रति उसका क्रोध बढ़ा हुआ था॥

स भीमं पञ्चभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध सप्तभिः।
विशोकं त्रिभिरानर्च्छद् ध्वजमेकेन पत्रिणा ॥ २२ ॥

उसने भीमसेनको पहले पाँच बाणोंसे बेधकर पुनः सात बाणोंसे घायल कर दिया। उनके सारथि विशोकको उसने तीन बाण मारे और एक बाणसे उनकी ध्वजा छेद डाली ॥ २२ ॥

कलिङ्गानां तु तं शूरं क्रुद्धं क्रुद्धो वृकोदरः।
रथाद् रथमभिद्रुत्य मुष्टिनाभिजघान ह ॥ २३ ॥

क्रोधमें भरे हुए कलिंग देशके उस शूरवीरको कुपित हुए भीमसेनने अपने रथसे उसके रथपर कूदकर मुक्केसे मारा ॥ २३ ॥

तस्य मुष्टिहतस्याजौ पाण्डवेन बलीयसा।
सर्वाण्यस्थीनि सहसा प्रापतन् वै पृथक् पृथक् ॥२४॥

युद्धस्थलमें बलवान् पाण्डुपुत्रके मुक्केकी मार खाकर कलिंगराजकी सारी हड्डियाँ सहसा चूर-चूर हो पृथक्-पृथक् गिर गयीं ॥ २४ ॥

तं कर्णो भ्रातरश्चास्य नामृष्यन्त परंतप।
ते भीमसेनं नाराचैर्जघ्नुराशीविषोपमैः ॥ २५ ॥

परंतप ! कर्ण और उसके भाई भीमसेनके इस पराक्रमको सहन न कर सके। उन्होंने विषधर सर्पोंके समान विषैले नाराचोंद्वारा भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

ततः शत्रुरथं त्यक्त्वा भीमो ध्रुवरथं गतः।
ध्रुवं चास्यन्तमनिशं मुष्टिना समपोथयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर भीमसेन शत्रुके उस रथको त्यागकर दूसरे शत्रु ध्रुवके रथपर जा चढ़े। ध्रुव लगातार बाणोंकी वर्षा कर रहा था। भीमसेनने उसे भी एक मुक्केसे मार गिराया ॥ २६ ॥

स तथा पाण्डुपुत्रेण बलिनाभिहतोऽपतत्।
तं निहत्य महाराज भीमसेनो महाबलः ॥ २७ ॥
जयरातरथं प्राप्य मुहुः सिंह इवानदत्।

बलवान् पाण्डुपुत्रके मुक्केकी चोट लगते ही वह धराशायी हो गया। महाराज ! ध्रुवको मारकर महाबली भीमसेन जयरातके रथपर जा पहुँचे और बारंबार सिंहनाद करने लगे ॥ २७½ ॥

जयरातमथाक्षिप्य नदन् सव्येन पाणिना ॥ २८ ॥
तलेन नाशयामास कर्णस्यैवाग्रतः स्थितः।

गर्जना करते हुए ही उन्होंने बायें हाथसे जयरातको झटका देकर उसे थप्पड़से मार डाला। फिर वे कर्णके ही सामने जाकर खड़े हो गये ॥ २८½ ॥

कर्णस्तु पाण्डवे शक्तिं काञ्चनीं समवासृजत् ॥ २९ ॥
ततस्तामेव जग्राह प्रहसन् पाण्डुनन्दनः।

तब कर्णने पाण्डुनन्दन भीमपर सोनेकी बनी हुई शक्तिका प्रहार किया; परंतु पाण्डुनन्दन भीमने हँसते हुए ही उसे हाथसे पकड़ लिया ॥ २९½ ॥

कर्णायैव च दुर्धर्षश्चिक्षेपाजौ वृकोदरः ॥ ३० ॥
तामापतन्तीं चिच्छेद शकुनिस्तैलपायिना।

दुर्धर्ष वीर वृकोदरने उस युद्धस्थलमें कर्णपर ही वह शक्ति चला दी; परंतु शकुनिने कर्णपर आती हुई शक्तिको तेल पीनेवाले बाणसे काट डाला ॥ ३०½ ॥

एतत् कृत्वा महत् कर्म रणेऽद्भुतपराक्रमः ॥ ३१ ॥
पुनः स्वरथमास्थाय दुद्राव तव वाहिनीम्।

अद्भुत पराक्रमी भीमसेन रणभूमिमें यह महान् पराक्रम करके पुनः अपने रथपर आ बैठे और आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ॥ ३१½ ॥

तमायान्तं जिघांसन्तं भीमं क्रुद्धमिवान्तकम् ॥ ३२ ॥
न्यवारयन् महाबाहुं तव पुत्रा विशाम्पते।
महता शरवर्षेण च्छादयन्तो महारथाः ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान महाबाहु भीमसेनको शत्रुवधकी इच्छासे सामने आते देख आपके महारथी पुत्रोंने बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके उन्हें आच्छादित करते हुए रोका ॥ ३२-३३ ॥

दुर्मदस्य ततो भीमः प्रहसन्निव संयुगे।
सारथिं च हयांश्चैव शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ३४ ॥

तब युद्धस्थलमें हँसते हुए-से भीमसेनने दुर्मदके सारथि और घोड़ोंको अपने बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥

दुर्मदस्तु ततो यानं दुष्कर्णस्यावचक्रमे।
तावेकरथमारूढौ भ्रातरौ परतापनौ ॥ ३५ ॥
संग्रामशिरसो मध्ये भीमं द्वावप्यधावताम्।
यथाम्बुपतिमित्रौ हि तारकं दैत्यसत्तमम् ॥ ३६ ॥

तब दुर्मद दुष्कर्णके रथपर जा बैठा। फिर शत्रुओंको संताप देनेवाले उन दोनों भाइयोंने एक ही रथपर आरूढ़ हो युद्धके मुहानेपर भीमसेनपर धावा किया; ठीक उसी तरह, जैसे वरुण और मित्रने दैत्यराज तारकपर आक्रमण किया था ॥ ३५-३६ ॥

ततस्तु दुर्मदश्चैव दुष्कर्णश्च तवात्मजौ।
रथमेकं समारुह्य भीमं बाणैरविध्यताम् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् आपके पुत्र दुर्मद (दुर्धर्ष)और दुष्कर्ण एक ही रथपर बैठकर भीमसेनको बाणोंसे घायल करने लगे ॥

ततः कर्णस्य मिषतो द्रौणेर्दुर्योधनस्य च।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च पाण्डवः ॥ ३८ ॥
दुर्मदस्य च वीरस्य दुष्कर्णस्य च तं रथम्।
पादप्रहारेण धरां प्रावेशयदरिंदमः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर कर्ण, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कृपाचार्य, सोमदत्त और बाह्लीकके देखते-देखते शत्रुदमन पाण्डुपुत्र भीमने वीर दुर्मद और दुष्कर्णके उस रथको लात मारकर धरतीमें धँसा दिया ॥ ३८-३९ ॥

ततः सुतौ ते बलिनौ शूरौ दुष्कर्णदुर्मदौ।
मुष्टिनाऽऽहत्य संक्रुद्धो ममर्द च ननर्द च ॥ ४० ॥

फिर आपके बलवान् एवं शूरवीर पुत्र दुर्मद और दुष्कर्णको क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने मुक्केसे मारकर मसल डाला और वे जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४० ॥

ततो हाहाकृते सैन्ये दृष्ट्वा भीमं नृपाऽब्रुवन्।
रुद्रोऽयं भीमरूपेण धार्तराष्ट्रेषु युध्यति ॥ ४१ ॥

यह देख कौरव-सेनामें हाहाकार मच गया। भीमसेनको देखकर राजालोग कहने लगे 'ये साक्षात् भगवान् रुद्र ही भीमसेनका रूप धारण करके धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध कर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा पलायन्ते सर्वे भारत पार्थिवाः।
विसंज्ञा वाहयन् वाहान् न च द्वौ सह धावतः ॥४२॥

भारत ! ऐसा कहकर सब राजा अचेत होकर अपने वाहनोंको हाँकते हुए रणभूमिसे पलायन करने लगे। उस समय दो व्यक्ति एक साथ नहीं भागते थे ॥ ४२ ॥

ततो बले भृशलुलिते निशामुखे
सुपूजितो नृपवृषभैर्वृकोदरः।
महाबलः कमलविबुद्धलोचनो
युधिष्ठिरं नृपतिमपूजयद् बली ॥ ४३ ॥

तदनन्तर रात्रिके प्रथम प्रहरमें जब कौरवसेना अत्यन्त भयभीत हो इधर-उधर भाग गयी, तब श्रेष्ठ राजाओंने विकसित कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाले महाबली भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और बलवान् भीमने राजा युधिष्ठिरका समादर किया ॥ ४३ ॥

ततो यमौ द्रुपदविराटकेकया
युधिष्ठिरश्चापि परां मुदं ययुः।
वृकोदरं भृशमनुपूजयंश्च ते
यथान्धके प्रतिनिहते हरं सुराः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् जैसे अन्धकासुरके मारे जानेपर देवताओंने भगवान् शङ्करका स्तवन और पूजन किया था, उसी प्रकार नकुल, सहदेव, द्रुपद, विराट, केकयराजकुमार तथा युधिष्ठिर भी भीमसेनकी विजयसे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने वृकोदरकी बड़ी प्रशंसा की ॥ ४४ ॥

ततः सुतास्ते वरुणात्मजोपमा
रुषान्विताः सह गुरुणा महात्मना।
वृकोदरं सरथपदातिकुञ्जरा
युयुत्सवो भृशमभिपर्यवारयन् ॥ ४५ ॥

इसके बाद वरुणपुत्रके समान पराक्रमी आपके सभी पुत्र रोषमें भरकर युद्धकी इच्छासे रथ, पैदल और हाथियोंकी सेना साथ ले महात्मा गुरु द्रोणाचार्यके साथ आये और वेगपूर्वक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

(ततो यमौ द्रुपदसुताः ससैनिका
युधिष्ठिरद्रुपदविराटसात्वताः।
घटोत्कचो जयविजयौ द्रुमो वृकः
ससृञ्जयास्तव तनयानवारयन् ॥)

यह देख नकुल, सहदेव, सैनिकोंसहित द्रुपदपुत्र, युधिष्ठिर, द्रुपद, विराट, सात्यकि, घटोत्कच, जय, विजय, द्रुम, वृक तथा सृंजय योधाओंने आपके पुत्रोंको आगे बढ़नेसे रोका ॥

ततोऽभवत् तिमिरघनैरिवावृते
महाभये भयदमतीव दारुणम्।
निशामुखे वृकबलगृध्रमोदनं
महात्मनां नृपवर युद्धमद्भुतम् ॥ ४६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! फिर तो घने अन्धकारसे आवृत महाभयंकर प्रदोषकालमें उन महामनस्वी वीरोंका अत्यन्त दारुण, भयदायक तथा भेड़ियों, गीधों और कौवोंको आनन्दित करनेवाला अद्भुत युद्ध होने लगा ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे भीमपराक्रमे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सोमदत्त और सात्यकिका युद्ध, सोमदत्तकी पराजय, घटोत्कच और अश्वत्थामाका युद्ध और अश्वत्थामाद्वारा घटोत्कचके पुत्रका, एक अक्षौहणी राक्षस-सेनाका तथा द्रुपदपुत्रोंका वध एवं पाण्डव-सेनाकी पराजय

संजय उवाच

प्रायोपविष्टे तु हते पुत्रे सात्यकिना तदा।
सोमदत्तो भृशं क्रुद्धः सात्यकिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आमरण उपवासका व्रत

लेकर बैठे हुए अपने पुत्र भूरिश्रवाके सात्यकिद्वारा मारे जानेपर उस समय सोमदत्तको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने सात्यकिसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

क्षत्रधर्मः पुरा दृष्टो यस्तु देवैर्महात्मभिः।
तं त्वं सात्वत संत्यज्य दस्युधर्मे कथं रतः ॥ २ ॥

'सात्वत ! पूर्वकालमें महात्माओं तथा देवताओंने जिस क्षत्रियधर्मका साक्षात्कार किया है, उसे छोड़कर तुम लुटेरोंके धर्ममें कैसे प्रवृत्त हो गये ? ॥ २ ॥

पराङ्मुखाय दीनाय न्यस्तशस्त्राय सात्यके।
क्षत्रधर्मरतः प्राज्ञः कथं नु प्रहरेद् रणे ॥ ३ ॥

'सात्यके ! जो युद्धसे विमुख एवं दीन होकर हथियार डाल चुका हो, उसपर रणभूमिमें क्षत्रियधर्मपरायण विद्वान् पुरुष कैसे प्रहार कर सकता है ? ॥३ ॥

द्वावेव किल वृष्णीनां तत्र ख्यातौ महारथौ।
प्रद्युम्नश्च महाबाहुस्त्वं चैव युधि सात्वत ॥ ४ ॥

'सात्वत ! वृष्णिवंशियोंमें दो ही महारथी युद्धके लिये विख्यात हैं। एक तो महाबाहु प्रद्युम्न और दूसरे तुम ॥

कथं प्रायोपविष्टाय पार्थेन छिन्नबाहवे।
नृशंसं पतनीयं च तादृशं कृतवानसि ॥ ५ ॥

'अर्जुनने जिसकी बाँह काट डाली थी तथा जो आमरण अनशनका निश्चय लेकर बैठा था, उस मेरे पुत्रपर तुमने वैसा पतनकारक क्रूर प्रहार क्यों किया ? ॥ ५ ॥

कर्मणस्तस्य दुर्वृत्त फलं प्राप्नुहि संयुगे।
अद्य च्छेत्स्यामि ते मूढ शिरो विक्रम्य पत्रिणा॥ ६ ॥

'ओ दुराचारी मूर्ख ! उस पापकर्मका फल तुम इस युद्धस्थलमें ही प्राप्त करो। आज मैं पराक्रम करके एक बाणसे तुम्हारा सिर काट डालूँ' ॥ ६॥

शपे सात्वत पुत्राभ्यामिष्टेन सुकृतेन च।
अनतीतामिमां रात्रिं यदि त्वां वीरमानिनम् ॥ ७ ॥
अरक्ष्यमाणं पार्थेन जिष्णुना ससुतानुजम्।
न हन्यां नरके घोरे पतेयं वृष्णिपांसन ॥ ८ ॥

'वृष्णिकुलकलंक सात्वत ! मैं अपने दोनों पुत्रोंकी तथा यज्ञ और पुण्यकर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि आज रात्रि बीतनेके पहले ही कुन्तीपुत्र अर्जुनसे अरक्षित रहनेपर अपनेको वीर माननेवाले तुम्हें पुत्रों और भाइयोंसहित न मार डालूँ तो घोर नरकमें पड़ूँ' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा सुसंक्रुद्धः सोमदत्तो महाबलः।
दध्मौ शङ्खं च तारेण सिंहनादं ननाद च ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर महाबली सोमदत्तने अत्यन्त कुपित हो उच्चस्वरसे शङ्ख बजाया और सिंहनाद किया ॥ ९ ॥

ततः कमलपत्राक्षः सिंहदंष्ट्रो दुरासदः।
सात्यकिर्भृशसंक्रुद्धः सोमदत्तमथाब्रवीत् ॥ १० ॥

तब कमलके समान नेत्र और सिंहके सदृश दाँतवाले दुर्धर्ष वीर सात्यकि भी अत्यन्त कुपित हो सोमदत्तसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

कौरवेय न मे त्रासः कथंचिदपि विद्यते।
त्वया सार्धमथान्यैश्च युध्यतो हृदि कश्चन ॥ ११ ॥

'कौरवेय ! तुम्हारे या किसी दूसरेके साथ युद्ध करते समय मेरे हृदयमें किसी तरह भी कोई भय नहीं होगा ॥ ११ ॥

यदि सर्वेण सैन्येन गुप्तो मां योधयिष्यसि।
तथापि न व्यथा काचित् त्वयि स्यान्मम कौरव ॥१२॥

'कौरव ! यदि सारी सेनासे सुरक्षित होकर तुम मेरे साथ युद्ध करोगे तो भी तुम्हारे कारण मुझे कोई व्यथा नहीं होगी ॥

युद्धसारेण वाक्येन असतां सम्मतेन च।
नाहं भीषयितुं शक्यः क्षत्रवृत्ते स्थितस्त्वया ॥ १३ ॥

'मैं सदा क्षत्रियोचित आचारमें स्थित हूँ। युद्ध ही जिसका सार है तथा दुष्ट पुरुष ही जिसे आदर देते हैं, ऐसे कटुवाक्यसे तुम मुझे डरा नहीं सकते ॥ १३ ॥

यदि तेऽस्ति युयुत्साद्य मया सह नराधिप।
निर्दयो निशितैर्बाणैः प्रहर प्रहरामि ते ॥ १४ ॥

'नरेश्वर ! यदि मेरे साथ तुम्हारी युद्ध करनेकी इच्छा है तो निर्दयतापूर्वक पैने बाणोंद्वारा मुझपर प्रहार करो। मैं भी तुमपर प्रहार करूँगा ॥ १४ ॥

हतो भूरिश्रवा वीरस्तव पुत्रो महारथः।
शलश्चैव महाराज भ्रातृव्यसनकर्षितः ॥ १५ ॥

'महाराज ! तुम्हारा वीर महारथी पुत्र भूरिश्रवा मारा गया। भाईके दुःखसे दुखी होकर शल भी वीरगतिको प्राप्त हुआ है ॥ १५ ॥

त्वां चाप्यद्य वधिष्यामि सहपुत्रं सबान्धवम्।
तिष्ठेदानीं रणे यत्तः कौरवोऽसि महारथः ॥ १६ ॥

'अब पुत्रों और बान्धवोंसहित तुम्हें भी मार डालूँगा। तुम कुरुकुलके महारथी वीर हो। इस समय रणभूमिमें सावधान होकर खड़े रहो ॥ १६ ॥

यस्मिन् दानं दमः शौचमहिंसा ह्रीर्धृतिः क्षमा।
अनपायानि सर्वाणि नित्यं राज्ञि युधिष्ठिरे ॥ १७ ॥
मृदङ्गकेतोस्तस्य त्वं तेजसा निहतः पुरा।
सकर्णसौबलः संख्ये विनाशमुपयास्यसि ॥ १८ ॥

'जिन महाराज युधिष्ठिरमें दान, दम, शौच, अहिंसा, लज्जा, धृति और क्षमा आदि सारे सद्गुण अविनश्वरभावसे सदा विद्यमान रहते हैं, अपनी ध्वजामें मृदङ्गका चिह्न धारण करनेवाले उन्हीं धर्मराजके तेजसे तुम पहले ही मर चुके हो। अतः कर्ण और शकुनिके साथ ही इस युद्धस्थलमें तुम विनाशको प्राप्त होओगे ॥ १७-१८ ॥

शपेऽहं कृष्णचरणैरिष्टापूर्तेन चैव ह।
यदि त्वां ससुतं पापं न हन्यां युधि रोषितः ॥ १९ ॥

'मैं श्रीकृष्णके चरणों तथा अपने इष्टापूर्तकर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि मैं युद्धमें क्रुद्ध होकर तुम-जैसे पापीको पुत्रोंसहित न मार डालूँ तो मुझे उत्तम गति न मिले ॥ १९ ॥

अपयास्यसि चेत्युक्त्वा रणं मुक्तो भविष्यसि।
एवमाभाष्य चान्योन्यं क्रोधसंरक्तलोचनौ ॥ २० ॥
प्रवृत्तौ शरसम्पातं कर्तुं पुरुषसत्तमौ।

'यदि तुम उपर्युक्त बातें कहकर भी युद्ध छोड़कर भाग जाओगे तभी मेरे हाथसे छुटकारा पा सकोगे।' परस्पर ऐसा कहकर क्रोधसे लाल आँखें किये उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २०½ ॥

ततो रथसहस्रेण नागानामयुतेन च ॥ २१ ॥
दुर्योधनः सोमदत्तं परिवार्य समन्ततः।

तदनन्तर दुर्योधन एक हजार रथों और दस हजार हाथियोंद्वारा सोमदत्तको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ २१½ ॥

शकुनिश्च सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २२ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो भ्रातृभिश्चेन्द्रविक्रमैः।
स्यालस्तव महाबाहुर्वज्रसंहननो युवा ॥ २३ ॥

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाला आपका नवयुवक साला महाबाहु शकुनि भी अत्यन्त कुपित हो इन्द्रके समान पराक्रमी भाइयों तथा पुत्र-पौत्रोंसे घिरकर वहाँ आ पहुँचा ॥ २२-२३ ॥

साग्रं शतसहस्रं तु हयानां तस्य धीमतः।
सोमदत्तं महेष्वासं समन्तात् पर्यरक्षत ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् शकुनिके एक लाखसे अधिक घुड़सवार महाधनुर्धर सोमदत्तकी सब ओरसे रक्षा करने लगे ॥ २४ ॥

रक्ष्यमाणश्च बलिभिश्छादयामास सात्यकिम्।
तं छाद्यमानं विशिखैर्दृष्ट्वा संनतपर्वभिः ॥ २५ ॥
धृष्टद्युम्नोऽभ्ययात् क्रुद्धः प्रगृह्य महतीं चमूम्।

बलवान् सहायकोंसे सुरक्षित हो सोमदत्तने अपने बाणोंसे सात्यकिको आच्छादित कर दिया। झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सात्यकिको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्न विशाल सेना साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

चण्डवाताभिसृष्टानामुदधीनामिव स्वनः ॥ २६ ॥
आसीद् राजन् बलौघानामन्योन्यमभिनिघ्नताम्।

राजन्! उस समय परस्पर प्रहार करनेवाली सेनाओंका कोलाहल प्रचण्ड वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ २६½ ॥

विव्याध सोमदत्तस्तु सात्वतं नवभिः शरैः ॥ २७ ॥
सात्यकिर्नवभिश्चैनमवधीत् कुरुपुङ्गवम्।

सोमदत्तने सात्यकिको नौ बाणोंसे बींध डाला। फिर सात्यकिने भी कुरुश्रेष्ठ सोमदत्तको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २७½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता समरे दृढधन्विना ॥ २८ ॥
रथोपस्थं समासाद्य मुमोह गतचेतनः।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले बलवान् सात्यकिके द्वारा समरभूमिमें अत्यन्त घायल किये जानेपर सोमदत्त रथकी बैठकमें जा बैठे और सुध-बुध खोकर मूर्छित हो गये ॥२८½॥

तं विमूढं समालक्ष्य सारथिस्त्वरया युतः ॥ २९ ॥
अपोवाह रणाद् वीरं सोमदत्तं महारथम्।

तब महारथी वीर सोमदत्तको मूर्छित हुआ देख सारथि बड़ी उतावलीके साथ उन्हें रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥२९½॥

तं विसंज्ञं समालक्ष्य युयुधानशरार्दितम् ॥ ३० ॥
अभ्यद्रवत् ततो द्रोणो यदुवीरजिघांसया।

सोमदत्तको युयुधानके बाणोंसे पीड़ित एवं अचेत हुआ देख द्रोणाचार्य यदुवीर सात्यकिका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर दौड़े ॥ ३०½ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ३१ ॥
परिवव्रुर्महात्मानं परीप्सन्तो यदूत्तमम्।

द्रोणाचार्यको आते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डव वीर यदुकुलतिलक महामना सात्यकिकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३१½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं द्रोणस्य सह पाण्डवैः ॥ ३२ ॥
बलेरिव सुरैः पूर्वं त्रैलोक्यजयकाङ्क्षया।

जैसे पूर्वकालमें त्रिलोकीपर विजय पानेकी इच्छासे राजा बलिका देवताओंके साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार द्रोणाचार्यका पाण्डवोंके साथ घोर संग्राम आरम्भ हुआ ॥३२½

ततः सायकजालेन पाण्डवानीकमावृणोत् ॥ ३३ ॥
भारद्वाजो महातेजा विव्याध च युधिष्ठिरम्।

तत्पश्चात् महातेजस्वी द्रोणाचार्यने अपने बाणसमूहसे पाण्डवसेनाको आच्छादित कर दिया और युधिष्ठिरको बींध डाला ॥ ३३½ ॥

सात्यकिं दशभिर्बाणैर्विंशत्या पार्षतं शरैः ॥ ३४ ॥
भीमसेनं च नवभिर्नकुलं पञ्चभिस्तथा।
सहदेवं तथाष्टाभिः शतेन च शिखण्डिनम् ॥ ३५ ॥
द्रौपदेयान् महाबाहुः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः।
विराटं मत्स्यमष्टाभिर्द्रुपदं दशभिः शरैः ॥ ३६ ॥
युधामन्युं त्रिभिः षड्भिरुत्तमौजसमाहवे।
अन्यांश्च सैनिकान् विद्ध्वा युधिष्ठिरमुपाद्रवत्॥ ३७ ॥

फिर महाबाहु द्रोणने सात्यकिको दस, धृष्टद्युम्नको बीस, भीमसेनको नौ, नकुलको पाँच, सहदेवको आठ, शिखण्डीको सौ, द्रौपदी-पुत्रोंको पाँच-पाँच, मत्स्यराज विराटको आठ, द्रुपदको दस, युधामन्युको तीन, उत्तमौजाको छः तथा अन्य सैनिकोंको अन्यान्य बाणोंसे घायल करके युद्धस्थलमें राजा युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ ३४–३७ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः।
प्राद्रवन् वै भयाद् राजन् सार्तनादा दिशो दश॥ ३८ ॥

राजन्! द्रोणाचार्यकी मार खाकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिक आर्तनाद करते हुए भयके मारे दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८ ॥

काल्यमानं तु तत् सैन्यं दृष्ट्वा द्रोणेन फाल्गुनः।
किंचिदागतसंरम्भो गुरुं पार्थोऽभ्ययाद् द्रुतम्॥ ३९॥

द्रोणाचार्यके द्वारा पाण्डव-सेनाका संहार होता देख कुन्तीकुमार अर्जुनके हृदयमें कुछ क्रोध हो आया। वे तुरंत ही आचार्यका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वा द्रोणं तु बीभत्सुमभिधावन्तमाहवे।
संन्यवर्तत तत् सैन्यं पुनर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ४० ॥

अर्जुनको युद्धमें द्रोणाचार्यपर धावा करते देख युधिष्ठिर-की सेना पुनः वापस लौट आयी ॥ ४० ॥

ततो युद्धमभूद् भूयो भारद्वाजस्य पाण्डवैः।
द्रोणस्तव सुतै राजन् सर्वतः परिवारितः ॥ ४१ ॥
व्यधमत् पाण्डुसैन्यानि तूलराशिमिवानलः।

राजन्! तदनन्तर भरद्वाजनन्दन द्रोणका पाण्डवोंके साथ पुनः युद्ध आरम्भ हुआ। आपके पुत्रोंने द्रोणाचार्यको सब ओरसे घेर रक्खा था। जैसे आग रूईके ढेरको जला देती है, उसी प्रकार वे पाण्डव-सेनाको तहस-नहस करने लगे ॥ ४१½ ॥

तं ज्वलन्तमिवादित्यं दीप्तानलसमद्युतिम् ॥ ४२ ॥
राजन्ननिशमत्यन्तं दृष्ट्वा द्रोणं शरार्चिषम्।
मण्डलीकृतधन्वानं तपन्तमिव भास्करम् ॥ ४३ ॥
दहन्तमहितान् सैन्ये नैनं कश्चिदवारयत्।

नरेश्वर! प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् तथा निरन्तर बाणरूपी किरणोंसे युक्त सूर्यके समान अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले द्रोणाचार्यको धनुषको मण्डलाकार करके तपते हुए प्रभाकरके समान शत्रुओंको दग्ध करते देख पाण्डव-सेनामें कोई वीर उन्हें रोक न सका ॥ ४२-४३½ ॥

यो यो हि प्रमुखे तस्य तस्थौ द्रोणस्य पूरुषः ॥ ४४ ॥
तस्य तस्य शिरश्छित्त्वा ययुर्द्रोणशराः क्षितिम्।

जो-जो योद्धा पुरुष द्रोणाचार्यके सामने खड़ा होता, उसी-उसीका सिर काटकर द्रोणाचार्यके बाण धरतीमें समा जाते थे ॥ ४४½ ॥

एवं सा पाण्डवी सेना वध्यमाना महात्मना ॥ ४५ ॥
प्रदुद्राव पुनर्भीता पश्यतः सव्यसाचिनः।

इस प्रकार महात्मा द्रोणके द्वारा मारी जाती हुई पाण्डव-सेना पुनः भयभीत हो सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते भागने लगी ॥ ४५½ ॥

सम्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेन निशि भारत ॥ ४६ ॥
गोविन्दमब्रवीज्जिष्णुर्गच्छ द्रोणरथं प्रति।

भरतनन्दन! रातमें द्रोणाचार्यके द्वारा अपनी सेनाको भगायी हुई देख अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'आप द्रोणाचार्य-के रथके समीप चलिये' ॥ ४६½ ॥

ततो रजतगोक्षीरकुन्देन्दुसदृशप्रभान् ॥ ४७ ॥
चोदयामास दाशार्हो हयान् द्रोणरथं प्रति।

तब दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने चाँदी, गोदुग्ध, कुन्द-पुष्प तथा चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाले घोड़ोंको द्रोणाचार्यके रथकी ओर हाँका ॥ ४७½ ॥

भीमसेनोऽपि तं दृष्ट्वा यान्तं द्रोणाय फाल्गुनम्॥ ४८ ॥
स्वसारथिमुवाचेदं द्रोणानीकाय मा वह।

अर्जुनको द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये जाते देख भीमसेनने भी अपने सारथिसे कहा—'तुम द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर मुझे ले चलो' ॥ ४८½ ॥

सोऽपि तस्य वचः श्रुत्वा विशोकोऽवाहयद्धयान्॥४९॥
पृष्ठतः सत्यसंधस्य जिष्णोर्भरतसत्तम।

भरतश्रेष्ठ! उनके सारथि विशोकने उनकी बात सुनकर सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके पीछे अपने घोड़ोंको बढ़ाया ॥ ४९½ ॥

तौ दृष्ट्वा भ्रातरौ यत्तौ द्रोणानीकमभिद्रुतौ ॥ ५० ॥
पञ्चालाः सृञ्जया मत्स्याश्चेदिकारूषकोसलाः।
अन्वगच्छन् महाराज केकयाश्च महारथाः ॥ ५१ ॥

महाराज! उन दोनों भाइयोंको द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर युद्धके लिये उद्यत होकर जाते देख पाञ्चाल, सृंजय, मत्स्य, चेदि, कारूष, कोसल तथा केकय महारथियोंने भी उन्हींका अनुसरण किया ॥ ५०-५१ ॥

ततो राजन्नभूद् घोरः संग्रामो लोमहर्षणः।
बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च वृकोदरः ॥ ५२ ॥
महद्भ्यां रथवृन्दाभ्यां बलं जगृहतुस्तव।

राजन्! फिर तो वहाँ रोंगटे खड़े कर देनेवाला घोर संग्राम आरम्भ हो गया। अर्जुनने द्रोणाचार्यकी सेनाके दक्षिणभागको और भीमसेनने वामभागको अपना लक्ष्य बनाया। उन दोनों भाइयोंके साथ विशाल रथ तथा सेनाएँ थीं ॥ ५२½ ॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ भीमसेनधनंजयौ ॥ ५३ ॥
धृष्टद्युम्नोऽभ्ययाद् राजन् सात्यकिश्च महाबलः।

घटोत्कचका रथ

राजन् ! पुरुषसिंह भीमसेन और अर्जुनको द्रोणाचार्यपर धावा करते देख धृष्टद्युम्न और महाबली सात्यकि भी वहीं जा पहुँचे ॥ ५३½ ॥

चण्डवाताभिपन्नानामुदधीनामिव स्वनः ॥ ५४ ॥
आसीद् राजन् बलौघानां तदान्योन्यमभिघ्नताम् ।

महाराज ! उस समय परस्पर आघात-प्रतिघात करते हुए उन सैन्यसमूहोंका कोलाहल प्रचण्ड वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ५४½ ॥

सौमदत्तिवधात् क्रुद्धो दृष्ट्वा सात्यकिमाहवे ॥ ५५ ॥
द्रौणिरभ्यद्रवद् राजन् वधाय कृतनिश्चयः ।

नरेश्वर ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाके वधसे अत्यन्त कुपित हो उठा था । उसने युद्धस्थलमें सात्यकिको देखकर उनके वधका दृढ़ निश्चय करके उनपर आक्रमण किया ॥ ५५½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य शैनेयस्य रथं प्रति ॥ ५६ ॥
भैमसेनिः सुसंक्रुद्धः प्रत्यमित्रमवारयत् ।

अश्वत्थामाको शिनिपौत्रके रथकी ओर जाते देख अत्यन्त कुपित हुए भीमसेनके पुत्र घटोत्कचने अपने उस शत्रुको रोका ॥ ५६½ ॥

कार्ष्णायसं महाघोरमृक्षचर्मपरिच्छदम् ॥ ५७ ॥
महान्तं रथमास्थाय त्रिंशन्नल्वान्तरान्तरम् ।
विक्षिप्तयन्त्रसंनाहं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ ५८ ॥
युक्तं गजनिभैर्वाहैर्न हयैर्नापि वारणैः ।
विक्षिप्तपक्षचरणविवृताक्षेण कूजता ॥ ५९ ॥
ध्वजेनोच्छ्रितदण्डेन गृध्रराजेन राजितम् ।
लोहितार्द्रपताकं तु अन्त्रमालाविभूषितम् ॥ ६० ॥

घटोत्कच जिस विशाल रथपर बैठकर आया था, वह काले लोहेका बना हुआ और अत्यन्त भयंकर था । उसके ऊपर रीछकी खाल मढ़ी हुई थी । उसके भीतरी भागकी लम्बाई-चौड़ाई तीस नल्व¹ (बारह हजार हाथ) थी । उसमें यन्त्र और कवच रक्खे हुए थे । चलते समय उससे मेघोंकी भारी घटाके समान गम्भीर शब्द होता था । उसमें हाथी-जैसे विशालकाय वाहन जुते हुए थे, जो वास्तवमें न घोड़े थे और न हाथी । उस रथकी ध्वजाका डंडा बहुत ऊँचा था । वह ध्वज पंख और पंजे फैलाकर आँखें फाड़-फाड़कर देखने और कूजनेवाले एक गृध्रराजसे सुशोभित था । उसकी पताका खूनसे भीगी हुई थी और उस रथको आँतोंकी मालासे विभूषित किया गया था ॥ ५७—६० ॥

अष्टचक्रसमायुक्तमास्थाय विपुलं रथम् ।
शूलमुद्गरधारिण्या शैलपादपहस्तया ॥ ६१ ॥
रक्षसां घोररूपाणामक्षौहिण्या समावृतः ।

ऐसे आठ पहियोंवाले विशाल रथपर बैठा हुआ घटोत्कच भयंकर रूपवाले राक्षसोंकी एक अक्षौहिणी सेनासे घिरा हुआ था । उस समस्त सेनाने अपने हाथोंमें शूल, मुद्गर, पर्वत-शिखर और वृक्ष ले रक्खे थे ॥ ६१½ ॥

तमुद्यतमहाचापं निशम्य व्यथिता नृपाः ॥ ६२ ॥
युगान्तकालसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ।

प्रलयकालमें दण्डधारी यमराजके समान विशाल धनुष उठाये घटोत्कचको देखकर समस्त राजा व्यथित हो उठे ॥ ६२½ ॥

ततस्तं गिरिशृङ्गाभं भीमरूपं भयावहम् ॥ ६३ ॥
दंष्ट्राकरालोग्रमुखं शङ्कुकर्णं महाहनुम् ।
ऊर्ध्वकेशं विरूपाक्षं दीप्तास्यं निम्नितोदरम् ॥ ६४ ॥
महाश्वभ्रगलद्वारं किरीटच्छन्नमूर्धजम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६५ ॥
वीक्ष्य दीप्तमिवायान्तं रिपुविक्षोभकारिणम् ।
तमुद्यतमहाचापं राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥ ६६ ॥
भयार्दिता प्रचुक्षोभ पुत्रस्य तव वाहिनी ।
वायुना क्षोभितावर्ता गङ्गेवोर्ध्वतरङ्गिणी ॥ ६७ ॥

वह देखनेमें पर्वत-शिखरके समान जान पड़ता था । उसका रूप भयानक होनेके कारण वह सबको भयंकर प्रतीत होता था । उसका मुख यों ही बड़ा भीषण था; किंतु दाढ़ोंके कारण और भी विकराल हो उठा था । उसके कान कील या खूँटेके समान जान पड़ते थे । ठोढ़ी बहुत बड़ी थी । बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे । आँखें डरावनी थीं । मुख आगके समान प्रज्वलित था, पेट भीतरकी ओर धँसा हुआ था । उसके गलेका छेद बहुत बड़े गड्ढेके समान जान पड़ता था । सिरके बाल किरीटसे ढके हुए थे । वह मुँह बाये हुए यमराजके समान समस्त प्राणियोंके मनमें त्रास उत्पन्न करनेवाला था । शत्रुओंको क्षुब्ध कर देनेवाले प्रज्वलित अग्निके समान राक्षसराज घटोत्कचको विशाल धनुष उठाये आते देख आपके पुत्रकी सेना भयसे पीड़ित एवं क्षुब्ध हो उठी, मानो वायुसे विक्षुब्ध हुई गङ्गामें भयानक भँवरें और ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हों ॥ ६३—६७ ॥

घटोत्कचप्रयुक्तेन सिंहनादेन भीषिताः ।
प्रसुस्रुवुर्गजा मूत्रं विव्यथुश्च नरा भृशम् ॥ ६८ ॥

घटोत्कचके द्वारा किये हुए सिंहनादसे भयभीत हो हाथियोंके पेशाब झड़ने लगे और मनुष्य भी अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ ६८ ॥

ततोऽश्मवृष्टिरत्यर्थमासीत् तत्र समन्ततः ।
संध्याकालाधिकबलैः प्रयुक्ता राक्षसैः क्षितौ ॥ ६९ ॥

तदनन्तर उस रणभूमिमें चारों ओर संध्याकालसे ही

१. भूमि नापनेका एक नाप जो चार सौ हाथका होता है ।

अधिक बलवान् हुए राक्षसोंद्वारा की हुई पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ ६९ ॥

आयसानि च चक्राणि भुशुण्ड्यः प्रासतोमराः।
पतन्त्यविरताः शूलाः शतघ्न्यः पट्टिशास्तथा ॥ ७० ॥

लोहेके चक्र, भुशुण्डी, प्रास, तोमर, शूल, शतघ्नी और पट्टिश आदि अस्त्र अविराम गतिसे गिरने लगे ॥ ७० ॥

तदुग्रमतिरौद्रं च दृष्ट्वा युद्धं नराधिपाः।
तनयास्तव कर्णश्च व्यथिताः प्राद्रवन् दिशः ॥ ७१ ॥

उस अत्यन्त भयंकर और उग्र संग्रामको देखकर समस्त नरेश, आपके पुत्र और कर्ण—ये सभी पीड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ७१ ॥

तत्रैकोऽस्त्रबलश्लाघी द्रौणिर्मानी न विव्यथे।
व्यधमच्च शरैर्मायां घटोत्कचविनिर्मिताम् ॥ ७२ ॥

उस समय वहाँ अपने अस्त्र-बलपर अभिमान करनेवाला एकमात्र द्रोणकुमार स्वाभिमानी अश्वत्थामा तनिक भी व्यथित नहीं हुआ। उसने घटोत्कचकी रची हुई माया अपने बाणोंद्वारा नष्ट कर दी ॥ ७२ ॥

विहतायां तु मायायाममर्षी स घटोत्कचः।
विससर्ज शरान् घोरांस्तेऽश्वत्थामानमाविशन् ॥७३॥

माया नष्ट हो जानेपर अमर्षमें भरे हुए घटोत्कचने बड़े भयंकर बाण छोड़े। वे सभी बाण अश्वत्थामाके शरीरमें घुस गये ॥ ७३ ॥

भुजङ्गा इव वेगेन वल्मीकं क्रोधमूर्च्छिताः।
ते शरा रुधिराक्ताङ्गा भित्त्वा शारद्वतीसुतम् ॥ ७४ ॥
विविशुर्धरणीं शीघ्रा रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः।

जैसे क्रोधातुर सर्प बड़े वेगसे बाँबीमें घुसते हैं, उसी प्रकार शिलापर तेज किये हुए वे सुवर्णमय पंखवाले शीघ्रगामी बाण कृपीकुमारको विदीर्ण करके खूनसे लथपथ हो धरतीमें घुस गये ॥ ७४½ ॥

अश्वत्थामा तु संक्रुद्धो लघुहस्तः प्रतापवान् ॥ ७५ ॥
घटोत्कचमभिक्रुद्धं बिभेद दशभिः शरैः।

इससे अश्वत्थामाका क्रोध बहुत बढ़ गया। फिर तो शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले उस प्रतापी वीरने क्रोधी घटोत्कचको दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ७५½ ॥

घटोत्कचोऽतिविद्धस्तु द्रोणपुत्रेण मर्मसु ॥ ७६ ॥
चक्रं शतसहस्रारमगृह्णाद् व्यथितो भृशम्।
क्षुरान्तं बालसूर्याभं मणिवज्रविभूषितम् ॥ ७७ ॥

द्रोणपुत्रके द्वारा मर्मस्थानोंमें गहरी चोट लगनेके कारण घटोत्कच अत्यन्त व्यथित हो उठा और उसने एक ऐसा चक्र हाथमें लिया, जिसमें एक लाख अरे थे। उसके प्रान्तभागमें छुरे लगे हुए थे। मणियों तथा हीरोंसे विभूषित वह चक्र प्रातःकालके सूर्यके समान जान पड़ता था ॥७६-७७॥

अश्वत्थाम्नि स चिक्षेप भैमसेनिर्जिघांसया।
वेगेन महताऽऽगच्छद् विक्षिप्तं द्रौणिना शरैः ॥ ७८ ॥
अभाग्यस्येव संकल्पस्तन्मोघमपतद् भुवि।

भीमसेनकुमारने अश्वत्थामाका वध करनेकी इच्छासे वह चक्र उसके ऊपर चला दिया, परंतु अश्वत्थामाने अपने बाणोंद्वारा बड़े वेगसे आते हुए उस चक्रको दूर फेंक दिया। वह भाग्यहीनके संकल्प (मनोरथ)की भाँति व्यर्थ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७८½ ॥

घटोत्कचस्ततस्तूर्णं दृष्ट्वा चक्रं निपातितम् ॥ ७९ ॥
द्रौणिं प्राच्छादयद् बाणैः स्वर्भानुरिव भास्करम्।

तदनन्तर अपने चक्रको धरतीपर गिराया हुआ देख घटोत्कचने अपने बाणोंकी वर्षासे अश्वत्थामाको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे राहु सूर्यको आच्छादित कर देता है ॥७९½॥

घटोत्कचसुतः श्रीमान् भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ ८० ॥
रुरोध द्रौणिमायान्तं प्रभञ्जनमिवाद्रिराट्।

घटोत्कचके तेजस्वी पुत्र अंजनपर्वाने, जो कटे हुए कोयलेके ढेरके समान काला था, अपनी ओर आते हुए अश्वत्थामाको उसी प्रकार रोक दिया, जैसे गिरिराज हिमालय आँधीको रोक देता है ॥ ८०½ ॥

पौत्रेण भीमसेनस्य शरैरञ्जनपर्वणा ॥ ८१ ॥
बभौ मेघेन धाराभिर्गिरिर्मेरुरिवावृतः।

भीमसेनके पौत्र अंजनपर्वाके बाणोंसे आच्छादित हुआ अश्वत्थामा मेघकी जलधारासे आवृत हुए मेरुपर्वतके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ८१½ ॥

अश्वत्थामा त्वसम्भ्रान्तो रुद्रोपेन्द्रेन्द्रविक्रमः ॥ ८२ ॥
ध्वजमेकेन बाणेन चिच्छेदाञ्जनपर्वणः।

रुद्र, विष्णु तथा इन्द्रके समान पराक्रमी अश्वत्थामाके मनमें तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उसने एक बाणसे अंजनपर्वाकी ध्वजा काट डाली ॥ ८२½ ॥

द्वाभ्यां तु रथयन्तारौ त्रिभिश्चास्य त्रिवेणुकम् ॥ ८३ ॥
धनुरेकेन चिच्छेद चतुर्भिश्चतुरो हयान्।

फिर दो बाणोंसे उसके दो सारथियोंको, तीनसे त्रिवेणुको, एकसे धनुषको और चारसे चारों घोड़ोंको काट डाला ।८३½।

विरथस्योद्यतं हस्ताद्धेमबिन्दुभिराचितम् ॥ ८४ ॥
विशिखेन सुतीक्ष्णेन खड्गमस्य द्विधाकरोत्।

तत्पश्चात् रथहीन हुए राक्षसपुत्रके हाथसे उठे हुए सुवर्ण-बिन्दुओंसे व्याप्त खड्गको उसने एक तीखे बाणसे मारकर उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ ८४½ ॥

गदा हेमाङ्गदा राजंस्तूर्णं हैडिम्बिसूनुना ॥ ८५ ॥
भ्राम्योत्क्षिप्ता शरैः साऽपि द्रौणिनाभ्याहताऽपतत्।

राजन्! तब घटोत्कचपुत्रने तुरंत ही सोनेके अंगदसे विभूषित गदा घुमाकर अश्वत्थामापर दे मारी; परंतु

अश्वत्थामाके बाणोंसे आहत होकर वह भी पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ८५½ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्प्लुत्य कालमेघ इवोन्नदन् ॥ ८६ ॥
ववर्षाञ्जनपर्वा स द्रुमवर्षं नभस्तलात् ।

तब आकाशमें उछलकर प्रलयकालके मेघकी भाँति गर्जना करते हुए अंजनपर्वाने आकाशसे वृक्षोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ८६½ ॥

ततो मायाधरं द्रौणिर्घटोत्कचसुतं दिवि ॥ ८७ ॥
मार्गणैरभिविव्याध घनं सूर्य इवांशुभिः ।

तदनन्तर द्रोणपुत्रने आकाशमें स्थित हुए मायाधारी घटोत्कचकुमारको अपने बाणोंद्वारा उसी तरह घायल कर दिया, जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा मेघोंकी घटाको गला देते हैं ॥ ८७½ ॥

सोऽवतीर्य पुरस्तस्थौ रथे हेमविभूषिते ॥ ८८ ॥
महीगत इवात्युग्रः श्रीमानञ्जनपर्वतः ।

इसके बाद वह नीचे उतरकर अपने स्वर्णभूषित रथपर अश्वत्थामाके सामने खड़ा हो गया । उस समय वह तेजस्वी राक्षस पृथ्वीपर खड़े हुए अत्यन्त भयंकर कज्जल-गिरिके समान जान पड़ा ॥ ८८½ ॥

तमयस्मयवर्माणं द्रौणिर्भीमात्मजात्मजम् ॥ ८९ ॥
जघानाञ्जनपर्वाणं महेश्वर इवान्धकम् ।

उस समय द्रोणकुमारने लोहेके कवच धारण करके आये हुए भीमसेनपौत्र अंजनपर्वाको उसी प्रकार मार डाला, जैसे भगवान् महेश्वरने अन्धकासुरका वध किया था ॥८९½॥

अथ दृष्ट्वा हतं पुत्रमश्वत्थाम्ना महाबलम् ॥ ९० ॥
द्रौणेः सकाशमभ्येत्य रोषात् प्रज्वलिताङ्गदः ।
प्राह वाक्यमसम्भ्रान्तो वीरं शारद्वतीसुतम् ॥ ९१ ॥
दहन्तं पाण्डवानीकं वनमग्निमिवोच्छ्रितम् ।

अपने महाबली पुत्रको अश्वत्थामाद्वारा मारा गया देख चमकते हुए बाजूबंदसे विभूषित घटोत्कच बड़े रोषके साथ द्रोणकुमारके समीप आकर बढ़े हुए दावानलके समान पाण्डवसेनारूपी वनको दग्ध करते हुए उस वीर कृपी-कुमारसे बिना किसी घबराहटके इस प्रकार बोला॥९०-९१½॥

घटोत्कच उवाच

तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन् द्रोणपुत्र गमिष्यसि ॥ ९२ ॥
त्वामद्य निहनिष्यामि क्रौञ्चमग्निसुतो यथा ।

घटोत्कचने कहा—द्रोणपुत्र ! खड़े रहो, खड़े रहो। आज तुम मेरे हाथसे जीवित बचकर नहीं जा सकोगे। जैसे अग्निपुत्र कार्तिकेयने क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण किया था, उसी प्रकार आज मैं तुम्हारा विनाश कर डालूँगा ॥ ९२½ ॥

अश्वत्थामोवाच

गच्छ वत्स सहान्यैस्त्वं युध्यस्वामरविक्रम ॥ ९३ ॥
न हि पुत्रेण हैडिम्बे पिता न्याय्यः प्रबाधितुम् ।

अश्वत्थामाने कहा—देवताओंके समान पराक्रमी पुत्र ! तुम जाओ, दूसरोंके साथ युद्ध करो । हिडिम्बानन्दन ! पुत्रके लिये यह उचित नहीं है कि वह पिताको भी सताये॥

कामं खलु न रोषो मे हैडिम्बे विद्यते त्वयि ॥ ९४ ॥
किं तु रोषान्वितो जन्तुर्हन्यादात्मानमप्युत ।

हिडिम्बाकुमार ! अभी मेरे मनमें तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष नहीं है, परंतु यदि रोष हो जाय तो तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि रोषके वशीभूत हुआ प्राणी अपना भी विनाश कर डालता है (फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है ! अतः मेरे कुपित होनेपर तुम सकुशल नहीं रह सकते) ॥ ९४½ ॥

संजय उवाच

श्रुत्वैतत् क्रोधताम्राक्षः पुत्रशोकसमन्वितः ॥ ९५ ॥
अश्वत्थामानमायस्तो भैमसेनिरभाषत ।

संजय कहते हैं—राजन् ! पुत्रशोकमें डूबे हुए भीमसेन-कुमारने अश्वत्थामाकी यह बात सुनकर क्रोधसे लाल आँखें करके रोषपूर्वक उससे कहा—॥ ९५½ ॥

किमहं कातरो द्रौणे पृथग्जन इवाहवे ॥ ९६ ॥
यन्मां भीषयसे वाग्भिरसदेतद् वचस्तव ।

'द्रोणकुमार ! क्या मैं युद्धस्थलमें नीच लोगोंके समान कायर हूँ, जो तू मुझे अपनी बातोंसे डरा रहा है । तेरी यह बात नीचतापूर्ण है ॥ ९६½ ॥

भीमात् खलु समुत्पन्नः कुरूणां विपुले कुले ॥ ९७ ॥
पाण्डवानामहं पुत्रः समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
रक्षसामधिराजोऽहं दशग्रीवसमो बले ॥ ९८ ॥

'देख, मैं कौरवोंके विशाल कुलमें भीमसेनसे उत्पन्न हुआ हूँ, समराङ्गणमें कभी पीठ न दिखानेवाले पाण्डवोंका पुत्र हूँ, राक्षसोंका राजा हूँ और दशग्रीव रावणके समान बलवान् हूँ ॥ ९७-९८ ॥

तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन् द्रोणपुत्र गमिष्यसि ।
युद्धश्रद्धामहं तेऽद्य विनेष्यामि रणाजिरे ॥ ९९ ॥

'द्रोणपुत्र ! 'खड़ा रह, खड़ा रह, तू मेरे हाथसे छूटकर जीवित नहीं जा सकेगा । आज इस रणाङ्गणमें मैं तेरा युद्धका हौसला मिटा दूँगा' ॥ ९९ ॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षो राक्षसः सुमहाबलः ।
द्रौणिमभ्यद्रवत् क्रुद्धो गजेन्द्रमिव केसरी ॥१००॥

ऐसा कहकर क्रोधसे लाल आँखें किये महाबली राक्षस घटोत्कचने द्रोणपुत्रपर रोषपूर्वक धावा किया, मानो सिंहने गजराजपर आक्रमण किया हो ॥ १०० ॥

रथाक्षमात्रैरिषुभिरभ्यवर्षद् घटोत्कचः ।
रथिनामृषभं द्रौणिं धाराभिरिव तोयदः ॥१०१॥

जैसे बादल पर्वतपर जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार घटोत्कच रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामापर रथकी धुरीके समान मोटे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १०१ ॥

शरवृष्टिं शरैर्द्रौणिरप्राप्तां तां व्यशातयत् ।
ततोऽन्तरिक्षे बाणानां संग्रामोऽन्य इवाभवत् ॥१०२॥

परंतु द्रोणपुत्र अश्वत्थामा अपने पास आनेसे पहले ही उस बाण-वर्षाको बाणोंद्वारा नष्ट कर देता था। इससे आकाशमें बाणोंका दूसरा संग्राम-सा मच गया था ॥१०२॥

अथास्त्रसम्मर्दकृतैर्विस्फुलिङ्गैस्तदा बभौ ।
विभावरीमुखे व्योम खद्योतैरिव चित्रितम् ॥१०३॥

अस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे जो आगकी चिनगारियाँ छूटती थीं, उससे रात्रिके प्रथम प्रहरमें आकाश जुगनुओंसे चित्रित-सा प्रतीत होता था ॥ १०३ ॥

निशाम्य निहतां मायां द्रौणिना रणमानिना ।
घटोत्कचस्ततो मायां ससर्जान्तर्हितः पुनः ॥१०४॥

युद्धाभिमानी अश्वत्थामाके द्वारा अपनी माया नष्ट हुई देख घटोत्कचने अदृश्य होकर पुनः दूसरी मायाकी सृष्टि की॥

सोऽभवद् गिरिरत्युच्चः शिखरैस्तरुसंकटैः ।
शूलप्रासासिमुसलजलप्रस्रवणो महान् ॥१०५॥

वह वृक्षोंसे भरे हुए शिखरोंद्वारा सुशोभित एक बहुत ऊँचा पर्वत बन गया। वह महान् पर्वत शूल, प्रास, खड्ग और मूसलरूपी जलके झरने बहा रहा था ॥ १०५ ॥

तमञ्जनगिरिप्रख्यं द्रौणिर्दृष्ट्वा महीधरम् ।
प्रपतद्भिश्च बहुभिः शस्त्रसंघैर्न विव्यथे ॥१०६॥

अंजनगिरिके समान उस काले पहाड़को देखकर और वहाँसे गिरनेवाले बहुतेरे अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल होकर भी द्रोणकुमार अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ ॥ १०६ ॥

ततो हसन्निव द्रौणिर्वज्रमस्त्रमुदैरयत् ।
स तेनास्त्रेण शैलेन्द्रः क्षिप्तः क्षिप्रं व्यनश्यत ॥१०७॥

तदनन्तर द्रोणकुमारने हँसते हुए-से वज्रास्त्रको प्रकट किया। उस अस्त्रका आघात होते ही वह पर्वतराज तत्काल अदृश्य हो गया ॥ १०७ ॥

ततः स तोयदो भूत्वा नीलः सेन्द्रायुधो दिवि ।
अश्मवृष्टिभिरत्युग्रो द्रौणिमाच्छादयद् रणे ॥१०८॥

तत्पश्चात् वह आकाशमें इन्द्रधनुषसहित अत्यन्त भयंकर नील मेघ बनकर पत्थरोंकी वर्षासे रणभूमिमें अश्वत्थामाको आच्छादित करने लगा ॥ १०८ ॥

अथ संधाय वायव्यमस्त्रमस्त्रविदां वरः ।
व्यधमद् द्रोणतनयो नीलमेघं समुत्थितम् ॥१०९॥

तब अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणकुमारने वायव्यास्त्रका संधान करके वहाँ प्रकट हुए नील मेघको नष्ट कर दिया॥ १०९ ॥

स मार्गणगणैर्द्रौणिर्दिशः प्रच्छाद्य सर्वशः ।
शतं रथसहस्राणां जघान द्विपदां वरः ॥११०॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने अपने बाणसमूहोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करके शत्रुपक्षके एक लाख रथियोंका संहार कर डाला ॥ ११० ॥

स दृष्ट्वा पुनरायान्तं रथेनायतकार्मुकम् ।
घटोत्कचमसम्भ्रान्तं राक्षसैर्बहुभिर्वृतम् ॥१११॥
सिंहशार्दूलसदृशैर्मत्तद्विरदविक्रमैः ।
गजस्थैश्च रथस्थैश्च वाजिपृष्ठगतैरपि ॥११२॥
विकृतास्यशिरोग्रीवैर्हैडिम्बानुचरैः सह ।
पौलस्त्यैर्यातुधानैश्च तामसैश्चेन्द्रविक्रमैः ॥११३॥
नानाशस्त्रधरैर्वीरैर्नानाकवचभूषणैः ।
महाबलैर्भीमरवैः संरम्भोद्वृत्तलोचनैः ॥११४॥
उपस्थितैस्ततो युद्धे राक्षसैर्युद्धदुर्मदैः ।
विषण्णमभिसम्प्रेक्ष्य पुत्रं ते द्रौणिरब्रवीत् ॥११५॥

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने देखा कि घटोत्कच बिना किसी घबराहटके बहुत-से राक्षसोंसे घिरा हुआ पुनः रथपर आरूढ़ होकर आ रहा है। उसने अपने धनुषको खींचकर फैला रक्खा है। उसके साथ सिंह, व्याघ्र और मतवाले हाथियोंके समान पराक्रमी तथा विकराल मुख, मस्तक और कण्ठवाले बहुत-से अनुचर हैं, जो हाथी, घोड़ों तथा रथपर बैठे हुए हैं। उसके अनुचरोंमें राक्षस, यातुधान तथा तामस जातिके लोग हैं, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान है। नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले, भाँति-भाँतिके कवच और आभूषणोंसे विभूषित, महाबली, भयंकर सिंहनाद करनेवाले तथा क्रोधसे घूरते हुए नेत्रोंवाले बहुसंख्यक रणदुर्मद राक्षस घटोत्कचकी ओरसे युद्धके लिये उपस्थित हैं। यह सब देखकर दुर्योधन विषादग्रस्त हो रहा है। इन सब बातोंपर दृष्टिपात करके अश्वत्थामाने आपके पुत्रसे कहा—॥१११—११५॥

तिष्ठ दुर्योधनाद्य त्वं न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया ।
सहैभिर्भ्रातृभिर्वीरैः पार्थिवैश्चेन्द्रविक्रमैः ॥११६॥

'दुर्योधन ! आज तुम चुपचाप खड़े रहो। तुम्हें इन्द्रके समान पराक्रमी इन राजाओं तथा अपने वीर भाइयोंके साथ तनिक भी घबराना नहीं चाहिये ॥ ११६ ॥

निहनिष्याम्यमित्रांस्ते न तवास्ति पराजयः ।
सत्यं ते प्रतिजानामि पर्याश्वासय वाहिनीम् ॥११७॥

'राजन् ! मैं तुम्हारे शत्रुओंको मार डालूँगा, तुम्हारी पराजय नहीं हो सकती; इसके लिये मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ। तुम अपनी सेनाको आश्वासन दो' ॥ ११७ ॥

दुर्योधन उवाच

न त्वेतदद्भुतं मन्ये यत् ते महदिदं मनः ।
अस्मासु च परा भक्तिस्तव गौतमिनन्दन ॥११८॥

दुर्योधन बोला—गौतमीनन्दन ! तुम्हारा यह हृदय इतना विशाल है कि तुम्हारे द्वारा इस कार्यका होना मैं अद्भुत नहीं मानता । हमलोगोंपर तुम्हारा अनुराग बहुत अधिक है ॥ ११८ ॥

संजय उवाच

अश्वत्थामानमुक्त्वैवं ततः सौबलमब्रवीत् ।
वृतं रथसहस्रेण हयानां रणशोभिनाम् ॥११९॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अश्वत्थामासे ऐसा कहकर दुर्योधन संग्राममें शोभा पानेवाले घोड़ोंसे युक्त एक हजार रथोंद्वारा घिरे हुए शकुनिसे इस प्रकार बोला—॥ ११९ ॥

षष्ट्या रथसहस्रैश्च प्रयाहि त्वं धनंजयम् ।
कर्णश्च वृषसेनश्च कृपो नीलस्तथैव च ॥१२०॥
उदीच्याः कृतवर्मा च पुरुमित्रः सुतापनः ।
दुःशासनो निकुम्भश्च कुण्डभेदी पराक्रमः ॥१२१॥
पुरंजयो दृढरथः पताकी हेमकम्पनः ।
शल्यारुणीन्द्रसेनाश्च संजयो विजयो जयः ॥१२२॥
कमलाक्षः परक्राथी जयवर्मा सुदर्शनः ।
एते त्वामनुयास्यन्ति पत्तीनामयुतानि षट् ॥१२३॥

'मामा ! तुम साठ हजार रथियोंकी सेना साथ लेकर अर्जुनपर आक्रमण करो । कर्ण, वृषसेन, कृपाचार्य, नील, उत्तर दिशाके सैनिक, कृतवर्मा, पुरुमित्र, सुतापन, दुःशासन, निकुम्भ, कुण्डभेदी, पराक्रमी पुरंजय, दृढ़रथ, पताकी, हेम-कम्पन, शल्य, आरुणि, इन्द्रसेन, संजय, विजय, जय, कमलाक्ष, परक्राथी, जयवर्मा और सुदर्शन—ये सभी महारथी वीर तथा साठ हजार पैदल सैनिक तुम्हारे साथ जायँगे ॥ १२०—१२३ ॥

जहि भीमं यमौ चोभौ धर्मराजं च मातुल ।
असुरानिव देवेन्द्रो जयाशा मे त्वयि स्थिता ॥१२४॥

'मामा ! जैसे देवराज इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार तुम भीमसेन, नकुल, सहदेव तथा धर्मराज युधिष्ठिरका भी वध कर डालो । मेरी विजयकी आशा तुमपर ही अवलम्बित है ॥ १२४ ॥

दारितान् द्रौणिना बाणैर्भृशं विक्षतविग्रहान् ।
जहि मातुल कौन्तेयानसुरानिव पावकिः ॥१२५॥

'मातुल ! द्रोणकुमार अश्वत्थामाने कुन्तीकुमारोंको अपने बाणोंद्वारा विदीर्ण कर डाला है; उनके शरीरोंको क्षत-विक्षत कर दिया है । इस अवस्थामें असुरोंका वध करनेवाले कुमार कार्तिकेयकी भाँति तुम कुन्तीपुत्रोंको मार डालो'॥१२५॥

एवमुक्तो ययौ शीघ्रं पुत्रेण तव सौबलः ।
पिप्रीषुस्ते सुतान् राजन् दिधक्षुश्चैव पाण्डवान् ॥१२६॥

राजन् ! आपके पुत्रके ऐसा कहनेपर सुबलपुत्र शकुनि आपके पुत्रोंको प्रसन्न करने तथा पाण्डवोंको दग्ध कर डालनेकी इच्छासे शीघ्र ही युद्धके लिये चल दिया ॥१२६॥

अथ प्रववृते युद्धं द्रौणिराक्षसयोर्मृधे ।
विभावर्यां सुतुमुलं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥१२७॥

तदनन्तर रणभूमिमें रात्रिके समय द्रोणकुमार अश्वत्थामा तथा राक्षस घटोत्कचका इन्द्र और प्रह्लादके समान अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १२७ ॥

ततो घटोत्कचो बाणैर्दशभिर्गौतमीसुतम् ।
जघानोरसि संक्रुद्धो विषाग्निप्रतिमैर्दृढैः ॥१२८॥

उस समय घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर विष और अग्निके समान भयंकर दस सुदृढ़ बाणोंद्वारा कृपीकुमार अश्वत्थामाकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ १२८ ॥

स तैरभ्याहतो गाढं शरैर्भीमसुतेरितैः ।
चचाल रथमध्यस्थो वातोद्धत इव द्रुमः ॥१२९॥

भीमपुत्र घटोत्कचके चलाये हुए उन बाणोंद्वारा गहरी चोट खाकर रथमें बैठा हुआ अश्वत्थामा वायुके झकझोरे हुए वृक्षके समान काँपने लगा ॥ १२९ ॥

भूयश्चाञ्जलिकेनाथ मार्गणेन महाप्रभम् ।
द्रौणिहस्तस्थितं चापं चिच्छेदाशु घटोत्कचः ॥१३०॥

इतनेहीमें घटोत्कचने पुनः अञ्जलिकनामक बाणसे अश्वत्थामाके हाथमें स्थित अत्यन्त कान्तिमान् धनुषको शीघ्रतापूर्वक काट डाला ॥ १३० ॥

ततोऽन्यद् द्रौणिरादाय धनुर्भारसहं महत् ।
ववर्ष विशिखांस्तीक्ष्णान् वारिधारा इवाम्बुदः ॥१३१॥

तब द्रोणकुमार भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर, जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १३१ ॥

ततः शारद्वतीपुत्रः प्रेषयामास भारत ।
सुवर्णपुङ्खाञ्छत्रुघ्नान् खचरान् खचरं प्रति ॥१३२॥

भारत ! तदनन्तर गौतमीपुत्रने सुवर्णमय पंखवाले शत्रु-नाशक आकाशचारी बाणोंको उस राक्षसपर चलाया ॥१३२॥

तद् बाणैरर्दितं यूथं रक्षसां पीनवक्षसाम् ।
सिंहैरिव बभौ मत्तं गजानामाकुलं कुलम् ॥१३३॥

उन बाणोंसे चौड़ी छातीवाले राक्षसोंका वह समूह अत्यन्त पीड़ित हो सिंहोंद्वारा व्याकुल किये गये मतवाले हाथियोंके झुंडके समान प्रतीत होने लगा ॥ १३३ ॥

विधम्य राक्षसान् बाणैः साश्वसूतरथद्विपान् ।
ददाह भगवान् वह्निर्भूतानीव युगक्षये ॥१३४॥

जैसे भगवान् अग्निदेव प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको दग्ध कर देते हैं, उसी प्रकार अश्वत्थामाने अपने बाणोंद्वारा घोड़े, सारथि, रथ और हाथियोंसहित बहुत-से राक्षसोंको जलाकर भस्म कर दिया ॥ १३४ ॥

स दग्ध्वाक्षौहिणीं बाणैर्नैर्ऋतीं रुरुचे नृप।
पुरेव त्रिपुरं दग्ध्वा दिवि देवो महेश्वरः ॥१३५॥

नरेश्वर ! जैसे भगवान् महेश्वर आकाशमें त्रिपुरको दग्ध करके सुशोभित हुए थे, उसी प्रकार राक्षसोंकी अक्षौहिणी सेनाको बाणोंद्वारा दग्ध करके अश्वत्थामा शोभा पाने लगा ॥ १३५ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि दग्ध्वेव वसुरुल्बणः।
रराज जयतां श्रेष्ठो द्रोणपुत्रस्तवाहितान् ॥१३६॥

राजन् ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा प्रलय-कालमें समस्त प्राणियोंको भस्म कर देनेवाले संवर्तक अग्निके समान आपके शत्रुओंको दग्ध करके देदीप्यमान हो उठा ॥

ततो घटोत्कचः क्रुद्धो रक्षसां भीमकर्मणाम्।
द्रौणिं हतेति महतीं चोदयामास तां चमूम् ॥१३७॥

तब घटोत्कचने कुपित हो भयानक कर्म करनेवाले राक्षसोंकी उस विशाल सेनाको आदेश दिया, 'अरे ! अश्वत्थामाको मार डालो' ॥ १३७ ॥

घटोत्कचस्य तामाज्ञां प्रतिगृह्याथ राक्षसाः।
दंष्ट्रोज्ज्वला महावक्त्रा घोररूपा भयानकाः ॥१३८॥
व्यात्तानना घोरजिह्वाः क्रोधताम्रेक्षणा भृशम्।
सिंहनादेन महता नादयन्तो वसुन्धराम् ॥१३९॥
हन्तुमभ्यद्रवन् द्रौणिं नानाप्रहरणायुधाः।

घटोत्कचकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके दाढ़ोंसे प्रकाशित, विशाल मुखवाले, घोर रूपधारी, फैले मुँह और डरावनी जीभवाले भयानक राक्षस क्रोधसे लाल आँखें किये महान् सिंहनादसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र ले अश्वत्थामाको मार डालने-के लिये उसपर टूट पड़े ॥ १३८–१३९½ ॥

शक्तीः शतघ्नीः परिघानशनीः शूलपट्टिशान् ॥१४०॥
खड्गान् गदा भिन्दिपालान् मुसलानि परश्वधान्।
प्रासानसींस्तोमरांश्च कणपान् कम्पनाञ्छितान्।१४१।
स्थूलान् भुशुण्ड्यश्मगदाःस्थूणान् कार्ष्णायसांस्तथा।
मुद्गरांश्च महाघोरान् समरे शत्रुदारणान् ॥१४२॥
द्रौणिमूर्धन्यसंत्रस्ता राक्षसा भीमविक्रमाः।
चिक्षिपुः क्रोधताम्राक्षाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥१४३॥

समराङ्गणमें किसीसे भी न डरनेवाले तथा क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले भयंकर पराक्रमी सैकड़ों और हजारों राक्षस अश्वत्थामाके मस्तकपर शक्ति, शतघ्नी, परिघ, अशनि, शूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, भिन्दिपाल, मुसल, फरसे, प्रास, कटार, तोमर, कणप, तीखे कम्पन, मोटे-मोटे पत्थर, भुशुण्डी, गदा, काले लोहेके खंभे तथा शत्रुओंको विदीर्ण करनेमें समर्थ महाघोर मुद्गरोंकी वर्षा करने लगे ॥ १४०–१४३ ॥

तच्छस्त्रवर्षं सुमहद् द्रोणपुत्रस्य मूर्धनि।
पतमानं समीक्ष्याथ योधास्ते व्यथिताभवन् ॥१४४॥

द्रोणपुत्रके मस्तकपर अस्त्रोंकी वह बड़ी भारी वर्षा होती देख आपके समस्त सैनिक व्यथित हो उठे ॥ १४४ ॥

द्रोणपुत्रस्तु विक्रान्तस्तद् वर्षं घोरमुच्छ्रितम्।
शरैर्विध्वंसयामास वज्रकल्पैः शिलाशितैः ॥१४५॥

परंतु पराक्रमी द्रोणकुमारने शिलापर तेज किये हुए अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा वहाँ प्रकट हुई उस भयंकर अस्त्र-वर्षाका विध्वंस कर डाला ॥ १४५ ॥

ततोऽन्यैर्विशिखैस्तूर्णं स्वर्णपुङ्खैर्महामनाः।
निजघ्ने राक्षसान् द्रौणिर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥१४६॥

तत्पश्चात् महामनस्वी अश्वत्थामाने दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित सुवर्णमय पंखवाले अन्य बाणोंद्वारा तत्काल ही राक्षसोंको घायल कर दिया ॥ १४६ ॥

तद्बाणैरर्दितं यूथं रक्षसां पीनवक्षसाम्।
सिंहैरिव बभौ मत्तं गजानामाकुलं कुलम् ॥१४७॥

उन बाणोंसे चौड़ी छातीवाले राक्षसोंका समूह अत्यन्त पीड़ित हो सिंहोंद्वारा व्याकुल किये गये मतवाले हाथियोंके झुंडके समान प्रतीत होने लगा ॥ १४७ ॥

ते राक्षसाः सुसंक्रुद्धा द्रोणपुत्रेण ताडिताः।
क्रुद्धाः स्म प्राद्रवन् द्रौणिं जिघांसन्तो महाबलाः॥१४८॥

द्रोणपुत्रकी मार खाकर, अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए महाबली राक्षस उसे मार डालनेकी इच्छासे रोषपूर्वक दौड़े ॥

तत्राद्भुतमिमं द्रौणिर्दर्शयामास विक्रमम्।
अशक्यं कर्तुमन्येन सर्वभूतेषु भारत ॥१४९॥

भारत ! वहाँ अश्वत्थामाने यह ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया, जिसे समस्त प्राणियोंमें और किसीके लिये कर दिखना असम्भव था ॥ १४९ ॥

यदेको राक्षसीं सेनां क्षणाद् द्रौणिर्महास्त्रवित्।
ददाह ज्वलितैर्बाणै राक्षसेन्द्रस्य पश्यतः ॥१५०॥

क्योंकि महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने अकेले ही उस राक्षसी सेनाको राक्षसराज घटोत्कचके देखते-देखते अपने प्रज्वलित बाणोंद्वारा क्षणभरमें भस्म कर दिया ॥ १५० ॥

स हत्वा राक्षसानीकं रराज द्रौणिराहवे।
युगान्ते सर्वभूतानि संवर्तक इवानलः ॥१५१॥

जैसे प्रलयकालमें संवर्तक अग्नि समस्त प्राणियोंको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार राक्षसोंकी उस सेनाका संहार करके

युद्धस्थलमें अश्वत्थामाकी बड़ी शोभा हुई ॥ १५१ ॥

तं दहन्तमनीकानि शरैराशीविषोपमैः।
तेषु राजसहस्रेषु पाण्डवेयेषु भारत ॥१५२॥
नैनं निरीक्षितुं कश्चिदशक्नोद् द्रौणिमाहवे।
ऋते घटोत्कचाद् वीराद् राक्षसेन्द्रान्महाबलात्॥१५३॥

भरतनन्दन ! युद्धस्थलमें पाण्डवपक्षके सहस्रों राजाओं-मेंसे वीर महाबली राक्षसराज घटोत्कचको छोड़कर दूसरा कोई भी विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध करते हुए अश्वत्थामाकी ओर देख न सका॥

स पुनर्भरतश्रेष्ठ क्रोधादुद्भ्रान्तलोचनः।
तलं तलेन संहत्य संदश्य दशनच्छदम् ॥१५४॥
स्वं सूतमब्रवीत् क्रुद्धो द्रोणपुत्राय मां वह।

भरतश्रेष्ठ ! पुनः क्रोधसे घटोत्कचकी आँखें घूमने लगीं। उसने हाथसे हाथ मलकर ओठ चबा लिया और कुपित हो सारथिसे कहा—'सूत ! तू मुझे द्रोणपुत्रके पास ले चल' ॥ १५४½ ॥

स ययौ घोररूपेण सुपताकेन भास्वता ॥१५५॥
द्वैरथं द्रोणपुत्रेण पुनरप्यरिसूदनः।

शत्रुओंका संहार करनेवाला घटोत्कच सुन्दर पताकाओं-से सुशोभित, प्रकाशमान एवं भयंकर रथके द्वारा पुनः द्रोणपुत्रके साथ द्वैरथ युद्ध करनेके लिये गया ॥ १५५½ ॥

स विनद्य महानादं सिंहवद् भीमविक्रमः ॥१५६॥
चिक्षेपाविध्य संग्रामे द्रोणपुत्राय राक्षसः।
अष्टघण्टां महाघोरामशनिं देवनिर्मिताम् ॥१५७॥

उस भयंकर पराक्रमी राक्षसने सिंहके समान बड़ी भारी गर्जना करके संग्राममें द्रोणपुत्रपर देवताओंद्वारा निर्मित तथा आठ घंटियोंसे सुशोभित एक महाभयंकर अशनि (वज्र) घुमाकर चलायी ॥ १५६–१५७ ॥

तामवप्लुत्य जग्राह द्रौणिर्न्यस्य रथे धनुः।
चिक्षेप चैनां तस्यैव स्यन्दनात् सोऽवपुप्लुवे ॥१५८॥

यह देख अश्वत्थामाने रथपर अपना धनुष रख उछल-कर उस अशनिको पकड़ लिया और उसे घटोत्कचके ही रथपर दे मारा। घटोत्कच उस रथसे कूद पड़ा ॥ १५८ ॥

साश्वसूतध्वजं यानं भस्म कृत्वा महाप्रभा।
विवेश वसुधां भित्त्वा साशनिर्भृशदारुणा ॥१५९॥

वह अत्यन्त प्रकाशमान तथा परम दारुण अशनि घोड़े, सारथि और ध्वजसहित घटोत्कचके रथको भस्म करके पृथ्वीको छेदकर उसके भीतर समा गयी ॥ १५९ ॥

द्रौणेस्तत् कर्म दृष्ट्वा तु सर्वभूतान्यपूजयन्।
यदवप्लुत्य जग्राह घोरां शङ्करनिर्मिताम् ॥१६०॥

अश्वत्थामाने भगवान् शङ्करद्वारा निर्मित उस भयंकर अशनिको जो उछलकर पकड़ लिया, उसके उस कर्मको देखकर समस्त प्राणियोंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥१६०॥

धृष्टद्युम्नरथं गत्वा भैमसेनिस्ततो नृप।
धनुर्घोरं समादाय महदिन्द्रायुधोपमम्।
मुमोच निशितान् बाणान् पुनर्द्रौणेर्महोरसि ॥१६१॥

नरेश्वर ! उस समय भीमसेनकुमारने धृष्टद्युम्नके रथपर आरूढ़ हो इन्द्रायुधके समान विशाल एवं घोर धनुष हाथमें लेकर अश्वत्थामाके विशाल वक्षःस्थलपर बहुत-से तीखे बाण मारे ॥ १६१ ॥

धृष्टद्युम्नस्त्वसम्भ्रान्तो मुमोचाशीविषोपमान्।
सुवर्णपुङ्खान् विशिखान् द्रोणपुत्रस्य वक्षसि ॥१६२॥

धृष्टद्युम्नने भी बिना किसी घबराहटके विषधर सर्पोंके समान सुवर्णमय पंखवाले बहुत-से बाण द्रोणपुत्रके वक्षःस्थल पर छोड़े

ततो मुमोच नाराचान् द्रौणिस्तांश्च सहस्रशः।
तावप्यग्निशिखप्रख्यैर्जघ्नतुस्तस्य मार्गणान् ॥१६३॥

तब अश्वत्थामाने भी उनपर सहस्रों नाराच चलाये। धृष्टद्युम्न और घटोत्कचने भी अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा अश्वत्थामाके नाराचोंको काट डाला ॥ १६३ ॥

अतितीव्रं महद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः।
योधानां प्रीतिजननं द्रौणेश्च भरतर्षभ ॥१६४॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनों पुरुषसिंहों तथा अश्वत्थामाका वह अत्यन्त उग्र और महान् युद्ध समस्त योद्धाओंका हर्ष बढ़ा रहा था ॥ १६४ ॥

ततो रथसहस्रेण द्विरदानां शतैस्त्रिभिः।
षड्भिर्वाजिसहस्रैश्च भीमस्तं देशमागमत् ॥१६५॥

तदनन्तर एक हजार रथ, तीन सौ हाथी और छः हजार घुड़सवारोंके साथ भीमसेन उस युद्धस्थलमें आये ॥१६५॥

ततो भीमात्मजं रक्षो धृष्टद्युम्नं च सानुगम्।
अयोधयत धर्मात्मा द्रौणिरक्लिष्टविक्रमः ॥१६६॥

उस समय अनायास ही पराक्रम प्रकट करनेवाला धर्मात्मा अश्वत्थामा भीमपुत्र राक्षस घटोत्कच तथा सेवकों-सहित धृष्टद्युम्नके साथ अकेला ही युद्ध कर रहा था ॥१६६॥

तत्राद्भुततमं द्रौणिर्दर्शयामास विक्रमम्।
अशक्यं कर्तुमन्येन सर्वभूतेषु भारत ॥१६७॥

भारत ! वहाँ द्रोणपुत्रने अत्यन्त अद्भुत पराक्रम दिखाया, जिसे कर दिखाना समस्त प्राणियोंमें दूसरेके लिये असम्भव था ॥ १६७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण साश्वसूतरथद्विपाम्।
अक्षौहिणीं राक्षसानां शितैर्बाणैरशातयत् ॥१६८॥

उसने पलक मारते-मारते अपने पैने बाणोंसे घोड़े, सारथि, रथ और हाथियोंसहित राक्षसोंकी एक अक्षौहिणी सेनाका संहार कर दिया ॥ १६८ ॥

मिषतो भीमसेनस्य हैडिम्बेः पार्षतस्य च ।
यमयोर्धर्मपुत्रस्य विजयस्याच्युतस्य च ॥१६९॥

भीमसेन, घटोत्कच, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, धर्मपुत्र युधिष्ठिर, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते यह सब कुछ हो गया ॥ १६९ ॥

प्रगाढमञ्जोगतिभिर्नाराचैरभिताडिताः ।
निपेतुर्द्विरदा भूमौ सश्रृङ्गा इव पर्वताः ॥१७०॥

शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेवाले नाराचोंकी गहरी चोट खाकर बहुत-से हाथी शिखरयुक्त पर्वतोंके समान धराशायी हो गये ॥ १७० ॥

निकृत्तैर्हस्तिहस्तैश्च विचलद्भिरितस्ततः ।
रराज वसुधा कीर्णा विसर्पद्भिरिवोरगैः ॥१७१॥

हाथियोंके शुण्ड कटकर इधर-उधर छटपटा रहे थे। उनसे ढकी हुई पृथ्वी रेंगते हुए सर्पोंसे आच्छादित हुई-सी शोभा पा रही थी ॥ १७१ ॥

क्षिप्तैः काञ्चनदण्डैश्च नृपच्छत्रैः क्षितिर्बभौ ।
द्यौरिवोदितचन्द्रार्का ग्रहाकीर्णा युगक्षये ॥१७२॥

इधर-उधर गिरे हुए सुवर्णमय दण्डवाले राजाओंके छत्रोंसे छायी हुई यह पृथ्वी प्रलयकालमें उदित हुए सूर्य, चन्द्रमा तथा ग्रहनक्षत्रोंसे परिपूर्ण आकाशके समान जान पड़ती थी ॥ १७२ ॥

प्रवृद्धध्वजमण्डूकां भेरीविस्तीर्णकच्छपाम् ।
छत्रहंसावलीजुष्टां फेनचामरमालिनीम् ॥१७३॥
कङ्कगृध्रमहाग्राहां नैकायुधझषाकुलाम् ।
विस्तीर्णगजपाषाणां हताश्वमकराकुलाम् ॥१७४॥
रथक्षिप्तमहावप्रां पताकारुचिरद्रुमाम् ।
शरमीनां महारौद्रां प्रासशक्त्यृष्टिडुण्डुभाम् ॥१७५॥
मज्जामांसमहापङ्कां कबन्धावर्जितोडुपाम् ।
केशशैवलकल्माषां भीरूणां कश्मलावहाम् ॥१७६॥
नागेन्द्रहययोधानां शरीरव्ययसम्भवाम् ।
शोणितौघमहाघोरां द्रौणिः प्रावर्तयन्नदीम् ॥१७७॥
योधार्तरवनिर्घोषां क्षतजोर्मिसमाकुलाम् ।
श्वापदानिमहाघोरां यमराष्ट्रमहोदधिम् ॥१७८॥

अश्वत्थामाने उस युद्धस्थलमें खूनकी नदी बहा दी, जो शोणितके प्रवाहसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होती थी, जिसमें कटकर गिरी हुई विशाल ध्वजाएँ मेढकोंके समान और रणभेरियाँ विशाल कछुओंके सदृश जान पड़ती थीं। राजाओंके श्वेत छत्र हंसोंकी श्रेणीके समान उस नदीका सेवन करते थे। चँवरसमूह फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। कंक और गीध ही बड़े बड़े ग्राह-से जान पड़ते थे। अनेक प्रकारके आयुध वहाँ मछलियोंके समान भरे थे। विशाल हाथी शिलाखण्डोंके समान प्रतीत होते थे। मरे हुए घोड़े वहाँ मगरोंके समान व्याप्त थे। गिरे पड़े हुए रथ ऊँचे-ऊँचे टीलोंके समान जान पड़ते थे। पताकाएँ सुन्दर वृक्षोंके समान प्रतीत होती थीं। बाण ही मीन थे। देखनेमें वह बड़ी भयंकर थी। प्रास, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र डुण्डुभ सर्पके समान थे। मज्जा और मांस ही उस नदीमें महापङ्कके समान प्रतीत होते थे। तैरती हुई लाशें नौकाका भ्रम उत्पन्न करती थीं। केशरूपी सेवारोंसे वह रंग-बिरंगी दिखायी दे रही थी। वह कायरोंको मोह प्रदान करनेवाली थी। गजराजों, घोड़ों और योद्धाओंके शरीरोंका नाश होनेसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था। योद्धाओंकी आर्तवाणी ही उसकी कलकल ध्वनि थी। उस नदीसे रक्तकी लहरें उठ रही थीं। हिंसक जन्तुओंके कारण उसकी भयंकरता और भी बढ़ गयी थी। वह यमराजके राज्यरूपी महासागरमें मिलनेवाली थी ॥ १७३—१७८ ॥

निहत्य राक्षसान् बाणैर्द्रौणिर्हैडिम्बिमार्दयत् ।
पुनरप्यतिसंक्रुद्धः सवृकोदरपार्षतान् ॥१७९॥
स नाराचगणैः पार्थान् द्रौणिर्विद्ध्वा महाबलः ।
जघान सुरथं नाम द्रुपदस्य सुतं विभुः ॥१८०॥

राक्षसोंका वध करके बाणोंद्वारा अश्वत्थामाने घटोत्कचको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। फिर उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित होकर अपने नाराचोंसे भीमसेन और धृष्टद्युम्नसहित समस्त कुन्तीकुमारोंको घायल करके द्रुपदपुत्र सुरथको मार डाला ॥ १७९-१८० ॥

पुनः शत्रुंजयं नाम द्रुपदस्यात्मजं रणे ।
बलानीकं जयानीकं जयाश्वं चाभिजघ्निवान् ॥१८१॥

तत्पश्चात् उसने रणक्षेत्रमें द्रुपदकुमार शत्रुंजय, बलानीक, जयानीक और जयाश्वको भी मार गिराया ॥१८१॥

श्रुताह्वयं च राजानं द्रौणिर्निन्ये यमक्षयम् ।
त्रिभिश्चान्यैः शरैस्तीक्ष्णैः सुपुङ्खैर्हेममालिनम् ॥१८२॥
जघान स पृषध्रं च चन्द्रसेनं च मारिष ।
कुन्तिभोजसुतांश्चासौ दशभिर्दश जघ्निवान् ॥१८३॥

आर्य! इसके बाद द्रोणकुमारने राजा श्रुताह्वको भी यमलोक पहुँचा दिया। फिर दूसरे तीन तीखे और सुन्दर पंखवाले बाणोंद्वारा हेममाली, पृषध्र और चन्द्रसेनका भी वध कर डाला। तदनन्तर दस बाणोंसे उसने राजा कुन्तिभोजके दस पुत्रोंको कालके गालमें डाल दिया ॥

अश्वत्थामा सुसंक्रुद्धः संधायोग्रमजिह्मगम् ।
मुमोचाकर्णपूर्णेन धनुषा शरमुत्तमम् ॥१८४॥
यमदण्डोपमं घोरमुद्दिश्याशु घटोत्कचम् ।

इसके बाद अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाने एक सीधे जानेवाले अत्यन्त भयंकर एवं उत्तम बाणका संधान करके धनुषको कानतक खींचकर उसे शीघ्र ही घटोत्कच-

को लक्ष्य करके छोड़ दिया। वह बाण घोर यमदण्डके समान था ॥ १८४½ ॥

स भित्त्वा हृदयं तस्य राक्षसस्य महाशरः ॥१८५॥
विवेश वसुधां शीघ्रं सुपुङ्खः पृथिवीपते।

पृथ्वीपते ! वह सुन्दर पंखोंवाला महाबाण उस राक्षसका हृदय विदीर्ण करके शीघ्र ही पृथ्वीमें समा गया। ।१८५½।

तं हतं पतितं ज्ञात्वा धृष्टद्युम्नो महारथः ॥१८६॥
द्रौणेः सकाशाद् राजेन्द्र व्यपनिन्ये रथोत्तमम्।

राजेन्द्र ! घटोत्कचको मरकर गिरा हुआ जान महारथी धृष्टद्युम्नने अपने उत्तम रथको अश्वत्थामाके पाससे हटा लिया ॥ १८६½ ॥

ततः पराङ्मुखनृपं सैन्यं यौधिष्ठिरं नृप ॥१८७॥
पराजित्य रणे वीरो द्रोणपुत्रो ननाद ह।
पूजितः सर्वभूतेषु तव पुत्रैश्च भारत ॥१८८॥

नरेश्वर ! फिर तो युधिष्ठिरकी सेनाके सभी नरेश युद्धसे विमुख हो गये। उस सेनाको परास्त करके वीर द्रोणपुत्र रणभूमिमें गर्जना करने लगा। भारत ! उस समय सम्पूर्ण प्राणियोंमें अश्वत्थामाका बड़ा समादर हुआ। आपके पुत्रोंने भी उसका बड़ा सम्मान किया ॥ १८७-१८८ ॥

अथ शरशतभिन्नकृत्तदेहै-
र्हतपतितैः क्षणदाचरैः समन्तात्।
निधनमुपगतैर्मही कृताभूद्
गिरिशिखरैरिव दुर्गमातिरौद्रा ॥१८९॥

तदनन्तर सैकड़ों बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण मरकर गिरे और मृत्युको प्राप्त हुए निशाचरोंकी लाशोंसे पटी हुई चारों ओरकी भूमि पर्वतशिखरोंसे आच्छादित हुई-सी अत्यन्त भयंकर और दुर्गम प्रतीत होने लगी ॥ १८९ ॥

तं सिद्धगन्धर्वपिशाचसंघा
नागाः सुपर्णाः पितरो वयांसि।
रक्षोगणा भूतगणाश्च द्रौणि-
मपूजयन्नप्सरसः सुराश्च ॥१९०॥

उस समय वहाँ सिद्धों, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों, सुपर्णों, पितरों, पक्षियों, राक्षसों, भूतों, अप्सराओं तथा देवताओंने भी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सोमदत्तकी मूर्छा, भीमके द्वारा बाह्लीकका वध, धृतराष्ट्रके दस पुत्रों और शकुनिके सात रथियों एवं पाँच भाइयोंका संहार तथा द्रोणाचार्य और युधिष्ठिरके युद्धमें युधिष्ठिरकी विजय

संजय उवाच

द्रुपदस्यात्मजान् दृष्ट्वा कुन्तिभोजसुतांस्तथा।
द्रोणपुत्रेण निहतान् राक्षसांश्च सहस्रशः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
युयुधानश्च संयत्ता युद्धायैव मनो दधुः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके द्वारा द्रुपद और कुन्तिभोजके पुत्रों तथा सहस्रों राक्षसोंको मारा गया देख युधिष्ठिर, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा युयुधानने भी सावधान होकर युद्धमें ही मन लगाया ॥

सोमदत्तः पुनः क्रुद्धो दृष्ट्वा सात्यकिमाहवे।
महता शरवर्षेणच्छादयामास भारत ॥ ३ ॥

भारत ! युद्धस्थलमें सात्यकिको देखकर सोमदत्त पुनः कुपित हो उठे और उन्होंने बड़ी भारी बाणवर्षा करके सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ ३ ॥

ततः समभवद् युद्धमतीव भयवर्धनम्।
त्वदीयानां परेषां च घोरं विजयकाङ्क्षिणाम् ॥ ४ ॥

फिर तो विजयकी अभिलाषा रखनेवाले आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध छिड़ गया ॥

तं दृष्ट्वा समुपायान्तं रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः।
दशभिः सात्वतस्यार्थे भीमो विव्याध सायकैः ॥ ५ ॥

सोमदत्तको आते देख भीमसेनने सात्यकिकी सहायताके लिये शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले दस बाणों-द्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ५ ॥

सोमदत्तोऽपि तं वीरं शतेन प्रत्यविध्यत।
सात्वतस्त्वभिसंक्रुद्धः पुत्राधिभिरभिप्लुतम् ॥ ६ ॥
वृद्धं वृद्धगुणैर्युक्तं ययातिमिव नाहुषम्।
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैर्वज्रनिपातनैः ॥ ७ ॥

सोमदत्तने भी वीर भीमसेनको सौ बाणोंसे वेधकर बदला चुकाया। इधर सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित हो पुत्रशोकमें डूबे हुए, नहुषनन्दन ययातिकी भाँति वृद्धताके गुणोंसे युक्त बूढ़े सोमदत्तको वज्रको भी मार गिरानेवाले दस तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ६-७ ॥

शक्त्या चैनं विनिर्भिद्य पुनर्विव्याध सप्तभिः।
ततस्तु सात्यकेरर्थे भीमसेनो नवं दृढम् ॥ ८ ॥

मुमोच परिघं घोरं सोमदत्तस्य मूर्धनि ।

फिर शक्तिसे इन्हें विदीर्ण करके सात बाणोंद्वारा पुनः गहरी चोट पहुँचायी । तत्पश्चात् सात्यकिके लिये भीमसेनने सोमदत्तके मस्तकपर नूतन, सुदृढ़ एवं भयंकर परिघका प्रहार किया ॥ ८½ ॥

सात्वतोऽप्यग्निसंकाशं मुमोच शरमुत्तमम् ॥ ९ ॥
सोमदत्तोरसि क्रुद्धः सुपत्रं निशितं युधि ।

इसी समय सात्यकिने भी युद्धस्थलमें कुपित हो सोमदत्तकी छातीपर सुन्दर पंखवाले, अग्निके समान तेजस्वी, उत्तम और तीखे बाणका प्रहार किया ॥ ९½ ॥

युगपत् पेततुर्वीरे घोरौ परिघमार्गणौ ॥ १० ॥
शरीरे सोमदत्तस्य स पपात महारथः ।

वे भयंकर परिघ और बाण वीर सोमदत्तके शरीरपर एक ही साथ गिरे । इससे महारथी सोमदत्त मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ १०½ ॥

व्यामोहिते तु तनये बाह्लीकस्तमुपाद्रवत् ॥ ११ ॥
विसृजञ्छरवर्षाणि कालवर्षीव तोयदः ।

अपने पुत्रके मूर्च्छित होनेपर बाह्लीकने वर्षा ऋतुमें वर्षा करनेवाले मेघके समान बाणोंकी वृष्टि करते हुए वहाँ सात्यकिपर धावा किया ॥ ११½ ॥

भीमोऽथ सात्वतस्यार्थे बाह्लीकं नवभिः शरैः ॥ १२ ॥
प्रपीडयन् महात्मानं विव्याध रणमूर्धनि ।

भीमसेनने सात्यकिके लिये महात्मा बाह्लीकको पीड़ित करते हुए युद्धके मुहानेपर उन्हें नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १२½ ॥

प्रातिपेयस्तु संक्रुद्धः शक्तिं भीमस्य वक्षसि ॥ १३ ॥
निचखान महाबाहुः पुरंदर इवाशनिम् ।

तब महाबाहु प्रतीपपुत्र बाह्लीकने अत्यन्त कुपित हो भीमसेनकी छातीमें अपनी शक्ति धँसा दी, मानो देवराज इन्द्रने किसी पर्वतपर वज्र मारा हो ॥ १३½ ॥

स तथाभिहतो भीमश्चकम्पे च मुमोह च ॥ १४ ॥
प्राप्य चेतश्च बलवान् गदामस्मै ससर्ज ह ।

इस प्रकार शक्तिसे आहत होकर भीमसेन काँप उठे और मूर्च्छित हो गये । फिर सचेत होनेपर बलवान् भीमने उनपर गदाका प्रहार किया ॥ १४½ ॥

सा पाण्डवेन प्रहिता बाह्लीकस्य शिरोऽहरत् ॥ १५ ॥
स पपात हतः पृथ्व्यां वज्राहत इवाद्रिराट् ।

पाण्डुपुत्र भीमसेनद्वारा चलायी हुई उस गदाने बाह्लीकका सिर उड़ा दिया । वे वज्रके मारे हुए पर्वतराजकी भाँति मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १५½ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे बाह्लीके पुरुषर्षभ ॥ १६ ॥
पुत्रास्तेऽभ्यर्दयन् भीमं दश दाशरथेः समाः ।

नरश्रेष्ठ ! वीर बाह्लीकके मारे जानेपर श्रीरामचन्द्रजीके समान पराक्रमी आपके दस पुत्र भीमसेनको पीड़ा देने लगे ॥

नागदत्तो दृढरथो महाबाहुरयोभुजः ॥ १७ ॥
दृढः सुहस्तो विरजाः प्रमाथ्युग्रोऽनुयाय्यपि ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—नागदत्त, दृढ़रथ(दृढ़रथाश्रय), महाबाहु, अयोभुज (अयोबाहु), दृढ़ (दृढ़क्षत्र), सुहस्त, विरजा, प्रमाथी, उग्र (उग्रश्रवा) और अनुयायी (अग्रयायी)॥१७½॥

तान् दृष्ट्वा चुक्रुधे भीमो जगृहे भारसाधनान् ॥ १८ ॥
एकमेकं समुद्दिश्य पातयामास मर्मसु ।

उनको सामने देखकर भीमसेन कुपित हो उठे । उन्होंने प्रत्येकके लिये एक-एक करके भारसाधनमें समर्थ दस बाण हाथमें लिये और उन्हें उनके मर्मस्थानोंपर चलाया ॥ १८½ ॥

ते विद्धा व्यसवः पेतुः स्यन्दनेभ्यो हतौजसः ॥ १९ ॥
चण्डवातप्रभग्नास्तु पर्वताग्रान्महीरुहाः ।

उन बाणोंसे घायल होकर आपके पुत्र अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे और पर्वतशिखरसे प्रचण्ड वायुद्वारा उखाड़े हुए वृक्षोंके समान तेजोहीन होकर रथोंसे नीचे गिर पड़े ॥

नाराचैर्दशभिर्भीमस्तान् निहत्य तवात्मजान् ॥ २० ॥
कर्णस्य दयितं पुत्रं वृषसेनमवाकिरत् ।

आपके उन पुत्रोंको दस नाराचोंद्वारा मारकर भीमसेनने कर्णके प्यारे पुत्र वृषसेनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

ततो वृकरथो नाम भ्राता कर्णस्य विश्रुतः ॥ २१ ॥
जघान भीमं नाराचैस्तमप्यभ्यद्रवद् बली ।

तदनन्तर कर्णके सुविख्यात बलवान् भ्राता वृकरथने आकर भीमसेनपर भी आक्रमण किया और उन्हें नाराचोंद्वारा घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

ततः सप्त रथान् वीरः स्यालानां तव भारत ॥ २२ ॥
निहत्य भीमो नाराचैः शतचन्द्रमपोथयत् ।

भारत ! तत्पश्चात् वीर भीमसेनने आपके सालोंमेंसे सात रथियोंको नाराचोंद्वारा मारकर शतचन्द्रको भी कालके गालमें भेज दिया ॥ २२½ ॥

अमर्षयन्तो निहतं शतचन्द्रं महारथम् ॥ २३ ॥
शकुनेर्भ्रातरो वीरा गवाक्षः शरभो विभुः ।
सुभगो भानुदत्तश्च शूराः पञ्च महारथाः ॥ २४ ॥
अभिद्रुत्य शरैस्तीक्ष्णैर्भीमसेनमताडयन् ।

महारथी शतचन्द्रके मारे जानेपर अमर्षमें भरे हुए शकुनिके वीर भाई गवाक्ष, शरभ, विभु, सुभग और भानुदत्त—ये पाँच शूर महारथी भीमसेनपर टूट पड़े और उन्हें पैने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ २३-२४½ ॥

स ताड्यमानो नाराचैर्वृष्टिवेगैरिवाचलः ॥ २५ ॥
जघान पञ्चभिर्बाणैः पञ्चैवातिरथान् बली ।

जैसे वर्षाके वेगसे पर्वत आहत होता है, उसी प्रकार उनके नाराचोंसे घायल होकर बलवान् भीमसेनने अपने पाँच बाणोंद्वारा उन पाँचों अतिरथी वीरोंको मार डाला ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरान् विचेलुर्नृपसत्तमाः ॥ २६ ॥
ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धस्तवानीकमशातयत् ।
मिषतः कुम्भयोनेस्तु पुत्राणां तव चानघ ॥ २७ ॥

उन पाँचों वीरोंको मारा गया देख सभी श्रेष्ठ नरेश विचलित हो उठे । निष्पाप नरेश्वर ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिर द्रोणाचार्य तथा आपके पुत्रोंके देखते-देखते आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥ २६-२७ ॥

अम्बष्ठान् मालवाञ्छूरांस्त्रिगर्तान् स शिबीनपि ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय क्रुद्धो युद्धे युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

उस युद्धमें कुद्ध होकर युधिष्ठिरने अम्बष्ठों, मालवों, शूरवीर त्रिगर्तों तथा शिबिदेशीय सैनिकोंको भी मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥ २८ ॥

अभीषाहाञ्छूरसेनान् वाह्लीकान् सवसातिकान् ।
निकृत्य पृथिवीं राजा चक्रे शोणितकर्दमाम् ॥ २९ ॥

अभीषाह, शूरसेन, बाह्लीक और वसातिदेशीय योद्धाओंको नष्ट करके राजा युधिष्ठिरने इस भूतलपर रक्तकी कीच मचा दी ॥ २९ ॥

यौधेयान् मालवान् राजन् मद्रकाणां गणान् युधि ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय शूरान् बाणैर्युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥

राजन् ! युधिष्ठिरने अपने बाणोंसे यौधेय, मालव तथा शूरवीर मद्रकगणोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥ ३० ॥

हताहरत गृह्णीत विध्यत व्यवकृन्तत ।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युधिष्ठिररथं प्रति ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरके रथके आसपास 'मारो, ले आओ, पकड़ो, घायल करो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो' इत्यादि भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ ३१ ॥

सैन्यानि द्रावयन्तं तं द्रोणो दृष्ट्वा युधिष्ठिरम् ।
चोदितस्तव पुत्रेण सायकैरभ्यवाकिरत् ॥ ३२ ॥

द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरको अपनी सेनाओंको खदेड़ते देख आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३२ ॥

द्रोणस्तु परमक्रुद्धो वायव्यास्त्रेण पार्थिवम् ।
विव्याध सोऽपि तद् दिव्यमस्त्रमस्त्रेण जघ्निवान् ॥ ३३ ॥

अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने वायव्यास्त्रसे राजा युधिष्ठिरको बींध डाला । युधिष्ठिरने भी उनके दिव्यास्त्रों-को अपने दिव्यास्त्रसे ही नष्ट कर दिया ॥ ३३ ॥

तस्मिन् विनिहते चास्त्रे भारद्वाजो युधिष्ठिरे ।
वारुणं याम्यमाग्नेयं त्वाष्ट्रं सावित्रमेव च ॥ ३४ ॥
चिक्षेप परमक्रुद्धो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ।

उस अस्त्रके नष्ट हो जानेपर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरपर क्रमशः वारुण, याम्य, आग्नेय, त्वाष्ट्र और सावित्र नामक दिव्यास्त्र चलाया; क्योंकि वे अत्यन्त कुपित होकर पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिरको मार डालना चाहते थे ॥ ३४½ ॥

क्षिप्तानि क्षिप्यमाणानि तानि चास्त्राणि धर्मजः ॥ ३५ ॥
जघानास्त्रैर्महाबाहुः कुम्भयोनेरवित्रसन् ।

परंतु महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यसे तनिक भी भय न खाकर उनके द्वारा चलाये गये और चलाये जानेवाले सभी अस्त्रोंको अपने दिव्यास्त्रोंसे नष्ट कर दिया ॥

सत्यां चिकीर्षमाणस्तु प्रतिज्ञां कुम्भसम्भवः ॥ ३६ ॥
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमैन्द्रं वै प्राजापत्यं च भारत ।
जिघांसुर्धर्मतनयं तव पुत्रहिते रतः ॥ ३७ ॥

भारत ! द्रोणाचार्यने अपनी प्रतिज्ञाको सच्ची करनेकी इच्छासे आपके पुत्रके हितमें तत्पर हो धर्मपुत्र युधिष्ठिरको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर उनके ऊपर ऐन्द्र और प्राजापत्य नामक अस्त्रोंका प्रयोग किया ॥ ३६-३७ ॥

पतिः कुरूणां गजसिंहगामी
विशालवक्षाः पृथुलोहिताक्षः ।
प्रादुश्चकारास्त्रमहीनतेजा
माहेन्द्रमन्यत् स जघान तेन ॥ ३८ ॥

तब गज और सिंहके समान गतिवाले, विशाल वक्षःस्थल-से सुशोभित, बड़े-बड़े लाल नेत्रोंवाले, उत्कृष्ट तेजस्वी कुरुपति युधिष्ठिरने माहेन्द्र अस्त्र प्रकट किया और उसीसे अन्य सभी दिव्यास्त्रोंको नष्ट कर दिया ॥ ३८ ॥

विहन्यमानेष्वस्त्रेषु द्रोणः क्रोधसमन्वितः ।
युधिष्ठिरवधं प्रेप्सुर्ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत् ॥ ३९ ॥

उन अस्त्रोंके नष्ट हो जानेपर क्रोधभरे द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरका वध करनेकी इच्छासे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ॥

ततो नाज्ञासिषं किंचिद् घोरेण तमसाऽऽवृते ।
सर्वभूतानि च परं त्रासं जग्मुर्महीपते ॥ ४० ॥

महीपते ! फिर तो मैं घोर अन्धकारसे आवृत उस युद्धस्थलमें कुछ भी जान न सका और समस्त प्राणी अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥ ४० ॥

ब्रह्मास्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मास्त्रेणैव राजेन्द्र तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! ब्रह्मास्त्रको उद्यत देख कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने ब्रह्मास्त्रसे ही उस अस्त्रका निवारण कर दिया ॥ ४१ ॥

ततः सैनिकमुख्यास्ते प्रशशंसुर्नरर्षभौ ।
द्रोणपार्थौ महेष्वासौ सर्वयुद्धविशारदौ ॥ ४२ ॥

तदनन्तर प्रधान-प्रधान सैनिक सम्पूर्ण युद्धकलामें

प्रवीण, महाधनुर्धर, नरश्रेष्ठ द्रोणाचार्य और युधिष्ठिरकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रमुच्य कौन्तेयं द्रोणो द्रुपदवाहिनीम् ।
व्यधमत् क्रोधताम्राक्षो वायव्यास्त्रेण भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! उस समय द्रोणाचार्यने कुन्तीकुमारका सामना करना छोड़कर क्रोधसे लाल आँखें किये वायव्यास्त्रके द्वारा द्रुपदकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥४३॥

ते हन्यमाना द्रोणेन पञ्चालाः प्राद्रवन् भयात् ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥ ४४ ॥

द्रोणाचार्यकी मार खाकर पाञ्चाल सैनिक भीमसेन और महात्मा अर्जुनके देखते-देखते भयके मारे भागने लगे ॥४४॥

ततः किरीटी भीमश्च सहसा संन्यवर्तताम् ।
महद्भ्यां रथवंशाभ्यां परिगृह्य बलं तदा ॥ ४५ ॥

यह देख किरीटधारी अर्जुन और भीमसेन विशाल रथ-सेनाओंके द्वारा अपनी सेनाकी रोक-थाम करते हुए सहसा उस ओर लौट पड़े ॥ ४५ ॥

बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च वृकोदरः ।
भारद्वाजं शरौघाभ्यां महद्भ्यामभ्यवर्षताम् ॥ ४६ ॥

अर्जुनने द्रोणाचार्यके दाहिने पार्श्वमें और भीमसेनने बायें पार्श्वमें महान् बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४६ ॥

केकयाः सृञ्जयाश्चैव पञ्चालाश्च महौजसः ।
अन्वगच्छन् महाराज मत्स्याश्च सह सात्वतैः ॥ ४७ ॥

महाराज ! उस समय केकय, सृंजय, महातेजस्वी पाञ्चाल, मत्स्य तथा यादव सैनिकोंने भी उन दोनोंका अनुसरण किया॥

ततः सा भारती सेना वध्यमाना किरीटिना ।
तमसा निद्रया चैव पुनरेव व्यदीर्यत ॥ ४८ ॥

उस समय किरीटधारी अर्जुनकी मार खाती हुई कौरवी-सेना अंधकार और निद्रासे पीड़ित हो पुनः तितर-बितर हो गयी ॥ ४८ ॥

द्रोणेन वार्यमाणास्ते स्वयं तव सुतेन च ।
नाशक्यन्त महाराज योधा वारयितुं तदा ॥ ४९ ॥

महाराज ! द्रोणाचार्य और स्वयं आपके पुत्र दुर्योधनके मना करनेपर भी उस समय आपके योद्धा रोके न जा सके ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे द्रोणयुधिष्ठिरयुद्धे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें द्रोणाचार्य और युधिष्ठिरका युद्धविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधन और कर्णकी बातचीत, कृपाचार्यद्वारा कर्णको फटकारना तथा कर्णद्वारा कृपाचार्यका अपमान

संजय उवाच

उदीर्यमाणं तद् दृष्ट्वा पाण्डवानां महद् बलम् ।
अविषह्यं च मन्वानः कर्णं दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाका जोर बढ़ते देख उसे असह्य मानकर दुर्योधनने कर्णसे कहा—॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
त्रायस्व समरे कर्ण सर्वान् योधान् महारथान् ॥ २ ॥
पञ्चालैर्मत्स्यकैकेयैः पाण्डवैश्च महारथैः ।
वृतान् समन्तात् संक्रुद्धैर्निःश्वसद्भिरिवोरगैः ॥ ३ ॥

'मित्रवत्सल कर्ण ! यही मित्रोंके कर्तव्यपालनका उपयुक्त अवसर आया है। क्रोधमें भरे हुए पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा पाण्डव महारथी फुफकारते हुए सर्पोंके समान भयंकर हो उठे हैं। उनके द्वारा चारों ओरसे घिरे हुए मेरे समस्त महारथी योद्धाओंकी आज तुम समराङ्गणमें रक्षा करो ॥

एते नदन्ति संहृष्टाः पाण्डवा जितकाशिनः ।
शक्रोपमाश्च बहवः पञ्चालानां रथव्रजाः ॥ ४ ॥

'देखो, ये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डव तथा इन्द्रके समान पराक्रमी बहुसंख्यक पाञ्चाल महारथी कैसे हर्षोत्फुल्ल होकर सिंहनाद कर रहे हैं !' ॥ ४ ॥

कर्ण उवाच

परित्रातुमिह प्राप्तो यदि पार्थं पुरंदरः ।
तमप्याशु पराजित्य ततो हन्तास्मि पाण्डवम् ॥ ५ ॥

कर्णने कहा—राजन् ! यदि साक्षात् इन्द्र यहाँ कुन्ती-कुमार अर्जुनकी रक्षा करनेके लिये आ गये हों तो उन्हें भी शीघ्र ही पराजित करके मैं पाण्डुपुत्र अर्जुनको अवश्य मार डालूँगा ॥ ५ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि समाश्वसिहि भारत ।
हन्तास्मि पाण्डुतनयान् पञ्चालांश्च समागतान् ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! तुम धैर्य धारण करो। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि युद्धस्थलमें आये हुए पाण्डवों तथा पाञ्चालोंको निश्चय ही मारूँगा ॥ ६ ॥

जयं ते प्रतिदास्यामि वासवस्येव पावकिः ।
प्रियं तव मया कार्यमिति जीवामि पार्थिव ॥ ७ ॥

जैसे अग्निकुमार कार्तिकेयने तारकासुरका विनाश करके इन्द्रको विजय दिलायी थी, उसी प्रकार मैं आज तुम्हें

विजय प्रदान करूँगा । भूपाल ! मुझे तुम्हारा प्रिय करना है, इसीलिये जीवन धारण करता हूँ ॥ ७ ॥

सर्वेषामेव पार्थानां फाल्गुनो बलवत्तरः ।
तस्यामोघां विमोक्ष्यामि शक्तिं शक्रविनिर्मिताम् ॥ ८ ॥

कुन्तीके सभी पुत्रोंमें अर्जुन ही अधिक शक्तिशाली हैं, अतः मैं इन्द्रकी दी हुई अमोघ शक्तिको अर्जुनपर ही छोड़ूँगा ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे भ्रातरस्तस्य मानद ।
तव वश्या भविष्यन्ति वनं यास्यन्ति वा पुनः ॥ ९ ॥

मानद ! महाधनुर्धर अर्जुनके मारे जानेपर उनके सभी भाई तुम्हारे वशमें हो जायँगे अथवा पुनः वनमें चले जायँगे ॥

मयि जीवति कौरव्य विषादं मा कृथाः क्वचित् ।
अहं जेष्यामि समरे सहितान् सर्वपाण्डवान् ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! तुम मेरे जीते-जी कभी विषाद न करो । मैं समरभूमिमें संगठित होकर आये हुए समस्त पाण्डवोंको जीत लूँगा ॥ १० ॥

पञ्चालान् केकयांश्चैव वृष्णींश्चापि समागतान् ।
बाणौघैः शकलीकृत्य तव दास्यामि मेदिनीम् ॥ ११ ॥

मैं अपने बाणसमूहोंद्वारा रणभूमिमें पधारे हुए पाञ्चालों, केकयों और वृष्णिवंशियोंके भी टुकड़े-टुकड़े करके यह सारी पृथ्वी तुम्हें दे दूँगा ॥ ११ ॥

संजय उवाच

एवं ब्रुवाणं कर्णं तु कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
स्मयन्निव महाबाहुः सूतपुत्रमिदं वचः ॥ १२ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस तरहकी बातें करते हुए सूतपुत्र कर्णसे शरद्वान्‌के पुत्र महाबाहु कृपाचार्यने मुसकराते हुए-से यह बात कही—॥ १२ ॥

शोभनं शोभनं कर्ण सनाथः कुरुपुङ्गवः ।
त्वया नाथेन राधेय वचसा यदि सिध्यति ॥ १३ ॥

'कर्ण ! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! राधापुत्र ! यदि बात बनानेसे ही कार्य सिद्ध हो जाय, तब तो तुम-जैसे सहायकको पाकर कुरुराज दुर्योधन सनाथ हो गये ॥ १३ ॥

बहुशः कत्थसे कर्ण कौरवस्य समीपतः ।
न तु ते विक्रमः कश्चिद् दृश्यते फलमेव वा ॥ १४ ॥

'कर्ण ! तुम कुरुनन्दन सुयोधनके समीप तो बहुत बढ़-कर बातें किया करते हो; किंतु न तो कभी कोई तुम्हारा पराक्रम देखा जाता है और न उसका कोई फल ही सामने आता है ॥

समागमः पाण्डुसुतैर्दृष्टस्ते बहुशो युधि ।
सर्वत्र निर्जितश्चासि पाण्डवैः सूतनन्दन ॥ १५ ॥

'सूतनन्दन ! पाण्डुके पुत्रोंसे युद्धस्थलमें तुम्हारी अनेकों बार मुठभेड़ हुई है; परंतु सर्वत्र पाण्डवोंसे तुम्हीं परास्त हुए हो ॥ १५ ॥

ह्रियमाणे तदा कर्ण गन्धर्वैर्धृतराष्ट्रजे ।
तदायुध्यन्त सैन्यानि त्वमेकोऽग्रेऽपलायिथाः ॥ १६ ॥

'कर्ण ! याद है कि नहीं, जब गन्धर्व दुर्योधनको पकड़-कर लिये जा रहे थे, उस समय सारी सेना तो युद्ध कर रही थी और अकेले तुम ही सबसे पहले पलायन कर गये थे ॥

विराटनगरे चापि समेताः सर्वकौरवाः ।
पार्थेन निर्जिता युद्धे त्वं च कर्ण सहानुजः ॥ १७ ॥

'कर्ण ! विराट नगरमें भी सम्पूर्ण कौरव एकत्र हुए थे; किंतु अर्जुनने अकेले ही वहाँ सबको हरा दिया था । कर्ण ! तुम भी अपने भाइयोंके साथ परास्त हुए थे ॥ १७ ॥

एकस्याप्यसमर्थस्त्वं फाल्गुनस्य रणाजिरे ।
कथमुत्सहसे जेतुं सकृष्णान् सर्वपाण्डवान् ॥ १८ ॥

'समराङ्गणमें अकेले अर्जुनका सामना करनेकी भी तुममें शक्ति नहीं है; फिर श्रीकृष्णसहित सम्पूर्ण पाण्डवोंको जीत लेनेका उत्साह कैसे दिखाते हो ? ॥ १८ ॥

अब्रुवन् कर्ण युध्यस्व कत्थसे बहु सूतज ।
अनुक्त्वा विक्रमेद् यस्तु तद् वै सत्पुरुषव्रतम् ॥ १९ ॥

'सूतपुत्र कर्ण ! चुपचाप युद्ध करो । तुम बातें बहुत बनाते हो । जो बिना कुछ कहे ही पराक्रम दिखाये, वही वीर है और वैसा करना ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ १९ ॥

गर्जित्वा सूतपुत्र त्वं शारदाभ्रमिवाफलम् ।
निष्फलो दृश्यसे कर्ण तच्च राजा न बुध्यते ॥ २० ॥

'सूतपुत्र कर्ण ! तुम शरद् ऋतुके निष्फल बादलोंके समान गर्जना करके भी निष्फल ही दिखायी देते हो; किंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझ रहे हैं ॥ २० ॥

तावद् गर्जस्व राधेय यावत् पार्थं न पश्यसि ।
आरात् पार्थं हि ते दृष्ट्वा दुर्लभं गर्जितं पुनः ॥ २१ ॥

'राधानन्दन ! जबतक तुम अर्जुनको नहीं देखते हो, तभीतक गर्जना कर लो । कुन्तीकुमार अर्जुनको समीप देख लेनेपर फिर यह गर्जना तुम्हारे लिये दुर्लभ हो जायगी ॥ २१ ॥

त्वमनासाद्य तान् बाणान् फाल्गुनस्य विगर्जसि ।
पार्थसायकविद्धस्य दुर्लभं गर्जितं तव ॥ २२ ॥

'जबतक अर्जुनके वे बाण तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ रहे हैं, तभीतक तुम जोर-जोरसे गरज रहे हो । अर्जुनके बाणोंसे घायल होनेपर तुम्हारे लिये यह गर्जन-तर्जन दुर्लभ हो जायगा ॥

बाहुभिः क्षत्रियाः शूरा वाग्भिः शूरा द्विजातयः ।
धनुषा फाल्गुनः शूरः कर्णः शूरो मनोरथैः ॥ २३ ॥
तोषितो येन रुद्रोऽपि कः पार्थं प्रतिघातयेत् ।

'क्षत्रिय अपनी भुजाओंसे शौर्यका परिचय देते हैं । ब्राह्मण वाणीद्वारा प्रवचन करनेमें वीर होते हैं । अर्जुन धनुष चलाने-में शूर हैं; किंतु कर्ण केवल मनसूबे बाँधनेमें वीर है । जिन्होंने अपने

पराक्रमसे भगवान् शंकरको भी संतुष्ट किया है, उन अर्जुनको कौन मार सकता है ?' ॥ २३½ ॥

एवं संरुषितस्तेन तदा शारद्वतेन ह ॥ २४ ॥
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः कृपं वाक्यमथाब्रवीत् ।

उन कृपाचार्यके ऐसा कहनेपर योद्धाओंमें श्रेष्ठ कर्णने उस समय रुष्ट होकर कृपाचार्यसे इस प्रकार कहा—॥२४½॥

शूरा गर्जन्ति सततं प्रावृषीव बलाहकाः ॥ २५ ॥
फलं चाशु प्रयच्छन्ति बीजमुप्तमृताविव ।

'शूरवीर वर्षाकालके मेघोंकी तरह सदा गरजते हैं और ठीक ऋतुमें बोये हुए बीजके समान शीघ्र ही फल भी देते हैं॥

दोषमत्र न पश्यामि शूराणां रणमूर्धनि ॥ २६ ॥
तत्तद् विकत्थमानानां भारं चोद्वहतां मृधे ।

'युद्धस्थलमें महान् भार उठानेवाले शूरवीर यदि युद्धके मुहानेपर अपनी प्रशंसाकी भी बातें कहते हैं तो इसमें मुझे उनका कोई दोष नहीं दिखायी देता ॥ २६½ ॥

यं भारं पुरुषो वोढुं मनसा हि व्यवस्यति ॥ २७ ॥
दैवमस्य ध्रुवं तत्र साहाय्यायोपपद्यते ।

'पुरुष अपने मनसे जिस भारको ढोनेका निश्चय करता है, उसमें दैव अवश्य ही उसकी सहायता करता है ॥२७½॥

व्यवसायद्वितीयोऽहं मनसा भारमुद्वहन् ॥ २८ ॥
हत्वा पाण्डुसुतानाजौ सकृष्णान् सहसात्वतान्।
गर्जामि यद्यहं विप्र तव किं तत्र नश्यति ॥ २९ ॥

'मैं मनसे जिस कार्यभारका वहन कर रहा हूँ, उसकी सिद्धिमें दृढ़ निश्चय ही मेरा सहायक है। विप्रवर ! मैं कृष्ण और सात्यकिसहित समस्त पाण्डवोंको युद्धमें मारनेका निश्चय करके यदि गरज रहा हूँ तो उसमें आपका क्या नष्ट हुआ जा रहा है ! ॥ २८-२९ ॥

वृथा शूरा न गर्जन्ति शारदा इव तोयदाः ।
सामर्थ्यमात्मनो ज्ञात्वा ततो गर्जन्ति पण्डिताः ॥ ३० ॥

'शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शूरवीर व्यर्थ नहीं गरजते हैं। विद्वान् पुरुष पहले अपनी सामर्थ्यको समझ लेते हैं, उसके बाद गर्जना करते हैं ॥ ३० ॥

सोऽहमद्य रणे यत्तौ सहितौ कृष्णपाण्डवौ ।
उत्सहे मनसा जेतुं ततो गर्जामि गौतम ॥ ३१ ॥

'गौतम ! आज मैं रणभूमिमें विजयके लिये साथ-साथ प्रयत्न करनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीत लेनेके लिये मन-ही-मन उत्साह रखता हूँ। इसीलिये गर्जना करता हूँ ॥

पश्य त्वं गर्जितस्यास्य फलं मे विप्र सानुगान् ।
हत्वा पाण्डुसुतानाजौ सहकृष्णान् ससात्वतान्॥३२॥
दुर्योधनाय दास्यामि पृथिवीं हतकण्टकाम् ।

'ब्रह्मन् ! मेरी इस गर्जनाका फल देख लेना। मैं युद्धमें श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा अनुगामियोंसहित पाण्डवोंको मारकर इस भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य दुर्योधनको दे दूँगा' ॥

कृप उवाच

मनोरथप्रलापा मे न ग्राह्यास्तव सूतज ॥ ३३ ॥
सदा क्षिपसि वै कृष्णौ धर्मराजं च पाण्डवम् ।
ध्रुवस्तत्र जयः कर्ण यत्र युद्धविशारदौ ॥ ३४ ॥

कृपाचार्य बोले—सूतपुत्र ! तुम्हारे ये मनसूबे बाँधनेके निरर्थक प्रलाप मेरे लिये विश्वासके योग्य नहीं हैं। कर्ण ! तुम सदा ही श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरपर आक्षेप किया करते हो; परंतु विजय उसी पक्षकी होगी, जहाँ युद्धविशारद श्रीकृष्ण और अर्जुन विद्यमान हैं ॥ ३३-३४ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां मनुष्योरगरक्षसाम् ।
दंशितानामपि रणे अजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३५ ॥

यदि देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, सर्प और राक्षस भी कवच बाँधकर युद्धके लिये आ जायँ तो रणभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको वे भी जीत नहीं सकते ॥ ३५ ॥

ब्रह्मण्यः सत्यवाग् दान्तो गुरुदैवतपूजकः ।
नित्यं धर्मरतश्चैव कृतास्त्रश्च विशेषतः ॥ ३६ ॥
धृतिमांश्च कृतज्ञश्च धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

धर्मपुत्र युधिष्ठिर ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, गुरु और देवताओंका सम्मान करनेवाले, सदा धर्मपरायण, अस्त्रविद्यामें विशेष कुशल, धैर्यवान् और कृतज्ञ हैं ॥ ३६½ ॥

भ्रातरश्चास्य बलिनः सर्वास्त्रेषु कृतश्रमाः ॥ ३७ ॥
गुरुवृत्तिरताः प्राज्ञा धर्मनित्या यशस्विनः ।

इनके बलवान् भाई भी सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें परिश्रम किये हुए हैं। वे गुरुसेवापरायण, विद्वान्, धर्मतत्पर और यशस्वी हैं ॥ ३७½ ॥

सम्बन्धिनश्चेन्द्रवीर्याः स्वनुरक्ताः प्रहारिणः ॥ ३८ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च दौर्मुखिर्जनमेजयः ।
चन्द्रसेनो रुद्रसेनः कीर्तिधर्मा ध्रुवो धरः ॥ ३९ ॥
वसुचन्द्रो दामचन्द्रः सिंहचन्द्रः सुतेजनः ।
द्रुपदस्य तथा पुत्रा द्रुपदश्च महास्त्रवित् ॥ ४० ॥

उनके सम्बन्धी भी इन्द्रके समान पराक्रमी, उनमें अनुराग रखनेवाले और प्रहार करनेमें कुशल हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, दुर्मुख-पुत्र जनमेजय, चन्द्रसेन, रुद्रसेन, कीर्तिधर्मा, ध्रुव, धर, वसुचन्द्र, दामचन्द्र, सिंहचन्द्र, सुतेजन, द्रुपदके पुत्रगण तथा महान् अस्त्रवेत्ता द्रुपद ॥ ३८–४० ॥

येषामर्थाय संयत्तो मत्स्यराजः सहानुजः ।
शतानीकः सूर्यदत्तः श्रुतानीकः श्रुतध्वजः ॥ ४१ ॥
बलानीको जयानीको जयाश्वो रथवाहनः ।
चन्द्रोदयः समरथो विराटभ्रातरः शुभाः ॥ ४२॥
यमौ च द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
येषामर्थाय युध्यन्ते न तेषां विद्यते क्षयः ॥ ४३ ॥

जिनके लिये शतानीक, सूर्यदत्त, श्रुतानीक, श्रुतध्वज, बलानीक, जयानीक, जयाश्व, रथवाहन, चन्द्रोदय तथा समरथ—ये विराटके श्रेष्ठ भाई और इन भाइयोंसहित मत्स्यराज विराट युद्ध करनेको तैयार हैं, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच—ये वीर जिनके लिये युद्ध कर रहे हैं, उन पाण्डवोंकी कभी कोई क्षति नहीं हो सकती है ॥ ४१–४३ ॥

एते चान्ये च बहवो गुणाः पाण्डुसुतस्य वै ।
कामं खलु जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ ४४ ॥
सयक्षराक्षसगणं सभूतभुजगद्विपम् ।
निःशेषमस्त्रवीर्येण कुर्वाते भीमफाल्गुनौ ॥ ४५ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके ये तथा और भी बहुत-से गुण हैं। भीमसेन और अर्जुन यदि चाहें तो अपने अस्त्रबलसे देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, भूत, नाग और हाथियोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्का सर्वथा विनाश कर सकते हैं ॥४४-४५॥

युधिष्ठिरश्च पृथिवीं निर्दहेद् घोरचक्षुषा ।
अप्रमेयबलः शौरिर्येषामर्थे च दंशितः ॥ ४६ ॥
कथं तान् संयुगे कर्ण जेतुमुत्सहसे परान् ।

युधिष्ठिर भी यदि रोषभरी दृष्टिसे देखें तो इस भूमण्डल-को भस्म कर सकते हैं। कर्ण ! जिनके लिये अनन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्ण भी कवच धारण करके लड़नेको तैयार हैं, उन शत्रुओंको युद्धमें जीतनेका साहस तुम कैसे कर रहे हो ?॥

महानपनयस्त्वेष नित्यं हि तव सूतज ॥ ४७ ॥
यस्त्वमुत्सहसे योद्धुं समरे शौरिणा सह ।

सूतपुत्र ! तुम जो सदा समरभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेका उत्साह दिखाते हो, यह तुम्हारा महान् अन्याय (अक्षम्य अपराध) है ॥ ४७½ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयः प्रहसन् भरतर्षभ ॥ ४८ ॥
अब्रवीच्च तदा कर्णो गुरुं शारद्वतं कृपम् ।

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर राधापुत्र कर्ण ठठाकर हँस पड़ा और शरद्वान्के पुत्र गुरु कृपाचार्यसे उस समय यों बोला—॥ ४८½ ॥

सत्यमुक्तं त्वया ब्रह्मन् पाण्डवान् प्रति यद् वचः॥४९॥
एते चान्ये च बहवो गुणाः पाण्डुसुतेषु वै ।

'बाबाजी ! पाण्डवोंके विषयमें तुमने जो बात कही है वह सब सत्य है। यही नहीं, पाण्डवोंमें और भी बहुत-से गुण हैं॥

अजय्याश्च रणे पार्था देवैरपि सवासवैः ॥ ५० ॥
सदैत्ययक्षगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।

'यह भी ठीक है कि कुन्तीके पुत्रोंको रणभूमिमें इन्द्र आदि देवता, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, नाग और राक्षस भी जीत नहीं सकते ॥ ५०½ ॥

तथापि पार्थाञ्जेष्यामि शक्त्या वासवदत्तया ॥ ५१ ॥
मम ह्यमोघा दत्तेयं शक्तिः शक्रेण वै द्विज ।
एतया निहनिष्यामि सव्यसाचिनमाहवे ॥ ५२ ॥

'तथापि मैं इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे कुन्तीके पुत्रोंको जीत लूँगा। ब्रह्मन् ! मुझे इन्द्रने यह अमोघ शक्ति दे रक्खी है; इसके द्वारा मैं सव्यसाची अर्जुनको युद्धमें अवश्य मार डालूँगा॥

हते तु पाण्डवे कृष्णे भ्रातरश्चास्य सोदराः ।
अनर्जुना न शक्ष्यन्ति महीं भोक्तुं कथञ्चन ॥ ५३ ॥

'पाण्डुपुत्र अर्जुनके मारे जानेपर उनके बिना उनके सहोदर भाई किसी तरह इस पृथ्वीका राज्य नहीं भोग सकेंगे॥

तेषु नष्टेषु सर्वेषु पृथिवीयं ससागरा ।
अयत्नात् कौरवेन्द्रस्य वशे स्थास्यति गौतम ॥ ५४ ॥

'गौतम ! उन सबके नष्ट हो जानेपर बिना किसी प्रयत्नके ही यह समुद्रसहित सारी पृथ्वी कौरवराज दुर्योधनके वशमें हो जायगी ॥ ५४ ॥

सुनीतैरिह सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ।
एतमर्थमहं ज्ञात्वा ततो गर्जामि गौतम ॥ ५५ ॥

'गौतम ! इस संसारमें सुनीतिपूर्ण प्रयत्नोंसे सारे कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है। इस बातको समझकर ही मैं गर्जना करता हूँ ॥ ५५ ॥

त्वं तु विप्रश्च वृद्धश्च अशक्तश्चापि संयुगे ।
कृतस्नेहश्च पार्थेषु मोहान्मामवमन्यसे ॥ ५६ ॥

'तुम तो ब्राह्मण और उसमें भी बूढ़े हो। तुममें युद्ध करनेकी शक्ति है ही नहीं। इसके सिवा, तुम कुन्तीके पुत्रोंपर स्नेह रखते हो; इसलिये मोहवश मेरा अपमान कर रहे हो ॥

यद्येवं वक्ष्यसे भूयो ममाप्रियमिह द्विज।
ततस्ते खड्गमुद्यम्य जिह्वां छेत्स्यामि दुर्मते ॥ ५७ ॥

'दुर्बुद्धि ब्राह्मण! यदि यहाँ पुनः इस प्रकार मुझे अप्रिय लगनेवाली बात बोलोगे तो मैं अपनी तलवार उठाकर तुम्हारी जीभ काट लूँगा ॥ ५७ ॥

यच्चापि पाण्डवान् विप्र स्तोतुमिच्छसि संयुगे।
भीषयन् सर्वसैन्यानि कौरवेयाणि दुर्मते ॥ ५८ ॥
अत्रापि शृणु मे वाक्यं यथावद् ब्रुवतो द्विज।

'ब्रह्मन्! दुर्मते! तुम जो युद्धस्थलमें समस्त कौरव-सेनाओंको भयभीत करनेके लिये पाण्डवोंके गुण गाना चाहते हो, उसके विषयमें भी मैं जो यथार्थ बात कह रहा हूँ, उसे सुन लो॥

दुर्योधनश्च द्रोणश्च शकुनिर्दुर्मुखो जयः ॥ ५९ ॥
दुःशासनो वृषसेनो मद्रराजस्त्वमेव च।
सोमदत्तश्च भूरिश्च तथा द्रौणिर्विविंशतिः ॥ ६० ॥
तिष्ठेयुर्दंशिता यत्र सर्वे युद्धविशारदाः।
जयेदेतान् नरः को नु शक्रतुल्यबलोऽप्यरिः ॥ ६१ ॥

'दुर्योधन, द्रोण, शकुनि, दुर्मुख, जय, दुःशासन, वृषसेन, मद्रराज शल्य, तुम स्वयं, सोमदत्त, भूरि, अश्वत्थामा और विविंशति—ये युद्धकुशल सम्पूर्ण वीर जहाँ कवच बाँधकर खड़े हो जायँगे, वहाँ इन्हें कौन मनुष्य जीत सकता है? वह इन्द्रके तुल्य बलवान् शत्रु ही क्यों न हो (इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता) ॥ ५९–६१ ॥

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च बलिनः स्वर्गलिप्सवः।
धर्मज्ञा युद्धकुशला हन्युर्युद्धे सुरानपि ॥ ६२ ॥

'जो शूरवीर, अस्त्रोंके ज्ञाता, बलवान्, स्वर्ग-प्राप्तिकी अभिलाषा रखनेवाले, धर्मज्ञ और युद्धकुशल हैं, वे देवताओं-को भी युद्धमें मार सकते हैं ॥ ६२ ॥

एते स्थास्यन्ति संग्रामे पाण्डवानां वधार्थिनः।
जयमाकाङ्क्षमाणा हि कौरवेयस्य दंशिताः ॥ ६३ ॥

'ये वीरगण कुरुराज दुर्योधनकी जय चाहते हुए पाण्डवों-के वधकी इच्छासे संग्राममें कवच बाँधकर डट जायँगे ॥ ६३ ॥

दैवायत्तमहं मन्ये जयं सुबलिनामपि।
यत्र भीष्मो महाबाहुः शेते शरशताचितः ॥ ६४ ॥

'मैं तो बड़े-से-बड़े बलवानोंकी भी विजय दैवके ही अधीन मानता हूँ। दैवाधीन होनेके ही कारण महाबाहु भीष्म आज सैकड़ों बाणोंसे विद्ध होकर रणभूमिमें शयन करते हैं ॥ ६४ ॥

विकर्णश्चित्रसेनश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः।
भूरिश्रवा जयश्चैव जलसंधः सुदक्षिणः ॥ ६५ ॥
शलश्च रथिनां श्रेष्ठो भगदत्तश्च वीर्यवान्।
एते चान्ये च राजानो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ ६६ ॥

'विकर्ण, चित्रसेन, बाह्लीक, जयद्रथ, भूरिश्रवा, जय, जलसंध, सुदक्षिण, रथियोंमें श्रेष्ठ शल तथा पराक्रमी भगदत्त—ये और दूसरे भी बहुत-से राजा देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय थे ॥ ६५-६६ ॥

निहताः समरे शूराः पाण्डवैर्बलवत्तराः।
किमन्यद् दैवसंयोगान्मन्यसे पुरुषाधम ॥ ६७ ॥

'परंतु उन अत्यन्त प्रबल तथा शूरवीर नरेशोंको भी पाण्डवोंने युद्धमें मार डाला। पुरुषाधम! तुम इसमें दैव-संयोगके सिवा दूसरा कौन-सा कारण मानते हो? ॥ ६७ ॥

यांश्च तान् स्तौषि सततं दुर्योधनरिपून् द्विज।
तेषामपि हताः शूराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६८ ॥

'ब्रह्मन्! तुम दुर्योधनके जिन शत्रुओंकी सदा स्तुति करते रहते हो, उनके भी तो सैकड़ों और सहस्रों शूरवीर मारे गये हैं ॥ ६८ ॥

क्षीयन्ते सर्वसैन्यानि कुरूणां पाण्डवैः सह।
प्रभावं नात्र पश्यामि पाण्डवानां कथंचन ॥ ६९ ॥

'कौरव तथा पाण्डव दोनों दलोंकी सारी सेनाएँ प्रतिदिन नष्ट हो रही हैं। मुझे इसमें किसी प्रकार भी पाण्डवोंका कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखायी देता है ॥ ६९ ॥

यस्तान् बलवतो नित्यं मन्यसे त्वं द्विजाधम।
यतिष्येऽहं यथाशक्ति योद्धुं तैः सह संयुगे।
दुर्योधनहितार्थाय 'जयो दैवे प्रतिष्ठितः' ॥ ७० ॥

'द्विजाधम! तुम जिन्हें सदा बलवान् मानते रहते हो, उन्हींके साथ मैं संग्रामभूमिमें दुर्योधनके हितके लिये यथा-शक्ति युद्ध करनेका प्रयत्न करूँगा। विजय तो दैवके अधीन है' ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे कृपकर्णवाक्येऽष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें कृपाचार्य और कर्णका विवादविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्वत्थामाका कर्णको मारनेके लिये उद्यत होना, दुर्योधनका उसे मनाना, पाण्डवों और पाञ्चालोंका कर्णपर आक्रमण, कर्णका पराक्रम, अर्जुनके द्वारा कर्णकी पराजय तथा दुर्योधनका अश्वत्थामासे पाञ्चालोंके वधके लिये अनुरोध

संजय उवाच

तथा परुषितं दृष्ट्वा सूतपुत्रेण मातुलम्।
खड्गमुद्यम्य वेगेन द्रौणिरभ्यपतद् द्रुतम्॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामाके प्रति सूतपुत्र कर्णको कटु वचन सुनाते देख अश्वत्थामा बड़े वेगसे तलवार उठाकर तुरंत कर्णपर टूट पड़ा॥ १॥

ततः परमसंक्रुद्धः सिंहो मत्तमिव द्विपम्।
प्रेक्षतः कुरुराजस्य द्रौणिः कर्णं समभ्ययात्॥ २ ॥

जैसे सिंह मतवाले हाथीपर झपटता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोणकुमार अश्वत्थामाने कुरुराज दुर्योधनके देखते-देखते कर्णपर आक्रमण किया॥ २॥

अश्वत्थामोवाच

यदर्जुनगुणांस्तथ्यान् कीर्तयानं नराधम।
शूरं द्वेषात् सुदुर्बुद्धे त्वं भर्त्सयसि मातुलम्॥ ३ ॥
विकत्थमानः शौर्येण सर्वलोकधनुर्धरम्।
दर्पोत्सेधगृहीतोऽद्य न कञ्चिद् गणयन् मृधे॥ ४ ॥

अश्वत्थामाने कहा—दुर्बुद्धि! नराधम! मेरे मामा सम्पूर्ण जगत्‌के श्रेष्ठ धनुर्धर एवं शूरवीर हैं। ये अर्जुनके सच्चे गुणोंका बखान कर रहे थे, तो भी तू द्वेषवश अपनी शूरताकी डींग हाँकता हुआ और घमण्डमें आकर आज युद्धमें किसीको कुछ न समझता हुआ जो इन्हें फटकार रहा है, उसका क्या कारण है?॥ ३-४॥

क्व ते वीर्यं क्व चास्त्राणि यत्त्वां निर्जित्य संयुगे।
गाण्डीवधन्वा हतवान् प्रेक्षतस्ते जयद्रथम्॥ ५ ॥

जब युद्धस्थलमें गाण्डीवधारी अर्जुनने तुझे परास्त करके तेरे देखते-देखते जयद्रथको मार डाला था, उस समय तेरा पराक्रम कहाँ था? तेरे वे अस्त्र-शस्त्र कहाँ चले गये थे?॥

येन साक्षान्महादेवो योधितः समरे पुरा।
तमिच्छसि वृथा जेतुं सूताधम मनोरथैः॥ ६ ॥

सूताधम! जिन्होंने समराङ्गणमें पहले साक्षात् महादेवजी-के साथ युद्ध किया है, उन्हें केवल मनोरथोंद्वारा जीतनेकी तू व्यर्थ इच्छा प्रकट कर रहा है॥ ६॥

यं हि कृष्णेन सहितं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
जेतुं न शक्ताः सहिताः सेन्द्रा अपि सुरासुराः॥ ७ ॥
लोकैकवीरमजितमर्जुनं सूत संयुगे।
किं पुनस्त्वं सुदुर्बुद्धे सहैभिर्वसुधाधिपैः॥ ८ ॥

दुर्बुद्धि! सूत! जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तथा श्रीकृष्णके साथ रहनेपर जिन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी जीतनेमें समर्थ नहीं हैं, उन्हीं लोकके एकमात्र अपराजित वीर अर्जुनको जीतनेके लिये इन राजाओंसहित तेरी क्या शक्ति है?॥ ७-८॥

कर्ण पश्य सुदुर्बुद्धे तिष्ठेदानीं नराधम।
एष तेऽद्य शिरः कायादुद्धरामि सुदुर्मते॥ ९ ॥

दुर्बुद्धि नराधम! कर्ण! तू देख और खड़ा रह। दुर्मते! मैं अभी तेरा सिर धड़से उतार लेता हूँ॥ ९॥

संजय उवाच

तमुद्यतं तु वेगेन राजा दुर्योधनः स्वयम्।
न्यवारयन्महातेजाः कृपश्च द्विपदां वरः॥ १० ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वेगपूर्वक उठे हुए अश्वत्थामाको महातेजस्वी स्वयं राजा दुर्योधन तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने रोका॥ १०॥

कर्ण उवाच

शूरोऽयं समरश्लाघी दुर्मतिश्च द्विजाधमः।
आसादयतु मद्वीर्यं मुञ्चेमं कुरुसत्तम॥ ११ ॥

कर्ण बोला—कुरुश्रेष्ठ! यह दुर्बुद्धि एवं नीच ब्राह्मण बड़ा शूरवीर बनता है और युद्धकी श्लाघा रखता है। तुम इसे छोड़ दो। आज यह मेरे पराक्रमका सामना करे॥ ११॥

अश्वत्थामोवाच

तवैतत् क्षम्यतेऽस्माभिः सूतात्मज सुदुर्मते।
दर्पमुत्सिक्तमेतत् ते फाल्गुनो नाशयिष्यति॥ १२ ॥

अश्वत्थामाने कहा—दुर्बुद्धि सूतपुत्र! हमलोग तेरे इस अपराधको क्षमा करते हैं। तेरे इस बढ़े हुए घमण्डका नाश अर्जुन करेंगे॥ १२॥

दुर्योधन उवाच

अश्वत्थामन् प्रसीदस्व क्षन्तुमर्हसि मानद।
कोपः खलु न कर्तव्यः सूतपुत्रं कथंचन॥ १३ ॥

दुर्योधन बोला—दूसरोंको मान देनेवाले (भाई) अश्वत्थामा! प्रसन्न होओ। तुम्हें क्षमा करना चाहिये। सूतपुत्र कर्णपर तुम्हें किसी प्रकार भी क्रोध करना उचित नहीं है॥

त्वयि कर्णे कृपे द्रोणे मद्रराजेऽथ सौबले।
महत् कार्यं समासक्तं प्रसीद द्विजसत्तम॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ! तुमपर, कर्णपर तथा कृपाचार्य, द्रोणाचार्य मद्रराज शल्य और शकुनिपर महान् कार्यभार रक्खा गया है; तुम प्रसन्न होओ॥ १४॥

एते ह्यभिमुखाः सर्वे राधेयेन युयुत्सवः ।
आयान्ति पाण्डवा ब्रह्मन्नाह्वयन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥

ब्रह्मन् ! ये सामने राधापुत्र कर्णके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर समस्त पाण्डव-सैनिक सब ओरसे ललकारते आ रहे हैं॥

संजय उवाच

प्रसाद्यमानस्तु ततो राज्ञा द्रौणिर्महामनाः ।
प्रससाद महाराज क्रोधवेगसमन्वितः ॥ १६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! राजा दुर्योधनके मनानेपर क्रोधके वेगसे युक्त महामना अश्वत्थामा शान्त एवं प्रसन्न हो गया ॥ १६ ॥

ततः कृपोऽप्युवाचेदमाचार्यः सुमहामनाः ।
सौम्यस्वभावाद् राजेन्द्र क्षिप्रमागतमार्दवः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् सौम्य स्वभावके कारण शीघ्र ही मृदुता आ जानेसे महामना कृपाचार्य भी शान्त हो गये और इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

कृप उवाच

तवैतत् क्षम्यतेऽस्माभिः सूतात्मज सुदुर्मते ।
दर्पमुत्सिक्तमेतत् ते फाल्गुनो नाशयिष्यति ॥१८॥

कृपाचार्यने कहा—दुर्बुद्धि सूतपुत्र ! हमलोग तो तेरे इस अपराधको क्षमा कर देते हैं; परंतु अर्जुन तेरे इस बढ़े हुए घमंडका अवश्य नाश करेंगे ॥ १८ ॥

संजय उवाच

ततस्ते पाण्डवा राजन् पञ्चालाश्च यशस्विनः ।
आजग्मुः सहिताः कर्णं तर्जयन्तः समन्ततः ॥ १९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे यशस्वी पाण्डव और पाञ्चाल एक साथ होकर गर्जन-तर्जन करते हुए चारों ओरसे कर्णपर चढ़ आये ॥ १९ ॥

कर्णोऽपि रथिनां श्रेष्ठश्चापमुद्यम्य वीर्यवान् ।
कौरवाग्र्यैः परिवृतः शक्रो देवगणैरिव ॥ २० ॥
पर्यतिष्ठत तेजस्वी स्वबाहुबलमाश्रितः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ, पराक्रमी एवं तेजस्वी वीर कर्ण भी देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रके समान प्रधान कौरव वीरोंसे घिरकर अपने बाहुबलका भरोसा करके धनुष उठाकर युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥२०½॥

ततः प्रववृते युद्धं कर्णस्य सह पाण्डवैः ॥ २१ ॥
भीषणं सुमहाराज सिंहनादविराजितम् ।

महाराज ! तदनन्तर कर्णका पाण्डवोंके साथ भीषण युद्ध आरम्भ हुआ, जो सिंहनादसे सुशोभित हो रहा था ॥२१½॥

ततस्ते पाण्डवा राजन् पञ्चालाश्च यशस्विनः ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा कर्णं महाबाहुमुच्चैः शब्दमथानदन् ।

राजन् ! यशस्वी पाण्डव और पाञ्चालोंने महाबाहु कर्णको देखकर उच्चस्वरसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—।२२½।

अयं कर्णः कुतः कर्णस्तिष्ठ कर्ण महारणे ॥ २३ ॥
युध्यस्व सहितोऽस्माभिर्दुरात्मन् पुरुषाधम ।

'कहाँ कर्ण है ? यह कर्ण है । दुरात्मन् नराधम कर्ण ! इस महायुद्धमें खड़ा रह और हमारे साथ युद्ध कर' ॥२३½॥

अन्ये तु दृष्ट्वा राधेयं क्रोधरक्तेक्षणाऽब्रुवन् ॥ २४ ॥
हन्यतामयमुत्सिक्तः सूतपुत्रोऽल्पचेतनः ।
सर्वैः पार्थिवशार्दूलैर्नानेनार्थोऽस्ति जीवता ॥ २५ ॥
अत्यन्तवैरी पार्थानां सततं पापपूरुषः ।
एष मूलमनर्थानां दुर्योधनमते स्थितः ॥ २६ ॥
घ्नतैनमिति जल्पन्तः क्षत्रियाः समुपाद्रवन् ।
महता शरवर्षेण च्छादयन्तो महारथाः ॥ २७ ॥
वधार्थं सूतपुत्रस्य पाण्डवेयेन चोदिताः ।

दूसरे लोगोंने राधापुत्र कर्णको देखकर क्रोधसे लाल आँखें करके कहा—'समस्त श्रेष्ठ राजा मिलकर इस घमंडी और मूर्ख सूतपुत्रको मार डालें । इसके जीनेसे कोई लाभ नहीं है । यह पापात्मा पुरुष सदा कुन्तीकुमारोंके साथ अत्यन्त वैर रखता आया है । दुर्योधनकी रायमें रहकर यही सारे अनर्थोंकी जड़ बना हुआ है । अतः इसे मार डालो ।' ऐसा कहते हुए समस्त क्षत्रिय महारथी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे सूतपुत्रके वधके लिये प्रेरित हो बाणोंकी बड़ी भारी वर्षाद्वारा उसे आच्छादित करते हुए उसपर टूट पड़े ॥ २४–२७½ ॥

तांस्तु सर्वांस्तथा दृष्ट्वा धावमानान् महारथान् ॥ २८ ॥
न विव्यथे सूतपुत्रो न च त्रासमगच्छत ।

उन समस्त महारथियोंको इस प्रकार धावा करते देख सूतपुत्रके मनमें न तो व्यथा हुई और न त्रास ही हुआ ॥

दृष्ट्वा संहारकल्पं तमुद्भूतं सैन्यसागरम् ॥ २९ ॥
पिप्रीषुस्तव पुत्राणां संग्रामेष्वपराजितः ।
सायकौघेन बलवान् क्षिप्रकारी महाबलः ॥ ३० ॥
वारयामास तत् सैन्यं समन्ताद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! प्रलयकालके समान उस सैन्यसागरको उमड़ा हुआ देख संग्राममें पराजित न होनेवाले बलवान्, शीघ्रकारी और महान् शक्तिशाली कर्णने आपके पुत्रोंको प्रसन्न करनेकी इच्छासे बाण-समूहकी वर्षा करके सब ओरसे शत्रुओंकी उस सेनाको रोक दिया ॥ २९-३०½ ॥

ततस्तु शरवर्षेण पार्थिवास्तमवारयन् ॥ ३१ ॥
धनूंषि ते विधुन्वानाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अयोधयन्त राधेयं शक्रं दैत्यगणा इव ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सैकड़ों और सहस्रों नरेशोंने अपने धनुषोंको कम्पित करते हुए बाणोंकी वर्षासे कर्णकी भी प्रगति रोक दी । जैसे दैत्योंने इन्द्रके साथ संग्राम किया था, उसी प्रकार वे राजालोग राधापुत्र कर्णके साथ युद्ध करने लगे ॥

शरवर्षं तु तत् कर्णः पार्थिवैः समुदीरितम्।
शरवर्षेण महता समन्ताद् व्यकिरत् प्रभो ॥ ३३ ॥

प्रभो ! राजाओंद्वारा की हुई उस बाण-वर्षाको कर्णने बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि करके सब ओर बिखेर दिया ॥३३॥

तद् युद्धमभवत् तेषां कृतप्रतिकृतैषिणाम्।
यथा देवासुरे युद्धे शक्रस्य सह दानवैः ॥ ३४ ॥

जैसे देवासुर-संग्राममें दानवोंके साथ इन्द्रका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार घात-प्रतिघातकी इच्छावाले राजाओं तथा कर्णका वह युद्ध बड़ा भयंकर हो रहा था ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सूतपुत्रस्य लाघवम्।
यदेनं सर्वतो यत्ता नाप्नुवन्ति परे युधि ॥ ३५ ॥

वहाँ हमने सूतपुत्र कर्णकी अद्भुत फुर्ती देखी, जिससे सब ओरसे प्रयत्न करनेपर भी शत्रुपक्षीय योद्धा उस युद्ध-स्थलमें कर्णको काबूमें नहीं कर पा रहे थे ॥ ३५ ॥

निवार्य च शरौघांस्तान् पार्थिवानां महारथः।
युगेष्वीषासु च्छत्रेषु ध्वजेषु च हयेषु च ॥ ३६ ॥
आत्मनामाङ्कितान् घोरान् राधेयः प्राहिणोच्छरान्।

राजाओंके उन बाणसमूहोंका निवारण करके महारथी राधापुत्र कर्णने उनके रथके जूओं, ईषादण्डों, छत्रों, ध्वजाओं तथा घोड़ोंपर अपने नाम खुदे हुए भयंकर बाणोंका प्रहार किया ॥ ३६½ ॥

ततस्ते व्याकुलीभूता राजानः कर्णपीडिताः ॥ ३७ ॥
बभ्रमुस्तत्र तत्रैव गावः शीतार्दिता इव।

तत्पश्चात् कर्णके बाणोंसे पीड़ित और व्याकुल हुए राजा लोग सर्दीसे कष्ट पानेवाली गायोंके समान इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ३७½ ॥

हयानां वध्यमानानां गजानां रथिनां तथा ॥ ३८ ॥
तत्र तत्राभ्यवेक्षाम संघान् कर्णेन ताडितान्।

कर्णके बाणोंकी चोट खाकर मरनेवाले घोड़ों, हाथियों और रथियोंके झुंड-के-झुंड हमने वहाँ देखे थे ॥ ३८½ ॥

शिरोभिः पतितै राजन् बाहुभिश्च समन्ततः ॥ ३९ ॥
आस्तीर्णा वसुधा सर्वा शूराणामनिवर्तिनाम्।

राजन् ! युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीरोंके कट-कटकर गिरे हुए मस्तकों और भुजाओंसे वहाँकी सारी भूमि सब ओरसे पट गयी थी ॥ ३९½ ॥

हतैश्च हन्यमानैश्च निष्टनद्भिश्च सर्वशः ॥ ४० ॥
बभूवायोधनं रौद्रं वैवस्वतपुरोपमम्।

कुछ लोग मारे गये थे, कुछ मारे जा रहे थे और कुछ लोग सब ओर पीड़ासे कराह रहे थे। इससे वह युद्धस्थल यमपुरीके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥ ४०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामानमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह।

उस समय राजा दुर्योधनने कर्णका पराक्रम देख अश्वत्थामाके पास पहुँचकर यह बात कही—॥ ४१½ ॥

युध्यतेऽसौ रणे कर्णो दंशितः सर्वपार्थिवैः ॥ ४२ ॥
पश्यैतां द्रवतीं सेनां कर्णसायकपीडिताम्।
कार्तिकेयेन विध्वस्तामासुरीं पृतनामिव ॥ ४३ ॥

'रणभूमिमें वह कवचधारी कर्ण समस्त राजाओंके साथ अकेला ही युद्ध कर रहा है। देखो, कर्णके बाणोंसे पीड़ित हुई यह पाण्डव-सेना कार्तिकेयके द्वारा नष्ट की हुई असुरवाहिनी-के समान भागी जा रही है ॥ ४२-४३ ॥

दृष्ट्वैतां निर्जितां सेनां रणे कर्णेन धीमता।
अभियात्येष बीभत्सुः सूतपुत्रजिघांसया ॥ ४४ ॥

'बुद्धिमान् कर्णके द्वारा रणभूमिमें पराजित हुई इस सेना-को देखकर सूतपुत्रका वध करनेकी इच्छासे ये अर्जुन आगे बढ़े जा रहे हैं ॥ ४४ ॥

तद् यथा प्रेक्षमाणानां सूतपुत्रं महारथम्।
न हन्यात् पाण्डवः संख्ये तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ४५ ॥

'अतः हमलोगोंके देखते-देखते युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे भी महारथी सूतपुत्रको न मार सकें, वैसी नीतिसे काम लो' ॥ ४५ ॥

ततो द्रौणिः कृपः शल्यो हार्दिक्यश्च महारथः।
प्रत्युद्ययुस्तदा पार्थं सूतपुत्रपरीप्सया ॥ ४६ ॥
आयान्तं वीक्ष्य कौन्तेयं शक्रं दैत्यचमूमिव।

तब दैत्यसेनापर आक्रमण करनेवाले इन्द्रके समान अर्जुनको कौरवसेनाकी ओर आते देख अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य और महारथी कृतवर्मा सूतपुत्रकी रक्षा करनेकी इच्छासे अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ४६½ ॥

बीभत्सुरपि राजेन्द्र पञ्चालैरभिसंवृतः ॥ ४७ ॥
प्रत्युद्ययौ तदा कर्णं यथा वृत्रं शतक्रतुः।

राजेन्द्र ! उस समय वृत्रासुरपर चढ़ाई करनेवाले इन्द्रके समान पाञ्चालोंसे घिरे हुए अर्जुनने भी कर्णपर धावा किया ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संरब्धं फाल्गुनं दृष्ट्वा कालान्तकयमोपमम् ॥ ४८ ॥
कर्णो वैकर्तनः सूत प्रत्यपद्यत् किमुत्तरम्।

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत ! काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको देखकर वैकर्तन कर्णने उन्हें किस प्रकार उत्तर दिया ? (कैसे उनका सामना किया) ॥

यो ह्यस्पर्धत पार्थेन नित्यमेव महारथः ॥ ४९ ॥
आशंसते च बीभत्सुं युद्धे जेतुं सुदारुणम्।

महारथी कर्ण सदा ही अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता था और युद्धमें अत्यन्त भयंकर अर्जुनको पराजित करनेका विश्वास प्रकट करता था ॥ ४९½ ॥

स तु तं सहसा प्राप्तं नित्यमत्यन्तवैरिणम् ॥ ५० ॥
कर्णो वैकर्तनः सूत किमुत्तरमपद्यत ।

संजय ! उस समय अपने सदाके अत्यन्त वैरी अर्जुनको सहसा सामने पाकर सूर्यपुत्र कर्णने उन्हें किस प्रकार उत्तर देनेका निश्चय किया ? ॥ ५०½ ॥

संजय उवाच

आयान्तं पाण्डवं दृष्ट्वा गजं प्रतिगजो यथा ॥ ५१ ॥
असम्भ्रान्तो रणे कर्णः प्रत्युदीयाद् धनंजयम् ।

संजयने कहा—राजन् ! जैसे एक हाथीको आते देख दूसरा हाथी उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, उसी प्रकार पाण्डुपुत्र धनंजयको आते देख कर्ण बिना किसी घबराहटके युद्धमें उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ॥ ५१½ ॥

तमापतन्तं वेगेन वैकर्तनमजिह्मगैः ॥ ५२ ॥
छादयामास पार्थोऽथ कर्णस्तु विजयं शरैः ।

वेगसे आते हुए वैकर्तन कर्णको अर्जुनने अपने सीधे जानेवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया और कर्णने भी अर्जुनको अपने बाणोंसे ढक दिया ॥ ५२½ ॥

स कर्णं शरजालेन च्छादयामास पाण्डवः ॥ ५३ ॥
ततः कर्णः सुसंरब्धः शरैस्त्रिभिरविध्यत ।

पाण्डुपुत्र अर्जुनने पुनः अपने बाणोंके जालसे कर्णको आच्छादित कर दिया । तब क्रोधमें भरे हुए कर्णने तीन बाणोंसे अर्जुनको बींध डाला ॥ ५३½ ॥

तस्य तल्लाघवं पार्थो नामृष्यत महाबलः ॥ ५४ ॥
तस्मै बाणाञ्छिलाधौतान् प्रसन्नाग्रानजिह्मगान् ।
प्राहिणोत् सूतपुत्राय त्रिशतं शत्रुतापनः ॥ ५५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबली अर्जुन कर्णकी इस फुर्तीको न सह सके । उन्होंने सूतपुत्र कर्णको शिलापर तेज किये हुए स्वच्छ अग्रभागवाले तीन सौ बाण मारे ॥५४-५५॥

विव्याध चैनं संरब्धो बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
सव्ये भुजाग्रे बलवान् नाराचेन हसन्निव ॥ ५६ ॥

इसके सिवा कुपित हुए पराक्रमी एवं बलवान् अर्जुनने हँसते हुए-से एक नाराच नामक बाणके द्वारा कर्णकी बायीं भुजाके अग्रभागमें चोट पहुँचायी ॥ ५६ ॥

तस्य विद्धस्य बाणेन कराच्चापं पपात ह ।
पुनरादाय तच्चापं निमेषार्धान्महाबलः ॥ ५७ ॥
छादयामास बाणौघैः फाल्गुनं कृतहस्तवत् ।

उस बाणसे घायल हुए कर्णके हाथसे धनुष छूटकर गिर पड़ा । फिर आधे निमेषमें ही उस महाबली वीरने पुनः वह धनुष लेकर सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति बाण-समूहोंकी वर्षा करके अर्जुनको ढक दिया ॥ ५७½ ॥

शरवृष्टिं तु तां मुक्तां सूतपुत्रेण भारत ॥ ५८ ॥
व्यधमच्छरवर्षेण स्मयन्निव धनंजयः ।

भारत ! सूतपुत्रद्वारा की हुई उस बाण-वर्षाको अर्जुनने मुसकराते हुए-से बाणोंकी वृष्टि करके नष्ट कर दिया ॥५८½॥

तौ परस्परमासाद्य शरवर्षेण पार्थिव ॥ ५९ ॥
छादयेतां महेष्वासौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

राजन् ! वे दोनों महाधनुर्धर वीर आघातका प्रतिघात करनेकी इच्छासे परस्पर बाणोंकी वर्षा करके एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ ५९½ ॥

तदद्भुतं महद् युद्धं कर्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ ६० ॥
क्रुद्धयोर्वाशिताहेतोर्वन्ययोर्गजयोरिव ।

जैसे दो जंगली हाथी किसी हथिनीके लिये क्रोधपूर्वक लड़ रहे हों, उसी प्रकार उस युद्धस्थलमें कर्ण और अर्जुनका वह संग्राम महान् एवं अद्भुत था ॥ ६०½ ॥

ततः पार्थो महेष्वासो दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ॥ ६१ ॥
मुष्टिदेशे धनुस्तस्य चिच्छेद त्वरयान्वितः ।

तदनन्तर महाधनुर्धर अर्जुनने कर्णका पराक्रम देखकर उसके धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे शीघ्रतापूर्वक काट दिया॥

अश्वांश्च चतुरो भल्लैरनयद् यमसादनम् ॥ ६२ ॥
सारथेश्च शिरः कायादहरच्छत्रुतापनः ।

साथ ही उसके चारों घोड़ोंको चार भल्लोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया । फिर शत्रुसंतापी अर्जुनने उसके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ६२½ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं हताश्वं हतसारथिम् ॥ ६३ ॥
विव्याध सायकैः पार्थश्चतुर्भिः पाण्डुनन्दनः ।

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथिके मारे जानेपर कर्णको पाण्डुनन्दन अर्जुनने चार बाणोंद्वारा घायल कर दिया॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य नरर्षभः ॥ ६४ ॥
आरुरोह रथं तूर्णं कृपस्य शरपीडितः ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथसे तुरंत ही उतरकर बाणपीड़ित कर्ण शीघ्रतापूर्वक कृपाचार्यके रथपर चढ़ गया ॥

स नुन्नोऽर्जुनबाणौघैराचितः शल्यको यथा ॥ ६५ ॥
जीवितार्थमभिप्रेप्सुः कृपस्य रथमारुहत् ।

अर्जुनके बाण-समूहोंसे पीड़ित और व्याप्त होकर वह काँटोंसे भरे हुए साहीके समान जान पड़ता था । अपने प्राण बचानेके लिये कर्ण कृपाचार्यके रथपर जा बैठा था।६५½।

राधेयं निर्जितं दृष्ट्वा तावका भरतर्षभ ॥ ६६ ॥
धनंजयशरैर्नुन्नाः प्राद्रवन्त दिशो दश ।

भरतश्रेष्ठ ! राधापुत्र कर्णको पराजित हुआ देख आपके सैनिक अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो दसों दिशाओंमें भाग चले॥

द्रवतस्तान् समालोक्य राजा दुर्योधनो नृप ॥ ६७ ॥
निवर्तयामास तदा वाक्यमेतदुवाच ह ।

नरेश्वर ! उन्हें भागते देख राजा दुर्योधनने लौटाया और उस समय उनसे यह बात कही—॥ ६७½ ॥

अलं द्रुतेन वः शूरास्तिष्ठध्वं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६८ ॥
एष पार्थवधायाहं स्वयं गच्छामि संयुगे ।
अहं पार्थान् हनिष्यामि सपञ्चालान् ससोमकान्॥ ६९॥

'क्षत्रियशिरोमणि शूरवीरो ! ठहरो, तुम्हारे भागनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । मैं स्वयं अभी अर्जुनका वध करनेके लिये युद्धभूमिमें चलता हूँ । मैं पाञ्चालों और सोमकोंसहित कुन्तीकुमारोंका वध करूँगा ॥ ६८-६९ ॥

अद्य मे युध्यमानस्य सह गाण्डीवधन्वना ।
द्रक्ष्यन्ति विक्रमं पार्थाः कालस्येव युगक्षये ॥ ७० ॥

'आज गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ युद्ध करते समय कुन्तीके सभी पुत्र प्रलयकालमें कालके समान मेरा पराक्रम देखेंगे ॥ ७० ॥

अद्य मद्बाणजालानि विमुक्तानि सहस्रशः ।
द्रक्ष्यन्ति समरे योधाः शलभानामिवायतीः ॥ ७१ ॥

'आज समराङ्गणमें सहस्रों योद्धा मेरे छोड़े हुए हजारों बाणसमूहोंको शलभोंकी पंक्तियोंके समान देखेंगे ॥ ७१ ॥

अद्य बाणमयं वर्षं सृजतो मम धन्विनः ।
जीमूतस्येव घर्मान्ते द्रक्ष्यन्ति युधि सैनिकाः ॥ ७२ ॥

'जैसे वर्षाकालमें मेघ जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार धनुष हाथमें लेकर मेरेद्वारा की हुई बाणमयी वर्षाको आज युद्धस्थलमें समस्त सैनिक देखेंगे ॥ ७२ ॥

जेष्याम्यद्य रणे पार्थं सायकैर्नतपर्वभिः ।
तिष्ठध्वं समरे शूरा भयं त्यजत फाल्गुनात् ॥ ७३ ॥

'आज रणभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा मैं अर्जुनको जीत लूँगा । शूरवीरो ! तुम समरभूमिमें डटे रहो और अर्जुनसे भय छोड़ दो ॥ ७३ ॥

न हि मद्वीर्यमासाद्य फाल्गुनः प्रसहिष्यति ।
यथा वेलां समासाद्य सागरो मकरालयः ॥ ७४ ॥

'जैसे समुद्र तटभूमितक पहुँचकर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे समीप आकर मेरा पराक्रम नहीं सह सकेंगे' ॥ ७४ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सैन्येन महता वृतः ।
फाल्गुनं प्रति दुर्धर्षः क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ ७५ ॥

ऐसा कहकर दुर्धर्ष राजा दुर्योधनने क्रोधसे लाल आँखें करके विशाल सेनाके साथ अर्जुनपर आक्रमण किया ॥७५॥

तं प्रयान्तं महाबाहुं दृष्ट्वा शारद्वतस्तदा ।
अश्वत्थामानमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ७६ ॥

महाबाहु दुर्योधनको अर्जुनके सामने जाते देख शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उस समय अश्वत्थामाके पास जाकर यह बात कही—॥ ७६ ॥

एष राजा महाबाहुरमर्षी क्रोधमूर्च्छितः ।
पतङ्गवृत्तिमास्थाय फाल्गुनं योद्धुमिच्छति ॥ ७७ ॥

'यह अमर्षशील महाबाहु राजा दुर्योधन क्रोधसे अपनी सुधबुध खो बैठा है और पतंगोंकी वृत्तिका आश्रय ले अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है ॥ ७७ ॥

यावन्नः पश्यमानानां प्राणान् पार्थेन संगतः ।
न जह्यात् पुरुषव्याघ्रस्तावद् वारय कौरवम् ॥ ७८ ॥

'यह पुरुषसिंह नरेश अर्जुनसे भिड़कर हमारे देखते-देखते जबतक अपने प्राणोंको त्याग न दे, उसके पहले ही तुम जाकर उस कुरुवंशी राजाको रोको ॥ ७८ ॥

यावत् फाल्गुनबाणानां गोचरं नाद्य गच्छति ।
कौरवः पार्थिवो वीरस्तावद् वारय संयुगे ॥ ७९ ॥

'यह कौरववंशका वीर भूपाल आज जबतक अर्जुनके बाणोंकी पहुँचके भीतर नहीं जाता है, तभीतक इसे रोक दो॥

यावत् पार्थशरैर्घोरैर्निर्मुक्तोरगसंनिभैः ।
न भस्मीक्रियते राजा तावद् युद्धान्निवार्यताम् ॥ ८० ॥

'केंचुलसे छूटे हुए सर्पोंके समान अर्जुनके भयंकर बाणोंद्वारा जबतक राजा दुर्योधन भस्म नहीं कर दिया जाता है, तबतक ही उसे युद्धसे रोक दो ॥ ८० ॥

अयुक्तमिव पश्यामि तिष्ठत्स्वस्मासु मानद ।
स्वयं युद्धाय यद् राजा पार्थं यात्यसहायवान्॥ ८१ ॥

'मानद ! यह मुझे अनुचित-सा दिखायी देता है कि हमलोगोंके रहते हुए स्वयं राजा दुर्योधन बिना किसी सहायकके अर्जुनके साथ युद्धके लिये जाय ॥ ८१ ॥

दुर्लभं जीवितं मन्ये कौरव्यस्य किरीटिना ।
युध्यमानस्य पार्थेन शार्दूलेनेव हस्तिनः ॥ ८२ ॥

'जैसे सिंहके साथ हाथी युद्ध करे तो उसका जीवित रहना असम्भव हो जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ युद्धमें प्रवृत्त होनेपर कुरुवंशी दुर्योधनके जीवनको मैं दुर्लभ ही मानता हूँ' ॥ ८२ ॥

मातुलेनैवमुक्तस्तु द्रौणिः शस्त्रभृतां वरः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं त्वरितः समभाषत ॥ ८३ ॥

मामाके ऐसा कहनेपर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणकुमार अश्वत्थामाने तुरंत ही दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥

मयि जीवति गान्धारे न युद्धं गन्तुमर्हसि ।
मामनादृत्य कौरव्य तव नित्यं हितैषिणम् ॥ ८४ ॥

'गान्धारीनन्दन ! कुरुकुलरत्न ! मैं सदा तुम्हारा हित चाहनेवाला हूँ । तुम मेरे जीते-जी मेरा अनादर करके स्वयं युद्धमें न जाओ ॥ ८४ ॥

न हि ते सम्भ्रमः कार्यः पार्थस्य विजयं प्रति ।
अहमावारयिष्यामि पार्थं तिष्ठ सुयोधन ॥ ८५ ॥

'सुयोधन ! अर्जुनपर विजय पानेके सम्बन्धमें तुम्हें किसी प्रकार संदेह नहीं करना चाहिये । तुम खड़े रहो । मैं अर्जुनको रोकूँगा' ॥ ८५ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्यः पाण्डुपुत्रान् वै पुत्रवत् परिरक्षति ।
त्वमप्युपेक्षां कुरुषे तेषु नित्यं द्विजोत्तम ॥ ८६ ॥

दुर्योधन बोला—द्विजश्रेष्ठ ! हमारे आचार्य तो अपने पुत्रकी भाँति पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं और तुम भी सदा उनकी उपेक्षा ही करते हो ॥ ८६ ॥

मम वा मन्दभाग्यत्वान्मन्दस्ते विक्रमो युधि ।
धर्मराजप्रियार्थं वा द्रौपद्या वा न विद्म तत् ॥ ८७ ॥

अथवा मेरे दुर्भाग्यसे युद्धमें तुम्हारा पराक्रम मन्द पड़ गया है । तुम धर्मराज युधिष्ठिर अथवा द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये ऐसा करते हो, इसका मुझे पता नहीं है॥८७॥

धिगस्तु मम लुब्धस्य यत्कृते सर्वबान्धवाः ।
सुखार्हाः परमं दुःखं प्राप्नुवन्त्यपराजिताः ॥ ८८ ॥

मुझ लोभीको धिक्कार है, जिसके कारण किसीसे पराजित न होनेवाले और सुख भोगनेके योग्य मेरे सभी भाई-बन्धु महान् दुःख उठा रहे हैं ॥ ८८ ॥

को हि शस्त्रविदां मुख्यो महेश्वरसमो युधि ।
शत्रुं न क्षपयेच्छक्तो यो न स्याद् गौतमीसुतः ॥ ८९ ॥

कृपीकुमार अश्वत्थामाके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो शस्त्रवेत्ताओंमें प्रधान, महादेवजीके समान पराक्रमी तथा शक्तिशाली होकर भी युद्धमें शत्रुका संहार नहीं करेगा॥८९॥

अश्वत्थामन् प्रसीदस्व नाशयैतान् ममाहितान् ।
तवास्त्रगोचरे शक्ताः स्थातुं देवा न दानवाः ॥ ९० ॥

अश्वत्थामन् ! प्रसन्न होओ । मेरे इन शत्रुओंका नाश करो । तुम्हारे अस्त्रोंके मार्गमें देवता और दानव भी नहीं ठहर सकते हैं ॥ ९० ॥

पञ्चालान् सोमकांश्चैव जहि द्रौणे सहानुगान् ।
वयं शेषान् हनिष्यामस्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ ९१ ॥

द्रोणकुमार ! तुम अनुगामियोंसहित पाञ्चालों और सोमकोंको मार डालो; फिर तुमसे ही सुरक्षित हो हमलोग अपने शेष शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ॥ ९१ ॥

एते हि सोमका विप्र पञ्चालाश्च यशस्विनः ।
मम सैन्येषु संक्रुद्धा विचरन्ति दवाग्निवत् ॥ ९२ ॥
तान् वारय महाबाहो केकयांश्च नरोत्तम ।
पुरा कुर्वन्ति निःशेषं रक्ष्यमाणाः किरीटिना ॥ ९३ ॥

विप्रवर ! ये यशस्वी पाञ्चाल और सोमक क्रोधमें भरकर दावानलके समान मेरी सेनाओंमें विचर रहे हैं । इन्हींके साथ केकय भी हैं । महाबाहो ! नरश्रेष्ठ ! वे किरीटधारी अर्जुनसे सुरक्षित हो मेरी सेनाका सर्वनाश न कर डालें । अतः पहले ही उन्हें रोको ॥ ९२–९३ ॥

अश्वत्थामंस्त्वरायुक्तो याहि शीघ्रमरिंदम ।
आदौ वा यदि वा पश्चात् तवेदं कर्म मारिष ॥ ९४ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले माननीय भाई अश्वत्थामा ! तुम शीघ्र ही जाओ । पहले करो या पीछे; यह कार्य तुम्हारे ही वशका है ॥ ९४ ॥

त्वमुत्पन्नो महाबाहो पञ्चालानां वधं प्रति ।
करिष्यसि जगत् सर्वमपाञ्चालं किलोद्यतः ॥ ९५ ॥

महाबाहो ! तुम पाञ्चालोंका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुए हो । यदि तुम तैयार हो जाओ तो निश्चय ही सारे जगत्को पाञ्चालोंसे शून्य कर दोगे ॥ ९५ ॥

एवं सिद्धाऽब्रुवन् वाचो भविष्यति च तत् तथा ।
तस्मात्त्वं पुरुषव्याघ्र पञ्चालाञ्जहि सानुगान् ॥ ९६ ॥

पुरुषसिंह ! सिद्ध पुरुषोंने तुम्हारे विषयमें ऐसी ही बातें कही हैं । वे उसी रूपमें सत्य होंगी । अतः तुम सेवकोंसहित पाञ्चालोंका वध करो ॥ ९६ ॥

न तेऽस्त्रगोचरे शक्ताः स्थातुं देवाः सवासवाः ।
किमु पार्थाः सपाञ्चालाः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ ९७ ॥

मैं तुमसे यह सच कहता हूँ कि तुम्हारे बाणोंके मार्गमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं ठहर सकते; फिर कुन्तीके पुत्रों और पाञ्चालोंकी तो बिसात ही क्या है ? ॥ ९७ ॥

न त्वां समर्थाः संग्रामे पाण्डवाः सह सोमकैः ।
बलाद् योधयितुं वीर सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९८ ॥

वीर ! सोमकोंसहित पाण्डव संग्राममें तुम्हारे साथ बलपूर्वक युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं । यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ९८ ॥

गच्छ गच्छ महाबाहो न नः कालात्ययो भवेत् ।
इयं हि द्रवते सेना पार्थसायकपीडिता ॥ ९९ ॥

महाबाहो ! जाओ, जाओ । हमारे इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये । देखो, अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होकर यह सेना भागी जा रही है ॥ ९९ ॥

शक्तो ह्यसि महाबाहो दिव्येन स्वेन तेजसा ।
निग्रहे पाण्डुपुत्राणां पञ्चालानां च मानद ॥१००॥

दूसरोंको मान देनेवाले महाबाहु वीर ! तुम अपने दिव्य तेजसे पाञ्चालों और पाण्डवोंका निग्रह करनेमें समर्थ हो ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे दुर्योधनवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें दुर्योधनका वचनविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्वत्थामाका दुर्योधनको उपालम्भपूर्ण आश्वासन देकर पाञ्चालोंके साथ युद्ध करते हुए धृष्टद्युम्नके रथसहित सारथिको नष्ट करके उसकी सेनाको भगाकर अद्भुत पराक्रम दिखाना

संजय उवाच

दुर्योधनेनैवमुक्तो द्रौणिराहवदुर्मदः।
चकारारिवधे यत्नमिन्द्रो दैत्यवधे यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर रणदुर्मद अश्वत्थामाने उसी प्रकार शत्रुवधके लिये प्रयत्न आरम्भ किया, जैसे इन्द्र दैत्यवधके लिये यत्न करते हैं॥१॥

प्रत्युवाच महाबाहुस्तव पुत्रमिदं वचः।
सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि कौरव ॥ २ ॥

उस समय महाबाहु अश्वत्थामाने आपके पुत्रसे यह वचन कहा—'महाबाहु कौरवनन्दन! तुम जैसा कहते हो, यही ठीक है ॥ २ ॥

प्रिया हि पाण्डवा नित्यं मम चापि पितुश्च मे।
तथैवावां प्रियौ तेषां न तु युद्धे कुरूद्वह ॥ ३ ॥

'कुरुश्रेष्ठ! पाण्डव मुझे तथा मेरे पिताजीको भी बहुत प्रिय हैं। इसी प्रकार उनको भी हम दोनों पिता-पुत्र प्रिय हैं, किंतु युद्धस्थलमें हमारा यह भाव नहीं रहता ॥ ३ ॥

शक्तितस्तात युध्यामस्त्यक्त्वा प्राणानभीतवत्।
अहं कर्णश्च शल्यश्च कृपो हार्दिक्य एव च।
निमेषात् पाण्डवीं सेनां क्षपयेम नृपोत्तम ॥ ४ ॥

'तात! हम अपने प्राणोंका मोह छोड़कर निर्भय-से होकर यथाशक्ति युद्ध करते हैं। नृपश्रेष्ठ! मैं, कर्ण, शल्य, कृप और कृतवर्मा पलक मारते-मारते पाण्डव-सेनाका संहार कर सकते हैं ॥ ४ ॥

ते चापि कौरवीं सेनां निमेषार्धात् कुरूद्वह।
क्षपयेयुर्महाबाहो न स्याम यदि संयुगे ॥ ५ ॥

'महाबाहु कुरुश्रेष्ठ! यदि युद्धस्थलमें हमलोग न रहें, तो पाण्डव भी आधे निमेषमें ही कौरव-सेनाका संहार कर सकते हैं ॥ ५ ॥

युध्यतां पाण्डवाञ्छक्त्या तेषां चास्मान् युयुत्सताम्।
तेजस्तेजः समासाद्य प्रशमं याति भारत ॥ ६ ॥

'हम यथाशक्ति पाण्डवोंसे युद्ध करते हैं और वे हमलोगोंसे युद्ध करना चाहते हैं। भारत! इस प्रकार हमारा तेज परस्पर एक दूसरेसे टकराकर शान्त हो जाता है ॥६॥

अशक्या तरसा जेतुं पाण्डवानामनीकिनी।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु तद्धि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'राजन्! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि पाण्डवोंके जीते-जी उनकी सेनाको बलपूर्वक जीतना असम्भव है ॥ ७ ॥

आत्मार्थं युध्यमानास्ते समर्थाः पाण्डुनन्दनाः।
किमर्थं तव सैन्यानि न हनिष्यन्ति भारत ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन! पाण्डव शक्तिशाली हैं और अपने लिये युद्ध करते हैं, फिर वे किस लिये तुम्हारी सेनाओंका संहार नहीं करेंगे? ॥ ८ ॥

त्वं तु लुब्धतमो राजन् निकृतिज्ञश्च कौरव।
सर्वाभिशङ्की मानी च ततोऽस्मानभिशङ्कसे ॥ ९ ॥

'कौरवनरेश! तुम तो लोभी और छल-कपटकी विद्याको जाननेवाले हो। सबपर संदेह करनेवाले और अभिमानी हो; इसीलिये हमलोगोंपर भी शङ्का करते हो ॥ ९ ॥

मन्ये त्वं कुत्सितो राजन् पापात्मा पापपूरुषः।
अन्यानपि स नः क्षुद्र शङ्कसे पापभावितः ॥ १० ॥

'राजन्! मेरी मान्यता है कि तुम निन्दित, पापात्मा एवं पापपुरुष हो।' क्षुद्र नरेश! तुम्हारा अन्तःकरण पाप-भावनासे ही पूर्ण है, इसीलिये तुम हमपर तथा दूसरोंपर भी संदेह करते हो ॥ १० ॥

अहं तु यत्नमास्थाय त्वदर्थे त्यक्तजीवितः।
एष गच्छामि संग्रामं त्वत्कृते कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

'कुरुनन्दन! मैं अभी तुम्हारे लिये जीवनका मोह छोड़कर पूरा प्रयत्न करके संग्राम-भूमिमें जा रहा हूँ ॥ ११ ॥

योत्स्येऽहं शत्रुभिः सार्धं जेष्यामि च वरान् वरान्।
पञ्चालैः सह योत्स्यामि सोमकैः केकयैस्तथा ॥ १२ ॥
पाण्डवेयैश्च संग्रामे त्वत्प्रियार्थमरिंदम।

'शत्रुदमन! मैं शत्रुओंके साथ युद्ध करूँगा और उनके प्रधान-प्रधान वीरोंपर विजय पाऊँगा। संग्रामभूमिमें तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं पाञ्चालों, सोमकों, केकयों तथा पाण्डवोंके साथ भी युद्ध करूँगा ॥ १२½ ॥

अद्य मद्बाणनिर्दग्धाः पञ्चालाः सोमकास्तथा ॥ १३ ॥
सिंहेनेवार्दिता गावो विद्रविष्यन्ति सर्वशः।

'आज पाञ्चाल और सोमक योद्धा मेरे बाणोंसे दग्ध होकर सिंहसे पीड़ित हुई गौओंके समान सब ओर भाग जायँगे ॥ १३½ ॥

अद्य धर्मसुतो राजा दृष्ट्वा मम पराक्रमम् ॥ १४ ॥
अश्वत्थाममयं लोकं मंस्यते सह सोमकैः।

'आज सोमकोसहित धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर मेरा पराक्रम देखकर सम्पूर्ण जगत्‌को अश्वत्थामासे भरा हुआ मानेंगे ॥ १४½ ॥

आगमिष्यति निर्वेदं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
दृष्ट्वा विनिहतान् संख्ये पञ्चालान् सोमकैः सह।

'सोमकोंसहित पाञ्चालोंको युद्धमें मारा गया देख आज धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें बड़ा निर्वेद (खेद एवं वैराग्य) होगा ॥ १५½ ॥

ये मां युद्धेऽभियोत्स्यन्ति तान् हनिष्यामि भारत ॥ १६ ॥
न हि ते वीर मोक्ष्यन्ते मद्बाह्वन्तरमागताः ।

'भारत ! जो लोग रणभूमिमें मेरे साथ युद्ध करेंगे, उन्हें मैं मार डालूँगा । वीर ! मेरी भुजाओंके भीतर आकर शत्रुसैनिक जीवित नहीं छूट सकेंगे' ॥ १६½ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः पुत्रं दुर्योधनं तव ॥ १७ ॥
अभ्यवर्तत युद्धाय त्रासयन् सर्वधन्विनः ।
चिकीर्षुस्तव पुत्राणां प्रियं प्राणभृतां वरः ॥ १८ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु अश्वत्थामा समस्त धनुर्धरोंको त्रास देता हुआ युद्धके लिये शत्रुओंके सामने डट गया । प्राणियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा आपके पुत्रोंका प्रिय करना चाहता था ॥ १७–१८ ॥

ततोऽब्रवीत् सकैकेयान् पञ्चालान् गौतमीसुतः ।
प्रहरध्वमितः सर्वे मम गात्रे महारथाः ॥ १९ ॥
स्थिरीभूताश्च युद्ध्यध्वं दर्शयन्तोऽस्त्रलाघवम् ।

तदनन्तर गौतमीनन्दन अश्वत्थामाने केकयोंसहित पाञ्चालोंसे कहा—'महारथियो ! अब सब लोग मिलकर मेरे शरीरपर प्रहार करो और अपनी अस्त्र-संचालनकी फुर्ती दिखाते हुए सुस्थिर होकर युद्ध करो' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे शस्त्रवृष्टीरपातयन् ॥ २० ॥
द्रौणिं प्रति महाराज जलं जलधरा इव ।

महाराज ! अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर वे सभी वीर उसके ऊपर उसी प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर पानी बरसाते हैं ॥ २०½ ॥

तान् निहत्य शरान्द्रौणिर्दश वीरानपोथयत् ॥ २१ ॥
प्रमुखे पाण्डुपुत्राणां धृष्टद्युम्नस्य च प्रभो ।

प्रभो ! द्रोणकुमारने उनके उन बाणोंको नष्ट करके उनमेंसे दस वीरोंको पाण्डवों और धृष्टद्युम्नके सामने ही मार गिराया ॥ २१½ ॥

ते हन्यमानाः समरे पञ्चालाः सोमकास्तथा ॥ २२ ॥
परित्यज्य रणे द्रौणिं व्यद्रवन्त दिशो दश ।

समराङ्गणमें मारे जाते हुए पाञ्चाल और सोमक द्रोण-पुत्र अश्वत्थामाको छोड़कर दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ २२½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः शूरान् पञ्चालान् सहसोमकान् ॥ २३ ॥
धृष्टद्युम्नो महाराज द्रौणिमभ्यद्रवद् रणे ।

महाराज ! शूरवीर पाञ्चालों और सोमकोंको भागते देख धृष्टद्युम्नने रणक्षेत्रमें अश्वत्थामापर धावा किया ॥ २३½ ॥

ततः काञ्चनचित्राणां सजलाम्बुदनादिनाम् ॥ २४ ॥
वृतः शतेन शूराणां रथानामनिवर्तिनाम् ।
पुत्रः पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ २५ ॥
द्रौणिमित्यब्रवीद् वाक्यं दृष्ट्वा योधान् निपातितान् ।

तदनन्तर सुवर्णचित्रित, सजल जलधरके समान गम्भीर घोष करनेवाले तथा युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले सौ रथों एवं शूरवीर रथियोंसे घिरे हुए पाञ्चालराज-कुमार महारथी धृष्टद्युम्नने अपने योद्धाओंको मारा गया देख द्रोणकुमार अश्वत्थामासे इस प्रकार कहा—॥ २४–२५½ ॥

आचार्यपुत्र दुर्बुद्धे किमन्यैर्निहतैस्तव ॥ २६ ॥
समागच्छ मया सार्धं यदि शूरोऽसि संयुगे ।
अहं त्वां निहनिष्यामि तिष्ठेदानीं ममाग्रतः ॥ २७ ॥

'खोटी बुद्धिवाले आचार्यपुत्र ! दूसरोंको मारनेसे तुम्हें क्या लाभ है ? यदि शूरमा हो तो रणक्षेत्रमें मेरे साथ भिड़ जाओ । इस समय मेरे सामने खड़े तो हो जाओ, मैं अभी तुम्हें मार डालूँगा' ॥ २६–२७ ॥

ततस्तमाचार्यसुतं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
मर्मभिद्भिः शरैस्तीक्ष्णैर्जघान भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर प्रतापी धृष्टद्युम्नने मर्मभेदी एवं पैने बाणोंद्वारा आचार्यपुत्रको घायल कर दिया ॥ २८ ॥

ते तु पङ्क्तीकृता द्रौणिं शरा विविशुराशुगाः ।
रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्राः सर्वकायावदारणाः ॥ २९ ॥
मध्वर्थिन इवोद्दामा भ्रमराः पुष्पितं द्रुमम् ।

सुवर्णमय पंख और स्वच्छ धारवाले, सबके शरीरोंको विदीर्ण करनेमें समर्थ वे शीघ्रगामी बाण श्रेणीबद्ध होकर अश्वत्थामाके शरीरमें वैसे ही घुस गये, जैसे मधुके लोभी उद्दाम भ्रमर फूले हुए वृक्षपर बैठ जाते हैं ॥ २९½ ॥

सोऽतिविद्धो भृशं क्रुद्धः पदाक्रान्त इवोरगः ॥ ३० ॥
मानी द्रौणिरसम्भ्रान्तो बाणपाणिरभाषत ।

उन बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर मानी द्रोणकुमार पैरोंसे कुचले गये सर्पके समान अत्यन्त कुपित हो उठा और हाथमें बाण लेकर संभ्रमरहित हो इस प्रकार बोला—॥ ३०½ ॥

धृष्टद्युम्न स्थिरो भूत्वा मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ ३१ ॥
यावत् त्वां निशितैर्बाणैः प्रेषयामि यमक्षयम् ।

'धृष्टद्युम्न ! स्थिर होकर दो घड़ी और प्रतीक्षा कर लो, तबतक मैं तुम्हें अपने पैने बाणोंद्वारा यमलोक भेज देता हूँ' ॥

द्रौणिरेवमथाभाष्य पार्षतं परवीरहा ॥ ३२ ॥
छादयामास बाणौघैः समन्ताल्लघुहस्तवत् ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अश्वत्थामाने ऐसा कहकर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले कुशल योद्धाकी भाँति अपने बाण-समूहोंद्वारा धृष्टद्युम्नको सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥

स बाध्यमानः समरे द्रौणिना युद्धदुर्मदः ॥ ३३ ॥

द्रौणिं पाञ्चालतनयो वाग्भिरातर्जयत् तदा ।

समराङ्गणमें अश्वत्थामाद्वारा पीडित होनेपर रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने उसे वाणीद्वारा डाँट बतायी और इस प्रकार कहा—॥ ३३½ ॥

न जानीषे प्रतिज्ञां मे विप्रोत्पत्तिं तथैव च ॥ ३४ ॥
द्रोणं हत्वा किल मया हन्तव्यस्त्वं सुदुर्मते ।

'दुर्बुद्धि ब्राह्मण ! क्या तू मेरी प्रतिज्ञा और उत्पत्तिका वृत्तान्त नहीं जानता ? निश्चय ही, मुझे पहले द्रोणाचार्यका वध करके फिर तेरा विनाश करना है ॥ ३४½ ॥

ततस्त्वाहं न हन्म्यद्य द्रोणे जीवति संयुगे ॥ ३५ ॥
इमां तु रजनीं प्राप्तामप्रभातां सुदुर्मते ।
निहत्य पितरं तेऽद्य ततस्त्वामपि संयुगे ॥ ३६ ॥
नेष्यामि प्रेतलोकाय ह्येतन्मे मनसि स्थितम् ।

'इसीलिये द्रोणके जीते-जी अभी युद्धस्थलमें तेरा वध नहीं कर रहा हूँ । दुर्मते ! इसी रातमें प्रभात होनेसे पहले आज तेरे पिताका वध करके फिर तुझे भी युद्धस्थलमें प्रेतलोकको भेज दूँगा । यही मेरे मनका निश्चित विचार है ॥

यस्ते पार्थेषु विद्वेषो या भक्तिः कौरवेषु च ॥ ३७ ॥
तां दर्शय स्थिरो भूत्वा न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।

'कुन्तीके पुत्रोंके प्रति जो तेरा द्वेषभाव और कौरवोंके प्रति जो भक्तिभाव है, उसे स्थिर होकर दिखा । तू जीते-जी मेरे हाथसे छुटकारा नहीं पा सकेगा ॥ ३७½ ॥

यो हि ब्राह्मण्यमुत्सृज्य क्षत्रधर्मरतो द्विजः ॥ ३८ ॥
स वध्यः सर्वलोकस्य यथा त्वं पुरुषाधमः ।

'जो ब्राह्मण ब्राह्मणत्वका परित्याग करके क्षत्रियधर्ममें तत्पर हो, जैसा कि मनुष्योंमें अधम तू है, वह सब लोगोंके लिये वध्य है' ॥ ३८½ ॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं पार्षतेन द्विजोत्तमः ॥ ३९ ॥
क्रोधमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

द्रुपदकुमारके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने कहा— 'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥३९½ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां पार्षतं सोऽभ्यवैक्षत ॥ ४० ॥
छादयामास च शरैर्निःश्वसन् पन्नगो यथा ।

उसने धृष्टद्युम्नकी ओर इस प्रकार देखा मानो अपने नेत्रोंके तेजसे उन्हें दग्ध कर डालेगा । साथ ही सर्पकी भाँति फुफकारते हुए अश्वत्थामाने उन्हें अपने बाणोंद्वारा ढक दिया ॥ ४०½ ॥

स च्छाद्यमानः समरे द्रौणिना राजसत्तम ॥ ४१ ॥
सर्वपाञ्चालसेनाभिः संवृतो रथसत्तमः ।
नाकम्पत महाबाहुः स्ववीर्यं समुपाश्रितः ॥ ४२ ॥
सायकांश्चैव विविधानश्वत्थाम्नि मुमोच ह ।

नृपश्रेष्ठ ! समराङ्गणमें अश्वत्थामाके द्वारा आच्छादित होनेपर भी समस्त पाञ्चालसेनाओंसे घिरे हुए महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न कम्पित नहीं हुए । उन्होंने अपने बल-पराक्रमका आश्रय लेकर अश्वत्थामापर नाना प्रकारके बाणोंका प्रहार किया ॥ ४१-४२½ ॥

तौ पुनः संन्यवर्तेतां प्राणद्यूतपणे रणे ॥ ४३ ॥
निपीडयन्तौ बाणौघैः परस्परममर्षिणौ ।
उत्सृजन्तौ महेष्वासौ शरवृष्टीः समन्ततः ॥ ४४ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर वीर अमर्षमें भरकर एक दूसरेपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा करते और उन बाणसमूहोंद्वारा परस्पर पीड़ा देते हुए प्राणोंकी बाजी लगाकर रणभूमिमें डटे रहे ॥ ४३-४४ ॥

द्रौणिपार्षतयोर्युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
दृष्ट्वा सम्पूजयामासुः सिद्धचारणवातिकाः ॥ ४५ ॥

अश्वत्थामा और धृष्टद्युम्नके उस घोर एवं भयानक युद्धको देखकर सिद्ध, चारण तथा वायुचारी गरुड़ आदिने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ४५ ॥

शरौघैः पूरयन्तौ तावाकाशं च दिशस्तथा ।
अलक्ष्यौ समयुध्येतां महत् कृत्वा शरैस्तमः ॥ ४६ ॥

वे दोनों अपने बाण-समूहोंसे आकाश और दिशाओंको भरते हुए उनके द्वारा महान् अन्धकारकी सृष्टि करके अलक्ष्य होकर युद्ध करते रहे ॥ ४६ ॥

नृत्यमानाविव रणे मण्डलीकृतकार्मुकौ ।
परस्परवधे यत्तौ सर्वभूतभयङ्करौ ॥ ४७ ॥

उस रणक्षेत्रमें धनुषको मण्डलाकार करके वे दोनों नृत्य-सा कर रहे थे । एक दूसरेके वधके लिये प्रयत्नशील होकर समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर बन गये थे ॥ ४७ ॥

अयुध्येतां महाबाहू चित्रं लघु च सुष्ठु च ।
सम्पूज्यमानौ समरे योधमुख्यैः सहस्रशः ॥ ४८ ॥

वे महाबाहु वीर समराङ्गणमें समस्त श्रेष्ठ योद्धाओंद्वारा हजारों बार प्रशंसित होते हुए शीघ्रतापूर्वक और सुन्दर ढंगसे विचित्र युद्ध कर रहे थे ॥ ४८ ॥

तौ प्रबुद्धौ रणे दृष्ट्वा वने वन्यौ गजाविव ।
उभयोः सेनयोर्हर्षस्तुमुलः समपद्यत ॥ ४९ ॥

वनमें लड़नेवाले दो जंगली हाथियोंके समान उन दोनोंको युद्धमें जागरूक देखकर दोनों सेनाओंमें तुमुल हर्षनाद छा गया ॥ ४९ ॥

सिंहनादरवाश्चासन् दध्मुः शङ्खांश्च सैनिकाः ।
वादित्राण्यभ्यवाद्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५० ॥

सब ओर सिंहनाद होने लगा। सैनिक शङ्खध्वनि करने लगे तथा सैकड़ों एवं सहस्रों प्रकारके रणवाद्य बजने लगे ॥ ५० ॥

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे भीरूणां भयवर्धने।
मुहूर्तमपि तद् युद्धं समरूपं तदाभवत् ॥ ५१ ॥

कायरोंका भय बढ़ानेवाले उस तुमुल संग्राममें दो घड़ीतक उन दोनोंका समान रूपसे युद्ध चलता रहा ॥५१॥

ततो द्रौणिर्महाराज पार्षतस्य महात्मनः।
ध्वजं धनुस्तथा छत्रमुभौ च पार्ष्णिसारथी ॥ ५२ ॥
सूतमश्वांश्च चतुरो निहत्याभ्यद्रवद् रणे।

महाराज ! तदनन्तर द्रोणकुमारने महामना धृष्टद्युम्नके ध्वज, धनुष, छत्र, दोनों पार्श्वरक्षक, सारथि तथा चारों घोड़ोंको नष्ट करके उस युद्धमें बड़े वेगसे धावा किया ॥

पञ्चालांश्चैव तान् सर्वान् बाणैः संनतपर्वभिः ॥ ५३ ॥
व्यद्रावयदमेयात्मा शतशोऽथ सहस्रशः।

अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अश्वत्थामाने झुकी हुई गाँठवाले सैकड़ों और सहस्रों बाणोंद्वारा उन समस्त पाञ्चालोंको दूर भगा दिया ॥ ५३½ ॥

ततस्तु विव्यथे सेना पाण्डवी भरतर्षभ ॥ ५४ ॥
दृष्ट्वा द्रौणेर्महत् कर्म वासवस्येव संयुगे।

भरतश्रेष्ठ ! युद्धस्थलमें इन्द्रके समान अश्वत्थामाके उस महान् कर्मको देखकर पाण्डवसेना व्यथित हो उठी ॥

शतेन च शतं हत्वा पञ्चालानां महारथः ॥ ५५ ॥
त्रिभिश्च निशितैर्बाणैर्हत्वा त्रीन् वै महारथान्।
द्रौणिर्द्रुपदपुत्रस्य फाल्गुनस्य च पश्यतः ॥ ५६ ॥
नाशयामास पञ्चालान् भूयिष्ठं ये व्यवस्थिताः।

महारथी द्रोणकुमारने पहले सौ बाणोंसे सौ पाञ्चाल योद्धाओंका वध करके फिर तीन पैने बाणोंद्वारा उनके तीन महारथियोंको भी मार गिराया और धृष्टद्युम्न तथा अर्जुनके देखते-देखते वहाँ जो बहुसंख्यक पाञ्चाल योद्धा खड़े थे, उन सबको नष्ट कर दिया ॥ ५५-५६½ ॥

ते वध्यमानाः पञ्चालाः समरे सह सृंजयैः ॥ ५७ ॥
अगच्छन् द्रौणिमुत्सृज्य विप्रकीर्णरथध्वजाः।

समरभूमिमें मारे जाते हुए पाञ्चाल और सृंजय सैनिक अश्वत्थामाको छोड़कर चल दिये, उनके रथ और ध्वज नष्ट-भ्रष्ट होकर बिखर गये थे ॥ ५७½ ॥

स जित्वा समरे शत्रून् द्रोणपुत्रो महारथः ॥ ५८ ॥
ननाद सुमहानादं तपान्ते जलदो यथा।

इस प्रकार रणभूमिमें शत्रुओंको जीतकर महारथी द्रोणपुत्र वर्षाकालके मेघके समान जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ५८½ ॥

स निहत्य बहूञ्छूरानश्वत्थामा व्यरोचत।
युगान्ते सर्वभूतानि भस्म कृत्वेव पावकः ॥ ५९ ॥

जैसे प्रलयकालमें अग्निदेव सम्पूर्ण भूतोंको भस्म करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार अश्वत्थामा वहाँ बहुसंख्यक शूर-वीरोंका वध करके सुशोभित हो रहा था ॥ ५९ ॥

सम्पूज्यमानो युधि कौरवेयै-
र्निर्जित्य संख्येऽरिगणान् सहस्रशः।
व्यरोचत द्रोणसुतः प्रतापवान्
यथा सुरेन्द्रोऽरिगणान् निहत्य वै ॥ ६० ॥

जैसे देवराज इन्द्र शत्रुओंका संहार करके सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा संग्राममें सहस्रों शत्रुसमूहोंको परास्त करके कौरवोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित होता हुआ बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धेऽश्वत्थामपराक्रमे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर अश्वत्थामाका पराक्रमविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनका आक्रमण और कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरश्चैव भीमसेनश्च पाण्डवः।
द्रोणपुत्रं महाराज समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और भीमसेनने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजेन संवृतः।
अभ्ययात् पाण्डवान् संख्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥
घोररूपं महाराज भीरूणां भयवर्धनम्।

यह देख द्रोणाचार्यकी सेनासे घिरे हुए राजा दुर्योधनने भी रणभूमिमें पाण्डवोंपर आक्रमण किया। महाराज ! फिर तो कायरोंका भय बढ़ानेवाला घोर युद्ध होने लगा ॥२½॥

अम्बष्ठान् मालवान् वङ्गाञ्छिबींस्त्रैगर्तकानपि ॥ ३ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय गणान् क्रुद्धो वृकोदरः।

क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने अम्बष्ठ, मालव, वंग, शिबि तथा त्रिगर्त देशके योद्धाओंको मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥

अभीषाहाञ्छूरसेनान् क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ॥ ४ ॥
निकृत्य पृथिवीं चक्रे भीमः शोणितकर्दमाम् ।

अभीषाह तथा शूरसेन देशके रणदुर्मद क्षत्रियोंको भी काट-काटकर भीमसेनने वहाँकी भूमिको खूनसे कीचड़मयी बना दिया ॥ ४½ ॥

यौधेयानद्रिजान् राजन् मद्रकान्मालवानपि ॥ ५ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय किरीटी निशितैः शरैः ।

राजन् ! इसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनने अपने पैने बाणोंद्वारा यौधेय, पर्वतीय, मद्रक तथा मालव योद्धाओं-को भी मृत्युके लोकका पथिक बना दिया ॥ ५½ ॥

प्रगाढमञ्जोगतिभिर्नाराचैरभिताडिताः ॥ ६ ॥
निपेतुर्द्विरदा भूमौ द्विशृङ्गा इव पर्वताः ।

अनायास ही दूरतक जानेवाले उनके नाराचोंकी गहरी चोट खाकर दो दाँतोंवाले हाथी दो शिखरोंवाले पर्वतोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ ६½ ॥

निकृत्तैर्हस्तिहस्तैश्च चेष्टमानैरितस्ततः ॥ ७ ॥
रराज वसुधाऽऽकीर्णा विसर्पद्भिरिवोरगैः ।

हाथियोंके शुण्डदण्ड कटकर इधर-उधर तड़पते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो सर्प चल रहे हों । उनके द्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ॥

क्षिप्तैः कनकचित्रैश्च नृपच्छत्रैः क्षितिर्बभौ ॥ ८ ॥
द्यौरिवादित्यचन्द्राद्यैर्ग्रहैः कीर्णा युगक्षये ।

प्रलयकालमें सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रहोंसे व्याप्त हुए द्युलोककी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार इधर-उधर फेंके पड़े हुए राजाओंके सुवर्णचित्रित छत्रोंद्वारा उस रणभूमिकी भी शोभा हो रही थी ॥ ८½ ॥

हत प्रहरताभीता विध्यत व्यवकृन्तत ॥ ९ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दः शोणाश्वस्य रथं प्रति ।

लाल घोड़ोंवाले द्रोणाचार्यके रथके समीप 'मार डालो, निर्भय होकर प्रहार करो, बाणोंसे बींध डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो' इत्यादि भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ ९½ ॥

द्रोणस्तु परमक्रुद्धो वायव्यास्त्रेण संयुगे ॥ १० ॥
व्यधमत् तान् महावायुर्मेघानिव दुरत्ययः ।

जैसे दुर्जय महावायु मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने वायव्यास्त्रके द्वारा युद्धमें समस्त शत्रुओंको तहस-नहस कर डाला ॥ १०½ ॥

ते हन्यमाना द्रोणेन पञ्चालाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ११ ॥
पश्यतो भीमसेनस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

द्रोणाचार्यकी मार खाकर भीमसेन और महात्मा अर्जुनके देखते-देखते पाञ्चाल सैनिक भयके मारे भागने लगे ॥

ततः किरीटी भीमश्च सहसा संन्यवर्तताम् ॥ १२ ॥
महता रथवंशेन परिगृह्य बलं महत् ।

तत्पश्चात् अर्जुन और भीमसेन विशाल रथसमूहसे युक्त भारी सेना साथ लेकर सहसा द्रोणाचार्यकी ओर लौट पड़े ॥

बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं तु वृकोदरः ॥ १३ ॥
भारद्वाजं शरौघाभ्यां महद्भ्यामभ्यवर्षताम् ।
तौ तथा सृंजयाश्चैव पञ्चालाश्च महौजसः ॥ १४ ॥
अन्वगच्छन् महाराज मत्स्यैश्च सह सोमकैः ।

अर्जुनने द्रोणाचार्यकी सेनापर दक्षिण पार्श्वसे और भीमसेनने बायें पार्श्वसे अपने बाणसमूहोंकी भारी वर्षा प्रारम्भ कर दी । महाराज ! उस समय महातेजस्वी पाञ्चालों, सृंजयों, मत्स्यों तथा सोमकोंने भी उन्हीं दोनोंके मार्गका अनुसरण किया ॥ १३-१४½ ॥

तथैव तव पुत्रस्य रथोदाराः प्रहारिणः ॥ १५ ॥
महत्या सेनया राजन् जग्मुर्द्रोणरथं प्रति ।

राजन् ! इसी प्रकार प्रहार करनेमें कुशल आपके पुत्रके श्रेष्ठ रथी भी विशाल सेनाके साथ द्रोणाचार्यके रथके समीप जा पहुँचे ॥ १५½ ॥

ततः सा भारती सेना हन्यमाना किरीटिना ॥ १६ ॥
तमसा निद्रया चैव पुनरेव व्यदीर्यत ।

उस समय किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मारी जाती हुई कौरवी सेना अन्धकार और निद्रा दोनोंसे पीड़ित हो पुनः भागने लगी ॥ १६½ ॥

द्रोणेन वार्यमाणास्ते स्वयं तव सुतेन च ॥ १७ ॥

नाशक्यन्त महाराज योधा वारयितुं तदा ।

महाराज ! द्रोणाचार्यने तथा स्वयं आपके पुत्रने भी उन्हें बहुतेरा रोका, तथापि उस समय आपके सैनिक रोके न जा सके ॥ १७½ ॥

सा पाण्डुपुत्रस्य शरैर्दीर्यमाणा महाचमूः ॥ १८ ॥
तमसा संवृते लोके व्यद्रवत् सर्वतोमुखी ।

पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण होती हुई वह विशाल सेना उस तिमिराच्छन्न जगत्में सब ओर भागने लगी ॥

उत्सृज्य शतशो वाहांस्तत्र केचिन्नराधिपाः ।
प्राद्रवन्त महाराज भयाविष्टाः समन्ततः ॥ १९ ॥

महाराज ! कुछ नरेश, जो सैकड़ोंकी संख्यामें थे, अपने वाहनोंको वहीं छोड़कर भयसे व्याकुल हो सब ओर भाग गये ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर संकुलयुद्धविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा सोमदत्तका वध, द्रोणाचार्य और युधिष्ठिरका युद्ध तथा भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यसे दूर रहनेका आदेश

संजय उवाच

सोमदत्तं तु सम्प्रेक्ष्य विधुन्वानं महद् धनुः ।
सात्यकिः प्राह यन्तारं सोमदत्ताय मां वह ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सोमदत्तको अपना विशाल धनुष हिलाते देख सात्यकिने अपने सारथिसे कहा—'मुझे सोमदत्तके पास ले चलो ॥ १ ॥

न ह्यहत्वा रणे शत्रुं सोमदत्तं महाबलम् ।
निवर्तिष्ये रणात् सूत सत्यमेतद् वचो मम ॥ २ ॥

'सूत ! आज मैं रणभूमिमें अपने महाबली शत्रु सोमदत्तका वध किये बिना वहाँसे पीछे नहीं लौटूँगा । मेरी यह बात सत्य है' ॥ २ ॥

ततः सम्प्रैषयद् यन्ता सैन्धवांस्तान् मनोजवान् ।
तुरङ्गमाञ्छङ्खवर्णान् सर्वशब्दातिगान् रणे ॥ ३ ॥

तब सारथिने शङ्खके समान श्वेत वर्णवाले तथा सम्पूर्ण शब्दोंका अतिक्रमण करनेवाले मनके समान वेगशाली सिंधी घोड़ोंको रणभूमिमें आगे बढ़ाया ॥ ३ ॥

तेऽवहन् युयुधानं तु मनोमारुतरंहसः ।
यथेन्द्रं हरयो राजन् पुरा दैत्यवधोद्यतम् ॥ ४ ॥

राजन् ! मन और वायुके समान वेगशाली वे घोड़े युयुधानको उसी प्रकार ले जाने लगे, जैसे पूर्वकालमें दैत्यवधके लिये उद्यत देवराज इन्द्रको उनके घोड़े ले गये थे ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य सात्वतं रभसं रणे ।
सोमदत्तो महाबाहुरसम्भ्रान्तो न्यवर्तत ॥ ५ ॥

वेगशाली सात्यकिको रणभूमिमें अपनी ओर आते देख महाबाहु सोमदत्त बिना किसी घबराहटके उनकी ओर लौट पड़े ॥ ५ ॥

विमुञ्चञ्छरवर्षाणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
छादयामास शैनेयं जलदो भास्करं यथा ॥ ६ ॥

वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति बाणसमूहोंकी वृष्टि करते हुए सोमदत्तने, जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार शिनिपौत्र सात्यकिको आच्छादित कर दिया ॥ ६ ॥

असम्भ्रान्तश्च समरे सात्यकिः कुरुपुङ्गवम् ।
छादयामास बाणौघैः समन्ताद् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समराङ्गणमें सम्भ्रमरहित सात्यकिने भी अपने बाणसमूहोंद्वारा सब ओरसे कुरुप्रवर सोमदत्तको आच्छादित कर दिया ॥ ७ ॥

सोमदत्तस्तु तं षष्ट्या विव्याधोरसि माधवम् ।
सात्यकिश्चापि तं राजन्नविध्यत् सायकैः शितैः ॥ ८ ॥

राजन् ! फिर सोमदत्तने सात्यकिकी छातीमें साठ बाण मारे और सात्यकिने भी उन्हें तीखे बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८ ॥

तावन्योन्यं शरैः कृत्तौ व्यराजेतां नरर्षभौ ।
सुपुष्पौ पुष्पसमये पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ९ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ एक दूसरेके बाणोंसे घायल होकर वसन्त ऋतुमें सुन्दर पुष्पवाले दो विकसित पलाशवृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गौ कुरुवृष्णियशस्करौ ।
परस्परमवेक्षेतां दहन्ताविव लोचनैः ॥ १० ॥

कुरुकुल और वृष्णिवंशके यश बढ़ानेवाले उन दोनों वीरोंके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे । वे नेत्रोंद्वारा एक दूसरेको जलाते हुए-से देख रहे थे ॥ १० ॥

रथमण्डलमार्गेषु चरन्तावरिमर्दनौ ।
घोररूपौ हि तावास्तां वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ ॥ ११ ॥

रथ मण्डलके मार्गोंपर विचरते हुए वे दोनों शत्रुमर्दन

वीर वर्षा करनेवाले दो बादलोंके समान भयंकर रूप धारण किये हुए थे ॥ ११ ॥

शरसम्भिन्नगात्रौ तु सर्वतः शकलीकृतौ ।
श्वाविधाविव राजेन्द्र दृश्येतां शरविक्षतौ ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! उनके शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर सब ओरसे खण्डित-से हो बाणविद्ध हिंसक पशुओंके समान दिखायी दे रहे थे ॥ १२ ॥

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिराचितौ तौ व्यराजताम् ।
खद्योतैरावृतौ राजन् प्रावृषीव वनस्पती ॥ १३ ॥

राजन् ! सुवर्णमय पङ्खवाले बाणोंसे व्याप्त होकर वे दोनों योद्धा वर्षाकालमें जुगनुओंसे व्याप्त हुए दो वृक्षोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १३ ॥

सम्प्रदीपितसर्वाङ्गौ सायकैस्तैर्महारथौ ।
अदृश्येतां रणे क्रुद्धावुल्काभिरिव कुञ्जरौ ॥ १४ ॥

उन दोनों महारथियोंके सारे अङ्ग उन बाणोंसे उद्भासित हो रहे थे; इसीलिये वे दोनों, रणक्षेत्रमें उल्काओंसे प्रकाशित एवं क्रोधमें भरे हुए दो हाथियोंके समान दिखायी देते थे ॥ १४ ॥

ततो युधि महाराज सोमदत्तो महारथः ।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद माधवस्य महद् धनुः ॥ १५ ॥

महाराज ! तदनन्तर युद्धस्थलमें महारथी सोमदत्तने अर्धचन्द्राकार बाणसे सात्यकिके विशाल धनुषको काट दिया ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या सायकानां समार्पयत् ।
त्वरमाणस्त्वराकाले पुनश्च दशभिः शरैः ॥ १६ ॥

और तत्काल ही उनपर पचीस बाणोंका प्रहार किया । शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करनेवाले सोमदत्तने सात्यकिको पुनः दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सात्यकिर्वेगवत्तरम् ।
पञ्चभिः सायकैस्तूर्णं सोमदत्तमविध्यत ॥ १७ ॥

तदनन्तर सात्यकिने अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष हाथमें लेकर तुरंत ही पाँच बाणोंसे सोमदत्तको बींध डाला ॥

ततोऽपरेण भल्लेन ध्वजं चिच्छेद काञ्चनम् ।
बाह्लीकस्य रणे राजन् सात्यकिः प्रहसन्निव ॥ १८ ॥

राजन् ! फिर सात्यकिने हँसते हुए-से रणभूमिमें एक दूसरे भल्लके द्वारा बाह्लीकपुत्र सोमदत्तके सुवर्णमय ध्वजको काट दिया ॥ १८ ॥

सोमदत्तस्त्वसम्भ्रान्तो दृष्ट्वा केतुं निपातितम् ।
शैनेयं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ॥ १९ ॥

ध्वजको गिराया हुआ देख सम्भ्रमरहित सोमदत्तने सात्यकिके शरीरमें पचीस बाण चुन दिये ॥ १९ ॥

सात्वतोऽपि रणे क्रुद्धः सोमदत्तस्य धन्विनः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन क्षुरप्रेण शितेन ह ॥ २० ॥

तब रणक्षेत्रमें कुपित हुए सात्यकिने भी तीखे क्षुरप्र नामक भल्लसे धनुर्धर सोमदत्तके धनुषको काट दिया ॥२०॥

अथैनं रुक्मपुङ्खानां शतेन नतपर्वणाम् ।
आचिनोद् बहुधा राजन् भग्नदंष्ट्रमिव द्विपम् ॥ २१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने झुकी हुई गाँठ और सुवर्णमय पंखवाले सौ बाणोंसे टूटे दाँतवाले हाथीके समान सोमदत्तके शरीरको अनेक बार बींध दिया ॥ २१ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सोमदत्तो महारथः ।
सात्यकिं छादयामास शरवृष्ट्या महाबलः ॥ २२ ॥

इसके बाद महारथी महाबली सोमदत्तने दूसरा धनुष लेकर सात्यकिको बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ २२ ॥

सोमदत्तं तु संक्रुद्धो रणे विव्याध सात्यकिः ।
सात्यकिं शरजालेन सोमदत्तोऽप्यपीडयत् ॥ २३ ॥

उस युद्धमें क्रुद्ध हुए सात्यकिने सोमदत्तको गहरी चोट पहुँचायी और सोमदत्तने भी अपने बाणसमूहद्वारा सात्यकिको पीड़ित कर दिया ॥ २३ ॥

दशभिः सात्वतस्यार्थे भीमोऽहन् बाह्लिकात्मजम् ।
सोमदत्तोऽप्यसम्भ्रान्तो भीममार्च्छच्छितैः शरैः ॥ २४ ॥

उस समय भीमसेनने सात्यकिकी सहायताके लिये सोमदत्तको दस बाण मारे । इससे सोमदत्तको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने भी तीखे बाणोंसे भीमसेनको पीड़ित कर दिया ॥ २४ ॥

ततस्तु सात्वतस्यार्थे भीमसेनो नवं दृढम् ।
मुमोच परिघं घोरं सोमदत्तस्य वक्षसि ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् सात्यकिकी ओरसे भीमसेनने सोमदत्तकी छातीको लक्ष्य करके एक नूतन सुदृढ़ एवं भयंकर परिघ छोड़ा ॥

तमापतन्तं वेगेन परिघं घोरदर्शनम् ।
द्विधा चिच्छेद समरे प्रहसन्निव कौरवः ॥ २६ ॥

समराङ्गणमें बड़े वेगसे आते हुए उस भयंकर परिघके कुरुवंशी सोमदत्तने हँसते हुए-से दो टुकड़े कर डाले ॥२६॥

स पपात द्विधाछिन्न आयसः परिघो महान् ।
महीधरस्येव महच्छिखरं वज्रदारितम् ॥ २७ ॥

लोहेका वह महान् परिघ दो खण्डोंमें विभक्त होकर वज्रसे विदीर्ण किये गये महान् पर्वत-शिखरके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् सोमदत्तस्य संयुगे ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन हस्तावापं च पञ्चभिः ॥ २८ ॥

राजन् ! तदनन्तर संग्रामभूमिमें सात्यकिने एक भल्लसे सोमदत्तका धनुष काट दिया और पाँच बाणोंसे उनके दस्ताने नष्ट कर दिये ॥ २८ ॥

ततश्चतुर्भिश्च शरैस्तूर्णं तांस्तुरगोत्तमान्।
समीपं प्रेषयामास प्रेतराजस्य भारत ॥ २९ ॥

भारत ! फिर तत्काल ही चार बाणोंसे उन्होंने सोमदत्तके उन उत्तम घोड़ोंको प्रेतराज यमके समीप भेज दिया ॥२९॥

सारथेश्च शिरः कायाद् भल्लेन नतपर्वणा।
जहार नरशार्दूलः प्रहसञ्छिनिपुङ्गवः ॥ ३० ॥

इसके बाद पुरुषसिंह शिनिप्रवर सात्यकिने हँसते हुए झुकी हुई गाँठवाले भल्लसे सोमदत्तके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ३० ॥

ततः शरं महाघोरं ज्वलन्तमिव पावकम्।
मुमोच सात्वतो राजन् स्वर्णपुङ्खं शिलाशितम् ॥ ३१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् सात्वतवंशी सात्यकिने प्रज्वलित पावकके समान एक महाभयंकर, सुवर्णमय पंखवाला और शिलापर तेज किया हुआ बाण सोमदत्तपर छोड़ा ॥ ३१ ॥

स विमुक्तो बलवता शैनेयेन शरोत्तमः।
घोरस्तस्योरसि विभो निपपाताशु भारत ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! प्रभो ! शिनिवंशी बलवान् सात्यकिके द्वारा छोड़ा हुआ वह श्रेष्ठ एवं भयंकर बाण शीघ्र ही सोमदत्तकी छातीपर जा पड़ा ॥ ३२ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज सात्वतेन महारथः।
सोमदत्तो महाबाहुर्निपपात ममार च ॥ ३३ ॥

महाराज ! सात्यकिके चलाये हुए उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर महारथी महाबाहु सोमदत्त पृथ्वीपर गिरे और मर गये ॥ ३३ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं तत्र सोमदत्तं महारथाः।
महता शरवर्षेण युयुधानमुपाद्रवन् ॥ ३४ ॥

सोमदत्तको मारा गया देख आपके बहुसंख्यक महारथी बाणोंकी भारी वृष्टि करते हुए वहाँ सात्यकिपर टूट पड़े ॥३४॥

छाद्यमानं शरैर्दृष्ट्वा युयुधानं युधिष्ठिरः।
पाण्डवाश्च महाराज सह सर्वैः प्रभद्रकैः।
महत्या सेनया सार्धं द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥ ३५ ॥

महाराज ! उस समय सात्यकिको बाणोंद्वारा आच्छादित होते देख युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डवोंने समस्त प्रभद्रकों-सहित विशाल सेनाके साथ द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ ३५ ॥

ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धस्तावकानां महाबलम्।
शरैर्विद्रावयामास भारद्वाजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने अपने बाणोंकी मारसे आपकी विशाल वाहिनीको द्रोणाचार्यके देखते-देखते खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥

सैन्यानि द्रावयन्तं तु द्रोणो दृष्ट्वा युधिष्ठिरम्।
अभिदुद्राव वेगेन क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ३७ ॥

द्रोणाचार्यने देखा कि युधिष्ठिर मेरे सैनिकोंको खदेड़ रहे हैं, तब वे क्रोधसे लाल आँखें करके बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ ३७ ॥

ततः सुनिशितैर्बाणैः पार्थं विव्याध सप्तभिः।
युधिष्ठिरोऽपि संक्रुद्धः प्रतिविव्याध पञ्चभिः ॥ ३८ ॥

फिर उन्होंने सात तीखे बाणोंसे कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको घायल कर दिया। अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए युधिष्ठिरने भी उन्हें पाँच बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ॥ ३८ ॥

सोऽतिविद्धो महाबाहुः सृक्किणी परिसंलिहन्।
युधिष्ठिरस्य चिच्छेद ध्वजं कार्मुकमेव च ॥ ३९ ॥
स च्छिन्नधन्वा त्वरितस्त्वराकाले नृपोत्तमः।
अन्यदादत्त वेगेन कार्मुकं समरे दृढम् ॥ ४० ॥

तब अत्यन्त घायल हुए महाबाहु द्रोणाचार्य अपने दोनों गलफर चाटने लगे। उन्होंने युधिष्ठिरके ध्वज और धनुषको भी काट दिया। शीघ्रताके समय शीघ्रता करनेवाले नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरने समराङ्गणमें धनुष कट जानेपर दूसरे सुदृढ़ धनुषको वेगपूर्वक हाथमें ले लिया ॥ ३९-४० ॥

ततः शरसहस्रेण द्रोणं विव्याध पार्थिवः।
साश्वसूतध्वजरथं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४१ ॥

फिर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके राजाने घोड़े, सारथि, रथ और ध्वजसहित द्रोणाचार्यको बींध डाला। वह अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तं व्यथितः शरपातप्रपीडितः।
निषसाद रथोपस्थे द्रोणो भरतसत्तम ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन बाणोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित एवं व्यथित होकर द्रोणाचार्य दो घड़ीतक रथके पिछले भागमें बैठे रहे ॥ ४२ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां मुहूर्ताद् द्विजसत्तमः।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो वायव्यास्त्रमवासृजत् ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् सचेत होनेपर द्विजश्रेष्ठ द्रोणने महान् क्रोधमें भरकर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४३ ॥

असम्भ्रान्तस्ततः पार्थो धनुराकृष्य वीर्यवान्।
ततस्तदस्त्रमस्त्रेण स्तम्भयामास भारत ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर पराक्रमी युधिष्ठिरने सम्भ्रम-रहित हो धनुष खींचकर उनके उस अस्त्रको अपने दिव्यास्त्र-द्वारा कुण्ठित कर दिया ॥ ४४ ॥

चिच्छेद च धनुर्दीर्घं ब्राह्मणस्य च पाण्डवः।
ततोऽन्यद् धनुरादत्त द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ४५ ॥
तदप्यस्य शितैर्भल्लैश्चिच्छेद कुरुपुङ्गवः।

इतना ही नहीं, उन पाण्डुकुमारने विप्रवर द्रोणाचार्यके विशाल धनुषको भी काट दिया। फिर क्षत्रियोंका मान मर्दन करनेवाले द्रोणाचार्यने दूसरा धनुष हाथमें लिया। परंतु कुरुप्रवर युधिष्ठिरने अपने तीखे भल्लोंसे उसको भी काट दिया॥ ४५½ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ४६ ॥
युधिष्ठिर महाबाहो यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ।
उपारमस्व युद्धे त्वं द्रोणाद् भरतसत्तम ॥ ४७ ॥

तदनन्तर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर-से कहा—'महाबाहु युधिष्ठिर ! मैं तुमसे जो कह रहा हूँ, उसे सुनो। भरतश्रेष्ठ ! तुम युद्धमें द्रोणाचार्यसे अलग रहो ॥४६-४७॥

यतते हि सदा द्रोणो ग्रहणे तव संयुगे ।
नानुरूपमहं मन्ये युद्धमस्य त्वया सह ॥ ४८ ॥

'क्योंकि द्रोणाचार्य युद्धस्थलमें सदा तुम्हें कैद करनेके प्रयत्नमें रहते हैं; अतः तुम्हारे साथ इनका युद्ध होना मैं उचित नहीं मानता ॥ ४८ ॥

योऽस्य सृष्टो विनाशाय स एवैनं हनिष्यति ।
परिवर्ज्य गुरुं याहि यत्र राजा सुयोधनः ॥ ४९ ॥

'जो इनके विनाशके लिये उत्पन्न हुआ है, वही इन्हें मारेगा। तुम अपने गुरुदेवको छोड़कर जहाँ राजा दुर्योधन हैं, वहाँ जाओ ॥ ४९ ॥

राजा राज्ञा हि योद्धव्यो नाराज्ञा युद्धमिष्यते ।
तत्र त्वं गच्छ कौन्तेय हस्त्यश्वरथसंवृतः ॥ ५० ॥

'क्योंकि राजाको राजाके ही साथ युद्ध करना चाहिये। जो राजा नहीं है, उसके साथ उसका युद्ध अभीष्ट नहीं है। अतः कुन्तीनन्दन ! तुम हाथी, घोड़े और रथोंकी सेनासे घिरे रहकर वहीं जाओ ॥ ५० ॥

यावन्मात्रेण च मया सहायेन धनंजयः ।
भीमश्च रथशार्दूलो युध्यते कौरवैः सह ॥ ५१ ॥

'तबतक मेरे साथ रहकर अर्जुन तथा रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी भीमसेन कौरवोंके साथ युद्ध करते हैं' ॥५१॥

वासुदेववचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु ततो दारुणमाहवम् ॥ ५२ ॥
प्रायाद् द्रुतममित्रघ्नो यत्र भीमो व्यवस्थितः ।
विनिघ्नंस्तावकान् योधान् व्यादितास्य इवान्तकः॥ ५३॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक उस दारुण युद्धके विषयमें सोचा। फिर वे तुरंत वहाँ चले गये, जहाँ शत्रुओंका संहार करनेवाले भीमसेन आपके योद्धाओंका वध करते हुए मुँह फैलाये यमराजके समान खड़े थे ॥ ५२–५३ ॥

रथघोषेण महता नादयन् वसुधातलम् ।
पर्जन्य इव घर्मान्ते नादयन् वै दिशो दश ॥ ५४ ॥
भीमस्य निघ्नतः शत्रून् पार्ष्णिं जग्राह पाण्डवः ।
द्रोणोऽपि पाण्डुपञ्चालान् व्यधमद् रजनीमुखे॥ ५५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अपने रथकी भारी घर्घराहटसे भूतलको उसी प्रकार प्रतिध्वनित कर रहे थे, जैसे वर्षाकालमें गर्जना करता हुआ मेघ दसों दिशाओंको गुँजा देता है। उन्होंने शत्रुओंका संहार करनेवाले भीमसेनके पार्श्वभागकी रक्षाका भार ले लिया। उधर द्रोणाचार्य भी रात्रिके समय पाण्डव तथा पाञ्चाल सैनिकोंका संहार करने लगे ॥५४-५५॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रदीपों (मशालों) का प्रकाश

संजय उवाच

वर्तमाने तथा युद्धे घोररूपे भयावहे ।
तमसा संवृते लोके रजसा च महीपते ॥ १ ॥
नापश्यन्त रणे योधाः परस्परमवस्थिताः ।
अनुमानेन संज्ञाभिर्युद्धं तद् ववृधे महत् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जिस समय वह भयंकर घोर युद्ध चल रहा था, उस समय सम्पूर्ण जगत् अन्धकार और धूलसे आच्छादित था; इसीलिये रणभूमिमें खड़े हुए योद्धा एक दूसरेको देख नहीं पाते थे। वह महान् युद्ध अनुमानसे तथा नाम या संकेतोंद्वारा चलता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था ॥ १-२ ॥

नरनागाश्वमथनं परमं लोमहर्षणम् ।
द्रोणकर्णकृपा वीरा भीमपार्षतसात्यकाः ॥ ३ ॥
अन्योन्यं क्षोभयामासुः सैन्यानि नृपसत्तम ।

उस समय अत्यन्त रोमाञ्चकारी युद्ध हो रहा था। उसमें मनुष्य, हाथी और घोड़े मथे जा रहे थे। एक ओरसे द्रोण, कर्ण और कृपाचार्य ये तीन वीर युद्ध करते थे तथा दूसरी ओरसे भीमसेन, धृष्टद्युम्न एवं सात्यकि सामना कर रहे थे। नृपश्रेष्ठ ! ये एक दूसरेकी सेनाओंमें हलचल मचाये हुए थे ॥ ३½ ॥

वध्यमानानि सैन्यानि समन्तात् तैर्महारथैः ॥ ४ ॥
तमसा संवृते चैव समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ।

उन महारथियोंद्वारा उस अन्धकाराच्छन्न प्रदेशमें सब ओरसे मारी जाती हुई सेनाएँ चारों ओर भागने लगीं ॥४½॥

ते सर्वतो विद्रवन्तो योधा विध्वस्तचेतनाः ॥ ५ ॥
अहन्यन्त महाराज धावमानाश्च संयुगे ।

महाराज ! वे योद्धा अचेत होकर सब ओर भागते थे और भागते हुए ही उस युद्धस्थलमें मारे जाते थे ॥ ५½ ॥

महारथसहस्राणि जघ्नुरन्योन्यमाहवे ॥ ६ ॥
अन्धे तमसि मूढानि पुत्रस्य तव मन्त्रिते ।

आपके पुत्र दुर्योधनकी सलाहसे होनेवाले उस युद्धके भीतर प्रगाढ़ अन्धकारमें किंकर्तव्यविमूढ़ हुए सहस्रों महारथियोंने एक दूसरेको मार डाला ॥ ६½ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि सेनागोपाश्च भारत ।
व्यमुह्यन्त रणे तत्र तमसा संवृते सति ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर उस रणभूमिके तिमिराच्छन्न हो जानेपर समस्त सेनाएँ और सेनापति मोहित हो गये॥७॥

धृतराष्ट्र उवाच

तेषां संलोड्यमानानां पाण्डवैर्विहतौजसाम् ।
अन्धे तमसि मग्नानामासीत् किं वो मनस्तदा ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जिस समय तुम सब लोग अन्धकारमें डूबे हुए थे और पाण्डव तुम्हारे बल और पराक्रमको नष्ट करके तुम्हें मथे डालते थे, उस समय तुम्हारे और उन पाण्डवोंके मनकी कैसी अवस्था थी ? ॥ ८ ॥

कथं प्रकाशस्तेषां वा मम सैन्यस्य वा पुनः ।
बभूव लोके तमसा तथा संजय संवृते ॥ ९ ॥

संजय ! जब कि सारा जगत् अन्धकारसे आवृत था, उस समय पाण्डवोंको अथवा मेरी सेनाको कैसे प्रकाश प्राप्त हुआ ॥ ९ ॥

संजय उवाच

ततः सर्वाणि सैन्यानि हतशिष्टानि यानि वै ।
सेनागोप्तॄनथादिश्य पुनर्व्यूहमकल्पयत् ॥ १० ॥

संजयने कहा—राजन् ! तदनन्तर जितनी सेनाएँ मरनेसे बची हुई थीं, उन सबको तथा सेनापतियोंको आदेश देकर दुर्योधनने उनका पुनः व्यूह-निर्माण करवाया ॥१०॥

द्रोणः पुरस्ताज्जघने तु शल्य-
स्तथा द्रौणिः पार्श्वतः सौबलश्च ।
स्वयं तु सर्वाणि बलानि राजन्
राजाभ्ययाद् गोपयन् वै निशायाम् ॥ ११ ॥

राजन् ! उस व्यूहके अग्रभागमें द्रोणाचार्य, मध्यभागमें शल्य तथा पार्श्वभागमें अश्वत्थामा और शकुनि थे । स्वयं राजा दुर्योधन उस रात्रिके समय सम्पूर्ण सेनाओंकी रक्षा करता हुआ युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था ॥ ११ ॥

उवाच सर्वांश्च पदातिसङ्घान्
दुर्योधनः पार्थिव सान्त्वपूर्वम् ।
उत्सृज्य सर्वे परमायुधानि
गृह्णीत हस्तैर्ज्वलितान् प्रदीपान् ॥ १२ ॥

पृथ्वीनाथ ! उस समय दुर्योधनने समस्त पैदल सैनिकोंसे सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा—'वीरो ! तुम सब लोग उत्तम आयुध छोड़कर अपने हाथोंमें जलती हुई मशालें ले लो' ॥ १२ ॥

ते चोदिताः पार्थिवसत्तमेन
ततः प्रहृष्टा जगृहुः प्रदीपान् ।
देवर्षिगन्धर्वसुरर्षिसङ्घा
विद्याधराश्चाप्सरसां गणाश्च ॥ १३ ॥
नागाः सयक्षोरगकिन्नराश्च
हृष्टा दिविस्था जगृहुः प्रदीपान् ।

नृपश्रेष्ठ दुर्योधनकी आज्ञा पाकर उन पैदल सिपाहियोंने बड़े हर्षके साथ हाथोंमें मशालें ले लीं । आकाशमें खड़े हुए देवता, ऋषि, गन्धर्व, देवर्षि, विद्याधर, अप्सराओंके समूह, नाग, यक्ष, सर्प और किन्नर आदिने भी प्रसन्न होकर हाथोंमें प्रदीप ले लिये ॥ १३½ ॥

दिग्दैवतेभ्यश्च समापतन्तो-
ऽदृश्यन्त दीपाः ससुगन्धितैलाः ॥ १४ ॥
विशेषतो नारदपर्वताभ्यां
सम्बोध्यमानाः कुरुपाण्डवार्थम् ।

दिशाओंकी अधिष्ठात्री देवियोंके यहाँसे भी सुगन्धित तैलसे भरे हुए दीप वहाँ उतरते दिखायी दिये । विशेषतः नारद और पर्वत नामक मुनियोंने कौरव और पाण्डवोंकी सुविधाके लिये वे दीप जलाये थे ॥ १४½ ॥

सा भूय एव ध्वजिनी विभक्ता
व्यरोचताग्निप्रभया निशायाम् ॥ १५ ॥
महाधनैराभरणैश्च दिव्यैः
शस्त्रैश्च दीप्तैरपि सम्पतद्भिः ।

रातके समय अग्निकी प्रभासे वह सेना पुनः विभागपूर्वक प्रकाशित हो उठी । बहुमूल्य आभूषणों तथा सैनिकोंपर गिरनेवाले दीप्तिमान् दिव्यास्त्रोंसे भी वह सेना बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १५½ ॥

रथे रथे पञ्च विदीपकास्तु
प्रदीपकास्तत्र गजे त्रयश्च ॥ १६ ॥
प्रत्यश्वमेकश्च महाप्रदीपः
कृतास्तु तैः पाण्डवैः कौरवेयैः ।
क्षणेन सर्वे विहिताः प्रदीपा
व्यादीपयन्तो ध्वजिनीं तवाशु ॥ १७ ॥

एक-एक रथके पास पाँच-पाँच मशालें थीं। प्रत्येक हाथीके साथ तीन-तीन प्रदीप जलते थे। प्रत्येक घोड़ेके साथ एक महाप्रदीपकी व्यवस्था की गयी थी। पाण्डवों तथा कौरवोंके द्वारा इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक जलाये गये समस्त प्रदीप क्षणभरमें आपकी सारी सेनाको प्रकाशित करने लगे ॥ १६-१७ ॥

सर्वास्तु सेना व्यतिसेव्यमानाः
पदातिभिः पावकतैलहस्तैः।
प्रकाश्यमाना ददृशुर्निशायां
यथान्तरिक्षे जलदास्तडिद्भिः ॥ १८ ॥

सब लोगोंने देखा कि मशाल और तेल हाथमें लिये पैदल सैनिकोंद्वारा सेवित सारी सेनाएँ रात्रिके समय उसी प्रकार प्रकाशित हो उठी हैं, जैसे आकाशमें बादल बिजलियोंके प्रकाशसे प्रकाशित हो उठते हैं ॥ १८ ॥

प्रकाशितायां तु ततो ध्वजिन्यां
द्रोणोऽग्निकल्पः प्रतपन् समन्तात्।
रराज राजेन्द्र सुवर्णवर्मा
मध्यं गतः सूर्य इवांशुमाली ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! सारी सेनामें प्रकाश फैल जानेपर अग्निके समान प्रतापी द्रोणाचार्य सुवर्णमय कवच धारण करके दोपहरके सूर्यकी भाँति सब ओर देदीप्यमान होने लगे ॥ १९ ॥

जाम्बूनदेष्वाभरणेषु चैव
निष्केषु शुद्धेषु शरासनेषु।
पीतेषु शस्त्रेषु च पावकस्य
प्रतिप्रभास्तत्र तदा बभूवुः ॥ २० ॥

उस समय सोनेके आभूषणों, शुद्ध निष्कों, धनुषों तथा चमकीले शस्त्रोंमें वहाँ उन मशालोंकी आगके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे ॥ २० ॥

गदाश्च शैक्याः परिघाश्च शुभ्रा
रथेषु शक्त्यश्च विवर्तमानाः।
प्रतिप्रभारश्मिभिराजमीढ
पुनः पुनः संजनयन्ति दीपान् ॥ २१ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! वहाँ जो गदाएँ, शैक्य, चमकीले परिघ तथा रथ-शक्तियाँ घुमायी जा रही थीं, उनमें जो उन मशालोंकी प्रभाएँ प्रतिबिम्बित होती थीं, वे मानो पुनः-पुनः बहुत-से नूतन प्रदीप प्रकट करती थीं ॥ २१ ॥

छत्राणि बालव्यजनानि खड्गा
दीप्ता महोल्काश्च तथैव राजन्।
व्याघूर्णमानाश्च सुवर्णमाला
व्यायच्छतां तत्र तदा विरेजुः ॥ २२ ॥

राजन् ! छत्र, चँवर, खड्ग, प्रज्वलित विशाल उल्काएँ तथा वहाँ युद्ध करते हुए वीरोंकी हिलती हुई सुवर्णमालाएँ उस समय प्रदीपोंके प्रकाशसे बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ २२ ॥

शस्त्रप्रभाभिश्च विराजमानं
दीपप्रभाभिश्च तदा बलं तत्।
प्रकाशितं चाभरणप्रभाभि-
र्भृशं प्रकाशं नृपते बभूव ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! उस समय चमकीले अस्त्रों, प्रदीपों तथा आभूषणोंकी प्रभाओंसे प्रकाशित एवं सुशोभित आपकी सेना अत्यन्त प्रकाशसे उद्भासित होने लगी ॥ २३ ॥

पीतानि शस्त्राण्यसृगुक्षितानि
वीरावधूतानि तनुच्छदानि।
दीप्तां प्रभां प्राजनयन्त तत्र
तपात्यये विद्युदिवान्तरिक्षे ॥ २४ ॥

पानीदार एवं खूनसे रँगे हुए शस्त्र तथा वीरोंद्वारा कँपाये हुए कवच वहाँ प्रदीपोंके प्रतिबिम्ब ग्रहण करके वर्षाकालके आकाशमें चमकनेवाली बिजलीकी भाँति अत्यन्त उज्ज्वल प्रभा बिखेर रहे थे ॥ २४ ॥

प्रकम्पितानामभिघातवेगै-
रभिघ्नतां चापततां जवेन।
वक्त्राण्यकाशन्त तदा नराणां
वाय्वीरितानीव महाम्बुजानि ॥ २५ ॥

आघातके वेगसे कम्पित, आघात करनेवाले तथा वेगपूर्वक शत्रुकी ओर झपटनेवाले वीर मनुष्योंके मुख-मण्डल उस समय वायुसे हिलाये हुए बड़े-बड़े कमलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २५ ॥

महावने दारुमये प्रदीप्ते
यथा प्रभा भास्करस्यापि नश्येत्।
तथा तदाऽऽसीद् ध्वजिनी प्रदीप्ता
महाभया भारत भीमरूपा ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! जैसे सूखे काठके विशाल वनमें आग लग जानेपर वहाँ सूर्यकी भी प्रभा फीकी पड़ जाती है, उसी प्रकार उस समय अधिक प्रकाशसे प्रज्वलित होती हुई-सी आपकी भयानक सेना महान् भय उत्पन्न करनेवाली प्रतीत होती थी ॥ २६ ॥

तत् सम्प्रदीप्तं बलमस्मदीयं
निशम्य पार्थास्त्वरितास्तथैव।
सर्वेषु सैन्येषु पदातिसंघा-
नचोदयंस्तेऽपि चक्रुः प्रदीपान् ॥ २७ ॥

हमारी सेनाको मशालोंके प्रकाशसे प्रकाशित देख कुन्ती-के पुत्रोंने भी तुरंत ही सारी सेनाके पैदल सैनिकोंको मशाल जलानेकी आज्ञा दी, अतः उन्होंने भी मशालें जला लीं ॥ २७ ॥

गजे गजे सप्त कृताः प्रदीपा
रथे रथे चैव दश प्रदीपाः।
द्वावश्वपृष्ठे परिपार्श्वतोऽन्ये
ध्वजेषु चान्ये जघनेषु चान्ये ॥ २८ ॥

उनके एक-एक हाथीके लिये सात-सात और एक-एक रथके लिये दस-दस प्रदीपोंकी व्यवस्था की गयी। घोड़ोंके पृष्ठभागमें दो प्रदीप थे। अगल-बगलमें, ध्वजाओंके समीप तथा रथके पिछले भागोंमें अन्यान्य दीपकोंकी व्यवस्था की गयी थी ॥ २८ ॥

सेनासु सर्वासु च पार्श्वतोऽन्ये
पश्चात् पुरस्ताच्च समन्ततश्च।
मध्ये तथान्ये ज्वलिताग्निहस्ता
व्यदीपयन् पाण्डुसुतस्य सेनाम् ॥ २९ ॥

सारी सेनाओंके पार्श्वभागमें, आगे, पीछे, बीचमें एवं चारों ओर भिन्न-भिन्न सैनिक जलती हुई मशालें हाथमें लेकर पाण्डुपुत्रकी सेनाको प्रकाशित करने लगे ॥ २९ ॥

मध्ये तथान्ये ज्वलिताग्निहस्ताः
सेनाद्वयेऽपि स्म नरा विचेरुः।
सर्वेषु सैन्येषु पदातिसङ्घा
विमिश्रिता हस्तिरथाश्ववृन्दैः ॥ ३० ॥
व्यदीपयंस्ते ध्वजिनीं प्रदीप्तां
तथा बलं पाण्डवेयाभिगुप्तम्।

दोनों ही सेनाओंके अन्यान्य पैदल सैनिक हाथोंमें प्रदीप धारण किये दोनों ही सेनाओंके भीतर विचरण करने लगे। सारी सेनाओंके पैदल-समूह हाथी, रथ और अश्व-समूहोंके साथ मिलकर आपकी सेनाको तथा पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित वाहिनीको भी अत्यन्त प्रकाशित करने लगे ॥३०½॥

तेन प्रदीप्तेन तथा प्रदीप्तं
बलं तवासीद् बलवद् बलेन ॥ ३१ ॥
भाः कुर्वता भानुमता ग्रहेण
दिवाकरेणाग्निरिवाभिगुप्तः।

जैसे किरणोंद्वारा सुशोभित और अपनी प्रभा बिखेरनेवाले सूर्यग्रहके द्वारा सुरक्षित अग्निदेव और भी प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार प्रदीपोंकी प्रभासे अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले उस पाण्डव सैन्यके द्वारा आपकी सेनाका प्रकाश और भी बढ़ गया ॥ ३१½ ॥

तयोः प्रभाः पृथिवीमन्तरिक्षं
सर्वा व्यतिक्रम्य दिशश्च वृद्धाः ॥ ३२ ॥
तेन प्रकाशेन भृशं प्रकाशं
बभूव तेषां तव चैव सैन्यम्।

उन दोनों सेनाओंका बढ़ा हुआ प्रकाश पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंको लाँघकर चारों ओर फैल गया। प्रदीपोंके उस प्रकाशसे आपकी तथा पाण्डवोंकी सेना भी अधिक प्रकाशित हो उठी थी ॥ ३२½ ॥

तेन प्रकाशेन दिवं गतेन
सम्बोधिता देवगणाश्च राजन् ॥ ३३ ॥
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः
समागमन्नप्सरसश्च सर्वाः।

राजन्! स्वर्गलोकतक फैले हुए उस प्रकाशसे उद्बोधित होकर देवता, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय तथा सम्पूर्ण अप्सराएँ भी युद्ध देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचीं ॥ ३३½ ॥

तद् देवगन्धर्वसमाकुलं च
यक्षासुरेन्द्राप्सरसां गणैश्च ॥ ३४ ॥
हतैश्च शूरैर्दिवमारुहद्भि-
रायोधनं दिव्यकल्पं बभूव।

देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों, असुरेन्द्रों और अप्सराओंके समुदायसे भरा हुआ वह युद्धस्थल वहाँ मारे जाकर स्वर्गलोक-पर आरूढ़ होनेवाले शूरवीरोंके द्वारा दिव्यलोक-सा जान पड़ता था ॥ ३४½ ॥

रथाश्वनागाकुलदीपदीप्तं
संरब्धयोधं हतविद्रुताश्वम् ॥ ३५ ॥
महद् बलं व्यूढरथाश्वनागं
सुरासुरव्यूहसमं बभूव।

रथ, घोड़े और हाथियोंसे परिपूर्ण, प्रदीपोंकी प्रभासे प्रकाशित, रोषमें भरे हुए योद्धाओंसे युक्त, घायल होकर भागनेवाले घोड़ोंसे उपलक्षित तथा व्यूहबद्ध रथ, घोड़े एवं हाथियोंसे सम्पन्न दोनों पक्षोंका वह महान् सैन्यसमूह देवताओं और असुरोंके सैन्यव्यूहके समान जान पड़ता था ॥ ३५½ ॥

तच्छक्तिसंघाकुलचण्डवातं
महारथाभ्रं गजवाजिघोषम् ॥ ३६ ॥
शस्त्रौघवर्षं रुधिराम्बुधारं
निशि प्रवृत्तं रणदुर्दिनं तत्।

रातमें होनेवाला वह युद्ध मेघोंकी घटासे आच्छादित दिनके समान प्रतीत होता था। उस समय शक्तियोंका समूह प्रचण्डवायुके समान चल रहा था। विशाल रथ मेघसमूहके समान दिखायी देते थे। हाथियों और घोड़ोंके हींसने और चिग्घाड़नेका शब्द ही मानो मेघोंका गम्भीर गर्जन था। अस्त्रसमूहोंकी वर्षा ही जलकी वृष्टि थी तथा रक्तकी धारा ही जलधाराके समान जान पड़ती थी ॥ ३६½ ॥

तस्मिन् महाग्निप्रतिमो महात्मा
संतापयन् पाण्डवान् विप्रमुख्यः॥ ३७ ॥
गभस्तिभिर्मध्यगतो यथार्को
वर्षात्यये तद्वदभून्नरेन्द्र ॥ ३८ ॥

नरेन्द्र ! जैसे शरत्कालमें मध्याह्नका सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे भारी संताप देता है, उसी प्रकार उस युद्धस्थलमें महान् अग्निके समान तेजस्वी महामना विप्रवर द्रोणाचार्य पाण्डवोंके लिये संतापकारी हो रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे दीपोद्योतने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर प्रदीपोंका प्रकाशविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका घमासान युद्ध और दुर्योधनका द्रोणाचार्यकी रक्षाके लिये सैनिकोंको आदेश

संजय उवाच

प्रकाशिते तदा लोके रजसा तमसाऽऽवृते ।
समाजग्मुरथो वीराः परस्परवधैषिणः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय धूल और अन्धकारसे ढकी हुई रणभूमिमें इस प्रकार उजेला होनेपर एक दूसरेके वधकी इच्छावाले वीर सैनिक आपसमें भिड़ गये॥

ते समेत्य रणे राजञ्छस्त्रप्रासासिधारिणः ।
परस्परमुदैक्षन्त परस्परकृतागसः ॥ २ ॥

महाराज ! समराङ्गणमें परस्पर भिड़कर वे नाना प्रकारके शस्त्र, प्रास और खड्ग आदि धारण करनेवाले योद्धा, जो परस्पर अपराधी थे, एक दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ २ ॥

प्रदीपानां सहस्रैश्च दीप्यमानैः समन्ततः ।
रत्नाचितैः स्वर्णदण्डैर्गन्धतैलावसिञ्चितैः ॥ ३ ॥

चारों ओर हजारों मशालें जल रही थीं । उनके डंडे सोनेके बने हुए थे और उनमें रत्न जड़े हुए थे । उन मशालोंपर सुगन्धित तेल डाला जाता था ॥ ३ ॥

देवगन्धर्वदीपाद्यैः प्रभाभिरधिकोज्ज्वलैः ।
विरराज तदा भूमिर्ग्रहैर्द्यौरिव भारत ॥ ४ ॥

भारत ! उन्हींमें देवताओं और गन्धर्वोंके भी दीप आदि जल रहे थे, जो अपनी विशेष प्रभाके कारण अधिक प्रकाशित हो रहे थे । उनके द्वारा उस समय रणभूमि नक्षत्रोंसे आकाशकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ ४ ॥

उल्काशतैः प्रज्वलितै रणभूमिर्व्यराजत ।
दह्यमानेव लोकानामभावे च वसुंधरा ॥ ५ ॥

सैकड़ों प्रज्वलित उल्काओं (मशालों) से वह रणभूमि ऐसी शोभा पा रही थी, मानो प्रलयकालमें यह सारी पृथ्वी दग्ध हो रही हो ॥ ५ ॥

व्यदीप्यन्त दिशः सर्वाः प्रदीपैस्तैः समन्ततः ।
वर्षाप्रदोषे खद्योतैर्वृता वृक्षा इवाबभुः ॥ ६ ॥

उन प्रदीपोंसे सब ओर सारी दिशाएँ ऐसी प्रदीप्त हो उठीं, मानो वर्षाके सायंकालमें जुगनुओंसे घिरे हुए वृक्ष जगमगा रहे हों ॥ ६ ॥

असज्जन्त ततो वीरा वीरेष्वेव पृथक् पृथक् ।
नागा नागैः समाजग्मुस्तुरगा हयसादिभिः ॥ ७ ॥

उस समय वीरगण विपक्षी वीरोंके साथ पृथक्-पृथक् भिड़ गये । हाथी हाथियोंके और घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ जूझने लगे ॥ ७ ॥

रथा रथवरैरेव समाजग्मुर्मुदा युताः ।
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ८ ॥
चतुरङ्गस्य सैन्यस्य सम्पातश्च महानभूत् ।

इसी प्रकार रथी श्रेष्ठ रथियोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करने लगे । उस भयंकर प्रदोषकालमें आपके पुत्रकी आज्ञासे वहाँ चतुरंगिणी सेनामें भारी मारकाट मच गयी ॥ ८½ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज कौरवाणामनीकिनीम् ॥ ९ ॥
व्यधमत् त्वरया युक्तः क्षपयन् सर्वपार्थिवान् ।

महाराज ! तदनन्तर, अर्जुन बड़ी उतावलीके साथ समस्त राजाओंका संहार करते हुए कौरव-सेनाका विनाश करने लगे ॥ ९½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन् प्रविष्टे संरब्धे मम पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ १० ॥
अमृष्यमाणे दुर्धर्षे कथमासीन्मनो हि वः ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! क्रोध और अमर्षमें भरे हुए दुर्धर्ष वीर अर्जुन जब मेरे पुत्रकी सेनामें प्रविष्ट हुए, उस समय तुमलोगोंके मनकी कैसी अवस्था हुई ? ॥१०½॥

किमकुर्वत सैन्यानि प्रविष्टे परपीडने ॥ ११ ॥
दुर्योधनश्च किं कृत्यं प्राप्तकालममन्यत ।

शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले अर्जुनके प्रवेश करनेपर मेरी सेनाओंने क्या किया ? तथा दुर्योधनने उस समयके अनुरूप कौन-सा कार्य उचित माना ? ॥ ११½ ॥

के चैनं समरे वीरं प्रत्युद्ययुररिंदमाः ॥ १२ ॥
द्रोणं च के व्यरक्षन्त प्रविष्टे श्वेतवाहने ।

समराङ्गणमें शत्रुओंका दमन करनेवाले कौन-कौन-से योद्धा वीर अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े। श्वेत-वाहन अर्जुनके कौरवसेनाके भीतर घुस आनेपर किन लोगोंने द्रोणाचार्यकी रक्षा की ॥ १२½ ॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं के च द्रोणस्य सव्यतः ॥ १३ ॥
के पृष्ठतश्चाप्यभवन् वीरा वीरान् विनिघ्नतः ।
के पुरस्तादगच्छन्त निघ्नन्तः शात्रवान् रणे ॥ १४ ॥

कौन-कौन-से योद्धा द्रोणाचार्यके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा करते थे और कौन-कौन-से बायें पहियेकी ? कौन-कौन-से वीर वीरोंका वध करनेवाले द्रोणाचार्यके पृष्ठभागके रक्षक थे और रणमें शत्रुसैनिकोंका संहार करनेवाले कौन-कौन-से योद्धा आचार्यके आगे-आगे चलते थे ? ॥ १३-१४ ॥

यत् प्राविशन्महेष्वासः पञ्चालानपराजितः ।
नृत्यन्निव नरव्याघ्रो रथमार्गेषु वीर्यवान् ॥ १५ ॥

महाधनुर्धर, पराक्रमी एवं किसीसे पराजित न होनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्यने रथके मार्गोंपर नृत्य-सा करते हुए वहाँ पाञ्चालोंकी सेनामें प्रवेश किया था ॥ १५ ॥

यो ददाह शरैर्द्रोणः पञ्चालानां रथव्रजान् ।
धूमकेतुरिव क्रुद्धः कथं मृत्युमुपेयिवान् ॥ १६ ॥

जिन आचार्य द्रोणने क्रोधमें भरे हुए अग्निदेवके समान अपने बाणोंकी ज्वालासे पाञ्चाल महारथियोंके समुदायोंको जलाकर भस्म कर दिया था, वे कैसे मृत्युको प्राप्त हुए ? ॥

अव्यग्रानेव हि परान् कथयस्यपराजितान् ।
हृष्टानुदीर्णान् संग्रामे न तथा सूत मामकान् ॥ १७ ॥

सूत ! तुम मेरे शत्रुओंको तो व्यग्रतारहित, अपराजित, हर्ष और उत्साहसे युक्त तथा संग्राममें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले ही बता रहे हो; परंतु मेरे पुत्रोंकी ऐसी अवस्था नहीं बताते ॥ १७ ॥

हतांश्चैव विदीर्णांश्च विप्रकीर्णांश्च शंससि ।
रथिनो विरथांश्चैव कृतान् युद्धेषु मामकान् ॥ १८ ॥

सभी युद्धोंमें मेरे पक्षके रथियोंको तुम हताहत, छिन्न-भिन्न, तितर-बितर तथा रथहीन हुआ ही बता रहे हो ॥१८॥

संजय उवाच

द्रोणस्य मतमाज्ञाय योद्धुकामस्य तां निशाम् ।
दुर्योधनो महाराज वश्यान् भ्रातॄनुवाच ह ॥ १९ ॥
कर्णं च वृषसेनं च मद्रराजं च कौरव ।
दुर्धर्षं दीर्घबाहुं च ये च तेषां पदानुगाः ॥ २० ॥

संजय कहते हैं—कुरुनन्दन महाराज ! युद्धकी इच्छावाले द्रोणाचार्यका मत जानकर दुर्योधनने उस रातमें अपने वशवर्ती भाइयोंसे तथा कर्ण, वृषसेन, मद्रराज शल्य, दुर्धर्ष, दीर्घबाहु तथा जो-जो उनके पीछे चलनेवाले थे, उन सबसे इस प्रकार कहा—॥ १९-२० ॥

द्रोणं यत्ताः पराक्रान्ताः सर्वे रक्षन्तु पृष्ठतः ।
हार्दिक्यो दक्षिणं चक्रं शल्यश्चैवोत्तरं तथा ॥ २१ ॥

'तुम सब लोग सावधान रहकर पराक्रमपूर्वक पीछेकी ओरसे द्रोणाचार्यकी रक्षा करो। कृतवर्मा उनके दाहिने पहियेकी और राजा शल्य बायें पहियेकी रक्षा करें' ॥२१॥

त्रिगर्तानां च ये शूरा हतशिष्टा महारथाः ।
तांश्चैव पुरतः सर्वान् पुत्रस्ते समचोदयत् ॥ २२ ॥

राजन् ! त्रिगर्तोंके जो शूरवीर महारथी मरनेसे शेष रह गये थे, उन सबको आपके पुत्रने द्रोणाचार्यके आगे-आगे चलनेकी आज्ञा देते हुए कहा—॥ २२ ॥

आचार्यो हि सुसंयत्तो भृशं यत्ताश्च पाण्डवाः ।
तं रक्षत सुसंयत्ता निघ्नन्तं शात्रवान् रणे ॥ २३ ॥

'आचार्य पूर्णतः सावधान हैं, पाण्डव भी विजयके लिये विशेष यत्नशील एवं सावधान हैं। तुमलोग रणभूमिमें शत्रु-सैनिकोंका संहार करते हुए आचार्यकी पूरी सावधानीके साथ रक्षा करो ॥ २३ ॥

द्रोणो हि बलवान् युद्धे क्षिप्रहस्तः प्रतापवान् ।
निर्जयेत् त्रिदशान् युद्धे किमु पार्थान् ससोमकान् ॥२४॥

'क्योंकि द्रोणाचार्य बलवान्, प्रतापी और युद्धमें शीघ्रता-पूर्वक हाथ चलानेवाले हैं। वे संग्राममें देवताओंको भी परास्त कर सकते हैं; फिर कुन्तीके पुत्रों और सोमकोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ २४ ॥

ते यूयं सहिताः सर्वे भृशं यत्ता महारथाः ।
द्रोणं रक्षत पाञ्चालाद् धृष्टद्युम्नान्महारथात् ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम सब महारथी एक साथ होकर पूर्णतः प्रयत्नशील रहते हुए पाञ्चाल महारथी धृष्टद्युम्नसे द्रोणाचार्य-की रक्षा करो ॥ २५ ॥

पाण्डवीयेषु सैन्येषु न तं पश्याम कञ्चन ।
यो योधयेद् रणे द्रोणं धृष्टद्युम्नादृते नृपः ॥ २६ ॥

'हम पाण्डवोंकी सेनाओंमें धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी वीर नरेशको नहीं देखते, जो रणक्षेत्रमें द्रोणाचार्यके साथ युद्ध कर सके ॥ २६ ॥

तस्मात् सर्वात्मना मन्ये भारद्वाजस्य रक्षणम् ।
सुगुप्तः पाण्डवान् हन्यात् सृंजयांश्च ससोमकान् ॥ २७॥

'अतः मैं सब प्रकारसे द्रोणाचार्यकी रक्षा करना ही इस समय आवश्यक कर्तव्य मानता हूँ। वे सुरक्षित रहें तो पाण्डवों, सृंजयों और सोमकोंका भी संहार कर सकते हैं ॥ २७ ॥

सृंजयेष्वथ सर्वेषु निहतेषु चमूमुखे ।
धृष्टद्युम्नं रणे द्रौणिर्हनिष्यति न संशयः ॥ २८ ॥

'युद्धके मुहानेपर सारे सृंजयोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा रणभूमिमें धृष्टद्युम्नको भी मार डालेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २८ ॥

तथार्जुनं च राधेयो हनिष्यति महारथः ।
भीमसेनमहं चापि युद्धे जेष्यामि दीक्षितः ॥ २९ ॥
शेषांश्च पाण्डवान् योधाः प्रसभं हीनतेजसः ।

'योद्धाओ ! इसी प्रकार महारथी कर्ण अर्जुनका वध कर डालेगा तथा रणयज्ञकी दीक्षा लेकर युद्ध करनेवाला मैं भीमसेनको और तेजोहीन हुए दूसरे पाण्डवोंको भी बलपूर्वक जीत लूँगा ॥

सोऽयं मम जयो व्यक्तो दीर्घकालं भविष्यति ।
तस्माद् रक्षत संग्रामे द्रोणमेव महारथम् ॥ ३० ॥

'इस प्रकार अवश्य ही मेरी यह विजय चिरस्थायिनी होगी, अतः तुम सब लोग मिलकर संग्राममें महारथी द्रोणकी ही रक्षा करो' ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
व्यादिदेश तथा सैन्यं तस्मिंस्तमसि दारुणे ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर आपके पुत्र दुर्योधनने उस भयंकर अन्धकारमें अपनी सेनाको युद्धके लिये आज्ञा दे दी ॥ ३१ ॥

ततः प्रववृते युद्धं रात्रौ भरतसत्तम ।
उभयोः सेनयोर्घोरं परस्परजिगीषया ॥ ३२ ॥

भरतसत्तम ! फिर तो रात्रिके समय दोनों सेनाओंमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥३२॥

अर्जुनः कौरवं सैन्यमर्जुनं चापि कौरवाः ।
नानाशस्त्रसमावायैरन्योन्यं समपीडयन् ॥ ३३ ॥

अर्जुन कौरव-सेनापर और कौरव सैनिक अर्जुनपर नाना प्रकारके शस्त्र-समूहोंकी वर्षा करते हुए एक दूसरेको पीड़ा देने लगे ॥ ३३ ॥

द्रौणिः पाञ्चालराजं च भारद्वाजश्च सृंजयान् ।
छादयांचक्रतुः संख्ये शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३४ ॥

अश्वत्थामाने पाञ्चालराज द्रुपदको और द्रोणाचार्यने सृंजयोंको युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया ॥ ३४ ॥

पाण्डुपाञ्चालसैन्यानां कौरवाणां च भारत ।
आसीन्निष्टानको घोरो निघ्नतामितरेतरम् ॥ ३५ ॥

भारत ! एक ओरसे पाण्डव और पाञ्चाल सैनिकोंका और दूसरी ओरसे कौरव योद्धाओंका, जो एक दूसरेपर गहरी चोट कर रहे थे, घोर आर्तनाद सुनायी पड़ता था ॥ ३५ ॥

नैवास्माभिस्तथा पूर्वैर्दृष्टपूर्वं तथाविधम् ।
श्रुतं वा यादृशं युद्धमासीद् रौद्रं भयानकम् ॥ ३६ ॥

हमने तथा पूर्ववर्ती लोगोंने भी वैसा रौद्र एवं भयानक युद्ध न तो पहले कभी देखा था और न सुना ही था, जैसा कि वह युद्ध हो रहा था ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका युद्ध और कृतवर्माद्वारा युधिष्ठिरकी पराजय

संजय उवाच

वर्तमाने तदा रौद्रे रात्रियुद्धे विशाम्पते ।
सर्वभूतक्षयकरे धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
अब्रवीत् पाण्डवांश्चैव पञ्चालांश्चैव सोमकान् ।
अभिद्रवत संयात द्रोणमेव जिघांसया ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! जब सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर रात्रियुद्ध आरम्भ हुआ, उस समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने पाण्डवों, पाञ्चालों और सोमकोंसे कहा—'दौड़ो, द्रोणाचार्यपर ही उन्हें मार डालनेकी इच्छासे आक्रमण करो' ॥ १-२ ॥

राज्ञस्ते वचनाद् राजन् पञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ।
द्रोणमेवाभ्यवर्तन्त नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ ३ ॥

राजन् ! राजा युधिष्ठिरके आदेशसे पाञ्चाल और सृंजय भयानक गर्जना करते हुए द्रोणाचार्यपर ही टूट पड़े ॥ ३ ॥

तं तु ते प्रतिगर्जन्तः प्रत्युद्यातास्त्वमर्षिताः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं यथासत्त्वं च संयुगे ॥ ४ ॥

वे सब-के-सब अमर्षमें भरे हुए थे और युद्धस्थलमें अपनी शक्ति, उत्साह एवं धैर्यके अनुसार बारंबार गर्जना करते हुए द्रोणाचार्यपर चढ़ आये ॥ ४ ॥

कृतवर्मा तु हार्दिक्यो युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ।
द्रोणं प्रति समायान्तं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ५ ॥

जैसे मतवाला हाथी किसी मतवाले हाथीपर आक्रमण कर रहा हो, उसी प्रकार युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यपर धावा करते देख हृदिकपुत्र कृतवर्माने आगे बढ़कर उन्हें रोका ॥

शैनेयं शरवर्षाणि विकिरन्तं समन्ततः ।
अभ्ययात् कौरवो राजन् भूरिः संग्राममूर्धनि ॥ ६ ॥

राजन् ! युद्धके मुहानेपर चारों ओर बाणोंकी बौछार करते हुए शिनिपौत्र सात्यकिपर कुरुवंशी भूरिने धावा किया ॥ ६ ॥

सहदेवमथायान्तं द्रोणप्रेप्सुं महारथम् ।
कर्णो वैकर्तनो राजन् वारयामास पाण्डवम् ॥ ७ ॥

राजन् ! द्रोणाचार्यको पकड़नेके लिये आते हुए महारथी पाण्डुपुत्र सहदेवको वैकर्तन कर्णने रोका ॥ ७ ॥

भीमसेनमथायान्तं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
स्वयं दुर्योधनो राजा प्रतीपं मृत्युमाव्रजत् ॥ ८ ॥

मुँह बाये यमराजके समान अथवा विपक्षी बनकर आयी हुई मृत्युके समान भीमसेनका सामना स्वयं राजा दुर्योधनने किया ॥ ८ ॥

नकुलं च युधां श्रेष्ठं सर्वयुद्धविशारदम् ।
शकुनिः सौबलो राजन् वारयामास सत्वरः ॥ ९ ॥

राजन् ! सम्पूर्ण युद्धकलामें कुशल योद्धाओंमें श्रेष्ठ नकुलको सुबलपुत्र शकुनिने शीघ्रतापूर्वक आकर रोका ॥ ९ ॥

शिखण्डिनमथायान्तं रथेन रथिनां वरम् ।
कृपः शारद्वतो राजन् वारयामास संयुगे ॥ १० ॥

नरेश्वर ! रथसे आते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीको युद्धस्थलमें शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने रोका ॥ १० ॥

प्रतिविन्ध्यमथायान्तं मयूरसदृशैर्हयैः ।
दुःशासनो महाराज यत्तो यत्तमवारयत् ॥ ११ ॥

महाराज ! मयूरके समान रंगवाले घोड़ोंद्वारा आते हुए प्रयत्नशील प्रतिविन्ध्यको दुःशासनने यत्नपूर्वक रोका ॥११॥

भैमसेनिमथायान्तं मायाशतविशारदम् ।
अश्वत्थामा महाराज राक्षसं प्रत्यषेधयत् ॥ १२ ॥

राजन् ! सैकड़ों मायाओंके प्रयोगमें कुशल भीमसेनकुमार राक्षस घटोत्कचको आते देख अश्वत्थामाने रोका॥

द्रुपदं वृषसेनस्तु ससैन्यं सपदानुगम् ।
वारयामास समरे द्रोणप्रेप्सुं महारथम् ॥ १३ ॥

समराङ्गणमें द्रोणको पराजित करनेकी इच्छावाले सेना और सेवकोंसहित महारथी द्रुपदको वृषसेनने रोका ॥ १३ ॥

विराटं द्रुतमायान्तं द्रोणस्य निधनं प्रति ।
मद्रराजः सुसंक्रुद्धो वारयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! द्रोणको मारनेके उद्देश्यसे शीघ्रतापूर्वक आते हुए राजा विराटको अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए मद्रराज शल्यने रोक दिया ॥ १४ ॥

शतानीकमथायान्तं नाकुलिं रभसं रणे ।
चित्रसेनो रुरोधाशु शरैर्द्रोणपरीप्सया ॥ १५ ॥

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे रणक्षेत्रमें वेगपूर्वक आते हुए नकुलपुत्र शतानीकको चित्रसेनने अपने बाणोंद्वारा तुरंत रोक दिया ॥ १५ ॥

अर्जुनं च युधां श्रेष्ठं प्राद्रवन्तं महारथम् ।
अलम्बुषो महाराज राक्षसेन्द्रो न्यवारयत् ॥ १६ ॥

महाराज ! कौरवसेनापर धावा करते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ महारथी अर्जुनको राक्षसराज अलम्बुषने रोका ॥ १६ ॥

तथा द्रोणं महेष्वासं निघ्नन्तं शात्रवान् रणे ।
धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यो हृष्टरूपमवारयत् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार रणभूमिमें शत्रुसैनिकोंका संहार करनेवाले, हर्ष और उत्साहसे युक्त, महाधनुर्धर द्रोणाचार्यको पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १७ ॥

तथान्यान् पाण्डुपुत्राणां समायातान् महारथान् ।
तावका रथिनो राजन् वारयामासुरोजसा ॥ १८ ॥

राजन् ! इसी तरह आक्रमण करनेवाले पाण्डवपक्षके अन्य महारथियोंको आपकी सेनाके महारथियोंने बलपूर्वक रोका ॥ १८ ॥

गजारोहा गजैस्तूर्णं संनिपत्य महामृधे ।
योधयन्तश्च मृद्नन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

उस महासमरमें सैकड़ों और हजारों हाथीसवार तुरंत ही विपक्षी गजारोहियोंसे भिड़कर परस्पर जूझने और सैनिकोंको रौंदने लगे ॥ १९ ॥

निशीथे तुरगा राजन् द्रावयन्तः परस्परम् ।
समदृश्यन्त वेगेन पक्षवन्तो यथाऽद्रयः ॥ २० ॥

राजन् ! रातके समय एक दूसरेपर वेगसे धावा करते

हुए घोड़े पंखधारी पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ २० ॥

सादिनः सादिभिः सार्धं प्रासशक्त्यृष्टिपाणयः ।
समागच्छन् महाराज विनदन्तः पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥

महाराज ! हाथमें प्रास, शक्ति और ऋष्टि धारण किये घुड़सवार सैनिक पृथक्-पृथक् गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके घुड़सवारोंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ २१ ॥

नरास्तु बहवस्तत्र समाजग्मुः परस्परम् ।
गदाभिर्मुसलैश्चैव नानाशस्त्रैश्च संयुगे ॥ २२ ॥

उस युद्धस्थलमें बहुसंख्यक पैदल मनुष्य गदा और मुसल आदि नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा एक दूसरेपर आक्रमण करते थे ॥ २२ ॥

कृतवर्मा तु हार्दिक्यो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
वारयामास संक्रुद्धो वेलेवोद्वृत्तमर्णवम् ॥ २३ ॥

जैसे उत्ताल तरंगोंवाले महासागरको तटभूमि रोक देती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हृदिकपुत्र कृतवर्माने रोक दिया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्तु हार्दिक्यं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
पुनर्विव्याध विंशत्या तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने कृतवर्माको पहले पाँच बाणोंसे घायल करके फिर बीस बाणोंसे बींध डाला और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २४ ॥

कृतवर्मा तु संक्रुद्धो धर्मपुत्रस्य मारिष ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन तं च विव्याध सप्तभिः ॥ २५ ॥

माननीय नरेश ! तब अत्यन्त कुपित हुए कृतवर्माने भी एक भल्लसे धर्मपुत्र युधिष्ठिरका धनुष काट दिया और उन्हें भी सात बाणोंसे बींध डाला ॥ २५ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धर्मपुत्रो महारथः ।
हार्दिक्यं दशभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर महारथी धर्मकुमार युधिष्ठिरने दूसरा धनुष लेकर कृतवर्माकी छाती और भुजाओंमें दस बाण मारे ॥ २६ ॥

माधवस्तु रणे विद्धो धर्मपुत्रेण मारिष ।
प्राकम्पत च रोषेण सप्तभिश्चार्दयच्छरैः ॥ २७ ॥

आर्य ! रणभूमिमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके बाणोंसे घायल होकर कृतवर्मा काँपने लगा और उसने क्रोधपूर्वक युधिष्ठिरको भी सात बाण मारे ॥ २७ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा हस्तावापं निकृत्य च ।
प्राहिणोन्निशितान् बाणान् पञ्च राजञ्छिलाशितान् ॥ २८ ॥

राजन् ! तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने कृतवर्माके धनुष और दस्तानेको काटकर उसके ऊपर पाँच तीखे बाण चलाये, जो शिलापर तेज किये गये थे ॥ २८ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा हेमचित्रं महाधनम् ।
प्राविशन् धरणीं भित्त्वा वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ २९ ॥

जैसे सर्प बाँबीमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार वे बाण कृतवर्माके सुवर्णजटित बहुमूल्य कवचको छिन्न-भिन्न करके धरती फाड़कर उसके भीतर घुस गये ॥ २९ ॥

अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
विव्याध पाण्डवं षष्ट्या सूतं च नवभिः शरैः ॥ ३० ॥

कृतवर्माने पलक मारते-मारते दूसरा धनुष हाथमें लेकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको साठ और उनके सारथिको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

तस्य शक्तिममेयात्मा पाण्डवो भुजगोपमाम् ।
चिक्षेप भरतश्रेष्ठ रथे न्यस्य महद् धनुः ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने विशाल धनुषको रथपर रखकर कृतवर्मापर एक सर्पाकार शक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

सा हेमचित्रा महती पाण्डवेन प्रवेरिता ।
निर्भिद्य दक्षिणं बाहुं प्राविशद् धरणीतलम् ॥ ३२ ॥

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरकी चलायी हुई वह सुवर्णचित्रित विशाल शक्ति कृतवर्माकी दाहिनी भुजाको छेदकर धरतीमें समा गयी ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु गृह्य पार्थः पुनर्धनुः ।
हार्दिक्यं छादयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३३ ॥

इसी समय युधिष्ठिरने पुनः धनुष हाथमें लेकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कृतवर्माको ढक दिया ॥ ३३ ॥

ततस्तु समरे शूरो वृष्णीनां प्रवरो रथी ।
व्यश्वसूतरथं चक्रे निमेषार्धाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३४ ॥

फिर तो वृष्णिवंशके शूरवीर श्रेष्ठ महारथी कृतवर्माने समराङ्गणमें आधे निमेषमें ही युधिष्ठिरको घोड़ों, सारथि और रथसे हीन कर दिया ॥ ३४ ॥

ततस्तु पाण्डवो ज्येष्ठः खड्गं चर्म समाददे ।
तदस्य निशितैर्बाणैर्व्यधमन्माधवो रणे ॥ ३५ ॥

तब ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने ढाल-तलवार हाथमें ले ली। किंतु कृतवर्माने रणक्षेत्रमें तीखे बाण मारकर उनके उस खड्गको नष्ट कर दिया ॥ ३५ ॥

तोमरं तु ततो गृह्य स्वर्णदण्डं दुरासदम् ।
प्रैषयत् समरे तूर्णं हार्दिक्यस्य युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥

तब समराङ्गणमें युधिष्ठिरने सुवर्णमय दण्डसे युक्त दुर्धर्ष तोमर हाथमें लेकर उसे तुरंत ही कृतवर्मापर चला दिया ॥

तमापतन्तं सहसा धर्मराजभुजच्युतम् ।
द्विधा चिच्छेद हार्दिक्यः कृतहस्तः स्मयन्निव॥ ३७ ॥

धर्मराजके हाथसे छूटकर सहसा अपने ऊपर आते हुए उस तोमरके सिद्धहस्त कृतवर्माने मुसकराते हुए-से दो टुकड़े कर दिये ॥ ३७ ॥

ततः शरशतेनाजौ धर्मपुत्रमवाकिरत् ।
कवचं चास्य संक्रुद्धः शरैस्तीक्ष्णैरदारयत् ॥ ३८ ॥

तब युद्धस्थलमें कृतवर्माने सैकड़ों बाणोंसे धर्मपुत्र युधिष्ठिरको ढक दिया और अत्यन्त कुपित होकर उसने उनके कवचको भी तीखे बाणोंसे विदीर्ण कर डाला ॥ ३८ ॥

हार्दिक्यशरसंछिन्नं कवचं तन्महाधनम् ।
व्यशीर्यत रणे राजंस्ताराजालमिवाम्बरात् ॥ ३९ ॥

राजन् ! कृतवर्माके बाणोंसे आच्छादित हुआ वह बहुमूल्य कवच आकाशसे तारोंके समुदायकी भाँति रणभूमिमें बिखर गया ॥ ३९ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः शीर्णवर्मा शरार्दितः ।
अपायासीद् रणात् तूर्णं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ४० ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने, रथ नष्ट होने और कवच छिन्न-भिन्न हो जानेपर बाणोंसे पीड़ित हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही युद्धसे पलायन कर गये ॥ ४० ॥

कृतवर्मा तु निर्जित्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
पुनर्द्रोणस्य जुगुपे चक्रमेव महात्मनः ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरको जीतकर कृतवर्मा पुनः महात्मा द्रोणके रथचक्रकी ही रक्षा करने लगा ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे युधिष्ठिरापयानं नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर युधिष्ठिरका पलायनविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके द्वारा भूरिका वध, घटोत्कच और अश्वत्थामाका घोर युद्ध तथा भीमके साथ दुर्योधनका युद्ध एवं दुर्योधनका पलायन

संजय उवाच

भूरिस्तु समरे राजञ्शैनेयं रथिनां वरम् ।
आपतन्तमपासेधत् प्रयाणादिव कुञ्जरम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जैसे कोई हाथीको उसके निकलनेके स्थानसे ही रोक दे, उसी प्रकार भूरिने आक्रमण करते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिको समरभूमिमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १ ॥

अथैनं सात्यकिः क्रुद्धः पञ्चभिर्निशितैः शरैः ।
विव्याध हृदये तस्य प्रास्रवत् तस्य शोणितम् ॥ २ ॥

यह देख सात्यकि कुपित हो उठे और उन्होंने पाँच तीखे बाणोंसे भूरिकी छाती छेद डाली । उससे रक्तकी धारा बहने लगी ॥ २ ॥

तथैव कौरवो युद्धे शैनेयं युद्धदुर्मदम् ।
दशभिर्निशितैस्तीक्ष्णैरविध्यत भुजान्तरे ॥ ३ ॥

इसी प्रकार युद्धस्थलमें कुरुवंशी भूरिने भी रणदुर्मद सात्यकिकी छातीमें दस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३ ॥

तावन्योन्यं महाराज ततक्षाते शरैर्भृशम् ।
क्रोधसंरक्तनयनौ क्रोधाद् विस्फार्य कार्मुके ॥ ४ ॥

महाराज ! उन दोनोंके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे । वे दोनों ही रोषसे अपने-अपने धनुष खींचकर बाणोंकी वर्षासे एक-दूसरेको अत्यन्त घायल कर रहे थे ॥ ४ ॥

तयोरासीन्महाराज शस्त्रवृष्टिः सुदारुणा ।
क्रुद्धयोः सायकमुचोर्यमान्तकनिकाशयोः ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उन दोनोंपर अस्त्र-शस्त्रोंकी अत्यन्त भयंकर वर्षा हो रही थी । वे यम और अन्तकके समान कुपित हो परस्पर बाणोंका प्रहार कर रहे थे ॥ ५ ॥

तावन्योन्यं शरै राजन् संछाद्य समवस्थितौ ।
मुहूर्तं चैव तद् युद्धं समरूपमिवाभवत् ॥ ६ ॥

राजन् ! वे दोनों ही एक-दूसरेको बाणोंद्वारा आच्छादित करके खड़े थे । दो घड़ीतक उनमें समानरूपसे ही युद्ध चलता रहा ॥ ६ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज शैनेयः प्रहसन्निव ।
धनुश्चिच्छेद समरे कौरव्यस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

महाराज ! तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने हँसते हुए-से समराङ्गणमें महामना कुरुवंशी भूरिके धनुषको काट दिया ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नवभिर्निशितैः शरैः ।
विव्याध हृदये तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ८ ॥

धनुष कट जानेपर उसकी छातीमें सात्यकिने तुरंत ही नौ तीखे बाण मारे और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥८॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुतापनः ।
धनुरन्यत् समादाय सात्वतं प्रत्यविध्यत ॥ ९ ॥

बलवान् शत्रुके आघातसे अत्यन्त घायल हुए शत्रुतापन भूरिने दूसरा धनुष हाथमें लेकर सात्यकिको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ ९ ॥

स विद्ध्वा सात्वतं बाणैस्त्रिभिरेव विशाम्पते ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सुतीक्ष्णेन हसन्निव ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! तीन बाणोंसे ही सात्यकिको घायल करके भूरिने हँसते हुए-से अत्यन्त तीखे भल्लद्वारा उनके धनुषको भी काट दिया ॥ १० ॥

छिन्नधन्वा महाराज सात्यकिः क्रोधमूर्छितः ।
प्रजहार महावेगां शक्तिं तस्य महोरसि ॥ ११ ॥

महाराज ! धनुष कट जानेपर क्रोधातुर हुए सात्यकिने भूरिके विशाल वक्षःस्थलपर एक अत्यन्त वेगशालिनी शक्तिका प्रहार किया ॥ ११ ॥

स तु शक्त्या विभिन्नाङ्गो निपपात रथोत्तमात् ।
लोहिताङ्ग इवाकाशाद् दीप्तरश्मिर्यदृच्छया ॥ १२ ॥

उस शक्तिसे भूरिके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये और वह अपने उत्तम रथसे नीचे गिर पड़ा, मानो दैववश प्रदीप्त किरणोंवाला मंगलग्रह आकाशसे नीचे गिर गया हो ॥ १२ ॥

तं तु दृष्ट्वा हतं शूरमश्वत्थामा महारथः ।
अभ्यधावत वेगेन शैनेयं प्रति संयुगे ॥ १३ ॥

शूरवीर भूरिको युद्धस्थलमें मारा गया देख महारथी अश्वत्थामा सात्यकिकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ १३ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति चाभाष्य शैनेयं स नराधिप ।
अभ्यवर्षच्छरौघेण मेरुं वृष्ट्या यथाम्बुदः ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! वह सात्यकिसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उनके ऊपर उसी प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा, जैसे बादल मेरु पर्वतपर जल बरसा रहा हो ॥ १४ ॥

तमापतन्तं संरब्धं शैनेयस्य रथं प्रति ।
घटोत्कचोऽब्रवीद् राजन् नादं मुक्त्वा महारथः॥१५॥

क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाको सात्यकिके रथपर आक्रमण करते देख महारथी घटोत्कचने सिंहनाद करके कहा—॥ १५ ॥

तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन् द्रोणपुत्र गमिष्यसि ।
एष त्वां निहनिष्यामि महिषं षण्मुखो यथा ॥ १६ ॥

'द्रोणपुत्र ! खड़ा रह, खड़ा रह, मेरे हाथसे जीवित छूटकर नहीं जा सकेगा । जैसे कार्तिकेयने महिषासुरका वध किया था, उसी प्रकार मैं भी तुझे मार डालूँगा ॥ १६ ॥

युद्धश्रद्धामहं तेऽद्य विनेष्यामि रणाजिरे ।
इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षो राक्षसः परवीरहा ॥ १७ ॥
द्रौणिमभ्यद्रवत् क्रुद्धो गजेन्द्रमिव केसरी ।

'आज समराङ्गणमें मैं तेरी युद्धविषयक श्रद्धा दूर कर दूँगा ।' ऐसा कहकर क्रोधसे लाल आँखें किये, शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुपित राक्षस घटोत्कचने अश्वत्थामापर उसी प्रकार धावा किया, जैसे सिंह किसी गजराजपर आक्रमण करता है ॥ १७½ ॥

रथाक्षमात्रैरिषुभिरभ्यवर्षद् घटोत्कचः ॥ १८ ॥
रथिनामृषभं द्रौणिं धाराभिरिव तोयदः ।

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार घटोत्कच रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामापर रथके धुरेके समान मोटे-मोटे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १८½ ॥

शरवृष्टिं तु तां प्राप्तां शरैराशीविषोपमैः ॥ १९ ॥
शातयामास समरे तरसा द्रौणिरुत्स्मयन् ।

परंतु अश्वत्थामाने मुसकराते हुए समरभूमिमें अपने ऊपर आयी हुई उस बाणवर्षाको विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा वेगपूर्वक नष्ट कर दिया ॥ १९½ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैर्मर्मभेदिभिराशुगैः ॥ २० ॥
समाचिनोद् राक्षसेन्द्रं घटोत्कचमरिंदमम् ।

तत्पश्चात् मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाले सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसने शत्रुदमन राक्षसराज घटोत्कचको बींध दिया ॥ २० ॥

स शरैराचितस्तेन राक्षसो रणमूर्धनि ॥ २१ ॥
व्यकाशत महाराज श्वाविच्छललतो यथा ।

महाराज ! अश्वत्थामाद्वारा उन बाणोंसे बिंधा हुआ वह राक्षस काँटोंसे भरे हुए साहीके समान सुशोभित हो रहा था ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो भैमसेनिः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
शरैरवचकर्तोग्रैर्द्रौणिं वज्राशनिप्रभैः ।
क्षुरप्रैरर्धचन्द्रैश्च नाराचैः सशिलीमुखैः ॥ २३ ॥
वराहकर्णैर्नालीकैर्विकर्णैश्चाभ्यवीवृषत् ।

तत्पश्चात् भीमसेनके प्रतापी पुत्र घटोत्कचने क्रोधमें भरकर वज्र एवं बिजलीके समान चमकनेवाले भयंकर बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको क्षत-विक्षत कर दिया तथा उसके ऊपर क्षुरप्र, अर्धचन्द्र, नाराच, शिलीमुख, वराहकर्ण, नालीक और विकर्ण आदि अस्त्रोंकी चारों ओरसे वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तां शस्त्रवृष्टिमतुलां वज्राशनिसमस्वनाम् ॥ २४ ॥
पतन्तीमुपरि क्रुद्धो द्रौणिरव्यथितेन्द्रियः ।
सुदुःसहां शरैर्घोरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ २५ ॥
व्यधमत् सुमहातेजा महाभ्राणीव मारुतः ।

जैसे वायु बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार व्यथारहित इन्द्रियोंवाले महातेजस्वी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कुपित हो दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित भयंकर बाणोंसे अपने ऊपर पड़ती हुई उस अत्यन्त दुःसह, अनुपम एवं वज्रपातके समान शब्द करनेवाली अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ २४-२५½ ॥

ततोऽन्तरिक्षे बाणानां संग्रामोऽन्य इवाभवत् ॥ २६ ॥
घोररूपो महाराज योधानां हर्षवर्धनः ।

महाराज ! तत्पश्चात् अन्तरिक्षमें बाणोंका दूसरा भयंकर संग्राम-सा होने लगा, जो योद्धाओंका हर्ष बढ़ा रहा था ॥

ततोऽस्त्रसंघर्षकृतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः ॥ २७ ॥
बभौ निशामुखे व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ।

अस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे जो चारों ओर चिनगारियाँ छूट रही थीं, उनसे आकाश प्रदोषकालमें जुगनुओंसे व्याप्त-सा जान पड़ता था ॥ २७½ ॥

स मार्गणगणैर्द्रौणिर्दिशः प्रच्छाद्य सर्वतः ॥ २८ ॥
प्रियार्थं तव पुत्राणां राक्षसं समवाकिरत् ।

द्रोणपुत्रने आपके पुत्रोंका प्रिय करनेके लिये अपने बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करते हुए उस राक्षसको भी ढक दिया ॥ २८½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं द्रौणिराक्षसयोर्मृधे ॥ २९ ॥
विगाढे रजनीमध्ये शक्रप्रह्लादयोरिव ।

तदनन्तर गाढ़ अन्धकारसे भरी हुई आधीरातके समय रणभूमिमें इन्द्र और प्रह्लादके समान अश्वत्थामा और घटोत्कच-का घोर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २९½ ॥

ततो घटोत्कचो बाणैर्दशभिर्द्रौणिमाहवे ॥ ३० ॥
जघानोरसि संक्रुद्धः कालज्वलनसंनिभैः ।

अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने युद्धस्थलमें कालाग्नि-के समान दस तेजस्वी बाणोंद्वारा अश्वत्थामाकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३०½ ॥

स तैरभ्यायतैर्विद्धो राक्षसेन महाबलः ॥ ३१ ॥
चचाल समरे द्रौणिर्वातनुन्न इव द्रुमः ।
स मोहमनुसम्प्राप्तो ध्वजयष्टिं समाश्रितः ॥ ३२ ॥

राक्षसद्वारा चलाये हुए उन विशाल बाणोंसे घायल हो महाबली अश्वत्थामा समराङ्गणमें आँधीके हिलाये हुए वृक्षके समान काँपने लगा । वह ध्वजदण्डका सहारा ले मूर्च्छित हो गया ॥ ३१-३२ ॥

ततो हाहाकृतं सैन्यं तव सर्वं जनाधिप ।
हतं स्म मेनिरे सर्वे तावकास्तं विशाम्पते ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! फिर तो आपकी सारी सेनामें हाहाकार मच गया । प्रजानाथ ! आपके समस्त योद्धाओंने यह मान लिया कि अश्वत्थामा मारा गया ॥ ३३ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथावस्थमश्वत्थामानमाहवे ।
पञ्चालाः सृंजयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें अश्वत्थामाकी वैसी अवस्था देख पाञ्चाल और सृञ्जय योद्धा सिंहनाद करने लगे ॥ ३४ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामश्वत्थामा महाबलः ।
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ॥ ३५ ॥
मुमोचाकर्णपूर्णेन धनुषा शरमुत्तमम् ।
यमदण्डोपमं घोरमुद्दिश्याशु घटोत्कचम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर सचेत हो महाबली शत्रुसूदन अश्वत्थामाने बायें हाथसे धनुषको दबाकर कानतक खींचे हुए धनुषसे घटोत्कचको लक्ष्य करके यमदण्डके समान एक भयंकर एवं उत्तम बाण शीघ्र छोड़ दिया ॥ ३५-३६ ॥

स भित्त्वा हृदयं तस्य राक्षसस्य शरोत्तमः ।
विवेश वसुधामुग्रः सपुङ्खः पृथिवीपते ॥ ३७ ॥

पृथ्वीपते ! वह उत्तम एवं भयंकर बाण उस राक्षसकी छाती छेदकर पंखसहित पृथ्वीमें समा गया ॥ ३७ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज रथोपस्थ उपाविशत् ।
राक्षसेन्द्रः सुबलवान् द्रौणिना रणशालिना ॥ ३८ ॥

महाराज ! युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाद्वारा अत्यन्त घायल हुआ महाबली राक्षसराज घटोत्कच रथके पिछले भाग-में बैठ गया ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा विमूढं हैडिम्बं सारथिस्तु रणाजिरात् ।
द्रौणेः सकाशात् सम्भ्रान्तस्त्वपनिन्ये त्वरान्वितः ॥ ३९ ॥

हिडिम्बाकुमारको मूर्च्छित देख उसका सारथि घबरा गया और तुरंत ही उसे समराङ्गणसे, विशेषतः अश्वत्थामाके निकटसे दूर हटा ले गया ॥ ३९ ॥

तथा तु समरे विद्ध्वा राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ।
ननाद सुमहानादं द्रोणपुत्रो महारथः ॥ ४० ॥

इस प्रकार समरभूमिमें राक्षसराज घटोत्कचको घायल करके महारथी द्रोणपुत्रने बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४० ॥

पूजितस्तव पुत्रैश्च सर्वयोधैश्च भारत ।
वपुषातिप्रजज्वाल मध्याह्न इव भास्करः ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! उस समय सम्पूर्ण योद्धाओं तथा आपके पुत्रोंद्वारा पूजित हुआ अश्वत्थामा अपने शरीरसे मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अत्यन्त प्रकाशित हो रहा था ॥ ४१ ॥

भीमसेनं तु युध्यन्तं भारद्वाजरथं प्रति ।
स्वयं दुर्योधनो राजा प्रत्यविध्यच्छितैः शरैः ॥ ४२ ॥

द्रोणाचार्यके रथकी ओर आते हुए युद्धपरायण भीमसेनको स्वयं राजा दुर्योधनने पैने बाणोंसे बींध डाला ॥ ४२ ॥

तं भीमसेनो दशभिः शरैर्विव्याध मारिष ।
दुर्योधनोऽपि विंशत्या शराणां प्रत्यविध्यत ॥ ४३ ॥

माननीय नरेश ! तब भीमसेनने भी दुर्योधनको दस बाणोंसे घायल किया । फिर दुर्योधनने भी उन्हें बीस बाण मारे ॥ ४३ ॥

तौ सायकैरवच्छिन्नावदृश्येतां रणाजिरे ।
मेघजालसमाच्छन्नौ नभसीवेन्दुभास्करौ ॥ ४४ ॥

जैसे कभी-कभी चन्द्रमा और सूर्य आकाशमें मेघोंके समूहसे आच्छादित हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार समराङ्गणमें वे दोनों वीर सायकसमूहोंसे आच्छन्न दिखायी देते थे ॥

अथ दुर्योधनो राजा भीमं विव्याध पत्रिभिः ।
पञ्चभिर्भरतश्रेष्ठ तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनने भीमसेनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥४५॥

तस्य भीमो धनुश्छित्त्वा ध्वजं च दशभिः शरैः ।
विव्याध कौरवश्रेष्ठं नवत्या नतपर्वणाम् ॥ ४६ ॥

तब भीमसेनने दस बाण मारकर उसके धनुष और ध्वज काट डाले और झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंसे कौरवश्रेष्ठ दुर्योधनको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४६ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो धनुरन्यन्महत्तरम् ।
गृहीत्वा भरतश्रेष्ठो भीमसेनं शितैः शरैः ॥ ४७ ॥
अपीडयद् रणमुखे पश्यतां सर्वधन्विनाम् ।

तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने कुपित हो दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर युद्धके मुहानेपर सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते पैने बाणोंद्वारा भीमसेनको पीड़ा देनी आरम्भ की ॥

तान् निहत्य शरान् भीमो दुर्योधनधनुश्च्युतान् ॥ ४८ ॥
कौरवं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

दुर्योधनके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको नष्ट करके भीमसेनने उस कौरव-नरेशको पचीस बाण मारे ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो भीमसेनस्य मारिष ॥ ४९ ॥
क्षुरप्रेण धनुश्छित्त्वा दशभिः प्रत्यविध्यत ।

आर्य ! इससे दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो उठा और उसने एक क्षुरप्रसे भीमसेनका धनुष काटकर उन्हें दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४९½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय भीमसेनो महाबलः ॥ ५० ॥
विव्याध नृपतिं तूर्णं सप्तभिर्निशितैः शरैः ।

तब महाबली भीमसेनने दूसरा धनुष हाथमें लेकर तुरंत ही कौरव-नरेशको सात तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ५०½ ॥

तदप्यस्य धनुः क्षिप्रं चिच्छेद लघुहस्तवत् ॥ ५१ ॥
द्वितीयं च तृतीयं च चतुर्थं पञ्चमं तथा ।
आत्तमात्तं महाराज भीमस्य धनुराच्छिनत् ॥ ५२ ॥
तव पुत्रो महाराज जितकाशी मदोत्कटः ।

दुर्योधनने शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले कुशल योद्धाकी भाँति भीमसेनके उस धनुषको भी शीघ्र ही काट दिया । महाराज ! भीमसेनके हाथमें लिये हुए दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें धनुषको भी विजयसे उल्लसित होनेवाले आपके मदोन्मत्त पुत्रने काट डाला ॥ ५१-५२½ ॥

स तथा छिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥ ५३ ॥
शक्तिं चिक्षेप समरे सर्वपारशवीं शुभाम् ।
मृत्योरिव स्वसारं हि दीप्तां वह्निशिखामिव ॥ ५४ ॥

इस प्रकार जब बारंबार धनुष काटे जाने लगे, तब भीमसेनने समरभूमिमें सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई एक सुन्दर शक्ति चलायी, जो मौतकी सगी बहिनके समान जान पड़ती थी । वह आगकी ज्वालाके समान प्रकाशित हो रही थी ॥

सीमन्तमिव कुर्वन्तीं नभसोऽग्निसमप्रभाम् ।
अप्राप्तामेव तां शक्तिं त्रिधा चिच्छेद कौरवः ॥ ५५ ॥
पश्यतः सर्वलोकस्य भीमस्य च महात्मनः ।

आकाशमें सीमन्तकी रेखा-सी बनाती हुई अग्निके समान देदीप्यमान होनेवाली उस शक्तिके अपने पास आनेसे पहले ही कौरव-नरेशने तीन टुकड़े कर दिये । सम्पूर्ण योद्धाओं तथा महामना भीमसेनके देखते-देखते यह कार्य हो गया ॥

ततो भीमो महाराज गदां गुर्वीं महाप्रभाम् ॥ ५६ ॥
चिक्षेपाविध्य वेगेन दुर्योधनरथं प्रति ।

महाराज ! तब भीमसेनने अपनी अत्यन्त तेजस्विनी गदाको बड़े वेगसे घुमाकर दुर्योधनके रथपर दे मारा ॥५६½॥

ततः सा सहसा वाहांस्तव पुत्रस्य संयुगे ॥ ५७ ॥
सारथिं च गदा गुर्वी ममर्दास्य रथं पुनः ।

युद्धस्थलमें उस भारी गदाने सहसा आपके पुत्रके चारों घोड़ों, सारथि और रथका भी मर्दन कर दिया ॥ ५७½ ॥

पुत्रस्तु तव राजेन्द्र भीमाद् भीतः प्रणश्य च ॥ ५८ ॥
आरुरोह रथं चान्यं नन्दकस्य महात्मनः ।

राजेन्द्र ! उस समय आपका पुत्र भीमसेनसे भयभीत हो पहले ही भागकर महामना नन्दकके रथपर जा बैठा था ॥

ततो भीमो हतं मत्वा तव पुत्रं महारथम् ॥ ५९ ॥
सिंहनादं महच्चक्रे तर्जयन् निशि कौरवान् ।

उस समय भीमसेनने आपके महारथी पुत्रको मारा गया मानकर रातके समय कौरवोंको डाँट बताते हुए बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५९½ ॥

तावकाः सैनिकाश्चापि मेनिरे निहतं नृपम् ।
ततोऽतिचुक्रुशुः सर्वे ते हाहेति समन्ततः ॥ ६० ॥

आपके सैनिकोंने भी राजा दुर्योधनको मरा हुआ ही मान लिया था; अतः वे सब ओर जोर-जोरसे हाहाकार करने लगे ॥ ६० ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा त्रस्तानां सर्वयोधिनाम् ।
भीमसेनस्य नादं च श्रुत्वा राजन् महात्मनः ॥ ६१ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा हतं मत्वा सुयोधनम् ।
अभ्यवर्तत वेगेन यत्र पार्थो वृकोदरः ॥ ६२ ॥

राजन् ! उन भयभीत हुए सम्पूर्ण योद्धाओंका आर्तनाद तथा महामनस्वी भीमसेनकी गर्जना सुनकर दुर्योधनको मरा हुआ मान राजा युधिष्ठिर बड़े वेगसे उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ कुन्तीकुमार भीमसेन दहाड़ रहे थे ॥ ६१-६२ ॥

पञ्चालाः केकया मत्स्याः सृंजयाश्च विशाम्पते ।
सर्वोद्योगेनाभिजग्मुर्द्रोणमेव युयुत्सया ॥ ६३ ॥

प्रजानाथ ! फिर तो पाञ्चाल, मत्स्य, केकय और सृञ्जय योद्धा युद्धकी इच्छासे पूर्ण उद्योग करके द्रोणाचार्यपर ही टूट पड़े ॥ ६३ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं द्रोणस्याथ परैः सह ।
घोरे तमसि मग्नानां निघ्नतामितरेतरम् ॥ ६४ ॥

वहाँ शत्रुओंके साथ द्रोणाचार्यका बड़ा भारी संग्राम हुआ । सब लोग घोर अन्धकारमें डूबकर एक-दूसरेपर घातक प्रहार कर रहे थे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे दुर्योधनापयाने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें दुर्योधनका पलायनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा सहदेवकी पराजय, शल्यके द्वारा विराटके भाई शतानीकका वध और विराटकी पराजय तथा अर्जुनसे पराजित होकर अलम्बुषका पलायन

संजय उवाच

सहदेवमथायान्तं द्रोणप्रेप्सुं विशाम्पते ।
कर्णो वैकर्तनो युद्धे वारयामास भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! द्रोणाचार्यको लक्ष्य करके आते हुए सहदेवको युद्धस्थलमें वैकर्तन कर्णने रोका ॥ १ ॥

सहदेवस्तु राधेयं विद्ध्वा नवभिराशुगैः ।
पुनर्विव्याध दशभिर्विशिखैर्नतपर्वभिः ॥ २ ॥

सहदेवने राधापुत्र कर्णको नौ बाणोंसे बींधकर झुकी हुई गाँठवाले दस बाणोंद्वारा पुनः घायल कर दिया ॥ २ ॥

तं कर्णः प्रतिविव्याध शतेन नतपर्वणाम् ।
सज्यं चास्य धनुः शीघ्रं चिच्छेद लघुहस्तवत् ॥ ३ ॥

कर्णने बदलेमें झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण मारे और शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले वीर योद्धाकी भाँति उसने उनके प्रत्यञ्चासहित धनुषको भी शीघ्र ही काट दिया ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ।
कर्णं विव्याध विंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर प्रतापी माद्रीकुमार सहदेवने दूसरा धनुष हाथमें लेकर कर्णको बीस बाणोंसे घायल कर दिया । वह अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ ४ ॥

तस्य कर्णो हयान् हत्वा शरैः संनतपर्वभिः ।
सारथिं चास्य भल्लेन द्रुतं निन्ये यमक्षयम् ॥ ५ ॥

तब कर्णने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सहदेवके घोड़ोंको मारकर एक भल्लका प्रहार करके उनके सारथिको भी शीघ्र ही यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५ ॥

विरथः सहदेवस्तु खड्गं चर्म समाददे ।
तदप्यस्य शरैः कर्णो व्यधमत् प्रहसन्निव ॥ ६ ॥

रथहीन हो जानेपर सहदेवने ढाल और तलवार हाथमें ले ली; परंतु कर्णने हँसते हुए-से बाण मारकर उनकी उस तलवारके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ६ ॥

अथ गुर्वीं महाघोरां हेमचित्रां महागदाम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो वैकर्तनरथं प्रति ॥ ७ ॥

तब सहदेवने अत्यन्त कुपित होकर एक सुवर्णजटित अत्यन्त भयंकर विशाल गदा सूर्यपुत्र कर्णके रथपर दे मारी ॥ ७ ॥

तामापतन्तीं सहसा सहदेवप्रचोदिताम् ।
व्यष्टम्भयच्छरैः कर्णो भूमौ चैनामपातयत् ॥ ८ ॥

सहदेवके द्वारा चलायी हुई उस गदाको सहसा अपने ऊपर आती देख कर्णने बहुत-से बाणोंद्वारा उसे स्तम्भित कर दिया और पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ८ ॥

गदां विनिहतां दृष्ट्वा सहदेवस्त्वरान्वितः ।
शक्तिं चिक्षेप कर्णाय तामप्यस्याच्छिनच्छरैः ॥ ९ ॥

अपनी गदाको असफल होकर गिरी हुई देख सहदेवने बड़ी उतावलीके साथ कर्णपर शक्ति चलायी; किंतु उसने बाणोंद्वारा उस शक्तिको भी काट डाला ॥ ९ ॥

ससम्भ्रमं ततस्तूर्णमवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
सहदेवो महाराज दृष्ट्वा कर्णं व्यवस्थितम् ॥ १० ॥
रथचक्रं प्रगृह्याजौ मुमोचाधिरथिं प्रति ।

महाराज ! तब सहदेव अपने उस उत्तम रथसे शीघ्र ही वेगपूर्वक कूद पड़े और युद्धस्थलमें अधिरथपुत्र कर्णको सामने खड़ा देख रथका एक चक्का लेकर उसके ऊपर चला दिया ॥ १०½ ॥

तदापतद् वै सहसा कालचक्रमिवोद्यतम् ॥ ११ ॥
शरैरनेकसाहस्रैराच्छिनत् सूतनन्दनः ।

उठे हुए कालचक्रके समान सहसा अपने ऊपर गिरते हुए उस रथचक्रको सूतनन्दन कर्णने कई हजार बाणोंसे काट गिराया ॥ ११½ ॥

तस्मिंस्तु निहते चक्रे सूतजेन महात्मना ॥ १२ ॥
ईषादण्डकयोक्त्रांश्च युगानि विविधानि च ।
हस्त्यङ्गानि तथाश्वांश्च मृतांश्च पुरुषान् बहून् ॥ १३ ॥
चिक्षेप कर्णमुद्दिश्य कर्णस्तान् व्यधमच्छरैः ।

महामनस्वी सूतपुत्र कर्णके द्वारा उस रथचक्रके नष्ट कर दिये जानेपर ईषादण्ड, जोते, नाना प्रकारके जूए, हाथीके कटे हुए अङ्ग, मरे घोड़े और बहुत-सी मृत मनुष्योंकी लाशें कर्णको लक्ष्य करके चलायीं; परंतु कर्णने अपने बाणोंद्वारा उन सबकी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥ १२-१३½ ॥

स निरायुधमात्मानं ज्ञात्वा माद्रवतीसुतः ॥ १४ ॥
वार्यमाणस्तु विशिखैः सहदेवो रणं जहौ ।

तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने अपने आपको आयुधोंसे रहित समझकर कर्णके बाणोंसे अवरुद्ध हो उस रणभूमिको त्याग दिया ॥ १४½ ॥

तमभिद्रुत्य राधेयो मुहूर्ताद् भरतर्षभ ॥ १५ ॥
अब्रवीत् प्रहसन् वाक्यं सहदेवं विशाम्पते ।

भरतश्रेष्ठ ! प्रजानाथ ! तदनन्तर राधापुत्र कर्णने दो घड़ीतक सहदेवका पीछा करके उनसे हँसते हुए इस प्रकार कहा—॥ १५½ ॥

मा युध्यस्व रणेऽधीर विशिष्टै रथिभिः सह ॥ १६ ॥
सदृशैर्युध्य माद्रेय वचो मे मा विशङ्किथाः ।

'ओ अधीर बालक ! तू युद्धस्थलमें विशिष्ट रथियोंके साथ संग्राम न करना । माद्रीकुमार ! अपने समान योद्धाओं-के साथ युद्ध किया कर । मेरी इस बातपर संदेह न करना' ॥

अथैनं धनुषोऽग्रेण तुदन् भूयोऽब्रवीद् वचः ॥ १७ ॥
एषोऽर्जुनो रणे तूर्णं युध्यते कुरुभिः सह ।
तत्र गच्छस्व माद्रेय गृहं वा यदि मन्यसे ॥ १८ ॥

तदनन्तर धनुषकी नोकसे उन्हें पीड़ा देते हुए कर्णने पुनः इस प्रकार कहा—'माद्रीपुत्र ! ये अर्जुन कौरवोंके साथ रणभूमिमें शीघ्रतापूर्वक युद्ध कर रहे हैं । तू उन्हींके पास चला जा अथवा तेरा मन हो तो घरको लौट जा' ॥१७-१८॥

एवमुक्त्वा तु तं कर्णो रथेन रथिनां वरः ।
प्रायात् पाञ्चालपाण्डूनां सैन्यानि प्रदहन्निव ॥ १९ ॥

सहदेवसे ऐसा कहकर रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण पाञ्चालों और पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध करता हुआ-सा रथके द्वारा उनकी ओर वेगपूर्वक चल दिया ॥ १९ ॥

वधं प्राप्तं तु माद्रेयं नावधीत् समरेऽरिहा ।
कुन्त्याः स्मृत्वा वचो राजन् सत्यसंधो महायशाः॥ २०॥

यद्यपि सहदेव उस समय वध करने योग्य अवस्थामें पहुँच गये थे, तो भी कुन्तीको दिये हुए वचनको याद करके समराङ्गणमें शत्रुसूदन सत्यप्रतिज्ञ एवं महायशस्वी कर्णने उनका वध नहीं किया ॥ २० ॥

सहदेवस्ततो राजन् विमनाः शरपीडितः ।
कर्णवाक्छरतप्तश्च जीवितान्निरविद्यत ॥ २१ ॥

राजन् ! तदनन्तर सहदेव कर्णके बाणोंसे पीड़ित और उसके वचनरूपी बाणोंसे संतप्त एवं खिन्नचित्त हो अपने जीवनसे विरक्त हो गये ॥ २१ ॥

आरुरोह रथं चापि पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ।
जनमेजयस्य समरे त्वरायुक्तो महारथः ॥ २२ ॥

फिर वे महारथी सहदेव बड़ी उतावलीके साथ महामना पाञ्चाल-राजकुमार जनमेजयके रथपर आरूढ़ हो गये ॥२२॥

विराटं सहसेनं तु द्रोणं वै द्रुतमागतम् ।
मद्रराजः शरौघेण च्छादयामास धन्विनम् ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यपर वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले सेनासहित धनुर्धर राजा विराटको मद्रराज शल्यने अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥ २३ ॥

तयोः समभवद् युद्धं समरे दृढधन्विनोः।
यादृशं ह्यभवद् राजञ्जम्भवासवयोः पुरा ॥ २४॥

राजन्! फिर तो समराङ्गणमें उन दोनों सुदृढ़ धनुर्धर योद्धाओंमें वैसा ही घोर युद्ध होने लगा, जैसा कि पूर्वकालमें इन्द्र और जम्भासुरमें हुआ था ॥ २४ ॥

मद्रराजो महाराज विराटं वाहिनीपतिम्।
आजघ्ने त्वरितस्तूर्णं शतेन नतपर्वणाम् ॥ २५॥

महाराज! मद्रराज शल्यने सेनापति राजा विराटको बड़ी उतावलीके साथ झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण मारकर तुरंत घायल कर दिया ॥ २५ ॥

प्रतिविव्याध तं राजन् नवभिर्निशितैः शरैः।
पुनश्चैनं त्रिसप्तत्या भूयश्चैव शतेन तु ॥ २६॥

राजन्! तब विराटने मद्रराजको पहले नौ, फिर तिहत्तर और पुनः सौ तीखे बाणोंसे घायल करके बदला चुकाया ॥ २६ ॥

तस्य मद्राधिपो हत्वा चतुरो रथवाजिनः।
सूतं ध्वजं च समरे शराभ्यां संन्यपातयत् ॥ २७॥

तदनन्तर मद्रराजने विराटके रथके चारों घोड़ोंको मारकर दो बाणोंसे समराङ्गणमें सारथि और ध्वजको भी काट गिराया ॥ २७ ॥

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः।
तस्थौ विस्फारयंश्चापं विमुञ्चंश्च शिताञ्छरान्॥ २८॥

तब उस अश्वहीन रथसे तुरंत ही कूदकर महारथी राजा विराट धनुषकी टंकार करते और तीखे बाणोंको छोड़ते हुए भूमिपर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

शतानीकस्ततो दृष्ट्वा भ्रातरं हतवाहनम्।
रथेनाभ्यपतत् तूर्णं सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २९॥

तत्पश्चात् शतानीक अपने भाईके वाहनको नष्ट हुआ देख सब लोगोंके देखते-देखते शीघ्र ही रथके द्वारा उनके पास आ पहुँचे ॥ २९ ॥

शतानीकमथायान्तं मद्रराजो महामृधे।
विशिखैर्बहुभिर्विद्ध्वा ततो निन्ये यमक्षयम् ॥ ३०॥

उस महासमरमें वहाँ आते हुए शतानीकको बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके मद्रराज शल्यने उन्हें यमलोक पहुँचा दिया ॥ ३० ॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे विराटो रथसत्तमः।
आरुरोह रथं तूर्णं तमेव ध्वजमालिनम् ॥ ३१॥

वीर शतानीकके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट तुरंत ही ध्वज-मालासे विभूषित उसी रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ३१ ॥

ततो विस्फार्य नयने क्रोधाद् द्विगुणविक्रमः।
मद्रराजरथं तूर्णं छादयामास पत्रिभिः ॥ ३२॥

तब क्रोधसे आँखें फाड़कर दूना पराक्रम दिखाते हुए विराटने अपने बाणोंद्वारा मद्रराजके रथको शीघ्र ही आच्छादित कर दिया ॥ ३२ ॥

ततो मद्राधिपः क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा।
आजघानोरसि दृढं विराटं वाहिनीपतिम् ॥ ३३॥

इससे कुपित हुए मद्रराज शल्यने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे सेनापति विराटकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥

सोऽतिविद्धो महाराज रथोपस्थ उपाविशत्।
कश्मलं चाविशत् तीव्रं विराटो भरतर्षभ ॥ ३४॥

महाराज! भरतभूषण! राजा विराट अत्यन्त घायल होकर रथके पिछले भागमें धम्म-से बैठ गये और उन्हें तीव्र मूर्च्छाने दबा लिया ॥ ३४ ॥

सारथिस्तमपोवाह समरे शरविक्षतम्।
ततः सा महती सेना प्राद्रवन्निशि भारत ॥ ३५॥
वध्यमाना शरशतैः शल्येनाहवशोभिना।

भरतनन्दन! समराङ्गणमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए राजा विराटको उनका सारथि दूर हटा ले गया। तब संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यके सैकड़ों सायकोंसे पीड़ित हुई वह विशाल सेना उस रात्रिके समय भाग खड़ी हुई ॥

तां दृष्ट्वा विद्रुतां सेनां वासुदेवधनंजयौ ॥ ३६॥
प्रयातौ तत्र राजेन्द्र यत्र शल्यो व्यवस्थितः।

राजेन्द्र! उस सेनाको भागती देख श्रीकृष्ण और अर्जुन उसी ओर चल दिये, जहाँ राजा शल्य खड़े थे ॥

तौ तु प्रत्युद्ययौ राजन् राक्षसेन्द्रो ह्यलम्बुषः॥ ३७॥
अष्टचक्रसमायुक्तमास्थाय प्रवरं रथम्।

राजन्! उस समय राक्षसराज अलम्बुष आठ पहियोंसे युक्त श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो उन दोनोंका सामना करनेके लिये आगे बढ़ आया ॥ ३७½ ॥

तुरङ्गममुखैर्युक्तं पिशाचैर्घोरदर्शनैः ॥ ३८॥
लोहितार्द्रपताकं तं रक्तमाल्यविभूषितम्।
कार्ष्णायसमयं घोरमृक्षचर्मसमावृतम् ॥ ३९॥

उसके उस रथमें घोड़ोंके समान मुखवाले भयंकर पिशाच जुते हुए थे। उसपर लाल रंगकी आर्द्र पताका

फहरा रही थी। उस रथको लाल रंगके फूलोंकी मालासे सजाया गया था। वह भयंकर रथ काले लोहेका बना था और उसके ऊपर रीछकी खाल मढ़ी हुई थी॥ ३८-३९॥

रौद्रेण चित्रपक्षेण विवृताक्षेण कूजता।
ध्वजेनोच्छ्रितदण्डेन गृध्रराजेन राजता॥ ४०॥
स बभौ राक्षसो राजन् भिन्नाञ्जनचयोपमः।

उसकी ध्वजापर विचित्र पंख और फैले हुए नेत्रोंवाला भयंकर गृध्रराज अपनी बोली बोलता था। उससे उपलक्षित उस ऊँचे डंडेवाले कान्तिमान् ध्वजसे कटे-छटे कोयलेके पहाड़के समान वह राक्षस बड़ी शोभा पा रहा था॥ ४०½॥

रुरोधार्जुनमायान्तं प्रभञ्जनमिवाद्रिराट्॥ ४१॥
किरन् बाणगणान् राजञ्शतशोऽर्जुनमूर्धनि।

राजन्! अर्जुनके मस्तकपर सैकड़ों बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए उस राक्षसने अपनी ओर आते हुए अर्जुनको उसी प्रकार रोक दिया, जैसे गिरिराज हिमालय प्रचण्ड वायुको रोक देता है॥ ४१½॥

अतितीव्रं महद् युद्धं नरराक्षसयोस्तदा॥ ४२॥
द्रष्टॄणां प्रीतिजननं सर्वेषां तत्र भारत।
गृध्रकाकबलोलूककङ्कगोमायुहर्षणम्॥ ४३॥

भारत! उस समय वहाँ मनुष्य और राक्षसमें बड़े जोरसे महान् संग्राम होने लगा, जो समस्त दर्शकोंका आनन्द बढ़ानेवाला और गीध, कौए, बगले, उल्लू, कङ्क तथा गीदड़ोंको हर्ष प्रदान करनेवाला था॥ ४२-४३॥

तमर्जुनः शतेनैव पत्रिणां समताडयत्।
नवभिश्च शितैर्बाणैर्ध्वजं चिच्छेद भारत॥ ४४॥

भरतनन्दन! अर्जुनने सौ बाणोंसे उस राक्षसको घायल कर दिया और नौ तीखे बाणोंसे उसकी ध्वजा काट डाली॥ ४४॥

सारथिं च त्रिभिर्बाणैस्त्रिभिरेव त्रिवेणुकम्।
धनुरेकेन चिच्छेद चतुर्भिश्चतुरो हयान्॥ ४५॥

फिर तीन बाणोंसे उसके सारथिको, तीनसे ही रथके त्रिवेणुको, एकसे उसके धनुषको और चार बाणोंसे चारों घोड़ोंको काट डाला॥ ४५॥

पुनः सज्यं कृतं चापं तदप्यस्य द्विधाच्छिनत्।
विरथस्योद्यतं खड्गं शरेणास्य द्विधाकरोत्॥ ४६॥

जब उसने पुनः दूसरे धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी तो अर्जुनने उसके भी दो टुकड़े कर दिये। रथहीन होनेपर उस राक्षसने जब खड्ग उठाया, तब अर्जुनने एक बाण मारकर उसके भी दो खण्ड कर डाले॥ ४६॥

अथैनं निशितैर्बाणैश्चतुर्भिर्भरतर्षभ।
पार्थोऽविध्यद् राक्षसेन्द्रं स विद्धः प्राद्रवद् भयात्॥ ४७॥

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने चार तीखे बाणोंद्वारा उस राक्षसराजको बींध डाला। उन बाणोंसे विद्ध होकर अलम्बुष भयके मारे भाग गया॥ ४७॥

तं विजित्यार्जुनस्तूर्णं द्रोणान्तिकमुपाययौ।
किरञ्शरगणान् राजन् नरवारणवाजिषु॥ ४८॥

राजन्! उसे परास्त करके अर्जुन मनुष्यों, हाथियों तथा घोड़ोंपर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही द्रोणाचार्यके समीप चले गये॥ ४८॥

वध्यमाना महाराज पाण्डवेन यशस्विना।
सैनिका न्यपतन्नुर्व्यां वातनुन्ना इव द्रुमाः॥ ४९॥

महाराज! उन यशस्वी पाण्डुकुमारके द्वारा मारे जाते हुए आपके सैनिक आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंके समान धड़ाधड़ पृथ्वीपर गिर रहे थे॥ ४९॥

तेषु तूत्साद्यमानेषु फाल्गुनेन महात्मना।
सम्प्राद्रवद् बलं सर्वं पुत्राणां ते विशाम्पते॥ ५०॥

प्रजानाथ! जब इस प्रकार महात्मा अर्जुनके द्वारा उनका संहार होने लगा, तब आपके पुत्रोंकी सारी सेना भाग चली॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे अलम्बुषपराभवे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर अलम्बुषकी पराजयविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६७॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

शतानीकके द्वारा चित्रसेनकी और वृषसेनके द्वारा द्रुपदकी पराजय तथा प्रतिविन्ध्य एवं दुःशासनका युद्ध

संजय उवाच

शतानीकं शरैस्तूर्णं निर्दहन्तं चमूं तव।
चित्रसेनस्तव सुतो वारयामास भारत॥ १॥

संजय कहते हैं—भारत! एक ओरसे नकुलपुत्र

शतानीक अपनी शराग्निसे आपकी सेनाको भस्म करता हुआ आ रहा था। उसे आपके पुत्र चित्रसेनने रोका॥ १॥

नाकुलिश्चित्रसेनं तु विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः।
स तु तं प्रतिविव्याध दशभिर्निशितैः शरैः॥ २॥

शतानीकने चित्रसेनको पाँच बाण मारे। चित्रसेनने भी दस पैने बाण मारकर बदला चुकाया॥ २॥

चित्रसेनो महाराज शतानीकं पुनर्युधि।
नवभिर्निशितैर्बाणैराजघान स्तनान्तरे॥ ३॥

महाराज! चित्रसेनने युद्धस्थलमें पुनः नौ तीखे बाणोंद्वारा शतानीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥ ३॥

नाकुलिस्तस्य विशिखैर्वर्म संनतपर्वभिः।
गात्रात् संच्यावयामास तदद्भुतमिवाभवत्॥ ४॥

तब नकुलपुत्रने झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाण मारकर चित्रसेनके शरीरसे उसके कवचको काट गिराया। वह अद्भुत सा कार्य हुआ॥ ४॥

सोऽपेतवर्मा पुत्रस्ते विरराज भृशं नृप।
उत्सृज्य काले राजेन्द्र निर्मोकमिव पन्नगः॥ ५॥

नरेश्वर! राजेन्द्र! कवच कट जानेपर आपका पुत्र चित्रसेन समयपर केंचुल छोड़नेवाले सर्पके समान अत्यन्त सुशोभित हुआ॥ ५॥

ततोऽस्य निशितैर्बाणैर्ध्वजं चिच्छेद नाकुलिः।
धनुश्चैव महाराज यतमानस्य संयुगे॥ ६॥

महाराज! तदनन्तर नकुलपुत्र शतानीकने युद्धस्थलमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले चित्रसेनके ध्वज और धनुषको पैने बाणोंद्वारा काट दिया॥ ६॥

स च्छिन्नधन्वा समरे विवर्मा च महारथः।
धनुरन्यन्महाराज जग्राहारिविदारणम्॥ ७॥

राजेन्द्र! समराङ्गणमें धनुष और कवच कट जानेपर महारथी चित्रसेनने दूसरा धनुष हाथमें लिया, जो शत्रुको विदीर्ण करनेमें समर्थ था॥ ७॥

ततस्तूर्णं चित्रसेनो नाकुलिं नवभिः शरैः।
विव्याध समरे क्रुद्धो भरतानां महारथः॥ ८॥

उस समय समरभूमिमें कुपित हुए भरतकुलके महारथी वीर चित्रसेनने नकुलपुत्र शतानीकको नौ बाणोंसे घायल कर दिया॥ ८॥

शतानीकोऽथ संक्रुद्धश्चित्रसेनस्य मारिष।
जघान चतुरो वाहान् सारथिं च नरोत्तमः॥ ९॥

माननीय नरेश! तब अत्यन्त कुपित हुए नरश्रेष्ठ शतानीकने चित्रसेनके चारों घोड़ों और सारथिको मार डाला॥

अवप्लुत्य रथात् तस्माच्चित्रसेनो महारथः।
नाकुलिं पञ्चविंशत्या शराणामार्दयद् बली॥ १०॥

तब बलवान् महारथी चित्रसेनने उस रथसे कूदकर नकुलपुत्र शतानीकको पचीस बाण मारे॥ १०॥

तस्य तत्कुर्वतः कर्म नकुलस्य सुतो रणे।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद चापं रत्नविभूषितम्॥ ११॥

यह देख रणक्षेत्रमें नकुलपुत्रने पूर्वोक्त कर्म करनेवाले चित्रसेनके रत्नविभूषित धनुषको एक अर्धचन्द्राकार बाणसे काट डाला॥ ११॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
आरुरोह रथं तूर्णं हार्दिक्यस्य महात्मनः॥ १२॥

धनुष कट गया, घोड़े और सारथि मारे गये और वह रथहीन हो गया। उस अवस्थामें चित्रसेन तुरंत भागकर महामना कृतवर्माके रथपर जा चढ़ा॥ १२॥

द्रुपदं तु सहानीकं द्रोणप्रेप्सुं महारथम्।
वृषसेनोऽभ्ययात् तूर्णं किरञ्शरशतैस्तदा॥ १३॥

द्रोणाचार्यका सामना करनेके लिये आते हुए महारथी द्रुपदपर वृषसेनने सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते हुए तत्काल आक्रमण कर दिया॥ १३॥

यज्ञसेनस्तु समरे कर्णपुत्रं महारथम्।
षष्ट्या शराणां विव्याध बाह्वोरुरसि चानघ॥ १४॥

निष्पाप नरेश! समराङ्गणमें राजा यज्ञसेन (द्रुपद) ने महारथी कर्णपुत्र वृषसेनकी छाती और भुजाओंमें साठ बाण मारे॥ १४॥

वृषसेनस्तु संक्रुद्धो यज्ञसेनं रथे स्थितम्।
बहुभिः सायकैस्तीक्ष्णैराजघान स्तनान्तरे॥ १५॥

तब वृषसेन अत्यन्त कुपित होकर रथपर बैठे हुए यज्ञसेनकी छातीमें बहुत-से पैने बाण मारे॥ १५॥

तावुभौ शरनुन्नाङ्गौ शरकण्टकितौ रणे।
व्यभ्राजेतां महाराज श्वाविधौ शललैरिव॥ १६॥

महाराज! उन दोनोंके ही शरीर एक दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे। वे दोनों ही बाणरूपी कंटकोंसे युक्त हो काँटोंसे भरे हुए दो साही नामक जन्तुओंके समान शोभित हो रहे थे॥ १६॥

रुक्मपुङ्खैः प्रसन्नाग्रैः शरैश्छिन्नतनुच्छदौ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नौ व्यभ्राजेतां महामृधे॥ १७॥

सोनेके पंख और स्वच्छ धारवाले बाणोंसे उस महासमरमें दोनोंके कवच कट गये थे और दोनों ही लहू-लुहान होकर अद्भुत शोभा पा रहे थे॥ १७॥

तपनीयनिभौ चित्रौ कल्पवृक्षाविवाद्भुतौ।

किंशुकाविव चोत्फुल्लौ व्यकाशेतां रणाजिरे ॥ १८ ॥

वे दोनों सुवर्णके समान विचित्र, कल्पवृक्षके समान अद्भुत और खिले हुए दो पलाश वृक्षोंके समान अनूठी शोभासे सम्पन्न हो रणभूमिमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

वृषसेनस्ततो राजन् द्रुपदं नवभिः शरैः।
विद्ध्वा विव्याध सप्तत्या पुनरन्यैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

राजन्! तदनन्तर वृषसेनने राजा द्रुपदको नौ बाणोंसे घायल करके फिर सत्तर बाणसे बींध डाला। तत्पश्चात् उन्हें तीन-तीन बाण और मारे ॥ १९ ॥

ततः शरसहस्राणि विमुञ्चन् विबभौ तदा।
कर्णपुत्रो महाराज वर्षमाण इवाम्बुदः ॥ २० ॥

महाराज! तदनन्तर सहस्रों बाणोंका प्रहार करता हुआ कर्णपुत्र वृषसेन जलकी वर्षा करनेवाले मेघके समान सुशोभित होने लगा ॥ २० ॥

द्रुपदस्तु ततः क्रुद्धो वृषसेनस्य कार्मुकम्।
द्विधा चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ २१ ॥

इससे क्रोधमें भरे हुए राजा द्रुपदने एक पानीदार पैने भल्लसे वृषसेनके धनुषके दो टुकड़े कर डाले ॥ २१ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय रुक्मबद्धं नवं दृढम्।
तूणादाकृष्य विमलं भल्लं पीतं शितं दृढम् ॥ २२ ॥
कार्मुके योजयित्वा तं द्रुपदं संनिरीक्ष्य च।
आकर्णपूर्णं मुमुचे त्रासयन् सर्वसोमकान् ॥ २३ ॥

तब उसने सोनेसे मढ़े हुए दूसरे नवीन एवं सुदृढ़ धनुषको हाथमें लेकर तरकससे एक चमचमाता हुआ पानीदार, तीखा और मजबूत भल्ल निकाला। उसे धनुषपर रक्खा और कानतक खींचकर समस्त सोमकोंको भयभीत करते हुए वृषसेनने राजा द्रुपदको लक्ष्य करके वह भल्ल छोड़ दिया ॥ २२-२३ ॥

हृदयं तस्य भित्त्वा च जगाम वसुधातलम्।
कश्मलं प्राविशद् राजा वृषसेनशराहतः ॥ २४ ॥

वह भल्ल द्रुपदकी छाती छेदकर धरतीपर जा गिरा। वृषसेनके उस भल्लसे आहत होकर राजा द्रुपद मूर्छित हो गये ॥ २४ ॥

सारथिस्तमपोवाह स्मरन् सारथिचेष्टितम्।
तस्मिन् प्रभग्ने राजेन्द्र पञ्चालानां महारथे ॥ २५ ॥
ततस्तु द्रुपदानीकं शरैश्छिन्नतनुच्छदम्।
सम्प्राद्रवत् तदा राजन् निशीथे भैरवे सति ॥ २६ ॥

राजेन्द्र! तब सारथि अपने कर्तव्यका स्मरण करके उन्हें रणभूमिसे दूर हटा ले गया। पाञ्चालोंके महारथी द्रुपदके हट जानेपर बाणोंसे कटे हुए कवचवाली द्रुपदकी सारी सेना उस भयंकर आधीरातके समय वहाँसे भाग चली ॥ २५-२६ ॥

प्रदीपैर्हि परित्यक्तैर्ज्वलद्भिस्तैः समन्ततः।
व्यराजत मही राजन् वीताभ्रा द्यौरिव ग्रहैः ॥ २७ ॥

राजन्! भागते हुए सैनिकोंने जो मशालें फेंक दी थीं, वे सब ओर जल रही थीं। उनके द्वारा वह रणभूमि ग्रह-नक्षत्रोंसे भरे हुए मेघहीन आकाशके समान सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तथाङ्गदैर्निपतितैर्व्यराजत वसुंधरा।
प्रावृट्काले महाराज विद्युद्भिरिव तोयदः ॥ २८ ॥

महाराज! वीरोंके गिरे हुए चमकीले बाजूबन्दोंसे वहाँकी भूमि वैसी ही शोभा पा रही थी, जैसे वर्षाकालमें बिजलियोंसे मेघ प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

ततः कर्णसुतात् त्रस्ताः सोमका विप्रदुद्रुवुः।
यथेन्द्रभयवित्रस्ता दानवास्तारकामये ॥ २९ ॥

तदनन्तर कर्णपुत्र वृषसेनके भयसे त्रस्त हो सोमकवंशी क्षत्रिय उसी प्रकार भागने लगे, जैसे तारकामय संग्राममें इन्द्रके भयसे डरे हुए दानव भागे थे ॥ २९ ॥

तेनार्द्यमानाः समरे द्रवमाणाश्च सोमकाः।
व्यराजन्त महाराज प्रदीपैरवभासिताः ॥ ३० ॥

महाराज! समरभूमिमें वृषसेनसे पीड़ित होकर भागते हुए सोमक योद्धा प्रदीपोंसे प्रकाशित हो बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३० ॥

तांस्तु निर्जित्य समरे कर्णपुत्रोऽप्यरोचत।
मध्यंदिनमनुप्राप्तो घर्मांशुरिव भारत ॥ ३१ ॥

भारत! युद्धस्थलमें उन सबको जीतकर कर्णपुत्र वृषसेन भी दोपहरके प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था ॥ ३१ ॥

तेषु राजसहस्रेषु तावकेषु परेषु च।
एक एव ज्वलंस्तस्थौ वृषसेनः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

आपके और शत्रुपक्षके सहस्रों राजाओंके बीच एकमात्र प्रतापी वृषसेन ही अपने तेजसे प्रकाशित होता हुआ रणभूमिमें खड़ा था ॥ ३२ ॥

स विजित्य रणे शूरान् सोमकानां महारथान्।
जगाम त्वरितस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥

वह युद्धके मैदानमें शूरवीर सोमक महारथियोंको परास्त करके तुरंत वहाँ चला गया, जहाँ राजा युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ३३ ॥

प्रतिविन्ध्यमथ क्रुद्धं प्रदहन्तं रणे रिपून्।
दुःशासनस्तव सुतः प्रत्यगच्छन्महारथः॥ ३४॥

दूसरी ओर क्रोधमें भरा हुआ प्रतिविन्ध्य रणक्षेत्रमें शत्रुओंको दग्ध कर रहा था। उसका सामना करनेके लिये आपका महारथी पुत्र दुःशासन आ पहुँचा॥ ३४॥

तयोः समागमो राजंश्चित्ररूपो बभूव ह।
व्यपेतजलदे व्योम्नि बुधभास्करयोरिव॥ ३५॥

राजन्! जैसे मेघरहित आकाशमें बुध और सूर्यका समागम हो, उसी प्रकार युद्धस्थलमें उन दोनोंका अद्भुत मिलन हुआ॥ ३५॥

प्रतिविन्ध्यं तु समरे कुर्वाणं कर्म दुष्करम्।
दुःशासनस्त्रिभिर्बाणैर्ललाटे समविध्यत॥ ३६॥

समराङ्गणमें दुष्कर कर्म करनेवाले प्रतिविन्ध्यके ललाटमें दुःशासनने तीन बाण मारे॥ ३६॥

सोऽतिविद्धो बलवता तव पुत्रेण धन्विना।
विरराज महाबाहुः सशृङ्ग इव पर्वतः॥ ३७॥

आपके बलवान् धनुर्धर पुत्रद्वारा चलाये हुए उन बाणोंसे अत्यन्त घायल हो महाबाहु प्रतिविन्ध्य तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान सुशोभित हुआ॥ ३७॥

दुःशासनं तु समरे प्रतिविन्ध्यो महारथः।
नवभिः सायकैर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध सप्तभिः॥ ३८॥

तत्पश्चात् महारथी प्रतिविन्ध्यने समरभूमिमें दुःशासनको नौ बाणोंसे घायल करके फिर सात बाणोंसे बींध डाला॥ ३८॥

तत्र भारत पुत्रस्ते कृतवान् कर्म दुष्करम्।
प्रतिविन्ध्यहयानुग्रैः पातयामास सायकैः॥ ३९॥

भारत! उस समय वहाँ आपके पुत्रने एक दुष्कर पराक्रम कर दिखाया। उसने अपने भयंकर बाणोंद्वारा प्रतिविन्ध्यके घोड़ोंको मार गिराया॥ ३९॥

सारथिं चास्य भल्लेन ध्वजं च समपातयत्।
रथं च तिलशो राजन् व्यधमत् तस्य धन्विनः॥ ४०॥

राजन्! फिर एक भल्ल मारकर उसने धनुर्धर वीर प्रतिविन्ध्यके सारथि और ध्वजको धराशायी कर दिया तथा रथके भी तिलके समान टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ ४०॥

पताकाश्च सतूणीरा रश्मीन् योक्त्राणि च प्रभो।
चिच्छेद तिलशः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः॥ ४१॥

प्रभो! क्रोधमें भरे हुए दुःशासनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे प्रतिविन्ध्यकी पताकाओं, तरकसों, उनके घोड़ोंकी बागडोरों और रथके जोतोंको भी तिल-तिल करके काट डाला॥ ४१॥

विरथः स तु धर्मात्मा धनुष्पाणिरवस्थितः।
अयोधयत् तव सुतं किरञ्शरशतान् बहून्॥ ४२॥

धर्मात्मा प्रतिविन्ध्य रथहीन हो जानेपर हाथमें धनुष लिये पृथ्वीपर खड़ा हो गया और सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करता हुआ आपके पुत्रके साथ युद्ध करने लगा॥ ४२॥

क्षुरप्रेण धनुस्तस्य चिच्छेद तनयस्तव।
अथैनं दशभिर्बाणैश्छिन्नधन्वानमार्दयत्॥ ४३॥

तब आपके पुत्रने एक क्षुरप्रसे प्रतिविन्ध्यका धनुष काट दिया और धनुष कट जानेपर उसे दस बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी॥ ४३॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भ्रातरोऽस्य महारथाः।
अन्ववर्तन्त वेगेन महत्या सेनया सह॥ ४४॥

उसे रथहीन हुआ देख उसके अन्य महारथी भाई विशाल सेनाके साथ बड़े वेगसे उसकी सहायताके लिये आ पहुँचे॥ ४४॥

आप्लुतः स ततो यानं सुतसोमस्य भास्वरम्।
धनुर्गृह्य महाराज विव्याध तनयं तव॥ ४५॥

महाराज! तब प्रतिविन्ध्य उछलकर सुतसोमके तेजस्वी रथपर जा बैठा और हाथमें धनुष लेकर आपके पुत्रको घायल करने लगा॥ ४५॥

ततस्तु तावकाः सर्वे परिवार्य सुतं तव।
अभ्यवर्तन्त संग्रामे महत्या सेनया वृताः॥ ४६॥

यह देख आपके सभी योद्धा आपके पुत्र दुःशासनको सब ओरसे घेरकर विशाल सेनाके साथ वहाँ युद्धके लिये डट गये॥ ४६॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत।
निशीथे दारुणे काले यमराष्ट्रविवर्धनम्॥ ४७॥

भारत! तदनन्तर उस भयंकर निशीथकालमें आपके पुत्र और द्रौपदीपुत्रोंका घोर युद्ध आरम्भ हुआ, जो यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था॥ ४७॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे शतानीकादियुद्धेऽष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय शतानीक आदिका युद्धविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६८॥

व्यासजी अर्जुनको शंकरजीकी महिमा कह रहे हैं

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

नकुलके द्वारा शकुनिकी पराजय तथा शिखण्डी और कृपाचार्यका घोर युद्ध

संजय उवाच

नकुलं रभसं युद्धे निघ्नन्तं वाहिनीं तव।
अभ्ययात् सौबलः क्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! वेगशाली नकुल युद्धमें आपकी सेनाका संहार कर रहे थे। उनका सामना करनेके लिये क्रोधमें भरा हुआ सुबलपुत्र शकुनि आया और बोला 'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ १॥

कृतवैरौ तु तौ वीरावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ २॥

उन दोनों वीरोंने पहलेसे ही आपसमें वैर बाँध रक्खा था, वे एक दूसरेका वध करना चाहते थे; इसलिये पूर्णतः कानतक खींचकर छोड़े हुए बाणोंसे वे एक दूसरेको घायल करने लगे॥ २॥

यथैव नकुलो राजन् शरवर्षाण्यमुञ्चत।
तथैव सौबलश्चापि शिक्षां संदर्शयन् युधि॥ ३॥

राजन्! नकुल जैसे-जैसे बाणोंकी वर्षा करते, शकुनि भी वैसे-ही-वैसे युद्धविषयक शिक्षाका प्रदर्शन करता हुआ बाण छोड़ता था॥ ३॥

तावुभौ समरे शूरौ शरकण्टकिनौ तदा।
व्यराजेतां महाराज श्वाविधौ शललैरिव॥ ४॥

महाराज! वे दोनों शूरवीर समराङ्गणमें बाणरूपी कंटकोंसे युक्त होकर काँटेदार शरीरवाले साहीके समान सुशोभित हो रहे थे॥ ४॥

रुक्मपुङ्खैरजिह्माग्रैः शरैश्छिन्नतनुच्छदौ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नौ व्यभ्राजेतां महामृधे॥ ५॥
तपनीयनिभौ चित्रौ कल्पवृक्षाविव द्रुमौ।
किंशुकाविव चोत्फुल्लौ प्रकाशेते रणाजिरे॥ ६॥

सोनेके पंख और सीधे अग्रभागवाले बाणोंसे उन दोनोंके कवच छिन्न-भिन्न हो गये थे। दोनों ही उस महासमरमें खून-से लथपथ हो सुवर्णके समान विचित्र कान्तिसे सुशोभित हो रहे थे। वे दो कल्पवृक्षों और खिले हुए दो ढाकके पेड़ोंके समान समराङ्गणमें प्रकाशित हो रहे थे॥ ५-६॥

तावुभौ समरे शूरौ शरकण्टकिनौ तदा।
व्यराजेतां महाराज कण्टकैरिव शाल्मली॥ ७॥

महाराज! जैसे काँटोंसे सेमरका वृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे दोनों शूरवीर समरभूमिमें बाणरूपी कंटकोंसे युक्त दिखायी देते थे॥ ७॥

सुजिह्मं प्रेक्षमाणौ च राजन् विवृतलोचनौ।
क्रोधसंरक्तनयनौ निर्दहन्तौ परस्परम्॥ ८॥

राजन्! वे अत्यन्त कुटिलभावसे परस्पर आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे और क्रोधसे लाल नेत्र करके एक दूसरेको ऐसे देखते थे, मानो भस्म कर देंगे॥ ८॥

श्यालस्तु तव संक्रुद्धो माद्रीपुत्रं हसन्निव।
कर्णिनैकेन विव्याध हृदये निशितेन ह॥ ९॥

तदनन्तर अत्यन्त क्रोधमें भरकर हँसते हुए-से आपके सालेने एक तीखे कर्णी नामक बाणसे माद्रीपुत्र नकुलकी छातीमें गहरा आघात किया॥ ९॥

नकुलस्तु भृशं विद्धः श्यालेन तव धन्विना।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत्॥ १०॥

आपके धनुर्धर सालेके द्वारा अत्यन्त घायल किये हुए नकुल रथके पिछले भागमें बैठ गये और भारी मूर्छामें पड़ गये॥ १०॥

अत्यन्तवैरिणं दृप्तं दृष्ट्वा शत्रुं तथागतम्।
ननाद शकुनी राजंस्तपान्ते जलदो यथा॥ ११॥

राजन्! अपने अत्यन्त वैरी और अभिमानी शत्रुको वैसी अवस्थामें पड़ा देख शकुनि वर्षाकालके मेघके समान जोर-जोरसे गर्जना करने लगा॥ ११॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां नकुलः पाण्डुनन्दनः।
अभ्ययात् सौबलं भूयो व्यात्तानन इवान्तकः॥ १२॥

इतनेमें ही पाण्डुनन्दन नकुल होशमें आकर मुँह बाये हुए यमराजके समान पुनः सुबलपुत्रका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ १२॥

संक्रुद्धः शकुनिं षष्ट्या विव्याध भरतर्षभ।
पुनश्चैनं शतेनैव नाराचानां स्तनान्तरे॥ १३॥

भरतश्रेष्ठ! इन्होंने कुपित होकर शकुनिको साठ बाणोंसे घायल कर दिया। फिर उसकी छातीमें इन्होंने सौ नाराच मारे॥

अथास्य सशरं चापं मुष्टिदेशेऽच्छिनत् तदा।
ध्वजं च त्वरितं छित्त्वा रथाद् भूमावपातयत्॥ १४॥

तत्पश्चात् नकुलने शकुनिके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया और तुरंत ही उसकी ध्वजाको भी काटकर रथसे भूमिपर गिरा दिया॥ १४॥

विशिखेन च तीक्ष्णेन पीतेन निशितेन च।
ऊरू निर्भिद्य चैकेन नकुलः पाण्डुनन्दनः॥ १५॥
श्येनं सपक्षं व्याधेन पातयामास तं तदा।

इसके बाद एक पानीदार पैने एवं तीखे बाणसे पाण्डुनन्दन नकुलने शकुनिकी दोनों जाँघोंको विदीर्ण करके व्याध-

द्वारा विद्ध हुए पंखयुक्त बाज पक्षीके समान उसे गिरा दिया॥

सोऽतिविद्धो महाराज रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १६ ॥
ध्वजयष्टिं परिक्लिश्य कामुकः कामिनीं यथा ।

महाराज ! उस बाणसे अत्यन्त घायल हुआ शकुनि, जैसे कामी पुरुष कामिनीका आलिङ्गन करता है, उसी प्रकार ध्वज-यष्टि (ध्वजाके डंडे) को दोनों भुजाओंसे पकड़कर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ १६½ ॥

तं विसंज्ञं निपतितं दृष्ट्वा श्यालं तवानघ ॥ १७ ॥
अपोवाह रथेनाशु सारथिर्ध्वजिनीमुखात् ।

निष्पाप नरेश ! आपके सालेको बेहोश पड़ा देख सारथि रथके द्वारा शीघ्र ही उसे सेनाके आगेसे दूर हटा ले गया ॥

ततः संचुक्रुशुः पार्था ये च तेषां पदानुगाः ॥ १८ ॥
निर्जित्य च रणे शत्रुं नकुलः शत्रुतापनः ।
अब्रवीत् सारथिं क्रुद्धो द्रोणानीकाय मां वह ॥ १९ ॥

फिर तो कुन्तीके पुत्र और उनके सेवक बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगे । इस प्रकार रणभूमिमें शत्रुको परास्त करके क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी नकुलने अपने सारथिसे कहा—'सूत ! मुझे द्रोणाचार्यकी सेनाके पास ले चलो' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य सारथिः ।
प्रायात् तेन तदा राजन् यत्र द्रोणो व्यवस्थितः ॥ २० ॥

राजन् ! माद्रीकुमारका वह वचन सुनकर सारथि उस रथके द्वारा जहाँ द्रोणाचार्य खड़े थे, वहाँ तत्काल जा पहुँचा ॥ २० ॥

शिखण्डिनं तु समरे द्रोणप्रेप्सुं विशाम्पते ।
कृपः शारद्वतो यत्तः प्रत्यगच्छत् सवेगितः ॥ २१ ॥

प्रजानाथ ! द्रोणाचार्यके साथ युद्धकी इच्छावाले शिखण्डीका समरभूमिमें सामना करनेके लिये प्रयत्नशील हो शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ २१ ॥

गौतमं द्रुतमायान्तं द्रोणानीकमरिंदमम् ।
विव्याध नवभिर्भल्लैः शिखण्डी प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

शत्रुओंको दमन करनेवाले, द्रोण-रक्षक, गौतमगोत्रीय कृपाचार्यको शीघ्रतापूर्वक आते देख हँसते हुए-से शिखण्डीने उन्हें नौ भल्लोंसे बींध डाला ॥ २२ ॥

तमाचार्यो महाराज विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
पुनर्विव्याध विंशत्या पुत्राणां प्रियकृत् तव ॥ २३ ॥

महाराज ! तब आपके पुत्रोंका प्रिय करनेवाले कृपाचार्यने शिखण्डीको पाँच बाणोंसे बींधकर फिर बीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २३ ॥

महद् युद्धं तयोरासीद् घोररूपं भयानकम् ।
यथा देवासुरे युद्धे शम्बरामरराजयोः ॥ २४ ॥

पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर शम्बरासुर और इन्द्रमें जैसा युद्ध हुआ था, वैसा ही घोर भयानक एवं महान् युद्ध उन दोनोंमें भी हुआ ॥ २४ ॥

शरजालावृतं व्योम चक्रतुस्तौ महारथौ ।
मेघाविव तपापाये वीरौ समरदुर्मदौ ॥ २५ ॥

उन दोनों रणदुर्मद वीर महारथियोंने वर्षाकालके दो मेघोंके समान आकाशको बाणसमूहोंसे व्याप्त कर दिया ॥

प्रकृत्या घोररूपं तदासीद् घोरतरं पुनः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ योधानां युद्धशालिनाम् ॥ २६ ॥
कालरात्रिनिभा ह्यासीद् घोररूपा भयानका ।

भरतश्रेष्ठ ! स्वभावसे ही भयंकर दिखायी देनेवाला आकाश उस समय और भी घोरतर हो उठा । युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले योद्धाओंके लिये वह घोर एवं भयानक रात्रि कालरात्रिके समान प्रतीत होती थी ॥ २६½ ॥

शिखण्डी तु महाराज गौतमस्य महद् धनुः ॥ २७ ॥
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद सज्यं सविशिखं तदा ।

महाराज ! शिखण्डीने उस समय अर्धचन्द्राकार बाण मारकर प्रत्यञ्चा और बाणसहित कृपाचार्यके विशाल धनुषको काट दिया ॥ २७½ ॥

तस्य क्रुद्धः कृपो राजञ्शक्तिं चिक्षेप दारुणाम् ॥२८॥
स्वर्णदण्डामकुण्ठाग्रां कर्मारपरिमार्जिताम् ।

राजन् ! तब कृपाचार्यने कुपित होकर सोनेके दण्ड और अप्रतिहत धारवाली तथा कारीगरके द्वारा साफ की हुई एक भयंकर शक्ति उसके ऊपर चलायी ॥ २८½ ॥

तामापतन्तीं चिच्छेद शिखण्डी बहुभिः शरैः ॥ २९ ॥
साऽपतन्मेदिनीं दीप्ता भासयन्ती महाप्रभा ।

अपने ऊपर आती हुई उस शक्तिको शिखण्डीने बहुत-से बाण मारकर काट दिया । वह अत्यन्त कान्तिमती एवं प्रकाशमान शक्ति खण्डित हो सब ओर प्रकाश बिखेरती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २९½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय गौतमो रथिनां वरः ॥ ३० ॥
प्राच्छादयच्छितैर्बाणैर्महाराज शिखण्डिनम् ।

महाराज ! तब रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष हाथमें लेकर पैने बाणोंद्वारा शिखण्डीको ढक दिया ॥३०½॥

स च्छाद्यमानः समरे गौतमेन यशस्विना ॥ ३१ ॥
न्यषीदत रथोपस्थे शिखण्डी रथिनां वरः ।

समरभूमिमें यशस्वी कृपाचार्यद्वारा बाणोंसे आच्छादित किया जाता हुआ रथियोंमें श्रेष्ठ शिखण्डी रथके पिछले भागमें शिथिल होकर बैठ गया ॥ ३१½ ॥

सीदन्तं चैनमालोक्य कृपः शारद्वतो युधि ॥ ३२ ॥
आजघ्ने बहुभिर्बाणैर्जिघांसन्निव भारत ।

भरतनन्दन ! युद्धस्थलमें शिखण्डीको शिथिल हुआ देख शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उसपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया, मानो वे उसे मार डालना चाहते हों ॥ ३२½ ॥

विमुखं तु रणे दृष्ट्वा याज्ञसेनिं महारथम् ॥ ३३ ॥
पञ्चालाः सोमकाश्चैव परिवव्रुः समन्ततः ।

राजा द्रुपदके उस महारथी पुत्रको युद्धविमुख हुआ देख पाञ्चालों और सोमकोंने उसे चारों ओरसे घेरकर अपने बीचमें कर लिया ॥ ३३½ ॥

तथैव तव पुत्राश्च परिवव्रुर्द्विजोत्तमम् ॥ ३४ ॥
महत्या सेनया सार्धं ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार आपके पुत्रोंने भी विशाल सेनाके साथ आकर द्विजश्रेष्ठ कृपाचार्यको अपने बीचमें कर लिया । फिर दोनों दलोंमें घोर युद्ध होने लगा ॥ ३४½ ॥

रथानां च रणे राजन्नन्योन्यमभिधावताम् ॥ ३५ ॥
बभूव तुमुलः शब्दो मेघानां गर्जतामिव ।

राजन् ! रणभूमिमें परस्पर धावा करनेवाले रथोंकी घर्घराहटका भयंकर शब्द मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ३५½ ॥

द्रवतां सादिनां चैव गजानां च विशाम्पते ॥ ३६ ॥
अन्योन्यमभितो राजन् क्रूरमायोधनं बभौ ।

प्रजापालक नरेश ! चारों ओर एक दूसरेपर आक्रमण करनेवाले घुड़सवारों और हाथीसवारोंके संघर्षसे वह रणभूमि अत्यन्त दारुण प्रतीत होने लगी ॥ ३६½ ॥

पत्तीनां द्रवतां चैव पादशब्देन मेदिनी ॥ ३७ ॥
अकम्पत महाराज भयत्रस्तेव चाङ्गना ।

महाराज ! दौड़ते हुए पैदल सैनिकोंके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी भयभीत अबलाके समान काँपने लगी ॥ ३७½ ॥

रथिनो रथमारुह्य प्रद्रुता वेगवत्तरम् ॥ ३८ ॥
अगृह्णन् बहवो राजञ्शलभान् वायसा इव ।

राजन् ! जैसे कौए दौड़-दौड़कर टिड्डियोंको पकड़ते हैं, उसी प्रकार रथपर बैठकर बड़े वेगसे धावा करनेवाले बहुसंख्यक रथी शत्रुपक्षके सैनिकोंको दबोच लेते थे॥ ३८½ ॥

तथा गजान् प्रभिन्नांश्च सम्प्रभिन्ना महागजाः ॥ ३९ ॥
तस्मिन्नेव पदे यत्ता निगृह्णन्ति स्म भारत ।

भरतनन्दन ! मदस्रावी विशाल हाथी मदकी धारा बहाने वाले दूसरे गजराजोंसे सहसा भिड़कर एक दूसरेको यत्नपूर्वक काबूमें कर लेते थे ॥ ३९½ ॥

सादी सादिनमासाद्य पत्तयश्च पदातिनम् ॥ ४० ॥
समासाद्य रणेऽन्योन्यं संरब्धा नातिचक्रमुः ।

रणभूमिमें घुड़सवार घुड़सवारोंसे और पैदल पैदलसे भिड़कर परस्पर कुपित होते हुए भी एक दूसरेको लाँघकर आगे नहीं बढ़ पाते थे ॥ ४०½ ॥

धावतां द्रवतां चैव पुनरावर्ततामपि ॥ ४१ ॥
बभूव तत्र सैन्यानां शब्दः सुविपुलो निशि ।

उस रात्रिके समय दौड़ते, भागते और पुनः लौटते हुए सैनिकोंका महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था ॥ ४१½ ॥

दीप्यमानाः प्रदीपाश्च रथवारणवाजिषु ॥ ४२ ॥
अदृश्यन्त महाराज महोल्का इव खाच्च्युताः ।

महाराज ! रथों, हाथियों और घोड़ोंपर जलती हुई मशालें आकाशसे गिरी हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान दिखायी देती थीं ॥ ४२½ ॥

सा निशा भरतश्रेष्ठ प्रदीपैरवभासिता ॥ ४३ ॥
दिवसप्रतिमा राजन् बभूव रणमूर्धनि ।

भरतभूषण नरेश ! प्रदीपोंसे प्रकाशित हुई वह रात्रि युद्धके मुहानेपर दिनके समान हो गयी थी ॥ ४३½ ॥

आदित्येन यथा व्याप्तं तमो लोके प्रणश्यति ॥ ४४ ॥
तथा नष्टं तमो घोरं दीपैर्दीप्तैरितस्ततः ।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत्‌में फैला हुआ अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इधर-उधर जलती हुई मशालों-से वहाँका भयानक अँधेरा नष्ट हो गया था ॥ ४४½ ॥

द्यौश्चैव पृथिवी चापि दिशश्च प्रदिशस्तथा ॥ ४५ ॥
रजसा तमसा व्याप्ता द्योतिताः प्रभया पुनः ।

धूल और अन्धकारसे व्याप्त आकाश, पृथ्वी, दिशा और विदिशाएँ प्रदीपोंकी प्रभासे पुनः प्रकाशित हो उठी थीं ॥

अस्त्राणां कवचानां च मणीनां च महात्मनाम् ॥ ४६ ॥
अन्तर्दधुः प्रभाः सर्वा दीपैस्तैरवभासिताः ।

महामनस्वी योद्धाओंके अस्त्रों, कवचों और मणियोंकी सारी प्रभा उन प्रदीपोंके प्रकाशसे तिरोहित हो गयी थी ॥

तस्मिन् कोलाहले युद्धे वर्तमाने निशामुखे ॥ ४७ ॥
न किंचिद् विदुरात्मानमयमस्मीति भारत ।

भारत ! उस रात्रिके समय जब वह भयंकर कोलाहल-पूर्ण संग्राम चल रहा था, तब योद्धाओंको कुछ भी पता नहीं चलता था । वे अपने आपके विषयमें भी यह नहीं जान पाते थे कि 'मैं अमुक हूँ' ॥ ४७½ ॥

अवधीत् समरे पुत्रं पिता भरतसत्तम ॥ ४८ ॥
पुत्रश्च पितरं मोहात् सखायं च सखा तथा ।
स्वस्रीयं मातुलश्चापि स्वस्रीयश्चापि मातुलम् ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समराङ्गणमें मोहवश पिताने पुत्रका वध कर डाला और पुत्रने पिताका । मित्रने मित्रके प्राण ले लिये । मामाने भानजेको मार डाला और भानजेने मामाको ॥

स्वे स्वान् परे परांश्चापि निजघ्नुरितरेतरम् ।
निर्मर्यादमभूद् युद्धं रात्रौ भीरुभयानकम् ॥ ५० ॥

अपने पक्षके योद्धा अपने ही सैनिकोंपर तथा शत्रुपक्षके सैनिक भी अपने ही योद्धाओंपर परस्पर घातक प्रहार करने लगे। इस प्रकार रात्रिमें वह युद्ध मर्यादारहित होकर कायरोंके लिये अत्यन्त भयानक हो उठा ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय संकुलयुद्धविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और द्रोणाचार्यका युद्ध, धृष्टद्युम्नद्वारा द्रुमसेनका वध, सात्यकि और कर्णका युद्ध, कर्णकी दुर्योधनको सलाह तथा शकुनिका पाण्डवसेनापर आक्रमण

संजय उवाच

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयावहे।
धृष्टद्युम्नो महाराज द्रोणमेवाभ्यवर्तत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जिस समय वह भयंकर घमासान युद्ध चल रहा था, उसी समय धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर चढ़ाई की ॥ १ ॥

संदधानो धनुःश्रेष्ठे ज्यां विकर्षन् पुनः पुनः।
अभ्यद्रवत द्रोणस्य रथं रुक्मविभूषितम् ॥ २ ॥

उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषपर बाणोंका संधान करके बारंबार उसकी प्रत्यञ्चा खींचते हुए द्रोणाचार्यके स्वर्णभूषित रथपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

धृष्टद्युम्नमथायान्तं द्रोणस्यान्तचिकीर्षया।
परिवव्रुर्महाराज पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥

महाराज! द्रोणाचार्यका अन्त करनेकी इच्छासे आते हुए धृष्टद्युम्नको पाण्डवोंसहित पाञ्चालोंने घेरकर अपने बीचमें कर लिया ॥ ३ ॥

तथा परिवृतं दृष्ट्वा द्रोणमाचार्यसत्तमम्।
पुत्रास्ते सर्वतो यत्ता ररक्षुर्द्रोणमाहवे ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नको इस प्रकार रक्षकोंसे घिरा हुआ देख आपके पुत्र भी सावधान हो युद्धस्थलमें सब ओरसे आचार्यप्रवर द्रोणकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

बलार्णवौ ततस्तौ तु समेयातां निशामुखे।
वातोद्धूतौ क्षुब्धसत्त्वौ भैरवौ सागराविव ॥ ५ ॥

जैसे वायुके वेगसे उद्वेलित तथा विक्षुब्ध जल-जन्तुओंसे भरे हुए दो भयंकर समुद्र एक-दूसरेसे मिल रहे हों, उसी प्रकार उस रात्रिके समय वे सागर-सदृश दोनों सेनाएँ एक-दूसरेसे भिड़ गयीं ॥ ५ ॥

ततो द्रोणं महाराज पाञ्चाल्यः पञ्चभिः शरैः।
विव्याध हृदये तूर्णं सिंहनादं ननाद च ॥ ६ ॥

महाराज! उस समय धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यकी छातीमें तुरंत ही पाँच बाण मारे और सिंहके समान गर्जना की ॥ ६ ॥

तं द्रोणः पञ्चविंशत्या विद्ध्वा भारत संयुगे।
चिच्छेदान्येन भल्लेन धनुरस्य महास्वनम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन! तब द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको पचीस बाणोंसे घायल करके एक दूसरे भल्लके द्वारा उनके घोर टंकार करनेवाले धनुषको काट दिया ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु निर्विद्धो द्रोणेन भरतर्षभ।
उत्ससर्ज धनुस्तूर्णं संदश्य दशनच्छदम् ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! द्रोणाचार्यके द्वारा घायल किये हुए धृष्टद्युम्नने रोषपूर्वक अपने ओठको दाँतोंसे दबा लिया और उस टूटे हुए धनुषको तुरंत फेंक दिया ॥ ८ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
आददेऽन्यद् धनुःश्रेष्ठं द्रोणस्यान्तचिकीर्षया ॥ ९ ॥

महाराज! तदनन्तर क्रोधसे भरे हुए प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यका विनाश करनेकी इच्छासे दूसरा श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया ॥ ९ ॥

विकृष्य च धनुश्चित्रमाकर्णात् परवीरहा।
द्रोणस्यान्तकरं घोरं व्यसृजत् सायकं ततः ॥ १० ॥

फिर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले उस पाञ्चाल वीरने उस विचित्र धनुषको कानोंतक खींचकर उसके द्वारा द्रोणाचार्यका अन्त करनेमें समर्थ एक भयंकर बाण छोड़ा ॥ १० ॥

स विसृष्टो बलवता शरो घोरो महामृधे।
भासयामास तत् सैन्यं दिवाकर इवोदितः ॥ ११ ॥

उस महासमरमें बलवान् वीरके द्वारा छोड़ा हुआ वह घोर बाण उदित हुए सूर्यके समान उस सेनाको प्रकाशित करने लगा ॥ ११ ॥

तं तु दृष्ट्वा शरं घोरं देवगन्धर्वमानवाः।
स्वस्त्यस्तु समरे राजन् द्रोणायेत्यब्रुवन् वचः ॥ १२ ॥

राजन्! समरभूमिमें उस भयंकर बाणको देखकर देवता, गन्धर्व और मनुष्य सभी कहने लगे कि 'द्रोणाचार्यका कल्याण हो' ॥ १२ ॥

तं तु सायकमायान्तमाचार्यस्य रथं प्रति।

कर्णो द्वादशधा राजंश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! आचार्यके रथकी ओर आते हुए उस बाणके कर्णने सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति बारह टुकड़े कर डाले ॥१३॥

स च्छिन्नो बहुधा राजन् सूतपुत्रेण धन्विना।
निपपात शरस्तूर्णं निर्विषो भुजगो यथा ॥ १४ ॥

राजन् ! धनुर्धर सूतपुत्रके द्वारा अनेक टुकड़ोंमें कटा हुआ वह बाण विषहीन भुजंगके समान तुरंत पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नं ततः कर्णो विव्याध दशभिः शरैः।
पञ्चभिर्द्रोणपुत्रस्तु स्वयं द्रोणस्तु सप्तभिः ॥ १५ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नको कर्णने दस, अश्वत्थामाने पाँच और स्वयं द्रोणने सात बाण मारे ॥ १५ ॥

शल्यश्च दशभिर्बाणैस्त्रिभिर्दुःशासनस्तथा।
दुर्योधनस्तु विंशत्या शकुनिश्चापि पञ्चभिः ॥ १६ ॥

फिर शल्यने दस, दुःशासनने तीन, दुर्योधनने बीस और शकुनिने पाँच बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥ १६ ॥

पाञ्चाल्यं त्वरयाविध्यन् सर्व एव महारथाः।
स विद्धः सप्तभिर्वीरैर्द्रोणस्यार्थे महाहवे ॥ १७ ॥
सर्वानसम्भ्रमाद् राजन् प्रत्यविद्ध्यत् त्रिभिस्त्रिभिः।
द्रोणं द्रौणिं च कर्णं च विव्याध च तवात्मजम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इस प्रकार सभी महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ पाञ्चालराजकुमारपर अपने-अपने बाणोंका प्रहार किया। उस महासमरमें द्रोणाचार्यकी रक्षाके लिये सात वीरोंद्वारा घायल किये जानेपर भी धृष्टद्युम्नने बिना किसी घबराहटके उन सबको तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला। फिर द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण तथा आपके पुत्र दुर्योधनको भी घायल कर दिया॥

ते भिन्ना धन्विना तेन धृष्टद्युम्नं पुनर्मृधे।
विव्यधुः पञ्चभिस्तूर्णमेकैको रथिनां वरः ॥ १९ ॥

उन धनुर्धर वीर धृष्टद्युम्नके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो उन सभी योद्धाओंने युद्धस्थलमें पुनः उन्हें पाँच-पाँच बाणोंसे शीघ्र ही बींध डाला। प्रत्येक महारथीने उनपर प्रहार किया था॥

द्रुमसेनस्तु संक्रुद्धो राजन् विव्याध पत्रिणा।
त्रिभिश्चान्यैः शरैस्तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय द्रुमसेनने अत्यन्त कुपित होकर एक बाणसे धृष्टद्युम्नको बींध डाला। फिर तुरंत ही अन्य तीन बाणोंसे उन्हें घायल करके कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २० ॥

स तु तं प्रतिविव्याध त्रिभिस्तीक्ष्णैरजिह्मगैः।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैः प्राणान्तकरणैर्युधि ॥ २१ ॥

तब धृष्टद्युम्नने रणभूमिमें सोनेके पंखवाले, शिलापर स्वच्छ किये हुए, तीन तीखे एवं प्राणान्तकारी बाणोंद्वारा द्रुमसेनको घायल कर दिया ॥ २१ ॥

भल्लेनान्येन तु पुनः सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलम्।
निचकर्त शिरः कायाद् द्रुमसेनस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

फिर दूसरे भल्लद्वारा उन पराक्रमी वीरने द्रुमसेनके सुवर्णनिर्मित कान्तिमान् कुण्डलोंद्वारा मण्डित मस्तकको धड़से काट गिराया ॥ २२ ॥

तच्छिरो न्यपतद् भूमौ संदष्टौष्ठपुटं रणे।
महावातसमुद्धूतं पक्वं तालफलं यथा ॥ २३ ॥

रणभूमिमें उस मस्तकने अपने ओठको दाँतोंसे दबा रक्खा था। वह आँधीके द्वारा गिराये हुए पके ताल-फलके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २३ ॥

तान् स विद्ध्वा पुनर्योधान् वीरः सुनिशितैः शरैः।
राधेयस्याच्छिनद् भल्लैः कार्मुकं चित्रयोधिनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वीर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा उन सभी योद्धाओंको पुनः घायल करके विचित्र युद्ध करनेवाले राधापुत्र कर्णके धनुषको भल्लोंसे काट डाला ॥ २४ ॥

न तु तन्ममृषे कर्णो धनुषश्छेदनं तथा।
निकर्तनमिवात्युग्रं लाङ्गूलस्य महाहरिः ॥ २५ ॥

जैसे सिंहकी पूँछ काट लेना अत्यन्त भयंकर कर्म है, उसे कोई महान् सिंह नहीं सह सकता, उसी प्रकार कर्ण अपने धनुषका काटा जाना सहन न कर सका ॥ २५ ॥

सोऽन्यद् धनुः समादाय क्रोधरक्तेक्षणः श्वसन्।
अभ्यद्रवच्छरौघैस्तं धृष्टद्युम्नं महाबलम् ॥ २६ ॥

क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं। वह दूसरा धनुष हाथमें लेकर लंबी साँस खींचता हुआ महाबली धृष्टद्युम्नकी ओर दौड़ा और उनपर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगा ॥ २६ ॥

दृष्ट्वा कर्णं तु संरब्धं ते वीराः षड्रथर्षभाः।
पाञ्चाल्यपुत्रं त्वरिताः परिवव्रुर्जिघांसया ॥ २७ ॥

कर्णको क्रोधमें भरा हुआ देख उन छहों श्रेष्ठ रथी वीरों[1]ने पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत ही घेर लिया ॥ २७ ॥

षण्णां योधप्रवीराणां तावकानां पुरस्कृतम्।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं धृष्टद्युम्नममंस्महि ॥ २८ ॥

आपकी सेनाके इन छः प्रमुख वीर योद्धाओंके सामने खड़े हुए धृष्टद्युम्नको हमलोग मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ ही मानने लगे॥

एतस्मिन्नेव काले तु दाशार्हो विकिरञ्छरान्।
धृष्टद्युम्नं पराक्रान्तं सात्यकिः प्रत्यपद्यत ॥ २९ ॥

इसी समय दशार्हकुलभूषण सात्यकि बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ पराक्रमी धृष्टद्युम्नके पास आ पहुँचे ॥ २९ ॥

---

१. दुर्योधन, दुःशासन, द्रोण, कर्ण, शल्य और शकुनि—ये ही छः श्रेष्ठ रथी यहाँ ग्रहण किये गये हैं।

तमायान्तं महेष्वासं सात्यकिं युद्धदुर्मदम्।
राधेयो दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यदजिह्मगैः ॥ ३० ॥

वहाँ आते हुए महाधनुर्धर युद्धदुर्मद सात्यकिको राधापुत्र कर्णने सीधे जानेवाले दस बाणोंसे बींध डाला ॥ ३० ॥

तं सात्यकिर्महाराज विव्याध दशभिः शरैः।
पश्यतां सर्ववीराणां मा गास्तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३१ ॥

महाराज! तब सात्यकिने भी समस्त वीरोंके देखते-देखते कर्णको दस बाणोंसे घायल कर दिया और कहा—'खड़े रहो, भाग न जाना' ॥ ३१ ॥

स सात्यकेस्तु बलिनः कर्णस्य च महात्मनः।
आसीत् समागमो राजन् बलिवासवयोरिव ॥ ३२ ॥

राजन्! उस समय बलवान् सात्यकि और महामनस्वी कर्णका वह संग्राम राजा बलि और इन्द्रके युद्ध-सा प्रतीत होता था ॥ ३२ ॥

त्रासयन् रथघोषेण क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।
राजीवलोचनं कर्णं सात्यकिः प्रत्यविध्यत ॥ ३३ ॥

अपने रथकी घर्घराहटसे क्षत्रियोंको भयभीत करते हुए क्षत्रियशिरोमणि सात्यकिने कमललोचन कर्णको अच्छी तरह घायल कर दिया ॥ ३३ ॥

कम्पयन्निव घोषेण धनुषो वसुधां बली।
सूतपुत्रो महाराज सात्यकिं प्रत्ययोधयत् ॥ ३४ ॥

महाराज! बलवान् सूतपुत्र कर्ण भी अपने धनुषकी टंकारसे पृथ्वीको कम्पित करता हुआ-सा सात्यकिके साथ युद्ध करने लगा ॥ ३४ ॥

विपाठकर्णिनाराचैर्वत्सदन्तैः क्षुरैरपि।
कर्णः शरशतैश्चापि शैनेयं प्रत्यविध्यत ॥ ३५ ॥

कर्णने शिनिपौत्र सात्यकिको विपाठ, कर्णी, नाराच, वत्सदन्त, क्षुर तथा सैकड़ों बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तथैव युद्धयमानोऽपि वृष्णीनां प्रवरो युधि।
अभ्यवर्षच्छरैः कर्णं तद् युद्धमभवत् समम् ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार रणभूमिमें वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि भी युद्ध-तत्पर हो कर्णपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन दोनोंका वह युद्ध समान रूपसे चलने लगा ॥ ३६ ॥

तावकाश्च महाराज कर्णपुत्रश्च दंशितः।
सात्यकिं विव्यधुस्तूर्णं समन्तान्निशितैः शरैः ॥ ३७ ॥

महाराज! आपके अन्य योद्धा तथा कर्णका पुत्र कवचधारी वृषसेन—ये सब-के-सब चारों ओरसे तीखे बाणोंद्वारा सात्यकिको बींधने लगे ॥ ३७ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां कर्णस्य वा विभो।
अविद्ध्यत् सात्यकिः क्रुद्धो वृषसेनं स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

प्रभो! इससे कुपित हुए सात्यकिने उन सब योद्धाओं तथा कर्णके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके वृषसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३८ ॥

तेन बाणेन निर्विद्धो वृषसेनो विशाम्पते।
न्यपतत् स रथे मूढो धनुरुत्सृज्य वीर्यवान् ॥ ३९ ॥

प्रजानाथ! सात्यकिके बाणसे घायल हो बलवान् वृषसेन धनुष छोड़कर मूर्च्छित हो रथपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

ततः कर्णो हतं मत्वा वृषसेनं महारथम्।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः सात्यकिं प्रत्यपीडयत् ॥ ४० ॥

तब महारथी वृषसेनको मारा गया मानकर कर्ण पुत्रशोकसे संतप्त हो सात्यकिको पीड़ा देने लगा ॥ ४० ॥

पीड्यमानस्तु कर्णेन युयुधानो महारथः।
विव्याध बहुभिः कर्णं त्वरमाणः पुनः पुनः ॥ ४१ ॥

कर्णसे पीड़ित होते हुए महारथी युयुधान बड़ी उतावलीके साथ कर्णको अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे॥

स कर्णं दशभिर्विद्ध्वा वृषसेनं च सप्तभिः।
स हस्तावापधनुषी तयोश्चिच्छेद सात्वतः ॥ ४२ ॥

सात्वतवंशी सात्यकिने कर्णको दस और वृषसेनको सात बाणोंसे घायल करके उन दोनोंके दस्ताने और धनुष काट दिये॥

तावन्ये धनुषी सज्ये कृत्वा शत्रुभयंकरे।
युयुधानमविध्येतां समन्तान्निशितैः शरैः ॥ ४३ ॥

तब उन दोनोंने दूसरे शत्रु-भयंकर धनुषोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर सब ओरसे तीखे बाणोंद्वारा युयुधानको बींधना आरम्भ किया ॥ ४३ ॥

वर्तमाने तु संग्रामे तस्मिन् वीरवरक्षये।
अतीव शुश्रुवे राजन् गाण्डीवस्य महास्वनः ॥ ४४ ॥

राजन्! जब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह संग्राम चल रहा था, उसी समय वहाँ गाण्डीव धनुषकी गम्भीर टङ्कार-ध्वनि बड़े जोर-जोरसे सुनायी देने लगी ॥ ४४ ॥

श्रुत्वा तु रथनिर्घोषं गाण्डीवस्य च निःस्वनम्।
सूतपुत्रोऽब्रवीद् राजन् दुर्योधनमिदं वचः ॥ ४५ ॥

नरेश्वर! अर्जुनके रथका गम्भीर घोष और गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर सूतपुत्र कर्णने दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ४५ ॥

एष सर्वां चमूं हत्वा मुख्यांश्चैव नरर्षभान्।
पौरवांश्च महेष्वासो विक्षिपन्नुत्तमं धनुः ॥ ४६ ॥
पार्थो विजयते तत्र गाण्डीवनिनदो महान्।
श्रूयते रथघोषश्च वासवस्येव नर्दतः ॥ ४७ ॥

'राजन्! ये महाधनुर्धर कुन्तीकुमार अर्जुन हमारी सारी सेनाका संहार और मुख्य-मुख्य कुरुवंशी श्रेष्ठ पुरुषोंका वध करके अपने उत्तम धनुषको टंकार करते हुए विजयी हो रहे हैं। उधर गाण्डीव धनुषका महान् घोष तथा गरजते हुए

मेघके समान पार्थके रथकी घोर घर्घराहट सुनायी दे रही है ॥

करोति पाण्डवो व्यक्तं कर्मौपयिकमात्मनः।
एषा विदार्यते राजन् बहुधा भारती चमूः ॥ ४८ ॥

'इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि अर्जुन वहाँ अपने अनुरूप पुरुषार्थ कर रहे हैं। राजन्! भरतवंशियोंकी इस सेनाको वे अनेक भागोंमें विदीर्ण (विभक्त) किये देते हैं ॥ ४८ ॥

विप्रकीर्णान्यनेकानि न हि तिष्ठन्ति कर्हिचित्।
वातेनेव समुद्धूतमभ्रजालं विदीर्यते ॥ ४९ ॥
सव्यसाचिनमासाद्य भिन्ना नौरिव सागरे।

'उनके द्वारा तितर-बितर किये हुए हमारे बहुतसे सैन्य-दल कहीं भी ठहर नहीं पाते हैं। जैसे हवा घिरे हुए बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनके सामने पड़कर अपनी सारी सेना अनेक टुकड़ियोंमें बँटकर भागने लगी है। उसकी अवस्था समुद्रमें फटी हुई नौकाके समान हो रही है ॥

द्रवतां योधमुख्यानां गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ॥ ५० ॥
विद्धानां शतशो राजञ्श्रूयते निःस्वनो महान्।

'राजन्! गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा बिद्ध होकर भागते हुए सैकड़ों मुख्य-मुख्य योद्धाओंका यह महान् आर्तनाद सुनायी पड़ता है ॥ ५०½ ॥

शृणु दुन्दुभिनिर्घोषमर्जुनस्य रथं प्रति ॥ ५१ ॥
निशीथे राजशार्दूल स्तनयित्नोरिवाम्बरे।

'नृपश्रेष्ठ! इस रात्रिके समय आकाशमें मेघकी गर्जनाके समान जो अर्जुनके रथके समीप नगाड़ोंकी ध्वनि हो रही है, उसे सुनो ॥ ५१½ ॥

हाहाकाररवांश्चैव सिंहनादांश्च पुष्कलान् ॥ ५२ ॥
शृणु शब्दान् बहुविधानर्जुनस्य रथं प्रति।

'अर्जुनके रथके आसपास जो भाँति-भाँतिके हाहाकार, बारंबार सिंहनाद तथा अनेक प्रकारके और भी बहुत-से शब्द हो रहे हैं, उनको भी श्रवण करो ॥ ५२½ ॥

अयं मध्ये स्थितोऽस्माकं सात्यकिः सात्वतां वरः ॥५३॥
इह चेल्लभ्यते लक्ष्यं कृत्स्नाञ्जेष्यामहे परान्।

'ये सात्वतशिरोमणि सात्यकि इस समय हमलोगोंके बीचमें खड़े हैं। यदि यहाँ इन्हें हम अपने बाणोंका निशाना बना सकें तो निश्चय ही सम्पूर्ण शत्रुओंपर विजय पा सकेंगे ॥

एष पाञ्चालराजस्य पुत्रो द्रोणेन संगतः ॥ ५४ ॥
सर्वतः संवृतो योधैः शूरैश्च रथसत्तमैः।

'ये पाञ्चालराज द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न, जो आचार्य द्रोणके साथ जूझ रहे हैं, हमारे रथियोंमें श्रेष्ठतम शूरवीर योद्धाओंद्वारा चारों ओरसे घिर गये हैं ॥ ५४½ ॥

सात्यकिं यदि हन्याम धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ५५ ॥
असंशयं महाराज ध्रुवो नो विजयो भवेत्।

'महाराज! यदि हम सात्यकि तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको मार डालें तो हमारी स्थायी विजय होगी, इसमें संदेह नहीं है ॥ ५५½ ॥

सौभद्रवदिमौ वीरौ परिवार्य महारथौ ॥ ५६ ॥
प्रयतामो महाराज निहन्तुं वृष्णिपार्षतौ।

'राजेन्द्र! अतः हमलोग सुभद्राकुमार अभिमन्युके समान वृष्णिवंश तथा पार्षतकुलके इन दोनों महारथी वीरोंको सब ओरसे घेरकर मार डालनेका प्रयत्न करें ॥ ५६½ ॥

सव्यसाची पुरोऽभ्येति द्रोणानीकाय भारत ॥ ५७ ॥
संसक्तं सात्यकिं ज्ञात्वा बहुभिः कुरुपुङ्गवैः।

'भारत! सात्यकिको बहुत-से प्रधान कौरव-वीरोंके साथ उलझा हुआ जानकर सव्यसाची अर्जुन सामनेसे द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर आ रहे हैं ॥ ५७½ ॥

तत्र गच्छन्तु बहवः प्रवरा रथसत्तमाः ॥ ५८ ॥
यावत् पार्थो न जानाति सात्यकिं बहुभिर्वृतम्।
ते त्वरध्वं तथा शूराः शराणां मोक्षणे भृशम् ॥ ५९ ॥

'अतः बहुत-से श्रेष्ठ महारथी वहाँ उनका सामना करनेके लिये जायँ। जबतक अर्जुन यह नहीं जानते कि सात्यकि बहुसंख्यक योद्धाओंसे घिर गये हैं, तभीतक तुम सभी शूरवीर बाणोंका प्रहार करनेमें अधिकाधिक शीघ्रता करो ।५८-५९।

यथा त्विह व्रजत्येष परलोकाय माधवः।
तथा कुरु महाराज सुनीत्या सुप्रयुक्तया ॥ ६० ॥

'महाराज! जिस उपायसे भी यहाँ ये मधुवंशी सात्यकि परलोकगामी हो जायँ, अच्छी तरह प्रयोगमें लायी हुई सुन्दर नीतिके द्वारा वैसा ही प्रयत्न करो' ॥ ६० ॥

कर्णस्य मतमास्थाय पुत्रस्ते प्राह सौबलम्।
यथेन्द्रः समरे राजन् प्राह विष्णुं यशस्विनम् ॥ ६१ ॥

राजन्! जैसे इन्द्र समराङ्गणमें परम यशस्वी भगवान् विष्णुसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने कर्णकी सलाह मानकर सुबलपुत्र शकुनिसे इस प्रकार कहा—॥ ६१ ॥

वृतः सहस्रैर्दशभिर्गजानामनिवर्तिनाम्।
रथैश्च दशसाहस्रैस्तूर्णं याहि धनंजयम् ॥ ६२ ॥

'मामा! तुम युद्धसे पीछे न हटनेवाले दस हजार हाथियों और उतने ही रथोंके साथ तुरंत ही अर्जुनका सामना करनेके लिये जाओ ॥ ६२ ॥

दुःशासनो दुर्विषहः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः।
एते त्वामनुयास्यन्ति पत्तिभिर्बहुभिर्वृताः ॥ ६३ ॥

'दुःशासन, दुर्विषह, सुबाहु और दुष्प्रधर्षण—ये (महारथी) बहुत-से पैदल सैनिकोंको साथ लेकर तुम्हारे पीछे-पीछे जायँगे॥

जहि कृष्णौ महाबाहो धर्मराजं च मातुल।
नकुलं सहदेवं च भीमसेनं तथैव च ॥ ६४ ॥

'मेरे महाबाहु मामा ! तुम श्रीकृष्ण, अर्जुन, धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा भीमसेनको भी मार डालो ॥

देवानामिव देवेन्द्रे जयाशा त्वयि मे स्थिता।
जहि मातुल कौन्तेयानसुरानिव पावकिः ॥ ६५ ॥

'मामा ! जैसे देवताओंकी आशा देवराज इन्द्रपर लगी रहती है, उसी प्रकार मेरी विजयकी आशा तुमपर अवलम्बित है। जैसे अग्निकुमार स्कन्दने असुरोंका संहार किया था, उसी प्रकार तुम भी कुन्तीकुमारोंका वध करो' ॥ ६५ ॥

एवमुक्तो ययौ पार्थान् पुत्रेण तव सौबलः।
महत्या सेनया सार्धं सह पुत्रैश्च ते विभो ॥ ६६ ॥

प्रभो ! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर शकुनि विशाल सेना और आपके अन्य पुत्रोंके साथ कुन्तीकुमारोंका सामना करनेके लिये गया ॥ ६६ ॥

प्रियार्थं तव पुत्राणां दिधक्षुः पाण्डुनन्दनान्।
ततः प्रववृते युद्धं तावकानां परैः सह ॥ ६७ ॥

वह आपके पुत्रोंका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको भस्म कर देना चाहता था। फिर तो आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ६७ ॥

प्रयाते सौबले राजन् पाण्डवानामनीकिनीम्।
बलेन महता युक्तः सूतपुत्रस्तु सात्वतम् ॥ ६८ ॥
अभ्ययात् त्वरितो युद्धे किरञ्शरशतान् बहून्।
तथैव पार्थिवाः सर्वे सात्यकिं पर्यवारयन् ॥ ६९ ॥

राजन् ! जब शकुनि पाण्डव-सेनाकी ओर चला गया, तब विशाल सेनाके साथ सूतपुत्र कर्णने युद्धस्थलमें कई सौ बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही सात्यकिपर आक्रमण किया। इसी प्रकार अन्य सब राजाओंने भी सात्यकिको घेर लिया ॥

भारद्वाजस्ततो गत्वा धृष्टद्युम्नरथं प्रति।
महद् युद्धं तदाऽऽसीत् तु द्रोणस्य निशि भारत।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण पञ्चालैश्च सहाद्भुतम् ॥ ७० ॥

भारत ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके रथपर आक्रमण किया। उस रात्रिके समय वीर धृष्टद्युम्न और पाञ्चालोंके साथ द्रोणाचार्यका महान् एवं अद्भुत युद्ध हुआ ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर संकुलयुद्धविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिसे दुर्योधनकी, अर्जुनसे शकुनि और उलूककी तथा धृष्टद्युम्नसे कौरवसेनाकी पराजय

संजय उवाच

ततस्ते प्राद्रवन् सर्वे त्वरिता युद्धदुर्मदाः।
अमृष्यमाणाः संरब्धा युयुधानरथं प्रति ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् वे समस्त रणदुर्मद योद्धा बड़ी उतावलीके साथ अमर्ष और क्रोधमें भरकर युयुधानके रथकी ओर दौड़े ॥ १ ॥

ते रथैः कल्पितै राजन् हेमरूप्यविभूषितैः।
सादिभिश्च गजैश्चैव परिवव्रुः समन्ततः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उन्होंने सोने-चाँदीसे विभूषित एवं सुसज्जित रथों, घुड़सवारों और हाथियोंके द्वारा चारों ओरसे सात्यकिको घेर लिया ॥ २ ॥

अथैनं कोष्ठकीकृत्य सर्वतस्ते महारथाः।
सिंहनादांस्ततश्चक्रुस्तर्जयन्ति स्म सात्यकिम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार सब ओरसे सात्यकिको कोष्ठबद्ध-सा करके वे महारथी योद्धा सिंहनाद करने और उन्हें डाँट बताने लगे ॥

तेऽभ्यवर्षञ्छरैस्तीक्ष्णैः सात्यकिं सत्यविक्रमम्।
त्वरमाणा महावीरा माधवस्य वधैषिणः ॥ ४ ॥

इतना ही नहीं, मधुवंशी सात्यकिका वध करनेकी इच्छासे उतावले हो वे महावीर सैनिक उन सत्यपराक्रमी सात्यकिपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४ ॥

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णं शैनेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णान्महाबाहुः प्रमुञ्चन् विशिखान् बहून् ॥ ५ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबाहु शिनिपौत्र सात्यकिने उन लोगोंको अपनेपर धावा करते देख स्वयं भी तुरंत ही बहुत-से बाणोंका प्रहार करते हुए उनका स्वागत किया ॥

तत्र वीरो महेष्वासः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः।
निचकर्त शिरांस्युग्रैः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६ ॥

वहाँ महाधनुर्धर रणदुर्मद वीर सात्यकिने झुकी हुई गाँठवाले भयंकर बाणोंद्वारा बहुतेरे शत्रु-योद्धाओंके मस्तक काट डाले ॥ ६ ॥

हस्तिहस्तान् हयग्रीवा बाहूनपि च सायुधान्।
क्षुरप्रैः शातयामास तावकानां स माधवः ॥ ७ ॥

उन मधुवंशी वीरने आपकी सेनाके हाथियोंके शुण्डदण्डों, घोड़ोंकी गर्दनों तथा योद्धाओंकी आयुधोंसहित भुजाओंको भी क्षुरप्रोंद्वारा काट डाला ॥ ७ ॥

पतितैश्चामरैश्चैव श्वेतच्छत्रैश्च भारत।
बभूव धरणी पूर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिव प्रभो॥ ८॥

भरतनन्दन ! प्रभो ! वहाँ गिरे हुए चामरों और श्वेत छत्रोंसे भरी हुई भूमि नक्षत्रोंसे युक्त आकाशके समान जान पड़ती थी॥ ८॥

एतेषां युयुधानेन युध्यतां युधि भारत।
बभूव तुमुलः शब्दः प्रेतानां क्रन्दतामिव॥ ९॥

भारत ! युद्धस्थलमें युयुधानके साथ जूझते हुए इन योद्धाओंका भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके करुण-क्रन्दन-सा प्रतीत होता था॥ ९॥

तेन शब्देन महता पूरिताभूद् वसुन्धरा।
रात्रिः समभवच्चैव तीव्ररूपा भयावहा॥ १०॥

उस महान् कोलाहलसे भरी हुई वह रणभूमि और रात्रि अत्यन्त उग्र एवं भयंकर जान पड़ती थी॥ १०॥

दीर्यमाणं बलं दृष्ट्वा युयुधानशराहतम्।
श्रुत्वा च विपुलं नादं निशीथे लोमहर्षणे॥ ११॥
सुतस्तवाब्रवीद् राजन् सारथिं रथिनां वरः।
यत्रैष शब्दस्तत्राश्वांश्चोदयेति पुनः पुनः॥ १२॥

राजन् ! युयुधानके बाणोंसे आहत हुई अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी देख और उस रोमाञ्चकारी निशीथकालमें वह महान् कोलाहल सुनकर रथियोंमें श्रेष्ठ आपके पुत्र दुर्योधनने अपने सारथिसे बारंबार कहा—'जहाँ यह कोलाहल हो रहा है, वहाँ मेरे घोड़ोंको हाँक ले चलो'॥ ११-१२॥

तेन संचोद्यमानस्तु ततस्तांस्तुरगोत्तमान्।
सूतः संचोदयामास युयुधानरथं प्रति॥ १३॥

उसका आदेश पाकर सारथिने उन श्रेष्ठ घोड़ोंको सात्यकिके रथकी ओर हाँक दिया॥ १३॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो दृढधन्वा जितक्लमः।
शीघ्रहस्तश्चित्रयोधी युयुधानमुपाद्रवत्॥ १४॥

तदनन्तर दृढ़ धनुर्धर, श्रमविजयी, शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले दुर्योधनने क्रोधमें भरकर सात्यकिपर धावा किया॥ १४॥

ततः पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः शोणितभोजनैः।
दुर्योधनं द्वादशभिर्माधवः प्रत्यविध्यत॥ १५॥

तब मधुवंशी युयुधानने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये बारह रक्तभोजी बाणोंद्वारा दुर्योधनको घायल कर दिया॥

दुर्योधनस्तेन तथा पूर्वमेवार्दितः शरैः।
शैनेयं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यदमर्षितः॥ १६॥

सात्यकिने जब पहले ही अपने बाणोंसे दुर्योधनको पीड़ित कर दिया, तब उसने भी अमर्षमें भरकर उन्हें दस बाण मारे॥

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ।
पञ्चालानां च सर्वेषां भरतानां च दारुणम्॥ १७॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर समस्त पाञ्चालों और भरतवंशियोंका वहाँ भयंकर युद्ध होने लगा॥ १७॥

शैनेयस्तु रणे क्रुद्धस्तव पुत्रं महारथम्।
सायकानामशीत्या तु विव्याधोरसि भारत॥ १८॥

भारत ! रणभूमिमें कुपित हुए सात्यकिने आपके महारथी पुत्रकी छातीमें अस्सी सायकोंद्वारा प्रहार किया॥ १८॥

ततोऽस्य वाहान् समरे शरैर्निन्ये यमक्षयम्।
सारथिं च रथात् तूर्णं पातयामास पत्रिणा॥ १९॥

फिर समराङ्गणमें अपने बाणोंद्वारा घायल करके उसके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया और एक पंखयुक्त बाणसे मारकर उसके सारथिको भी तुरंत ही रथसे नीचे गिरा दिया॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् पुत्रस्तव विशाम्पते।
मुमोच निशितान् बाणाञ्शैनेयस्य रथं प्रति॥ २०॥

प्रजानाथ ! तब आपका पुत्र उस अश्वहीन रथपर खड़ा हो सात्यकिके रथकी ओर पैने बाण छोड़ने लगा॥ २०॥

शरान् पञ्चाशतस्तांस्तु शैनेयः कृतहस्तवत्।
चिच्छेद समरे राजन् प्रेषितांस्तनयेन ते॥ २१॥

राजन् ! परंतु आपके पुत्रद्वारा छोड़े गये पचास बाणोंको समराङ्गणमें सात्यकिने एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति काट डाला॥ २१॥

अथापरेण भल्लेन मुष्टिदेशे महद् धनुः।
चिच्छेद तरसा युद्धे तव पुत्रस्य माधवः॥ २२॥

तत्पश्चात् उन मधुवंशी वीरने एक दूसरे भल्लसे युद्धभूमिमें आपके पुत्रके विशाल धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे वेगपूर्वक काट दिया॥ २२॥

विरथो विधनुष्कश्च सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः॥ २३॥

तब सम्पूर्ण जगत्का स्वामी शक्तिशाली वीर दुर्योधन धनुष और रथसे हीन होकर तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो गया॥ २३॥

दुर्योधने परावृत्ते शैनेयस्तव वाहिनीम्।
द्रावयामास विशिखैर्निशामध्ये विशाम्पते॥ २४॥

प्रजानाथ ! उस आधीरातके समय दुर्योधनके पराङ्मुख हो जानेपर सात्यकिने आपकी सेनाको अपने बाणोंद्वारा खदेड़ना आरम्भ किया॥ २४॥

शकुनिश्चार्जुनं राजन् परिवार्य समन्ततः।
रथैरनेकसाहस्रैर्गजैश्चापि सहस्रशः॥ २५॥
तथा हयसहस्रैश्च नानाशस्त्रैरवाकिरत्।

राजन् ! उधर शकुनिने कई हजार रथों, सहस्रों हाथियों और सहस्रों घोड़ोंद्वारा अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर उनपर नाना प्रकारके शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी॥ २५½॥

ते महास्त्राणि सर्वाणि विकिरन्तोऽर्जुनं प्रति ॥ २६ ॥
अर्जुनं योधयन्ति स्म क्षत्रियाः कालचोदिताः ।

वे कालप्रेरित क्षत्रिय अर्जुनपर बड़े-बड़े अस्त्रोंकी वर्षा करते हुए उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ २६½ ॥

तान्यर्जुनः सहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ॥ २७ ॥
प्रत्यवारयदायस्तः प्रकुर्वन् विपुलं क्षयम् ।

यद्यपि अर्जुन कौरवसेनाका महान् संहार करते-करते थक गये थे, तो भी उन्होंने उन सहस्रों रथों, हाथियों और घुड़सवारोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २७½ ॥

ततस्तु समरे शूरः शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २८ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैरर्जुनं प्रहसन्निव ।
पुनश्चैव शतेनास्य संरुरोध महारथम् ॥ २९ ॥

उस समय समरभूमिमें सुबलकुमार शूरवीर शकुनिने हँसते हुए-से तीखे बाणोंद्वारा अर्जुनको बींध डाला । फिर सौ बाण मारकर उनके विशाल रथको अवरुद्ध कर दिया॥

तमर्जुनस्तु विंशत्या विव्याध युधि भारत ।
अथेतरान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरविध्यत ॥ ३० ॥

भारत ! उस युद्धके मैदानमें अर्जुनने शकुनिको बीस बाण मारे और अन्य महाधनुर्धरोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

निवार्य तान् बाणगणैर्युधि राजन् धनंजयः ।
जघान तावकान् योधान् वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३१ ॥

राजन् ! युद्धस्थलमें अर्जुनने अपने बाण-समूहोंद्वारा आपके उन योद्धाओंको रोककर जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार उन सबका वध कर डाला ॥

भुजैश्छिन्नैर्महीपाल हस्तिहस्तोपमैर्मृधे ।
समाकीर्णा मही भाति पञ्चास्यैरिव पन्नगैः ॥ ३२ ॥

भूपाल ! हाथीकी सूँड़के समान मोटी एवं कटी हुई भुजाओंसे आच्छादित हुई वह रणभूमि पाँच मुँहवाले सर्पोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

शिरोभिः सकिरीटैश्च सुनसैश्चारुकुण्डलैः ।
संदष्टौष्ठपुटैः क्रुद्धैस्तथैवोद्वृत्तलोचनैः ॥ ३३ ॥
निष्कचूडामणिधरैः क्षत्रियाणां प्रियंवदैः ।
पङ्कजैरिव विन्यस्तैः पतितैर्विबभौ मही ॥ ३४ ॥

जिनपर किरीट शोभा देता था, जो सुन्दर नासिका और मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित थे, जिन्होंने क्रोधपूर्वक अपने ओठोंको दाँतोंसे दबा रक्खा था, जिनकी आँखें बाहर निकल आयी थीं तथा जो निष्क एवं चूड़ामणि धारण करते और प्रिय वचन बोलते थे, क्षत्रियोंके वे मस्तक वहाँ कटकर गिरे हुए थे । उनके द्वारा रणभूमिकी वैसी ही शोभा हो रही थी, मानो वहाँ कमल बिछा दिये गये हों ॥ ३३-३४ ॥

कृत्वा तत् कर्म बीभत्सुरुग्रमुग्रपराक्रमः ।
विव्याध शकुनिं भूयः पञ्चभिर्नतपर्वभिः ॥ ३५ ॥
अताडयदुलूकं च त्रिभिरेव तथा शरैः ।

भयंकर पराक्रमी अर्जुनने वह वीरोचित कर्म करके झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा पुनः शकुनिको घायल किया । साथ ही तीन बाणोंसे उलूकको भी व्यथित कर दिया ॥ ३५½ ॥

उलूकस्तु तथा विद्धो वासुदेवमताडयत् ॥ ३६ ॥
ननाद च महानादं पूरयन्निव मेदिनीम् ।

इस प्रकार घायल होनेपर उलूकने भगवान् श्रीकृष्णपर प्रहार किया और पृथ्वीको गुँजाते हुए-से बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३६½ ॥

अर्जुनः शकुनेश्चापं सायकैरच्छिनद् रणे ॥ ३७ ॥
निन्ये च चतुरो वाहान् यमस्य सदनं प्रति ।

उस समय अर्जुनने रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा शकुनिका धनुष काट दिया और उसके चारों घोड़ोंको भी यमलोक भेज दिया ॥ ३७½ ॥

ततो रथादवप्लुत्य सौबलो भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
उलूकस्य रथं तूर्णमारुरोह विशाम्पते ।

प्रजापालक भरतश्रेष्ठ ! तब सुबलपुत्र शकुनि अपने रथसे कूदकर तुरंत ही उलूकके रथपर जा चढ़ा ॥ ३८½ ॥

तावेकरथमारूढौ पितापुत्रौ महारथौ ॥ ३९ ॥
पार्थं सिषिचतुर्बाणैर्गिरिं मेघाविवाम्बुभिः ।

एक रथपर आरूढ़ हुए पिता और पुत्र दोनों महारथियोंने अर्जुनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, जैसे दो मेघखण्ड अपने जलसे किसी पर्वतको सींच रहे हों ॥

तौ तु विद्ध्वा महाराज पाण्डवो निशितैः शरैः॥ ४० ॥
विद्रावयंस्तव चमूं शतशो व्यधमच्छरैः ।

महाराज ! परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुनने उन दोनोंको तीखे बाणोंसे घायल करके आपकी सेनाको भगाते हुए उसे सैकड़ों बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४०½ ॥

अनिलेन यथाभ्राणि विच्छिन्नानि समन्ततः ॥ ४१ ॥
विच्छिन्नानि तथा राजन् बलान्यासन् विशाम्पते ।

प्रजापालक नरेश ! जैसे हवा बादलोंको चारों ओर उड़ा देती है, उसी प्रकार अर्जुनने आपकी सेनाओंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४१½ ॥

तद् बलं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं तदा निशि ॥ ४२ ॥
प्रदुद्राव दिशः सर्वा वीक्षमाणं भयार्दितम् ।

भरतश्रेष्ठ ! उस समय रात्रिमें अर्जुनद्वारा मारी जाती हुई आपकी सेना भयसे पीड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखती हुई भाग चली ॥ ४२½ ॥

उत्सृज्य वाहान् समरे चोदयन्तस्तथा परे ॥ ४३ ॥
सम्भ्रान्ताः पर्यधावन्त तस्मिंस्तमसि दारुणे ।

कुछ लोग अपने वाहनोंको समराङ्गणमें ही छोड़कर भाग चले। दूसरे लोग उन्हें तेजीसे हाँकते हुए भागे और कितने ही सैनिक भ्रान्त होकर उस दारुण अन्धकारमें चारों ओर चक्कर काटते रहे ॥ ४३½ ॥

विजित्य समरे योधांस्तावकान् भरतर्षभ ॥ ४४ ॥
दध्मतुर्मुदितौ शङ्खौ वासुदेवधनंजयौ ।

भरतश्रेष्ठ ! रणभूमिमें आपके योद्धाओंको जीतकर प्रसन्नतासे भरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपना-अपना शङ्ख बजाने लगे ॥ ४४½ ॥

धृष्टद्युम्नो महाराज द्रोणं विद्ध्वा त्रिभिः शरैः॥ ४५ ॥
चिच्छेद धनुषस्तूर्णं ज्यां शरेण शितेन ह ।

महाराज ! उधर धृष्टद्युम्नने तीन बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींधकर तुरंत ही तीखे बाणसे उनके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट डाली ॥ ४५½ ॥

तन्निधाय धनुर्भूमौ द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ४६ ॥
आददेऽन्यद् धनुः शूरो वेगवत् सारवत्तरम् ।

तब क्षत्रियमर्दन शूरवीर द्रोणाचार्यने उस धनुषको भूमिपर रखकर दूसरा अत्यन्त प्रबल और वेगशाली धनुष हाथमें लिया ॥ ४६½ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो द्रोणो विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ॥ ४७ ॥
सारथिं पञ्चभिर्बाणै राजन् विव्याध संयुगे ।

राजन् ! तत्पश्चात् द्रोणने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको सात बाणोंसे बींधकर उनके सारथिको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४७½ ॥

तं निवार्य शरैस्तूर्णं धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ ४८ ॥
व्यधमत् कौरवीं सेनामासुरीं मघवानिव ।

महारथी धृष्टद्युम्नने तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको रोककर कौरव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे इन्द्र आसुरी सेनाका संहार करते हैं ॥ ४८½ ॥

वध्यमाने बले तस्मिंस्तव पुत्रस्य मारिष ॥ ४९ ॥
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।

माननीय नरेश ! इस प्रकार जब आपके पुत्रकी उस सेनाका वध होने लगा, तब वहाँ रक्तराशिके प्रवाहसे तरङ्गित होनेवाली एक भयंकर नदी बह चली ॥ ४९½ ॥

उभयोः सेनयोर्मध्ये नराश्वद्विपवाहिनी ॥ ५० ॥
यथा वैतरणी राजन् यमराजपुरं प्रति ।

राजन् ! दोनों सेनाओंके बीचमें बहनेवाली वह नदी मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भी बहाये लिये जाती थी, मानो वैतरणी नदी यमराजपुरीकी ओर जा रही हो ॥५०½॥

द्रावयित्वा तु तत् सैन्यं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
अभ्यराजत तेजस्वी शक्रो देवगणेष्विव ।

उस सेनाको भगाकर प्रतापी धृष्टद्युम्न देवताओंके समूहमें तेजस्वी इन्द्रके समान सुशोभित होने लगे ॥ ५१½ ॥

अथ दध्मुर्महाशङ्खान् धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ५२ ॥
यमौ च युयुधानश्च पाण्डवश्च वृकोदरः ।

तदनन्तर धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा पाण्डुपुत्र भीमसेनने भी अपने महान् शङ्खको बजाया ॥

जित्वा रथसहस्राणि तावकानां महारथाः ।
सिंहनादरवांश्चक्रुः पाण्डवा जितकाशिनः ॥ ५३ ॥
पश्यतस्तव पुत्रस्य कर्णस्य च रणोत्कटाः ।
तथा द्रोणस्य शूरस्य द्रौणेश्चैव विशाम्पते ॥ ५४ ॥

प्रजानाथ ! विजयसे उल्लसित होनेवाले रणोन्मत्त पाण्डव महारथी आपके पुत्र दुर्योधन, कर्ण, द्रोणाचार्य तथा शूरवीर अश्वत्थामाके देखते-देखते आपकी सेनाके सहस्रों रथियोंको परास्त करके सिंहनाद करने लगे ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके उपालम्भसे द्रोणाचार्य और कर्णका घोर युद्ध, पाण्डवसेनाका पलायन, भीमसेनका सेनाको लौटाकर लाना और अर्जुनसहित भीमसेनका कौरवोंपर आक्रमण करना

संजय उवाच

विद्रुतं स्वबलं दृष्ट्वा वध्यमानं महात्मभिः ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टः पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! अपनी सेनाको उन महामनस्वी वीरोंकी मार खाकर भागती देख आपके पुत्र दुर्योधनको महान् क्रोध हुआ ॥ १ ॥

अभ्येत्य सहसा कर्णं द्रोणं च जयतां वरम् ।
अमर्षवशमापन्नो वाक्यज्ञो वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

बातचीतकी कला जाननेवाले दुर्योधनने सहसा विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ कर्ण और द्रोणाचार्यके पास जाकर अमर्षके वशीभूत हो इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

भवद्भ्यामिह संग्रामः क्रुद्धाभ्यां सम्प्रवर्तितः।
आहवे निहतं दृष्ट्वा सैन्धवं सव्यसाचिना ॥ ३ ॥

'सव्यसाची अर्जुनके द्वारा युद्धस्थलमें सिंधुराज जयद्रथको मारा गया देख क्रोधमें भरे हुए आप दोनों वीरोंने यहाँ रातके समय इस युद्धको जारी रक्खा था ॥ ३ ॥

निहन्यमानां पाण्डूनां बलेन मम वाहिनीम्।
भूत्वा तद्विजये शक्तावशक्ताविव पश्यतः ॥ ४ ॥

'परंतु इस समय पाण्डव-सेनाद्वारा मेरी विशाल वाहिनी-का विनाश हो रहा है और आपलोग उसे जीतनेमें समर्थ होकर भी असमर्थकी भाँति देख रहे हैं ॥ ४ ॥

यद्यहं भवतोस्त्याज्यो न वाच्योऽस्मि तदैव हि।
आवां पाण्डुसुतान् संख्ये जेष्याव इति मानदौ॥ ५ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले वीरो ! यदि आपलोग मुझे त्याग देना ही उचित समझते थे तो आपको उसी समय मुझसे यह नहीं कहना चाहिये था कि 'हमलोग पाण्डवोंको युद्धमें जीत लेंगे' ॥ ५ ॥

तदैवाहं वचः श्रुत्वा भवद्भ्यामनुसम्मतम्।
नाकरिष्यमिदं पार्थैर्वैरं योधविनाशनम् ॥ ६ ॥

'उसी समय आपलोगोंकी सम्मति सुनकर मैं कुन्ती-पुत्रोंके साथ यह वैर नहीं करता, जो सम्पूर्ण योद्धाओंके लिये विनाशकारी हो रहा है ॥ ६ ॥

यदि नाहं परित्याज्यो भवद्भ्यां पुरुषर्षभौ।
युध्यतामनुरूपेण विक्रमेण सुविक्रमौ ॥ ७ ॥

'अत्यन्त पराक्रमी पुरुषप्रवर वीरो ! यदि आप मुझे त्याग देना न चाहते हों तो अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये' ॥ ७ ॥

वाक्प्रतोदेन तौ वीरौ प्रणुन्नौ तनयेन ते।
प्रावर्तयेतां संग्रामं घट्टिताविव पन्नगौ ॥ ८ ॥

इस प्रकार जब आपके पुत्रने अपने वचनोंकी चाबुकसे उन दोनों वीरोंको पीड़ित किया, तब उन्होंने कुचले हुए सर्पोंकी भाँति कुपित हो पुनः घोर युद्ध आरम्भ किया ॥८॥

ततस्तौ रथिनां श्रेष्ठौ सर्वलोकधनुर्धरौ।
शैनेयप्रमुखान् पार्थानभिदुद्रुवतू रणे ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण लोकमें विख्यात धनुर्धर, रथियोंमें श्रेष्ठ उन द्रोणाचार्य और कर्णने रणभूमिमें पुनः सात्यकि आदि पाण्डव महारथियोंपर धावा किया ॥ ९ ॥

तथैव सहिताः पार्थाः सर्वसैन्येन संवृताः।
अभ्यवर्तन्त तौ वीरौ नर्दमानौ मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण सेनाओंके साथ संगठित होकर आये हुए कुन्तीके पुत्र भी बारंबार गर्जनेवाले उन दोनों वीरोंका सामना करने लगे ॥ १० ॥

अथ द्रोणो महेष्वासो दशभिः शिनिपुङ्गवम्।
अविध्यत् त्वरितं क्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ११ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने कुपित होकर तुरंत ही दस बाणोंसे शिनिप्रवर सात्यकिको बींध डाला ॥ ११ ॥

कर्णश्च दशभिर्बाणैः पुत्रश्च तव सप्तभिः।
दशभिर्वृषसेनश्च सौबलश्चापि सप्तभिः ॥ १२ ॥
एते कौरव संक्रन्दे शैनेयं पर्यवाकिरन्।

फिर कर्णने दस, आपके पुत्रने सात, वृषसेनने दस और शकुनिने भी सात बाण मारे। कुरुराज ! इन वीरोंने युद्धमें शिनिपौत्र सात्यकिपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १२½ ॥

दृष्ट्वा च समरे द्रोणं निघ्नन्तं पाण्डवीं चमूम् ॥ १३ ॥
विव्यधुः सोमकास्तूर्णं समन्ताच्छरवृष्टिभिः।

समराङ्गणमें द्रोणाचार्यको पाण्डवसेनाका संहार करते देख सोमकोंने चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा करके उन्हें तुरंत घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

तत्र द्रोणोऽहरत् प्राणान् क्षत्रियाणां विशाम्पते ॥१४॥
रश्मिभिर्भास्करो राजंस्तमांसीव समन्ततः।

प्रजापालक नरेश ! जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा चारों ओरके अन्धकारको दूर कर देते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्य वहाँ क्षत्रियोंके प्राण लेने लगे ॥ १४½ ॥

द्रोणेन वध्यमानानां पञ्चालानां विशाम्पते ॥ १५ ॥
शुश्रुवे तुमुलः शब्दः क्रोशतामितरेतरम्।

प्रजानाथ ! द्रोणाचार्यकी मार खाकर परस्पर चीखते-चिल्लाते हुए पाञ्चालोंका घोर आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥

पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄनन्ये च मातुलान् ॥ १६ ॥
भागिनेयान् वयस्यांश्च तथा सम्बन्धिबान्धवान्।
उत्सृज्योत्सृज्य गच्छन्ति त्वरिता जीवितेप्सवः॥ १७॥

कोई पुत्रोंको, कोई पिताओंको, कोई भाइयोंको, कोई मामा, भानजों, मित्रों, सम्बन्धियों तथा बन्धु-बान्धवोंको छोड़-छोड़कर अपनी जान बचानेके लिये तुरंत ही भाग चले ॥

अपरे मोहिता मोहात् तमेवाभिमुखा ययुः।
पाण्डवानां रणे योधाः परलोकं गताः परे ॥ १८ ॥

कुछ पाण्डव सैनिक रणभूमिमें मोहित होकर मोहवश पुनः द्रोणाचार्यके ही सामने चले गये और मारे गये। बहुत-से सैनिक परलोक सिधार गये ॥ १८ ॥

सा तथा पाण्डवी सेना पीड्यमाना महात्मना।

निशि सम्प्राद्रवद् राजन्नुत्सृज्योल्काः सहस्रशः ॥१९॥
पश्यतो भीमसेनस्य विजयस्याच्युतस्य च।
यमयोर्धर्मपुत्रस्य पार्षतस्य च पश्यतः ॥ २० ॥

महामना द्रोणाचार्यसे इस प्रकार पीड़ित हुई वह पाण्डव-सेना उस रातके समय सहस्रों मशालें फेंक-फेंककर भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, नकुल, सहदेव, धर्मपुत्र युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्नके सामने ही उनके देखते-देखते भाग रही थी ॥

तमसा संवृते लोके न प्राज्ञायत किंचन।
कौरवाणां प्रकाशेन दृश्यन्ते विद्रुताः परे ॥ २१ ॥

उस समय पाण्डवदल अन्धकारसे आच्छन्न हो गया था। किसीको कुछ जान नहीं पड़ता था। कौरवदलमें जो प्रकाश हो रहा था, उसीसे कुछ भागते हुए सैनिक दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं द्रोणकर्णौ महारथौ।
जघ्नतुः पृष्ठतो राजन् किरन्तौ सायकान् बहून् ॥ २२ ॥

राजन्! महारथी द्रोणाचार्य और कर्ण बहुत-से बाणों-की वर्षा करते हुए उस भागती हुई पाण्डव-सेनाको पीछेसे मार रहे थे ॥ २२ ॥

पञ्चालेषु प्रभग्नेषु क्षीयमाणेषु सर्वतः।
जनार्दनो दीनमनाः प्रत्यभाषत फाल्गुनम् ॥ २३ ॥

जब पाञ्चाल योद्धा सब ओरसे नष्ट होने और भागने लगे, तब भगवान् श्रीकृष्णने दीनचित्त होकर अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

द्रोणकर्णौ महेष्वासावेतौ पार्षतसात्यकी।
पञ्चालांश्चैव सहितौ जघ्नतुः सायकैर्भृशम् ॥ २४ ॥

'कुन्तीनन्दन! द्रोणाचार्य और कर्ण इन दोनों महा-धनुर्धरोंने एक साथ होकर धृष्टद्युम्न, सात्यकि और पाञ्चालों-को अपने बाणोंद्वारा अत्यन्त क्षत-विक्षत कर दिया है ॥२४॥

एतयोः शरवर्षेण प्रभग्ना नो महारथाः।
वार्यमाणापि कौन्तेय पृतना नावतिष्ठते ॥ २५ ॥

'पार्थ! इन दोनोंकी बाणवर्षासे हमारे महारथियोंके पाँव उखड़ गये हैं। हमारी सेना रोकनेपर भी रुक नहीं रही है'॥

तां तु विद्रवतीं दृष्ट्वा ऊचतुः केशवार्जुनौ।
मा विद्रवत वित्रस्ता भयं त्यजत पाण्डवाः ॥ २६ ॥

अपनी सेनाको भागती देख श्रीकृष्ण और अर्जुनने उससे कहा—'पाण्डव वीरो! भयभीत होकर भागो मत। भय छोड़ो ॥ २६ ॥

तावावां सर्वसैन्यैश्च व्यूढैः सम्यगुदायुधैः।
द्रोणं च सूतपुत्रं च प्रयतावः प्रबाधितुम् ॥ २७ ॥

'हम दोनों अस्त्र-शस्त्रोंसे भलीभाँति सुसज्जित सम्पूर्ण सेनाओंका व्यूह बनाकर द्रोणाचार्य और सूतपुत्र कर्णको बाधा देनेका प्रयत्न कर रहे हैं ॥ २७ ॥

एतौ हि बलिनौ शूरौ कृतास्त्रौ जितकाशिनौ।
उपेक्षितौ तव बलैर्नाशयेतां निशामिमाम् ॥ २८ ॥

'ये दोनों द्रोण और कर्ण बलवान्, शूरवीर, अस्त्रवेत्ता तथा विजयश्रीसे सुशोभित हैं। यदि इनकी उपेक्षा की गयी तो ये इसी रातमें तुमलोगोंकी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे' ॥ २८ ॥

तयोः संवदतोरेवं भीमकर्मा महाबलः।
आयाद् वृकोदरः शीघ्रं पुनरावर्त्य वाहिनीम् ॥ २९ ॥

वे दोनों इस प्रकार अपने सैनिकोंसे बातें कर ही रहे थे कि भयंकर कर्म करनेवाले महाबली भीमसेन पुनः अपनी सेनाको लौटाकर शीघ्र वहाँ आ पहुँचे ॥ २९ ॥

वृकोदरमथायान्तं दृष्ट्वा तत्र जनार्दनः।
पुनरेवाब्रवीद् राजन् हर्षयन्निव पाण्डवम् ॥ ३० ॥

राजन्! भीमसेनको वहाँ आते देख भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुनका हर्ष बढ़ाते हुए-से पुनः इस प्रकार बोले—॥ ३० ॥

एष भीमो रणश्लाघी वृतः सोमकपाण्डवैः।
अभ्यवर्तत वेगेन द्रोणकर्णौ महारथौ ॥ ३१ ॥

'ये युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीमसेन सोमक और पाण्डव योद्धाओंसे घिरकर महारथी द्रोण और कर्णका सामना करनेके लिये बड़े वेगसे आ रहे हैं ॥ ३१ ॥

एतेन सहितो युद्धय पञ्चालैश्च महारथैः।
आश्वासनार्थं सैन्यानां सर्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ ३२ ॥

'पाण्डुनन्दन! इनके और पाञ्चाल महारथियोंके साथ रहकर तुम अपनी सारी सेनाओंको सान्त्वना देनेके लिये यहाँ युद्ध करो' ॥ ३२ ॥

ततस्तौ पुरुषव्याघ्रावुभौ माधवपाण्डवौ।
द्रोणकर्णौ समासाद्य धिष्ठितौ रणमूर्धनि ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे दोनों पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्धके मुहानेपर द्रोणाचार्य और कर्णके सामने जाकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

संजय उवाच

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत्।
ततो द्रोणश्च कर्णश्च परान् ममृदतुर्युधि ॥ ३४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी। तत्पश्चात् द्रोणाचार्य और कर्ण युद्धके मैदानमें शत्रुओंको रौंदने लगे ॥३४॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो निशि प्रत्यभवन्महान्।
यथा सागरयो राजंश्चन्द्रोदयविवृद्धयोः ॥ ३५ ॥

राजन्! उस रात्रिमें चन्द्रोदयकालमें उमड़े हुए दो महासागरोंके सदृश उन दोनों दलोंका वह महान् संग्राम अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ ३५ ॥

तत उत्सृज्य पाणिभ्यां प्रदीपांस्तव वाहिनी।
युयुधे पाण्डवैः सार्धमुन्मत्तवदसंकुला ॥ ३६ ॥

तदनन्तर आपकी सेना अपने हाथोंसे मशालें फेंककर उन्मत्तके समान असंकुलभावसे पाण्डव सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगी ॥ ३६ ॥

रजसा तमसा चैव संवृते भृशदारुणे।
केवलं नामगोत्रेण प्रायुध्यन्त जयैषिणः ॥ ३७ ॥

धूल और अंधकारसे छाये हुए उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें विजयाभिलाषी योद्धा केवल नाम और गोत्रका परिचय पाकर युद्ध करते थे ॥ ३७ ॥

अश्रूयन्त हि नामानि श्राव्यमाणानि पार्थिवैः।
प्रहरद्भिर्महाराज स्वयंवर इवाहवे ॥ ३८ ॥

महाराज ! स्वयंवरकी भाँति उस युद्धस्थलमें भी प्रहार करनेवाले नरेशोंद्वारा सुनाये जाते हुए नाम श्रवण-गोचर हो रहे थे ॥ ३८ ॥

निःशब्दमासीत् सहसा पुनः शब्दो महानभूत्।
क्रुद्धानां युध्यमानानां जीयतां जयतामपि ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरकर युद्ध करते हुए पराजित एवं विजयी होनेवाले योद्धाओंका शब्द वहाँ सहसा बंद होकर कभी सन्नाटा छा जाता था और कभी पुनः महान् कोलाहल होने लगता था ॥ ३९ ॥

यत्र यत्र स्म दृश्यन्ते प्रदीपाः कुरुसत्तम।
तत्र तत्र स्म शूरास्ते निपतन्ति पतङ्गवत् ॥ ४० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जहाँ-जहाँ मशालें दिखायी देती थीं, वहाँ-वहाँ शूरवीर सैनिक पतङ्गोंकी तरह टूट पड़ते थे ॥४०॥

तथा संयुध्यमानानां विगाढासीन्महानिशा।
पाण्डवानां च राजेन्द्र कौरवाणां च सर्वशः ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार युद्धमें लगे हुए पाण्डवों और कौरवोंकी वह महारात्रि सर्वथा प्रगाढ़ हो चली ॥४१॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे संकुलयुद्धे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके अवसरपर संकुलयुद्धविषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कर्णद्वारा धृष्टद्युम्न एवं पाञ्चालोंकी पराजय, युधिष्ठिरकी घबराहट तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनका घटोत्कचको प्रोत्साहन देकर कर्णके साथ युद्धके लिये भेजना

संजय उवाच

ततः कर्णो रणे दृष्ट्वा पार्षतं परवीरहा।
आजघानोरसि शरैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कर्णने रणभूमिमें धृष्टद्युम्नको उपस्थित देख उनकी छातीमें दस मर्मभेदी बाण मारे ॥ १ ॥

प्रतिविव्याध तं तूर्णं धृष्टद्युम्नोऽपि मारिष।
दशभिः सायकैर्हृष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २ ॥

माननीय नरेश ! तब धृष्टद्युम्नने भी हर्ष और उत्साहमें भरकर दस बाणोंद्वारा तुरंत ही कर्णको घायल करके बदला चुकाया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २ ॥

तावन्योन्यं शरैः संख्ये संछाद्य सुमहारथैः।
पुनः पूर्णायतोत्सृष्टैर्विव्यधाते परस्परम् ॥ ३ ॥

वे दोनों विशाल रथपर आरूढ़ हो युद्धस्थलमें एक दूसरेको अपने बाणोंद्वारा आच्छादित करके पुनः धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये बाणोंद्वारा परस्पर आघात-प्रत्याघात करने लगे ॥ ३ ॥

ततः पाञ्चालमुख्यस्य धृष्टद्युम्नस्य संयुगे।
सारथिं चतुरश्चाश्वान् कर्णो विव्याध सायकैः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् रणभूमिमें कर्णने अपने बाणोंद्वारा पाञ्चाल देशके प्रमुख वीर धृष्टद्युम्नके सारथि और चारों घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ ४ ॥

कार्मुकप्रवरं चापि प्रचिच्छेद शितैः शरैः।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ५ ॥

इतना ही नहीं, उसने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नके श्रेष्ठ धनुषको भी काट दिया और एक भल्ल मारकर उनके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गृहीत्वा परिघं घोरं कर्णस्याश्वानपीपिषत् ॥ ६ ॥

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्नने एक भयंकर परिघ उठाकर उसके द्वारा कर्णके घोड़ोंको पीस डाला ॥ ६ ॥

विद्धश्च बहुभिस्तेन शरैराशीविषोपमैः।
ततो युधिष्ठिरानीकं पद्भ्यामेवान्वपद्यत ॥ ७ ॥

उस समय कर्णने विषधर सर्पके समान भयंकर एवं बहु-संख्यक बाणोंद्वारा उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया। फिर वे युधिष्ठिरकी सेनामें पैदल ही चले गये ॥ ७ ॥

आरुरोह रथं चापि सहदेवस्य मारिष ।
प्रयातुकामः कर्णाय वारितो धर्मसूनुना ॥ ८ ॥

आर्य ! वहाँ धृष्टद्युम्न सहदेवके रथपर जा चढ़े और पुनः कर्णका सामना करनेके लिये जानेको उद्यत हुए, किंतु धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया ॥ ८ ॥

कर्णस्तु सुमहातेजाः सिंहनादविमिश्रितम् ।
धनुःशब्दं महच्चक्रे दध्मौ तारेण चाम्बुजम् ॥ ९ ॥

उधर महातेजस्वी कर्णने सिंहनादके साथ-साथ अपने धनुषकी महती टंकारध्वनि फैलायी और उच्चस्वरसे शङ्ख बजाया ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा विनिर्जितं युद्धे पार्षतं ते महारथाः ।
अमर्षवशमापन्नाः पञ्चालाः सहसोमकाः ॥ १० ॥
सूतपुत्रवधार्थाय शस्त्राण्यादाय सर्वशः ।
प्रययुः कर्णमुद्दिश्य मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ११ ॥

युद्धमें धृष्टद्युम्नको परास्त हुआ देख अमर्षमें भरे हुए वे पाञ्चाल और सोमक महारथी सूतपुत्र कर्णके वधके लिये सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी अवधि निश्चित करके उसकी ओर चल दिये ॥

कर्णस्यापि रथे वाहानन्यान् सूतोऽभ्ययोजयत् ।
शङ्खवर्णान् महावेगान् सैन्धवान् साधुवाहिनः ॥ १२ ॥

उधर कर्णके रथमें भी उसके सारथिने दूसरे घोड़े जोत दिये । वे सिंधी घोड़े अच्छी तरह सवारीका काम देते थे । उनका रंग शङ्खके समान सफेद था और वे बड़े वेगशाली थे ॥ १२ ॥

लब्धलक्ष्यस्तु राधेयः पञ्चालानां महारथान् ।
अभ्यपीडयदायस्तः शरैर्मेघ इवाचलम् ॥ १३ ॥

राधापुत्र कर्णका निशाना कभी चूकता नहीं था । जैसे मेघ किसी पर्वतपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार वह प्रयत्नपूर्वक बाणोंकी वर्षा करके पाञ्चाल महारथियोंको पीड़ा देने लगा ॥ १३ ॥

सा पीड्यमाना कर्णेन पञ्चालानां महाचमूः ।
सम्प्राद्रवत् सुसंत्रस्ता सिंहेनेवार्दिता मृगी ॥ १४ ॥

कर्णके द्वारा पीड़ित होनेवाली पाञ्चालोंकी वह विशाल वाहिनी सिंहसे सतायी गयी हरिणीकी भाँति अत्यन्त भयभीत होकर वेगपूर्वक भागने लगी ॥ १४ ॥

पतितास्तुरगेभ्यश्च गजेभ्यश्च महीतले ।
रथेभ्यश्च नरास्तूर्णमदृश्यन्त ततस्ततः ॥ १५ ॥

कितने ही मनुष्य वहाँ इधर-उधर घोड़ों, हाथियों और रथोंसे तुरंत ही गिरकर धराशायी हुए दिखायी देने लगे ॥

धावमानस्य योधस्य क्षुरप्रैः स महामृधे ।
बाहू चिच्छेद वै कर्णः शिरश्चैव सकुण्डलम् ॥ १६ ॥

कर्ण उस महासमरमें अपने क्षुरप्रोंद्वारा भागते हुए योद्धाकी दोनों भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकको भी काट डाला था ॥ १६ ॥

ऊरू चिच्छेद चान्यस्य गजस्थस्य विशाम्पते ।
वाजिपृष्ठगतस्यापि भूमिष्ठस्य च मारिष ॥ १७ ॥

माननीय प्रजानाथ ! दूसरे योद्धा जो हाथियोंपर बैठे थे, घोड़ोंकी पीठपर सवार थे और पृथ्वीपर पैदल चलते थे, उनकी भी जाँघें कर्णने काट डालीं ॥ १७ ॥

नाज्ञासिषुर्धावमाना बहवश्च महारथाः ।
संछिन्नान्यात्मगात्राणि वाहनानि च संयुगे ॥ १८ ॥

भागते हुए बहुत-से महारथी उस युद्धस्थलमें अपने कटे हुए अंगों और वाहनोंको नहीं जान पाते थे ॥ १८ ॥

ते वध्यमानाः समरे पञ्चालाः सृञ्जयैः सह ।
तृणप्रस्पन्दनाच्चापि सूतपुत्रं स्म मेनिरे ॥ १९ ॥

समराङ्गणमें मारे जाते हुए पाञ्चाल और संजय एक तिनकेके हिल जानेसे भी सूतपुत्र कर्णको ही आया हुआ मानने लगते थे ॥ १९ ॥

अपि स्वं समरे योधं धावमानं विचेतसम् ।
कर्णमेवाभ्यमन्यन्त ततो भीता द्रवन्ति ते ॥ २० ॥

उस रणभूमिमें अचेत होकर भागते हुए अपने योद्धाको भी वे कर्ण ही समझ लेते और उसीसे डरकर भागने लगते थे ॥

तान्यनीकानि भग्नानि द्रवमाणानि भारत ।
अभ्यद्रवद् द्रुतं कर्णः पृष्ठतो विकिरञ्छरान् ॥ २१ ॥

भारत ! भयभीत होकर भागते हुए उन सैनिकोंके पीछे बाणोंकी वर्षा करता हुआ कर्ण बड़े वेगसे धावा करता था ॥ २१ ॥

अवेक्षमाणास्त्वन्योन्यं सुसम्मूढा विचेतसः ।
नाशक्नुवन्नवस्थातुं काल्यमाना महात्मना ॥ २२ ॥

महामनस्वी कर्णके द्वारा कालके गालमें भेजे जाते हुए मोहित एवं अचेत पाञ्चाल सैनिक एक दूसरेकी ओर देखते हुए कहीं भी ठहर न सके ॥ २२ ॥

कर्णेनाभ्याहता राजन् पञ्चालाः परमेषुभिः ।
द्रोणेन च दिशः सर्वा वीक्षमाणाः प्रदुद्रुवुः ॥ २३ ॥

राजन् ! कर्ण और द्रोणाचार्यके चलाये हुए उत्तम बाणोंसे घायल होकर पाञ्चाल सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए भाग रहे थे ॥ २३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वसैन्यं प्रेक्ष्य विद्रुतम् ।
अपयाने मनः कृत्वा फाल्गुनं वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिरने अपनी सेनाको भागती देख स्वयं भी युद्धभूमिसे हट जानेका विचार करके अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

पश्य कर्णं महेष्वासं धनुष्पाणिमवस्थितम् ।
निशीथे दारुणे काले तपन्तमिव भास्करम् ॥ २५ ॥

'पार्थ ! महाधनुर्धर कर्णको देखो; वह हाथमें धनुष लिये खड़ा है और इस भयंकर आधी रातके समय सूर्यके समान तप रहा है ॥ २५ ॥

कर्णसायकनुन्नानां क्रोशतामेष निःस्वनः ।
अनिशं श्रूयते पार्थ त्वद्बन्धूनामनाथवत् ॥ २६ ॥

'अर्जुन ! कर्णके बाणोंसे घायल होकर अनाथके समान चीखते-चिल्लाते हुए तुम्हारे सहायक बन्धुओंका यह आर्तनाद निरन्तर सुनायी दे रहा है ॥ २६ ॥

यथा विसृजतश्चास्य संदधानस्य चाशुगान् ।
पश्यामि नान्तरं पार्थ क्षपयिष्यति नो ध्रुवम् ॥ २७ ॥

'कर्ण कब बाणोंको धनुषपर रखता है और कब उन्हें छोड़ता है, इसमें तनिक भी अन्तर मुझे नहीं दिखायी देता है । इससे जान पड़ता है यह निश्चय ही हमारी सारी सेनाका संहार कर डालेगा ॥ २७ ॥

यदत्रानन्तरं कार्यं प्राप्तकालं च पश्यसि ।
कर्णस्य वधसंयुक्तं तत् कुरुष्व धनंजय ॥ २८ ॥

'धनंजय ! अब यहाँ कर्णके वधके सम्बन्धमें तुम्हें जो समयोचित कर्तव्य दिखायी देता हो, उसे करो' ॥ २८ ॥

एवमुक्तो महाराज पार्थः कृष्णमथाब्रवीत् ।
भीतः कुन्तीसुतो राजा राधेयस्याद्य विक्रमात् ॥ २९ ॥

महाराज ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'प्रभो ! आज कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर राधापुत्र कर्णके पराक्रमसे भयभीत हो गये हैं ॥ २९ ॥

एवंगते प्राप्तकालं कर्णानीके पुनः पुनः ।
भवान् व्यवस्यतु क्षिप्रं द्रवते हि वरूथिनी ॥ ३० ॥

'ऐसी अवस्थामें कर्णकी सेनाके पास हमारा जो समयोचित कर्तव्य हो, उसका आप शीघ्र निश्चय करें; क्योंकि हमारी सेना बारंबार भाग रही है ॥ ३० ॥

द्रोणसायकनुन्नानां भग्नानां मधुसूदन ।
कर्णेन त्रास्यमानानामवस्थानं न विद्यते ॥ ३१ ॥

'मधुसूदन ! द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल और कर्णसे भयभीत होकर भागते हुए हमारे सैनिक कहीं भी ठहर नहीं पाते हैं ॥ ३१ ॥

पश्यामि च तथा कर्णं विचरन्तमभीतवत् ।
द्रवमाणान् रथोदारान् किरन्तं निशितैः शरैः ॥ ३२ ॥

'मैं देखता हूँ, कर्ण निर्भय-सा विचर रहा है और भागते हुए श्रेष्ठ रथियोंपर भी पीछेसे तीखे बाणोंकी वर्षा कर रहा है॥

नैनं शक्ष्यामि संसोढुं चरन्तं रणमूर्धनि ।
प्रत्यक्षं वृष्णिशार्दूल पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३३ ॥

'वृष्णिसिंह ! जैसे सर्प किसीके चरणोंका स्पर्श नहीं सह सकता, उसी प्रकार मैं युद्धके मुहानोंपर अपनी आँखोंके सामने कर्णका इस प्रकार विचरना नहीं सह सकूँगा ॥ ३३ ॥

स भवांस्तत्र यात्वाशु यत्र कर्णो महारथः ।
अहमेनं हनिष्यामि मां वैष मधुसूदन ॥ ३४ ॥

'मधुसूदन ! अतः आप शीघ्र वहीं चलिये, जहाँ महारथी कर्ण है । आज मैं इसे मार डालूँगा या यह मुझे (मार डालेगा)' ॥ ३४ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

पश्यामि कर्णं कौन्तेय देवराजमिवाहवे ।
विचरन्तं नरव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥ ३५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुन्तीनन्दन ! आज युद्धस्थलमें मैं पुरुषसिंह कर्णको देवराज इन्द्रके समान अमानुषिक पराक्रम प्रकट करते और विचरते देख रहा हूँ ॥

नैतस्यान्योऽस्ति संग्रामे प्रत्युद्याता धनंजय ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र राक्षसाद् वा घटोत्कचात् ॥ ३६ ॥

पुरुषसिंह धनंजय ! संग्रामभूमिमें तुम्हें अथवा राक्षस घटोत्कचको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो इसका सामना कर सके ॥ ३६ ॥

न तु तावदहं मन्ये प्राप्तकालं तवानघ ।
समागमं महाबाहो सूतपुत्रेण संयुगे ॥ ३७ ॥

निष्पाप महाबाहु अर्जुन ! इस समय रणक्षेत्रमें सूतपुत्रके साथ तुम्हारा युद्ध करना मैं उचित नहीं मानता ॥ ३७ ॥

दीप्यमाना महोल्केव तिष्ठत्यस्य हि वासवी ।
त्वदर्थं हि महाबाहो सूतपुत्रेण संयुगे ॥ ३८ ॥
रक्ष्यते शक्तिरेषा हि रौद्रं रूपं बिभर्ति च ।

क्योंकि उसके पास इन्द्रकी दी हुई शक्ति है, जो प्रज्वलित उल्काके समान प्रकाशित होती है । महाबाहो ! सूतपुत्रने युद्धस्थलमें तुम्हारे ऊपर प्रयोग करनेके लिये ही इस शक्तिको सुरक्षित रक्खा है, यह बड़ा भयंकर रूप धारण करती है ॥ ३८½ ॥

घटोत्कचस्तु राधेयं प्रत्युद्यातु महाबलः ॥ ३९ ॥
स हि भीमेन बलिना जातः सुरपराक्रमः ।
तस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि राक्षसान्यासुराणि च ॥ ४० ॥

अतः मेरी रायमें इस समय महाबली घटोत्कच ही राधा-पुत्र कर्णका सामना करनेके लिये जाय; क्योंकि वह बलवान् भीमसेनका बेटा है, देवताओंके समान पराक्रमी है तथा उसके पास राक्षस-सम्बन्धी एवं असुर-सम्बन्धी सभी प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र हैं ॥ ३९-४० ॥

सततं चानुरक्तो वो हितैषी च घटोत्कचः ।
विजेष्यति रणे कर्णमिति मे नात्र संशयः ॥ ४१ ॥

घटोत्कचको कर्णके साथ युद्ध करनेकी प्रेरणा

घटोत्कच तुमलोगोंका हितैषी है और सदा तुम्हारे प्रति अनुराग रखता है। वह रणभूमिमें कर्णको जीत लेगा, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

एवमुक्तो महाबाहुः पार्थः पुष्करलोचनः।
आजुहावाथ तद् रक्षस्तच्चासीत् प्रादुरग्रतः ॥ ४२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर महाबाहु कमलनयन कुन्तीकुमारने राक्षस घटोत्कचका आवाहन किया और वह तत्काल उनके सामने प्रकट हो गया ॥ ४२ ॥

कवची सशरः खड्गी सधन्वा च विशाम्पते।
अभिवाद्य ततः कृष्णं पाण्डवं च धनंजयम्।
अब्रवीच्च तदा कृष्णमयमस्म्यनुशाधि माम् ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ ! उसने कवच, धनुष, बाण और खड्ग धारण कर रक्खे थे। वह श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र धनंजयको प्रणाम करके उस समय भगवान् श्रीकृष्णसे बोला—'प्रभो ! यह मैं सेवामें उपस्थित हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये, क्या करूँ?' ॥४३॥

ततस्तं मेघसंकाशं दीप्तास्यं दीप्तकुण्डलम्।
अभ्यभाषत हैडिम्बिं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ ४४ ॥

तदनन्तर प्रज्वलित मुख और प्रकाशित कुण्डलोंवाले मेघके समान काले हिडिम्बाकुमार घटोत्कचसे भगवान् श्रीकृष्णने हँसते हुए-से कहा ॥ ४४ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

घटोत्कच विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
प्राप्तो विक्रमकालोऽयं तव नान्यस्य कस्यचित्॥ ४५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—बेटा घटोत्कच ! मैं तुमसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे सुनो और समझो। यह तुम्हारे लिये ही पराक्रम दिखानेका अवसर आया है, दूसरे किसीके लिये नहीं ॥ ४५ ॥

स भवान् मज्जमानानां बन्धूनां त्वं प्लवो भव।
विविधानि तवास्त्राणि सन्ति माया च राक्षसी ॥४६॥

तुम्हारे ये बन्धु संकटके समुद्रमें डूब रहे हैं, तुम इनके लिये जहाज बन जाओ। तुम्हारे पास नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र हैं और तुममें राक्षसी मायाका भी बल है ॥ ४६ ॥

पश्य कर्णेन हैडिम्बे पाण्डवानामनीकिनी।
काल्यमाना यथा गावः पालेन रणमूर्धनि ॥ ४७ ॥

हिडिम्बानन्दन ! देखो, जैसे चरवाहा गायोंको हाँकता है, उसी प्रकार युद्धके मुहानेपर खड़ा हुआ कर्ण पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाको खदेड़ रहा है ॥ ४७ ॥

एष कर्णो महेष्वासो मतिमान् दृढविक्रमः।
पाण्डवानामनीकेषु निहन्ति क्षत्रियर्षभान् ॥ ४८ ॥

यह कर्ण महाधनुर्धर, बुद्धिमान् और दृढ़तापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाला है। यह पाण्डवोंकी सेनाओंमें जो श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर हैं, उनका विनाश कर रहा है ॥ ४८ ॥

किरन्तः शरवर्षाणि महान्ति दृढधन्विनः।
न शक्नुवन्त्यवस्थातुं पीड्यमानाः शरार्चिषा ॥ ४९ ॥

इसके बाणोंकी आगसे संतप्त हो बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करनेवाले सुदृढ़ धनुर्धर वीर भी युद्धभूमिमें ठहर नहीं पाते हैं ॥ ४९ ॥

निशीथे सूतपुत्रेण शरवर्षेण पीडिताः।
एते द्रवन्ति पञ्चालाः सिंहेनेवार्दिता मृगाः ॥ ५० ॥

देखो, जैसे सिंहसे पीडित हुए मृग भागते हैं, उसी प्रकार इस आधी रातके समय सूतपुत्रके द्वारा की हुई बाण-वर्षासे व्यथित हो ये पाञ्चाल सैनिक भागे जा रहे हैं ॥५०॥

एतस्यैवं प्रवृद्धस्य सूतपुत्रस्य संयुगे।
निषेद्धा विद्यते नान्यस्त्वामृते भीमविक्रम ॥ ५१ ॥

भयंकर पराक्रमी वीर ! इस युद्धस्थलमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो इस प्रकार आगे बढ़नेवाले सूतपुत्र कर्णको रोक सके ॥ ५१ ॥

स त्वं कुरु महाबाहो कर्म युक्तमिहात्मनः।
मातुलानां पितॄणां च तेजसोऽस्त्रबलस्य च ॥ ५२ ॥

महाबाहो ! इसलिये तुम अपने पिता, मामा, तेज, अस्त्र-बल तथा अपनी प्रतिष्ठाके अनुरूप युद्धमें पराक्रम करो ॥

एतदर्थं हि हैडिम्बे पुत्रानिच्छन्ति मानवाः।
कथं नस्तारयेद् दुःखात् स त्वं तारय बान्धवान् ॥५३॥

हिडिम्बाकुमार ! मनुष्य इसीलिये पुत्रकी इच्छा करते हैं कि वह किसी प्रकार हमें दुःखसे छुड़ायेगा; अतः तुम अपने बन्धु-बान्धवोंको उबारो ॥ ५३ ॥

इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्घटोत्कच।
इहलोकात् परे लोके तारयिष्यन्ति ये हिताः ॥ ५४ ॥

घटोत्कच ! प्रत्येक पिता अपने इसी स्वार्थके लिये पुत्रोंकी इच्छा करता है कि वे पुत्र मेरे हितैषी होकर मुझे इस लोकसे परलोकमें तार देंगे ॥ ५४ ॥

तव ह्यत्र बलं भीमं मायाश्च तव दुस्तराः।
संग्रामे युध्यमानस्य सततं भीमनन्दन ॥ ५५ ॥

भीमनन्दन ! संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय सदा तुम्हारा भयङ्कर बल बढ़ता है और तुम्हारी मायाएँ दुस्तर होती हैं ॥

पाण्डवानां प्रभग्नानां कर्णेन निशि सायकैः।
मज्जतां धार्तराष्ट्रेषु भव पारं परंतप ॥ ५६ ॥

परंतप ! रातके समय कर्णके बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर पाण्डव सैनिकोंके पाँव उखड़ गये हैं और वे कौरवसेनारूपी समुद्रमें डूब रहे हैं। तुम उनके लिये तटभूमि बन जाओ ॥

रात्रौ हि राक्षसा भूयो भवन्त्यमितविक्रमाः।
बलवन्तः सुदुर्धर्षाः शूरा विक्रान्तचारिणः ॥ ५७ ॥

रात्रिके समय राक्षसोंका अनन्त पराक्रम और भी बढ़

जाता है। वे बलवान्, परम दुर्धर्ष, शूरवीर और पराक्रमपूर्वक विचरनेवाले होते हैं ॥ ५७ ॥

जहि कर्णं महेष्वासं निशीथे मायया रणे ।
पार्था द्रोणं वधिष्यन्ति धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ ५८ ॥

तुम आधी रातके समय अपनी मायाद्वारा रणभूमिमें महाधनुर्धर कर्णको मार डालो और धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवसैनिक द्रोणाचार्यका वध करेंगे ॥ ५८ ॥

संजय उवाच

केशवस्य वचः श्रुत्वा बीभत्सुरपि राक्षसम् ।
अभ्यभाषत कौरव्य घटोत्कचमरिंदमम् ॥ ५९ ॥

संजय कहते हैं—कुरुराज ! भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अर्जुनने भी शत्रुओंका दमन करनेवाले राक्षस घटोत्कचसे कहा—॥ ५९ ॥

घटोत्कच भवांश्चैव दीर्घबाहुश्च सात्यकिः ।
मतो मे सर्वसैन्येषु भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ ६० ॥

'घटोत्कच ! मेरी सम्पूर्ण सेनाओंमें तीन ही वीर श्रेष्ठ माने गये हैं—तुम, महाबाहु सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन ॥ ६० ॥

तद्भवान् यातु कर्णेन द्वैरथं युध्यतां निशि ।
सात्यकिः पृष्ठगोपस्ते भविष्यति महारथः ॥ ६१ ॥

'अतः तुम इस निशीथकालमें कर्णके साथ द्वैरथ युद्ध करो और महारथी सात्यकि तुम्हारे पृष्ठरक्षक होंगे ॥ ६१ ॥

जहि कर्णं रणे शूरं सात्वतेन सहायवान् ।
यथेन्द्रस्तारकं पूर्वं स्कन्देन सह जघ्निवान् ॥ ६२ ॥

'जैसे पूर्वकालमें स्कन्दके साथ रहकर इन्द्रने तारकासुरका वध किया था, उसी प्रकार तुम भी सात्यकिकी सहायता पाकर रणभूमिमें शूरवीर कर्णको मार डालो' ॥ ६२ ॥

घटोत्कच उवाच

(एवमेव महाबाहो यथा वदसि मां प्रभो ।
त्वया नियुक्तो गच्छामि कर्णस्य वधकाङ्क्षया ॥)
अलमेवास्मि कर्णाय द्रोणायालं च भारत ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणां महात्मनाम् ॥ ६३ ॥

घटोत्कचने कहा—महाबाहो ! प्रभो ! आप मुझे जैसा कह रहे हैं, वैसा ही है। मैं आपका भेजा हुआ कर्णके वधकी इच्छासे जा रहा हूँ। भारत ! मैं कर्णका सामना करनेमें तो समर्थ हूँ ही, द्रोणाचार्यका भी अच्छी तरह सामना कर सकता हूँ। अस्त्र-विद्याके जाननेवाले ये जो दूसरे महामनस्वी क्षत्रिय हैं, उनके साथ भी लोहा ले सकता हूँ ॥ ६३ ॥

अद्य दास्यामि संग्रामं सूतपुत्राय तं निशि ।
यं जनाः सम्प्रवक्ष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥ ६४ ॥

आज मैं इस रातमें सूतपुत्र कर्णके साथ ऐसा संग्राम करूँगा, जिसकी चर्चा जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक लोग करते रहेंगे ॥ ६४ ॥

न चात्र शूरान् मोक्ष्यामि न भीतान्न कृताञ्जलीन् ।
सर्वानेव वधिष्यामि राक्षसं धर्ममास्थितः ॥ ६५ ॥

इस युद्धमें मैं न तो शूरवीरोंको जीवित छोड़ूँगा, न डरनेवालोंको और न हाथ जोड़नेवालोंको ही। राक्षस-धर्मका आश्रय लेकर सबका ही संहार कर डालूँगा ॥ ६५ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्हैडिम्बिर्परवीरहा ।
अभ्ययात् तुमुले कर्णं तव सैन्यं विभीषयन् ॥ ६६ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! श्रेष्ठ वीरोंका संहार करनेवाला महाबाहु हिडिम्बाकुमार ऐसा कहकर उस भयंकर युद्धमें आपकी सेनाको भयभीत करता हुआ कर्णका सामना करनेके लिये गया ॥ ६६ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं दीप्तास्यं दीप्तमूर्धजम् ।
प्रहसन् पुरुषव्याघ्रः प्रतिजग्राह सूतजः ॥ ६७ ॥

क्रोधमें भरे हुए उस प्रज्वलित मुख और चमकीले केशोंवाले राक्षसको आते हुए देख पुरुषसिंह सूतपुत्र कर्णने हँसते हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें ग्रहण किया ॥ ६७ ॥

तयोः समभवद् युद्धं कर्णराक्षसयोर्मृधे ।
गर्जतो राजशार्दूल शक्रप्रह्रादयोरिव ॥ ६८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! संग्रामभूमिमें गर्जना करते हुए कर्ण और राक्षस दोनोंमें इन्द्र और प्रह्लादके समान युद्ध होने लगा ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे घटोत्कचप्रोत्साहने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय 'घटोत्कचको भगवानका प्रोत्साहन देना' विषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६९ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और जटासुरके पुत्र अलम्बुषका घोर युद्ध तथा अलम्बुषका वध

संजय उवाच

दृष्ट्वा घटोत्कचं राजन् सूतपुत्ररथं प्रति ।
आयान्तं तु तथा युक्तं जिघांसुं कर्णमाहवे ॥ १ ॥
अब्रवीत् तत्र पुत्रस्ते दुःशासनमिदं वचः ।
एतद् रक्षो रणे तूर्णं दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ॥ २ ॥
अभियाति द्रुतं कर्णं तद् वारय महारथम् ।

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धस्थलमें इस प्रकार कर्णका वध करनेकी इच्छासे उद्यत हुए घटोत्कचको सूतपुत्रके रथकी ओर आते देख आपके पुत्र दुर्योधनने दुःशासनसे इस प्रकार कहा—'भाई! यह राक्षस रणभूमिमें कर्णका वेगपूर्वक पराक्रम देखकर तीव्र गतिसे उसपर आक्रमण कर रहा है; अतः उस महारथी घटोत्कचको रोको ॥ १-२½ ॥

वृतः सैन्येन महता याहि यत्र महाबलः ॥ ३ ॥
कर्णो वैकर्तनो युद्धे राक्षसेन युयुत्सति ।

'तुम विशाल सेनासे घिरकर वहीं जाओ, जहाँ महाबली वैकर्तन कर्ण रणभूमिमें उस राक्षसके साथ युद्ध करना चाहता है ॥ ३½ ॥

रक्ष कर्णं रणे यत्तो वृतः सैन्येन मानद ॥ ४ ॥
मा कर्णं राक्षसो घोरः प्रमादान्नाशयिष्यति ।

'मानद! तुम सेनाके साथ सावधान होकर रणभूमिमें कर्णकी रक्षा करो। कहीं ऐसा न हो कि हमलोगोंके प्रमाद-वश वह भयंकर राक्षस कर्णका विनाश कर डाले' ॥ ४½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजञ्जटासुरसुतो बली ॥ ५ ॥
दुर्योधनमुपागम्य प्राह प्रहरतां वरः ।

राजन्! इसी समय जटासुरका बलवान् पुत्र योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक राक्षस दुर्योधनके पास आकर इस प्रकार बोला—॥

दुर्योधन तवामित्रान् प्रख्यातान् युद्धदुर्मदान् ॥ ६ ॥
पाण्डवान् हन्तुमिच्छामि त्वयाऽऽज्ञप्तः सहानुगान् ।

'दुर्योधन! यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं तुम्हारे विख्यात शत्रु रणदुर्मद पाण्डवोंका उनके सेवकोंसहित वध करना चाहता हूँ ॥ ६½ ॥

जटासुरो मम पिता रक्षसां ग्रामणीः पुरा ॥ ७ ॥
प्रयुज्य कर्म रक्षोघ्नं क्षुद्रैः पार्थैर्निपातितः ।

'मेरे पिता जटासुर राक्षसोंके अगुआ थे। उन्हें पूर्वकालमें इन नीच कुन्तीकुमारोंने राक्षस-विनाशक कर्म करके मार गिराया ॥ ७½ ॥

तस्यापचितिमिच्छामि शत्रुशोणितपूजया ।
शत्रुमांसैश्च राजेन्द्र मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ८ ॥

'राजेन्द्र! मैं शत्रुओंके रक्त और मांसद्वारा पिताकी पूजा करके उनके वधका बदला लेना चाहता हूँ। आप इसके लिये मुझे आज्ञा दें' ॥ ८ ॥

तमब्रवीत् ततो राजा प्रीयमाणः पुनः पुनः ।
द्रोणकर्णादिभिः सार्धं पर्याप्तोऽहं द्विषद्वधे ॥ ९ ॥
त्वं तु गच्छ मयाऽऽज्ञप्तो जहि युद्धे घटोत्कचम् ।
राक्षसं क्रूरकर्माणं रक्षोमानुषसम्भवम् ॥ १० ॥

तब राजा दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर बारंबार उससे कहा—'वीरवर! द्रोणाचार्य और कर्ण आदिके साथ मिलकर मैं स्वयं ही तुम्हारे शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ हूँ। तुम तो मेरी आज्ञासे घटोत्कचके पास जाओ और युद्धमें उसे मार डालो। वह क्रूरकर्मा निशाचर मनुष्य और राक्षस दोनोंके अंशसे उत्पन्न हुआ है ॥ ९-१० ॥

पाण्डवानां हितं नित्यं हस्त्यश्वरथघातिनम् ।
वैहायसगतं युद्धे प्रेषयेर्यमसादनम् ॥ ११ ॥

'हाथियों, घोड़ों तथा रथोंका विनाश करनेवाला आकाशचारी राक्षस घटोत्कच सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है। तुम युद्धमें उसे मारकर यमलोक भेज दो' ॥ ११ ॥

तथेत्युक्त्वा महाकायः समाहूय घटोत्कचम् ।
जाटासुरिर्भैमसेनिं नानाशस्त्रैरवाकिरत् ॥ १२ ॥

जटासुरके पुत्रका नाम अलम्बुष था। उस विशालकाय राक्षसने दुर्योधनसे 'तथास्तु' कहकर भीमसेनपुत्र घटोत्कचको ललकारा और उसके ऊपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १२ ॥

अलम्बुषं च कर्णं च कुरुसैन्यं च दुस्तरम् ।
हैडिम्बिः प्रममाथैको महावातोऽम्बुदानिव ॥ १३ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अकेले हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने अलम्बुष, कर्ण तथा उस दुर्लङ्घ्य कौरवसेनाको भी मथ डाला ॥ १३ ॥

ततो मायाबलं दृष्ट्वा रक्षस्तूर्णमलम्बुषः ।
घटोत्कचं शरव्रातैर्नानालिङ्गैः समार्पयत् ॥ १४ ॥

राक्षस अलम्बुषने घटोत्कचका मायाबल देखकर उसके ऊपर तुरंत ही नाना प्रकारके बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १४ ॥

विद्ध्वा च बहुभिर्बाणैर्भैमसेनिं महाबलः ।
व्यद्रावयच्छरव्रातैः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १५ ॥

उस महाबली निशाचरने भीमसेनकुमारको बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके अपने बाणसमूहोंसे पाण्डवसेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

तेन विद्राव्यमाणानि पाण्डुसैन्यानि भारत ।
निशीथे विप्रकीर्यन्ते वातनुन्ना घना इव ॥ १६ ॥

भारत! उसके खदेड़े हुए पाण्डवसैनिक हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान उस निशीथकालमें चारों ओर बिखर गये॥

घटोत्कचशरैर्नुन्ना तथैव तव वाहिनी ।
निशीथे प्राद्रवद् राजन्नुत्सृज्योल्काः सहस्रशः ॥ १७ ॥

राजन्! इसी प्रकार घटोत्कचके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई आपकी सेना भी सहस्रों मशालें फेंककर आधी रातके समय सब ओर भाग चली ॥ १७ ॥

अलम्बुषस्ततः क्रुद्धो भैमसेनिं महामृधे ।
आजघ्ने दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १८ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अलम्बुषने उस महासमरमें भीमसेन-कुमार घटोत्कचको दस बाणोंसे घायल कर दिया, मानो महावतने महान् गजराजको अङ्कुशोंसे मार दिया हो ॥ १८ ॥

तिलशस्तस्य संवाहं सूतं सर्वायुधानि च ।
घटोत्कचः प्रचिच्छेद प्रणदंश्चातिदारुणम् ॥ १९ ॥

यह देख अत्यन्त भयंकर गर्जना करते हुए घटोत्कचने अलम्बुषके सारथि, घोड़ों और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको तिल-तिल करके काट डाला ॥ १९ ॥

ततः कर्णे शरव्रातैः कुरूनन्यान् सहस्रशः ।
अलम्बुषं चाभ्यवर्षन्मेघो मेरुमिवाचलम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् जैसे मेघ मेरुपर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार उसने भी कर्णपर, अन्यान्य सहस्रों कौरव-योद्धाओंपर तथा अलम्बुषपर भी बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २० ॥

ततः संचुक्षुभे सैन्यं कुरूणां राक्षसार्दितम् ।
उपर्युपरि चान्योन्यं चतुरङ्गं ममर्द ह ॥ २१ ॥

उस राक्षससे पीड़ित हुई सम्पूर्ण चतुरङ्गिणी कौरव-सेना विक्षुब्ध हो उठी और आपसमें ही एक-दूसरेको नष्ट करने लगी ॥

जाटासुरिर्महाराज विरथो हतसारथिः ।
घटोत्कचं रणे क्रुद्धो मुष्टिनाभ्यहनद् दृढम् ॥ २२ ॥

महाराज ! उस समय सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए अलम्बुषने रणभूमिमें कुपित हो घटोत्कचको बड़े जोरसे मुक्का मारा ॥ २२ ॥

मुष्टिनाभ्याहतस्तेन प्रचचाल घटोत्कचः ।
क्षितिकम्पे यथा शैलः सवृक्षस्तृणगुल्मवान् ॥ २३ ॥

उसके मुक्केकी मार खाकर घटोत्कच उसी प्रकार काँप उठा, जैसे भूकम्प होनेपर वृक्ष, तृण और गुल्मोंसहित पर्वत हिलने लगता है ॥ २३ ॥

ततः स परिघाभेन द्विट्संघघ्नेन बाहुना ।
जाटासुरिं भैमसेनिरवधीन्मुष्टिना भृशम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनपुत्र घटोत्कचने शत्रुसमूहोंका नाश करनेवाली अपनी परिघ-जैसी मोटी बाँहके मुक्केसे जटासुरके पुत्रको बहुत मारा ॥ २४ ॥

तं प्रमथ्य ततः क्रुद्धस्तूर्णं हैडिम्बिराक्षिपत् ।
दोर्भ्यामिन्द्रध्वजाभाभ्यां निष्पिपेष च भूतले ॥ २५ ॥

क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने उसे अच्छी तरह मथकर तुरंत ही धरतीपर दे मारा और इन्द्र-ध्वजके समान अपनी दोनों भुजाओंद्वारा उसे भूतलपर रगड़ना आरम्भ किया ॥

जाटासुरिर्मोक्षयित्वा आत्मानं च घटोत्कचात् ।
पुनरुत्थाय वेगेन घटोत्कचमुपाद्रवत् ॥ २६ ॥

तब जटासुरका पुत्र अपने आपको घटोत्कचके बन्धनसे छुड़ाकर पुनः उठ गया और बड़े वेगसे उसकी ओर झपटा ॥

अलम्बुषोऽपि विक्षिप्य समुत्क्षिप्य च राक्षसम् ।
घटोत्कचं रणे रोषान्निष्पिपेष च भूतले ॥ २७ ॥

अलम्बुषने भी झटका देकर रणभूमिमें राक्षस घटोत्कचको उठाकर पटक दिया और रोषपूर्वक वह उसे पृथ्वीपर रगड़ने लगा ॥ २७ ॥

तयोः समभवद् युद्धं गर्जतोरतिकाययोः ।
घटोत्कचालम्बुषयोस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २८ ॥

गरजते हुए उन दोनों विशालकाय राक्षस घटोत्कच और अलम्बुषका वह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी था ॥

विशेषयन्तावन्योन्यं मायाभिरतिमायिनौ ।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवैरोचनाविव ॥ २९ ॥

इन्द्र और बलिके समान महापराक्रमी वे दोनों अत्यन्त मायावी राक्षस अपनी मायाओंद्वारा एक दूसरेसे बढ़ जानेकी चेष्टा करते हुए परस्पर युद्ध कर रहे थे ॥ २९ ॥

पावकाम्बुनिधी भूत्वा पुनर्गरुडतक्षकौ ।
पुनर्मेघमहावातौ पुनर्वज्रमहाचलौ ॥ ३० ॥

एकने आग बनकर आक्रमण किया तो दूसरेने महासागर बनकर उसे बुझा दिया । इसी प्रकार एक तक्षक नाग बना तो दूसरा गरुड़ । फिर एक मेघ बना तो दूसरा प्रचण्ड वायु । तत्पश्चात् एक महान् पर्वत बनकर खड़ा हुआ तो दूसरा वज्र बनकर उसपर टूट पड़ा ॥ ३० ॥

पुनः कुञ्जरशार्दूलौ पुनः स्वर्भानुभास्करौ ।
एवं मायाशतसृजावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३१ ॥
भृशं चित्रमयुध्येतामलम्बुषघटोत्कचौ ।

फिर वे क्रमशः हाथी और सिंह तथा सूर्य और राहु बन गये । इस प्रकार वे अलम्बुष और घटोत्कच एक दूसरेके वधकी इच्छासे सैकड़ों मायाओंकी सृष्टि करते हुए परस्पर अत्यन्त विचित्र युद्ध करने लगे ॥ ३१½ ॥

परिघैश्च गदाभिश्च प्रासमुद्गरपट्टिशैः ॥ ३२ ॥
मुसलैः पर्वताग्रैश्च तावन्योन्यं विजघ्नतुः ।

वे दोनों निशाचर परिघ, गदा, प्रास, मुद्गर, पट्टिश, मुसल तथा पर्वतशिखरोंसे एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥

हयाभ्यां च गजाभ्यां च रथाभ्यां च पदातिभिः ॥ ३३ ॥
युयुधाते महामायौ राक्षसप्रवरौ युधि ।

उस युद्धस्थलमें वे महामायावी श्रेष्ठ राक्षस अपने हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंके द्वारा एक दूसरेपर प्रहार करते हुए युद्ध कर रहे थे ॥ ३३½ ॥

ततो घटोत्कचो राजन्नलम्बुषवधेप्सया ॥ ३४ ॥
उत्पपात भृशं क्रुद्धः श्येनवन्निपपात च ।

राजन् ! तदनन्तर घटोत्कच अलम्बुषके वधकी इच्छासे

अत्यन्त कुपित होकर ऊपर उछला और जैसे बाज (चिड़िया-पर) झपटता है, उसी प्रकार उसके ऊपर टूट पड़ा ॥ ३४½ ॥

गृहीत्वा च महाकायं राक्षसेन्द्रमलम्बुषम् ॥ ३५ ॥
उद्यम्य न्यवधीद् भूमौ मयं विष्णुरिवाहवे ।

विशालकाय राक्षसराज अलम्बुषको दोनों हाथोंसे पकड़कर घटोत्कचने युद्धस्थलमें उसे उठाकर धरतीपर दे मारा, मानो भगवान् विष्णुने मयासुरको पछाड़ दिया हो ॥ ३५½ ॥

ततो घटोत्कचः खड्गमुद्धृत्याद्‍भुतदर्शनम् ॥ ३६ ॥
रौद्रस्य कायाद्धि शिरो भीमं विकृतदर्शनम् ।
स्फुरतस्तस्य समरे नदतश्चातिभैरवम् ॥ ३७ ॥
निचकर्त महाराज शत्रोरमितविक्रमः ।

महाराज ! तब अमितपराक्रमी घटोत्कचने अद्भुत दिखायी देनेवाली अपनी तलवार उठाकर समराङ्गणमें अत्यन्त भयंकर गर्जना करते और उछल-कूद मचाते हुए शत्रु अलम्बुषके भयंकर एवं विकराल मस्तकको उस भयानक राक्षसकी कायासे काटकर अलग कर दिया। ३६-३७½।

शिरस्तच्चापि संगृह्य केशेषु रुधिरोक्षितम् ॥ ३८ ॥
ययौ घटोत्कचस्तूर्णं दुर्योधनरथं प्रति ।
अभ्येत्य च महाबाहुः स्मयमानः स राक्षसः ॥ ३९ ॥
शिरो रथेऽस्य निक्षिप्य विकृताननमूर्धजम् ।
प्राणदद् भैरवं नादं प्रावृषीव बलाहकः ॥ ४० ॥

खूनसे भीगे हुए उस मस्तकके केश पकड़कर महाबाहु राक्षस घटोत्कच दुर्योधनके रथकी ओर चल दिया और पास जाकर मुसकराते हुए उसने विकराल मुख एवं केशवाले उस सिरको उसके रथपर फेंककर वर्षाकालके मेघकी भाँति भयंकर गर्जना की ॥ ३८–४० ॥

अब्रवीच्च ततो राजन् दुर्योधनमिदं वचः ।
एष ते निहतो बन्धुस्त्वया दृष्टोऽस्य विक्रमः ॥ ४१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वह दुर्योधनसे इस प्रकार बोला—'यह है तेरा सहायक बन्धु, इसे मैंने मार डाला । तूने देख लिया न इसका पराक्रम ? ॥ ४१ ॥

पुनर्द्रष्टासि कर्णस्य निष्ठामेतां तथाऽऽत्मनः ।
'स्वधर्ममर्थं कामं च त्रितयं योऽभिवाञ्छति ॥ ४२ ॥
रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं ब्राह्मणं स्त्रियम् ।

'अब तू कर्णकी तथा अपनी भी फिर ऐसी ही अवस्था देखेगा । जो अपने धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी इच्छा रखता है, उसे राजा, ब्राह्मण और स्त्रीसे खाली हाथ नहीं मिलना चाहिये (इसीलिये तेरे मित्रका यह मस्तक मैं भेंट-के तौरपर लाया हूँ) ॥ ४२½ ॥

तिष्ठस्व तावत् सुप्रीतो यावत् कर्णं वधाम्यहम् ॥ ४३ ॥
एवमुक्त्वा ततः प्रायात् कर्णं प्रति नरेश्वर ।
किरञ्छरगणांस्तीक्ष्णान् रुषितो रणमूर्धनि ॥ ४४ ॥

'तू तबतक यहाँ प्रसन्नतापूर्वक खड़ा रह, जबतक कि मैं कर्णका वध नहीं कर लेता ।' नरेश्वर ! ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ घटोत्कच तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करता हुआ युद्धके मुहानेपर कर्णके पास चला गया ॥ ४३–४४ ॥

ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
विस्मापनं महाराज नरराक्षसयोर्मृधे ॥ ४५ ॥

महाराज ! तदनन्तर रणभूमिमें सबको विस्मयमें डालनेवाला मनुष्य और राक्षसका वह घोर एवं भयानक युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे अलम्बुषवधे चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें अलम्बुषवधविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और उसके रथ आदिके स्वरूपका वर्णन तथा कर्ण और घटोत्कचका घोर संग्राम

धृतराष्ट्र उवाच

यत्तद् वैकर्तनः कर्णो राक्षसश्च घटोत्कचः ।
निशीथे समसज्जेतां तद् युद्धमभवत् कथम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! आधी रातके समय सूर्यपुत्र

कर्ण तथा राक्षस घटोत्कच जो एक दूसरेसे भिड़े हुए थे, उनका वह युद्ध किस प्रकार हुआ ? ॥ १ ॥

कीदृशं चाभवद् रूपं तस्य घोरस्य रक्षसः।
रथश्च कीदृशस्तस्य हयाः सर्वायुधानि च ॥ २ ॥

उस भयंकर राक्षसका रूप उस समय कैसा था ? उसका रथ कैसा था ? उसके घोड़े और सम्पूर्ण आयुध कैसे थे ? ॥

किंप्रमाणा हयास्तस्य रथकेतुर्धनुस्तथा।
कीदृशं वर्म चैवास्य शिरस्त्राणं च कीदृशम् ॥ ३ ॥
पृष्टस्त्वमेतदाचक्ष्व कुशलो ह्यसि संजय।

उसके घोड़े कितने बड़े थे, रथकी ध्वजाकी ऊँचाई और धनुषकी लम्बाई कितनी थी ? उसके कवच और शिरस्त्राण कैसे थे, संजय ! मेरे प्रश्नके अनुसार ये सारी बातें बताओ; क्योंकि तुम इस कार्यमें कुशल हो ॥ ३½ ॥

संजय उवाच

लोहिताक्षो महाकायस्ताम्रास्यो निम्नितोदरः॥ ४ ॥
ऊर्ध्वरोमा हरिश्मश्रुः शङ्कुकर्णो महाहनुः।
आकर्णदारितास्यश्च तीक्ष्णदंष्ट्रः करालवान् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—राजन् ! घटोत्कचका शरीर बहुत बड़ा था। उसकी आँखें सुर्ख रंगकी थीं। मुँह ताँबेके रंगका और पेट धँसा हुआ था। उसके रोएँ ऊपरकी ओर उठे हुए थे, दाढ़ी-मूँछ काली थी, ठोड़ी बड़ी दिखायी देती थी। मुँह कानोंतक फटा हुआ था, दाढ़ें तीखी होनेके कारण वह विकराल जान पड़ता था ॥ ४–५ ॥

सुदीर्घताम्रजिह्वोष्ठो लम्बभ्रूः स्थूलनासिकः।
नीलाङ्गो लोहितग्रीवो गिरिवर्ष्मा भयंकरः ॥ ६ ॥

जीभ और ओठ ताँबेके समान लाल और लम्बे थे, भौंहें बड़ी-बड़ी, नाक मोटी, शरीरका रंग काला, गर्दन लाल और शरीर पर्वताकार था। वह देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ६ ॥

महाकायो महाबाहुर्महाशीर्षो महाबलः।
विकृतः परुषस्पर्शो विकटोद्बृद्धपिण्डकः ॥ ७ ॥

उसकी देह, भुजा और मस्तक सभी विशाल थे। उसका बल भी महान् था। आकृति बेडौल थी। उसका स्पर्श कठोर था। उसकी पिंडलियाँ विकट एवं सुदृढ़ थीं ॥ ७ ॥

स्थूलस्फिग्गूढनाभिश्च शिथिलोपचयो महान्।
तथैव हस्ताभरणी महामायोऽङ्गदी तथा ॥ ८ ॥

उसके नितम्बभाग स्थूल थे। उसकी नाभि छोटी होनेके कारण छिपी हुई थी। उसके शरीरकी बढ़ती रुक गयी थी। वह लंबे कदका था। उसने हाथोंमें आभूषण पहन रक्खे थे। भुजाओंमें बाजूबन्द धारण कर रक्खे थे। वह बड़ी-बड़ी मायाओंका जानकार था ॥ ८ ॥

उरसा धारयन् निष्कमग्निमालां यथाचलः।
तस्य हेममयं चित्रं बहुरूपाङ्गशोभितम् ॥ ९ ॥
तोरणप्रतिमं शुभ्रं किरीटं मूर्ध्न्यशोभत।

वह अपनी छातीपर सुवर्णमय निष्क (पदक) पहनकर अग्निकी माला धारण किये पर्वतके समान प्रतीत होता था। उसके मस्तकपर सोनेका बना हुआ विचित्र उज्ज्वल मुकुट तोरणके समान सुशोभित हो रहा था। उस मुकुटकी विविध अङ्गोंसे बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ९½ ॥

कुण्डले बालसूर्याभे मालां हेममयीं शुभाम् ॥ १० ॥
धारयन् विपुलं कांस्यं कवचं च महाप्रभम्।

वह प्रभातकालके सूर्यकी भाँति कान्तिमान् दो कुण्डल, सोनेकी सुन्दर माला और काँसीका विशाल एवं चमकीला कवच धारण किये हुए था ॥ १०½ ॥

किंकिणीशतनिर्घोषं रक्तध्वजपताकिनम् ॥ ११ ॥
ऋक्षचर्मावनद्धाङ्गं नल्वमात्रं महारथम्।

उसके रथमें सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंका मधुर घोष होता था। उसपर लाल रंगकी ध्वजा-पताका फहरा रही थी। उस रथके सम्पूर्ण अङ्गोंपर रीछकी खाल मढ़ी गयी थी। वह विशाल रथ चारों ओरसे चार सौ हाथ लंबा था ॥ ११½ ॥

सर्वायुधवरोपेतमास्थितो ध्वजशालिनम् ॥ १२ ॥
अष्टचक्रसमायुक्तं मेघगम्भीरनिःस्वनम्।

उसपर सभी प्रकारके श्रेष्ठ आयुध रखे गये थे। उसमें आठ पहिये लगे थे और चलते समय उस रथसे मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती थी। विशाल ध्वज उस रथकी शोभा बढ़ा रहा था। उसीपर घटोत्कच आरूढ़ था ॥ १२½ ॥

मत्तमातङ्गसंकाशा लोहिताक्षा विभीषणाः ॥ १३ ॥
कामवर्णजवा युक्ता बलवन्तः शतं हयाः ।

मतवाले हाथीके समान प्रतीत होनेवाले सौ बलवान् एवं भयंकर घोड़े उस रथमें जुते हुए थे । जिनकी आँखें लाल थीं तथा जो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और मनचाहे वेगसे चलनेवाले थे ॥ १३½ ॥

वहन्तो राक्षसं घोरं वालवन्तो जितश्रमाः ॥ १४ ॥
विपुलाभिः सटाभिस्ते ह्रेषमाणा मुहुर्मुहुः ।

उन घोड़ोंके कंधोंपर लंबे-लंबे बाल थे । वे परिश्रमको जीत चुके थे । वे सभी अपने विशाल केसरों (गर्दनके लंबे बालों) से सुशोभित थे और उस भयानक राक्षसका भार वहन करते हुए वे बारंबार हिनहिना रहे थे ॥ १४½ ॥

राक्षसोऽस्य विरूपाक्षः सूतो दीप्तास्यकुण्डलः ॥ १५ ॥
रश्मिभिः सूर्यरश्म्याभैः संजग्राह हयान् रणे ।
स तेन सहितस्तस्थावरुणेन यथा रविः ॥ १६ ॥

दीप्तिमान् मुख और कुण्डलोंसे युक्त विरूपाक्ष नामक राक्षस घटोत्कचका सारथि था, जो रणभूमिमें सूर्यकी किरणों-के समान चमकीली बागडोर पकड़कर उन घोड़ोंको काबूमें रखता था । उसके साथ रथपर बैठा हुआ घटोत्कच ऐसा जान पड़ता था, मानो अरुण नामक सारथिके साथ सूर्यदेव अपने रथपर विराजमान हों ॥ १५–१६ ॥

संसक्त इव चाभ्रेण यथाद्रिर्महता महान् ।
दिवःस्पृक् सुमहान् केतुः स्यन्दनेऽस्य समुच्छ्रितः॥१७॥
रक्तोत्तमाङ्गः क्रव्यादो गृध्रः परमभीषणः ।

जैसे महान् पर्वत किसी महामेघसे संयुक्त हो जाय, उसी प्रकार अपने सारथिके साथ बैठे हुए घटोत्कचकी शोभा हो रही थी । उसके रथपर बहुत ऊँची गगन-चुम्बिनी पताका फहरा रही थी, जिसपर एक लाल शिरवाला अत्यन्त भयंकर मांसभोजी गीध दिखायी देता था ॥ १७½ ॥

वासवाशनिनिर्घोषं दृढज्यमतिविक्षिपन् ॥ १८ ॥
व्यक्तं किष्कुपरीणाहं द्वादशारत्निकार्मुकम् ।
रथाक्षमात्रैरिषुभिः सर्वाः प्रच्छादयन् दिशः ॥ १९ ॥
तस्यां वीरापहारिण्यां निशायां कर्णमभ्ययात् ।

वीरोंका संहार करनेवाली उस रात्रिमें इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले और सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाले एक हाथ चौड़े एवं बारह अरत्नि लंबे धनुषको खींचता और रथके धुरेके समान मोटे बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करता हुआ घटोत्कच (पूर्वोक्त रथपर आरूढ़ हो) कर्णकी ओर चला ॥ १८–१९½ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं रथे विष्टभ्य तिष्ठतः ॥ २० ॥
अश्रूयत धनुर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः ।

रथपर स्थिरतापूर्वक खड़े हो जब वह अपने धनुषको खींच रहा था, उस समय उसकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहट-के समान सुनायी देती थी ॥ २०½ ॥

तेन वित्रास्यमानानि तव सैन्यानि भारत ॥ २१ ॥
समकम्पन्त सर्वाणि सिन्धोरिव महोर्मयः ।

भारत ! उस घोर शब्दसे डरायी हुई आपकी सारी सेनाएँ समुद्रकी बड़ी-बड़ी लहरोंके समान काँपने लगीं ।२१½।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य विरूपाक्षं विभीषणम् ॥ २२ ॥
उत्स्मयन्निव राधेयस्त्वरमाणोऽभ्यवारयत् ।

विकराल नेत्रोंवाले उस भयानक राक्षसको आते देख राधापुत्र कर्णने मुसकराते हुए-से शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़कर उसे रोका ॥ २२½ ॥

ततः कर्णोऽभ्ययादेनमस्यन्नस्यन्तमन्तिकात् ॥ २३ ॥
मातङ्ग इव मातङ्गं यूथर्षभमिवर्षभः ।

जैसे एक यूथपति गजराजका सामना करनेके लिये दूसरे यूथका अधिपति गजराज चढ़ आता है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए घटोत्कचपर बाणोंकी बौछार करते हुए कर्णने उसके ऊपर निकटसे आक्रमण किया ॥ २३½ ॥

स संनिपातस्तुमुलस्तयोरासीद् विशाम्पते ॥ २४ ॥
कर्णराक्षसयो राजन्निन्द्रशम्बरयोरिव ।

प्रजानाथ ! राजन् ! पूर्वकालमें जैसे इन्द्र और शम्बरा-सुरमें युद्ध हुआ था, उसी प्रकार कर्ण और राक्षसका वह संग्राम बड़ा भयंकर हुआ ॥ २४½ ॥

तौ प्रगृह्य महावेगे धनुषी भीमनिःस्वने ॥ २५ ॥
प्राच्छादयेतामन्योन्यं तक्षमाणौ महेषुभिः ।

वे दोनों भयंकर टंकार करनेवाले अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर बड़े-बड़े बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत-विक्षत करते हुए आच्छादित करने लगे ॥ २५½ ॥

ततः पूर्णायतोत्सृष्टैरिषुभिर्नतपर्वभिः ॥ २६ ॥
न्यवारयेतामन्योन्यं कांस्ये निर्भिद्य वर्मणी ।

तदनन्तर वे दोनों वीर धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा परस्पर कांस्यनिर्मित कवचोंको छिन्न-भिन्न करके एक दूसरेको रोकने लगे ॥ २६½ ॥

तौ नखैरिव शार्दूलौ दन्तैरिव महाद्विपौ ॥ २७ ॥
रथशक्तिभिरन्योन्यं विशिखैश्च ततक्षतुः ।

जैसे दो सिंह नखोंसे और दो महान् गजराज दाँतोंसे परस्पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों योद्धा रथशक्तियों और बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे ॥ २७½ ॥

संछिन्दन्तौ च गात्राणि संदधानौ च सायकान् ॥ २८ ॥
दहन्तौ च शरोल्काभिर्दुष्प्रेक्ष्यौ च बभूवतुः ।

वे सायकोंका संधान करके एक दूसरेके अङ्गोंको छेदते और बाणमयी उल्काओंसे दग्ध करते थे । उससे उन दोनोंकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था ॥ २८½ ॥

तौ तु विक्षतसर्वाङ्गौ रुधिरौघपरिप्लुतौ ॥ २९ ॥
व्यभ्राजेतां यथा वारि स्रवन्तौ गैरिकाचलौ ।

उन दोनोंके सारे अङ्ग घावोंसे भर गये थे और दोनों ही खूनसे लथपथ हो गये थे । उस समय वे जलका स्रोत बहाते हुए गेरूके दो पर्वतोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ २९½ ॥

तौ शराग्रविनुन्नाङ्गौ निर्भिन्दन्तौ परस्परम् ॥ ३० ॥
नाकम्पयेतामन्योन्यं यतमानौ महाद्युती ।

दोनोंके अङ्ग बाणोंके अग्रभागसे छिदकर छलनी हो रहे थे । दोनों ही एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे, तो भी वे महातेजस्वी वीर परस्पर विजयके प्रयत्नमें लगे रहे और एक दूसरेको कम्पित न कर सके ॥ ३०½ ॥

तत् प्रवृत्तं निशायुद्धं चिरं सममिवाभवत् ॥ ३१ ॥
प्राणयोर्दीव्यतो राजन् कर्णराक्षसयोर्मृधे ।

राजन् ! युद्धके जूएमें प्राणोंकी बाजी लगाकर खेलते हुए कर्ण और राक्षसका वह रात्रियुद्ध दीर्घकालतक समानरूपमें ही चलता रहा ॥ ३१½ ॥

तस्य संदधतस्तीक्ष्णाञ्छरांश्चासक्तमस्यतः ॥ ३२ ॥
धनुर्घोषेण वित्रस्ताः स्वे परे च तदाभवन् ।

घटोत्कच तीखे बाणोंका संहार करके उन्हें इस प्रकार छोड़ता कि वे एक दूसरेसे सटे हुए निकलते थे । उसके धनुषकी टंकारसे अपने और शत्रुपक्षके योद्धा भी भयसे थर्रा उठते थे ॥ ३२½ ॥

घटोत्कचं यदा कर्णो विशेषयति नो नृप ॥ ३३ ॥
ततः प्रादुष्करोद् दिव्यमस्त्रमस्त्रविदां वरः ।

नरेश्वर ! जब कर्ण घटोत्कचसे बढ़ न सका, तब उस अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वीरने दिव्यास्त्र प्रकट किया ॥ ३३½ ॥

कर्णेन संधितं दृष्ट्वा दिव्यमस्त्रं घटोत्कचः ॥ ३४ ॥
प्रादुश्चक्रे महामायां राक्षसीं पाण्डुनन्दनः ।

कर्णको दिव्यास्त्रका संधान करते देख पाण्डवनन्दन घटोत्कचने अपनी राक्षसी महामाया प्रकट की ॥ ३४½ ॥

शूलमुद्गरधारिण्या शैलपादपहस्तया ॥ ३५ ॥
रक्षसां घोररूपाणां महत्या सेनया वृतः ।

वह तत्काल ही शूल, मुद्गर, शिलाखण्ड और वृक्ष हाथमें लिये हुए घोररूपधारी राक्षसोंकी विशाल सेनासे घिर गया ॥ ३५½ ॥

तमुद्यतमहाचापं दृष्ट्वा ते व्यथिता नृपाः ॥ ३६ ॥
भूतान्तकमिवायान्तं कालदण्डोग्रधारिणम् ।

भयानक कालदण्ड धारण किये, समस्त भूतोंके प्राणहन्ता यमराजके समान उसे विशाल धनुष उठाये आते देख वहाँ उपस्थित हुए वे सभी नरेश व्यथित हो उठे ॥ ३६½ ॥

घटोत्कचप्रयुक्तेन सिंहनादेन भीषिताः ॥ ३७ ॥
प्रसुस्रुवुर्गजा मूत्रं विव्यथुश्च नरा भृशम् ।

घटोत्कचके सिंहनादसे भयभीत हो हाथियोंके पेशाब झरने लगे और मनुष्य भी अत्यन्त व्यथित हो गये ॥ ३७½ ॥

ततोऽश्मवृष्टिरत्युग्रा महत्यासीत् समन्ततः ॥ ३८ ॥
अर्धरात्रेऽधिकबलैर्विमुक्ता रक्षसां बलैः ।

तदनन्तर चारों ओरसे पत्थरोंकी अत्यन्त भयंकर एवं भारी वर्षा होने लगी । आधी रातके समय अधिक बलशाली हुए राक्षसोंके समुदाय वह प्रस्तर-वर्षा कर रहे थे ॥ ३८½ ॥

आयसानि च चक्राणि भुशुण्ड्यः शक्तितोमराः ॥ ३९ ॥
पतन्त्यविरलाः शूलाः शतघ्न्यः पट्टिशास्तथा ।

लोहेके चक्र, भुशुण्डी, शक्ति, तोमर, शूल, शतघ्नी और पट्टिश आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी अविरल धाराएँ गिर रही थीं॥

तदुग्रमतिरौद्रं च दृष्ट्वा युद्धं नराधिप ॥ ४० ॥
पुत्राश्च तव योधाश्च व्यथिता विप्रदुद्रुवुः ।

नरेश्वर ! उस अत्यन्त भयंकर और उग्र संग्रामको देखकर आपके पुत्र और योद्धा भयभीत होकर भाग चले ॥

तत्रैकोऽस्त्रबलश्लाघी कर्णो मानी न विव्यथे ॥ ४१ ॥
व्यधमच्च शरैर्मायां तां घटोत्कचनिर्मिताम् ।

अपने अस्त्रबलकी प्रशंसा करनेवाला एकमात्र अभिमानी कर्ण ही वहाँ खड़ा रहा । उसके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं हुई । उसने अपने बाणोंसे घटोत्कचद्वारा निर्मित मायाको नष्ट कर दिया ॥ ४१½ ॥

मायायां तु प्रहीणायाममर्षाच्च घटोत्कचः ॥ ४२ ॥
विससर्ज शरान् घोरान् सूतपुत्रं त आविशन् ।

उस मायाके नष्ट हो जानेपर घटोत्कचने अमर्षमें भरकर भयंकर बाण छोड़े, जो सूतपुत्रके शरीरमें समा गये ॥४२½॥

ततस्ते रुधिराभ्यक्ता भित्त्वा कर्णं महाहवे ॥ ४३ ॥
विविशुर्धरणीं बाणाः संक्रुद्धा इव पन्नगाः ।

तदनन्तर वे रुधिरसे रँगे हुए बाण उस महासमरमें कर्णको छेदकर कुपित हुए सर्पोंके समान धरतीमें समा गये॥

सूतपुत्रस्तु संक्रुद्धो लघुहस्तः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥
घटोत्कचमतिक्रम्य बिभेद दशभिः शरैः ।

इससे शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला प्रतापी वीर सूतपुत्र कर्ण अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने घटोत्कचका उल्लङ्घन करके उसे दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४४½ ॥

घटोत्कचो विनिर्भिन्नः सूतपुत्रेण मर्मसु ॥ ४५ ॥
चक्रं दिव्यं सहस्रारमगृह्णाद् व्यथितो भृशम् ।

सूतपुत्रके द्वारा मर्मस्थानोंमें विदीर्ण होकर अत्यन्त व्यथित हुए घटोत्कचने दिव्य सहस्रार चक्र हाथमें लिया ॥

क्षुरान्तं बालसूर्याभं मणिरत्नविभूषितम् ॥ ४६ ॥
चिक्षेपाधिरथेः क्रुद्धो भैमसेनिर्जिघांसया ।

उस चक्रके किनारे-किनारे छुरे लगे हुए थे। मणि एवं रत्नोंसे विभूषित हुआ वह चक्र प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रतीत होता था। क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकुमार घटोत्कचने अधिरथपुत्र कर्णको मार डालनेकी इच्छासे उस चक्रको चला दिया ॥ ४६½ ॥

प्रविद्धमतिवेगेन विक्षिप्तं कर्णसायकैः ॥ ४७ ॥
अभाग्यस्येव संकल्पस्तन्मोघमपतद् भुवि ।

परंतु अत्यन्त वेगसे फेंका गया वह घूमता हुआ चक्र कर्णके बाणोंद्वारा आहत हो भाग्यहीनके संकल्पकी भाँति व्यर्थ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४७½ ॥

घटोत्कचस्तु संक्रुद्धो दृष्ट्वा चक्रं निपातितम् ॥ ४८ ॥
कर्णं प्राच्छादयद् बाणैः स्वर्भानुरिव भास्करम् ।

चक्रको गिराया हुआ देख क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने अपने बाणोंद्वारा कर्णको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे राहु सूर्यको ढक देता है ॥ ४८½ ॥

सूतपुत्रस्त्वसम्भ्रान्तो रुद्रोपेन्द्रेन्द्रविक्रमः ॥ ४९ ॥
घटोत्कचरथं तूर्णं छादयामास पत्रिभिः ।

परंतु रुद्र, विष्णु और इन्द्रके समान पराक्रमी सूतपुत्र कर्णको इससे तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उसने तुरंत ही पंखदार बाणोंसे घटोत्कचके रथको आच्छादित कर दिया ॥

घटोत्कचेन क्रुद्धेन गदा हेमाङ्गदा तदा ॥ ५० ॥
क्षिप्ताऽऽभ्राम्य शरैःसापि कर्णेनाभ्याहतापतत् ।

तब कुपित हुए घटोत्कचने सोनेके कड़ेसे विभूषित गदा घुमाकर चलायी, किंतु कर्णके बाणोंसे आहत होकर वह भी नीचे गिर पड़ी ॥ ५०½ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य कालमेघ इवोन्नदन् ॥ ५१ ॥
प्रववर्ष महाकायो द्रुमवर्षं नभस्तलात् ।

तदनन्तर अन्तरिक्षमें उछलकर वह विशालकाय राक्षस प्रलयकालके मेघकी भाँति गर्जना करता हुआ आकाशसे वृक्षोंकी वर्षा करने लगा ॥ ५१½ ॥

ततो मायाविनं कर्णो भीमसेनसुतं दिवि ॥ ५२ ॥
मार्गणैरभिविव्याध घनं सूर्य इवांशुभिः ।

तब कर्ण भीमसेनके मायावी पुत्रको अपने बाणोंद्वारा आकाशमें उसी प्रकार बींधने लगा, जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा मेघोंको विद्ध कर देते हैं ॥ ५२½ ॥

तस्य सर्वान् हयान् हत्वा संछिद्य शतधा रथम् ॥५३॥
अभ्यवर्षच्छरैः कर्णः पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।

उसके सारे घोड़ोंको मारकर और रथके सैकड़ों टुकड़े करके कर्णने वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति बाणोंकी वृष्टि आरम्भ कर दी ॥ ५३½ ॥

न चास्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ॥५४॥
सोऽदृश्यत मुहूर्तेन श्वाविच्छललितो यथा ।

घटोत्कचके शरीरमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो बाणोंसे विदीर्ण न हो गया हो। वह दो ही घड़ीमें काँटोंसे युक्त साहीके समान दिखायी देने लगा ॥ ५४½ ॥

न हयान्न रथं तस्य न ध्वजं न घटोत्कचम् ॥ ५५ ॥
दृष्टवन्तः स्म समरे शरौघैरभिसंवृतम् ।

समराङ्गणमें बाणोंके समूहसे घिरे हुए घटोत्कचको, उसके घोड़ोंको, रथको तथा ध्वजको भी कोई नहीं देख पाते थे ॥

स तु कर्णस्य तद् दिव्यमस्त्रमस्त्रेण शातयन् ॥ ५६ ॥
मायायुद्धेन मायावी सूतपुत्रमयोधयत् ।

वह मायावी राक्षस कर्णके दिव्यास्त्रको अपने अस्त्रद्वारा काटते हुए वहाँ सूतपुत्रके साथ मायामय युद्ध करने लगा ॥

सोऽयोधयत् तदा कर्णं मायया लाघवेन च ॥ ५७ ॥
अलक्ष्यमाणानि दिवि शरजालानि चापतन् ।

उस समय माया तथा शीघ्रकारिताके द्वारा वह कर्णको लड़ा रहा था। आकाशसे कर्णपर अलक्षित बाणसमूहोंकी वर्षा हो रही थी ॥ ५७½ ॥

भैमसेनिर्महामायो मायया कुरुसत्तम ॥ ५८ ॥
विचचार महाकायो मोहयन्निव भारत ।

कुरुश्रेष्ठ ! भरतनन्दन ! वह विशालकाय महामायावी भीमसेनकुमार घटोत्कच मायासे सबको मोहित करता हुआ-सा सब ओर विचरने लगा ॥ ५८½ ॥

स तु कृत्वा विरूपाणि वदनान्यशुभानि च ॥ ५९ ॥
अग्रसत् सूतपुत्रस्य दिव्यान्यस्त्राणि मायया ।

उसने मायाद्वारा बहुत-से विकराल एवं अमङ्गलसूचक मुख बनाकर सूतपुत्रके दिव्यास्त्रोंको अपना ग्रास बना लिया ॥

पुनश्चापि महाकायः संछिन्नः शतधा रणे ॥ ६० ॥
गतसत्त्वो निरुत्साहः पतितः खाद्‌व्यदृश्यत ।

फिर वह महाकाय राक्षस धैर्यहीन एवं उत्साहशून्य-सा होकर रणभूमिमें आकाशसे सैकड़ों टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ दिखायी दिया ॥ ६०½ ॥

तं हतं मन्यमानाः स्म प्राणदन् कुरुपुङ्गवाः ॥ ६१ ॥
अथ देहैर्नवैरन्यैर्दिक्षु सर्वास्वदृश्यत ।

उस समय उसे मरा हुआ मानकर कौरव-दलके प्रमुख वीर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। इतनेहीमें वह दूसरे बहुत-से नये-नये शरीर धारण करके सम्पूर्ण दिशाओंमें दिखायी देने लगा ॥ ६१½ ॥

पुनश्चापि महाकायः शतशीर्षः शतोदरः ॥ ६२ ॥
व्यदृश्यत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ।

फिर वह बड़ी-बड़ी बाहोंवाला एक ही विशालकाय रूप धारण करके मैनाक पर्वतके समान दृष्टिगोचर हुआ। उस समय उसके सौ मस्तक तथा सौ पेट हो गये थे ॥ ६२½ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो भूत्वा च पुनरेव स राक्षसः ॥ ६३ ॥
सागरोर्मिरिवोद्‌धूतस्तिर्यगूर्ध्वमवर्तत ।

तत्पश्चात् वह राक्षस अँगूठेके बराबर होकर उछलती हुई समुद्रकी लहरके समान कभी ऊपर और कभी इधर-उधर होने लगा ॥ ६३½ ॥

वसुधां दारयित्वा च पुनरप्सु न्यमज्जत ॥ ६४ ॥
अदृश्यत तदा तत्र पुनरुन्मज्जितोऽन्यतः ।

फिर पृथ्वीको फाड़कर वह पानीमें डूब गया और दूसरी जगह पुनः जलसे ऊपर आकर दिखायी देने लगा ॥ ६४½ ॥

सोऽवतीर्य पुनस्तस्थौ रथे हेमपरिष्कृते ॥ ६५ ॥
क्षितिं खं च दिशश्चैव माययाभ्येत्य दंशितः ।
गत्वा कर्णरथाभ्याशं व्यचरत् कुण्डलाननः ॥ ६६ ॥

इसके बाद आकाशसे उतरकर वह पुनः अपने सुवर्ण-मण्डित रथपर स्थित हो गया और मायासे ही पृथ्वी, आकाश एवं सम्पूर्ण दिशाओंमें घूमता हुआ कवचसे सुसज्जित हो कर्णके रथके समीप जाकर विचरने लगा। उस समय उसका मुख कुण्डलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ६५-६६ ॥

प्राह वाक्यमसम्भ्रान्तः सूतपुत्रं विशाम्पते ।
तिष्ठेदानीं क्व मे जीवन् सूतपुत्र गमिष्यसि ॥ ६७ ॥
युद्धश्रद्धामहं तेऽद्य विनेष्यामि रणाजिरे ।

प्रजानाथ ! अब घटोत्कच सम्भ्रमरहित हो सूतपुत्र कर्णसे बोला—'सारथिके बेटे ! खड़ा रह। अब तू मुझसे जीवित बचकर कहाँ जायगा ? आज मैं समराङ्गणमें तेरा युद्धका हौसला मिटा दूँगा' ॥ ६७½ ॥

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षं रक्षः क्रूरपराक्रमम् ॥ ६८ ॥
उत्पपातान्तरिक्षं च जहास च सुविस्तरम् ।
कर्णमभ्यहनच्चैव गजेन्द्रमिव केसरी ॥ ६९ ॥

क्रोधसे लाल आँखें किये वह क्रूर पराक्रमी राक्षस उपर्युक्त बात कहकर आकाशमें उछला और बड़े जोरसे अट्टहास करने लगा फिर जैसे सिंह गजराजपर चोट करता है, उसी प्रकार वह कर्णपर आघात करने लगा ॥ ६८-६९ ॥

रथाक्षमात्रैरिषुभिरभ्यवर्षद् घटोत्कचः ।
रथिनामृषभं कर्णं धाराभिरिव तोयदः ॥ ७० ॥

जैसे बादल पर्वतपर जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार घटोत्कच रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णपर रथके धुरेके समान मोटे-मोटे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ७० ॥

शरवृष्टिं च तां कर्णो दूरात् प्राप्तामशातयत् ।
दृष्ट्वा च विहतां मायां कर्णेन भरतर्षभ ॥ ७१ ॥
घटोत्कचस्ततो मायां ससर्जान्तर्हितः पुनः ।

अपने ऊपर प्राप्त हुई उस बाणवर्षाको कर्णने दूरसे ही काट गिराया। भरतश्रेष्ठ ! कर्णके द्वारा अपनी मायाको नष्ट हुई देख घटोत्कचने अदृश्य होकर पुनः दूसरी मायाकी सृष्टि की ॥ ७१½ ॥

सोऽभवद् गिरिरत्युच्चः शिखरैस्तरुसंकटैः ॥ ७२ ॥
शूलप्रासासिमुसलजलप्रस्रवणो महान् ।

वह वृक्षावलियोंद्वारा हरे-भरे शिखरोंसे सुशोभित एक अत्यन्त ऊँचा महान् पर्वत बन गया और उससे पानीके झरनेकी भाँति शूल, प्रास, खड्ग और मूसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंका स्रोत बहने लगा ॥ ७२½ ॥

तमञ्जनचयप्रख्यं कर्णो दृष्ट्वा महीधरम् ॥ ७३ ॥
प्रपातैरायुधान्युग्राण्युद्वहन्तं न चुक्षुभे ।
स्मयन्निव ततः कर्णो दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ॥ ७४ ॥

घटोत्कचको अञ्जनराशिके समान काला पर्वत बनकर अपने झरनोंद्वारा भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंको प्रवाहित करते देखकर भी कर्णके मनमें तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ। उसने मुसकराते हुए-से अपना दिव्यास्त्र प्रकट किया ॥ ७३-७४ ॥

ततः सोऽस्त्रेण शैलेन्द्रो विक्षिप्तो वै व्यनश्यत ।
ततः स तोयदो भूत्वा नीलः सेन्द्रायुधो दिवि ॥ ७५ ॥
अश्मवृष्टिभिरत्युग्रः सूतपुत्रमवाकिरत् ।

उस दिव्यास्त्रद्वारा दूर फेंका गया वह पर्वतराज क्षणभरमें अदृश्य हो गया और पुनः आकाशमें इन्द्रधनुषसहित काला मेघ बनकर वह अत्यन्त भयंकर राक्षस सूतपुत्र कर्णपर पत्थरोंकी वर्षा करने लगा ॥ ७५½ ॥

अथ संधाय वायव्यमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ७६ ॥
व्यधमत् कालमेघं तं कर्णो वैकर्तनो वृषः ।

तब अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वैकर्तन दानी कर्णने वायव्यास्त्र-का संधान करके उस काले मेघको नष्ट कर दिया ॥ ७६½ ॥

स मार्गणगणैः कर्णो दिशः प्रच्छाद्य सर्वशः ॥ ७७ ॥
जघानास्त्रं महाराज घटोत्कचसमीरितम् ।

महाराज ! कर्णने अपने बाणसमूहोंद्वारा सारी दिशाओंको आच्छादित करके घटोत्कचद्वारा चलाये गये अस्त्रोंको काट डाला॥

ततः प्रहस्य समरे भैमसेनिर्महाबलः ॥ ७८ ॥
प्रादुश्चक्रे महामायां कर्णं प्रति महारथम् ।

तब महाबली भीमसेनकुमारने जोर-जोरसे हँसकर समरभूमिमें महारथी कर्णके प्रति अपनी महामाया प्रकट की ॥

स दृष्ट्वा पुनरायान्तं रथेन रथिनां वरम् ॥ ७९ ॥
घटोत्कचमसम्भ्रान्तं राक्षसैर्बहुभिर्वृतम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्मत्तमातङ्गविक्रमैः ॥ ८० ॥

उस समय कर्णने रथियोंमें श्रेष्ठ घटोत्कचको पुनः रथपर बैठकर आते देखा । उसके मनमें तनिक भी घबराहट नहीं थी । सिंह, शार्दूल और मतवाले गजराजके समान पराक्रमी बहुत-से राक्षस उसे घेरे हुए थे ॥ ७९-८० ॥

गजस्थैश्च रथस्थैश्च वाजिपृष्ठगतैस्तथा ।
नानाशस्त्रधरैर्घोरैर्नानाकवचभूषणैः ॥ ८१ ॥

उन राक्षसोंमेंसे कुछ हाथियोंपर, कुछ रथोंपर और कुछ घोड़ोंकी पीठोंपर सवार थे । वे भयंकर निशाचर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, कवच और आभूषण धारण किये हुए थे॥

वृतं घटोत्कचं क्रूरैर्मरुद्भिरिव वासवम् ।
दृष्ट्वा कर्णो महेष्वासो योधयामास राक्षसम् ॥ ८२ ॥

देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रके समान क्रूर राक्षसोंसे आवृत घटोत्कचको सामने देखकर महाधनुर्धर कर्णने उस निशाचरके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ८२ ॥

घटोत्कचस्ततः कर्णं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
ननाद भैरवं नादं भीषयन् सर्वपार्थिवान् ॥ ८३ ॥

तदनन्तर घटोत्कचने कर्णको पाँच बाणोंसे घायल करके समस्त राजाओंको भयभीत करते हुए वहाँ भयानक गर्जना की ॥

भूयश्चाञ्जलिकेनाथ सम्मार्गणगणं महत् ।
कर्णहस्तस्थितं चापं चिच्छेदाशु घटोत्कचः ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् अञ्जलिक नामक बाण मारकर घटोत्कचने कर्णके हाथमें स्थित हुए विशाल धनुषको बाणसमूहोंसहित शीघ्र काट डाला ॥ ८४ ॥

अथान्यद् धनुरादाय दृढं भारसहं महत् ।
विचकर्ष बलात् कर्ण इन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ॥ ८५ ॥

तब कर्णने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा विशाल, सुदृढ़ एवं इन्द्रधनुषके समान ऊँचा धनुष हाथमें लेकर उसे बलपूर्वक खींचा ॥ ८५ ॥

ततः कर्णो महाराज प्रेषयामास सायकान् ।
सुवर्णपुङ्खाञ्छत्रुघ्नान् खेचरान् राक्षसान् प्रति ॥८६॥

महाराज ! तदनन्तर कर्णने उन आकाशचारी राक्षसोंको लक्ष्य करके सोनेके पंखवाले बहुत-से शत्रुनाशक बाण चलाये॥

तद् बाणैरर्दितं यूथं रक्षसां पीनवक्षसाम् ।
सिंहेनेवार्दितं वन्यं गजानामाकुलं कुलम् ॥ ८७ ॥

उन बाणोंसे पीड़ित हुआ चौड़ी छातीवाले राक्षसोंका वह समूह सिंहके सताये हुए जंगली हाथियोंके झुंडकी भाँति व्याकुल हो उठा ॥ ८७ ॥

विधम्य राक्षसान् बाणैः साश्वसूतगजान् विभुः ।
ददाह भगवान् वह्निर्भूतानीव युगक्षये ॥ ८८ ॥

जैसे प्रलयकालमें भगवान् अग्निदेव सम्पूर्ण भूतोंको भस्म कर डालते हैं, उसी प्रकार शक्तिशाली कर्णने अपने बाणोंद्वारा घोड़े, सारथि और हाथियोंसहित उन राक्षसोंको संतप्त करके जला डाला ॥ ८८ ॥

स हत्वा राक्षसीं सेनां शुशुभे सूतनन्दनः ।
पुरेव त्रिपुरं दग्ध्वा दिवि देवो महेश्वरः ॥ ८९ ॥

जैसे पूर्वकालमें भगवान् महेश्वर आकाशमें त्रिपुरासुरका दाह करके सुशोभित हुए थे, उसी प्रकार उस राक्षस-सेनाका संहार करके सूतनन्दन कर्ण बड़ी शोभा पाने लगा ॥ ८९ ॥

तेषु राजसहस्रेषु पाण्डवेयेषु मारिष ।
नैनं निरीक्षितुमपि कश्चिच्छक्नोति पार्थिवः ॥ ९० ॥

माननीय नरेश ! पाण्डवपक्षके सहस्रों राजाओंमेंसे कोई भी भूपाल उस समय कर्णकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था ॥ ९० ॥

ऋते घटोत्कचाद् राजन् राक्षसेन्द्रान्महाबलात् ।
भीमवीर्यबलोपेतात् क्रुद्धाद् वैवस्वतादिव ॥ ९१ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान भयंकर बल-पराक्रमसे सम्पन्न महाबली राक्षसराज घटोत्कचको छोड़कर दूसरा कोई कर्णका सामना न कर सका ॥ ९१ ॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां पावकः समजायत ।
महोल्काभ्यां यथा राजन् सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥९२॥

नरेश्वर ! जैसे मशालोंसे जलती हुई तेलकी बूँदें गिरती हैं, उसी प्रकार कुद्ध हुए घटोत्कचके दोनों नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं ॥ ९२ ॥

तलं तलेन संहत्य संदश्य दशनच्छदम् ।
रथमास्थाय च पुनर्मायया निर्मितं तदा ॥ ९३ ॥
युक्तं गजनिभैर्वाहैः पिशाचवदनैः खरैः ।
स सूतमब्रवीत् क्रुद्धः सूतपुत्राय मां वह ॥ ९४ ॥

उसने उस समय हाथसे हाथ मलकर, दाँतोंसे ओठ चबाकर, पुनः हाथी-जैसे बलवान् एवं पिशाचोंके-से मुखवाले प्रखर गधोंसे जुते हुए मायानिर्मित रथपर बैठकर अपने सारथिसे कहा—'तुम मुझे सूतपुत्र कर्णके पास ले चलो' ॥

स ययौ घोररूपेण रथेन रथिनां वरः।
द्वैरथं सूतपुत्रेण पुनरेव विशाम्पते ॥ ९५ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा कहकर रथियोंमें श्रेष्ठ घटोत्कच पुनः उस भयंकर रथके द्वारा सूतपुत्र कर्णके साथ द्वैरथ युद्ध करनेके लिये गया ॥ ९५ ॥

स चिक्षेप पुनः क्रुद्धः सूतपुत्राय राक्षसः।
अष्टचक्रां महाघोरामशनिं रुद्रनिर्मिताम् ॥ ९६ ॥
द्वियोजनसमुत्सेधां योजनायामविस्तराम्।
आयसीं निचितां शूलैः कदम्बमिव केसरैः ॥ ९७ ॥

उस राक्षसने कुपित होकर पुनः सूतपुत्र कर्णपर आठ चक्रोंसे युक्त एक अत्यन्त भयंकर रुद्रनिर्मित अशनि चलायी, जिसकी ऊँचाई दो योजन और लम्बाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी थी। लोहेकी बनी हुई उस शक्तिमें शूल चुने गये थे। इससे वह केसरोंसे युक्त कदम्ब-पुष्पके समान जान पड़ती थी॥

तामवप्लुत्य जग्राह कर्णो न्यस्य महद् धनुः।
चिक्षेप चैनां तस्यैव स्यन्दनात् सोऽवपुप्लुवे ॥ ९८ ॥

कर्णने अपना विशाल धनुष नीचे रख दिया और उछलकर उस अशनिको हाथसे पकड़ लिया; फिर उसे घटोत्कचपर ही चला दिया। घटोत्कच शीघ्र ही उस रथसे कूद पड़ा ॥

साश्वसूतध्वजं यानं भस्म कृत्वा महाप्रभा।
विवेश वसुधां भित्त्वा सुरास्तत्र विसिस्मियुः ॥ ९९ ॥

वह अतिशय प्रभापूर्ण अशनि घोड़े, सारथि और ध्वजसहित घटोत्कचके रथको भस्म करके धरती फाड़कर समा गयी। यह देख वहाँ खड़े हुए सब देवता आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ९९ ॥

कर्णं तु सर्वभूतानि पूजयामासुरञ्जसा।
यदवप्लुत्य जग्राह देवसृष्टां महाशनिम् ॥१००॥

उस समय वहाँ सम्पूर्ण प्राणी कर्णकी प्रशंसा करने लगे; क्योंकि उसने महादेवजीकी बनायी हुई उस विशाल अशनिको अनायास ही उछलकर पकड़ लिया था ॥ १०० ॥

एवं कृत्वा रणे कर्ण आरुरोह रथं पुनः।
ततो मुमोच नाराचान् सूतपुत्रः परंतप ॥१०१॥

रणभूमिमें ऐसा पराक्रम करके कर्ण पुनः अपने रथपर आ बैठा। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! फिर सूतपुत्र कर्ण नाराचोंकी वर्षा करने लगा ॥ १०१ ॥

अशक्यं कर्तुमन्येन सर्वभूतेषु मानद।
यदकार्षीत् तदा कर्णः संग्रामे भीमदर्शने ॥१०२॥

दूसरोंको सम्मान देनेवाले महाराज ! उस भयंकर संग्राममें कर्णने उस समय जो कार्य किया था, उसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें दूसरा कोई नहीं कर सकता था ॥ १०२ ॥

स हन्यमानो नाराचैर्धाराभिरिव पर्वतः।
गन्धर्वनगराकारः पुनरन्तरधीयत ॥१०३॥

जैसे पर्वतपर जलकी धाराएँ गिरती हैं, उसी प्रकार नाराचोंके प्रहारसे आहत हुआ घटोत्कच गन्धर्वनगरके समान पुनः अदृश्य हो गया ॥ १०३ ॥

एवं स वै महाकायो मायया लाघवेन च।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि जघान रिपुसूदनः ॥१०४॥

इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले विशालकाय घटोत्कचने अपनी माया तथा अस्त्र-संचालनकी शीघ्रतासे कर्णके उन दिव्यास्त्रोंको नष्ट कर दिया ॥ १०४ ॥

निहन्यमानेष्वस्त्रेषु मायया तेन रक्षसा।
असम्भ्रान्तस्तदा कर्णस्तद् रक्षः प्रत्ययुध्यत ॥१०५॥

उस राक्षसके द्वारा मायासे अपने अस्त्रोंके नष्ट हो जानेपर भी उस समय कर्णके मनमें तनिक भी घबराहट नहीं हुई। वह उस राक्षसके साथ युद्ध करता ही रहा ॥ १०५ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भैमसेनिर्महाबलः।
चकार बहुधाऽऽत्मानं भीषयाणो महारथान् ॥१०६॥

महाराज ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महाबली भीमसेनकुमार घटोत्कचने महारथियोंको भयभीत करते हुए अपने बहुत-से रूप बना लिये ॥ १०६ ॥

ततो दिग्भ्यः समापेतुः सिंहव्याघ्रतरक्षवः।
अग्निजिह्वाश्च भुजगा विहगाश्चाप्ययोमुखाः ॥१०७॥

तदनन्तर सम्पूर्ण दिशाओंसे सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (जरख) अग्निमयी जिह्वावाले सर्प तथा लोहमय चंचुवाले पक्षी आक्रमण करने लगे ॥ १०७ ॥

स कीर्यमाणो विशिखैः कर्णचापच्युतैः शरैः।
नागराडिव दुष्प्रेक्ष्यस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१०८॥

नागराजके समान घटोत्कचकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वह कर्णके धनुषसे छूटे हुए शिखाहीन बाणोंद्वारा आच्छादित हो वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १०८ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च यातुधानास्तथैव च।
शालावृकाश्च बहवो वृकाश्च विकृताननाः ॥१०९॥
ते कर्णं क्षपयिष्यन्तः सर्वतः समुपाद्रवन्।
अथैनं वाग्भिरुग्राभिस्त्रासयांचक्रिरे तदा ॥११०॥

उस समय बहुत-से राक्षस, पिशाच, यातुधान, कुत्ते और विकराल मुखवाले भेड़िये कर्णको काटनेके लिये सब ओरसे उसपर टूट पड़े और अपनी भयंकर गर्जनाओंद्वारा उसे भयभीत करने लगे ॥ १०९-११० ॥

उद्यतैर्बहुभिर्घोरैरायुधैः शोणितोक्षितैः।
तेषामनेकैरेकैकं कर्णो विव्याध सायकैः ॥१११॥

कर्णने खूनसे रँगे हुए अपने बहुत-से भयंकर आयुधों तथा बाणोंद्वारा उनमेंसे प्रत्येकको बींध डाला ॥ १११ ॥

प्रतिहत्य तु तां मायां दिव्येनास्त्रेण राक्षसीम्।

आजघान हयानस्य शरैः संनतपर्वभिः ॥११२॥

अपने दिव्यास्त्रसे उस राक्षसी मायाका विनाश करके उसने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे घटोत्कचके घोड़ोंको मार डाला ॥ ११२ ॥

ते भग्ना विक्षताङ्गाश्च भिन्नपृष्ठाश्च सायकैः।
वसुधामन्वपद्यन्त पश्यतस्तस्य रक्षसः ॥११३॥

उन घोड़ोंके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये थे, बाणोंकी मारसे उनके पृष्ठभाग फट गये थे, अतः उस राक्षसके देखते-देखते वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ११३ ॥

स भग्नमायो हैडिम्बिः कर्णं वैकर्तनं तदा।
एष ते विदधे मृत्युमित्युक्त्वान्तरधीयत ॥११४॥

इस प्रकार अपनी माया नष्ट हो जानेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने सूर्यपुत्र कर्णसे कहा—'यह ले, मैं अभी तेरी मृत्युका आयोजन करता हूँ' ऐसा कहकर वह वहीं अदृश्य हो गया ॥ ११४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे कर्णघटोत्कचयुद्धे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें कर्ण और घटोत्कचका युद्धविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अलायुधका युद्धस्थलमें प्रवेश तथा उसके स्वरूप और रथ आदिका वर्णन

संजय उवाच

तस्मिंस्तथा वर्तमाने कर्णराक्षसयोर्मृधे।
अलायुधो राक्षसेन्द्रो वीर्यवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार कर्ण और घटोत्कचका वह युद्ध चल ही रहा था कि पराक्रमी राक्षसराज अलायुध वहाँ उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

महत्या सेनया युक्तो दुर्योधनमुपागमत्।
राक्षसानां विरूपाणां सहस्रैः परिवारितः ॥ २ ॥

वह सहस्रों विकराल रूपवाले राक्षसोंसे घिरकर अपनी विशाल सेनाके साथ दुर्योधनके पास आया ॥ २ ॥

नानारूपधरैर्वीरैः पूर्ववैरमनुस्मरन्।
तस्य ज्ञातिर्हि विक्रान्तो ब्राह्मणादो बको हतः ॥ ३ ॥

उसके साथ अनेक रूप धारण करनेवाले वीर राक्षस मौजूद थे। वह पहलेके वैरका स्मरण करके वहाँ आया था। उसका कुटुम्बी बन्धु ब्राह्मणभक्षी पराक्रमी बकासुर भीमसेनके द्वारा मारा गया था ॥ ३ ॥

किर्मीरश्च महातेजा हैडिम्बश्च सखा तदा।
स दीर्घकालाध्युषितं पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

उसके सखा हिडिम्ब और महातेजस्वी किर्मीर भी उन्हींके हाथसे मारे गये थे। इस प्रकार दीर्घकालसे मनमें रक्खे हुए पहलेके वैरको उस समय वह बारंबार स्मरण कर रहा था ॥

विज्ञायैतन्निशायुद्धं जिघांसुर्भीममाहवे।
स मत्त इव मातङ्गः संक्रुद्ध इव चोरगः ॥ ५ ॥
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीद् युद्धलालसः।

रात्रिमें होनेवाले इस संग्रामका समाचार पाकर रणभूमिमें भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे वह मतवाले हाथी और क्रोधमें भरे हुए सर्पकी भाँति युद्धकी लालसा मनमें रखकर दुर्योधनसे इस प्रकार बोला—॥ ५½ ॥

विदितं ते महाराज यथा भीमेन राक्षसाः ॥ ६ ॥
हिडिम्बबककिर्मीरा निहता मम बान्धवाः।

'महाराज! आपको तो मालूम ही होगा कि भीमसेनने हमारे राक्षस भाई-बन्धु हिडिम्ब, बक और किर्मीरका किस प्रकार वध कर डाला है ॥ ६½ ॥

परामर्शश्च कन्याया हिडिम्बायाः कृतः पुरा ॥ ७ ॥
किमन्यद् राक्षसानन्यानस्मांश्च परिभूय ह।

'इतना ही नहीं, उन्होंने मेरा तथा दूसरे राक्षसोंका अपमान करके पूर्वकालमें राक्षसकन्या हिडिम्बाके साथ भी बलात्कार किया था। इससे बढ़कर दूसरा अपराध क्या हो सकता है! ॥ ७½ ॥

तमहं सगणं राजन् सवाजिरथकुञ्जरम् ॥ ८ ॥
हैडिम्बिं च सहामात्यं हन्तुमभ्यागतः स्वयम्।

'अतः राजन्! मैं सैन्यसमूह, घोड़े, हाथी और रथोंसहित भीमसेनको तथा मन्त्रियोंसहित हिडिम्बापुत्र घटोत्कचको मार डालनेके लिये स्वयं यहाँ आया हूँ ॥ ८½ ॥

अद्य कुन्तीसुतान् सर्वान् वासुदेवपुरोगमान् ॥ ९ ॥
हत्वा सम्भक्षयिष्यामि सर्वैरनुचरैः सह।

'श्रीकृष्ण जिनके अगुआ हैं, उन सभी कुन्तीपुत्रोंको मारकर आज मैं समस्त अनुचरोंके साथ उन्हें खा जाऊँगा ॥ ९½ ॥

निवारय बलं सर्वं वयं योत्स्याम पाण्डवान् ॥ १० ॥
तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा हृष्टो दुर्योधनस्तदा।
प्रतिगृह्याब्रवीद् वाक्यं भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ११ ॥

'अतः आप अपनी सारी सेनाको रोक दीजिये। पाण्डवोंके साथ हमलोग युद्ध करेंगे।' उसकी यह बात सुनकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अलायुधका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा—॥ १०-११ ॥

त्वां पुरस्कृत्य सगणं वयं योत्स्यामहे परान् ।
न हि वैरान्तमनसः स्थास्यन्ति मम सैनिकाः ॥ १२ ॥

'राक्षसराज ! सैनिकोंसहित तुम्हें आगे रखकर हमलोग भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे; क्योंकि जिनका मन वैरका अन्त करनेमें लगा हुआ है, वे मेरे सैनिक चुपचाप खड़े नहीं रहेंगे' ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति राजानमुक्त्वा राक्षसपुङ्गवः ।
अभ्ययात् त्वरितो भैमिं सहितः पुरुषादकैः ॥ १३ ॥

'अच्छा, ऐसा ही हो।' राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहकर राक्षसराज अलायुध तुरंत ही राक्षसोंके साथ भीमसेन-पुत्र घटोत्कचके सामने गया ॥ १३ ॥

दीप्यमानेन वपुषा रथेनादित्यवर्चसा ।
तादृशेनैव राजेन्द्र यादृशेन घटोत्कचः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! उसका शरीर देदीप्यमान हो रहा था । वह भी सूर्यके समान तेजस्वी वैसे ही रथपर आरूढ़ होकर गया, जैसे रथसे घटोत्कच आया था ॥ १४ ॥

तस्याप्यतुलनिर्घोषो बहुतोरणचित्रितः ।
ऋक्षचर्मावनद्धाङ्गो नल्वमात्रो महारथः ॥ १५ ॥

उसका विशाल रथ भी अनेक तोरणोंसे विचित्र शोभा पा रहा था । उसकी घर्घराहट भी अनुपम थी । उसके ऊपर भी रीछका चाम मढ़ा हुआ था और उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी चार सौ हाथ थी ॥ १५ ॥

तस्यापि तुरगाः शीघ्रा हस्तिकायाः खरस्वनाः ।
शतं युक्ता महाकाया मांसशोणितभोजनाः ॥ १६ ॥

उसके रथमें जुते हुए घोड़े भी हाथीके समान मोटे शरीरवाले, शीघ्रगामी और गदहोंके समान उच्चस्वरसे हिनहिनानेवाले थे । उनकी संख्या सौ थी । वे विशालकाय अश्व मांस और रक्त भोजन करते थे ॥ १६ ॥

तस्यापि रथनिर्घोषो महामेघरवोपमः ।
तस्यापि सुमहच्चापं दृढज्यं कनकोज्ज्वलम् ॥ १७ ॥

उसके रथका गम्भीर घोष भी महामेघकी गर्जनाके समान जान पड़ता था । उसका धनुष भी विशाल, सुदृढ़ प्रत्यञ्चासे युक्त तथा सुवर्णजटित होनेके कारण प्रकाशमान था ॥ १७ ॥

तस्याप्यक्षसमा बाणा रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।
सोऽपि वीरो महाबाहुर्यथैव स घटोत्कचः ॥ १८ ॥

उसके बाण भी शिलापर तेज किये हुए थे । वे भी धुरेके समान मोटे और सुवर्णमय पंखोंसे सुशोभित थे । अलायुध भी वैसा ही महाबाहु वीर था, जैसा कि घटोत्कच था ॥ १८ ॥

तस्यापि गोमायुबलाभिगुप्तो
बभूव केतुर्ज्वलनार्कतुल्यः ।
स चापि रूपेण घटोत्कचस्य
श्रीमत्तमो व्याकुलदीपितास्यः ॥ १९ ॥

अलायुधका ध्वज भी अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी था । वह गीदड़-समूहसे चिह्नित दिखायी देता था । उसका स्वरूप भी घटोत्कचके ही समान अत्यन्त कान्तिमान् था । उसका मुख भी विकराल एवं प्रज्वलित जान पड़ता था ॥१९॥

दीप्ताङ्गदो दीप्तकिरीटमाली
बद्धस्रगुष्णीषनिबद्धखड्गः ।
गदी भुशुण्डी मुसली हली च
शरासनी वारणतुल्यवर्ष्मा ॥ २० ॥

उसकी भुजाओंमें बाजूबंद चमक रहे थे । मस्तकपर दीप्तिमान् मुकुट प्रकाशित हो रहा था । उसने हार पहन रक्खे थे । उसकी पगड़ीमें तलवार बँधी हुई थी । उसका शरीर हाथीके समान था तथा वह गदा, भुशुण्डी, मुसल, हल और धनुष आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ॥ २० ॥

रथेन तेनानलवर्चसा तदा
विद्रावयन् पाण्डववाहिनीं ताम् ।
रराज संख्ये परिवर्तमानो
विद्युन्माली मेघ इवान्तरिक्षे ॥ २१ ॥

अग्निके समान तेजस्वी पूर्वोक्त रथके द्वारा उस समय पाण्डवसेनाको खदेड़ता हुआ अलायुध युद्धस्थलमें सब ओर घूमकर आकाशमें विद्युन्मालासे प्रकाशित मेघके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २१ ॥

ते चापि सर्वप्रवरा नरेन्द्रा
महाबला वर्मिणश्चर्मिणश्च ।
हर्षान्विता युयुधुस्तस्य राजन्
समन्ततः पाण्डवयोधवीराः ॥ २२ ॥

राजन् ! तब पाण्डवपक्षके सर्वश्रेष्ठ महाबली वीर योद्धा नरेश भी कवच और ढालसे सुसज्जित हो हर्ष और उत्साहमें भरकर सब ओरसे उस राक्षसके साथ युद्ध करने लगे ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धेऽलायुधयुद्धे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें अलायुधयुद्धविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और अलायुधका घोर युद्ध

संजय उवाच

तमागतमभिप्रेक्ष्य भीमकर्माणमाहवे ।
हर्षमाहारयांचक्रुः कुरवः सर्व एव ते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! युद्धस्थलमें भयंकर कर्म करनेवाले अलायुधको आया हुआ देख सभी कौरव-योद्धा बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

तथैव तव पुत्रास्ते दुर्योधनपुरोगमाः ।
अप्लवाः प्लवमासाद्य तर्तुकामा इवार्णवम् ॥ २ ॥

उसी प्रकार आपके दुर्योधन आदि पुत्रोंको भी बड़ा हर्ष हुआ, मानो समुद्रके पार जानेकी इच्छावाले नौकाहीन पुरुषोंको जहाज मिल गया हो ॥ २ ॥

पुनर्जातमिवात्मानं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ।
अलायुधं राक्षसेन्द्रं स्वागतेनाभ्यपूजयन् ॥ ३ ॥

वे पुरुषप्रवर कौरव अपना नया जन्म हुआ मानने लगे । उन्होंने राक्षसराज अलायुधका स्वागतपूर्वक सत्कार किया ॥ ३ ॥

तस्मिंस्त्वमानुषे युद्धे वर्तमाने महाभये ।
कर्णराक्षसयोर्नक्तं दारुणप्रतिदर्शने ॥ ४ ॥
(न द्रौणिर्न कृपो द्रोणो न शल्यो न च माधवः।
एक एव तु तेनासीद् योद्धा कर्णो रणे वृषा ॥)

उस रात्रिकालमें जब कर्ण और घटोत्कचका अत्यन्त भयंकर और दारुण अमानुषिक युद्ध चल रहा था । उस समय न तो अश्वत्थामा, न कृपाचार्य, न द्रोणाचार्य, न शल्य और न कृतवर्मा ही घटोत्कचका सामना कर सके । अकेला दानवीर कर्ण ही रणभूमिमें उसके साथ जूझ रहा था ॥ ४ ॥

उपप्रैक्षन्त पञ्चालाः स्मयमानाः सराजकाः ।
तथैव तावका राजन् वीक्षमाणास्ततस्ततः ॥ ५ ॥

राजन् ! पाञ्चाल योद्धा अन्यान्य राजाओंके साथ विस्मित होकर वह युद्ध देखने लगे । उसी प्रकार आपके सैनिक भी इधर-उधरसे उसी युद्धका दृश्य देख रहे थे ॥५॥

चुक्रुशुर्नेदमस्तीति द्रोणद्रौणिकृपादयः ।
तत् कर्म दृष्ट्वा सम्भ्रान्ता हैडिम्बस्य रणाजिरे ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें हिडिम्बाकुमार घटोत्कचका वह अलौकिक कर्म देखकर घबराये हुए द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि 'अब हमारी यह सेना नहीं बचेगी' ॥ ६ ॥

सर्वमाविग्नमभवद्धाहाभूतमचेतनम् ।
तव सैन्यं महाराज निराशं कर्णजीविते ॥ ७ ॥

महाराज ! कर्णके जीवनसे निराश होकर आपकी सारी सेना उद्विग्न हो उठी थी । सर्वत्र हाहाकार मचा था । सबके होश उड़ गये थे ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्तु सम्प्रेक्ष्य कर्णमार्तिं परां गतम् ।
अलायुधं राक्षसेन्द्रं समाहूयेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

उस समय कर्णको बड़े भारी संकटमें पड़ा देख दुर्योधनने राक्षसराज अलायुधको बुलाकर इस प्रकार कहा-॥ ८ ॥

एष वैकर्तनः कर्णो हैडिम्बेन समागतः ।
कुरुते कर्म सुमहद् यदस्यौपयिकं मृधे ॥ ९ ॥

'वीरवर ! देखो, यह सूर्यपुत्र कर्ण हिडिम्बाकुमार घटोत्कचके साथ जूझ रहा है । युद्धस्थलमें जहाँतक इसके प्रयत्नसे होना सम्भव है, वहाँतक यह महान् पराक्रम प्रकट कर रहा है ॥ ९ ॥

पश्यैतान् पार्थिवान् शूरान् निहतान् भैमसेनिना ।
नानाशस्त्रैरभिहतान् पादपानिव दन्तिना ॥ १० ॥

'भीमसेनके पुत्रने नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा जिन शूर-वीर नरेशोंको घायल करके मार डाला है, वे हाथीके गिराये हुए वृक्षोंके समान यहाँ पड़े हैं, इन्हें देखो ॥ १० ॥

तवैष भागः समरे राजमध्ये मया कृतः ।
तवैवानुमते वीर तं विक्रम्य निबर्हय ॥ ११ ॥

'वीर ! तुम्हारी अनुमतिसे ही समराङ्गणमें सम्पूर्ण राजाओंके बीच इस घटोत्कचको मैंने तुम्हारा भाग नियत किया है, अतः तुम पराक्रम करके इसे मार डालो ॥ ११ ॥

पुरा वैकर्तनं कर्णमेष पापो घटोत्कचः ।
मायाबलं समाश्रित्य कर्षयत्यरिकर्शन ॥ १२ ॥

'शत्रुसूदन ! कहीं ऐसा न हो कि यह पापी घटोत्कच मायाबलका आश्रय ले वैकर्तन कर्णको पहले ही नष्ट कर दे' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स राज्ञा तु राक्षसो भीमविक्रमः ।
तथेत्युक्त्वा महाबाहुर्घटोत्कचमुपाद्रवत् ॥ १३ ॥

राजा दुर्योधनके ऐसा कहनेपर उस भयंकर पराक्रमी महाबाहु राक्षसने 'बहुत अच्छा' कहकर घटोत्कचपर धावा किया ॥ १३ ॥

ततः कर्णं समुत्सृज्य भैमसेनिरपि प्रभो ।
प्रत्यमित्रमुपायान्तमर्दयामास मार्गणैः ॥ १४ ॥

प्रभो ! तब घटोत्कचने भी कर्णको छोड़कर अपने समीप आते हुए शत्रुको बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

तयोः समभवद् युद्धं क्रुद्धयो राक्षसेन्द्रयोः।
मत्तयोर्वासिताहेतोर्द्विपयोरिव कानने ॥ १५ ॥

फिर तो क्रोधमें भरे हुए उन दोनों राक्षसराजोंमें वनके भीतर हथिनीके लिये लड़नेवाले दो मतवाले हाथियोंके समान घोर युद्ध होने लगा ॥ १५ ॥

रक्षसा विप्रमुक्तस्तु कर्णोऽपि रथिनां वरः।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं रथेनादित्यवर्चसा ॥ १६ ॥

राक्षससे छूटनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णने भी सूर्यके समान तेजस्वी रथके द्वारा भीमसेनपर धावा किया ॥ १६ ॥

तमायान्तमनादृत्य दृष्ट्वा ग्रस्तं घटोत्कचम्।
अलायुधेन समरे सिंहेनेव गवां पतिम् ॥ १७ ॥
रथेनादित्यवपुषा भीमः प्रहरतां वरः।
किरञ्छरौघान् प्रययावलायुधरथं प्रति ॥ १८ ॥

आते हुए कर्णकी उपेक्षा करके समराङ्गणमें सिंहके चंगुलमें फँसे हुए साँड़की भाँति घटोत्कचको अलायुधका ग्रास बनते देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन सूर्यके समान तेजस्वी रथके द्वारा बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए अलायुधके रथकी ओर बड़े वेगसे बढ़े ॥ १७-१८ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य स तदालायुधः प्रभो।
घटोत्कचं समुत्सृज्य भीमसेनं समाह्वयत् ॥ १९ ॥

प्रभो ! उस समय उन्हें आते देख अलायुधने घटोत्कचको छोड़कर भीमसेनको ललकारा ॥ १९ ॥

तं भीमः सहसाभ्येत्य राक्षसान्तकरः प्रभो।
सगणं राक्षसेन्द्रं तं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ २० ॥

राजन् ! राक्षसोंका विनाश करनेवाले भीमने सहसा निकट जाकर सैनिक-गणोंसहित राक्षसराज अलायुधको अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ २० ॥

तथैवालायुधो राजञ्शिलाधौतैरजिह्मगैः।
अभ्यवर्षत कौन्तेयं पुनः पुनररिंदम ॥ २१ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश ! उसी प्रकार अलायुध भी कुन्तीकुमार भीमसेनपर शिलापर तेज किये हुए बाणोंकी बारंबार वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

तथा ते राक्षसाः सर्वे भीमसेनमुपाद्रवन्।
नानाप्रहरणा भीमास्त्वत्सुतानां जयैषिणः ॥ २२ ॥

आपके पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले वे समस्त भयंकर राक्षस हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर भीमसेनपर टूट पड़े ॥ २२ ॥

स ताड्यमानो बहुभिर्भीमसेनो महाबलः।
पञ्चभिः पञ्चभिः सर्वांस्तानविध्यच्छितैः शरैः ॥ २३ ॥

बहुत-से योद्धाओंकी मार खाकर महाबली भीमसेनने उन सबको पाँच-पाँच तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २३ ॥

ते वध्यमाना भीमेन राक्षसाः क्रूरबुद्धयः।
विनेदुस्तुमुलान्नादान् दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ २४ ॥

भीमसेनके बाणोंकी चोट खाकर वे क्रूरबुद्धि राक्षस भयंकर चीत्कार करने और दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ २४ ॥

तांस्त्रास्यमानान् भीमेन दृष्ट्वा रक्षो महाबलम्।
अभिदुद्राव वेगेन शरैश्चैनमवाकिरत् ॥ २५ ॥

भीमके द्वारा उन राक्षसोंको भयभीत होते देख महाबली राक्षस अलायुधने बड़े वेगसे भीमसेनपर धावा किया और उन्हें बाणोंसे ढक दिया ॥ २५ ॥

तं भीमसेनः समरे तीक्ष्णाग्रैरक्षिणोच्छरैः।
अलायुधस्तु तानस्तान् भीमेन विशिखान् रणे ॥२६॥
चिच्छेद कांश्चित् समरे त्वरया कांश्चिदग्रहीत्।

तब भीमसेनने समराङ्गणमें तीखी धारवाले बाणोंसे अलायुधको क्षत-विक्षत कर दिया । अलायुधने भीमसेनके चलाये हुए कुछ बाणोंको रणभूमिमें काट दिया और कुछ बाणोंको बड़ी शीघ्रताके साथ हाथसे पकड़ लिया ॥ २६½ ॥

स तं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रं भीमो भीमपराक्रमः ॥ २७ ॥
गदां चिक्षेप वेगेन वज्रपातोपमां तदा।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनने राक्षसराज अलायुधको ऐसा पराक्रम करते देख उस समय उसके ऊपर वज्रपातके समान अपनी भयंकर गदा बड़े वेगसे चलायी ॥ २७½ ॥

तामापतन्तीं वेगेन गदां ज्वालाकुलां ततः ॥ २८ ॥
गदया ताडयामास सा गदा भीममाव्रजत्।

ज्वालासे व्याप्त हुई उस गदाको वेगसे आती देख अलायुधने उसपर अपनी गदासे आघात किया। फिर वह गदा भीमके पास ही लौट आयी ॥ २८½ ॥

स राक्षसेन्द्रं कौन्तेयः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ २९ ॥
तानप्यस्याकरोन्मोघान् राक्षसो निशितैः शरैः।

फिर कुन्तीकुमार भीमसेनने राक्षसराज अलायुधपर बाणोंकी झड़ी लगा दी; परंतु उस राक्षसने अपने तीखे बाणोंद्वारा उनके वे सभी बाण व्यर्थ कर दिये ॥ २९½ ॥

ते चापि राक्षसाः सर्वे रजन्यां भीमरूपिणः ॥ ३० ॥
शासनाद् राक्षसेन्द्रस्य निजघ्नू रथकुञ्जरान्।

उस रातमें भयंकर रूपधारी सम्पूर्ण राक्षसोंने भी राक्षसराज अलायुधकी आज्ञासे कितने ही रथों और हाथियोंको नष्ट कर दिया ॥ ३०½ ॥

पञ्चालाः सृंजयाश्चैव वाजिनः परमद्विपाः ॥ ३१ ॥
न शान्तिं लेभिरे तत्र राक्षसैर्भृशपीडिताः।

उन राक्षसोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर पाञ्चाल और सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा उनके घोड़े और बड़े-बड़े हाथी भी शान्ति न पा सके ॥ ३१½ ॥

तं तु दृष्ट्वा महाघोरं वर्तमानं महाहवम् ॥ ३२ ॥
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमिदं वचः ।
पश्य भीमं महाबाहुं राक्षसेन्द्रवशं गतम् ॥ ३३ ॥
पदमस्यानुगच्छ त्वं मा विचारय पाण्डव ।

उस महाभयंकर वर्तमान महायुद्धको देखकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार कहा—'पाण्डुनन्दन ! देखो, महाबाहु भीमसेन राक्षसराज अलायुधके वशमें पड़ गये हैं । तुम शीघ्र उन्हींके मार्गपर चलो । कोई दूसरा विचार मनमें न लाओ ॥ ३२-३३½ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ३४ ॥
सहितौ द्रौपदेयाश्च कर्णं यान्तु महारथाः ।

'धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, साथ रहनेवाले युधामन्यु और उत्तमौजा तथा द्रौपदीके पाँचो पुत्र—ये सभी महारथी एक साथ होकर कर्णपर धावा करें ॥ ३४½ ॥

नकुलः सहदेवश्च युयुधानश्च वीर्यवान् ॥ ३५ ॥
इतरान् राक्षसान् घ्नन्तु शासनात् तव पाण्डव ।

'पाण्डुपुत्र ! नकुल, सहदेव और पराक्रमी सात्यकि—ये तुम्हारे आदेशसे अन्य राक्षसोंका वध करें ॥ ३५½ ॥

त्वमपीमां महाबाहो चमूं द्रोणपुरस्कृताम् ॥ ३६ ॥
वारयस्व नरव्याघ्र महद्धि भयमागतम् ।

'महाबाहु ! तुम भी द्रोण जिसके अगुआ हैं, इस कौरवसेनाको आगे बढ़नेसे रोको; क्योंकि नरव्याघ्र ! पाण्डवसेनापर महान् भय आ पहुँचा है' ॥ ३६½ ॥

एवमुक्ते तु कृष्णेन यथोद्दिष्टा महारथाः ॥ ३७ ॥
जग्मुर्वैकर्तनं कर्णं राक्षसांश्चैव तान् रणे ।

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वे सभी महारथी उनके आदेशके अनुसार रणभूमिमें वैकर्तन कर्ण तथा उन राक्षसोंका सामना करनेके लिये चले गये ॥ ३७½ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैराशीविषोपमैः ॥ ३८ ॥
धनुश्चिच्छेद भीमस्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।

तदनन्तर प्रतापी राक्षसराज अलायुधने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा भीमसेनके धनुषको काट डाला ॥ ३८½ ॥

हयांश्चास्य शितैर्बाणैः सारथिं च महाबलः ॥ ३९ ॥
जघान मिषतः संख्ये भीमसेनस्य राक्षसः ।

साथ ही, उस महाबली निशाचरने युद्धमें भीमसेनके देखते-देखते पैने बाणोंद्वारा उनके सारथि और घोड़ोंको भी मार डाला ॥ ३९½ ॥

सोऽवतीर्य रथोपस्थाद्धताश्वो हतसारथिः ॥ ४० ॥
तस्मै गुर्वीं गदां घोरां विनदन्नुत्ससर्ज ह ।

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथकी बैठकसे नीचे उतरकर गर्जते हुए भीमसेनने उस राक्षसपर अपनी भारी एवं भयंकर गदा दे मारी ॥ ४०½ ॥

ततस्तां भीमनिर्घोषामापतन्तीं महागदाम् ॥ ४१ ॥
गदया राक्षसो घोरो निजघान ननाद च ।

भयानक शब्द करनेवाली उस विशाल गदाको आती देख भयंकर राक्षस अलायुधने अपनी गदासे उसपर आघात किया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४१½ ॥

तद् दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य घोरं कर्म भयावहम् ॥ ४२ ॥
भीमसेनः प्रहृष्टात्मा गदामाशु परामृशत् ।

राक्षसराज अलायुधके उस भयदायक घोर कर्मको देखकर भीमसेनका हृदय हर्ष और उत्साहसे भर गया और उन्होंने शीघ्र ही गदा हाथमें ले ली ॥ ४२½ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं नरराक्षसोः ॥ ४३ ॥
गदानिपातसंह्रादैर्भुवं कम्पयतोर्भृशम् ।

फिर गदाओंके टकरानेकी आवाजसे भूतलको अत्यन्त कम्पित करते हुए उन दोनों मनुष्य और राक्षसोंमें वहाँ भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ४३½ ॥

गदाविमुक्तौ तौ भूयः समासाद्येतरेतरम् ॥ ४४ ॥
मुष्टिभिर्वज्रसंह्रादैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

गदासे छूटते ही वे दोनों फिर एक दूसरेसे गुथ गये और वज्रपातकी-सी आवाज करनेवाले मुक्कोंसे एक दूसरेको मारने लगे ॥ ४४½ ॥

रथचक्रैर्युगैरक्षैरधिष्ठानैरुपस्करैः ॥ ४५ ॥
यथासन्नमुपादाय निजघ्नतुरमर्षणौ ।

तत्पश्चात् अमर्षमें भरकर वे दोनों रथके पहियों, जूओं, धुरों, बैठकों और अन्य उपकरणोंसे तथा जो भी वस्तु समीप मिल जाती, उसीको लेकर एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ४५½ ॥

तौ विक्षरन्तौ रुधिरं समासाद्येतरेतरम् ॥ ४६ ॥
मत्ताविव महानागौ चकृषाते पुनः पुनः ।

वे मदस्रावी मतवाले गजराजोंके समान अपने अङ्गोंसे रुधिरकी धारा बहाते हुए एक दूसरेसे भिड़कर बारंबार खींचातानी करने लगे ॥ ४६½ ॥

तदपश्यद्धृषीकेशः पाण्डवानां हिते रतः ।
स भीमसेनरक्षार्थं हैडिम्बिं पर्यचोदयत् ॥ ४७ ॥

पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब वह युद्ध देखा, तब भीमसेनकी रक्षाके लिये हिडिम्बा-कुमार घटोत्कचको भेजा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धेऽलायुधयुद्धे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसंगमें अलायुधयुद्धविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं)

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंमें परस्पर घोर युद्ध और घटोत्कचके द्वारा अलायुधका वध एवं दुर्योधनका पश्चात्ताप

संजय उवाच

संदृश्य समरे भीमं रक्षसा ग्रस्तमन्तिकात् ।
वासुदेवोऽब्रवीद् राजन् घटोत्कचमिदं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! समरभूमिमें राक्षसके चंगुलमें फँसे हुए भीमसेनको निकटसे देखकर भगवान् श्रीकृष्णने घटोत्कचसे यह बात कही—॥ १ ॥

पश्य भीमं महाबाहो रक्षसा ग्रस्तमाहवे ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तव चैव महाद्युते ॥ २ ॥

'महातेजस्वी महाबाहु वीर ! देखो, युद्धस्थलमें उस राक्षसने सम्पूर्ण सेनाके और तुम्हारे देखते-देखते भीमसेनको वशमें कर लिया है ॥ २ ॥

स कर्णं त्वं समुत्सृज्य राक्षसेन्द्रमलायुधम् ।
जहि क्षिप्रं महाबाहो पश्चात् कर्णं वधिष्यसि ॥ ३ ॥

महाबाहो ! अतः तुम कर्णको छोड़कर पहले राक्षसराज अलायुधको शीघ्रतापूर्वक मार डालो । पीछे कर्णका वध करना'॥

स वार्ष्णेयवचः श्रुत्वा कर्णमुत्सृज्य वीर्यवान् ।
युयुधे राक्षसेन्द्रेण बकभ्रात्रा घटोत्कचः ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर पराक्रमी वीर घटोत्कचने कर्णको छोड़कर बकके भाई राक्षसराज अलायुधके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ४ ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं बभूव निशि रक्षसोः ।
अलायुधस्य चैवाग्रं हैडिम्बेश्चापि भारत ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! उस रात्रिके समय अलायुध और हिडिम्बाकुमार घटोत्कच दोनों राक्षसोंमें अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥

अलायुधस्य योधांश्च राक्षसान् भीमदर्शनान् ।
वेगेनापततः शूरान् प्रगृहीतशरासनान् ॥ ६ ॥
आत्तायुधः सुसंक्रुद्धो युयुधानो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च चिच्छिदुर्निशितैः शरैः ॥ ७ ॥

अलायुधके सैनिक राक्षस देखनेमें बड़े भयंकर और शूरवीर थे । वे हाथमें धनुष लेकर बड़े वेगसे आक्रमण करते थे । परंतु अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए महारथी युयुधान, नकुल और सहदेवने उन सबको अपने पैने बाणोंसे काट डाला ॥ ६-७ ॥

सर्वांश्च समरे राजन् किरीटी क्षत्रियर्षभान् ।
परिचिक्षेप बीभत्सुः सर्वतः प्रकिरञ्छरान् ॥ ८ ॥

राजन् ! किरीटधारी अर्जुनने समराङ्गणमें सब ओर बाणोंकी वर्षा करके कौरवपक्षके समस्त क्षत्रिय शिरोमणियोंको मार भगाया ॥ ८ ॥

कर्णश्च समरे राजन् व्यद्रावयत पार्थिवान् ।
धृष्टद्युम्नशिखण्ड्यादीन् पञ्चालानां महारथान् ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! कर्णने भी रणभूमिमें धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदि पाञ्चाल महारथी नरेशोंको दूर भगा दिया ॥ ९ ॥

तान् वध्यमानान् दृष्ट्वाथ भीमो भीमपराक्रमः ।
अभ्ययात् त्वरितः कर्णं विशिखान् प्रकिरन् रणे॥१०॥

उन सबको बाणोंकी मारसे पीड़ित होते देख भयंकर पराक्रमी भीमसेनने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ तुरंत ही कर्णपर आक्रमण किया ॥ १० ॥

ततस्तेऽप्याययुर्हत्वा राक्षसान् यत्र सूतजः ।
नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वे नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकि भी राक्षसोंको मारकर वहीं आ पहुँचे, जहाँ सूतपुत्र कर्ण था ॥

ते कर्णं योधयामासुः पञ्चाला द्रोणमेव तु ।
अलायुधस्तु संक्रुद्धो घटोत्कचमरिंदमम् ।

परिघेणातिकायेन ताडयामास मूर्धनि ॥ १२ ॥

वे तीनों योद्धा कर्णके साथ युद्ध करने लगे और पाञ्चालदेशीय वीरोंने द्रोणाचार्यका सामना किया। उधर क्रोधमें भरे हुए अलायुधने एक विशाल परिघके द्वारा शत्रुदमन घटोत्कचके मस्तकपर आघात किया ॥

स तु तेन प्रहारेण भैमसेनिर्महाबलः।
ईषन्मूर्छितमात्मानमस्तम्भयत वीर्यवान् ॥ १३ ॥

उस प्रहारसे भीमसेनपुत्र घटोत्कचको कुछ मूर्छा आ गयी। परंतु उस महाबली और पराक्रमी वीरने पुनः अपने आपको सँभाल लिया ॥ १३ ॥

ततो दीप्ताग्निसंकाशां शतघण्टामलंकृताम्।
चिक्षेप तस्मै समरे गदां काञ्चनभूषिताम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर घटोत्कचने समराङ्गणमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्विनी, एक सौ घंटियोंसे अलंकृत और सुवर्णभूषित अपनी गदा उसके ऊपर चलायी ॥ १४ ॥

सा हयांश्च रथं चास्य सारथिं च महास्वना।
चूर्णयामास वेगेन विसृष्टा भीमकर्मणा ॥ १५ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस राक्षसद्वारा वेगपूर्वक फेंकी गयी उस भारी आवाज करनेवाली गदाने अलायुधके रथ, सारथि और घोड़ोंको चूर-चूर कर दिया ॥ १५ ॥

स भग्नहयचक्राक्षाद् विशीर्णध्वजकूबरात्।
उत्पपात रथात् तूर्णं मायामास्थाय राक्षसीम् ॥ १६ ॥

जिसके घोड़े, पहिये और धुरे नष्ट हो गये थे, ध्वज और कूबर बिखर गये थे, उस रथसे अलायुध राक्षसी मायाका आश्रय लेकर तुरंत ही ऊपरको उड़ गया ॥ १६ ॥

स समास्थाय मायां तु ववर्ष रुधिरं बहु।
विद्युद्विभ्राजितं चासीत् तुमुलाभ्राकुलं नभः ॥ १७ ॥

उसने मायाका आश्रय लेकर बहुत रक्तकी वर्षा की। उस समय आकाशमें भयंकर मेघोंकी घटा घिर आयी थी और बिजली चमक रही थी ॥ १७ ॥

ततो वज्रनिपाताश्च साशनिस्तनयित्नवः।
महांश्चटचटाशब्दस्तत्रासीच्च महाहवे ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उस महासमरमें वज्रपात, मेघगर्जनाके साथ विद्युत्‌की गड़गड़ाहट तथा महान् चटचट शब्द होने लगे ॥

तां प्रेक्ष्य महतीं मायां राक्षसो राक्षसस्य च।
ऊर्ध्वमुत्पत्य हैडिम्बिस्तां मायां माययावधीत् ॥ १९ ॥

राक्षसकी उस विशाल मायाको देखकर राक्षसजातीय हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने ऊपर उड़कर अपनी मायासे उस मायाको नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

सोऽभिवीक्ष्य हतां मायां मायावी माययैव हि।
अश्मवर्षं सुतुमुलं विससर्ज घटोत्कचे ॥ २० ॥

अपनी मायाको मायासे ही नष्ट हुई देखकर मायावी अलायुध घटोत्कचपर पत्थरोंकी भयंकर वर्षा करने लगा ॥

अश्मवर्षं स तं घोरं शरवर्षेण वीर्यवान्।
दिक्षु विध्वंसयामास तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

किंतु पराक्रमी घटोत्कचने बाणोंकी वृष्टि करके उस भयंकर प्रस्तरवर्षाको उन-उन दिशाओंमें ही विध्वंस कर दिया। वह अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ २१ ॥

ततो नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षताम्।
आयसैः परिघैः शूलैर्गदामुसलमुद्गरैः ॥ २२ ॥
पिनाकैः करवालैश्च तोमरप्रासकम्पनैः।
नाराचैर्निशितैर्भल्लैः शरैश्चक्रैः परश्वधैः।
अयोगुडैर्भिन्दिपालैर्गोशीर्षोलूखलैरपि ॥ २३ ॥
उत्पाटितैर्महाशाखैर्विविधैर्जगतीरुहैः।
शमीपीलुकदम्बैश्च चम्पकैश्चैव भारत ॥ २४ ॥
इङ्गुदैर्बदरीभिश्च कोविदारैश्च पुष्पितैः।
पलाशैश्चारिमेदैश्च प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलैः ॥ २५ ॥
महद्भिः समरे तस्मिन्नन्योन्यमभिजघ्नतुः।
विपुलैः पर्वताग्रैश्च नानाधातुभिराचितैः ॥ २६ ॥

भारत ! तत्पश्चात् वे एक दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। लोहेके परिघ, शूल, गदा, मुसल, मुद्गर, पिनाक, खड्ग, तोमर, प्रास, कम्पन, तीखे नाराच, भल्ल, बाण, चक्र, फरसे, लोहेकी गोली, भिन्दिपाल, गोशीर्ष, उलूखल, बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले उखाड़े हुए नाना प्रकारके वृक्ष—शमी, पीलु, कदम्ब, चम्पा, इङ्गुद, बेर, विकसित कोविदार, पलाश, अरिमेद, बड़े-बड़े पाकड़, बरगद और पीपल—इन सबके द्वारा उस महासमरमें वे एक दूसरेपर चोट करने लगे। नाना प्रकारकी धातुओंसे व्याप्त विशाल पर्वतशिखरोंद्वारा भी वे परस्पर आघात करते थे ॥ २२–२६ ॥

तेषां शब्दो महानासीद् वज्राणां भिद्यतामिव।
युद्धं समभवद् घोरं भैम्यलायुधयोर्नृप ॥ २७ ॥
हरीन्द्रयोर्यथा राजन् वालिसुग्रीवयोः पुरा।

उन पर्वत-शिखरोंके टकरानेसे ऐसा महान् शब्द होता था, मानो वज्र फट पड़े हों। नरेश्वर ! घटोत्कच और अलायुधका वह भयंकर युद्ध वैसा ही हो रहा था, जैसे पहले त्रेतायुगमें वानरराज वाली और सुग्रीवका युद्ध सुना गया है ॥ २७½ ॥

तौ युद्ध्वा विविधैर्घोरैरायुधैर्विशिखैस्तथा।
प्रगृह्य च शितौ खड्गावन्योन्यमभिपेततुः ॥ २८ ॥

नाना प्रकारके भयंकर आयुधों और बाणोंसे युद्ध करके वे दोनों राक्षस तीखी तलवारें लेकर एक दूसरेपर टूट पड़े ॥

तावन्योन्यमभिद्रुत्य केशेषु सुमहाबलौ।
भुजाभ्यां पर्यगृह्णीतां महाकायौ महाबलौ ॥ २९ ॥

उन दोनों महाबली और विशालकाय राक्षसोंने परस्पर आक्रमण करके दोनों हाथोंसे दोनोंके केश पकड़ लिये। २९।

तौ खिन्नगात्रौ प्रस्वेदं सुस्रुवाते जनाधिप।
रुधिरं च महाकायावतिवृष्टाविवाम्बुदौ ॥ ३० ॥

नरेश्वर! अत्यन्त वर्षा करनेवाले दो मेघोंके समान उन विशालकाय राक्षसोंके शरीर पसीनेसे तर हो रहे थे। वे अपने अंगोंसे पसीनोंके साथ-साथ खून भी बहा रहे थे ॥

अथाभिपत्य वेगेन समुद्भ्राम्य च राक्षसम्।
बलेनाक्षिप्य हैडिम्बिश्चकर्तास्य शिरो महत् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर बड़े वेगसे झपटकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने उस राक्षसको पकड़ लिया और उसे घुमाकर बलपूर्वक पटक दिया। फिर उसके विशाल मस्तकको उसने काट डाला ॥

सोऽपहृत्य शिरस्तस्य कुण्डलाभ्यां विभूषितम्।
तदा सुतुमुलं नादं ननाद सुमहाबलः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार महाबली घटोत्कचने उसके कुण्डलमण्डित मस्तकको काटकर उस समय बड़ी भयानक गर्जना की ॥

हतं दृष्ट्वा महाकायं बकज्ञातिमरिंदमम्।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव सिंहनादान् विनेदिरे ॥ ३३ ॥

बकासुरके विशालकाय भ्राता शत्रुदमन अलायुधको मारा गया देख पाञ्चाल और पाण्डव सिंहनाद करने लगे ॥

ततो भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च।
अवादयन् पाण्डवेया राक्षसे निहते युधि ॥ ३४ ॥

युद्धस्थलमें उस राक्षसके मारे जानेपर पाण्डवदलके सैनिकोंने सहस्रों नगाड़े और हजारों शङ्ख बजाये ॥ ३४ ॥

अतीव सा निशा तेषां बभूव विजयावहा।
विद्योतमाना विबभौ समन्ताद् दीपमालिनी ॥ ३५ ॥

चारों ओरसे दीपावलियोंद्वारा प्रकाशित होनेवाली वह रात्रि उनके लिये विजयदायिनी होकर अत्यन्त शोभा पाने लगी ॥ ३५ ॥

अलायुधस्य तु शिरो भैमसेनिर्महाबलः।
दुर्योधनस्य प्रमुखे चिक्षेप गतचेतसः ॥ ३६ ॥

उस समय दुर्योधन अचेत-सा हो रहा था। महाबली घटोत्कचने अलायुधका वह मस्तक दुर्योधनके सामने फेंक दिया ॥ ३६ ॥

अथ दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा हतमलायुधम्।
बभूव परमोद्विग्नः सह सैन्येन भारत ॥ ३७ ॥

भारत! अलायुधको मारा गया देख सेनासहित राजा दुर्योधन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा ॥ ३७ ॥

तेन ह्यस्य प्रतिज्ञातं भीमसेनमहं युधि।
हन्तेति स्वयमागम्य स्मरता वैरमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अलायुधने अपने भारी वैरीको याद करते हुए स्वयं आकर दुर्योधनके सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्धमें भीमसेनको मार डालूँगा ॥ ३८ ॥

ध्रुवं स तेन हन्तव्य इत्यमन्यत पार्थिवः।
जीवितं चिरकालं हि भ्रातॄणां चाप्यमन्यत ॥ ३९ ॥

इससे राजा दुर्योधन यह मान बैठा था कि अलायुध निश्चय ही भीमसेनको मार डालेगा और यही सोचकर उसने यह भी समझ लिया था कि अभी मेरे भाइयोंका जीवन चिरस्थायी है ॥

स तं दृष्ट्वा विनिहतं भीमसेनात्मजेन वै।
प्रतिज्ञां भीमसेनस्य पूर्णामेवाभ्यमन्यत ॥ ४० ॥

परंतु भीमसेनपुत्र घटोत्कचके द्वारा अलायुधको मारा गया देख उसने यह निश्चित रूपसे मान लिया कि अब भीमसेनकी प्रतिज्ञा पूरी होकर ही रहेगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धेऽलायुधवधेऽष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय अलायुधका वधविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कचका घोर युद्ध तथा कर्णके द्वारा चलायी हुई इन्द्रप्रदत्त शक्तिसे उसका वध

संजय उवाच

निहत्यालायुधं रक्षः प्रहृष्टात्मा घटोत्कचः।
ननाद विविधान् नादान् वाहिन्याः प्रमुखे तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! राक्षस अलायुधका वध करके घटोत्कच मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ और वह आपकी सेनाके सामने खड़ा हो नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगा ॥

तस्य तं तुमुलं शब्दं श्रुत्वा कुञ्जरकम्पनम्।
तावकानां महाराज भयमासीत् सुदारुणम् ॥ २ ॥

महाराज! उसकी वह भयंकर गर्जना हाथियोंको भी कँपा देनेवाली थी। उसे सुनकर आपके योद्धाओंके मनमें अत्यन्त दारुण भय समा गया ॥ २ ॥

अलायुधविषक्तं तु भैमसेनिं महाबलम्।

दृष्ट्वा कर्णो महाबाहुः पञ्चालान् समुपाद्रवत् ॥ ३ ॥

जिस समय महाबली घटोत्कच अलायुधके साथ उलझा हुआ था, उस समय उसे उस अवस्थामें देखकर महाबाहु कर्णने पाञ्चालोंपर धावा किया ॥ ३ ॥

दशभिर्दशभिर्बाणैर्धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ।
दृढैः पूर्णायतोत्सृष्टैर्बिभेद नतपर्वभिः ॥ ४ ॥

उसने पूर्णतः खींचकर छोड़े गये झुकी हुई गाँठवाले दस-दस सुदृढ़ बाणोंद्वारा धृष्टद्युम्न और शिखण्डीको घायल कर दिया ॥ ४ ॥

ततः परमनाराचैर्युधामन्यूत्तमौजसौ ।
सात्यकिं च रथोदारं कम्पयामास मार्गणैः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उसने अच्छे-अच्छे नाराचोंद्वारा युधामन्यु और उत्तमौजाको तथा अनेक बाणोंसे उदार महारथी सात्यकिको भी कम्पित कर दिया ॥ ५ ॥

तेषामप्यस्यतां संख्ये सर्वेषां सव्यदक्षिणम् ।
मण्डलान्येव चापानि व्यदृश्यन्त जनाधिप ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! वे सात्यकि आदि भी बायें-दायें बाण चला रहे थे । उस समय उन सबके धनुष भी मण्डलाकार ही दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

तेषां ज्यातलनिर्घोषो रथनेमिस्वनश्च ह ।
मेघानामिव घर्मान्ते बभूव तुमुलो निशि ॥ ७ ॥

उस रात्रिके समय उनकी प्रत्यञ्चाकी टंकार तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटका शब्द वर्षाकालके मेघोंकी गर्जनाके समान भयंकर जान पड़ता था ॥ ७ ॥

ज्यानेमिघोषस्तनयित्नुमान् वै
धनुस्तडिन्मण्डलकेतुशृङ्गः ।
शरौघवर्षाकुलवृष्टिमांश्च
संग्राममेघः स बभूव राजन् ॥ ८ ॥

राजन् ! वह संग्राम वर्षाकालीन मेघके समान प्रतीत होता था । प्रत्यञ्चाकी टंकार और पहियोंकी घर्घराहटका शब्द ही उस मेघकी गर्जनाके समान था । धनुष ही विद्युन्मण्डलके समान प्रकाशित होता था और ध्वजाका अग्र-भाग ही उस मेघका उच्चतम शिखर था तथा बाण-समूहोंकी वृष्टि ही उसके द्वारा की जानेवाली वर्षा थी ॥ ८ ॥

तदद्भुतं शैल इवाप्रकम्पो
वर्षं महाशैलसमानसारः ।
विध्वंसयामास रणे नरेन्द्र
वैकर्तनः शत्रुगणावमर्दी ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! महान् पर्वतके समान शक्तिशाली एवं अविचल रहनेवाले शत्रुदलसंहारक सूर्यपुत्र कर्णने रणभूमिमें उस अद्भुत बाण-वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ ९ ॥

ततोऽतुलैर्वज्रनिपातकल्पैः
शितैः शरैः काञ्चनचित्रपुङ्खैः ।
शत्रून् व्यपोहत् समरे महात्मा
वैकर्तनः पुत्रहिते रतस्ते ॥ १० ॥

तत्पश्चात् आपके पुत्रके हितमें तत्पर रहनेवाले महामनस्वी वैकर्तन कर्णने समराङ्गणमें सोनेके विचित्र पंखोंसे युक्त एवं वज्रपातके तुल्य भयंकर, तुलनारहित तीखे बाणोंद्वारा शत्रुओंका संहार आरम्भ किया ॥ १० ॥

संछिन्नभिन्नध्वजिनश्च केचित्
केचिच्छरैरर्दितभिन्नदेहाः ।
केचिद् विसूता विहयाश्च केचिद्
वैकर्तनेनाशु कृता बभूवुः ॥ ११ ॥

वैकर्तन कर्णने वहाँ शीघ्र ही किन्हींकी ध्वजाके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, किन्हींके शरीरोंको बाणोंसे पीड़ित करके विदीर्ण कर डाला, किन्हींके सारथि नष्ट कर दिये और किन्हींके घोड़े मार डाले ॥ ११ ॥

अविन्दमानास्त्वथ शर्म संख्ये
यौधिष्ठिरं ते बलमभ्यपद्यन् ।
तान् प्रेक्ष्य भग्नान् विमुखीकृतांश्च
घटोत्कचो रोषमतीव चक्रे ॥ १२ ॥

योद्धालोग युद्धमें किसी तरह चैन न पाकर युधिष्ठिरकी सेनामें घुसने लगे । उन्हें तितर-बितर और युद्धसे विमुख हुआ देख घटोत्कचको बड़ा रोष हुआ ॥ १२ ॥

आस्थाय तं काञ्चनरत्नचित्रं
रथोत्तमं सिंहवत् संननाद ।
वैकर्तनं कर्णमुपेत्य चापि
विव्याध वज्रप्रतिमैः पृषत्कैः ॥ १३ ॥

वह सुवर्ण एवं रत्नोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभायुक्त उत्तम रथपर आरूढ़ हो सिंहके समान गर्जना करने लगा और वैकर्तन कर्णके पास जाकर उसे वज्रतुल्य बाणोंद्वारा बींधने लगा ॥ १३ ॥

तौ कर्णिनाराचशिलीमुखैश्च
नालीकदण्डासनवत्सदन्तैः ।
वराहकर्णैः सविपाठशृङ्गैः
क्षुरप्रवर्षैश्च विनेदतुः खम् ॥ १४ ॥

वे दोनों कर्णी, नाराच, शिलीमुख, नालीक, दण्ड, असन, वत्सदन्त, वाराहकर्ण, विपाठ, सींग तथा क्षुरप्रोंकी वर्षा करते हुए अपनी गर्जनासे आकाशको गुँजाने लगे ॥

तद् बाणधारावृतमन्तरिक्षं
तिर्यग्गताभिः समरे रराज ।
सुवर्णपुङ्खज्वलितप्रभाभि-
र्विचित्रपुष्पाभिरिव स्रजाभिः ॥ १५ ॥

समराङ्गणमें बाणधाराओंसे भरा हुआ आकाश उन बाणोंके सुवर्णमय पंखोंकी तिरछी दिशामें फैलनेवाली देदीप्यमान प्रभाओंसे ऐसी शोभा पा रहा था, मानो वह विचित्र पुष्पोंवाली मनोहर मालाओंसे अलंकृत हो ॥ १५ ॥

समाहितावप्रतिमप्रभावा-
वन्योन्यमाजघ्नतुरुत्तमास्त्रैः ।
तयोर्हि वीरोत्तमयोर्न कश्चिद्
ददर्श तस्मिन् समरे विशेषम् ॥ १६ ॥

दोनोंके ही चित्त एकाग्र थे; दोनों ही अनुपम प्रभावशाली थे और उत्तम अस्त्रोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचा रहे थे। उन दोनों वीरशिरोमणियोंमेंसे कोई भी युद्धमें अपनी विशेषता न दिखा सका ॥ १६ ॥

अतीव तच्चित्रमतुल्यरूपं
बभूव युद्धं रविभीमसून्वोः ।
समाकुलं शस्त्रनिपातघोरं
दिवीव राह्वंशुमतोः प्रमत्तम् ॥ १७ ॥

सूर्यपुत्र कर्ण और भीमकुमार घटोत्कचका वह अत्यन्त विचित्र एवं घमासान युद्ध आकाशमें राहु और सूर्यके उन्मत्त संग्राम-सा प्रतीत होता था। उसकी कहीं तुलना नहीं थी। शस्त्रोंके प्रहारसे वह बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ १७ ॥

संजय उवाच

घटोत्कचं यदा कर्णो न विशेषयते नृप ।
ततः प्रादुश्चकारोग्रमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ १८ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कर्ण घटोत्कचसे अपनी विशेषता न दिखा सका, तब उसने एक भयंकर अस्त्र प्रकट किया ॥ १८ ॥

तेनास्त्रेणावधीत् तस्य रथं सहयसारथिम् ।
विरथश्चापि हैडिम्बिः क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ १९ ॥

उस अस्त्रके द्वारा उसने घटोत्कचके रथको घोड़े और सारथिसहित नष्ट कर दिया। रथहीन होनेपर घटोत्कच शीघ्र ही वहाँसे अदृश्य हो गया ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे ।
मामकैः प्रतिपन्नं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! बताओ, माया-युद्ध करनेवाले उस राक्षसके तत्काल अदृश्य हो जानेपर मेरे पुत्रोंने क्या सोचा और क्या किया? ॥ २० ॥

संजय उवाच

अन्तर्हितं राक्षसेन्द्रं विदित्वा
सम्प्राक्रोशन् कुरवः सर्व एव ।
कथं नायं राक्षसः कूटयोधी
हन्यात् कर्णं समरेऽदृश्यमानः ॥ २१ ॥

संजयने कहा—महाराज! राक्षसराज घटोत्कचको अदृश्य हुआ जानकर समस्त कौरव-योद्धा चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे 'मायाद्वारा युद्ध करनेवाला यह निशाचर जब रणभूमिमें स्वयं दिखायी ही नहीं देता है, तब कर्णको कैसे नहीं मार डालेगा?' ॥ २१ ॥

ततः कर्णो लघुचित्रास्त्रयोधी
सर्वा दिशः प्रावृणोद् बाणजालैः ।
न वै किंचित् प्रापतत् तत्र भूतं
तमोभूते सायकैरन्तरिक्षे ॥ २२ ॥

तब शीघ्रतापूर्वक विचित्र रीतिसे अस्त्रयुद्ध करनेवाले कर्णने अपने बाणोंके समूहसे सम्पूर्ण दिशाओंको ढक दिया। उस समय बाणोंसे आकाशमें अँधेरा छा गया था तो भी वहाँ कोई प्राणी ऊपरसे मरकर गिरा नहीं ॥ २२ ॥

नैवाददानो न च संदधानो
न चेषुधीः स्पृश्यमानः कराग्रैः ।
अदृश्यद् वै लाघवात् सूतपुत्रः
सर्वं बाणैश्छादयानोऽन्तरिक्षम् ॥ २३ ॥

सूतपुत्र कर्ण जब शीघ्रतापूर्वक बाणोंद्वारा समूचे आकाशको आच्छादित कर रहा था, उस समय यह नहीं दिखायी देता था कि वह कब अपने हाथकी अंगुलियोंसे तरकसको छूता है, कब बाण निकालता है और कब उसे धनुषपर रखता है ॥ २३ ॥

ततो मायां दारुणामन्तरिक्षे
घोरां भीमां विहितां राक्षसेन ।
अपश्याम लोहिताभ्रप्रकाशां
देदीप्यन्तीमग्निशिखामिवोग्राम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर हमने अन्तरिक्षमें उस राक्षसद्वारा रची गयी घोर, दारुण एवं भयंकर माया देखी। पहले तो वह लाल रंगके बादलोंके रूपमें प्रकाशित हुई, फिर आगकी भयंकर लपटोंके समान प्रज्वलित हो उठी ॥ २४ ॥

ततस्तस्यां विद्युतः प्रादुरास-
न्नुल्काश्चापि ज्वलिताः कौरवेन्द्र ।
घोषश्चास्याः प्रादुरासीत् सुघोरः
सहस्रशो नदतां दुन्दुभीनाम् ॥ २५ ॥

कौरवराज! तत्पश्चात् उससे बिजलियाँ प्रकट हुईं और जलती हुई उल्काएँ गिरने लगीं। साथ ही, हजारों दुन्दुभियोंके बजनेके समान बड़ी भयानक आवाज होने लगी ॥ २५ ॥

ततः शराः प्रापतन् रुक्मपुङ्खाः
शक्त्यृष्टिप्रासमुसलान्यायुधानि ।

परश्वधास्तैलधौताश्च खड्गाः
प्रदीप्ताग्रास्तोमराः पट्टिशाश्च ॥ २६ ॥
मयूखिनः परिघा लोहबद्धा
गदाश्चित्राः शितधाराश्च शूलाः ।
गुर्व्यो गदा हेमपट्टावनद्धाः
शतघ्न्यश्च प्रादुरासन् समन्तात् ॥ २७ ॥

फिर उससे सोनेके पंखवाले बाण गिरने लगे। शक्ति, ऋष्टि, प्रास, मुसल आदि आयुध, फरसे, तेलमें साफ किये गये खड्ग, चमचमाती हुई धारवाले तोमर, पट्टिश, तेजस्वी परिघ, लोहेसे बँधी हुई विचित्र गदा, तीखी धारवाले शूल, सोनेके पत्रसे मढी गयी भारी गदाएँ और शतघ्नियाँ चारों ओर प्रकट होने लगीं ॥ २६-२७ ॥

महाशिलाश्चापतंस्तत्र तत्र
सहस्रशः साशनयश्च वज्राः ।
चक्राणि चानेकशतक्षुराणि
प्रादुर्बभूवुर्ज्वलनप्रभाणि ॥ २८ ॥

जहाँ-तहाँ हजारों बड़ी-बड़ी शिलाएँ गिरने लगीं, बिजलियोंसहित वज्र पड़ने लगे और अग्निके समान दीप्तिमान् कितने ही चक्रों तथा सैकड़ों छुरोंका प्रादुर्भाव होने लगा ॥ २८ ॥

तां शक्तिपाषाणपरश्वधानां
प्रासासिवज्राशनिमुद्गराणाम् ।
वृष्टिं विशालां ज्वलितां पतन्तीं
कर्णः शरौघैर्न शशाक हन्तुम् ॥ २९ ॥

शक्ति, प्रस्तर, फरसे, प्रास, खड्ग, वज्र, बिजली और मुद्गरोंकी गिरती हुई उस ज्वालापूर्ण विशाल वर्षाको कर्ण अपने बाणसमूहोंद्वारा नष्ट न कर सका ॥ २९ ॥

शराहतानां पततां हयानां
वज्राहतानां च तथा गजानाम् ।
शिलाहतानां च महारथानां
महान् निनादः पततां बभूव ॥ ३० ॥

बाणोंसे घायल होकर गिरते हुए घोड़ों, वज्रसे आहत होकर धराशायी होते हुए हाथियों तथा शिलाओंकी मार खाकर गिरते हुए महारथियोंका महान् आर्तनाद वहाँ सुनायी देता था ॥ ३० ॥

सुभीमनानाविधशस्त्रपातै-
र्घटोत्कचेनाभिहतं समन्तात् ।
दौर्योधनं वै बलमार्तरूप-
मावर्तमानं ददृशे भ्रमत् तत् ॥ ३१ ॥

घटोत्कचके द्वारा चलाये हुए अत्यन्त भयंकर एवं नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे हताहत हुई दुर्योधनकी सेना आर्त होकर चारों ओर घूमती और चक्कर काटती दिखायी देने लगी ॥ ३१ ॥

हाहाकृतं सम्परिवर्तमानं
संलीयमानं च विषण्णरूपम् ।
ते त्वार्यभावात् पुरुषप्रवीराः
पराङ्मुखा नो बभूवुस्तदानीम् ॥ ३२ ॥

साधारण सैनिक विषादकी मूर्ति बनकर हाहाकार करते हुए सब ओर भाग-भागकर छिपने लगे; परंतु जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर थे, वे आर्यपुरुषोंके धर्मपर स्थित रहनेके कारण उस समय भी युद्धसे विमुख नहीं हुए ॥ ३२ ॥

तां राक्षसीं भीमरूपां सुघोरां
वृष्टिं महाशस्त्रमयीं पतन्तीम् ।
दृष्ट्वा बलौघांश्च निपात्यमानान्
महद् भयं तव पुत्रान् विवेश ॥ ३३ ॥

राक्षसद्वारा की हुई बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंकी वह अत्यन्त घोर एवं भयानक वर्षा तथा अपने सैन्य-समूहोंका विनाश देखकर आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ३३ ॥

शिवाश्च वैश्वानरदीप्तजिह्वाः
सुभीमनादाः शतशो नदन्तीः ।
रक्षोगणान् नर्दतश्चापि वीक्ष्य
नरेन्द्र योधा व्यथिता बभूवुः ॥ ३४ ॥

नरेन्द्र! अग्निके समान जलती हुई जीभ और भयंकर शब्द-वाली सैकड़ों गीदड़ियोंको चीत्कार करते तथा राक्षस-समूहों-को गर्जते देखकर आपके सैनिक व्यथित हो उठे ॥ ३४ ॥

ते दीप्तजिह्वानलतीक्ष्णदंष्ट्रा
विभीषणाः शैलनिकाशकायाः ।
नभोगताः शक्तिविषक्तहस्ता
मेघा व्यमुञ्चन्निव वृष्टिमुग्राम् ॥ ३५ ॥

पर्वतके समान विशाल शरीरवाले और प्रज्वलित जिह्वासे आग उगलनेवाले तीखी दाढ़ोंसे युक्त भयानक राक्षस हाथोंमें शक्ति लिये आकाशमें पहुँचकर मेघोंके समान कौरवदलपर शस्त्रोंकी उग्र वर्षा करने लगे ॥

तैराहतास्ते शरशक्तिशूलै-
र्गदाभिरुग्रैः परिघैश्च दीप्तैः ।
वज्रैः पिनाकैरशनिप्रहारैः
शतघ्निचक्रैर्मथिताश्च पेतुः ॥ ३६ ॥

उन निशाचरोंके बरसाये हुए बाण, शक्ति, शूल, गदा, उग्र प्रज्वलित परिघ, वज्र, पिनाक, बिजली, शतघ्नी और चक्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारोंसे रौंदे गये कौरव-योद्धा मर-मरकर पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ ३६ ॥

शूला भुशुण्ड्योऽश्मगुडाः शतघ्न्यः
स्थूणाश्च कार्ष्णायसपट्टनद्धाः।
तेऽवाकिरंस्तव पुत्रस्य सैन्यं
ततो रौद्रं कश्मलं प्रादुरासीत् ॥ ३७ ॥

राजन्! वे राक्षस आपके पुत्रकी सेनापर लगातार शूल, भुशुण्डी, पत्थरोंके गोले, शतघ्नी और लोहेके पत्रोंसे मढ़े गये स्थूणाकार[1] शस्त्र बरसाने लगे। इससे आपके सैनिकोंपर भयंकर मोह छा गया ॥ ३७ ॥

विकीर्णान्त्रा विहतैरुत्तमाङ्गैः
सम्भग्नाङ्गाः शिश्यिरे तत्र शूराः।
छिन्ना हयाः कुञ्जराश्चापि भग्नाः
संचूर्णिताश्चैव रथाः शिलाभिः ॥ ३८ ॥

उस समय पत्थरोंकी मारसे आपके शूरवीरोंके मस्तक कुचल गये थे, अङ्ग भङ्ग हो गये थे, उनकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी थीं और इस अवस्थामें वे वहाँ पृथ्वीपर पड़े हुए थे। घोड़ोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, हाथियोंके सारे अङ्ग कुचल गये थे और रथ चूर-चूर हो गये ॥ ३८ ॥

एवं महच्छस्त्रवर्षं सृजन्त-
स्ते यातुधाना भुवि घोररूपाः।
मायासृष्टास्तत्र घटोत्कचेन
नामुञ्चन् वै याचमानं न भीतम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार बड़ी भारी शस्त्रवर्षा करते हुए वे निशाचर इस भूतलपर भयंकर रूप धारण करके प्रकट हुए थे। घटोत्कचकी मायासे उनकी सृष्टि हुई थी। वे डरे हुए तथा प्राणोंकी भिक्षा माँगते हुएको भी नहीं छोड़ते थे ॥ ३९ ॥

तस्मिन् घोरे कुरुवीरावमर्दे
कालोत्सृष्टे क्षत्रियाणामभावे।
ते वै भग्नाः सहसा व्यद्रवन्त
प्राक्रोशन्तः कौरवाः सर्व एव ॥ ४० ॥

कौरव-वीरोंका विनाश करनेवाला वह घोर संग्राम मानो क्षत्रियोंका अन्त करनेके लिये साक्षात् कालद्वारा उपस्थित किया गया था। उसमें विद्यमान सभी कौरवयोद्धा हतोत्साह हो निम्नाङ्कित रूपसे चीखते-चिल्लाते हुए सहसा भाग चले ॥

पलायध्वं कुरवो नैतदस्ति
सेन्द्रा देवा घ्नन्ति नः पाण्डवार्थे।
तथा तेषां मज्जतां भारतानां
तस्मिन् द्वीपः सूतपुत्रो बभूव ॥ ४१ ॥

'कौरवो! भागो, भागो, अब किसी तरह यह सेना बच नहीं सकती। पाण्डवोंके लिये इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता हमें आकर मार रहे हैं।' इस प्रकार उस समर-सागरमें डूबते हुए कौरव-सैनिकोंके लिये सूतपुत्र कर्ण द्वीपके समान आश्रयदाता बन गया ॥ ४१ ॥

तस्मिन् संक्रन्दे तुमुले वर्तमाने
सैन्ये भग्ने लीयमाने कुरूणाम्।
अनीकानां प्रविभागेऽप्रकाशे
नाज्ञायन्त कुरवो नेतरे च ॥ ४२ ॥

उस घमासान युद्धके आरम्भ होनेपर जब कौरव-सेना भागकर छिप गयी और सैनिकोंके विभाग लुप्त हो गये, उस समय कौरव अथवा पाण्डव योद्धा पहचाने नहीं जाते थे ॥ ४२ ॥

निर्मर्यादे विद्रवे घोररूपे
सर्वा दिशः प्रेक्षमाणाः स्म शून्याः।
तां शस्त्रवृष्टिमुरसा गाहमानं
कर्णं स्मैकं तत्र राजन्नपश्यन् ॥ ४३ ॥

उस मर्यादारहित और भयंकर युद्धमें जब भगदड़ पड़ गयी, उस समय भागे हुए सैनिक सारी दिशाओंको सूनी देखते थे। राजन्! वहाँ लोगोंको एकमात्र कर्ण ही उस शस्त्रवर्षाको छातीपर झेलता हुआ दिखायी दिया ॥ ४३ ॥

ततो बाणैरावृणोदन्तरिक्षं
दिव्यां मायां योधयन् राक्षसस्य।
ह्रीमान् कुर्वन् दुष्करं चार्यकर्म
नैवामुह्यत् संयुगे सूतपुत्रः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर राक्षसकी दिव्य मायाके साथ युद्ध करते हुए लज्जाशील सूतपुत्र कर्णने आकाशको अपने बाणोंसे ढक दिया और युद्धमें वह श्रेष्ठ वीरोचित दुष्कर कर्म करता हुआ भी मोहके वशीभूत नहीं हुआ ॥ ४४ ॥

ततो भीताः समुदैक्षन्त कर्णं
राजन् सर्वे सैन्धवा वाह्लिकाश्च।
असम्मोहं पूजयन्तोऽस्य संख्ये
सम्पश्यन्तो विजयं राक्षसस्य ॥ ४५ ॥

राजन्! तब सिन्धु और बाह्लीकदेशके योद्धा युद्धस्थलमें राक्षसकी विजय देखकर भी कर्णके मोहित न होनेकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसकी ओर भयभीत होकर देखने लगे ॥

तेनोत्सृष्टा चक्रयुक्ता शतघ्नी
समं सर्वांश्चतुरोऽश्वाञ्जघान।
ते जानुभिर्जगतीमन्वपद्यन्
गतासवो निर्दशनाक्षिजिह्वाः ॥ ४६ ॥

इसी समय घटोत्कचने एक शतघ्नी छोड़ी, जिसमें पहिये लगे हुए थे। उस शतघ्नीने कर्णके चारों घोड़ोंको एक साथ ही मार डाला। उन घोड़ोंने प्राणशून्य होकर धरतीपर घुटने टेक दिये। उनके दाँत, नेत्र और जीभें बाहर निकल आयी थीं ॥ ४६ ॥

१. खंभेके समान आकृतिवाले।

ततो हताश्वादवरुह्य याना-
दन्तर्मनाः कुरुषु प्राद्रवत्सु ।
दिव्ये चास्त्रे मायया वध्यमाने
नैवामुह्यच्चिन्तयन् प्राप्तकालम् ॥ ४७ ॥

तब कर्ण उस अश्वहीन रथसे उतरकर मनको एकाग्र करके कुछ सोचने लगा । उस समय सारे कौरव सैनिक भाग रहे थे । उसके दिव्यास्त्र भी घटोत्कचकी मायासे नष्ट होते जा रहे थे, तो भी वह समयोचित कर्तव्यका चिन्तन करता हुआ मोहमें नहीं पड़ा ॥ ४७ ॥

ततोऽब्रुवन् कुरवः सर्व एव
कर्णं दृष्ट्वा घोररूपां च मायाम् ।
शक्त्या रक्षो जहि कर्णाद्य तूर्णं
नश्यन्त्येते कुरवो धार्तराष्ट्राः ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् राक्षसकी उस भयंकर मायाको देखकर सभी कौरव कर्णसे इस प्रकार बोले—'कर्ण ! तुम आज (इन्द्रकी दी हुई) शक्तिसे तुरंत इस राक्षसको मार डालो, नहीं तो ये धृतराष्ट्रके पुत्र और कौरव नष्ट होते जा रहे हैं ॥ ४८ ॥

करिष्यतः किञ्च नो भीमपार्थौ
तपन्तमेनं जहि पापं निशीथे ।
यो नः संग्रामाद् घोररूपाद् विमुच्येत्
स नः पार्थान् सबलान् योधयेत॥ ४९॥

'भीमसेन और अर्जुन हमारा क्या कर लेंगे ? आधी रातके समय संताप देनेवाले इस पापी राक्षसको मार डालो । हममेंसे जो भी इस भयानक संग्रामसे छुटकारा पायेगा वही सेनासहित पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा ॥ ४९ ॥

तस्मादेनं राक्षसं घोररूपं
शक्त्या जहि त्वं दत्तया वासवेन ।
मा कौरवाः सर्व एवेन्द्रकल्पा
रात्रियुद्धे कर्ण नेशुः सयोधाः ॥ ५० ॥

'इसलिये तुम इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे इस घोर रूपधारी राक्षसको मार डालो । कर्ण ! कहीं ऐसा न हो कि ये इन्द्रके समान पराक्रमी समस्त कौरव रात्रियुद्धमें अपने योद्धाओंके साथ नष्ट हो जायँ' ॥ ५० ॥

स वध्यमानो रक्षसा वै निशीथे
दृष्ट्वा राजंस्त्रास्यमानं बलं च ।
महच्छ्रुत्वा निनदं कौरवाणां
मतिं दध्रे शक्तिमोक्षाय कर्णः ॥ ५१ ॥

राजन् ! निशीथकालमें राक्षसके प्रहारसे घायल होते हुए कर्णने अपनी सेनाको भयभीत देख कौरवोंका महान् आर्तनाद सुनकर घटोत्कचपर शक्ति छोड़नेका निश्चय कर लिया ॥५१॥

स वै क्रुद्धः सिंह इवात्यमर्षी
नामर्षयत् प्रतिघातं रणेऽसौ ।
शक्तिं श्रेष्ठां वैजयन्तीमसह्यां
समाददे तस्य वधं चिकीर्षन् ॥ ५२ ॥

क्रोधमें भरे हुए सिंहके समान अत्यन्त अमर्षशील कर्ण रणभूमिमें घटोत्कचद्वारा अपने अस्त्रोंका प्रतिघात न सह सका । उसने उस राक्षसका वध करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ एवं असह्य वैजयन्तीनामक शक्तिको हाथमें लिया ॥ ५२ ॥

यासौ राजन्निहिता वर्षपूगान्
वधायाजौ सत्कृता फाल्गुनस्य ।
यां वै प्रादात् सूतपुत्राय शक्रः
शक्तिं श्रेष्ठां कुण्डलाभ्यां निमाय ॥ ५३॥
तां वै शक्तिं लेलिहानां प्रदीप्तां
पाशैर्युक्तामन्तकस्येव जिह्वाम् ।
मृत्योः स्वसारं ज्वलितामिवोल्कां
वैकर्तनः प्राहिणोद् राक्षसाय ॥ ५४ ॥

राजन् ! जिसे उसने युद्धमें अर्जुनका वध करनेके लिये कितने ही वर्षोंसे सत्कारपूर्वक रख छोड़ा था, जिस श्रेष्ठ शक्तिको इन्द्रने सूतपुत्र कर्णके हाथमें उसके दोनों कुण्डलोंके बदलेमें दिया था, जो सबको चाट जानेके लिये उद्यत हुई यमराजके जिह्वाके समान जान पड़ती थी तथा जो मृत्युकी सगी बहिन एवं जलती हुई उल्काके समान प्रतीत होती थी, उसी पाशोंसे युक्त, प्रज्वलित दिव्य शक्तिको सूर्यपुत्र कर्णने राक्षस घटोत्कचपर चला दिया ॥ ५३-५४ ॥

तामुत्तमां परकायावहन्त्रीं
दृष्ट्वा शक्तिं बाहुसंस्थां ज्वलन्तीम् ।
भीतं रक्षो विप्रदुद्राव राजन्
कृत्वाऽऽत्मानं विन्ध्यतुल्यप्रमाणम्॥५५॥

राजन्! दूसरेके शरीरको विदीर्ण कर डालनेवाली उस उत्तम एवं प्रज्वलित शक्तिको कर्णके हाथमें देखकर भयभीत हुआ राक्षस घटोत्कच अपने शरीरको विन्ध्य पर्वतके समान विशाल बनाकर भागा ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वा शक्तिं कर्णबाह्वन्तरस्थां
नेदुर्भूतान्यन्तरिक्षे नरेन्द्र।
ववुर्वातास्तुमुलाश्चापि राजन्
सनिर्घाता चाशनिर्गां जगाम ॥ ५६ ॥

नरेन्द्र! कर्णके हाथमें उस शक्तिको स्थित देख आकाशके प्राणी भयसे कोलाहल करने लगे। राजन्! उस समय भयंकर आँधी चलने लगी और घोर गड़गड़ाहटके साथ पृथ्वीपर वज्रपात हुआ ॥ ५६ ॥

सा तां मायां भस्म कृत्वा ज्वलन्ती
भित्त्वा गाढं हृदयं राक्षसस्य।
ऊर्ध्वं ययौ दीप्यमाना निशायां
नक्षत्राणामन्तराण्याविवेश ॥ ५७ ॥

वह प्रज्वलित शक्ति राक्षस घटोत्कचकी उस मायाको भस्म करके उसके वक्षःस्थलको गहराईतक चीरकर रात्रिके समय प्रकाशित होती हुई ऊपरको चली गयी और नक्षत्रोंमें जाकर विलीन हो गयी ॥ ५७ ॥

स निर्भिन्नो विविधैरस्त्रपूगै-
र्दिव्यैर्नागैर्मानुषै राक्षसैश्च।
नदन् नादान् विविधान् भैरवांश्च
प्राणानिष्टांस्त्याजितः शक्रशक्त्या ॥५८॥

घटोत्कचका शरीर पहलेसे ही दिव्य नाग, मनुष्य और राक्षससम्बन्धी नाना प्रकारके अस्त्र-समूहोंद्वारा छिन्न-भिन्न हो गया था। वह विविध प्रकारसे भयंकर आर्तनाद करता हुआ इन्द्रशक्तिके प्रभावसे अपने प्यारे प्राणोंसे वञ्चित हो गया ॥

इदं चान्यच्चित्रमाश्चर्यरूपं
चकारासौ कर्म शत्रुक्षयाय।
तस्मिन् काले शक्तिनिर्भिन्नमर्मा
बभौ राजञ्शैलमेघप्रकाशः ॥ ५९ ॥

राजन्! मरते समय उसने शत्रुओंका संहार करनेके लिये यह दूसरा विचित्र एवं आश्चर्ययुक्त कर्म किया। यद्यपि शक्तिके प्रहारसे उसके मर्मस्थल विदीर्ण हो चुके थे तो भी वह अपना शरीर बढ़ाकर पर्वत और मेघके समान लंबा-चौड़ा प्रतीत होने लगा ॥ ५९ ॥

ततोऽन्तरिक्षादपतद् गतासुः
स राक्षसेन्द्रो भुवि भिन्नदेहः।
अवाक्शिराः स्तब्धगात्रो विजिह्वो
घटोत्कचो महदास्थाय रूपम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार विशाल रूप धारण करके विदीर्ण शरीरवाला राक्षसराज घटोत्कच नीचे सिर करके प्राणशून्य हो आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय उसका अंग-अंग अकड़ गया था और जीभ बाहर निकल आयी थी ॥ ६० ॥

स तद् रूपं भैरवं भीमकर्मा
भीमं कृत्वा भैमसेनिः पपात।
हतोऽप्येवं तव सैन्यैकदेश-
मपोथयत् स्वेन देहेन राजन् ॥ ६१ ॥

महाराज! भयंकर कर्म करनेवाला भीमसेनपुत्र घटोत्कच अपना वह भीषण रूप बनाकर नीचे गिरा। इस प्रकार मरकर भी उसने अपने शरीरसे आपकी सेनाके एक भागको कुचलकर मार डाला ॥ ६१ ॥

पतद् रक्षः स्वेन कायेन तूर्ण-
मतिप्रमाणेन विवर्धता च।
प्रियं कुर्वन् पाण्डवानां गतासु-
रक्षौहिणीं तव तूर्णं जघान ॥ ६२ ॥

पाण्डवोंका प्रिय करनेवाले उस राक्षसने प्राणशून्य हो जानेपर भी अपने बढ़ते हुए अत्यन्त विशाल शरीरसे गिरकर आपकी एक अक्षौहिणी सेनाको तुरंत नष्ट कर दिया ॥६२॥

ततो मिश्राः प्राणदन् सिंहनादै-
र्भेर्यः शङ्खा मुरजाश्चानकाश्च।
दग्धां मायां निहतं राक्षसं च
दृष्ट्वा हृष्टाः प्राणदन् कौरवेयाः ॥ ६३ ॥

घटोत्कचने गिरते समय कौरवोंकी एक अक्षौहिणी सेना पीस डाली

तदनन्तर सिंहनादोंके साथ-साथ भेरी, शङ्ख, नगाड़े और आनक आदि बाजे बजने लगे। माया भस्म हुई और राक्षस मारा गया—यह देखकर हर्षमें भरे हुए कौरव सैनिक जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ६३ ॥

ततः कर्णः कुरुभिः पूज्यमानो
यथा शक्रो वृत्रवधे मरुद्भिः।
अन्वारूढस्तव पुत्रस्य यानं
हृष्टश्चापि प्राविशत् तत् स्वसैन्यम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् जैसे वृत्रासुरका वध होनेपर देवताओंने इन्द्रका सत्कार किया था, उसी प्रकार कौरवोंसे पूजित होते हुए कर्ण-ने आपके पुत्रके रथपर आरूढ़ हो बड़े हर्षके साथ अपनी उस सेनामें प्रवेश किया ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे घटोत्कचवधे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय घटोत्कचका वधविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कचके वधसे पाण्डवोंका शोक तथा श्रीकृष्णकी प्रसन्नता और उसका कारण

संजय उवाच

हैडिम्बिं निहतं दृष्ट्वा विशीर्णमिव पर्वतम्।
बभूवुः पाण्डवाः सर्वे शोकबाष्पाकुलेक्षणाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे पर्वत ढह गया हो, उसी प्रकार हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको मारा गया देख समस्त पाण्डवोंके नेत्रोंमें शोकके आँसू भर आये ॥ १ ॥

वासुदेवस्तु हर्षेण महताभिपरिप्लुतः।
ननाद सिंहनादं वै पर्यष्वजत फाल्गुनम् ॥ २ ॥

परंतु वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण बड़े हर्षमें मग्न होकर सिंहनाद करने लगे। उन्होंने अर्जुनको छातीसे लगा लिया ॥ २ ॥

स विनद्य महानादमभीषून् संनियम्य च।
ननर्त हर्षसंवीतो वातोद्धूत इव द्रुमः ॥ ३ ॥

वे बड़े जोरसे गर्जना करके घोड़ोंकी रास रोककर हवा-के हिलाये हुए वृक्षके समान हर्षसे झूमकर नाचने लगे ॥ ३ ॥

ततः परिष्वज्य पुनः पार्थमास्फोट्य चासकृत्।
रथोपस्थगतो धीमान् प्राणदत् पुनरच्युतः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् पुनः अर्जुनको हृदयसे लगाकर बारंबार उनकी पीठ ठोंककर रथके पिछले भागमें बैठे हुए बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण फिर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४ ॥

प्रहृष्टमनसं ज्ञात्वा वासुदेवं महाबलः।
अर्जुनोऽथाब्रवीद् राजन्नातिहृष्टमना इव ॥ ५ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके मनमें अधिक प्रसन्नता हुई जानकर महाबली अर्जुन कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले—॥ ५ ॥

अतिहर्षोऽयमस्थाने तवाद्य मधुसूदन।
शोकस्थाने तु सम्प्राप्ते हैडिम्बस्य वधेन तु ॥ ६ ॥

'मधुसूदन! हिडिम्बाकुमार घटोत्कचके वधसे आज हमारे लिये तो शोकका अवसर प्राप्त हुआ है, परंतु आपको यह बेमौके अधिक हर्ष हो रहा है ॥ ६ ॥

विमुखानीह सैन्यानि हतं दृष्ट्वा घटोत्कचम्।
वयं च भृशमुद्विग्ना हैडिम्बेस्तु निपातनात् ॥ ७ ॥

'घटोत्कचको मारा गया देख हमारी सेनाएँ यहाँ युद्धसे विमुख होकर भागी जा रही हैं। हिडिम्बाकुमारके धराशायी होनेसे हमलोग भी अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं ॥ ७ ॥

नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति जनार्दन।
तदद्य शंस मे पृष्टः सत्यं सत्यवतां वर ॥ ८ ॥

'परंतु जनार्दन! आपको जो इतनी खुशी हो रही है उसका कोई छोटा-मोटा कारण न होगा। वही मैं आपसे पूछता हूँ। सत्यवक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रभो! आप इसका मुझे यथार्थ कारण बताइये ॥ ८ ॥

यद्येतन्न रहस्यं ते वक्तुमर्हस्यरिंदम।
धैर्यस्य वैकृतं ब्रूहि त्वमद्य मधुसूदन ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन! यदि कोई गोपनीय बात न हो तो मुझे अवश्य बतावें। मधुसूदन! आपके इस हर्ष-प्रदर्शनसे आज हमारा धैर्य छूटा जा रहा है, अतः आप इसका कारण अवश्य बतावें ॥ ९ ॥

समुद्रस्येव संशोषं मेरोरिव विसर्पणम्।
तथैतदद्य मन्येऽहं तव कर्म जनार्दन ॥ १० ॥

'जनार्दन! जैसे समुद्रका सूखना और मेरु पर्वतका विचलित होना आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार आज मैं आपके इस हर्षप्रकाशनरूपी कर्मको आश्चर्यजनक मानता हूँ' ॥

श्रीवासुदेव उवाच

अतिहर्षमिमं प्राप्तं शृणु मे त्वं धनंजय।
अतीव मनसः सद्यः प्रसादकरमुत्तमम् ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धनंजय! आज वास्तवमें मुझे यह अत्यन्त हर्षका अवसर प्राप्त हुआ है, इसका क्या कारण है, यह तुम मुझसे सुनो। मेरे मनको तत्काल अत्यन्त प्रसन्नता प्रदान करनेवाला वह उत्तम कारण इस प्रकार है ॥

शक्तिं घटोत्कचेनेमां व्यंसयित्वा महाद्युते।
कर्णं निहतमेवाजौ विद्धि सद्यो धनंजय ॥ १२ ॥

महातेजस्वी धनंजय ! इन्द्रकी दी हुई शक्तिको घटोत्कचके द्वारा कर्णके हाथसे दूर कराकर अब तुम युद्धमें कर्णको शीघ्र मरा हुआ ही समझो ॥ १२ ॥

शक्तिहस्तं पुनः कर्णं को लोकेऽस्ति पुमानिह।
य एनमभितस्तिष्ठेत् कार्तिकेयमिवाहवे ॥ १३ ॥

इस संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जो युद्धस्थलमें कार्तिकेयके समान शक्तिशाली कर्णके सामने खड़ा हो सके ॥ १३ ॥

दिष्ट्यापनीतकवचो दिष्ट्यापहृतकुण्डलः।
दिष्ट्या सा व्यंसिता शक्तिरमोघास्य घटोत्कचे ॥ १४ ॥

सौभाग्यकी बात है कि कर्णका दिव्य कवच उतर गया, सौभाग्यसे ही उसके कुण्डल छीने गये तथा सौभाग्यसे ही उसकी वह अमोघशक्ति घटोत्कचपर गिरकर उसके हाथसे निकल गयी ॥ १४ ॥

यदि हि स्यात् सकवचस्तथैव स्यात् सकुण्डलः।
सामरानपि लोकांस्त्रीनेकः कर्णो जयेद् रणे ॥ १५ ॥

यदि कर्ण कवच और कुण्डलोंसे सम्पन्न होता तो वह अकेला ही रणभूमिमें देवताओंसहित तीनों लोकोंको जीत सकता था ॥ १५ ॥

वासवो वा कुबेरो वा वरुणो वा जलेश्वरः।
यमो वा नोत्सहेत् कर्णं रणे प्रतिसमासितुम् ॥ १६ ॥

उस अवस्थामें इन्द्र, कुबेर, जलेश्वर वरुण अथवा यमराज भी रणभूमिमें कर्णका सामना नहीं कर सकते थे ॥

गाण्डीवमुद्यम्य भवांश्चक्रं चाहं सुदर्शनम्।
न शक्तौ स्वो रणे जेतुं तथायुक्तं नरर्षभम् ॥ १७ ॥

तुम गाण्डीव उठाकर और मैं सुदर्शन चक्र लेकर दोनों एक साथ जाते तो भी समराङ्गणमें कवच-कुण्डलोंसे युक्त नरश्रेष्ठ कर्णको नहीं जीत सकते थे ॥ १७ ॥

त्वद्धितार्थं तु शक्रेण मायापहृतकुण्डलः।
विहीनकवचश्चायं कृतः परपुरंजयः ॥ १८ ॥

तुम्हारे हितके लिये इन्द्रने शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले कर्णके दोनों कुण्डल मायासे हर लिये और उसे कवचसे भी वञ्चित कर दिया ॥ १८ ॥

उत्कृत्य कवचं यस्मात् कुण्डले विमले च ते।
प्रादाच्छक्राय कर्णो वै तेन वैकर्तनः स्मृतः ॥ १९ ॥

कर्णने कवच तथा उन निर्मल कुण्डलोंको स्वयं ही अपने शरीरसे कुतरकर इन्द्रको दे दिया था; इसीलिये उसका नाम वैकर्तन हुआ ॥ १९ ॥

आशीविष इव क्रुद्धो जृम्भितो मन्त्रतेजसा।
तथाद्य भाति कर्णो मे शान्तज्वाल इवानलः ॥ २० ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए सर्पको मन्त्रके तेजसे स्तब्ध कर दिया जाय तथा प्रज्वलित आगकी ज्वालाको बुझा दिया जाय, शक्तिसे वञ्चित हुआ कर्ण भी आज मुझे वैसा ही प्रतीत होता है ॥ २० ॥

यदाप्रभृति कर्णाय शक्तिर्दत्ता महात्मना।
वासवेन महाबाहो क्षिप्ता यासौ घटोत्कचे ॥ २१ ॥
कुण्डलाभ्यां निमायाथ दिव्येन कवचेन च।
तां प्राप्यामन्यत वृषः सततं त्वां हतं रणे ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जबसे महात्मा इन्द्रने कर्णको उसके दिव्य कवच और कुण्डलोंके बदलेमें अपनी शक्ति दी थी, जिसे उसने घटोत्कचपर चला दिया है, उस शक्तिको पाकर धर्मात्मा कर्ण सदा तुम्हें रणभूमिमें मारा गया ही मानता था॥

एवंगतोऽपि शक्योऽयं हन्तुं नान्येन केनचित्।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र शपे सत्येन चानघ ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह ! आज ऐसी अवस्थामें आकर भी कर्ण तुम्हारे सिवा किसी दूसरे योद्धासे नहीं मारा जा सकता। अनघ ! मैं सत्यकी शपथ खाकर यह बात कहता हूँ ॥ २३ ॥

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः।
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषः स्मृतः ॥२४॥

कर्ण ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, तपस्वी, नियम और व्रतका पालक तथा शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है; इसीलिये उसे वृष (धर्मात्मा) कहा गया है ॥ २४ ॥

युद्धशौण्डो महाबाहुर्नित्योद्यतशरासनः।
केसरीव वने नर्दन् मातङ्ग इव यूथपान् ॥ २५ ॥
विमदान् रथशार्दूलान् कुरुते रणमूर्धनि।

महाबाहु कर्ण युद्धमें कुशल है। उसका धनुष सदा उठा ही रहता है। वनमें दहाड़नेवाले सिंहके समान वह सदा गर्जता रहता है। जैसे मतवाला हाथी कितने ही यूथपतियोंको मदरहित कर देता है, उसी प्रकार कर्ण युद्धके मुहानेपर सिंहके समान पराक्रमी महारथियोंका भी घमंड चूर कर देता है ॥ २५½ ॥

मध्यं गत इवादित्यो यो न शक्यो निरीक्षितुम् ॥ २६ ॥
त्वदीयैः पुरुषव्याघ्र योधमुख्यैर्महात्मभिः।
शरजालसहस्रांशुः शरदीव दिवाकरः ॥ २७ ॥

पुरुषसिंह ! तुम्हारे महामनस्वी श्रेष्ठ योद्धा दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति कर्णकी ओर देख भी नहीं सकते। जैसे शरद्‌ऋतुके निर्मल आकाशमें सूर्य अपनी सहस्रों किरणें बिखेरता है, उसी प्रकार कर्ण युद्धमें अपने बाणोंका जाल-सा बिछा देता है ॥ २६-२७ ॥

तपान्ते जलदो यद्वच्छरधाराः क्षरन् मुहुः।
दिव्यास्त्रजलदः कर्णः पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २८ ॥

जैसे वर्षाकालमें बरसनेवाला मेघ पानीकी धारा गिराता है, उसी प्रकार दिव्यास्त्ररूपी जल प्रदान करनेवाला कर्णरूपी मेघ बारंबार बाणधाराकी वर्षा करता रहता है ॥ २८ ॥

त्रिदशैरपि चास्यद्भिः शरवर्षं समन्ततः।
अशक्यस्तदयं जेतुं स्रवद्भिर्मांसशोणितम् ॥ २९ ॥

चारों ओर बाणोंकी वृष्टि करके शत्रुओंके शरीरोंसे रक्त और मांस बहानेवाले देवता भी कर्णको परास्त नहीं कर सकते॥

कवचेन विहीनश्च कुण्डलाभ्यां च पाण्डव।
सोऽद्य मानुषतां प्राप्तो विमुक्तः शक्रदत्तया ॥ ३० ॥

पाण्डुनन्दन ! कर्ण कवच और कुण्डलसे हीन तथा इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे शून्य होकर अब साधारण मनुष्यके समान हो गया है ॥ ३० ॥

एको हि योगोऽस्य भवेद् वधाय
छिद्रे ह्येनं स्वप्रमत्तः प्रमत्तम्।
कृच्छ्रं प्राप्तं रथचक्रे विमग्ने
हन्याः पूर्वं त्वं तु संज्ञां विचार्य ॥ ३१ ॥

इतनेपर भी इसके वधका एक ही उपाय है। कोई छिद्र प्राप्त होनेपर जब वह असावधान हो, तुम्हारे साथ युद्ध होते समय जब कर्णके रथका पहिया (शापवश) धरतीमें धँस जाय और वह संकटमें पड़ जाय, उस समय तुम पूर्ण सावधान हो मेरे संकेतपर ध्यान देकर उसे पहले ही मार डालना॥

न ह्युद्यतास्त्रं युधि हन्यादजय्य-
मप्येकवीरो बलभित् सवज्रः।
जरासंधश्चेदिराजो महात्मा
महाबाहुश्चैकलव्यो निषादः ॥ ३२ ॥
एकैकशो निहताः सर्व एते
योगैस्तैस्तैस्त्वद्धितार्थं मयैव।

अन्यथा जब वह युद्धके लिये अस्त्र उठा लेगा, उस समय उस अजेय वीर कर्णको त्रिलोकीके एकमात्र शूरवीर वज्रधारी इन्द्र भी नहीं मार सकेंगे। मगधराज जरासंध, महामनस्वी चेदिराज शिशुपाल और निषादजातीय महाबाहु एकलव्य—इन सबको मैंने ही तुम्हारे हितके लिये विभिन्न उपायोंद्वारा एक-एक करके मार डाला है ॥ ३२½ ॥

अथापरे निहता राक्षसेन्द्रा
हिडिम्बकिर्मीरबकप्रधानाः।
अलायुधः परचक्रावमर्दी
घटोत्कचश्चोग्रकर्मा तरस्वी ॥ ३३ ॥

इनके सिवा हिडिम्ब, किर्मीर और बक आदि दूसरे-दूसरे राक्षसराज, शत्रुदलका संहार करनेवाला अलायुध और भयंकर कर्म करनेवाला वेगशाली घटोत्कच भी तुम्हारे हितके लिये ही मारे और मरवाये गये हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे घटोत्कचवधे श्रीकृष्णहर्षे ऽशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय घटोत्कचका वध होनेपर श्रीकृष्णका हर्षविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको जरासंध आदि धर्मद्रोहियोंके वध करनेका कारण बताना

अर्जुन उवाच

कथमस्मद्धितार्थं ते कैश्च योगैर्जनार्दन।
जरासंधप्रभृतयो घातिताः पृथिवीश्वराः ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—जनार्दन ! आपने हमलोगोंके हितके लिये कैसे किन-किन उपायोंसे जरासंध आदि राजाओंका वध कराया है ? ॥ १ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

जरासंधश्चेदिराजो नैषादिश्च महाबलः।
यदि स्युर्न हताः पूर्वमिदानीं स्युर्भयंकराः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! जरासंध, शिशुपाल और महाबली एकलव्य यदि ये पहले ही मारे न गये होते तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते ॥ २ ॥

दुर्योधनस्तानवश्यं वृणुयाद् रथसत्तमान्।
तेऽस्मासु नित्यविद्विष्टाः संश्रयेयुश्च कौरवान् ॥ ३ ॥

दुर्योधन उन श्रेष्ठ रथियोंसे अपनी सहायताके लिये अवश्य प्रार्थना करता और वे हमसे सर्वदा द्वेष रखनेके कारण निश्चय ही कौरवोंका पक्ष लेते ॥ ३ ॥

ते हि वीरा महेष्वासाः कृतास्त्रा दृढयोधिनः।
धार्तराष्ट्रीं चमूं कृत्स्नां रक्षेयुरमरा इव ॥ ४ ॥

वे वीर महाधनुर्धर, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा दृढ़तापूर्वक युद्ध करनेवाले थे; अतः दुर्योधनकी सारी सेनाकी देवताओंके समान रक्षा कर सकते थे ॥ ४ ॥

सूतपुत्रो जरासंधश्चेदिराजो निषादजः।
सुयोधनं समाश्रित्य जयेयुः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥

सूतपुत्र कर्ण, जरासंध, चेदिराज शिशुपाल और निषादनन्दन एकलव्य—ये चारों मिलकर यदि दुर्योधनका पक्ष लेते तो इस पृथ्वीको अवश्य ही जीत लेते ॥ ५ ॥

योगैरपि हता यैस्ते तन्मे शृणु धनंजय।
अजय्या हि विना योगैर्मृधे ते दैवतैरपि ॥ ६ ॥

धनंजय ! वे जिन उपायोंसे मारे गये हैं, उन्हें बतलाता हूँ, मुझसे सुनो। बिना उपाय किये तो उन्हें युद्धमें देवता भी नहीं जीत सकते थे ॥ ६ ॥

एकैको हि पृथक् तेषां समस्तां सुरवाहिनीम्।
योधयेत् समरे पार्थ लोकपालाभिरक्षिताम् ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन ! उनमेंसे अलग-अलग एक-एक वीर ऐसा था, जो लोकपालोंसे सुरक्षित समस्त देवसेनाके साथ समराङ्गणमें अकेला ही युद्ध कर सकता था ॥ ७ ॥

जरासंधो हि रुषितो रौहिणेयप्रधर्षितः।
अस्मद्वधार्थे चिक्षेप गदां वै सर्वघातिनीम् ॥ ८ ॥

एक समयकी बात है, रोहिणीनन्दन बलरामजीने युद्धमें जरासंधको पछाड़ दिया था। इससे कुपित होकर जरासंधने हमलोगोंके वधके लिये अपनी सर्वघातिनी गदाका प्रहार किया ॥ ८ ॥

सीमन्तमिव कुर्वाणा नभसः पावकप्रभा।
अदृश्यतापतन्ती सा शक्रमुक्ता यथाशनिः ॥ ९ ॥

अग्निके समान प्रज्वलित वह गदा इन्द्रके चलाये हुए वज्रकी भाँति आकाशमें सीमन्त-रेखा-सी बनाती हुई वहाँ गिरती दिखायी दी ॥ ९ ॥

तामापतन्तीं दृष्ट्वैव गदां रोहिणिनन्दनः।
प्रतिघातार्थमस्त्रं वै स्थूणाकर्णमवासृजत् ॥ १० ॥

वहाँ गिरती हुई उस गदाको देखते ही उसके प्रतिघात (निवारण) के लिये रोहिणीनन्दन बलरामजीने स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रका प्रयोग किया ॥ १० ॥

अस्त्रवेगप्रतिहता सा गदा प्रापतद् भुवि।
दारयन्ती धरां देवीं कम्पयन्तीव पर्वतान् ॥ ११ ॥

उस अस्त्रके वेगसे प्रतिहत होकर वह गदा पृथ्वीदेवीको विदीर्ण करती और पर्वतोंको कँपाती हुई-सी भूतलपर गिर पड़ी ॥ ११ ॥

तत्र सा राक्षसी घोरा जरानाम्नी सुविक्रमा।
संदधे सा हि संजातं जरासंधमरिंदमम् ॥ १२ ॥

जिस स्थानपर गदा गिरी, वहाँ उत्तम बल-पराक्रमसे सम्पन्न जरा नामक एक भयंकर राक्षसी रहती थी। उसीने जन्मके पश्चात् शत्रुदमन जरासंधके शरीरको जोड़ा था॥१२॥

द्वाभ्यां जातो हि मातृभ्यामर्धदेहः पृथक् पृथक्।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधस्ततोऽभवत् ॥ १३ ॥

उसका आधा-आधा शरीर अलग-अलग दो माताओंके पेटसे पैदा हुआ था। जराने उसे जोड़ा था; इसीलिये उसका नाम जरासंध हुआ ॥ १३ ॥

सा तु भूमिं गता पार्थ हता ससुतबान्धवा।
गदया तेन चास्त्रेण स्थूणाकर्णेन राक्षसी ॥ १४ ॥

पार्थ ! भूमिके भीतर रहनेवाली वह राक्षसी उस गदासे तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रके आघातसे पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारी गयी ॥ १४ ॥

विनाभूतः स गदया जरासंधो महामृधे।
निहतो भीमसेनेन पश्यतस्ते धनंजय ॥ १५ ॥

धनंजय ! उस महासमरमें जरासंध बिना गदाके हो गया था; इसीलिये तुम्हारे देखते-देखते भीमसेनने उसे मार डाला ॥ १५ ॥

यदि हि स्याद् गदापाणिर्जरासंधः प्रतापवान्।
सेन्द्रा देवा न तं हन्तुं रणे शक्ता नरोत्तम ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि प्रतापी जरासंधके हाथमें वह गदा होती तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उसे युद्धमें मार नहीं सकते थे ॥ १६ ॥

त्वद्धितार्थं च नैषादिरङ्गुष्ठेन वियोजितः।
द्रोणेनाचार्यकं कृत्वा छद्मना सत्यविक्रमः ॥ १७ ॥

तुम्हारे हितके लिये ही द्रोणाचार्यने सत्यपराक्रमी एकलव्यका आचार्यत्व करके छलपूर्वक उसका अँगूठा कटवा दिया था ॥ १७ ॥

स तु बद्धाङ्गुलित्राणो नैषादिर्दृढविक्रमः।
अतिमानी वनचरो बभौ राम इवापरः ॥ १८ ॥

सुदृढ़ पराक्रमसे सम्पन्न अत्यन्त अभिमानी एकलव्य जब हाथोंमें दस्ताने पहनकर वनमें विचरता, उस समय दूसरे परशुरामके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

एकलव्यं हि साङ्गुष्ठमशक्ता देवदानवाः।
सराक्षसोरगाः पार्थ विजेतुं युधि कर्हिचित् ॥ १९ ॥

कुन्तीकुमार ! यदि एकलव्यका अँगूठा सुरक्षित होता तो देवता, दानव, राक्षस और नाग—ये सब मिलकर भी युद्धमें उसे कभी परास्त नहीं कर सकते थे ॥ १९ ॥

किमु मानुषमात्रेण शक्यः स्यात् प्रतिवीक्षितुम्।
दृढमुष्टिः कृती नित्यमस्यमानो दिवानिशम् ॥ २० ॥

फिर कोई मनुष्यमात्र तो उसकी ओर देख ही कैसे सकता था ? उसकी मुट्ठी मजबूत थी। वह अस्त्र-विद्याका विद्वान् था और सदा दिन-रात बाण चलानेका अभ्यास करता था ॥ २० ॥

त्वद्धितार्थं तु स मया हतः संग्राममूर्धनि।
चेदिराजश्च विक्रान्तः प्रत्यक्षं निहतस्तव ॥ २१ ॥

तुम्हारे हितके लिये मैंने ही युद्धके मुहानेपर उसे मार डाला था। पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल तो तुम्हारी आँखोंके सामने ही मारा गया था ॥ २१ ॥

स चाप्यशक्यः संग्रामे जेतुं सर्वसुरासुरैः।
वधार्थं तस्य जातोऽहमन्येषां च सुरद्विषाम् ॥ २२ ॥
त्वत्सहायो नरव्याघ्र लोकानां हितकाम्यया।

वह भी संग्राममें सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंद्वारा जीता नहीं जा सकता था। नरव्याघ्र! मैं सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये और शिशुपाल एवं अन्य देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये ही तुम्हारे साथ इस जगत्में अवतीर्ण हुआ हूँ॥

हिडिम्बबककिर्मीरा भीमसेनेन पातिताः॥ २३॥
रावणेन समप्राणा ब्रह्मयज्ञविनाशनाः।

हिडिम्ब, बक और किर्मीर–ये रावणके समान बलवान् थे और ब्राह्मणों तथा यज्ञोंका विनाश किया करते थे। इन तीनोंको भीमसेनने मार गिराया है॥ २३½॥

हतस्तथैव मायावी हैडिम्बेनाप्यलायुधः॥ २४॥
हैडिम्बश्चाप्युपायेन शक्त्या कर्णेन घातितः।

मायावी अलायुध घटोत्कचके हाथसे मारा गया है और घटोत्कचको भी मैंने ही युक्ति लगाकर कर्णकी चलायी हुई शक्तिसे मरवा दिया है॥ २४½॥

यदि ह्येनं नाहनिष्यत् कर्णः शक्त्या महामृधे॥२५॥
मया वध्योऽभविष्यत् स भैमसेनिर्घटोत्कचः।

यदि महासमरमें कर्ण अपनी शक्तिद्वारा भीमसेनपुत्र घटोत्कचको नहीं मारता तो एक दिन मुझे उसका वध करना पड़ता॥ २५½॥

मया न निहतः पूर्वमेष युष्मत्प्रियेप्सया॥ २६॥
एष हि ब्राह्मणद्वेषी यज्ञद्वेषी च राक्षसः।
धर्मस्य लोप्ता पापात्मा तस्मादेष निपातितः॥ २७॥

तुमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे ही मैंने इसे पहले नहीं मारा था। यह ब्राह्मणों और यज्ञोंसे द्वेष रखनेवाला तथा धर्मका लोप करनेवाला पापात्मा राक्षस था; इसीलिये इसे मरवा दिया है॥ २६-२७॥

व्यंसिता चाप्युपायेन शक्रदत्ता मयानघ।
ये हि धर्मस्य लोप्तारो वध्यास्ते मम पाण्डव॥ २८॥

निष्पाप पाण्डुनन्दन! इसी उपायसे मैंने इन्द्रकी दी हुई शक्ति भी कर्णके हाथसे दूर कर दी है। धर्मका लोप करनेवाले सभी प्राणी मेरे वध्य हैं॥ २८॥

धर्मसंस्थापनार्थं हि प्रतिज्ञैषा ममाव्यया।
ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा॥ २९॥
यत्र तत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे।

धर्मकी स्थापनाके लिये ही मैंने यह अटल प्रतिज्ञा कर रक्खी है, मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, जहाँ वेद, सत्य, दम, शौच, धर्म, लज्जा, श्री, धृति और क्षमाका निवास है, वहीं मैं सदा सुखपूर्वक रहता हूँ॥ २९½॥

न विषादस्त्वया कार्यः कर्णं वैकर्तनं प्रति॥ ३०॥
उपदेक्ष्याम्युपायं ते येन तं प्रसहिष्यसि।

तुम्हें वैकर्तन कर्णके विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हें ऐसा उपाय बताऊँगा, जिससे तुम उसका सामना कर सकोगे॥ ३०½॥

सुयोधनं चापि रणे हनिष्यति वृकोदरः॥ ३१॥
तस्यापि च वधोपायं वक्ष्यामि तव पाण्डव।

पाण्डुनन्दन! युद्धमें दुर्योधनका भी वध भीमसेन करेंगे। उसके वधका उपाय भी मैं तुम्हें बताऊँगा॥ ३१½॥

वर्धते तुमुलस्त्वेष शब्दः परचमूं प्रति॥ ३२॥
विद्रवन्ति च सैन्यानि त्वदीयानि दिशो दश।

शत्रुओंकी सेनामें यह भयंकर गर्जनाका शब्द बढ़ता जा रहा है और तुम्हारे सैनिक दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं॥

लब्धलक्ष्या हि कौरव्या विधमन्ति चमूं तव।
दहत्येष च वः सैन्यं द्रोणः प्रहरतां वरः॥ ३३॥

कौरवोंका निशाना अचूक हो रहा है। वे तुम्हारी सेनाका विनाश कर रहे हैं। इधर ये योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य तुम्हारे सैनिकोंको दग्ध किये देते हैं॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे कृष्णवाक्ये एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रि-युद्धके समय श्रीकृष्णका कथनविषयक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८१॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

कर्णने अर्जुनपर शक्ति क्यों नहीं छोड़ी, इसके उत्तरमें संजयका धृतराष्ट्रसे और श्रीकृष्णका सात्यकिसे रहस्ययुक्त कथन

धृतराष्ट्र उवाच

एकवीरवधे मोघा शक्तिः सूतात्मजे यदा।
कस्मात् सर्वान् समुत्सृज्य स तां पार्थे न मुक्तवान्॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! कर्णके पास जो शक्ति थी, वह यदि एक ही वीरका वध करके निष्फल हो जानेवाली थी तो उसने सबको छोड़कर अर्जुनपर ही उसका प्रहार क्यों नहीं किया?॥ १॥

तस्मिन् हते हता हि स्युः सर्वे पाण्डवसृञ्जयाः।
एकवीरवधे कस्माद् युद्धे न जयमादधे॥ २॥

अर्जुनके मारे जानेपर समस्त सृंजय और पाण्डव अपने

आप नष्ट हो जाते । अतः एक वीर अर्जुनका ही वध करके उसने युद्धमें क्यों नहीं विजय प्राप्त की ? ॥ २ ॥

आहूतो न निवर्तेयमिति तस्य महाव्रतम् ।
स्वयं मार्गयितव्यः स सूतपुत्रेण फाल्गुनः ॥ ३ ॥

अर्जुनका तो यह महान् व्रत ही है कि युद्धमें किसीके बुलानेपर मैं पीछे नहीं लौट सकता; ऐसी दशामें सूतपुत्र कर्णको स्वयं ही अर्जुनकी खोज करनी चाहिये थी ॥ ३ ॥

ततो द्वैरथमानीय फाल्गुनं शक्रदत्तया ।
जघान न वृषः कस्मात् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ४ ॥

संजय ! इस प्रकार अर्जुनको द्वैरथ-युद्धमें लाकर धर्मात्मा कर्णने इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे उन्हें क्यों नहीं मार डाला ? यह मुझे बताओ ॥ ४ ॥

नूनं बुद्धिविहीनश्चाप्यसहायश्च मे सुतः ।
शत्रुभिर्व्यंसितः पापः कथं नु स जयेदरीन् ॥ ५ ॥

निश्चय ही मेरा पुत्र दुर्योधन बुद्धिहीन और असहाय है । शत्रुओंने उसे ठग लिया । अब वह पापी अपने शत्रुओं-पर कैसे विजय पा सकता है ? ॥ ५ ॥

या ह्यस्य परमा शक्तिर्जयस्य च परायणम् ।
सा शक्तिर्वासुदेवेन व्यंसिता च घटोत्कचे ॥ ६ ॥

जो इसकी सबसे बड़ी शक्ति और विजयका आधार-स्तम्भ थी, उस दिव्य शक्तिको घटोत्कचपर चलवाकर श्रीकृष्ण-ने व्यर्थ कर दिया ॥ ६ ॥

कुणेर्यथा हस्तगतं ह्रियेत् फलं बलीयसा ।
तथा शक्तिरमोघा सा मोघीभूता घटोत्कचे ॥ ७ ॥

जैसे कोई बलवान् पुरुष लुंजे (ठूंटे) के हाथका फल छीन ले, उसी प्रकार श्रीकृष्णने उस अमोघ शक्तिको घटोत्कचपर चलवाकर अन्यत्रके लिये निष्फल कर दिया ॥

यथा वराहस्य शुनश्च युध्यतो-
स्तयोरभावे श्वपचस्य लाभः ।
मन्ये विद्वन् वासुदेवस्य तद्वद्
युद्धे लाभः कर्णहैडिम्बयोर्वै ॥ ८ ॥

विद्वन् ! जैसे सूअर और कुत्तेके आपसमें लड़नेपर उन दोनोंमेंसे किसीकी भी मृत्यु हो जाय तो चाण्डालको लाभ ही होता है, उसी प्रकार कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें मैं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका ही लाभ हुआ मानता हूँ ॥ ८ ॥

घटोत्कचो यदि हन्याद्धि कर्णं
परो लाभः स भवेत् पाण्डवानाम् ।
वैकर्तनो वा यदि तं निहन्यात्
तथापि कृत्यं शक्तिनाशात् कृतं स्यात् ॥ ९ ॥

घटोत्कर्च यदि कर्णको मार देगा तो पाण्डवोंको बहुत बड़ा लाभ होगा और यदि वैकर्तन कर्ण घटोत्कचको मार डालेगा तो भी इन्द्रकी दी हुई शक्तिका नाश हो जानेसे उनका ही प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ ९ ॥

इति प्राज्ञः प्रज्ञयैतद् विचिन्त्य
घटोत्कचं सूतपुत्रेण युद्धे ।
अघातयद् वासुदेवो नृसिंहः
प्रियं कुर्वन् पाण्डवानां हितं च ॥ १० ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने अपनी बुद्धिसे यही सोचकर पाण्डवोंका प्रिय तथा हित करते हुए युद्धमें सूतपुत्र कर्णके द्वारा घटोत्कचको मरवा दिया ॥ १० ॥

संजय उवाच

एतच्चिकीर्षितं ज्ञात्वा कर्णस्य मधुसूदनः ।
नियोजयामास तदा द्वैरथे राक्षसेश्वरम् ॥ ११ ॥
घटोत्कचं महावीर्यं महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
अमोघाया विघातार्थं राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ १२ ॥

संजयने कहा—राजन् ! कर्ण भी उस शक्तिसे अर्जुन-का ही वध करना चाहता था । उसके इस अभिप्रायको जानकर परम बुद्धिमान् मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने उस अमोघ शक्तिको नष्ट करनेके लिये ही कर्णके साथ द्वैरथ युद्धमें उस समय महापराक्रमी राक्षसराज घटोत्कचको लगाया । महाराज ! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका ही फल है । ११-१२ ।

तदैव कृतकार्या हि वयं स्याम कुरूद्वह ।
न रक्षेद् यदि कृष्णस्तं पार्थं कर्णान्महारथात् ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यदि श्रीकृष्ण महारथी कर्णसे कुन्तीकुमार अर्जुनकी रक्षा न करते तो हमलोग उसी समय कृतकार्य हो गये होते ॥ १३ ॥

साश्वध्वजरथः संख्ये धृतराष्ट्र पतेद् भुवि ।
विना जनार्दनं पार्थो योगानामीश्वरं प्रभुम् ॥ १४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! यदि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण न हों तो अर्जुन घोड़े, ध्वज और रथसहित निश्चय ही युद्धमें धराशायी हो जायँ ॥ १४ ॥

तैस्तैरुपायैर्बहुभी रक्ष्यमाणः स पार्थिव ।
जयत्यभिमुखः शत्रून् पार्थः कृष्णेन पालितः ॥ १५ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके विभिन्न उपायोंसे श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित रहकर ही अर्जुन सम्मुख युद्धमें शत्रुओंपर विजय पाते हैं ॥ १५ ॥

स विशेषात् त्वमोघायाः कृष्णोऽरक्षत पाण्डवम् ।
हन्यात् क्षिप्रं हि कौन्तेयं शक्तिर्वृक्षमिवाशनिः ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णने विशेष प्रयत्न करके उस अमोघ शक्तिसे पाण्डुपुत्र अर्जुनकी रक्षा की है, नहीं तो जैसे वज्र गिरकर वृक्षको भस्म कर देता है, उसी प्रकार वह शक्ति कुन्तीकुमार अर्जुनको शीघ्र ही नष्ट कर देती ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विरोधी च कुमन्त्री च प्राज्ञमानी ममात्मजः।
यस्यैव समतिक्रान्तो वधोपायो जयं प्रति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मेरा पुत्र दुर्योधन सबका विरोधी और अपनेको ही सबसे अधिक बुद्धिमान् समझनेवाला है। उसके मन्त्री भी अच्छे नहीं हैं; इसीलिये अर्जुनके वध और विजय-लाभका यह अमोघ उपाय उसके हाथसे निकल गया है ॥ १७ ॥

स वा कर्णो महाबुद्धिः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
न मुक्तवान् कथं सूतताममोघां धनंजये ॥ १८ ॥

सूत ! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण तो बड़ा बुद्धिमान् है; उसने स्वयं ही उस अमोघ शक्तिको अर्जुनपर कैसे नहीं छोड़ा ! ॥ १८ ॥

तवापि समतिक्रान्तमेतद् गावल्गणे कथम्।
एतमर्थं महाबुद्धे यत् त्वया नावबोधितः ॥ १९ ॥

परम बुद्धिमान् गवल्गणकुमार ! तुम्हारे ध्यानसे यह बात कैसे निकल गयी कि तुमने कर्णको इसके विषयमें कुछ नहीं समझाया ॥ १९ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनस्य शकुनेर्मम दुःशासनस्य च।
रात्रौ रात्रौ भवत्येषा नित्यमेव समर्थना ॥ २० ॥
श्वः सर्वसैन्यान्युत्सृज्य जहि कर्ण धनंजयम्।
प्रेष्यवत् पाण्डुपञ्चालानुपभोक्ष्यामहे ततः ॥ २१ ॥

संजयने कहा—राजन् ! प्रतिदिन रातको दुर्योधन, शकुनि और दुःशासनका तथा मेरा भी कर्णसे यही आग्रह रहता था कि 'कर्ण ! कल सबेरे तुम सारी सेनाओंको छोड़कर अर्जुनको मार डालो। फिर तो पाण्डवों और पाञ्चालोंका हम भृत्योंके समान उपभोग करेंगे ॥ २०-२१ ॥

अथवा निहते पार्थे पाण्डवान्यतमं ततः।
स्थापयेद् यदि वार्ष्णेयस्तस्मात्कृष्णो हि हन्यताम्॥२२॥

'यदि ऐसा सोचो कि अर्जुनके मारे जानेपर श्रीकृष्ण दूसरे किसी पाण्डवको युद्धके लिये खड़ा कर लेंगे तो श्रीकृष्णको ही मार डालो ॥ २२ ॥

कृष्णो हि मूलं पाण्डूनां पार्थः स्कन्ध इवोद्गतः।
शाखा इवेतरे पार्थाः पञ्चालाः पत्रसंज्ञिताः ॥ २३ ॥

'श्रीकृष्ण ही पाण्डवोंकी जड़ हैं, अर्जुन ऊपरके तनेके समान हैं, अन्य कुन्तीपुत्र शाखाएँ हैं तथा पाञ्चाल सैनिक पत्तोंके समान हैं ॥ २३ ॥

कृष्णाश्रयाः कृष्णबलाः कृष्णनाथाश्च पाण्डवाः।
कृष्णः परायणं चैषां ज्योतिषामिव चन्द्रमाः ॥ २४ ॥

'श्रीकृष्ण ही पाण्डवोंके आश्रय, बल और रक्षक हैं। जैसे नक्षत्रोंके परम आश्रय चन्द्रमा हैं, उसी प्रकार इन पाण्डवोंका सबसे बड़ा सहारा श्रीकृष्ण हैं ॥ २४ ॥

तस्मात् पर्णानि शाखाश्च स्कन्धं चोत्सृज्य सूतज।
कृष्णं हि विद्धि पाण्डूनां मूलं सर्वत्र सर्वदा ॥ २५ ॥

'अतः सूतनन्दन ! तुम पत्तों, डालियों और तनेको छोड़कर जड़को ही काट दो। सर्वत्र और सदा श्रीकृष्णको ही पाण्डवोंकी जड़ समझो' ॥ २५ ॥

हन्याद् यदि हि दाशार्हं कर्णो यादवनन्दनम्।
कृत्स्ना वसुमती राजन् वशे तस्य न संशयः ॥ २६ ॥

राजन् ! यदि कर्ण यादवनन्दन श्रीकृष्णको मार डालता, तो यह सारी पृथ्वी उसके वशमें हो जाती, इसमें संशय नहीं है॥

यदि हि स निहतः शयीत भूमौ
यदुकुलपाण्डवनन्दनो महात्मा।
ननु तव वसुधा नरेन्द्र सर्वा
सगिरिसमुद्रवना वशं व्रजेत ॥ २७ ॥

नरेन्द्र ! यदि यदुकुल और पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले महात्मा श्रीकृष्ण उस शक्तिसे मारे जाकर रणभूमिमें सो जाते, तो पर्वत, समुद्र और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी आपके वशमें आ जाती ॥ २७ ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं जाग्रति त्रिदशेश्वरे।
अप्रमेये हृषीकेशे युद्धकालेऽप्यमुह्यत ॥ २८ ॥

ऐसा निश्चय कर लेनेके बाद भी जब वह युद्धके समय सदा सजग रहनेवाले अप्रमेयस्वरूप देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके समीप जाता तो उसपर मोह छा जाता था ॥ २८ ॥

अर्जुनं चापि राधेयात् सदा रक्षति केशवः।
न ह्येनमैच्छत् प्रमुखे सौतेः स्थापयितुं रणे ॥ २९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको सदा राधानन्दन कर्णसे बचाये रखते थे। उन्होंने रणभूमिमें अर्जुनको सूतपुत्र कर्णके सम्मुख खड़ा करनेकी कभी इच्छा नहीं की ॥ २९ ॥

अन्यांश्चास्मै रथोदारानुपास्थापयदच्युतः।
अमोघां तां कथं शक्तिं मोघां कुर्यामिति प्रभो ॥ ३० ॥

प्रभो ! अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अन्यान्य महारथियोंको कर्णके पास इसलिये भेजा करते थे कि किसी प्रकार उस अमोघ शक्तिको व्यर्थ कर दूँ॥

यश्चैवं रक्षते पार्थं कर्णात् कृष्णो महामनाः।
आत्मानं स कथं राजन् न रक्षेत् पुरुषोत्तमः ॥ ३१ ॥

राजन् ! जो महामनस्वी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण कर्णसे अर्जुनकी इस प्रकार रक्षा करते हैं, वे अपनी रक्षा कैसे नहीं करेंगे ? ॥ ३१ ॥

परिचिन्त्य तु पश्यामि चक्रायुधमरिंदमम्।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु यो जयेत जनार्दनम् ॥ ३२ ॥

मैं भलीभाँति सोच-विचारकर देखता हूँ तो तीनों लोकोंमें कोई ऐसा वीर उपलब्ध नहीं होता, जो शत्रुओंका दमन करनेवाले चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णको जीत सके ॥ ३२ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
पप्रच्छ रथशार्दूलः कर्णं प्रति महारथः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर रथियोंमें सिंहके समान शूरवीर सत्यपराक्रमी महारथी सात्यकिने महाबाहु श्रीकृष्णसे कर्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ३३ ॥

अयं च प्रत्ययः कर्णे शक्तिश्चामितविक्रमा ।
किमर्थं सूतपुत्रेण न मुक्ता फाल्गुने तु सा ॥ ३४ ॥

'प्रभो ! कर्णको उस शक्तिके प्रभावपर विश्वास तो था ही। वह अमित पराक्रम कर दिखानेवाली दिव्य शक्ति उसके हाथमें मौजूद भी थी, तथापि सूतपुत्रने अर्जुनपर उसका प्रयोग कैसे नहीं किया ?' ॥ ३४ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

दुःशासनश्च कर्णश्च शकुनिश्च ससैन्धवः ।
सततं मन्त्रयन्ति स्म दुर्योधनपुरोगमाः ॥ ३५ ॥
कर्ण कर्ण महेष्वास रणेऽमितपराक्रम ।
नान्यस्य शक्तिरेषा ते मोक्तव्या जयतां वर ॥ ३६ ॥
ऋते महारथात् कर्ण कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—सात्यके ! दुःशासन, कर्ण, शकुनि और जयद्रथ—ये दुर्योधनको आगे रखकर सदा गुप्त मन्त्रणा करते और कर्णको यह सलाह देते थे कि 'रणभूमिमें अनन्त पराक्रम प्रकट करनेवाले, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्ण ! तुम कुन्तीपुत्र महारथी अर्जुनको छोड़कर दूसरे किसीपर इस शक्तिको न छोड़ना ॥ ३५-३६½॥

स हि तेषामतियशा देवानामिव वासवः ॥ ३७ ॥
तस्मिन् विनिहते पार्थे पाण्डवाः सृञ्जयैः सह ।
भविष्यन्ति गतात्मानः सुरा इव निरग्नयः ॥ ३८ ॥

'क्योंकि देवताओंमें इन्द्रके समान उन पाण्डवोंमें अर्जुन ही सबसे अधिक यशस्वी हैं। अर्जुनके मारे जानेपर सृंजयोंसहित पाण्डव सुखस्वरूप अग्निसे हीन देवताओंके समान मृतप्राय हो जायँगे' ॥ ३७-३८ ॥

तथेति च प्रतिज्ञातं कर्णेन शिनिपुङ्गव ।
हृदि नित्यं च कर्णस्य वधो गाण्डीवधन्वनः ॥ ३९ ॥

शिनिप्रवर ! कर्णने वैसा ही करनेकी उनके सामने प्रतिज्ञा भी की थी। कर्णके हृदयमें नित्य निरन्तर गाण्डीवधारी अर्जुनके वधका संकल्प उठता रहता था ॥ ३९ ॥

अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधां वर ।
ततो नावासृजच्छक्तिं पाण्डवे श्वेतवाहने ॥ ४० ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ सात्यके ! परंतु मैं ही राधापुत्र कर्णको मोहित किये रहता था; इसीलिये श्वेतवाहन अर्जुनपर उसने वह शक्ति नहीं छोड़ी ॥ ४० ॥

फाल्गुनस्य हि सा मृत्युरिति चिन्तयतोऽनिशम् ।
न निद्रा न च मे हर्षो मनसोऽस्ति युधां वर ॥ ४१ ॥

वीरवर ! वह शक्ति अर्जुनके लिये मृत्युस्वरूप है, इस चिन्तामें निरन्तर डूबे रहनेके कारण न तो मुझे नींद आती थी और न मेरे मनमें कभी हर्षका उदय होता था ॥ ४१ ॥

घटोत्कचे व्यंसितां तु दृष्ट्वा तां शिनिपुङ्गव ।
मृत्योरास्यान्तरान्मुक्तं पश्याम्यद्य धनंजयम् ॥ ४२ ॥

शिनिवंशशिरोमणे ! वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी गयी, यह देखकर आज मैं यह समझता हूँ कि अर्जुन मौतके मुखसे निकल आये हैं ॥ ४२ ॥

न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा ।
न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे ॥ ४३ ॥

मुझे युद्धमें अर्जुनकी रक्षा जितनी आवश्यक प्रतीत होती है, उतनी पिता, माता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी रक्षा भी नहीं प्रतीत होती ॥ ४३ ॥

त्रैलोक्यराज्याद् यत् किंचिद् भवेदन्यत् सुदुर्लभम् ।
नेच्छेयं सात्वताहं तद् विना पार्थं धनंजयम् ॥ ४४ ॥

सात्यके ! तीनों लोकोंके राज्यसे भी बढ़कर यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वस्तु हो तो उसे भी मैं कुन्तीनन्दन अर्जुनके बिना नहीं पाना चाहता ॥ ४४ ॥

अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत् ।
मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनंजयम् ॥ ४५ ॥

युयुधान ! इसीलिये जैसे कोई मरकर लौट आया हो उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनको देखकर आज मुझे बड़ा भारी हर्ष हुआ था ॥ ४५ ॥

अतश्च प्रहितो युद्धे मया कर्णाय राक्षसः ।
न ह्यन्यः समरे रात्रौ शक्तः कर्णं प्रबाधितुम् ॥ ४६ ॥

इसी उद्देश्यसे मैंने युद्धमें कर्णका सामना करनेके लिये उस राक्षसको भेजा था। उसके सिवा दूसरा कोई रात्रिके समय समराङ्गणमें कर्णको पीड़ित नहीं कर सकता था ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

इति सात्यकये प्राह तदा देवकिनन्दनः ।
धनंजयहिते युक्तस्तत्प्रिये सततं रतः ॥ ४७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार अर्जुनके हितमें संलग्न और उनके प्रिय साधनमें निरन्तर तत्पर रहनेवाले भगवान् देवकीनन्दनने उस समय सात्यकिसे यह बात कही थी ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे कृष्णवाक्ये द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका पश्चात्ताप, संजयका उत्तर एवं राजा युधिष्ठिरका शोक और भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि व्यासद्वारा उसका निवारण

धृतराष्ट्र उवाच

कर्णदुर्योधनादीनां शकुनेः सौबलस्य च ।
अपनीतं महत् तात तव चैव विशेषतः ॥ १ ॥
यदि जानीथ तां शक्तिमेकघ्नीं सततं रणे ।
अनिवार्यामसह्यां च देवैरपि सवासवैः ॥ २ ॥
सा किमर्थं तु कर्णेन प्रवृत्ते समरे पुरा ।
न देवकीसुते मुक्ता फाल्गुने वापि संजय ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात संजय ! कर्ण, दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनिका तथा विशेषतः तुम्हारा इस विषयमें महान् अन्याय है । यदि तुम लोग जानते थे कि यह शक्ति रणभूमिमें सदा किसी एक ही वीरको मार सकती है तथा इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी न तो इसे रोक सकते हैं और न इसका आघात ही सह सकते हैं, तब तुम्हारे सुझानेसे युद्ध आरम्भ होनेपर कर्णने पहले ही देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा अर्जुनपर वह शक्ति क्यों नहीं छोड़ी ? ॥ १–३ ॥

संजय उवाच

संग्रामाद् विनिवृत्तानां सर्वेषां नो विशाम्पते ।
रात्रौ कुरुकुलश्रेष्ठ मन्त्रोऽयं समजायत ॥ ४ ॥
प्रभातमात्रे श्वोभूते केशवायार्जुनाय वा ।
शक्तिरेषा हि मोक्तव्या कर्ण कर्णेति नित्यशः ॥ ५ ॥

संजयने कहा—प्रजानाथ ! कुरुकुलश्रेष्ठ ! प्रतिदिन संग्रामसे लौटनेपर रात्रिमें हमलोगोंकी यही सलाह हुआ करती थी कि 'कर्ण ! तुम कल सबेरा होते ही श्रीकृष्ण अथवा अर्जुनपर यह शक्ति चला देना' ॥ ४-५ ॥

ततः प्रभातसमये राजन् कर्णस्य दैवतैः ।
अन्येषां चैव योधानां सा बुद्धिर्नाश्यते पुनः ॥ ६ ॥

परंतु राजन् ! प्रातःकाल आनेपर देवतालोग कर्ण तथा अन्य योद्धाओंके उस विचारको पुनः नष्ट कर देते थे ॥६॥

दैवमेव परं मन्ये यत् कर्णो हस्तसंस्थया ।
न जघान रणे पार्थं कृष्णं वा देवकीसुतम् ॥ ७ ॥

मैं तो दैव (प्रारब्ध) को ही सबसे बड़ा मानता हूँ, जिससे कर्णने हाथमें आयी हुई शक्तिके द्वारा रणभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुन अथवा देवकीनन्दन श्रीकृष्णका वध नहीं किया ॥ ७ ॥

तस्य हस्तस्थिता शक्तिः कालरात्रिरिवोद्यता ।
दैवोपहतबुद्धित्वान्न तां कर्णो विमुक्तवान् ॥ ८ ॥
कृष्णे वा देवकीपुत्रे मोहितो देवमायया ।
पार्थे वा शक्रकल्पे वै वधार्थं वासवीं प्रभो ॥ ९ ॥

कर्णके हाथमें स्थित हुई वह शक्ति कालरात्रिके समान शत्रुवधके लिये उद्यत थी; परंतु दैवके द्वारा बुद्धि मारी जानेके कारण देवमायासे मोहित हुए कर्णने इन्द्रकी दी हुई उस शक्तिको देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनपर उनके वधके लिये नहीं छोड़ा ॥ ८-९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दैवेनोपहता यूयं स्वबुद्ध्या केशवस्य च ।
गता हि वासवी हत्वा तृणभूतं घटोत्कचम् ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! निश्चय ही तुमलोग दैवके द्वारा मारे गये थे । श्रीकृष्णकी अपनी बुद्धिसे वह इन्द्रकी शक्ति तिनकेके समान घटोत्कचका वध करके चली गयी ॥१०॥

कर्णश्च मम पुत्राश्च सर्वे चान्ये च पार्थिवाः ।
तेन वै दुष्प्रणीतेन गता वैवस्वतक्षयम् ॥ ११ ॥

अब तो मैं समझता हूँ कि उस दुर्नीतिके कारण कर्ण, मेरे सभी पुत्र तथा अन्य भूपाल यमलोकमें जा पहुँचे ॥ ११ ॥

भूय एव तु मे शंस यथा युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च हैडिम्बे निहते तदा ॥ १२ ॥

अब घटोत्कचके मारे जानेपर कौरवों तथा पाण्डवोंमें पुनः जिस प्रकार युद्ध आरम्भ हुआ, उसीका मुझसे वर्णन करो ॥ १२ ॥

ये च तेऽभ्यद्रवन् द्रोणं व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
सृंजयाः सह पञ्चालैस्तेऽप्यकुर्वन् कथं रणम् ॥ १३ ॥

प्रहार करनेमें कुशल जिन सृंजयों और पाञ्चालोंने अपनी सेनाका व्यूह बनाकर द्रोणाचार्यपर धावा किया था, उन्होंने किस प्रकार संग्राम किया ? ॥ १३ ॥

सौमदत्तेर्वधाद् द्रोणमायान्तं सैन्धवस्य च ।
अमर्षाज्जीवितं त्यक्त्वा गाहमानं वरूथिनीम् ॥ १४ ॥
जृम्भमाणमिव व्याघ्रं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
कथं प्रत्युद्ययुर्द्रोणमस्यन्तं पाण्डुसृञ्जयाः ॥ १५ ॥

भूरिश्रवा तथा जयद्रथके वधसे कुपित हो जब द्रोणाचार्य आये और जीवनका मोह छोड़कर पाण्डव-सेनामें उसका मन्थन करते हुए प्रवेश करने लगे, उस समय जँभाई लेते हुए व्याघ्र तथा मुँह बाये हुए यमराजके समान बाणवर्षा करते हुए द्रोणाचार्यके सम्मुख पाण्डव और सृंजय योद्धा कैसे आ सके ? ॥ १४-१५ ॥

आचार्यं ये च तेऽरक्षन् दुर्योधनपुरोगमाः ।
द्रौणिकर्णकृपास्तात ते वाकुर्वन् किमाहवे ॥ १६ ॥

तात ! अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि जो महारथी रणभूमिमें आचार्य द्रोणकी रक्षा करते थे, उन्होंने वहाँ क्या किया ? ॥ १६ ॥

भारद्वाजं जिघांसन्तौ सव्यसाचिवृकोदरौ ।
समार्च्छन् मामका युद्धे कथं संजय शंस मे ॥ १७ ॥

संजय ! द्रोणाचार्यको मार डालनेकी इच्छावाले अर्जुन और भीमसेनपर युद्धस्थलमें मेरे सैनिकोंने किस प्रकार आक्रमण किया ? यह मुझे बताओ ॥ १७ ॥

सिन्धुराजवधेनेमे घटोत्कचवधेन ते ।
अमर्षिताः सुसंक्रुद्धा रणं चक्रुः कथं निशि ॥ १८ ॥

सिंधुराज जयद्रथके वधसे अमर्षमें भरे हुए कौरवों तथा घटोत्कचके मारे जानेसे अत्यन्त कुपित हुए पाण्डवोंने रात्रिमें किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १८ ॥

संजय उवाच

हते घटोत्कचे राजन् कर्णेन निशि राक्षसे ।
प्रणदत्सु च हृष्टेषु तावकेषु युयुत्सुषु ॥ १९ ॥
आपतत्सु च वेगेन वध्यमाने बलेऽपि च ।
विगाढायां रजन्यां च राजा दैन्यं परं गतः ॥ २० ॥

संजयने कहा—राजन् ! जब रातमें कर्णके द्वारा राक्षस घटोत्कच मारा गया, आपके सैनिक हर्षमें भरकर युद्धकी इच्छासे गर्जना करते हुए वेगपूर्वक आक्रमण करने लगे तथा पाण्डवसेना मारी जाने लगी, उस समय प्रगाढ़ रजनीमें राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दीन एवं दुखी हो गये ॥ १९-२० ॥

अब्रवीच्च महाबाहुर्भीमसेनमिदं वचः ।
आवारय महाबाहो धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ॥ २१ ॥
हैडिम्बेश्चैव घातेन मोहो मामाविशन्महान् ।

उन महाबाहु नरेशने भीमसेनसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! तुम्हीं दुर्योधनकी सेनाको रोको । घटोत्कचके मारे जानेसे मेरे मनमें महान् मोह छा गया है' ॥ २१½ ॥

एवं भीमं समादिश्य स्वरथे समुपाविशत् ॥ २२ ॥
अश्रुपूर्णमुखो राजा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
कश्मलं प्राविशद् घोरं दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार भीमको आदेश देकर राजा युधिष्ठिर बारंबार सिसकते हुए अपने रथपर जा बैठे । उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी । वे कर्णका पराक्रम देखकर घोर चिन्तामें डूब गये थे ॥ २२-२३ ॥

तं तथा व्यथितं दृष्ट्वा कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
मा व्यथां कुरु कौन्तेय नैतत् त्वय्युपपद्यते ॥ २४ ॥
वैक्लव्यं भरतश्रेष्ठ यथा प्राकृतपूरुषे ।

उन्हें इस प्रकार व्यथित देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'कुन्तीनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! आप दुःख न मानिये । आपके लिये मूढ़ मनुष्योंकी-सी यह व्याकुलता शोभा नहीं देती ॥ २४½ ॥

उत्तिष्ठ राजन् युद्ध्यस्व वह गुर्वीं धुरं विभो ॥ २५ ॥
त्वयि वैक्लव्यमापन्ने संशयो विजये भवेत् ।

'राजन् ! उठिये और युद्ध कीजिये । इस महासंग्रामका गुरुतर भार सँभालिये । प्रभो ! आपके घबरा जानेपर विजय मिलनेमें संदेह है' ॥ २५½ ॥

श्रुत्वा कृष्णस्य वचनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥
विमृज्य नेत्रे पाणिभ्यां कृष्णं वचनमब्रवीत् ।

श्रीकृष्णका कथन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने दोनों हाथोंसे अपनी आँखें पोंछकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २६½ ॥

विदिता मे महाबाहो धर्माणां परमा गतिः ॥ २७ ॥
ब्रह्महत्या फलं तस्य यैः कृतं नावबुध्यते ।

'महाबाहो ! मुझे धर्मकी श्रेष्ठ गति विदित है । जो मनुष्य किसीके किये हुए उपकारको याद नहीं रखता, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ॥ २७½ ॥

अस्माकं हि वनस्थानां हैडिम्बेन महात्मना ॥ २८ ॥
बालेनापि सता तेन कृतं साह्यं जनार्दन ।

'जनार्दन ! जब हमलोग वनमें थे, उन दिनों महामनस्वी हिडिम्बाकुमारने बालक होनेपर भी हमारी बड़ी भारी सहायता की थी ॥ २८½ ॥

अस्त्रहेतोर्गतं ज्ञात्वा पाण्डवं श्वेतवाहनम् ॥ २९ ॥
असौ कृष्ण महेष्वासः काम्यके मामुपस्थितः ।
उषितश्च सहास्माभिर्यावन्नासीद् धनंजयः ॥ ३० ॥

'श्रीकृष्ण ! श्वेतवाहन अर्जुनको अस्त्र-प्राप्तिके लिये अन्यत्र गया हुआ जानकर महाधनुर्धर घटोत्कच काम्यकवनमें मेरे पास आया और जबतक अर्जुन लौट नहीं आये तबतक हमारे साथ ही रहा ॥ २९-३० ॥

गन्धमादनयात्रायां दुर्गेभ्यश्च स तारिताः ।

पाञ्चाली च परिश्रान्ता पृष्ठेनोढा महात्मना ॥ ३१ ॥

'गन्धमादनकी यात्रामें उसने बड़े-बड़े संकटोंसे हमें बचाया है, पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी जब थक गयीं तो उस महाकाय वीरने उन्हें अपनी पीठपर बिठाकर ढोया ॥ ३१ ॥

आरम्भाच्चैव युद्धानां यदेष कृतवान् प्रभो ।
मदर्थे दुष्करं कर्म कृतं तेन महाहवे ॥ ३२ ॥

'प्रभो ! युद्धके आरम्भसे ही इसने मेरा बहुत सहयोग किया है, इसने महायुद्धमें मेरे लिये दुष्कर कर्म कर दिखाया है ॥ ३२ ॥

स्वभावाद् या च मे प्रीतिः सहदेवे जनार्दन ।
सैव मे परमा प्रीती राक्षसेन्द्रे घटोत्कचे ॥ ३३ ॥

'जनार्दन ! सहदेवपर जो मेरा स्वाभाविक प्रेम है, वही उत्तम प्रेम राक्षसराज घटोत्कचपर भी रहा है ॥ ३३ ॥

भक्तश्च मे महाबाहुः प्रियोऽस्याहं प्रियश्च मे ।
तेन विन्दामि वार्ष्णेय कश्मलं शोकतापितः ॥ ३४ ॥

'वार्ष्णेय ! वह महाबाहु मेरा भक्त था । मैं उसे प्रिय था और वह मुझे; इसीलिये उसके शोकसे संतप्त होकर मैं मोहको प्राप्त हो रहा हूँ ॥ ३४ ॥

पश्य सैन्यानि वार्ष्णेय द्राव्यमाणानि कौरवैः ।
द्रोणकर्णौ तु संयत्तौ पश्य युद्धे महारथौ ॥ ३५ ॥

'वृष्णिनन्दन ! देखिये, कौरव किस प्रकार मेरी सेनाओंको खदेड़ रहे हैं तथा महारथी द्रोण और कर्ण किस प्रकार युद्धमें प्रयत्नपूर्वक लगे हुए हैं ! ॥ ३५ ॥

निशीथे पाण्डवं सैन्यमेतत् सैन्यप्रमर्दितम् ।
गजाभ्यामिव मत्ताभ्यां यथा नलवनं महत् ॥ ३६ ॥

'जैसे दो मतवाले हाथी नरकुलके विशाल वनको रौंद रहे हों, उसी प्रकार इस आधीरातके समय उनकी सेनाद्वारा यह पाण्डवसेना कुचल दी गयी है ॥ ३६ ॥

अनादृत्य बलं बाह्वोर्भीमसेनस्य माधव ।
चित्रास्त्रतां च पार्थस्य विक्रमन्ति स्म कौरवाः ॥ ३७ ॥

'माधव ! भीमसेनके बाहुबल और अर्जुनके विचित्र अस्त्र-कौशलका अनादर करके कौरव योद्धा अपना पराक्रम प्रकट कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

एष द्रोणश्च कर्णश्च राजा चैव सुयोधनः ।
निहत्य राक्षसं युद्धे हृष्टाः नर्दन्ति संयुगे ॥ ३८ ॥

'ये द्रोण, कर्ण तथा राजा दुर्योधन युद्धमें राक्षस घटोत्कचका वध करके बड़े हर्षके साथ सिंहनाद कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

कथं वास्मासु जीवत्सु त्वयि चैव जनार्दन ।
हैडिम्बिः प्राप्तवान् मृत्युं सूतपुत्रेण सङ्गतः ॥ ३९ ॥

'जनार्दन ! हमारे और आपके जीते-जी हिडिम्बाकुमार घटोत्कच सूतपुत्रके साथ संग्राम करके मृत्युको कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ ३९ ॥

कदर्थीकृत्य नः सर्वान् पश्यतः सव्यसाचिनः ।
निहतो राक्षसः कृष्ण भैमसेनिर्महाबलः ॥ ४० ॥

'श्रीकृष्ण ! हम सबकी अवहेलना करके सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते भीमसेनकुमार महाबली राक्षस घटोत्कच मारा गया है ॥ ४० ॥

यदाभिमन्युर्निहतो धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ।
नासीत् तत्र रणे कृष्ण सव्यसाची महारथः ॥ ४१ ॥

'श्रीकृष्ण ! धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब युद्धमें अभिमन्युको मारा था, उस समय महारथी अर्जुन वहाँ उपस्थित नहीं थे ॥ ४१ ॥

निरुद्धाश्च वयं सर्वे सैन्धवेन दुरात्मना ।
निमित्तमभवद् द्रोणः सपुत्रस्तत्र कर्मणि ॥ ४२ ॥

'दुरात्मा जयद्रथने हम सब लोगोंको भी व्यूहके बाहर ही रोक लिया था । वहाँ अभिमन्युके वधमें पुत्रसहित द्रोणाचार्य ही कारण हुए थे ॥ ४२ ॥

उपदिष्टो वधोपायः कर्णस्य गुरुणा स्वयम् ।
व्यायच्छतश्च खड्गेन द्विधा खड्गं चकार ह ॥ ४३ ॥

'गुरु द्रोणाचार्यने स्वयं ही कर्णको अभिमन्युके वधका उपाय बताया था और जब वह तलवार लेकर परिश्रमपूर्वक युद्ध कर रहा था, उस समय उन्होंने ही उसकी तलवारके दो टुकड़े कर दिये थे ॥ ४३ ॥

व्यसने वर्तमानस्य कृतवर्मा नृशंसवत् ।
अश्वाञ्जघान सहसा तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥ ४४ ॥

'इस प्रकार जब वह संकटमें पड़ गया, तब कृतवर्माने क्रूर मनुष्यकी भाँति सहसा उसके घोड़ों तथा दोनों पार्श्व-रक्षकोंको मार डाला ॥ ४४ ॥

तथेतरे महेष्वासाः सौभद्रं युध्यपातयन् ।
अल्पे च कारणे कृष्ण हतो गाण्डीवधन्वना ॥ ४५ ॥
सैन्धवो यादवश्रेष्ठ तच्च नातिप्रियं मम ।

'इसी प्रकार दूसरे महाधनुर्धरोंने सुभद्राकुमारको युद्धमें मार गिराया था । यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! अभिमन्युके वधमें जयद्रथका बहुत कम अपराध था, तो भी उस छोटेसे कारणको लेकर ही गाण्डीवधारी अर्जुनने जयद्रथको मार डाला है । यह कार्य मुझे अधिक प्रिय नहीं लगा है ॥ ४५½ ॥

यदि शत्रुवधो न्याय्यो भवेत् कर्तुं हि पाण्डवैः ॥ ४६ ॥
कर्णद्रोणौ रणे पूर्वं हन्तव्याविति मे मतिः ।

'यदि पाण्डवोंके लिये अपने शत्रुका वध करना न्याय-संगत है, तो युद्धभूमिमें सबसे पहले कर्ण और द्रोणाचार्यको ही मार डालना चाहिये; मेरा तो यही मत है ॥ ४६½ ॥

एतौ हि मूलं दुःखानामस्माकं पुरुषर्षभ ॥ ४७ ॥
एतौ रणे समासाद्य समाश्वस्तः सुयोधनः ।

'पुरुषोत्तम ! ये कर्ण और द्रोण ही हमारे दुःखोंके मूल कारण हैं । रणभूमिमें इन्हींका सहारा लेकर दुर्योधनका ढाढ़स बँधा हुआ है ॥ ४७½ ॥

यत्र वध्यो भवेद् द्रोणः सूतपुत्रश्च सानुगः ॥ ४८ ॥
तत्रावधीन्महाबाहुः सैन्धवं दूरवासिनम् ।

'जहाँ द्रोणाचार्यका वध होना चाहिये था तथा जहाँ सेवकोंसहित सूतपुत्र कर्णको मार गिराना चाहिये था, वहाँ महाबाहु अर्जुनने दूर रहनेवाले सिंधुराज जयद्रथका वध किया है ॥ ४८½ ॥

अवश्यं तु मया कार्यः सूतपुत्रस्य निग्रहः ॥ ४९ ॥
ततो यास्याम्यहं वीर स्वयं कर्णजिघांसया ।
भीमसेनो महाबाहुर्द्रोणानीकेन सङ्गतः ॥ ५० ॥

'मुझे तो अवश्य ही सूतपुत्र कर्णका दमन करना चाहिये । अतः वीर ! मैं स्वयं ही कर्णका वध करनेकी इच्छासे युद्धभूमिमें जाऊँगा । महाबाहु भीमसेन द्रोणाचार्यकी सेनाके साथ युद्ध कर रहे हैं' ॥ ४९-५० ॥

एवमुक्त्वा ययौ तूर्णं त्वरमाणो युधिष्ठिरः ।
स विस्फार्य महच्चापं शङ्खं प्रध्माप्य भैरवम् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर भयंकर शङ्ख बजाकर अपने विशाल धनुषकी टंकार करते हुए बड़ी उतावलीके साथ तुरत वहाँसे चल दिये ॥ ५१ ॥

ततो रथसहस्रेण गजानां च शतैस्त्रिभिः ।
वाजिभिः पञ्चसाहस्रैः पञ्चालैः सप्रभद्रकैः ॥ ५२ ॥
वृतः शिखण्डी त्वरितो राजानं पृष्ठतोऽन्वयात् ।

तदनन्तर शिखण्डी, एक सहस्र रथ, तीन सौ हाथी, पाँच हजार घोड़े तथा पाञ्चालों और प्रभद्रकोंकी सेना साथ ले उनसे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे गया ॥ ५२½ ॥

ततो भेरीः समाजघ्नुः शङ्खान् दध्मुश्च दंशिताः ॥ ५३ ॥
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव युधिष्ठिरपुरोगमाः ।

तब पाञ्चालों और पाण्डवोंने युधिष्ठिरको आगे करके कवच आदिसे सुसज्जित हो डंके पीटे और शङ्ख बजाये ॥ ५३½ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्वासुदेवो धनंजयम् ॥ ५४ ॥
एष प्रयाति त्वरितः क्रोधाविष्टो युधिष्ठिरः ।
जिघांसुः सूतपुत्रस्य तस्योपेक्षा न युज्यते ॥ ५५ ॥

उस समय महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा— 'ये राजा युधिष्ठिर क्रोधके आवेशसे युक्त हो सूतपुत्र कर्णका वध करनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े जा रहे हैं । इस समय इन्हें अकेले छोड़ देना उचित नहीं है' ॥ ५४-५५ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशः शीघ्रमश्वानचोदयत् ।
दूरं प्रयान्तं राजानमन्वगच्छज्जनार्दनः ॥ ५६ ॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने शीघ्र ही घोड़ोंको हाँका और दूर जाते हुए राजाका अनुसरण किया ॥ ५६ ॥

तं दृष्ट्वा सहसा यान्तं सूतपुत्रजिघांसया ।
शोकोपहतसंकल्पं दह्यमानमिवाग्निना ॥ ५७ ॥
अभिगम्याब्रवीद् व्यासो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

धर्मराज युधिष्ठिरका संकल्प (विचार-शक्ति) शोकसे नष्ट-सा हो गया था । वे क्रोधकी आगमें जलते हुए-से जान पड़ते थे । उन्हें सूतपुत्रके वधकी इच्छासे सहसा जाते देख महर्षि व्यास उनके समीप प्रकट हो गये और इस प्रकार बोले ॥ ५७½ ॥

व्यास उवाच

कर्णमासाद्य संग्रामे दिष्ट्या जीवति फाल्गुनः ॥ ५८ ॥
सव्यसाचिवधाकांक्षी शक्तिं रक्षितवान् हि सः ।

व्यासने कहा—राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि संग्राममें कर्णका सामना करके भी अर्जुन अभी जीवित हैं; क्योंकि उसने उन्हींके वधकी इच्छासे अपने पास इन्द्रकी दी हुई शक्ति रख छोड़ी थी ॥ ५८½ ॥

न चागाद् द्वैरथं जिष्णुर्दिष्ट्या तेन महारणे ॥ ५९ ॥
सृजेतां स्पर्धिनावेतौ दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ।
वध्यमानेषु चास्त्रेषु पीडितः सूतनन्दनः ॥ ६० ॥
वासवीं समरे शक्तिं ध्रुवं मुञ्चेद् युधिष्ठिर ।
ततो भवेत् ते व्यसनं घोरं भरतसत्तम ॥ ६१ ॥

उस महासमरमें कर्णके साथ द्वैरथयुद्ध करनेके लिये अर्जुन नहीं गये, यह बहुत अच्छा हुआ। ये दोनों वीर एक दूसरेसे स्पर्धा रखते हैं; अतः युधिष्ठिर! यदि ये सब प्रकारसे दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते तो फिर अपने अस्त्रोंके नष्ट होनेपर सूतनन्दन कर्ण पीड़ित हो समराङ्गणमें इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निश्चय ही अर्जुनपर चला देता। भरतश्रेष्ठ! उस दशामें तुमपर और भयंकर विपत्ति टूट पड़ती ॥५९-६१॥

दिष्ट्या रक्षो हतं युद्धे सूतपुत्रेण मानद।
वासवीं कारणं कृत्वा कालेनोपहतो ह्यसौ ॥ ६२ ॥

मानद! यह हर्षकी बात है कि युद्धमें सूतपुत्र कर्णने उस राक्षसको ही मारा है। वास्तवमें इन्द्रकी शक्तिको निमित्त बनाकर कालने ही उसका वध किया है ॥ ६२ ॥

तवैव कारणाद् रक्षो निहतं तात संयुगे।
मा क्रुधो भरतश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः ॥ ६३ ॥
प्राणिनामिह सर्वेषामेषा निष्ठा युधिष्ठिर।

तात! भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे हितके लिये ही वह राक्षस युद्धमें मारा गया है; ऐसा समझकर न तो तुम किसीपर क्रोध करो और न मनमें शोकको ही स्थान दो। युधिष्ठिर! इस जगत्‌के समस्त प्राणियोंकी अन्तमें यही गति होती है ॥६३½॥

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पार्थिवैश्च महात्मभिः ॥ ६४ ॥
कौरवान् समरे राजन् प्रतियुध्यस्व भारत।
पञ्चमे दिवसे तात पृथिवी ते भविष्यति ॥ ६५ ॥

भरतवंशी नरेश! तुम अपने समस्त भाइयों तथा महामना भूपालोंके साथ जाकर समरभूमिमें कौरवोंका सामना करो। तात! आजके पाँचवें दिन यह सारी पृथ्वी तुम्हारी हो जायगी ॥ ६४-६५ ॥

नित्यं च पुरुषव्याघ्र धर्ममेवानुचिन्तय।
आनृशंस्यं तपो दानं क्षमां सत्यं च पाण्डव ॥ ६६ ॥
सेवेथाः परमप्रीतो यतो धर्मस्ततो जयः।

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन! तुम सदा धर्मका ही चिन्तन करो तथा कोमलता (दयाभाव), तपस्या, दान, क्षमा और सत्य आदि सद्गुणोंका ही अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सेवन करो; क्योंकि जिस पक्षमें धर्म है, उसीकी विजय होती है ॥ ६६½ ॥

इत्युक्त्वा पाण्डवं व्यासस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ६७ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर महर्षि व्यास वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि घटोत्कचवधपर्वणि रात्रियुद्धे व्यासवाक्ये त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत घटोत्कचवधपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें व्यासवाक्यविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

(द्रोणवधपर्व)

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

निद्रासे व्याकुल हुए उभयपक्षके सैनिकोंका अर्जुनके कहनेसे सो जाना और चन्द्रोदयके बाद पुनः उठकर युद्धमें लग जाना

संजय उवाच

व्यासेनैवमथोक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
स्वयं कर्णवधाद् वीरो निवृत्तो भरतर्षभ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! व्यासजीके ऐसा कहनेपर वीर धर्मराज युधिष्ठिर स्वयं कर्णका वध करनेके विचारसे हट गये ॥ १ ॥

घटोत्कचे तु निहते सूतपुत्रेण तां निशाम्।
दुःखामर्षवशं प्राप्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

सूतपुत्रके द्वारा घटोत्कचके मारे जानेपर उस रातमें धर्मराज युधिष्ठिर दुःख और अमर्षके वशीभूत हो गये ॥२॥

दृष्ट्वा भीमेन महतीं वार्यमाणां चमूं तव।
धृष्टद्युम्नमुवाचेदं कुम्भयोनिं निवारय ॥ ३ ॥

भीमसेनके द्वारा आपकी विशाल सेनाका निवारण होता देख उन्होंने धृष्टद्युम्नसे इस प्रकार कहा—'वीर! तुम द्रोणाचार्यको आगे बढ़नेसे रोको ॥ ३ ॥

त्वं हि द्रोणविनाशाय समुत्पन्नो हुताशनात्।
सशरः कवची खड्गी धन्वी च परतापनः ॥ ४ ॥

'तुम तो शत्रुओंको संताप देनेवाले हो और द्रोणका विनाश करनेके लिये ही बाण, कवच, खड्ग और धनुषसहित अग्निकुण्डसे उत्पन्न हुए हो ॥ ४ ॥

अभिद्रव रणे हृष्टो मा च ते भीः कथंचन।
जनमेजयः शिखण्डी च दौर्मुखिश्च यशोधरः ॥ ५ ॥
अभिद्रवन्तु संहृष्टाः कुम्भयोनिं समन्ततः।

'अतः हर्षमें भरकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यपर धावा करो। तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं होना चाहिये। जनमेजय, शिखण्डी तथा दुर्मुखपुत्र यशोधर—ये हर्ष और उत्साहमें भरकर चारों ओरसे द्रोणाचार्यपर धावा करें ॥ ५½ ॥

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ॥ ६ ॥
द्रुपदश्च विराटश्च पुत्रभ्रातृसमन्वितौ।
सात्यकिः केकयाश्चैव पाण्डवश्च धनंजयः ॥ ७ ॥
अभिद्रवन्तु वेगेन कुम्भयोनिवधेप्सया।

'नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, प्रभद्रकगण, पुत्रों और भाइयोंसहित द्रुपद और विराट, सात्यकि, केकय तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन—ये द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक उनपर धावा बोल दें ॥ ६-७½ ॥

तथैव रथिनः सर्वे हस्त्यश्वं यच्च किञ्चन ॥ ८ ॥
पदाताश्च रणे द्रोणं पातयन्तु महारथम्।

'इसी प्रकार हमारे समस्त रथी, हाथी-घोड़ोंकी जो कुछ भी सेना अवशिष्ट है वह और पैदल सैनिक—ये सभी रणभूमिमें महारथी द्रोणाचार्यको मार गिरावें' ॥ ८½ ॥

तथाऽऽज्ञप्तास्तु ते सर्वे पाण्डवेन महात्मना ॥ ९ ॥
अभ्यद्रवन्त वेगेन कुम्भयोनिवधेप्सया।

पाण्डुनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके इस प्रकार आदेश देनेपर वे सब वीर द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक उनपर टूट पड़े॥

आगच्छतस्तान् सहसा सर्वोद्योगेन पाण्डवान्॥ १० ॥
प्रतिजग्राह समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।

उन समस्त पाण्डव सैनिकोंको पूरे उद्योगके साथ सहसा आक्रमण करते देख शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने समरभूमिमें आगे बढ़कर उनका सामना किया ॥ १०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सर्वोद्योगेन पाण्डवान् ॥ ११ ॥
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्ध इच्छन् द्रोणस्य जीवितम्।

उस समय द्रोणाचार्यके जीवनकी रक्षा चाहते हुए राजा दुर्योधनने अत्यन्त कुपित हो पूरे प्रयत्नके साथ पाण्डवोंपर धावा किया ॥ ११½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं श्रान्तवाहनसैनिकम् ॥ १२ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च गर्जतामितरेतरम्।

तदनन्तर एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जते हुए पाण्डव तथा कौरव योद्धाओंमें पुनः युद्ध आरम्भ हो गया। वहाँ जितने वाहन और सैनिक थे, वे सभी थक गये थे ॥१२½॥

निद्रान्धास्ते महाराज परिश्रान्ताश्च संयुगे ॥ १३ ॥
नाभ्यपद्यन्त समरे काञ्चिच्चेष्टां महारथाः।

महाराज! युद्धमें अत्यन्त थके हुए महारथी योद्धा निद्रासे अंधे हो रहे थे; अतः संग्राममें कोई चेष्टा नहीं कर पाते थे ॥ १३½ ॥

त्रियामा रजनी चैषा घोररूपा भयानका ॥ १४ ॥
सहस्रयामप्रतिमा बभूव प्राणहारिणी।

यह तीन पहरकी रात उनके लिये सहस्रों प्रहरोंकी रात्रिके समान घोर, भयानक एवं प्राणहारिणी प्रतीत होती थी ॥

वध्यतां च तथा तेषां क्षतानां च विशेषतः ॥ १५ ॥
अर्धरात्रिः समाजज्ञे निद्रान्धानां विशेषतः।

वहाँ बाणोंकी चोट सहते और विशेषतः क्षत-विक्षत होते हुए निद्रान्ध सैनिकोंकी आधी रात बीत गयी ॥ १५½ ॥

सर्वे ह्यासन् निरुत्साहाः क्षत्रिया दीनचेतसः ॥ १६ ॥
तव चैव परेषां च गतास्त्रा विगतेषवः।

उस समय आपकी और शत्रुओंकी सेनाके समस्त क्षत्रिय उत्साहहीन एवं दीनचित्त हो गये थे; उनके हाथोंसे अस्त्र और बाण गिर गये थे ॥ १६½ ॥

ते तदापारयन्तश्च ह्रीमन्तश्च विशेषतः ॥ १७ ॥
स्वधर्ममनुपश्यन्तो न जहुः स्वामनीकिनीम्।

वे उस समय अच्छी तरह युद्ध नहीं कर पा रहे थे, तो भी विशेषतः लज्जाशील होनेके कारण अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए अपनी सेना छोड़कर जा न सके ॥ १७½ ॥

अस्त्राण्यन्ये समुत्सृज्य निद्रान्धाः शेरते जनाः ॥ १८॥
रथेष्वन्ये गजेष्वन्ये हयेष्वन्ये च भारत।

भारत! दूसरे बहुत-से सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर नींदसे अन्धे होकर सो रहे थे। कुछ लोग रथोंपर, कुछ हाथियोंपर और कुछ लोग घोड़ोंपर ही सो गये थे ॥१८½॥

निद्रान्धा नो बुबुधिरे काञ्चिच्चेष्टां नराधिप ॥ १९ ॥
तानन्ये समरे योधाः प्रेषयन्तो यमक्षयम्।

नरेश्वर! नींदसे बेसुध होनेके कारण वे किसी भी चेष्टाको समझ नहीं पाते थे और उन्हें दूसरे योद्धा समराङ्गणमें यमलोक भेज देते थे ॥ १९½ ॥

स्वप्नायमानांस्त्वपरे परानतिविचेतसः ॥ २० ॥
आत्मानं समरे जघ्नुः स्वानेव च परानपि।
नानावाचो विमुञ्चन्तो निद्रान्धास्ते महारणे ॥ २१ ॥

दूसरे सैनिक शत्रुओंको स्वप्नमें पड़कर अत्यन्त बेसुध हुए देख उन्हें मार बैठते थे। कुछ लोग उस महासमरमें निद्रान्ध होकर नाना प्रकारकी बातें कहते हुए कभी अपने आपपर ही प्रहार कर बैठते थे, कभी अपने पक्षके ही लोगोंको मार डालते थे और कभी शत्रुओंका भी वध करते थे ॥

अस्माकं च महाराज परेभ्यो बहवो जनाः।
योद्धव्यमिति तिष्ठन्तो निद्रासंरक्तलोचनाः ॥ २२ ॥

महाराज! हमारे पक्षके भी बहुत-से सैनिक शत्रुओंके साथ युद्ध करना है, ऐसा समझकर खड़े थे, परंतु नींदसे उनकी आँखें लाल हो गयी थीं ॥ २२ ॥

संसर्पन्तो रणे केचिन्निद्रान्धास्ते तथा परान्।
जघ्नुः शूरा रणे शूरांस्तस्मिंस्तमसि दारुणे ॥ २३ ॥

कुछ शूरवीर निद्रान्ध होकर भी रणभूमिमें विचरते थे और उस दारुण अन्धकारमें शत्रुपक्षके शूरवीरोंका वध कर डालते थे ॥ २३ ॥

हन्यमानमथात्मानं परेभ्यो बहवो जनाः।
नाभ्यजानन्त समरे निद्रया मोहिता भृशम् ॥ २४ ॥

बहुत-से मनुष्य निद्रासे अत्यन्त मोहित हो जानेके कारण शत्रुओंकी ओरसे समरभूमिमें अपनेको जो मारनेकी चेष्टा होती थी, उसे समझ ही नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

तेषामेतादृशीं चेष्टां विज्ञाय पुरुषर्षभः।
उवाच वाक्यं बीभत्सुरुच्चैः संनादयन् दिशः ॥ २५ ॥

उनकी ऐसी अवस्था जानकर पुरुषप्रवर अर्जुनने सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए उच्च स्वरसे इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

श्रान्ता भवन्तो निद्रान्धाः सर्व एव सवाहनाः।
तमसा च वृते सैन्ये रजसा बहुलेन च ॥ २६ ॥
ते यूयं यदि मन्यध्वमुपारमत सैनिकाः।
निमीलयत चात्रैव रणभूमौ मुहूर्तकम् ॥ २७ ॥

'सैनिको ! तुम सब लोग अपने वाहनोंसहित थक गये हो और नींदसे अन्धे हो रहे हो। इधर यह सारी सेना घोर अन्धकार और बहुत-सी धूलसे ढक गयी है। अतः यदि तुम ठीक समझो तो युद्ध बंद कर दो और दो घड़ीतक इस रणभूमिमें ही सो लो ॥ २६-२७ ॥

ततो विनिद्रा विश्रान्ताश्चन्द्रमस्युदिते पुनः।
संसाधयिष्यथान्योन्यं संग्रामं कुरुपाण्डवाः ॥ २८ ॥

'तत्पश्चात् चन्द्रोदय होनेपर विश्राम करनेके अनन्तर निद्रारहित हो तुम समस्त कौरव-पाण्डव योद्धा परस्पर पूर्ववत् संग्राम आरम्भ कर देना' ॥ २८ ॥

तद् वचः सर्वधर्मज्ञा धार्मिकस्य विशाम्पते।
अरोचयन्त सैन्यानि तथा चान्योन्यमब्रुवन् ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! धर्मात्मा अर्जुनका यह वचन समस्त धर्मज्ञोंको ठीक लगा। सारी सेनाओंने उसे पसंद किया और सब लोग परस्पर यही बात कहने लगे ॥ २९ ॥

चुक्रुशुः कर्ण कर्णेति तथा दुर्योधनेति च।
उपारमत पाण्डूनां विरता हि वरूथिनी ॥ ३० ॥

कौरव सैनिक 'हे कर्ण ! हे कर्ण ! हे राजा दुर्योधन !' इस प्रकार पुकारते हुए उच्चस्वरसे बोले—'आपलोग युद्ध बंद कर दें; क्योंकि पाण्डवसेना युद्धसे विरत हो गयी है' ॥

तथा विक्रोशमानस्य फाल्गुनस्य ततस्ततः।
उपारमत पाण्डूनां सेना तव च भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! जब अर्जुनने सब ओर इधर-उधर उच्चस्वरसे पूर्वोक्त प्रस्ताव उपस्थित किया, तब पाण्डवोंकी तथा आपकी सेना भी युद्धसे निवृत्त हो गयी ॥ ३१ ॥

तामस्य वाचं देवाश्च ऋषयश्च महात्मनः।
सर्वसैन्यानि चाक्षुद्रां प्रहृष्टाः प्रत्यपूजयन् ॥ ३२ ॥

महात्मा अर्जुनके इस श्रेष्ठ वचनका सम्पूर्ण देवताओं, ऋषियों और समस्त सैनिकोंने बड़े हर्षके साथ स्वागत किया॥

तत् सम्पूज्य वचोऽक्रूरं सर्वसैन्यानि भारत।
मुहूर्तमस्वपन् राजञ्श्रान्तानि भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

भरतवंशी नरेश ! भरतकुलभूषण ! अर्जुनके उस क्रूरता-शून्य वचनका आदर करके थकी हुई सारी सेनाएँ दो घड़ी तक सोती रहीं ॥ ३३ ॥

सा तु सम्प्राप्य विश्रामं ध्वजिनी तव भारत।
सुखमाप्तवती वीरमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ॥ ३४ ॥

भारत ! आपकी सेना विश्रामका अवसर पाकर सुखका अनुभव करने लगी। उसने वीर अर्जुनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ३४ ॥

त्वयि वेदास्तथास्त्राणि त्वयि बुद्धिपराक्रमौ।
धर्मस्त्वयि महाबाहो दया भूतेषु चानघ ॥ ३५ ॥

'महाबाहु निष्पाप अर्जुन ! तुममें वेद तथा अस्त्रोंका ज्ञान है। तुममें बुद्धि और पराक्रम है तथा तुममें धर्म एवं सम्पूर्ण भूतोंके प्रति दया है ॥ ३५ ॥

यच्चाश्वस्तास्तवेच्छामः शर्म पार्थ तदस्तु ते।
मनसश्च प्रियानर्थान् वीर क्षिप्रमवाप्नुहि ॥ ३६ ॥

'कुन्तीनन्दन ! हमलोग तुम्हारी प्रेरणासे सुस्ताकर सुखी हुए हैं; इसलिये तुम्हारा कल्याण चाहते हैं। तुम्हें सुख प्राप्त हो। वीर ! तुम शीघ्र ही अपने मनको प्रिय लगनेवाले पदार्थ प्राप्त करो' ॥ ३६ ॥

इति ते तं नरव्याघ्रं प्रशंसन्तो महारथाः।
निद्रया समवाक्षिप्तास्तूष्णीमासन् विशाम्पते॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार आपके महारथी नरश्रेष्ठ अर्जुनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए निद्राके वशीभूत हो मौन हो गये॥

अश्वपृष्ठेषु चाप्यन्ये रथनीडेषु चापरे।
गजस्कन्धगताश्चान्ये शेरते चापरे क्षितौ ॥ ३८ ॥
सायुधाः सगदाश्चैव सखड्गाः सपरश्वधाः।
सप्रासकवचाश्चान्ये नराः सुप्ताः पृथक् पृथक्॥ ३९ ॥

कुछ लोग घोड़ोंकी पीठोंपर, दूसरे रथोंकी बैठकोंमें, कुछ अन्य योद्धा हाथियोंपर तथा दूसरे बहुत-से सैनिक पृथ्वीपर ही सो रहे। कुछ लोग सभी प्रकारके आयुध लिये हुए थे। किन्हींके हाथोंमें गदाएँ थीं। कुछ लोग तलवार और फरसे लिये हुए थे तथा दूसरे बहुत-से मनुष्य प्रास और कवचसे सुशोभित थे। वे सभी अलग-अलग सो रहे थे ॥ ३८-३९ ॥

गजास्ते पन्नगाभोगैर्हस्तैर्भूरेणुगुण्ठितैः।
निद्रान्धा वसुधां चक्रुर्घ्राणनिःश्वासशीतलाम्॥ ४० ॥

नींदसे अंधे हुए हाथी सर्पोंके समान धूलमें सनी हुई सूँड़ोंसे लंबी-लंबी साँसें छोड़कर इस वसुधाको शीतल करने लगे ॥ ४० ॥

सुप्ताः शुशुभिरे तत्र निःश्वसन्तो महीतले ।
विकीर्णा गिरयो यद्वन्निःश्वसद्भिर्महोरगैः ॥ ४१ ॥

धरतीपर सोकर निःश्वास खींचते हुए गजराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो पर्वत बिखरे पड़े हों और उनमें रहनेवाले बड़े-बड़े सर्प लंबी साँसें छोड़ रहे हों ॥ ४१ ॥

समां च विषमां चक्रुः खुराग्रैर्विकृतां महीम् ।
हयाः काञ्चनयोक्त्रास्ते केसरालम्बिभिर्युगैः ॥ ४२ ॥

सोनेकी बागडोरमें बँधे हुए घोड़े अपने गर्दनके बालोंपर रथके जूए लिये टापोंसे खोद-खोदकर समतल भूमिको भी विषम बना रहे थे ॥ ४२ ॥

सुषुपुस्तत्र राजेन्द्र युक्ता वाहेषु सर्वशः ।
एवं हयाश्च नागाश्च योधाश्च भरतर्षभ ।
युद्धाद् विरम्य सुषुपुः श्रमेण महतान्विता ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र ! वे रथोंमें जुते हुए ही चारों ओर सो गये । भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार घोड़े, हाथी और सैनिक भारी थकावटसे युक्त होनेके कारण युद्धसे विरत हो सो गये ॥ ४३ ॥

तत् तथा निद्रया भग्नमबोधं प्रास्वपद् भृशम् ।
कुशलैः शिल्पिभिर्न्यस्तं पटे चित्रमिवाद्भुतम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार निद्रासे बेसुध हुआ वह सैन्यसमूह गहरी नींदमें सो रहा था । वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो किन्हीं कुशल कलाकारोंने पटपर अद्भुत चित्र अङ्कित कर दिया हो ॥ ४४ ॥

ते क्षत्रियाः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं सायकविक्षताङ्गाः ।
कुम्भेषु लीनाः सुषुपुर्गजानां
कुचेषु लग्ना इव कामिनीनाम् ॥ ४५ ॥

वे कुण्डलधारी तरुण क्षत्रिय परस्पर सायकोंकी मारसे सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्षत-विक्षत हो हाथियोंके कुम्भस्थलोंसे सटकर ऐसे सो रहे थे, मानो कामिनियोंके कुचोंका आलिङ्गन करके सोये हों ॥ ४५ ॥

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् कामिनियोंके कपोलोंके समान श्वेतपीत वर्णवाले नयनानन्ददायी कुमुदनाथ चन्द्रमाने पूर्व दिशाको सुशोभित किया ॥ ४६ ॥

दशशताक्षककुब्दरिनिःसृतः
किरणकेसरभासुरपिञ्जरः ।
तिमिरवारणयूथविदारणः
समुदियादुदयाचलकेसरी ॥ ४७ ॥

उदयाचलके शिखरपर चन्द्रमारूपी सिंहका उदय हुआ, जो पूर्व दिशारूपी कन्दरासे निकला था । वह किरणरूपी केसरोंसे प्रकाशित एवं पिङ्गलवर्णका था और अन्धकाररूपी गजराजोंके यूथको विदीर्ण कर रहा था ॥ ४७ ॥

हरवृषोत्तमगात्रसमद्युतिः
स्मरशरासनपूर्णसमप्रभः ।
नववधूस्मितचारुमनोहरः
प्रविसृतः कुमुदाकरबान्धवः ॥ ४८ ॥

भगवान् शंकरके वृषभ नन्दिकेश्वरके उत्तम अङ्गोंके समान जिसकी श्वेत कान्ति है, जो कामदेवके श्वेत पुष्पमय धनुषके समान पूर्णतः उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित होता है और नववधूकी मन्द मुसकानके सदृश सुन्दर एवं मनोहर जान पड़ता है; वह कुमुदकुल-बान्धव चन्द्रमा क्रमशः ऊपर उठकर आकाशमें अपनी चाँदनी छिटकाने लगा ॥ ४८ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवान् पुरस्ताच्छशलक्षणः ।
अरुणं दर्शयामास ग्रसन् ज्योतिःप्रभाः प्रभुः॥ ४९ ॥

उस समय दो घड़ीके बाद शशचिह्नसे सुशोभित प्रभावशाली भगवान् चन्द्रमाने अपनी ज्योत्स्नासे नक्षत्रोंकी प्रभाको क्षीण करते हुए पहले अरुण कान्तिका दर्शन कराया ॥४९॥

अरुणस्य तु तस्यानु जातरूपसमप्रभम् ।
रश्मिजालं महच्चन्द्रो मन्दं मन्दमवासृजत् ॥ ५० ॥

अरुण कान्तिके पश्चात् चन्द्रदेवने धीरे-धीरे सुवर्णके समान प्रभावाले विशाल किरण-जालका प्रसार आरम्भ किया॥

उत्सारयन्तः प्रभया तमस्ते चन्द्ररश्मयः ।
पर्यगच्छञ्छनैः सर्वा दिशः खं च क्षितिं तथा ॥ ५१ ॥

फिर वे चन्द्रमाकी किरणें अपनी प्रभासे अन्धकारका निवारण करती हुई शनैः-शनैः सम्पूर्ण दिशाओं, आकाश और भूमण्डलमें फैलने लगीं ॥ ५१ ॥

ततो मुहूर्ताद् भुवनं ज्योतिर्भूतमिवाभवत् ।
अप्रख्यमप्रकाशं च जगामाशु तमस्तथा ॥ ५२ ॥

तदनन्तर एक ही मुहूर्तमें समस्त संसार ज्योतिर्मय-सा हो गया । अन्धकारका कहीं नाम भी नहीं रह गया । वह अदृश्यभावसे तत्काल कहीं चला गया ॥ ५२ ॥

प्रतिप्रकाशिते लोके दिवाभूते निशाकरे ।
विचेरुर्न विचेरुश्च राजन् नक्तञ्चरास्ततः ॥ ५३ ॥

चन्द्रदेवके पूर्णतः प्रकाशित होनेपर जगत्में दिनका-सा उजाला हो गया। राजन् ! उस समय रात्रिमें विचरनेवाले कुछ प्राणी विचरण करने लगे और कुछ जहाँ-के-तहाँ पड़े रहे ॥

बोध्यमानं तु तत् सैन्यं राजंश्चन्द्रस्य रश्मिभिः ।
बुबुधे शतपत्राणां वनं सूर्यांशुभिर्यथा ॥ ५४ ॥

नरेश्वर ! चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे सारी सेना उसी प्रकार जाग उठी, जैसे सूर्यरश्मियोंका स्पर्श पाकर कमलोंका

समूह खिल उठता है ॥ ५४ ॥

यथा चन्द्रोदयोद्धूतः क्षुभितः सागरोऽभवत्।
तथा चन्द्रोदयोद्धूतः स बभूव बलार्णवः ॥ ५५ ॥

जैसे पूर्णिमाके चन्द्रमाका उदय होनेपर उससे प्रभावित होनेवाले महासागरमें ज्वार उठने लगता है, उसी प्रकार उस समय चन्द्रोदय होनेसे उस सारे सैन्यसमुद्रमें खलबली मच गयी ॥ ५५ ॥

ततः प्रववृते युद्धं पुनरेव विशाम्पते।
लोके लोकविनाशाय परं लोकमभीप्सताम् ॥ ५६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर इस जगत्में महान् जनसंहारके लिये परलोककी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका वह युद्ध पुनः आरम्भ हो गया ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि रात्रियुद्धे सैन्यनिद्रायां चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें रात्रियुद्धके समय सेनाकी निद्राविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उपालम्भ और द्रोणाचार्यका व्यंगपूर्ण उत्तर

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणमभिगम्याब्रवीदिदम्।
अमर्षवशमापन्नो जनयन् हर्षतेजसी ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनने द्रोणाचार्यके पास जाकर उनमें हर्षोत्साह और उत्तेजना पैदा करते हुए इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

न मर्षणीयाः संग्रामे विश्रमन्तः श्रमान्विताः।
सपत्ना ग्लानमनसो लब्धलक्ष्या विशेषतः ॥ २ ॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! युद्धमें विशेषतः वे शत्रु, जो लक्ष्य बेधनेमें कभी चूकते न हों, यदि थककर विश्राम ले रहे हों और मनमें ग्लानि भरी होनेसे युद्धविषयक उत्साह खो बैठे हों, उनके प्रति कभी क्षमा नहीं दिखानी चाहिये ॥

यत् तु मर्षितमस्माभिर्भवतः प्रियकाम्यया।
त एते परिविश्रान्ताः पाण्डवा बलवत्तराः ॥ ३ ॥

इस समय जो हमने क्षमा की है—सोते समय शत्रुओंपर प्रहार नहीं किया है, वह केवल आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही हुआ है। इसका फल यह हुआ कि ये पाण्डव-सैनिक पूर्णतः विश्राम करके पुनः अत्यन्त प्रबल हो गये हैं ॥ ३ ॥

सर्वथा परिहीनाः स्म तेजसा च बलेन च।
भवता पाल्यमानास्ते विवर्धन्ते पुनः पुनः ॥ ४ ॥

हमलोग तेज और बलसे सर्वथा हीन हो गये हैं और वे पाण्डव आपसे सुरक्षित होनेके कारण बारंबार बढ़ते जा रहे हैं ॥ ४ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि ब्राह्मादीनि च यानि ह।
तानि सर्वाणि तिष्ठन्ति भवत्येव विशेषतः ॥ ५ ॥

ब्रह्मास्त्र आदि जितने भी दिव्यास्त्र हैं, वे सब-के-सब विशेषरूपसे आपहीमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५ ॥

न पाण्डवेया न वयं नान्ये लोके धनुर्धराः।
युध्यमानस्य ते तुल्याः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

युद्ध करते समय आपकी समानता न तो पाण्डव, न हमलोग और न संसारके दूसरे धनुर्धर ही कर सकते हैं, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ६ ॥

ससुरासुरगन्धर्वानिमाँल्लोकान् द्विजोत्तम।
सर्वास्त्रविद् भवान् हन्याद् दिव्यैरस्त्रैर्न संशयः॥ ७ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आप सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता हैं। अतः चाहें तो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित इन सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

स भवान् मर्षयत्येतांस्त्वत्तो भीतान् विशेषतः।
शिष्यत्वं वा पुरस्कृत्य मम वा मन्दभाग्यताम् ॥ ८ ॥

फिर भी आप इन पाण्डवोंको क्षमा करते जाते हैं। यद्यपि वे आपसे विशेष भयभीत रहते हैं, तो भी वे आपके शिष्य हैं, इस बातको सामने रखकर या मेरे दुर्भाग्यका विचार करके आप उनकी उपेक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुद्धर्षितो द्रोणः कोपितश्च सुतेन ते।
समन्युरब्रवीद् राजन् दुर्योधनमिदं वचः ॥ ९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब इस प्रकार आपके पुत्रने द्रोणाचार्यको उत्साहित करते हुए उनका क्रोध बढ़ाया, तब वे कुपित होकर दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

स्थविरः सन् परं शक्त्या घटे दुर्योधनाहवे।
अतः परं मया कार्यं क्षुद्रं विजयगृद्धिना ॥ १० ॥

'दुर्योधन! यद्यपि मैं बूढ़ा हो गया, तथापि युद्धस्थलमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर तुम्हारी विजयके लिये चेष्टा करता हूँ, परंतु जान पड़ता है, अब तुम्हारी जीतकी इच्छासे मुझे नीच कार्य भी करना पड़ेगा ॥ १० ॥

अनस्त्रविदयं सर्वो हन्तव्योऽस्त्रविदा जनः।
यद् भवान् मन्यते चापि शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ११ ॥
तद् वै कर्तास्मि कौरव्य वचनात् तव नान्यथा।

'ये सब लोग दिव्यास्त्रोंको नहीं जानते और मैं जानता हूँ, इसलिये मुझे उन्हीं अस्त्रोंद्वारा इन सबको मारना पड़ेगा। कुरुनन्दन! तुम शुभ या अशुभ जो कुछ भी कराना उचित समझो, वह तुम्हारे कहनेसे करूँगा; उसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा ॥ ११½ ॥

निहत्य सर्वपञ्चालान् युद्धे कृत्वा पराक्रमम् ॥ १२ ॥
विमोक्ष्ये कवचं राजन् सत्येनायुधमालभे।

'राजन्! मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने धनुषको छूते हुए कहता हूँ कि 'युद्धमें पराक्रम करके समस्त पाञ्चालोंका वध किये बिना कवच नहीं उतारूँगा' ॥ १२½ ॥

मन्यसे यच्च कौन्तेयमर्जुनं श्रान्तमाहवे ॥ १३ ॥
तस्य वीर्यं महाबाहो शृणु सत्येन कौरव।

'परंतु तुम जो कुन्तीकुमार अर्जुनको युद्धमें थका हुआ समझते हो, वह तुम्हारी भूल है। महाबाहु कुरुराज! मैं उनके पराक्रमका सचाईके साथ वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न यक्षा न च राक्षसाः ॥ १४ ॥
उत्सहन्ते रणे जेतुं कुपितं सव्यसाचिनम्।

'युद्धमें कुपित हुए सव्यसाची अर्जुनको न देवता, न गन्धर्व, न यक्ष और न राक्षस ही जीत सकते हैं ॥ १४½ ॥

खाण्डवे येन भगवान् प्रत्युद्यातः सुरेश्वरः ॥ १५ ॥
सायकैर्वारितश्चापि वर्षमाणो महात्मना।

'उस महामनस्वी वीरने खाण्डववनमें वर्षा करते हुए भगवान् देवराज इन्द्रका सामना किया और अपने बाणोंद्वारा उन्हें रोक दिया ॥ १५½ ॥

यक्षा नागास्तथा दैत्या ये चान्ये बलगर्विताः ॥ १६ ॥
निहताः पुरुषेन्द्रेण तच्चापि विदितं तव।

'पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने उस समय यक्ष, नाग, दैत्य तथा दूसरे भी जो बलका घमंड रखनेवाले वीर थे, उन सबको मार डाला था। यह बात तुम्हें मालूम ही है ॥ १६½ ॥

गन्धर्वा घोषयात्रायां चित्रसेनादयो जिताः ॥ १७ ॥
यूयं तैर्ह्रियमाणाश्च मोक्षिता दृढधन्वना।

'घोषयात्राके समय जब चित्रसेन आदि गन्धर्व तुम्हें हरकर लिये जा रहे थे, उस समय सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने ही उन सबको परास्त किया और तुम्हें बन्धनसे छुड़ाया ॥ १७½ ॥

निवातकवचाश्चापि देवानां शत्रवस्तथा ॥ १८ ॥
सुरैरवध्याः संग्रामे तेन वीरेण निर्जिताः।

'देवशत्रु निवातकवच नामक दानव, जिन्हें संग्राममें देवता भी नहीं मार सकते थे, उसी वीर अर्जुनसे पराजित हुए हैं ॥ १८½ ॥

दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ॥ १९ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रः स शक्यो मानुषैः कथम्।

'जिन पुरुषसिंह अर्जुनने हिरण्यपुरनिवासी सहस्रों दानवोंपर विजय पायी है, वे मनुष्योंद्वारा कैसे जीते जा सकते हैं? ॥ १९½ ॥

प्रत्यक्षं चैव ते सर्वं यथाबलमिदं तव ॥ २० ॥
क्षपितं पाण्डुपुत्रेण चेष्टतां नो विशाम्पते।

'प्रजानाथ! हमारे बहुत चेष्टा करनेपर भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने जिस प्रकार तुम्हारी इस सेनाका संहार कर डाला है, यह सब तो तुम्हारी आँखोंके सामने ही है' ॥ २०½ ॥

संजय उवाच

तं तदाभिप्रशंसन्तमर्जुनं कुपितस्तदा ॥ २१ ॥
द्रोणं तव सुतो राजन् पुनरेवेदमब्रवीत्।

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए द्रोणाचार्यसे उस समय आपके पुत्रने कुपित होकर पुनः इस प्रकार कहा—॥ २१½ ॥

अहं दुःशासनः कर्णः शकुनिर्मातुलश्च मे ॥ २२ ॥
हनिष्यामोऽर्जुनं संख्ये द्विधा कृत्वाद्य भारतीम्।
(तिष्ठ स त्वं महाबाहो नित्यं शिष्यः प्रियस्तव॥)

'आज मैं, दुःशासन, कर्ण और मेरे मामा शकुनि कौरव-सेनाको दो भागोंमें बाँटकर युद्धमें अर्जुनको मार डालेंगे। महाबाहो! आप चुपचाप खड़े रहिये, क्योंकि अर्जुन सदासे ही आपके प्रिय शिष्य हैं' ॥ २२½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भारद्वाजो हसन्निव ॥ २३ ॥
अन्ववर्तत राजानं स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोणाचार्यने हँसते हुए-से उसकी बातका अनुमोदन किया और 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा कहकर वे राजा दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥

को हि गाण्डीवधन्वानं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ २४ ॥
अक्षयं क्षपयेत् कश्चित् क्षत्रियः क्षत्रियर्षभम् ।

'नरेश्वर ! अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले क्षत्रिय-शिरोमणि गाण्डीवधारी अविनाशी अर्जुनको कौन क्षत्रिय मार सकता है ? ॥ २४½ ॥

तं न वित्तपतिर्नेन्द्रो न यमो न जलेश्वरः ॥ २५ ॥
नासुरोरगरक्षांसि क्षपयेयुः सहायुधम् ।

'हाथमें धनुष धारण किये हुए अर्जुनको न तो धनाध्यक्ष कुबेर, न इन्द्र, न यमराज, न जलके स्वामी वरुण और न असुर, नाग एवं राक्षस ही नष्ट कर सकते हैं ॥ २५½ ॥

मूढास्त्वेतानि भाषन्ते यानीमान्यात्थ भारत ॥ २६ ॥
युद्धे ह्यर्जुनमासाद्य स्वस्तिमान् को व्रजेद् गृहान् ।

'भारत ! तुम जो कुछ कह रहे हो, ऐसी बातें मूर्ख मनुष्य कहा करते हैं । भला, युद्धमें अर्जुनका सामना करके कौन कुशलपूर्वक घरको लौट सकता है ? ॥ २६½ ॥

त्वं तु सर्वाभिशङ्कित्वान्निष्ठुरः पापनिश्चयः ॥ २७ ॥
श्रेयसस्त्वद्धिते युक्तांस्तत्तद् वक्तुमिहेच्छसि ।

'तुम निष्ठुर और पापपूर्ण विचार रखनेवाले हो; अतः तुम्हारे मनमें सबपर संदेह बना रहता है, इसीलिये तुम्हारे हितमें ही तत्पर रहनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंको भी तुम ऐसी-ऐसी बातें सुनानेकी इच्छा रखते हो ॥ २७½ ॥

गच्छ त्वमपि कौन्तेयमात्मार्थे जहि मा चिरम् ॥ २८ ॥
त्वमप्याशंससे योद्धुं कुलजः क्षत्रियो ह्यसि ।
इमान् किं क्षत्रियान् सर्वान् घातयिष्यस्यनागसः ॥ २९ ॥

'तुम भी जाओ, अपने हितके लिये कुन्तीकुमार अर्जुनको शीघ्र ही मार डालो । तुम भी तो कुलीन क्षत्रिय हो । मैं आशा करता हूँ, तुममें भी युद्ध करनेकी शक्ति है ही, फिर इन सम्पूर्ण निरपराध क्षत्रियोंको क्यों व्यर्थ कटवाओगे ? ॥ २८-२९ ॥

त्वमस्य मूलं वैरस्य तस्मादासादयार्जुनम् ।
एष ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ३० ॥
दुर्द्यूतदेवी गान्धारे प्रयात्वर्जुनमाहवे ।

'तुम इस वैरकी जड़ हो, अतः स्वयं ही जाकर अर्जुनका सामना करो, गान्धारीनन्दन ! ये कपटद्यूतके खिलाड़ी तुम्हारे मामा शकुनि भी बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं । ये ही युद्धमें अर्जुनपर चढ़ाई करें ॥ ३०½ ॥

एषोऽक्षकुशलो जिह्मो द्यूतकृत् कितवः शठः ॥ ३१ ॥
देविता निकृतिप्रज्ञो युधि जेष्यति पाण्डवान् ।

'ये पासे फेंकनेमें बड़े कुशल हैं । कुटिलता, शठता और धूर्तता तो इनमें कूट-कूटकर भरी है । ये जूएके खिलाड़ी तो हैं ही, छल-विद्याके भी अच्छे जानकार हैं । युद्धमें पाण्डवोंको अवश्य जीत लेंगे ॥ ३१½ ॥

त्वया कथितमत्यर्थं कर्णेन सह हृष्टवत् ॥ ३२ ॥
असकृच्छून्यवन्मोहाद् धृतराष्ट्रस्य शृण्वतः ।
अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ३३ ॥
पाण्डुपुत्रान् हनिष्यामः सहिताः समरे त्रयः ।
इति ते कत्थमानस्य श्रुतं संसदि संसदि ॥ ३४ ॥

'दुर्योधन ! तुमने एकान्तस्थानके समान भरी सभामें धृतराष्ट्रके सुनते हुए कर्णके साथ अत्यन्त प्रसन्न-से होकर मोहवश बारंबार बहुत जोर देकर यह बात कही है कि 'तात ! मैं, कर्ण और भाई दुःशासन—ये तीन ही समरभूमिमें एक साथ होकर पाण्डवोंका वध कर डालेंगे ।' प्रत्येक सभामें ऐसी ही शेखी बघारते हुए तुम्हारी बात मैंने सुनी है ॥

अनुतिष्ठ प्रतिज्ञां तां सत्यवाग् भव तैः सह ।
एष ते पाण्डवः शत्रुरविशङ्कोऽग्रतः स्थितः ॥ ३५ ॥
क्षत्रधर्ममवेक्षस्व श्लाघ्यस्तव वधो जयात् ।

'अपनी उस प्रतिज्ञाको पूर्ण करो । उन सबके साथ सत्यवादी बनो । ये तुम्हारे शत्रु पाण्डुपुत्र अर्जुन निर्भय होकर सामने खड़े हैं । क्षत्रियधर्मकी ओर दृष्टिपात करो । युद्धमें विजयकी अपेक्षा अर्जुनके हाथसे तुम्हारा वध भी हो जाय तो वह तुम्हारे लिये प्रशंसाकी बात होगी ॥ ३५½ ॥

दत्तं भुक्तमधीतं च प्राप्तमैश्वर्यमीप्सितम् ॥ ३६ ॥
कृतकृत्योऽनृणश्चासि मा भैर्युध्यस्व पाण्डवम् ।

'तुमने बहुत-सा दान कर लिया, भोग भोग लिये, स्वाध्याय भी कर लिया और मनमाना ऐश्वर्य भी पा लिया । अब तुम कृतकृत्य और देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंके ऋणसे मुक्त हो गये; अतः डरो मत । पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करो' ॥ ३६½ ॥

इत्युक्त्वा समरे द्रोणो न्यवर्तत यतः परे ।
द्वैधीकृत्य ततः सेनां युद्धं समभवत् तदा ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर द्रोणाचार्य समरभूमिमें जिस ओर शत्रुओं-की सेना थी, उधर ही लौट पड़े । तत्पश्चात् सेनाके दो विभाग करके उसी क्षण युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि द्रोणदुर्योधनभाषणे पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें द्रोणाचार्य और दुर्योधनका सम्भाषणविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका द्रोणाचार्यपर आक्रमण, द्रुपदके पौत्रों तथा द्रुपद एवं विराट आदिका वध, धृष्टद्युम्नकी प्रतिज्ञा और दोनों दलोंमें घमासान युद्ध

संजय उवाच

त्रिभागमात्रशेषायां रात्र्यां युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च संहृष्टानां विशाम्पते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! उस समय जब रात्रिके पंद्रह मुहूर्तोंमेंसे तीन मुहूर्त ही शेष रह गये थे, हर्ष तथा उत्साहमें भरे हुए कौरवों तथा पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

अथ चन्द्रप्रभां मुष्णन्नादित्यस्य पुरःसरः ।
अरुणोऽभ्युदयांचक्रे ताम्रीकुर्वन्निवाम्बरम् ॥ २ ॥

तदनन्तर सूर्यके आगे चलनेवाले अरुणका उदय हुआ, जो चन्द्रमाकी प्रभाको छीनते हुए पूर्व दिशाके आकाशमें लालिमा-सी फैला रहे थे ॥ २ ॥

प्राच्यां दिशि सहस्रांशोररुणेनारुणीकृतम् ।
तपनीयं यथा चक्रं भ्राजते रविमण्डलम् ॥ ३ ॥

प्राचीमें अरुणके द्वारा अरुण किया हुआ सूर्यदेवका मण्डल सुवर्णमय चक्रके समान सुशोभित होने लगा ॥ ३ ॥

ततो रथाश्वांश्च मनुष्ययाना-
न्युत्सृज्य सर्वे कुरुपाण्डुयोधाः ।
दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः
संध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः ॥ ४ ॥

तब समस्त कौरव-पाण्डव सैनिक रथ, घोड़े तथा पालकी आदि सवारियोंको छोड़कर संध्या-वन्दनमें तत्पर हो सूर्यके सम्मुख हाथ जोड़कर वेदमन्त्रका जप करते हुए खड़े हो गये ॥ ४ ॥

ततो द्वैधीकृते सैन्ये द्रोणः सोमकपाण्डवान् ।
अभ्यद्रवत् सपाञ्चालान् दुर्योधनपुरोगमः ॥ ५ ॥

तदनन्तर सेनाके दो भागोंमें विभक्त हो जानेपर द्रोणाचार्यने दुर्योधनके आगे होकर सोमकों, पाण्डवों तथा पाञ्चालोंपर धावा किया ॥ ५ ॥

द्वैधीकृतान् कुरून् दृष्ट्वा माधवोऽर्जुनमब्रवीत् ।
सपत्नान् सव्यतः कृत्वा अपसव्यमिमं कुरु ॥ ६ ॥

कौरव-सेनाको दो भागोंमें विभक्त देख भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! तुम अन्य शत्रुओंको बायें करके इन द्रोणाचार्यको दायें करो (और इनके बीचसे होकर आगे बढ़ चलो)' ॥ ६ ॥

स माधवमनुज्ञाय कुरुष्वेति धनंजयः ।
द्रोणकर्णौ महेष्वासौ सव्यतः पर्यवर्तत ॥ ७ ॥

'अच्छा, ऐसा ही कीजिये' भगवान् श्रीकृष्णको यह अनुमति दे अर्जुन महाधनुर्धर द्रोणाचार्य और कर्णके बायेंसे होकर निकल गये ॥ ७ ॥

अभिप्रायं तु कृष्णस्य ज्ञात्वा परपुरंजयः ।
आजिशीर्षगतं पार्थं भीमसेनोऽभ्युवाच ह ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णके इस अभिप्रायको जानकर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले भीमसेनने युद्धके मुहानेपर पहुँचे हुए अर्जुनसे इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

भीमसेन उवाच

अर्जुनार्जुन बीभत्सो शृणुष्वैतद् वचो मम ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥

भीमसेन बोले—अर्जुन ! अर्जुन ! बीभत्सो ! मेरी यह बात सुनो । क्षत्राणी माता जिसके लिये बेटा पैदा करती है, उसे कर दिखानेका यह अवसर आ गया है ॥

अस्मिंश्चेदागते काले श्रेयो न प्रतिपत्स्यसे ।
असम्भावितरूपस्त्वं सुनृशंसं करिष्यसि ॥ १० ॥

यदि इस अवसरके आनेपर भी तुम अपने पक्षका कल्याण-साधन नहीं करोगे तो तुमसे जिस शौर्य और पराक्रमकी सम्भावना की जाती है, उसके विपरीत तुम्हें पराक्रम-शून्य समझा जायगा और उस दशामें मानो तुम हमलोगोंपर अत्यन्त क्रूरतापूर्ण बर्ताव करनेवाले सिद्ध होओगे ॥ १० ॥

सत्यश्रीधर्मयशसां वीर्येणानृण्यमाप्नुहि ।
भिन्ध्यनीकं युधां श्रेष्ठ अपसव्यमिमान् कुरु ॥ ११ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ वीर ! तुम अपने पराक्रमद्वारा सत्य, लक्ष्मी, धर्म और यशका ऋण उतार दो । इन शत्रुओंको दाहिने करो और स्वयं बायें रहकर शत्रुसेनाको चीर डालो ॥ ११ ॥

संजय उवाच

स सव्यसाची भीमेन चोदितः केशवेन च ।
कर्णद्रोणावतिक्रम्य समन्तात् पर्यवारयत् ॥ १२ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और भीमसेनसे इस प्रकार प्रेरित होकर सव्यसाची अर्जुनने कर्ण और द्रोणको लाँघकर शत्रुसेनापर चारों ओरसे घेरा डाल दिया ॥ १२ ॥

तमाजिशीर्षमायान्तं दहन्तं क्षत्रियर्षभान् ।
पराक्रान्तं पराक्रम्य ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ १३ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं वर्धमानमिवानलम् ।

अर्जुन क्षत्रियशिरोमणि वीरोंको दग्ध करते हुए युद्धके मुहानेपर आ रहे थे। उस समय वे क्षत्रियप्रवर योद्धा जलती आगके समान बढ़नेवाले पराक्रमी अर्जुनको पराक्रम करके भी आगे बढ़नेसे रोक न सके ॥ १३½ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १४ ॥
अभ्यवर्षञ्छरव्रातैः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।

तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि तीनों मिलकर कुन्तीपुत्र धनंजयपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥

तेषामस्त्राणि सर्वेषामुत्तमास्त्रविदां वरः ॥ १५ ॥
कदर्थीकृत्य राजेन्द्र शरवर्षैरवाकिरत् ।

राजेन्द्र ! तब उत्तम अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन सबके अस्त्रोंको नष्ट करके उन्हें बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ १५½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य लघुहस्तो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥
सर्वानविध्यन्निशितैर्दशभिर्दशभिः शरैः ।

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले जितेन्द्रिय अर्जुनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्रोंका निवारण करके उन सबको दस-दस तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ १६½ ॥

उद्धूता रजसो वृष्टिः शरवृष्टिस्तथैव च ॥ १७ ॥
तमश्च घोरं शब्दश्च तदा समभवन्महान् ।

उस समय धूलकी वर्षा ऊपर छा गयी। साथ ही बाणोंकी भी वृष्टि हो रही थी। इससे वहाँ घोर अन्धकार छा गया और बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ १७½ ॥

न द्यौर्न भूमिर्न दिशः प्राज्ञायन्त तथागते ॥ १८ ॥
सैन्येन रजसा मूढं सर्वमन्धमिवाभवत् ।

उस अवस्थामें न आकाशका, न पृथ्वीका और न दिशाओंका ही पता लगता था। सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित होकर वहाँ सब कुछ अन्धकारमय हो गया था ॥ १८½ ॥

नैव ते न वयं राजन् प्राज्ञासिष्म परस्परम् ॥ १९ ॥
उद्देशेन हि तेन स्म समयुध्यन्त पार्थिवाः ।

राजन् ! वे शत्रुसैनिक तथा हमलोग आपसमें कोई किसीको पहचान नहीं पाते थे। इसलिये नाम बतानेसे ही राजालोग एक दूसरेके साथ युद्ध करते थे ॥ १९½ ॥

विरथा रथिनो राजन् समासाद्य परस्परम् ॥ २० ॥
केशेषु समसज्जन्त कवचेषु भुजेषु च ।

महाराज ! रथीलोग रथहीन हो जानेपर परस्पर भिड़कर एक दूसरेके केश, कवच और बाँहें पकड़कर जूझने लगे ॥ २०½ ॥

हताश्वा हतसूताश्च निश्चेष्टा रथिनो हताः ॥ २१ ॥
जीवन्त इव तत्र स्म व्यदृश्यन्त भयार्दिताः ।

बहुत-से रथी घोड़े और सारथिके मारे जानेपर भयसे पीड़ित हो ऐसे निश्चेष्ट हो गये थे कि जीवित होते हुए भी वहाँ मरेके समान दिखायी देते थे ॥ २१½ ॥

हतान् गजान् समाश्लिष्य पर्वतानिव वाजिनः ॥ २२ ॥
गतसत्त्वा व्यदृश्यन्त तथैव सह सादिभिः ।

कितने ही घोड़े और घुड़सवार मरे हुए पर्वताकार हाथियोंसे सटकर प्राणशून्य दिखायी देते थे ॥ २२½ ॥

ततस्त्वभ्यवसृत्यैव संग्रामादुत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥
अतिष्ठदाहवे द्रोणो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।

उधर द्रोणाचार्य उस युद्धस्थलसे उत्तर दिशाकी ओर जाकर धूमरहित अग्निके समान प्रज्वलित होते हुए रणभूमिमें खड़े हो गये ॥ २३½ ॥

तमाजिशीर्षादेकान्तमपक्रान्तं निशम्य तु ॥ २४ ॥
समकम्पन्त सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! उन्हें युद्धके मुहानेसे हटकर एक किनारे आया देख उधर खड़ी हुई पाण्डवोंकी सेनाएँ थर-थर काँपने लगीं ॥ २४½ ॥

भ्राजमानं श्रिया युक्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ २५ ॥
द्रोणं दृष्ट्वा परे त्रेसुश्चेरुर्मम्लुश्च भारत ।

भारत ! तेजसे प्रज्वलित हुए-से श्रीसम्पन्न द्रोणाचार्यको वहाँ प्रकाशित होते देख शत्रु-सैनिक थर्रा उठे। कितने ही वहाँसे भाग चले और बहुतेरे मन उदास किये खड़े रहे॥

आह्वयन्तं परानीकं प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ २६ ॥
नैनमाशंसिरे जेतुं दानवा वासवं यथा ।

जैसे दानव इन्द्रको नहीं जीत सकते, वैसे ही शत्रुसैनिक शत्रुसेनाको ललकारते हुए मदस्रावी गजराजके समान द्रोणाचार्यको जीतनेका साहस नहीं कर सके ॥२६½॥

केचिदासन् निरुत्साहाः केचित् क्रुद्धा मनस्विनः॥२७॥
विस्मिताश्चाभवन् केचित् केचिदासन्नमर्षिताः ।

कुछ योद्धा लड़नेका उत्साह खो बैठे, कुछ मनस्वी वीर रोषमें भर गये, कितने ही योद्धा उनका पराक्रम देख आश्चर्यचकित हो उठे और कितने ही अमर्षके वशीभूत हो गये ॥ २७½ ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन् नराधिपाः ॥ २८ ॥
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ।

कोई-कोई नरेश हाथसे हाथ मलने लगे। कुछ क्रोधसे आतुर हो दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ॥ २८½ ॥

व्याक्षिपन्नायुधान्यन्ये ममृदुश्चापरे भुजान् ॥ २९ ॥
अन्ये चान्वपतन् द्रोणं त्यक्तात्मानो महौजसः ।

कुछ लोग अपने आयुधोंको उछालने और धनुषकी

प्रत्यञ्चा खींचने लगे । दूसरे योद्धा अपनी भुजाओंको मसलने लगे तथा अन्य बहुत-से महातेजस्वी वीर अपने प्राणोंका मोह छोड़कर द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ॥२९½॥

पञ्चालास्तु विशेषेण द्रोणसायकपीडिताः ॥ ३० ॥
समसज्जन्त राजेन्द्र समरे भृशवेदनाः ।

राजेन्द्र ! पाञ्चाल सैनिक द्रोणाचार्यके बाणोंद्वारा विशेषरूपसे पीड़ित हो अधिक वेदना सहते हुए भी समरभूमिमें डटे रहे ॥ ३०½ ॥

ततो विराटद्रुपदौ द्रोणं प्रययतू रणे ॥ ३१ ॥
तथा चरन्तं संग्रामे भृशं समरदुर्जयम् ।

इस प्रकार संग्राममें विचरते हुए रणदुर्जय द्रोणाचार्यपर राजा विराट और द्रुपदने एक साथ चढ़ाई की ॥

द्रुपदस्य ततः पौत्रास्त्रय एव विशाम्पते ॥ ३२ ॥
चेदयश्च महेष्वासा द्रोणमेवाभ्ययुर्युधि ।

प्रजानाथ ! तदनन्तर राजा द्रुपदके तीनों ही पौत्रों तथा चेदिदेशीय महाधनुर्धर योद्धाओंने भी युद्धस्थलमें द्रोणाचार्य-पर ही आक्रमण किया ॥ ३२½ ॥

तेषां द्रुपदपौत्राणां त्रयाणां निशितैः शरैः ॥ ३३ ॥
त्रिभिर्द्रोणोऽहरत् प्राणांस्ते हता न्यपतन् भुवि ।

तब द्रोणाचार्यने तीन तीखे बाणोंका प्रहार करके द्रुपदके तीनों पौत्रोंके प्राण हर लिये । वे तीनों मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३½ ॥

ततो द्रोणोऽजयद् युद्धे चेदिकैकेयसृंजयान् ॥ ३४ ॥
मत्स्यांश्चैवाजयत् कृत्स्नान् भारद्वाजो महारथान् ।

तत्पश्चात् भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने युद्धमें चेदि, केकय, सृंजय तथा मत्स्य देशके सम्पूर्ण महारथियोंको परास्त कर दिया ॥ ३४½ ॥

ततस्तु द्रुपदः क्रोधाच्छरवर्षमवासृजत् ॥ ३५ ॥
द्रोणं प्रति महाराज विराटश्चैव संयुगे ।

महाराज ! इसके बाद राजा द्रुपद और विराटने द्रोणाचार्यपर समराङ्गणमें क्रोधपूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३५½ ॥

तं निहत्येषुवर्षं तु द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ॥ ३६ ॥
तौ शरैश्छादयामास विराटद्रुपदावुभौ ।

क्षत्रियमर्दन द्रोणाचार्यने अपने बाणोंद्वारा उस बाण-वर्षाको नष्ट करके विराट और द्रुपद दोनोंको ढक दिया ॥

द्रोणेन च्छाद्यमानौ तु क्रुद्धौ संग्राममूर्धनि ॥ ३७ ॥
द्रोणं शरैर्विव्यधतुः परमं क्रोधमास्थितौ ।

द्रोणाचार्यके द्वारा आच्छादित किये जानेपर क्रोधमें भरे हुए वे दोनों नरेश अत्यन्त कुपित हो युद्धके मुहानेपर बाणोंद्वारा द्रोणको घायल करने लगे ॥ ३७½ ॥

ततो द्रोणो महाराज क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ३८ ॥
भल्लाभ्यां भृशतीक्ष्णाभ्यां चिच्छेद धनुषी तयोः ।

महाराज ! तब आचार्य द्रोणने क्रोध और अमर्षसे युक्त हो दो अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा उन दोनोंके धनुष काट डाले ॥

ततो विराटः कुपितः समरे तोमरान् दश ॥ ३९ ॥
दश चिक्षेप च शरान् द्रोणस्य वधकाङ्क्षया ।

इससे कुपित हुए विराटने रणभूमिमें द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे दस तोमर और दस बाण चलाये ॥ ३९½ ॥

शक्तिं च द्रुपदो घोरामायसीं स्वर्णभूषिताम् ॥ ४० ॥
चिक्षेप भुजगेन्द्राभां क्रुद्धो द्रोणरथं प्रति ।

साथ ही क्रोधमें भरे हुए राजा द्रुपदने लोहेकी बनी हुई स्वर्णभूषित भयंकर शक्ति, जो नागराजके समान प्रतीत होती थी, द्रोणाचार्यपर चलायी ॥ ४०½ ॥

ततो भल्लैः सुनिशितैश्छित्त्वा तांस्तोमरान् दश ॥ ४१ ॥
शक्तिं कनकवैदूर्यां द्रोणश्चिच्छेद सायकैः ।

यह देख द्रोणाचार्यने तीखे भल्लोंसे उन दसों तोमरों-को काटकर अपने बाणोंके द्वारा सुवर्ण एवं वैदूर्यमणिसे विभूषित उस शक्तिके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४१½ ॥

ततो द्रोणः सुपीताभ्यां भल्लाभ्यामरिमर्दनः ॥ ४२ ॥
द्रुपदं च विराटं च प्रेषयामास मृत्यवे ।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन आचार्य द्रोणने दो पानीदार भल्लोंसे मारकर राजा द्रुपद और विराटको यमराजके पास भेज दिया ॥ ४२½ ॥

हते विराटे द्रुपदे केकयेषु तथैव च ॥ ४३ ॥
तथैव चेदिमत्स्येषु पञ्चालेषु तथैव च ।
हतेषु त्रिषु वीरेषु द्रुपदस्य च नप्तृषु ॥ ४४ ॥
द्रोणस्य कर्म तद् दृष्ट्वा कोपदुःखसमन्वितः ।
शशाप रथिनां मध्ये धृष्टद्युम्नो महामनाः ॥ ४५ ॥

विराट, द्रुपद, केकय, चेदि, मत्स्य और पाञ्चाल योद्धाओं तथा राजा द्रुपदके तीनों वीर पौत्रोंके मारे जानेपर द्रोणाचार्यका वह कर्म देखकर क्रोध और दुःखसे भरे हुए महामनस्वी धृष्टद्युम्नने रथियोंके बीचमें इस प्रकार शपथ खायी—॥ ४३–४५ ॥

इष्टापूर्तात् तथा क्षात्राद् ब्राह्मण्याच्च स नश्यतु ।
द्रोणो यस्याद्य मुच्येत यं वा द्रोणः पराभवेत् ॥ ४६ ॥

'आज जिसके हाथसे द्रोणाचार्य जीवित छूट जायँ अथवा जिसे वे पराजित कर दें, वह यज्ञ करने तथा कुआँ-बावली बनवाने एवं बगीचे लगाने आदिके पुण्योंसे वञ्चित हो जाय । क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व[1]से भी गिर जाय' ॥४६॥

---

१. द्रुपदकुलमें उत्पन्न होनेके कारण धृष्टद्युम्नका क्षत्रिय होना तो प्रसिद्ध ही है । परंतु याज और उपयाज नामक दो तपस्वी ब्राह्मणोंकी तपस्यासे उनकी उत्पत्ति हुई थी तथा परमेश्वरके मुखसे प्रकट हुए ब्राह्मणस्वरूप अग्निसे उनका प्रादुर्भाव हुआ था। इससे उनमें ब्राह्मणत्व भी था ।

इति तेषां प्रतिश्रुत्य मध्ये सर्वधनुष्मताम् ।
आयाद् द्रोणं सहानीकः पाञ्चाल्यः परवीरहा॥ ४७ ॥

इस प्रकार उन सम्पूर्ण धनुर्धरोंके बीचमें प्रतिज्ञा करके शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके साथ द्रोणाचार्यपर चढ़ आये ॥ ४७ ॥

पञ्चालास्त्वेकतो द्रोणमभ्यघ्नन् पाण्डवैः सह ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ४८ ॥
सोदर्याश्च यथामुख्यास्तेऽरक्षन् द्रोणमाहवे ।

एक ओरसे पाण्डवोंसहित पाञ्चाल सैनिक द्रोणाचार्यको मार रहे थे और दूसरी ओरसे दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुर्योधनके मुख्य-मुख्य भाई उस युद्धमें आचार्यकी रक्षा कर रहे थे ॥ ४८½ ॥

रक्ष्यमाणं तथा द्रोणं सर्वैस्तैस्तु महारथैः ॥ ४९ ॥
यतमानास्तु पञ्चाला न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ।

उन सम्पूर्ण महारथियोंद्वारा सुरक्षित हुए द्रोणाचार्यकी ओर पाञ्चाल सैनिक प्रयत्न करनेपर भी आँख उठाकर देखतक न सके ॥ ४९½ ॥

तत्राक्रुध्यद् भीमसेनो धृष्टद्युम्नस्य मारिष ॥ ५० ॥
स एनं वाग्भिरुग्राभिस्ततक्ष पुरुषर्षभः ।

आर्य ! तब वहाँ पुरुषप्रवर भीमसेन धृष्टद्युम्नपर कुपित हो उठे और उन्हें भयंकर वाग्बाणोंद्वारा छेदने लगे ॥

भीमसेन उवाच

द्रुपदस्य कुले जातः सर्वास्त्रेष्वस्त्रवित्तमः ॥ ५१ ॥
कः क्षत्रियो मन्यमानः प्रेक्षेतारिमवस्थितम् ।

भीमसेन बोले—द्रुपदके कुलमें जन्म लेकर और सम्पूर्ण अस्त्रोंका सबसे बड़ा विद्वान् होकर भी कौन स्वाभिमानी क्षत्रिय शत्रुको सामने खड़ा हुआ देख सकेगा ? ॥

पितृपुत्रवधं प्राप्य पुमान् कः परिपालयेत् ॥ ५२ ॥
विशेषतस्तु शपथं शपित्वा राजसंसदि ।

शत्रुके हाथसे पिता और पुत्रका वध पाकर, विशेषतः राजाओंकी मण्डलीमें शपथ खाकर कौन पुरुष उस शत्रुकी रक्षा करेगा ?॥ ५२½ ॥

एष वैश्वानर इव समिद्धः स्वेन तेजसा ॥ ५३ ॥
शरचापेन्धनो द्रोणः क्षत्रं दहति तेजसा ।

धनुष-बाणरूपी ईंधनसे युक्त हो तेजसे अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले ये द्रोणाचार्य अपने प्रभावसे क्षत्रियोंको दग्ध कर रहे हैं ॥ ५३½ ॥

पुरा करोति निःशेषां पाण्डवानामनीकिनीम् ॥५४॥
स्थिताः पश्यत मे कर्म द्रोणमेव व्रजाम्यहम् ।

ये जबतक पाण्डवसेनाको समाप्त नहीं कर लेते, उसके पहले ही मैं द्रोणपर आक्रमण करता हूँ । वीरो ! तुम खड़े होकर मेरा पराक्रम देखो ॥ ५४½ ॥

इत्युक्त्वा प्राविशत् क्रुद्धो द्रोणानीकं वृकोदरः ॥५५॥
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैर्द्रावयंस्तव वाहिनीम् ।

ऐसा कहकर भीमसेनने कुपित हो धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये बाणोंद्वारा आपकी सेनाको खदेड़ते हुए द्रोणाचार्यके सैन्यदलमें प्रवेश किया ॥ ५५½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि पाञ्चाल्यः प्रविश्य महतीं चमूम् ॥५६॥
आससाद रणे द्रोणं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।

इसी प्रकार पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने भी आपकी विशाल सेनामें घुसकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यपर चढ़ाई की । उस समय बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ५६½ ॥

नैव नस्तादृशं युद्धं दृष्टपूर्वं न च श्रुतम् ॥ ५७ ॥
यथा सूर्योदये राजन् समुत्पिञ्जोऽभवन्महान् ।

राजन् ! उस दिन सूर्योदयके समय जैसा महान् जनसंहारकारी संग्राम हुआ, वैसा हमने पहले न तो कभी देखा था और न सुना ही था ॥ ५७½ ॥

संसक्तान्येव चादृश्यन् रथवृन्दानि मारिष ॥ ५८ ॥
हतानि च विकीर्णानि शरीराणि शरीरिणाम् ।

माननीय नरेश ! उस युद्धमें रथोंके समूह परस्पर सटे हुए ही दिखायी देते थे और देहधारियोंके शरीर मरकर बिखरे हुए थे ॥ ५८½ ॥

केचिदन्यत्र गच्छन्तः पथि चान्यैरुपद्रुताः ॥ ५९ ॥
विमुखाः पृष्ठतश्चान्ये ताड्यन्ते पार्श्वतः परे ।

कुछ योद्धा अन्यत्र जाते हुए मार्गमें दूसरे योद्धाओंके आक्रमणके शिकार हो जाते थे । कुछ लोग युद्धसे विमुख होकर भागते समय पीठ और पार्श्वभागोंमें विपक्षियोंके बाणोंकी चोट सहते थे ॥ ५९½ ॥

तथा संसक्तयुद्धं तदभवद् भृशदारुणम् ।
अथ संध्यागतः सूर्यः क्षणेन समपद्यत ॥ ६० ॥

इस प्रकार वह अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध हो ही रहा था कि क्षणभरमें प्रातःसंध्याकी वेलामें सूर्यदेवका पूर्णतः उदय हो गया ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि संकुलयुद्धे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युद्धस्थलकी भीषण अवस्थाका वर्णन और नकुलके द्वारा दुर्योधनकी पराजय

संजय उवाच

ते तथैव महाराज दंशिता रणमूर्धनि।
संध्यागतं सहस्रांशुमादित्यमुपतस्थिरे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! वे समस्त योद्धा पूर्ववत् कवच बाँधे हुए ही युद्धके मुहानेपर प्रातः-संध्याके समय सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्यका उपस्थान करने लगे ॥ १ ॥

उदिते तु सहस्रांशौ तप्तकाञ्चनसप्रभे।
प्रकाशितेषु लोकेषु पुनर्युद्धमवर्तत ॥ २ ॥

तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् सूर्यदेवका उदय होनेपर जब सम्पूर्ण लोकोंमें प्रकाश छा गया, तब पुनः युद्ध होने लगा ॥ २ ॥

द्वन्द्वानि तत्र यान्यासन् संसक्तानि पुरोदयात्।
तान्येवाभ्युदिते सूर्ये समसज्जन्त भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! सूर्योदयसे पहले जिन लोगोंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था, सूर्योदयके बाद भी पुनः वे ही लोग परस्पर जूझने लगे ॥ ३ ॥

रथैर्हया हयैर्नागाः पादातैश्चापि कुञ्जराः।
हयैर्हयाः समाजग्मुः पादाताश्च पदातिभिः ॥ ४ ॥

रथोंसे घोड़े, घोड़ोंसे हाथी, पैदलोंसे हाथीसवार, घोड़ोंसे घोड़े तथा पैदलोंसे पैदल भिड़ गये ॥ ४ ॥

रथा रथैरिभैर्नागास्तथैव भरतर्षभ।
संसक्ताश्च वियुक्ताश्च योधाः संन्यपतन् रणे ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी गुँथ जाते थे। इस प्रकार कभी सटकर और कभी विलग होकर वे योद्धा रणभूमिमें गिरने लगे ॥ ५ ॥

ते रात्रौ कृतकर्माणः श्रान्ताः सूर्यस्य तेजसा।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गा विसंज्ञा बहवोऽभवन् ॥ ६ ॥

वे सभी रातमें युद्ध करके थक गये थे। फिर सबेरे सूर्यकी धूप लगनेसे उनके अङ्ग-अङ्गमें भूख-प्यास व्याप्त हो गयी, जिससे बहुतेरे सैनिक अपनी सुध-बुध खो बैठे ॥ ६ ॥

शङ्खभेरीमृदङ्गानां कुञ्जराणां च गर्जताम्।
विस्फारितविकृष्टानां कार्मुकाणां च कूजताम्॥ ७ ॥
शब्दः समभवद् राजन् दिविस्पृग् भरतर्षभ।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! उस समय शङ्ख, भेरी और मृदङ्गोंकी ध्वनि, गरजते हुए गजराजोंका चीत्कार और फैलाये तथा खींचे गये धनुषोंकी टङ्कार इन सबका सम्मिलित शब्द आकाशमें गूँज उठा था ॥ ७½ ॥

द्रवतां च पदातीनां शस्त्राणां पततामपि ॥ ८ ॥
हयानां ह्रेषतां चापि रथानां च निवर्तताम्।
क्रोशतां गर्जतां चैव तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ॥ ९ ॥

दौड़ते हुए पैदलों, गिरते हुए शस्त्रों, हिनहिनाते हुए घोड़ों, लौटते हुए रथों तथा चीखते-चिल्लाते और गरजते हुए शूरवीरोंका मिला हुआ महाभयंकर शब्द वहाँ गूँज रहा था ॥ ८-९ ॥

विवृद्धस्तुमुलः शब्दो द्यामगच्छन्महांस्तदा।
नानायुधनिकृत्तानां चेष्टतामातुरः स्वनः ॥ १० ॥
भूमावश्रूयत महांस्तदाऽऽसीत् कृपणं महत्।
पततां पात्यमानानां पत्त्यश्वरथदन्तिनाम् ॥ ११ ॥

वह बढ़ा हुआ अत्यन्त भयानक शब्द उस समय स्वर्गलोकतक जा पहुँचा था। नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे कटकर छटपटाते हुए योद्धाओंका महान् आर्तनाद धरतीपर सुनायी दे रहा था। गिरते और गिराये जाते हुए पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंकी अत्यन्त दयनीय दशा दिखायी देती थी ॥ १०—११ ॥

तेषु सर्वेष्वनीकेषु व्यतिषक्तेष्वनेकशः।
स्वे स्वाञ्जघ्नुः परे स्वांश्च स्वान् परेषां परे परान्॥१२॥

उन सभी सेनाओंमें बारंबार मुठभेड़ होती थी और उसमें अपने ही पक्षके लोग अपने ही पक्षवालोंको मार डालते थे। शत्रुपक्षके लोग भी अपने पक्षके लोगोंको मारते थे। शत्रुपक्षके जो स्वजन थे उनको तथा शत्रुओंको भी शत्रुपक्षके योद्धा मार डालते थे ॥ १२ ॥

वीरबाहुविसृष्टाश्च योधेषु च गजेषु च।
राशयः प्रत्यदृश्यन्त वाससां नेजनेष्विव ॥ १३ ॥

जैसे कपड़े धोनेके घाटोंपर ढेर-के-ढेर वस्त्र दिखायी देते हैं, उसी प्रकार योद्धाओं और हाथियोंपर वीरोंकी भुजाओंद्वारा छोड़े गये अस्त्र-शस्त्रोंकी राशियाँ दिखायी देती थीं ॥ १३ ॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः।
स एव शब्दस्तद्रूपो वाससां निज्यतामिव ॥ १४ ॥

शूरवीरोंके हाथोंमें उठकर विपक्षी योद्धाओंके शस्त्रोंसे टकराये हुए खड्गोंका शब्द वैसा ही जान पड़ता था, जैसे धोबियोंके पटहोंपर पीटे जानेवाले कपड़ोंका शब्द होता है ॥

अर्धासिभिस्तथा खड्गैस्तोमरैः सपरश्वधैः।
निकृष्टयुद्धं संसक्तं महदासीत् सुदारुणम् ॥ १५ ॥

एक ओर धारवाली और दुधारी तलवारों, तोमरों तथा फरसोंद्वारा जो अत्यन्त निकटसे युद्ध चल रहा था, वह भी बहुत ही क्रूरतापूर्ण एवं भयंकर था ॥ १५ ॥

गजाश्वकायप्रभवां नरदेहप्रवाहिनीम्।
शस्त्रमत्स्यसुसम्पूर्णां मांसशोणितकर्दमाम्॥ १६॥
आर्तनादस्वनवतीं पताकाशस्त्रफेनिलाम्।
नदीं प्रावर्तयन् वीराः परलोकौघगामिनीम्॥ १७॥

वहाँ युद्ध करनेवाले वीरोंने खूनकी नदी बहा दी, जिसका प्रवाह परलोककी ओर ले जानेवाला था। वह रक्तकी नदी हाथी और घोड़ोंकी लाशोंसे प्रकट हुई थी। मनुष्योंके शरीरोंको बहाये लिये जाती थी। उसमें शस्त्ररूपी मछलियाँ भरी थीं। मांस और रक्त ही उसकी कीचड़ थे। पीड़ितोंके आर्तनाद ही उसकी कलकल ध्वनि थे तथा पताका और शस्त्र उसमें फेनके समान जान पड़ते थे॥

शरशक्त्यर्दिताः क्लान्ता रात्रिमूढाल्पचेतसः।
विष्टभ्य सर्वगात्राणि व्यतिष्ठन् गजवाजिनः॥ १८॥

रात्रिके युद्धसे मोहित, अल्प चेतनावाले, बाणों और शक्तियोंसे पीड़ित तथा थके-माँदे हाथी एवं घोड़े आदि वाहन अपने सारे अङ्गोंको स्तब्ध करके वहाँ खड़े थे॥१८॥

बाहुभिः कवचैश्चित्रैः शिरोभिश्चारुकुण्डलैः।
युद्धोपकरणैश्चान्यैस्तत्र तत्र चकाशिरे॥ १९॥

योद्धाओंकी कटी हुई भुजाओं, विचित्र कवचों, मनोहर कुण्डलमण्डित मस्तकों तथा इधर-उधर बिखरी हुई अन्यान्य युद्ध-सामग्रियोंसे रणभूमिके विभिन्न प्रदेश प्रकाशित हो रहे थे॥ १९॥

क्रव्यादसङ्घैराकीर्णं मृतैरर्धमृतैरपि।
नासीद् रथपथस्तत्र सर्वमायोधनं प्रति॥ २०॥

कहीं कच्चा मांस खानेवाले प्राणियोंका समुदाय भरा था, कहीं मरे और अधमरे जीव पड़े थे। इन सबके कारण उस सारी युद्धभूमिमें कहीं भी रथ जानेके लिये रास्ता नहीं मिलता था॥ २०॥

मज्जत्सु चक्रेषु रथान् सत्त्वमास्थाय वाजिनः।
कथंचिदवहन्श्रान्ता वेपमानाः शरार्दिताः॥ २१॥
कुलसत्त्वबलोपेता वाजिनो वारणोपमाः।

रथोंके पहिये रक्तकी कीचमें डूब जाते थे, तो भी उन रथोंको बाणोंसे पीड़ित हो काँपते हुए और परिश्रमसे थके-माँदे घोड़े किसी प्रकार धैर्य धारण करके ढोते थे। वे सभी घोड़े उत्तम कुल, साहस और बलसे सम्पन्न तथा हाथियोंके समान विशालकाय थे (इसीलिये ऐसा पराक्रम कर पाते थे)॥ २१½॥

विह्वलं तूर्णमुद्भ्रान्तं सभयं भारतातुरम्॥ २२॥
बलमासीत् तदा सर्वमृते द्रोणार्जुनावुभौ।
तावेवास्तां निलयनं तावार्तायनमेव च॥ २३॥
तावेवान्ये समासाद्य जग्मुर्वैवस्वतक्षयम्।

भारत! उस समय द्रोणाचार्य और अर्जुन—इन दो वीरोंको छोड़कर शेष सारी सेना तुरंत विह्वल, उद्भ्रान्त, भयभीत और आतुर हो गयी। वे ही दोनों अपने-अपने पक्षके योद्धाओंके लिये छिपनेके स्थान थे और वे ही पीड़ितोंके आश्रय बने हुए थे। परंतु विपक्षी योद्धा इन्हीं दोनोंके समीप जाकर यमलोक पहुँच जाते थे॥ २२-२३½॥

आविग्नमभवत् सर्वं कौरवाणां महद् बलम्॥ २४॥
पञ्चालानां च संसक्तं न प्राज्ञायत किंचन।
अन्तकाक्रीडसदृशं भीरूणां भयवर्धनम्॥ २५॥

कौरवों तथा पाञ्चालोंके सारे विशाल सैन्य परस्पर मिलकर व्यग्र हो उठे थे। उस समय उनमेंसे किसी दलको अलग-अलग पहचाना नहीं जाता था। वह समराङ्गण यमराजका क्रीडास्थल-सा हो रहा था और कायरोंका भय बढ़ा रहा था॥ २४-२५॥

पृथिव्यां राजवंश्यानामुत्थिते महति क्षये।
न तत्र कर्णं द्रोणं वा नार्जुनं न युधिष्ठिरम्॥ २६॥
न भीमसेनं न यमौ न पाञ्चाल्यं न सात्यकिम्।
न च दुःशासनं द्रौणिं न दुर्योधनसौबलौ॥ २७॥
न कृपं मद्रराजं च कृतवर्माणमेव च।
न चान्यान् नैव चात्मानं न क्षितिं न दिशस्तथा॥२८॥
पश्याम राजन् संसक्तान् सैन्येन रजसाऽऽवृतान्।

राजन्! भूमण्डलके राजवंशमें उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका वह महान् संहार उपस्थित होनेपर वहाँ युद्धमें तत्पर हुए सब लोग सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे ढक गये थे। इसीलिये हमलोग वहाँ न तो कर्णको देख पाते थे, न द्रोणाचार्यको। न अर्जुन दिखायी देते थे, न युधिष्ठिर। भीमसेन, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भी हम नहीं देख पाते थे। दुःशासन, अश्वत्थामा, दुर्योधन, शकुनि, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा तथा अन्य महारथी भी हमारी दृष्टिमें नहीं आते थे। औरोंकी तो बात ही क्या है? हम अपने शरीरको भी नहीं देख पाते थे, पृथिवी और दिशाएँ भी नहीं सूझती थीं॥ २६-२८½॥

सम्भ्रान्ते तुमुले घोरे रजोमेघे समुत्थिते॥ २९॥
द्वितीयामिव सम्प्राप्ताममन्यन्त निशां तदा।

वहाँ धूलरूपी मेघकी भयंकर एवं घोर घटा घुमड़-घुमड़कर घिर आयी थी, जिससे सब लोगोंको उस समय ऐसा मालूम होता था, मानो दूसरी रात्रि आ पहुँची हो॥ २९½॥

न ज्ञायन्ते कौरवेया न पञ्चाला न पाण्डवाः॥ ३०॥
न दिशो द्यौर्न चोर्वी च न समं विषमं तथा।

उस अन्धकारमें न तो कौरव पहचाने जाते थे और न पाञ्चाल तथा पाण्डव ही। दिशा, आकाश, भूमण्डल

और सम-विषम स्थान आदिका भी पता नहीं चलता था ॥ ३०½ ॥

हस्तसंस्पर्शमापन्नान् परानप्यथवा स्वकान् ॥ ३१ ॥
न्यपातयंस्तदा युद्धे नराः स्म विजयैषिणः ।

जो हाथकी पकड़में आ गये या छू गये, वे अपने हों या पराये, विजयकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य उन्हें तत्काल युद्धमें मार गिराते थे ॥ ३१½ ॥

उद्भूतत्वात् तु रजसः प्रसेकाच्छोणितस्य च ॥ ३२ ॥
प्राशाम्यत रजो भौमं शीघ्रत्वादनिलस्य च ।

उस समय तेज हवा चलनेसे कुछ धूल तो ऊपर उड़ गयी और कुछ योद्धाओंके रक्तसे सिंचकर नीचे बैठ गयी। इससे भूतलकी वह सारी धूलराशि शान्त हो गयी ॥ ३२½ ॥

तत्र नागा हया योधा रथिनोऽथ पदातयः ॥ ३३ ॥
पारिजातवनानीव व्यरोचन् रुधिरोक्षिताः ।

तदनन्तर वहाँ खूनसे लथपथ हुए हाथी, घोड़े, रथी और पैदल सैनिक पारिजातके जंगलोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३३½ ॥

ततो दुर्योधनः कर्णो द्रोणो दुःशासनस्तथा ॥ ३४ ॥
पाण्डवैः समसज्जन्त चतुर्भिश्चतुरो रथाः ।

उस समय दुर्योधन, कर्ण, द्रोणाचार्य और दुःशासन—ये चार महारथी चार पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३४½ ॥

दुर्योधनः सह भ्रात्रा यमाभ्यां समसज्जत ॥ ३५ ॥
वृकोदरेण राधेयो भारद्वाजेन चार्जुनः ।

दुर्योधन अपने भाई दुःशासनको साथ लेकर नकुल और सहदेवसे भिड़ गया। राधापुत्र कर्ण भीमसेनके साथ और अर्जुन आचार्य द्रोणके साथ युद्ध करने लगे ॥३५½॥

तद् घोरं महदाश्चर्यं सर्वे प्रैक्षन्त सर्वतः ॥ ३६ ॥
रथर्षभाणामुग्राणां संनिपातममानुषम् ।

उन उग्र महारथियोंका वह घोर, अत्यन्त आश्चर्यजनक और अमानुषिक संग्राम वहाँ सब लोग सब ओरसे देखने लगे ॥ ३६½ ॥

रथमार्गैर्विचित्रैस्तैर्विचित्ररथसंकुलम् ॥ ३७ ॥
अपश्यन् रथिनो युद्धं विचित्रं चित्रयोधिनाम् ।

रथके विचित्र पैंतरोंसे विचरनेवाले तथा विचित्र युद्ध करनेवाले उन महारथियोंका विचित्र रथोंसे व्याप्त वह विचित्र युद्ध वहाँ सब रथी दर्शककी भाँति देखने लगे ॥३७½॥

यतमानाः पराक्रान्ताः परस्परजिगीषवः ॥ ३८ ॥
जीमूता इव घर्मान्ते शरवर्षैरवाकिरन् ।

एक दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले वे वीर योद्धा प्रयत्नपूर्वक पराक्रममें तत्पर हो वर्षाकालके मेघोंकी भाँति बाणरूपी जलकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३८½ ॥

ते रथान् सूर्यसंकाशानास्थिताः पुरुषर्षभाः ॥ ३९ ॥
अशोभन्त यथा मेघाः शारदाश्चलविद्युतः ।

सूर्यके समान तेजस्वी रथोंपर बैठे हुए वे पुरुषप्रवर योद्धा चञ्चल चपलाओंकी चमकसे युक्त शरत्कालके मेघोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३९½ ॥

योधास्ते तु महाराज क्रोधामर्षसमन्विताः ॥ ४० ॥
स्पर्धिनश्च महेष्वासाः कृतयत्ना धनुर्धराः ।
अभ्यगच्छंस्तथान्योन्यं मत्ता गजवृषा इव ॥ ४१ ॥

महाराज! क्रोध और अमर्षमें भरे हुए वे परस्पर स्पर्धा रखनेवाले, विजयके लिये प्रयत्नशील और विशाल धनुष धारण करनेवाले धनुर्धर योद्धा मतवाले गजराजोंके समान एक दूसरेसे जूझ रहे थे ॥ ४०-४१ ॥

न नूनं देहभेदोऽस्ति काले राजन्ननागते ।
यत्र सर्वे न युगपद् व्यशीर्यन्त महारथाः ॥ ४२ ॥

राजन्! निश्चय ही अन्तकाल आये बिना किसीके शरीरका नाश नहीं होता है, तभी तो उस संग्राममें क्षत-विक्षत हुए वे समस्त महारथी एक साथ ही नष्ट नहीं हो गये ॥ ४२ ॥

बाहुभिश्चरणैश्छिन्नैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
कार्मुकैर्विशिखैः प्रासैः खड्गैः परशुपट्टिशैः ॥ ४३ ॥
नालीकैः क्षुद्रनाराचैर्नखरैः शक्तितोमरैः ।
अन्यैश्च विविधाकारैर्धौतैः प्रहरणोत्तमैः ॥ ४४ ॥
विचित्रैर्विविधाकारैः शरीरावरणैरपि ।
विचित्रैश्च रथैर्भग्नैर्हतैश्च गजवाजिभिः ॥ ४५ ॥
शून्यैश्च नगराकारैर्हतयोधध्वजै रथैः ।
अमनुष्यैर्हयैस्त्रस्तैः कृष्यमाणैस्ततस्ततः ॥ ४६ ॥
वातायमानैरसकृद्धतवीरैरलङ्कृतैः ।
व्यजनैः कङ्कटैश्चैव ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ४७ ॥
छत्रैराभरणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च ससुगन्धिभिः ।
हारैः किरीटैर्मुकुटैरुष्णीषैः किङ्किणीगणैः ॥ ४८ ॥
उरस्थैर्मणिभिर्निष्कैश्चूडामणिभिरेव च ।
आसीदायोधनं तत्र नभस्तारागणैरिव ॥ ४९ ॥

उस समय योद्धाओंके कटे हुए हाथ, पैर, कुण्डल-मण्डित मस्तक, धनुष, बाण, प्रास, खड्ग, परशु, पट्टिश, नालीक, छोटे नाराच, नखर, शक्ति, तोमर, अन्यान्य नाना प्रकारके साफ किये हुए उत्तम आयुध, भाँति-भाँतिके विचित्र कवच, टूटे हुए विचित्र रथ तथा मारे गये हाथी, घोड़े, इधर-उधर पड़े थे। वायुके समान वेगशाली, सारथिशून्य, भयभीत घोड़े जिन्हें बारंबार इधर-उधर खींच रहे थे, जिनके रथी योद्धा और ध्वज नष्ट हो गये थे, ऐसे नगराकार सुनसान रथ भी वहाँ दृष्टिगोचर हो रहे थे। आभूषणोंसे विभूषित वीरोंके मृतशरीर यत्र-तत्र गिरे हुए थे, काटकर

गिराये हुए व्यजन, कवच, ध्वज, छत्र, आभूषण, वस्त्र, सुगन्धित फूलोंके हार, रत्नोंके हार, किरीट, मुकुट, पगड़ी, किङ्किणीसमूह, छातीपर धारण की जानेवाली मणि, सोनेके निष्क और चूड़ामणि आदि वस्तुएँ भी इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। इन सबसे भरा हुआ वह युद्धस्थल वहाँ नक्षत्रोंसे व्याप्त आकाशके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ४३-४९ ॥

ततो दुर्योधनस्यासीन्नकुलेन समागमः।
अमर्षितेन क्रुद्धस्य क्रुद्धेनामर्षितस्य च ॥ ५० ॥

इसी समय क्रुद्ध और असहिष्णु दुर्योधनका रोष और अमर्षसे भरे हुए नकुलके साथ युद्ध आरम्भ हुआ ॥५०॥

अपसव्यं चकाराथ माद्रीपुत्रस्तवात्मजम्।
किरञ्छरशतैर्हृष्टस्तत्र नादो महानभूत् ॥ ५१ ॥

माद्रीपुत्र नकुलने आपके पुत्र दुर्योधनको दाहिने कर दिया और हर्षमें भरकर उसपर सैकड़ों बाणोंकी झड़ी लगा दी; फिर तो वहाँ महान् कोलाहल हुआ ॥ ५१ ॥

अपसव्यं कृतं संख्ये भ्रातृव्येनात्यमर्षिणा।
नामृष्यत तमप्याजौ प्रतिचक्रेऽपसव्यतः ॥ ५२ ॥
पुत्रस्तव महाराज राजा दुर्योधनो द्रुतम्।

अमर्षशील शत्रुके द्वारा युद्धस्थलमें अपने आपको दाहिने किया हुआ देख दुर्योधन इसे सहन न कर सका। महाराज! फिर आपके पुत्र राजा दुर्योधनने भी तुरंत ही रणभूमिमें नकुलको भी अपने दाहिने ला देनेका प्रयत्न किया ॥५२½॥

ततः प्रतिचिकीर्षन्तमपसव्यं तु ते सुतम् ॥ ५३ ॥
न्यवारयत तेजस्वी नकुलश्चित्रमार्गवित्।

तेजस्वी नकुल युद्धकी विचित्र प्रणालियोंके ज्ञाता थे। उन्होंने यह देखकर कि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन मुझे दाहिने लानेकी चेष्टा कर रहा है, उसे सहसा रोक दिया ॥५३½॥

स सर्वतो निवार्यैनं शरजालेन पीडयन् ॥ ५४ ॥
विमुखं नकुलश्चक्रे तत् सैन्याः समपूजयन्।

नकुलने दुर्योधनको अपने बाणसमूहोंद्वारा पीड़ित करते हुए उसे सब ओरसे रोककर युद्धसे विमुख कर दिया। उनके इस पराक्रमकी समस्त सैनिक सराहना करने लगे ॥ ५४½ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति नकुलो बभाषे तनयं तव।
संस्मृत्य सर्वदुःखानि तव दुर्मन्त्रितं च तत् ॥ ५५ ॥

उस समय आपकी कुमन्त्रणा तथा अपनेको प्राप्त हुए सम्पूर्ण दुःखोंको स्मरण करके नकुलने आपके पुत्रको ललकारते हुए कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि नकुलयुद्धे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें नकुलका युद्धविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुःशासन और सहदेवका, कर्ण और भीमसेनका तथा द्रोणाचार्य और अर्जुनका घोर युद्ध

संजय उवाच

ततो दुःशासनः क्रुद्धः सहदेवमुपाद्रवत्।
रथवेगेन तीव्रेण कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अपने रथके तीव्र वेगसे पृथ्वीको कँपाते हुए-से दुःशासनने कुपित होकर सहदेवपर आक्रमण किया ॥ १ ॥

तस्यापतत एवाशु भल्लेनामित्रकर्शनः।
माद्रीपुत्रः शिरो यन्तुः सशिरस्त्राणमच्छिनत् ॥ २ ॥

उसके आते ही शत्रुसूदन माद्रीकुमार सहदेवने शीघ्र ही एक भल्ल मारकर दुःशासनके सारथिका मस्तक शिरस्त्राण-सहित काट डाला ॥ २ ॥

नैनं दुःशासनः सूतं नापि कश्चन सैनिकः।
कृत्तोत्तमाङ्गमाशुत्वात् सहदेवेन बुद्धवान् ॥ ३ ॥

इस कार्यमें उन्होंने ऐसी फुर्ती दिखायी कि न तो दुःशासन और न दूसरा ही कोई सैनिक इस बातको जान सका कि सहदेवने सारथिका सिर काट डाला है ॥ ३ ॥

यदा त्वसंगृहीतत्वात् प्रयान्त्यश्वा यथासुखम्।
ततो दुःशासनः सूतं बुबुधे गतचेतसम् ॥ ४ ॥

जब रास छूट जानेके कारण घोड़े अपनी मौजसे इधर-उधर भागने लगे, तब दुःशासनको यह ज्ञात हुआ कि मेरा सारथि मारा गया ॥ ४ ॥

स हयान् संनिगृह्याजौ स्वयं हयविशारदः।
युयुधे रथिनां श्रेष्ठो लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ ५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ दुःशासन अश्व-संचालनकी कलामें निपुण था। वह रणभूमिमें स्वयं ही घोड़ोंको काबूमें करके शीघ्रता-पूर्वक विचित्र रीतिसे अच्छी तरह युद्ध करने लगा ॥ ५ ॥

तदस्यापूजयन् कर्म स्वे परे चापि संयुगे।
हतसूतरथेनाजौ व्यचरद् यदभीतवत् ॥ ६ ॥

सारथिके मारे जानेपर भी दुःशासन उस रथके द्वारा युद्धभूमिमें निर्भय-सा विचरता रहा; उसके इस कर्मकी अपने और शत्रुपक्षके लोगोंने भी प्रशंसा की ॥ ६ ॥

सहदेवस्तु तानश्वांस्तीक्ष्णैर्बाणैरवाकिरत्।
पीड्यमानाः शरैश्चाशु प्राद्रवंस्ते ततस्ततः ॥ ७ ॥

सहदेव उन घोड़ोंपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन बाणोंसे पीड़ित हुए वे घोड़े शीघ्र ही इधर-उधर भागने लगे ॥ ७ ॥

स रश्मिषु विषक्तत्वादुत्ससर्ज शरासनम्।
धनुषा कर्म कुर्वंस्तु रश्मींश्च पुनरुत्सृजत्॥ ८॥

दुःशासन जब घोड़ोंकी रास सँभालने लगता तो धनुष छोड़ देता और जब धनुषसे काम लेता तो विवश होकर घोड़ोंकी रास छोड़ देता था॥ ८॥

छिद्रेष्वेतेषु तं बाणैर्माद्रीपुत्रोऽभ्यवाकिरत्।
परीप्संस्त्वत्सुतं कर्णस्तदन्तरमवाप तत्॥ ९॥

उसकी दुर्बलताके इन्हीं अवसरोंपर माद्रीकुमार सहदेव उसे बाणोंसे ढक देते थे। उस समय आपके पुत्रकी रक्षाके लिये कर्ण बीचमें कूद पड़ा॥ ९॥

वृकोदरस्ततः कर्णं त्रिभिर्भल्लैः समाहितः।
आकर्णपूर्णैरभ्यघ्नद् बाह्वोरुरसि चानदत्॥ १०॥

तब भीमसेनने भी सावधान होकर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये तीन भल्लोंद्वारा कर्णकी दोनों भुजाओं और छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। फिर वे जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ १०॥

स निवृत्तस्ततः कर्णः संघट्टित इवोरगः।
भीममावारयामास विकिरन् निशिताञ्छरान्॥ ११॥

तदनन्तर पैरोंसे कुचले गये सर्पके समान कुपित हो कर्ण लौट पड़ा और तीखे बाणोंकी वर्षा करके भीमको रोकने लगा॥ ११॥

ततोऽभूत् तुमुलं युद्धं भीमराधेययोस्तदा।
तौ वृषाविव नर्दन्तौ विवृत्तनयनावुभौ॥ १२॥

फिर तो भीमसेन और राधापुत्र कर्णमें घोर युद्ध होने लगा। दोनों ही एक दूसरेकी ओर विकृत दृष्टिसे देखते हुए साँड़ोंके समान गर्जने लगे॥ १२॥

वेगेन महतान्योन्यं संरब्धावभिपेततुः।
अभिसंश्लिष्टयोस्तत्र तयोराहवशौण्डयोः॥ १३॥
विच्छिन्नशरपातत्वाद् गदायुद्धमवर्तत।

फिर दोनों परस्पर अत्यन्त कुपित हो बड़े वेगसे टूट पड़े। उन युद्धकुशल योद्धाओंके परस्पर अत्यन्त निकट आ जानेके कारण उनके बाण चलानेका क्रम टूट गया; इसलिये उनमें गदायुद्ध आरम्भ हो गया॥ १३½॥

गदया भीमसेनस्तु कर्णस्य रथकूबरम्॥ १४॥
बिभेद शतधा राजंस्तदद्भुतमिवाभवत्।

राजन्! भीमसेनने अपनी गदासे कर्णके रथका कूबर तोड़कर उसके सौ टुकड़े कर दिये, वह अद्भुत-सा कार्य हुआ॥ १४½॥

ततो भीमस्य राधेयो गदामाविध्य वीर्यवान्॥ १५॥
अवासृजद् रथे तां तु बिभेद गदया गदाम्।

फिर पराक्रमी राधापुत्र कर्णने भीमकी ही गदा उठा ली और उसे घुमाकर उन्हींके रथपर फेंका; किंतु भीमने दूसरी गदासे उस गदाको तोड़ डाला॥ १५½॥

ततो भीमः पुनर्गुर्वीं चिक्षेपाधिरथेर्गदाम्॥ १६॥
तां गदां बहुभिः कर्णः सुपुङ्खैः सुप्रवेजितैः।
प्रत्यविध्यत् पुनश्चान्यैः सा भीमं पुनराव्रजत्॥ १७॥

तत्पश्चात् उन्होंने अधिरथपुत्र कर्णपर पुनः एक भारी गदा छोड़ी। परंतु कर्णने तेज किये हुए सुन्दर पंखवाले दूसरे-दूसरे बहुत-से बाण मारकर उस गदाको बींध डाला। इससे वह पुनः भीमपर ही लौट आयी॥ १६-१७॥

व्यालीव मन्त्राभिहता कर्णबाणैरभिद्रुता।
तस्याः प्रतिनिपातेन भीमस्य विपुलो ध्वजः॥ १८॥
पपात सारथिश्चास्य मुमोह च गदाहतः।

कर्णके बाणोंसे आहत हो वह गदा मन्त्रसे मारी गयी सर्पिणी-के समान लौटकर भीमसेनके ही रथपर गिरी। उसके गिरनेसे भीमसेनकी विशाल ध्वजा धराशायी हो गयी और उस गदाकी चोट खाकर उनका सारथि भी मूर्छित हो गया॥ १८½॥

स कर्णे सायकानष्टौ व्यसृजत् क्रोधमूर्च्छितः॥ १९॥
तैस्तस्य निशितैस्तीक्ष्णैर्भीमसेनो महाबलः।
चिच्छेद परवीरघ्नः प्रहसन्निव भारत॥ २०॥
ध्वजं शरासनं चैव शरावापं च भारत।

तब क्रोधसे व्याकुल हुए भीमसेनने कर्णको आठ बाण मारे। भारत! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली भीमसेनने हँसते हुए-से उन तेज धारवाले तीखे बाणोंद्वारा कर्णके ध्वज, धनुष और तरकसको काट गिराया॥ १९-२०½॥

कर्णोऽप्यन्यद् धनुर्गृह्य हेमपृष्ठं दुरासदम्॥ २१॥
ततः पुनस्तु राधेयो हयानस्य रथेषुभिः।
ऋक्षवर्णाञ्जघानाशु तथोभौ पार्ष्णिसारथी॥ २२॥

तत्पश्चात् राधापुत्र कर्णने पुनः सोनेकी पीठवाला दूसरा दुर्जय धनुष हाथमें लेकर रथपर रक्खे हुए बाणोंद्वारा भीमसेनके रीछके समान रंगवाले काले घोड़ों और दोनों पार्श्वरक्षकोंको शीघ्र ही मार डाला॥ २१-२२॥

स विपन्नरथो भीमो नकुलस्याप्लुतो रथम्।
हरिर्यथा गिरेः शृङ्गं समाक्रामदरिंदमः॥ २३॥

इस तरह रथ नष्ट हो जानेसे शत्रुदमन भीमसेन जैसे सिंह पर्वतके शिखरपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार उछलकर नकुलके रथपर जा बैठे॥ २३॥

तथा द्रोणार्जुनौ चित्रमयुध्येतां महारथौ।
आचार्यशिष्यौ राजेन्द्र कृतप्रहरणौ युधि॥ २४॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार उस युद्धस्थलमें आचार्य और शिष्य महारथी द्रोण तथा अर्जुन परस्पर प्रहार करते हुए विचित्र रीतिसे युद्ध कर रहे थे॥ २४॥

लघुसंधानयोगाभ्यां रथयोश्च रणेन च।

मोहयन्तौ मनुष्याणां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ २५ ॥

शीघ्रतापूर्वक बाणोंके संधान और रथोंके योगसे अपने संग्रामद्वारा वे दोनों वीर लोगोंके नेत्रों और मनको भी मोह लेते थे ॥ २५ ॥

उपारमन्त ते सर्वे योधा भरतसत्तम ।
अदृष्टपूर्वं पश्यन्तस्तद् युद्धं गुरुशिष्ययोः ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गुरु और शिष्यके उस अपूर्व युद्धको देखते हुए सब योद्धा संग्रामसे विरत हो गये ॥ २६ ॥

विचित्रान् पृतनामध्ये रथमार्गानुदीर्य तौ ।
अन्योन्यमपसव्यं च कर्तुं वीरौ तदेषतुः ॥ २७ ॥

वे दोनों वीर सेनाके बीचमें रथके विचित्र पैंतरे प्रकट करते हुए उस समय एक दूसरेको दायें कर देनेकी चेष्टा करने लगे ॥ २७ ॥

पराक्रमं तयोर्योधा ददृशुस्ते सुविस्मिताः ।
तयोः समभवद् युद्धं द्रोणपाण्डवयोर्महत् ॥ २८ ॥
आमिषार्थे महाराज गगने श्येनयोरिव ।

उन द्रोणाचार्य और पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको वे सब सैनिक अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे। महाराज ! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये आकाशमें दो बाज लड़ रहे हों, उसी प्रकार राज्यके लिये उन दोनों गुरु-शिष्योंमें बड़ा भारी युद्ध हो रहा था ॥ २८½ ॥

यद् यच्चकार द्रोणस्तु कुन्तीपुत्रजिगीषया ॥ २९ ॥
तत् तत् प्रतिजघानाशु प्रहसंस्तस्य पाण्डवः ।

द्रोणाचार्य कुन्तीपुत्र अर्जुनको जीतनेकी इच्छासे जिस-जिस अस्त्रका प्रयोग करते थे, उस-उसको पाण्डुपुत्र अर्जुन हँसते हुए तत्काल काट देते थे ॥ २९½ ॥

यदा द्रोणो न शक्नोति पाण्डवं स विशेषितुम् ॥ ३० ॥
ततः प्रादुश्चकारास्त्रमस्त्रमार्गविशारदः ।

जब द्रोणाचार्य पाण्डुपुत्र अर्जुनकी अपेक्षा अपनी विशेषता न सिद्ध कर सके, तब अस्त्रमार्गोंके ज्ञाता गुरुदेवने दिव्यास्त्रोंको प्रकट किया ॥ ३०½ ॥

ऐन्द्रं पाशुपतं त्वाष्ट्रं वायव्यमथ वारुणम् ॥ ३१ ॥
मुक्तं मुक्तं द्रोणचापात् तज्जघान धनंजयः ।

द्रोणाचार्यके धनुषसे क्रमशः छूटे हुए ऐन्द्र, पाशुपत, त्वाष्ट्र, वायव्य तथा वारुण नामक अस्त्रको अर्जुनने तत्काल शान्त कर दिया ॥ ३१½ ॥

अस्त्राण्यस्त्रैर्यदा तस्य विधिवद्धन्ति पाण्डवः ॥ ३२ ॥
ततोऽस्त्रैः परमैर्दिव्यैर्द्रोणः पार्थमवाकिरत् ।

जब पाण्डुकुमार अर्जुन आचार्यके सभी अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक नष्ट करने लगे, तब द्रोणने परम दिव्य अस्त्रोंद्वारा अर्जुनको ढक दिया ॥ ३२½ ॥

यद् यदस्त्रं स पार्थाय प्रयुङ्क्ते विजिगीषया ॥ ३३ ॥
तस्य तस्य विघाताय तत् तद्धि कुरुतेऽर्जुनः ।

परंतु विजयकी इच्छासे वे पार्थपर जिस-जिस अस्त्रका प्रयोग करते थे, उस-उसके विनाशके लिये अर्जुन वैसे ही अस्त्रोंका प्रयोग करते थे ॥ ३३½ ॥

स वध्यमानेष्वस्त्रेषु दिव्येष्वपि यथाविधि ॥ ३४ ॥
अर्जुनेनार्जुनं द्रोणो मनसैवाभ्यपूजयत् ।

जब अर्जुनके द्वारा उनके विधिपूर्वक चलाये हुए दिव्यास्त्र भी प्रतिहत होने लगे, तब द्रोणने अर्जुनकी मन-ही-मन सराहना की ॥ ३४½ ॥

मेने चात्मानमधिकं पृथिव्यामधि भारत ॥ ३५ ॥
तेन शिष्येण सर्वेभ्यः शस्त्रविद्भ्यः परंतपः ।

भारत ! शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणाचार्य उस शिष्यके द्वारा अपने आपको भूमण्डलके सभी शस्त्रवेत्ताओंसे श्रेष्ठ मानने लगे ॥ ३५½ ॥

वार्यमाणस्तु पार्थेन तथा मध्ये महात्मनाम् ॥ ३६ ॥
यतमानोऽर्जुनं प्रीत्या प्रत्यवारयदुत्स्मयन् ।

महामनस्वी वीरोंके बीचमें अर्जुनके द्वारा इस प्रकार रोके जाते हुए द्रोणाचार्य प्रयत्न करके प्रसन्नतापूर्वक मुसकराते हुए स्वयं भी अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३६½ ॥

ततोऽन्तरिक्षे देवाश्च गन्धर्वाश्च सहस्रशः ॥ ३७ ॥
ऋषयः सिद्धसंघाश्च व्यतिष्ठन्त दिदृक्षया ।

तदनन्तर वह युद्ध देखनेकी इच्छासे आकाशमें बहुत-से देवता, सहस्रों गन्धर्व, ऋषि और सिद्धसमुदाय खड़े हो गये ॥ ३७½ ॥

तदप्सरोभिराकीर्णं यक्षगन्धर्वसंकुलम् ॥ ३८ ॥
श्रीमदाकाशमभवद् भूयो मेघाकुलं यथा ।

अप्सराओं, यक्षों और गन्धर्वोंसे भरा हुआ आकाश ऐसी विशिष्ट शोभा पा रहा था, मानो उसमें मेघोंकी घटा घिर आयी हो ॥ ३८½ ॥

तत्र स्मान्तर्हिता वाचो व्यचरन्त पुनः पुनः ॥ ३९ ॥
द्रोणपार्थस्तवोपेता व्यश्रूयन्त नराधिप ।

नरेश्वर ! वहाँ द्रोणाचार्य और अर्जुनकी स्तुतिसे युक्त अदृश्य व्यक्तियोंके मुखोंसे निकली हुई बातें बारंबार सुनायी देने लगीं ॥ ३९½ ॥

विसृज्यमानेष्वस्त्रेषु ज्वालयत्सु दिशो दश ॥ ४० ॥
अब्रुवंस्तत्र सिद्धाश्च ऋषयश्च समागताः ।

जब दिव्यास्त्रोंके प्रयोग होने लगे और उनके तेजसे दसों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं, उस समय आकाशमें एकत्र हुए सिद्ध और ऋषि इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—॥ ४०½ ॥

नैवेदं मानुषं युद्धं नासुरं न च राक्षसम् ॥ ४१ ॥
न दैवं न च गान्धर्वं ब्राह्मं ध्रुवमिदं परम् ।
विचित्रमिदमाश्चर्यं न नो दृष्टं न च श्रुतम् ॥ ४२ ॥

'यह युद्ध न तो मनुष्योंका है, न असुरोंका, न राक्षसोंका है और न देवताओं एवं गन्धर्वोंका ही । निश्चय ही यह परम उत्तम ब्राह्म युद्ध है । ऐसा विचित्र एवं आश्चर्यजनक संग्राम हमलोगोंने न तो कभी देखा था और न सुना ही था ॥ ४१-४२ ॥

अति पाण्डवमाचार्यो द्रोणं चाप्यति पाण्डवः ।
नानयोरन्तरं शक्यं द्रष्टुमन्येन केनचित् ॥ ४३ ॥

'आचार्य द्रोण पाण्डुपुत्र अर्जुनसे बढ़कर हैं और पाण्डुपुत्र अर्जुन भी आचार्य द्रोणसे बढ़कर हैं । इन दोनोंमें कितना अन्तर है, इसे दूसरा कोई नहीं देख सकता ॥४३॥

यदि रुद्रो द्विधाकृत्य युध्येतात्मानमात्मना ।
तत्र शक्योपमा कर्तुमन्यत्र तु न विद्यते ॥ ४४ ॥

'यदि भगवान् शङ्कर अपने दो रूप बनाकर स्वयं ही अपने साथ युद्ध करें तो उसी युद्धसे इनकी उपमा दी जा सकती है; और कहीं इन दोनोंकी समता नहीं है ॥ ४४ ॥

ज्ञानमेकस्थमाचार्ये ज्ञानं योगश्च पाण्डवे ।
शौर्यमेकस्थमाचार्ये बलं शौर्यं च पाण्डवे ॥ ४५ ॥

'आचार्य द्रोणमें सारा ज्ञान एकत्र संचित है; परंतु पाण्डुपुत्र अर्जुनमें ज्ञानके साथ-साथ योग भी है । इसी प्रकार आचार्य द्रोणमें सारा शौर्य एक स्थानपर आ गया है; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुनमें शौर्यके साथ बल भी है ॥ ४५ ॥

नेमौ शक्यौ महेष्वासौ युद्धे क्षपयितुं परैः ।
इच्छमानौ पुनरिमौ हन्येतां सामरं जगत् ॥ ४६ ॥

'ये दोनों महाधनुर्धर वीर युद्धमें दूसरे किन्हीं योद्धाओंके द्वारा नहीं मारे जा सकते । परंतु यदि ये दोनों चाहें तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्का विनाश कर सकते हैं' ॥४६॥

इत्यब्रुवन् महाराज दृष्ट्वा तौ पुरुषर्षभौ ।
अन्तर्हितानि भूतानि प्रकाशानि च सर्वशः ॥ ४७ ॥

महाराज ! उन दोनों पुरुषप्रवर वीरोंको देखकर आकाशमें छिपे हुए तथा प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले प्राणी भी सब ओर यही बातें कह रहे थे ॥ ४७ ॥

ततो द्रोणो ब्राह्ममस्त्रं प्रादुश्चक्रे महामतिः ।
संतापयन् रणे पार्थं भूतान्यन्तर्हितानि च ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यने रणभूमिमें अर्जुनको तथा आकाशवर्ती अदृश्य प्राणियोंको संताप देते हुए ब्रह्मास्त्र प्रकट किया ॥ ४८ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ववौ च विषमो वायुः सागराश्चापि चुक्षुभुः ॥ ४९ ॥

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित धरती डोलने लगी, आँधी उठ गयी और समुद्रोंमें ज्वार आ गया ॥४९॥

ततस्त्रासो महानासीत् कुरुपाण्डवसेनयोः ।
सर्वेषां चैव भूतानामुद्यतेऽस्त्रे महात्मना ॥ ५० ॥

महामना द्रोणके द्वारा ब्रह्मास्त्रके उठाये जाते ही कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंपर तथा समस्त प्राणियोंमें बड़ा भारी आतङ्क छा गया ॥ ५० ॥

ततः पार्थोऽप्यसंभ्रान्तस्तदस्त्रं प्रतिजघ्निवान् ।
ब्रह्मास्त्रेणैव राजेन्द्र ततः सर्वमशीशमत् ॥ ५१ ॥

राजेन्द्र ! तब अर्जुनने भी बिना किसी घबराहटके ब्रह्मास्त्रसे ही द्रोणाचार्यके उस अस्त्रको दबा दिया; फिर सारा उपद्रव शान्त हो गया ॥ ५१ ॥

यदा न गम्यते पारं तयोरन्यतरस्य वा ।
ततः संकुलयुद्धेन तद् युद्धं व्याकुलीकृतम् ॥५२॥

जब द्रोणाचार्य और अर्जुनमेंसे कोई भी किसीको परास्त न कर सका, तब सामूहिक युद्धके द्वारा उस संग्रामको व्यापक बना दिया गया ॥ ५२ ॥

नाज्ञायत ततः किंचित् पुनरेव विशाम्पते ।
प्रवृत्ते तुमुले युद्धे द्रोणपाण्डवयोर्मृधे ॥ ५३ ॥

प्रजानाथ ! रणभूमिमें द्रोणाचार्य और अर्जुनमें घमासान युद्ध छिड़ जानेपर फिर किसीको कुछ सूझ नहीं रहा था ॥ ५३ ॥

(द्रोणो मुक्त्वा रणे पार्थं पञ्चालानन्वधावत ।
अर्जुनोऽपि रणे द्रोणं त्यक्त्वा प्राद्रावयत् कुरून्॥

द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें अर्जुनको छोड़कर पाञ्चालोंपर धावा किया और अर्जुनने भी वहाँ द्रोणाचार्यका मुकाबला छोड़कर कौरव-सैनिकोंको वेगपूर्वक खदेड़ना आरम्भ किया ॥

शरौघैरथ ताभ्यां तु छायाभूतं महामृधे ।
तुमुलं प्रबभौ राजन् सर्वस्य जगतो भयम् ॥)

राजन् ! उस महासमरमें उन दोनोंने अपने बाणसमूहोंद्वारा सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न कर दिया । वह तुमुल युद्ध सम्पूर्ण जगत्के लिये भयदायक प्रतीत हो रहा था ॥

शरजालैः समाकीर्णे मेघजालैरिवाम्बरे ।
नापतच्च ततः कश्चिदन्तरिक्षचरस्तदा ॥ ५४ ॥

आकाशमें इस प्रकार बाणोंका जाल बिछ गया, मानो वहाँ मेघोंकी घटा घिर आयी हो । इससे वहाँ उस समय कोई आकाशचारी पक्षी भी कहीं उड़कर न जा सका ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें घमासान युद्धविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका दुःशासनको हराकर द्रोणाचार्यपर आक्रमण, नकुल-सहदेवद्वारा उनकी रक्षा, दुर्योधन तथा सात्यकिका संवाद तथा युद्ध, कर्ण और भीमसेनका संग्राम और अर्जुनका कौरवोंपर आक्रमण

संजय उवाच

तस्मिंस्तथा वर्तमाने गजाश्वनरसंक्षये।
दुःशासनो महाराज धृष्टद्युम्नमयोधयत्॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! इस प्रकार हाथी, घोड़ों और मनुष्योंका संहार करनेवाले उस वर्तमान युद्धमें दुःशासन धृष्टद्युम्नके साथ जूझने लगा॥ १॥

स तु रुक्मरथासक्तो दुःशासनशरार्दितः।
अमर्षात् तव पुत्रस्य शरैर्वाहानवाकिरत्॥ २॥

धृष्टद्युम्न पहले द्रोणाचार्यके साथ उलझे हुए थे, दुःशासनके बाणोंसे पीड़ित होकर उन्होंने आपके पुत्रके घोड़ोंपर रोषपूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ २॥

क्षणेन स रथस्तस्य सध्वजः सहसारथिः।
नादृश्यत महाराज पार्षतस्य शरैश्चितः॥ ३॥

महाराज! एक ही क्षणमें धृष्टद्युम्नके बाणोंका ऐसा ढेर लग गया कि दुःशासनका रथ ध्वजा और सारथिसहित अदृश्य हो गया॥ ३॥

दुःशासनस्तु राजेन्द्र पाञ्चाल्यस्य महात्मनः।
नाशकत् प्रमुखे स्थातुं शरजालप्रपीडितः॥ ४॥

राजेन्द्र! महामना धृष्टद्युम्नके बाणसमूहोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन उनके सामने ठहर न सका॥ ४॥

स तु दुःशासनं बाणैर्विमुखीकृत्य पार्षतः।
किरञ्छरसहस्राणि द्रोणमेवाभ्ययाद् रणे॥ ५॥

इस प्रकार अपने बाणोंद्वारा दुःशासनको सामनेसे भगाकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए धृष्टद्युम्नने रणभूमिमें पुनः द्रोणाचार्यपर ही आक्रमण किया॥ ५॥

अभ्यपद्यत हार्दिक्यः कृतवर्मा त्वनन्तरम्।
सोदर्याणां त्रयश्चैव त एनं पर्यवारयन्॥ ६॥

यह देख हृदिकपुत्र कृतवर्मा तथा दुःशासनके तीन भाई बीचमें आ धमके। वे चारों मिलकर धृष्टद्युम्नको रोकने लगे॥ ६॥

तं यमौ पृष्ठतोऽन्वैतां रक्षन्तौ पुरुषर्षभौ।
द्रोणायाभिमुखं यान्तं दीप्यमानमिवानलम्॥ ७॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी धृष्टद्युम्नको द्रोणाचार्यके सम्मुख जाते देख नरश्रेष्ठ नकुल और सहदेव उनकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे चले॥ ७॥

सम्प्रहारमकुर्वंस्ते सर्वे च सुमहारथाः।
अमर्षिताः सत्त्ववन्तः कृत्वा मरणमग्रतः॥ ८॥

उस समय अमर्षसे भरे हुए उन सभी धैर्यशाली महारथियोंने मृत्युको सामने रखकर परस्पर युद्ध आरम्भ कर दिया॥ ८॥

शुद्धात्मानः शुद्धवृत्ता राजन् स्वर्गपुरस्कृताः।
आर्यं युद्धमकुर्वन्त परस्परजिगीषवः॥ ९॥

राजन्! उन सबके हृदय शुद्ध और आचार-व्यवहार निर्मल थे। वे सभी स्वर्गकी प्राप्तिरूप लक्ष्यको अपने सामने रखते थे; अतः परस्पर विजयकी अभिलाषासे वे आर्यजनोचित युद्ध करने लगे॥ ९॥

शुक्लाभिजनकर्माणो मतिमन्तो जनाधिप।
धर्मयुद्धमयुध्यन्त प्रेप्सन्तो गतिमुत्तमाम्॥ १०॥

जनेश्वर! उन सबके वंश शुद्ध और कर्म निष्कलङ्क थे; अतः वे बुद्धिमान् योद्धा उत्तम गति पानेकी इच्छासे धर्मयुद्धमें तत्पर हो गये॥ १०॥

न तत्रासीदधर्मिष्ठमशस्तं युद्धमेव च।
नात्र कर्णी न नालीको न लिप्तो न च बस्तिकः॥ ११॥

वहाँ अधर्मपूर्ण और निन्दनीय युद्ध नहीं हो रहा था, उसमें कर्णी[1], नालीक[2], विष लगाये हुए बाण और वस्तिक[3] नामक अस्त्रका प्रयोग नहीं होता था॥ ११॥

न सूची कपिशो नैव न गवास्थिर्गजास्थिजः।
इषुरासीन्न संश्लिष्टो न पूतिर्न च जिह्मगः॥ १२॥

न सूची[4], न कपिश[5], न गायकी हड्डीका बना हुआ, न हाथीकी हड्डीका बना हुआ, न दो फलों या काँटोंवाला,

१. जिधर बाणके फलका रुख हो, उससे विपरीत रुखवाले दो काँटोंसे युक्त बाणको 'कर्णी' कहते हैं। शरीरमें धँस जानेपर यदि उसे निकाला जाय तो वह आँतोंको भी अपने साथ खींच लेता है, इसलिये निन्द्य है। २. 'नालीक' नामक बाण अत्यन्त छोटा होता है, वह शरीरमें पूरा-का-पूरा डूब जाता है, अतः उसे निकालना कठिन हो जाता है। ३. बाणके डंडे और फलके संधि-स्थानमें, जो अत्यन्त पतला होता है, उस बाणको 'वस्तिक' कहते हैं। उसे शरीरसे निकालनेपर वह बीचसे टूट जाता है, फल भीतर रह जाता है और केवल डंडा बाहर निकल पाता है। ४. 'सूची' नामक बाण भी कर्णीके ही समान होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें बहुत-से कण्टक होते हैं। ५. कुछ लोग 'कपिश' को भी सूचीके ही समान मानते हैं। किन्हींके मतमें 'कपिश' का फल बंदरकी हड्डीका बना होता है। अधिकांश लोगोंका मत है कि 'कपिश' काले लोहेका बना होता है, उसका हलका आघात लगनेपर भी वह शरीरमें गहराईतक घुस जाता है। मेदिनीकोषके अनुसार कपिशका अर्थ काला है भी। ६—७. जिस-

न दुर्गन्धयुक्त और न जिह्मग (टेढ़ा जानेवाला) बाण ही काममें लाया जाता था ॥ १२ ॥

ऋजून्येव विशुद्धानि सर्वे शस्त्राण्यधारयन् ।
सुयुद्धेन पराँल्लोकानीप्सन्तः कीर्तिमेव च ॥ १३ ॥

वे सब योद्धा न्याययुक्त युद्धके द्वारा उत्तम लोक और कीर्ति पानेकी अभिलाषा रखकर सरल और शुद्ध शस्त्रोंको ही धारण करते थे ॥ १३ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं सर्वदोषविवर्जितम् ।
चतुर्णां तव योधानां तैस्त्रिभिः पाण्डवैः सह ॥ १४ ॥

आपके चार योद्धाओंका तीन पाण्डव वीरोंके साथ जो घमासान युद्ध चल रहा था, वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित था ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु तान् दृष्ट्वा तव राजन् रथर्षभान् ।
यमाभ्यां वारितान् वीराञ्छीघ्रास्त्रो द्रोणमभ्ययात् ॥ १५ ॥

राजन् ! धृष्टद्युम्न शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले थे। वे नकुल और सहदेवके द्वारा कौरवपक्षके उन वीर महारथियोंको रोका गया देख स्वयं द्रोणाचार्यकी ओर बढ़ गये ॥ १५ ॥

निवारितास्तु ते वीरास्तयोः पुरुषसिंहयोः ।
समसज्जन्त चत्वारो वाताः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

वहाँ रोके गये वे चारों वीर उन दोनों पुरुषसिंह पाण्डवोंके साथ इस प्रकार भिड़ गये मानो चौआई हवा दो पर्वतोंसे टकरा रही हो ॥ १६ ॥

द्वाभ्यां द्वाभ्यां यमौ सार्धं रथाभ्यां रथपुङ्गवौ ।
समासक्तौ ततो द्रोणं धृष्टद्युम्नोऽभ्यवर्तत ॥ १७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ नकुल और सहदेव दो-दो कौरव रथियोंके साथ जूझने लगे। इतनेहीमें धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यके सामने जा पहुँचे ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा द्रोणाय पाञ्चाल्यं व्रजन्तं युद्धदुर्मदम् ।
यमाभ्यां तांश्च संसक्तांस्तदन्तरमुपाद्रवत् ॥ १८ ॥
दुर्योधनो महाराज किरञ्छोणितभोजनान् ।

महाराज ! रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको द्रोणाचार्यकी ओर जाते और अपने दलके उन चारों वीरोंको नकुल-सहदेवके साथ युद्ध करते देख राजा दुर्योधन रक्त पीनेवाले बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनके बीचमें आ धमका ॥ १८½ ॥

तं सात्यकिः शीघ्रतरं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
तौ परस्परमासाद्य समीपे कुरुमाधवौ ।
हसमानौ नृशार्दूलावभीतौ समसज्जताम् ॥ २० ॥

यह देख सात्यकि बड़ी शीघ्रताके साथ पुनः दुर्योधनके सम्मुख आ गये। वे दोनों मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी थे। कुरुवंशी दुर्योधन और मधुवंशी सात्यकि एक दूसरेको समीप पाकर निर्भय हो हँसते हुए युद्ध करने लगे ॥ १९-२० ॥

बाल्यवृत्तानि सर्वाणि प्रीयमाणौ विचिन्त्य तौ ।
अन्योन्यं प्रेक्षमाणौ च स्मयमानौ पुनः पुनः ॥ २१ ॥

बचपनकी सारी बातें याद करके वे दोनों वीर एक दूसरेकी ओर देखते हुए बारंबार प्रसन्नतापूर्वक मुसकरा उठते थे ॥ २१ ॥

अथ दुर्योधनो राजा सात्यकिं समभाषत ।
प्रियं सखायं सततं गर्हयन् वृत्तमात्मनः ॥ २२ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधनने अपने बर्तावकी निरन्तर निन्दा करते हुए वहाँ अपने प्रिय सखा सात्यकिसे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

धिक् क्रोधं धिक् सखे लोभं धिङ्मोहं धिगमर्षितम् ।
धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलमौरसम् ॥ २३ ॥

'सखे ! क्रोधको धिक्कार है, लोभको धिक्कार है, मोहको धिक्कार है, अमर्षको धिक्कार है, इस क्षत्रियोचित आचारको धिक्कार है तथा औरस बलको भी धिक्कार है ॥ २३ ॥

यत्र मामभिसंधत्से त्वां चाहं शिनिपुङ्गव ।
त्वं हि प्राणैः प्रियतरो ममाहं च सदा तव ॥ २४ ॥

'शिनिप्रवर ! इन क्रोध, लोभ आदिके ही अधीन होकर तुम मुझे अपने बाणोंका निशाना बनाते हो और तुम्हें मैं। वैसे तो तुम मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय रहे हो और मैं भी तुम्हारा सदा ही प्रीतिपात्र रहा हूँ ॥ २४ ॥

स्मरामि तानि सर्वाणि बाल्यवृत्तानि यानि नौ ।
तानि सर्वाणि जीर्णानि साम्प्रतं नो रणाजिरे ॥ २५ ॥

'हम दोनोंके बचपनमें परस्पर जो बर्ताव रहे हैं, उन सबको इस समय मैं याद कर रहा हूँ; परंतु अब इस समराङ्गणमें हमारे वे सभी सद्व्यवहार जीर्ण हो गये हैं ॥

किमन्यत्क्रोधलोभाभ्यां युद्धमेवाद्य सात्वत ।
तं तथावादिनं तत्र सात्यकिः प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥
प्रहसन् विशिखांस्तीक्ष्णानुद्यम्य परमास्त्रवित् ।

'सात्वत वीर ! आजका यह युद्ध ही क्रोध और लोभके सिवा दूसरा क्या है ?' उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता सात्यकिने हँसते हुए तीखे बाणोंको ऊपर उठाकर वहाँ पूर्वोक्त बातें करनेवाले दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २६½ ॥

नेयं सभा राजपुत्र नाचार्यस्य निवेशनम् ॥ २७ ॥
यत्र क्रीडितमस्माभिस्तदा राजन् समागतैः ।

'राजकुमार ! कौरवनरेश ! न तो यह सभा है और न आचार्यका घर ही है जहाँ एकत्र होकर हम सब लोग खेला करते थे' ॥ २७½ ॥

का फल गायकी हड्डीका बना हो, वह 'गवास्थिज' और जिसका हाथीकी हड्डीका बना हो, वह 'गजास्थिज' कहलाता है। इसका असर भी विषलिप्त बाणके समान ही होता है।

दुर्योधन उवाच

क सा क्रीडा गतास्माकं बाल्ये वै शिनिपुङ्गव ॥ २८ ॥
क च युद्धमिदं भूयः 'कालो हि दुरतिक्रमः' ।

दुर्योधन बोला—शिनिप्रवर ! हमारा बचपनका वह खेल कहाँ चला गया और फिर यह युद्ध कहाँसे आ धमका ? हाय ! कालका उल्लंघन करना अत्यन्त ही कठिन है ॥

किं नु नो विद्यते कृत्यं धनेन धनलिप्सया ॥ २९ ॥
यत्र युध्यामहे सर्वे धनलोभात् समागताः ।

हमें धनसे या धन पानेकी इच्छासे क्या प्रयोजन है ! जो हम सब लोग यहाँ धनके लोभसे एकत्र होकर जूझ रहे हैं ॥ २९½ ॥

संजय उवाच

तं तथावादिनं तत्र राजानं माधवोऽब्रवीत् ॥ ३० ॥
एवंवृत्तं सदा क्षात्रं युध्यन्तीह गुरूनपि ।
यदि तेऽहं प्रियो राजन् जहि मां मा चिरं कृथाः ॥ ३१ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ऐसी बात कहनेवाले राजा दुर्योधनसे सात्यकिने इस प्रकार कहा—'राजन् ! क्षत्रियोंका सनातन आचार ही ऐसा है कि वे यहाँ गुरुजनोंके साथ भी युद्ध करते हैं । यदि मैं तुम्हारा प्रिय हूँ तो तुम मुझे शीघ्र मार डालो, विलम्ब न करो ॥ ३०–३१ ॥

त्वत्कृते सुकृतांल्लोकान् गच्छेयं भरतर्षभ ।
या ते शक्तिर्बलं यच्च तत् क्षिप्रं मयि दर्शय ॥ ३२ ॥
नेच्छामि तदहं द्रष्टुं मित्राणां व्यसनं महत् ।

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे ऐसा करनेपर मैं पुण्यवानोंके लोकोंमें जाऊँगा । तुममें जितनी शक्ति और बल है, वह सब शीघ्र मेरे ऊपर दिखाओ; क्योंकि मैं अपने मित्रोंका वह महान् संकट नहीं देखना चाहता हूँ' ॥ ३२½ ॥

इत्येवं व्यक्तमाभाष्य प्रतिभाष्य च सात्यकिः ॥ ३३ ॥
अभ्ययात् तूर्णमव्यग्रो दयां नाकुरुतात्मनि ।

इस प्रकार स्पष्ट बोलकर दुर्योधनकी बातका उत्तर दे सात्यकि निःशङ्क होकर तुरंत आगे बढ़े, उन्होंने अपने ऊपर दया नहीं दिखायी ॥ ३३½ ॥

तमायान्तं महाबाहुं प्रत्यगृह्णात् तवात्मजः ।' ३४ ॥
शरैश्चावाकिरद् राजञ्शैनेयं तनयस्तव ।

राजन् ! सामने आते हुए उन महाबाहु सात्यकिको आपके पुत्रने रोका और उन्हें बाणोंसे ढक दिया ॥ ४३½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरुमाधवसिंहयोः ॥ ३५ ॥
अन्योन्यं क्रुद्धयोर्घोरं यथा द्विरदसिंहयोः ।

तदनन्तर हाथी और सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए उन कुरुवंशी और मधुवंशी सिंहोंमें परस्पर घोर युद्ध होने लगा ॥ ३५½ ॥

ततः पूर्णायतोत्सृष्टैः सात्वतं युद्धदुर्मदम् ॥ ३६ ॥
दुर्योधनः प्रत्यविध्यत् कुपितो दशभिः शरैः ।

तत्पश्चात् कुपित हुए दुर्योधनने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये दस बाणोंद्वारा रणदुर्मद सात्यकिको घायल कर दिया ॥ ३६½ ॥

तं सात्यकिः प्रत्यविध्यत् तथैवावाकिरच्छरैः ॥ ३७ ॥
पञ्चाशता पुनश्चाजौ त्रिंशता दशभिश्च ह ।

इसी प्रकार सात्यकिने भी युद्धस्थलमें पहले पचास, फिर तीस और फिर दस बाणोंद्वारा दुर्योधनको बींध डाला और उसे भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥

सात्यकिं तु रणे राजन् प्रहसंस्तनयस्तव ॥ ३८ ॥
आकर्णपूर्णैर्निशितैर्विव्याध त्रिंशता शरैः ।

राजन् ! तब हँसते हुए आपके पुत्रने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए तीस तीखे बाणोंद्वारा रणभूमिमें सात्यकिको क्षत-विक्षत कर डाला ॥ ३८½ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं क्षुरप्रेण द्विधाच्छिनत्॥ ३९ ॥
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय लघुहस्तस्ततो दृढम् ।
सात्यकिर्व्यसृजच्चापि शरश्रेणीं सुतस्य ते ॥ ४० ॥

इसके बाद उसने क्षुरप्रसे सात्यकिके बाणसहित धनुषको काटकर उसके दो टुकड़े कर डाले । तब सात्यकिने दूसरा सुदृढ़ धनुष हाथमें लेकर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाते हुए वहाँ आपके पुत्रपर बाणोंकी श्रेणियाँ बरसानी आरम्भ कर दीं ॥ ३९–४० ॥

तामापतन्तीं सहसा शरश्रेणीं जिघांसया ।
चिच्छेद बहुधा राजा तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ ४१ ॥

वधके लिये अपने ऊपर सहसा आती हुई उन बाण-पंक्तियोंके राजा दुर्योधनने अनेक टुकड़े कर डाले; इससे सब लोग हर्षध्वनि करने लगे ॥ ४१ ॥

सात्यकिं च त्रिसप्तत्या पीडयामास वेगितः ।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैराकर्णापूर्णनिःसृतैः ॥ ४२ ॥

फिर शिलापर साफ किये हुए सुनहरी पाँखवाले तिहत्तर बाणोंसे, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, दुर्योधनने वेगपूर्वक सात्यकिको पीड़ित कर दिया ॥४२॥

तस्य संदधतश्चेषुं संहितेषुं च कार्मुकम् ।
आच्छिनत् सात्यकिस्तूर्णं शरैश्चैवाप्यवीविधत्॥ ४३ ॥

तब सात्यकिने संधान करते हुए दुर्योधनके बाणको और जिसपर वह बाण रक्खा गया था उस धनुषको तुरंत ही काट डाला तथा बहुत-से बाण मारकर दुर्योधनको भी घायल कर दिया ॥ ४३ ॥

स गाढविद्धो व्यथितः प्रत्यपायाद् रथान्तरे ।
दुर्योधनो महाराज दाशार्हशरपीडितः ॥ ४४ ॥

महाराज ! उस समय दुर्योधन सात्यकिके बाणोंसे गहरी चोट खाकर पीड़ित एवं व्यथित हो उठा और रथके भीतर चला गया ॥ ४४ ॥

समाश्वस्य तु पुत्रस्ते सात्यकिं पुनरभ्ययात् ।
विसृजन्निषुजालानि युयुधानरथं प्रति ॥ ४५ ॥

फिर धीरे-धीरे कुछ आराम मिलनेपर आपका पुत्र पुनः सात्यकिपर चढ़ आया और उनके रथपर बाणोंके जाल बिछाने लगा ॥ ४५ ॥

तथैव सात्यकिर्बाणान् दुर्योधनरथं प्रति ।
सततं विसृजन् राजंस्तत् संकुलमवर्तत ॥ ४६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार सात्यकि भी दुर्योधनके रथपर निरन्तर बाण-वर्षा करने लगे। इससे वह संग्राम संकुल (घमासान) युद्धके रूपमें परिणत हो गया ॥ ४६ ॥

तत्रेषुभिः क्षिप्यमाणैः पतद्भिश्च शरीरिषु ।
अग्नेरिव महाकक्षे शब्दः समभवन्महान् ॥ ४७ ॥

वहाँ चलाये गये बाण जब देहधारियोंके ऊपर पड़ते थे, उस समय सूखे बाँस आदिके भारी ढेरमें लगी हुई आगके समान बड़े जोरसे शब्द होता था ॥ ४७ ॥

तयोः शरसहस्रैश्च संछन्नं वसुधातलम् ।
अगम्यरूपं च शरैराकाशं समपद्यत ॥ ४८ ॥

उन दोनोंके हजारों बाणोंसे पृथ्वी ढक गयी और आकाशमें भी बाणोंके कारण (पक्षियोंतकका) चलना-फिरना बंद हो गया ॥ ४८ ॥

तत्राप्यधिकमालक्ष्य माधवं रथसत्तमम् ।
क्षिप्रमभ्यपतत् कर्णः परीप्संस्तनयं तव ॥ ४९ ॥

उस युद्धमें महारथी सात्यकिको प्रबल होते देख कर्ण आपके पुत्रकी रक्षाके लिये शीघ्र ही बीचमें कूद पड़ा ॥४९॥

न तु तं मर्षयामास भीमसेनो महाबलः ।
सोऽभ्ययात्त्वरितः कर्णं विसृजन् सायकान् बहून् ॥५०॥

परंतु महाबली भीमसेन उसका यह कार्य सहन न कर सके, अतः बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्होंने तुरंत ही कर्णपर धावा किया ॥ ५० ॥

तस्य कर्णः शितान् बाणान् प्रतिहत्य हसन्निव ।
धनुः शरांश्च चिच्छेद सूतं चाभ्यहनच्छरैः ॥ ५१ ॥

तब कर्णने हँसते हुए-से उनके तीखे बाणोंको नष्ट करके धनुष और बाण भी काट डाले; फिर अनेक बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी मार डाला ॥ ५१ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामादाय पाण्डवः ।
ध्वजं धनुश्च सूतं च सम्ममर्दाहवे रिपोः ॥ ५२ ॥

इससे अत्यन्त कुपित होकर पाण्डुनन्दन भीमसेनने गदा हाथमें ले ली और उसके द्वारा युद्धस्थलमें शत्रुके ध्वज, धनुष और सारथिको भी कुचल डाला ॥ ५२ ॥

रथचक्रं च कर्णस्य बभञ्ज स महाबलः ।
भग्नचक्रे रथेऽतिष्ठदकम्पः शैलराडिव ॥ ५३ ॥

इतना ही नहीं, महाबली भीमने कर्णके रथका एक पहिया भी तोड़ डाला तो भी कर्ण टूटे पहियेवाले उस रथपर गिरिराजके समान अविचल भावसे खड़ा रहा ॥ ५३ ॥

एकचक्रं रथं तस्य तमूहुः सुचिरं हयाः ।
एकचक्रमिवार्कस्य रथं सप्त हया यथा ॥ ५४ ॥

कर्णके घोड़े उसके एक पहियेवाले रथको बहुत देरतक ढोते रहे, मानो सूर्यके सात अश्व उनके एक चक्रवाले रथको खींच रहे हैं ॥ ५४ ॥

अमृष्यमाणः कर्णस्तु भीमसेनमयुध्यत ।
विविधैरिषुजालैश्च नानाशस्त्रैश्च संयुगे ॥ ५५ ॥

कर्णको भीमसेनका यह पराक्रम सहन नहीं हुआ। वह नाना प्रकारके बाणसमूहों तथा अनेकानेक शस्त्रोंसे रणभूमिमें उनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ५५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः सूतपुत्रमयोधयत् ।
तस्मिंस्तथा वर्तमाने क्रुद्धो धर्मसुतोऽब्रवीत् ॥ ५६ ॥
पञ्चालानां नरव्याघ्रान् मत्स्यांश्च पुरुषर्षभान् ।

इससे भीमसेन अत्यन्त कुपित हो उठे और सूतपुत्र कर्णके साथ घोर युद्ध करने लगे। इस प्रकार जब वह युद्ध चल रहा था, उसी समय क्रोधमें भरे हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिरने पाञ्चालोंके नरव्याघ्र वीरों और पुरुषरत्न मत्स्य-देशीय योद्धाओंसे कहा—॥ ५६½ ॥

ये नः प्राणाः शिरो ये च ये नो योधा महारथाः ॥ ५७ ॥
त एते धार्तराष्ट्रेषु विषक्ताः पुरुषर्षभाः ।
किं तिष्ठत यथा मूढाः सर्वे विगतचेतसः ॥ ५८ ॥

'जो पुरुषशिरोमणि महारथी योद्धा हमारे प्राण और मस्तक हैं, वे ही धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ जूझ रहे हैं, फिर तुम सब लोग मूर्ख और अचेत मनुष्योंके समान यहाँ क्यों खड़े हो ? ॥ ५७–५८ ॥

तत्र गच्छत यत्रैते युध्यन्ते मामका रथाः ।
क्षात्रधर्मं पुरस्कृत्य सर्व एव गतज्वराः ॥ ५९ ॥

'वहाँ जाओ, जहाँ ये मेरे सब रथी क्षत्रियधर्मको सामने रखकर निश्चिन्त भावसे युद्ध कर रहे हैं ॥ ५९ ॥

जयन्तो वध्यमानाश्च गतिमिष्टां गमिष्यथ ।
जित्वा वा बहुभिर्यज्ञैर्यजध्वं भूरिदक्षिणैः ॥ ६० ॥
हता वा देवसाद् भूत्वा लोकान् प्राप्स्यथ पुष्कलान् ।

'तुमलोग विजयी होओ अथवा मारे जाओ, दोनों ही दशाओंमें उत्तम गति प्राप्त करोगे। जीतकर तो तुम प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त बहुसंख्यक यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करो अथवा मारे जानेपर देवरूप होकर बहुत-से पुण्यलोक प्राप्त करो' ॥ ६०½ ॥

ते राज्ञा चोदिता वीरा योत्स्यमाना महारथाः ॥ ६१ ॥
क्षात्रधर्मं पुरस्कृत्य त्वरिता द्रोणमभ्ययुः ।

राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार प्रेरित हो उन वीर महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर क्षत्रियधर्मको सामने रखते हुए बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्य-पर आक्रमण किया ॥ ६१½ ॥

पञ्चालास्त्वेकतो द्रोणमभ्यघ्नन् निशितैः शरैः ॥ ६२ ॥
भीमसेनपुरोगाश्चाप्येकतः पर्यवारयन् ।

एक ओरसे पाञ्चाल वीर तीखे बाणोंसे द्रोणाचार्यको मारने लगे और दूसरी ओरसे भीमसेन आदि वीरोंने उन्हें घेर रक्खा था ॥ ६२½ ॥

आसंस्तु पाण्डुपुत्राणां त्रयो जिह्मा महारथाः ॥ ६३ ॥
यमौ च भीमसेनश्च प्राक्रोशंस्ते धनंजयम् ।
अभिद्रवार्जुन क्षिप्रं कुरून् द्रोणादपानुद ॥ ६४ ॥

पाण्डवोंके तीन महारथी कुछ कुटिल स्वभावके थे—नकुल, सहदेव और भीमसेन । इन तीनोंने अर्जुनको पुकारा—'अर्जुन ! दौड़ो, दौड़ो और शीघ्र ही द्रोणाचार्यके पाससे इन कौरवोंको भगाओ ॥ ६३-६४ ॥

तत एनं हनिष्यन्ति पञ्चाला हतरक्षिणम् ।
कौरवेयांस्ततः पार्थः सहसा समुपाद्रवत् ॥ ६५ ॥

'जब इनके रक्षक मारे जायँगे, तभी पाञ्चाल वीर इन्हें मार सकेंगे ।' तब अर्जुनने सहसा कौरवयोद्धाओं-पर आक्रमण किया ॥ ६५ ॥

पञ्चालानेव तु द्रोणो धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
ममर्दुस्तरसा वीराः पञ्चमेऽहनि भारत ॥ ६६ ॥

भारत ! उधरसे द्रोणने धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालोंपर ही धावा किया । उस पाँचवें दिनके युद्धमें वे सभी वीर वेगपूर्वक एक दूसरेको रौंदने लगे ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८९॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका घोर कर्म, ऋषियोंका द्रोणको अस्त्र त्यागनेका आदेश तथा अश्वत्थामाकी मृत्यु सुनकर द्रोणका जीवनसे निराश होना

संजय उवाच

पञ्चालानां ततो द्रोणोऽप्यकरोत् कदनं महत् ।
यथा क्रुद्धो रणे शक्रो दानवानां क्षयं पुरा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर द्रोणाचार्यने कुपित होकर रणभूमिमें पाञ्चालोंका उसी प्रकार संहार आरम्भ किया, जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने दानवोंका विनाश किया था ॥ १ ॥

द्रोणास्त्रेण महाराज वध्यमानाः परे युधि ।
नात्रसन्त रणे द्रोणात् सत्त्ववन्तो महारथाः ॥ २ ॥

महाराज ! द्रोणाचार्यके अस्त्रसे मारे जानेवाले शत्रुदलके महारथी वीर बड़े धैर्यशाली थे, अतः वे रणभूमिमें उनसे तनिक भी भयभीत न हुए ॥ २ ॥

युध्यमाना महाराज पञ्चालाः सृंजयास्तथा ।
द्रोणमेवाभ्ययुर्युद्धे योधयन्तो महारथाः ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! युद्धपरायण पाञ्चाल और सृंजय महारथी संग्राममें द्रोणाचार्यके साथ युद्ध करते हुए उन्हींकी ओर बढ़े आ रहे थे ॥ ३ ॥

तेषां तु च्छाद्यमानानां पञ्चालानां समन्ततः ।
अभवद् भैरवो नादो वध्यतां शरवृष्टिभिः ॥ ४ ॥

बाणोंकी वर्षासे आच्छादित हो सब ओरसे मारे जानेवाले पाञ्चाल वीरोंका भयंकर आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ ४ ॥

वध्यमानेषु संग्रामे पञ्चालेषु महात्मना ।
उदीर्यमाणे द्रोणास्त्रे पाण्डवान् भयमाविशत् ॥ ५ ॥

संग्राममें जब इस प्रकार महामनस्वी द्रोणाचार्यके द्वारा पाञ्चाल सैनिक मारे जाने लगे और आचार्य द्रोणके अस्त्र लगातार बरसने लगे, तब पाण्डवोंके मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ५ ॥

दृष्ट्वाश्वनरयोधानां विपुलं च क्षयं युधि ।
पाण्डवेया महाराज नाशशंसुर्जयं तदा ॥ ६ ॥

महाराज ! युद्धस्थलमें घोड़ों और मनुष्य-योद्धाओंका वह महान् विनाश देखकर पाण्डवोंकी अपनी विजयकी आशा जाती रही ॥ ६ ॥

कच्चिद् द्रोणो न नः सर्वान् क्षपयेत् परमास्त्रवित् ।
समिद्धः शिशिरापाये दहन् कक्षमिवानलः ॥ ७ ॥

(वे सोचने लगे–) 'जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सूखे जंगल या घास-फूसको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता आचार्य द्रोण कहीं हम सब लोगोंका संहार न कर डालें ॥ ७ ॥

न चैनं संयुगे कश्चित् समर्थः प्रतिवीक्षितुम् ।
न चैनमर्जुनो जातु प्रतियुध्येत धर्मवित् ॥ ८ ॥

'रणभूमिमें दूसरा कोई योद्धा उनकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं है (युद्ध करना तो दूरकी बात है) और धर्मके

ज्ञाता अर्जुन कदापि उनके साथ (मन लगाकर) युद्ध नहीं करेंगे' ॥ ८ ॥

ग्रस्तान् कुन्तीसुतान् दृष्ट्वा द्रोणसायकपीडितान्।
मतिमाञ्छ्रेयसे युक्तः केशवोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

कुन्तीके पुत्रोंको द्रोणाचार्यके बाणोंसे पीड़ित एवं भयभीत देखकर उनके कल्याणमें लगे हुए बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

नैष युद्धे न संग्रामे जेतुं शक्यः कथञ्चन।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो देवैरपि सवासवैः ॥ १० ॥

'पार्थ ! ये द्रोणाचार्य सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हैं, जबतक इनके हाथोंमें धनुष रहेगा, तबतक इन्हें युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी किसी प्रकार जीत नहीं सकते ॥ १० ॥

न्यस्तशस्त्रस्तु संग्रामे शक्यो हन्तुं भवेन्नृभिः।
आस्थीयतां जये योगो धर्ममुत्सृज्य पाण्डवाः ॥ ११ ॥
यथा वः संयुगे सर्वान् न हन्याद् रुक्मवाहनः।

'जब ये संग्राममें हथियार डाल देंगे, तभी मनुष्योंद्वारा मारे जा सकते हैं । अतः पाण्डवो ! 'गुरुका वध करना उचित नहीं है' इस धर्मभावनाको छोड़कर उनपर विजय पानेके लिये कोई यत्न करो; जिससे सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्य तुम सब लोगोंका वध न कर डालें ॥ ११½ ॥

अश्वत्थाम्नि हते नैष युध्येदिति मतिर्मम ॥ १२ ॥
तं हतं संयुगे कश्चिदस्मै शंसतु मानवः।

'मेरा विश्वास है कि अश्वत्थामाके मारे जानेपर ये युद्ध नहीं कर सकते । कोई मनुष्य उनसे जाकर कहे कि 'युद्धमें अश्वत्थामा मारा गया'' ॥ १२½ ॥

एतन्नारोचयद् राजन् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १३ ॥
अन्ये त्वरोचयन् सर्वे कृच्छ्रेण तु युधिष्ठिरः।

राजन् ! कुन्तीपुत्र अर्जुनको यह बात अच्छी नहीं लगी, किंतु अन्य सब लोगोंने इस युक्तिको पसंद कर लिया । केवल कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बड़ी कठिनाईसे इस बातपर राजी हुए ॥ १३½ ॥

ततो भीमो महाबाहुरनीके स्वे महागजम् ॥ १४ ॥
जघान गदया राजन्नश्वत्थामानमित्युत।
परप्रमथनं घोरं मालवस्येन्द्रवर्मणः ॥ १५ ॥

राजन् ! तब महाबाहु भीमसेनने अपनी ही सेनाके एक विशाल हाथीको गदासे मार डाला । उसका नाम था अश्वत्थामा । शत्रुओंको मथ डालनेवाला वह भयंकर गजराज मालवाके राजा इन्द्रवर्माका था ॥ १४-१५ ॥

भीमसेनस्तु सव्रीडमुपेत्य द्रोणमाहवे।
अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार ह ॥ १६ ॥

उसे मारकर भीमसेन लजाते-लजाते युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यके पास गये और बड़े जोरसे बोले—'अश्वत्थामा मारा गया' ॥ १६ ॥

अश्वत्थामेति हि गजः ख्यातो नाम्ना हतोऽभवत्।
कृत्वा मनसि तं भीमो मिथ्या व्याहृतवांस्तदा ॥ १७ ॥

'अश्वत्थामा' नामसे विख्यात हाथी मारा गया था, उसीको मनमें रखकर भीमसेनने उस समय वह झूठी बात कही थी ॥ १७ ॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा द्रोणस्तत् परमाप्रियम्।
मनसा सन्नगात्रोऽभूद् यथा सैकतमम्भसि ॥ १८ ॥

भीमसेनका वह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन शोकसे व्याकुल हो सन्न रह गये । जैसे पानी पड़ते ही बालू गल जाता है, उसी प्रकार उस दुःखद संवादसे उनका सारा शरीर शिथिल हो गया ॥ १८ ॥

शङ्कमानः स तन्मिथ्या वीर्यज्ञः स्वसुतस्य वै।
हतः स इति च श्रुत्वा नैव धैर्यादकम्पत ॥ १९ ॥

फिर उनके मनमें यह संदेह हुआ कि सम्भव है, यह बात झूठी हो; क्योंकि वे अपने पुत्रके बल-पराक्रमको जानते थे; अतः उसके मारे जानेकी बात सुनकर भी धैर्यसे विचलित न हुए ॥ १९ ॥

स लब्ध्वा चेतनां द्रोणः क्षणेनैव समाश्वसत्।
अनुचिन्त्यात्मनः पुत्रमविषह्यमरातिभिः ॥ २० ॥

उनके मनमें बारंबार यह विचार आया कि मेरा पुत्र तो शत्रुओंके लिये असह्य है; अतः क्षणभरमें ही सचेत होकर उन्होंने अपने आपको सँभाल लिया ॥ २० ॥

स पार्षतमभिद्रुत्य जिघांसुर्मृत्युमात्मनः।
अवाकिरत् सहस्रेण तीक्ष्णानां कङ्कपत्रिणाम्॥ २१॥

तत्पश्चात् अपनी मृत्युस्वरूप धृष्टद्युम्नको मार डालनेकी इच्छासे वे उसपर टूट पड़े और कङ्कपत्रयुक्त सहस्रों तीखे बाणोंद्वारा उन्हें आच्छादित करने लगे॥ २१॥

तं विंशतिसहस्राणि पञ्चालानां नरर्षभाः।
तथा चरन्तं संग्रामे सर्वतोऽवाकिरञ्छरैः॥ २२॥

इस प्रकार संग्राममें विचरते हुए द्रोणाचार्यपर बीस हजार नरश्रेष्ठ पाञ्चाल-वीर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ २२॥

शरैस्तैराचितं द्रोणं नापश्याम महारथम्।
भास्करं जलदै रुद्धं वर्षास्विव विशाम्पते॥ २३॥

प्रजानाथ! जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित हुए सूर्य नहीं दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उन बाणोंके ढेरसे दबे हुए महारथी द्रोणको हमलोग नहीं देख पाते थे॥ २३॥

विधूय तान् बाणगणान् पञ्चालानां महारथः।
प्रादुश्चक्रे ततो द्रोणो ब्राह्ममस्त्रं परंतपः॥ २४॥
वधाय तेषां शूराणां पञ्चालानाममर्षितः।

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी द्रोणाचार्यने पाञ्चालोंके उन बाण-समूहोंको नष्ट करके शूरवीर पाञ्चालोंके वधके लिये अमर्षयुक्त होकर ब्रह्मास्त्र प्रकट किया॥ २४½॥

ततो व्यरोचत द्रोणो विनिघ्नन् सर्वसैनिकान्॥ २५॥
शिरांस्यपातयच्चापि पञ्चालानां महामृधे।
तथैव परिघाकारान् बाहून् कनकभूषणान्॥ २६॥

तदनन्तर सम्पूर्ण सैनिकोंका विनाश करते हुए द्रोणाचार्यकी बड़ी शोभा होने लगी। उन्होंने उस महासमरमें पाञ्चालवीरोंके मस्तक और सुवर्णभूषित परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ काट गिरायीं॥ २५-२६॥

ते वध्यमानाः समरे भारद्वाजेन पार्थिवाः।
मेदिन्यामन्वकीर्यन्त वातनुन्ना इव द्रुमाः॥ २७॥

समराङ्गणमें द्रोणाचार्यके द्वारा मारे जानेवाले वे पाञ्चाल-नरेश आँधीके उखाड़े हुए वृक्षोंके समान धरतीपर बिछ गये॥ २७॥

कुञ्जराणां च पततां हयौघानां च भारत।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा॥ २८॥

भरतनन्दन! धराशायी होते हुए हाथियों और अश्व-समूहोंके मांस तथा रक्तसे कीच जम जानेके कारण वहाँकी भूमिपर चलना-फिरना असम्भव हो गया॥ २८॥

हत्वा विंशतिसाहस्रान् पञ्चालानां रथव्रजान्।
अतिष्ठदाहवे द्रोणो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ २९॥

उस समय पाञ्चालोंके बीस हजार रथियोंका संहार करके द्रोणाचार्य युद्धस्थलमें धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान खड़े थे॥ २९॥

तथैव च पुनः क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान्।
वसुदानस्य भल्लेन शिरः कायादपाहरत्॥ ३०॥

प्रतापी भरद्वाजनन्दनने पुनः पूर्ववत् कुपित होकर एक भल्लके द्वारा वसुदानका मस्तक धड़से अलग कर दिया॥ ३०॥

पुनः पञ्चशतान् मत्स्यान् षट्सहस्रांश्च सृंजयान्।
हस्तिनामयुतं हत्वा जघानाश्वायुतं पुनः॥ ३१॥

इसके बाद मत्स्यदेशके पचास योद्धाओंका, सृंजयवंशके छः हजार सैनिकोंका तथा दस हजार हाथियोंका संहार करके उन्होंने पुनः दस हजार घुड़सवारोंकी सेनाका सफाया कर दिया॥ ३१॥

क्षत्रियाणामभावाय दृष्ट्वा द्रोणमवस्थितम्।
ऋषयोऽभ्यागतास्तूर्णं हव्यवाहपुरोगमाः॥ ३२॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यको क्षत्रियोंका विनाश करनेके लिये उद्यत देख तुरंत ही अग्निदेवको आगे करके बहुत-से महर्षि वहाँ आये॥ ३२॥

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
वसिष्ठः कश्यपोऽत्रिश्च ब्रह्मलोकं निनीषवः॥ ३३॥

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि—ये सब लोग उन्हें ब्रह्मलोक ले जानेकी इच्छासे वहाँ पधारे थे॥ ३३॥

सिकताः पृश्नयो गर्गा वालखिल्या मरीचिपाः।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव सूक्ष्माश्चान्ये महर्षयः॥ ३४॥

साथ ही सिकत, पृश्नि, गर्ग, सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य, भृगु, अङ्गिरा तथा अन्य सूक्ष्मरूप-धारी महर्षि भी वहाँ आये थे॥ ३४॥

त एनमब्रुवन् सर्वे द्रोणमाहवशोभिनम्।
अधर्मतः कृतं युद्धं समयो निधनस्य ते॥ ३५॥
न्यस्यायुधं रणे द्रोण समीक्षास्मानवस्थितान्।
नातः क्रूरतरं कर्म पुनः कर्तुमिहार्हसि॥ ३६॥

उन सबने संग्राममें शोभा पानेवाले द्रोणाचार्यसे इस प्रकार कहा—'द्रोण! तुम हथियार नीचे डालकर यहाँ खड़े हुए हमलोगोंकी ओर देखो। अबतक तुमने अधर्मसे युद्ध किया है, अब तुम्हारी मृत्युका समय आ गया है, इसलिये अब फिर यह क्रूरतापूर्ण कर्म न करो॥ ३५-३६॥

वेदवेदाङ्गविदुषः सत्यधर्मरतस्य ते।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तवैतन्नोपपद्यते॥ ३७॥

'तुम वेद और वेदाङ्गोंके विद्वान् हो, विशेषतः सत्य और धर्ममें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मण हो, तुम्हारे लिये यह क्रूर कर्म शोभा नहीं देता॥ ३७॥

त्यजायुधममोघेषो तिष्ठ वर्त्मनि शाश्वते ।
परिपूर्णश्च कालस्ते वस्तुं लोकेऽद्य मानुषे ॥ ३८ ॥

'अमोघ बाणवाले द्रोणाचार्य ! अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग कर दो और अपने सनातन मार्गपर स्थित हो जाओ । आज इस मनुष्य-लोकमें तुम्हारे रहनेका समय पूरा हो गया ॥३८॥

ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रज्ञा नरा भुवि ।
यदेतदीदृशं विप्र कृतं कर्म न साधु तत् ॥ ३९ ॥

'इस भूतलपर जो लोग ब्रह्मास्त्र नहीं जानते थे, उन्हें भी तुमने ब्रह्मास्त्रसे ही दग्ध किया है । ब्रह्मन् ! तुमने जो ऐसा कर्म किया है, यह कदापि उत्तम नहीं है ॥ ३९ ॥

न्यस्यायुधं रणे विप्र द्रोण मा त्वं चिरं कृथाः ।
मा पापिष्ठतरं कर्म करिष्यसि पुनर्द्विज ॥ ४० ॥

'विप्रवर द्रोण ! रणभूमिमें अपना अस्त्र-शस्त्र रख दो, इस कार्यमें विलम्ब न करो । ब्रह्मन् ! अब फिर ऐसा अत्यन्त पापपूर्ण कर्म न करना' ॥ ४० ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा भीमसेनवचश्च तत् ।
धृष्टद्युम्नं च सम्प्रेक्ष्य रणे स विमनाऽभवत् ॥ ४१ ॥

उन ऋषियोंकी यह बात सुनकर, भीमसेनके कथनपर विचार कर और रणभूमिमें धृष्टद्युम्नको सामने देखकर आचार्य द्रोणका मन उदास हो गया ॥ ४१ ॥

संदिह्यमानो व्यथितः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अहतं वा हतं वेति पप्रच्छ सुतमात्मनः ॥ ४२ ॥

वे संदेहमें पड़े हुए थे, अतः उन्होंने व्यथित होकर अपने पुत्रके मारे जाने या नहीं मारे जानेका समाचार कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे पूछा ॥ ४२ ॥

स्थिरा बुद्धिर्हि द्रोणस्य न पार्थो वक्ष्यतेऽनृतम् ।
त्रयाणामपि लोकानामैश्वर्यार्थे कथञ्चन ॥ ४३ ॥

द्रोणाचार्यके मनमें यह दृढ़ विश्वास था कि कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी किसी प्रकार झूठ नहीं बोलेंगे ॥ ४३ ॥

तस्मात् तं परिपप्रच्छ नान्यं कञ्चिद् द्विजर्षभः ।
तस्मिंस्तस्य हि सत्याशा बाल्यात् प्रभृति पाण्डवे ॥४४॥

अतः उन द्विजश्रेष्ठने उन्हींसे वह बात पूछी, दूसरे किसीसे नहीं; क्योंकि बचपनसे ही पाण्डुपुत्रकी सचाईमें आचार्यका विश्वास था ॥ ४४ ॥

ततो निष्पाण्डवामुर्वीं करिष्यन्तं युधां पतिम् ।
द्रोणं ज्ञात्वा धर्मराजं गोविन्दो व्यथितोऽब्रवीत् ॥४५॥

उस समय योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोण इस पृथ्वीको पाण्डव-रहित कर डालनेके लिये उद्यत थे । उनका यह विचार जानकर भगवान् श्रीकृष्णने व्यथित हो धर्मराज युधिष्ठिर-से कहा–॥ ४५ ॥

यद्यर्धदिवसं द्रोणो युध्यते मन्युमास्थितः ।
सत्यं ब्रवीमि ते सेना विनाशं समुपैष्यति ॥ ४६ ॥

'राजन् ! यदि क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्य आधे दिन भी युद्ध करते रहें, तो मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी सेनाका सर्वनाश हो जायगा ॥ ४६ ॥

स भवांस्त्रातु नो द्रोणात् सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः ।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः ॥ ४७ ॥

'अतः तुम द्रोणसे हमलोगोंको बचाओ; इस अवसर-पर असत्यभाषणका महत्त्व सत्यसे भी बढ़कर है । किसीकी प्राणरक्षाके लिये यदि कदाचित् असत्य बोलना पड़े तो उस बोलनेवालेको झूठका पाप नहीं लगता' ॥ ४७ ॥

तयोः संवदतोरेवं भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ॥ ४८ ॥
श्रुत्वैवं तु महाराज वधोपायं महात्मनः ।
गाहमानस्य ते सेनां मालवस्येन्द्रवर्मणः ॥ ४९ ॥
अश्वत्थामेति विख्यातो गजः शक्रगजोपमः ।
निहतो युधि विक्रम्य ततोऽहं द्रोणमब्रुवम् ॥ ५० ॥
अश्वत्थामा हतो ब्रह्मन्निवर्तस्वाहवादिति ।
नूनं नाश्रद्दधद् वाक्यमेष मे पुरुषर्षभः ॥ ५१ ॥

वे दोनों इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि भीमसेन बोल उठे–'महाराज ! महामना द्रोणके वधका ऐसा उपाय सुनकर मैंने आपकी सेनामें विचरनेवाले मालव-नरेश इन्द्र-वर्माके अश्वत्थामानामसे विख्यात गजराजको, जो ऐरावतके समान शक्तिशाली था, युद्धमें पराक्रम करके मार डाला । फिर द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा–'ब्रह्मन् ! अश्वत्थामा मारा गया, अब युद्धसे निवृत्त हो जाइये ।' परंतु इन पुरुष-प्रवर द्रोणने निश्चय ही मेरी बातपर विश्वास नहीं किया है ॥ ४८—५१ ॥

स त्वं गोविन्दवाक्यानि मानयस्व जयैषिणः ।
द्रोणाय निहतं शंस राजञ्शारद्वतीसुतम् ॥ ५२ ॥

'नरेश्वर ! अतः आप विजय चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी बात मान लीजिये और द्रोणाचार्यसे कह दीजिये कि 'अश्वत्थामा मारा गया' ॥ ५२ ॥

त्वयोक्तो नैव युध्येत जातु राजन् द्विजर्षभः ।
सत्यवान् हि त्रिलोकेऽस्मिन् भवान् ख्यातो जनाधिप ॥

'राजन् ! जनेश्वर ! आपके कह देनेपर द्विजश्रेष्ठ द्रोण कदापि युद्ध नहीं करेंगे; क्योंकि आप तीनों लोकोंमें सत्यवादीके रूपमें विख्यात हैं' ॥ ५३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णवाक्यप्रचोदितः ।
भावित्वाच्च महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ५४ ॥

'महाराज ! भीमकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णके आदेशसे प्रेरित हो भावीवश राजा युधिष्ठिर वह झूठी बात कहनेको तैयार हो गये ॥ ५४ ॥

तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः ।
(अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार ह ।)
अव्यक्तमब्रवीद् राजन् हतः कुञ्जर इत्युत ॥ ५५ ॥

एक ओर तो वे असत्यके भयमें डूबे हुए थे और दूसरी ओर विजयकी प्राप्तिके लिये भी आसक्तिपूर्वक प्रयत्नशील थे; अतः राजन् ! उन्होंने 'अश्वत्थामा मारा गया' यह बात तो उच्चस्वरसे कही, परंतु 'हाथीका वध हुआ है,' यह बात धीरेसे कही ॥ ५५ ॥

तस्य पूर्वं रथः पृथ्व्याश्चतुरङ्गुलमुच्छ्रितः ।
बभूवैवं च तेनोक्ते तस्य वाहाः स्पृशन्महीम्॥ ५६ ॥

इसके पहले युधिष्ठिरका रथ पृथ्वीसे चार अंगुल ऊँचे रहा करता था, किंतु उस दिन उनके इस प्रकार असत्य बोलते ही उनके रथके घोड़े धरतीका स्पर्श करके चलने लगे ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिरात् तु तद् वाक्यं श्रुत्वा द्रोणो महारथः ।
पुत्रव्यसनसंतप्तो निराशो जीवितेऽभवत् ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरके मुँहसे यह वचन सुनकर महारथी द्रोणाचार्य पुत्रशोकसे संतप्त हो अपने जीवनसे निराश हो गये ॥ ५७ ॥

आगस्कृतमिवात्मानं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
ऋषिवाक्येन मन्वानः श्रुत्वा च निहतं सुतम्॥ ५८ ॥

अपने पुत्रके मारे जानेकी बात सुनकर महर्षियोंके कथनानुसार वे अपने आपको महात्मा पाण्डवोंका अपराधी-सा मानने लगे ॥ ५८ ॥

विचेताः परमोद्विग्नो धृष्टद्युम्नमवेक्ष्य च ।
योद्धुं नाशक्नुवद् राजन् यथापूर्वमरिंदमः ॥ ५९ ॥

उनकी चेतनाशक्ति लुप्त होने लगी । वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । राजन् ! उस समय धृष्टद्युम्नको सामने देखकर भी शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्य पूर्ववत् युद्ध न कर सके ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि युधिष्ठिरासत्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें युधिष्ठिरका असत्यभाषणविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५९½ श्लोक हैं)

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नका युद्ध तथा सात्यकिकी शूरवीरता और प्रशंसा

संजय उवाच

तं दृष्ट्वा परमोद्विग्नं शोकोपहतचेतसम् ।
पाञ्चालराजस्य सुतो धृष्टद्युम्नः समाद्रवत् ॥ १ ॥
य इष्ट्वा मनुजेन्द्रेण द्रुपदेन महामखे ।
लब्धो द्रोणविनाशाय समिद्धाद्धव्यवाहनात् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! राजा द्रुपदने एक महान् यज्ञमें देवाराधन करके द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे जिस पुत्रको प्राप्त किया था, उस पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने जब देखा कि आचार्य द्रोण बड़े उद्विग्न हैं और उनका चित्त शोकसे व्याकुल है, तब उन्होंने उनपर धावा कर दिया ॥ १-२ ॥

स धनुर्जैत्रमादाय घोरं जलदनिःस्वनम् ।
दृढज्यमजरं दिव्यं शरं चाशीविषोपमम् ॥ ३ ॥
संदधे कार्मुके तस्मिंस्ततस्तमनलोपमम् ।
द्रोणं जिघांसुः पाञ्चाल्यो महाज्वालमिवानलम्॥ ४ ॥

उस पाञ्चालपुत्रने द्रोणाचार्यके वधकी इच्छा रखकर सुदृढ़ प्रत्यञ्चासे युक्त, मेघगर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले, कभी जीर्ण न होनेवाले, भयंकर तथा विजयशील दिव्य धनुष हाथमें लेकर उसके ऊपर विषधर सर्पके समान भयदायक और प्रचण्ड लपटोंवाले अग्निके तुल्य तेजस्वी एक बाण रक्खा ॥ ३-४ ॥

तस्य रूपं शरस्यासीद् धनुर्ज्यामण्डलान्तरे ।

द्योततो भास्करस्येव घनान्ते परिवेषिणः ॥ ५ ॥

धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेसे जो मण्डलाकार घेरा बन गया था, उसके भीतर उस तेजस्वी बाणका रूप शरत्कालमें परिधिके भीतर प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान जान पड़ता था ॥ ५ ॥

पार्षतेन परामृष्टं ज्वलन्तमिव तद् धनुः ।
अन्तकालमनुप्राप्तं मेनिरे वीक्ष्य सैनिकाः ॥ ६ ॥

धृष्टद्युम्नके हाथमें आये हुए उस प्रज्वलित अग्निके सदृश तेजस्वी धनुषको देखकर सब सैनिक यह समझने लगे कि 'मेरा अन्तकाल आ पहुँचा है' ॥ ६ ॥

तमिषुं संहितं तेन भारद्वाजः प्रतापवान् ।
दृष्ट्वामन्यत देहस्य कालपर्यायमागतम् ॥ ७ ॥

द्रुपद-पुत्रके द्वारा उस बाणको धनुषपर रखा गया देख प्रतापी द्रोणने भी यह मान लिया कि 'अब इस शरीरका काल आ गया' ॥ ७ ॥

ततः प्रयत्नमातिष्ठदाचार्यस्तस्य वारणे ।
न चास्यास्त्राणि राजेन्द्र प्रादुरासन्महात्मनः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर आचार्यने उस अस्त्रको रोकनेका प्रयत्न किया, परंतु उन महात्माके अन्तःकरणमें वे दिव्यास्त्र पूर्ववत् प्रकट न हो सके ॥ ८ ॥

तस्य त्वहानि चत्वारि क्षपा चैकास्यतो गता ।
तस्य चाह्नस्त्रिभागेन क्षयं जग्मुः पतत्रिणः ॥ ९ ॥

उनके निरन्तर बाण चलाते चार दिन और एक रातका समय बीत चुका था । उस दिनके पंद्रह भागोंमेंसे तीन ही भागमें उनके सारे बाण समाप्त हो गये ॥ ९ ॥

स शरक्षयमासाद्य पुत्रशोकेन चार्दितः ।
विविधानां च दिव्यानामस्त्राणामप्रसादतः ॥ १० ॥
उत्स्रष्टुकामः शस्त्राणि ऋषिवाक्यप्रचोदितः ।
तेजसा पूर्यमाणश्च युयुधे न यथा पुरा ॥ ११ ॥

बाणोंके समाप्त हो जानेसे पुत्रशोकसे पीड़ित हुए द्रोणाचार्य नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंके प्रकट न होनेसे महर्षियोंकी आज्ञा मानकर अब हथियार डाल देनेको उद्यत हो गये; इसीलिये तेजसे परिपूर्ण होनेपर भी वे पूर्ववत् युद्ध नहीं करते थे ॥ १०-११ ॥

भूयश्चान्यत् समादाय दिव्यमाङ्गिरसं धनुः ।
शरांश्च ब्रह्मदण्डाभान् धृष्टद्युम्नमयोधयत् ॥ १२ ॥

इसके बाद द्रोणाचार्यने पुनः आङ्गिरस नामक दिव्य धनुष तथा ब्रह्मदण्डके समान बाण हाथमें लेकर धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

ततस्तं शरवर्षेण महता समवाकिरत् ।
व्यशातयच्च संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ १३ ॥

उन्होंने अत्यन्त कुपित होकर अमर्षमें भरे हुए धृष्टद्युम्नको अपनी भारी बाणवर्षासे ढक दिया और उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ॥ १३ ॥

शरांश्च शतधा तस्य द्रोणश्चिच्छेद सायकैः ।
ध्वजं धनुश्च निशितैः सारथिं चाप्यपातयत् ॥ १४ ॥

इतना ही नहीं, द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंद्वारा धृष्टद्युम्नके बाण, ध्वज और धनुषके सैकड़ों टुकड़े कर डाले और सारथिको भी मार गिराया ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नः प्रहस्यान्यत् पुनरादाय कार्मुकम् ।
शितेन चैनं बाणेन प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ १५ ॥

तब धृष्टद्युम्नने हँसकर फिर दूसरा धनुष उठाया और तीखे बाणद्वारा आचार्यकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासोऽसम्भ्रान्त इव संयुगे ।
भल्लेन शितधारेण चिच्छेदास्य पुनर्धनुः ॥ १६ ॥

युद्धस्थलमें अत्यन्त घायल होकर भी महाधनुर्धर द्रोणने बिना किसी घबराहटके तीखी धारवाले भल्लसे पुनः उनका धनुष काट दिया ॥ १६ ॥

यच्चास्य बाणविकृतं धनूंषि च विशाम्पते ।
सर्वं चिच्छेद दुर्धर्षो गदां खड्गं च वर्जयन् ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! धृष्टद्युम्नके जो-जो बाण, तरकस और धनुष आदि थे, उनमेंसे गदा और खड्गको छोड़कर शेष सारी वस्तुओंको दुर्धर्ष द्रोणाचार्यने काट डाला ॥ १७ ॥

धृष्टद्युम्नं च विव्याध नवभिर्निशितैः शरैः ।
जीवितान्तकरैः क्रुद्धः क्रुद्धरूपं परंतपः ॥ १८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणने कुपित होकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नको नौ प्राणान्तकारी तीक्ष्ण बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १८ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ तस्याश्वान् स्वरथाश्वैर्महारथः ।
व्यामिश्रयदमेयात्मा ब्राह्ममस्त्रमुदीरयन् ॥ १९ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टद्युम्नने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करनेके लिये अपने रथके घोड़ोंको आचार्यके घोड़ोंसे मिला दिया ॥ १९ ॥

ते मिश्रा बह्वशोभन्त जवना वातरंहसः ।
पारावतसवर्णाश्च शोणाश्वा भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वायुके समान वेगशाली, कबूतरके समान रंगवाले और लाल घोड़े परस्पर मिलकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २० ॥

यथा सविद्युतो मेघा नदन्तो जलदागमे ।
तथा रेजुर्महाराज मिश्रिता रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

महाराज ! जैसे वर्षाकालमें गर्जते हुए विद्युत्सहित

मेघ सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार युद्धके मुहानेपर परस्पर मिले हुए वे घोड़े शोभा पाते थे ॥ २१ ॥

ईषाबन्धं चक्रबन्धं रथबन्धं तथैव च ।
प्राणाशयदमेयात्मा धृष्टद्युम्नस्य स द्विजः ॥ २२ ॥

उस समय अमेय बलसम्पन्न विप्रवर द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके रथके ईषाबन्ध, चक्रबन्ध तथा रथबन्धको नष्ट कर दिया ॥ २२ ॥

स च्छिन्नधन्वा पाञ्चाल्यो निकृत्तध्वजसारथिः ।
उत्तमामापदं प्राप्य गदां वीरः परामृशत् ॥ २३ ॥

धनुष, ध्वज और सारथिके नष्ट हो जानेपर भारी विपत्तिमें पड़कर पाञ्चालराजकुमार वीर धृष्टद्युम्नने गदा उठायी ॥ २३ ॥

तामस्य विशिखैस्तीक्ष्णैः क्षिप्यमाणां महारथः ।
निजघान शरैर्द्रोणः क्रुद्धः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥

उसके द्वारा चलायी जानेवाली उस गदाको सत्य-पराक्रमी महारथी द्रोणने कुपित हो बाणोंद्वारा नष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

तां तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो द्रोणेन निहतां शरैः ।
विमलं खड्गमादत्त शतचन्द्रं च भानुमत् ॥ २५ ॥

उस गदाको द्रोणाचार्यके बाणोंसे नष्ट हुई देख पुरुष-सिंह धृष्टद्युम्नने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त चमकीली ढाल और चमचमाती हुई तलवार हाथमें ले ली ॥ २५ ॥

असंशयं तथाभूतः पाञ्चाल्यः साध्वमन्यत ।
वधमाचार्यमुख्यस्य प्राप्तकालं महात्मनः ॥ २६ ॥

उस अवस्थामें पाञ्चालराजकुमारने यह निःसंदेह ठीक मान लिया कि अब आचार्यप्रवर महात्मा द्रोणके वधका समय आ पहुँचा है ॥ २६ ॥

ततः स रथनीडस्थं स्वरथस्य रथेषया ।
अगच्छदसिमुद्यम्य शतचन्द्रं च भानुमत् ॥ २७ ॥

उस समय उन्होंने तलवार और सौ चन्द्रचिह्नोंवाली ढाल लेकर अपने रथकी ईषाके मार्गसे रथकी बैठकमें बैठे हुए द्रोणपर आक्रमण किया ॥ २७ ॥

चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म धृष्टद्युम्नो महारथः ।
इयेष वक्षो भेत्तुं स भारद्वाजस्य संयुगे ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् महारथी धृष्टद्युम्नने दुष्कर कर्म करनेकी इच्छासे उस रणभूमिमें आचार्य द्रोणकी छातीमें तलवार भोंक देनेका विचार किया ॥ २८ ॥

सोऽतिष्ठद् युगमध्ये वै युगसन्नहनेषु च ।
जघनार्धेषु चाश्वानां तत् सैन्याः समपूजयन् ॥ २९ ॥

वे रथके जूएके ठीक बीचमें, जूएके बन्धनोंपर और द्रोणाचार्यके घोड़ोंके पिछले भागोंपर पैर जमाकर खड़े हो गये । उनके इस कार्यकी सभी सैनिकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २९ ॥

तिष्ठतो युगपालीषु शोणानप्यधितिष्ठतः ।
नापश्यदन्तरं द्रोणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३० ॥

वे जूएके मध्यभागमें और द्रोणाचार्यके लाल घोड़ोंकी पीठपर पैर रखकर खड़े थे । उस अवस्थामें द्रोणाचार्यको उनके ऊपर प्रहार करनेका कोई अवसर ही नहीं दिखायी देता था, यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३० ॥

क्षिप्रं श्येनस्य चरतो यथैवामिषगृद्धिनः ।
तद्वदासीदभीसारो द्रोणपार्षतयो रणे ॥ ३१ ॥

जैसे मांसके टुकड़ेके लोभसे विचरते हुए बाजका बड़े वेगसे आक्रमण होता है, उसी प्रकार रणभूमिमें द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नके परस्पर वेगपूर्वक आक्रमण होते थे ॥ ३१ ॥

तस्य पारावतानश्वान् रथशक्त्या पराभिनत् ।
सर्वानेकैकशो द्रोणो रक्तानश्वान् विवर्जयन् ॥ ३२ ॥

द्रोणाचार्यने लाल घोड़ोंको बचाते हुए रथशक्तिका प्रहार करके बारी-बारीसे कबूतरके समान रंगवाले सभी घोड़ोंको मार डाला ॥ ३२ ॥

ते हता न्यपतन् भूमौ धृष्टद्युम्नस्य वाजिनः ।
शोणास्तु पर्यमुच्यन्त रथबन्धाद् विशाम्पते ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! धृष्टद्युम्नके वे घोड़े मारे जाकर पृथ्वीपर गिर पड़े और लाल रंगवाले घोड़े रथके बन्धनसे मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

तान् हयान् निहतान् दृष्ट्वा द्विजाग्र्येण स पार्षतः ।
नामृष्यत युधां श्रेष्ठो याज्ञसेनिर्महारथः ॥ ३४ ॥

विप्रवर द्रोणके द्वारा अपने घोड़ोंको मारा गया देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ पार्षतवंशी महारथी द्रुपदकुमार सहन न कर सके ॥ ३४ ॥

विरथः स गृहीत्वा तु खड्गं खड्गभृतां वर ।
द्रोणमभ्यपतद् राजन् वैनतेय इवोरगम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! रथहीन हो जानेपर खड्गधारियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न खड्ग हाथमें लेकर द्रोणाचार्यपर उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे गरुड़ किसी सर्पपर झपटते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य रूपं बभौ राजन् भारद्वाजं जिघांसतः ।
यथा रूपं पुरा विष्णोर्हिरण्यकशिपोर्वधे ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! द्रोणके वधकी इच्छा रखनेवाले धृष्टद्युम्नका रूप पूर्वकालमें हिरण्यकशिपुके वधके लिये उद्यत हुए नृसिंह-रूपधारी भगवान् विष्णुके समान प्रतीत होता था ॥ ३६ ॥

स तदा विविधान् मार्गान् प्रवरांश्चैकविंशतिम् ।
दर्शयामास कौरव्य पार्षतो विचरन् रणे ॥ ३७ ॥

कुरुनन्दन ! रणमें विचरते हुए धृष्टद्युम्नने उस समय तलवारके इक्कीस प्रकारके विविध उत्तम हाथ दिखाये ॥३७॥

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं प्रसृतं सृतम् ।
परिवृत्तं निवृत्तं च खड्गं चर्म च धारयन् ॥ ३८ ॥
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पार्षतः ।
भारतं कौशिकं चैव सात्वतं चैव शिक्षया ॥ ३९ ॥

उन्होंने ढाल-तलवार लेकर भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, प्रसृत, सृत, परिवृत्त, निवृत्त, सम्पात, समुदीर्ण, भारत, कौशिक तथा सात्वत आदि मार्गोंको* अपनी शिक्षाके अनुसार दिखलाया ॥ ३८-३९ ॥

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। वही कार्य बाँह ऊपर उठाकर किया जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहा गया है। अपने चारों ओर तलवारको घुमाया जाय तो उसे 'आविद्ध' कहते हैं। ये तीन कार्य शत्रुके चलाये हुए शस्त्रका निवारण करनेके लिये किये जाते हैं, शत्रुपर आक्रमण करनेके लिये जाना 'आप्लुत' माना गया है। तलवारकी नोकसे शत्रुके शरीरका स्पर्श करना 'प्रसृत' कहा गया है। चकमा देकर शत्रुपर शस्त्रका आघात करना 'सृत' बताया गया है। शत्रुके दायें-बायें तलवार चलाना 'परिवृत्त' कहा गया है। पीछे हटना 'निवृत्त' है। दोनों योद्धाओं-का परस्पर आघात-प्रत्याघात 'सम्पात' कहलाता है। अपनी विशेषता स्थापित करना 'समुदीर्ण' है। अङ्ग-प्रत्यङ्गमें तलवार भाँजना 'भारत' माना गया है। विचित्र रीतिसे तलवार चलानेकी कला दिखाना 'कौशिक' कहा गया है। अपनेको ढालकी आड़में छिपाकर तलवार चलानेका नाम 'सात्वत' है।

दर्शयन् व्यचरद् युद्धे द्रोणस्यान्तचिकीर्षया ।
चरतस्तस्य तान् मार्गान् विचित्रान् खड्गचर्मिणः ॥४०॥
व्यस्मयन्त रणे योधा देवताश्च समागताः ।

वे द्रोणाचार्यका अन्त करनेकी इच्छासे युद्धमें तलवारके उपर्युक्त हाथ दिखाते हुए विचर रहे थे। ढाल-तलवार लेकर विचरते हुए धृष्टद्युम्नके उन विचित्र पैंतरोंको देखकर रणभूमिमें आये हुए योद्धा और देवता आश्चर्य-चकित हो उठे थे ॥ ४०½ ॥

ततः शरसहस्रेण शतचन्द्रमपातयत् ॥ ४१ ॥
चर्म खड्गं च सम्बाधे धृष्टद्युम्नस्य स द्विजः ।
ये तु वैतस्तिका नाम शरा आसन्नयोधिनः ॥ ४२ ॥
निकृष्टयुद्धे द्रोणस्य नान्येषां सन्ति ते शराः ।

तदनन्तर, उस युद्ध-संकटके समय विप्रवर द्रोणाचार्यने एक हजार बाणोंसे धृष्टद्युम्नकी सौ चाँदवाली ढाल और तलवार काट गिरायी। निकटसे युद्ध करते समय उपयोगमें आनेवाले जो एक बित्तेके बराबर वैतस्तिक नामक बाण होते हैं, वे समीपसे भी युद्ध करनेमें कुशल द्रोणाचार्यके ही पास थे, दूसरोंके नहीं ॥ ४१-४२½ ॥

ऋते शारद्वतात् पार्थाद् द्रौणेर्वैकर्तनात् तथा॥ ४३ ॥
प्रद्युम्नयुयुधानाभ्यामभिमन्योश्च भारत ।

भारत ! कृपाचार्य, अर्जुन, अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, प्रद्युम्न, सात्यकि और अभिमन्युको छोड़कर और किसीके पास वैसे बाण नहीं थे ॥ ४३½ ॥

अथास्येषुं समाधत्त दृढं परमसम्मतम् ॥ ४४ ॥
अन्तेवासिनमाचार्यो जिघांसुः पुत्रसम्मितम् ।

तत्पश्चात् पुत्रतुल्य शिष्यको मार डालनेकी इच्छासे आचार्यने धनुषपर परम उत्तम सुदृढ़ बाण रक्खा ॥

तं शरैर्दशभिस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद शिनिपुङ्गवः ॥ ४५ ॥
पश्यतस्तव पुत्रस्य कर्णस्य च महात्मनः ।
ग्रस्तमाचार्यमुख्येन धृष्टद्युम्नममोचयत् ॥ ४६ ॥

परंतु उस बाणको शिनिप्रवर सात्यकिने महामना कर्ण और आपके पुत्रके देखते-देखते दस तीखे बाणोंसे काट डाला और आचार्यप्रवरके द्वारा प्राणसंकटमें पड़े हुए धृष्टद्युम्नको छुड़ा लिया ॥ ४५-४६ ॥

चरन्तं रथमार्गेषु सात्यकिं सत्यविक्रमम् ।
द्रोणकर्णान्तरगतं कृपस्यापि च भारत ॥ ४७ ॥
अपश्येतां महात्मानौ विष्वक्सेनधनंजयौ ।
अपूजयेतां वार्ष्णेयं ब्रुवाणौ साधु साध्विति ॥ ४८ ॥
दिव्यान्यस्त्राणि सर्वेषां युधि निघ्नन्तमच्युतम् ।

भारत ! उस समय सत्यपराक्रमी सात्यकि द्रोण, कर्ण और कृपाचार्यके बीचमें होकर रथके मार्गोंपर विचर रहे

थे। उन्हें उस अवस्थामें महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनने देखा और 'साधु-साधु' कहकर सात्यकिकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे युद्धमें अविचल भावसे डटे रहकर समस्त विरोधियोंके दिव्यास्त्रोंका निवारण कर रहे थे ॥ ४७-४८½ ॥

अभिपत्य ततः सेनां विष्वक्सेनधनंजयौ ॥ ४९ ॥
धनंजयस्ततः कृष्णमब्रवीत् पश्य केशव।
आचार्यरथमुख्यानां मध्ये क्रीडन् मधूद्वहः ॥ ५० ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन शत्रुसेनामें टूट पड़े। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'केशव! देखिये, यह मधुवंशशिरोमणि सात्यकि आचार्यकी रक्षा करनेवाले मुख्य महारथियोंके बीचमें खेल रहा है ॥ ४९-५० ॥

आनन्दयति मां भूयः सात्यकिः परवीरहा।
माद्रीपुत्रौ च भीमं च राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ ५१ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला सात्यकि मुझे बारंबार आनन्द दे रहा है और नकुल, सहदेव, भीमसेन तथा राजा युधिष्ठिरको भी आनन्दित कर रहा है ॥ ५१ ॥

यच्छिक्षयानुद्धतः सन् रणे चरति सात्यकिः।
महारथानुपक्रीडन् वृष्णीनां कीर्तिवर्धनः ॥ ५२ ॥
तमेते प्रतिनन्दन्ति सिद्धाः सैन्याश्च विस्मिताः।
अजय्यं समरे दृष्ट्वा साधु साध्विति सात्यकिम्।
योधाश्चोभयतः सर्वे कर्मभिः समपूजयन् ॥ ५३ ॥

'वृष्णिवंशका यश बढ़ानेवाला सात्यकि उत्तम शिक्षासे युक्त होनेपर भी अभिमानशून्य हो महारथियोंके साथ क्रीड़ा करता हुआ रणभूमिमें विचर रहा है। इसलिये ये सिद्धगण और सैनिक आश्चर्यचकित हो समराङ्गणमें परास्त न होनेवाले सात्यकिकी ओर देखकर 'साधु-साधु' कहते हुए इसका अभिनन्दन करते हैं और दोनों दलोंके समस्त योद्धाओंने इसके वीरोचित कर्मोंसे प्रभावित हो इसकी बड़ी प्रशंसा की है' ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

उभयपक्षके श्रेष्ठ महारथियोंका परस्पर युद्ध, धृष्टद्युम्नका आक्रमण, द्रोणाचार्यका अस्त्र त्यागकर योगधारणाके द्वारा ब्रह्मलोक-गमन और धृष्टद्युम्नद्वारा उनके मस्तकका उच्छेद

संजय उवाच

सात्वतस्य तु तत् कर्म दृष्ट्वा दुर्योधनादयः।
शैनेयं सर्वतः क्रुद्धा वारयामासुरञ्जसा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! सात्वतवंशी सात्यकिका वह कर्म देखकर दुर्योधन आदि कौरव योद्धा कुपित हो उठे और उन्होंने अनायास ही शिनिपौत्रको सब ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

कृपकर्णौ च समरे पुत्राश्च तव मारिष।
शैनेयं त्वरयाभ्येत्य विनिघ्नन् निशितैः शरैः॥ २ ॥

मान्यवर! समराङ्गणमें कृपाचार्य, कर्ण और आपके पुत्र तुरंत ही सात्यकिके पास पहुँचकर उन्हें पैने बाणोंसे घायल करने लगे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्ततो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
भीमसेनश्च बलवान् सात्यकिं पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

तब राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव तथा बलवान् भीमसेनने सात्यकिकी रक्षाके लिये उन्हें अपने बीचमें कर लिया ॥ ३ ॥

कर्णश्च शरवर्षेण गौतमश्च महारथः।
दुर्योधनादयस्ते च शैनेयं पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

कर्ण, महारथी कृपाचार्य और दुर्योधन आदिने बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे सात्यकिको अवरुद्ध कर दिया ॥ ४॥

तां वृष्टिं सहसा राजन्नुत्थितां घोररूपिणीम्।
वारयामास शैनेयो योधयंस्तान् महारथान् ॥ ५ ॥

राजन्! उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए शिनिपौत्र सात्यकिने सहसा उठी हुई उस भयंकर बाणवर्षाको अपने अस्त्रोंद्वारा रोक दिया ॥ ५ ॥

तेषामस्त्राणि दिव्यानि संहितानि महात्मनाम्।
वारयामास विधिवद् दिव्यैरस्त्रैर्महामृधे ॥ ६ ॥

उन्होंने उस महासमरमें विधिपूर्वक दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करके उन महामनस्वी वीरोंके छोड़े हुए दिव्य अस्त्रोंका निवारण कर दिया ॥ ६ ॥

क्रूरमायोधनं जज्ञे तस्मिन् राजसमागमे।
रुद्रस्येव हि क्रुद्धस्य निघ्नतस्तान् पशून् पुरा ॥ ७ ॥

राजाओंमें वह संघर्ष छिड़ जानेपर उस युद्धस्थलमें क्रूरताका ताण्डव होने लगा। जैसे पूर्व (प्रलय) कालमें क्रोधमें भरे हुए रुद्रदेवके द्वारा पशुओं (प्राणियों) का संहार होते समय निर्दयताका दृश्य उपस्थित हुआ था ॥ ७ ॥

हस्तानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत।
छत्राणां चापविद्धानां चामराणां च संचयैः ॥ ८ ॥
राशयः स्म व्यदृश्यन्त तत्र तत्र रणाजिरे।

भारत! कटकर गिरे हुए हाथों, मस्तकों, धनुषों,

छत्रों और चँवरोंके समूहोंसे उस समराङ्गणके विभिन्न प्रदेशोंमें उक्त वस्तुओंके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ॥ ८½ ॥

भग्नचक्रै रथैश्चापि पातितैश्च महाध्वजैः ॥ ९ ॥
सादिभिश्च हतैः शूरैः संकीर्णा वसुधाभवत्।

टूटे पहियेवाले रथों, गिराये हुए विशाल ध्वजों और मारे गये शूरवीर घुड़सवारोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ९½ ॥

बाणपातनिकृत्तास्तु योधास्ते कुरुसत्तम ॥ १० ॥
चेष्टन्तो विविधाश्चेष्टा व्यदृश्यन्त महाहवे।

कुरुश्रेष्ठ ! बाणोंके आघातसे कटे हुए योद्धा उस महासमरमें अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते और छटपटाते दिखायी देते थे ॥ १०½ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे घोरे देवासुरोपमे ॥ ११ ॥
अब्रवीत् क्षत्रियांस्तत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अभिद्रवत संयत्ताः कुम्भयोनिं महारथाः ॥ १२ ॥

देवासुर-संग्रामके समान जब वह घोर युद्ध चल रहा था, उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने अपने पक्षके क्षत्रिय योद्धाओंसे इस प्रकार कहा—'महारथियो ! तुम सब लोग पूर्णतः सावधान होकर द्रोणाचार्यपर धावा करो ॥ ११-१२ ॥

एषो हि पार्षतो वीरो भारद्वाजेन संगतः।
घटते च यथाशक्ति भारद्वाजस्य नाशने ॥ १३ ॥

'ये वीर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यके साथ जूझ रहे हैं और उनके विनाशके लिये यथाशक्ति चेष्टा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

यादृशानि हि रूपाणि दृश्यन्तेऽस्य महारणे।
अद्य द्रोणं रणे क्रुद्धो घातयिष्यति पार्षतः ॥ १४ ॥
ते यूयं सहिता भूत्वा युध्यध्वं कुम्भसम्भवम्।

'आज महासमरमें इनके जैसे रूप दिखायी देते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि रणभूमिमें कुपित हुए धृष्टद्युम्न सब प्रकारसे द्रोणाचार्यका वध कर डालेंगे । इसलिये तुम सब लोग एक साथ होकर कुम्भजन्मा द्रोणाचार्यके साथ युद्ध करो' ॥ १४½ ॥

युधिष्ठिरसमाज्ञप्ताः सृञ्जयानां महारथाः ॥ १५ ॥
अभ्यद्रवन्त संयत्ता भारद्वाजजिघांसवः।

युधिष्ठिरकी यह आज्ञा पाकर सृंजय महारथी द्रोणाचार्यको मार डालनेकी अभिलाषासे पूर्ण सावधान हो उनपर टूट पड़े ॥ १५½ ॥

तान् समापततः सर्वान् भारद्वाजो महारथः ॥ १६ ॥
अभ्यवर्तत वेगेन मर्तव्यमिति निश्चितः।

महारथी द्रोणाचार्यने मरनेका निश्चय करके उन समस्त आक्रमणकारियोंका बड़े वेगसे सामना किया ॥ १६½ ॥

प्रयाते सत्यसंधे तु समकम्पत मेदिनी ॥ १७ ॥
ववुर्वाताः सनिर्घातास्त्रासयाना वरूथिनीम्।

सत्यप्रतिज्ञ द्रोणाचार्यके आगे बढ़ते ही पृथ्वी काँपने लगी और वज्रपातकी आवाजके साथ ही प्रचण्ड आँधी चलने लगी, जो सारी सेनाको डरा रही थी ॥ १७½ ॥

पपात महती चोल्का आदित्यान्निश्चरन्त्युत॥ १८ ॥
दीपयन्ती उभे सेने शंसन्तीव महद् भयम्।

सूर्यमण्डलसे बड़ी भारी उल्का निकलकर दोनों सेनाओंको प्रकाशित करती और महान् भयकी सूचना-सी देती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ १८½ ॥

जज्वलुश्चैव शस्त्राणि भारद्वाजस्य मारिष ॥ १९ ॥
रथाः स्वनन्ति चात्यर्थं हयाश्चाश्रूण्यवासृजन्।

माननीय नरेश ! द्रोणाचार्यके शस्त्र जलने लगे, रथसे बड़े जोरकी आवाज उठने लगी और घोड़े आँसू बहाने लगे ॥ १९½ ॥

हतौजा इव चाप्यासीद् भारद्वाजो महारथः ॥ २० ॥
प्रास्फुरन्नयनं चास्य वामं बाहुस्तथैव च।

महारथी द्रोणाचार्य उस समय तेजोहीन-से हो रहे थे। उनकी बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही थीं॥२०½॥

विमनाश्चाभवद् युद्धे दृष्ट्वा पार्षतमग्रतः ॥ २१ ॥
ऋषीणां ब्रह्मवादानां स्वर्गस्य गमनं प्रति।
सुयुद्धेन ततः प्राणानुत्स्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २२ ॥

वे युद्धमें अपने सामने धृष्टद्युम्नको देखकर मन-ही-मन उदास हो गये। साथ ही ब्रह्मवादी महर्षियोंके ब्रह्मलोकमें चलनेके सम्बन्धमें कहे हुए वचनोंका स्मरण करके उन्होंने उत्तम युद्धके द्वारा अपने प्राणोंको त्याग देनेका विचार किया ॥ २१–२२ ॥

ततश्चतुर्दिशं सैन्यैर्द्रुपदस्याभिसंवृतः।
निर्दहन् क्षत्रियव्रातान् द्रोणः पर्यचरद् रणे ॥ २३ ॥

तदनन्तर द्रुपदकी सेनाओंद्वारा चारों ओरसे घिरे हुए द्रोणाचार्य क्षत्रियसमूहोंको दग्ध करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ २३ ॥

हत्वा विंशतिसाहस्रान् क्षत्रियानरिमर्दनः।
दशायुतानि करिणामवधीद् विशिखैः शितैः ॥ २४ ॥

शत्रुमर्दन द्रोणने वहाँ बीस हजार क्षत्रियोंका संहार करके अपने तीखे बाणोंद्वारा एक लाख हाथियोंका वध कर डाला ॥ २४ ॥

सोऽतिष्ठदाहवे यत्तो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्।
क्षत्रियाणामभावाय ब्राह्ममस्त्रं समास्थितः ॥ २५ ॥

फिर वे क्षत्रियोंका विनाश करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका सहारा ले बड़ी सावधानीके साथ युद्धभूमिमें खड़े हो गये और

धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे ॥ २५ ॥

पाञ्चाल्यं विरथं भीमो हतसर्वायुधं बली ।
सुविषण्णं महात्मानं त्वरमाणः समभ्ययात् ॥ २६ ॥
ततः स्वरथमारोप्य पाञ्चाल्यमरिमर्दनः ।
अब्रवीदभिसम्प्रेक्ष्य द्रोणमस्यन्तमन्तिकात् ॥ २७ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न रथहीन हो गये थे । उनके सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो चुके थे और वे भारी विषादमें डूब गये थे । उस अवस्थामें शत्रुमर्दन बलवान् भीमसेन उन महामनस्वी पाञ्चाल वीरके पास तुरंत आ पहुँचे और उन्हें अपने रथपर बिठाकर द्रोणाचार्यको निकटसे बाण चलाते देख इस प्रकार बोले—॥ २६—२७ ॥

न त्वदन्य इहाचार्यं योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
त्वरस्व प्राग् वधायैव त्वयि भारः समाहितः ॥ २८ ॥

'धृष्टद्युम्न ! यहाँ तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो आचार्यके साथ जूझनेका साहस कर सके । अतः तुम पहले उनके वधके लिये ही शीघ्रतापूर्वक प्रयत्न करो । तुमपर ही इसका सारा भार रक्खा गया है' ॥ २८ ॥

स तथोक्तो महाबाहुः सर्वभारसहं धनुः ।
अभिपत्याददे क्षिप्रमायुधप्रवरं दृढम् ॥ २९ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर महाबाहु धृष्टद्युम्नने उछलकर शीघ्रतापूर्वक सारा भार सहन करनेमें समर्थ सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ आयुध धनुषको उठा लिया ॥ २९ ॥

संरब्धश्च शरानस्यन् द्रोणं दुर्वारणं रणे ।
विवारयिषुराचार्यं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३० ॥

फिर क्रोधमें भरकर बाण चलाते हुए उन्होंने रणभूमिमें कठिनतासे रोके जानेवाले द्रोणाचार्यको रोक देनेकी इच्छासे उन्हें बाणोंकी वर्षाद्वारा ढक दिया ॥ ३० ॥

तौ न्यवारयतां श्रेष्ठौ संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयेतां ब्राह्माणि दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ॥ ३१ ॥

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले वे दोनों श्रेष्ठ वीर कुपित हो नाना प्रकारके दिव्यास्त्र एवं ब्रह्मास्त्र प्रकट करते हुए एक दूसरेको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३१ ॥

स महास्त्रैर्महाराज द्रोणमाच्छादयद् रणे ।
निहत्य सर्वाण्यस्त्राणि भारद्वाजस्य पार्षतः ॥ ३२ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्नने रणभूमिमें द्रोणाचार्यके सभी अस्त्रोंको नष्ट करके उन्हें अपने महान् अस्त्रोंद्वारा आच्छादित कर दिया ॥ ३२ ॥

स वसातीञ्शिबींश्चैव बाह्लीकान् कौरवानपि ।
रक्षिष्यमाणान् संग्रामे द्रोणं व्यधमदच्युतः ॥ ३३ ॥

कभी विचलित न होनेवाले पाञ्चालवीरने संग्राममें द्रोणाचार्यकी रक्षा करनेवाले वसाति, शिबि, बाह्लीक और कौरव योद्धाओंका भी संहार कर डाला ॥ ३३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तथा राजन् गभस्तिभिरिवांशुमान् ।
बभौ प्रच्छादयन्नाशाः शरजालैः समन्ततः ॥ ३४ ॥

राजन् ! अपने बाणोंके समूहसे सम्पूर्ण दिशाओंको सब ओरसे आच्छादित करते हुए धृष्टद्युम्न किरणोंद्वारा अंशुमाली सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३४ ॥

तस्य द्रोणो धनुश्छित्त्वा विद्ध्वा चैनं शिलीमुखैः ।
मर्माण्यभ्यहनद् भूयः स व्यथां परमामगात् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नका धनुष काटकर उन्हें बाणोंद्वारा घायल कर दिया और पुनः उनके मर्मस्थानोंको गहरी चोट पहुँचायी; इससे उन्हें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३५ ॥

ततो भीमो दृढक्रोधो द्रोणस्याश्लिष्य तं रथम् ।
शनकैरिव राजेन्द्र द्रोणं वचनमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

राजेन्द्र ! तब अपने क्रोधको दृढ़तापूर्वक बनाये रखनेवाले भीमसेन द्रोणाचार्यके उस रथसे सटकर उनसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ ३६ ॥

यदि नाम न युध्येरञ्शिक्षिता ब्रह्मबन्धवः ।
स्वकर्मभिरसंतुष्टा न स्म क्षत्रं क्षयं व्रजेत् ॥ ३७ ॥

'यदि शिक्षित ब्राह्मण अपने कर्मोंसे असंतुष्ट हो परधर्मका आश्रय ले युद्ध न करते तो क्षत्रियोंका यह संहार न होता ॥ ३७ ॥

अहिंसां सर्वभूतेषु धर्मं ज्यायस्तरं विदुः ।
तस्य च ब्राह्मणो मूलं भवांश्च ब्रह्मवित्तमः ॥ ३८ ॥

'प्राणियोंकी हिंसा न करनेको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है । उसकी जड़ है ब्राह्मण और आप तो उन ब्राह्मणोंमें भी सबसे उत्तम ब्रह्मवेत्ता हैं ॥ ३८ ॥

श्वपाकवन्म्लेच्छगणान् हत्वा चान्यान् पृथग्विधान् ।
अज्ञानान्मूढवद् ब्रह्मन् पुत्रदारधनेप्सया ॥ ३९ ॥

'ब्रह्मन् ! ब्रह्मवेत्ता होकर भी आपने स्त्री, धन और पुत्रकी लिप्सासे मूर्ख चाण्डालोंके समान कितने ही म्लेच्छों तथा अन्य नाना प्रकारके क्षत्रियसमूहोंका संहार कर डाला है ॥ ३९ ॥

एकस्यार्थे बहून् हत्वा पुत्रस्याधर्मविद्यया ।
स्वकर्मस्थान् विकर्मस्थो न व्यपत्रपसे कथम् ॥ ४० ॥

'आप अपने एक पुत्रकी जीविकाके लिये विपरीत कर्मका आश्रय ले इस पाप-विद्याके द्वारा स्वधर्मपरायण बहुसंख्यक क्षत्रियोंका वध करके लज्जित कैसे नहीं हो रहे हैं ? ॥ ४० ॥

यस्यार्थे शस्त्रमादाय यमपेक्ष्य च जीवसि ।
स चाद्य पतितः शेते पृष्ठे नावेदितस्तव ॥ ४१ ॥
धर्मराजस्य तद् वाक्यं नाभिशङ्कितुमर्हसि ।

'जिसके लिये आपने शस्त्र उठाया, जिसके जीवनकी अभिलाषा रखकर आप जी रहे हैं, वह तो आज पीछे समरभूमिमें गिरकर चिरनिद्रामें सो रहा है और आपको इसकी सूचनातक नहीं दी गयी। धर्मराज युधिष्ठिरके उस कथनपर तो आपको संदेह या अविश्वास नहीं करना चाहिये' ॥ ४१½ ॥

एवमुक्तस्ततो द्रोणो भीमेनोत्सृज्य तद् धनुः ॥ ४२ ॥
सर्वाण्यस्त्राणि धर्मात्मा हातुकामोऽभ्यभाषत ।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा द्रोणाचार्य वह धनुष फेंककर अन्य सब अस्त्र-शस्त्रोंको भी त्याग देनेकी इच्छासे इस प्रकार बोले—॥ ४२½ ॥

कर्ण कर्ण महेष्वास कृप दुर्योधनेति च ॥ ४३ ॥
संग्रामे क्रियतां यत्नो ब्रवीम्येष पुनः पुनः ।
पाण्डवेभ्यः शिवं वोऽस्तु शस्त्रमभ्युत्सृजाम्यहम् ॥ ४४ ॥

'कर्ण ! कर्ण ! महाधनुर्धर कृपाचार्य ! और दुर्योधन ! अब तुमलोग स्वयं ही युद्धमें विजय पानेके लिये प्रयत्न करो, यही मैं तुमसे बारंबार कहता हूँ। पाण्डवोंसे तुम लोगोंका कल्याण हो। अब मैं अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग कर रहा हूँ' ॥ ४३—४४ ॥

इति तत्र महाराज प्राक्रोशद् द्रौणिमेव च ।
उत्सृज्य च रणे शस्त्रं रथोपस्थे निविश्य च ॥ ४५ ॥
अभयं सर्वभूतानां प्रददौ योगमीयिवान् ।

महाराज ! यह कहकर उन्होंने वहाँ अश्वत्थामाका नाम ले-लेकर पुकारा। फिर सारे अस्त्र-शस्त्रोंको रणभूमिमें फेंककर वे रथके पिछले भागमें जा बैठे। फिर उन्होंने सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान दे दिया और समाधि लगा ली ॥ ४५½ ॥

तस्य तच्छिद्रमाज्ञाय धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
सशरं तद् धनुर्घोरं संन्यस्याथ रथे ततः ।
खड्गी रथादवप्लुत्य सहसा द्रोणमभ्ययात् ॥ ४७ ॥

उनपर प्रहार करनेका वह अच्छा अवसर हाथ लगा जान प्रतापी धृष्टद्युम्न बाणसहित अपने भयंकर धनुषको रथपर ही रखकर तलवार हाथमें ले उस रथसे उछलकर सहसा द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचा ॥ ४६—४७ ॥

हाहाकृतानि भूतानि मानुषाणीतराणि च ।
द्रोणं तथागतं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवशं गतम् ॥ ४८ ॥

उस अवस्थामें द्रोणाचार्यको धृष्टद्युम्नके अधीन हुआ देख मनुष्य तथा अन्य प्राणी भी हाहाकार कर उठे ॥४८॥

हाहाकारं भृशं चक्रुरहो धिगिति चाब्रुवन् ।
द्रोणोऽपि शस्त्राण्युत्सृज्य परमं सांख्यमास्थितः ॥४९॥

वहाँ सबने भारी हाहाकार मचाया और सभी कहने

लगे 'अहो ! धिक्कार है, धिक्कार है'। इधर आचार्य द्रोण भी शस्त्रोंका परित्याग करके परम ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो गये ॥ ४९ ॥

तथोक्त्वा योगमास्थाय ज्योतिर्भूतो महातपाः ।
पुराणं पुरुषं विष्णुं जगाम मनसा परम् ॥ ५० ॥

वे महातपस्वी द्रोण पूर्वोक्त बात कहकर योगका आश्रय ले ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करते हुए मन-ही-मन सर्वोत्कृष्ट पुराणपुरुष भगवान् विष्णुका ध्यान करने लगे ॥ ५० ॥

मुखं किंचित् समुन्नाम्य विष्टभ्य उरमग्रतः ।
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो निक्षिप्य हृदि धारणाम् ॥ ५१ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ज्योतिर्भूतो महातपाः ।
स्मरित्वा देवदेवेशमक्षरं परमं प्रभुम् ॥ ५२ ॥
दिवमाक्रामदाचार्यः साक्षात् सद्भिर्दुराक्रमाम् ।

उन्होंने मुँहको कुछ ऊपर उठाकर छातीको आगेकी ओर स्थिर किया। फिर विशुद्ध सत्त्वमें स्थित हो नेत्र बंद करके हृदयमें धारणाको दृढ़तापूर्वक धारण किया। साथ ही 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्मका जप करते हुए वे महातपस्वी आचार्य द्रोण प्रणवके अर्थभूत देवदेवेश्वर अविनाशी परम प्रभु परमात्माका चिन्तन करते-करते ज्योतिःस्वरूप हो साक्षात् उस ब्रह्मलोकको चले गये, जहाँ पहुँचना बड़े-बड़े संतोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ५१—५२½ ॥

द्वौ सूर्याविति नो बुद्धिरासीत् तस्मिंस्तथागते ॥ ५३ ॥

आचार्य द्रोणके उस प्रकार उत्क्रमण करनेपर हमें ऐसा

द्रोणाचार्यका ध्यानावस्थामें देहत्याग एवं तेजस्वी-स्वरूपसे ऊर्ध्वलोक-गमन

भान होने लगा, मानो आकाशमें दो सूर्य उदित हो गये हों ॥ ५३ ॥

एकाग्रमिव चासीच्च ज्योतिर्भिः पूरितं नभः ।
समपद्यत चार्काभे भारद्वाजदिवाकरे ॥ ५४ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी द्रोणाचार्यरूपी दिवाकरके उदित होनेपर सारा आकाश तेजसे परिपूर्ण हो उस ज्योतिके साथ एकाग्र-सा हो रहा था ॥ ५४ ॥

निमेषमात्रेण च तज्ज्योतिरन्तरधीयत ।
आसीत् किलकिलाशब्दः प्रहृष्टानां दिवौकसाम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्मलोकगते द्रोणे धृष्टद्युम्ने च मोहिते ।

पलक मारते-मारते वह ज्योति आकाशमें जाकर अदृश्य हो गयी । द्रोणाचार्यके ब्रह्मलोक चले जाने और धृष्टद्युम्नके अपमानसे मोहित हो जानेपर हर्षोल्लाससे भरे हुए देवताओंका कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ५५½ ॥

वयमेव तदाद्राक्ष्म पञ्च मानुषयोनयः ॥ ५६ ॥
योगयुक्तं महात्मानं गच्छन्तं परमां गतिम् ।
अहं धनंजयः पार्थो कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ५७ ॥
वासुदेवश्च वार्ष्णेयो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।

उस समय मैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, वृष्णिवंशी भगवान् श्रीकृष्ण तथा धर्मपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर—इन पाँच मनुष्योंने ही योगयुक्त महात्मा द्रोणको परम धामकी ओर जाते देखा था ॥ ५६–५७½ ॥

अन्ये तु सर्वे नापश्यन् भारद्वाजस्य धीमतः ॥ ५८ ॥
महिमानं महाराज योगयुक्तस्य गच्छतः ।

महाराज ! अन्य सब लोगोंने योगयुक्त हो ऊर्ध्वगतिको जाते हुए बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी महिमाका साक्षात्कार नहीं किया ॥ ५८½ ॥

ब्रह्मलोकं महद् दिव्यं देवगुह्यं हि तत् परम् ॥ ५९ ॥
गतिं परमिकां प्राप्तमजानन्तो नृयोनयः ।
नापश्यन् गच्छमानं हि तं सार्धमृषिपुङ्गवैः ॥ ६० ॥
आचार्यं योगमास्थाय ब्रह्मलोकमरिंदमम् ।

ब्रह्मलोक महान्, दिव्य, देवगुह्य, उत्कृष्ट तथा परम गतिस्वरूप है । शत्रुदमन आचार्य द्रोण योगका आश्रय लेकर श्रेष्ठ महर्षियोंके साथ उसी ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए हैं । अज्ञानी मनुष्योंने उन्हें वहाँ जाते समय नहीं देखा था ॥ ५९–६०½ ॥

वितुन्नाङ्गं शरव्रातैर्न्यस्तायुधमसृक्क्षरम् ॥ ६१ ॥
धिक्कृतः पार्षतस्तं तु सर्वभूतैः परामृशत् ।

उनका सारा शरीर बाणसमूहोंसे क्षत-विक्षत हो गया था । उससे रक्तकी धारा बह रही थी और वे अपना अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल चुके थे । उस दशामें धृष्टद्युम्नने उनके शरीरका स्पर्श किया । उस समय सारे प्राणी उन्हें धिक्कार रहे थे ॥ ६१½ ॥

तस्य मूर्धानमालम्ब्य गतसत्त्वस्य देहिनः ॥ ६२ ॥
किंचिदब्रुवतः कायाद् विचकर्तासिना शिरः ।

देहधारी द्रोणके शरीरसे प्राण निकल गये थे, अतः वे कुछ भी बोल नहीं रहे थे । इस अवस्थामें उनके मस्तकका बाल पकड़कर धृष्टद्युम्नने तलवारसे उनके सिरको धड़से काट लिया ॥ ६२½ ॥

हर्षेण महता युक्तो भारद्वाजे निपातिते ॥ ६३ ॥
सिंहनादरवं चक्रे भ्रामयन् खड्गमाहवे ।

इस प्रकार द्रोणाचार्यको मार गिरानेपर धृष्टद्युम्नको महान् हर्ष हुआ और वे रणभूमिमें तलवार घुमाते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ६३½ ॥

आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः ॥ ६४ ॥
त्वत्कृते व्यचरत् संख्ये स तु षोडशवर्षवत् ।

आचार्यके शरीरका रंग साँवला था । उनकी अवस्था चार सौ वर्षकी हो चुकी थी और उनके ऊपरसे लेकर कानतकके बाल सफेद हो गये थे, तो भी आपके हितके लिये वे संग्राममें सोलह वर्षकी उम्रवाले तरुणके समान विचरते थे ॥ ६४½ ॥

उक्तवांश्च महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ६५ ॥
जीवन्तमानयाचार्यं मा वधीर्द्रुपदात्मज ।
न हन्तव्यो न हन्तव्य इति ते सैनिकाश्च ह ॥ ६६ ॥

यद्यपि उस समय महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनने बहुत कहा—'ओ द्रुपदकुमार ! तुम आचार्यको जीते-जी ले आओ । उनका वध न करना ।' आपके सैनिक भी बारंबार कहते ही रह गये कि 'न मारो, न मारो' ॥ ६५–६६ ॥

उत्क्रोशन्नर्जुनश्चैव सानुक्रोशस्तमाव्रजत् ।
क्रोशमानेऽर्जुने चैव पार्थिवेषु च सर्वशः ॥ ६७ ॥
धृष्टद्युम्नोऽवधीद् द्रोणं रथतल्पे नरर्षभम् ।

अर्जुन तो दयावश चिल्लाते हुए धृष्टद्युम्नके पास आने लगे । परंतु उनके तथा अन्य सब राजाओंके पुकारते रहनेपर भी धृष्टद्युम्नने रथकी बैठकमें नरश्रेष्ठ द्रोणका वध कर ही डाला ॥ ६७½ ॥

शोणितेन परिक्लिन्नो रथाद् भूमिमथापतत् ॥ ६८ ॥
लोहिताङ्ग इवादित्यो दुर्धर्षः समपद्यत ।

दुर्धर्ष द्रोणाचार्यका शरीर खूनसे लथपथ हो रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो लाल अङ्गकान्तिवाले सूर्य डूब गये हों ॥ ६८½ ॥

एवं तं निहतं संख्ये ददृशे सैनिको जनः ॥ ६९ ॥
धृष्टद्युम्नस्तु तद् राजन् भारद्वाजशिरोऽहरत् ।

तावकानां महेष्वासः प्रमुखे तत् समाक्षिपत् ॥ ७० ॥

इस प्रकार सब सैनिकोंने द्रोणाचार्यका मारा जाना अपनी आँखोंसे देखा। राजन्! महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यका वह सिर उठा लिया और उसे आपके पुत्रोंके सामने फेंक दिया ॥ ६९-७० ॥

ते तु दृष्ट्वा शिरो राजन् भारद्वाजस्य तावकाः।
पलायनकृतोत्साहा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ ७१ ॥

महाराज! द्रोणाचार्यके उस कटे हुए सिरको देखकर आपके सारे सैनिकोंने केवल भागनेमें ही उत्साह दिखाया और वे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ७१ ॥

द्रोणस्तु दिवमास्थाय नक्षत्रपथमाविशत्।
अहमेव तदाद्राक्षं द्रोणस्य निधनं नृप ॥ ७२ ॥
ऋषेः प्रसादात् कृष्णस्य सत्यवत्याः सुतस्य च।

नरेश्वर! द्रोणाचार्य आकाशमें पहुँचकर नक्षत्रोंके पथमें प्रविष्ट हो गये। उस समय सत्यवतीनन्दन महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनके प्रसादसे मैंने भी द्रोणाचार्यकी वह दिव्य मृत्यु प्रत्यक्ष देख ली ॥ ७२½ ॥

विधूमामिह संयान्तीमुल्कां प्रज्वलितामिव ॥ ७३ ॥
अपश्याम दिवं स्तब्ध्वा गच्छन्तं तं महाद्युतिम्।

महातेजस्वी द्रोण जब आकाशको स्तब्ध करके ऊपरको जा रहे थे, उस समय हमलोगोंने यहाँसे उन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती हुई धूमरहित प्रज्वलित उल्काके समान देखा था ॥ ७३½ ॥

हते द्रोणे निरुत्साहान् कुरून् पाण्डवसृञ्जयाः ॥ ७४ ॥
अभ्यद्रवन् महावेगास्ततः सैन्यं व्यदीर्यत।

द्रोणाचार्यके मारे जानेपर कौरव सैनिक युद्धका उत्साह खो बैठे, फिर पाण्डवों और सृंजयोंने उनपर बड़े वेगसे आक्रमण कर दिया। इससे कौरवसेनामें भगदड़ मच गयी ॥ ७४½ ॥

निहता हतभूयिष्ठाः संग्रामे निशितैः शरैः ॥ ७५ ॥
तावका निहते द्रोणे गतासव इवाभवन्।

युद्धमें आपके बहुत योद्धा तीखे बाणोंद्वारा मारे गये थे और बहुत-से अधमरे हो रहे थे। द्रोणाचार्यके मारे जानेपर वे सभी निष्प्राण-से हो गये ॥ ७५½ ॥

पराजयमथावाप्य परत्र च महद् भयम् ॥ ७६ ॥
उभयेनैव ते हीना नाविन्दन् धृतिमात्मनः।

इस लोकमें पराजय और परलोकमें महान् भय पाकर दोनों ही लोकोंसे वञ्चित हो वे अपने भीतर धैर्य न धारण कर सके ॥ ७६½ ॥

अन्विच्छन्तः शरीरं तु भारद्वाजस्य पार्थिवाः ॥ ७७ ॥
नान्वगच्छन् महाराज कबन्धायुतसंकुले।

महाराज! हमारे पक्षके राजाओंने द्रोणाचार्यके शरीरको बहुत खोजा, परंतु हजारों लाशोंसे भरे हुए युद्धस्थलमें वे उसे पा न सके ॥ ७७½ ॥

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा परत्र च महद् यशः ॥ ७८ ॥
बाणशङ्खरवांश्चक्रुः सिंहनादांश्च पुष्कलान्।

पाण्डव इस लोकमें विजय और परलोकमें महान् यश पाकर वे धनुषपर बाण रखकर उसकी टंकार करने, शङ्ख बजाने और बारंबार सिंहनाद करने लगे ॥ ७८½ ॥

भीमसेनस्ततो राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ७९ ॥
वरूथिन्यामनृत्येतां परिष्वज्य परस्परम्।

राजन्! तदनन्तर भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न एक दूसरेको हृदयसे लगाकर सेनाके बीचमें हर्षके मारे नाचने लगे ॥ ७९½ ॥

अब्रवीच्च तदा भीमः पार्षतं शत्रुतापनम् ॥ ८० ॥
भूयोऽहं त्वां विजयिनं परिष्वज्यामि पार्षत।
सूतपुत्रे हते पापे धार्तराष्ट्रे च संयुगे ॥ ८१ ॥

उस समय भीमसेनने शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नसे कहा—'द्रुपदनन्दन! जब सूतपुत्र कर्ण और पापी दुर्योधन मारे जायँगे, उस समय विजयी हुए तुमको मैं फिर इसी प्रकार छातीसे लगाऊँगा' ॥ ८०-८१ ॥

एतावदुक्त्वा भीमस्तु हर्षेण महता युतः।
बाहुशब्देन पृथिवीं कम्पयामास पाण्डवः ॥ ८२ ॥

इतना कहकर अत्यन्त हर्षमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन अपनी भुजाओंपर ताल ठोककर पृथ्वीको कम्पित-सी करने लगे ॥ ८२ ॥

तस्य शब्देन वित्रस्ताः प्राद्रवंस्तावका युधि।
क्षत्रधर्मं समुत्सृज्य पलायनपरायणाः ॥ ८३ ॥

उनके उस शब्दसे भयभीत हो आपके सारे सैनिक युद्धसे भाग चले। वे क्षत्रियधर्मको छोड़कर पीठ दिखाने लग गये ॥ ८३ ॥

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा हृष्टा ह्यासन् विशाम्पते।
अरिक्षयं च संग्रामे तेन ते सुखमाप्नुवन् ॥ ८४ ॥

प्रजानाथ! पाण्डव विजय पाकर हर्षसे खिल उठे। संग्राममें जो शत्रुओंका भारी संहार हुआ था, उससे उन्हें बड़ा सुख मिला ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि द्रोणवधपर्वणि द्रोणवधे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत द्रोणवधपर्वमें द्रोणवधविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

(नारायणास्त्रमोक्षपर्व)

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-सैनिकों तथा सेनापतियोंका भागना, अश्वत्थामाके पूछनेपर कृपाचार्यका उसे द्रोणवधका वृत्तान्त सुनाना

संजय उवाच

ततो द्रोणे हते राजन् कुरवः शस्त्रपीडिताः ।
हतप्रवीरा विध्वस्ता भृशं शोकपरायणाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! द्रोणाचार्यके मारे जानेपर शस्त्रोंके आघातसे पीड़ित हुए कौरव अपने प्रमुख वीरोंके मारे जानेसे भारी विध्वंसको प्राप्त हो अत्यन्त शोकमग्न हो गये ॥ १ ॥

उदीर्णांश्च परान् दृष्ट्वा कम्पमानाः पुनः पुनः ।
अश्रुपूर्णेक्षणास्त्रस्ता दीनास्त्वासन् विशाम्पते ॥ २ ॥

प्रजानाथ ! शत्रुओंको उत्कर्ष प्राप्त करते देख वे दीन और भयभीत हो बारंबार काँपने और नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ २ ॥

विचेतसो हतोत्साहाः कश्मलाभिहतौजसः ।
आर्तस्वरेण महता पुत्रं ते पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी थी । मोहवश उनका तेज और बल नष्ट हो चला था । वे हतोत्साह होकर अत्यन्त आर्तस्वरसे विलाप करते हुए आपके पुत्रको घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

रजस्वला वेपमाना वीक्षमाणा दिशो दश ।
अश्रुकण्ठा यथा दैत्या हिरण्याक्षे पुरा हते ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें हिरण्याक्षके मारे जानेपर दैत्योंकी जैसी अवस्था हुई थी, वैसी ही उनकी भी हो गयी । वे धूल-धूसर शरीरसे काँपते हुए दसों दिशाओंकी ओर देख रहे थे । आँसुओंसे उनका गला भर आया ॥ ४ ॥

स तैः परिवृतो राजा त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ।
अशक्नुवन्नवस्थातुमपायात् तनयस्तव ॥ ५ ॥

डरे हुए क्षुद्र मृगोंके समान उन सैनिकोंसे घिरा हुआ आपका पुत्र राजा दुर्योधन वहाँ खड़ा न रह सका । वह भागकर अन्यत्र चला गया ॥ ५ ॥

क्षुत्पिपासापरिम्लानास्ते योधास्तव भारत ।
आदित्येनेव संतप्ता भृशं विमनसोऽभवन् ॥ ६ ॥

भारत ! आपके सभी सैनिक भूख-प्याससे व्याकुल एवं मलिन हो रहे थे, मानो सूर्यने उन्हें अपनी प्रचण्ड किरणोंसे झुलस दिया हो । वे अत्यन्त उदास हो गये थे ॥ ६ ॥

भास्करस्येव पतनं समुद्रस्येव शोषणम् ।
विपर्यासं यथा मेरोर्वासवस्येव निर्जयम् ॥ ७ ॥
अमर्षणीयं तद् दृष्ट्वा भारद्वाजस्य पातनम् ।
त्रस्तरूपतरा राजन् कौरवाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ८ ॥

राजन् ! जैसे सूर्यका पृथ्वीपर गिर पड़ना, समुद्रका सूख जाना, मेरुपर्वतका उल्टी दिशामें चला जाना और इन्द्रका पराजित हो जाना असम्भव है, उसी प्रकार द्रोणाचार्यका मारा जाना भी असम्भव समझा जाता था; परंतु द्रोणाचार्यके उस असहनीय वधको सम्भव हुआ देख सारे कौरव थर्रा उठे और भयके मारे भागने लगे ॥ ७-८ ॥

गान्धारराजः शकुनिस्त्रस्तस्त्रस्ततरैः सह ।
हतं रुक्मरथं श्रुत्वा प्राद्रवत् सहितो रथैः ॥ ९ ॥

सुवर्णमय रथवाले आचार्य द्रोणके मारे जानेका समाचार सुनकर गान्धारराज शकुनि त्रस्त हो उठा और अत्यन्त डरे हुए अपने रथियोंके साथ युद्ध-भूमिसे भाग चला ॥ ९ ॥

वरूथिनीं वेगवतीं विद्रुतां सपताकिनीम् ।
परिगृह्य महासेनां सूतपुत्रोऽपयाद् भयात् ॥ १० ॥

सूतपुत्र कर्ण भी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित एवं बड़े वेगसे भागी हुई अपनी विशाल सेनाको साथ ले भयके मारे वहाँसे भाग खड़ा हुआ ॥ १० ॥

रथनागाश्वकलिलां पुरस्कृत्य तु वाहिनीम् ।
मद्राणामीश्वरः शल्यो वीक्षमाणोऽपयाद् भयात् ॥ ११ ॥

मद्रराज शल्य भी रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको आगे करके भयके मारे इधर-उधर देखते हुए भागने लगे ॥ ११ ॥

हतप्रवीरैर्भूयिष्ठैर्ध्वजैर्बहुपताकिभिः ।
वृतः शारद्वतोऽगच्छत् कष्टं कष्टमिति ब्रुवन् ॥ १२ ॥

शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य बहुसंख्यक ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित बहुत-से सैनिकोंद्वारा घिरे हुए थे । उनकी सेनाके प्रमुख वीर मारे गये थे । वे भी 'हाय ! बड़े कष्टकी बात है, बड़े कष्टकी बात है' ऐसा कहते हुए युद्धभूमिसे खिसक गये ॥

भोजानीकेन शिष्टेन कलिङ्गारट्टबाह्लिकैः ।
कृतवर्मा वृतो राजन् प्रायात् सुजवनैर्हयैः ॥ १३ ॥

राजन् ! कृतवर्मा भी भोजवंशियोंकी अवशिष्ट सेना तथा कलिङ्ग, अरट्ट और बाह्लिकोंकी विशाल वाहिनी साथ ले अत्यन्त वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा भाग निकला ॥ १३ ॥

पदातिगणसंयुक्तस्त्रस्तो राजन् भयार्दितः ।
उलूकः प्राद्रवत् तत्र दृष्ट्वा द्रोणं निपातितम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! द्रोणाचार्यको वहाँ मारा गया देख उलूक भी भयसे पीड़ित हो थर्रा उठा और पैदल योद्धाओंके साथ जोर-जोरसे भागने लगा ॥ १४ ॥

दर्शनीयो युवा चैव शौर्येण कृतलक्षणः ।
दुःशासनो भृशोद्विग्नः प्राद्रवद् गजसंवृतः ॥ १५ ॥

जिसके शरीरमें शौर्यके चिह्न बन गये थे, वह दर्शनीय युवक दुःशासन भी भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो अपनी गज-सेनाके साथ भाग खड़ा हुआ ॥ १५ ॥

रथानामयुतं गृह्य त्रिसाहस्रं च दन्तिनाम् ।
वृषसेनो ययौ तूर्णं दृष्ट्वा द्रोणं निपातितम् ॥ १६ ॥

द्रोणाचार्य धराशायी हो गये, यह देखकर वृषसेन भी दस हजार रथों और तीन हजार हाथियोंकी सेना साथ ले तुरंत वहाँसे चल दिया ॥ १६ ॥

गजाश्वरथसंयुक्तो वृतश्चैव पदातिभिः ।
दुर्योधनो महाराज प्रायात् तत्र महारथः ॥ १७ ॥

महाराज ! हाथी, घोड़े और रथोंकी सेनासे युक्त तथा पैदल सैनिकोंसे घिरा हुआ महारथी दुर्योधन भी रणभूमिसे भाग चला ॥ १७ ॥

संशप्तकगणान् गृह्य हतशेषान् किरीटिना ।
सुशर्मा प्राद्रवद् राजन् दृष्ट्वा द्रोणं निपातितम् ॥१८॥

राजन् ! द्रोणाचार्यको रणभूमिमें गिराया गया देख अर्जुनके मारनेसे बचे हुए संशप्तकोंको साथ ले सुशर्मा वहाँसे भाग निकला ॥ १८ ॥

गजान् रथान् समारुह्य व्युदस्य च हयाञ्जनाः ।
प्राद्रवन् सर्वतः संख्ये दृष्ट्वा रुक्मरथं हतम् ॥ १९ ॥

युद्धस्थलमें सुवर्णमय रथवाले द्रोणका वध हुआ देख बहुतेरे सैनिक हाथियों और रथोंपर आरूढ़ हो तथा कितने ही योद्धा अपने घोड़ोंको भी छोड़कर सब ओरसे पलायन करने लगे ॥ १९ ॥

त्वरयन्तः पितॄनन्ये भ्रातॄनन्येऽथ मातुलान् ।
पुत्रानन्ये वयस्यांश्च प्राद्रवन् कुरवस्तदा ॥ २० ॥

कुछ कौरव पिता, ताऊ और चाचा आदिको, कुछ भाइयोंको, कुछ मामाओंको तथा कितने ही पुत्रों और मित्रोंको जल्दीसे भागनेकी प्रेरणा देते हुए उस समय मैदान छोड़कर चल दिये ॥ २० ॥

चोदयन्तश्च सैन्यानि स्वस्रीयांश्च तथापरे ।
सम्बन्धिनस्तथान्ये च प्राद्रवन्त दिशो दश॥ २१ ॥

कितने ही योद्धा अपनी सेनाओंको, दूसरे लोग भानजों-को और कितने ही अपने सगे-सम्बन्धियोंको भागनेकी आज्ञा देते हुए दसों दिशाओंकी ओर भाग खड़े हुए ॥ २१ ॥

प्रकीर्णकेशा विध्वस्ता न द्वावेकत्र धावतः ।
नेदमस्तीति मन्वाना हतोत्साहा हतौजसः ॥ २२ ॥

उन सबके बाल बिखरे हुए थे । वे गिरते-पड़ते भाग रहे थे । दो सैनिक एक साथ या एक ओर नहीं भागते थे । उन्हें विश्वास हो गया था कि अब यह सेना नहीं बचेगी; इसीलिये उनके उत्साह और बल नष्ट हो गये थे ॥ २२ ॥

उत्सृज्य कवचानन्ये प्राद्रवंस्तावका विभो ।
अन्योन्यं ते समाक्रोशन् सैनिका भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रभो ! आपके कितने ही सैनिक कवच उतारकर एक-दूसरेको पुकारते हुए भाग रहे थे ॥ २३ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति न च ते स्वयं तत्रावतस्थिरे ।
धुर्यानुन्मुच्य च रथाद्धतसूतात् स्वलंकृतान् ।
अधिरुह्य हयान् योधाः क्षिप्रं पद्भिरचोदयन् ॥ २४ ॥

कुछ योद्धा दूसरोंसे 'ठहरो, ठहरो' कहते, परंतु स्वयं नहीं ठहरते थे । कितने ही योद्धा सारथिशून्य रथसे सजे-सजाये घोड़ोंको खोलकर उनपर सवार हो जाते और पैरोंसे ही शीघ्रतापूर्वक उन्हें हाँकने लगते थे ॥ २४ ॥

द्रवमाणे तथा सैन्ये त्रस्तरूपे हतौजसि ।
प्रतिस्रोत इव ग्राहो द्रोणपुत्रः परानियात् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब सारी सेना भयभीत हो बल और उत्साह खोकर भाग रही थी, उसी समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा शत्रुओंकी ओर बढ़ा आ रहा था, मानो कोई ग्राह नदीके प्रवाहके प्रतिकूल जा रहा हो ॥ २५ ॥

तस्यासीत् सुमहद् युद्धं शिखण्डिप्रमुखैर्गणैः ।
प्रभद्रकैश्च पाञ्चालैश्चेदिभिश्च सकेकयैः ॥ २६ ॥

इससे पहले अश्वत्थामाका उन प्रभद्रक, पाञ्चाल, चेदि और केकय आदि गणोंके साथ महान् युद्ध हो रहा था, जिनका प्रधान नेता शिखण्डी था (इसीलिये उसे पिताकी मृत्युका समाचार नहीं ज्ञात हुआ ।) ॥ २६ ॥

हत्वा बहुविधाः सेनाः पाण्डूनां युद्धदुर्मदः ।
कथंचित् संकटान्मुक्तो मत्तद्विरदविक्रमः ॥ २७ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रमी रणदुर्मद अश्वत्थामा पाण्डवोंकी विविध सेनाओंका संहार करके किसी प्रकार उस युद्ध-संकटसे मुक्त हुआ था ॥ २७ ॥

द्रवमाणं बलं दृष्ट्वा पलायनकृतक्षणम् ।
दुर्योधनं समासाद्य द्रोणपुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २८ ॥

इतनेहीमें उसने देखा कि सारी कौरव-सेना भागी जा रही है और सभी लोग पलायन करनेमें उत्साह दिखा रहे हैं । तब द्रोणपुत्रने दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार पूछा—॥ २८ ॥

किमियं द्रवते सेना त्रस्तरूपेव भारत।
द्रवमाणां च राजेन्द्र नावस्थापयसे रणे ॥ २९ ॥

'भरतनन्दन ! क्यों यह सेना भयभीत-सी होकर भागी जा रही है ? राजेन्द्र ! इस भागती हुई सेनाको आप युद्धमें ठहरानेका प्रयत्न क्यों नहीं करते ? ॥ २९ ॥

त्वं चापि न यथापूर्वं प्रकृतिस्थो नराधिप।
कर्णप्रभृतयश्चेमे नावतिष्ठन्ति पार्थिव ॥ ३० ॥

'नरेश्वर ! तुम भी पहलेके समान स्वस्थ नहीं दिखायी देते। भूपाल ! ये कर्ण आदि वीर भी रणभूमिमें खड़े नहीं हो रहे हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ३० ॥

अन्येष्वपि च युद्धेषु नैव सेनाद्रवत् तदा।
कच्चित् क्षेमं महाबाहो तव सैन्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'अन्य संग्रामोंमें भी आपकी सेना इस प्रकार नहीं भागी थी। महाबाहु भरतनन्दन ! आपकी सेना सकुशल तो है न ? ॥ ३१ ॥

कस्मिन्निदं हते राजन् रथसिंहे बलं तव।
एतामवस्थां सम्प्राप्तं तन्ममाचक्ष्व कौरव ॥ ३२ ॥

'राजन् ! कुरुनन्दन ! किस सिंहके समान पराक्रमी रथीके मारे जानेपर आपकी यह सेना इस दुरवस्थाको पहुँच गयी है। यह मुझे बताइये' ॥ ३२ ॥

तत्तु दुर्योधनः श्रुत्वा द्रोणपुत्रस्य भाषितम्।
घोरमप्रियमाख्यातुं नाशक्नोत् पार्थिवर्षभः ॥ ३३ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाकी यह बात सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधन यह घोर अप्रिय समाचार स्वयं उससे न कह सका ॥

भिन्ना नौरिव ते पुत्रो मग्नः शोकमहार्णवे।
बाष्पेणापिहितो दृष्ट्वा द्रोणपुत्रं रथे स्थितम् ॥ ३४ ॥

मानो आपके पुत्रकी नाव मझधारमें टूट गयी थी और वह शोकके समुद्रमें डूब रहा था। रथपर बैठे हुए द्रोणकुमारको देखकर उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे ॥

ततः शारद्वतं राजा सव्रीडमिदमब्रवीत्।
शंसात्र भद्रं ते सर्वं यथा सैन्यमिदं द्रुतम् ॥ ३५ ॥

उस समय राजा दुर्योधनने कृपाचार्यसे संकोचपूर्वक कहा—'गुरुदेव ! आपका कल्याण हो। आप ही वह सब समाचार बता दीजिये, जिससे यह सब सेना भागी जा रही है' ॥ ३५ ॥

अथ शारद्वतो राजन्नार्तिमार्च्छन् पुनः पुनः।
शशंस द्रोणपुत्राय यथा द्रोणो निपातितः ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य बारंबार पीड़ाका अनुभव करते हुए जिस प्रकार द्रोणाचार्य मारे गये थे, वह समाचार उनके पुत्रको सुनाने लगे ॥ ३६ ॥

कृप उवाच

वयं द्रोणं पुरस्कृत्य पृथिव्यां प्रवरं रथम्।
प्रावर्तयाम संग्रामं पञ्चालैरेव केवलम् ॥ ३७ ॥

कृपाचार्य बोले—वत्स ! हमलोगोंने भूमण्डलके श्रेष्ठ महारथी आचार्य द्रोणको आगे करके केवल पाञ्चालोंके साथ युद्ध आरम्भ किया था ॥ ३७ ॥

ततः प्रवृत्ते संग्रामे विमिश्राः कुरुसोमकाः।
अन्योन्यमभिगर्जन्तः शस्त्रैर्देहानपातयन् ॥ ३८ ॥

युद्ध आरम्भ हो जानेपर कौरव तथा सोमक योद्धा परस्पर मिश्रित हो गये और एक-दूसरेके निकट गर्जना करते हुए शस्त्रोंद्वारा अपने-अपने शत्रुओंके शरीरोंको धराशायी करने लगे ॥ ३८ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे क्षीयमाणेषु संयुगे।
धार्तराष्ट्रेषु संक्रुद्धः पिता तेऽस्त्रमुदैरयत् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार युद्ध चालू होनेपर जब कौरव योद्धा क्षीण होने लगे, तब तुम्हारे पिताने अत्यन्त कुपित होकर ब्रह्मास्त्र प्रकट किया ॥ ३९ ॥

ततो द्रोणो ब्राह्ममस्त्रं विकुर्वाणो नरर्षभः।
व्यहनच्छात्रवान् भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४० ॥

ब्रह्मास्त्र प्रकट करते हुए नरश्रेष्ठ द्रोणने सैकड़ों और हजारों भल्लोंद्वारा शत्रु-सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ४० ॥

पाण्डवाः केकया मत्स्याः पञ्चालाश्च विशेषतः।
संख्ये द्रोणरथं प्राप्य व्यनशन् कालचोदिताः॥४१॥

पाण्डव, केकय, मत्स्य तथा विशेषतः पाञ्चाल योद्धा कालसे प्रेरित हो युद्धमें द्रोणाचार्यके रथके पास आकर नष्ट हो गये ॥ ४१ ॥

सहस्रं नरसिंहानां द्विसाहस्रं च दन्तिनाम्।
द्रोणो ब्रह्मास्त्रयोगेन प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ४२ ॥

द्रोणाचार्यने ब्रह्मास्त्रके प्रयोगद्वारा मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी एक हजार श्रेष्ठ योद्धाओं तथा दो हजार हाथियोंको मौतके हवाले कर दिया ॥ ४२ ॥

आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः।
रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥ ४३ ॥

जिनकी अङ्ग-कान्ति श्याम थी, जिनके कानोंतकके बाल पक गये थे तथा जो चार सौ वर्षकी अवस्था पूरे कर चुके थे, वे बूढ़े द्रोणाचार्य रणभूमिमें सोलह वर्षके तरुणकी भाँति सब ओर विचरते रहे ॥ ४३ ॥

क्लिश्यमानेषु सैन्येषु वध्यमानेषु राजसु।
अमर्षवशमापन्नाः पञ्चाला विमुखाऽभवन् ॥ ४४ ॥

जब इस प्रकार सेनाएँ कष्ट पाने लगीं तथा बहुत-से नरेश कालके गालमें जाने लगे, तब अमर्षमें भरे हुए पाञ्चाल युद्धसे विमुख हो गये ॥ ४४ ॥

तेषु किंचित् प्रभग्नेषु विमुखेषु सपत्नजित्।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणो बभूवार्क इवोदितः ॥ ४५ ॥

वे कुछ हतोत्साह होकर जब युद्धसे विमुख हो गये, तब दिव्य अस्त्र प्रकट करनेवाले शत्रुविजयी द्रोणाचार्य उदित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ४५ ॥

स मध्यं प्राप्य पाण्डूनां शररश्मिः प्रतापवान्।
मध्यंगत इवादित्यो दुष्प्रेक्ष्यस्ते पिताभवत् ॥४६॥

पाण्डव-सेनाके बीचमें आकर बाणमयी रश्मियोंसे सुशोभित तुम्हारे प्रतापी पिता द्रोण दोपहरके सूर्यकी भाँति तपने लगे। उस समय उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था ॥ ४६ ॥

ते दह्यमाना द्रोणेन सूर्येणेव विराजता।
दग्धवीर्या निरुत्साहा बभूवुर्गतचेतसः ॥ ४७ ॥

प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी द्रोणाचार्यद्वारा दग्ध किये जाते हुए पाञ्चालोंके बल और पराक्रम भी दग्ध हो गये थे। वे उत्साहशून्य तथा अचेत हो गये थे ॥ ४७ ॥

तान् दृष्ट्वा पीडितान् बाणैर्द्रोणेन मधुसूदनः।
जयैषी पाण्डुपुत्राणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

उन सबको द्रोणाचार्यके बाणोंद्वारा पीड़ित देख पाण्डवोंकी विजय चाहनेवाले मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा— ॥ ४८ ॥

नैष जातु नरैः शक्यो जेतुं शस्त्रभृतां वरः।
अपि वृत्रहणा संख्ये रथयूथपयूथपः ॥ ४९ ॥

'ये द्रोणाचार्य शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं रथयूथपतियोंके भी यूथपति हैं। इन्हें युद्धमें मनुष्य कदापि नहीं जीत सकते। देवराज इन्द्रके लिये भी इनपर विजय पाना असम्भव है ॥

ते यूयं धर्ममुत्सृज्य जयं रक्षत पाण्डवाः।
यथा वः संयुगे सर्वान् न हन्याद् रुक्मवाहनः ॥५०॥

'अतः पाण्डव ! तुमलोग धर्मका विचार छोड़कर विजयकी रक्षाका प्रयत्न करो, जिससे सुवर्णमय रथवाले द्रोणाचार्य युद्धस्थलमें तुम सब लोगोंका संहार न कर सकें ॥ ५० ॥

अश्वत्थाम्नि हते नैष युध्येदिति मतिर्मम।
हतं तं संयुगे कश्चिदाख्यात्वस्मै मृषा नरः ॥ ५१ ॥

'मेरा ऐसा विश्वास है कि अश्वत्थामाके मारे जानेपर ये युद्ध नहीं कर सकते; अतः कोई मनुष्य इनसे झूठे ही कह दे कि 'युद्धमें अश्वत्थामा मारा गया' ॥ ५१॥

एतन्नारोचयद् वाक्यं कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अरोचयंस्तु सर्वेऽन्ये कृच्छ्रेण तु युधिष्ठिरः ॥ ५२ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनको यह बात अच्छी नहीं लगी। परंतु और सब लोगोंको जँच गयी। युधिष्ठिर बड़ी कठिनाईसे इसके लिये तैयार हुए ॥ ५२ ॥

भीमसेनस्तु सव्रीडमब्रवीत् पितरं तव।
अश्वत्थामा हत इति तं नाबुध्यत ते पिता ॥ ५३ ॥

तब भीमसेनने लजाते-लजाते तुम्हारे पितासे कहा—'अश्वत्थामा मारा गया'। परंतु उनकी इस बातपर तुम्हारे पिताको विश्वास नहीं हुआ ॥ ५३ ॥

स शङ्कमानस्तन्मिथ्या धर्मराजमपृच्छत।
हतं वाप्यहतं वाऽऽजौ त्वां पिता पुत्रवत्सलः॥ ५४ ॥

उनके मनमें यह संदेह हुआ कि यह समाचार झूठा है; अतः तुम्हारे पुत्रवत्सल पिताने युद्धभूमिमें धर्मराज युधिष्ठिरसे पूछा कि 'अश्वत्थामा मारा गया या नहीं' ॥ ५४ ॥

तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः।
अश्वत्थामानमायोधे हतं दृष्ट्वा महागजम् ॥ ५५ ॥
भीमेन गिरिवर्ष्माणं मालवस्येन्द्रवर्मणः।
उपसृत्य तदा द्रोणमुच्चैरिदमुवाच ह ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर असत्यके भयमें डूबे होनेपर भी विजयमें आसक्त थे, अतः मालवनरेश इन्द्रवर्माके पर्वताकार महान् गजराज अश्वत्थामाको भीमसेनके द्वारा युद्धस्थलमें मारा गया देख द्रोणाचार्यके पास जाकर वे उच्चस्वरसे इस प्रकार बोले— ॥ ५५-५६ ॥

यस्यार्थे शस्त्रमादत्से यमवेक्ष्य च जीवसि।
पुत्रस्ते दयितो नित्यं सोऽश्वत्थामा निपातितः॥५७॥
शेते विनिहतो भूमौ वने सिंहशिशुर्यथा ॥ ५८ ॥

'आचार्य ! तुम जिसके लिये हथियार उठाते हो और जिसका मुँह देखकर जीते हो, वह तुम्हारा सदाका प्यारा पुत्र अश्वत्थामा पृथ्वीपर मार गिराया गया है। जैसे वनमें सिंहका बच्चा सोता है, उसी प्रकार वह रणभूमिमें मरा पड़ा है' ॥

जानन्नप्यनृतस्याथ दोषान् स द्विजसत्तमम्।
अव्यक्तमब्रवीद् राजा हतः कुञ्जर इत्युत ॥ ५९ ॥

असत्य बोलनेके दोषोंको जानते हुए भी राजा युधिष्ठिरने द्विजश्रेष्ठ द्रोणसे वैसी बात कह दी। फिर वे अस्फुट स्वरमें बोले--'वास्तवमें इस नामका हाथी मारा गया' ॥ ५९ ॥

स त्वां निहतमाक्रन्दे श्रुत्वा संतापतापितः।
नियम्य दिव्यान्यस्त्राणि नायुध्यत यथा पुरा ॥ ६० ॥

इस प्रकार युद्धमें तुम्हारे मारे जानेकी बात सुनकर वे शोकाग्निके तापसे संतप्त हो उठे और अपने दिव्यास्त्रोंका प्रयोग बंद करके उन्होंने पहलेके समान युद्ध करना छोड़ दिया ॥ ६० ॥

तं दृष्ट्वा परमोद्विग्नं शोकातुरमचेतसम्।
पाञ्चालराजस्य सुतः क्रूरकर्मा समाद्रवत् ॥ ६१ ॥

उन्हें अत्यन्त उद्विग्न, शोकाकुल और अचेत हुआ देख पाञ्चालराजका क्रूरकर्मा पुत्र धृष्टद्युम्न उनकी ओर दौड़ा ॥ ६१ ॥

तं दृष्ट्वा विहितं मृत्युं लोकतत्त्वविचक्षणः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यथोत्सृज्य रणे प्रायमुपाविशत् ॥ ६२ ॥

लोकतत्त्वके ज्ञानमें निपुण आचार्य अपनी दैवविहित मृत्युरूप धृष्टद्युम्नको सामने देख दिव्यास्त्रोंका परित्याग करके आमरण उपवासका नियम ले रणभूमिमें बैठ गये ॥ ६२ ॥

ततोऽस्य केशान् सव्येन गृहीत्वा पाणिना तदा ।
पार्षतः क्रोशमानानां वीराणामच्छिनच्छिरः ॥ ६३ ॥

तब उस द्रुपदपुत्रने समस्त वीरोंके पुकार-पुकारकर मना करनेपर भी उनकी बातें अनसुनी करके बायें हाथसे आचार्यके केश पकड़ लिये और दाहिने हाथसे उनका सिर काट लिया ॥ ६३ ॥

न हन्तव्यो न हन्तव्य इति ते सर्वतोऽब्रुवन् ।
तथैव चार्जुनो वाहादवरुह्यैनमाद्रवत् ॥ ६४ ॥

वे सब वीर चारों ओरसे यही कह रहे थे कि 'न मारो, न मारो' । अर्जुन भी यही कहते हुए अपने रथसे उतरकर उसकी ओर दौड़ पड़े ॥ ६४ ॥

उद्यम्य त्वरितो बाहुं ब्रुवाणश्च पुनः पुनः ।
जीवन्तमानयाचार्यं मा वधीरिति धर्मवित् ॥ ६५ ॥

वे धर्मके ज्ञाता हैं, अतः अपनी एक बाँह उठाकर बड़ी उतावलीके साथ बारंबार यह कहने लगे कि 'आचार्यको जीते-जी ले आओ, मारो मत' ॥ ६५ ॥

तथा निवार्यमाणेन कौरवैरर्जुनेन च ।
हत एव नृशंसेन पिता तव नरर्षभ ॥ ६६ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार कौरवों तथा अर्जुनके रोकनेपर भी उस नृशंसने तुम्हारे पिताकी हत्या कर ही डाली ॥ ६६ ॥

सैनिकाश्च ततः सर्वे प्राद्रवन्त भयार्दिताः ।
वयं चापि निरुत्साहा हते पितरि तेऽनघ ॥ ६७ ॥

अनघ ! इस प्रकार तुम्हारे पिताके मारे जानेपर समस्त सैनिक भयसे पीड़ित होकर भाग चले हैं और हमलोग उत्साहशून्य होकर लौटे आ रहे हैं ॥ ६७ ॥

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रोणपुत्रस्तु निधनं पितुराहवे ।
क्रोधमाहारयत् तीव्रं पदाहत इवोरगः ॥ ६८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धमें इस प्रकार पिताके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पैरोंसे ठुकराये हुए सर्पके समान अत्यन्त कुपित हो उठा ॥ ६८ ॥

ततः क्रुद्धो रणे द्रौणिर्भृशं जज्वाल मारिष ।
यथेन्धनं महत् प्राप्य प्राज्वलद्धव्यवाहनः ॥ ६९ ॥

माननीय नरेश ! जैसे अग्निदेव सूखे काठकी बहुत बड़ी राशि पाकर प्रचण्डरूपसे प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणभूमिमें अश्वत्थामा अत्यन्त क्रोधसे जलने लगा ॥ ६९ ॥

तलं तलेन निष्पिष्य दन्तैर्दन्तानुपास्पृशत् ।
निःश्वसन्नुरगो यद्वल्लोहिताक्षोऽभवत् तदा ॥ ७० ॥

उसने हाथसे हाथ मलकर दाँतोंसे दाँत पीसे और फुफकारते हुए सर्पके समान वह लंबी साँसें खीचने लगा, उस समय उसकी आँखें लाल हो गयी थीं ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वण्यश्वत्थामक्रोधे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें अश्वत्थामाका क्रोधविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका प्रश्न

धृतराष्ट्र उवाच

अधर्मेण हतं श्रुत्वा धृष्टद्युम्नेन संजय ।
ब्राह्मणं पितरं वृद्धमश्वत्थामा किमब्रवीत् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! अपने बूढ़े पिता ब्राह्मण द्रोणाचार्यके धृष्टद्युम्नद्वारा अधर्मपूर्वक मारे जानेका समाचार सुनकर अश्वत्थामाने क्या कहा ? ॥ १ ॥

मानवं वारुणाग्नेयं ब्राह्ममस्त्रं च वीर्यवान् ।
ऐन्द्रं नारायणं चैव यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
तमधर्मेण धर्मिष्ठं धृष्टद्युम्नेन संयुगे ।
श्रुत्वा निहतमाचार्यं सोऽश्वत्थामा किमब्रवीत् ॥ ३ ॥

जिनमें मानव, वारुण, आग्नेय, ब्राह्म, ऐन्द्र और नारायण नामक अस्त्र सदा प्रतिष्ठित थे, उन धर्मात्मा आचार्यको धृष्टद्युम्नद्वारा अधर्मपूर्वक युद्धमें मारा गया सुनकर पराक्रमी अश्वत्थामाने क्या कहा ? ॥ २-३ ॥

येन रामादवाप्येह धनुर्वेदं महात्मना ।
प्रोक्तान्यस्त्राणि दिव्यानि पुत्राय गुणकाङ्क्षिणा ॥ ४ ॥

गुणोंकी अभिलाषा रखनेवाले उन महात्मा द्रोणने इस लोकमें परशुरामजीसे धनुर्वेदकी शिक्षा पाकर वे समस्त दिव्यास्त्र अपने पुत्रको भी सिखाये थे ॥ ४ ॥

एकमेव हि लोकेऽस्मिन्नात्मनो गुणवत्तरम् ।
इच्छन्ति पुरुषाः पुत्रं लोके नान्यं कथंचन ॥ ५ ॥

मनुष्य इस जगत्में केवल पुत्रको ही अपनेसे भी अधिक गुणवान् बनाना चाहते हैं, दूसरेको किसी प्रकार भी नहीं ॥ ५ ॥

आचार्याणां भवन्त्येव रहस्यानि महात्मनाम्।
तानि पुत्राय वा दद्युः शिष्यायानुगताय वा ॥ ६ ॥

महात्मा आचार्योंके पास बहुत-सी रहस्यकी बातें होती हैं, जिन्हें या तो वे अपने पुत्रको दे सकते हैं या अनुगत शिष्यको ॥ ६ ॥

स शिष्यः प्राप्य तत् सर्वं सविशेषं च संजय।
शूरः शारद्वतीपुत्रः संख्ये द्रोणादनन्तरः ॥ ७ ॥

संजय ! कृपीका शूरवीर पुत्र अश्वत्थामा शिष्यभावसे विशेष रहस्यसहित सारा धनुर्वेद अपने पिता द्रोणाचार्यसे प्राप्त करके युद्धस्थलमें उनके बाद वही उस योग्यताका रह गया है॥

रामस्य तु समः शस्त्रे पुरंदरसमो युधि।
कार्तवीर्यसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ ॥ ८ ॥
महीधरसमः स्थैर्ये तेजसाग्निसमो युवा।
समुद्र इव गाम्भीर्ये क्रोधे चाशीविषोपमः ॥ ९ ॥
स रथी प्रथमो लोके दृढधन्वा जितक्लमः।
शीघ्रोऽनिल इवाक्रन्दे चरन् क्रुद्ध इवान्तकः ॥ १० ॥

शस्त्रविद्यामें परशुरामके समान, युद्धकलामें इन्द्रके समान, बल-पराक्रममें कृतवीर्यपुत्र अर्जुनके समान, बुद्धिमें बृहस्पतिके सदृश, स्थिरता एवं धैर्यमें पर्वतके तुल्य, तेजमें अग्निके समान, गम्भीरतामें समुद्रके सदृश और क्रोधमें विषधर सर्पके समान नवयुवक अश्वत्थामा संसारका प्रधान रथी और सुदृढ़ धनुर्धर है । उसने श्रम और थकावटको जीत लिया है । वह संग्राममें वायुके समान वेगपूर्वक विचरनेवाला तथा क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान भयंकर है ॥ ८–१० ॥

अस्यता येन संग्रामे धरण्यभिनिपीडिता।
यो न व्यथति संग्रामे वीरः सत्यपराक्रमः ॥ ११ ॥
वेदस्नातो व्रतस्नातो धनुर्वेदे च पारगः।
महोदधिरिवाक्षोभ्यो रामो दाशरथिर्यथा ॥ १२ ॥

अश्वत्थामा जब रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करने लगता है, तब धरती भी अत्यन्त पीड़ित हो उठती है। वह सत्य-पराक्रमी वीर संग्राममें कभी व्यथित नहीं होता है। वह वेदाध्ययन समाप्त करके स्नातक बन चुका है। ब्रह्मचर्यव्रतकी अवधि पूरी करके उसका भी स्नातक हो चुका है और धनुर्वेदका भी पारंगत विद्वान् है। महासागर तथा दशरथ-पुत्र श्रीरामके समान उसे कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता ॥ ११-१२ ॥

तमधर्मेण धर्मिष्ठं धृष्टद्युम्नेन संयुगे।
श्रुत्वा निहतमाचार्यमश्वत्थामा किमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उसी अश्वत्थामाने अपने धर्मिष्ठ पिता आचार्य द्रोणको युद्धमें धृष्टद्युम्नके हाथसे अधर्मपूर्वक मारा गया सुनकर क्या कहा ? ॥ १३ ॥

धृष्टद्युम्नस्य यो मृत्युः सृष्टस्तेन महात्मना।
यथा द्रोणस्य पाञ्चाल्यो यज्ञसेनसुतोऽभवत् ॥ १४ ॥

(हमने सुन रखा है कि) जैसे द्रोणाचार्यका वध करनेके लिये पाञ्चालदेशीय द्रुपदकुमारका जन्म हुआ था, उसी प्रकार महात्मा द्रोणने धृष्टद्युम्नकी मृत्युके लिये अश्वत्थामाको जन्म दिया था ॥ १४ ॥

तं नृशंसेन पापेन क्रूरेणादीर्घदर्शिना।
श्रुत्वा निहतमाचार्यमश्वत्थामा किमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस नृशंस, पापी, क्रूर और अदूरदर्शी धृष्टद्युम्नके हाथसे आचार्यका वध हुआ सुनकर अश्वत्थामाने क्या कहा ? ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें धृतराष्ट्र-प्रश्नविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके क्रोधपूर्ण उद्गार और उसके द्वारा नारायणास्त्रका प्राकट्य

संजय उवाच

छद्मना निहतं श्रुत्वा पितरं पापकर्मणा।
बाष्पेणापूर्यत द्रौणी रोषेण च नरर्षभ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! पापी धृष्टद्युम्नने मेरे पिताको छलसे मार डाला है, यह सुनकर अश्वत्थामाके नेत्रोंमें आँसू भर आये। फिर वह रोषसे जल उठा ॥ १ ॥

तस्य क्रुद्धस्य राजेन्द्र वपुर्दीप्तमदृश्यत।
अन्तकस्येव भूतानि जिहीर्षोः कालपर्यये ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! जैसे प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंके संहारकी इच्छावाले यमराजका तेजोमय शरीर प्रज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार वहाँ देखा गया कि क्रोधसे भरे हुए अश्वत्थामाका शरीर तमतमा उठा है ॥ २ ॥

अश्रुपूर्णे ततो नेत्रे व्यपमृज्य पुनः पुनः।
उवाच कोपान्निःश्वस्य दुर्योधनमिदं वचः ॥ ३ ॥

अपने आँसूभरे नेत्रोंको बारंबार पोंछकर क्रोधसे लंबी साँस खींचते हुए अश्वत्थामाने दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

पिता मम यथा क्षुद्रैर्न्यस्तशस्त्रो निपातितः।
धर्मध्वजवता पापं कृतं तद् विदितं मम ॥ ४ ॥

'राजन् ! मेरे पिताने जिस प्रकार हथियार डाल दिया, जिस तरह उन नीचोंने उन्हें मार गिराया तथा धर्मका ढोंग रचनेवाले युधिष्ठिरने जो पाप किया है, वह सब मुझे मालूम हो गया ॥ ४ ॥

अनार्यं सुनृशंसं च धर्मपुत्रस्य मे श्रुतम् ।
युद्धेष्वपि प्रवृत्तानां ध्रुवं जयपराजयौ ॥ ५ ॥
द्वयमेतद् भवेद् राजन् वधस्तत्र प्रशस्यते ।

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरका क्रूरतापूर्ण नीच कर्म मैंने सुन लिया । राजन् ! जो लोग युद्धमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हें विजय और पराजय अवश्य प्राप्त होती है । परंतु युद्धमें होनेवाले वधकी अधिक प्रशंसा की गयी है ॥ ५½ ॥

न्यायवृत्तो वधो यस्तु संग्रामे युध्यतो भवेत्॥ ६ ॥
न स दुःखाय भवति तथा दृष्टो हि स द्विजैः ।

'संग्राममें जूझते हुए वीरको यदि न्यायानुकूल वध प्राप्त हो जाय, तो वह दुःखका कारण नहीं होता; क्योंकि द्विजोंने युद्धके इस परिणामको देखा है ॥ ६½ ॥

गतः स वीरलोकाय पिता मम न संशयः ॥ ७ ॥
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र यस्तदा निधनं गतः ।

'पुरुषसिंह ! इसमें संशय नहीं कि मेरे पिता वीरगतिको प्राप्त हुए हैं । उस समय वे मारे गये, इस बातको लेकर उनके लिये शोक करना उचित नहीं है ॥ ७½ ॥

यत् तु धर्मप्रवृत्तः सन् केशग्रहणमाप्तवान् ॥ ८ ॥
पश्यतां सर्वसैन्यानां तन्मे मर्माणि कृन्तति ।

'परंतु धर्ममें तत्पर रहनेपर भी जो समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उनका केश पकड़ा गया, वह अपमान ही मेरे मर्मस्थानोंको विदीर्ण किये देता है ॥ ८½ ॥

मयि जीवति यत् तातः केशग्रहमवाप्तवान् ॥ ९ ॥
कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम् ।

'मेरे जीते-जी यदि पिताको अपने केश पकड़े जानेका अपमानपूर्ण कष्ट उठाना पड़ा, तब दूसरे पुत्रवान् पुरुष किस लिये पुत्रोंकी अभिलाषा करेंगे ? ॥ ९½ ॥

कामात् क्रोधादविज्ञानाद्धर्षाद् बाल्येन वा पुनः॥१०॥
विधर्मकाणि कुर्वन्ति तथा परिभवन्ति च ।
तदिदं पार्षतेनेह महदाधर्मिकं कृतम् ॥ ११ ॥
अवज्ञाय च मां नूनं नृशंसेन दुरात्मना ।
तस्यानुबन्धं द्रष्टासौ धृष्टद्युम्नः सुदारुणम् ॥ १२ ॥

'लोग काम, क्रोध, अज्ञान, हर्ष अथवा बालोचित चपलताके कारण धर्मके विरुद्ध कार्य करते तथा श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान कर बैठते हैं । क्रूर एवं दुरात्मा द्रुपदपुत्रने निश्चय ही मेरी अवहेलना करके यह महान् पाप कर्म कर डाला है । अतः उस धृष्टद्युम्नको उस पापका अत्यन्त भयंकर परिणाम भोगना पड़ेगा ॥ १०–१२ ॥

अकार्यं परमं कृत्वा मिथ्यावादी च पाण्डवः ।
यो ह्यसौ छद्मनाऽऽचार्यं शस्त्रं संन्यासयत् तदा ॥१३॥
तस्याद्य धर्मराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ।

'साथ ही मिथ्यावादी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको भी यह अत्यन्त नीच कर्म करनेके कारण इसका दारुण परिणाम देखना पड़ेगा । जिसने छल करके आचार्यसे उस समय शस्त्र रखवा दिया था, उस धर्मराज युधिष्ठिरका रक्त आज यह पृथ्वी पीयेगी ॥ १३½ ॥

शपे सत्येन कौरव्य इष्टापूर्तेन चैव ह ॥ १४ ॥
अहत्वा सर्वपाञ्चालान् जीवेयं न कथंचन ।
सर्वोपायैर्यतिष्यामि पञ्चालानामहं वधे ॥ १५ ॥

'कुरुनन्दन ! मैं अपने सत्य, इष्ट (यज्ञ-यागादि) और आपूर्त (वापी-तड़ागनिर्माण आदि) कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ कि समस्त पाञ्चालोंका वध किये बिना किसी तरह जीवित नहीं रह सकूँगा । सभी उपायोंसे पाञ्चालोंको मार डालनेका प्रयत्न करूँगा ॥ १४-१५ ॥

धृष्टद्युम्नं च समरे हन्ताहं पापकारिणम् ।
कर्मणा येन तेनेह मृदुना दारुणेन च ॥ १६ ॥

'समरभूमिमें पापाचारी धृष्टद्युम्नको मैं कोमल और कठोर जिस किसी भी कर्मके द्वारा अवश्य मार डालूँगा ॥

पञ्चालानां वधं कृत्वा शान्तिं लब्धास्मि कौरव ।
यदर्थं पुरुषव्याघ्र पुत्रानिच्छन्ति मानवाः ॥ १७ ॥
प्रेत्य चेह च सम्प्राप्तास्त्रायन्ते महतो भयात् ।

'कुरुनन्दन ! पाञ्चालोंका वध करके ही मैं शान्ति पा सकूँगा। पुरुषसिंह ! मनुष्य इसीलिये पुत्रोंकी इच्छा करते हैं कि वे प्राप्त होनेपर इह लोक और परलोकमें भी महान् भयसे रक्षा करेंगे ॥ १७½ ॥

पित्रा तु मम सावस्था प्राप्ता निर्बन्धुना यथा ॥ १८ ॥
मयि शैलप्रतीकाशे पुत्रे शिष्ये च जीवति।

'मेरे पिताने मुझ पर्वत-सरीखे पुत्र और शिष्यके जीते-जी बन्धुहीनकी भाँति वह दुरवस्था प्राप्त की है ॥ १८½ ॥

धिङ्ममास्त्राणि दिव्यानि धिग् बाहू धिक् पराक्रमम् १९
यं स द्रोणः सुतं प्राप्य केशग्रहमवाप्तवान्।

'मेरे दिव्यास्त्रोंको धिक्कार है ! मेरे इन दोनों भुजाओंको धिक्कार है ! तथा मेरे पराक्रमको धिक्कार है !! जब कि मेरे-जैसे पुत्रको पाकर आचार्य द्रोणने केशग्रहणका अपमान उठाया ॥ १९½ ॥

स तथाहं करिष्यामि यथा भरतसत्तम ॥ २० ॥
परलोकगतस्यापि भविष्याम्यनृणः पितुः।

'भरतश्रेष्ठ ! अब मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे परलोकमें गये हुए पिताके ऋणसे मुक्त हो सकूँ ॥ २०½ ॥

आर्येण हि न वक्तव्या कदाचित् स्तुतिरात्मनः ॥ २१ ॥
पितुर्वधममृष्यंस्तु वक्ष्याम्यद्येह पौरुषम्।

'यद्यपि श्रेष्ठ पुरुषको कभी अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, तथापि अपने पिताके वधको न सह सकनेके कारण आज मैं यहाँ अपने पुरुषार्थका वर्णन कर रहा हूँ ॥ २१½ ॥

अद्य पश्यन्तु मे वीर्यं पाण्डवाः सजनार्दनाः ॥ २२ ॥
मृद्नतः सर्वसैन्यानि युगान्तमिव कुर्वतः।

'आज मैं सारी सेनाओंको रौंदता हुआ प्रलयकालका दृश्य उपस्थित करूँगा। अतः आज श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव मेरा पराक्रम देखें ॥ २२½ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ॥ २३ ॥
अद्य शक्ता रणे जेतुं रथस्थं मां नरर्षभाः।

'आज रणभूमिमें रथपर बैठे हुए मुझ अश्वत्थामाको न तो देवता, न गन्धर्व, न असुर, न राक्षस और न कोई श्रेष्ठ मानव वीर ही परास्त कर सकते हैं ॥ २३½ ॥

मदन्यो नास्ति लोकेऽस्मिन्नर्जुनाद् वास्त्रवित् क्वचित् २४
अहं हि ज्वलतां मध्ये मयूखानामिवांशुमान्।
प्रयोक्ता देवसृष्टानामस्त्राणां पृतनागतः ॥ २५ ॥

'इस संसारमें मुझसे या अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई अस्त्रवेत्ता कहीं नहीं है। आज मैं शत्रुकी सेनामें घुसकर प्रकाशमान अंशुधारियोंके बीच अंशुमाली सूर्यके समान तपता हुआ देवनिर्मित अस्त्रोंका प्रयोग करूँगा ॥ २४-२५ ॥

भृशमिष्वसनादद्य मत्प्रयुक्ता महाहवे।
दर्शयन्तः शरा वीर्यं प्रमथिष्यन्ति पाण्डवान् ॥ २६ ॥

'आज महासमरमें धनुषसे मेरे द्वारा छोड़े हुए बाण मेरा महान् पराक्रम दिखाते हुए पाण्डव योद्धाओंको मथ डालेंगे ॥ २६ ॥

अद्य सर्वा दिशो राजन् धाराभिरिव संकुलाः।
आवृताः पत्रिभिस्तीक्ष्णैर्द्रष्टारो मामकैरिह ॥ २७ ॥

'राजन् ! जैसे बरसती हुई जलधाराओंसे सम्पूर्ण दिशाएँ ढक जाती हैं, उसी प्रकार आज सब लोग मेरे तीखे बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित हुई देखेंगे ॥ २७ ॥

विकिरञ्छरजालानि सर्वतो भैरवस्वनान्।
शत्रून् निपातयिष्यामि महावात इव द्रुमान् ॥ २८ ॥

'जैसे आँधी वृक्षोंको गिरा देती है, उसी प्रकार मैं सब ओर बाणसमूहोंकी वर्षा करके भयंकर गर्जना करनेवाले शत्रुओंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

न हि जानाति बीभत्सुस्तदस्त्रं न जनार्दनः।
न भीमसेनो न यमौ न च राजा युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥
न पार्षतो दुरात्मासौ न शिखण्डी न सात्यकिः।
यदिदं मयि कौरव्य सकल्पं सनिवर्तनम् ॥ ३० ॥

'आज मैं जिस अस्त्रका प्रयोग करूँगा, उसे न अर्जुन जानते हैं न श्रीकृष्ण, भीमसेन, नकुल-सहदेव और राजा युधिष्ठिरको भी उसका पता नहीं है। वह दुरात्मा धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सात्यकि भी उसके ज्ञानसे शून्य हैं। कुरुनन्दन ! वह तो प्रयोग और उपसंहारसहित केवल मेरे ही पास है ॥ २९-३० ॥

नारायणाय मे पित्रा प्रणम्य विधिपूर्वकम्।
उपहारः पुरा दत्तो ब्रह्मरूप उपस्थितः ॥ ३१ ॥
तं स्वयं प्रतिगृह्याथ भगवान् स वरं ददौ।
वव्रे पिता मे परममस्त्रं नारायणं ततः ॥ ३२ ॥

'पूर्वकालकी बात है, मेरे पिताने भगवान् नारायणको प्रणाम करके उन्हें विधिपूर्वक वेदस्वरूप उपहार समर्पित किया (वैदिक मन्त्रोंद्वारा उनकी स्तुति की)। भगवान्ने स्वयं उपस्थित होकर वह उपहार ग्रहण किया और पिताको वर दिया। मेरे पिताने वरके रूपमें उनसे सर्वोत्तम नारायणास्त्रकी याचना की ॥ ३१-३२ ॥

अथैनमब्रवीद् राजन् भगवान् देवसत्तमः।
भविता त्वत्समो नान्यः कश्चिद् युधि नरः क्वचित् ॥ ३३ ॥
न त्विदं सहसा ब्रह्मन् प्रयोक्तव्यं कथंचन।
न ह्येतदस्त्रमन्यत्र वधाच्छत्रोर्निवर्तते ॥ ३४ ॥

'राजन् ! तब देवश्रेष्ठ भगवान् नारायणने वह अस्त्र देकर उनसे इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन् ! अब युद्धमें तुम्हारी समानता करनेवाला दूसरा कोई मनुष्य कहीं नहीं रह

जायगा, परंतु तुम्हें सहसा इसका प्रयोग किसी तरह नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह अस्त्र शत्रुका वध किये बिना पीछे नहीं लौटता है ॥ ३३-३४ ॥

न चैतच्छक्यते ज्ञातुं कं न वध्येदिति प्रभो।
अवध्यमपि हन्याद्धि तस्मान्नैतत् प्रयोजयेत् ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! यह नहीं जाना जा सकता कि यह अस्त्र किसको नहीं मारेगा। यह अवध्यका भी वध कर सकता है; अतः सहसा इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

अथ संख्ये रथस्यैव शस्त्राणां च विसर्जनम्।
प्रयाचतां च शत्रूणां गमनं शरणस्य च ॥ ३६ ॥
एते प्रशमने योगा महास्त्रस्य परंतप।
सर्वथा पीडितो हि स्यादवध्यान् पीडयन् रणे॥ ३७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोण ! युद्धभूमिमें रथ छोड़कर उतर जाना, अपने अस्त्र-शस्त्र रख देना, अभयकी याचना करना और शत्रुकी शरण लेना—ये इस महान् अस्त्रको शान्त करनेके उपाय हैं। जो रणभूमिमें इस अस्त्रके द्वारा अवध्य मनुष्योंको पीड़ा देता है, वह स्वयं भी सब प्रकारसे पीड़ित हो सकता है' ॥ ३६-३७ ॥

तज्जग्राह पिता मह्यमब्रवीच्चैव स प्रभुः।
त्वं वधिष्यसि सर्वाणि शस्त्रवर्षाण्यनेकशः ॥ ३८ ॥
अनेनास्त्रेण संग्रामे तेजसा च ज्वलिष्यसि।
एवमुक्त्वा स भगवान् दिवमाचक्रमे प्रभुः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर मेरे पिताने वह अस्त्र ग्रहण किया और उन पूज्य पिताने मुझे उसका उपदेश किया। (पिताको अस्त्र देते समय भगवान्ने यह भी कहा था—) 'ब्रह्मन् ! तुम संग्राममें इस अस्त्रके द्वारा सम्पूर्ण शस्त्र-वर्षाओंको बारंबार नष्ट करोगे और स्वयं भी तेजसे प्रकाशित होते रहोगे।' ऐसा कहकर भगवान् नारायण अपने दिव्य धामको चले गये ॥ ३८-३९ ॥

एतन्नारायणादस्त्रं तत् प्राप्तं पितृबन्धुना।
तेनाहं पाण्डवांश्चैव पञ्चालान् मत्स्यकेकयान् ॥ ४० ॥
विद्रावयिष्यामि रणे शचीपतिरिवासुरान्।

'इस प्रकार पिताने भगवान् नारायणसे यह अस्त्र प्राप्त किया और उनसे मुझे इसकी प्राप्ति हुई है। उसी अस्त्रसे मैं रणभूमिमें पाण्डव, पाञ्चाल, मत्स्य और केकय योद्धाओंको उसी प्रकार खदेड़ूँगा, जैसा शचीपति इन्द्रने असुरोंको मार भगाया था ॥ ४०½ ॥

यथा यथाहमिच्छेयं तथा भूत्वा शरा मम ॥ ४१ ॥
निपतेयुः सपत्नेषु विक्रमत्स्वपि भारत।

'भारत ! मैं जैसा-जैसा चाहूँगा, वैसा ही रूप धारण करके मेरे बाण शत्रुओंके पराक्रम करनेपर भी उनपर पड़ेंगे ॥

यथेष्टमश्मवर्षेण प्रवर्षिष्ये रणे स्थितः ॥ ४२ ॥
अयोमुखैश्च विहगैर्द्रावयिष्ये महारथान्।
परश्वधांश्च निशितानुत्स्रक्ष्येऽहमसंशयम् ॥ ४३ ॥

'मैं युद्धमें स्थित होकर अपनी इच्छाके अनुसार पत्थरोंकी वर्षा करूँगा, लोहेकी चोंचवाले पक्षियोंद्वारा बड़े-बड़े महारथियोंको भगा दूँगा तथा शत्रुओंपर तेज धारवाले फरसे भी बरसाऊँगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥४२-४३॥

सोऽहं नारायणास्त्रेण महता शत्रुतापनः।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान्॥ ४४ ॥

'इस प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाला मैं महान् नारायणास्त्रका प्रयोग करके पाण्डवोंको पीड़ा देता हुआ अपने समस्त शत्रुओंका विध्वंस कर डालूँगा ॥ ४४ ॥

मित्रब्रह्मगुरुद्रोही जाल्मकः सुविगर्हितः।
पाञ्चालापसदश्चाद्य न मे जीवन् विमोक्ष्यते ॥ ४५ ॥

'मित्र, ब्राह्मण तथा गुरुसे द्रोह करनेवाला अत्यन्त निन्दित वह पाञ्चालकुलकलङ्क पामर धृष्टद्युम्न भी आज मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥ ४५ ॥

तच्छ्रुत्वा द्रोणपुत्रस्य पर्यवर्तत वाहिनी।
ततः सर्वे महाशङ्खान् दध्मुः पुरुषसत्तमाः ॥ ४६ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाकी वह बात सुनकर कौरवोंकी सेना लौट आयी। फिर तो सभी पुरुषश्रेष्ठ वीर बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे ॥ ४६ ॥

भेरीश्चाभ्यहनन् हृष्टा डिण्डिमांश्च सहस्रशः।
तथा ननाद वसुधा खुरनेमिप्रपीडिता ॥ ४७ ॥
स शब्दस्तुमुलः खं द्यां पृथिवीं च व्यनादयत्।

सबने प्रसन्न होकर रणभेरियाँ बजायीं, सहस्रों डंके पीटे, घोड़ोंकी टापों और रथोंके पहियोंसे पीड़ित हुई रणभूमि मानो आर्तनाद करने लगी। वह तुमुल ध्वनि आकाश, अन्तरिक्ष और भूतलको गुँजाने लगी ॥ ४७½ ॥

तं शब्दं पाण्डवाः श्रुत्वा पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ४८ ॥
समेत्य रथिनां श्रेष्ठाः सहिताश्चाप्यमन्त्रयन्।

मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान उस तुमुलनादको सुनकर श्रेष्ठ पाण्डव महारथी एकत्र होकर गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ४८½ ॥

तथोक्त्वा द्रोणपुत्रस्तु वार्युपस्पृश्य भारत ॥ ४९ ॥
प्रादुश्चकार तद् दिव्यमस्त्रं नारायणं तदा ॥ ५० ॥

भारत ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पूर्वोक्त बात कहकर जलसे आचमन करके उस समय उस दिव्य नारायणास्त्रको प्रकट किया ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि अश्वत्थामक्रोधे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें अश्वत्थामाका क्रोधविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९५॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाका सिंहनाद सुनकर युधिष्ठिरका अर्जुनसे कारण पूछना और अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाके क्रोध एवं गुरुहत्याके भीषण परिणामका वर्णन

संजय उवाच

प्रादुर्भूते ततस्तस्मिन्नस्त्रे नारायणे प्रभो।
प्रावात् सपृषतो वायुरनभ्रे स्तनयित्नुमान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रभो! तदनन्तर उस नारायणास्त्रके प्रकट होनेपर जलकी बूँदोंके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी। बिना बादलोंके ही आकाशमें मेघोंकी गर्जना होने लगी ॥ १ ॥

चचाल पृथिवी चापि चुक्षुभे च महोदधिः।
प्रतिस्रोतः प्रवृत्ताश्च गन्तुं तत्र समुद्रगाः ॥ २ ॥

पृथ्वी काँप उठी, समुद्रमें ज्वार आ गया और समुद्रमें मिलनेवाली बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने प्रवाहकी प्रतिकूल दिशामें बहने लगीं ॥ २ ॥

शिखराणि व्यशीर्यन्त गिरीणां तत्र भारत।
अपसव्यं मृगाश्चैव पाण्डुसेनां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

भारत! पर्वतोंके शिखर टूट-टूटकर गिरने लगे। हरिणोंके झुंड पाण्डवसेनाको अपने दायें करके चले गये ॥३॥

तमसा चावकीर्यन्त सूर्यश्च कलुषोऽभवत्।
सम्पतन्ति च भूतानि क्रव्यादानि प्रहृष्टवत् ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया, सूर्य मलिन हो गये और मांसभोजी जीव-जन्तु प्रसन्न-से होकर दौड़ लगाने लगे ॥ ४ ॥

देवदानवगन्धर्वास्त्रस्तास्त्वासन् विशाम्पते।
कथंकथाभवत् तीव्रा दृष्ट्वा तद् व्याकुलं महत्॥ ५ ॥

प्रजानाथ! वह महान् उत्पात देखकर देवता, दानव और गन्धर्व भी त्रस्त हो उठे तथा सब लोगोंमें यह तीव्र गतिसे चर्चा होने लगी कि 'अब क्या करना चाहिये' ॥ ५ ॥

व्यथिताः सर्वराजानस्त्रस्ताश्चासन् विशाम्पते।
तद् दृष्ट्वा घोररूपं वै द्रौणेरस्त्रं भयावहम् ॥ ६ ॥

महाराज! अश्वत्थामाके उस घोर एवं भयंकर अस्त्रको देखकर समस्त भूपाल व्यथित एवं भयभीत हो गये ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

निवर्तितेषु सैन्येषु द्रोणपुत्रेण संयुगे।
भृशं शोकाभितप्तेन पितुर्वधममृष्यता ॥ ७ ॥
कुरूनापततो दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नस्य रक्षणे।
को मन्त्रः पाण्डवेष्वासीत् तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! अपने पिताके वधको सहन न कर सकनेवाले अत्यन्त शोकसंतप्त द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ जब सारी सेनाएँ युद्धस्थलमें लौट आयीं, तब कौरवोंको आते देख पाण्डवदलमें धृष्टद्युम्नकी रक्षाके लिये क्या विचार हुआ, वह मुझे बताओ ॥ ७-८ ॥

संजय उवाच

प्रागेव विद्रुतान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् युधिष्ठिरः।
पुनश्च तुमुलं शब्दं श्रुत्वार्जुनमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

संजयने कहा—राजन्! राजा युधिष्ठिरने पहले तो आपके सैनिकोंको भागते देखा था। फिर उन्होंने वह भयंकर शब्द सुनकर अर्जुनसे कहा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आचार्ये निहते द्रोणे धृष्टद्युम्नेन संयुगे।
निहते वज्रहस्तेन यथा वृत्रे महासुरे ॥ १० ॥
नाशंसन्तो जयं युद्धे दीनात्मानो धनंजय।
आत्मत्राणे मतिं कृत्वा प्राद्रवन् कुरवो रणात् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय! पूर्वकालमें जैसे वज्रधारी इन्द्रने महान् असुर वृत्रासुरको मार डाला था, उसी प्रकार युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नद्वारा आचार्य द्रोणके मारे जानेपर युद्धमें अपनी विजयसे निराश हो दीनचित्त कौरव आत्मरक्षाका विचार करके रणभूमिसे भागे जा रहे थे ॥ १०-११ ॥

केचिद् भ्रान्तै रथैस्तूर्णं निहतैःपार्ष्णियन्तृभिः।
विपताकध्वजच्छत्रैः पार्थिवाः शीर्णकूबरैः ॥ १२ ॥
भग्ननीडैराकुलाश्वैः प्रारुग्णाश्च विशेषतः।
भग्नाक्षयुगचक्रैश्च व्याकृष्यन्त समन्ततः ॥ १३ ॥

जिनके पार्श्वरक्षक और सारथि मारे गये थे, ध्वजा, पताका और छत्र नष्ट हो गये थे, कूबर टूटकर बिखर गये थे, बैठनेके स्थान चौपट हो चुके थे तथा धुरे, जूए और पहिये भी टूट-फूट गये थे, वैसे रथ भी व्याकुल घोड़ोंसे आकृष्ट हो वहाँ चक्कर लगा रहे थे और उनके द्वारा कुछ विशेष घायल हुए नरेश चारों ओर खिंचे चले जा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

भीताः पादैर्हयान् केचित् त्वरयन्तः स्वयं रथान्।
रथान् विशीर्णानुत्सृज्य पद्भिः केचिच्च विद्रुताः॥ १४ ॥

कुछ लोग भयभीत हो घोड़ोंको पैरोंसे मार-मारकर स्वयं ही जल्दी-जल्दी रथ हाँक रहे थे और कुछ लोग टूटे हुए रथोंको छोड़कर पैदल ही भागने लगे थे ॥ १४ ॥

हयपृष्ठगताश्चान्ये कृष्यन्तेऽर्धच्युतासनाः।
गजस्कन्धेषु संस्यूता नाराचैश्चलितासनाः ॥ १५ ॥
शरार्तैर्विद्रुतैर्नागैर्हृताः केचिद् दिशो दश।

कितने ही योद्धा घोड़ोंकी पीठपर बैठे, परंतु उनका आधा आसन खिसक गया और उसी अवस्थामें घोड़ोंके साथ खिंचे चले गये। कुछ लोग नाराचोंकी मार खाकर अपने आसनसे भ्रष्ट हो हाथियोंके कंधोंसे चिपक गये थे और उसी अवस्थामें बाणोंसे पीड़ित हो भागते हुए हाथी उन्हें दसों दिशाओंमें लिये जाते थे ॥ १५½ ॥

विशस्त्रकवचाश्चान्ये वाहनेभ्यः क्षितिं गताः ॥ १६ ॥
संछिन्ना नेमिभिश्चैव मृदिताश्च हयद्विपैः ।

कुछ लोगोंके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये और वे अपने वाहनोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े। उस दशामें रथके पहियोंकी नेमिसे दबकर उनके शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये और कितने ही घोड़ों तथा हाथियोंसे कुचल गये ॥ १६½ ॥

क्रोशन्तस्तात पुत्रेति पलायन्ते परे भयात् ॥ १७ ॥
नाभिजानन्ति चान्योन्यं कश्मलाभिहतौजसः ।

दूसरे बहुत-से योद्धा 'हा तात ! हा पुत्र !' की रट लगाते हुए भयभीत होकर भाग रहे थे। मोहसे बल और उत्साह नष्ट हो जानेके कारण वे ऐसे अचेत हो रहे थे कि एक-दूसरेको पहचान भी नहीं पाते थे ॥ १७½ ॥

पुत्रान् पितॄन् सखीन् भ्रातॄन् समारोप्य दृढक्षतान्॥१८॥
जलेन क्लेदयन्त्यन्ये विमुच्य कवचान्यपि ।

कितने ही सैनिक अधिक चोट खाये हुए अपने पुत्र, पिता, मित्र और भाइयोंको रथपर चढ़ाकर तथा उनके कवच खोलकर उनके घावोंको जलसे भिगो रहे थे ॥१८½॥

अवस्थां तादृशीं प्राप्य हते द्रोणे द्रुतं बलम् ॥ १९ ॥
पुनरावर्तितं केन यदि जानासि शंस मे ।

आचार्य द्रोणके मारे जानेपर वैसी दुरवस्थामें पड़कर जो सेना भाग गयी थी, उसे फिर किसने लौटाया है ? यदि तुम जानते हो तो मुझे बताओ ॥ १९½ ॥

हयानां ह्रेषतां शब्दः कुञ्जराणां च बृंहताम् ॥ २० ॥
रथनेमिस्वनैश्चात्र विमिश्रः श्रूयते महान् ।

रथके पहियोंकी घर्घराहटसे मिला हुआ हिनहिनाते हुए घोड़ों और गर्जते हुए गजराजोंका महान् शब्द सुनायी पड़ता है ॥ २०½ ॥

एते शब्दा भृशं तीव्राः प्रवृत्ताः कुरुसागरे ॥ २१ ॥
मुहुर्मुहुरुदीर्यन्ते कम्पयन्त्यपि मामकान् ।

कौरवसेनारूपी समुद्रमें यह कोलाहल अत्यन्त तीव्र वेगसे होने लगा है और बारंबार बढ़ता जा रहा है, जो मेरे सैनिकोंको कम्पित किये देता है ॥ २१½ ॥

य एष तुमुलः शब्दः श्रूयते लोमहर्षणः ॥ २२ ॥
सेन्द्रानप्येष लोकांस्त्रीन् ग्रसेदिति मतिर्मम ।

यह जो महाभयंकर रोमाञ्चकारी शब्द सुनायी देता है, यह इन्द्रसहित तीनों लोकोंको ग्रस लेगा, ऐसा मुझे जान पड़ता है ॥ २२½ ॥

मन्ये वज्रधरस्यैष निनादो भैरवस्वनः ॥ २३ ॥
द्रोणे हते कौरवार्थे व्यक्तमभ्येति वासवः ।

मैं समझता हूँ, यह भयंकर शब्द वज्रधारी इन्द्रकी गर्जना है। द्रोणाचार्यके मारे जानेपर कौरवोंकी सहायताके लिये साक्षात् इन्द्र आ रहे हैं, यह स्पष्ट जान पड़ता है ॥

प्रहृष्टरोमकूपाश्च संविग्ना रथपुङ्गवाः ॥ २४ ॥
धनंजय गुरुं श्रुत्वा तत्र नादं सुभीषणम् ।

धनंजय ! यह अत्यन्त भीषण और भारी सिंहनाद सुनकर हमारे श्रेष्ठ रथी भी उद्विग्न हो उठे हैं और इनके रोंगटे खड़े हो गये हैं ॥ २४½ ॥

क एष कौरवान् दीर्णानवस्थाप्य महारथः ॥ २५ ॥
निवर्तयति युद्धार्थे मृधे देवेश्वरो यथा ।

देवराज इन्द्रके समान यह कौन महारथी भागे हुए कौरवोंको खड़ा करके उन्हें पुनः युद्धके लिये रणभूमिमें लौटा रहा है ? ॥ २५½ ॥

अर्जुन उवाच

उद्यम्यात्मानमुग्राय कर्मणे वीर्यमास्थिताः ॥ २६ ॥
धमन्ति कौरवाः शङ्खान् यस्य वीर्यं समाश्रिताः ।
यत्र ते संशयो राजन् न्यस्तशस्त्रे गुरौ हते ॥ २७ ॥
धार्तराष्ट्रानवस्थाप्य क एष नदतीति हि ।
ह्रीमन्तं तं महाबाहुं मत्तद्विरदगामिनम् ॥ २८ ॥
(इन्द्रविष्णुसमं वीर्ये कोपेऽन्तकमिव स्थितम् ।
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या नीतिमन्तं महारथम् ॥)
आख्यास्याम्युग्रकर्माणं कुरूणामभयंकरम् ।

अर्जुनने कहा—राजन् ! जिसके विषयमें आपको यह संदेह होता है कि शस्त्रोंका परित्याग कर देनेवाले गुरुदेव द्रोणाचार्यके मारे जानेपर यह कौन वीर कौरव-सैनिकोंको दृढ़तापूर्वक स्थापित करके सिंहनाद कर रहा है तथा जिसके बल और पराक्रमका आश्रय लेकर पराक्रमी कौरव अपनेको भयंकर कर्म करनेके लिये उद्यत करके शङ्खध्वनि कर रहे हैं; जो महाबाहु मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलनेवाला और लज्जाशील है, जो बलमें इन्द्र और विष्णुके समान, क्रोधमें यमराजके सदृश तथा बुद्धिमें बृहस्पतिके तुल्य है, जो नीतिमान्, महारथी, उग्र कर्म करनेमें समर्थ तथा कौरवोंको अभयदान देनेवाला है, उस वीरका परिचय देता हूँ, सुनिये ॥ २६—२८½ ॥

यस्मिञ्जाते ददौ द्रोणो गवां दशशतं धनम् ॥ २९ ॥
ब्राह्मणेभ्यो महार्हेभ्यः सोऽश्वत्थामैष गर्जति ।

जिसके जन्म लेनेपर आचार्य द्रोणने परम सुयोग्य ब्राह्मणों-

को एक सहस्र गौएँ दान की थीं, वही अश्वत्थामा यह गर्जना कर रहा है ॥ २९½ ॥

जातमात्रेण वीरेण येनोच्चैःश्रवसा यथा ॥ ३० ॥
ह्रेषता कम्पिता भूमिर्लोकाश्च सकलास्त्रयः ।
तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतं नाम तस्याकरोत् तदा॥ ३१ ॥
अश्वत्थामेति सोऽद्यैष शूरो नदति पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! जिस वीरने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा अश्वके समान हिनहिनाकर पृथ्वी तथा तीनों लोकोंको कम्पित कर दिया था और उस शब्दको सुनकर किसी अदृश्य प्राणीने उस समय उसका नाम 'अश्वत्थामा' रख दिया था, यह वही शूरवीर अश्वत्थामा सिंहनाद कर रहा है ॥३०-३१½॥

यो ह्यनाथ इवाक्रम्य पार्षतेन हतस्तथा ॥ ३२ ॥
कर्मणा सुनृशंसेन तस्य नाथो व्यवस्थितः ।

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने जिनपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मके द्वारा जिन्हें अनाथके समान मार डाला था, उन्हींका यह रक्षक या सहायक उठ खड़ा हुआ है ॥३२½॥

गुरुं मे यत्र पाञ्चाल्यः केशपक्षे परामृशत् ॥ ३३ ॥
तन्न जातु क्षमेद् द्रौणिर्जानन् पौरुषमात्मनः ।

पाञ्चालराजकुमारने जो मेरे गुरुदेवका केश पकड़कर खींचा था, उसे अपने पुरुषार्थको जाननेवाला अश्वत्थामा कभी क्षमा नहीं कर सकता ॥ ३३½ ॥

उपचीर्णो गुरुर्मिथ्या भवता राज्यकारणात् ॥ ३४ ॥
धर्मज्ञेन सता नाम सोऽधर्मः सुमहान् कृतः ।

आपने धर्मज्ञ होते हुए भी राज्यके लोभसे झूठ बोलकर जो अपने गुरुको धोखा दिया, वह महान् पाप किया है ॥

चिरं स्थास्यति चाकीर्तिस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ३५ ॥
रामे वालिवधाद् यद्वदेवं द्रोणे निपातिते ।

अतः छिपकर वालीका वध करनेके कारण जैसे श्रीरामचन्द्रजीको अपयश मिला, उसी प्रकार झूठ बोलकर द्रोणाचार्यको मरवा देनेके कारण चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें आपकी अकीर्ति चिरस्थायिनी हो जायगी ॥ ३५½ ॥

सर्वधर्मोपपन्नोऽयं स मे शिष्यश्च पाण्डवः ॥ ३६ ॥
नायं वदति मिथ्येति प्रत्ययं कृतवांस्त्वयि ।

आचार्यने यह समझकर आपपर विश्वास किया था कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर सब धर्मोंके ज्ञाता और मेरे शिष्य हैं। ये कभी झूठ नहीं बोलते हैं ॥ ३६½ ॥

स सत्यकञ्चुकं नाम प्रविष्टेन ततोऽनृतम् ॥ ३७ ॥
आचार्य उक्तो भवता हतः कुञ्जर इत्युत ।

परंतु आपने सत्यका चोला पहनकर आचार्यसे झूठे ही कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' उसी नामका हाथी मारा गया था, इसलिये आपने उसकी आड़ लेकर झूठ कहा ॥

ततः शस्त्रं समुत्सृज्य निर्ममो गतचेतनः ॥ ३८ ॥
आसीत् सुविह्वलो राजन् यथा दृष्टस्त्वया विभुः।

फिर वे हथियार डालकर अपने प्राणोंकी ममतासे रहित हो अचेत हो गये। राजन् ! उस समय शक्तिशाली होनेपर भी वे कितने व्याकुल हो गये थे, यह आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥

स तु शोकसमाविष्टो विमुखः पुत्रवत्सलः ॥ ३९ ॥
शाश्वतं धर्ममुत्सृज्य गुरुः शस्त्रेण घातितः ।

पुत्रवत्सल गुरुदेव बेटेके शोकमें मग्न होकर युद्धसे विमुख हो गये थे। उस अवस्थामें आपने सनातन-धर्मकी अवहेलना करके उन्हें शस्त्रसे मरवा डाला ॥ ३९½ ॥

न्यस्तशस्त्रमधर्मेण घातयित्वा गुरुं भवान् ॥ ४० ॥
रक्षत्विदानीं सामात्यो यदि शक्तोऽसि पार्षतम्।
ग्रस्तमाचार्यपुत्रेण क्रुद्धेन हतबन्धुना ॥ ४१ ॥

जिसके पिता मारे गये हैं, वह आचार्यपुत्र अश्वत्थामा आज कुपित होकर धृष्टद्युम्नको कालका ग्रास बनाना चाहता है। अस्त्र त्यागकर निहत्थे हुए गुरुदेवको अधर्मपूर्वक मरवाकर अब आप मन्त्रियोंसहित उसके सामने जाइये और यदि शक्ति हो तो धृष्टद्युम्नकी रक्षा कीजिये ॥ ४०-४१ ॥

सर्वे वयं परित्रातुं न शक्ष्यामोऽद्य पार्षतम् ।
सौहार्दे सर्वभूतेषु यः करोत्यतिमानुषः ।
सोऽद्य केशग्रहं श्रुत्वा पितुर्धक्ष्यति नो रणे ॥ ४२ ॥

आज हम सब लोग मिलकर भी धृष्टद्युम्नको नहीं बचा सकेंगे। जो अश्वत्थामा अतिमानव (अलौकिक पुरुष) है और समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, वही आज अपने पिताके केश पकड़े जानेकी बात सुनकर समराङ्गणमें हम सब लोगोंको जलाकर भस्म कर देगा ॥४२॥

विक्रोशमाने हि मयि भृशमाचार्यगृद्धिनि ।
अपाकीर्य स्वयं धर्मं शिष्येण निहतो गुरुः ॥ ४३ ॥

मैं आचार्यके प्राणोंकी रक्षा चाहता हुआ बारंबार पुकारता ही रह गया, परंतु स्वयं शिष्य होकर भी धृष्टद्युम्नने धर्मको लात मारकर अपने गुरुकी हत्या कर डाली ॥ ४३ ॥

यदा गतं वयो भूयः शिष्टमल्पतरं च नः ।
तस्येदानीं विकारोऽयमधर्मोऽयं कृतो महान् ॥ ४४ ॥

अब हमलोगोंकी आयुका अधिकांश भाग बीत चुका है और बहुत थोड़ा ही शेष रह गया है। इसीसे इस समय हमारा मस्तिष्क खराब हो गया और हमलोगोंने यह महान् पाप कर डाला है ॥ ४४ ॥

पितेव नित्यं सौहार्दात् पितेव हि च धर्मतः ।
सोऽल्पकालस्य राज्यस्य कारणाद् घातितो गुरुः॥४५॥

जो सदा पिताकी भाँति हमलोगोंपर स्नेह रखते और हमारा हित चाहते थे, धर्मदृष्टिसे भी जो हमारे पिताके ही

तुल्य थे, उन्हीं गुरुदेवको हमने इस क्षणभङ्गुर राज्यके लिये मरवा दिया ॥ ४५ ॥

धृतराष्ट्रेण भीष्माय द्रोणाय च विशाम्पते ।
विसृष्टा पृथिवी सर्वा सह पुत्रैश्च तत्परैः ॥ ४६ ॥

प्रजानाथ ! धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणको उनकी सेवामें रहनेवाले अपने पुत्रोंके साथ ही इस सारी पृथ्वीका राज्य सौंप दिया था ॥ ४६ ॥

सम्प्राप्य तादृशीं वृत्तिं सत्कृतः सततं परैः ।
अवृणीत सदा पुत्रान् मामेवाभ्यधिकं गुरुः ॥ ४७ ॥

हमारे शत्रु सदा आचार्यका सत्कार किया करते थे। उनके द्वारा वैसी उत्तम जीविका-वृत्ति पाकर भी आचार्य सदा मुझे ही अपने पुत्रसे बढ़कर मानते रहे हैं ॥ ४७ ॥

अवेक्षमाणस्त्वां मां च न्यस्तास्त्रश्चाहवे हतः ।
न त्वेनं युध्यमानं वै हन्यादपि शतक्रतुः ॥ ४८ ॥

उन्होंने आपको और मुझको देखकर युद्धमें हथियार डाल दिया और मारे गये। यदि वे युद्ध करते होते तो साक्षात् इन्द्र भी उन्हें मार नहीं सकते थे ॥ ४८ ॥

तस्याचार्यस्य वृद्धस्य द्रोहो नित्योपकारिणः ।
कृतो ह्यनार्यैरस्माभी राज्यार्थे लुब्धबुद्धिभिः ॥ ४९ ॥

हमारी बुद्धि लोभसे ग्रस्त है, हम नीचोंने राज्यके लिये सदा उपकार करनेवाले बूढ़े आचार्यके साथ द्रोह किया है ॥

अहो बत महत् पापं कृतं कर्म सुदारुणम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन द्रोणोऽयं साधु घातितः॥ ५० ॥

ओह ! हमने यह अत्यन्त भयंकर महान् पापकर्म कर डाला है, जो कि राज्य-सुखके लोभमें पड़कर इन आचार्य द्रोणकी पूर्णतः हत्या करा दी ॥ ५० ॥

पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् दाराञ्जीवितं चैव वासविः।
त्यजेत् सर्वं मम प्रेम्णा जानात्येवं हि मे गुरुः ॥ ५१ ॥

मेरे गुरुदेव ऐसा समझते थे कि अर्जुन मेरे प्रेमवश आवश्यकता हो तो अपने पिता, पुत्र, भाई, स्त्री तथा प्राण—सबका त्याग कर सकता है ॥ ५१ ॥

स मया राज्यकामेन हन्यमानो ह्युपेक्षितः ।
तस्मादर्वाक्शिरा राजन् प्राप्तोऽस्मि नरकं प्रभो ॥ ५२ ॥

किंतु मैंने राज्यके लोभमें पड़कर उनके मारे जानेकी उपेक्षा कर दी। राजन् ! प्रभो ! इस पापके कारण अब मैं नीचे सिर करके नरकमें डाला जाऊँगा ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणं वृद्धमाचार्यं न्यस्तशस्त्रं महामुनिम् ।
घातयित्वाद्य राज्यार्थे मृतं श्रेयो न जीवितम्॥ ५३ ॥

एक तो वे ब्राह्मण, दूसरे वृद्ध और तीसरे अपने आचार्य थे। इसके सिवा उन्होंने हथियार नीचे डाल दिया था और महान् मुनिवृत्तिका आश्रय लेकर बैठे हुए थे। इस अवस्थामें राज्यके लिये उनकी हत्या कराकर मैं जीनेकी अपेक्षा मर जाना ही अच्छा समझता हूँ ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि अर्जुनवाक्ये षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके वीरोचित उद्गार और धृष्टद्युम्नके द्वारा अपने कृत्यका समर्थन

संजय उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नोचुस्तत्र महारथाः ।
अप्रियं वा प्रियं वापि महाराज धनंजयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अर्जुनकी यह बात सुनकर वहाँ बैठे हुए सब महारथी मौन रह गये। उनसे प्रिय या अप्रिय कुछ नहीं बोले ॥ १ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्भीमसेनोऽभ्यभाषत ।
कुत्सयन्निव कौन्तेयमर्जुनं भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब महाबाहु भीमसेनको क्रोध चढ़ आया। उन्होंने कुन्तीकुमार अर्जुनको फटकारते हुए-से कहा—॥ २॥

मुनिर्यथारण्यगतो भाषसे धर्मसंहितम् ।
न्यस्तदण्डो यथा पार्थ ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ ३ ॥

'पार्थ ! वनवासी मुनि अथवा किसी भी प्राणीको दण्ड न देते हुए कठोर व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जिस प्रकार धर्मका उपदेश करता है, उसी प्रकार तुम भी धर्मसम्मत बातें कह रहे हो ॥ ३ ॥

क्षतत्राता क्षताज्जीवन् क्षन्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।
क्षत्रियः क्षितिमाप्नोति क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः॥ ४ ॥

'परंतु जो क्षति (संकट) से अपना तथा दूसरोंका त्राण करता है, युद्धमें शत्रुओंको क्षति पहुँचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियों और साधु पुरुषोंपर क्षमाभाव रखता है, वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस पृथ्वीके राज्य, धर्म, यश और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

स भवान् क्षत्रियगुणैर्युक्तः सर्वैः कुलोद्वहः ।
अविपश्चिद् यथा वाचं व्याहरन् नाद्य शोभसे ॥५॥

'तुम समस्त क्षत्रियोचित गुणोंसे सम्पन्न और इस कुलका भार वहन करनेमें समर्थ होते हुए भी आज मूर्खके समान बातें कर रहे हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता है ॥ ५ ॥

पराक्रमस्ते कौन्तेय शक्रस्येव शचीपतेः।
न चाति वर्तसे धर्मं वेलामिव महोदधिः॥ ६॥

'कुन्तीनन्दन! तुम्हारा पराक्रम शचीपति इन्द्रके समान है। महासागर जैसे अपनी तट-भूमिका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार तुम भी कभी धर्म-मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते हो॥ ६॥

न पूजयेत् त्वां को न्वद्य यत् त्रयोदशवार्षिकम्।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा धर्ममेवाभिकाङ्क्षसे॥ ७॥

'आज तेरह वर्षोंसे संचित किये हुए अमर्षको पीछे करके जो तुम धर्मकी ही अभिलाषा रखते हो, इसके लिये कौन तुम्हारी पूजा नहीं करेगा?॥ ७॥

दिष्ट्या तात मनस्तेऽद्य स्वधर्ममनुवर्तते।
आनृशंस्ये च ते दिष्ट्या बुद्धिः सततमच्युत॥ ८॥

'तात! सौभाग्यकी बात है कि इस समय भी तुम्हारा मन अपने धर्मका ही अनुसरण करता है। धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले मेरे भाई! तुम्हारी बुद्धि क्रूरताकी ओर न जाकर जो सदा दयाभावमें ही रम रही है, यह भी कम सौभाग्यकी बात नहीं है॥ ८॥

यत् तु धर्मप्रवृत्तस्य हृतं राज्यमधर्मतः।
द्रौपदी च परामृष्टा सभामानीय शत्रुभिः॥ ९॥
वनं प्रव्राजिताश्चास्म वल्कलाजिनवाससः।
अनर्हमाणास्तं भावं त्रयोदश समाः परैः॥ १०॥

'परंतु धर्ममें तत्पर रहनेपर भी जो शत्रुओंने अधर्मसे हमारा राज्य छीन लिया, द्रौपदीको सभामें लाकर अपमानित किया तथा हमें वल्कल और मृगचर्म पहनाकर तेरह वर्षोंके लिये जो वनमें निर्वासित कर दिया, हम वैसे बर्तावके योग्य कदापि नहीं थे॥ ९-१०॥

एतान्यमर्षस्थानानि मर्षितानि मयानघ।
क्षत्रधर्मप्रसक्तेन सर्वमेतदनुष्ठितम्॥ ११॥

'अनघ! ये सारे अन्याय अमर्षके स्थान थे--असह्य थे, परंतु मैंने सब चुपचाप सह लिये। क्षत्रिय-धर्ममें आसक्त होनेके कारण ही यह सब कुछ सहन किया गया है॥ ११॥

तमधर्ममपाकृष्टं स्मृत्वाद्य सहितस्त्वया।
सानुबन्धान् हनिष्यामि क्षुद्रान् राज्यहरानहम्॥ १२॥

'परंतु अब उनके उन नीचतापूर्ण पापकर्मोंको याद करके मैं तुम्हारे साथ रहकर अपने राज्यका अपहरण करनेवाले इन नीच शत्रुओंको उनके सगे-सम्बन्धियों-सहित मार डालूँगा॥ १२॥

त्वया हि कथितं पूर्वं युद्धायाभ्यागता वयम्।
घटामहे यथाशक्ति त्वं तु नोऽद्य जुगुप्ससे॥ १३॥

'तुमने ही पहले युद्धके लिये कहा था और उसीके अनुसार हम यहाँ आकर यथाशक्ति उसके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, परंतु आज तुम्हीं हमारी निन्दा करते हो!॥ १३॥

स्वधर्मं नेच्छसे ज्ञातुं मिथ्यावचनमेव ते।
भयार्दितानामस्माकं वाचा मर्माणि कृन्तसि॥ १४॥

'तुम अपने क्षत्रिय-धर्मको नहीं जानना चाहते। तुम्हारी ये सारी बातें मिथ्या ही हैं। एक तो हम स्वयं ही भयसे पीड़ित हो रहे हैं, ऊपरसे तुम भी अपने वाग्बाणोंद्वारा हमारे मर्मस्थानोंको छेदे डालते हो॥ १४॥

वपन् व्रणे क्षारमिव क्षतानां शत्रुकर्शन।
विदीर्यते मे हृदयं त्वया वाक्शल्यपीडितम्॥ १५॥

'शत्रुसूदन! जैसे कोई घायल मनुष्योंके घावपर नमक बिखेर दे (और वे वेदनासे छटपटाने लगें), उसी प्रकार तुम अपने वाग्बाणोंसे पीड़ित करके मेरे हृदयको विदीर्ण किये डालते हो॥ १५॥

अधर्ममेनं विपुलं धार्मिकः सन् न बुद्ध्यसे।
यत् त्वमात्मानमस्मांश्च प्रशस्यान् न प्रशंससि॥ १६॥

'यद्यपि तुम और हम प्रशंसाके पात्र हैं, तो भी तुम जो अपनी और हमारी प्रशंसा नहीं करते हो, यह बहुत बड़ा अधर्म है और तुम धार्मिक होते हुए इस अधर्मको नहीं समझ रहे हो॥ १६॥

वासुदेवे स्थिते चापि द्रोणपुत्रं प्रशंससि।
यः कलां षोडशीं पूर्णां धनंजय न तेऽर्हति॥ १७॥

'धनंजय! भगवान् श्रीकृष्णके रहते हुए भी तुम द्रोणपुत्रकी प्रशंसा करते हो, जो तुम्हारी पूरी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है॥ १७॥

स्वयमेवात्मनो दोषान् ब्रुवाणः किन्न लज्जसे।
दारयेयं महीं क्रोधाद् विकिरेयं च पर्वतान्॥ १८॥
आविध्यैतां गदां गुर्वीं भीमां काञ्चनमालिनीम्।
गिरिप्रकाशान् क्षितिजान् भञ्जेयमनिलो यथा॥ १९॥

'स्वयं ही अपने दोषोंका वर्णन करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती है? आज मैं अपनी इस सुवर्णभूषित भयंकर एवं भारी गदाको क्रोधपूर्वक घुमाकर इस पृथ्वीको विदीर्ण कर सकता हूँ, पर्वतोंको चूर-चूर करके बिखेर सकता हूँ तथा प्रचण्ड आँधीकी तरह पर्वतपर प्रकाशित होनेवाले ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंको भी तोड़ और उखाड़ सकता हूँ॥ १८-१९॥

द्रावयेयं शरैश्चापि सेन्द्रान् देवान् समागतान्।
सराक्षसगणान् पार्थ सासुरोरगमानवान्॥ २०॥

'पार्थ! असुर, नाग, मानव तथा राक्षसगणोंसहित सम्पूर्ण देवता और इन्द्र भी आ जायँ तो मैं उन्हें बाणोंद्वारा मारकर भगा सकता हूँ॥ २०॥

स त्वमेवंविधं जानन् भ्रातरं मां नरर्षभ।
द्रोणपुत्राद् भयं कर्तुं नार्हस्यमितविक्रम ॥ २१ ॥

'अमित पराक्रमी नरश्रेष्ठ अर्जुन ! मुझ अपने भ्राताको ऐसा जानकर तुम्हें द्रोणपुत्रसे भय नहीं करना चाहिये ॥

अथवा तिष्ठ बीभत्सो सह सर्वैः सहोदरैः।
अहमेनं गदापाणिर्जेष्याम्येको महाहवे ॥ २२ ॥

'अथवा अर्जुन ! तुम अपने समस्त भाइयोंके साथ यहीं खड़े रहो। मैं हाथमें गदा लेकर इस महासमरमें अकेला ही अश्वत्थामाको परास्त करूँगा' ॥ २२ ॥

ततः पाञ्चालराजस्य पुत्रः पार्थमथाब्रवीत्।
संक्रुद्धमिव नर्दन्तं हिरण्यकशिपुर्हरिम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर दहाड़ते हुए नृसिंहावतारधारी भगवान् विष्णुसे दैत्यराज हिरण्यकशिपुने बातें की थी, उसी प्रकार वहाँ अर्जुनसे पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने इस प्रकार कहा ॥ २३ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

बीभत्सो विप्रकर्माणि विदितानि मनीषिणाम्।
याजनाध्यापने दानं तथा यज्ञप्रतिग्रहौ ॥ २४ ॥
षष्ठमध्ययनं नाम तेषां कस्मिन् प्रतिष्ठितः।
हतो द्रोणो मया ह्येवं किं मां पार्थ विगर्हसे ॥ २५ ॥
अपक्रान्तः स्वधर्माच्च क्षात्रधर्मं व्यपाश्रितः।
अमानुषेण हन्त्यस्मानस्त्रेण क्षुद्रकर्मकृत् ॥ २६ ॥

धृष्टद्युम्न बोला—अर्जुन ! यज्ञ करना और कराना, वेदोंको पढ़ना और पढ़ाना तथा दान देना और प्रतिग्रह स्वीकार करना—ये छः कर्म ही ब्राह्मणोंके लिये मनीषी पुरुषोंमें प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे किस कर्ममें द्रोणाचार्य प्रतिष्ठित थे। अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर उन्होंने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले रक्खा था। पार्थ ! ऐसी अवस्थामें यदि मैंने द्रोणाचार्यका वध किया तो तुम इसके लिये मेरी निन्दा क्यों करते हो। वह नीच कर्म करनेवाला ब्राह्मण दिव्यास्त्रोंद्वारा हमलोगोंका संहार करता था ॥ २४—२६ ॥

तथा मायां प्रयुञ्जानमसह्यं ब्राह्मणब्रुवम्।
माययैव विहन्याद् यो न युक्तं पार्थ तत्र किम् ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो ब्राह्मण कहलाकर भी दूसरोंके लिये मायाका प्रयोग करता हो और असह्य हो उठा हो, उसे यदि कोई मायासे ही मार डाले तो इसमें अनुचित क्या है ? ॥ २७ ॥

तस्मिंस्तथा मया शस्ते यदि द्रौणायनी रुषा।
कुरुते भैरवं नादं तत्र किं मम हीयते ॥ २८ ॥

मेरे द्वारा द्रोणाचार्यके इस अवस्थामें मारे जानेपर यदि द्रोणपुत्र क्रोधपूर्वक भयानक गर्जना करता हो तो उसमें मेरी क्या हानि है ? ॥ २८ ॥

न चाद्भुतमिदं मन्ये यद् द्रौणिर्युद्धसंज्ञया।
घातयिष्यति कौरव्यान् परित्रातुमशक्नुवन् ॥ २९ ॥

मैं इसे कोई अद्भुत बात नहीं मान रहा हूँ; अश्वत्थामा इस युद्धके द्वारा कौरवोंको मरवा डालेगा; क्योंकि वह स्वयं उनकी रक्षा करनेमें असमर्थ है ॥ २९ ॥

यच्च मां धार्मिको भूत्वा ब्रवीषि गुरुघातिनम्।
तदर्थमहमुत्पन्नः पाञ्चाल्यस्य सुतोऽनलात् ॥ ३० ॥

इसके सिवा तुम धार्मिक होकर जो मुझे गुरुकी हत्या करनेवाला बता रहे हो, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि मैं इसीलिये अग्निकुण्डसे पाञ्चालराजका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ था ॥ ३० ॥

यस्य कार्यमकार्यं वा युध्यतः स्यात् समं रणे।
तं कथं ब्राह्मणं ब्रूयाः क्षत्रियं वा धनंजय ॥ ३१ ॥

धनंजय ! रणभूमिमें युद्ध करते समय जिसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों समान हों, उसे तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय कैसे कह सकते हो ? ॥ ३१ ॥

यो ह्यनस्त्रविदो हन्याद् ब्रह्मास्त्रैः क्रोधमूर्च्छितः।
सर्वोपायैर्न स कथं वध्यः पुरुषसत्तम ॥ ३२ ॥

पुरुषप्रवर ! जो क्रोधसे व्याकुल होकर ब्रह्मास्त्र न जाननेवालोंको भी ब्रह्मास्त्रसे ही मार डाले, उसका सभी उपायोंसे वध करना कैसे उचित नहीं है ? ॥ ३२ ॥

विधर्मिणं धर्मविद्भिः प्रोक्तं तेषां विषोपमम्।
जानन् धर्मार्थतत्त्वज्ञ किं मामर्जुन गर्हसे ॥ ३३ ॥

धर्म और अर्थका तत्त्व जाननेवाले अर्जुन ! जो अपना धर्म छोड़कर परधर्म ग्रहण कर लेता है, उस विधर्मीको धर्मज्ञ पुरुषोंने धर्मात्माओंके लिये विषके तुल्य बताया है। यह सब जानते हुए भी तुम मेरी निन्दा क्यों करते हो ? ॥ ३३ ॥

नृशंसः स मयाऽऽक्रम्य रथ एव निपातितः।
तन्मामनिन्द्यं बीभत्सो किमर्थं नाभिनन्दसे ॥ ३४ ॥

बीभत्सो ! द्रोणाचार्य क्रूर एवं नृशंस थे, इसलिये मैंने रथपर ही आक्रमण करके उनको मार गिराया। अतः मैं निन्दाका पात्र नहीं हूँ। फिर तुम किस लिये मेरा अभिनन्दन नहीं करते हो ? ॥ ३४ ॥

कालानलसमं पार्थ ज्वलनार्कविषोपमम्।
भीमं द्रोणशिरश्छिन्नं न प्रशंससि मे कथम् ॥ ३५ ॥

पार्थ ! द्रोणका मस्तक प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त भयंकर तथा लौकिक अग्नि, सूर्य एवं विषके तुल्य संताप देनेवाला था, अतः मैंने उसका छेदन किया है। इसके लिये तुम मेरी प्रशंसा क्यों नहीं करते ? ॥ ३५ ॥

योऽसौ ममैव नान्यस्य बान्धवान् युधि जघ्निवान्।

छित्त्वापि तस्य मूर्धानं नैवास्मि विगतज्वरः ॥३६॥

जिसने युद्धके मैदानमें दूसरे किसीके नहीं, मेरे ही बन्धु-बान्धवोंका वध किया था, उसका मस्तक काट लेनेपर भी मेरा क्रोध और संताप शान्त नहीं हुआ है ॥ ३६ ॥

तच्च मे कृन्तते मर्म यन्न तस्य शिरो मया।
निषादविषये क्षिप्तं जयद्रथशिरो यथा ॥ ३७ ॥

जैसे तुमने जयद्रथके मस्तकको दूर फेंका था, उसी प्रकार मैंने द्रोणाचार्यके मस्तकको जो निषादोंके स्थानमें नहीं फेंक दिया, वह भूल मेरे मर्मस्थानोंका छेदन कर रही है ॥ ३७ ॥

अथावधश्च शत्रूणामधर्मः श्रूयतेऽर्जुन।
क्षत्रियस्य हि धर्मोऽयं हन्याद्धन्येत वा पुनः ॥ ३८ ॥

अर्जुन ! सुननेमें आया है कि शत्रुओंका वध न करना भी अधर्म ही है। क्षत्रियके लिये तो यह धर्म ही है कि वह युद्धमें शत्रुको मार डाले या फिर स्वयं उसके हाथसे मारा जाय ॥ ३८ ॥

स शत्रुर्निहतः संख्ये मया धर्मेण पाण्डव।
यथा त्वया हतः शूरो भगदत्तः पितुः सखा ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ! द्रोणाचार्य मेरे शत्रु थे, अतः मैंने युद्धमें धर्मके अनुसार ही उनका वध किया है। ठीक उसी तरह, जैसे तुमने अपने पिताके प्रिय मित्र शूरवीर भगदत्तका वध किया था ॥ ३९ ॥

पितामहं रणे हत्वा मन्यसे धर्ममात्मनः।
मया शत्रौ हते कस्मात् पापे धर्मं न मन्यसे ॥ ४० ॥

तुम युद्धमें पितामहको मारकर भी अपने लिये तो धर्म मानते हो, किंतु मेरेद्वारा एक पापी शत्रुके मारे जानेपर भी इस कार्यको धर्म नहीं समझते; इसका क्या कारण है ? ॥ ४० ॥

सम्बन्धावनतं पार्थ न मां त्वं वक्तुमर्हसि।
स्वगात्रकृतसोपानं निषण्णमिव दन्तिनम् ॥ ४१ ॥

पार्थ ! जैसे हाथी सम्बन्ध स्थापित कर लेनेपर लोगोंको अपने ऊपर चढ़ानेके लिये अपने ही शरीरकी सीढ़ी बनाकर बैठ जाता है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ सम्बन्ध होनेके कारण नतमस्तक होता हूँ; अतः तुम्हें मेरे प्रति ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये ॥ ४१ ॥

क्षमामि ते सर्वमेव वाग्व्यतिक्रममर्जुन।
द्रौपद्या द्रौपदेयानां कृते नान्येन हेतुना ॥ ४२ ॥

अर्जुन ! मैं अपनी बहिन द्रौपदी और उसके पुत्रोंके नाते ही तुम्हारी इन सारी उलटी या कड़वी बातोंको सहे लेता हूँ, दूसरे किसी कारणसे नहीं ॥ ४२ ॥

कुलक्रमागतं वैरं ममाचार्येण विश्रुतम्।
तथा जानात्ययं लोको न यूयं पाण्डुनन्दनाः ॥ ४३ ॥

द्रोणाचार्यके साथ मेरा वंश-परम्परागत वैर चला आ रहा है, जो बहुत प्रसिद्ध है। उसे यह सारा संसार जानता है; क्या तुम पाण्डवोंको इसका पता नहीं है ? ॥ ४३ ॥

नानृती पाण्डवो ज्येष्ठो नाहं वाधार्मिकोऽर्जुन।
शिष्यद्रोही हतः पापो युध्यस्व विजयस्तव ॥ ४४ ॥

अर्जुन ! तुम्हारे बड़े भाई पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर असत्यवादी नहीं हैं और न मैं ही अधर्मी हूँ। द्रोणाचार्य पापी और शिष्यद्रोही थे, इसलिये मारे गये। अब तुम युद्ध करो; विजय तुम्हारे हाथमें है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें धृष्टद्युम्नवाक्यविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकि और धृष्टद्युम्नका परस्पर क्रोधपूर्वक वाग्बाणोंसे लड़ना तथा भीमसेन, सहदेव और श्रीकृष्ण एवं युधिष्ठिरके प्रयत्नसे उनका निवारण

धृतराष्ट्र उवाच

साङ्गा वेदा यथान्यायं येनाधीता महात्मना।
यस्मिन् साक्षाद् धनुर्वेदो ह्रीनिषेवे प्रतिष्ठितः ॥ १ ॥
यस्य प्रसादात् कुर्वन्ति कर्माणि पुरुषर्षभाः।
अमानुषाणि संग्रामे देवैरसुकराणि च ॥ २ ॥
तस्मिन्नाक्रुश्यति द्रोणे समक्षं पापकर्मणा।
नीचात्मना नृशंसेन क्षुद्रेण गुरुघातिना ॥ ३ ॥
नामर्षं तत्र कुर्वन्ति धिक् क्षात्रं धिगमर्षिताम्।

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जिन महात्माने विधिपूर्वक अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया था, जिन लज्जाशील सत्पुरुषमें साक्षात् धनुर्वेद प्रतिष्ठित था, जिनके कृपाप्रसादसे कितने ही पुरुषरत्न योद्धा संग्रामभूमिमें ऐसे-ऐसे अलौकिक पराक्रम कर दिखाते थे, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर थे; उन्हीं द्रोणाचार्यकी वह पापी, नीच, नृशंस, क्षुद्र और गुरुघाती धृष्टद्युम्न सबके सामने निन्दा कर रहा था और लोग क्रोध नहीं प्रकट करते थे। धिक्कार है ऐसे क्षत्रियोंको ! और धिक्कार है उनके अमर्षशील स्वभावको !! ॥ १-३½ ॥

पार्थाः सर्वे च राजानः पृथिव्यां ये धनुर्धराः॥ ४ ॥
श्रुत्वा किमाहुः पाञ्चाल्यं तन्ममाचक्ष्व संजय ।

संजय ! भूमण्डलके जो-जो धनुर्धर नरेश वहाँ उपस्थित थे, उन सबने तथा कुन्तीके पुत्रोंने धृष्टद्युम्नकी बात सुनकर उससे क्या कहा ? यह मुझे बताओ ॥ ४½ ॥

संजय उवाच

श्रुत्वा द्रुपदपुत्रस्य ता वाचः क्रूरकर्मणः ॥ ५ ॥
तूर्णीं बभूवू राजानः सर्वे एव विशाम्पते ।
अर्जुनस्तु कटाक्षेण जिह्मं विप्रेक्ष्य पार्षतम् ॥ ६ ॥
सबाष्पमतिनिःश्वस्य धिग् धिगित्येव चाब्रवीत् ।

संजयने कहा—प्रजानाथ ! क्रूरकर्मा द्रुपदपुत्रकी वे बातें सुनकर वहाँ बैठे हुए सभी नरेश मौन रह गये । केवल अर्जुन टेढ़ी नजरोंसे उसकी ओर देखकर आँसू बहाते हुए दीर्घ निःश्वास ले इतना ही बोले कि—'धिक्कार है ! धिक्कार है !!' ॥ ५-६½ ॥

युधिष्ठिरश्च भीमश्च यमौ कृष्णस्तथापरे ॥ ७ ॥
आसन् सुव्रीडिता राजन् सात्यकिस्त्वब्रवीदिदम् ।

राजन् ! उस समय युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य लोग भी अत्यन्त लज्जित हो चुप ही बैठे रहे, परंतु सात्यकि इस प्रकार बोल उठे—॥ ७½ ॥

नेहास्ति पुरुषः कश्चिद् य इमं पापपूरुषम् ॥ ८ ॥
भाषमाणमकल्याणं शीघ्रं हन्यान्नराधमम् ।

'क्या यहाँ कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो इस प्रकार अभद्रतापूर्ण वचन बोलनेवाले इस पापी नराधमको शीघ्र ही मार डाले ॥ ८½ ॥

एते त्वां पाण्डवाः सर्वे कुत्सयन्ति विकुत्सया ॥ ९ ॥
कर्मणा तेन पापेन श्वपाकं ब्राह्मणा इव ।

'धृष्टद्युम्न ! जैसे ब्राह्मण चाण्डालकी निन्दा करते हैं, उसी प्रकार ये समस्त पाण्डव उस पाप कर्मके कारण अत्यन्त घृणा प्रकट करते हुए तेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ ९½ ॥

एतत् कृत्वा महत् पापं निन्दितः सर्वसाधुभिः॥ १० ॥
न लज्जसे कथं वक्तुं समितिं प्राप्य शोभनाम् ।
कथं च शतधा जिह्वा न ते मूर्धा च दीर्यते ॥ ११ ॥
गुरुमाक्रोशतः क्षुद्र न चाधर्मेण पात्यसे ।

'यह महान् पाप करके तू समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंकी दृष्टिमें निन्दाका पात्र बन गया है । साधु पुरुषोंकी इस सुन्दर सभामें पहुँचकर ऐसी बातें करते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती है ? तेरी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते और तेरा मस्तक क्यों नहीं फट जाता ! ओ नीच ! गुरुकी निन्दा करते हुए तेरा इस पापसे पतन क्यों नहीं हो जाता ? ॥ १०-११½ ॥

वाच्यस्त्वमसि पार्थैश्च सर्वैश्चान्धकवृष्णिभिः ॥ १२ ॥
यत् कर्म कलुषं कृत्वा श्लाघसे जनसंसदि ।

'तू पापकर्म करके जनसमाजमें जो इस तरह अपनी बड़ाई कर रहा है, इसके कारण तू कुन्तीके सभी पुत्रों तथा अन्धक और वृष्णिवंशके यादवोंद्वारा निन्दाके योग्य हो गया है ॥ १२½ ॥

अकार्यं तादृशं कृत्वा पुनरेव गुरुं क्षिपन् ॥ १३ ॥
वध्यस्त्वं न त्वयार्थोऽस्ति मुहूर्तमपि जीवता ।

'वैसा पापकर्म करके तू पुनः गुरुपर आक्षेप कर रहा है; अतः तू वध करनेके ही योग्य है । एक मुहूर्त भी तेरे जीवित रहनेका कोई प्रयोजन नहीं है ॥

कस्त्वेतद् व्यवसेदार्यस्त्वदन्यः पुरुषाधम ॥ १४ ॥
निगृह्य केशेषु वधं गुरोर्धर्मात्मनः सतः ।

'पुरुषाधम ! तेरे सिवा दूसरा कौन श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्मा सज्जन गुरुके केश पकड़कर उनके वधका विचार भी मनमें लायेगा ॥ १४½ ॥

सप्तावरे तथा पूर्वे बान्धवास्ते निमज्जिताः ॥ १५ ॥
यशसा च परित्यक्तास्त्वां प्राप्य कुलपांसनम् ।

'तुझ-जैसे कुलाङ्गारको पाकर तेरे सात पीढ़ी पहलेके और सात पीढ़ी आगे होनेवाले बन्धु-बान्धव नरकमें डूब गये तथा सदाके लिये सुयशसे वञ्चित हो गये ॥१५½ ॥

उक्तवांश्चापि यत् पार्थे भीष्मं प्रति नरर्षभम् ॥ १६ ॥
तथान्तो विहितस्तेन स्वयमेव महात्मना ।

तूने जो कुन्तीकुमार अर्जुनपर नरश्रेष्ठ भीष्मके वधका दोष लगाया है, वह भी व्यर्थ ही है; क्योंकि महात्मा भीष्मने स्वयं ही उसी प्रकार अपनी मृत्युका विधान किया था ॥ १६½ ॥

तस्यापि तव सोदर्यो निहन्ता पापकृत्तमः ॥ १७ ॥
नान्यः पाञ्चालपुत्रेभ्यो विद्यते भुवि पापकृत् ।

'वास्तवमें भीष्मका वध करनेवाला भी तेरा महान् पापाचारी भाई ही है । इस पृथ्वीपर पाञ्चालराजके पुत्रोंके सिवा दूसरा कोई ऐसा पाप करनेवाला नहीं है ॥ १७½ ॥

स चापि सृष्टः पित्रा ते भीष्मस्यान्तकरः किल॥ १८ ॥
शिखण्डी रक्षितस्तेन स च मृत्युर्महात्मनः ।

'यह प्रसिद्ध है कि उसे भी तेरे पिताने भीष्मका अन्त करनेके लिये उत्पन्न किया था; उन्होंने महात्मा भीष्मकी मूर्तिमान् मृत्युके रूपमें ही शिखण्डीको सुरक्षित रक्खा था ॥

पञ्चालाश्चलिता धर्मात् क्षुद्रा मित्रगुरुद्रुहः ॥ १९ ॥
त्वां प्राप्य सहसोदर्यं धिक्कृतं सर्वसाधुभिः ।

'तू और तेरा भाई दोनों समस्त साधु पुरुषोंके धिक्कारके पात्र हैं। तुम दोनोंको पाकर सारे पाञ्चाल धर्मभ्रष्ट, नीच, मित्रद्रोही तथा गुरुद्रोही बन गये हैं ॥ १९½ ॥

पुनश्चेदीदृशीं वाचं मत्समीपे वदिष्यसि ॥ २० ॥
शिरस्ते पोथयिष्यामि गदया वज्रकल्पया ।

'यदि तू पुनः मेरे समीप ऐसी बात बोलेगा तो मैं अपनी इस वज्रतुल्य गदासे तेरा सिर कुचल दूँगा ॥२०½॥

त्वां च ब्रह्महणं दृष्ट्वा जनः सूर्यमवेक्षते ॥ २१ ॥
ब्रह्महत्या हि ते पापं प्रायश्चित्तार्थमात्मनः ।

'तुझे ब्रह्महत्याका पाप लगा है । तुझ ब्रह्महत्यारेको देखकर लोग अपने प्रायश्चित्तके लिये सूर्यदेवका दर्शन करते हैं ॥

पाञ्चालक सुदुर्वृत्त ममैव गुरुमग्रतः ॥ २२ ॥
गुरोर्गुरुं च भूयोऽपि क्षिपन्नैव हि लज्जसे ।

'दुराचारी पाञ्चाल ! तू मेरे आगे मेरे ही गुरु तथा मेरे गुरुके भी गुरुपर बारंबार आक्षेप कर रहा है, तो भी तुझे लज्जा नहीं आती ॥ २२½ ॥

तिष्ठ तिष्ठ सहस्वैकं गदापातमिमं मम ॥ २३ ॥
तव चापि सहिष्येऽहं गदापातननेकशः ।

'खड़ा रह, खड़ा रह', मेरी गदाकी यह एक ही चोट सह ले, फिर मैं तेरी गदाकी भी अनेक चोटें सहन करूँगा' ॥ २३½ ॥

सात्वतेनैवमाक्षिप्तः पार्षतः परुषाक्षरम् ॥ २४ ॥
संरब्धं सात्यकिं प्राह संक्रुद्धः प्रहसन्निव ।

सात्वतवंशी सात्यकिके इस प्रकार कठोर वचन कहकर आक्षेप करनेपर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे । फिर वे भी क्रोधमें भरे हुए सात्यकिसे हँसते हुए-से बोले ॥ २४½ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

श्रूयते श्रूयते चेति क्षम्यते चेति माधव ॥ २५ ॥
सदानार्योऽशुभः साधुं पुरुषं क्षेप्तुमिच्छति ।

धृष्टद्युम्नने कहा—माधव ! मैं तेरी यह बात सुनता हूँ, सुनता हूँ और इसके लिये तुझे क्षमा भी करता हूँ । दुष्ट और अनार्य पुरुष सदा साधु जनोंपर ऐसे ही आक्षेप करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ २५½ ॥

क्षमा प्रशस्यते लोके न तु पापोऽर्हति क्षमाम् ॥ २६ ॥
क्षमावन्तं हि पापात्मा जितोऽयमिति मन्यते ।

यद्यपि लोकमें क्षमाभावकी प्रशंसा की जाती है, तथापि पापात्मा मनुष्य कभी क्षमाके योग्य नहीं है; क्योंकि क्षमा कर देनेपर वह पापात्मा क्षमाशील पुरुषको ऐसा समझ लेता है कि 'यह मुझसे हार गया' ॥ २६½ ॥

स त्वं क्षुद्रसमाचारो नीचात्मा पापनिश्चयः ॥ २७ ॥
आकेशाग्रान्नखाग्राच्च वक्तव्यो वक्तुमिच्छसि।

तू स्वयं ही दुराचारी, नीच और पापपूर्ण विचार रखनेवाला है । नखसे शिखातक पापमें डूबा होनेके कारण निन्दाके योग्य है, तथापि दूसरोंकी निन्दा करना चाहता है ॥ २७½ ॥

यः स भूरिश्रवाश्छिन्नभुजः प्रायगतस्त्वया ॥ २८ ॥
वार्यमाणेन हि हतस्ततः पापतरं नु किम् ।

भूरिश्रवाकी बाँह काट डाली गयी थी । वे आमरण उपवासका नियम लेकर चुपचाप बैठे हुए थे । उस दशामें सबके मना करनेपर भी जो तूने उनका वध किया, इससे बढ़कर महान् पापकर्म और क्या हो सकता है ! ॥ २८½ ॥

गाहमानो मया द्रोणो दिव्येनास्त्रेण संयुगे ॥ २९ ॥
विसृष्टशस्त्रो निहतः किं तत्र क्रूर दुष्कृतम् ।

ओ क्रूर ! मैंने तो पहलेसे ही युद्धके मैदानमें दिव्यास्त्र-द्वारा द्रोणाचार्यको मथ डाला था । फिर वे हथियार डालकर मारे गये, तो उसमें मैंने कौन-सा पाप कर डाला ॥ २९½ ॥

अयुध्यमानं यस्त्वाजौ तथा प्रायगतं मुनिम् ॥ ३० ॥
छिन्नबाहुं परैर्हन्यात् सात्यके स कथं वदेत् ।

सात्यके ! जो युद्धस्थलमें मुनिवृत्तिका आश्रय ले आमरण उपवासका निश्चय लेकर बैठ गया हो, जो अपने साथ युद्ध न कर रहा हो तथा जिसकी बाँह भी शत्रुओंद्वारा काट डाली गयी हो, ऐसे पुरुषको जो मार सकता है, वह दूसरे-की निन्दा कैसे कर सकता है ? ॥ ३०½ ॥

निहत्य त्वां पदा भूमौ स विकर्षति वीर्यवान् ॥ ३१ ॥
किं तदा न निहंस्येनं भूत्वा पुरुषसत्तमः ।

जिस समय पराक्रमी भूरिश्रवा तुझे लातसे मारकर धरतीपर घसीट रहे थे, तू बड़ा श्रेष्ठ पुरुष था, तो उसी समय उन्हें क्यों नहीं मार डाला ? ॥ ३१½ ॥

त्वया पुनरनार्येण पूर्वं पार्थेन निर्जितः ॥ ३२ ॥
यदा तदा हतः शूरः सौमदत्तिः प्रतापवान् ।

जब अर्जुनने पहले ही प्रतापी शूरवीर सोमदत्तकुमार भूरिश्रवाको परास्त कर दिया, उस समय तूने उनका वध किया । तू कितना नीच है ? ॥ ३२½ ॥

यत्र यत्र तु पाण्डूनां द्रोणो द्रावयते चमूम् ॥ ३३ ॥
किरञ्छरसहस्राणि तत्र तत्र प्रयाम्यहम् ।

द्रोणाचार्य जहाँ-जहाँ पाण्डव-सेनाको खदेड़ते थे, वहीं-वहीं मैं जा पहुँचता और सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उनके छक्के छुड़ा देता था ॥ ३३½ ॥

स त्वमेवंविधं कृत्वा कर्म चाण्डालवत् स्वयम् ॥ ३४ ॥

वक्तुमर्हसि वक्तव्यः कस्मात् त्वं परुषाण्यथ।

जब तू स्वयं ही चाण्डालके समान ऐसा पाप-कर्म करके निन्दाका पात्र बन गया है, तब दूसरेको कटु वचन सुनानेका कैसे अधिकारी हो सकता है ?॥ ३४½ ॥

कर्ता त्वं कर्मणो ह्यस्य नाहं वृष्णिकुलाधम ॥ ३५ ॥
पापानां च त्वमावासः कर्मणां मा पुनर्वद।

वृष्णिकुलकलंक ! तू ही ऐसे-ऐसे पाप करनेवाला और पाप-कर्मोंका भण्डार है, मैं नहीं । अतः फिर ऐसी बातें मुँहसे न निकालना ॥ ३५½ ॥

जोषमास्स्व न मां भूयो वक्तुमर्हस्यतः परम् ॥ ३६ ॥
अधरोत्तरमेतद्धि यन्मां त्वं वक्तुमर्हसि।

चुपचाप बैठा रह; अब फिर ऐसी बातें तुझे नहीं कहनी चाहिये । तू मुझसे जो कुछ कहना चाहता है, वह तेरी बड़ी भारी नीचता है ॥ ३६½ ॥

अथ वक्ष्यसि मां मौर्ख्याद् भूयः परुषमीदृशम्॥ ३७ ॥
गमयिष्यामि बाणैस्त्वां युधि वैवस्वतक्षयम्।

यदि मूर्खतावश तू पुनः मुझसे ऐसी कठोर बातें कहेगा, तो युद्धमें बाणोंद्वारा मैं अभी तुझे यमलोक भेज दूँगा ॥३७½॥

न चैवं मूर्ख धर्मेण केवलेनैव शक्यते ॥ ३८ ॥
तेषामपि ह्यधर्मेण चेष्टितं शृणु यादृशम्।

ओ मूर्ख ! केवल धर्मसे ही युद्ध नहीं जीता जा सकता । उन कौरवोंकी भी जो अधर्मपूर्ण चेष्टाएँ हुई हैं, उन्हें सुन ले ॥ ३८½ ॥

वञ्चितः पाण्डवः पूर्वमधर्मेण युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
द्रौपदी च परिक्लिष्टा तथाधर्मेण सात्यके।

सात्यके ! सबसे पहले पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको अधर्मपूर्वक छला गया । फिर अधर्मसे ही द्रौपदीको अपमानित किया गया ॥ ३९½ ॥

प्रव्राजिता वनं सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ॥ ४० ॥
सर्वस्वमपकृष्टं च तथाधर्मेण बालिश।

ओ मूर्ख ! समस्त पाण्डवोंको जो द्रौपदीके साथ वनमें भेज दिया गया और उनका सर्वस्व छीन लिया गया, वह भी अधर्मका ही कार्य था ॥ ४०½ ॥

अधर्मेणापकृष्टश्च मद्रराजः परेरितः ॥ ४१ ॥
अधर्मेण तथा बालः सौभद्रो विनिपातितः।

शत्रुओंने अधर्मसे ही छलकर मद्रराज शल्यको अपने पक्षमें खींच लिया और सुभद्राके बालक पुत्र अभिमन्युको भी अधर्मसे ही मार डाला था ॥ ४१½ ॥

इतोऽप्यधर्मेण हतो भीष्मः परपुरंजयः ॥ ४२ ॥
भूरिश्रवा ह्यधर्मेण त्वया धर्मविदा हतः।

इस पक्षसे भी अधर्मके द्वारा ही शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले भीष्म मारे गये हैं और तू बड़ा धर्मज्ञ बनता है पर तूने भी अधर्मसे ही भूरिश्रवाका वध किया है ॥ ४२½ ॥

एवं परैराचरितं पाण्डवेयैश्च संयुगे ॥ ४३ ॥
रक्षमाणैर्जयं वीरैर्धर्मज्ञैरपि सात्वत।

सात्वत ! इस प्रकार धर्मके जाननेवाले वीर पाण्डवों तथा शत्रुओंने भी युद्धके मैदानमें अपनी विजयको सुरक्षित रखनेके लिये समय समयपर अधर्मपूर्ण बर्ताव किया है ॥४३½॥

दुर्ज्ञेयः स परो धर्मस्तथाधर्मश्च दुर्विदः ॥ ४४ ॥
युध्यस्व कौरवैः सार्धं मा गा पितृनिवेशनम्।

उत्तम धर्मका स्वरूप जानना अत्यन्त कठिन है। अधर्म क्या है ? इसे समझना भी सरल नहीं है । अब तू कौरवोंके साथ पूर्ववत् युद्ध कर । मुझसे विवाद करके पितृलोकमें जानेकी तैयारी न कर ॥ ४४½ ॥

संजय उवाच

एवमादीनि वाक्यानि क्रूराणि परुषाणि च ॥ ४५ ॥
श्रावितः सात्यकिः श्रीमानाकम्पित इवाभवत्।
तच्छ्रुत्वा क्रोधताम्राक्षः सात्यकिस्त्वाददे गदाम्॥४६ ॥
विनिःश्वस्य यथा सर्पः प्रणिधाय रथे धनुः।
ततोऽभिपत्य पाञ्चाल्यं सरम्भेणेदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
न त्वां वक्ष्यामि परुषं हनिष्ये त्वां वधक्षमम्।

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कितने ही क्रूर एवं कठोर वचन धृष्टद्युम्नने श्रीमान् सात्यकिको सुनाये । उन्हें सुनकर वे क्रोधसे काँपने लगे । उनकी आँखें लाल हो गयीं तथा उन्होंने सर्पके समान लंबी साँस खींचकर धनुषको तो रथपर रख दिया और हाथमें गदा उठा ली । फिर वे धृष्टद्युम्नके पास पहुँचकर बड़े रोषके साथ इस प्रकार बोले—'अब मैं तुझसे कठोर वचन नहीं कहूँगा । तू वधके ही योग्य है, अतः तुझे मार ही डालूँगा' ॥ ४५–४७½ ॥

तमापतन्तं सहसा महाबलममर्षणम् ॥ ४८ ॥
पाञ्चाल्यायाभिसंक्रुद्धमन्तकायान्तकोपमम् ।
चोदितो वासुदेवेन भीमसेनो महाबलः ॥ ४९ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं बाहुभ्यां समवारयत्।

महाबली, अमर्षशील एवं अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए यमराज-तुल्य सात्यकि जब सहसा कालस्वरूप धृष्टद्युम्नकी ओर बढ़े, तब भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाबली भीमसेनने तुरंत ही रथसे कूदकर उन्हें दोनों हाथोंसे रोक लिया ॥ ४८-४९½ ॥

द्रवमाणं तथा क्रुद्धं सात्यकिं पाण्डवो बली ॥ ५० ॥
प्रस्पन्दमानमादाय जगाम बलिनं बलात्।

क्रोधपूर्वक आगे बढ़ते और झपटते हुए बलवान् सात्यकिको महाबली पाण्डुपुत्र भीमने थामकर साथ-साथ चलना आरम्भ किया ॥ ५०½ ॥

स्थित्वा विष्टभ्य चरणौ भीमेन शिनिपुङ्गवः ॥ ५१ ॥
निगृहीतः पदे षष्ठे बलेन बलिनां वरः ।

फिर भीमने खड़े होकर अपने दोनों पैर जमा दिये और बलवानोंमें श्रेष्ठ शिनिप्रवर सात्यकिको छठे कदमपर बलपूर्वक काबूमें कर लिया ॥ ५१½ ॥

अवरुह्य रथात् तूर्णं ध्रियमाणं बलीयसा ॥ ५२ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा सहदेवो विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! इतनेहीमें सहदेव भी तुरंत ही रथसे उतर पड़े और महाबली भीमसेनके द्वारा पकड़े गये सात्यकिसे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ ५२½ ॥

अस्माकं पुरुषव्याघ्र मित्रमन्यन्न विद्यते ॥ ५३ ॥
परमन्धकवृष्णिभ्यः पञ्चालेभ्यश्च मारिष ।
तथैवान्धकवृष्णीनां तथैव च विशेषतः ॥ ५४ ॥
कृष्णस्य च तथास्मत्तो मित्रमन्यन्न विद्यते ।

'माननीय पुरुषसिंह ! अन्धक और वृष्णिवंशके यादवों तथा पाञ्चालोंसे बढ़कर दूसरा कोई हमलोगोंका मित्र नहीं है । इसी प्रकार अन्धक और वृष्णिवंशके लोगोंका तथा विशेषतः श्रीकृष्णका हमलोगोंसे बढ़कर दूसरा कोई मित्र नहीं है ॥ ५३-५४½ ॥

पञ्चालानां च वार्ष्णेय समुद्रान्तां विचिन्वताम् ॥ ५५ ॥
नान्यदस्ति परं मित्रं यथा पाण्डववृष्णयः ।

'वार्ष्णेय ! पाञ्चाल लोग भी यदि समुद्रतककी सारी पृथ्वी खोज डालें, तो भी उन्हें दूसरा कोई वैसा मित्र नहीं मिलेगा, जैसे उनके लिये पाण्डव और वृष्णिवंशके लोग हैं ॥ ५५½ ॥

स भवानीदृशं मित्रं मन्यते च यथा भवान् ॥ ५६ ॥
भवन्तश्च यथास्माकं भवतां च तथा वयम् ।

'आप भी हमारे ऐसे ही मित्र हैं, जैसा कि आप स्वयं भी मानते हैं । आपलोग जैसे हमारे मित्र हैं, वैसे ही हम भी आपके हैं ॥ ५६½ ॥

स एवं सर्वधर्मज्ञ मित्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ५७ ॥
नियच्छ मन्युं पाञ्चाल्यात् प्रशाम्य शिनिपुङ्गव ।
पार्षतस्य क्षम त्वं वै क्षमतां पार्षतश्च ते ॥ ५८ ॥
वयं क्षमयितारश्च किमन्यत्र शमाद् भवेत् ।

'सब धर्मोंके ज्ञाता शिनिप्रवर ! इस प्रकार मित्रधर्मका विचार करके आप धृष्टद्युम्नकी ओरसे अपने क्रोधको रोकें और शान्त हो जायँ, आप धृष्टद्युम्नके और धृष्टद्युम्न आपके अपराधको क्षमा कर लें । हमलोग केवल क्षमा-प्रार्थना करनेवाले हैं; शान्तिसे बढ़कर श्रेष्ठ वस्तु और क्या हो सकती है ?' ॥ ५७-५८½ ॥

प्रशाम्यमाने शैनेये सहदेवेन मारिष ॥ ५९ ॥
पाञ्चालराजस्य सुतः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।

माननीय नरेश ! जब सहदेव सात्यकिको इस प्रकार शान्त कर रहे थे, उस समय पाञ्चालराजके पुत्रने हँसकर इस प्रकार कहा—॥ ५९½ ॥

मुञ्च मुञ्च शिनेः पौत्रं भीम युद्धमदान्वितम् ॥ ६० ॥
आसादयतु मामेष धराधरमिवानिलः ।
यावदस्य शितैर्बाणैः संरम्भं विनयाम्यहम् ॥ ६१ ॥
युद्धश्रद्धां च कौन्तेय जीवितं चास्य संयुगे ।

'भीमसेन ! शिनिके इस पौत्रको अपने युद्ध-कौशलपर बड़ा घमंड है । तुम इसे छोड़ दो, छोड़ दो । जैसे हवा पर्वतसे आकर टकराती है, उसी प्रकार यह मुझसे आकर भिड़े तो सही । कुन्तीनन्दन ! मैं अभी तीखे बाणोंसे इसका क्रोध उतार देता हूँ । साथ ही इसका युद्धका हौसला और जीवन भी समाप्त किये देता हूँ ॥ ६०-६१½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं कार्यं यदिदमुद्यतम् ॥ ६२ ॥
सुमहत् पाण्डुपुत्राणामायान्त्येते हि कौरवाः ।

'परंतु मैं इस समय क्या कर सकता हूँ । पाण्डवोंका यह दूसरा ही महान् कार्य उपस्थित हो गया । ये कौरव बढ़े चले आ रहे हैं ॥ ६२½ ॥

अथवा फाल्गुनः सर्वान् वारयिष्यति संयुगे ॥ ६३ ॥
अहमप्यस्य मूर्धानं पातयिष्यामि सायकैः ।
मन्यते छिन्नबाहुं मां भूरिश्रवसमाहवे ॥ ६४ ॥
उत्सृजैनमहं चैनमेष वा मां हनिष्यति ।

'अथवा केवल अर्जुन युद्धके मैदानमें इन समस्त कौरवोंको रोकेंगे, तबतक मैं भी अपने बाणोंद्वारा इस सात्यकिका मस्तक काट गिराऊँगा । यह मुझे भी रणभूमिमें कटी हुई बाँहवाला भूरिश्रवा समझता है । तुम छोड़ दो इसे । या तो मैं इसे मार डालूँगा या यह मुझे' ॥ ६३-६४½ ॥

शृण्वन् पाञ्चालवाक्यानि सात्यकिः सर्पवच्छ्वसन् ६५
भीमबाह्वन्तरे सक्तो विस्फुरत्यनिशं बली ।

भीमसेनकी भुजाओंमें फँसे हुए बलवान् सात्यकि धृष्टद्युम्नकी बातें सुनकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचते हुए निरन्तर छूटनेकी चेष्टा कर रहे थे ॥६५½॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ बाहुशालिनौ ॥ ६६ ॥
त्वरया वासुदेवश्च धर्मराजश्च मारिष ।
यत्नेन महता वीरौ वारयामासतुस्ततः ॥ ६७ ॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर दो साँड़ोंके समान गरज रहे थे । माननीय नरेश ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरने शीघ्रतापूर्वक महान् प्रयत्न करके उन दोनों वीरोंको रोका ॥ ६६-६७ ॥

निवार्य परमेष्वासौ कोपसंरक्तलोचनौ ।

युयुत्सूनपरान् संख्ये प्रतीयुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ६८ ॥

क्रोधसे लाल आँखें किये उन दोनों महान् धनुर्धरोंको रोककर वे क्षत्रियशिरोमणि वीर समरभूमिमें युद्धकी इच्छासे आते हुए शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि धृष्टद्युम्नसात्यकिक्रोधेऽष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें धृष्टद्युम्न और सात्यकिका क्रोधविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके द्वारा नारायणास्त्रका प्रयोग, राजा युधिष्ठिरका खेद, भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए उपायसे सैनिकोंकी रक्षा, भीमसेनका वीरोचित उद्गार और उनपर उस अस्त्रका प्रबल आक्रमण

संजय उवाच

ततः स कदनं चक्रे रिपूणां द्रोणनन्दनः ।
युगान्ते सर्वभूतानां कालसृष्ट इवान्तकः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने प्रलयकालमें कालसे प्रेरित हो समस्त प्राणियोंका संहार करनेवाले यमराजके समान शत्रुओंका विनाश आरम्भ किया ॥ १ ॥

ध्वजद्रुमं शस्त्रशृङ्गं हतनागमहाशिलम् ।
अश्वकिंपुरुषाकीर्णं शरासनलतावृतम् ॥ २ ॥
क्रव्यादपक्षिसंघुष्टं भूतयक्षगणाकुलम् ।
निहत्य शात्रवान् भल्लैः सोऽचिनोद् देहपर्वतम् ॥ ३ ॥

उसने शत्रु-सैनिकोंको भल्लोंसे मार-मारकर उनकी लाशोंका पहाड़-जैसा ढेर लगा दिया । ध्वजाएँ उस पहाड़के वृक्ष, शस्त्र उसके शिखर और मारे गये हाथी उसकी बड़ी-बड़ी शिलाओंके समान थे । घोड़े मानो उस पर्वतपर निवास करनेवाले किम्पुरुष थे । धनुष लताओंके समान फैलकर उसपर छाये हुए थे । मांसभक्षी जीव-जन्तु मानो वहाँ चहचहानेवाले पक्षी थे और भूतोंके समुदाय उसपर विहार करनेवाले यक्ष जान पड़ते थे ॥ २-३ ॥

ततो वेगेन महता विनद्य स नरर्षभः ।
प्रतिज्ञां श्रावयामास पुनरेव तवात्मजम् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ अश्वत्थामाने फिर बड़े वेगसे गर्जना करके आपके पुत्रको पुनः अपनी प्रतिज्ञा सुनायी ॥ ४ ॥

यस्माद् युध्यन्तमाचार्यं धर्मकञ्चुकमास्थितः ।
मुञ्च शस्त्रमिति प्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५ ॥
तस्मात् सम्पश्यतस्तस्य द्रावयिष्यामि वाहिनीम् ।
विद्राव्य सर्वान् हन्तास्मि जाल्मं पाञ्चाल्यमेव तु ॥ ६ ॥

'धर्मका चोला पहने हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने युद्धपरायण आचार्यसे 'शस्त्र त्याग दीजिये' ऐसा कहा था और शस्त्र रखवा दिया; इसलिये मैं उनके देखते-देखते उनकी सारी सेनाको खदेड़ दूँगा और समस्त सैनिकोंको भगाकर उस नीच पाञ्चाल-पुत्रको मार डालूँगा ॥ ५-६ ॥

सर्वानेतान् हनिष्यामि यदि योत्स्यन्ति मां रणे ।
सत्यं ते प्रतिजानामि परिवर्तय वाहिनीम् ॥ ७ ॥

'यदि ये रणभूमिमें मेरे साथ युद्ध करेंगे तो मैं इन सबका वध कर डालूँगा, यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ । अतः तुम अपनी सेनाको लौटाओ' ॥ ७ ॥

तच्छ्रुत्वा तव पुत्रस्तु वाहिनीं पर्यवर्तयत् ।
सिंहनादेन महता व्यपोह्य सुमहद् भयम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर आपके पुत्रने महान् सिंहनादके द्वारा अपनी सेनाका भारी भय दूर करके फिर उसे लौटाया ॥ ८ ॥

ततः समागमो राजन् कुरुपाण्डवसेनयोः ।
पुनरेवाभवत् तीव्रः पूर्णसागरयोरिव ॥ ९ ॥

राजन् ! फिर भरे हुए दो महासागरोंके समान कौरव-पाण्डव-सेनाओंमें घोर संग्राम आरम्भ हो गया ॥ ९ ॥

संरब्धा हि स्थिरीभूता द्रोणपुत्रेण कौरवाः ।
उदग्राः पाण्डुपञ्चाला द्रोणस्य निधनेन च ॥ १० ॥

द्रोणपुत्रसे आश्वासन पाकर कौरव-सैनिक स्थिर हो युद्धके लिये रोष और उत्साहमें भर गये थे । उधर द्रोणाचार्यके मारे जानेसे पाण्डव और पाञ्चाल वीर पहलेसे ही उद्धत हो रहे थे ॥ १० ॥

तेषां परमहृष्टानां जयमात्मनि पश्यताम् ।
संरब्धानां महावेगः प्रादुरासीद् विशाम्पते ॥ ११ ॥

प्रजानाथ ! वे अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल होकर अपनी ही विजय देख रहे थे । रोषावेषमें भरे हुए उन सैनिकोंका महान् वेग प्रकट हुआ ॥ ११ ॥

यथा शिलोच्चये शैलः सागरे सागरो यथा ।
प्रतिहन्येत राजेन्द्र तथाऽऽसन् कुरुपाण्डवाः ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! जैसे एक पहाड़ दूसरे पहाड़से टकरा जाय तथा एक समुद्र दूसरे समुद्रसे टक्कर ले, वही अवस्था कौरव-पाण्डव योद्धाओंकी भी थी ॥ १२ ॥

ततः शङ्खसहस्राणि भेरीणामयुतानि च ।
अवादयन्त संहृष्टाः कुरुपाण्डवसैनिकाः ॥ १३ ॥

तदनन्तर हर्षमग्न हुए कौरव पाण्डव-सैनिक सहस्रों शङ्ख और हजारों रणभेरियाँ बजाने लगे ॥ १३ ॥

यथा निर्मथ्यमानस्य सागरस्य तु निःस्वनः ।
अभवत् तव सैन्यस्य सुमहानद्भुतोपमः ॥ १४ ॥

जैसे मथे जाते हुए समुद्रका महान् शब्द सब ओर गूँज उठा था, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल भी अद्भुत एवं अनुपम था ॥ १४ ॥

प्रादुश्चक्रे ततो द्रौणिरस्त्रं नारायणं तदा ।
अभिसंधाय पाण्डूनां पञ्चालानां च वाहिनीम् ॥१५॥
प्रादुरासंस्ततो बाणा दीप्ताग्राः खे सहस्रशः ।
पाण्डवान् क्षपयिष्यन्तो दीप्तास्याः पन्नगा इव॥ १६ ॥

तत्पश्चात् द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पाण्डवों और पाञ्चालोंकी सेनाको लक्ष्य करके नारायणास्त्र प्रकट किया । उससे आकाशमें हजारों बाण प्रकट हुए । उन सबके अग्रभाग प्रज्वलित हो रहे थे । वे सभी बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान आकर पाण्डव-सैनिकोंका विनाश करनेको उद्यत थे ॥

ते दिशः खं च सैन्यं च समावृण्वन् महाहवे ।
मुहूर्ताद् भास्करस्येव लोके राजन् गभस्तयः॥ १७ ॥

राजन् ! जैसे दो ही घड़ीमें सूर्यकी किरणें सारे संसारमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार उस महासमरमें वे बाण सम्पूर्ण दिशाओं, आकाश और समस्त सेनाओंमें छा गये ॥ १७ ॥

तथापरे द्योतमाना ज्योतींषीवामलाम्बरे ।
प्रादुरासन् महाराज कार्ष्णायसमया गुडाः ॥ १८ ॥

महाराज ! इसी प्रकार वहाँ निर्मल आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ज्योतिर्मय ग्रह-नक्षत्रोंके समान काले लोहेके जलते हुए गोले भी प्रकट हो-होकर गिरने लगे ॥ १८ ॥

चतुश्चक्रा द्विचक्राश्च शतघ्न्यो बहुला गदाः ।
चक्राणि च क्षुरान्तानि मण्डलानीव भास्वतः॥ १९ ॥

फिर चार या दो पहियोंवाली शतघ्नियाँ (तोपें), बहुत-सी गदाएँ तथा जिनके प्रान्तभागमें छुरे लगे हुए थे, ऐसे सूर्यमण्डलके समान कितने ही चक्र प्रकट होने लगे ॥

शस्त्राकृतिभिराकीर्णमतीव पुरुषर्षभ ।
दृष्ट्वान्तरिक्षमाविग्नाः पाण्डुपाञ्चालसृञ्जयाः ॥ २० ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! उस समय आकाशको विभिन्न शस्त्रोंके आकारवाले पदार्थोंसे अत्यन्त व्याप्त हुआ-सा देख पाण्डव, पाञ्चाल और सृंजय योद्धा उद्विग्न हो उठे ॥ २० ॥

यथा यथा ह्ययुध्यन्त पाण्डवानां महारथाः ।
तथा तथा तदस्त्रं वै व्यवर्धत जनाधिप ॥ २१ ॥

जनेश्वर ! पाण्डव-महारथी जैसे-जैसे युद्ध करते थे, वैसे-ही-वैसे उस अस्त्रका वेग बढ़ता जाता था ॥ २१ ॥

वध्यमानास्तदास्त्रेण तेन नारायणेन वै ।
दह्यमानानलेनेव सर्वतोऽभ्यर्दिता रणे ॥ २२ ॥

उस नारायणास्त्रसे घायल हुए सैनिक रणभूमिमें ऐसे पीड़ित हुए मानो सब ओरसे आगमें झुलस रहे हों ॥२२॥

यथा हि शिशिरापाये दहेत् कक्षं हुताशनः ।
तथा तदस्त्रं पाण्डूनां ददाह ध्वजिनीं प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! जैसे सर्दी बीतनेपर गर्मीमें लगी हुई आग सूखे काठ या जंगलको जला डाले, उसी प्रकार वह अस्त्र पाण्डव-सेनाको भस्म करने लगा ॥ २३ ॥

आपूर्यमाणेनास्त्रेण सैन्ये क्षीयति च प्रभो ।
जगाम परमं त्रासं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

राजन् ! जब वह अस्त्र सब ओर व्याप्त हो गया और उसके द्वारा पाण्डव-सेना क्षीण होने लगी, तब धर्मपुत्र युधिष्ठिरको बड़ा भय हुआ ॥ २४ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं दृष्ट्वा विगतचेतनम् ।
मध्यस्थतां च पार्थस्य धर्मपुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २५ ॥

उन्होंने अपनी उस सेनाको जब अचेत होकर भागती और कुन्तीपुत्र अर्जुनको तटस्थ भावसे खड़ा देखा, तब इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

धृष्टद्युम्न पलायस्व सह पाञ्चालसेनया ।
सात्यके त्वं च गच्छस्व वृष्ण्यन्धकवृतो गृहान् ॥२६॥

'धृष्टद्युम्न ! तुम पाञ्चालोंकी सेनाके साथ भाग जाओ । सात्यके ! तुम भी वृष्णिवंशी और अन्धकवंशी वीरोंको साथ लेकर घर चले जाओ ॥ २६ ॥

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा करिष्यत्यात्मनः क्षमम् ।
श्रेयो ह्युपदिशत्येष लोकस्य किमुतात्मनः ॥ २७ ॥

अश्वत्थामाके द्वारा पाण्डव-सेनापर नारायणास्त्रका प्रयोग

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने लिये जो उचित समझेंगे, करेंगे। ये सारे जगत्‌के कल्याणका उपदेश देते हैं, फिर अपना भला क्यों नहीं करेंगे ? ॥ २७ ॥

संग्रामस्तु न कर्तव्यः सर्वसैन्यान् ब्रवीमि वः।
अहं हि सह सोदर्यैः प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥ २८ ॥

'मैं तुम सभी सैनिकोंसे कह रहा हूँ, कोई भी युद्ध न करे। अब मैं भाइयोंके साथ अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥

भीष्मद्रोणार्णवं तीर्त्वा संग्रामे भीरुदुस्तरे।
विमज्जिष्यामि सलिले सगणो द्रौणिगोष्पदे ॥ २९ ॥

'कायरोंके लिये दुस्तर संग्राममें भीष्म और द्रोणाचार्य-रूपी महासागरको पार करके मैं सगे-सम्बन्धियोंके साथ अश्वत्थामारूपी गायकी खुरीके जलमें डूब जाऊँगा ॥ २९ ॥

कामः सम्पद्यतामस्य बीभत्सोराशु मां प्रति।
कल्याणवृत्तिराचार्यो मया युधि निपातितः ॥ ३० ॥

'अर्जुनकी मेरे प्रति जो शुभ कामना है, वह शीघ्र पूरी हो जानी चाहिये; क्योंकि सदा अपने कल्याणमें संलग्न रहने-वाले आचार्यको मैंने युद्धमें मरवा दिया है ॥ ३० ॥

येन बालः स सौभद्रो युद्धानामविशारदः।
समर्थैर्बहुभिः क्रूरैर्घातितो नाभिपालितः ॥ ३१ ॥

'जिन्होंने युद्धकौशलसे रहित बालक सुभद्राकुमारको क्रूर स्वभाववाले बहुसंख्यक शक्तिशाली महारथियोंद्वारा मरवा दिया और उसकी रक्षा नहीं की ॥ ३१ ॥

येनाविब्रुवता प्रश्नं तथा कृष्णा सभां गता।
उपेक्षिता सपुत्रेण दासभावं नियच्छती ॥ ३२ ॥

'पुत्रसहित जिन्होंने सभामें लायी गयी द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर न देकर उसके प्रति उपेक्षा दिखायी, उस समय वह बेचारी हमारे दासभावके निवारणका प्रयत्न कर रही थी ॥

(रक्षणे च महान् यत्नः सैन्धवस्य कृतो युधि।
अर्जुनस्य विघातार्थं प्रतिज्ञा येन रक्षिता ॥

'जिन्होंने अर्जुनके विनाशके लिये युद्धमें सिंधुराजकी रक्षाके निमित्त महान् प्रयत्न किया और अपनी प्रतिज्ञा रक्खी ॥

व्यूहद्वारि वयं चैव धृता येन जिगीषवः।
वारितं च महत् सैन्यं प्रविशत् तद् यथाबलम् ॥)

'हमलोग विजयकी अभिलाषासे आगे बढ़ना चाहते थे; किंतु जिन्होंने हमें व्यूहके दरवाजेपर ही रोक रक्खा था, यथाशक्ति उसके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टामें लगी हुई हमारी विशाल सेनाको भी जिन्होंने रोक ही दिया था ॥

जिघांसुर्धार्तराष्ट्रश्च श्रान्तेष्वश्वेषु फाल्गुनम्।
कवचेन तथा गुप्तो रक्षार्थं सैन्धवस्य च ॥ ३३ ॥

'अर्जुनके घोड़े जब थक गये थे और धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जब अर्जुनके वधकी इच्छासे उनपर आक्रमण कर रहा था, उस समय जिन्होंने उसकी तथा सिंधुराजकी रक्षाके लिये उसे दिव्य कवचद्वारा सुरक्षित कर दिया था ॥ ३३ ॥

येन ब्रह्मास्त्रविदुषा पञ्चालाः सत्यजिन्मुखाः।
कुर्वाणा मज्जये यत्नं समूला विनिपातिताः ॥ ३४ ॥

'ब्रह्मास्त्रको जाननेवाले जिन आचार्यदेवने मेरी विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले सत्यजित् आदि पाञ्चालवीरोंको समूल नष्ट कर दिया ॥ ३४ ॥

येन प्रव्राज्यमानाश्च राज्याद् वयमधर्मतः।
निवार्यमाणा नु वयं नानुयातास्तदैषिणः ॥ ३५ ॥

'जब कौरव अधर्मपूर्वक हमें राज्यसे निर्वासित कर रहे थे, तब जिन्होंने हमें रोकने (शान्त करने) की ही चेष्टा की थी; किंतु उनका हित चाहनेवाले हमलोगोंका उस समय उन्होंने साथ नहीं दिया था ॥ ३५ ॥

योऽसावत्यन्तमस्मासु कुर्वाणः सौहृदं परम्।
हतस्तदर्थे मरणं गमिष्यामि सबान्धवः ॥ ३६ ॥

'जो (इस प्रकार) हमलोगोंपर अत्यन्त स्नेह करनेवाले थे वे द्रोणाचार्य मारे गये हैं; अतः उनके लिये अपने भाइयों-सहित मैं भी मर जाऊँगा' ॥ ३६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेये दाशार्हस्त्वरितस्ततः।
निवार्य सैन्यं बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय दशार्हकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णने तुरंत ही अपनी दोनों भुजाओंके संकेतसे सारी सेनाको रोककर इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥

शीघ्रं न्यस्यत शस्त्राणि वाहेभ्यश्चावरोहत।
एष योगोऽत्र विहितः प्रतिषेधे महात्मना ॥ ३८ ॥

'योद्धाओ ! अपने अस्त्र-शस्त्र शीघ्र नीचे डाल दो और सवारियोंसे उतर जाओ। परमात्मा नारायणने इस अस्त्रके निवारणके लिये यही उपाय निश्चित किया है ॥ ३८ ॥

द्विपाश्वस्यन्दनेभ्यश्च क्षितिं सर्वेऽवरोहत।
एवमेतन्न वो हन्यादस्त्रं भूमौ निरायुधान् ॥ ३९ ॥

'तुम सब लोग हाथी, घोड़े और रथोंसे उतरकर पृथ्वी-पर आ जाओ। इस प्रकार भूमिपर निहत्थे खड़े हुए तुम-लोगोंको यह अस्त्र नहीं मार सकेगा ॥ ३९ ॥

यथा यथा हि युध्यन्ते योधा ह्यस्त्रमिदं प्रति।
तथा तथा भवन्त्येते कौरवा बलवत्तराः ॥ ४० ॥

'हमारे योद्धा जैसे-जैसे इस अस्त्रके विरुद्ध युद्ध करते हैं, वैसे-ही-वैसे ये कौरव अत्यन्त प्रबल होते जा रहे हैं ॥ ४० ॥

निक्षेप्स्यन्ति च शस्त्राणि वाहनेभ्योऽवरुह्य ये।
(येऽञ्जलिं कुर्वते वीरा नमन्ति च विवाहनाः।)
तान्नैतदस्त्रं संग्रामे निहनिष्यति मानवान् ॥ ४१ ॥

'जो लोग अपने वाहनोंसे उतरकर हथियार नीचे डाल

देंगे और जो वीर वाहनरहित हो इसके सामने हाथ जोड़कर नमस्कार करेंगे, उन मनुष्योंको संग्रामभूमिमें यह अस्त्र नहीं मारेगा ॥ ४१ ॥

ये त्वेतत्प्रतियोत्स्यन्ति मनसापीह केचन।
निहनिष्यति तान् सर्वान् रसातलगतानपि ॥ ४२ ॥

'जो कोई मनसे भी इस अस्त्रका सामना करेंगे, वे रसातलमें चले गये हों तो भी यह अस्त्र वहाँ पहुँचकर उन सबको मार डालेगा' ॥ ४२ ॥

ते वचस्तस्य तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य भारत।
ईषुः सर्वे समुत्स्रष्टुं मनोभिः करणेन च ॥ ४३ ॥

भारत ! भगवान् वासुदेवका यह वचन सुनकर सब योद्धाओंने अन्यान्य इन्द्रियों तथा मनसे भी अस्त्रको त्याग देनेका विचार कर लिया ॥ ४३ ॥

तत उत्स्रष्टुकामांस्तानस्त्राण्यालक्ष्य पाण्डवः।
भीमसेनोऽब्रवीद् राजन्निदं संहर्षयन् वचः ॥ ४४ ॥

राजन् ! तब उन सबको अस्त्र त्यागनेके लिये उद्यत हुआ देख पाण्डुनन्दन भीमसेनने उनमें हर्ष और उत्साह पैदा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ४४ ॥

न कथंचन शस्त्राणि मोक्तव्यानीह केनचित्।
अहमावारयिष्यामि द्रोणपुत्रास्त्रमाशुगैः ॥ ४५ ॥

'किसी भी वीरको किसी तरह भी अपने हथियार नहीं डालने चाहिये। मैं अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा द्रोणपुत्रके अस्त्रका निवारण करूँगा ॥ ४५ ॥

गदयाप्यनया गुर्व्या हेमविग्रहया रणे।
कालवत् प्रहरिष्यामि द्रौणेरस्त्रं विशातयन् ॥ ४६ ॥

'इस सुवर्णमयी भारी गदासे रणभूमिमें द्रोणपुत्रके अस्त्रोंको चूर-चूर करनेके लिये मैं कालके समान प्रहार करूँगा ॥

न हि मे विक्रमे तुल्यः कश्चिदस्ति पुमानिह।
यथैव सवितुस्तुल्यं ज्योतिरन्यन्न विद्यते ॥ ३७ ॥

'इस संसारमें मेरे पराक्रमकी समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है। ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यके समान दूसरा कोई ज्योतिर्मय ग्रह नहीं है ॥ ४७ ॥

पश्यतेमौ हि मे बाहू नागराजकरोपमौ।
समर्थौ पर्वतस्यापि शैशिरस्य निपातने ॥ ४८ ॥

'गजराजके शुण्डोंके समान मोटी मेरी इन भुजाओंको देखो तो सही, ये हिमालयपर्वतको भी धराशायी करनेमें समर्थ हैं ॥ ४८ ॥

नागायुतसमप्राणो ह्यहमेको नरेष्विह।
शक्रो यथाप्रतिद्वन्द्वो दिवि देवेषु विश्रुतः ॥ ४९ ॥

'यहाँके मनुष्योंमें एक मैं ही ऐसा हूँ, जिसमें दस हजार हाथियोंके समान बल है। जैसे स्वर्गलोक और देवताओंमें केवल इन्द्र ही ऐसे हैं, जिनका दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी योद्धा नहीं है ॥ ४९ ॥

अद्य पश्यत मे वीर्यं बाह्वोः पीनांसयोर्युधि।
ज्वलमानस्य दीप्तस्य द्रौणेरस्त्रस्य वारणे ॥ ५० ॥

'आज युद्धस्थलमें मोटे कंधेवाली मेरी इन दोनों भुजाओंका बल देखो कि ये किस प्रकार अश्वत्थामाके प्रज्वलित एवं दीप्तिमान् अस्त्रके निवारणमें समर्थ होती हैं ॥ ५० ॥

यदि नारायणास्त्रस्य प्रतियोद्धा न विद्यते।
अद्यैतत् प्रतियोत्स्यामि पश्यत्सु कुरुपाण्डुषु ॥ ५१ ॥

'यदि इस नारायणास्त्रका सामना करनेवाला दूसरा कोई योद्धा अबतक नहीं हुआ है, तो आज मैं कौरवों और पाण्डवोंके देखते-देखते इसका सामना करूँगा ॥ ५१ ॥

अर्जुनार्जुन बीभत्सो न न्यस्यं गाण्डिवं त्वया।
शशाङ्कस्येव ते पङ्को नैर्मल्यं पातयिष्यति ॥ ५२ ॥

'अर्जुन ! अर्जुन ! बीभत्सो ! कहीं तुम भी न अपने गाण्डीव धनुषको नीचे डाल देना; नहीं तो तुममें भी चन्द्रमाके समान कलंक लग जायगा और वह तुम्हारी निर्मलताको नष्ट कर देगा' ॥ ५२ ॥

अर्जुन उवाच

भीम नारायणास्त्रे मे गोषु च ब्राह्मणेषु च।
एतेषु गाण्डिवं न्यस्यमेतद्धि व्रतमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन ! नाराणास्त्र, गौ और ब्राह्मण—इनके समक्ष गाण्डीव धनुषको नीचे डाल दिया जाय; यही मेरा उत्तम व्रत है ॥ ५३ ॥

एवमुक्तस्ततो भीमो द्रोणपुत्रमरिंदमम्।
अभ्ययान्मेघघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ॥ ५४ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेन अकेले ही सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा शत्रुदमन द्रोणपुत्रका सामना करनेके लिये चल दिये ॥

(कम्पयन् मेदिनीं सर्वां त्रासयंश्च चमूं तव।
शङ्खशब्दं महत् कृत्वा भुजशब्दं च पाण्डवः ॥

पाण्डुपुत्र भीम बड़े जोरसे शङ्ख बजाकर और भुजाओंद्वारा ताल ठोंककर सारी पृथ्वीको कँपाते और आपकी सेनाको भयभीत करते हुए चले ॥

तस्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा बाहुशब्दं च तावकाः।
समन्तात् कोष्ठकीकृत्य शरव्रातैरवाकिरन् ॥)

उनकी शङ्खध्वनि तथा भुजाओंद्वारा ताल ठोंकनेका शब्द सुनकर आपके सैनिकोंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया और उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

स एनमिषुजालेन लघुत्वाच्छीघ्रविक्रमः।
निमेषमात्रेणासाद्य कुन्तीपुत्रोऽभ्यवाकिरत् ॥ ५५ ॥

शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने पलक मारते-मारते अश्वत्थामाके पास पहुँचकर बड़ी फुर्तीसे अपने बाणोंका जाल-सा बिछाते हुए उसे ढक दिया॥

ततो द्रौणिः प्रहस्यैनं द्रवन्तमभिभाष्य च।
अवाकिरत् प्रदीप्ताग्रैः शरैस्तैरभिमन्त्रितैः॥ ५६॥

तब अश्वत्थामाने धावा करनेवाले भीमसेनसे हँसकर बात की और उनपर नारायणास्त्रसे अभिमन्त्रित प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी झड़ी लगा दी॥ ५६॥

पन्नगैरिव दीप्तास्यैर्वमद्भिर्ज्वलनं रणे।
अवकीर्णोऽभवत् पार्थः स्फुलिङ्गैरिव काञ्चनैः॥ ५७॥

रणभूमिमें वे बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान आग उगल रहे थे; कुन्तीकुमार भीम उनसे ढक गये, मानो उनके ऊपर स्वर्णमयी चिनगारियाँ पड़ रही हों॥५७॥

तस्य रूपमभूद् राजन् भीमसेनस्य संयुगे।
खद्योतैरावृतस्येव पर्वतस्य दिनक्षये॥ ५८॥

राजन्! उस समय युद्धस्थलमें भीमसेनका रूप संध्याके समय जुगुनुओंसे भरे हुए पर्वतके समान प्रतीत हो रहा था॥

तदस्त्रं द्रोणपुत्रस्य तस्मिन् प्रतिसमस्यति।
अवर्धत महाराज यथाग्निरनिलोद्धतः॥ ५९॥

महाराज! भीमसेन जब द्रोणपुत्रके उस अस्त्रके सामने बाण मारने लगे, तब वह हवाका सहारा पाकर धधक उठनेवाली आगके समान प्रचण्ड वेगसे बढ़ने लगा॥ ५९॥

विवर्धमानमालक्ष्य तदस्त्रं भीमविक्रमम्।
पाण्डुसैन्यमृते भीमं सुमहद् भयमाविशत्॥ ६०॥

उस अस्त्रको बढ़ते देख भयंकर पराक्रमी भीमसेनको छोड़कर शेष सारी पाण्डवसेनापर महान् भय छा गया॥६०॥

ततः शस्त्राणि ते सर्वे समुत्सृज्य महीतले।
अवारोहन् रथेभ्यश्च हस्त्यश्वेभ्यश्च सर्वशः॥ ६१॥

तब वे समस्त सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्रोंको धरतीपर डालकर रथ, हाथी और घोड़े आदि सभी वाहनोंसे उतर गये॥

तेषु निक्षिप्तशस्त्रेषु वाहनेभ्यश्च्युतेषु च।
तदस्त्रवीर्यं विपुलं भीममूर्धन्यथापतत्॥ ६२॥

उनके हथियार डाल देने और वाहनोंसे उतर जानेपर उस अस्त्रकी विशाल शक्ति केवल भीमसेनके माथेपर आ पड़ी॥

हाहाकृतानि भूतानि पाण्डवाश्च विशेषतः।
भीमसेनमपश्यन्त तेजसा संवृतं तथा॥ ६३॥

तब सभी प्राणी विशेषतः पाण्डव हाहाकार कर उठे। उन्होंने देखा, भीमसेन उस अस्त्रके तेजसे आच्छादित हो गये हैं॥ ६३॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि पाण्डवसैन्यास्त्रत्यागे नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें पाण्डव-सेनाका अस्त्र-त्यागविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ६७½ श्लोक हैं)

द्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको रथसे उतारकर नारायणास्त्रको शान्त करना, अश्वत्थामाका उसके पुनः प्रयोगमें अपनी असमर्थता बताना तथा अश्वत्थामाद्वारा धृष्टद्युम्नकी पराजय, सात्यकिका दुर्योधन, कृपाचार्य, कृतवर्मा, कर्ण और वृषसेन—इन छः महारथियोंको भगा देना फिर अश्वत्थामाद्वारा मालव, पौरव और चेदिदेशके युवराजका वध एवं भीम और अश्वत्थामाका घोर युद्ध तथा पाण्डवसेनाका पलायन

संजय उवाच

भीमसेनं समाकीर्णं दृष्ट्वास्त्रेण धनंजयः।
तेजसः प्रतिघातार्थं वारुणेन समावृणोत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! भीमसेनको उस अस्त्रसे घिरा हुआ देख अर्जुनने उन्हें उसके तेजका निवारण करनेके लिये वारुणास्त्रसे ढक दिया॥ १॥

नालक्षयत तत् कश्चिद् वारुणास्त्रेण संवृतम्।
अर्जुनस्य लघुत्वाच्च संवृतत्वाच्च तेजसः॥ २॥

एक तो अर्जुनने बड़ी फुर्ती की थी, दूसरे भीमसेनपर उस अस्त्रके तेजका आवरण था, इससे कोई भी यह देख न सका कि भीमसेन वारुणास्त्रसे घिरे हुए हैं॥ २॥

साश्वसूतरथो भीमो द्रोणपुत्रास्त्रसंवृतः।
अग्नावग्निरिव न्यस्तो ज्वालामाली सुदुर्दृशः॥ ३॥

घोड़े, सारथि और रथसहित भीमसेन द्रोणपुत्रके उस अस्त्रसे ढककर आगके भीतर रक्खी हुई आगके समान प्रतीत होते थे। वे ज्वालाओंसे इतने घिर गये थे कि उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था॥ ३॥

यथा रात्रिक्षये राजन् ज्योतींष्यस्तागिरिं प्रति।
समापेतुस्तथा बाणा भीमसेनरथं प्रति॥ ४॥

राजन्! जैसे रात्रि समाप्त होनेके समय सारे ज्योतिर्मय ग्रह-नक्षत्र अस्ताचलकी ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार अश्वत्थामाके बाण भीमसेनके रथपर गिरने लगे॥ ४॥

स हि भीमो रथश्चास्य हयाः सूतश्च मारिष ।
संवृता द्रोणपुत्रेण पावकान्तर्गताऽभवन् ॥ ५ ॥

माननीय नरेश ! भीमसेन तथा उनके रथ, घोड़े और सारथि—ये सभी अश्वत्थामाके अस्त्रसे आच्छादित हो आगकी लपटोंके भीतर आ गये थे ॥ ५ ॥

यथा दग्ध्वा जगत् कृत्स्नं समये सचराचरम् ।
गच्छेद् वह्निर्विभोरास्यं तथास्त्रं भीममावृणोत्॥ ६ ॥

जैसे प्रलयकालमें संवर्तक अग्नि चराचर प्राणियों सहित सम्पूर्ण जगत्को भस्म करके परमात्माके मुखमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार उस अस्त्रने भीमसेनको चारों ओरसे ढक लिया था ॥ ६ ॥

सूर्यमग्निः प्रविष्टः स्याद् यथा चाग्निं दिवाकरः ।
तथा प्रविष्टं तत् तेजो न प्राज्ञायत पाण्डवः ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यमें अग्नि और अग्निमें सूर्य प्रविष्ट हुए हों, उसी प्रकार उस अस्त्रका तेज तेजस्वी भीमसेनपर छा गया था; इसलिये पाण्डुपुत्र भीमसेन किसीको दिखायी नहीं पड़ते थे ॥ ७ ॥

विकीर्णमस्त्रं तद् दृष्ट्वा तथा भीमरथं प्रति ।
उदीर्यमाणं द्रौणिं च निष्प्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥ ८ ॥
सर्वसैन्यं च पाण्डूनां न्यस्तशस्त्रमचेतनम् ।
युधिष्ठिरपुरोगांश्च विमुखांस्तान् महारथान् ॥ ९ ॥
अर्जुनो वासुदेवश्च त्वरमाणौ महाद्युती ।
अवप्लुत्य रथाद् वीरौ भीममाद्रवतां ततः ॥ १० ॥

वह अस्त्र भीमसेनके रथपर छा गया था । युद्धस्थलमें कोई प्रतिद्वन्द्वी योद्धा न होनेसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा प्रबल होता जा रहा था । पाण्डवोंकी सारी सेना हथियार डालकर (भयसे) अचेत हो गयी थी और युधिष्ठिर आदि महारथी युद्धसे विमुख हो गये थे । यह सब देखकर महातेजस्वी अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों वीर बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर भीमसेनकी ओर दौड़े ॥ ८–१० ॥

ततस्तद् द्रोणपुत्रस्य तेजोऽस्त्रबलसम्भवम् ।
विगाह्य तौ सुबलिनौ माययाऽऽविशतां तथा ॥ ११ ॥

वहाँ पहुँचकर वे दोनों अत्यन्त बलवान् वीर द्रोणपुत्रकी अस्त्र-शक्तिसे प्रकट हुई उस आगमें घुसकर माया-द्वारा उसमें प्रविष्ट हो गये ॥ ११ ॥

न्यस्तशस्त्रौ ततस्तौ तु नादहत् सोऽस्त्रजोऽनलः।
वारुणास्त्रप्रयोगाच्च वीर्यवत्वाच्च कृष्णयोः ॥ १२ ॥

उन दोनोंने अपने हथियार रख दिये थे, वारुणास्त्रका प्रयोग किया था तथा वे दोनों कृष्ण अधिक शक्तिशाली थे; इसलिये वह अस्त्रजनित अग्नि उन्हें जला न सकी ॥ १२ ॥

ततश्चकृषतुर्भीमं सर्वशस्त्रायुधानि च ।
नारायणास्त्रशान्त्यर्थं नरनारायणौ बलात् ॥ १३ ॥

तदनन्तर नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णने उस नारायणास्त्रकी शान्तिके लिये भीमसेनको और उनके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको बलपूर्वक रथसे नीचे खींचा ॥ १३ ॥

आकृष्यमाणः कौन्तेयो नदत्येव महारवम् ।
वर्धते चैव तद् घोरं द्रौणेरस्त्रं सुदुर्जयम् ॥ १४ ॥

खींचे जाते समय कुन्तीकुमार भीमसेन और भी जोर-जोरसे गर्जना करने लगे । इससे अश्वत्थामाका वह परम दुर्जय घोर अस्त्र और भी बढ़ने लगा ॥ १४ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवः किमिदं पाण्डुनन्दन ।
वार्यमाणोऽपि कौन्तेय यद् युद्धान्न निवर्तसे ॥ १५ ॥
यदि युद्धेन जेयाः स्युरिमे कौरवनन्दनाः ।
वयमप्यत्र युध्येम तथा चेमे नरर्षभाः ॥ १६ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'पाण्डु-नन्दन ! कुन्तीकुमार ! यह क्या बात है कि तुम मना करनेपर भी युद्धसे निवृत्त नहीं हो रहे हो । यदि ये कौरवनन्दन इस समय युद्धसे ही जीते जा सकते तो हम और ये सभी नरश्रेष्ठ राजा लोग युद्ध ही करते ॥ १५-१६ ॥

रथेभ्यस्त्ववतीर्णाः स्म सर्वे एव हि तावकाः ।
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय रथात् तूर्णमपाक्रम ॥ १७ ॥

'तुम्हारे सभी सैनिक रथसे उतर गये हैं । कुन्तीकुमार ! अब तुम भी शीघ्र ही रथसे उतरकर युद्धसे अलग हो जाओ' ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा तु तं कृष्णो रथाद् भूमिमवर्तयत्।
निःश्वसन्तं यथा नागं क्रोधसंरक्तलोचनम्॥ १८॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्णने क्रोधसे लाल आँखें करके सर्पके समान फुफकारते हुए भीमसेनको रथसे भूमिपर उतार लिया॥ १८॥

यदापकृष्टः स रथान्न्यासितश्चायुधं भुवि।
ततो नारायणास्त्रं तत् प्रशान्तं शत्रुतापनम्॥ १९॥

जब ये रथसे उतर गये और उनसे अस्त्र-शस्त्रोंको भूमिपर रखवा लिया गया, तब वह शत्रुओंको संताप देनेवाला नारायणास्त्र स्वयं प्रशान्त हो गया॥ १९॥

संजय उवाच

तस्मिन् प्रशान्ते विधिना तेन तेजसि दुःसहे।
बभूवुर्विमलाः सर्वा दिशः प्रदिश एव च॥ २०॥
प्रववुश्च शिवा वाताः प्रशान्ता मृगपक्षिणः।
वाहनानि च हृष्टानि प्रशान्तेऽस्त्रे सुदुर्जये॥ २१॥

संजय कहते हैं—राजन्! उस विधिसे उस दुःसह तेजके शान्त हो जानेपर सारी दिशाएँ और विदिशाएँ निर्मल हो गयीं। शीतल सुखद वायु चलने लगी। पशु-पक्षियोंका आर्तनाद बंद हो गया तथा उस दुर्जय अस्त्रके शान्त होनेपर सारे वाहन भी सुखी हो गये॥ २०-२१॥

व्यपोढे च ततो घोरे तस्मिंस्तेजसि भारत।
बभौ भीमो निशापाये धीमान् सूर्य इवोदितः॥ २२॥

भारत! उस भयंकर तेजके दूर हो जानेपर बुद्धिमान् भीमसेन रात बीतनेपर उगे हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे॥ २२॥

हतशेषं बलं तत् तु पाण्डवानामतिष्ठत।
अस्त्रव्युपरमाद्धृष्टं तव पुत्रजिघांसया॥ २३॥

पाण्डवोंकी जो सेना मरनेसे बच गयी थी, वह उस अस्त्रके शान्त हो जानेसे पुनः आपके पुत्रोंका विनाश करनेके लिये हर्षसे खिल उठी॥ २३॥

व्यवस्थिते बले तस्मिन्नस्त्रे प्रतिहते तथा।
दुर्योधनो महाराज द्रोणपुत्रमथाब्रवीत्॥ २४॥

महाराज! उस अस्त्रके प्रतिहत और पाण्डव-सेनाके सुव्यवस्थित हो जानेपर दुर्योधनने द्रोणपुत्रसे इस प्रकार कहा—॥ २४॥

अश्वत्थामन् पुनः शीघ्रमस्त्रमेतत् प्रयोजय।
अवस्थिता हि पञ्चालाः पुनरेते जयैषिणः॥ २५॥

'अश्वत्थामन्! तुम पुनः शीघ्र ही इसी शस्त्रका प्रयोग करो; क्योंकि विजयकी अभिलाषा रखनेवाले ये पाञ्चाल सैनिक पुनः युद्धके लिये आकर डट गये हैं'॥२५॥

अश्वत्थामा तथोक्तस्तु तव पुत्रेण मारिष।
सुदीनमभिनिःश्वस्य राजानमिदमब्रवीत्॥ २६॥

मान्यवर! आपके पुत्रके ऐसा कहनेपर अश्वत्थामाने अत्यन्त दीनभावसे उच्छ्वास लेकर राजासे इस प्रकार कहा—॥

नैतदावर्तते राजन्नस्त्रं द्विर्नोपपद्यते।
आवृत्तं हि निवर्तेत प्रयोक्तारं न संशयः॥ २७॥

'राजन्! न तो यह अस्त्र फिर लौटता है और न इसका दुबारा प्रयोग ही हो सकता है। यदि इसका पुनः प्रयोग किया जाय तो यह प्रयोग करनेवालेको ही समाप्त कर देगा, इसमें संशय नहीं है॥ २७॥

एष चास्त्रप्रतीघातं वासुदेवः प्रयुक्तवान्।
अन्यथा विहितः संख्ये वधः शत्रोर्जनाधिप॥ २८॥

'जनेश्वर! श्रीकृष्णने इस अस्त्रके निवारणका उपाय बता दिया है और उसका प्रयोग किया है; अन्यथा आज युद्धमें सम्पूर्ण शत्रुओंका वध हो ही गया होता॥ २८॥

पराजयो वा मृत्युर्वा श्रेयान् मृत्युर्न निर्जयः।
विजिताश्चारयो ह्येते शस्त्रोत्सर्गान्मृतोपमाः॥ २९॥

'पराजय हो या मृत्यु, इनमें मृत्यु ही श्रेष्ठ है, पराजय नहीं। ये सारे शत्रु हार गये थे; हथियार डालकर मुर्देके समान हो गये थे'॥२९॥

दुर्योधन उवाच

आचार्यपुत्र यद्येतद् द्विरस्त्रं न प्रयुज्यते।
अन्यैर्गुरुघ्ना वध्यन्तामस्त्रैरस्त्रविदां वर॥ ३०॥

दुर्योधन बोला—आचार्यपुत्र! तुम तो सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हो। यदि इस अस्त्रका दो बार प्रयोग नहीं हो सकता तो तुम दूसरे ही अस्त्रोंद्वारा इन गुरु-घातियोंका वध करो॥ ३०॥

त्वयि शस्त्राणि दिव्यानि त्र्यम्बके चामितौजसि।
इच्छतो न हि ते मुच्येत् संक्रुद्धो हि पुरंदरः॥ ३१॥

तुममें तथा अमिततेजस्वी भगवान् शङ्करमें ही सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं। यदि तुम मारना चाहो तो क्रोधमें भरे हुए इन्द्र भी तुमसे बचकर नहीं जा सकते॥ ३१॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन्नस्त्रे प्रतिहते द्रोणे चोपधिना हते।
तथा दुर्योधनेनोक्तो द्रौणिः किमकरोत् पुनः॥ ३२॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! द्रोणाचार्य छलपूर्वक मारे गये और नारायणास्त्र भी प्रतिहत हो गया, तब दुर्योधनके वैसा कहनेपर अश्वत्थामाने फिर क्या किया?॥ ३२॥

दृष्ट्वा पार्थांश्च संग्रामे युद्धाय समुपस्थितान्।
नारायणास्त्रनिर्मुक्तांश्चरतः पृतनामुखे॥ ३३॥

क्योंकि उसने देख लिया था कि नारायणास्त्रसे छूटे

हुए पाण्डव संग्राममें युद्धके लिये उपस्थित हैं और युद्धके मुहानेपर विचर रहे हैं ॥ ३३ ॥

संजय उवाच

जानन् पितुः स निधनं सिंहलाङ्गूलकेतनः।
सक्रोधो भयमुत्सृज्य सोऽभिदुद्राव पार्षतम् ॥ ३४ ॥

संजयने कहा—राजन्! अश्वत्थामाकी ध्वजा-पताकामें सिंहकी पूँछका चिह्न बना हुआ था। उसने पिताके मारे जानेकी घटनाका स्मरण करके कुपित हो भय छोड़कर धृष्टद्युम्नपर धावा किया ॥ ३४ ॥

अभिद्रुत्य च विंशत्या क्षुद्रकाणां नरर्षभ।
पञ्चभिश्चातिवेगेन विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ३५ ॥

नरश्रेष्ठ! निकट जाकर पुरुषप्रवर अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नको पहले क्षुद्रक नामवाले बीस बाण मारे। फिर अत्यन्त वेगसे पाँच बाणोंका प्रहार करके उन्हें घायल कर दिया ॥ ३५ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजन् ज्वलन्तमिव पावकम्।
द्रोणपुत्रं त्रिषष्ट्या तु राजन् विव्याध पत्रिणाम्॥ ३६ ॥

राजन्! तदनन्तर धृष्टद्युम्नने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी द्रोणपुत्रको तिरसठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ३६ ॥

सारथिं चास्य विंशत्या स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।
हयांश्च चतुरोऽविध्यच्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ॥ ३७ ॥

फिर शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बीस बाणोंसे उसके सारथिको और चार तीखे सायकोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ ३७ ॥

विद्ध्वा विद्ध्वानदद् द्रौणिं कम्पयन्निव मेदिनीम्।
आददे सर्वलोकस्य प्राणानिव महारणे ॥ ३८ ॥

धृष्टद्युम्न अश्वत्थामाको बींध-बींधकर पृथ्वीको कँपाते हुए-से गरज रहे थे। मानो उस महासमरमें वे सम्पूर्ण जगत्के प्राण ले रहे हों ॥ ३८ ॥

पार्षतस्तु बली राजन् कृतास्त्रः कृतनिश्चयः।
द्रौणिमेवाभिदुद्राव मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३९ ॥

राजन्! बलवान् अस्त्रवेत्ता तथा दृढ़ निश्चयवाले धृष्टद्युम्नने मृत्युको ही युद्धसे लौटनेकी अवधि निश्चित करके द्रोणपुत्रपर ही धावा किया ॥ ३९ ॥

ततो बाणमयं वर्षं द्रोणपुत्रस्य मूर्धनि।
अवासृजदमेयात्मा पाञ्चाल्यो रथिनां वरः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, रथियोंमें श्रेष्ठ पाञ्चालपुत्र धृष्टद्युम्नने अश्वत्थामाके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४० ॥

तं द्रौणिः समरे क्रुद्धं छादयामास पत्रिभिः।
विव्याध चैनं दशभिः पितुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४१ ॥

अपने पिताके वधका बारंबार स्मरण करते हुए अश्वत्थामाने भी समराङ्गणमें कुपित हुए धृष्टद्युम्नको बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया और दस बाणोंसे मारकर उसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४१ ॥

द्वाभ्यां च सुविसृष्टाभ्यां क्षुराभ्यां ध्वजकार्मुके।
छित्त्वा पाञ्चालराजस्य द्रौणिरन्यैः समार्दयत् ॥ ४२ ॥

इसके सिवा, अच्छी तरह छोड़े हुए दो छुरोंसे पाञ्चालराजकुमारके ध्वज और धनुषको काटकर अश्वत्थामाने दूसरे बाणोंद्वारा उन्हें भलीभाँति पीड़ित किया ॥ ४२ ॥

व्यश्वसूतरथं चैनं द्रौणिश्चक्रे महाहवे।
तस्य चानुचरान् सर्वान् क्रुद्धः प्राद्रावयच्छरैः॥ ४३ ॥

इतना ही नहीं, द्रोणपुत्रने उस महायुद्धमें धृष्टद्युम्नको घोड़े, सारथि तथा रथसे भी वञ्चित कर दिया। साथ ही कुपित हो उनके सारे सेवकोंको भी बाणोंसे मार-मारकर खदेड़ना शुरू किया ॥ ४३ ॥

ततः प्रदुद्रुवे सैन्यं पञ्चालानां विशाम्पते।
सम्भ्रान्तरूपमार्तं च न परस्परमैक्षत ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ! तदनन्तर पाञ्चालोंकी सेना भ्रान्त एवं आर्त होकर भाग चली। उसके सैनिक एक-दूसरेको देखते नहीं थे ॥ ४४ ॥

दृष्ट्वा तु विमुखान् योधान् धृष्टद्युम्नं च पीडितम्।
शैनेयोऽचोदयत् तूर्णं रथं द्रौणिरथं प्रति ॥ ४५ ॥

योद्धाओंको युद्धसे विमुख और धृष्टद्युम्नको बाणोंसे पीड़ित देख सात्यकिने तुरंत अपना रथ अश्वत्थामाके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ४५ ॥

अष्टभिर्निशितैर्बाणैरश्वत्थामानमार्दयत्।
विंशत्या पुनराहत्य नानारूपैरमर्षणः ॥ ४६ ॥
विव्याध च तथा सूतं चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
धनुर्ध्वजं च संयत्तश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ ४७ ॥

उन्होंने आठ पैने बाणोंसे अश्वत्थामाको चोट पहुँचायी। तत्पश्चात् अमर्षमें भरे हुए सात्यकिने भाँति-भाँतिके बीस बाणोंद्वारा द्रोणपुत्रको पुनः घायल करके उसके सारथिको भी बींध डाला और पूर्णरूपसे सावधान हो एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति उन्होंने चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको घायल करके ध्वज और धनुषको भी काट दिया ॥४६-४७॥

स साश्वं व्यधमच्चापि रथं हेमपरिष्कृतम्।
हृदि विव्याध समरे त्रिंशता सायकैर्भृशम् ॥ ४८ ॥

इसके बाद घोड़ोंसहित उसके सुवर्णभूषित रथको भी छिन्न-भिन्न कर डाला और समराङ्गणमें तीस बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४८ ॥

एवं स पीडितो राजन्नश्वत्थामा महाबलः।

शरजालैः परिवृतः कर्तव्यं नान्वपद्यत ॥ ४९ ॥

राजन् ! इस प्रकार बाणोंके जालसे घिरकर पीड़ित हुए महाबली अश्वत्थामाको कोई कर्तव्य नहीं सूझता था ॥

एवं गते गुरोः पुत्रे तव पुत्रो महारथः ।
कृपकर्णादिभिः सार्धं शरैः सात्वतमावृणोत् ॥ ५० ॥

गुरुपुत्रकी ऐसी अवस्था हो जानेपर आपके महारथी पुत्र दुर्योधनने कृपाचार्य और कर्ण आदिके साथ आकर सात्यकिको बाणोंसे ढक दिया ॥ ५० ॥

दुर्योधनस्तु विंशत्या कृपः शारद्वतस्त्रिभिः ।
कृतवर्माथ दशभिः कर्णः पञ्चाशता शरैः ॥ ५१ ॥
दुःशासनः शतेनैव वृषसेनश्च सप्तभिः ।
सात्यकिं विव्यधुस्तूर्णं समन्तान्निशितैः शरैः ॥ ५२ ॥

दुर्योधनने बीस, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने तीन, कृतवर्माने दस, कर्णने पचास, दुःशासनने सौ तथा वृषसेनने सात पैने बाणोंद्वारा शीघ्र ही सब ओरसे सात्यकिको घायल कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

ततः स सात्यकी राजन् सर्वानेव महारथान् ।
विरथान् विमुखांश्चैव क्षणेनैवाकरोन्नृप ॥ ५३ ॥

राजन् ! तब सात्यकिने भी उन सभी महारथियोंको क्षणभरमें रथहीन एवं युद्धसे विमुख कर दिया ॥ ५३ ॥

अश्वत्थामा तु सम्प्राप्य चेतनां भरतर्षभ ।
चिन्तयामास दुःखार्तो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ ५४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उधर अश्वत्थामाको जब चेत हुआ, तब वह दुःखसे आतुर हो बारंबार लंबी साँस खींचता हुआ कुछ देरतक चिन्तामें डूबा रहा ॥ ५४ ॥

अथो रथान्तरं द्रौणिः समारुह्य परंतपः ।
सात्यकिं वारयामास किरञ्शरशतान् बहून् ॥ ५५ ॥

फिर दूसरे रथपर आरूढ़ हो शत्रुतापन अश्वत्थामाने कई सौ बाणोंकी वर्षा करके सात्यकिको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य भारद्वाजसुतं रणे ।
विरथं विमुखं चैव पुनश्चक्रे महारथः ॥ ५६ ॥

रणभूमिमें द्रोणपुत्रको अपनी ओर आते देख महारथी सात्यकिने उसे पुनः रथहीन एवं युद्धसे विमुख कर दिया ॥ ५६ ॥

ततस्ते पाण्डवा राजन् दृष्ट्वा सात्यकिविक्रमम् ।
शङ्खशब्दान् भृशं चक्रुः सिंहनादांश्च नेदिरे ॥ ५७ ॥

राजन् ! सात्यकिका यह पराक्रम देख पाण्डव बड़े जोर-जोरसे शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ ५७ ॥

एवं तं विरथं कृत्वा सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
जघान वृषसेनस्य त्रिसाहस्रान् महारथान् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार उसे रथहीन करके सत्यपराक्रमी सात्यकिने वृषसेनकी सेनाके तीन हजार विशाल रथोंको नष्ट कर दिया ॥ ५८ ॥

अयुतं दन्तिनां सार्धं कृपस्य निजघान सः ।
पञ्चायुतानि चाश्वानां शकुनेर्निजघान ह ॥ ५९ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यकी सेनाके पंद्रह हजार हाथियोंका वध कर डाला; इसी तरह शकुनिके पचास हजार घोड़ोंको भी उन्होंने मार गिराया ॥ ५९ ॥

ततो द्रौणिर्महाराज रथमारुह्य वीर्यवान् ।
सात्यकिं प्रतिसंक्रुद्धः प्रययौ तद्वधेप्सया ॥ ६० ॥

महाराज ! तब पराक्रमी अश्वत्थामा रथपर आरूढ़ हो सात्यकिपर क्रोध करके उनका वध करनेकी इच्छासे आगे बढ़ा ॥ ६० ॥

पुनस्तमागतं दृष्ट्वा शैनेयो निशितैः शरैः ।
अदारयत् क्रूरतरैः पुनः पुनररिंदम ॥ ६१ ॥

शत्रुदमन नरेश ! अश्वत्थामाको फिर आया देख सात्यकिने अत्यन्त क्रूर तीखे बाणोंद्वारा उसे बारंबार विदीर्ण किया ॥ ६१ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासो नानालिङ्गैरमर्षणः ।
युयुधानेन वै द्रौणिः प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

जब युयुधानने नाना प्रकारके चिह्नोंवाले बाणोंद्वारा महाधनुर्धर अश्वत्थामाको अत्यन्त घायल कर दिया, तब उसने अमर्षमें भरकर उनसे हँसते हुए कहा—॥ ६२ ॥

शैनेयाभ्युपपत्तिं ते जानाम्याचार्यघातिनि ।
न चैनं त्रास्यसि मया ग्रस्तमात्मानमेव च ॥ ६३ ॥

'शिनिपौत्र ! मैं जानता हूँ, आचार्यघाती धृष्टद्युम्नके प्रति तुम्हारा विशेष सहयोग एवं पक्षपात है; परंतु मेरे चंगुलमें फँसे हुए इस धृष्टद्युम्नको और अपनेको भी तुम बचा नहीं सकोगे ॥ ६३ ॥

शपेऽऽत्मनाहं शैनेय सत्येन तपसा तथा ।
अहत्वा सर्वपाञ्चालान् यदि शान्तिमहं लभे ॥ ६४ ॥

'शैनेय ! मैं सत्य और तपस्याकी सौगंध खाकर कहता हूँ, सम्पूर्ण पाञ्चालोंका वध किये बिना मुझे कदापि शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ६४ ॥

यद् बलं पाण्डवेयानां वृष्णीनामपि यद् बलम् ।
क्रियतां सर्वमेवेह निहनिष्यामि सोमकान् ॥ ६५ ॥

'पाण्डवों और वृष्णिवंशियोंके पास जितना भी बल है, वह सब यहीं लगा दो तो भी सोमकोंका संहार कर डालूँगा' ॥ ६५ ॥

एवमुक्त्वार्करश्म्याभं सुतीक्ष्णं तं शरोत्तमम् ।
व्यसृज्यत् सात्वते द्रौणिर्वज्रं वृत्रे यथा हरिः ॥ ६६ ॥

ऐसा कहकर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने सात्यकिपर सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी तथा अत्यन्त तीखा उत्तम बाण छोड़ दिया; मानो इन्द्रने वृत्रासुरपर वज्रका प्रहार किया हो ॥ ६६ ॥

स तं निर्भिद्य तेनास्तः सायकः सशरावरम्।
विवेश वसुधां भित्त्वा श्वसन् बिलमिवोरगः ॥ ६७ ॥

उसका चलाया हुआ वह बाण सात्यकिके शरीरको कवचसहित विदीर्ण करके पृथ्वीको चीरता हुआ उसके भीतर उसी प्रकार घुस गया, जैसे फुफकारता हुआ सर्प बिलमें समा जाता है ॥ ६७ ॥

स भिन्नकवचः शूरस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
विमुच्य सशरं चापं भूरिव्रणपरिस्रवः ॥ ६८ ॥
सीदन् रुधिरसिक्तश्च रथोपस्थ उपाविशत्।
सूतेनापहृतस्तूर्णं द्रोणपुत्राद् रथान्तरम् ॥ ६९ ॥

कवच छिन्न-भिन्न हो जानेसे शूरवीर सात्यकि अंकुशोंकी मार खाये हुए हाथीके समान व्यथित हो उठे। उनके घावोंसे अधिक रक्त बह रहा था। वे शिथिल एवं खूनसे लथपथ हो धनुष-बाण छोड़कर रथके पिछले भागमें बैठ गये। तब सारथि तुरंत ही उन्हें द्रोणपुत्रके पाससे दूसरे रथीके पास हटा ले गया ॥ ६८-६९ ॥

अथान्येन सुपुङ्खेन शरेणानतपर्वणा।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये धृष्टद्युम्नं परंतपः ॥ ७० ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले अश्वत्थामाने सुन्दर पंख एवं झुकी हुई गाँठवाले दूसरे बाणसे धृष्टद्युम्न-की दोनों भौंहोंके बीचमें गहरा आघात किया ॥ ७० ॥

स पूर्वमतिविद्धश्च भृशं पश्चाच्च पीडितः।
ससादाथ च पाञ्चाल्यो व्यपाश्रयत च ध्वजम् ॥ ७१ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न पहले ही बहुत घायल हो चुका था। फिर पीछे भी अत्यन्त पीड़ित हो वह रथकी बैठकमें धम्मसे बैठ गया और ध्वजापर अपने शरीरको टेक दिया ॥ ७१ ॥

तं नागमिव सिंहेन दृष्ट्वा राजञ्शरार्दितम्।
जवेनाभ्यद्रवञ्छूराः पञ्च पाण्डवतो रथाः ॥ ७२ ॥

राजन्! जैसे सिंह हाथीको सताता है, उसी प्रकार धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके बाणोंसे पीड़ित देखकर पाण्डव-पक्षसे पाँच शूरवीर महारथी बड़े वेगसे वहाँ आ पहुँचे ॥

किरीटी भीमसेनश्च वृद्धक्षत्रश्च पौरवः।
युवराजश्च चेदीनां मालवश्च सुदर्शनः ॥ ७३ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—किरीटधारी अर्जुन, भीमसेन, पौरव वृद्धक्षत्र, चेदिदेशके युवराज तथा मालवनरेश सुदर्शन ॥ ७३ ॥

एते हाहाकृताः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः।
वीरं द्रौणायनिं वीराः सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ७४ ॥

इन सब वीरोंने हाहाकार करते हुए हाथमें धनुष लेकर वीर अश्वत्थामाको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७४ ॥

ते विंशतिपदे यत्ता गुरुपुत्रममर्षणम्।
पञ्चभिः पञ्चभिर्बाणैरभ्यघ्नन् सर्वतः समम् ॥ ७५ ॥

उन सावधान रथियोंने बीसवें पगपर अमर्षशील गुरुपुत्रको पा लिया और सब ओरसे पाँच-पाँच बाणोंद्वारा एक साथ ही उसपर चोट की ॥ ७५ ॥

आशीविषाभैर्विंशत्या पञ्चभिस्तु शितैः शरैः।
चिच्छेद युगपद् द्रौणिः पञ्चविंशतिसायकान् ॥ ७६ ॥

तब द्रोणकुमारने विषैले सर्पोंके समान पचीस तीखे बाणोंद्वारा एक साथ ही उनके पचीसों बाणोंको काट डाला ॥ ७६ ॥

सप्तभिस्तु शितैर्बाणैः पौरवं द्रौणिरार्दयत्।
मालवं त्रिभिरेकेन पार्थं षड्भिर्वृकोदरम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद द्रोणपुत्रने सात तीखे बाणोंसे पौरवको पीड़ित कर दिया। फिर तीन बाणोंसे मालवनरेशको, एकसे अर्जुनको और छः बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ॥

ततस्ते विव्यधुः सर्वे द्रौणिं राजन् महारथाः।
युगपच्च पृथक् चैव रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ ७८ ॥

राजन्! तत्पश्चात् उन सब महारथियोंने एक साथ और अलग-अलग भी शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा द्रोणकुमारको घायल करना आरम्भ किया ॥ ७८ ॥

युवराजश्च विंशत्या द्रौणिं विव्याध पत्रिभिः।
पार्थश्च पुनरष्टाभिस्तथा सर्वे त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ७९ ॥

चेदिदेशके युवराजने बीस, अर्जुनने आठ तथा अन्य सब लोगोंने तीन-तीन बाणोंद्वारा द्रोणपुत्रको बींध डाला ॥

ततोऽर्जुनं षड्भिरथाजघान
द्रौणायनिर्दशभिर्वासुदेवम्।
भीमं दशार्धैर्युवराजं चतुर्भि-
र्द्वाभ्यां द्वाभ्यां मालवं पौरवं च ॥ ८० ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने छः बाणोंसे अर्जुनको, दस बाणोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णको, पाँचसे भीमको, चारसे चेदिदेशके युवराजको तथा दो-दो बाणोंद्वारा क्रमशः मालवनरेश तथा पौरवको घायल कर दिया ॥ ८० ॥

सूतं विद्ध्वा भीमसेनस्य षड्भि-
र्द्वाभ्यां विद्ध्वा कार्मुकं च ध्वजं च।
पुनः पार्थं शरवर्षेण विद्ध्वा
द्रौणिर्घोरं सिंहनादं ननाद ॥ ८१ ॥

इतना ही नहीं, भीमसेनके सारथिको छः तथा उनके धनुष और ध्वजको दो बाणोंसे बींधकर पुनः बाणोंकी वर्षाद्वारा अर्जुनको घायल करके अश्वत्थामाने घोर सिंहनाद किया ॥ ८१ ॥

तस्यास्यतस्तान् निशितान् पीतधारान्
द्रौणेः शरान् पृष्ठतश्चाग्रतश्च ।
धरा वियद् द्यौः प्रदिशो दिशश्च
च्छन्ना बाणैरभवन् घोररूपैः ॥ ८२ ॥

द्रोणकुमार उन पानीदार धारवाले तीखे बाणोंको आगे और पीछे भी चला रहा था। उसके उन भयानक बाणोंसे पृथिवी, आकाश, अन्तरिक्ष, दिशाएँ और विदिशाएँ भी आच्छादित हो गयी थीं ॥ ८२ ॥

आसन्नस्य स्वरथं तीव्रतेजाः
सुदर्शनस्येन्द्रकेतुप्रकाशौ ।
भुजौ शिरश्चेन्द्रसमानवीर्य-
स्त्रिभिः शरैर्युगपत् संचकर्त ॥ ८३ ॥

उस युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं प्रचण्ड तेजस्वी अश्वत्थामाने अपने रथके निकट आये हुए मालवराज सुदर्शनकी इन्द्रध्वजके तुल्य प्रकाशित होनेवाली दोनों भुजाओं तथा मस्तकको तीन बाणोंद्वारा एक साथ ही काट डाला ॥ ८३ ॥

स पौरवं रथशक्त्या निहत्य
छित्त्वा रथं तिलशश्चास्य बाणैः ।
छित्त्वा च बाहू वरचन्दनाक्तौ
भल्लेन कायाच्छिर उच्चकर्त ॥ ८४ ॥

फिर उसने पौरवको रथशक्तिसे घायल करके अपने बाणोंद्वारा उनके रथके तिलके बराबर-बराबर टुकड़े कर डाले और सुन्दर चन्दनचर्चित उनकी दोनों भुजाओंको काटकर एक भल्लके द्वारा उनके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ ८४ ॥

युवानमिन्दीवरदामवर्णं
चेदिप्रभुं युवराजं प्रसह्य ।
बाणैस्त्वरावान् प्रज्वलिताग्निकल्पै-
र्विद्ध्वा प्रादान्मृत्यवे साश्वसूतम् ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् शीघ्रता करनेवाले अश्वत्थामाने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा नीलकमलकी मालाके समान कान्तिवाले नवयुवक चेदिदेशीय युवराजको हठपूर्वक घायल करके उन्हें घोड़ों और सारथिसहित मौतके हवाले कर दिया ॥ ८५ ॥

मालवं पौरवं चैव युवराजं च चेदिपम् ।
दृष्ट्वा समक्षं निहतं द्रोणपुत्रेण पाण्डवः ॥ ८६ ॥
भीमसेनो महाबाहुः क्रोधमाहारयत् परम् ।

मालवनरेश सुदर्शन, पुरुदेशके अधिपति वृद्धक्षत्र तथा चेदिदेशके युवराजको अपनी आँखोंके सामने द्रोणपुत्रके हाथसे मारा गया देख पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनको बड़ा भारी क्रोध हुआ ॥ ८६½ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैः संक्रुद्धाशीविषोपमैः ॥ ८७ ॥
छादयामास समरे द्रोणपुत्रं परंतपः ।

फिर तो शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा समराङ्गणमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको आच्छादित कर दिया ॥

ततो द्रौणिर्महातेजाः शरवर्षं निहत्य तम् ॥ ८८ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैर्भीमसेनममर्षणः ।

तब महातेजस्वी अमर्षशील द्रोणकुमारने उस बाणवर्षाको नष्ट करके भीमसेनको पैने बाणोंसे बींध डाला ॥

ततो भीमो महाबाहुर्द्रौणेर्युधि महाबलः ॥ ८९ ॥
क्षुरप्रेण धनुश्छित्त्वा द्रौणिं विव्याध पत्रिणा ।

यह देख महाबली महाबाहु भीमसेनने युद्धस्थलमें एक क्षुरप्रसे अश्वत्थामाका धनुष काटकर पंखदार बाणसे उसको भी घायल कर दिया ॥ ८९½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं द्रोणपुत्रो महामनाः ॥ ९० ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय भीमं विव्याध पत्रिभिः ।

इसके बाद महामनस्वी द्रोणपुत्रने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले लिया और भीमसेनको अनेक बाण मारे ॥ ९०½ ॥

तौ द्रौणिभीमौ समरे पराक्रान्तौ महाबलौ ॥ ९१ ॥
अवर्षतां शरवर्षं वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ ।

अश्वत्थामा और भीमसेन दोनों वीर महान् बलवान् एवं पराक्रमी थे। वे समरभूमिमें वर्षा करनेवाले दो बादलोंके समान परस्पर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ९१½ ॥

भीमनामाङ्किता बाणाः स्वर्णपुङ्खाः शिलाशिताः ॥ ९२ ॥
द्रौणिं संछादयामासुर्घनौघा इव भास्करम् ।

जैसे मेघोंकी घटाएँ सूर्यको ढक लेती हैं, उसी प्रकार भीमसेनके नामसे अङ्कित और सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुनहरी पाँखवाले बाणोंने द्रोणपुत्रको आच्छादित कर दिया ॥ ९२½ ॥

तथैव द्रौणिनिर्मुक्तैर्भीमः संनतपर्वभिः ॥ ९३ ॥
अवाकीर्यत स क्षिप्रं शरैः शतसहस्रशः ।

इसी तरह अश्वत्थामाके छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाणोंसे भीमसेन भी तत्काल ढक गये ॥ ९३½ ॥

स च्छाद्यमानः समरे द्रौणिना रणशालिना ॥ ९४ ॥
न विव्यथे महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

महाराज ! संग्राममें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाके द्वारा समरभूमिमें ढके जानेपर भी भीमसेनको तनिक भी व्यथा नहीं हुई, वह अद्भुत-सी बात थी ॥ ९४½ ॥

ततो भीमो महाबाहुः कार्तस्वरविभूषितान् ॥ ९५ ॥
नाराचान् दश सम्प्रैषीद् यमदण्डनिभाञ्छितान् ।

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने सुवर्णभूषित एवं यमदण्डके समान भयंकर दस तीखे नाराच अश्वत्थामापर चलाये ॥ ९५½ ॥

ते जत्रुदेशमासाद्य द्रोणपुत्रस्य मारिष ॥ ९६ ॥
निर्भिद्य विविशुस्तूर्णं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

माननीय नरेश ! जैसे सर्प तुरंत ही बाँबीमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार वे बाण द्रोणपुत्रके गलेकी हँसलीको छेदकर भीतर समा गये ॥ ९६½ ॥

सोऽतिविद्धो भृशं द्रौणिः पाण्डवेन महात्मना ॥ ९७ ॥
ध्वजयष्टिं समासाद्य न्यमीलयत लोचने ।

महात्मा पाण्डुपुत्रके बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए अश्वत्थामाने ध्वजदण्ड थामकर नेत्र बंद कर लिये ॥९७½॥

स मुहूर्तात् पुनः संज्ञां लब्ध्वा द्रौणिर्नराधिप ॥ ९८ ॥
क्रोधं परममातस्थौ समरे रुधिरोक्षितः ।

नरेश्वर ! दो ही घड़ीमें पुनः सचेत हो खूनसे लथपथ हुए अश्वत्थामाने उस समराङ्गणमें अत्यन्त क्रोध प्रकट किया ॥ ९८½ ॥

दृढं सोऽभिहतस्तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ९९ ॥
वेगं चक्रे महाबाहुर्भीमसेनरथं प्रति ।

महामना पाण्डुपुत्रने उसे गहरी चोट पहुँचायी थी। अतः महाबाहु अश्वत्थामाने भीमसेनके रथपर ही बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ९९½ ॥

तत आकर्णपूर्णानां शराणां तिग्मतेजसाम् ॥१००॥
शतमाशीविषाभानां प्रेषयामास भारत ।

भारत ! उसने धनुषको कानतक खींचकर प्रचण्ड तेजसे युक्त और विषैले सर्पोंके समान भयंकर सौ बाण भीमसेनपर चलाये ॥ १००½ ॥

भीमोऽपि समरश्लाघी तस्य वीर्यमचिन्तयन् ॥१०१॥
तूर्णं प्रासृजदुग्राणि शरवर्षाणि पाण्डवः ।

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेन भी उसके इस पराक्रमकी कोई परवा न करते हुए तुरंत ही उसपर भयंकर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥१०१½॥

ततो द्रौणिर्महाराज छित्त्वास्य विशिखैर्धनुः ॥१०२॥
आजघानोरसि क्रुद्धः पाण्डवं निशितैः शरैः ।

महाराज ! तब अश्वत्थामाने कुपित हो बाणोंद्वारा भीमसेनके धनुषको काटकर उन पाण्डुपुत्रकी छातीमें पैने बाणोंका प्रहार किया ॥ १०२½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीमसेनो ह्यमर्षणः ॥१०३॥
विव्याध निशितैर्बाणैर्द्रौणिं पञ्चभिराहवे ।

तब अमर्षमें भरे हुए भीमसेनने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें पाँच पैने बाणोंसे द्रोणपुत्रको घायल कर दिया ॥ १०३½ ॥

जीमूताविव घर्मान्ते तौ शरौघप्रवर्षिणौ ॥१०४॥
अन्योन्यक्रोधताम्राक्षौ छादयामासतुर्युधि ।

वे दोनों क्रोधसे लाल आँखें करके बरसातके दो बादलोंके समान बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए एक दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ १०४½ ॥

तलशब्दैस्ततो घोरैस्त्रासयन्तौ परस्परम् ॥१०५॥
अयुध्येतां सुसंरब्धौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

फिर ताल ठोंकनेकी भयंकर आवाजसे परस्पर त्रास उत्पन्न करते हुए वे दोनों योद्धा बड़े रोषसे युद्ध करने लगे। दोनों ही एक दूसरेके प्रहारका प्रतीकार करना चाहते थे ॥१०५½॥

ततो विस्फार्य सुमहच्चापं रुक्मविभूषितम् ॥१०६॥
भीमं प्रैक्षत स द्रौणिः शरानस्यन्तमन्तिकात् ।
शरद्यहर्मध्यगतो दीप्तार्चिरिव भास्करः ॥१०७॥

तत्पश्चात् सुवर्णभूषित विशाल धनुषको खींचकर निकटसे बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनकी ओर अश्वत्थामाने देखा। वह शरद्‌ऋतुके मध्याह्नकालमें प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १०६-१०७ ॥

आददानस्य विशिखान् संदधानस्य चाशुगान् ।
विकर्षतो मुञ्चतश्च नान्तरं ददृशुर्जनाः ॥१०८॥

वह कब बाण लेता, कब उन्हें धनुषपर रखता, कब प्रत्यञ्चा खीचता और कब उन्हें छोड़ता था तथा इन कार्योंमें कितना अन्तर पड़ता था, यह सब योद्धालोग देख नहीं पाते थे ॥ १०८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं तस्य मण्डलमायुधम् ।
द्रौणेरासीन्महाराज बाणान् विसृजतस्तदा ॥१०९॥

महाराज ! बाण छोड़ते समय अश्वत्थामाका धनुष अलातचक्रके समान मण्डलाकार दिखायी देता था ॥१०९॥

धनुश्च्युताः शरास्तस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।
आकाशे प्रत्यदृश्यन्त शलभानामिवायतीः ॥११०॥

उसके धनुषसे छूटे हुए सैकड़ों और हजारों बाण आकाशमें टिड्डी-दलोंके समान दिखायी देते थे ॥ ११० ॥

ते तु द्रौणिविनिर्मुक्ताः शरा हेमविभूषिताः ।
अजस्रमन्वकीर्यन्त घोरा भीमरथं प्रति ॥१११॥

अश्वत्थामाके छोड़े हुए सुवर्णभूषित भयंकर बाण भीमसेनके रथपर लगातार गिरने लगे ॥ १११ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम्।
बलं वीर्यं प्रभावं च व्यवसायं च भारत ॥११२॥

भारत! वहाँ हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम, बल, वीर्य, प्रभाव और व्यवसाय देखा ॥ ११२ ॥

तां स मेघादिवोद्भूतां बाणवृष्टिं समन्ततः।
जलवृष्टिं महाघोरां तपान्त इव चिन्तयन् ॥११३॥
द्रोणपुत्रवधप्रेप्सुर्भीमो भीमपराक्रमः।
अमुञ्चच्छरवर्षाणि प्रावृषीव बलाहकः ॥११४॥

वर्षाकालमें मेघसे होनेवाली अत्यन्त घोर जलवृष्टिके समान चारों ओरसे होनेवाली अश्वत्थामाकी उस बाण-वर्षापर विचार करते हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनने द्रोणपुत्रके वधकी इच्छा की और वे बरसातके बादलोंके समान बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ११३-११४ ॥

तद् रुक्मपृष्ठं भीमस्य धनुर्घोरं महारणे।
विकृष्यमाणं विबभौ शक्रचापमिवापरम् ॥११५॥

उस महासमरमें सोनेकी पीठवाला भीमसेनका भयंकर धनुष जब खींचा जाता था, तब दूसरे इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होता था ॥ ११५ ॥

तस्माच्छराः प्रादुरासञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
संछादयन्तः समरे द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥११६॥

रणभूमिमें अधिक शोभा पानेवाले द्रोणकुमार अश्वत्थामाको आच्छादित करते हुए सैकड़ों और हजारों बाण भीमसेनके उस धनुषसे प्रकट हो रहे थे ॥ ११६ ॥

तयोर्विसृजतोरेवं शरजालानि मारिष।
वायुरप्यन्तरा राजन् नाशक्नोत् प्रतिसर्पितुम् ॥११७॥

माननीय नरेश! इस प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उन दोनोंके बीचसे निकल जानेमें वायु भी असमर्थ हो गयी थी ॥ ११७ ॥

तथा द्रौणिर्महाराज शरान् हेमविभूषितान्।
तैलधौतान् प्रसन्नाग्रान् प्राहिणोद् वधकाङ्क्षया ॥११८॥

महाराज! तदनन्तर अश्वत्थामाने भीमसेनके वधकी इच्छासे तेलमें साफ किये हुए स्वच्छ अग्रभागवाले बहुत-से स्वर्णभूषित बाण चलाये ॥ ११८ ॥

तानन्तरिक्षे विशिखैस्त्रिधैकैकमशातयत्।
विशेषयन् द्रोणसुतं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥११९॥

परंतु भीमसेनने अपनी विशेषता स्थापित करते हुए अपने बाणोंद्वारा आकाशमें ही उन बाणोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े कर डाले और द्रोणपुत्रसे कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ११९ ॥

पुनश्च शरवर्षाणि घोराण्युग्राणि पाण्डवः।
व्यसृजद् बलवान् क्रुद्धो द्रोणपुत्रवधेप्सया ॥१२०॥

फिर कुपित हुए पाण्डुपुत्र बलवान् भीमसेनने द्रोणपुत्रके वधकी इच्छासे उसके ऊपर पुनः घोर एवं उग्र बाणवर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १२० ॥

ततोऽस्त्रमायया तूर्णं शरवृष्टिं निवार्य ताम्।
धनुश्चिच्छेद भीमस्य द्रोणपुत्रो महास्त्रवित् ॥१२१॥
शरैश्चैनं सुबहुभिः क्रुद्धः संख्ये पराभिनत्।

तब महान् अस्त्रवेत्ता द्रोणपुत्रने अपने अस्त्रोंकी मायासे तुरंत ही उस बाणवर्षाका निवारण करके भीमसेनका धनुष काट डाला। साथ ही क्रोधमें भरकर उसने युद्धस्थलमें बहुसंख्यक बाणोंद्वारा इन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ॥१२१½॥

स छिन्नधन्वा बलवान् रथशक्तिं सुदारुणाम् ॥१२२॥
वेगेनाविध्य चिक्षेप द्रोणपुत्ररथं प्रति।

धनुष कट जानेपर बलवान् भीमसेनने द्रोणपुत्रके रथपर एक भयंकर रथशक्ति बड़े वेगसे घुमाकर फेंकी ॥ १२२½ ॥

तामापतन्तीं सहसा महोल्काभां शितैः शरैः ॥१२३॥
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम्।

बड़ी भारी उल्काके समान सहसा अपनी ओर आती हुई उस रथशक्तिको अश्वत्थामाने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरभूमिमें तीखे बाणोंसे काट डाला ॥१२३½॥

एतस्मिन्नन्तरे भीमो दृढमादाय कार्मुकम् ॥१२४॥
द्रौणिं विव्याध विशिखैः स्मयमानो वृकोदरः।

इसी बीचमें मुसकराते हुए भीमसेनने एक सुदृढ़ धनुष लेकर अनेक बाणोंसे द्रोणपुत्रको बींध डाला ॥ १२४½ ॥

ततो द्रौणिर्महाराज भीमसेनस्य सारथिम् ॥१२५॥
ललाटे दारयामास शरेणानतपर्वणा।

महाराज! तब अश्वत्थामाने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनके सारथिका ललाट छेद दिया ॥ १२५½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता द्रोणपुत्रेण सारथिः ॥१२६॥
व्यामोहमगमद् राजन् रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम्।

राजन्! बलवान् द्रोणपुत्रके द्वारा अत्यन्त घायल किया हुआ सारथि घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर मूर्छित हो गया ॥ १२६½ ॥

ततोऽश्वाः प्राद्रवंस्तूर्णं मोहिते रथसारथौ ॥१२७॥
भीमसेनस्य राजेन्द्र पश्यतां सर्वधन्विनाम्।

राजेन्द्र! सारथिके मूर्छित हो जानेपर भीमसेनके घोड़े सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते तुरंत वहाँसे भाग चले ॥ १२७½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रद्रुतैरश्वैरपकृष्टं रणाजिरात् ॥१२८॥
दध्मौ प्रमुदितः शङ्खं बृहन्तमपराजितः।

भागे हुए घोड़े भीमसेनको समराङ्गणसे दूर हटा ले गये, यह देखकर विजयी वीर अश्वत्थामाने अत्यन्त प्रसन्न हो अपना विशाल शङ्ख बजाया ॥ १२८½ ॥

ततः सर्वे च पञ्चाला भीमसेनश्च पाण्डवः ॥१२९॥
धृष्टद्युम्नरथं त्यक्त्वा भीताः सम्प्राद्रवन् दिशः ।

तब पाण्डुपुत्र भीमसेन और समस्त पाञ्चाल भयभीत हो धृष्टद्युम्नका रथ छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ १२९½ ॥

तान् प्रभग्नांस्ततो द्रौणिः पृष्ठतो विकिरञ्शरान् ॥१३०॥
अभ्यवर्तत वेगेन कालयन् पाण्डुवाहिनीम् ।

उन भागते हुए सैनिकोंपर पीछेसे बाण बिखेरते और पाण्डवसेनाको खदेड़ते हुए अश्वत्थामाने बड़े वेगसे पीछा किया ॥ १३०½ ॥

ते वध्यमानाः समरे द्रोणपुत्रेण पार्थिवाः ॥१३१॥
द्रोणपुत्रभयाद् राजन् दिशः सर्वाश्च भेजिरे ॥१३२॥

राजन् ! समराङ्गणमें द्रोणपुत्रके द्वारा मारे जाते हुए समस्त राजाओंने उसके भयसे भागकर सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण ली ॥ १३१-१३२ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वण्यश्वत्थामपराक्रमे द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें अश्वत्थामाका पराक्रमविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२००॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके द्वारा आग्नेयास्त्रके प्रयोगसे एक अक्षौहिणी पाण्डवसेनाका संहार; श्रीकृष्ण और अर्जुनपर उस अस्त्रका प्रभाव न होनेसे चिन्तित हुए अश्वत्थामाको व्यासजीका शिव और श्रीकृष्णकी महिमा बताना

संजय उवाच

ततः प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
न्यवारयदमेयात्मा द्रोणपुत्रजयेप्सया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीकुमार अर्जुनने सेनाको भागती देख द्रोणपुत्रपर विजय पानेकी इच्छासे उसे रोका ॥ १ ॥

ततस्ते सैनिका राजन् नैव तत्रावतस्थिरे ।
संस्थाप्यमाना यत्नेन गोविन्देनार्जुनेन च ॥ २ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा प्रयत्नपूर्वक ठहराये जानेपर भी वे सैनिक वहाँ खड़े न हो सके ॥ २ ॥

एक एव च बीभत्सुः सोमकावयवैः सह ।
मत्स्यैरन्यैश्च संधाय कौरवान् संन्यवर्तत ॥ ३ ॥

अकेले अर्जुन ही सोमकोंकी टुकड़ियों, मत्स्यदेशीय योद्धाओं तथा अन्य लोगोंको साथ लेकर कौरवोंका सामना करनेके लिये लौटे ॥ ३ ॥

ततो द्रुतमतिक्रम्य सिंहलाङ्गूलकेतनम् ।
सव्यसाची महेष्वासमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ४ ॥

सव्यसाची अर्जुन सिंहकी पूँछके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त महाधनुर्धर अश्वत्थामाके पास तुरंत आकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

या शक्तिर्यच्च विज्ञानं यद् वीर्यं यच्च पौरुषम् ।
धार्तराष्ट्रेषु या प्रीतिर्द्वेषोऽस्मासु च यश्च ते ॥ ५ ॥
यच्च भूयोऽस्ति तेजस्ते तत् सर्वं मयि दर्शय ।
स एव द्रोणहन्ता ते दर्पं छेत्स्यति पार्षतः ॥ ६ ॥

'आचार्यपुत्र ! तुममें जो शक्ति, जो विज्ञान, जो बल-पराक्रम, जो पुरुषार्थ, कौरवोंपर जो प्रेम तथा हमलोगोंपर जो तुम्हारा द्वेष हो, साथ ही तुममें जो तेज और प्रभाव हो, वह सब मुझपर दिखाओ । द्रोणाचार्यका वध करनेवाला वह धृष्टद्युम्न ही तुम्हारा सारा घमंड चूर कर देगा ॥ ५-६ ॥

कालानलसमप्रख्यं द्विषतामन्तकोपमम् ।
समासादय पाञ्चाल्यं मां चापि सहकेशवम् ।
दर्पं नाशयितास्म्यद्य तवोद्वृत्तस्य संयुगे ॥ ७ ॥

'कालाग्निके समान तेजस्वी तथा शत्रुओंके लिये यमराजके समान भयंकर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर तथा श्रीकृष्णसहित मुझपर भी तुम आक्रमण करो । तुम बड़े उद्दण्ड हो रहे हो । आज युद्धमें मैं तुम्हारा सारा घमंड दूर कर दूँगा' ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचार्यपुत्रो मानार्हो बलवांश्चापि संजय ।
प्रीतिर्धनंजये चास्य प्रियश्चापि महात्मनः ॥ ८ ॥
न भूतपूर्वं बीभत्सोर्वाक्यं परुषमीदृशम् ।
अथ कस्मात् स कौन्तेयः सखायं रूक्षमुक्तवान् ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! आचार्यपुत्र अश्वत्थामा बलवान् और सम्मानके योग्य है । उसका अर्जुनपर प्रेम है और वह भी महात्मा अर्जुनको प्रिय है । अर्जुनका उसके प्रति ऐसा कठोर वचन पहले कभी नहीं सुना गया । फिर उस दिन कुन्तीकुमार अर्जुनने अपने मित्रके प्रति वैसी कठोर बात क्यों कही ? ॥ ८-९ ॥

अश्वत्थामाके द्वारा अर्जुनपर आग्नेयास्त्रका प्रयोग एवं उसके द्वारा पाण्डव-सेनाका संहार

संजय उवाच

युवराजे हते चैव वृद्धक्षत्रे च पौरवे।
इष्वस्त्रविधिसम्पन्ने मालवे च सुदर्शने ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्ने सात्यकौ च भीमे चापि पराजिते।
युधिष्ठिरस्य तैर्वाक्यैर्मर्मण्यपि च घट्टिते ॥ ११ ॥
अन्तर्भेदे च संजाते दुःखं संस्मृत्य च प्रभो।
अभूतपूर्वो बीभत्सोर्दुःखान्मन्युरजायत ॥ १२ ॥

संजयने कहा—प्रभो ! चेदिदेशके युवराज, पौरव वृद्धक्षत्र तथा बाणोंके प्रयोगमें कुशल मालवराज सुदर्शनके मारे जानेपर, धृष्टद्युम्न, सात्यकि और भीमसेनके परास्त हो जानेपर अर्जुनके मनमें बड़ा कष्ट हुआ था। इसके सिवा, युधिष्ठिरके उन व्यङ्ग्यवचनोंसे उनके मर्मस्थलमें बड़ी चोट पहुँची थी और पहलेके दुःखोंका स्मरण करके भी उनका हृदय फट गया था; अतः अधिक खेदके कारण अर्जुनके मनमें अभूतपूर्व क्रोध जाग उठा ॥ १०–१२ ॥

तस्मादनर्हमश्लीलमप्रियं द्रौणिमुक्तवान्।
मान्यमाचार्यतनयं रूक्षं कापुरुषं यथा ॥ १३ ॥

इसीलिये माननीय आचार्यपुत्र अश्वत्थामाके प्रति, जो कठोर वचन सुननेके योग्य नहीं था, अर्जुनने कायर मनुष्यसे कहने योग्य अश्लील, अप्रिय और कठोर बातें कह डालीं ॥ १३ ॥

एवमुक्तः श्वसन् क्रोधान्महेष्वासतमो नृप।
पार्थेन परुषं वाक्यं सर्वमर्मभिदा गिरा ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! जब अर्जुनने सारे मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देनेवाली वाणीद्वारा उससे ऐसी कठोर बात कह दी, तब श्रेष्ठ महाधनुर्धर अश्वत्थामा क्रोधके मारे लंबी साँस लेने लगा ॥ १४ ॥

द्रौणिश्चुकोप पार्थाय कृष्णाय च विशेषतः।
स तु यत्तो रथे स्थित्वा वार्युपस्पृश्य वीर्यवान् ॥ १५ ॥
देवैरपि सुदुर्धर्षमस्त्रमाग्नेयमाददे।

उस समय द्रोणपुत्रको अर्जुन और श्रीकृष्णपर अधिक क्रोध हुआ, उस पराक्रमी वीरने सावधानीके साथ रथपर खड़ा हो आचमन करके आग्नेयास्त्र हाथमें लिया, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय था ॥ १५½ ॥

दृश्यादृश्यानरिगणानुद्दिश्याचार्यनन्दनः ॥ १६ ॥
सोऽभिमन्त्र्य शरं दीप्तं विधूममिव पावकम्।
सर्वतः क्रोधमाविश्य चिक्षेप परवीरहा ॥ १७ ॥

फिर धूमरहित अग्निके समान एक तेजस्वी बाणको अभिमन्त्रित करके शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले आचार्यनन्दन अश्वत्थामाने सर्वथा क्रोधावेशसे युक्त हो उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष शत्रुओंके उद्देश्यसे चला दिया ॥ १६–१७ ॥

ततस्तुमुलमाकाशे शरवर्षमजायत।
पावकार्चिः परीतं तत् पार्थमेवाभिपुप्लुवे ॥ १८ ॥

फिर तो आकाशमें बाणोंकी भयंकर वर्षा होने लगी और सब ओर फैली हुई आगकी लपटें अर्जुनपर ही टूट पड़ीं ॥ १८ ॥

उल्काश्च गगनात् पेतुर्दिशश्च न चकाशिरे।
तमश्च सहसा रौद्रं चमूमवततार ताम् ॥ १९ ॥

आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, दिशाओंका प्रकाश लुप्त हो गया और उस सेनामें सहसा भयानक अन्धकार उतर आया ॥ १९ ॥

रक्षांसि च पिशाचाश्च विनेदुरतिसङ्गताः।
ववुश्चाशिशिरा वाताः सूर्यो नैव तताप च ॥ २० ॥

राक्षस और पिशाच परस्पर मिलकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे, गरम हवा चलने लगी और सूर्यका ताप क्षीण हो गया ॥ २० ॥

वायसाश्चापि चाक्रन्दन् दिक्षु सर्वासु भैरवम्।
रुधिरं चापि वर्षन्तो विनेदुस्तोयदा दिवि ॥ २१ ॥

कौए सम्पूर्ण दिशाओंमें काँव-काँव करके भयानक कोलाहल मचाने लगे तथा मेघ रक्तकी वर्षा करते हुए आकाशमें गरजने लगे ॥ २१ ॥

पक्षिणः पशवो गावो विनेदुश्चापि सुव्रताः।
परमं प्रयतात्मानो न शान्तिमुपलेभिरे ॥ २२ ॥

पक्षी और गाय आदि पशु भी चीत्कार करने लगे। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शुद्धचित्त साधु पुरुष भी अत्यन्त अशान्त हो उठे ॥ २२ ॥

भ्रान्तसर्वमहाभूतमावर्तितदिवाकरम्।

त्रैलोक्यमभिसंतप्तं ज्वराविष्टमिवाभवत् ॥ २३ ॥

सम्पूर्ण महाभूत मानो चक्कर काट रहे थे। सूर्य भी घूमता-सा प्रतीत होता था। तीनों लोकोंके प्राणी ज्वरग्रस्तके समान संतप्त हो उठे थे ॥ २३ ॥

अस्त्रतेजोऽभिसंतप्ता नागा भूमिशयास्तथा।
निःश्वसन्तः समुत्पेतुस्तेजो घोरं मुमुक्षवः ॥ २४ ॥

पृथ्वीपर पड़े रहनेवाले नाग भी उस अस्त्रके तेजसे संतप्त हो भयंकर आगसे छुटकारा पानेके लिये फुफकारते हुए ऊपर उछलने लगे ॥ २४ ॥

जलजानि च सत्त्वानि दह्यमानानि भारत।
न शान्तिमुपजग्मुर्हि तप्यमानैर्जलाशयैः ॥ २५ ॥

भारत! जलाशय भी तप गये थे, जिससे दग्ध होनेवाले जलचर प्राणियोंको भी शान्ति नहीं मिल पाती थी ॥ २५ ॥

दिग्भ्यः प्रदिग्भ्यः खाद् भूमेः सर्वतः शरवृष्टयः।
उच्चावचा निपेतुर्वै गरुडानिलरंहसः ॥ २६ ॥

दिशा, विदिशा, आकाश और पृथ्वी सब ओरसे छोटे-बड़े नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा होने लगी, वे सभी बाण गरुड़ और वायुके समान वेगशाली थे ॥ २६ ॥

तैः शरैर्द्रोणपुत्रस्य वज्रवेगैः समाहताः।
प्रदग्धा रिपवः पेतुरग्निदग्धा इव द्रुमाः ॥ २७ ॥

द्रोणपुत्रके चलाये हुए उन वज्रके समान वेगशाली बाणोंसे घायल हुए शत्रुसैनिक आगके जलाये हुए वृक्षोंके समान दग्ध होकर गिरने लगे ॥ २७ ॥

दह्यमाना महानागाः पेतुरुर्व्यां समन्ततः।
नदन्तो भैरवान् नादाञ्जलदोपमनिःस्वनान् ॥ २८ ॥

विशालकाय गजराज दग्ध हो-होकर मेघकी गर्जनाके समान भयंकर चीत्कार करते हुए सब ओर धराशायी होने लगे ॥ २८ ॥

अपरे प्रद्रुता नागा भयत्रस्ता विशाम्पते।
भ्रेमुर्दिशो यथा पूर्वं वने दावाग्निसंवृताः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ! भयभीत होकर भागे हुए दूसरे बहुत-से हाथी सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी प्रकार चक्कर काटने लगे, जैसे पहले वनमें दावानलसे घिर जानेपर वे चारों ओर चक्कर लगाते थे ॥ २९ ॥

द्रुमाणां शिखराणीव दावदग्धानि मारिष।
अश्ववृन्दान्यदृश्यन्त रथवृन्दानि भारत ॥ ३० ॥
अपतन्त रथौघाश्च तत्र तत्र सहस्रशः।

माननीय नरेश! भारत! अश्वसमूह तथा रथवृन्द दावानलसे दग्ध हुए वृक्षोंके अग्रभागके समान दिखायी दे रहे थे और जहाँ-तहाँ सहस्रों रथसमूह गिरे पड़े थे ॥ ३०½ ॥

तत् सैन्यं भयसंविग्नं ददाह युधि भारत ॥ ३१ ॥
युगान्ते सर्वभूतानि संवर्तक इवानलः।

भरतनन्दन! जैसे प्रलयकालमें संवर्तक अग्नि सब प्राणियोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार उस आग्नेयास्त्रने पाण्डवोंकी उस भयभीत सेनाको युद्धस्थलमें जलाना आरम्भ कर दिया ॥ ३१½ ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवीं सेनां दह्यमानां महाहवे ॥ ३२ ॥
प्रहृष्टास्तावका राजन् सिंहनादान् विनेदिरे।

राजन्! उस महासमरमें पाण्डवसेनाको दग्ध होती देख आपके सैनिक अत्यन्त प्रसन्न हो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततस्तूर्यसहस्राणि नानालिङ्गानि भारत ॥ ३३ ॥
तूर्णमाजघ्निरे हृष्टास्तावका जितकाशिनः।

भारत! तदनन्तर हर्षसे उल्लसित और विजयसे सुशोभित होनेवाले आपके सैनिक नाना प्रकारके सहस्रों बाजे बजाने लगे ॥ ३३½ ॥

कृत्स्ना ह्यक्षौहिणी राजन् सव्यसाची च पाण्डवः ॥ ३४ ॥
तमसा संवृते लोके नादृश्यन्त महाहवे।

नरेश्वर! उस महासमरमें सब लोग अन्धकारसे आच्छन्न हो गये थे। पाण्डवोंकी सारी अक्षौहिणी सेना और सव्यसाची अर्जुन भी नहीं दिखायी देते थे ॥ ३४½ ॥

नैव नस्तादृशं राजन् दृष्टपूर्वं न च श्रुतम् ॥ ३५ ॥
यादृशं द्रोणपुत्रेण सृष्टमस्त्रममर्षिणा।

राजन्! अमर्षमें भरे हुए द्रोणपुत्रने जैसे अस्त्रकी सृष्टि की थी, वैसा हमलोगोंने पहले न तो कभी देखा था और न सुना ही था ॥ ३५½ ॥

अर्जुनस्तु महाराज ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत् ॥ ३६ ॥
सर्वास्त्रप्रतिघातार्थं विहितं पद्मयोनिना।

महाराज! उस समय अर्जुनने ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया,

जिसे ब्रह्माजीने सम्पूर्ण अस्त्रोंके विनाशके लिये बनाया है ॥ ३६½ ॥

ततो मुहूर्तादिव तत् तमो व्युपशशाम ह ॥ ३७ ॥
प्रववौ चानिलः शीतो दिशश्च विमला बभुः ।

फिर तो दो ही घड़ीमें वह सारा अन्धकार दूर हो गया, शीतल वायु बहने लगी और सारी दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥ ३७½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कृत्स्नामक्षौहिणीं हताम् ॥ ३८ ॥
अनभिज्ञेयरूपां च प्रदग्धामस्त्रतेजसा ।

वहाँ हमलोगोंने अद्भुत दृश्य देखा । पाण्डवोंकी वह सारी अक्षौहिणी उस अस्त्रके तेजसे इस प्रकार दग्ध एवं नष्ट हो गयी थी कि उसे पहचानना असम्भव हो गया ॥ ३८½ ॥

ततो वीरौ महेष्वासौ विमुक्तौ केशवार्जुनौ ॥ ३९ ॥
सहितौ प्रत्यदृश्येतां नभसीव तमोनुदौ ।

तदनन्तर उस अस्त्रसे मुक्त हुए महाधनुर्धर वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ दिखायी दिये, मानो आकाशमें चन्द्रमा और सूर्य प्रकट हो गये हों ॥ ३९½ ॥

ततो गाण्डीवधन्वा च केशवश्चाक्षतावुभौ ॥ ४० ॥
सपताकध्वजहयः सानुकर्षवरायुधः ।
प्रबभौ स रथो मुक्तस्तावकानां भयंकरः ॥ ४१ ॥

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंके शरीरपर आँच नहीं आने पायी थी । पताका, ध्वज, अश्व, अनुकर्ष और श्रेष्ठ आयुधोंसहित मुक्त हुआ उनका वह रथ आपके सैनिकोंको भयभीत करता हुआ चमक उठा ॥ ४०-४१ ॥

ततः किलकिलाशब्दः शङ्खभेरीस्वनैः सह ।
पाण्डवानां प्रहृष्टानां क्षणेन समजायत ॥ ४२ ॥

तब पाण्डव हर्षसे खिल उठे और क्षणभरमें शङ्ख तथा भेरियोंकी ध्वनिके साथ उनका आनन्दमय कोलाहल गूँज उठा ॥ ४२ ॥

हताविति तयोरासीत् सेनयोरुभयोर्मतिः ।
तरसाभ्यागतौ दृष्ट्वा सहितौ केशवार्जुनौ ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें उन दोनों ही सेनाओंको यह विश्वास हो गया था कि वे मारे गये । फिर उन दोनोंको एक साथ वेगपूर्वक निकट आया देख सबको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४३ ॥

तावक्षतौ प्रमुदितौ दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ।
दृष्ट्वा प्रमुदितान् पार्थांस्त्वदीया व्यथिता भृशम्॥ ४४ ॥

उन दोनोंके शरीरमें क्षति नहीं पहुँची थी । वे दोनों वीर आनन्दमग्न हो अपने उत्तम शङ्ख बजाने लगे । कुन्तीके पुत्रोंको प्रसन्न देखकर आपके पुत्रोंके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ४४ ॥

विमुक्तौ च महात्मानौ दृष्ट्वा द्रौणिः सुदुःखितः ।
मुहूर्तं चिन्तयामास किं त्वेतदिति मारिष ॥ ४५ ॥

माननीय नरेश ! महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनको आग्नेयास्त्रसे मुक्त देख अश्वत्थामाको बड़ा दुःख हुआ । वह दो घड़ीतक इसी चिन्तामें डूबा रहा कि 'यह क्या हो गया ?' ॥ ४५ ॥

चिन्तयित्वा तु राजेन्द्र ध्यानशोकपरायणः ।
निःश्वसन् दीर्घमुष्णं च विमनाश्चाभवत् ततः ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! चिन्ता और शोकमें मग्न होकर कुछ देरतक विचार करनेके पश्चात् अश्वत्थामा गरम-गरम दीर्घ उच्छ्वास लेने लगा और मन-ही-मन उदास हो गया ॥ ४६ ॥

ततो द्रौणिर्धनुस्त्यक्त्वा रथात् प्रस्कन्द्य वेगितः।
धिग् धिक् सर्वमिदं मिथ्येत्युक्त्वा सम्प्राद्रवद् रणात् ४७

तत्पश्चात् द्रोणकुमार धनुष त्यागकर रथसे कूद पड़ा और 'धिक्कार है ! धिक्कार है !! यह सब मिथ्या है' ऐसा कहकर वह रणभूमिसे वेगपूर्वक भाग चला ॥ ४७ ॥

ततः स्निग्धाम्बुदाभासं वेदावासमकल्मषम् ।
वेदव्यासं सरस्वत्यावासं व्यासं ददर्श ह ॥ ४८ ॥

इतनेहीमें उसे स्निग्ध मेघके समान श्याम कान्तिवाले, वेद और सरस्वतीके आवास-स्थान तथा वेदोंका विस्तार करनेवाले, पापशून्य महर्षि व्यास वहाँ दिखायी दिये ॥ ४८ ॥

तं द्रौणिरग्रतो दृष्ट्वा स्थितं कुरुकुलोद्वह ।
सन्नकण्ठोऽब्रवीद् वाक्यमभिवाद्य सुदीनवत् ॥ ४९ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष ! महर्षि व्यासको सामने खड़ा

देख द्रोणकुमारका गला आँसुओंसे भर आया । उसने अत्यन्त दीनभावसे प्रणाम करके उनसे इस प्रकार पूछा—॥

भोभो माया यदृच्छा वा न विद्मः किमिदं भवेत्।
अस्त्रं त्विदं कथं मिथ्या मम कश्च व्यतिक्रमः ॥ ५० ॥

'महर्षे ! यह माया है या दैवेच्छा। मेरी समझमें नहीं आता कि यह क्या है ? यह अस्त्र झूठा कैसे हो गया ? मुझसे कौन-सी गलती हो गयी ? ॥ ५० ॥

अधरोत्तरमेतद् वा लोकानां वा पराभवः।
यदिमौ जीवतः कृष्णौ कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ५१ ॥

'इस (आग्नेय) अस्त्रके प्रभावमें कोई उलट-फेर तो नहीं हो गया अथवा सम्पूर्ण लोकोंका पराभव होनेवाला है, जिससे ये दोनों कृष्ण जीवित बच गये । निश्चय ही कालका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ५१ ॥

नासुरा न च गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न सर्पा यक्षपतगा न मनुष्याः कथंचन ॥ ५२ ॥
उत्सहन्तेऽन्यथा कर्तुमेतदस्त्रं मयेरितम्।
तदिदं केवलं हत्वा शान्तमक्षौहिणीं ज्वलत् ॥ ५३ ॥

'मेरे द्वारा प्रयोग किये हुए इस अस्त्रको असुर, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस, सर्प, यक्ष, पक्षी और मनुष्य किसी तरह भी व्यर्थ नहीं कर सकते थे, तो भी यह प्रज्वलित अस्त्र केवल एक अक्षौहिणी सेनाको जलाकर शान्त हो गया ॥५२-५३॥

सर्वघाति मया मुक्तमस्त्रं परमदारुणम्।
केनेमौ मर्त्यधर्माणौ नावधीत् केशवार्जुनौ ॥ ५४ ॥

'मैंने तो अत्यन्त भयंकर एवं सर्वसंहारक अस्त्रका प्रयोग किया था; फिर उसने किस कारणसे इन मर्त्यधर्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध नहीं किया ? ॥ ५४ ॥

एतत् प्रब्रूहि भगवन् मया पृष्टो यथातथम्।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन सर्वमेतन्महामुने ॥ ५५ ॥

'भगवन् ! महामुने ! मैंने जो आपसे यह प्रश्न किया है, इसका मुझे यथार्थ उत्तर दीजिये । मैं यह सब कुछ ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ॥ ५५ ॥

व्यास उवाच

महान्तमेवमर्थं मां यं त्वं पृच्छसि विस्मयात्।
तं प्रवक्ष्यामि ते सर्वं समाधाय मनः शृणु ॥ ५६ ॥

व्यासजी बोले—तू जिसके सम्बन्धमें आश्चर्यके साथ प्रश्न कर रहा है, उस महत्त्वपूर्ण विषयको मैं तुझसे बता रहा हूँ । तू अपने मनको एकाग्र करके सब कुछ सुन ॥

योऽसौ नारायणो नाम पूर्वेषामपि पूर्वजः।
(आदिदेवो जगन्नाथो लोककर्ता स्वयं प्रभुः।
आद्यः सर्वस्य लोकस्य अनादिनिधनोऽच्युतः॥

जो हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज भगवान् नारायण हैं, वे ही आदिदेव, जगन्नाथ, लोककर्ता और स्वयं ही सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । वे सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण तथा स्वयं आदि-अन्तसे रहित हैं । अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेके कारण वे अच्युत कहलाते हैं ॥

व्याकुर्वते यस्य तत्त्वं श्रुतयो मुनयश्च ह।
अतोऽजय्यः सर्वभूतैर्मनसापि जगत्पतिः ॥)

श्रुतियाँ और महर्षिगण उन्हींके तत्त्वका विवेचन करते हैं । अतः उन जगदीश्वरको समस्त प्राणी मनसे भी जीतनेमें असमर्थ हैं ॥

अजायत च कार्यार्थं पुत्रो धर्मस्य विश्वकृत् ॥ ५७ ॥

वे विश्वविधाता भगवान् एक समय किसी विशेष कार्यके लिये धर्मके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ५७ ॥

स तपस्तीव्रमातस्थे शिशिरं गिरिमास्थितः।
ऊर्ध्वबाहुर्महातेजा ज्वलनादित्यसंनिभः ॥ ५८ ॥

अग्नि और सूर्यके समान महातेजस्वी उन भगवान् नारायणने हिमालय पर्वतपर रहकर अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये हुए बड़ी कठोर तपस्या की थी ॥ ५८ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
अशोषयत् तदाऽऽत्मानं वायुभक्षोऽम्बुजेक्षणः॥ ५९ ॥

उन कमलनयन श्रीहरिने छाछठ हजार वर्षोंतक केवल वायु पीकर उन दिनों अपने शरीरको सुखाया ॥ ५९ ॥

अथापरं तपस्तप्त्वा द्विस्ततोऽन्यत् पुनर्महत् ।
द्यावापृथिव्योर्विवरं तेजसा समपूरयत् ॥ ६० ॥

तदनन्तर उससे दुगुने कालतक फिर भारी तपस्या

वेदव्यासजीका अश्वत्थामाको आश्वासन

करके उन्होंने अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशके मध्यवर्ती आकाशको भर दिया ॥ ६० ॥

स तेन तपसा तात ब्रह्मभूतो यदाभवत्।
ततो विश्वेश्वरं योनिं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ६१ ॥
ददर्श भृशदुर्धर्षं सर्वदेवैरभिष्टुतम्।
अणीयांसमणुभ्यश्च बृहद्भ्यश्च बृहत्तमम् ॥ ६२ ॥

तात ! उस तपस्यासे जब वे साक्षात् ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो गये, तब उन्हें उन भगवान् विश्वेश्वरका दर्शन हुआ जो सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्ति-स्थान और जगत्के पालक हैं, जिन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन (असम्भव) है। सम्पूर्ण देवता जिनकी स्तुति करते हैं तथा जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और महान्से भी परम महान् हैं ॥

रुद्रमीशानवृषभं हरं शम्भुं कपर्दिनम्।
चेकितानं परां योनिं तिष्ठतो गच्छतश्च ह ॥ ६३ ॥

वे 'रु' अर्थात् दुःखको दूर करनेके कारण रुद्र कहलाते हैं। ब्रह्मा आदि लोकपालोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। पापहारी, कल्याणकी प्राप्ति करानेवाले तथा जटाजूटधारी हैं। वे ही सबको चेतना प्रदान करते हैं और वे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके परम कारण हैं ॥ ६३ ॥

दुर्वारणं दुर्दृशं तिग्ममन्युं
महात्मानं सर्वहरं प्रचेतसम्।
दिव्यं चापमिषुधी चाददानं
हिरण्यवर्माणमनन्तवीर्यम् ॥ ६४ ॥

उन्हें कहीं कोई रोक नहीं सकता, उनका दर्शन बड़ी कठिनाईसे होता है, वे दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेवाले हैं, उनका हृदय विशाल है, वे सारे क्लेशोंको हर लेनेवाले अथवा सर्वसंहारी हैं, साधु पुरुषोंके प्रति उनका हृदय अत्यन्त उदार है, वे दिव्य धनुष और दो तरकस धारण करते हैं, उनका कवच सोनेका बना हुआ है तथा वे अनन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ६४ ॥

पिनाकिनं वज्रिणं दीप्तशूलं
परश्वधिं गदिनं चायतासिम्।
शुभ्रं जटिलं मुसलिनं चन्द्रमौलिं
व्याघ्राजिनं परिघिणं दण्डपाणिम्॥ ६५ ॥

वे अपने हाथोंमें पिनाक और वज्र धारण करते हैं, उनके एक हाथमें त्रिशूल चमकता रहता है, वे फरसा, गदा और लंबी तलवार लिये रहते हैं, मुसल, परिघ और दण्ड भी उनके हाथोंकी शोभा बढ़ाते हैं, उनकी अङ्गकान्ति उज्ज्वल है, वे मस्तकपर जटा और उसके ऊपर चन्द्रमाका मुकुट धारण करते हैं, उनके श्रीअङ्गमें बाघम्बर शोभा देता है ॥ ६५ ॥

शुभाङ्गदं नागयज्ञोपवीतं
विश्वैर्गणैः शोभितं भूतसंघैः।
एकीभूतं तपसां संनिधानं
वयोऽतिगैः सुष्टुतमिष्टवाग्भिः ॥ ६६ ॥

उनकी भुजाओंमें सुन्दर अङ्गद (बाजूबंद) और गलेमें नागमय यज्ञोपवीत शोभा पाते हैं, वे अपने पार्षदस्वरूप सम्पूर्ण भूतसमुदायोंसे सुशोभित हैं, उन्हें एकमात्र अद्वितीय परमेश्वर समझना चाहिये, वे तपस्याकी निधि हैं और वृद्ध पुरुष प्रिय वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥ ६६ ॥

जलं दिशं खं क्षितिं चन्द्रसूर्यौ
तथा वाय्वग्नी प्रमिमाणं जगच्च।
नालं द्रष्टुं यं जना भिन्नवृत्ता
ब्रह्मद्विषघ्नममृतस्य योनिम् ॥ ६७ ॥

जल, दिशा, आकाश, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि तथा जगत्को माप लेनेवाला काल—ये सब उन्हींके स्वरूप हैं। वे ब्रह्मद्रोहियोंके नाशक और मोक्षके परम कारण हैं, दुराचारी मनुष्य उनका दर्शन पानेमें असमर्थ हैं ॥ ६७ ॥

यं पश्यन्ति ब्राह्मणाः साधुवृत्ताः
क्षीणे पापे मनसा वीतशोकाः।
तं निष्पतन्तं तपसा धर्ममीड्यं
तद्भक्त्या वै विश्वरूपं ददर्श।
दृष्ट्वा चैनं वाङ्मनोबुद्धिदेहैः
संहृष्टात्मा मुमुदे वासुदेवः ॥ ६८ ॥

जिन्होंने मनसे शोक-संतापको सर्वथा दूर कर दिया है, वे सदाचारी ब्राह्मण पापोंका क्षय हो जानेपर जिनका दर्शन कर पाते हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, जो साक्षात् धर्म तथा स्तवन करने योग्य परमेश्वर हैं, वे ही महेश्वर वहाँ उनकी तपस्या और भक्तिके प्रभावसे प्रकट हो गये तथा तपस्वी नारायणने उनका दर्शन किया। उनका दर्शन करके मन, वाणी, बुद्धि और शरीरके साथ ही उनकी अन्तरात्मा हर्षसे खिल उठी। उन भगवान् वासुदेवने बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ ६८ ॥

अक्षमालापरिक्षिप्तं ज्योतिषां परमं निधिम्।
ततो नारायणो दृष्ट्वा ववन्दे विश्वसम्भवम् ॥ ६९ ॥

रुद्राक्षकी मालासे विभूषित तथा तेजकी परम निधिरूप उन विश्व-विधाताका दर्शन करके भगवान् नारायणने उनकी वन्दना की ॥ ६९ ॥

वरदं पृथुचार्वङ्ग्या पार्वत्या सहितं प्रभुम्।
क्रीडमानं महात्मानं भूतसङ्घगणैर्वृतम् ॥ ७० ॥
अजमीशानमव्यक्तं कारणात्मानमच्युतम्।

वे वरदायक प्रभु हृष्टपुष्ट एवं मनोहर अङ्गोंवाली पार्वती-

देवीके साथ क्रीड़ा करते हुए पधारे थे। उन अजन्मा, ईशान अव्यक्त, कारणस्वरूप और अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले परमात्माको उनके पार्षदस्वरूप भूतगणोंने घेर रक्खा था ॥ ७०½ ॥

(स्वजानुभ्यां महीं गत्वा कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम्।)
अभिवाद्याथ रुद्राय सद्योऽन्धकनिपातिने।
पद्माक्षस्तं विरूपाक्षमभितुष्टाव भक्तिमान् ॥ ७१ ॥

कमलनयन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीपर दोनों घुटने टेककर और मस्तकपर हाथ जोड़कर अन्धकासुरका विनाश करनेवाले उन रुद्रदेवको प्रणाम किया और भक्तिभावसे युक्त हो उन भगवान् विरूपाक्षकी वे इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥

श्रीनारायण उवाच

त्वत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्य
गोप्तारोऽस्य भुवनस्यादिदेव।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरा पुराणीं तव देवसृष्टिम् ॥ ७२ ॥

श्रीनारायण बोले—सर्वश्रेष्ठ आदिदेव ! जिन्होंने इस पृथ्वीमें समाकर आपकी पुरातन दिव्य सृष्टिकी रक्षा की थी तथा जो इस विश्वकी भी रक्षा करनेवाले हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले प्रजापतिगण भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ७२ ॥

सुरासुरान् नागरक्षःपिशाचान्
नरान् सुपर्णानथ गन्धर्वयक्षान्।
पृथग्विधान् भूतसंघांश्च विश्वां-
स्त्वत्सम्भूतान् विद्म सर्वांस्तथैव।
ऐन्द्रं याम्यं वारुणं वैत्तपाल्यं
पैत्रं त्वाष्ट्रं कर्म सौम्यं च तुभ्यम् ॥ ७३ ॥

देवता, असुर, नाग, राक्षस, पिशाच, मनुष्य, गरुड़ आदि पक्षी, गन्धर्व तथा यक्ष आदि जो पृथक्-पृथक् प्राणियोंके अखिल समुदाय हैं, उन सबको हम आपसे ही उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसी प्रकार इन्द्र, यम, वरुण और कुबेरका पद, पितरोंका लोक तथा विश्वकर्माकी सुन्दर शिल्पकला आदिका आविर्भाव भी आपसे ही हुआ है ॥ ७३ ॥

रूपं ज्योतिः शब्द आकाशवायुः
स्पर्शः स्वाद्यं सलिलं गन्ध उर्वी।
कालो ब्रह्मा ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च
त्वत्सम्भूतं स्थास्नु चरिष्णु चेदम् ॥ ७४ ॥

शब्द और आकाश, स्पर्श और वायु, रूप और तेज, रस और जल तथा गन्ध और पृथ्वीकी उत्पत्ति भी आपसे ही हुई है। काल, ब्रह्मा, वेद, ब्राह्मण तथा यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भी आपसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७४ ॥

अद्भ्यः स्तोका यान्ति यथा पृथक्त्वं
ताभिश्चैक्यं संक्षये यान्ति भूयः।
एवं विद्वान् प्रभवं चाप्ययं च
मत्वा भूतानां तव सायुज्यमेति ॥ ७५ ॥

जैसे जलसे उसकी बूँदें बिलग हो जाती हैं और क्षीण होनेपर कालक्रमसे वे पुनः जलमें मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत आपसे ही उत्पन्न होते और आपमें ही लीन होते हैं। ऐसा जाननेवाला विद्वान् पुरुष आपका सायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥ ७५ ॥

दिव्यामृतौ मानसौ द्वौ सुपर्णौ
वाचा शाखाः पिप्पलाः सप्त गोपाः।
दशाप्यन्ये ये पुरं धारयन्ति
त्वया सृष्टास्त्वं हि तेभ्यः परो हि ॥ ७६ ॥

अन्तःकरणमें निवास करनेवाले दो दिव्य एवं अमृतस्वरूप पक्षी (ईश्वर और जीव) हैं। सात धातुरूप सात पीपल हैं, जो उनकी रक्षा करनेवाले हैं। वेदवाणी ही उन वृक्षोंकी विविध शाखाएँ हैं। दूसरी भी दस वस्तुएँ (इन्द्रियाँ) हैं, जो पाञ्चभौतिक शरीररूपी नगरको धारण करती हैं। ये सारे पदार्थ आपके ही रचे हुए हैं, तथापि आप इन सबसे परे हैं ॥ ७६ ॥

भूतं भव्यं भविता चाप्यधृष्यं
त्वत्सम्भूता भुवनानीह विश्वा।
भक्तं च मां भजमानं भजस्व
मा रीरिषो मामहिताहितेन ॥ ७७ ॥

भूत, वर्तमान, भविष्य तथा अजेय काल—ये सब आपके ही स्वरूप हैं। यहाँ सम्पूर्ण लोक आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। मैं आपका भजन करनेवाला भक्त हूँ, आप मुझे अपनाइये। अहित करनेवालोंको रखकर मेरी हिंसा न कराइये ॥ ७७ ॥

आत्मानं त्वामात्मनोऽनन्यबोधं
विद्वानेवं गच्छति ब्रह्म शुक्रम्।
अस्तौषं त्वां तव सम्मानमिच्छन्
विचिन्वन् वै सदृशं देववर्य।
सुदुर्लभान् देहि वरान् ममेष्टा-
नभिष्टुतः प्रतिकार्षीश्च मायाम् ॥ ७८ ॥

आप जीवात्मासे अभिन्न अनुभव किये जानेवाले सबके आत्मा हैं, ऐसा जाननेवाला विद्वान् पुरुष विशुद्ध ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। देववर्य ! मैंने आपके सत्कारकी शुभ इच्छा लेकर यह स्तवन किया है। स्तुतिके सर्वथा योग्य आप परमेश्वरका मैं चिरकालसे अन्वेषण कर रहा था। जिनकी भलीभाँति स्तुति की गयी है ऐसे आप अपनी मायाको दूर कीजिये और मुझे अभीष्ट दुर्लभ वर प्रदान कीजिये ॥

व्यास उवाच

तस्मै वरानचिन्त्यात्मा नीलकण्ठः पिनाकधृत्।
अर्हते देवमुख्याय प्रायच्छदृषिसंस्तुतः ॥ ७९ ॥

व्यासजी कहते हैं—द्रोणकुमार ! नारायण ऋषिके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यस्वरूप, पिनाकधारी, नीलकण्ठ भगवान् शिवने वर पानेके सर्वथा योग्य उन देवप्रधान नारायणको बहुत-से वर दिये ॥ ७९ ॥

श्रीभगवानुवाच

मत्प्रसादान्मनुष्येषु देवगन्धर्वयोनिषु ।
अप्रमेयबलात्मा त्वं नारायण भविष्यसि ॥ ८० ॥

श्रीभगवान् बोले—नारायण ! तुम मेरे कृपा-प्रसादसे मनुष्यों, देवताओं तथा गन्धर्वोंमें भी असीम बल-पराक्रमसे सम्पन्न होओगे ॥ ८० ॥

न च त्वां प्रसहिष्यन्ति देवासुरमहोरगाः ।
न पिशाचा न गन्धर्वा न यक्षा न च राक्षसाः॥ ८१ ॥
न सुपर्णास्तथा नागा न च विश्वे वियोनिजाः ।
न कश्चित् त्वां च देवोऽपि समरेषु विजेष्यति ॥ ८२ ॥

देवता, असुर, बड़े-बड़े सर्प, पिशाच, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सुपर्ण, नाग तथा समस्त पशुयोनिके (सिंह, व्याघ्र आदि) प्राणी भी तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे । युद्धस्थलोंमें कोई देवता भी तुम्हें जीत नहीं सकेगा ॥ ८१-८२ ॥

न शस्त्रेण न वज्रेण नाग्निना न च वायुना ।
न चार्द्रेण न शुष्केण त्रसेन स्थावरेण च ॥ ८३ ॥
कश्चित् तव रुजां कर्ता मत्प्रसादात् कथंचन ।
अपि वै समरं गत्वा भविष्यसि ममाधिकः ॥ ८४ ॥

शस्त्र, वज्र, अग्नि, वायु, गीले-सूखे पदार्थ और स्थावर एवं जङ्गम प्राणीके द्वारा भी कोई मेरी कृपासे किसी प्रकार तुम्हें चोट नहीं पहुँचा सकता । तुम समरभूमिमें पहुँचनेपर मुझसे भी अधिक बलवान् हो जाओगे ॥ ८३-८४ ॥

एवमेते वरा लब्धाः पुरस्ताद् विद्धि शौरिणा ।
स एष देवश्चरति मायया मोहयञ्जगत् ॥ ८५ ॥

तुझे मालूम होना चाहिये, इस प्रकार श्रीकृष्णने पहले ही भगवान् शङ्करसे ये अनेक वरदान पा लिये हैं । वे ही भगवान् नारायण श्रीकृष्णके रूपमें अपनी मायासे इस संसारको मोहित करते हुए विचर रहे हैं ॥ ८५ ॥

तस्यैव तपसा जातं नरं नाम महामुनिम् ।
तुल्यमेतेन देवेन तं जानीह्यर्जुनं सदा ॥ ८६ ॥

नारायणके ही तपसे महामुनि नर प्रकट हुए हैं, जो इन भगवान्के ही समान शक्तिशाली हैं । तू अर्जुनको सदा उन्हीं भगवान् नरका अवतार समझ ॥ ८६ ॥

तावेतौ पूर्वदेवानां परमोपचितावृषी ।
लोकयात्राविधानार्थं संजायेते युगे युगे ॥ ८७ ॥

ये दोनों ऋषि प्रमुख देवता, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमेंसे विष्णुस्वरूप हैं और तपस्यामें बहुत बढ़े-चढ़े हैं । ये लोगोंको धर्म-मर्यादामें रखकर उनकी रक्षाके लिये युग-युगमें अवतार ग्रहण करते हैं ॥ ८७ ॥

तथैव कर्मणा कृत्स्नं महतस्तपसोऽपि च ।
तेजो मन्युं च बिभ्रत्त्वं जातो रौद्रो महामते ॥ ८८ ॥
स भवान् देववत् प्राज्ञो ज्ञात्वा भवमयं जगत् ।
अवाकर्षस्त्वमात्मानं नियमैस्तत्प्रियेप्सया ॥ ८९ ॥

महामते ! तू भी (अपने पूर्वजन्ममें) भगवान् नारायणके ही समान ज्ञानवान् होकर उनके ही जैसे सत्कर्म तथा बड़ी भारी तपस्या करके उसके प्रभावसे पूर्ण तेज और क्रोध धारण करनेवाला रुद्रभक्त हुआ था और सम्पूर्ण जगत्को शङ्करमय जानकर उन्हें प्रसन्न करनेकी इच्छासे तूने नाना प्रकारके कठोर नियमोंका पालन करते हुए अपने शरीरको दुर्बल कर डाला था ॥

शुभ्रमत्र भवान् कृत्वा महापुरुषविग्रहम् ।
ईजिवांस्त्वं जपैर्होमैरुपहारैश्च मानद ॥ ९० ॥

मानद ! तूने यहाँ परम पुरुष भगवान् शङ्करके उज्ज्वल विग्रहकी स्थापना करके होम, जप और उपहारोंद्वारा उनकी आराधना की थी ॥ ९० ॥

स तथा पूज्यमानस्ते पूर्वदेहेऽप्यतूतुषत् ।
पुष्कलांश्च वरान् प्रादात् तव विद्वन् हृदि स्थितान्॥९१॥

विद्वन् ! इस प्रकार पूर्वजन्मके शरीरमें तुझसे पूजित होकर भगवान् शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए थे और उन्होंने तुझे बहुत-से मनोवाञ्छित वर प्रदान किये थे ॥ ९१ ॥

जन्मकर्मतपोयोगास्तयोस्तव च पुष्कलाः ।
ताभ्यां लिङ्गेऽर्चितो देवस्त्वयार्चायां युगे युगे ॥ ९२ ॥

इस प्रकार तेरे और नर-नारायणके जन्म, कर्म, तप और योग पर्याप्त हैं । नर-नारायणने शिवलिङ्गमें तथा तूने प्रतिमामें प्रत्येक युगमें महादेवजीकी आराधना की है ॥ ९२ ॥

सर्वरूपं भवं ज्ञात्वा लिङ्गे योऽर्चयति प्रभुम् ।
आत्मयोगाश्च तस्मिन् वै शास्त्रयोगाश्च शाश्वताः॥९३॥

जो भगवान् शङ्करको सर्वस्वरूप जानकर शिवलिङ्गमें उनकी पूजा करता है, उसमें सनातन आत्मयोग (आत्मा-परमात्माके तत्त्वका ज्ञान) तथा शास्त्रयोग (स्वाध्यायजनित ज्ञान) प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ९३ ॥

एवं देवा यजन्तो हि सिद्धाश्च परमर्षयः ।
प्रार्थयन्ते परं लोके स्थाणुमेकं स सर्वकृत् ॥ ९४ ॥

इस प्रकार आराधना करते हुए देवता, सिद्ध और

महर्षिगण लोकमें एकमात्र सर्वोत्कृष्ट भगवान् शङ्करसे ही अभीष्ट वस्तुकी प्रार्थना करते हैं; क्योंकि वे ही सब कुछ करनेवाले हैं ॥ ९४ ॥

स एष रुद्रभक्तश्च केशवो रुद्रसम्भवः।
कृष्ण एव हि यष्टव्यो यज्ञैश्चैव सनातनः ॥ ९५ ॥

ये श्रीकृष्ण भगवान् शङ्करके भक्त हैं और उन्हींसे प्रकट हुए हैं; अतः यज्ञोंद्वारा सनातनपुरुष श्रीकृष्णकी ही आराधना करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

सर्वभूतभवं ज्ञात्वा लिङ्गमर्चति यः प्रभोः।
तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोति वृषभध्वजः ॥ ९६ ॥

जो भगवान् शिवके लिङ्गको सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका स्थान जानकर उसकी पूजा करता है, उसपर भगवान् शङ्कर अधिक प्रेम करते हैं ॥ ९६ ॥

संजय उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्रोणपुत्रो महारथः।
नमश्चकार रुद्राय बहु मेने च केशवम् ॥ ९७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! व्यासजीकी यह बात सुनकर द्रोणपुत्र महारथी अश्वत्थामाने मन-ही-मन भगवान् शङ्करको प्रणाम किया और श्रीकृष्णकी भी महत्ता स्वीकार कर ली ॥ ९७ ॥

हृष्टरोमा च वश्यात्मा सोऽभिवाद्य महर्षये।
वरूथिनीमभिप्रेक्ष्य ह्यवहारमकारयत् ॥ ९८ ॥

उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उसने विनीतभावसे महर्षिको प्रणाम किया और अपनी सेनाकी ओर देखकर उसे छावनीमें लौटनेकी आज्ञा दे दी ॥ ९८ ॥

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् पाण्डवानां विशाम्पते।
कौरवाणां च दीनानां द्रोणे युधि निपातिते ॥ ९९ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यके मारे जानेके बाद पाण्डवों तथा दीन कौरवोंकी सेनाएँ अपने-अपने शिविरकी ओर चल दीं ॥ ९९ ॥

युद्धं कृत्वा दिनान् पञ्च द्रोणो हत्वा वरूथिनीम्।
ब्रह्मलोकं गतो राजन् ब्राह्मणो वेदपारगः ॥१००॥

राजन् ! इस प्रकार वेदोंके पारंगत विद्वान् द्रोणाचार्य पाँच दिनोंतक युद्ध तथा शत्रुसेनाका संहार करके ब्रह्मलोकको चले गये ॥ १०० ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि व्यासवाक्ये शतरुद्रिये एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें व्यासवाक्य तथा शतरुद्रिय स्तुतिविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल १०२½ श्लोक हैं)

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अर्जुनसे भगवान् शिवकी महिमा बताना तथा द्रोणपर्वके पाठ और श्रवणका फल

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन्नतिरथे द्रोणे निहते पार्षतेन वै।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वन्नतः परम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! धृष्टद्युम्नके द्वारा अतिरथी वीर द्रोणाचार्यके मारे जानेपर मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने आगे कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

तस्मिन्नतिरथे द्रोणे निहते पार्षतेन वै।
कौरवेषु च भग्नेषु कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुमहदाश्चर्यमात्मनो विजयावहम्।
यदृच्छयाऽऽगतं व्यासं पप्रच्छ भरतर्षभ ॥ ३ ॥

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! धृष्टद्युम्नद्वारा अतिरथी वीर द्रोणाचार्यके मारे जानेपर जब समस्त कौरव भाग खड़े हुए, उस समय अपनेको विजय दिलानेवाली एक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटना देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने अकस्मात् वहाँ आये हुए वेदव्यासजीसे उसके सम्बन्धमें इस प्रकार पूछा ॥ २–३ ॥

अर्जुन उवाच

संग्रामे न्यहनं शत्रूञ्शरौघैर्विमलैरहम्।
अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम् ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—महर्षे ! जब मैं अपने निर्मल बाणोंद्वारा शत्रुसेनाका संहार कर रहा था, उस समय मुझे दिखायी दिया कि एक अग्निके समान तेजस्वी पुरुष मेरे आगे-आगे चल रहे हैं ॥ ४ ॥

ज्वलन्तं शूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते।
तस्यां दिशि विदीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने ॥ ५ ॥

महामुने ! वे जलता हुआ शूल हाथमें लेकर जिस ओर जाते उसी दिशामें मेरे शत्रु विदीर्ण हो जाते थे ॥५॥

तेन भग्नानरीन् सर्वान् मद्भग्नान् मन्यते जनः।
तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुव्रजाम्यहम् ॥ ६ ॥

उन्होंने ही मेरे समस्त शत्रुओंको मार भगाया है, किंतु लोग समझते हैं कि मैंने ही उन्हें मारा और भगाया है। शत्रुओंकी सारी सेनाएँ उन्हींके द्वारा नष्ट की गयीं, मैं तो केवल उनके पीछे-पीछे चलता था ॥ ६ ॥

भगवंस्तन्ममाचक्ष्व को वै स पुरुषोत्तमः।
शूलपाणिर्मया दृष्टस्तेजसा सूर्यसंनिभः ॥ ७ ॥

भगवन्! मुझे बताइये, वे महापुरुष कौन थे? मैंने उन्हें हाथमें त्रिशूल लिये देखा था। वे सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ ७ ॥

न पद्भ्यां स्पृशते भूमिं न च शूलं विमुञ्चति।
शूलाच्छूलसहस्राणि निष्पेतुस्तस्य तेजसा ॥ ८ ॥

वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते थे। त्रिशूलको अपने हाथसे अलग कभी नहीं छोड़ते थे। उनके तेजसे उस एक ही त्रिशूलसे सहस्रों नये-नये शूल प्रकट होकर शत्रुओंपर गिरते थे ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

प्रजापतीनां प्रथमं तैजसं पुरुषं प्रभुम्।
भुवनं भूर्भुवं देवं सर्वलोकेश्वरं प्रभुम् ॥ ९ ॥
ईशानं वरदं पार्थ दृष्टवानसि शङ्करम्।
तं गच्छ शरणं देवं वरदं भुवनेश्वरम् ॥ १० ॥

व्यासजीने कहा—अर्जुन! जो प्रजापतियोंमें प्रथम, तेजःस्वरूप, अन्तर्यामी तथा सर्वसमर्थ हैं, भूर्लोक, भुवर्लोक आदि समस्त भुवन जिनके स्वरूप हैं, जो दिव्य विग्रहधारी तथा सम्पूर्ण लोकोंके शासक एवं स्वामी हैं, उन्हीं वरदायक ईश्वर भगवान् शङ्करका तुमने दर्शन किया है। वे वरद देवता सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं, तुम उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ९-१० ॥

महादेवं महात्मानमीशानं जटिलं विभुम्।
त्र्यक्षं महाभुजं रुद्रं शिखिनं चीरवाससम् ॥ ११ ॥

वे महान् देव हैं। उनका हृदय महान् है। वे सबपर शासन करनेवाले, सर्वव्यापी और जटाधारी हैं। उनके तीन नेत्र और विशाल भुजाएँ हैं, रुद्र उनकी संज्ञा है, उनके मस्तकपर शिखा तथा शरीरपर वल्कल वस्त्र शोभा देता है ॥ ११ ॥

महादेवं हरं स्थाणुं वरदं भुवनेश्वरम्।
जगत्प्रधानमजितं जगत्प्रीतिमधीश्वरम् ॥ १२ ॥

महादेव, हर और स्थाणु आदि नामोंसे प्रसिद्ध वरदायक भगवान् शिव सम्पूर्ण भुवनोंके स्वामी हैं। वे ही जगत्के कारणभूत अव्यक्त प्रकृति हैं। वे किसीसे भी पराजित नहीं होते हैं। जगत्को प्रेम और सुखकी प्राप्ति उन्हींसे होती है। वे ही सबके अध्यक्ष हैं ॥ १२ ॥

जगद्योनिं जगद्बीजं जयिनं जगतो गतिम्।
विश्वात्मानं विश्वसृजं विश्वमूर्तिं यशस्विनम् ॥ १३ ॥

वे ही जगत्की उत्पत्तिके स्थान, जगत्के बीज, विजयशील, जगत्के आश्रय, सम्पूर्ण विश्वके आत्मा, विश्वविधाता, विश्वरूप और यशस्वी हैं ॥ १३ ॥

विश्वेश्वरं विश्वनरं कर्मणामीश्वरं प्रभुम्।
शम्भुं स्वयम्भुं भूतेशं भूतभव्यभवोद्भवम् ॥ १४ ॥

वे ही विश्वेश्वर, विश्वनियन्ता, कर्मोंके फलदाता ईश्वर और प्रभावशाली हैं। वे ही सबका कल्याण करनेवाले और स्वयम्भू हैं। सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा भूत, भविष्य और वर्तमानके कारण भी वे ही हैं ॥ १४ ॥

योगं योगेश्वरं सर्वं सर्वलोकेश्वरेश्वरम्।
सर्वश्रेष्ठं जगच्छ्रेष्ठं वरिष्ठं परमेष्ठिनम् ॥ १५ ॥

वे ही योग और योगेश्वर हैं, वे ही सर्वस्वरूप और सम्पूर्ण लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। सबसे श्रेष्ठ, सम्पूर्ण जगत्से श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम परमेष्ठी भी वे ही हैं ॥ १५ ॥

लोकत्रयविधातारमेकं लोकत्रयाश्रयम्।
शुद्धात्मानं भवं भीमं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥ १६ ॥

तीनों लोकोंके एक मात्र स्रष्टा, त्रिलोकीके आश्रय, शुद्धात्मा, भव, भीम और चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले भी वे ही हैं ॥ १६ ॥

शाश्वतं भूधरं देवं सर्ववागीश्वरेश्वरम्।
सुदुर्जयं जगन्नाथं जन्ममृत्युजरातिगम् ॥ १७ ॥

वे सनातन देव इस पृथ्वीको धारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण वागीश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उन्हें जीतना असम्भव है। वे जगदीश्वर जन्म, मृत्यु और जरा आदि विकारोंसे परे हैं ॥ १७ ॥

ज्ञानात्मानं ज्ञानगम्यं ज्ञानश्रेष्ठं सुदुर्विदम्।
दातारं चैव भक्तानां प्रसादविहितान् वरान् ॥ १८ ॥

वे ज्ञानस्वरूप, ज्ञानगम्य तथा ज्ञानमें श्रेष्ठ हैं। उनके स्वरूपको समझ लेना अत्यन्त कठिन है। वे अपने भक्तोंको कृपापूर्वक मनोवाञ्छित उत्तम फल देनेवाले हैं ।१८।

तस्य पारिषदा दिव्या रूपैर्नानाविधैर्विभोः।
वामना जटिला मुण्डा ह्रस्वग्रीवा महोदराः ॥ १९ ॥
महाकाया महोत्साहा महाकर्णास्तथापरे।
आननैर्विकृतैः पादैः पार्थ वेषैश्च वैकृतैः ॥ २० ॥

भगवान् शङ्करके दिव्य पार्षद नाना प्रकारके रूपोंमें दिखायी देते हैं। उनमेंसे कोई वामन (बौने), कोई जटाधारी, कोई मुण्डित मस्तकवाले और कोई छोटी गर्दनवाले हैं। किन्हींके पेट बड़े हैं तो किन्हींके सारे शरीर ही विशाल हैं। कुछ पार्षदोंके कान बहुत बड़े-बड़े हैं। वे सब बड़े उत्साही होते हैं। कितनोंके मुख विकृत हैं और कितनोंके पैर। अर्जुन! उन सबके वेष भी बड़े विकराल हैं ॥ १९-२० ॥

ईदृशैः स महादेवः पूज्यमानो महेश्वरः।
स शिवस्तात तेजस्वी प्रसादाद् याति तेऽग्रतः ॥ २१ ॥

ऐसे स्वरूपवाले वे सभी पार्षद महान् देवता भगवान् शङ्करकी सदा ही पूजा किया करते हैं। तात! उन तेजस्वी पुरुषके रूपमें वे भगवान् शङ्कर ही कृपा करके तुम्हारे आगे-आगे चलते हैं ॥ २१ ॥

तस्मिन् घोरे सदा पार्थ संग्रामे रोमहर्षणे।
द्रौणिकर्णकृपैर्गुप्तां महेष्वासैः प्रहारिभिः ॥ २२ ॥
कस्तां सेनां तदा पार्थ मनसापि प्रधर्षयेत्।
ऋते देवान्महेष्वासाद् बहुरूपान्महेश्वरात् ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन! उस रोमाञ्चकारी घोर संग्राममें अश्वत्थामा, कर्ण और कृपाचार्य आदि प्रहारकुशल बड़े बड़े धनुर्धरोंसे सुरक्षित उस कौरव-सेनाको उस समय बहुरूपधारी महाधनुर्धर भगवान् महेश्वरके सिवा दूसरा कौन मनसे भी नष्ट कर सकता था ॥ २२-२३ ॥

स्थातुमुत्सहते कश्चिन्न तस्मिन्नग्रतः स्थिते।
न हि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २४ ॥

जब वे ही सामने आकर खड़े हो जायँ तो वहाँ ठहरनेका साहस कोई नहीं कर सकता है? तीनों लोकोंमें कोई भी प्राणी उनकी समानता करनेवाला नहीं है ॥ २४ ॥

गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः।
विसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ति च पतन्ति च ॥ २५ ॥

संग्राममें भगवान् शङ्करके कुपित होनेपर उनकी गन्धसे भी शत्रु बेहोश होकर काँपने लगते और अधमरे होकर गिर जाते हैं ॥ २५ ॥

तस्मै नमस्तु कुर्वन्तो देवास्तिष्ठन्ति वै दिवि।
ये चान्ये मानवा लोके ते च स्वर्गजितो नराः ॥ २६ ॥

उनको नमस्कार करनेवाले देवता सदा स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। दूसरे भी जो मानव इस लोकमें उन्हें नमस्कार करते हैं, वे भी स्वर्गलोकपर विजय पाते हैं ॥ २६ ॥

ये भक्ता वरदं देवं शिवं रुद्रमुमापतिम्।
अनन्यभावेन सदा सर्वेशं समुपासते ॥ २७ ॥
इहलोके सुखं प्राप्य ते यान्ति परमां गतिम्।

जो भक्त मनुष्य सदा अनन्यभावसे वरदायक देवता कल्याणस्वरूप, सर्वेश्वर उमानाथ भगवान् रुद्रकी उपासना करते हैं, वे भी इहलोकमें सुख पाकर अन्तमें परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २७½ ॥

नमस्कुरुष्व कौन्तेय तस्मै शान्ताय वै सदा ॥ २८ ॥
रुद्राय शितिकण्ठाय कनिष्ठाय सुवर्चसे।
कपर्दिने करालाय हर्यक्षवरदाय च ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम भी उन शान्तस्वरूप भगवान् शिवको सदा नमस्कार किया करो। जो रुद्र, नीलकण्ठ, कनिष्ठ (सूक्ष्म या दीप्तिमान्), उत्तम तेजसे सम्पन्न, जटाजूटधारी, विकरालस्वरूप, पिङ्गल नेत्रवाले तथा कुबेरको वर देनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है॥

याम्यायाव्यक्तकेशाय सद्वृत्ते शङ्कराय च।
काम्याय हरिनेत्राय स्थाणवे पुरुषाय च ॥ ३० ॥
हरिकेशाय मुण्डाय कृशायोत्तारणाय च।
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे ॥ ३१ ॥

जो यमके अनुकूल रहनेवाले काल हैं, अव्यक्त स्वरूप आकाश ही जिनका केश है, जो सदाचारसम्पन्न, सबका कल्याण करनेवाले, कमनीय, पिङ्गलनेत्र, सदा स्थित रहनेवाले और अन्तर्यामी पुरुष हैं, जिनके केश भूरे एवं पिङ्गल वर्णके हैं, जिनका मस्तक मुण्डित है, जो दुबले-पतले और भवसागरसे पार उतारनेवाले हैं, जो सूर्यस्वरूप, उत्तम तीर्थ और अत्यन्त वेगशाली हैं, उन देवाधिदेव महादेवको नमस्कार है ॥ ३०-३१ ॥

बहुरूपाय सर्वाय प्रियाय प्रियवाससे।
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे ॥ ३२ ॥

जो अनेक रूप धारण करनेवाले, सर्वस्वरूप तथा सबके प्रिय हैं, वल्कल आदि वस्त्र जिन्हें प्रिय है, जो मस्तक-

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

पर पगड़ी धारण करते हैं, जिनका मुख सुन्दर है, जिनके सहस्रों नेत्र हैं तथा जो वर्षा करनेवाले हैं, उन भगवान् शङ्करको नमस्कार है ॥ ३२ ॥

गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे ।
हिरण्यबाहवे राज्ञे उग्राय पतये दिशाम् ॥ ३३ ॥

जो पर्वतपर शयन करनेवाले, परम शान्त, यति-स्वरूप, चीरवस्त्रधारी, हिरण्यबाहु (सोनेके आभूषणोंसे विभूषित बाँहवाले), राजा (दीप्तिमान्), उग्र (भयंकर) तथा दिशाओंके अधिपति हैं, (उन भगवान् शङ्करको नमस्कार है) ॥ ३३ ॥

पर्जन्यपतये चैव भूतानां पतये नमः ।
वृक्षाणां पतये चैव गवां च पतये नमः ॥ ३४ ॥

जो मेघोंके अधिपति तथा सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी हैं, उन्हें नमस्कार है । वृक्षोंके पालक और गौओंके अधिपति-रूप आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥

वृक्षैरावृतकायाय सेनान्ये मध्यमाय च ।
स्रुवहस्ताय देवाय धन्विने भार्गवाय च ॥ ३५ ॥

जिनका शरीर वृक्षोंसे आच्छादित है, जो सेनाके अधिपति और शरीरके मध्यवर्ती (अन्तर्यामी) हैं, यजमान-रूपसे जो अपने हाथमें स्रुवा धारण करते हैं, जो दिव्य-स्वरूप, धनुर्धर और भृगुवंशी परशुरामस्वरूप हैं, उनको नमस्कार है ॥ ३५ ॥

बहुरूपाय विश्वस्य पतये मुञ्जवाससे ।
सहस्रशिरसे चैव सहस्रनयनाय च ॥ ३६ ॥
सहस्रबाहवे चैव सहस्रचरणाय च ।

जिनके बहुत-से रूप हैं, जो इस विश्वके पालक होकर भी मूँजका कौपीन धारण करते हैं, जिनके सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र, सहस्रों भुजाएँ और सहस्रों पैर हैं, उन भगवान् शङ्करको नमस्कार है ॥ ३६½ ॥

शरणं गच्छ कौन्तेय वरदं भुवनेश्वरम् ॥ ३७ ॥
उमापतिं विरूपाक्षं दक्षयज्ञनिबर्हणम् ।
प्रजानां पतिमव्यग्रं भूतानां पतिमव्ययम् ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम उन्हीं वरदायक भुवनेश्वर, उमा-वल्लभ, त्रिनेत्रधारी, दक्षयज्ञविनाशक, प्रजापति, व्यग्रता-रहित और अविनाशी भगवान् भूतनाथकी शरणमें जाओ ॥

कपर्दिनं वृषावर्तं वृषनाभं वृषध्वजम् ।
वृषदर्पं वृषपतिं वृषशृङ्गं वृषर्षभम् ॥ ३९ ॥
वृषाङ्कं वृषभोदारं वृषभं वृषभेक्षणम् ।
वृषायुधं वृषशरं वृषभूतं वृषेश्वरम् ॥ ४० ॥

जो जटाजूटधारी हैं, जिनका घूमना परम श्रेष्ठ है, जो श्रेष्ठ नाभिसे सुशोभित, ध्वजापर वृषभका चिह्न धारण करनेवाले, वृषदर्प (प्रबल अहंकारवाले), वृषपति (धर्मस्वरूप वृषभके अधिपति), धर्मको ही उच्चतम माननेवाले तथा धर्मसे भी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके ध्वजमें साँड़का चिह्न अङ्कित है, जो धर्मात्माओंमें उदार, धर्मस्वरूप, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले, श्रेष्ठ आयुध और श्रेष्ठ बाणसे युक्त, धर्मविग्रह तथा धर्मके ईश्वर, उन भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३९–४० ॥

महोदरं महाकायं द्वीपिचर्मनिवासिनम् ।
लोकेशं वरदं मुण्डं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम् ॥ ४१ ॥
त्रिशूलपाणिं वरदं खड्गचर्मधरं प्रभुम् ।
पिनाकिनं खड्गधरं लोकानां पतिमीश्वरम् ॥ ४२ ॥
प्रपद्ये शरणं देवं शरण्यं चीरवाससम् ।

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको धारण करनेके कारण जिनका उदर और शरीर विशाल है, जो व्याघ्रचर्म ओढ़ा करते हैं, जो लोकेश्वर, वरदायक, मुण्डितमस्तक, ब्राह्मणहितैषी तथा ब्राह्मणोंके प्रिय हैं । जिनके हाथमें त्रिशूल, ढाल, तलवार और पिनाक आदि अस्त्र शोभा पाते हैं, जो वरदायक, प्रभु, सुन्दर शरीरधारी, तीनों लोकोंके स्वामी तथा साक्षात् ईश्वर हैं, उन चीरवस्त्रधारी, शरणागतवत्सल भगवान् शिवकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४१-४२½ ॥

नमस्तस्मै सुरेशाय यस्य वैश्रवणः सखा ॥ ४३ ॥
सुवाससे नमस्तुभ्यं सुव्रताय सुधन्विने ।
धनुर्धराय देवाय प्रियधन्वाय धन्विने ॥ ४४ ॥
धन्वन्तराय धनुषे धन्वाचार्याय ते नमः ।
उग्रायुधाय देवाय नमः सुरवराय च ॥ ४५ ॥

कुबेर जिनके सखा हैं, उन देवेश्वर शिवको नमस्कार है । प्रभो ! आप उत्तम वस्त्र, उत्तम व्रत और उत्तम धनुष धारण करते हैं । आप धनुर्धर देवताको धनुष प्रिय है, आप धन्वी, धन्वन्तर, धनुष और धन्वाचार्य हैं, आपको नमस्कार है । भयंकर आयुध धारण करनेवाले सुरश्रेष्ठ महादेवजीको नमस्कार है ॥ ४३–४५ ॥

नमोऽस्तु बहुरूपाय नमोऽस्तु बहुधन्विने ।
नमोऽस्तु स्थाणवे नित्यं नमस्तस्मै तपस्विने ॥ ४६ ॥

अनेक रूपधारी शिवको नमस्कार है, बहुत-से धनुष धारण करनेवाले रुद्रदेवको नमस्कार है, आप स्थाणुरूप हैं, आपको नमस्कार है, उन तपस्वी शिवको नित्य नमस्कार है ॥ ४६ ॥

नमोऽस्तु त्रिपुरघ्नाय भगघ्नाय च वै नमः ।
वनस्पतीनां पतये नराणां पतये नमः ॥ ४७ ॥

त्रिपुरनाशक और भगनेत्रविनाशक भगवान्

शिवको बारंबार नमस्कार है । नरपतियोंके पति तथा नरपति-रूप महादेवजीको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

मातॄणां पतये चैव गणानां पतये नमः ।
गवां च पतये नित्यं यज्ञानां पतये नमः ॥ ४८ ॥

मातृकाओंके अधिपति और गणोंके पालक शिवको नमस्कार है । गोपति और यज्ञपति शङ्करको नित्य नमस्कार है ॥ ४८ ॥

अपां च पतये नित्यं देवानां पतये नमः ।
पूष्णो दन्तविनाशाय त्र्यक्षाय वरदाय च ॥ ४९ ॥
नीलकण्ठाय पिङ्गाय स्वर्णकेशाय वै नमः ।

जलपति तथा देवपतिको नित्य नमस्कार है। पूषाके दाँत तोड़नेवाले, त्रिनेत्रधारी वरदायक शिवको नमस्कार है। नीलकण्ठ, पिङ्गलवर्ण और सुनहरे केशवाले भगवान् शङ्करको नमस्कार है ॥ ४९½ ॥

कर्माणि यानि दिव्यानि महादेवस्य धीमतः ॥ ५० ॥
तानि ते कीर्तयिष्यामि यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।

अर्जुन ! अब मैं परम बुद्धिमान् महादेवजीके जो दिव्य कर्म हैं, उनका अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा मैंने सुन रक्खा है, वैसा ही तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ॥ ५०½ ॥

न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न राक्षसाः ॥ ५१॥
सुखमेधन्ति कुपिते तस्मिन्नपि गुहागताः ।

यदि वे कुपित हो जायँ तो देवता, असुर, गन्धर्व और राक्षस इस लोकमें अथवा पातालमें छिप जानेपर भी चैनसे नहीं रहने पाते हैं ॥ ५१½ ॥

दक्षस्य यजमानस्य विधिवत् सम्भृतं पुरा ॥५२ ॥
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्दयस्त्वभवत् तदा ।
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं विननाद च ॥५३ ॥

पहलेकी बात है, वे यज्ञपरायण दक्षपर कुपित हो गये थे । उस समय उन्होंने उनके विधिपूर्वक किये जाने-वाले यज्ञको नष्ट कर दिया था । उन दिनों वे निर्दय हो गये थे और धनुषद्वारा बाण छोड़कर बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे थे ॥ ५२–५३ ॥

ते न शर्म कुतः शान्ति लेभिरे स्म सुरास्तदा ।
विद्रुते सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे ॥ ५४॥

देवताओंको उस समय कहीं भी सुख और शान्ति नहीं मिली, महेश्वरके कुपित होनेसे सहसा यज्ञमें उपद्रव खड़ा हो गया था ॥ ५४ ॥

तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः ।
बभूवुर्वशगाः पार्थ निपेतुश्च सुरासुराः ॥ ५५ ॥

पार्थ ! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाके गम्भीर घोषसे अत्यन्त व्याकुल हो सम्पूर्ण लोक उनके अधीन हो गये । देवता और असुर सभी धरतीपर गिर पड़े ॥ ५५ ॥

आपश्चुक्षुभिरे सर्वाश्चकम्पे च वसुंधरा ।
पर्वताश्च व्यशीर्यन्त दिशो नागाश्च मोहिताः ॥ ५६ ॥

समुद्रके जलमें ज्वार आ गया, धरती काँपने लगी, पर्वत टूट-फूटकर बिखरने लगे और दिग्गज मूर्छित हो गये॥

अन्धेन तमसा लोका न प्राकाशन्त संवृताः ।
जघ्निवान् सह सूर्येण सर्वेषां ज्योतिषां प्रभाः ॥ ५७ ॥

घोर अन्धकारसे आच्छादित हो जानेके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें कहीं भी प्रकाश नहीं रह गया । भगवान् शिवने सूर्यसहित सम्पूर्ण ज्योतियोंकी प्रभा नष्ट कर दी ॥ ५७ ॥

चुक्षुभुर्भयभीताश्च शान्तिं चक्रुस्तथैव च ।
ऋषयः सर्वभूतानामात्मनश्च सुखैषिणः ॥ ५८ ॥

महर्षि भी भयभीत एवं क्षुब्ध हो उठे । वे सम्पूर्ण भूतोंके तथा अपने लिये भी सुख चाहते हुए पुण्याहवाचन आदि शान्ति कर्म करने लगे ॥ ५८ ॥

पूषाणमभ्यद्रवत शंकरः प्रहसन्निव ।
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान् वै व्यशातयत् ॥ ५९ ॥

उस समय हँसते हुए-से भगवान् शङ्करने पूषापर आक्रमण किया । वे पुरोडाश खा रहे थे । उन्होंने उनके सारे दाँत तोड़ डाले ॥ ५९ ॥

ततो निश्चक्रमुर्देवा वेपमाना नताः स्म ते ।
पुनश्च संदधे दीप्तान् देवानां निशितान्शरान् ॥ ६० ॥

तदनन्तर सारे देवता नतमस्तक हो भयसे थरथर काँपते हुए यज्ञशालासे बाहर निकल गये । तब भगवान् शिवने देवताओंको लक्ष्य करके तीखे और तेजस्वी बाणोंका संधान किया ॥ ६० ॥

सधूमान् सस्फुलिङ्गांश्च विद्युत्तोयदसंनिभान् ।
तं दृष्ट्वा तु सुराः सर्वे प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ ६१ ॥
रुद्रस्य यज्ञभागं च विशिष्टं ते त्वकल्पयन् ।

धूम और चिनगारियोंसहित वे बाण बिजली सहित मेघोंके समान जान पड़ते थे । तब सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् महेश्वरको कुपित देख उनके चरणोंमें प्रणाम किया और रुद्रके लिये उन्होंने विशिष्ट यज्ञभागकी कल्पना की

भयेन त्रिदशा राजञ्छरणं च प्रपेदिरे ॥ ६२ ॥
तेन चैवातिकोपेन स यज्ञः संधितस्तदा ।
भग्नाश्चापि सुरा आसन् भीताश्चाद्यापि तं प्रति ॥ ६३ ॥

राजन् ! सब देवता भयभीत हो भगवान् शङ्करकी शरणमें आये । तब क्रोध शान्त होनेपर उन्होंने उस यज्ञको पूर्ण किया । उन दिनों देवता लोग भाग खड़े हुए थे, तभीसे आजतक वे देवता उनसे डरते रहते हैं ॥ ६२–६३ ॥

असुराणां पुराण्यासंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि ।
आयसं राजतं चैव सौवर्णं परमं महत् ॥ ६४ ॥

पूर्वकालमें परम पराक्रमी तीन असुरोंके आकाशमें तीन नगर थे । एक लोहेका, दूसरा चाँदीका और तीसरा अत्यन्त विशाल नगर सोनेका बना हुआ था ॥ ६४ ॥

सौवर्णं कमलाक्षस्य तारकाक्षस्य राजतम् ।
तृतीयं तु पुरं तेषां विद्युन्मालिन आयसम् ॥ ६५ ॥

उनमेंसे सोनेका नगर कमलाक्षके, चाँदीका तारकाक्षके तथा तीसरा लोहेका बना हुआ नगर विद्युन्मालीके अधिकारमें था ॥ ६५ ॥

न शक्तस्तानि मघवान् भेत्तुं सर्वायुधैरपि ।
अथ सर्वे सुरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः ॥ ६६ ॥

इन्द्र सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके भी उन नगरोंका भेदन न कर सके । तब उनसे पीड़ित हुए सम्पूर्ण देवता भगवान् शङ्करकी शरणमें गये ॥ ६६ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं सर्वे देवाः सवासवाः ।
ब्रह्मदत्तवरा ह्येते घोरास्त्रिपुरवासिनः ॥ ६७ ॥
पीडयन्त्यधिकं लोकं यस्मात् ते वरदर्पिताः ।

इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंने महात्मा भगवान् शङ्करसे कहा—'प्रभो ! ब्रह्माजीसे वरदान पाकर ये त्रिपुर-निवासी घोर दैत्य सम्पूर्ण जगत्‌को अधिकाधिक पीड़ा दे रहे हैं; क्योंकि वरदान प्राप्त होनेसे उनका घमंड बहुत बढ़ गया है ॥ ६७½ ॥

त्वदृते देवदेवेश नान्यः शक्तः कथंचन ॥ ६८ ॥
हन्तुं दैत्यान् महादेव जहि तांस्त्वं सुरद्विषः ।

'देवदेवेश्वर महादेव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन दैत्योंका वध करनेमें समर्थ नहीं है; अतः आप उन देव-द्रोहियोंको मार डालिये ॥ ६८½ ॥

रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ॥ ६९ ॥
निपातयिष्यसे चैतानसुरान् भुवनेश्वर ।

'भुवनेश्वर ! रुद्र ! आप जब इन असुरोंका विनाश कर डालेंगे, तबसे सम्पूर्ण यज्ञकर्मोंमें जो पशु (यज्ञके साधनभूत उपकरण) होंगे, वे रुद्रके भाग समझे जायँगे' ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा देवानां हितकाम्यया ॥ ७० ॥
गन्धमादनविन्ध्यौ च कृत्वा वंशध्वजौ हरः ।
पृथ्वीं ससागरवनां रथं कृत्वा तु शङ्करः ॥ ७१ ॥
अक्षं कृत्वा तु नागेन्द्रं शेषं नाम त्रिलोचनः ।
चक्रे कृत्वा तु चन्द्रार्कौ देवदेवः पिनाकधृक् ॥ ७२ ॥
अणी कृत्वैलपत्रं च पुष्पदन्तं च त्र्यम्बकः ।
यूपं कृत्वा तु मलयमवनाहं च तक्षकम् ॥ ७३ ॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर उनके हितकी इच्छासे गन्धमादन और विन्ध्याचल इन दो पर्वतोंको अपने रथके दो पार्श्ववर्ती ध्वज बनाये । फिर समुद्र और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीको रथ बनाकर नागराज शेषको उस रथका धुरा बनाया । तत्पश्चात् त्रिनेत्र-धारी पिनाकपाणि देवाधिदेव महादेवने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको रथके दो पहिये बनाये । एलपत्रके पुत्र और पुष्प-दन्तको जूएकी कीलें बनाया । फिर त्र्यम्बकने मलयाचलको यूप और तक्षक नागको जूआ बाँधनेकी रस्सी बना लिया ॥

योक्त्राङ्गानि च सत्त्वानि कृत्वा शर्वः प्रतापवान् ।
वेदान् कृत्वाऽथ चतुरश्चतुरश्वान् महेश्वरः ॥ ७४ ॥

इसी प्रकार प्रतापी भगवान् महेश्वरने अन्य प्राणियोंको जोते और बागडोर आदिके रूपमें रखकर चारों वेद ही रथके चार घोड़े बना लिये ॥ ७४ ॥

उपवेदान् खलीनांश्च कृत्वा लोकत्रयेश्वरः ।
गायत्रीं प्रग्रहं कृत्वा सावित्रीं च महेश्वरः ॥ ७५ ॥

तत्पश्चात् तीनों लोकोंके स्वामी महेश्वरने उपवेदोंको लगाम बनाकर गायत्री और सावित्रीको प्रग्रह बना लिया ॥

कृत्वोङ्कारं प्रतोदं च ब्रह्माणं चैव सारथिम् ।
गाण्डीवं मन्दरं कृत्वा गुणं कृत्वा तु वासुकिम् ॥ ७६ ॥
विष्णुं शरोत्तमं कृत्वा शल्यमग्निं तथैव च ।
वायुं कृत्वाथ वाजाभ्यां पुङ्खे वैवस्वतं यमम् ॥ ७७ ॥

फिर ओङ्कारको चाबुक, ब्रह्माजीको सारथि, मन्दराचल-को गाण्डीव धनुष, वासुकिनागको उसकी प्रत्यञ्चा, भगवान् विष्णुको उत्तम बाण, अग्निदेवको उस बाणका फल, वायुको उसके पङ्ख और वैवस्वत यमको उसकी पूँछ बनाया ।७६-७७।

विद्युत् कृत्वाथ निश्राणं मेरुं कृत्वाथ वै ध्वजम् ।
आरुह्य स रथं दिव्यं सर्वदेवमयं शिवः ॥ ७८ ॥
त्रिपुरस्य वधार्थाय स्थाणुः प्रहरतां वरः ।
असुराणामन्तकरः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ ७९ ॥

बिजलीको उस बाणकी तीखी धार बनाकर मेरु पर्वतको प्रधान ध्वजके स्थानमें रक्खा । इस प्रकार सर्वदेवमय दिव्य रथ तैयार करके असुरोंका अन्त करनेवाले, अतुल पराक्रमी, योद्धाओंमें श्रेष्ठ तथा सदा स्थिर रहनेवाले श्रीमान् भगवान् शिव त्रिपुरवधके लिये उसपर आरूढ़ हुए ॥ ७८–७९ ॥

स्तूयमानः सुरैः पार्थ ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
स्थानं माहेश्वरं कृत्वा दिव्यमप्रतिमं प्रभुः ॥ ८० ॥
अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् ।

पार्थ ! उस समय सम्पूर्ण देवता और तपोधन महर्षि

भगवान् शङ्करकी स्तुति करने लगे। उन भगवान्‌ने उस अनुपम एवं दिव्य माहेश्वर स्थान (रथ) का निर्माण करके उसपर एक हजार वर्षोंतक स्थिरभावसे खड़े रहे ॥ ८०½ ॥

यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षे पुराणि च ॥ ८१ ॥
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि विभेद सः।

जब वे तीनों पुर आकाशमें एकत्र हुए, तब उन्होंने तीन गाँठ और तीन फलवाले बाणसे उन तीनों पुरोंको विदीर्ण कर डाला ॥ ८१½ ॥

पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ८२ ॥
शरं कालाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम्।

उस समय दानव उन नगरोंकी ओर और कालाग्निसे संयुक्त एवं विष्णु तथा सोमकी शक्तिसे सम्पन्न उस बाणकी ओर भी आँख उठाकर देख न सके ॥ ८२½ ॥

पुराणि दग्धवन्तं तं देवी याता प्रवीक्षितुम् ॥ ८३ ॥
बालमङ्कगतं कृत्वा स्वयं पञ्चशिखं पुनः।

जिस समय वे तीनों पुरोंको दग्ध कर रहे थे, उस समय पार्वती देवी भी उन्हें देखनेके लिये एक पाँच शिखावाले बालकको गोदमें लेकर वहाँ गयीं ॥ ८३½ ॥

उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत् सुरान्॥ ८४ ॥
असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः।
बाहुं सवज्रं तं तस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत् प्रभुः ॥ ८५ ॥
प्रहस्य भगवांस्तूर्णं सर्वलोकेश्वरो विभुः।

पार्वतीदेवीने देवताओंसे पूछा–'पहचानते हो, यह कौन है ?' उनके इस प्रश्नसे इन्द्रके हृदयमें असूया और क्रोधकी आग जल उठी, वे उस बालकपर वज्रका प्रहार करना ही चाहते थे कि सर्वलोकेश्वर सर्वव्यापी भगवान् शङ्करने हँसकर उनकी वज्रसहित बाँहको स्तम्भित कर दिया ॥८४-८५½॥

ततः स स्तम्भितभुजः शक्रो देवगणैर्वृतः ॥ ८६ ॥
जगाम ससुरस्तूर्णं ब्रह्माणं प्रभुमव्ययम्।

तदनन्तर स्तम्भित हुई भुजाके साथ ही देवताओंसहित इन्द्र तुरंत ही वहाँसे अविनाशी भगवान् ब्रह्माजीके पास गये ॥

ते तं प्रणम्य शिरसा प्रोचुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ८७ ॥
किमप्यङ्कगतं ब्रह्मन् पार्वत्या भूतमद्भुतम्।
बालरूपधरं दृष्ट्वा नास्माभिरभिलक्षितः ॥ ८८ ॥

देवताओंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा–'ब्रह्मन् ! पार्वतीजीकी गोदमें बालरूपधारी एक अद्भुत प्राणी था, जिसे देखकर भी हमलोग पहचान नहीं सके हैं ॥ ८७–८८ ॥

तस्मात् त्वां प्रष्टुमिच्छामो निर्जिता येन वै वयम्।
अयुध्यता हि बालेन लीलया सपुरंदराः ॥ ८९ ॥

'अतः हमलोग आपसे उसके विषयमें पूछना चाहते हैं, उस बालकने बिना युद्धके ही खेल-खेलमें इन्द्रसहित हम देवताओंको परास्त कर दिया' ॥ ८९ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
ध्यात्वा स शम्भुं भगवान् बालं चामिततेजसम् ॥९०॥

उनकी यह बात सुनकर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् ब्रह्माने ध्यान करके अमिततेजस्वी बालरूपधारी शङ्करको पहचान लिया ॥ ९० ॥

उवाच भगवान् ब्रह्मा शक्रादींश्च सुरोत्तमान्।
चराचरस्य जगतः प्रभुः स भगवान् हरः ॥ ९१ ॥
तस्मात् परतरं नान्यत् किंचिदस्ति महेश्वरात्।
यो दृष्टो ह्युमया सार्धं युष्माभिरमितद्युतिः ॥ ९२ ॥
स पार्वत्याः कृते शर्वः कृतवान् बालरूपताम्।
ते मया सहिता यूयं प्रापयध्वं तमेव हि ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् भगवान् ब्रह्माने उन देवश्रेष्ठ इन्द्र आदिसे कहा–'देवताओ ! वे चराचर जगत्‌के स्वामी साक्षात् भगवान् शङ्कर थे। उन महेश्वरसे बढ़कर दूसरी कोई सत्ता नहीं है। तुमलोगोंने पार्वतीजीके साथ जिस अमिततेजस्वी बालकका दर्शन किया है, उसके रूपमें भगवान् शङ्कर ही थे। उन्होंने पार्वतीजीकी प्रसन्नताके लिये बालरूप धारण कर लिया था; अतः तुमलोग मेरे साथ उन्हींकी शरणमें चलो' ॥९१-९३॥

स एष भगवान् देवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
न सम्बुबुधिरे चैनं देवास्तं भुवनेश्वरम् ॥ ९४ ॥
सप्रजापतयः सर्वे बालार्कसदृशप्रभम्।

उस बालकके रूपमें ये सर्वलोकेश्वर प्रभु भगवान् महादेव ही थे; किंतु प्रजापतियोंसहित सम्पूर्ण देवता बालसूर्यके सदृश कान्तिमान् उन जगदीश्वरको पहचान न सके ॥

अथाभ्येत्य ततो ब्रह्मा दृष्ट्वा स च महेश्वरम् ॥ ९५ ॥
अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तं पितामहः।

तदनन्तर ब्रह्माजीने निकट जाकर भगवान् महेश्वरको देखा और ये ही सबसे श्रेष्ठ हैं, ऐसा जानकर उनकी वन्दना की॥९५½॥

ब्रह्मोवाच

त्वं यज्ञो भुवनस्यास्य त्वं गतिस्त्वं परायणम् ॥ ९६ ॥
त्वं भवस्त्वं महादेवस्त्वं धाम परमं पदम्।
त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ९७ ॥

ब्रह्माजी बोले—भगवन् ! आप ही यज्ञ, आप ही इस विश्वके सहारे और आप ही सबको शरण देनेवाले हैं, आप ही सबको उत्पन्न करनेवाले भव हैं, आप ही महादेव हैं और

आप ही परमधाम एवं परमपद हैं। आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥ ९६–९७ ॥

भगवन् भूतभव्येश लोकनाथ जगत्पते।
प्रसादं कुरु शक्रस्य त्वया क्रोधार्दितस्य वै ॥ ९८ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवन्! लोकनाथ! जगत्पते! ये इन्द्र आपके क्रोधसे पीड़ित हो रहे हैं। आप इनपर कृपा कीजिये ॥ ९८ ॥

व्यास उवाच

पद्मयोनिवचः श्रुत्वा ततः प्रीतो महेश्वरः।
प्रसादाभिमुखो भूत्वा अट्टहासमथाकरोत् ॥ ९९ ॥

व्यासजी कहते हैं—पार्थ! ब्रह्माजीकी बात सुनकर भगवान् महेश्वर प्रसन्न हो गये और कृपाके लिये उद्यत हो ठठाकर हँस पड़े ॥ ९९ ॥

ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः।
अभवच्च पुनर्बाहुर्यथाप्रकृति वज्रिणः ॥१००॥

तब देवताओंने पार्वती देवी तथा भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया। फिर वज्रधारी इन्द्रकी बाँह जैसी पहले थी, वैसी हो गयी ॥ १०० ॥

तेषां प्रसन्नो भगवान् सपत्नीको वृषध्वजः।
देवानां त्रिदशश्रेष्ठो दक्षयज्ञविनाशनः ॥१०१॥

दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले देवश्रेष्ठ भगवान् वृषध्वज अपनी पत्नी उमाके साथ देवताओंपर प्रसन्न हो गये ॥१०१॥

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वश्च सर्ववित्।
स चेन्द्रश्चैव वायुश्च सोऽश्विनौ च स विद्युतः ॥१०२॥

वे ही रुद्र हैं, वे ही शिव हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही सर्वस्वरूप एवं सर्वज्ञ हैं। वे ही इन्द्र और वायु हैं, वे ही दोनों अश्विनीकुमार तथा विद्युत् हैं ॥ १०२ ॥

स भवः स च पर्जन्यो महादेवः सनातनः।
स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ॥१०३॥

वे ही भव, वे ही मेघ और वे ही सनातन महादेव हैं। चन्द्रमा, ईशान, सूर्य और वरुण भी वे ही हैं ॥ १०३ ॥

स कालः सोऽन्तको मृत्युः स यमो राज्यहानि तु।
मासार्धमासा ऋतवः संध्ये संवत्सरश्च सः ॥१०४॥

वे ही काल, अन्तक, मृत्यु, यम, रात्रि, दिन, मास, पक्ष, ऋतु, संध्या और संवत्सर हैं ॥ १०४ ॥

धाता च स विधाता च विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
सर्वासां देवतानां च धारयत्यवपुर्वपुः ॥१०५॥

वे ही धाता, विधाता, विश्वात्मा और विश्वरूपी कार्यके कर्ता हैं। वे शरीररहित होकर भी सम्पूर्ण देवताओंके शरीर धारण करते हैं ॥ १०५ ॥

सर्वदेवैः स्तुतो देवः सैकधा बहुधा च सः।
शतधा सहस्रधा चैव भूयः शतसहस्रधा ॥१०६॥

सम्पूर्ण देवता सदा उनकी स्तुति करते हैं। वे महादेवजी एक होकर भी अनेक हैं। सौ, हजार और लाखों रूपोंमें वे ही विराज रहे हैं ॥ १०६ ॥

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः।
घोरा चान्या शिवा चान्या ते तनू बहुधा पुनः॥१०७॥

वेदज्ञ ब्राह्मण उनके दो शरीर मानते हैं, एक घोर और दूसरा शिव। ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं और उन्हींसे पुनः बहुसंख्यक शरीर प्रकट हो जाते हैं ॥ १०७ ॥

घोरा तु या तनुस्तस्य सोऽग्निर्विष्णुः स भास्करः।
सौम्या तु पुनरेवास्य आपो ज्योतींषि चन्द्रमाः ॥१०८॥

उनका जो घोर शरीर है, वही अग्नि, विष्णु और सूर्य है और उनका सौम्य (शिव) शरीर ही जल, ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा है ॥ १०८ ॥

वेदाः साङ्गोपनिषदः पुराणाध्यात्मनिश्चयाः।
यदत्र परमं गुह्यं स वै देवो महेश्वरः ॥१०९॥

वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण और अध्यात्मशास्त्रके जो सिद्धान्त हैं तथा उनमें भी जो परम रहस्य है, वह भगवान् महेश्वर ही हैं ॥ १०९ ॥

ईदृशश्च महादेवो भूयांश्च भगवानजः।
न हि सर्वे मया शक्या वक्तुं भगवतो गुणाः ॥११०॥
अपि वर्षसहस्रेण सततं पाण्डुनन्दन।

अर्जुन! यह है अजन्मा भगवान् महादेवका महामहिमस्वरूप। मैं सहस्रों वर्षोंतक लगातार वर्णन करता रहूँ तो भी भगवान्के समस्त गुणोंका पार नहीं पा सकता ॥११०½॥

सर्वैर्ग्रहैर्गृहीतान् वै सर्वपापसमन्वितान् ॥१११॥
स मोचयति सुप्रीतः शरण्यः शरणागतान्।

जो सब प्रकारकी ग्रहबाधाओंसे पीड़ित हैं और सम्पूर्ण पापोंमें डूबे हुए हैं, वे भी यदि शरणमें आ जायँ तो शरणागतवत्सल भगवान् शिव अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें पाप-तापसे मुक्त कर देते हैं ॥ १११½ ॥

आयुरारोग्यमैश्वर्यं वित्तं कामांश्च पुष्कलान् ॥११२॥
स ददाति मनुष्येभ्यः स चैवाक्षिपते पुनः।

वे ही प्रसन्न होनेपर मनुष्योंको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन और प्रचुरमात्रामें मनोवाञ्छित पदार्थ देते हैं तथा वे ही

कुपित होनेपर फिर उन सबका संहार कर डालते हैं॥ ११२½ ॥

सेन्द्रादिषु च देवेषु तस्य चैश्वर्यमुच्यते ॥११३॥
स चैव व्यापृतो लोके मनुष्याणां शुभाशुभे।
ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरश्च स उच्यते ॥११४॥

इन्द्र आदि देवताओंमें उन्हींका ऐश्वर्य बताया जाता है, वे ही ईश्वर होनेके कारण लोकमें मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मोंके फल देनेमें संलग्न रहते हैं। सम्पूर्ण कामनाओंके ईश्वर भी वे ही बताये जाते हैं ॥ ११३-११४ ॥

महेश्वरश्च महतां भूतानामीश्वरश्च सः।
बहुभिर्बहुधा रूपैर्विश्वं व्याप्नोति वै जगत् ॥११५॥

महाभूतोंके ईश्वर होनेसे वे ही महेश्वर कहलाते हैं। वे नाना प्रकारके बहुसंख्यक रूपोंद्वारा सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं ॥

तस्य देवस्य यद् वक्त्रं समुद्रे तदधिष्ठितम्।
वडवामुखेति विख्यातं पिबत् तोयमयं हविः ॥११६॥

उन महादेवजीका जो मुख है, वह समुद्रमें स्थित है। वह 'वडवामुख' नामसे विख्यात होकर जलमय हविष्यका पान करता है ॥ ११६ ॥

एष चैव श्मशानेषु देवो वसति नित्यशः।
यजन्त्येनं जनास्तत्र वीरस्थान इतीश्वरम् ॥११७॥

ये ही महादेवजी श्मशानभूमि (काशीपुरी) में नित्य निवास करते हैं। वहाँ मनुष्य 'वीरस्थानेश्वर' के नामसे इनकी आराधना करते हैं ॥ ११७ ॥

अस्य दीप्तानि रूपाणि घोराणि च बहूनि च।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते मनुष्याः प्रवदन्ति च ॥११८॥

इनके बहुत-से तेजस्वी घोर रूप हैं, जो लोकमें पूजित होते हैं और मनुष्य उनका कीर्तन करते रहते हैं ॥ ११८ ॥

नामधेयानि लोकेषु बहून्यस्य यथार्थवत्।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात् कर्मणस्तथा ॥११९॥

उनकी महत्ता, सर्वव्यापकता तथा कर्मके अनुसार लोकमें इनके बहुत-से यथार्थ नाम बताये जाते हैं ॥ ११९ ॥

वेदे चास्य समाम्नातं शतरुद्रियमुत्तमम्।
नाम्ना चानन्तरुद्रेति ह्युपस्थानं महात्मनः ॥१२०॥

यजुर्वेदमें भी परमात्मा शिवकी 'शतरुद्रिय' नामक उत्तम स्तुति बतायी गयी है। अनन्तरुद्रनामसे इनका उपस्थान बताया गया है ॥ १२० ॥

स कामानां प्रभुर्देवो ये दिव्या ये च मानुषाः।
स विभुः स प्रभुर्देवो विश्वं व्याप्नोति वै महत्॥१२१॥

जो दिव्य तथा मानव भोग हैं, उन सबके स्वामी ये महादेवजी ही हैं। ये देव इस विशाल विश्वमें व्याप्त हैं; इसलिये विभु और प्रभु कहलाते हैं ॥ १२१ ॥

ज्येष्ठं भूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा मुनयस्तथा।
प्रथमो ह्येष देवानां मुखादस्यानलोऽभवत् ॥१२२॥

ब्राह्मण और मुनिजन इन्हें सबसे ज्येष्ठ बताते हैं, ये देवताओंमें सबसे प्रथम हैं; इन्हींके मुखसे अग्निदेवका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १२२ ॥

सर्वथा यत् पशून् पाति तैश्च यद् रमते पुनः।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिः स्मृतः ॥१२३॥

ये सर्वथा पशुओं (प्राणियों) का पालन करते और उन्हींके साथ खेला करते हैं तथा उन पशुओंके अधिपति हैं; इसलिये 'पशुपति' कहे गये हैं ॥ १२३ ॥

दिव्यं च ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यथा स्थितम्।
महयत्येष लोकांश्च महेश्वर इति स्मृतः ॥१२४॥

इनका दिव्य लिङ्ग ब्रह्मचर्यसे स्थित है। ये सम्पूर्ण लोकोंको महिमान्वित करते हैं; इसलिये महेश्वर कहे गये हैं ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
लिङ्गमस्यार्चयन्ति स्म तच्चाप्यूर्ध्वं समास्थितम् ॥१२५॥

ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ इनके ऊर्ध्वलोक-स्थित लिङ्गविग्रह (प्रतीक) की पूजा करती हैं ॥ १२५ ॥

पूज्यमाने ततस्तस्मिन् मोदते स महेश्वरः।
सुखी प्रीतश्च भवति प्रहृष्टश्चैव शङ्करः ॥१२६॥

उस लिङ्ग अर्थात् प्रतीककी पूजा होनेपर कल्याणकारी भगवान् महेश्वर आनन्दित होते हैं। सुखी, प्रसन्न तथा हर्षोल्लाससे परिपूर्ण होते हैं ॥ १२६ ॥

यदस्य बहुधा रूपं भूतभव्यभवस्थितम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव बहुरूपस्ततः स्मृतः ॥१२७॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें इनके स्थावर-जङ्गम बहुतसे रूप स्थित होते हैं; इसलिये इन्हें 'बहुरूप' नाम दिया गया है ॥ १२७ ॥

एकाक्षो जाज्वलन्नास्ते सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा।
क्रोधाद् यश्चाविशल्लोकांस्तस्मात् सर्व इति स्मृतः।१२८।

यद्यपि उनके सब ओर नेत्र हैं, तथापि उनका एक विलक्षण अग्निमय नेत्र अलग भी है, जो सदा क्रोधसे प्रज्वलित रहता है; वे सब लोकोंमें समाविष्ट होनेके कारण 'सर्व' कहे गये हैं ॥ १२८ ॥

धूम्ररूपं च यत् तस्य धूर्जटिस्तेन चोच्यते।
विश्वेदेवाश्च यत् तस्मिन् विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥१२९॥

उनका रूप धूम्रवर्णका है; इसलिये वे 'धूर्जटि' कहलाते हैं। विश्वेदेव उन्हींमें प्रतिष्ठित हैं, इसलिये उनका एक नाम 'विश्वरूप' है ॥ १२९ ॥

तिस्रो देवीर्यदा चैव भजते भुवनेश्वरः।
द्यामपः पृथिवीं चैव त्र्यम्बकश्च ततः स्मृतः ॥१३०॥

वे भगवान् भुवनेश्वर आकाश, जल और पृथ्वी इन अम्बास्वरूपा तीन देवियोंको अपनाते, उनकी रक्षा करते हैं, इसलिये त्र्यम्बक कहे गये हैं ॥ १३० ॥

समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थान् सर्वकर्मसु।
शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्मादेष शिवः स्मृतः॥ १३१॥

ये मनुष्योंका कल्याण चाहते हुए उनके समस्त कर्मोंमें सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंकी समृद्धि (सिद्धि) करते हैं, इसलिये 'शिव' कहे गये हैं ॥ १३१ ॥

सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥१३२॥

उनके सहस्र अथवा दस हजार नेत्र हैं अथवा वे सब ओरसे नेत्रमय ही हैं। भगवान् शिव महान् विश्वका पालन करते हैं; इसलिये 'महादेव' कहे गये हैं ॥ १३२ ॥

महत् पूर्वं स्थितो यच्च प्राणोत्पत्तिस्थितश्च यत्।
स्थितलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः॥ १३३॥

वे पूर्वकालसे ही महान् रूपमें स्थित हैं, प्राणोंकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हैं तथा उनका लिङ्गमय शरीर सदा स्थित रहता है; इसलिये उन्हें 'स्थाणु' कहते हैं ॥१३३॥

सूर्याचन्द्रमसोर्लोके प्रकाशन्ते रुचश्च याः।
ताः केशसंज्ञितास्त्र्यक्षे व्योमकेशस्ततः स्मृतः॥ १३४॥

लोकमें जो सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें प्रकाशित होती हैं, वे भगवान् त्रिलोचनके केश कही गयी हैं। वे व्योम (आकाश) में प्रकाशित होती हैं; इसलिये उनका नाम 'व्योमकेश' है ॥ १३४ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं जगदशेषतः।
भव एव ततो यस्माद् भूतभव्यभवोद्भवः ॥१३५॥

भूत, वर्तमान और भविष्य सम्पूर्ण जगत् भगवान् शङ्करसे ही विस्तारको प्राप्त हुआ है; इसलिये वे 'भूतभव्यभवोद्भव' कहे गये हैं ॥ १३५ ॥

कपिः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मश्च वृष उच्यते।
स देवदेवो भगवान् कीर्त्यतेऽतो वृषाकपिः ॥१३६॥

कपि कहते हैं श्रेष्ठको और वृष नाम है धर्मका। वृष और कपि दोनों होनेके कारण देवाधिदेव भगवान् शङ्कर 'वृषाकपि' कहलाते हैं ॥ १३६ ॥

ब्रह्माणमिन्द्रं वरुणं यमं धनदमेव च।
निगृह्य हरते यस्मात् तस्माद्धर इति स्मृतः ॥१३७॥

वे ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, यम तथा कुबेरको भी काबूमें करके उनसे उनका ऐश्वर्य हर लेते हैं; इसलिये 'हर' कहे गये हैं ॥ १३७ ॥

निमीलिताभ्यां नेत्राभ्यां बलाद् देवो महेश्वरः।
ललाटे नेत्रमसृजत् तेन त्र्यक्षः स उच्यते ॥१३८॥

उन भगवान् महेश्वरने दोनों नेत्रोंको बंद करके अपने ललाटमें बलपूर्वक तीसरे नेत्रकी सृष्टि की, इसलिये उन्हें त्रिनेत्र कहते हैं ॥ १३८ ॥

विषमस्थः शरीरेषु समश्च प्राणिनामिह।
स वायुर्विषमस्थेषु प्राणोऽपानः शरीरिषु ॥१३९॥

वे प्राणियोंके शरीरोंमें विषम संख्यावाले पाँच प्राणोंके साथ निवास करते हुए सदा समभावसे स्थित रहते हैं। विषम परिस्थितियोंमें पड़े हुए समस्त देहधारियोंके भीतर वे ही प्राणवायु और अपानवायुके रूपमें विराजमान हैं ॥१३९॥

पूजयेद् विग्रहं यस्तु लिङ्गं चापि महात्मनः।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते ॥१४०॥

जो कोई भी मनुष्य हो, उसे महात्मा शिवके अर्चा-विग्रह अथवा लिङ्ग (प्रतीक) की पूजा करनी चाहिये। लिङ्ग अथवा प्रतिमाकी पूजा करनेवाला पुरुष बड़ी भारी सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १४० ॥

ऊरुभ्यामर्धमाग्नेयं सोमार्धं च शिवा तनुः।
आत्मनोऽर्धं तथा चाग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते॥ १४१॥

दोनों जाँघोंसे नीचे भगवान् शिवका आधा शरीर आग्नेय अथवा घोर है तथा उससे ऊपरका आधा शरीर सोम एवं शिव है। किसी-किसीके मतमें उनके सम्पूर्ण शरीरका आधा भाग 'अग्नि' और आधा भाग 'सोम' कहलाता है ॥ १४१ ॥

तैजसी महती दीप्ता देवेभ्योऽस्य शिवा तनुः।
भास्वती मानुषेष्वस्य तनुर्घोराग्निरुच्यते ॥१४२॥

उनका जो शिव शरीर है, वह तेजोमय और परम कान्तिमान् है। वह देवताओंके उपयोगमें आता है तथा मनुष्यलोकमें उनका प्रकाशमान घोर शरीर 'अग्नि' कहलाता है॥

ब्रह्मचर्यं चरत्येष शिवा यास्य तनुस्तया।
यास्य घोरतरा मूर्तिः सर्वानत्ति तयेश्वरः ॥१४३॥

उनकी जो शिव मूर्ति है, वह जगत्‌की रक्षाके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करती है और उनकी जो घोरतर मूर्ति है, उसके द्वारा भगवान् शङ्कर सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करते हैं ॥

यन्निर्दहति यत् तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान्।
मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते ॥१४४॥

ये प्रतापी देवता प्रलयकालमें अत्यन्त तीक्ष्ण एवं उग्र रूप धारण करके सबको दग्ध कर डालते हैं और प्राणियोंके रक्त, मांस एवं मज्जाको भी भक्षण करते हैं; अतः रौद्रभावके कारण 'रुद्र' कहलाते हैं ॥ १४४ ॥

एष देवो महादेवो योऽसौ पार्थ तवाग्रतः।
संग्रामे शात्रवान् निघ्नंस्त्वया दृष्टः पिनाकधृक्॥१४५॥

अर्जुन ! संग्रामभूमिमें जो तुम्हारे आगे शत्रुओंका संहार करते हुए दिखायी दिये हैं, वे ये ही पिनाकधारी भगवान् महादेव हैं ॥ १४५ ॥

सिन्धुराजवधार्थाय प्रतिज्ञाते त्वयानघ।
कृष्णेन दर्शितः स्वप्ने यस्तु शैलेन्द्रमूर्धनि ॥१४६॥
एष वै भगवान् देवः संग्रामे याति तेऽग्रतः।
येन दत्तानि तेऽस्त्राणि यैस्त्वया दानवा हताः ॥१४७॥

निष्पाप अर्जुन ! जब तुमने सिंधुराजके वधकी प्रतिज्ञा की थी, उस समय स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हें गिरिराजके शिखरपर जिनका दर्शन कराया था, ये वे ही भगवान् शङ्कर संग्राममें तुम्हारे आगे-आगे चल रहे हैं । उन्होंने ही तुम्हें वे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनके द्वारा तुमने दानवोंका संहार किया है ॥ १४६-१४७ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
देवदेवस्य ते पार्थ व्याख्यातं शतरुद्रियम् ॥१४८॥

पार्थ ! यह देवाधिदेव भगवान् शिवके 'शतरुद्रिय' स्तोत्रकी व्याख्या की गयी है। यह स्तोत्र वेदोंके समान परम पवित्र तथा धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है॥१४८॥

सर्वार्थसाधनं पुण्यं सर्वकिल्बिषनाशनम्।
सर्वपापप्रशमनं सर्वदुःखभयापहम् ॥१४९॥

इसके पाठसे सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है। यह पवित्र स्तोत्र सम्पूर्ण किल्बिषोंका नाशक, सब पापोंका निवारक तथा सब प्रकारके दुःख और भयको दूर करनेवाला है ॥ १४९ ॥

चतुर्विधमिदं स्तोत्रं यः शृणोति नरः सदा।
विजित्य शत्रून् सर्वान् स रुद्रलोके महीयते ॥१५०॥

जो मनुष्य भगवान् शङ्करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश और निर्गुण निराकार—इन चतुर्विध स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले इस स्तोत्रको सदा सुनता है, वह सम्पूर्ण शत्रुओंको जीतकर रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १५० ॥

चरितं महात्मनो नित्यं सांग्रामिकमिदं स्मृतम्।
पठन् वै शतरुद्रीयं शृण्वंश्च सततोत्थितः ॥१५१॥
भक्तो विश्वेश्वरं देवं मानुषेषु च यः सदा।
वरान् कामान् स लभते प्रसन्ने त्र्यम्बके नरः ॥१५२॥

परमात्मा शिवका यह चरित सदा संग्राममें विजय दिलानेवाला है, जो सदा उद्यत रहकर शतरुद्रियको पढ़ता और सुनता है तथा मनुष्योंमें जो कोई भी निरन्तर भगवान् विश्वेश्वरका भक्तिभावसे भजन करता है, वह उन त्रिलोचनके प्रसन्न होनेपर समस्त उत्तम कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥

गच्छ युद्ध्यस्व कौन्तेय न तवास्ति पराजयः।
यस्य मन्त्री च गोप्ता च पार्श्वस्थो हि जनार्दनः ॥१५३॥

कुन्तीनन्दन ! जाओ, युद्ध करो। तुम्हारी पराजय नहीं

हो सकती; क्योंकि तुम्हारे मन्त्री, रक्षक और पार्श्ववर्ती साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ १५३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनं संख्ये पराशरसुतस्तदा।

जगाम भरतश्रेष्ठ यथागतमरिंदम ॥१५४॥

संजय कहते हैं—शत्रुओंका दमन करनेवाले भरतश्रेष्ठ! युद्धस्थलमें अर्जुनसे ऐसा कहकर पराशरनन्दन व्यासजी जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ १५४ ॥

युद्धं कृत्वा महद् घोरं पञ्चाहानि महाबलः ।
ब्राह्मणो निहतो राजन् ब्रह्मलोकमवाप्तवान् ॥१५५॥

राजन्! पाँच दिनोंतक अत्यन्त घोर युद्ध करके महाबली ब्राह्मण द्रोणाचार्य मारे गये और ब्रह्मलोकमें चले गये ॥

स्वधीते यत् फलं वेदे तदस्मिन्नपि पर्वणि ।
क्षत्रियाणामभीरूणां युक्तमत्र महद् यशः ॥१५६॥

वेदोंके स्वाध्यायसे जो फल मिलता है, वही इस पर्वके पाठ और श्रवणसे भी प्राप्त होता है । इसमें निर्भय होकर युद्ध करनेवाले वीर क्षत्रियोंके महान् यशका वर्णन है ॥१५६॥

य इदं पठते पर्व शृणुयाद् वापि नित्यशः ।
स मुच्यते महापापैः कृतैर्घोरैश्च कर्मभिः ॥१५७॥

जो प्रतिदिन इस पर्वको पढ़ता अथवा सुनता है, वह पहलेके किये हुए बड़े-बड़े पापों तथा घोर कर्मोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १५७ ॥

यज्ञावाप्तिर्ब्राह्मणस्येह नित्यं
घोरे युद्धे क्षत्रियाणां यशश्च ।
शेषौ वर्णौ काममिष्टं लभेते
पुत्रान् पौत्रान् नित्यमिष्टांस्तथैव ॥१५८॥

इसको प्रतिदिन पढ़ने और सुननेसे ब्राह्मणको यज्ञका फल प्राप्त होता है, क्षत्रियोंको घोर युद्धमें सुयशकी प्राप्ति होती है, शेष दो वर्णके लोगोंको भी पुत्र, पौत्र आदि अभीष्ट एवं प्रिय वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं ॥ १५८ ॥

इति श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत द्रोणपर्वके अन्तर्गत नारायणास्त्रमोक्षपर्वमें दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

द्रोणपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द (अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—९३७९॥	(२९१॥)	४००॥।–	९७८०।–
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—१३०	(५)	६॥।=	१३६॥।=
द्रोणपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या			९९१७ॾ

श्रवण-महिमा

स्वधीते यत् फलं वेदे तदस्मिन्नपि पर्वणि ।
क्षत्रियाणामभीरूणां युक्तमत्र महद् यशः ॥ १ ॥
य इदं पठते पर्व शृणुयाद् वापि नित्यशः ।
स मुच्यते महापापैः कृतैर्घोरैश्च कर्मभिः ॥ २ ॥

यज्ञावाप्तिर्ब्राह्मणस्येह नित्यं
घोरे युद्धे क्षत्रियाणां यशश्च ।
शेषौ वर्णौ काममिष्टं लभेते
पुत्रान् पौत्रान् नित्यमिष्टांस्तथैव ॥ ३ ॥

कर्ण और अर्जुनका युद्ध

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

कर्णपर्व

प्रथमोऽध्यायः

कर्णवधका संक्षिप्त वृत्तान्त सुनकर जनमेजयका वैशम्पायनजीसे उसे विस्तारपूर्वक कहनेका अनुरोध

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणे हते राजन् दुर्योधनमुखा नृपाः।
भृशमुद्विग्नमनसो द्रोणपुत्रमुपागमन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रोणाचार्यके मारे जानेपर दुर्योधन आदि राजाओंका मन अत्यन्त उद्विग्न हो गया था। वे सब-के-सब द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके पास आये॥ १॥

ते द्रोणमनुशोचन्तः कश्मलाभिहतौजसः।
पर्युपासन्त शोकार्तास्ततः शारद्वतीसुतम्॥ २॥

मोहवश उनका बल और उत्साह नष्ट-सा हो गया था। वे द्रोणाचार्यके लिये बारंबार चिन्ता करते हुए शोकसे व्याकुल हो कृपीकुमार अश्वत्थामाके पास उसके चारों ओर बैठ गये॥ २॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्य हेतुभिः शास्त्रसम्मितैः।
रात्र्यागमे महीपालाः स्वानि वेश्मानि भेजिरे॥ ३॥

वे शास्त्रानुकूल युक्तियोंद्वारा दो घड़ीतक अश्वत्थामाको सान्त्वना देते रहे। फिर रात हो जानेपर समस्त भूपाल अपने-अपने शिबिरमें चले गये॥ ३॥

ते वेश्मस्वपि कौरव्य पृथ्वीशा नाप्नुवन् सुखम्।
चिन्तयन्तः क्षयं तीव्रं दुःखशोकसमन्विताः॥ ४॥

कुरुनन्दन! शिबिरोंमें भी वे भूपगण सुख न पा सके। संग्राममें जो घोर विनाश हुआ था, उसका चिन्तन करते हुए दुःख और शोकमें डूब गये॥ ४॥

विशेषतः सूतपुत्रो राजा चैव सुयोधनः।
दुःशासनश्च शकुनिः सौबलश्च महाबलः॥ ५॥
उषितास्ते निशां तां तु दुर्योधननिवेशने।
चिन्तयन्तः परिक्लेशान् पाण्डवानां महात्मनाम्॥ ६॥

विशेषतः सूतपुत्र कर्ण, राजा दुर्योधन, दुःशासन तथा महाबली सुबलपुत्र शकुनि—ये चारों उस रातको दुर्योधनके ही शिबिरमें रहे और महात्मा पाण्डवोंको जो बड़े-बड़े क्लेश दिये गये थे, उनका चिन्तन करते रहे॥ ५-६॥

यत् तद् द्यूते परिक्लिष्टा कृष्णा चानायिता सभाम्।
तत् स्मरन्तोऽनुशोचन्तो भृशमुद्विग्नचेतसः॥ ७॥

द्यूत-क्रीडाके समय जो द्रुपदकुमारी कृष्णाको सभामें लाया गया और उसे सर्वथा क्लेश पहुँचाया गया, उसका बारंबार स्मरण करके वे शोकमग्न हो जाते और मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठते थे॥ ७॥

तथा तु संचिन्तयतां तान् क्लेशान् द्यूतकारितान्।
दुःखेन क्षणदा राजन् जगामाब्दशतोपमा॥ ८॥

राजन्! इस प्रकार पाण्डवोंको जूएके द्वारा प्राप्त कराये गये उन क्लेशोंका चिन्तन करते-करते उनकी वह रात सौ वर्षोंके समान बड़े कष्टसे व्यतीत हुई॥ ८॥

ततः प्रभाते विमले स्थिता दिष्टस्य शासने।
चक्रुरावश्यकं सर्वे विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ९॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकाल आनेपर दैवके अधीन हुए समस्त कौरवोंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार शौच, स्नान, संध्या-वन्दन आदि आवश्यक कार्य पूर्ण किया॥ ९॥

ते कृत्वावश्यकार्याणि समाश्वस्य च भारत।
योगमाज्ञापयामासुर्युद्धाय च विनिर्ययुः॥ १०॥
कर्णं सेनापतिं कृत्वा कृतकौतुकमङ्गलाः।
पूजयित्वा द्विजश्रेष्ठान् दधिपात्रघृताक्षतैः॥ ११॥
गोभिरश्वैश्च निष्कैश्च वासोभिश्च महाधनैः।
वन्द्यमाना जयाशीर्भिः सूतमागधवन्दिभिः॥ १२॥

भरतनन्दन ! प्रतिदिनके आवश्यक कार्य सम्पन्न करके आश्वस्त हो उन्होंने सैनिकोंको कवच आदि धारण करके तैयार हो जानेकी आज्ञा दी तथा कौतुक एवं माङ्गलिक कृत्य पूर्ण करके कर्णको सेनापति बनाकर वे सब-के-सब दही, पात्र, घृत, अक्षत, गौ, अश्व, कण्ठभूषण तथा बहुमूल्य वस्त्रोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करके सूत, मागध और वन्दीजनोंद्वारा विजयसूचक आशीर्वादोंसे अभिवन्दित हो युद्धके लिये निकले ॥१०–१२॥

तथैव पाण्डवा राजन् कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः।
शिबिरान्निर्ययुस्तूर्णं युद्धाय कृतनिश्चयाः ॥ १३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार पाण्डव भी पूर्वाह्णमें किये जानेवाले नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करके तुरंत ही शिबिरसे बाहर निकले। उन्होंने युद्धके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ १३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
कुरूणां पाण्डवानां च परस्परजयैषिणाम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले कौरवों और पाण्डवोंमें भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हो गया ॥ १४ ॥

तयोर्द्वौ दिवसौ युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः।
कर्णे सेनापतौ राजन् बभूवाद्भुतदर्शनम् ॥ १५ ॥

राजन् ! कर्णके सेनापति हो जानेपर उन कौरव-पाण्डव सेनाओंमें दो दिनोंतक अद्भुत युद्ध हुआ ॥ १५ ॥

ततः शत्रुक्षयं कृत्वा सुमहान्तं रणे वृषः।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां फाल्गुनेन निपातितः ॥ १६ ॥

उस युद्धमें शत्रुओंका महान् संहार करके कर्ण धृतराष्ट्र-पुत्रोंके देखते-देखते अर्जुनके हाथसे मारा गया ॥ १६ ॥

ततस्तु संजयः सर्वं गत्वा नागपुरं द्रुतम्।
आचष्ट धृतराष्ट्राय यद् वृत्तं कुरुजाङ्गले ॥ १७ ॥

तदनन्तर संजयने तुरंत हस्तिनापुरमें जाकर कुरुक्षेत्रमें जो घटना घटित हुई थी, वह सब धृतराष्ट्रसे कह सुनायी ॥

जनमेजय उवाच

आपगेयं हतं श्रुत्वा द्रोणं चापि महारथम्।
आजगाम परामार्तिं वृद्धो राजाम्बिकासुतः ॥ १८ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! गङ्गानन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणको मारा गया सुनकर ही बूढ़े राजा अम्बिका-नन्दन धृतराष्ट्रको बड़ी भारी वेदना हुई थी ॥ १८ ॥

स श्रुत्वा निहतं कर्णं दुर्योधनहितैषिणम्।
कथं द्विजवर प्राणानधारयत दुःखितः ॥ १९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! फिर दुर्योधनके हितैषी कर्णके मारे जानेका समाचार सुनकर अत्यन्त दुखी हो उन्होंने अपने प्राण कैसे धारण किये ? ॥ १९ ॥

यस्मिञ्जयाशां पुत्राणां सममन्यत पार्थिवः।
तस्मिन् हते स कौरव्यः कथं प्राणानधारयत् ॥ २० ॥

कुरुवंशी राजाने जिसके ऊपर अपने पुत्रोंकी विजयकी आशा बाँध रक्खी थी, उसके मारे जानेपर उन्होंने कैसे प्राण धारण किये ? ॥ २० ॥

दुर्मरं तदहं मन्ये नृणां कृच्छ्रेऽपि वर्तताम्।
यत्र कर्णं हतं श्रुत्वा नात्यजज्जीवितं नृपः ॥ २१ ॥

मैं समझता हूँ कि बड़े भारी संकटमें पड़ जानेपर भी मनुष्योंके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है, तभी तो कर्णवधका वृत्तान्त सुनकर भी राजा धृतराष्ट्रने इस जीवनका त्याग नहीं किया ॥ २१ ॥

तथा शान्तनवं वृद्धं ब्रह्मन् बाह्लीकमेव च।
द्रोणं च सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ॥ २२ ॥
तथैव चान्यान् सुहृदः पुत्रान् पौत्रांश्च पातितान्।
श्रुत्वा यन्नाजहात् प्राणांस्तन्मन्ये दुष्करं द्विज ॥ २३ ॥

ब्रह्मन् ! उन्होंने वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म, बाह्लीक, द्रोण, सोमदत्त तथा भूरिश्रवाको और अन्यान्य सुहृदों, पुत्रों एवं पौत्रोंको भी शत्रुओंद्वारा मारा गया सुनकर भी जो अपने प्राण नहीं छोड़े, उससे मुझे यही मालूम होता है कि मनुष्यके लिये स्वेच्छापूर्वक मरना बहुत कठिन है ॥

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामुने।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ २४ ॥

महामुने ! यह सारा वृत्तान्त आप मुझसे विस्तारपूर्वक कहें । मैं अपने पूर्वजोंका महान् चरित्र सुनकर तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि जनमेजयवाक्यं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें जनमेजयवाक्यनामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

वैशम्पायन उवाच

हते कर्णे महाराज निशि गावल्गणिस्तदा।
दीनो ययौ नागपुरमश्वैर्वातसमैर्जवे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! कर्णके मारे जानेपर गवल्गणपुत्र संजय अत्यन्त दुखी हो वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा उसी रातमें हस्तिनापुर जा पहुँचे ॥

स हास्तिनपुरं गत्वा भृशमुद्विग्नचेतनः ।
जगाम धृतराष्ट्रस्य क्षयं प्रक्षीणबान्धवम् ॥ २ ॥

उस समय उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो रहा था । हस्तिनापुरमें पहुँचकर वे धृतराष्ट्रके उस महलमें गये, जहाँ रहनेवाले बन्धु-बान्धव प्रायः नष्ट हो चुके थे ॥

स तमुद्वीक्ष्य राजानं कश्मलाभिहतौजसम् ।
ववन्दे प्राञ्जलिर्भूत्वा मूर्ध्ना पादौ नृपस्य ह ॥ ३ ॥

मोहवश जिनके बल और उत्साह नष्ट हो गये थे, उन राजा धृतराष्ट्रका दर्शन करके संजयने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर हाथ जोड़ प्रणाम किया ॥ ३ ॥

सम्पूज्य च यथान्यायं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।
हा कष्टमिति चोक्त्वा स ततो वचनमाददे ॥ ४ ॥

राजा धृतराष्ट्रका यथायोग्य सम्मान करके संजयने 'हाय ! बड़े कष्टकी बात है' ऐसा कहकर फिर इस प्रकार वार्तालाप आरम्भ किया—॥ ४ ॥

संजयोऽहं क्षितिपते कच्चिदास्ते सुखं भवान् ।
स्वदोषैरापदं प्राप्य कच्चिन्नाद्य विमुह्यति ॥ ५ ॥

'पृथ्वीनाथ ! मैं संजय हूँ । आप सुखसे तो हैं न ? अपने ही अपराधोंसे विपत्तिमें पड़कर आज आप मोहित तो नहीं हो रहे हैं ? ॥ ५ ॥

हितान्युक्तानि विदुरद्रोणगाङ्गेयकेशवैः ।
अगृहीतान्यनुस्मृत्य कच्चिन्न कुरुषे व्यथाम् ॥ ६ ॥

'विदुर, द्रोणाचार्य, भीष्म और श्रीकृष्णके कहे हुए हितकारक वचन आपने स्वीकार नहीं किये थे । अब उन वचनोंको बारंबार याद करके क्या आपको व्यथा नहीं होती है ? ॥ ६ ॥

रामनारदकण्वाद्यैर्हितमुक्तं सभातले ।
न गृहीतमनुस्मृत्य कच्चिन्न कुरुषे व्यथाम् ॥ ७ ॥

'सभामें परशुराम, नारद और महर्षि कण्व आदिकी कही हुई हितकर बातें आपने नहीं मानी थीं । अब उन्हें स्मरण करके क्या आपके मनमें कष्ट नहीं हो रहा है ? ॥७॥

सुहृदस्त्वद्धिते युक्तान् भीष्मद्रोणमुखान् परैः ।
निहतान् युधि संस्मृत्य कच्चिन्न कुरुषे व्यथाम् ॥ ८ ॥

'आपके हितमें लगे हुए भीष्म, द्रोण आदि जो सुहृद् युद्धमें शत्रुओंके हाथसे मारे गये हैं, उन्हें याद करके क्या आप व्यथाका अनुभव नहीं करते हैं ?' ॥ ८ ॥

तमेवंवादिनं राजा सूतपुत्रं कृताञ्जलिम् ।
सुदीर्घमथ निःश्वस्य दुःखार्त इदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हाथ जोड़कर ऐसी बातें कहनेवाले सूतपुत्र संजयसे दुःखातुर राजा धृतराष्ट्रने लंबी साँस खींचकर इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आपगेये हते शूरे दिव्यास्त्रवति संजय ।
द्रोणे च परमेष्वासे भृशं मे व्यथितं मनः ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता शूरवीर गङ्गानन्दन भीष्म तथा महाधनुर्धर द्रोणाचार्यके मारे जानेसे मेरे मनमें बड़ी भारी व्यथा हो रही है ॥ १० ॥

यो रथानां सहस्राणि दंशितानां दशैव तु ।
अहन्यहनि तेजस्वी निजघ्ने वसुसम्भवः ॥ ११ ॥
तं हतं यज्ञसेनस्य पुत्रेणेह शिखण्डिना ।
पाण्डवेयाभिगुप्तेन श्रुत्वा मे व्यथितं मनः ॥ १२ ॥

जो तेजस्वी भीष्म साक्षात् वसुके अवतार थे और युद्धमें प्रतिदिन दस हजार कवचधारी रथियोंका संहार करते थे । उन्हींको यहाँ पाण्डुपुत्र अर्जुनसे सुरक्षित द्रुपदकुमार शिखण्डीने मार डाला है, यह सुनकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हो रही है ॥ ११-१२ ॥

भार्गवः प्रददौ यस्मै परमास्त्रं महात्मने ।
साक्षाद् रामेण यो बाल्ये धनुर्वेद उपाकृतः ॥ १३ ॥
यस्य प्रसादात् कौन्तेया राजपुत्रा महारथाः ।
महारथत्वं सम्प्राप्तास्तथान्ये वसुधाधिपाः ॥ १४ ॥
तं द्रोणं निहतं श्रुत्वा धृष्टद्युम्नेन संयुगे ।
सत्यसंधं महेष्वासं भृशं मे व्यथितं मनः ॥ १५ ॥

जिन महात्माको भृगुनन्दन परशुरामने उत्तम अस्त्र प्रदान किया था, जिन्हें बाल्यावस्थामें धनुर्वेदकी शिक्षा देनेके लिये साक्षात् परशुरामजीने अपना शिष्य बनाया था, जिनकी कृपासे कुन्तीके पुत्र राजकुमार पाण्डव महारथी हो गये तथा अन्यान्य नरेशोंने भी महारथी कहलानेकी योग्यता प्राप्त की थी, उन्हीं सत्य-प्रतिज्ञ महाधनुर्धर द्रोणाचार्यको युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नके हाथसे मारा गया सुनकर मेरे मनमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ १३–१५ ॥

ययोर्लोके पुमानस्त्रे न समोऽस्ति चतुर्विधे ।
तौ द्रोणभीष्मौ श्रुत्वा तु हतौ मे व्यथितं मनः ॥ १६ ॥

संसारमें चार[1] प्रकारके अस्त्रोंकी विद्यामें जिनकी

---

१. अस्त्रोंके चार भेद इस प्रकार हैं—मुक्त, अमुक्त, यन्त्र-मुक्त तथा मुक्तामुक्त । जो धनुष या हाथसे शत्रुपर फेंके जाते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं, जैसे बाण आदि । जिन्हें हाथमें लिये हुए ही प्रहार किया जाता है, उन अस्त्रोंको अमुक्त कहते हैं, जैसे तलवार आदि । जो यन्त्रसे फेंके जाते हैं, वे यन्त्रमुक्त कहलाते हैं, जैसे गोला आदि । तथा जिस अस्त्रको छोड़कर पुनः उसका उपसंहार किया जाता है, अर्थात् जो शत्रुपर चोट करके पुनः प्रयोग करनेवालेके हाथमें आ जाते हैं, वे मुक्तामुक्त कहलाते हैं, जैसे श्रीकृष्णका सुदर्शन चक्र और इन्द्रका वज्र आदि ।

समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है, उन्हीं द्रोणाचार्य और भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे मनमें बड़ा दुःख हो रहा है ॥ १६ ॥

त्रैलोक्ये यस्य चास्त्रेषु न पुमान् विद्यते समः ।
तं द्रोणं निहतं श्रुत्वा किमकुर्वत मामकाः ॥ १७ ॥

तीनों लोकोंमें दूसरा कोई पुरुष जिनके समान अस्त्रवेत्ता नहीं है, उन द्रोणाचार्यको मारा गया सुनकर मेरे पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १७ ॥

संशप्तकानां च बले पाण्डवेन महात्मना ।
धनंजयेन विक्रम्य गमिते यमसादनम् ॥ १८ ॥
नारायणास्त्रे च हते द्रोणपुत्रस्य धीमतः ।
विप्रद्रुतेष्वनीकेषु किमकुर्वत मामकाः ॥ १९ ॥

महात्मा पाण्डुपुत्र अर्जुनने पराक्रम करके संशप्तकोंकी सारी सेनाको यमलोक पहुँचा दिया और बुद्धिमान् द्रोणकुमार अश्वत्थामाका नारायणास्त्र भी जब शान्त हो गया, उस समय अपनी सेनाओंमें भगदड़ मच जानेपर मेरे पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १८-१९ ॥

विप्रद्रुतानहं मन्ये निमग्नाञ्शोकसागरे ।
प्लवमानान् हते द्रोणे सन्ननौकानिवार्णवे ॥ २० ॥

मैं तो समझता हूँ, द्रोणाचार्यके मारे जानेपर मेरे सारे सैनिक भाग चले होंगे, शोकके समुद्रमें डूब गये होंगे, उनकी दशा समुद्रमें नाव मारी जानेपर वहाँ हाथोंसे तैरनेवाले मनुष्यों-के समान संकटपूर्ण हो गयी होगी ॥ २० ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य भोजस्य कृतवर्मणः ।
मद्रराजस्य शल्यस्य द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥ २१ ॥
मत्पुत्रस्य च शेषस्य तथान्येषां च संजय ।
विप्रद्रुतेष्वनीकेषु मुखवर्णोऽभवत् कथम् ॥ २२ ॥

संजय ! जब सारी सेनाएँ भाग गयीं, तब दुर्योधन, कर्ण, भोजवंशी कृतवर्मा, मद्रराज शल्य, द्रोणकुमार अश्वत्थामा, कृपाचार्य, मरनेसे बचे हुए मेरे पुत्र तथा अन्य लोगोंके मुखकी कान्ति कैसी हो गयी थी ? ॥ २१-२२ ॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं तथा गावल्गणे मम ।
आचक्ष्व पाण्डवेयानां मामकानां च विक्रमम् ॥ २३ ॥

गवल्गणकुमार ! मेरे तथा पाण्डुके पुत्रोंके पराक्रमसे सम्बन्ध रखनेवाला यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे मुझे कह सुनाओ ॥ २३ ॥

संजय उवाच

तवापराधाद् यद् वृत्तं कौरवेयेषु मारिष ।
तच्छ्रुत्वा मा व्यथां कार्षीर्दिष्टे न व्यथते बुधः॥ २४ ॥

संजयने कहा—माननीय नरेश ! आपके अपराधसे कौरवोंपर जो कुछ बीता है, उसे सुनकर दुःख न मानियेगा; क्योंकि दैववश जो दुःख प्राप्त होता है, उससे विद्वान् पुरुष व्यथित नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

यस्मादभावी भावी वा भवेदर्थो नरं प्रति ।
अप्राप्तौ तस्य वा प्राप्तौ न कश्चिद् व्यथते बुधः॥ २५ ॥

प्रारब्धवश मनुष्यको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो भी जाती है और नहीं भी होती है। अतः उसकी प्राप्ति हो या न हो, किसी भी दशामें कोई ज्ञानी पुरुष (हर्ष या) कष्टका अनुभव नहीं करता है ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न व्यथाभ्यधिका काचिद् विद्यते मम संजय ।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये कथयस्व यथेच्छकम् ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मुझे इससे अधिक कोई व्यथा नहीं होगी, मैं पहलेसे ही ऐसा मानता हूँ कि यह अवश्यंभावी दैवका विधान है; अतः तुम इच्छानुसार सारा वृत्तान्त कहो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें धृतराष्ट्र-संजयसंवादविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाको आश्वासन देना तथा सेनापति कर्णके युद्ध और वधका संक्षिप्त वृत्तान्त

संजय उवाच

हते द्रोणे महेष्वासे तव पुत्रा महारथाः ।
बभूवुरस्वस्थमुखा विषण्णा गतचेतसः ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज ! महाधनुर्धर द्रोणाचार्यके मारे जानेपर आपके महारथी पुत्र विषादग्रस्त और अचेत-से हो गये । उनके मुखपर अस्वस्थताका चिह्न स्पष्ट दिखायी देने लगा ॥ १ ॥

अवाङ्मुखाः शस्त्रभृतः सर्व एव विशाम्पते ।
अप्रेक्षमाणाः शोकार्ता नाभ्यभाषन् परस्परम् ॥ २ ॥

प्रजानाथ ! सभी शस्त्रधारी सैनिक मुँह नीचे किये शोकसे व्याकुल हो गये। वे एक दूसरेकी ओर न तो देखते थे और न बात ही करते थे ॥ २ ॥

तान् दृष्ट्वा व्यथिताकारान् सैन्यानि तव भारत ।
ऊर्ध्वमेव निरैक्षन्त दुःखत्रस्तान्यनेकशः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! उन सबको विषादमें डूबा हुआ देख

आपकी अनेक सेनाएँ भी दुःखसे संत्रस्त हो ऊपरकी ओर ही दृष्टिपात करने लगीं ॥ ३ ॥

शस्त्राण्येषां तु राजेन्द्र शोणिताक्तानि सर्वशः ।
प्राभ्रश्यन्त कराग्रेभ्यो दृष्ट्वा द्रोणं हतं युधि ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! युद्धमें द्रोणाचार्यको मारा गया देख खूनसे रँगे हुए इन सैनिकोंके शस्त्र हाथोंसे छूटकर गिर पड़े ॥ ४ ॥

तानि बद्धान्यरिष्टानि लम्बमानानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ५ ॥

भरतवंशी महाराज ! कमर आदिमें बँधकर लटकते हुए वे अस्त्र-शस्त्र आकाशसे टूटते हुए नक्षत्रोंके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ५ ॥

तथा तु स्तिमितं दृष्ट्वा गतसत्त्वमवस्थितम् ।
बलं तव महाराज राजा दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपकी सेनाको प्राणहीन-सी निश्चल खड़ी देख राजा दुर्योधनने कहा—॥ ६ ॥

भवतां बाहुवीर्यं हि समाश्रित्य मया युधि ।
पाण्डवेयाः समाहूता युद्धं चेदं प्रवर्तितम् ॥ ७ ॥

'वीरो ! आपलोगोंके बाहुबलका भरोसा करके मैंने युद्धके लिये पाण्डवोंको ललकारा है और यह युद्ध आरम्भ किया है ॥ ७ ॥

तदिदं निहते द्रोणे विषण्णमिव लक्ष्यते ।
युध्यमानाश्च समरे योधा वध्यन्ति सर्वशः ॥ ८ ॥
जयो वापि वधो वापि युध्यमानस्य संयुगे ।
भवेत् किमत्र चित्रं वै युध्यध्वं सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

'परंतु द्रोणाचार्यके मारे जानेपर यह सारी सेना विषादमें डूबी हुई-सी दिखायी देती है । समरभूमिमें युद्ध करनेवाले प्रायः सभी योद्धा शत्रुओंके हाथसे मारे जाते हैं । रणभूमिमें जूझनेवाले वीरको कभी विजय भी प्राप्त होती है और कभी उसका वध भी हो जाता है । इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? अतः आपलोग सब ओर मुँह करके उत्साहपूर्वक युद्ध करें ॥ ८-९ ॥

पश्यध्वं च महात्मानं कर्णं वैकर्तनं युधि ।
प्रचरन्तं महेष्वासं दिव्यैरस्त्रैर्महाबलम् ॥ १० ॥

'देखिये, महामना, महाधनुर्धर और महाबली वैकर्तन कर्ण अपने दिव्यास्त्रोंके साथ किस प्रकार युद्धमें विचर रहा है ? ॥ १० ॥

यस्य वै युधि संत्रासात् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
निवर्तते सदा मन्दः सिंहात् क्षुद्रमृगो यथा ॥ ११ ॥

'जिसके भयसे वह कुन्तीका मूर्ख पुत्र अर्जुन सदा उसी प्रकार मुँह मोड़ लेता है, जैसे सिंहके सामनेसे क्षुद्र मृग भाग जाता है ॥ ११ ॥

येन नागायुतप्राणो भीमसेनो महाबलः ।
मानुषेणैव युद्धेन तामवस्थां प्रवेशितः ॥ १२ ॥

'जिसने दस हजार हाथियोंके समान बलवाले महाबली भीमसेनको मानव-युद्धके द्वारा ही वैसी दुरवस्थामें डाल दिया था ॥ १२ ॥

येन दिव्यास्त्रविच्छूरो मायावी स घटोत्कचः ।
अमोघया रणे शक्त्या निहतो भैरवं नदन् ॥ १३ ॥

'जिसने रणभूमिमें भयंकर गर्जना करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता, शूरवीर मायावी घटोत्कचको अपनी अमोघ शक्तिसे मार डाला था ॥ १३ ॥

तस्य दुर्वारवीर्यस्य सत्यसंधस्य धीमतः ।
बाह्वोर्द्रविणमक्षय्यमद्य द्रक्ष्यथ संयुगे ॥ १४ ॥

'जिसके पराक्रमको रोकना अत्यन्त कठिन है, उस सत्यप्रतिज्ञ बुद्धिमान् कर्णके अक्षय बाहुबलको आज आप लोग समराङ्गणमें देखेंगे ॥ १४ ॥

द्रोणपुत्रस्य विक्रान्तं राधेयस्यैव चोभयोः ।
पश्यन्तु पाण्डुपुत्रास्ते विष्णुवासवयोरिव ॥ १५ ॥

'आज पाण्डव भगवान् विष्णु और इन्द्रके समान शक्तिशाली द्रोणपुत्र तथा राधापुत्र दोनोंके पराक्रमको देखें ॥

सर्व एव भवन्तश्च शक्ताः प्रत्येकशोऽपि वा ।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥ १६ ॥
वीर्यवन्तः कृतास्त्राश्च द्रक्ष्यथाद्य परस्परम् ।

'आप सभी योद्धाओंमेंसे प्रत्येक वीर रणभूमिमें सेनासहित पाण्डवोंको मार डालनेकी शक्ति रखता है । फिर जब आपलोग संगठित होकर युद्ध करें तो क्या नहीं कर सकते हैं ? आप पराक्रमी और अस्त्रविद्याके विद्वान् हैं; अतः आज एक दूसरेको अपना-अपना पुरुषार्थ दिखावें' ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततः कर्णं चक्रे सेनापतिं तदा ।
तव पुत्रो महावीर्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—निष्पाप नरेश ! ऐसा कहकर आपके महापराक्रमी पुत्र दुर्योधनने अपने भाइयोंके साथ मिलकर कर्णको सेनापति बनाया ॥ १७ ॥

सैनापत्यमथावाप्य कर्णो राजन् महारथः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः प्रायुध्यत रणोत्कटः ॥ १८ ॥

राजन् ! सेनापतिका पद पाकर महारथी कर्ण उच्चस्वरसे सिंहनाद करके रणोन्मत्त होकर युद्ध करने लगा ॥

स सृंजयानां सर्वेषां पञ्चालानां च मारिष ।
केकयानां विदेहानां चकार कदनं महत् ॥ १९ ॥

मान्यवर ! उसने समस्त सृंजयों, पाञ्चालों, केकयों और विदेहोंका महान् संहार किया ॥ १९ ॥

तस्येषुधाराः शतशः प्रादुरासञ्छरासनात् ।

अग्रे पुङ्खे च संसक्ता यथा भ्रमरपङ्क्तयः ॥ २० ॥

उसके धनुषसे सैकड़ों बाणधाराएँ, जो अग्रभाग और पुच्छभागमें परस्पर सटी हुई थीं, भ्रमरपंक्तियोंके समान प्रकट होने लगीं ॥ २० ॥

स पीडयित्वा पञ्चालान् पाण्डवांश्च तरस्विनः ।
हत्वा सहस्रशो योधानर्जुनेन निपातितः ॥ २१ ॥

वह पाञ्चालों और वेगशाली पाण्डवोंको पीड़ित करके सहस्रों योद्धाओंको मारकर अन्तमें अर्जुनके हाथसे मारा गया ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संजयवाक्यं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संजयवाक्यनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका शोक और समस्त स्त्रियोंकी व्याकुलता

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
शोकस्यान्तमपश्यन् वै हतं मेने सुयोधनम् ॥ १ ॥
विह्वलः पतितो भूमौ नष्टचेता इव द्विपः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! यह सुनकर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने यह मान लिया कि अब दुर्योधन भी मारा ही गया । उन्हें अपने शोकका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था । वे अचेत हुए हाथीके समान व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १½ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ विह्वले राजसत्तमे ॥ २ ॥
आर्तनादो महानासीत् स्त्रीणां भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ धृतराष्ट्रके व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर जानेसे महलमें स्त्रियोंका महान् आर्तनाद गूँज उठा ॥ २½ ॥

स शब्दः पृथिवीं कृत्स्नां पूरयामास सर्वशः ॥ ३ ॥
शोकार्णवे महाघोरे निमग्ना भरतस्त्रियः ।
रुरुदुर्दुःखशोकार्ता भृशमुद्विग्नचेतसः ॥ ४ ॥

रोदनका वह शब्द वहाँके समूचे भूमण्डलमें व्याप्त हो गया । भरतकुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त घोर शोक-समुद्रमें डूब गयीं, उनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो गया और वे दुःख-शोकसे कातर हो फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ३-४ ॥

राजानं च समासाद्य गान्धारी भरतर्षभ ।
निःसंज्ञा पतिता भूमौ सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ ५ ॥

भरतभूषण ! गान्धारी देवी राजा धृतराष्ट्रके समीप आकर बेहोश हो भूमिपर गिर गयीं । अन्तःपुरकी सारी स्त्रियोंकी यही दशा हुई ॥ ५ ॥

ततस्ताः संजयो राजन् समाश्वासयदातुराः ।
मुह्यमानाः सुबहुशो मुञ्चन्त्यो वारि नेत्रजम् ॥ ६ ॥

राजन् ! तब संजयने नेत्रोंसे आँसूओंकी धारा बहाती हुई राजमहलकी उन बहुसंख्यक महिलाओंको, जो आतुर एवं मूर्छित हो रही थीं, धीरे-धीरे धीरज बँधाया ॥ ६ ॥

समाश्वस्ताः स्त्रियस्तास्तु वेपमाना मुहुर्मुहुः ।
कदल्य इव वातेन धूयमानाः समन्ततः ॥ ७ ॥

आश्वासन पाकर भी वे स्त्रियाँ चारों ओरसे वायुद्वारा हिलाये जाते हुए केलेके वृक्षोंकी भाँति बारंबार काँप रही थीं ॥

राजानं विदुरश्चापि प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
आश्वासयामास तदा सिञ्चंस्तोयेन कौरवम् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् विदुरने भी ऐश्वर्यशाली कुरुवंशी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रके ऊपर जल छिड़ककर उन्हें होशमें लानेकी चेष्टा की ॥ ८ ॥

स लब्ध्वा शनकैः संज्ञां ताश्च दृष्ट्वा स्त्रियो नृपः ।
उन्मत्त इव राजेन्द्र स्थितस्तूष्णीं विशाम्पते ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! प्रजानाथ ! धीरे-धीरे होशमें आनेपर धृतराष्ट्र अपने घरकी स्त्रियोंको वहाँ उपस्थित जान पागलके समान चुपचाप बैठे रह गये ॥ ९ ॥

ततो ध्यात्वा चिरं कालं निःश्वस्य च पुनः पुनः ।
स्वान् पुत्रान् गर्हयामास बहु मेने च पाण्डवान् ॥ १० ॥

तदनन्तर दीर्घकालतक चिन्ता करनेके पश्चात् वे बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने पुत्रोंकी निन्दा और पाण्डवोंकी अधिक प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥

गर्हयंश्चात्मनो बुद्धिं शकुनेः सौबलस्य च ।
ध्यात्वा तु सुचिरं कालं वेपमानो मुहुर्मुहुः ॥ ११ ॥

उन्होंने अपनी और सुबलपुत्र शकुनिकी बुद्धिको भी कोसा । फिर बहुत देरतक चिन्तामग्न रहनेके पश्चात् वे बारंबार काँपने लगे ॥ ११ ॥

संस्तभ्य च मनो भूयो राजा धैर्यसमन्वितः ।
पुनर्गावल्गणिं सूतं पर्यपृच्छत संजयम् ॥ १२ ॥

फिर मनको किसी तरह स्थिर करके राजाने धैर्य धारण किया और गवल्गणके पुत्र सारथि संजयसे इस प्रकार पूछा—॥

यत् त्वया कथितं वाक्यं श्रुतं संजय तन्मया ।
कच्चिद् दुर्योधनः सूत न गतो वै यमक्षयम् ॥ १३ ॥
जये निराशः पुत्रो मे सततं जयकामुकः ।
ब्रूहि संजय तत्त्वेन पुनरुक्तां कथामिमाम् ॥ १४ ॥

'संजय ! तुमने जो बात कही है, वह तो मैंने सुन ली, किंतु एक बात बताओ। निरन्तर विजयकी इच्छा रखनेवाला मेरा पुत्र दुर्योधन अपनी विजयसे निराश हो कहीं यमराजके लोकमें तो नहीं चला गया ? संजय ! तुम इस कही हुई बातको भी फिर यथार्थरूपसे कह सुनाओ' ॥ १३-१४ ॥

एवमुक्तोऽब्रवीत् सूतो राजानं जनमेजय ।
हतो वैकर्तनो राजन् सह पुत्रैर्महारथः ॥ १५ ॥
भ्रातृभिश्च महेष्वासैः सूतपुत्रैस्तनुत्यजैः ।

जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर सारथि संजय राजासे इस प्रकार बोला—'राजन् ! महारथी वैकर्तन कर्ण अपने पुत्रों तथा शरीरका मोह छोड़कर युद्ध करनेवाले महाधनुर्धर सूतजातीय भाइयोंके साथ मार डाला गया ॥ १५½ ॥

दुःशासनश्च निहतः पाण्डवेन यशस्विना ।
पीतं च रुधिरं कोपाद् भीमसेनेन संयुगे ॥ १६ ॥

'साथ ही यशस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने रणभूमिमें दुःशासनको मार दिया और क्रोधपूर्वक उसका खून भी पी लिया' ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धृतराष्ट्रशोको नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें धृतराष्ट्रका शोकनामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको कौरवपक्षके मारे गये प्रमुख वीरोंका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

इति श्रुत्वा महाराज धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत् संजयं सूतं शोकसंविग्नमानसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उपर्युक्त समाचार सुनकर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया । वे अपने सारथि संजयसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

दुष्प्रणीतेन मे तात पुत्रस्यादीर्घजीविनः ।
हतं वैकर्तनं श्रुत्वा शोको मर्माणि कृन्तति ॥ २ ॥

'तात ! अपने अल्पायु पुत्रके अन्यायसे वैकर्तन कर्णके मारे जानेका समाचार सुनकर जो शोक उमड़ आया है, वह मेरे मर्मस्थानोंको छेदे डालता है ॥ २ ॥

तस्य मे संशयं छिन्धि दुःखपारं तितीर्षतः ।
कुरूणां सृञ्जयानां च के च जीवन्ति के मृताः॥ ३ ॥

'मैं इस अपार दुःखसे पार पाना चाहता हूँ । तुम मेरे इस संदेहका निवारण करो कि कौरवों तथा संजयोंमेंसे कौन-कौन जीवित हैं और कौन-कौन मर गये हैं ?' ॥ ३ ॥

संजय उवाच

हतः शान्तनवो राजन् दुराधर्षः प्रतापवान् ।
हत्वा पाण्डवयोधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! दुर्जय एवं प्रतापी वीर शान्तनुनन्दन भीष्म दस दिनोंमें पाण्डवदलके दस करोड़ योद्धाओंका संहार करके मारे गये हैं ॥ ४ ॥

तथा द्रोणो महेष्वासः पञ्चालानां रथव्रजान् ।
निहत्य युधि दुर्धर्षः पश्चाद् रुक्मरथो हतः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार सुवर्णमय रथवाले दुर्धर्ष वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्य भी पाञ्चालरथियोंके समुदायोंका संहार करके मारे गये हैं ॥ ५ ॥

हतशेषस्य भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ।
अर्धं निहत्य सैन्यस्य कर्णो वैकर्तनो हतः ॥ ६ ॥

भीष्म और महात्मा द्रोणके मारनेसे जो पाण्डवसेना बच गयी थी, उसके आधे भागका विनाश करके वैकर्तन कर्ण मारा गया है ॥ ६ ॥

विविंशतिर्महाराज राजपुत्रो महाबलः ।
आनर्तयोधाञ्शतशो निहत्य निहतो रणे ॥ ७ ॥

महाराज ! महाबली राजकुमार विविंशति रणभूमिमें सैकड़ों आनर्तदेशीय योद्धाओंको मारकर मरा है ॥ ७ ॥

तथा पुत्रो विकर्णस्ते क्षत्रव्रतमनुस्मरन् ।
क्षीणवाहायुधः शूरः स्थितोऽभिमुखतः परान्॥ ८ ॥
घोररूपान् परिक्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून् ।
प्रतिज्ञां स्मरता चैव भीमसेनेन पातितः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार आपका शूरवीर पुत्र विकर्ण क्षत्रियोचित व्रतका स्मरण करके वाहनों और आयुधोंके नष्ट हो जानेपर भी शत्रुओंके सामने डटा हुआ था, परंतु दुर्योधनके दिये हुए बहुत-से भयंकर क्लेशों और अपनी प्रतिज्ञाको याद करके भीमसेनने उसे मार गिराया ॥ ८-९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ राजपुत्रौ महारथौ ।
कृत्वा त्वसुकरं कर्म गतौ वैवस्वतक्षयम् ॥ १० ॥

अवन्तीदेशके महारथी राजकुमार विन्द और अनुविन्द भी दुष्कर कर्म करके यमलोकको चले गये ॥ १० ॥

सिंधुराष्ट्रमुखानीह दश राष्ट्राणि यानि ह ।
वशे तिष्ठन्ति वीरस्य यः स्थितस्तव शासने ॥ ११ ॥
अक्षौहिणीर्दशैकां च विनिर्जित्य शितैः शरैः ।
अर्जुनेन हतो राजन् महावीर्यो जयद्रथः ॥ १२ ॥

राजन् ! जिस वीरके शासनमें सिन्धु सौवीर आदि दस राष्ट्र थे, जो सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहा करता था,

उस महापराक्रमी जयद्रथको अर्जुनने आपकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंको हराकर तीखे बाणोंसे मार डाला ॥११-१२॥

तथा दुर्योधनसुतस्तरस्वी युद्धदुर्मदः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे सौभद्रेण निपातितः ॥ १३ ॥

दुर्योधनके रणदुर्मद वेगशाली पुत्र लक्ष्मणको, जो सदा पिताकी आज्ञाके अधीन रहता था, सुभद्राकुमारने मार गिराया ॥

तथा दौःशासनिः शूरो बाहुशाली रणोत्कटः ।
द्रौपदेयेन सङ्गम्य गमितो यमसादनम् ॥ १४ ॥

अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाला रणोन्मत्त शूर दुःशासनकुमार द्रौपदीके पुत्रसे टक्कर लेकर यमलोकमें जा पहुँचा ॥ १४ ॥

किरातानामधिपतिः सागरानूपवासिनाम् ।
देवराजस्य धर्मात्मा प्रियो बहुमतः सखा ॥ १५ ॥
भगदत्तो महीपालः क्षत्रधर्मरतः सदा ।
धनंजयेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ १६ ॥

जो सागर-तटवर्ती किरातोंके स्वामी तथा देवराज इन्द्रके अत्यन्त आदरणीय प्रिय सखा थे, सदा क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले वे धर्मात्मा राजा भगदत्त भी अर्जुनके साथ पराक्रम दिखाकर यमराजके लोकमें चले गये ॥ १५-१६ ॥

तथा कौरवदायादो न्यस्तशस्त्रो महायशाः ।
हतो भूरिश्रवा राजञ्शूरः सात्यकिना युधि ॥ १७ ॥

राजन् ! कौरववंशी महायशस्वी शूरवीर भूरिश्रवा, जो अपने अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग कर चुके थे, युद्धस्थलमें सात्यकिके हाथसे मारे गये ॥ १७ ॥

श्रुतायुरपि चाम्बष्ठः क्षत्रियाणां धुरंधरः ।
चरन्नभीतवत् संख्ये निहतः सव्यसाचिना॥ १८ ॥

अम्बष्ठदेशके राजा क्षत्रिय-धुरंधर श्रुतायु भी, जो समराङ्गणमें निर्भय-से विचरते थे, सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारे गये ॥ १८ ॥

तव पुत्रः सदामर्षी कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
दुःशासनो महाराज भीमसेनेन पातितः ॥ १९ ॥

महाराज ! जो अस्त्र-विद्याका विद्वान् तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला था, सदा अमर्षमें भरे रहनेवाले आपके उस पुत्र दुःशासनको भीमसेनने मार गिराया ॥ १९ ॥

यस्य राजन् गजानीकं बहुसाहस्रमद्भुतम् ।
सुदक्षिणः स संग्रामे निहतः सव्यसाचिना ॥ २० ॥

राजन् ! जिसके अधिकारमें कई हजार हाथियोंकी अद्भुत सेना थी, वह सुदक्षिण भी संग्राममें सव्यसाची अर्जुनके बाणोंका निशाना बन गया ॥ २० ॥

कोसलानामधिपतिर्हत्वा बहुमतान् परान् ।
सौभद्रेण हि विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ २१ ॥

कोशलनरेश शत्रुपक्षके अत्यन्त सम्मानित वीरोंका वध करके सुभद्राकुमार अभिमन्युके साथ पराक्रम दिखाते हुए यमलोकके पथिक बन गये ॥ २१ ॥

बहुशो योधयित्वा तु भीमसेनं महारथम् ।
मद्रराजात्मजः शूरः परेषां भयवर्धनः ।
असिचर्मधरः श्रीमान् सौभद्रेण निपातितः ॥ २२ ॥

जो महारथी भीमसेनके साथ भी कई बार युद्ध कर चुका था, ढाल और तलवार लेकर शत्रुओंका भय बढ़ानेवाला वह मद्रराजका शूरवीर तेजस्वी पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके द्वारा मार डाला गया ॥ २२ ॥

समः कर्णस्य समरे यः स कर्णस्य पश्यतः ।
वृषसेनो महातेजाः शीघ्रास्त्रो दृढविक्रमः ॥ २३ ॥
अभिमन्योर्वधं श्रुत्वा प्रतिज्ञामपि चात्मनः ।
धनंजयेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ २४ ॥

जो समरभूमिमें कर्णके समान ही पराक्रमी था, शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला, सुदृढ़ बल-विक्रमसे सम्पन्न और महान् तेजस्वी था, वह कर्णपुत्र वृषसेन अभिमन्युका वध सुनकर की हुई अपनी प्रतिज्ञाको याद रखनेवाले अर्जुनके साथ भिड़कर कर्णके देखते-देखते उनके द्वारा यमलोक पहुँचा दिया गया ॥ २३-२४ ॥

नित्यं प्रसक्तवैरो यः पाण्डवैः पृथिवीपतिः ।
विश्राव्य वैरं पार्थेन श्रुतायुः स निपातितः ॥ २५ ॥

जो पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता था, उस राजा श्रुतायुको कुन्तीकुमार अर्जुनने उसकी शत्रुताका स्मरण कराकर मार डाला ॥ २५ ॥

शल्यपुत्रस्तु विक्रान्तः सहदेवेन मारिष ।
हतो रुक्मरथो राजन् भ्राता मातुलजो युधि ॥ २६ ॥

माननीय नरेश ! शल्यका पराक्रमी पुत्र रुक्मरथ, जो सहदेवका ममेरा भाई था, युद्धमें सहदेवके ही हाथसे मारा गया ॥ २६ ॥

राजा भगीरथो वृद्धो बृहत्क्षत्रश्च केकयः ।
पराक्रमन्तौ विक्रान्तौ निहतौ वीर्यवत्तरौ ॥ २७ ॥

बूढ़े राजा भगीरथ और केकयनरेश बृहत्क्षत्र ये दोनों अत्यन्त बलवान् और पराक्रमी वीर थे, जो युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मारे गये ॥ २७ ॥

भगदत्तसुतो राजन् कृतप्रज्ञो महाबलः ।
श्येनवच्चरता संख्ये नकुलेन निपातितः ॥ २८ ॥

राजन् ! भगदत्तके विद्वान् और महाबली पुत्रको युद्धमें बाजकी तरह झपटनेवाले नकुलने मार गिराया ॥ २८ ॥

पितामहस्तव तथा बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
निहतो भीमसेनेन महाबलपराक्रमः ॥ २९ ॥

आपके पितामह बाह्लीक भी महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। वे भीमसेनके हाथसे बाह्लीक योद्धाओंसहित मारे गये ॥

जयत्सेनस्तथा राजञ्जारासंधिर्महाबलः ।
मागधो निहतः संख्ये सौभद्रेण महात्मना ॥ ३० ॥

राजन्! जरासंधके महाबलवान् पुत्र मगधवासी जयत्सेनको महामना सुभद्राकुमारने युद्धमें मार डाला ॥ ३० ॥

पुत्रस्ते दुर्मुखो राजन् दुःसहश्च महारथः ।
गदया भीमसेनेन निहतौ शूरमानिनौ ॥ ३१ ॥

नरेश्वर! आपके पुत्र दुर्मुख और महारथी दुःसह ये दोनों अपनेको शूरवीर माननेवाले योद्धा थे, जो भीमसेनकी गदासे मारे गये ॥ ३१ ॥

दुर्मर्षणो दुर्विषहो दुर्जयश्च महारथः ।
कृत्वा त्वसुकरं कर्म गता वैवस्वतक्षयम् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार दुर्मर्षण, दुर्विषह और महारथी दुर्जय दुष्कर कर्म करके यमराजके लोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ३२ ॥

उभौ कलिङ्गवृषकौ भ्रातरौ युद्धदुर्मदौ ।
कृत्वा चासुकरं कर्म गतौ वैवस्वतक्षयम् ॥ ३३ ॥

युद्धदुर्मद कलिङ्ग और वृषक ये दोनों भाई भी दुष्कर पराक्रम प्रकट करके यमलोकके अतिथि हो चुके हैं ॥ ३३ ॥

सचिवो वृषवर्मा ते शूरः परमवीर्यवान् ।
भीमसेनेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ ३४ ॥

आपके मन्त्री परम पराक्रमी शूरवीर वृषवर्मा भीमसेनके द्वारा बलपूर्वक यमलोक पहुँचा दिये गये ॥ ३४ ॥

तथैव पौरवो राजा नागायुतबलो महान् ।
समरे पाण्डुपुत्रेण निहतः सव्यसाचिना ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार दस हजार हाथियोंके समान बलशाली महान् राजा पौरवको समराङ्गणमें पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुनने मार डाला ॥ ३५ ॥

वसातयो महाराज द्विसाहस्राः प्रहारिणः ।
शूरसेनाश्च विक्रान्ताः सर्वे युधि निपातिताः ॥ ३६ ॥

महाराज ! प्रहारकुशल दो हजार वसातिलोग और पराक्रमी शूरसेन—ये सबके सब युद्धमें मार डाले गये हैं ॥३६॥

अभीषाहाः कवचिनः प्रहरन्तो रणोत्कटाः ।
शिवयश्च रथोदाराः कालिङ्गसहिता हताः ॥ ३७ ॥

रणमें उन्मत्त होकर प्रहार करनेवाले कवचधारी अभीषाह और उदार रथी शिवि—ये सब कलिङ्गराजसहित मारे गये हैं ॥ ३७ ॥

गोकुले नित्यसंवृद्धा युद्धे परमकोपनाः ।
तेऽपावृत्तकवीराश्च निहताः सव्यसाचिना ॥ ३८ ॥

जो सदा गोकुलमें पले हैं, युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर लड़ते हैं और जिन्होंने कभी युद्धमें पीठ दिखाना नहीं सीखा है, वे गोपाल भी अर्जुनके हाथसे मारे जा चुके हैं ॥

श्रेणयो बहुसाहस्राः संशप्तकगणाश्च ये ।
ते सर्वे पार्थमासाद्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ ३९ ॥

संशप्तकगणोंकी कई हजार श्रेणियाँ थीं। वे सभी अर्जुनका सामना करके यमराजके लोकमें चले गये ॥ ३९ ॥

स्यालौ तव महाराज राजानौ वृषकाचलौ ।
त्वदर्थमतिविक्रान्तौ निहतौ सव्यसाचिना ॥ ४० ॥

महाराज ! आपके दोनों साले राजा वृषक और अचल, जो आपके लिये अत्यन्त पराक्रम प्रकट करते थे, अर्जुनके द्वारा मार डाले गये ॥ ४० ॥

उग्रकर्मा महेष्वासो नामतः कर्मतस्तथा ।
शाल्वराजो महाबाहुर्भीमसेनेन पातितः ॥ ४१ ॥

जो महान् धनुर्धर तथा नाम और कर्मसे भी उग्रकर्मा थे, उन महाबाहु शाल्वराजको भीमसेनने मार गिराया ॥४१॥

ओघवांश्च महाराज बृहन्तः सहितौ रणे ।
पराक्रमन्तौ मित्रार्थे गतौ वैवस्वतक्षयम् ॥ ४२ ॥

महाराज ! मित्रके लिये रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करनेवाले ओघवान् और बृहन्त—ये दोनों एक साथ यमलोकको प्रस्थान कर चुके हैं ॥ ४२ ॥

तथैव रथिनां श्रेष्ठः क्षेमधूर्तिर्विशाम्पते ।
निहतो गदया राजन् भीमसेनेन संयुगे ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ ! नरेश्वर ! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ क्षेमधूर्तिको भी युद्धस्थलमें भीमसेनने अपनी गदासे मार डाला ॥४३॥

तथा राजन् महेष्वासो जलसंधो महाबलः ।
सुमहत् कदनं कृत्वा हतः सात्यकिना रणे ॥ ४४ ॥

राजन् ! महाधनुर्धर महाबली जलसंध रणभूमिमें शत्रुसेनाका महान् संहार करके अन्तमें सात्यकिके हाथसे मारे गये ॥ ४४ ॥

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः खरबन्धुरयानवान् ।
घटोत्कचेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ ४५ ॥

घटोत्कचने पराक्रम करके गर्दभयुक्त सुन्दर रथवाले राक्षसराज अलम्बुषको यमलोक पहुँचा दिया है ॥ ४५ ॥

राधेयः सूतपुत्रश्च भ्रातरश्च महारथाः ।
केकयाः सर्वशश्चापि निहताः सव्यसाचिना ॥ ४६ ॥

सूतपुत्र राधानन्दन कर्ण, उसके महारथी भाई तथा समस्त केकय भी सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारे गये ॥ ४६ ॥

मालवा मद्रकाश्चैव द्राविडाश्चोग्रकर्मिणः ।
यौधेयाश्च ललित्थाश्च क्षुद्रकाश्चाप्युशीनराः ॥ ४७ ॥
मावेल्लकास्तुण्डिकेराः सावित्रीपुत्रकाश्च ये ।
प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च मारिष ॥ ४८ ॥
पत्तीनां निहताः संघा हयानां प्रयुतानि च ।
रथव्रजाश्च निहता हताश्च वरवारणाः ॥ ४९ ॥

मालव, मद्रक, भयंकर कर्म करनेवाले द्राविड, यौधेय, ललित्थ, क्षुद्रक, उशीनर, मावेल्लक, तुण्डिकेर, सावित्रीपुत्र, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य, पैदल-समूह, दस लाख घोड़े, रथोंके समूह और बड़े-बड़े गजराज अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं ॥ ४७–४९ ॥

सध्वजाः सायुधाः शूराः सवर्माम्बरभूषणाः।
कालेन महता यत्ताः कुशलैर्ये च वर्धिताः ॥ ५० ॥
ते हताः समरे राजन् पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।

राजन्! पालननिपुण पुरुषोंने जिनका दीर्घकालसे पालन-पोषण किया था, जो युद्धमें सदा सावधान रहनेवाले शूरवीर थे, वे सभी अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके हाथसे ध्वज, आयुध, कवच, वस्त्र और आभूषणोंसहित समराङ्गणमें मारे गये ॥ ५०½ ॥

अन्ये तथामितबलाः परस्परवधैषिणः ॥ ५१ ॥
एते चान्ये च बहवो राजानः सगणा रणे।
हताः सहस्रशो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ५२ ॥

महाराज! एक दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले असीम बलशाली अन्यान्य योद्धा भी मौतके घाट उतर चुके हैं। राजन्! ये तथा और भी बहुत-से नरेश रणभूमिमें अपने दलबलके साथ सहस्रोंकी संख्यामें मारे गये हैं। आप मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, वह सब मैंने बता दिया ॥ ५१-५२ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः कर्णार्जुनसमागमे।
महेन्द्रेण यथा वृत्रो यथा रामेण रावणः ॥ ५३ ॥
यथा कृष्णेन नरको मुरुश्च नरकारिणा।
कार्तवीर्यश्च रामेण भार्गवेण यथा हतः ॥ ५४ ॥
सज्ञातिबान्धवः शूरः समरे युद्धदुर्मदः।
रणे कृत्वा महद् युद्धं घोरं त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ५५ ॥
यथा स्कन्देन महिषो यथा रुद्रेण चान्धकः।
तथार्जुनेन स हतो द्वैरथे युद्धदुर्मदः ॥ ५६ ॥
सामात्यबान्धवो राजन् कर्णः प्रहरतां वरः।

राजन्! इस प्रकार कर्ण और अर्जुनके संग्राममें यह भारी संहार हुआ है। जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको, श्रीरामचन्द्रजीने रावणको, नरकशत्रु श्रीकृष्णने नरक और मुरुको तथा भृगुवंशी परशुरामने तीनों लोकोंको मोहित करनेवाला अत्यन्त घोर युद्ध करके समराङ्गणमें रणदुर्मद शूरवीर कृतवीर्यकुमार अर्जुनको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डाला था, जैसे स्कन्दने महिषासुरका और रुद्रने अन्धकासुरका संहार किया था, उसी प्रकार अर्जुनने योद्धाओंमें श्रेष्ठ युद्धदुर्मद कर्णको द्वैरथयुद्धमें उसके मन्त्री और बन्धुओंसहित मार डाला ॥ ५३–५६½ ॥

जयाशा धार्तराष्ट्राणां वैरस्य च मुखं यतः ॥ ५७ ॥
तीर्णस्तत् पाण्डवो राजन् यत् पुरा नावबुध्यसे।
उच्यमानो महाराज बन्धुभिर्हितकाङ्क्षिभिः ॥ ५८ ॥
तदिदं समनुप्राप्तं व्यसनं सुमहात्ययम्।

जिससे आपके पुत्रोंने विजयकी आशा लगा रक्खी थी, जो वैरका मुख बना हुआ था, उससे पाण्डुपुत्र अर्जुन पार हो गये। महाराज! पहले आपने हितैषी बन्धुओंके कहनेपर भी जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया, वही यह महान् विनाशकारी संकट प्राप्त हुआ है ॥ ५७-५८½ ॥

पुत्राणां राज्यकामानां त्वया राजन् हितैषिणा ॥ ५९ ॥
अहितान्येव चीर्णानि तेषां तत् फलमागतम् ॥ ६० ॥

राजन्! आपने राज्यकी कामना रखनेवाले अपने पुत्रोंके हितकी इच्छा रखते हुए सदा उन पाण्डवोंके अहित ही किये हैं; आपके उन्हीं कर्मोंका यह फल प्राप्त हुआ है ॥ ५९-६० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संजय-वाक्यविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मारे गये प्रधान-प्रधान पाण्डव-पक्षके वीरोंका परिचय

धृतराष्ट्र उवाच

आख्याता मामकास्तात निहता युधि पाण्डवैः।
हतांश्च पाण्डवेयानां मामकैर्ब्रूहि संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय! तुमने युद्धमें पाण्डवोंद्वारा मारे गये मेरे पक्षके वीरोंके नाम बताये हैं। अब मेरे योद्धाओंद्वारा मारे गये पाण्डव-योद्धाओंका परिचय दो ॥ १ ॥

संजय उवाच

कुन्तयो युधि विक्रान्ता महासत्त्वा महाबलाः।
सानुबन्धाः सहामात्या गाङ्गेयेन निपातिताः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! अत्यन्त धीर, महान् बलवान् और पराक्रमी जो कुन्तिभोजदेशके योद्धा थे, उन्हें गङ्गानन्दन भीष्मने मन्त्रियों तथा सगे-सम्बन्धियोंसहित मार गिराया ॥ २ ॥

नारायणा बलभद्राः शूराश्च शतशोऽपरे।
अनुरक्ताश्च वीरेण भीष्मेण युधि पातिताः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंमें अनुराग रखनेवाले जो नारायण और बलभद्र नामवाले सैकड़ों शूरवीर थे, उन्हें भी वीरवर भीष्मने युद्धमें धराशायी कर दिया ॥ ३ ॥

समः किरीटिना संख्ये वीर्येण च बलेन च ।
सत्यजित् सत्यसंधेन द्रोणेन निहतो युधि ॥ ४ ॥

सत्यजित् संग्राममें किरीटधारी अर्जुनके समान बल और पराक्रमसे सम्पन्न था, जिसे युद्धस्थलमें सत्यप्रतिज्ञ द्रोणाचार्यने मार डाला ॥ ४ ॥

पञ्चालानां महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
द्रोणेन सह संगम्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

युद्धकी कलामें कुशल सम्पूर्ण पाञ्चाल महाधनुर्धर द्रोणाचार्यसे टक्कर लेकर यमलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ५ ॥

तथा विराटद्रुपदौ वृद्धौ सहसुतौ नृपौ ।
पराक्रमन्तौ मित्रार्थे द्रोणेन निहतौ रणे ॥ ६ ॥

मित्रके लिये पराक्रम करनेवाले बूढ़े राजा विराट और द्रुपद अपने पुत्रोंसहित द्रोणाचार्यके द्वारा रणभूमिमें मारे गये हैं ॥ ६ ॥

यो बाल एव समरे सम्मितः सव्यसाचिना ।
केशवेन च दुर्धर्षो बलदेवेन वा विभो ॥ ७ ॥
परेषां कदनं कृत्वा महारथविशारदः ।
परिवार्य महामात्रैः षड्भिः परमकै रथैः ॥ ८ ॥
अशक्नुवद्भिर्बीभत्सुमभिमन्युर्निपातितः ।

जो बाल्यावस्थामें ही दुर्धर्ष वीर था और सव्यसाची अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा बलदेवजीके समान समझा जाता था तथा जो महान् रथयुद्धमें विशेष कुशल था, वह अभिमन्यु शत्रुओंका संहार करके छः बड़े-बड़े महारथियोंद्वारा, जिनका अर्जुनपर वश नहीं चलता था, चारों ओरसे घेरकर मार डाला गया ॥ ७-८½ ॥

कृतं तं विरथं वीरं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥
दौःशासनिर्महाराज सौभद्रं हतवान् रणे ।

महाराज ! क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाला वीर सुभद्राकुमार अभिमन्यु रथहीन कर दिया गया था, उस अवस्थामें दुःशासनके पुत्रने उसे रणभूमिमें मारा था ॥ ९½ ॥

सपत्नानां निहन्ता च महत्या सेनया वृतः ॥ १० ॥
अम्बष्ठस्य सुतः श्रीमान् मित्रहेतोः पराक्रमन् ।
आसाद्य लक्ष्मणं वीरं दुर्योधनसुतं रणे ॥ ११ ॥
सुमहत् कदनं कृत्वा गतो वैवस्वतक्षयम् ।

शत्रुहन्ता श्रीमान् अम्बष्ठपुत्र अपनी विशाल सेनासे घिरकर मित्रोंके लिये पराक्रम दिखा रहा था । वह शत्रुसेनाका महान् संहार करके रणभूमिमें दुर्योधनके वीर पुत्र लक्ष्मणसे टक्कर ले यमलोकमें जा पहुँचा ॥ १०-११½ ॥

बृहन्तः सुमहेष्वासः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ॥ १२ ॥
दुःशासनेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ।

अस्त्र-विद्याके विशेषज्ञ रणदुर्मद महाधनुर्धर बृहन्तको दुःशासनने बलपूर्वक यमलोक पहुँचाया था ॥ १२½ ॥

मणिमान् दण्डधारश्च राजानौ युद्धदुर्मदौ ॥ १३ ॥
पराक्रमन्तौ मित्रार्थे द्रोणेन युधि पातितौ ।

युद्धमें उन्मत्त होकर जूझनेवाले राजा मणिमान् और दण्डधार मित्रोंके लिये पराक्रम दिखाते थे । उन दोनोंको द्रोणाचार्यने युद्धमें मार गिराया है ॥ १३½ ॥

अंशुमान् भोजराजस्तु सहसैन्यो महारथः ॥ १४ ॥
भारद्वाजेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ।

सेनासहित भोजराज महारथी अंशुमान्‌को भरद्वाजनन्दन द्रोणने पराक्रम करके यमलोक पहुँचाया है ॥ १४½ ॥

सामुद्रश्चित्रसेनश्च सह पुत्रेण भारत ॥ १५ ॥
समुद्रसेनेन बलाद् गमितो यमसादनम् ।

भारत ! समुद्रतटवर्ती राज्यके अधिपति चित्रसेन अपने पुत्रके साथ युद्धमें आकर समुद्रसेनके द्वारा बलपूर्वक यमलोक भेज दिया गया ॥ १५½ ॥

अनूपवासी नीलश्च व्याघ्रदत्तश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
अश्वत्थाम्ना विकर्णेन गमितो यमसादनम् ।

समुद्र-तटवासी नील और पराक्रमी व्याघ्रदत्त इन दोनोंको क्रमशः अश्वत्थामा और विकर्णने यमलोक पहुँचा दिया ॥

चित्रायुधश्चित्रयोधी कृत्वा च कदनं महत् ॥ १७ ॥
चित्रमार्गेण विक्रम्य विकर्णेन हतो मृधे ।

विचित्र युद्ध करनेवाले चित्रायुध समरमें विचित्र रीतिसे पराक्रम करते हुए कौरव-सेनाका महान् संहार करके अन्तमें विकर्णके हाथसे मारे गये ॥ १७½ ॥

वृकोदरसमो युद्धे वृतः कैकेययोधिभिः ॥ १८ ॥
कैकेयेन च विक्रम्य भ्रात्रा भ्राता निपातितः ।

केकयदेशीय योद्धाओंसे घिरे हुए भीमके समान पराक्रमी केकयराजकुमारको उन्हींके भाई दूसरे केकयराजकुमारने बलपूर्वक मार गिराया ॥ १८½ ॥

जनमेजयो गदायोधी पर्वतीयः प्रतापवान् ॥ १९ ॥
दुर्मुखेन महाराज तव पुत्रेण पातितः ।

महाराज ! प्रतापी पर्वतीय राजा जनमेजय गदायुद्धमें कुशल थे । उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धराशायी कर दिया ॥

रोचमानौ नरव्याघ्रौ रोचमानौ ग्रहाविव ॥ २० ॥
द्रोणेन युगपद् राजन् दिवं सम्प्रापितौ शरैः ।

राजन् ! दो चमकते हुए ग्रहोंके समान नरश्रेष्ठ रोचमान, जो एक ही नामके दो भाई थे, द्रोणाचार्यके द्वारा बाणोंसे एक साथ ही स्वर्गलोक पहुँचा दिये गये ॥ २०½ ॥

नृपाश्च प्रतियुध्यन्तः पराक्रान्ता विशाम्पते ॥ २१ ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म गता वैवस्वतक्षयम् ।

प्रजानाथ ! और भी बहुत-से पराक्रमी नरेश आपकी

सेनाका सामना करते हुए दुष्कर पराक्रम करके यमलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ २१½ ॥

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च मातुलौ सव्यसाचिनः॥ २२ ॥
संग्रामनिर्जिताँल्लोकान् गमितौ द्रोणसायकैः ।

पुरुजित् और कुन्तिभोज दोनों सव्यसाची अर्जुनके मामा थे । द्रोणाचार्यके सायकोंने उन्हें भी उन लोकोंमें पहुँचा दिया, जो संग्राममें मारे जानेवाले वीरोंको प्राप्त होते हैं ॥ २२½ ॥

अभिभूः काशिराजश्च काशिकैर्बहुभिर्वृतः ॥ २३ ॥
वसुदानस्य पुत्रेण न्यासितो देहमाहवे ।

काशिराज अभिभू बहुतेरे काशीनिवासी योद्धाओंसे घिरे हुए थे । वसुदानके पुत्रने युद्धस्थलमें उनसे उनके शरीरका परित्याग करवा दिया ॥ २३½ ॥

अमितौजा युधामन्युरुत्तमौजाश्च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
निहत्य शतशः शूरानस्मदीयैर्निपातिताः ।

अमितौजा, युधामन्यु तथा पराक्रमी उत्तमौजा ये सैकड़ों शूरवीरोंका संहार करके हमारे सैनिकोंद्वारा मारे गये ॥२४½॥

मित्रवर्मा च पाञ्चाल्यः क्षत्रधर्मा च भारत ॥ २५ ॥
द्रोणेन परमेष्वासौ गमितौ यमसादनम् ।

भारत ! पाञ्चालयोद्धा मित्रवर्मा और क्षत्रधर्मा महाधनुर्धर थे । उन्हें भी द्रोणाचार्यने यमलोक पहुँचा दिया ॥ २५½ ॥

शिखण्डितनयो युद्धे क्षत्रदेवो युधां पतिः ॥ २६ ॥
लक्ष्मणेन हतो राजंस्तव पौत्रेण भारत ।

भरतवंशी नरेश ! आपके पौत्र लक्ष्मणने युद्धमें योद्धाओंके स्वामी क्षत्रदेवको, जो शिखण्डीका पुत्र था, मार डाला ॥

सुचित्रश्चित्रवर्मा च पितापुत्रौ महारथौ ॥ २७ ॥
प्रचरन्तौ महावीरौ द्रोणेन निहतौ रणे ।

सुचित्र और चित्रवर्मा ये दो महावीर महारथी परस्पर पिता-पुत्र थे । रणभूमिमें विचरते हुए इन दोनोंको द्रोणाचार्यने मार डाला।

वार्द्धक्षेमिर्महाराज समुद्र इव पर्वणि ॥ २८ ॥
आयुधक्षयमासाद्य प्रशान्तिं परमां गतः ।

महाराज ! जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्र उमड़ पड़ता है, उसी प्रकार वृद्धक्षेमका पुत्र भी युद्धमें उद्धत हो उठा था, परंतु उसके सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये थे, इसलिये वह प्राण-शून्य हो सदाके लिये परम शान्त हो गया ॥ २८½ ॥

सेनाबिन्दुसुतः श्रेष्ठः शात्रवान् प्रहरन् युधि ॥ २९ ॥
बाह्लिकेन महाराज कौरवेन्द्रेण पातितः ।

राजाधिराज ! सेनाबिन्दुका श्रेष्ठ पुत्र रणभूमिमें शत्रुओंपर प्रहार कर रहा था । उस समय कौरवेन्द्र बाह्लीकने उसे मार गिराया॥

धृष्टकेतुर्महाराज चेदीनां प्रवरो रथः ॥ ३० ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म गतो वैवस्वतक्षयम् ।

महाराज ! चेदिदेशका श्रेष्ठ रथी धृष्टकेतु भी युद्धमें दुष्कर कर्म करके यमलोकका पथिक हो गया ॥ ३०½ ॥

तथा सत्यधृतिर्वीरः कृत्वा कदनमाहवे॥ ३१ ॥
पाण्डवार्थे पराक्रान्तो गमितो यमसादनम् ।

पाण्डवोंके लिये पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर सत्यधृतिने भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार करके यमलोककी राह ली॥

सेनाबिन्दुः कुरुश्रेष्ठ कृत्वा कदनमाहवे ॥ ३२ ॥
पुत्रस्तु शिशुपालस्य सुकेतुः पृथिवीपतिः ।
निहत्य शात्रवान् संख्ये द्रोणेन निहतो युधि ॥ ३३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! सेनाबिन्दु भी युद्धमें शत्रुओंका संहार करके कालके गालमें चला गया । शिशुपालका पुत्र राजा सुकेतु भी युद्धमें शत्रुसैनिकोंका वध करके स्वयं भी द्रोणाचार्यके हाथसे मारा गया ॥ ३२-३३ ॥

तथा सत्यधृतिर्वीरो मदिराश्वश्च वीर्यवान् ।
सूर्यदत्तश्च विक्रान्तो निहतो द्रोणसायकैः ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार वीर सत्यधृति, पराक्रमी मदिराश्व और बल-विक्रमशाली सूर्यदत्त भी द्रोणाचार्यके बाणोंसे मारे गये हैं ॥

श्रेणिमांश्च महाराज युध्यमानः पराक्रमी ।
कृत्वा नसुकरं कर्म गतो वैवस्वतक्षयम् ॥ ३५ ॥

महाराज ! पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले श्रेणिमान्ने युद्धमें दुष्कर कर्म करके यमलोकके मार्गका आश्रय लिया है ॥

तथैव युधि विक्रान्तो मागधः परमास्त्रवित् ।
भीष्मेण निहतो राजञ्शेतेऽद्य परवीरहा ॥ ३६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला और उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता पराक्रमी मागध वीर भी भीष्मजीके हाथसे मारा जाकर आज रणभूमिमें सो रहा है ॥ ३६ ॥

विराटपुत्रः शङ्खस्तु उत्तरश्च महारथः ।
कुर्वन्तौ सुमहत् कर्म गतौ वैवस्वतक्षयम् ॥ ३७ ॥

राजा विराटके पुत्र शङ्ख और महारथी उत्तर ये दोनों युद्धमें महान् कर्म करके यमलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ३७ ॥

वसुदानश्च कदनं कुर्वाणोऽतीव संयुगे ।
भारद्वाजेन विक्रम्य गमितो यमसादनम् ॥ ३८ ॥

वसुदान भी युद्धस्थलमें बड़ा भारी संहार मचा रहा था । परंतु भरद्वाजनन्दन द्रोणने पराक्रम करके उसे यमलोक पहुँचा दिया ॥ ३८ ॥

(पाण्ड्यराजश्च विक्रान्तो बलवान् बाहुशालिना ।
अश्वत्थाम्ना हतस्तत्र गमितो वै यमक्षयम् ॥)

अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले अश्वत्थामाने बलवान् एवं पराक्रमी पाण्ड्यराजको मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥

एते चान्ये च बहवः पाण्डवानां महारथाः ।

हता द्रोणेन विक्रम्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३९ ॥

ये तथा और भी बहुतसे पाण्डव महारथी, जिनके बारेमें आप मुझसे पूछ रहे थे, द्रोणाचार्यके द्वारा बलपूर्वक मार डाले गये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संजयवाक्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संजय-वाक्यविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

कौरवपक्षके जीवित योद्धाओंका वर्णन और धृतराष्ट्रकी मूर्छा

धृतराष्ट्र उवाच

मामकस्यास्य सैन्यस्य हतोत्सेकस्य संजय।
अवशेषं न पश्यामि ककुदे मृदिते सति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! प्रधान पुरुष भीष्म, द्रोण और कर्ण आदिके मारे जानेसे मेरी सेनाका घमंड चूर-चूर हो गया है । मैं देखता हूँ, अब यह बच नहीं सकेगी ॥ १ ॥

तौ हि वीरौ महेष्वासौ मदर्थे कुरुसत्तमौ।
भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा नार्थो वै जीवितेऽसति॥ २ ॥

वे दोनों कुरुश्रेष्ठ महाधनुर्धर वीर भीष्म और द्रोणाचार्य मेरे लिये मारे गये; यह सुन लेनेपर इस अधम जीवनको रखनेका अब कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २ ॥

न च मृष्यामि राधेयं हतमाहवशोभनम्।
यस्य बाह्वोर्बलं तुल्यं कुञ्जराणां शतं शतम् ॥ ३ ॥

जिसकी दोनों भुजाओंमें समानरूपसे दस-दस हजार हाथियोंका बल था, युद्धमें शोभा पानेवाले उस राधापुत्र कर्णके मारे जानेका समाचार सुनकर मैं इस शोकको सहन नहीं कर पाता हूँ ॥ ३ ॥

हतप्रवरसैन्यं मे यथा शंससि संजय।
अहतानपि मे शंस येऽत्र जीवन्ति केचन ॥ ४ ॥

संजय ! जैसा कि तुम कह रहे हो कि मेरी सेनाके प्रमुख वीर मारे जा चुके हैं, उसी प्रकार यह भी बताओ कि कौन-कौन वीर नहीं मारे गये हैं । इस सेनामें जो कोई भी श्रेष्ठ वीर जीवित हैं, उनका परिचय दो ॥ ४ ॥

एतेषु हि मृतेष्वद्य ये त्वया परिकीर्तिताः।
येऽपि जीवन्ति ते सर्वे मृता इति मतिर्मम ॥ ५ ॥

आज तुमने जिन लोगोंके नाम लिये हैं, उनकी मृत्यु हो जानेपर तो जो भी अब जीवित हैं वे सभी मरे हुएके ही समान हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ५ ॥

संजय उवाच

यस्मिन् महास्त्राणि समर्पितानि
चित्राणि शुभ्राणि चतुर्विधानि।
दिव्यानि राजन् विहितानि चैव
द्रोणेन वीरे द्विजसत्तमेन ॥ ६ ॥
महारथः कृतिमान् क्षिप्रहस्तो
दृढायुधो दृढमुष्टिर्दृढेषुः।
स वीर्यवान् द्रोणपुत्रस्तरस्वी
व्यवस्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ॥ ७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यने जिस वीरको चित्र (अद्भुत), शुभ्र (प्रकाशमान), दिव्य तथा धनुर्वेदोक्त चार प्रकारके महान् अस्त्र समर्पित किये थे, जो सफल प्रयत्न करनेवाला महारथी वीर है, जिसके हाथ बड़ी शीघ्रतासे चलते हैं, जिसका धनुष, जिसकी मुट्ठी और जिसके बाण सभी सुदृढ़ हैं, वह वेगशाली तथा पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा आपके लिये युद्धकी इच्छा रखकर समरभूमिमें डटा हुआ है ॥ ६-७ ॥

आनर्तवासी हृदिकात्मजोऽसौ
महारथः सात्वतानां वरिष्ठः।
स्वयं भोजः कृतवर्मा कृतास्त्रो
व्यवस्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ॥ ८ ॥

सात्वतकुलका श्रेष्ठ महारथी, आनर्तनिवासी, भोजवंशी अस्त्रवेत्ता, हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी आपके लिये युद्ध करनेको दृढ़ निश्चयके साथ डटा हुआ है ॥ ८ ॥

आर्तायनिः समरे दुष्प्रकम्प्यः
सेनाग्रणीः प्रथमस्तावकानाम्।
यः स्वस्रीयान् पाण्डवेयान् विसृज्य
सत्यां वाचं स्वां चिकीर्षुस्तरस्वी॥ ९ ॥
तेजोवधं सूतपुत्रस्य संख्ये
प्रतिश्रुत्याजातशत्रोः पुरस्तात्।
दुराधर्षः शक्रसमानवीर्यः
शल्यः स्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ॥१०॥

जिन्हें युद्धमें विचलित करना अत्यन्त कठिन है, जो आपके सैनिकोंके प्रथम सेनापति एवं वेगशाली वीर हैं, जो अपनी बात सच्ची कर दिखानेके लिये अपने सगे भानजे पाण्डवोंको छोड़कर तथा अजातशत्रु युधिष्ठिरके सामने युद्धस्थलमें सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा करके आपके पक्षमें चले आये थे, वे बलवान् दुर्धर्ष तथा इन्द्रके समान पराक्रमी ऋतायनपुत्र शल्य आपके लिये युद्ध करनेको तैयार हैं ॥

आजानेयैः सैन्धवैः पर्वतीयै-
र्नदीजकाम्बोजवनायुजैश्च ।
गान्धारराजः स्वबलेन युक्तो
व्यवस्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ॥ ११ ॥

अच्छी नस्लके सिंधी, पहाड़ी, दरियाई, काबुली और बनायु देशके बहुसंख्यक घोड़ों तथा अपनी सेनाके साथ गान्धारराज शकुनि आपके लिये युद्ध करनेको डटा हुआ है॥

शारद्वतो गौतमश्चापि राजन्
महाबाहुर्बहुचित्रास्त्रयोधी ।
धनुश्चित्रं सुमहद् भारसाहं
व्यवस्थितो योद्धुकामः प्रगृह्य ॥ १२ ॥

राजन् ! अनेक प्रकारके विचित्र अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेवाले, गौतमवंशीय शरद्वान्के पुत्र महाबाहु कृपाचार्य भी महान् भार सहन करनेमें समर्थ विचित्र धनुष हाथमें लेकर आपके लिये युद्ध करनेको तैयार हैं ॥ १२ ॥

महारथः केकयराजपुत्रः
सदश्वयुक्तं च पताकिनं च ।
रथं समारुह्य कुरुप्रवीर
व्यवस्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ॥ १३ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर ! महारथी केकयराजकुमार भी सुन्दर घोड़ोंसे जुते हुए, ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रथपर आरूढ़ हो आपके लिये युद्ध करनेकी इच्छासे डटा हुआ है ॥

तथा सुतस्ते ज्वलनार्कवर्णं
रथं समास्थाय कुरुप्रवीरः ।
व्यवस्थितः पुरुमित्रो नरेन्द्र
व्यभ्रे सूर्यो भ्राजमानो यथा खे ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! कुरुकुलका प्रमुख वीर आपका पुत्र पुरुमित्र अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् रथपर आरूढ़ हो बिना बादलोंके आकाशमें सूर्यके समान प्रकाशित होता हुआ युद्धके लिये खड़ा है ॥ १४ ॥

दुर्योधनो नागकुलस्य मध्ये
व्यवस्थितः सिंह इवावभासे ।
रथेन जाम्बूनदभूषणेन
व्यवस्थितः समरे योत्स्यमानः ॥ १५ ॥

हाथियोंकी सेनाके बीच जो अपने सुवर्णभूषित रथके द्वारा उपस्थित हो सिंहके समान सुशोभित होता है, वह राजा दुर्योधन भी समराङ्गणमें जूझनेके लिये खड़ा है ॥ १५ ॥

स राजमध्ये पुरुषप्रवीरो
रराज जाम्बूनदचित्रवर्मा ।
पद्मप्रभो वह्निरिवाल्पधूमो
मेघान्तरे सूर्य इव प्रकाशः ॥ १६ ॥

पुरुषोंमें प्रधान वीर और कमलके समान कान्तिमान् दुर्योधन सोनेका बना हुआ विचित्र कवच धारण करके राजाओंके समुदायमें अल्प धूमवाली अग्नि एवं बादलोंके बीचमें सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १६ ॥

तथा सुषेणोऽप्यसिचर्मपाणि-
स्तवात्मजः सत्यसेनश्च वीरः ।
व्यवस्थितौ चित्रसेनेन सार्धं
हृष्टात्मानौ समरे योद्धुकामौ ॥ १७ ॥

हाथमें ढाल-तलवार लिये हुए आपके वीर पुत्र सुषेण और सत्यसेन मनमें हर्ष और उत्साह लिये समरमें जूझनेकी इच्छा रखकर चित्रसेनके साथ खड़े हैं ॥ १७ ॥

ह्रीनिषेवो भारत राजपुत्र
उग्रायुधः क्षणभोजी सुदर्शः ।
जारासंधिः प्रथमश्चादृढश्च
चित्रायुधः श्रुतवर्मा जयश्च ॥ १८ ॥
शलश्च सत्यव्रतदुःशलौ च
व्यवस्थिताः सहसैन्या नराग्र्याः ।

भारत ! लज्जाशील भयंकर आयुधोंवाला शीघ्रभोजी और देखनेमें सुन्दर जरासंधका प्रथम पुत्र राजकुमार अदृढ़, चित्रायुध, श्रुतवर्मा, जय, शल, सत्यव्रत और दुःशल—ये सभी श्रेष्ठ पुरुष युद्धके लिये अपनी सेनाओंके साथ खड़े हैं ॥

कैतव्यानामधिपः शूरमानी
रणे रणे शत्रुहा राजपुत्रः ॥ १९ ॥
रथी हयी नागपत्तिप्रयायी
व्यवस्थितो योद्धुकामस्त्वदर्थे ।

प्रत्येक युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाला और अपनेको शूरवीर माननेवाला एक राजकुमार, जो जुआरिओंका सरदार है तथा रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंकी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर चलता है, आपके लिये युद्ध करनेको तैयार खड़ा है॥

वीरः श्रुतायुश्च धृतायुधश्च
चित्राङ्गदश्चित्रसेनश्च वीरः ॥ २० ॥
व्यवस्थिता योद्धुकामा नराग्र्याः
प्रहारिणो मानिनः सत्यसंधाः ।

वीर श्रुतायु, धृतायुध, चित्राङ्गद और वीर चित्रसेन—ये सभी प्रहारकुशल स्वाभिमानी और सत्यप्रतिज्ञ नरश्रेष्ठ आपके लिये युद्ध करनेको तैयार खड़े हैं ॥ २०½ ॥

कर्णात्मजः सत्यसंधो महात्मा
व्यवस्थितः समरे योद्धुकामः ॥ २१ ॥
अथापरौ कर्णसुतौ वरास्त्रौ
व्यवस्थितौ लघुहस्तौ नरेन्द्र ।
बलं महद् दुर्भिदमल्पधैर्यैः
समाश्रितौ योत्स्यमानौ त्वदर्थे ॥ २२ ॥

नरेन्द्र ! कर्णका महामना एवं सत्यप्रतिज्ञ पुत्र समराङ्गणमें युद्धकी इच्छासे डटा हुआ है। इसके सिवा कर्णके दो पुत्र और हैं, जो उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता और शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले हैं, वे भी आपकी ओरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं। इन दोनोंने ऐसी विशाल सेनाको अपने साथ ले रक्खा है, जिसका अल्प धैर्यवाले वीरोंके लिये भेदन करना कठिन है ॥

एतैश्च मुख्यैरपरैश्च राजन्
योधप्रवीरैरमितप्रभावैः ।
व्यवस्थितो नागकुलस्य मध्ये
यथा महेन्द्रः कुरुराजो जयाय ॥ २३ ॥

राजन् ! इनसे तथा अन्य अनन्त प्रभावशाली श्रेष्ठ एवं प्रधान योद्धाओंसे घिरा हुआ कुरुराज दुर्योधन हाथियोंके समूहमें देवराज इन्द्रके समान विजयके लिये खड़ा है ॥२३॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्याता जीवमाना येऽपरे सैन्या यथायथम् ।
इतीदमवगच्छामि व्यक्तमर्थाभिपत्तितः ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! अपने पक्षके जो जीवित योद्धा हैं, एवं उनसे भिन्न जो मारे जा चुके हैं, उनका तुमने यथार्थरूपसे वर्णन कर दिया। इससे जो परिणाम होनेवाला है, उसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा मैं स्पष्टरूपसे समझ रहा हूँ (मेरे पक्षकी हार सुनिश्चित है) ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवन्नेव तदा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
हतप्रवीरं विध्वस्तं किंचिच्छेषं स्वकं बलम् ॥ २५ ॥
श्रुत्वा व्यामोहमागच्छच्छोकव्याकुलितेन्द्रियः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहते हुए ही अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र उस समय यह सुनकर कि अपनी सेनाके प्रमुख वीर मारे गये, अधिकांश सेना नष्ट हो गयी और बहुत थोड़ी शेष रह गयी है, मूर्छित हो गये। उनकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं ॥ २५½ ॥

मुह्यमानोऽब्रवीच्चापि मुहूर्तं तिष्ठ संजय ॥ २६ ॥
व्याकुलं मे मनस्तात श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
मनो मुह्यति चाङ्गानि न च शक्नोमि धारितुम् ॥ २७ ॥

वे अचेत होते-होते बोले—'संजय ! दो घड़ी ठहर जाओ। तात ! यह महान् अप्रिय संवाद सुनकर मेरा मन व्याकुल हो गया है, चेतना लुप्त-सी हो रही है और मैं अपने अङ्गोंको धारण करनेमें असमर्थ हो रहा हूँ' ॥ २६-२७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
भ्रान्तचित्तस्ततः सोऽथ बभूव जगतीपतिः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र भ्रान्तचित्त (मूर्छित) हो गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संजयवाक्यं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संजय-वाक्यविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप

जनमेजय उवाच

श्रुत्वा कर्णं हतं युद्धे पुत्रांश्चैव निपातितान् ।
नरेन्द्रः किंचिदाश्वस्तो द्विजश्रेष्ठ किमब्रवीत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—द्विजश्रेष्ठ ! युद्धमें कर्ण मारा गया और पुत्र भी धराशायी हो गये, यह सुनकर अचेत हुए राजा धृतराष्ट्रको जब पुनः कुछ चेत हुआ, तब उन्होंने क्या कहा ? ॥ १ ॥

प्राप्तवान् परमं दुःखं पुत्रव्यसनजं महत् ।
तस्मिन् यदुक्तवान् काले तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥२॥

धृतराष्ट्रको अपने पुत्रोंके मारे जानेके कारण बड़ा भारी दुःख प्राप्त हुआ था, उस समय उन्होंने जो कुछ कहा, उसे मैं पूछ रहा हूँ; आप मुझे बताइये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कर्णस्य निधनमश्रद्धेयमिवाद्भुतम् ।
भूतसम्मोहनं भीमं मेरोः संसर्पणं यथा ॥ ३ ॥
चित्तमोहमिवायुक्तं भार्गवस्य महामतेः ।
पराजयमिवेन्द्रस्य द्विषद्भ्यो भीमकर्मणः ॥ ४ ॥
दिवः प्रपतनं भानोरुर्व्यामिव महाद्युतेः ।
संशोषणमिवाचिन्त्यं समुद्रस्याक्षयाम्भसः ॥ ५ ॥
महीवियद्दिगम्बूनां सर्वनाशमिवाद्भुतम् ।
कर्मणोरिव वैफल्यमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ ६ ॥
संचिन्त्य निपुणं बुद्ध्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
नेदमस्तीति संचिन्त्य कर्णस्य समरे वधम् ॥ ७ ॥
प्राणिनामेवमन्येषां स्यादपीति विनाशनम् ।
शोकाग्निना दह्यमानो धम्यमान इवाशये ॥ ८ ॥
विस्रस्ताङ्गः श्वसन् दीनो हाहेत्युक्त्वा सुदुःखितः ।
विललाप महाराज धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! कर्णका मारा जाना अद्भुत और अविश्वसनीय-सा लग रहा था। वह भयंकर कर्म उसी प्रकार समस्त प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला था, जैसे मेरु पर्वतका अपने स्थानसे हटकर अन्यत्र चला जाना।

परम बुद्धिमान् भृगुनन्दन परशुरामजीके चित्तमें मोह उत्पन्न होना जैसे सम्भव नहीं है, जैसे भयंकर कर्म करनेवाले देवराज इन्द्रका अपने शत्रुओंसे पराजित होना असम्भव है, जैसे महातेजस्वी सूर्यके आकाशसे पृथ्वीपर गिरने और अक्षय जलवाले समुद्रके सूख जानेकी बात मनमें सोची तक नहीं जा सकती; पृथ्वी, आकाश, दिशा और जलका सर्वनाश होना एवं पाप तथा पुण्य—दोनों प्रकारके कर्मोंका निष्फल हो जाना जैसे आश्चर्यजनक घटना है; उसी प्रकार समरमें कर्ण-वधरूपी असम्भव कर्मको भी सम्भव हुआ सुनकर और उसपर बुद्धि-द्वारा अच्छी तरह विचार करके राजा धृतराष्ट्र यह सोचने लगे कि 'अब यह कौरवदल बच नहीं सकता। कर्णकी ही भाँति अन्य प्राणियोंका भी विनाश हो सकता है।' यह सब सोचते ही उनके हृदयमें शोककी आग प्रज्वलित हो उठी और वे उससे तपने एवं दग्ध-से होने लगे। उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये। महाराज! वे अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र दीन-भावसे लंबी साँस खींचने और अत्यन्त दुखी हो 'हाय! हाय!' कहकर विलाप करने लगे॥ ३—९॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाधिरथिर्वीरः सिंहद्विरदविक्रमः।
वृषभप्रतिमस्कन्धो वृषभाक्षगतिश्चरन्॥ १०॥
वृषभो वृषभस्येव यो युद्धे न निवर्तते।
शत्रोरपि महेन्द्रस्य वज्रसंहननो युवा॥ ११॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! अधिरथका वीर पुत्र कर्ण सिंह और हाथीके समान पराक्रमी था। उसके कंधे साँड़के कंधोंके समान हृष्ट-पुष्ट थे। उसकी आँखें और चाल-ढाल भी साँड़के ही सदृश थीं। वह स्वयं भी दानकी वर्षा करनेके कारण वृषभ-स्वरूप था। रणभूमिमें विचरता हुआ कर्ण इन्द्र-जैसे शत्रुसे पाला पड़नेपर भी साँड़के समान कभी युद्धसे पीछे नहीं हटता था। उसकी युवा-अवस्था थी। उसका शरीर इतना सुदृढ़ था, मानो वज्रसे गढ़ा गया हो॥ १०-११॥

यस्य ज्यातलशब्देन शरवृष्टिरवेण च।
रथाश्वनरमातङ्गा नावतिष्ठन्ति संयुगे॥ १२॥

जिसकी प्रत्यञ्चाकी टंकार तथा बाणवर्षाके भयंकर शब्दसे भयभीत हो रथी, घुड़सवार, गजारोही और पैदल सैनिक युद्धमें सामने नहीं ठहर पाते थे॥ १२॥

यमाश्रित्य महाबाहुं द्विषां जयकाङ्क्षया।
दुर्योधनोऽकरोद् वैरं पाण्डुपुत्रैर्महारथैः॥ १३॥

जिस महाबाहुका भरोसा करके शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा रखते हुए दुर्योधनने महारथी पाण्डवोंके साथ वैर बाँध रक्खा था॥ १३॥

स कथं रथिनां श्रेष्ठः कर्णः पार्थेन संयुगे।
निहतः पुरुषव्याघ्रः प्रसह्यासह्यविक्रमः॥ १४॥

जिसका पराक्रम शत्रुओंके लिये असह्य था, वह रथियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह कर्ण युद्धस्थलमें कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा बलपूर्वक कैसे मारा गया?॥ १४॥

यो नामन्यत वै नित्यमच्युतं च धनंजयम्।
न वृष्णीन् सहितानन्यान् स्वबाहुबलदर्पितः॥ १५॥

जो अपने बाहुबलके घमंडमें भरकर श्रीकृष्णको, अर्जुनको तथा एक साथ आये हुए अन्यान्य वृष्णिवंशियोंको भी कभी कुछ नहीं समझता था॥ १५॥

शार्ङ्गगाण्डीवधन्वानौ सहितावपराजितौ।
अहं दिव्याद् रथादेकः पातयिष्यामि संयुगे॥ १६॥
इति यः सततं मन्दमवोचल्लोभमोहितम्।
दुर्योधनमवाचीनं राज्यकामुकमातुरम्॥ १७॥

जो राज्यकी इच्छा रखनेवाले तथा चिन्तासे आतुर हो मुँह लटकाये बैठे हुए मेरे लोभमोहित मूर्ख पुत्र दुर्योधनसे सदा यही कहा करता था कि 'मैं अकेला ही युद्धस्थलमें शार्ङ्ग और गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले दोनों अपराजित वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनको उनके दिव्यरथसे एक साथ ही मार गिराऊँगा'॥ १६-१७॥

योऽजयत् सर्वकाम्बोजानावन्त्यान् केकयैः सह।
गान्धारान्मद्रकान् मत्स्यांस्त्रिगर्तांस्तङ्गणाञ्शकान्॥ १८॥
पञ्चालांश्च विदेहांश्च कुलिन्दान् काशिकोसलान्।
सुह्मानङ्गांश्च वङ्गांश्च निषादान् पुण्ड्रचीरकान्॥ १९॥
वत्सान् कलिङ्गांस्तरलानश्मकानृषिकानपि।
(शबरान् परहूणांश्च प्रहूणान् सरलानपि।
म्लेच्छराष्ट्राधिपांश्चैव दुर्गानाटविकांस्तथा॥)
जित्वैतान् समरे वीरश्चक्रे बलिभृतः पुरा॥ २०॥

जिस वीरने पहले समस्त काम्बोज, आवन्त्य, केकय, गान्धार, मद्र, मत्स्य, त्रिगर्त, तङ्गण, शक, पाञ्चाल, विदेह, कुलिन्द, काशी, कोसल, सुह्म, अङ्ग, वङ्ग, निषाद, पुण्ड्र, चीरक, वत्स, कलिङ्ग, तरल, अश्मक तथा ऋषिक—इन सभी देशोंतथा शबर, परहूण, प्रहूण और सरल जातिके लोगों, म्लेच्छ-राज्यके अधिपतियों तथा दुर्ग एवं वनोंमें रहनेवाले योद्धाओं-को समरभूमिमें जीतकर कर देनेवाला बना दिया था॥ १८—२०॥

शरव्रातैः सुनिशितैः सुतीक्ष्णैः कङ्कपत्रिभिः।
(करमाहारयामास जित्वा सर्वानरींस्तथा।)
दुर्योधनस्य वृद्ध्यर्थं राधेयो रथिनां वरः॥ २१॥
दिव्यास्त्रविन्महातेजाः कर्णो वैकर्तनो वृषः।
सेनागोपश्च स कथं शत्रुभिः परमास्त्रवित्॥ २२॥
घातितः पाण्डवैः शूरैः समरे वीर्यशालिभिः।

रथियोंमें श्रेष्ठ जिस राधापुत्रने दुर्योधनकी वृद्धिके लिये कङ्कपत्र-युक्त, तीखी धारवाले पैने बाण-समूहोंद्वारा समस्त

शत्रुओंको परास्त करके उनसे कर वसूल किया था, जो दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता, उत्तम अस्त्रोंका जानकार और हमारी सेनाओंका रक्षक था, वह महातेजस्वी धर्मात्मा वैकर्तन कर्ण अपने शूरवीर एवं बलशाली शत्रु पाण्डवोंद्वारा कैसे मारा गया ? ॥ २१–२२½ ॥

वृषो महेन्द्रो देवेषु वृषः कर्णो नरेष्वपि ॥ २३ ॥
तृतीयमन्यं लोकेषु वृषं नैवानुशुश्रुम ।

देवताओंमें देवराज इन्द्रको वृष कहा गया है (क्योंकि वे जलकी वर्षा करते हैं), इसी प्रकार मनुष्योंमें भी कर्णको वृष कहा जाता था (क्योंकि वह याचकोंके लिये धनकी वर्षा करता था); इन दोके सिवा किसी तीसरे पुरुषको तीनों लोकोंमें वृष नाम दिया गया हो, यह मैंने नहीं सुना ॥२३½॥

उच्चैःश्रवा वरोऽश्वानां राज्ञां वैश्रवणो वरः ॥ २४ ॥
वरो महेन्द्रो देवानां कर्णः प्रहरतां वरः ।

जैसे घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, राजाओंमें कुबेर और देवताओंमें महेन्द्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कर्ण योद्धाओंमें ऊँचा स्थान रखता था ॥ २४½ ॥

योऽजितः पार्थिवैः शूरैः समर्थैर्वीर्यशालिभिः ॥ २५ ॥
दुर्योधनस्य वृद्ध्यर्थं कृत्स्नामुर्वीमथाजयत् ।
यं लब्ध्वा मागधो राजा सान्त्वमानोऽथ सौहृदैः॥२६॥
अरौत्सीत् पार्थिवं क्षत्रमृते यादवकौरवान् ।
तं श्रुत्वा निहतं कर्णं द्वैरथे सव्यसाचिना ॥ २७ ॥
शोकार्णवे निमग्नोऽहं भिन्ना नौरिव सागरे ।

जो पराक्रमशाली, समर्थ एवं शूरवीर नरेशोंद्वारा भी कभी जीता न जा सका, जिसने दुर्योधनकी वृद्धिके लिये समस्त भूमण्डलपर विजय पायी थी, जिसे अपना सहायक पाकर मगधनरेश जरासंधने भी सौहार्दवश शान्त हो यादवों और कौरवोंको छोड़कर भूतलके अन्य नरेशोंको ही अपने कारागारमें कैद किया था; उसी कर्णको सव्यसाची अर्जुनने द्वैरथयुद्धमें मार डाला, यह सुनकर मैं शोकके समुद्रमें डूब गया हूँ, मानो मेरी नाव बीच समुद्रमें जाकर टूट गयी हो।२५-२७½।

तं वृषं निहतं श्रुत्वा द्वैरथे रथिनां वरम् ॥ २८ ॥
शोकार्णवे निमग्नोऽहमप्लवः सागरे यथा ।

रथियोंमें श्रेष्ठ उस धर्मात्मा कर्णको द्वैरथयुद्धमें मारा गया सुनकर मैं समुद्रमें नौकारहित पुरुषकी भाँति शोक-सागरमें निमग्न हो गया हूँ ॥ २८½ ॥

ईदृशैर्यद्यहं दुःखैर्न विनश्यामि संजय ॥ २९ ॥
वज्राद् दृढतरं मन्ये हृदयं मम दुर्भिदम् ।

संजय ! यदि ऐसे दुःखोंसे भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है तो मैं ऐसा समझता हूँ कि मेरा यह हृदय वज्रसे भी अधिक सुदृढ़ और दुर्भेद्य है ॥ २९½ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणामिमं श्रुत्वा पराभवम् ॥ ३० ॥
को मदन्यः पुमाँल्लोके न जह्यात् सूत जीवितम् ।

सूत ! कुटुम्बीजनों, सगे-सम्बन्धियों और मित्रोंके पराभवका यह समाचार सुनकर संसारमें मेरे सिवा दूसरा कौन पुरुष होगा, जो अपने जीवनका परित्याग न कर दे ॥३०½॥

विषमग्निं प्रपातं च पर्वताग्रादहं वृणे ।
न हि शक्ष्यामि दुःखानि सोढुं कष्टानि संजय ॥३१॥

संजय ! मैं विष खाकर, अग्निमें प्रविष्ट होकर तथा पर्वतके शिखरसे नीचे गिरकर भी मृत्युका वरण कर लूँगा । परंतु अब ये कष्टदायक दुःख नहीं सह सकूँगा ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे विलाप करते हुए कर्णवधका विस्तारपूर्वक वृत्तान्त पूछना

संजय उवाच

श्रिया कुलेन यशसा तपसा च श्रुतेन च ।
त्वामद्य सन्तो मन्यन्ते ययातिमिव नाहुषम् ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज ! साधु पुरुष इस समय आपको धन-सम्पत्ति, कुल-मर्यादा, सुयश, तपस्या और शास्त्रज्ञानमें नहुषनन्दन ययातिके समान मानते हैं ॥ १ ॥

श्रुते महर्षिप्रतिमः कृतकृत्योऽसि पार्थिव ।
पर्यवस्थापयात्मानं मा विषादे मनः कृथाः ॥ २ ॥

राजन् ! वेद-शास्त्रोंके ज्ञानमें आप महर्षियोंके तुल्य हैं । आपने अपने जीवनके सम्पूर्ण कर्तव्योंका पालन कर लिया है; अतः अपने मनको स्थिर कीजिये, उसे विषादमें न डुबाइये ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये धिक् पौरुषमनर्थकम् ।
यत्र शालप्रतीकाशः कर्णोऽहन्यत संयुगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मैं तो दैवको ही प्रधान मानता हूँ । पुरुषार्थ व्यर्थ है, उसे धिक्कार है, जिसका आश्रय लेकर शालवृक्षके समान ऊँचे शरीरवाला कर्ण भी युद्धमें मारा गया ॥ ३ ॥

हत्वा युधिष्ठिरानीकं पञ्चालानां रथव्रजान् ।

प्रताप्य शरवर्षेण दिशः सर्वा महारथः ॥ ४ ॥
मोहयित्वा रणे पार्थान् वज्रहस्त इवासुरान् ।
स कथं निहतः शेते वायुरुग्ण इव द्रुमः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरकी सेना तथा पाञ्चाल रथियोंके समुदायका संहार करके जिस महारथी वीरने अपने बाणोंकी वर्षासे सम्पूर्ण दिशाओंको संतप्त कर दिया और वज्रधारी इन्द्र जैसे असुरोंको अचेत कर देते हैं, उसी प्रकार जिसने रणभूमिमें कुन्ती-कुमारोंको मोहमें डाल दिया था, वही किस तरह मारा जाकर आँधीके उखाड़े हुए वृक्षके समान धरतीपर पड़ा है ? ॥४-५॥

शोकस्यान्तं न पश्यामि पारं जलनिधेरिव ।
चिन्ता मे वर्धतेऽतीव मुमूर्षा चापि जायते ॥ ६ ॥

जैसे समुद्रका पार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार मैं इस शोकका अन्त नहीं देख पाता हूँ । मेरी चिन्ता अधिकाधिक बढ़ती जाती है और मरनेकी इच्छा प्रबल हो उठी है ॥

कर्णस्य निधनं श्रुत्वा विजयं फाल्गुनस्य च ।
अश्रद्धेयमहं मन्ये वधं कर्णस्य संजय ॥ ७ ॥

संजय ! मैं कर्णकी मृत्यु और अर्जुनकी विजयका समाचार सुनकर भी कर्णके वधको विश्वासके योग्य नहीं मानता ॥ ७ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं दुर्भिदं मम ।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं कर्णं न दीर्यते ॥ ८ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्रके सारतत्त्वका बना हुआ है, अतः दुर्भेद्य है; तभी तो पुरुष-सिंह कर्णको मारा गया सुनकर भी यह विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ८ ॥

आयुर्नूनं सुदीर्घं मे विहितं दैवतैः पुरा ।
यत्र कर्णं हतं श्रुत्वा जीवामीह सुदुःखितः ॥ ९ ॥

अवश्य ही पूर्वकालमें देवताओंने मेरी आयु बहुत बड़ी बना दी थी, जिसके अधीन होनेके कारण मैं कर्ण-वधका समाचार सुनकर अत्यन्त दुखी होनेपर भी यहाँ जी रहा हूँ ॥९॥

धिग्जीवितमिदं चैव सुहृद्धीनस्य संजय ।
अद्य चाहं दशामेतां गतः संजय गर्हिताम् ॥ १० ॥

संजय ! मेरे इस जीवनको धिक्कार है । आज मैं सुहृदोंसे हीन होकर इस घृणित दशाको पहुँच गया हूँ ॥ १० ॥

कृपणं वर्तयिष्यामि शोच्यः सर्वस्य मन्दधीः ।
अहमेव पुरा भूत्वा सर्वलोकस्य सत्कृतः ॥ ११ ॥
परिभूतः कथं सूत परैः शक्ष्यामि जीवितुम् ।

अब मैं मन्दबुद्धि मानव सबके लिये शोचनीय होकर दीन-दुखी मनुष्योंके समान जीवन बिताऊँगा । सूत ! मैं ही पहले सब लोगोंके सम्मानका पात्र था; किंतु अब शत्रुओंसे अपमानित होकर कैसे जीवित रह सकूँगा ? ॥ ११½ ॥

दुःखात् सुदुःखव्यसनं प्राप्तवानस्मि संजय ॥ १२ ॥
भीष्मद्रोणवधेनैव कर्णस्य च महात्मनः ।

संजय ! भीष्म, द्रोण और महामना कर्णके वधसे मुझपर लगातार एक-से-एक बढ़कर अत्यन्त दुःख तथा सङ्कट आता गया है ॥ १२½ ॥

नावशेषं प्रपश्यामि सूतपुत्रे हते युधि ॥ १३ ॥
स हि पारो महानासीत् पुत्राणां मम संजय ।

युद्धमें सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर मैं अपने पक्षके किसी भी वीरको ऐसा नहीं देखता, जो जीवित रह सके । संजय ! कर्ण ही मेरे पुत्रोंको पार उतारनेवाला महान् अवलम्ब था ॥

युद्धे हि निहतः शूरो विसृजन् सायकान् बहून् ॥ १४ ॥
को हि मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।

शत्रुओंपर असंख्य बाणोंकी वर्षा करनेवाला वह शूरवीर युद्धमें मार डाला गया । उस पुरुषशिरोमणिके बिना मेरे इस जीवनसे क्या प्रयोजन है ? ॥ १४½ ॥

रथादाधिरथिर्नूनं न्यपतत् सायकार्दितः ॥ १५ ॥
पर्वतस्येव शिखरं वज्रपाताद् विदारितम् ।

जैसे वज्रके आघातसे विदीर्ण किया हुआ पर्वतशिखर धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार बाणोंसे पीड़ित हुआ अधिरथपुत्र कर्ण निश्चय ही रथसे नीचे गिर पड़ा होगा ॥

स शेते पृथिवीं नूनं शोभयन् रुधिरोक्षितः ॥ १६ ॥
मातङ्ग इव मत्तेन द्विपेन्द्रेण निपातितः ।

जैसे मतवाले गजराजद्वारा गिराया हुआ हाथी पड़ा हो, उसी प्रकार कर्ण खूनसे लथपथ होकर अवश्य इस पृथ्वीकी शोभा बढ़ाता हुआ सो रहा है ॥ १६½ ॥

यो बलं धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां यतो भयम् ॥ १७ ॥
सोऽर्जुनेन हतः कर्णः प्रतिमानं धनुष्मताम् ।

जो मेरे पुत्रोंका बल था, पाण्डवोंको जिससे सदा भय बना रहता था तथा जो धनुर्धर वीरोंके लिये आदर्श था, वह कर्ण अर्जुनके हाथसे मारा गया ॥ १७½ ॥

स हि वीरो महेष्वासो मित्राणामभयंकरः ॥ १८ ॥
शेते विनिहतो वीरो देवेन्द्रेण इवाचलः ।

जैसे देवराज इन्द्रके द्वारा वज्रसे मारा गया पर्वत पृथ्वीपर पड़ा हो, उसी प्रकार मित्रोंको अभय-दान देनेवाला वह महाधनुर्धर वीर कर्ण अर्जुनके हाथसे मारा जाकर रणभूमिमें सो रहा है ॥ १८½ ॥

पङ्गोरिवाध्वगमनं दरिद्रस्येव कामितम् ॥ १९ ॥
दुर्योधनस्य चाकूतं तृषितस्येव विप्रुषः ।

जैसे पङ्गु मनुष्यके लिये रास्ता चलना कठिन है, दरिद्रका मनोरथ पूर्ण होना असम्भव है तथा जलकी कुछ ही बूँदें जैसे प्यासेकी प्यास बुझानेमें असमर्थ हैं, उसी प्रकार दुर्योधनका अभिप्राय असम्भव अथवा सफलतासे कोसों दूर है ॥१९½॥

अन्यथा चिन्तितं कार्यमन्यथा तत् तु जायते ॥२०॥

अहो नु बलवद् दैवं कालश्च दुरतिक्रमः।

किसी कार्यको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु वह दैववश और ही प्रकारका हो जाता है। अहो ! निश्चय ही दैव प्रबल और काल दुर्लङ्घ्य है ॥ २०½ ॥

पलायमानः कृपणो दीनात्मा दीनपौरुषः ॥ २१ ॥
कच्चिद् विनिहतः सूत पुत्रो दुःशासनो मम।
कच्चिन्न दीनाचरितं कृतवांस्तात संयुगे ॥ २२ ॥
कच्चिन्न निहतः शूरो यथान्ये क्षत्रियर्षभाः।

सूत ! क्या मेरा पुत्र दुःशासन दीनचित्त और पुरुषार्थ-शून्य होकर कायरके समान भागता हुआ मारा गया। तात ! उसने युद्धस्थलमें कोई दीनतापूर्ण बर्ताव तो नहीं किया था। जैसे अन्य क्षत्रियशिरोमणि मारे गये हैं, क्या उसी प्रकार शूरवीर दुःशासन नहीं मारा गया है ? ॥ २१-२२½ ॥

युधिष्ठिरस्य वचनं मा युध्यस्वेति सर्वदा ॥ २३ ॥
दुर्योधनो नाभ्यगृह्णान्मूढः पथ्यमिवौषधम्।

युधिष्ठिर सदा यही कहते रहे कि 'युद्ध न करो।' परंतु मूर्ख दुर्योधनने हितकारक औषधके समान उनके उस वचनको ग्रहण नहीं किया ॥ २३½ ॥

शरतल्पे शयानेन भीष्मेण सुमहात्मना ॥ २४ ॥
पानीयं याचितः पार्थः सोऽविध्यन्मेदिनीतलम्।
जलस्य धारां जनितां दृष्ट्वा पाण्डुसुतेन च ॥ २५ ॥
अब्रवीत् स महाबाहुस्तात संशाम्य पाण्डवैः।
प्रशमाद्धि भवेच्छान्तिर्मदन्तं युद्धमस्तु वः ॥ २६ ॥
भ्रातृभावेन पृथिवीं भुङ्क्ष्व पाण्डुसुतैः सह।

बाण-शय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मने अर्जुनसे पानी माँगा और उन्होंने इसके लिये पृथ्वीको छेद दिया। इस प्रकार पाण्डुपुत्र अर्जुनके द्वारा प्रकट की हुई उस जल-धाराको देखकर महाबाहु भीष्मने दुर्योधनसे कहा—'तात ! पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। संधिसे वैरकी शान्ति हो जायगी, तुमलोगोंका यह युद्ध मेरे जीवनके साथ ही समाप्त हो जाय। तुम पाण्डवोंके साथ भ्रातृभाव बनाये रखकर पृथ्वीका उपभोग करो' ॥ २४-२६½ ॥

अकुर्वन् वचनं तस्य नूनं शोचति पुत्रकः ॥ २७ ॥
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दीर्घदर्शिनः।

उनकी उस बातको न माननेके कारण अवश्य ही मेरा पुत्र शोक कर रहा है। दूरदर्शी भीष्मजीकी वह बात आज सफल होकर सामने आयी है ॥ २७½ ॥

अहं तु निहतामात्यो हतपुत्रश्च संजय ॥ २८ ॥
द्यूततः कृच्छ्रमापन्नो लूनपक्ष इव द्विजः।

संजय ! मेरे मन्त्री और पुत्र मारे गये। मैं तो पंख कटे हुए पक्षीके समान जूएके कारण भारी संकटमें पड़ गया हूँ ॥ २८½ ॥

यथा हि शकुनिं गृह्य छित्त्वा पक्षौ च संजय ॥ २९ ॥
विसर्जयन्ति संहृष्टाः क्रीडमानाः कुमारकाः।
लूनपक्षतया तस्य गमनं नोपपद्यते ॥ ३० ॥
तथाहमपि सम्प्राप्तो लूनपक्ष इव द्विजः।

सूत ! जैसे खेलते हुए बालक किसी पक्षीको पकड़कर उसकी दोनों पाँखें काट लेते और प्रसन्नतापूर्वक उसे छोड़ देते हैं। फिर पंख कट जानेके कारण उसका उड़कर कहीं जाना सम्भव नहीं हो पाता। उसी कटे हुए पंखवाले पक्षीके समान मैं भी भारी दुर्दशामें पड़ गया हूँ ॥ २९-३०½ ॥

क्षीणः सर्वार्थहीनश्च निर्ज्ञातिर्बन्धुवर्जितः।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामि दीनः शत्रुवशं गतः ॥ ३१ ॥

मैं शरीरसे दुर्बल, सारी धन-सम्पत्तिसे वञ्चित तथा कुटुम्बीजनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित हो शत्रुके वशमें पड़कर दीनभावसे किस दिशाको जाऊँगा ? ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहु दुःखितः।
प्रोवाच संजयं भूयः शोकव्याकुलमानसः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करके अत्यन्त दुखी और शोकसे व्याकुलचित्त हो धृतराष्ट्रने पुनः संजयसे इस प्रकार कहा ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

योऽजयत् सर्वकाम्बोजानम्बष्ठान् केकयैः सह।
गान्धारांश्च विदेहांश्च जित्वा कार्यार्थमाहवे ॥ ३३ ॥
दुर्योधनस्य वृद्ध्यर्थं योऽजयत् पृथिवीं प्रभुः।
स जितः पाण्डवैः शूरैः समरे बाहुशालिभिः॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जिसने हमारे कार्यके लिये युद्धस्थलमें सम्पूर्ण काम्बोज-निवासियों, अम्बष्ठों, केकयों, गान्धारों और विदेहोंपर विजय पायी। इन सबको जीतकर जिसने दुर्योधनकी वृद्धिके लिये समस्त भूमण्डलको जीत लिया था। वही सामर्थ्यशाली कर्ण अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर पाण्डवोंद्वारा समराङ्गणमें परास्त हो गया ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे कर्णे युधि किरीटिना।
के वीराः पर्यतिष्ठन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! युद्धस्थलमें किरीटधारी अर्जुनके द्वारा उस महा-धनुर्धर कर्णके मारे जानेपर कौन-कौन-से वीर ठहर सके; यह मुझे बताओ ॥ ३५ ॥

कच्चिन्नैकः परित्यक्तः पाण्डवैर्निहतो रणे।
उक्तं त्वया पुरा तात यथा वीरो निपातितः ॥ ३६ ॥

तात ! कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि कर्णको अकेला छोड़ दिया गया हो और समस्त पाण्डवोंने मिलकर उसे मार डाला हो; क्योंकि तुम पहले बता चुके हो कि वीर कर्ण मारा गया ॥ ३६ ॥

भीष्ममप्रतियुद्ध्यन्तं शिखण्डी सायकोत्तमैः।
पातयामास समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ ३७ ॥

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्म जब युद्ध नहीं कर रहे थे, उस दशामें शिखण्डीने अपने उत्तम बाणोंद्वारा उन्हें समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ३७ ॥

तथा द्रौपदिना द्रोणो न्यस्तसर्वायुधो युधि।
युक्तयोगो महेष्वासः शरैर्बहुभिराचितः ॥ ३८ ॥
निहतः खड्गमुद्यम्य धृष्टद्युम्नेन संजय।
अन्तरेण हतावेतौ छलेन च विशेषतः ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार जब महाधनुर्धर द्रोणाचार्य युद्धस्थलमें अपने सारे अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डालकर ब्रह्मका ध्यान लगाये हुए बैठे थे, उस अवस्थामें द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नने उन्हें बहुसंख्यक बाणोंसे ढक दिया और तलवार उठाकर उनका सिर काट लिया। संजय ! इस प्रकार ये दोनों वीर छिद्र मिल जानेसे विशेषतः छलपूर्वक मारे गये ॥ ३८-३९ ॥

अश्रौषमहमेतद् वै भीष्मद्रोणौ निपातितौ।
भीष्मद्रोणौ हि समरे न हन्याद् वज्रभृत् स्वयम्॥४०॥
न्यायेन युध्यमानौ हि तद् वै सत्यं ब्रवीमि ते।

मैंने यह समाचार भी सुना था कि भीष्म और द्रोणाचार्य मार गिराये गये, परंतु मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ कि ये भीष्म और द्रोण यदि समरभूमिमें न्यायपूर्वक युद्ध करते होते तो इन्हें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं मार सकते थे ॥ ४०½ ॥

कर्णं त्वस्यन्तमस्त्राणि दिव्यानि च बहूनि च ॥ ४१ ॥
कथमिन्द्रोपमं वीरं मृत्युर्युद्धे समस्पृशत्।

मैं पूछता हूँ कि युद्धमें बहुत-से दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करते हुए इन्द्रके समान पराक्रमी वीर कर्णको मृत्यु कैसे छू सकी ?॥

यस्य विद्युत्प्रभां शक्तिं दिव्यां कनकभूषणाम्॥ ४२ ॥
प्रायच्छद् द्विषतां हन्त्रीं कुण्डलाभ्यां पुरंदरः।
यस्य सर्पमुखो दिव्यः शरः काञ्चनभूषणः ॥ ४३ ॥
अशेत निशितः पत्री समरेष्वरिसूदनः।
भीष्मद्रोणमुखान् वीरान् योऽवमन्ये महारथान्॥४४॥
जामदग्न्यान्महाघोरं ब्राह्ममस्त्रमशिक्षत।
यश्च द्रोणमुखान् दृष्ट्वा विमुखानर्दिताञ्शरैः ॥ ४५ ॥
सौभद्रस्य महाबाहुर्व्यधमत् कार्मुकं शितैः।
यश्च नागायुतप्राणं वज्ररंहसमच्युतम् ॥ ४६ ॥
विरथं सहसा कृत्वा भीमसेनमथाहसत्।
सहदेवं च निर्जित्य शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४७ ॥
कृपया विरथं कृत्वा नाहनद् धर्मचिन्तया।
यश्च मायासहस्राणि विकुर्वाणं जयैषिणम् ॥ ४८ ॥
घटोत्कचं राक्षसेन्द्रं शक्रशक्त्या निजघ्निवान्।
एतांश्च दिवसान् यस्य युद्धे भीतो धनंजयः ॥ ४९ ॥
नागमद् द्वैरथं वीरः स कथं निहतो रणे।

जिसे देवराज इन्द्रने दो कुण्डलोंके बदलेमें विद्युत्के समान प्रकाशित होनेवाली तथा शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ सुवर्णभूषित दिव्य शक्ति प्रदान की थी, जिसके तूणीरमें सर्पके समान मुखवाला दिव्य, सुवर्णभूषित, कङ्कपत्रयुक्त एवं युद्धमें शत्रुसंहारक तीखा बाण सदा शयन करता था, जो भीष्म-द्रोण आदि महारथी वीरोंकी भी अवहेलना करता था, जिसने जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे अत्यन्त घोर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा पायी थी और जिस महाबाहु वीरने सुभद्राकुमारके बाणोंसे पीड़ित हुए द्रोणाचार्य आदिको युद्धसे विमुख हुआ देख अपने तीखे बाणोंसे उसका धनुष काट डाला था, जिसने दस हजार हाथियोंके समान बलशाली, वज्रके समान तीव्र वेगवाले, अपराजित वीर भीमसेनको सहसा रथहीन करके उनकी हँसी उड़ायी थी, जिसने सहदेवको जीतकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन्हें रथहीन करके भी धर्मके विचारसे दयावश उनके प्राण नहीं लिये; जिसने सहस्रों मायाओंकी सृष्टि करनेवाले विजयाभिलाषी राक्षसराज घटोत्कचको इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे मार डाला तथा इतने दिनोंतक अर्जुन जिससे भयभीत होकर उसके साथ द्वैरथ-युद्धमें सम्मिलित नहीं हो सके, वही वीर कर्ण रणभूमिमें मारा कैसे गया ?॥४२–४९½॥

संशप्तकानां योधा ये आह्वयन्त सदान्यतः ॥ ५० ॥
एतान् हत्वा हनिष्यामि पश्चाद् वैकर्तनं रणे।
इति व्यपदिशन् पार्थो वर्जयन् सूतजं रणे ॥ ५१ ॥
स कथं निहतो वीरः पार्थेन परवीरहा।

'संशप्तकोंमेंसे जो योद्धा सदा मुझे दूसरी ओर युद्धके लिये बुलाया करते हैं, इन्हें पहले मारकर पीछे वैकर्तन कर्णका रणभूमिमें वध करूँगा।' ऐसा बहाना बनाकर अर्जुन जिस सूतपुत्रको युद्धस्थलमें छोड़ दिया करते थे, उसी शत्रुवीरोंके संहारक वीरवर कर्णको अर्जुनने किस प्रकार मारा ?॥५०-५१½॥

रथभङ्गो न चेत् तस्य धनुर्वा न व्यशीर्यत ॥ ५२ ॥
न चेदस्त्राणि निर्णेशुः स कथं निहतः परैः।

यदि उसका रथ नहीं टूट गया था, धनुषके टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गये थे और अस्त्र नहीं नष्ट हुए थे, तब शत्रुओंने उसे किस प्रकार मार दिया ? ॥ ५२½ ॥

को हि शक्तो रणे कर्णं विधुन्वानं महद् धनुः॥ ५३ ॥
विमुञ्चन्तं शरान् घोरान् दिव्यान्यस्त्राणि चाहवे।
जेतुं पुरुषशार्दूलं शार्दूलमिव वेगिनम् ॥ ५४ ॥

सिंहके समान वेगशाली पुरुषसिंह कर्ण जब अपना विशाल धनुष कँपाता हुआ युद्धस्थलमें दिव्यास्त्र तथा भयंकर बाण छोड़ रहा हो, उस समय उसे कौन जीत सकता था ? ॥ ५३-५४ ॥

ध्रुवं तस्य धनुश्छिन्नं रथो वापि महीं गतः।
अस्त्राणि वा प्रणष्टानि यथा शंससि मे हतम्॥ ५५॥

निश्चय ही उसका धनुष कट गया होगा या रथ धरतीमें धँस गया होगा अथवा उसके अस्त्र नष्ट हो गये होंगे, तभी जैसा कि तुम मुझे बता रहे हो, वह मारा गया होगा॥ ५५॥

न ह्यन्यदपि पश्यामि कारणं तस्य नाशने।
न हन्मि फाल्गुनं यावत् तावत् पादौ न धावये॥५६॥
इति यस्य महाघोरं व्रतमासीन्महात्मनः।

उसके नष्ट होनेमें और कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता है, जिस महामना वीरका यह भयंकर व्रत था कि 'मैं जबतक अर्जुनको मार नहीं लूँगा, तबतक दूसरोंसे अपने पैर नहीं धुलाऊँगा'॥ ५६½॥

यस्य भीतो रणे निद्रां धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ ५७॥
त्रयोदश समा नित्यं नाभजत् पुरुषर्षभः।
यस्य वीर्यवतो वीर्यमुपाश्रित्य महात्मनः॥ ५८॥
मम पुत्रः सभां भार्यां पाण्डूनां नीतवान् बलात्।
तत्रापि च सभामध्ये पाण्डवानां च पश्यताम्॥ ५९॥
दासभार्येति पाञ्चालीमब्रवीत् कुरुसंनिधौ।
न सन्ति पतयः कृष्णे सर्वे षण्ढतिलैः समाः॥ ६०॥
उपतिष्ठस्व भर्तारमन्यं वा वरवर्णिनि।
इत्येवं यः पुरा वाचो रूक्षाश्श्रावयद् रुषा॥ ६१॥
सभायां सूतजः कृष्णां स कथं निहतः परैः।

रणभूमिमें जिसके भयसे डरे हुए पुरुषशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरने तेरह वर्षोंतक कभी अच्छी तरह नींद नहीं ली, जिस महामनस्वी बलवान् सूतपुत्रके बलका भरोसा करके मेरा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंकी पत्नीको बलपूर्वक सभामें घसीट लाया और वहाँ भी भरी सभामें उसने पाण्डवोंके देखते-देखते समस्त कुरुवंशियोंके समीप पाञ्चालराजकुमारीको दास-पत्नी बतलाया, साथ ही जिसने उसे सम्बोधित करके कहा—'कृष्णे! तेरे पति अब नहींके बराबर हैं। ये सभी थोथे तिलोंके समान नपुंसक हो गये हैं। सुन्दरि! अब तू दूसरे किसी पतिका आश्रय ले' पूर्वकालमें जिस सूतपुत्रने सभामें रोषपूर्वक द्रौपदीको ये कठोर बातें सुनायी थीं, वह स्वयं शत्रुओंद्वारा कैसे मारा गया?॥ ५७–६१½॥

यदि भीष्मो रणश्लाघी द्रोणो वा युधि दुर्मदः॥६२॥
न हनिष्यति कौन्तेयान् पक्षपातात् सुयोधन।
सर्वानेव हनिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः॥ ६३॥

जिसने मेरे पुत्रसे कहा था कि 'दुर्योधन! यदि युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीष्म अथवा रणदुर्मद द्रोणाचार्य पक्षपात करनेके कारण कुन्तीपुत्रोंको नहीं मारेंगे तो मैं उन सबको मार डालूँगा। तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये॥

किं करिष्यति गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी।
स्निग्धचन्दनदिग्धस्य मच्छरस्याभिधावतः॥ ६४॥
स नूनमृषभस्कन्धो ह्यर्जुनेन कथं हतः।

'गाण्डीव धनुष अथवा दोनों अक्षय तरकस मेरे उस बाणका क्या कर लेंगे, जो चिकने चन्दनसे चर्चित हो शत्रुओंपर बड़े वेगसे धावा करता है' ऐसी बातें कहनेवाला कर्ण, जिसके कंधे बैलोंके समान हृष्ट-पुष्ट थे, निश्चय ही अर्जुनके हाथसे कैसे मारा गया?॥ ६४½॥

यश्च गाण्डीवमुक्तानां स्पर्शमुग्रमचिन्तयन्॥ ६५॥
अपतिर्ह्यसि कृष्णेति ब्रुवन् पार्थानवैक्षत।
यस्य नासीद् भयं पार्थैः सपुत्रैः सजनार्दनैः॥ ६६॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य मुहूर्तमपि संजय।
तस्य नाहं वधं मन्ये देवैरपि सवासवैः॥ ६७॥
प्रतीपमभिधावद्भिः किं पुनस्तात पाण्डवैः।

संजय! जिसने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंके आघातकी तनिक भी परवा न करके 'कृष्णे! अब तू पतिहीना हो गयी' ऐसा कहते हुए कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखा था, जिसे अपने बाहुबलके भरोसे कभी दो घड़ीके लिये भी पुत्रोंसहित पाण्डवों और भगवान् श्रीकृष्णसे भी भय नहीं हुआ। तात! यदि शत्रुपक्षकी ओरसे इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवता भी धावा करें तो उनके द्वारा भी कर्णके वध होनेका विश्वास मुझे नहीं हो सकता था, फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है?॥ ६५–६७½॥

न हि ज्यां संस्पृशानस्य तलत्रे वापि गृह्णतः॥ ६८॥
पुमानाधिरथेः स्थातुं कश्चित् प्रमुखतोऽर्हति।
अपि स्यान्मेदिनी हीना सोमसूर्यप्रभांशुभिः॥ ६९॥
न वधः पुरुषेन्द्रस्य संयुगेष्वपलायिनः।

जब अधिरथपुत्र कर्ण अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाका स्पर्श कर रहा हो अथवा दस्ताने पहन चुका हो, उस समय कोई पुरुष उसके सामने नहीं ठहर सकता था। सम्भव है यह पृथ्वी चन्द्रमा और सूर्यकी प्रकाशमयी किरणोंसे वञ्चित हो जाय, परंतु युद्धमें पीठ न दिखानेवाले पुरुषशिरोमणि कर्णके वधकी कदापि सम्भावना नहीं थी॥ ६८–६९½॥

येन मन्दः सहायेन भ्रात्रा दुःशासनेन च॥ ७०॥
वासुदेवस्य दुर्बुद्धिः प्रत्याख्यानमरोचत।
स नूनं वृषभस्कन्धं कर्णं दृष्ट्वा निपातितम्॥ ७१॥
दुःशासनं च निहतं मन्ये शोचति पुत्रकः।

जिस कर्ण और भाई दुःशासनको अपना सहायक पाकर मूर्ख एवं दुर्बुद्धि दुर्योधनने श्रीकृष्णके प्रस्तावको ठुकरा देना ही उचित समझा था, मैं समझता हूँ, आज बैलोंके समान पुष्ट कंधेवाले कर्णको गिरा हुआ तथा दुःशासनको भी मारा गया देख मेरा बह पुत्र निश्चय ही शोकमें मग्न हो गया होगा॥ ७०-७१½॥

हतं वैकर्तनं श्रुत्वा द्वैरथे सव्यसाचिना ॥ ७२ ॥
जयतः पाण्डवान् दृष्ट्वा किंस्विद् दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

द्वैरथयुद्धमें सव्यसाची अर्जुनके हाथसे कर्णको मारा गया सुनकर और पाण्डवोंकी विजय होती देखकर दुर्योधनने क्या कहा था ? ॥ ७२½ ॥

दुर्मर्षणं हतं दृष्ट्वा वृषसेनं च संयुगे ॥ ७३ ॥
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा वध्यमानं महारथैः ।
पराङ्मुखांश्च राज्ञस्तु पलायनपरायणान् ॥ ७४ ॥
विद्रुतान् रथिनो दृष्ट्वा मन्ये शोचति पुत्रकः ।

दुर्मर्षण और वृषसेन भी युद्धमें मारे गये, महारथी पाण्डवोंकी मार खाकर सेनामें भगदड़ मच गयी, सहायक नरेश युद्धसे विमुख हो पलायन करने लगे और रथियोंने पीठ दिखा दी । यह सब देखकर मेरा बेटा शोक कर रहा होगा; ऐसा मुझे मालूम हो रहा है ॥ ७३-७४½ ॥

अनेयश्चाभिमानी च दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ ७५ ॥
हतोत्साहं बलं दृष्ट्वा किंस्विद् दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

जो किसीकी सीख नहीं मानता है, जिसे अपनी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ताका अभिमान है, उस दुर्बुद्धि, अजितेन्द्रिय दुर्योधनने अपनी सेनाको हतोत्साह देखकर क्या कहा ? ॥ ७५½ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा वार्यमाणः सुहृद्गणैः ॥ ७६ ॥
प्रधने हतभूयिष्ठैः किंस्विद् दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

हितैषी सुहृदोंके मना करनेपर भी पाण्डवोंके साथ स्वयं बड़ा भारी वैर ठानकर दुर्योधनने, जब संग्राममें उसके अधिकांश सैनिक मार डाले गये, तब क्या कहा ? ॥ ७६½ ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ॥ ७७ ॥
रुधिरे पीयमाने च किंस्विद् दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

युद्धस्थलमें अपने भाई दुःशासनको भीमसेनके द्वारा मारा गया देख जब कि उसका रक्त पीया जा रहा था, दुर्योधनने क्या कहा ? ॥ ७७½ ॥

सह गान्धारराजेन सभायां यदभाषत ॥ ७८ ॥
कर्णोऽर्जुनं रणे हन्ता हते तस्मिन् किमब्रवीत् ।

गान्धारराज शकुनिके साथ सभामें दुर्योधनने जो यह कहा था कि 'कर्ण अर्जुनको मार डालेगा', उसके विपरीत जब कर्ण स्वयं मारा गया तब उसने क्या कहा ? ॥ ७८½ ॥

द्यूतं कृत्वा पुरा हृष्टो वञ्चयित्वा च पाण्डवान् ॥७९॥
शकुनिः सौबलस्तात हते कर्णे किमब्रवीत् ।

तात ! पहले द्यूतक्रीड़ाका आयोजन करके पाण्डवोंको ठग लेनेके बाद जिसे बड़ा हर्ष हुआ था, वह सुबलपुत्र शकुनि कर्णके मारे जानेपर क्या बोला ? ॥ ७९½ ॥

कृतवर्मा महेष्वासः सात्वतानां महारथः ॥ ८० ॥
हतं वैकर्तनं दृष्ट्वा हार्दिक्यः किमभाषत ।

वैकर्तन कर्णको मारा गया देख सात्वतवंशके महाधनुर्धर महारथी हृदिकपुत्र कृतवर्माने क्या कहा ? ॥ ८०½ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या यस्य शिक्षामुपासते॥ ८१ ॥
धनुर्वेदं चिकीर्षन्तो द्रोणपुत्रस्य धीमतः ।
युवा रूपेण सम्पन्नो दर्शनीयो महायशाः ॥ ८२ ॥
अश्वत्थामा हते कर्णे किमभाषत संजय ।

संजय ! धनुर्वेद प्राप्त करनेकी इच्छावाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जिस बुद्धिमान् द्रोणपुत्रके पास आकर शिक्षा ग्रहण करते हैं, जो सुन्दर रूपसे सम्पन्न, युवक, दर्शनीय तथा महायशस्वी है, उस अश्वत्थामाने कर्णके मारे जानेपर क्या कहा ? ॥ ८१-८२½ ॥

आचार्यो यो धनुर्वेदे गौतमो रथसत्तमः ॥ ८३ ॥
कृपः शारद्वतस्तात हते कर्णे किमब्रवीत् ।

तात ! धनुर्वेदके आचार्य एवं रथियोंमें श्रेष्ठ, गौतमवंशी, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने कर्णके मारे जानेपर क्या कहा ? ॥

मद्रराजो महेष्वासः शल्यः समितिशोभनः ॥ ८४ ॥
दृष्ट्वा विनिहतं कर्णं सारथ्ये रथिनां वरः ।
किमभाषत वीरोऽसौ मद्राणामधिपो बली ॥ ८५ ॥

युद्धमें शोभा पानेवाले, रथियोंमें श्रेष्ठ, मद्रदेशके अधिपति, बलवान् वीर, महाधनुर्धर मद्रराज शल्यने अपने सारथित्वमें कर्णको मारा गया देखकर क्या कहा ? ॥

दृष्ट्वा विनिहतं सर्वे योधा वा रणदुर्जयाः ।
ये च केचन राजानः पृथिव्यां योद्धुमागताः ।
वैकर्तनं हतं दृष्ट्वा कान्यभाषन्त संजय ॥ ८६ ॥

संजय ! भूमण्डलके जो कोई भी नरेश युद्धके लिये आये थे, वे समस्त रणदुर्जय योद्धा वैकर्तन कर्णको मारा गया देखकर क्या बातें कर रहे थे ? ॥ ८६ ॥

द्रोणे तु निहते वीरे रथव्याघ्रे नरर्षभे ।
के वा मुखमनीकानामासन् संजय भागशः ॥ ८७ ॥

संजय ! रथियोंमें सिंह नरश्रेष्ठ वीरवर द्रोणाचार्यके मारे जानेपर कौन-कौनसे वीर सेनाओंके मुख (अग्रभाग) की रक्षा करते रहे ? ॥ ८७ ॥

मद्रराजः कथं शल्यो नियुक्तो रथिनां वरः ।
वैकर्तनस्य सारथ्ये तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ८८ ॥

संजय ! रथियोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यको कर्णके सारथिके कार्यमें कैसे नियुक्त किया गया ? यह मुझे बताओ ॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं सूतपुत्रस्य युध्यतः ।
वामं चक्रं ररक्षुर्वा के वा वीरस्य पृष्ठतः ॥ ८९ ॥

युद्ध करते समय भी वीर सूतपुत्रके दाहिने पहियेकी रक्षा कौन-कौन कर रहे थे ? अथवा उसके बायें पहिये या पृष्ठभागकी रक्षामें कौन-कौन वीर नियुक्त थे ? ॥ ८९ ॥

के कर्णं न जहुः शूराः के क्षुद्राः प्राद्रवंस्ततः ।
कथं च वः समेतानां हतः कर्णो महारथः ॥ ९० ॥

किन शूरवीरोंने कर्णका साथ नहीं छोड़ा ? और कौन-कौन-से नीच सैनिक वहाँसे भाग गये ? तुम सब लोग जब एक साथ होकर लड़ रहे थे, तब महारथी कर्ण कैसे मारा गया ? ॥ ९० ॥

पाण्डवाश्च स्वयं शूराः प्रत्युदीयुर्महारथाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि वारिधारा इवाम्बुदाः ॥ ९१ ॥
स च सर्पमुखो दिव्यो महेषुप्रवरस्तदा ।
व्यर्थः कथं समभवत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ९२ ॥

संजय ! जिस समय शूरवीर महारथी पाण्डव पानीकी धारा बरसानेवाले बादलोंके समान स्वयं ही बाणोंकी वृष्टि करते हुए आगे बढ़ने लगे, उस समय महान् बाणोंमें सर्वश्रेष्ठ दिव्य सर्पमुख बाण व्यर्थ कैसे हो गया ? यह मुझे बताओ ॥ ९१-९२ ॥

मामकस्यास्य सैन्यस्य हतोत्सेधस्य संजय ।
अवशेषं न पश्यामि ककुदे मृदिते सति ॥ ९३ ॥

संजय ! मेरी इस सेनाका उत्कर्ष अथवा उत्साह नष्ट हो गया है । इसके प्रमुख वीर कर्णके मारे जानेपर अब यह बच सकेगी, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता है ॥ ९३ ॥

तौ हि वीरौ महेष्वासौ मदर्थे त्यक्तजीवितौ ।
भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा को न्वर्थो जीवितेन मे ॥ ९४ ॥

मेरे लिये प्राणोंका मोह छोड़ देनेवाले महाधनुर्धर वीर भीष्म और द्रोणाचार्य मारे गये, यह सुनकर मेरे जीवित रहनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ९४ ॥

पुनः पुनर्न मृष्यामि हतं कर्णं च पाण्डवैः ।
यस्य बाह्वोर्बलं तुल्यं कुञ्जराणां शतं शतैः ॥ ९५ ॥

जिसकी भुजाओंमें दस हजार हाथियोंका बल था, वह कर्ण पाण्डवोंद्वारा मारा गया, यह बारंबार सुनकर मुझसे सहा नहीं जाता ॥ ९५ ॥

द्रोणे हते च यद् वृत्तं कौरवाणां परैः सह ।
संग्रामे नरवीराणां तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ९६ ॥

संजय ! द्रोणाचार्यके मारे जानेपर संग्राममें नरवीर कौरवोंका शत्रुओंके साथ जैसा बर्ताव हुआ, वह मुझे बताओ ॥ ९६ ॥

यथा कर्णश्च कौन्तेयैः सह युद्धमयोजयत् ।
यथा च द्विषतां हन्ता रणे शान्तस्तदुच्यताम् ॥ ९७ ॥

शत्रुहन्ता कर्णने कुन्ती-पुत्रोंके साथ जिस प्रकार युद्धका आयोजन किया और जिस प्रकार वह रणभूमिमें शान्त हो गया, वह सारा वृत्तान्त मुझे बताओ ॥ ९७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें धृतराष्ट्रका प्रश्नविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

कर्णको सेनापति बनानेके लिये अश्वत्थामाका प्रस्ताव और सेनापतिके पदपर उसका अभिषेक

संजय उवाच

हते द्रोणे महेष्वासे तस्मिन्नहनि भारत ।
कृते च मोघसंकल्पे द्रोणपुत्रे महारथे ॥ १ ॥
द्रवमाणे महाराज कौरवाणां बलार्णवे ।
व्यूह्य पार्थः स्वकं सैन्यमतिष्ठद् भ्रातृभिर्वृतः ॥ २ ॥

संजयने कहा—भरतनन्दन महाराज ! उस दिन जब महाधनुर्धर द्रोणाचार्य मारे गये, महारथी द्रोणपुत्रका संकल्प व्यर्थ हो गया और समुद्रके समान विशाल कौरव-सेना भागने लगी, उस समय कुन्तीकुमार अर्जुन अपनी सेनाका व्यूह बनाकर अपने भाइयोंके साथ रणभूमिमें डटे रहे ॥ १-२ ॥

तमवस्थितमाज्ञाय पुत्रस्ते भरतर्षभ ।
विद्रुतं स्वबलं दृष्ट्वा पौरुषेण न्यवारयत् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्हें युद्धके लिये डटा हुआ जान आपके पुत्रने अपनी सेनाको भागती देख उसे पराक्रमपूर्वक रोका ॥ ३ ॥

स्वमनीकमवस्थाप्य बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
युद्ध्वा च सुचिरं कालं पाण्डवैः सह भारत ॥ ४ ॥
लब्धलक्ष्यैः परैर्हृष्टैर्व्यायच्छद्भिश्चिरं तदा ।
संध्याकालं समासाद्य प्रत्याहारमकारयत् ॥ ५ ॥

भारत ! इस प्रकार अपनी सेनाको स्थापित करके, जिन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया था और इसीलिये जो बड़े हर्षके साथ परिश्रमपूर्वक युद्ध कर रहे थे, उन विपक्षी पाण्डवोंके साथ दुर्योधनने अपने ही बाहुबलके भरोसे दीर्घ-कालतक युद्ध करके संध्याकाल आनेपर सैनिकोंको शिविरमें लौटनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४-५ ॥

कृत्वावहारं सैन्यानां प्रविश्य शिबिरं स्वकम् ।
कुरवः सुहितं मन्त्रं मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ॥ ६ ॥

सेनाको लौटाकर अपने शिविरमें प्रवेश करनेके पश्चात् समस्त कौरव परस्पर अपने हितके लिये गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ६ ॥

पर्यङ्केषु परार्ध्येषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ।
वरासनेषूपविष्टाः सुखशय्यास्विवामराः ॥ ७ ॥

उस समय वे सब लोग बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त मूल्यवान्

पलंगों तथा श्रेष्ठ सिंहासनोंपर बैठे हुए थे, मानो देवता सुखद शय्याओंपर विराज रहे हों ॥ ७ ॥

ततो दुर्योधनो राजा साम्ना परमवल्गुना।
तानाभाष्य महेष्वासान् प्राप्तकालमभाषत ॥ ८ ॥
मतं मतिमतां श्रेष्ठाः सर्वे प्रब्रूत मा चिरम्।
एवं गते तु किं कार्यं किं च कार्यतरं नृपाः ॥ ९ ॥

उस समय राजा दुर्योधनने सान्त्वनापूर्ण परम मधुर वाणीद्वारा उन महाधनुर्धर नरेशोंको सम्बोधित करके यह समयोचित बात कही—'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश्वरो ! तुम सब लोग शीघ्र बोलो, विलम्ब न करो, इस अवस्थामें हमलोगोंको क्या करना चाहिये और सबसे अधिक आवश्यक कर्तव्य क्या है ?' ॥ ८-९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्ते नरेन्द्रेण नरसिंहा युयुत्सवः।
चक्रुर्नानाविधाश्चेष्टाः सिंहासनगतास्तदा ॥ १० ॥

संजय कहते हैं—राजा दुर्योधनके ऐसा कहनेपर वे सिंहासनपर बैठे हुए पुरुषसिंह नरेश युद्धकी इच्छासे नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगे ॥ १० ॥

तेषां निशाम्येङ्गितानि युद्धे प्राणाञ्जुहूषताम्।
समुद्वीक्ष्य मुखं राज्ञो बालार्कसमवर्चसम् ॥ ११ ॥
आचार्यपुत्रो मेधावी वाक्यज्ञो वाक्यमाददे।

युद्धमें प्राणोंकी आहुति देनेकी इच्छा रखनेवाले उन नरेशोंकी चेष्टाएँ देखकर राजा दुर्योधनके प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी मुखकी ओर दृष्टिपात करके वाक्यविशारद, मेधावी आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने यह बात कही—॥ ११½ ॥

रागो योगस्तथा दाक्ष्यं नयश्चेत्यर्थसाधकाः ॥ १२ ॥
उपायाः पण्डितैः प्रोक्तास्ते तु दैवमुपाश्रिताः।

'विद्वानोंने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करानेवाले चार उपाय बताये हैं—राग (राजाके प्रति सैनिकोंकी भक्ति), योग (साधन-सम्पत्ति), दक्षता (उत्साह, बल एवं कौशल) तथा नीति; परंतु वे सभी दैवके अधीन हैं ॥

लोकप्रवीरा येऽस्माकं देवकल्पा महारथाः ॥ १३ ॥
नीतिमन्तस्तथा युक्ता दक्षा रक्ताश्च ते हताः।
न त्वेव कार्यं नैराश्यमस्माभिर्विजयं प्रति ॥ १४ ॥

'हमारे पक्षमें जो देवताओंके समान पराक्रमी, विश्वविख्यात महारथी वीर, नीतिमान्, साधनसम्पन्न, दक्ष और स्वामीके प्रति अनुरक्त थे, वे सब-के-सब मारे गये, तथापि हमें अपनी विजयके प्रति निराश नहीं होना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

सुनीतैरिह सर्वार्थैर्दैवमप्यनुलोम्यते।
ते वयं प्रवरं नृणां सर्वैर्गुणगणैर्युतम् ॥ १५ ॥
कर्णमेवाभिषेक्ष्यामः सैनापत्येन भारत।
कर्णं सेनापतिं कृत्वा प्रमथिष्यामहे रिपून् ॥ १६ ॥

'यदि सारे कार्य उत्तम नीतिके अनुसार किये जायँ तो उनके द्वारा दैवको भी अनुकूल किया जा सकता है; अतः भारत ! हमलोग सर्वगुणसम्पन्न नरश्रेष्ठ कर्णका ही सेनापतिके पदपर अभिषेक करेंगे और इन्हें सेनापति बनाकर हमलोग शत्रुओंको मथ डालेंगे ॥ १५-१६ ॥

एष ह्यतिबलः शूरः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः।
वैवस्वत इवासह्यः शक्तो जेतुं रणे रिपून् ॥ १७ ॥

'ये अत्यन्त बलवान्, शूरवीर, अस्त्रोंके ज्ञाता, रणदुर्मद और सूर्यपुत्र यमराजके समान शत्रुओंके लिये असह्य हैं। इसलिये ये रणभूमिमें हमारे विपक्षियोंपर विजय पा सकते हैं' ॥

एतदाचार्यतनयाच्छ्रुत्वा राजंस्तवात्मजः।
आशां बहुमतीं चक्रे कर्णं प्रति स वै तदा ॥ १८ ॥

राजन् ! उस समय आचार्यपुत्र अश्वत्थामाके मुखसे यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधनने कर्णके प्रति विशेष आशा बाँध ली ॥ १८ ॥

हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णो जेष्यति पाण्डवान्।
तामाशां हृदये कृत्वा समाश्वस्य च भारत ॥ १९ ॥
ततो दुर्योधनः प्रीतः प्रियं श्रुत्वास्य तद् वचः।
प्रीतिसत्कारसंयुक्तं तथ्यमात्महितं शुभम् ॥ २० ॥
स्वं मनः समवस्थाप्य बाहुवीर्यमुपाश्रितः।
दुर्योधनो महाराज राधेयमिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! भीष्म और द्रोणाचार्यके मारे जानेपर कर्ण पाण्डवोंको जीत लेगा, इस आशाको हृदयमें रखकर दुर्योधनको बड़ी सान्त्वना मिली। महाराज ! वह अश्वत्थामाके उस प्रिय वचनको सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् अपने बाहुबलका आश्रय ले मनको सुस्थिर करके दुर्योधनने राधापुत्र कर्णसे बड़े प्रेम और सत्कारके साथ अपने लिये हितकर यथार्थ और मङ्गलकारक वचन इस प्रकार कहा—॥

कर्ण जानामि ते वीर्यं सौहृदं परमं मयि।
तथापि त्वां महाबाहो प्रवक्ष्यामि हितं वचः ॥ २२ ॥

'कर्ण ! मैं तुम्हारे पराक्रमको जानता हूँ और यह भी अनुभव करता हूँ कि मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह बहुत अधिक है। महाबाहो ! तथापि मैं तुमसे अपने हितकी बात कहना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

श्रुत्वा यथेष्टं च कुरु वीर यत् तव रोचते।
भवान् प्राज्ञतमो नित्यं मम चैव परा गतिः ॥ २३ ॥

'वीर ! मेरी यह बात सुनकर तुम अपनी इच्छाके अनुसार जो तुम्हें अच्छा लगे, वह करो। तुम बहुत बड़े बुद्धिमान् तो हो ही, सदाके लिये मेरे सबसे बड़े सहारे भी हो ॥ २३ ॥

भीष्मद्रोणावतिरथौ हतौ सेनापती मम।
सेनापतिर्भवानस्तु ताभ्यां द्रविणवत्तरः ॥ २४ ॥

'मेरे दो सेनापति पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण, जो अतिरथी वीर थे, युद्धमें मारे गये। अब तुम मेरे सेनानायक बनो; क्योंकि तुम उन दोनोंसे भी अधिक शक्तिशाली हो ॥ २४ ॥

वृद्धौ च तौ महेष्वासौ सापेक्षौ च धनंजये।
मानितौ च मया वीरौ राधेय वचनात् तव ॥ २५ ॥

'वे दोनों महाधनुर्धर होते हुए भी बूढ़े थे और अर्जुनके प्रति उनके मनमें पक्षपात था। राधानन्दन! मैंने तुम्हारे कहनेसे ही उन दोनों वीरोंको सेनापति बनाकर सम्मानित किया था॥ २५ ॥

पितामहत्वं सम्प्रेक्ष्य पाण्डुपुत्रा महारणे।
रक्षितास्तात भीष्मेण दिवसानि दशैव तु ॥ २६ ॥

'तात! भीष्मने पितामहके नातेकी ओर दृष्टिपात करके उस महासमरमें दस दिनोंतक पाण्डवोंकी रक्षा की है ॥२६॥

न्यस्तशस्त्रे च भवति हतो भीष्मः पितामहः।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य फाल्गुनेन महाहवे ॥ २७ ॥

'उन दिनों तुमने हथियार रख दिया था; इसलिये महासमरमें अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके पितामह भीष्मको मार डाला था ॥ २७ ॥

हते तस्मिन् महेष्वासे शरतल्पगते तथा।
त्वयोक्ते पुरुषव्याघ्र द्रोणो ह्यासीत् पुरःसरः ॥ २८ ॥

'पुरुषसिंह! उन महाधनुर्धर भीष्मके घायल होकर बाण-शय्यापर सो जानेके बाद तुम्हारे कहनेसे ही द्रोणाचार्य हमारी सेनाके अगुआ बनाये गये थे ॥ २८ ॥

तेनापि रक्षिताः पार्थाः शिष्यत्वादिति मे मतिः।
स चापि निहतो वृद्धो धृष्टद्युम्नेन सत्वरम् ॥ २९ ॥

'मेरा विश्वास है कि उन्होंने भी अपना शिष्य समझकर कुन्तीके पुत्रोंकी रक्षा की है। वे बूढ़े आचार्य भी शीघ्र ही धृष्टद्युम्नके हाथसे मारे गये ॥ २९ ॥

निहताभ्यां प्रधानाभ्यां ताभ्याममितविक्रम।
त्वत्समं समरे योधं नान्यं पश्यामि चिन्तयन्॥ ३० ॥

'अमितपराक्रमी वीर! उन प्रधान सेनापतियोंके मारे जानेके पश्चात् मैं बहुत सोचनेपर भी समराङ्गणमें तुम्हारे समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखता ॥ ३० ॥

भवानेव तु नः शक्तो विजयाय न संशयः।
पूर्वं मध्ये च पश्चाच्च तथैव विहितं हितम् ॥ ३१ ॥

'हमलोगोंमेंसे तुम्हीं शत्रुओंपर विजय पानेमें समर्थ हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तुमने पहले, बीचमें और पीछे भी हमारा हित ही किया है ॥ ३१ ॥

स भवान् धुर्यवत् संख्ये धुरमुद्वोढुमर्हति।
अभिषेचय सैनान्ये स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३२ ॥

'तुम धुरन्धर पुरुषकी भाँति युद्धस्थलमें सेना-संचालनका भार वहन करनेके योग्य हो; इसलिये स्वयं ही अपने आपको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कराओ ॥ ३२ ॥

देवतानां यथा स्कन्दः सेनानीः प्रभुरव्ययः।
तथा भवानिमां सेनां धार्तराष्ट्रीं बिभर्तु वै ॥ ३३ ॥

'जैसे अविनाशी भगवान् स्कन्द देवताओंकी सेनाका संचालन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको अपनी अध्यक्षतामें ले लो ॥ ३३ ॥

जहि शत्रुगणान् सर्वान् महेन्द्रो दानवानिव।
अवस्थितं रणे दृष्ट्वा पाण्डवास्त्वां महारथाः ॥ ३४ ॥
द्रविष्यन्ति च पञ्चाला विष्णुं दृष्ट्वेव दानवाः।
तस्मात् त्वं पुरुषव्याघ्र प्रकर्षैतां महाचमूम्॥ ३५ ॥

'जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंका संहार किया था, उसी प्रकार तुम भी समस्त शत्रुओंका वध करो। जैसे दानव भगवान् विष्णुको देखते ही भाग जाते हैं, उसी प्रकार पाण्डव तथा पाञ्चाल महारथी तुम्हें रणभूमिमें सेनापतिके रूपमें उपस्थित देखकर भाग खड़े होंगे; अतः पुरुषसिंह! तुम इस विशाल सेनाका संचालन करो ॥ ३४–३५ ॥

भवत्यवस्थिते यत्ते पाण्डवा मन्दचेतसः।
द्रविष्यन्ति सहामात्याः पञ्चालाः सृंजयाश्च ह ॥३६॥

'तुम्हारे सावधानीके साथ खड़े होते ही मूर्ख पाण्डव, पाञ्चाल और सृंजय अपने मन्त्रियोंसहित भाग जायँगे॥३६॥

यथा ह्यभ्युदितः सूर्यः प्रतपन् स्वेन तेजसा।
व्यपोहति तमस्तीव्रं तथा शत्रून् प्रतापय ॥ ३७ ॥

'जैसे उदित हुआ सूर्य अपने तेजसे तपकर घोर अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंको संतप्त एवं नष्ट करो' ॥ ३७ ॥

संजय उवाच

आशा बलवती राजन् पुत्रस्य तव याभवत्।
हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णो जेष्यति पाण्डवान्।३८।
तामाशां हृदये कृत्वा कर्णमेवं तदाब्रवीत्।
सूतपुत्र न ते पार्थः स्थित्वाग्रे संयुयुत्सति ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रके मनमें जो यह प्रबल आशा हो गयी थी कि भीष्म और द्रोणके मारे जानेपर कर्ण पाण्डवोंको जीत लेगा, वही आशा मनमें लेकर उस समय उसने कर्णसे इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र! अर्जुन तुम्हारे सामने खड़े होकर कभी युद्ध करना नहीं चाहते हैं' ॥ ३८-३९ ॥

कर्ण उवाच

उक्तमेतन्मया पूर्वं गान्धारे तव संनिधौ।
जेष्यामि पाण्डवान् सर्वान् सपुत्रान् सजनार्दनान्४०

कर्णने कहा—गान्धारीनन्दन! मैंने तुम्हारे समीप

पहले ही यह बात कह दी है कि मैं पाण्डवोंको, उनके पुत्रों और श्रीकृष्णके साथ ही परास्त कर दूँगा ॥ ४० ॥

सेनापतिर्भविष्यामि तवाहं नात्र संशयः ।
स्थिरो भव महाराज जितान् विद्धि च पाण्डवान्॥४१॥

महाराज ! तुम धैर्य धारण करो । मैं तुम्हारा सेनापति बनूँगा; इसमें कोई संदेह नहीं है । अब पाण्डवोंको पराजित हुआ ही समझो ॥ ४१ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज ततो दुर्योधनो नृपः ।
उत्तस्थौ राजभिः सार्धं देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४२ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन अन्य सामन्त नरेशोंके साथ उसी प्रकार उठकर खड़ा हो गया, जैसे देवताओंके साथ इन्द्र खड़े होते हैं ॥ ४२ ॥

सैनापत्येन सत्कर्तुं कर्णं स्कन्दमिवामराः ।
ततोऽभिषिषिचुः कर्णं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४३ ॥
दुर्योधनमुखा राजन् राजानो विजयैषिणः ।

जैसे देवताओंने स्कन्दको सेनापति बनाकर उनका सत्कार किया था, उसी प्रकार समस्त कौरव कर्णको सेनापति बनाकर उसका सत्कार करनेके लिये उद्यत हुए । राजन् ! विजयाभिलाषी दुर्योधन आदि राजाओंने शास्त्रोक्त विधिके द्वारा कर्णका अभिषेक किया ॥ ४३½ ॥

शातकुम्भमयैः कुम्भैर्माहेयैश्चाभिमन्त्रितैः ॥ ४४ ॥
तोयपूर्णैर्विषाणैश्च द्विपखड्गमहर्षभैः ।
मणिमुक्तायुतैश्चान्यैः पुण्यगन्धैस्तथौषधैः ॥ ४५ ॥
औदुम्बरे सुखासीनमासने क्षौमसंवृत ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना सम्भारैश्च सुसम्भृतैः ॥ ४६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा शूद्राश्च सम्मताः ।
तुष्टुवुस्तं महात्मानमभिषिक्तं वरासने ॥ ४७ ॥

अभिषेकके लिये सोने तथा मिट्टीके घड़ोंमें अभिमन्त्रित जल रक्खे गये थे । हाथीके दाँत तथा गैंडे और बैलके सींगोंके बने हुए पात्रोंमें भी पृथक्-पृथक् जल रक्खा गया था । उन पात्रोंमें मणि और मोती भी थे । अन्यान्य पवित्र गन्धशाली पदार्थ और औषध भी डाले गये थे । कर्ण गूलरकाठकी बनी हुई चौकीपर, जिसके ऊपर रेशमी कपड़ा बिछा हुआ था, सुखपूर्वक बैठा था । उस अवस्थामें शास्त्रीय विधिके अनुसार पूर्वोक्त सुसज्जित सामग्रियोंद्वारा ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा सम्मानित शूद्रोंने उसका अभिषेक किया और अभिषेक हो जानेपर श्रेष्ठ आसनपर बैठे हुए महामना कर्णकी उन सब लोगोंने स्तुति की ॥ ४४–४७ ॥

ततोऽभिषिक्ते राजेन्द्र निष्कैर्गोभिर्धनेन च ।
वाचयामास विप्राग्र्यान् राधेयः परवीरहा ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार अभिषेक-कार्य सम्पन्न हो जानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राधापुत्र कर्णने स्वर्णमुद्राएँ गौएँ तथा धन देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥

(स व्यरोचत राधेयः सूतमागधवन्दिभिः ।
स्तूयमानो यथा भानुरुदये ब्रह्मवादिभिः ॥

उस समय सूत, मागध और वन्दीजनोंद्वारा की हुई अपनी स्तुति सुनता हुआ राधापुत्र कर्ण वेदवादी ब्राह्मणों-द्वारा अभिमन्त्रित उदयकालीन सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥

ततः पुण्याहघोषेण वादित्रनिनदेन च ।
जयशब्देन शूराणां तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥
जयेत्यूचुर्नृपाः सर्वे राधेयं तत्र संगताः ॥)

तत्पश्चात् पुण्याहवाचनके शब्दसे, वाद्योंकी गंभीर ध्वनिसे तथा शूरवीरोंके जय-जयकारसे मिली-जुली हुई भयंकर आवाज वहाँ सब ओर गूँज उठी । उस स्थानपर एकत्र हुए सभी राजाओंने 'राधापुत्र कर्णकी जय' के नारे लगाये ॥

जय पार्थान् सगोविन्दान् सानुगांस्तान् महामृधे ।
इति तं वन्दिनः प्राहुर्द्विजाश्च पुरुषर्षभम् ॥ ४९ ॥
जहि पार्थान् सपाञ्चालान् राधेय विजयाय नः ।
उद्यन्निव सदा भानुस्तमांस्युग्रैर्गभस्तिभिः ॥ ५० ॥

वन्दीजनों तथा ब्राह्मणोंने उस समय पुरुषशिरोमणि कर्णको आशीर्वाद देते हुए कहा—'राधापुत्र ! तुम कुन्तीके पुत्रोंको, उनके सेवकों तथा श्रीकृष्णके साथ महासमरमें जीत लो और हमारी विजयके लिये कुन्तीकुमारोंको पाञ्चालों-सहित मार डालो । ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य अपनी उग्र किरणोंद्वारा सदा उदय होते ही अन्धकारका विनाश कर देता है ॥ ४९-५० ॥

न ह्यलं त्वद्विसृष्टानां शराणां वै सकेशवाः ।
उलूकाः सूर्यरश्मीनां ज्वलतामिव दर्शने ॥ ५१ ॥

'जैसे उल्लू सूर्यकी प्रज्वलित किरणोंकी ओर देखनेमें असमर्थ होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे छोड़े हुए बाणोंकी ओर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव नहीं देख सकते ॥ ५१ ॥

न हि पार्थाः सपाञ्चालाः स्थातुं शक्तास्तवाग्रतः ।
आत्तशस्त्रस्य समरे महेन्द्रस्येव दानवाः ॥ ५२ ॥

'जैसे हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्रके सामने दानव नहीं खड़े हो सकते, उसी प्रकार समराङ्गणमें तुम्हारे सामने पाञ्चाल और पाण्डव नहीं ठहर सकते हैं' ॥ ५२ ॥

अभिषिक्तस्तु राधेयः प्रभया सोऽमितप्रभः ।
अत्यरिच्यत रूपेण दिवाकर इवापरः ॥ ५३ ॥

राजन् ! इस प्रकार अभिषेकसम्पन्न हो जानेपर अमिततेजस्वी राधापुत्र कर्ण अपनी प्रभा तथा रूपसे दूसरे सूर्यके समान अधिक प्रकाशित होने लगा ॥ ५३ ॥

सैनापत्ये तु राधेयमभिषिच्य सुतस्तव ।
अमन्यत तदाऽऽत्मानं कृतार्थं कालचोदितः ॥ ५४ ॥

कालसे प्रेरित हुआ आपका पुत्र दुर्योधन राधाकुमार कर्णको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त करके अपने आपको कृतकृत्य मानने लगा ॥ ५४ ॥

कर्णोऽपि राजन् सम्प्राप्य सैनापत्यमरिंदमः ।
योगमाज्ञापयामास सूर्यस्योदयनं प्रति ॥ ५५ ॥

राजन् ! शत्रुदमन कर्णने भी सेनापतिका पद प्राप्त करके सूर्योदयके समय सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दे दी ॥

तव पुत्रैर्वृतः कर्णः शुशुभे तत्र भारत ।
देवैरिव यथा स्कन्दः संग्रामे तारकामये ॥ ५६ ॥

भारत ! वहाँ आपके पुत्रोंसे घिरा हुआ कर्ण तारकामय संग्राममें देवताओंसे घिरे हुए स्कन्दके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णाभिषेके दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णका अभिषेकविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

एकादशोऽध्यायः

कर्णके सेनापतित्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान और मकरव्यूहका निर्माण तथा पाण्डवसेनाके अर्धचन्द्राकार व्यूहकी रचना और युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

सैनापत्यं तु सम्प्राप्य कर्णो वैकर्तनस्तदा ।
तथोक्तश्च स्वयं राज्ञा स्निग्धं भ्रातृसमं वचः ॥ १ ॥
योगमाज्ञाप्य सेनानामादित्येऽभ्युदिते तदा ।
अकरोत् किं महाप्राज्ञस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सेनापतिका पद पाकर जब परम बुद्धिमान् वैकर्तन कर्ण युद्धके लिये तैयार हुआ और जब स्वयं राजा दुर्योधनने उससे भाईके समान स्नेहपूर्ण वचन कहा, उस समय सूर्योदयकालमें सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा देकर उसने क्या किया ? यह मुझे बताओ ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

कर्णस्य मतमाज्ञाय पुत्रास्ते भरतर्षभ ।
योगमाज्ञापयामासुर्नन्दितूर्यपुरःसरम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ ! कर्णका मत जानकर आपके पुत्रोंने आनन्दमय वाद्योंके साथ सेनाको तैयार होनेका आदेश दिया ॥ ३ ॥

महत्यपररात्रे च तव सैन्यस्य मारिष ।
योगो योगेति सहसा प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ४ ॥

माननीय नरेश ! अत्यन्त प्रातःकालसे ही आपकी सेनामें सहसा 'तैयार हो जाओ, तैयार हो जाओ' का शब्द गूँज उठा ॥

कल्प्यतां नागमुख्यानां रथानां च वरूथिनाम् ।
संनह्यतां नराणां च वाजिनां च विशाम्पते ॥ ५ ॥
क्रोशतां चैव योधानां त्वरितानां परस्परम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो दिवस्पृक् सुमहांस्ततः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! सजाये जाते हुए बड़े-बड़े गजराजों, आवरणयुक्त रथों, कवच धारण करते हुए मनुष्यों, कसे जाते हुए घोड़ों तथा उतावलीपूर्वक एक दूसरेको पुकारते हुए योद्धाओंका महान् तुमुल-नाद आकाशमें बहुत ऊँचेतक गूँज रहा था ॥

ततः श्वेतपताकेन बलाकावर्णवाजिना ।
हेमपृष्ठेन धनुषा नागकक्ष्येण केतुना ॥ ७ ॥
तूणीरशतपूर्णेन सगदेन वरूथिना ।
शतघ्नीकिंकिणीशक्तिशूलतोमरधारिणा ॥ ८ ॥
कार्मुकैरुपपन्नेन विमलादित्यवर्चसा ।
रथेनाभिपताकेन सूतपुत्रोऽभ्यदृश्यत ॥ ९ ॥

तदनन्तर सूतपुत्र कर्ण निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी और सब ओरसे पताकाओंद्वारा सुशोभित रथके द्वारा रणयात्राके लिये उद्यत दिखायी दिया। उस रथमें श्वेत पताका फहरा रही थी। बगुलोंके समान सफेद रंगके घोड़े जुते हुए थे। उसपर एक ऐसा धनुष रक्खा हुआ था, जिसके पृष्ठभागपर सोना मढ़ा गया था। उस रथकी पताकापर हाथीके रस्सेका चिह्न बना हुआ था। उसमें गदाके साथ ही सैकड़ों तरकस रक्खे गये थे। रथकी रक्षाके लिये ऊपरसे आवरण लगाया गया था। उसमें शतघ्नी, किंकिणी, शक्ति, शूल और तोमर सञ्चित करके रक्खे गये थे तथा वह रथ अनेक धनुषोंसे सम्पन्न था ॥ ७—९ ॥

ध्मापयन् वारिजं राजन् हेमजालविभूषितम् ।
विधुन्वानो महच्चापं कार्तस्वरविभूषितम् ॥ १० ॥

राजन् ! कर्ण सोनेकी जालियोंसे विभूषित शङ्खको बजाता हुआ अपने सुवर्णसज्जित विशाल धनुषकी टङ्कार कर रहा था ॥

दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं रथस्थं रथिनां वरम् ।
भानुमन्तमिवोद्यन्तं तमो घ्नन्तं दुरासदम् ॥ ११ ॥
न भीष्मव्यसनं केचिन्नापि द्रोणस्य मारिष ।
नान्येषां पुरुषव्याघ्र मेनिरे तत्र कौरवाः ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! माननीय नरेश ! रथियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर दुर्जय वीर कर्ण रथपर बैठकर उदयकालीन सूर्यके समान तम (दुःख या अन्धकार) का निवारण कर रहा था। उसे देखकर कोई भी कौरव भीष्म, द्रोण तथा दूसरे महारथियोंके मारे जानेके दुःखको कुछ नहीं समझते थे ॥ ११-१२ ॥

ततस्तु त्वरयन् योधाञ्शङ्खशब्देन मारिष ।
कर्णो निष्कर्षयामास कौरवाणां महद् बलम् ॥ १३ ॥

मान्यवर ! तदनन्तर शङ्खध्वनिके द्वारा योद्धाओंको जल्दी करनेका आदेश देते हुए कर्णने कौरवोंकी विशाल वाहिनीको शिविरोंसे बाहर निकाला ॥ १३ ॥

व्यूहं व्यूह्य महेष्वासो मकरं शत्रुतापनः ।
प्रत्युद्ययौ तथा कर्णः पाण्डवान् विजिगीषया ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाला महाधनुर्धर कर्ण पाण्डवोंको जीत लेनेकी इच्छासे अपनी सेनाका मकर-व्यूह बनाकर आगे बढ़ा ॥ १४ ॥

मकरस्य तु तुण्डे वै कर्णो राजन् व्यवस्थितः ।
नेत्राभ्यां शकुनिः शूर उलूकश्च महारथः ॥ १५ ॥

राजन् ! उस मकरव्यूहके मुखभागमें स्वयं कर्ण खड़ा हुआ, नेत्रोंके स्थानमें शूरवीर शकुनि तथा महारथी उलूक खड़े किये गये ॥ १५ ॥

द्रोणपुत्रस्तु शिरसि ग्रीवायां सर्वसोदराः ।
मध्ये दुर्योधनो राजा बलेन महता वृतः ॥ १६ ॥

शीर्षस्थानमें द्रोणकुमार अश्वत्थामा और ग्रीवाभागमें दुर्योधनके समस्त भाई स्थित हुए। मध्यस्थान (कटिप्रदेश) में विशाल सेनासे घिरा हुआ राजा दुर्योधन खड़ा हुआ ॥

वामपादे तु राजेन्द्र कृतवर्मा व्यवस्थितः ।
नारायणबलैर्युक्तो गोपालैर्युद्धदुर्मदैः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! उस मकरव्यूहके बायें पैरकी जगह नारायणी सेनाके रणदुर्मद गोपालोंके साथ कृतवर्मा खड़ा किया गया था॥

पादे तु दक्षिणे राजन् गौतमः सत्यविक्रमः ।
त्रिगर्तैः सुमहेष्वासैर्दाक्षिणात्यैश्च संवृतः ॥ १८ ॥

राजन् ! व्यूहके दाहिने पैरके स्थानमें महाधनुर्धर त्रिगर्तों और दाक्षिणात्योंसे घिरे हुए सत्यपराक्रमी कृपाचार्य खड़े थे ॥

अनुपादे तु यो वामस्तत्र शल्यो व्यवस्थितः ।
महत्या सेनया सार्धं मद्रदेशसमुत्थया ॥ १९ ॥

बायें पैरके पिछले भागमें मद्रदेशकी विशाल सेनाके साथ स्वयं राजा शल्य उपस्थित थे ॥ १९ ॥

दक्षिणे तु महाराज सुषेणः सत्यसंगरः ।
वृतो रथसहस्रेण दन्तिनां च त्रिभिः शतैः ॥ २० ॥

महाराज ! दाहिने पैरके पिछले भागमें एक सहस्र रथियों और तीन सौ हाथियोंसे घिरे हुए सत्यप्रतिज्ञ सुषेण खड़े किये गये ॥ २० ॥

पुच्छे ह्यास्तां महावीर्यौ भ्रातरौ पार्थिवौ तदा ।
चित्रश्च चित्रसेनश्च महत्या सेनया वृतौ ॥ २१ ॥

व्यूहके पुच्छभागमें महापराक्रमी दोनों भाई राजा चित्र और चित्रसेन अपनी विशाल सेनाके साथ उपस्थित हुए ॥

तथा प्रयाते राजेन्द्र कर्णे नरवरोत्तमे ।
धनंजयमभिप्रेक्ष्य धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ कर्णके इस प्रकार यात्रा करनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥

पश्य पार्थ यथा सेना धार्तराष्ट्रीह संयुगे ।
कर्णेन विहिता वीर गुप्ता वीरैर्महारथैः ॥ २३ ॥

'वीर पार्थ ! देखो, इस समय युद्धस्थलमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेना कैसी स्थितिमें है ? कर्णने वीर महारथियोंद्वारा इसे किस प्रकार सुरक्षित कर दिया है ? ॥ २३ ॥

हतवीरतमा ह्येषा धार्तराष्ट्री महाचमूः ।
फल्गुशेषा महाबाहो तृणैस्तुल्या मता मम ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! कौरवोंकी इस विशाल सेनाके प्रमुख वीर तो मारे जा चुके हैं। अब इसके तुच्छ सैनिक ही शेष रह गये हैं। इस समय तो यह मुझे तिनकोंके समान जान पड़ती है॥

एको ह्यत्र महेष्वासः सूतपुत्रो विराजते ।
सदेवासुरगन्धर्वैः सकिन्नरमहोरगैः ॥ २५ ॥
चराचरैस्त्रिभिर्लोकैर्योऽजय्यो रथिनां वरः ।
तं हत्वाद्य महाबाहो विजयस्तव फाल्गुन ॥ २६ ॥
उद्धृतश्च भवेच्छल्यो मम द्वादशवार्षिकः ।
एवं ज्ञात्वा महाबाहो व्यूहं व्यूह यथेच्छसि ॥ २७ ॥

'इस सेनामें एकमात्र महाधनुर्धर सूतपुत्र कर्ण विराजमान है, जो रथियोंमें श्रेष्ठ है तथा जिसे देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर, बड़े-बड़े नाग एवं चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंके लोग मिलकर भी नहीं जीत सकते। महाबाहु फाल्गुन ! आज उसी कर्णको मारकर तुम्हारी विजय होगी और मेरे हृदयमें बारह वर्षोंसे जो सेल कसक रहा है, वह निकल जायगा। महाबाहो ! ऐसा जानकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसे व्यूहकी रचना करो' ॥ २५—२७ ॥

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन प्रत्यव्यूहत तां चमूम् ॥ २८ ॥

भाईकी यह बात सुनकर श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुनने इस कौरव-सेनाके मुकाबलेमें अपनी सेनाके अर्द्धचन्द्राकार व्यूहकी रचना की ॥ २८ ॥

वामपार्श्वे तु तस्याथ भीमसेनो व्यवस्थितः ।

दक्षिणे च महेष्वासो धृष्टद्युम्नो व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
मध्ये व्यूहस्य राजा तु पाण्डवश्च धनंजयः ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मराजस्य पृष्ठतः ॥ ३० ॥

उस व्यूहके वाम पार्श्वमें भीमसेन और दाहिने पार्श्वमें महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न खड़े हुए। उसके मध्यभागमें राजा युधिष्ठिर और पाण्डुपुत्र धनंजय खड़े थे। धर्मराजके पृष्ठभागमें नकुल और सहदेव थे ॥ २९-३० ॥

चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।
नार्जुनं जहतुर्युद्धे पाल्यमानौ किरीटिना ॥ ३१ ॥

पाञ्चाल महारथी युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके चक्र-रक्षक थे। किरीटधारी अर्जुनसे सुरक्षित होकर उन दोनोंने युद्धमें कभी उनका साथ नहीं छोड़ा ॥ ३१ ॥

शेषा नृपतयो वीराः स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ।
यथाभागं यथोत्साहं यथायत्नं च भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! शेष वीर नरेश कवच धारण करके व्यूहके विभिन्न भागोंमें अपने उत्साह और प्रयत्नके अनुसार खड़े हुए थे ॥

एवमेतन्महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
तावकाश्च महेष्वासा युद्धायैव मनो दधुः ॥ ३३ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार इस महाव्यूहकी रचना करके पाण्डवों तथा आपके महाधनुर्धरोंने युद्धमें ही मन लगाया ॥

दृष्ट्वा व्यूढां तव चमूं सूतपुत्रेण संयुगे ।
निहतान् पाण्डवान् मेने धार्तराष्ट्रः सबान्धवः ॥ ३४ ॥

युद्धस्थलमें सूतपुत्र कर्णके द्वारा व्यूह-रचनापूर्वक खड़ी की गयी आपकी सेनाको देखकर भाइयोंसहित दुर्योधनने यह मान लिया कि 'अब तो पाण्डव मारे गये' ॥ ३४ ॥

तथैव पाण्डवीं सेनां व्यूढां दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ।
धार्तराष्ट्रान् हतान् मेने सकर्णान् वै जनाधिपः ॥ ३५ ॥

उसी प्रकार पाण्डवसेनाका व्यूह देखकर राजा युधिष्ठिरने भी कर्णसहित आपके सभी पुत्रोंको मारा गया ही समझ लिया ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकदुन्दुभिः ।
डिण्डिमाश्चाप्यहन्यन्त झर्झराश्च समन्ततः ॥ ३६ ॥
सेनयोरुभयो राजन् प्रावाद्यन्त महास्वनाः ।
सिंहनादश्च संजज्ञे शूराणां जयगृद्धिनाम् ॥ ३७ ॥

राजन् ! तदनन्तर दोनों सेनाओंमें चारों ओर महान् शब्द करनेवाले शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, दुन्दुभि और झाँझ आदि बाजे बज उठे। नगाड़े पीटे जाने लगे। साथ ही विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीरोंका सिंहनाद भी होने लगा ॥ ३६-३७ ॥

हयह्रेषितशब्दाश्च वारणानां च बृंहताम् ।
रथनेमिस्वनाश्चोग्राः सम्बभूवुर्जनाधिप ॥ ३८ ॥

जनेश्वर ! घोड़ोंके हींसने, हाथियोंके चिग्घाड़ने तथा रथके पहियोंके घरघरानेके भयंकर शब्द प्रकट होने लगे ॥

न द्रोणव्यसनं कश्चिज्जानीते तत्र भारत ।
दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं मुखे व्यूहस्य दंशितम् ॥ ३९ ॥

भारत ! व्यूहके मुख्य द्वारपर कवच धारण किये महा-धनुर्धर कर्णको खड़ा देख कोई भी सैनिक द्रोणाचार्यके मारे जानेके दुःखका अनुभव न कर सका ॥ ३९ ॥

उभे सैन्ये महाराज प्रहृष्टनरसंकुले ।
योद्धुकामे स्थिते राजन् हन्तुमन्योन्यमोजसा ॥ ४० ॥

महाराज ! वे दोनों सेनाएँ हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भरी थीं। राजन् ! वे बलपूर्वक परस्पर चोट करने और जूझनेकी इच्छासे मैदानमें आकर खड़ी हो गयीं ॥४०॥

तत्र यत्तौ सुसंरब्धौ दृष्ट्वान्योन्यं व्यवस्थितौ ।
अनीकमध्ये राजेन्द्र चेरतुः कर्णपाण्डवौ ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! वहाँ रोषमें भरकर सावधानीके साथ खड़े हुए कर्ण और पाण्डव अपनी-अपनी सेनामें विचरने लगे ॥ ४१ ॥

नृत्यमाने च ते सेने समेयातां परस्परम् ।
तयोः पक्षप्रपक्षेभ्यो निर्जग्मुस्ते युयुत्सवः ॥ ४२ ॥

वे दोनों सेनाएँ परस्पर नृत्य करती हुई-सी भिड़ गयीं। युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वीर उन दोनों व्यूहोंके पक्ष और प्रपक्षसे निकलने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रववृते युद्धं नरवारणवाजिनाम् ।
रथानां च महाराज अन्योन्यमभिनिघ्नताम् ॥ ४३ ॥

महाराज ! तदनन्तर एक दूसरेपर आघात करनेवाले मनुष्य, हाथी, घोड़ों और रथोंका वह महान् युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि व्यूहनिर्माणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें व्यूहनिर्माणविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका घोर युद्ध और भीमसेनके द्वारा क्षेमधूर्तिका वध

संजय उवाच

ते सेनेऽन्योन्यमासाद्य प्रहृष्टाश्वनरद्विपे ।
बृहत्यौ सम्प्रजह्राते देवासुरसमप्रभे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उन दोनों सेनाओंके हाथी, घोड़े और मनुष्य बहुत प्रसन्न थे। देवताओं तथा असुरोंके समान प्रकाशित होनेवाली वे दोनों विशाल सेनाएँ परस्पर भिड़कर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगीं ॥ १ ॥

ततो नररथाश्वेभाः पत्तयश्चोग्रविक्रमाः ।
सम्प्रहारान् भृशं चक्रुर्देहपाप्मासुनाशनान् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् भयंकर पराक्रमी रथी, हाथीसवार, घुड़सवार और पैदल सैनिक शरीर, प्राण और पापोंका विनाश करनेवाले घोर प्रहार बड़े जोर-जोरसे करने लगे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रार्कपद्मानां कान्तिभिर्गन्धतः समैः ।
उत्तमाङ्गैर्नृसिंहानां नृसिंहास्तस्तरुर्महीम् ॥ ३ ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वीरोंने विपक्षी पुरुष-सिंहोंके मस्तकोंको काट-काटकर उनके द्वारा धरतीको पाटने लगे । उनके वे मस्तक पूर्ण चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमान् तथा कमलोंके समान सुगन्धित थे ॥ ३ ॥

अर्धचन्द्रैस्तथा भल्लैः क्षुरप्रैरसिपट्टिशैः ।
परश्वधैश्चाप्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि युध्यताम् ॥ ४ ॥

अर्द्धचन्द्र, भल्ल, क्षुरप्र, खड्ग, पट्टिश और फरसोंद्वारा वे योद्धाओंके मस्तक काटने लगे ॥ ४ ॥

व्यायतायतबाहूनां व्यायतायतबाहुभिः ।
बाहवः पातिता रेजुर्धरण्यां सायुधाङ्गदाः ॥ ५ ॥

हृष्ट-पुष्ट और लंबी भुजाओंवाले वीरोंने, हृष्ट-पुष्ट और लंबी बाँहोंवाले योद्धाओंकी बाँहें पृथ्वीपर काट गिरायीं । वे भुजाएँ आयुधों और अङ्गदोंसहित शोभा पा रही थीं ॥५॥

तैः स्फुरद्भिर्मही भाति रक्ताङ्गुलितलैस्तथा ।
गरुडप्रहितैरुग्रैः पञ्चास्यैरुरगैरिव॥ ६ ॥

जिनके तलवे और अङ्गुलियाँ लाल रंगकी थीं, उन तड़पती हुई भुजाओंसे रणभूमिकी वैसी ही शोभा हो रही थी, मानो वहाँ गरुड़के गिराये हुए भयंकर पञ्चमुख सर्प छटपटा रहे हों ॥ ६ ॥

द्विरदस्यन्दनाश्वेभ्यः पेतुर्वीरा द्विषद्धताः ।
विमानेभ्यो यथा क्षीणे पुण्ये स्वर्गसदस्तथा ॥ ७ ॥

शत्रुओंद्वारा मारे गये वीर हाथी, रथ और घोड़ोंसे उसी प्रकार गिर रहे थे, जैसे स्वर्गवासी जीव पुण्य क्षीण होनेपर वहाँके विमानोंसे नीचे गिर पड़ते हैं ॥ ७ ॥

गदाभिरन्ये गुर्वीभिः परिघैर्मुसलैरपि।
पोथिताः शतशः पेतुर्वीरा वीरतरै रणे ॥ ८ ॥

अन्य सैकड़ों वीर बड़े-बड़े वीरोंद्वारा भारी गदाओं, परिघों और मुसलोंसे कुचले जाकर रणभूमिमें गिर रहे थे ॥ ८ ॥

रथा रथैर्विमथिता मत्ता मत्तैर्द्विपा द्विपैः ।
सादिनः सादिभिश्चैव तस्मिन् परमसंकुले ॥ ९ ॥

उस भारी घमासान युद्धमें रथोंने रथोंको मथ डाला, मतवाले हाथियोंने मदमत्त गजराजोंको धराशायी कर दिया और घुड़सवारोंने घुड़सवारोंको कुचल डाला ॥ ९ ॥

रथैर्नरा रथा नागैरश्वारोहाश्च पत्तिभिः ।
अश्वारोहैः पदाताश्च निहता युधि शेरते ॥ १० ॥

रथियोंद्वारा मारे गये पैदल मनुष्य, हाथियोंद्वारा कुचले गये रथ और रथी, पैदलोंद्वारा मारे गये घुड़सवार और घुड़सवारोंद्वारा कालके गालमें भेजे गये पैदल सिपाही उस युद्धभूमिमें सो रहे थे ॥ १० ॥

रथाश्वपत्तयो नागै रथाश्वेभाश्च पत्तिभिः ।
रथपत्तिद्विपाश्चाश्वै रथैश्चापि नरद्विपाः ॥ ११ ॥

गजों और गजारोहियोंने रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंको मार गिराया, पैदलोंने रथियों, घुड़सवारों और हाथीसवारोंको धराशायी कर दिया, घुड़सवारोंने रथियों, पैदलों और गजारोहियोंको मार डाला तथा रथियोंने भी पैदल मनुष्यों और गजारोहियोंको मार गिराया ॥ ११ ॥

रथाश्वेभनराणां तु नराश्वेभरथैः कृतम् ।
पाणिपादैश्च शस्त्रैश्च रथैश्च कदनं महत् ॥ १२ ॥

पैदल, घुड़सवार, हाथीसवार तथा रथियोंने रथियों, घुड़सवारों, हाथीसवारों और पैदलोंका हाथों, पैरों, अस्त्र-शस्त्रों एवं रथोंद्वारा महान् संहार कर डाला ॥ १२ ॥

तथा तस्मिन् बले शूरैर्वध्यमाने हतेऽपि च ।
अस्मानभ्याययुः पार्था वृकोदरपुरोगमाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब शूरवीरोंद्वारा वह सेना मारी जाने लगी और मारी गयी, तब कुन्तीके पुत्रोंने भीमसेनको आगे रखकर हमलोगोंपर आक्रमण किया ॥ १३ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्राविडैः सैनिकैः सह ॥ १४ ॥
वृता व्यूहेन महता पाण्ड्याश्चोलाः सकेरलाः ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदीके पुत्र, प्रभद्रक, सात्यकि, चेकितान,द्राविड सैनिकोंसहित महान् व्यूहसे घिरे हुए पाण्ड्य, चोल तथा केरल योद्धाओंने धावा किया ॥ १४½ ॥

व्यूढोरस्का दीर्घभुजाः प्रांशवः पृथुलोचनाः ॥ १५ ॥
आपीडिनो रक्तदन्ता मत्तमातङ्गविक्रमाः ।

इन सबकी छाती चौड़ी और भुजाएँ तथा आँखें बड़ी थीं । वे सब-के-सब ऊँचे कदके थे । उन्होंने भाँति-भाँतिके शिरोभूषण एवं हार धारण किये थे । उनके दाँत लाल थे और वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी थे ॥ १५½ ॥

नानाविरागवसना गन्धचूर्णावचूर्णिताः॥ १६ ॥
बद्धासयः पाशहस्ता वारणप्रतिवारणाः ।

उन्होंने अनेक प्रकारके रंगीन वस्त्र पहन रक्खे थे और अपने अङ्गोंमें सुगन्धित चूर्ण लगा रक्खा था । उनकी कमरमें तलवार बँधी थी, वे हाथमें पाश लिये हुए थे और हाथियोंको भी रोक देनेकी शक्ति रखते थे ॥ १६½ ॥

समानमृत्यवो राजन् नात्यजन्त परस्परम् ॥ १७ ॥
कलापिनश्चापहस्ता दीर्घकेशाः प्रियंवदाः ।
पत्तयः सादिनश्चान्ये घोररूपपराक्रमाः ॥ १८ ॥

राजन् ! वे सभी सैनिक समानरूपसे मृत्युको वरण करनेकी प्रतिज्ञा करके एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ते थे। वे मस्तकपर मोरपंख धारण किये हुए थे। उनके हाथोंमें धनुष शोभा पाता था। उनके केश बहुत बड़े थे और वे प्रिय वचन बोलते थे। अन्यान्य पैदल और घुड़सवार भी बड़े भयंकर पराक्रमी थे ॥ १७-१८ ॥

अथापरे पुनः शूराश्चेदिपञ्चालकेकयाः।
कारूषाः कोसलाः काञ्च्या मागधाश्चापि दुद्रुवुः॥ १९॥

तदनन्तर पुनः दूसरे शूरवीर चेदि, पाञ्चाल, केकय, कारूष, कोसल, काञ्चीनिवासी और मागध सैनिक भी हमी लोगोंपर चढ़ आये ॥ १९ ॥

तेषां रथाश्वनागाश्च प्रवराश्चोग्रपत्तयः।
नानावाद्यधरैर्हृष्टा नृत्यन्ति च हसन्ति च ॥ २० ॥

उनके रथ, घोड़े और हाथी उत्तम कोटिके थे। पैदल सैनिक भी बड़े भयंकर थे। वे नाना प्रकारके बाजे बजानेवालोंके साथ हर्षमें भरकर नाचते-कूदते और हँसते थे ॥

तस्य सैन्यस्य महतो महामात्रवरैर्वृतः।
मध्ये वृकोदरोऽभ्यायात् त्वदीयान् नागधूर्गतः॥ २१ ॥

उस विशाल सेनाके मध्यभागमें हाथीकी पीठपर बड़े-बड़े महावतोंसे घिरकर बैठे हुए भीमसेन आपके सैनिकोंकी ओर बढ़े आ रहे थे ॥ २१ ॥

स नागप्रवरोऽत्युग्रो विधिवत् कल्पितो बभौ।
उदयाद्र्यग्र्यभवनं यथाभ्युदितभास्करम् ॥ २२ ॥

उस अत्यन्त भयंकर गजराजको विधिपूर्वक सजाया गया था, वह सूर्योदयसे युक्त उदयाचलके उच्चतम शिखरके समान सुशोभित होता था ॥ २२ ॥

तस्यायसं वर्म वरं वररत्नविभूषितम्।
ताराव्याप्तस्य नभसः शारदस्य समत्विषम् ॥ २३ ॥

उसका लोहेका बना हुआ उत्तम कवच श्रेष्ठ रत्नोंसे विभूषित होकर ताराओंसे भरे हुए शरत्कालीन आकाशके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ २३ ॥

स तोमरव्यग्रकरश्चारुमौलिः स्वलंकृतः।
शरन्मध्यंदिनार्काभस्तेजसा व्यदहद् रिपून् ॥ २४ ॥

उस समय सुन्दर मुकुट और आभूषणोंसे विभूषित हो हाथमें तोमर लेकर शरत्कालके मध्याह्न सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले भीमसेन अपने तेजसे शत्रुओंको दग्ध करने लगे ॥

तं दृष्ट्वा द्विरदं दूरात् क्षेमधूर्तिर्द्विपस्थितः।
आह्वयन्नभिदुद्राव प्रमनाः प्रमनस्तरम् ॥ २५ ॥

उनके उस हाथीको दूरसे ही देखकर हाथीपर ही बैठे हुए महामना क्षेमधूर्तिने महामनस्वी भीमसेनको ललकारते हुए उनपर धावा किया ॥ २५ ॥

तयोः समभवद् युद्धं द्विपयोरुग्ररूपयोः।
यदृच्छया द्रुमवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ २६ ॥

जैसे वृक्षोंसे भरे हुए दो महान् पर्वत दैवेच्छासे परस्पर टकरा रहे हों, उसी प्रकार उन भयानक रूपधारी दोनों गजराजोंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ २६ ॥

संसक्तनागौ तौ वीरौ तोमरैरितरेतरम्।
बलवत् सूर्यरश्म्याभैर्भित्त्वान्योन्यं विनेदतुः ॥ २७ ॥

जिनके हाथी एक दूसरेसे उलझे हुए थे, वे दोनों वीर क्षेमधूर्ति और भीमसेन सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले तोमरोंद्वारा एक दूसरेको बलपूर्वक विदीर्ण करते हुए जोर-जोरसे गर्जने लगे ॥ २७ ॥

व्यपसृत्य तु नागाभ्यां मण्डलानि विचेरतुः।
प्रगृह्य चोभौ धनुषी जघ्नतुर्वै परस्परम् ॥ २८ ॥

फिर हाथियोंद्वारा ही पीछे हटकर वे दोनों मण्डलाकार विचरने और धनुष लेकर एक दूसरेपर बाणोंका प्रहार करने लगे ॥ २८ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितरवैर्बाणशब्दैस्तु सर्वतः।
तौ जनं हर्षयन्तौ च सिंहनादं प्रचक्रतुः ॥ २९ ॥

वे गर्जने, ताल ठोंकने और बाणोंके शब्दसे चारों ओरके योद्धाओंको हर्ष प्रदान करते हुए सिंहनाद कर रहे थे ॥

समुद्यतकराभ्यां तौ द्विपाभ्यां कृतिनावुभौ।
वातोद्धूतपताकाभ्यां युयुधाते महाबलौ ॥ ३० ॥

वे दोनों महाबली और विद्वान् योद्धा उन सूँड़ उठाये हुए दोनों हाथियोंद्वारा युद्ध कर रहे थे। उस समय उन हाथियोंके ऊपर लगी हुई पताकाएँ हवाके वेगसे फहरा रही थीं॥

तावन्योन्यस्य धनुषी छित्त्वान्योन्यं विनेदतुः।
शक्तितोमरवर्षेण प्रावृण्मेघाविवाम्बुभिः ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाकालके दो मेघ पानी बरसा रहे हों, उसी प्रकार शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे एक दूसरेके धनुषको काटकर वे दोनों ही परस्पर गर्जन-तर्जन करने लगे ॥ ३१ ॥

क्षेमधूर्तिस्तदा भीमं तोमरेण स्तनान्तरे।
निर्बिभेदातिवेगेन षड्भिश्चाप्यपरैर्नदन् ॥ ३२ ॥

उस समय क्षेमधूर्तिने भीमसेनकी छातीमें बड़े वेगसे एक तोमर धँसा दिया। फिर गर्जना करते हुए उसने उन्हें छः तोमर और मारे ॥ ३२ ॥

स भीमसेनः शुशुभे तोमरै रङ्गमाश्रितैः।
क्रोधदीप्तवपुर्मेघैः सप्तसप्तिरिवांशुमान् ॥ ३३ ॥

अपने शरीरमें धँसे हुए उन तोमरोंद्वारा क्रोधसे उद्दीप्त शरीरवाले भीमसेन मेघोंद्वारा सात घोड़ोंवाले सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

ततो भास्करवर्णाभमञ्जोगतिमयस्मयम्।
ससर्ज तोमरं भीमः प्रत्यमित्राय यत्नवान् ॥ ३४ ॥

तब भीमसेनने सूर्यके समान प्रकाशमान तथा सीधी

गतिसे जानेवाले एक लोहमय तोमरको अपने शत्रुपर प्रयत्नपूर्वक छोड़ा ॥ ३४ ॥

ततः कुलूताधिपतिश्चापमानम्य सायकैः ।
दशभिस्तोमरं भित्त्वा षष्ट्या विव्याध पाण्डवम् ॥३५॥

यह देख कुलूतदेशके राजा क्षेमधूर्तिने अपने धनुषको नवाकर दस सायकोंसे उस तोमरको काट डाला और साठ बाण मारकर भीमसेनको भी घायल कर दिया ॥ ३५ ॥

अथ कार्मुकमादाय भीमो जलदनिःस्वनम् ।
रिपोरभ्यर्दयन्नागमुन्नदन् पाण्डवः शरैः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् गर्जते हुए पाण्डुपुत्र भीमसेनने मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले धनुषको लेकर अपने बाणोंद्वारा शत्रुके हाथीको पीड़ित कर दिया ॥३६॥

स शरौघार्दितो नागो भीमसेनेन संयुगे ।
गृह्यमाणोऽपि नातिष्ठद् वातोद्धूत इवाम्बुदः ॥ ३७ ॥

युद्धस्थलमें भीमसेनके बाणसमूहोंसे पीड़ित हुआ वह गजराज हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान रोकनेपर भी वहाँ रुक न सका ॥ ३७ ॥

तमभ्यधावद् द्विरदं भीमो भीमस्य नागराट् ।
महावातेरितं मेघं वातोद्धूत इवाम्बुदः ॥ ३८ ॥

जैसे आँधीके उड़ाये हुए मेघके पीछे वायुप्रेरित दूसरा मेघ जा रहा हो, उसी प्रकार भीमसेनका भयंकर गजराज क्षेमधूर्तिके उस हाथीका पीछा करने लगा ॥ ३८ ॥

संनिवार्यात्मनो नागं क्षेमधूर्तिः प्रतापवान् ।
विव्याधाभिद्रुतं बाणैर्भीमसेनस्य कुञ्जरम् ॥ ३९ ॥

उस समय प्रतापी क्षेमधूर्तिने अपने हाथीको किसी प्रकार रोककर सामने आते हुए भीमसेनके हाथीको बाणोंसे बींध डाला ॥ ३९ ॥

ततः साधुविसृष्टेन क्षुरेणानतपर्वणा ।
छित्त्वा शरासनं शत्रोर्नागमामित्रमार्दयत् ॥ ४० ॥

इसके बाद अच्छी तरह छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले क्षुर नामक बाणसे भीमसेनने शत्रुके धनुषको काटकर उसके हाथीको पुनः अच्छी तरह पीड़ित किया ॥४०॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमं क्षेमधूर्तिः पराभिनत् ।
जघान चास्य द्विरदं नाराचैः सर्वमर्मसु ॥ ४१ ॥

तब क्षेमधूर्तिने कुपित हो रणभूमिमें भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी और अनेक नाराचोंद्वारा उनके हाथीके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें आघात किया ॥ ४१ ॥

स पपात महानागो भीमसेनस्य भारत ।
पुरा नागस्य पतनादवप्लुत्य स्थितो महीम् ॥ ४२ ॥

भारत ! इससे भीमसेनका महान् गजराज पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसके गिरनेसे पहले ही भीमसेन कूदकर भूमिपर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

तस्य भीमोऽपि द्विरदं गदया समपोथयत् ।
तस्मात् प्रमथितान्नागात् क्षेमधूर्तिमवप्लुतम् ॥ ४३ ॥
उद्यतायुधमायान्तं गदयाहन् वृकोदरः ।
स पपात हतः सासिर्व्यसुस्तमभितो द्विपम् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर भीमने भी अपनी गदासे क्षेमधूर्तिके हाथीको मार डाला । फिर जब उस मरे हुए हाथीसे कूदकर क्षेमधूर्ति तलवार उठाये सामने आने लगा, उस समय भीमसेनने उस-

पर भी गदासे प्रहार किया । गदाकी चोट खाकर उसके प्राणपखेरू उड़ गये और वह तलवार लिये हुए अपने हाथीके पास ही गिर पड़ा ॥ ४३-४४ ॥

वज्रप्रभग्नमचलं सिंहो वज्रहतो यथा ।
तं हतं नृपतिं दृष्ट्वा कुलूतानां यशस्करम् ।
प्राद्रवद् व्यथिता सेना त्वदीया भरतर्षभ ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे वज्रके आघातसे टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समीप वज्रका मारा हुआ सिंह गिरा हो, उसी प्रकार उस हाथीके समीप क्षेमधूर्ति धराशायी हो रहे थे । कुलूतोंका यश बढ़ानेवाले राजा क्षेमधूर्तिको मारा गया देख आपकी सेना व्यथित होकर भागने लगी ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि क्षेमधूर्तिवधे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें क्षेमधूर्तिका वधविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध तथा सात्यकिके द्वारा विन्द और अनुविन्दका वध

संजय उवाच

ततः कर्णो महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम्।
जघान समरे शूरः शरैः संनतपर्वभिः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् महाधनुर्धर शूरवीर कर्णने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें पाण्डव-सेनाका संहार आरम्भ किया॥ १॥

तथैव पाण्डवा राजंस्तव पुत्रस्य वाहिनीम्।
कर्णस्य प्रमुखे क्रुद्धा निजघ्नुस्ते महारथाः॥ २॥

राजन्! इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए महारथी पाण्डव भी कर्णके सामने ही आपके बेटेकी सेनाका विनाश करने लगे॥

कर्णोऽपि राजन् समरे व्यहनत् पाण्डवीं चमूम्।
नाराचैरर्करश्म्याभैः कर्मारपरिमार्जितैः॥ ३॥

महाराज! कर्णके नाराच कारीगरोंद्वारा धोकर साफ किये गये थे, इसलिये सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे थे। उनके द्वारा वह भी रणभूमिमें पाण्डव-सेनाका वध करने लगा॥ ३॥

तत्र भारत कर्णेन नाराचैस्ताडिता गजाः।
नेदुः सेदुश्च मम्लुश्च बभ्रमुश्च दिशो दश॥ ४॥

भरतनन्दन! वहाँ कर्णके चलाये हुए नाराचोंकी मार खाकर झुंड-के-झुंड हाथी चिग्घाड़ने, पीड़ासे कराहने, मलिन होने और दसों दिशाओंमें चक्कर काटने लगे॥ ४॥

वध्यमाने बले तस्मिन् सूतपुत्रेण मारिष।
नकुलोऽभ्यद्रवत् तूर्णं सूतपुत्रं महारणे॥ ५॥

माननीय नरेश! सूतपुत्रके द्वारा उस महासमरमें जब अपनी सेना मारी जाने लगी, तब नकुलने तुरंत ही कर्णपर धावा किया॥ ५॥

भीमसेनस्तथा द्रौणिं कुर्वाणं कर्म दुष्करम्।
विन्दानुविन्दौ कैकेयौ सात्यकिः समवारयत्॥ ६॥

भीमसेनने दुष्कर कर्म करते हुए अश्वत्थामाको तथा सात्यकिने केकयदेशीय विन्द और अनुविन्दको रोका॥

श्रुतकर्माणमायान्तं चित्रसेनो महीपतिः।
प्रतिविन्ध्यस्तथा चित्रं चित्रकेतनकार्मुकम्॥ ७॥

सामने आते हुए श्रुतकर्माको राजा चित्रसेनने रोका तथा प्रतिविन्ध्यने विचित्र ध्वज और धनुषवाले चित्रका सामना किया॥ ७॥

दुर्योधनस्तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
संशप्तकगणान् क्रुद्धो ह्यभ्यधावद् धनंजयः॥ ८॥

दुर्योधनने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरपर और क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने संशप्तकगणोंपर धावा किया॥ ८॥

धृष्टद्युम्नः कृपेणाथ तस्मिन् वीरवरक्षये।
शिखण्डी कृतवर्माणं समासादयदच्युतम्॥ ९॥

बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस संग्राममें धृष्टद्युम्न कृपाचार्यके साथ युद्ध करने लगे और शिखण्डी कभी पीछे न हटनेवाले कृतवर्मासे भिड़ गया॥ ९॥

श्रुतकीर्तिस्तथा शल्यं माद्रीपुत्रः सुतं तव।
दुःशासनं महाराज सहदेवः प्रतापवान्॥ १०॥

महाराज! श्रुतकीर्तिने शल्यपर और प्रतापी माद्रीकुमार सहदेवने आपके पुत्र दुःशासनपर आक्रमण किया॥ १०॥

कैकेयौ सात्यकिं युद्धे शरवर्षेण भास्वता।
सात्यकिः केकयौ चापि च्छादयामास भारत॥ ११॥

भरतनन्दन! केकयराजकुमार विन्द और अनुविन्दने युद्धमें चमकीले बाणोंकी वर्षा करके सात्यकिको और सात्यकिने दोनों केकयराजकुमारोंको आच्छादित कर दिया॥ ११॥

तावेनं भ्रातरौ वीरौ जघ्नतुर्हृदये भृशम्।
विषाणाभ्यां यथा नागौ प्रतिनागं महावने॥ १२॥

जैसे विशाल वनमें दो हाथी अपने विरोधी हाथीपर दोनों दाँतोंसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों वीर भ्राता विन्द और अनुविन्द सात्यकिकी छातीमें गहरी चोट पहुँचाने लगे॥ १२॥

शरसम्भिन्नवर्माणौ तावुभौ भ्रातरौ रणे।
सात्यकिं सत्यकर्माणं राजन् विव्यधतुः शरैः॥ १३॥

राजन्! उन दोनोंके कवच बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गये थे, तो भी उन दोनों भाइयोंने रणभूमिमें सत्यकर्मा सात्यकिको बाणोंसे घायल कर दिया॥ १३॥

तौ सात्यकिर्महाराज प्रहसन् सर्वतोदिशः।
छादयञ्छरवर्षेण वारयामास भारत॥ १४॥

महाराज! भरतनन्दन! सात्यकिने हँसते-हँसते सम्पूर्ण दिशाओंको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करके उन दोनों भाइयोंको रोक दिया॥ १४॥

वार्यमाणौ ततस्तौ हि शैनेयशरवृष्टिभिः।
शैनेयस्य रथं तूर्णं छादयामासतुः शरैः॥ १५॥

सात्यकिकी बाणवर्षासे रोके जाते हुए उन दोनों राजकुमारोंने तुरंत ही उनके रथको बाणोंसे आच्छादित कर दिया॥ १५॥

तयोस्तु धनुषी चित्रे छित्त्वा शौरिर्महायशाः।
अथ तौ सायकैस्तीक्ष्णैर्वारयामास संयुगे॥ १६॥

तब महायशस्वी सात्यकिने अपने तीखे बाणोंसे उन दोनोंके विचित्र धनुषोंको काटकर उन्हें युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दिया॥ १६॥

अथान्ये धनुषी चित्रे प्रगृह्य च महाशरान्।

सात्यकिं छादयन्तौ तौ चेरतुर्लघु सुष्ठु च ॥ १७ ॥

फिर वे दोनों भाई दूसरे विचित्र धनुष और उत्तम बाण लेकर सात्यकिको आच्छादित करते हुए सुन्दर एवं शीघ्र गतिसे सब ओर विचरने लगे ॥ १७ ॥

ताभ्यां मुक्ता महाबाणाः कङ्कबर्हिणवाससः ।
द्योतयन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः स्वर्णभूषणाः ॥ १८ ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए स्वर्णभूषित महान् बाण, जो कङ्क और मोरके पंखोंसे सुशोभित थे, सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए गिरने लगे ॥ १८ ॥

बाणान्धकारमभवत् तयो राजन् महामृधे ।
अन्योन्यस्य धनुश्चैव चिच्छिदुस्ते महारथाः ॥ १९ ॥

राजन् ! उस महासमरमें उन दोनोंके बाणोंसे अन्धकार छा गया। फिर उन तीनों महारथियोंने एक दूसरेके धनुष काट डाले ॥ १९ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज सात्वतो युद्धदुर्मदः ।
धनुरन्यत् समादाय सज्यं कृत्वा च संयुगे ॥ २० ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन अनुविन्दशिरोऽहरत् ।

महाराज ! फिर तो रणदुर्मद सात्यकि कुपित हो उठे। उन्होंने युद्धस्थलमें दूसरा धनुष लेकर उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ायी और एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा अनुविन्दका सिर काट लिया ॥ २०½ ॥

अपतत् तच्छिरो राजन् कुण्डलोपचितं महत् ॥ २१ ॥
शम्बरस्य शिरो यद्वन्निहतस्य महारणे ।
शोचयन् केकयान् सर्वाञ्जगामाशु वसुन्धराम् ॥ २२ ॥

राजन् ! उस महासमरमें मारे गये अनुविन्दका कुण्डलमण्डित महान् मस्तक शम्बरासुरके सिरके समान कटकर गिरा और समस्त केकयोंको शोकमें डालता हुआ शीघ्र पृथ्वीपर जा पड़ा ॥ २१–२२ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं शूरं भ्राता तस्य महारथः ।
सज्यमन्यद् धनुः कृत्वा शैनेयं पर्यवारयत् ॥ २३ ॥

शूरवीर अनुविन्दको मारा गया देख उसके महारथी भाई विन्दने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर सात्यकिको चारों ओरसे रोका ॥ २३ ॥

स षष्ट्या सात्यकिं विद्ध्वा स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः ।
ननाद बलवन्नादं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २४ ॥

उसने शिलापर तेज किये गये सुवर्णपंखयुक्त साठ बाणोंद्वारा सात्यकिको घायल करके बड़े जोरकी गर्जना की और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २४ ॥

सात्यकिं च ततस्तूर्णं केकयानां महारथः ।
शरैरनेकसाहस्रैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २५ ॥

तदनन्तर केकय-महारथी विन्दने तुरंत ही सात्यकिकी दोनों भुजाओं और छातीमें कई हजार बाण मारे ॥ २५ ॥

स शरैः क्षतसर्वाङ्गः सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
रराज समरे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ॥ २६ ॥

राजन् ! उन बाणोंसे समराङ्गणमें सत्यपराक्रमी सात्यकिके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो लहू-लुहान हो गये और वे खिले हुए पलाशके समान सुशोभित होने लगे ॥ २६ ॥

सात्यकिः समरे विद्धः कैकेयेन महात्मना ।
कैकेयं पञ्चविंशत्या विव्याध प्रहसन्निव ॥ २७ ॥

महामना कैकेय (विन्द) के द्वारा समराङ्गणमें घायल हुए सात्यकिने हँसते हुए-से पचीस बाण मारकर कैकेयको भी घायल कर दिया ॥ २७ ॥

तावन्योन्यस्य समरे संछिद्य धनुषी शुभे ।
हत्वा च सारथी तूर्णं हयांश्च रथिनां वरौ ॥ २८ ॥

उन दोनों महारथियोंने युद्धस्थलमें एक दूसरेके सुन्दर धनुष काटकर तुरंत ही सारथि और घोड़े भी मार डाले ॥ २८ ॥

विरथावसियुद्धाय समाजग्मतुराहवे ।
शतचन्द्रचिते गृह्य चर्मणी सुभुजौ तथा ॥ २९ ॥

फिर वे सुन्दर भुजाओंवाले दोनों वीर रथहीन होकर सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढाल और तलवार लिये खड्ग-युद्धके लिये उद्यत हो युद्धस्थलमें एक दूसरेके सामने आये ॥ २९ ॥

व्यरोचेतां महारङ्गे निस्त्रिंशवरधारिणौ ।
यथा देवासुरे युद्धे जम्भशक्रौ महाबलौ ॥ ३० ॥

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली इन्द्र और जम्भासुर

शोभा पाते थे, उसी प्रकार युद्धके उस महान् रङ्गस्थलमें उत्तम खड्ग धारण किये हुए वे दोनों योद्धा सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

मण्डलानि ततस्तौ तु विचरन्तौ महारणे ।
अन्योन्यमभितस्तूर्णं समाजग्मतुराहवे ॥ ३१ ॥

उस महासमरमें मण्डलाकार विचरते और पैंतरे दिखाते हुए वे दोनों वीर तुरंत ही एक दूसरेके समीप आ गये ॥ ३१ ॥

अन्योन्यस्य वधे चैव चक्रतुर्यत्नमुत्तमम् ।
कैकेयस्य द्विधा चर्म ततश्चिच्छेद सात्वतः ॥ ३२ ॥
सात्यकेस्तु तथैवासौ चर्म चिच्छेद पार्थिवः ।

फिर वे एक दूसरेके वधके लिये भारी यत्न करने लगे। तदनन्तर सात्यकिने विन्दकी ढालके दो टुकड़े कर दिये। इसी प्रकार राजकुमार विन्दने भी सात्यकिकी ढाल टूक-टूक कर दी ॥ ३२½ ॥

चर्म च्छित्त्वा तु कैकेयस्तारागणशतैर्वृतम् ॥ ३३ ॥
चचार मण्डलान्येव गतप्रत्यागतानि च ।

सैकड़ों तारक-चिह्नोंसे भरी हुई सात्यकिकी ढाल काटकर विन्द गत और प्रत्यागत आदि पैंतरे बदलने लगा ॥ ३३½ ॥

तं चरन्तं महारङ्गे निस्त्रिंशवरधारिणम् ॥ ३४ ॥
अपहस्तेन चिच्छेद शैनेयस्त्वरयान्वितः ।

युद्धके उस महान् रङ्गस्थलमें श्रेष्ठ खड्ग धारण करके विचरते हुए विन्दको सात्यकिने तिरछे हाथसे शीघ्रतापूर्वक काट डाला ॥ ३४½ ॥

सवर्मा केकयो राजन् द्विधा छिन्नो महारणे ॥ ३५ ॥
निपपात महेष्वासो वज्राहत इवाचलः ।

राजन्! इस प्रकार महायुद्धमें दो टुकड़ोंमें कटा हुआ कवचसहित महाधनुर्धर केकयराज वज्रके मारे हुए पर्वतके समान गिर पड़ा ॥ ३५½ ॥

तं निहत्य रणे शूरः शैनेयो रथसत्तमः ॥ ३६ ॥
युधामन्युरथं तूर्णमारुरोह परंतपः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुदमन रणशूर सात्यकि विन्दका वध करके तुरंत ही युधामन्युके रथपर चढ़ गये ॥ ३६½ ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय विधिवत्कल्पितं पुनः ।
केकयानां महत् सैन्यं व्यधमत् सात्यकिः शरैः ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् विधिपूर्वक सजाकर लाये हुए दूसरे रथपर आरूढ़ हो सात्यकि अपने बाणोंद्वारा केकयोंकी विशाल सेनाका संहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सा वध्यमाना समरे केकयानां महाचमूः ।
तमुत्सृज्य रणे शत्रुं प्रदुद्राव दिशो दश ॥ ३८ ॥

समरभूमिमें मारी जाती हुई केकयोंकी वह विशाल सेना रणमें शत्रुको त्यागकर दसों दिशाओंमें भाग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि विन्दानुविन्दवधे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें विन्द और अनुविन्दका वधविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रौपदीपुत्र श्रुतकर्मा और प्रतिविन्ध्यद्वारा क्रमशः चित्रसेन एवं चित्रका वध, कौरवसेनाका पलायन तथा अश्वत्थामाका भीमसेनपर आक्रमण

संजय उवाच

श्रुतकर्मा ततो राजंश्चित्रसेनं महीपतिम् ।
आजघ्ने समरे क्रुद्धः पञ्चाशद्भिः शिलीमुखैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर श्रुतकर्माने समराङ्गणमें कुपित हो राजा चित्रसेनको पचास बाण मारे ॥

अभिसारस्तु तं राजन् नवभिर्नतपर्वभिः ।
श्रुतकर्माणमाहत्य सूतं विव्याध पञ्चभिः ॥ २ ॥

नरेश्वर! अभिसारके राजा चित्रसेनने झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे श्रुतकर्माको घायल करके पाँचसे उसके सारथिको भी बींध डाला ॥ २ ॥

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धश्चित्रसेनं चमूमुखे ।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन मर्मदेशे समार्पयत् ॥ ३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए श्रुतकर्माने सेनाके मुहानेपर तीखे नाराचसे चित्रसेनके मर्मस्थलपर आघात किया ॥ ३ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज नाराचेन महात्मना ।
मूर्छामभिययौ वीरः कश्मलं चाविवेश ह ॥ ४ ॥

महामना श्रुतकर्माके नाराचसे अत्यन्त घायल होनेपर वीर चित्रसेनको मूर्छा आ गयी। वे अचेत हो गये ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैनं श्रुतकीर्तिर्महायशाः ।
नवत्या जगतीपालं छादयामास पत्रिभिः ॥ ५ ॥

इसी बीचमें महायशस्वी श्रुतकीर्तिने नब्बे बाणोंसे भूपाल चित्रसेनको आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां चित्रसेनो महारथः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन तं च विव्याध सप्तभिः ॥ ६ ॥

तदनन्तर होशमें आकर महारथी चित्रसेनने एक भल्लसे श्रुतकर्माका धनुष काट डाला और उसे भी सात बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ६ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगघ्नं रुक्मभूषितम् ।
चित्ररूपधरं चक्रे चित्रसेनं शरोर्मिभिः ॥ ७ ॥

तब श्रुतकर्माने शत्रुओंके वेगको नष्ट करनेवाला दूसरा

सुवर्णभूषित धनुष लेकर चित्रसेनको अपने बाणोंकी लहरोंसे विचित्र रूपधारी बना दिया ॥ ७ ॥

स शरैश्चित्रितो राजा चित्रमाल्यधरो युवा ।
अशोभत महारङ्गे श्वाविच्छललतो यथा ॥ ८ ॥

विचित्र माला धारण करनेवाले नवयुवक राजा चित्रसेन उन बाणोंसे चित्रित हो युद्धके महान् रङ्गस्थलमें काँटोंसे भरे हुए साहीके समान सुशोभित होने लगे ॥ ८ ॥

श्रुतकर्माणमथ वै नाराचेन स्तनान्तरे ।
बिभेद तरसा शूरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब उस शूरवीर नरेशने श्रुतकर्माकी छातीमें बड़े वेगसे नाराचका प्रहार किया और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

श्रुतकर्मापि समरे नाराचेन समर्पितः ।
सुस्राव रुधिरं तत्र गैरिकार्द्र इवाचलः ॥ १० ॥

उस समय नाराचसे घायल हुआ श्रुतकर्मा समराङ्गणमें उसी प्रकार रक्त बहाने लगा, जैसे गेरूसे भीगा हुआ पर्वत लाल रंगकी जलधारा बहाता है ॥ १० ॥

ततः स रुधिराक्ताङ्गो रुधिरेण कृतच्छविः ।
रराज समरे वीरः सपुष्प इव किंशुकः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् खूनसे लथपथ अंगोंवाला वीर श्रुतकर्मा समराङ्गणमें उस रुधिरसे अभिनव शोभा धारण करके खिले हुए पलाशवृक्षके समान सुशोभित हुआ ॥ ११ ॥

श्रुतकर्मा ततो राजञ्शत्रुणा समभिद्रुतः ।
शत्रुसंवारणं क्रुद्धो द्विधा चिच्छेद कार्मुकम् ॥ १२ ॥

राजन् ! शत्रुके द्वारा इस प्रकार आक्रान्त होनेपर श्रुतकर्मा कुपित हो उठा और उसने राजा चित्रसेनके शत्रु-निवारक धनुषके दो टुकड़े कर डाले ॥ १२ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचानां शतैस्त्रिभिः ।
छादयन् समरे राजन् विव्याध च सुपत्रिभिः ॥ १३ ॥

महाराज ! धनुष कट जानेपर चित्रसेनको आच्छादित करते हुए श्रुतकर्माने सुन्दर पंखवाले तीन सौ नाराचोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥ १३ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन तीक्ष्णेन निशितेन च ।
जहार सशिरस्त्राणं शिरस्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर एक पैनी धारवाले तीखे भल्लसे उसने महामना चित्रसेनके शिरस्त्राणसहित मस्तकको काट लिया ॥ १४ ॥

तच्छिरो न्यपतद् भूमौ चित्रसेनस्य दीप्तिमत् ।
यदृच्छया यथा चन्द्रश्च्युतः स्वर्गान्महीतलम् ॥ १५ ॥

चित्रसेनका वह दीप्तिशाली मस्तक पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो चन्द्रमा दैवेच्छावश स्वर्गसे भूतलपर आ गिरा हो ॥१५॥

राजानं निहतं दृष्ट्वा तेऽभिसारं तु मारिष ।
अभ्यद्रवन्त वेगेन चित्रसेनस्य सैनिकाः ॥ १६ ॥

माननीय नरेश ! अभिसार देशके अधिपति राजा चित्रसेनको मारा गया देख उनके सैनिक बड़े वेगसे भाग चले ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासस्तत्सैन्यं प्राद्रवच्छरैः ।
अन्तकाले यथा क्रुद्धः सर्वभूतानि प्रेतराट् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महाधनुर्धर श्रुतकर्माने अपने बाणोंद्वारा उस सेनापर आक्रमण किया, मानो प्रलयकालमें कुपित हुए यमराज समस्त प्राणियोंपर धावा बोल रहे हों॥१७॥

ते वध्यमानाः समरे तव पौत्रेण धन्विना ।
व्यद्रवन्त दिशस्तूर्णं दावदग्धा इव द्विपाः ॥ १८ ॥

युद्धमें आपके धनुर्धर पौत्र श्रुतकर्माद्वारा मारे जाते हुए वे सैनिक दावानलसे झुलसे हुए हाथियोंके समान तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ १८ ॥

तांस्तु विद्रवतो दृष्ट्वा निरुत्साहान् द्विषज्जये ।
द्रावयन्निषुभिस्तीक्ष्णैः श्रुतकर्मा व्यरोचत ॥ १९ ॥

शत्रुओंपर विजय पानेका उत्साह छोड़कर भागते हुए उन सैनिकोंको देखकर अपने तीखे बाणोंसे उन्हें खदेड़ते हुए श्रुतकर्माकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ १९ ॥

प्रतिविन्ध्यस्ततश्चित्रं भित्त्वा पञ्चभिराशुगैः ।
सारथिं च त्रिभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेषुणापि च ॥ २० ॥

दूसरी ओर प्रतिविन्ध्यने पाँच बाणोंद्वारा चित्रको क्षत-विक्षत करके तीन बाणोंसे सारथिको घायल कर दिया और एक बाणसे उसके ध्वजको भी बींध डाला ॥ २० ॥

तं चित्रो नवभिर्भल्लैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।
स्वर्णपुङ्खैः प्रसन्नाग्रैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ॥ २१ ॥

तब चित्रने कङ्क और मयूरकी पाँखोंसे युक्त स्वच्छ धार और सुनहरे पंखवाले नौ भल्लोंसे प्रतिविन्ध्यकी दोनों भुजाओं और छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २१ ॥

प्रतिविन्ध्यो धनुश्छित्त्वा तस्य भारत सायकैः ।
पञ्चभिर्निशितैर्बाणैरथैनं स हि जघ्निवान् ॥ २२ ॥

भारत ! प्रतिविन्ध्यने अपने बाणोंद्वारा उसके धनुषको काटकर पाँच तीखे बाणोंसे चित्रको भी घायल कर दिया॥२२॥

ततः शक्तिं महाराज स्वर्णघण्टां दुरासदाम् ।
प्राहिणोत् तव पौत्राय घोरामग्निशिखामिव ॥ २३ ॥

महाराज ! तदनन्तर चित्रने आपके पौत्रपर घोर अग्निशिखाके समान सुवर्णमय घंटोंसे सुशोभित एक दुर्धर्ष शक्ति चलायी ॥ २३ ॥

तामापतन्तीं सहसा महोल्काप्रतिमां तदा ।
द्विधा चिच्छेद समरे प्रतिविन्ध्यो हसन्निव ॥ २४ ॥

समराङ्गणमें बड़ी भारी उल्काके समान सहसा आती हुई उस शक्तिको प्रतिविन्ध्यने हँसते हुए-से दो टुकड़ोंमें काट डाला ॥ २४ ॥

सा पपात द्विधा छिन्ना प्रतिविन्ध्यशरैः शितैः ।
युगान्ते सर्वभूतानि त्रासयन्ती यथाशनिः ॥ २५ ॥

प्रतिविन्ध्यके तीखे बाणोंसे दो टूक होकर वह शक्ति प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भयभीत करनेवाली अशनिके समान गिर पड़ी ॥ २५ ॥

शक्तिं तां प्रहतां दृष्ट्वा चित्रो गृह्य महागदाम्।
प्रतिविन्ध्याय चिक्षेप रुक्मजालविभूषिताम् ॥ २६॥

उस शक्तिको नष्ट हुई देख चित्रने सोनेकी जालियोंसे विभूषित एक विशाल गदा हाथमें ले ली और उसे प्रतिविन्ध्यपर छोड़ दिया ॥ २६ ॥

सा जघान हयांस्तस्य सारथिं च महारणे ।
रथं प्रमृद्य वेगेन धरणीमन्वपद्यत ॥ २७ ॥

उस गदाने महासमरमें प्रतिविन्ध्यके घोड़ों और सारथिको मार डाला और रथको भी चूर-चूर करती हुई वह बड़े वेगसे पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रथादाप्लुत्य भारत ।
शक्तिं चिक्षेप चित्राय स्वर्णदण्डामलंकृताम् ॥ २८ ॥

भारत ! इसी बीचमें रथसे कूदकर प्रतिविन्ध्यने चित्रपर एक सुवर्णमय दण्डवाली सुसज्जित शक्ति चलायी ॥ २८ ॥

तामापतन्तीं जग्राह चित्रो राजन् महामनाः ।
ततस्तामेव चिक्षेप प्रतिविन्ध्याय पार्थिवः ॥ २९ ॥

राजन् ! महामना राजा चित्रने अपनी ओर आती हुई उस शक्तिको हाथसे पकड़ लिया और फिर उसीको प्रतिविन्ध्यपर दे मारा ॥ २९ ॥

समासाद्य रणे शूरं प्रतिविन्ध्यं महाप्रभा ।
निर्भिद्य दक्षिणं बाहुं निपपात महीतले ।
पतिताभासयच्चैव तं देशमशनिर्यथा ॥ ३० ॥

वह अत्यन्त कान्तिमती शक्ति रणभूमिमें शूरवीर प्रतिविन्ध्यको जा लगी और उसकी दाहिनी भुजाको विदीर्ण करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी । वह जहाँ गिरी, उस स्थानको बिजलीके समान प्रकाशित करने लगी ॥ ३० ॥

प्रतिविन्ध्यस्ततो राजंस्तोमरं हेमभूषितम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धश्चित्रस्य वधकाङ्क्षया ॥ ३१ ॥

राजन् ! तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए प्रतिविन्ध्यने चित्रके वधकी इच्छासे उसके ऊपर एक सुवर्णभूषित तोमरका प्रहार किया ॥ ३१ ॥

स तस्य गात्रावरणं भित्त्वा हृदयमेव च ।
जगाम धरणीं तूर्णं महोरग इवाशयम् ॥ ३२ ॥

वह तोमर उसके कवच और वक्षःस्थलको विदीर्ण करता हुआ तुरंत धरतीमें समा गया, जैसे कोई बड़ा सर्प बिलमें घुस गया हो ॥ ३२ ॥

स पपात तदा राजा तोमरेण समाहतः ।
प्रसार्य विपुलौ बाहू पीनौ परिघसंनिभौ ॥ ३३ ॥

तोमरसे अत्यन्त आहत हो राजा चित्र अपनी परिघके

समान मोटी और विशाल भुजाओंको फैलाकर तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३३ ॥

चित्रं सम्प्रेक्ष्य निहतं तावका रणशोभिनः ।
अभ्यद्रवन्त वेगेन प्रतिविन्ध्यं समन्ततः ॥ ३४ ॥

चित्रको मारा गया देख संग्राममें शोभा पानेवाले आपके योद्धा प्रतिविन्ध्यपर चारों ओरसे वेगपूर्वक टूट पड़े ॥ ३४ ॥

सृजन्तो विविधान् बाणाञ्शतघ्नीश्च सकिंकिणीः ।
तमवच्छादयामासुः सूर्यमभ्रगणा इव ॥ ३५ ॥

जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार उन योद्धाओंने नाना प्रकारके बाणों और छोटी-छोटी घंटियोंसहित शतघ्नियोंका प्रहार करके उसे आच्छादित कर दिया ॥ ३५ ॥

तान् विधम्य महाबाहुः शरजालेन संयुगे ।
व्यद्रावयत् तव चमूं वज्रहस्त इवासुरीम् ॥ ३६ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंकी सेनाको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार युद्धस्थलमें महाबाहु प्रतिविन्ध्यने अपने बाणसमूहोंसे उन अस्त्र-शस्त्रोंको नष्ट करके आपकी सेनाको मार भगाया ॥

ते वध्यमानाः समरे तावकाः पाण्डवैर्नृप ।
विप्राकीर्यन्त सहसा वातनुन्ना घना इव ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! समरभूमिमें पाण्डवोंकी मार खाकर आपके सैनिक हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान सहसा छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये ॥ ३७ ॥

विप्रद्रुते बले तस्मिन् वध्यमाने समन्ततः ।
द्रौणिरेकोऽभ्ययात् तूर्णं भीमसेनं महाबलम् ॥ ३८ ॥

उनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी वह सेना जब चारों ओर भागने लगी, तब अकेले अश्वत्थामाने तुरंत ही महाबली भीमसेनपर आक्रमण कर दिया ॥ ३८ ॥

ततः समागमो घोरो बभूव सहसा तयोः।
यथा देवासुरे युद्धे वृत्रवासवयोरिव ॥ ३९ ॥

फिर तो देवासुर-संग्राममें वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनों वीरोंमें सहसा घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि चित्रवधे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें चित्रसेन और चित्रका वधविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अश्वत्थामा और भीमसेनका अद्भुत युद्ध तथा दोनोंका मूर्छित हो जाना

संजय उवाच

**भीमसेनं ततो द्रौणी राजन् विव्याध पत्रिणा।
परया त्वरया युक्तो दर्शयन्नस्त्रलाघवम् ॥ १ ॥**

संजय कहते हैं--राजन्! तदनन्तर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ अस्त्र चलानेमें अपनी फुर्ती दिखाते हुए एक बाणसे भीमसेनको बींध डाला ॥ १ ॥

**अथैनं पुनराजघ्ने नवत्या निशितैः शरैः।
सर्वमर्माणि सम्प्रेक्ष्य मर्मज्ञो लघुहस्तवत् ॥ २ ॥**

फिर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले कुशल योद्धाके समान मर्मज्ञ अश्वत्थामाने भीमसेनके सारे मर्मस्थानोंको लक्ष्य करके पुनः उनपर नब्बे तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥ २ ॥

**भीमसेनः समाकीर्णो द्रौणिना निशितैः शरैः।
रराज समरे राजन् रश्मिवानिव भास्करः ॥ ३ ॥**

राजन्! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे समराङ्गणमें आच्छादित हुए भीमसेन किरणोंवाले सूर्यके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३ ॥

**ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः।
द्रोणपुत्रमवच्छाद्य सिंहनादममुञ्चत ॥ ४ ॥**

तदनन्तर पाण्डुपुत्र भीमने अच्छी तरह चलाये हुए एक हजार बाणोंसे द्रोणपुत्रको आच्छादित करके घोर सिंहनाद किया ॥ ४ ॥

**शरैः शरांस्ततो द्रौणिः संवार्य युधि पाण्डवम्।
ललाटेऽभ्याहनद् राजन् नाराचेन स्मयन्निव ॥ ५ ॥**

राजन्! अश्वत्थामाने अपने बाणोंसे भीमसेनके बाणोंका निवारण करके युद्धस्थलमें उन पाण्डुपुत्रके ललाटमें मुसकराते हुए-से एक नाराचका प्रहार किया ॥ ५ ॥

**ललाटस्थं ततो बाणं धारयामास पाण्डवः।
यथा शृङ्गं वने दृप्तः खड्गो धारयते नृप ॥ ६ ॥**

नरेश्वर! जैसे वनमें बलोन्मत्त गेंड़ा सींग धारण करता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्र भीमने अपने ललाटमें धँसे हुए उस बाणको धारण कर रक्खा था ॥ ६ ॥

**ततो द्रौणिं रणे भीमो यतमानं पराक्रमी।
त्रिभिर्विव्याध नाराचैर्ललाटे विस्मयन्निव ॥ ७ ॥**

तत्पश्चात् पराक्रमी भीमसेनने रणभूमिमें विजयके लिये प्रयत्नशील अश्वत्थामाके ललाटमें भी मुसकराते हुए-से तीन नाराचोंका प्रहार किया ॥ ७ ॥

**ललाटस्थैस्ततो बाणैर्ब्राह्मणोऽसौ व्यशोभत।
प्रावृषीव यथा सिक्तस्त्रिशृङ्गः पर्वतोत्तमः ॥ ८ ॥**

ललाटमें धँसे हुए उन तीनों बाणोंद्वारा वह ब्राह्मण वर्षाकालमें भीगे हुए तीन शिखरोंवाले उत्तम पर्वतके समान अद्भुत शोभा पाने लगा ॥ ८ ॥

**ततः शरशतैर्द्रौणिरर्दयामास पाण्डवम्।
न चैनं कम्पयामास मातरिश्वेव पर्वतम् ॥ ९ ॥**

तब अश्वत्थामाने सैकड़ों बाणोंसे पाण्डुपुत्र भीमसेनको पीड़ित किया; परंतु जैसे हवा पर्वतको नहीं हिला सकती, उसी प्रकार वह उन्हें कम्पित न कर सका ॥ ९ ॥

**तथैव पाण्डवो युद्धे द्रौणिं शरशतैः शितैः।
नाकम्पयत संहृष्टो वार्योघ इव पर्वतम् ॥ १० ॥**

इसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरे हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन भी युद्धमें सैकड़ों तीखे बाणोंका प्रहार करके द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको विचलित न कर सके। ठीक उसी तरह, जैसे जलका महान् प्रवाह किसी पर्वतको हिला-डुला नहीं सकता ॥

**तावन्योन्यं शरैर्घोरैश्छादयानौ महारथौ।
रथवर्यगतौ वीरौ शुशुभाते बलोत्कटौ ॥ ११ ॥**

वे दोनों बलोन्मत्त महारथी वीर श्रेष्ठ रथोंपर बैठकर एक दूसरेको भयंकर बाणोंद्वारा आच्छादित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ११ ॥

**आदित्याविव संदीप्तौ लोकक्षयकरावुभौ।
स्वरश्मिभिरिवान्योन्यं तापयन्तौ शरोत्तमैः ॥ १२ ॥**

जैसे सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये उगे हुए दो तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंद्वारा परस्पर ताप दे रहे हों, उसी प्रकार वे दोनों वीर अपने उत्तम बाणोंद्वारा एक दूसरेको संतप्त कर रहे थे ॥ १२ ॥

**ततः प्रतिकृते यत्नं कुर्वाणौ तौ महारणे।
कृतप्रतिकृते यत्तौ शरसङ्घैरभीतवत् ॥ १३ ॥**

उस महासमरमें बदला लेनेका यत्न करते हुए वे दोनों योद्धा निर्भय-से होकर अपने बाण-समूहोंद्वारा परस्पर अस्त्रोंके घात-प्रतिघातके लिये प्रयत्नशील थे ॥ १३ ॥

**व्याघ्राविव च संग्रामे चेरतुस्तौ नरोत्तमौ।
शरदंष्ट्रौ दुराधर्षौ चापवक्त्रौ भयंकरौ ॥ १४ ॥**

वे दोनों नरश्रेष्ठ संग्रामभूमिमें दो व्याघ्रोंके समान विचर

रहे थे, धनुष ही उन व्याघ्रोंके मुख और बाण ही उनकी दाढ़ें थीं। वे दोनों ही दुर्धर्ष एवं भयंकर प्रतीत होते थे ॥१४॥

अभूतां तावदृश्यौ च शरजालैः समन्ततः ।
मेघजालैरिव च्छन्नौ गगने चन्द्रभास्करौ ॥ १५ ॥

आकाशमें मेघोंकी घटासे आच्छादित हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान वे दोनों वीर सब ओरसे बाण-समूहोंद्वारा ढककर अदृश्य हो गये थे ॥ १५ ॥

चकाशेते मुहूर्तेन ततस्तावप्यरिंदमौ ।
विमुक्तावभ्रजालेन अङ्गारकबुधाविव ॥ १६ ॥

फिर दो ही घड़ीमें मेघोंके आवरणसे मुक्त हुए मंगल और बुध नामक ग्रहोंके समान वे दोनों शत्रुदमन वीर एक दूसरेके बाणोंको नष्ट करके प्रकाशित होने लगे ॥ १६ ॥

अथ तत्रैव संग्रामे वर्तमाने सुदारुणे ।
अपसव्यं ततश्चक्रे द्रौणिस्तत्र वृकोदरम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार चलनेवाले उस भयंकर संग्राममें वहीं द्रोण-पुत्र अश्वत्थामाने भीमसेनको अपने दाहिने भागमें कर दिया ॥

किरञ्छरशतैरुग्रैर्धाराभिरिव पर्वतम् ।
न तु तन्ममृषे भीमः शत्रोर्विजयलक्षणम् ॥ १८ ॥

फिर जैसे मेघ जलकी धाराओंसे पर्वतको ढक-सा देता है, उसी प्रकार भयंकर एवं सैकड़ों बाणोंद्वारा वह भीमसेनको आच्छादित करने लगा; परंतु भीमसेन शत्रुके इस विजय-सूचक लक्षणको सहन न कर सके ॥ १८ ॥

प्रतिचक्रे ततो राजन् पाण्डवोऽप्यपसव्यतः ।
मण्डलानां विभागेषु गतप्रत्यागतेषु च ॥ १९ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र भीमने भी गत-प्रत्यागत आदि मण्डल-भागों (विभिन्न पैंतरों) में अश्वत्थामाको दाहिने करके बदला चुका लिया ॥ १९ ॥

बभूव तुमुलं युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः ।
चरित्वा विविधान् मार्गान् मण्डलस्थानमेव च ॥ २० ॥

उन दोनों पुरुषसिंहोंमें मण्डलाकार घूमकर भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २० ॥

शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
अन्योन्यस्य वधे चैव चक्रतुर्यत्नमुत्तमम् ॥ २१ ॥

वे कानतक खींचकर छोड़े हुए बाणोंसे परस्पर चोट पहुँचाने और एक दूसरेके वधके लिये भारी यत्न करने लगे ॥

ईषतुर्विरथं चैव कर्तुमन्योन्यमाहवे ।
ततो द्रौणिर्महास्त्राणि प्रादुश्चक्रे महारथः ॥ २२ ॥
तान्यस्त्रैरेव समरे प्रतिजघ्नेऽथ पाण्डवः ।

दोनों ही युद्धस्थलमें एक दूसरेको रथहीन कर देनेकी इच्छा करने लगे। तदनन्तर महारथी अश्वत्थामाने बड़े-बड़े अस्त्र प्रकट किये; परंतु पाण्डुपुत्र भीमसेनने समराङ्गणमें अपने अस्त्रोंद्वारा ही उन सबको नष्ट कर दिया ॥ २२½ ॥

ततो घोरं महाराज अस्त्रयुद्धमवर्तत ॥ २३ ॥
ग्रहयुद्धं यथा घोरं प्रजासंहरणे ह्यभूत् ।

महाराज ! फिर तो जैसे प्रजाके संहारकालमें ग्रहोंका घोर युद्ध होने लगता है, उसी प्रकार उन दोनोंमें भयंकर अस्त्र-युद्ध छिड़ गया ॥ २३½ ॥

ते बाणाः समसज्जन्त मुक्तास्ताभ्यां तु भारत ॥ २४ ॥
द्योतयन्तो दिशः सर्वास्तव सैन्यं समन्ततः ।

भारत ! उन दोनोंके छोड़े हुए वे बाण सम्पूर्ण दिशाओं-को प्रकाशित करते हुए आपकी सेनाके चारों ओर गिरने लगे ॥

बाणसङ्घैर्वृतं घोरमाकाशं समपद्यत ॥ २५ ॥
उल्कापातावृतं युद्धं प्रजानां संक्षये नृप ।

नरेश्वर ! उस समय बाण-समूहोंसे व्याप्त हुआ आकाश बड़ा भयंकर प्रतीत होने लगा; ठीक उसी तरह, जैसे प्रजाके संहारकालमें होनेवाला युद्ध उल्कापातसे व्याप्त होनेके कारण अत्यन्त भयानक दिखायी देता है ॥ २५½ ॥

बाणाभिघातात् संजज्ञे तत्र भारत पावकः ॥ २६ ॥
सविस्फुलिङ्गो दीप्तार्चिर्योऽदहद् वाहिनीद्वयम् ।

भरतनन्दन ! वहाँ बाणोंके परस्पर टकरानेसे चिनगारियों तथा प्रज्वलित लपटोंके साथ आग प्रकट हो गयी, जो दोनों सेनाओंको दग्ध किये देती थी ॥ २६½ ॥

तत्र सिद्धा महाराज सम्पतन्तोऽब्रुवन् वचः ॥ २७ ॥
युद्धानामति सर्वेषां युद्धमेतदिति प्रभो ।
सर्वयुद्धानि चैतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २८ ॥

प्रभो ! महाराज ! उस समय वहाँ उड़कर आते हुए सिद्ध परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'यह युद्ध तो सभी युद्धोंसे बढ़कर हो रहा है; अन्य सब युद्ध तो इसकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं थे ॥ २७-२८ ॥

नेदृशं च पुनर्युद्धं भविष्यति कदाचन ।
अहो ज्ञानेन सम्पन्नावुभौ ब्राह्मणक्षत्रियौ ॥ २९ ॥

'ऐसा युद्ध फिर कभी नहीं होगा । ये ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही अद्भुत ज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ २९ ॥

अहो शौर्येण सम्पन्नावुभौ चोग्रपराक्रमौ ।
अहो भीमबलो भीम एतस्य च कृतास्त्रता ॥ ३० ॥

'भयंकर पराक्रम दिखानेवाले ये दोनों योद्धा अद्भुत शौर्य-शाली हैं। अहो ! भीमसेनका बल भयंकर है। इनका अस्त्र-ज्ञान अद्भुत है !॥ ३० ॥

अहो वीर्यस्य सारत्वमहो सौष्ठवमेतयोः ।
स्थितावेतौ हि समरे कालान्तकयमोपमौ ॥ ३१ ॥

'अहो ! इनके वीर्यकी सारता विलक्षण है। इन दोनोंका युद्धसौन्दर्य आश्चर्यजनक है । ये दोनों समराङ्गणमें कालान्तक एवं यमके समान जान पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

रुद्रौ द्वाविव सम्भूतौ यथा द्वाविव भास्करौ ।

यमौ वा पुरुषव्याघ्रौ घोररूपावुभौ रणे ॥ ३२ ॥

'ये भयंकर रूपधारी दोनों पुरुषसिंह रणभूमिमें दो रुद्र, दो सूर्य अथवा दो यमराजके समान प्रकट हुए हैं' ॥ ३२ ॥

इति वाचः स्म श्रूयन्ते सिद्धानां वै मुहुर्मुहुः ।
सिंहनादश्च संजज्ञे समेतानां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार सिद्धोंकी बातें वहाँ बारंबार सुनायी देती थीं। आकाशमें एकत्र हुए देवताओंका सिंहनाद भी प्रकट हो रहा था ॥ ३३ ॥

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च दृष्ट्वा कर्म तयो रणे ।
सिद्धचारणसंघानां विस्मयः समपद्यत ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें उन दोनोंके अद्भुत एवं अचिन्त्य कर्मको देखकर सिद्धों और चारणोंके समूहोंको बड़ा विस्मय हो रहा था ॥ ३४ ॥

प्रशंसन्ति तदा देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
साधु द्रौणे महाबाहो साधु भीमेति चाब्रुवन् ॥ ३५ ॥

उस समय देवता, सिद्ध और महर्षिगण उन दोनोंकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'महाबाहु द्रोणकुमार ! तुम्हें साधुवाद ! भीमसेन ! तुम्हारे लिये भी साधुवाद !' ॥ ३५ ॥

तौ शूरौ समरे राजन् परस्परकृतागसौ ।
परस्परमुदीक्षेतां क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥ ३६ ॥

राजन् ! परस्पर अपराध करनेवाले वे दोनों शूरवीर समराङ्गणमें क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर एक दूसरेकी ओर देख रहे थे ॥ ३६ ॥

क्रोधरक्तेक्षणौ तौ तु क्रोधात् प्रस्फुरिताधरौ ।
क्रोधात् संदष्टदशनौ तथैव दशनच्छदौ ॥ ३७ ॥

क्रोधसे उन दोनोंकी आँखें लाल हो गयी थीं। क्रोधसे उनके ओठ फड़क रहे थे और क्रोधसे ही वे ओठ चबाते एवं दाँत पीसते थे ॥ ३७ ॥

अन्योन्यं छादयन्तौ स्म शरवृष्ट्या महारथौ ।
शराम्बुधारौ समरे शस्त्रविद्युत्प्रकाशिनौ ॥ ३८ ॥

वे दोनों महारथी धनुषरूपी विद्युत्से प्रकाशित होनेवाले मेघके समान हो बाणरूपी जल धारण करते थे और समराङ्गणमें बाण-वर्षा करके एक दूसरेको ढके देते थे ॥ ३८ ॥

तावन्योन्यं ध्वजं विद्ध्वा सारथिं च महारणे ।
अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा बिभिदाते परस्परम् ॥ ३९ ॥

वे उस महासमरमें परस्परके ध्वज, सारथि और घोड़ोंको बींधकर एक दूसरेको क्षत-विक्षत कर रहे थे ॥ ३९ ॥

ततः क्रुद्धौ महाराज बाणौ गृह्य महाहवे ।
उभौ चिक्षिपतुस्तूर्णमन्योन्यस्य वधैषिणौ ॥ ४० ॥

महाराज ! तदनन्तर उस महासमरमें कुपित हो उन दोनोंने एक दूसरेके वधकी इच्छासे तुरंत दो बाण लेकर चलाये ॥ ४० ॥

तौ सायकौ महाराज द्योतमानौ चमूमुखे ।
आजघ्नतुः समासाद्य वज्रवेगौ दुरासदौ ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! वे दोनों बाण सेनाके मुहानेपर चमक उठे। उन दोनोंका वेग वज्रके समान था। उन दुर्जय बाणोंने दोनोंके पास पहुँचकर उन्हें घायल कर दिया ॥ ४१ ॥

तौ परस्परवेगाच्च शराभ्यां च भृशाहतौ ।
निपेततुर्महावीर्यौ रथोपस्थे तयोस्तदा ॥ ४२ ॥

परस्परके वेगसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो वे महापराक्रमी वीर अपने-अपने रथकी बैठकमें तत्काल गिर पड़े ॥ ४२ ॥

ततस्तु सारथिर्ज्ञात्वा द्रोणपुत्रमचेतनम् ।
अपोवाह रणाद् राजन् सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् सारथि द्रोणपुत्रको अचेत जानकर सारी सेनाके देखते-देखते उसे रणक्षेत्रसे बाहर हटा ले गया ॥ ४३ ॥

तथैव पाण्डवं राजन् विह्वलन्तं मुहुर्मुहुः ।
अपोवाह रथेनाजौ सारथिः शत्रुतापनम् ॥ ४४ ॥

महाराज ! इसी प्रकार बारंबार विह्वल होते हुए शत्रुतापन पाण्डुपुत्र भीमसेनको भी रथद्वारा उनका सारथि विशोक युद्धस्थलसे अन्यत्र हटा ले गया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामभीमसेनयोर्युद्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामा और भीमसेनका युद्धविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

अर्जुनका संशप्तकों तथा अश्वत्थामाके साथ अद्भुत युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

यथा संशप्तकैः सार्धमर्जुनस्याभवद् रणः ।
अन्येषां च महीपानां पाण्डवैस्तद् ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! संशप्तकोंके साथ अर्जुनका तथा अन्य पाण्डवोंके साथ दूसरे-दूसरे राजाओंका जिस प्रकार युद्ध हुआ, वह मुझे बताओ ॥ १ ॥

अश्वत्थाम्नस्तु यद् युद्धमर्जुनस्य च संजय ।
अन्येषां च महीपानां पाण्डवैस्तद् ब्रवीहि मे ॥ २ ॥

सूत ! अश्वत्थामा और अर्जुनका जो युद्ध हुआ था तथा अन्य पाण्डवोंके साथ अन्यान्य नरेशोंका जैसा संग्राम हुआ था, उसका मुझसे वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा वृत्तं संग्रामं ब्रुवतो मम ।
वीराणां शत्रुभिः सार्धं देहपाप्मासुनाशनम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! कौरव-वीरोंका शत्रुओंके साथ देह, पाप और प्राणोंका नाश करनेवाला संग्राम जिस प्रकार हुआ था, वह बता रहा हूँ। आप मुझसे सारी बातें सुनिये ॥ ३ ॥

पार्थः संशप्तकबलं प्रविश्यार्णवसंनिभम्।
व्यक्षोभयदमित्रघ्नो महावात इवार्णवम् ॥ ४ ॥

शत्रुनाशक अर्जुनने समुद्रके समान अपार संशप्तक-सेनामें प्रवेश करके उसे उसी प्रकार क्षुब्ध कर डाला, जैसे प्रचण्ड वायु सागरमें ज्वार उठा देती है ॥ ४ ॥

शिरांस्युन्मथ्य वीराणां शितैर्भल्लैर्धनंजयः।
पूर्णचन्द्राभवक्त्राणि स्वक्षिभ्रूदशनानि च ॥ ५ ॥
संतस्तार क्षितिं क्षिप्रं विनालैर्नलिनैरिव।

धनंजयने अपने तीखे भल्लोंसे वीरोंके सुन्दर नेत्र, भौंह और दाँतोंसे सुशोभित, पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले मस्तकोंको काट-काटकर तुरंत ही वहाँकी धरतीको पाट दिया, मानो वहाँ बिना नालके कमल बिछा दिये हों ॥ ५½ ॥

सुवृत्तानायतान् पुष्टांश्चन्दनागुरुभूषितान् ॥ ६ ॥
सायुधान् सतलत्रांश्च पञ्चास्योरगसंनिभान्।
बाहून् क्षुरैरमित्राणां चिच्छेद समरेऽर्जुनः ॥ ७ ॥

अर्जुनने समरभूमिमें अपने क्षुरोंद्वारा शत्रुओंकी उन भुजाओंको भी काट डाला, जो पाँच मुखवाले सर्पोंके समान दिखायी देती थीं, जो गोल, लंबी, पुष्ट तथा अगुरु एवं चन्दनसे चर्चित थीं और जिनमें आयुध एवं दस्ताने भी मौजूद थे ॥ ६-७ ॥

धुर्यान् धुर्यगतान् सूतान् ध्वजांश्चापानि सायकान्।
पाणीन् सरत्नानसकृद् भल्लैश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ ८ ॥

पाण्डुपुत्र धनंजयने शत्रुओंके रथोंमें जुते हुए भारवाही घोड़ों, सारथियों, ध्वजों, धनुषों, बाणों और रत्नभूषणभूषित हाथोंको बारंबार काट डाला ॥ ८ ॥

रथान् द्विपान् हयांश्चैव सारोहानर्जुनो युधि।
शरैरनेकसाहस्रैर्निन्ये राजन् यमक्षयम् ॥ ९ ॥

राजन्! अर्जुनने युद्धस्थलमें कई हजार बाण मारकर रथों, हाथियों, घोड़ों और उन सबके सवारोंको भी यमलोक पहुँचा दिया ॥ ९ ॥

तं प्रवीराः सुसंरब्धा नर्दमाना इवर्षभाः।
वासितार्थमिव क्रुद्धमभिद्रुत्य मदोत्कटाः ॥ १० ॥
निघ्नन्तमभिजघ्नुस्ते शरैः श्रृङ्गैरिवर्षभाः।

उस समय संशप्तक वीर अत्यन्त रोषमें भरकर मैथुनकी इच्छावाली गायके लिये लड़नेवाले मदमत्त साँड़ोंके समान गर्जन एवं हुङ्कार करते हुए कुपित अर्जुनकी ओर टूट पड़े और जैसे साँड़ एक दूसरेको सींगोंसे मारते हैं, उसी प्रकार वे अपने ऊपर प्रहार करते हुए अर्जुनको बाणोंद्वारा चोट पहुँचाने लगे ॥

तस्य तेषां च तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥
त्रैलोक्यविजये यद्वद् दैत्यानां सह वज्रिणा।

अर्जुन और संशप्तकोंका वह घोर युद्ध त्रैलोक्य-विजयके लिये वज्रधारी इन्द्रके साथ घटित हुए दैत्योंके संग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ११½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्विषतां सर्वतोऽर्जुनः ॥ १२ ॥
इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं विद्ध्वा प्राणाञ्जहार सः।

अर्जुनने सब ओरसे शत्रुओंके अस्त्रोंका अपने अस्त्रोंद्वारा निवारण कर उन्हें तुरंत ही अनेक बाणोंसे घायल करके उन सबके प्राण हर लिये ॥ १२½ ॥

छिन्नत्रिवेणुचक्राक्षान् हतयोधाश्वसारथीन् ॥ १३ ॥
विध्वस्तायुधतूणीरान् समुन्मथितकेतनान्।
संछिन्नयोक्त्ररश्मीकान् विवरूथान् विकूबरान्॥१४॥
विस्रस्तबन्धुरयुगान् विस्रस्ताक्षप्रमण्डलान्।
रथान् विशकलीकुर्वन् महाभ्राणीव मारुतः ॥ १५ ॥
विस्मापयन् प्रेक्षणीयं द्विषतां भयवर्धनम्।
महारथसहस्रस्य समं कर्माकरोज्जयः ॥ १६ ॥

अर्जुनने संशप्तकोंके रथके त्रिवेणु, चक्र और धुरोंको छिन्न-भिन्न कर दिया। योद्धाओं, अश्वों तथा सारथियोंको मार डाला। आयुधों और तरकसोंका विध्वंस कर डाला। ध्वजाओंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। जोत और लगाम काट डाले। रक्षाके लिये लगाये गये चर्ममय आवरण और कूबर नष्ट कर दिये। रथतल्प और जूए तोड़ दिये तथा रथकी बैठक और धुरोंको जोड़नेवाले काष्ठके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। जैसे हवा महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार विजयशील अर्जुनने रथोंके खण्ड-खण्ड करके सबको आश्चर्यमें डालते हुए अकेले ही सहस्रों महारथियोंके समान दर्शनीय पराक्रम किया, जो शत्रुओंका भय बढ़ानेवाला था ॥ १३–१६ ॥

सिद्धदेवर्षिसंघाश्च चारणाश्चापि तुष्टुवुः।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षाणि चापतन् ॥ १७ ॥
केशवार्जुनयोर्मूर्ध्नि प्राह वाचाशरीरिणी।

सिद्धों तथा देवर्षियोंके समुदायों एवं चारणोंने भी अर्जुनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं, आकाशसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा होने लगी तथा इस प्रकार आकाशवाणी हुई—॥ १७½ ॥

चन्द्राग्न्यनिलसूर्याणां कान्तिदीप्तिबलद्युतीः ॥ १८ ॥
यौ सदा बिभ्रतुर्वीराविमौ तौ केशवार्जुनौ।
ब्रह्मेशानाविवाजय्यौ वीरावेकरथे स्थितौ ॥ १९ ॥
सर्वभूतवरौ वीरौ नरनारायणाविमौ।

'जो सदा चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निकी दीप्ति, वायुका बल और सूर्यका तेज धारण करते हैं, वे ही ये दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। एक ही रथपर बैठे हुए ये दोनों वीर ब्रह्मा तथा भगवान् शङ्करके समान सर्वथा अजेय हैं। ये ही सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वश्रेष्ठ वीर नर और नारायण हैं' ॥ १८-१९½ ॥

इत्येतन्महदाश्चर्यं दृष्ट्वा श्रुत्वा च भारत ॥ २० ॥

अश्वत्थामा सुसंयत्तः कृष्णावभ्यद्रवद् रणे ।

भरतनन्दन! यह महान् आश्चर्यकी बात देख और सुनकर अश्वत्थामाने सावधान हो रणभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनपर धावा किया ॥ २०½ ॥

अथ पाण्डवमस्यन्तममित्रघ्नकराञ्छरान् ॥ २१ ॥
सेषुणा पाणिनाऽऽहूय प्रहसन् द्रौणिरब्रवीत् ।

तदनन्तर शत्रुनाशक बाणोंका प्रहार करते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको बाणयुक्त हाथसे बुलाकर अश्वत्थामाने हँसते हुए कहा—॥ २१½ ॥

यदि मां मन्यसे वीर प्राप्तमर्हमिहातिथिम् ॥ २२ ॥
ततः सर्वात्मना त्वद्य युद्धातिथ्यं प्रयच्छ मे ।

'वीर ! यदि तुम मुझे यहाँ आया हुआ पूजनीय अतिथि मानो तो सब प्रकारसे आज युद्धके द्वारा मेरा आतिथ्य-सत्कार करो' ॥ २२½ ॥

एवमाचार्यपुत्रेण समाहूतो युयुत्सया ॥ २३ ॥
बहु मेनेऽर्जुनोऽऽत्मानमिति चाह जनार्दनम् ।

आचार्यपुत्रके द्वारा इस प्रकार युद्धकी इच्छासे बुलाये जानेपर अर्जुनने अपना अहोभाग्य माना और भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ २३½ ॥

संशप्तकाश्च मे वध्या द्रौणिराह्वयते च माम् ॥ २४ ॥
यदत्रानन्तरं प्राप्तं शंस मे तद्धि माधव ।
आतिथ्यकर्माभ्युत्थाय दीयतां यदि मन्यसे ॥ २५ ॥

'माधव ! एक ओर तो मुझे संशप्तकोंका वध करना है, दूसरी ओर द्रोणकुमार अश्वत्थामा युद्धके लिये मेरा आह्वान कर रहा है। अतः यहाँ मेरे लिये जो पहले कर्तव्य प्राप्त हो, उसे मुझे बताइये। यदि आप ठीक समझें तो पहले उठकर अश्वत्थामाको ही आतिथ्य ग्रहण करनेका अवसर दिया जाय' ॥ २४-२५ ॥

एवमुक्तोऽवहत् पार्थं कृष्णो द्रोणात्मजान्तिके ।
जैत्रेण विधिनाऽऽहूतं वायुरिन्द्रमिवाध्वरे ॥ २६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णने उन्हें विजयशील रथके द्वारा द्रोणकुमारके निकट पहुँचा दिया। ठीक वैसे ही, जैसे वैदिक विधिसे आवाहित इन्द्र देवताको वायुदेव यज्ञमें पहुँचा देते हैं॥

तमामन्त्र्यैकमनसं केशवो द्रौणिमब्रवीत् ।
अश्वत्थामन् स्थिरो भूत्वा प्रहराशु सहस्व च ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त द्रोणकुमारको सम्बोधित करके कहा—'अश्वत्थामन्! स्थिर होकर शीघ्रतापूर्वक प्रहार करो और अपने ऊपर किये गये प्रहारको सहन करो॥

निर्वेष्टुं भर्तृपिण्डं हि कालोऽयमुपजीविनाम् ।
सूक्ष्मो विवादो विप्राणां स्थूलौ क्षात्रौ जयाजयौ ।२८।

'क्योंकि स्वामीके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करनेवाले पुरुषोंके लिये अपने रक्षकके अन्नको सफल करनेका यही अवसर आया है, ब्राह्मणोंका विवाद सूक्ष्म (बुद्धिके द्वारा साध्य) होता है; परंतु क्षत्रियोंकी जय-पराजय स्थूल अस्त्रोंद्वारा सम्पन्न होती हैं ॥ २८ ॥

यामभ्यर्थयसे मोहाद् दिव्यां पार्थस्य सत्क्रियाम् ।
तामाप्तुमिच्छन् युध्यस्व स्थिरो भूत्वाद्य पाण्डवम् ॥

'तुम मोहवश अर्जुनसे जिस दिव्य सत्कारकी प्रार्थना कर रहे हो, उसे पानेकी इच्छासे आज तुम स्थिर होकर पाण्डुपुत्र धनंजयके साथ युद्ध करो' ॥ २९ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन तथेत्युक्त्वा द्विजोत्तमः ।
विव्याध केशवं षष्ट्या नाराचैरर्जुनं त्रिभिः ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामाने 'बहुत अच्छा' कहकर केशवको साठ और अर्जुनको तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३० ॥

तस्यार्जुनः सुसंक्रुद्धस्त्रिभिर्बाणैः शरासनम् ।
चिच्छेद चान्यदादत्त द्रौणिर्घोरतरं धनुः ॥ ३१ ॥

तब अर्जुनने अत्यन्त कुपित होकर तीन बाणोंसे अश्वत्थामाका धनुष काट दिया; परंतु द्रोणकुमारने उससे भी भयंकर दूसरा धनुष हाथमें ले लिया ॥ ३१ ॥

सज्यं कृत्वा निमेषाच्च विव्याधार्जुनकेशवौ ।
त्रिभिः शतैर्वासुदेवं सहस्रेण च पाण्डवम् ॥ ३२ ॥

उसने पलक मारते-मारते उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर अर्जुन और श्रीकृष्णको बींध डाला। श्रीकृष्णको तीन सौ और अर्जुनको एक हजार बाण मारे ॥ ३२ ॥

ततः शरसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
ससृजे द्रौणिरायस्तः संस्तभ्य च रणेऽर्जुनम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने प्रयत्नपूर्वक अर्जुनको युद्धस्थलमें स्तम्भित करके उनके ऊपर हजारों, लाखों और अरबों बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३३ ॥

इषुधेर्धनुषश्चैव ज्यायाश्चैवाथ मारिष ।
बाह्वोः कराभ्यामुरसो वदनघ्राणनेत्रतः ॥ ३४ ॥
कर्णाभ्यां शिरसोऽङ्गेभ्यो लोमवर्मभ्य एव च ।
रथध्वजेभ्यश्च शरा निष्पेतुर्ब्रह्मवादिनः ॥ ३५ ॥

मान्यवर ! उस समय वेदवादी अश्वत्थामाके तरकस, धनुष, प्रत्यञ्चा, बाँह, हाथ, छाती, मुख, नाक, आँख, कान, सिर, भिन्न-भिन्न अङ्ग, रोम, कवच, रथ और ध्वजोंसे भी बाण निकल रहे थे ॥ ३४-३५ ॥

शरजालेन महता विद्ध्वा माधवपाण्डवौ ।
ननाद मुदितो द्रौणिर्महामेघौघनिःस्वनम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार बाणोंके महान् समुदायसे श्रीकृष्ण और अर्जुनको घायल करके आनन्दित हुआ द्रोणकुमार महान् मेघोंके गम्भीर घोषके समान गर्जना करने लगा ॥ ३६ ॥

(तैः पतद्भिर्महाराज द्रौणिमुक्तैः समन्ततः ।
संछादितौ रथस्थौ तावुभौ कृष्णधनंजयौ ॥

महाराज ! अश्वत्थामाके धनुषसे छूटकर सब ओर गिरने-

वाले उन बाणोंद्वारा रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ढक गये॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैर्भारद्वाजः प्रतापवान्।
निश्चेष्टौ तावुभौ चक्रे रणे माधवपाण्डवौ॥

तत्पश्चात् प्रतापी भरद्वाजकुलनन्दन अश्वत्थामाने सैकड़ों तीखे बाणोंसे रणभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको निश्चेष्ट कर दिया॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं स्थावरं जङ्गमं तथा।
चराचरस्य गोप्तारौ दृष्ट्वा संछादितौ शरैः॥

चराचरकी रक्षा करनेवाले उन दोनों महापुरुषोंको बाणोंद्वारा आच्छादित देख समस्त स्थावर-जङ्गम जगत्में हाहाकार मच गया॥

सिद्धचारणसंघाश्च सम्पेतुर्वै समन्ततः।
अपि स्वस्ति भवेदद्य लोकानामिति चाब्रुवन्॥

सिद्ध और चारणोंके समुदाय सब ओरसे वहाँ आ पहुँचे और बोले—'आज तीनों लोकोंका मङ्गल हो'॥

न मया तादृशो राजन् दृष्टपूर्वः पराक्रमः।
संजज्ञे यादृशो द्रौणेः कृष्णौ छादयतो रणे॥

राजन्! मैंने इससे पहले अश्वत्थामाका वैसा पराक्रम नहीं देखा था, जैसा कि रणभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको आच्छादित करते समय प्रकट हुआ था॥

द्रौणेस्तु धनुषः शब्दं रथानां त्रासनं रणे।
अश्रौषं बहुशो राजन् सिंहस्य नदतो यथा॥

नरेश्वर! रणभूमिमें द्रोणकुमारके धनुषकी टङ्कार बड़े-बड़े रथियोंको भयभीत करनेवाली थी। दहाड़ते हुए सिंहके समान उसके शब्दको मैंने बहुत बार सुना था॥

ज्या चास्य चरतो युद्धे सव्यं दक्षिणमस्यतः।
विद्युदम्भोधरस्येव भ्राजमाना व्यदृश्यत॥

युद्धमें विचरते हुए अश्वत्थामाके धनुषकी प्रत्यञ्चा बायें-दायें बाण छोड़ते समय बादलमें बिजलीके समान चमकती दिखायी देती थी॥

स तदा क्षिप्रकारी च दृढहस्तश्च पाण्डवः।
प्रमोहं परमं गत्वा प्रेक्षन्नास्ते धनंजयः॥

शीघ्रता करने और दृढ़तापूर्वक हाथ चलानेवाले पाण्डुपुत्र धनंजय उस समय भारी मोहमें पड़कर केवल देखते रह गये थे॥

विक्रमं च हृतं मेने आत्मनस्तेन संयुगे।
तदास्य समरे राजन् वपुरासीत् सुदुर्दृशम्॥
द्रौणेस्तत् कुर्वतः कर्म यादृग्रूपं पिनाकिनः।

उन्हें युद्धमें ऐसा मालूम होता था कि अश्वत्थामाने मेरा पराक्रम हर लिया है। राजन्! उस समय समराङ्गणमें वैसा पराक्रम करते हुए द्रोणकुमार अश्वत्थामाका शरीर ऐसा डरावना हो गया था कि उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था। पिनाकपाणि भगवान् रुद्रका जैसा रूप दिखायी देता है, वैसा ही उसका भी था॥

वर्धमाने ततस्तत्र द्रोणपुत्रे विशाम्पते॥
हीयमाने च कौन्तेये कृष्णं रोषः समाविशत्।

प्रजानाथ! जब वहाँ द्रोणपुत्र बढ़ने लगा और कुन्तीकुमारका पराक्रम घटने लगा, तब श्रीकृष्णको बड़ा रोष हुआ॥

स रोषान्निःश्वसन् राजन् निर्दहन्निव चक्षुषा॥
द्रौणिं ददर्श संग्रामे फाल्गुनं च मुहुर्मुहुः।
ततः क्रुद्धोऽब्रवीत् कृष्णः पार्थं सप्रणयं वचः॥

राजन्! वे क्रोधपूर्वक लंबी साँस खींचते हुए संग्रामभूमिमें अश्वत्थामाकी ओर इस प्रकार देखने लगे, मानो उसे अपनी दृष्टिद्वारा दग्ध कर देंगे। अर्जुनकी ओर भी वे बारंबार दृष्टिपात करने लगे। फिर कुपित हुए श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रेमपूर्वक कहा॥

श्रीभगवानुवाच

अत्यद्भुतमहं पार्थ त्वयि पश्यामि संयुगे।
यत् त्वां विशेषयत्याजौ द्रोणपुत्रोऽद्य भारत॥
कच्चित्ते गाण्डिवं हस्ते मुष्टिर्वा न व्यशीर्यत।
कच्चिद् वीर्यं यथापूर्वं भुजयोर्वा बलं तव॥
उदीर्यमाणं हि रणे पश्यामि द्रौणिमाहवे।

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! भरतनन्दन! मैं इस युद्धमें तुम्हारे अंदर यह अत्यन्त अद्भुत परिवर्तन देख रहा हूँ कि आज द्रोणकुमार रणभूमिमें तुमसे आगे बढ़ा जा रहा है। क्या तुम्हारे हाथमें गाण्डीव धनुष है? या तुम्हारी मुट्ठी ढीली पड़ गयी? क्या तुम्हारी दोनों भुजाओंमें पहलेके समान ही बल और पराक्रम है? क्योंकि इस समय संग्राममें द्रोणपुत्रको मैं तुमसे बढ़ा-चढ़ा देख रहा हूँ॥

गुरुपुत्र इति ह्येनं मानयन् भरतर्षभ॥
उपेक्षां मा कृथाः पार्थ नायं कालो ह्युपेक्षितुम्॥)

भरतश्रेष्ठ! यह मेरे गुरुका पुत्र है, ऐसा समझकर इसे सम्मान देते हुए तुम इसकी उपेक्षा न करो। पार्थ! यह उपेक्षाका अवसर नहीं है॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा पाण्डवोऽच्युतमब्रवीत्।
पश्य माधव दौरात्म्यं गुरुपुत्रस्य मां प्रति॥ ३७॥

(भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन तथा) अश्वत्थामाके उस सिंहनादको सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'माधव! देखिये तो सही गुरुपुत्र अश्वत्थामा मेरे प्रति कैसी दुष्टता कर रहा है!॥ ३७॥

वधं प्राप्तौ मन्यते नौ प्रवेश्य शरवेश्मनि।
एषोऽस्मि हन्मि संकल्पं शिक्षया च बलेन च॥ ३८॥

'यह अपने बाणोंके घेरेमें डालकर हम दोनोंको मारा गया समझता है। मैं अभी अपनी शिक्षा और बलसे इसके इस मनोरथको नष्ट किये देता हूँ'॥ ३८॥

अश्वत्थाम्नः शरानस्तान् छित्त्वैकैकं त्रिधा त्रिधा।

व्यधमद् भरतश्रेष्ठो नीहारमिव मारुतः ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ अर्जुनने अश्वत्थामाके चलाये हुए उन बाणोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े करके उन सबको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे हवा कुहरेको उड़ा देती है ॥३९॥

ततः संशप्तकान् भूयः साश्वसूतरथद्विपान् ।
ध्वजपत्तिगणानुग्रैर्बाणैर्विव्याध पाण्डवः ॥ ४० ॥

तदनन्तर पाण्डुकुमार अर्जुनने पुनः घोड़े, सारथि, रथ, हाथी, पैदलसमूह और ध्वजोंसहित संशप्तक-सैनिकोंको अपने भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४० ॥

ये ये ददृशिरे तत्र यद्यद्रूपास्तदा जनाः ।
ते ते तत्र शरैर्व्याप्तं मेनिरेऽऽत्मानमात्मना ॥ ४१ ॥

उस समय वहाँ जो-जो मनुष्य जिस-जिस रूपमें दिखायी देते थे, वे-वे स्वयं ही अपने आपको बाणोंसे व्याप्त मानने लगे॥

ते गाण्डीवप्रमुक्तास्तु नानारूपाः पतत्रिणः ।
क्रोशे साग्रे स्थितान् घ्नन्ति द्विपांश्च पुरुषान् रणे ।४२।

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए नाना प्रकारके बाण रणभूमिमें एक कोससे अधिक दूरीपर खड़े हुए हाथियों और मनुष्योंको भी मार डालते थे ॥ ४२ ॥

भल्लैश्छिन्नाः कराः पेतुः करिणां मदवर्षिणाम् ।
यथा वने परशुभिर्निकृत्ताः सुमहाद्रुमाः ॥ ४३ ॥

जैसे जंगलमें कुल्हाड़ोंसे काटनेपर बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ मदकी वर्षा करनेवाले गजराजोंके शुण्डदण्ड भल्लोंसे कट-कटकर धरतीपर गिरने लगे ॥ ४३ ॥

पश्चात्तु शैलवत् पेतुस्ते गजाः सह सादिभिः ।
वज्रिवज्रप्रमथिता यथैवाद्रिचयास्तथा ॥ ४४ ॥

सूँड़ कटनेके पश्चात् वे पर्वतोंके समान हाथी अपने सवारोंसहित उसी प्रकार गिर जाते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रके वज्रसे विदीर्ण होकर गिरे हुए पहाड़ोंके ढेर लगे हों ॥ ४४ ॥

गन्धर्वनगराकारान् रथांश्चैव सुकल्पितान् ।
विनीतैर्जवनैर्युक्तानास्थितान् युद्धदुर्मदैः ॥ ४५ ॥
शरैर्विशकलीकुर्वन्नमित्रानभ्यवीवृषत् ।
स्वलंकृतानश्वसादीन् पत्तींश्चाहन् धनंजयः ॥ ४६ ॥

धनंजय अपने बाणोंद्वारा सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए, रण-दुर्मद रथियोंकी सवारीमें आये हुए एवं गन्धर्वनगरके समान आकारवाले सुसज्जित रथोंके टुकड़े-टुकड़े करते हुए शत्रुओंपर बाण बरसाते और सजे-सजाये घुड़सवारों एवं पैदलोंको भी मार गिराते थे ॥ ४५-४६ ॥

धनंजययुगान्ताकः संशप्तकमहार्णवम् ।
व्यशोषयत दुःशोषं तीक्ष्णैः शरगभस्तिभिः ॥ ४७ ॥

अर्जुनरूपी प्रलयकालिक सूर्यने जिसका शोषण करना कठिन था, ऐसे संशप्तक-सैन्यरूपी महासागरको अपनी बाण-मयी प्रचण्ड किरणोंसे सोख लिया ॥ ४७ ॥

पुनर्द्रौणिं महाशैलं नाराचैर्वज्रसंनिभैः ।
निर्बिभेद महावेगैस्त्वरन् वज्रीव पर्वतम् ॥ ४८ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्रने पर्वतोंको विदीर्ण किया था, उसी प्रकार अर्जुनने महान् वेगशाली वज्रतुल्य नाराचोंद्वारा अश्वत्थामारूपी महान् शैलको पुनः वेधना आरम्भ किया॥४८॥

तमाचार्यसुतः क्रुद्धः साश्वयन्तारमाशुगैः ।
युयुत्सुरागमद् योद्धुं पार्थस्तानच्छिनच्छरान् ॥४९॥

तब क्रोधमें भरा हुआ आचार्यपुत्र सारथि श्रीकृष्णसहित अर्जुन-के साथ युद्ध करनेकी इच्छासे बाणोंद्वारा उनके सामने उपस्थित हुआ; परंतु कुन्तीकुमार अर्जुनने उसके सभी बाण काट गिराये॥

ततः परमसंक्रुद्धः पाण्डवेऽस्त्राण्यवासृजत् ।
अश्वत्थामाभिरूपाय गृहानतिथये यथा ॥ ५० ॥

तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुआ अश्वत्थामा पाण्डुपुत्र अर्जुनको उसी प्रकार अपने अस्त्र अर्पित करने लगा, जैसे कोई गृहस्थ योग्य अतिथिको अपना सारा घर सौंप देता है ॥

अथ संशप्तकांस्त्यक्त्वा पाण्डवो द्रौणिमभ्ययात् ।
अपाङ्क्तेयानिव त्यक्त्वा दाता पाङ्क्तेयमर्थिनम्॥५१॥

तब पाण्डुपुत्र अर्जुन संशप्तकोंको छोड़कर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके सामने आये। ठीक उसी तरह, जैसे दाता पंक्ति-में बैठनेके अयोग्य ब्राह्मणोंको छोड़कर याचना करनेवाले पंक्तिपावन ब्राह्मणकी ओर जाता है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामार्जुनसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामा और अर्जुनका संवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल ६६½ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाकी पराजय

संजय उवाच

ततः समभवद् युद्धं शुक्राङ्गिरसवर्चसोः ।
नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर आकाशमें नक्षत्र-मण्डलके निकट परस्पर युद्ध करनेवाले शुक्राचार्य और बृहस्पति-के समान वहाँ रणभूमिमें श्रीकृष्णके निकट शुक्र और बृहस्पति-के तुल्य तेजस्वी अश्वत्थामा और अर्जुनका युद्ध होने लगा ॥

संतापयन्तावन्योन्यं दीप्तैः शरगभस्तिभिः ।
लोकत्रासकरावास्तां विमार्गस्थौ ग्रहाविव ॥ २ ॥

जैसे वक्र या अतिचार गतिसे चलनेवाले दो ग्रह सम्पूर्ण जगत्के लिये त्रास उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर अपनी बाणमयी प्रज्वलित किरणोंद्वारा एक दूसरेको संताप देने लगे ॥ २ ॥

ततोऽविध्यद् भ्रुवोर्मध्ये नाराचेनार्जुनो भृशम् ।

स तेन विबभौ द्रौणिरूर्ध्वरश्मिर्यथा रविः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने एक नाराचसे अश्वत्थामाकी दोनों भौहोंके मध्यभागमें गहरा आघात पहुँचाया। ललाटमें धँसे हुए उस बाणसे अश्वत्थामा ऊपरकी ओर उठी हुई किरणोंवाले सूर्यके समान सुशोभित होने लगा ॥ ३ ॥

अथ कृष्णौ शरशतैरश्वत्थाम्नार्दितौ भृशम्।
स्वरश्मिजालविकचौ युगान्तार्काविवासतुः ॥ ४ ॥

इसके बाद अश्वत्थामाने भी श्रीकृष्ण और अर्जुनको अपने सैकड़ों बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। उस समय वे दोनों अपनी किरणोंका प्रसार करनेवाले प्रलयकालके दो सूर्योंके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

ततोऽर्जुनः सर्वतोधारमस्त्र-
मवासृजद् वासुदेवेऽभिभूते।
द्रौणायनिं चाभ्यहनत् पृषत्कै-
र्वज्राग्निवैवस्वतदण्डकल्पैः ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके घायल होनेपर अर्जुनने एक ऐसे अस्त्रका प्रयोग किया, जिसकी धार सब ओर थी। उन्होंने वज्र, अग्नि और यमदण्डके समान अमोघ, दाहक और प्राणहारी बाणोंद्वारा द्रोणकुमार अश्वत्थामाको घायल कर दिया ॥ ५ ॥

स केशवं चार्जुनं चातितेजा
विव्याध मर्मस्वतिरौद्रकर्मा।
बाणैः सुयुक्तैरतितीव्रवेगै-
र्यैराहतो मृत्युरपि व्यथेत ॥ ६ ॥

फिर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले महातेजस्वी अश्वत्थामाने भी अच्छी तरह छोड़े हुए अत्यन्त तीव्र वेगवाले बाणोंद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनके मर्मस्थानोंमें आघात किया। वे बाण ऐसे थे जिनकी चोट खाकर मौतको भी व्यथा हो सकती थी॥

द्रौणेरिषूनर्जुनः संनिवार्य
व्यायच्छतस्तद्द्विगुणैः सुपुङ्खैः।
तं साश्वसूतध्वजमेकवीर-
मावृत्य संशप्तकसैन्यमार्च्छत् ॥ ७ ॥

अर्जुनने परिश्रमपूर्वक बाण चलानेवाले द्रोणकुमारके उन बाणोंका सुन्दर पंखवाले उनसे दुगुने बाणोंद्वारा निवारण करके घोड़े, सारथि और ध्वजसहित उस एक वीरको आच्छादित कर दिया। फिर वे संशप्तकसेनाकी ओर चल दिये ॥ ७ ॥

धनूंषि बाणानिषुधीर्धनुर्ज्याः
पाणीन् भुजान् पाणिगतं च शस्त्रम्।
छत्राणि केतूंस्तुरगान् रथेषां
वस्त्राणि माल्यान्यथ भूषणानि ॥ ८ ॥
चर्माणि वर्माणि मनोरमाणि
प्रियाणि सर्वाणि शिरांसि चैव।
चिच्छेद पार्थो द्विषतां सुयुक्तै-
र्बाणैः स्थितानामपराङ्मुखानाम् ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उत्तम रीतिसे छोड़े गये बाणोंद्वारा युद्धमें पीठ न दिखाकर सामने खड़े हुए शत्रुओंके धनुष, बाण, तरकस, प्रत्यञ्चा, हाथ, भुजा, हाथमें रक्खे हुए शस्त्र, छत्र, ध्वज, अश्व, रथ, ईषादण्ड, वस्त्र, माला, आभूषण, ढाल, सुन्दर कवच, समस्त प्रिय वस्तु तथा मस्तक—इन सबको काट डाला ॥ ८-९ ॥

सुकल्पिताः स्यन्दनवाजिनागाः
समास्थिताः कृतयत्नैर्नृवीरैः।
पार्थेरितैर्बाणशतैर्निरस्ता-
स्तैरेव सार्धं नृवरैर्निपेतुः ॥ १० ॥

सुन्दर सजे-सजाये रथ, घोड़े और हाथी खड़े थे और उनपर प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले नरवीर बैठे थे; परंतु अर्जुनके चलाये हुए सैकड़ों बाणोंसे घायल हो वे सारे वाहन उन नरवीरोंके साथ ही धराशायी हो गये ॥ १० ॥

पद्मार्कपूर्णेन्दुनिभाननानि
किरीटमाल्याभरणोज्ज्वलानि।
भल्लार्धचन्द्रक्षुरकर्तितानि
प्रपेतुरुर्व्यां नृशिरांस्यजस्रम् ॥ ११ ॥

जिनके मुखकमल, सूर्य और पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर, तेजस्वी एवं मनोरम थे तथा मुकुट, माला एवं आभूषणोंसे प्रकाशित हो रहे थे, ऐसे असंख्य नरमुण्ड भल्ल, अर्द्धचन्द्र तथा क्षुरनामक बाणोंसे कट-कटकर लगातार पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ ११ ॥

अथ द्विपैर्देवपतिद्विपाभै-
र्देवारिदर्पापहमत्युदग्रम्।
कलिङ्गवङ्गाङ्गनिषादवीरा
जिघांसवः पाण्डवमभ्यधावन् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् कलिङ्ग, अङ्ग, वङ्ग और निषाद देशोंके वीर देवराज इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान विशाल गजराजोंपर सवार हो, देवद्रोहियोंका दर्प दलन करनेवाले प्रचण्ड वीर पाण्डुकुमार अर्जुनपर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे चढ़ आये ॥ १२ ॥

तेषां द्विपानां निचकर्त पार्थो
वर्माणि चर्माणि करान् नियन्तॄन्।
ध्वजान् पताकांश्च ततः प्रपेतु-
र्वज्राहतानीव गिरेः शिरांसि ॥ १३ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके हाथियोंके कवच, चर्म, सूँड, महावत, ध्वजा और पताका—सबको काट डाला। इससे वे वज्रके मारे हुए पर्वतीय शिखरोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

तेषु प्रभग्नेषु गुरोस्तनूजं
बाणैः किरीटी नवसूर्यवर्णैः।
प्रच्छादयामास महाभ्रजालै-
र्वायुः समुद्यन्तमिवांशुमन्तम् ॥ १४ ॥

उनके नष्ट हो जानेपर किरीटधारी अर्जुनने प्रभातकालके

सूर्यकी कान्तिके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा गुरुपुत्र अश्वत्थामाको ढक दिया, मानो वायुने उगते हुए किरणोंवाले सूर्यको मेघोंकी बड़ी भारी घटाओंसे आच्छादित कर दिया हो ॥ १४ ॥

ततोऽर्जुनेषूनिषुभिर्निरस्य
द्रौणिः शितैरर्जुनवासुदेवौ ।
प्रच्छादयित्वा दिवि चन्द्रसूर्यौ
ननाद सोऽम्भोद इवातपान्ते ॥ १५ ॥

तब द्रोणकुमार अश्वत्थामाने अपने तीखे बाणोंद्वारा अर्जुनके बाणोंका निवारण करके श्रीकृष्ण और अर्जुनको ढक दिया और आकाशमें चन्द्रमा तथा सूर्यको आच्छादित करके गर्जनेवाले वर्षाकालके मेघकी भाँति वह गम्भीर गर्जना करने लगा ॥

तमर्जुनस्तांश्च पुनस्त्वदीया-
नभ्यर्दितस्तैरभिसृत्य शस्त्रैः ।
बाणान्धकारं सहसैव कृत्वा
विव्याध सर्वानिषुभिः सुपुङ्खैः ॥ १६ ॥

उसके बाणोंसे पीडित हुए अर्जुनने आगे बढ़कर सहसा शस्त्रोंद्वारा शत्रुके बाणजनित अन्धकारको नष्ट करके उत्तम पंखवाले अपने बाणोंद्वारा अश्वत्थामा तथा आपके अन्य समस्त सैनिकोंको पुनः घायल कर दिया ॥ १६ ॥

नाप्याददत् संदधन्नैव मुञ्चन्
बाणान् रथेऽदृश्यत सव्यसाची ।
रथांश्च नागांस्तुरगान् पदातीन्
संस्यूतदेहान् ददृशुर्हतांश्च ॥ १७ ॥

रथपर बैठे हुए सव्यसाची अर्जुन कब तरकससे बाण लेते, कब उन्हें धनुषपर रखते और कब छोड़ते हैं, यह नहीं दिखायी देता था। सब लोग यही देखते थे कि रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकोंके शरीर उनके बाणोंसे गुँथे हुए हैं और वे प्राणशून्य हो गये हैं ॥ १७ ॥

संधाय नाराचवरान् दशाशु
द्रौणिस्त्वरन्नेकमिवोत्ससर्ज ।
तेषां च पञ्चार्जुनमभ्यविध्यन्
पञ्चाच्युतं निर्बिभिदुः सुपुङ्खाः ॥ १८ ॥

तब अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ अपने धनुषपर दस उत्तम नाराच रक्खे और उन सबको एकके ही समान एक साथ छोड़ दिया। उनमेंसे पाँच सुन्दर पंखवाले नाराचोंने अर्जुनको बींध डाला और पाँचने श्रीकृष्णको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तैराहतौ सर्वमनुष्यमुख्या-
वसृक् स्रवन्तौ धनदेन्द्रकल्पौ ।
समाप्तविद्येन तथाभिभूतौ
हतौ रणे ताविति मेनिरेऽन्ये ॥ १९ ॥

उन बाणोंसे आहत होकर सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ, कुबेर और इन्द्रके समान पराक्रमी वे दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने अङ्गोंसे रक्त बहाने लगे। जिसकी विद्या पूरी हो चुकी थी, उस अश्वत्थामाके द्वारा इस प्रकार पराभवको प्राप्त हुए उन दोनोंको अन्य सब लोगोंने यही समझा कि 'वे रणभूमिमें मारे गये' ॥ १९ ॥

अथार्जुनं प्राह दशार्हनाथः
प्रमाद्यसे किं जहि योधमेतम् ।
कुर्याद्धि दोषं समुपेक्षितोऽयं
कष्टो भवेद् व्याधिरिवाक्रियावान् ॥ २० ॥

तब दशार्हवंशके स्वामी श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा— 'पार्थ ! तुम क्यों प्रमाद कर रहे हो ? इस योद्धाको मार डालो। इसकी उपेक्षा की जायगी तो यह और भी नये-नये अपराध करेगा और जिसकी चिकित्सा न की गयी हो, उस रोगके समान अधिक कष्टदायक हो जायगा' ॥ २० ॥

तथेति चोक्त्वाच्युतमप्रमादी
द्रौणिं प्रयत्नादिषुभिस्ततक्ष ।
भुजौ वरौ चन्दनसारदिग्धौ
वक्षः शिरोऽथाप्रतिमौ तथोरू ॥ २१ ॥

'बहुत अच्छा, ऐसा ही करूँगा' श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर सतत सावधान रहनेवाले अर्जुन अपने बाणोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक अश्वत्थामाको—उसके चन्दनसारचर्चित श्रेष्ठ भुजाओं, वक्षःस्थल, सिर और अनुपम जाँघोंको क्षत-विक्षत करने लगे ॥

गाण्डीवमुक्तैः कुपितोऽविकर्णै-
र्द्रौणिं शरैः संयति निर्बिभेद ।
छित्त्वा तु रश्मींस्तुरगानविध्यत्
ते तं रणादूहुरतीव दूरम् ॥ २२ ॥

क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए भेड़के कान-जैसे अग्रभागवाले बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें द्रोणपुत्रको विदीर्ण कर डाला। घोड़ोंकी बागडोर काटकर उन्हें अत्यन्त घायल कर दिया। इससे वे घोड़े अश्वत्थामाको रणभूमिसे बहुत दूर भगा ले गये ॥ २२ ॥

स तैर्हृतो वातजवैस्तुरङ्गै-
र्द्रौणिर्दृढं पार्थशराभिभूतः ।
इयेष नावृत्य पुनस्तु योद्धुं
पार्थेन सार्धं मतिमान् विमृश्य ।
जानञ्जयं नियतं वृष्णिवीरे
धनंजये चाङ्गिरसां वरिष्ठः ॥ २३ ॥

अश्वत्थामा अर्जुनके बाणोंसे बहुत पीड़ित हो गया था। जब वायुके समान वेगशाली घोड़े उसे रणभूमिसे बहुत दूर हटा ले गये, तब उस बुद्धिमान् वीरने मन-ही-मन विचार करके पुनः लौटकर अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी इच्छा त्याग दी। अङ्गिरा गोत्रवाले ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ अश्वत्थामा यह जान गया था कि वृष्णिवीर श्रीकृष्ण और अर्जुनकी विजय निश्चित है ॥

नियम्य स हयान् द्रौणिः समाश्वास्य च मारिष ।
रथाश्वनरसम्बाधं कर्णस्य प्राविशद् बलम् ॥ २४ ॥

मान्यवर ! अपने घोड़ोंको रोककर थोड़ी देर उनको

स्वस्थ कर लेनेके बाद द्रोणकुमार अश्वत्थामा रथ, घोड़े और पैदल मनुष्योंसे भरी हुई कर्णकी सेनामें प्रविष्ट हो गया॥

प्रतीपकारिणि रणादश्वत्थाम्नि हृते हयैः।
मन्त्रौषधिक्रियायोगैर्व्याधौ देहादिवाहृते ॥ २५ ॥
संशप्तकानभिमुखौ प्रयातौ केशवार्जुनौ।
वातोद्धूतपताकेन स्यन्दनेनौघनादिना ॥ २६ ॥

जैसे मन्त्र, औषध, चिकित्सा और योगके द्वारा शरीरसे रोग दूर हो जाता है, उसी प्रकार जब प्रतिकूल कार्य करनेवाला अश्वत्थामा चारों घोड़ोंद्वारा रणभूमिसे दूर हटा दिया गया, तब वायुसे फहराती हुई पताकाओंसे युक्त और जलप्रवाहके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन फिर संशप्तकोंकी ओर चल दिये॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामपराजये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामाकी पराजयविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा हाथियोंसहित दण्डधार और दण्ड आदिका वध तथा उनकी सेनाका पलायन

संजय उवाच

अथोत्तरेण पाण्डूनां सेनायां ध्वनिरुत्थितः।
रथनागाश्वपत्तीनां दण्डधारेण वध्यताम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पाण्डव-सेनाके उत्तर भागमें दण्डधारके द्वारा मारे जाते हुए रथी, हाथी, घोड़े और पैदलोंका आर्तनाद गूँज उठा॥ १॥

निवर्तयित्वा तु रथं केशवोऽर्जुनमब्रवीत्।
वाहयन्नेव तुरगान् गरुडानिलरंहसः ॥ २ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपना रथ लौटाकर गरुड़ और वायुके समान वेगवाले घोड़ोंको हाँकते हुए ही अर्जुनसे कहा—॥ २॥

मागधोऽप्यतिविक्रान्तो द्विरदेन प्रमाथिना।
भगदत्तादनवरः शिक्षया च बलेन च ॥ ३ ॥

'पार्थ! यह मगधनिवासी दण्डधार भी बड़ा पराक्रमी है। इसके पास शत्रुओंको मथ डालनेवाला गजराज है। इसे युद्धकी उत्तम शिक्षा मिली है तथा यह बलवान् भी है, इन सब विशेषताओंके कारण यह पराक्रममें भगदत्तसे तनिक भी कम नहीं है॥ ३॥

एनं हत्वा निहन्तासि पुनः संशप्तकानिति।
वाक्यान्ते प्रापयत् पार्थं दण्डधारान्तिकं प्रति ॥ ४ ॥

'अतः पहले इसका वध करके तुम पुनः संशप्तकोंका संहार करना।' इतना कहते-कहते श्रीकृष्णने अर्जुनको दण्डधारके निकट पहुँचा दिया॥ ४॥

स मागधानां प्रवरोऽङ्कुशग्रहे
ग्रहेऽप्रसह्यो विकचो यथा ग्रहः।
सपत्नसेनां प्रममाथ दारुणो
महीं समग्रां विकचो यथा ग्रहः ॥ ५ ॥

मागध वीरोंमें सर्वश्रेष्ठ दण्डधार अङ्कुश धारण करके हाथीद्वारा युद्ध करनेमें अपना सानी नहीं रखते थे। जैसे ग्रहोंमें केतुग्रहका वेग असह्य होता है, उसी प्रकार उनका आक्रमण भी शत्रुओंके लिये असहनीय था। जैसे धूमकेतु नामक उत्पातग्रह सम्पूर्ण भूमण्डलके लिये अनिष्ट-कारक होता है, उसी प्रकार उस भयंकर वीरने वहाँ शत्रुओं-की सम्पूर्ण सेनाको मथ डाला॥ ५॥

सुकल्पितं दानवनागसंनिभं
महाभ्रनिर्ह्रादममित्रमर्दनम्।
रथाश्वमातङ्गगणान् सहस्रशः
समास्थितो हन्ति शरैर्नरानपि ॥ ६ ॥

उनका हाथी खूब सजाया गया था, वह गजासुरके समान बलशाली, महामेघके समान गर्जना करनेवाला तथा शत्रुओंको रौंद डालनेवाला था। उसपर आरूढ़ होकर दण्डधार अपने बाणोंसे सहस्रों रथों, घोड़ों, मतवाले हाथियों और पैदल मनुष्योंका भी संहार करने लगे॥ ६॥

रथानधिष्ठाय सवाजिसारथीन्
नरांश्च पादैर्द्विरदो व्यपोथयत्।
द्विपांश्च पद्भ्यां ममृदे करेण
द्विपोत्तमो हन्ति च कालचक्रवत् ॥ ७ ॥

उनका वह हाथी रथोंपर पैर रखकर सारथि और घोड़ोंसहित उन्हें चूर-चूर कर डालता था। पैदल मनुष्योंको भी पैरोंसे ही कुचल डालता था। हाथियोंको भी दोनों पैरों तथा सूँड़से मसल देता था। इस प्रकार वह गजराज कालचक्रके समान शत्रु-सेनाका संहार करने लगा॥ ७॥

नरांस्तु कार्ष्णायसवर्मभूषणान्
निपात्य साश्वानपि पत्तिभिः सह।
व्यपोथयद् दन्तिवरेण शुष्मिणा
स शब्दवत् स्थूलनलं यथा तथा ॥ ८ ॥

वे अपने बलवान् एवं श्रेष्ठ गजराजके द्वारा लोहेके कवच तथा उत्तम आभूषण धारण करनेवाले घुड़सवारोंको घोड़ों और पैदलोंसहित पृथ्वीपर गिराकर कुचलवा देते थे। उस समय जैसे मोटे नरकुलोंके कुचले जाते समय 'चर-चर' की आवाज होती है, उसी प्रकार उन सैनिकों-के कुचले जानेपर भी होती थी॥ ८॥

अथार्जुनो ज्यातलनेमिनिःस्वने
मृदङ्गभेरीबहुशङ्खनादिते ।

रथाश्वमातङ्गसहस्रसंकुले
रथोत्तमेनाभ्यपतद् द्विपोत्तमम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर जहाँ धनुषकी टंकार और पहियोंकी घर्घराहटका शब्द गूँज रहा था, मृदङ्ग, भेरी और बहुसंख्यक शङ्खोंकी ध्वनि हो रही थी तथा जहाँ रथ, घोड़े और हाथी सहस्रोंकी संख्यामें भरे हुए थे, उस समराङ्गणमें पूर्वोक्त गजराजके समीप अर्जुन अपने उत्तम रथके द्वारा जा पहुँचे ॥ ९ ॥

ततोऽर्जुनं द्वादशभिः शरोत्तमै-
र्जनार्दनं षोडशभिः समार्पयत् ।
स दण्डधारस्तुरगांस्त्रिभिस्त्रिभि-
स्ततो ननाद प्रजहास चासकृत् ॥१०॥

तब दण्डधारने अर्जुनको बारह और भगवान् श्रीकृष्णको सोलह उत्तम बाण मारे। फिर तीन-तीन बाणोंसे उनके घोड़ोंको घायल करके वे बारंबार गर्जने और अट्टहास करने लगे ॥

ततोऽस्य पार्थः सगुणेषुकार्मुकं
चकर्त भल्लैर्ध्वजमप्यलंकृतम् ।
पुनर्नियन्तॄन् सह पादगोप्तृं-
स्ततः स चुक्रोध गिरिव्रजेश्वरः॥ ११ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अपने भल्लोंद्वारा प्रत्यञ्चा और बाणों-सहित दण्डधारके धनुष तथा सजे-सजाये ध्वजको भी काट गिराया। फिर हाथीके महावतों तथा पादरक्षकोंको भी मार डाला। इससे गिरिव्रजके स्वामी दण्डधार अत्यन्त कुपित हो उठे ॥११॥

ततोऽर्जुनं भिन्नकटेन दन्तिना
घनाघनेनानिलतुल्यवर्चसा ।
अतीव चुक्षोभयिषुर्जनार्दनं
धनंजयं चाभिजघान तोमरैः ॥ १२ ॥

उन्होंने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले, वायुके समान वेगशाली, मदोन्मत्त गजराजके द्वारा अर्जुन और श्रीकृष्णको अत्यन्त घबराहटमें डालनेकी इच्छासे उसे उन दोनोंकी ओर बढ़ाया और तोमरोंसे उन दोनोंपर प्रहार किया ॥

अथास्य बाहू द्विपहस्तसंनिभौ
शिरश्च पूर्णेन्दुनिभाननं त्रिभिः ।
क्षुरैः प्रचिच्छेद सहैव पाण्डव-
स्ततो द्विपं बाणशतैः समार्पयत्॥ १३ ॥

तब अर्जुनने हाथीकी सूँड़के समान मोटी दण्डधारकी दोनों भुजाओं तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले उनके मस्तकको भी तीन छुरोंसे एक साथ ही काट डाला। फिर उन्होंने उनके हाथीको सौ बाण मारे ॥ १३ ॥

स पार्थबाणैस्तपनीयभूषणैः
समाचितः काञ्चनवर्मभृद् द्विपः ।
तथा चकाशे निशि पर्वतो यथा
दावाग्निना प्रज्वलितौषधिद्रुमः॥ १४ ॥

उसके सारे शरीरमें अर्जुनके सुवर्णभूषित बाण चुभ गये थे। इससे सुवर्णमय कवच धारण करनेवाला वह हाथी उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे रात्रिमें दावानलसे जलती हुई ओषधियों और वृक्षोंसे युक्त पर्वत प्रकाशित होता है ॥

स वेदनार्तोऽम्बुदनिस्वनो नदं-
श्चरन् भ्रमन् प्रस्खलितान्तरोऽद्रवत्।
पपात रुग्णः सनियन्तृकस्तथा
यथा गिरिर्वज्रविदारितस्तथा ॥ १५ ॥

वह हाथी वेदनासे पीड़ित हो मेघके समान गर्जना करता, सब ओर विचरता, घूमता और बीच-बीचमें लड़खड़ाता हुआ भागने लगा। अधिक घायल हो जानेके कारण वह महावतोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा; मानो वज्र-द्वारा विदीर्ण किया हुआ पर्वत धराशायी हो गया हो ॥ १५ ॥

हिमावदातेन सुवर्णमालिना
हिमाद्रिकूटप्रतिमेन दन्तिना ।
हते रणे भ्रातरि दण्ड आव्रज-
ज्जिघांसुरिन्द्रावरजं धनंजयम् ॥ १६ ॥

रणभूमिमें अपने भाई दण्डधारके मारे जानेपर दण्ड श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध करनेकी इच्छासे बर्फके समान सफेद, सुवर्णमालाधारी तथा हिमालयके शिखरके समान विशालकाय गजराजके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ॥ १६ ॥

स तोमरैरर्ककरप्रभैस्त्रिभि-
र्जनार्दनं पञ्चभिरर्जुनं शितैः ।
समर्पयित्वा विननाद नर्दयं-
स्ततोऽस्य बाहू निचकर्त पाण्डवः ॥ १७ ॥

उसने सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित होनेवाले तीन तीखे तोमरोंसे श्रीकृष्णको और पाँचसे अर्जुनको घायल करके बड़े जोरसे गर्जना की। इतनेहीमें पाण्डुपुत्र अर्जुनने उसकी दोनों बाँहें काट डालीं ॥ १७ ॥

क्षुरप्रकृत्तौ सुभृशं सतोमरौ
शुभाङ्गदौ चन्दनरूषितौ भुजौ ।
गजात् पतन्तौ युगपद् विरेजतु-
र्यथाद्रिशृङ्गाद् रुचिरौ महोरगौ ॥ १८ ॥

क्षुरसे कटी हुई, सुन्दर बाजूबन्दसे विभूषित, चन्दन-चर्चित तथा तोमरसहित वे विशाल भुजाएँ हाथीसे एक साथ गिरते समय पर्वतके शिखरसे गिरनेवाले दो सुन्दर एवं बड़े-बड़े सर्पोंके समान विभूषित हुईं ॥ १८ ॥

तथार्धचन्द्रेण हृतं किरीटिना
पपात दण्डस्य शिरः क्षितिं द्विपात्।
तच्छोणितार्द्रं निपतद् विरेजे
दिवाकरोऽस्तादिव पश्चिमां दिशम्॥ १९ ॥

तत्पश्चात् किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए अर्धचन्द्रसे कटकर दण्डका मस्तक हाथीसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय खूनसे लथपथ हो गिरता हुआ वह मस्तक अस्ताचलसे पश्चिम दिशाकी ओर डूबते हुए सूर्यके समान शोभायमान हुआ ॥

अथ द्विपं श्वेतवराभ्रसंनिभं
दिवाकरांशुप्रतिमैः शरोत्तमैः ।
बिभेद पार्थः स पपात नादयन्
हिमाद्रिकूटं कुलिशाहतं यथा ॥ २० ॥

इसके बाद अर्जुनने श्वेत महामेघके समान सफेद रंगवाले उस हाथीको सूर्यकी किरणोंके सदृश तेजस्वी उत्तम बाणोंद्वारा विदीर्ण कर डाला । फिर तो वह वज्रके मारे हुए हिमालयके शिखरके समान धमाकेकी आवाजके साथ धराशायी हो गया ॥

ततोऽपरे तत्प्रतिमा गजोत्तमा
जिगीषवः संयति सव्यसाचिना ।
तथा कृतास्ते च यथैव तौ द्विपौ
ततः प्रभग्नं सुमहद्रिपोर्बलम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर उसीके समान जो दूसरे-दूसरे गजराज विजयकी इच्छासे युद्धके लिये आगे बढ़े, उन सबकी सव्यसाची अर्जुनने वैसी ही दशा कर डाली, जैसी कि पूर्वोक्त दोनों हाथियोंकी कर दी थी । इससे शत्रुकी उस विशाल सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ २१ ॥

गजा रथाश्वाः पुरुषाश्च संघशः
परस्परघ्नाः परिपेतुराहवे ।
परस्परं प्रस्खलिताः समाहता
भृशं निपेतुर्बहुभाषिणो हताः ॥ २२ ॥

झुंड-के-झुंड हाथी, रथ, घोड़े और पैदल मनुष्य परस्पर आघात-प्रत्याघात करते हुए युद्धस्थलमें चारों ओरसे टूट पड़े थे । वे आपसमें एक दूसरेकी चोटसे अत्यन्त घायल हो लड़खड़ाते और बहुत बकझक करते हुए मरकर गिर जाते थे ॥

अथार्जुनं स्वे परिवार्य सैनिकाः
पुरन्दरं देवगणा इवाब्रुवन् ।
अभैष्म यस्मान्मरणादिव प्रजाः
स वीर दिष्ट्या निहतस्त्वया रिपुः ॥ २३ ॥

इसके बाद इन्द्रको घेरकर खड़े हुए देवताओंके समान अपनी ही सेनाके लोग अर्जुनको घेरकर इस प्रकार बोले—'वीर ! जैसे प्रजा मौतसे डरती है, उसी प्रकार हमलोग जिससे भयभीत हो रहे थे, उस शत्रुको आपने मार डाला; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ! ॥ २३ ॥

न चेदरक्षिष्य इमं जनं भयाद्
द्विषद्भिरेवं बलिभिः प्रपीडितम् ।
तथाभविष्यद् द्विषतां प्रमोदनं
यथा हतेष्वेष्विह नोऽरिसूदन ॥ २४ ॥

'शत्रुसूदन ! यदि आप बलवान् शत्रुओंसे इस प्रकार पीड़ित हुए इन स्वजनोंकी भयसे रक्षा नहीं करते तो इन शत्रुओंको वैसी ही प्रसन्नता होती, जैसी इस समय इनके मारे जानेपर यहाँ हमलोगोंको हो रही है' ॥ २४ ॥

इतीव भूयश्च सुहृद्भिरीरिता
निशम्य वाचः सुमनास्ततोऽर्जुनः ।
यथानुरूपं प्रतिपूज्य तं जनं
जगाम संशप्तकसंघहा पुनः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपने सुहृदोंकी कही हुई ये बातें बारंबार सुनकर अर्जुनको मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उन लोगोंका यथायोग्य आदर-सत्कार करके पुनः संशप्तकगणका वध करनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि दण्डवधेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें दण्डधार और दण्डका वधविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा संशप्तक-सेनाका संहार, श्रीकृष्णका अर्जुनको युद्धस्थलका दृश्य दिखाते हुए उनके पराक्रमकी प्रशंसा करना तथा पाण्ड्यनरेशका कौरवसेनाके साथ युद्धारम्भ

संजय उवाच

प्रत्यागत्य पुनर्जिष्णुर्जघ्ने संशप्तकान् बहून् ।
वक्रातिवक्रगमनादङ्गारक इव ग्रहः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जैसे मङ्गल नामक ग्रह वक्र और अतिचार गतिसे चलकर लोकके लिये अनिष्टकारी होता है, उसी प्रकार विजयशील अर्जुनने दण्डधारकी सेनासे पुनः लौटकर बहुत-से संशप्तकोंका संहार आरम्भ कर दिया ॥१॥

पार्थबाणहता राजन् नराश्वरथकुञ्जराः ।
विचेलुर्बभ्रमुर्नेशुः पेतुर्मम्लुश्च भारत ॥ २ ॥

भरतवंशी नरेश ! अर्जुनके बाणोंसे आहत हो हाथी, घोड़े, रथ और पैदल मनुष्य विचलित, भ्रान्त, पतित, मलिन तथा नष्ट होने लगे ॥ २॥

धुर्यान् धुर्यगतान् सूतान् ध्वजांश्चापासिसायकान् ।
पाणीन् पाणिगतं शस्त्रं बाहूनपि शिरांसि च ॥ ३ ॥
भल्लैः क्षुरैरर्धचन्द्रैर्वत्सदन्तैश्च पाण्डवः ।
चिच्छेदामित्रवीराणां समरे प्रतियुध्यताम् ॥ ४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भल्ल, क्षुर, अर्धचन्द्र और वत्सदन्त नामक अस्त्रोंद्वारा समराङ्गणमें सामना करनेवाले विपक्षी वीरोंके रथोंमें जुते हुए धुरंधर अश्वों, सारथियों, ध्वजों, धनुषों, सायकों, तलवारों, हाथों, हाथमें रक्खे हुए शस्त्रों, भुजाओं तथा मस्तकोंको भी काट डाला ॥ ३-४ ॥

वासितार्थे युयुत्सन्तो वृषभा वृषभं यथा ।
निपतन्त्यर्जुनं शूराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५ ॥

जैसे मैथुनकी वासनावाली गायके लिये युद्धकी इच्छासे

बहुतेरे साँड किसी एक साँडपर टूट पड़ते हों, उसी प्रकार सैकड़ों और हजारों शूरवीर अर्जुनपर धावा बोलने लगे ॥ ५॥

तेषां तस्य च तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
त्रैलोक्यविजये यादृग् दैत्यानां सह वज्रिणा ॥ ६ ॥

उन योद्धाओं तथा अर्जुनका वह युद्ध वैसा ही रोमाञ्चकारी था, जैसा कि त्रैलोक्य-विजयके समय वज्रधारी इन्द्रके साथ दैत्योंका हुआ था ॥ ६ ॥

तमविध्यत् त्रिभिर्बाणैर्दन्दशूकैरिवाहिभिः ।
उग्रायुधसुतस्तस्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ७ ॥

उस समय उग्रायुधके पुत्रने अत्यन्त डँस लेनेके स्वभाववाले सर्पोंके समान तीन बाणोंद्वारा अर्जुनको बींध डाला। तब अर्जुनने उसके सिरको धड़से उतार लिया ॥ ७ ॥

तेऽर्जुनं सर्वतः क्रुद्धा नानाशस्त्रैरवीवृषन्।
मरुद्भिः प्रेरिता मेघा हिमवन्तमिवोष्णगे ॥ ८ ॥

वे संशप्तक योद्धा कुपित हो अर्जुनपर सब ओरसे नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे, मानो वर्षाकालमें पवनप्रेरित मेघ हिमालयपर जलकी वृष्टि कर रहे हों ॥ ८ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्विषतां सर्वतोऽर्जुनः।
सम्यगस्तैः शरैः सर्वानहितानहनद् बहून् ॥ ९ ॥

अर्जुनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्रोंका सब ओरसे निवारण करके अच्छी तरह चलाये हुए बाणोंद्वारा समस्त विपक्षियोंमेंसे बहुतोंको मार डाला ॥ ९ ॥

छिन्नत्रिवेणुसंघातान् हताश्वान् पार्ष्णिसारथीन्।
विस्रस्तहस्ततूणीरान् विचक्ररथकेतनान् ॥ १० ॥
संछिन्नरश्मियोक्त्राक्षान् व्यनुकर्षयुगान् रथान् ।
विध्वस्तसर्वसंनाहान् बाणैश्चक्रेऽर्जुनस्तदा ॥ ११ ॥

अर्जुनने उस समय अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके रथोंकी बड़ी बुरी दशा कर डाली। उनके त्रिवेणुसमूह काट डाले, घोड़ों और पार्श्वरक्षकोंको मार डाला । उन योद्धाओंके हाथोंसे खिसककर तूणीर गिर गये तथा उनके रथोंके पहिये और ध्वज भी नष्ट हो गये। घोड़ोंकी बागडोर, जोत और रथके धुरे भी काट डाले गये। उनके अनुकर्ष और जूए भी चौपट हो गये थे॥

ते रथास्तत्र विध्वस्ताः परार्ध्या भान्त्यनेकशः।
धनिनामिव वेश्मानि हतान्यग्न्यनिलाम्बुभिः ॥ १२ ॥

वे बहुमूल्य और बहुसंख्यक रथ, जो वहाँ टूट-फूटकर गिरे पड़े थे, आग, हवा और पानीसे नष्ट हुए धनवानोंके घरोंके समान जान पड़ते थे ॥ १२ ॥

द्विपाः सम्भिन्नवर्माणो वज्राशनिसमैः शरैः।
पेतुर्गिर्यग्रवेश्मानि वज्रवाताग्निभिर्यथा ॥ १३ ॥

वज्र और बिजलीके समान तेजस्वी बाणोंसे कवच विदीर्ण हो जानेके कारण हाथी वज्र, वायु तथा आगसे नष्ट हुए पर्वत-शिखरोंपर बने हुए गृहोंके समान गिर पड़ते थे ॥ १३ ॥

सारोहास्तुरगाः पेतुर्बहवोऽर्जुनताडिताः।
निर्जिह्वान्त्राः क्षितौ क्षीणा रुधिरार्द्राः सुदुर्दृशः॥ १४ ॥

अर्जुनके मारे हुए बहुसंख्यक घोड़े और घुड़सवार पृथ्वीपर क्षत-विक्षत होकर पड़े थे। उनकी जीभ तथा आँतें बाहर निकल आयी थीं। वे खूनसे लथपथ हो रहे थे। उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो गया था ॥ १४ ॥

नराश्वनागा नाराचैः संस्यूताः सव्यसाचिना।
बभ्रमुश्चस्खलुः पेतुर्नेदुर्मम्लुश्च मारिष ॥ १५ ॥

मान्यवर ! सव्यसाची अर्जुनके नाराचोंसे गुथे हुए हाथी, घोड़े और मनुष्य चक्कर काटते, लड़खड़ाते, गिरते, चिल्लाते और मन मारकर रह जाते थे ॥ १५ ॥

अनेकैश्च शिलाधौतैर्वज्राशनिविषोपमैः ।
शरैर्निजघ्निवान् पार्थो महेन्द्र इव दानवान् ॥ १६ ॥

जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनने शिलापर तेज किये हुए वज्र, अशनि तथा विषके तुल्य अनेक भयंकर बाणोंद्वारा उन संशप्तक वीरोंका वध कर डाला ॥ १६ ॥

महार्हवर्माभरणा नानारूपाम्बरायुधाः।
सरथाः सध्वजा वीरा हताः पार्थेन शेरते ॥ १७ ॥

अर्जुनद्वारा मारे गये संशप्तक वीर बहुमूल्य कवच, आभूषण, भाँति-भाँतिके वस्त्र, आयुध, रथ और ध्वजोंसहित रणभूमिमें सो रहे थे ॥ १७ ॥

विजिताः पुण्यकर्माणो विशिष्टाभिजनश्रुताः।
गताः शरीरैर्वसुधामूर्जितैः कर्मभिर्दिवम् ॥ १८ ॥

वे पुण्यात्मा, उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा विशिष्ट शास्त्रज्ञानसे सम्पन्न वीर पराजित होकर अपने शरीरोंसे तो पृथ्वीपर गिरे, परंतु प्रबल उत्तम कर्मोंके द्वारा स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥

अथार्जुनं रथवरं त्वदीयाः समभिद्रवन्।
नानाजनपदाध्यक्षाः सगणा जातमन्यवः ॥ १९ ॥

तदनन्तर आपके सैनिक रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनपर टूट पड़े। वे विभिन्न जनपदोंके अधिपति थे और अपने दलबलके साथ कुपित होकर चढ़ आये थे ॥ १९ ॥

उह्यमाना रथाश्वेभैः पत्तयश्च जिघांसवः।
समभ्यधावन्नस्यन्तो विविधं क्षिप्रमायुधम् ॥ २० ॥

रथों, घोड़ों और हाथियोंके सवार तथा पैदल सैनिक उन्हें मार डालनेकी इच्छासे नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए शीघ्रतापूर्वक धावा बोलने लगे ॥ २० ॥

तदायुधमहावर्षं मुक्तं योधमहाम्बुदैः।
व्यधमन्निशितैर्बाणैः क्षिप्रमर्जुनमारुतः ॥ २१ ॥

परंतु अर्जुनरूपी वायुने संशप्तक सैनिकरूपी महामेघोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी उस महावृष्टिको तीखे बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ २१ ॥

साश्वपत्तिद्विपरथं महाशस्त्रौघसम्प्लवम्।
सहसा संतितीर्षन्तं पार्थं शस्त्रास्त्रसेतुना ॥ २२ ॥

अथाब्रवीद् वासुदेवः पार्थ किं क्रीडसेऽनघ ।
संशप्तकान् प्रमथ्यैनांस्ततः कर्णवधे त्वर ॥ २३ ॥

अर्जुन हाथी, घोड़े, रथ और पैदल-समूहोंसे युक्त तथा महान् अस्त्र-शस्त्रोंके प्रवाहसे परिपूर्ण उस सैन्य-समुद्रको अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी पुलके द्वारा सहसा पार कर जाना चाहते थे। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'निष्पाप पार्थ ! यह क्या खिलवाड़ कर रहे हो ? इन संशप्तकोंका संहार करके कर्णके वधका शीघ्रतापूर्वक प्रयत्न करो' ॥ २२-२३ ॥

तथेत्युक्त्वार्जुनः कृष्णं शिष्टान् संशप्तकांस्तदा।
आक्षिप्य शस्त्रेण बलाद् दैत्यानिन्द्र इवावधीत्॥ २४ ॥

तब श्रीकृष्णसे 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुन दैत्योंका वध करनेवाले इन्द्रके समान उस समय शेष संशप्तक-सेनाको अस्त्र-शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न करके उसका बलपूर्वक विनाश करने लगे॥

आददत् संदधन्नेषून् दृष्टः कैश्चिद् रणेऽर्जुनः।
विमुञ्चन् वा शराञ्शीघ्रं दृश्यन्ते वै नरा हताः॥ २५ ॥

उस समय रणभूमिमें किसीने यह नहीं देखा कि अर्जुन कब बाण लेते, कब उनका संधान करते अथवा कब उन्हें छोड़ते हैं ? केवल उनके द्वारा शीघ्रतापूर्वक मारे गये मनुष्य ही दृष्टिगोचर होते थे॥

आश्चर्यमिति गोविन्दो ब्रुवन्नश्वानचोदयत्।
हंसांशुगौरास्ते सेनां हंसाः सर इवाविशन् ॥ २६ ॥

'आश्चर्य है' ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको आगे बढ़ाया। हंस तथा चन्द्र-किरणोंके समान श्वेत वर्णवाले वे घोड़े शत्रुसेनामें उसी प्रकार घुस गये, जैसे हंस तालाबमें प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥

ततः संग्रामभूमिं च वर्तमाने जनक्षये।
अवेक्षमाणो गोविन्दः सव्यसाचिनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

जब इस प्रकार जनसंहार होने लगा, उस समय रणभूमिकी ओर देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

एष पार्थ महारौद्रो वर्तते भरतक्षयः।
पृथिव्यां पार्थिवानां वै दुर्योधनकृते महान् ॥ २८ ॥

'पार्थ ! दुर्योधनके कारण यह भूमण्डलके भूपालों तथा भरतवंशियोंकी सेनाका महाभयंकर एवं महान् संहार हो रहा है॥

पश्य भारत चापानि रुक्मपृष्ठानि धन्विनाम्।
महतां चापविद्धानि कलापानिषुधींस्तथा ॥ २९ ॥

'भरतनन्दन ! देखो, बड़े-बड़े धनुर्धरोंके ये सुवर्णजटित पृष्ठभागवाले धनुष, आभूषण और तरकस पड़े हुए हैं ॥२९॥

जातरूपमयैः पुङ्खैः शरांश्च नतपर्वणः।
तैलधौतांश्च नाराचान् विमुक्तानिव पन्नगान् ॥ ३० ॥

'सुनहरी पाँखोंसे युक्त झुकी हुई गाँठवाले ये बाण तथा तेलमें धोकर साफ किये हुए नाराच धनुषसे छूटकर सर्पोंके समान पड़े हुए हैं, इनपर दृष्टिपात करो ॥ ३० ॥

आकीर्णांस्तोमरांश्चापि विचित्रान् हेमभूषितान्।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मपृष्ठानि भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! देखो, ये सुवर्णभूषित विचित्र तोमर चारों ओर बिखरे पड़े हैं और ये फेंकी हुई ढालें हैं, जिनके पृष्ठभागपर सोना जड़ा हुआ था ॥ ३१ ॥

सुवर्णविकृतान् प्रासाञ्शक्तीः कनकभूषिताः।
जाम्बूनदमयैः पट्टैर्बद्धाश्च विपुला गदाः ॥ ३२ ॥
जातरूपमयीश्चर्ष्टीः पट्टिशान् हेमभूषितान्।
दण्डैः कनकचित्रैश्च विप्रविद्धान् परश्वधान् ॥ ३३ ॥

'सोनेके बने हुए प्रास, सुवर्णभूषित शक्तियाँ, सोनेके पत्रोंसे जड़ी हुई विशाल गदाएँ, स्वर्णमयी ऋष्टि, सुवर्णभूषित पट्टिश तथा स्वर्णचित्रित दंडोंके साथ बहुतसे फरसे फेंके पड़े हैं, इनपर दृष्टिपात करो ॥ ३२-३३॥

परिघान् भिंदिपालांश्च भुशुण्डीः कुणपानपि।
अयस्कुन्तांश्च पतितान् मुसलानि गुरूणि च ॥ ३४ ॥

'देखो, ये परिघ, भिन्दिपाल, भुशुण्डी, कुणप, लोहेके बने हुए भाले तथा भारी-भारी मुसल पड़े हुए हैं ॥ ३४ ॥

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य जयगृद्धिनः।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वास्तरस्विनः ॥ ३५ ॥

'विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वेगशाली वीर सैनिक हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये प्राणशून्य हो गये हैं तो भी जीवित-से दिखायी देते हैं ॥ ३५ ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकान् ।
गजवाजिरथैः क्षुण्णान् पश्य योधान् सहस्रशः॥ ३६ ॥

'देखो, ये सहस्रों योद्धा हाथी, घोड़ों और रथोंसे कुचल गये हैं। गदाओंके आघातसे इनके अंग चूर-चूर हो गये हैं और मुसलोंकी मारसे मस्तक फट गये हैं ॥ ३६ ॥

मनुष्यगजवाजीनां शरशक्त्यृष्टितोमरैः।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैर्नखरैर्लगुडैरपि ॥ ३७ ॥
शरीरैर्बहुधा छिन्नैः शोणितौघपरिप्लुतैः।
गतासुभिरमित्रघ्न संवृता रणभूमयः ॥ ३८ ॥

'शत्रुसूदन अर्जुन ! बाण, शक्ति, ऋष्टि, तोमर, खड्ग, पट्टिश, प्रास, नखर और लगुडोंकी मारसे हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंके कई टुकड़े हो गये हैं। वे सब-के-सब खूनसे लथपथ हो प्राणशून्य होकर पड़े हैं और उनके द्वारा सारी रणभूमि पट गयी है ॥ ३७-३८ ॥

बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः साङ्गदैः शुभभूषणैः।
सतलत्रैः सकेयूरैर्भाति भारत मेदिनी ॥ ३९ ॥

'भारत ! बाजूबंद और सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित, चन्दनसे चर्चित, दस्ताने और केयूरोंसे सुशोभित कटी भुजाओंद्वारा रणभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही है ॥ ३९ ॥

साङ्गुलित्रैर्भुजाग्रैश्च विप्रविद्धैरलंकृतैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ॥ ४० ॥
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः।

'अंगुलित्र और अलंकारोंसे अलंकृत हाथ फेंके पड़े हैं।

वेगवान् वीरोंकी हाथीकी सूँड़के समान मोटी जाँघें कटकर गिरी हैं और जिनपर सुन्दर चूड़ामणि बँधी है वे योद्धाओंके कुण्डल-मण्डित मस्तक भी खण्डित होकर इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। उन सबसे रणभूमिकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥४०½॥

रथांश्च बहुधा भग्नान् हेमकिङ्किणिनः शुभान् ॥ ४१ ॥
अश्वांश्च बहुधा पश्य शोणितेन परिप्लुतान् ।
अनुकर्षानुपासङ्गान् पताका विविधान् ध्वजान्॥ ४२॥
योधानां च महाशङ्खान् पाण्डुरांश्च प्रकीर्णकान्।
निरस्तजिह्वान् मातङ्गान् शयानान् पर्वतोपमान् ॥४३॥

'देखो, सोनेकी छोटी-छोटी घंटियोंसे सुशोभित बहुसंख्यक रथोंके कितने ही टुकड़े हो गये हैं और नाना प्रकारके घोड़े लहूलुहान होकर पड़े हैं। अनुकर्ष, उपासंग, पताका, नाना प्रकारके ध्वज, योद्धाओंके सब ओर बिखरे हुए बड़े-बड़े श्वेत शङ्ख तथा कितने ही पर्वताकार हाथी जीभ निकाले सोये पड़े हैं॥

वैजयन्तीर्विचित्राश्च हतांश्च गजयोधिनः ।
वारणानां परिस्तोमान् संयुक्तानेककम्बलान् ॥ ४४ ॥

'कहीं विचित्र वैजयन्ती पताकाएँ पड़ी हैं, कहीं हाथी-सवार मरकर गिरे हैं और कहीं अनेक कम्बलोंसे युक्त हाथि-योंके झूल बिखरे पड़े हैं। इनकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ४४॥

विपाटितविचित्राश्च रूपचित्राः कुथास्तथा ।
भिन्नाश्च बहुधा घण्टाः पतद्भिश्चूर्णिता गजैः ॥ ४५ ॥

'हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले कितने ही विचित्र कम्बल फट जानेके कारण विचित्र दशाको पहुँच गये हैं। कटकर गिरे हुए नाना प्रकारके घंटे गिरते हुए हाथियोंसे दबकर चूर-चूर हो गये हैं ॥ ४५ ॥

वैदूर्यमणिदण्डांश्च पतितांश्चाङ्कुशान् भुवि ।
अश्वानां च युगापीडान् रत्नचित्रानुरश्छदान्॥ ४६ ॥

'देखो, वैदूर्यमणिके बने हुए दण्ड और अंकुश भूतलपर पड़े हैं, घोड़ोंके युगापीड तथा रत्नचित्रित कवच इधर-उधर गिरे हैं॥

विद्धाः सादिध्वजाग्रेषु सुवर्णविकृताः कुथाः ।
विचित्रान् मणिचित्रांश्च जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ४७ ॥
अश्वास्तरपरिस्तोमान् राङ्कवान् पतितान् भुवि ।

'घुड़सवारोंकी ध्वजाओंके अग्रभागमें हाथियोंके सुनहरे कंबल उलझ गये हैं । घोड़ोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले विचित्र, मणिजटित एवं सुवर्णभूषित रंकुमृगके चमड़ेके बने हुए झूल और जीन धरतीपर पड़े हैं, इन्हें देखो ॥ ४७½ ॥

चूडामणीन् नरेन्द्राणां विचित्राः काञ्चनस्रजः ॥ ४८ ॥
छत्राणि चापविद्धानि चामरव्यजनानि च ।

'राजाओंकी चूड़ामणियाँ, विचित्र स्वर्णमालाएँ, छत्र, चँवर और व्यजन फेंके पड़े हैं ॥ ४८½॥

चन्द्रनक्षत्रभासैश्च वदनैश्चारुकुण्डलैः ॥ ४९ ॥
क्लृप्तश्मश्रुभिराकीर्णा पूर्णचन्द्रनिभैर्महीम् ।

'यहाँकी भूमि राजाओंके मनोहर कुण्डलयुक्त, चन्द्रमा और नक्षत्रोंके समान कान्तिमान् एवं दाढ़ी-मूँछवाले पूर्ण चन्द्र-तुल्य मुखोंसे ढक गयी है ॥ ४९½ ॥

कुमुदोत्पलपद्मानां खण्डैः फुल्लं यथा सरः ॥ ५० ॥
तथा महीभृतां वक्त्रैः कुमुदोत्पलसंनिभैः ।

'जैसे तालाब कुमुद, उत्पल और कमलोंके समूहसे विक-सित दिखायी देता है, उसी प्रकार राजाओंके कुमुद और उत्पल-सदृश मुखोंसे यह रणभूमि सुशोभित हो रही है ॥५०½॥

तारागणविचित्रस्य निर्मलेन्दुद्युतित्विषः ॥ ५१ ॥
पश्येमां नभसस्तुल्यां शरन्नक्षत्रमालिनीम् ।

'तारागणोंसे जिसकी विचित्र शोभा होती है तथा जहाँ निर्मल चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकी रहती है, उस आकाशके समान इस रणभूमिकी शोभाको देखो। जान पड़ता है कि यह शरद्‌ऋतुके नक्षत्रोंकी मालाओंसे अलंकृत है ॥ ५१½ ॥

एतत् तवैवानुरूपं कर्मार्जुन महाहवे ॥ ५२ ॥
दिवि वा देवराजस्य त्वया यत् कृतमाहवे ।

'अर्जुन ! महासमरमें ऐसा पराक्रम, जो तूने किया है, या तो तुम्हारे ही योग्य है या स्वर्गमें देवराज इन्द्रके योग्य' ॥

एवं तां दर्शयन् कृष्णो युद्धभूमिं किरीटिने ॥ ५३ ॥
गच्छन्नेवाशृणोच्छब्दं दुर्योधनबले महत् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं भेरीपणवनिःस्वनम् ॥ ५४ ॥
रथाश्वगजनादांश्च शस्त्रशब्दांश्च दारुणान् ।

इस प्रकार किरीटधारी अर्जुनको उस युद्धभूमिका दर्शन कराते हुए श्रीकृष्णने जाते-जाते ही दुर्योधनकी सेनामें महान् कोलाहल सुना। वहाँ शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि छा रही थी। भेरी और पणव आदि बाजे बज रहे थे। रथके घोड़ों और हाथियोंके हींसने एवं चिग्घाड़नेके तथा शस्त्रोंके परस्पर टकरानेके भयानक शब्द भी सुनायी पड़ते थे ॥ ५३-५४½ ॥

प्रविश्य तद् बलं कृष्णस्तुरगैर्वातवेगितैः ॥ ५५ ॥
पाण्ड्येनाभ्यर्दितं सैन्यं त्वदीयं वीक्ष्य विस्मितः ।

तब श्रीकृष्णने वायुके समान वेगशाली अश्वोंद्वारा उस सेनामें प्रवेश करके देखा कि पाण्ड्यनरेशने आपकी सेनाको अत्यन्त पीड़ित कर दिया है; यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ॥

स हि नानाविधैर्बाणैरिष्वस्त्रप्रवरो युधि ॥ ५६ ॥
न्यहनद् द्विषतां पूगान् गतासूनन्तको यथा ।

जैसे यमराज आयुरहित प्राणियोंके प्राण हर लेते हैं, उसी प्रकार धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पाण्ड्य युद्धस्थलमें नाना प्रकारके बाणों-द्वारा शत्रुसमूहोंका नाश कर रहे थे ॥ ५६½ ॥

गजवाजिमनुष्याणां शरीराणि शितैः शरैः ॥ ५७ ॥
भित्त्वा प्रहरतां श्रेष्ठो विदेहासूनपातयत् ।

प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ पाण्ड्य अपने तीखे बाणोंसे हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंको विदीर्ण करके उन्हें देह और प्राणोंसे शून्य एवं धराशायी कर देते थे ॥५७½॥

शत्रुप्रवीरैरस्त्राणि नानाशस्त्राणि सायकैः ।

छित्त्वा तानवधीच्छत्रून् पाण्ड्यः शक्र इवासुरान् ५८

जैसे इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार पाण्ड्य-नरेश शत्रुवीरोंद्वारा चलाये गये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंद्वारा नष्ट करके उन शत्रुओंका वध कर डालते थे॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

अश्वत्थामाके द्वारा पाण्ड्यनरेशका वध

धृतराष्ट्र उवाच

प्रोक्तस्त्वया पूर्वमेव प्रवीरो लोकविश्रुतः।
न त्वस्य कर्म संग्रामे त्वया संजय कीर्तितम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! तुमने पाण्ड्यको पहले ही लोकविख्यात वीर बतलाया था; परंतु संग्राममें उनके किये हुए वीरोचित कर्मका वर्णन नहीं किया ॥ १ ॥

तस्य विस्तरशो ब्रूहि प्रवीरस्याद्य विक्रमम्।
शिक्षां प्रभावं वीर्यं च प्रमाणं दर्पमेव च ॥ २ ॥

आज उन प्रमुख वीरके पराक्रम, शिक्षा, प्रभाव, बल, प्रमाण और दर्पका विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

भीष्मद्रोणकृपद्रौणिकर्णार्जुनजनार्दनान् ।
समाप्तविद्यान् धनुषि श्रेष्ठान् यान् मन्यसे रथान्॥ ३॥
यो ह्याक्षिपति वीर्येण सर्वानेतान् महारथान्।
न मेने चात्मना तुल्यं कंचिदेव नरेश्वरम् ॥ ४ ॥
तुल्यतां द्रोणभीष्माभ्यामात्मनो यो न मृष्यते।
वासुदेवार्जुनाभ्यां च न्यूनतां नैच्छनात्मनि ॥ ५ ॥
स पाण्ड्यो नृपतिश्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
कर्णस्यानीकमहनत् पराभूत इवान्तकः ॥ ६ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, अर्जुन तथा श्रीकृष्ण आदि जिन वीरोंको आप पूर्ण विद्वान्, धनुर्वेदमें श्रेष्ठ तथा महारथी मानते हैं, इन सब महारथियोंको जो अपने पराक्रमके समक्ष तुच्छ समझता था, जो किसी भी नरेशको अपने समान नहीं मानता था, जो द्रोण और भीष्मके साथ अपनी तुलना नहीं सह सकता था और जिसने श्रीकृष्ण तथा अर्जुनसे भी अपनेमें तनिक भी न्यूनता माननेकी इच्छा नहीं की, उसी सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ नृपशिरोमणि पाण्ड्यने अपमानित हुए यमराजके समान कुपित हो कर्णकी सेनाका वध आरम्भ किया ॥ ३—६ ॥

तदुदीर्णरथाश्वेभं पत्तिप्रवरसंकुलम्।
कुलालचक्रवद् भ्रान्तं पाण्ड्येनाभ्याहतं बलात् ॥७॥

कौरवसेनामें रथ, घोड़े और हाथियोंकी संख्या बढ़ी-चढ़ी थी, श्रेष्ठ पैदल सैनिकोंसे भी वह सेना भरी हुई थी, तथापि पाण्ड्यनरेशके द्वारा बलपूर्वक आहत होकर वह कुम्हारके चाककी भाँति चक्कर काटने लगी ॥ ७ ॥

व्यश्वसूतध्वजरथान् विप्रविद्धायुधद्विपान्।
सम्यगस्तैः शरैः पाण्ड्यो वायुर्मेघानिवाक्षिपत् ८

जैसे वायु मेघोंको उड़ा देती है, उसी प्रकार पाण्ड्यनरेश-ने अच्छी तरह चलाये हुए बाणोंद्वारा समस्त सैनिकोंको घोड़े, सारथि, ध्वज और रथोंसे हीन कर दिया। उनके आयुधों और हाथियोंको भी मार गिराया ॥ ८ ॥

द्विरदान् द्विरदारोहान् विपताकायुधध्वजान्।
सपादरक्षानहनद् वज्रेणाद्रीनिवाद्रिहा ॥ ९ ॥

जैसे पर्वतोंका हनन करनेवाले इन्द्रने वज्रद्वारा पर्वतोंपर आघात किया था, उसी प्रकार पाण्ड्यनरेशने पादरक्षकोंसहित हाथियों और हाथीसवारोंको ध्वजा, पताका तथा आयुधोंसे वञ्चित करके मार डाला ॥ ९ ॥

सशक्तिप्रासतूणीरानश्वारोहान् हयानपि।
पुलिन्दखसबाह्लीकनिषादान्ध्रककुन्तलान् ॥ १० ॥
दाक्षिणात्यांश्च भोजांश्च शूरान् संग्रामकर्कशान्।
विशस्त्रकवचान् बाणैः कृत्वा चैवाकरोद् व्यसून् ॥११॥

शक्ति, प्रास और तरकसोंसहित घुड़सवारों तथा घोड़ोंको भी यमलोक पहुँचा दिया। पुलिन्द, खस, बाह्लीक, निषाद, आन्ध्र, कुन्तल, दाक्षिणात्य तथा भोजप्रदेशीय रणकर्कश शूर-वीरोंको अपने बाणोंद्वारा अस्त्र-शस्त्र तथा कवचोंसे हीन करके उनके प्राण हर लिये ॥ १०-११ ॥

चतुरङ्गं बलं बाणैर्निघ्नन्तं पाण्ड्यमाहवे।
दृष्ट्वा द्रौणिरसम्भ्रान्तमसम्भ्रान्तस्ततोऽभ्ययात्॥१२॥

राजा पाण्ड्यको समराङ्गणमें बिना किसी घबराहटके अपने बाणोंद्वारा कौरवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करते देख अश्वत्थामाने निर्भय होकर उनका सामना किया ॥ १२ ॥

आभाष्य चैनं मधुरमभीतं तमभीतवत्।
प्राह प्रहरतां श्रेष्ठः स्मितपूर्वं समाह्वयन् ॥ १३ ॥

साथ ही उन निर्भय नरेशको मधुर वाणीमें सम्बोधित करके योद्धाओंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने मुसकराकर युद्धके लिये उनका आह्वान करते हुए निर्भीकके समान कहा—॥ १३ ॥

राजन् कमलपत्राक्ष विशिष्टाभिजनश्रुत।
वज्रसंहननप्रख्य प्रख्यातबलपौरुष ॥ १४ ॥

'राजन् ! कमलनयन ! तुम्हारा कुल और शास्त्रज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। तुम्हारा सुगठित शरीर वज्रके समान कान्तिमान् है, तुम्हारे बल और पुरुषार्थ भी प्रसिद्ध हैं ॥ १४ ॥

मुष्टिश्लिष्टायतज्यं च व्यायताभ्यां महद् धनुः।

दोर्भ्यां विस्फारयन् भासि महाजलदवद् भृशम् ॥ १५॥

'तुम्हारे धनुषकी प्रत्यञ्चा एक ही समय तुम्हारी मुट्ठीमें सटी हुई तथा गोलाकार फैली हुई दिखायी देती है। जब तुम अपनी दोनों बड़ी-बड़ी भुजाओंसे विशाल धनुषको खींचने और उसकी टङ्कार करने लगते हो, उस समय महान् मेघके समान तुम्हारी बड़ी शोभा होती है ॥ १५ ॥

शरवर्षैर्महावेगैरमित्रानभिवर्षतः ।
मदन्यं नानुपश्यामि प्रतिवीरं तवाहवे ॥ १६ ॥

'जब तुम अपने शत्रुओंपर बड़े वेगसे बाण-वर्षा करने लगते हो, उस समय मैं अपने सिवा दूसरे किसी वीरको ऐसा नहीं देखता, जो समराङ्गणमें तुम्हारा सामना कर सके ॥१६॥

रथद्विरदपत्त्यश्वानेकः प्रमथसे बहून् ।
मृगसंघानिवारण्ये विभीर्भीमबलो हरिः ॥ १७ ॥

तुम अकेले ही बहुत-से रथ, हाथी, पैदल और घोड़ोंको मथ डालते हो। ठीक उसी तरह, जैसे वनमें भयंकर बलशाली सिंह बिना किसी भयके मृग-समूहोंका संहार कर डालता है ॥

महता रथघोषेण दिवं भूमिं च नादयन् ।
वर्षान्ते सस्यहा मेघो भासि ह्रादीव पार्थिव ॥ १८ ॥

'राजन्! तुम अपने रथके गम्भीर घोषसे आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए शरत्कालमें गर्जना करनेवाले सस्यनाशक मेघके समान जान पड़ते हो ॥ १८ ॥

संस्पृशानः शरांस्तीक्ष्णांस्तूणादाशीविषोपमान् ।
मयैवैकेन युध्यस्व त्र्यम्बकेनान्धको यथा ॥ १९ ॥

'अब तुम अपने तरकससे विषधर सर्पोंके समान तीखे बाण लेकर जैसे महादेवजीके साथ अन्धकासुरने संग्राम किया था, उसी प्रकार केवल मेरे साथ युद्ध करो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा प्रहरेति च ताडितः ।
कर्णिना द्रोणतनयं विव्याध मलयध्वजः ॥ २० ॥

अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर पाण्ड्यनरेश बोले—'अच्छा ऐसा ही होगा। पहले तुम प्रहार करो।' इस प्रकार आक्षेपयुक्त वचन सुनकर अश्वत्थामाने उनपर अपने बाणका प्रहार किया। तब मलयध्वज पाण्ड्य-नरेशने कर्णी नामक बाणके द्वारा द्रोणपुत्रको बींध डाला ॥

मर्मभेदिभिरत्युग्रैर्बाणैरग्निशिखोपमैः ।
स्मयन्नभ्यहनद् द्रौणिः पाण्ड्यमाचार्यसत्तमः ॥ २१ ॥

तब आचार्यप्रवर अश्वत्थामाने अत्यन्त भयंकर तथा अग्निशिखाके समान तेजस्वी मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्ड्यनरेशको मुसकराते हुए घायल कर दिया ॥ २१ ॥

ततोऽपरान् सुतीक्ष्णाग्रान् नाराचान् मर्मभेदिनः।
गत्या दशम्या संयुक्तानश्वत्थामाप्यवासृजत् ॥२२॥

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने तीखे अग्रभागवाले दूसरे बहुत-से मर्मभेदी नाराच चलाये, जो दसवीं गतिका आश्रय लेकर छोड़े गये थे* ॥ २२ ॥

ताञ्शरानच्छिनत् पाण्ड्यो नवभिर्निशितैः शरैः।
चतुर्भिरर्दयच्चाश्वानाशु ते व्यसवोऽभवन् ॥ २३ ॥

परंतु पाण्ड्यनरेशने नौ तीखे सायकोंद्वारा उन सब बाणोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। फिर चार बाणोंसे उसके अश्वोंको अत्यन्त पीड़ा दी, जिससे वे शीघ्र ही अपने प्राण छोड़ बैठे ॥

अथ द्रोणसुतस्येषूंस्ताञ्छित्त्वा निशितैः शरैः ।
धनुर्ज्यां विततां पाण्ड्यश्चिच्छेदादित्यतेजसः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् पाण्ड्यराजने अपने तीखे बाणोंद्वारा सूर्यके समान तेजस्वी अश्वत्थामाके उन बाणोंको छिन्न-भिन्न करके उसके धनुषकी फैली हुई डोरी भी काट डाली ॥ २४ ॥

दिव्यं धनुरथाधिज्यं कृत्वा द्रौणिरमित्रहा ।
प्रेक्ष्य चाशु रथे युक्तान् नरैरन्यान् हयोत्तमान्॥२५॥
ततः शरसहस्राणि प्रेषयामास वै द्विजः ।
इषुसम्बाधमाकाशमकरोद् दिश एव च ॥ २६ ॥

तब शत्रुसूदन द्रोणपुत्र विप्रवर अश्वत्थामाने अपने दिव्य धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर तथा यह भी देखकर कि मेरे रथमें सेवकोंने शीघ्र ही दूसरे उत्तम घोड़े लाकर जोत दिये हैं, सहस्रों बाण छोड़े तथा आकाश और दिशाओंको अपने बाणोंसे खचाखच भर दिया ॥ २५-२६ ॥

ततस्तानस्यतः सर्वान् द्रौणेर्बाणान् महात्मनः ।
जानानोऽप्यक्षयान् पाण्ड्योऽशातयत् पुरुषर्षभः॥२७॥

पुरुषशिरोमणि पाण्ड्यने बाण चलाते हुए महामनस्वी अश्वत्थामाके उन सब बाणोंको अक्षय जानते हुए भी काट डाला॥

प्रयुक्तांस्तान् प्रयत्नेन छित्त्वा द्रौणेरिषूनरिः ।
चक्ररक्षौ रणे तस्य प्राणुदन्निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

इस प्रकार अश्वत्थामाके चलाये हुए उन बाणोंको प्रयत्न-पूर्वक काटकर उसके शत्रु पाण्ड्यनरेशने पैने बाणोंद्वारा रण-भूमिमें उसके दोनों चक्ररक्षकोंको मार डाला ॥ २८ ॥

---

* बाणोंकी दस गतियाँ बतायी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं— १–उन्मुखी, २–अभिमुखी, ३–तिर्यक्, ४–मन्दा, ५–गोमूत्रिका, ६–ध्रुवा, ७–स्खलिता, ८–यमकाक्रान्ता, ९–क्रुष्टा, और १०–अतिक्रुष्टा। इनमेंसे पूर्वकी तीन गतियाँ क्रमशः मस्तक, हृदय तथा पार्श्वदेशका स्पर्श करनेवाली हैं। अर्थात् उन्मुखी गतिसे छोड़ा हुआ बाण मस्तकपर, अभिमुखी गतिसे प्रेरित बाण वक्षःस्थलपर और तिर्यक्-गतिसे चलाया हुआ बाण पार्श्वभागमें आघात करता है। मन्दा गतिसे छोड़े गये बाण त्वचाको कुछ-कुछ छेद पाते हैं। गोमूत्रिका गतिसे चलाये गये बाण बायें और दायें दोनों ओर जाते तथा कवचको भी काट देते हैं। ध्रुवा गति निश्चितरूपसे लक्ष्यका भेदन करानेवाली होती है। स्खलिता कहते हैं, लक्ष्यसे विचलित होनेवाली गतिको। उसके द्वारा संचालित बाण लक्ष्यभ्रष्ट होते हैं। यमकाक्रान्ता वह गति है, जिसके द्वारा प्रेरित बाण बारंबार लक्ष्य वेधकर निकल जाते हैं। क्रुष्टा उस गतिका नाम है, जो लक्ष्यके एक अवयव भुजा आदिका छेदन कराती है। दसवीं गतिका नाम है अतिक्रुष्टा; जिसके द्वारा चलाया गया बाण शत्रुका मस्तक काटकर उसके साथ ही दूर जा गिरता है। (नीलकण्ठीके आधारपर)

अथारेर्लाघवं दृष्ट्वा मण्डलीकृतकार्मुकः।
प्रास्यद् द्रोणसुतो बाणान् वृष्टिं पूषानुजो यथा॥ २९ ॥

शत्रुकी यह फुर्ती देखकर द्रोणकुमारने अपने धनुषको खींच कर मण्डलाकार बना दिया और जैसे पूषाका भाई पर्जन्य जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार उसने बाणोंकी वृष्टि आरम्भ कर दी॥

अष्टावष्टगवान्यूहुः शकटानि यदायुधम्।
अह्नस्तदष्टभागेन द्रौणिश्चिक्षेप मारिष ॥ ३० ॥

मान्यवर ! आठ बैलोंसे जुते हुए आठ छकड़ोंने जितने आयुध ढोये थे, उन सबको अश्वत्थामाने उस दिनके आठवें भागमें चलाकर समाप्त कर दिया ॥ ३० ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धमन्तकस्यान्तकोपमम्।
ये ये ददृशिरे तत्र विसंज्ञाः प्रायशोऽभवन् ॥ ३१ ॥

यमराजके समान क्रोधमें भरा हुआ अश्वत्थामा उस समय कालका भी काल-सा जान पड़ता था। जिन-जिन लोगोंने वहाँ उसे देखा, वे प्रायः बेहोश हो गये ॥ ३१ ॥

पर्जन्य इव घर्मान्ते वृष्ट्या साद्रिद्रुमां महीम्।
आचार्यपुत्रस्तां सेनां बाणवृष्ट्या व्यवीवृषत् ॥ ३२ ॥

जैसे वर्षाकालमें मेघ पर्वत और वृक्षोंसहित इस पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार आचार्यपुत्र अश्वत्थामा-ने उस सेनापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३२ ॥

द्रौणिपर्जन्यमुक्तां तां बाणवृष्टिं सुदुःसहाम्।
वायव्यास्त्रेण संक्षिप्य मुदा पाण्ड्यानिलोऽनुदत् ॥ ३३ ॥

अश्वत्थामारूपी मेघद्वारा की हुई उस दुःसह बाणवर्षाको पाण्ड्यराजरूपी वायुने वायव्यास्त्रसे छिन्न-भिन्न करके प्रसन्नता-पूर्वक उड़ा दिया ॥ ३३ ॥

तस्य नानदतः केतुं चन्दनागुरुरूषितम्।
मलयप्रतिमं द्रौणिश्छित्त्वाश्वांश्चतुरोऽहनत् ॥ ३४ ॥

उस समय द्रोणकुमार अश्वत्थामाने बारंबार गर्जना करते हुए पाण्ड्यके मलयाचल-सदृश ऊँचे तथा चन्दन और अगुरुसे चर्चित ध्वजको काटकर उनके चारों घोड़ोंको भी मार डाला॥

सूतमेकेषुणा हत्वा महाजलदनिःस्वनम्।
धनुश्छित्त्वार्धचन्द्रेण तिलशो व्यधमद् रथम् ॥ ३५ ॥

फिर एक बाणसे सारथिको मारकर महान् मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उनके धनुषको भी अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा काट दिया और उनके रथको तिल-तिल करके नष्ट कर डाला ॥ ३५ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य छित्त्वा सर्वायुधानि च।
प्राप्तमप्यहितं द्रौणिर्न जघान रणेप्सया ॥ ३६ ॥

इस प्रकार अस्त्रोंद्वारा पाण्ड्यके अस्त्रोंका निवारण करके अश्वत्थामाने उनके सारे आयुध काट डाले, तथापि युद्धकी अभिलाषासे उसने अपने वशमें आये हुए शत्रुका भी वध नहीं किया ॥ ३६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे कर्णो गजानीकमुपाद्रवत्।
द्रावयामास स तदा पाण्डवानां महद् बलम् ॥ ३७ ॥

इसी बीचमें कर्णने पाण्डवोंकी गजसेनापर आक्रमण किया। उस समय उसने पाण्डवोंकी विशाल सेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ॥ ३७ ॥

विरथान् रथिनश्चक्रे गजानश्वांश्च भारत।
गजान् बहुभिरानर्छच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ३८ ॥

भारत ! उसने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया, हाथीसवारों और घुड़सवारोंके हाथी और घोड़े मार डाले तथा झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा कितने ही हाथियोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ३८ ॥

अथ द्रौणिर्महेष्वासः पाण्ड्यं शत्रुनिबर्हणम्।
विरथं रथिनां श्रेष्ठं नाहनद् युद्धकाङ्क्षया ॥ ३९ ॥

इधर महाधनुर्धर अश्वत्थामाने शत्रुसंहारक, रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्ड्यको रथहीन करके भी उनका वध इसलिये नहीं किया कि वह उनके साथ अभी युद्ध करना चाहता था ॥ ३९ ॥

हतेश्वरो दन्तिवरः सुकल्पित-
स्त्वराभिसृष्टः प्रतिशब्दगो बली।
तमाद्रवद् द्रौणिशराहतस्त्वरन्
जवेन कृत्वा प्रतिहस्तिगर्जितम् ॥ ४० ॥

इतनेहीमें एक सजा-सजाया श्रेष्ठ एवं बलवान् गजराज बड़ी उतावलीके साथ छूटकर प्रतिध्वनिका अनुसरण करता हुआ उधर आ निकला, उसके मालिक और महावत मारे जा चुके थे। अश्वत्थामाके बाणोंसे आहत होकर वह शीघ्रतापूर्वक पाण्ड्यराजकी ओर दौड़ा। उसने प्रतिपक्षी हाथीकी गर्जनाका शब्द सुनकर बड़े वेगसे उसी ओर धावा किया था ॥४०॥

तं वारणं वारणयुद्धकोविदो
द्विपोत्तमं पर्वतसानुसंनिभम्।
समभ्यतिष्ठन्मलयध्वजस्त्वरन्
यथाद्रिशृङ्गं हरिरुन्नदंस्तथा ॥ ४१ ॥

परंतु गजयुद्धविशारद मलयध्वज पाण्ड्यनरेश पर्वतशिखर-के समान ऊँचे उस श्रेष्ठ गजराजपर उतनी ही शीघ्रताके साथ चढ़ गये, जैसे दहाड़ता हुआ सिंह किसी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता है ॥ ४१ ॥

स तोमरं भास्कररश्मिवर्चसं
बलास्त्रसर्गोत्तमयत्नमन्युभिः ।
ससर्ज शीघ्रं परिपीडयन् गजं
गुरोः सुतायाद्रिपतीश्वरो नदन् ॥ ४२ ॥

गिरिराज मलयके स्वामी पाण्ड्यराजने तुरंत अग्रसर होनेके लिये उस हाथीको पीड़ा दी और अस्त्र-प्रहारके लिये उत्तम यत्न, बल तथा क्रोधसे प्रेरित हो सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी एक तोमर हाथमें लेकर गर्जना करते हुए उसे शीघ्र ही आचार्यपुत्रपर चला दिया ॥ ४२ ॥

मणिप्रवेकोत्तमवज्रहाटकै-
रलंकृतं चांशुकमाल्यमौक्तिकैः ।
हतो हतोऽसीत्यसकृन्मुदा नदन्
पराहनद् द्रौणिवराङ्गभूषणम् ॥ ४३ ॥

उस तोमरद्वारा उन्होंने उत्तम मणि, श्रेष्ठ हीरक, स्वर्ण, वस्त्र, माला और मुक्तासे विभूषित अश्वत्थामाके मुकुटपर बारंबार यह कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक आघात किया कि 'तुम मारे गये, मारे गये' ॥ ४३ ॥

तदर्कचन्द्रग्रहपावकत्विषं
भृशातिपातात् पतितं विचूर्णितम् ।
महेन्द्रवज्राभिहतं महास्वनं
यथाद्रिशृङ्गं धरणीतले तथा ॥ ४४ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और अग्निके समान प्रकाशमान वह मुकुट उस तोमरके गहरे आघातसे चूर-चूर होकर महान् शब्द-के साथ उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे इन्द्रके वज्रसे आहत हो किसी पर्वतका शिखर भारी आवाजके साथ धराशायी हो जाता है ॥ ४४ ॥

ततः प्रजज्वाल परेण मन्युना
पादाहतो नागपतिर्यथा तथा ।
समाददे चान्तकदण्डसंनिभा-
निषूनमित्रार्तिकरांश्चतुर्दश ॥ ४५ ॥

तब अश्वत्थामा पैरोंसे ठुकराये हुए नागराजके समान शीघ्र ही अत्यन्त क्रोधसे जल उठा । फिर तो उसने यमदण्डके समान शत्रुओंको संताप देनेवाले चौदह बाण हाथमें लिये ॥

द्विपस्य पादाग्रकरान् स पञ्चभि-
र्नृपस्य बाहू च शिरोऽथ च त्रिभिः ।
जघान षड्भिः षडनुत्तमत्विषः
स पाण्ड्यराजानुचरान् महारथान् ॥४६॥

उसने पाँच बाणोंसे उस हाथीके पैर तथा सूँड़ काट लिये । फिर तीन बाणोंसे पाण्ड्यनरेशकी दोनों भुजाओं और मस्तकको शरीरसे अलग कर दिया । इसके बाद छः बाणोंसे पाण्ड्यराजके पीछे चलनेवाले उत्तम कान्तिसे सुशोभित छः महारथियोंको भी मार डाला ॥ ४६ ॥

सुदीर्घवृत्तौ वरचन्दनोक्षितौ
सुवर्णमुक्तामणिवज्रभूषणौ ।
भुजौ धरायां पतितौ नृपस्य तौ
विचेष्टतुस्तार्क्ष्यहताविवोरगौ ॥ ४७ ॥

उत्तम, विशाल, गोलाकार, श्रेष्ठ चन्दनसे चर्चित, सुवर्ण, मुक्ता, मणि तथा हीरोंसे विभूषित पाण्ड्यनरेशकी वे दोनों भुजाएँ पृथ्वीपर गिरकर गरुड़के मारे हुए दो सर्पोंके समान छटपटाने लगीं ॥ ४७ ॥

शिरश्च तत् पूर्णशशिप्रभाननं
सरोषताम्रायतनेत्रमुन्नसम् ।
क्षितावपि भ्राजति तत् सकुण्डलं
विशाखयोर्मध्यगतः शशी यथा ॥ ४८ ॥

जिसका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्रमाके सदृश प्रकाशमान तथा नेत्र क्रोधके कारण अरुणवर्ण थे, जिसकी नासिका ऊँची थी, वह पाण्ड्यराजका कुण्डलमण्डित मस्तक पृथ्वीपर गिरकर भी दो विशाखा नक्षत्रोंके बीचमें विराजमान चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ४८ ॥

स तु द्विपः पञ्चभिरुत्तमेषुभिः
कृतः षडंशश्चतुरो नृपस्त्रिभिः ।
कृतो दशांशः कुशलेन युध्यता
यथा हविस्तद्दशदैवतं तथा ॥ ४९ ॥

युद्धकुशल अश्वत्थामाने पाँच उत्तम बाण मारकर उस हाथीके छः टुकड़े कर दिये और फिर तीन बाणसे राजाके भी चार टुकड़े कर डाले । इस प्रकार दोनों मिलाकर दस भाग कर दिये । जैसे कि कर्मनिपुण पुरोहित दस हविर्धान यज्ञमें इन्द्र आदि दस देवताओंके लिये हविष्यके दस भाग कर देता है ॥ ४९ ॥

स पादशो राक्षसभोजनान् बहून्
प्रदाय पाण्ड्योऽश्वमनुष्यकुञ्जरान् ।
स्वधामिवाप्य ज्वलनः पितृप्रिय-
स्ततः प्रशान्तः सलिलप्रवाहतः ॥ ५० ॥

जैसे पितरोंकी प्रिय चिताग्नि मृत शरीरको पाकर प्रज्वलित हो उसे जलाती है और अन्तमें जलका अभिषेक पाकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार पाण्ड्यनरेश घोड़े, हाथी और मनुष्यों-के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें प्रचुर मात्रामें राक्षसोंके लिये भोजन देकर अन्तमें अश्वत्थामाके बाणसे सदाके लिये शान्त हो गये॥

समाप्तविद्यं तु गुरोः सुतं नृपः
समाप्तकर्माणमुपेत्य ते सुतः ।
सुहृद्वृतोऽत्यर्थमपूजयन्मुदा
जिते बलौ विष्णुमिवामरेश्वरः ॥ ५१ ॥

जिसने पूरी विद्या समाप्त कर ली है तथा समस्त कर्तव्य-कर्म पूर्ण कर लिये हैं, उस गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पास सुहृदों-सहित आकर आपके पुत्र दुर्योधनने प्रसन्नतापूर्वक उसकी बड़ी पूजा की । ठीक उसी तरह, जैसे बलिके पराजित होनेपर देवराज इन्द्रने विष्णुका पूजन किया था ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि पाण्ड्यवधे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें पाण्ड्यवधविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

त्रिपुर-विनाशके लिये देवताओंद्वारा शंकरजीकी स्तुति

एकविंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-दलोंका भयंकर घमासान युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्ड्ये हते किमकरोदर्जुनो युधि संजय ।
एकवीरेण कर्णेन द्रावितेषु परेषु च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब युद्धस्थलमें अश्वत्थामाद्वारा पाण्ड्यनरेश मार डाले गये और मेरे पक्षके अद्वितीय वीर कर्णने जब शत्रुसैनिकोंको मार भगाया, उस समय अर्जुनने क्या किया ? ॥ १ ॥

समाप्तविद्यो बलवान् युक्तो वीरः स पाण्डवः ।
सर्वभूतेष्वनुज्ञातः शङ्करेण महात्मना ॥ २ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुन युद्धविद्याकी शिक्षा समाप्त कर चुके हैं। वे विजयके प्रयत्नमें लगे हुए बलवान् वीर हैं। भगवान् शङ्करने उन्हें कृपापूर्वक अनुगृहीत करते हुए यह कह दिया है कि 'तुम समस्त प्राणियोंमें प्रधान एवं अजेय होओगे' ॥२॥

तस्मान्महद् भयं तीव्रममित्रघ्नाद् धनंजयात् ।
स यत् तत्राकरोत् पार्थस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३ ॥

इसलिये उन शत्रुनाशक धनंजयसे मुझे अत्यन्त तीव्र एवं महान् भय बना रहता है। अतः संजय ! वहाँ कुन्तीकुमार अर्जुनने जो कुछ किया हो, वह मुझे बताओ ॥ ३ ॥

संजय उवाच

हते पाण्ड्येऽर्जुनं कृष्णस्त्वरन्नाह वचो हितम् ।
पश्यामि नाहं राजानमपयातांश्च पाण्डवान् ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! पाण्ड्यनरेशके मारे जानेपर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ अर्जुनसे यह हितकर वचन कहा—'पार्थ ! मैं राजा युधिष्ठिरको नहीं देख रहा हूँ। युद्धस्थलसे हटे हुए अन्य पाण्डव भी मुझे नहीं दिखायी दे रहे हैं॥

निवृत्तैश्च पुनः पार्थैर्भग्नं शत्रुबलं महत् ।
अश्वत्थाम्नश्च सङ्कल्पाद्धताः कर्णेन सृञ्जयाः ॥ ५ ॥
तथाश्वरथनागानां कृतं च कदनं महत् ।

'पुनः लौटे हुए पाण्डव-योद्धाओंने विशाल शत्रुसेनामें भगदड़ मचा दी थी; परंतु अश्वत्थामाके संकल्पके अनुसार कर्णने सृंजयोंका संहार कर डाला तथा अपनी सेनाके हाथी, घोड़े एवं रथोंका भारी विनाश कर दिया' ॥ ५½ ॥

सर्वमाख्यातवान् वीरो वासुदेवः किरीटिने ॥ ६ ॥
एतच्छ्रुत्वा च दृष्ट्वा च भ्रातुर्घोरं महद्भयम् ।
वाहयाश्वान् हृषीकेश क्षिप्रमित्याह पाण्डवः ॥ ७ ॥

वीर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने किरीटधारी अर्जुनको ये सारी बातें बतायीं। यह सुनकर तथा अपने भाईके ऊपर आये हुए इस घोर एवं महान् भयको देखकर पाण्डुकुमार अर्जुनने कहा—'हृषीकेश ! आप शीघ्र ही इन घोड़ोंको बढ़ाइये' ॥६-७॥

ततः प्रायाद्धृषीकेशो रथेनाप्रतियोधिना ।
दारुणश्च पुनस्तत्र प्रादुरासीत् समागमः ॥ ८ ॥

तब भगवान् हृषीकेश जिसका सामना करनेवाला दूसरा कोई योद्धा नहीं था उस रथके द्वारा आगे बढ़े। उस समय वहाँ पुनः बड़ा भयंकर संग्राम छिड़ा हुआ था ॥ ८ ॥

ततः पुनः समाजग्मुरभीताः कुरुपाण्डवाः ।
भीमसेनमुखाः पार्थाः सूतपुत्रमुखा वयम् ॥ ९ ॥

कौरव तथा पाण्डव योद्धा पुनः निर्भय होकर एक दूसरेसे भिड़ गये थे। पाण्डव-सैनिकोंके प्रधान थे भीमसेन और हम लोगोंका प्रधान था सूतपुत्र कर्ण ॥ ९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो राजसत्तम ।
कर्णस्य पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ १० ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस समय कर्णका पाण्डव-सैनिकोंके साथ जो पुनः संग्राम आरम्भ हुआ था, वह यमराजके राज्यकी श्रीवृद्धि करनेवाला था ॥ १० ॥

धनूंषि बाणान् परिघानसिपट्टिशतोमरान् ।
मुसलानि भुशुण्डीश्च सशक्त्यृष्टिपरश्वधान् ॥ ११ ॥
गदाःप्रासाञ्छितान् कुन्तान् भिन्दिपालान् महाङ्कुशान् ।
प्रगृह्य क्षिप्रमापेतुः परस्परजिघांसया ॥ १२ ॥

दोनों दलोंके सैनिक एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे धनुष, बाण, परिघ, खड्ग, पट्टिश, तोमर, मुसल, भुशुण्डी, शक्ति, ऋष्टि, फरसे, गदा, प्रास, तीखे कुन्त, भिन्दिपाल और बड़े-बड़े अङ्कुश लेकर शीघ्रतापूर्वक युद्धके मैदानमें कूद पड़े थे॥

बाणज्यातलशब्देन द्यां दिशः प्रदिशो वियत् ।
पृथिवीं नेमिघोषेण नादयन्तोऽभ्ययुः परान् ॥ १३ ॥

रथी वीर अपने बाणसहित धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टंकारध्वनि एवं रथके पहियोंकी घर्घराहटसे आकाश, अन्तरिक्ष, दिशा, विदिशा तथा भूतलको शब्दायमान करते हुए शत्रुओंपर चढ़ आये ॥ १३ ॥

तेन शब्देन महता संहृष्टाश्चक्रुराहवम् ।
वीरा वीरैर्महाघोरं कलहान्तं तितीर्षवः ॥ १४ ॥

कलहके पार जानेकी इच्छा रखनेवाले वे सभी वीर उस महान् शब्दसे हर्ष एवं उत्साहमें भरकर विपक्षी वीरोंके साथ अत्यन्त घोर संग्राम करने लगे ॥ १४ ॥

ज्यातलत्रधनुःशब्दः कुञ्जराणां च बृंहताम् ।
पादातानां च पततां नृणां नादो महानभूत् ॥ १५ ॥

प्रत्यञ्चा, हस्तत्राण और धनुषका शब्द, चिग्घाड़ते हुए हाथियोंकी आवाज तथा रणभूमिमें गिरते हुए पैदल मनुष्योंके महान् आर्तनादकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँजने लगी ॥ १५ ॥

तालशब्दांश्च विविधाञ्शूराणां चाभिगर्जताम् ।

श्रुत्वा तत्र भृशं त्रेसुः पेतुर्मम्लुश्च सैनिकाः ॥ १६ ॥

सामने गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके ताल ठोंकनेके विविध शब्द सुनकर कितने ही सैनिक वहाँ भयसे थर्रा उठते थे, कितने ही गिर पड़ते थे और कितने ही ग्लानिसे भर जाते थे॥

तेषां निनदतां चैव शस्त्रवर्षं च मुञ्चताम् ।
बहूनाधिरथिर्वीरः प्रममाथेषुभिः परान् ॥ १७ ॥

जोर-जोरसे गर्जते तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए उन शत्रुसैनिकोंमेंसे बहुतोंको वीर कर्णने अपने बाणोंसे मथ डाला ॥ १७ ॥

पञ्च पाञ्चालवीराणां रथान् दश च पञ्च च ।
साश्वसूतध्वजान् कर्णः शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ १८ ॥

उसने अपने बाणोंद्वारा पाञ्चाल वीरोंमेंसे पहले पाँच, फिर दस और फिर पाँच रथियोंको घोड़े, सारथि एवं ध्वजों-सहित मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १८ ॥

योधमुख्या महावीर्याः पाण्डूनां कर्णमाहवे ।
शीघ्रास्त्रास्तूर्णमावृत्य परिवव्रुः समन्ततः ॥ १९ ॥

तब समराङ्गणमें पाण्डवदलके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले महापराक्रमी प्रधान-प्रधान योद्धाओंने तुरंत आकर कर्णको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १९ ॥

ततः कर्णो द्विषत्सेनां शरवर्षैर्विलोडयन् ।
विजगाहाण्डजाकीर्णां पद्मिनीमिव यूथपः ॥ २० ॥

तदनन्तर कर्णने अपने बाणोंकी वर्षासे शत्रुसेनाका मन्थन करते हुए उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे यूथपति गजराज पक्षियोंसे भरे हुए कमलपूर्ण सरोवरमें घुसकर उसे मथने लगता है ॥ २० ॥

द्विषन्मध्यमवस्कन्द्य राधेयो धनुरुत्तमम् ।
विधुन्वानः शितैर्बाणैः शिरांस्युन्मथ्य पातयत् ॥ २१ ॥

राधापुत्र कर्ण क्रमशः शत्रुसेनाके मध्यभागमें पहुँचकर अपने उत्तम धनुषको कम्पित करता हुआ पैने बाणोंसे शत्रुओंके सिर काट-काटकर गिराने लगा ॥ २१ ॥

चर्मवर्माणि संछिन्नान्यपतन् भुवि देहिनाम् ।
विषेहुर्नास्य संस्पर्शं द्वितीयस्य पतत्रिणः ॥ २२ ॥

उस समय देहधारियोंके चमड़े और कवच कट-कटकर भूतलपर गिर रहे थे। शत्रुसैनिक कर्णके द्वितीय बाणका स्पर्श नहीं सहन कर पाते थे ॥ २२ ॥

वर्मदेहासुमथनैर्धनुषः प्रच्युतैः शरैः ।
मौर्व्या तलत्रे न्यहनत् कशया वाजिनो यथा ॥ २३ ॥

जैसे घुड़सवार घोड़ोंको कोड़ेसे पीटता है, उसी प्रकार कर्ण धनुषसे छूटकर कवच, शरीर और प्राणोंको मथ डालनेवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंके हस्तत्राणपर भी प्रहार करने लगा॥

पाण्डुसृञ्जयपञ्चालाञ्शरगोचरमागतान् ।
ममर्द तरसा कर्णः सिंहो मृगगणानिव ॥ २४ ॥

जैसे सिंह अपनी दृष्टिमें पड़े हुए मृगोंको वेगपूर्वक मसल डालता है, उसी प्रकार कर्णने अपने बाणोंकी पहुँचके भीतर आये हुए पाण्डव, सृंजय तथा पाञ्चाल योद्धाओंको बड़े वेगसे रौंद डाला ॥ २४ ॥

ततः पाञ्चालराजश्च द्रौपदेयाश्च मारिष ।
यमौ च युयुधानश्च सहिताः कर्णमभ्ययुः ॥ २५ ॥

मान्यवर ! तब पाञ्चालराज धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पुत्र तथा नकुल, सहदेव और सात्यकि--इन सबने एक साथ आकर कर्णपर आक्रमण किया ॥ २५ ॥

तेषु व्यायच्छमानेषु कुरुपाञ्चालपाण्डुषु ।
प्रियानसून् रणे त्यक्त्वा योधा जघ्नुः परस्परम् ॥ २६॥

उस समय जब कौरव, पाञ्चाल तथा पाण्डव योद्धा परिश्रमपूर्वक युद्धमें लगे हुए थे, सभी सैनिक रणभूमिमें अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर एक दूसरेको मारने लगे ॥

सुसंनद्धाः कवचिनः सशिरस्त्राणभूषणाः ।
गदाभिर्मुसलैश्चान्ये परिघैश्च महाबलाः ॥ २७ ॥
समभ्यधावन्त भृशं कालदण्डैरिवोद्यतैः ।
नर्दन्तश्चाह्वयन्तश्च प्रवल्गन्तश्च मारिष ॥ २८ ॥

माननीय नरेश ! कमर कसे, कवच बाँधे तथा शिर-स्त्राण एवं आभूषण धारण किये हुए महाबली योद्धा गरजते, उछलते-कूदते और एक दूसरेको ललकारते हुए कालदण्डके समान गदा, मुसल और परिघ उठाये परस्पर धावा बोल रहे थे ॥ २७-२८ ॥

ततो निजघ्नुरन्योन्यं पेतुश्चान्योन्यताडिताः ।
वमन्तो रुधिरं गात्रैर्विमस्तिष्केक्षणायुधाः ॥ २९ ॥

तदनन्तर वे एक दूसरेका वध करने, परस्पर चोट खाकर धराशायी होने तथा शरीरसे रक्त बहाने लगे। उनके मस्तिष्क, नेत्र और आयुध नष्ट हो गये थे ॥ २९ ॥

दन्तपूर्णैः सरुधिरैर्वक्त्रैर्दाडिमसंनिभैः ।
जीवन्त इव चाप्येके तस्थुः शस्त्रोपबृंहिताः ॥ ३० ॥

कितने ही वीरोंके शरीर अस्त्र-शस्त्रोंसे व्याप्त एवं प्राण-शून्य होकर पड़े थे; परंतु उनके खुले हुए मुखमें जो रक्त-रञ्जित दाँत थे, उनके द्वारा वे फटे हुए अनारके फलों-जैसे जान पड़ते थे और उस तरहके मुखोंद्वारा वे जीवित-से प्रतीत होते थे ॥ ३० ॥

परश्वधैश्चाप्यवरे पट्टिशैरसिभिस्तथा ।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च नखरप्रासतोमरैः ॥ ३१ ॥
ततक्षुश्चिच्छिदुश्चान्ये बिभिदुश्चिक्षिपुस्तथा ।
संचकर्तुश्च जघ्नुश्च क्रुद्धा रणमहार्णवे ॥ ३२ ॥

महासागरके समान उस विशाल युद्धस्थलमें परस्पर कुपित हुए अन्यान्य योद्धा परशु, पट्टिश, खड्ग, शक्ति, भिन्दिपाल, नखर, प्रास तथा तोमरोंद्वारा यथासम्भव एक

दूसरेका छेदन-भेदन, विदारण, क्षेपण, कर्तन और हनन करने लगे ॥ ३१-३२ ॥

पेतुरन्योन्यनिहता व्यसवो रुधिरोक्षिताः ।
क्षरन्तः सुरसं रक्तं प्रकृत्ताश्चन्दना इव ॥ ३३ ॥

जैसे लाल चन्दनके वृक्ष कट जानेपर रक्त वर्णका रस बहाने लगते हैं, उसी प्रकार परस्परके आघातसे मारे गये योद्धा खूनसे लथपथ एवं प्राणशून्य होकर युद्धभूमिमें पड़े थे और अपने अङ्गोंसे रक्त बहा रहे थे ॥ ३३ ॥

रथै रथा विनिहता हस्तिभिश्चापि हस्तिनः ।
नरैर्नरा हताः पेतुरश्वाश्चाश्वैः सहस्रशः ॥ ३४ ॥

रथियोंसे रथी, हाथियोंसे हाथी, पैदल मनुष्योंसे मनुष्य और घोड़ोंसे घोड़े मारे जाकर रणभूमिमें सहस्रोंकी संख्यामें पड़े थे ॥ ३४ ॥

ध्वजाः शिरांसि च्छत्राणि द्विपहस्ता नृणां भुजाः ।
क्षुरैर्भल्लार्धचन्द्रैश्च च्छिन्नाः पेतुर्महीतले ॥ ३५ ॥

ध्वज, मस्तक, छत्र, हाथीकी सूँड़ तथा मनुष्योंकी भुजाएँ—ये सबके सब क्षुरों, भल्लों तथा अर्धचन्द्रोंद्वारा कट-कर भूतलपर पड़े थे ॥ ३५ ॥

नरांश्च नागान् सरथान् हयान् ममृदुराहवे ।
अश्वारोहैर्हताः शूराश्छिन्नहस्ताश्च दन्तिनः ॥ ३६ ॥
सपताकाध्वजाः पेतुर्विशीर्णा इव पर्वताः ।

घुड़सवारोंने कितने ही शूरवीरोंको मार डाला और बड़े-बड़े दन्तार हाथियोंकी सूँड़ें काट लीं । सूँड़ कट जानेपर उन हाथियोंने युद्धस्थलमें बहुत-से मनुष्यों, हाथियों, रथों और घोड़ोंको कुचल डाला । फिर वे पताका और ध्वजोंसहित टूटे-फूटे पर्वतोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३६½ ॥

पत्तिभिश्च समाप्लुत्य द्विरदाः स्यन्दनास्तथा ॥ ३७ ॥
हताश्च हन्यमानाश्च पतिताश्चैव सर्वशः ।

पैदल वीरोंद्वारा उछल-उछलकर मारे गये और मारे जाते हुए कितने ही हाथी और रथ सवारोंसहित सब ओर पड़े थे ॥ ३७½ ॥

अश्वारोहाः समासाद्य त्वरिताः पत्तिभिर्हताः ॥ ३८ ॥
सादिभिः पत्तिसंघाश्च निहता युधि शेरते ।

कितने ही घुड़सवार बड़ी उतावलीके साथ पैदल वीरोंके पास जाकर उनके द्वारा मारे गये तथा झुंड-के-झुंड पैदल सैनिक भी घुड़सवारोंकी चोटसे मारे जाकर युद्धस्थलमें सदाके लिये सो गये थे ॥ ३८½ ॥

मृदितानीव पद्मानि प्रम्लाना इव च स्रजः ॥ ३९ ॥
हतानां वदनान्यासन् गात्राणि च महाहवे ।

उस महासमरमें मारे गये योद्धाओंके मुख और शरीर कुचले हुए कमलों और कुम्हलायी हुई मालाओंके समान श्रीहीन हो गये थे ॥ ३९½ ॥

रूपाण्यत्यर्थकान्तानि द्विरदाश्वनृणां नृप ।
समुन्नानीव वस्त्राणि ययुर्दुर्दर्शतां पराम् ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! हाथी, घोड़े और मनुष्योंके अत्यन्त सुन्दर रूप भी वहाँ कीचड़में सने हुए वस्त्रोंके समान घिनौने हो गये थे । उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

पाण्डवसेनापर भयानक गज-सेनाका आक्रमण, पाण्डवोंद्वारा पुण्ड्रकी पराजय तथा बङ्गराज और अङ्गराजका वध, गजसेनाका विनाश और पलायन

संजय उवाच

हस्तिभिस्तु महामात्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ।
धृष्टद्युम्नं जिघांसन्तः क्रुद्धाः पार्षतमभ्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञा पाकर बहुत-से महावत धृष्टद्युम्नको मार डालनेकी इच्छासे क्रोधपूर्वक हाथियोंके साथ आकर उनपर टूट पड़े ॥

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रवरा गजयोधिनः ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च मागधास्ताम्रलिप्तकाः ॥ २ ॥
मेकलाः कोसला मद्रा दशार्णा निषधास्तथा ।
गजयुद्धेषु कुशलाः कलिङ्गैः सह भारत ॥ ३ ॥
शरतोमरनाराचैर्वृष्टिमन्त इवाम्बुदाः ।
सिषिचुस्ते ततः सर्वे पाञ्चालबलमाहवे ॥ ४ ॥

भारत ! पूर्व और दक्षिण दिशाके श्रेष्ठ गजयोद्धा तथा अंग, बंग, पुण्ड्र, मगध, ताम्रलिप्त, मेकल, कोसल, मद्र, दशार्ण तथा निषध देशोंके समस्त गजयुद्धनिपुण वीर कलिङ्गों-के साथ मिलकर वर्षा करनेवाले मेघोंके समान समराङ्गणमें पाञ्चाल-सेनापर बाण, तोमर और नाराचोंकी वृष्टि करने लगे ॥

तान् सम्मिमर्दिषून् नागान् पार्ष्ण्यङ्गुष्ठाङ्कुशैर्भृशम् ।
चोदितान् पार्षतो बाणैर्नाराचैरभ्यवीवृषत् ॥ ५ ॥

वे नाग शत्रुओंकी सारी सेनाको कुचल डालनेकी इच्छा रखते थे और उन्हें पैरोंकी एड़ी, अँगूठों तथा अङ्कुशोंकी मारसे बारंबार आगे बढ़नेके लिये प्रेरित किया जा रहा था । यह देखकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उनपर नाराच नामक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५ ॥

एकैकं दशभिः षड्भिरष्टाभिरपि भारत ।

द्विरदानभिविव्याध क्षिप्तैर्गिरिनिभाञ्शरैः ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्नने उन पर्वताकार हाथियोंमेंसे प्रत्येकको अपने चलाये हुए दस-दस, छः-छः और आठ-आठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ६ ॥

प्रच्छाद्यमानं द्विरदैर्मेघैरिव दिवाकरम् ।
प्रययुः पाण्डुपञ्चाला नदन्तो निशितायुधाः ॥ ७ ॥

उस समय मेघोंकी घटासे ढके हुए सूर्यके समान धृष्टद्युम्नको उन हाथियोंसे आच्छादित हुआ देख पाण्डव और पाञ्चाल सैनिक तीखे आयुध लिये गर्जना करते हुए आगे बढ़े ॥ ७ ॥

तान् नागानभिवर्षन्तो ज्यातन्त्रीतलनादितैः ।
वीरनृत्यं प्रनृत्यन्तः शूरतालप्रचोदितैः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ॥ ८ ॥
सात्यकिश्च शिखण्डी च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
समन्तात् सिषिचुर्वीरा मेघास्तोयैरिवाचलान् ॥ ९ ॥

वे प्रत्यञ्चारूपी वीणाके तारको झंकारते, शूरवीरोंके दिये हुए तालसे प्रेरणा लेते तथा वीरोचित नृत्य करते हुए उन हाथियोंपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, प्रभद्रकगण, सात्यकि, शिखण्डी तथा पराक्रमी चेकितान—ये सभी वीर चारों ओरसे उन हाथियोंपर उसी प्रकार बाणोंकी वृष्टि करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानी बरसाते हैं ॥ ८-९ ॥

ते म्लेच्छैः प्रेषिता नागा नरानश्वान् रथानपि ।
हस्तैराक्षिप्य ममृदुः पद्भिश्चाप्यतिमन्यवः ॥ १० ॥

म्लेच्छोंद्वारा आगे बढ़ाये हुए वे अत्यन्त क्रोधी गजराज

मनुष्यों, घोड़ों और रथोंको अपनी सूँड़ोंसे उठाकर फेंक देते और उन्हें पैरोंसे मसल डालते थे ॥ १० ॥

बिभिदुश्च विषाणाग्रैः समाक्षिप्य च चिक्षिपुः ।
विषाणलग्नाश्चाप्यन्ये परिपेतुर्विभीषणाः ॥ ११ ॥

कितनोंको अपने दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण कर देते और बहुतोंको सूँड़ोंसे खींचकर दूर फेंक देते थे। कितने ही योद्धा उनके दाँतोंमें गुँथकर बड़ी भयानक अवस्थामें नीचे गिरते थे ॥

प्रमुखे वर्तमानं तु द्विपं वङ्गस्य सात्यकिः ।
नाराचेनोग्रवेगेन भित्त्वा मर्माण्यपातयत् ॥ १२ ॥

इसी समय सात्यकिने अपने सामने उपस्थित हुए वंगराजके हाथीके मर्मस्थानोंको भयंकर वेगवाले नाराचसे विदीर्ण करके उसे धराशायी कर दिया ॥ १२ ॥

तस्यावर्जितकायस्य द्विरदादुत्पतिष्यतः ।
नाराचेनाहनद् वक्षः सात्यकिः सोऽपतद् भुवि ॥ १३ ॥

वंगराज अपने शरीरको सिकोड़कर उस हाथीसे कूदना ही चाहता था कि सात्यकिने नाराचद्वारा उसकी छाती छेद डाली; अतः वह घायल होकर भूतलपर गिर पड़ा ॥ १३ ॥

पुण्ड्रस्यापततो नागं चलन्तमिव पर्वतम् ।
सहदेवः प्रयत्नास्तैर्नाराचैरहनत् त्रिभिः ॥ १४ ॥

दूसरी ओर पुण्ड्रराज अक्रमण कर रहे थे। उनका हाथी चलते-फिरते पर्वतके समान जान पड़ता था। सहदेवने प्रयत्नपूर्वक चलाये हुए तीन नाराचोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥

विपताकं वियन्तारं विवर्मध्वजजीवितम् ।
तं कृत्वा द्विरदं भूयः सहदेवोऽङ्गमभ्ययात् ॥ १५ ॥

इस प्रकार उस हाथीको पताका, महावत, कवच, ध्वज तथा प्राणोंसे हीन करके सहदेव पुनः अङ्गराजकी ओर बढ़े ॥ १५ ॥

सहदेवं तु नकुलो वारयित्वाङ्गमार्दयत् ।
नाराचैर्यमदण्डाभैस्त्रिभिर्नागं शतेन तम् ॥ १६ ॥

परंतु नकुलने सहदेवको रोककर स्वयं ही अङ्गराजको पीड़ित किया। उन्होंने यमदण्डके समान तीन भयानक नाराचोंद्वारा उनके हाथीको और सौ नाराचोंसे अङ्गराजको घायल कर दिया ॥ १६ ॥

दिवाकरकरप्रख्यानङ्गश्चिक्षेप तोमरान् ।
नकुलाय शतान्यष्टौ त्रिधैकैकं तु सोऽच्छिनत् ॥ १७ ॥

अङ्गराजने नकुलपर सूर्यकिरणोंके समान तेजस्वी आठ सौ तोमर चलाये; परंतु नकुलने उनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥ १७ ॥

तथार्धचन्द्रेण शिरस्तस्य चिच्छेद पाण्डवः ।
स पपात हतो म्लेच्छस्तेनैव सह दन्तिना ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुकुमार नकुलने एक अर्धचन्द्रके द्वारा अङ्गराजका सिर काट लिया। इस प्रकार मारा गया म्लेच्छजातीय अङ्गराज अपने हाथीके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

अथाङ्गपुत्रे निहते हस्तिशिक्षाविशारदे ।
अङ्गाः क्रुद्धा महामात्रा नागैर्नकुलमभ्ययुः ॥ १९ ॥

गजशिक्षामें कुशल अङ्गराजके पुत्रके मारे जानेपर कुपित हुए अङ्गदेशीय महावतोंने हाथियोंद्वारा नकुलपर आक्रमण किया ॥ १९ ॥

चलत्पताकैः सुमुखैर्हेमकक्षातनुच्छदैः ।
मिमर्दिषन्तस्त्वरिताः प्रदीप्तैरिव पर्वतैः ॥ २० ॥
मेकलोत्कलकालिङ्गा निषधास्ताम्रलिप्तकाः ।
शरतोमरवर्षाणि विमुञ्चन्तो जिघांसवः ॥ २१ ॥

उन हाथियोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं । उनके मुख बहुत सुन्दर थे । उनको कसनेके लिये बनी हुई रस्सी और कवच सुवर्णमय थे । वे प्रज्वलित पर्वतोंके समान जान पड़ते थे । उन हाथियोंके द्वारा नकुलको कुचलवा देनेकी इच्छा रखकर मेकल, उत्कल, कलिङ्ग, निषध तथा ताम्रलिप्त-देशीय योद्धा बड़ी उतावलीके साथ बाणों और तोमरोंकी वर्षा कर रहे थे । वे सब-के-सब उन्हें मार डालनेको उतारू थे ॥

तैश्छाद्यमानं नकुलं दिवाकरमिवाम्बुदैः ।
परिपेतुः सुसंरब्धाः पाण्डुपाञ्चालसोमकाः ॥ २२ ॥

बादलोंसे ढके हुए सूर्यके समान नकुलको उनके द्वारा आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाण्डव, पाञ्चाल और सोमक योद्धा तुरंत उन म्लेच्छोंपर टूट पड़े ॥ २२ ॥

ततस्तदभवद् युद्धं रथिनां हस्तिभिः सह ।
सृजतां शरवर्षाणि तोमरांश्च सहस्रशः ॥ २३ ॥

तब उन रथियोंका हाथियोंके साथ युद्ध छिड़ गया । वे रथी वीर उनके ऊपर सहस्रों तोमरों और बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २३ ॥

नागानां प्रास्फुटन् कुम्भा मर्माणि विविधानि च ।
दन्ताश्चैवातिविद्धानां नाराचैर्भूषणानि च ॥ २४ ॥

नाराचोंसे अत्यन्त घायल हुए उन हाथियोंके कुम्भस्थल फूट गये, विभिन्न मर्मस्थान विदीर्ण हो गये तथा उनके दाँत और आभूषण कट गये ॥ २४ ॥

तेषामष्टौ महानागांश्चतुःषष्ट्या सुतेजनैः ।
सहदेवो जघानाशु तेऽपतन् सह सादिभिः ॥ २५ ॥

सहदेवने उनमेंसे आठ महागजोंको चौसठ पैने बाणोंसे शीघ्र मार डाला । वे सब-के-सब सवारोंके साथ धराशायी हो गये ॥ २५ ॥

अञ्जोगतिभिरायम्य प्रयत्नाद् धनुरुत्तमम् ।
नाराचैरहनन्नागान् नकुलः कुलनन्दनः ॥ २६ ॥

अपने कुलको आनन्दित करनेवाले नकुलने भी प्रयत्न-पूर्वक उत्तम धनुषको खींचकर अनायास ही दूरतक जानेवाले नाराचोंद्वारा बहुतसे हाथियोंका वध कर डाला ॥ २६ ॥

ततः पाञ्चालशैनेयौ द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ।
शिखण्डी च महानागान् सिषिचुः शरवृष्टिभिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके पुत्र, प्रभद्रकगण तथा शिखण्डीने भी उन महान् गजराजोंपर अपने बाणोंकी वर्षा की ॥ २७ ॥

ते पाण्डुयोधाम्बुधरैः शत्रुद्विरदपर्वताः ।
बाणवर्षैर्हताः पेतुर्वज्रवर्षैरिवाचलाः ॥ २८ ॥

जैसे वज्रोंकी वर्षासे पर्वत ढह जाते हैं, उसी प्रकार पाण्डव-सैनिकरूपी बादलोंद्वारा की हुई बाणोंकी वृष्टिसे आहत हो शत्रुओंके हाथीरूपी पर्वत धराशायी हो गये ॥ २८ ॥

एवं हत्वा तव गजांस्ते पाण्डुरथकुञ्जराः ।
द्रुतां सेनामवैक्षन्त भिन्नकूलामिवापगाम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार उन श्रेष्ठ पाण्डव महारथियोंने आपके हाथि-योंका संहार करके देखा कि आपकी सेना किनारा तोड़कर बहनेवाली नदीके समान सब ओर भाग रही है ॥ २९ ॥

तां ते सेनां समालोड्य पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।
विक्षोभयित्वा च पुनः कर्णं समभिदुद्रुवुः ॥ ३० ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके उन सैनिकोंने आपकी उस सेनाको मथकर उसमें हलचल पैदा करके पुनः कर्णपर धावा किया ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दुःशासनकी पराजय

संजय उवाच

सहदेवं तथा क्रुद्धं दहन्तं तव वाहिनीम् ।
दुःशासनो महाराज भ्राता भ्रातरमभ्ययात् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! सहदेव क्रोधमें भरकर आपकी विशाल सेनाको दग्ध करने लगे । उस समय भाई दुःशासनने अपने उस भ्राताका सामना किया ॥ १ ॥

तौ समेतौ महायुद्धे दृष्ट्वा तत्र महारथाः ।
सिंहनादरवांश्चक्रुर्वासांस्यादुधुवुश्च ह ॥ २ ॥

उस महायुद्धमें उन दोनों भाइयोंको एकत्र हुआ देख वहाँ खड़े हुए महारथी योद्धा सिंहनाद करने और वस्त्र हिलाने लगे ॥ २ ॥

ततो भारत क्रुद्धेन तव पुत्रेण धन्विना ।
पाण्डुपुत्रस्त्रिभिर्बाणैर्वक्षस्यभिहतो बली ॥ ३ ॥

भारत ! उस समय कुपित हुए आपके धनुर्धर पुत्रने

अपने तीन बाणोंद्वारा बलवान् पाण्डुपुत्र सहदेवकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ ३ ॥

सहदेवस्ततो राजन् नाराचेन तवात्मजम् ।
विद्ध्वा विव्याध सप्तत्या सारथिं च त्रिभिः शरैः ॥

राजन् ! तब सहदेवने आपके पुत्रको एक नाराचसे घायल करके पुनः सत्तर बाणोंसे बींध डाला । तत्पश्चात् उनके सारथिको भी तीन बाण मारे ॥ ४ ॥

दुःशासनस्ततश्चापं छित्त्वा राजन् महाहवे ।
सहदेवं त्रिसप्तत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ५ ॥

राजन् ! उस महासमरमें दुःशासनने सहदेवका धनुष काटकर उनकी दोनों भुजाओं और छातीमें तिहत्तर बाण मारे॥

सहदेवस्तु संक्रुद्धः खड्गं गृह्य महाहवे ।
आविध्य प्रासृजत् तूर्णं तव पुत्ररथं प्रति ॥ ६ ॥

तब सहदेवने अत्यन्त कुपित होकर उस महासमरमें तलवार उठा ली और उसे घुमाकर तुरंत ही आपके पुत्रके रथकी ओर फेंका॥

समार्गणगुणं चापं छित्त्वा तस्य महानसिः ।
निपपात ततो भूमौ च्युतः सर्प इवाम्बरात् ॥ ७ ॥

उनकी वह लंबी तलवार दुःशासनके धनुष, बाण और प्रत्यञ्चाको काटकर आकाशसे भ्रष्ट हुए सर्पकी भाँति वहाँ पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सहदेवः प्रतापवान् ।
दुःशासनाय चिक्षेप बाणमन्तकरं ततः ॥ ८ ॥

तदनन्तर प्रतापी सहदेवने दूसरा धनुष लेकर दुःशासन-पर एक विनाशकारी बाणका प्रहार किया ॥ ८ ॥

तमापतन्तं विशिखं यमदण्डोपमत्विषम् ।
खड्गेन शितधारेण द्विधा चिच्छेद कौरवः ॥ ९ ॥

यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको आते देख कुरुवंशी दुःशासनने तीखी धारवाले खड्गसे उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ९ ॥

ततस्तं निशितं खड्गमाविध्य युधि सत्वरः ।
धनुश्चान्यत् समादाय शरं जग्राह वीर्यवान् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् दुःशासनने युद्धस्थलमें तुरंत ही तीखी तलवार घुमाकर सहदेवपर दे मारी; फिर उस पराक्रमी वीरने दूसरा धनुष लेकर उसपर बाणका संधान किया ॥ १० ॥

तमापतन्तं सहसा निस्त्रिंशं निशितैः शरैः ।
पातयामास समरे सहदेवो हसन्निव ॥ ११ ॥

सहदेवने हँसते हुए-से सहसा अपनी ओर आती हुई उस तलवारको तीखे बाणोंसे समरभूमिमें गिरा दिया ॥ ११ ॥

ततो बाणांश्चतुःषष्टिं तव पुत्रो महारणे ।
सहदेवरथं तूर्णं प्रेषयामास भारत ॥ १२ ॥

भारत ! इतनेहीमें आपके पुत्रने उस महासमरमें सहदेवपर तुरंत ही चौसठ बाण चलाये ॥ १२ ॥

ताञ्छरान् समरे राजन् वेगेनापततो बहून् ।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः सहदेवो न्यकृन्तत ॥ १३ ॥

राजन् ! सहदेवने रणभूमिमें वेगसे आते हुए उन बहु-संख्यक बाणोंमेंसे प्रत्येकको पाँच-पाँच बाण मारकर काट गिराया ॥ १३ ॥

संनिवार्य महाबाणांस्तव पुत्रेण प्रेषितान् ।
अथास्मै सुबहून् बाणान् प्रेषयामास संयुगे ॥ १४ ॥

इस प्रकार आपके पुत्रके चलाये हुए उन महाबाणोंका निवारण करके युद्धस्थलमें सहदेवने उसके ऊपर भी बहुत-से बाण छोड़े ॥ १४ ॥

तान् बाणांस्तव पुत्रोऽपि छित्त्वैकैकं त्रिभिः शरैः ।
ननाद सुमहानादं दारयाणो वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

आपके पुत्रने भी सहदेवके उन बाणोंमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाणोंसे काटकर पृथ्वीको विदीर्ण-सी करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ १५ ॥

ततो दुःशासनो राजन् विद्ध्वा पाण्डुसुतं रणे ।
सारथिं नवभिर्बाणैर्माद्रेयस्य समार्पयत् ॥ १६ ॥

राजन् ! इसके बाद दुःशासनने रणभूमिमें पाण्डुकुमार सहदेवको घायल करके उन माद्रीकुमारके सारथिको भी नौ बाण मारे ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज सहदेवः प्रतापवान् ।
समाधत्त शरं घोरं मृत्युकालान्तकोपमम् ॥ १७ ॥

महाराज ! इससे कुपित होकर प्रतापी सहदेवने अपने धनुषपर मृत्यु, काल और यमराजके समान भयंकर बाण रक्खा॥

विकृष्य बलवच्चापं तव पुत्राय सोऽसृजत् ।
स तं निर्भिद्य वेगेन भित्त्वा च कवचं महत् ॥ १८ ॥
प्राविशद् धरणीं राजन् वल्मीकमिव पन्नगः ।
ततः सम्मुमुहे राजंस्तव पुत्रो महारथः ॥ १९ ॥

फिर उस धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसने आपके पुत्रपर वह बाण छोड़ दिया । राजन् ! वह बाण दुःशासनको तथा उसके विशाल कवचको भी वेगपूर्वक विदीर्ण करके बाँबीमें घुसनेवाले सर्पके समान धरतीमें समा गया । महाराज ! इससे आपका महारथी पुत्र मूर्छित हो गया ॥ १८-१९ ॥

मूढं चैनं समालोक्य सारथिस्त्वरितो रथम् ।
अपोवाह भृशं त्रस्तो वध्यमानः शितैः शरैः ॥ २० ॥

उसे मूर्छित देख उसका सारथि तीखे बाणोंकी मार खाकर अत्यन्त भयभीत हो तुरंत ही रथको रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ २० ॥

पराजित्य रणे तं तु कौरव्यं पाण्डुनन्दनः ।
दुर्योधनबलं दृष्ट्वा प्रममाथ समन्ततः ॥ २१ ॥

कुरुवंशी दुःशासनको रणभूमिमें पराजित करके पाण्डु-नन्दन सहदेवने दुर्योधनकी सेनाको वहाँ उपस्थित देख उसे

सब ओरसे मथ डाला ॥ २१ ॥

पिपीलिकपुटं राजन् यथा मृद्नन्नरो रुषा।
तथा सा कौरवी सेना मृदिता तेन भारत ॥ २२ ॥

भरतवंशी नरेश ! जैसे मनुष्य रोषमें आकर चींटियोंके दलको मसल डालता है, उसी प्रकार सहदेवने उस कौरव-सेनाको धूलमें मिला दिया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि सहदेवदुःशासनयुद्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें सहदेव और दुःशासनका युद्धविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

नकुल और कर्णका घोर युद्ध तथा कर्णके द्वारा नकुलकी पराजय और पाञ्चाल-सेनाका संहार

संजय उवाच

नकुलं रभसं युद्धे द्रावयन्तं वरूथिनीम्।
कर्णो वैकर्तनो राजन् वारयामास वै रुषा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धस्थलमें कौरव-सेनाको खदेड़ते हुए वेगशाली वीर नकुलको वैकर्तन कर्णने रोषपूर्वक रोका ॥ १ ॥

नकुलस्तु ततः कर्णं प्रहसन्निदमब्रवीत्।
चिरस्य बत दृष्टोऽहं दैवतैः सौम्यचक्षुषा ॥ २ ॥
पश्य मां त्वं रणे पाप चक्षुर्विषयमागतम्।
त्वं हि मूलमनर्थानां वैरस्य कलहस्य च ॥ ३ ॥
त्वद्दोषात् कुरवः क्षीणाः समासाद्य परस्परम्।
त्वामद्य समरे हत्वा कृतकृत्योऽस्मि विज्वरः ॥ ४ ॥

तब नकुलने कर्णसे हँसते हुए इस प्रकार कहा—'आज दीर्घकालके पश्चात् देवताओंने मुझे सौम्य दृष्टिसे देखा है; यह बड़े हर्षकी बात है। पापी कर्ण ! मैं रणभूमिमें तेरी आँखोंके सामने आ गया हूँ। तू अच्छी तरह मुझे देख ले। तू ही इन सारे अनर्थोंकी तथा वैर एवं कलहकी जड़ है। तेरे ही दोषसे कौरव आपसमें लड़-भिड़कर क्षीण हो गये। आज मैं तुझे समरभूमिमें मारकर कृतकृत्य एवं निश्चिन्त हो जाऊँगा'॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच नकुलं सूतनन्दनः।
सदृशं राजपुत्रस्य धन्विनश्च विशेषतः ॥ ५ ॥
प्रहरस्व च मे वीर पश्यामस्तव पौरुषम्।
कर्म कृत्वा रणे शूर ततः कत्थितुमर्हसि ॥ ६ ॥

नकुलके ऐसा कहनेपर सूतनन्दन कर्णने उनसे कहा—'वीर ! तुम एक राजपुत्रके विशेषतः धनुर्धर योद्धाके योग्य कार्य करते हुए मुझपर प्रहार करो। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे। शूर ! पहले रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करके फिर उसके विषयमें तुम्हें बढ़-बढ़कर बातें बनानी चाहिये ॥५-६॥

अनुक्त्वा समरे तात शूरा युध्यन्ति शक्तितः।
प्रयुध्यस्व मया शक्त्या हनिष्ये दर्पमेव ते ॥ ७ ॥

'तात ! शूरवीर समराङ्गणमें बातें न बनाकर अपनी शक्तिके अनुसार युद्ध करते हैं। तुम पूरी शक्ति लगाकर मेरे साथ युद्ध करो। मैं तुम्हारा घमंड चूर कर दूँगा'॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा प्राहरत् तूर्णं पाण्डुपुत्राय सूतजः।
विव्याध चैनं समरे त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर सूतपुत्र कर्णने पाण्डुकुमार नकुलपर तुरंत ही प्रहार किया। उन्हें युद्धस्थलमें तिहत्तर बाणोंसे बींध डाला॥

नकुलस्तु ततो विद्धः सूतपुत्रेण भारत।
अशीत्याशीविषप्रख्यैः सूतपुत्रमविध्यत ॥ ९ ॥

भारत ! सूतपुत्रके द्वारा घायल होकर नकुलने उसे भी विषधर सर्पोंके समान अस्सी बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तस्य कर्णो धनुश्छित्वा स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।
त्रिंशता परमेष्वासः शरैः पाण्डवमार्दयत् ॥ १० ॥

तब महाधनुर्धर कर्णने शिलापर तेज किये हुए स्वर्णमय पंखवाले बाणोंसे नकुलके धनुषको काटकर उन्हें तीस बाणोंसे पीड़ित कर दिया ॥ १० ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे।
आशीविषा यथा नागा भित्त्वा गां सलिलं पपुः॥ ११ ॥

जैसे विषधर नाग धरती फोड़कर जल पी लेते हैं, उसी प्रकार उन बाणोंने नकुलका कवच छिन्न-भिन्न करके युद्धस्थलमें उनका रक्त पी लिया ॥ ११ ॥

अथान्यद् धनुरादाय हेमपृष्ठं दुरासदम्।
कर्णं विव्याध सप्तत्या सारथिं च त्रिभिः शरैः॥ १२ ॥

तत्पश्चात् नकुलने सोनेकी पीठवाला दूसरा दुर्जय धनुष हाथमें लेकर कर्णको सत्तर और उसके सारथिको तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १२ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज नकुलः परवीरहा।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन कर्णस्य धनुराच्छिनत् ॥ १३ ॥

महाराज ! इसके बाद शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने कुपित होकर एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रसे कर्णका धनुष काट दिया ॥ १३ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं सायकानां शतैस्त्रिभिः।
आजघ्ने प्रहसन् वीरः सर्वलोकमहारथम् ॥ १४ ॥

धनुष कट जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके विख्यात महारथी कर्णको वीर नकुलने हँसते-हँसते तीन सौ बाण मारे ॥ १४ ॥

कर्णमभ्यर्दितं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रेण मारिष।
विस्मयं परमं जग्मू रथिनः सह दैवतैः ॥ १५ ॥

मान्यवर ! पाण्डुपुत्र नकुलके द्वारा कर्णको इस तरह

पीड़ित हुआ देख देवताओंसहित सम्पूर्ण रथियोंको महान् आश्चर्य हुआ ॥ १५ ॥

अथान्यद् धनुरादाय कर्णो वैकर्तनस्तदा ।
नकुलं पञ्चभिर्बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ॥ १६ ॥

तब वैकर्तन कर्णने दूसरा धनुष लेकर नकुलके गलेकी हँसलीपर पाँच बाण मारे ॥ १६ ॥

तत्रस्थैरथ तैर्बाणैर्माद्रीपुत्रो व्यरोचत ।
स्वरश्मिभिरिवादित्यो भुवने विसृजन् प्रभाम् ॥ १७ ॥

वहाँ धँसे हुए उन बाणोंसे माद्रीकुमार नकुल उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे सम्पूर्ण जगत्‌में प्रभा बिखेरनेवाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं ॥ १७ ॥

नकुलस्तु ततः कर्णं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
अथास्य धनुषः कोटिं पुनश्चिच्छेद मारिष ॥ १८ ॥

माननीय नरेश ! तदनन्तर नकुलने कर्णको सात बाणोंसे घायल करके उसके धनुषका एक कोना पुनः काट डाला ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे वेगवत्तरम् ।
नकुलस्य ततो बाणैः सर्वतोऽवारयद् दिशः ॥ १९ ॥

तब कर्णने समराङ्गणमें दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर नकुलके चारों ओर सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १९ ॥

संछाद्यमानः सहसा कर्णचापच्युतैः शरैः ।
चिच्छेद स शरांस्तूर्णं शरैरेव महारथः ॥ २० ॥

कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा सहसा आच्छादित होते हुए महारथी नकुलने तुरंत ही उसके बाणोंको अपने बाणोंद्वारा ही काट गिराया ॥ २० ॥

ततो बाणमयं जालं विततं व्योम्नि दृश्यते ।
खद्योतानामिव व्रातैः सम्पतद्भिर्यथा नभः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् आकाशमें बाणोंका जाल-सा बिछा हुआ दिखायी देने लगा, मानो वहाँ जुगनुओंके समूह उड़ रहे हों ॥ २१ ॥

तैर्विमुक्तैः शरशतैश्छादितं गगनं तदा ।
शलभानां यथा व्रातैस्तद्वदासीद् विशाम्पते ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय धनुषसे छूटे हुए सौ-सौ बाणोंद्वारा आच्छादित हुआ आकाश पतंगोंके समूहसे भरा हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ २२ ॥

ते शरा हेमविकृताः सम्पतन्तो मुहुर्मुहुः ।
श्रेणीकृता व्यकाशन्त क्रौञ्चाः श्रेणीकृता इव ॥ २३ ॥

बारंबार गिरते हुए वे सुवर्णभूषित बाण श्रेणिबद्ध होकर ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो बहुत-से क्रौञ्चपक्षी एक पंक्तिमें होकर उड़ रहे हों ॥ २३ ॥

बाणजालावृते व्योम्नि च्छादिते च दिवाकरे ।
न स्म सम्पतते भूम्यां किंचिदप्यन्तरिक्षगम् ॥ २४ ॥

बाणोंके जालसे आकाश और सूर्यके ढक जानेपर अन्तरिक्षकी कोई भी वस्तु उस समय पृथ्वीपर नहीं गिरती थी ॥ २४ ॥

निरुद्धे तत्र मार्गे च शरसंघैः समन्ततः ।
व्यरोचेतां महात्मानौ कालसूर्याविवोदितौ ॥ २५ ॥

बाणोंके समूहसे वहाँ सब ओरका मार्ग अवरुद्ध हो जानेपर वे दोनों महामनस्वी वीर नकुल और कर्ण प्रलयकालमें उदित हुए दो सूर्योंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २५ ॥

कर्णचापच्युतैर्बाणैर्वध्यमानास्तु सोमकाः ।
अवालीयन्त राजेन्द्र वेदनार्ता भृशार्दिताः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंकी मार खाकर सोमक-योद्धा वेदनासे कराह उठे और अत्यन्त पीड़ित हो इधर-उधर छिपने लगे ॥ २६ ॥

नकुलस्य तथा बाणैर्हन्यमाना चमूस्तव ।
व्यशीर्यत दिशो राजन् वातनुन्ना इवाम्बुदाः ॥ २७ ॥

राजन् ! नकुलके बाणोंसे मारी जाती हुई आपकी सेना भी हवासे उड़ाये गये बादलोंके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखर गयी ॥ २७ ॥

ते सेने हन्यमाने तु ताभ्यां दिव्यैर्महाशरैः ।
शरपातमपाक्रम्य तस्थतुः प्रेक्षिके तदा ॥ २८ ॥

उन दोनोंके दिव्य महाबाणोंद्वारा आहत होती हुई दोनों सेनाएँ उस समय उनके बाणोंके गिरनेके स्थानसे दूर हटकर खड़ी हो गयीं और दर्शक बनकर तमाशा देखने लगीं ॥२८॥

प्रोत्सारितजने तस्मिन् कर्णपाण्डवयोः शरैः ।
अविध्येतां महात्मानावन्योन्यं शरवृष्टिभिः ॥ २९ ॥

कर्ण और नकुलके बाणोंद्वारा जब सब लोग वहाँसे दूर हटा दिये गये, तब वे दोनों महामनस्वी वीर अपने बाणोंकी वर्षासे एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ २९ ॥

विदर्शयन्तौ दिव्यानि शस्त्राणि रणमूर्धनि ।
छादयन्तौ च सहसा परस्परवधैषिणौ ॥ ३० ॥

युद्धके मुहानेपर वे दोनों दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे सहसा बाणोंद्वारा आच्छादित करने लगे ॥ ३० ॥

नकुलेन शरा मुक्ताः कङ्कबर्हिणवाससः ।
सूतपुत्रमवच्छाद्य व्यतिष्ठन्त यथाम्बरे ॥ ३१ ॥
तथैव सूतपुत्रेण प्रेषिताः परमाहवे ।
पाण्डुपुत्रमवच्छाद्य व्यतिष्ठन्ताम्बरे शराः ॥ ३२ ॥

नकुलके बाणोंमें कङ्क और मयूरके पंख लगे हुए थे । वे उनके धनुषसे छूटकर सूतपुत्रको आच्छादित करके जिस प्रकार आकाशमें स्थित होते थे, उसी प्रकार उस महासमरमें सूतपुत्रके चलाये हुए बाण पाण्डुकुमार नकुलको आच्छादित करके आकाशमें छा जाते थे ॥ ३१-३२ ॥

शरवेश्मप्रविष्टौ तौ ददृशाते न कैश्चन ।
सूर्याचन्द्रमसौ राजञ्छाद्यमानौ घनैरिव ॥ ३३ ॥

राजन्! जैसे मेघोंद्वारा ढक जानेपर सूर्य और चन्द्रमा दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार बाणनिर्मित भवनमें प्रविष्ट हुए उन दोनों वीरोंपर किसीकी दृष्टि नहीं पड़ती थी ॥ ३३॥

ततः क्रुद्धो रणे कर्णः कृत्वा घोरतरं वपुः।
पाण्डवं छादयामास समन्ताच्छरवृष्टिभिः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए कर्णने रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर स्वरूप प्रकट करके चारों ओरसे बाणोंकी वर्षाद्वारा पाण्डुपुत्र नकुलको ढक दिया ॥ ३४ ॥

सोऽतिच्छन्नो महाराज सूतपुत्रेण पाण्डवः।
न चकार व्यथां राजन् भास्करो जलदैर्यथा ॥ ३५ ॥

महाराज! सूतपुत्रके द्वारा अत्यन्त आच्छन्न कर दिये जानेपर भी बादलोंसे ढके हुए सूर्यके समान नकुलने अपने मनमें तनिक भी व्यथाका अनुभव नहीं किया ॥ ३५ ॥

ततः प्रहस्याधिरथिः शरजालानि मारिष।
प्रेषयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३६ ॥

मान्यवर! तत्पश्चात् सूतपुत्रने बड़े जोरसे हँसकर पुनः समराङ्गणमें बाणोंके जाल बिछा दिये। उसने सैकड़ों और हजारों बाण चलाये ॥ ३६ ॥

एकच्छायमभूत् सर्वं तस्य बाणैर्महात्मनः।
अभ्रच्छायेव संजज्ञे सम्पतद्भिः शरोत्तमैः ॥ ३७ ॥

उस महामनस्वी वीरके गिरते हुए उत्तम बाणोंसे घिर जानेके कारण वहाँ सब कुछ एकमात्र अन्धकारमें निमग्न हो गया। ठीक उसी तरह, जैसे बादलोंकी घोर घटा घिर आनेपर सब ओर अँधेरा छा जाता है ॥ ३७ ॥

ततः कर्णो महाराज धनुश्छित्त्वा महात्मनः।
सारथिं पातयामास रथनीडाद्धसन्निव ॥ ३८ ॥

महाराज! तदनन्तर हँसते हुए-से कर्णने महामना नकुलका धनुष काटकर उनके सारथिको रथकी बैठकसे मार गिराया ॥ ३८ ॥

ततोऽश्वांश्चतुरश्चास्य चतुर्भिर्निशितैः शरैः।
यमस्य भवनं तूर्णं प्रेषयामास भारत ॥ ३९ ॥

भारत! फिर चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी तुरंत ही यमराजके घर भेज दिया ॥ ३९ ॥

अथास्य तं रथं दिव्यं तिलशो व्यधमच्छरैः।
पताकां चक्ररक्षांश्च गदां खड्गं च मारिष ॥ ४० ॥
शतचन्द्रं च तच्चर्म सर्वोपकरणानि च।

मान्यवर! इसके बाद उसने अपने बाणोंद्वारा नकुलके उस दिव्य रथको तिल-तिल करके काट दिया और पताका, चक्ररक्षकों, गदा एवं खड्गको भी छिन्न-भिन्न कर दिया। साथ ही सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित उनकी ढाल तथा अन्य सब उपकरणोंको भी उसने नष्ट कर दिया ॥ ४०½ ॥

हताश्वो विरथश्चैव विवर्मा च विशाम्पते ॥ ४१ ॥
अवतीर्य रथात्तूर्णं परिघं गृह्य धिष्ठितः।

प्रजापालक नरेश! घोड़े, रथ और कवचके नष्ट हो जानेपर नकुल तुरंत उस रथसे उतरकर हाथमें परिघ लिये खड़े हो गये ॥ ४१½ ॥

तमुद्यतं महाघोरं परिघं तस्य सूतजः ॥ ४२ ॥
व्यहनत् सायकै राजन् सुतीक्ष्णैर्भारसाधनैः।

राजन्! उनके उठे हुए उस महाभयंकर परिघको सूतपुत्रने अत्यन्त तीखे तथा दुष्कर कार्यको सिद्ध करनेवाले बाणोंद्वारा काट डाला ॥ ४२½ ॥

व्यायुधं चैनमालक्ष्य शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४३ ॥
आर्पयद् बहुभिः कर्णो न चैनं समपीडयत्।

उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे हीन देखकर कर्णने झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा और भी घायल कर दिया; परंतु उन्हें घातक पीड़ा नहीं दी ॥ ४३½ ॥

स हन्यमानः समरे कृतास्त्रेण बलीयसा ॥ ४४ ॥
प्राद्रवत् सहसा राजन् नकुलो व्याकुलेन्द्रियः।

अत्यन्त बलवान् तथा अस्त्रविद्याके विद्वान् कर्णके द्वारा समराङ्गणमें आहत हो सहसा नकुल भाग चले। उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं ॥ ४४½ ॥

तमभिद्रुत्य राधेयः प्रहसन् वै पुनः पुनः ॥ ४५ ॥
सज्यमस्य धनुः कण्ठे व्यवासृजत भारत।

भारत! राधापुत्र कर्णने बारंबार हँसते हुए उनका पीछा करके उनके गलेमें प्रत्यञ्चासहित अपना धनुष डाल दिया ॥ ४५½ ॥

ततः स शुशुभे राजन् कण्ठासक्तमहाधनुः ॥ ४६ ॥
परिवेषमनुप्राप्तो यथा स्याद् व्योम्नि चन्द्रमाः।
यथैव चासितो मेघः शक्रचापेन शोभितः ॥ ४७ ॥

राजन्! कण्ठमें पड़े हुए उस महाधनुषसे युक्त नकुल ऐसी शोभा पाने लगे, मानो आकाशमें चन्द्रमापर घेरा पड़ गया हो अथवा कोई श्याम मेघ इन्द्रधनुषसे सुशोभित हो रहा हो ॥ ४६–४७ ॥

तमब्रवीत्ततः कर्णो व्यर्थं व्याहृतवानसि।
वदेदानीं पुनर्हृष्टो वध्यमानः पुनः पुनः ॥ ४८ ॥
मा योत्सीः कुरुभिः सार्धं बलवद्भिश्च पाण्डव।
सदृशैस्तात युध्यस्व व्रीडां मा कुरु पाण्डव ॥ ४९ ॥
गृहं वा गच्छ माद्रेय यत्र वा कृष्णफाल्गुनौ।
एवमुक्त्वा महाराज व्यसर्जयत तं तदा ॥ ५० ॥

उस समय कर्णने नकुलसे कहा—'पाण्डुकुमार! तुमने व्यर्थ ही बढ़-चढ़कर बातें बनायी थीं। अब इस समय बारंबार मेरे बाणोंकी मार खाकर पुनः उसी हर्षके साथ तुम वैसी ही बातें करो तो सही। बलवान् कौरव-योद्धाओंके साथ आजसे युद्ध न करना। तात! जो तुम्हारे समान हों, उन्हीं

के साथ युद्ध किया करो। माद्रीकुमार ! लज्जित न होओ। इच्छा हो तो घर चले जाओ अथवा जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हों, वहीं भाग जाओ।' महाराज ! ऐसा कहकर उस समय कर्णने नकुलको छोड़ दिया ॥ ४८–५० ॥

वधप्राप्तं तु तं शूरो नाहनद् धर्मवित्तदा।
स्मृत्वा कुन्त्या वचो राजंस्तत एनं व्यसर्जयत्॥ ५१ ॥

राजन् ! यद्यपि नकुल वधके योग्य अवस्थामें आ पहुँचे थे, तो भी कुन्तीको दिये हुए वचनको याद करके धर्मज्ञ वीर कर्णने उस समय उन्हें मारा नहीं, जीवित छोड़ दिया ॥ ५१ ॥

विसृष्टः पाण्डवो राजन् सूतपुत्रेण धन्विना।
व्रीडन्निव जगामाथ युधिष्ठिररथं प्रति ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! धनुर्धर सूतपुत्रके छोड़ देनेपर पाण्डुकुमार नकुल लजाते हुए-से वहाँसे युधिष्ठिरके रथके पास चले गये ॥

आरुरोह रथं चापि सूतपुत्रप्रतापितः।
निःश्वसन् दुःखसंतप्तः कुम्भस्थ इव पन्नगः ॥ ५३ ॥

सूतपुत्रके द्वारा सताये हुए नकुल दुःखसे संतप्त हो घड़ेमें बंद किये हुए सर्पके समान दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए युधिष्ठिरके रथपर चढ़ गये ॥ ५३ ॥

तं विजित्याथ कर्णोऽपि पञ्चालांस्त्वरितो ययौ।
रथेनातिपताकेन चन्द्रवर्णहयेन च ॥ ५४ ॥

इस प्रकार नकुलको पराजित करके कर्ण भी चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले घोड़ों और ऊँची पताकाओंसे युक्त रथके द्वारा तुरंत ही पाञ्चालोंकी ओर चला गया ॥ ५४ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् पाण्डवानां विशाम्पते।
दृष्ट्वा सेनापतिं यान्तं पञ्चालानां रथव्रजान् ॥ ५५ ॥

प्रजानाथ ! कौरव-सेनापति कर्णको पाञ्चाल रथियोंकी ओर जाते देख पाण्डव-सैनिकोंमें महान् कोलाहल मच गया ॥ ५५ ॥

तत्राकरोन्महाराज कदनं सूतनन्दनः।
मध्यं प्राप्ते दिनकरे चक्रवद् विचरन् प्रभुः॥ ५६ ॥

महाराज ! दोपहर होते-होते शक्तिशाली सूतनन्दन कर्णने चक्रके समान चारों ओर विचरण करते हुए वहाँ पाण्डव-सैनिकोंका महान् संहार मचा दिया ॥ ५६ ॥

भग्नचक्रै रथैः कांश्चिच्छिन्नध्वजपताकिभिः।
हताश्वैर्हतसूतैश्च भग्नाक्षैश्चैव मारिष ॥ ५७ ॥
ह्रियमाणानपश्याम पञ्चालानां रथव्रजान्।

माननीय नरेश ! उस समय हमलोगोंने कितने ही रथियोंको ऐसी अवस्थामें देखा कि उनके रथके पहिये टूट गये हैं, ध्वजा, पताकाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं, घोड़े और सारथि मारे गये हैं और उन रथोंके धुरे भी खण्डित हो गये हैं। उस अवस्थामें समूह-के-समूह पाञ्चाल महारथी हमें भागते दिखायी दिये ॥ ५७½ ॥

तत्र तत्र च सम्भ्रान्ता विचेरुर्मत्तकुञ्जराः ॥ ५८ ॥
दावाग्निपरिदग्धाङ्गा यथैव स्युर्महावने।

बहुत-से मतवाले हाथी वहाँ बड़ी घबराहटमें पड़कर इधर-उधर चक्कर काट रहे थे, मानो किसी बड़े भारी जंगलमें दावानलसे उनके सारे अङ्ग झुलस गये हों ॥ ५८½ ॥

भिन्नकुम्भार्द्ररुधिराश्छिन्नहस्ताश्च वारणाः ॥ ५९ ॥
छिन्नगात्रावराश्चैव च्छिन्नवालधयोऽपरे।
छिन्नाभ्राणीव सम्पेतुर्हन्यमाना महात्मना ॥ ६० ॥

कितने ही हाथियोंके कुम्भस्थल फट गये थे और वे खूनसे भीग गये थे। कितनोंकी सूँड़ें कट गयी थीं, कितनोंके कवच छिन्न-भिन्न हो गये थे, बहुतोंकी पूँछें कट गयी थीं और कितने ही हाथी महामना कर्णकी मार खाकर खण्डित हुए मेघोंके समान पृथ्वीपर गिर गये थे ॥ ५९-६० ॥

अपरे त्रासिता नागा नाराचशरतोमरैः।
तमेवाभिमुखं जग्मुः शलभा इव पावकम् ॥ ६१ ॥

दूसरे बहुत-से गजराज कर्णके नाराचों, शरों और तोमरोंसे संत्रस्त हो जैसे पतंग आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार कर्णके सम्मुख चले जाते थे ॥

अपरे निष्टनन्तश्च व्यदृश्यन्त महाद्विपाः।
क्षरन्तः शोणितं गात्रैर्नगा इव जलस्रवाः ॥ ६२ ॥

अन्य बहुत-से बड़े-बड़े हाथी झरने बहानेवाले पर्वतोंके समान अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते और आर्तनाद करते दिखायी देते थे ॥ ६२ ॥

उरश्छदैर्वियुक्तांश्च वालबन्धैश्च वाजिनः।
राजतैश्च तथा कांस्यैः सौवर्णैश्चैव भूषणैः ॥ ६३ ॥
हीनांश्चाभरणैश्चैव खलीनैश्च विवर्जितान्।
चामरैश्च कुथाभिश्च तूणीरैः पतितैरपि ॥ ६४ ॥
निहतैः सादिभिश्चैव शूरैराहवशोभितैः।
अपश्याम रणे तत्र भ्राम्यमाणान् हयोत्तमान् ॥ ६५ ॥

कितने ही घोड़ोंके उनकी छातीको छिपानेवाले कवच कटकर गिर गये थे, बालबन्ध छिन्न-भिन्न हो गये थे, सोने, चाँदी और कांसके आभूषण नष्ट हो गये थे, दूसरे साज-बाज भी चौपट हो गये थे, उनके मुखोंसे लगाम भी निकल गये थे, चँवर, झूल और तरकस धराशायी हो गये थे तथा संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले उनके शूरवीर सवार भी मारे जा चुके थे। ऐसी दशामें रण-भूमिमें भ्रान्त होकर भटकते हुए बहुत-से उत्तम घोड़ोंको हमने देखा था ॥ ६३–६५ ॥

प्रासैः खड्गैश्च रहितानृष्टिभिश्चापि भारत।
हयसादीनपश्याम कञ्चुकोष्णीषधारिणः ॥ ६६ ॥

निहतान् वध्यमानांश्च वेपमानांश्च भारत।
नानाङ्गावयवैर्हीनांस्तत्र तत्रैव भारत ॥ ६७ ॥

भारत ! कवच और पगड़ी धारण करनेवाले कितने ही घुड़सवारोंको हमने प्रास, खड्ग और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित होकर मारा गया देखा। कितने ही कर्णके बाणोंकी मार खाते हुए थरथर काँप रहे थे और बहुत-से अपने शरीरके विभिन्न अवयवोंसे रहित हो यत्र-तत्र मरे पड़े थे ॥ ६६-६७ ॥

रथान् हेमपरिष्कारान् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः।
भ्राम्यमाणानपश्याम हतेषु रथिषु द्रुतम् ॥ ६८ ॥

वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए कितने ही सुवर्णभूषित रथ सारथि और रथियोंके मारे जानेसे वेगपूर्वक दौड़ते दिखायी देते थे ॥ ६८ ॥

भग्नाक्षकूबरान् कांश्चिद् भग्नचक्रांश्च भारत।
विपताकध्वजांश्चान्याञ्छिन्नेषादण्डबन्धुरान् ॥ ६९ ॥

भरतनन्दन ! कितने ही रथोंके धुरे और कूबर टूट गये थे, पहिये टूक-टूक हो गये थे, पताका और ध्वज खण्डित हो गये थे तथा ईषादण्ड और बन्धुरोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ॥ ६९ ॥

विहतान् रथिनस्तत्र धावमानांस्ततस्ततः।
सूतपुत्रशरैस्तीक्ष्णैर्हन्यमानान् विशाम्पते ॥ ७० ॥
विशस्त्रांश्च तथैवान्यान् सशस्त्रांश्च हतान् बहून्।

प्रजानाथ ! सूतपुत्रके तीखे बाणोंसे हताहत होकर बहुतेरे रथी वहाँ इधर-उधर भागते देखे गये। कितने ही रथी शस्त्रहीन होकर तथा दूसरे बहुत-से सशस्त्र रहकर ही मारे गये थे ॥ ७०½ ॥

तारकाजालसंछन्नान् वरघण्टाविशोभितान् ॥ ७१ ॥
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतान्।
वारणाननुपश्याम धावमानान् समन्ततः ॥ ७२ ॥

नक्षत्रसमूहोंके चिह्नवाले कवचोंसे आच्छादित, उत्तम घंटोंसे सुशोभित तथा अनेक रंगकी विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत हाथियोंको हमने चारों ओर भागते देखा था ॥

शिरांसि बाहूनूरूंश्च च्छिन्नानन्यांस्तथैव च।
कर्णचापच्युतैर्बाणैरपश्याम समन्ततः ॥ ७३ ॥

हमने यह भी देखा कि कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा योद्धाओंके मस्तक, भुजाएँ और जाँघें कट-कटकर चारों ओर गिर रही हैं ॥ ७३ ॥

महान् व्यतिकरो रौद्रो योधानामन्वपद्यत।
कर्णसायकनुन्नानां युध्यतां च शितैः शरैः ॥ ७४ ॥

कर्णके बाणोंसे आहत हो तीखे बाणोंसे युद्ध करते हुए योद्धाओंमें वहाँ अत्यन्त भयंकर और महान् संग्राम मच गया था ॥ ७४ ॥

ते वध्यमानाः समरे सूतपुत्रेण सृञ्जयाः।
तमेवाभिमुखं यान्ति पतङ्गा इव पावकम् ॥ ७५ ॥

समराङ्गणमें सृंजयोंपर कर्णके बाणोंकी मार पड़ रही थी, तो भी पतंग जैसे अग्निपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार वे कर्णके ही सम्मुख बढ़ते जा रहे थे ॥ ७५ ॥

तं दहन्तमनीकानि तत्र तत्र महारथम्।
क्षत्रिया वर्जयामासुर्युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥ ७६ ॥

महारथी कर्ण प्रलयकालके प्रचण्ड अग्निके समान जहाँ-तहाँ पाण्डव-सेनाओंको दग्ध कर रहा था। उस समय क्षत्रिय लोग उसे छोड़कर दूर हट जाते थे ॥ ७६ ॥

हतशेषास्तु ये वीराः पञ्चालानां महारथाः।
तान् प्रभग्नान् द्रुतान् वीरः पृष्ठतो विकिरञ्छरैः ॥७७॥
अभ्यधावत तेजस्वी विशीर्णकवचध्वजान्।
तापयामास तान् बाणैः सूतपुत्रो महाबलः।
मध्यंदिनमनुप्राप्तो भूतानीव तमोनुदः ॥ ७८ ॥

पाञ्चालोंके जो वीर महारथी मरनेसे बच गये थे, उन्हें भागते देख तेजस्वी वीर कर्ण पीछेसे उनपर बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा। उन योद्धाओंके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे। जैसे मध्याह्नकालका सूर्य सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी किरणोंद्वारा तपाता है, उसी प्रकार महाबली सूतपुत्र अपने बाणोंसे उन शत्रु-सैनिकोंको संतप्त करने लगा ॥ ७७-७८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णयुद्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णका युद्धविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

युयुत्सु और उलूकका युद्ध, युयुत्सुका पलायन, शतानीक और धृतराष्ट्रपुत्र श्रुतकर्माका तथा सुतसोम और शकुनिका घोर युद्ध एवं शकुनिद्वारा पाण्डवसेनाका विनाश

संजय उवाच

युयुत्सुं तव पुत्रस्य द्रावयन्तं बलं महत्।
उलूको न्यपतत्तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! दूसरी ओर युयुत्सु आपके पुत्रकी विशाल सेनाको खदेड़ रहा था। यह देख उलूक तुरंत वहाँ आ धमका और युयुत्सुसे बोला—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ १ ॥

युयुत्सुश्च ततो राजञ्शितधारेण पत्रिणा।

उलूकं ताडयामास वज्रेणेन्द्र इवाचलम् ॥ २ ॥

राजन् ! तब युयुत्सुने तीखी धारवाले बाणसे महाबली उलूकको उसी प्रकार पीट दिया, जैसे इन्द्र पर्वत-पर वज्रका प्रहार करते हैं ॥ २ ॥

उलूकस्तु ततः क्रुद्धस्तव पुत्रस्य संयुगे।
क्षुरप्रेण धनुश्छित्त्वा ताडयामास कर्णिना ॥ ३ ॥

इससे उलूकको बड़ा क्रोध हुआ। उसने युद्धस्थलमें एक क्षुरप्रके द्वारा आपके पुत्रका धनुष काटकर उसपर कर्णीनामक बाणका प्रहार किया ॥ ३ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं युयुत्सुर्वेगवत्तरम्।
अन्यदादत्त सुमहच्चापं संरक्तलोचनः ॥ ४ ॥

युयुत्सुने उस कटे हुए धनुषको फेंककर क्रोधसे आँखें लाल करके दूसरा अत्यन्त वेगशाली एवं विशाल धनुष हाथमें लिया ॥

शाकुनिं तु ततः षष्ट्या विव्याध भरतर्षभ।
सारथिं त्रिभिरानर्छत्तं च भूयो व्यविध्यत ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसने शकुनिपुत्र उलूकको साठ बाणोंसे बेध दिया और तीन बाणोंसे उसके सारथिको पीड़ित किया। तत्पश्चात् उसे और भी घायल कर दिया ॥ ५ ॥

उलूकस्तं तु विंशत्या विद्ध्वा स्वर्णविभूषितैः।
अथास्य समरे क्रुद्धो ध्वजं चिच्छेद काञ्चनम् ॥ ६ ॥

तब उलूकने संग्रामभूमिमें कुपित हो स्वर्णभूषित बीस बाणोंसे युयुत्सुको घायल करके उनके सुवर्णमय ध्वजको भी काट डाला ॥ ६ ॥

सच्छिन्नयष्टिः सुमहाञ्शीर्यमाणो महाध्वजः।
पपात प्रमुखे राजन् युयुत्सोः काञ्चनध्वजः ॥ ७ ॥

राजन् ! ध्वजका दण्ड कट जानेपर युयुत्सुका वह विशाल काञ्चनध्वज छिन्न-भिन्न हो उसके सामने ही गिर पड़ा ॥ ७ ॥

ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा युयुत्सुः क्रोधमूर्च्छितः।
उलूकं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ८ ॥

अपने ध्वजका यह विध्वंस देखकर युयुत्सु क्रोधसे मूर्छित-सा हो गया और उसने पाँच बाणोंसे उलूककी छाती छेद डाली ॥ ८ ॥

उलूकस्तस्य समरे तैलधौतेन मारिष।
शिरश्चिच्छेद भल्लेन यन्तुर्भरतसत्तम ॥ ९ ॥

माननीय भरतभूषण ! उलूकने तेलसे साफ किये हुए भल्लके द्वारा युयुत्सुके सारथिका मस्तक काट डाला ॥

तच्छिन्नमपतद् भूमौ युयुत्सोः सारथेस्तदा।
तारारूपं यथा चित्रं निपपात महीतले ॥ १० ॥

उस समय युयुत्सुके सारथिका वह कटा हुआ मस्तक पृथ्वीपर उसी भाँति गिरा, मानो आकाशसे भूतलपर कोई विचित्र तारा टूट पड़ा हो ॥ १० ॥

जघान चतुरोऽश्वांश्च तं च विव्याध पञ्चभिः।
सोऽतिविद्धो बलवता प्रत्यपायाद् रथान्तरम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उलूकने युयुत्सुके चारों घोड़ोंको भी मार डाला और पाँच बाणोंसे उसे भी घायल कर दिया। उस बलवान् वीरके द्वारा अत्यन्त घायल हो युयुत्सु दूसरे रथपर आरूढ़ हो वहाँसे भाग गया ॥ ११ ॥

तं निर्जित्य रणे राजन्नुलूकस्त्वरितो ययौ।
पञ्चालान् सृञ्जयांश्चैव विनिघ्नन् निशितैः शरैः ॥ १२ ॥

राजन् ! रणभूमिमें युयुत्सुको पराजित करके उलूक तुरंत ही पाञ्चालों और सृंजयोंकी ओर चला गया और उन्हें तीखे बाणोंसे मारने लगा ॥ १२ ॥

शतानीकं महाराज श्रुतकर्मा सुतस्तव।
व्यश्वसूतरथं चक्रे निमेषार्धादसम्भ्रमः ॥ १३ ॥

महाराज ! दूसरी ओर आपके पुत्र श्रुतकर्माने बिना किसी घबराहटके आधे निमेषमें ही शतानीकके रथको घोड़ों और सारथिसे शून्य कर दिया ॥ १३ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठञ्शतानीको महारथः।
गदां चिक्षेप संक्रुद्धस्तव पुत्रस्य मारिष ॥ १४ ॥

मान्यवर ! महारथी शतानीकने कुपित होकर अपने अश्वहीन रथपर खड़े रहकर ही आपके पुत्रके ऊपर गदाका प्रहार किया ॥ १४ ॥

सा कृत्वा स्यन्दनं भस्म हयांश्चैव ससारथीन्।
पपात धरणीं तूर्णं दारयन्तीव भारत ॥ १५ ॥

भारत ! वह गदा तुरंत ही श्रुतकर्माके रथ, घोड़ों और सारथिको भस्म करके पृथ्वीको विदीर्ण करती हुई-सी गिर पड़ी ॥ १५ ॥

तावुभौ विरथौ वीरौ कुरूणां कीर्तिवर्धनौ।
व्यपाक्रमेतां युद्धात्तु प्रेक्षमाणौ परस्परम् ॥ १६ ॥

कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले वे दोनों वीर रथहीन हो एक दूसरेको देखते हुए युद्धस्थलसे हट गये ॥ १६ ॥

पुत्रस्तु तव सम्भ्रान्तो विवित्सो रथमारुहत्।
शतानीकोऽपि त्वरितः प्रतिविन्ध्यरथं गतः ॥ १७ ॥

आपका पुत्र श्रुतकर्मा घबरा गया था। वह विवित्सुके रथपर जा चढ़ा और शतानीक भी तुरंत ही प्रतिविन्ध्यके रथपर चला गया ॥ १७ ॥

सुतसोमं तु शकुनिर्विद्ध्वा तु निशितैः शरैः।
नाकम्पयत संक्रुद्धो वार्योघ इव पर्वतम् ॥ १८ ॥

दूसरी ओर शकुनि अत्यन्त कुपित हो अपने तीखे बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी उसे विचलित न कर सका। ठीक उसी तरह, जैसे जलका प्रवाह पर्वतको नहीं हिला सकता ॥ १८ ॥

सुतसोमस्तु तं दृष्ट्वा पितुरत्यन्तवैरिणम्।
शरैरनेकसाहस्रैश्छादयामास भारत ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! सुतसोमने अपने पिताके अत्यन्त वैरी शकुनिको सामने देखकर उसे कई हजार बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १९ ॥

ताञ्शराञ्शकुनिस्तूर्णं चिच्छेदान्यैः पतत्रिभिः।
लघ्वस्त्रश्चित्रयोधी च जितकाशी च संयुगे ॥ २० ॥
निवार्य समरे चापि शरांस्तान् निशितैः शरैः।
आजघान सुसंक्रुद्धः सुतसोमं त्रिभिः शरैः ॥ २१ ॥

परंतु शकुनिने तुरंत ही दूसरे बाणोंद्वारा सुतसोमके बाणोंको काट डाला। वह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला, विचित्र युद्धमें कुशल और युद्धस्थलमें विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाला था। उसने समराङ्गणमें अपने तीखे बाणोंसे सुतसोमके बाणोंका निवारण करके अत्यन्त कुपित हो तीन बाणोंद्वारा सुतसोमको भी घायल कर दिया ॥ २०-२१ ॥

तस्याश्वान् केतनं सूतं तिलशो व्यधमच्छरैः।
स्यालस्तव महाराज तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ २२ ॥

महाराज ! आपके सालेने सुतसोमके घोड़ोंको तथा ध्वज और सारथिको भी अपने बाणोंसे तिल-तिल करके काट डाला; इससे सब लोग हर्षसूचक कोलाहल करने लगे ॥

हताश्वो विरथश्चैव छिन्नकेतुश्च मारिष।
धन्वी धनुर्वरं गृह्य रथाद् भूमावतिष्ठत ॥ २३ ॥

मान्यवर ! घोड़े, रथ और ध्वजके नष्ट हो जानेपर धनुर्धर सुतसोम अपने हाथमें श्रेष्ठ धनुष लिये रथसे उतरकर धरतीपर खड़ा हो गया ॥ २३ ॥

व्यसृजत् सायकांश्चैव स्वर्णपुङ्खाञ्शिलाशितान्।
छादयामास समरे तव स्यालस्य तं रथम् ॥ २४ ॥

फिर उसने शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बहुत-से बाण छोड़े। उन बाणोंद्वारा समरभूमिमें उसने आपके सालेके रथको ढक दिया ॥ २४ ॥

शलभानामिव व्रातान्शरव्रातान् महारथः।
रथोपगान् समीक्ष्यैवं विव्यथे नैव सौबलः ॥ २५ ॥
प्रममाथ शरांस्तस्य शरव्रातैर्महायशाः।

उसके बाणसमूह टिड्डीदलोंके समान जान पड़ते थे। उन्हें अपने रथके समीप देखकर भी महारथी सुबलपुत्र शकुनिके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं हुई। उस महायशस्वी वीरने अपने बाणसमूहोंद्वारा सुतसोमके सारे बाणोंको पूर्णतया मथ डाला ॥ २५½ ॥

तत्रातुष्यन्त योधाश्च सिद्धाश्चापि दिवि स्थिताः ॥ २६ ॥
सुतसोमस्य तत् कर्म दृष्ट्वा श्रद्धेयमद्भुतम्।
रथस्थं शकुनिं यस्तु पदातिः समयोधयत् ॥ २७ ॥

सुतसोम जो वहाँ पैदल होकर भी रथपर बैठे हुए शकुनिके साथ युद्ध कर रहा था। उसके इस अविश्वसनीय और अद्भुत कर्मको देखकर वहाँ खड़े हुए समस्त योद्धा तथा आकाशमें स्थित हुए सिद्धगण भी बहुत संतुष्ट हुए ॥२६-२७॥

तस्य तीक्ष्णैर्महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः।
व्यहनत् कार्मुकं राजंस्तूणीरांश्चैव सर्वशः ॥ २८ ॥

राजन् ! उस समय शकुनिने अत्यन्त वेगशाली और झुकी हुई गाँठवाले तीखे भल्लोंद्वारा सुतसोमके धनुष, तरकस तथा अन्य सब उपकरणोंको भी नष्ट कर दिया ॥ २८ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः खड्गमुद्यम्य चानदत्।
वैदूर्योत्पलवर्णाभं दन्तिदन्तमयत्सरुम् ॥ २९ ॥

रथ तो नष्ट हो ही चुका था, जब धनुष भी कट गया, तब सुतसोमने वैदूर्यमणि तथा नील कमलके समान श्याम रंगवाले, हाथीके दाँतकी बनी हुई मूठसे युक्त खड्गको ऊपर उठाकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २९ ॥

भ्राम्यमाणं ततस्तं तु विमलाम्बरवर्चसम्।
कालदण्डोपमं मेने सुतसोमस्य धीमतः ॥ ३० ॥

बुद्धिमान् सुतसोमके उस निर्मल आकाशके समान कान्तिवाले खड्गको घुमाया जाता देख शकुनिने उसे अपने लिये कालदण्डके समान माना ॥ ३० ॥

सोऽचरत् सहसा खड्गी मण्डलानि समन्ततः।
चतुर्दश महाराज शिक्षाबलसमन्वितः ॥ ३१ ॥

महाराज ! सुतसोम शिक्षा और बल दोनोंसे सम्पन्न था, वह खड्ग लेकर सहसा उसके चौदह मण्डल (पैंतरे) दिखाता हुआ रणभूमिमें सब ओर विचरने लगा ॥ ३१ ॥

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं विप्लुतं सृतम्।
सम्पातसमुदीर्णे च दर्शयामास संयुगे ॥ ३२ ॥

उसने युद्धस्थलमें भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, प्लुत, सृत, सम्पात और समुदीर्ण आदि गतियोंको दिखाया॥

सौबलस्तु ततस्तस्य शरांश्चिक्षेप वीर्यवान्।
तानापतत एवाशु चिच्छेद परमासिना ॥ ३३ ॥

तब पराक्रमी सुबलपुत्रने सुतसोमपर बहुत-से बाण चलाये; परंतु उसने अपने उत्तम खड्गसे निकट आते ही उन सब बाणोंको काट गिराया ॥ ३३ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज सौबलः परवीरहा।
प्राहिणोत् सुतसोमाय शरानाशीविषोपमान् ॥ ३४ ॥

महाराज ! इससे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुबलपुत्र शकुनिको बड़ा क्रोध हुआ। उसने सुतसोमपर विषधर सर्पोंके समान बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३४ ॥

चिच्छेद तांस्तु खड्गेन शिक्षया च बलेन च।
दर्शयँल्लाघवं युद्धे तार्क्ष्यतुल्यपराक्रमः ॥ ३५ ॥

---

१. भ्रान्त, उद्भ्रान्त आदि सात गतियोंको अनुलोम और विलोम-क्रमसे दिखानेपर उनके चौदह भेद हो जाते हैं। भ्रान्त और उद्भ्रान्त आदिकी व्याख्या पहले पृष्ठ ३६९६में की जा चुकी है।

परंतु गरुड़के तुल्य पराक्रमी सुतसोमने अपनी शिक्षा और बलके अनुसार युद्धमें फुर्ती दिखाते हुए खड्गसे उन सब बाणोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३५ ॥

तस्य संचरतो राजन् मण्डलावर्तने तदा।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन खड्गं चिच्छेद सुप्रभम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! सुतसोम जब अपनी चमकीली तलवारको मण्डलाकार घुमा रहा था, उसी समय शकुनिने तीखे क्षुरप्रसे उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ ३६ ॥

स च्छिन्नः सहसा भूमौ निपपात महानसिः।
अर्धमस्य स्थितं हस्ते त्सरुस्तत्र भारत ॥ ३७ ॥

वह महान् खड्ग कटकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। भारत ! सुन्दर मूठवाले उस खड्गका आधा भाग सुतसोमके हाथमें ही रह गया ॥ ३७ ॥

छिन्नमाज्ञाय निस्त्रिंशमवप्लुत्य पदानि षट्।
प्राविध्यत ततः शेषं सुतसोमो महारथः ॥ ३८ ॥

अपने उस खड्गको कटा हुआ जान महारथी सुतसोमने छः पग ऊँचे उछलकर उसके शेष भागको ही शकुनिपर दे मारा ॥ ३८ ॥

तच्छित्त्वा सगुणं चापं रणे तस्य महात्मनः।
पपात धरणीं तूर्णं स्वर्णवज्रविभूषितम् ॥ ३९ ॥

वह स्वर्ण और हीरेसे विभूषित कटा हुआ खड्ग रणभूमिमें महामना शकुनिके धनुषको प्रत्यञ्चासहित काटकर तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

सुतसोमस्ततोऽगच्छच्छ्रुतकीर्तेर्महारथम्।
सौबलोऽपि धनुर्गृह्य घोरमन्यत् सुदुर्जयम् ॥ ४० ॥
अभ्ययात् पाण्डवानीकं निघ्नञ्शत्रुगणान् बहून्।

तत्पश्चात् सुतसोम श्रुतकीर्तिके विशाल रथपर चढ़ गया। उधर शकुनि भी दूसरा अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर धनुष लेकर बहुत-से शत्रुओंका संहार करता हुआ पाण्डव-सेनाकी ओर चल दिया ॥ ४०½ ॥

तत्र नादो महानासीत् पाण्डवानां विशाम्पते ॥ ४१ ॥
सौबलं समरे दृष्ट्वा विचरन्तमभीतवत्।

प्रजानाथ ! सुबलपुत्र शकुनिको समरभूमिमें निर्भय-से विचरते देख पाण्डव-दलमें महान् सिंहनाद होने लगा ॥४१½॥

तान्यनीकानि दृप्तानि शस्त्रवन्ति महान्ति च ॥ ४२ ॥
द्राव्यमाणान्यदृश्यन्त सौबलेन महात्मना।

महामना शकुनिने घमंडमें भरे हुए उन शस्त्रसम्पन्न महान् सैनिकोंको भगा दिया। यह सब हमने अपनी आँखों देखा ॥

यथा दैत्यचमूं राजन् देवराजो ममर्द ह।
तथैव पाण्डवीं सेनां सौबलेयो व्यनाशयत् ॥ ४३ ॥

राजन् ! जिस प्रकार देवराज इन्द्रने दैत्योंकी सेनाको कुचल दिया था, उसी प्रकार सुबलपुत्र शकुनिने पाण्डव-सेनाका विनाश कर डाला ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि सुतसोमसौबलयुद्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें सुतसोम और शकुनिका युद्धविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

कृपाचार्यसे धृष्टद्युम्नका भय तथा कृतवर्माके द्वारा शिखण्डीकी पराजय

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नं कृपो राजन् वारयामास संयुगे।
यथा दृष्ट्वा वने सिंहं शरभो वारयेद् युधि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कृपाचार्यने धृष्टद्युम्नको आक्रमण करते देख युद्धभूमिमें उसी प्रकार उन्हें आगे बढ़नेसे रोका, जैसे वनमें शरभ[1] सिंहको रोक देता है ॥ १ ॥

निरुद्धः पार्षतस्तेन गौतमेन बलीयसा।
पदात् पदं विचलितुं नाशकत्तत्र भारत ॥ २ ॥

भारत ! अत्यन्त बलवान् गौतम-गोत्रीय कृपाचार्यसे अवरुद्ध होकर धृष्टद्युम्न एक पग भी चलनेमें समर्थ न हो सका॥

गौतमस्य रथं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नरथं प्रति।
वित्रेसुः सर्वभूतानि क्षयं प्राप्तं च मेनिरे ॥ ३ ॥

कृपाचार्यके रथको धृष्टद्युम्नके रथकी ओर जाते देख समस्त प्राणी भयसे थर्रा उठे और धृष्टद्युम्नको नष्ट हुआ ही मानने लगे ॥ ३ ॥

तत्रावोचन् विमनसो रथिनः सादिनस्तथा।
द्रोणस्य निधनान्नूनं संक्रुद्धो द्विपदां वरः ॥ ४ ॥
शारद्वतो महातेजा दिव्यास्त्रविदुदारधीः।
अपि स्वस्ति भवेदद्य धृष्टद्युम्नस्य गौतमात् ॥ ५ ॥

वहाँ सभी रथी और घुड़सवार उदास होकर कहने लगे कि 'निश्चय ही द्रोणाचार्यके मारे जानेसे दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, उदारबुद्धि, महातेजस्वी, नरश्रेष्ठ, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त कुपित हो उठे होंगे। क्या आज कृपाचार्यसे धृष्टद्युम्न कुशलपूर्वक सुरक्षित रह सकेंगे ? ॥ ४-५ ॥

अपीयं वाहिनी कृत्स्ना मुच्येत महतो भयात्।
अप्ययं ब्राह्मणः सर्वान् न नो हन्यात् समागतान् ॥६॥

---

१. शरभ आठ पैरोंका एक जानवर है, जिसका आधा शरीर पशुका और आधा पक्षीका होता है। भगवान् नृसिंहकी भाँति उसका शरीर भी द्विविध आकृतियोंके सम्मिश्रणसे बना है। वह इतना प्रबल है कि सिंहको भी मार सकता है।

'क्या यह सारी सेना महान् भयसे मुक्त हो सकती है ? कहीं ऐसा न हो कि ये ब्राह्मण देवता यहाँ आये हुए हम सब लोगोंका वध कर डालें ?' ॥ ६ ॥

यादृशं दृश्यते रूपमन्तकप्रतिमं भृशम् ।
गमिष्यत्यद्य पदवीं भारद्वाजस्य गौतमः ॥ ७ ॥

'इनका यमराजके समान जैसा अत्यन्त भयंकर रूप दिखायी देता है, उससे जान पड़ता है, आज कृपाचार्य भी द्रोणाचार्यके पथपर ही चलेंगे ॥ ७ ॥

आचार्यः क्षिप्रहस्तश्च विजयी च सदा युधि ।
अस्त्रवान् वीर्यसम्पन्नः क्रोधेन च समन्वितः ॥ ८ ॥

'कृपाचार्य शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले तथा युद्धमें सर्वथा विजय प्राप्त करनेवाले हैं। वे अस्त्रवेत्ता, पराक्रमी और क्रोधसे युक्त हैं ॥ ८ ॥

पार्षतश्च महायुद्धे विमुखोऽद्याभिलक्ष्यते ।
इत्येवं विविधा वाचस्तावकानां परैः सह ॥ ९ ॥
व्यश्रूयन्त महाराज तयोस्तत्र समागमे ।

'आज इस महायुद्धमें धृष्टद्युम्न विमुख होता दिखायी देता है।' महाराज ! इस प्रकार वहाँ धृष्टद्युम्न और कृपाचार्यका समागम होनेपर आपके सैनिकोंकी शत्रुओंके साथ होनेवाली नाना प्रकारकी बातें सुनायी देने लगीं ॥ ९½ ॥

विनिःश्वस्य ततः क्रोधात् कृपः शारद्वतो नृप ॥ १० ॥
पार्षतं चार्दयामास निश्चेष्टं सर्वमर्मसु ।

नरेश्वर ! तदनन्तर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने क्रोधसे लंबी साँस खींचकर निश्चेष्ट खड़े हुए धृष्टद्युम्नके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १०½ ॥

स हन्यमानः समरे गौतमेन महात्मना ॥ ११ ॥
कर्तव्यं न स्म जानाति मोहेन महताऽऽवृतः ।

समराङ्गणमें महामना कृपाचार्यके द्वारा आहत होनेपर भी धृष्टद्युम्नको कोई कर्तव्य नहीं सूझता था। वे महान् मोहसे आच्छन्न हो गये थे ॥ ११½ ॥

तमब्रवीत्ततो यन्ता कच्चित् क्षेमं तु पार्षत ॥ १२ ॥
ईदृशं व्यसनं युद्धे न ते दृष्टं मया क्वचित् ।

तब उनके सारथिने उनसे कहा—'द्रुपदनन्दन ! कुशल तो है न ? युद्धमें आपपर कभी ऐसा संकट आया हो, यह मैंने नहीं देखा है ॥ १२½ ॥

दैवयोगात्तु ते बाणा नापतन् मर्मभेदिनः ॥ १३ ॥
प्रेषिता द्विजमुख्येन मर्माण्युद्दिश्य सर्वतः ।

'द्विजश्रेष्ठ कृपाचार्यने सब ओरसे आपके मर्मस्थानोंको लक्ष्य करके बाण चलाये थे; परंतु दैवयोगसे ही वे मर्मभेदी बाण आपके मर्मस्थानोंपर नहीं पड़े हैं ॥ १३½ ॥

व्यावर्तये रथं तूर्णं नदीवेगमिवार्णवात् ॥ १४ ॥
अवध्यं ब्राह्मणं मन्ये येन ते विक्रमो हतः ।

'जैसे कोई शक्तिशाली पुरुष समुद्रसे नदीके वेगको पीछे लौटा दे, उसी प्रकार मैं आपके इस रथको तुरंत लौटा ले चलूँगा। मेरी समझमें ये ब्राह्मण देवता अवध्य हैं, जिनसे आज आपका पराक्रम प्रतिहत हो गया' ॥ १४½ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजञ्शनकैरब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥
मुह्यते मे मनस्तात गात्रस्वेदश्च जायते ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च सारथे ॥ १६ ॥

राजन् ! यह सुनकर धृष्टद्युम्नने धीरेसे कहा—'सारथे ! मेरे मनपर मोह छा रहा है और शरीरसे पसीना छूटने लगा है। मेरे सारे अङ्ग काँप रहे हैं और रोमाञ्च हो आया है ॥

वर्जयन् ब्राह्मणं युद्धे शनैर्याहि यतोऽर्जुनः ।
अर्जुनं भीमसेनं वा समरे प्राप्य सारथे ॥ १७ ॥
क्षेममद्य भवेदेवमेषा मे नैष्ठिकी मतिः ।

'तुम युद्धस्थलमें ब्राह्मण कृपाचार्यको छोड़ते हुए धीरे-धीरे जहाँ अर्जुन हैं, उसी ओर चल दो। समराङ्गणमें अर्जुन अथवा भीमसेनके पास पहुँचकर ही आज मैं सकुशल रह सकता हूँ, ऐसा मेरा दृढ़ विचार है' ॥ १७½ ॥

ततः प्रायान्महाराज सारथिस्त्वरयन् हयान् ॥ १८ ॥
यतो भीमो महेष्वासो युयुधे तव सैनिकैः ।

महाराज ! तब सारथि घोड़ोंको तेजीसे हाँकता हुआ उसी ओर चल दिया जहाँ महाधनुर्धर भीमसेन आपके सैनिकोंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १८½ ॥

प्रद्रुतं च रथं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नस्य मारिष ॥ १९ ॥
किरञ्शतशतान्येव गौतमोऽनुययौ तदा ।

मान्यवर नरेश ! धृष्टद्युम्नके रथको वहाँसे भागते देख कृपाचार्यने सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका पीछा किया ॥

शङ्खं च पूरयामास मुहुर्मुहुररिंदमः ॥ २० ॥
पार्षतं त्रासयामास महेन्द्रो नमुचिं यथा ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले कृपाचार्यने बारंबार शङ्खध्वनि की और जैसे इन्द्रने नमुचिको डराया था, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नको भयभीत कर दिया ॥ २०½ ॥

शिखण्डिनं तु समरे भीष्ममृत्युं दुरासदम् ॥ २१ ॥
हार्दिक्यो वारयामास स्मयन्निव मुहुर्मुहुः ।

दूसरी ओर समराङ्गणमें दुर्जय वीर शिखण्डीको, जो भीष्मके लिये मृत्युस्वरूप था, कृतवर्माने बारंबार मुस्कराते हुए-से रोका ॥ २१½ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य हृदिकानां महारथम् ॥ २२ ॥
पञ्चभिर्निशितैर्भल्लैर्जत्रुदेशे समाहनत् ।

हृदिकवंशी यादवोंके महारथी वीर कृतवर्माको सामने पाकर शिखण्डीने उसके गलेकी हँसलीपर पाँच तीखे भल्लोंद्वारा प्रहार किया ॥ २२½ ॥

कृतवर्मा तु संक्रुद्धो भित्त्वा षष्ट्या पतत्रिभिः ॥ २३ ॥

धनुरेकेन चिच्छेद हसन् राजन् महारथः।

राजन्! तब महारथी कृतवर्माने अत्यन्त कुपित हो साठ बाणोंसे शिखण्डीको घायल करके एकसे हँसते-हँसते उसका धनुष काट डाला ॥ २३½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय द्रुपदस्यात्मजो बली ॥ २४ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति संक्रुद्धो हार्दिक्यं प्रत्यभाषत।

तत्पश्चात् द्रुपदके बलवान् पुत्रने दूसरा धनुष हाथमें लेकर कृतवर्मासे क्रोधपूर्वक कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥

ततोऽस्य नवतिं बाणान् रुक्मपुङ्खान् सुतेजनान् ॥ २५ ॥
प्रेषयामास राजेन्द्र तेऽस्याभ्रश्यन्त वर्मणः।

राजेन्द्र! फिर सोनेकी पाँखवाले नब्बे पैने बाण उसने चलाये, परंतु वे कृतवर्माके कवचसे फिसलकर गिर गये॥

वितथांस्तान् समालक्ष्य पतितांश्च महीतले ॥ २६ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन कार्मुकं चिच्छिदे भृशम्।

उन्हें व्यर्थ होकर पृथ्वीपर गिरा देख शिखण्डीने तीखे क्षुरप्रसे कृतवर्माके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २६½ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं भग्नशृङ्गमिवर्षभम् ॥ २७ ॥
अशीत्या मार्गणैः क्रुद्धो बाह्वोरुरसि चार्पयत्।

धनुष कट जानेपर कृतवर्माकी दशा टूटे सींगवाले बैलके समान हो गयी। उस समय शिखण्डीने कुपित होकर उसकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें अस्सी बाण मारे ॥ २७½ ॥

कृतवर्मा तु संक्रुद्धो मार्गणैः क्षतविक्षतः ॥ २८ ॥
ववाम रुधिरं गात्रैः कुम्भवक्त्रादिवोदकम्।

कृतवर्मा उन बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अत्यन्त कुपित हो उठा और जैसे घड़ेके मुँहसे जल गिर रहा हो, उसी प्रकार वह अपने अङ्गोंसे रक्त वमन करने लगा ॥ २८½ ॥

रुधिरेण परिक्लिन्नः कृतवर्मा त्वराजत ॥ २९ ॥
वर्षेण क्लेदितो राजन् यथा गैरिकपर्वतः।

राजन्! खूनसे लथपथ हुआ कृतवर्मा वर्षासे भीगे हुए गेरूके पहाड़के समान शोभा पा रहा था ॥ २९½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय समार्गणगुणं प्रभुः ॥ ३० ॥
शिखण्डिनं बाणगणैः स्कन्धदेशे व्यताडयत्।

तदनन्तर शक्तिशाली कृतवर्माने बाण और प्रत्यञ्चासहित दूसरा धनुष हाथमें लेकर शिखण्डीके कंधोंपर अपने बाणसमूहोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३०½ ॥

स्कन्धदेशस्थितैर्बाणैः शिखण्डी तु व्यराजत ॥ ३१ ॥
शाखाप्रशाखाविपुलः सुमहान् पादपो यथा।

कंधोंमें धँसे हुए उन बाणोंसे शिखण्डी वैसी ही शोभा पाने लगा, जैसे कोई महान् वृक्ष अपनी शाखा-प्रशाखाओंके कारण अधिक विस्तृत दिखायी देता हो ॥ ३१½ ॥

तावन्योन्यं भृशं विद्ध्वा रुधिरेण समुक्षितौ ॥ ३२ ॥
(पोप्लूयमानौ हि यथा महान्तौ शोणितह्रदे।)

वे दोनों महान् वीर एक दूसरेको अत्यन्त घायल करके खूनसे इस प्रकार नहा गये थे, मानो रक्तके सरोवरमें बारंबार डुबकी लगाकर आये हों ॥ ३२ ॥

अन्योन्यशृङ्गाभिहतौ रेजतुर्वृषभाविव।

उस समय एक दूसरेके सींगोंसे चोट खाये हुए दो साँड़के समान उन दोनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३२½ ॥

अन्योन्यस्य वधे यत्नं कुर्वाणौ तौ महारथौ ॥ ३३ ॥
रथाभ्यां चेरतुस्तत्र मण्डलानि सहस्रशः।

एक दूसरेके वधके लिये प्रयत्न करते हुए वे दोनों महारथी अपने रथके द्वारा वहाँ सहस्रों बार मण्डलाकार गतिसे विचरते थे ॥ ३३½ ॥

कृतवर्मा महाराज पार्षतं निशितैः शरैः ॥ ३४ ॥
रणे विव्याध सप्तत्या स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः।

महाराज! कृतवर्माने रणभूमिमें सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पङ्खवाले सत्तर बाणोंसे द्रुपदपुत्र शिखण्डीको घायल कर दिया ॥ ३४½ ॥

ततोऽस्य समरे बाणं भोजः प्रहरतां वरः ॥ ३५ ॥
जीवितान्तकरं घोरं व्यसृजत्त्वरयान्वितः।

तत्पश्चात् प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ कृतवर्माने उसके ऊपर समराङ्गणमें बड़ी उतावलीके साथ एक भयंकर प्राणान्तकारी बाण छोड़ा ॥ ३५½ ॥

स तेनाभिहतो राजन् मूर्च्छामाशु समाविशत् ॥ ३६ ॥
ध्वजयष्टिं च सहसा शिश्रिये कश्मलावृतः।

राजन्! उस बाणसे आहत हो शिखण्डी तत्काल मूर्छित हो गया। उसने सहसा मोहाच्छन्न होकर ध्वजदण्डका सहारा ले लिया ॥ ३६½ ॥

अपोवाह रणात्तूर्णं सारथी रथिनां वरम् ॥ ३७ ॥
हार्दिक्यशरसंतप्तं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।

कृतवर्माके बाणोंसे संतप्त हो बारंबार लंबी साँस खींचते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीको उसका सारथि तुरंत रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥ ३७½ ॥

पराजिते ततः शूरे द्रुपदस्यात्मजे प्रभो।
व्यद्रवत् पाण्डवी सेना वध्यमाना समन्ततः ॥ ३८ ॥

प्रभो! शूरवीर द्रुपदपुत्रके पराजित हो जानेपर सब ओरसे मारी जाती हुई पाण्डव-सेना भागने लगी ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुल-युद्धविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा राजा श्रुतंजय, सौश्रुति, चन्द्रदेव और सत्यसेन आदि महारथियोंका वध एवं संशप्तक-सेनाका संहार

संजय उवाच

श्वेताश्वोऽथ महाराज व्यधमत्तावकं बलम्।
यथा वायुः समासाद्य तूलराशिं समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! एक ओर श्वेतवाहन अर्जुन आपकी सेनाको उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर रहे थे, जैसे वायु रूईके ढेरको पाकर उसे सब ओर बिखेर देती है ॥

प्रत्युद्ययुस्त्रिगर्तास्तं शिबयः कौरवैः सह।
शाल्वाः संशप्तकाश्चैव नारायणबलं च तत् ॥ २ ॥

उस समय उनका सामना करनेके लिये त्रिगर्त, शिबि, कौरवोंसहित शाल्व, संशप्तकगण तथा नारायणी-सेनाके सैनिक आगे बढ़े ॥ २ ॥

सत्यसेनश्चन्द्रदेवो मित्रदेवः श्रुतंजयः।
सौश्रुतिश्चित्रसेनश्च मित्रवर्मा च भारत ॥ ३ ॥
त्रिगर्तराजः समरे भ्रातृभिः परिवारितः।
पुत्रैश्चैव महेष्वासैर्नानाशस्त्रविशारदैः ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! सत्यसेन, चन्द्रदेव, मित्रदेव, श्रुतंजय, सौश्रुति, चित्रसेन तथा मित्रवर्मा—इन सात भाइयों तथा नाना प्रकारके शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल महाधनुर्धर पुत्रोंसे घिरा हुआ त्रिगर्तराज सुशर्मा समराङ्गणमें उपस्थित हुआ ॥३-४॥

ते सृजन्तः शरव्रातान् किरन्तोऽर्जुनमाहवे।
अभ्यवर्तन्त सहसा वार्योघा इव सागरम् ॥ ५ ॥

वे सभी वीर युद्धस्थलमें अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए जैसे जलका प्रवाह समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार सहसा उनके सामने आ पहुँचे ॥ ५ ॥

ते त्वर्जुनं समासाद्य योधाः शतसहस्रशः।
अगच्छन् विलयं सर्वे तार्क्ष्यं दृष्ट्वेव पन्नगाः ॥ ६ ॥

परंतु जैसे गरुड़को देखते ही सर्प अपने प्राण खो देते हैं, उसी प्रकार वे सब-के-सब लाखों योद्धा अर्जुनके पास पहुँचते ही कालके गालमें चले गये ॥ ६ ॥

ते हन्यमानाः समरे नाजहुः पाण्डवं रणे।
हन्यमाना महाराज शलभा इव पावकम् ॥ ७ ॥

जैसे पतङ्ग जलते रहनेपर भी आगमें टूटे पड़ते हैं, उसी प्रकार रणभूमिमें मारे जानेपर भी वे समस्त योद्धा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनको छोड़कर भाग न सके ॥ ७ ॥

सत्यसेनस्त्रिभिर्बाणैर्विव्याध युधि पाण्डवम्।
मित्रदेवस्त्रिषष्ट्या तु चन्द्रदेवस्तु सप्तभिः ॥ ८ ॥
मित्रवर्मा त्रिसप्तत्या सौश्रुतिश्चापि सप्तभिः।
श्रुतंजयस्तु विंशत्या सुशर्मा नवभिः शरैः ॥ ९ ॥

सत्यसेनने तीन, मित्रदेवने तिरसठ, चन्द्रदेवने सात, मित्रवर्माने तिहत्तर, सौश्रुतिने सात, श्रुतंजयने बीस तथा सुशर्माने नौ बाणोंसे युद्धस्थलमें पाण्डुपुत्र अर्जुनको बींध डाला ॥

स विद्धो बहुभिः संख्ये प्रतिविव्याध तान् नृपान्।
सौश्रुतिं सप्तभिर्विद्ध्वा सत्यसेनं त्रिभिः शरैः ॥ १० ॥

इस प्रकार रणभूमिमें बहुसंख्यक योद्धाओंद्वारा घायल किये जानेपर बदलेमें अर्जुनने भी उन सभी नरेशोंको क्षत-विक्षत कर दिया। उन्होंने सौश्रुतिको सात बाणोंसे घायल करके सत्यसेनको तीन बाण मारे ॥ १० ॥

श्रुतंजयं च विंशत्या चन्द्रदेवं तथाष्टभिः।
मित्रदेवं शतेनैव श्रुतसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ११ ॥
नवभिर्मित्रवर्माणं सुशर्माणं तथाष्टभिः।

श्रुतंजयको बीस, चन्द्रदेवको आठ, मित्रदेवको सौ, श्रुतसेन (चित्रसेन) को तीन, मित्रवर्माको नौ तथा सुशर्माको आठ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ११½ ॥

श्रुतंजयं च राजानं हत्वा तत्र शिलाशितैः ॥ १२ ॥
सौश्रुतेः सशिरस्त्राणं शिरः कायादपाहरत्।
त्वरितश्चन्द्रदेवं च शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ १३ ॥

फिर सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कई बाणोंसे राजा श्रुतंजयका वध करके सौश्रुतिके शिरस्त्राणसहित सिरको धड़से अलग कर दिया। फिर तुरंत ही चन्द्रदेवको भी अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ १२-१३ ॥

तथेतरान् महाराज यतमानान् महारथान्।
पञ्चभिः पञ्चभिर्बाणैरेकैकं प्रत्यवारयत् ॥ १४ ॥

महाराज ! इसी प्रकार विजयके लिये प्रयत्नशील अन्य महारथियोंमेंसे प्रत्येकको पाँच-पाँच बाण मारकर रोक दिया ॥

सत्यसेनस्तु संक्रुद्धस्तोमरं व्यसृजन्महत्।
समुद्दिश्य रणे कृष्णं सिंहनादं ननाद च ॥ १५ ॥

तब सत्यसेनने अत्यन्त कुपित होकर रणभूमिमें श्रीकृष्णको लक्ष्य करके एक विशाल तोमरका प्रहार किया और सिंहके समान गर्जना की ॥ १५ ॥

स निर्भिद्य भुजं सव्यं माधवस्य महात्मनः।
अयस्मयो हेमदण्डो जगाम धरणीं तदा ॥ १६ ॥

सुवर्णमय दण्डवाला वह लोहनिर्मित तोमर महात्मा श्रीकृष्णकी बायीं भुजापर चोट करके तत्काल धरतीपर गिर पड़ा ॥

माधवस्य तु विद्धस्य तोमरेण महारणे।
प्रतोदः प्रापतद्धस्ताद् रश्मयश्च विशाम्पते ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! उस महासमरमें तोमरसे घायल हुए श्रीकृष्णके हाथसे चाबुक और बागडोर गिर पड़ी ॥ १७ ॥

वासुदेवं विभिन्नाङ्गं दृष्ट्वा पार्थो धनंजयः।

क्रोधमाहारयत्तीव्रं कृष्णं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णके शरीरमें घाव देखकर कुन्तीकुमार अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ । वे उनसे इस प्रकार बोले ॥ १८ ॥

प्रापयाश्वान् महाबाहो सत्यसेनं प्रति प्रभो ।
यावदेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ १९ ॥

'प्रभो ! महाबाहो ! आप घोड़ोंको सत्यसेनके निकट पहुँचाइये । मैं अपने तीखे बाणोंसे पहले इसीको यमलोक भेज दूँगा' ॥ १९ ॥

प्रतोदं गृह्य सोऽन्यत्तु रश्मीनपि यथा पुरा ।
वाहयामास तानश्वान् सत्यसेनरथं प्रति ॥ २० ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने दूसरा चाबुक लेकर पूर्ववत् घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और उन घोड़ोंको सत्यसेनके रथके समीप पहुँचा दिया ॥ २० ॥

विष्वक्सेनं तु निर्भिन्नं दृष्ट्वा पार्थो धनंजयः ।
सत्यसेनं शरैस्तीक्ष्णैर्वारयित्वा महारथः ॥ २१ ॥
ततः सुनिशितैर्भल्लै राज्ञस्तस्य महच्छिरः ।
कुण्डलोपचितं कायाच्चकर्त पृतनान्तरे ॥ २२ ॥

कुन्तीकुमार महारथी अर्जुनने श्रीकृष्णको घायल हुआ देख सत्यसेनको तीखे बाणोंसे रोककर तेज धारवाले भल्लोंसे सेनाके मध्यभागमें उस राजकुमारके कुण्डल-मण्डित महान् मस्तकको धड़से काट डाला ॥ २१–२२ ॥

तन्निकृत्य शितैर्बाणैर्मित्रवर्माणमाक्षिपत् ।
वत्सदन्तेन तीक्ष्णेन सारथिं चास्य मारिष ॥ २३ ॥

मान्यवर ! सत्यसेनको मारकर तीखे बाणोंद्वारा मित्रवर्माको और एक पैने वत्सदन्तसे उसके सारथिको भी मार गिराया॥

ततः शरशतैर्भूयः संशप्तकगणान् बली
पातयामास संक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः॥२४॥

तदनन्तर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् अर्जुनने पुनः हजारों और सैकड़ों संशप्तकगणोंको सैकड़ों बाणोंसे मारकर धरतीपर सुला दिया ॥ २४ ॥

ततो रजतपुङ्खेन राजञ्शीर्षं महात्मनः ।
मित्रदेवस्य चिच्छेद क्षुरप्रेण महारथः ॥ २५ ॥

राजन्! फिर महारथी धनंजयने रजतमय पंखवाले क्षुरप्रसे महामना मित्रदेवके मस्तकको काट डाला ॥ २५ ॥

सुशर्माणं सुसंक्रुद्धो जत्रुदेशे समाहनत् ।
ततः संशप्तकाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ २६ ॥
शस्त्रौघैर्ममृदुः क्रुद्धा नादयन्तो दिशो दश ।

साथ ही अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनने सुशर्माके गलेकी हँसलीपर भी गहरी चोट पहुँचायी । फिर तो क्रोधमें भरे हुए सभी संशप्तक दसों दिशाओंको अपनी गर्जनासे प्रतिध्वनित करते हुए अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा पीड़ा देने लगे ॥ २६½ ॥

अभ्यर्दितस्तु तैर्जिष्णुः शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ २७ ॥
ऐन्द्रमस्त्रममेयात्मा प्रादुश्चक्रे महारथः ।

उनसे पीड़ित होकर इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी अर्जुनने ऐन्द्रास्त्र प्रकट किया ॥

ततः शरसहस्राणि प्रादुरासन् विशाम्पते ॥ २८ ॥
ध्वजानां छिद्यमानानां कार्मुकाणां च मारिष ।
रथानां सपताकानां तूणीराणां युगैः सह ॥ २९ ॥
अक्षाणामथ चक्राणां योक्त्राणां रश्मिभिः सह ।
कूबराणां वरूथानां पृषत्कानां च संयुगे ॥ ३० ॥
अश्वानां पततां चापि प्रासानामृष्टिभिः सह ।
गदानां परिघानां च शक्तितोमरपट्टिशैः ॥ ३१ ॥
शतघ्नीनां सचक्राणां भुजानां चोरुभिः सह ।
कण्ठसूत्राङ्गदानां च केयूराणां च मारिष ॥ ३२ ॥
हाराणामथ निष्काणां तनुत्राणां च भारत ।
छत्राणां व्यजनानां च शिरसां मुकुटैः सह ॥ ३३ ॥
अश्रूयत महाञ्शब्दस्तत्र तत्र विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! फिर तो वहाँ हजारों बाण प्रकट होने लगे । माननीय भरतवंशी प्रजापालक नरेश ! उस समय कट-कटकर गिरनेवाले ध्वज, धनुष, रथ, पताका, तरकस, जूए, धुरे, पहिये, जोत, बागडोर, कूबर, वरूथ (रथका चर्ममय आवरण), बाण, घोड़े, प्रास, ऋष्टि, गदा, परिघ, शक्ति, तोमर, पट्टिश, चक्रयुक्त शतघ्नी, बाँह-जाँघ, कण्ठसूत्र, अङ्गद, केयूर, हार, निष्क, कवच, छत्र, व्यजन और मुकुटसहित मस्तकोंका महान् शब्द युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ सब ओर सुनायी देने लगा ॥ २८–३३½ ॥

सकुण्डलानि स्वक्षीणि पूर्णचन्द्रनिभानि च ॥ ३४ ॥
शिरांस्युर्व्यामदृश्यन्त ताराजालमिवाम्बरे ।

पृथ्वीपर गिरे हुए कुण्डल और सुन्दर नेत्रोंसे युक्त पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मस्तक आकाशमें ताराओंके समूहकी भाँति दिखायी देते थे ॥ ३४½ ॥

सुस्रग्वीणि सुवासांसि चन्दनेनोक्षितानि च ॥ ३५ ॥
शरीराणि व्यदृश्यन्त निहतानां महीतले ।

वहाँ मारे गये राजाओंके सुन्दर हारोंसे सुशोभित, उत्तम वस्त्रोंसे सम्पन्न तथा चन्दनसे चर्चित शरीर पृथ्वीपर पड़े देखे जाते थे ॥ ३५½ ॥

गन्धर्वनगराकारं घोरमायोधनं तदा ॥ ३६ ॥
निहतै राजपुत्रैश्च क्षत्रियैश्च महाबलैः ।

उस समय वहाँ मारे गये राजकुमारों तथा महाबली क्षत्रियोंकी लाशोंसे वह युद्धस्थल गन्धर्वनगरके समान भयानक जान पड़ता था ॥ ३६½ ॥

हस्तिभिः पतितैश्चैव तुरङ्गैश्चाभवन्मही ॥ ३७ ॥
अगम्यरूपा समरे विशीर्णैरिव पर्वतैः ।

समराङ्गणमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान धरा-

अर्जुनके द्वारा मित्रसेनका शिरश्छेद

[illegible]

शायी हुए हाथियों और घोड़ोंके कारण वहाँकी भूमिपर चलना-फिरना असम्भव हो गया था ॥ ३७½ ॥

नासीच्चक्रपथस्तत्र पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥
निघ्नतः शात्रवान् भल्लैर्हस्त्यश्वं चास्यतो महत् ।

अपने भल्लोंसे शत्रुसैनिकों तथा उनके हाथी-घोड़ेके महान् समुदायको मारते-गिराते हुए महामना पाण्डुकुमार अर्जुनके रथके पहियोंके लिये मार्ग नहीं मिलता था ॥३८½॥

आतङ्कादिव सीदन्ति रथचक्राणि मारिष ॥ ३९ ॥
चरतस्तस्य संग्रामे तस्मिँल्लोहितकर्दमे ।

मान्यवर ! उस संग्राममें रक्तकी कीच मच गयी थी। उसमें विचरते हुए अर्जुनके रथके पहिये मानो भयसे शिथिल होते जा रहे थे ॥ ३९½ ॥

सीदमानानि चक्राणि समूहुस्तुरगा भृशम् ॥ ४० ॥
श्रमेण महता युक्ता मनोमारुतरंहसः ।

मन और वायुके समान वेगशाली घोड़े भी वहाँ धँसते हुए पहियोंको बड़े परिश्रमसे खींच पाते थे ॥ ४०½ ॥

वध्यमानं तु तत् सैन्यं पाण्डुपुत्रेण धन्विना ॥ ४१ ॥
प्रायशो विमुखं सर्वं नावतिष्ठत भारत ।

धनुर्धर पाण्डुकुमारकी मार खाकर आपकी वह सारी सेना प्रायः पीठ दिखाकर भाग चली। वहाँ क्षणभरके लिये भी ठहर न सकी ॥ ४१½ ॥

ताञ्जित्वा समरे जिष्णुः संशप्तकगणान् बहून् ॥ ४२ ॥
विरराज तदा पार्थो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ४३ ॥

उस समय समराङ्गणमें उन बहुसंख्यक संशप्तकगणोंको परास्त करके विजयी कुन्तीकुमार अर्जुन धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संशप्तकजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संशप्तकोंकी पराजयविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनका युद्ध, दुर्योधनकी पराजय तथा उभयपक्षकी सेनाओंका अमर्यादित भयंकर संग्राम

संजय उवाच

युधिष्ठिरं महाराज विसृजन्तं शरान् बहून् ।
स्वयं दुर्योधनो राजा प्रत्यगृह्णादभीतवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए युधिष्ठिरका स्वयं राजा दुर्योधनने एक निर्भीक वीरकी भाँति सामना किया ॥ १ ॥

तमापतन्तं सहसा तव पुत्रं महारथम् ।
धर्मराजो द्रुतं विद्ध्वा तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २ ॥

सहसा आते हुए आपके महारथी पुत्रको धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही घायल करके कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २ ॥

स तु तं प्रतिविव्याध नवभिर्निशितैः शरैः ।
सारथिं चास्य भल्लेन भृशं क्रुद्धोऽभ्यताडयत् ॥ ३ ॥

इससे दुर्योधनको बड़ा क्रोध हुआ। उसने युधिष्ठिरको नौ तीखे बाणोंसे बेधकर बदला चुकाया और उनके सारथिपर भी एक भल्लका प्रहार किया ॥ ३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजन् स्वर्णपुङ्खाञ्छिलीमुखान् ।
दुर्योधनाय चिक्षेप त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ४ ॥

राजन् ! तब युधिष्ठिरने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तेरह बाण दुर्योधनपर चलाये ॥ ४ ॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहांस्तस्य हत्वा महारथः ।
पञ्चमेन शिरः कायात् सारथेश्च समाक्षिपत् ॥ ५ ॥

महारथी युधिष्ठिरने उनमेंसे चार बाणोंद्वारा दुर्योधनके चारों घोड़ोंको मारकर पाँचवेंसे उसके सारथिका भी मस्तक धड़से काट गिराया ॥ ५ ॥

षष्ठेन तु ध्वजं राज्ञः सप्तमेन तु कार्मुकम् ।
अष्टमेन तथा खड्गं पातयामास भूतले ॥ ६ ॥

फिर छठे बाणसे राजा दुर्योधनके ध्वजको, सातवेंसे उसके धनुषको और आठवेंसे उसकी तलवारको भी पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६ ॥

पञ्चभिर्नृपतिं चापि धर्मराजोऽर्दयद् भृशम् ।

तदनन्तर पाँच बाणोंसे धर्मराजने राजा दुर्योधनको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ ६½ ॥

हताश्वात्तु रथात्तस्मादवप्लुत्य सुतस्तव ॥ ७ ॥
उत्तमं व्यसनं प्राप्तो भूमावेवावतिष्ठत ।

उस अश्वहीन रथसे कूदकर आपका पुत्र भारी संकटमें पड़नेपर भी वहाँ पृथ्वीपर ही खड़ा रहा (युद्ध छोड़कर भागा नहीं) ॥ ७½ ॥

तं तु कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा कर्णद्रौणिकृपादयः ॥ ८ ॥
अभ्यवर्तन्त सहसा परीप्सन्तो नराधिपम् ।

उसे संकटमें पड़ा देख कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य आदि वीर अपने राजाकी रक्षा चाहते हुए सहसा युधिष्ठिरके सामने आ पहुँचे ॥ ८½ ॥

अथ पाण्डुसुताः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ९ ॥
अन्वयुः समरे राजंस्ततो युद्धमवर्तत ।

राजन् ! तत्पश्चात् समस्त पाण्डव भी युधिष्ठिरको सब

ओरसे घेरकर उनका अनुसरण करने लगे; फिर तो दोनों दलोंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ९½ ॥

ततस्तूर्यसहस्राणि प्रावाद्यन्त महामृधे ॥ १० ॥
ततः किलकिलाशब्दाः प्रादुरासन् महीपते ।

भूपाल ! तदनन्तर उस महासमरमें सहस्रों बाजे बजने लगे और वहाँ किलकिलाहटकी आवाज गूँज उठी ॥ १०½ ॥

यत्राभ्यगच्छन् समरे पञ्चालाः कौरवैः सह ॥ ११ ॥
नरा नरैः समाजग्मुर्वारणा वरवारणैः ।
रथाश्च रथिभिः सार्धं हयाश्च हयसादिभिः ॥ १२ ॥

उस युद्धमें समस्त पाञ्चाल कौरवोंके साथ भिड़ गये। पैदल पैदलोंके, हाथी हाथियोंके, रथी रथियोंके और घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ११-१२ ॥

द्वन्द्वान्यासन् महाराज प्रेक्षणीयानि संयुगे ।
विविधान्यप्यचिन्त्यानि शस्त्रवन्त्युत्तमानि च ॥ १३ ॥

महाराज ! उस रणभूमिमें होनेवाले नाना प्रकारके अचिन्तनीय, शस्त्रयुक्त तथा उत्तम द्वन्द्वयुद्ध देखने ही योग्य थे ॥ १३ ॥

ते शूराः समरे सर्वे चित्रं लघु च सुष्ठु च ।
अयुध्यन्त महावेगाः परस्परवधैषिणः ॥ १४ ॥

वे महान् वेगशाली समस्त शूरवीर समराङ्गणमें एक दूसरेके वधकी इच्छासे विचित्र, शीघ्रतापूर्ण तथा सुन्दर रीतिसे युद्ध करने लगे ॥ १४ ॥

अन्योन्यं समरे जघ्नुर्योधव्रतमनुष्ठिताः ।
न हि ते समरं चक्रुः पृष्ठतो वै कथञ्चन ॥ १५ ॥

वे वीर योद्धाके व्रतका पालन करते हुए युद्धस्थलमें एक दूसरेको मारते थे । उन्होंने किसी तरह भी युद्धमें पीठ नहीं दिखायी ॥ १५ ॥

मुहूर्तमेव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम् ।
तत उन्मत्तवद् राजन् निर्मर्यादमवर्तत ॥ १६ ॥

राजन् ! दो ही घड़ीतक वह युद्ध देखनेमें मधुर जान पड़ा । फिर तो वहाँ उन्मत्तके समान मर्यादाशून्य बर्ताव होने लगा ॥ १६ ॥

रथी नागं समासाद्य दारयन् निशितैः शरैः ।
प्रेषयामास कालाय शरैः संनतपर्वभिः ॥ १७ ॥

रथी हाथीका सामना करके झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा उसे विदीर्ण करते हुए कालके गालमें भेजने लगे ॥

नागा हयान् समासाद्य विक्षिपन्तो बहून् रणे ।
दारयामासुरत्युग्रं तत्र तत्र तदा तदा ॥ १८ ॥

हाथी बहुत-से घोड़ोंको पकड़-पकड़कर रणभूमिमें इधर-उधर फेंकने और विदीर्ण करने लगे । उससे वहाँ उस समय बड़ा भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया ॥ १८ ॥

हयारोहाश्च बहवः परिवार्य गजोत्तमान् ।
तलशब्दरवांश्चक्रुः सम्पतन्तस्ततस्ततः ॥ १९ ॥
धावमानांस्ततस्तांस्तु द्रवमाणान् महागजान् ।
पार्श्वतः पृष्ठतश्चैव निजघ्नुर्हयसादिनः ॥ २० ॥

बहुत-से घुड़सवार उत्तम गजराजोंको चारों ओरसे घेरकर इधर-उधर दौड़ने और ताली पीटने लगे । इससे जब वे विशालकाय हाथी दौड़ने और भागने लगते, तब वे घुड़सवार अगल-बगलसे और पीछेकी ओरसे उनपर बाणोंकी चोट करते थे ॥ १९-२० ॥

विद्राव्य च बहूनश्वान् नागा राजन् मदोत्कटाः ।
विषाणैश्चापरे जघ्नुर्ममृदुश्चापरे भृशम् ॥ २१ ॥

राजन् ! कितने ही मदोन्मत्त हाथी भी बहुत-से घोड़ोंको खदेड़कर उन्हें दाँतोंसे दबाकर मार डालते अथवा वेगपूर्वक पैरोंसे कुचल डालते थे ॥ २१ ॥

साश्वारोहांश्च तुरगान् विषाणैर्विव्यधू रुषा ।
अपरे चिक्षिपुर्वेगात् प्रगृह्यातिबलास्तदा ॥ २२ ॥

कितने ही हाथियोंने रोषमें भरकर सवारोंसहित घोड़ोंको अपने दाँतोंसे विदीर्ण कर डाला तथा कुछ अत्यन्त बलवान् गजराजोंने उन घोड़ोंको पकड़कर वेगपूर्वक दूर फेंक दिया ॥

पादातैराहता नागा विवरेषु समन्ततः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं दुद्रुवुश्च दिशो दश ॥ २३ ॥

प्रहारका अवसर मिलनेपर पैदल सैनिक भी चारों ओरसे हाथियोंको गहरी चोट पहुँचाते और वे घोर आर्तनाद करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग जाते थे ॥ २३ ॥

पदातीनां तु सहसा प्रद्रुतानां महाहवे ।
उत्सृज्याभरणं तूर्णमवप्लुत्य रणाजिरे ॥ २४ ॥
निमित्तं मन्यमानास्तु परिणाम्य महागजाः ।
जगृहुर्बिभिदुश्चैव चित्राण्याभरणानि च ॥ २५ ॥

पैदल सैनिक युद्धस्थलमें अपने आभूषण त्यागकर तुरंत उछल-उछलकर बड़े वेगसे भागने लगे । उस समय सहसा भागते हुए उन पैदलोंके उन विचित्र आभूषणोंको अपने ऊपर प्रहार होनेमें निमित्त मानकर हाथी उन्हें सूँड़से उठा लेते और फिर दाँतोंसे दबाकर फोड़ डालते थे ॥ २४-२५ ॥

तांस्तु तत्र प्रसक्तान् वै परिवार्य पदातयः ।
हस्त्यारोहान् निजघ्नुस्ते महावेगा बलोत्कटाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार आभूषणोंमें उलझे हुए उन हाथियों और उनके सवारोंको चारों ओरसे घेरकर महान् वेगशाली तथा बलोन्मत्त पैदल योद्धा मार डालते थे ॥ २६ ॥

अपरे हस्तिभिर्हस्तैः खं विक्षिप्ता महाहवे ।
निपतन्तो विषाणाग्रैर्भृशं विद्धाः सुशिक्षितैः ॥ २७ ॥

कितने ही पैदल सैनिक उस महासमरमें सुशिक्षित हाथियोंकी सूँड़ोंसे आकाशमें फेंक दिये जाते और उधरसे गिरते समय उन हाथियोंके दन्ताग्रभागोंद्वारा अत्यन्त विदीर्ण कर दिये जाते थे ॥ २७ ॥

अपरे सहसा गृह्य विषाणैरेव सूदिताः ।
सेनान्तरं समासाद्य केचित् तत्र महागजैः ॥ २८ ॥
क्षुण्णगात्रा महाराज विक्षिप्य च पुनः पुनः ।
अपरे व्यजनानीव विभ्राम्य निहता मृधे ॥ २९ ॥

कितने ही योद्धा हाथियोंद्वारा पकड़े जाकर उनके दाँतोंसे ही मार डाले गये । महाराज ! बहुत-से विशालकाय गजराज सेनाके भीतर घुसकर कितने ही पैदलोंको सहसा पकड़कर उनके शरीरोंको बारंबार पटक-झटककर चूर-चूर कर देते और कितनोंको व्यजनोंके समान घुमाकर युद्धमें मार डालते थे ॥ २८-२९ ॥

पुरःसराश्च नागानामपरेषां विशाम्पते ।
शरीराण्यतिविद्धानि तत्र तत्र रणाजिरे ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! जो हाथियोंके आगे चलनेवाले पैदल थे, वे दूसरे पक्षके हाथियोंके शरीरोंको जहाँ-तहाँ रणभूमिमें अत्यन्त घायल कर देते थे ॥ ३० ॥

प्रतिमानेषु कुम्भेषु दन्तवेष्टेषु चापरे ।
निगृहीता भृशं नागाः प्रासतोमरशक्तिभिः ॥ ३१ ॥

कहीं-कहीं पैदल सैनिक प्रास, तोमर और शक्तिद्वारा शत्रुपक्षके हाथियोंके दोनों दाँतोंके बीचके स्थानमें, कुम्भस्थलमें और ओठोंके ऊपर प्रहार करके उन्हें अत्यन्त काबूमें कर लेते थे ॥ ३१ ॥

निगृह्य च गजाः केचित् पार्श्वस्थैर्भृशदारुणैः ।
रथाश्वसादिभिस्तत्र सम्भिन्ना न्यपतन् भुवि ॥ ३२ ॥

कितने ही हाथियोंको अवरुद्ध करके पार्श्वभागमें खड़े हुए अत्यन्त भयंकर रथी और घुड़सवार उन्हें बाणोंसे विदीर्ण कर डालते, जिससे वे हाथी वहीं पृथ्वीपर गिर जाते थे ॥३२॥

सहसा सादिनस्तत्र तोमरेण महामृधे ।
भूमावमृद्नन् वेगेन सचर्माणं पदातिनम् ॥ ३३ ॥

उस महासमरमें कितने ही हाथीसवार सहसा तोमरका प्रहार करके ढालसहित पैदल योद्धाको गिराकर उसे वेगपूर्वक धरतीपर रौंद डालते थे ॥ ३३ ॥

तथा सावरणान् कांश्चित्तत्र तत्र विशाम्पते ।
रथान् नागाः समासाद्य परिगृह्य च मारिष ॥ ३४ ॥
व्याक्षिपन् सहसा तत्र घोररूपे भयानके ।
नाराचैर्निहताश्चापि गजाः पेतुर्महाबलाः ॥ ३५ ॥
पर्वतस्येव शिखरं वज्ररुग्णं महीतले ।

माननीय नरेश ! उस घोर एवं भयानक युद्धमें कितने ही हाथी निकट आकर अपनी सूँड़ोंसे कुछ आवरणयुक्त रथोंको पकड़ लेते और उन्हें वेगपूर्वक खींचकर सहसा दूर फेंक देते थे । फिर वे महाबली हाथी भी नाराचोंसे मारे जाकर वज्रके तोड़े हुए पर्वत-शिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ ३४-३५½ ॥

योधा योधान् समासाद्य मुष्टिभिर्व्यहनन् युधि ॥ ३६ ॥
केशेष्वन्योन्यमाक्षिप्य चिक्षिपुर्बिभिदुश्च ह ।

बहुत-से पैदल योद्धा दूसरे योद्धाओंको निकट पाकर युद्धस्थलमें उनपर मुक्कोंसे प्रहार करने लगते थे । कितने ही एक दूसरेकी चुटिया पकड़कर परस्पर झटकते-फेंकते और एक दूसरेको घायल करते थे ॥ ३६½ ॥

उद्यम्य च भुजावन्यो निक्षिप्य च महीतले ॥ ३७ ॥
पदा चोरः समाक्रम्य स्फुरतोऽपाहरच्छिरः ।

दूसरा योद्धा अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर उनके द्वारा शत्रुको पृथ्वीपर पटक देता और एक पैरसे उसकी छातीको दबाकर उसके छटपटाते रहनेपर भी उसका सिर काट लेता था ॥ ३७½ ॥

पततश्चापरो राजन् विजहारासिना शिरः ॥ ३८ ॥
जीवतश्च तथैवान्यः शस्त्रं काये न्यमज्जयत् ।

राजन् ! दूसरा सैनिक किसी गिरते हुए योद्धाका सिर अपनी तलवारसे काट लेता था और कोई जीवित शत्रुके ही शरीरमें अपना शस्त्र घुसेड़ देता था ॥ ३८½ ॥

मुष्टियुद्धं महच्चासीद् योधानां तत्र भारत ॥ ३९ ॥
तथा केशग्रहश्चोग्रो बाहुयुद्धं च भैरवम् ।

भारत ! वहाँ योद्धाओंमें बहुत बड़ा मुष्टियुद्ध हो रहा था । साथ ही भयंकर केशग्रहण और भयानक बाहुयुद्ध भी चालू था ॥ ३९½ ॥

समासक्तस्य चान्येन अविज्ञातस्तथापरः ॥ ४० ॥
जहार समरे प्राणान् नानाशस्त्रैरनेकधा ।

कोई-कोई योद्धा दूसरेके साथ उलझे हुए सैनिकसे स्वयं अपरिचित रहकर नाना प्रकारके अनेक अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा युद्धमें उसके प्राण हर लेता था ॥ ४०½ ॥

संसक्तेषु च योधेषु वर्तमाने च संकुले ॥ ४१ ॥
कबन्धान्युत्थितानि स्युःशतशोऽथ सहस्रशः ।

इस प्रकार जब सभी योद्धा युद्धमें लगे थे और तुमुल संग्राम चल रहा था, उस समय सैकड़ों और हजारों कबन्ध (धड़) उठ खड़े हुए थे ॥ ४१½ ॥

शोणितैः सिच्यमानानि शस्त्राणि कवचानि च ॥ ४२ ॥
महारागानुरक्तानि वस्त्राणीव चकाशिरे ।

खूनसे भीगे हुए शस्त्र और कवच गाढ़े रंगमें रंगे हुए वस्त्रोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ४२½ ॥

एवमेतन्महद् युद्धं दारुणं शस्त्रसंकुलम् ॥ ४३ ॥
उन्मत्तगङ्गाप्रतिमं शब्देनापूरयज्जगत् ।

इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंसे परिपूर्ण यह महाभयानक युद्ध बढ़ी हुई गङ्गाके समान जगत्को कोलाहलसे परिपूर्ण कर रहा था ॥ ४३½ ॥

नैव स्वे न परे राजन् विज्ञायन्ते शरातुराः ॥ ४४ ॥
योद्धव्यमिति युध्यन्ते राजानो जयगृद्धिनः ।

राजन् ! बाणोंकी चोटसे व्याकुल हुए अपने और पराये योद्धा पहचानमें नहीं आते थे । विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजालोग 'युद्ध करना अपना कर्तव्य है' यह समझकर जूझ रहे थे ॥ ४४½ ॥

स्वान् स्वे जघ्नुर्महाराज परांश्चैव समागतान्॥ ४५ ॥
उभयोः सेनयोर्वीरैर्व्याकुलं समपद्यत ।

महाराज ! सामने आये हुए अपने और शत्रुपक्षके योद्धाओंको भी अपने ही पक्षके लोग मार डालते थे । दोनों सेनाओंके वीर मर्यादाशून्य युद्धमें प्रवृत्त हो गये थे ॥ ४५½ ॥

रथैर्भग्नैर्महाराज वारणैश्च निपातितैः ॥ ४६ ॥
हयैश्च पतितैस्तत्र नरैश्च विनिपातितैः ।
अगम्यरूपा पृथिवी क्षणेन समपद्यत ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! टूटे हुए रथों, धराशायी हुए हाथियों, मरकर गिरे हुए घोड़ों और गिराये गये पैदल सैनिकोंसे क्षणभरमें यह पृथ्वी ऐसी हो गयी कि वहाँ चलना-फिरना असम्भव हो गया ॥ ४६-४७ ॥

क्षणेनासीन्महीपाल क्षतजौघप्रवर्तिनी ।
पञ्चालानहनत् कर्णस्त्रिगर्तांश्च धनंजयः ॥ ४८ ॥

भूपाल ! क्षणभरमें वहाँ भूतलपर खूनकी नदी बह चली । कर्णने पञ्चालोंका और अर्जुनने त्रिगर्तोंका संहार कर डाला ॥ ४८ ॥

भीमसेनः कुरून् राजन् हस्त्यनीकं च सर्वशः ।
एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अपराह्णे गते सूर्ये काङ्क्षतां विपुलं यशः ॥ ४९ ॥

राजन् ! भीमसेनने कौरवों तथा आपकी गजसेनाको सर्वथा नष्ट कर दिया । इस प्रकार सूर्यदेवके अपराह्णकालमें जाते-जाते कौरव और पाण्डव दोनों सेनाओंमें महान् यशकी अभिलाषा रखनेवाले वीरोंका यह विनाश-कार्य सम्पन्न हुआ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें तुमुलयुद्धविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा दुर्योधनकी पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

अतितीव्राणि दुःखानि दुःसहानि बहूनि च ।
त्वत्तोऽहं संजयाश्रौषं पुत्राणां चैव संक्षयम् ॥ १ ॥
यथा त्वं मे कथयसे तथा युद्धमवर्तत ।
न सन्ति सूत कौरव्या इति मे निश्चिता मतिः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमसे मैंने अबतक अत्यन्त तीव्र और दुःसह दुःख देनेवाली बहुत-सी घटनाएँ सुनी हैं । अपने पुत्रोंके विनाशकी बात भी सुन ली । सूत ! जैसा तुम मुझसे कह रहे हो और जिस प्रकार वह युद्ध सम्पन्न हुआ, उसे देखते हुए मेरा यह दृढ़ निश्चय हो रहा है कि अब कुरुवंशी जीवित नहीं रहे ॥ १-२ ॥

दुर्योधनश्च विरथः कृतस्तत्र महारथः ।
धर्मपुत्रः कथं चक्रे तस्य वा नृपतिः कथम् ॥ ३ ॥

सुनता हूँ महारथी दुर्योधन भी वहाँ रथहीन कर दिया गया । धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उसके साथ किस प्रकार युद्ध किया अथवा राजा दुर्योधनने युधिष्ठिरके प्रति कैसा बर्ताव किया ? ॥ ३ ॥

अपराह्णे कथं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन कुशलो ह्यसि संजय ॥ ४ ॥

संजय ! अपराह्णकालमें किस प्रकार वह रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था ? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ; क्योंकि तुम उसका वर्णन करनेमें कुशल हो ॥ ४ ॥

संजय उवाच

संसक्तेषु तु सैन्येषु वध्यमानेषु भागशः ।
रथमन्यं समास्थाय पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ ५ ॥
क्रोधेन महता युक्तः सविषो भुजगो यथा ।

संजयने कहा—प्रजानाथ ! जब सारी सेनाएँ विभिन्न भागोंमें बँटकर जूझने और मरने लगीं, तब आपका पुत्र दुर्योधन दूसरे रथपर बैठकर विषधर सर्पके समान अत्यन्त कुपित हो उठा ॥ ५½ ॥

(सर्वसैन्यमुदीक्ष्यैव क्रोधादुद्वृत्तलोचनः ।
दृष्ट्वा धर्मसुतं चापि सैन्यमध्ये व्यवस्थितम् ॥
श्रिया ज्वलन्तं कौन्तेयं यथा वज्रधरं युधि ।)
दुर्योधनः समालक्ष्य धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ६ ॥
प्रोवाच सूतं त्वरितो याहि याहीति भारत ।
तत्र मां प्रापय क्षिप्रं सारथे यत्र पाण्डवः ॥ ७ ॥
ध्रियमाणातपत्रेण राजा राजति दंशितः ।

सारी सेनाओंपर दृष्टिपात करके क्रोधसे उसकी आँखें घूमने लगीं । उस समय युद्धस्थलमें धर्मपुत्र कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वज्रधारी इन्द्रके समान अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होते हुए सेनाके बीचमें खड़े थे । भारत ! उन धर्मराज युधिष्ठिरको देखकर दुर्योधनने तुरंत अपने सारथिसे कहा—'सारथे ! चलो, चलो, जहाँ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर कवच बाँध-

कर छत्र धारण किये सुशोभित हो रहे हैं, वहाँ मुझे शीघ्र पहुँचा दो' ॥ ६-७½ ॥

स सूतश्चोदितो राज्ञा राज्ञः स्यन्दनमुत्तमम् ॥ ८ ॥
युधिष्ठिरस्याभिमुखं प्रेषयामास संयुगे ।

राजा दुर्योधनसे इस प्रकार प्रेरित होकर सारथिने उस उत्तम रथको राजा युधिष्ठिरके सामने बढ़ाया ॥ ८½ ॥

ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ९ ॥
सारथिं चोदयामास याहि यत्र सुयोधनः ।

तब मदस्रावी हाथीके समान कुपित हुए राजा युधिष्ठिरने भी अपने सारथिको आज्ञा दी, 'जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो' ॥ ९½ ॥

तौ समाजग्मतुर्वीरौ भ्रातरौ रथसत्तमौ ॥ १० ॥
समेत्य च महावीरौ संरब्धौ युद्धदुर्मदौ ।
ववर्षतुर्महेष्वासौ शरैरन्योन्यमाहवे ॥ ११ ॥

इस प्रकार वे महाधनुर्धर, महावीर और महारथी दोनों रणदुर्मद बन्धु एक दूसरेके सामने आ गये और क्रोधपूर्वक आपसमें भिड़कर युद्धस्थलमें परस्पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १०-११ ॥

ततो दुर्योधनो राजा धर्मशीलस्य मारिष ।
शिलाशितेन भल्लेन धनुश्चिच्छेद संयुगे ॥ १२ ॥

मान्यवर ! तदनन्तर युद्धस्थलमें राजा दुर्योधनने सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए भल्लसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका धनुष काट दिया ॥ १२ ॥

तं नामृष्यत संक्रुद्धो ह्यवमानं युधिष्ठिरः ।
अपविध्य धनुश्छिन्नं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १३ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय धर्मपुत्रश्चमूमुखे ।
दुर्योधनस्य चिच्छेद ध्वजं कार्मुकमेव च ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिर उस अपमानको सहन न कर सके। उनका क्रोध बहुत बढ़ गया। उनकी आँखें रोषसे लाल हो गयीं। उन्होंने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा हाथमें ले लिया। फिर उन धर्मपुत्रने सेनाके मुहानेपर दुर्योधनके ध्वज और धनुषको भी काट डाला ॥

अथान्यद् धनुरादाय प्राविध्यत युधिष्ठिरम् ।
तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ शस्त्रवर्षाण्यमुञ्चताम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् दुर्योधनने दूसरा धनुष लेकर युधिष्ठिरको बींध डाला। वे दोनों वीर अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १५ ॥

सिंहाविव सुसंरब्धौ परस्परजिगीषया ।
जघ्नतुस्तौ रणेऽन्योन्यं नर्दमानौ वृषाविव ॥ १६ ॥

परस्पर विजयकी इच्छासे रोषमें भरे हुए दो सिंहोंके समान दहाड़ते अथवा दो साँड़ोंके समान गरजते हुए वे रणभूमिमें एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ १६ ॥

अन्तरं मार्गमाणौ च चेरतुस्तौ महारथौ ।
ततः पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैस्तौ तु कृतव्रणौ ॥ १७ ॥
विरेजतुर्महाराज किंशुकाविव पुष्पितौ ।

वे दोनों महारथी एक दूसरेका अन्तर (प्रहार करनेका अवसर) ढूँढ़ते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे। महाराज ! धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये बाणोंद्वारा वे दोनों वीर क्षत-विक्षत होकर फूले हुए दो पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १७½ ॥

ततो राजन् विमुञ्चन्तौ सिंहनादान् मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥
तलयोश्च तथा शब्दान् धनुषश्च महाहवे ।
शङ्खशब्दवरांश्चैव चक्रतुस्तौ नरेश्वरौ ॥ १९ ॥

राजन् ! तब वे दोनों नरेश बारंबार सिंहनाद करते हुए उस महासमरमें तालियाँ बजाने, धनुषकी टंकार करने और उत्तम शङ्खनाद फैलाने लगे ॥ १८-१९ ॥

अन्योन्यं तौ महाराज पीडयाञ्चक्रतुर्भृशम् ।
ततो युधिष्ठिरो राजा पुत्रं तव शरैस्त्रिभिः ॥ २० ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रवेगैर्दुरासदैः ।

महाराज ! वे दोनों एक दूसरेको अत्यन्त पीड़ा दे रहे थे। तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने वज्रके समान वेगशाली एवं दुर्जय तीन बाणोंद्वारा आपके पुत्रकी छातीमें क्रोधपूर्वक प्रहार किया ॥ २०½ ॥

प्रतिविव्याध तं तूर्णं तव पुत्रो महीपतिः ॥ २१ ॥
पञ्चभिर्निशितैर्बाणैः स्वर्णपुङ्खैः शिलाशितैः ।

आपके पुत्र राजा दुर्योधनने भी शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले पाँच पैने बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ॥ २१½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा शक्तिं चिक्षेप भारत ॥ २२॥
सर्वपारशवीं तीक्ष्णां महोल्काप्रतिमां तदा ।

भारत ! इसके बाद राजा दुर्योधनने सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई एक तीखी शक्ति चलायी, जो उस समय बड़ी भारी उल्काके समान प्रतीत हो रही थी ॥ २२½ ॥

तामापतन्तीं सहसा धर्मराजः शितैः शरैः ॥ २३ ॥
त्रिभिश्चिच्छेद सहसा तं च विव्याध पञ्चभिः ।

सहसा अपने ऊपर आती हुई उस शक्तिको धर्मराज युधिष्ठिरने तीन तीखे बाणोंसे तत्काल काट डाला और दुर्योधनको भी पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २३½ ॥

निपपात ततः साथ स्वर्णदण्डा महास्वना ॥ २४ ॥
निपतन्ती महोल्केव व्यराजच्छिखिसंनिभा ।

सुवर्णमय दण्डवाली वह शक्ति आकाशसे गिरती हुई बड़ी भारी उल्काके समान महान् शब्दके साथ गिर पड़ी। उस समय वह अग्निके तुल्य प्रकाशित हो रही थी ॥२४½॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ २५ ॥

नवभिर्निशितैर्भल्लैर्निजघान युधिष्ठिरम् ।

प्रजानाथ ! उस शक्तिको नष्ट हुई देख आपके पुत्रने नौ तीखे भल्लोंसे युधिष्ठिरको गहरी चोट पहुँचायी ॥२५½॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुतापनः ॥ २६ ॥
दुर्योधनं समुद्दिश्य बाणं जग्राह सत्वरः ।
समाधत्त च तं बाणं धनुर्मध्ये महाबलः ॥ २७ ॥

बलवान् शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किये जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबली युधिष्ठिरने दुर्योधनको लक्ष्य करके एक बाण हाथमें लिया और उसे धनुषके मध्यभागमें रखा ॥ २६-२७ ॥

चिक्षेप च महाराज ततः क्रुद्धः पराक्रमी ।
स तु बाणः समासाद्य तव पुत्रं महारथम् ॥ २८ ॥
व्यामोहयत राजानं धरणीं च ददार ह ।

महाराज ! तत्पश्चात् पराक्रमी युधिष्ठिरने उस बाणको क्रोधपूर्वक चला दिया । उस बाणने आपके महारथी पुत्र दुर्योधनको घायल करके उसे मूर्च्छित कर दिया और पृथ्वीको भी विदीर्ण कर डाला ॥ २८½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो गदामुद्यम्य वेगितः ॥ २९ ॥
विधित्सुः कलहस्यान्तं धर्मराजमुपाद्रवत् ।

उसके बाद क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने वेगपूर्वक गदा उठाकर कलहका अन्त कर देनेकी इच्छासे धर्मराज युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ २९½ ॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा दण्डहस्तमिवान्तकम् ॥ ३० ॥
धर्मराजो महाशक्तिं प्राहिणोत् तव सूनवे ।
दीप्यमानां महावेगां महोल्कां ज्वलितामिव ॥ ३१ ॥

दण्डधारी यमराजके समान उसे गदा उठाये देख धर्मराजने आपके उस पुत्रपर अत्यन्त वेगशालिनी महाशक्तिका प्रहार किया, जो प्रज्वलित हुई बड़ी भारी उल्काके समान देदीप्यमान हो रही थी ॥ ३०-३१ ॥

रथस्थः स तया विद्धो वर्म भित्त्वा स्तनान्तरे ।
भृशं संविग्नहृदयः पपात च मुमोह च ॥ ३२ ॥

रथपर बैठे हुए ही दुर्योधनका कवच फाड़कर वह शक्ति उसकी छातीमें चुभ गयी । इससे अत्यन्त उद्विग्न-चित्त होकर दुर्योधन गिरा और मूर्छित हो गया ॥ ३२ ॥

भीमस्तमाह च ततः प्रतिज्ञामनुचिन्तयन् ।
नायं वध्यस्तव नृप इत्युक्तः स न्यवर्तत ॥ ३३ ॥

उस समय भीमसेनने अपनी प्रतिज्ञाका विचार करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'महाराज ! यह राजा दुर्योधन आपका वध्य नहीं है ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिर उसके वधसे निवृत्त हो गये ॥ ३३ ॥

ततस्त्वरितमागम्य कृतवर्मा तवात्मजम् ।
प्रत्यपद्यत राजानं निमग्नं व्यसनार्णवे ॥ ३४ ॥

तब कृतवर्मा विपत्तिके समुद्रमें डूबे हुए आपके पुत्र राजा दुर्योधनके पास तुरंत आकर उसकी रक्षाके लिये उद्यत हो गया ॥ ३४ ॥

गदामादाय भीमोऽपि हेमपट्टपरिष्कृताम् ।
अभिदुद्राव वेगेन कृतवर्माणमाहवे ॥ ३५ ॥

यह देख भीमसेन भी सुवर्णपत्रजटित गदा हाथमें लेकर युद्धस्थलमें बड़े वेगसे कृतवर्मापर टूट पड़े ॥ ३५ ॥

एवं तदभवद् युद्धं त्वदीयानां परैः सह ।
अपराह्णे महाराज काङ्क्षतां विजयं युधि ॥ ३६ ॥

महाराज ! इस प्रकार अपराह्णके समय रणक्षेत्रमें विजय चाहनेवाले आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ भीषण युद्ध होने लगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें तुमुलयुद्धविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

सात्यकि और कर्णका युद्ध तथा अर्जुनके द्वारा कौरव-सेनाका संहार और पाण्डवोंकी विजय

संजय उवाच

ततः कर्णं पुरस्कृत्य त्वदीया युद्धदुर्मदाः ।
पुनरावृत्य संग्रामं चक्रुर्देवासुरोपमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर आपके रण-दुर्मद योद्धा कर्णको आगे करके पुनः लौटकर देवताओं और असुरोंके समान संग्राम करने लगे ॥ १ ॥

द्विरदनररथाश्वशङ्खशब्दैः
परिहृषिता विविधैश्च शस्त्रपातैः ।
द्विरदरथपदातिसादिसंघाः
परिकुपिताभिमुखाः प्रजह्निरे ते ॥ २ ॥

हाथी, मनुष्य, रथ, घोड़ों और शङ्खके शब्दोंसे अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरे हाथीसवार, रथी, पैदल और घुड़सवारोंके समुदाय क्रोधपूर्वक सामना करते हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके एक दूसरेको मारने लगे ॥ २ ॥

शितपरश्वधसासिपट्टिशै-
रिषुभिरनेकविधैश्च सूदिताः ।
द्विरदरथहया महाहवे
वरपुरुषैः पुरुषाश्च वाहनैः ॥ ३ ॥

उस महायुद्धमें श्रेष्ठ वीर पुरुषोंने वाहनों तथा तीखे

फरसों, तलवारों, पट्टिशों और अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा सवारोंसहित हाथियों, रथों, घोड़ों एवं पैदल मनुष्योंका संहार कर डाला ॥ ३ ॥

कमलदिनकरेन्दुसंनिभैः
सितदशनैः सुमुखाक्षिनासिकैः ।
रुचिरमुकुटकुण्डलैर्मही
पुरुषशिरोभिरुपस्तृता बभौ ॥ ४ ॥

उस समय नरमुण्डोंसे ढकी हुई रणभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी। वीरोंके वे कटे हुए मस्तक कमल, सूर्य और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् थे। उनके सफेद दाँत चमक रहे थे। उनके मुख, नेत्र और नासिकाएँ भी बड़ी सुन्दर थीं और वे मनोहर मुकुट तथा कुण्डलोंसे मण्डित थे ॥ ४ ॥

परिघमुसलशक्तितोमरै-
र्नखरभुशुण्डिगदाशतैर्हताः ।
द्विरदनरहयाः सहस्रशो
रुधिरनदीप्रवहास्तदाभवन् ॥ ५ ॥

उस समय परिघ, मुसल, शक्ति, तोमर, नखर, भुशुण्डी और गदाओंकी सौ-सौ चोटें खाकर हजारों हाथी, मनुष्य और घोड़े खूनकी नदी बहाने लगे ॥ ५ ॥

प्रहतरथनराश्वकुञ्जरं
प्रतिभयदर्शनमुल्बणव्रणम् ।
तदहितहतमाबभौ बलं
पितृपतिराष्ट्रमिव प्रजाक्षये ॥ ६ ॥

नष्ट हुए रथ, मनुष्य, घोड़े और हाथियोंसे भरी एवं शत्रुओंकी मारी हुई वह सेना गहरे आघातोंसे युक्त हो प्रलयकालमें यमराजके राज्यकी भाँति बड़ी भयंकर दिखायी देती थी ॥ ६ ॥

अथ तव नरदेव सैनिका-
स्तव च सुताः सुरसूनुसंनिभाः ।
अमितबलपुरःसरा रणे
कुरुवृषभाः शिनिपौत्रमभ्ययुः ॥ ७ ॥

नरदेव ! तदनन्तर आपके सैनिक तथा देवकुमारोंके समान तेजस्वी कुरुकुलभूषण आपके पुत्र असंख्य सेना साथ लेकर रणभूमिमें शिनिपौत्र सात्यकिपर चढ़ आये ॥ ७ ॥

तदतिरुधिरभीममाबभौ
पुरुषवराश्वरथद्विपाकुलम् ।
लवणजलसमुद्धतस्वनं
बलमसुरामरसैन्यसप्रभम् ॥ ८ ॥

पैदल मनुष्यों, श्रेष्ठ घोड़ों, रथों और हाथियोंसे भरी और खारे पानीके समुद्रके समान भयंकर गर्जना करनेवाली वह सेना अत्यन्त रक्तरंजित होकर देवताओं और असुरोंकी सेनाके समान भयानक प्रतीत होती थी ॥ ८ ॥

सुरपतिसमविक्रमस्तत-
स्त्रिदशवरावरजोपमं युधि ।
दिनकरकिरणप्रभैः पृषत्कै
रवितनयोऽभ्यहनच्छिनिप्रवीरम् ॥ ९ ॥

उस समय देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी सूर्यपुत्र कर्णने युद्धस्थलमें इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्रके समान शक्तिशाली शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिको सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ९ ॥

तमपि सरथवाजिसारथिं
शिनिवृषभो विविधैः शरैस्त्वरन् ।
भुजगविषसमप्रभै रणे
पुरुषवरं समवास्तृणोत् तदा ॥ १० ॥

तब शिनिवंशशिरोमणि सात्यकिने बड़ी उतावलीके साथ विषधर सर्पोंके समान विषैले नाना प्रकारके बाणोंद्वारा रथ, घोड़े और सारथिसहित नरश्रेष्ठ कर्णको भी आच्छादित कर दिया ॥ १० ॥

शिनिवृषभशरैर्निपीडितं
तव सुहृदो वसुषेणमभ्ययुः ।
त्वरितमतिरथा रथर्षभं
द्विरदरथाश्वपदातिभिः सह ॥ ११ ॥

उस समय आपके हितैषी सुहृद् अतिरथी वीर वहाँ शिनिवंशशिरोमणि सात्यकिके शरोंसे अत्यन्त पीड़ित हुए महारथी कर्णके पास हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर तुरंत आ पहुँचे ॥ ११ ॥

तदुदधिनिभमाद्रवद् बलं
त्वरिततरैः समभिद्रुतं परैः ।
द्रुपदसुतमुखैस्तदाभवत्
पुरुषरथाश्वगजक्षयो महान् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्न आदि शीघ्रकारी शत्रुओंने आपकी समुद्र-सदृश विशाल वाहिनीपर आक्रमण किया और आपकी सेना भी शत्रुओंकी ओर दौड़ी। फिर तो वहाँ मनुष्यों, रथों, घोड़ों और हाथियोंका महान् संहार होने लगा ॥ १२ ॥

अथ पुरुषवरौ कृताह्निकौ
भवमभिपूज्य यथाविधि प्रभुम् ।
अरिवधकृतनिश्चयौ द्रुतं
तव बलमर्जुनकेशवौ सृतौ ॥ १३ ॥

तदनन्तर अपराह्णकालके कृत्य समाप्त करके विधिपूर्वक भगवान् शङ्करकी पूजा करनेके पश्चात् नरश्रेष्ठ अर्जुन और श्रीकृष्ण शत्रुओंके वधका निश्चय करके तुरंत आपकी सेनापर चढ़ आये ॥ १३ ॥

जलदनिनदनिःस्वनं रथं
पवननिधूतपताककेतनम् ।

सितहयमुपयान्तमन्तिकं
हतमनसो ददृशुस्तदारयः ॥ १४ ॥

अर्जुनके रथसे मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि हो रही थी, पवनकी प्रेरणा पाकर उसकी ऊँची पताका फहरा रही थी और उसमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे। उस समय शत्रुओंने उत्साहशून्य हृदयसे उस रथको समीप आते देखा ॥ १४ ॥

अथ विस्फार्य गाण्डीवं रथे नृत्यन्निवार्जुनः।
शरसम्बाधमकरोत् खं दिशः प्रदिशस्तथा ॥ १५ ॥

इसके बाद रथपर नृत्य करते हुए-से अर्जुनने गाण्डीव धनुषको फैलाकर आकाश, दिशा और विदिशाओं-को बाणोंसे भर दिया ॥ १५ ॥

रथान् विमानप्रतिमान् मज्जयन् सायुधध्वजान्।
ससारथींस्तदा बाणैरभ्राणीवानिलोऽवधीत् ॥ १६ ॥

जैसे वायु मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस समय अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा विमान-जैसे रथोंको आयुध, ध्वज और सारथियोंसहित नष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

गजान् गजप्रयन्तॄंश्च वैजयन्त्यायुधध्वजान्।
सादिनोऽश्वांश्च पत्तींश्च शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ १७ ॥

उन्होंने अपने तीखे बाणोंसे पताका, ध्वज और आयुधोंसहित गजों एवं गजारोहियोंको, घोड़ों और घुड़सवारोंको तथा पैदल मनुष्योंको भी यमलोक भेज दिया ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धमनिवार्यं महारथम्।
दुर्योधनोऽभ्ययादेको निघ्नन् बाणैरजिह्मगैः ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान अबाध गतिवाले महारथी अर्जुनपर सीधे जानेवाले बाणोंसे प्रहार करता हुआ अकेला दुर्योधन उनका सामना करनेके लिये गया ॥ १८ ॥

तस्यार्जुनो धनुः सूतमश्वान् केतुं च सायकैः।
हत्वा सप्तभिरेकेन छत्रं चिच्छेद पत्रिणा ॥ १९ ॥

अर्जुनने सात बाणोंसे दुर्योधनके धनुष, सारथि, घोड़ों और ध्वजको नष्ट करके एक बाणसे उसका छत्र भी काट डाला ॥ १९ ॥

नवमं च समाधाय व्यसृजत् प्राणघातिनम्।
दुर्योधनायेषुवरं तं द्रौणिः सप्तधाच्छिनत् ॥ २० ॥

फिर नवें प्राणघातक बाणको धनुषपर रखकर उन्होंने दुर्योधनकी ओर चला दिया; परंतु अश्वत्थामाने उस उत्तम बाणके सात टुकड़े कर डाले ॥ २० ॥

ततो द्रौणेर्धनुश्छित्त्वा हत्वा चाश्वरथाञ्शरैः।
कृपस्यापि तदत्युग्रं धनुश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ २१ ॥

तब पाण्डुकुमार अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काटकर उसके रथ और घोड़ोंको नष्ट करके अपने बाणोंद्वारा कृपाचार्यके अत्यन्त भयंकर धनुषको भी खण्डित कर दिया ॥ २१ ॥

हार्दिक्यस्य धनुश्छित्त्वा
ध्वजं चाश्वांस्तदावधीत्।
दुःशासनस्येष्वसनं
छित्त्वा राधेयमभ्ययात् ॥ २२ ॥

इसके बाद उन्होंने कृतवर्माका धनुष काटकर उसके ध्वज और घोड़ोंको भी तत्काल नष्ट कर दिया। फिर दुःशासनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े करके राधापुत्र कर्णपर आक्रमण किया ॥ २२ ॥

अथ सात्यकिमुत्सृज्य
त्वरन् कर्णोऽर्जुनं त्रिभिः।
विद्ध्वा विव्याध विंशत्या
कृष्णं पार्थं पुनः पुनः ॥ २३ ॥

तदनन्तर कर्णने सात्यकिको छोड़कर अर्जुनको तीन बाणोंसे बींध डाला। फिर बीस बाण मारकर श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया। इस प्रकार वह दोनोंको बारंबार चोट पहुँचाने लगा ॥ २३ ॥

न ग्लानिरासीत् कर्णस्य
क्षिपतः सायकान् बहून्।
रणे विनिघ्नतः शत्रून्
क्रुद्धस्येव शतक्रतोः ॥ २४ ॥

उस समय कर्ण क्रोधमें भरे हुए इन्द्रके समान रणभूमि-में बहुत-से बाणोंकी वर्षा करके शत्रुओंका संहार कर रहा था; परंतु उसे इस कार्यमें तनिक भी क्लेश अथवा थकावटका अनुभव नहीं होता था ॥ २४ ॥

अथ सात्यकिरागत्य कर्णं विद्ध्वा शितैः शरैः।
नवत्या नवभिश्चोग्रैः शतेन पुनरार्पयत् ॥ २५ ॥

फिर सात्यकिने भी लौटकर कर्णको तीखे बाणोंसे घायल करके पुनः उसे एक सौ निन्यानबे भयंकर बाण मारे ॥

ततः प्रवीराः पार्थानां सर्वे कर्णमपीडयन्।
युधामन्युः शिखण्डी च द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ॥ २६ ॥
उत्तमौजा युयुत्सुश्च यमौ पार्षत एव च।
चेदिकारूषमत्स्यानां केकयानां च यद् बलम् ॥ २७ ॥
चेकितानश्च बलवान् धर्मराजश्च सुव्रतः।
एते रथाश्वद्विरदैः पत्तिभिश्चोग्रविक्रमैः ॥ २८ ॥
परिवार्य रणे कर्णं नानाशस्त्रैरवाकिरन्।
भाषन्तो वाग्भिरुग्राभिः सर्वे कर्णवधे धृताः ॥ २९ ॥

इसके बाद कुन्तीपुत्रोंकी सेनाके सभी प्रमुख वीर कर्णको पीड़ा देने लगे। युधामन्यु, शिखण्डी, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, प्रभद्रकगण, उत्तमौजा, युयुत्सु, नकुल-सहदेव,

धृष्टद्युम्न, चेदि, कारूष, मत्स्य और केकय देशोंकी सेनाएँ, बलवान् चेकितान तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर—ये भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले रथी, घुड़सवार, हाथीसवार और पैदल सैनिकों-द्वारा रणभूमिमें कर्णको चारों ओरसे घेरकर उसके ऊपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। सभी भयंकर वचन बोलते हुए वहाँ कर्णके वधका निश्चय कर चुके थे॥

तां शस्त्रवृष्टिं बहुधा कर्णश्छित्वा शितैः शरैः।
अपोवाहास्त्रवीर्येण द्रुमं भङ्क्त्वेव मारुतः॥ ३०॥

जैसे प्रचण्ड वायु वृक्षको तोड़कर गिरा देती है, उसी प्रकार कर्ण अपने तीखे बाणोंसे शत्रुओंकी उस शस्त्रवर्षाको बहुधा छिन्न-भिन्न करके अपने अस्त्रबलसे दूर हटा दिया॥ ३०॥

रथिनः समहामात्रान् गजानश्वान् ससादिनः।
पत्तिव्रातांश्च संक्रुद्धो निघ्नन् कर्णो व्यदृश्यत॥ ३१॥

क्रोधमें भरा हुआ कर्ण रथियों, महावतोंसहित हाथियों, सवारोंसहित घोड़ों तथा पैदल-समूहोंका वध करता देखा जा रहा था॥ ३१॥

तद् वध्यमानं पाण्डूनां बलं कर्णास्त्रतेजसा।
विशस्त्रपत्रदेहासु प्राय आसीत् पराङ्मुखम्॥ ३२॥

कर्णके अस्त्रोंके तेजसे मारी जाती हुई पाण्डवोंकी सेना शस्त्र, वाहन, शरीर और प्राणोंसे रहित हो प्रायः रणभूमिसे विमुख होकर भाग चली॥ ३२॥

अथ कर्णास्त्रमस्त्रेण प्रतिहत्यार्जुनः स्मयन्।
दिशं खं चैव भूमिं च प्रावृणोच्छरवृष्टिभिः॥ ३३॥

तब अर्जुनने मुस्कराते हुए अपने अस्त्रसे कर्णके अस्त्रको नष्ट करके बाणोंकी वर्षाद्वारा आकाश, दिशा और पृथ्वीको आच्छादित कर दिया॥ ३३॥

मुसलानीव सम्पेतुः परिघा इव चेषवः।
शतघ्न्य इव चाप्यन्ये वज्राण्युग्राणि चापरे॥ ३४॥

उनके कुछ बाण मुसलोंके समान गिरते थे, कुछ परिघोंके समान, कुछ शतघ्नियोंके तुल्य तथा कुछ दूसरे बाण भयंकर वज्रोंके समान शत्रुओंपर पड़ते थे॥ ३४॥

तैर्वध्यमानं तत् सैन्यं सपत्त्यश्वरथद्विपम्।
निमीलिताक्षमत्यर्थं बभ्राम च ननाद च॥ ३५॥

उन बाणोंसे हताहत होती हुई पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंसे युक्त कौरवसेना आँख मूँदकर जोर-जोरसे चिल्लाने और चक्कर काटने लगी॥ ३५॥

निष्कैवल्यं तदा युद्धं प्रापुरश्वनरद्विपाः।
हन्यमानाः शरैरार्तास्तदा भीताः प्रदुद्रुवुः॥ ३६॥

उस समय घोड़े, हाथी और मनुष्योंको ऐसा युद्ध प्राप्त हुआ, जिसमें मृत्यु निश्चित है। उन सब लोगोंपर जब बाणोंकी मार पड़ने लगी, तब वे सब-के-सब आर्त और भयभीत होकर भाग चले॥ ३६॥

त्वदीयानां तदा युद्धे संसक्तानां जयैषिणाम्।
गिरिमस्तं समासाद्य प्रत्यपद्यत भानुमान्॥ ३७॥

इस प्रकार जब आपके विजयाभिलाषी सैनिक युद्धमें संलग्न हो रहे थे, उसी समय सूर्यदेव अस्ताचल पहुँचकर डूब गये॥ ३७॥

तमसा च महाराज रजसा च विशेषतः।
न किंचित् प्रत्यपश्याम शुभं वा यदि वाशुभम्॥ ३८॥

महाराज! उस समय अन्धकार और विशेषतः धूलसे सब कुछ आच्छादित होनेके कारण हमलोग किसी भी शुभ या अशुभ वस्तुको देख नहीं पाते थे॥ ३८॥

ते त्रसन्तो महेष्वासा रात्रियुद्धस्य भारत।
अपयानं ततश्चक्रुः सहिताः सर्वयोधिभिः॥ ३९॥

भारत! वे महाधनुर्धर योद्धा रात्रियुद्धसे डरते थे। इसलिये समस्त सैनिकोंके साथ उन्होंने वहाँसे शिविरको प्रस्थान कर दिया॥ ३९॥

कौरवेष्वपयातेषु तदा राजन् दिनक्षये।
जयं सुमनसः प्राप्य पार्थाः स्वशिबिरं ययुः॥ ४०॥
वादित्रशब्दैर्विविधैः सिंहनादैः सगर्जितैः।
परानुपहसन्तश्च स्तुवन्तश्चाच्युतार्जुनौ॥ ४१॥

राजन्! दिनके अन्तमें कौरवोंके हट जानेपर पाण्डव भी विजय पाकर प्रसन्नचित्त हो भाँति-भाँतिके बाजोंकी आवाज, सिंहनाद और गर्जनाके द्वारा शत्रुओंका उपहास और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनकी स्तुति करते हुए अपने शिबिरको लौट गये॥ ४०-४१॥

कृतेऽवहारे तैर्वीरैः सैनिकाः सर्व एव ते।
आशीर्वाचः पाण्डवेषु प्रायुञ्जन्त नरेश्वराः॥ ४२॥

उन वीरोंके द्वारा युद्धका उपसंहार कर दिये जानेपर समस्त सैनिक और नरेश पाण्डवोंको आशीर्वाद देने लगे॥

ततः कृतेऽवहारे च प्रहृष्टास्तत्र पाण्डवाः।
निशायां शिबिरं गत्वा न्यवसन्त नरेश्वराः॥ ४३॥

इस प्रकार सैनिकोंके लौटा लिये जानेपर हर्षमें भरे हुए पाण्डव-पक्षीय नरेश रातको शिबिरमें जाकर सो रहे॥ ४३॥

ततो रक्षःपिशाचाश्च श्वापदाश्चैव संघशः।
जग्मुरायोधनं घोरं रुद्रस्याक्रीडसंनिभम्॥ ४४॥

तदनन्तर रुद्रके क्रीडास्थल (श्मशान) सदृश उस भयंकर युद्धभूमिमें राक्षस, पिशाच और झुंड-के-झुंड हिंसक जीव-जन्तु जा पहुँचे॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि प्रथमे युद्धदिवसे त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णके सेनापतित्वमें **प्रथम** दिनका युद्धविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

रात्रिमें कौरवोंकी मन्त्रणा, धृतराष्ट्रके द्वारा दैवकी प्रबलताका प्रतिपादन, संजयद्वारा धृतराष्ट्रपर दोषारोप तथा कर्ण और दुर्योधनकी बातचीत

धृतराष्ट्र उवाच

स्वेनच्छन्देन नः सर्वानवधीद् व्यक्तमर्जुनः ।
न ह्यस्य समरे मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! निश्चय ही अर्जुनने अपनी इच्छासे हमारे सब सैनिकोंका वध किया। समराङ्गणमें यदि वे शस्त्र उठा लें तो यमराज भी उनके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता ॥ १ ॥

पार्थश्चैकोऽहरद् भद्रामेकश्चाग्निमतर्पयत् ।
एकश्चेमां महीं जित्वा चक्रे बलिभृतो नृपान् ॥ २ ॥

अर्जुनने अकेले ही सुभद्राका अपहरण किया, अकेले ही खाण्डव वनमें अग्निदेवको तृप्त किया और अकेले ही इस पृथ्वीको जीतकर सम्पूर्ण नरेशोंको कर देनेवाला बना दिया ॥

एको निवातकवचानहनद् दिव्यकार्मुकः ।
एकः किरातरूपेण स्थितं शर्वमयोधयत् ॥ ३ ॥

उन्होंने दिव्य धनुष धारण करके अकेले ही निवातकवचों-का संहार कर डाला और किरातरूप धारण करके खड़े हुए महादेवजीके साथ भी अकेले ही युद्ध किया ॥ ३ ॥

एको ह्यरक्षद् भरतानेको भवमतोषयत् ।
तेनैकेन जिताः सर्वे महीपा ह्युग्रतेजसा ॥ ४ ॥

अर्जुनने अकेले ही घोषयात्राके समय दुर्योधन आदि भरतवंशियोंकी रक्षा की, अकेले ही अपने पराक्रमसे महादेवजीको संतुष्ट किया और उन उग्रतेजस्वी वीरने अकेले ही (विराट-नगरमें) कौरव-दलके समस्त भूमिपालोंको पराजित किया था ॥

न ते निन्द्याः प्रशस्यास्ते यत्ते चक्रुर्ब्रवीहि तत् ।
ततो दुर्योधनः सूत पश्चात् किमकरोत् तदा ॥ ५ ॥

इसलिये वे हमारे पक्षके सैनिक या नरेश निन्दनीय नहीं हैं, प्रशंसाके ही पात्र हैं। उन्होंने जो कुछ किया हो, बताओ। सूत ! सेनाके शिविरमें लौट आनेके पश्चात् उस समय दुर्योधनने क्या किया ? ॥ ५ ॥

संजय उवाच

हतप्रहतविध्वस्ता विवर्मायुधवाहनाः ।
दीनस्वरा दूयमाना मानिनः शत्रुनिर्जिताः ॥ ६ ॥

संजय बोले—राजन् ! कौरव सैनिक बाणोंसे घायल, छिन्न-भिन्न अवयवोंसे युक्त और अपने वाहनोंसे भ्रष्ट हो गये थे। उनके कवच, आयुध और वाहन नष्ट हो गये थे। उनके स्वरोंमें दीनता थी। शत्रुओंसे पराजित होनेके कारण वे स्वाभिमानी कौरव मन-ही-मन बहुत दुःख पा रहे थे ॥ ६ ॥

शिबिरस्थाः पुनर्मन्त्रं मन्त्रयन्ति स्म कौरवाः ।
भग्नदंष्ट्रा हतविषाः पादाक्रान्ता इवोरगाः ॥ ७ ॥

शिबिरमें आनेपर वे कौरव पुनः गुप्त मन्त्रणा करने लगे। उस समय उनकी दशा पैरसे कुचले गये उन सर्पोंके समान हो रही थी, जिनके दाँत तोड़ दिये और विष नष्ट कर दिये गये हों ॥ ७ ॥

तानब्रवीत् ततः कर्णः क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।
करं करेण निष्पीड्य प्रेक्षमाणस्तवात्मजम् ॥ ८ ॥

उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान कर्णने हाथ-से-हाथ दबाकर आपके पुत्रकी ओर देखते हुए उन कौरव वीरोंसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

यत्तो दृढश्च दक्षश्च धृतिमानर्जुनस्तदा ।
सम्बोधयति चाप्येनं यथाकालमधोक्षजः ॥ ९ ॥

'अर्जुन सावधान, दृढ़, चतुर और धैर्यवान् हैं। साथ ही उन्हें समय-समयपर श्रीकृष्ण भी कर्तव्यका ज्ञान कराते रहते हैं ॥ ९ ॥

सहसास्त्रविसर्गेण वयं तेनाद्य वञ्चिताः ।
श्वस्त्वहं तस्य संकल्पं सर्वं हन्ता महीपते ॥ १० ॥

'इसीलिये उन्होंने सहसा अस्त्रोंका प्रयोग करके आज हमें ठग लिया है; परंतु भूपाल ! कल मैं उनके सारे मनसूबे-को नष्ट कर दूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुजज्ञे नृपोत्तमान् ।
तेऽनुज्ञाता नृपाः सर्वे स्वानि वेश्मानि भेजिरे ॥ ११ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने 'तथास्तु' कहकर समस्त श्रेष्ठ राजाओंको विश्रामके लिये जानेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर वे सब नरेश अपने-अपने शिबिरोंमें चले गये ॥ ११ ॥

सुखोषितास्तां रजनीं हृष्टा युद्धाय निर्ययुः ।
तेऽपश्यन् विहितं व्यूहं धर्मराजेन दुर्जयम् ॥ १२ ॥
प्रयत्नात् कुरुमुख्येन बृहस्पत्युशनोमते ।

वहाँ रातभर सुखसे रहे। फिर प्रसन्नतापूर्वक युद्धके लिये निकले। निकलकर उन्होंने देखा कि कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष धर्मराज युधिष्ठिरने बृहस्पति और शुक्राचार्यके मतके अनुसार प्रयत्नपूर्वक अपनी सेनाका दुर्जय व्यूह बना रक्खा है ॥ १२½ ॥

अथ प्रतीपकर्तारं प्रवीरं परवीरहा ॥ १३ ॥
सस्मार वृषभस्कन्धं कर्णं दुर्योधनस्तदा ।

तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनने शत्रुओं-के विरुद्ध व्यूह-रचनामें समर्थ और वृषभके समान पुष्ट कंधोंवाले प्रमुख वीर कर्णका स्मरण किया ॥ १३½ ॥

पुरंदरसमं युद्धे मरुद्गणसमं बले ॥ १४ ॥
कार्तवीर्यसमं वीर्ये कर्णं राज्ञोऽगमन्मनः ।

कर्ण युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी, मरुद्गणोंके समान बलवान् तथा कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली था। राजा दुर्योधनका मन उसीकी ओर गया ॥ १४½ ॥

सर्वेषां चैव सैन्यानां कर्णमेवागमन्मनः।
सूतपुत्रं महेष्वासं बन्धुमात्ययिकेष्विव ॥ १५ ॥

जैसे प्राण-संकटकालमें लोग अपने बन्धुजनोंका स्मरण करते हैं, उसी प्रकार समस्त सेनाओंमेंसे केवल महाधनुर्धर सूतपुत्र कर्णकी ओर ही उसका मन गया ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ततो दुर्योधनः सूत पश्चात् किमकरोत्तदा।
यद्वोऽगमन्मनो मन्दाः कर्णं वैकर्तनं प्रति ॥ १६ ॥
अप्यपश्यत राधेयं शीतार्ता इव भास्करम्।

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत! तत्पश्चात् दुर्योधनने क्या किया। मूर्खो! तुमलोगोंका मन जो वैकर्तन कर्णकी ओर गया था, उसका क्या कारण है। जैसे शीतसे पीड़ित हुए प्राणी सूर्यकी ओर देखते हैं, क्या उसी प्रकार तुमलोग भी राधापुत्र कर्णकी ओर देखते थे? ॥ १६½ ॥

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रवृत्ते च रणे पुनः ॥ १७ ॥
कथं वैकर्तनः कर्णस्तत्रायुध्यत संजय।
कथं च पाण्डवाः सर्वे युयुधुस्तत्र सूतजम् ॥ १८ ॥

संजय! सेनाको शिविरकी ओर लौटानेके बाद जब रात बीती और प्रातःकाल पुनः संग्राम आरम्भ हुआ, उस समय वैकर्तन कर्णने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया तथा समस्त पाण्डवोंने सूतपुत्र कर्णके साथ किस प्रकार युद्ध आरम्भ किया?॥

कर्णो ह्येको महाबाहुर्हन्यात् पार्थान् ससृंजयान्।
कर्णस्य भुजयोर्वीर्यं शक्रविष्णुसमं युधि ॥ १९ ॥
तस्य शस्त्राणि घोराणि विक्रमश्च महात्मनः।
कर्णमाश्रित्य संग्रामे मत्तो दुर्योधनो नृपः ॥ २० ॥

'अकेला महाबाहु कर्ण सृंजयोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको मार सकता है। युद्धमें कर्णका बाहुबल इन्द्र और विष्णुके समान है। उसके अस्त्र-शस्त्र भयंकर हैं तथा उस महामनस्वी वीरका पराक्रम भी अद्भुत है।' यह सब सोचकर राजा दुर्योधन संग्राममें कर्णका सहारा ले मतवाला हो उठा था ॥

दुर्योधनं ततो दृष्ट्वा पाण्डवेन भृशार्दितम्।
पराक्रान्तान् पाण्डुसुतान् दृष्ट्वा चापि महारथः ॥ २१ ॥

किंतु उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरद्वारा दुर्योधनको अत्यन्त पीड़ित होते और पाण्डुपुत्रोंको पराक्रम प्रकट करते देखकर भी महारथी कर्णने क्या किया?॥ २१ ॥

कर्णमाश्रित्य संग्रामे मन्दो दुर्योधनः पुनः।
जेतुमुत्सहते पार्थान् सपुत्रान् सहकेशवान् ॥ २२ ॥

मूर्ख दुर्योधन संग्राममें कर्णका आश्रय लेकर पुनः पुत्रों-सहित कुन्तीकुमारों और श्रीकृष्णको जीतनेके लिये उत्साहित हुआ था ॥ २२ ॥

अहो बत महद् दुःखं यत्र पाण्डुसुतान् रणे।
नातरद् रभसः कर्णो दैवं नूनं परायणम्' ॥ २३ ॥

अहो! यह महान् दुःखकी बात है कि वेगशाली वीर कर्ण भी रणभूमिमें पाण्डवोंसे पार न पा सका। अवश्य दैव ही सबका परम आश्रय है ॥ २३ ॥

अहो द्यूतस्य निष्ठेयं घोरा सम्प्रति वर्तते।
अहो तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ॥ २४ ॥
सोढा घोराणि बहुशः शल्यभूतानि संजय।

अहो! द्यूतक्रीडाका यह घोर परिणाम इस समय प्रकट हुआ है। संजय! आश्चर्य है कि मैंने दुर्योधनके कारण बहुत-से तीव्र एवं भयंकर दुःख, जो काँटोंके समान कसक रहे हैं, सहन किये हैं ॥ २४½ ॥

सौबलं च तदा तात नीतिमानिति मन्यते ॥ २५ ॥
कर्णश्च रभसो नित्यं राजा तं चाप्यनुव्रतः।

तात! दुर्योधन उन दिनों शकुनिको बड़ा नीतिज्ञ मानता था तथा वेगशाली वीर कर्ण भी नीतिज्ञ है, ऐसा समझकर राजा दुर्योधन उसका भी भक्त बना रहा ॥ २५½ ॥

यदेवं वर्तमानेषु महायुद्धेषु संजय ॥ २६ ॥
अश्रौषं निहतान् पुत्रान् नित्यमेव विनिर्जितान्।
न पाण्डवानां समरे कश्चिदस्ति निवारकः ॥ २७ ॥
स्त्रीमध्यमिव गाहन्ते दैवं तु बलवत्तरम्।

संजय! इस प्रकार वर्तमान महान् युद्धोंमें जो मैं प्रतिदिन ही अपने कुछ पुत्रोंको मारा गया और कुछको पराजित हुआ सुनता आ रहा हूँ, इससे मुझे यह विश्वास हो गया है कि समराङ्गणमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो पाण्डवोंको रोक सके। जैसे लोग स्त्रियोंके बीचमें निर्भय प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार पाण्डव मेरी सेनामें बेखटके घुस जाते हैं। अवश्य इस विषयमें दैव ही अत्यन्त प्रबल हैं ॥ २६-२७½ ॥

संजय उवाच

राजन् पूर्वनिमित्तानि धर्मिष्ठानि विचिन्तय ॥ २८ ॥
अतिक्रान्तं हि यत् कार्यं पश्चाच्चिन्तयते नरः।
तच्चास्य न भवेत् कार्यं चिन्तया च विनश्यति ॥ २९ ॥

संजयने कहा—राजन्! पूर्वकालमें आपने जो द्यूतक्रीडा आदि धर्मसङ्गत कारण उपस्थित किये थे, उन्हें याद तो कीजिये। जो मनुष्य बीती हुई बातके लिये पीछे चिन्ता करता है, उसका वह कार्य तो सिद्ध होता नहीं; केवल चिन्ता करनेसे वह स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ २८-२९ ॥

तदिदं तव कार्यं तु दूरप्राप्तं विजानता।
न कृतं यत् त्वया पूर्वं प्राप्ताप्राप्तविचारणम् ॥ ३० ॥

पाण्डवोंके राज्यके अपहरणरूपी इस कार्यमें सफलता मिलनी आपके लिये दूरकी बात थी। यह जानते हुए भी आपने पहले इस बातका विचार नहीं किया कि यह उचित है या अनुचित ॥ ३० ॥

उक्तोऽसि बहुधा राजन् मा युध्यस्वेति पाण्डवैः।
गृह्णीषे न च तन्मोहाद् वचनं च विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजन्! पाण्डवोंने तो आपसे बारंबार कहा था कि 'आप युद्ध न छेड़िये।' किंतु प्रजानाथ! आपने मोहवश उनकी बात नहीं मानी ॥ ३१ ॥

त्वया पापानि घोराणि समाचीर्णानि पाण्डुषु।
त्वत्कृते वर्तते घोरः पार्थिवानां जनक्षयः ॥ ३२ ॥

आपने पाण्डवोंपर भयंकर अत्याचार किये हैं। आपके ही कारण राजाओंद्वारा यह घोर नरसंहार हो रहा है ॥ ३२ ॥

तत्त्विदानीमतिक्रान्तं मा शुचो भरतर्षभ।
श्रृणु सर्वं यथावृत्तं घोरं वैशसमुच्यते ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ! वह बात तो अब बीत गयी। उसके लिये शोक न करें। युद्धका सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे सुनें। मैं उस भयंकर विनाशका वर्णन करता हूँ ॥ ३३ ॥

प्रभातायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात्।
समेत्य च महाबाहुर्दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ३४ ॥

जब रात बीती और प्रातःकाल हो गया, तब महाबाहु कर्ण राजा दुर्योधनके पास आया और उससे मिलकर इस प्रकार बोला ॥ ३४ ॥

कर्ण उवाच

अद्य राजन् समेष्यामि पाण्डवेन यशस्विना।
निहनिष्यामि तं वीरं स वा मां निहनिष्यति ॥ ३५ ॥

कर्णने कहा—राजन्! आज मैं यशस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ संग्राम करूँगा। या तो मैं ही उस वीरको मार डालूँगा या वही मेरा वध कर डालेगा ॥ ३५ ॥

बहुत्वान्मम कार्याणां तथा पार्थस्य भारत।
नाभूत् समागमो राजन् मम चैवार्जुनस्य च ॥ ३६ ॥

भरतवंशी नरेश! मेरे तथा अर्जुनके सामने बहुत-से कार्य आते गये; इसीलिये अबतक मेरा और उनका द्वैरथ युद्ध न हो सका ॥ ३६ ॥

इदं तु मे यथाप्राज्ञं श्रृणु वाक्यं विशाम्पते।
अनिहत्य रणे पार्थं नाहमेष्यामि भारत ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ! भरतनन्दन! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार निश्चय करके यह जो बात कह रहा हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। आज मैं रणभूमिमें अर्जुनका वध किये बिना नहीं लौटूँगा ॥ ३७ ॥

हतप्रवीरे सैन्येऽस्मिन् मयि चावस्थिते युधि।
अभियास्यति मां पार्थः शक्रशक्तिविनाकृतम् ॥ ३८ ॥

हमारी इस सेनाके प्रमुख वीर मारे गये हैं। अतः मैं युद्धमें जब इस सेनाके भीतर खड़ा होऊँगा, उस समय अर्जुन मुझे इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे वञ्चित जानकर अवश्य मुझपर आक्रमण करेंगे ॥ ३८ ॥

ततः श्रेयस्करं यच्च तन्निबोध जनेश्वर।
आयुधानां च मे वीर्यं दिव्यानामर्जुनस्य च ॥ ३९ ॥

जनेश्वर! अब जो यहाँ हितकर बात है, उसे सुनिये। मेरे तथा अर्जुनके पास भी दिव्यास्त्रोंका समान बल है ॥ ३९ ॥

कायस्य महतो भेदे लाघवे दूरपातने।
सौष्ठवे चास्त्रपाते च सव्यसाची न मत्समः ॥ ४० ॥

हाथी आदिके विशाल शरीरका भेदन करने, शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाने, दूरका लक्ष्य वेधने, सुन्दर रीतिसे युद्ध करने तथा दिव्यास्त्रोंके प्रयोगमें भी सव्यसाची अर्जुन मेरे समान नहीं हैं ॥ ४० ॥

प्राणे शौर्येऽथ विज्ञाने विक्रमे चापि भारत।
निमित्तज्ञानयोगे च सव्यसाची न मत्समः ॥ ४१ ॥

भारत! शारीरिक बल, शौर्य, अस्त्रविज्ञान, पराक्रम तथा शत्रुओंपर विजय पानेके उपायको ढूँढ़ निकालनेमें भी सव्यसाची अर्जुन मेरी समानता नहीं कर सकते ॥ ४१ ॥

सर्वायुधमहामात्रं विजयं नाम तद्धनुः।
इन्द्रार्थं प्रियकामेन निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ ४२ ॥

मेरे धनुषका नाम विजय है। यह समस्त आयुधोंमें श्रेष्ठ है। इसे इन्द्रका प्रिय चाहनेवाले विश्वकर्माने उन्हींके लिये बनाया था ॥ ४२ ॥

येन दैत्यगणान् राजञ्जितवान् वै शतक्रतुः।
यस्य घोषेण दैत्यानां व्यामुह्यन्त दिशो दश ॥ ४३ ॥
तद् भार्गवाय प्रायच्छच्छक्रः परमसम्मतम्।
तद् दिव्यं भार्गवो मह्यमददाद् धनुरुत्तमम् ॥ ४४ ॥

राजन्! इन्द्रने जिसके द्वारा दैत्योंको जीता था, जिसकी टङ्कारसे दैत्योंको दसों दिशाओंके पहचाननेमें भ्रम हो जाता था, उसी अपने परम प्रिय दिव्य धनुषको इन्द्रने परशुरामजीको दिया था और परशुरामजीने वह दिव्य उत्तम धनुष मुझे दे दिया है ॥ ४३-४४ ॥

तेन योत्स्ये महाबाहुमर्जुनं जयतां वरम्।
यथेन्द्रः समरे सर्वान् दैतेयान् वै समागतान् ॥ ४५ ॥

उसी धनुषके द्वारा मैं विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाबाहु अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। ठीक वैसे ही, जैसे समराङ्गणमें आये हुए समस्त दैत्योंके साथ इन्द्रने युद्ध किया था ॥ ४५ ॥

धनुर्घोरं रामदत्तं गाण्डीवात् तद् विशिष्यते।
त्रिस्सप्तकृत्वः पृथिवी धनुषा येन निर्जिता ॥ ४६ ॥

परशुरामजीका दिया हुआ वह घोर धनुष गाण्डीवसे श्रेष्ठ है। यह वही धनुष है, जिसके द्वारा परशुरामजीने पृथ्वीपर इक्कीस बार विजय पायी थी ॥ ४६ ॥

धनुषो ह्यस्य कर्माणि दिव्यानि प्राह भार्गवः।
तद् रामो ह्यददान्मह्यं तेन योत्स्यामि पाण्डवम् ॥ ४७ ॥

स्वयं भृगुनन्दन परशुरामने ही मुझे उस धनुषके दिव्य

कर्म बताये हैं और उसे उन्होंने मुझे अर्पित कर दिया है; उसी धनुषके द्वारा मैं पाण्डुकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा॥

अद्य दुर्योधनाहं त्वां नन्दयिष्ये सबान्धवम्।
निहत्य समरे वीरमर्जुनं जयतां वरम्॥ ४८॥

दुर्योधन! आज मैं समरभूमिमें विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनका वध करके बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हें आनन्दित करूँगा॥ ४८॥

सपर्वतवनद्वीपा हतवीरा ससागरा।
पुत्रपौत्रप्रतिष्ठा ते भविष्यत्यद्य पार्थिव॥ ४९॥

भूपाल! आज उस वीरके मारे जानेपर पर्वत, वन, द्वीप और समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी तुम्हारे पुत्र-पौत्रोंकी परम्परामें प्रतिष्ठित हो जायगी॥ ४९॥

नाशक्यं विद्यते मेऽद्य त्वत्प्रियार्थं विशेषतः।
सम्यग्धर्मानुरक्तस्य सिद्धिरात्मवतो यथा॥ ५०॥

जैसे उत्तम धर्ममें अनुरक्त हुए मनस्वी पुरुषके लिये सिद्धि दुर्लभ नहीं है, उसी प्रकार आज विशेषतः तुम्हारा प्रिय करनेके हेतु मेरे लिये कुछ भी असम्भव नहीं है॥ ५०॥

न हि मां समरे सोढुं संशक्तोऽग्निं तरुर्यथा।
अवश्यं तु मया वाच्यं येन हीनोऽस्मि फाल्गुनात्॥ ५१॥

जैसे वृक्ष अग्निका आक्रमण नहीं सह सकता, उसी प्रकार अर्जुनमें ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरा वेग सह सकें; परंतु जिस बातमें मैं अर्जुनसे कम हूँ, वह भी मुझे अवश्य ही बता देना उचित है॥ ५१॥

ज्या तस्य धनुषो दिव्या तथाक्षय्ये महेषुधी।
सारथिस्तस्य गोविन्दो मम तादृङ् न विद्यते॥ ५२॥

उनके धनुषकी प्रत्यञ्चा दिव्य है। उनके पास दो बड़े-बड़े दिव्य तरकस हैं, जो कभी खाली नहीं होते तथा उनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, ये सब मेरे पास वैसे नहीं हैं॥ ५२॥

तस्य दिव्यं धनुः श्रेष्ठं गाण्डीवमजितं युधि।
विजयं च महद्दिव्यं ममापि धनुरुत्तमम्॥ ५३॥

यदि उनके पास युद्धमें अजेय, श्रेष्ठ, दिव्य गाण्डीव धनुष है तो मेरे पास भी विजय नामक महान् दिव्य एवं उत्तम धनुष मौजूद है॥ ५३॥

तत्राहमधिकः पार्थाद् धनुषा तेन पार्थिव।
येन चाप्यधिको वीरः पाण्डवस्तन्निबोध मे॥ ५४॥

राजन्! धनुषकी दृष्टिसे तो मैं ही अर्जुनसे बढ़ा-चढ़ा हूँ; परंतु वीर पाण्डुकुमार अर्जुन जिसके कारण मुझसे बढ़ जाते हैं, वह भी सुन लो॥ ५४॥

रश्मिग्राहश्च दाशार्हः सर्वलोकनमस्कृतः।
अग्निदत्तश्च वै दिव्यो रथः काञ्चनभूषणः॥ ५५॥
अच्छेद्यः सर्वतो वीर वाजिनश्च मनोजवाः।
ध्वजश्च दिव्यो द्युतिमान् वानरो विस्मयंकरः॥ ५६॥

सर्वलोकवन्दित, दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण उनके घोड़ोंकी रास सँभालते हैं। वीर! उनके पास अग्निका दिया हुआ सुवर्णभूषित दिव्य रथ है, जिसे किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता। उनके घोड़े भी मनके समान वेगशाली हैं। उनका तेजस्वी ध्वज दिव्य है, जिसके ऊपर सबको आश्चर्यमें डालनेवाला वानर बैठा रहता है॥ ५५-५६॥

कृष्णश्च स्रष्टा जगतो रथं तमभिरक्षति।
एतैर्द्रव्यैरहं हीनो योद्धुमिच्छामि पाण्डवम्॥ ५७॥

श्रीकृष्ण जगत्के स्रष्टा हैं। वे अर्जुनके उस रथकी रक्षा करते हैं। इन्हीं वस्तुओंसे हीन होकर मैं पाण्डुपुत्र अर्जुनसे युद्धकी इच्छा रखता हूँ॥ ५७॥

अयं तु सदृशः शौरेः शल्यः समितिशोभनः।
सारथ्यं यदि मे कुर्याद् ध्रुवस्ते विजयो भवेत्॥ ५८॥

अवश्य ही, ये युद्धमें शोभा पानेवाले राजा शल्य श्रीकृष्णके समान हैं, यदि ये मेरे सारथिका कार्य कर सकें तो तुम्हारी विजय निश्चित है॥ ५८॥

तस्य मे सारथिः शल्यो भवत्वसुकरः परैः।
नाराचान् गार्ध्रपत्रांश्च शकटानि वहन्तु मे॥ ५९॥

शत्रुओंसे सुगमतापूर्वक जीते न जा सकनेवाले राजा शल्य मेरे सारथि हो जायँ और बहुत-से छकड़े मेरे पास गीधकी पाँखोंसे युक्त नाराच पहुँचाते रहें॥ ५९॥

रथाश्च मुख्या राजेन्द्र युक्ता वाजिभिरुत्तमैः।
आयान्तु पश्चात् सततं मामेव भरतर्षभ॥ ६०॥

राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए अच्छे-अच्छे रथ सदा मेरे पीछे चलते रहें॥ ६०॥

एवमभ्यधिकः पार्थाद् भविष्यामि गुणैरहम्।
शल्योऽप्यधिकः कृष्णादर्जुनादपि चाप्यहम्॥ ६१॥

ऐसी व्यवस्था होनेपर मैं गुणोंमें पार्थसे बढ़ जाऊँगा। शल्य भी श्रीकृष्णसे बढ़े-चढ़े हैं और मैं भी अर्जुनसे श्रेष्ठ हूँ॥

यथाश्वहृदयं वेद दाशार्हः परवीरहा।
तथा शल्यो विजानीते हयज्ञानं महारथः॥ ६२॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दशार्हवंशी श्रीकृष्ण अश्वविद्याके रहस्यको जिस प्रकार जानते हैं, उसी प्रकार महारथी शल्य भी अश्वविज्ञानके विशेषज्ञ हैं॥ ६२॥

बाहुवीर्ये समो नास्ति मद्रराजस्य कश्चन।
तथास्त्रे मत्समो नास्ति कश्चिदेव धनुर्धरः॥ ६३॥

बाहुबलमें मद्रराज शल्यकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। उसी प्रकार अस्त्रविद्यामें मेरे समान कोई भी धनुर्धर नहीं है॥ ६३॥

तथा शल्यसमो नास्ति हयज्ञाने हि कश्चन।
सोऽयमभ्यधिकः कृष्णाद् भविष्यति रथो मम॥ ६४॥

अश्वविज्ञानमें भी शल्यके समान कोई नहीं है। शल्यके

सारथि होनेपर मेरा यह रथ अर्जुनके रथसे बढ़ जायगा ॥

एवं कृते रथस्थोऽहं गुणैरभ्यधिकोऽर्जुनात्।
भवे युधि जयेयं च फाल्गुनं कुरुसत्तम ॥ ६५ ॥
समुद्यातुं न शक्ष्यन्ति देवा अपि सवासवाः।

ऐसी व्यवस्था कर लेनेपर जब मैं रथमें बैठूँगा, उस समय सभी गुणोंद्वारा अर्जुनसे बढ़ जाऊँगा। कुरुश्रेष्ठ ! फिर तो मैं युद्धमें अर्जुनको अवश्य जीत लूँगा। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी मेरा सामना नहीं कर सकेंगे ॥ ६५½ ॥

एतत् कृतं महाराज त्वयेच्छामि परंतप ॥ ६६ ॥
क्रियतामेष कामो मे मा वः कालोऽत्यगादयम्।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! मैं चाहता हूँ कि आपके द्वारा यही व्यवस्था हो जाय। मेरा यह मनोरथ पूर्ण किया जाय। अब आपलोगोंका यह समय व्यर्थ नहीं बीतना चाहिये ॥ ६६½ ॥

एवं कृते कृतं साह्यं सर्वकामैर्भविष्यति ॥ ६७ ॥
ततो द्रक्ष्यसि संग्रामे यत् करिष्यामि भारत।
सर्वथा पाण्डवान् संख्ये विजेष्ये वै समागतान् ॥ ६८ ॥

ऐसा करनेपर मेरी सम्पूर्ण इच्छाओंके अनुसार सहायता सम्पन्न हो जायगी। भारत ! उस समय मैं संग्राममें जो कुछ करूँगा, उसे तुम स्वयं देख लोगे। युद्धस्थलमें आये हुए समस्त पाण्डवोंको निश्चय ही मैं सब प्रकारसे जीत लूँगा ॥

न हि मे समरे शक्ताः समुद्यातुं सुरासुराः।
किमु पाण्डुसुता राजन् रणे मानुषयोनयः ॥ ६९ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें देवता और असुर भी मेरा सामना नहीं कर सकते, फिर मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए पाण्डव तो कर ही कैसे सकते हैं ॥ ६९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तव सुतः कर्णेनाहवशोभिना।
सम्पूज्य सम्प्रहृष्टात्मा ततो राधेयमब्रवीत् ॥ ७० ॥

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया। फिर उसने राधापुत्र कर्णका पूर्णतः सम्मान करके उससे कहा ॥

दुर्योधन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं कर्ण मन्यसे।
सोपासङ्गा रथाः साश्वाः स्वनुयास्यन्ति संयुगे ॥ ७१ ॥

दुर्योधन बोला—कर्ण ! जैसा तुम ठीक समझते हो उसीके अनुसार यह सारा कार्य मैं करूँगा। युद्धस्थलमें अनेक तरकसोंसे भरे हुए बहुत-से अश्वयुक्त रथ तुम्हारे पीछे-पीछे जायँगे ॥ ७१ ॥

नाराचान् गार्ध्रपत्रांश्च शकटानि वहन्तु ते।
अनुयास्याम कर्ण त्वां वयं सर्वे च पार्थिवाः ॥ ७२ ॥

कई छकड़े तुम्हारे पास गीधकी पाँखोंसे युक्त नाराच पहुँचाया करेंगे। कर्ण ! हमलोग तथा समस्त भूपालगण तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥ ७२ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज तव पुत्रः प्रतापवान्।
अभिगम्याब्रवीद् राजा मद्रराजमिदं वचः ॥ ७३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ऐसा कहकर आपके प्रतापी पुत्र राजा दुर्योधनने मद्रराज शल्यके पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और दुर्योधनका संवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधनकी शल्यसे कर्णका सारथि बननेके लिये प्रार्थना और शल्यका इस विषयमें घोर विरोध करना, पुनः श्रीकृष्णके समान अपनी प्रशंसा सुनकर उसे स्वीकार कर लेना

संजय उवाच

पुत्रस्तव महाराज मद्रराजं महारथम्।
विनयेनोपसंगम्य प्रणयाद् वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपका पुत्र दुर्योधन मद्रराज महारथी शल्यके पास विनीतभावसे जाकर प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

सत्यव्रत महाभाग द्विषतां तापवर्धन।
मद्रेश्वर रणे शूर परसैन्यभयंकर ॥ २ ॥
श्रुतवानसि कर्णस्य ब्रुवतो वदतां वर।
यथा नृपतिसिंहानां मध्ये त्वां वरये स्वयम् ॥ ३ ॥

'महाभाग ! सत्यव्रत ! शत्रुओंका संताप बढ़ानेवाले मद्रराज ! रणवीर ! शत्रुसैन्यभयंकर ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! आपने कर्णकी बात सुनी है। उसीके अनुसार इन राजसिंहोंके बीचमें मैं स्वयं आपका वरण करता हूँ ॥ २-३ ॥

तत्त्वामप्रतिवीर्याद्य शत्रुपक्षक्षयावह।
मद्रेश्वर प्रयाचेऽहं शिरसा विनयेन च ॥ ४ ॥
तस्मात् पार्थविनाशार्थं हितार्थं मम चैव हि।
सारथ्यं रथिनां श्रेष्ठ प्रणयात् कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

'शत्रुपक्षका विनाश करनेवाले, अनुपम शक्तिशाली, रथियोंमें श्रेष्ठ मद्रराज ! मैं मस्तक झुकाकर विनयपूर्वक आपसे

दुर्योधनकी शल्यसे कर्णका सारथि बननेके लिये प्रार्थना

यह याचना करता हूँ कि आप अर्जुनके विनाश और मेरे हितके लिये प्रेमपूर्वक कर्णका सारथ्य कीजिये ॥ ४-५ ॥

त्वयि यन्तरि राधेयो विद्विषो मे विजेष्यते ।
अभीषूणां हि कर्णस्य ग्रहीतान्यो न विद्यते ॥ ६ ॥
ऋते हि त्वां महाभाग वासुदेवसमं युधि ।

'आपके सारथि होनेपर राधापुत्र कर्ण मेरे शत्रुओंको जीत लेगा । कर्णके रथकी बागडोर पकड़नेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है । महाभाग ! आप युद्धमें वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्णके समान हैं ॥ ६½ ॥

स पाहि सर्वथा कर्णं यथा ब्रह्मा महेश्वरम् ॥ ७ ॥
यथा च सर्वथाऽऽपत्सु वार्ष्णेयः पाति पाण्डवम् ।
तथा मद्रेश्वराद्य त्वं राधेयं प्रतिपालय ॥ ८ ॥

'जैसे ब्रह्माजीने सारथि बनकर महादेवजीकी रक्षा की थी और जैसे सब प्रकारकी आपत्तियोंसे श्रीकृष्ण अर्जुनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप कर्णकी सर्वथा रक्षा कीजिये । मद्रराज ! आज आप राधापुत्रका प्रतिपालन कीजिये ॥ ७-८ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो भवान् भोजश्च वीर्यवान् ।
शकुनिः सौबलो द्रौणिरहमेव च नो बलम् ॥ ९ ॥

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, आप, पराक्रमी कृतवर्मा, सुबलपुत्र शकुनि, द्रोणकुमार अश्वत्थामा और मैं— ये ही हमारे बल हैं ॥ ९ ॥

एवमेष कृतो भागो नवधा पृथिवीपते ।
न च भागोऽत्र भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः ॥ १० ॥
ताभ्यामतीत्य तौ भागौ निहता मम शत्रवः ।

'पृथ्वीपते ! इस प्रकार मेरी सेनाके ये नौ भाग किये गये थे । अब यहाँ भीष्म तथा महात्मा द्रोणाचार्यका भाग नहीं रह गया है । उन दोनोंने उनके लिये निर्धारित भागोंसे और आगे बढ़कर मेरे शत्रुओंका संहार किया है ॥ १०½ ॥

वृद्धौ हि तौ महेष्वासौ छलेन निहतौ युधि ॥ ११ ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म गतौ स्वर्गमितोऽनघ ।
तथान्ये पुरुषव्याघ्राः परैर्विनिहता युधि ॥ १२ ॥

'वे दोनों महाधनुर्धर योद्धा बूढ़े हो गये थे, इसलिये युद्धमें शत्रुओंद्वारा छलपूर्वक मारे गये । अनघ ! वे दुष्कर कर्म करके यहाँसे स्वर्गलोकमें चले गये । इसी प्रकार दूसरे पुरुषसिंह वीर भी युद्धमें शत्रुओंद्वारा मारे गये हैं ॥ ११-१२ ॥

अस्मदीयाश्च बहवः स्वर्गायोपगता रणे ।
त्यक्त्वा प्राणान् यथाशक्ति चेष्टां कृत्वा च पुष्कलाम् १३

'मेरे पक्षके बहुत-से योद्धा विजयके लिये यथाशक्ति पूरी चेष्टा करके रणभूमिमें प्राण त्यागकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ १३ ॥

तदिदं हतभूयिष्ठं बलं मम नराधिप ।
पूर्वमप्यल्पकैः पार्थैर्हतं किमुत साम्प्रतम् ॥ १४ ॥

'नरेश्वर ! इस प्रकार मेरी इस सेनाका अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है । पहले भी जब अपनी सारी सेना मौजूद थी, अल्पसंख्यक कुन्तीकुमारोंने कौरवसेनाका नाश कर दिया था । फिर इस समय तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

बलवन्तो महात्मानः कौन्तेयाः सत्यविक्रमाः ।
बलं शेषं न हन्युर्मे यथा तत् कुरु पार्थिव ॥ १५ ॥

'भूपाल ! बलवान्, महामनस्वी और सत्यपराक्रमी कुन्ती-कुमार मेरी शेष सेनाको जिस तरह भी नष्ट न कर सकें, ऐसा उपाय कीजिये ॥ १५ ॥

हतवीरमिदं सैन्यं पाण्डवैः समरे विभो ।
कर्णो ह्येको महाबाहुरस्मत्प्रियहिते रतः ॥ १६ ॥

'प्रभो ! पाण्डवोंने समराङ्गणमें मेरी सेनाके प्रमुख वीरों-को मार डाला है । एक महाबाहु कर्ण ही ऐसा है, जो हमारे प्रिय एवं हितसाधनमें लगा हुआ है ॥ १६ ॥

भवांश्च पुरुषव्याघ्र सर्वलोकमहारथः ।
शल्य कर्णोऽर्जुनेनाद्य योद्धुमिच्छति संयुगे ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह शल्य ! दूसरे आप भी सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी होकर हमारे हितसाधनमें संलग्न हैं । आज कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है ॥ १७ ॥

तस्मिञ्जयाशा विपुला मद्रराज नराधिप ।
तस्याभीषुग्रहवरो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ॥ १८ ॥

'मद्रराज ! नरेश्वर ! उसके मनमें विजयकी बड़ी भारी आशा है, परंतु उसके घोड़ोंकी रास पकड़नेवाला (आपके समान) दूसरा कोई इस भूतलपर नहीं है ॥ १८ ॥

पार्थस्य समरे कृष्णो यथाभीषुग्रहो वरः ।
तथा त्वमपि कर्णस्य रथेऽभीषुग्रहो भव ॥ १९ ॥

'जैसे संग्रामभूमिमें अर्जुनके रथकी बागडोर सँभालनेवाले श्रेष्ठ सारथि श्रीकृष्ण हैं, उसी प्रकार आप भी कर्णके रथपर बैठ-कर उसकी बागडोर अपने हाथमें लीजिये ॥ १९ ॥

तेन युक्तो रणे पार्थो रक्ष्यमाणश्च पार्थिव ।
यानि कर्माणि कुरुते प्रत्यक्षाणि तथैव तत् ॥ २० ॥

'राजन् ! श्रीकृष्णसे संयुक्त एवं सुरक्षित होकर पार्थ रणभूमिमें जो-जो कर्म करते हैं, वे सब आपकी आँखोंके सामने हैं ॥ २० ॥

पूर्वं न समरे ह्येवमवधीदर्जुनो रिपून् ।
इदानीं विक्रमो ह्यस्य कृष्णेन सहितस्य च ॥ २१ ॥

'पहले युद्धमें अर्जुन इस प्रकार शत्रुओंका वध नहीं

करते थे । इस समय श्रीकृष्णके साथ होनेसे ही इनका पराक्रम बढ़ गया है ॥ २१ ॥

कृष्णेन सहितः पार्थो धार्तराष्ट्रीं महाचमूम् ।
अहन्यहनि मद्रेश द्रावयन् दृश्यते युधि ॥ २२ ॥

'मद्रराज ! श्रीकृष्णके साथ अर्जुन प्रतिदिन हमारी विशाल सेनाको युद्धभूमिमें खदेड़ते देखे जाते हैं ॥ २२ ॥

भागोऽवशिष्टः कर्णस्य तव चैव महाद्युते ।
तं भागं सह कर्णेन युगपन्नाशयाद्य हि ॥ २३ ॥

'महातेजस्वी नरेश ! अब कर्णका और आपका भाग शेष रह गया है । अतः आप कर्णके साथ रहकर शत्रुसेनाके उस भागको एक साथ ही नष्ट कर दीजिये ॥ २३ ॥

अरुणेन यथा सार्धं तमः सूर्यो व्यपोहति ।
तथा कर्णेन सहितो जहि पार्थं महाहवे ॥ २४ ॥

'जैसे अरुणके साथ सूर्य अन्धकारका नाश करते हैं, उसी प्रकार आप महासमरमें कर्णके साथ रहकर कुन्तीकुमार अर्जुनका वध कीजिये ॥ २४ ॥

उद्यन्तौ च यथा सूर्यौ बालसूर्यसमप्रभौ ।
कर्णशल्यौ रणे दृष्ट्वा विद्रवन्तु महारथाः ॥ २५ ॥

'प्रातःकालीन सूर्यके तुल्य तेजस्वी कर्ण और शल्यको उदित होते हुए दो सूर्योंके समान रणभूमिमें देखकर शत्रुसेनाके महारथी भाग जायँ ॥ २५ ॥

सूर्यारुणौ यथा दृष्ट्वा तमो नश्यति मारिष ।
तथा नश्यन्तु कौन्तेयाः सपञ्चालाः ससृंजयाः ॥ २६ ॥

'मान्यवर ! जैसे सूर्य और अरुणको देखते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आप दोनोंको देखकर कुन्तीके पुत्र, पाञ्चाल और सृंजय नष्ट हो जायँ ॥ २६ ॥

रथिनां प्रवरः कर्णो यन्तॄणां प्रवरो भवान् ।
संयोगो युवयोर्लोके नाभून्न च भविष्यति ॥ २७ ॥

'कर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ है और आप सारथियोंके शिरोमणि हैं । संसारमें आप दोनोंका संयोग जो आज बन गया है, न तो कभी हुआ था और न आगे कभी होगा ॥ २७ ॥

यथा सर्वास्ववस्थासु वार्ष्णेयः पाति पाण्डवम् ।
तथा भवान् परित्रातुं कर्णं वैकर्तनं रणे ॥ २८ ॥

'जैसे श्रीकृष्ण सभी अवस्थाओंमें पाण्डुपुत्र अर्जुनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप रणभूमिमें वैकर्तन कर्णकी रक्षा करें ॥ २८ ॥

(सारथ्यं क्रियतां तस्य युध्यमानस्य संयुगे ।)
त्वया सारथिना ह्येष अप्रधृष्यो भविष्यति ।
देवतानामपि रणे सशक्राणां महीपते ।
किं पुनः पाण्डवेयानां मा विशङ्कीर्वचो मम ॥ २९ ॥

'युद्धस्थलमें युद्ध करते समय कर्णके सारथिका कार्य सँभालिये । राजन् ! आपके सारथि होनेसे यह कर्ण रणभूमिमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अजेय हो जायगा, फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है । आप मेरे इस कथनमें संदेह न कीजिये' ॥ २९ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनवचः श्रुत्वा शल्यः क्रोधसमन्वितः ।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा धुन्वन् हस्तौ पुनः पुनः ॥ ३० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनकी बात सुनकर शल्यको बड़ा क्रोध हुआ । वे अपनी भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके बारंबार हाथ हिलाने लगे ॥ ३० ॥

क्रोधरक्ते महानेत्रे परिवृत्य महाभुजः ।
कुलैश्वर्यश्रुतबलैर्दृप्तः शल्योऽब्रवीदिदम् ॥ ३१ ॥

महाबाहु शल्यको अपने कुल, ऐश्वर्य, शास्त्रज्ञान और बलका बड़ा अभिमान था । वे क्रोधसे लाल हुए विशाल नेत्रोंको घुमाकर इस प्रकार बोले ॥ ३१ ॥

शल्य उवाच

अवमन्यसि गान्धारे ध्रुवं च परिशङ्कसे ।
यन्मां ब्रवीषि विश्रब्धं सारथ्यं क्रियतामिति ॥ ३२ ॥

शल्यने कहा—गान्धारीपुत्र ! तुम मेरा अपमान कर रहे हो, निश्चय ही तुम्हारे मनमें मेरे प्रति संदेह है, तभी तुम निर्भय होकर कह रहे हो कि आप 'सारथिका कार्य कीजिये' ॥

अस्मत्तोऽभ्यधिकं कर्णं मन्यमानः प्रशंससि ।
न चाहं युधि राधेयं गणये तुल्यमात्मनः ॥ ३३ ॥

तुम कर्णको मुझसे श्रेष्ठ मानकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हो; परंतु युद्धस्थलमें राधापुत्र कर्णको मैं अपने समान नहीं गिनता हूँ ॥ ३३ ॥

आदिश्यतामभ्यधिको ममांशः पृथिवीपते ।
तमहं समरे जित्वा गमिष्यामि यथागतम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! तुम शत्रुसेनाके अधिक-से-अधिक भागको मेरे हिस्सेमें दे दो, मैं उसे जीतकर जैसे आया हूँ, वैसे लौट जाऊँगा॥

अथवाप्येक एवाहं योत्स्यामि कुरुनन्दन ।
पश्य वीर्यं ममाद्य त्वं संग्रामे दहतो रिपून् ॥ ३५ ॥

अथवा कुरुनन्दन ! आज मैं अकेला ही युद्ध करूँगा । तुम संग्राममें शत्रुओंको दग्ध करते हुए मेरे पराक्रमको देख लेना॥

न चापि कामान् कौरव्य निधाय हृदये पुमान् ।
अस्मद्विधः प्रवर्तेत मा मां त्वमभिशङ्किथाः ॥ ३६ ॥

कौरव्य ! मेरे-जैसा पुरुष अपने मनमें कुछ कामनाएँ

रखकर युद्धमें प्रवृत्त नहीं होता । अतः तुम मुझपर संदेह न करो ॥ ३६ ॥

युधि वाप्यवमानो मे न कर्तव्यः कथञ्चन ।
पश्य पीनौ मम भुजौ वज्रसंहननौ दृढौ ॥ ३७ ॥
धनुः पश्य च मे चित्रं शरांश्चाशीविषोपमान् ।
रथं पश्य च मे क्लृप्तं सदश्वैर्वातवेगितैः ॥ ३८ ॥
गदां च पश्य गान्धारे हेमपट्टविभूषिताम् ।

तुम्हें युद्धमें किसी प्रकार मेरा अपमान नहीं करना चाहिये । तुम मेरी मोटी और वज्रके समान गँठीली इन सुदृढ़ भुजाओंको तो देखो । मेरे इस विचित्र धनुष और विषधर सर्पके समान इन विषैले बाणोंकी ओर तो दृष्टिपात करो । गान्धारीकुमार ! वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए मेरे इस सजे-सजाये रथ और सुवर्णपत्रसे मढ़ी हुई गदापर भी तो दृष्टि डालो ॥ ३७-३८½ ॥

दारयेयं महीं कृत्स्नां विकिरेयं च पर्वतान् ॥ ३९ ॥
शोषयेयं समुद्रांश्च तेजसा स्वेन पार्थिव ।

राजन् ! मैं सारी पृथ्वीको विदीर्ण कर सकता हूँ, पर्वतोंको तोड़-फोड़कर बिखेर सकता हूँ और अपने तेजसे समुद्रोंको भी सुखा सकता हूँ ॥ ३९½ ॥

तं मामेवंविधं राजन् समर्थमरिनिग्रहे ॥ ४० ॥
कस्माद् युनङ्क्षि सारथ्ये नीचस्याधिरथे रणे ।

नरेश्वर ! इस प्रकार शत्रुओंका दमन करनेमें पूर्णतया समर्थ होनेपर भी तुम मुझे इस नीच सूतपुत्र कर्णके सारथिके कामपर कैसे नियुक्त कर रहे हो ? ॥ ४०½॥

न मामधुरि राजेन्द्र नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ४१ ॥
न हि पापीयसः श्रेयान् भूत्वा प्रेष्यत्वमुत्सहे ।

राजेन्द्र ! तुम्हें मुझे नीचकर्ममें नहीं लगाना चाहिये । मैं श्रेष्ठ होकर अत्यन्त नीच पापी पुरुषकी दासता नहीं कर सकता ॥ ४१½ ॥

यो ह्यभ्युपगतं प्रीत्या गरीयांसं वशे स्थितम् ॥ ४२ ॥
वशे पापीयसो धत्ते तत् पापमधरोत्तरम् ।

जो पुरुष प्रेमवश अपने पास आकर अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले किसी श्रेष्ठतम पुरुषको नीचतम मनुष्यके अधीन कर देता है, उसे उच्चको नीच और नीचको उच्च करनेका महान् पाप लगता है ॥ ४२½ ॥

ब्रह्मणा ब्राह्मणाः सृष्टा मुखात् क्षत्रं च बाहुतः ४३
ऊरुभ्यामसृजद् वैश्याञ्शूद्रान् पद्भ्यामिति श्रुतिः ।

ब्रह्माजीने ब्राह्मणोंको अपने मुखसे, क्षत्रियोंको भुजाओंसे, वैश्योंको जाँघोंसे और शूद्रोंको पैरोंसे उत्पन्न किया है, ऐसा श्रुतिका मत है ॥ ४३½ ॥

तेभ्यो वर्णविशेषाश्च प्रतिलोमानुलोमजाः ॥ ४४ ॥
अथान्योन्यस्य संयोगाच्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ।

भारत ! इन्हींसे अनुलोम और विलोम क्रमसे विभिन्न वर्णोंकी उत्पत्ति होती है । चारों वर्णोंके पारस्परिक संयोगसे अन्य जातियाँ उत्पन्न हुई हैं ॥ ४४½ ॥

गोप्तारः संगृहीतारो दातारः क्षत्रियाःस्मृताः ॥ ४५ ॥
याजनाध्यापनैर्विप्रा विशुद्धैश्च प्रतिग्रहैः ।
लोकस्यानुग्रहार्थाय स्थापिता ब्राह्मणा भुवि ॥ ४६ ॥

इनमें क्षत्रिय-जातिके लोग सबकी रक्षा करनेवाले, सबसे कर लेनेवाले और दान देनेवाले बताये गये हैं । ब्राह्मण यज्ञ कराने, वेद पढ़ाने और विशुद्ध दान ग्रहण करनेके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेके लिये इस भूतलपर ब्रह्माजीके द्वारा स्थापित किये गये हैं ॥

कृषिश्च पाशुपाल्यं च विशां दानं च धर्मतः ।
ब्रह्मक्षत्रविशां शूद्रा विहिताः परिचारकाः ॥ ४७ ॥

कृषि, पशुपालन और धर्मानुसार दान देना वैश्योंका कर्म है तथा शूद्रलोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवाके काममें नियुक्त किये गये हैं ॥ ४७ ॥

ब्रह्मक्षत्रस्य विहिताः सूता वै परिचारकाः ।
न क्षत्रियो वै सूतानां शृणुयाच्च कथञ्चन ॥ ४८ ॥

सूतजातिके लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके सेवक नियुक्त किये गये हैं, क्षत्रिय सूतोंका सेवक हो, यह कोई किसी प्रकार कहीं नहीं सुन सकता ॥ ४८ ॥

अहं मूर्धाभिषिक्तो हि राजर्षिकुलजो नृपः ।
महारथः समाख्यातः सेव्यः स्तुत्यश्च वन्दिनाम्॥४९॥

मैं राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुआ मूर्द्धाभिषिक्त नरेश हूँ, विश्वविख्यात महारथी हूँ, सूतोंद्वारा सेव्य और वन्दीजनोंद्वारा स्तुतिके योग्य हूँ ॥ ४९ ॥

सोऽहमेतादृशो भूत्वा नेहारिबलसूदनः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे सारथ्यं कर्तुमुत्सहे ॥ ५० ॥

ऐसा प्रतिष्ठित एवं शत्रुसेनाका संहार करनेमें समर्थ होकर मैं यहाँ युद्धस्थलमें एक सूतपुत्रके सारथिका कार्य कदापि नहीं कर सकता ॥ ५० ॥

अवमानमहं प्राप्य न योत्स्यामि कथञ्चन ।
आपृच्छे त्वाद्य गान्धारे गमिष्यामि गृहाय वै ॥५१ ॥

गान्धारीनन्दन ! आज इस अपमानको पाकर अब मैं किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । अतः तुमसे आज्ञा चाहता हूँ । आज ही अपने घरको लौट जाऊँगा ॥ ५१ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज शल्यः समितिशोभनः ।

उत्थाय प्रययौ तूर्णं राजमध्यादमर्षितः ॥ ५२ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ऐसा कहकर युद्धमें शोभा पानेवाले शल्य अमर्षमें भर गये और राजाओंके बीचसे उठकर तुरंत चल दिये ॥ ५२ ॥

प्रणयाद् बहुमानाच्च तं निगृह्य सुतस्तव ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साम्ना सर्वार्थसाधकम् ॥ ५३ ॥

तब आपके पुत्रने बड़े प्रेम और आदरसे उन्हें रोका

तथा सान्त्वनापूर्ण मधुर स्वरमें उनसे यह सर्वार्थसाधक वचन कहा—॥ ५३ ॥

यथा शल्य विजानीषे एवमेतदसंशयम् ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥ ५४ ॥

'महाराज शल्य ! आप अपने विषयमें जैसा समझते हैं ऐसी ही बात है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । मेरा कोई और ही अभिप्राय है, उसे ध्यान देकर सुनिये ॥ ५४ ॥

न कर्णोऽभ्यधिकस्त्वत्तो न शङ्के त्वां च पार्थिव ।
न हि मद्रेश्वरो राजा कुर्याद् यदनृतं भवेत् ॥ ५५ ॥

'भूपाल ! न तो कर्ण आपसे श्रेष्ठ है और न आपके प्रति मैं संदेह ही करता हूँ । मद्रदेशके स्वामी राजा शल्य कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जो उनकी सत्य प्रतिज्ञाके विपरीत हो ॥

ऋतमेव हि पूर्वास्ते वदन्ति पुरुषोत्तमाः ।
तस्मादार्तायनिः प्रोक्तो भवानिति मतिर्मम ॥ ५६ ॥

'आपके पूर्वज श्रेष्ठ पुरुष थे और सदा सत्य ही बोला करते थे, इसीलिये आप 'आर्तायनि' कहलाते हैं; मेरी ऐसी ही धारणा है ॥ ५६ ॥

शल्यभूतस्तु शत्रूणां यस्मात्त्वं युधि मानद ।
तस्माच्छल्यो हि ते नाम कथ्यते पृथिवीतले ॥ ५७ ॥

'मानद ! आप युद्धस्थलमें शत्रुओंके लिये शल्य (काँटे) के समान हैं, इसीलिये इस भूतलपर आपका शल्य नाम विख्यात है ॥ ५७ ॥

यदेतद् व्याहृतं पूर्वं भवता भूरिदक्षिण ।
तदेव कुरु धर्मज्ञ मदर्थे यद् यदुच्यते ॥ ५८ ॥

'यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले धर्मज्ञ नरेश्वर ! आपने पहले यह जो कुछ कहा है और इस समय जो कुछ कह रहे हैं, उसीको मेरे लिये पूर्ण करें ॥ ५८ ॥

न च त्वत्तो हि राधेयो न चाहमपि वीर्यवान् ।
वृणेऽहं त्वां हयाग्र्याणां यन्तारमिह संयुगे ॥ ५९ ॥

'आपकी अपेक्षा न तो राधापुत्र कर्ण बलवान् है और न मैं ही ।आप उत्तम अश्वोंके सर्वश्रेष्ठ संचालक (अश्वविद्याके सर्वोत्तम ज्ञाता) हैं, इसलिये इस युद्धस्थलमें आपका वरण कर रहा हूँ ॥ ५९ ॥

मन्ये चाभ्यधिकं शल्य गुणैः कर्णं धनंजयात् ।
भवन्तं वासुदेवाच्च लोकोऽयमिति मन्यते ॥ ६० ॥

'शल्य ! मैं कर्णको अर्जुनसे अधिक गुणवान् मानता हूँ और यह सारा जगत् आपको वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ मानता है ॥ ६० ॥

कर्णो ह्यभ्यधिकः पार्थादस्त्रैरेव नरर्षभ ।
भवानभ्यधिकः कृष्णादश्वज्ञाने बले तथा ॥ ६१ ॥

'नरश्रेष्ठ ! कर्ण तो अर्जुनसे केवल अस्त्र-ज्ञानमें ही बढ़ा-चढ़ा है, परंतु आप श्रीकृष्णसे अश्वविद्या और बल दोनोंमें बड़े हैं ॥

यथाश्वहृदयं वेद वासुदेवो महामनाः ।
द्विगुणं त्वं तथा वेत्सि मद्रराजेश्वरात्मज ॥ ६२ ॥

'मद्रराजकुमार ! महामनस्वी श्रीकृष्ण जिस प्रकार अश्व-विद्याका रहस्य जानते हैं, वैसा ही, बल्कि उससे भी दूना आप जानते हैं' ॥ ६२ ॥

शल्य उवाच

यन्मां ब्रवीषि गान्धारे मध्ये सैन्यस्य कौरव ।
विशिष्टं देवकीपुत्रात् प्रीतिमानस्म्यहं त्वयि ॥ ६३ ॥

शल्यने कहा—कौरव ! गान्धारीपुत्र ! तुम सारी सेनाके बीचमें जो मुझे देवकीनन्दन श्रीकृष्णसे भी बढ़कर बता रहे हो, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ६३ ॥

एष सारथ्यमातिष्ठे राधेयस्य यशस्विनः ।
युध्यतः पाण्डवाग्र्येण यथा त्वं वीर मन्यसे ॥ ६४ ॥

वीर ! जैसा तुम चाहते हो उसके अनुसार मैं पाण्डव-शिरोमणि अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए यशस्वी कर्णका सारथिकर्म अब स्वीकार किये लेता हूँ ॥ ६४ ॥

समयश्च हि मे वीर कश्चिद् वैकर्तनं प्रति ।
उत्सृजेयं यथाश्रद्धमहं वाचोऽस्य संनिधौ ॥ ६५ ॥

परंतु वीरवर ! कर्णके साथ मेरी एक शर्त रहेगी। 'मैं इसके समीप, जैसी मेरी इच्छा हो, वैसी बातें कर सकता हूँ' ॥

संजय उवाच

तथेति राजन् पुत्रस्ते सह कर्णेन भारत।
अब्रवीन्मद्रराजस्य मतं भरतसत्तम ॥ ६६ ॥

संजयने कहा—भारत ! भरतभूषण नरेश ! इसपर कर्णसहित आपके पुत्रने 'बहुत अच्छा' कहकर शल्यकी शर्त स्वीकार कर ली ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शल्यसारथ्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शल्यका सारथिकर्मविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६६½ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका शल्यसे त्रिपुरोंकी उत्पत्तिका वर्णन, त्रिपुरोंसे भयभीत इन्द्र आदि देवताओंका ब्रह्माजीके साथ भगवान् शङ्करके पास जाकर उनकी स्तुति करना

दुर्योधन उवाच

भूय एव तु मद्रेश यत्ते वक्ष्यामि तच्छृणु।
यथा पुरावृत्तमिदं युद्धे देवासुरे विभो ॥ १ ॥
यदुक्तवान् पितुर्मह्यं मार्कण्डेयो महानृषिः।
तदशेषेण ब्रुवतो मम राजर्षिसत्तम ॥ २ ॥
निबोध मनसा चात्र न ते कार्या विचारणा।

दुर्योधन बोला—मद्रराज ! मैं पुनः आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे सुनिये। प्रभो ! पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर जो घटना घटित हुई थी तथा जिसे महर्षि मार्कण्डेयने मेरे पिताजीको सुनाया था, वह सब मैं पूर्णरूपसे बता रहा हूँ। राजर्षिप्रवर ! आप मन लगाकर इसे सुनिये, इसके विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥

देवानामसुराणां च परस्परजिगीषया ॥ ३ ॥
बभूव प्रथमो राजन् संग्रामस्तारकामयः।

राजन् ! देवताओं और असुरोंमें परस्पर विजय पानेकी इच्छासे सर्वप्रथम तारकामय संग्राम हुआ था ॥ ३½ ॥

निर्जिताश्च तदा दैत्या दैवतैरिति नः श्रुतम् ॥ ४ ॥
निर्जितेषु च दैत्येषु तारकस्य सुतास्त्रयः।
ताराक्षः कमलाक्षश्च विद्युन्माली च पार्थिव ॥ ५ ॥
तप उग्रं समास्थाय नियमे परमे स्थिताः।

उस समय देवताओंने दैत्योंको परास्त कर दिया था, यह हमारे सुननेमें आया है। राजन् ! दैत्योंके परास्त हो जानेपर तारकासुरके तीन पुत्र ताराक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली उग्र तपस्याका आश्रय ले उत्तम नियमोंका पालन करने लगे ॥

तपसा कर्शयामासुर्देहान् स्वान् शत्रुतापन ॥ ६ ॥
दमेन तपसा चैव नियमेन समाधिना।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! उन तीनोंने तपस्याके द्वारा अपने शरीरोंको सुखा दिया। वे इन्द्रिय-संयम, तप, नियम और समाधिसे संयुक्त रहने लगे ॥ ६½ ॥

तेषां पितामहः प्रीतो वरदः प्रददौ वरम् ॥ ७ ॥
अवध्यत्वं च ते राजन् सर्वभूतस्य सर्वदा।
सहिता वरयामासुः सर्वलोकपितामहम् ॥ ८ ॥

राजन् ! उनपर प्रसन्न होकर वरदायक भगवान् ब्रह्मा उन्हें वर देनेको उद्यत हुए। उस समय उन तीनोंने एक साथ होकर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मासे यह वर माँगा कि 'हम सदा सम्पूर्ण भूतोंसे अवध्य हों ॥ ७-८ ॥

तानब्रवीत्तदा देवो लोकानां प्रभुरीश्वरः।
नास्ति सर्वामरत्वं वै निवर्तध्वमितोऽसुराः ॥ ९ ॥
अन्यं वरं वृणीध्वं वै यादृशं सम्प्ररोचते।

तब लोकनाथ भगवान् ब्रह्माने उनसे कहा—'असुरो ! सबके लिये अमरत्व सम्भव नहीं है। तुम इस तपस्यासे निवृत्त हो जाओ और दूसरा कोई वर जैसा तुम्हें रुचे माँग लो' ॥९½॥

ततस्ते सहिता राजन् सम्प्रधार्यासकृत् प्रभुम् ॥ १० ॥
सर्वलोकेश्वरं वाक्यं प्रणम्येदमथाब्रुवन्।

राजन् ! तब उन सबने एक साथ बारंबार विचार करके सर्वलोकेश्वर भगवान् ब्रह्माको शीश नवाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ १०½ ॥

अस्मभ्यं त्वं वरं देव सम्प्रयच्छ पितामह ॥ ११ ॥
(वस्तुमिच्छाम नगरं कृत्वा कामगमं शुभम्।
सर्वकामसमृद्धार्थमवध्यं देवदानवैः ॥
यक्षरक्षोरगगणैर्नानाजातिभिरेव च।
न कृत्याभिर्न शस्त्रैश्च न शापैर्ब्रह्मवादिनाम् ॥
वध्येत त्रिपुरं देव प्रसन्ने त्वयि सादरम् ॥

'पितामह ! देव ! हम सबको आप वर प्रदान कीजिये। हमलोग इच्छानुसार चलनेवाला नगराकार सुन्दर विमान बनाकर उसमें निवास करना चाहते हैं। हमारा वह पुर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंसे सम्पन्न तथा देवताओं और दानवोंके लिये अवध्य हो। देव ! आपके सादर प्रसन्न होनेसे हमारे तीनों पुर यक्ष, राक्षस, नाग तथा नाना जातिके अन्य प्राणियोंद्वारा भी विनष्ट न हों। उन्हें न तो कृत्याएँ नष्ट कर सकें, न शस्त्र छिन्न-भिन्न कर सकें और न ब्रह्मवादियोंके शापोंद्वारा ही इनका विनाश हो' ॥ ११ ॥

ब्रह्मोवाच

विलयः समयस्यान्ते मरणं जीवितस्य च।
इति वित्त वधोपायं कञ्चिदेव निशाम्यत ॥)

ब्रह्माजीने कहा—दैत्यो ! समय पूरा होनेपर सबका लय होता है। जो आज जीवित है, उसकी भी एक दिन मृत्यु होती है। इस बातको अच्छी तरह समझ लो और इन तीनों पुरोंके वधका कोई निमित्त कह सुनाओ।

दैत्या ऊचुः

वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम्।
विचरिष्याम लोकेऽस्मिंस्त्वत्प्रसादपुरस्कृताः॥ १२ ॥

दैत्य बोले—भगवन् ! हम तीनों पुरोंमें ही रहकर इस पृथ्वीपर एवं इस जगत्‌में आपके कृपा-प्रसादसे विचरेंगे॥१२॥

ततो वर्षसहस्रे तु समेष्यामः परस्परम्।
एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ ॥ १३ ॥
समागतानि चैतानि यो हन्याद् भगवंस्तदा।
एकेषुणा देववरः स नो मृत्युर्भविष्यति ॥ १४ ॥

अनघ ! तदनन्तर एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर हमलोग एक दूसरेसे मिलेंगे। भगवन् ! ये तीनों पुर जब एकत्र होकर एकीभावको प्राप्त हो जायँ, उस समय जो एक ही बाणसे इन तीनों पुरोंको नष्ट कर सके, वही देवेश्वर हमारी मृत्युका कारण होगा॥ १३-१४॥

एवमस्त्विति तान् देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशद् दिवम्।
ते तु लब्धवराः प्रीताः सम्प्रधार्य परस्परम् ॥ १५ ॥
पुरत्रयविसृष्ट्यर्थं मयं वव्रुर्महासुरम्।
विश्वकर्माणमजरं दैत्यदानवपूजितम् ॥ १६ ॥

'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) यों कहकर भगवान् ब्रह्मा अपने धामको चले गये। वरदान पाकर वे तीनों असुर बड़े प्रसन्न हुए और परस्पर विचार करके उन्होंने दैत्य-दानव-पूजित, अजर-अमर विश्वकर्मा महान् असुर मयका तीन पुरोंके निर्माणके लिये वरण किया॥ १५-१६॥

ततो मयः स्वतपसा चक्रे धीमान् पुराणि च।
त्रीणि काञ्चनमेकं वै रौप्यं कार्ष्णायसं तथा ॥ १७ ॥

तब बुद्धिमान् मयासुरने अपनी तपस्याद्वारा तीन पुरोंका निर्माण किया। उनमेंसे एक सोनेका, दूसरा चाँदीका और तीसरा पुर लोहेका बना था॥ १७॥

काञ्चनं दिवि तत्रासीदन्तरिक्षे च राजतम्।
आयसं चाभवद् भौमं चक्रस्थं पृथिवीपते ॥ १८ ॥

पृथ्वीपते ! सोनेका बना हुआ पुर स्वर्गलोकमें स्थित हुआ। चाँदीका अन्तरिक्षलोकमें और लोहेका भूलोकमें स्थित हुआ; जो आज्ञाके अनुसार सर्वत्र विचरनेवाला था॥ १८॥

एकैकं योजनशतं विस्तारायामतः समम्।
गृहाट्टालकसंयुक्तं बहुप्राकारतोरणम् ॥ १९ ॥

प्रत्येक नगरकी लंबाई-चौड़ाई बराबर-बराबर सौ योजनकी थी। सबमें बड़े-बड़े महल और अट्टालिकाएँ थीं। अनेकानेक प्राकार (परकोटे) और तोरण (फाटक) सुशोभित थे॥ १९॥

गृहप्रवरसम्बाधमसम्बाधमहापथम्।
प्रासादैर्विविधैश्चापि द्वारैश्चैवोपशोभितम् ॥ २० ॥

बड़े-बड़े घरोंसे वह नगर भरा था। उसकी विशाल सड़कें संकीर्णतासे रहित एवं विस्तृत थीं। नाना प्रकारके प्रासाद और द्वार उन पुरोंकी शोभा बढ़ाते थे॥ २०॥

पुरेषु चाभवन् राजन् राजानो वै पृथक्-पृथक्।
काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमासीन्महात्मनः ॥ २१ ॥

राजन् ! उन तीनों पुरोंके राजा अलग-अलग थे। सुवर्णमय विचित्र पुर महामना तारकाक्षके अधिकारमें था॥२१॥

राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम्।
त्रयस्ते दैत्यराजानस्त्रींल्लोकानस्त्रतेजसा ॥ २२ ॥
आक्रम्य तस्थुरूचुश्च कश्च नाम प्रजापतिः।

चाँदीका बना हुआ पुर कमलाक्षके और लोहेका विद्युन्मालीके अधिकारमें था। वे तीनों दैत्यराज अपने अस्त्रोंके तेजसे तीनों लोकोंको दबाकर रहते और कहते थे कि 'प्रजापति कौन है ?'॥ २२½॥

तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ २३ ॥
कोट्यश्चाप्रतिवीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः।

उन दानवशिरोमणियोंके पास लाखों, करोड़ों और अरबों अप्रतिम वीर दैत्य इधर-उधरसे आ गये थे॥ २३½॥

मांसाशिनः सुदृप्ताश्च सुरैर्विनिकृताः पुरा ॥ २४ ॥
महदैश्वर्यमिच्छन्तस्त्रिपुरं दुर्गमाश्रिताः।

वे सब-के-सब मांसभक्षी और अत्यन्त अभिमानी थे। पूर्वकालमें देवताओंने उनके साथ बहुत छल-कपट किया था। अतः वे महान् ऐश्वर्यकी इच्छा रखते हुए त्रिपुर-दुर्गके आश्रयमें आये थे॥ २४½॥

सर्वेषां च पुनश्चैषां सर्वयोगवहो मयः ॥ २५ ॥
तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्तयन्तेऽकुतोभयाः।

मयासुर इन सबको सब प्रकारकी अप्राप्त वस्तुएँ प्राप्त कराता था। उसका आश्रय लेकर वे सम्पूर्ण दैत्य निर्भय होकर रहते थे॥ २५½॥

यो हि यन्मनसा कामं दध्यौ त्रिपुरसंश्रयः ॥ २६ ॥
तस्मै कामं मयस्तं तं विदधे मायया तदा।

उक्त तीनों पुरोंमें निवास करनेवाला जो भी असुर अपने मनसे जिस अभीष्ट भोगका चिन्तन करता था, उसके लिये मयासुर अपनी मायासे वह-वह भोग तत्काल प्रस्तुत कर देता था॥ २६½॥

तारकाक्षसुतो वीरो हरिर्नाम महाबलः ॥ २७ ॥
तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः।

तारकाक्षका महाबली वीर पुत्र 'हरि' नामसे प्रसिद्ध था, उसने बड़ी भारी तपस्या की, जिससे ब्रह्माजी उसपर संतुष्ट हो गये॥ २७½॥

संतुष्टमवृणोद् देवं वापी भवतु नः पुरे ॥ २८ ॥
शस्त्रैर्विनिहता यत्र क्षिप्ताः स्युर्बलवत्तराः ।

संतुष्ट हुए ब्रह्माजीसे उसने यह वर माँगा कि 'हमारे पुरोंमें एक-एक ऐसी बावड़ी हो जाय, जिसके भीतर डाल दिये जानेपर शस्त्रोंके आघातसे मरे हुए दैत्य वीर और भी प्रबल होकर जीवित हो उठें' ॥ २८½ ॥

स तु लब्ध्वा वरं वीरस्तारकाक्षसुतो हरिः ॥ २९ ॥
ससृजे तत्र वापीं तां मृतानां जीविनीं प्रभो ।

प्रभो ! वह वरदान पाकर तारकाक्षके वीर पुत्र हरिने उन पुरोंमें एक-एक बावड़ीका निर्माण किया, जो मृतकोंको जीवन प्रदान करनेवाली थी ॥ २९½ ॥

येन रूपेण दैत्यस्तु येन वेषेण चैव ह ॥ ३० ॥
मृतस्तस्यां परिक्षिप्तस्तादृशेनैव जज्ञिवान् ।

जो दैत्य जिस रूप और जैसे वेषमें रहता था, मरनेपर उस बावड़ीमें डालनेके पश्चात् वैसे ही रूप और वेषसे सम्पन्न होकर प्रकट हो जाता था ॥ ३०½ ॥

तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु लोकान् सर्वान् बबाधिरे॥३१॥
महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्धनाः ।
न तेषामभवद् राजन् क्षयो युद्धे कदाचन ॥ ३२ ॥

उस वापीमें पहुँच जानेपर नया जीवन धारण करके वे दैत्य पुनः उन सभी लोकोंको बाधा पहुँचाने लगते थे। राजन् ! वे महान् तपसे सिद्ध हुए असुर देवताओंका भय बढ़ा रहे थे । युद्धमें कभी उनका विनाश नहीं होता था ॥

ततस्ते लोभमोहाभ्यामभिभूता विचेतसः ।
निर्ह्रीकाः संस्थिताः सर्वे स्थापिताः समलूलुपन् ।३३।

उन पुरोंमें बसाये गये सभी दैत्य लोभ और मोहके वशीभूत हो विवेकहीन और निर्लज्ज होकर सब ओर लूटपाट करने लगे ॥ ३३ ॥

विद्राव्य सगणान् देवांस्तत्र तत्र तदा तदा ।
विचेरुः स्वेन कामेन वरदानेन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

वरदान पानेके कारण उनका घमंड बढ़ गया था । वे विभिन्न स्थानोंमें देवताओं और उनके गणोंको भगाकर वहाँ अपनी इच्छाके अनुसार विचरते थे ॥ ३४ ॥

देवोद्यानानि सर्वाणि प्रियाणि च दिवौकसाम् ।
ऋषीणामाश्रमान् पुण्यान् रम्याञ्जनपदांस्तथा ॥३५ ॥
व्यनाशयन्नमर्यादा दानवा दुष्टचारिणः ।

स्वर्गवासियोंके परम प्रिय समस्त देवोद्यानों, ऋषियोंके पवित्र आश्रमों तथा रमणीय जनपदोंको भी वे मर्यादाशून्य दुराचारी दानव नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे ॥ ३५½ ॥

(निःस्थानाश्च कृता देवा ऋषयः पितृभिः सह ।
दैत्यैस्त्रिभिस्त्रयो लोका ह्याक्रान्तास्तैः सुरेतरैः ॥)

उन देवविरोधी तीनों दैत्योंने देवताओं, पितरों और ऋषियोंको भी उनके स्थानोंसे हटाकर निराश्रय कर दिया । वे ही नहीं, तीनों लोकोंके निवासी उनके द्वारा पददलित हो रहे थे ॥

पीड्यमानेषु लोकेषु ततः शक्रो मरुद्वृतः ॥ ३६ ॥
पुराण्यायोधयांचक्रे वज्रपातैः समन्ततः ।

जब सम्पूर्ण लोकोंके प्राणी पीडित होने लगे, तब देवताओं-सहित इन्द्र चारों ओरसे वज्रपात करते हुए उन तीनों पुरोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३६½ ॥

नाशकत् तान्यभेद्यानि यदा भेत्तुं पुरंदरः ॥ ३७ ॥
पुराणि वरदत्तानि धात्रा तेन नराधिप ।
तदा भीतः सुरपतिर्मुक्त्वा तानि पुराण्यथ ॥ ३८ ॥
तैरेव विबुधैः सार्धं पितामहमरिंदम ।
जगामाथ तदाख्यातुं विप्रकारं सुरेतरैः ॥ ३९ ॥

शत्रुदमननरेश्वर ! जब देवराज इन्द्र ब्रह्माजीका वर पाये हुए उन अभेद्य पुरोंका भेदन न कर सके, तब वे भयभीत हो उन पुरोंको छोड़कर उन्हीं देवताओंके साथ ब्रह्माजीके पास उन दैत्योंका अत्याचार बतानेके लिये गये ॥ ३७—३९ ॥

ते तत्त्वं सर्वमाख्याय शिरोभिः सम्प्रणम्य च ।
वधोपायमपृच्छन्त भगवन्तं पितामहम् ॥ ४० ॥

उन्होंने मस्तक झुकाकर भगवान् ब्रह्माजीको प्रणाम किया और सारी बातें ठीक-ठीक बताकर उनसे उन दैत्योंके वधका उपाय पूछा ॥ ४० ॥

श्रुत्वा तद् भगवान् देवो देवानिदमुवाच ह ।
ममापि सोऽपराध्नोति यो युष्माकमसौख्यकृत् ॥ ४१ ॥

वह सब सुनकर भगवान् ब्रह्माने उन देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण ! जो तुम्हारी बुराई करता है, वह मेरा भी अपराधी है ॥ ४१ ॥

असुरा हि दुरात्मानः सर्व एव सुरद्विषः ।
अपराध्यन्ति सततं ये युष्मान् पीडयन्त्युत ॥ ४२ ॥

'वे समस्त देवद्रोही दुरात्मा असुर, जो सदा तुम्हें पीडा देते रहते हैं, निश्चय ही मेरा भी महान् अपराध करते हैं ॥ ४२ ॥

अहं हि तुल्यः सर्वेषां भूतानां नात्र संशयः ।
अधार्मिकास्तु हन्तव्या इति मे व्रतमाहितम् ॥ ४३ ॥

'इसमें संशय नहीं कि समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समान भाव है, तथापि मैंने यह व्रत ले रखा है कि पापात्माओंका वध कर दिया जाय ॥ ४३ ॥

एकेषुणा विभेद्यानि तानि दुर्गाणि नान्यथा ।
न च स्थाणुमृते शक्तो भेत्तुमेकेषुणा पुरः ॥ ४४ ॥

'वे तीनों पुर एक ही बाणसे वेध दिये जायँ तो नष्ट हो सकते हैं, अन्यथा नहीं; परंतु महादेवजीके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उन तीनोंको एक साथ एक ही बाणसे बेध सके ॥ ४४ ॥

ते यूयं स्थाणुमीशानं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ।
योद्धारं वृणुतादित्याः स तान् हन्ता सुरेतरान्।४५।

'अतः अदितिकुमारो ! तुमलोग अनायास ही महान् कर्म करनेवाले, विजयशील, ईश्वर, महादेवजीका योद्धाके रूपमें वरण करो । वे ही उन दैत्योंको मार सकते हैं' ॥ ४५ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा देवाः शक्रपुरोगमाः ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा वृषाङ्कं शरणं ययुः ॥ ४६ ॥

उनकी यह बात सुनकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता ब्रह्माजीको आगे करके महादेवजीकी शरणमें गये ॥

तपो नियममास्थाय गृणन्तो ब्रह्म शाश्वतम् ।
ऋषिभिः सह धर्मज्ञा भवं सर्वात्मना गताः ॥ ४७ ॥

तप और नियमका आश्रय ले ऋषियोंसहित धर्मज्ञ देवता सनातन ब्रह्मस्वरूप महादेवजीकी स्तुति करते हुए सम्पूर्ण हृदयसे उनकी शरणमें गये ॥ ४७ ॥

तुष्टुवुर्वाग्भिरिष्टाभिर्भयेष्वभयदं नृप ।
सर्वात्मानं महात्मानं येनाप्तं सर्वमात्मना ॥ ४८ ॥

नरेश्वर ! जिन्होंने आत्मस्वरूपसे सबको व्याप्त कर रखा है तथा जो भयके अवसरोंपर अभय प्रदान करनेवाले हैं, उन सर्वात्मा, महात्मा भगवान् शिवकी उन देवताओंने अभीष्ट वाणीद्वारा स्तुति की ॥ ४८ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्योगं यो वेद चात्मनः ।
यः सांख्यमात्मनो वेत्ति यस्य चात्मा वशे सदा॥४९॥
तं ते ददृशुरीशानं तेजोराशिमुमापतिम् ।
अनन्यसदृशं लोके भगवन्तमकल्मषम् ॥ ५० ॥

जो नाना प्रकारकी विशेष तपस्याओंद्वारा मनकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधका उपाय जानते हैं, जिन्हें अपनी ज्ञानस्वरूपताका बोध नित्य बना रहता है, जिनका अन्तःकरण सदा अपने वशमें रहता है, जगत्में जिनकी कहीं भी तुलना नहीं है, उन निष्पाप, तेजोराशि, महेश्वर भगवान् उमापतिका उन देवताओंने दर्शन किया ॥ ४९–५० ॥

एकं च भगवन्तं ते नानारूपमकल्पयन् ।
आत्मनः प्रतिरूपाणि रूपाण्यथ महात्मनि ॥ ५१ ॥
परस्परस्य चापश्यन् सर्वे परमविस्मिताः ।

उन्होंने एक ही भगवान् शिवको अपनी भावनाके अनुसार अनेक रूपोंमें कल्पित किया । उन परमात्मामें अपने तथा दूसरोंके प्रतिबिम्ब देखे । यह सब देखकर परस्पर दृष्टिपात करके वे सब-के-सब अत्यन्त आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ५१½ ॥

सर्वभूतमयं दृष्ट्वा तमजं जगतः पतिम् ॥ ५२ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव शिरोभिर्धरणीं गताः ।

उन सर्वभूतमय अजन्मा जगदीश्वरको देखकर सम्पूर्ण देवताओं तथा ब्रह्मर्षियोंने धरतीपर मस्तक टेक दिये ॥

तान् स्वस्तिवादेनाभ्यर्च्य समुत्थाप्य च शङ्करः ॥५३॥
ब्रूत ब्रूतेति भगवान् स्मयमानोऽभ्यभाषत ।

तब भगवान् शङ्करने 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा कहकर उनका समादर करते हुए उनको उठाया और मुसकराते हुए कहा–'बोलो, बोलो; क्या है ?' ॥ ५३½ ॥

त्र्यम्बकेणाभ्यनुज्ञातास्ततस्ते स्वस्थचेतसः ॥ ५४ ॥
नमो नमो नमस्तेऽस्तु प्रभो इत्यब्रुवन् वचः ।

भगवान् त्रिलोचनकी आज्ञा पाकर स्वस्थचित्त हुए वे देवगण इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे–'प्रभो ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ५४½ ॥

नमो देवाधिदेवाय धन्विने वनमालिने ॥ ५५ ॥
प्रजापतिमखघ्नाय प्रजापतिभिरीड्यते ।
नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय शम्भवे ॥ ५६ ॥

'आप देवताओंके अधिदेवता, धनुर्धर और वनमालाधारी हैं । आपको नमस्कार है । आप दक्षप्रजापतिके यज्ञका विध्वंस करनेवाले हैं, प्रजापति भी आपकी स्तुति करते हैं, सबके द्वारा आपकी ही स्तुति की गयी है, आप ही स्तुतिके योग्य हैं तथा सब लोग आपकी ही स्तुति करते हैं । आप कल्याणस्वरूप शम्भुको नमस्कार है ॥ ५५-५६ ॥

विलोहिताय रुद्राय नीलग्रीवाय शूलिने ।
अमोघाय मृगाक्षाय प्रवरायुधयोधिने ॥ ५७ ॥

'आप विशेषतः लालवर्णके हैं, पापियोंको रुलानेवाले रुद्र हैं, नीलकण्ठ और त्रिशूलधारी हैं, आपका दर्शन अमोघ फल देनेवाला है, आपके नेत्र मृगोंके समान हैं तथा आप श्रेष्ठ आयुधोंद्वारा युद्ध करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है ॥ ५७ ॥

अर्हाय चैव शुद्धाय क्षयाय क्रथनाय च ।
दुर्वारणाय शुक्राय ब्रह्मणे ब्रह्मचारिणे ॥ ५८ ॥
ईशानायाप्रमेयाय नियन्त्रे चर्मवाससे ।
तपोरताय पिङ्गाय व्रतिने कृत्तिवाससे ॥ ५९ ॥

'आप पूजनीय, शुद्ध, प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाले हैं । आपको रोकना या पराजित करना सर्वथा कठिन है । आप शुक्लवर्ण, ब्रह्म, ब्रह्मचारी, ईशान, अप्रमेय, नियन्ता तथा व्याघ्रचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले हैं । आप सदा तपस्यामें तत्पर रहनेवाले, पिङ्गलवर्ण, व्रतधारी और कृत्तिवासा हैं । आपको नमस्कार है ॥ ५८-५९ ॥

कुमारपित्रे त्र्यक्षाय प्रवरायुधधारिणे ।
प्रपन्नार्तिविनाशाय ब्रह्मद्विट्संघघातिने ॥ ६० ॥

'आप कुमार कार्तिकेयके पिता, त्रिनेत्रधारी, उत्तम आयुध धारण करनेवाले, शरणागतदुःखभञ्जन तथा

ब्रह्मद्रोहियोंके समुदायका विनाश करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ ६० ॥

वनस्पतीनां पतये नराणां पतये नमः।
गवां च पतये नित्यं यज्ञानां पतये नमः ॥ ६१ ॥

'आप वनस्पतियोंके पालक और मनुष्योंके अधिपति हैं। आप ही गौओंके स्वामी और सदा यज्ञोंके अधीश्वर हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ६१ ॥

नमोऽस्तु ते ससैन्याय त्र्यम्बकायामितौजसे।
मनोवाक्कर्मभिर्देव त्वां प्रपन्नान् भजस्व नः ॥ ६२ ॥

'सेनासहित आप अमिततेजस्वी भगवान् त्र्यम्बकको नमस्कार है। देव! हम मन, वाणी और क्रियाद्वारा आपकी शरणमें आये हैं। आप हमें अपनाइये' ॥ ६२ ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् स्वागतेनाभिनन्द्य च।
प्रोवाच व्येतु वस्त्रासो ब्रूत किं करवाणि वः ॥ ६३ ॥

तब भगवान् शङ्करने प्रसन्न होकर स्वागत-सत्कारके द्वारा देवताओंको आनन्दित करके कहा—'देवगण! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये; बोलो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ?' ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि त्रिपुराख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें त्रिपुराख्यानविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ६७½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका शल्यको शिवके विचित्ररथका विवरण सुनाना और शिवजीद्वारा त्रिपुर-वधका उपाख्यान सुनाना एवं परशुरामजीके द्वारा कर्णको दिव्य अस्त्र मिलनेकी बात कहना

दुर्योधन उवाच

पितृदेवर्षिसंघेभ्योऽभये दत्ते महात्मना।
सत्कृत्य शङ्करं प्राह ब्रह्मा लोकहितं वचः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—राजन्! परमात्मा शिवने जब देवताओं, पितरों तथा ऋषियोंके समुदायको अभय दे दिया, तब ब्रह्माजीने उन भगवान् शङ्करका सत्कार करके यह लोक-हितकारी वचन कहा—॥ १ ॥

तवातिसर्गाद् देवेश प्राजापत्यमिदं पदम्।
मयाधितिष्ठता दत्तो दानवेभ्यो महान् वरः ॥ २ ॥

'देवेश्वर! आपके आदेशसे इस प्रजापतिपदपर स्थित रहते हुए मैंने दानवोंको एक महान् वर दे दिया है ॥ २ ॥

तानतिक्रान्तमर्यादान् नान्यः संहर्तुमर्हति।
त्वामृते भूतभव्येश त्वं ह्येषां प्रत्यरिर्वधे ॥ ३ ॥

'उस वरको पाकर वे मर्यादाका उल्लङ्घन कर चुके हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी महेश्वर! आपके सिवा दूसरा कोई भी उनका संहार नहीं कर सकता। उनके वधके लिये आप ही प्रतिपक्षी शत्रु हो सकते हैं ॥ ३ ॥

स त्वं देव प्रपन्नानां याचतां च दिवौकसाम्।
कुरु प्रसादं देवेश दानवाञ्जहि शङ्कर ॥ ४ ॥

'देव! हम सब देवता आपकी शरणमें आकर याचना करते हैं। देवेश्वर शङ्कर! आप हमपर कृपा कीजिये और इन दानवोंको मार डालिये ॥ ४ ॥

त्वत्प्रसादाज्जगत् सर्वं सुखमैधत मानद।
शरण्यस्त्वं हि लोकेश ते वयं शरणं गताः ॥ ५ ॥

'मानद! आपके प्रसादसे सम्पूर्ण जगत् सुखपूर्वक उन्नति करता आया है, लोकेश्वर! आप ही आश्रयदाता हैं; इसलिये हम आपकी शरणमें आये हैं' ॥ ५ ॥

स्थाणुरुवाच

हन्तव्याः शत्रवः सर्वे युष्माकमिति मे मतिः।
न त्वेक उत्सहे हन्तुं बलस्था हि सुरद्विषः ॥ ६ ॥

भगवान् शिवने कहा—देवताओ! मेरा ऐसा विचार है कि तुम्हारे सभी शत्रुओंका वध किया जाय, परंतु मैं अकेला ही उन सबको नहीं मार सकता; क्योंकि वे देवद्रोही दैत्य बड़े बलवान् हैं ॥ ६ ॥

ते यूयं संहताः सर्वे मदीयेनार्धतेजसा।
जयध्वं युधि ताञ्शत्रून् संहता हि महाबलाः ॥ ७ ॥

अतः तुम सब लोग एक साथ सङ्घ बनाकर मेरे आधे तेजसे पुष्ट हो युद्धमें उन शत्रुओंको जीत लो; क्योंकि जो संघटित होते हैं, वे महान् बलशाली हो जाते हैं ॥ ७ ॥

देवा ऊचुः

अस्मत्तेजोबलं यावत् तावद्द्विगुणमाहवे।
तेषामिति हि मन्यामो दृष्टतेजोबला हि ते ॥ ८ ॥

देवता बोले—प्रभो! युद्धमें हमलोगोंका जितना भी तेज और बल है, उससे दूना उन दैत्योंका है, ऐसा हम मानते हैं; क्योंकि उनके तेज और बलको हमने देख लिया है ॥ ८ ॥

स्थाणुरुवाच

वध्यास्ते सर्वतः पापा ये युष्मास्वपराधिनः।
मम तेजोबलार्धेन सर्वान् निघ्नत शात्रवान् ॥ ९ ॥

भगवान् शिव बोले—देवताओ! जो पापी तुमलोगोंके अपराधी हैं, वे सब प्रकारसे वधके ही योग्य हैं। मेरे तेज और बलके आधे भागसे युक्त हो तुमलोग समस्त शत्रुओंको मार डालो॥

देवा ऊचुः

बिभर्तुं भवतोऽर्धं तु न शक्ष्यामो महेश्वर।
सर्वेषां नो बलार्धेन त्वमेव जहि शात्रवान् ॥ १० ॥

देवताओंने कहा—महेश्वर ! हम आपका आधा बल धारण नहीं कर सकते; अतः आप ही हम सब लोगोंके आधे बलसे युक्त हो शत्रुओंका वध कीजिये ॥ १० ॥

स्थाणुरुवाच

यदि शक्तिर्न वः काचिद् बिभर्तुं मामकं बलम् ।
अहमेतान् हनिष्यामि युष्मत्तेजोऽर्धबृंहितः ॥ ११ ॥

भगवान् शिव बोले–देवगण ! यदि मेरे बलको धारण करनेमें तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है तो मैं ही तुमलोगोंके आधे तेजसे परिपुष्ट हो इन दैत्योंका वध करूँगा ॥ ११ ॥

ततस्तथेति देवेशस्तैरुक्तो राजसत्तम ।
अर्धमादाय सर्वेषां तेजसाभ्यधिकोऽभवत् ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर देवताओंने देवेश्वर भगवान् शिवसे 'तथास्तु' कह दिया और उन सबके तेजका आधा भाग लेकर वे अधिक तेजस्वी हो गये ॥ १२ ॥

स तु देवो बलेनासीत् सर्वेभ्यो बलवत्तरः ।
महादेव इति ख्यातस्ततः प्रभृति शङ्करः ॥ १३ ॥

वे देव बलके द्वारा उन सबकी अपेक्षा अधिक बलशाली हो गये । इसलिये उसी समयसे उन भगवान् शङ्करका महादेव नाम विख्यात हो गया ॥ १३ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवो धनुर्बाणधरो ह्यहम् ।
हनिष्यामि रथेनाजौ तान् रिपून् वो दिवौकसः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् महादेवजीने कहा—'देवताओ ! मैं धनुष-बाण धारण करके रथपर बैठकर युद्धस्थलमें तुम्हारे उन शत्रुओंका वध करूँगा ॥ १४ ॥

ते यूयं मे रथं चैव धनुर्बाणं तथैव च ।
पश्यध्वं यावदद्यैतान् पातयामि महीतले ॥ १५ ॥

'अतः तुमलोग मेरे लिये रथ और धनुष-बाणकी खोज करो, जिसके द्वारा आज इन दैत्योंको भूतलपर मार गिराऊँ ?' ॥

देवा ऊचुः

मूर्तीः सर्वाः समाधाय त्रैलोक्यस्य ततस्ततः ।
रथं ते कल्पयिष्यामो देवेश्वर सुवर्चसम् ॥ १६ ॥
तथैव बुद्ध्या विहितं विश्वकर्मकृतं शुभम् ।

देवता बोले—देवेश्वर ! हमलोग तीनों लोकोंके तेजकी सारी मात्राओंको एकत्र करके आपके लिये परम तेजस्वी रथका निर्माण करेंगे । विश्वकर्माका बुद्धिपूर्वक बनाया हुआ वह रथ बहुत ही सुन्दर होगा ॥ १६½ ॥

ततो विबुधशार्दूलास्ते रथं समकल्पयन् ॥ १७ ॥
विष्णुं सोमं हुताशं च तस्येषुं समकल्पयन् ।

तदनन्तर उन देवसंघोंने रथका निर्माण किया और विष्णु, चन्द्रमा तथा अग्नि—इन तीनोंको उनका बाण बनाया ॥ १७½ ॥

शृङ्गमग्निर्बभूवास्य भल्लः सोमो विशाम्पते ॥ १८ ॥
कुड्मलश्चाभवद् विष्णुस्तस्मिन्निषुवरे तदा ।

प्रजानाथ ! उस बाणका शृङ्ग (गाँठ) अग्नि हुए । उसका भल्ल (फल) चन्द्रमा हुए और उस श्रेष्ठ बाणके अग्रभागमें भगवान् विष्णु प्रतिष्ठित हुए ॥ १८½ ॥

रथं वसुन्धरां देवीं विशालपुरमालिनीम् ॥ १९ ॥
सपर्वतवनद्वीपां चक्रुर्भूतधरां तदा ।

बड़े-बड़े नगरोंसे सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपोंसे युक्त, प्राणियोंकी आधारभूता पृथ्वी देवीको उस समय देवताओंने रथ बनाया ॥ १९½ ॥

मन्दरः पर्वतश्चाक्षो जङ्घा तस्य महानदी ॥ २० ॥
दिशश्च प्रदिशश्चैव परिवारो रथस्य तु ।

मन्दराचल उस रथका धुरा था, महानदी गङ्गा जंघा (धुरेका आश्रय) बनी थीं, दिशाएँ और विदिशाएँ उस रथका आवरण थीं ॥ २०½ ॥

ईषा नक्षत्रवंशश्च युगः कृतयुगोऽभवत् ॥ २१ ॥
कूबरश्च रथस्यासीद् वासुकिर्भुजगोत्तमः ।
अपस्करमधिष्ठाने हिमवान् विन्ध्यपर्वतः ।
उदयास्तावधिष्ठाने गिरी चक्रुः सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥

नक्षत्रोंका समूह ईषादण्ड हुआ और कृतयुगने जुएका रूप धारण किया । नागराज वासुकि उस रथका कूबर बन गये थे । हिमालय पर्वत अपस्कर (रथके पीछेका काठ) और विन्ध्याचलने उसके आधारकाष्ठका रूप धारण किया । उदयाचल और अस्ताचल दोनोंको उन श्रेष्ठ देवताओंने पहियोंका आधारभूत काष्ठ बनाया ॥ २१-२२ ॥

समुद्रमक्षमसृजन् दानवालयमुत्तमम् ।
सप्तर्षिमण्डलं चैव रथस्यासीत् परिष्करः ॥ २३ ॥

दानवोंके उत्तम निवासस्थान समुद्रको बन्धनरज्जु बनाया। सप्तर्षियोंका समुदाय रथका परिस्कर (चक्ररक्षा आदि-का साधन) बन गया ॥ २३ ॥

गङ्गा सरस्वती सिन्धुर्धुरमाकाशमेव च ।
उपस्करो रथस्यासन्नापः सर्वाश्च निम्नगाः ॥ २४ ॥

गङ्गा, सरस्वती और सिंधु—इन तीनों नदियोंके साथ आकाश त्रिवेणुकाष्ठयुक्त धुरेका भाग हुआ । उस रथके बन्धन आदिकी सामग्री जल तथा सम्पूर्ण नदियाँ थीं ॥ २४ ॥

अहोरात्रं कलाश्चैव काष्ठाश्च ऋतवस्तथा ।
अनुकर्षे ग्रहा दीप्ता वरूथं चापि तारकाः ॥ २५ ॥

दिन, रात, कला, काष्ठा और छहों ऋतुएँ उस रथका अनुकर्ष (नीचेका काष्ठ) बन गयीं । चमकते हुए ग्रह और तारे वरूथ (रथकी रक्षाके लिये आवरण) हुए ॥ २५ ॥

धर्मार्थकामं संयुक्तं त्रिवेणुं दारु बन्धुरम् ।
ओषधीर्वीरुधश्चैव घण्टाः पुष्पफलोपगाः ॥ २६ ॥

त्रिवेणु-तुल्य धर्म, अर्थ और काम–तीनोंको संयुक्त करके

रथकी बैठक बनाया। फल और फूलोंसे युक्त ओषधियों एवं लताओंको घण्टाका रूप दिया ॥ २६ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ कृत्वा चक्रे रथवरोत्तमे।
पक्षौ पूर्वापरौ तत्र कृते राज्यहनी शुभे ॥ २७ ॥

उस श्रेष्ठ रथमें सूर्य और चन्द्रमाको दोनों पहिये बनाकर सुन्दर रात्रि और दिनको वहाँ पूर्वपक्ष और अपर-पक्षके रूपमें प्रतिष्ठित किया ॥ २७ ॥

दश नागपतीनीषां धृतराष्ट्रमुखांस्तदा।
योक्त्राणि चक्रुर्नागांश्च निःश्वसन्तो महोरगान्॥२८॥

धृतराष्ट्र आदि दस नागराजोंको भी ईषादण्डमें ही स्थान दिया। फुफकारते हुए बड़े-बड़े सर्पोंको उस रथके जोत बनाये ॥ २८ ॥

द्यां युगं युगचर्माणि संवर्तकबलाहकान्।
कालपृष्ठोऽथ नहुषः कर्कोटकधनंजयौ ॥ २९ ॥
इतरे चाभवन् नागा हयानां बालबन्धनाः।
दिशश्च प्रदिशश्चैव रश्मयो रथवाजिनाम् ॥ ३० ॥

द्युलोकको भी जूएमें ही स्थान दिया। प्रलयकालके मेघोंको युगचर्म बनाया। कालपृष्ठ, नहुष, कर्कोटक, धनंजय तथा दूसरे-दूसरे नाग घोड़ोंके केसर बाँधनेकी रस्सी बनाये गये। दिशाओं और विदिशाओंने रथमें जुते हुए घोड़ों-की बागडोरका भी रूप धारण किया ॥ २९-३० ॥

संध्यां धृतिं च मेधां च स्थितिं संनतिमेव च।
ग्रहनक्षत्रताराभिश्चर्म चित्रं नभस्तलम् ॥ ३१ ॥

संध्या, धृति, मेधा, स्थिति और संनतिसहित आकाशको, जो ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे विचित्र शोभा धारण करता है, चर्म (रथका ऊपरी आवरण) बनाया ॥ ३१ ॥

सुराम्बुप्रेतवित्तानां पतीँल्लोकेश्वरान् हयान्।
सिनीवालीमनुमतिं कुहूं राकां च सुव्रताम् ॥ ३२ ॥
योक्त्राणि चक्रुर्वाहानां रोहकांस्तत्र कण्टकान्।

इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर—इन चार लोकपालोंको देवताओंने उस रथके घोड़े बनाये। सिनीवाली, अनुमति, कुहू तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली राका इनकी अधिष्ठात्री देवियोंको घोड़ोंके जोतेका रूप दिया और इनके अधिकारी देवताओंको घोड़ोंकी लगामोंके काँटे बनाया॥

धर्मः सत्यं तपोऽर्थश्च विहितास्तत्र रश्मयः ॥ ३३ ॥
अधिष्ठानं मनश्चासीत् परिरथ्या सरस्वती।
नानावर्णाश्च चित्राश्च पताकाः पवनेरिताः ॥ ३४ ॥
विद्युदिन्द्रधनुर्नद्धं रथं दीप्तं व्यदीपयन्।

धर्म, सत्य, तप और अर्थ—इनको वहाँ लगाम बनाया गया। रथकी आधारभूमि मन हुआ और सरस्वती देवी रथके आगे बढ़नेका मार्ग थीं। नाना रंगोंकी विचित्र पताकाएँ पवनसे प्रेरित होकर फहरा रही थीं, जो बिजली और इन्द्रधनुषसे बँधे हुए उस देदीप्यमान रथकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ ३३-३४½ ॥

वषट्कारः प्रतोदोऽभूद् गायत्री शीर्षबन्धना ॥ ३५ ॥

वषट्कार घोड़ोंका चाबुक हुआ और गायत्री उस रथके ऊपरी भागकी बन्धन-रज्जु बनीं ॥ ३५ ॥

यो यज्ञे विहितः पूर्वमीशानस्य महात्मनः।
संवत्सरो धनुस्तद् वै सावित्री ज्या महास्वना ॥ ३६ ॥

पूर्वकालमें जो महात्मा महादेवजीके यज्ञमें निर्मित हुआ था, वह संवत्सर ही उनके लिये धनुष बना और सावित्री उस धनुषकी महान् टंकार करनेवाली प्रत्यञ्चा बनी ॥ ३६ ॥

दिव्यं च वर्म विहितं महार्हं रत्नभूषितम्।
अभेद्यं विरजस्कं वै कालचक्रबहिष्कृतम् ॥ ३७ ॥

महादेवजीके लिये एक दिव्य कवच तैयार किया गया, जो बहुमूल्य, रत्नभूषित, रजोगुणरहित (अथवा धूलरहित स्वच्छ), अभेद्य तथा कालचक्रकी पहुँचसे परे था ॥ ३७ ॥

ध्वजयष्टिरभून्मेरुः श्रीमान् कनकपर्वतः।
पताकाश्चाभवन् मेघास्तडिद्भिः समलङ्कृताः ॥ ३८ ॥
रेजुरध्वर्युमध्यस्था ज्वलन्त इव पावकाः।

कान्तिमान् कनकमय मेरुपर्वत रथके ध्वजका दण्ड बना था। बिजलियोंसे विभूषित बादल ही पताकाओंका काम दे रहे थे, जो यजुर्वेदी ऋत्विजोंके बीचमें स्थित हुई अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३८½ ॥

क्लृप्तं तु तं रथं दृष्ट्वा विस्मिता देवताऽभवन् ॥ ३९ ॥
सर्वलोकस्य तेजांसि दृष्ट्वैकस्थानि मारिष।
युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मै महात्मने ॥ ४० ॥

मान्यवर ! वह रथ क्या था, सम्पूर्ण जगत्‌के तेजका पुञ्ज एकत्र हो गया था। उसे निर्मित हुआ देख सम्पूर्ण देवता आश्चर्यचकित हो उठे। फिर उन्होंने महात्मा महादेव-जीसे यह निवेदन किया कि रथ तैयार है ॥ ३९-४० ॥

एवं तस्मिन् महाराज कल्पिते रथसत्तमे।
देवैर्मनुजशार्दूल द्विषतामभिमर्दने ॥ ४१ ॥
स्वान्यायुधानि मुख्यानि न्यदधाच्छङ्करो रथे।
ध्वजयष्टिं वियत् कृत्वा स्थापयामास गोवृषम्॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह ! महाराज ! इस प्रकार देवताओंद्वारा शत्रुओंका मर्दन करनेवाले उस श्रेष्ठ रथका निर्माण हो जानेपर भगवान् शङ्करने उसके ऊपर अपने मुख्य-मुख्य अस्त्र-शस्त्र रख दिये और ध्वजदण्डको आकाशव्यापी बनाकर उसके ऊपर अपने वृषभ नन्दीको स्थापित कर दिया ॥ ४१-४२ ॥

ब्रह्मदण्डः कालदण्डो रुद्रदण्डस्तथा ज्वरः।
परिस्कन्दा रथस्यासन् सर्वतोदिशमुद्यताः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्मदण्ड, कालदण्ड, रुद्रदण्ड तथा ज्वर—ये

उस रथके पार्श्वरक्षक बनकर चारों ओर शस्त्र लेकर खड़े हो गये ॥ ४३ ॥

अथर्वाङ्गिरसावास्तां चक्ररक्षौ महात्मनः ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च पुराणं च पुरःसराः ॥ ४४ ॥

अथर्वा और अङ्गिरा महात्मा शिवके उस रथके पहियोंकी रक्षा करने लगे । ऋग्वेद, सामवेद और समस्त पुराण उस रथके आगे चलनेवाले योद्धा हुए ॥ ४४ ॥

इतिहासयजुर्वेदौ पृष्ठरक्षौ बभूवतुः ।
दिव्या वाचश्च विद्याश्च परिपार्श्वचराः स्थिताः ॥४५॥

इतिहास और यजुर्वेद पृष्ठरक्षक हो गये तथा दिव्य वाणी और विद्याएँ पार्श्ववर्ती बनकर खड़ी हो गयीं ॥

स्तोत्रादयश्च राजेन्द्र वषट्कारस्तथैव च ।
ओंकारश्च मुखे राजन्नतिशोभाकरोऽभवत् ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! स्तोत्र-कवच आदि, वषट्कार तथा ओङ्कार—ये मुखभागमें स्थित होकर अत्यन्त शोभा बढ़ाने लगे ॥

विचित्रमृतुभिः षड्भिः कृत्वा संवत्सरं धनुः ।
छायामेवात्मनश्चक्रे धनुर्ज्यामक्षयां रणे ॥ ४७ ॥

छहों ऋतुओंसे युक्त संवत्सरको विचित्र धनुष बनाकर अपनी छायाको ही महादेवजीने उस धनुषकी प्रत्यञ्चा बनायी, जो रणभूमिमें कभी नष्ट होनेवाली नहीं थी ॥

कालो हि भगवान् रुद्रस्तस्य संवत्सरो धनुः ।
तस्माद् रौद्री कालरात्रिर्ज्या कृता धनुषोऽजरा ॥४८॥

भगवान् रुद्र ही काल हैं, अतः कालका अवयवभूत संवत्सर ही उनका धनुष हुआ । कालरात्रि भी रुद्रका ही अंश है, अतः उसीको उन्होंने अपने धनुषकी अटूट प्रत्यञ्चा बना लिया ॥ ४८ ॥

इषुश्चाप्यभवद् विष्णुर्ज्वलनः सोम एव च ।
अग्नीषोमौ जगत् कृत्स्नं वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ४९ ॥

भगवान् विष्णु, अग्नि और चन्द्रमा—ये ही बाण हुए थे; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोमका ही स्वरूप है । साथ ही सारा संसार वैष्णव (विष्णुमय) भी कहा जाता है ॥ ४९ ॥

विष्णुश्चात्मा भगवतो भवस्यामिततेजसः ।
तस्माद् धनुर्ज्यासंस्पर्शं न विषेहुर्हरस्य ते ॥ ५० ॥

अमिततेजस्वी भगवान् शङ्करके आत्मा हैं विष्णु । अतः वे दैत्य भगवान् शिवके धनुषकी प्रत्यञ्चा एवं बाणका स्पर्श न सह सके ॥ ५० ॥

तस्मिञ्शरे तिग्ममन्युं मुमोचासह्यमीश्वरः ।
भृग्वङ्गिरोमन्युभवं क्रोधाग्निमतिदुःसहम् ॥ ५१ ॥

महेश्वरने उस बाणमें अपने असह्य एवं प्रचण्ड कोपको तथा भृगु और अङ्गिराके रोषसे उत्पन्न हुई अत्यन्त दुःसह क्रोधाग्निको भी स्थापित कर दिया ॥ ५१ ॥

स नीललोहितो धूम्रः कृत्तिवासा भयंकरः ।
आदित्यायुतसंकाशस्तेजोज्वालावृतो ज्वलन् ॥ ५२ ॥

तत्पश्चात् धूम्रवर्ण, व्याघ्रचर्मधारी, देवताओंको अभय तथा दैत्योंको भय देनेवाले, सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी नीललोहित भगवान् शिव तेजोमयी ज्वालासे आवृत हो प्रकाशित होने लगे ॥ ५२ ॥

दुश्च्यावच्यावनो जेता हन्ता ब्रह्मद्विषां हरः ।
नित्यं त्राता च हन्ता च धर्माधर्माश्रितान् नरान् ॥५३॥

जिस लक्ष्यको मार गिराना अत्यन्त कठिन है, उसको भी गिरानेमें समर्थ, विजयशील, ब्रह्मद्रोहियोंके विनाशक भगवान् शिव धर्मका आश्रय लेनेवाले मनुष्योंकी सदा रक्षा और पापियोंका विनाश करनेवाले हैं ॥ ५३ ॥

प्रमाथिभिर्भीमबलैर्भीमरूपैर्मनोजवैः ।
विभाति भगवान् स्थाणुस्तैरेवात्मगुणैर्वृतः ॥ ५४ ॥

उनके जो अपने उपयोगमें आनेवाले रथ आदि गुणवान् उपकरण थे, वे शत्रुओंको मथ डालनेमें समर्थ, भयानक बलशाली, भयंकररूपधारी और मनके समान वेगवान् थे । उनसे घिरे हुए भगवान् शिवकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५४ ॥

तस्याङ्गानि समाश्रित्य स्थितं विश्वमिदं जगत् ।
जङ्गमाजङ्गमं राजञ्शुशुभेऽद्भुतदर्शनम् ॥ ५५ ॥

राजन् ! उनके पञ्चभूतस्वरूप अङ्गोंका आश्रय लेकर ही यह अद्भुत दिखायी देनेवाला सारा चराचर जगत् स्थित एवं सुशोभित है ॥ ५५ ॥

दृष्ट्वा तु तं रथं युक्तं कवची स शरासनी ।
बाणमादाय तं दिव्यं सोमविष्णवग्निसम्भवम् ॥ ५६ ॥

उस रथको जुता हुआ देख भगवान् शङ्कर कवच और धनुषसे युक्त हो चन्द्रमा, विष्णु और अग्निसे प्रकट हुए उस दिव्य बाणको लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए ॥५६॥

तस्य राजंस्तदा देवाः कल्पयाञ्चक्रिरे प्रभो ।
पुण्यगन्धवहं राजञ्श्वसनं देवसत्तमम् ॥ ५७ ॥

राजन् ! प्रभो ! उस समय देवताओंने पवित्र सुगन्ध वहन करनेवाले देवश्रेष्ठ वायुको उनके लिये हवा करनेके कामपर नियुक्त किया ॥ ५७ ॥

तमास्थाय महादेवस्त्रासयन् दैवतान्यपि ।
आरुरोह तदा यत्तः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ५८ ॥

तब महादेवजी दानवोंके वधके लिये प्रयत्नशील हो देवताओंको भी डराते और पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से उस रथको थामकर उसपर चढ़ने लगे ॥ ५८ ॥

तमारुरुक्षुं देवेशं तुष्टुवुः परमर्षयः ।
गन्धर्वा देवसङ्घाश्च तथैवाप्सरसां गणाः ॥ ५९ ॥

देवेश्वर शिव रथपर चढ़ना चाहते हैं, यह देखकर

महर्षियों, गन्धर्वों, देवसमूहों तथा अप्सराओंके समुदायोंने उनकी स्तुति की ॥ ५९ ॥

ब्रह्मर्षिभिः स्तूयमानो वन्द्यमानश्च वन्दिभिः ।
तथैवाप्सरसां वृन्दैर्नृत्यद्भिर्नृत्यकोविदैः ॥ ६० ॥
स शोभमानो वरदः खड्गी बाणी शरासनी ।
हसन्निवाब्रवीद् देवान् सारथिः को भविष्यति ॥ ६१ ॥

ब्रह्मर्षियोंद्वारा प्रशंसित, वन्दीजनोंद्वारा वन्दित तथा नाचती हुई नृत्य-कुशल अप्सराओंसे सुशोभित होते हुए वरदायक भगवान् शिव खड्ग, बाण और धनुष ले देवताओंसे हँसते हुए-से बोले—'मेरा सारथि कौन होगा ?' ॥ ६०-६१ ॥

तमब्रुवन् देवगणा यं भवान् संनियोक्ष्यते ।
स भविष्यति देवेश सारथिस्ते न संशयः ॥ ६२ ॥

यह सुनकर देवताओंने उनसे कहा—'देवेश ! आप जिसको इस कार्यमें नियुक्त करेंगे, वही आपका सारथि होगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ६२ ॥

तानब्रवीत् पुनर्देवो मत्तः श्रेष्ठतरो हि यः ।
तं सारथिं कुरुध्वं मे स्वयं संचिन्त्य मा चिरम् ॥ ६३ ॥

तब महादेवजीने फिर कहा—'तुमलोग स्वयं ही सोच-विचारकर जो मुझसे भी श्रेष्ठतर हो, उसे मेरा सारथि बना दो, विलम्ब न करो' ॥ ६३ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो देवा वाक्यमुक्तं महात्मना ।
गत्वा पितामहं देवाः प्रसाद्येदं वचोऽब्रुवन् ॥ ६४ ॥

उन महात्माके कहे हुए इस वचनको सुनकर सब देवता ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रसन्न करके इस प्रकार बोले—॥

यथा त्वत्कथितं देव त्रिदशारिविनिग्रहे ।
तथा च कृतमस्माभिः प्रसन्नो नो वृषध्वजः ॥ ६५ ॥

'देव ! देवशत्रुओंका दमन करनेके विषयमें आपने जैसा कहा था, वैसा ही हमने किया है । भगवान् शङ्कर हम लोगोंपर प्रसन्न हैं ॥ ६५ ॥

रथश्च विहितोऽस्माभिर्विचित्रायुधसंवृतः ।
सारथिं च न जानीमः कः स्यात् तस्मिन् रथोत्तमे ॥ ६६ ॥

'हमने उनके लिये विचित्र आयुधोंसे सम्पन्न रथ तैयार कर दिया है; परंतु उस उत्तम रथपर कौन सारथि होकर बैठेगा ? यह हम नहीं जानते हैं' ॥ ६६ ॥

तस्माद् विधीयतां कश्चित् सारथिर्देवसत्तम ।
सफलां तां गिरं देव कर्तुमर्हसि नो विभो ॥ ६७ ॥

'अतः देवश्रेष्ठ प्रभो ! आप किसीको सारथि बनाइये । देव ! आपने हमें जो वचन दिया है, उसे सफल कीजिये ॥ ६७ ॥

एवमस्मासु हि पुरा भगवन्नुक्तवानसि ।
हितकर्तास्मि भवतामिति तत् कर्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

'भगवन् ! आपने पहले हमलोगोंसे कहा था कि 'मैं तुम लोगोंका हित करूँगा ।' अतः उसे पूर्ण कीजिये ॥ ६८ ॥

स देव युक्तो रथसत्तमो नो
दुराधरो द्रावणः शात्रवाणाम् ।
पिनाकपाणिर्विहितोऽत्र योद्धा
विभीषयन् दानवानुद्यतोऽसौ ॥ ६९ ॥

'देव ! हमारा तैयार किया हुआ वह श्रेष्ठ रथ शत्रुओंको मार भगानेवाला और दुर्धर्ष है । पिनाकपाणि भगवान् शङ्करको उसपर योद्धा बनाकर बैठा दिया गया है और वे दानवोंको भयभीत करते हुए युद्धके लिये उद्यत हैं ॥ ६९ ॥

तथैव वेदाश्चतुरो हयाग्र्या
धरा सशैला च रथो महात्मनः ।
नक्षत्रवंशानुगतो वरूथी
हरो योद्धा सारथिर्नाभिलक्ष्यः ॥ ७० ॥

'इसी प्रकार चारों वेद उन महात्माके उत्तम घोड़े हैं और पर्वतोंसहित पृथ्वी उनका उत्तम रथ बनी हुई है । नक्षत्र-समुदायरूपी ध्वजसे युक्त तथा आवरणसे सुशोभित भगवान् शिव उस रथपर रथी योद्धा बनकर बैठे हुए हैं; परंतु कोई सारथि नहीं दिखायी देता ॥ ७० ॥

तत्र सारथिरेष्टव्यः सर्वैरेतैर्विशेषवान् ।
तत्प्रतिष्ठो रथो देव हया योद्धा तथैव च ॥ ७१ ॥

'देव ! उस रथके लिये ऐसे सारथिका अनुसंधान करना चाहिये, जो इन सबसे बढ़कर हो; क्योंकि रथ, घोड़े और योद्धा इन सबकी प्रतिष्ठा सारथिपर ही निर्भर है ॥ ७१ ॥

कवचानि सशस्त्राणि कार्मुकं च पितामह ।
त्वामृते सारथिं तत्र नान्यं पश्यामहे वयम् ॥ ७२ ॥
त्वं हि सर्वगुणैर्युक्तो दैवतेभ्योऽधिकः प्रभो ।

'पितामह ! कवच, शस्त्र और धनुषकी सफलता भी सारथिपर ही निर्भर है । हमलोग आपके सिवा दूसरे किसीको वहाँ सारथि होनेके योग्य नहीं देखते हैं । प्रभो ! क्योंकि आप सभी देवताओंसे श्रेष्ठ और सर्वगुणसम्पन्न हैं ॥ ७२½ ॥

(त्वं देव शक्तो लोकेऽस्मिन् नियन्तुं प्रद्रुतानिमान् ।
वेदाश्वान् सोपनिषदः सारथिर्भव नः स्वयम् ॥

'देव ! आप ही इस जगत्में इन भागते हुए उपनिषद्-सहित वेदरूपी अश्वोंको नियन्त्रणमें रख सकते हैं; अतः आप स्वयं ही सारथि हो जाइये ॥

योद्धुं बलेन सत्त्वेन वीर्येण विनयेन च ।
अधिकः सारथिः कार्यो नास्ति चान्योऽधिको भवात् ॥

'बल, धैर्य, पराक्रम और विनय इन सभी गुणोंद्वारा जो रथीसे भी श्रेष्ठ हो, उसे ही युद्धके लिये सारथि बनाना चाहिये; दूसरा कोई ऐसा नहीं है जो भगवान् शङ्करसे भी बढ़कर हो ॥

स भवांस्तारयत्वस्मान् कुरु सारथ्यमव्ययम् ।
भवानभ्यधिकस्त्वत्तो नान्योऽस्तीह पितामह ॥

'पितामह ! आप अक्षय सारथिकर्म कीजिये और हमें इस सङ्कटसे उबारिये । आप ही सबसे श्रेष्ठ हैं; आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥

त्वं हि देवेश सर्वैस्तु विशिष्टो वदतां वर ।)
स रथं तूर्णमारुह्य संयच्छ परमान् हयान् ॥ ७३ ॥
जयाय त्रिदेवेशानां वधाय त्रिदशद्विषाम् ।

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ देवेश्वर ! आप सभी गुणोंसे श्रेष्ठ हैं; इसलिये देवद्रोहियोंके वध और देवताओंकी विजयके लिये तुरंत रथपर आरूढ़ होकर इन उत्तम घोड़ोंको काबूमें रखिये ॥ ७३ ॥

(तव प्रसादाद् वध्येरन् देव दैवतकण्टकाः ।
स नो रक्ष महाबाहो दैत्येभ्यो महतो भयात् ॥

'देव ! आपके प्रसादसे देवताओंके लिये यह कण्टकरूप दैत्य मारे जायँगे । महाबाहो ! आप दैत्योंके महान् भयसे हमारी रक्षा करें ॥

त्वं हि नो गतिरव्यग्र त्वं नो गोप्ता महाव्रत ।
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे पूज्यन्ते त्रिदिवे प्रभो ॥)

'व्यग्रताशून्य महान् व्रतधारी प्रभो ! आप ही हमारे आश्रय तथा संरक्षक हैं; आपकी कृपासे ही समस्त देवता स्वर्गलोकमें पूजित होते हैं' ॥

इति ते शिरसा गत्वा त्रिलोकेशं पितामहम् ॥ ७४ ॥
देवाः प्रसादयामासुः सारथ्यायेति नः श्रुतम् ।

इस प्रकार देवताओंने तीनों लोकोंके ईश्वर पितामह ब्रह्माजीके आगे मस्तक टेककर उन्हें सारथि बननेके लिये प्रसन्न किया । यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ ७४½ ॥

पितामह उवाच

नात्र किंचिन्मृषा वाक्यं यदुक्तं त्रिदिवौकसः ॥ ७५ ॥
संयच्छामि हयानेष युध्यतो वै कपर्दिनः ।

पितामह बोले—देवताओ ! तुमने जो कुछ कहा है, उसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है । मैं युद्ध करते समय भगवान् शङ्करके घोड़ोंको काबूमें रक्खूँगा ॥ ७५½ ॥

ततः स भगवान् देवो लोकस्रष्टा पितामहः ॥ ७६ ॥
(एवमुक्त्वा जटाभारं संयम्य प्रपितामहः ।
परिधायाजिनं गाढं संन्यस्य च कमण्डलुम् ॥
प्रतोदपाणिर्भगवानारुरोह रथं तदा ।)

तदनन्तर लोकस्रष्टा भगवान् पितामह देवने जो जगत्के प्रपितामह हैं, उपर्युक्त बात कहकर अपनी जटाओंके बोझको बाँध लिया और मृगचर्मके वस्त्रको अच्छी तरह कसकर कमण्डलुको अलग रख दिया । तत्पश्चात् वे भगवान् ब्रह्मा हाथमें चाबुक लेकर तत्काल उस रथपर जा चढ़े ॥ ७६ ॥

सारथ्ये कल्पितो देवैरीशानस्य महात्मनः ।
तस्मिन्नारोहति क्षिप्रं स्यन्दने लोकपूजिते ॥ ७७ ॥
शिरोभिरगमन् भूमिं ते हया वातरंहसः ।

इस प्रकार देवताओंने भगवान् शङ्करके सारथिके पदपर उन्हें प्रतिष्ठित कर दिया । जब उस लोकपूजित रथपर ब्रह्माजी चढ़ रहे थे, उस समय वायुके समान वेगशाली घोड़े धरतीपर माथा टेककर बैठ गये थे ॥ ७७½ ॥

आरुह्य भगवान् देवो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ ७८ ॥
अभीषून् हि प्रतोदं च संजग्राह पितामहः ।

अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए भगवान् ब्रह्माने रथारूढ़ होकर घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक दोनों वस्तुएँ अपने हाथमें ले लीं ॥ ७८½ ॥

तत उत्थाप्य भगवांस्तान् हयाननिलोपमान् ॥ ७९ ॥
बभाषे च तदा स्थाणुमारोहेति सुरोत्तमः ।

तत्पश्चात् वायुके समान तीव्रगतिवाले उन घोड़ोंको उठाकर सुरश्रेष्ठ भगवान् ब्रह्माने महादेवजीसे कहा—'अब आप रथपर आरूढ़ होइये' ॥ ७९½ ॥

ततस्तमिषुमादाय विष्णुसोमाग्निसम्भवम् ॥ ८० ॥
आरुरोह तदा स्थाणुर्धनुषा कम्पयन् परान् ।

तब विष्णु, चन्द्रमा और अग्निसे उत्पन्न हुए उस बाणको हाथमें लेकर महादेवजी अपने धनुषके द्वारा शत्रुओंको कम्पित करते हुए उस रथपर चढ़ गये ॥ ८०½ ॥

तमारूढं तु देवेशं तुष्टुवुः परमर्षयः ॥ ८१ ॥
गन्धर्वा देवसंघाश्च तथैवाप्सरसां गणाः ।

रथपर आरूढ़ हुए देवेश्वर शिवकी महर्षियों, गन्धर्वों, देवसमूहों तथा अप्सराओंके समुदायोंने स्तुति की ॥ ८१½ ॥

स शोभमानो वरदः खड्गी बाणी शरासनी ॥ ८२ ॥
प्रदीपयन् रथे तस्थौ त्रीँल्लोकान् स्वेन तेजसा।

खड्ग, धनुष और बाण लेकर शोभा पाते हुए वरदायक महादेवजी अपने तेजसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करते हुए रथपर स्थित हो गये ॥ ८२½ ॥

ततो भूयोऽब्रवीद् देवो देवानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ८३ ॥
न हन्यादिति कर्तव्यो न शोको वः कथञ्चन ।
हतानित्येव जानीत बाणेनानेन चासुरान् ॥ ८४ ॥

तब महादेवजीने पुनः इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—'शायद ये दैत्योंको न मारें' ऐसा समझकर तुम्हें किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिये । तुमलोग असुरोंको इस बाणसे 'मरा हुआ' ही समझो' ॥ ८३-८४ ॥

ते देवाः सत्यमित्याहुर्निहता इति चाब्रुवन् ।
न च तद् वचनं मिथ्या यदाह भगवान् प्रभुः॥८५॥
इति संचिन्त्य वै देवाः परां तुष्टिमवाप्नुवन् ।

यह सुनकर उन देवताओंने कहा—'प्रभो ! आपका कथन सत्य है । अवश्य ही वे दैत्य मारे गये । शक्तिशाली भगवान् जो कुछ कह रहे हैं, वह वचन मिथ्या नहीं हो सकता' यह सोचकर देवताओंको बड़ा संतोष हुआ ॥८५½॥

ततः प्रयातो देवेशः सर्वैर्देवगणैर्वृतः ॥ ८६ ॥

रथेन महता राजन्नुपमा नास्ति यस्य ह ।

राजन् ! तदनन्तर जिसकी कहीं उपमा नहीं थी, उस विशाल रथके द्वारा देवेश्वर महादेवजी समस्त देवताओंसे घिरे हुए वहाँसे चल दिये ॥ ८६½ ॥

स्वैश्च पारिषदैर्देवः पूज्यमानो महायशाः ॥ ८७ ॥
नृत्यद्भिरपरैश्चैव मांसभक्षैर्दुरासदैः ।
धावमानैः समन्ताच्च तर्जमानैः परस्परम् ॥ ८८ ॥

उस समय उनके अपने पार्षद भी महायशस्वी महादेवजीकी पूजा कर रहे थे । शिवके वे दुर्धर्ष पार्षद नृत्य करते और परस्पर एक दूसरेको डाँटते हुए चारों ओर दौड़ लगाते थे । अन्य कितने ही पार्षद (भूत-प्रेतादि) मांसभक्षी थे ॥ ८७-८८ ॥

ऋषयश्च महाभागास्तपोयुक्ता महागुणाः ।
आशंसुर्वै जना देवा महादेवस्य सर्वशः ॥ ८९ ॥

महान् भाग्यशाली और उत्तम गुणसम्पन्न तपस्वी ऋषियों, देवताओं तथा अन्य लोगोंने भी सब प्रकारसे महादेवजीकी विजयके लिये शुभाशंसा की ॥ ८९ ॥

एवं प्रयाते देवेशे लोकानामभयंकरे ।
तुष्टमासीज्जगत् सर्वं देवताश्च नरोत्तम ॥ ९० ॥

नरश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले देवेश्वर महादेवजीके इस प्रकार प्रस्थान करनेपर सारा जगत् संतुष्ट हो गया । देवता भी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ९० ॥

ऋषयस्तत्र देवेशं स्तुवन्तो बहुभिः स्तवैः ।
तेजश्चास्मै वर्धयन्तो राजन्नासन् पुनः पुनः ॥ ९१ ॥

राजन् ! ऋषिगण नाना प्रकारके स्तोत्रोंका पाठ करके देवेश्वर महादेवकी स्तुति करते हुए बारंबार उनका तेज बढ़ा रहे थे ॥ ९१ ॥

गन्धर्वाणां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
वादयन्ति प्रयाणेऽस्य वाद्यानि विविधानि च ॥ ९२ ॥

उनके प्रस्थानके समय सहस्रों, लाखों और अरबों गन्धर्व नाना प्रकारके बाजे बजा रहे थे ॥ ९२ ॥

ततोऽधिरूढे वरदे प्रयाते चासुरान् प्रति ।
साधु साध्विति विश्वेशः स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ९३ ॥

रथपर आरूढ़ हो वरदायक भगवान् शङ्कर जब असुरोंकी ओर चले, तब वे विश्वनाथ ब्रह्माजीको साधुवाद देते हुए मुसकराकर बोले—॥ ९३ ॥

याहि देव यतो दैत्याश्चोदयाश्वानतन्द्रितः ।
पश्य बाह्वोर्बलं मेऽद्य निघ्नतः शात्रवान् रणे ॥ ९४ ॥

'देव ! जिस ओर दैत्य हैं, उधर ही चलिये और सावधान होकर घोड़ोंको हाँकिये । आज रणभूमिमें जब मैं शत्रुसेनाका संहार करने लगूँ, उस समय आप मेरी इन दोनों भुजाओंका बल देखियेगा' ॥ ९४ ॥

ततोऽश्वांश्चोदयामास मनोमारुतरंहसः ।
येन तत् त्रिपुरं राजन् दैत्यदानवरक्षितम् ॥ ९५ ॥

राजन् ! तब ब्रह्माजीने मन और पवनके समान वेगशाली घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिस ओर दैत्यों और दानवों-द्वारा सुरक्षित वे तीनों पुर थे ॥ ९५ ॥

पिबद्भिरिव चाकाशं तैर्हयैर्लोकपूजितैः ।
जगाम भगवान् क्षिप्रं जयाय त्रिदिवौकसाम् ॥ ९६ ॥

वे लोकपूजित अश्व ऐसे तीव्र वेगसे चल रहे थे, मानो सारे आकाशको पी जायँगे । उस समय भगवान् शिव उन अश्वोंके द्वारा देवताओंकी विजयके लिये बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥ ९६ ॥

प्रयाते रथमास्थाय त्रिपुराभिमुखे भवे ।
ननाद सुमहानादं वृषभः पूरयन् दिशः ॥ ९७ ॥

रथपर आरूढ़ हो जब महादेवजी त्रिपुरकी ओर प्रस्थित हुए, उस समय नन्दी वृषभने सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ९७ ॥

वृषभस्यास्य निनदं श्रुत्वा भयकरं महत् ।
विनाशमगमंस्तत्र तारकाः सुरशत्रवः ॥ ९८ ॥

उस वृषभका वह अत्यन्त भयंकर सिंहनाद सुनकर बहुतसे देवशत्रु तारक नामवाले दैत्यगण वहीं विनष्ट हो गये ॥

अपरेऽवस्थितास्तत्र युद्धायाभिमुखास्तदा ।
ततः स्थाणुर्महाराज शूलधृक् क्रोधमूर्छितः ॥ ९९ ॥

दूसरे जो दैत्य वहाँ खड़े थे, वे युद्धके लिये महादेवजीके सामने आये । महाराज ! तब त्रिशूलधारी महादेवजी क्रोधसे आतुर हो उठे ॥ ९९ ॥

त्रस्तानि सर्वभूतानि त्रैलोक्यं भूः प्रकम्पते ।
निमित्तानि च घोराणि तत्र संदधतः शरम् ॥ १०० ॥
तस्मिन् सोमाग्निविष्णूनां क्षोभेण ब्रह्मरुद्रयोः ।
स रथो धनुषः क्षोभादतीव ह्यवसीदति ॥ १०१ ॥

फिर तो समस्त प्राणी भयभीत हो उठे । सारी त्रिलोकी और भूमि काँपने लगी । जब वे वहाँ धनुषपर बाणका संधान करने लगे, तब उसमें चन्द्रमा, अग्नि, विष्णु, ब्रह्मा और रुद्रके क्षोभसे बड़े भयंकर निमित्त प्रकट हुए । धनुषके क्षोभसे वह रथ अत्यन्त शिथिल होने लगा ॥ १००-१०१ ॥

ततो नारायणस्तस्माच्छरभागाद् विनिःसृतः ।
वृषरूपं समास्थाय उज्जहार महारथम् ॥ १०२ ॥

तब भगवान् नारायणने उस बाणके एक भागसे बाहर निकलकर वृषभका रूप धारण करके भगवान् शिवके विशाल रथको ऊपर उठाया ॥ १०२ ॥

सीदमाने रथे चैव नर्दमानेषु शत्रुषु ।
स सम्भ्रमात् तु भगवान् नादं चक्रे महाबलः ॥ १०३ ॥

जब रथ शिथिल होने लगा और शत्रु गर्जना करने लगे,

तब महाबली भगवान् शिवने बड़े वेगसे घोर गर्जना की ॥

वृषभस्य स्थितो मूर्ध्नि हयपृष्ठे च मानद ।
तदा स भगवान् रुद्रो निरैक्षद् दानवं पुरम् ॥१०४॥
वृषभस्यास्थितो रुद्रो हयस्य च नरोत्तम ।
स्तनांस्तदाऽशातयत खुरांश्चैव द्विधाकरोत्॥१०५॥

मानद ! उस समय वे वृषभके मस्तक और घोड़ेकी पीठपर खड़े थे । नरोत्तम ! भगवान् रुद्रने वृषभ तथा घोड़ेकी भी पीठपर सवार हो उस दानव-नगरको देखा । तब उन्होंने वृषभके खुरोंको चीरकर उन्हें दो भागोंमें बांट दिया और घोड़ोंके स्तन काट डाले ॥ १०४-१०५॥

ततःप्रभृति भद्रं ते गवां द्वैधीकृताः खुराः ।
हयानां च स्तना राजंस्तदाप्रभृति नाभवन् ॥१०६॥
पीडितानां बलवता रुद्रेणाद्भुतकर्मणा ।

राजन् ! आपका कल्याण हो । तभीसे बैलोंके दो खुर हो गये और तभीसे अद्भुत कर्म करनेवाले बलवान् रुद्रके द्वारा पीड़ित हुए घोड़ोंके स्तन नहीं उगे ॥ १०६½ ॥

अथाधिज्यं धनुः कृत्वा शर्वः संधाय तं शरम् ॥१०७॥
युक्त्वा पाशुपतास्त्रेण त्रिपुरं समचिन्तयत् ।

तदनन्तर भगवान् रुद्रने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसके ऊपर पूर्वोक्त बाणको रक्खा और उसे पाशुपतास्त्रसे संयुक्त करके तीनों पुरोंके एकत्र होनेका चिन्तन किया ॥

तस्मिन् स्थिते महाराज रुद्रे विधृतकार्मुके ॥१०८॥
पुराणि तानि कालेन जग्मुरेवैकतां तदा ।

महाराज ! इस प्रकार जब रुद्रदेव धनुष चढ़ाकर खड़े हो गये, उसी समय कालकी प्रेरणासे वे तीनों पुर मिलकर एक हो गये ॥ १०८½ ॥

एकीभावं गते चैव त्रिपुरत्वमुपागते ॥१०९॥
बभूव तुमुलो हर्षो देवतानां महात्मनाम् ।

जब तीनों एक होकर त्रिपुर-भावको प्राप्त हुए, तब महामनस्वी देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १०९½ ॥

ततो देवगणाः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ॥११०॥
जयेति वाचो मुमुचुः संस्तुवन्तो महेश्वरम् ।

उस समय समस्त देवता, महर्षि और सिद्धगण महेश्वरकी स्तुति करते हुए उनकी जय-जयकार करने लगे ॥ ११०½ ॥

ततोऽग्रतः प्रादुरभूत् त्रिपुरं निघ्नतोऽसुरान् ॥१११॥
अनिर्देश्योग्रवपुषो देवस्यासह्यतेजसः ।

तब असुरोंका संहार करते हुए अवर्णनीय भयङ्कर रूपवाले असह्य तेजस्वी महादेवजीके सामने वह तीनों पुरोंका समुदाय सहसा प्रकट हो गया ॥ १११½ ॥

स तद् विकृष्य भगवान् दिव्यं लोकेश्वरो धनुः॥११२॥
त्रैलोक्यसारं तमिषुं मुमोच त्रिपुरं प्रति ।

फिर तो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् रुद्रने अपने उस दिव्य धनुषको खींचकर उसपर रक्खे हुए त्रिलोकीके सारभूत उस बाणको त्रिपुरपर छोड़ दिया ॥ ११२½ ॥

उत्सृष्टे वै महाभाग तस्मिंस्त्रिपुवरे तदा ॥११३॥
महानार्तस्वरो ह्यासीत् पुराणां पततां भुवि ।
तान् सोऽसुरगणान् दग्ध्वा प्राक्षिपत् पश्चिमार्णवे११४

महाभाग ! उस समय उस श्रेष्ठ बाणके छूटते ही भूतलपर गिरते हुए उन तीनों पुरोंका महान् आर्तनाद प्रकट हुआ । भगवान्ने उन असुरोंको भस्म करके पश्चिम समुद्रमें डाल दिया ॥ ११३-११४ ॥

एवं तु त्रिपुरं दग्धं दानवाश्चाप्यशेषतः ।
महेश्वरेण क्रुद्धेन त्रैलोक्यस्य हितैषिणा ॥११५॥

इस प्रकार तीनों लोकोंका हित चाहनेवाले महेश्वरने कुपित होकर उन तीनों पुरों तथा उनमें निवास करनेवाले दानवोंको दग्ध कर दिया ॥ ११५ ॥

स चात्मक्रोधजो वह्निर्हाहेत्युक्त्वा निवारितः ।
मा कार्षीर्भस्मसाल्लोकानिति त्र्यक्षोऽब्रवीच्च तम् ।११६।

उनके अपने क्रोधसे जो अग्नि प्रकट हुई थी, उसे भगवान् त्रिलोचनने 'हा-हा' कहकर रोक दिया और उससे कहा—'तू सम्पूर्ण जगत्को भस्म न कर' ॥ ११६ ॥

ततः प्रकृतिमापन्ना देवा लोकास्त्वथर्षयः ।
तुष्टुवुर्वाग्भिरग्र्याभिः स्थाणुमप्रतिमौजसम् ॥११७॥

तब समस्त देवता, महर्षि तथा तीनों लोकोंके प्राणी स्वस्थ हो गये । सबने श्रेष्ठ वचनोंद्वारा अप्रतिम शक्तिशाली महादेवजीका स्तवन किया ॥ ११७ ॥

तेऽनुज्ञाता भगवता जग्मुः सर्वे यथागतम् ।
कृतकामाः प्रयत्नेन प्रजापतिमुखाः सुराः ॥११८॥

फिर भगवान्‌की आज्ञा लेकर अपने प्रयत्नसे पूर्णकाम हुए प्रजापति आदि सम्पूर्ण देवता जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ ११८ ॥

एवं स भगवान् देवो लोकस्रष्टा महेश्वरः ।
देवासुरगणाध्यक्षो लोकानां विदधे शिवम् ॥११९॥

इस प्रकार देवताओं तथा असुरोंके भी अध्यक्ष जगत्-स्रष्टा भगवान् महेश्वर देवने तीनों लोकोंका कल्याण किया था ॥

यथैव भगवान् ब्रह्मा लोकधाता पितामहः ।
सारथ्यमकरोत्तत्र रुद्रस्य परमोऽव्ययः ॥१२०॥
तथा भवानपि क्षिप्रं रुद्रस्येव पितामहः ।
संयच्छतु हयानस्य राधेयस्य महात्मनः ॥१२१॥

वहाँ विश्वविधाता सर्वोत्कृष्ट अविनाशी पितामह भगवान् ब्रह्माने जिस प्रकार रुद्रका सारथि-कर्म किया था तथा जिस प्रकार उन पितामहने रुद्रदेवके घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी, उसी प्रकार आप भी शीघ्र ही इस महामनस्वी राधापुत्र कर्णके घोड़ोंको काबूमें कीजिये ॥ १२०-१२१ ॥

त्वं हि कृष्णाच्च कर्णाच्च फाल्गुनाच्च विशेषतः।
विशिष्टो राजशार्दूल नास्ति तत्र विचारणा ॥१२२॥

नृपश्रेष्ठ ! आप श्रीकृष्णसे, कर्णसे और अर्जुनसे भी श्रेष्ठ हैं, इसमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १२२ ॥

युद्धे ह्ययं रुद्रकल्पस्त्वं च ब्रह्मसमो नये।
तस्माच्छक्तो भवाञ्जेतुं मच्छत्रूंस्तानिवासुरान् ॥१२३॥

यह कर्ण युद्धक्षेत्रमें रुद्रके समान है और आप भी नीतिमें ब्रह्माजीके तुल्य हैं; अतः आप उन असुरोंकी भाँति मेरे शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हैं ॥ १२३ ॥

यथा शल्याद्य कर्णोऽयं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
प्रमथ्य हन्यात् कौन्तेयं तथा शीघ्रं विधीयताम् ॥१२४॥

शल्य ! आप शीघ्र ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे यह कर्ण उस श्वेतवाहन अर्जुनको, जिसके सारथि श्रीकृष्ण हैं, मथकर मार डाले ॥ १२४ ॥

त्वयि मद्रेश राज्याशा जीविताशा तथैव च।
विजयश्च तथैवाद्य कर्णसाचिव्यकारितः ॥१२५॥

मद्रराज ! आपपर ही मेरी राज्यप्राप्तिविषयक अभिलाषा और जीवनकी आशा निर्भर है। आपके द्वारा कर्णका सारथि-कर्म सम्पादित होनेपर जो आज विजय मिलनेवाली है, उसकी सफलता भी आपपर ही निर्भर है ॥ १२५ ॥

त्वयि कर्णश्च राज्यं च वयं चैव प्रतिष्ठिताः।
विजयश्चैव संग्रामे संयच्छाद्य हयोत्तमान् ॥१२६॥

आपपर ही कर्ण, राज्य, हम और हमारी विजय प्रतिष्ठित हैं। इसलिये आज संग्राममें आप इन उत्तम घोड़ोंको अपने वशमें कीजिये ॥ १२६ ॥

इमं चाप्यपरं भूय इतिहासं निबोध मे।
पितुर्मम सकाशे यद् ब्राह्मणः प्राह धर्मवित् ॥१२७॥

राजन् ! आप मुझसे फिर यह दूसरा इतिहास भी सुनिये, जिसे एक धर्मज्ञ ब्राह्मणने मेरे पिताके समीप कहा था ॥१२७॥

श्रुत्वा चैतद् वचश्चित्रं हेतुकार्यार्थसंहितम्।
कुरु शल्य विनिश्चित्य माभूदत्र विचारणा ॥१२८॥

शल्य ! कारण और कार्यसे युक्त इस विचित्र ऐतिहासिक वार्ताको सुनकर आप अच्छी तरह सोच-विचार लेनेके पश्चात् मेरा कार्य करें, इस विषयमें आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये ॥ १२८ ॥

भार्गवाणां कुले जातो जमदग्निर्महायशाः।
तस्य रामेति विख्यातः पुत्रस्तेजोगुणान्वितः ॥१२९॥

भार्गववंशमें महायशस्वी महर्षि जमदग्नि प्रकट हुए थे, जिनके तेजस्वी और गुणवान् पुत्र परशुरामके नामसे विख्यात हैं ॥ १२९ ॥

स तीव्रं तप आस्थाय प्रसादयितवान् भवम्।
अस्त्रहेतोः प्रसन्नात्मा नियतः संयतेन्द्रियः ॥१३०॥

उन्होंने अस्त्र-प्राप्तिके लिये मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए प्रसन्न हृदयसे भारी तपस्या करके भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया ॥ १३० ॥

तस्य तुष्टो महादेवो भक्त्या च प्रशमेन च।
हृद्गतं चास्य विज्ञाय दर्शयामास शङ्करः ॥१३१॥
(प्रत्यक्षेण महादेवः स्वां तनुं सर्वशङ्करः।)

उनकी भक्ति और मनःसंयमसे संतुष्ट हो सबका कल्याण करनेवाले महादेवजीने उनके मनोगत भावको जानकर उन्हें अपने दिव्य शरीरका प्रत्यक्ष दर्शन कराया ॥ १३१ ॥

महेश्वर उवाच

राम तुष्टोऽस्मि भद्रं ते विदितं मे तवेप्सितम्।
कुरुष्व पूतमात्मानं सर्वमेतदवाप्स्यसि ॥१३२॥

महादेवजी बोले—राम ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम क्या चाहते हो, यह मुझे विदित है। अपने हृदयको शुद्ध करो। तुम्हें यह सब कुछ प्राप्त हो जायगा ॥ १३२ ॥

दास्यामि ते तदास्त्राणि यदा पूतो भविष्यसि।
अपात्रमसमर्थं च दहन्त्यस्त्राणि भार्गव ॥१३३॥

जब तुम पवित्र हो जाओगे, तब तुम्हें अपने अस्त्र दूँगा, भृगुनन्दन ! अपात्र और असमर्थ पुरुषको तो ये अस्त्र जलाकर भस्म कर डालते हैं ॥ १३३ ॥

इत्युक्तो जामदग्न्यस्तु देवदेवेन शूलिना।
प्रत्युवाच महात्मानं शिरसावनतः प्रभुम् ॥१३४॥

त्रिशूलधारी देवाधिदेव महादेवजीके ऐसा कहनेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने उन महात्मा भगवान् शिवको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ १३४ ॥

यदा जानाति देवेशः पात्रं मामस्त्रधारणे।
तदा शुश्रूषवेऽस्त्राणि भवान् मे दातुमर्हति ॥१३५॥

'यदि आप देवेश्वर प्रभु मुझे अस्त्रधारणका पात्र समझें तभी मुझ सेवकको दिव्यास्त्र प्रदान करें' ॥ १३५ ॥

दुर्योधन उवाच

ततः स तपसा चैव दमेन नियमेन च।
पूजोपहारबलिभिर्होममन्त्रपुरस्कृतैः ॥१३६॥
आराधयितवान् शर्वं बहून् वर्षगणांस्तदा।

दुर्योधन कहता है—तदनन्तर परशुरामने बहुत वर्षोंतक तपस्या, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, पूजा, उपहार, भेंट, अर्पण, होम और मन्त्र-जप आदि साधनोंद्वारा भगवान् शिवकी आराधना की ॥ १३६½ ॥

प्रसन्नश्च महादेवो भार्गवस्य महात्मनः ॥१३७॥
अब्रवीत् तस्य बहुशो गुणान् देव्याः समीपतः।
भक्तिमानेष सततं मयि रामो दृढव्रतः ॥१३८॥

इससे महादेवजी महात्मा परशुरामपर प्रसन्न हो गये और उन्होंने पार्वती देवीके समीप उनके गुणोंका बारंबार वर्णन किया—'ये दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले परशुराम मेरे प्रति सदा भक्तिभाव रखते हैं' ॥ १३७-१३८ ॥

एवं तस्य गुणान् प्रीतो बहुशोऽकथयत् प्रभुः ।
देवतानां पितॄणां च समक्षमरिसूदन ॥१३९॥

शत्रुसूदन ! इसी प्रकार प्रसन्न हुए भगवान् शिवने देवताओं और पितरोंके समक्ष भी बारंबार प्रसन्नतापूर्वक उनके गुणोंका वर्णन किया ॥ १३९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु दैत्या ह्यासन् महाबलाः ।
तैस्तदा दर्पमोहाद्यैरबाध्यन्त दिवौकसः ॥१४०॥

इन्हीं दिनोंकी बात है, दैत्यलोग महान् बलसे सम्पन्न हो गये थे । वे दर्प और मोह आदिके वशीभूत हो उस समय देवताओंको सताने लगे ॥ १४० ॥

ततः सम्भूय विबुधास्तान् हन्तुं कृतनिश्चयाः ।
चक्रुः शत्रुवधे यत्नं न शेकुर्जेतुमेव तान् ॥१४१॥

तब सम्पूर्ण देवताओंने एकत्र हो उन्हें मारनेका निश्चय करके शत्रुओंके वधके लिये यत्न किया; परंतु वे उन्हें जीत न सके ॥ १४१ ॥

अभिगम्य ततो देवा महेश्वरमुमापतिम् ।
प्रासादयंस्तदा भक्त्या जहि शत्रुगणानिति ॥१४२॥

तत्पश्चात् देवताओंने उमावल्लभ महेश्वरके समीप जाकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रसन्न किया और कहा—'प्रभो ! हमारे शत्रुओंका संहार कीजिये' ॥ १४२ ॥

प्रतिज्ञाय ततो देवो देवतानां रिपुक्षयम् ।
रामं भार्गवमाहूय सोऽभ्यभाषत शङ्करः ॥१४३॥

तब कल्याणकारी महादेवजीने देवताओंके समक्ष उनके शत्रुओंका संहार करनेकी प्रतिज्ञा करके भृगुनन्दन परशुरामको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ १४३ ॥

रिपून् भार्गव देवानां जहि सर्वान् समागतान् ।
लोकानां हितकामार्थं मत्प्रीत्यर्थं तथैव च ॥१४४॥

'भार्गव ! तुम तीनों लोकोंके हितकी इच्छासे तथा मेरी प्रसन्नताके लिये देवताओंके समस्त समागत शत्रुओंका वध करो' ॥ १४४ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच त्र्यम्बकं वरदं प्रभुम् ।

उनके ऐसा कहनेपर परशुरामने वरदायक भगवान् त्रिलोचनको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १४४½ ॥

राम उवाच

का शक्तिर्मम देवेश अकृतास्त्रस्य संयुगे ॥१४५॥
निहन्तुं दानवान् सर्वान् कृतास्त्रान् युद्धदुर्मदान् ।

परशुराम बोले—देवेश्वर ! मैं तो अस्त्रविद्याका ज्ञाता नहीं हूँ । फिर युद्धस्थलमें अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा रणदुर्मद समस्त दानवोंका वध करनेके लिये मुझमें क्या शक्ति है ? ॥

महेश्वर उवाच

गच्छ त्वं मदनुज्ञातो निहनिष्यसि शात्रवान् ॥१४६॥
विजित्य च रिपून् सर्वान्गुणान् प्राप्स्यसि पुष्कलान् ।

महेश्वरने कहा—राम ! तुम मेरी आज्ञासे जाओ । निश्चय ही देव-शत्रुओंका संहार करोगे । उन समस्त वैरियोंपर विजय पाकर प्रचुर गुण प्राप्त कर लोगे ॥ १४६½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं प्रतिगृह्य च सर्वशः ॥१४७॥
रामः कृतस्वस्त्ययनः प्रययौ दानवान् प्रति ।
अब्रवीद् देवशत्रूंस्तान् महादर्पबलान्वितान् ॥१४८॥

उनकी यह बात सुनकर उसे सब प्रकारसे शिरोधार्य करके परशुराम स्वस्तिवाचन आदि मङ्गलकृत्य करनेके पश्चात् दानवोंका सामना करनेके लिये गये और महान् दर्प एवं बलसे सम्पन्न उन देवशत्रुओंसे इस प्रकार बोले—॥१४७–१४८॥

मम युद्धं प्रयच्छध्वं दैत्या युद्धमदोत्कटाः ।
प्रेषितो देवदेवेन वो निर्जेतुं महासुराः ॥१४९॥

'युद्धके मदसे उन्मत्त रहनेवाले दैत्यो ! मुझे युद्ध प्रदान करो । महान् असुरगण ! मुझे देवाधिदेव महादेवजीने तुम्हें परास्त करनेके लिये भेजा है' ॥ १४९ ॥

इत्युक्ता भार्गवेणाथ दैत्या युद्धं प्रचक्रमुः ।
स तान् निहत्य समरे दैत्यान् भार्गवनन्दनः ॥१५०॥
वज्राशनिसमस्पर्शैः प्रहारैरेव भार्गवः ।
स दानवैः क्षततनुर्जामदग्न्यो द्विजोत्तमः ॥१५१॥

भृगुवंशी परशुरामके ऐसा कहनेपर दैत्य उनके साथ युद्ध करने लगे । भार्गवनन्दन रामने समराङ्गणमें वज्र और विद्युत्के समान स्पर्शवाले प्रहारोंद्वारा उन दैत्योंका वध कर डाला । साथ ही उन द्विजश्रेष्ठ जमदग्निकुमारके शरीरको भी दानवोंने क्षत-विक्षत कर दिया ॥ १५०–१५१ ॥

संस्पृष्टः स्थाणुना सद्यो निर्व्रणः समजायत ।
प्रीतश्च भगवान् देवः कर्मणा तेन तस्य वै ॥१५२॥

परंतु महादेवजीके हाथोंका स्पर्श पाकर परशुरामजीके सारे घाव तत्काल दूर हो गये । परशुरामके उस शत्रुविजयरूपी कर्मसे भगवान् शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए ॥ १५२ ॥

वरान् प्रादाद् बहुविधान् भार्गवाय महात्मने ।
उक्तश्च देवदेवेन प्रीतियुक्तेन शूलिना ॥१५३॥

उन देवाधिदेव त्रिशूलधारी भगवान् शिवने बड़ी प्रसन्नताके साथ महात्मा भार्गवको नाना प्रकारके वर प्रदान किये ॥

निपातात्तव शस्त्राणां शरीरे याभवद् रुजा ।
तया ते मानुषं कर्म व्यपोढं भृगुनन्दन ॥१५४॥
गृहाणास्त्राणि दिव्यानि मत्सकाशाद् यथेप्सितम् ।

उन्होंने कहा—'भृगुनन्दन ! दैत्योंके अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे तुम्हारे शरीरमें जो चोट पहुँची है, उससे तुम्हारा मानवो-

चित कर्म नष्ट हो गया (अब तुम देवताओंके ही समान हो गये); अतः मुझसे अपनी इच्छाके अनुसार दिव्यास्त्र ग्रहण करो ॥' १५४½ ॥

दुर्योधन उवाच

ततोऽस्त्राणि समस्तानि वरांश्च मनसेप्सितान् ॥१५५॥
लब्ध्वा बहुविधान् रामः प्रणम्य शिरसा भवम्।
अनुज्ञां प्राप्य देवेशाज्जगाम स महातपाः ॥१५६॥

दुर्योधन कहता है—राजन् ! तब रामने भगवान् शिवसे समस्त दिव्यास्त्र और नाना प्रकारके मनोवाञ्छित वर पाकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। फिर वे महातपस्वी परशुराम देवेश्वर शिवसे आज्ञा लेकर चले गये ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं तदा कथितवानृषिः।
भार्गवोऽपि ददौ दिव्यं धनुर्वेदं महात्मने ॥१५७॥
कर्णाय पुरुषव्याघ्र सुप्रीतेनान्तरात्मना।

राजन् ! इस प्रकार यह पुरातन वृत्तान्त उस समय ऋषिने मेरे पिताजीसे कहा था। पुरुषसिंह ! भृगुनन्दन परशुरामने भी अत्यन्त प्रसन्न हृदयसे महामना कर्णको दिव्य धनुर्वेद प्रदान किया है ॥ १५७½ ॥

वृजिनं हि भवेत् किंचिद् यदि कर्णस्य पार्थिव ॥१५८॥
नास्मै ह्यस्त्राणि दिव्यानि प्रादास्यद् भृगुनन्दनः।

भूपाल ! यदि कर्णमें कोई पाप या दोष होता तो भृगुनन्दन परशुराम इसे दिव्यास्त्र न देते ॥ १५८½ ॥

नापि सूतकुले जातं कर्णं मन्ये कथंचन ॥१५९॥
देवपुत्रमहं मन्ये क्षत्रियाणां कुलोद्भवम्।
विसृष्टमवबोधार्थं कुलस्येति मतिर्मम ॥१६०॥

राजन् ! मैं किसी तरह इस बातपर विश्वास नहीं करता कि कर्ण सूतकुलमें उत्पन्न हुआ है। मैं इसे क्षत्रियकुलमें उत्पन्न देवपुत्र मानता हूँ। मेरा तो यह विश्वास है कि इसकी माताने अपने गुप्त रहस्यको छिपानेके लिये तथा इसे अन्य कुलका बालक विख्यात करनेके लिये ही सूतकुलमें छोड़ दिया होगा ॥ १५९-१६० ॥

सर्वथा न ह्ययं शल्य कर्णः सूतकुलोद्भवः।
सकुण्डलं सकवचं दीर्घबाहुं महारथम् ॥१६१॥
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति।

शल्य ! मैं सर्वथा इस बातपर विश्वास करता हूँ कि इस कर्णका जन्म सूतकुलमें नहीं हुआ है। इस महाबाहु महारथी और सूर्यके समान तेजस्वी कुण्डल-कवचविभूषित पुत्रको सूतजातिकी स्त्री कैसे पैदा कर सकती है ? क्या कोई हरिणी अपने पेटसे बाघको जन्म दे सकी है ? ॥ १६१½ ॥

यथा ह्यस्य भुजौ पीनौ नागराजकरोपमौ ॥१६२॥
वक्षः पश्य विशालं च सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
न त्वेष प्राकृतः कश्चित् कर्णो वैकर्तनो वृषः।
महात्मा ह्येष राजेन्द्र रामशिष्यः प्रतापवान् ॥१६३॥

राजेन्द्र ! गजराजके शुण्डदण्डके समान जैसी इसकी मोटी भुजाएँ हैं तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ जैसा इसका विशाल वक्षःस्थल है, उससे सूचित होता है कि परशुरामजीका यह प्रतापी शिष्य महामनस्वी धर्मात्मा वैकर्तन कर्ण कोई प्राकृत पुरुष नहीं है ॥ १६२-१६३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि त्रिपुरवधोपाख्याने चतुर्स्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें त्रिपुरवधोपाख्यानविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल १७०½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

शल्य और दुर्योधनका वार्तालाप, कर्णका सारथि होनेके लिये शल्यकी स्वीकृति

दुर्योधन उवाच

एवं स भगवान् देवः सर्वलोकपितामहः।
सारथ्यमकरोत् तत्र ब्रह्मा रुद्रोऽभवद् रथी ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! इस प्रकार सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्माने वहाँ सारथिका कार्य किया और रथी हुए रुद्र॥

रथिनोऽभ्यधिको वीर कर्तव्यो रथसारथिः।
तस्मात्त्वं पुरुषव्याघ्र नियच्छ तुरगान् युधि ॥ २ ॥

वीर ! रथका सारथि तो उसीको बनाना चाहिये, जो रथीसे भी बढ़कर हो। अतः पुरुषसिंह ! आप युद्धमें कर्णके घोड़ोंको काबूमें रखिये ॥ २ ॥

यथा देवगणैस्तत्र वृतो यत्नात् पितामहः।
तथास्माभिर्भवान् यत्नात् कर्णादभ्यधिको वृतः ॥ ३ ॥

जैसे देवताओंने वहाँ यत्नपूर्वक ब्रह्माजीका वरण किया था, उसी प्रकार हमलोगोंने विशेष चेष्टा करके कर्णसे भी अधिक बलवान् आपका सारथि-कर्मके लिये वरण किया ॥ ३ ॥

यथा देवैर्महाराज ईश्वरादधिको वृतः।
तथा भवानपि क्षिप्रं रुद्रस्येव पितामहः ॥ ४ ॥
नियच्छ तुरगान् युद्धे राधेयस्य महाद्युते।

महाराज ! जैसे देवताओंने महादेवजीसे भी बड़े ब्रह्माजीको उनका सारथि चुना था, उसी प्रकार हमने भी आपको चुना है। अतः महातेजस्वी नरेश ! आप युद्धमें राधापुत्र कर्णके घोड़ोंका नियन्त्रण कीजिये ॥ ४½ ॥

शल्य उवाच

मयाप्येतन्नरश्रेष्ठ बहुशोऽमरसिंहयोः ॥ ५ ॥

कथ्यमानं श्रुतं दिव्यमाख्यानमतिमानुषम्।
यथा च चक्रे सारथ्यं भवस्य प्रपितामहः ॥ ६ ॥
यथासुराश्च निहता इषुणैकेन भारत।

शल्यने कहा—भारत! नरश्रेष्ठ! मैंने भी देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और महादेवजीके इस अलौकिक एवं दिव्य उपाख्यानको विद्वानोंके मुखसे सुना है कि किस प्रकार प्रपितामह ब्रह्माजीने महादेवजीका सारथि-कर्म किया था? और कैसे एक ही बाणसे समस्त असुर मारे गये? ॥ ५–६½ ॥

कृष्णस्य चापि विदितं सर्वमेतत् पुरा ह्यभूत् ॥ ७ ॥
यथा पितामहो जज्ञे भगवान् सारथिस्तदा।

भगवान् ब्रह्मा उस समय जिस प्रकार महादेवजीके सारथि हुए थे, यह सारा पुरातन वृत्तान्त श्रीकृष्णको भी विदित ही होगा ॥ ७½ ॥

अनागतमतिक्रान्तं वेद कृष्णोऽपि तत्त्वतः ॥ ८ ॥
एतदर्थं विदित्वापि सारथ्यमुपजग्मिवान्।
स्वयंभूरिव रुद्रस्य कृष्णः पार्थस्य भारत ॥ ९ ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण भी भूत और भविष्यको यथार्थरूपसे जानते हैं। भारत! इस विषयको अच्छी तरह जानकर ही रुद्रके सारथि ब्रह्माजीके समान श्रीकृष्ण पार्थके सारथि बने हुए हैं॥

यदि हन्याच्च कौन्तेयं सूतपुत्रः कथंचन।
दृष्ट्वा पार्थं हि निहतं स्वयं योत्स्यति केशवः ॥ १० ॥
शङ्खचक्रगदापाणिर्धक्ष्यते तव वाहिनीम्।

यदि सूतपुत्र कर्ण किसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनको मार डालेगा तो अर्जुनको मारा गया देख श्रीकृष्ण स्वयं ही युद्ध करेंगे। उनके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा होगी। वे तुम्हारी सेनाको जलाकर भस्म कर देंगे ॥ १०½ ॥

न चापि तस्य क्रुद्धस्य वार्ष्णेयस्य महात्मनः ॥ ११ ॥
स्थास्यते प्रत्यनीकेषु कश्चिदत्र नृपस्तव।

महात्मा श्रीकृष्ण कुपित होकर जब हथियार उठायेंगे, उस समय तुम्हारे पक्षका कोई भी नरेश उनके सामने ठहर नहीं सकेगा ॥ ११½ ॥

संजय उवाच

तं तथा भाषमाणं तु मद्रराजमरिंदमः ॥ १२ ॥
प्रत्युवाच महाबाहुरदीनात्मा सुतस्तव।

संजय कहते हैं—राजन्! मद्रराज शल्यको ऐसी बातें करते देख आपके शत्रुदमन पुत्र महाबाहु दुर्योधनने मनमें तनिक भी दीनता न लाकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२½ ॥

मावमंस्था महाबाहो कर्णं वैकर्तनं रणे ॥ १३ ॥
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं सर्वशास्त्रार्थपारगम्।

'महाबाहो! तुम रणक्षेत्रमें वैकर्तन कर्णका अपमान न करो। वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका पारङ्गत विद्वान् है ॥ १३½ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं श्रुत्वा भयकरं महत् ॥ १४ ॥
पाण्डवेयानि सैन्यानि विद्रवन्ति दिशो दश।

'यह वही वीर है जिसकी प्रत्यञ्चाकी अत्यन्त भयानक टङ्कार सुनकर पाण्डव-सेना दसों दिशाओंमें भागने लगती है॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा रात्रौ घटोत्कचः ॥ १५ ॥
मायाशतानि कुर्वाणो हतो मायापुरस्कृतः।

'महाबाहो! यह तो तुमने अपनी आँखों देखा था कि किस प्रकार उस दिन रातमें सैकड़ों मायाओंका प्रयोग करनेवाला मायावी घटोत्कच कर्णके हाथसे मारा गया ॥ १५½ ॥

न चातिष्ठत बीभत्सुः प्रत्यनीके कथंचन ॥ १६ ॥
एतांश्च दिवसान् सर्वान् भयेन महता वृतः।

'इन सारे दिनोंमें महान् भयसे घिरे हुए अर्जुन किसी तरह भी कर्णके सामने खड़े न हो सके थे ॥ १६½ ॥

भीमसेनश्च बलवान् धनुष्कोट्याभिचोदितः ॥ १७ ॥
उक्तश्च संज्ञया राजन् मूढ औदरिको यथा।

'राजन्! बलवान् भीमसेनको भी इसने अपने धनुषकी कोटिसे दबाकर युद्धके लिये प्रेरित किया था और उन्हें मूर्ख, पेटू आदि नामोंसे पुकारा था ॥ १७½ ॥

माद्रीपुत्रौ तथा शूरौ येन जित्वा महारणे ॥ १८ ॥
कमप्यर्थं पुरस्कृत्य न हतौ युधि मारिष।

'मान्यवर! इसने महासमरमें शूरवीर नकुल-सहदेवको भी परास्त करके किसी विशेष प्रयोजनको सामने रखकर उन दोनोंको युद्धमें मार नहीं डाला ॥ १८½ ॥

येन वृष्णिप्रवीरस्तु सात्यकिः सात्वतां वरः ॥ १९ ॥
निर्जित्य समरे शूरो विरथश्च बलात् कृतः।

'इसने वृष्णिवंशके प्रमुख वीर सात्वतशिरोमणि शूरवीर सात्यकिको समराङ्गणमें परास्त करके उन्हें बलपूर्वक रथहीन कर दिया था ॥ १९½ ॥

सृञ्जयाश्चेतरे सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ २० ॥
असकृन्निर्जिताः संख्ये स्मयमानेन संयुगे।

'इसके सिवा धृष्टद्युम्न आदि समस्त सृञ्जयोंको भी इसने युद्धस्थलमें हँसते-हँसते अनेक बार परास्त किया है ॥ २०½ ॥

तं कथं पाण्डवा युद्धे विजेष्यन्ति महारथम् ॥ २१ ॥
यो हन्यात् समरे क्रुद्धो वज्रहस्तं पुरंदरम्।

'जो कुपित होनेपर वज्रधारी इन्द्रको भी समरभूमिमें मार डालनेकी शक्ति रखता है, उस महारथी वीर कर्णको पाण्डवलोग युद्धमें कैसे जीत लेंगे? ॥ २१½ ॥

त्वं च सर्वास्त्रविद् वीरः सर्वविद्यास्त्रपारगः ॥ २२ ॥
बाहुवीर्येण ते तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन।

'आप भी सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, समस्त विद्याओं तथा अस्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् एवं वीर हैं। इस भूतलपर बाहुबलके द्वारा आपकी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ २२½ ॥

त्वं शल्यभूतः शत्रूणामविषह्यः पराक्रमे ॥ २३ ॥
ततस्त्वमुच्यसे राजञ्शल्य इत्यरिसूदन ।

'शत्रुसूदन नरेश ! आप पराक्रम प्रकट करते समय शत्रुओंके लिये असह्य हो उठते हैं, उनके लिये आप शल्यभूत (कण्टकस्वरूप) हैं; इसीलिये आपको शल्य कहा जाता है ॥

तव बाहुबलं प्राप्य न शेकुः सर्वसात्वताः ॥ २४ ॥
तव बाहुबलाद् राजन् किं नु कृष्णो बलाधिकः ।

'राजन् ! आपके बाहुबलको सामने पाकर सम्पूर्ण सात्वत-वंशी क्षत्रिय कभी युद्धमें टिक न सके हैं । क्या आपके बाहुबल-से श्रीकृष्णका बल अधिक है ? ॥ २४½ ॥

यथा हि कृष्णेन बलं धार्यं वै फाल्गुने हते ॥ २५ ॥
तथा कर्णात्ययीभावे त्वया धार्यं महद् बलम् ।

'जैसे अर्जुनके मारे जानेपर श्रीकृष्ण पाण्डव-सेनाकी रक्षा करेंगे, उसी प्रकार यदि कर्ण मारा गया तो आपको मेरी विशाल वाहिनीका संरक्षण करना होगा ॥ २५½ ॥

किमर्थं समरे सैन्यं वासुदेवो न्यवारयत् ॥ २६ ॥
किमर्थं च भवान् सैन्यं न हनिष्यति मारिष ।

'मान्यवर ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण क्यों कौरव-सेनाका निवारण करेंगे और क्यों आप पाण्डव-सेनाका वध नहीं करेंगे?॥

त्वत्कृते पदवीं गन्तुमिच्छेयं युधि मारिष ।
सोदराणां च वीराणां सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ २७ ॥

'माननीय नरेश ! मैं तो आपके ही भरोसे युद्धमें मारे गये अपने वीर भाइयों तथा समस्त राजाओंके (ऋणसे मुक्त होनेके लिये उन्हींके) पथपर चलनेकी इच्छा करता हूँ' ॥

शल्य उवाच

यन्मां ब्रवीषि गान्धारे अग्रे सैन्यस्य मानद ।
विशिष्टं देवकीपुत्रात् प्रीतिमानस्म्यहं त्वयि ॥ २८ ॥

शल्यने कहा—मानद ! गान्धारीनन्दन ! तुम सम्पूर्ण सेनाके आगे जो मुझे देवकीपुत्र श्रीकृष्णसे बढ़कर बता रहे हो, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २८ ॥

एष सारथ्यमातिष्ठे राधेयस्य यशस्विनः ।
युध्यतः पाण्डवाग्र्येण यथा त्वं वीर मन्यसे ॥ २९ ॥

वीर ! मैं यशस्वी राधापुत्र कर्णका पाण्डवशिरोमणि अर्जुनके साथ युद्ध करते समय सारथ्य करूँगा जैसा कि तुम चाहते हो ॥ २९ ॥

समयश्च हि मे वीर कश्चिद् वैकर्तनं प्रति ।
उत्सृजेयं यथाश्रद्धमहं वाचोऽस्य संनिधौ ॥ ३० ॥

वीरवर ! परंतु वैकर्तन कर्णको मेरी एक शर्तका पालन करना होगा । मैं इसके समीप जो जीमें आयेगा, वैसी बातें करूँगा ॥ ३० ॥

संजय उवाच

तथेति राजन् पुत्रस्ते सह कर्णेन मारिष ।
अब्रवीन्मद्रराजानं सर्वक्षत्रस्य संनिधौ ॥ ३१ ॥

संजय कहते हैं—माननीय नरेश ! तब समस्त क्षत्रियोंके समीप कर्णसहित आपके पुत्रने मद्रराज शल्यसे कहा—'बहुत अच्छा, आपकी शर्त स्वीकार है' ॥ ३१ ॥

सारथ्यस्याभ्युपगमाच्छल्येनाश्वासितस्तदा ।
दुर्योधनस्तदा हृष्टः कर्णं तमभिषस्वजे ॥ ३२ ॥

सारथ्य स्वीकार करके जब शल्यने आश्वासन दिया, तब राजा दुर्योधनने बड़े हर्षके साथ कर्णको हृदयसे लगा लिया ॥

अब्रवीच्च पुनः कर्णं स्तूयमानः सुतस्तव ।
जहि पार्थान् रणे सर्वान् महेन्द्रो दानवानिव ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् वन्दीजनोंद्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए आपके पुत्रने कर्णसे फिर कहा—'वीर ! तुम रणक्षेत्रमें कुन्तीके समस्त पुत्रोंको उसी प्रकार मार डालो, जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं' ॥ ३३ ॥

स शल्येनाभ्युपगते हयानां संनियच्छने ।
कर्णो हृष्टमना भूयो दुर्योधनमभाषत ॥ ३४ ॥

शल्यके द्वारा अश्वोंका नियन्त्रण स्वीकार कर लिये जाने-पर कर्ण प्रसन्नचित्त हो पुनः दुर्योधनसे बोला—॥ ३४ ॥

नातिहृष्टमना ह्येष मद्रराजोऽभिभाषते ।
राजन् मधुरया वाचा पुनरेनं ब्रवीहि वै ॥ ३५ ॥

'राजन् ! ये मद्रराज शल्य अधिक प्रसन्न होकर बात नहीं कर रहे हैं; अतः तुम मधुर वाणीद्वारा इन्हें फिरसे समझाते हुए कुछ कहो' ॥ ३५ ॥

ततो राजा महाप्राज्ञः सर्वास्त्रकुशलो बली ।
दुर्योधनोऽब्रवीच्छल्यं मद्रराजं महीपतिम् ॥ ३६ ॥
पूरयन्निव घोषेण मेघगम्भीरया गिरा ।

तब सम्पूर्ण अस्त्रोंके संचालनमें कुशल, परम बुद्धिमान् एवं बलवान् राजा दुर्योधनने मद्रदेशके राजा पृथ्वीपति शल्य-को सम्बोधित करके अपने स्वरसे वहाँके प्रदेशको गुँजाते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीद्वारा इस प्रकार कहा—॥३६½॥

शल्य कर्णोऽर्जुनेनाद्य योद्धव्यमिति मन्यते ॥ ३७ ॥
तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र नियच्छ तुरगान् युधि ।

'शल्य ! आज कर्ण अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखता है । पुरुषसिंह ! आप रणस्थलमें इसके घोड़ोंको काबूमें रक्खें ॥ ३७½ ॥

कर्णो हत्वेतरान् सर्वान् फाल्गुनं हन्तुमिच्छति ॥ ३८ ॥
तस्याभीषुग्रहे राजन् प्रयाचे त्वां पुनः पुनः ।

'कर्ण अन्य सब शत्रुवीरोंका संहार करके अर्जुनका वध करना चाहता है । राजन् ! आपसे उसके घोड़ोंकी बागडोर सँभालनेके लिये मैं बारंबार याचना करता हूँ ॥ ३८½ ॥

पार्थस्य सचिवः कृष्णो यथाभीषुग्रहो वरः ।
तथा त्वमपि राधेयं सर्वतः परिपालय ॥ ३९ ॥

'जैसे श्रीकृष्ण अर्जुनके श्रेष्ठ सचिव तथा सारथि हैं, उसी प्रकार आप भी राधापुत्र कर्णकी सर्वथा रक्षा कीजिये' ॥ ३९ ॥

संजय उवाच

ततः शल्यः परिष्वज्य सुतं ते वाक्यमब्रवीत्।
दुर्योधनममित्रघ्नं प्रीतो मद्राधिपस्तदा ॥ ४० ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तब मद्रराज शल्यने प्रसन्न हो आपके पुत्र शत्रुसूदन दुर्योधनको हृदयसे लगाकर कहा ॥ ४० ॥

शल्य उवाच

एवं चेन्मन्यसे राजन् गान्धारे प्रियदर्शन।
तस्मात् ते यत् प्रियं किंचित् तत् सर्वं करवाण्यहम्॥४१॥

शल्य बोले—गान्धारीनन्दन ! प्रियदर्शन नरेश ! यदि तुम ऐसा समझते हो तो तुम्हारा जो कुछ प्रिय कार्य है, वह सब मैं करूँगा ॥ ४१ ॥

यत्रास्मि भरतश्रेष्ठ योग्यः कर्मणि कर्हिचित्।
तत्र सर्वात्मना युक्तो वक्ष्ये कार्यधुरं तव ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं जहाँ कहीं कभी भी जिस कर्मके योग्य होऊँ, वहाँ उस कर्ममें तुम्हारे द्वारा नियुक्त कर दिये जानेपर मैं सम्पूर्ण हृदयसे उस कार्यभारको वहन करूँगा ॥ ४२ ॥

यत्तु कर्णमहं ब्रूयां हितकामः प्रियाप्रिये।
मम तत् क्षमतां सर्वं भवान् कर्णश्च सर्वशः ॥ ४३ ॥

परंतु मैं हितकी इच्छा रखते हुए कर्णसे जो भी प्रिय अथवा अप्रिय वचन कहूँ, वह सब तुम और कर्ण सर्वथा क्षमा करो ॥ ४३ ॥

कर्ण उवाच

ईशानस्य यथा ब्रह्मा यथा पार्थस्य केशवः।
तथा नित्यं हिते युक्तो मद्रराज भवस्व नः ॥ ४४ ॥

कर्णने कहा—मद्रराज ! जैसे ब्रह्मा महादेवजीके और श्रीकृष्ण अर्जुनके हितमें सदा तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार आप भी निरन्तर हमारे हितसाधनमें संलग्न रहें ॥ ४४ ॥

शल्य उवाच

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ ४५ ॥

शल्य बोले—अपनी निन्दा और प्रशंसा, परायी निन्दा और परायी स्तुति—ये चार प्रकारके बर्ताव श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ॥ ४५ ॥

यत् तु विद्वन् प्रवक्ष्यामि प्रत्ययार्थमहं तव।
आत्मनः स्तवसंयुक्तं तन्निबोध यथातथम् ॥ ४६ ॥

परंतु विद्वन् ! मैं तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये जो अपनी प्रशंसासे भरी बात कहता हूँ, उसे तुम यथार्थरूपसे सुनो ॥

अहं शक्रस्य सारथ्ये योग्यो मातलिवत् प्रभो।
अप्रमादात् प्रयोगाच्च ज्ञानविद्याचिकित्सनैः ॥ ४७ ॥

प्रभो ! मैं सावधानी, अश्वसंचालन, ज्ञान, विद्या तथा चिकित्सा आदि सद्गुणोंकी दृष्टिसे इन्द्रके सारथि-कर्ममें नियुक्त मातलिके समान सुयोग्य हूँ ॥ ४७ ॥

ततः पार्थेन संग्रामे युध्यमानस्य तेऽनघ।
वाहयिष्यामि तुरगान् विज्वरो भव सूतज ॥ ४८ ॥

निष्पाप सूतपुत्र कर्ण ! जब तुम युद्धस्थलमें अर्जुनके साथ युद्ध करोगे, तब मैं तुम्हारे घोड़े अवश्य हाँकूँगा। तुम निश्चिन्त रहो ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शल्यसारथ्यस्वीकारे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शल्यके सारथिकर्मको स्वीकार करनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

कर्णका युद्धके लिये प्रस्थान और शल्यसे उसकी बातचीत

दुर्योधन उवाच

अयं ते कर्ण सारथ्यं मद्रराजः करिष्यति।
कृष्णादभ्यधिको यन्ता देवेशस्येव मातलिः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला–कर्ण ! ये मद्रराज शल्य तुम्हारा सारथ्यकर्म करेंगे। देवराज इन्द्रके सारथि मातलिके समान ये श्रीकृष्णसे भी श्रेष्ठ रथसंचालक हैं ॥ १ ॥

यथा हरिहयैर्युक्तं संगृह्णाति स मातलिः।
शल्यस्तथा तवाद्यायं संयन्ता रथवाजिनाम् ॥ २ ॥

जैसे मातलि इन्द्रके घोड़ोंसे जुते हुए रथकी बागडोर सँभालते हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे रथके घोड़ोंको काबूमें रखेंगे ॥ २ ॥

योधे त्वयि रथस्थे च मद्रराजे च सारथौ।
रथश्रेष्ठो ध्रुवं संख्ये पार्थानभिभविष्यति ॥ ३ ॥

जब तुम योद्धा बनकर रथपर बैठोगे और मद्रराज शल्य सारथिके रूपमें प्रतिष्ठित होंगे, उस समय वह श्रेष्ठ रथ निश्चय ही युद्धस्थलमें कुन्तीपुत्रोंको पराजित कर देगा ॥ ३ ॥

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो भूयो मद्रराजं तरस्विनम्।
उवाच राजन् संग्रामेऽध्युषिते पर्युपस्थिते ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधनने प्रातःकाल युद्ध उपस्थित होनेपर पुनः वेगशाली मद्रराज शल्यसे कहा—॥ ४ ॥

कर्णस्य यच्छ संग्रामे मद्रराज हयोत्तमान् ।
त्वयाभिगुप्तो राधेयो विजेष्यति धनंजयम् ॥ ५ ॥

'मद्रराज ! आप संग्राममें कर्णके इन उत्तम घोड़ोंको वशमें कीजिये । आपसे सुरक्षित होकर राधापुत्र कर्ण निश्चय ही अर्जुनको जीत लेगा' ॥ ५ ॥

इत्युक्तो रथमास्थाय तथेति प्राह भारत ।
शल्येऽभ्युपगते कर्णः सारथिं सुमनाब्रवीत् ॥ ६ ॥
त्वं सूत स्यन्दनं मह्यं कल्पयेत्यसकृत् त्वरन् ।

भारत ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर शल्यने रथका स्पर्श करके कहा—'तथास्तु ।' जब शल्यने सारथि होना पूर्णरूपसे स्वीकार कर लिया, तब कर्णने प्रसन्नचित्त होकर बारंबार अपने पूर्व सारथिसे शीघ्रतापूर्वक कहा—'सूत ! तुम मेरा रथ सजाकर तैयार करो' ॥ ६½ ॥

ततो जैत्रं रथवरं गन्धर्वनगरोपमम् ॥ ७ ॥
विधिवत् कल्पितं भद्रं जयेत्युक्त्वा न्यवेदयत् ।

तब सारथिने गन्धर्वनगरके समान विशाल, विजयशील श्रेष्ठ और मङ्गलकारक रथको विधिपूर्वक सुसज्जित करके सूचित किया—'स्वामिन् ! आपकी जय हो ! रथ तैयार है' ॥ ७½ ॥

तं रथं रथिनां श्रेष्ठः कर्णोऽभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ८ ॥
सम्पादितं ब्रह्मविदा पूर्वमेव पुरोधसा ।
कृत्वा प्रदक्षिणं यत्नादुपस्थाय च भास्करम् ॥ ९ ॥
समीपस्थं मद्रराजमारोह त्वमथाब्रवीत् ।

रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णने वेदज्ञ पुरोहितद्वारा पहलेसे ही जिसका माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न कर दिया गया था, उस रथकी विधि-पूर्वक पूजा और प्रदक्षिणा की । तत्पश्चात् सूर्यदेवका प्रयत्न-पूर्वक उपस्थान करके पास ही खड़े हुए मद्रराजसे कहा—'पहले आप रथपर बैठिये' ॥ ८-९½ ॥

ततः कर्णस्य दुर्धर्षं स्यन्दनप्रवरं महत् ॥ १० ॥
आरुरोह महातेजाः शल्यः सिंह इवाचलम् ।

तदनन्तर जैसे सिंह पर्वतपर चढ़ता है, उसी प्रकार महातेजस्वी शल्य कर्णके दुर्जय, विशाल एवं श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हुए ॥ १०½ ॥

ततः शल्याश्रितं दृष्ट्वा कर्णः स्वं रथमुत्तमम् ॥ ११ ॥
अध्यतिष्ठद् यथाम्भोदं विद्युत्वन्तं दिवाकरः ।

कर्ण अपने उत्तम रथको सारथि शल्यसे सनाथ हुआ देख स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुआ, मानो सूर्यदेव बिजलियोंसे युक्त मेघपर प्रतिष्ठित हुए हों ॥ ११½ ॥

तावेकरथमारूढावादित्याग्निसमत्विषौ ॥ १२ ॥
अभ्राजेतां यथा मेघं सूर्याग्नी सहितौ दिवि ।

जैसे आकाशमें किसी महान् मेघखण्डपर एक साथ बैठे हुए सूर्य और अग्नि प्रकाशित हो रहे हों, उसी प्रकार सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी कर्ण और शल्य उस एक ही रथपर आरूढ़ हो बड़ी शोभा पाने लगे ॥ १२½ ॥

संस्तूयमानौ तौ वीरौ तदास्तां द्युतिमत्तमौ ॥ १३ ॥
ऋत्विक्सदस्यैरिन्द्राग्नी स्तूयमानाविवाध्वरे ।

उस समय उन दोनों परम तेजस्वी वीरोंकी उसी प्रकार स्तुति होने लगी, जैसे यज्ञमण्डपमें ऋत्विजों और सदस्यों-द्वारा इन्द्र और अग्नि देवताका स्तवन किया जाता है ॥

स शल्यसंगृहीताश्वे रथे कर्णः स्थितो बभौ ॥ १४ ॥
धनुर्विस्फारयन् घोरं परिवेषीव भास्करः ।

शल्यने घोड़ोंकी बागडोर हाथमें ले ली । उस रथपर बैठा हुआ कर्ण अपने भयंकर धनुषको फैलाकर उसी प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो सूर्यमण्डलपर घेरा पड़ा हो ॥

आस्थितः स रथश्रेष्ठं कर्णः शरगभस्तिमान् ॥ १५ ॥
प्रबभौ पुरुषव्याघ्रो मन्दरस्थ इवांशुमान् ।

उस श्रेष्ठ रथपर चढ़ा हुआ पुरुषसिंह कर्ण अपनी बाण-मयी किरणोंसे युक्त हो मन्दराचलके शिखरपर देदीप्यमान होनेवाले सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १५½ ॥

तं रथस्थं महाबाहुं युद्धायामिततेजसम् ॥ १६ ॥
दुर्योधनस्तु राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ।
अकृतं द्रोणभीष्माभ्यां दुष्करं कर्म संयुगे ॥ १७ ॥
कुरुष्वाधिरथे वीर मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

युद्धके लिये रथपर बैठे हुए अमिततेजस्वी महाबाहु

राधापुत्र कर्णसे दुर्योधनने इस प्रकार कहा—'वीर ! अधिरथकुमार ! युद्धस्थलमें द्रोणाचार्य और भीष्म भी जिसे न कर सके, वही दुष्कर कर्म तुम सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते कर डालो ॥ १६–१७½ ॥

मनोगतं मम ह्यासीद् भीष्मद्रोणौ महारथौ ॥ १८ ॥
अर्जुनं भीमसेनं च निहन्ताराविति ध्रुवम् ।

'मेरे मनमें यह विश्वास था कि 'महारथी भीष्म और द्रोणाचार्य अर्जुन और भीमसेनको अवश्य ही मार डालेंगे' ॥

ताभ्यां यदकृतं वीर वीरकर्म महामृधे ॥ १९ ॥
तत् कर्म कुरु राधेय वज्रपाणिरिवापरः ।

'वीर राधापुत्र ! वे दोनों जिसे न कर सके, वही वीरोचित कर्म आज महासमरमें दूसरे वज्रधारी इन्द्रके समान तुम निश्चय ही पूर्ण करो ॥ १९½ ॥

गृहाण धर्मराजं वा जहि वा त्वं धनंजयम् ॥ २० ॥
भीमसेनं च राधेय माद्रीपुत्रौ यमावपि ।

'राधानन्दन ! या तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरको कैद कर लो या अर्जुन, भीमसेन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको मार डालो ॥ २०½ ॥

जयश्च तेऽस्तु भद्रं ते प्रयाहि पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि कुरु सर्वाणि भस्मसात् ।

'पुरुषप्रवर ! तुम्हारी जय हो । कल्याण हो । अब तुम जाओ और पाण्डुपुत्रकी सारी सेनाओंको भस्म करो' ॥२१½॥

ततस्तूर्यसहस्राणि भेरीणामयुतानि च ॥ २२ ॥
वाद्यमानान्यराजन्त मेघशब्दो यथा दिवि ।

तदनन्तर सहस्रों तूर्य और कई सहस्र रणभेरियाँ बज उठीं, जो आकाशमें मेघोंकी गर्जनाके समान प्रतीत हो रही थीं २२½

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं रथस्थो रथसत्तमः ॥ २३ ॥
अभ्यभाषत राधेयः शल्यं युद्धविशारदम् ।
चोदयाश्वान् महाबाहो यावद्धन्मि धनंजयम् ॥ २४ ॥
भीमसेनं यमौ चोभौ राजानं च युधिष्ठिरम् ।

रथपर बैठे हुए रथियोंमें श्रेष्ठ राधापुत्र कर्णने दुर्योधनके उस आदेशको शिरोधार्य करके युद्धकुशल राजा शल्यसे कहा—'महाबाहो ! मेरे घोड़ोंको बढ़ाइये, जिससे कि मैं अर्जुन, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरका वध कर सकूँ ॥

अद्य पश्यतु मे शल्य बाहुवीर्यं धनंजयः ॥ २५ ॥
अस्यतः कङ्कपत्राणां सहस्राणि शतानि च ।

'शल्य ! आज सैकड़ों और सहस्रों कङ्कपत्रयुक्त बाणोंकी वर्षा करते हुए मुझ कर्णके बाहुबलको अर्जुन देखें ॥ २५½ ॥

अद्य क्षेप्स्याम्यहं शल्य शरान् परमतेजनान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां विनाशाय दुर्योधनजयाय च ।

'शल्य ! आज मैं पाण्डवोंके विनाश और दुर्योधनकी विजयके लिये अत्यन्त तीखे बाण चलाऊँगा' ॥ २६½ ॥

शल्य उवाच

सूतपुत्र कथं नु त्वं पाण्डवानवमन्यसे ॥ २७ ॥
सर्वास्त्रज्ञान् महेष्वासान् सर्वानेव महाबलान् ।
अनिवर्तिनो महाभागानजय्यान् सत्यविक्रमान् ॥ २८ ॥

शल्यने कहा—सूतपुत्र ! तुम पाण्डवोंकी अवहेलना कैसे करते हो । वे सब-के-सब तो सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, महाधनुर्धर, महाबलवान्, युद्धसे पीछे न हटनेवाले, अजेय तथा सत्यपराक्रमी हैं ॥ २७-२८ ॥

अपि संतनयेयुर्ये भयं साक्षाच्छतक्रतोः ।
यदा श्रोष्यसि निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ २९ ॥
राधेय गाण्डिवस्याजौ तदा नैवं वदिष्यसि ।

वे साक्षात् इन्द्रके मनमें भी भय उत्पन्न कर सकते हैं । राधापुत्र ! जब तुम युद्धस्थलमें वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष सुनोगे, तब ऐसी बातें नहीं कहोगे ॥ २९½ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरानीकमाहवे ॥ ३० ॥
विशीर्णदन्तं निहतं तदा नैवं वदिष्यसि ।

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने संग्रामभूमिमें गजराजोंकी सेनाके दाँत तोड़-तोड़कर उसका संहार कर डाला है, तब तुम इस प्रकार नहीं बोल सकोगे ॥ ३०½ ॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे धर्मपुत्रं यमौ तथा ॥ ३१ ॥
शितैः पृषत्कैः कुर्वाणानभ्रच्छायामिवाम्बरे ।
अस्यतः क्षिण्वतश्चारींल्लँघुहस्तान् दुरासदान् ।
पार्थिवानपि चान्यांस्त्वं तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ३२ ॥

जब तुम्हें यह दिखायी देगा कि संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव तथा अन्यान्य दुर्जय भूपाल बड़ी शीघ्रताके साथ हाथ चला रहे हैं, अपने तीखे बाणोंद्वारा आकाशमें मेघोंकी छायाके समान छाया कर रहे हैं, निरन्तर बाणवर्षा करते और शत्रुओंका संहार किये डालते हैं, तब तुम ऐसी बातें मुँहसे न निकाल सकोगे ॥ ३१-३२ ॥

संजय उवाच

अनादृत्य तु तद् वाक्यं मद्रराजेन भाषितम् ।
याहीत्येवाब्रवीत् कर्णो मद्रराजं तरस्विनम् ॥ ३३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! मद्रराजकी कही हुई उस बातकी उपेक्षा करके कर्णने उन वेगशाली मद्रनरेशसे कहा—'चलिये, चलिये' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शल्यसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शल्यसंवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

कौरवसेनामें अपशकुन, कर्णकी आत्मप्रशंसा, शल्यके द्वारा उसका उपहास और अर्जुनके बल-पराक्रमका वर्णन

संजय उवाच

दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं युयुत्सुं समवस्थितम्।
चुक्रुशुः कुरवः सर्वे हृष्टरूपाः समन्ततः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब महाधनुर्धर कर्ण युद्धकी इच्छासे समराङ्गणमें डटकर खड़ा हो गया, तब समस्त कौरव बड़े हर्षमें भरकर सब ओर कोलाहल करने लगे ॥ १ ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषैर्भेरीणां निनदेन च।
बाणशब्दैश्च विविधैर्गर्जितैश्च तरस्विनाम् ॥ २ ॥
निर्ययुस्तावका युद्धे मृत्युं कृत्वा निवर्तनम्।

तदनन्तर आपके पक्षके समस्त वीर दुन्दुभि और भेरियोंकी ध्वनि, बाणोंकी सनसनाहट और वेगशाली वीरोंकी विविध गर्जनाओंके साथ युद्धके लिये निकल पड़े। उनके मनमें यह निश्चय था कि अब मौत ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकेगी ॥

प्रयाते तु ततः कर्णे योधेषु मुदितेषु च ॥ ३ ॥
चचाल पृथिवी राजन् ववाश च सुविस्तरम्।

राजन् ! कर्ण और कौरव योद्धाओंके प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करनेपर धरती डोलने और बड़े जोर-जोरसे अव्यक्त शब्द करने लगी ॥ ३½ ॥

निःसरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात् सप्त महाग्रहाः ॥ ४ ॥
उल्कापाताश्च संजज्ञुर्दिशां दाहास्तथैव च।
शुष्काशन्यश्च सम्पेतुर्ववुर्वाताश्च भैरवाः ॥ ५ ॥

उस समय सूर्यमण्डलसे सात बड़े-बड़े ग्रह निकलते दिखायी दिये, उल्कापात होने लगे, दिशाओंमें आग-सी जल उठी, बिना वर्षाके ही बिजलियाँ गिरने लगीं और भयानक आँधी चलने लगी ॥ ४-५ ॥

मृगपक्षिगणाश्चैव पृतनां बहुशस्तव।
अपसव्यं तदा चक्रुर्वेदयन्तो महाभयम् ॥ ६ ॥

बहुतेरे मृग और पक्षी महान् भयकी सूचना देते हुए अनेक बार आपकी सेनाको दाहिने करके चले गये ॥ ६ ॥

प्रस्थितस्य च कर्णस्य निपेतुस्तुरगा भुवि।
अस्थिवर्षं च पतितमन्तरिक्षाद् भयानकम् ॥ ७ ॥

कर्णके प्रस्थान करते ही उसके घोड़े पृथ्वीपर गिर पड़े और आकाशसे हड्डियोंकी भयंकर वर्षा होने लगी ॥ ७ ॥

जज्वलुश्चैव शस्त्राणि ध्वजाश्चैव चकम्पिरे।
अश्रूणि च व्यमुञ्चन्त वाहनानि विशाम्पते ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! कौरवोंके शस्त्र जल उठे, ध्वज हिलने लगे और वाहन आँसू बहाने लगे ॥ ८ ॥

एते चान्ये च बहव उत्पातास्तत्र दारुणाः।
समुत्पेतुर्विनाशाय कौरवाणां सुदारुणाः ॥ ९ ॥

ये तथा और भी बहुतसे भयंकर उत्पात वहाँ प्रकट हुए, जो कौरवोंके विनाशकी सूचना दे रहे थे ॥ ९ ॥

न च तान् गणयामासुः सर्वे दैवेन मोहिताः।
प्रस्थितं सूतपुत्रं च जयेत्यूचुर्नराधिपाः।
निर्जितान् पाण्डवांश्चैव मेनिरे तत्र कौरवाः ॥ १० ॥

परंतु दैवसे मोहित होनेके कारण उन सबने उन उत्पातोंको कुछ गिना ही नहीं। सूतपुत्रके प्रस्थान करनेपर सब राजा उसकी जय-जयकार बोलने लगे। कौरवोंको यह विश्वास हो गया कि अब पाण्डव परास्त हो जायँगे ॥ १० ॥

ततो रथस्थः परवीरहन्ता
भीष्मद्रोणावस्तवीर्यौ समीक्ष्य।
समुज्ज्वलद्भास्करपावकाभो
वैकर्तनोऽसौ रथकुञ्जरो नृप ॥ ११ ॥
स शल्यमाभाष्य जगाद वाक्यं
पार्थस्य कर्मातिशयं विचिन्त्य।
मानेन दर्पेण विदह्यमानः
क्रोधेन दीप्यन्निव निःश्वसंश्च ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर प्रकाशमान सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ एवं रथपर बैठा हुआ रथिश्रेष्ठ कर्ण यह देखकर कि भीष्म और द्रोणाचार्यके पराक्रमका लोप हो गया, अर्जुनके अलौकिक कर्मका चिन्तन करके अभिमान और दर्पसे दग्ध हो उठा तथा क्रोधसे जलता हुआ-सा लंबी-लंबी साँस खींचने लगा। उस समय उसने शल्यको सम्बोधित करके कहा—॥ ११-१२ ॥

नाहं महेन्द्रादपि वज्रपाणेः
क्रुद्धाद् बिभेम्यायुधवान् रथस्थः।
दृष्ट्वा हि भीष्मप्रमुखाञ्शयाना-
नतीव मां ह्यस्थिरता जहाति ॥ १३ ॥

'राजन् ! मैं हाथमें आयुध लेकर रथपर बैठा रहूँ, उस अवस्थामें यदि वज्र धारण करनेवाले इन्द्र भी कुपित होकर आ जायँ तो उनसे भी मुझे भय न होगा। भीष्म आदि महारथियोंको रणभूमिमें सदाके लिये सोया हुआ देखकर भी अस्थिरता (घबराहट) मुझसे दूर ही रहती है ॥ १३ ॥

महेन्द्रविष्णुप्रतिमावनिन्दितौ
रथाश्वनागप्रवरप्रमाथिनौ।
अवध्यकल्पौ निहतौ यदा परै-
स्ततो न मेऽप्यस्ति रणेऽद्य साध्वसम् ॥ १४ ॥

'भीष्म और द्रोणाचार्य देवराज इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी, सबके द्वारा प्रशंसित, रथों, घोड़ों और गजराजोंको भी मथ डालनेवाले तथा अवध्य-तुल्य थे, जब उन्हें भी शत्रुओंने मार डाला, तब मेरी क्या गिनती है ? यह सोचकर भी आज मुझे रणभूमिमें कोई भय नहीं हो रहा है ॥ १४ ॥

समीक्ष्य संख्येऽतिबलान् नराधिपान्
ससूतमातङ्गरथान् परैर्हतान् ।
कथं न सर्वानहितान् रणेऽवधीद्
महास्त्रविद् ब्राह्मणपुङ्गवो गुरुः॥ १५ ॥

'युद्धस्थलमें अत्यन्त बलवान् नरेशोंको सारथि, रथ और हाथियोंसहित शत्रुओंद्वारा मारा गया देखकर भी महान् अस्त्रवेत्ता ब्राह्मणशिरोमणि आचार्य द्रोणने रणभूमिमें समस्त शत्रुओंका वध क्यों नहीं कर डाला ? ॥ १५ ॥

स संस्मरन् द्रोणमहं महाहवे
ब्रवीमि सत्यं कुरवो निबोधत ।
न वा मदन्यः प्रसहेद् रणेऽर्जुनं
समागतं मृत्युमिवोग्ररूपिणम् ॥ १६ ॥

'अतः महासमरमें मारे गये द्रोणाचार्यका स्मरण करके मैं सत्य कहता हूँ, कौरवो ! तुमलोग ध्यान देकर सुनो । मेरे सिवा दूसरा कोई रणभूमिमें अर्जुनका वेग नहीं सह सकता । वे सामने आये हुए भयानक रूपधारी मृत्युके समान हैं ॥

शिक्षाप्रमादश्च बलं धृतिश्च
द्रोणे महास्त्राणि च संनतिश्च ।
स चेदगान्मृत्युवशं महात्मा
सर्वानन्यानातुरानद्य मन्ये ॥ १७ ॥

'शिक्षा, सावधानी, बल, धैर्य, महान् अस्त्र और विनय— ये सभी सद्गुण द्रोणाचार्यमें विद्यमान थे । वे महात्मा द्रोण भी यदि मृत्युके वशमें पड़ गये तो अन्य सब लोगोंको भी मैं मरणासन्न ही समझता हूँ ॥ १७ ॥

नेह ध्रुवं किंचिदपि प्रचिन्तयन्
विद्यां लोके कर्मणो नित्ययोगात् ।
सूर्योदये को हि विमुक्तसंशयो
भावं कुर्वीताद्य गुरौ निपातिते ॥ १८ ॥

'बहुत सोचनेपर भी मैं कर्म-सम्बन्धकी अनित्यताके कारण इस लोकमें किसी भी वस्तुको नित्य नहीं मानता । जब आचार्य द्रोण भी मार दिये गये, तब कौन संदेहरहित होकर आगामी सूर्योदयतक जीवित रहनेका दृढ़ विश्वास कर सकता है ? ॥ १८ ॥

न नूनमस्त्राणि बलं पराक्रमः
क्रियाः सुनीतं परमायुधानि वा ।
अलं मनुष्यस्य सुखाय वर्तितुं
तथा हि युद्धे निहतः परैर्गुरुः ॥ १९ ॥

'निश्चय ही अस्त्र, बल, पराक्रम, क्रिया, अच्छी नीति अथवा उत्तम आयुध आदि किसी मनुष्यको सुख पहुँचानेके लिये पर्याप्त नहीं हैं; क्योंकि इन सब साधनोंके होते हुए भी आचार्यको शत्रुओंने युद्धमें मार डाला है ॥ १९ ॥

हुताशनादित्यसमानतेजसं
पराक्रमे विष्णुपुरन्दरोपमम् ।
नये बृहस्पत्युशनोः सदा समं
न चैनमस्त्रं तदुपास्त दुःसहम् ॥ २० ॥

'अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, विष्णु और इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सदा बृहस्पति और शुक्राचार्यके समान नीतिमान् इन गुरुदेवको बचानेके लिये इनके दुःसह अस्त्र आदि पास न आ सके अर्थात् उनकी रक्षा नहीं कर सके ॥

सम्प्राकुष्टे रुदितस्त्रीकुमारे
पराभूते पौरुषे धार्तराष्ट्रे ।
मया कृत्यमिति जानामि शल्य
प्रयाहि तस्माद् द्विषतामनीकम् ॥ २१ ॥

'शल्य ! (द्रोणाचार्यके मारे जानेपर) जब सब ओर त्राहि-त्राहिकी पुकार हो रही है, स्त्रियाँ और बच्चे बिलख-बिलखकर रो रहे हैं तथा दुर्योधनका पुरुषार्थ दब गया है, ऐसे समयमें दुर्योधनको मेरी सहायताकी विशेष आवश्यकता है । मैं अपने इस कर्तव्यको अच्छी तरह समझता हूँ । इसलिये तुम शत्रुओंकी सेनाकी ओर चलो ॥ २१ ॥

यत्र राजा पाण्डवः सत्यसंधो
व्यवस्थितो भीमसेनार्जुनौ च ।
वासुदेवः सात्यकिः सृञ्जयाश्च
यमौ च कस्तान् विषहेन्मदन्यः ॥ २२ ॥

'जहाँ सत्यप्रतिज्ञ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर खड़े हैं, जहाँ भीमसेन, अर्जुन, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण, सात्यकि, सृंजय वीर तथा नकुल और सहदेव डटे हुए हैं, वहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन उन वीरोंका वेग सह सकता है ? ॥ २२ ॥

तस्मात् क्षिप्रं मद्रपते प्रयाहि
रणे पञ्चालान् पाण्डवान् सृञ्जयांश्च ।
तान् वा हनिष्यामि समेत्य संख्ये
यास्यामि वा द्रोणपथा यमाय ॥ २३ ॥

'इसलिये मद्रराज ! तुम शीघ्र ही रणभूमिमें पाञ्चाल, पाण्डव तथा सृंजय वीरोंकी ओर रथ ले चलो । आज युद्धस्थलमें उन सबके साथ भिड़कर या तो उन्हें ही मार डालूँगा या स्वयं ही द्रोणाचार्यके मार्गसे यमलोक चला जाऊँगा ॥ २३ ॥

न त्वेवाहं न गमिष्यामि मध्ये
तेषां शूराणामिति मां शल्य विद्धि ।
मित्रद्रोहो मर्षणीयो न मेऽयं
त्यक्त्वा प्राणाननुयास्यामि द्रोणम् ॥ २४ ॥

'शल्य ! मैं उन शूरवीरोंके बीचमें नहीं जाऊँगा, ऐसा मुझे न समझो; क्योंकि संग्रामसे पीछे हटनेपर मित्रद्रोह होगा और यह मित्रद्रोह मेरे लिये असह्य है। इसलिये मैं प्राणोंका परित्याग करके द्रोणाचार्यका ही अनुसरण करूँगा ॥

प्राज्ञस्य मूढस्य च जीवितान्ते
नास्ति प्रमोक्षोऽन्तकसत्कृतस्य ।
अतो विद्वन्नभियास्यामि पार्थान्
दिष्टं न शक्यं व्यतिवर्तितुं वै ॥ २५ ॥

'विद्वान् हो या मूर्ख, आयुकी समाप्ति होनेपर सभीका यमराजके द्वारा यथायोग्य सत्कार होता है। उससे किसीको छुटकारा नहीं मिलता । अतः विद्वन् ! मैं कुन्तीके पुत्रोंपर अवश्य चढ़ाई करूँगा । निश्चय ही दैवके विधानको कोई पलट नहीं सकता ॥ २५ ॥

कल्याणवृत्तः सततं हि राजा
वैचित्रवीर्यस्य सुतो ममासीत् ।
तस्यार्थसिद्ध्यर्थमहं त्यजामि
प्रियान् भोगान् दुस्त्यजं जीवितं च ॥२६॥

'धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सदा ही मेरे कल्याण-साधनमें तत्पर रहा है; अतः आज उसके मनोरथकी सिद्धिके लिये मैं अपने प्रिय भोगोंको और जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, उस जीवनको भी त्याग दूँगा ॥ २६ ॥

वैयाघ्रचर्माणमकूजनाक्षं
हैमत्रिकोषं रजतत्रिवेणुम् ।
रथप्रबर्हं तुरगप्रबर्है-
र्युक्तं प्रादान्मह्यमिमं हि रामः ॥ २७ ॥

'गुरुवर परशुरामजीने मुझे यह व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और उत्तम अश्वोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ रथ प्रदान किया है। इसमें तीन सुवर्णमय कोष और रजतमय त्रिवेणु सुशोभित हैं। इसके धुरों और पहियोंसे कोई आवाज नहीं निकलती है ॥

धनूंषि चित्राणि निरीक्ष्य शल्य
ध्वजान् गदाः सायकांश्चोग्ररूपान् ।
असिं च दीप्तं परमायुधं च
शङ्खं च शुभ्रं स्वनवन्तमुग्रम् ॥ २८ ॥

'शल्य ! तत्पश्चात् उन्होंने भलीभाँति इस रथका निरीक्षण करके बहुत-से विचित्र धनुष, भयंकर बाण, ध्वज, गदा, खड्ग, चमचमाते हुए उत्तम आयुध तथा गम्भीर ध्वनिसे युक्त भयंकर श्वेत शङ्ख भी दिये थे ॥ २८ ॥

पताकिनं वज्रनिपातनिःस्वनं
सिताश्वयुक्तं शुभतूणशोभितम् ।
इमं समास्थाय रथं रथर्षभं
रणे हनिष्याम्यहमर्जुनं बलात् ॥ २९ ॥

'यह रथ सब रथोंसे उत्तम है। इसमें पताकाएँ फहरा रही हैं, सफेद घोड़े जुते हुए हैं और सुन्दर तरकस इसकी शोभा बढ़ाते हैं। चलते समय इस रथकी धमकसे वज्रपातके समान शब्द होता है । मैं इस रथपर बैठकर रणभूमिमें अर्जुनको बलपूर्वक मार डालूँगा ॥ २९ ॥

तं चेन्मृत्युः सर्वहरोऽभिरक्षेत्
सदाप्रमत्तः समरे पाण्डुपुत्रम् ।
तं वा हनिष्यामि रणे समेत्य
यास्यामि वा भीष्ममुखो यमाय ॥ ३० ॥

'यदि सबका संहार करनेवाली मृत्यु सदा सावधान रहकर समराङ्गणमें पाण्डुपुत्र अर्जुनकी रक्षा करे तो रणक्षेत्रमें उससे भी भिड़कर या तो मैं उसे ही मार डालूँगा या स्वयं ही भीष्मके सम्मुख यमलोकको चला जाऊँगा ॥ ३० ॥

यमवरुणकुबेरवासवा वा
यदि युगपत्सगणा महाहवे ।
जुगुपिषव इहैत्य पाण्डवं
किमु बहुना सह तैर्जयामि तम् ॥ ३१ ॥

'अधिक कहनेसे क्या लाभ ? यदि इस महासमरमें अपने गणोंसहित यम, वरुण, कुबेर और इन्द्र भी एक साथ आकर यहाँ पाण्डुपुत्र अर्जुनकी रक्षा करना चाहें तो मैं उन सबके साथ ही उन्हें जीत लूँगा' ॥ ३१ ॥

संजय उवाच

इति रणरभसस्य कत्थत-
स्तदुत निशम्य वचः स मद्रराट् ।
अवहसदवमन्य वीर्यवान्
प्रतिषिषिधे च जगाद चोत्तरम् ॥ ३२॥

संजय कहते हैं—राजन्! पराक्रमी मद्रराज शल्य युद्धके उत्साहमें भरकर बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाले कर्णके उस कथन-को सुनकर उसकी अवहेलना करके उपहास करने लगे। उन्होंने फिर ऐसी बातें कहनेसे कर्णको रोका और इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ३२ ॥

शल्य उवाच

विरम विरम कर्ण कत्थना-
दतिरभसोऽप्यतिवाचमुक्तवान् ।
क्व च हि नरवरो धनंजयः
क्व पुनरहो पुरुषाधमो भवान् ॥ ३३ ॥

शल्यने कहा—कर्ण ! बस, अब बढ़-बढ़कर बातें बनाना बंद करो, बंद करो । तुम अधिक जोशमें आकर अपनी शक्तिसे बहुत बड़ी बात कह गये। भला, कहाँ नर-

श्रेष्ठ अर्जुन और कहाँ मनुष्योंमें अधम तुम ! ॥ ३३ ॥

यदुसदनमुपेन्द्रपालितं
त्रिदशमिवामरराजरक्षितम् ।
प्रसभमतिविलोड्य को हरेत्
पुरुषवरावरजामृतेऽर्जुनात् ॥ ३४ ॥

बताओ तो सही, अर्जुनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो साक्षात् विष्णु भगवान्से सुरक्षित यदुवंशियोंकी पुरीको, जिसकी उपमा देवराज इन्द्रद्वारा पालित देवनगरी अमरावतीसे दी जाती है, बलपूर्वक मथकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी छोटी बहिन सुभद्राका अपहरण कर सके ॥ ३४ ॥

त्रिभुवनविभुमीश्वरेश्वरं
क इह पुमान् भवमाह्वयेद् युधि ।
मृगवधकलहे ऋतेऽर्जुनात्
सुरपतिवीर्यसमप्रभावतः ॥ ३५ ॥

देवराज इन्द्रके समान बल और प्रभाव रखनेवाले अर्जुनको छोड़कर इस संसारमें दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो एक वन्य पशुको मारनेके विषयमें उठे हुए विवादके अवसरपर ईश्वरोंके भी ईश्वर त्रिलोकीनाथ भगवान् शङ्करको भी युद्धके लिये ललकार सके ॥ ३५ ॥

असुरसुरमहोरगान् नरान्
गरुडपिशाचसयक्षराक्षसान् ।
इषुभिरजयदग्निगौरवात्
स्वभिलषितं च हविर्ददौ जयः ॥ ३६ ॥

अर्जुनने अग्निदेवका गौरव मानकर गरुड़, पिशाच, यक्ष, राक्षस, देवता, असुर, बड़े-बड़े नाग तथा मनुष्योंको भी बाणोंद्वारा परास्त कर दिया और अग्निको अभीष्ट हविष्य प्रदान किया था ॥ ३६ ॥

स्मरसि ननु यदा परैर्हृतः
स च धृतराष्ट्रसुतोऽपि मोक्षितः ।
दिनकरसदृशैः शरोत्तमैर्युधा
कुरुषु बहून् विनिहत्य तानरीन् ॥ ३७ ॥

कर्ण ! याद है वह घटना, जब कि कुरुजाङ्गल-प्रदेशमें घोषयात्राके समय गन्धर्वोंने शत्रु बनकर दुर्योधनका अपहरण कर लिया था, उस समय इन्हीं अर्जुनने सूर्यकिरणोंके समान तेजस्वी उत्तमोत्तम बाणोंद्वारा उन बहुसंख्यक शत्रुओंको मारकर धृतराष्ट्रपुत्रको बन्धनसे मुक्त किया था ॥ ३७ ॥

प्रथममपि पलायिते त्वयि
प्रियकलहा धृतराष्ट्रसूनवः ।
स्मरसि ननु यदा प्रमोचिताः
खचरगणानवजित्य पाण्डवैः ॥ ३८ ॥

उस युद्धमें तुम सबसे पहले भाग गये थे । उस समय पाण्डवोंने गन्धर्वोंको पराजित करके कलहप्रिय धृतराष्ट्रपुत्रोंको कैदसे छुड़ाया था । क्या ये सब बातें तुम्हें याद हैं ? ॥

समुदितबलवाहनाः पुनः
पुरुषवरेण जिताः स्थ गोग्रहे ।
सगुरुगुरुसुताः सभीष्मकाः
किमु न जितः स तदा त्वयार्जुनः ॥ ३९ ॥

विराटनगरमें गोहरणके समय पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने विशाल बल-वाहनसे सम्पन्न तुम सब लोगोंको द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और भीष्मके सहित परास्त कर दिया था । उस समय तुमने अर्जुनको क्यों नहीं जीत लिया ? ॥ ३९ ॥

इदमपरमुपस्थितं पुन-
स्तव निधनाय सुयुद्धमद्य वै ।
यदि न रिपुभयात् पलायसे
समरगतोऽद्य हतोऽसि सूतज ॥ ४० ॥

सूतपुत्र ! अब आज तुम्हारे वधके लिये पुनः यह दूसरा उत्तम युद्ध उपस्थित हुआ है । यदि तुम शत्रुके भयसे भाग नहीं गये तो समराङ्गणमें पहुँचकर अवश्य मारे जाओगे ॥

संजय उवाच

इति बहु परुषं प्रभाषति
प्रमनसि मद्रपतौ रिपुस्तवम् ।
भृशमभिरुषितः परंतपः
कुरुपृतनापतिराह मद्रपम् ॥ ४१ ॥

संजयने कहा—राजन् ! जब महामना मद्रराज शल्य इस प्रकार शत्रुकी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी कड़वी बातें सुनाने लगे, तब कौरव-सेनापति शत्रुसंतापी कर्ण अत्यन्त क्रोधसे जल उठा और शल्यसे बोला ॥ ४१ ॥

कर्ण उवाच

भवतु भवतु किं विकत्थसे
ननु मम तस्य हि युद्धमुद्यतम् ।
यदि स जयति मामिहाहवे
तत इदमस्तु सुकत्थितं तव ॥ ४२ ॥

कर्णने कहा—रहने दो, रहने दो। क्यों बहुत बड़-बड़ा रहे हो। अब तो मेरा और उनका युद्ध उपस्थित हो ही गया है। यदि अर्जुन यहाँ युद्धमें मुझे परास्त कर दें, तब तुम्हारा यह बढ़-बढ़कर बातें करना ठीक और अच्छा समझा जायगा ॥ ४२ ॥

संजय उवाच

एवमस्त्विति मद्रेश उक्त्वा नोत्तरमुक्तवान् ।
याहि शल्येति चाप्येनं कर्णः प्राह युयुत्सया ॥ ४३ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब मद्रराज शल्य 'एवमस्तु' कहकर चुप हो गये। उन्होंने कर्णकी उस बातका कोई उत्तर नहीं दिया। तब कर्णने युद्धकी इच्छासे उनसे कहा—'शल्य! रथ आगे ले चलो' ॥ ४३ ॥

स रथः प्रययौ शत्रूञ्श्वेताश्वः शल्यसारथिः ।
निघ्नन्नमित्रान् समरे तमो घ्नन् सविता यथा ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् शल्य जिसके सारथि थे और जिसमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे, वह विशाल रथ अन्धकारका विनाश करनेवाले सूर्यदेवके समान शत्रुओंका संहार करता हुआ आगे बढ़ा ॥

ततः प्रायात् प्रीतिमान् वै रथेन
वैयाघ्रेण श्वेतयुजाथ कर्णः ।
स चालोक्य ध्वजिनीं पाण्डवानां
धनंजयं त्वरया पर्यपृच्छत् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और श्वेत अश्वोंसे युक्त उस रथके द्वारा कर्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रस्थित हुआ। उसने सामने ही पाण्डवोंकी सेनाको खड़ी देख बड़ी उतावलीके साथ धनंजयका पता पूछा ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

कर्णके द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनका पता बतानेवालेको नाना प्रकारकी भोगसामग्री और इच्छानुसार धन देनेकी घोषणा

संजय उवाच

प्रयाणे च ततः कर्णो हर्षयन् वाहिनीं तव ।
एकैकं समरे दृष्ट्वा पाण्डवान् पर्यपृच्छत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! प्रस्थानकालमें आपकी सेनाका हर्ष बढ़ाता हुआ कर्ण समराङ्गणमें पाण्डव-सैनिकोंको देखकर प्रत्येकसे पूछने और कहने लगा—॥ १ ॥

यो मामद्य महात्मानं दर्शयेच्छ्वेतवाहनम् ।
तस्मै दद्यामभिप्रेतं धनं यन्मनसेच्छति ॥ २ ॥

'जो आज मुझे महात्मा श्वेतवाहन अर्जुनको दिखा देगा, उसे मैं उसका अभीष्ट धन, जिसे वह मनसे लेना चाहे, दे दूँगा॥

न चेत् तदभिमन्येत तस्मै दद्यामहं पुनः ।
शकटं रत्नसम्पूर्णं यो मे ब्रूयाद् धनंजयम् ॥ ३ ॥

'यदि उतने धनसे वह संतुष्ट न होगा तो मैं उसे और धन दूँगा। जो मुझे अर्जुनका पता बता देगा, उसे मैं रत्नोंसे भरा हुआ छकड़ा दूँगा ॥ ३ ॥

न चेत्तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ।
शतं दद्यां गवां तस्मै नैत्यिकं कांस्यदोहनम् ॥ ४ ॥

'यदि अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष उस धनको पर्याप्त न माने तो मैं उसे प्रतिदिन दूध देनेवाली सौ गौएँ और कांसका दुग्ध-पात्र प्रदान करूँगा ॥ ४ ॥

शतं ग्रामवरांश्चैव दद्यामर्जुनदर्शिने ।
तथा तस्मै पुनर्दद्यां श्वेतमश्वतरीरथम् ॥ ५ ॥
युक्तमञ्जनकेशीभिर्यो मे ब्रूयाद् धनंजयम् ।

'इतना ही नहीं, मैं अर्जुनको दिखा देनेवाले व्यक्तिके लिये सौ बड़े-बड़े गाँव दूँगा तथा जो अर्जुनका पता बता देगा उसे खच्चरियोंसे जुता हुआ एक श्वेत रथ भी भेंट करूँगा; जिसमें काले केशवाली युवतियाँ बैठी होंगी ॥ ५½ ॥

न चेत् तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ॥ ६ ॥
अन्यं वास्मै पुनर्दद्यां सौवर्णं हस्तिषड्गवम् ।
तथाप्यस्मै पुनर्दद्यां स्त्रीणां शतमलंकृतम् ॥ ७ ॥
श्यामानां निष्ककण्ठीनां गीतवाद्यविपश्चिताम् ।

'यदि अर्जुनका पता बतानेवाला पुरुष उस धनको पूरा न समझे तो उसे दूसरा सोनेका बना हुआ रथ प्रदान करूँगा, जिसमें हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट छः बैल जुते होंगे। साथ ही उसे वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सौ ऐसी स्त्रियाँ दूँगा, जो श्यामा (सोलह वर्षकी अवस्थावाली), सुवर्णमय कण्ठहारसे अलंकृत तथा गाने-बजानेकी कलामें विदुषी होंगी ॥ ६–७½ ॥

न चेत् तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ॥ ८ ॥
तस्मै दद्यां शतं नागाञ्शतं ग्रामाञ्शतं रथान् ।
सुवर्णस्य च मुख्यस्य हयाग्र्याणां शतं शतान् ॥ ९ ॥
ऋद्ध्या गुणैः सुदान्तांश्च धुर्यवाहान् सुशिक्षितान् ।

'अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष यदि उसे भी पूरा न समझे

तो मैं उसे सौ हाथी, सौ गाँव, पक्के सोनेके बने हुए सौ रथ तथा दस हजार अच्छे घोड़े भी दूँगा। वे घोड़े हृष्ट-पुष्ट, गुणवान्, विनीत, सुशिक्षित तथा रथका भार वहन करनेमें समर्थ होंगे ॥ ८–९½ ॥

तथा सुवर्णशृङ्गीणां गोधेनूनां चतुःशतम् ॥ १० ॥
दद्यां तस्मै सवत्सानां यो मे ब्रूयाद् धनंजयम्।

'जो मुझे अर्जुनका पता बता देगा, उसे मैं चार सौ सवत्सा दुधारू गौएँ दूँगा, जिनके सींगोंमें सोने मढ़े होंगे ॥

न चेत तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ॥ ११ ॥
अन्यदस्मै वरं दद्यां श्वेतान् पञ्चशतान् हयान्।
हेमभाण्डपरिच्छन्नान् सुमृष्टमणिभूषणान् ॥ १२ ॥

'यदि अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष उस धनको पूर्ण नहीं समझेगा तो उसे और भी उत्तम धन, श्वेत रङ्गके पाँच सौ घोड़े दूँगा, जो सोनेके साज-बाजसे सुसज्जित तथा विशुद्ध मणियोंके आभूषणोंसे विभूषित होंगे ॥ ११–१२ ॥

सुदान्तानपि चैवाहं दद्यामष्टादशापरान्।
रथं च शुभ्रं सौवर्णं दद्यां तस्मै स्वलंकृतम् ॥ १३ ॥
युक्तं परमकाम्बोजैर्यो मे ब्रूयाद् धनंजयम्।

'इनके सिवा, अठारह और भी घोड़े दूँगा, जो अच्छी तरह रथमें सधे हुए होंगे। जो मुझे अर्जुनका पता बता देगा, उसे मैं परम उज्ज्वल और अलंकारोंसे सजाया हुआ एक सुवर्णमय रथ दूँगा, जिसमें अच्छी नस्लके काबुली घोड़े जुते होंगे ॥ १३½ ॥

न चेत् तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ॥ १४ ॥
अन्यदस्मै वरं दद्यां कुञ्जराणां शतानि षट्।
काञ्चनैर्विविधैर्भाण्डैराच्छन्नान् हेममालिनः ॥ १५ ॥
उत्पन्नानपरान्तेषु विनीतान् हस्तिशिक्षकैः।

'यदि अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष उसे भी पूरा न समझे तो उसे मैं और भी श्रेष्ठ धन दूँगा। नाना प्रकारके सुवर्णमय आभूषणोंसे सुशोभित तथा सोनेकी मालाओंसे अलंकृत छः सौ ऐसे हाथी प्रदान करूँगा, जो भारतवर्षकी पश्चिमी सीमाके जङ्गलोंमें उत्पन्न हुए हैं और जिन्हें गजशिक्षकोंने अच्छी तरह सुशिक्षित कर लिया है ॥ १४–१५½ ॥

न चेत् तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान् ॥ १६ ॥
अन्यदस्मै वरं दद्यां वैश्यग्रामांश्चतुर्दश।
सुस्फीतान् धनसंयुक्तान् प्रत्यासन्नवनोदकान्।
अकुतोभयान् सुसम्पन्नान् राजभोज्यांश्चतुर्दश ॥ १७ ॥

'यदि अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष उसे भी पूरा न समझे तो मैं उसे दूसरा श्रेष्ठ धन प्रदान करूँगा। जिनमें वैश्य निवास करते हों ऐसे चौदह समृद्धिशाली और धनसम्पन्न ग्राम दूँगा, जिनके आसपास जङ्गल और जलकी सुविधा होगी और जहाँ किसी प्रकारका भय नहीं होगा। वे चौदहों गाँव अधिक सम्पन्न तथा राजोचित भोगोंसे परिपूर्ण होंगे ॥ १६-१७ ॥

दासीनां निष्ककण्ठीनां मागधीनां शतं तथा।
प्रत्यग्रवयसां दद्यां यो मे ब्रूयाद् धनंजयम् ॥ १८ ॥

'जो मुझे अर्जुनका पता बता देगा, उसे मैं सोनेके कण्ठहारोंसे विभूषित मगध देशकी सौ नवयुवती दासियाँ दूँगा ॥

न चेत् तदभिमन्येत पुरुषोऽर्जुनदर्शिवान्।
अन्यं तस्मै वरं दद्यां यमसौ कामयेत् स्वयम् ॥ १९ ॥

'यदि अर्जुनको दिखानेवाला पुरुष उसे भी पर्याप्त न समझे तो मैं उसे दूसरा वर प्रदान करूँगा, जिसकी वह स्वयं इच्छा करे ॥ १९ ॥

पुत्रदारान् विहारांश्च यदन्यद् वित्तमस्ति मे।
तच्च तस्मै पुनर्दद्यां यद् यच्च मनसेच्छति ॥ २० ॥

'स्त्री, पुत्र, विहारस्थान तथा दूसरा भी जो कुछ धन-वैभव मेरे पास है, उसमेंसे जिस-जिस वस्तुको वह अपने मनसे चाहेगा, वह सब कुछ मैं उसे दे डालूँगा' ॥२०॥

हत्वा च सहितौ कृष्णौ तयोर्वित्तानि सर्वशः।
तस्मै दद्यामहं यो मे प्रब्रूयात् केशवार्जुनौ ॥ २१ ॥

'जो मुझे श्रीकृष्ण और अर्जुनका पता बता देगा, उसे मैं उन दोनोंको मारकर उनका सारा धन-वैभव दे दूँगा' ॥२१॥

एता वाचः सुबहुशः कर्ण उच्चारयन् युधि।
दध्मौ सागरसम्भूतं सुस्वरं शङ्खमुत्तमम् ॥ २२ ॥

इन सब बातोंको बारंबार कहते हुए कर्णने युद्धस्थलमें समुद्रसे उत्पन्न हुए अपने उत्तम शङ्खको उच्च स्वरसे बजाया॥

ता वाचः सूतपुत्रस्य तथा युक्ता निशम्य तु।
दुर्योधनो महाराज संहृष्टः सानुगोऽभवत् ॥ २३ ॥

महाराज ! सूतपुत्रकी कही हुई उस अवसरके अनुरूप उन बातोंको सुनकर दुर्योधन अपने सेवकोंसहित बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ २३ ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषो मृदङ्गानां च सर्वशः।
सिंहनादः सवादित्रः कुञ्जराणां च निःस्वनः ॥ २४ ॥

फिर तो सब ओर दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि होने लगी, मृदङ्ग बजने लगे, वाद्योंकी ध्वनिके साथ-साथ वीरोंका सिंहनाद तथा हाथियोंके चिग्घाड़नेका शब्द वहाँ गूँज उठा ॥ २४ ॥

प्रादुरासीत् तदा राजन् सैन्येषु पुरुषर्षभ।
योधानां सम्प्रहृष्टानां तथा समभवत् स्वनः ॥ २५ ॥

पुरुषप्रवर नरेश ! उस समय सभी सेनाओंमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए योद्धाओंका गम्भीर गर्जन होने लगा॥२५॥

तथा प्रहृष्टे सैन्ये तु प्लवमानं महारथम्।
विकत्थमानं च तदा राधेयमरिकर्षणम्।

मद्रराजः प्रहस्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥

इस प्रकार हर्षसे उल्लसित हुई सेनामें जाते और बढ़-बढ़कर बातें बनाते हुए शत्रुसूदन राधापुत्र महारथी कर्णसे मद्रराज शल्यने हँसकर इस प्रकार कहा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णावलेपे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णका अभिमानविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

शल्यका कर्णके प्रति अत्यन्त आक्षेपपूर्ण वचन कहना

शल्य उवाच

मा सूतपुत्र दानेन सौवर्णं हस्तिषड्गवम्।
प्रयच्छ पुरुषायाद्य द्रक्ष्यसि त्वं धनंजयम् ॥ १ ॥

शल्य बोले—सूतपुत्र! तुम किसी पुरुषको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट छः बैलोंसे जुता हुआ सोनेका रथ न दो। आज अवश्य ही अर्जुनको देखोगे ॥ १ ॥

बाल्यादिह त्वं त्यजसि वसु वैश्रवणो यथा।
अयत्नेनैव राधेय द्रष्टास्यद्य धनंजयम् ॥ २ ॥

राधापुत्र! तुम मूर्खतासे ही यहाँ कुबेरके समान धन लुटा रहे हो, आज अर्जुनको तो तुम बिना यत्न किये ही देख लोगे ॥ २ ॥

परान् सृजसि यद् वित्तं किंचित्त्वं बहु मूढवत्।
अपात्रदाने ये दोषास्तान् मोहान्नावबुध्यसे ॥ ३ ॥

मूढ़ पुरुषोंके समान तुम अपना बहुत कुछ धन जो दूसरोंको दे रहे हो, इससे जान पड़ता है कि अपात्रको धनका दान देनेसे जो दोष पैदा होते हैं, उन्हें मोहवश तुम नहीं समझ रहे हो ॥ ३ ॥

यत् त्वं प्रेरयसे वित्तं बहु तेन खलु त्वया।
शक्यं बहुविधैर्यज्ञैर्यष्टुं सूत यजस्व तैः ॥ ४ ॥

सूत! तुम जो बहुत धन देनेकी यहाँ घोषणा कर रहे हो, निश्चय ही उसके द्वारा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकते हो; अतः तुम उन धन-वैभवोंद्वारा यज्ञोंका ही अनुष्ठान करो ॥ ४ ॥

यच्च प्रार्थयसे हन्तुं कृष्णौ मोहाद् वृथैव तत्।
न हि शुश्रुम सम्मर्दे क्रोष्ट्रा सिंहौ निपातितौ ॥ ५ ॥

और जो तुम मोहवश श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको मारना चाहते हो, वह मनसूबा तो व्यर्थ ही है; क्योंकि हमने यह बात कभी नहीं सुनी है कि किसी गीदड़ने युद्धमें दो सिंहोंको मार गिराया हो ॥ ५ ॥

अप्रार्थितं प्रार्थयसे सुहृदो न हि सन्ति ते।
ये त्वां न वारयन्त्याशु प्रपतन्तं हुताशने ॥ ६ ॥

तुम ऐसी चीज चाहते हो, जिसकी अबतक किसीने इच्छा नहीं की थी। जान पड़ता है तुम्हारे कोई सुहृद् नहीं हैं, जो शीघ्र ही आकर तुम्हें जलती आगमें गिरनेसे रोक नहीं रहे हैं ॥ ६ ॥

कार्याकार्यं न जानीषे कालपक्वोऽस्यसंशयम्।
बह्वबद्धमकर्णीयं को हि ब्रूयाज्जिजीविषुः ॥ ७ ॥

तुम्हें कर्तव्य और अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है। निःसंदेह तुम्हें कालने पका दिया है। (अतः तुम पके हुए फलके समान गिरनेवाले ही हो); अन्यथा जो जीवित रहना चाहता है, ऐसा कौन पुरुष ऐसी बहुत-सी न सुनने योग्य अटपटांग बातें कह सकता है? ॥ ७ ॥

समुद्रतरणं दोर्भ्यां कण्ठे बद्ध्वा यथा शिलाम्।
गिर्यग्राद् वा निपतनं तादृक् तव चिकीर्षितम् ॥ ८ ॥

जैसे कोई गलेमें पत्थर बाँधकर दोनों हाथोंसे समुद्र पार करना चाहे अथवा पहाड़की चोटीसे पृथ्वीपर कूदनेकी इच्छा करे, ऐसी ही तुम्हारी सारी चेष्टा और अभिलाषा है ॥ ८ ॥

सहितः सर्वयोधैस्त्वं व्यूढानीकैः सुरक्षितः।
धनंजयेन युध्यस्व श्रेयश्चेत् प्राप्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥

यदि तुम कल्याण प्राप्त करना चाहते हो तो व्यूहरचना-पूर्वक खड़े हुए समस्त सैनिकोंके साथ सुरक्षित रहकर अर्जुन-से युद्ध करो ॥ ९ ॥

हितार्थं धार्तराष्ट्रस्य ब्रवीमि त्वां न हिंसया।
श्रद्धस्वैवं मया प्रोक्तं यदि तेऽस्ति जिजीविषा ॥ १० ॥

दुर्योधनके हितके लिये ही मैं ऐसा कह रहा हूँ, हिंसा-भावसे नहीं। यदि तुम्हें जीनेकी इच्छा है तो मेरे इस कथन-पर विश्वास करो ॥ १० ॥

कर्ण उवाच

स्वबाहुवीर्यमाश्रित्य प्रार्थयाम्यर्जुनं रणे।
त्वं तु मित्रमुखः शत्रुर्मां भीषयितुमिच्छसि ॥ ११ ॥

कर्ण बोला—शल्य! मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके रणक्षेत्रमें अर्जुनको पाना चाहता हूँ; परंतु तुम तो मुँहसे मित्र बने हुए वास्तवमें शत्रु हो, जो मुझे यहाँ डराना चाहते हो ॥ ११ ॥

न मामस्मादभिप्रायात् कश्चिदद्य निवर्तयेत्।
अपीन्द्रो वज्रमुद्यम्य किमु मर्त्यः कथंचन ॥ १२ ॥

परंतु मुझे इस अभिप्रायसे आज कोई भी पीछे नहीं लौटा सकता। वज्र उठाये हुए इन्द्र भी मुझे किसी तरह इस निश्चयसे डिगा नहीं सकते, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है? ॥ १२ ॥

संजय उवाच

इति कर्णस्य वाक्यान्ते शल्यः प्राहोत्तरं वचः।
चुकोपयिषुरत्यर्थं कर्णं मद्रेश्वरः पुनः ॥ १३॥

संजय कहते हैं—राजन्! कर्णकी यह बात समाप्त होते ही मद्रराज शल्य उसे अत्यन्त कुपित करनेकी इच्छासे पुनः इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ १३ ॥

यदा वै त्वां फाल्गुनवेगयुक्ता
ज्याचोदिता हस्तवता विसृष्टाः।
अन्वेतारः कङ्कपत्राः सिताग्रा-
स्तदा तप्स्यस्यर्जुनस्यानुयोगात् ॥ १४ ॥

'कर्ण! अर्जुनके वेगसे युक्त हो उनकी प्रत्यञ्चासे प्रेरित और सुशिक्षित हाथोंसे छोड़े हुए तीखी धारवाले कङ्कपत्र-विभूषित बाण जब तुम्हारे शरीरमें घुसने लगेंगे, तब जो तुम अर्जुनको पूछते फिरते हो, इसके लिये पश्चात्ताप करोगे॥

यदा दिव्यं धनुरादाय पार्थः
प्रतापयन् पृतनां सव्यसाची।
त्वां मर्दयिष्यन्निशितैः पृषत्कै-
स्तदा पश्चात् तप्स्यसे सूतपुत्र ॥ १५ ॥

'सूतपुत्र! जब सव्यसाची कुन्तीकुमार अर्जुन अपने हाथमें दिव्य धनुष लेकर शत्रुसेनाको तपाते हुए पैने बाणों-द्वारा तुम्हें रौंदने लगेंगे, तब तुम्हें अपने कियेपर पछतावा होगा॥ १५ ॥

बालश्चन्द्रं मातुरङ्के शयानो
यथा कश्चित् प्रार्थयतेऽपहर्तुम्।
तद्वन्मोहाद् द्योतमानं रथस्थं
सम्प्रार्थयस्यर्जुनं जेतुमद्य ॥ १६ ॥

'जैसे अपनी माँकी गोदमें सोया हुआ कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ लाना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी रथपर बैठे हुए तेजस्वी अर्जुनको आज मोहवश परास्त करना चाहते हो॥ १६ ॥

त्रिशूलमाश्रित्य सुतीक्ष्णधारं
सर्वाणि गात्राणि विघर्षसि त्वम्।
सुतीक्ष्णधारोपमकर्मणा त्वं
युयुत्ससे योऽर्जुनेनाद्य कर्ण ॥ १७ ॥

'कर्ण! अर्जुनका पराक्रम अत्यन्त तीखी धारवाले त्रिशूलके समान है। उन्हीं अर्जुनके साथ आज जो तुम युद्ध करना चाहते हो, वह दूसरे शब्दोंमें यों है कि तुम पैनी धारवाले त्रिशूलको लेकर उसीसे अपने सारे अङ्गोंको रगड़ना या खुजलाना चाहते हो॥ १७ ॥

क्रुद्धं सिंहं केसरिणं बृहन्तं
बालो मूढः क्षुद्रमृगस्तरस्वी।
समाह्वयेत् तद्वदेतत् तवाद्य
समाह्वानं सूतपुत्रार्जुनस्य ॥ १८॥

'सूतपुत्र! जैसे बालक, मूढ़ और वेगसे चौकड़ी भरने-वाला क्षुद्र मृग क्रोधमें भरे हुए विशालकाय, केसरयुक्त सिंहको ललकारे, तुम्हारा आज यह अर्जुनका युद्धके लिये आह्वान करना भी वैसा ही है॥ १८ ॥

मा सूतपुत्राह्वय राजपुत्रं
महावीर्यं केसरिणं यथैव।
वने शृगालः पिशितेन तृप्तो
मा पार्थमासाद्य विनङ्क्ष्यसि त्वम् ॥ १९॥

'सूतपुत्र! तुम महापराक्रमी राजकुमार अर्जुनका आह्वान न करो। जैसे वनमें मांस-भक्षणसे तृप्त हुआ गीदड़ महाबली सिंहके पास जाकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तुम भी अर्जुनसे भिड़कर विनाशके गर्तमें न गिरो॥ १९ ॥

ईषादन्तं महानागं प्रभिन्नकरटामुखम्।
शशको ह्वयसे युद्धे कर्ण पार्थं धनंजयम् ॥ २० ॥

'कर्ण! जैसे कोई खरगोश ईषादण्डके समान दाँतोंवाले महान् मदस्रावी गजराजको अपने साथ युद्धके लिये बुलाता हो, उसी प्रकार तुम भी कुन्तीपुत्र धनंजयका रणक्षेत्रमें आह्वान करते हो॥ २० ॥

बिलस्थं कृष्णसर्पं त्वं बाल्यात् काष्ठेन विध्यसि।
महाविषं पूर्णकोपं यत् पार्थं योद्धुमिच्छसि ॥ २१ ॥

'तुम यदि पूर्णतः क्रोधमें भरे हुए अर्जुनके साथ जूझना चाहते हो तो मूर्खतावश बिलमें बैठे हुए महाविषैले काले सर्पको किसी काठकी छड़ीसे बींध रहे हो॥ २१ ॥

सिंहं केसरिणं क्रुद्धमतिक्रम्याभिनर्दसे।
शृगाल इव मूढस्त्वं नृसिंहं कर्ण पाण्डवम् ॥ २२ ॥

'कर्ण! तुम मूर्ख हो; जैसे गीदड़ क्रोधमें भरे हुए केसरी सिंहका अनादर करके गर्जना करे, उसी प्रकार तुम भी मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी और क्रोधमें भरे हुए पाण्डु-कुमार अर्जुनका लङ्घन करके गरज रहे हो॥ २२ ॥

सुपर्णं पतगश्रेष्ठं वैनतेयं तरस्विनम्।
भोगीवाह्वयसे पाते कर्ण पार्थं धनंजयम् ॥ २३ ॥

'कर्ण! जैसे कोई सर्प अपने पतनके लिये ही पक्षियोंमें श्रेष्ठ वेगशाली विनतानन्दन गरुडका आह्वान करता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विनाशके लिये ही कुन्तीकुमार अर्जुनको ललकार रहे हो॥ २३ ॥

सर्वाम्भसां निधिं भीमं मूर्तिमन्तं झषायुतम्।
चन्द्रोदये विवर्धन्तमप्लवः संतितीर्षसि ॥ २४ ॥

'अरे! तुम चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए, जलजन्तुओंसे पूर्ण तथा उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त अगाध जलराशिवाले भयंकर समुद्रको बिना किसी नावके ही केवल दोनों हाथोंके सहारे पार करना चाहते हो॥ २४ ॥

ऋषभं दुन्दुभिग्रीवं तीक्ष्णशृङ्गं प्रहारिणम्।
वत्स आह्वयसे युद्धे कर्ण पार्थं धनंजयम् ॥ २५ ॥

'बेटा कर्ण! दुन्दुभिकी ध्वनिके समान जिसका कंठस्वर गम्भीर है, जिसके सींग तीखे हैं तथा जो प्रहार करनेमें कुशल है, उस साँडके समान पराक्रमी पृथापुत्र अर्जुनको तुम युद्धके लिये ललकार रहे हो ॥ २५ ॥

महामेघं महाघोरं दर्दुरः प्रतिनर्दसि ।
बाणतोयप्रदं लोके नरपर्जन्यमर्जुनम् ॥ २६ ॥

'जैसे महाभयंकर महामेघके मुकाबिलेमें कोई मेढक टर्र-टर्र कर रहा हो, उसी प्रकार तुम संसारमें बाणरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मानवमेघ अर्जुनको लक्ष्य करके गर्जना करते हो ॥ २६ ॥

यथा च स्वगृहस्थः श्वा व्याघ्रं वनगतं भषेत् ।
तथा त्वं भषसे कर्ण नरव्याघ्रं धनंजयम् ॥ २७ ॥

'कर्ण! जैसे अपने घरमें बैठा हुआ कोई कुत्ता वनमें रहनेवाले बाघकी ओर भूँके, उसी प्रकार तुम भी नरव्याघ्र अर्जुनको लक्ष्य करके भूँक रहे हो ॥ २७ ॥

शृगालोऽपि वने कर्ण शशैः परिवृतो वसन् ।
मन्यते सिंहमात्मानं यावत् सिंहं न पश्यति ॥ २८ ॥

'कर्ण! वनमें ख़रगोशोंके साथ रहनेवाला गीदड़ भी जबतक सिंहको नहीं देखता, तबतक अपनेको सिंह ही मानता रहता है ॥ २८ ॥

तथा त्वमपि राधेय सिंहमात्मानमिच्छसि ।
अपश्यञ्शत्रुदमनं नरव्याघ्रं धनंजयम् ॥ २९ ॥

'राधानन्दन! उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह अर्जुनको न देखनेके कारण ही अपनेको सिंह समझना चाहते हो ॥ २९ ॥

व्याघ्रं त्वं मन्यसेऽऽत्मानं यावत् कृष्णौ न पश्यसि ।
समास्थितावेकरथे सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ३० ॥

'एक रथपर बैठे हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान सुशोभित श्रीकृष्ण और अर्जुनको जबतक तुम नहीं देख रहे हो, तभी-तक अपनेको बाघ माने बैठे हो ॥ ३० ॥

यावद् गाण्डीवघोषं त्वं न शृणोषि महाहवे ।
तावदेव त्वया कर्ण शक्यं वक्तुं यथेच्छसि ॥ ३१ ॥

'कर्ण! महासमरमें जबतक गाण्डीवकी टङ्कार नहीं सुनते हो, तभीतक तुम जैसा चाहो, बक सकते हो ॥ ३१ ॥

रथशब्दधनुःशब्दैर्नादयन्तं दिशो दश ।
नर्दन्तमिव शार्दूलं दृष्ट्वा क्रोष्टा भविष्यसि ॥ ३२ ॥

'रथकी घर्घराहट और धनुषकी टंकारसे दसों दिशाओंको निनादित करते हुए सिंहसदृश अर्जुनको जब दहाड़ते देखोगे, तब तुरंत गीदड़ बन जाओगे ॥ ३२ ॥

नित्यमेव शृगालस्त्वं नित्यं सिंहो धनंजयः ।
वीरप्रद्वेषणान्मूढ तस्मात् क्रोष्टेव लक्ष्यसे ॥ ३३ ॥

'ओ मूढ! तुम सदासे ही गीदड़ हो और अर्जुन सदासे ही सिंह हैं। वीरोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण ही तुम गीदड़-जैसे दिखायी देते हो ॥ ३३ ॥

यथाखुः स्याद् बिडालश्च श्वा व्याघ्रश्च बलाबले ।
यथा शृगालः सिंहश्च यथा च शशकुञ्जरौ ॥ ३४ ॥

'जैसे चूहा और बिलाव, कुत्ता और बाघ, गीदड़ और सिंह तथा खरगोश और हाथी अपनी निर्बलता और प्रबलता-के लिये प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार तुम निर्बल हो और अर्जुन सबल हैं ॥ ३४ ॥

यथानृतं च सत्यं च यथा चापि विषामृते ।
तथा त्वमपि पार्थश्च प्रख्यातावात्मकर्मभिः ॥ ३५ ॥

'जैसे झूठ और सच तथा विष और अमृत अपना अलग-अलग प्रभाव रखते हैं, उसी प्रकार तुम और अर्जुन भी अपने-अपने कर्मोंके लिये सर्वत्र विख्यात हो' ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्याधिक्षेपे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णके प्रति शल्यका आक्षेपविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णका शल्यको फटकारते हुए मद्रदेशके निवासियोंकी निन्दा करना एवं उसे मार डालनेकी धमकी देना

संजय उवाच

अधिक्षिप्तस्तु राधेयः शल्येनामिततेजसा ।
शल्यमाह सुसंक्रुद्धो वाक्शल्यमवधारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अमिततेजस्वी शल्यके इस प्रकार आक्षेप करनेपर राधापुत्र कर्ण अत्यन्त कुपित हो उठा और यह वचनरूपी शल्य (बाण) छोड़नेके कारण ही इसका नाम शल्य पड़ा है, ऐसा निश्चय करके शल्यसे इस प्रकार बोला ॥ १ ॥

कर्ण उवाच

गुणान् गुणवतां शल्य गुणवान् वेत्ति नागुणः ।
त्वं तु शल्य गुणैर्हीनः किं ज्ञास्यसि गुणागुणम् ॥ २ ॥

कर्णने कहा—शल्य! गुणवान् पुरुषोंके गुणोंको गुणवान् ही जानता है, गुणहीन नहीं। तुम तो समस्त गुणोंसे शून्य हो; फिर गुण-अवगुण क्या समझोगे? ॥ २ ॥

अर्जुनस्य महास्त्राणि क्रोधं वीर्यं धनुः शरान् ।
अहं शल्याभिजानामि विक्रमं च महात्मनः ॥ ३ ॥

शल्य ! मैं महात्मा अर्जुनके महान् अस्त्र, क्रोध, बल, धनुष, बाण और पराक्रमको अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ३ ॥

तथा कृष्णस्य माहात्म्यमृषभस्य महीक्षिताम् ।
यथाहं शल्य जानामि न त्वं जानासि तत् तथा ॥ ४ ॥

शल्य ! इसी प्रकार महीपालशिरोमणि श्रीकृष्णके माहात्म्यको जैसा मैं जानता हूँ, वैसा तुम नहीं जानते ॥ ४ ॥

एवमेवात्मनो वीर्यमहं वीर्यं च पाण्डवे ।
जानन्नेवाह्वये युद्धे शल्य गाण्डीवधारिणम् ॥ ५ ॥

शल्य ! मैं अपना और पाण्डुपुत्र अर्जुनका बल-पराक्रम समझकर ही गाण्डीवधारी पार्थको युद्धके लिये बुलाता हूँ॥ ५॥

अस्ति वायमिषुः शल्य सुपुङ्खो रक्तभोजनः ।
एकतूणीशयः पत्री सुधौतः समलंकृतः ॥ ६ ॥

शल्य ! मेरा यह सुन्दर पंखोंसे युक्त बाण शत्रुओंका रक्त पीनेवाला है । यह अकेले ही एक तरकसमें रक्खा जाता है, जो बहुत ही स्वच्छ, कङ्कपत्रयुक्त और भलीभाँति अलंकृत है ॥ ६ ॥

शेते चन्दनचूर्णेषु पूजितो बहुलाः समाः ।
आहेयो विषवानुग्रो नराश्वद्विपसंघहा ॥ ७ ॥

यह सर्पमय भयानक विषैला बाण बहुत वर्षोंतक चन्दन-के चूर्णमें रखकर पूजित होता आया है, जो मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके समुदायका संहार करनेवाला है ॥ ७ ॥

घोररूपो महारौद्रस्तनुत्रास्थिविदारणः ।
निर्भिन्द्यां येन रुष्टोऽहमपि मेरुं महागिरिम् ॥ ८ ॥

यह अत्यन्त भयङ्कर घोर बाण कवच तथा हड्डियोंको भी चीर देनेवाला है । मैं कुपित होनेपर इस बाणके द्वारा महान् पर्वत मेरुको भी विदीर्ण कर सकता हूँ ॥ ८ ॥

तमहं जातु नास्येयमन्यस्मिन् फाल्गुनादृते ।
कृष्णाद् वा देवकीपुत्रात् सत्यं चापि शृणुष्व मे॥ ९ ॥

इस बाणको मैं अर्जुन अथवा देवकीपुत्र श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरे किसीपर कभी नहीं छोड़ूँगा । मेरी सच्ची बातको तुम कान खोलकर सुन लो ॥ ९ ॥

तेनाहमिषुणा शल्य वासुदेवधनंजयौ ।
योत्स्ये परमसंक्रुद्धस्तत् कर्म सदृशं मम ॥ १० ॥

शल्य ! मैं अत्यन्त कुपित होकर उस बाणके द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा और वह कार्य मेरे योग्य होगा ॥ १० ॥

सर्वेषां वृष्णिवीराणां कृष्णे लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता ।
सर्वेषां पाण्डुपुत्राणां जयः पार्थे प्रतिष्ठितः ॥ ११ ॥
उभयं तु समासाद्य को निवर्तितुमर्हति ।

समस्त वृष्णिवंशी वीरोंकी सम्पत्ति श्रीकृष्णपर ही प्रतिष्ठित है और पाण्डुके सभी पुत्रोंकी विजय अर्जुनपर ही अवलम्बित है; फिर उन दोनोंको एक साथ युद्धमें पाकर कौन वीर पीछे लौट सकता है ? ॥ ११½ ॥

तावेतौ पुरुषव्याघ्रौ समेतौ स्यन्दने स्थितौ ॥ १२ ॥
मामेकमभिसंयातौ सुजातं पश्य शल्य मे ।

शल्य ! वे दोनों पुरुषसिंह एक साथ रथपर बैठकर एकमात्र मुझपर आक्रमण करनेवाले हैं । देखो, मेरा जन्म कितना उत्तम है ! ॥ १२½ ॥

पितृष्वसामातुलजौ भ्रातरावपराजितौ ॥ १३ ॥
मणी सूत्र इव प्रोतौ द्रष्टासि निहतौ मया ।

धागेमें पिरोयी हुई दो मणियोंके समान प्रेमसूत्रमें बँधे हुए उन दोनों फुफेरे और ममेरे भाइयोंको, जो किसीसे पराजित नहीं होते, तुम मेरे द्वारा मारा गया देखोगे ॥ १३½॥

अर्जुने गाण्डिवं कृष्णे चक्रं तार्क्ष्यकपिध्वजौ ॥ १४ ॥
भीरूणां त्रासजननं शल्य हर्षकरं मम ।

अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष और श्रीकृष्णके हाथमें सुदर्शन चक्र है । एक कपिध्वज है तो दूसरा गरुडध्वज । शल्य ! ये सब वस्तुएँ कायरोंको भय देनेवाली हैं; परंतु मेरा हर्ष बढ़ाती हैं ॥ १४½ ॥

त्वं तु दुष्प्रकृतिर्मूढो महायुद्धेष्वकोविदः ॥ १५ ॥
भयावदीर्णः संत्रासादबद्धं बहु भाषसे ।

तुम तो दुष्ट स्वभावके मूर्ख मनुष्य हो । बड़े-बड़े युद्धोंमें कैसे शत्रुका सामना किया जाता है, इस बातसे अनभिज्ञ हो । भयसे तुम्हारा हृदय विदीर्ण-सा हो रहा है; अतः डरके मारे बहुत-सी असङ्गत बातें कह रहे हो ॥ १५½ ॥

संस्तौषि तौ तु केनापि हेतुना त्वं कुदेशज ॥ १६ ॥
तौ हत्वा समरे हन्ता त्वामद्य सहबान्धवम् ।
पापदेशज दुर्बुद्धे क्षुद्र क्षत्रियपांसन ॥ १७ ॥

दुष्ट और पापी देशमें उत्पन्न हुए नीच क्षत्रियकुलाङ्गार दुर्बुद्धि शल्य ! तुम उन दोनोंकी किसी स्वार्थसिद्धिके लिये स्तुति करते हो; परंतु आज समराङ्गणमें उन दोनोंको मारकर बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा भी वध कर डालूँगा ॥ १६-१७ ॥

सुहृद् भूत्वा रिपुः किं मां कृष्णाभ्यां भीषयिष्यसि ।
तौ वा मामद्य हन्तारौ हनिष्ये वापि तावहम् ॥ १८ ॥

तुम मेरे शत्रु होकर भी सुहृद् बनकर मुझे श्रीकृष्ण और अर्जुनसे क्यों डरा रहे हो । आज या तो वे ही दोनों मुझे मार डालेंगे या मैं ही उन दोनोंका संहार कर दूँगा ॥ १८ ॥

नाहं बिभेमि कृष्णाभ्यां विजानन्नात्मनो बलम् ।

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ॥ १९ ॥
अहमेको हनिष्यामि जोषमास्स्व कुदेशज ।

मैं अपने बलको अच्छी तरह जानता हूँ; इसलिये श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कदापि नहीं डरता हूँ। नीच देशमें उत्पन्न शल्य! तुम चुप रहो। मैं अकेला ही सहस्रों श्रीकृष्णों और सैकड़ों अर्जुनोंको मार डालूँगा ॥ १९½ ॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च प्रायः क्रीडागता जनाः ॥ २० ॥
या गाथाः सम्प्रगायन्ति कुर्वन्तोऽध्ययनं यथा ।
ता गाथाः शृणु मे शल्य मद्रकेषु दुरात्मसु ॥ २१ ॥
ब्राह्मणैः कथिताः पूर्वं यथावद् राजसंनिधौ ।
श्रुत्वा चैकमना मूढ क्षम वा ब्रूहि चोत्तरम् ॥ २२ ॥

मूर्ख शल्य! स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े लोग, खेल-कूदमें लगे हुए मनुष्य और स्वाध्याय करनेवाले पुरुष भी दुरात्मा मद्रनिवासियोंके विषयमें जिन गाथाओंको गाया करते हैं तथा ब्राह्मणोंने पहले राजाके समीप आकर यथावत् रूपसे जिनका वर्णन किया है, उन गाथाओंको एकाग्रचित्त होकर मुझसे सुनो और सुनकर चुपचाप सह लो या जवाब दो ॥ २०—२२ ॥

मित्रध्रुङ्मद्रको नित्यं यो नो द्वेष्टि स मद्रकः ।
मद्रके संगतं नास्ति क्षुद्रवाक्ये नराधमे ॥ २३ ॥

मद्रदेशका अधम मनुष्य सदा मित्रद्रोही होता है। जो हमलोगोंसे अकारण द्वेष करता है, वह मद्रदेशका ही अधम मनुष्य है। क्षुद्रतापूर्ण वचन बोलनेवाले मद्रदेशके निवासीमें किसीके प्रति सौहार्दकी भावना नहीं होती ॥ २३ ॥

दुरात्मा मद्रको नित्यं नित्यमानृतिकोऽनृजुः ।
यावदन्त्यं हि दौरात्म्यं मद्रकेष्विति नः श्रुतम् ॥२४॥

मद्रनिवासी मनुष्य सदा ही दुरात्मा, सर्वदा झूठ बोलनेवाला और सदा ही कुटिल होता है। हमने सुन रक्खा है कि मद्रनिवासियोंमें मरते दमतक दुष्टता बनी रहती है ॥२४॥

पिता पुत्रश्च माता च श्वश्रूश्वशुरमातुलाः ।
जामाता दुहिता भ्राता नप्तान्ये ते च बान्धवाः ॥ २५ ॥
वयस्याभ्यागताश्चान्ये दासीदासं च संगतम् ।
पुम्भिर्विमिश्रा नार्यश्च ज्ञाताज्ञाताः स्वयेच्छया ॥ २६ ॥
येषां गृहेष्वशिष्टानां सक्तुमत्स्याशिनां तथा ।
पीत्वा सीधु सगोमांसं क्रन्दन्ति च हसन्ति च ॥२७॥
गायन्ति चाप्यबद्धानि प्रवर्तन्ते च कामतः ।
कामप्रलापिनोऽन्योन्यं तेषु धर्मः कथं भवेत् ॥ २८ ॥
मद्रकेष्ववलिप्तेषु प्रख्याताशुभकर्मसु ।

सत्तू और मांस खानेवाले जिन अशिष्ट मद्रनिवासियोंके घरोंमें पिता, पुत्र, माता, सास, ससुर, मामा, बेटी, दामाद, भाई, नाती, पोते, अन्यान्य बन्धु-बान्धव, समवयस्क मित्र, दूसरे अभ्यागत अतिथि और दास-दासी—ये सभी अपनी इच्छाके अनुसार एक दूसरेसे मिलते हैं। परिचित-अपरिचित सभी स्त्रियाँ सभी पुरुषोंसे सम्पर्क स्थापित कर लेती हैं और गोमांससहित मदिरा पीकर रोती, हँसती, गाती, असङ्गत बातें करती तथा कामभावसे किये जानेवाले कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं। जिनके यहाँ सभी स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे कामसम्बन्धी प्रलाप करते हैं, जिनके पापकर्म सर्वत्र विख्यात हैं, उन घमंडी मद्रनिवासियोंमें धर्म कैसे रह सकता है? ॥ २५—२८½ ॥

नापि वैरं न सौहार्दं मद्रकेण समाचरेत् ॥ २९ ॥
मद्रके संगतं नास्ति मद्रको हि सदामलः ।

मद्रनिवासीके साथ न तो वैर करे और न मित्रता ही स्थापित करे, क्योंकि उसमें सौहार्दकी भावना नहीं होती। मद्रनिवासी सदा पापमें ही डूबा रहता है ॥ २९½ ॥

मद्रकेषु च संसृष्टं शौचं गान्धारकेषु च ॥ ३० ॥
राजयाजकयाज्ये च नष्टं दत्तं हविर्भवेत् ।
शूद्रसंस्कारको विप्रो यथा याति पराभवम् ॥ ३१ ॥
यथा ब्रह्मद्विषो नित्यं गच्छन्तीह पराभवम् ।
यथैव संगतं कृत्वा नरः पतति मद्रकैः ॥ ३२ ॥
मद्रके संगतं नास्ति हतं वृश्चिक ते विषम् ।
आथर्वणेन मन्त्रेण यथा शान्तिः कृता मया ॥ ३३ ॥

'ओ बिच्छू! जैसे मद्रनिवासियोंके पास रक्खी हुई धरोहर और गान्धारनिवासियोंमें शौचाचार नष्ट हो जाते हैं, जहाँ क्षत्रिय पुरोहित हो उस यजमानके यज्ञमें दिया हुआ हविष्य जैसे नष्ट हो जाता है, जैसे शूद्रोंका संस्कार करानेवाला ब्राह्मण पराभवको प्राप्त होता है, जैसे ब्रह्मद्रोही मनुष्य इस जगत्‌में सदा ही तिरस्कृत होते रहते हैं, जैसे मद्रनिवासियोंके साथ मित्रता करके मनुष्य पतित हो जाता है तथा जिस प्रकार मद्रनिवासीमें सौहार्दकी भावना सर्वथा नष्ट हो गयी है, उसी प्रकार तेरा यह विष भी नष्ट हो गया। मैंने अथर्ववेदके मन्त्रसे तेरे विषको शान्त कर दिया' ॥ ३०-३३ ॥

इति वृश्चिकदष्टस्य विषवेगहतस्य च ।
कुर्वन्ति भेषजं प्राज्ञाः सत्यं तच्चापि दृश्यते ॥ ३४ ॥

ये उपर्युक्त बातें कहकर जो बुद्धिमान् विषवैद्य बिच्छूके काटनेपर उसके विषके वेगसे पीड़ित हुए मनुष्यकी चिकित्सा या औषध करते हैं, उनका वह कथन सत्य ही दिखायी देता है ॥ ३४ ॥

एवं विद्वञ्जोषमास्स्व शृणु चात्रोत्तरं वचः ।
वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यमोहिताः ३५

मैथुनेऽसंयताश्चापि यथाकामवराश्च ताः।
तासां पुत्रः कथं धर्मं मद्रको वक्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

विद्वान् राजा शल्य ! ऐसा समझकर तुम चुपचाप बैठे रहो और इसके बाद जो बात मैं कह रहा हूँ, उसे भी सुन लो। जो स्त्रियाँ मद्यसे मोहित हो कपड़े उतारकर नाचती हैं, मैथुनमें संयम एवं मर्यादाको छोड़कर प्रवृत्त होती हैं और अपनी इच्छाके अनुसार जिस किसी पुरुषका वरण कर लेती हैं, उनका पुत्र मद्रनिवासी नराधम दूसरोंको धर्मका उपदेश कैसे कर सकता है ? ॥ ३५-३६ ॥

यास्तिष्ठन्त्यः प्रमेहन्ति यथैवोष्ट्रदशेरकाः।
तासां विभ्रष्टधर्माणां निर्लज्जानां ततस्ततः ॥ ३७ ॥
त्वं पुत्रस्तादृशीनां हि धर्मं वक्तुमिहेच्छसि।

जो ऊँटों और गदहोंके समान खड़ी-खड़ी मूतती हैं तथा जो धर्मसे भ्रष्ट होकर लज्जाको तिलाञ्जलि दे चुकी हैं, वैसी मद्रनिवासिनी स्त्रियोंके पुत्र होकर तुम मुझे यहाँ धर्मका उपदेश करना चाहते हो ॥ ३७½ ॥

सुवीरकं याच्यमाना मद्रिका कर्षति स्फिचौ॥ ३८ ॥
अदातुकामा वचनमिदं वदति दारुणम्।
मा मां सुवीरकं कश्चिद् याचतां दयितं मम ॥ ३९॥
पुत्रं दद्यां पतिं दद्यां न तु दद्यां सुवीरकम्।

यदि कोई पुरुष मद्रदेशकी किसी स्त्रीसे कांजी माँगता है तो वह उसकी कमर पकड़कर खींच ले जाती है और कांजी न देनेकी इच्छा रखकर यह कठोर वचन बोलती है—'कोई मुझसे कांजी न माँगे, क्योंकि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं अपने पुत्रको दे दूँगी, पतिको भी दे दूँगी; परंतु कांजी नहीं दे सकती' ॥ ३८-३९½ ॥

गौर्यो बृहत्यो निर्ह्रीका मद्रिकाः कम्बलावृताः ॥ ४० ॥
घस्मरा नष्टशौचाश्च प्राय इत्यनुशुश्रुम।

मद्रदेशकी स्त्रियाँ प्रायः गोरी, लंबे कदवाली, निर्लज्ज, कम्बलसे शरीरको ढकनेवाली, बहुत खानेवाली और अत्यन्त अपवित्र होती हैं, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ ४०½ ॥

एवमादि मयान्यैर्वा शक्यं वक्तुं भवेद् बहु ॥ ४१ ॥
आकेशाग्रान्नखाग्राच्च वक्तव्येषु कुकर्मसु।

मद्रनिवासी सिरकी चोटीसे लेकर पैरोंके नखाग्रभागतक निन्दाके ही योग्य हैं। वे सब-के-सब कुकर्ममें लगे रहते हैं। उनके विषयमें हम तथा दूसरे लोग भी ऐसी बहुत-सी बातें कह सकते हैं ॥ ४१½ ॥

मद्रकाः सिन्धुसौवीरा धर्मं विद्युः कथं त्विह ॥४२ ॥
पापदेशोद्भवा म्लेच्छा धर्माणामविचक्षणाः।

मद्र तथा सिन्धु-सौवीर देशके लोग पापपूर्ण देशमें उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। उन्हें धर्म-कर्मका पता नहीं है। वे इस जगत्‌में धर्मकी बातें कैसे समझ सकते हैं ? ॥ ४२½ ॥

एष मुख्यतमो धर्मः क्षत्रियस्येति नः श्रुतम् ॥ ४३ ॥
यदाजौ निहतः शेते सद्भिः समभिपूजितः।

हमने सुना है कि क्षत्रियके लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म यह है कि वह युद्धमें मारा जाकर रणभूमिमें सो जाय और सत्पुरुषोंके आदरका पात्र बने ॥ ४३½ ॥

आयुधानां साम्पराये यन्मुच्येयमहं ततः ॥ ४४ ॥
ममैष प्रथमः कल्पो निधने स्वर्गमिच्छतः।

मैं अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें अपने प्राणोंका परित्याग करूँ, यही मेरे लिये प्रथम श्रेणीका कार्य है; क्योंकि मैं मृत्युके पश्चात् स्वर्ग पानेकी अभिलाषा रखता हूँ ॥ ४४½ ॥

सोऽयं प्रियः सखा चास्मि धार्तराष्ट्रस्य धीमतः॥४५॥
तदर्थे हि मम प्राणा यच्च मे विद्यते वसु।
व्यक्तं त्वमप्युपहितः पाण्डवैः पापदेशज ॥ ४६ ॥
यथा चामित्रवत् सर्वं त्वमस्मासु प्रवर्तसे।

मैं बुद्धिमान् दुर्योधनका प्रिय मित्र हूँ। अतः मेरे पास जो कुछ धन-वैभव है, वह और मेरे प्राण भी उसीके लिये हैं। परंतु पापदेशमें उत्पन्न हुए शल्य ! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पाण्डवोंने तुम्हें हमारा भेद लेनेके लिये ही यहाँ रख छोड़ा है; क्योंकि तुम हमारे साथ शत्रुके समान ही सारा बर्ताव कर रहे हो ॥ ४५-४६½ ॥

कामं न खलु शक्योऽहं त्वद्विधानां शतैरपि ॥ ४७ ॥
संग्रामाद् विमुखः कर्तुं धर्मज्ञ इव नास्तिकैः।

जैसे सैकड़ों नास्तिक मिलकर भी धर्मज्ञ पुरुषको धर्मसे विचलित नहीं कर सकते, उसी प्रकार तुम्हारे-जैसे सैकड़ों मनुष्योंके द्वारा भी मुझे संग्रामसे विमुख नहीं किया जा सकता, यह निश्चय है ॥ ४७½ ॥

सारङ्ग इव घर्मार्तः कामं विलप शुष्य च ॥ ४८ ॥
नाहं भीषयितुं शक्यः क्षत्रवृत्ते व्यवस्थितः।

तुम धूपसे संतप्त हुए हरिणके समान चाहे विलाप करो चाहे सूख जाओ। क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मुझ कर्णको तुम डरा नहीं सकते ॥ ४८½ ॥

तनुत्यजां नृसिंहानामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ४९ ॥
या गतिर्गुरुणा प्रोक्ता पुरा रामेण तां स्मरे।

पूर्वकालमें गुरुवर परशुरामजीने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले एवं शत्रुका सामना करते हुए प्राण विसर्जन कर देनेवाले पुरुषसिंहोंके लिये जो उत्तम गति बतायी है, उसे मैं सदा याद रखता हूँ ॥ ४९½ ॥

तेषां त्राणार्थमुद्यन्तं वधार्थं द्विषतामपि ॥ ५० ॥
विद्धि मामास्थितं वृत्तं पौरूरवसमुत्तमम् ।

शल्य ! तुम यह जान लो कि मैं धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी रक्षाके लिये वैरियोंका वध करनेके लिये उद्यत हो राजा पुरूरवाके उत्तम[1] चरित्रका आश्रय लेकर युद्धभूमिमें डटा हुआ हूँ ॥ ५०½ ॥

न तद् भूतं प्रपश्यामि त्रिषु लोकेषु मद्रप ॥ ५१ ॥
यो मामस्मादभिप्रायाद् वारयेदिति मे मतिः ।

मद्रराज ! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे प्राणीको नहीं देखता, जो मुझे मेरे इस संकल्पसे विचलित कर दे, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ५१½ ॥

एवं विद्वञ्जोषमास्स्व त्रासात् किं बहु भाषसे ॥ ५२ ॥
मा त्वां हत्वा प्रदास्यामि क्रव्याद्भ्यो मद्रकाधम ।

समझदार शल्य ! ऐसा जानकर चुपचाप बैठे रहो । डरके मारे बहुत बड़बड़ाते क्यों हो ? मद्रदेशके नराधम ! यदि तुम चुप न हुए तो तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े करके मांसभक्षी प्राणियोंको बाँट दूँगा ॥ ५२½ ॥

मित्रप्रतीक्षया शल्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ॥ ५३ ॥
अपवादतितिक्षाभिस्त्रिभिरेतैर्हि जीवसि ।

शल्य ! एक तो मैं मित्र दुर्योधन और राजा धृतराष्ट्र दोनोंके कार्यकी ओर दृष्टि रखता हूँ, दूसरे अपनी निन्दासे डरता हूँ और तीसरे मैंने क्षमा करनेका वचन दिया है—इन्हीं तीन कारणोंसे तुम अबतक जीवित हो ॥ ५३½ ॥

पुनश्चेदीदृशं वाक्यं मद्रराज वदिष्यसि ॥ ५४ ॥
शिरस्ते पातयिष्यामि गदया वज्रकल्पया ।

मद्रराज ! यदि फिर ऐसी बात बोलोगे तो मैं अपनी वज्र-सरीखी गदासे तुम्हारा मस्तक चूर-चूर करके गिरा दूँगा ॥ ५४½ ॥

श्रोतारस्त्विदमद्येह द्रष्टारो वा कुदेशज ॥ ५५ ॥
कर्णं वा जघ्नतुः कृष्णौ कर्णो वा निजघान तौ ।

नीच देशमें उत्पन्न शल्य ! आज यहाँ सुननेवाले सुनेंगे और देखनेवाले देख लेंगे कि 'श्रीकृष्ण और अर्जुनने कर्णको मारा या कर्णने ही उन दोनोंको मार गिराया' ॥ ५५½ ॥

एवमुक्त्वा तु राधेयः पुनरेव विशाम्पते ।
अब्रवीन्मद्रराजानं याहि याहीत्यसम्भ्रमम् ॥ ५६ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा कहकर राधापुत्र कर्णने बिना किसी घबराहटके पुनः मद्रराज शल्यसे कहा—'चलो, चलो'॥५६॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णमद्राधिपसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा शल्यका कर्णको एक हंस और कौएका उपाख्यान सुनाकर उसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए उनकी शरणमें जानेकी सलाह देना

संजय उवाच

मारिषाधिरथेः श्रुत्वा वाचो युद्धाभिनन्दिनः ।
शल्योऽब्रवीत् पुनः कर्णं निदर्शनमिदं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—माननीय नरेश ! युद्धका अभिनन्दन करनेवाले अधिरथपुत्र कर्णकी पूर्वोक्त बात सुनकर फिर शल्यने उससे यह दृष्टान्तयुक्त बात कही—॥ १ ॥

जातोऽहं यज्वनां वंशे संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।
राज्ञां मूर्धाभिषिक्तानां स्वयं धर्मपरायणः ॥ २ ॥

'सूतपुत्र ! मैं युद्धमें पीठ न दिखानेवाले यज्ञपरायण, मूर्धाभिषिक्त नरेशोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और स्वयं भी धर्ममें तत्पर रहता हूँ ॥ २ ॥

यथैव मत्तो मद्येन त्वं तथा लक्ष्यसे वृष ।
तथाद्य त्वां प्रमाद्यन्तं चिकित्सेयं सुहृत्तया ॥ ३ ॥

किंतु वृषभस्वरूप कर्ण ! जैसे कोई मदिरासे मतवाला हो गया हो, उसी प्रकार तुम भी उन्मत्त दिखायी दे रहे हो; अतः मैं हितैषी सुहृद् होनेके नाते तुम-जैसे प्रमत्तकी आज चिकित्सा करूँगा ॥ ३ ॥

इमां काकोपमां कर्ण प्रोच्यमानां निबोध मे ।
श्रुत्वा यथेष्टं कुर्यास्त्वं निहीन कुलपांसन ॥ ४ ॥

ओ नीच कुलाङ्गार कर्ण ! मेरेद्वारा बताये जानेवाले कौएके इस दृष्टान्तको सुनो और सुनकर जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ ४ ॥

नाहमात्मनि किंचिद् वै किल्बिषं कर्ण संस्मरे ।
येन मां त्वं महाबाहो हन्तुमिच्छस्यनागसम् ॥ ५ ॥

महाबाहु कर्ण ! मुझे अपना कोई ऐसा अपराध नहीं याद आता है, जिसके कारण तुम मुझ निरपराधको भी मार डालनेकी इच्छा रखते हो ॥ ५ ॥

अवश्यं तु मया वाच्यं बुद्ध्यता त्वद्धिताहितम् ।
विशेषतो रथस्थेन राज्ञश्चैव हितैषिणा ॥ ६ ॥

मैं राजा दुर्योधनका हितैषी हूँ और विशेषतः रथपर सारथि बनकर बैठा हूँ; इसलिये तुम्हारे हिताहितको जानते हुए मेरा आवश्यक कर्तव्य है कि तुम्हें वह सब बता दूँ ॥६॥

१. युद्धसे पीछे न हटना ही राजा पुरूरवाका उत्तम चरित्र है ।

समं च विषमं चैव रथिनश्च बलाबलम्।
श्रमः खेदश्च सततं हयानां रथिना सह ॥ ७ ॥
आयुधस्य परिज्ञानं रुतं च मृगपक्षिणाम्।
भारश्चाप्यतिभारश्च शल्यानां च प्रतिक्रिया ॥ ८ ॥
अस्त्रयोगश्च युद्धं च निमित्तानि तथैव च।
सर्वमेतन्मया ज्ञेयं रथस्यास्य कुटुम्बिना ॥ ९ ॥
अतस्त्वां कथये कर्ण निदर्शनमिदं पुनः।

सम और विषम अवस्था, रथीकी प्रबलता और निर्बलता, रथीके साथ ही घोड़ोंके सतत परिश्रम और कष्ट, अस्त्र हैं या नहीं, इसकी जानकारी, जय और पराजयकी सूचना देनेवाली पशु-पक्षियोंकी बोली, भार, अतिभार, शल्य-चिकित्सा, अस्त्रप्रयोग, युद्ध और शुभाशुभ निमित्त—इन सारी बातोंका ज्ञान रखना मेरे लिये आवश्यक है; क्योंकि मैं इस रथका एक कुटुम्बी हूँ। कर्ण ! इसीलिये मैं पुनः तुमसे इस दृष्टान्तका वर्णन करता हूँ ॥ ७—९½ ॥

वैश्यः किल समुद्रान्ते प्रभूतधनधान्यवान् ॥ १० ॥
यज्वा दानपतिः क्षान्तः स्वकर्मस्थोऽभवच्छुचिः।
बहुपुत्रः प्रियापत्यः सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ११ ॥
राज्ञो धर्मप्रधानस्य राष्ट्रे वसति निर्भयः।

कहते हैं समुद्रके तटपर किसी धर्मप्रधान राजाके राज्यमें एक प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न वैश्य रहता था। वह यज्ञ-यागादि करनेवाला, दानपति, क्षमाशील, अपने वर्णानुकूल कर्ममें तत्पर, पवित्र, बहुत-से पुत्रवाला, संतानप्रेमी और समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाला था ॥ १०—११½ ॥

पुत्राणां तस्य बालानां कुमाराणां यशस्विनाम् ॥१२॥
काको बहूनामभवदुच्छिष्टकृतभोजनः।

उसके जो बहुत-से अल्पवयस्क यशस्वी पुत्र थे, उन सबकी जूठन खानेवाला एक कौआ भी वहाँ रहा करता था ॥ १२½ ॥

तस्मै सदा प्रयच्छन्ति वैश्यपुत्राः कुमारकाः ॥ १३ ॥
मांसौदनं दधि क्षीरं पायसं मधुसर्पिषी।

वैश्यके बालक उस कौएको सदा मांस, भात, दही, दूध, खीर, मधु और घी आदि दिया करते थे ॥ १३½ ॥

स चोच्छिष्टभृतः काको वैश्यपुत्रैः कुमारकैः ॥ १४ ॥
सदृशान् पक्षिणो दृप्तः श्रेयसश्चाधिचिक्षिपे।

वैश्यके बालकोंद्वारा जूठन खिला-खिलाकर पाला हुआ वह कौआ बड़े घमंडमें भरकर अपने समान तथा अपनेसे श्रेष्ठ पक्षियोंका भी अपमान करने लगा ॥ १४½ ॥

अथ हंसाः समुद्रान्ते कदाचिदतिपातिनः ॥ १५ ॥
गरुडस्य गतौ तुल्याश्चक्राङ्गा हृष्टचेतसः।

एक दिनकी बात है, उस समुद्रके तटपर गरुड़के समान लंबी उड़ानें भरनेवाले मानसरोवरनिवासी राजहंस आये। उनके अङ्गोंमें चक्रके चिह्न थे और वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न थे ॥ १५½ ॥

कुमारकास्तदा हंसान् दृष्ट्वा काकमथाब्रुवन् ॥ १६ ॥
भवानेव विशिष्टो हि पतत्रिभ्यो विहङ्गम।
(एतेऽतिपातिनः पश्य विहङ्गान् वियदाश्रितान्।
एभिस्त्वमपि शक्तो हि कामान्न पतितं त्वया ॥)

उस समय उन हंसोंको देखकर कुमारोंने कौएसे इस प्रकार कहा—'विहङ्गम ! तुम्हीं समस्त पक्षियोंमें श्रेष्ठ हो। देखो, ये आकाशचारी हंस आकाशमें जाकर बड़ी दूरकी उड़ानें भरते हैं। तुम भी इन्हींके समान दूरतक उड़नेमें समर्थ हो। तुमने अपनी इच्छासे ही अबतक वैसी उड़ान नहीं भरी' १६½

प्रतार्यमाणस्तैः सर्वैरल्पबुद्धिभिरण्डजः ॥ १७ ॥
तद्वचः सत्यमित्येव मौर्ख्याद् दर्पाच्च मन्यते।

उन सारे अल्पबुद्धि बालकोंद्वारा ठगा गया वह पक्षी मूर्खता और अभिमानसे उनकी बातको सत्य मानने लगा ॥ १७½ ॥

तान् सोऽभिपत्य जिज्ञासुः क एषां श्रेष्ठभागिति ॥ १८ ॥
उच्छिष्टदर्पितः काको बहूनां दूरपातिनाम्।
तेषां यं प्रवरं मेने हंसानां दूरपातिनाम् ॥ १९ ॥
तमाह्वयत दुर्बुद्धिः पताव इति पक्षिणम्।

फिर वह जूठनपर घमंड करनेवाला कौआ इन हंसोंमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ? यह जाननेकी इच्छासे उड़कर उनके पास गया और दूरतक उड़नेवाले उन बहुसंख्यक हंसोंमेंसे जिस पक्षीको उसने श्रेष्ठ समझा, उसीको उस दुर्बुद्धिने ललकारते हुए कहा—'चलो, हम दोनों उड़ें' ॥ १८ १९½ ॥

तच्छ्रुत्वा प्राहसन् हंसा ये तत्रासन् समागताः ॥२०॥
भाषतो बहु काकस्य बलिनः पततां वराः।
इदमूचुः स्म चक्राङ्गा वचः काकं विहङ्गमाः ॥ २१ ॥

बहुत काँव-काँव करनेवाले उस कौएकी वह बात सुनकर वहाँ आये हुए वे पक्षियोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी बलवान् चक्राङ्ग हँस पड़े और कौएसे इस प्रकार बोले ॥ २०-२१ ॥

हंसा ऊचुः

वयं हंसाश्चरामेमां पृथिवीं मानसौकसः।
पक्षिणां च वयं नित्यं दूरपातेन पूजिताः ॥ २२ ॥

हंसोंने कहा—काक ! हम मानसरोवरनिवासी हंस हैं, जो सदा इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। दूरतक उड़नेके कारण हमलोग सदा सभी पक्षियोंमें सम्मानित होते आये हैं॥

कथं हंसं नु बलिनं चक्राङ्गं दूरपातिनम्।
काको भूत्वा निपतने समाह्वयसि दुर्मते ॥ २३ ॥
कथं त्वं पतिता काक सहास्माभिर्ब्रवीहि तत्।

ओ खोटी बुद्धिवाले काग ! तू कौआ होकर लंबी उड़ान भरनेवाले और अपने अङ्गोंमें चक्रका चिह्न धारण करनेवाले

एक बलवान् हंसको अपने साथ उड़नेके लिये कैसे ललकार रहा है ? काग ! बता तो सही, तू हमारे साथ किस प्रकार उड़ेगा ?॥ २३½ ॥

अथ हंसवचो मूढः कुत्सयित्वा पुनः पुनः ।
प्रजगादोत्तरं काकः कत्थनो जातिलाघवात् ॥ २४ ॥

हंसकी बात सुनकर बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाले मूर्ख कौएने अपनी जातिगत क्षुद्रताके कारण बारंबार उसकी निन्दा करके उसे इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २४ ॥

काक उवाच

शतमेकं च पातानां पतितास्मि न संशयः ।
शतयोजनमेकैकं विचित्रं विविधं तथा ॥ २५ ॥

कौआ बोला—हंस ! मैं एक सौ एक प्रकारकी उड़ानें उड़ सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है। उनमेंसे प्रत्येक उड़ान सौ-सौ योजनकी होती है और वे सभी विभिन्न प्रकारकी एवं विचित्र हैं ॥ २५ ॥

उड्डीनमवडीनं च प्रडीनं डीनमेव च ।
निडीनमथ संडीनं तिर्यग्डीनगतानि च ॥ २६ ॥
विडीनं परिडीनं च पराडीनं सुडीनकम् ।
अभिडीनं महाडीनं निर्डीनमतिडीनकम् ॥ २७ ॥
अवडीनं प्रडीनं च संडीनं डीनडीनकम् ।
संडीनोड्डीनडीनं च पुनर्डीनविडीनकम् ॥ २८ ॥
सम्पातं समुदीषं च ततोऽन्यद् व्यतिरिक्तकम् ।
गतागतप्रतिगतं बह्वीश्च निकुलीनकाः ॥ २९ ॥

उनमेंसे कुछ उड़ानोंके नाम इस प्रकार हैं—उड्डीन (ऊँचा उड़ना), अवडीन (नीचा उड़ना),प्रडीन (चारों ओर उड़ना), डीन (साधारण उड़ना), निडीन (धीरे-धीरे उड़ना), संडीन (ललित गतिसे उड़ना), तिर्यग्डीन (तिरछा उड़ना), विडीन (दूसरोंकी चालकी नकल करते हुए उड़ना), परिडीन (सब ओर उड़ना), पराडीन (पीछेकी ओर उड़ना), सुडीन (स्वर्गकी ओर उड़ना), अभिडीन (सामनेकी ओर उड़ना), महाडीन (बहुत वेगसे उड़ना), निर्डीन (परोंको हिलाये बिना ही उड़ना), अतिडीन (प्रचण्डतासे उड़ना); संडीन डीन-डीन (सुन्दर गतिसे आरम्भ करके फिर चक्कर काटकर नीचेकी ओर उड़ना), संडीनोड्डीनडीन (सुन्दर गतिसे आरम्भ करके फिर चक्कर काटकर ऊँचा उड़ना), डीनविडीन (एक प्रकारकी उड़ानमें दूसरी उड़ान दिखाना), सम्पात (क्षणभर सुन्दरतासे उड़कर फिर पंख फड़फड़ाना), समुदीष (कभी ऊपरकी ओर और कभी नीचेकी ओर उड़ना)और व्यतिरिक्तक (किसी लक्ष्यका संकल्प करके उड़ना);—ये छब्बीस उड़ानें हैं। इनमेंसे महाडीनके सिवा अन्य सब उड़ानोंके 'गत' (किसी लक्ष्य की ओर जाना), 'आगत' (लक्ष्यतक पहुँचकर लौट आना) और 'प्रतिगत (पलटा खाना)-ये तीन भेद हैं (इस प्रकार कुल छिहत्तर भेद हुए)। इसके सिवा बहुत-से (अर्थात् पचीस) निपात भी हैं।* (ये सब मिलकर एक सौ एक उड़ानें होती हैं) ॥ २६-२९ ॥

कर्तास्मि मिषतां वोऽद्य ततो द्रक्ष्यथ मे बलम् ।
तेषामन्यतमेनाहं पतिष्यामि विहायसम् ॥ ३० ॥
प्रदिशध्वं यथान्यायं केन हंसाः पताम्यहम् ।

आज मैं तुमलोगोंके देखते-देखते जब इतनी उड़ानें भरूँगा, उस समय मेरा बल तुम देखोगे। मैं इनमेंसे किसी भी उड़ानसे आकाशमें उड़ सकूँगा। हंसो ! तुमलोग यथोचितरूपसे विचार करके बताओ कि 'मैं किस उड़ानसे उड़ूँ?'।३०½।

ते वै ध्रुवं विनिश्चित्य पतध्वं न मया सह ॥ ३१ ॥
पातैरेभिः खलु खगाः पतितुं खे निराश्रये ।

अतः पक्षियो ! तुम सब लोग दृढ़ निश्चय करके आश्रयरहित आकाशमें इन विभिन्न उड़ानोंद्वारा उड़नेके लिये मेरे साथ चलो न ॥ ३१½ ॥

एवमुक्ते तु काकेन प्रहस्यैको विहंगमः ॥ ३२ ॥
उवाच काकं राधेय वचनं तन्निबोध मे ।

राधापुत्र ! कौएके ऐसा कहनेपर एक आकाशचारी हंसने हँसकर उससे जो कुछ कहा, वह मुझसे सुनो ॥३२½॥

हंस उवाच

शतमेकं च पातानां त्वं काक पतिता ध्रुवम् ॥ ३३ ॥
एकमेव तु यं पातं विदुः सर्वे विहंगमाः ।
तमहं पतिता काक नान्यं जानामि कञ्चन ॥ ३४ ॥
पत त्वमपि ताम्राक्ष येन पातेन मन्यसे ।

हंस बोला—काग ! तू अवश्य एक सौ एक उड़ानोंद्वारा उड़ सकता है। परंतु मैं तो जिस एक उड़ानको सारे पक्षी जानते हैं उसीसे उड़ सकता हूँ, दूसरी किसी उड़ानका मुझे पता नहीं है। लाल नेत्रवाले कौए ! तू भी जिस उड़ानसे उचित समझे, उसीसे उड़ ॥ ३३-३४½ ॥

अथ काकाः प्रजहसुर्ये तत्रासन् समागताः ॥ ३५ ॥
कथमेकेन पातेन हंसः पातशतं जयेत् ।
एकेनैव शतस्यैष पातेनाभिभविष्यति ॥ ३६ ॥
हंसस्य पतितं काको बलवानाशुविक्रमः ।

तब वहाँ आये हुए सारे कौए जोर-जोरसे हँसने लगे और आपसमें बोले—'भला यह हंस एक ही उड़ानसे सौ प्रकारकी उड़ानोंको कैसे जीत सकता है ? यह कौआ बलवान् और शीघ्रतापूर्वक उड़नेवाला है; अतः सौमेंसे एक ही

* महाडीनके सिवा, जो अन्य पचीस उड़ानें कही गयी हैं, उन सबका पृथक्-पृथक् एक-एक संपात (पंख फड़फड़ानेकी क्रिया) भी है. ये पचीस संपात जोड़नेसे एक सौ एक संख्याकी पूर्ति होती है।

उड़ानद्वारा हंसकी उड़ानको पराजित कर देगा' ॥ ३५-३६½

प्रपेततुः स्पर्धया च ततस्तौ हंसवायसौ ॥ ३७ ॥
एकपाती च चक्राङ्गः काकः पातशतेन च ।
पेतिवानथ चक्राङ्गः पेतिवानथ वायसः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर हंस और कौआ दोनों होड़ लगाकर उड़े । चक्राङ्ग हंस एक ही गतिसे उड़नेवाला था और कौआ सौ उड़ानोंसे । इधरसे चक्राङ्ग उड़ा और उधरसे कौआ ३७-३८

विसिस्मापयिषुः पातैराचक्षाणोऽऽत्मनः क्रियाः ।
अथ काकस्य चित्राणि पतितानि मुहुर्मुहुः ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वा प्रमुदिताः काका विनेदुरधिकैः स्वरैः ।

कौआ विभिन्न उड़ानोंद्वारा दर्शकोंको आश्चर्यचकित करनेकी इच्छासे अपने कार्योंका बखान करता जा रहा था । उस समय कौएकी विचित्र उड़ानोंको बारंबार देखकर दूसरे कौए बड़े प्रसन्न हुए और जोर-जोरसे काँव-काँव करने लगे ॥ ३९½ ॥

हंसांश्चावहसन्ति स्म प्रावदन्नप्रियाणि च ॥ ४० ॥
उत्पत्योत्पत्य च मुहुर्मुहूर्तमिति चेति च ।
वृक्षाग्रेभ्यः स्थलेभ्यश्च निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ ४१ ॥
कुर्वाणा विविधान् रावानाशंसन्तो जयं तथा ।

वे दो-दो घड़ीपर बारंबार उड़-उड़कर कहते—'देखो, कौएकी यह उड़ान, वह उड़ान' । ऐसा कहकर वे हंसोंका उपहास करते और उन्हें कटु वचन सुनाते थे । साथ ही कौएकी विजयके लिये शुभाशंसा करते और भाँति-भाँतिकी बोली बोलते हुए वे कभी वृक्षोंकी शाखाओंसे भूतलपर और कभी भूतलसे वृक्षोंकी शाखाओंपर नीचे-ऊपर उड़ते रहते थे ॥ ४०-४१½ ॥

हंसस्तु मृदुनैकेन विक्रान्तुमुपचक्रमे ॥ ४२ ॥
प्रत्यहीयत काकाच्च मुहूर्तमिव मारिष ।

आर्य ! हंसने एक ही मृदुल गतिसे उड़ना आरम्भ किया था; अतः दो घड़ीतक वह कौएसे हारता-सा प्रतीत हुआ ॥ ४२½ ॥

अवमन्य च हंसांस्तानिदं वचनमब्रुवन् ॥ ४३ ॥
योऽसावुत्पतितो हंसः सोऽसावेवं प्रहीयते ।

तब कौओंने हंसोंका अपमान करके इस प्रकार कहा—'वह जो हंस उड़ा था, वह तो इस प्रकार कौएसे पिछड़ता जा रहा है !' ॥ ४३½ ॥

अथ हंसः स तच्छ्रुत्वा प्रापतत् पश्चिमां दिशम्॥४४॥
उपर्युपरि वेगेन सागरं मकरालयम् ।

उड़नेवाले हंसने कौओंकी वह बात सुनकर बड़े वेगसे मकरालय समुद्रके ऊपर-ऊपर पश्चिम दिशाकी ओर उड़ना आरम्भ किया ॥ ४४½ ॥

ततो भीः प्राविशत् काकं तदा तत्र विचेतसम्॥४५ ॥
द्वीपद्रुमानपश्यन्तं निपातार्थे श्रमान्वितम् ।

इधर कौआ थक गया था । उसे कहीं आश्रय लेनेके लिये द्वीप या वृक्ष नहीं दिखायी दे रहे थे; अतः उसके मनमें भय समा गया और वह घबराकर अचेत-सा हो उठा॥४५½

निपतेयं क्व नु श्रान्त इति तस्मिञ्जलार्णवे ॥ ४६ ॥
अविषह्यः समुद्रो हि बहुसत्त्वगणालयः ।
महासत्त्वशतोद्भासी नभसोऽपि विशिष्यते ॥ ४७ ॥

कौआ सोचने लगा, 'मैं थक जानेपर इस जल-राशिमें कहाँ उतरूँगा ? बहुत-से जल-जन्तुओंका निवासस्थान समुद्र मेरे लिये असह्य है । असंख्य महाप्राणियोंसे उद्भासित होनेवाला यह महासागर तो आकाशसे भी बढ़कर है' ४६-४७

गाम्भीर्याद्धि समुद्रस्य न विशेषं हि सूतज ।
दिगम्बराम्भसः कर्ण समुद्रस्था विदुर्जनाः ॥ ४८ ॥
विदूरपातात् तोयस्य किं पुनः कर्ण वायसः ।

सूतपुत्र कर्ण ! समुद्रमें विचरनेवाले मनुष्य भी उसकी गम्भीरताके कारण दिशाओंद्वारा आवृत उसकी जलराशिकी थाह नहीं जान पाते, फिर वह कौआ कुछ दूरतक उड़ने मात्रसे उस समुद्रके जलसमूहका पार कैसे पा सकता था ?४८½

अथ हंसोऽप्यतिक्रम्य मुहूर्तमिति चेति च ॥ ४९ ॥
अवेक्षमाणस्तं काकं नाशकद् व्यपसर्पितुम् ।

उधर हंस दो घड़ीतक उड़कर इधर-उधर देखता हुआ कौएकी प्रतीक्षामें आगे न जा सका ॥४९½ ॥

अतिक्रम्य च चक्राङ्गः काकं तं समुदैक्षत ॥ ५० ॥
यावद् गत्वा पतत्येष काको मामिति चिन्तयन् ।

चक्राङ्ग कौएको लाँघकर आगे बढ़ चुका था तो भी यह सोचकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा कि यह कौआ भी उड़कर मेरे पास आ जाय ॥ ५०½ ॥

ततः काको भृशं श्रान्तो हंसमभ्यागमत्तदा ॥ ५१ ॥
तं तथा हीयमानं तु हंसो दृष्ट्वाब्रवीदिदम् ।
उज्जिहीर्षुर्निमज्जन्तं स्मरन् सत्पुरुषव्रतम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर उस समय अत्यन्त थका-मादा कौआ हंसके समीप आया । हंसने देखा, कौएकी दशा बड़ी शोचनीय हो गयी है । अब यह पानीमें डूबनेहीवाला है । तब उसने सत्पुरुषोंके व्रतका स्मरण करके उसके उद्धारकी इच्छा मन-में लेकर इस प्रकार कहा ॥ ५१-५२ ॥

हंस उवाच

बहूनि पतितानि त्वमाचक्षाणो मुहुर्मुहुः ।
पातस्य व्याहरंश्चेदं न नो गुह्यं प्रभाषसे ॥ ५३ ॥

हंस बोला—काग ! तू तो बारंबार अपनी बहुत-सी उड़ानोंका बखान कर रहा था; परंतु उन उड़ानोंका वर्णन करते समय उनमेंसे इस गोपनीय रहस्ययुक्त उड़ानकी बात तो तूने नहीं बतायी थी ॥ ५३ ॥

शल्य कर्णको हंस और कौएका उपाख्यान सुनाकर अपमानित कर रहे हैं

किं नाम पतितं काक यत्त्वं पतसि साम्प्रतम्।
जलं स्पृशसि पक्षाभ्यां तुण्डेन च पुनः पुनः॥ ५४॥

कौए! बता तो सही, तू इस समय जिस उड़ानसे उड़ रहा है, उसका क्या नाम है? इस उड़ानमें तो तू अपने दोनों पंखों और चोंचके द्वारा जलका बार-बार स्पर्श करने लगा है॥ ५४॥

प्रब्रूहि कतमे तत्र पाते वर्तसि वायस।
एह्येहि काक शीघ्रं त्वमेष त्वां प्रतिपालये॥ ५५॥

वायस! बता, बता! इस समय तू कौन-सी उड़ानमें स्थित है। कौए! आ, शीघ्र आ! मैं अभी तेरी रक्षा करता हूँ॥ ५५॥

शल्य उवाच

स पक्षाभ्यां स्पृशन्नार्तस्तुण्डेन च जलं तदा।
दृष्टो हंसेन दुष्टात्मन्निदं हंसं ततोऽब्रवीत्॥ ५६॥
अपश्यन्नम्भसः पारं निपतंश्च श्रमान्वितः।
पातवेगप्रमथितो हंसं काकोऽब्रवीदिदम्॥ ५७॥

शल्य कहते हैं— दुष्टात्मा कर्ण! वह कौआ अत्यन्त पीड़ित हो जब अपनी दोनों पाँखों और चोंचसे जलका स्पर्श करने लगा, उस अवस्थामें हंसने उसे देखा। वह उड़ानके वेगसे थककर शिथिलांग हो गया था और जलका कहीं आर-पार न देखकर नीचे गिरता जा रहा था। उस समय उसने हंससे इस प्रकार कहा—॥ ५६-५७॥

वयं काकाः कुतो नाम चरामः काकवाशिकाः।
हंस प्राणैः प्रपद्ये त्वामुदकान्तं नयस्व माम्॥ ५८॥

'भाई हंस! हम तो कौए हैं। व्यर्थ काँव-काँव किया करते हैं। हम उड़ना क्या जानें? मैं अपने इन प्राणोंके साथ तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम मुझे जलके किनारे तक पहुँचा दो'॥ ५८॥

स पक्षाभ्यां स्पृशन्नार्तस्तुण्डेन च महार्णवे।
काको दृढपरिश्रान्तः सहसा निपपात ह॥ ५९॥

ऐसा कहकर अत्यन्त थका-मादा कौआ दोनों पाँखों और चोंचसे जलका स्पर्श करता हुआ सहसा उस महासागरमें गिर पड़ा। उस समय उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी॥५९॥

सागराम्भसि तं दृष्ट्वा पतितं दीनचेतसम्।
म्रियमाणमिदं काकं हंसो वाक्यमुवाच ह॥ ६०॥

समुद्रके जलमें गिरकर अत्यन्त दीनचित्त हो मृत्युके निकट पहुँचे हुए उस कौएसे हंसने इस प्रकार कहा—॥६०॥

शतमेकं च पातानां पताम्यहमनुस्मर।
श्लाघमानस्त्वमात्मानं काक भाषितवानसि॥ ६१॥

'काग! तूने अपनी प्रशंसा करते हुए कहा था कि मैं एक सौ एक उड़ानोंद्वारा उड़ सकता हूँ। अब उन्हें याद कर॥ ६१॥

स त्वमेकशतं पातं पतन्नभ्यधिको मया।
कथमेवं परिश्रान्तः पतितोऽसि महार्णवे॥ ६२॥

'सौ उड़ानोंसे उड़नेवाला तू तो मुझसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। फिर इस प्रकार थककर महासागरमें कैसे गिर पड़ा?'॥

प्रत्युवाच ततः काकः सीदमान इदं वचः।
उपरिष्टं तदा हंसमभिवीक्ष्य प्रसादयन्॥ ६३॥

तब जलमें अत्यन्त कष्ट पाते हुए कौएने जलके ऊपर ठहरे हुए हंसकी ओर देखकर उसे प्रसन्न करनेके लिये कहा॥ ६३॥

काक उवाच

उच्छिष्टदर्पितो हंस मन्येऽऽत्मानं सुपर्णवत्।
अवमन्य बहूंश्चाहं काकानन्यांश्च पक्षिणः॥ ६४॥

कौआ बोला—भाई हंस! मैं जूठन खा-खाकर घमंडमें भर गया था और बहुत-से कौओं तथा दूसरे पक्षियोंका तिरस्कार करके अपने आपको गरुड़के समान शक्तिशाली समझने लगा था॥ ६४॥

प्राणैर्हंस प्रपद्ये त्वां द्वीपान्तं प्रापयस्व माम्।
यद्यहं स्वस्तिमान् हंस स्वं देशं प्राप्नुयां प्रभो॥ ६५॥
न कंचिदवमन्येऽहमापदो मां समुद्धर।

हंस! अब मैं अपने प्राणोंके साथ तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम मुझे द्वीपके पास पहुँचा दो। शक्तिशाली हंस! यदि मैं कुशलपूर्वक अपने देशमें पहुँच जाऊँ तो अब कभी किसीका अपमान नहीं करूँगा। तुम इस विपत्तिसे मेरा उद्धार करो॥ ६५½॥

तमेवं वादिनं दीनं विलपन्तमचेतनम्॥ ६६॥
काक काकेति वाशन्तं निमज्जन्तं महार्णवे।
कृपयाऽऽदाय हंसस्तं जलक्लिन्नं सुदुर्दशम्॥ ६७॥
पद्भ्यामुत्क्षिप्य वेगेन पृष्ठमारोपयच्छनैः।

कर्ण! इस प्रकार कहकर कौआ अचेत-सा होकर दीनभावसे विलाप करने और काँव-काँव करते हुए महासागरके जलमें डूबने लगा। उस समय उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वह पानीसे भीग गया था। हंसने कृपापूर्वक उसे पंजोंसे उठाकर बड़े वेगसे ऊपरको उछाला और धीरेसे अपनी पीठपर चढ़ा लिया॥ ६६-६७½॥

आरोप्य पृष्ठं हंसस्तं काकं तूर्णं विचेतनम्॥ ६८॥
आजगाम पुनर्द्वीपं स्पर्धया पेततुर्यतः।

अचेत हुए कौएको पीठपर बिठाकर हंस तुरंत ही फिर उसी द्वीपमें आ पहुँचा, जहाँसे होड़ लगाकर दोनों उड़े थे॥ ६८½॥

संस्थाप्य तं चापि पुनः समाश्वास्य च खेचरम्॥ ६९॥
गतो यथेप्सितं देशं हंसो मन इवाशुगः।

उस कौएको उसके स्थानपर रखकर उसे आश्वासन

दे मनके समान शीघ्रगामी हंस पुनः अपने अभीष्ट देशको चला गया ॥ ६९½ ॥

एवमुच्छिष्टपुष्टः स काको हंसपराजितः ॥ ७० ॥
बलवीर्यमदं कर्ण त्यक्त्वा क्षान्तिमुपागतः ।

कर्ण ! इस प्रकार जूठन खाकर पुष्ट हुआ कौआ उस हंससे पराजित हो अपने महान् बल-पराक्रमका घमंड छोड़कर शान्त हो गया ॥७०½ ॥

उच्छिष्टभोजनः काको यथा वैश्यकुले पुरा ॥ ७१ ॥
एवं त्वमुच्छिष्टभृतो धार्तराष्ट्रैर्न संशयः ।
सदृशाञ्छ्रेयसश्चापि सर्वान् कर्णावमन्यसे॥ ७२ ॥

पूर्वकालमें वह कौआ जैसे वैश्यकुलमें सबकी जूठन खाकर पला था, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्रोंने तुम्हें जूठन खिला-खिलाकर पाला है, इसमें संशय नहीं है। कर्ण ! इसीसे तुम अपने समान तथा अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंका भी अपमान करते हो ॥ ७१-७२ ॥

द्रोणद्रौणिकृपैर्गुप्तो भीष्मेणान्यैश्च कौरवैः ।
विराटनगरे पार्थमेकं किं नावधीस्तदा ॥ ७३ ॥

विराटनगरमें तो द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, भीष्म तथा अन्य कौरव वीर भी तुम्हारी रक्षा कर रहे थे। फिर उस समय तुमने अकेले सामने आये हुए अर्जुनका वध क्यों नहीं कर डाला ? ॥ ७३ ॥

यत्र व्यस्ताः समस्ताश्च निर्जिताः स्थ किरीटिना ।
शृगाला इव सिंहेन क्व ते वीर्यमभूत् तदा ॥ ७४ ॥

वहाँ तो किरीटधारी अर्जुनने अलग-अलग और सब लोगोंसे एक साथ लड़कर भी तुमलोगोंको उसी प्रकार परास्त कर दिया था, जैसे एक ही सिंहने बहुत-से सियारोंको मार भगाया हो । कर्ण ! उस समय तुम्हारा पराक्रम कहाँ था ? ॥ ७४ ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा समरे सव्यसाचिना ।
पश्यतां कुरुवीराणां प्रथमं त्वं पलायितः ॥ ७५ ॥

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा समराङ्गणमें अपने भाईको मारा गया देखकर कौरव वीरोंके समक्ष सबसे पहले तुम्हीं भागे थे ॥ ७५ ॥

तथा द्वैतवने कर्ण गन्धर्वैः समभिद्रुतः ।
कुरून् समग्रानुत्सृज्य प्रथमं त्वं पलायितः ॥ ७६ ॥

कर्ण ! इसी प्रकार जब द्वैतवनमें गन्धर्वोंने आक्रमण किया था, उस समय समस्त कौरवोंको छोड़कर पहले तुमने ही पीठ दिखायी थी ॥ ७६ ॥

हत्वा जित्वा च गन्धर्वांश्चित्रसेनमुखान् रणे ।
कर्ण दुर्योधनं पार्थः सभार्यं सममोक्षयत् ॥ ७७ ॥

कर्ण ! वहाँ कुन्तीकुमार अर्जुनने ही रणभूमिमें चित्रसेन आदि गन्धर्वोंको मार-पीटकर उनपर विजय पायी थी और स्त्रियोंसहित दुर्योधनको उनकी कैदसे छुड़ाया था ॥ ७७ ॥

पुनः प्रभावः पार्थस्य पौराणः केशवस्य च ।
कथितः कर्ण रामेण सभायां राजसंसदि ॥ ७८ ॥

कर्ण ! पुनः तुम्हारे गुरु परशुरामजीने भी उस दिन राजसभामें अर्जुन और श्रीकृष्णके पुरातन प्रभावका वर्णन किया था ॥ ७८ ॥

सततं च त्वमश्रौषीर्वचनं द्रोणभीष्मयोः ।
अवध्यौ वदतः कृष्णौ संनिधौ च महीक्षिताम् ॥ ७९ ॥

तुमने समस्त भूपालोंके समीप द्रोणाचार्य और भीष्मकी कही हुई बातें सदा सुनी हैं । वे दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुनको अवध्य बताया करते थे ॥ ७९ ॥

कियत् तत् तत् प्रवक्ष्यामि येन येन धनंजयः ।
त्वत्तोऽतिरिक्तः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ब्राह्मणो यथा॥ ८० ॥

मैं कहाँतक गिन-गिनकर बताऊँ कि किन-किन गुणोंके कारण अर्जुन तुमसे बढ़े-चढ़े हैं। जैसे ब्राह्मण समस्त प्राणियोंसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार अर्जुन तुमसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८० ॥

इदानीमेव द्रष्टासि प्रधाने स्यन्दने स्थितौ ।
पुत्रं च वसुदेवस्य कुन्तीपुत्रं च पाण्डवम् ॥ ८१ ॥

तुम इसी समय प्रधान रथपर बैठे हुए वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण तथा कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र अर्जुनको देखोगे ॥८१॥

यथाश्रयत चक्राङ्गं वायसो बुद्धिमास्थितः ।
तथाश्रयस्व वार्ष्णेयं पाण्डवं च धनंजयम् ॥ ८२ ॥

जैसे कौआ उत्तम बुद्धिका आश्रय लेकर चक्राङ्गकी शरणमें गया था, उसी प्रकार तुम भी वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनकी शरण लो ॥ ८२ ॥

यदा त्वं युधि विक्रान्तौ वासुदेवधनंजयौ ।
द्रष्टास्येकरथे कर्ण तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ८३ ॥

कर्ण ! जब तुम युद्धस्थलमें पराक्रमी श्रीकृष्ण और अर्जुनको एक रथपर बैठे देखोगे, तब ऐसी बातें नहीं बोल सकोगे ॥ ८३ ॥

यदा शरशतैः पार्थो दर्पं तव वधिष्यति ।
तदा त्वमन्तरं द्रष्टा आत्मनश्चार्जुनस्य च ॥ ८४ ॥

जब अर्जुन अपने सैकड़ों बाणोंद्वारा तुम्हारा घमंड चूर-चूर कर देंगे, तब तुम स्वयं ही देख लोगे कि तुममें और अर्जुनमें कितना अन्तर है ? ॥ ८४ ॥

देवासुरमनुष्येषु प्रख्यातौ यौ नरोत्तमौ ।
तौ मावमंस्था मौर्ख्यात् त्वं खद्योत इव रोचनौ ॥८५॥

जैसे जुगनू प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमाका तिरस्कार करे, उसी प्रकार तुम देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें भी विख्यात उन दोनों नरश्रेष्ठ वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनका मूर्खतावश अपमान न करो ॥ ८५ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ यद्वत् तद्वदर्जुनकेशवौ ।
प्राकाश्येनाभिविख्यातौ त्वं तु खद्योतवन्नृषु॥ ८६ ॥

जैसे सूर्य और चन्द्रमा हैं, वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। ये दोनों अपने तेजसे सर्वत्र विख्यात हैं; परंतु तुम तो मनुष्योंमें जुगनूके ही समान हो ॥ ८६ ॥

एवं विद्वान् मावमंस्थाः सूतपुत्राच्युतार्जुनौ ।
नृसिंहौ तौ महात्मानौ जोषमास्स्व विकत्थने ॥ ८७ ॥

सूतपुत्र ! तुम महात्मा पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको ऐसा जानकर उनका अपमान न करो। बढ़-बढ़कर बातें बनाना बंद करके चुपचाप बैठे रहो ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे हंसकाकीयोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण-शल्य-संवादके अन्तर्गत हंसकाकीयोपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८८ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णका श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रभावको स्वीकार करते हुए अभिमानपूर्वक शल्यको फटकारना और उनसे अपनेको परशुरामजीद्वारा और ब्राह्मणद्वारा प्राप्त हुए शापोंकी कथा सुनाना

संजय उवाच

मद्राधिपस्याधिरथिर्महात्मा
वचो निशम्याप्रियमप्रतीतः ।
उवाच शल्यं विदितं ममैतद्
यथाविधावर्जुनवासुदेवौ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! मद्रराज शल्यकी ये अप्रिय बातें सुनकर महामनस्वी अधिरथपुत्र कर्णने असंतुष्ट होकर उनसे कहा—'शल्य ! अर्जुन और श्रीकृष्ण कैसे हैं, यह बात मुझे अच्छी तरह ज्ञात है ॥ १ ॥

शौरे रथं वाहयतोऽर्जुनस्य
बलं महास्त्राणि च पाण्डवस्य ।
अहं विजानामि यथावदद्य
परोक्षभूतं तव तत् तु शल्य ॥ २ ॥

'मद्रराज ! अर्जुनका रथ हाँकनेवाले श्रीकृष्णके बल और पाण्डुपुत्र अर्जुनके महान् दिव्यास्त्रोंको इस समय मैं भलीभाँति जानता हूँ। तुम स्वयं उनसे अपरिचित हो ॥ २ ॥

तौ चाप्यहं शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
व्यपेतभीर्योधयिष्यामि कृष्णौ ।
संतापयत्यभ्यधिकं तु रामा-
च्छापोऽद्य मां ब्राह्मणसत्तमाच्च ॥ ३ ॥

'वे दोनों कृष्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तो भी मैं उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करूँगा। परंतु परशुरामजीसे तथा एक ब्राह्मणशिरोमणिसे मुझे जो शाप प्राप्त हुआ है, वह आज मुझे अधिक संताप दे रहा है ॥ ३ ॥

अवसं वै ब्राह्मणच्छद्मनाहं
रामे पुरा दिव्यमस्त्रं चिकीर्षुः ।
तत्रापि मे देवराजेन विघ्नो
हितार्थिना फाल्गुनस्यैव शल्य ॥ ४ ॥

कृतो विभेदेन ममोरुमेत्य
प्रविश्य कीटस्य तनुं विरूपाम् ।
ममोरुमेत्य प्रबिभेद कीटः
सुप्ते गुरौ तत्र शिरो निधाय ॥ ५ ॥

'पूर्वकालकी बात है, मैं दिव्य अस्त्रोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्राह्मणका वेष बनाकर परशुरामजीके पास रहता था। शल्य ! वहाँ भी अर्जुनका ही हित चाहनेवाले देवराज इन्द्रने मेरे कार्यमें विघ्न उपस्थित कर दिया था। एक दिन गुरुदेव मेरी जाँघपर अपना मस्तक रखकर सो गये थे। उस समय इन्द्रने एक कीड़ेके भयङ्कर शरीरमें प्रवेश करके मेरी जाँघके पास आकर उसे काट लिया; काटकर उसमें भारी घाव कर दिया और इस कार्यके द्वारा इन्होंने मेरे मनोरथमें विघ्न डाल दिया ॥ ४–५ ॥

ऊरुप्रभेदाच्च महान् बभूव
शरीरतो मे घनशोणितौघः ।
गुरोर्भयाच्चापि न चेलिवानहं
ततो विबुद्धो ददृशे स विप्रः ॥ ६ ॥

'जाँघमें घाव हो जानेके कारण मेरे शरीरसे गाढ़े रक्तका महान् प्रवाह बह चला; परंतु गुरुके जागनेके भयसे मैं तनिक भी विचलित नहीं हुआ। तत्पश्चात् जब गुरुजी जागे, तब उन्होंने यह सब कुछ देखा ॥ ६ ॥

स धैर्ययुक्तं प्रसमीक्ष्य मां वै
न त्वं विप्रः कोऽसि सत्यं वदेति ।
तस्मै तदाऽऽत्मानमहं यथाव-
दाख्यातवान् सूत इत्येव शल्य ॥ ७ ॥

'शल्य ! उन्होंने मुझे ऐसे धैर्यसे युक्त देखकर पूछा—'अरे ! तू ब्राह्मण तो है नहीं; फिर कौन है ? सच-सच बता दे।' तब मैंने उनसे अपना यथार्थ परिचय देते हुए इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं सूत हूँ' ॥ ७ ॥

स मां निशम्याथ महातपस्वी
संशप्तवान् रोषपरीतचेताः ।
सूतोपधावाप्तमिदं तवास्त्रं
न कर्मकाले प्रतिभास्यति त्वाम् ॥ ८ ॥

'तदनन्तर मेरा वृत्तान्त सुनकर महातपस्वी परशुरामजीके मनमें मेरे प्रति अत्यन्त रोष भर गया और उन्होंने मुझे शाप देते हुए कहा—'सूत ! तूने छल करके यह ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया

है । इसलिये काम पड़नेपर तेरा यह अस्त्र तुझे याद न आयेगा ॥ ८ ॥

अन्यत्र तस्मात् तव मृत्युकाला-
द्ब्राह्मणे ब्रह्म न हि ध्रुवं स्यात् ।
तदद्य पर्याप्तमतीव चास्त्र-
मस्मिन् संग्रामे तुमुलेऽतीव भीमे ॥ ९ ॥

'तेरी मृत्युके समयको छोड़कर अन्य अवसरोंपर ही यह अस्त्र तेरे काम आ सकता है; क्योंकि ब्राह्मणेतर मनुष्यमें यह ब्रह्मास्त्र सदा स्थिर नहीं रह सकता।' वह अस्त्र आज इस अत्यन्त भयङ्कर तुमुल संग्राममें पर्याप्त काम दे सकता है ॥ ९ ॥

योऽयं शल्य भरतेषूपपन्नः
प्रकर्षणः सर्वहरोऽतिभीमः ।
सोऽभिमन्ये क्षत्रियाणां प्रवीरान्
प्रतापिता बलवान् वै विमर्दः ॥ १० ॥

'शल्य ! वीरोंको आकृष्ट करनेवाला, सर्वसंहारक और अत्यन्त भयङ्कर जो यह प्रबल संग्राम भरतवंशी क्षत्रियोंपर आ पड़ा है; वह क्षत्रिय-जातिके प्रधान-प्रधान वीरोंको निश्चय ही संतप्त करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १० ॥

शल्योग्रधन्वानमहं वरिष्ठं
तरस्विनं भीममसह्यवीर्यम् ।
सत्यप्रतिज्ञं युधि पाण्डवेयं
धनंजयं मृत्युमुखं नयिष्ये ॥ ११ ॥

'शल्य ! आज मैं युद्धमें भयङ्कर धनुष धारण करनेवाले सर्वश्रेष्ठ, वेगवान्, भयङ्कर, असह्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ पाण्डुपुत्र अर्जुनको मौतके मुखमें भेज दूँगा ॥ ११ ॥

अस्त्रं ततोऽन्यत् प्रतिपन्नमद्य
येन क्षेप्स्ये समरे शत्रुपूगान् ।
प्रतापिनं बलवन्तं कृतास्त्रं
तमुग्रधन्वानममितौजसं च ॥ १२ ॥
क्रूरं शूरं रौद्रममित्रसाहं
धनंजयं संयुगेऽहं हनिष्ये ।

'उस ब्रह्मास्त्रसे भिन्न एक दूसरा अस्त्र भी मुझे प्राप्त है, जिससे आज समराङ्गणमें मैं शत्रुसमूहोंको मार भगाऊँगा तथा उन भयङ्कर धनुर्धर, अमिततेजस्वी, प्रतापी, बलवान्, अस्त्रवेत्ता, क्रूर, शूर, रौद्ररूपधारी तथा शत्रुओंका वेग सहन करनेमें समर्थ अर्जुनको भी युद्धमें मार डालूँगा ॥ १२½ ॥

अपां पतिर्वेगवानप्रमेयो
निमज्जयिष्यन् बहुलाः प्रजाश्च ॥ १३ ॥
महावेगं संकुरुते समुद्रो
वेला चैनं धारयत्यप्रमेयम् ।

'जलका स्वामी, वेगवान् और अप्रमेय समुद्र बहुत लोगोंको निमग्न कर देनेके लिये अपना महान् वेग प्रकट करता है; परंतु तटकी भूमि उस अनन्त महासागरको भी रोक लेती है ॥ १३½ ॥

प्रमुञ्चन्तं बाणसंघानमेयान्
मर्मच्छिदो वीरहणः सुपत्रान् ॥ १४ ॥
कुन्तीपुत्रं यत्र योत्स्यामि युद्धे
ज्यां कर्षतामुत्तममद्य लोके ।

'उसी प्रकार मैं भी मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाले, सुन्दर पंखोंसे युक्त, असंख्य, वीरविनाशक बाणसमूहोंका प्रयोग करनेवाले उन कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ रणभूमिमें युद्ध करूँगा, जो इस जगत्के भीतर प्रत्यञ्चा खींचनेवाले वीरोंमें सबसे उत्तम हैं ॥ १४½ ॥

एवं बलेनातिबलं महास्त्रं
समुद्रकल्पं सुदुरापमुग्रम् ॥ १५ ॥
शरौघिणं पार्थिवान् मज्जयन्तं
वेलेव पार्थमिषुभिः संसहिष्ये ।

'कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त बलशाली, महान् अस्त्रधारी, समुद्रके समान दुर्लङ्घ्य, भयङ्कर, बाणसमूहोंकी धारा बहानेवाले और बहुसंख्यक भूपालोंको डुबो देनेवाले हैं; तथापि मैं समुद्रको रोकनेवाली तट-भूमिके समान अपने बाणोंद्वारा अर्जुनको बलपूर्वक रोकूँगा और उनका वेग सहन करूँगा ॥ १५½ ॥

अद्याहवे यस्य न तुल्यमन्यं
मन्ये मनुष्यं धनुराददानम् ॥ १६ ॥
सुरासुरान् युधि वै यो जयेत
तेनाद्य मे पश्य युद्धं सुघोरम् ।

'आज मैं युद्धमें जिनके समान इस समय किसी दूसरे मनुष्यको नहीं मानता, जो हाथमें धनुष लेकर रणभूमिमें देवताओं और असुरोंको भी परास्त कर सकते हैं, उन्हीं वीर अर्जुनके साथ आज मेरा अत्यन्त घोर युद्ध होगा; उसे तुम देखना ॥ १६½ ॥

अतीव मानी पाण्डवो युद्धकामो
ह्यमानुषैरेष्यति मे महास्त्रैः ॥ १७ ॥
तस्यास्त्रमस्त्रैः प्रतिहत्य संख्ये
बाणोत्तमैः पातयिष्यामि पार्थम् ।

'अत्यन्त मानी पाण्डुपुत्र अर्जुन युद्धकी इच्छासे महान् दिव्यास्त्रोंद्वारा मेरे सामने आयेंगे। उस समय मैं अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रका निवारण करके युद्धस्थलमें उत्तम बाणोंसे कुन्तीकुमार अर्जुनको मार गिराऊँगा ॥ १७½ ॥

सहस्ररश्मिप्रतिमं ज्वलन्तं
दिशश्च सर्वाः प्रतपन्तमुग्रम् ॥ १८ ॥
तमोनुदं मेघ इवातिमात्रं
धनंजयं छादयिष्यामि बाणैः ।

'सहस्रों किरणोंवाले सूर्यके सदृश प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंको ताप देते हुए भयङ्कर वीर अर्जुनको मैं अपने बाणोंद्वारा उसी प्रकार अत्यन्त आच्छादित कर दूँगा, जैसे मेघ अन्धकारनाशक सूर्यदेवको ढक देता है ॥ १८½ ॥

वैश्वानरं धूमशिखं ज्वलन्तं
तेजस्विनं लोकमिदं दहन्तम् ॥ १९ ॥
पर्जन्यभूतः शरवर्षैर्यथाग्निं
तथा पार्थं शमयिष्यामि युद्धे ।

'जैसे प्रलयकालका मेघ इस जगत्को दग्ध करनेवाले तेजस्वी एवं प्रज्वलित धूममयी शिखावाले संवर्तक अग्निको बुझा देता है, उसी प्रकार मैं मेघ बनकर बाणोंकी वर्षाद्वारा युद्धमें अग्निरूपी अर्जुनको शान्त कर दूँगा ॥ १९½ ॥

आशीविषं दुर्धरमप्रमेयं
सुतीक्ष्णदंष्ट्रं ज्वलनप्रभावम् ॥ २० ॥
क्रोधप्रदीप्तं त्वहितं महान्तं
कुन्तीपुत्रं शमयिष्यामि भल्लैः ।

'तीखे दाढ़ोंवाले विषधर सर्पके समान दुर्धर्ष, अप्रमेय, अग्निके समान प्रभावशाली तथा क्रोधसे प्रज्वलित अपने महान् शत्रु कुन्तीपुत्र अर्जुनको मैं भल्लोंद्वारा शान्त कर दूँगा॥२०½॥

प्रमाथिनं बलवन्तं प्रहारिणं
प्रभञ्जनं मातरिश्वानमुग्रम् ॥ २१ ॥
युद्धे सहिष्ये हिमवानिवाचलो
धनंजयं क्रुद्धममृष्यमाणम् ।

'वृक्षोंको तोड़-उखाड़ देनेवाली प्रचण्ड वायुके समान प्रमथनशील, बलवान्, प्रहारकुशल, तोड़-फोड़ करनेवाले तथा अमर्षशील क्रुद्ध अर्जुनका वेग आज मैं युद्धस्थलमें हिमालय पर्वतके समान अचल रहकर सहन करूँगा ॥ २१½ ॥

विशारदं रथमार्गेषु शक्तं
धुर्यं नित्यं समरेषु प्रवीरम् ॥ २२ ॥
लोके वरं सर्वधनुर्धराणां
धनंजयं संयुगे संसहिष्ये ।

'रथके मार्गोंपर विचरनेमें कुशल, शक्तिशाली, समराङ्गणमें सदा महान् भार वहन करनेवाले, संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ, प्रमुख वीर अर्जुनका आज युद्धस्थलमें मैं डटकर सामना करूँगा ॥ २२½ ॥

अद्याहवे यस्य न तुल्यमन्यं
मन्ये मनुष्यं धनुराददानम् ॥ २३ ॥
सर्वामिमां यः पृथिवीं विजिग्ये
तेन प्रयोद्धास्मि समेत्य संख्ये ।

'युद्धमें जिनके समान धनुर्धर मैं दूसरे किसी मनुष्यको नहीं मानता, जिन्होंने इस सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, आज समराङ्गणमें उन्हींसे भिड़कर मैं बलपूर्वक युद्ध करूँगा ॥ २३½ ॥

यः सर्वभूतानि सदैवतानि
प्रस्थेऽजयत् खाण्डवे सव्यसाची ॥२४॥
को जीवितं रक्षमाणो हि तेन
युयुत्सेद् वै मानुषो मामृतेऽन्यः ।

'जिन सव्यसाची अर्जुनने खाण्डववनमें देवताओंसहित समस्त प्राणियोंको जीत लिया था, उनके साथ मेरे सिवा दूसरा कौन मनुष्य, जो अपने जीवनकी रक्षा करना चाहता हो, युद्धकी इच्छा करेगा ॥ २४½ ॥

मानी कृतास्त्रः कृतहस्तयोगो
दिव्यास्त्रविच्छ्वेतहयः प्रमाथी ॥ २५ ॥
तस्याहमद्यातिरथस्य काया-
च्छिरो हरिष्यामि शितैः पृषत्कैः ।

'श्वेतवाहन अर्जुन मानी, अस्त्रवेत्ता, सिद्धहस्त, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और शत्रुओंको मथ डालनेवाले हैं। आज मैं अपने पैने बाणोंद्वारा उन्हीं अतिरथी वीर अर्जुनका मस्तक धड़से काट लूँगा ॥ २५½ ॥

योत्स्याम्येनं शल्य धनंजयं वै
मृत्युं पुरस्कृत्य रणे जयं वा ॥ २६ ॥
अन्यो हि न ह्येकरथेन मर्त्यो
युध्येत यः पाण्डवमिन्द्रकल्पम् ।

'शल्य ! मैं रणभूमिमें मृत्यु अथवा विजयको सामने रखकर इन धनंजयके साथ युद्ध करूँगा। मेरे सिवा दूसरा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ एकमात्र रथके द्वारा युद्ध कर सके ॥ २६½॥

तस्याहवे पौरुषं पाण्डवस्य
ब्रूयां हृष्टः समितौ क्षत्रियाणाम् ॥ २७ ॥
किं त्वं मूर्खः प्रसभं मूढचेता
ममावोचः पौरुषं फाल्गुनस्य ।

'मैं इस युद्धस्थलमें क्षत्रियोंके समाजमें बड़े हर्ष और उल्लासके साथ पाण्डुपुत्र अर्जुनके उत्साहका वर्णन कर सकता हूँ। तुम्हारे मनमें तो मूढ़ता भरी हुई है। तुम मूर्ख हो। फिर तुमने मुझसे अर्जुनके पुरुषार्थका हठपूर्वक वर्णन क्यों किया है ? ॥ २७½ ॥

अप्रियो यः पुरुषो निष्ठुरो हि
क्षुद्रः क्षेप्ता क्षमिणश्चाक्षमावान् ॥ २८ ॥
हन्यामहं तादृशानां शतानि
क्षमाम्यहं क्षमया कालयोगात् ।

'जो अप्रिय, निष्ठुर, क्षुद्र हृदय और क्षमाशून्य मनुष्य क्षमाशील पुरुषोंकी निन्दा करता है; ऐसे सौ-सौ मनुष्योंका मैं वध कर सकता हूँ; परंतु कालयोगसे क्षमाभावद्वारा मैं यह सब कुछ सह लेता हूँ ॥ २८½ ॥

अवोचस्त्वं पाण्डवार्थेऽप्रियाणि
प्रधर्षयन् मां मूढवत् पापकर्मन् ॥ २९ ॥

मय्यार्जवे जिह्ममतिर्हतस्त्वं
मित्रद्रोही साप्तपदं हि मैत्रम् ।

'ओ पापी ! मूर्खके समान तुमने पाण्डुपुत्र अर्जुनके लिये मेरा तिरस्कार करते हुए मेरे प्रति अप्रिय वचन सुनाये हैं। मेरे प्रति सरलताका व्यवहार करना तुम्हारे लिये उचित था; परंतु तुम्हारी बुद्धिमें कुटिलता भरी हुई है, अतः तुम मित्रद्रोही होनेके कारण अपने पापसे ही मारे गये। किसीके साथ सात पग चल देने मात्रसे ही मैत्री सम्पन्न हो जाती है। (किंतु तुम्हारे मनमें उस मैत्रीका उदय नहीं हुआ)॥२९½॥

कालस्त्वयं प्रत्युपयाति दारुणो
दुर्योधनो युद्धमुपागमद् यत् ॥ ३० ॥
अस्यार्थसिद्धिं त्वभिकाङ्क्षमाण-
स्तन्मन्यसे यत्र नैकान्त्यमस्ति ।

'यह बड़ा भयङ्कर समय सामने आ रहा है। राजा दुर्योधन रणभूमिमें आ पहुँचा है। मैं उसके मनोरथकी सिद्धि चाहता हूँ; किंतु तुम्हारा मन उधर लगा हुआ है, जिससे उसके कार्यकी सिद्धि होनेकी कोई सम्भावना नहीं है ॥३०½॥

मित्रं मिन्देर्नन्दतेः प्रीयतेर्वा
संत्रायतेर्मिनुतेर्मोदतेर्वा ॥ ३१ ॥
ब्रवीमि ते सर्वमिदं ममास्ति
तच्चापि सर्वं मम वेत्ति राजा ।

'मिद, नन्द, प्री, त्रा, मि अथवा मुद्* धातुओंसे निपातनद्वारा मित्र शब्दकी सिद्धि होती है। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ—इन सभी धातुओंका पूरा-पूरा अर्थ मुझमें मौजूद है। राजा दुर्योधन इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं ॥ ३१½ ॥

शत्रुः शदेः शासतेर्वा श्यतेर्वा
शृणातेर्वा श्वसतेः सीदतेर्वा ॥ ३२ ॥
उपसर्गाद् बहुधा सूदतेश्च
प्रायेण सर्वं त्वयि तच्च मह्यम् ।

'शद्, शास्, शो, शृ, श्वस् अथवा षद् तथा नाना प्रकारके उपसर्गोंसे युक्त सूद† धातुसे भी शत्रु शब्दकी सिद्धि होती है। मेरे प्रति इन सभी धातुओंका सारा तात्पर्य तुममें संघटित होता है ॥ ३२½ ॥

दुर्योधनार्थं तव च प्रियार्थं
यशोऽर्थमात्मार्थमपीश्वरार्थम् ॥ ३३ ॥

* मिद आदि धातुओंका अर्थ क्रमशः स्नेह, आनन्द, प्रीणन (तृप्त करना), प्राण (रक्षा), सस्नेह दर्शन और आमोद है।

† शद् आदि धातुओंका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—शातन (काटना या छेदना), शासन करना, तनूकरण (क्षीण कर देना), हिंसा करना, अवसादन (शिथिल करना) और निषूदन (वध)।

तस्मादहं पाण्डववासुदेवौ
योत्स्ये यत्नात् कर्म तत् पश्य मेऽद्य ।

'अतः मैं दुर्योधनका हित, तुम्हारा प्रिय, अपने लिये यश और प्रसन्नताकी प्राप्ति तथा परमेश्वरकी प्रीतिका सम्पादन करनेके लिये पाण्डुपुत्र अर्जुन और श्रीकृष्णके साथ प्रयत्नपूर्वक युद्ध करूँगा। आज मेरे इस कर्मको तुम देखो ॥३३½॥

अस्त्राणि पश्याद्य ममोत्तमानि
ब्राह्माणि दिव्यान्यथ मानुषाणि ॥ ३४ ॥
आसादयिष्याम्यहमुग्रवीर्यं
द्विपो द्विपं मत्तमिवातिमत्तः ।

'आज मेरे उत्तम ब्रह्मास्त्र, दिव्यास्त्र और मानुषास्त्रोंको देखो। मैं इनके द्वारा भयङ्कर पराक्रमी अर्जुनके साथ उसी प्रकार युद्ध करूँगा, जैसे कोई अत्यन्त मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीके साथ भिड़ जाता है ॥ ३४½ ॥

अस्त्रं ब्राह्मं मनसा युध्यजेयं
क्षेप्स्ये पार्थायाप्रमेयं जयाय ।
तेनापि मे नैव मुच्येत युद्धे
न चेत् पतेद् विषमे मेऽद्य चक्रम् ॥ ३५ ॥

'मैं युद्धमें अजेय तथा असीम शक्तिशाली ब्रह्मास्त्रका मन-ही-मन स्मरण करके अपनी विजयके लिये अर्जुनपर प्रहार करूँगा। यदि मेरे रथका पहिया किसी विषम स्थानमें न फँस जाय तो उस अस्त्रसे अर्जुन रणभूमिमें जीवित नहीं छूट सकते॥

वैवस्वताद् दण्डहस्ताद्वरुणाद् वापि पाशिनः ।
सगदाद् वा धनपतेः सवज्राद् वापि वासवात् ॥ ३६॥
अन्यस्मादपि कस्माच्चिदमित्रादाततायिनः ।
इति शल्य विजानीहि यथा नाहं बिभेम्यतः ॥
तस्मान्न मे भयं पार्थान्नापि चैव जनार्दनात् ॥ ३७ ॥
सह युद्धं हि मे ताभ्यां साम्पराये भविष्यति ।

'शल्य ! मैं दण्डधारी सूर्यपुत्र यमराजसे, पाशधारी वरुणसे, गदा हाथमें लिये हुए कुबेरसे, वज्रधारी इन्द्रसे अथवा दूसरे किसी आततायी शत्रुसे भी कभी नहीं डरता। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। इसीलिये मुझे अर्जुन और श्रीकृष्णसे भी कोई भय नहीं है। उन दोनोंके साथ रणक्षेत्रमें मेरा युद्ध अवश्य होगा ॥ ३६–३७½ ॥

कदाचिद् विजयस्याहमस्त्रहेतोरटन्नृप ॥ ३८ ॥
अज्ञानाद्धि क्षिपन् बाणान् घोररूपान् भयानकान् ।
होमधेन्वा वत्समस्य प्रमत्त इषुणाहनम् ॥ ३९ ॥

'नरेश्वर ! एक समयकी बात है, मैं शस्त्रोंके अभ्यासके लिये विजय नामक एक ब्राह्मणके आश्रमके आसपास विचरण कर रहा था। उस समय घोर एवं भयंकर बाण चलाते हुए मैंने अनजानमें ही असावधानीके कारण उस ब्राह्मणकी होमधेनुके बछड़ेको एक बाणसे मार डाला ॥ ३८-३९ ॥

चरन्तं विजने शल्य ततोऽनुव्याजहार माम्।
यस्मात् त्वया प्रमत्तेन होमधेन्वा हतः सुतः ॥ ४० ॥
श्वभ्रे ते पततां चक्रमिति मां ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
युध्यमानस्य संग्रामे प्राप्तस्यैकायनं भयम् ॥ ४१ ॥

'शल्य ! तब उस ब्राह्मणने एकान्तमें घूमते हुए मुझसे आकर कहा—'तुमने प्रमादवश मेरी होमधेनुके बछड़ेको मार डाला है। इसलिये तुम जिस समय रणक्षेत्रमें युद्ध करते-करते अत्यन्त भयको प्राप्त होओ, उसी समय तुम्हारे रथका पहिया गड्ढेमें गिर जाय' ॥ ४०-४१ ॥

तस्माद् बिभेमि बलवद् ब्राह्मणव्याहृतादहम्।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ ४२ ॥

'ब्राह्मणके उस शापसे मुझे अधिक भय हो रहा है। ये ब्राह्मण, जिनके राजा चन्द्रमा हैं, अपने शाप या वरदानद्वारा दूसरोंको दुःख एवं सुख देनेमें समर्थ हैं ॥ ४२ ॥

अदां तस्मै गोसहस्रं बलीवर्दांश्च षट्शतान्।
प्रसादं न लभे शल्य ब्राह्मणान्मद्रकेश्वर ॥ ४३ ॥

'मद्रराज शल्य ! मैं ब्राह्मणको एक हजार गौएँ और छः सौ बैल दे रहा था; परंतु उससे उसका कृपाप्रसाद न प्राप्त कर सका ॥ ४३ ॥

ईषादन्तान् सप्तशतान् दासीदासशतानि च।
ददतो द्विजमुख्यो मे प्रसादं न चकार सः ॥ ४४ ॥

'हलदण्डके समान दाँतोंवाले सात सौ हाथी और सैकड़ों दास-दासियोंके देनेपर भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने मुझपर कृपा नहीं की ॥ ४४ ॥

कृष्णानां श्वेतवत्सानां सहस्राणि चतुर्दश।
आहरं न लभे तस्मात् प्रसादं द्विजसत्तमात् ॥ ४५ ॥

'श्वेत बछड़ेवाली चौदह हजार काली गौएँ मैं उसे देनेके लिये ले आया तो भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणसे अनुग्रह न पा सका॥

ऋद्धं गृहं सर्वकामैर्यच्च मे वसु किंचन।
तत् सर्वमस्मै सत्कृत्य प्रयच्छामि न चेच्छति ॥ ४६ ॥

'मैं सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न समृद्धिशाली घर और जो कुछ भी धन मेरे पास था, वह सब उस ब्रह्मणको सत्कारपूर्वक देने लगा; परंतु उसने कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं की ॥

ततोऽब्रवीन्मां याचन्तमपराधं प्रयत्नतः।
व्याहृतं यन्मया सूत तत् तथा न तदन्यथा ॥ ४७ ॥

'उस समय मैं प्रयत्नपूर्वक अपने अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगा। तब ब्राह्मणने कहा—'सूत ! मैंने जो कह दिया, वह वैसा ही होकर रहेगा। वह पलट नहीं सकता॥

अनृतोक्तं प्रजां हन्यात् ततः पापमवाप्नुयाम्।
तस्माद् धर्माभिरक्षार्थं नानृतं वक्तुमुत्सहे ॥ ४८ ॥

''असत्य भाषण प्रजाका नाश कर देता है, अतः मैं झूठ बोलनेसे पापका भागी होऊँगा; इसीलिये धर्मकी रक्षाके उद्देश्यसे मैं मिथ्या भाषण नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

मा त्वं ब्रह्मगतिं हिंस्याः प्रायश्चित्तं कृतं त्वया।
मद्वाक्यं नानृतं लोके कश्चित् कुर्यात् समाप्नुहि ॥ ४९ ॥

''तुम (लोभ देकर) ब्राह्मणकी उत्तम गतिका विनाश न करो। तुमने पश्चात्ताप और दानद्वारा उस वत्सवधका प्रायश्चित्त कर लिया। जगत्में कोई भी मेरे कहे हुए वचनको मिथ्या नहीं कर सकता; इसलिये मेरा शाप तुझे प्राप्त होगा ही' ॥ ४९ ॥

इत्येतत् ते मया प्रोक्तं क्षिप्तेनापि सुहृत्तया।
जानामि त्वां विक्षिपन्तं जोषमास्स्वोत्तरं शृणु ॥ ५० ॥

'मद्रराज ! यद्यपि तुमने मुझपर आक्षेप किये हैं, तथापि सुहृद् होनेके नाते मैंने तुमसे ये सारी बातें कह दी हैं। मैं जानता हूँ, तुम अब भी निन्दा करनेसे बाज न आओगे, तो भी कहता हूँ कि चुप होकर बैठो और अबसे जो कुछ कहूँ, उसे सुनो' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णका आत्मप्रशंसापूर्वक शल्यको फटकारना

संजय उवाच

ततः पुनर्महाराज मद्रराजमरिंदमः।
अभ्यभाषत राधेयः संनिवार्योत्तरं वचः॥ १॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले राधापुत्र कर्णने शल्यको रोककर पुनः उनसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

यत् त्वं निदर्शनार्थं मां शल्य जल्पितवानसि।
नाहं शक्यस्त्वया वाचा विभीषयितुमाहवे॥ २॥

'शल्य! तुमने दृष्टान्तके लिये मेरे प्रति जो वाग्जाल फैलाया है, उसके उत्तरमें निवेदन है कि तुम इस युद्धस्थलमें मुझे अपनी बातोंसे नहीं डरा सकते॥ २॥

यदि मां देवताः सर्वा योधयेयुः सवासवाः।
तथापि मे भयं न स्यात् किमु पार्थात् सकेशवात्॥ ३॥

'यदि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मुझसे युद्ध करने लगें तो भी मुझे उनसे कोई भय नहीं होगा। फिर श्रीकृष्ण-सहित अर्जुनसे क्या भय हो सकता है?॥ ३॥

नाहं भीषयितुं शक्यो वाङ्मात्रेण कथंचन।
अन्यं जानीहि यः शक्यस्त्वया भीषयितुं रणे॥ ४॥

'मुझे केवल बातोंसे किसी प्रकार भी डराया नहीं जा सकता, जिसे तुम रणभूमिमें डरा सको, ऐसे किसी दूसरे ही पुरुषका पता लगाओ॥ ४॥

नीचस्य बलमेतावत् पारुष्यं यत्त्वमात्थ माम्।
अशक्तो मद्गुणान् वक्तुं वल्गसे बहु दुर्मते॥ ५॥

'तुमने मेरे प्रति जो कटु वचन कहा है, इतना ही नीच पुरुषका बल है। दुर्बुद्धे! तुम मेरे गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ होकर बहुत-सी ऊटपटांग बातें बकते जा रहे हो॥ ५॥

न हि कर्णः समुद्भूतो भयार्थमिह मद्रक।
विक्रमार्थमहं जातो यशोऽर्थं च तथाऽऽत्मनः॥ ६॥

'मद्रनिवासी शल्य! कर्ण इस संसारमें भयभीत होनेके लिये नहीं पैदा हुआ है। मैं तो पराक्रम प्रकट करने और अपने यशको फैलानेके लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ॥ ६॥

सखिभावेन सौहार्दान्मित्रभावेन चैव हि।
कारणैस्त्रिभिरेतैस्त्वं शल्य जीवसि साम्प्रतम्॥ ७॥

'शल्य! एक तो तुम सारथि बनकर मेरे सखा हो गये हो, दूसरे सौहार्दवश मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है और तीसरे मित्र दुर्योधनकी अभीष्टसिद्धिका मेरे मनमें विचार है—इन्हीं तीन कारणोंसे तुम अबतक जीवित हो॥ ७॥

राज्ञश्च धार्तराष्ट्रस्य कार्यं सुमहदुद्यतम्।
मयि तच्चाहितं शल्य तेन जीवसि मे क्षणम्॥ ८॥

'राजा दुर्योधनका महान् कार्य उपस्थित हुआ है और उसका सारा भार मुझपर रक्खा गया है। शल्य! इसीलिये तुम क्षणभर भी जीवित हो॥ ८॥

कृतश्च समयः पूर्वं क्षन्तव्यं विप्रियं तव।
ऋते शल्यसहस्रेण विजयेयमहं परान्।
मित्रद्रोहस्तु पापीयानिति जीवसि साम्प्रतम्॥ ९॥

'इसके सिवा, मैंने पहले ही यह शर्त कर दी है कि तुम्हारे अप्रिय वचनोंको क्षमा करूँगा। वैसे तो हजारों शल्य न रहें तो भी मैं शत्रुओंपर विजय पा सकता हूँ; परंतु मित्रद्रोह महान् पाप है, इसीलिये तुम अबतक जीवित हो'॥ ९॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णके द्वारा मद्र आदि बाहीक देशवासियोंकी निन्दा

शल्य उवाच

ननु प्रलापाः कर्णैते यान् ब्रवीषि परान् प्रति।
ऋते कर्णसहस्रेण शक्या जेतुं परे युधि॥ १॥

शल्य बोले—कर्ण! तुम दूसरोंके प्रति जो आक्षेप करते हो, ये तुम्हारे प्रलापमात्र हैं। तुम-जैसे हजारों कर्ण न रहें तो भी युद्धस्थलमें शत्रुओंपर विजय पायी जा सकती है॥

संजय उवाच

तथा ब्रुवन्तं परुषं कर्णो मद्राधिपं तदा।
परुषं द्विगुणं भूयः प्रोवाचाप्रियदर्शनम्॥ २॥

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसी कठोर बात बोलते हुए मद्रराज शल्यसे कर्णने पुनः दूनी कठोरता लिये अप्रिय वचन कहना आरम्भ किया॥ २॥

कर्ण उवाच

इदं तु ते त्वमेकाग्रः शृणु मद्रजनाधिप।
संनिधौ धृतराष्ट्रस्य प्रोच्यमानं मया श्रुतम्॥ ३॥

कर्ण बोला—मद्रनरेश! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरी ये बातें सुनो। राजा धृतराष्ट्रके समीप कही जाती हुई इन सब बातोंको मैंने सुना था॥ ३॥

देशांश्च विविधांश्चित्रान् पूर्ववृत्तांश्च पार्थिवान्।
ब्राह्मणाः कथयन्ति स्म धृतराष्ट्रनिवेशने ॥ ४ ॥

एक दिन महाराज धृतराष्ट्रके घरमें बहुत-से ब्राह्मण आ-आकर नाना प्रकारके विचित्र देशों तथा पूर्ववर्ती भूपालोंके वृत्तान्त सुना रहे थे ॥ ४ ॥

तत्र वृद्धः पुरावृत्ताः कथाः कश्चिद् द्विजोत्तमः।
वाहीकदेशं मद्रांश्च कुत्सयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वहीं किसी वृद्ध एवं श्रेष्ठ ब्राह्मणने बाहीक और मद्रदेशकी निन्दा करते हुए वहाँकी पूर्वघटित बातें कही थीं—॥५॥

बहिष्कृता हिमवता गङ्गया च बहिष्कृताः।
सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये ॥ ६ ॥
पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाहीकानपि वर्जयेत् ॥ ७ ॥

'जो प्रदेश हिमालय, गङ्गा, सरस्वती, यमुना और कुरुक्षेत्रकी सीमासे बाहर हैं तथा जो सतलज, व्यास, रावी, चिनाब और झेलम—इन पाँचों एवं छठी सिंधु नदीके बीचमें स्थित हैं, उन्हें बाहीक कहते हैं। वे धर्मबाह्य और अपवित्र हैं। उन्हें त्याग देना चाहिये ॥ ६-७ ॥

गोवर्धनो नाम वटः सुभद्रं नाम चत्वरम्।
एतद् राजकुलद्वारमाकुमारात् स्मराम्यहम् ॥ ८ ॥

'गोवर्द्धन नामक वटवृक्ष और सुभद्र नामक चबूतरा—ये दोनों वहाँके राजभवनके द्वारपर स्थित हैं, जिन्हें मैं बचपनसे ही भूल नहीं पाता हूँ ॥ ८ ॥

कार्येणात्यर्थगूढेन वाहीकेषूषितं मया।
तत एषां समाचारः संवासाद् विदितो मम ॥ ९ ॥

'मैं अत्यन्त गुप्त कार्यवश कुछ दिनोंतक बाहीक देशमें रहा था। इससे वहाँके निवासियोंके सम्पर्कमें आकर मैंने उनके आचार-व्यवहारकी बहुत-सी बातें जान ली थीं ॥ ९ ॥

शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा।
जर्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥ १० ॥

'वहाँ शाकल नामक एक नगर और आपगा नामकी एक नदी है, जहाँ जर्तिक नामवाले बाहीक निवास करते हैं। उनका चरित्र अत्यन्त निन्दित है ॥ १० ॥

धाना गौड्यासवं पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह।
अपूपमांसवाट्यानामाशिनः शीलवर्जिताः ॥ ११ ॥

'वे भुने हुए जौ और लहसुनके साथ गोमांस खाते और गुड़से बनी हुई मदिरा पीकर मतवाले बने रहते हैं। पूआ, मांस और वाटी खानेवाले बाहीक देशके लोग शील और आचारसे शून्य हैं ॥ ११ ॥

गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवाससः।
नगरागारवप्रेषु बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ १२ ॥

'वहाँकी स्त्रियाँ बाहर दिखायी देनेवाली माला और अङ्गराग धारण करके मतवाली तथा नंगी होकर नगर एवं घरोंकी चहारदिवारियोंके पास गाती और नाचती हैं ॥ १२ ॥

मत्तावगीतैर्विविधैः खरोष्ट्रनिनदोपमैः।
अनावृता मैथुने ताः कामचाराश्च सर्वशः ॥ १३ ॥

'वे गदहोंके रेंकने और ऊँटोंके बलबलानेकी-सी आवाजसे मतवालेपनमें ही भाँति-भाँतिके गीत गाती हैं और मैथुन-कालमें भी परदेके भीतर नहीं रहती हैं। वे सब-की-सब सर्वथा स्वेच्छाचारिणी होती हैं ॥ १३ ॥

आहुरन्योन्यसूक्तानि प्रब्रुवाणा मदोत्कटाः।
हे हते हे हतेत्येवं स्वामिभर्तृहतेति च ॥ १४ ॥
आक्रोशन्त्यः प्रनृत्यन्ति व्रात्याः पर्वस्वसंयताः।

'मदसे उन्मत्त होकर परस्पर सरस विनोदयुक्त बातें करती हुई वे एक दूसरीको 'ओ घायल की हुई! ओ किसीकी मारी हुई! हे पतिमर्दिते!' इत्यादि कहकर पुकारती और नृत्य करती हैं। पर्वों और त्योहारोंके अवसरपर तो उन संस्कारहीन रमणियोंके संयमका बाँध और भी टूट जाता है॥

तासां किलावलिप्तानां निवसन् कुरुजाङ्गले ॥ १५॥
कश्चिद् वाहीकदुष्टानां नातिहृष्टमना जगौ।

'उन्हीं बाहीकदेशी मदमत्त एवं दुष्ट स्त्रियोंका कोई सम्बन्धी वहाँसे आकर कुरुजाङ्गल प्रदेशमें निवास करता था। वह अत्यन्त खिन्नचित्त होकर इस प्रकार गुनगुनाया करता था—॥ १५½ ॥

सा नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी ॥ १६॥
मामनुस्मरती शेते वाहीकं कुरुजाङ्गले।

''निश्चय ही वह लंबी, गोरी और महीन कम्बलकी साड़ी पहननेवाली मेरी प्रेयसी कुरुजाङ्गल प्रदेशमें निवास करनेवाले मुझ बाहीकको निरन्तर याद करती हुई सोती होगी॥ १६½ ॥

शतद्रुकामहं तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम् ॥ १७ ॥
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलशङ्खाः शुभाः स्त्रियः।

''मैं कब सतलज और उस रमणीय रावी नदीको पार करके अपने देशमें पहुँचकर शङ्खकी बनी हुई मोटी-मोटी चूड़ियोंको धारण करनेवाली वहाँकी सुन्दरी स्त्रियोंको देखूँगा॥

मनःशिलोज्ज्वलापाङ्ग्यो गौर्यस्त्रिककुदाञ्जनाः॥ १८ ॥
कम्बलाजिनसंवीताः कूर्दन्त्यः प्रियदर्शनाः।
मृदङ्गानकशङ्खानां मर्दलानां च निःस्वनैः ॥ १९ ॥

''जिनके नेत्रोंके प्रान्तभाग मैनसिलके आलेपसे उज्ज्वल हैं, दोनों नेत्र और ललाट अञ्जनसे सुशोभित हैं तथा जिनके सारे अङ्ग कम्बल और मृगचर्मसे आवृत हैं, वे गोरे रंगवाली प्रियदर्शना (परम सुन्दरी) रमणियाँ मृदङ्ग, ढोल, शङ्ख और मर्दल आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ-साथ कब नृत्य करती दिखायी देंगी ॥ १८-१९ ॥

खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम् ।
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु ॥ २० ॥

"कब हमलोग मदोन्मत्त हो गदहे, ऊँट और खच्चरों-की सवारीद्वारा सुखद मार्गोंवाले शमी, पीलु और करीलोंके जंगलोंमें सुखसे यात्रा करेंगे ॥ २० ॥

अपूपान् सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान् ।
पथि सुप्रबला भूत्वा कदा सम्पततोऽध्वगान् ॥२१॥
चेलापहारं कुर्वाणास्ताडयिष्याम भूयसः ।

'मार्गमें तक्रके साथ पूए और सत्तूके पिण्ड खाकर अत्यन्त प्रबल हो कब चलते हुए बहुत-से राहगीरोंको उनके कपड़े छीनकर हम अच्छी तरह पीटेंगे' ॥ २१½ ॥

एवंशीलेषु व्रात्येषु वाहीकेषु दुरात्मसु ॥ २२ ॥
कश्चेतयानो निवसेन्मुहूर्तमपि मानवः ।

संस्कारशून्य दुरात्मा बाहीक ऐसे ही स्वभावके होते हैं। उनके पास कौन सचेत मनुष्य दो घड़ी भी निवास करेगा ?'॥

ईदृशा ब्राह्मणेनोक्ता वाहीका मोघचारिणः ॥ २३ ॥
येषां षड्भागहर्ता त्वमुभयोः शुभपापयोः ।

ब्राह्मणने निरर्थक आचार-विचारवाले बाहीकोंको ऐसा ही बताया है, जिनके पुण्य और पाप दोनोंका छठा भाग तुम लिया करते हो ॥ २३½ ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणः साधुरुत्तरं पुनरुक्तवान् ॥ २४ ॥
वाहीकेष्वविनीतेषु प्रोच्यमानं निबोध तत् ।

शल्य ! उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने ये सब बातें बताकर उद्दण्ड बाहीकोंके विषयमें पुनः जो कुछ कहा था, वह भी बताता हूँ, सुनो—॥ २४½ ॥

तत्र स्म राक्षसी गाति सदा कृष्णचतुर्दशीम् ॥ २५ ॥
नगरे शाकले स्फीते आहत्य निशि दुन्दुभिम् ।

'उस देशमें एक राक्षसी रहती है, जो सदा कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको समृद्धिशाली शाकल नगरमें रातके समय दुन्दुभि बजाकर इस प्रकार गाती है—॥ २५½ ॥

कदा वाहेयिका गाथाः पुनर्गास्यामि शाकले ॥ २६ ॥
गव्यस्य तृप्ता मांसस्य पीत्वा गौडं सुरासवम् ।
गौरीभिः सह नारीभिर्बृहतीभिः स्वलंकृताः ॥ २७ ॥
पलाण्डुगण्डूषयुतान् खादन्ती चैडकान् बहून् ।

"मैं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो गोमांस खाकर और गुड़की बनी हुई मदिरा पीकर तृप्त हो अञ्जलि भर प्याजके साथ बहुत-सी भेड़ोंको खाती हुई गोरे रंगकी लंबी युवती स्त्रियोंके साथ मिलकर इस शाकल नगरमें पुनः कब इस तरहकी बाहीकसम्बन्धी गाथाओंका गान करूँगी ॥ २६-२७½ ॥

वाराहं कौक्कुटं मांसं गव्यं गार्दभमौष्ट्रिकम् ॥२८ ॥
ऐडं च ये न खादन्ति तेषां जन्म निरर्थकम् ।

"जो सूअर, मुर्गा, गाय, गदहा, ऊँट और भेड़के मांस नहीं खाते, उनका जन्म व्यर्थ है' ॥ २८½ ॥

इति गायन्ति ये मत्ताः सीधुना शाकलाश्च ये ॥ २९ ॥
सबालवृद्धाः क्रन्दन्तस्तेषु धर्मः कथं भवेत् ।

'जो शाकलनिवासी आबालवृद्ध नरनारी मदिरासे उन्मत्त हो चिल्ला-चिल्लाकर ऐसी गाथाएँ गाया करते हैं, उनमें धर्म कैसे रह सकता है ?' ॥ २९½ ॥

इति शल्य विजानीहि हन्त भूयो ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥
यदन्योऽप्युक्तवानस्मान् ब्राह्मणः कुरुसंसदि ।

शल्य ! इस बातको अच्छी तरह समझ लो । हर्षका विषय है कि इसके सम्बन्धमें मैं तुम्हें कुछ और बातें बता रहा हूँ, जिन्हें दूसरे ब्राह्मणने कौरव-सभामें हमलोगोंसे कहा था—॥ ३०½ ॥

पञ्च नद्यो वहन्त्येता यत्र पीलुवनान्युत ॥ ३१ ॥
शतद्रुश्च विपाशा च तृतीयैरावती तथा ।
चन्द्रभागा वितस्ता च सिन्धुषष्ठा बहिर्गिरेः ॥ ३२ ॥
आरट्टा नाम ते देशा नष्टधर्मा न तान् व्रजेत् ।

'जहाँ शतद्रु (सतलज), विपाशा (व्यास), तीसरी इरावती (रावी), चन्द्रभागा (चिनाव) और वितस्ता (झेलम)—ये पाँच नदियाँ छठी सिंधु नदीके साथ बहती हैं, जहाँ पीलु नामक वृक्षोंके कई जंगल हैं, वे हिमालयकी सीमासे बाहरके प्रदेश 'आरट्ट' नामसे विख्यात हैं । वहाँका धर्म-कर्म नष्ट हो गया है । उन देशोंमें कभी न जाय ॥ ३१-३२½ ॥

व्रात्यानां दासमीयानां वाहीकानामयज्वनाम् ॥ ३३ ॥
न देवाः प्रतिगृह्णन्ति पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
तेषां प्रणष्टधर्माणां वाहीकानामिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

'जिनके धर्म-कर्म नष्ट हो गये हैं, वे संस्कारहीन, जारज बाहीक यज्ञ-कर्मसे रहित होते हैं । उनके दिये हुए द्रव्यको देवता, पितर और ब्राह्मण भी नहीं ग्रहण करते हैं, यह बात सुननेमें आयी है' ॥ ३३-३४ ॥

ब्राह्मणेन तथा प्रोक्तं विदुषा साधुसंसदि ।
काष्ठकुण्डेषु वाहीका मृन्मयेषु च भुञ्जते ॥ ३५ ॥
सक्तुमद्यावलिप्तेषु श्वावलीढेषु निर्घृणाः ।
आविकं चौष्ट्रिकं चैव क्षीरं गार्दभमेव च ॥ ३६ ॥
तद्विकारांश्च वाहीकाः खादन्ति च पिबन्ति च ।

किसी विद्वान् ब्राह्मणने साधु पुरुषोंकी सभामें यह भी कहा था कि 'बाहीक देशके लोग काठके कुण्डों तथा मिट्टीके बर्तनोंमें जहाँ सत्तू और मदिरा लिपटे होते हैं और जिन्हें कुत्ते चाटते रहते हैं, घृणाशून्य होकर भोजन करते हैं । बाहीक देशके निवासी भेड़, ऊँटनी और गदहीके दूध पीते और उसी दूधके बने हुए दही-घी आदि भी खाते हैं।३५-३६½।

पुत्रसंकरिणो जाल्माः सर्वान्नक्षीरभोजनाः ॥ ३७ ॥
आरट्टा नाम वाहीका वर्जनीया विपश्चिता ।

'वे जारज पुत्र उत्पन्न करनेवाले नीच आरट्ट नामक बाहीक सबका अन्न खाते और सभी पशुओंके दूध पीते हैं। अतः विद्वान् पुरुषको उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये।' ३७½

हन्त शल्य विजानीहि हन्त भूयो ब्रवीमि ते ॥ ३८ ॥
यदन्योऽप्युक्तवान् मह्यं ब्राह्मणः कुरुसंसदि ।

शल्य ! इस बातको याद कर लो। अभी तुमसे और भी बातें बताऊँगा, जिन्हें किसी दूसरे ब्राह्मणने कौरवसभामें स्वयं मुझसे कहा था—॥ ३८½ ॥

युगन्धरे पयः पीत्वा प्रोष्य चाप्यच्युतस्थले ॥ ३९ ॥
तद्वद् भूतिलये स्नात्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति ।

'युगन्धर नगरमें दूध पीकर अच्युतस्थल· नामक नगरमें एक रात रहकर तथा भूतिलयमें स्नान करके मनुष्य कैसे स्वर्गमें जायगा ?'॥ ३९½ ॥

पञ्च नद्यो वहन्त्येता यत्र निःसृत्य पर्वतात् ॥ ४० ॥
आरट्टा नाम वाहीका न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत् ।

जहाँ पर्वतसे निकलकर ये पूर्वोक्त पाँचों नदियाँ बहती हैं, वे आरट्ट नामसे प्रसिद्ध बाहीक प्रदेश हैं। उनमें श्रेष्ठ पुरुष दो दिन भी निवास न करे ॥ ४०½ ॥

बहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ ॥ ४१ ॥
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः ।
ते कथं विविधान् धर्मान् ज्ञास्यन्ते हीनयोनयः ॥

विपाशा (व्यास) नदीमें दो पिशाच रहते हैं। एकका नाम है बहि और दूसरेका नाम है हीक। इन्हीं दोनोंकी संतानें बाहीक कहलाती हैं। ब्रह्माजीने इनकी सृष्टि नहीं की है। वे नीच योनिमें उत्पन्न हुए मनुष्य नाना प्रकारके धर्मोंको कैसे जानेंगे ? ॥ ४१-४२ ॥

कारस्करान्माहिषकान् कुरण्डान् केरलांस्तथा ।
कर्कोटकान् वीरकांश्च दुर्धर्मांश्च विवर्जयेत् ॥ ४३ ॥

कारस्कर, माहिषक, कुरंड, केरल, कर्कोटक और वीरक—इन देशोंके धर्म (आचार-व्यवहार) दूषित हैं; अतः इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४३ ॥

इति तीर्थानुसर्तारं राक्षसी काचिदब्रवीत् ।
एकरात्रशयी गेहे महोलूखलमेखला ॥ ४४ ॥

विशाल ओखलियोंकी मेखला (करधनी) धारण करनेवाली किसी राक्षसीने किसी तीर्थयात्रीके घरमें एक रात रहकर उससे इस प्रकार कहा था ॥ ४४ ॥

आरट्टा नाम ते देशा वाहीकं नाम तज्जलम् ।
ब्राह्मणापसदा यत्र तुल्यकालाः प्रजापतेः ॥ ४५ ॥

जहाँ ब्रह्माजीके समकालीन (अत्यन्त प्राचीन) वेदविरुद्ध आचरणवाले नीच ब्राह्मण निवास करते हैं, वे आरट्ट नामक देश हैं और वहाँके जलका नाम बाहीक है ॥ ४५ ॥

वेदा न तेषां वेद्यश्च यज्ञा यजनमेव च ।
व्रात्यानां दासमीयानामन्नं देवा न भुञ्जते ॥ ४६ ॥

उन अधम ब्राह्मणोंको न तो वेदोंका ज्ञान है, न वहाँ यज्ञकी वेदियाँ हैं और न उनके यहाँ यज्ञ-याग ही होते हैं। वे संस्कारहीन एवं दासोंसे समागम करनेवाली कुलटा स्त्रियोंकी संतानें हैं; अतः देवता उनका अन्न नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ४६ ॥

प्रस्थला मद्रगान्धारा आरट्टा नामतः खशाः ।
वसातिसिन्धुसौवीरा इति प्रायोऽतिकुत्सिताः॥४७॥

प्रस्थल, मद्र, गान्धार, आरट्ट, खस, वसाति, सिंधु तथा सौवीर—ये देश प्रायः अत्यन्त निन्दित हैं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णका मद्र आदि बाहीक निवासियोंके दोष बताना, शल्यका उत्तर देना और दुर्योधनका दोनोंको शान्त करना

कर्ण उवाच

हन्त शल्य विजानीहि हन्त भूयो ब्रवीमि ते ।
उच्यमानं मया सम्यक् त्वमेकाग्रमनाः शृणु ॥ १ ॥

कर्ण बोला—शल्य ! पहले जो बातें बतायी गयी हैं, उन्हें समझो। अब मैं पुनः तुमसे कुछ कहता हूँ। मेरी कही हुई इस बातको तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १ ॥

ब्राह्मणः किल नो गेहमध्यगच्छत् पुरातिथिः ।
आचारं तत्र सम्प्रेक्ष्य प्रीतो वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें एक ब्राह्मण अतिथिरूपसे हमारे घरपर ठहरा था। उसने हमारे यहाँका आचार-विचार देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए यह बात कही—॥ २ ॥

मया हिमवतः शृङ्गमेकेनाध्युषितं चिरम् ।
दृष्टाश्च बहवो देशा नानाधर्मसमावृताः ॥ ३ ॥

'मैंने अकेले ही दीर्घकालतक हिमालयके शिखरपर निवास किया है और विभिन्न धर्मोंसे सम्पन्न बहुत-से देश देखे हैं ॥

न च केन च धर्मेण विरुध्यन्ते प्रजा इमाः ।
सर्वे हि तेऽब्रुवन् धर्मं यदुक्तं वेदपारगैः ॥ ४ ॥

'इन सब देशोंके लोग किसी भी निमित्तसे धर्मके विरुद्ध नहीं जाते। वेदोंके पारगामी विद्वानोंने जैसा बताया है, उसी रूपमें वे लोग सम्पूर्ण धर्मको मानते और बतलाते हैं ॥ ४ ॥

अटता तु ततो देशान् नानाधर्मसमाकुलान् ।
आगच्छता महाराज वाहीकेषु निशामितम् ॥ ५ ॥

'महाराज ! विभिन्न धर्मोंसे युक्त अनेक देशोंमें घूमता-घामता जब मैं बाहीक देशमें आ रहा था, तब वहाँ ऐसी बातें देखने और सुननेमें आयीं ॥ ५ ॥

तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा ततो भवति क्षत्रियः ।
वैश्यः शूद्रश्च वाहीकस्ततो भवति नापितः ॥ ६ ॥
नापितश्च ततो भूत्वा पुनर्भवति ब्राह्मणः ।
द्विजो भूत्वा च तत्रैव पुनर्दासोऽभिजायते ॥ ७ ॥

'उस देशमें एक ही बाहीक पहले ब्राह्मण होकर फिर क्षत्रिय होता है । तत्पश्चात् वैश्य और शूद्र भी बन जाता है । उसके बाद वह नाई होता है । नाई होकर फिर ब्राह्मण हो जाता है । ब्राह्मण होनेके पश्चात् फिर वही दास बन जाता है *॥ ६-७ ॥

भवन्त्येककुले विप्राः प्रसृष्टाः कामचारिणः ।
गान्धारा मद्रकाश्चैव वाहीकाश्चाल्पचेतसः ॥ ८ ॥

'वहाँ एक ही कुलमें कुछ लोग ब्राह्मण और कुछ लोग स्वेच्छाचारी वर्णसंकर संतान उत्पन्न करनेवाले होते हैं । गान्धार, मद्र और बाहीक—इन सभी देशोंके लोग मन्दबुद्धि हुआ करते हैं ॥ ८ ॥

एतन्मया श्रुतं तत्र धर्मसंकरकारकम् ।
कृत्स्नामटित्वा पृथिवीं वाहीकेषु विपर्ययः ॥ ९ ॥

'उस देशमें मैंने इस प्रकार धर्मसंकरता फैलानेवाली बातें सुनीं । सारी पृथ्वीमें घूमकर केवल बाहीक देशमें ही मुझे धर्मके विपरीत आचार-व्यवहार दिखायी दिया' ॥ ९ ॥

हन्त शल्य विजानीहि हन्त भूयो ब्रवीमि ते ।
यदप्यन्योऽब्रवीद् वाक्यं वाहीकानां च कुत्सितम्॥१०॥

शल्य ! ये सब बातें जान लो । अभी और कहता हूँ । एक दूसरे यात्रीने भी बाहीकोंके सम्बन्धमें जो घृणित बातें बतायी थीं, उन्हें सुनो ॥ १० ॥

सती पुरा हृता काचिदारट्टात् किल दस्युभिः ।
अधर्मतश्चोपयाता सा तानभ्यशपत् ततः ॥ ११ ॥

'कहते हैं, प्राचीन कालमें लुटेरे डाकुओंने आरट्ट देशसे किसी सती स्त्रीका अपहरण कर लिया और अधर्मपूर्वक उसके साथ समागम किया । तब उसने उन्हें यह शाप दे दिया—११

बालां बन्धुमतीं यन्मामधर्मेणोपगच्छथ ।
तस्मान्नार्यो भविष्यन्ति बन्धक्यो वै कुलस्य च ॥ १२ ॥
न चैवास्मात् प्रमोक्ष्यध्वं घोरात् पापान्नराधमाः ।

'मैं अभी बालिका हूँ और मेरे भाई-बन्धु मौजूद हैं तो भी तुमलोगोंने अधर्मपूर्वक मेरे साथ समागम किया है । इसलिये इस कुलकी सारी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होंगी । नराधमो ! तुम्हें इस घोर पापसे कभी छुटकारा नहीं मिलेगा' ॥

तस्मात् तेषां भागहरा भागिनेया न सूनवः ॥ १३ ॥

'इसलिये उनकी धन-सम्पत्तिके उत्तराधिकारी भानजे होते हैं, पुत्र नहीं ॥ १३ ॥

कुरवः सहपाञ्चालाः शाल्वा मत्स्याः सनैमिषाः ।
कोसलाः काशयोऽङ्गाश्च कालिङ्गा मागधास्तथा ॥ १४ ॥
चेदयश्च महाभागा धर्मं जानन्ति शाश्वतम् ।

'कुरु, पाञ्चाल, शाल्व, मत्स्य, नैमिष, कोसल, काशी, अङ्ग, कलिङ्ग, मगध और चेदिदेशोंके बड़भागी मनुष्य सनातन धर्मको जानते हैं ॥ १४½ ॥

नानादेशेषु सन्तश्च प्रायो बाह्यालयादृते ॥ १५ ॥

आ मत्स्येभ्यः कुरुपञ्चालदेश्या
आ नैमिषाच्चेदयो ये विशिष्टाः ।
धर्मं पुराणमुपजीवन्ति सन्तो
मद्रानृते पाञ्चनदांश्च जिह्मान् ॥ १६ ॥

'भिन्न-भिन्न देशोंमें बाहीकनिवासियोंको छोड़कर प्रायः सर्वत्र श्रेष्ठ पुरुष उपलब्ध होते हैं । मत्स्यसे लेकर कुरु और पाञ्चाल देशतक, नैमिषारण्यसे लेकर चेदिदेशतक जो लोग निवास करते हैं, वे सभी श्रेष्ठ एवं साधु पुरुष हैं और प्राचीन धर्मका आश्रय लेकर जीवननिर्वाह करते हैं । मद्र और पञ्चनद प्रदेशोंमें ऐसी बात नहीं है । वहाँके लोग कुटिल होते हैं' ॥ १५-१६ ॥

एवं विद्वान् धर्मकथासु राजं-
स्तूष्णींभूतो जडवच्छल्य भूयाः ।
त्वं तस्य गोप्ता च जनस्य राजा
षड्भागहर्ता शुभदुष्कृतस्य ॥ १७ ॥

राजा शल्य ! ऐसा जानकर तुम जड पुरुषोंके समान धर्मोपदेशकी ओरसे मुँह मोड़कर चुपचाप बैठे रहो । तुम बाहीक देशके लोगोंके राजा और रक्षक हो; अतः उनके पुण्य और पापका भी छठा भाग ग्रहण करते हो ॥ १७ ॥

अथवा दुष्कृतस्य त्वं हर्ता तेषामरक्षिता ।
रक्षिता पुण्यभाग्राजा प्रजानां त्वं ह्यपुण्यभाक्॥ १८ ॥

अथवा उनकी रक्षा न करनेके कारण तुम केवल उनके पापमें ही हिस्सा बँटाते हो । प्रजाकी रक्षा करनेवाला राजा ही उसके पुण्यका भागी होता है; तुम तो केवल पापके ही भागी हो ॥ १८ ॥

पूज्यमाने पुरा धर्मे सर्वदेशेषु शाश्वते ।
धर्मं पाञ्चनदं दृष्ट्वा धिगित्याह पितामहः ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें समस्त देशोंमें प्रचलित सनातन धर्मकी जब प्रशंसा की जा रही थी, उस समय ब्रह्माजीने पञ्चनदवासियोंके धर्मपर दृष्टिपात करके कहा था कि 'धिक्कार है इन्हें !' ॥१९॥

---

* विभिन्न जातियोंके कर्मको अपनानेके कारण वह उन जातियोंके नामसे निर्दिष्ट होने लगता है ।

व्रात्यानां दासमीयानां कृतेऽप्यशुभकर्मणाम् ।
ब्रह्मणा निन्दिते धर्मे स त्वं लोके किमब्रवीः ॥ २० ॥

संस्कारहीन, जारज और पापकर्मी पञ्चनदवासियोंके धर्मकी जब ब्रह्माजीने सत्ययुगमें भी निन्दा की, तब तुम उसी देशके निवासी होकर जगत्में क्यों धर्मोपदेश करने चले हो ? ॥ २० ॥

इति पाञ्चनदं धर्ममवमेने पितामहः ।
स्वधर्मस्थेषु वर्णेषु सोऽप्येतान् नाभ्यपूजयत् ॥ २१ ॥

पितामह ब्रह्माने पञ्चनदनिवासियोंके आचार-व्यवहार-रूपी धर्मका इस प्रकार अनादर किया है । अपने धर्ममें तत्पर रहनेवाले अन्य देशोंकी तुलनामें उन्होंने इनका आदर नहीं किया ॥ २१ ॥

हन्त शल्य विजानीहि हन्त भूयो ब्रवीमि ते ।
कल्माषपादः सरसि निमज्जन् राक्षसोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

शल्य ! इन सब बातोंको अच्छी तरह जान लो । अभी इस विषयमें तुमसे कुछ और भी बातें बता रहा हूँ, जिन्हें सरोवरमें डूबते हुए राक्षस कल्माषपादने कहा था—॥२२॥

क्षत्रियस्य मलं भैक्ष्यं ब्राह्मणस्याश्रुतं मलम् ।
मलं पृथिव्यां वाहीकाः स्त्रीणां मद्रस्त्रियो मलम् ॥ २३ ॥

'क्षत्रियका मल है भिक्षावृत्ति, ब्राह्मणका मल है वेद-शास्त्रोंके विपरीत आचरण, पृथ्वीके मल हैं बाहीक और स्त्रियोंका मल हैं मद्रदेशकी स्त्रियाँ' ॥ २३ ॥

निमज्जमानमुद्धृत्य कश्चिद् राजा निशाचरम् ।
अपृच्छत् तेन चाख्यातं प्रोक्तवांस्तन्निबोध मे॥ २४ ॥

उस डूबते हुए राक्षसका किसी राजाने उद्धार करके उससे कुछ प्रश्न किया । उनके उस प्रश्नके उत्तरमें राक्षस-ने जो कुछ कहा था, उसे सुनो—॥ २४ ॥

मानुषाणां मलं म्लेच्छा म्लेच्छानां शौण्डिका मलम् ।
शौण्डिकानां मलं षण्ढाः षण्ढानां राजयाजकाः ॥२५॥

'मनुष्योंके मल हैं म्लेच्छ, म्लेच्छोंके मल हैं शराब बेचनेवाले कलाल, कलालोंके मल हैं हींजड़े और हींजड़ोंके मल हैं राजपुरोहित ॥

राजयाजकयाज्यानां मद्रकाणां च यन्मलम् ।
तद् भवेद् वै तव मलं यद्यस्मान्न विमुञ्चसि॥ २६ ॥

'राजपुरोहितोंके पुरोहितों तथा मद्रदेशवासियोंका जो मल है, वह सब तुम्हें प्राप्त हो, यदि इस सरोवरसे तुम मेरा उद्धार न कर दो' ॥ २६ ॥

इति रक्षोपसृष्टेषु विषवीर्यहतेषु च ।
राक्षसं भेषजं प्रोक्तं संसिद्धवचनोत्तरम् ॥ २७ ॥

जिनपर राक्षसोंका उपद्रव है तथा जो विषके प्रभावसे मारे गये हैं, उनके लिये यह उत्तम सिद्ध वाक्य ही राक्षसके प्रभावका निवारण करनेवाला एवं जीवनरक्षक औषध बताया गया है ॥ २७ ॥

ब्राह्मं पञ्चालाः कौरवेयास्तु धर्म्यं
सत्यं मत्स्याः शूरसेनाश्च यज्ञम् ।
प्राच्या दासा वृषला दाक्षिणात्याः
स्तेना वाहीकाः संकरा वै सुराष्ट्राः ॥ २८ ॥

पाञ्चाल देशके लोग वेदोक्त धर्मका आश्रय लेते हैं, कुरुदेशके निवासी धर्मानुकूल कार्य करते हैं, मत्स्यदेशके लोग सत्य बोलते और शूरसेननिवासी यज्ञ करते हैं । पूर्व-देशके लोग दासकर्म करनेवाले, दक्षिणके निवासी वृषल, बाहीक देशके लोग चोर और सौराष्ट्रनिवासी वर्णसङ्कर होते हैं ॥ २८ ॥

कृतघ्नता परवित्तापहारो
मद्यपानं गुरुदारावमर्दः ।
वाक्पारुष्यं गोवधो रात्रिचर्या
बहिर्गेहं परवस्त्रोपभोगः ॥ २९ ॥
येषां धर्मस्तान् प्रति नास्त्यधर्मो
ह्यारट्टानां पञ्चनदान् धिगस्तु ।

कृतघ्नता, दूसरोंके धनका अपहरण, मदिरापान, गुरु-पत्नी गमन, कटुवचनका प्रयोग, गोवध, रातके समय घरसे बाहर घूमना और दूसरोंके वस्त्रका उपभोग करना—ये सब जिनके धर्म हैं, उन आरट्टों और पञ्चनदवासियोंके लिये अधर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं । उन्हें धिक्कार है !।२९½

आ पाञ्चाल्येभ्यः कुरवो नैमिषाश्च
मत्स्याश्चैतेऽप्यथ जानन्ति धर्मम् ।
अथोदीच्याश्चाङ्गका मागधाश्च
शिष्टान् धर्मानुपजीवन्ति वृद्धाः ॥ ३० ॥

पाञ्चाल, कौरव, नैमिष और मत्स्यदेशोंके निवासी धर्मको जानते हैं । उत्तर, अङ्ग तथा मगध देशोंके वृद्ध पुरुष शास्त्रोक्त धर्मोंका आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करते हैं ॥३०॥

प्राचीं दिशं श्रिता देवा जातवेदःपुरोगमाः ।
दक्षिणां पितरो गुप्तां यमेन शुभकर्मणा ॥ ३१ ॥
प्रतीचीं वरुणः पाति पालयानः सुरान् बली ।
उदीचीं भगवान् सोमो ब्राह्मणैः सह रक्षति ॥ ३२ ॥

अग्नि आदि देवता पूर्वदिशाका आश्रय लेकर रहते हैं, पितर पुण्यकर्मा यमराजके द्वारा सुरक्षित दक्षिण दिशामें निवास करते हैं, बलवान् वरुण देवताओंका पालन करते हुए पश्चिम दिशाकी रक्षामें तत्पर रहते हैं और भगवान् सोम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर दिशाकी रक्षा करते हैं ॥ ३१-३२ ॥

तथा रक्षःपिशाचाश्च हिमवन्तं नगोत्तमम् ।
गुह्यकाश्च महाराज पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ३३ ॥
ध्रुवः सर्वाणि भूतानि विष्णुः पाति जनार्दनः ।

महाराज ! राक्षस, पिशाच और गुह्यक—ये गिरिराज हिमालय तथा गन्धमादन पर्वतकी रक्षा करते हैं और

अविनाशी एवं सर्वव्यापी भगवान् जनार्दन समस्त प्राणियों-का पालन करते हैं (परंतु बाहीक देशपर किसी भी देवता-का विशेष अनुग्रह नहीं है) ॥ ३३½ ॥

इङ्गितज्ञाश्च मगधाः प्रेक्षितज्ञाश्च कोसलाः ॥ ३४ ॥
अर्धोक्ताः कुरुपञ्चालाः शाल्वाः कृत्स्नानुशासनाः।
पर्वतीयाश्च विषमा यथैव शिबयस्तथा ॥ ३५ ॥

मगधदेशके लोग इशारेसे ही सब बात समझ लेते हैं, कोसलनिवासी नेत्रोंकी भावभङ्गीसे मनका भाव जान लेते हैं, कुरु तथा पाञ्चालदेशके लोग आधी बात कहनेपर ही पूरी बात समझ लेते हैं, शाल्वदेशके निवासी पूरी बात कह देनेपर उसे समझ पाते हैं, परंतु शिबिदेशके लोगोंकी भाँति पर्वतीय प्रान्तोंके निवासी इन सबसे विलक्षण होते हैं। वे पूरी बात कहने-पर भी नहीं समझ पाते ॥ ३४-३५ ॥

सर्वज्ञा यवना राजञ्शूराश्चैव विशेषतः।
म्लेच्छाः स्वसंज्ञानियता नानुक्तमितरे जनाः ॥ ३६ ॥
प्रतिरब्धास्तु वाहीका न च केचन मद्रकाः।

राजन्! यद्यपि यवनजातीय म्लेच्छ सभी उपायोंसे बात समझ लेनेवाले और विशेषतः शूर होते हैं, तथापि अपने द्वारा कल्पित संज्ञाओंपर ही अधिक आग्रह रखते हैं (वैदिक धर्मको नहीं मानते)। अन्य देशोंके लोग बिना कहे हुए कोई बात नहीं समझते हैं, परंतु बाहीक देशके लोग सब काम उलटे ही करते हैं (उनकी समझ उलटी ही होती है) और मद्रदेशके कुछ निवासी तो ऐसे होते हैं कि कुछ भी नहीं समझ पाते ॥ ३६½ ॥

स त्वमेतादृशः शल्य नोत्तरं वक्तुमर्हसि।
पृथिव्यां सर्वदेशानां मद्रको मलमुच्यते ॥ ३७ ॥

शल्य! ऐसे ही तुम हो। अब मेरी बातका जवाब नहीं दोगे। मद्रदेशके निवासीको पृथ्वीके सम्पूर्ण देशोंका मल बताया जाता है ॥ ३७ ॥

सीधोः पानं गुरुतल्पावमर्दो
भ्रूणहत्या परवित्तापहारः।
येषां धर्मस्तान् प्रति नास्त्यधर्म
आरट्टजान् पञ्चनदान् धिगस्तु ॥ ३८ ॥

मदिरापान, गुरुकी शय्याका उपभोग, भ्रूणहत्या और दूसरोंके धनका अपहरण—ये जिनके लिये धर्म हैं, उनके लिये अधर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे आरट्ट और पञ्चनददेशके लोगोंको धिक्कार है! ॥ ३८ ॥

एतज्ज्ञात्वा जोषमास्स्व प्रतीपं मा स्म वै कृथाः।
मा त्वां पूर्वमहं हत्वा हनिष्ये केशवार्जुनौ ॥ ३९ ॥

यह जानकर तुम चुपचाप बैठे रहो। फिर कोई प्रति-कूल बात मुँहसे न निकालो। अन्यथा पहले तुम्हींको मारकर पीछे श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध करूँगा ॥ ३९ ॥

शल्य उवाच

आतुराणां परित्यागः स्वदारसुतविक्रयः।
अङ्गे प्रवर्तते कर्ण येषामधिपतिर्भवान् ॥ ४० ॥

शल्य बोले—कर्ण! तुम जहाँके राजा बनाये गये हो, उस अङ्गदेशमें क्या होता है? अपने सगे-सम्बन्धी जब रोग-से पीड़ित हो जाते हैं तो उनका परित्याग कर दिया जाता है। अपनी ही स्त्री और बच्चोंको वहाँके लोग सरे बाजार बेचते हैं ॥ ४० ॥

रथातिरथसंख्यायां यत् त्वां भीष्मस्तदाब्रवीत्।
तान् विदित्वाऽऽत्मनो दोषान् निर्मन्युर्भव मा क्रुधः॥४१॥

उस दिन रथी और अतिरथियोंकी गणना करते समय भीष्मजीने तुमसे जो कुछ कहा था, उसके अनुसार अपने उन दोषोंको जानकर क्रोधरहित हो शान्त हो जाओ ॥ ४१ ॥

सर्वत्र ब्राह्मणाः सन्ति सन्ति सर्वत्र क्षत्रियाः।
वैश्याः शूद्रास्तथा कर्ण स्त्रियः साध्व्यश्च सुव्रताः॥४२॥

कर्ण! सर्वत्र ब्राह्मण हैं। सब जगह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं तथा सभी देशोंमें उत्तम व्रतका पालन करनेवाली साध्वी स्त्रियाँ होती हैं ॥ ४२ ॥

रमन्ते चोपहासेन पुरुषाः पुरुषैः सह।
अन्योन्यमवतक्षन्तो देशे देशे समैथुनाः ॥ ४३ ॥

सभी देशोंके पुरुष दूसरे पुरुषोंके साथ बात करते समय उपहासके द्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाते हैं और स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं ॥ ४३ ॥

परवाच्येषु निपुणः सर्वो भवति सर्वदा।
आत्मवाच्यं न जानीते जानन्नपि च मुह्यति ॥ ४४ ॥

दूसरोंके दोष बतानेमें सभी लोग सदा ही निपुण होते हैं; परंतु अपने दोषोंका उन्हें पता नहीं रहता, अथवा जान-कर भी अनजान बने रहते हैं ॥ ४४ ॥

सर्वत्र सन्ति राजानः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः।
दुर्मनुष्यान् निगृह्णन्ति सन्ति सर्वत्र धार्मिकाः॥ ४५ ॥

सभी देशोंमें अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले राजा रहते हैं, जो दुष्टोंका दमन करते हैं तथा सर्वत्र ही धर्मात्मा मनुष्य निवास करते हैं ॥ ४५ ॥

न कर्ण देशसामान्यात् सर्वः पापं निषेवते।
यादृशाः स्वस्वभावेन देवा अपि न तादृशाः ॥ ४६ ॥

कर्ण! एक देशमें रहनेमात्रसे सब लोग पापका ही सेवन नहीं करते हैं। उसी देशमें मनुष्य अपने श्रेष्ठ शील-स्वभावके कारण ऐसे महापुरुष हो जाते हैं कि देवता भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा कर्णशल्याववारयत्।
सखिभावेन राधेयं शल्यं स्वाञ्जल्यकेन च ॥ ४७॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब राजा दुर्योधनने कर्ण तथा शल्य दोनोंको रोक दिया। उसने कर्णको तो मित्रभाव-

से समझाकर मना किया और शल्यको हाथ जोड़कर रोका ॥

ततो निवारितः कर्णो धार्तराष्ट्रेण मारिष।
कर्णोऽपि नोत्तरं प्राह शल्योऽप्यभिमुखः परान्।
ततः प्रहस्य राधेयः पुनर्याहीत्यचोदयत् ॥ ४८ ॥

मान्यवर ! दुर्योधनके मना करनेपर कर्णने कोई उत्तर नहीं दिया और शल्यने भी शत्रुओंकी ओर मुँह फेर लिया। तब राधापुत्र कर्णने हँसकर शल्यको रथ बढ़ानेकी आज्ञा देते हुए कहा—'चलो, चलो' ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूहरचना, युधिष्ठिरके आदेशसे अर्जुनका आक्रमण, शल्यके द्वारा पाण्डवसेनाके प्रमुख वीरोंका वर्णन तथा अर्जुनकी प्रशंसा

संजय उवाच

ततः परानीकसहं व्यूहमप्रतिमं कृतम्।
समीक्ष्य कर्णः पार्थानां धृष्टद्युम्नाभिरक्षितम् ॥ १ ॥
प्रययौ रथघोषेण सिंहनादरवेण च।
वादित्राणां च निनदैः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ २ ॥
वेपमान इव क्रोधाद् युद्धशौण्डः परंतपः।
प्रतिव्यूह्य महातेजा यथावद् भरतर्षभ ॥ ३ ॥
व्यधमत् पाण्डवीं सेनामासुरीं मघवानिव।
युधिष्ठिरं चाभ्यहनदपसव्यं चकार ह ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर यह देखकर कि कुन्तीकुमारोंकी सेनाका अनुपम व्यूह बनाया गया है, जो शत्रुदलके आक्रमणको सह सकनेमें समर्थ और धृष्टद्युम्नद्वारा सुरक्षित है, शत्रुओंको संताप देनेवाला युद्धकुशल कर्ण रथकी घर्घराहट, सिंहकी-सी गर्जना तथा वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीको कँपाता और स्वयं भी क्रोधसे काँपता हुआ-सा आगे बढ़ा। उस महातेजस्वी वीरने शत्रुओंके मुकाबलेमें अपनी सेनाकी यथोचित व्यूहरचना करके, जैसे इन्द्र आसुरी सेनाका संहार करते हैं, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया और युधिष्ठिरको भी घायल करके दाहिने कर दिया ॥ १–४ ॥

(तानि सर्वाणि सैन्यानि कर्णं दृष्ट्वा विशाम्पते।
बभूवुः सम्प्रहृष्टानि तावकानि युयुत्सया ॥
अश्रूयन्त ततो वाचस्तावकानां विशाम्पते।

प्रजानाथ ! (उस समय) आपके सभी सैनिक कर्णको देखकर युद्धकी इच्छासे हर्ष और उत्साहमें भर गये। राजन् ! उस समय आपके योद्धाओंकी कही हुई ये बातें सुनायी देने लगीं ॥

सैनिका ऊचुः

कर्णार्जुनमहायुद्धमेतदद्य भविष्यति।
अद्य दुर्योधनो राजा हतामित्रो भविष्यति ॥

सैनिक बोले—आज यह कर्ण और अर्जुनका महान् युद्ध होगा। आज राजा दुर्योधनके सारे शत्रु मार डाले जायँगे॥

अद्य कर्णं रणे दृष्ट्वा फाल्गुनो विद्रविष्यति।
अद्य तावद् वयं युद्धे कर्णस्यैवानुगामिनः ॥
कर्णबाणमयं भीमं युद्धं द्रक्ष्याम संयुगे।

आज अर्जुन रणभूमिमें कर्णको देखते ही भाग खड़े होंगे। आज युद्धमें हमलोग कर्णके ही अनुगामी होकर समराङ्गणमें कर्णके बाणोंसे भरा हुआ भीषण संग्राम देखेंगे ॥

चिरकालागतमिदमद्येदानीं भविष्यति ॥
अद्य द्रक्ष्याम संग्रामं घोरं देवासुरोपमम्।

दीर्घकालसे जिसकी सम्भावना की जाती थी, वह आज इसी समय उपस्थित होगा। आज हमलोग देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध देखेंगे ॥

अद्येदानीं महद् युद्धं भविष्यति भयानकम् ॥
अद्येदानीं जयो नित्यमेकस्यैकस्य वा रणे।

आज अभी बड़ा भयानक युद्ध छिड़नेवाला है। आज रणभूमिमें इन दोनोंमेंसे एक-न-एककी विजय अवश्य होगी॥

अर्जुनं किल राधेयो वधिष्यति महारणे ॥
अथवा कं नरं लोके न स्पृशन्ति मनोरथाः।

निश्चय ही राधापुत्र कर्ण इस महायुद्धमें अर्जुनका वध कर डालेगा अथवा इस जगत्में किस मनुष्यके अंदर बड़े-बड़े मनसूबे नहीं उठते हैं ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा विविधा वाचः कुरवः कुरुनन्दन।
आजघ्नुः पटहांश्चैव तूर्यांश्चैव सहस्रशः ॥

संजय कहते हैं—कुरुनन्दन ! इस तरह नाना प्रकारकी बातें कहकर कौरवोंने सहस्रों नगाड़े पीटे और दूसरे-दूसरे बाजे भी बजवाये ॥

भेरीनादांश्च विविधान् सिंहनादांश्च पुष्कलान्।
मुरजानां महाशब्दानानकानां महारवान् ॥

भाँति-भाँतिकी भेरी-ध्वनि हुई और बारंबार सैनिकोंद्वारा सिंहनाद किये गये। गम्भीर ध्वनि करनेवाले ढोल और मृदंगके महान् शब्द वहाँ सब ओर गूँजने लगे ॥

नृत्यमानाश्च बहवस्तर्जमानाश्च मारिष ।
अन्योन्यमभ्ययुर्युद्धे युद्धरङ्गगता नराः ॥

मान्यवर नरेश ! युद्धके रङ्गभूमिमें उतरे हुए बहुसंख्यक मनुष्य नृत्य तथा गर्जन-तर्जन करते हुए एक दूसरेका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

तेषां पदाता नागानां पादरक्षाः समन्ततः ।
पट्टिशासिधराः शूराश्चापबाणभुशुण्डिनः ॥
भिन्दिपालधराश्चैव शूलहस्ताः सुचक्रिणः ।
तेषां समागमो घोरो देवासुररणोपमः ॥)

उनमें शूरवीर पैदल सैनिक चारों ओरसे पट्टिश, खड्ग, धनुष-बाण, भुशुण्डी, भिन्दिपाल, त्रिशूल और चक्र हाथमें लेकर हाथियोंके पैरोंकी रक्षा कर रहे थे । उनमें देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं संजय राधेयः प्रत्यव्यूहत पाण्डवान् ।
धृष्टद्युम्नमुखान् सर्वान् भीमसेनाभिरक्षितान् ॥ ५ ॥
सर्वानेव महेष्वासानजय्यानमरैरपि ।
के च प्रपक्षौ पक्षौ वा मम सैन्यस्य संजय ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा– संजय ! राधापुत्र कर्णने देवताओंके लिये भी अजेय तथा भीमसेनद्वारा सुरक्षित धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण महाधनुर्धर पाण्डव-वीरोंके जवाबमें किस प्रकार व्यूहका निर्माण किया ? संजय ! मेरी सेनाके दोनों पक्ष और प्रपक्षके रूपमें कौन-कौनसे वीर थे ? ॥ ५-६ ॥

प्रविभज्य यथान्यायं कथं वा समवस्थिताः ।
कथं पाण्डुसुताश्चापि प्रत्यव्यूहन्त मामकान् ॥ ७ ॥

वे किस प्रकार यथोचित रूपसे योद्धाओंका विभाजन करके खड़े हुए थे ? पाण्डवोंने भी मेरे पुत्रोंके मुकाबलेमें कैसे व्यूहका निर्माण किया था ? ॥ ७ ॥

कथं चैव महद् युद्धं प्रावर्तत सुदारुणम् ।
क च बीभत्सुरभवद् यत् कर्णोऽयाद् युधिष्ठिरम् ॥८॥

यह अत्यन्त भयंकर महायुद्ध किस प्रकार आरम्भ हुआ ? अर्जुन कहाँ थे कि कर्णने युधिष्ठिरपर आक्रमण कर दिया ? ॥

को ह्यर्जुनस्य सान्निध्ये शक्तोऽभ्येतुं युधिष्ठिरम् ।
सर्वभूतानि यो ह्येकः खाण्डवे जितवान् पुरा ।
कस्तमन्यस्तु राधेयात् प्रतियुद्ध्येज्जिजीविषुः ॥ ९ ॥

जिन्होंने पूर्वकालमें अकेले ही खाण्डववनमें समस्त प्राणियोंको परास्त कर दिया था, उन अर्जुनके समीप रहते हुए युधिष्ठिरपर कौन आक्रमण कर सकता था ? राधापुत्र कर्णके सिवा दूसरा कौन है, जो जीवित रहनेकी इच्छा रखते हुए भी अर्जुनके सामने युद्ध कर सके ॥ ९ ॥

संजय उवाच

शृणु व्यूहस्य रचनामर्जुनश्च यथा गतः ।
परिवार्य नृपं स्वं स्वं संग्रामश्चाभवद् यथा ॥ १० ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! व्यूहकी रचना किस प्रकार हुई थी, अर्जुन कैसे और कहाँ चले गये थे और अपने-अपने राजाको सब ओरसे घेरकर दोनों दलोंके योद्धाओंने किस प्रकार संग्राम किया था ? यह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

कृपः शारद्वतो राजन् मागधाश्च तरस्विनः ।
सात्वतः कृतवर्मा च दक्षिणं पक्षमाश्रिताः ॥ ११ ॥
तेषां प्रपक्षे शकुनिरुलूकश्च महारथः ।
सादिभिर्विमलप्रासैस्तवानीकमरक्षताम् ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य, वेगशाली मागध वीर और सात्वतवंशी कृतवर्मा–ये व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे । महारथी शकुनि और उलूक चमचमाते हुए प्रासोंसे सुशोभित घुड़सवारोंके साथ उनके प्रपक्षमें स्थित हो आपके व्यूहकी रक्षा कर रहे थे ॥ ११-१२ ॥

गान्धारिभिरसम्भ्रान्तैः पर्वतीयैश्च दुर्जयैः ।
शलभानामिव व्रातैः पिशाचैरिव दुर्दृशैः ॥ १३ ॥

उनके साथ कभी घबराहटमें न पड़नेवाले गान्धारदेशीय सैनिक और दुर्जय पर्वतीय वीर भी थे । पिशाचोंके समान उन योद्धाओंकी ओर देखना कठिन हो रहा था और वे टिड्डीदलोंके समान यूथ बनाकर चलते थे ॥ १३ ॥

चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि रथानामनिवर्तिनाम् ।
संशप्तका युद्धशौण्डा वामं पार्श्वमपालयन् ॥ १४ ॥
समन्वितास्तव सुतैः कृष्णार्जुनजिघांसवः ।

श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छावाले युद्ध-निपुण संशप्तक योद्धा युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले रथी वीर थे । उनकी संख्या चौंतीस हजार थी । वे आपके पुत्रोंके साथ रहकर व्यूहके वाम पार्श्वकी रक्षा करते थे ॥ १४½ ॥

तेषां प्रपक्षाः काम्बोजाः शकाश्च यवनैः सह ॥ १५ ॥
निदेशात् सूतपुत्रस्य सरथाः साश्वपत्तयः ।
आह्वयन्तोऽर्जुनं तस्थुः केशवं च महाबलम् ॥ १६ ॥

उनके प्रपक्षस्थानमें सूतपुत्रकी आज्ञासे रथों, घुड़सवारों और पैदलोंसहित काम्बोज, शक तथा यवन महाबली श्रीकृष्ण और अर्जुनको ललकारते हुए खड़े थे ॥ १५-१६ ॥

मध्ये सेनामुखे कर्णोऽप्यवातिष्ठत दंशितः ।
चित्रवर्माङ्गदः स्रग्वी पालयन् वाहिनीमुखम् ॥ १७ ॥

कर्ण भी विचित्र कवच, अङ्गद और हार धारण करके सेनाके मुखभागकी रक्षा करता हुआ व्यूहके मुहानेपर ठीक बीचो-बीचमें खड़ा था ॥ १७ ॥

रक्ष्यमाणैः सुसंरब्धैः पुत्रैः शस्त्रभृतां वरः ।
वाहिनीं प्रमुखे वीरः सम्प्रकर्षन्नशोभत ॥ १८ ॥

अभ्यवर्तन्महाबाहुः सूर्यवैश्वानरप्रभः ।

सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी और शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु कर्ण रोष और जोशमें भरकर सेनापतिकी रक्षामें तत्पर हुए आपके पुत्रोंके साथ प्रमुख भागमें स्थित हो कौरवसेनाको अपने साथ खींचता हुआ बड़ी शोभा पा रहा था, वह शत्रुओंके सामने डटा हुआ था ॥ १८½ ॥

महाद्विपस्कन्धगतः पिङ्गाक्षः प्रियदर्शनः ॥ १९ ॥
दुःशासनो वृतः सैन्यैः स्थितो व्यूहस्य पृष्ठतः ।

व्यूहके पृष्ठभागमें पिङ्गल नेत्रोंवाला प्रियदर्शन दुःशासन सेनाओंसे घिरा हुआ खड़ा था। वह एक विशाल गजराजकी पीठपर विराजमान था ॥ १९½ ॥

तमन्वयान्महाराज स्वयं दुर्योधनो नृपः ॥ २० ॥
चित्राश्वैश्चित्रसंनाहैः सोदर्यैरभिरक्षितः ।
रक्ष्यमाणो महावीर्यैः सहितैर्मद्रकेकयैः ॥ २१ ॥
अशोभत महाराज देवैरिव शतक्रतुः ।

महाराज! विचित्र अस्त्र और कवच धारण करनेवाले सहोदर भाइयों तथा एक साथ आये हुए मद्र और केकयदेशके महापराक्रमी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित साक्षात् राजा दुर्योधन दुःशासनके पीछे-पीछे चल रहा था। महाराज! उस समय देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके समान उसकी शोभा हो रही थी ॥ २०–२१½ ॥

अश्वत्थामा कुरूणां च ये प्रवीरा महारथाः ॥ २२ ॥
नित्यमत्ताश्च मातङ्गाः शूरैर्म्लेच्छैः समन्विताः ।
अन्वयुस्तद् रथानीकं क्षरन्त इव तोयदाः ॥ २३ ॥

अश्वत्थामा, कौरवपक्षके प्रमुख महारथी वीर, शौर्यसम्पन्न म्लेच्छ सैनिकोंसे युक्त नित्य मतवाले हाथी वर्षा करनेवाले मेघोंके समान मदकी धारा बहाते हुए उस रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ २२–२३ ॥

ते ध्वजैर्वैजयन्तीभिर्ज्वलद्भिः परमायुधैः ।
सादिभिश्चास्थिता रेजुर्द्रुमवन्त इवाचलाः ॥ २४ ॥

वे हाथी ध्वजों, वैजयन्ती पताकाओं, प्रकाशमान अस्त्र-शस्त्रों तथा सवारोंसे सुशोभित हो वृक्षसमूहोंसे युक्त पर्वतोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ २४ ॥

तेषां पदातिनागानां पादरक्षाः सहस्रशः ।
पट्टिशासिधराः शूरा बभूवुरनिवर्तिनः ॥ २५ ॥

पट्टिश और खड्ग धारण किये तथा युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले सहस्रों शूर सैनिक उन पैदलों एवं हाथियोंके पादरक्षक थे ॥ २५ ॥

सादिभिः स्यन्दनैर्नागैरधिकं समलङ्कृतैः ।
स व्यूहराजो विबभौ देवासुरचमूपमः ॥ २६ ॥

अधिकाधिक सुसज्जित हाथियों, रथों और घुड़सवारोंसे सम्पन्न वह व्यूहराज देवताओं और असुरोंकी सेनाके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २६ ॥

बार्हस्पत्यः सुविहितो नायकेन विपश्चिता ।
नृत्यतीव महाव्यूहः परेषां भयमादधत् ॥ २७ ॥

विद्वान् सेनापति कर्णके द्वारा बृहस्पतिकी बतायी हुई रीतिके अनुसार भलीभाँति रचा गया वह महान् व्यूह शत्रुओंके मनमें भय उत्पन्न करता हुआ नृत्य-सा कर रहा था ॥

तस्य पक्षप्रपक्षेभ्यो निष्पतन्ति युयुत्सवः ।
पत्त्यश्वरथमातङ्गाः प्रावृषीव बलाहकाः ॥ २८ ॥

उसके पक्ष और प्रपक्षोंसे युद्धके इच्छुक पैदल, घुड़सवार, रथी और गजारोही योद्धा उसी प्रकार निकल पड़ते थे, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रकट होते हैं ॥ २८ ॥

ततः सेनामुखे कर्णं दृष्ट्वा राजा युधिष्ठिरः ।
धनंजयममित्रघ्नमेकवीरमुवाच ह ॥ २९ ॥

तदनन्तर सेनाके मुहानेपर कर्णको खड़ा देख राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंका संहार करनेवाले अद्वितीय वीर धनंजयसे इस प्रकार कहा—॥ २९ ॥

पश्यार्जुन महाव्यूहं कर्णेन विहितं रणे ।
युक्तं पक्षैः प्रपक्षैश्च परानीकं प्रकाशते ॥ ३० ॥

'अर्जुन! रणभूमिमें कर्णद्वारा रचित उस महाव्यूहको देखो। पक्षों और प्रपक्षोंसे युक्त शत्रुकी वह व्यूहबद्ध सेना कैसी प्रकाशित हो रही है! ॥ ३० ॥

तदेतद् वै समालोक्य प्रत्यमित्रं महद् बलम् ।
यथा नाभिभवत्यस्मांस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ३१ ॥

'अतः इस विशाल शत्रुसेनाकी ओर देखकर तुम ऐसी नीतिका निर्माण करो, जिससे वह हमें परास्त न कर सके' ॥

एवमुक्तोऽर्जुनो राज्ञा प्राञ्जलिर्नृपमब्रवीत् ।

यथा भवानाह तथा तत् सर्वं न तदन्यथा ॥ ३२ ॥

राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर अर्जुन हाथ जोड़कर उनसे बोले—'भारत ! आप जैसा कहते हैं वह सब वैसा ही है। उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है ॥ ३२ ॥

यस्त्वस्य विहितो घातस्तं करिष्यामि भारत।
प्रधानवध एवास्य विनाशस्तं करोम्यहम् ॥ ३३ ॥

'युद्धशास्त्रमें इस व्यूहके विनाशके लिये जो उपाय बताया गया है, उसीका सम्पादन करूँगा। प्रधान सेनापतिका वध होनेपर ही इसका विनाश हो सकता है; अतः मैं वही करूँगा' ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तस्मात् त्वमेव राधेयं भीमसेनः सुयोधनम्।
वृषसेनं च नकुलः सहदेवोऽपि सौबलम् ॥ ३४ ॥
दुःशासनं शतानीको हार्दिक्यं शिनिपुङ्गवः।
धृष्टद्युम्नो द्रोणसुतं स्वयं योत्स्याम्यहं कृपम् ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर बोले—अर्जुन ! तब तुम्हीं राधापुत्र कर्णके साथ भिड़ जाओ ! भीमसेन दुर्योधनसे, नकुल वृषसेनसे, सहदेव शकुनिसे, शतानीक दुःशासनसे, सात्यकि कृतवर्मासे और धृष्टद्युम्न अश्वत्थामासे युद्ध करें तथा स्वयं मैं कृपाचार्यके साथ युद्ध करूँगा ॥ ३४-३५ ॥

द्रौपदेया धार्तराष्ट्राञ्शिष्टान् सह शिखण्डिना।
ते ते च तांस्तानहितानस्माकं घ्नन्तु मामकाः ॥ ३६ ॥

द्रौपदीके पुत्र शिखण्डीके साथ रहकर धृतराष्ट्रके शेष बचे हुए पुत्रोंपर धावा करें। इसी प्रकार हमारे विभिन्न सैनिक हमलोगोंके उन-उन शत्रुओंका विनाश करें ॥ ३६ ॥

संजय उवाच

इत्युक्तो धर्मराजेन तथेत्युक्त्वा धनंजयः।
व्यादिदेश स्वसैन्यानि स्वयं चागाच्चमूमुखम् ॥ ३७ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर अर्जुनने 'तथास्तु' कहकर अपनी सेनाओंको युद्धके लिये आदेश दे दिया और स्वयं वे सेनाके मुहानेपर जा पहुँचे ॥ ३७ ॥

(धनंजयो महाराज दक्षिणं पक्षमास्थितः।
भीमसेनो महाबाहुर्वामं पक्षमुपाश्रितः ॥
सात्यकिर्द्रौपदेयाश्च स्वयं राजा च पाण्डवः।
व्यूहस्य प्रमुखे तस्थुः स्वेनानीकेन संवृताः ॥
स्वबलेनारिसैन्यं तत् प्रत्यवस्थाप्य पाण्डवः।
प्रत्यव्यूहत् पुरस्कृत्य धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥
तत् सादिनागकलिलं पदातिरथसंकुलम्।
धृष्टद्युम्नमुखं व्यूहमशोभत महाबलम् ॥)

महाराज ! अर्जुन दाहिने पक्षमें खड़े हुए और महाबाहु भीमसेनने बायें पक्षका आश्रय लिया। सात्यकि, द्रौपदीके पुत्र तथा स्वयं राजा युधिष्ठिर अपनी सेनासे घिरकर व्यूहके मुहानेपर खड़े हुए। युधिष्ठिरने अपनी सेना द्वारा प्रतिरोध करके शत्रुकी उस सेनाको ठहर जानेके लिये विवश कर दिया और धृष्टद्युम्न तथा शिखण्डीको आगे करके उसके मुकाबलेमें अपनी सेनाका व्यूह बनाया। घुड़सवारों, हाथियों, पैदलों और रथोंसे भरा हुआ वह प्रबल व्यूह, जिसके प्रमुख भागमें धृष्टद्युम्न थे, बड़ी शोभा पा रहा था ॥

अग्निर्वैश्वानरः पूर्वो ब्रह्मेद्धः सितितां गतः।
तस्माद् यः प्रथमं जातस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३८ ॥

वेद-मन्त्रोंद्वारा प्रज्वलित और सबसे पहले प्रकट हुए सम्पूर्ण विश्वके नेता अग्निदेव, जो ब्रह्माजीके मुखसे सर्वप्रथम उत्पन्न हैं और इसी कारण देवता जिन्हें ब्राह्मण मानते हैं, अर्जुनके उस दिव्य रथके अश्व बने हुए थे ॥ ३८ ॥

ब्रह्मेशानेन्द्रवरुणान् क्रमशो योऽवहत् पुरा।
तमाद्यं रथमास्थाय प्रयातौ केशवार्जुनौ ॥ ३९ ॥

जो प्राचीन कालमें क्रमशः ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र और वरुणकी सवारीमें आ चुका था, उसी आदि रथपर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन शत्रुओंकी ओर बढ़े चले जा रहे थे ॥ ३९ ॥

अथ तं रथमायान्तं दृष्ट्वात्यद्भुतदर्शनम्।
उवाचाधिरथिं शल्यः पुनस्तं युद्धदुर्मदम् ॥ ४० ॥

अत्यन्त अद्भुत दिखायी देनेवाले उस रथको आते देख शल्यने रणदुर्मद सूतपुत्र कर्णसे पुनः इस प्रकार कहा—॥४०॥

अयं स रथ आयातः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
दुर्वारः सर्वसैन्यानां विपाकः कर्मणामिव ॥ ४१ ॥
निघ्नन्नमित्रान् कौन्तेयो यं कर्ण परिपृच्छसि।

'कर्ण ! तुम जिन्हें बारंबार पूछ रहे थे, वे ही ये कुन्तीकुमार अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए रथके साथ आ पहुँचे। उनके घोड़े श्वेत रंगके हैं, श्रीकृष्ण उनके सारथि हैं और वे कर्मोंके फलकी भाँति तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाओंके लिये दुर्निवार्य हैं ॥ ४१½ ॥

श्रूयते तुमुलः शब्दो यथा मेघस्वनो महान् ॥ ४२ ॥
ध्रुवमेतौ महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ।

'उनके रथका भयंकर शब्द ऐसा सुनायी दे रहा है, मानो महान् मेघकी गर्जना हो रही हो। निश्चय ही वे महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन ही आ रहे हैं ॥ ४२½ ॥

एष रेणुः समुद्भूतो दिवमावृत्य तिष्ठति ॥ ४३ ॥
चक्रनेमिप्रणुन्नेव कम्पते कर्ण मेदिनी।

'कर्ण ! यह ऊपर उठी हुई धूल आकाशको आच्छादित करके स्थित हो रही है और यह पृथ्वी अर्जुनके रथके पहियोंद्वारा संचालित-सी होकर काँपने लगी है ॥ ४३½ ॥

प्रवात्येष महावायुरभितस्तव वाहिनीम् ॥ ४४ ॥
क्रव्यादा व्याहरन्त्येते मृगाः क्रन्दन्ति भैरवम्।

'तुम्हारी सेनाके सब ओर यह प्रचण्ड वायु बह रही है, ये मांसभक्षी पशु-पक्षी बोल रहे हैं और मृगगण भयंकर क्रन्दन कर रहे हैं ॥ ४४½ ॥

पश्य कर्ण महाघोरं भयदं लोमहर्षणम् ॥ ४५ ॥
कबन्धं मेघसंकाशं भानुमावृत्य संस्थितम् ।

'कर्ण ! वह देखो, रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयदायक मेघसदृश महाघोर कबन्धाकार केतु नामक ग्रह सूर्यमण्डलको घेरकर खड़ा है॥ ४५½ ॥

पश्य यूथैर्बहुविधैर्मृगाणां सर्वतोदिशम् ॥ ४६ ॥
बलिभिर्दृप्तशार्दूलैरादित्योऽभिनिरीक्ष्यते ।

'देखो, चारों दिशाओंमें नाना प्रकारके पशुसमुदाय तथा बलवान् एवं स्वाभिमानी सिंह सूर्यकी ओर देख रहे हैं ॥

पश्य कङ्कांश्च गृध्रांश्च समवेतान् सहस्रशः ॥ ४७ ॥
स्थितानभिमुखान् घोरानन्योन्यमभिभाषतः ।

'देखो, सहस्रों घोर कङ्क और गीध एकत्र होकर सामने खड़े हैं और आपसमें कुछ बोल भी रहे हैं ॥ ४७½ ॥

रञ्जिताश्चामरा युक्तास्तव कर्ण महारथे ॥ ४८ ॥
प्रवराः प्रज्वलन्त्येते ध्वजश्चैव प्रकम्पते ।

'कर्ण ! तुम्हारे विशाल रथमें बँधे हुए ये रंगीन और श्रेष्ठ चँवर सहसा प्रज्वलित हो उठे हैं और तुम्हारी ध्वजा भी जोर-जोरसे हिलने लगी है ॥ ४८½ ॥

सवेपथून् हयान् पश्य महाकायान् महाजवान् ।४९।
प्लवमानान् दर्शनीयानाकाशे गरुडानिव ।

'देखो, ये तुम्हारे विशालकाय, महान् वेगशाली, दर्शनीय तथा आकाशमें गरुडके समान उड़नेवाले घोड़े थर्थर काँप रहे हैं ॥ ४९½ ॥

ध्रुवमेषु निमित्तेषु भूमिमाश्रित्य पार्थिवाः ॥ ५० ॥
स्वप्स्यन्ति निहताः कर्ण शतशोऽथ सहस्रशः।

'कर्ण ! जब ऐसे अपशकुन प्रकट हो रहे हैं तो निश्चय ही आज सैकड़ों और हजारों नरेश मारे जाकर रणभूमिमें शयन करेंगे ॥ ५०½ ॥

शङ्खानां तुमुलः शब्दः श्रूयते लोमहर्षणः ॥ ५१ ॥
आनकानां च राधेय मृदङ्गानां च सर्वशः।

'राधानन्दन ! सब ओर शङ्खों, ढोलों और मृदङ्गोंकी रोमाञ्चकारी तुमुल-ध्वनि सुनायी दे रही है ॥ ५१½ ॥

बाणशब्दान् बहुविधान् नराश्वरथनिस्वनान्॥ ५२ ॥
ज्यातलत्रेषुशब्दांश्च शृणु कर्ण महात्मनाम् ।

'कर्ण ! बाणोंके भाँति-भाँतिके शब्द, मनुष्यों, घोड़ों और रथोंके कोलाहल तथा महामनस्वी वीरोंकी प्रत्यञ्चा और दस्तानोंके शब्द सुनो ॥ ५२½ ॥

हेमरूप्यप्रसृष्टानां वाससां शिल्पिनिर्मिताः ॥ ५३ ॥
नानावर्णा रथे भान्ति श्वसनेन प्रकम्पिताः ।

रथोंकी ध्वजाओंपर सोने और चाँदीके तारोंसे खचित वस्त्रोंकी बनी हुई शिल्पियोंद्वारा निर्मित बहुरंगी पताकाएँ हवाके झोंकेसे हिलती हुई कैसी शोभा पा रही हैं ॥ ५३½ ॥

सहेमचन्द्रतारार्काः पताकाः किङ्किणीयुताः ॥ ५४ ॥
पश्य कर्णार्जुनस्यैताः सौदामन्य इवाम्बुदे ।

'कर्ण ! देखो, अर्जुनके रथकी इन पताकाओंमें सुवर्णमय चन्द्रमा, सूर्य और तारोंके चिह्न बने हुए हैं और छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई हैं । रथपर फहराती हुई ये पताकाएँ मेघोंकी घटामें बिजलीके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥५४½॥

ध्वजाः कणकणायन्ते वातेनाभिसमीरिताः ॥ ५५ ॥
विभ्राजन्ति रथे कर्ण विमाने दैवते यथा ।

'कर्ण ! देवताओंके विमान-जैसे रथपर ये ध्वज हवाके झोंके खा-खाकर कड़कड़ शब्द करते हुए शोभा पा रहे हैं ॥

सपताका रथाश्चैते पञ्चालानां महात्मनाम् ॥ ५६ ॥
पश्य कुन्तीसुतं वीरं बीभत्सुमपराजितम् ।
प्रधर्षयितुमायान्तं कपिप्रवरकेतनम् ॥ ५७ ॥

'ये महामनस्वी पाञ्चाल वीरोंके रथ हैं, जिनपर पताकाएँ फहरा रही हैं । यह देखो, श्रेष्ठ वानरयुक्त ध्वजावाले अपराजित वीर कुन्तीकुमार अर्जुन आक्रमण करनेके लिये इधर ही आ रहे हैं ॥ ५६–५७ ॥

एष ध्वजाग्रे पार्थस्य प्रेक्षणीयः समन्ततः ।
दृश्यते वानरो भीमो द्विषतामघवर्धनः ॥ ५८ ॥

'अर्जुनके ध्वजके अग्रभागपर यह सब ओरसे देखने योग्य भयंकर वानर दृष्टिगोचर होता है, जो शत्रुओंका दुःख बढ़ानेवाला है ॥ ५८ ॥

एतच्चक्रं गदा शार्ङ्गं शङ्खः कृष्णस्य धीमतः ।
अत्यर्थं भ्राजते कृष्णे कौस्तुभस्तु मणिस्ततः ॥ ५९ ॥

'ये बुद्धिमान् श्रीकृष्णके शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष अत्यन्त शोभा पा रहे हैं । उनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि सबसे अधिक प्रकाशित हो रही है ॥ ५९ ॥

एष शङ्खगदापाणिर्वासुदेवोऽतिवीर्यवान् ।
वाहयन्नेति तुरगान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥ ६० ॥

'हाथोंमें शङ्ख और गदा धारण करनेवाले ये अत्यन्त पराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वायुके समान वेगशाली श्वेत घोड़ोंको हाँकते हुए इधर ही आ रहे हैं ॥ ६० ॥

एतत् कूजति गाण्डीवं विकृष्टं सव्यसाचिना ।
एते हस्तवता मुक्ता घ्नन्त्यमित्राञ्शिताः शराः ॥ ६१ ॥

'सव्यसाची अर्जुनके हाथसे खींचे गये गाण्डीव धनुषकी यह टङ्कार होने लगी । उनके कुशल हाथोंसे छोड़े गये ये पैने बाण शत्रुओंके प्राण ले रहे हैं ॥ ६१ ॥

विशालायतताम्राक्षैः पूर्णचन्द्रनिभाननैः ।
एषा भूः कीर्यते राज्ञां शिरोभिरपलायिनाम् ॥ ६२ ॥

'युद्ध छोड़कर पीछे न हटनेवाले राजाओंके मस्तकोंसे रणभूमि पटती जा रही है। वे मस्तक पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुख और लाल-लाल विशाल नेत्रोंसे सुशोभित हैं ॥

एते सुपरिघाकाराः पुण्यगन्धानुलेपनाः।
उद्यतायुधशौण्डानां पात्यन्ते सायुधा भुजाः॥ ६३॥

'अस्त्र उठाये हुए युद्ध-कुशल वीरोंकी ये परिघ-जैसी मोटी और पवित्र सुगन्धयुक्त चन्दनसे चर्चित भुजाएँ आयुधोंसहित काटकर गिरायी जाने लगी हैं ॥ ६३ ॥

निरस्तनेत्रजिह्वान्त्रा वाजिनः सह सादिभिः।
पतिताः पात्यमानाश्च क्षितौ क्षीणाश्च शेरते॥ ६४॥

'जिनके नेत्र, जीभ और आँतें बाहर निकल आयी हैं, वे गिरे और गिराये जाते हुए घुड़सवारोंसहित घोड़े क्षत-विक्षत होकर पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥ ६४ ॥

एते पर्वतशृङ्गाणां तुल्यरूपा हता द्विपाः।
संछिन्नभिन्नाः पार्थेन प्रपतन्त्यद्रयो यथा॥ ६५॥

'ये पर्वतशिखरोंके समान विशालकाय हाथी अर्जुनके द्वारा मारे जाकर छिन्न-भिन्न हो पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे हैं ॥ ६५ ॥

गन्धर्वनगराकारा रथा हतनरेश्वराः।
विमानानीव पुण्यानि स्वर्गिणां निपतन्त्यमी॥ ६६॥

'जिनके नरेश मारे गये हैं, वे गन्धर्वनगरके समान विशाल रथ स्वर्गवासियोंके पुण्यमय विमानोंके समान नीचे गिर रहे हैं ॥ ६६ ॥

व्याकुलीकृतमत्यर्थं पश्य सैन्यं किरीटिना।
नानामृगसहस्राणां यूथं केसरिणा यथा॥ ६७॥

'देखो, किरीटधारी अर्जुनने कौरवसेनाको उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुल कर दिया है, जैसे सिंह नाना जातिके सहस्रों मृगोंको भयभीत कर देता है ॥ ६७ ॥

घ्नन्त्येते पार्थिवान् वीराः पाण्डवाः समभिद्रुताः।
नागाश्वरथपत्त्योघांस्तावकान् समभिघ्नतः॥ ६८॥

'तुम्हारे सैनिकोंके आक्रमण करनेपर ये वीर पाण्डव-योद्धा अपने ऊपर प्रहार करनेवाले राजाओं तथा हाथी, घोड़े, रथ और पैदलसमूहोंको मार रहे हैं ॥ ६८ ॥

एष सूर्य इवाम्भोदैश्छन्नः पार्थो न दृश्यते।
ध्वजाग्रं दृश्यते त्वस्य ज्याशब्दश्चापि श्रूयते॥ ६९॥

'जैसे सूर्य बादलोंसे ढक जाते हैं, उसी प्रकार आड़में पड़ जानेके कारण ये अर्जुन नहीं दिखायी देते हैं; परंतु इनके ध्वजका अग्रभाग दीख रहा है और प्रत्यञ्चाकी टंकार भी सुनायी पड़ती है ॥ ६९ ॥

अद्य द्रक्ष्यसि तं वीरं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
निघ्नन्तं शात्रवान् संख्ये यं कर्ण परिपृच्छसि॥ ७०॥

'कर्ण ! तुम जिन्हें पूछ रहे थे, युद्धस्थलमें शत्रुओंका संहार करते हुए उन कृष्णसारथि श्वेतवाहन वीर अर्जुनको अभी देखोगे ॥ ७० ॥

अद्य तौ पुरुषव्याघ्रौ लोहिताक्षौ परंतपौ।
वासुदेवार्जुनौ कर्ण द्रष्टास्येकरथे स्थितौ॥ ७१॥

'कर्ण ! लाल नेत्रोंवाले उन शत्रुसंतापी पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको आज तुम एक रथपर बैठे हुए देखोगे ॥७१॥

सारथिर्यस्य वार्ष्णेयो गाण्डीवं यस्य कार्मुकम्।
तं चेद्धन्तासि राधेय त्वं नो राजा भविष्यसि॥७२॥

'राधापुत्र ! श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं और गाण्डीव जिनका धनुष है, उन अर्जुनको यदि तुमने मार लिया तो तुम हमारे राजा हो जाओगे ॥ ७२ ॥

एष संशप्तकाहूतस्तानेवाभिमुखो गतः।
करोति कदनं चैषां संग्रामे द्विषतां बली॥ ७३॥

'यह देखो, संशप्तकोंकी ललकार सुनकर महाबली अर्जुन उन्हींकी ओर चल पड़े और अब संग्राममें उन शत्रुओंका संहार कर रहे हैं' ॥ ७३ ॥

इति ब्रुवाणं मद्रेशं कर्णः प्राहातिमन्युना।
पश्य संशप्तकैः क्रुद्धैः सर्वतः समभिद्रुतः॥ ७४॥

ऐसी बातें कहते हुए मद्रराज शल्यसे कर्णने अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—'तुम्हीं देखो न, रोषमें भरे हुए संशप्तकोंने उनपर चारों ओरसे आक्रमण कर दिया है ॥ ७४ ॥

एष सूर्य इवाम्भोदैश्छन्नः पार्थो न दृश्यते।
एतदन्तोऽर्जुनः शल्य निमग्नो योधसागरे॥ ७५॥

'यह लो, बादलोंसे ढके हुए सूर्यके समान अर्जुन अब नहीं दिखायी देते हैं। शल्य ! अब अर्जुनका यहीं अन्त हुआ समझो। वे योद्धाओंके समुद्रमें डूब गये' ॥ ७५ ॥

शल्य उवाच

वरुणं कोऽम्भसा हन्यादिन्धनेन च पावकम्।
को वानिलं निगृह्णीयात् पिबेद् वा को महार्णवम्॥७६॥

शल्यने कहा—कर्ण ! कौन ऐसा वीर है, जो जलसे वरुणको और ईंधनसे अग्निको मार सके ? वायुको कौन कैद कर सकता है अथवा महासागरको कौन पी सकता है ?॥७६॥

ईदृग्रूपमहं मन्ये पार्थस्य युधि विग्रहम्।
न हि शक्योऽर्जुनो जेतुं युधि सेन्द्रैः सुरासुरैः॥ ७७॥

मैं युद्धमें अर्जुनके स्वरूपको ऐसा ही समझता हूँ। संग्रामभूमिमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके द्वारा भी अर्जुन नहीं जीते जा सकते ॥ ७७ ॥

अथवा परितोषस्ते वाचोक्त्वा सुमना भव।
न स शक्यो युधा जेतुमन्यं कुरु मनोरथम्॥ ७८॥

अथवा यदि तुम्हें इसीसे संतोष होता है तो वाणीमात्रसे अर्जुनके वधकी चर्चा करके मन-ही-मन प्रसन्न हो लो। परंतु वास्तवमें युद्धके द्वारा कोई भी अर्जुनको जीत नहीं

सकता । अतः अब तुम कोई और ही मनसूबा बाँधो ॥७८॥

बाहुभ्यामुद्धरेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ७९ ॥

जो समराङ्गणमें अर्जुनको जीत ले, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंसे पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस सारी प्रजाको दग्ध कर सकता है तथा देवताओंको भी स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ ७९ ॥

पश्य कुन्तीसुतं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम् ।
प्रभासन्तं महाबाहुं स्थितं मेरुमिवापरम् ॥ ८० ॥

लो देख लो, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भयंकर वीर महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन दूसरे मेरुपर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हुए प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८० ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धश्चिरं वैरमनुस्मरन् ।
एष भीमो जयप्रेप्सुर्युधि तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ८१ ॥

सदा क्रोधमें भरे रहकर दीर्घकालतक बैरको याद रखनेवाले ये अमर्षशील पराक्रमी भीमसेन विजयकी अभिलाषा लेकर युद्धके लिये खड़े हैं ॥ ८१ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
तिष्ठत्यसुकरः संख्ये परैः परपुरञ्जयः ॥ ८२ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले, ये धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर भी युद्धभूमिमें खड़े हैं । शत्रुओंके लिये इन्हें पराजित करना आसान नहीं है ॥ ८२ ॥

एतौ च पुरुषव्याघ्रावश्विनाविव सोदरौ ।
नकुलः सहदेवश्च तिष्ठतो युधि दुर्जयौ ॥ ८३ ॥

ये अश्विनीकुमारोंके समान सुन्दर दोनों भाई पुरुषप्रवर नकुल और सहदेव भी युद्धस्थलमें खड़े हैं । इन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन है ॥ ८३ ॥

अमी स्थिता द्रौपदेयाः पञ्च पञ्चाचला इव ।
व्यवस्थिता योद्धुकामाः सर्वेऽर्जुनसमा युधि ॥ ८४ ॥

ये द्रौपदीके पाँचों पुत्र पाँच पर्वतोंके समान अविचल भावसे युद्धके लिये खड़े हैं । रणभूमिमें ये सब-के-सब अर्जुनके समान पराक्रमी हैं ॥ ८४ ॥

एते द्रुपदपुत्राश्च धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
स्फीताः सत्यजितो वीरास्तिष्ठन्ति परमौजसः ॥ ८५ ॥

ये समृद्धिशाली, सत्यविजयी तथा परम बलवान् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न आदि वीर युद्धके लिये डटे हुए हैं ॥ ८५ ॥

असाविन्द्र इवासह्यः सात्यकिः सात्वतां वरः ।
युयुत्सुरुपयात्यस्मान् क्रुद्धान्तकसमः पुरः ॥ ८६ ॥

वह सामने सात्वतवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि, जो शत्रुओंके लिये इन्द्रके समान असह्य हैं, क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान युद्धकी इच्छा लेकर सामनेसे हमलोगोंकी ओर आ रहे हैं ॥ ८६ ॥

इति संवदतोरेव तयोः पुरुषसिंहयोः ।
ते सेने समसज्जेतां गङ्गायमुनवद् भृशम् ॥ ८७ ॥

राजन् ! वे दोनों पुरुषसिंह शल्य और कर्ण इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि कौरव और पाण्डवकी दोनों सेनाएँ गङ्गा और यमुनाके समान एक दूसरीसे वेगपूर्वक जा मिलीं ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णशल्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और शल्यका संवादविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १६ श्लोक मिलाकर कुल १०३ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका भयंकर युद्ध तथा अर्जुन और कर्णका पराक्रम

धृतराष्ट्र उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु संसक्तेषु च संजय ।
संशप्तकान् कथं पार्थो गतः कर्णश्च पाण्डवान् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार जब सारी सेनाओंकी व्यूहरचना हो गयी और दोनों दलोंके योद्धा परस्पर युद्ध करने लगे, तब कुन्तीपुत्र अर्जुनने संशप्तकोंपर और कर्णने पाण्डव-योद्धाओंपर कैसे धावा किया ? ॥ १ ॥

एतद् विस्तरशो युद्धं प्रब्रूहि कुशलो ह्यसि ।
न हि तृप्यामि वीराणां शृण्वानो विक्रमान् रणे ॥ २ ॥

सूत ! तुम युद्धसम्बन्धी इस समाचारका विस्तारपूर्वक वर्णन करो, क्योंकि इस कार्यमें कुशल हो । रणभूमिमें वीरोंके पराक्रमका वर्णन सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २ ॥

संजय उवाच

तदास्थितमवज्ञाय प्रत्यमित्रबलं महत् ।
अव्यूहतार्जुनो व्यूहं पुत्रस्य तव दुर्नये ॥ ३ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपके पुत्रकी दुर्नीतिके कारण शत्रुओंकी उस विशाल सेनाको युद्धमें उपस्थित जानकर अर्जुनने अपनी सेनाका भी व्यूह बनाया ॥ ३ ॥

तत् सादिनागकलिलं पदातिरथसंकुलम् ।
धृष्टद्युम्नमुखं व्यूहमशोभत महद् बलम् ॥ ४ ॥

घुड़सवारों, हाथियों, रथों तथा पैदलोंसे भरे हुए उस व्यूहके मुखभागमें धृष्टद्युम्न खड़े थे, जिससे उस विशाल सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४ ॥

पारावतसवर्णाश्वश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः ।
पार्षतः प्रबभौ धन्वी कालो विग्रहवानिव ॥ ५ ॥

कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंसे युक्त और चन्द्रमा तथा सूर्यके समान तेजस्वी धनुर्धर वीर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न वहाँ मूर्तिमान् कालके समान जान पड़ते थे ॥ ५ ॥

पार्षतं जुगुपुः सर्वे द्रौपदेया युयुत्सवः।
दिव्यवर्मायुधधराः शार्दूलसमविक्रमाः ॥ ६ ॥
सानुगा दीप्तवपुषश्चन्द्रं तारागणा इव।

दिव्य कवच और आयुध धारण किये, सिंहके समान पराक्रमी सेवकोंसहित समस्त द्रौपदीपुत्र युद्धके लिये उत्सुक हो धृष्टद्युम्नकी रक्षा करने लगे, मानो तेजस्वी शरीरवाले नक्षत्र चन्द्रमाका संरक्षण कर रहे हों ॥ ६½ ॥

अथ व्यूढेष्वनीकेषु प्रेक्ष्य संशप्तकान् रणे ॥ ७ ॥
क्रुद्धोऽर्जुनोऽभिदुद्राव व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर रणभूमिमें संशप्तकोंकी ओर देखकर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए उनपर आक्रमण किया ॥ ७½ ॥

अथ संशप्तकाः पार्थमभ्यधावन् वधैषिणः ॥ ८ ॥
विजये धृतसंकल्पा मृत्युं कृत्वा निवर्तनम्।

तब विजयका दृढ़ संकल्प लेकर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेका निमित्त बनाकर अर्जुनके वधकी इच्छावाले संशप्तकोंने भी उनपर धावा बोल दिया ॥ ८½ ॥

तन्नराश्वौघबहुलं मत्तनागरथाकुलम् ॥ ९ ॥
पत्तिमच्छूरवीरौघं द्रुतमर्जुनमार्दयत्।

संशप्तकोंकी सेनामें पैदल मनुष्यों और घुड़सवारोंकी संख्या बहुत अधिक थी। मतवाले हाथी और रथ भी भरे हुए थे। पैदलोंसहित शूरवीरोंके उस समुदायने तुरंत ही अर्जुनको पीड़ा देना आरम्भ किया ॥ ९½ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तेषामासीत् किरीटिना ॥ १० ॥
तस्यैव नः श्रुतो यादृङ्निवातकवचैः सह।

किरीटधारी अर्जुनके साथ संशप्तकोंका वह संग्राम वैसा ही भयानक था, जैसा कि निवातकवच नामक दानवोंके साथ अर्जुनका युद्ध हमने सुन रक्खा है ॥ १०½ ॥

रथानश्वान् ध्वजान् नागान् पत्तीन् रणगतानपि॥११॥
इषून् धनूंषि खङ्गांश्च चक्राणि च परश्वधान्।
सायुधानुद्यतान् बाहून् विविधान्यायुधानि च॥१२॥
चिच्छेद द्विषतां पार्थः शिरांसि च सहस्रशः।

तदनन्तर कुन्तीकुमार अर्जुनने रणस्थलमें आये हुए शत्रुपक्षके रथों, घोड़ों, ध्वजों, हाथियों और पैदलोंको भी काट डाला, उन्होंने शत्रुओंके धनुष, बाण, खड्ग, चक्र, फरसे, आयुधोंसहित उठी हुई भुजा, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र तथा सहस्रों मस्तक काट गिराये ॥ ११-१२½ ॥

तस्मिन् सैन्यमहावर्ते पातालतलसंनिभे ॥ १३ ॥
निमग्नं तं रथं मत्वा नेदुः संशप्तका मुदा।

सेनाओंकी उस विशाल भँवरमें जो पातालतलके समान प्रतीत होता था, अर्जुनके उस रथको निमग्न हुआ मानकर संशप्तक सैनिक प्रसन्न हो सिंहनाद करने लगे ॥ १३½ ॥

स पुनस्तानरीन् हत्वा पुनरुत्तरतोऽवधीत् ॥ १४ ॥
दक्षिणेन च पश्चाच्च क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव।

तत्पश्चात् उन शत्रुओंका वध करके पुनः अर्जुनने कुपित हो उत्तर, दक्षिण और पश्चिमकी ओरसे आपकी सेनाका उसी प्रकार संहार आरम्भ किया, जैसे प्रलयकालमें रुद्रदेव पशुओं (जगत्के प्राणियों) का विनाश करते हैं ॥ १४½ ॥

अथ पञ्चालचेदीनां सृंजयानां च मारिष ॥ १५ ॥
त्वदीयैः सह संग्राम आसीत् परमदारुणः।

माननीय नरेश ! फिर आपके सैनिकोंके साथ पाञ्चाल, चेदि और सृंजय वीरोंका अत्यन्त भयंकर संग्राम होने लगा१५½

कृपश्च कृतवर्मा च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १६ ॥
हृष्टसेनाः सुसंरब्धा रथानीकप्रहारिणः।
कोसलैः काश्यमत्स्यैश्च कारूषैः केकयैरपि ॥ १७ ॥
शूरसेनैः शूरवरैर्युयुधुर्युद्धदुर्मदाः ।

रथियोंकी सेनामें प्रहार करनेमें कुशल कृपाचार्य, कृतवर्मा और सुबलपुत्र शकुनि—ये रणदुर्मद वीर अत्यन्त कुपित हो हर्षमें भरी हुई सेना साथ लेकर कोसल, काशि, मत्स्य, करूष, केकय तथा शूरसेनदेशीय शूरवीरोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १६-१७½ ॥

तेषामन्तकरं युद्धं देहपाप्मासुनाशनम् ॥ १८ ॥
क्षत्रविट्शूद्रवीराणां धर्म्यं स्वर्ग्यं यशस्करम्।

उनका वह युद्ध क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रवीरोंके शरीर, पाप और प्राणोंका विनाश करनेवाला, संहारकारी, धर्मसंगत, स्वर्गदायक तथा यशकी वृद्धि करनेवाला था ॥ १८½ ॥

दुर्योधनोऽथ सहितो भ्रातृभिर्भरतर्षभ ॥ १९ ॥
गुप्तः कुरुप्रवीरैश्च मद्राणां च महारथैः।
पाण्डवैः सह पञ्चालैश्चेदिभिः सात्यकेन च ॥ २० ॥
युध्यमानं रणे कर्णं कुरुवीरो व्यपालयत्।

भरतश्रेष्ठ ! भाइयोंसहित कुरुवीर दुर्योधन कौरव वीरों तथा मद्रदेशीय महारथियोंसे सुरक्षित हो रणभूमिमें पाण्डवों, पाञ्चालों, चेदिदेशके वीरों तथा सात्यकिके साथ जूझते हुए कर्णकी रक्षा करने लगा ॥ १९-२०½ ॥

कर्णोऽपि निशितैर्बाणैर्विनिहत्य महाचमूम् ॥ २१ ॥
प्रमृद्य च रथश्रेष्ठान् युधिष्ठिरमपीडयत्।

कर्ण भी अपने पैने बाणोंसे विशाल पाण्डवसेनाको हताहत करके बड़े-बड़े रथियोंको धूलमें मिलाकर युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगा ॥ २१½ ॥

विवस्त्रायुधदेहासून् कृत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ २२ ॥
युक्त्वा स्वर्गयशोभ्यां च स्वेभ्यो मुदमुदावहत्।

वह सहस्रों शत्रुओंको वस्त्र, आयुध, शरीर और प्राणोंसे शून्य करके उन्हें स्वर्ग और सुयशसे संयुक्त करता हुआ आत्मीयजनोंको आनन्द प्रदान करने लगा॥२२½॥

एवं मारिष संग्रामो नरवाजिगजक्षयः।
कुरूणां सृञ्जयानां च देवासुरसमोऽभवत् ॥ २३ ॥

मान्यवर ! इस प्रकार मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंका विनाश करनेवाला वह कौरवों तथा सृंजयोंका युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णके द्वारा बहुत-से योद्धाओंसहित पाण्डवसेनाका संहार, भीमसेनके द्वारा कर्णपुत्र भानुसेनका वध, नकुल और सात्यकिके साथ वृषसेनका युद्ध तथा कर्णका राजा युधिष्ठिरपर आक्रमण

धृतराष्ट्र उवाच

यत्तत् प्रविश्य पार्थानां सैन्यं कुर्वञ्जनक्षयम्।
कर्णो राजानमभ्येत्य तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! कर्ण कुन्तीपुत्रोंकी सेनामें प्रवेश करके राजा युधिष्ठिरके पास पहुँचकर जो जनसंहार कर रहा था, उसका समाचार मुझे सुनाओ ॥ १ ॥

के च प्रवीराः पार्थानां युधि कर्णमवारयन्।
कांश्च प्रमथ्याधिरथिर्युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ २ ॥

उस समय पाण्डवपक्षके किन-किन प्रमुख वीरोंने युद्धस्थलमें कर्णको आगे बढ़नेसे रोका और किन-किनको रौंदकर सूतपुत्र कर्णने युधिष्ठिरको पीड़ित किया ॥ २ ॥

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नमुखान् पार्थान् दृष्ट्वा कर्णो व्यवस्थितान्।
समभ्यधावत्त्वरितः पञ्चालाञ्छत्रुकर्षिणः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! कर्णने धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव-वीरोंको खड़ा देख बड़ी उतावलीके साथ शत्रुसंहारकारी पाञ्चालोंपर धावा किया ॥ ३ ॥

तं तूर्णमभिधावन्तं पञ्चाला जितकाशिनः।
प्रत्युद्ययुर्महात्मानं हंसा इव महार्णवम् ॥ ४ ॥

विजयसे उल्लसित होनेवाले पाञ्चाल वीर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करते हुए महामना कर्णकी अगवानीके लिये उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे हंस महासागरकी ओर बढ़ते हैं ॥४॥

ततः शङ्खसहस्राणां निःस्वनो हृदयङ्गमः।
प्रादुरासीदुभयतो भेरीशब्दश्च दारुणः ॥ ५ ॥

तदनन्तर दोनों सेनाओंमें सहसा सहस्रों शङ्खोंकी ध्वनि प्रकट हुई, जो हृदयको कम्पित कर देती थी। साथ ही भयंकर भेरीनाद भी होने लगा ॥ ५ ॥

नानाबाणनिपाताश्च द्विपाश्वरथनिःस्वनः।
सिंहनादश्च वीराणामभवद् दारुणस्तदा ॥ ६ ॥

उस समय नाना प्रकारके बाणोंके गिरने, हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हींसने, रथके घर्घराने तथा वीरोंके सिंह-नाद करनेका दारुण शब्द वहाँ गूँज उठा ॥ ६ ॥

साद्रिद्रुमार्णवा भूमिः सवाताम्बुदमम्बरम्।
सार्केन्दुग्रहनक्षत्रा द्यौश्च व्यक्तं विघूर्णिता ॥ ७ ॥

पर्वत, वृक्ष और समुद्रोंसहित पृथ्वी, वायु तथा मेघों-सहित आकाश एवं सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित स्वर्ग स्पष्ट ही घूमते-से जान पड़े ॥ ७ ॥

इति भूतानि तं शब्दं मेनिरे ते च विव्यथुः।
यानि चाप्यल्पसत्त्वानि प्रायस्तानि मृतानि च ॥ ८ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणियोंने उस तुमुल नादको सुना और सब-के-सब व्यथित हो उठे। उनमें जो दुर्बल प्राणी थे, वे प्रायः मर गये ॥ ८ ॥

अथ कर्णो भृशं क्रुद्धः शीघ्रमस्त्रमुदीरयन्।
जघान पाण्डवीं सेनामासुरीं मघवानिव ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् जैसे इन्द्र असुरोंकी सेनाका विनाश करते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए कर्णने शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाकर पाण्डवसेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ९ ॥

स पाण्डवबलं कर्णः प्रविश्य विसृजञ्छरान्।
प्रभद्रकाणां प्रवरानहनत् सप्तसप्ततिम् ॥ १० ॥

पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णने प्रभद्रकोंके सतहत्तर प्रमुख वीरोंको मार डाला ॥१०॥

ततः सुपुङ्खैर्निशितै रथश्रेष्ठो रथेषुभिः।
अवधीत् पञ्चविंशत्या पञ्चालान् पञ्चविंशतिम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णने सुन्दर पंखवाले पचीस पैने बाणोंद्वारा पचीस पाञ्चालोंको कालके गालमें भेज दिया ॥११॥

सुवर्णपुङ्खैर्नाराचैः परकायविदारणैः।
चेदिकानवधीद् वीरः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १२ ॥

वीर कर्णने शत्रुओंके शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले सुवर्णमय पंखयुक्त नाराचोंद्वारा सैकड़ों और हजारों चेदि-देशीय वीरोंका वध कर डाला ॥ १२ ॥

तं तथा समरे कर्म कुर्वाणमतिमानुषम्।
परिवव्रुर्महाराज पञ्चालानां रथव्रजाः ॥ १३ ॥

महाराज ! इस प्रकार समराङ्गणमें अलौकिक कर्म करनेवाले कर्णको पाञ्चाल रथियोंने चारों ओरसे घेर लिया ॥

ततः संधाय विशिखान् पञ्च भारत दुःसहान्।
पञ्चालानवधीत् पञ्च कर्णो वैकर्तनो वृषः ॥ १४ ॥
भानुदेवं चित्रसेनं सेनाबिन्दुं च भारत।
तपनं शूरसेनं च पञ्चालानहनद् रणे ॥ १५ ॥

भारत ! तब उस रणक्षेत्रमें धर्मात्मा वैकर्तन कर्णने पाँच दुःसह बाणोंका संधान करके भानुदेव, चित्रसेन, सेनाबिन्दु, तपन तथा शूरसेन—इन पाँच पाञ्चाल वीरोंका संहार कर दिया ॥ १४-१५ ॥

पञ्चालेषु च शूरेषु वध्यमानेषु सायकैः।
हाहाकारो महानासीत् पञ्चालानां महाहवे ॥ १६ ॥

उस महासमरमें बाणोंद्वारा उन शूरवीर पाञ्चालोंके मारे जानेपर पाञ्चालोंकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥१६॥

परिवव्रुर्महाराज पञ्चालानां रथा दश।
पुनरेव च तान् कर्णो जघानाशु पतत्रिभिः ॥ १७ ॥

महाराज ! फिर दस पाञ्चाल महारथियोंने आकर कर्णको घेर लिया, परंतु कर्णने अपने बाणोंद्वारा पुनः उन सबको तत्काल मार डाला ॥ १७ ॥

चक्ररक्षौ तु कर्णस्य पुत्रौ मारिष दुर्जयौ।
सुषेणः सत्यसेनश्च त्यक्त्वा प्राणानयुध्यताम् ॥ १८ ॥

माननीय नरेश ! कर्णके दो दुर्जय पुत्र सुषेण और चित्रसेन उसके पहियोंकी रक्षामें तत्पर हो प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते थे ॥ १८ ॥

पृष्ठगोप्ता तु कर्णस्य ज्येष्ठः पुत्रो महारथः।
वृषसेनः स्वयं कर्णं पृष्ठतः पर्यपालयत् ॥ १९ ॥

कर्णका ज्येष्ठ पुत्र महारथी वृषसेन पृष्ठरक्षक था। वह स्वयं ही कर्णके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहा था ॥ १९ ॥

धृष्टद्युम्नः सात्यकिश्च द्रौपदेया वृकोदरः।
जनमेजयः शिखण्डी च प्रवीराश्च प्रभद्रकाः ॥ २० ॥
चेदिकेकयपाञ्चाला यमौ मत्स्याश्च दंशिताः।
समभ्यधावन् राधेयं जिघांसन्तः प्रहारिणम् ॥ २१ ॥

उस समय प्रहार करनेवाले राधापुत्र कर्णको मार डालनेकी इच्छासे धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, भीमसेन, जनमेजय, शिखण्डी, प्रमुख प्रभद्रक वीर, चेदि, केकय और पाञ्चाल देशके योद्धा, नकुल-सहदेव तथा मत्स्यदेशीय सैनिकोंने कवचसे सुसज्जित हो उसपर धावा बोल दिया २०-२१

त एनं विविधैः शस्त्रैः शरधाराभिरेव च।
अभ्यवर्षन् विमर्दन्तं प्रावृषीवाम्बुदा गिरिम् ॥ २२ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें बादल पर्वतपर जलकी धारा गिराते हैं, उसी प्रकार उन पाण्डव वीरोंने अपनी सेनाका मर्दन करनेवाले कर्णपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों और बाण-धाराओंकी वृष्टि की ॥ २२ ॥

पितरं तु परीप्सन्तः कर्णपुत्राः प्रहारिणः।
त्वदीयाश्चापरे राजन् वीरा वीरानवारयन् ॥ २३ ॥

राजन् ! उस समय अपने पिताकी रक्षा चाहनेवाले प्रहारकुशल कर्णपुत्र तथा आपकी सेनाके दूसरे-दूसरे वीर पूर्वोक्त पाण्डववीरोंका निवारण करने लगे ॥ २३ ॥

सुषेणो भीमसेनस्य छित्त्वा भल्लेन कार्मुकम्।
नाराचैः सप्तभिर्विद्ध्वा हृदि भीमं ननाद ह ॥ २४ ॥

सुषेणने एक भल्लसे भीमसेनके धनुषको काटकर उनकी छातीमें सात नाराचोंका प्रहार करके भयंकर गर्जना की २४

अथान्यद् धनुरादाय सुदृढं भीमविक्रमः।
सज्यं वृकोदरः कृत्वा सुषेणस्याच्छिनद् धनुः॥ २५ ॥

तदनन्तर भीषण पराक्रम प्रकट करनेवाले भीमसेनने दूसरा सुदृढ़ धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और सुषेणके धनुषको काट डाला ॥ २५ ॥

विव्याध चैनं दशभिः क्रुद्धो नृत्यन्निवेषुभिः।
कर्णं च तूर्णं विव्याध त्रिसप्तत्या शितैः शरैः ॥ २६ ॥

साथ ही कुपित हो नृत्य-से करते हुए भीमने दस बाणोंद्वारा उसे घायल कर दिया और तिहत्तर पैने बाणोंसे तुरंत ही कर्णको भी पीट दिया ॥ २६ ॥

भानुसेनं च दशभिः साश्वसूतायुधध्वजम्।
पश्यतां सुहृदां मध्ये कर्णपुत्रमपातयत् ॥ २७ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने हितैषी सुहृदोंके बीचमें उनके देखते-देखते कर्णके पुत्र भानुसेनको दस बाणोंसे घोड़े, सारथि, आयुध और ध्वजोंसहित मार गिराया ॥ २७ ॥

क्षुरप्रणुन्नं तत्तस्य शिरश्चन्द्रनिभाननम्।
शुभदर्शनमेवासीन्नालभ्रष्टमिवाम्बुजम् ॥ २८ ॥

भीमसेनके क्षुरसे कटा हुआ चन्द्रोपम मुखसे युक्त भानुसेनका वह मस्तक नालसे कटकर गिरे हुए कमलपुष्पके समान सुन्दर ही दिखायी दे रहा था ॥ २८ ॥

हत्वा कर्णसुतं भीमस्तावकान् पुनरार्दयत्।
कृपहार्दिक्ययोश्छित्त्वा चापौ तावप्यथार्दयत् ॥ २९ ॥

कर्णके पुत्रका वध करके भीमसेनने पुनः आपके सैनिकोंका मर्दन आरम्भ किया। कृपाचार्य और कृतवर्माके धनुषोंको काटकर उन दोनोंको भी गहरी चोट पहुँचायी॥२९॥

दुःशासनं त्रिभिर्विद्ध्वा शकुनिं षड्भिरायसैः।
उलूकं च पतत्रिं च चकार विरथावुभौ ॥ ३० ॥

तीन बाणोंसे दुःशासनको और छः लोहेके बाणोंसे शकुनिको भी घायल करके उलूक और पतत्रि दोनों वीरोंको रथहीन कर दिया ॥ ३० ॥

सुषेणं च हतोऽसीति ब्रुवन्नादत्त सायकम्।
तमस्य कर्णश्चिच्छेद त्रिभिश्चैनमताडयत् ॥ ३१ ॥

फिर सुषेणसे यह कहते हुए बाण हाथमें लिया कि 'अब तू मारा गया।' किंतु कर्णने भीमसेनके उस बाणको काट डाला और तीन बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥३१॥

अथान्यं परिजग्राह सुपर्वाणं सुतेजनम्।
सुषेणायासृजद् भीमस्तमप्यस्याच्छिनद् वृषः ॥ ३२ ॥

तब भीमसेनने सुन्दर गाँठ और तेज धारवाले दूसरे बाणको हाथमें लिया और उसे सुषेणपर चला दिया; किंतु कर्णने उसको भी काट डाला ॥ ३२ ॥

पुनः कर्णस्त्रिसप्तत्या भीमसेनमथेषुभिः।
पुत्रं परीप्सन् विव्याध क्रूरं क्रूरैर्जिघांसया ॥ ३३ ॥

फिर पुत्रके प्राण बचानेकी इच्छासे कर्णने क्रूर भीमसेनको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर उनपर तिहत्तर बाणोंका प्रहार किया ॥ ३३ ॥

सुषेणस्तु धनुर्गृह्य भारसाधनमुत्तमम्।
नकुलं पञ्चभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ३४ ॥

तब सुषेणने महान् भारको सह लेनेवाले श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर नकुलकी दोनों भुजाओं और छातीमें पाँच बाणोंका प्रहार किया ॥ ३४ ॥

नकुलस्तं तु विंशत्या विद्ध्वा भारसहैर्दृढैः।
ननाद बलवन्नादं कर्णस्य भयमादधत् ॥ ३५ ॥

नकुलने भी भार सहन करनेमें समर्थ बीस सुदृढ़ बाणोंद्वारा सुषेणको घायल करके कर्णके मनमें भय उत्पन्न करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३५ ॥

तं सुषेणो महाराज विद्ध्वा दशभिराशुगैः।
चिच्छेद च धनुः शीघ्रं क्षुरप्रेण महारथः ॥ ३६ ॥

महाराज ! महारथी सुषेणने दस बाणोंसे नकुलको चोट पहुँचाकर शीघ्र ही एक क्षुरप्रके द्वारा उनका धनुष काट दिया ॥ ३६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय नकुलः क्रोधमूर्छितः।
सुषेणं नवभिर्बाणैर्वारयामास संयुगे ॥ ३७ ॥

तब क्रोधसे अचेत-से होकर नकुलने दूसरा धनुष हाथमें लिया और सुषेणको नौ बाण मारकर उसे युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३७ ॥

स तु बाणैर्दिशो राजन्नाच्छाद्य परवीरहा।
आजघ्ने सारथिं चास्य सुषेणं च ततस्त्रिभिः ॥ ३८ ॥
चिच्छेद चास्य सुदृढं धनुर्भल्लैस्त्रिभिस्त्रिधा।

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने अपने बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करके फिर तीन बाणोंसे सुषेण और उसके सारथिको भी घायल कर दिया। साथ ही तीन भल्ल मारकर उसके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३८½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सुषेणः क्रोधमूर्छितः ॥ ३९ ॥
आविध्यन्नकुलं षष्ट्या सहदेवं च सप्तभिः।

तब क्रोधसे मूर्छित हुए सुषेणने दूसरा धनुष लेकर नकुलको साठ और सहदेवको सात बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ३९½ ॥

तद् युद्धं सुमहद् घोरमासीद् देवासुरोपमम् ॥ ४० ॥
निघ्नतां सायकैस्तूर्णमन्योन्यस्य वधं प्रति।

बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेके वधके लिये चोट करते हुए वीरोंका वह महान् युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था ॥ ४०½ ॥

(सात्यकिर्वृषसेनं तु विद्ध्वा सप्तभिरायसैः।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं च त्रिभिः शरैः॥

सात्यकिने लोहेके बने हुए सात बाणोंसे वृषसेनको घायल करके फिर सत्तर बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। साथ ही तीन बाणोंसे उसके सारथिको भी बींध डाला ॥

वृषसेनस्तु शैनेयं शरेणानतपर्वणा।
आजघान महाराज शङ्खदेशे महारथम् ॥

महाराज ! वृषसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे महारथी सात्यकिके कपालमें आघात किया ॥

शैनेयो वृषसेनेन पत्रिणा परिपीडितः।
कोपं चक्रे महाराज क्रुद्धो वेगं च दारुणम् ॥
जग्राहेषुवरान् वीरः शीघ्रं वै दश पञ्च च।)

महाराज ! वृषसेनके उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर वीर सात्यकिको बड़ा क्रोध हुआ। क्रुद्ध होनेपर उन्होंने भयंकर वेग प्रकट किया और शीघ्र ही पंद्रह श्रेष्ठ बाण हाथमें ले लिये ॥

सात्यकिर्वृषसेनस्य सूतं हत्वा त्रिभिः शरैः ॥ ४१ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन जघानाश्वांश्च सप्तभिः।
ध्वजमेकेषुणोन्मथ्य त्रिभिस्तं हृद्यताडयत् ॥ ४२ ॥

उनमेंसे तीन बाणोंद्वारा सात्यकिने वृषसेनके सारथिको

मारकर एकसे उसका धनुष काट दिया और सात बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला । फिर एक बाणसे उसके ध्वजाको खण्डित करके तीन बाणोंसे वृषसेनकी छातीमें भी चोट पहुँचायी ॥ ४१-४२ ॥

अथावसन्नः स्वरथे मुहूर्तात् पुनरुत्थितः ।
स रणे युयुधानेन विसूताश्वरथध्वजः ॥ ४३ ॥
कृतो जिघांसुः शैनेयं खड्गचर्मधृगभ्ययात् ।

इस प्रकार रणक्षेत्रमें युयुधानके द्वारा सारथि, अश्व एवं रथकी ध्वजासे रहित किया हुआ वृषसेन दो घड़ीतक अपने रथपर ही शिथिल-सा होकर बैठा रहा । फिर उठकर सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे ढाल और तलवार लेकर उनकी ओर बढ़ा ॥ ४३½ ॥

तस्य चापततः शीघ्रं वृषसेनस्य सात्यकिः ॥ ४४ ॥
वाराहकर्णैर्दशभिरविध्यदसिचर्मणी ।

इस प्रकार आक्रमण करते हुए वृषसेनकी तलवार और ढालको सात्यकिने वाराहकर्ण नामक दस बाणोंद्वारा शीघ्र ही खण्डित कर दिया ॥ ४४½ ॥

दुःशासनस्तु तं दृष्ट्वा विरथं व्यायुधं कृतम् ॥ ४५ ॥
आरोप्य स्वरथं तूर्णमपोवाह रणातुरम् ।

तब दुःशासनने वृषसेनको रथ और अस्त्र-शस्त्रोंसे हीन हुआ देख उसे रणसे व्याकुल हुआ मानकर तुरंत ही अपने रथपर बिठा लिया और वहाँसे दूर हटा दिया ॥ ४५½ ॥

अथान्यं रथमास्थाय वृषसेनो महारथः ॥ ४६ ॥
द्रौपदेयांस्त्रिसप्तत्या युयुधानं च पञ्चभिः ।
भीमसेनं चतुःषष्ट्या सहदेवं च पञ्चभिः ॥ ४७ ॥
नकुलं त्रिंशता बाणैः शतानीकं च सप्तभिः ।
शिखण्डिनं च दशभिर्धर्मराजं शतेन च ॥ ४८ ॥
एतांश्चान्यांश्च राजेन्द्र प्रवीराञ्जयगृद्धिनः ।
अभ्यर्दयन्महेष्वासः कर्णपुत्रो विशाम्पते ॥ ४९ ॥
कर्णस्य युधि दुर्धर्षस्ततः पृष्ठमपालयत् ।

तदनन्तर महारथी वृषसेनने दूसरे रथपर बैठकर तिहत्तर बाणोंसे द्रौपदीके पुत्रोंको, पाँचसे युयुधानको, चौंसठसे भीमसेनको, पाँचसे सहदेवको, तीस बाणोंसे नकुलको, सातसे शतानीकको, दस बाणोंसे शिखण्डीको और सौ बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको घायल कर दिया । राजेन्द्र ! प्रजानाथ ! महाधनुर्धर कर्णपुत्रने विजयकी अभिलाषा रखनेवाले इन सभी प्रमुख वीरोंको तथा दूसरोंको भी अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया । तत्पश्चात् वह दुर्धर्ष वीर युद्धस्थलमें पुनः कर्णके पृष्ठभागकी रक्षा करने लगा ॥ ४६–४९½ ॥

दुःशासनं च शैनेयो नवैर्नवभिरायसैः ॥ ५० ॥
विसूताश्वरथं कृत्वा ललाटे त्रिभिरार्पयत् ।

सात्यकिने लोहेके बने हुए नौ नूतन बाणोंसे दुःशासनको सारथि, घोड़ों और रथसे वञ्चित करके उसके ललाटमें तीन बाण मारे ॥ ५०½ ॥

स त्वन्यं रथमास्थाय विधिवत् कल्पितं पुनः ॥ ५१ ॥
युयुधे पाण्डुभिः सार्धं कर्णस्याप्याययन् बलम् ।

दुःशासन विधिपूर्वक सजाये हुए दूसरे रथपर बैठकर कर्णके बलको बढ़ाता हुआ पुनः पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगा ॥ ५१½ ॥

धृष्टद्युम्नस्ततः कर्णमविध्यद् दशभिः शरैः ॥ ५२ ॥
द्रौपदेयास्त्रिसप्तत्या युयुधानस्तु सप्तभिः ।
भीमसेनश्चतुःषष्ट्या सहदेवश्च सप्तभिः ॥ ५३ ॥
नकुलस्त्रिंशता बाणैः शतानीकस्तु सप्तभिः ।
शिखण्डी दशभिर्वीरो धर्मराजः शतेन तु ॥ ५४ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नने कर्णको दस बाणोंसे बींध डाला। फिर द्रौपदीके पुत्रोंने तिहत्तर, सात्यकिने सात, भीमसेनने चौंसठ, सहदेवने सात, नकुलने तीस, शतानीकने सात, शिखण्डीने दस और वीर धर्मराज युधिष्ठिरने सौ बाण कर्णको मारे ॥५२-५४॥

एते चान्ये च राजेन्द्र प्रवीरा जयगृद्धिनः ।
अभ्यर्दयन् महेष्वासं सूतपुत्रं महामृधे ॥ ५५ ॥

राजेन्द्र ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले इन प्रमुख वीरों तथा दूसरोंने भी उस महासमरमें महाधनुर्धर सूतपुत्र कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित कर दिया ॥ ५५ ॥

तान् सूतपुत्रो विशिखैर्दशभिर्दशभिः शरैः ।
रथेनानुचरन् वीरः प्रत्यविध्यदरिंदमः ॥ ५६ ॥

रथसे विचरनेवाले शत्रुदमन वीर सूतपुत्र कर्णने भी उन सबको दस-दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ५६ ॥

तत्रास्त्रवीर्यं कर्णस्य लाघवं च महात्मनः ।
अपश्याम महाभाग तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५७ ॥

महाभाग ! हमने महामना कर्णके अस्त्र-बल और फुर्तीको वहाँ अपनी आँखों देखा था । वह सब कुछ अद्भुत-सा प्रतीत होता था ॥ ५७ ॥

न ह्याददानं ददृशुः संदधानं च सायकान् ।
विमुञ्चन्तं च संरम्भादपश्यन्त हतानरीन् ॥ ५८ ॥

वह कब तरकससे बाण निकालता है, कब धनुषपर रखता है और कब क्रोधपूर्वक शत्रुओंपर छोड़ देता है, यह सब किसीने नहीं देखा । सब लोग मारे जाते हुए शत्रुओंको ही देखते थे ॥ ५८ ॥

(प्रतीच्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्राच्यां पश्याम लाघवात् ।
न तं पश्याम राजेन्द्र क्व नु कर्णोऽधितिष्ठति ॥

राजेन्द्र ! हमलोग एक ही क्षणमें कर्णको पश्चिम दिशामें देखकर उसकी फुर्तीके कारण उसे पूर्व दिशामें भी देखते थे। इस समय कर्ण कहाँ खड़ा है, यह हमलोग नहीं देख पाते थे।।

इषूनेव स्म पश्यामो विनिकीर्णान् समन्ततः ।
छादयानान् दिशो राजञ्शलभानामिव व्रजान्॥)

राजन् ! सब ओर बिखरे हुए उसके बाण ही हमें दिखायी देते थे, जो टिड्डीदलोंके समान सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित किये रहते थे ॥

द्यौर्वियद्भूर्दिशश्चैव प्रपूर्णा निशितैः शरैः ।
अरुणाभ्रावृताकारं तस्मिन् देशे बभौ वियत् ॥ ५९ ॥

द्युलोक, आकाश, भूमि और सम्पूर्ण दिशाएँ पैने बाणोंसे खचाखच भर गयी थीं । उस प्रदेशमें आकाश अरुण रंगके बादलोंसे ढका हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ५९ ॥

नृत्यन्निव हि राधेयश्चापहस्तः प्रतापवान् ।
यैर्विद्धः प्रत्यविद्ध्यत् तानेकैकं त्रिगुणैः शरैः॥ ६० ॥

प्रतापी राधापुत्र कर्ण हाथमें धनुष लेकर नृत्य-सा कर रहा था । जिन-जिन योद्धाओंने उसे एक बाणसे घायल किया, उनमेंसे प्रत्येकको उसने तीन गुने बाणोंसे बींध डाला ॥६०॥

दशभिर्दशभिश्चैतान् पुनर्विद्ध्वा ननाद च ।
साश्वसूतरथच्छत्रांस्ततस्ते विवरं ददुः ॥ ६१ ॥

फिर दस-दस बाणोंसे घोड़ों, सारथि, रथ और छत्रोंसहित इन सबको घायल करके कर्णने सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया । फिर तो उन शत्रुओंने उसे आगे बढ़नेके लिये जगह दे दी ॥ ६१ ॥

तान् प्रमथ्य महेष्वासान् राधेयः शरवृष्टिभिः ।
राजानीकमसम्बाधं प्राविशच्छत्रुकर्शनः ॥ ६२ ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले राधापुत्र कर्णने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उन महाधनुर्धरोंको रौंदकर राजा युधिष्ठिरकी सेनामें बेरोक-टोक प्रवेश किया ॥ ६२ ॥

स रथांस्त्रिशतं हत्वा चेदीनामनिवर्तिनाम् ।
राधेयो निशितैर्बाणैस्ततोऽभ्याच्छेद् युधिष्ठिरम्॥ ६३॥

उसने युद्धसे पीछे न हटनेवाले तीन सौ चेदिदेशीय रथियोंको अपने पैने बाणोंद्वारा मारकर युधिष्ठिरपर आक्रमण किया ॥ ६३ ॥

ततस्ते पाण्डवा राजञ्शिखण्डी च ससात्यकिः ।
राधेयात् परिरक्षन्तो राजानं पर्यवारयन् ॥ ६४ ॥

राजन् ! तब पाण्डवों, शिखण्डी और सात्यकिने राधापुत्र कर्णसे राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करनेके लिये उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ ६४ ॥

तथैव तावकाः सर्वे कर्णं दुर्वारणं रणे ।
यत्ताः शूरा महेष्वासाः पर्यरक्षन्त सर्वशः ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार आपके सभी महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा रणमें अनिवार्य गतिसे विचरनेवाले कर्णकी सब ओरसे प्रयत्न-पूर्वक रक्षा करने लगे ॥ ६५ ॥

नानावादित्रघोषाश्च प्रादुरासन् विशाम्पते ।
सिंहनादश्च संजज्ञे शूराणामभिगर्जताम् ॥ ६६ ॥

प्रजानाथ ! उस समय नाना प्रकारके रणवाद्योंकी ध्वनि होने लगी और सब ओरसे गर्जना करनेवाले शूरवीरोंका सिंहनाद सुनायी देने लगा ॥ ६६ ॥

ततः पुनः समाजग्मुरभीताः कुरुपाण्डवाः ।
युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः सूतपुत्रमुखा वयम् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर पुनः कौरव और पाण्डव योद्धा निर्भय होकर एक दूसरेसे भिड़ गये । एक ओर युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र थे और दूसरी ओर कर्ण आदि हमलोग ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७२½ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कर्ण और युधिष्ठिरका संग्राम, कर्णकी मूर्छा, कर्णद्वारा युधिष्ठिरकी पराजय और तिरस्कार तथा पाण्डवोंके हजारों योद्धाओंका वध और रक्त-नदीका वर्णन तथा पाण्डव महारथियोंद्वारा कौरव-सेनाका विध्वंस और उसका पलायन

संजय उवाच

विदार्य कर्णस्तां सेनां युधिष्ठिरमथाद्रवत् ।
रथहस्त्यश्वपत्तीनां सहस्रैः परिवारितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सहस्रों रथ, हाथी, घोड़े और पैदलोंसे घिरे हुए कर्णने उस सेनाको विदीर्ण करके युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ १ ॥

नानायुधसहस्राणि प्रेरितान्यरिभिर्नृपः ।
छित्त्वा बाणशतैरुग्रैस्तानविध्यदसम्भ्रमात् ॥ २ ॥

धर्मात्मा कर्णने शत्रुओंके चलाये हुए नाना प्रकारके हजारों अस्त्र-शस्त्रोंको काटकर उन सबको सैकड़ों उग्र बाणों-द्वारा बिना किसी घबराहटके बींध डाला ॥ २ ॥

निचकर्त शिरांस्येषां बाहूनूरूंश्च सूतजः ।
ते हता वसुधां पेतुर्भग्नाश्चान्ये विदुद्रुवुः ॥ ३ ॥

सूतपुत्रने पाण्डव सैनिकोंके मस्तकों, भुजाओं और जाँघोंको काट डाला । वे मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े और दूसरे बहुत-से योद्धा घायल होकर भाग गये ॥ ३ ॥

द्राविडास्तु निषादास्तु पुनः सात्यकिचोदिताः ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः पत्तयः कर्णमाहवे ॥ ४ ॥

तब सात्यकिसे प्रेरित होकर द्रविड और निषाद देशोंके पैदल सैनिक कर्णको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे पुनः उसपर टूट पड़े ॥ ४ ॥

ते विबाहुशिरस्त्राणाः प्रहताः कर्णसायकैः ।
पेतुः पृथिव्यां युगपच्छिन्नं शालवनं यथा ॥ ५ ॥

परंतु कर्णके बाणोंसे घायल होकर बाहु, मस्तक और कवच आदिसे रहित हो वे कटे हुए शालवनके समान एक साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

एवं योधशतान्याजौ सहस्राण्ययुतानि च ।
हतानीयुर्महीं देहैर्यशसा पूरयन् दिशः ॥ ६ ॥

इस प्रकार युद्धस्थलमें मारे गये सैकड़ों, हजार और दस हजार योद्धा शरीरसे तो इस पृथ्वीपर गिर पड़े, किंतु अपने यशसे उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंको पूर्ण कर दिया ॥ ६ ॥

अथ वैकर्तनं कर्णं रणे क्रुद्धमिवान्तकम् ।
रुरुधुः पाण्डुपाञ्चाला व्याधिं मन्त्रौषधैरिव ॥ ७ ॥

तदनन्तर रणक्षेत्रमें कुपित हुए यमराजके समान वैकर्तन कर्णको पाण्डवों और पाञ्चालोंने अपने बाणोंद्वारा उसी प्रकार रोक दिया, जैसे चिकित्सक मन्त्रों और औषधोंसे रोगोंकी रोक-थाम कर लेते हैं ॥ ७ ॥

स तान् प्रमृद्याभ्यपतत् पुनरेव युधिष्ठिरम् ।
मन्त्रौषधिक्रियातीतो व्याधिरत्युल्बणो यथा ॥ ८ ॥

परंतु मन्त्र और ओषधियोंकी क्रियासे असाध्य भयानक रोगकी भाँति कर्णने उन सबको रौंदकर पुनः युधिष्ठिरपर ही आक्रमण किया ॥ ८ ॥

स राजगृद्धिभी रुद्धः पाण्डुपाञ्चालकेकयैः ।
नाशकत् तानतिक्रान्तुं मृत्युर्ब्रह्मविदो यथा ॥ ९ ॥

राजाकी रक्षा चाहनेवाले पाण्डवों, पाञ्चालों और केकयोंने पुनः कर्णको रोक दिया। जैसे मृत्यु ब्रह्मवेत्ताओंको नहीं लाँघ सकती, उसी प्रकार कर्ण उन सबको लाँघकर आगे न बढ़ सका ॥ ९ ॥

ततो युधिष्ठिरः कर्णमदूरस्थं निवारितम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १० ॥

उस समय युधिष्ठिरने क्रोधसे लाल आँखें करके शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कर्णसे, जो पास ही रोक दिया गया था, इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

कर्ण कर्ण वृथादृष्टे सूतपुत्र वचः शृणु ।
सदा स्पर्धसि संग्रामे फाल्गुनेन तरस्विना ॥ ११ ॥
तथास्मान् बाधसे नित्यं धार्तराष्ट्रमते स्थितः ।

'कर्ण ! कर्ण ! मिथ्यादर्शी सूतपुत्र ! मेरी बात सुनो । तुम संग्राममें वेगशाली वीर अर्जुनके साथ सदा डाह रखते और दुर्योधनके मतमें रहकर सर्वदा हमें बाधा पहुँचाते हो ॥ ११½ ॥

यद् बलं यच्च ते वीर्यं प्रद्वेषो यस्तु पाण्डुषु ॥ १२ ॥
तत् सर्वं दर्शयस्वाद्य पौरुषं महदास्थितः ।
युद्धश्रद्धां च तेऽद्याहं विनेष्यामि महाहवे ॥ १३ ॥

'परंतु आज तुम्हारे पास जितना बल हो, जो पराक्रम हो तथा पाण्डवोंके प्रति तुम्हारे मनमें जो विद्वेष हो, वह सब महान् पुरुषार्थका आश्रय लेकर दिखाओ । आज महासमरमें मैं तुम्हारा युद्धका हौसला मिटा दूँगा' ॥ १२-१३ ॥

एवमुक्त्वा महाराज कर्णं पाण्डुसुतस्तदा ।
सुवर्णपुङ्खैर्दशभिर्विव्याधायस्मयैः शरैः ॥ १४ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने लोहेके बने हुए सुवर्णपंखयुक्त दस बाणोंद्वारा कर्णको बींध डाला ॥१४॥

तं सूतपुत्रो दशभिः प्रत्यविद्ध्यदरिंदमः ।
वत्सदन्तैर्महेष्वासः प्रहसन्निव भारत ॥ १५ ॥

भारत ! तब शत्रुओंका दमन करनेवाले महाधनुर्धर सूतपुत्रने हँसते हुए-से वत्सदन्त नामक दस बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

सोऽवज्ञाय तु निर्विद्धः सूतपुत्रेण मारिष ।
प्रजज्वाल ततः क्रोधाद्धविषेव हुताशनः ॥ १६ ॥

माननीय नरेश ! सूतपुत्रके द्वारा अवज्ञापूर्वक घायल किये जानेपर फिर राजा युधिष्ठिर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान क्रोधसे जल उठे ॥ १६ ॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो राज्ञो देहो व्यदृश्यत ।
युगान्ते दग्धुकामस्य संवर्ताग्नेरिवापरः ॥ १७ ॥

ज्वालामालाओंसे घिरा हुआ युधिष्ठिरका शरीर प्रलयकालमें जगत्को दग्ध करनेकी इच्छावाले द्वितीय संवर्तक अग्निके समान दिखायी देता था ॥ १७ ॥

ततो विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपरिष्कृतम् ।
समाधत्त शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको फैलाकर उसपर पर्वतोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले तीखे बाणका संधान किया ॥ १८ ॥

ततः पूर्णायतोत्कृष्टं यमदण्डनिभं शरम् ।
मुमोच त्वरितो राजा सूतपुत्रजिघांसया ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने सूतपुत्रको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत ही धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर वह यमदण्डके समान बाण उसके ऊपर छोड़ दिया ॥ १९ ॥

स तु वेगवता मुक्तो बाणो वज्राशनिस्वनः ।
विवेश सहसा कर्णं सव्ये पार्श्वे महारथम् ॥ २० ॥

वेगवान् युधिष्ठिरका छोड़ा हुआ वज्र और बिजलीके समान शब्द करनेवाला वह बाण सहसा महारथी कर्णकी बायीं पसलीमें घुस गया ॥ २० ॥

स तु तेन प्रहारेण पीडितः प्रमुमोह वै।
स्रस्तगात्रो महाबाहुर्धनुरुत्सृज्य स्यन्दने ॥ २१ ॥

उस प्रहारसे पीड़ित हो महाबाहु कर्ण धनुष छोड़कर रथपर ही मूर्छित हो गया। उसका सारा शरीर शिथिल हो गया था ॥ २१ ॥

गतासुरिव निश्चेताः शल्यस्याभिमुखोऽपतत्।
राजापि भूयो नाजघ्ने कर्णं पार्थहितेप्सया ॥ २२ ॥

वह शल्यके सामने ही अचेत होकर ऐसे गिर पड़ा, मानो उसके प्राण निकल गये हों। राजा युधिष्ठिरने अर्जुनके हितकी इच्छासे कर्णपर पुनः प्रहार नहीं किया ॥ २२ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं धार्तराष्ट्रबलं महत्।
विवर्णमुखभूयिष्ठं कर्णं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ २३ ॥

तब कर्णको उस अवस्थामें देखकर दुर्योधनकी सारी विशाल सेनामें हाहाकार मच गया और अधिकांश सैनिकोंके मुखका रंग विषादसे फीका पड़ गया ॥ २३ ॥

सिंहनादश्च संजज्ञे क्ष्वेलाः किलकिलास्तथा।
पाण्डवानां महाराज दृष्ट्वा राज्ञः पराक्रमम् ॥ २४ ॥

महाराज ! राजाका वह पराक्रम देखकर पाण्डव-सैनिकोंमें सिंहनाद, आनन्द, कलरव और किलकिल शब्द होने लगा ॥

प्रतिलभ्य तु राधेयः संज्ञां नातिचिरादिव।
दध्रे राजविनाशाय मनः क्रूरपराक्रमः ॥ २५ ॥

तब क्रूर पराक्रमी राधापुत्र कर्णने थोड़ी ही देरमें होशमें आकर राजा युधिष्ठिरको मार डालनेका विचार किया ॥२५॥

स हेमविकृतं चापं विस्फार्य विजयं महत्।
अवाकिरदमेयात्मा पाण्डवं निशितैः शरैः ॥ २६ ॥

उस अमेय आत्मबलसे सम्पन्न वीरने विजय नामक अपने विशाल सुवर्ण-जटित धनुषको खींचकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको पैने बाणोंसे ढक दिया ॥ २६ ॥

ततः क्षुराभ्यां पाञ्चाल्यौ चक्ररक्षौ महात्मनः।
जघान चन्द्रदेवं च दण्डधारं च संयुगे ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुरोंसे महात्मा युधिष्ठिरके चक्ररक्षक दो पाञ्चाल वीर चन्द्रदेव और दण्डधारको युद्धस्थलमें मार डाला ॥२७॥

तावुभौ धर्मराजस्य प्रवीरौ परिपार्श्वतः।
रथाभ्याशे चकाशेते चन्द्रस्येव पुनर्वसू ॥ २८ ॥

धर्मराजके रथके समीप पार्श्वभागोंमें वे दोनों प्रमुख पाञ्चाल वीर चन्द्रमाके पास रहनेवाले दो पुनर्वसु नामक नक्षत्रोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरः पुनः कर्णमविद्ध्यत् त्रिंशता शरैः।
सुषेणं सत्यसेनं च त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने पुनः तीस बाणोंसे कर्णको बींध डाला तथा सुषेण और सत्यसेनको भी तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया॥

शल्यं नवत्या विव्याध त्रिसप्तत्या च सूतजम्।
तांस्तस्य गोप्तॄन् विव्याध त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः॥३०॥

उन्होंने शल्यको नब्बे और सूतपुत्र कर्णको तिहत्तर बाण मारे। साथ ही उनके रक्षकोंको सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बेध दिया ॥ ३० ॥

ततः प्रहस्याधिरथिर्विधुन्वानः स कार्मुकम्।
भित्त्वा भल्लेन राजानं विद्ध्वा षष्ट्यानदत्तदा॥ ३१॥

तब अधिरथपुत्र कर्णने अपने धनुषको हिलाते हुए हँसकर एक भल्लद्वारा राजा युधिष्ठिरके धनुषको काट दिया और उन्हें भी साठ बाणोंसे घायल करके सिंहके समान गर्जना की॥

ततः प्रवीराः पाण्डूनामभ्यधावन्नमर्षिताः।
युधिष्ठिरं परीप्सन्तः कर्णमभ्यर्दयञ्छरैः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर अमर्षमें भरे हुए प्रमुख पाण्डव वीर युधिष्ठिर-की रक्षाके लिये दौड़े आये और कर्णको अपने बाणोंसे पीड़ित करने लगे ॥ ३२ ॥

सात्यकिश्चेकितानश्च युयुत्सुः पाण्ड्य एव च।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपदेयाः प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
यमौ च भीमसेनश्च शिशुपालस्य चात्मजः।
कारूषा मत्स्यशेषाश्च केकयाः काशिकोसलाः ॥ ३४ ॥
एते च त्वरिता वीरा वसुषेणमताडयन्।

सात्यकि, चेकितान, युयुत्सु, पाण्ड्य, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, प्रभद्रकगण, नकुल-सहदेव, भीमसेन और शिशुपालपुत्र एवं करूष, मत्स्य, केकय, काशि और कोसल-देशोंके योद्धा—ये सभी वीर सैनिक तुरंत ही वसुषेण (कर्ण) को घायल करने लगे ॥ ३३-३४½ ॥

जनमेजयश्च पाञ्चाल्यः कर्णं विव्याध सायकैः ॥३५॥
वाराहकर्णनाराचैर्नालीकैर्निशितैः शरैः।
वत्सदन्तैर्विपाठैश्च क्षुरप्रैश्चटकामुखैः ॥ ३६ ॥
नानाप्रहरणैश्चोग्रै रथहस्त्यश्वसादिभिः।
सर्वतोऽभ्यद्रवत् कर्णं परिवार्य जिघांसया ॥ ३७ ॥

पाञ्चालवीर जनमेजयने रथ, हाथी और घुड़सवारोंकी सेना साथ लेकर सब ओरसे कर्णपर धावा किया और उसे मार डालनेकी इच्छासे घेरकर बाण, वाराहकर्ण, नाराच, नालीक, पैने बाण, वत्सदन्त, विपाठ, क्षुरप्र, चटकामुख तथा नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा चोट पहुँचाना आरम्भ किया॥

स पाण्डवानां प्रवरैः सर्वतः समभिद्रुतः।
उदीरयन् ब्राह्ममस्त्रं शरैरापूरयद् दिशः ॥ ३८ ॥

पाण्डवपक्षके प्रमुख वीरोंद्वारा सब ओरसे आक्रान्त होनेपर कर्णने ब्रह्मास्त्र प्रकट करके बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं-को आच्छादित कर दिया ॥ ३८ ॥

(ततः पुनरमेयात्मा चेदीनां प्रवरान् दश।
न्यहनद् भरतश्रेष्ठ कर्णो वैकर्तनस्तदा ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न वैकर्तन

कर्णने चेदिदेशके दस प्रधान वीरोंको पुनः मार डाला ॥

तस्य बाणसहस्राणि सम्प्रपन्नानि मारिष।
दृश्यन्ते दिक्षु सर्वासु शलभानामिव व्रजाः ॥

माननीय नरेश ! कर्णके गिरते हुए सहस्रों बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें टिड्डीदलोंके समान दिखायी देते थे ॥

कर्णनामाङ्किता बाणाः स्वर्णपुङ्खाः सुतेजनाः।
नराश्वकायान् निर्भिद्य पेतुरुर्व्यां समन्ततः ॥

उसके नामसे अंकित सुवर्णमय पंखवाले तेज बाण मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको विदीर्ण करके सब ओरसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥

कर्णेनैकेन समरे चेदीनां प्रवरा रथाः।
सृंजयानां च सर्वेषां शतशो निहता रणे ॥

समराङ्गणमें अकेले कर्णने चेदिदेशके प्रधान रथियोंका तथा सम्पूर्ण सृंजयोंके सैकड़ों योद्धाओंका भी संहार कर डाला॥

कर्णस्य शरसंछन्नं बभूव विपुलं तमः।
नाज्ञायत ततः किञ्चित् परेषामात्मनोऽपि वा ॥

कर्णके बाणोंसे सारी दिशाएँ ढक जानेके कारण वहाँ महान् अन्धकार छा गया। उस समय शत्रुपक्षकी तथा अपने पक्षकी भी कोई वस्तु पहचानी नहीं जाती थी ॥

तस्मिंस्तमसि भूते च क्षत्रियाणां भयंकरे।
विचचार महाबाहुर्निर्दहन् क्षत्रियान् बहून् ॥)

शत्रुओंके लिये भयदायक उस घोर अन्धकारमें महाबाहु कर्ण बहुसंख्यक राजपूतोंको दग्ध करता हुआ विचरने लगा॥

ततः शरमहाज्वालो वीर्योष्मा कर्णपावकः।
निर्दहन् पाण्डववनं वीरः पर्यचरद् रणे ॥ ३९ ॥

उस समय वीर कर्ण अग्निके समान हो रहा था। बाण ही उसकी ऊँचेतक उठती हुई ज्वालाओंके समान थे, पराक्रम ही उसका ताप था और वह पाण्डवरूपी वनको दग्ध करता हुआ रणभूमिमें विचर रहा था ॥ ३९ ॥

(ततस्तेषां महाराज पाण्डवानां महारथाः।
सृञ्जयानां च सर्वेषां शतशोऽथ सहस्रशः ॥
अस्त्रैः कर्णं महेष्वासं समन्तात् पर्यवारयन्।)

महाराज ! तब सम्पूर्ण संजयों और पाण्डवोंके सैकड़ों-हजारों महारथियोंने महाधनुर्धर कर्णपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥

स संधाय महास्त्राणि महेष्वासो महामनाः।
प्रहस्य पुरुषेन्द्रस्य शरैश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥ ४० ॥

महाधनुर्धर महामना कर्णने हँसकर महान् अस्त्रोंका संधान किया और अपने बाणोंसे महाराज युधिष्ठिरका धनुष काट दिया ॥ ४० ॥

ततः संधाय नवतिं निमेषान्नतपर्वणाम्।
बिभेद कवचं राज्ञो रणे कर्णः शितैः शरैः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् पलक मारते-मारते झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंका संधान करके कर्णने उन पैने बाणोंद्वारा रणभूमिमें राजा युधिष्ठिरके कवचको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ ४१ ॥

तद् वर्म हेमविकृतं रत्नचित्रं बभौ पतत्।
सविद्युदभ्रं सवितुः श्लिष्टं वातहतं यथा ॥ ४२ ॥

उनका वह सुवर्णभूषित रत्नजटित कवच गिरते समय ऐसी शोभा पा रहा था, मानो सूर्यसे सटा हुआ बिजली-सहित बादल वायुका आघात पाकर नीचे गिर रहा हो ॥४२॥

तदङ्गात् पुरुषेन्द्रस्य भ्रष्टं वर्म व्यरोचत।
रत्नैरलंकृतं चित्रैर्व्यभ्रं निशि यथा नभः ॥ ४३ ॥
छिन्नवर्मा शरैः पार्थो रुधिरेण समुक्षितः।

जैसे रात्रिमें बिना बादलका आकाश नक्षत्रमण्डलसे विचित्र शोभा धारण करता है, उसी प्रकार नरेन्द्र युधिष्ठिरके शरीरसे गिरा हुआ वह कवच विचित्र रत्नोंसे अलंकृत होनेके कारण अद्भुत शोभा पा रहा था। बाणोंसे कवच कट जानेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर रक्तसे भीग गये ॥ ४३½ ॥

(बभासे पुरुषश्रेष्ठ उद्यन्निव दिवाकरः।
स शराचितसर्वाङ्गश्छिन्नवर्माथ संयुगे ॥
क्षत्रधर्मं समास्थाय सिंहनादमकुर्वत।)

उस समय युद्धस्थलमें पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर उगते हुए सूर्यके समान लाल दिखायी देते थे। उनके सारे अङ्गोंमें बाण धँसे हुए थे और कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, तो भी वे क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेकर वहाँ सिंहके समान दहाड़ रहे थे॥

ततः सर्वायसीं शक्तिं चिक्षेपाधिरथिं प्रति ॥ ४४ ॥
तां ज्वलन्तीमिवाकाशे शरैश्चिच्छेद सप्तभिः।
सा छिन्ना भूमिमगमन्महेष्वासस्य सायकैः ॥ ४५॥

उन्होंने अधिरथपुत्र कर्णपर सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई शक्ति चलायी, परंतु उसने सात बाणोंद्वारा उस प्रज्वलित शक्तिको आकाशमें ही काट डाला। महाधनुर्धर कर्णके सायकों-से कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४४-४५ ॥

ततो बाह्वोर्ललाटे च हृदि चैव युधिष्ठिरः।
चतुर्भिस्तोमरैः कर्णं ताडयित्वानदन्मुदा ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिरने कर्णकी दोनों भुजाओं, ललाट और छातीमें चार तोमरोंका प्रहार करके सानन्द सिंहनाद किया ॥

उद्भिन्नरुधिरः कर्णः क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन त्रिभिर्विव्याध पाण्डवम् ॥४७॥
इषुधी चास्य चिच्छेद रथं च तिलशोऽच्छिनत्।

कर्णके शरीरसे रक्त बहने लगा। फिर तो क्रोधमें भरे हुए सर्पके समान फुफकारते हुए कर्णने एक भल्लसे युधिष्ठिरकी ध्वजा काट डाली और तीन बाणोंसे उन पाण्डुपुत्रको भी घायल कर दिया। उनके दोनों तरकस काट दिये और रथके भी तिल-तिल करके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४७½ ॥

(एतस्मिन्नन्तरे शूराः पाण्डवानां महारथाः ।
ववृषुः शरवर्षाणि राधेयं प्रति भारत ॥

भारत ! इसी बीचमें शूरवीर पाण्डव महारथी राधापुत्र कर्णपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

सात्यकिः पञ्चविंशत्या शिखण्डी नवभिः शरैः ।
अवर्षतां महाराज राधेयं शत्रुकर्शनम् ॥

महाराज ! सात्यकिने शत्रुसूदन राधापुत्रपर पचीस और शिखण्डीने नौ बाणोंकी वर्षा की ॥

शैनेयं तु ततः क्रुद्धः कर्णः पञ्चभिरायसैः ।
विव्याध समरे राजंस्त्रिभिश्चान्यैः शिलीमुखैः ॥

राजन् ! तब क्रोधमें भरे हुए कर्णने समराङ्गणमें सात्यकिको पहले लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे घायल करके फिर दूसरे तीन बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ॥

दक्षिणं तु भुजं तस्य त्रिभिः कर्णोऽप्यविध्यत ।
सव्यं षोडशभिर्बाणैर्यन्तारं चास्य सप्तभिः ॥

इसके बाद कर्णने सात्यकिकी दाहिनी भुजाको तीन, बायीं भुजाको सोलह और सारथिको सात बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥

अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ।
सूतपुत्रोऽनयत् क्षिप्रं यमस्य सदनं प्रति ॥

तदनन्तर चार पैने बाणोंसे सूतपुत्रने सात्यकिके चारों घोड़ोंको भी तुरंत ही यमलोक पहुँचा दिया ॥

अपरेणाथ भल्लेन धनुश्छित्त्वा महारथः ।
सारथेः सशिरस्त्राणं शिरः कायादपाहरत् ॥

फिर दूसरे भल्लसे महारथी कर्णने उनका धनुष काटकर उनके सारथिके शिरस्त्राणसहित मस्तकको शरीरसे अलग कर दिया ॥

हताश्वसूते तु रथे स्थितः स शिनिपुङ्गवः ।
शक्तिं चिक्षेप कर्णाय वैडूर्यमणिभूषिताम् ॥

जिसके घोड़े और सारथि मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शिनिप्रवर सात्यकिने कर्णके ऊपर वैदूर्यमणिसे विभूषित शक्ति चलायी ॥

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारत ।
कर्णो वै धन्विनां श्रेष्ठस्तांश्च सर्वानवारयत् ॥
ततस्तान् निशितैर्बाणैः पाण्डवानां महारथान् ।
न्यवारयदमेयात्मा शिक्षया च बलेन च ॥

भारत ! धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कर्णने अपने ऊपर आती हुई उस शक्तिके सहसा दो टुकड़े कर डाले और उन सब महारथियोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया, फिर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कर्णने अपनी शिक्षा और बलके प्रभावसे तीखे बाणोंद्वारा उन सभी पाण्डव-महारथियोंकी गति अवरुद्ध कर दी ॥

अर्दयित्वा शरैस्तांस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
पीडयन् धर्मराजानं शरैः संनतपर्वभिः ॥
अभ्यद्रवत राधेयो धर्मपुत्रं शितैः शरैः ।)

जैसे सिंह छोटे मृगोंको पीड़ा देता है, उसी प्रकार राधापुत्र कर्णने उन महारथियोंको बाणोंसे पीड़ित करके झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे चोट पहुँचाते हुए वहाँ धर्मराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरपर पुनः आक्रमण किया ॥

कालवालास्तु ये पार्थं दन्तवर्णावहन् हयाः ॥ ४८
तैर्युक्तं रथमास्थाय प्रायाद् राजा पराङ्मुखः ।

उस समय दाँतोंके समान सफेद रंग और काली पूँछवाले जो घोड़े युधिष्ठिरकी सवारीमें थे, उन्हींसे जुते हुए दूसरे रथपर बैठकर राजा युधिष्ठिर रणभूमिसे विमुख हो शिविरकी ओर चल दिये ॥ ४८½ ॥

एवं पार्थोऽभ्यपायात् स निहतः पार्ष्णिसारथिः ॥ ४९ ॥
अशक्नुवन् प्रमुखतः स्थातुं कर्णस्य दुर्मनाः ।

युधिष्ठिरका पृष्ठरक्षक पहले ही मार दिया गया था । उनका मन बहुत दुखी था, इसलिये वे कर्णके सामने ठहर न सके और युद्धस्थलसे हट गये ॥ ४९½ ॥

अभिद्रुत्य तु राधेयः पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥
वज्रच्छत्रांकुशैर्मत्स्यैर्ध्वजकूर्माम्बुजादिभिः ।
लक्षणैरुपपन्नेन पाण्डुना पाण्डुनन्दनम् ॥ ५१ ॥
पवित्रीकर्तुमात्मानं स्कन्धे संस्पृश्य पाणिना ।
ग्रहीतुमिच्छन् स बलात् कुन्तीवाक्यं च सोऽस्मरत् ॥

उस समय राधापुत्र कर्ण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका पीछा करके वज्र, छत्र, अङ्कुश, मत्स्य, ध्वज, कूर्म और कमल आदि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न गोरे हाथसे उनका कंधा छूकर, मानो अपने आपको पवित्र करनेके लिये उन्हें बलपूर्वक पकड़नेकी इच्छा करने लगा । उसी समय उसे कुन्तीदेवीको दिये हुए अपने वचनका स्मरण हो आया ॥ ५०–५२ ॥

तं शल्यः प्राह मा कर्ण गृहीथाः पार्थिवोत्तमम् ।
गृहीतमात्रो हत्वा त्वां मा करिष्यति भस्मसात् ॥ ५३ ॥

उस समय राजा शल्यने कहा—'कर्ण ! इन नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरको हाथ न लगाना, अन्यथा वे पकड़ते ही तुम्हारा वध करके अपनी क्रोधाग्निसे तुम्हें भस्म कर डालेंगे' ॥ ५३ ॥

अब्रवीत् प्रहसन् राजन् कुत्सयन्निव पाण्डवम् ।
कथं नाम कुले जातः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ॥ ५४ ॥
प्रजह्यात् समरं भीतः प्राणान् रक्षन् महाहवे ।
न भवान् क्षत्रधर्मेषु कुशलो हीति मे मतिः ॥ ५५ ॥

राजन् ! तब कर्ण जोर-जोरसे हँस पड़ा और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी निन्दा-सा करता हुआ बोला—'युधिष्ठिर ! जो क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न हो, क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहता हो, वह महासमरमें प्राणोंकी रक्षाके लिये भयभीत हो युद्ध छोड़कर भाग कैसे सकता है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुम क्षत्रिय-धर्ममें निपुण नहीं हो ॥ ५४-५५ ॥

ब्राह्मे बले भवान् युक्तः स्वाध्याये यज्ञकर्मणि ।
मा स्म युद्ध्यस्व कौन्तेय मा स्म वीरान् समासदः॥५६॥

'कुन्तीकुमार ! तुम ब्राह्मबल, स्वाध्याय एवं यज्ञ-कर्ममें ही कुशल हो; अतः न तो युद्ध किया करो और न वीरोंके सामने ही जाओ ॥ ५६ ॥

मा चैतानप्रियं ब्रूहि मा वै व्रज महारणम् ।
वक्तव्या मारिषान्ये तु न वक्तव्यास्तु मादृशाः ॥ ५७॥

'माननीय नरेश ! न इन वीरोंसे कभी अप्रिय वचन बोलो और न महान् युद्धमें पैर ही रक्खो । यदि अप्रिय वचन बोलना ही हो तो दूसरोंसे बोलना; मेरे-जैसे वीरोंसे नहीं ॥

मादृशान् विब्रुवन् युद्धे एतदन्यच्च लप्स्यसे ।
स्वगृहं गच्छ कौन्तेय यत्र तौ केशवार्जुनौ ॥ ५८ ॥
न हि त्वां समरे राजन् हन्यात् कर्णः कथञ्चन ।

'युद्धमें मेरे-जैसे लोगोंसे अप्रिय वचन बोलनेपर तुम्हें यही तथा दूसरा कुफल भी भोगना पड़ेगा । अतः कुन्तीनन्दन ! अपने घर चले जाओ अथवा जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हों वहीं पधारो । राजन् ! कर्ण समराङ्गणमें किसी तरह भी तुम्हारा वध नहीं करेगा' ॥ ५८½ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थं विसृज्य च महाबलः ॥ ५९ ॥
न्यहनत् पाण्डवीं सेनां वज्रहस्त इवासुरीम् ।

महाबली कर्णने युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर फिर उन्हें छोड़ दिया और जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरसेनाका संहार करते हैं, उसी प्रकार पाण्डवसेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ॥

ततोऽपायाद् द्रुतं राजन् व्रीडन्निव नरेश्वरः ॥ ६० ॥
अथापयातं राजानं मत्वान्वीयुस्तमच्युतम् ।
चेदिपाण्डवपाञ्चालाः सात्यकिश्च महारथः ॥ ६१ ॥
द्रौपदेयास्तथा शूरा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।

राजन् ! तब राजा युधिष्ठिर लजाते हुए-से तुरंत रणभूमिसे भाग गये । राजाको रणक्षेत्रसे हटा हुआ जानकर चेदि, पाण्डव और पाञ्चाल वीर, महारथी सात्यकि, द्रौपदीके शूरवीर पुत्र तथा पाण्डुनन्दन माद्रीकुमार नकुल-सहदेव भी धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चल दिये ॥ ६०-६१½ ॥

ततो युधिष्ठिरानीकं दृष्ट्वा कर्णः पराङ्मुखम् ॥ ६२ ॥
कुरुभिः सहितो वीरः प्रहृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।

तदनन्तर युधिष्ठिरकी सेनाको युद्धसे विमुख हुई देख हर्षमें भरे हुए वीर कर्णने कौरवसैनिकोंको साथ लेकर कुछ दूरतक उसका पीछा किया ॥ ६२½ ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गानां कार्मुकाणां च निःस्वनः ॥ ६३ ॥
बभूव धार्तराष्ट्राणां सिंहनादरवस्तथा ।

उस समय भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग और धनुषोंकी ध्वनि सब ओर फैल रही थी तथा दुर्योधनके सैनिक सिंहके समान दहाड़ रहे थे ॥ ६३½ ॥

युधिष्ठिरस्तु कौरव्य रथमारुह्य सत्वरम् ॥ ६४ ॥
श्रुतकीर्तेर्महाराज दृष्टवान् कर्णविक्रमम् ।

कुरुवंशी महाराज ! युधिष्ठिरके घोड़े थक गये थे; अतः उन्होंने तुरंत ही श्रुतकीर्तिके रथपर आरूढ़ हो कर्णके पराक्रमको देखा ॥ ६४½ ॥

काल्यमानं बलं दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६५ ॥
स्वान् योधानब्रवीत् क्रुद्धो निघ्नतैतान् किमासत ।

अपनी सेनाको खदेड़ी जाती हुई देख धर्मराज युधिष्ठिरने कुपित हो अपने पक्षके योद्धाओंसे कहा—'अरे ! क्यों चुप बैठे हो ? इन शत्रुओंको मार डालो' ॥ ६५½ ॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञाताः पाण्डवानां महारथाः ॥ ६६ ॥
भीमसेनमुखाः सर्वे पुत्रांस्ते प्रत्युपाद्रवन् ।

राजाकी यह आज्ञा पाते ही भीमसेन आदि समस्त पाण्डव महारथी आपके पुत्रोंपर टूट पड़े ॥ ६६½ ॥

अभवत् तुमुलः शब्दो योधानां तत्र भारत ॥ ६७ ॥
रथहस्त्यश्वपत्तीनां शस्त्राणां च ततस्ततः ।

भारत ! फिर तो वहाँ इधर-उधर सब ओर रथी, हाथीसवार, घुड़सवार और पैदल योद्धाओं एवं अस्त्र-शस्त्रोंका भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ ६७½ ॥

उत्तिष्ठत प्रहरत प्रैताभिपततेति च ॥ ६८ ॥
इति ब्रुवाणा ह्यन्योन्यं जघ्नुर्योधा महारणे ।

'उठो, मारो, आगे बढ़ो, टूट पड़ो' इत्यादि वाक्य बोलते हुए सब योद्धा उस महासमरमें एक दूसरेको मारने लगे ॥

अभ्रच्छायेव तत्रासीच्छरवृष्टिभिरम्बरे ॥ ६९ ॥
समावृतैर्नरवरैर्निघ्नद्भिरितरेतरम् ।

उस समय वहाँ अस्त्रोंसे आवृत हो परस्पर आघात करनेवाले नरश्रेष्ठ वीरोंके चलाये हुए बाणोंकी वृष्टिसे आकाशमें मेघोंकी छाया-सी छा रही थी ॥ ६९½ ॥

विपताकध्वजच्छत्रा व्यश्वसूतायुधा रणे ॥ ७० ॥
व्यङ्गाङ्गावयवाः पेतुः क्षितौ क्षीणाः क्षितीश्वराः ।

कितने ही घायल नरेश पताका, ध्वज, छत्र, अश्व, सारथि, आयुध, शरीर तथा उसके अवयवोंसे रहित हो रणभूमिमें गिर पड़े ॥ ७०½ ॥

प्रवणादिव शैलानां शिखराणि द्विपोत्तमाः ॥ ७१ ॥
सारोहा निहताः पेतुर्वज्रभिन्ना इवाद्रयः ।

जैसे पर्वतोंके शिखर टूटकर निम्न देशसे लुढ़कते हुए नीचे गिर पड़ते हैं तथा जैसे वज्रसे विदीर्ण किये हुए पर्वत धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ मारे गये हाथी अपने सवारोंसहित पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ७१½ ॥

छिन्नभिन्नविपर्यस्तैर्वर्मालङ्कारभूषणैः ॥ ७२ ॥
सारोहास्तुरगाः पेतुर्हतवीराः सहस्रशः ।

टूटे-फूटे और अस्त-व्यस्त हुए कवच, अलंकार एवं आभूषणोंसहित सहस्रों घोड़े अपने बहादुर सवारोंके मारे जानेपर उनके साथ ही गिर पड़ते थे ॥ ७२½ ॥

विप्रविद्धायुधाङ्गाश्च द्विरदाश्वरथैर्हताः ॥ ७३ ॥
प्रतिवीरैश्च सम्मर्दे पत्तिसंघाः सहस्रशः ।

उस संघर्षमें विपक्षी वीरों, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंद्वारा मारे गये सहस्रों पैदल योद्धाओंके समुदाय रणभूमिमें सो रहे थे। उनके अस्त्र-शस्त्र और शरीरके अवयव क्षत-विक्षत होकर बिखर गये थे ॥ ७३½ ॥

विशालायतताम्राक्षैः पद्मेन्दुसदृशाननैः ॥ ७४ ॥
शिरोभिर्युद्धशौण्डानां सर्वतः संवृता मही ।
यथा भुवि तथा व्योम्नि निःस्वनं शुश्रुवुर्जनाः ॥ ७५ ॥
विमानैरप्सरःसङ्घैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ।

युद्धकुशल वीरोंके विशाल, विस्तृत एवं लाल-लाल आँखों और कमल तथा चन्द्रमाके समान मुखवाले मस्तकोंसे सारी युद्धभूमि सब ओरसे ढक गयी थी। भूतलपर जैसा कोलाहल हो रहा था, वैसा ही आकाशमें भी लोगोंको सुनायी देता था। वहाँ विमानोंपर बैठी हुई झुंड-की-झुंड अप्सराएँ गीत और वाद्योंकी मधुर ध्वनि फैला रही थीं ॥ ७४-७५½ ॥

हतानभिमुखान् वीरान् वीरैः शतसहस्रशः ॥ ७६ ॥
आरोप्यारोप्य गच्छन्ति विमानेष्वप्सरोगणाः ।

वीरोंके द्वारा सम्मुख लड़कर मारे गये लाखों वीरोंको अप्सराएँ विमानोंपर बिठा-बिठाकर स्वर्गलोकमें ले जाती थीं ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं प्रत्यक्षं स्वर्गलिप्सया ॥ ७७ ॥
प्रहृष्टमनसः शूराः क्षिप्रं जघ्नुः परस्परम् ।

यह महान् आश्चर्यकी बात प्रत्यक्ष देखकर हर्ष और उत्साहमें भरे हुए शूरवीर स्वर्गकी लिप्सासे एक दूसरेको शीघ्रतापूर्वक मारने लगे ॥ ७७½ ॥

रथिनो रथिभिः सार्धं चित्रं युयुधुराहवे ॥ ७८ ॥
पत्तयः पत्तिभिर्नागाः सह नागैर्हयैर्हयाः ।

युद्धस्थलमें रथियोंके साथ रथी, पैदलोंके साथ पैदल, हाथियोंके साथ हाथी और घोड़ोंके साथ घोड़े विचित्र युद्ध करते थे ॥ ७८½ ॥

एवं प्रवृत्ते संग्रामे गजवाजिनरक्षये ॥ ७९ ॥
सैन्येन रजसा व्याप्ते स्वे स्वाञ्जघ्नुः परे परान् ।

इस प्रकार हाथी, घोड़ों और मनुष्योंका संहार करनेवाले उस संग्रामके आरम्भ होनेपर सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धूलसे वहाँका सारा प्रदेश आच्छादित हो जानेपर अपने और शत्रु-पक्षके योद्धा अपने ही पक्षवालोंका संहार करने लगे ॥७९½॥

कचाकचि युद्धमासीद् दन्तादन्ति नखानखि ॥ ८० ॥
मुष्टियुद्धं नियुद्धं च देहपाप्मासुनाशनम् ।

दोनों दलोंके सैनिक एक दूसरेके केश पकड़कर खींचते, दाँतोंसे काटते, नखोंसे बखोटते, मुक्कोंसे मारते और परस्पर मल्लयुद्ध करने लगते थे। इस प्रकार वह युद्ध सैनिकोंके शरीर, प्राण और पापोंका विनाश करनेवाला हो रहा था ॥

तथा वर्तति संग्रामे गजवाजिनरक्षये ॥ ८१ ॥
नराश्वनागदेहेभ्यः प्रसृता लोहितापगा ।
गजाश्वनरदेहान् सा व्युवाह पतितान् बहून्॥ ८२ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंका विनाश करनेवाला वह संग्राम उसी रूपमें चलने लगा। मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके शरीरोंसे खूनकी नदी बह चली, जो अपने भीतर पड़े हुए हाथी, घोड़े और मनुष्योंकी बहुसंख्यक लाशोंको बहाये जा रही थी ॥ ८१-८२ ॥

नराश्वगजसम्बाधे नराश्वगजसादिनाम् ।
लोहितोदा महाघोरा मांसशोणितकर्दमा ॥ ८३ ॥
नराश्वगजदेहान् सा वहन्ती भीरुभीषणा ।

मनुष्य, घोड़े और हाथियोंसे भरे हुए युद्धस्थलमें मनुष्य, अश्व, हाथी और सवारोंके रक्त ही उस नदीके जल थे। उनका मांस और गाढ़ा खून उस नदीकी कीचड़के समान जान पड़ता था। मनुष्य, घोड़े और हाथियोंके शरीरोंको बहाती हुई वह महाभयंकर नदी भीरु मनुष्योंको भयभीत कर रही थी ॥ ८३½ ॥

तस्याः पारमपारं च व्रजन्ति विजयैषिणः ॥ ८४ ॥
गाधेन चाप्लवन्तश्च निमज्ज्योन्मज्ज्य चापरे ।

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कितने ही वीर जहाँ थोड़ा रक्तमय जल था वहाँ तैरकर और जहाँ अथाह था, वहाँ गोते लगा-लगाकर उसके दूसरे पार पहुँच जाते थे ॥ ८४½ ॥

ते तु लोहितदिग्धाङ्गा रक्तवर्मायुधाम्बराः ॥ ८५ ॥
सस्नुस्तस्यां पपुश्चास्यां मम्लुश्च भरतर्षभ ।

उन सबके शरीर रक्तसे रँग गये थे। कवच, आयुध और वस्त्र भी रक्तरंजित हो गये थे। भरतश्रेष्ठ! कितने ही योद्धा उसमें नहा लेते, कितनोंके मुँहमें रक्तकी घूँट चली जाती और कितने ही ग्लानिसे भर जाते थे ॥ ८५½ ॥

रथानश्वान् नरान् नागानायुधाभरणानि च ॥ ८६ ॥
वसनान्यथ वर्माणि वध्यमानान् हतानपि ।
भूमिं खं द्यां दिशश्चैव प्रायः पश्याम लोहिताः॥८७॥

मारे गये तथा मारे जाते हुए हाथी, घोड़े, रथ, मनुष्य, अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, वस्त्र, कवच, पृथ्वी, आकाश, द्युलोक और सम्पूर्ण दिशाएँ—ये सब हमें प्रायः लाल-ही-लाल दिखायी देते थे ॥ ८६-८७ ॥

लोहितस्य तु गन्धेन स्पर्शेन च रसेन च ।
रूपेण चातिरक्तेन शब्देन च विसर्पता ॥ ८८ ॥
विषादः सुमहानासीत् प्रायः सैन्यस्य भारत ।

भारत! सब ओर फैली और बढ़ी हुई उस रक्त-राशिकी

गन्धसे, स्पर्शसे, रससे, रूपसे और शब्दसे भी प्रायः सारी सेनाके मनमें बड़ा विषाद हो रहा था ॥ ८८½ ॥

ततः तु विप्रहतं सैन्यं भीमसेनमुखास्तदा ॥ ८९ ॥
भूयः समाद्रवन् वीराः सात्यकिप्रमुखास्तदा ।

भीमसेन तथा सात्यकि आदि वीरोंने विशेषरूपसे विनष्ट हुई उस कौरवसेनापर पुनः बड़े वेगसे आक्रमण किया ।८९½।

तेषामापततां वेगमविषह्यं निरीक्ष्य च ॥ ९० ॥
पुत्राणां ते महासैन्यमासीद् राजन् पराङ्मुखम् ।

राजन् ! उन आक्रमणकारी वीरोंके असह्य वेगको देखकर आपके पुत्रोंकी विशाल सेना युद्धसे विमुख होकर भाग चली ॥ ९०½ ॥

ततः प्रकीर्णरथाश्वेभं नरवाजिसमाकुलम् ॥ ९१ ॥
विध्वस्तवर्मकवचं प्रविद्धायुधकार्मुकम् ।
व्यद्रवत् तावकं सैन्यं लोड्यमानं समन्ततः ।
सिंहार्दितमिवारण्ये यथा गजकुलं तथा ॥ ९२ ॥

जैसे जंगलमें सिंहसे पीड़ित हुआ हाथियोंका यूथ व्याकुल होकर भागता है, उसी प्रकार शत्रुओंद्वारा सब ओरसे रौंदी जाती हुई मनुष्यों और घोड़ोंसे परिपूर्ण आपकी विशाल सेना भाग चली । उसके रथ, हाथी और घोड़े तितर-बितर हो गये, आवरण और कवच नष्ट हो गये तथा अस्त्र-शस्त्र और धनुष छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर पड़े थे॥९१-९२॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९½ श्लोक मिलाकर कुल १११½ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कर्ण और भीमसेनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

संजय उवाच

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा पाण्डवांस्तावकं बलम् ।
दुर्योधनो महाराज वारयामास सर्वशः ॥ १ ॥
योधांश्च स्वबलं चैव समन्ताद् भरतर्षभ ।
क्रोशतस्तव पुत्रस्य न स्म राजन् न्यवर्तत ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! पाण्डवोंको आपकी सेनापर आक्रमण करते देख दुर्योधनने सब ओरसे सब प्रकारके प्रयत्नोंद्वारा उन योद्धाओंको रोकने तथा अपनी सेनाको भी स्थिर करनेका प्रयत्न किया । भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! आपके पुत्रके बहुत चीखने-चिल्लानेपर भी भागती हुई सेना पीछे न लौटी ॥ १-२ ॥

ततः पक्षः प्रपक्षश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
तदा सशस्त्राः कुरवो भीममभ्यद्रवन् रणे ॥ ३ ॥

तदनन्तर व्यूहके पक्ष और प्रपक्षभागमें खड़े हुए सैनिक, सुबलपुत्र शकुनि तथा सशस्त्र कौरववीर उस समय रणक्षेत्रमें भीमसेनपर टूट पड़े ॥ ३ ॥

कर्णोऽपि दृष्ट्वा द्रवतो धार्तराष्ट्रान् सराजकान् ।
मद्रराजमुवाचेदं याहि भीमरथं प्रति ॥ ४ ॥

उधर कर्णने भी राजा दुर्योधन और उसके सैनिकोंको भागते देख मद्रराज शल्यसे कहा—'भीमसेनके रथके समीप चलो' ॥ ४ ॥

एवमुक्तश्च कर्णेन शल्यो मद्राधिपस्तदा
हंसवर्णान् हयानग्र्यान् प्रैषीद् यत्र वृकोदरः ॥ ५ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर मद्रराज शल्यने हंसके समान श्वेत वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ोंको उधर ही हाँक दिया, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥ ५ ॥

ते प्रेरिता महाराज शल्येनाहवशोभिना ।
भीमसेनरथं प्राप्य समसज्जन्त वाजिनः ॥ ६ ॥

महाराज ! संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यसे संचालित हो वे घोड़े भीमसेनके रथके समीप जाकर पाण्डवसेनामें मिल गये ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा कर्णं समायान्तं भीमः क्रोधसमन्वितः ।
मतिं चक्रे विनाशाय कर्णस्य भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्णको आते देख क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उसके विनाशका विचार किया ॥ ७ ॥

सोऽब्रवीत् सात्यकिं वीरं धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
यूयं रक्षत राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ८ ॥
संशयान्महतो मुक्तं कथंचित् प्रेक्षतो मम ।

उन्होंने वीर सात्यकि तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नसे कहा—'तुमलोग धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करो । वे अभी-अभी मेरे देखते-देखते किसी प्रकार महान् प्राण-संकटसे मुक्त हुए हैं ॥ ८½ ॥

अग्रतो मे कृतो राजा छिन्नसर्वपरिच्छदः ॥ ९ ॥
दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं राधेयेन दुरात्मना ।

'दुरात्मा राधापुत्र कर्णने दुर्योधनकी प्रसन्नताके लिये मेरे सामने ही धर्मराजकी समस्त युद्ध-सामग्रीको छिन्न-भिन्न कर डाला है ॥ ९½ ॥

अन्तमद्य गमिष्यामि तस्य दुःखस्य पार्षत ॥ १० ॥
हन्तास्म्यद्य रणे कर्णं स वा मां निहनिष्यति ।
संग्रामेण सुघोरेण सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

'द्रुपदकुमार ! इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ है; अतः अब मैं उसका बदला लूँगा । आज रणभूमिमें अत्यन्त घोर संग्राम करके या तो मैं ही कर्णको मार डालूँगा या वही मेरा वध करेगा; यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ १०-११ ॥

राजानमद्य भवतां न्यासभूतं ददानि वै।
तस्य संरक्षणे सर्वे यतध्वं विगतज्वराः ॥ १२ ॥

'इस समय राजाको धरोहरके रूपमें मैं तुम्हें सौंप रहा हूँ। तुम सब लोग निश्चिन्त होकर इनकी रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करना' ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः प्रायादाधिरथिं प्रति।
सिंहनादेन महता सर्वाः संनादयन् दिशः ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेन अपने महान् सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए सूतपुत्र कर्णकी ओर बढ़े ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा त्वरितमायान्तं भीमं युद्धाभिनन्दिनम्।
सूतपुत्रमथोवाच मद्राणामीश्वरो विभुः ॥ १४ ॥

युद्धका अभिनन्दन करनेवाले भीमसेनको बड़ी उतावली-के साथ आते देख मद्रदेशके स्वामी शक्तिशाली शल्यने सूत-पुत्र कर्णसे कहा ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

पश्य कर्ण महाबाहुं संक्रुद्धं पाण्डुनन्दनम्।
दीर्घकालार्जितं क्रोधं मोक्तुकामं त्वयि ध्रुवम् ॥ १५॥

शल्य बोले—कर्ण! क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन महाबाहु भीमसेनको देखो; जो दीर्घकालसे संचित किये हुए क्रोधको आज तुम्हारे ऊपर छोड़नेका दृढ़ निश्चय किये हुए हैं॥

ईदृशं नास्य रूपं मे दृष्टपूर्वं कदाचन।
अभिमन्यौ हते कर्ण राक्षसे च घटोत्कचे ॥ १६ ॥

कर्ण! अभिमन्यु तथा घटोत्कच राक्षसके मारे जानेपर भी पहले कभी मैंने इनका ऐसा रूप नहीं देखा था ॥ १६ ॥

त्रैलोक्यस्य समस्तस्य शक्तः क्रुद्धो निवारणे।
बिभर्ति सदृशं रूपं युगान्ताग्निसमप्रभम् ॥ १७ ॥

ये इस समय कुपित हो समस्त त्रिलोकीको रोक देनेमें समर्थ हैं; क्योंकि प्रलयकालके अग्निके समान तेजस्वी रूप धारण कर रहे हैं ॥ १७ ॥

संजय उवाच

इति ब्रुवति राधेयं मद्राणामीश्वरे नृप।
अभ्यवर्तत वै कर्णं क्रोधदीप्तो वृकोदरः ॥ १८ ॥

संजय कहते हैं—नरेश्वर! मद्रराज शल्य राधापुत्र कर्णसे ऐसी बातें कह ही रहे थे कि क्रोधसे प्रज्वलित हुए भीमसेन उसके सामने आ पहुँचे ॥ १८ ॥

अथागतं तु सम्प्रेक्ष्य भीमं युद्धाभिनन्दिनम्।
अब्रवीद् वचनं शल्यं राधेयः प्रहसन्निव ॥ १९ ॥

युद्धका अभिनन्दन करनेवाले भीमसेनको सामने आया देख हँसते हुए-से राधापुत्र कर्णने शल्यसे इस प्रकार कहा—॥

यदुक्तं वचनं मेऽद्य त्वया मद्रजनेश्वर।
भीमसेनं प्रति विभो तत् सत्यं नात्र संशयः ॥ २० ॥

'मद्रराज! प्रभो! आज तुमने भीमसेनके विषयमें मेरे सामने जो बात कही है, वह सर्वथा सत्य है—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

एष शूरश्च वीरश्च क्रोधनश्च वृकोदरः।
निरपेक्षः शरीरे च प्राणतश्च बलाधिकः ॥ २१ ॥

'ये भीमसेन शूरवीर, क्रोधी, अपने शरीर और प्राणोंका मोह न करनेवाले तथा अधिक बलशाली हैं ॥ २१ ॥

अज्ञातवासं वसता विराटनगरे तदा।
द्रौपद्याः प्रियकामेन केवलं बाहुसंश्रयात् ॥ २२ ॥
गूढभावं समाश्रित्य कीचकः सगणो हतः।

'विराटनगरमें अज्ञातवास करते समय इन्होंने द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छासे छिपे-छिपे जाकर केवल बाहुबलसे कीचकको उसके साथियोंसहित मार डाला था ॥ २२½ ॥

सोऽद्य संग्रामशिरसि संनद्धः क्रोधमूर्छितः ॥ २३ ॥
किं करोद्यतदण्डेन मृत्युनापि व्रजेद् रणम्।

'वे ही आज क्रोधसे आतुर हो कवच बाँधकर युद्धके मुहानेपर उपस्थित हैं; परंतु क्या ये दण्ड धारण किये यमराज-के साथ भी युद्धके लिये रणभूमिमें उतर सकते हैं?॥ २३½ ॥

चिरकालाभिलषितो ममायं तु मनोरथः ॥ २४ ॥
अर्जुनं समरे हन्यां मां वा हन्याद् धनंजयः।
स मे कदाचिदद्यैव भवेद् भीमसमागमात् ॥ २५ ॥

'मेरे हृदयमें दीर्घकालसे यह अभिलाषा बनी हुई है कि समराङ्गणमें अर्जुनका वध करूँ अथवा वे ही मुझे मार डालें। कदाचित् भीमसेनके साथ समागम होनेसे मेरी वह इच्छा आज ही पूरी हो जाय ॥ २४-२५ ॥

निहते भीमसेने वा यदि वा विरथीकृते।
अभियास्यति मां पार्थस्तन्मे साधु भविष्यति ॥ २६ ॥
अत्र यन्मन्यसे प्राप्तं तच्छीघ्रं सम्प्रधारय।

'यदि भीमसेन मारे गये अथवा रथहीन कर दिये गये तो अर्जुन अवश्य मुझपर आक्रमण करेंगे, जो मेरे लिये अधिक अच्छा होगा। तुम जो यहाँ उचित समझते हो, वह शीघ्र निश्चय करके बताओ' ॥ २६½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राधेयस्यामितौजसः ॥ २७ ॥
उवाच वचनं शल्यः सूतपुत्रं तथागतम्।

अमित शक्तिशाली राधापुत्र कर्णका यह वचन सुनकर राजा शल्यने सूतपुत्रसे उस अवसरके लिये उपयुक्त वचन कहा—॥ २७½ ॥

अभियाहि महाबाहो भीमसेनं महाबलम् ॥ २८ ॥
निरस्य भीमसेनं तु ततः प्राप्स्यसि फाल्गुनम्।

'महाबाहो! तुम महाबली भीमसेनपर चढ़ाई करो। भीमसेनको परास्त कर देनेपर निश्चय ही अर्जुनको अपने सामने पा जाओगे ॥ २८½ ॥

यस्ते कामोऽभिलषितश्चिरात् प्रभृति हृद्गतः ॥ २९ ॥
स वै सम्पत्स्यते कर्ण सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

'कर्ण ! तुम्हारे हृदयमें चिरकालसे जो अभीष्ट मनोरथ संचित है, वह निश्चय ही सफल होगा, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ' ॥ २९½ ॥

एवमुक्ते ततः कर्णः शल्यं पुनरभाषत ॥ ३० ॥
हन्ताहमर्जुनं संख्ये मां वा हन्याद् धनंजयः ।
युद्धे मनः समाधाय याहि यत्र वृकोदरः ॥ ३१ ॥

उनके ऐसा कहनेपर कर्णने शल्यसे फिर कहा—'मद्रराज ! मैं युद्धमें अर्जुनको मारूँ या अर्जुन ही मुझे मार डालें । इस उद्देश्यसे युद्धमें मन लगाकर जहाँ भीमसेन हैं, उधर ही चलो' ॥ ३०-३१ ॥

संजय उवाच

ततः प्रायाद् रथेनाशु शल्यस्तत्र विशाम्पते ।
यत्र भीमो महेष्वासो व्यद्रावयत वाहिनीम् ॥ ३२ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! तदनन्तर शल्य रथके द्वारा तुरंत ही वहाँ जा पहुँचे, जहाँ महाधनुर्धर भीमसेन आपकी सेनाको खदेड़ रहे थे ॥ ३२ ॥

ततस्तूर्यनिनादश्च भेरीणां च महास्वनः ।
उदतिष्ठच्च राजेन्द्र कर्णभीमसमागमे ॥ ३३ ॥

राजेन्द्र ! कर्ण और भीमसेनका संघर्ष उपस्थित होनेपर फिर तूर्य और भेरियोंकी गम्भीर ध्वनि होने लगी ॥ ३३ ॥

भीमसेनोऽथ संक्रुद्धस्तस्य सैन्यं दुरासदम् ।
नाराचैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्दिशः प्राद्रावयद् बली ॥ ३४ ॥

बलवान् भीमसेनने अत्यन्त कुपित होकर चमचमाते हुए तीखे नाराचोंसे आपकी दुर्जय सेनाको सम्पूर्ण दिशाओंमें खदेड़ दिया ॥ ३४ ॥

स संनिपातस्तुमुलो घोररूपो विशाम्पते ।
आसीद् रौद्रो महाराज कर्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ ३५ ॥

प्रजानाथ ! महाराज ! कर्ण और भीमसेनके उस युद्धमें बड़ी भयङ्कर, भीषण और घोर मार-काट हुई ॥ ३५ ॥

ततो मुहूर्ताद् राजेन्द्र पाण्डवः कर्णमाद्रवत् ।
समापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कर्णो वैकर्तनो वृषः ॥ ३६ ॥
आजघान सुसंक्रुद्धो नाराचेन स्तनान्तरे ।
पुनश्चैनममेयात्मा शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! पाण्डुपुत्र भीमसेनने दो ही घड़ीमें कर्णपर आक्रमण कर दिया । उन्हें अपनी ओर आते देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए धर्मात्मा वैकर्तन कर्णने एक नाराचद्वारा उनकी छातीमें प्रहार किया । फिर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न उस वीरने उन्हें अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥३६-३७॥

स विद्धः सूतपुत्रेण छादयामास पत्रिभिः ।
विव्याध निशितैः कर्णं नवभिर्नतपर्वभिः ॥ ३८ ॥

सूतपुत्रके द्वारा घायल होनेपर उन्होंने भी उसे बाणोंसे आच्छादित कर दिया और झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे बाणोंसे कर्णको बींध डाला ॥ ३८ ॥

तस्य कर्णो धनुर्मध्ये द्विधा चिच्छेद पत्रिभिः ।
अथैनं छिन्नधन्वानं प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३९ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना ।

तब कर्णने कई बाण मारकर भीमसेनके धनुषके बीचसे ही दो टुकड़े कर दिये । धनुष कट जानेपर उनकी छातीमें समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले अत्यन्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३९½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय सूतपुत्रं वृकोदरः ॥ ४० ॥
राजन् मर्मसु मर्मज्ञो विव्याध निशितैः शरैः ।
ननाद बलवन्नादं कम्पयन्निव रोदसी ॥ ४१ ॥

राजन् ! मर्मज्ञ भीमसेनने दूसरा धनुष लेकर सूतपुत्रके मर्मस्थानोंमें पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया और पृथ्वी तथा आकाशको कँपाते हुए-से उन्होंने बड़े जोरसे गर्जना की ॥

तं कर्णः पञ्चविंशत्या नाराचेन समार्पयत् ।
मदोत्कटं वने दृप्तमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ ४२ ॥

कर्णने भीमसेनको पचीस नाराच मारे, मानो किसी शिकारीने वनमें दर्पयुक्त मदोन्मत्त गजराजपर उल्काओंद्वारा प्रहार किया हो ॥ ४२ ॥

ततः सायकभिन्नाङ्गः पाण्डवः क्रोधमूर्छितः ।
संरम्भामर्षताम्राक्षः सूतपुत्रवधेप्सया ॥ ४३ ॥
स कार्मुके महावेगं भारसाधनमुत्तमम् ।
गिरीणामपि भेत्तारं सायकं समयोजयत् ॥ ४४ ॥

फिर कर्णके बाणोंसे सारा शरीर घायल हो जानेके कारण पाण्डुपुत्र भीमसेन क्रोधसे मूर्छित हो उठे । रोष और अमर्षसे उनकी आँखें लाल हो गयीं । उन्होंने सूतपुत्रके वधकी इच्छासे अपने धनुषपर एक अत्यन्त वेगशाली, भारसाधनमें समर्थ, उत्तम और पर्वतोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाणका संधान किया ॥ ४३-४४ ॥

विकृष्य बलवच्चापमाकर्णादतिमारुतिः ।
तं मुमोच महेष्वासः क्रुद्धः कर्णजिघांसया ॥ ४५ ॥

फिर हनुमान्‌जीसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेवाले महाधनुर्धर भीमसेनने धनुषको जोर-जोरसे कानतक खींचकर कर्णको मार डालनेकी इच्छासे उस बाणको क्रोधपूर्वक छोड़ दिया ॥ ४५ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणो वज्राशनिस्वनः ।
अदारयद् रणे कर्णं वज्रवेगो यथाचलम् ॥ ४६ ॥

बलवान् भीमसेनके हाथसे छूटकर वज्र और विद्युत्‌के समान शब्द करनेवाले उस बाणने रणभूमिमें कर्णको चीर डाला, मानो वज्रके वेगने पर्वतको विदीर्ण कर दिया हो ॥

स भीमसेनाभिहतः सूतपुत्रः कुरूद्वह।
निषसाद रथोपस्थे विसंज्ञः पृतनापतिः ॥ ४७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! भीमसेनकी गहरी चोट खाकर सेनापति सूतपुत्र कर्ण अचेत हो रथकी बैठकमें धम्मसे बैठ गया ॥

(रुधिरेणावसिक्ताङ्गो गतासुवदरिंदमः।
एतस्मिन्नन्तरे दृष्ट्वा मद्रराजो वृकोदरम् ॥
जिह्वां छेत्तुं समायान्तं सान्त्वयन्निदमब्रवीत्।

उसका सारा शरीर रक्तसे सिंच गया। शत्रुओंका दमन करनेवाला वह वीर प्राणहीन-सा हो गया था। इसी समय भीमसेनको कर्णकी जीभ काटनेके लिये आते देख मद्रराज शल्यने उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥

शल्य उवाच

भीमसेन महाबाहो यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु।
वचनं हेतुसम्पन्नं श्रुत्वा चैतत् तथा कुरु ॥

शल्य बोले—महाबाहु भीमसेन ! मैं तुमसे जो युक्तियुक्त वचन कह रहा हूँ, उसे सुनो और सुनकर उसका पालन करो ॥

अर्जुनेन प्रतिज्ञातो वधः कर्णस्य शुष्मिणः ॥
तां तथा कुरु भद्रं ते प्रतिज्ञां सव्यसाचिनः।

अर्जुनने पराक्रमी कर्णके वधकी प्रतिज्ञा की है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम सव्यसाची अर्जुनके उस प्रतिज्ञाको सफल करो ॥

भीम उवाच

दृढव्रतत्वं पार्थस्य जानामि नृपसत्तम।
राज्ञस्तु धर्षणं पापः कृतवान् मम संनिधौ ॥
ततः कोपाभिभूतेन शेषं न गणितं मया।

भीमसेनने कहा—नृपश्रेष्ठ ! मैं अर्जुनकी दृढ़प्रतिज्ञताको जानता हूँ; परंतु इस पापी कर्णने मेरे समीप ही राजा युधिष्ठिरका तिरस्कार किया है, अतः क्रोधके वशीभूत होकर मैंने और किसी बातकी परवा नहीं की है ॥

पतिते चापि राधेये न मे मन्युः शमं गतः ॥
जिह्वोद्धरणमेवास्य प्राप्तकालं मतं मम।

यद्यपि राधापुत्र कर्ण गिर गया है तो भी मेरा क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ है। मैं तो इस समय इसकी जीभ खींच लेना ही उचित समझता हूँ ॥

अनेन सुनृशंसेन समवेतेषु राजसु ॥
अस्माकं शृण्वतां कृष्णा यानि वाक्यानि मातुल।
असह्यानि च नीचेन बहूनि श्रावितानि भोः ॥
नूनं चैतत् परिज्ञातं दूरस्थस्यापि पार्थिव।
छेदनं चास्य जिह्वायास्तदेवाकाङ्क्षितं मया ॥

मामाजी ! इस नीच नृशंसने जहाँ बहुत-से राजा एकत्र हुए थे, वहाँ हमारे सुनते हुए द्रौपदीके प्रति बहुत-से असह्य कटुवचन सुनाये थे। राजन् ! आप दूर होनेपर भी निश्चय ही यह समझ गये हैं कि मेरे द्वारा इसकी जीभ काटी जानेवाली है। वास्तवमें इस समय मैंने इसकी जीभ काटनेकी ही इच्छा की थी ॥

राज्ञस्तु प्रियकामेन कालोऽयं परिपालितः।
भवता तु यदुक्तोऽस्मि वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥
तद् गृहीतं महाराज कटुकस्थमिवौषधम्।

केवल राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये मैंने आज तक प्रतीक्षा की है। महाराज ! आपने जो युक्तियुक्त बात मुझसे कही है, उसे कड़वी दवाके समान मैंने ग्रहण कर लिया है ॥

हीनप्रतिज्ञो बीभत्सुर्न हि जीवेत कर्हिचित् ॥
अस्मिन् विनष्टे नष्टाः स्मः सर्व एव सकेशवाः।

क्योंकि यदि अर्जुनकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायगी तो वे कभी जीवित नहीं रह सकेंगे; उनके नष्ट होनेपर श्रीकृष्णसहित हम सब लोग भी नष्ट ही हो जायँगे ॥

अद्य चैव नृशंसात्मा पापः पापकृतां वरः ॥
गमिष्यति पराभावं दृष्टमात्रः किरीटिना।

आज किरीटधारी अर्जुनकी दृष्टि पड़ते ही यह पापाचारियोंमें श्रेष्ठ पापात्मा क्रूर कर्ण पराभवको प्राप्त हो जायगा ॥

युधिष्ठिरस्य कोपेन पूर्वं दग्धो नृशंसकृत् ॥
त्वया संरक्षितस्त्वस्य मत्समीपादुपायतः ॥)

यह नृशंस कर्ण महाराज युधिष्ठिरके क्रोधसे पहले ही दग्ध हो चुका था। आज आपने उचित उपायद्वारा मेरे निकटसे इसकी रक्षा कर ली है ॥

ततो मद्राधिपो दृष्ट्वा विसंज्ञं सूतनन्दनम्।
अपोवाह रथेनाजौ कर्णमाहवशोभिनम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर मद्रराज शल्य संग्राममें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्णको अचेत हुआ देख रथके द्वारा युद्धस्थलसे दूर हटा ले गये ॥ ४८ ॥

ततः पराजिते कर्णे धार्तराष्ट्रीं महाचमूम्।
व्यद्रावयद् भीमसेनो यथेन्द्रो दानवान् पुरा ॥ ४९ ॥

कर्णके पराजित हो जानेपर भीमसेन दुर्योधनकी विशाल सेनाको पुनः खदेड़ने लगे। ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने दानवोंको मार भगाया था ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णापयाने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णका पलायनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके छः पुत्रोंका वध, भीम और कर्णका युद्ध, भीमके द्वारा गजसेना, रथसेना और घुड़सवारोंका संहार तथा उभयपक्षकी सेनाओंका घोर युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

सुदुष्करमिदं कर्म कृतं भीमेन संजय।
येन कर्णो महाबाहू रथोपस्थे निपातितः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! भीमसेनने तो यह अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला कि महाबाहु कर्णको रथकी बैठकमें गिरा दिया ॥ १ ॥

कर्णो ह्येको रणे हन्ता पाण्डवान् सृञ्जयैः सह।
इति दुर्योधनः सूत प्राब्रवीन्मां मुहुर्मुहुः॥ २॥

सूत ! दुर्योधन मुझसे बारंबार कहा करता था कि 'कर्ण अकेला ही रणभूमिमें सृंजयोंसहित समस्त पाण्डवोंका वध कर सकता है' ॥ २ ॥

पराजितं तु राधेयं दृष्ट्वा भीमेन संयुगे।
ततः परं किमकरोत् पुत्रो दुर्योधनो मम॥ ३॥

परंतु उस दिन युद्धस्थलमें राधापुत्र कर्णको भीमसेनके द्वारा पराजित हुआ देखकर मेरे पुत्र दुर्योधनने क्या किया ?॥

संजय उवाच

विमुखं प्रेक्ष्य राधेयं सूतपुत्रं महाहवे।
पुत्रस्तव महाराज सोदर्यान् समभाषत॥ ४॥

संजयने कहा—महाराज ! सूतपुत्र राधाकुमार कर्णको महासमरमें पराङ्मुख हुआ देख आपका पुत्र अपने भाइयोंसे बोला—॥ ४ ॥

शीघ्रं गच्छत भद्रं वो राधेयं परिरक्षत।
भीमसेनभयागाधे मज्जन्तं व्यसनार्णवे॥ ५॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुमलोग शीघ्र जाओ और राधापुत्र कर्णकी रक्षा करो। वह भीमसेनके भयसे भरे हुए संकटके अगाध महासागरमें डूब रहा है' ॥ ५ ॥

ते तु राज्ञा समादिष्टा भीमसेनं जिघांसवः।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पतङ्गाः पावकं यथा॥ ६॥

राजा दुर्योधनकी आज्ञा पाकर आपके पुत्र अत्यन्त कुपित हो भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके सामने गये, मानो पतंग आगके समीप जा पहुँचे हों ॥ ६ ॥

श्रुतर्वा दुर्धरः क्राथो विवित्सुर्विकटः समः।
निषङ्गी कवची पाशी तथा नन्दोपनन्दकौ॥ ७॥
दुष्प्रधर्षः सुबाहुश्च वातवेगसुवर्चसौ।
धनुर्ग्राहो दुर्मदश्च जलसंधः शलः सहः॥ ८॥
एते रथैः परिवृता वीर्यवन्तो महाबलाः।
भीमसेनं समासाद्य समन्तात् पर्यवारयन्॥ ९॥

श्रुतर्वा, दुर्धर, क्राथ (क्रथन), विवित्सु, विकट (विकटानन), सम, निषङ्गी, कवची, पाशी, नन्द, उपनन्द, दुष्प्रधर्ष, सुबाहु, वातवेग, सुवर्चा, धनुर्ग्राह, दुर्मद, जलसन्ध, शल और सह—ये महाबली और पराक्रमी आपके पुत्रगण, बहुसंख्यक रथोंसे घिरकर भीमसेनके पास जा पहुँचे और उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ७-९ ॥

ते व्यमुञ्चञ्छरव्रातान् नानालिङ्गान् समन्ततः।
स तैरभ्यर्द्यमानस्तु भीमसेनो महाबलः॥ १०॥
तेषामापततां क्षिप्रं सुतानां ते जनाधिप।
रथैः पञ्चाशता सार्धं पञ्चाशदहनद् रथान्॥ ११॥

वे चारों ओरसे नाना प्रकारके चिह्नोंसे युक्त बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे। नरेश्वर ! उनसे पीड़ित होकर महाबली भीमसेनने पचास रथोंके साथ आये हुए आपके पुत्रोंके उन पचासों रथियोंको शीघ्र ही नष्ट कर दिया ॥ १०-११ ॥

विवित्सोस्तु ततः क्रुद्धो भल्लेनापाहरच्छिरः।
भीमसेनो महाराज तत् पपात हतं भुवि॥ १२॥
सकुण्डलशिरस्त्राणं पूर्णचन्द्रोपमं तथा।

महाराज ! तत्पश्चात् कुपित हुए भीमसेनने एक भल्लसे

विवित्सुका सिर काट लिया। उसका वह कुण्डल और शिरस्त्राणसहित कटा हुआ मस्तक पूर्ण चन्द्रमाके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १२½ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं शूरं भ्रातरः सर्वतः प्रभो॥ १३॥
अभ्यद्रवन्त समरे भीमं भीमपराक्रमम्।

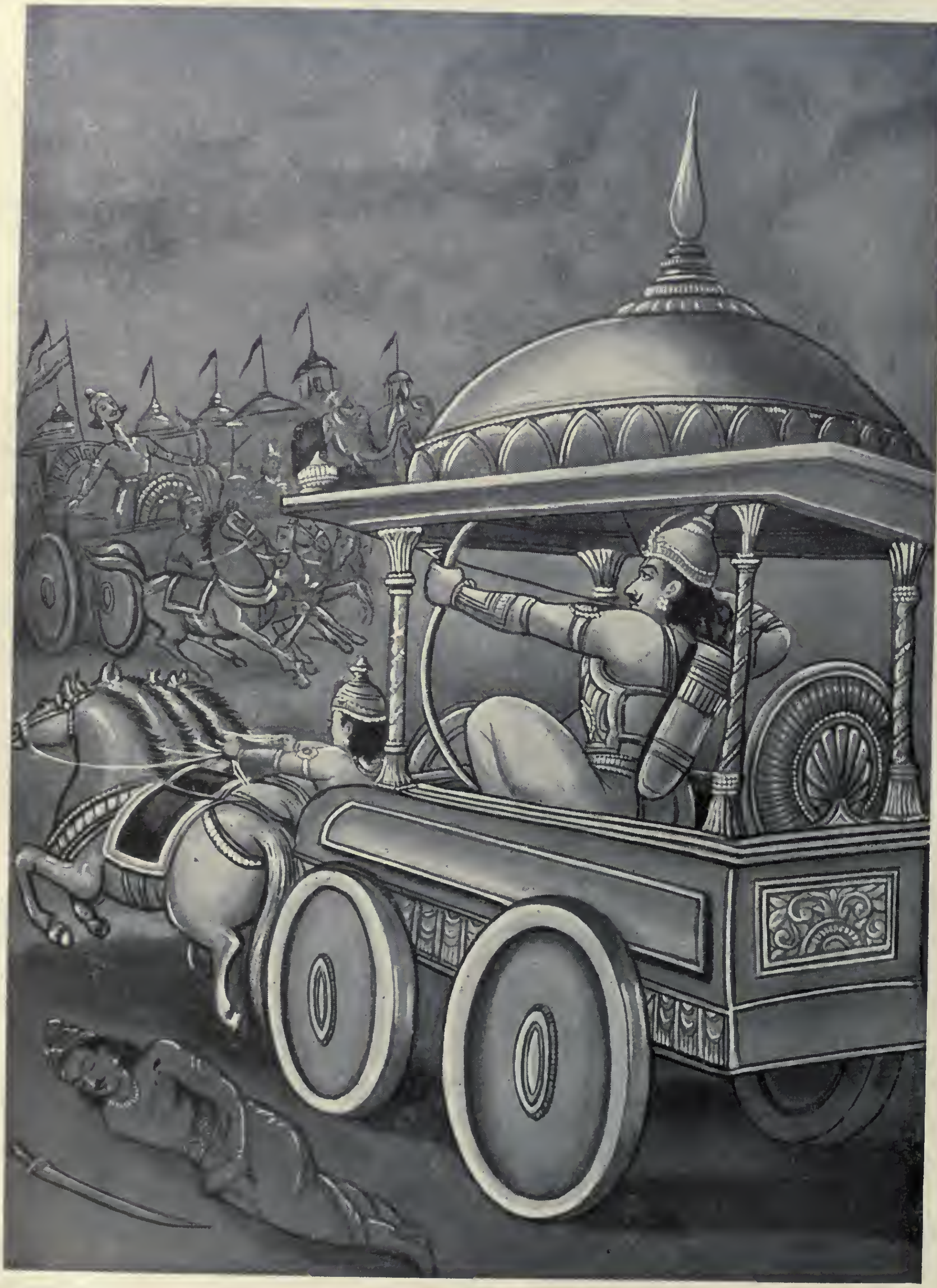

भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके कई पुत्रों एवं कौरवयोद्धाओंका संहार

प्रभो ! उस शूरवीरको मारा गया देख उसके भाई समरभूमिमें भयंकर पराक्रमी भीमसेनपर सब ओरसे टूट पड़े ॥ १३½ ॥

ततोऽपराभ्यां भल्लाभ्यां पुत्रयोस्ते महाहवे ॥ १४ ॥
जहार समरे प्राणान् भीमो भीमपराक्रमः ।

तब भयानक पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेनने उस महायुद्धमें दूसरे दो भल्लोंद्वारा रणभूमिमें आपके दो पुत्रोंके प्राण हर लिये ॥ १४½ ॥

तौ धरामन्वपद्येतां वातरुग्णाविव द्रुमौ ॥ १५ ॥
विकटश्च समश्चोभौ देवपुत्रोपमौ नृप ।

नरेश्वर ! वे दोनों थे विकट (विकटानन) और सम । देवपुत्रोंके समान सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर आँधीके उखाड़े हुए दो वृक्षोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १५½ ॥

ततस्तु त्वरितो भीमः क्राथं निन्ये यमक्षयम् ॥ १६ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ।

फिर लगे हाथ भीमसेनने क्राथ (क्रथन)को भी एक तीखे नाराचसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया । वह राजकुमार प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १६½ ॥

हाहाकारस्ततस्तीव्रः सम्बभूव जनेश्वर ॥ १७ ॥
वध्यमानेषु वीरेषु तव पुत्रेषु धन्विषु ।

जनेश्वर ! फिर आपके वीर धनुर्धर पुत्रोंके इस प्रकार वहाँ मारे जानेपर भयंकर हाहाकार मच गया ॥ १७½ ॥

तेषां सुलुलिते सैन्ये पुनर्भीमो महाबलः ॥ १८ ॥
नन्दोपनन्दौ समरे प्रैषयद् यमसादनम् ।

उनकी सेना चञ्चल हो उठी । फिर महाबली भीमसेनने समराङ्गणमें नन्द और उपनन्दको भी यमलोक भेज दिया१८½

ततस्ते प्राद्रवन् भीताः पुत्रास्ते विह्वलीकृताः ॥ १९ ॥
भीमसेनं रणे दृष्ट्वा कालान्तकयमोपमम् ।

तदनन्तर आपके शेष पुत्र रणभूमिमें काल, अन्तक और यमके समान भयानक भीमसेनको देखकर भयसे व्याकुल हो वहाँसे भाग गये ॥ १९½ ॥

पुत्रांस्ते निहतान् दृष्ट्वा सूतपुत्रः सुदुर्मनाः ॥ २० ॥
हंसवर्णान् हयान् भूयः प्रैषयद् यत्र पाण्डवः ।

आपके पुत्रोंको मारा गया देख सूतपुत्र कर्णके मनमें बड़ा दुःख हुआ । उसने हंसके समान अपने श्वेत घोड़ोंको पुनः वहीं हँकवाया, जहाँ पाण्डुपुत्र भीमसेन मौजूद थे २०½

ते प्रेषिता महाराज मद्रराजेन वाजिनः ॥ २१ ॥
भीमसेनरथं प्राप्य समसज्जन्त वेगिताः ।

महाराज ! मद्रराजके हाँके हुए वे घोड़े बड़े वेगसे भीमसेनके रथके पास जाकर उनसे सट गये ॥ २१½ ॥

स संनिपातस्तुमुलो घोररूपो विशाम्पते ॥ २२ ॥
आसीद् रौद्रो महाराज कर्णपाण्डवयोर्मृधे ।

प्रजानाथ ! महाराज ! युद्धस्थलमें कर्ण और भीमसेनका वह संघर्ष घोर, रौद्र और अत्यन्त भयंकर था ॥२२½॥

दृष्ट्वा मम महाराज तौ समेतौ महारथौ ॥ २३ ॥
आसीद् बुद्धिः कथं युद्धमेतदद्य भविष्यति ।

राजेन्द्र ! वे दोनों महारथी जब परस्पर भिड़ गये, उस समय वह देखकर मेरे मनमें यह विचार उठने लगा कि न जाने यह युद्ध कैसा होगा ? ॥ २३½ ॥

ततो भीमो रणश्लाघी छादयामास पत्रिभिः ॥२४ ॥
कर्णं रणे महाराज पुत्राणां तव पश्यताम् ।

महाराज ! तदनन्तर युद्धका हौसला रखनेवाले भीमसेनने अपने बाणोंसे आपके पुत्रोंके देखते-देखते कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ २४½ ॥

ततः कर्णो भृशं क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ॥ २५ ॥
विव्याध परमास्त्रज्ञो भल्लैः संनतपर्वभिः ।

तब उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने अत्यन्त कुपित हो लोहेके बने हुए और झुकी हुई गाँठवाले नौ भल्लोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ॥ २५½ ॥

आहतः स महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥ २६ ॥
आकर्णपूर्णैर्विशिखैः कर्णं विव्याध सप्तभिः ।

उन भल्लोंसे आहत हो भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमसेनने कर्णको भी कानतक खींचकर छोड़े गये सात बाणोंसे पीट दिया ॥ २६½ ॥

ततः कर्णो महाराज आशीविष इव श्वसन् ॥ २७ ॥
शरवर्षेण महता छादयामास पाण्डवम् ।

महाराज ! तब विषधर सर्पके समान फुफकारते हुए कर्णने बाणोंकी भारी वर्षा करके पाण्डुपुत्र भीमसेनको आच्छादित कर दिया ॥ २७½ ॥

भीमोऽपि तं शरव्रातैश्छादयित्वा महारथम् ॥ २८ ॥
पश्यतां कौरवेयाणां विननर्द महाबलः ।

महाबली भीमसेनने भी कौरववीरोंके देखते-देखते महारथी कर्णको बाणसमूहोंसे आच्छादित करके विकट गर्जना की ॥ २८½ ॥

ततः कर्णो भृशं क्रुद्धो दृढमादाय कार्मुकम् ॥ २९ ॥
भीमं विव्याध दशभिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।
कार्मुकं चास्य चिच्छेद भल्लेन निशितेन च ॥ ३० ॥

तब कर्णने अत्यन्त कुपित हो सुदृढ़ धनुष हाथमें लेकर सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कङ्कपत्रयुक्त दस बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया । साथ ही एक तीखे भल्लसे उनके धनुषको भी काट डाला ॥ २९-३० ॥

ततो भीमो महाबाहुर्हेमपट्टविभूषितम् ।
परिघं घोरमादाय मृत्युदण्डमिवापरम् ॥ ३१ ॥
कर्णस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेपातिबलो नदन् ।

तब अत्यन्त बलवान् महाबाहु भीमसेनने कर्णके वधकी इच्छासे द्वितीय मृत्युदण्डके समान एक भयंकर स्वर्णपत्र-जटित परिघ हाथमें ले उसे गरजकर कर्णपर दे मारा ॥३१½॥

तमापतन्तं परिघं वज्राशनिसमस्वनम् ॥ ३२ ॥
चिच्छेद बहुधा कर्णः शरैराशीविषोपमैः ।

वज्र और बिजलीके समान गड़गड़ाहट पैदा करनेवाले उस परिघको अपने ऊपर आते देख कर्णने विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा उसके बहुत-से टुकड़े कर डाले३२½

ततः कार्मुकमादाय भीमो दृढतरं तदा ॥ ३३ ॥
छादयामास विशिखैः कर्णं परबलार्दनम् ।

तत्पश्चात् भीमसेनने अत्यन्त सुदृढ़ धनुष हाथमें लेकर अपने बाणोंद्वारा शत्रुसैन्यसंतापी कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ ३३½ ॥

ततो युद्धमभूद् घोरं कर्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ ३४ ॥
हरीन्द्रयोरिव मुहुः परस्परवधैषिणोः ।

फिर तो एक दूसरेके वधकी इच्छावाले दो सिंहोंके समान कर्ण और भीमसेनमें वहाँ अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा३४½

ततः कर्णो महाराज भीमसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३५ ॥
आकर्णमूलं विव्याध दृढमायम्य कार्मुकम् ।

महाराज ! उस समय कर्णने अपने सुदृढ़ धनुषको कानके पासतक खींचकर तीन बाणोंसे भीमसेनको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३५½ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः कर्णेन बलिनां वरः ॥ ३६ ॥
घोरमादत्त विशिखं कर्णकायावदारणम् ।

कर्णके द्वारा अत्यन्त घायल होकर बलवानोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेनने एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जो कर्णके शरीरको विदीर्ण करनेमें समर्थ था ॥ ३६½ ॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं भित्त्वा कायं च सायकः ॥ ३७ ॥
प्राविशद् धरणीं राजन् वल्मीकमिव पन्नगः ।

राजन् ! जैसे साँप बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह बाण कर्णके कवच और शरीरको छेदकर धरतीमें समा गया ॥३७½ ॥

स तेनातिप्रहारेण व्यथितो विह्वलन्निव ॥ ३८ ॥
संचचाल रथे कर्णः क्षितिकम्पे यथाचलः ।

उस प्रबल प्रहारसे व्यथित और विह्वल-सा होकर कर्ण रथपर ही काँपने लगा । ठीक उसी तरह, जैसे भूकम्पके समय पर्वत हिलने लगता है ॥ ३८½ ॥

ततः कर्णो महाराज रोषामर्षसमन्वितः ॥ ३९ ॥
पाण्डवं पञ्चविंशत्या नाराचानां समार्पयत् ।
आजघ्ने बहुभिर्बाणैर्ध्वजमेकेषुणाहनत् ॥ ४० ॥

महाराज ! तब रोष और अमर्षमें भरे हुए कर्णने पाण्डुपुत्र भीमसेनपर पचीस नाराचोंका प्रहार किया । साथ ही अन्य बहुत-से बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया और एक बाणसे उनकी ध्वजा काट डाली ॥ ३९-४० ॥

सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ।
छित्त्वा च कार्मुकं तूर्णं पाण्डवस्याशु पत्रिणा ॥ ४१ ॥
ततो मुहूर्ताद् राजेन्द्र नातिकृच्छ्राद्धसन्निव ।
विरथं भीमकर्माणं भीमं कर्णश्चकार ह ॥ ४२ ॥

राजेन्द्र ! फिर एक भल्लसे उनके सारथिको यमलोक भेज दिया और तुरंत ही एक बाणसे उनके धनुषको भी काटकर बिना विशेष कष्टके ही मुहूर्तभरमें हँसते हुए-से कर्णने भयंकर पराक्रमी भीमसेनको रथहीन कर दिया ४१-४२

विरथो भरतश्रेष्ठ प्रहसन्ननिलोपमः ।
गदां गृह्य महाबाहुरपतत् स्यन्दनोत्तमात् ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रथहीन होनेपर वायुके समान बलशाली महाबाहु भीमसेन गदा हाथमें लेकर हँसते हुए उस उत्तम रथसे कूद पड़े ॥ ४३ ॥

अवप्लुत्य च वेगेन तव सैन्यं विशाम्पते ।
व्यधमद् गदया भीमः शरन्मेघानिवानिलः ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ ! जैसे वायु शरत्कालके बादलोंको शीघ्र ही उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेनने बड़े वेगसे कूदकर अपनी गदाकी चोटसे आपकी सेनाका विध्वंस आरम्भ किया ॥

नागान् सप्तशतान् राजन्नीषादन्तान् प्रहारिणः ।
व्यधमत् सहसा भीमः क्रुद्धरूपः परंतपः ॥ ४५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने क्रुद्ध होकर प्रहार करनेमें कुशल और ईषादण्डके समान दाँतोंवाले सात सौ हाथियोंका सहसा संहार कर डाला ॥ ४५ ॥

दन्तवेष्टेषु नेत्रेषु कुम्भेषु च कटेषु च ।
मर्मस्वपि च मर्मज्ञस्तान् नागानवधीद् बली ॥ ४६ ॥

मर्मस्थलोंको जाननेवाले बलवान् भीमसेनने उन गजराजोंके मर्मस्थानों, ओठों, नेत्रों, कुम्भस्थलों और कपोलोंपर भी गदासे चोट पहुँचायी ॥ ४६ ॥

ततस्ते प्राद्रवन् भीताः प्रतीपं प्रहिताः पुनः ।
महामात्रैस्तमावव्रुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ ४७ ॥

फिर तो वे हाथी भयभीत होकर भागने लगे । तत्पश्चात् महावतोंने जब उन्हें पीछे लौटाया, तब वे भीमसेनको घेरकर खड़े हो गये, मानो बादलोंने सूर्यदेवको ढक लिया हो ।४७।

तान् स सप्तशतान् नागान् सारोहायुधकेतनान् ।
भूमिष्ठो गदया जघ्ने वज्रेणेन्द्र इवाचलान् ॥ ४८ ॥

जैसे इन्द्र अपने वज्रके द्वारा पर्वतोंपर आघात करते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर खड़े हुए भीमसेनने सवारों, आयुधों और ध्वजाओंसहित उन सात सौ गजराजोंको गदासे ही मार डाला ॥ ४८ ॥

ततः सुबलपुत्रस्य नागानतिबलान् पुनः ।
पोथयामास कौन्तेयो द्विपञ्चाशदरिंदमः ॥ ४९ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीकुमार भीमने सुबलपुत्र शकुनिके अत्यन्त बलवान् बावन हाथियोंको मार गिराया ॥ ४९ ॥

तथा रथशतं साग्रं पत्तींश्च शतशोऽपरान् ।
न्यहनत् पाण्डवो युद्धे तापयंस्तव वाहिनीम् ॥ ५० ॥

इसी प्रकार उस युद्धस्थलमें आपकी सेनाको संताप देते हुए पाण्डुकुमार भीमसेनने सौसे भी अधिक रथों और दूसरे सैकड़ों पैदल सैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ५० ॥

प्रताप्यमानं सूर्येण भीमेन च महात्मना ।
तव सैन्यं संचुकोच चर्माग्नावाहितं यथा ॥ ५१ ॥

ऊपरसे सूर्य तपा रहे थे और नीचे महामनस्वी भीमसेन संतप्त कर रहे थे । उस अवस्थामें आपकी सेना आगपर रक्खे हुए चमड़ेके समान सिकुड़कर छोटी हो गयी ॥ ५१ ॥

ते भीमभयसंत्रस्तास्तावका भरतर्षभ ।
विहाय समरे भीमं दुद्रुवुर्वै दिशो दश ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भीमके भयसे डरे हुए आपके समस्त सैनिक समराङ्गणमें उनका सामना करना छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५२ ॥

रथाः पञ्चशताश्चान्ये ह्रादिनश्चर्मवर्मिणः ।
भीममभ्यद्रवन् घ्नन्तः शरपूगैः समन्ततः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर चर्ममय आवरणोंसे युक्त पाँच सौ रथ घर्घराहटकी आवाज फैलाते हुए चारों ओरसे भीमसेनपर चढ़ आये और बाणसमूहोंद्वारा उन्हें घायल करने लगे ॥ ५३ ॥

तान् स पञ्चशतान् वीरान् सपताकध्वजायुधान् ।
पोथयामास गदया भीमो विष्णुरिवासुरान् ॥ ५४ ॥

जैसे भगवान् विष्णु असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार भीमसेनने पताका, ध्वज और आयुधोंसहित उन पाँच सौ रथी वीरोंको गदाके आघातसे चूर-चूर कर डाला ॥

ततः शकुनिनिर्दिष्टाः सादिनः शूरसम्मताः ।
त्रिसाहस्राभ्ययुर्भीमं शक्त्यृष्टिप्रासपाणयः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर शकुनिके आदेशसे शूर वीरोंद्वारा सम्मानित तीन हजार घुड़सवारोंने हाथोंमें शक्ति, ऋष्टि और प्रास लेकर भीमसेनपर धावा बोल दिया ॥ ५५ ॥

प्रत्युद्गम्य जवेनाशु साश्वारोहांस्तदारिहा ।
विविधान् विचरन् मार्गान् गदया समपोथयत् ॥ ५६ ॥

यह देख शत्रुओंका संहार करनेवाले भीमसेनने बड़े वेगसे आगे जाकर भाँति-भाँतिके पैंतरे बदलते हुए अपनी गदासे उन घोड़ों और घुड़सवारोंको मार गिराया ॥ ५६ ॥

तेषामासीन्महाञ्छब्दस्ताडितानां च सर्वशः ।
अश्मभिर्विध्यमानानां नगानामिव भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! जैसे वृक्षोंपर पत्थरोंसे चोट की जाय, उसी प्रकार गदासे ताडित होनेवाले उन अश्वारोहियोंके शरीरसे सब ओर महान् शब्द प्रकट होता था ॥ ५७ ॥

एवं सुबलपुत्रस्य त्रिसाहस्रान् हयोत्तमान् ।
हत्वान्यं रथमास्थाय क्रुद्धो राधेयमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार शकुनिके तीन हजार घुड़सवारोंको मारकर क्रोधमें भरे हुए भीमसेन दूसरे रथपर आरूढ़ हो राधापुत्र कर्णके सामने आ पहुँचे ॥ ५८ ॥

कर्णोऽपि समरे राजन् धर्मपुत्रमरिंदमम् ।
स शरैश्छादयामास सारथिं चाप्यपातयत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! कर्णने भी समराङ्गणमें शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मपुत्र युधिष्ठिरको बाणोंसे आच्छादित कर दिया और सारथिको भी मार गिराया ॥ ५९ ॥

ततः स प्रद्रुतं संख्ये रथं दृष्ट्वा महारथः ।
अन्वधावत् किरन् बाणैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ॥ ६० ॥

फिर महारथी कर्ण युधिष्ठिरके सारथिरहित रथको रणभूमिमें इधर-उधर घूमते देख कङ्कपत्रयुक्त सीधे जानेवाले बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा ॥६०॥

राजानमभिधावन्तं शरैरावृत्य रोदसी ।
क्रुद्धः प्रच्छादयामास शरजालेन मारुतिः ॥ ६१ ॥

कर्णको राजा युधिष्ठिरपर धावा करते देख वायुपुत्र भीमसेन कुपित हो उठे । उन्होंने बाणोंसे कर्णको ढककर पृथ्वी और आकाशको भी शरसमूहसे आच्छादित कर दिया ॥

संनिवृत्तस्ततस्तूर्णं राधेयः शत्रुकर्शनः ।
भीमं प्रच्छादयामास समन्तान्निशितैः शरैः ॥ ६२ ॥

तब शत्रुसूदन राधापुत्र कर्णने तुरंत ही लौटकर सब ओरसे पैने बाणोंकी वर्षा करके भीमसेनको ढक दिया ।६२।

भीमसेनरथव्यग्रं कर्णं भारत सात्यकिः ।
अभ्यर्दयदमेयात्मा पार्ष्णिग्रहणकारणात् ॥ ६३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न सात्यकिने भीमसेनके रथसे उलझे हुए कर्णको पीड़ा देना आरम्भ किया, क्योंकि वे भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ ६३ ॥

अभ्यवर्तत कर्णस्तमर्दितोऽपि शरैर्भृशम् ।
तावन्योन्यं समासाद्य वृषभौ सर्वधन्विनाम् ॥ ६४ ॥
विसृजन्तौ शरान् दीप्तान् व्यभ्राजेतां मनस्विनौ ।

कर्ण सात्यकिके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी भीमसेनका सामना करनेके लिये डटा रहा । वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ एवं मनस्वी वीर थे और एक दूसरेसे भिड़कर चमकीले बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६४½ ॥

ताभ्यां वियति राजेन्द्र विततं भीमदर्शनम् ॥ ६५ ॥
क्रौञ्चपृष्ठारुणं रौद्रं बाणजालं व्यदृश्यत ।

राजेन्द्र ! उन दोनोंने आकाशमें बाणोंका भयंकर जाल-सा बिछा दिया, जो क्रौञ्च पक्षीके पृष्ठभागके समान लाल और भयानक दिखायी देता था ॥ ६५½ ॥

नैव सूर्यप्रभा राजन् न दिशः प्रदिशस्तथा ॥ ६६ ॥
प्राज्ञासिष्म वयं ते वा शरैर्मुक्तैः सहस्रशः ।

राजन् ! वहाँ छूटे हुए सहस्रों बाणोंसे न तो सूर्यकी प्रभा दिखायी देती थी, न दिशाएँ और न विदिशाएँ ही दृष्टिगोचर होती थीं । हम या हमारे शत्रु भी पहचाने नहीं जाते थे ॥ ६६½ ॥

मध्याह्ने तपतो राजन् भास्करस्य महाप्रभाः ॥ ६७ ॥
हृताः सर्वाः शरौघैस्तैः कर्णपाण्डवयोस्तदा ।

नरेश्वर ! कर्ण और भीमसेनके बाणसमूहोंसे मध्याह्न-कालमें तपते हुए सूर्यकी सारी प्रचण्ड किरणें भी फीकी पड़ गयी थीं ॥ ६७½ ॥

सौबलं कृतवर्माणं द्रौणिमाधिरथिं कृपम् ॥ ६८ ॥
संसक्तान् पाण्डवैर्दृष्ट्वा निवृत्ताः कुरवः पुनः ।

उस समय शकुनि, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण और कृपाचार्यको पाण्डवोंके साथ जूझते देख भागे हुए कौरव-सैनिक फिर लौट आये ॥ ६८½ ॥

तेषामापततां शब्दस्तीव्र आसीद् विशाम्पते ॥ ६९ ॥
उद्वृत्तानां यथा वृष्ट्या सागराणां भयावहः ।

प्रजानाथ ! उस समय उनके आनेसे बड़ा भारी कोला-हल होने लगा, मानो वर्षासे बढ़े हुए समुद्रोंकी भयानक गर्जना हो रही हो ॥ ६९½ ॥

ते सेने भृशसंसक्ते दृष्ट्वान्योन्यं महाहवे ॥ ७० ॥
हर्षेण महता युक्ते परिगृह्य परस्परम् ।

उस महासमरमें एक दूसरीसे उलझी हुई दोनों सेनाएँ परस्पर दृष्टिपात करके बड़े हर्ष और उत्साहके साथ युद्ध करने लगीं ॥ ७०½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ ७१ ॥
तादृशं न कदाचिद्धि दृष्टपूर्वं न च श्रुतम् ।

तदनन्तर सूर्यके मध्याह्नकी वेलामें आ जानेपर अत्यन्त घोर युद्ध आरम्भ हुआ । वैसा न तो पहले कभी देखा गया था और न सुननेमें ही आया था ॥ ७१½ ॥

बलौघस्तु समासाद्य बलौघं सहसा रणे ॥ ७२ ॥
उपासर्पत वेगेन वार्योघ इव सागरम् ।
आसीन्निनादः सुमहान् बाणौघानां परस्परम् ॥७३॥
गर्जतां सागरौघाणां यथा स्यान्निःस्वनो महान् ।

जैसे जलका प्रवाह वेगके साथ समुद्रमें जाकर मिलता है, उसी प्रकार रणभूमिमें एक सैन्यसमुदाय दूसरे सैन्यसमुदाय-से सहसा जा मिला और परस्पर टकरानेवाले बाणसमूहोंका महान् शब्द उसी प्रकार प्रकट होने लगा, जैसे गरजते हुए सागरसमुदायोंका गम्भीर नाद प्रकट हो रहा हो ।७२-७३½।

ते तु सेने समासाद्य वेगवत्यौ परस्परम् ॥ ७४ ॥
एकीभावमनुप्राप्ते नद्याविव समागमे ।

जैसे दो नदियाँ परस्पर संगम होनेपर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार वे वेगवती सेनाएँ परस्पर मिलकर एकीभावको प्राप्त हो गयीं ॥ ७४½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं विशाम्पते ॥ ७५ ॥
कुरूणां पाण्डवानां च लिप्सतां सुमहद् यशः ।

प्रजानाथ ! फिर महान् यश पानेकी इच्छावाले कौरवों और पाण्डवोंमें घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ७५½ ॥

शूराणां गर्जतां तत्र ह्यविच्छेदकृता गिरः ॥ ७६ ॥
श्रूयन्ते विविधा राजन् नामान्युद्दिश्य भारत ।

भरतवंशी नरेश ! उस समय नाम ले-लेकर गरजते हुए शूरवीरोंकी भाँति-भाँतिकी बातें अविच्छिन्नरूपसे सुनायी पड़ती थीं ॥ ७६½ ॥

यस्य यद्धि रणे व्यङ्गं पितृतो मातृतोऽपि वा ॥ ७७ ॥
कर्मतः शीलतो वापि स तच्छ्रावयते युधि ।

रणभूमिमें जिसकी जो कुछ पिता-माता, कर्म अथवा शील-स्वभावके कारण विशेषता थी, वह युद्धस्थलमें उसको सुनाता था ॥ ७७½ ॥

तान् दृष्ट्वा समरे शूरांस्तर्जमानान् परस्परम् ॥ ७८ ॥
अभवन्मे मती राजन् नैषामस्तीति जीवितम् ।

राजन् ! समराङ्गणमें एक दूसरेको डाँट बताते हुए उन शूरवीरोंको देखकर मेरे मनमें यह विचार उठता था कि अब इनका जीवन नहीं रहेगा ॥ ७८½ ॥

तेषां दृष्ट्वा तु क्रुद्धानां वपूंष्यमिततेजसाम् ॥ ७९ ॥

अभवन्मे भयं तीव्रं कथमेतद् भविष्यति ।

क्रोधमें भरे हुए उन अमिततेजस्वी वीरोंके शरीर देखकर मुझे बड़ा भारी भय होता था कि यह युद्ध कैसा होगा ? ॥ ७९½ ॥

ततस्ते पाण्डवा राजन् कौरवाश्च महारथाः ।
ततक्षुः सायकैस्तीक्ष्णैर्निघ्नन्तो हि परस्परम् ॥ ८० ॥

राजन् ! तदनन्तर पाण्डव और कौरव महारथी तीखे बाणोंसे प्रहार करते हुए एक दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका घोर युद्ध और कौरवसेनाका व्यथित होना

संजय उवाच

क्षत्रियास्ते महाराज परस्परवधैषिणः ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुः कृतवैराः परस्परम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! एक दूसरेके वधकी इच्छावाले वे क्षत्रिय परस्पर वैरभाव रखकर समराङ्गणमें एक दूसरेको मारने लगे ॥ १ ॥

रथौघाश्च हयौघाश्च नरौघाश्च समन्ततः ।
गजौघाश्च महाराज संसक्ताश्च परस्परम् ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! रथसमूह, अश्वसमूह, हाथियोंके झुंड और पैदल मनुष्योंके समुदाय सब ओर एक दूसरेसे उलझे हुए थे ॥

गदानां परिघाणां च कणपानां च क्षिप्यताम् ।
प्रासानां भिन्दिपालानां भुशुण्डीनां च सर्वशः ॥ ३ ॥
सम्पातं चानुपश्याम संग्रामे भृशदारुणे ।
शलभा इव सम्पेतुः समन्ताच्छरवृष्टयः ॥ ४ ॥

उस अत्यन्त दारुण संग्राममें हमलोग निरन्तर चलाये जानेवाले परिघों, गदाओं, कणपों, प्रासों, भिन्दिपालों और भुशुण्डियोंकी धारा-सी गिरती देख रहे थे । सब ओर टिड्डी-दलोंके समान बाणोंकी वर्षा हो रही थी ॥ ३-४ ॥

नागान् नागाः समासाद्य व्यधमन्त परस्परम् ।
हया हयांश्च समरे रथिनो रथिनस्तथा ॥ ५ ॥
पत्तयः पत्तिसंघांश्च हयसंघांश्च पत्तयः ।
पत्तयो रथमातङ्गान् रथा हस्त्यश्वमेव च ॥ ६ ॥
नागाश्च समरे त्र्यङ्गं ममृदुः शीघ्रगा नृप ।

हाथी हाथियोंसे भिड़कर एक दूसरेको संताप देने लगे । उस समराङ्गणमें घोड़े घोड़ों, रथी रथियों एवं पैदल पैदल-समूहों, अश्वसमुदायों तथा रथों और हाथियोंका भी मर्दन कर रहे थे । नरेश्वर ! इसी प्रकार रथी हाथी और घोड़ोंका तथा शीघ्रगामी हाथी उस युद्धस्थलमें हाथी सेनाके अन्य तीन अङ्गोंको रौंदने लगे ॥ ५-६½ ॥

वध्यतां तत्र शूराणां क्रोशतां च परस्परम् ॥ ७ ॥
घोरमायोधनं जज्ञे पशूनां वैशसं यथा ।

वहाँ मारे जाते और एक दूसरेको कोसते हुए शूरवीरोंके आर्तनादसे वह युद्धस्थल वैसा ही भयंकर जान पड़ता था, मानो वहाँ पशुओंका वध किया जा रहा हो ॥ ७½ ॥

रुधिरेण समास्तीर्णा भाति भारत मेदिनी ॥ ८ ॥
शक्रगोपगणाकीर्णा प्रावृषीव यथा धरा ।

भारत ! खूनसे ढकी हुई यह पृथ्वी वर्षाकालमें वीरबहूटी नामक लाल रंगके कीड़ोंसे व्याप्त हुई भूमिके समान शोभा पाती थी ॥ ८½ ॥

यथा वा वाससी शुक्ले महारजनरञ्जिते ॥ ९ ॥
बिभृयाद् युवती श्यामा तद्वदासीद् वसुंधरा ।
मांसशोणितचित्रेव शातकुम्भमयीव च ॥ १० ॥

अथवा जैसे कोई श्यामवर्णा युवती श्वेत रंगके वस्त्रोंको हल्दीके गाढ़े रंगमें रँगकर पहन ले, वैसी ही वह रणभूमि प्रतीत होती थी । मांस और रक्तसे चित्रित-सी जान पड़नेवाली वह भूमि सुवर्णमयी-सी प्रतीत होती थी ॥ ९-१० ॥

भिन्नानां चोत्तमाङ्गानां बाहूनां चोरुभिः सह ।
कुण्डलानां प्रवृद्धानां भूषणानां च भारत ॥ ११ ॥
निष्काणामथ शूराणां शरीराणां च धन्विनाम् ।
चर्मणां सपताकानां संघास्तत्रापतन् भुवि ॥ १२ ॥

भारत ! वहाँ भूतलपर कटे हुए मस्तकों, भुजाओं, जाँघों, बड़े-बड़े कुण्डलों, अन्यान्य आभूषणों, निष्कों धनुर्धर शूरवीरोंके शरीरों, ढालों और पताकाओंके ढेर-के-ढेर पड़े थे ॥

गजा गजान् समासाद्य विषाणैरार्दयन् नृप ।
विषाणाभिहतास्तत्र भ्राजन्ते द्विरदास्तथा ॥ १३ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गा गैरिकप्रस्रवा इव ।
यथा भ्राजन्ति स्यन्दन्तः पर्वता धातुमण्डिताः ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! हाथी हाथियोंसे भिड़कर अपने दाँतोंसे परस्पर पीड़ा दे रहे थे । दाँतोंकी चोटसे घायल हो खूनसे भीगे शरीरवाले हाथी गेरूके रंगसे मिले हुए जलका स्रोत बहानेवाले झरनोंसे युक्त धातुमण्डित पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥

तोमरान् सादिभिर्मुक्तान् प्रतीपानास्थितान् बहून् ।
हस्तैर्विचेरुस्ते नागा बभञ्जुश्चापरे तथा ॥ १५ ॥

कितने ही हाथी घुड़सवारोंके छोड़े हुए तोमरों तथा अनेक विपक्षियोंको भी सूँड़ोंसे पकड़कर रणभूमिमें विचरते थे तथा दूसरे उनको टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे ॥ १५ ॥

नाराचैश्छिन्नवर्माणो भ्राजन्ति स्म गजोत्तमाः।
हिमागमे यथा राजन् व्यभ्रा इव महीधराः ॥ १६ ॥

राजन्! नाराचोंसे कवच छिन्न-भिन्न होनेके कारण गजराजोंकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे हेमन्त ऋतुमें बिना बादलोंके पर्वत शोभित होते हैं ॥ १६ ॥

शरैः कनकपुङ्खैश्च चित्रा रेजुर्गजोत्तमाः।
उल्काभिः सम्प्रदीप्ताग्राः पर्वता इव भारत ॥१७॥

भरतनन्दन! विचित्र प्रकारसे सजे हुए उत्तम हाथी सुवर्णमय पंखवाले बाणोंके लगनेसे उल्काओंद्वारा उद्दीप्त शिखरोंवाले पर्वतोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १७ ॥

केचिदभ्याहता नागैर्नागा नगनिभोपमाः।
विनेशुः समरे तस्मिन् पक्षवन्त इवाद्रयः ॥ १८ ॥

उस संग्राममें पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले कितने ही हाथी हाथियोंसे घायल हो पंखधारी शैलसमूहोंके समान नष्ट हो गये ॥ १८ ॥

अपरे प्राद्रवन् नागाः शल्यार्ता व्रणपीडिताः।
प्रतिमानैश्च कुम्भैश्च पेतुरुर्व्यां महाहवे ॥ १९ ॥

दूसरे बहुत-से हाथी बाणोंसे व्यथित और घावोंसे पीड़ित हो भाग चले और कितने ही उस महासमरमें दोनों दाँतों और कुम्भस्थलोंको धरतीपर टेककर धराशायी हो गये ॥१९॥

विनेदुः सिंहवच्चान्ये नदन्तो भैरवान् रवान्।
बभ्रमुर्बहवो राजंश्चुकुशुश्चापरे गजाः ॥ २० ॥

राजन्! दूसरे अनेक गजराज भयंकर गर्जना करते हुए सिंहके समान दहाड़ रहे थे और दूसरे बहुतेरे हाथी इधर-उधर चक्कर काटते और चीखते-चिल्लाते थे ॥ २० ॥

हयाश्च निहता बाणैर्हेमभाण्डविभूषिताः।
निषेदुश्चैव मम्लुश्च बभ्रमुश्च दिशो दश ॥ २१ ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित बहुसंख्यक घोड़े बाणोंद्वारा घायल होकर बैठ जाते, मलिन हो जाते और दसों दिशाओंमें भागने लगते थे ॥ २१ ॥

अपरे कृष्यमाणाश्च विचेष्टन्तो महीतले।
भावान् बहुविधांश्चक्रुस्ताडिताः शरतोमरैः ॥ २२ ॥

बाणों और तोमरोंद्वारा ताड़ित होकर कितने ही अश्व धरतीपर लोट जाते और हाथियोंद्वारा खींचे जानेपर छटपटाते हुए नाना प्रकारके भाव व्यक्त करते थे ॥ २२ ॥

नरास्तु निहता भूमौ कूजन्तस्तत्र मारिष।
दृष्ट्वा च बान्धवानन्ये पितॄनन्ये पितामहान् ॥ २३ ॥

आर्य! वहाँ घायल होकर पृथ्वीपर पड़े हुए कितने ही मनुष्य अपने बान्धव-जनोंको देखकर कराह उठते थे। कितने ही अपने बाप-दादोंको देखकर कुछ अस्फुट स्वरमें बोलने लगते थे ॥ २३ ॥

धावमानान् परांश्चान्यान् दृष्ट्वान्ये तत्र भारत।
गोत्रनामानि ख्यातानि शशंसुरितरेतरम् ॥ २४ ॥

भरतनन्दन! दूसरे बहुत-से मनुष्य अन्यान्य लोगोंको दौड़ते देख एक-दूसरेसे अपने प्रसिद्ध नाम और गोत्र बताने लगते थे ॥ २४ ॥

तेषां छिन्ना महाराज भुजाः कनकभूषणाः।
उद्वेष्टन्ते विचेष्टन्ते पतन्ते चोत्पतन्ति च ॥ २५ ॥
निपतन्ति तथैवान्ये स्फुरन्ति च सहस्रशः।

महाराज! मनुष्योंकी कटी हुई सहस्रों सुवर्णभूषित भुजाएँ कभी टेढ़ी होकर किसी शरीरसे लिपट जातीं, कभी छटपटातीं, गिरतीं, ऊपरको उछलतीं, नीचे आ जातीं और तड़पने लगती थीं ॥ २५½ ॥

वेगांश्चान्ये रणे चक्रुः पञ्चास्या इव पन्नगाः ॥ २६ ॥
ते भुजा भोगिभोगाभाश्चन्दनाक्ता विशाम्पते।
लोहितार्द्रा भृशं रेजुस्तपनीयध्वजा इव ॥ २७ ॥

प्रजानाथ! सर्पोंके शरीरोंके समान प्रतीत होनेवाली कितनी ही चन्दनचर्चित भुजाएँ रणभूमिमें पाँच मुँहवाले सर्पोंके समान महान् वेग प्रकट करतीं तथा रक्तरंजित होनेके कारण सुवर्णमयी ध्वजाओंके समान अधिकाधिक शोभा पाती थीं ॥२६-२७॥

वर्तमाने तथा घोरे संकुले सर्वतोदिशम्।
अविज्ञाताः स्म युध्यन्ते विनिघ्नन्तः परस्परम् ॥ २८ ॥

उस घोर घमासान युद्धके चालू होनेपर सम्पूर्ण योद्धा एक-दूसरेपर चोट करते हुए बिना जाने-पहचाने ही युद्ध करते थे ॥ २८ ॥

भौमेन रजसाऽऽकीर्णे शस्त्रसम्पातसंकुले।
नैव स्वे न परे राजन् व्यज्ञायन्त तमोवृताः ॥ २९ ॥

राजन्! शस्त्रोंकी धारावाहिक वृष्टिसे व्याप्त तथा धरतीकी धूलसे आच्छादित हुए उस प्रदेशमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिक अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण पहचानमें नहीं आते थे ॥ २९ ॥

तथा तदभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम्।
लोहितोदा महानद्यः प्रसस्रुस्तत्र चासकृत् ॥ ३० ॥

वह युद्ध ऐसा घोर एवं भयानक हो रहा था कि वहाँ बारंबार खूनकी बड़ी-बड़ी नदियाँ बह चलती थीं ॥ ३० ॥

शीर्षपाषाणसंछन्नाः केशशैवलशाद्वलाः।
अस्थिमीनसमाकीर्णा धनुःशरगदोडुपाः ॥ ३१ ॥

योद्धाओंके कटे हुए मस्तक शिलाखण्डोंके समान उन नदियोंको आच्छादित किये रहते थे। उनके केश ही सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे, हड्डियाँ ही उनमें मछलियोंके समान व्याप्त हो रही थीं, धनुष, बाण और गदाएँ नौकाके समान जान पड़ती थीं ॥ ३१ ॥

मांसशोणितपङ्किन्यो घोररूपाः सुदारुणाः।
नदीः प्रवर्तयामासुः शोणितौघविवर्धिनीः ॥ ३२ ॥

उनके भीतर मांस और रक्तकी ही कीचड़ जमी थी। रक्तके प्रवाहको बढ़ानेवाली उन घोर एवं भयंकर नदियोंको वहाँ योद्धाओंने प्रवाहित किया था॥ ३२॥

भीरुवित्रासकारिण्यः शूराणां हर्षवर्धनाः।
ता नद्यो घोररूपास्तु नयन्त्यो यमसादनम्॥ ३३॥

वे भयानक रूपवाली नदियाँ कायरोंको डराने और शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाली थीं तथा प्राणियोंको यमलोक पहुँचाती थीं॥ ३३॥

अवगाढान् मज्जयन्त्यः क्षत्रस्याजनयन् भयम्।
क्रव्यादानां नरव्याघ्र नर्दतां तत्र तत्र ह॥ ३४॥
घोरमायोधनं जज्ञे प्रेतराजपुरोपमम्।

जो उनमें प्रवेश करते, उन्हें वे डुबो देती थीं और क्षत्रियोंके मनमें भय उत्पन्न करती थीं। नरव्याघ्र! वहाँ गरजते हुए मांसभक्षी जन्तुओंके शब्दसे वह युद्धस्थल प्रेतराजकी नगरीके समान भयानक जान पड़ता था॥ ३४½॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः॥ ३५॥
नृत्यन्ति वै भूतगणाः सुतृप्ता मांसशोणितैः।
पीत्वा च शोणितं तत्र वसां पीत्वा च भारत॥ ३६॥

वहाँ चारों ओर उठे हुए अगणित कबन्ध और रक्तमांससे तृप्त हुए भूतगण नृत्य कर रहे थे। भारत! ये सब-के-सब रक्त तथा वसा पीकर छके हुए थे॥ ३५-३६॥

मेदोमज्जावसामत्तास्तृप्ता मांसस्य चैव ह।
धावमानाः स्म दृश्यन्ते काकगृध्रबकास्तथा॥ ३७॥

मेदा, वसा, मज्जा और मांससे तृप्त एवं मतवाले कौए, गीध और बक सब ओर उड़ते दिखायी देते थे॥ ३७॥

शूरास्तु समरे राजन् भयं त्यक्त्वा सुदुस्त्यजम्।
योधव्रतसमाख्यातांश्चक्रुः कर्माण्यभीतवत्॥ ३८॥

राजन्! उस समरमें योद्धाओंके व्रतका पालन करनेमें विख्यात शूरवीर जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, उस भयको छोड़कर निर्भयके समान पराक्रम प्रकट करते थे॥

शरशक्तिसमाकीर्णे क्रव्यादगणसंकुले।
व्यचरन्त रणे शूराः ख्यापयन्तः स्वपौरुषम्॥ ३९॥

बाण और शक्तियोंसे व्याप्त तथा मांसभक्षी जन्तुओंसे भरे हुए उस रणक्षेत्रमें शूरवीर अपने पुरुषार्थकी ख्याति बढ़ाते हुए विचर रहे थे॥ ३९॥

अन्योन्यं श्रावयन्ति स्म नामगोत्राणि भारत।
पितृनामानि च रणे गोत्रनामानि वा विभो॥ ४०॥
श्रावयाणाश्च बहवस्तत्र योद्धा विशाम्पते।
अन्योन्यमवमृद्नन्तः शक्तितोमरपट्टिशैः॥ ४१॥

भारत! प्रभो! रणभूमिमें कितने ही योद्धा एक दूसरेको अपने और पिताके नाम तथा गोत्र सुनाते थे। प्रजानाथ! नाम और गोत्र सुनाते हुए बहुतेरे योद्धा शक्ति, तोमर और पट्टिशोंद्वारा एक दूसरेको धूलमें मिला रहे थे॥ ४०-४१॥

वर्तमाने तथा युद्धे घोररूपे सुदारुणे।
व्यषीदत् कौरवी सेना भिन्ना नौरिव सागरे॥ ४२॥

इस प्रकार वह दारुण एवं भयंकर युद्ध चल ही रहा था कि समुद्रमें टूटी हुई नौकाके समान कौरव-सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और विषाद करने लगी॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा दस हजार संशप्तक योद्धाओं और उनकी सेनाका संहार

संजय उवाच

वर्तमाने तथा युद्धे क्षत्रियाणां निमज्जने।
गाण्डीवस्य महाघोषः श्रूयते युधि मारिष॥ १॥

संजय कहते हैं—आर्य! जब क्षत्रियोंका संहार करनेवाला वह भयानक युद्ध चल रहा था, उसी समय दूसरी ओर बड़े जोर-जोरसे गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनायी देती थी॥

संशप्तकानां कदनमकरोद् यत्र पाण्डवः।
कोसलानां तथा राजन् नारायणबलस्य च॥ २॥

राजन्! वहाँ पाण्डुनन्दन अर्जुन संशप्तकोंका, कोसलदेशीय योद्धाओंका तथा नारायणी-सेनाका संहार कर रहे थे॥

संशप्तकास्तु समरे शरवृष्टीः समन्ततः।
अपातयन् पार्थमूर्ध्नि जयगृद्धाः प्रमन्यवः॥ ३॥

समराङ्गणमें विजयकी इच्छा रखनेवाले संशप्तकोंने अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनके मस्तकपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ ३॥

ता वृष्टीः सहसा राजंस्तरसा धारयन् प्रभुः।
व्यगाहत रणे पार्थो विनिघ्नन् रथिनां वरान्॥ ४॥

राजन्! उस बाण-वर्षाको सहसा वेगपूर्वक सहते और श्रेष्ठ रथियोंका संहार करते हुए शक्तिशाली अर्जुन रणभूमिमें विचरने लगे॥

विगाह्य तद् रथानीकं कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।
आससाद ततः पार्थः सुशर्माणं वरायुधम्॥ ५॥

सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कङ्कपत्रयुक्त बाणोंद्वारा प्रहार करते हुए कुन्तीपुत्र अर्जुन रथियोंकी सेनामें घुसकर श्रेष्ठ आयुध धारण करनेवाले सुशर्माके पास जा पहुँचे॥ ५॥

स तस्य शरवर्षाणि ववर्ष रथिनां वरः।
तथा संशप्तकाश्चैव पार्थं बाणैः समार्पयन् ॥ ६ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगा तथा अन्य संशप्तकोंने भी अर्जुनको अनेक बाण मारे ॥

सुशर्मा तु ततः पार्थं विद्ध्वा दशभिराशुगैः।
जनार्दनं त्रिभिर्बाणैरहनद् दक्षिणे भुजे ॥ ७ ॥

सुशर्माने दस बाणोंसे अर्जुनको घायल करके श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजापर तीन बाण मारे ॥ ७ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन केतुं विव्याध मारिष।
स वानरवरो राजन् विश्वकर्मकृतो महान् ॥ ८ ॥
ननाद सुमहानादं भीषयाणो जगर्ज च।

मान्यवर ! तदनन्तर दूसरे भल्लसे उनकी ध्वजाको बींध डाला। राजन् ! उस समय विश्वकर्माका बनाया हुआ वह महान् वानर सबको भयभीत करता हुआ बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ८½ ॥

कपेस्तु निनदं श्रुत्वा संत्रस्ता तव वाहिनी ॥ ९ ॥
भयं विपुलमाधाय निश्चेष्टा समपद्यत।

वानरकी वह गर्जना सुनकर आपकी सेना संत्रस्त हो उठी और मनमें महान् भय लेकर निश्चेष्ट हो गयी ॥ ९½ ॥

ततः सा शुशुभे सेना निश्चेष्टावस्थिता नृप ॥ १० ॥
नानापुष्पसमाकीर्णं यथा चैत्ररथं वनम्।

नरेश्वर ! फिर वहाँ निश्चेष्ट खड़ी हुई आपकी वह सेना भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे भरे हुए चैत्ररथ नामक वनके समान शोभा पाने लगी ॥ १०½ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां योधास्ते कुरुसत्तम ॥ ११ ॥
अर्जुनं सिषिचुर्बाणैः पर्वतं जलदा इव।

कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर होशमें आकर आपके योद्धा अर्जुनपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार करने लगे, जैसे बादल पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं ॥ ११½ ॥

परिवव्रुस्ततः सर्वे पाण्डवस्य महारथम् ॥ १२ ॥
निगृह्य तं प्रचुक्रुशुर्वध्यमानाः शितैः शरैः।

उन सबने मिलकर पाण्डुपुत्र अर्जुनके उस विशाल रथको घेर लिया। यद्यपि उनपर तीखे बाणोंकी मार पड़ रही थी, तो भी वे उस रथको पकड़कर जोर-जोरसे चिल्लाने लगे॥

ते हयान् रथचक्रे च रथेषां चापि मारिष ॥ १३ ॥
निग्रहीतुमुपाक्रामन् क्रोधाविष्टाः समन्ततः।

माननीय नरेश ! क्रोधमें भरे हुए संशप्तकोंने सब ओरसे आक्रमण करके अर्जुनके रथके घोड़ों, दोनों पहियों तथा ईषादण्डको भी पकड़ना आरम्भ किया ॥ १३½ ॥

निगृह्य तं रथं तस्य योधास्ते तु सहस्रशः ॥ १४ ॥
निगृह्य बलवत् सर्वे सिंहनादमथानदन्।

इस प्रकार वे सब हजारों योद्धा रथको जबरदस्ती पकड़कर सिंहनाद करने लगे ॥ १४½ ॥

अपरे जगृहुश्चैव केशवस्य महाभुजौ ॥ १५ ॥
पार्थमन्ये महाराज रथस्थं जगृहुर्मुदा।

महाराज ! कई योद्धाओंने भगवान् श्रीकृष्णकी दोनों विशाल भुजाएँ पकड़ लीं। दूसरोंने रथपर बैठे हुए अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक पकड़ लिया ॥ १५½ ॥

केशवस्तु ततो बाहू विधुन्वन् रणमूर्धनि ॥ १६ ॥
पातयामास तान् सर्वान् दुष्टहस्तीव हस्तिपान्।

तब जैसे दुष्ट हाथी महावतोंको नीचे गिरा देता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपनी दोनों बाँहें झटककर उन सब लोगोंको युद्धके मुहानेपर नीचे गिरा दिया ॥ १६½ ॥

ततः क्रुद्धो रणे पार्थः संवृतस्तैर्महारथैः ॥ १७ ॥
निगृहीतं रथं दृष्ट्वा केशवं चाप्यभिद्रुतम्।

फिर उन महारथियोंसे घिरे हुए अर्जुन अपने रथको पकड़ा गया और श्रीकृष्णपर भी आक्रमण हुआ देख रणभूमिमें कुपित हो उठे ॥ १७½ ॥

रथारूढांस्तु सुबहून् पदातींश्चाप्यपातयत् ॥ १८ ॥
आसन्नांश्च तथा योधान् शरैरासन्नयोधिभिः।
छादयामास समरे केशवं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

उन्होंने अपने रथपर चढ़े हुए बहुत-से पैदल सैनिकोंको धक्के देकर नीचे गिरा दिया और आसपास खड़े हुए संशप्तक-योद्धाओंको निकटसे युद्ध करनेमें उपयोगी बाणोंद्वारा ढक दिया एवं समराङ्गणमें भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥

पश्य कृष्ण महाबाहो संशप्तकगणान् बहून्।
कुर्वाणान् दारुणं कर्म वध्यमानान् सहस्रशः ॥ २० ॥

'महाबाहु श्रीकृष्ण ! देखिये, ये क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले बहुसंख्यक संशप्तक योद्धा किस प्रकार सहस्रोंकी संख्यामें मारे जा रहे हैं ॥ २० ॥

रथबन्धमिमं घोरं पृथिव्यां नास्ति कश्चन।
यः सहेत पुमाँल्लोके मदन्यो यदुपुङ्गव ॥ २१ ॥

'यदुपुङ्गव ! जगत्में इस भूतलपर मेरे सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो इस भयानक रथबन्ध (रथकी पकड़ अथवा रथोंके घेरे) का सामना कर सके' ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्त्वा बीभत्सुर्देवदत्तमथाधमत्।
पाञ्चजन्यं च कृष्णोऽपि पूरयन्निव रोदसी ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए-से पाञ्चजन्य नामक शङ्खकी ध्वनि फैलायी ॥ २२ ॥

तं तु शङ्खस्वनं श्रुत्वा संशप्तकवरूथिनी।
संचचाल महाराज वित्रस्ता चाद्रवद् भृशम् ॥ २३ ॥

महाराज ! उस शङ्खनादको सुनकर संशप्तकोंकी सेना काँप उठी और भयभीत होकर जोर-जोरसे भागने लगी ॥

पादबन्धं ततश्चक्रे पाण्डवः परवीरहा।

नागमस्त्रं महाराज सम्प्रकीर्य मुहुर्मुहुः ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने बारंबार नागास्त्रका प्रयोग करके उन सबके पैर बाँध लिये ॥ २४ ॥

ते बद्धाः पादबन्धेन पाण्डवेन महात्मना ।
निश्चेष्टाश्चाभवन् राजन्नश्मसारमया इव ॥ २५ ॥

राजन् ! उन महात्मा पाण्डुपुत्र अर्जुनके द्वारा पैर बाँध दिये जानेके कारण वे संशप्तक योद्धा लोहेके बने हुए पुतलोंके समान निश्चेष्ट हो गये ॥ २५ ॥

निश्चेष्टांस्तु ततो योधानवधीत् पाण्डुनन्दनः।
यथेन्द्रः समरे दैत्यांस्तारकस्य वधे पुरा ॥ २६ ॥

फिर पूर्वकालमें इन्द्रने तारकासुरके वधके समय समराङ्गणमें जिस प्रकार दैत्योंका वध किया था, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनने निश्चेष्ट हुए संशप्तक योद्धाओंका संहार आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ते वध्यमानाः समरे मुमुचुस्तं रथोत्तमम् ।
आयुधानि च सर्वाणि विस्रष्टुमुपचक्रमुः ॥ २७ ॥

समराङ्गणमें बाणोंकी मार पड़नेपर उन्होंने अर्जुनके उस उत्तम रथको छोड़ दिया और उनके ऊपर अपने समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़नेका प्रयास किया ॥ २७ ॥

ते बद्धाः पादबन्धेन न शेकुश्चेष्टितुं नृप ।
ततस्तानवधीत् पार्थः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! उस समय पैर बँधे होनेके कारण वे हिल भी न सके । तब अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उनका वध करने लगे ॥ २८ ॥

सर्वयोधा हि समरे भुजगैर्वेष्टिताभवन् ।
यानुद्दिश्य रणे पार्थः पादबन्धं चकार ह ॥ २९ ॥

रणभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनने जिन-जिन योद्धाओंको लक्ष्य करके पादबन्धास्त्रका प्रयोग किया, वे समस्त योद्धा समराङ्गणमें नागोंद्वारा जकड़ लिये गये थे ॥ २९ ॥

ततः सुशर्मा राजेन्द्र गृहीतां वीक्ष्य वाहिनीम् ।
सौपर्णमस्त्रं त्वरितः प्रादुश्चक्रे महारथः ॥ ३० ॥

राजेन्द्र ! महारथी सुशर्माने अपनी सेनाको नागोंद्वारा बँधी हुई देख तुरंत ही गारुडास्त्र प्रकट किया ॥ ३० ॥

ततः सुपर्णाः सम्पेतुर्भक्षयन्तो भुजङ्गमान् ।
ते वै विदुद्रुवुर्नागा दृष्ट्वा तान् खचरान् नृप ॥ ३१ ॥

फिर तो गरुड पक्षी प्रकट होकर उन नागोंपर टूट पड़े और उन्हें खाने लगे । नरेश्वर ! उन पक्षियोंको प्रकट हुआ देख वे सारे नाग भाग चले ॥ ३१ ॥

बभौ बलं तद्विमुक्तं पादबन्धाद् विशाम्पते ।
मेघवृन्दाद् यथा मुक्तो भास्करस्तापयन् प्रजाः॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! जैसे सूर्यदेव मेघोंकी घटासे मुक्त होकर सारी प्रजाको ताप देते हुए प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार पैरोंके बन्धनसे छुटकारा पाकर वह सारी सेना बड़ी शोभा पाने लगी ॥ ३२ ॥

विप्रमुक्तास्तु ते योधाः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
ससृजुर्बाणसंघांश्च शस्त्रसंघांश्च मारिष ॥ ३३ ॥
विविधानि च शस्त्राणि प्रत्यविध्यन्त सर्वशः ।

आर्य ! बन्धनमुक्त होनेपर संशप्तक योद्धा अर्जुनके रथको लक्ष्य करके बाणों तथा शस्त्र-समूहोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको सब ओरसे काटने लगे ॥ ३३½ ॥

तां महास्त्रमयीं वृष्टिं संछिद्य शरवृष्टिभिः ॥ ३४ ॥
न्यवधीच्च ततो योधान् वासविः परवीरहा ।

तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रपुत्र अर्जुनने अपने बाणोंकी वर्षासे उनकी भारी अस्त्र-वृष्टिका निवारण करके उन योद्धाओंका संहार आरम्भ कर दिया ॥ ३४½ ॥

सुशर्मा तु ततो राजन् बाणेनानतपर्वणा ॥ ३५ ॥
अर्जुनं हृदये विद्ध्वा विव्याधान्यैस्त्रिभिः शरैः ।

राजन् ! इसी समय सुशर्माने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे अर्जुनकी छातीमें चोट पहुँचाकर अन्य तीन बाणोंद्वारा भी उन्हें घायल कर दिया ॥ ३५½ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ३६ ॥
तत उच्चुक्रुशुः सर्वे हतः पार्थ इति स्म ह ।
ततः शङ्खनिनादाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ॥ ३७ ॥
नानावादित्रनिनदाः सिंहनादाश्च जज्ञिरे ।

उन बाणोंकी गहरी चोट खाकर अर्जुन व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये। फिर तो सब लोग जोर-जोरसे चिल्लाकर कहने लगे कि 'अर्जुन मारे गये !' उस समय शङ्ख बजने लगे, भेरियोंकी गम्भीर ध्वनि फैलने लगी तथा नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिके साथ ही योद्धाओंकी सिंहगर्जना भी होने लगी॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ॥ ३८ ॥
ऐन्द्रमस्त्रममेयात्मा प्रादुश्चक्रे त्वरान्वितः ।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उन अमेय आत्मबलसे सम्पन्न श्वेतवाहन अर्जुनने होशमें आकर बड़ी उतावलीके साथ ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३८½ ॥

ततो बाणसहस्राणि समुत्पन्नानि मारिष ॥ ३९ ॥
सर्वदिक्षु व्यदृश्यन्त निघ्नन्ति तव वाहिनीम् ।

मान्यवर ! उससे सम्पूर्ण दिशाओंमें सहस्रों बाण प्रकट हो-होकर आपकी सेनाका संहार करते दिखायी दिये ॥३९½॥

हयान् रथांश्च समरे शस्त्रैः शतसहस्रशः ॥ ४० ॥
वध्यमाने ततः सैन्ये भयं सुमहदाविशत् ।
संशप्तकगणानां च गोपालानां च भारत ॥ ४१ ॥

समराङ्गणमें शस्त्रोंद्वारा सैकड़ों और हजारों घोड़े तथा

रथ मारे जाने लगे। भारत! इस प्रकार जब सेनाका संहार होने लगा; तब संशप्तकगणों और नारायणी सेनाके ग्वालोंको बड़ा भय हुआ ॥ ४०-४१ ॥

न हि तत्र पुमान् कश्चिद् योऽर्जुनं प्रत्यविध्यत।
पश्यतां तत्र वीराणामहन्यत बलं तव ॥ ४२ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो अर्जुनपर चोट कर सके। वहाँ सब वीरोंके देखते-देखते आपकी सेनाका वध होने लगा ॥ ४२ ॥

हन्यमानमपश्यंश्च निश्चेष्टं स्म पराक्रमे।
अयुतं तत्र योधानां हत्वा पाण्डुसुतो रणे ॥ ४३ ॥
व्यभ्राजत महाराज विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्।

सारी सेना स्वयं निश्चेष्ट हो गयी थी। उससे पराक्रम करते नहीं बनता था और उस अवस्थामें वह मारी जा रही थी। मैंने यह सब अपनी आँखों देखा था। महाराज! पाण्डुपुत्र अर्जुन रणभूमिमें वहाँ दस हजार योद्धाओंका संहार करके धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४३½ ॥

चतुर्दश सहस्राणि यानि शिष्टानि भारत ॥ ४४ ॥
रथानामयुतं चैव त्रिसाहस्राश्च दन्तिनः।

भारत! उस समय संशप्तकोंके चौदह हजार पैदल, दस हजार रथ और तीन हजार हाथी शेष रह गये थे ॥ ४४½ ॥

ततः संशप्तका भूयः परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ४५ ॥
मर्तव्यमिति निश्चित्य जयं वाप्यनिवर्तनम्।

संशप्तकोंने पुनः यह निश्चय करके कि 'मर जायँगे अथवा विजय प्राप्त करेंगे, किंतु युद्धसे पीछे नहीं हटेंगे' अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४५½ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् तावकानां विशाम्पते।
शूरेण बलिना सार्धं पाण्डवेन किरीटिना ॥ ४६ ॥
(जित्वा तान् न्यहनत् पार्थः शत्रूञ्शक्र इवासुरान्॥)

प्रजानाथ! फिर तो वहाँ किरीटधारी बलवान् शूरवीर पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ आपके सैनिकोंका बड़ा भारी युद्ध हुआ। उसमें कुन्तीपुत्र अर्जुनने उन शत्रुओंको जीतकर उनका उसी प्रकार संहार कर डाला, जैसे देवराज इन्द्रने असुरोंका किया था ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यके द्वारा शिखण्डीकी पराजय और सुकेतुका वध तथा धृष्टद्युम्नके द्वारा कृतवर्माका परास्त होना

संजय उवाच

कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सूतपुत्रश्च मारिष।
उलूकः सौबलश्चैव राजा च सह सोदरैः ॥ १ ॥
सीदमानां चमूं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रभयार्दिताम्।
समुज्जह्रुः स्म वेगेन भिन्नां नावमिवार्णवे ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—मान्यवर! नरेश! कृतवर्मा, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सूतपुत्र कर्ण, उलूक, शकुनि तथा भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने समुद्रमें टूटी हुई नावकी भाँति आपकी सेनाको पाण्डुपुत्र अर्जुनके भयसे पीड़ित और शिथिल होती देख बड़े वेगसे आकर उसका उद्धार किया ॥ १-२ ॥

ततो युद्धमतीवासीन्मुहूर्तमिव भारत।
भीरूणां त्रासजननं शूराणां हर्षवर्धनम् ॥ ३ ॥

भारत! तदनन्तर दो घड़ीतक वहाँ घोर युद्ध होता रहा, जो कायरोंके लिये त्रासजनक और शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाला था ॥ ३ ॥

कृपेण शरवर्षाणि प्रतिमुक्तानि संयुगे।
सृञ्जयांश्छादयामासुः शलभानां व्रजा इव ॥ ४ ॥

कृपाचार्यने युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा की। उन बाणोंने टिड्डीदलोंके समान सृञ्जयोंको आच्छादित कर दिया ॥ ४ ॥

शिखण्डी च ततः क्रुद्धो गौतमं त्वरितो ययौ।
ववर्ष शरवर्षाणि समन्ताद् द्विजपुङ्गवम् ॥ ५ ॥

इससे शिखण्डीको बड़ा क्रोध हुआ। वह तुरंत ही विप्रवर गौतमगोत्रीय कृपाचार्यपर चढ़ आया और उनके ऊपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ५ ॥

कृपस्तु शरवर्षं तद् विनिहत्य महास्त्रवित्।
शिखण्डिनं रणे क्रुद्धो विव्याध दशभिः शरैः ॥ ६ ॥

महान् अस्त्रवेत्ता कृपाचार्यने शिखण्डीकी उस बाण-वर्षाका निवारण करके कुपित हो उसे दस बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ६ ॥

(महदासीत् तयोर्युद्धं मुहूर्तमिव दारुणम्।
क्रुद्धयोः समरे राजन् रामरावणयोरिव ॥)

राजन्! समर-भूमिमें कुपित हुए राम और रावणके समान उन दोनों वीरोंमें दो घड़ीतक बड़ा भयंकर युद्ध चलता रहा ॥ ७ ॥

ततः शिखण्डी कुपितः शरैः सप्तभिराहवे।
कृपं विव्याध कुपितं कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् शिखण्डीने क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें कङ्क-पत्रयुक्त सात सीधे बाणोंद्वारा कुपित कृपाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ७ ॥

ततः कृपः शरैस्तीक्ष्णैः सोऽतिविद्धो महारथः ।
व्यश्वसूतरथं चक्रे शिखण्डिनमथो द्विजः ॥ ८ ॥

उन तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए महारथी विप्रवर कृपाचार्यने शिखण्डीको घोड़े, सारथि एवं रथसे रहित कर दिया ॥ ८ ॥

हताश्वात् तु ततो यानादवप्लुत्य महारथः ।
खड्गं चर्म तथा गृह्य सत्वरं ब्राह्मणं ययौ ॥ ९ ॥

तब महारथी शिखण्डी उस अश्वहीन रथसे कूदकर हाथोंमें ढाल और तलवार ले तुरंत ही ब्राह्मण कृपाचार्यकी ओर चला ॥

तमापतन्तं सहसा शरैः संनतपर्वभिः ।
छादयामास समरे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १० ॥

उसे अपने ऊपर सहसा आक्रमण करते देख कृपाचार्यने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें शिखण्डीको ढक दिया, यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १० ॥

तत्राद्भुतमपश्याम शिलानां प्लवनं यथा ।
निश्चेष्टस्तद् रणे राजञ्छिखण्डी समतिष्ठत ॥ ११ ॥

राजन् ! रणक्षेत्रमें शिखण्डी निश्चेष्ट होकर खड़ा रहा, यह वहाँ पत्थरके तैरनेके समान हमलोगोंने अद्भुत बात देखी ॥

कृपेणच्छादितं दृष्ट्वा नृपोत्तम शिखण्डिनम् ।
प्रत्युद्ययौ कृपं तूर्णं धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! शिखण्डीको कृपाचार्यके बाणोंसे आच्छादित हुआ देख महारथी धृष्टद्युम्न तुरंत ही उनका सामना करनेके लिये आये ॥ १२ ॥

धृष्टद्युम्नं ततो यान्तं शारद्वतरथं प्रति ।
प्रतिजग्राह वेगेन कृतवर्मा महारथः ॥ १३ ॥

धृष्टद्युम्नको कृपाचार्यके रथकी ओर जाते देख महारथी कृतवर्माने वेगपूर्वक उन्हें रोक दिया ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरमथायान्तं शारद्वतरथं प्रति ।
सपुत्रं सहसैन्यं च द्रोणपुत्रो न्यवारयत् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार पुत्र और सेनासहित युधिष्ठिरको कृपाचार्यके रथपर चढ़ाई करते देख द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रोका ॥१४॥

नकुलं सहदेवं च त्वरमाणौ महारथौ ।
प्रतिजग्राह ते पुत्रः शरवर्षेण वारयन् ॥ १५ ॥

महारथी नकुल और सहदेव भी बड़ी उतावलीके साथ चढ़े आ रहे थे, उन्हें भी आपके पुत्रने बाण-वर्षासे रोक दिया ॥

भीमसेनं करूषांश्च केकयान् सह सृंजयैः ।
कर्णो वैकर्तनो युद्धे वारयामास भारत ॥ १६ ॥

भारत ! भीमसेनको तथा करूष, केकय और सृञ्जय योद्धाओंको वैकर्तन कर्णने युद्धमें आगे बढ़नेसे रोका ॥१६॥

शिखण्डिनस्ततो बाणान् कृपः शारद्वतो युधि ।
प्राहिणोत् त्वरया युक्तो दिधक्षुरिव मारिष ॥ १७ ॥

मान्यवर ! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य युद्धस्थलमें, मानो वे शिखण्डीको दग्ध कर डालना चाहते हों, बड़ी उतावलीके साथ उसके ऊपर बाण चलाये ॥ १७ ॥

ताञ्छरान् प्रेषितांस्तेन समन्तात् स्वर्णभूषितान् ।
चिच्छेद खड्गमाविध्य भ्रामयंश्च पुनः पुनः ॥ १८ ॥

उनके चलाये हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंको शिखण्डीने बारंबार तलवार घुमाकर सब ओरसे काट डाला ॥ १८ ॥

शतचन्द्रं च तच्चर्म गौतमस्तस्य भारत ।
व्यधमत् सायकैस्तूर्णं तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! तब कृपाचार्यने अपने बाणोंसे शिखण्डीकी सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढालको तुरंत ही छिन्न-भिन्न कर डाला । इससे सब लोग कोलाहल करने लगे ॥ १९ ॥

स विचर्मा महाराज खड्गपाणिरुपाद्रवत् ।
कृपस्य वशमापन्नो मृत्योरास्यमिवातुरः ॥ २० ॥

महाराज ! जैसे रोगी मौतके मुँहमें पहुँच गया हो, उसी प्रकार कृपाचार्यके वशमें पड़ा हुआ शिखण्डी अपनी ढाल कट जानेपर केवल तलवार हाथमें लिये उनकी ओर दौड़ा ॥

शारद्वतशरैर्ग्रस्तं क्लिश्यमानं महाबलः ।
चित्रकेतुसुतो राजन् सुकेतुस्त्वरितो ययौ ॥ २१ ॥

राजन् ! शिखण्डीको कृपाचार्यके बाणोंका ग्रास बनकर पीड़ित होते देख चित्रकेतुका पुत्र महाबली सुकेतु उसकी सहायताके लिये तुरंत आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

विकिरन् ब्राह्मणं युद्धे बहुभिर्निशितैः शरैः ।
अभ्यापतदमेयात्मा गौतमस्य रथं प्रति ॥ २२ ॥

सुकेतु अमेय आत्मबलसे सम्पन्न था । वह युद्धस्थलमें बहुसंख्यक पैने बाणोंद्वारा ब्राह्मण कृपाचार्यको आच्छादित

करता हुआ उनके रथके समीप आ पहुँचा ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च युक्तं तं युद्धे ब्राह्मणं चरितव्रतम् ।
अपयातस्ततस्तूर्णं शिखण्डी राजसत्तम ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण कृपाचार्यको सुकेतुके साथ युद्धमें तत्पर देख शिखण्डी तुरंत वहाँसे भाग निकला ॥ २३ ॥

सुकेतुस्तु ततो राजन् गौतमं नवभिः शरैः ।
विद्ध्वा विव्याध सप्तत्या पुनश्चैनं त्रिभिः शरैः ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर सुकेतुने कृपाचार्यको पहले नौ बाणोंसे बींधकर फिर तिहत्तर तीरोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥ २४ ॥

अथास्य सशरं चापं पुनश्चिच्छेद मारिष ।
सारथिं च शरेणास्य भृशं मर्मस्वताडयत् ॥ २५ ॥

आर्य ! तत्पश्चात् बाणसहित उनके धनुषको काट दिया और एक बाणद्वारा उनके सारथिके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

गौतमस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्गृह्य नवं दृढम् ।
सुकेतुं त्रिंशता बाणैः सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ २६ ॥

इससे कृपाचार्य अत्यन्त कुपित हो उठे । उन्होंने दूसरा नूतन सुदृढ़ धनुष लेकर सुकेतुके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें तीस बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २६ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गः प्रचचाल रथोत्तमे ।
भूमिकम्पे यथा वृक्षश्चचाल कम्पितो भृशम् ॥ २७ ॥

इससे सुकेतुका सारा शरीर विह्वल होकर उस उत्तम रथपर काँपने लगा; मानो भूकम्प आनेपर कोई वृक्ष जोर-जोरसे काँपने और झूमने लगा हो ॥ २७ ॥

चलतस्तस्य कायात् तु शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
सोष्णीषं सशिरस्त्राणं क्षुरप्रेण त्वपातयत् ॥ २८ ॥

उसी अवस्थामें कृपाचार्यने एक क्षुरप्रद्वारा सुकेतुके जगमगाते हुए कुण्डलोंसे युक्त पगड़ी और शिरस्त्राणसहित मस्तकको उसकी काँपती हुई कायासे काट गिराया ॥ २८ ॥

तच्छिरः प्रापतद् भूमौ श्येनाहृतमिवामिषम् ।
ततोऽस्य कायो वसुधां पश्चात् प्रापतदच्युत ॥ २९ ॥

राजन् ! वह सिर बाजके लाये हुए मांसके टुकड़ेके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसके बाद सुकेतुका धड़ भी धराशायी हो गया ॥ २९ ॥

तस्मिन् हते महाराज त्रस्तास्तस्य पुरोगमाः ।
गौतमं समरे त्यक्त्वा दुद्रुवुस्ते दिशो दश ॥ ३० ॥

महाराज ! सुकेतुके मारे जानेपर उसके अग्रगामी सैनिक भयभीत हो समराङ्गणमें कृपाचार्यको छोड़कर दसों दिशाओंकी ओर भाग निकले ॥ ३० ॥

धृष्टद्युम्नं तु समरे संनिवार्य महारथः ।
कृतवर्माब्रवीद्धृष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! दूसरी ओर महारथी कृतवर्माने समराङ्गणमें धृष्टद्युम्नको रोककर बड़े हर्षके साथ कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

तदभूत् तुमुलं युद्धं वृष्णिपार्षतयो रणे ।
आमिषार्थे यथा युद्धं श्येनयोः क्रुद्धयोर्नृप ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये दो बाज क्रोधपूर्वक लड़ रहे हों, उसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें कृतवर्मा और धृष्टद्युम्नका घोर युद्ध होने लगा ॥ ३२ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे हार्दिक्यं नवभिः शरैः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः पीडयन् हृदिकात्मजम् ॥ ३३ ॥

धृष्टद्युम्नने कुपित होकर कृतवर्माको पीड़ा देते हुए उसकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ३३ ॥

कृतवर्मा तु समरे पार्षतेन दृढाहतः ।
पार्षतं सरथं साश्वं छादयामास सायकैः ॥ ३४ ॥

धृष्टद्युम्नका गहरा आघात पाकर समरभूमिमें कृतवर्माने बाणोंकी वर्षा करके घोड़ों और रथसहित धृष्टद्युम्नको आच्छादित कर दिया ॥ ३४ ॥

सरथश्छादितो राजन् धृष्टद्युम्नो न दृश्यते ।
मेघैरिव परिच्छन्नो भास्करो जलधारिभिः ॥ ३५ ॥

राजन् ! जैसे जलकी धारा गिरानेवाले मेघोंसे आच्छन्न हुए सूर्यका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार कृतवर्माके बाणोंसे रथसहित आच्छादित हुए धृष्टद्युम्न दिखायी नहीं देते थे ॥

विधूय तं बाणगणं शरैः कनकभूषणैः ।
व्यरोचत रणे राजन् धृष्टद्युम्नः कृतव्रणः ॥ ३६ ॥

महाराज ! यद्यपि धृष्टद्युम्न घायल हो गये थे तो भी अपने सुवर्ण-भूषित बाणोंद्वारा कृतवर्माके शरसमूहको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होने लगे ॥ ३६ ॥

ततस्तु पार्षतः क्रुद्धः शस्त्रवृष्टिं सुदारुणाम् ।
कृतवर्माणमासाद्य व्यसृजत् पृतनापतिः ॥ ३७ ॥

फिर क्रोधमें भरे हुए सेनापति धृष्टद्युम्नने कृतवर्माके निकट जाकर उसके ऊपर अस्त्र-शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३७ ॥

तामापतन्तीं सहसा शस्त्रवृष्टिं सुदारुणाम् ।
शरैरनेकसाहस्रैर्हार्दिक्योऽवारयद् युधि ॥ ३८ ॥

अपने ऊपर सहसा आती हुई उस भयंकर बाणवर्षाको युद्धस्थलमें कृतवर्माने कई हजार बाण मारकर रोक दिया ॥

दृष्ट्वा तु वारितां युद्धे शस्त्रवृष्टिं दुरासदाम् ।
कृतवर्माणमासाद्य वारयामास पार्षतः ॥ ३९ ॥
सारथिं चास्य तरसा प्राहिणोद् यमसादनम् ।
भल्लेन शितधारेण स हतः प्रापतद् रथात् ॥ ४० ॥

रणभूमिमें उस दुर्जय शस्त्रवर्षाको रोकी गयी देख धृष्टद्युम्नने कृतवर्मापर आक्रमण करके उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया और उसके सारथिको तीखी धारवाले भल्लसे वेगपूर्वक

उस बलवान् वीरके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित एवं मूर्छित हो कृतवर्मा गिर पड़ा। तब श्रुतर्वा उसे अपने रथपर बिठाकर रणभूमिसे दूर हटा ले गया॥

मारकर यमलोक भेज दिया। मारा गया सारथि रथसे नीचे गिर पड़ा॥ ३९-४०॥

(कृतवर्मा तु संक्रुद्धो दिधक्षुरिव पावकः।
धृष्टद्युम्नमुखान् सर्वान् पाण्डवान् पर्यवारयत्॥

कृतवर्मा अत्यन्त क्रोधमें भरकर जलानेको उद्यत हुई आगके समान धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डवोंको रोकने लगा।

ततो राजन् महेष्वासं कृतवर्माणमाशु वै।
गदां गृह्य पुनर्वेगात् कृतवर्माणमाहनत्॥

राजन्! तब धृष्टद्युम्नने गदा हाथमें लेकर पुनः बड़े वेगसे महाधनुर्धर कृतवर्मापर शीघ्र ही आघात किया॥

सोऽतिविद्धो बलवता न्यपतन्मूर्च्छया हतः।
श्रुतर्वा रथमारोप्य अपोवाह रणाजिरात्॥)

धृष्टद्युम्नस्तु बलवाञ्जित्वा शत्रुं महाबलम्।
कौरवान् समरे तूर्णं वारयामास सायकैः॥ ४१॥

इस प्रकार बलवान् धृष्टद्युम्नने उस महाबली शत्रुको जीतकर बाणोंकी वर्षा करके समराङ्गणमें समस्त कौरवोंको तुरंत आगे बढ़नेसे रोक दिया॥ ४१॥

ततस्ते तावका योधा धृष्टद्युम्नमुपाद्रवन्।
सिंहनादरवं कृत्वा ततो युद्धमवर्तत॥ ४२॥

तब आपके समस्त योद्धा सिंहनाद करके धृष्टद्युम्नपर टूट पड़े। फिर वहाँ घोर युद्ध होने लगा॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाका घोर युद्ध, सात्यकिके सारथिका वध एवं युधिष्ठिरका अश्वत्थामाको छोड़कर दूसरी ओर चले जाना

संजय उवाच

द्रौणिर्युधिष्ठिरं दृष्ट्वा शैनेयेनाभिरक्षितम्।
द्रौपदेयैस्तथा शूरैरभ्यवर्तत हृष्टवत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! सात्यकि तथा शूरवीर द्रौपदी-पुत्रोंद्वारा सुरक्षित युधिष्ठिरको देखकर अश्वत्थामा बड़े हर्षके साथ उनका सामना करनेके लिये गया॥ १॥

किरन्निषुगणान् घोरान् स्वर्णपुङ्खाञ्शिलाशितान्।
दर्शयन् विविधान् मार्गान् शिक्षाश्च लघुहस्तवत्॥ २॥
ततः खं पूरयामास शरैर्दिव्यास्त्रमन्त्रितैः।
युधिष्ठिरं च समरे परिवार्य महास्त्रवित्॥ ३॥

वह बड़े-बड़े अस्त्रोंका ज्ञाता था; इसलिये शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले योद्धाके समान सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखोंसे युक्त भयंकर शरसमूहोंकी वर्षा करता और नाना प्रकारके मार्ग एवं शिक्षाका प्रदर्शन करता हुआ दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा समराङ्गणमें युधिष्ठिरको अवरुद्ध करके आकाशको उन बाणोंसे भरने लगा॥ २-३॥

द्रौणायनिशरच्छन्नं न प्राज्ञायत किञ्चन।
बाणभूतमभूत् सर्वमायोधनशिरो महत्॥ ४॥

द्रोणपुत्रके बाणोंसे आच्छन्न हो जानेके कारण वहाँ कुछ भी ज्ञात नहीं होता था। युद्धका वह सारा विशाल मैदान बाणमय हो रहा था॥ ४॥

बाणजालं दिविच्छन्नं स्वर्णजालविभूषितम्।
शुशुभे भरतश्रेष्ठ वितानमिव धिष्ठितम्॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! स्वर्णजाल-विभूषित वह बाणोंका जाल आकाशमें फैलकर वहाँ तने हुए वितान (चँदोवे) के समान सुशोभित होता था॥ ५॥

तेनच्छन्नं नभो राजन् बाणजालेन भास्वता।
अभ्रच्छायेव संजज्ञे बाणरुद्धे नभस्तले॥ ६॥

राजन्! उन प्रकाशमान बाणसमूहोंसे सारा आकाश-मण्डल ढक गया था। बाणोंसे रुँधे हुए आकाशमें मेघोंकी छाया-सी बन गयी थी॥ ६॥

तत्राश्चर्यमपश्याम बाणभूते तथाविधे।
न स्म सम्पतते भूतं किंचिदेवान्तरिक्षगम्॥ ७॥

इस प्रकार आकाशके बाणमय हो जानेपर हमलोगोंने वहाँ यह आश्चर्यकी बात देखी कि आकाशचारी कोई भी प्राणी उधरसे उड़कर नीचे नहीं आ सकता था॥ ७॥

सात्यकिर्यतमानस्तु धर्मराजश्च पाण्डवः।
तथेतराणि सैन्यानि न स्म चक्रुः पराक्रमम्॥ ८॥

उस समय प्रयत्नशील सात्यकि, धर्मराज पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यथा अन्यान्य सैनिक कोई पराक्रम न कर सके॥

लाघवं द्रोणपुत्रस्य दृष्ट्वा तत्र महारथाः।
व्यस्मयन्त महाराज न चैनं प्रत्युदीक्षितुम्॥ ९॥
शेकुस्ते सर्वराजानस्तपन्तमिव भास्करम्।

महाराज! द्रोणपुत्रकी वह फुर्ती देखकर वहाँ खड़े हुए सभी महारथी नरेश आश्चर्यचकित हो उठे और तपते हुए सूर्यके समान तेजस्वी अश्वत्थामाकी ओर आँख उठाकर देख भी न सके॥ ९½॥

वध्यमाने ततः सैन्ये द्रौपदेया महारथाः॥ १०॥

सात्यकिर्धर्मराजश्च पञ्चालाश्चापि संगताः ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं घोरं द्रौणायनिमुपाद्रवन् ॥ ११ ॥

तदनन्तर जब पाण्डवसेना मारी जाने लगी, तब महारथी द्रौपदीपुत्र और सात्यकि तथा धर्मराज युधिष्ठिर और पाञ्चाल सैनिक संगठित हो घोर मृत्युभयको छोड़कर द्रोणकुमारपर टूट पड़े ॥ १०–११ ॥

सात्यकिः सप्तविंशत्या द्रौणिं विद्ध्वा शिलीमुखैः ।
पुनर्विव्याध नाराचैः सप्तभिः स्वर्णभूषितैः ॥ १२ ॥

सात्यकिने सत्ताईस बाणोंसे अश्वत्थामाको घायल करके पुनः सात स्वर्णभूषित नाराचोंद्वारा उसे बींध डाला ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरस्त्रिसप्तत्या प्रतिविन्ध्यश्च सप्तभिः ।
श्रुतकर्मा त्रिभिर्बाणैः श्रुतकीर्तिश्च सप्तभिः ॥ १३ ॥
सुतसोमस्तु नवभिः शतानीकश्च सप्तभिः ।
अन्ये च बहवः शूरा विव्यधुस्तं समन्ततः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने तिहत्तर, प्रतिविन्ध्यने सात, श्रुतकर्माने तीन, श्रुतकीर्तिने सात, सुतसोमने नौ और शतानीकने उसे सात बाण मारे तथा दूसरे बहुत-से शूरवीरोंने भी अश्वत्थामाको चारों ओरसे घायल कर दिया ॥ १३-१४ ॥

स तु क्रुद्धस्ततो राजन्नाशीविष इव श्वसन् ।
सात्यकिं पञ्चविंशत्या प्रत्यविध्यच्छिलीमुखैः॥१५॥

राजन् ! तब क्रोधमें भरकर विषधर सर्पके समान फुफकारते हुए अश्वत्थामाने सात्यकिको पचीस बाणोंसे घायल करके बदला चुकाया ॥ १५ ॥

श्रुतकीर्तिं च नवभिः सुतसोमं च पञ्चभिः ।
अष्टभिः श्रुतकर्माणं प्रतिविन्ध्यं त्रिभिः शरैः ॥ १६ ॥
शतानीकं च नवभिर्धर्मपुत्रं च पञ्चभिः ।
तथेतरांस्ततः शूरान् द्वाभ्यां द्वाभ्यामताडयत् ॥ १७ ॥
श्रुतकीर्तेस्तथा चापं चिच्छेद निशितैः शरैः ।

फिर श्रुतकीर्तिको नौ, सुतसोमको पाँच, श्रुतकर्माको आठ, प्रतिविन्ध्यको तीन, शतानीकको नौ, धर्मपुत्र युधिष्ठिरको पाँच तथा अन्य शूरवीरोंको दो-दो बाणोंसे पीट दिया। इसके सिवा उसने पैने बाणोंद्वारा श्रुतकीर्तिके धनुषको भी काट दिया॥ १६-१७½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय श्रुतिकीर्तिर्महारथः ॥ १८ ॥
द्रौणायनिं त्रिभिर्विद्ध्वा विव्याधान्यैः शितैः शरैः ।

तब महारथी श्रुतकीर्तिने दूसरा धनुष लेकर द्रोणकुमारको पहले तीन बाणोंसे घायल करके फिर दूसरे-दूसरे पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ १८½ ॥

ततो द्रौणिर्महाराज शरवर्षेण मारिष ॥ १९ ॥
छादयामास तत् सैन्यं समन्ताद् भरतर्षभ ।

मान्यवर भरतभूषण महाराज ! तत्पश्चात् द्रोणकुमारने अपने बाणोंकी वर्षासे युधिष्ठिरकी उस सेनाको सब ओरसे ढक दिया ॥ १९½ ॥

ततः पुनरमेयात्मा धर्मराजस्य कार्मुकम् ॥ २० ॥
द्रौणिश्चिच्छेद विहसन् विव्याध च शरैस्त्रिभिः ।

उसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणकुमारने धर्मराजके धनुषको काट डाला और हँसते-हँसते तीन बाणोंद्वारा पुनः उन्हें घायल कर दिया ॥ २०½ ॥

ततो धर्मसुतो राजन् प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ॥ २१ ॥
द्रौणिं विव्याध सप्तत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

राजन् ! तब धर्मपुत्र युधिष्ठिरने दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर अश्वत्थामाको बींध दिया एवं उसकी दोनों भुजाओं और छातीमें सत्तर बाण मारे ॥ २१½ ॥

सात्यकिस्तु ततः क्रुद्धो द्रौणेः प्रहरतो रणे ॥ २२ ॥
अर्धचन्द्रेण तीक्ष्णेन धनुश्छित्त्वानदद् भृशम् ।

इसके बाद कुपित हुए सात्यकिने रणभूमिमें प्रहार करनेवाले अश्वत्थामाके धनुषको तीखे अर्धचन्द्रसे काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २२½ ॥

छिन्नधन्वा ततो द्रौणिः शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥२३॥
सारथिं पातयामास शैनेयस्य रथाद् द्रुतम् ।

धनुष कट जानेपर शक्तिशालियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने शक्ति चलाकर शिनिपौत्र सात्यकिके सारथिको शीघ्र ही रथसे नीचे गिरा दिया ॥ २३½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥ २४ ॥
शैनेयं शरवर्षेणच्छादयामास भारत ।

भारत ! तत्पश्चात् प्रतापी द्रोणपुत्रने दूसरा धनुष लेकर सात्यकिको शरसमूहोंकी वर्षाद्वारा आच्छादित कर दिया २४½

तस्याश्वाः प्रद्रुताः संख्ये पतिते रथसारथौ ॥ २५ ॥
तत्र तत्रैव धावन्तः समदृश्यन्त भारत ।

भरतनन्दन ! उनके रथका सारथि धराशायी हो चुका था, इसलिये उनके घोड़े युद्धस्थलमें बेलगाम भागने लगे। वे विभिन्न स्थानोंमें भागते हुए ही दिखायी दे रहे थे ।२५½।

युधिष्ठिरपुरोगास्तु द्रौणिं शस्त्रभृतां वरम् ॥ २६ ॥
अभ्यवर्षन्त वेगेन विसृजन्तः शिताञ्छरान् ।

युधिष्ठिर आदि पाण्डव महारथी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामापर बड़े वेगसे पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे २६½

आगच्छमानांस्तान् दृष्ट्वा क्रुद्धरूपान् परंतपः ॥ २७ ॥
प्रहसन् प्रतिजग्राह द्रोणपुत्रो महारणे ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने उस महासमरमें उन पाण्डव महारथियोंको क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख हँसते हुए उनका सामना किया ॥ २७½ ॥

ततः शरशतज्वालः सेनाकक्षं महारथः ॥ २८ ॥
द्रौणिर्ददाह समरे कक्षमग्निर्यथा वने ।

जैसे आग वनमें सूखे काठ और घास-फूँसको जला देती है, उसी प्रकार महारथी अश्वत्थामाने समराङ्गणमें सैकड़ों बाणरूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित हो पाण्डवसेनारूपी सूखे काठ एवं घास-फूँसको जलाना आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

तद् बलं पाण्डुपुत्रस्य द्रोणपुत्रप्रतापितम् ॥ २९ ॥
चुक्षुभे भरतश्रेष्ठ तिमिनेव नदीमुखम् ।

भरतश्रेष्ठ ! जैसे तिमिनामक मत्स्य नदीके प्रवाहको विक्षुब्ध कर देता है, उसी प्रकार द्रोणपुत्रके द्वारा संतप्त की हुई पाण्डवसेनामें हलचल मच गयी ॥ २९½ ॥

दृष्ट्वा चैव महाराज द्रोणपुत्रपराक्रमम् ॥ ३० ॥
निहतान् मेनिरे सर्वान् पाण्डून् द्रोणसुतेन वै ।

महाराज ! द्रोणपुत्रका पराक्रम देखकर सब लोगोंने यही समझा कि द्रोणकुमार अश्वत्थामाके द्वारा सारे पाण्डव मार डाले जायँगे ॥ ३०½ ॥

युधिष्ठिरस्तु त्वरितो द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ३१ ॥
अब्रवीद् द्रोणपुत्राय रोषामर्षसमन्वितः ।

तदनन्तर रोष और अमर्षमें भरे हुए द्रोणशिष्य महारथी युधिष्ठिरने द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे कहा ॥ ३१½ ॥

(*युधिष्ठिर उवाच*

जानामि त्वां युधि श्रेष्ठं वीर्यवन्तं महाबलम् ।
कृतास्त्रं कृतिनं चैव तथा लघुपराक्रमम् ॥

युधिष्ठिर बोले—द्रोणकुमार ! मैं जानता हूँ कि तुम युद्धमें पराक्रमी, महाबली, अस्त्रवेत्ता, विद्वान् और शीघ्रतापूर्वक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले श्रेष्ठ वीर हो ॥

बलमेतद् भवान् सर्वं पार्षते यदि दर्शयेत् ।
ततस्त्वां बलवन्तं च कृतविद्यं च विद्महे ॥

परंतु यदि तुम अपना यह सारा बल द्रुपदपुत्रपर दिखा सको तो हम समझेंगे कि तुम बलवान् तथा अस्त्र-विद्याके विद्वान् हो ॥

न हि वै पार्षतं दृष्ट्वा समरे शत्रुसूदनम् ।
भवेत् तव बलं किंचिद् ब्रवीमि त्वा न तु द्विजम् ॥)

शत्रुसूदन धृष्टद्युम्नको समरभूमिमें देखकर तुम्हारा बल कुछ भी काम न करेगा । (तुम्हारे कर्मको देखते हुए) मैं तुम्हें ब्राह्मण नहीं कहूँगा ॥

नैव नाम तव प्रीतिर्नैव नाम कृतज्ञता ॥ ३२ ॥
यतस्त्वं पुरुषव्याघ्र मामेवाद्य जिघांससि ।

पुरुषसिंह ! तुम जो आज मुझे ही मार डालना चाहते हो, यह न तो तुम्हारा प्रेम है और न कृतज्ञता ॥ ३२½ ॥

ब्राह्मणेन तपः कार्यं दानमध्ययनं तथा ॥ ३३ ॥
क्षत्रियेण धनुर्नाम्यं स भवान् ब्राह्मणब्रुवः ।

ब्राह्मणको तप, दान और वेदाध्ययन करना चाहिये । धनुष झुकाना तो क्षत्रियका काम है; अतः तुम नाममात्रके ब्राह्मण हो ॥ ३३½ ॥

मिषतस्ते महाबाहो युधि जेष्यामि कौरवान् ॥ ३४ ॥
कुरुष्व समरे कर्म ब्रह्मबन्धुरसि ध्रुवम् ।

महाबाहो ! आज मैं तुम्हारे देखते-देखते युद्धमें कौरवोंको जीतूँगा । तुम समरमें पराक्रम प्रकट करो । निश्चय ही तुम एक स्वधर्मभ्रष्ट ब्राह्मण हो ॥ ३४½ ॥

एवमुक्तो महाराज द्रोणपुत्रः स्मयन्निव ॥ ३५ ॥
युक्तं तत्त्वं च संचिन्त्य नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ।

महाराज ! उनके ऐसा कहनेपर द्रोणपुत्र मुस्कराने-सा लगा । इनका कथन युक्तियुक्त तथा यथार्थ है, ऐसा सोचकर उसने कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ ३५½ ॥

अनुक्त्वा च ततः किंचिच्छरवर्षेण पाण्डवम् ॥ ३६ ॥
छादयामास समरे क्रुद्धोऽन्तक इव प्रजाः ।

उसने कोई जवाब न देकर समराङ्गणमें कुपित हो बाणोंकी वर्षासे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे प्रलयकालमें क्रुद्ध यमराज सारी प्रजाको अदृश्य कर देता है॥

स च्छाद्यमानस्तु तदा द्रोणपुत्रेण मारिष ॥ ३७ ॥
पार्थोऽपयातः शीघ्रं वै विहाय महतीं चमूम् ।

आर्य ! द्रोणपुत्रके बाणोंसे आच्छादित हो कुन्तीकुमार युधिष्ठिर उस समय अपनी विशाल सेनाको छोड़कर शीघ्र ही वहाँसे पलायन कर गये ॥ ३७½ ॥

अपयाते ततस्तस्मिन् धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३८ ॥
द्रोणपुत्रस्ततो राजन् प्रत्यगात् स महामनाः ।

राजन् ! तत्पश्चात् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके हट जानेपर फिर महामना द्रोणपुत्र अश्वत्थामा दूसरी ओर चला गया ॥३८½॥

ततो युधिष्ठिरो राजंस्त्यक्त्वा द्रौणिं महाहवे ।
प्रययौ तावकं सैन्यं युक्तः क्रूराय कर्मणे ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! फिर उस महायुद्धमें अश्वत्थामाको छोड़कर युधिष्ठिर पुनः क्रूरतापूर्ण कर्म करनेके लिये आपकी सेनाकी ओर बढ़े ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि पार्थापयाने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरका पलायनविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नकुल-सहदेवके साथ दुर्योधनका युद्ध, धृष्टद्युम्नसे दुर्योधनकी पराजय, कर्णद्वारा पाञ्चाल सेनासहित योद्धाओंका संहार, भीमसेनद्वारा कौरव योद्धाओंका सेनासहित विनाश, अर्जुनद्वारा संशप्तकोंका वध तथा अश्वत्थामाका अर्जुनके साथ घोर युद्ध करके पराजित होना

संजय उवाच

भीमसेनं सपाञ्चाल्यं चेदिकेकयसंवृतम् ।
वैकर्तनः स्वयं रुद्ध्वा वारयामास सायकैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! पाञ्चालों, चेदियों और

केकयोंसे घिरे हुए भीमसेनको स्वयं वैकर्तन कर्णने बाणोंद्वारा अवरुद्ध करके उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १ ॥

ततस्तु चेदिकारूषान् सृञ्जयांश्च महारथान् ।
कर्णो जघान समरे भीमसेनस्य पश्यतः ॥ २ ॥

तदनन्तर समराङ्गणमें कर्णने भीमसेनके देखते-देखते चेदि, कारूष और संजय महारथियोंका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २ ॥

भीमसेनस्ततः कर्णं विहाय रथसत्तमम् ।
प्रययौ कौरवं सैन्यं कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

तब भीमसेनने भी रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णको छोड़कर जैसे आग घास-फूँसको जलाती है, उसी प्रकार कौरव-सेनाको दग्ध करनेके लिये उसपर आक्रमण किया ॥ ३ ॥

सूतपुत्रोऽपि समरे पञ्चालान् केकयांस्तथा ।
सृञ्जयांश्च महेष्वासान् निजघान सहस्रशः ॥ ४ ॥

सूतपुत्र कर्णने समराङ्गणमें सहस्रों पाञ्चाल, केकय तथा संजय योद्धाओंको, जो महाधनुर्धर थे, मार डाला ॥ ४ ॥

संशप्तकेषु पार्थश्च कौरवेषु वृकोदरः ।
पञ्चालेषु तथा कर्णः क्षयं चक्रुर्महारथाः ॥ ५ ॥

अर्जुन संशप्तकोंकी, भीमसेन कौरवोंकी तथा कर्ण पाञ्चालोंकी सेनामें घुसकर युद्ध करते थे। इन तीनों महारथियोंने बहुत-से शत्रुओंका संहार कर डाला ॥ ५ ॥

ते क्षत्रिया दह्यमानास्त्रिभिस्तैः पावकोपमैः ।
जग्मुर्विनाशं समरे राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ६ ॥

अग्निके समान तेजस्वी इन तीनों वीरोंद्वारा दग्ध होते हुए क्षत्रिय समराङ्गणमें विनाशको प्राप्त हो रहे थे। राजन्! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो नकुलं नवभिः शरैः ।
विव्याध भरतश्रेष्ठ चतुरश्चास्य वाजिनः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब दुर्योधनने कुपित होकर नौ बाणोंसे नकुल तथा उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततः पुनरमेयात्मा तव पुत्रो जनाधिप ।
क्षुरेण सहदेवस्य ध्वजं चिच्छेद काञ्चनम् ॥ ८ ॥

जनेश्वर! इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न आपके पुत्रने एक क्षुरके द्वारा सहदेवकी सुवर्णमयी ध्वजा काट डाली ॥

नकुलस्तु ततः क्रुद्धस्तव पुत्रं च सप्तभिः ।
जघान समरे राजन् सहदेवश्च पञ्चभिः ॥ ९ ॥

राजन्! तत्पश्चात् समर-भूमिमें आपके पुत्रको क्रोधमें भरे हुए नकुलने सात और सहदेवने पाँच बाण मारे ॥ ९ ॥

तावुभौ भरतश्रेष्ठौ ज्येष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
विव्याधोरसि संक्रुद्धः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ॥ १० ॥

वे दोनों श्रेष्ठ वीर समस्त धनुर्धारियोंमें प्रधान थे। दुर्योधनने कुपित होकर उन दोनोंकी छातीमें पाँच-पाँच बाण मारे ॥ १० ॥

ततोऽपराभ्यां भल्लाभ्यां धनुषी समकृन्तत ।
यमयोः सहसा राजन् विव्याध च त्रिसप्तभिः ॥ ११ ॥

राजन्! फिर सहसा उसने दो भल्लोंसे नकुल और सहदेवके धनुष काट डाले तथा उन दोनोंको भी इक्कीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ११ ॥

तावन्ये धनुषी श्रेष्ठे शक्रचापनिभे शुभे ।
प्रगृह्य रेजतुः शूरौ देवपुत्रसमौ युधि ॥ १२ ॥

फिर वे दोनों वीर इन्द्रधनुषके समान सुन्दर दूसरे श्रेष्ठ धनुष लेकर युद्धस्थलमें देवकुमारोंके समान सुशोभित होने लगे ॥

ततस्तौ रभसौ युद्धे भ्रातरौ भ्रातरं युधि ।
शरैर्ववृषतुर्घोरैर्महामेघौ यथाचलम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् जैसे दो महामेघ किसी पर्वतपर जलकी वर्षा करते हों, उसी प्रकार दोनों वेगशाली बन्धु नकुल और सहदेव भाई दुर्योधनपर युद्धमें भयंकर बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ १३ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज तव पुत्रो महारथः ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ वारयामास पत्रिभिः ॥ १४ ॥

महाराज! तब आपके महारथी पुत्रने कुपित होकर उन दोनों महाधनुर्धर पाण्डुपुत्रोंको बाणोंद्वारा आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १४ ॥

धनुर्मण्डलमेवास्य दृश्यते युधि भारत ।
सायकाश्चैव दृश्यन्ते निश्चरन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥
आच्छादयन् दिशः सर्वाः सूर्यस्येवांशवो यथा ।

भारत! उस समय केवल उसका मण्डलाकार धनुष ही दिखायी देता था और उससे चारों ओर छूटनेवाले बाण सूर्यकी किरणोंके समान सम्पूर्ण दिशाओंको ढके हुए दृष्टिगोचर होते थे ॥ १५½ ॥

बाणभूते ततस्तस्मिन् संछन्ने च नभस्तले ॥ १६ ॥
यमाभ्यां ददृशे रूपं कालान्तकयमोपमम् ।

उस समय जब आकाश आच्छादित होकर बाणमय हो रहा था, तब नकुल और सहदेवने आपके पुत्रका स्वरूप काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर देखा ॥ १६½ ॥

पराक्रमं तु तं दृष्ट्वा तव सूनोर्महारथाः ॥ १७ ॥
मृत्योरुपान्तिकं प्राप्तौ माद्रीपुत्रौ स्म मेनिरे ।

आपके पुत्रका वह पराक्रम देखकर सब महारथी ऐसा मानने लगे कि माद्रीके दोनों पुत्र मृत्युके निकट पहुँच गये ॥

ततः सेनापती राजन् पाण्डवस्य महारथः ॥ १८ ॥
पार्षतः प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।

राजन्! तब पाण्डव-सेनापति द्रुपदपुत्र महारथी धृष्टद्युम्न जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ जा पहुँचे ॥ १८½ ॥

माद्रीपुत्रौ ततः शूरौ व्यतिक्रम्य महारथौ ॥ १९ ॥
धृष्टद्युम्नस्तव सुतं वारयामास सायकैः ।

महारथी शूरवीर माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको लाँघकर धृष्टद्युम्नने अपने बाणोंकी मारसे आपके पुत्रको रोक दिया ॥

तमविध्यदमेयात्मा तव पुत्रो ह्यमर्षणः ॥ २० ॥
पाञ्चाल्यं पञ्चविंशत्या प्रहसन् पुरुषर्षभः ।

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न आपके अमर्षशील पुत्र पुरुष-रत्न दुर्योधनने हँसते हुए पचीस बाण मारकर धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया ॥ २०½ ॥

ततः पुनरमेयात्मा तव पुत्रो ह्यमर्षणः ॥ २१ ॥
विद्ध्वा ननाद पाञ्चाल्यं षष्ट्या पञ्चभिरेव च ।

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न आपके अमर्षशील पुत्रने पैंसठ बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २१½ ॥

तथास्य सशरं चापं हस्तावापं च मारिष ॥ २२ ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन राजा चिच्छेद संयुगे ।

आर्य ! फिर राजा दुर्योधनने युद्धस्थलमें एक तीखे क्षुरप्रसे धृष्टद्युम्नके बाणसहित धनुष और दस्तानेको भी काट दिया ॥ २२½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं पाञ्चाल्यः शत्रुकर्शनः ॥ २३ ॥
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं नवम् ।

शत्रुसूदन धृष्टद्युम्नने उस कटे हुए धनुषको फेंककर वेगपूर्वक दूसरा धनुष हाथमें ले लिया, जो भार सहनेमें समर्थ और नवीन था ॥ २३½ ॥

प्रज्वलन्निव वेगेन संरम्भाद् रुधिरेक्षणः ॥ २४ ॥
अशोभत महेष्वासो धृष्टद्युम्नः कृतव्रणः ।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। सारे शरीरमें घाव हो रहे थे; अतः वे महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न वेगसे जलते हुए अग्निदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ २४½ ॥

स पञ्चदश नाराचाञ्श्वसतः पन्नगानिव ॥ २५ ॥
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठं धृष्टद्युम्नो व्यपासृजत् ।

धृष्टद्युम्नने भरतश्रेष्ठ दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसके ऊपर फुफकारते हुए सर्पोंके समान पंद्रह नाराच छोड़े॥

ते वर्म हेमविकृतं भित्त्वा राज्ञः शिलाशिताः ॥ २६ ॥
विविशुर्वसुधां वेगात् कङ्कबर्हिणवाससः ।

शिलापर तेज किये हुए कङ्क और मयूरके पंखोंसे युक्त वे बाण राजा दुर्योधनके सुवर्णमय कवचको छेदकर बड़े वेगसे पृथ्वीमें समा गये ॥ २६½ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज पुत्रस्तेऽतिव्यराजत ॥ २७ ॥
वसन्तकाले सुमहान् प्रफुल्ल इव किंशुकः ।

महाराज ! उस समय अत्यन्त घायल हुआ आपका पुत्र वसन्त ऋतुमें खिले हुए महान् पलाश वृक्षके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ २७½ ॥

सच्छिन्नवर्मा नाराचप्रहारैर्जर्जरीकृतः ॥ २८ ॥
धृष्टद्युम्नस्य भल्लेन क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम् ।

उसका कवच कट गया था और शरीर नाराचोंके प्रहारसे जर्जर कर दिया गया था। उस अवस्थामें उसने कुपित होकर एक भल्लसे धृष्टद्युम्नके धनुषको काट डाला ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं त्वरमाणो महीपतिः ॥ २९ ॥
सायकैर्दशभी राजन् भ्रुवोर्मध्ये समार्पयत् ।

राजन् ! धनुष कट जानेपर धृष्टद्युम्नकी दोनों भौहोंके मध्यभागमें राजा दुर्योधनने तुरंत ही दस बाणोंका प्रहार किया ॥

तस्य तेऽशोभयन् वक्त्रं कर्मारपरिमार्जिताः ॥ ३० ॥
प्रफुल्लं पङ्कजं यद्वद् भ्रमरा मधुलिप्सवः ।

कारीगरके द्वारा साफ किये गये वे बाण धृष्टद्युम्नके मुखकी ऐसी शोभा बढ़ाने लगे, मानो मधुलोभी भ्रमर प्रफुल्ल कमल-पुष्पका रसास्वादन कर रहे हों ॥ ३०½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं धृष्टद्युम्नो महामनाः ॥ ३१
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भल्लांश्च षोडश ।

महामना धृष्टद्युम्नने उस कटे हुए धनुषको फेंककर बड़े वेगसे दूसरा धनुष और सोलह भल्ल हाथमें ले लिये ॥ ३१½ ॥

ततो दुर्योधनस्याश्वान् हत्वा सूतं च पञ्चभिः ॥ ३२ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन जातरूपपरिष्कृतम् ।

उनमेंसे पाँच भल्लोंद्वारा दुर्योधनके सारथि और घोड़ोंको मारकर एक भल्लसे उसके सुवर्ण-भूषित धनुषको काट डाला ॥ ३२½ ॥

रथं सोपस्करं छत्रं शक्तिं खड्गं गदां ध्वजम् ॥ ३३ ॥
भल्लैश्चिच्छेद दशभिः पुत्रस्य तव पार्षतः ।

तत्पश्चात् दस भल्लोंसे द्रुपदकुमारने आपके पुत्रके सब सामग्रियोंसहित रथ, छत्र, शक्ति, खड्ग, गदा और ध्वज काट दिये ॥ ३३½ ॥

तपनीयाङ्गदं चित्रं नागं मणिमयं शुभम् ॥ ३४ ॥
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।

समस्त राजाओंने देखा कि कुरुराज दुर्योधनका सोनेके अङ्गदोंसे विभूषित नाग-चिह्नयुक्त विचित्र, मणिमय एवं सुन्दर ध्वज कटकर धराशायी हो गया है ॥ ३४½ ॥

दुर्योधनं तु विरथं छिन्नवर्मायुधं रणे ॥ ३५ ॥
भ्रातरः पर्यरक्षन्त सोदरा भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! रणभूमिमें जिसके कवच और आयुध छिन्न-भिन्न हो गये थे, उस रथहीन दुर्योधनकी उसके सगे भाई सब ओरसे रक्षा करने लगे ॥ ३५½ ॥

तमारोप्य रथे राजन् दण्डधारो नराधिपम् ॥ ३६ ॥
अपाहरदसम्भ्रान्तो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ।

राजन् ! इसी समय दण्डधार धृष्टद्युम्नके देखते-देखते राजा दुर्योधनको अपने रथपर बिठाकर बिना किसी घबराहटके रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ ३६½ ॥

कर्णस्तु सात्यकिं जित्वा राजगृद्धी महाबलः ॥ ३७ ॥
द्रोणहन्तारमुग्रेषुं ससाराभिमुखो रणे ।

राजा दुर्योधनका हित चाहनेवाला महाबली कर्ण सात्यकिको परास्त करके रणभूमिमें भयंकर बाण धारण करनेवाले द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्नके सामने गया ॥ ३७½ ॥

तं पृष्ठतोऽभ्ययात् तूर्णं शैनेयो वितुदञ्छरैः ॥ ३८ ॥
वारणं जघनोपान्ते विषाणाभ्यामिव द्विपः ।

उस समय शिनिपौत्र सात्यकि अपने बाणोंसे कर्णको पीड़ा देते हुए तुरंत उसके पीछे-पीछे गये, मानो कोई गजराज अपने दोनों दाँतोंसे दूसरे गजराजकी जाँघोंमें चोट पहुँचाता हुआ उसका पीछा कर रहा हो ॥ ३८½ ॥

स भारत महानासीद् योधानां सुमहात्मनाम् ॥ ३९॥
कर्णपार्षतयोर्मध्ये त्वदीयानां महारणः ।

भारत ! कर्ण और धृष्टद्युम्नके बीचमें खड़े हुए आपके महामनस्वी योद्धाओंका पाण्डव-सैनिकोंके साथ महान् संग्राम हुआ॥

न पाण्डवानां नास्माकं योधः कश्चित् पराङ्मुखः॥४०॥
प्रत्यदृश्यत् ततः कर्णः पञ्चालांस्त्वरितो ययौ ।

उस समय पाण्डवों तथा हमलोगोंमेंसे कोई भी योद्धा युद्धसे मुँह फेरकर पीछे हटता नहीं दिखायी दिया। तब कर्णने तुरंत ही पाञ्चालोंपर आक्रमण किया ॥ ४०½ ॥

तस्मिन् क्षणे नरश्रेष्ठ गजवाजिजनक्षयः ॥ ४१ ॥
प्रादुरासीदुभयतो राजन् मध्यगतेऽहनि ।

नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! मध्याह्नकी उस वेलामें दोनों पक्षोंके हाथी, घोड़ों और मनुष्योंका संहार होने लगा ॥ ४१½ ॥

पञ्चालास्तु महाराज त्वरिता विजिगीषवः ॥ ४२ ॥
ते सर्वेऽभ्यद्रवन् कर्णं पतत्रिण इव द्रुमम् ।

महाराज ! विजयकी इच्छा रखनेवाले समस्त पाञ्चाल योद्धा कर्णपर उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे पक्षी वृक्षकी ओर उड़े जाते हैं ॥ ४२½ ॥

तांस्तथाधिरथिः क्रुद्धो यतमानान् मनस्विनः ॥ ४३ ॥
विचिन्वन्निव बाणौघैः समासादयदग्रगान् ।

अधिरथपुत्र कर्ण कुपित हो विजयके लिये प्रयत्नशील, मनस्वी एवं अग्रगामी वीरोंको मानो चुन-चुनकर बाण-समूहोंद्वारा मारने लगा ॥ ४३½ ॥

व्याघ्रकेतुं सुशर्माणं चित्रं चोग्रायुधं जयम् ॥ ४४ ॥
शुक्लं च रोचमानं च सिंहसेनं च दुर्जयम् ।

वह व्याघ्रकेतु, सुशर्मा[1], चित्र, उग्रायुध, जय, शुक्ल, रोचमान और दुर्जय वीर सिंहसेनपर जा चढ़ा ॥ ४४½ ॥

ते वीरा रथमार्गेण परिवव्रुर्नरोत्तमम् ॥ ४५ ॥
सृजन्तं सायकान् क्रुद्धं कर्णमाहवशोभिनम् ।

उन सभी वीरोंने रथ-मार्गसे आकर युद्धभूमिमें शोभा पाने तथा कुपित होकर बाणोंकी वर्षा करनेवाले नरश्रेष्ठ कर्णको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४५½ ॥

युध्यमानांस्तु तान् दूरान्मनुजेन्द्र प्रतापवान् ॥ ४६ ॥
अष्टाभिरष्टौ राधेयोऽभ्यर्दयन्निशितैः शरैः ।

नरेन्द्र ! प्रतापी राधापुत्र कर्णने दूरसे युद्ध करनेवाले उन आठों वीरोंको आठ पैने बाणोंसे घायल कर दिया॥४६½॥

अथापरान् महाराज सूतपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४७ ॥
जघान बहुसाहस्रान् योधान् युद्धविशारदान् ।

महाराज ! तदनन्तर प्रतापी सूतपुत्रने कई हजार युद्धकुशल योद्धाओंको मार डाला ॥ ४७½ ॥

जिष्णुं च जिष्णुकर्माणं देवापिं भद्रमेव च ॥ ४८ ॥
दण्डं च राजन् समरे चित्रं चित्रायुधं हरिम् ।
सिंहकेतुं रोचमानं शलभं च महारथम् ॥ ४९ ॥
निजघान सुसंक्रुद्धश्चेदीनां च महारथान् ।

राजन् ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए कर्णने समराङ्गणमें जिष्णु, जिष्णुकर्मा, देवापि, भद्र, दण्ड, चित्र, चित्रायुध, हरि, सिंहकेतु, रोचमान तथा महारथी शलभ—इन चेदिदेशीय महारथियोंका संहार कर डाला ॥ ४८-४९½ ॥

तेषामाददतः प्राणानासीदाधिरथेर्वपुः ॥ ५० ॥
शोणिताभ्युक्षिताङ्गस्य रुद्रस्येवोर्जितं महत् ।

इन वीरोंके प्राण लेते समय रक्तसे भीगे अङ्गोंवाले सूतपुत्र कर्णका शरीर प्राणियोंका संहार करनेवाले भगवान् रुद्रके विशाल शरीरकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था॥५०½॥

तत्र भारत कर्णेन मातङ्गास्ताडिताः शरैः ॥ ५१ ॥
सर्वतोऽभ्यद्रवन् भीताः कुर्वन्तो महदाकुलम् ।

भारत ! वहाँ कर्णके बाणोंसे घायल हुए हाथी विशाल सेनाको व्याकुल करते हुए भयभीत हो चारों ओर भागने लगे॥

निपेतुरुर्व्यां समरे कर्णसायकताडिताः ॥ ५२ ॥
कुर्वन्तो विविधान् नादान् वज्रनुन्ना इवाचलाः ।

कर्णके बाणोंसे आहत होकर समराङ्गणमें नाना प्रकारके आर्तनाद करते हुए वज्रके मारे हुए पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे थे ॥ ५२½ ॥

गजवाजिमनुष्यैश्च निपतद्भिः समन्ततः ॥ ५३ ॥
रथैश्चाधिरथेर्मार्गे समास्तीर्यत मेदिनी ।

सूतपुत्र कर्णके रथके मार्गमें सब ओर गिरते हुए हाथियों, घोड़ों, मनुष्यों और रथोंके द्वारा वहाँ सारी पृथ्वी पट गयी थी॥

नैवं भीष्मो न च द्रोणो नान्ये युधि च तावकाः ॥ ५४ ॥
चक्रुः स्म तादृशं कर्म यादृशं वै कृतं रणे ।

कर्णने उस समय रणभूमिमें जैसा पराक्रम किया था, वैसा न तो भीष्म, न द्रोणाचार्य और न आपके दूसरे कोई योद्धा ही कर सके थे ॥ ५४½ ॥

---

[1] १. संशप्तकोंके सेनापति त्रिगर्तराज सुशर्मा कौरवोंके पक्षमें था। यह सुशर्मा उससे भिन्न पाण्डव-पक्षका योद्धा था।

सूतपुत्रेण नागेषु हयेषु च रथेषु च ॥ ५५ ॥
नरेषु च महाराज कृतं स्म कदनं महत् ।

महाराज ! सूतपुत्रने हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल मनुष्योंके दलमें घुसकर बड़ा भारी संहार मचा दिया था ॥

मृगमध्ये यथा सिंहो दृश्यते निर्भयश्चरन् ॥ ५६ ॥
पञ्चालानां तथा मध्ये कर्णोऽचरदभीतवत् ।

जैसे सिंह मृगोंके झुंडमें निर्भय विचरता दिखायी देता है, उसी प्रकार कर्ण पाञ्चालोंकी सेनामें निर्भीकके समान विचरण करता था ॥ ५६½ ॥

यथा मृगगणांस्त्रस्तान् सिंहो द्रावयते दिशः ॥ ५७ ॥
पञ्चालानां रथव्रातान् कर्णो व्यद्रावयत् तथा ।

जैसे भयभीत हुए मृगसमूहोंको सिंह सब ओर खदेड़ता है, उसी प्रकार कर्ण पाञ्चालोंके रथसमूहोंको भगा रहा था ॥

सिंहास्यं च यथा प्राप्य न जीवन्ति मृगाः क्वचित् ॥ ५८ ॥
तथा कर्णमनुप्राप्य न जिजीवुर्महारथाः ।

जैसे मृग सिंहके मुखके समीप पहुँचकर जीवित नहीं बचते, उसी प्रकार पाञ्चाल महारथी कर्णके निकट पहुँचकर जीवित नहीं रह पाते थे ॥ ५८½ ॥

वैश्वानरं यथा प्राप्य प्रतिदह्यन्ति वै जनाः ॥ ५९ ॥
कर्णाग्निना रणे तद्वद् दग्धा भारत सृञ्जयाः ।

भरतनन्दन ! जैसे जलती आगमें पड़ जानेपर सभी मनुष्य दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार सृंजय-सैनिक रणभूमिमें कर्णरूपी अग्निसे जलकर भस्म हो गये ॥ ५९½ ॥

कर्णेन चेदिकैकेयपाञ्चालेषु च भारत ॥ ६० ॥
विश्राव्य नाम निहता बहवः शूरसम्मताः ।

भारत ! कर्णने चेदि, केकय और पाञ्चाल योद्धाओंमेंसे बहुत-से शूरसम्मत रथियोंको नाम सुनाकर मार डाला ॥

मम चासीन्मती राजन् दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ॥ ६१ ॥
नैकोऽप्याधिरथेर्जीवन् पाञ्चाल्यो मोक्ष्यते युधि ।
पञ्चालान् व्यधमत् संख्ये सूतपुत्रः पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

राजन् ! कर्णका पराक्रम देखकर मेरे मनमें यही निश्चय हुआ कि युद्धस्थलमें एक भी पाञ्चाल योद्धा सूतपुत्रके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता; क्योंकि सूतपुत्र बारंबार युद्धस्थलमें पाञ्चालोंका ही विनाश कर रहा था ॥ ६१-६२ ॥

पञ्चालानथ निघ्नन्तं कर्णं दृष्ट्वा महारणे ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६३ ॥

उस महासमरमें कर्णको पाञ्चालोंका संहार करते देख धर्मराज युधिष्ठिरने अत्यन्त कुपित होकर उसपर धावा बोल दिया ॥ ६३ ॥

धृष्टद्युम्नश्च राधेयं द्रौपदेयाश्च मारिष ।
परिवव्रुरमित्रघ्नं शतशश्चापरे जनाः ॥ ६४ ॥

आर्य ! धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पुत्र तथा दूसरे सैकड़ों मनुष्य शत्रुनाशक राधापुत्र कर्णको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥

शिखण्डी सहदेवश्च नकुलो नाकुलिस्तथा ।
जनमेजयः शिनेर्नप्ता बहवश्च प्रभद्रकाः ॥ ६५ ॥
एते पुरोगमा भूत्वा धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ।
कर्णमस्यन्तमिष्वस्त्रैर्विचेरुरमितौजसः ॥ ६६ ॥

शिखण्डी, सहदेव, नकुल, शतानीक, जनमेजय, सात्यकि तथा बहुत-से प्रभद्रकगण—ये सभी अमिततेजस्वी वीर युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नके आगे होकर बाण बरसानेवाले कर्णपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए विचरने लगे ॥

तांस्तत्राधिरथिः संख्ये चेदिपाञ्चालपाण्डवान् ।
एको बहूनभ्यपतद् गरुत्मान् पन्नगानिव ॥ ६७ ॥

सूतपुत्रने समराङ्गणमें अकेला होनेपर भी जैसे गरुड़ अनेक सर्पोंपर एक साथ आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार बहुसंख्यक चेदि, पाञ्चाल और पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥

तैः कर्णस्याभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते ।
तादृग् यादृक् पुरा वृत्तं देवानां दानवैः सह ॥ ६८ ॥

प्रजानाथ ! उन सबके साथ कर्णका वैसा ही भयानक युद्ध हुआ, जैसा पूर्वकालमें देवताओंका दानवोंके साथ हुआ था ॥ ६८ ॥

तान् समेतान् महेष्वासाञ्शरवर्षौघवर्षिणः ।
एको व्यधमदव्यग्रस्तमांसीव दिवाकरः ॥ ६९ ॥

जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण अन्धकार-राशिको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार एक ही कर्णने ढेर-के-ढेर बाण-वर्षा करनेवाले उन समस्त महाधनुर्धरोंको बिना किसी व्यग्रताके नष्ट कर दिया ॥

भीमसेनस्तु संसक्ते राधेये पाण्डवैः सह ।
सर्वतोऽभ्यहनत् क्रुद्धो यमदण्डनिभैः शरैः ।
वाह्लीकान् केकयान् मत्स्यान् वासात्यान् मद्रसैन्धवान्
एकः संख्ये महेष्वासो योधयन् बह्वशोभत ।

जिस समय राधापुत्र कर्ण पाण्डवोंके साथ उलझा हुआ था, उसी समय महाधनुर्धर भीमसेन क्रोधमें भरकर यमदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा बाह्लीक, केकय, मत्स्य, वसातीय, मद्र तथा सिंधुदेशीय सैनिकोंका सब ओरसे संहार कर रहे थे। वे युद्धभूमिमें अकेले ही इन सबके साथ युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७०½ ॥

तत्र मर्मसु भीमेन नाराचैस्ताडिता गजाः ॥ ७१ ॥
प्रपतन्तो हतारोहाः कम्पयन्ति स्म मेदिनीम् ।

वहाँ भीमसेनके नाराचोंद्वारा मर्मस्थानोंमें घायल हुए हाथी सवारोंसहित धराशायी हो इस पृथ्वीको कम्पित कर देते थे ॥

वाजिनश्च हतारोहाः पत्तयश्च गतासवः ॥ ७२ ॥
शेरते युधि निर्भिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।

जिनके सवार मारे गये थे, वे घोड़े और पैदल सैनिक भी युद्धस्थलमें छिन्न-भिन्न हो मुँहसे बहुत-सा रक्त वमन करते हुए प्राणशून्य होकर पड़े थे ॥ ७२½ ॥

सहस्रशश्च रथिनः पातिताः पतितायुधाः ॥ ७३ ॥
ते क्षताः समदृश्यन्त भीमभीता गतासवः ।

सहस्रों रथी रथसे नीचे गिरा दिये गये थे। उनके अस्त्र-शस्त्र भी गिर चुके थे। वे सब-के-सब क्षत-विक्षत हो भीमसेनके भयसे भीत एवं प्राणहीन दिखायी दे रहे थे ॥ ७३½ ॥

रथिभिः सादिभिः सूतैः पादातैर्वाजिभिर्गजैः ॥ ७४ ॥
भीमसेनशरैश्छिन्नैराच्छन्ना वसुधाभवत् ।

भीमसेनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए रथियों, घुड़सवारों, सारथियों, पैदलों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशोंसे वहाँकी धरती आच्छादित हो गयी थी ॥ ७४½ ॥

तत् स्तम्भितमिवातिष्ठद् भीमसेनभयार्दितम् ॥ ७५ ॥
दुर्योधनबलं सर्वं निरुत्साहं कृतव्रणम् ।
निश्चेष्टं तुमुलं दीनं बभौ तस्मिन् महारणे ॥ ७६ ॥

उस महासमरमें दुर्योधनकी सारी सेना भीमसेनके भयसे पीड़ित हो स्तब्ध-सी खड़ी थी। उत्साह-शून्य, घायल, निश्चेष्ट, भयंकर और अत्यन्त दीन-सी प्रतीत होती थी ॥ ७५-७६ ॥

प्रसन्नसलिले काले यथा स्यात् सागरो नृप ।
तद्वत् तव बलं तद् वै निश्चलं समवस्थितम् ॥ ७७ ॥

नरेश्वर ! जिस समय ज्वार न उठनेसे जल स्वच्छ एवं शान्त हो, उस समय जैसे समुद्र निश्चल दिखायी देता है, उसी प्रकार आपकी सारी सेना निश्चेष्ट खड़ी थी ॥ ७७ ॥

मन्युवीर्यबलोपेतं दर्पात् प्रत्यवरोपितम् ।
अभवत् तव पुत्रस्य तत् सैन्यं निष्प्रभं तदा ॥ ७८ ॥

यद्यपि आपके सैनिकोंमें क्रोध, पराक्रम और बलकी कमी नहीं थी तो भी उनका घमंड चूर-चूर हो गया था; इसलिये उस समय आपके पुत्रकी वह सारी सेना तेजोहीन-सी प्रतीत होती थी ॥ ७८ ॥

तद् बलं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं परस्परम् ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नं रुधिरार्द्रं बभूव ह ॥ ७९ ॥
जगाम भरतश्रेष्ठ वध्यमानं परस्परम् ।

भरतश्रेष्ठ ! परस्पर मार खाती हुई वह सेना रक्तके प्रवाहमें डूबकर खूनसे लथपथ हो गयी थी और एक दूसरेकी चोट खाकर विनाशको प्राप्त हो रही थी ॥ ७९½ ॥

सूतपुत्रो रणे क्रुद्धः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ८० ॥
भीमसेनः कुरूंश्चापि द्रावयन्तौ विरेजतुः ।

सूतपुत्र कर्ण रणभूमिमें कुपित हो पाण्डवसेनाको और भीमसेन कौरव-सैनिकोंको खदेड़ते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामेऽद्भुतदर्शने ॥ ८१ ॥
निहत्य पृतनामध्ये संशप्तकगणान् बहून् ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो वासुदेवमथाब्रवीत् ॥ ८२ ॥

जब इस प्रकार अद्भुत दिखायी देनेवाला वह भयंकर संग्राम चल ही रहा था, उस समय दूसरी ओर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन सेनाके मध्यभागमें बहुत-से संशप्तकोंका संहार करके भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ ८१-८२ ॥

प्रभग्नं बलमेतद्धि योत्स्यमानं जनार्दन ।
एते द्रवन्ति सगणाः संशप्तकमहारथाः ॥ ८३ ॥
अपारयन्तो मद्बाणान् सिंहशब्दं मृगा इव ।

'जनार्दन ! युद्ध करती हुई इस संशप्तक-सेनाके पाँव उखड़ गये हैं। ये संशप्तक महारथी अपने-अपने दलके साथ भागे जा रहे हैं। जैसे मृग सिंहकी गर्जना सुनकर हतोत्साह हो जाते हैं, उसी प्रकार ये लोग मेरे बाणोंकी चोट सहन करनेमें असमर्थ हो गये हैं ॥ ८३½ ॥

दीर्यते च महत् सैन्यं सृञ्जयानां महारणे ॥ ८४ ॥
हस्तिकक्षो ह्यसौ कृष्ण केतुः कर्णस्य धीमतः ।
दृश्यते राजसैन्यस्य मध्ये विचरतो मुदा ॥ ८५ ॥

'उधर वह सृंजयोंकी विशाल सेना भी महासमरमें विदीर्ण हो रही है। श्रीकृष्ण ! वह हाथीकी रस्सीके चिह्नसे युक्त बुद्धिमान् कर्णका ध्वज दिखायी दे रहा है। वह राजाओंकी सेनाके बीच सानन्द विचरण कर रहा है ॥ ८४-८५ ॥

न च कर्णं रणे शक्ता जेतुमन्ये महारथाः ।
जानीते हि भवान् कर्णं वीर्यवन्तं पराक्रमे ॥ ८६ ॥

'जनार्दन ! आप तो जानते ही हैं कि कर्ण कितना बलवान् तथा पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ है। अतः रणभूमिमें दूसरे महारथी उसे जीत नहीं सकते हैं ॥ ८६ ॥

तत्र याहि यतः कर्णो द्रावयत्येष नो बलम् ।
वर्जयित्वा रणे याहि सूतपुत्रं महारथम् ॥ ८७ ॥
एतन्मे रोचते कृष्ण यथा वा तव रोचते ।

'श्रीकृष्ण ! जहाँ यह कर्ण हमारी सेनाको खदेड़ रहा है, वहीं चलिये। रणभूमिमें संशप्तकोंको छोड़कर अब महारथी सूतपुत्रके ही पास रथ ले चलिये। 'मुझे यही ठीक जान पड़ता है अथवा आपको जैसा जँचे, वैसा कीजिये' ॥ ८७½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य गोविन्दः प्रहसन्निव ॥ ८८ ॥
अब्रवीदर्जुनं तूर्णं कौरवाञ्जहि पाण्डव ।

अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे हँसते हुए-से कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम शीघ्र ही कौरव-सैनिकोंका संहार करो' ॥ ८८½ ॥

ततस्तव महासैन्यं गोविन्दप्रेरिता हयाः ॥ ८९ ॥
हंसवर्णाः प्रविविशुर्वहन्तः कृष्णपाण्डवौ ।

राजन् ! तदनन्तर श्रीकृष्णके द्वारा हाँके गये हंसके समान श्वेत रंगवाले घोड़े श्रीकृष्ण और अर्जुनको लेकर आपकी विशाल सेनामें घुस गये ॥ ८९½ ॥

केशवप्रेरितैरश्वैः श्वेतैः काञ्चनभूषणैः ॥ ९० ॥
प्रविशद्भिस्तव बलं चतुर्दिशमभिद्यत ।

अर्जुनके द्वारा संशप्तकोंका संहार

श्रीकृष्णद्वारा संचालित हुए उन सुवर्णभूषित श्वेत अश्वोंके प्रवेश करते ही आपकी सेनामें चारों ओर भगदड़ मच गयी ॥ ९०½ ॥

मेघस्तनितनिर्ह्रादः स रथो वानरध्वजः ॥ ९१ ॥
चलत्पताकस्तां सेनां विमानं द्यामिवाविशत् ।

जैसे कोई विमान स्वर्गलोकमें प्रवेश कर रहा हो, उसी प्रकार चञ्चल पताकाओंसे युक्त वह कपिध्वज रथ मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष करता हुआ उस सेनामें जा घुसा ॥

तौ विदार्य महासेनां प्रविष्टौ केशवार्जुनौ ॥ ९२ ॥
क्रुद्धौ संरम्भरक्ताक्षौ व्यभ्राजेतां महाद्युती ।

उस विशाल सेनाको विदीर्ण करके उसके भीतर प्रविष्ट हुए वे दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने महान् तेजसे प्रकाशित हो रहे थे । उनके मनमें शत्रुओंके प्रति क्रोध भरा हुआ था और उनकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं ॥ ९२½ ॥

युद्धशौण्डौ समाहूतावागतौ तौ रणाध्वरम् ॥ ९३ ॥
यज्वभिर्विधिनाहूतौ मखे देवाविवाश्विनौ ।

जैसे यज्ञमें ऋत्विजोंद्वारा विधिपूर्वक आवाहन किये जानेपर दोनों अश्विनीकुमार नामक देवता पदार्पण करते हैं, उसी प्रकार युद्धनिपुण वे श्रीकृष्ण और अर्जुन भी मानो आह्वान किये जानेपर उस रणयज्ञमें पधारे थे ॥ ९३½ ॥

क्रुद्धौ तौ तु नरव्याघ्रौ वेगवन्तौ बभूवतुः ॥ ९४ ॥
तलशब्देन रुषितौ यथा नागौ महावने ।

जैसे विशाल वनमें तालीकी आवाजसे कुपित हुए दो हाथी दौड़े आ रहे हों, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए वे दोनों पुरुषसिंह बड़े वेगसे बढ़े आ रहे थे ॥ ९४½ ॥

विगाह्य तु रथानीकमश्वसंघांश्च फाल्गुनः ॥ ९५ ॥
व्यचरत् पृतनामध्ये पाशहस्त इवान्तकः ।

अर्जुन रथसेना और घुड़सवारोंके समूहमें घुसकर पाशधारी यमराजके समान कौरव-सेनाके मध्यभागमें विचरने लगे ॥

तं दृष्ट्वा युधि विक्रान्तं सेनायां तव भारत ॥ ९६ ॥
संशप्तकगणान् भूयः पुत्रस्ते समचूचुदत् ।

भारत ! युद्धमें पराक्रम प्रकट करनेवाले अर्जुनको आपकी सेनामें घुसा हुआ देख आपके पुत्र दुर्योधनने पुनः संशप्तकगणोंको उनपर आक्रमण करनेके लिये प्रेरित किया ॥

ततो रथसहस्रेण द्विरदानां त्रिभिः शतैः ॥ ९७ ॥
चतुर्दशसहस्रैस्तु तुरगाणां महाहवे ।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां पदातीनां च धन्विनाम् ॥ ९८ ॥
शूराणां लब्धलक्ष्याणां विदितानां समन्ततः ।
अभ्यवर्तन्त कौन्तेयं छादयन्तो महारथाः ॥ ९९ ॥
शरवर्षैर्महाराज सर्वतः पाण्डुनन्दनम् ।

महाराज ! तब एक हजार रथ, तीन सौ हाथी, चौदह हजार घोड़े और लक्ष्य वेधनेमें निपुण, सर्वत्र विख्यात एवं शौर्यसम्पन्न दो लाख पैदल सैनिक साथ लेकर संशप्तक महारथी कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करते हुए उनपर चढ़ आये ॥९७–९९½॥

स च्छाद्यमानः समरे शरैः परबलार्दनः ॥१००॥
दर्शयन् रौद्रमात्मानं पाशहस्त इवान्तकः ।
निघ्नन् संशप्तकान् पार्थः प्रेक्षणीयतरोऽभवत्॥१०१॥

उस समय समराङ्गणमें उनके बाणोंसे आच्छादित होते हुए शत्रुसैन्यसंहारक कुन्तीकुमार अर्जुन पाशधारी यमराजके समान अपना भयंकर रूप दिखाते और संशप्तकोंका वध करते हुए अत्यन्त दर्शनीय हो रहे थे ॥ १००-१०१ ॥

ततो विद्युत्प्रभैर्बाणैः कार्तस्वरविभूषितैः ।
निरन्तरमिवाकाशमासीच्छन्नं किरीटिना ॥१०२॥

तदनन्तर किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए विद्युत्के समान प्रकाशमान सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा आच्छादित हो आकाश ठसाठस भर गया ॥ १०२ ॥

किरीटिभुजनिर्मुक्तैः सम्पतद्भिर्महाशरैः ।
समाच्छन्नं बभौ सर्वं काद्रवेयैरिव प्रभो ॥१०३॥

प्रभो ! किरीटधारी अर्जुनकी भुजाओंसे छूटकर सब ओर गिरनेवाले बड़े-बड़े बाणोंसे आवृत होकर वहाँका सारा प्रदेश सर्पोंसे व्याप्त-सा प्रतीत हो रहा था ॥ १०३ ॥

रुक्मपुङ्खान् प्रसन्नाग्राञ्छरान् संनतपर्वणः ।
अवासृजदमेयात्मा दिक्षु सर्वासु पाण्डवः ॥१०४॥

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुनन्दन अर्जुन सम्पूर्ण दिशाओंमें सुवर्णमय पङ्ख, स्वच्छ धार और झुकी हुई गाँठ-वाले बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १०४ ॥

मही वियद् दिशः सर्वाः समुद्रा गिरयोऽपि वा ।
स्फुटन्तीति जना जज्ञुः पार्थस्य तलनिःस्वनात्॥१०५॥

वहाँ सब लोग यही समझने लगे कि 'अर्जुनके तल-शब्द (हथेलीकी आवाज) से पृथ्वी, आकाश, सम्पूर्ण दिशाएँ समुद्र और पर्वत भी फटे जा रहे हैं ॥ १०५ ॥

हत्वा दशसहस्राणि पार्थिवानां महारथः ।
संशप्तकानां कौन्तेयः प्रत्यक्षं त्वरितोऽभ्ययात्॥१०६॥

महारथी कुन्तीकुमार अर्जुन सबके देखते-देखते दस हजार संशप्तक नरेशोंका वध करके तुरंत आगे बढ़ गये ॥

प्रत्यक्षं च समासाद्य पार्थः काम्बोजरक्षितम् ।
प्रममाथ बलं बाणैर्दानवानिव वासवः ॥१०७॥

जैसे इन्द्रने दानवोंका विनाश किया था, उसी प्रकार अर्जुनने हमारी आँखोंके सामने काम्बोजराजके द्वारा सुरक्षित सेनाके पास पहुँचकर अपने बाणोंद्वारा उसका संहार कर डाला॥

प्रचिच्छेदाशु भल्लेन द्विषतामाततायिनाम् ।
शस्त्रं पाणिं तथा बाहुं तथापि च शिरांस्युत॥१०८॥

वे अपने भल्लके द्वारा आततायी शत्रुओंके शस्त्र, हाथ,

भुजा तथा मस्तकोंको बड़ी फुर्तीसे काट रहे थे ॥ १०८ ॥

अङ्गाङ्गावयवैश्छिन्नैर्व्यायुधास्तेऽपतन् भुवि।
विष्वग्वाताभिसम्भग्ना बहुशाखा इव द्रुमाः ॥१०९॥

जैसे सब ओरसे उठी हुई आँधीके उखाड़े हुए अनेक शाखाओंवाले वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने शरीरका एक-एक अवयव कट जानेसे वे शस्त्रहीन शत्रु भूतलपर गिर पड़ते थे ॥ १०९ ॥

हस्त्यश्वरथपत्तीनां व्रातान् निघ्नन्तमर्जुनम्।
सुदक्षिणादवरजः शरवृष्ट्याभ्यवीवृषत् ॥११०॥

तब हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंके समूहोंका संहार करनेवाले अर्जुनपर काम्बोजराज सुदक्षिणका छोटा भाई अपने बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥११०॥

तस्यास्यतोऽर्धचन्द्राभ्यां बाहू परिघसंनिभौ।
पूर्णचन्द्राभवक्त्रं च क्षुरेणाभ्यहरच्छिरः ॥१११॥

उस समय अर्जुनने बाण-वर्षा करनेवाले उस वीरकी परिघके समान मोटी और सुदृढ़ भुजाओंको दो अर्धचन्द्राकार बाणोंसे काट डाला और एक छुरेके द्वारा पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ १११ ॥

स पपात ततो वाहात् सुलोहितपरिस्रवः।
मनःशिलागिरेः शृङ्गं वज्रेणेवावदारितम् ॥११२॥

फिर तो वह रक्तका झरना-सा बहाता हुआ अपने वाहनसे नीचे गिर पड़ा, मानो मैनसिलके पहाड़का शिखर वज्रसे विदीर्ण होकर भूतलपर आ गिरा हो ॥ ११२ ॥

सुदक्षिणादवरजं काम्बोजं ददृशुर्हतम्।
प्रांशुं कमलपत्राक्षमत्यर्थं प्रियदर्शनम् ॥११३॥
काञ्चनस्तम्भसदृशं भिन्नं हेमगिरिं यथा।

उस समय सब लोगोंने देखा कि सुदक्षिणका छोटा भाई काम्बोजदेशीय वीर जो देखनेमें अत्यन्त प्रिय, कमल-दलके समान नेत्रोंसे सुशोभित तथा सोनेके खम्भेके समान ऊँचा कदका था, मारा जाकर विदीर्ण हुए सुवर्णमय पर्वतके समान धरतीपर पड़ा है ॥ ११३½ ॥

ततोऽभवत् पुनर्युद्धं घोरमत्यर्थमद्भुतम् ॥११४॥
नानावस्थाश्च योधानां बभूवुस्तत्र युद्ध्यताम्।

तदनन्तर पुनः अत्यन्त घोर एवं अद्भुत युद्ध होने लगा। वहाँ युद्ध करते हुए योद्धाओंकी विभिन्न अवस्थाएँ प्रकट होने लगीं ॥ ११४½ ॥

एकेषुनिहतैरश्वैः काम्बोजैर्यवनैः शकैः ॥११५॥
शोणिताक्तैस्तदा रक्तं सर्वमासीद् विशाम्पते।

प्रजानाथ ! एक-एक बाणसे मारे गये रक्तरंजित काबुली घोड़ों, यवनों और शकोंके खूनसे वह सारा युद्धस्थल लाल हो गया था ॥ ११५½ ॥

रथैर्हताश्वसूतैश्च हतारोहैश्च वाजिभिः ॥११६॥
द्विरदैश्च हतारोहैर्महामात्रैर्हतद्विपैः।
अन्योन्येन महाराज कृतो घोरो जनक्षयः ॥११७॥

रथोंके घोड़े और सारथि, घोड़ोंके सवार, हाथियोंके आरोही, महावत और स्वयं हाथी भी मारे गये थे। महाराज ! इन सबने परस्पर प्रहार करके घोर जनसंहार मचा दिया था॥

तस्मिन् प्रपक्षे पक्षे च निहते सव्यसाचिना।
अर्जुनं जयतां श्रेष्ठं त्वरितो द्रौणिरभ्ययात् ॥११८॥
विधुन्वानो महच्चापं कार्तस्वरविभूषितम्।
आददानः शरान् घोरान् स्वरश्मीनिव भास्करः॥११९॥

उस युद्धमें जब सव्यसाची अर्जुनने शत्रुओंके पक्ष और प्रपक्ष दोनोंको मार गिराया, तब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको हिलाता और अपनी किरणोंको धारण करनेवाले सूर्यदेवके समान भयंकर बाण हाथमें लेता हुआ तुरंत विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके सामने आ पहुँचा ॥ ११८-११९ ॥

क्रोधामर्षविवृत्तास्यो लोहिताक्षो बभौ बली।
अन्तकाले यथा क्रुद्धो मृत्युः किङ्करदण्डभृत् ॥१२०॥

उस समय क्रोध और अमर्षसे उसका मुँह खुला हुआ था, नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे तथा वह बलवान् अश्वत्थामा अन्तकालमें किङ्कर नामक दण्ड धारण करनेवाले कुपित यमराजके समान जान पड़ता था ॥ १२० ॥

ततः प्रासृजदुग्राणि शरवर्षाणि संघशः।
तैर्विसृष्टैर्महाराज व्यद्रवत् पाण्डवी चमूः ॥१२१॥

महाराज ! तत्पश्चात् वह समूह-के-समूह भयंकर बाणोंकी वर्षा करने लगा। उसके छोड़े हुए बाणोंसे व्यथित हो पाण्डव-सेना भागने लगी ॥ १२१ ॥

स दृष्ट्वैव तु दाशार्हं स्यन्दनस्थं विशाम्पते।
पुनः प्रासृजदुग्राणि शरवर्षाणि मारिष ॥१२२॥

माननीय प्रजानाथ ! वह रथपर बैठे हुए श्रीकृष्णकी ओर देखकर ही पुनः उनके ऊपर भयानक बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ १२२ ॥

तैः पतद्भिर्महाराज द्रौणिमुक्तैः समन्ततः।
संछादितौ रथस्थौ तावुभौ कृष्णधनंजयौ ॥१२३॥

महाराज अश्वत्थामाके हाथोंसे छूटकर सब ओर गिरनेवाले उन बाणोंसे रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही ढक गये ॥ १२३ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैरश्वत्थामा प्रतापवान्।
निश्चेष्टौ तावुभौ युद्धे चक्रे माधवपाण्डवौ ॥१२४॥

तत्पश्चात् प्रतापी अश्वत्थामाने सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको युद्धस्थलमें निश्चेष्ट कर दिया ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वं स्थावरं जङ्गमं तथा।
चराचरस्य गोप्तारौ दृष्ट्वा संछादितौ शरैः ॥१२५॥

चराचर जगत्की रक्षा करनेवाले उन दोनों वीरोंको बाणोंसे आच्छादित हुआ देख स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी हाहाकार कर उठे ॥ १२५ ॥

सिद्धचारणसंघाश्च सम्पेतुस्ते समन्ततः।
चिन्तयन्तो भवेदद्य लोकानां स्वस्त्यपीति च ॥१२६॥

सिद्धों और चारणोंके समुदाय सब ओरसे वहाँ आ पहुँचे और यह चिन्तन करने लगे कि 'आज सम्पूर्ण जगत्का कल्याण हो' ॥ १२६ ॥

न मया तादृशो राजन् दृष्टपूर्वः पराक्रमः।
संग्रामे यादृशो द्रौणेः कृष्णौ संछादयिष्यतः॥१२७॥

राजन्! समराङ्गणमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंद्वारा आच्छादित करनेवाले अश्वत्थामाका जैसा पराक्रम उस दिन देखा गया, वैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था ॥ १२७ ॥

द्रौणेस्तु धनुषः शब्दमहितत्रासनं रणे।
अश्रौषं बहुशो राजन् सिंहस्य निनदो यथा ॥१२८॥

महाराज! मैंने रणभूमिमें अश्वत्थामाके धनुषकी शत्रुओंको भयभीत कर देनेवाली टंकार बारंबार सुनी, मानो किसी सिंहके दहाड़नेकी आवाज हो रही हो ॥ १२८ ॥

ज्या चास्य चरतो युद्धे सव्यदक्षिणमस्यतः।
विद्युदम्बुदमध्यस्था भ्राजमानेव साभवत् ॥१२९॥

जैसे मेघोंकी घटाके बीचमें बिजली चमकती है, उसी प्रकार युद्धमें दायें-बायें बाणवर्षापूर्वक विचरते हुए अश्वत्थामाके धनुषकी प्रत्यञ्चा भी प्रकाशित हो रही थी ॥ १२९ ॥

स तथा क्षिप्रकारी च दृढहस्तश्च पाण्डवः।
प्रमोहं परमं गत्वा प्रेक्ष्य तं द्रोणजं ततः ॥१३०॥
विक्रमं विहतं मेन आत्मनः स महायशाः।
तस्यास्य समरे राजन् वपुरासीत् सुदुर्दृशम् ॥१३१॥

युद्धमें फुर्ती करने और दृढ़तापूर्वक हाथ चलानेवाले महायशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुन द्रोणकुमारकी ओर देखकर भारी मोहमें पड़ गये और अपने पराक्रमको प्रतिहत हुआ मानने लगे। राजन्! उस समराङ्गणमें अश्वत्थामाके शरीरकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन हो रहा था ॥ १३०-१३१॥

द्रौणिपाण्डवयोरेवं वर्तमाने महारणे।
वर्धमाने च राजेन्द्र द्रोणपुत्रे महाबले ॥१३२॥
हीयमाने च कौन्तेये कृष्णे रोषः समाविशत्।

राजेन्द्र! इस प्रकार अश्वत्थामा और अर्जुनमें महान् युद्ध आरम्भ होनेपर जब महाबली द्रोणपुत्र बढ़ने लगा और कुन्तीकुमार अर्जुनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्णको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १३२½ ॥

स रोषान्निःश्वसन् राजन् निर्दहन्निव चक्षुषा ॥१३३॥
द्रौणिं ह्यपश्यत् संग्रामे फाल्गुनं च मुहुर्मुहुः।

राजन्! वे रोषसे लंबी साँस खींचते और अपने नेत्रोंद्वारा दग्ध-सा करते हुए युद्धस्थलमें अश्वत्थामा और अर्जुनकी ओर बारंबार देखने लगे ॥ १३३½ ॥

ततः क्रुद्धोऽब्रवीत् कृष्णः पार्थं सप्रणयं तदा ॥१३४॥
अत्यद्भुतमिदं पार्थ तव पश्यामि संयुगे।
अतिशेते हि यत्र त्वां द्रोणपुत्रोऽद्य भारत ॥१३५॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्ण उस समय अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोले—'पार्थ! युद्धस्थलमें तुम्हारा यह उपेक्षायुक्त अद्भुत बर्ताव देख रहा हूँ। भारत! आज द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तुमसे सर्वथा बढ़ता जा रहा है ॥ १३४-१३५ ॥

कच्चिद् वीर्यं यथापूर्वं भुजयोर्वा बलं तव।
कच्चित् ते गाण्डिवं हस्ते रथे तिष्ठसि चार्जुन ॥१३६॥

'अर्जुन! तुम्हारी शारीरिक शक्ति पहलेके समान ही ठीक है न? अथवा तुम्हारी भुजाओंमें पूर्ववत् बल तो है न? तुम्हारे हाथमें गाण्डीव धनुष तो है न? और तुम रथपर ही खड़े हो न? १३६ ॥

कच्चित् कुशलिनौ बाहू मुष्टिर्वा न व्यशीर्यत।
उदीर्यमाणं हि रणे पश्यामि द्रौणिमाहवे ॥१३७॥

'क्या तुम्हारी दोनों भुजाएँ सकुशल हैं? तुम्हारी मुट्ठी तो ढीली नहीं हो गयी है? अर्जुन! मैं देखता हूँ कि युद्धस्थलमें अश्वत्थामा तुमसे बढ़ा जा रहा है ॥ १३७ ॥

गुरुपुत्र इति ह्येनं मानयन् भरतर्षभ।
उपेक्षां कुरु मा पार्थ नायं काल उपेक्षितुम् ॥१३८॥

'भरतश्रेष्ठ! कुन्तीनन्दन! यह मेरे गुरुका पुत्र है, ऐसा मानकर तुम इसके प्रति उपेक्षा-भाव न करो। यह समय उपेक्षा करनेका नहीं है' ॥ १३८ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन गृह्य भल्लांश्चतुर्दश।
त्वरमाणस्त्वराकाले द्रौणेर्धनुरथाच्छिनत् ॥१३९॥
ध्वजं छत्रं पताकाश्च खड्गं शक्तिं गदां तथा।
जत्रुदेशे च सुभृशं वत्सदन्तैरताडयत् ॥१४०॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने चौदह भल्ल हाथमें लेकर शीघ्रता करनेके अवसरपर फुर्ती दिखायी और अश्वत्थामाके धनुषको काट डाला। साथ ही उसके ध्वज, छत्र, पताका, खड्ग, शक्ति और गदाके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तदनन्तर अश्वत्थामाके गलेकी हँसलीपर 'वत्सदन्त' नामक बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ १३९-१४० ॥

स मूर्च्छां परमां गत्वा ध्वजयष्टिं समाश्रितः।
तं विसंज्ञं महाराज शत्रुणा भृशपीडितम् ॥१४१॥
अपोवाह रणात् सूतो रक्षमाणो धनंजयात्।

महाराज! उस आघातसे भारी मूर्छामें पड़कर अश्वत्थामा ध्वजदण्डके सहारे लुढ़क गया। शत्रुसे अत्यन्त पीड़ित एवं अचेत हुए अश्वत्थामाको उसका सारथि अर्जुनसे उसकी रक्षा करता हुआ रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ १४१½ ॥

एतस्मिन्नेव काले च विजयः शत्रुतापनः ॥१४२॥
व्यहनत् तावकं सैन्यं शतशोऽथ सहस्रशः ।
पश्यतस्तस्य वीरस्य तव पुत्रस्य भारत ॥१४३॥

भारत ! इसी समय शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाके सैकड़ों और हजारों योद्धाओंको आपके वीर पुत्रके देखते-देखते मार डाला ॥ १४२-१४३ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तस्तावकानां परैः सह ।
क्रूरो विशसनो घोरो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥१४४॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप शत्रुओंके साथ आपके योद्धाओंका यह विनाशकारी, भयंकर एवं क्रूरतापूर्ण संग्राम हुआ ॥ १४४ ॥

संशप्तकांश्च कौन्तेयः कुरूंश्चापि वृकोदरः ।
वसुषेणश्च पञ्चालान् क्षणेन व्यधमद् रणे ॥१४५॥

उस समय रणभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनने संशप्तकोंका, भीमसेनने कौरवोंका और कर्णने पाञ्चालसैनिकोंका क्षणभरमें संहार कर डाला ॥ १४५ ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये ।
उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ॥१४६॥

राजन् ! जब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भीषण संग्राम हो रहा था, उस समय चारों ओर असंख्य कबन्ध खड़े दिखायी देते थे ॥ १४६ ॥

युधिष्ठिरोऽपि संग्रामे प्रहारैर्गाढवेदनः ।
क्रोशमात्रमपक्रम्य तस्थौ भरतसत्तम ॥१४७॥

भरतश्रेष्ठ ! संग्राममें युधिष्ठिरपर बहुत अधिक प्रहार किये गये थे, जिससे उन्हें गहरी वेदना हो रही थी । वे रणभूमिसे एक कोस दूर हटकर खड़े थे ॥ १४७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका सैनिकोंको प्रोत्साहन देना और अश्वत्थामाकी प्रतिज्ञा

संजय उवाच

दुर्योधनस्ततः कर्णमुपेत्य भरतर्षभ ।
अब्रवीन्मद्रराजं च तथैवान्यांश्च पार्थिवान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं— भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर दुर्योधन कर्णके पास जाकर मद्रराज शल्य तथा अन्य राजाओंसे बोला—।

यदृच्छयैतत् सम्प्राप्तं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः कर्ण लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ २ ॥

'कर्ण ! यह स्वर्गका खुला हुआ द्वाररूप युद्ध बिना इच्छाके अपने आप प्राप्त हुआ है। ऐसे युद्धको सुखी क्षत्रियगण ही पाते हैं ॥ २ ॥

सदृशैः क्षत्रियैः शूरैः शूराणां युद्ध्यतां युधि ।
इष्टं भवति राधेय तदिदं समुपस्थितम् ॥ ३ ॥

'राधानन्दन ! अपने समान बलवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ रणभूमिमें जूझनेवाले शूरवीरोंको जो अभीष्ट होता है, वही यह संग्राम हमारे सामने उपस्थित है ॥ ३ ॥

हत्वा च पाण्डवान् युद्धे स्फीतामुर्वीमवाप्स्यथ ।
निहता वा परैर्युद्धे वीरलोकमवाप्स्यथ ॥ ४ ॥

'तुम सब लोग युद्धस्थलमें पाण्डवोंका वध करके भूतलका समृद्धिशाली राज्य प्राप्त करोगे अथवा शत्रुओंद्वारा युद्धमें मारे जाकर वीरगति पाओगे' ॥ ४ ॥

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा वचनं क्षत्रियर्षभाः ।
हृष्टा नादानुदक्रोशन् वादित्राणि च सर्वशः ॥ ५ ॥

दुर्योधनकी वह बात सुनकर क्षत्रियशिरोमणि वीर हर्षमें भरकर सिंहनाद करने और सब प्रकारके बाजे बजाने लगे ॥

ततः प्रमुदिते तस्मिन् दुर्योधनबले तदा ।
हर्षयंस्तावकान् योधान् द्रौणिर्वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर आनन्दमग्न हुई दुर्योधनकी उस सेनामें अश्वत्थामाने आपके योद्धाओंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥६॥

प्रत्यक्षं सर्वसैन्यानां भवतां चापि पश्यताम् ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥ ७ ॥

'समस्त सैनिकोंके सामने आपलोगोंके देखते-देखते जिन्होंने हथियार डाल दिया था, उन मेरे पिताको धृष्टद्युम्नने मार गिराया था ॥ ७ ॥

स तेनाहममर्षेण मित्रार्थे चापि पार्थिवाः ।
सत्यं वः प्रतिजानामि तद् वाक्यं मे निबोधत ॥ ८ ॥

'राजाओ ! उससे होनेवाले अमर्षके कारण तथा मित्र दुर्योधनके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं आपलोगोंसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, आपलोग मेरी यह बात सुनिये ॥ ८ ॥

धृष्टद्युम्नमहत्वाहं न विमोक्ष्यामि दंशनम् ।
अनृतायां प्रतिज्ञायां नाहं स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥ ९ ॥

'मैं धृष्टद्युम्नको मारे बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा ।' यदि यह मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो जाय तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति न हो ॥ ९ ॥

अर्जुनो भीमसेनश्च योधो यो रक्षिता रणे ।
धृष्टद्युम्नस्य तं संख्ये निहनिष्यामि सायकैः ॥ १० ॥

'अर्जुन और भीमसेन आदि जो योद्धा रणभूमिमें धृष्टद्युम्नकी रक्षा करेगा, उसे मैं युद्धस्थलमें अपने बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्ते ततः सर्वा सहिता भारतीचमूः।
अभ्यद्रवत कौन्तेयांस्तथा ते चापि पाण्डवाः ॥ ११ ॥

अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर सारी कौरवसेना एक साथ होकर कुन्तीपुत्रोंके सैनिकोंपर टूट पड़ी तथा पाण्डवोंने भी कौरवोंपर धावा बोल दिया ॥ ११ ॥

स संनिपातो रथयूथपानां
बभूव राजन्नतिभीमरूपः।
जनक्षयः कालयुगान्तकल्पः
प्रावर्तताग्रे कुरुसृञ्जयानाम् ॥ १२ ॥

राजन्! रथयूथपतियोंका वह संघर्ष बड़ा भयंकर था। कौरवों और सृंजयोंके आगे प्रलयकालके समान जनसंहार आरम्भ हो गया था ॥ १२ ॥

ततः प्रवृत्ते युधि सम्प्रहारे
भूतानि सर्वाणि सदैवतानि।
आसन् समेतानि सहाप्सरोभि-
र्दिदृक्षमाणानि नरप्रवीरान् ॥ १३ ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें जब भीषण मार-काट होने लगी, उस समय देवताओं तथा अप्सराओंसहित समस्त प्राणी उन नरवीरोंको देखनेकी इच्छासे एकत्र हो गये थे॥ १३ ॥

दिव्यैश्च माल्यैर्विविधैश्च गन्धै-
र्दिव्यैश्च रत्नैर्विविधैर्नराग्र्यान्।
रणे स्वकर्मोद्वहतः प्रवीरा-
नवाकिरन्नप्सरसः प्रहृष्टाः ॥ १४ ॥

रणभूमिमें अपने कर्मका ठीक-ठीक भार वहन करनेवाले मनुष्योंमें श्रेष्ठ प्रमुख वीरोंपर हर्षमें भरी हुई अप्सराएँ दिव्य हारों, भाँति-भाँतिके सुगन्धित पदार्थों एवं नाना प्रकारके दिव्य रत्नोंकी वर्षा करती थीं ॥ १४ ॥

समीरणस्तांश्च निषेव्य गन्धान्
सिषेव सर्वानपि योधमुख्यान्।
निषेव्यमाणास्त्वनिलेन योधाः
परस्परघ्ना धरणीं निपेतुः ॥ १५ ॥

वायु उन सुगन्धोंको ग्रहण करके समस्त श्रेष्ठ योद्धाओंकी सेवामें लग जाती थी और उस वायुसे सेवित योद्धा एक दूसरेको मारकर धराशायी हो जाते थे ॥ १५ ॥

सा दिव्यमाल्यैरवकीर्यमाणा
सुवर्णपुङ्खैश्च शरैर्विचित्रैः।
नक्षत्रसंघैरिव चित्रिता द्यौः
क्षितिर्बभौ योधवरैर्विचित्रा ॥ १६ ॥

दिव्य मालाओं तथा सुवर्णमय पंखवाले विचित्र बाणोंसे आच्छादित और श्रेष्ठ योद्धाओंसे विचित्र शोभाको प्राप्त हुई वह रणभूमि नक्षत्रसमूहोंसे चित्रित आकाशके समान सुशोभित हो रही थी ॥ १६ ॥

ततोऽन्तरिक्षादपि साधुवादै-
र्वादित्रघोषैः समुदीर्यमाणः।
ज्याघोषनेमिस्वननादचित्रः
समाकुलः सोऽभवत् सम्प्रहारः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् आकाशसे भी साधुवाद एवं वाद्योंकी ध्वनि आने लगी, जिससे प्रत्यञ्चाकी टंकारों और रथोंके पहियोंके घर्घर शब्दोंसे युक्त वह संग्राम अधिक कोलाहलपूर्ण हो उठा था ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामप्रतिज्ञायां सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामाकी प्रतिज्ञाविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका श्रीकृष्णसे युधिष्ठिरके पास चलनेका आग्रह तथा श्रीकृष्णका उन्हें युद्धभूमि दिखाते और वहाँका समाचार बताते हुए रथको आगे बढ़ाना

संजय उवाच

एवमेष महानासीत् संग्रामः पृथिवीक्षिताम्।
क्रुद्धेऽर्जुने तथा कर्णे भीमसेने च पाण्डवे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अर्जुन, कर्ण एवं पाण्डुपुत्र भीमसेनके कुपित होनेपर राजाओंका वह संग्राम उत्तरोत्तर बढ़ने लगा ॥ १ ॥

द्रोणपुत्रं पराजित्य जित्वा चान्यान् महारथान्।
अब्रवीदर्जुनो राजन् वासुदेवमिदं वचः ॥ २ ॥

नरेश्वर! द्रोणपुत्र तथा अन्यान्य महारथियोंको हराकर और उनपर विजय पाकर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

पश्य कृष्ण महाबाहो द्रवन्तीं पाण्डवीं चमूम्।
कर्णं पश्य च संग्रामे कालयन्तं महारथान् ॥ ३ ॥

'महाबाहु श्रीकृष्ण! देखिये, वह पाण्डवसेना भागी जा रही है तथा कर्ण समराङ्गणमें बड़े-बड़े महारथियोंको कालके गालमें भेज रहा है ॥ ३ ॥

न च पश्यामि दाशार्ह धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
नापि केतुर्युधां श्रेष्ठ धर्मराजस्य दृश्यते ॥ ४ ॥

'दाशार्ह! इस समय मुझे धर्मराज युधिष्ठिर नहीं दिखायी दे रहे हैं। योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! धर्मराजके ध्वजका भी दर्शन नहीं हो रहा है ॥ ४ ॥

त्रिभागश्चावशिष्टोऽयं दिवसस्य जनार्दन।

न च मां धार्तराष्ट्रेषु कश्चिद् युध्यति संयुगे ॥ ५ ॥

'जनार्दन ! इस सम्पूर्ण दिनके ये तीन भाग ही शेष रह गये हैं। दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे कोई भी मेरे साथ युद्ध नहीं कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्मात् त्वं मत्प्रियं कुर्वन् याहि यत्र युधिष्ठिरः।
दृष्ट्वा कुशलिनं युद्धे धर्मपुत्रं सहानुजम् ॥ ६ ॥
पुनर्योद्धास्मि वार्ष्णेय शत्रुभिः सह संयुगे।

'अतः आप मेरा प्रिय करनेके लिये वहीं चलिये, जहाँ राजा युधिष्ठिर हैं। वार्ष्णेय ! भाइयोंसहित धर्मपुत्र युधिष्ठिरको युद्धमें सकुशल देखकर मैं पुनः समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करूँगा' ॥ ६½ ॥

ततः प्रायाद् रथेनाशु बीभत्सोर्वचनाद्धरिः ॥ ७ ॥
यतो युधिष्ठिरो राजा सृञ्जयाश्च महारथाः।

तदनन्तर अर्जुनके कथनानुसार श्रीकृष्ण तुरंत ही रथके द्वारा उसी ओर चल दिये, जहाँ राजा युधिष्ठिर और सृंजय महारथी मौजूद थे ॥ ७½ ॥

अयुध्यंस्तावकैः सार्धं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ८ ॥
ततः संग्रामभूमिं तां वर्तमाने जनक्षये।
अवेक्षमाणो गोविन्दः सव्यसाचिनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

वे मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेका निमित्त बनाकर आपके योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे। तदनन्तर जहाँ वह भारी जनसंहार हो रहा था, उस संग्रामभूमिको देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण सव्यसाची अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥८-९॥

पश्य पार्थ महारौद्रो वर्तते भरतक्षयः।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां वै दुर्योधनकृते महान् ॥ १० ॥

'कुन्तीनन्दन ! देखो, दुर्योधनके कारण भरतवंशियोंका तथा भूमण्डलके अन्य क्षत्रियोंका महाभयंकर विनाश हो रहा है ॥ १० ॥

पश्य भारत चापानि रुक्मपृष्ठानि धन्विनाम्।
मृतानामपविद्धानि कलापांश्च महाधनान् ॥ ११ ॥

'भरतनन्दन ! देखो, मरे हुए धनुर्धरोंके ये सोनेके पृष्ठभागवाले धनुष और बहुमूल्य तरकस फेंके पड़े हैं ॥११॥

जातरूपमयैः पुङ्खैः शरांश्चानतपर्वणः।
तैलधौतांश्च नाराचान् निर्मुक्तान् पन्नगानिव ॥ १२ ॥

'सुवर्णमय पंखोंसे युक्त झुकी हुई गाँठवाले बाण तथा तेलमें धोये हुए नाराच केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान दिखायी दे रहे हैं ॥ १२ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गान् जातरूपपरिष्कृतान्।
वर्माणि चापविद्धानि रुक्मगर्भाणि भारत ॥ १३ ॥

'भारत ! हाथीके दाँतकी बनी हुई मूँठवाले सुवर्णजटित खड्ग तथा स्वर्णभूषित कवच भी फेंके पड़े हैं ॥ १३ ॥

सुवर्णविकृतान् प्रासाञ्शक्तीः कनकभूषणाः।
जाम्बूनदमयैः पट्टैर्बद्धाश्च विपुला गदाः ॥ १४ ॥

'देखो, ये सुवर्णमय प्रास, स्वर्ण-भूषित शक्तियाँ तथा सोनेके बने हुए पत्रोंसे मढ़ी हुई विशाल गदाएँ पड़ी हैं॥१४॥

जातरूपमयीश्चर्ष्टीः पट्टिशान् हेमभूषणान्।
दण्डैः कनकचित्रैश्च विप्रविद्धान् परश्वधान् ॥ १५ ॥

'स्वर्णमयी ऋष्टि, हेमभूषित पट्टिश तथा सुवर्णजटित दण्डोंसे युक्त फरसे फेंके हुए हैं ॥ १५ ॥

अयःकुन्तांश्च पतितान् मुसलानि गुरूणि च।
शतघ्नीः पश्य चित्राश्च विपुलान् परिघांस्तथा ॥ १६ ॥

'लोहेके कुन्त (भाले), भारी मुसल, विचित्र शतघ्नियाँ और विशाल परिघ इधर-उधर पड़े हैं ॥ १६ ॥

चक्राणि चापविद्धानि तोमरांश्च महारणे।
नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य जयगृद्धिनः ॥ १७ ॥
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वास्तरस्विनः।

'इस महासमरमें फेंके गये इन चक्रों और तोमरोंको भी देखो। विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वेगशाली योद्धा नाना प्रकारके शस्त्रोंको हाथमें लिये हुए ही अपने प्राण खो बैठे हैं; तथापि जीवित-से दिखायी देते हैं ॥ १७½ ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकान् ॥ १८ ॥
गजवाजिरथक्षुण्णान् पश्य योधान् सहस्रशः।

'देखो, सहस्रों योद्धाओंके शरीर गदाओंके आघातसे चूर-चूर हो रहे हैं। मुसलोंकी मारसे उनके मस्तक फट गये हैं तथा हाथी, घोड़े एवं रथोंसे वे कुचल दिये गये हैं॥१८½॥

मनुष्यहयनागानां शरशक्त्यृष्टिपट्टिशैः ॥ १९ ॥
परिघैरायसैर्घोरैरयःकुन्तैः परश्वधैः।
शरीरैर्बहुभिश्छिन्नैः शोणितौघपरिप्लुतैः ॥ २० ॥
गतासुभिरमित्रघ्न संवृता रणभूमयः।

'शत्रुसूदन ! बाण, शक्ति, ऋष्टि, पट्टिश, लोहमय परिघ, भयंकर लोहनिर्मित कुन्त और फरसोंसे मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके बहु-संख्यक शरीर छिन्न-भिन्न होकर खूनसे लथपथ और प्राणशून्य हो गये हैं और उनके द्वारा रणभूमि आच्छादित दिखायी देती है ॥ १९-२०½ ॥

बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः साङ्गदैर्हेमभूषितैः ॥ २१ ॥
सतलत्रैः सकेयूरैर्भाति भारत मेदिनी।

'भारत ! चन्दनचर्चित, अङ्गदों और केयूरोंसे अलंकृत, सोनेके अन्य आभूषणोंसे विभूषित तथा दस्तानोंसे युक्त वीरोंकी कटी हुई भुजाओंसे युद्धभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही है॥

साङ्गुलित्रैर्भुजाग्रैश्च विप्रविद्धैरलंकृतैः ॥ २२ ॥
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम्।
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ॥ २३ ॥
पतितैर्ऋषभाक्षाणां विराजति वसुंधरा।

'साँडके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंके दस्तानों-

सहित आभूषण-भूषित हाथ कटकर गिरे हैं। हाथियोंके शुण्ड-दण्डोंके समान मोटी जाँघें खण्डित होकर पड़ी हैं तथा श्रेष्ठ चूड़ामणि धारण किये कुण्डल-मण्डित मस्तक भी धड़से अलग होकर पड़े हैं। इन सबके द्वारा रणभूमिकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ २२-२३½ ॥

कबन्धैः शोणितादिग्धैश्छिन्नगात्रशिरोधरैः ॥ २४ ॥
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ शान्तार्चिर्भिरिवाग्निभिः ।

'भरतश्रेष्ठ ! जिनकी गर्दन कट गयी है, विभिन्न अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं तथा जो खूनसे लथपथ होकर लाल दिखायी देते हैं, उन कबन्धों (धड़ों) से रणभूमि ऐसी जान पड़ती है, मानो वहाँ जगह-जगह बुझी हुई लपटोंवाले आगके अङ्गारे पड़े हों ॥ २४½ ॥

रथांश्च बहुधा भग्नान् हेमकिङ्किणिनः शुभान् ॥ २५ ॥
वाजिनश्च हतान् पश्य निष्कीर्णान्त्राञ्शराहतान् ।

'देखो, जिनमें सोनेकी छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हैं, ऐसे बहुत-से सुन्दर रथ टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं। वे बाणोंसे घायल हुए घोड़े मरे पड़े हैं और उनकी आँतें बाहर निकल आयी हैं ॥ २५½ ॥

अनुकर्षानुपासंगान् पताका विविधध्वजान् ॥ २६ ॥
रथिनां च महाशङ्खान् पाण्डुरांश्च प्रकीर्णकान् ।

'अनुकर्ष, उपासङ्ग, पताका, नाना प्रकारके ध्वज तथा रथियोंके बड़े-बड़े श्वेत शङ्ख बिखरे पड़े हैं ॥ २६½ ॥

निरस्तजिह्वान् मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान् ॥२७॥
वैजयन्तीर्विचित्राश्च हतांश्च गजवाजिनः ।

'जिनकी जीभें बाहर निकल आयी हैं, ऐसे अगणित पर्वताकार हाथी धरतीपर सदाके लिये सो गये हैं। विचित्र वैजयन्ती पताकाएँ खण्डित होकर पड़ी हैं तथा हाथी और घोड़े मारे गये हैं ॥ २७½ ॥

वारणानां परिस्तोमांस्तथैवाजिनकम्बलान् ॥ २८ ॥
विपाटितविचित्रांश्च रूप्यचित्रान् कुथाङ्कशान् ।
भिन्नाश्च बहुधा घण्टा महद्भिः पतितैर्गजैः ॥ २९ ॥

'हाथियोंके विचित्र झूल, मृगचर्म और कम्बल चिथड़े-चिथड़े होकर गिरे हैं। चाँदीके तारोंसे चित्रित झूल, अङ्कुश और अनेक टुकड़ोंमें बँटे हुए बहुत-से घंटे महान् गजराजों-के साथ ही धरतीपर गिरे पड़े हैं ॥ २८-२९ ॥

वैदूर्यदण्डांश्च शुभान् पतितानङ्कुशान् भुवि ।
बद्धाः सादिभुजाग्रेषु सुवर्णविकृताः कशाः ॥ ३० ॥

'जिनमें वैदूर्यमणिके डंडे लगे हुए हैं, ऐसे बहुत-से सुन्दर अङ्कुश पृथ्वीपर पड़े हैं। सवारोंके हाथोंमें सटे हुए कितने ही सुवर्णनिर्मित कोड़े कटकर गिरे हैं ॥ ३० ॥

विचित्रमणिचित्रांश्च जातरूपपरिष्कृतान् ।
अश्वास्तरपरिस्तोमान् राङ्कवान् पतितान् भुवि॥ ३१ ॥

'विचित्र मणियोंसे जटित और सोनेके तारोंसे विभूषित रङ्कुमृगके चमड़ेके बने हुए, घोड़ोंकी पीठपर बिछाये जाने-वाले बहुत-से झूल भूमिपर पड़े हैं ॥ ३१ ॥

चूडामणीन् नरेन्द्राणां विचित्राः काञ्चनस्रजः ।
छत्राणि चापविद्धानि चामरव्यजनानि च ॥ ३२ ॥

'नरपतियोंके मणिमय मुकुट, विचित्र स्वर्णमय हार, छत्र, चँवर और व्यजन फेंके पड़े हैं ॥ ३२ ॥

चन्द्रनक्षत्रभासैश्च वदनैश्चारुकुण्डलैः ।
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः ॥ ३३ ॥
वदनैः पश्य संछन्नां महीं शोणितकर्दमाम् ।

'देखो, चन्द्रमा और नक्षत्रोंके समान कान्तिमान्, मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित तथा दाढ़ी-मूँछसे युक्त वीरोंके आभूषण-भूषित मुखोंसे रणभूमि अत्यन्त आच्छादित हो गयी है और इसपर रक्तकी कीच जम गयी है ॥ ३३½ ॥

सजीवांश्चापरान् पश्य कूजमानान् समन्ततः ॥ ३४ ॥
उपास्यमानान् बहुशो न्यस्तशस्त्रैर्विशाम्पते ।
ज्ञातिभिः सहितांस्तत्र रोदमानैर्मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥

'प्रजापालक अर्जुन ! उन दूसरे योद्धाओंपर दृष्टिपात करो, जिनके प्राण अभीतक शेष हैं और जो चारों ओर कराह रहे हैं। उनके बहुसंख्यक कुटुम्बी जन हथियार डालकर उनके निकट आ बैठे हैं और बारंबार रो रहे हैं ॥

व्युत्क्रान्तानपरान् योधांश्छादयित्वा तरस्विनः ।
पुनर्युद्धाय गच्छन्ति जयगृद्धाः प्रमन्यवः ॥ ३६ ॥

'जिनके प्राण निकल गये हैं, उन योद्धाओंको वस्त्र आदिसे ढककर विजयाभिलाषी वेगशाली वीर पुनः अत्यन्त क्रोधपूर्वक युद्धके लिये जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

अपरे तत्र तत्रैव परिधावन्ति मानवाः ।
ज्ञातिभिः पतितैः शूरैर्याच्यमानास्तथोदकम् ॥ ३७ ॥

'दूसरे बहुत-से सैनिक रणभूमिमें गिरे हुए अपने शूरवीर कुटुम्बी जनोंके पानी माँगनेपर वहीं इधर-उधर दौड़ रहे हैं ॥

जलार्थं च गताः केचिन्निष्प्राणा बहवोऽर्जुन ।
संनिवृत्ताश्च ते शूरास्तान् वै दृष्ट्वा विचेतसः ॥ ३८॥
जलं त्यक्त्वा प्रधावन्ति क्रोशमानाः परस्परम् ।

'अर्जुन ! कितने ही योद्धा पानी लानेके लिये गये, इसी बीचमें पानी चाहनेवाले बहुत-से वीरोंके प्राण निकल गये। वे शूरवीर जब पानी लेकर लौटे हैं, तब अपने उन सम्बन्धियोंको चेतनारहित देखकर पानीको वहीं फेंक परस्पर चीखते-चिल्लाते हुए चारों ओर दौड़ रहे हैं ॥ ३८½ ॥

जलं पीत्वा मृतान् पश्य पिबतोऽन्यांश्च मारिष॥ ३९ ॥
परित्यज्य प्रियानन्ये बान्धवान् बान्धवप्रियाः ।
व्युत्क्रान्ताः समदृश्यन्त तत्र तत्र महारणे ॥ ४० ॥

'श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! उधर देखो, कुछ लोग पानी पीकर

मर गये और कुछ लोग पीते-पीते ही अपने प्राण खो बैठे। कितने ही बान्धवजनोंके प्रेमी सैनिक अपने प्रिय बान्धवोंको छोड़कर उस महासमरमें जहाँ-तहाँ प्राण-शून्य हुए दिखायी देते हैं ॥ ३९-४० ॥

तथापरान् नरश्रेष्ठ संदष्टौष्ठपुटान् पुनः।
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षमाणान् समन्ततः ॥ ४१ ॥

'नरश्रेष्ठ ! उन दूसरे योद्धाओंको देखो, जो दाँतोंसे ओठ चबाते हुए टेढ़ी भौंहोंसे युक्त मुखोंद्वारा चारों ओर दृष्टिपात कर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

एवं ब्रुवंस्तदा कृष्णो ययौ यत्र युधिष्ठिरः।
अर्जुनश्चापि नृपतेर्दर्शनार्थं महारणे ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बातें करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन उस महासमरमें राजाका दर्शन करनेके लिये उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ ४२ ॥

याहि याहीति गोविन्दं मुहुर्मुहुरचोदयत्।
तां युद्धभूमिं पार्थस्य दर्शयित्वा च माधवः ॥ ४३ ॥
त्वरमाणस्ततः कृष्णः पार्थमाह शनैरिदम्।
पश्य पाण्डव राजानमुपयातांश्च पार्थिवान् ॥ ४४ ॥

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे बारंबार कहते थे, 'चलिये, चलिये'। भगवान् श्रीकृष्ण बड़ी उतावलीके साथ अर्जुनको युद्धभूमिका दर्शन कराते हुए आगे बढ़े और धीरे-धीरे उनसे इस प्रकार बोले—'पाण्डुनन्दन ! देखो, राजाके पास बहुत-से भूपाल जा पहुँचे हैं ॥ ४३-४४ ॥

कर्णं पश्य महारङ्गे ज्वलन्तमिव पावकम्।
असौ भीमो महेष्वासः संनिवृत्तो रणं प्रति ॥ ४५ ॥

'उधर दृष्टिपात करो। कर्ण युद्धके महान् रङ्गमञ्चपर प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा है और महाधनुर्धर भीमसेन युद्धस्थलकी ओर लौट पड़े हैं ॥ ४५ ॥

तमेते विनिवर्तन्ते धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
पाञ्चालसृञ्जयानां च पाण्डवानां च ये मुखम् ॥ ४६ ॥

'पाञ्चालों, सृञ्जयों और पाण्डवोंके जो धृष्टद्युम्न आदि प्रमुख वीर हैं, वे भी भीमसेनके साथ ही युद्धके लिये लौट रहे हैं ॥ ४६ ॥

निवृत्तैश्च पुनः पार्थैर्भग्नं शत्रुबलं महत्।
कौरवान् द्रवतो ह्येष कर्णो रोधयतेऽर्जुन ॥ ४७ ॥

'अर्जुन! वह देखो, लौटे हुए पाण्डव योद्धाओंने शत्रुओं-की विशाल वाहिनीके पाँव उखाड़ दिये। भागते हुए कौरव-वीरोंको यह कर्ण रोक रहा है ॥ ४७ ॥

अन्तकप्रतिमो वेगे शक्रतुल्यपराक्रमः।
असौ गच्छति कौरव्य द्रौणिः शस्त्रभृतां वरः ॥ ४८ ॥

'कुरुनन्दन ! जो वेगमें यमराज और पराक्रममें इन्द्रके समान है, वह शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा उधर ही जा रहा है ॥ ४८ ॥

तमेव प्रद्रुतं संख्ये धृष्टद्युम्नो महारथः।
अनुप्रयाति संग्रामे हतान् पश्य च सृञ्जयान् ॥ ४९ ॥

'महारथी धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें बड़े वेगसे जाते हुए अश्वत्थामाका ही पीछा कर रहे हैं। वह देखो, संग्राममें बहुत-से सृंजय वीर मार डाले गये' ॥ ४९ ॥

सर्वमाह सुदुर्धर्षो वासुदेवः किरीटिने।
ततो राजन् महाघोरः प्रादुरासीन्महारणः ॥ ५० ॥

राजन् ! अत्यन्त दुर्जय वीर भगवान् श्रीकृष्णने किरीट-धारी अर्जुनसे ये सारी बातें बतायीं। तत्पश्चात् वहाँ अत्यन्त भयंकर महायुद्ध होने लगा ॥ ५० ॥

सिंहनादरवाश्चैव प्रादुरासन् समागमे।
उभयोः सेनयो राजन् मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! दोनों सेनाओंमें मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी अवधि नियत करके संघर्ष छिड़ गया और वीरोंके सिंहनाद होने लगे ॥ ५१ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पृथिव्यां पृथिवीपते।
तावकानां परेषां च राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ५२ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार इस भूतलपर आपकी और शत्रुओंकी सेनाओंका महान् संहार हुआ है। राजन् ! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका ही फल है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि वासुदेववाक्ये अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णका वाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और कर्णका युद्ध, अश्वत्थामाका धृष्टद्युम्नपर आक्रमण तथा अर्जुनके द्वारा धृष्टद्युम्नकी रक्षा और अश्वत्थामाकी पराजय

संजय उवाच

ततः पुनः समाजग्मुरभीताः कुरुसृञ्जयाः।
युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः सूतपुत्रमुखा वयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पुनः कौरव और सृंजय योद्धा निर्भय होकर एक दूसरेसे भिड़ गये। एक ओर युधिष्ठिर आदि पाण्डव-दलके लोग थे और दूसरी ओर कर्ण आदि हमलोग ॥ १ ॥

ततः प्रववृते भीमः संग्रामो लोमहर्षणः।

श्रीकृष्ण आगे जाते हुए युधिष्ठिरको देखनेके लिये अर्जुनसे कह रहे हैं

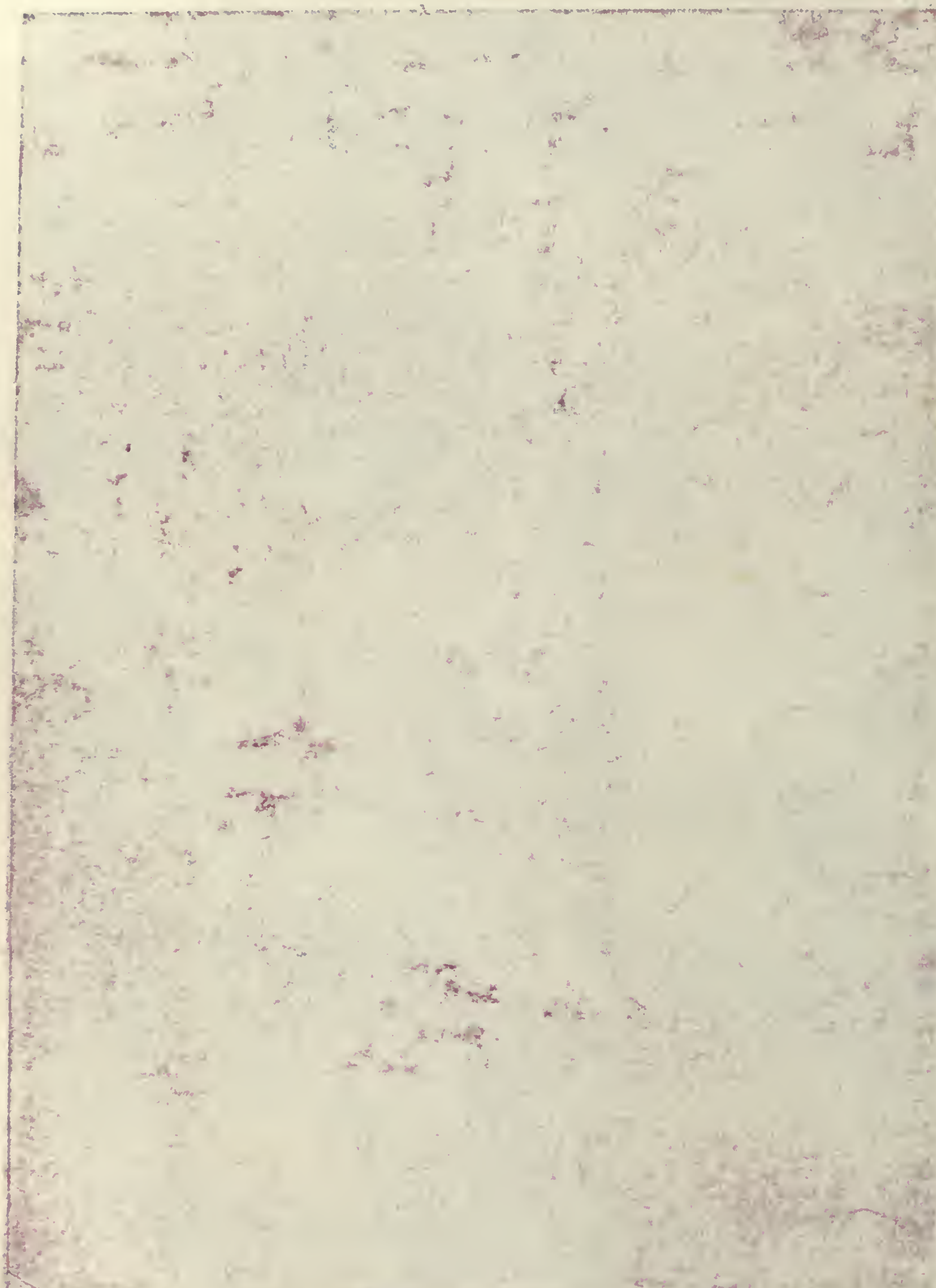

कर्णस्य पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ २ ॥

उस समय कर्ण और पाण्डवोंका बड़ा भयंकर और रोमाञ्चकारी संग्राम आरम्भ हुआ, जो यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ॥ २ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे तुमुले शोणितोदके।
संशप्तकेषु शूरेषु किंचिच्छिष्टेषु भारत ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नो महाराज सहितः सर्वराजभिः।
कर्णमेवाभिदुद्राव पाण्डवाश्च महारथाः ॥ ४ ॥

भारत ! जहाँ खून पानीके समान बहाया जाता था, उस भयंकर संग्रामके छिड़ जानेपर तथा थोड़े-से ही संशप्तक वीरोंके शेष रह जानेपर समस्त राजाओंसहित धृष्टद्युम्नने कर्णपर ही आक्रमण किया। महाराज ! अन्य पाण्डव महारथियोंने भी उन्हींका साथ दिया ॥ ३-४ ॥

आगच्छमानांस्तान् संख्ये प्रहृष्टान् विजयैषिणः।
दधारैको रणे कर्णो जलौघानिव पर्वतः ॥ ५ ॥

युद्धस्थलमें विजयकी अभिलाषा लेकर हर्ष और उल्लासके साथ आते हुए उन वीरोंको रणभूमिमें अकेले कर्णने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे जलके प्रवाहोंको पर्वत रोक देता है ॥

समासाद्य तु ते कर्णं व्यशीर्यन्त महारथाः।
यथाचलं समासाद्य वार्योघाः सर्वतोदिशम् ॥ ६ ॥

कर्णके पास पहुँचकर वे सब महारथी बिखर गये, ठीक वैसे ही, जैसे जलके प्रवाह किसी पर्वतके पास पहुँचकर सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते हैं ॥ ६ ॥

तयोरासीन्महाराज संग्रामो लोमहर्षणः।
धृष्टद्युम्नस्तु राधेयं शरेणानतपर्वणा ॥ ७ ॥
ताडयामास समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

महाराज ! उस समय उन दोनोंमें रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। धृष्टद्युम्नने समराङ्गणमें झुकी हुई गाँठवाले बाणसे राधापुत्र कर्णको चोट पहुँचायी और कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ७½ ॥

विजयं च धनुःश्रेष्ठं विधुन्वानो महारथः ॥ ८ ॥
पार्षतस्य धनुश्छित्त्वा शरांश्चाशीविषोपमान्।
ताडयामास संक्रुद्धः पार्षतं नवभिः शरैः ॥ ९ ॥

तब महारथी कर्णने अपने विजय नामक श्रेष्ठ धनुषको कम्पित करके धृष्टद्युम्नके धनुष और विषधर सर्पके समान विषैले बाणोंको भी काट डाला। फिर क्रोधमें भरकर नौ बाणोंसे धृष्टद्युम्नको भी घायल कर दिया ॥ ८-९ ॥

ते वर्म हेमविकृतं भित्त्वा तस्य महात्मनः।
शोणिताक्ता व्यराजन्त शक्रगोपा इवानघ ॥ १० ॥

निष्पाप नरेश ! वे बाण महामना धृष्टद्युम्नके सुवर्णनिर्मित कवचको छेदकर उनके रक्तसे रञ्जित हो इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ १० ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं धृष्टद्युम्नो महारथः।
अथान्यद् धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ॥ ११ ॥
कर्णं विव्याध सप्तत्या शरैः संनतपर्वभिः।

महारथी धृष्टद्युम्नने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष और विषधर सर्पके समान विषैले बाण हाथमें लेकर झुकी हुई गाँठवाले सत्तर बाणोंसे कर्णको बींध डाला ॥

तथैव राजन् कर्णोऽपि पार्षतं शत्रुतापनम् ॥ १२ ॥
छादयामास समरे शरैराशीविषोपमैः।
द्रोणशत्रुर्महेष्वासो विव्याध निशितैः शरैः ॥ १३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार कर्णने भी समराङ्गणमें विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंद्वारा शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नको आच्छादित कर दिया। फिर द्रोणशत्रु महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने भी कर्णको पैने बाणोंसे घायल कर दिया ॥१२-१३॥

तस्य कर्णो महाराज शरं कनकभूषणम्।
प्रेषयामास संक्रुद्धो मृत्युदण्डमिवापरम् ॥ १४ ॥

महाराज ! तब कर्णने अत्यन्त कुपित हो धृष्टद्युम्नपर द्वितीय मृत्युदण्डके समान एक सुवर्णभूषित बाण चलाया ॥

तमापतन्तं सहसा घोररूपं विशाम्पते।
चिच्छेद शतधा राजञ्शैनेयः कृतहस्तवत् ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! नरेश ! सहसा आते हुए उस भयंकर बाणके सात्यकिने सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति सौ टुकड़े कर डाले॥

दृष्ट्वा विनिहतं बाणं शरैः कर्णो विशाम्पते।
सात्यकिं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयत् ॥ १६ ॥

प्रजापालक नरेश ! सात्यकिके बाणोंसे अपने बाणको नष्ट हुआ देख कर्णने चारों ओरसे बाण बरसाकर सात्यकिको ढक दिया ॥ १६ ॥

विव्याध चैनं समरे नाराचैस्तत्र सप्तभिः।
तं प्रत्यविध्यच्छैनेयः शरैर्हेमपरिष्कृतैः ॥ १७ ॥

साथ ही समराङ्गणमें सात नाराचोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया। तब सात्यकिने भी सुवर्णभूषित बाणोंसे कर्णको घायल करके बदला चुकाया ॥ १७ ॥

ततो युद्धं महाराज चक्षुःश्रोत्रभयानकम्।
आसीद् घोरं च चित्रं च प्रेक्षणीयं समन्ततः॥ १८ ॥

महाराज ! तब नेत्रोंसे देखने और कानोंसे सुननेपर भी भय उत्पन्न करनेवाला घोर एवं विचित्र युद्ध छिड़ गया, जो सब ओरसे देखने ही योग्य था ॥ १८ ॥

सर्वेषां तत्र भूतानां लोमहर्षोऽभ्यजायत।
तद् दृष्ट्वा समरे कर्म कर्णशैनेययोर्नृप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! समरभूमिमें कर्ण और सात्यकिका वह कर्म देखकर समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ १९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे द्रौणिरभ्ययात् सुमहाबलम्।
पार्षतं शत्रुदमनं शत्रुवीर्यासुनाशनम् ॥ २० ॥

इसी समय शत्रुओंके बल और प्राणोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन महाबली धृष्टद्युम्नके पास द्रोणकुमार अश्वत्थामा आ पहुँचा ॥ २० ॥

अभ्यभाषत संक्रुद्धो द्रौणिः परपुरंजयः ।
तिष्ठ तिष्ठाद्य ब्रह्मघ्न न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाला द्रोणपुत्र अश्वत्थामा वहाँ पहुँचते ही अत्यन्त कुपित होकर बोला— 'ब्रह्महत्या करनेवाले पापी ! खड़ा रह, खड़ा रह, आज तू मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥ २१ ॥

इत्युक्त्वा सुभृशं वीरं शीघ्रकृन्निशितैः शरैः ।
पार्षतं छादयामास घोररूपैः सुतेजनैः ॥ २२ ॥
यतमानं परं शक्त्या यतमानो महारथः ।

ऐसा कहकर शीघ्रता करनेवाले प्रयत्नशील महारथी अश्वत्थामाने अत्यन्त तेज, घोर एवं पैने बाणोंद्वारा यथाशक्ति विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले वीर धृष्टद्युम्नको ढक दिया ॥

यथा हि समरे द्रोणः पार्षतं वीक्ष्य मारिष ॥ २३ ॥
तथा द्रौणिं रणे दृष्ट्वा पार्षतः परवीरहा ।
नातिहृष्टमना भूत्वा मन्यते मृत्युमात्मनः ॥ २४ ॥

आर्य ! जैसे द्रोणाचार्य समरभूमिमें धृष्टद्युम्नको देखकर मन-ही-मन खिन्न हो उसे अपनी मृत्यु मानते थे, उसी प्रकार शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्न भी रणक्षेत्रमें अश्वत्थामाको देखकर अप्रसन्न हो उसे अपनी मृत्यु समझते थे॥

स ज्ञात्वा समरेऽऽत्मानं शस्त्रेणावध्यमेव तु ।
जवेनाभ्याययौ द्रौणिं कालः कालमिव क्षये ॥ २५ ॥

वे अपने आपको समरभूमिमें शस्त्रद्वारा अवध्य मानकर बड़े वेगसे अश्वत्थामाके सामने आये, मानो प्रलयके समय काल ही कालपर टूट पड़ा हो ॥ २५ ॥

द्रौणिस्तु दृष्ट्वा राजेन्द्र धृष्टद्युम्नमवस्थितम् ।
क्रोधेन निःश्वसन् वीरः पार्षतं समुपाद्रवत् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! वीर अश्वत्थामाने द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको सामने खड़ा देख क्रोधसे लंबी साँस खींचते हुए उनपर आक्रमण किया ॥ २६ ॥

तावन्योन्यं तु दृष्ट्वैव संरम्भं जग्मतुः परम् ।
अथाब्रवीन्महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥ २७ ॥
धृष्टद्युम्नं समीपस्थं त्वरमाणो विशाम्पते ।

महाराज ! वे दोनों एक दूसरेको देखते ही अत्यन्त क्रोधमें भर गये । प्रजानाथ ! फिर प्रतापी द्रोणपुत्रने बड़ी उतावलीके साथ अपने पास ही खड़े हुए धृष्टद्युम्नसे कहा—॥

पाञ्चालापसदाद्य त्वां प्रेषयिष्यामि मृत्यवे ॥ २८ ॥
पापं हि यत् त्वया कर्म घ्नता द्रोणं पुरा कृतम् ।
अद्य त्वां तप्स्यते तद् वै यथा न कुशलं तथा ॥ २९ ॥

'पाञ्चालकुल-कलङ्क ! आज मैं तुझे मौतके मुँहमें भेज दूँगा । तुमने पूर्वकालमें द्रोणाचार्यका वध करके जो पापकर्म किया है, वह एक अमङ्गलकारी कर्मकी भाँति आज तुझे संताप देगा ॥ २८-२९ ॥

अरक्ष्यमाणः पार्थेन यदि तिष्ठसि संयुगे ।
नापक्रामसि वा मूढ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३० ॥

'ओ मूर्ख ! यदि तू अर्जुनसे अरक्षित रहकर युद्धभूमिमें खड़ा रहेगा, भाग नहीं जायगा तो अवश्य तुझे मार डालूँगा, यह मैं तुझसे सत्य कहता हूँ' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
प्रतिवाक्यं स एवासिर्मामको दास्यते तव ॥ ३१ ॥
येनैव ते पितुर्दत्तं यतमानस्य संयुगे ।

अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर प्रतापी धृष्टद्युम्नने उससे इस प्रकार उत्तर दिया—'अरे ! तेरी इस बातका जवाब तुझे मेरी वही तलवार देगी, जिसने युद्धस्थलमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले तेरे पिताको दिया था ॥ ३१½ ॥

यदि तावन्मया द्रोणो निहतो ब्राह्मणब्रुवः ॥ ३२ ॥
त्वामिदानीं कथं युद्धे न हनिष्यामि विक्रमात् ।

'यदि मैंने नाममात्रके ब्राह्मण द्रोणाचार्यको पहले मार डाला था, तो इस समय पराक्रम करके तुझे भी मैं कैसे नहीं मार डालूँगा' ॥ ३२½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज सेनापतिरमर्षणः ॥ ३३ ॥
निशितेनातिबाणेन द्रौणिं विव्याध पार्षतः ।

महाराज ! ऐसा कहकर अमर्षशील सेनापति द्रुपदकुमारने अत्यन्त तीखे बाणसे द्रोणपुत्रको बींध डाला ॥ ३३½ ॥

ततो द्रौणिः सुसंक्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ३४ ॥
आच्छादयद् दिशो राजन् धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ।

इससे अश्वत्थामाका क्रोध बहुत बढ़ गया । राजन् ! उसने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३४½ ॥

नैवान्तरिक्षं न दिशो नापि योधाः समन्ततः ॥ ३५ ॥
दृश्यन्ते वै महाराज शरैश्छन्नाः सहस्रशः ।

महाराज ! उस समय सब ओरसे बाणोंद्वारा आच्छादित होनेके कारण न तो आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ दीखती थीं और न सहस्रों योद्धा ही दृष्टिगोचर होते थे ॥ ३५½ ॥

तथैव पार्षतो राजन् द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ ३६ ॥
शरैः संछादयामास सूतपुत्रस्य पश्यतः ।

राजन् ! उसी प्रकार युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाको धृष्टद्युम्नने भी कर्णके देखते-देखते बाणोंसे ढक दिया ॥

राधेयोऽपि महाराज पञ्चालान् सह पाण्डवैः ॥ ३७ ॥
द्रौपदेयान् युधामन्युं सात्यकिं च महारथम् ।
एकः संवारयामास प्रेक्षणीयः समन्ततः ॥ ३८ ॥

महाराज ! सब ओरसे दर्शनीय राधापुत्र कर्णने भी

पाण्डवोंसहित पाञ्चालों, द्रौपदीके पाँचों पुत्रों, युधामन्यु और महारथी सात्यकिको अकेले ही आगे बढ़नेसे रोक दिया था ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे द्रौणेश्चिच्छेद कार्मुकम् ।
तदपास्य धनुर्द्रौणिरन्यदादाय कार्मुकम् ॥ ३९ ॥
वेगवान् समरे घोरे शरांश्चाशीविषोपमान् ।
स पार्षतस्य राजेन्द्र धनुः शक्तिं गदां ध्वजम् ॥ ४० ॥
हयान् सूतं रथं चैव निमेषाद् व्यधमच्छरैः ।

धृष्टद्युम्नने समराङ्गणमें अश्वत्थामाके धनुषको काट डाला। राजेन्द्र ! तब वेगवान् अश्वत्थामाने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष और विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण हाथमें लेकर उनके द्वारा पलक मारते-मारते धृष्टद्युम्नके धनुष, शक्ति, गदा, ध्वज, अश्व, सारथि एवं रथको तहस-नहस कर दिया ॥ ३९-४०½ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ४१ ॥
खड्गमादत्त विपुलं शतचन्द्रं च भानुमत् ।

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्नने विशाल खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त चमकती हुई ढाल हाथमें ले ली ॥ ४१½ ॥

द्रौणिस्तदपि राजेन्द्र भल्लैः क्षिप्रं महारथः ॥ ४२ ॥
चिच्छेद समरे वीरः क्षिप्रहस्तो दृढायुधः ।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले सुदृढ़ आयुधधारी वीर महारथी अश्वत्थामाने समराङ्गणमें अनेक भल्लोंद्वारा रथसे उतरनेके पहले ही धृष्टद्युम्नकी उस ढाल-तलवारको भी काट दिया। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४२-४३ ॥

धृष्टद्युम्नं हि विरथं हताश्वं छिन्नकार्मुकम् ।
शरैश्च बहुधा विद्धमस्त्रैश्च शकलीकृतम् ॥ ४४ ॥
नाशकद् भरतश्रेष्ठ यतमानो महारथः ।

भरतश्रेष्ठ ! यद्यपि धृष्टद्युम्न रथहीन हो गये थे, उनके घोड़े मारे जा चुके थे, धनुष कट गया था तथा वे बाणोंसे बारंबार घायल और अस्त्र-शस्त्रोंसे जर्जर हो गये थे तो भी महारथी अश्वत्थामा लाख प्रयत्न करनेपर भी उन्हें मार न सका ॥ ४४½ ॥

तस्यान्तमिषुभी राजन् यदा द्रौणिर्न जग्मिवान् ॥ ४५ ॥
अथ त्यक्त्वा धनुर्वीरः पार्षतं त्वरितोऽन्वगात् ।

राजन् ! जब वीर द्रोणकुमार बाणोंद्वारा उनका वध न कर सका, तब वह धनुष फेंककर तुरंत ही धृष्टद्युम्नकी ओर दौड़ा ॥ ४५½ ॥

आसीदाप्लवतो वेगस्तस्य राजन् महात्मनः ॥ ४६ ॥
गरुडस्येव पततो जिघृक्षोः पन्नगोत्तमम् ।

नरेश्वर ! रथसे उछलकर दौड़ते हुए महामना अश्वत्थामाका वेग बहुत बड़े सर्पको पकड़नेके लिये झपटे हुए गरुड़के समान प्रतीत हुआ ॥ ४६½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु माधवोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
पश्य पार्थ यथा द्रौणिः पार्षतस्य वधं प्रति ।
यत्नं करोति विपुलं हन्याच्चैनं न संशयः ॥ ४८ ॥

इसी समय श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! वह देखो, द्रोणकुमार अश्वत्थामा धृष्टद्युम्नके वधके लिये कैसा महान् प्रयत्न कर रहा है ? वह इन्हें मार सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४७-४८ ॥

तं मोचय महाबाहो पार्षतं शत्रुकर्शन ।
द्रौणेरास्यमनुप्राप्तं मृत्योरास्यगतं यथा ॥ ४९ ॥

'महाबाहो ! शत्रुसूदन ! जैसे कोई मौतके मुखमें पड़ गया हो, उसी प्रकार अश्वत्थामाके मुखमें पहुँचे हुए धृष्टद्युम्नको छुड़ाओ' ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा महाराज वासुदेवः प्रतापवान् ।
प्रैषयत् तुरगांस्तत्र यत्र द्रौणिर्व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

महाराज ! ऐसा कहकर प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने अपने घोड़ोंको उसी ओर हाँका, जहाँ द्रोणकुमार अश्वत्थामा खड़ा था ॥ ५० ॥

ते हयाश्चन्द्रसंकाशाः केशवेन प्रचोदिताः ।
आपिबन्त इव व्योम जग्मुर्द्रौणिरथं प्रति ॥ ५१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हाँके गये वे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले घोड़े अश्वत्थामाके रथकी ओर इस प्रकार दौड़े, मानो आकाशको पीते जा रहे हों ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वाऽऽयातौ महावीर्यावुभौ कृष्णधनंजयौ ।
धृष्टद्युम्नवधे यत्नं चक्रे राजन् महाबलः ॥ ५२ ॥

राजन् ! महापराक्रमी श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको आते देख महाबली अश्वत्थामा धृष्टद्युम्नके वधके लिये विशेष प्रयत्न करने लगा ॥ ५२ ॥

विकृष्यमाणं दृष्ट्वैव धृष्टद्युम्नं नरेश्वर।
शरांश्चिक्षेप वै पार्थो द्रौणिं प्रति महाबलः ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! धृष्टद्युम्नको खींचे जाते देख महाबली अर्जुनने अश्वत्थामापर बहुत-से बाण चलाये ॥ ५३ ॥

ते शरा हेमविकृता गाण्डीवप्रेषिता भृशम्।
द्रौणिमासाद्य विविशुर्वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ५४ ॥

गाण्डीव धनुषसे वेगपूर्वक छूटे हुए वे सुवर्ण-निर्मित बाण अश्वत्थामाके पास पहुँचकर उसके शरीरमें उसी प्रकार घुस गये, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं ॥ ५४ ॥

स विद्धस्तैः शरैर्घोरैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
उत्सृज्य समरे राजन् पाञ्चाल्यममितौजसम् ॥ ५५ ॥
रथमारुरुहे वीरो धनंजयशरार्दितः।
प्रगृह्य च धनुः श्रेष्ठं पार्थं विव्याध सायकैः ॥ ५६ ॥

राजन् ! उन भयंकर बाणोंसे घायल हुआ प्रतापी वीर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा समराङ्गणमें अमित बलशाली धृष्टद्युम्नको छोड़कर अपने रथपर जा चढ़ा। वह धनंजयके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो चुका था; इसलिये उसने भी श्रेष्ठ धनुष हाथमें लेकर बाणोंद्वारा अर्जुनको घायल कर दिया ॥५५-५६॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः सहदेवो जनाधिप।
अपोवाह रथेनाजौ पार्षतं शत्रुतापनम् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! इसी बीचमें वीर सहदेव शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नको अपने रथके द्वारा रणभूमिमें अन्यत्र हटा ले गये॥

अर्जुनोऽपि महाराज द्रौणिं विव्याध पत्रिभिः।
तं द्रोणपुत्रः संक्रुद्धो बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ५८ ॥

महाराज ! अर्जुनने भी अपने बाणोंसे अश्वत्थामाको घायल कर दिया। तब द्रोणपुत्रने अत्यन्त कुपित हो अर्जुनकी छाती और दोनों भुजाओंमें प्रहार किया ॥ ५८ ॥

क्रोधितस्तु रणे पार्थो नाराचं कालसम्मितम्।
द्रोणपुत्राय चिक्षेप कालदण्डमिवापरम् ॥ ५९ ॥

रणमें कुपित हुए कुन्तीकुमारने द्रोणपुत्रपर द्वितीय कालदण्डके समान साक्षात् कालस्वरूप नाराच चलाया ॥५९॥

ब्राह्मणस्यांसदेशे स निपपात महाद्युतिः।
स विह्वलो महाराज शरवेगेन संयुगे ॥ ६० ॥
निषसाद रथोपस्थे वैक्लव्यं च परं ययौ।

महाराज ! वह महातेजस्वी नाराच उस ब्राह्मणके कंधेपर जा लगा। अश्वत्थामा युद्धस्थलमें उस बाणके वेगसे व्याकुल हो रथकी बैठकमें धम्म-से बैठ गया और अत्यन्त मूर्छित हो गया ॥ ६०½ ॥

ततः कर्णो महाराज व्याक्षिपद् विजयं धनुः ॥ ६१ ॥
अर्जुनं समरे क्रुद्धः प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः।
द्वैरथं चापि पार्थेन कामयानो महारणे ॥ ६२ ॥

राजराजेश्वर ! तत्पश्चात् कर्णने समराङ्गणमें कुपित हो अर्जुनकी ओर बारंबार देखते हुए विजयनामक धनुषकी टङ्कार की। वह महासमरमें अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्धकी अभिलाषा करता था ॥ ६१-६२ ॥

विह्वलं तं तु वीक्ष्याथ द्रोणपुत्रं च सारथिः।
अपोवाह रथेनाजौ त्वरमाणो रणाजिरात् ॥ ६३ ॥

द्रोणकुमारको विह्वल देखकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रथके द्वारा समराङ्गणसे दूर हटा ले गया ॥ ६३ ॥

अथोत्क्रुष्टं महाराज पञ्चालैर्जितकाशिभिः।
मोक्षितं पार्षतं दृष्ट्वा द्रोणपुत्रं च पीडितम् ॥ ६४ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्नको संकटसे मुक्त और द्रोणपुत्रको पीड़ित देख विजयसे उल्लसित होनेवाले पाञ्चालोंने बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ६४ ॥

वादित्राणि च दिव्यानि प्रावाद्यन्त सहस्रशः।
सिंहनादांश्च चक्रुस्ते दृष्ट्वा संख्ये तदद्भुतम् ॥ ६५ ॥

उस समय सहस्रों दिव्य वाद्य बजने लगे। वे पाञ्चाल-सैनिक युद्धस्थलमें वह अद्भुत कार्य देखकर सिंहनाद करने लगे॥

एवं कृत्वाब्रवीत् पार्थो वासुदेवं धनंजयः।
याहि संशप्तकान् कृष्ण कार्यमेतत् परं मम ॥ ६६ ॥

ऐसा पराक्रम करके कुन्तीपुत्र धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण ! अब संशप्तकोंकी ओर चलिये। इस समय यही मेरा सबसे प्रधान कार्य है' ॥ ६६ ॥

ततः प्रयातो दाशार्हः श्रुत्वा पाण्डवभाषितम्।
रथेनातिपताकेन मनोमारुतरंहसा ॥ ६७ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनका वह कथन सुनकर मन और वायुके समान वेगशाली तथा अत्यन्त ऊँची पताकावाले रथके द्वारा वहाँसे चल दिये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि द्रौण्यपयाने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामाका पलायनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनसे दुर्योधन और कर्णके पराक्रमका वर्णन करके कर्णको मारनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करना तथा भीमसेनके दुष्कर पराक्रमका वर्णन करना

संजय उवाच

एतस्मिन्नन्तरे कृष्णः पार्थं वचनमब्रवीत्।
दर्शयन्निव कौन्तेयं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इसी समय भगवान्

श्रीकृष्णने अर्जुनको धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन कराते हुए-से इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

एष पाण्डव ते भ्राता धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
जिघांसुभिर्महेष्वासैर्द्रुतं पार्थोऽनुसार्यते ॥ २ ॥

'पाण्डुनन्दन ! ये तुम्हारे भाई कुन्तीकुमार युधिष्ठिर हैं, जिन्हें मार डालनेकी इच्छासे महाबली महाधनुर्धर धृतराष्ट्र-पुत्र शीघ्रतापूर्वक इनका पीछा कर रहे हैं ॥ २ ॥

तं चानुयान्ति संरब्धाः पञ्चाला युद्धदुर्मदाः ।
युधिष्ठिरं महात्मानं परीप्सन्तो महाबलाः ॥ ३ ॥

'रणदुर्मद महाबली पाञ्चाल-सैनिक महात्मा युधिष्ठिरकी रक्षा करते हुए बड़े रोष और आवेशमें भरकर उनके साथ जा रहे हैं ॥ ३ ॥

एष दुर्योधनः पार्थ रथानीकेन दंशितः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य राजानमनुधावति ॥ ४ ॥

'पार्थ ! यह सम्पूर्ण जगत्का राजा दुर्योधन कवच धारण करके रथसेनाके साथ राजा युधिष्ठिरका पीछा कर रहा है ॥

जिघांसुः पुरुषव्याघ्र भ्रातृभिः सहितो बली ।
आशीविषसमस्पर्शैः सर्वयुद्धविशारदैः ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह ! जिनका स्पर्श विषधर सर्पोंके समान भयंकर है तथा जो सम्पूर्ण युद्ध-कलाओंमें निपुण हैं, उन भाइयोंके साथ बली दुर्योधन राजा युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे उनके पीछे लगा हुआ है ॥ ५ ॥

एते जिघृक्षवो यान्ति द्विपाश्वरथपत्तयः ।
युधिष्ठिरं धार्तराष्ट्रा नरोत्तममिवार्थिनः ॥ ६ ॥

'जैसे याचक किसी श्रेष्ठ पुरुषको पाना चाहते हैं, उसी प्रकार हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित ये दुर्योधनके सैनिक युधिष्ठिरको पकड़नेके लिये उनपर चढ़ाई करते हैं ॥ ६ ॥

पश्य सात्वतभीमाभ्यां निरुद्धाधिष्ठिताः पुनः ।
जिहीर्षवोऽमृतं दैत्याः शक्राग्निभ्यामिवासकृत्॥ ७ ॥

'देखो, जैसे अमृतका अपहरण करनेकी इच्छावाले दैत्योंको इन्द्र और अग्निने बारंबार रोका था, उसी प्रकार ये दुर्योधनके सैनिक सात्यकि और भीमसेनके द्वारा अवरुद्ध होकर पुनः खड़े हो गये हैं ॥ ७ ॥

एते बहुत्वात्त्वरिताः पुनर्गच्छन्ति पाण्डवम् ।
समुद्रमिव वार्योघाः प्रावृट्काले महारथाः ॥ ८ ॥

'जैसे वर्षाकालमें जलके प्रवाह अधिक होनेके कारण समुद्र-तक चले जाते हैं, उसी प्रकार ये कौरव महारथी बहुसंख्यक होनेके कारण पुनः बड़ी उतावलीके साथ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरपर चढ़े जा रहे हैं ॥ ८ ॥

नदन्तः सिंहनादांश्च धमन्तश्चापि वारिजान् ।
बलवन्तो महेष्वासा विधुन्वन्तो धनूंषि च ॥ ९ ॥

'वे बलवान् और महाधनुर्धर कौरव सिंहनाद करते, शङ्ख बजाते और अपने धनुषोंको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे हैं ॥

मृत्योर्मुखगतं मन्ये कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
हुतमग्नौ च कौन्तेयं दुर्योधनवशं गतम् ॥ १० ॥

'मैं तो समझता हूँ कि इस समय कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर दुर्योधनके अधीन हो मृत्युके मुखमें चले गये हैं अथवा प्रज्वलित अग्निकी आहुति बन गये हैं ॥ १० ॥

यथाविधमनीकं तु धार्तराष्ट्रस्य पाण्डव ।
नास्य शक्रोऽपि मुच्येत सम्प्राप्तो बाणगोचरम् ॥ ११ ॥

'पाण्डुनन्दन ! दुर्योधनकी सेनाका जैसा व्यूह दिखायी दे रहा है, उससे यह जान पड़ता है कि उसके बाणोंके मार्गमें आ जानेपर इन्द्र भी जीवित नहीं छूट सकते ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्य वीरस्य शरौघाञ्शीघ्रमस्यतः ।
संक्रुद्धस्यान्तकस्येव को वेगं संसहेद् रणे ॥ १२ ॥

'क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान शीघ्रतापूर्वक बाण-समूहोंकी वर्षा करनेवाले वीर दुर्योधनका वेग इस युद्धमें कौन सह सकता है ? ॥ १२ ॥

दुर्योधनस्य वीरस्य द्रौणेः शारद्वतस्य च ।
कर्णस्य चेषुवेगो वै पर्वतानपि शातयेत् ॥ १३ ॥

'वीर दुर्योधन, अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कर्णके बाणोंका वेग पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है ॥ १३ ॥

कर्णेन च कृतो राजा विमुखः शत्रुतापनः ।
बलवाँल्लघुहस्तश्च कृती युद्धविशारदः ॥ १४ ॥

'कर्णने शत्रुओंको संताप देनेवाले, शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले, बलवान्, विद्वान् और युद्धकुशल राजा युधिष्ठिर-को युद्धसे विमुख कर दिया है ॥ १४ ॥

राधेयः पाण्डवश्रेष्ठं शक्तः पीडयितुं रणे ।
सहितो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः शूरैर्महाबलैः ॥ १५ ॥

'धृतराष्ट्रके महाबली शूरवीर पुत्रोंके साथ रहकर राधा-पुत्र कर्ण रणभूमिमें पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरको अवश्य पीड़ा दे सकता है ॥ १५ ॥

तस्यैभिर्युध्यमानस्य संग्रामे संयतात्मनः ।
अन्यैरपि च पार्थस्य हृतं वर्म महारथैः ॥ १६ ॥

'संग्राममें जूझते हुए संयतचित्त कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके कवचको इन दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रों तथा अन्य महारथियोंने नष्ट कर दिया है ॥ १६ ॥

उपवासकृशो राजा भृशं भरतसत्तमः ।
ब्राह्मे बले स्थितो ह्येष न क्षात्रे हि बले विभुः ॥ १७ ॥

'भरतकुलशिरोमणि राजा युधिष्ठिर उपवास करनेसे अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । ये ब्राह्मबलमें स्थित हैं, क्षात्रबल प्रकट करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ १७ ॥

कर्णेन चाभियुक्तोऽयं भूपतिः शत्रुतापनः ।
संशयं समनुप्राप्तः पाण्डवो वै युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

'शत्रुओंको तपानेवाले ये पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर कर्णके साथ युद्ध करके प्राणसंकटकी अवस्थामें पहुँच गये हैं ॥१८॥

न जीवति महाराजो मन्ये पार्थ युधिष्ठिरः ।
यद् भीमसेनः सहते सिंहनादममर्षणः ॥ १९ ॥
नदतां धार्तराष्ट्राणां पुनः पुनररिंदमः ।
धमतां च महाशङ्खान् संग्रामे जितकाशिनाम् ॥ २० ॥

'पार्थ ! मुझे जान पड़ता है कि महाराज युधिष्ठिर जीवित नहीं हैं; क्योंकि अमर्षशील शत्रुदमन भीमसेन संग्राममें विजयसे उल्लसित हो बड़े-बड़े शङ्ख बजाते और बारंबार गर्जते हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंका सिंहनाद चुपचाप सहन करते हैं ॥ १९-२० ॥

युधिष्ठिरं पाण्डवेयं हतेति भरतर्षभ ।
संचोदयत्यसौ कर्णो धार्तराष्ट्रान् महाबलान् ॥ २१ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! वह कर्ण महाबली धृतराष्ट्रपुत्रोंको यह प्रेरणा दे रहा है कि तुम सब लोग मिलकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको मार डालो ॥ २१ ॥

स्थूणाकर्णेन्द्रजालेन पार्थ पाशुपतेन च ।
प्रच्छादयन्ति राजानं शस्त्रजालैर्महारथाः ॥ २२ ॥

'पार्थ ! कौरव महारथी स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, पाशुपत तथा अन्य प्रकारके शस्त्रसमूहोंसे राजा युधिष्ठिरको आच्छादित कर रहे हैं ॥ २२ ॥

आतुरो हि कृतो राजा संनिषेव्यश्च भारत ।
यथैनमनुवर्तन्ते पञ्चालाः सह पाण्डवैः ॥ २३ ॥

'भारत ! राजा युधिष्ठिर आतुर एवं सेवाके योग्य कर दिये गये हैं; जैसा कि पाण्डवोंसहित पाञ्चाल उनके पीछे-पीछे सेवाके लिये जा रहे हैं ॥ २३ ॥

त्वरमाणास्त्वराकाले सर्वशस्त्रभृतां वराः ।
मज्जन्तमिव पाताले बलिनोऽप्युज्जिहीर्षवः ॥ २४ ॥

'शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करनेवाले सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ बलवान् पाण्डव-योद्धा युधिष्ठिरका ऐसी अवस्थामें उद्धार करनेके लिये उत्सुक दिखायी देते हैं, मानो वे पातालमें डूब रहे हों ॥ २४ ॥

न केतुर्दृश्यते राज्ञः कर्णेन निहतः शरैः ।
पश्यतोर्यमयोः पार्थ सात्यकेश्च शिखण्डिनः ॥ २५ ॥
धृष्टद्युम्नस्य भीमस्य शतानीकस्य वा विभो ।
पञ्चालानां च सर्वेषां चेदीनां चैव भारत ॥ २६ ॥

'पार्थ ! राजाका ध्वज नहीं दिखायी देता है । कर्णने अपने बाणोंद्वारा उसे काट डाला है । भरतनन्दन ! प्रभो ! यह कार्य उसने नकुल-सहदेव, सात्यकि, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, भीमसेन, शतानीक, समस्त पाञ्चाल-सैनिक तथा चेदिदेशीय योद्धाओंके देखते-देखते किया है ॥ २५-२६ ॥

एष कर्णो रणे पार्थ पाण्डवानामनीकिनीम् ।
शरैर्विध्वंसयति वै नलिनीमिव कुञ्जरः ॥ २७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! जैसे हाथी कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणीको मथ डालता है, उसी प्रकार यह कर्ण रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाका विध्वंस कर रहा है ॥ २७ ॥

एते द्रवन्ति रथिनस्त्वदीयाः पाण्डुनन्दन ।
पश्य पश्य यथा पार्थ गच्छन्त्येते महारथाः ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! ये तुम्हारे रथी भागे जा रहे हैं । पार्थ ! देखो, देखो, ये महारथी भी कैसे खिसके जा रहे हैं ॥२८॥

एते भारत मातङ्गाः कर्णेनाभिहताः शरैः ।
आर्तनादान् विकुर्वाणा विद्रवन्ति दिशो दश ॥ २९ ॥

'भारत ! कर्णके बाणोंसे मारे गये ये मतवाले हाथी आर्तनाद करते हुए दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं ॥ २९ ॥

रथानां द्रवते वृन्दमेतच्चैव समन्ततः ।
द्राव्यमाणं रणे पार्थ कर्णेनामित्रकर्षिणा ॥ ३० ॥

'कुन्तीकुमार ! रणभूमिमें शत्रुसूदन कर्णके द्वारा खदेड़ा हुआ यह रथियोंका समूह सब ओर पलायन कर रहा है ॥३०॥

हस्तिकक्ष्यां रणे पश्य चरन्तीं तत्र तत्र ह ।
रथस्थं सूतपुत्रस्य केतुं केतुमतां वर ॥ ३१ ॥

'ध्वज धारण करनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! देखो, सूतपुत्रके रथपर कैसी ध्वजा फहरा रही है ? हाथीकी रस्सीके चिह्नसे युक्त उसकी पताका रणभूमिमें यत्र-तत्र कैसे विचरण कर रही है ॥ ३१ ॥

असौ धावति राधेयो भीमसेनरथं प्रति ।
किरञ्शरशतान्येव विनिघ्नंस्तव वाहिनीम् ॥ ३२ ॥

'वह राधापुत्र कर्ण सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके तुम्हारी सेनाका संहार करता हुआ भीमसेनके रथपर धावा कर रहा है ॥ ३२ ॥

एतान् पश्य च पञ्चालान् द्राव्यमाणान् महारथान् ।
शक्रेणेव यथा दैत्यान् हन्यमानान् महाहवे ॥ ३३ ॥

'जैसे देवराज इन्द्र दैत्योंको खदेड़ते और मारते हैं, उसी प्रकार महासमरमें कर्णके द्वारा खदेड़े और मारे जानेवाले इन पाञ्चाल महारथियोंको देखो ॥ ३३॥

एष कर्णो रणे जित्वा पञ्चालान् पाण्डुसृञ्जयान् ।
दिशो विप्रेक्षते सर्वास्त्वदर्थमिति मे मतिः ॥ ३४ ॥

'यह कर्ण रणभूमिमें पाञ्चालों, पाण्डवों और सृंजयोंको जीतकर अब तुम्हें परास्त करनेके लिये सारी दिशाओंमें दृष्टिपात कर रहा है; ऐसा मेरा मत है ॥ ३४ ॥

पश्य पार्थ धनुः श्रेष्ठं विकर्षन् साधु शोभते ।
शत्रुं जित्वा यथा शक्रो देवसंघैः समावृतः ॥ ३५ ॥

'अर्जुन ! देखो, जैसे देवराज इन्द्र शत्रुपर विजय पाकर देवसमूहोंसे घिरे हुए शोभा पाते हैं, उसी प्रकार यह कर्ण कौरवोंके बीचमें अपने श्रेष्ठ धनुषको खींचता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥ ३५ ॥

एते नर्दन्ति कौरव्या दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम्।
त्रासयन्तो रणे पाण्डून् सृञ्जयांश्च समन्ततः ॥ ३६ ॥

'कर्णका पराक्रम देखकर ये कौरवयोद्धा रणभूमिमें पाण्डवों और सृंजयोंको सब ओरसे डराते हुए जोर-जोरसे गर्जना करते हैं ॥ ३६ ॥

एष सर्वात्मना पाण्डूंस्त्रासयित्वा महारणे।
अभिभाषति राधेयः सर्वसैन्यानि मानद ॥ ३७ ॥

'मानद ! यह राधापुत्र कर्ण महासमरमें पाण्डवसैनिकोंको सर्वथा भयभीत करके अपनी सम्पूर्ण सेनाओंसे इस प्रकार कह रहा है ॥ ३७ ॥

अभिद्रवत भद्रं वो द्रुतं द्रवत कौरवाः।
यथा जीवन्न वः कश्चिन्मुच्येत युधि सृञ्जयः ॥ ३८ ॥
तथा कुरुत संयत्ता वयं यास्याम पृष्ठतः।

'कौरवो ! तुम्हारा कल्याण हो। दौड़ो और वेगपूर्वक धावा करो। आज युद्धस्थलमें कोई सृंजय तुम्हारे हाथसे जिस प्रकार भी जीवित न छूटने पावे, सावधान होकर वैसा ही प्रयत्न करो। हम सब लोग तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे' ३८½

एवमुक्त्वा गतो ह्येष पृष्ठतो विकिरञ्छरान् ॥ ३९ ॥
पश्य कर्णं रणे पार्थ श्वेतच्छत्रविराजितम्।
उदयं पर्वतं यद्वच्छशाङ्केनाभिशोभितम् ॥ ४० ॥

'ऐसा कहकर यह कर्ण पीछेसे बाण-वर्षा करता हुआ गया है। पार्थ ! रणभूमिमें श्वेतच्छत्रसे विराजमान कर्णको देखो। वह चन्द्रमासे सुशोभित उदयाचलके समान जान पड़ता है ॥ ३९-४० ॥

पूर्णचन्द्रनिकाशेन मूर्ध्निच्छत्रेण भारत।
ध्रियमाणेन समरे श्रीमच्छतशलाकिना ॥ ४१ ॥
एष त्वां प्रेक्षते कर्णः सकटाक्षं विशाम्पते।
उत्तमं जवमास्थाय ध्रुवमेष्यति संयुगे ॥ ४२ ॥

'भारत ! प्रजानाथ ! समराङ्गणमें जिसके मस्तकपर सौ तेजस्वी शलाकाओंसे युक्त और पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशमान श्वेत छत्र तना हुआ है, वही यह कर्ण तुम्हारी ओर कटाक्षपूर्वक देख रहा है। निश्चय ही यह युद्धस्थलमें उत्तम वेगका आश्रय लेकर तुम्हारे सामने आयेगा ॥ ४१-४२ ॥

पश्य ह्येनं महाबाहो विधुन्वानं महद् धनुः।
शरांश्चाशीविषाकारान् विसृजन्तं महारणे ॥ ४३ ॥

'महाबाहो ! इसे देखो, यह अपना विशाल धनुष हिलाता हुआ महासमरमें विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंकी वृष्टि कर रहा है ॥ ४३ ॥

असौ निवृत्तो राधेयो दृष्ट्वा ते वानरध्वजम्।
प्रार्थयन् समरे पार्थ त्वया सह परंतप ॥ ४४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार ! वह देखो, तुम्हारे वानरध्वजको देखकर समरमें तुम्हारे साथ द्वैरथ युद्ध चाहता हुआ राधापुत्र कर्ण इधर लौट पड़ा है ॥ ४४ ॥

वधाय चात्मनोऽभ्येति दीप्तास्यं शलभो यथा।
कर्णमेकाकिनं दृष्ट्वा रथानीकेन भारत ॥ ४५ ॥
रिरक्षिषुः सुसंवृत्तो धार्तराष्ट्रो निवर्तते।

'जैसे पतङ्ग प्रज्वलित आगके मुखमें आ पड़ता है, उसी प्रकार यह कर्ण अपने वधके लिये ही तुम्हारे पास आ रहा है। भारत ! कर्णको अकेला देख उसकी रक्षाके लिये धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन भी रथसेनासे घिरा हुआ इधर ही लौट रहा है ॥ ४५½ ॥

सर्वैः सहैभिर्दुष्टात्मा वध्यतां च प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥
त्वया यशश्च राज्यं च सुखं चोत्तममिच्छता।

'तुम यश, राज्य और उत्तम सुखकी अभिलाषा रखकर इन सबके साथ दुष्टात्मा कर्णका प्रयत्नपूर्वक वध कर डालो४६½

अदीनयोर्विश्रुतयोर्युवयोर्योत्स्यमानयोः ॥ ४७ ॥
देवासुरे पार्थ मृधे देवदानवयोरिव।
पश्यन्तु कौरवाः सर्वे तव पार्थ पराक्रमम् ॥ ४८ ॥

'पार्थ ! जैसे देवासुरसंग्राममें देवताओं और दानवोंका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार जब तुम दोनों विश्वविख्यात वीरोंमें सोत्साह युद्ध होने लगे, उस समय समस्त कौरव तुम्हारा पराक्रम देखें ॥ ४७-४८ ॥

त्वां च दृष्ट्वातिसंरब्धं कर्णं च भरतर्षभ।
असौ दुर्योधनः क्रुद्धो नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ ४९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए तुमको और कर्णको देखकर उस क्रोधी दुर्योधनको कोई उत्तर नहीं सूझ पड़ेगा ॥ ४९ ॥

आत्मानं च कृतात्मानं समीक्ष्य भरतर्षभ।
कृतागसं च राधेयं धर्मात्मनि युधिष्ठिरे।
प्रतिपद्यस्व कौन्तेय प्राप्तकालमनन्तरम् ॥ ५० ॥

'भरतभूषण कुन्तीकुमार ! तुम अपनेको पुण्यात्मा तथा राधापुत्र कर्णको धर्मात्मा युधिष्ठिरका अपराधी समझकर अब समयोचित कर्तव्यका पालन करो ॥ ५० ॥

आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा प्रत्येहि रथयूथपम्।
पञ्च ह्येतानि मुख्यानि रथानां रथसत्तम ॥ ५१ ॥
शतान्यायान्ति समरे बलिनां तिग्मतेजसाम्।
पञ्च नागसहस्राणि द्विगुणा वाजिनस्तथा ॥ ५२ ॥
अभिसंहत्य कौन्तेय पदातिप्रयुतानि च।

'युद्धविषयक श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर तुम रथयूथपति कर्णपर चढ़ाई करो। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर ! देखो, समरभूमिमें ये प्रचण्ड तेजस्वी, महाबली एवं मुख्य-मुख्य पाँच सौ रथी आ रहे हैं। इनके साथ ही पाँच हजार हाथी और दस हजार घोड़े हैं। कुन्तीनन्दन ! ये सब-के-सब संगठित हो दस लाख पैदल योद्धाओंको साथ ले आ रहे हैं ।५१-५२½।

अन्योन्यरक्षितं वीर बलं त्वामभिवर्तते ॥ ५३ ॥
द्रोणपुत्रं पुरस्कृत्य तच्छीघ्रं संनिषूदय ।

'वीर ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको आगे करके एक दूसरेके द्वारा सुरक्षित यह सेना तुमपर आक्रमण कर रही है। तुम शीघ्र ही इसका संहार कर डालो ॥ ५३½ ॥

निकृत्यैतद्रथानीकं बलिनं लोकविश्रुतम् ॥ ५४ ॥
सूतपुत्रं महेष्वासं दर्शयात्मानमात्मना ।

'इस रथसेनाका संहार करके विश्वविख्यात महाधनुर्धर बलवान् सूतपुत्र कर्णके सामने स्वयं ही अपने आपको प्रकट करो ॥ ५४½ ॥

उत्तमं जवमास्थाय प्रत्येहि भरतर्षभ ॥ ५५ ॥
असौ कर्णः सुसंरब्धः पञ्चालानभिधावति ।
केतुमस्य हि पश्यामि धृष्टद्युम्नरथं प्रति ॥ ५६ ॥

'भरतभूषण ! तुम उत्तम वेगका आश्रय लेकर शत्रुदल-पर आक्रमण करो। वह क्रोधमें भरा हुआ कर्ण पाञ्चालोंपर धावा बोल रहा है। मैं उसकी ध्वजाको धृष्टद्युम्नके रथके पास देख रहा हूँ ॥ ५५-५६ ॥

समुपैष्यति पञ्चालानिति मन्ये परंतप ।
आचक्षे च प्रियं पार्थ तवेदं भरतर्षभ ॥ ५७ ॥
राजासौ कुशली श्रीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
असौ भीमो महाबाहुः संनिवृत्तश्चमूमुखे ॥ ५८ ॥

'परंतप ! मैं समझता हूँ, कर्ण पाञ्चालोंपर अवश्य ही आक्रमण करेगा। भरतश्रेष्ठ पार्थ ! मैं तुमसे एक प्रिय समाचार कह रहा हूँ—धर्मपुत्र श्रीमान् राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं; क्योंकि वे महाबाहु भीमसेन सेनाके मुहानेपर लौट रहे हैं ॥ ५७-५८ ॥

वृतः सृञ्जयसैन्येन शैनेयेन च भारत ।
वध्यन्त एते समरे कौरवा निशितैः शरैः ॥ ५९ ॥
भीमसेनेन कौन्तेय पञ्चालैश्च महात्मभिः ।

'भारत ! उनके साथ सृंजयोंकी सेना और सात्यकि भी हैं। कुन्तीकुमार ! भीमसेन तथा महामनस्वी पाञ्चाल वीर समराङ्गणमें अपने तीखे बाणोंद्वारा इन कौरवोंका वध कर रहे हैं ॥ ५९½ ॥

सेना हि धार्तराष्ट्रस्य विमुखा विक्षरद्व्रणा ॥ ६० ॥
विप्रधावति वेगेन भीमस्याभिहता शरैः ।

'भीमके बाणोंसे घायल हो दुर्योधनकी सेना युद्धसे मुँह फेरकर बड़े वेगसे भाग रही है। उसके घावोंसे रक्तकी धारा बह रही है ॥ ६०½ ॥

विपन्नसस्येव मही रुधिरेण समुक्षिता ॥ ६१ ॥
भारती भरतश्रेष्ठ सेना कृपणदर्शना ।

'भरतश्रेष्ठ ! खूनसे लथपथ हुई कौरव-सेना, जहाँकी खेती नष्ट हो गयी है उस भूमिके समान अत्यन्त दयनीय दिखायी देती है ॥ ६१½ ॥

निवृत्तं पश्य कौन्तेय भीमसेनं युधां पतिम् ॥ ६२ ॥
आशीविषमिव क्रुद्धं द्रावयन्तं वरूथिनीम् ।

'कुन्तीनन्दन ! देखो, योद्धाओंके अधिपति भीमसेन लौटकर विषधर सर्पके समान कुपित हो कौरवसेनाको खदेड़ रहे हैं ॥ ६२½ ॥

पीतरक्तासितसितास्ताराचन्द्रार्कमण्डिताः ॥ ६३ ॥
पताका विप्रकीर्यन्ते छत्राण्येतानि चार्जुन ।

'अर्जुन ! तारों और सूर्य-चन्द्रमाके चिह्नोंसे अलंकृत ये लाल, पीली, काली और सफेद पताकाएँ तथा ये श्वेत छत्र बिखरे पड़े हैं ॥ ६३½ ॥

सौवर्णा राजताश्चैव तैजसाश्च पृथग्विधाः ॥ ६४ ॥
केतवोऽभिनिपात्यन्ते हस्त्यश्वं च प्रकीर्यते ।

'सोने, चाँदी तथा पीतल आदि तैजस द्रव्योंके बने हुए नाना प्रकारके ध्वज काट-काटकर गिराये जा रहे हैं। हाथी और घोड़े तितर-बितर हो गये हैं ॥ ६४½ ॥

रथेभ्यः प्रपतन्त्येते रथिनो विगतासवः ॥ ६५ ॥
नानावर्णैर्हता बाणैः पञ्चालैरपलायिभिः ।

'युद्धसे पीठ न दिखानेवाले पाञ्चाल-वीरोंके विभिन्न रंगोंवाले बाणोंसे मारे जाकर ये प्राणशून्य रथी रथोंसे नीचे गिर रहे हैं ॥ ६५½ ॥

निर्मनुष्यान् गजानश्वान् रथांश्चैव धनंजय ॥ ६६ ॥
समाद्रवन्ति पञ्चाला धार्तराष्ट्रांस्तरस्विनः ।
विमृद्नन्ति नरव्याघ्रा भीमसेनबलाश्रयात् ॥ ६७ ॥

'धनंजय ! ये वेगशाली पुरुषसिंह पाञ्चालयोद्धा भीमसेन-के बलका आश्रय लेकर मनुष्योंसे रहित हाथियों, घोड़ों, रथों और वेगशाली धृतराष्ट्र-सैनिकोंपर आक्रमण करते और उन्हें धूलमें मिलाते जा रहे हैं ॥ ६६-६७ ॥

बलं परेषां दुर्धर्षास्त्यक्त्वा प्राणानरिंदम ।
एते नदन्ति पञ्चाला धमापयन्ति च वारिजान् ॥ ६८ ॥

'शत्रुदमन वीर ! दुर्जय पाञ्चाल सैनिक प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करते हुए गरजते और शङ्ख बजाते हैं ॥ ६८ ॥

अभिद्रवन्ति च रणे मृद्नन्तः सायकैः परान् ।
पश्यस्वैषां च माहात्म्यं पञ्चाला हि पराक्रमात् ॥ ६९ ॥
धार्तराष्ट्रान् विनिघ्नन्ति क्रुद्धाः सिंहा इव द्विपान् ।

'अर्जुन ! देखो, इन वीरोंकी कैसी महिमा है ? जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंह हाथियोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार ये पाञ्चाल-योद्धा पराक्रम करके अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंको रौंदते हुए रणभूमिमें सब ओर दौड़ रहे हैं ॥ ६९½ ॥

शस्त्रमाच्छिद्य शत्रूणां सायुधानां निरायुधाः ॥ ७० ॥
तेनैवैतानमोघास्त्रा निघ्नन्ति च नदन्ति च ।

'वे स्वयं अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित होनेपर भी आयुधधारी

शत्रुओंके शस्त्र छीनकर उसीसे उन्हें मार डालते और गर्जना करते हैं; उनके अस्त्रोंका निशाना कभी खाली नहीं जाता ७०½

शिरांस्येतानि पात्यन्ते शत्रूणां बाहवोऽपि च ॥ ७१ ॥
रथनागहया वीरा यशस्याः सर्व एव च ।

'ये शत्रुओंके मस्तक, भुजाएँ, रथ, हाथी, घोड़े और समस्त यशस्वी वीर धरतीपर गिराये जा रहे हैं ॥ ७१½ ॥

सर्वतश्चाभिपन्नैषा धार्तराष्ट्री महाचमूः ॥ ७२॥
पञ्चालैर्मानसादेत्य हंसैर्गङ्गेव वेगितैः ।

'जैसे वेगशाली हंस मानसरोवरसे निकलकर गङ्गाजीपर सब ओरसे छा जाते हैं, उसी प्रकार पाञ्चाल-सैनिकोंद्वारा दुर्योधनकी यह विशाल सेना चारों ओरसे आक्रान्त हो रही है ॥ ७२½ ॥

सुभृशं च पराक्रान्ताः पञ्चालानां निवारणे ॥ ७३ ॥
कृपकर्णादयो वीरा ऋषभाणामिवर्षभाः ।

'कृपाचार्य और कर्ण आदि वीर इन पाञ्चालोंको रोकनेके लिये अत्यन्त पराक्रम दिखा रहे हैं। ठीक उसी तरह, जैसे साँड़ दूसरे साँड़ोंको दबानेकी चेष्टा करते हैं ॥ ७३½ ॥

भीमास्त्रेण सुनिर्भग्नान् धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥७४॥
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा घ्नन्ति शत्रून् सहस्रशः ।

'भीमसेनके बाणोंसे हतोत्साह होकर भागनेवाले कौरव-महारथियों तथा सहस्रों शत्रुओंको धृष्टद्युम्न आदि वीर मार रहे हैं ॥ ७४½ ॥

पञ्चालेष्वभिभूतेषु द्विषद्भिरपभीर्नदन् ॥ ७५ ॥
शत्रुपक्षमवस्कन्द्य शरानस्यति मारुतिः ।

'शत्रुओंद्वारा पाञ्चालोंके पराजित होनेपर ये वायुपुत्र भीमसेन निर्भय गर्जना करते हुए शत्रुदलपर आक्रमण करके बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥७५½॥

विषण्णभूयिष्ठतरा धार्तराष्ट्री महाचमूः ॥ ७६ ॥
रथाश्चैते सुवित्रस्ता भीमसेनभयार्दिताः ।

'दुर्योधनकी विशाल सेनाके अधिकांश वीर अत्यन्त खिन्न हो उठे हैं और ये रथी भीमसेनके भयसे पीड़ित हो संत्रस्त हो गये हैं ॥ ७६½ ॥

पश्य भीमेन नाराचैर्भिन्ना नागाः पतन्त्यमी ॥ ७७ ॥
वज्रिवज्रहतानीव शिखराणि धराभृताम् ।

'देखो, इन्द्रके वज्रसे आहत होकर गिरनेवाले पर्वत-शिखरोंके समान ये बड़े-बड़े हाथी भीमसेनके चलाये हुए नाराचोंसे विदीर्ण होकर पृथ्वीपर गिर रहे हैं ॥ ७७½ ॥

भीमसेनस्य निर्विद्धा बाणैः संनतपर्वभिः ॥ ७८ ॥
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तो द्रवन्त्येते महागजाः ।

'भीमसेनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए ये विशालकाय हाथी अपनी ही सेनाओंको कुचलते हुए भागते हैं ॥ ७८½ ॥

(एते द्रवन्ति कुरवो भीमसेनभयार्दिताः ।
त्यक्त्वा गजान् हयांश्चैव रथांश्चैव सहस्रशः॥
हस्त्यश्वरथपत्तीनां द्रवतां निःस्वनं शृणु ।
भीमसेनस्य निनदं द्रावयाणस्य कौरवान् ॥)

'ये भीमसेनके भयसे पीड़ित हुए कौरव-योद्धा अपने सहस्रों हाथियों, रथों और घोड़ोंको छोड़-छोड़कर भाग रहे हैं। भागते हुए हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंका वह आर्तनाद तथा कौरवोंको खदेड़ते हुए भीमसेनकी यह गर्जना सुन लो ॥

अभिजानीहि भीमस्य सिंहनादं सुदुःसहम् ॥ ७९ ॥
नदतोऽर्जुन संग्रामे वीरस्य जितकाशिनः ।

'अर्जुन ! विजयश्रीसे सुशोभित हो गर्जना करनेवाले वीर भीमसेनका संग्राममें जो अत्यन्त दुःसह सिंहनाद हो रहा है, उसे पहचानो ॥ ७९½ ॥

एष नैषादिरभ्येति द्विपमुख्येन पाण्डवम् ॥ ८० ॥
जिघांसुस्तोमरैः क्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ।

'यह निषादपुत्र श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो तोमरोंद्वारा भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे क्रोधमें भरे हुए दण्डपाणि यमराजके समान उनपर आक्रमण कर रहा है ॥ ८०½ ॥

सतोमरावस्य भुजौ छिन्नौ भीमेन गर्जतः ॥ ८१ ॥
तीक्ष्णैरग्निरविप्रख्यैर्नाराचैर्दशभिर्हतः ।

'देखो, भीमसेनने गरजते हुए निषादपुत्रकी तोमरसहित दोनों भुजाओंको काट दिया और अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी दस तीखे नाराचोंद्वारा उसे मार डाला ॥ ८१½ ॥

हत्वैनं पुनरायाति नागानन्यान् प्रहारिणः ॥ ८२ ॥
पश्य नीलाम्बुदनिभान् महामात्रैरधिष्ठितान् ।
शक्तितोमरसंघातैर्विनिघ्नन्तं वृकोदरम् ॥ ८३ ॥

'इस निषादपुत्रका वध करके वे पुनः प्रहार करनेवाले दूसरे-दूसरे हाथियोंपर आक्रमण कर रहे हैं। देखो, भीमसेन शक्ति और तोमरोंके समूहोंसे काले मेघोंकी घटाके समान हाथियोंको, जिनके कंधोंपर महावत बैठे हैं, मार रहे हैं ॥ ८२-८३ ॥

सप्तसप्त च नागांस्तान् वैजयन्तीश्च सध्वजाः ।
निहत्य निशितैर्बाणैश्छिन्नाः पार्थाग्रजेन ते ॥ ८४ ॥

'पार्थ ! तुम्हारे बड़े भाई भीमसेनने अपने पैने बाणोंसे ध्वजसहित वैजयन्ती पताकाओंको नष्ट करके उनचास हाथियोंको काट गिराया है ॥ ८४ ॥

दशभिर्दशभिश्चैको नाराचैर्निहतो गजः ।
न चासौ धार्तराष्ट्राणां श्रूयते निनदस्तथा ॥ ८५ ॥
पुरंदरसमे क्रुद्धे निवृत्ते भरतर्षभ ।

'उन्होंने दस-दस नाराचोंसे एक-एक हाथीका वध किया है। भरतभूषण ! इन्द्रके समान पराक्रमी भीमसेनके

क्रोधपूर्वक लौटनेपर धृतराष्ट्रपुत्रोंका वह सिंहनाद अब नहीं सुनायी दे रहा है ॥ ८५½ ॥

अक्षौहिण्यस्तथा तिस्रो धार्तराष्ट्रस्य संहताः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन नरसिंहेन वारिताः ॥ ८६ ॥

'कुपित हुए पुरुषसिंह भीमसेनने दुर्योधनकी संगठित हुई तीन अक्षौहिणी सेनाओंको आगे बढ़नेसे रोक दिया है ॥ ८६ ॥

न शक्नुवन्ति वै पार्थं पार्थिवाः समुदीक्षितुम् ।
मध्यंदिनगतं सूर्यं यथा दुर्बलचक्षुषः ॥ ८७ ॥

'जैसे दुर्बल नेत्रोंवाले प्राणी दोपहरके सूर्यकी ओर नहीं देख सकते, उसी प्रकार राजा लोग कुन्तीकुमार भीमसेनकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पा रहे हैं ॥ ८७ ॥

एते भीमस्य संत्रस्ताः सिंहस्येवेतरे मृगाः ।
शरैः संत्रासिताः संख्ये न लभन्ते सुखं क्वचित् ॥ ८८ ॥

'जैसे सिंहसे डरे हुए दूसरे मृग चैन नहीं पाते हैं, उसी प्रकार ये भीमसेनके बाणोंसे भयभीत हुए कौरवसैनिक युद्ध-स्थलमें कहीं सुख नहीं पा रहे हैं ॥ ८८ ॥

(राजानं च महाबाहुं पीडयन्त्यात्तमन्यवः ।
राधेयो बहुभिः सार्धमसौ गच्छति वेगतः ॥
वर्जयित्वा तु भीमं तं पार्श्वतो ह्यानयन् धनुः ।
तं पालयन् महाराजं धार्तराष्ट्रं बलान्वितः ॥)

'पाण्डव-सैनिक क्रोधमें भरकर महाबाहु दुर्योधनको पीड़ा दे रहे हैं। बलशाली राधापुत्र कर्ण भीमसेनको छोड़कर बगलमें धनुष लिये महाराज दुर्योधनकी रक्षाके लिये बहुतेरे सैनिकोंके साथ वेगपूर्वक उसके पास जा रहा है ॥'

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुर्वासुदेवाद् धनंजयः ।
भीमसेनेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम् ॥ ८९ ॥
अर्जुनो व्यधमच्छिष्टानहितान् निशितैः शरैः ।

संजय कहते हैं—राजन् ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे यह सब सुनकर और भीमसेनके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको अपनी आँखों देखकर महाबाहु अर्जुनने अपने पैने बाणोंद्वारा शेष शत्रुओंको मार भगाया ८९½

ते वध्यमानाः समरे संशप्तकगणाः प्रभो ॥ ९० ॥
प्रभग्नाः समरे भीता दिशो दश महाबलाः ।
शक्रस्यातिथितां गत्वा विशोका ह्यभवंस्तदा ॥ ९१ ॥

प्रभो ! समराङ्गणमें मारे जाते हुए महाबली संशप्तकगण हतोत्साह एवं भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये और कितने ही वीर इन्द्रके अतिथि बनकर तत्काल शोकसे छुटकारा पा गये ॥ ९०-९१ ॥

पार्थश्च पुरुषव्याघ्रः शरैः संनतपर्वभिः ।
जघान धार्तराष्ट्रस्य चतुर्विधबलां चमूम् ॥ ९२ ॥

पुरुषसिंह पार्थने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा दुर्योधनकी चतुरङ्गिणी सेनाका संहार कर डाला ॥ ९२ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कृष्णार्जुनसंवादे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ९६ श्लोक हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

कर्णद्वारा शिखण्डीकी पराजय, धृष्टद्युम्न और दुःशासनका तथा वृषसेन और नकुलका युद्ध, सहदेवद्वारा उलूककी तथा सात्यकिद्वारा शकुनिकी पराजय, कृपाचार्यद्वारा युधामन्युकी एवं कृतवर्माद्वारा उत्तमौजाकी पराजय तथा भीमसेन-द्वारा दुर्योधनकी पराजय, गजसेनाका संहार और पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

निवृत्ते भीमसेने च पाण्डवे च युधिष्ठिरे ।
वध्यमाने बले चापि मामके पाण्डुसृञ्जयैः ॥ १ ॥
द्रवमाणे बलौघे च निरानन्दे मुहुर्मुहुः ।
किमकुर्वन्त कुरवस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब भीमसेन और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर लौट आये, पाण्डव और संजय मेरी सेनाका वध करने लगे और मेरा सैन्यसमुदाय आनन्दशून्य होकर बारंबार भागने लगा, उस समय कौरवोंने क्या किया ? यह मुझे बताओ ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

(क्षयस्तेषां महाञ्जातो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥)
दृष्ट्वा भीमं महाबाहुं सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
क्रोधरक्तेक्षणो राजन् भीमसेनमुपाद्रवत् ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपकी कुमन्त्रणाके फल-स्वरूप उन कौरवोंका महान् संहार हुआ है। महाराज !

प्रतापी सूतपुत्र महाबाहु भीमसेनको देखकर क्रोधसे लाल आँखें किये उनपर टूट पड़ा ॥ ३ ॥

तावकं तु बलं दृष्ट्वा भीमसेनात् पराङ्मुखम् ।
यत्नेन महता राजन् पर्यवस्थापयद् बली ॥ ४ ॥

राजन् ! आपकी सेनाको भीमसेनके भयसे विमुख हुई देख बलवान् कर्णने बड़े यत्नसे उसे स्थिर किया ॥ ४ ॥

व्यवस्थाप्य महाबाहुस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
प्रत्युद्ययौ तदा कर्णः पाण्डवान् युद्धदुर्मदान् ॥ ५ ॥

महाबाहु कर्ण आपके पुत्रकी सेनाको स्थिर करके रण-दुर्मद पाण्डवोंकी ओर बढ़ा ॥ ५ ॥

प्रत्युद्ययुस्तु राधेयं पाण्डवानां महारथाः ।
धुन्वानाः कार्मुकाण्याजौ विक्षिपन्तश्च सायकान् ॥ ६ ॥

उस समय पाण्डव-महारथी भी राधापुत्र कर्णका सामना करनेके लिये अपने धनुष हिलाते और बाणोंकी वर्षा करते हुए रणभूमिमें आगे बढ़े ॥ ६ ॥

भीमसेनः शिनेर्नप्ता शिखण्डी जनमेजयः ।
धृष्टद्युम्नश्च बलवान् सर्वे चापि प्रभद्रकाः ॥ ७ ॥
जिघांसन्तो नरव्याघ्राः समन्तात् तव वाहिनीम् ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धाः समरे जितकाशिनः ॥ ८ ॥

भीमसेन, सात्यकि, शिखण्डी, जनमेजय, बलवान् धृष्टद्युम्न और समस्त प्रभद्रकगण—ये सभी पुरुषसिंह वीर समराङ्गणमें विजयसे उल्लसित होते हुए क्रोधमें भरकर आपकी सेनाको मार डालनेकी इच्छासे चारों ओरसे उसके ऊपर टूट पड़े ॥ ७-८ ॥

तथैव तावका राजन् पाण्डवानामनीकिनीम् ।
अभ्यद्रवन्त त्वरिता जिघांसन्तो महारथाः ॥ ९ ॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके महारथी वीर भी पाण्डव-सेनाका वध करनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥९॥

रथनागाश्वकलिलं पत्तिध्वजसमाकुलम् ।
बभूव पुरुषव्याघ्र सैन्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १० ॥

पुरुषसिंह ! रथ, हाथी, घोड़े, पैदल योद्धा और ध्वजोंसे व्याप्त हुई वह सारी सेना अद्भुत दिखायी दे रही थी ॥१०॥

शिखण्डी च ययौ कर्णं धृष्टद्युम्नः सुतं तव ।
दुःशासनं महाराज महत्या सेनया वृतम् ॥ ११ ॥

महाराज ! शिखण्डीने कर्णपर और धृष्टद्युम्नने विशाल सेनासे घिरे हुए आपके पुत्र दुःशासनपर आक्रमण किया ॥

नकुलो वृषसेनं तु चित्रसेनं युधिष्ठिरः ।
उलूकं समरे राजन् सहदेवः समभ्ययात् ॥ १२ ॥

राजन् ! नकुलने वृषसेनपर, युधिष्ठिरने चित्रसेनपर तथा सहदेवने समराङ्गणमें उलूकपर चढ़ाई की ॥ १२ ॥

सात्यकिः शकुनिं चापि द्रौपदेयाश्च कौरवान् ।
अर्जुनं च रणे यत्तो द्रोणपुत्रो महारथः ॥ १३ ॥

सात्यकिने शकुनिपर, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंने अन्य कौरवोंपर तथा युद्धमें सावधान रहनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अर्जुनपर धावा किया ॥ १३ ॥

युधामन्युं महेष्वासं गौतमोऽभ्यपतद्रणे ।
कृतवर्मा च बलवानुत्तमौजसमाद्रवत् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य युद्धस्थलमें महाधनुर्धर युधामन्युपर टूट पड़े और बलवान् कृतवर्माने उत्तमौजापर आक्रमण किया ॥१४॥

भीमसेनः कुरून् सर्वान् पुत्रांश्च तव मारिष ।
सहानीकान् महाबाहुरेक एव न्यवारयत् ॥ १५ ॥

आर्य ! महाबाहु भीमसेनने अकेले ही सेनासहित समस्त कौरवों और आपके पुत्रोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥१५॥

शिखण्डी तु ततः कर्णं विचरन्तमभीतवत् ।
भीष्महन्ता महाराज वारयामास पत्रिभिः ॥ १६ ॥

महाराज ! तदनन्तर भीष्महन्ता शिखण्डीने निर्भय-से विचरते हुए कर्णको अपने बाणोंके प्रहारसे रोका ॥ १६ ॥

प्रतिरुद्धस्ततः कर्णो रोषात् प्रस्फुरिताधरः ।
शिखण्डिनं त्रिभिर्बाणैर्भ्रुवोर्मध्येऽभ्यताडयत् ॥ १७ ॥

अपनी गति अवरुद्ध हो जानेपर रोषके मारे कर्णके ओठ फड़कने लगे । उसने तीन बाणोंद्वारा शिखण्डीको उसकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

धारयंस्तु स तान् बाणाञ्शिखण्डी बह्वशोभत ।
राजतः पर्वतो यद्वत् त्रिभिः शृङ्गैरिवोत्थितैः ॥ १८ ॥

उन बाणोंको ललाटमें धारण किये शिखण्डी तीन उठे हुए शिखरोंसे संयुक्त रजतमय पर्वतके समान बड़ी शोभा पाने लगा ॥ १८ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सूतपुत्रेण संयुगे ।
कर्णं विव्याध समरे नवत्या निशितैः शरैः ॥ १९ ॥

युद्धस्थलमें सूतपुत्रके द्वारा अत्यन्त घायल किये हुए महाधनुर्धर शिखण्डीने नब्बे पैने बाणोंद्वारा कर्णको भी समर-भूमिमें घायल कर दिया ॥ १९ ॥

तस्य कर्णो हयान् हत्वा सारथिं च त्रिभिः शरैः ।
उन्ममाथ ध्वजं चास्य क्षुरप्रेण महारथः ॥ २० ॥

महारथी कर्णने शिखण्डीके घोड़ोंको मारकर तीन बाणों-द्वारा इसके सारथिको भी नष्ट कर दिया । फिर एक क्षुरप्र-द्वारा उसकी ध्वजाको काट गिराया ॥ २० ॥

हताश्वात्तु ततो यानादवप्लुत्य महारथः ।
शक्तिं चिक्षेप कर्णाय संक्रुद्धः शत्रुतापनः ॥ २१ ॥

उस अश्वहीन रथसे कूदकर कुपित हुए शत्रुसंतापी महारथी शिखण्डीने कर्णपर शक्ति चलायी ॥ २१ ॥

तां छित्त्वा समरे कर्णस्त्रिभिर्भारत सायकैः ।
शिखण्डिनमथाविध्यन्नवभिर्निशितैः शरैः ॥ २२ ॥

भारत ! समराङ्गणमें तीन बाणोंद्वारा उस शक्तिको काट-कर कर्णने नौ तीखे बाणोंसे शिखण्डीको भी घायल कर दिया॥

कर्णचापच्युतान् बाणान् वर्जयंस्तु नरोत्तमः।
अपयातस्ततस्तूर्णं शिखण्डी भृशविक्षतः॥ २३॥

तब अत्यन्त घायल हुआ नरश्रेष्ठ शिखण्डी कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे बचनेके लिये तुरंत वहाँसे भाग निकला॥ २३॥

ततः कर्णो महाराज पाण्डुसैन्यान्यशातयत्।
तूलराशिं समासाद्य यथा वायुर्महाबलः॥ २४॥

महाराज ! तदनन्तर महाबली कर्ण रूईके ढेरको वायुकी भाँति पाण्डव-सेनाओंको तहस-नहस करने लगा॥ २४॥

धृष्टद्युम्नो महाराज तव पुत्रेण पीडितः।
दुःशासनं त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे॥ २५॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्र दुःशासनसे पीड़ित हो धृष्टद्युम्नने तीन बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥ २५॥

तस्य दुःशासनो बाहुं सव्यं विव्याध मारिष।
स तेन रुक्मपुङ्खेन भल्लेनानतपर्वणा॥ २६॥
धृष्टद्युम्नस्तु निर्विद्धः शरं घोरममर्षणः।
दुःशासनाय संक्रुद्धः प्रेषयामास भारत॥ २७॥

आर्य ! दुःशासनने भी उसकी बायीं भुजाको बींध डाला। भारत ! सुनहरे पंख और झुकी हुई गाँठवाले भल्लसे घायल हुए अमर्षशील धृष्टद्युम्नने अत्यन्त कुपित हो दुःशासनपर एक भयंकर बाण चलाया॥ २६-२७॥

आपतन्तं महावेगं धृष्टद्युम्नसमीरितम्।
शरैश्चिच्छेद पुत्रस्ते त्रिभिरेव विशाम्पते॥ २८॥

प्रजानाथ ! धृष्टद्युम्नके चलाये हुए उस भयंकर वेग-शाली बाणको अपनी ओर आते देख आपके पुत्रने तीन ही बाणोंद्वारा उसे काट डाला॥ २८॥

अथान्यैः सप्तदशभिर्भल्लैः कनकभूषणैः।
धृष्टद्युम्नं समासाद्य बाह्वोरुरसि चार्पयत्॥ २९॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नके पास पहुँचकर उसने सुवर्ण-भूषित दूसरे सत्रह भल्लोंसे उसकी दोनों भुजाओं और छातीमें प्रहार किया॥ २९॥

ततः स पार्षतः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन तत उच्चुक्रुशुर्जनाः॥ ३०॥

आर्य ! तब कुपित हुए द्रुपदकुमारने अत्यन्त तीखे क्षुरप्रसे दुःशासनके धनुषको काट दिया। यह देख सब लोग कोलाहल कर उठे॥ ३०॥

अथान्यद् धनुरादाय पुत्रस्ते प्रहसन्निव।
धृष्टद्युम्नं शरव्रातैः समन्तात् पर्यवारयत्॥ ३१॥

तदनन्तर आपके पुत्रने हँसते हुए-से दूसरा धनुष हाथ-में लेकर अपने बाणसमूहोंद्वारा धृष्टद्युम्नको सब ओरसे अवरुद्ध कर दिया॥ ३१॥

तव पुत्रस्य ते दृष्ट्वा विक्रमं सुमहात्मनः।
व्यस्मयन्त रणे योधाः सिद्धाश्चाप्सरसां गणाः॥ ३२॥

आपके महामनस्वी पुत्रका वह पराक्रम देखकर रण-भूमिमें सब योद्धा विस्मित हो गये तथा आकाशमें सिद्धों और अप्सराओंके समूह भी आश्चर्य करने लगे॥ ३२॥

धृष्टद्युम्नं न पश्याम घटमानं महाबलम्।
दुःशासनेन संरुद्धं सिंहेनेव महागजम्॥ ३३॥

जैसे सिंह किसी महान् गजराजको काबूमें कर ले, उसी प्रकार दुःशासनसे अवरुद्ध हो यथाशक्ति छूटनेकी चेष्टा करनेवाले महाबली धृष्टद्युम्नको हम देख नहीं पाते थे॥३३॥

ततः सरथनागाश्वाः पञ्चालाः पाण्डुपूर्वज।
सेनापतिं परीप्सन्तो रुरुधुस्तनयं तव॥ ३४॥

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता राजन् ! तब सेनापति धृष्टद्युम्नकी रक्षाके लिये रथों, हाथियों और घोड़ोंसहित पाञ्चालोंने आपके पुत्रको चारों ओरसे घेर लिया॥ ३४॥

ततः प्रववृते युद्धं तावकानां परैः सह।
घोरं प्राणभृतां काले भीमरूपं परंतप॥ ३५॥

परंतप ! फिर तो उस समय शत्रुओंके साथ आपके सैनिकोंका घोर युद्ध होने लगा, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर था॥ ३५॥

नकुलं वृषसेनस्तु भित्त्वा पञ्चभिरायसैः।
पितुः समीपे तिष्ठन् वै त्रिभिरन्यैरविध्यत॥ ३६॥

अपने पिताके पास खड़े हुए वृषसेनने लोहेके पाँच बाणोंसे नकुलको घायल करके दूसरे तीन बाणोंद्वारा पुनः बींध डाला॥ ३६॥

नकुलस्तु ततः शूरो वृषसेनं हसन्निव।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन विव्याध हृदये भृशम्॥ ३७॥

तब शूरवीर नकुलने हँसते हुए-से अत्यन्त तीखे नाराच-द्वारा वृषसेनकी छातीमें गहरा आघात किया॥ ३७॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुकर्षण।
शत्रुं विव्याध विंशत्या स च तं पञ्चभिः शरैः॥ ३८॥

शत्रुसूदन ! बलवान् शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल हुए वृषसेनने अपने वैरी नकुलको बीस बाणोंसे बींध डाला। फिर नकुलने भी उसे पाँच बाणोंसे घायल कर दिया॥३८॥

ततः शरसहस्रेण तावुभौ पुरुषर्षभौ।
अन्योन्यमाच्छादयतामथोऽभज्यत वाहिनी॥ ३९॥

तदनन्तर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने सहस्रों बाणोंद्वारा एक दूसरेको आच्छादित कर दिया। इसी समय कौरव-सेनामें भगदड़ मच गयी॥ ३९॥

स दृष्ट्वा प्रद्रुतां सेनां धार्तराष्ट्रस्य सूतजः।
निवारयामास बलादनुसृत्य विशाम्पते॥ ४०॥

प्रजानाथ ! दुर्योधनकी सेनाको भागती देख सूतपुत्र कर्णने बलपूर्वक पीछा करके उसे रोका ॥ ४० ॥

निवृत्ते तु ततः कर्णे नकुलः कौरवान् ययौ।
कर्णपुत्रस्तु समरे हित्वा नकुलमेव तु ॥ ४१ ॥
जुगोप चक्रं त्वरितो राधेयस्यैव मारिष।

आर्य ! कर्णके लौट जानेपर नकुल कौरव-सैनिकोंकी ओर बढ़ चले और कर्णका पुत्र नकुलको छोड़कर समरभूमिमें शीघ्रतापूर्वक राधापुत्र कर्णके पहियोंकी ही रक्षा करने लगा ॥

उलूकस्तु रणे क्रुद्धः सहदेवेन वारितः ॥ ४२ ॥
तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सहदेवः प्रतापवान्।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥ ४३ ॥

उसी प्रकार रणभूमिमें कुपित हुए उलूकको सहदेवने रोक दिया। प्रतापी सहदेवने उलूकके चारों घोड़ोंको मारकर उसके सारथिको भी यमलोक भेज दिया ॥ ४२-४३ ॥

उलूकस्तु ततो यानादवप्लुत्य विशाम्पते।
त्रिगर्तानां बलं तूर्णं जगाम पितृनन्दनः ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर पिताको आनन्द देनेवाला उलूक उस रथसे कूदकर तुरंत ही त्रिगर्तोंकी सेनामें चला गया ॥

सात्यकिः शकुनिं विद्ध्वा विंशत्या निशितैः शरैः।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन सौबलस्य हसन्निव ॥ ४५ ॥

सात्यकिने बीस पैने बाणोंसे शकुनिको घायल करके हँसते हुए-से एक भल्लद्वारा सुबलपुत्रके ध्वजको भी काट दिया ॥ ४५ ॥

सौबलस्तस्य समरे क्रुद्धो राजन् प्रतापवान्।
विदार्य कवचं भूयो ध्वजं चिच्छेद काञ्चनम् ॥ ४६ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें कुपित हुए प्रतापी सुबलपुत्रने सात्यकिके कवचको छिन्न-भिन्न करके उनके सुवर्णमय ध्वजको भी काट दिया ॥ ४६ ॥

तथैनं निशितैर्बाणैः सात्यकिः प्रत्यविध्यत।
सारथिं च महाराज त्रिभिरेव समार्पयत् ॥ ४७ ॥

महाराज ! इसी प्रकार सात्यकिने भी उसे पैने बाणोंद्वारा घायल कर दिया और उसके सारथिपर भी तीन बाणोंका प्रहार किया ॥ ४७ ॥

अथास्य वाहांस्त्वरितः शरैर्निन्ये यमक्षयम्।
ततोऽवप्लुत्य सहसा शकुनिर्भरतर्षभ ॥ ४८ ॥
आरुरोह रथं तूर्णमुलूकस्य महात्मनः।

तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्रतापूर्वक बाण मारकर शकुनिके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया। भरतश्रेष्ठ ! तब शकुनि भी सहसा अपने रथसे कूदकर महामनस्वी उलूकके रथपर तुरंत जा चढ़ा ॥ ४८½ ॥

अपोवाहाथ शीघ्रं स शैनेयाद् युद्धशालिनः ॥ ४९ ॥
सात्यकिस्तु रणे राजंस्तावकानामनीकिनीम्।
अभिदुद्राव वेगेन ततोऽनीकमभज्यत ॥ ५० ॥

उलूक युद्धमें शोभा पानेवाले सात्यकिके निकटसे अपने रथको शीघ्र दूर हटा ले गया। राजन् ! तदनन्तर सात्यकिने रणभूमिमें आपके पुत्रोंकी सेनापर बड़े वेगसे आक्रमण किया। इससे उस सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ ४९-५० ॥

शैनेयशरसंछन्नं तव सैन्यं विशाम्पते।
भेजे दश दिशस्तूर्णं न्यपतच्च गतासुवत् ॥ ५१ ॥

प्रजानाथ ! सात्यकिके बाणोंसे ढकी हुई आपकी सेना शीघ्र ही दसों दिशाओंकी ओर भाग चली और प्राणहीन-सी होकर पृथ्वीपर गिरने लगी ॥ ५१ ॥

भीमसेनं तव सुतो वारयामास संयुगे।
तं तु भीमो मुहूर्तेन व्यश्वसूतरथध्वजम् ॥ ५२ ॥
चक्रे लोकेश्वरं तत्र तेनातुष्यन्त वै जनाः।

आपके पुत्र दुर्योधनने युद्धस्थलमें भीमसेनको रोका। भीमसेनने दो ही घड़ीमें इस जगत्के स्वामी दुर्योधनको घोड़े, सारथि, रथ और ध्वजसे वञ्चित कर दिया; इससे सब लोग बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५२½ ॥

ततोऽपायान्नृपस्तत्र भीमसेनस्य गोचरात् ॥ ५३ ॥
कुरुसैन्यं ततः सर्वं भीमसेनमुपाद्रवत्।
तत्र नादो महानासीद् भीमसेनं जिघांसताम् ॥ ५४ ॥

तब राजा दुर्योधन वहाँ भीमसेनके रास्तेसे दूर हट गया। फिर तो सारी कौरव-सेना भीमसेनपर टूट पड़ी। भीमसेनको मारनेकी इच्छासे आये हुए कौरवोंका महान् सिंहनाद सब ओर गूँज उठा ॥ ५३-५४ ॥

युधामन्युः कृपं विद्ध्वा धनुरस्याशु चिच्छिदे।
अथान्यद् धनुरादाय कृपः शस्त्रभृतां वरः ॥ ५५ ॥
युधामन्योर्ध्वजं सूतं छत्रं चापातयत् क्षितौ।
ततोऽपायाद् रथेनैव युधामन्युर्महारथः ॥ ५६ ॥

दूसरी ओर युधामन्युने कृपाचार्यको घायल करके तुरंत ही उनके धनुषको काट दिया। तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष हाथमें लेकर युधामन्युके ध्वज, सारथि और छत्रको धराशायी कर दिया। फिर तो महारथी युधामन्यु रथके द्वारा ही वहाँसे पलायन कर गया ॥५५-५६॥

उत्तमौजाश्च हार्दिक्यं भीमं भीमपराक्रमम्।
छादयामास सहसा मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ५७ ॥

दूसरी ओर उत्तमौजाने भयंकर पराक्रमी और भयानक रूपवाले कृतवर्माको अपने बाणोंद्वारा सहसा उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे मेघ जलकी वर्षाद्वारा पर्वतको ढक देता है ॥ ५७ ॥

तद् युद्धमासीत् सुमहद् घोररूपं परंतप।
यादृशं न मया युद्धं दृष्टपूर्वं विशाम्पते ॥ ५८ ॥

परंतप ! उन दोनोंका वह महान् युद्ध बड़ा भयंकर

था। प्रजानाथ ! वैसा युद्ध मैंने पहले कभी नहीं देखा था ॥

कृतवर्मा ततो राजन्नुत्तमौजसमाहवे।
हृदि विव्याध सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! तदनन्तर कृतवर्माने युद्धस्थलमें सहसा उत्तमौजाकी छातीमें गहरा आघात किया। उत्तमौजा अचेत-सा होकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ५९ ॥

सारथिस्तमपोवाह रथेन रथिनां वरम्।
कुरुसैन्यं ततः सर्वं भीमसेनमुपाद्रवत् ॥ ६० ॥

तब उसका सारथि रथियोंमें श्रेष्ठ उत्तमौजाको रथके द्वारा वहाँसे दूर हटा ले गया। फिर तो सारी कौरव सेना भीमसेनपर टूट पड़ी ॥ ६० ॥

दुःशासनः सौबलश्च गजानीकेन पाण्डवम्।
महता परिवार्यैव क्षुद्रकैरभ्यताडयत् ॥ ६१ ॥

दुःशासन और शकुनिने विशाल गजसेनाके द्वारा पाण्डुपुत्र भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर उनपर बाणोंका प्रहार आरम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥

ततो भीमः शरशतैर्दुर्योधनममर्षणम्।
विमुखीकृत्य तरसा गजानीकमुपाद्रवत् ॥ ६२ ॥

उस समय भीमसेनने सैकड़ों बाणोंकी मारसे अमर्षशील दुर्योधनको युद्धसे विमुख करके हाथियोंकी उस सेनापर वेगपूर्वक आक्रमण किया ॥ ६२ ॥

तमापतन्तं सहसा गजानीकं वृकोदरः।
दृष्ट्वैव सुभृशं क्रुद्धो दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ॥ ६३ ॥

सहसा अपनी ओर आती हुई उस गजसेनाको देखते ही भीमसेन अत्यन्त कुपित हो उठे और दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ ६३ ॥

गजैर्गजानभ्यहनद् वज्रेणेन्द्र इवासुरान्।
ततोऽन्तरिक्षं बाणौघैः शलभैरिव पादपम् ॥ ६४ ॥
छादयामास समरे गजान् निघ्नन् वृकोदरः।

जैसे इन्द्र वज्रके द्वारा असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार भीमसेनने हाथियोंसे ही हाथियोंको मार डाला। तत्पश्चात् हाथियोंका संहार करते हुए भीमसेनने समरभूमिमें अपने बाणसमूहोंद्वारा सारे आकाशको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे टिड्डियोंके दलोंसे वृक्ष आच्छादित हो जाता है ॥६४½॥

ततः कुञ्जरयूथानि समेतानि सहस्रशः ॥ ६५ ॥
व्यधमत् तरसा भीमो मेघसङ्घानिवानिलः।

इसके बाद भीमसेनने जैसे वायु मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार वहाँ एकत्र हुए हाथियोंके सहस्रों समूहोंको वेगपूर्वक नष्ट कर दिया ॥ ६५½ ॥

सुवर्णजालापिहिता मणिजालैश्च कुञ्जराः ॥ ६६ ॥
रेजुरभ्यधिकं संख्ये विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः।

सोने और मणियोंकी जालियोंसे ढके हुए वे हाथी युद्धस्थलमें बिजलियोंसहित मेघोंके समान अधिक प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६६½ ॥

ते वध्यमाना भीमेन गजा राजन् विदुद्रुवुः ॥ ६७ ॥
केचिद् विभिन्नहृदयाः कुञ्जरा न्यपतन् भुवि।

राजन् ! भीमसेनकी मार खाकर सारे हाथी भाग चले। कितने ही गजराज हृदय फट जानेके कारण पृथ्वीपर गिर पड़े॥

पतितैर्निपतद्भिश्च गजैर्हेमविभूषितैः ॥ ६८ ॥
अशोभत मही तत्र विशीर्णैरिव पर्वतैः।

गिरे और गिरते हुए सुवर्णभूषित हाथियोंसे ढकी हुई रणभूमि ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वहाँ ढेर-के-ढेर पर्वत-खण्ड बिखरे पड़े हों ॥ ६८½ ॥

दीप्ताभै रत्नवद्भिश्च पतितैर्गजयोधिभिः ॥ ६९ ॥
रराज भूमिः पतितैः क्षीणपुण्यैरिव ग्रहैः।

दीप्तिमती प्रभा तथा रत्नोंके आभूषण धारण करके गिरे हुए हाथीसवारोंसे वह भूमि वैसी ही शोभा पा रही थी, मानो पुण्य क्षीण हो जानेपर स्वर्गलोकके ग्रह वहाँ भूतलपर गिर पड़े हों ॥ ६९½ ॥

ततो भिन्नकटा नागा भिन्नकुम्भकरास्तथा ॥ ७० ॥
दुद्रुवुः शतशः संख्ये भीमसेनशराहताः।

तदनन्तर भीमसेनके बाणोंसे आहत हो फूटे गण्डस्थल, विदीर्ण कुम्भस्थल और छिन्न-भिन्न शुण्डदण्डवाले सैकड़ों हाथी युद्धस्थलमें भागने लगे ॥ ७०½ ॥

केचिद् वमन्तो रुधिरं भयार्ताः पर्वतोपमाः ॥ ७१ ॥
व्यद्रवञ्छरविद्धाङ्गा धातुचित्रा इवाचलाः।

भयसे पीड़ित हुए कितने ही पर्वताकार हाथी अपने सारे अङ्गोंमें बाणोंसे विद्ध होकर भयसे पीड़ित हो रक्त वमन करते हुए भागे जा रहे थे। उस समय विभिन्न धातुओंके कारण विचित्र दिखायी देनेवाले पर्वतोंके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥ ७१½ ॥

महाभुजगसंकाशौ चन्दनागुरुरूषितौ ॥ ७२ ॥
अपश्यं भीमसेनस्य धनुर्विक्षिपतो भुजौ।

धनुष खींचते हुए भीमसेनकी चन्दन और अगुरुसे चर्चित भुजाएँ मुझे दो बड़े सर्पोंके समान दिखायी देती थीं॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं श्रुत्वाशनिसमस्वनम् ॥ ७३ ॥
विमुञ्चन्तः शकृन्मूत्रं गजाः प्रादुद्रुवुर्भृशम्।

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान उनकी प्रत्यञ्चाकी भयंकर टङ्कार सुनकर बहुत-से हाथी मल-मूत्र करते हुए बड़े जोरसे भाग रहे थे ॥ ७३½ ॥

भीमसेनस्य तत् कर्म राजन्नेकस्य धीमतः।
निघ्नतः सर्वभूतानि रुद्रस्येव च निर्बभौ ॥ ७४ ॥

राजन्! अकेले बुद्धिमान् भीमसेनका वह कर्म समस्त प्राणियोंका संहार करते हुए रुद्रके समान जान पड़ता था ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ½ श्लोक मिलाकर कुल ७४½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरपर कौरवसैनिकोंका आक्रमण

संजय उवाच

ततः श्वेताश्वसंयुक्ते नारायणसमाहिते।
तिष्ठन् रथवरे श्रीमानर्जुनः समपद्यत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सावधानीसे संचालित और श्वेत घोड़ोंसे युक्त उत्तमरथपर खड़े हुए श्रीमान् अर्जुन वहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

तद् बलं नृपतिश्रेष्ठ तावकं विजयो रणे।
व्यक्षोभयदुदीर्णाश्वं महोदधिमिवानिलः ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ! जैसे प्रचण्ड वायु महासागरको विक्षुब्ध कर देती है, उसी प्रकार रणभूमिमें स्थित प्रचण्ड अश्वोंसे युक्त आपकी सेनामें अर्जुनने हलचल मचा दी ॥ २ ॥

दुर्योधनस्तव सुतः प्रमत्ते श्वेतवाहने।
अभ्येत्य सहसा क्रुद्धः सैन्यार्धेनाभिसंवृतः ॥ ३ ॥
पर्यवारयदायान्तं युधिष्ठिरममर्षणम्।
क्षुरप्राणां त्रिसप्तत्या ततोऽविध्यत पाण्डवम् ॥ ४ ॥

जब श्वेतवाहन अर्जुन असावधान थे, उसी समय क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने सहसा आधी सेनाके साथ आकर अपनी ओर आते हुए अमर्षशील पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेर लिया। साथ ही तिहत्तर क्षुरप्रोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३-४ ॥

अक्रुध्यत भृशं तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
स भल्लांस्त्रिंशतस्तूर्णं तव पुत्रे न्यवेशयत् ॥ ५ ॥

तब वहाँ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे। उन्होंने आपके पुत्रपर तीस भल्लोंका प्रहार किया ॥ ५ ॥

ततोऽधावन्त कौरव्या जिघृक्षन्तो युधिष्ठिरम्।
दुष्टभावान् परान् ज्ञात्वा समवेता महारथाः ॥ ६ ॥
आजग्मुस्तं परीप्सन्तः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।

तदनन्तर कौरव-सैनिक युधिष्ठिरको पकड़नेके लिये दौड़े। शत्रुओंकी यह दुर्भावना जानकर एकत्र हुए पाण्डव-महारथी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये वहाँ आ पहुँचे ६½

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ७ ॥
अक्षौहिण्या परिवृतास्तेऽभ्यधावन् युधिष्ठिरम्।

नकुल, सहदेव और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास दौड़े आये ॥ ७½ ॥

भीमसेनश्च समरे मृद्नंस्तव महारथान् ॥ ८ ॥
अभ्यधावदभिप्रेप्सू राजानं शत्रुभिर्वृतम्।

भीमसेन भी शत्रुओंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरको बचानेके लिये समराङ्गणमें आपके महारथियोंको रौंदते हुए उनके पास दौड़े आये ॥ ८½ ॥

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् कर्णो वैकर्तनो नृप ॥ ९ ॥
शरवर्षेण महता प्रत्यवारयदागतान्।

नरेश्वर! वैकर्तन कर्णने वहाँ आये हुए सम्पूर्ण महाधनुर्धरोंको अपने बाणोंकी भारी वर्षासे रोक दिया ॥ ९½ ॥

शरौघान् विसृजन्तस्ते प्रेरयन्तश्च तोमरान् ॥ १० ॥
न शेकुर्यत्नवन्तोऽपि राधेयं प्रतिवीक्षितुम्।

वे सब महारथी प्रयत्नपूर्वक बाणसमूहोंकी वर्षा और तोमरोंका प्रहार करते हुए भी राधापुत्रको देख न सके १०½

तांश्च सर्वान् महेष्वासान् सर्वशस्त्रास्त्रपारगः ॥ ११ ॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत्।

सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारंगत विद्वान् राधापुत्र कर्णने बड़ी भारी बाणवर्षा करके उन समस्त धनुर्धरोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११½ ॥

दुर्योधनं च विंशत्या शीघ्रमस्त्रमुदीरयन् ॥ १२ ॥
अविध्यत् तूर्णमभ्येत्य सहदेवः प्रतापवान्।

इसी समय प्रतापी सहदेवने आकर शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाते हुए तुरंत ही बीस बाणोंसे दुर्योधनको बींध डाला १२½

स विद्धः सहदेवेन रराजाचलसंनिभः ॥ १३ ॥
प्रभिन्न इव मातङ्गो रुधिरेण परिप्लुतः।

सहदेवके बाणोंसे विद्ध होकर दुर्योधन अनेक शिखरोंवाले पर्वतके समान सुशोभित हुआ। खूनसे लथपथ होकर वह मदकी धारा बहानेवाले मदमत्त हाथीके समान जान पड़ता था ॥ १३½ ॥

दृष्ट्वा तव सुतं तत्र गाढविद्धं सुतेजनैः ॥ १४ ॥
अभ्यधावद् दृढं क्रुद्धो राधेयो रथिनां वरः।

रथियोंमें श्रेष्ठ राधापुत्र कर्ण आपके पुत्रको तेज बाणोंसे अत्यन्त घायल हुआ देख कुपित होकर दौड़ा ॥ १४½ ॥

दुर्योधनं तथा दृष्ट्वा शीघ्रमस्त्रमुदैरयत् ॥ १५ ॥
तेन यौधिष्ठिरं सैन्यमवधीत् पार्षतं तथा ।

दुर्योधनकी वैसी अवस्था देख उसने शीघ्र अपना अस्त्र प्रकट किया और उसीके द्वारा युधिष्ठिरकी सेना एवं द्रुपदपुत्र-को घायल कर दिया ॥ १५½ ॥

ततो यौधिष्ठिरं सैन्यं वध्यमानं महात्मना ॥ १६ ॥
सहसा प्राद्रवद् राजन् सूतपुत्रशरार्दितम् ।

राजन् ! महामना सूतपुत्र कर्णकी मार खाकर उसके बाणोंसे पीड़ित हो युधिष्ठिरकी सेना सहसा भाग चली ।१६½।

विविधा विशिखास्तत्र सम्पतन्तः परस्परम् ॥ १७ ॥
फलैः पुङ्खान् समाजग्मुः सूतपुत्रधनुश्च्युताः ।

सूतपुत्र कर्णके धनुषसे छूटकर परस्पर गिरते हुए नाना प्रकारके बाण अपने फलोंद्वारा पहलेके गिरे हुए बाणोंके पंखोंमें जुड़ जाते थे ॥ १७½ ॥

अन्तरिक्षे शरौघाणां पततां च परस्परम् ॥ १८ ॥
संघर्षेण महाराज पावकः समजायत ।

महाराज ! आकाशमें परस्पर टकराते हुए बाणसमूहोंकी रगड़से आग प्रकट हो जाती थी ॥ १८½ ॥

ततो दश दिशः कर्णः शलभैरिव यायिभिः ॥ १९ ॥
अभ्यहंस्तरसा राजञ्शरैः परशरीरगैः ।

राजन् ! तदनन्तर कर्णने पतङ्गोंकी तरह चलकर शत्रुओंके शरीरोंमें घुस जानेवाले बाणोंद्वारा वेगपूर्वक दसों दिशाओंमें प्रहार आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

रक्तचन्दनसंदिग्धौ मणिहेमविभूषितौ ॥ २० ॥
बाहू व्यत्यक्षिपत् कर्णः परमास्त्रं विदर्शयन् ।

दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करता हुआ कर्ण मणि एवं सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित तथा लाल चन्दनसे चर्चित दोनों भुजाओंको बारंबार हिला रहा था ॥ २०½ ॥

ततः सर्वा दिशो राजन् सायकैर्विप्रमोहयन् ॥ २१ ॥
अपीडयद् भृशं कर्णो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

राजन् ! तत्पश्चात् अपने बाणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको मोहित करते हुए कर्णने धर्मराज युधिष्ठिरको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ २१½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निशितैरिषुभिः कर्णं पञ्चाशद्भिः समार्पयत् ।

महाराज ! इससे कुपित हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कर्णपर पचास पैने बाणोंका प्रहार किया ॥ २२½ ॥

बाणान्धकारमभवत्तद् युद्धं घोरदर्शनम् ॥ २३ ॥
हाहाकारो महानासीत्तावकानां विशाम्पते ।
वध्यमाने तदा सैन्ये धर्मपुत्रेण मारिष ॥ २४ ॥

उस समय भयंकर दिखायी देनेवाला वह युद्ध बाणोंके अन्धकारसे व्याप्त हो गया । माननीय प्रजानाथ ! जब धर्मपुत्र युधिष्ठिर कौरवसेनाका वध करने लगे, उस समय आपके योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर गूँज उठा ॥ २३-२४ ॥

सायकैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।
भल्लैरनेकैर्विविधैः शक्त्यृष्टिमुसलैरपि ॥ २५ ॥
यत्र यत्र स धर्मात्मा दुष्टां दृष्टिं व्यसर्जयत् ।
तत्र तत्र व्यशीर्यन्त तावका भरतर्षभ ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्मात्मा युधिष्ठिर शिलापर तेज किये हुए कङ्कपत्रयुक्त एवं नाना प्रकारके पैने बाणों, भाँति-भाँतिके बहुसंख्यक भल्लों तथा शक्ति, ऋष्टि एवं मुसलोंद्वारा प्रहार करते हुए जहाँ-जहाँ क्रोधरूपी दोषसे पूर्ण दृष्टि डालते थे, वहीं-वहीं आपके सैनिक छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते थे ॥ २५–२६ ॥

कर्णोऽपि भृशसंक्रुद्धो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
नाराचैरर्धचन्द्रैश्च वत्सदन्तैश्च संयुगे ॥ २७ ॥
अमर्षी क्रोधनश्चैव रोषप्रस्फुरिताननः ।
सायकैरप्रमेयात्मा युधिष्ठिरमभिद्रवत् ॥ २८ ॥

कर्ण भी अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ था । वह अमर्षशील और क्रोधी तो था ही, रोषसे उसका मुख फड़क रहा था । अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न उस वीरने युद्धस्थलमें नाराचों, अर्धचन्द्रों तथा वत्सदन्तोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ २७–२८ ॥

युधिष्ठिरश्चापि स तं स्वर्णपुङ्खैः शितैः शरैः ।
प्रहसन्निव तं कर्णः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ॥ २९ ॥
उरस्यविध्यद् राजानं त्रिभिर्भल्लैश्च पाण्डवम् ।

इसी प्रकार युधिष्ठिरने भी कर्णको सोनेकी पाँखवाले पैने बाणोंद्वारा घायल कर दिया । तब कर्णने हँसते हुए-से शिला-पर तेज किये गये कङ्कपत्रयुक्त तीन भल्लोंद्वारा पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २९½ ॥

स पीडितो भृशं तेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥
उपविश्य रथोपस्थे सूतं याहीत्यचोदयत् ।

उस प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित हो धर्मराज युधिष्ठिर रथके पिछले भागमें बैठ गये और सारथिको आदेश देते हुए बोले—'यहाँसे अन्यत्र रथ ले चलो' ॥ ३०½ ॥

अक्रोशन्त ततः सर्वे धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ३१ ॥
गृह्णीध्वमिति राजानमभ्यधावन्त सर्वशः ।

उस समय राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र इस प्रकार कोलाहल करने लगे—'राजा युधिष्ठिरको पकड़ लो' ऐसा कहकर वे सभी ओरसे उनकी ओर दौड़ पड़े ॥३१½॥

ततः शताः सप्तदश केकयानां प्रहारिणाम् ॥ ३२ ॥
पञ्चालैः सहिता राजन् धार्तराष्ट्रान् न्यवारयन् ।

राजन्! तब प्रहारकुशल सत्रह सौ केकय योद्धा पाञ्चालोंके साथ आकर आपके पुत्रोंको रोकने लगे ॥ ३२½ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने जनक्षये ॥ ३३ ॥
दुर्योधनश्च भीमश्च समेयातां महाबलौ ॥ ३४ ॥

जिस समय वह जनसंहारकारी भयंकर युद्ध चल रहा था, उस समय महाबली दुर्योधन और भीमसेन एक दूसरेसे जूझने लगे ॥ ३३-३४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

कर्णद्वारा नकुल-सहदेवसहित युधिष्ठिरकी पराजय एवं पीड़ित होकर युधिष्ठिरका अपनी छावनीमें जाकर विश्राम करना

संजय उवाच

कर्णोऽपि शरजालेन केकयानां महारथान्।
व्यधमत् परमेष्वासानग्रतः पर्यवस्थितान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! कर्ण भी अपने बाण-समूहसे सामने खड़े हुए महाधनुर्धर केकय-महारथियोंका विनाश करने लगा ॥ १ ॥

तेषां प्रयतमानानां राधेयस्य निवारणे।
रथान् पञ्चशतान् कर्णः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २ ॥

राधापुत्र कर्णको रोकनेके लिये प्रयत्न करनेवाले पाँच सौ रथियोंको उसने यमलोक पहुँचा दिया ॥ २ ॥

अविषह्यं ततो दृष्ट्वा राधेयं युधि योधिनः।
भीमसेनमुपागच्छन् कर्णबाणप्रपीडिताः ॥ ३ ॥

कर्णके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हुए पाण्डव-योद्धा युद्ध-स्थलमें राधापुत्र कर्णको असह्य देखकर भीमसेनके पास चले आये ॥ ३ ॥

रथानीकं विदार्यैव शरजालैरनेकधा।
कर्ण एकरथेनैव युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर कर्णने अपने बाणोंके समूहसे पाण्डवोंकी रथ-सेनाको अनेक भागोंमें विदीर्ण करके एकमात्र रथके द्वारा ही युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ ४ ॥

सेनानिवेशमार्च्छन्तं मार्गणैः क्षतविक्षतम्।
यमयोर्मध्यगं वीरं शनैर्यान्तं विचेतसम् ॥ ५ ॥
समासाद्य तु राजानं दुर्योधनहितेप्सया।
सूतपुत्रस्त्रिभिस्तीक्ष्णैर्विव्याध परमेषुभिः ॥ ६ ॥

उस समय वीर युधिष्ठिर बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अचेत-से हो रहे थे और नकुल-सहदेवके बीचमें होकर धीरे-धीरे छावनीकी ओर जा रहे थे। उस अवस्थामें राजा युधिष्ठिरके पास पहुँचकर सूतपुत्र कर्णने दुर्योधनके हितकी इच्छासे परम उत्तम तीन तीखे बाणोंद्वारा उन्हें पुनः घायल कर दिया ॥ ५-६ ॥

तथैव राजा राधेयं प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
शरैस्त्रिभिश्च यन्तारं चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ ७ ॥

इसी प्रकार राजा युधिष्ठिरने भी राधापुत्र कर्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। फिर तीन बाणोंसे सारथिको और चारसे चारों घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

चक्ररक्षौ तु पार्थस्य माद्रीपुत्रौ परंतपौ।
तावप्यधावतां कर्णं राजानं मा वधीरिति ॥ ८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले माद्रीकुमार नकुल और सहदेव राजा युधिष्ठिरके चक्ररक्षक थे। वे दोनों भी यह सोचकर कर्णकी ओर दौड़े कि यह राजा युधिष्ठिरका वध न कर डाले ॥

तौ पृथक् शरवर्षाभ्यां राधेयमभ्यवर्षताम्।
नकुलः सहदेवश्च परमं यत्नमास्थितौ ॥ ९ ॥

नकुल और सहदेव दोनों भाई उत्तम प्रयत्नका सहारा लेकर राधापुत्र कर्णपर पृथक्-पृथक् बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

तथैव तौ प्रत्यविध्यत् सूतपुत्रः प्रतापवान्।
भल्लाभ्यां शितधाराभ्यां महात्मानावरिंदमौ ॥ १० ॥

इसी प्रकार प्रतापी सूतपुत्रने भी तेज धारवाले दो भल्लोंद्वारा शत्रुओंका दमन करनेवाले उन दोनों महामनस्वी वीरोंको घायल कर दिया ॥ १० ॥

दन्तवर्णांस्तु राधेयो निजघान मनोजवान्।
युधिष्ठिरस्य संग्रामे कालवालान् हयोत्तमान् ॥ ११ ॥

जिनकी पूँछ और गर्दनके बाल काले तथा शरीरका रंग श्वेत था और जो मनके समान तीव्र वेगसे चलनेवाले थे, युधिष्ठिरके उन उत्तम घोड़ोंको संग्रामभूमिमें राधापुत्र कर्णने मार डाला ॥ ११ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन शिरस्त्राणमपातयत्।
कौन्तेयस्य महेष्वासः प्रहसन्निव सूतजः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् महाधनुर्धर सूतपुत्रने हँसते हुए-से एक दूसरे भल्लके द्वारा कुन्तीकुमारके शिरस्त्राणको नीचे गिरा दिया ॥

तथैव नकुलस्यापि हयान् हत्वा प्रतापवान् ।
ईषां धनुश्च चिच्छेद माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १३ ॥

इसी प्रकार प्रतापी कर्णने बुद्धिमान् माद्रीकुमार नकुलके भी घोड़ोंको मारकर ईषादण्ड और धनुषको भी काट दिया ॥

तौ हताश्वौ हतरथौ पाण्डवौ भृशविक्षतौ ।
भ्रातरावारुरुहतुः सहदेवरथं तदा ॥ १४ ॥

घोड़ों एवं रथोंके नष्ट हो जानेपर अत्यन्त घायल हुए वे दोनों भाई पाण्डव उस समय सहदेवके रथपर जा चढ़े ॥

तौ दृष्ट्वा मातुलस्तत्र विरथौ परवीरहा ।
अभ्यभाषत राधेयं मद्रराजोऽनुकम्पया ॥ १५ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मामा मद्रराज शल्यने उन दोनों भाइयोंको रथहीन हुआ देख कृपापूर्वक राधापुत्र कर्णसे कहा—॥ १५ ॥

योद्धव्यमद्य पार्थेन फाल्गुनेन त्वया सह ।
किमर्थं धर्मराजेन युध्यसे भृशरोषितः ॥ १६ ॥

'कर्ण ! आज तुम्हें कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करना है । फिर अत्यन्त रोषमें भरकर धर्मराजके साथ किस लिये जूझ रहे हो ? ॥ १६ ॥

क्षीणशस्त्रास्त्रकवचः क्षीणबाणो विबाणधिः ।
श्रान्तसारथिवाहश्च च्छन्नोऽस्त्रैररिभिस्तथा ॥ १७ ॥
पार्थमासाद्य राधेय उपहास्यो भविष्यसि ।

'इनके अस्त्र-शस्त्र और कवच नष्ट हो गये हैं। तीर और तरकस भी कट गये हैं । सारथि और घोड़े भी थके हुए हैं तथा शत्रुओंने इन्हें अस्त्रोंद्वारा आच्छादित कर दिया है । राधानन्दन ! अर्जुनके सामने पहुँचकर तुम उपहासके पात्र बन जाओगे' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तोऽपि कर्णस्तु मद्रराजेन संयुगे ॥ १८ ॥
तथैव कर्णः संरब्धो युधिष्ठिरमताडयत् ।
शरैस्तीक्ष्णैः पराविध्य माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १९ ॥
प्रहस्य समरे कर्णश्चकार विमुखं शरैः ।

युद्धस्थलमें मद्रराज शल्यके ऐसा कहनेपर भी कर्ण पूर्ववत् रोषमें भरकर युधिष्ठिरको बाणोंद्वारा पीड़ित करता रहा। माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवको तीखे बाणोंसे घायल करके कर्णने हँसकर समराङ्गणमें बाणोंके प्रहारसे] युधिष्ठिरको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ १८-१९½ ॥

ततः शल्यः प्रहस्येदं कर्णं पुनरुवाच ह ॥ २० ॥
रथस्थमतिसंरब्धं युधिष्ठिरवधे धृतम् ।

तब शल्यने हँसकर युधिष्ठिरके वधका दृढ़ निश्चय किये अत्यन्त क्रोधमें भरकर रथपर बैठे हुए कर्णसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ २०½ ॥

यदर्थं धार्तराष्ट्रेण सततं मानितो भवान् ॥ २१ ॥
तं पार्थं जहि राधेय किं ते हत्वा युधिष्ठिरम् ।

'राधापुत्र ! दुर्योधनने जिनसे जूझनेके लिये तुम्हारा सदा सम्मान किया है, उन कुन्तीकुमार अर्जुनको मारो । युधिष्ठिरका वध करनेसे तुम्हें क्या मिलेगा ? ॥ २१½ ॥

(हते ह्यस्मिन् ध्रुवं पार्थः सर्वाञ्जेष्यति नो रथान् ।
तस्मिन् हि धार्तराष्ट्रस्य निहते तु ध्रुवो जयः ॥

'इनके मारे जानेपर अर्जुन निश्चय ही हमारे सारे महारथियोंको जीत लेंगे । परंतु अर्जुनके मारे जानेपर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी विजय अवश्यम्भावी है ॥

ध्वजोऽसौ दृश्यते तस्य रोचमानोंऽशुमानिव ।
एनं जहि महाबाहो किं ते हत्वा युधिष्ठिरम् ॥)

'महाबाहो ! अर्जुनका यह सूर्यके समान प्रकाशमान ध्वज दिखायी देता है । तुम इन्हींको मारो, युधिष्ठिरका वध करनेसे तुम्हारा क्या लाभ है ? ॥

शङ्खयोर्ध्मायतोः शब्दः सुमहानेष कृष्णयोः ॥ २२ ॥
श्रूयते चापघोषोऽयं प्रावृषीवाम्बुदस्य ह ।

'श्रीकृष्ण और अर्जुन शङ्ख बजा रहे हैं, जिनका यह महान् शब्द सुनायी पड़ता है । वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान उनके धनुषका यह गम्भीर घोष कानोंमें पड़ रहा है ॥ २२½ ॥

असौ निघ्नन् रथोदारानर्जुनः शरवृष्टिभिः ॥ २३ ॥
सर्वां ग्रसति नः सेनां कर्ण पश्यैनमाहवे ।

'कर्ण ! ये अर्जुन अपने बाणोंकी वर्षासे बड़े-बड़े रथियोंका संहार करते हुए हमारी सारी सेनाको कालका ग्रास बना रहे हैं । युद्धस्थलमें इनकी ओर तो देखो ॥ २३½ ॥

पृष्ठरक्षौ च शूरस्य युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ २४ ॥
उत्तरं चास्य वै शूरश्चक्रं रक्षति सात्यकिः ।
धृष्टद्युम्नस्तथा चास्य चक्रं रक्षति दक्षिणम् ॥ २५ ॥

'शूरवीर अर्जुनके पृष्ठभागकी रक्षा युधामन्यु और उत्तमौजा कर रहे हैं । शौर्यसम्पन्न सात्यकि उनके उत्तर (बायें) चक्रकी रक्षा करते हैं और धृष्टद्युम्न दाहिने चक्रकी ॥ २४-२५ ॥

भीमसेनश्च वै राज्ञा धार्तराष्ट्रेण युध्यते ।
यथा न हन्यात्तं भीमः सर्वेषां नोऽद्य पश्यताम् ॥ २६ ॥
तथा राधेय क्रियतां राजा मुच्येत नो यथा ।

'भीमसेन राजा दुर्योधनके साथ युद्ध करते हैं । राधानन्दन ! हम सब लोगोंके देखते-देखते आज भीमसेन जिस प्रकार उसे मार न डालें, वैसा प्रयत्न करो । जैसे भी सम्भव हो, हमारे राजाको भीमसेनसे छुटकारा मिलना ही चाहिये२६½

पश्यैनं भीमसेनेन ग्रस्तमाहवशोभिनम् ॥ २७ ॥
यदि त्वासाद्य मुच्येत विस्मयः सुमहान् भवेत् ।

'देखो, युद्धमें शोभा पानेवाले दुर्योधनको भीमसेनने ग्रस लिया है । यदि तुम्हें पाकर वह संकटसे छूट जाय तो

यह महान् आश्चर्यकी घटना होगी ॥ २७½ ॥

परित्राह्येनमभ्येत्य संशयं परमं गतम् ॥ २८ ॥
किं तु माद्रीसुतौ हत्वा राजानं च युधिष्ठिरम् ।

'तुम चलकर जीवनके भारी संशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनको बचाओ। आज माद्रीकुमार नकुल-सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरका वध करके क्या होगा?' ॥ २८½ ॥

इति शल्यवचः श्रुत्वा राधेयः पृथिवीपते ॥ २९ ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनं चैव भीमग्रस्तं महाहवे ।
राजगृद्धी भृशं चैव शल्यवाक्यप्रचोदितः ॥ ३० ॥
अजातशत्रुमुत्सृज्य माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
तव पुत्रं परित्रातुमभ्यधावत वीर्यवान् ॥ ३१ ॥

पृथ्वीनाथ! शल्यकी यह बात सुनकर तथा महासमरमें दुर्योधनको भीमसेनसे ग्रस्त हुआ देखकर शल्यके वचनोंसे प्रेरित हो राजाको अधिक चाहनेवाला पराक्रमी कर्ण अजातशत्रु युधिष्ठिर और माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवको छोड़कर आपके पुत्रकी रक्षा करनेके लिये दौड़ा ॥२९-३१॥

मद्रराजप्रणुदितैरश्वैराकाशगैरिव ।
गते कर्णे तु कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥
अपायाज्जवनैरश्वैः सहदेवश्च मारिष ।

माननीय नरेश! मद्रराज शल्यके हाँके हुए घोड़े ऐसे भाग रहे थे, मानो आकाशमें उड़ रहे हों। कर्णके चले जानेपर कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और सहदेव तीव्रगामी घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग गये ॥ ३२½ ॥

ताभ्यां स सहितस्तूर्णं व्रीडन्निव नरेश्वरः ॥ ३३ ॥
प्राप्य सेनानिवेशं च मार्गणैः क्षतविक्षतः ।
अवतीर्णो रथात्तूर्णमाविशच्छयनं शुभम् ॥ ३४ ॥

नकुल और सहदेवके साथ वे नरेश लज्जित होते हुए-से तुरंत छावनीमें पहुँचकर रथसे उतर पड़े और सुन्दर शय्यापर लेट गये। उस समय उनका सारा शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था ॥ ३३-३४ ॥

अपनीतशल्यः सुभृशं हृच्छल्याभिनिपीडितः ।
सोऽब्रवीद्भ्रातरौ राजा माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ३५ ॥

वहाँ उनके शरीरसे बाण निकाल दिये गये तो भी हृदयमें जो अपमानका काँटा गड़ गया था, उससे वे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उस समय राजा दोनों भाई माद्रीकुमार महारथी नकुल-सहदेवसे इस प्रकार बोले ॥ ३५ ॥

(युधिष्ठिर उवाच
गच्छतां त्वरितौ वीरौ यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥)
अनीकं भीमसेनस्य पाण्डवावाशु गच्छताम् ।
जीमूत इव नर्दंस्तु युध्यते स वृकोदरः ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—वीर पाण्डुकुमारो! तुम दोनों शीघ्रतापूर्वक जहाँ भीमसेन खड़े हैं, वहाँ उनकी सेनामें जाओ। वहाँ भीमसेन मेघके समान गम्भीर गर्जना करते हुए युद्ध कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय नकुलो रथपुङ्गवः ।
सहदेवश्च तेजस्वी भ्रातरौ शत्रुकर्षणौ ॥ ३७ ॥
तुरगैरग्र्यरंहोभिर्यात्वा भीमस्य शुष्मिणौ ।
अनीकैः सहितौ तत्र भ्रातरौ समवस्थितौ ॥ ३८ ॥

तदनन्तर दूसरे रथपर बैठकर रथियोंमें श्रेष्ठ नकुल और तेजस्वी सहदेव वे दोनों शत्रुसूदन बन्धु तीव्र वेगवाले घोड़ोंद्वारा भीमसेनके पास जा पहुँचे। फिर वे दोनों बलवान् भाई भीमसेनके सैनिकोंके साथ खड़े होकर युद्ध करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धर्मापयाने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरका पलायन विषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा अश्वत्थामाकी पराजय, कौरवसेनामें भगदड़ एवं दुर्योधनसे प्रेरित कर्णद्वारा भार्गवास्त्रसे पाञ्चालोंका संहार

संजय उवाच

द्रौणिस्तु रथवंशेन महता परिवारितः ।
अपतत्सहसा राजन् यत्र पार्थो व्यवस्थितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा विशाल

रथसेनासे घिरा सहसा वहाँ आ पहुँचा, जहाँ अर्जुन खड़े थे॥

तमापतन्तं सहसा शूरः शौरिसहायवान्।
दधार सहसा पार्थो वेलेव मकरालयम्॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सहायक थे, उन शूरवीर कुन्तीकुमार अर्जुनने सहसा अपनी ओर आते हुए अश्वत्थामाको तत्काल उसी तरह रोक दिया, जैसे तटभूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकती है॥ २॥

ततः क्रुद्धो महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
अर्जुनं वासुदेवं च छादयामास सायकैः॥ ३॥

महाराज! तब क्रोधमें भरे हुए प्रतापी द्रोणपुत्रने अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने बाणोंसे ढक दिया॥ ३॥

अवच्छन्नौ ततः कृष्णौ दृष्ट्वा तत्र महारथाः।
विस्मयं परमं गत्वा प्रैक्षन्त कुरवस्तदा॥ ४॥

उस समय उन दोनोंको बाणोंद्वारा आच्छादित हुआ देख समस्त कौरव महारथी महान् आश्चर्यमें पड़कर उधर ही देखने लगे॥ ४॥

अर्जुनस्तु ततो दिव्यमस्त्रं चक्रे हसन्निव।
तदस्त्रं वारयामास ब्राह्मणो युधि भारत॥ ५॥

भारत! तब अर्जुनने हँसते हुए-से दिव्यास्त्र प्रकट किया; परंतु ब्राह्मण अश्वत्थामाने युद्धस्थलमें उनके उस दिव्यास्त्रका निवारण कर दिया॥ ५॥

यद् यद्धि व्याक्षिपद् युद्धे पाण्डवोऽस्त्रजिघांसया।
तत् तदस्त्रं महेष्वासो द्रोणपुत्रो व्यशातयत्॥ ६॥

रणभूमिमें पाण्डुकुमार अर्जुन अश्वत्थामाके अस्त्रोंको नष्ट करनेके लिये जो-जो अस्त्र चलाते थे, महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा उनके उस-उस अस्त्रको काट गिराता था॥ ६॥

अस्त्रयुद्धे ततो राजन् वर्तमाने महाभये।
अपश्याम रणे द्रौणिं व्यात्ताननमिवान्तकम्॥ ७॥

राजन्! इस प्रकार महाभयंकर अस्त्र-युद्ध आरम्भ होनेपर हमलोगोंने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको मुँह बाये हुए यमराजके समान देखा था॥ ७॥

स दिशः प्रदिशश्चैव च्छादयित्वा ह्यजिह्मगैः।
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैरविध्यद् दक्षिणे भुजे॥ ८॥

उसने सीधे जानेवाले बाणोंके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजामें तीन बाण मारे॥ ८॥

ततोऽर्जुनो हयान् हत्वा सर्वांस्तस्य महात्मनः।
चकार समरे भूमिं शोणितौघतरङ्गिणीम्॥ ९॥

तब अर्जुनने उस महामनस्वी वीरके समस्त घोड़ोंको मारकर समरभूमिमें खूनकी नदी-सी बहा दी॥ ९॥

सर्वलोकवहां रौद्रां परलोकवहां नदीम्।
सरथान् रथिनः सर्वान् पार्थचापच्युतैः शरैः॥ १०॥
द्रौणेरपहतान् संख्ये ददृशुः स च तां तथा।
प्रावर्तयन्महाघोरां नदीं परवहां तदा॥ ११॥

वह रक्तमयी भयंकर सरिता परलोकवाहिनी थी और सब लोगोंको अपने प्रवाहमें बहाये लिये जाती थी। वहाँ खड़े हुए सब लोगोंने देखा कि अश्वत्थामाके सारे रथी अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें मारे गये। स्वयं अश्वत्थामाने भी उनकी वह अवस्था देखी। उस समय उसने भी महाभयंकर परलोकवाहिनी नदी बहा दी॥ १०-११॥

तयोस्तु व्याकुले युद्धे द्रौणेः पार्थस्य दारुणे।
अमर्यादं योधयन्तः पर्यधावन्त पृष्ठतः॥ १२॥

अश्वत्थामा और अर्जुनके उस भयंकर एवं घमासान युद्धमें सब योद्धा मर्यादारहित होकर युद्ध करते हुए आगे-पीछे सब ओर भागने लगे॥ १२॥

रथैर्हताश्वसूतैश्च हतारोहैश्च वाजिभिः।
द्विरदैश्च हतारोहैर्महामात्रैर्हतद्विपैः॥ १३॥
पार्थेन समरे राजन् कृतो घोरो जनक्षयः।
विहता रथिनः पेतुः पार्थचापच्युतैः शरैः॥ १४॥

रथोंके घोड़े और सारथि मार दिये गये। घोड़ोंके सवार नष्ट हो गये। गजारोही मार डाले गये और हाथी बचे रहे एवं कहीं हाथी ही मार डाले गये तथा महावत बचे रहे। राजन्! इस प्रकार समराङ्गणमें अर्जुनने घोर जनसंहार मचा दिया। उनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा मारे जाकर बहुत-से रथी धराशायी हो गये॥ १३-१४॥

हयाश्च पर्यधावन्त मुक्तयोक्त्रास्ततस्ततः।
तद् दृष्ट्वा कर्म पार्थस्य द्रौणिराहवशोभिनः॥ १५॥
अर्जुनं जयतां श्रेष्ठं त्वरितोऽभ्येत्य वीर्यवान्।
विधुन्वानो महच्चापं कार्तस्वरविभूषितम्॥ १६॥
अवाकिरत्ततो द्रौणिः समन्तान्निशितैः शरैः।

घोड़ोंके बन्धन खुल गये और वे चारों ओर दौड़ लगाने लगे। युद्धमें शोभा पानेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर पराक्रमी द्रोणकुमार अश्वत्थामा तुरंत उनके पास आ गया और अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको हिलाते हुए उसने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको पैने बाणोंद्वारा सब ओरसे ढक दिया॥ १५-१६½॥

भूयोऽर्जुनं महाराज द्रौणिरायम्य पत्रिणा॥ १७॥
वक्षोदेशे भृशं पार्थं ताडयामास निर्दयम्।

महाराज! तदनन्तर द्रोणकुमारने धनुष खींचकर छोड़े हुए पंखयुक्त बाणसे कुन्तीकुमार अर्जुनकी छातीपर पुनः बड़े जोरसे निर्दयतापूर्वक प्रहार किया॥ १७½॥

सोऽतिविद्धो रणे तेन द्रोणपुत्रेण भारत॥ १८॥
गाण्डीवधन्वा प्रसभं शरवर्षैरुदारधीः।
संछाद्य समरे द्रौणिं चिच्छेदास्य च कार्मुकम्॥ १९॥

भारत ! रणभूमिमें द्रोणपुत्रके द्वारा अत्यन्त घायल किये गये उदारबुद्धि गाण्डीवधारी अर्जुनने समराङ्गणमें बलपूर्वक बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया और उसके धनुषको भी काट डाला ॥ १८-१९ ॥

स छिन्नधन्वा परिघं वज्रस्पर्शसमं युधि ।
आदाय चिक्षेप तदा द्रोणपुत्रः किरीटिने ॥ २० ॥

धनुष कट जानेपर द्रोणपुत्रने युद्धस्थलमें एक ऐसा परिघ हाथमें लिया, जिसका स्पर्श वज्रके समान कठोर था । उसने उस परिघको तत्काल ही किरीटधारी अर्जुनपर दे मारा ॥

तमापतन्तं परिघं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
चिच्छेद सहसा राजन् प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ २१ ॥

राजन् ! उस सुवर्णभूषित परिघको सहसा अपने ऊपर आते देख पाण्डुपुत्र अर्जुनने हँसते हुए-से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ २१ ॥

स पपात तदा भूमौ निकृत्तः पार्थसायकैः ।
विकीर्णः पर्वतो राजन् यथा वज्रेण ताडितः ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वत टूट-फूटकर सब ओर बिखर जाता है, उसी प्रकार अर्जुनके बाणोंसे कटा हुआ वह परिघ उस समय पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज द्रोणपुत्रो महारथः ।
ऐन्द्रेण चास्त्रवेगेन बीभत्सुं समवाकिरत् ॥ २३ ॥

महाराज ! तब महारथी द्रोणपुत्रने कुपित होकर अर्जुनपर ऐन्द्रास्त्रद्वारा वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तस्येन्द्रजालावततं समीक्ष्य
पार्थो राजन् गाण्डिवमाददे सः ।
ऐन्द्रं जालं प्रत्यहरत् तरस्वी
वरास्त्रमादाय महेन्द्रसृष्टम् ॥ २४ ॥

राजन् ! अर्जुनने अश्वत्थामाद्वारा किये हुए इन्द्रजालका विस्तार देखकर बड़े वेगसे गाण्डीव धनुष हाथमें लिया और महेन्द्रद्वारा निर्मित उत्तम अस्त्रका आश्रय लेकर उस इन्द्र-जालका संहार कर दिया ॥ २४ ॥

विदार्य तज्जालमथेन्द्रमुक्तं
पार्थस्ततो द्रौणिरथं क्षणेन ।
प्रच्छादयामास ततोऽभ्युपेत्य
द्रौणिस्तदा पार्थशराभिभूतः ॥ २५ ॥

इस प्रकार इन्द्रास्त्रद्वारा छोड़े गये उस बाण-जालको विदीर्ण करके अर्जुनने निकटवर्ती होकर क्षणभरमें अश्वत्थामा-के रथको ढक दिया । उस समय अश्वत्थामा अर्जुनके बाणोंसे अभिभूत हो गया था ॥ २५ ॥

विगाह्य तां पाण्डवबाणवृष्टिं
शरैः परं नाम ततः प्रकाश्य ।
शतेन कृष्णं सहसाभ्यविद्ध्यत्
त्रिभिः शतैरर्जुनं क्षुद्रकाणाम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर अश्वत्थामाने अपने बाणोंद्वारा अर्जुनकी उस बाण-वर्षाका निवारण करके अपना नाम प्रकाशित करते हुए सहसा सौ बाणोंसे श्रीकृष्णको घायल कर दिया और अर्जुनपर भी तीन सौ बाणोंका प्रहार किया ॥ २६ ॥

ततोऽर्जुनः सायकानां शतेन
गुरोः सुतं मर्मसु निर्बिभेद ।
अश्वांश्च सूतं च तथा धनुर्ज्या-
मवाकिरत् पश्यतां तावकानाम् ॥ २७ ॥

इसके बाद अर्जुनने सौ बाणोंसे गुरुपुत्रके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर दिया तथा आपके पुत्रोंके देखते-देखते उसके घोड़ों, सारथि, धनुष और प्रत्यञ्चापर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥

स विद्ध्वा मर्मसु द्रौणिं पाण्डवः परवीरहा ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ २८ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुपुत्र अर्जुनने अश्वत्थामा-के मर्मस्थानोंमें चोट पहुँचाकर एक भल्लसे उसके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ २८ ॥

स संगृह्य स्वयं वाहान् कृष्णौ प्राच्छादयच्छरैः ।
तत्राद्भुतमपश्याम द्रौणेराशु पराक्रमम् ॥ २९ ॥
प्रायच्छत्तुरगान् यच्च फाल्गुनं चाप्ययोधयत् ।
यदस्य समरे राजन् सर्वे योधा अपूजयन् ॥ ३० ॥

तब उसने स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे ढक दिया । वहाँ हमने द्रोण-पुत्रका शीघ्र प्रकट होनेवाला वह अद्भुत पराक्रम देखा कि वह घोड़ोंको भी काबूमें रखता था और अर्जुनके साथ युद्ध भी करता था । राजन् ! समराङ्गणमें सभी योद्धाओंने उसके इस कार्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २९-३० ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्द्रोणपुत्रस्य संयुगे ।
क्षिप्रं रश्मीनथाश्वानां क्षुरप्रैश्चिच्छिदे जयः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर विजयी अर्जुनने हँसकर युद्धस्थलमें द्रोणपुत्रके घोड़ोंकी बागडोरोंको क्षुरप्रोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक काट दिया ॥

प्राद्रवंस्तुरगास्ते तु शरवेगप्रपीडिताः ।
ततोऽभून्निनदो घोरस्तव सैन्यस्य भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इसके बाद बाणोंके वेगसे अत्यन्त पीड़ित हुए उसके घोड़े वहाँसे भाग चले । उस समय वहाँ आपकी सेनामें भयंकर कोलाहल मच गया ॥ ३२ ॥

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा तव सैन्यं समाद्रवन् ।
समन्तान्निशितान् बाणान् विमुञ्चन्तो जयैषिणः ॥ ३३ ॥

पाण्डव विजय पाकर आपकी सेनापर टूट पड़े और पुनः विजयकी अभिलाषा ले चारों ओरसे पैने बाणोंका प्रहार करने लगे ॥ ३३ ॥

पाण्डवैस्तु महाराज धार्तराष्ट्री महाचमूः ।
पुनः पुनरथो वीरैरभज्जि जितकाशिभिः ॥ ३४ ॥

महाराज ! विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंने दुर्योधनकी विशाल सेनामें बारंबार भगदड़ मचा दी ॥ ३४ ॥

पश्यतां ते महाराज पुत्राणां चित्रयोधिनाम्।
शकुनेः सौबलेयस्य कर्णस्य च विशाम्पते ॥ ३५ ॥

नरेश्वर ! प्रजानाथ ! विचित्रयुद्ध करनेवाले आपके पुत्रोंके, सुबलपुत्र शकुनिके तथा कर्णके देखते-देखते यह सब हो रहा था॥

वार्यमाणा महासेना पुत्रैस्तव जनेश्वर।
न चातिष्ठत संग्रामे पीड्यमाना समन्ततः ॥ ३६ ॥

जनेश्वर ! सब ओरसे पीड़ित हुई आपकी विशाल सेना आपके पुत्रोंके बहुत रोकनेपर भी युद्धभूमिमें खड़ी न रह सकी ॥ ३६ ॥

ततो योधैर्महाराज पलायद्भिः समन्ततः।
अभवद् व्याकुलं भीतं पुत्राणां ते महद् बलम् ॥३७॥

महाराज ! सब ओर भागनेवाले योद्धाओंके कारण आपके पुत्रोंकी वह विशाल सेना भयभीत और व्याकुल हो उठी ॥ ३७ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति च ततः सूतपुत्रस्य जल्पतः।
नावतिष्ठति सा सेना वध्यमाना महात्मभिः ॥ ३८ ॥

सूतपुत्र कर्ण 'ठहरो, ठहरो' की पुकार करता ही रह गया; परंतु महामनस्वी पाण्डवोंकी मार खाती हुई वह सेना किसी तरह ठहर न सकी ॥ ३८ ॥

अथोत्कुष्टं महाराज पाण्डवैर्जितकाशिभिः।
धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा विद्रुतं वै समन्ततः ॥ ३९ ॥

महाराज ! दुर्योधनकी सेनाको सब ओर भागती देख विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ३९ ॥

ततो दुर्योधनः कर्णमब्रवीत् प्रणयादिव।
पश्य कर्ण महासेना पञ्चालैरर्दिता भृशम् ॥ ४० ॥

उस समय दुर्योधनने कर्णसे प्रेमपूर्वक कहा—'कर्ण ! देखो, पाञ्चालोंने मेरी इस विशाल सेनाको अत्यन्त पीड़ित कर दिया है ॥ ४० ॥

त्वयि तिष्ठति संत्रासात् पलायनपरायणा।
एतज्ज्ञात्वा महाबाहो कुरु प्राप्तमरिंदम ॥ ४१ ॥

'शत्रुदमन महाबाहु वीर ! तुम्हारे रहते हुए भयके कारण मेरी सेना भाग रही है; यह जानकर इस समय जो कर्तव्य प्राप्त हो उसे करो ॥ ४१ ॥

सहस्राणि च योधानां त्वामेव पुरुषोत्तम।
क्रोशन्ति समरे वीर द्राव्यमाणानि पाण्डवैः ॥ ४२ ॥

'पुरुषोत्तम ! वीर ! पाण्डवोंद्वारा खदेड़े जानेवाले सहस्रों कौरव सैनिक समराङ्गणमें तुम्हें ही पुकार रहे हैं' ॥ ४२ ॥

एतच्छ्रुत्वापि राधेयो दुर्योधनवचो महान्।
मद्रराजमिदं वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ॥ ४३ ॥

महावीर राधापुत्र कर्णने दुर्योधनकी यह बात सुनकर मद्रराज शल्यसे हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

पश्य मे भुजयोर्वीर्यमस्त्राणां च जनेश्वर।
अद्य हन्मि रणे सर्वान् पञ्चालान् पाण्डुभिः सह ॥४४॥
वाहयाश्वान् नरव्याघ्र भद्रेणैव न संशयः।

'नरेश्वर ! आज तुम मेरी दोनों भुजाओं और अस्त्रोंका बल देखो। मैं रणभूमिमें पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चालोंका वध किये देता हूँ, इसमें संशय नहीं है। पुरुषसिंह ! आप कल्याण-चिन्तनपूर्वक ही इन घोड़ोंको आगे बढ़ाइये' ॥४४½॥

एवमुक्त्वा महाराज सूतपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥
प्रगृह्य विजयं वीरो धनुः श्रेष्ठं पुरातनम्।
सज्यं कृत्वा महाराज संमृज्य च पुनः पुनः ॥ ४६ ॥
संनिवार्य च योधान् स सत्येन शपथेन च।
प्रायोजयदमेयात्मा भार्गवास्त्रं महाबलः ॥ ४७ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर प्रतापी वीर सूतपुत्र कर्णने अपने विजय नामक श्रेष्ठ एवं पुरातन धनुषको लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी; फिर उसे बारंबार हाथमें लेकर सत्यकी शपथ दिलाते हुए समस्त योद्धाओंको रोका। इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न उस महाबली वीरने भार्गवास्त्रका प्रयोग किया ॥

ततो राजन् सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
कोटिशश्च शरास्तीक्ष्णा निरगच्छन् महामृधे ॥ ४८ ॥

राजन् ! फिर तो उस महासमरमें सहस्रों, लाखों, करोड़ों और अरबों तीखे बाण उस अस्त्रसे प्रकट होने लगे ॥ ४८ ॥

ज्वलितैस्तैः शरैर्घोरैः कङ्कबर्हिणवाजितैः।
संछन्ना पाण्डवी सेना न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ ४९ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंद्वारा पाण्डव-सेना आच्छादित हो गयी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ४९ ॥

हाहाकारो महानासीत् पञ्चालानां विशाम्पते।
पीडितानां बलवता भार्गवास्त्रेण संयुगे ॥ ५० ॥

प्रजानाथ ! प्रबल भार्गवास्त्रसे समराङ्गणमें पीड़ित होनेवाले पाञ्चालोंका महान् हाहाकार सब ओर गूँजने लगा॥५०॥

निपतद्भिर्गजै राजन्नश्वैश्चापि सहस्रशः।
रथैश्चापि नरव्याघ्र नरैश्चैव समन्ततः ॥ ५१ ॥
प्राकम्पत मही राजन् निहतैस्तैः समन्ततः।
व्याकुलं सर्वमभवत् पाण्डवानां महद् बलम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! गिरते हुए हाथियों, सहस्रों घोड़ों, रथों और मारे गये पैदल मनुष्योंके गिरनेसे सारी पृथ्वी सब ओर कम्पित होने लगी। पाण्डवोंकी सारी विशाल सेना व्याकुल हो गयी ॥ ५१–५२ ॥

कर्णस्त्वेको युधां श्रेष्ठो विधूम इव पावकः।
दहञ्शत्रून् नरव्याघ्र शुशुभे स परंतपः ॥ ५३ ॥

नरव्याघ्र ! शत्रुओंको तपानेवाला योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक-

मात्र कर्ण ही धूमरहित अग्निके समान शत्रुओंको दग्ध करता हुआ शोभा पा रहा था ॥ ५३ ॥

ते वध्यमानाः कर्णेन पञ्चालाश्चेदिभिः सह ।
तत्र तत्र व्यमुह्यन्त वनदाहे यथा द्विपाः ॥ ५४ ॥

जैसे वनमें आग लगनेपर उसमें रहनेवाले हाथी जहाँ-तहाँ दग्ध होकर मूर्छित हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्णके द्वारा मारे जानेवाले पाञ्चाल और चेदि योद्धा यत्र-तत्र मूर्छित होकर पड़े थे ॥ ५४ ॥

चुक्रुशुश्च नरव्याघ्र यथा व्याघ्रा नरोत्तमाः ।
तेषां तु क्रोशतामासीद् भीतानां रणमूर्धनि ॥ ५५ ॥
धावतां च ततो राजंस्त्रस्तानां च समन्ततः ।
आर्तनादो महांस्तत्र भूतानामिव सम्प्लवे ॥ ५६ ॥

पुरुषसिंह ! वे श्रेष्ठ योद्धा व्याघ्रोंके समान चीत्कार करते थे । राजन् ! युद्धके मुहानेपर भयभीत हो चिल्लाते और डरकर सब ओर भागते हुए उन सैनिकोंका महान् आर्तनाद प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंके चीत्कारके समान जान पड़ता था ॥ ५५-५६ ॥

वध्यमानांस्तु तान् दृष्ट्वा सूतपुत्रेण मारिष ।
वित्रेसुः सर्वभूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ ५७ ॥

आर्य ! सूतपुत्रके द्वारा मारे जाते हुए उन योद्धाओंको देखकर समस्त प्राणी पशु-पक्षी भी भयसे थर्रा उठे ॥ ५७ ॥

ते वध्यमानाः समरे सूतपुत्रेण सृंजयाः ।
अर्जुनं वासुदेवं च क्रोशन्ति च मुहुर्मुहुः ॥ ५८ ॥
प्रेतराजपुरे यद्वत् प्रेतराजं विचेतसः ।

सूतपुत्रद्वारा समराङ्गणमें मारे जाते हुए सृंजय बारंबार अर्जुन और श्रीकृष्णको पुकारते थे । ठीक उसी तरह, जैसे प्रेतराजके नगरमें क्लेशसे अचेत हुए प्राणी प्रेतराजको ही पुकारते हैं ॥ ५८½ ॥

श्रुत्वा तु निनदं तेषां वध्यतां कर्णसायकैः ॥ ५९ ॥
अथाब्रवीद् वासुदेवं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
भार्गवास्त्रं महाघोरं दृष्ट्वा तत्र समीरितम् ॥ ६० ॥

कर्णके बाणोंद्वारा मारे जाते हुए उन सैनिकोंका आर्तनाद सुनकर तथा वहाँ महाभयंकर भार्गवास्त्रका प्रयोग हुआ देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥

पश्य कृष्ण महाबाहो भार्गवास्त्रस्य विक्रमम् ।
नैतदस्त्रं हि समरे शक्यं हन्तुं कथञ्चन ॥ ६१ ॥

'महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह भार्गवास्त्रका पराक्रम देखिये । समराङ्गणमें किसी तरह इस अस्त्रको नष्ट नहीं किया जा सकता॥

सूतपुत्रं च संरब्धं पश्य कृष्ण महारणे ।
अन्तकप्रतिमं वीर्ये कुर्वाणं कर्म दारुणम् ॥ ६२ ॥

'श्रीकृष्ण ! देखिये, क्रोधमें भरा हुआ सूतपुत्र, जो पराक्रममें यमराजके समान है, महासमरमें कैसा दारुण कर्म कर रहा है ॥ ६२ ॥

अभीक्ष्णं चोदयन्नश्वान् प्रेक्षते मां मुहुर्मुहुः ।
न च पश्यामि समरे कर्णं प्रति पलायितुम् ॥ ६३ ॥

'वह निरन्तर घोड़ोंको हाँकता हुआ बारंबार मेरी ही ओर देख रहा है । समरभूमिमें कर्णके सामनेसे पलायन करना मैं उचित नहीं समझता ॥ ६३ ॥

जीवन् प्राप्नोति पुरुषः संख्ये जयपराजयौ ।
मृतस्य तु हृषीकेश भङ्ग एव कुतो जयः ॥ ६४ ॥

'मनुष्य जीवित रहे तो वह युद्धमें विजय और पराजय दोनों पाता है । हृषीकेश ! मरे हुए मनुष्यका तो नाश ही हो जाता है; फिर उसकी विजय कहाँसे हो सकती है' ॥६४॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णो मतिमतां वरम् ।
धनंजयमुवाचेदं प्राप्तकालमरिंदमम् ॥ ६५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णने बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शत्रुदमन अर्जुनसे यह समयोचित बात कही—॥ ६५ ॥

कर्णेन हि दृढं राजा कुन्तीपुत्रः परिक्षितः ।
तं दृष्ट्वाऽऽश्वास्य च पुनः कर्णं पार्थ वधिष्यसि॥ ६६ ॥

'पार्थ ! कर्णने राजा युधिष्ठिरको अत्यन्त क्षत-विक्षत कर दिया है । उनसे मिलकर उन्हें धीरज बँधाकर फिर तुम कर्णका वध करना' ॥ ६६ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्रायाद् द्रष्टुमिच्छन् युधिष्ठिरम् ।
श्रमेण ग्राहयिष्यंश्च युद्धे कर्णं विशाम्पते ॥ ६७ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा कहकर वे पुनः युधिष्ठिरसे मिलनेकी इच्छासे तथा कर्णको युद्धमें अधिक थकावट प्राप्त करानेके लिये वहाँसे चल दिये ॥ ६७ ॥

ततो धनंजयो द्रष्टुं राजानं बाणपीडितम् ।
रथेन प्रययौ क्षिप्रं संग्रामात् केशवाज्ञया ॥ ६८ ॥

तत्पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्णकी आज्ञासे बाणपीड़ित राजा युधिष्ठिरको देखनेके लिये रथके द्वारा युद्धस्थलसे शीघ्रतापूर्वक गये ॥ ६८ ॥

गच्छन्नेव तु कौन्तेयो धर्मराजदिदृक्षया ।
सैन्यमालोकयामास नापश्यत् तत्र चाग्रजम् ॥ ६९ ॥
युद्धं कृत्वा तु कौन्तेयो द्रोणपुत्रेण भारत ।
दुःसहं वज्रिणा संख्ये पराजित्य गुरोः सुतम् ॥ ७० ॥

भारत ! कुन्तीकुमार अर्जुनने द्रोणपुत्रके साथ युद्ध करके रणभूमिमें वज्रधारी इन्द्रके लिये भी दुःसह उस गुरुपुत्रको पराजित करनेके पश्चात् जाते समय धर्मराजको देखनेकी इच्छासे सारी सेनापर दृष्टिपात किया । परंतु वहाँ कहीं भी अपने बड़े भाईको नहीं देखा ॥ ६९-७० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि धर्मराजशोधने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरकी खोजविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनको युद्धका भार सौंपकर श्रीकृष्ण और अर्जुनका युधिष्ठिरके पास जाना

संजय उवाच

द्रौणिं पराजित्य ततोऽग्रधन्वा
कृत्वा महद् दुष्करं शूरकर्म ।
आलोकयामास ततः स्वसैन्यं
धनंजयः शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर उत्तम धनुष धारण करनेवाले तथा शत्रुओंके लिये अजेय अर्जुनने दूसरोंके लिये दुष्कर वीरोचित कर्म करके अश्वत्थामाको हराकर फिर अपनी सेनाका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

स युध्यमानान् पृतनामुखस्थाञ्
शूरः शूरान् हर्षयन् सव्यसाची।
पूर्वप्रहारैर्मथितान् प्रशंसन्
स्थिरांश्चकाररथानीके ॥ २ ॥

सव्यसाची शूरवीर अर्जुन युद्धके मुहानेपर खड़े होकर युद्ध करनेवाले अपने शूरवीर सैनिकोंका हर्ष बढ़ाते हुए तथा पहलेके प्रहारोंसे क्षत-विक्षत हुए अपने रथियोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन सबको अपनी सेनामें स्थिरतापूर्वक स्थापित किया ॥ २ ॥

अपश्यमानस्तु किरीटमाली
युधिष्ठिरं भ्रातरमाजमीढम्।
उवाच भीमं तरसाभ्युपेत्य
राज्ञः प्रवृत्तिं त्विह कुत्र राजा ॥ ३ ॥

परंतु वहाँ अपने भाई अजमीढकुलनन्दन युधिष्ठिरको न देखकर किरीटधारी अर्जुनने बड़े वेगसे भीमसेनके पास जा उनसे राजाका समाचार पूछते हुए कहा—'भैया ! इस समय हमारे महाराज कहाँ हैं ?' ॥ ३ ॥

भीमसेन उवाच

अपयात इतो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
कर्णबाणाभितप्ताङ्गो यदि जीवेत् कथञ्चन ॥ ४ ॥

भीमसेनने कहा—धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर यहाँसे हट गये हैं। कर्णके बाणोंसे उनके सारे अङ्ग संतप्त हो रहे हैं। सम्भव है, वे किसी प्रकार जी रहे हों ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

तस्माद् भवाञ्शीघ्रमितः प्रयातु
राज्ञः प्रवृत्त्यै कुरुसत्तमस्य ।
नूनं स विद्धोऽतिभृशं पृषत्कैः
कर्णेन राजा शिबिरं गतोऽसौ ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले—यदि ऐसी बात है तो आप कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरका समाचार लानेके लिये शीघ्र ही यहाँसे जायँ। निश्चय ही कर्णके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर राजा शिविरमें चले गये हैं ॥ ५ ॥

यः सम्प्रहारैर्निशितैः पृषत्कै-
र्द्रोणेन विद्धोऽतिभृशं तरस्वी ।
तस्थौ स तत्रापि जयप्रतीक्षो
द्रोणोऽपि यावन्न हतः किलासीत्॥ ६ ॥
स संशयं गमितः पाण्डवाग्र्यः
संख्येऽद्य कर्णेन महानुभावः ।
ज्ञातुं प्रयाह्याशु तमद्य भीम
स्थास्याम्यहं शत्रुगणान् निरुद्ध्य॥ ७ ॥

भैया भीमसेन ! जो वेगशाली वीर युधिष्ठिर द्रोणाचार्यके द्वारा किये गये प्रहारों तथा अत्यन्त तीखे बाणोंसे अच्छी तरह घायल किये जानेपर भी विजयकी प्रतीक्षामें तबतक युद्धस्थलमें डटे रहे, जबतक कि आचार्य द्रोण मारे नहीं गये। वे महानुभाव पाण्डव-शिरोमणि आज कर्णके द्वारा संग्राममें संशयापन्न अवस्थामें डाल दिये गये हैं; अतः आप शीघ्र ही उनका समाचार जाननेके लिये जाइये, मैं यहाँ शत्रुओंको रोके रहूँगा ॥ ६-७ ॥

भीमसेन उवाच

त्वमेव जानीहि महानुभाव
राज्ञः प्रवृत्तिं भरतर्षभस्य ।
अहं हि यद्यर्जुन यास्यमित्रा
वदन्ति मां भीत इति प्रवीराः ॥ ८ ॥

भीमसेनने कहा—महानुभाव ! तुम्हीं जाकर भरत-कुल-भूषण नरेशका समाचार जानो। अर्जुन ! यदि मैं यहाँसे जाऊँगा तो मेरे वीर शत्रु मुझे डरपोक कहेंगे ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीदर्जुनो भीमसेनं
संशप्तकाः प्रत्यनीकं स्थिता मे ।
एतानहत्वाद्य मया न शक्य-
मितोऽपयातुं रिपुसङ्घगोष्ठात् ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने भीमसेनसे कहा—'भैया ! संशप्तकगण मेरे विपक्षमें खड़े हैं। इन्हें मारे बिना आज मैं इस शत्रु-समुदायरूपी गोष्ठसे बाहर नहीं जा सकता' ॥ ९ ॥

अथाब्रवीदर्जुनं भीमसेनः
स्ववीर्यमासाद्य कुरुप्रवीर ।
संशप्तकान् प्रतियोत्स्यामि संख्ये
सर्वानहं याहि धनंजय त्वम् ॥ १० ॥

यह सुनकर भीमसेनने अर्जुनसे कहा—'कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर धनंजय ! मैं अपने ही बलका भरोसा करके संग्राम-भूमिमें सम्पूर्ण संशप्तकोंके साथ युद्ध करूँगा, तुम जाओ' ॥ १० ॥

धर्मराजके चरणोंमें श्रीकृष्ण एवं अर्जुन प्रणाम कर रहे हैं

संजय उवाच

तद् भीमसेनस्य वचो निशम्य
सुदुष्करं भ्रातुरमित्रमध्ये ।
संशप्तकानीकमसह्यमेकः
सुदुष्करं धारयामीति पार्थः ॥ ११ ॥
उवाच नारायणमप्रमेयं
कपिध्वजः सत्यपराक्रमस्य ।
श्रुत्वा वचो भ्रातुरदीनसत्त्व-
स्तदाहवे सत्यवचो महात्मा ।
द्रष्टुं कुरुश्रेष्ठमभिप्रयास्यन्
प्रोवाच वृष्णिप्रवरं तदानीम् ॥ १२ ॥

संजय कहते हैं— राजन् ! शत्रुओंकी मण्डलीमें अपने भाई भीमसेनका यह अत्यन्त दुष्कर वचन सुनकर कि 'मैं अकेला ही असह्य संशप्तक सेनाका सामना करूँगा' उदार हृदय-वाले महात्मा कपिध्वज अर्जुनने सत्यपराक्रमी भाई भीमके उस सत्य वचनको श्रवणगोचर करके उसे अप्रमेय, वृष्णिवंशा-वतंस नारायणावतार भगवान् श्रीकृष्णको बताया और उस समय कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरका दर्शन करनेकी इच्छासे जानेको उद्यत हो इस प्रकार कहा ॥ ११-१२ ॥

अर्जुन उवाच

चोदयाश्वान् हृषीकेश विहायैतद् बलार्णवम् ।
अजातशत्रुं राजानं द्रष्टुमिच्छामि केशव ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—हृषीकेश ! अब आप इस शत्रुसेनारूपी समुद्रको छोड़कर घोड़ोंको यहाँसे हाँक ले चलें । केशव ! मैं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

संजय उवाच

ततो हयान् सर्वदाशार्हमुख्यः
प्रचोदयन् भीममुवाच चेदम् ।
नैतच्चित्रं तव कर्माद्य भीम
यास्याम्यहं जहि पार्थारिसंघान् ॥ १४ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सम्पूर्ण दाशार्ह-वंशियोंमें प्रधान भगवान् श्रीकृष्ण अपने घोड़े हाँकते हुए वहाँ भीमसेनसे इस प्रकार बोले 'कुन्तीनन्दन भीम ! आज यह पराक्रम तुम्हारे लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । मैं जा रहा हूँ । तुम शत्रु-समूहोंका संहार करो' ॥ १४ ॥

ततो ययौ हृषीकेशो यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
शीघ्राच्छीघ्रतरं राजन् वाजिभिर्गरुडोपमैः ॥ १५ ॥

राजन् ! यह कहकर भगवान् हृषीकेश गरुड़के समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र वहाँ जा पहुँचे, जहाँ राजा युधिष्ठिर विश्राम कर रहे थे ॥ १५ ॥

प्रत्यनीके व्यवस्थाप्य भीमसेनमरिंदमम् ।
संदिश्य चैतं राजेन्द्र युद्धं प्रति वृकोदरम् ॥ १६ ॥

ततस्तु गत्वा पुरुषप्रवीरौ
राजानमासाद्य शयानमेकम् ।
रथादुभौ प्रत्यवरुह्य तस्माद्
ववन्दतुर्धर्मराजस्य पादौ ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! शत्रुओंका सामना करनेके लिये शत्रुदमन वृकोदर भीमसेनको स्थापित करके और युद्धके विषयमें उन्हें पूर्वोक्त संदेश देकर वे दोनों पुरुष-शिरोमणि अकेले सोये हुए राजा युधिष्ठिरके पास जा रथसे नीचे उतरे और उन्होंने धर्मराजके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १६-१७ ॥

तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रं क्षेमिणं पुरुषर्षभम् ।
मुदाभ्युपगतौ कृष्णावश्विनाविव वासवम् ॥ १८ ॥
तावभ्यनन्दद् राजापि विवस्वानश्विनाविव ।
हते महासुरे जम्भे शक्रविष्णू यथा गुरुः ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह पुरुषप्रवर श्रीकृष्ण एवं अर्जुनको सकुशल देखकर तथा दोनों कृष्णोंको इन्द्रके पास गये हुए अश्विनी-कुमारोंके समान प्रसन्नतापूर्वक अपने समीप आया जान राजा युधिष्ठिरने उनका उसी तरह अभिनन्दन किया, जैसे सूर्य दोनों अश्विनीकुमारोंका स्वागत करते हैं । अथवा जैसे महान् असुर जम्भके मारे जानेपर बृहस्पतिने इन्द्र और विष्णुका अभिनन्दन किया था ॥ १८-१९ ॥

मन्यमानो हतं कर्णं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रीतः प्राह परंतपः ॥ २० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने कर्णको मारा गया मानकर हर्षगद्गद वाणीसे प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप आरम्भ किया ॥ २० ॥

अथोपयातौ पृथुलोहिताक्षौ
शराचिताङ्गौ रुधिरप्रदिग्धौ ।
समीक्ष्य सेनाग्रनरप्रवीरौ
युधिष्ठिरो वाक्यमिदं बभाषे ॥ २१ ॥

सेनाके अग्रभागमें युद्ध करनेवाले पुरुषोंमें प्रमुख वीर विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन जब समीप आये, तब उनके सारे अङ्गोंमें बाण धँसे हुए थे । वे खूनसे लथपथ हो रहे थे; उन्हें देखकर युधिष्ठिरने निम्नाङ्कित रूपसे बातचीत आरम्भ की ॥ २१ ॥

महासत्त्वौ हि तौ दृष्ट्वा सहितौ केशवार्जुनौ ।
हतमाधिरथिं मेने संख्ये गाण्डीवधन्वना ॥ २२ ॥

एक साथ आये हुए महान् शक्तिशाली श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर उन्हें यह पक्का विश्वास हो गया था कि गाण्डीवधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें अधिरथपुत्र कर्णको मार डाला है ॥ २२ ॥

तावभ्यनन्दत् कौन्तेयः साम्ना परमवल्गुना ।
स्मितपूर्वममित्रघ्नं पूजयन् भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यही सोचकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने मुस्कराकर शत्रुसूदन श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए परम मधुर और सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरं प्रति श्रीकृष्णार्जुनागमे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरके पास श्रीकृष्ण और अर्जुनका आगमनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनसे भ्रमवश कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त पूछना

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं देवकीमातः स्वागतं ते धनंजय।
प्रियं मे दर्शनं गाढं युवयोरच्युतार्जुनौ ॥ १ ॥
अक्षताभ्यामरिष्टाभ्यां हतः कर्णो महारथः।

युधिष्ठिर बोले—देवकीनन्दन ! तुम्हारा स्वागत हो। धनंजय ! तुम्हारा भी स्वागत है। श्रीकृष्ण और अर्जुन ! इस समय तुम दोनोंका दर्शन मुझे अत्यन्त प्रिय लगा है; क्योंकि तुम दोनोंने स्वयं किसी प्रकारकी क्षति न उठाकर सकुशल रहते हुए महारथी कर्णको मार डाला है ॥ १½ ॥

आशीविषसमं युद्धे सर्वशस्त्रविशारदम् ॥ २ ॥
अग्रगं धार्तराष्ट्राणां सर्वेषां शर्म वर्म च।
रक्षितं वृषसेनेन सुषेणेन च धन्विना ॥ ३ ॥

कर्ण युद्धमें विषधर सर्पके समान भयंकर, सम्पूर्ण शस्त्र-विद्याओंमें निपुण तथा कौरवोंका अगुआ था। वह शत्रुपक्षमें सबका कल्याण-साधक और कवच बना हुआ था। वृषसेन और सुषेण-जैसे धनुर्धर उसकी रक्षा करते थे ॥ २-३ ॥

अनुज्ञातं महावीर्यं रामेणास्त्रे सुदुर्जयम्।
अग्र्यं सर्वस्य लोकस्य रथिनं लोकविश्रुतम् ॥ ४ ॥

परशुरामजीसे अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके वह महान् शक्तिशाली और अत्यन्त दुर्जय हो गया था। समस्त संसारका सर्वश्रेष्ठ रथी एवं विश्वविख्यात वीर था ॥ ४ ॥

त्रातारं धार्तराष्ट्राणां गन्तारं वाहिनीमुखे।
हन्तारं परसैन्यानाममित्रगणमर्दनम् ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र-पुत्रोंका रक्षक, सेनाके मुहानेपर जाकर युद्ध करनेवाला, शत्रु-सैनिकोंका संहार करनेमें समर्थ तथा विरोधियोंका मान मर्दन करनेवाला था ॥ ५ ॥

दुर्योधनहिते युक्तमस्मद्दुःखाय चोद्यतम्।
अप्रधृष्यं महायुद्धे देवैरपि सवासवैः ॥ ६ ॥

वह सदा दुर्योधनके हितमें संलग्न रहकर हमलोगोंको दुःख देनेके लिये उद्यत रहता था। महायुद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उसे परास्त नहीं कर सकते थे ॥ ६ ॥

अनलानिलयोस्तुल्यं तेजसा च बलेन च।
पातालमिव गम्भीरं सुहृदां नन्दिवर्धनम् ॥ ७ ॥
अन्तकं मम मित्राणां हत्वा कर्णं महामृधे।
दिष्ट्या युवामनुप्राप्तौ जित्वासुरमिवामरौ ॥ ८ ॥

वह तेजमें अग्नि, बलमें वायु और गम्भीरतामें पातालके समान था। अपने मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाला और मेरे मित्रोंके लिये यमराजके समान था। किसी असुरको जीतकर आये हुए दो देवताओंके समान तुम दोनों मित्र महासमरमें कर्णको मारकर यहाँ आ गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥

घोरं युद्धमदीनेन मया ह्यद्याच्युतार्जुनौ।
कृतं तेनान्तकेनेव प्रजाः सर्वा जिघांसता ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन ! सम्पूर्ण प्रजाका संहार करनेकी इच्छा रखनेवाले कालके समान उस कर्णने आज मेरे साथ घोर युद्ध किया था। फिर भी मैंने उसमें दीनता नहीं दिखायी॥

तेन केतुश्च मे छिन्नो हतौ च पार्ष्णिसारथी।
हतवाहस्ततश्चास्मि युयुधानस्य पश्यतः ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नस्य यमयोर्वीरस्य च शिखण्डिनः।
पश्यतां द्रौपदेयानां पञ्चालानां च सर्वशः ॥ ११ ॥

उसने सात्यकि, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, वीर शिखण्डी, द्रौपदीपुत्र तथा पाञ्चालोंके देखते-देखते मेरी ध्वजा काट डाली, पार्श्वरक्षकोंको मार डाला और मेरे घोड़ोंका भी संहार कर डाला था ॥ १०-११ ॥

एताञ्जित्वा महावीर्यः कर्णः शत्रुगणान् बहून्।
जितवान् मां महाबाहो यतमानो महारणे ॥ १२ ॥

महाबाहो ! महायुद्धमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले महापराक्रमी कर्णने इन बहुसंख्यक शत्रुगणोंको परास्त करके मुझपर विजय पायी थी ॥ १२ ॥

अभिसृत्य च मां युद्धे परुषाण्युक्तवान् बहु।
तत्र तत्र युधां श्रेष्ठ परिभूय न संशयः ॥ १३ ॥
भीमसेनप्रभावात्तु यज्जीवामि धनंजय।
बहुनात्र किमुक्तेन नाहं तत् सोढुमुत्सहे ॥ १४ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ वीर ! उसने युद्धमें मेरा पीछा करके जहाँ-तहाँ मुझे अपमानित करते हुए बहुत-से कटुवचन सुनाये हैं—इसमें संशय नहीं है। धनंजय ! मैं इस समय भीमसेनके प्रभावसे ही जीवित हूँ। यहाँ अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मैं उस अपमानको किसी प्रकार सह नहीं सकता ॥१३-१४॥

त्रयोदशाहं वर्षाणि यस्माद् भीतो धनंजय।
न स्म निद्रां लभे रात्रौ न चाहनि सुखं क्वचित् ॥ १५ ॥

अर्जुन ! मैं जिससे भयभीत होकर तेरह वर्षोंतक न

तो रातमें अच्छी तरह नींद ले सका और न दिनमें ही कहीं सुख पा सका ॥ १५ ॥

तस्य द्वेषेण संयुक्तः परिदह्ये धनंजय।
आत्मनो मरणे यातो वाध्रीणस इव द्विपः ॥ १६ ॥

धनंजय ! मैं उसके द्वेषसे निरन्तर जलता रहा। जैसे वाध्रीणस नामक पशु अपनी मौतके लिये ही वधस्थानमें पहुँच जाय, उसी प्रकार मैं भी अपनी मृत्युके लिये कर्णका सामना करने चला गया था ॥ १६ ॥

तस्यायमगमत् कालश्चिन्तयानस्य मे चिरम्।
कथं कर्णो मया शक्यो युद्धे क्षपयितुं भवेत् ॥ १७ ॥

मैं कर्णको युद्धमें कैसे मार सकता हूँ, यही सोचते हुए मेरा यह दीर्घकाल व्यतीत हुआ है ॥ १७ ॥

जाग्रत्स्वपंश्च कौन्तेय कर्णमेव सदा ह्यहम्।
पश्यामि तत्र तत्रैव कर्णभूतमिदं जगत् ॥ १८ ॥

कुन्तीनन्दन ! मैं जागते और सोते समय सदा कर्णको ही देखा करता था। यह सारा जगत् मेरे लिये जहाँ-तहाँ कर्णमय हो रहा था ॥ १८ ॥

यत्र यत्र हि गच्छामि कर्णाद् भीतो धनंजय।
तत्र तत्र हि पश्यामि कर्णमेवाग्रतः स्थितम् ॥ १९ ॥

धनंजय ! मैं जहाँ-जहाँ भी जाता, कर्णसे भयभीत होनेके कारण सदा उसीको अपने सामने खड़ा देखता था ॥ १९ ॥

सोऽहं तेनैव वीरेण समरेष्वपलायिना।
सहयः सरथः पार्थ जित्वा जीवन् विसर्जितः ॥ २० ॥

पार्थ ! मैं समरभूमिमें कभी पीठ न दिखानेवाले उसी वीर कर्णके द्वारा रथ और घोड़ोंसहित परास्त करके केवल जीवित छोड़ दिया गया हूँ ॥ २० ॥

को नु मे जीवितेनार्थो राज्येनार्थो भवेत् पुनः।
ममैवं विक्षतस्याद्य कर्णेनाहवशोभिना ॥ २१ ॥

अब मुझे इस जीवनसे तथा राज्यसे क्या प्रयोजन है ? जब कि आज युद्धमें शोभा पानेवाले कर्णने मुझे इस प्रकार क्षत-विक्षत कर डाला है ॥ २१ ॥

न प्राप्तपूर्वं यद् भीष्मात् कृपद्रोणाच्च संयुगे।
तत् प्राप्तमद्य मे युद्धे सूतपुत्रान्महारथात् ॥ २२ ॥

पहले कभी भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे भी मुझे युद्ध-स्थलमें जो अपमान नहीं प्राप्त हुआ था, वही आज महारथी सूत-पुत्रसे युद्धमें प्राप्त हो गया है ॥ २२ ॥

स त्वां पृच्छामि कौन्तेय यथाद्य कुशलं तथा।
तन्ममाचक्ष्व कात्स्न्र्येन यथा कर्णो हतस्त्वया ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसीलिये मैं तुमसे पूछता हूँ कि आज जिस प्रकार सकुशल रहकर तुमने कर्णको मारा है, वह सारा समाचार मुझे पूर्णरूपसे बताओ ॥ २३ ॥

शक्रतुल्यबलो युद्धे यमतुल्यः पराक्रमे।
रामतुल्यस्तथास्त्रेण स कथं वै निषूदितः ॥ २४ ॥

जो युद्धमें इन्द्रके समान बलवान्, यमराजके समान पराक्रमी और परशुरामजीके समान अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता था, वह कर्ण कैसे मारा गया ॥ २४ ॥

महारथः समाख्यातः सर्वयुद्धविशारदः।
धनुर्धराणां प्रवरः सर्वेषामेकपूरुषः ॥ २५ ॥
पूजितो धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण महाबलः।
त्वदर्थमेव राधेयः स कथं निहतस्त्वया ॥ २६ ॥

जो सम्पूर्ण युद्धकी कलामें कुशल, विख्यात महारथी, धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ तथा सब शत्रुओंमें प्रधान पुरुष था, जिसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रने तुम्हारा सामना करनेके लिये ही सम्मान-पूर्वक रक्खा था, वह महाबली राधापुत्र कर्ण तुम्हारे द्वारा कैसे मारा गया ? ॥ २५-२६ ॥

धार्तराष्ट्रो हि योधेषु सर्वेष्वेव सदार्जुन।
तव मृत्युं रणे कर्णं मन्यते पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर अर्जुन ! दुर्योधन रणक्षेत्रमें सम्पूर्ण योद्धाओं-मेंसे कर्णको ही तुम्हारी मृत्यु मानता था ॥ २७ ॥

स त्वया पुरुषव्याघ्र कथं युद्धे निषूदितः।
तन्ममाचक्ष्व कौन्तेय यथा कर्णो हतस्त्वया ॥ २८ ॥

कुन्तीपुत्र ! पुरुषसिंह ! तुमने कैसे युद्धमें उस कर्णको मारा है ? कर्ण जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा मारा गया है, वह सब समाचार मुझे बताओ ॥ २८ ॥

युध्यमानस्य च शिरः पश्यतां सुहृदां हृतम्।
त्वया पुरुषशार्दूल सिंहेनेव यथा रुरोः ॥ २९ ॥

पुरुषसिंह ! जैसे सिंह रुरु नामक मृगका मस्तक काट लेता है, उसी प्रकार तुमने समस्त सुहृदोंके देखते-देखते जो जूझते हुए कर्णका सिर धड़से अलग कर दिया है, वह किस प्रकार सम्भव हुआ ॥ २९ ॥

यः पर्युपासीत् प्रदिशो दिशश्च
त्वां सूतपुत्रः समरे परीप्सन्।
दित्सुः कर्णः समरे हस्तिषड्गवं
स हीदानीं कङ्कपत्रैः सुतीक्ष्णैः ॥ ३० ॥
त्वया रणे निहतः सूतपुत्रः
कच्चिच्छेते भूमितले दुरात्मा।
प्रियश्च मे परमो वै कृतोऽयं
त्वया रणे सूतपुत्रं निहत्य ॥ ३१ ॥

अर्जुन ! समराङ्गणमें जो सूतपुत्र कर्ण सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंमें तुम्हें पानेके लिये चक्कर लगाता था और तुम्हारा पता बतानेवालेको हाथीके समान छः बैल देना चाहता था, वही दुरात्मा सूतपुत्र क्या इस समय रणभूमिमें तुम्हारे द्वारा कङ्कपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर सो रहा है ? आज रणक्षेत्रमें सूतपुत्रको मारकर तुमने मेरा यह परम प्रिय कार्य पूर्ण किया है ? ॥ ३०-३१ ॥

यः सर्वतः पर्यपतत्त्वदर्थे
सदार्चितो गर्वितः सूतपुत्रः ।
स शूरमानी समरे समेत्य
कच्चित्त्वया निहतः संयुगेऽसौ ॥ ३२ ॥

जो सदा सम्मानित होकर घमंडमें भरा हुआ सूतपुत्र तुम्हारे लिये सब ओर धावा किया करता था, अपनेको शूरवीर माननेवाले उस कर्णको समराङ्गणमें उसके साथ युद्ध करके क्या तुमने मार डाला है ? ॥ ३२ ॥

रौक्मं वरं हस्तिगजाश्वयुक्तं
रथं प्रदित्सुर्यः परेभ्यस्त्वदर्थे ।
सदा रणे स्पर्धते यः स पापः
कच्चित्त्वया निहतस्तात युद्धे ॥ ३३ ॥

तात ! जो रणक्षेत्रमें तुम्हारा पता बतानेके लिये दूसरोंको हाथी-घोड़ोंसे युक्त सोनेका बना हुआ सुन्दर रथ देनेका हौसला रखता और सदा तुमसे होड़ लगाता था, वह पापी क्या युद्धस्थलमें तुम्हारे द्वारा मार डाला गया ? ॥ ३३ ॥

योऽसौ सदा शूरमदेन मत्तो
विकत्थते संसदि कौरवाणाम् ।
प्रियोऽत्यर्थं तस्य सुयोधनस्य
कच्चित् सपापो निहतस्त्वयाद्य ॥ ३४ ॥

जो शौर्यके मदसे उन्मत्त हो कौरवोंकी सभामें सदा बढ़-बढ़कर बातें बनाया करता था और दुर्योधनको अत्यन्त प्रिय था, क्या उस पापी कर्णको तुमने आज मार डाला ? ॥ ३४ ॥

कच्चित् समागम्य धनुःप्रयुक्तै-
स्त्वत्प्रेषितैर्लोहिताङ्गैर्विहङ्गैः ।
शेते स पापः सुविभिन्नगात्रः
कच्चिद् भग्नौ धार्तराष्ट्रस्य बाहू ॥ ३५ ॥

क्या आज युद्धमें तुमसे भिड़कर तुम्हारे द्वारा धनुषसे छोड़े गये लाल अङ्गोंवाले आकाशचारी बाणोंसे सारा शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण वह पापी कर्ण आज पृथ्वीपर पड़ा है ? क्या उसके मरनेसे दुर्योधनकी दोनों बाँहें टूट गयीं ? ॥

योऽसौ सदा श्लाघते राजमध्ये
दुर्योधनं हर्षयन् दर्पपूर्णः ।
अहं हन्ता फाल्गुनस्येति मोहात्
कच्चिद्वचस्तस्य न वै तथा तत् ॥ ३६ ॥

जो राजाओंके बीचमें दुर्योधनका हर्ष बढ़ाता हुआ घमंडमें भरकर सदा मोहवश यह डींग हाँकता था कि मैं अर्जुनका वध कर सकता हूँ । क्या उसकी वह बात आज निष्फल हो गयी ? ॥ ३६ ॥

नाहं पादौ धावयिष्ये कदाचित्
यावत् स्थितः पार्थ इत्यल्पबुद्धेः ।
व्रतं तस्यैतत् सर्वदा शक्रसूनो
कच्चित् त्वया निहतः सोऽद्य कर्णः ॥ ३७ ॥

इन्द्रकुमार ! उस मन्दबुद्धि कर्णने सदाके लिये यह व्रत ले रक्खा था कि जबतक कुन्तीकुमार अर्जुन जीवित हैं, तबतक मैं दूसरोंसे पैर नहीं धुलाऊँगा । क्या उस कर्णको तुमने आज मार डाला ? ॥ ३७ ॥

योऽसौ कृष्णामब्रवीद् दुष्टबुद्धिः
कर्णः सभायां कुरुवीरमध्ये ।
किं पाण्डवांस्त्वं न जहासि कृष्णे
सुदुर्बलान् पतितान् हीनसत्त्वान् ॥ ३८ ॥

जिस दुष्टबुद्धिवाले कर्णने कौरव-वीरोंके बीच भरी सभामें द्रौपदीसे कहा था कि 'कृष्णे ! तू इन अत्यन्त दुर्बल, पतित और शक्तिहीन पाण्डवोंको छोड़ क्यों नहीं देती ?' ॥ ३८ ॥

योऽसौ कर्णः प्रत्यजानात्त्वदर्थे
नाहं हत्वा सह कृष्णेन पार्थम् ।
इहोपयातेति स पापबुद्धिः
कच्चिच्छेते शरसम्भिन्नगात्रः ॥ ३९ ॥

'जिस कर्णने तुम्हारे लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि 'आज मैं श्रीकृष्णसहित अर्जुनको मारे बिना यहाँ नहीं लौटूँगा' क्या वह पापात्मा तुम्हारे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर धरतीपर पड़ा है ? ॥ ३९ ॥

कच्चित् संग्रामो विदितो वै तवायं
समागमे सृञ्जयकौरवाणाम् ।
यत्रावस्थामीदृशीं प्रापितोऽहं
कच्चित् त्वया सोऽद्य हतो दुरात्मा ॥ ४० ॥

क्या तुम्हें आजके संघर्षमें सृंजयों और कौरवोंका जो यह संग्राम हुआ था, उसका समाचार ज्ञात हुआ है, जिसमें मैं ऐसी दुर्दशाको पहुँचा दिया गया । क्या तुमने आज उस दुरात्मा कर्णको मार डाला ? ॥ ४० ॥

कच्चित्त्वया तस्य सुमन्दबुद्धे-
र्गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैर्ज्वलद्भिः ।
सकुण्डलं भानुमदुत्तमाङ्गं
कायात् प्रकृत्तं युधि सव्यसाचिन् ॥ ४१ ॥

सव्यसाची अर्जुन ! क्या तुमने युद्धस्थलमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े गये प्रज्वलित बाणोंद्वारा उस मन्दबुद्धि कर्णके कुण्डलमण्डित तेजस्वी मस्तकको धड़से काट गिराया ? ॥ ४१ ॥

यत्तन्मया बाणसमर्पितेन
ध्यातोऽसि कर्णस्य वधाय वीर ।
तन्मे त्वया कच्चिदमोघमद्य
ध्यानं कृतं कर्णनिपातनेन ॥ ४२ ॥

वीर ! जिस समय मैं बाणोंसे घायल कर दिया गया, उस समय कर्णके वधके लिये मैंने तुम्हारा चिन्तन किया था । क्या तुमने कर्णको धराशायी करके मेरे उस चिन्तनको आज सफल बना दिया ? ॥ ४२ ॥

यद् दर्पपूर्णः स सुयोधनोऽस्मा-
नुदीक्षते कर्णसमाश्रयेण ।
कच्चित् त्वया सोऽद्य समाश्रयोऽस्य
भग्नः पराक्रम्य सुयोधनस्य ॥ ४३ ॥

कर्णका आश्रय लेकर दुर्योधन जो बड़े घमंडमें भरकर हमलोगोंकी ओर देखा करता था। क्या तुमने दुर्योधनके उस महान् आश्रयको आज पराक्रम करके नष्ट कर दिया ?॥

यो नः पुरा षण्ढतिलानवोचत्
सभामध्ये कौरवाणां समक्षम् ।
स दुर्मतिः कच्चिदुपेत्य संख्ये
त्वया हतः सूतपुत्रो ह्यमर्षी ॥ ४४ ॥

जिसने पूर्वकालमें सभा-भवनके भीतर कौरवोंकी आँखों-के सामने हमें थोथे तिलोंके समान नपुंसक बताया था वह अमर्षशील दुर्बुद्धि सूतपुत्र क्या आज युद्धमें आकर तुम्हारे हाथसे मारा गया ? ॥ ४४ ॥

यः सूतपुत्रः प्रहसन् दुरात्मा
पुराब्रवीन्निर्जितां सौबलेन ।
स्वयं प्रसह्यानय याज्ञसेनी-
मपीह कच्चित् स हतस्त्वयाद्य ॥ ४५ ॥

जिस दुरात्मा सूतपुत्र कर्णने हँसते-हँसते पहले दुःशासन-से यह बात कही थी कि 'सुबलपुत्रके द्वारा जीती हुई द्रुपद-कुमारीको तुम स्वयं जाकर बलपूर्वक यहाँ ले आओ, क्या तुमने आज उसे मार डाला ? ॥४५ ॥

यः शस्त्रभृच्छ्रेष्ठतमः पृथिव्यां
पितामहं व्याक्षिपदल्पचेताः ।
संख्यायमानोऽर्धरथः स कच्चित्
त्वया हतोऽद्याधिरथिर्महात्मन् ॥ ४६ ॥

महात्मन् ! जो पृथ्वीपर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठतम समझा जाता था तथा जिस मूर्खने अर्धरथी गिना जानेपर पितामह भीष्मके ऊपर महान् आक्षेप किया था, उस अधि-रथपुत्रको क्या तुमने आज मार डाला ?॥४६ ॥

अमर्षजं निकृतिसमीरणेरितं
हृदि स्थितं ज्वलनमिमं सदा मम ।
हतो मया सोऽद्य समेत्य कर्ण
इति ब्रुवन् प्रशमयसेऽद्य फाल्गुन॥४७॥

फाल्गुन ! मेरे हृदयमें जिस कर्णकी शठतारूपी वायुसे प्रेरित हो अमर्षकी आग सदा प्रज्वलित रहती है 'उस कर्ण-को आज युद्धमें पाकर मैंने मार डाला' ऐसा कहते हुए क्या तुम आज मेरी उस आगको बुझा दोगे ? ॥ ४७ ॥

ब्रवीहि मे दुर्लभमेतदद्य
कथं त्वया निहतः सूतपुत्रः ।
अनुध्याये त्वां सततं प्रवीर
वृत्रे हतेऽसौ भगवानिवेन्द्रः ॥ ४८ ॥

बोलो, मेरे लिये यह समाचार अत्यन्त दुर्लभ है । वीरवर ! तुमने सूतपुत्रको कैसे मारा ? मैं वृत्रासुरके मारे जानेपर भगवान् इन्द्रके समान सदा तुम्हारे विजयी स्वरूपका चिन्तन करता हूँ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरसे अबतक कर्णको न मार सकनेका कारण बताते हुए उसे मारनेके लिये प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

तद् धर्मशीलस्य वचो निशम्य
राज्ञः क्रुद्धस्यातिरथो महात्मा ।
उवाच दुर्धर्षमदीनसत्त्वं
युधिष्ठिरं जिष्णुरनन्तवीर्यः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! क्रोधमें भरे हुए धर्मात्मा नरेशकी वह बात सुनकर अनन्त पराक्रमी अतिरथी महात्मा विजयशील अर्जुनने उदारचित्त एवं दुर्जय राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

संशप्तकैर्युध्यमानस्य मेऽद्य
सेनाग्रयायी कुरुसैन्येषु राजन् ।
आशीविषाभान् खगमान् प्रमुञ्चन्
द्रौणिः पुरस्तात् सहसाभ्यतिष्ठत् ॥ २ ॥

राजन् ! आज जब मैं संशप्तकोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय कौरवसेनाका अगुआ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंका प्रहार करता हुआ सहसा मेरे सामने आकर खड़ा हो गया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा रथं मेघरवं ममैव
समस्तसेना च रणेऽभ्यतिष्ठत् ।
तेषामहं पञ्च शतानि हत्वा
ततो द्रौणिमगमं पार्थिवाग्र्य ॥ ३ ॥

भूपालशिरोमणे ! इधर कौरवोंकी सारी सेना मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनि करनेवाले मेरे रथको देखकर युद्ध-

के लिये डटकर खड़ी हो गयी; तब मैंने उस सेनामेंसे पाँच सौ वीरोंका वध करके आचार्यपुत्रपर आक्रमण किया ॥ ३॥

स मां समासाद्य नरेन्द्र यत्तः
समभ्ययात् सिंहमिव द्विपेन्द्रः ।
अकार्षीच्च रथिनामुज्जिहीर्षां
महाराज वध्यतां कौरवाणाम् ॥ ४ ॥

नरेन्द्र ! जैसे गजराज सिंहकी ओर दौड़े, उसी प्रकार अश्वत्थामाने मुझे सामने पाकर विजयके लिये प्रयत्नशील हो मुझपर आक्रमण किया । महाराज ! उसने मारे जाते हुए कौरव रथियोंका उद्धार करनेकी इच्छा की ॥ ४ ॥

ततो रणे भारत दुष्प्रकम्प्य
आचार्यपुत्रः प्रवरः कुरूणाम् ।
मामर्दयामास शितैः पृषत्कै-
र्जनार्दनं चैव विषाग्निकल्पैः ॥ ५ ॥

भारत ! तदनन्तर कौरवोंके प्रधान वीर दुर्धर्ष आचार्य-पुत्रने रणक्षेत्रमें विष और अग्निके समान भयंकर तीखे बाणों-द्वारा मुझे और श्रीकृष्णको पीड़ित करना प्रारम्भ किया ।५।

अष्टागवामष्ट शतानि बाणान्
मया प्रयुद्धस्य वहन्ति तस्य ।
तांस्तेन मुक्तानहमस्य बाणै-
र्व्यनाशयं वायुरिवाभ्रजालम् ॥ ६ ॥

मेरे साथ युद्ध करते समय अश्वत्थामाके लिये आठ-आठ बैलोंसे जुते हुए आठ छकड़े सैकड़ों-हजारों बाण ढोते रहते थे । उसके चलाये हुए उन सभी बाणोंको मैंने अपने बाणों-से मारकर उसी तरह नष्ट कर दिया, जैसे वायु मेघोंके समूह-को छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ६ ॥

ततोऽपरान् बाणसंघाननेका-
नाकर्णपूर्णायतविप्रमुक्तान् ।
ससर्ज शिक्षास्त्रबलप्रयत्नै-
स्तथा यथा प्रावृषि कालमेघः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी काली घटा जलकी वर्षा करती है, उसी प्रकार शिक्षा, अस्त्र, बल और प्रयत्नों-द्वारा धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये बहुत-से बाणसमूह उसने बरसाये ॥ ७ ॥

नैवाददानं न च संदधानं
जानीमहे कतरेणास्यतीति ।
वामेन वा यदि वा दक्षिणेन
स द्रोणपुत्रः समरे पर्यवर्तत् ॥ ८ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा समरभूमिमें चारों ओर चक्कर लगाने लगा । वह कब बाण लेता, कब उसे धनुषपर रखता और कब किस हाथसे बायें अथवा दायेंसे छोड़ता था, यह हम-लोग नहीं जान पाते थे ॥ ८ ॥

तस्याततं मण्डलमेव सज्यं
प्रदृश्यते कार्मुकं द्रोणसूनोः ।
सोऽविध्यन्मां पञ्चभिर्द्रोणपुत्रः
शितैः शरैः पञ्चभिर्वासुदेवम् ॥ ९ ॥

केवल प्रत्यञ्चासहित तना हुआ उस द्रोणपुत्रका मण्डला-कार धनुष ही दिखायी देता था । उसने पाँच तीखे बाणोंसे मुझको और पाँचसे श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया ॥ ९ ॥

अहं हि तं त्रिंशता वज्रकल्पैः
समार्दयं निमिषस्यान्तरेण ।
क्षणाच्छ्वावित्समरूपो बभूव
समार्दितो मद्विसृष्टैः पृषत्कैः ॥ १० ॥

तब मैंने पलक मारते-मारते वज्रके समान तीस सुदृढ़ बाणोंद्वारा उसे क्षणभरमें पीड़ित कर दिया । मेरे छोड़े हुए बाणोंसे घायल होनेपर उसका स्वरूप काँटोंसे भरे साहीके समान दिखायी देने लगा ॥ १० ॥

स विक्षरन् रुधिरं सर्वगात्रै
रथानीकं सूतसूनोर्विवेश ।
मयाभिभूतान् सैनिकानां प्रबर्हा-
नसौ प्रपश्यन् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ११ ॥

तब वह सारे शरीरसे खूनकी धारा बहाता हुआ मेरेद्वारा पीड़ित हुए समस्त सैनिक शिरोमणियोंको खूनसे लथपथ देखकर सूतपुत्र कर्णकी रथसेनामें घुस गया ॥ ११ ॥

ततोऽभिभूतं युधि वीक्ष्य सैन्यं
वित्रस्तयोधं द्रुतवाजिनागम् ।
पञ्चाशता रथमुख्यैः समेत्य
कर्णस्त्वरन् मामुपायात् प्रमाथी ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् युद्धस्थलमें अपनी सेनाके योद्धाओंको भयसे आक्रान्त और हाथी-घोड़ोंको भागते देख पचास मुख्य-मुख्य रथियोंको साथ ले शत्रुओंको मथ डालनेवाला कर्ण बड़ी उतावलीके साथ मेरे पास आया ॥ १२ ॥

तान् सूदयित्वाहमपास्य कर्णं
द्रष्टुं भवन्तं त्वरयाभियातः ।
सर्वे पञ्चाला ह्युद्विजन्ते स्म कर्णं
दृष्ट्वा गावः केसरिणं यथैव ॥ १३ ॥

उन पचासों रथियोंका संहार करके कर्णको छोड़कर मैं बड़ी उतावलीके साथ आपका दर्शन करनेके लिये चला आया हूँ । जैसे गौएँ सिंहको देखकर डर जाती हैं, उसी प्रकार सारे पाञ्चालसैनिक कर्णको देखकर उद्विग्न हो उठते हैं ॥ १३ ॥

मृत्योरास्यं व्यात्तमिवाभिपद्य
प्रभद्रकाः कर्णमासाद्य राजन् ।
रथांस्तु तान् सप्तशतान् निमग्नां-
स्तदा कर्णः प्राहिणोन्मृत्युसद्म ॥ १४ ॥

राजन्! मृत्युके फैले हुए मुँहके समान कर्णके पास पहुँचकर प्रभद्रकगण भारी संकटमें पड़ गये। कर्णने युद्धके समुद्रमें डूबे हुए उन सात सौ रथियोंको तत्काल मृत्युके लोकमें भेज दिया था ॥ १४ ॥

न चाप्यभूत् क्लान्तमनाः स राजन्
यावन्नास्मान् दृष्टवान् सूतपुत्रः।
श्रुत्वा तु त्वां तेन दृष्टं समेत-
मश्वत्थाम्ना पूर्वतरं क्षतं च ॥ १५ ॥
मन्ये कालमपयानस्य राजन्
क्रूरात् कर्णात् तेऽहमचिन्त्यकर्मन्।

अचिन्त्यकर्मा नरेश्वर! जबतक सूतपुत्रने हमलोगोंको नहीं देखा था, तबतक उसके मनमें उद्वेग या खेद नहीं हुआ था। मैंने जब सुना कि उसने पहले आपपर दृष्टिपात किया था और आपसे उसका युद्ध भी हुआ था, साथ ही उससे भी पहले अश्वत्थामाने आपको क्षत-विक्षत कर दिया था, तब क्रूरकर्मा कर्णके सामनेसे आपका यहाँ चला आना ही मुझे समयोचित प्रतीत हुआ ॥ १५½ ॥

मया कर्णस्यास्त्रमिदं पुरस्ताद्
युद्धे दृष्टं पाण्डव चित्ररूपम् ॥ १६ ॥
न ह्यन्ययोद्धा विद्यते सृञ्जयानां
महारथं योऽद्य सहेत कर्णम्।

पाण्डुनन्दन! मैंने युद्धमें अपने सामने कर्णके इस विचित्र अस्त्रको देखा था। सृंजयोंमें दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो आज महारथी कर्णका सामना कर सके ॥ १६½ ॥

शैनेयो मे सात्यकिश्चक्ररक्षौ
धृष्टद्युम्नश्चापि तथैव राजन् ॥ १७ ॥
युधामन्युश्चोत्तमौजाश्च शूरौ
पृष्ठतो मां रक्षतां राजपुत्रौ।

राजन्! शिनिपौत्र सात्यकि और धृष्टद्युम्न मेरे चक्ररक्षक हों; युधामन्यु और उत्तमौजा, ये दोनों शूरवीर राजकुमार मेरे पृष्ठभागकी रक्षा करें ॥ १७½ ॥

रथप्रवीरेण महानुभाव
द्विषत्सैन्ये वर्तता दुस्तरेण ॥ १८ ॥
समेत्याहं सूतपुत्रेण संख्ये
वृत्रेण वज्रीव नरेन्द्रमुख्य।
योत्स्याम्यहं भारत सूतपुत्र-
मस्मिन् संग्रामे यदि वै दृश्यतेऽद्य ॥ १९ ॥

महानुभाव! भरतवंशी नृपश्रेष्ठ! शत्रुसेनामें विद्यमान रथियोंमें प्रमुख वीर दुर्जय सूतपुत्र कर्णके साथ, यदि इस संग्राममें आज वह मुझे दीख जाय तो युद्धस्थलमें मिलकर मैं उसी तरह युद्ध करूँगा, जैसे वज्रधारी इन्द्रने वृत्रासुरके साथ किया था ॥ १८-१९ ॥

आयाहि पश्याद्य युयुत्समानं
मां सूतपुत्रस्य रणे जयाय।
महोरगस्येव मुखं प्रपन्नाः
प्रभद्रकाः कर्णमभिद्रवन्ति ॥ २० ॥

आइये, देखिये, आज मैं रणभूमिमें सूतपुत्रपर विजय पानेके लिये युद्ध करना चाहता हूँ। प्रभद्रकगण कर्णपर धावा कर रहे हैं, ऐसा करके वे मानो अजगरके मुखमें पड़ गये हैं ॥ २० ॥

षट्साहस्रा भारत राजपुत्राः
स्वर्गाय लोकाय रणे निमग्नाः।
कर्णं न चेदद्य निहन्मि राजन्
सबान्धवं युध्यमानं प्रसह्य ॥ २१ ॥
प्रतिश्रुत्याकुर्वतो वै गतिर्या
कष्टा याता तामहं राजसिंह।

भारत! छः हजार राजकुमार स्वर्गलोकमें जानेके लिये युद्धके सागरमें मग्न हो गये हैं। राजन्! राजसिंह! यदि आज मैं बन्धुओंसहित युद्धमें तत्पर हुए कर्णको हठपूर्वक न मार डालूँ तो प्रतिज्ञा करके उसका पालन न करनेवालेको जो दुःखदायी गति प्राप्त होती है, उसीको मैं भी पाऊँगा ॥ २१½ ॥

आमन्त्रये त्वां ब्रूहि जयं रणे मे
पुरा भीमं धार्तराष्ट्रा ग्रसन्ते ॥ २२ ॥
सौतिं हनिष्यामि नरेन्द्रसिंह
सैन्यं तथा शत्रुगणांश्च सर्वान् ॥ २३ ॥

मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ। आप रणभूमिमें मेरी विजयका आशीर्वाद दीजिये। नरेन्द्रसिंह! धृतराष्ट्रके पुत्र भीमसेनको ग्रस लेनेकी चेष्टा कर रहे हैं। मैं इसके पहले ही सूतपुत्र कर्णको, उसकी सेनाको तथा सम्पूर्ण शत्रुओंको मार डालूँगा ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनवाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनके प्रति अपमानजनक क्रोधपूर्ण वचन

संजय उवाच

श्रुत्वा कर्णं कल्यमुदारवीर्यं
क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः।
धनंजयं वाक्यमुवाच चेदं
युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! कर्णके बाणोंसे संतप्त हुए अमित

तेजस्वी कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर अधिक बलशाली कर्णको सकुशल सुनकर अर्जुनपर कुपित हो उनसे इस प्रकार बोले—॥

विप्रद्रुता तात चमूस्त्वदीया
तिरस्कृता चाद्य यथा न साधु।
भीतो भीमं त्यज्य चायास्तथा त्वं
यन्नाशकः कर्णमथो निहन्तुम्॥ २ ॥

'तात ! तुम्हारी सारी सेना भाग चली है। तुमने आज उसकी ऐसी उपेक्षा की है, जो किसी प्रकार अच्छी नहीं कही जा सकती। जब तुम कर्णको जीत नहीं सके तो भयभीत हो भीमसेनको वहीं छोड़कर यहाँ चले आये॥ २॥

स्नेहस्त्वया पार्थ कृतः पृथाया
गर्भे समाविश्य यथा न साधु।
त्यक्त्वा रणे यदपायाः स भीमं
यन्नाशकः सूतपुत्रं निहन्तुम्॥ ३ ॥

'पार्थ ! तुमने कुन्तीके गर्भमें निवास करके भी अपने सगे भाईके प्रति ऐसा स्नेह निभाया, जिसे कोई अच्छा नहीं कह सकता; क्योंकि जब तुम सूतपुत्र कर्णके मारनेमें समर्थ न हो सके, तब भीमसेनको अकेले रणभूमिमें छोड़कर स्वयं वहाँसे चले आये॥ ३॥

यत् तद् वाक्यं द्वैतवने त्वयोक्तं
कर्णं हन्तास्म्येकरथेन सत्यम्।
त्यक्त्वा तं वै कथमद्यापयातः
कर्णाद् भीतो भीमसेनं विहाय॥ ४ ॥

'तुमने द्वैतवनमें जो यह सत्य वचन कहा था कि 'मैं एकमात्र रथके द्वारा युद्ध करके कर्णको मार डालूँगा' उस प्रतिज्ञाको तोड़कर कर्णसे भयभीत हो भीमसेनको छोड़कर आज तुम रणभूमिसे लौट कैसे आये ?॥ ४॥

इदं यदि द्वैतवनेऽप्यवक्षः
कर्णं योद्धुं न प्रशक्ष्ये नृपेति।
वयं ततः प्राप्तकालं च सर्वे
कृत्यान्युपैष्याम तथैव पार्थ॥ ५ ॥

'पार्थ ! यदि तुमने द्वैतवनमें यह कह दिया होता कि 'राजन् ! मैं कर्णके साथ युद्ध नहीं कर सकूँगा' तो हम सब लोग समयोचित कर्तव्यका निश्चय करके उसीके अनुसार कार्य करते॥ ५॥

मयि प्रतिश्रुत्य वधं हि तस्य
न वै कृतं तच्च तथैव वीर।
आनीय नः शत्रुमध्यं स कस्मात्
समुत्क्षिप्य स्थण्डिले प्रत्यपिंष्टा॥ ६ ॥

'वीर ! तुमने मुझसे कर्णके वधकी प्रतिज्ञा करके उसका उसी रूपमें पालन नहीं किया। यदि ऐसा ही करना था तो हमें शत्रुओंके बीचमें लाकर पत्थरकी वेदीपर पटककर पीस क्यों डाला ?॥ ६॥

अप्याशिष्म वयमर्जुन त्वयि
यियासवो बहु कल्याणमिष्टम्।
तन्नः सर्वं विफलं राजपुत्र
फलार्थिनां विफल इवातिपुष्पः॥ ७ ॥

'राजकुमार अर्जुन ! हमने बहुत-से मङ्गलमय अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर तुमपर आशा लगा रक्खी थी; परंतु फल चाहनेवाले मनुष्योंको अधिक फूलोंवाला फलहीन वृक्ष जैसे निराश कर देता है, उसी प्रकार तुमसे हमारी सारी आशा निष्फल हो गयी॥ ७॥

प्रच्छादितं बडिशमिवामिषेण
संछादितं गरलमिवाशनेन।
अनर्थकं मे दर्शितवानसि त्वं
राज्यार्थिनो राज्यरूपं विनाशम्॥ ८ ॥

'मैं राज्य पाना चाहता था; किंतु तुमने मांससे ढके हुए वंशीके काँटे और भोजनसामग्रीसे आच्छादित हुए विषके समान मुझे राज्यके रूपमें अनर्थकारी विनाशका ही दर्शन कराया है॥ ८॥

त्रयोदशेमा हि समाः सदा वयं
त्वामन्वजीविष्म धनंजयाशया।
काले वर्षं देवमिवोप्तबीजं
तन्नः सर्वान् नरके त्वं न्यमज्जः॥ ९ ॥

'धनंजय ! जैसे बोया हुआ बीज समयपर मेघद्वारा की हुई वर्षाकी प्रतीक्षामें जीवित रहता है, उसी प्रकार हमने तेरह वर्षोंतक सदा तुमपर ही आशा लगाकर जीवन धारण किया था; परंतु तुमने हम सब लोगोंको नरकमें डुबो दिया (भारी संकटमें डाल दिया)॥ ९॥

यत्तत् पृथां वागुवाचान्तरिक्षे
सप्ताहजाते त्वयि मन्दबुद्धे।
जातः पुत्रो वासवविक्रमोऽयं
सर्वाञ्शूराञ्शात्रवाञ्जेष्यतीति॥ १०॥

मन्दबुद्धि अर्जुन ! तुम्हारे जन्म लिये अभी सात ही दिन बीते थे कि माता कुन्तीसे आकाशवाणीने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'देवि ! तुम्हारा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी पैदा हुआ है। यह अपने समस्त शूरवीर शत्रुओंको जीत लेगा॥ १०॥

अयं जेता खाण्डवे देवसंघान्
सर्वाणि भूतान्यपि चोत्तमौजाः।
अयं जेता मद्रकलिङ्गकेकया-
नयं कुरून् राजमध्ये निहन्ता॥ ११ ॥

''यह उत्तम शक्तिसे सम्पन्न बालक खाण्डववनमें देवताओंके समूहों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर भी विजय प्राप्त करेगा। यह मद्र, कलिंग और केकयोंको जीतेगा तथा राजाओंकी मण्डलीमें कौरवोंका भी विनाश कर डालेगा॥ ११॥

अस्मात् परो नो भविता धनुर्धरो
नैनं भूतं किंचन जातु जेता।
इच्छन्नयं सर्वभूतानि कुर्याद्
वशे वशी सर्वसमाप्तविद्यः॥ १२॥

'इससे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं होगा। कोई भी प्राणी कभी भी इसे जीत नहीं सकेगा। यह अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ सम्पूर्ण विद्याओंको प्राप्त कर लेगा और इच्छा करते ही सभी प्राणियोंको अपने अधीन कर सकेगा॥ १२॥

कान्त्या शशाङ्कस्य जवेन वायोः
स्थैर्येण मेरोः क्षमया पृथिव्याः।
सूर्यस्य भासा धनदस्य लक्ष्म्या
शौर्येण शक्रस्य बलेन विष्णोः॥ १३॥

'यह चन्द्रमाकी कान्ति, वायुके वेग, मेरुकी स्थिरता, पृथ्वीकी क्षमा, सूर्यकी प्रभा, कुबेरकी लक्ष्मी, इन्द्रके शौर्य और भगवान् विष्णुके बलसे सम्पन्न होगा॥ १३॥

तुल्यो महात्मा तव कुन्ति पुत्रो
जातोऽदितेर्विष्णुरिवारिहन्ता।
स्वेषां जयाय द्विषतां वधाय
ख्यातोऽमितौजाः कुलतन्तुकर्ता॥ १४॥

'कुन्ति! तुम्हारा यह महामनापुत्र अदितिके गर्भसे प्रकट हुए शत्रुहन्ता भगवान् विष्णुके समान उत्पन्न हुआ है। यह अमितबलशाली बालक स्वजनोंकी विजय और शत्रुओंके वधके लिये प्रसिद्ध एवं अपनी कुलपरम्पराका प्रवर्तक होगा'॥ १४॥

इत्यन्तरिक्षे शतशृङ्गमूर्ध्नि
तपस्विनां शृण्वतां वागुवाच।
एवंविधं तच्च नाभूत् तथा च
देवापि नूनमनृतं वदन्ति॥ १५॥

'शतशृङ्ग पर्वतके शिखरपर तपस्वी महात्माओंके सुनते हुए आकाशवाणीने ये बातें कही थीं; परंतु उसका यह कथन सफल नहीं हुआ। निश्चय ही देवतालोग भी झूठ बोलते हैं॥ १५॥

तथा परेषामृषिसत्तमानां
श्रुत्वा गिरः पूजयतां सदा त्वाम्।
न संनतिं प्रैमि सुयोधनस्य
न त्वां जानाम्याधिरथेर्भयार्तम्॥ १६॥

'इसी प्रकार दूसरे महर्षि भी सदा तुम्हारी प्रशंसा करते हुए ऐसी ही बातें कहा करते थे। उनकी बातें सुनकर ही मैं दुर्योधनके सामने कभी नतमस्तक न हो सका; परंतु मैं यह नहीं जानता था कि तुम अधिरथपुत्र कर्णके भयसे पीड़ित हो जाओगे॥ १६॥

पूर्वं यदुक्तं हि सुयोधनेन
न फाल्गुनः प्रमुखे स्थास्यतीति।
कर्णस्य युद्धे हि महाबलस्य
मौर्ख्यात् तु तन्नावबुद्धं मयाऽऽसीत्॥१७॥

'दुर्योधनने पहले ही जो यह बात कह दी थी कि 'अर्जुन युद्धमें महाबली कर्णके सामने नहीं खड़े हो सकेंगे' उसके इस कथनपर मैंने मूर्खतावश विश्वास नहीं किया था॥१७॥

तेनाद्य तप्स्ये भृशमप्रमेयं
यच्छत्रुवर्गं नरकं प्रविष्टः।
तदैव वाच्योऽस्मि ननु त्वयाहं
न योत्स्येऽहं सूतपुत्रं कथंचित्॥ १८॥
ततो नाहं सृञ्जयान् केकयांश्च
समानयेयं सुहृदो रणाय।

'इसीलिये आज संतप्त हो रहा हूँ। शत्रुओंके समुदायमें फँसकर अत्यन्त असीम नरक-तुल्य सङ्कटमें पड़ गया हूँ। अर्जुन! तुम्हें पहले ही यह कह देना चाहिये था कि 'मैं सूतपुत्र कर्णके साथ किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा'। वैसी दशामें मैं सृंजयों, केकयों तथा अन्यान्य सुहृदोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं करता॥ १८½॥

एवं गते किंच मयाद्य शक्यं
कार्यं कर्तुं विग्रहे सूतजस्य॥ १९॥
तथैव राज्ञश्च सुयोधनस्य
ये वापि मां योद्धुकामाः समेताः।

'आज जब ऐसी परिस्थिति है, तब सूतपुत्र कर्ण, राजा दुर्योधन तथा अन्य जो लोग मेरे साथ युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए हैं, उन सबके साथ छिड़े हुए इस संग्राममें मैं कौन-सा कार्य कर सकता हूँ?॥ १९½॥

धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण
योऽहं वशं सूतपुत्रस्य यातः॥ २०॥
मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये
ये चाप्यन्ये योद्धुकामाः समेताः।

'श्रीकृष्ण! मैं कौरवों, सुहृदों तथा अन्य जो लोग युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए हैं, उन सबके बीचमें आज सूतपुत्र कर्णके अधीन हो गया। मेरे जीवनको धिक्कार है॥

(एकस्तु मे भीमसेनोऽद्य नाथो
येनाभिपन्नोऽस्मि रणे महाभये।
विमोच्य मां चापि कृपान्वितस्ततः
शरेण तीक्ष्णेन बिभेद कर्णम्॥

'आज एकमात्र भीमसेन ही मेरे रक्षक हैं, जिन्होंने महान् भयदायक संग्राममें सब ओरसे मेरी रक्षा की है। उन्होंने मुझे संकटसे मुक्त करके अपने पैने बाणसे कर्णको बींध डाला था।

त्यक्त्वा प्राणान् समरे भीमसेन-
श्चक्रे युद्धं कुरुभिः समेतैः ।
गदाग्रहस्तो रुधिरोक्षिताङ्ग-
श्चरन् रणे काल इवान्तकाले ॥
असौ हि भीमस्य महान् निनादो
मुहुर्मुहुः श्रूयते धार्तराष्ट्रैः ॥)

'भीमसेनका शरीर खूनसे नहा उठा था। फिर भी वे हाथमें गदा लेकर प्रलयकालके यमराजकी भाँति रणभूमिमें विचरते थे और प्राणोंका मोह छोड़कर समराङ्गणमें एकत्र हुए कौरवोंके साथ युद्ध करते थे। धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ युद्ध करते हुए भीमसेनका वह महान् सिंहनाद बारंबार सुनायी दे रहा है ॥

यदि स्म जीवेत् स भवेन्निहन्ता
महारथानां प्रवरो रथोत्तमः ।
तवाभिमन्युस्तनयोऽद्य पार्थ
न चास्मि गन्ता समरे पराभवम् ॥ २१ ॥
अथापि जीवेत् समरे घटोत्कच-
स्तथापि नाहं समरे पराङ्मुखः ।

'पार्थ ! यदि महारथियोंमें श्रेष्ठ और उत्तम रथी तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु जीवित होता तो वह शत्रुओंका वध अवश्य करता। फिर तो समरभूमिमें मुझे ऐसा अपमान नहीं उठाना पड़ता। यदि समराङ्गणमें घटोत्कच भी जीवित होता तो भी मुझे वहाँसे मुँह फेरकर भागना नहीं पड़ता ॥ २१½ ॥

(भीमस्य पुत्रः समराग्रयायी
महास्त्रविच्चापि तवानुरूपः ।
यत्नं समासाद्य रिपोर्बलं नो
निमीलिताक्षं भयविप्लुतं भवेत् ॥

'भीमसेनका वह पुत्र समरभूमिमें आगे चलनेवाला, महान् अस्त्रवेत्ता और तुम्हारे समान ही पराक्रमी था। उसके होनेपर हमारे शत्रुओंकी सेना यत्न करके भी सफल न होती और भयसे व्याकुल होकर आँखें बंद कर लेती ॥

चकार योऽसौ निशि युद्धमेक-
स्त्यक्त्वा रणं यस्य भयाद् द्रवन्ते ।
स चेत् समासाद्य महानुभावः
कर्णं रणे बाणगणैः प्रमोह्य ।
धैर्ये स्थितेनापि च सूतजेन
शक्त्या हतो वासवदत्तया तया ॥)

'उस महानुभाव वीरने अकेले ही रात्रिमें युद्ध किया था, जिससे शत्रुसैनिक भयके मारे रणभूमि छोड़कर भागने लगे थे। उसने कर्णपर आक्रमण करके रणभूमिमें अपने बाण-समूहोंद्वारा सबको मोहमें डाल दिया था; परंतु धैर्यमें स्थित हुए सूतपुत्र कर्णने इन्द्रकी दी हुई उस शक्तिके द्वारा उसे मार डाला ॥

मम ह्यभाग्यानि पुरा कृतानि
पापानि नूनं बलवन्ति युद्धे ॥ २२ ॥
तृणं च कृत्वा समरे भवन्तं
ततोऽहमेवं निकृतो दुरात्मना ।
वैकर्तनेनैव तथा कृतोऽहं
यथा ह्यशक्तः क्रियते ह्यबान्धवः ॥ २३ ॥

'निश्चय ही मेरे अभाग्य और पूर्वकृत पाप इस युद्धमें प्रबल हो रहे हैं। दुरात्मा कर्णने संग्राममें तुम्हें तिनकेके समान समझकर मेरा ऐसा अपमान किया है। किसी शक्तिहीन तथा बन्धु-बान्धवोंसे रहित असहाय मनुष्यके साथ जैसा बर्ताव किया जाता है, कर्णने वैसा ही मेरे साथ किया है ॥

आपद्गतं कश्चन यो विमोक्षेत्
स बान्धवः स्नेहयुक्तः सुहृच्च ।
एवं पुराणा मुनयो वदन्ति
धर्मः सदा सद्भिरनुष्ठितश्च ॥ २४ ॥

'जो कोई पुरुष आपत्तिमें पड़े हुए मनुष्यको संकटसे छुड़ा देता है, वही बन्धु है और वही स्नेही सुहृद् । प्राचीन महर्षि ऐसा ही कहते हैं। यही सत्पुरुषोंद्वारा सदासे पालित होनेवाला धर्म है ॥ २४ ॥

त्वष्ट्रा कृतं वाहमकूजनाक्षं
शुभं समास्थाय कपिध्वजं तम् ।
खड्गं गृहीत्वा हेमपट्टानुबद्धं
धनुश्चेदं गाण्डिवं तालमात्रम् ॥ २५ ॥
स केशवेनोह्यमानः कथं त्वं
कर्णाद् भीतो ह्यपयातोऽसि पार्थ ।

'कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा रथ साक्षात् विश्वकर्माका बनाया हुआ है, उसके धुरेसे कोई आवाज नहीं होती। उसपर वानरध्वजा फहराती रहती है, ऐसे शुभलक्षण रथपर आरूढ़ हो सुवर्णजटित खड्ग और चार हाथके श्रेष्ठ धनुष गाण्डीव-को लेकर तथा भगवान् श्रीकृष्ण-जैसे सारथिके द्वारा संचालित होकर भी तुम कर्णसे भयभीत होकर कैसे भाग आये ! ॥

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ
यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य ॥ २६ ॥
तदाहनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं
मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ।

'तुम अपना गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्णको दे दो तथा रणभूमिमें स्वयं इनके सारथि बन जाओ। फिर जैसे इन्द्रने हाथमें वज्र लेकर वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्णको मार डालेंगे ॥ २६½ ॥

राधेयमेतं यदि नाद्य शक्त-
श्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ॥ २७ ॥
प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य
त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः ।

'दुरात्मा राजपुत्र ! यदि तुम पाँचवें महीनेमें माताके गर्भसे गिर गये होते अथवा माता कुन्तीके अत्यन्त कष्टदायक गर्भमें आये ही नहीं होते तो वह तुम्हारे लिये अच्छा होता; क्योंकि उस दशामें तुम्हें युद्धसे भाग आनेका कलङ्क तो नहीं प्राप्त होता ॥ २९½ ॥

धिग्गाण्डीवं धिक् च ते बाहुवीर्य-
मसंख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते।
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य
कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते ॥ ३० ॥

'धिक्कार है तुम्हारे इस गाण्डीव धनुषको, धिक्कार है तुम्हारी भुजाओंके पराक्रमको, धिक्कार है तुम्हारे इन असंख्य बाणोंको, धिक्कार है हनुमान्‌जीके द्वारा उपलक्षित तुम्हारी इस ध्वजाको तथा धिक्कार है अग्निदेवके दिये हुए इस रथको' ॥ ३० ॥

'यदि तुम आज रणभूमिमें विचरते हुए इस भयानक वीर राधापुत्र कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो ॥ २७½ ॥

अस्मान् नैवं पुत्रदारैर्विहीनान्
सुखाद्भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूयः॥ २८ ॥
द्रष्टा लोकः पतितानप्यगाधे
पापैर्जुष्टे नरके पाण्डवेय।

'पाण्डुनन्दन ! ऐसा हो जानेपर संसारके मनुष्य हमें फिर इस प्रकार स्त्री-पुत्रोंके संयोगसे रहित, राज्य नष्ट होनेके कारण सुखसे वञ्चित तथा पापियोंद्वारा सेवित अगाध नरक-तुल्य कष्टमें गिरा हुआ नहीं देखेंगे ॥ २८½ ॥

मासेऽपतिष्यः पञ्चमे त्वं सुकृच्छ्रे
न वा गर्भे आभविष्यः पृथायाः ॥ २९ ॥
तत् ते श्रेयो राजपुत्राभविष्य-
न्न चेत् संग्रामादपयानं दुरात्मन्।

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरक्रोधवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरका क्रोधपूर्ण वचनविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका वध करनेके लिये उद्यत हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णका बलाकव्याध और कौशिक मुनिकी कथा सुनाते हुए धर्मका तत्त्व बताकर समझाना

संजय उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तः कौन्तेयः श्वेतवाहनः।
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर श्वेतवाहन कुन्तीकुमार अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे तलवार उठा ली ॥

तस्य कोपं समुद्वीक्ष्य चित्तज्ञः केशवस्तदा।
उवाच किमिदं पार्थ गृहीतः खड्ग इत्युत ॥ २ ॥

उस समय उनका क्रोध देखकर सबके मनकी बात जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'पार्थ ! यह क्या ? तुमने तलवार कैसे उठा ली ? ॥ २ ॥

न हि पश्यामि योद्धव्यं त्वया किञ्चिद् धनंजय।
ते ग्रस्ता धार्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥ ३ ॥

'धनंजय ! यहाँ तुम्हें किसीके साथ युद्ध करना हो, ऐसा तो नहीं दिखायी देता; क्योंकि धृतराष्ट्रके पुत्रोंको बुद्धिमान् भीमसेनने कालका ग्रास बना रक्खा है ॥ ३ ॥

अपयातोऽसि कौन्तेय राजा द्रष्टव्य इत्यपि।
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम तो यह सोचकर युद्धसे हट आये थे कि राजा युधिष्ठिरका दर्शन कर लूँ। सो तुमने राजाका दर्शन कर लिया। राजा युधिष्ठिर सब प्रकारसे सकुशल हैं ॥

स दृष्ट्वा नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम्।
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिदं मोहकारितम् ॥ ५ ॥

'सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरको स्वस्थ देखकर जब तुम्हारे लिये हर्षका अवसर आया है, ऐसे समयमें यह मोहकारित कौन-सा कृत्य होने जा रहा है ? ॥ ५ ॥

न तं पश्यामि कौन्तेय यस्ते वध्यो भविष्यति।
प्रहर्तुमिच्छसे कस्मात् किं वा ते चित्तविभ्रमः ॥ ६ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मैं किसी ऐसे मनुष्यको भी यहाँ नहीं देखता, जो तुम्हारेद्वारा वध करनेके योग्य हो। फिर तुम प्रहार क्यों करना चाहते हो ? तुम्हारे चित्तमें भ्रम तो नहीं हो गया है ? ॥ ६ ॥

कस्माद् भवान् महाखड्गं परिगृह्णाति सत्वरः।
तत् त्वां पृच्छामि कौन्तेय किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ७ ॥
परामृशसि यत् क्रुद्धः खड्गमद्भुतविक्रम।

'पार्थ ! तुम क्यों इतने उतावले होकर विशाल खड्ग हाथमें ले रहे हो। अद्भुत पराक्रमी वीर ! मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, इस समय तुम्हें यह क्या करनेकी इच्छा हुई है, जिससे कुपित होकर तलवार उठा रहे हो ?' ॥ ७½ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन प्रेक्षमाणो युधिष्ठिरम् ॥ ८ ॥
अर्जुनः प्राह गोविन्दं क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्।

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार पूछनेपर अर्जुनने क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान युधिष्ठिरकी ओर देखकर श्रीकृष्णसे कहा—॥ ८½ ॥

अन्यस्मै देहि गाण्डीवमिति मां योऽभिचोदयेत् ॥ ९॥
भिन्द्यामहं तस्य शिर इत्युपांशुव्रतं मम।
तदुक्तं मम चानेन राज्ञामितपराक्रम ॥ १० ॥
समक्षं तव गोविन्द न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे।
तस्मादेनं वधिष्यामि राजानं धर्मभीरुकम् ॥ ११ ॥

''जो मुझसे यह कह दे कि तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे दो, उसका मैं सिर काट लूँगा।' मैंने मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है। अनन्त पराक्रमी गोविन्द! आपके सामने ही इन महाराजने मुझसे वह बात कही है, अतः मैं इन्हें क्षमा नहीं कर सकता; इन धर्मभीरु नरेशका वध करूँगा॥

प्रतिज्ञां पालयिष्यामि हत्वैनं नरसत्तमम्।
एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन ॥ १२ ॥

'यदुनन्दन! इन नरश्रेष्ठका वध करके मैं अपनी प्रतिज्ञाका पालन करूँगा; इसीलिये मैंने यह खड्ग हाथमें लिया है॥

सोऽहं युधिष्ठिरं हत्वा सत्यस्यानृण्यतां गतः।
विशोको विज्वरश्चापि भविष्यामि जनार्दन ॥ १३ ॥

'जनार्दन! मैं युधिष्ठिरका वध करके उस सच्ची प्रतिज्ञाके भारसे उऋण हो शोक और चिन्तासे मुक्त हो जाऊँगा॥

किं वा त्वं मन्यसे प्राप्तमस्मिन् काल उपस्थिते।
त्वमस्य जगतस्तात वेत्थ सर्वं गतागतम् ॥ १४ ॥
तत् तथा प्रकरिष्यामि यथा मां वक्ष्यते भवान्।

'तात! आप इस अवसरपर क्या करना उचित समझते हैं? आप ही इस जगत्के भूत और भविष्यको जानते हैं, अतः आप मुझे जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा' ॥१४½॥

संजय उवाच

धिग् धिगित्येव गोविन्दः पार्थमुक्त्वाब्रवीत् पुनः॥१५॥

संजय कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे 'धिक्कार है! धिक्कार है!!' ऐसा कहकर पुनः इस प्रकार बोले॥ १५॥

श्रीकृष्ण उवाच

इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
काले न पुरुषव्याघ्र संरम्भं यद् भवानगात्॥ १६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! इस समय मैं समझता हूँ कि तुमने वृद्ध पुरुषोंकी सेवा नहीं की है। पुरुषसिंह! इसीलिये तुम्हें बिना अवसरके ही क्रोध आ गया है॥ १६॥

न हि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय।
यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः ॥ १७ ॥

पाण्डुपुत्र धनंजय! जो धर्मके विभागको जाननेवाला है, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता, जैसा कि यहाँ आज तुम करना चाहते हो। वास्तवमें तुम धर्मभीरु होनेके साथ ही बुद्धिहीन भी हो॥ १७॥

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः॥ १८॥

पार्थ! जो करने योग्य होनेपर भी असाध्य हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हों ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषोंमें अधम माना गया है॥ १८॥

अनुसृत्य तु ये धर्मं कथयेयुरुपस्थिताः।
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ १९ ॥

जो स्वयं धर्मका अनुसरण एवं आचरण करके शिष्योंद्वारा उपासित होकर उन्हें धर्मका उपदेश देते हैं; धर्मके संक्षेप एवं विस्तारको जाननेवाले उन गुरुजनोंका इस विषयमें क्या निर्णय है, इसे तुम नहीं जानते॥ १९॥

अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्याकार्यविनिश्चये।
अवशो मुह्यते पार्थ यथा त्वं मूढ एव तु ॥ २० ॥

पार्थ! उस निर्णयको न जाननेवाला मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्यके निश्चयमें तुम्हारे ही समान असमर्थ, विवेकशून्य एवं मोहित हो जाता है॥ २०॥

न हि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथंचन।
श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ २१ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान किसी तरह भी अनायास ही नहीं हो जाता है। वह सब शास्त्रसे जाना जाता है और शास्त्रका तुम्हें पता ही नहीं है॥ २१॥

अविज्ञानाद् भवान् यच्च धर्मं रक्षति धर्मवित्।
प्राणिनां त्वं वधं पार्थ धार्मिको नावबुध्यसे॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन! तुम अज्ञानवश अपनेको धर्मज्ञ मानकर जो धर्मकी रक्षा करने चले हो, उसमें प्राणिहिंसाका पाप है, यह बात तुम्हारे-जैसे धार्मिककी समझमें नहीं आती है॥२२॥

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥ २३ ॥

तात! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे॥२३॥

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम्।
हन्याद् भवान् नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ! तुम दूसरे गवाँर मनुष्यके समान अपने बड़े भाई धर्मज्ञ नरेशका वध कैसे करोगे?॥ २४॥

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः॥ २५ ॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥ २६ ॥

मानद! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो,

संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं। तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं ॥ २५-२६ ॥

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनेव कृतं पुरा।
तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि ॥ २७ ॥

पार्थ! तुमने नासमझ बालकके समान पहले कोई प्रतिज्ञा कर ली थी, इसीलिये तुम मूर्खतावश अधर्मयुक्त कार्य करनेको तैयार हो गये हो ॥ २७ ॥

स गुरुं पार्थ कस्मात् त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि।
असम्प्रधार्य धर्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

कुन्तीकुमार! बताओ तो तुम धर्मके सूक्ष्म एवं दुर्बोध स्वरूपका अच्छी तरह विचार किये बिना ही अपने ज्येष्ठ भ्राताका वध करनेके लिये कैसे दौड़ पड़े? ॥ २८ ॥

इदं धर्मरहस्यं च तव वक्ष्यामि पाण्डव।
यद् ब्रूयात् तव भीष्मो हि पाण्डवो वा युधिष्ठिरः॥२९॥
विदुरो वा तथा क्षत्ता कुन्ती वापि यशस्विनी।
तत् ते वक्ष्यामि तत्त्वेन निबोधैतद् धनंजय ॥ ३० ॥

पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हें यह धर्मका रहस्य बता रहा हूँ। धनंजय! पितामह भीष्म, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, विदुरजी अथवा यशस्विनी कुन्तीदेवी—ये लोग तुम्हें धर्मके जिस तत्त्वका उपदेश कर सकते हैं, उसीको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। इसे ध्यान देकर सुनो ॥ २९-३० ॥

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥ ३१ ॥

सत्य बोलना उत्तम है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है; परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है ॥ ३१ ॥

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥ ३२ ॥

जहाँ मिथ्या बोलनेका परिणाम सत्य बोलनेके समान मङ्गलकारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलनेका परिणाम असत्य-भाषणके समान अनिष्टकारी हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिये। वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा ॥ ३२ ॥

विवाहकाले रतिसम्प्रयोगे
प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ ३३ ॥

विवाहकालमें, स्त्रीप्रसङ्गके समय, किसीके प्राणोंपर सङ्कट आनेपर, सर्वस्वका अपहरण होते समय तथा ब्राह्मणकी भलाईके लिये आवश्यकता हो तो असत्य बोल दे; इन पाँच अवसरोंपर झूठ बोलनेसे पाप नहीं होता ॥ ३३ ॥

सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्।
तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥ ३४ ॥
तादृशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम्।

जब किसीका सर्वस्व छीना जा रहा हो तो उसे बचानेके लिये झूठ बोलना कर्तव्य है। वहाँ असत्य ही सत्य और सत्य ही असत्य हो जाता है। जो मूर्ख है, वही यथाकथञ्चित् व्यवहारमें लाये हुए एक-जैसे सत्यको सर्वत्र आवश्यक समझता है ॥ ३४½ ॥

भवेत् सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ३५ ॥

केवल अनुष्ठानमें लाया गया असत्यरूप सत्य बोलने योग्य नहीं होता, अतः वैसा सत्य न बोले। पहले सत्य और असत्यका अच्छी तरह निर्णय करके जो परिणाममें सत्य हो उसका पालन करे। जो ऐसा करता है, वही धर्मका ज्ञाता है ॥ ३५ ॥

किमाश्चर्यं कृतप्रज्ञः पुरुषोऽपि सुदारुणः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ३६ ॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध (निष्काम) है, वह पुरुष यदि अत्यन्त कठोर होकर भी, जैसे अंधे पशुको मार देनेसे बलाक नामक व्याध पुण्यका भागी हुआ था, उसी प्रकार महान् पुण्य प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य है? ॥ ३६ ॥

किमाश्चर्यं पुनर्मूढो धर्मकामो ह्यपण्डितः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः॥ ३७ ॥

इसी तरह जो धर्मकी इच्छा तो रखता है, पर है मूर्ख और अज्ञानी, वह नदियोंके संगमपर बसे हुए कौशिक मुनिकी भाँति यदि अज्ञानपूर्वक धर्म करके भी महान् पापका भागी हो जाय तो क्या आश्चर्य है? ॥ ३७ ॥

अर्जुन उवाच

आचक्ष्व भगवन्नेतद् यथा विन्दाम्यहं तथा।
बलाकस्यानुसम्बन्धं नदीनां कौशिकस्य च ॥ ३८ ॥

अर्जुन बोले—भगवन्! बलाक नामक व्याध और नदियोंके संगमपर रहनेवाले कौशिक मुनिकी कथा कहिये, जिससे मैं इस विषयको अच्छी तरह समझ सकूँ ॥ ३८ ॥

वासुदेव उवाच

पुरा व्याधोऽभवत् कश्चिद् बलाको नाम भारत।
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति न कामतः ॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भारत! प्राचीनकालमें बलाक नामसे प्रसिद्ध एक व्याध रहता था, जो अपनी स्त्री और पुत्रोंकी जीवनरक्षाके लिये ही हिंसक पशुओंको मारा करता था, कामनावश नहीं ॥ ३९ ॥

वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च संश्रितान्।
स्वधर्मनिरतो नित्यं सत्यवागनसूयकः ॥ ४० ॥

वह बूढ़े माता-पिता तथा अन्य आश्रित जनोंका पालन-पोषण किया करता था। सदा अपने धर्ममें लगा रहता, सत्य बोलता और किसीकी निन्दा नहीं करता था ॥ ४० ॥

स कदाचिन्मृगं लिप्सुर्नाभ्यविन्दन्मृगं क्वचित्।
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापदं घ्राणचक्षुषम् ॥ ४१ ॥

एक दिन वह पशुको मार लानेके लिये वनमें गया; किंतु कहीं किसी हिंसक पशुको न पा सका। इतनेहीमें उसे एक पानी पीता हुआ हिंसक जानवर दिखायी दिया, जो अंधा था, नाकसे सूँघकर ही आँखका काम निकाला करता था ॥ ४१ ॥

अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्वं तेन हतं तदा।
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥ ४२ ॥

यद्यपि वैसे जानवरको व्याधने पहले कभी नहीं देखा था, तो भी उस समय उसने मार डाला। उस अंधे पशुके मारे जाते ही आकाशसे व्याधपर फूलोंकी वर्षा होने लगी॥४२॥

अप्सरोगीतवादित्रैर्नादितं च मनोरमम्।
विमानमगमत् स्वर्गान्मृगव्याधनिनीषया ॥ ४३ ॥

साथ ही उस हिंसक पशुओंको मारनेवाले व्याधको ले जानेके लिये स्वर्गसे एक सुन्दर विमान उतर आया, जो अप्सराओंके गीतों और वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे मुखरित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था ॥ ४३ ॥

तद् भूतं सर्वभूतानामभावाय किलार्जुन।
तपस्तप्त्वा वरं प्राप्तं कृतमन्धं स्वयम्भुवा ॥ ४४ ॥

अर्जुन! लोग कहते हैं कि उस जन्तुने पूर्वजन्ममें तप करके सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार कर डालनेके लिये वर प्राप्त किया था; इसीलिये ब्रह्माजीने उसे अन्धा बना दिया था ॥

तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृतनिश्चयम्।
ततो बलाकः स्वरगादेवं धर्मः सुदुर्विदः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्त कर देनेके निश्चयसे युक्त उस जन्तुको मारकर बलाक स्वर्गलोकमें चला गया; अतः धर्मका स्वरूप अत्यन्त दुर्ज्ञेय है ॥ ४५ ॥

कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः।
नदीनां संगमे ग्रामाददूरात् स किलावसत् ॥ ४६ ॥

इसी तरह कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो बहुत पढ़ा-लिखा या शास्त्रज्ञ नहीं था। वह गाँवके पास ही नदियोंके संगमपर निवास करता था ॥ ४६ ॥

सत्यं मया सदा वाच्यमिति तस्याभवद् व्रतम्।
सत्यवादीति विख्यातः स तदाऽऽसीद् धनंजय॥४७॥

धनंजय! उसने यह नियम ले लिया था कि मैं सदा सत्य ही बोलूँगा। इसलिये उन दिनों वह सत्यवादीके नामसे विख्यात हो गया था ॥ ४७ ॥

अथ दस्युभयात् केचित् तदा तद् वनमाविशन्।
तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तानमार्गन्त यत्नतः ॥ ४८ ॥

एक दिनकी बात है, कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उस वनमें घुस गये; परंतु वे लुटेरे कुपित हो वहाँ भी उन लोगोंका यत्नपूर्वक अनुसंधान करने लगे ॥ ४८ ॥

अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनम्।
कतमेन पथा याता भगवन् बहवो जनाः ॥ ४९ ॥
सत्येन पृष्टः प्रब्रूहि यदि तान् वेत्थ शंस नः।

उन्होंने सत्यवादी कौशिक मुनिके पास आकर पूछा—'भगवन्! बहुत-से लोग जो इधर ही आये हैं, किस रास्तेसे गये हैं? मैं सत्यकी साक्षीसे पूछता हूँ। यदि आप उन्हें जानते हों तो बताइये' ॥ ४९½ ॥

स पृष्टः कौशिकः सत्यं वचनं तानुवाच ह ॥ ५० ॥
बहुवृक्षलतागुल्ममेतद् वनमुपाश्रिताः।
इति तान् ख्यापयामास तेभ्यस्तत्त्वं स कौशिकः ॥५१॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर कौशिक मुनिने उन्हें सच्ची बात बता दी—'इस वनमें जहाँ बहुत-से वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ हैं, वहीं वे गये हैं।' इस प्रकार कौशिकने उन दस्युओंको यथार्थ बात बता दी ॥ ५०-५१ ॥

ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नुरिति श्रुतिः।
तेनाधर्मेण महता वाग्दुरुक्तेन कौशिकः ॥ ५२ ॥
गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्मेष्वकोविदः।

तब उन निर्दयी डाकुओंने उन सबका पता पाकर उन्हें मार डाला, ऐसा सुना गया है। इस तरह वाणीका दुरुपयोग करनेसे कौशिकको महान् पाप लगा, जिससे उसे नरकका कष्ट भोगना पड़ा; क्योंकि वह धर्मके सूक्ष्म स्वरूपको समझनेमें कुशल नहीं था ॥ ५२½ ॥

यथा चाल्पश्रुतो मूढो धर्माणामविभागवित् ॥ ५३ ॥
वृद्धानपृष्ट्वा संदेहं महच्छ्वभ्रमिवार्हति।

जिसे शास्त्रोंका बहुत थोड़ा ज्ञान है, जो विवेकशून्य होनेके कारण धर्मोंके विभागको ठीक-ठीक नहीं जानता, वह मनुष्य यदि वृद्ध पुरुषोंसे अपने संदेह नहीं पूछता तो अनुचित कर्म कर बैठनेके कारण वह महान् नरकके सदृश कष्ट भोगनेके योग्य हो जाता है ॥ ५३½ ॥

तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेवं भविष्यति ॥ ५४ ॥
दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति।
श्रुतेर्धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः ॥ ५५ ॥

धर्माधर्मके निर्णयके लिये तुम्हें संक्षेपसे कोई संकेत बताना पड़ेगा, जो इस प्रकार होगा। कुछ लोग परम ज्ञानरूप दुष्कर धर्मको तर्कके द्वारा जाननेका प्रयत्न करते हैं; परंतु एक श्रेणीके बहुसंख्यक मनुष्य ऐसा कहते हैं कि धर्मका ज्ञान वेदोंसे होता है ॥ ५४-५५ ॥

तत् ते न प्रत्यसूयामि न च सर्वं विधीयते।
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ५६ ॥

किंतु मैं तुम्हारे निकट इन दोनों मतोंके ऊपर कोई दोषारोपण नहीं करता; परंतु केवल वेदोंके द्वारा सभी धर्म-कर्मोंका विधान नहीं होता; इसीलिये धर्मज्ञ महर्षियोंने समस्त

प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये उत्तम धर्मका प्रतिपादन किया है ॥ ५६ ॥

यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ५७ ॥

सिद्धान्त यह है कि जिस कार्यमें हिंसा न हो, वही धर्म है। महर्षियोंने प्राणियोंकी हिंसा न होने देनेके लिये ही उत्तम धर्मका प्रवचन किया है ॥ ५७ ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ ५८ ॥

धर्म ही प्रजाको धारण करता है और धारण करनेके कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिये जो धारण—प्राण-रक्षासे युक्त हो—जिसमें किसी भी जीवकी हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है। ऐसा ही धर्म-शास्त्रोंका सिद्धान्त है ॥ ५८ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित्।
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन ॥ ५९ ॥

जो लोग अन्यायपूर्वक दूसरोंके धन आदिका अपहरण कर लेना चाहते हैं, वे कभी अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंसे सत्यभाषणरूप धर्मका पालन कराना चाहते हों तो वहाँ उनके समक्ष मौन रहकर उनसे पिण्ड छुड़ानेकी चेष्टा करे, किसी तरह कुछ बोले ही नहीं ॥ ५९ ॥

अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजतः।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम् ॥ ६० ॥

किंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय अथवा न बोलनेसे लुटेरोंको संदेह होने लगे तो वहाँ असत्य बोलना ही ठीक है। ऐसे अवसरपर उस असत्यको ही बिना विचारे सत्य समझो ॥

यः कार्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानोपपादयेत्।
न तत्फलमवाप्नोति एवमाहुर्मनीषिणः ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य किसी कार्यके लिये प्रतिज्ञा करके उसका प्रकारान्तरसे उपपादन करता है, वह दम्भी होनेके कारण उसका फल नहीं पाता, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ६१ ॥

प्राणात्यये विवाहे वा सर्वज्ञातिवधात्यये।
नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥ ६२ ॥
अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः।

प्राणसङ्कटकालमें, विवाहमें, समस्त कुटुम्बियोंके प्राणान्तका समय उपस्थित होनेपर तथा हँसी-परिहास आरम्भ होनेपर यदि असत्य बोला गया हो तो वह असत्य नहीं माना जाता। धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् उक्त अवसरोंपर मिथ्या बोलनेमें पाप नहीं समझते ॥ ६२½ ॥

यः स्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥ ६३ ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्।

जो झूठी शपथ खानेपर भी लुटेरोंके साथ बन्धनमें पड़नेसे छुटकारा पा सके, उसके लिये वहाँ असत्य बोलना ही ठीक है। उसे बिना विचारे सत्य समझना चाहिये ॥

न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ॥ ६४ ॥
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत्।

जहाँतक वश चले, किसी तरह उन लुटेरोंको धन नहीं देना चाहिये; क्योंकि पापियोंको दिया हुआ धन दाताको भी दुःख देता है ॥ ६४½ ॥

तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत् ॥ ६५ ॥
एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि।
यथाधर्मं यथाबुद्धि मयाद्य वै हितार्थिना ॥ ६६ ॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः।

अतः धर्मके लिये झूठ बोलनेपर मनुष्य असत्यभाषणके दोषका भागी नहीं होता। अर्जुन! मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ, इसलिये आज मैंने अपनी बुद्धि और धर्मके अनुसार संक्षेपसे तुम्हारे लिये यह विधिपूर्वक धर्माधर्मके निर्णयका संकेत बताया है। यह सुनकर अब तुम्हीं बताओ, क्या अब भी राजा युधिष्ठिर तुम्हारे वध्य हैं ॥ ६५-६६½ ॥

अर्जुन उवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महामतिः ॥ ६७ ॥
हितं चैव यथास्माकं तथैतद् वचनं तव।

अर्जुन बोले—प्रभो! कोई बहुत बड़ा विद्वान् और परम बुद्धिमान् मनुष्य जैसा उपदेश दे सकता है तथा जिसके अनुसार आचरण करनेसे हमलोगोंका हित हो सकता है, वैसा ही आपका यह भाषण हुआ है ॥ ६७½ ॥

भवान् मातृसमोऽस्माकं तथा पितृसमोऽपि च ॥ ६८ ॥
गतिश्च परमा कृष्ण त्वमेव च परायणम्।

श्रीकृष्ण! आप हमारे माता-पिताके तुल्य हैं। आप ही परमगति और परम आश्रय हैं ॥ ६८½ ॥

न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित् ॥ ६९ ॥
तस्माद् भवान् परं धर्मं वेद सर्वं यथातथम्।

तीनों लोकोंमें कहीं कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको विदित न हो; अतः आप ही परम धर्मको सम्पूर्ण और यथार्थरूपसे जानते हैं ॥ ६९½ ॥

अवध्यं पाण्डवं मन्ये धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥
अस्मिंस्तु मम संकल्पे ब्रूहि किंचिदनुग्रहम्।
इदं वा परमत्रैव शृणु हृत्स्थं विवक्षितम् ॥ ७१ ॥

अब मैं पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरको वधके योग्य नहीं मानता। मेरी इस मानसिक प्रतिज्ञाके विषयमें आप ही कोई अनुग्रह (भाईका वध किये बिना ही प्रतिज्ञाकी रक्षाका उपाय) बताइये। मेरे मनमें जो यहाँ कहनेयोग्य उत्तम बात है, इसे पुनः सुन लीजिये ॥ ७०-७१ ॥

जानासि दाशार्ह मम व्रतं त्वं
यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु।
अन्यस्मै त्वं गाण्डिवं देहि पार्थ
त्वत्तोऽस्त्रैर्वा वीर्यतो वा विशिष्टः ॥ ७२ ॥

हन्यामहं केशव तं प्रसह्य
भीमो हन्यात् तूबरकेति चोक्तः।
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्षं
धनुर्देहीत्यसकृद् वृष्णिवीर ॥ ७३ ॥

दशार्हकुलनन्दन ! आप तो यह जानते ही हैं कि मेरा व्रत क्या है ? मनुष्योंमेंसे जो कोई भी मुझसे यह कह दे कि 'पार्थ ! तुम अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे ऐसे पुरुषको दे दो, जो अस्त्रोंके ज्ञान अथवा बलमें तुमसे बढ़कर हो तो केशव ! मैं उसे बलपूर्वक मार डालूँ।' इसी प्रकार भीमसेनको कोई 'मूँछ-दाढ़ीरहित' कह दे तो वे उसे मार डालेंगे, वृष्णिवीर ! राजा युधिष्ठिरने आपके सामने ही बारंबार मुझसे कहा है कि 'तुम अपना धनुष दूसरेको दे दो' ॥ ७२-७३ ॥

तं हन्यां चेत् केशव जीवलोके
स्थाता नाहं कालमप्यल्पमात्रम् ।
ध्यात्वा नूनं ह्येनसा चापि मुक्तो
वधं राज्ञो भ्रष्टवीर्यो विचेताः ॥ ७४ ॥

केशव ! यदि मैं युधिष्ठिरको मार डालूँ तो इस जीव-जगत्में थोड़ी देर भी मैं जीवित नहीं रह सकता । यदि किसी तरह पापसे छूट जाऊँ तो भी राजा युधिष्ठिरके वधका चिन्तन करके जी नहीं सकता । निश्चय ही इस समय मैं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पराक्रमशून्य और अचेत-सा हो गया हूँ ॥

यथा प्रतिज्ञा मम लोकबुद्धौ
भवेत् सत्या धर्मभृतां वरिष्ठ ।
यथा जीवेत् पाण्डवोऽहं च कृष्ण
तथा बुद्धिं दातुमप्यर्हसि त्वम् ॥ ७५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! संसारके लोगोंकी समझमें जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा सच्ची हो जाय और जिस प्रकार पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर और मैं दोनों जीवित रह सकें, वैसी कोई सलाह आप मुझे देनेकी कृपा करें ॥ ७५ ॥

वासुदेव उवाच

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च
कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः ।
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर
शरैर्भृशं ताडितोऽयुध्यमानः ॥ ७६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—वीर ! राजा युधिष्ठिर थक गये हैं । कर्णने युद्धस्थलमें अपने तीखे बाणसमूहोंद्वारा इन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, इसलिये ये बहुत दुखी हैं । इतना ही नहीं, जब ये युद्ध नहीं कर रहे थे, उस समय भी सूतपुत्रने इनके ऊपर लगातार बाणोंकी वर्षा करके इन्हें अत्यन्त घायल कर दिया था ॥ ७६ ॥

अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो
दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ।
अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये
कर्णं न हन्यादिति चाब्रवीत् सः ॥ ७७ ॥

इसीलिये दुखी होनेके कारण इन्होंने तुम्हारे प्रति रोषपूर्वक ये अनुचित बातें कही हैं । इन्होंने यह भी सोचा है कि यदि अर्जुनको क्रोध न दिलाया गया तो ये युद्धमें कर्णको नहीं मार सकेंगे, इस कारणसे भी वैसी बातें कह दी हैं ॥ ७७ ॥

जानाति तं पाण्डव एष चापि
पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ।
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन
राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ ॥ ७८ ॥

ये पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर जानते हैं कि संसारमें पापी कर्णका सामना करना तुम्हारे सिवा दूसरोंके लिये असम्भव है । पार्थ ! इसीलिये अत्यन्त रोषमें भरे हुए राजाने मेरे सामने तुम्हें कटु वचन सुनाये हैं ॥ ७८ ॥

नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये
कर्णे द्यूतं ह्यद्य रणे निबद्धम् ।
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्यु-
रेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे ॥ ७९ ॥

कर्ण नित्य-निरन्तर युद्धके लिये उद्यत और शत्रुओंके लिये असह्य है । आज रणभूमिमें हार-जीतका जूआ कर्णपर ही अवलम्बित है । कर्णके मारे जानेपर अन्य कौरव शीघ्र ही परास्त हो सकते हैं । धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें ऐसा ही विचार काम कर रहा था ॥ ७९ ॥

ततो वधं नार्हति धर्मपुत्र-
स्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया ।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि
तन्मे निबोधेह तवानुरूपम् ॥ ८० ॥

अर्जुन ! इसलिये धर्मपुत्र युधिष्ठिर वधके योग्य नहीं हैं । इधर तुम्हें अपनी प्रतिज्ञाका पालन भी करना है । अतः जिस उपायसे ये जीवित रहते हुए भी मरेके समान हो जायँ, वही तुम्हारे अनुरूप होगा । उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ८० ॥

यदा मानं लभते माननार्ह-
स्तदा स वै जीवति जीवलोके ।
यदावमानं लभते महान्तं
तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥ ८१ ॥

इस जीवजगत्में माननीय पुरुष जबतक सम्मान पाता है, तभीतक वह वास्तवमें जीवित है । जब वह महान् अपमान पाने लगता है, तब वह जीते-जी मरा हुआ कहलाता है ॥

सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव
त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम् ।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरै-
स्तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व ॥ ८२ ॥

तुमने, भीमसेनने, नकुल-सहदेवने तथा अन्य वृद्ध पुरुषों एवं शूरवीरोंने जगत्‌में राजा युधिष्ठिरका सदा सम्मान किया है; किंतु इस समय तुम उनका थोड़ा-सा अपमान कर दो ॥ ८२ ॥

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम् ।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ॥ ८३ ॥

पार्थ ! तुम युधिष्ठिरको सदा आप कहते आये हो, आज उन्हें 'तू' कह दो । भारत ! यदि किसी गुरुजनको 'तू' कह दिया जाय तो यह साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें उसका वध ही हो जाता है ॥ ८३ ॥

एवमाचर कौन्तेय धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
अधर्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरूद्वह ॥ ८४ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम धर्मराज युधिष्ठिरके प्रति ऐसा ही बर्ताव करो । कुरुश्रेष्ठ ! उनके लिये इस समय अधर्मयुक्त वाक्यका प्रयोग करो ॥ ८४ ॥

अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः ।
अविचार्यैव कार्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥ ८५ ॥

जिसके देवता अथर्वा और अङ्गिरा हैं, ऐसी एक श्रुति है, जो सब श्रुतियोंमें उत्तम है । अपनी भलाई चाहनेवाले मनुष्योंको सदा बिना विचारे ही इस श्रुतिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये ॥ ८५ ॥

अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुस्त्वमिति प्रभुः ।
तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराजस्य धर्मवित् ॥ ८६ ॥

उस श्रुतिका भाव यह है—'गुरुको तू कह देना उसे बिना मारे ही मार डालना है ।' तुम धर्मज्ञ हो तो भी जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार धर्मराजके लिये 'तू' शब्दका प्रयोग करो ॥ ८६ ॥

वधं ह्ययं पाण्डव धर्मराज-
स्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेषः ।
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात्
समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम् ॥ ८७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे द्वारा किये गये इस अनुचित शब्दके प्रयोगको सुनकर ये धर्मराज अपना वध हुआ ही समझेंगे । इसके बाद तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करके इन्हें सान्त्वना देते हुए क्षमा माँग लेना और इनके प्रति न्यायोचित वचन बोलना ॥ ८७ ॥

भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु
कुर्याद् राजा धर्ममवेक्ष्य चापि ।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ
हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम् ॥ ८८ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे भाई राजा युधिष्ठिर समझदार हैं । ये धर्मका ख्याल करके भी तुमपर कभी क्रोध नहीं करेंगे । इस प्रकार तुम मिथ्याभाषण और भ्रातृ-वधके पापसे मुक्त हो बड़े हर्षके साथ सूतपुत्र कर्णका वध करना ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कृष्णार्जुनसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको प्रतिज्ञा-भङ्ग, भ्रातृवध तथा आत्मघातसे बचाना और युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर संतुष्ट करना

संजय उवाच

इत्येवमुक्तस्तु जनार्दनेन
पार्थः प्रशस्याथ सुहृद्वचस्तत् ।
ततोऽब्रवीदर्जुनो धर्मराज-
मनुक्तपूर्वं परुषं प्रसह्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने हितैषी सखाके उस वचनकी बड़ी प्रशंसा की । फिर वे हठपूर्वक धर्मराजके प्रति ऐसे कठोर वचन कहने लगे, जैसे उन्होंने पहले कभी नहीं कहे थे ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

मा त्वं राजन् व्याहर व्याहरस्व
यस्तिष्ठसे क्रोशमात्रे रणाद् वै ।
भीमस्तु मामर्हति गर्हणाय
यो युध्यते सर्वलोकप्रवीरैः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन् ! तू तो स्वयं ही युद्धसे भागकर एक कोस दूर आ बैठा है, अतः तू मुझसे न बोल, न बोल । हाँ, भीमसेनको मेरी निन्दा करनेका अधिकार है, जो कि समस्त संसारके प्रमुख वीरोंके साथ अकेले ही जूझ रहे हैं ॥ २ ॥

काले हि शत्रून् परिपीड्य संख्ये
हत्वा च शूरान् पृथिवीपतींस्तान् ।
रथप्रधानोत्तमनागमुख्यान्
सादिप्रवेकानमितांश्च वीरान् ॥ ३ ॥
यः कुञ्जराणामधिकं सहस्रं
हत्वा नदंस्तुमुलं सिंहनादम् ।
काम्बोजानामयुतं पर्वतीयान्
मृगान् सिंहो विनिहत्येव चाजौ ॥ ४ ॥
सुदुष्करं कर्म करोति वीरः
कर्तुं यथा नार्हसि त्वं कदाचित् ।

रथादवप्लुत्य गदां परामृशं-
स्तया निहन्त्यश्वरथद्विपान् रणे ॥ ५ ॥
वरासिना चापि नराश्वकुञ्जरां-
स्तथा रथाङ्गैर्धनुषा दहत्यरीन् ।
प्रमृद्य पद्भ्यामहितान् निहन्ति
पुनस्तु दोर्भ्यां शतमन्युविक्रमः ॥ ६ ॥
महाबलो वैश्रवणान्तकोपमः
प्रसह्य हन्ता द्विषतामनीकिनीम् ।
स भीमसेनोऽर्हति गर्हणां मे
न त्वं नित्यं रक्ष्यसे यः सुहृद्भिः॥ ७ ॥

जो यथासमय शत्रुओंको पीड़ा देते हुए युद्धस्थलमें उन समस्त शौर्यसम्पन्न भूपतियों, प्रधान-प्रधान रथियों, श्रेष्ठ गजराजों, प्रमुख अश्वारोहियों, असंख्य वीरों, सहस्रसे भी अधिक हाथियों, दस हजार काम्बोजदेशीय अश्वों तथा पर्वतीय वीरोंका वध करके जैसे मृगोंको मारकर सिंह दहाड़ रहा हो, उसी प्रकार भयंकर सिंहनाद करते हैं, जो वीर भीमसेन हाथमें गदा ले रथसे कूदकर उसके द्वारा रणभूमिमें हाथी, घोड़ों एवं रथोंका संहार करते हैं तथा ऐसा अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहे हैं जैसा कि तू कभी नहीं कर सकता, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान है, जो उत्तम खड्ग, चक्र और धनुषके द्वारा हाथी, घोड़ों, पैदल-योद्धाओं तथा अन्यान्य शत्रुओंको दग्ध किये देते हैं और जो पैरोंसे कुचलकर दोनों हाथोंसे वैरियोंका विनाश करते हैं, वे महाबली, कुबेर और यमराजके समान पराक्रमी एवं शत्रुओंकी सेनाका बलपूर्वक संहार करनेमें समर्थ भीमसेन ही मेरी निन्दा करनेके अधिकारी हैं । तू मेरी निन्दा नहीं कर सकता; क्योंकि तू अपने पराक्रमसे नहीं, हितैषी सुहृदोंद्वारा सदा सुरक्षित होता है ॥ ३—७ ॥

महारथान् नागवरान् हयांश्च
पदातिमुख्यानपि च प्रमथ्य ।
एको भीमो धार्तराष्ट्रेषु मग्नः
स मामुपालब्धुमरिंदमोऽर्हति ॥ ८ ॥

जो शत्रुपक्षके महारथियों, गजराजों, घोड़ों और प्रधान-प्रधान पैदल योद्धाओंको भी रौंदकर दुर्योधनकी सेनाओंमें घुस गये हैं, वे एकमात्र शत्रुदमन भीमसेन ही मुझे उलाहना देनेके अधिकारी हैं ॥ ८ ॥

कलिङ्गवङ्गाङ्गनिषादमागधान्
सदामदानीलवलाहकोपमान् ।
निहन्ति यः शत्रुगजाननेकान्
स मामुपालब्धुमरिंदमोऽर्हति ॥ ९ ॥

जो कलिङ्ग, वङ्ग, अङ्ग, निषाद और मगध देशोंमें उत्पन्न सदा मदमत्त रहनेवाले तथा काले मेघोंकी घटाके समान दिखायी देनेवाले शत्रुपक्षीय अनेकानेक हाथियोंका संहार करते हैं, वे शत्रुदमन भीमसेन ही मुझे उलाहना देनेके अधिकारी हैं ॥ ९ ॥

स युक्तमास्थाय रथं हि काले
धनुर्विधुन्वञ्शरपूर्णमुष्टिः ।
सृजत्यसौ शरवर्षाणि वीरो
महाहवे मेघ इवाम्बुधाराः ॥ १० ॥

वीरवर भीमसेन यथासमय जुते हुए रथपर आरूढ़ हो धनुष हिलाते हुए मुट्ठीभर बाण निकालते और जैसे मेघ जलकी धारा गिराते हैं, उसी प्रकार महासमरमें बाणोंकी वर्षा करते हैं ॥ १० ॥

शतान्यष्टौ वारणानामपश्यं
विशातितैः कुम्भकराग्रहस्तैः ।
भीमेनाजौ निहतान्यद्य बाणैः
स मां क्रूरं वक्तुमर्हत्यरिघ्नः ॥ ११ ॥

मैंने देखा है आज भीमसेनने युद्धस्थलमें अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके आठ सौ हाथियोंको उनके कुम्भस्थल, शुण्ड और शुण्डाग्रभाग काटकर मार डाला है, वे शत्रुहन्ता भीमसेन ही मुझसे कठोर वचन कहनेके अधिकारी हैं ॥ ११ ॥

(नकुलेन राजन् गजवाजियोधा
हताश्च शूराः सहसा समेत्य ।
त्यक्त्वा प्राणान् समरे युद्धकाङ्क्षी
स मामुपालब्धुमरिंदमोऽर्हति ॥

राजन् ! नकुलने समरभूमिमें प्राणोंका मोह छोड़कर सहसा आगे बढ़-बढ़कर बहुतसे हाथी, घोड़े और शूरवीर योद्धाओंका वध किया है । युद्धकी अभिलाषा रखनेवाला वह शत्रुदमन वीर भी मुझे उलाहना दे सकता है ॥

कृतं कर्म सहदेवेन दुष्करं
यो युध्यते परसैन्यावमर्दी ।
न चाब्रवीत् किंचिदिहागतो बली
पश्यान्तरं तस्य चैवात्मनश्च ॥

सहदेवने भी दुष्कर कर्म किया है । शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाला वह बलवान् वीर निरन्तर युद्धमें लगा रहता है । वह भी यहाँ आया था, किंतु कुछ भी न बोला । देख ले, तुझमें और उसमें कितना अन्तर है ॥

धृष्टद्युम्नः सात्यकिर्द्रौपदेया
युधामन्युश्चोत्तमौजाः शिखण्डी।
एते च सर्वे युधि सम्प्रपीडिता-
स्ते मामुपालब्धुमर्हन्ति न त्वम्॥)

धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके पुत्र, युधामन्यु, उत्तमौजा और शिखण्डी—ये सभी वीर युद्धमें अत्यन्त पीड़ा सहन करते आये हैं ; अतः ये ही मुझे उपालम्भ दे सकते हैं, तू नहीं ।

बलं तु वाचि द्विजसत्तमानां
क्षात्रं बुधा बाहुबलं वदन्ति ।

त्वं वाग्बलो भारत निष्ठुरश्च
त्वमेव मां वेत्थ यथाबलोऽहम् ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका बल उनकी वाणीमें होता है और क्षत्रियका बल उनकी दोनों भुजाओंमें; परंतु तेरा बल केवल वाणीमें है, तू निष्ठुर है; मैं जैसा बलवान् हूँ, उसे तू ही अच्छी तरह जानता है ॥

यते हि नित्यं तव कर्तुमिष्टं
दारैः सुतैर्जीवितेनात्मना च ।
एवं यन्मां वाग्विशिखेन हंसि
त्वत्तः सुखं न वयं विद्म किंचित् ॥ १३ ॥

मैं सदा स्त्री, पुत्र, जीवन और यह शरीर लगाकर तेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील रहता हूँ । ऐसी दशामें भी तू मुझे अपने वाग्बाणोंसे मार रहा है; हमलोग तुझसे थोड़ा-सा भी सुख न पा सके ॥ १३ ॥

मां मावमंस्था द्रौपदीतल्पसंस्थो
महारथान् प्रतिहन्मि त्वदर्थे ।
तेनातिशङ्की भारत निष्ठुरोऽसि
त्वत्तः सुखं नाभिजानामि किंचित् ॥ १४ ॥

तू द्रौपदीकी शय्यापर बैठा-बैठा मेरा अपमान न कर। मैं तेरे ही लिये बड़े-बड़े महारथियोंका संहार कर रहा हूँ । इसीसे तू मेरे प्रति अधिक संदेह करके निष्ठुर हो गया है । तुझसे कोई सुख मिला हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ॥

प्रोक्तः स्वयं सत्यसंधेन मृत्यु-
स्तव प्रियार्थं नरदेव युद्धे ।
वीरः शिखण्डी द्रौपदोऽसौ महात्मा
मयाभिगुप्तेन हतश्च तेन ॥ १५ ॥

नरदेव ! तेरा प्रिय करनेके लिये सत्यप्रतिज्ञ भीष्मजीने युद्धमें महामनस्वी वीर द्रुपदकुमार शिखण्डीको अपनी मृत्यु बताया था । मेरे ही द्वारा सुरक्षित होकर शिखण्डीने उन्हें मारा है ॥ १५ ॥

न चाभिनन्दामि तवाधिराज्यं
यतस्त्वमक्षेष्वहिताय सक्तः ।
स्वयं कृत्वा पापमनार्यजुष्ट-
मस्माभिर्वा तर्तुमिच्छस्यरींस्त्वम् ॥ १६ ॥

मैं तेरे राज्यका अभिनन्दन नहीं करता; क्योंकि तू अपना ही अहित करनेके लिये जूएमें आसक्त है । स्वयं नीच पुरुषोंद्वारा सेवित पापकर्म करके अब तू हमलोगोंके द्वारा शत्रुसेनारूपी समुद्रको पार करना चाहता है ॥ १६ ॥

अक्षेषु दोषा बहवो विधर्माः
श्रुतास्त्वया सहदेवोऽब्रवीद् यान् ।
तान् नैषि त्वं त्यक्तुमसाधुजुष्टां-
स्तेन स्म सर्वे निरयं प्रपन्नाः ॥ १७ ॥

जूआ खेलनेमें बहुत-से पापमय दोष बताये गये हैं, जिन्हें सहदेवने तुझसे कहा था और तूने सुना भी था, तो भी तू उन दुर्जनसेवित दोषोंका परित्याग न कर सका; इसीसे हम सब लोग नरकतुल्य कष्टमें पड़ गये ॥ १७ ॥

सुखं त्वत्तो नाभिजानीम किंचिद्
यतस्त्वमक्षैर्देवितुं सम्प्रवृत्तः ।
स्वयं कृत्वा व्यसनं पाण्डव त्व-
मस्मांस्तीव्राः श्रावयस्यद्य वाचः ॥ १८ ॥

पाण्डुकुमार ! तुझसे थोड़ा-सा भी सुख मिला हो—यह हम नहीं जानते हैं; क्योंकि तू जूआ खेलनेके व्यसनमें पड़ा हुआ है । स्वयं यह दुर्व्यसन करके अब तू हमें कठोर बातें सुना रहा है ॥ १८ ॥

शेतेऽस्माभिर्निहता शत्रुसेना
छिन्नैर्गात्रैर्भूमितले नदन्ती ।
त्वया हि तत् कर्म कृतं नृशंसं
यस्माद् दोषः कौरवाणां वधश्च ॥ १९ ॥

हमारे द्वारा मारी गयी शत्रुओंकी सेना अपने कटे हुए अङ्गोंके साथ पृथ्वीपर पड़ी-पड़ी कराह रही है । तूने वह क्रूरतापूर्ण कर्म कर डाला है, जिससे पाप तो होगा ही; कौरव-वंशका विनाश भी हो जायगा ॥ १९ ॥

हता उदीच्या निहताः प्रतीच्या
नष्टाः प्राच्या दाक्षिणात्या विशस्ताः ।
कृतं कर्माप्रतिरूपं महद्भि-
स्तेषां योधैरस्मदीयैश्च युद्धे ॥ २० ॥

उत्तर दिशाके वीर मारे गये, पश्चिमके योद्धाओंका संहार हो गया, पूर्वदेशके क्षत्रिय नष्ट हो गये और दक्षिण-देशीय योद्धा काट डाले गये । शत्रुओंके और हमारे पक्षके बड़े-बड़े योद्धाओंने युद्धमें ऐसा पराक्रम किया है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

त्वं देवितात्वत्कृते राज्यनाश-
स्त्वत्सम्भवं नो व्यसनं नरेन्द्र ।
मास्मान् क्रूरैर्वाक्प्रतोदैस्तुदंस्त्वं
भूयो राजन् कोपयेस्त्वल्पभाग्यः ॥ २१ ॥

नरेन्द्र ! तू भाग्यहीन जुआरी है । तेरे ही कारण हमारे राज्यका नाश हुआ और तुझसे ही हमें घोर सङ्कटकी प्राप्ति हुई । राजन् ! अब तू अपने वचनरूपी चाबुकोंसे हमें पीड़ा देते हुए फिर कुपित न कर ॥ २१ ॥

संजय उवाच

एता वाचः परुषाः सव्यसाची
स्थिरप्रज्ञः श्रावयित्वा तु रूक्षाः ।
बभूवासौ विमना धर्मभीरुः
कृत्वा प्राज्ञः पातकं किंचिदेवम् ॥ २२ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सव्यसाची अर्जुन धर्मभीरु हैं। उनकी बुद्धि स्थिर है तथा वे उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हैं ।

उस समय राजा युधिष्ठिरको वैसी रूखी और कठोर बातें सुनाकर वे ऐसे अनमने और उदास हो गये, मानो कोई पातक करके इस प्रकार पछता रहे हों ॥ २२ ॥

तदानुतेपे सुरराजपुत्रो
विनिःश्वसंश्चासिमथोद्वबर्ह ।
तमाह कृष्णः किमिदं पुनर्भवान्
विकोशमाकाशनिभं करोत्यसिम्॥ २३ ॥
ब्रवीहि मां त्वं पुनरुत्तरं वच-
स्तथा प्रवक्ष्याम्यहमर्थसिद्धये ।

देवराजकुमार अर्जुनको उस समय बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उन्होंने लंबी साँस खींचते हुए फिरसे तलवार खींच ली । यह देख भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन ! यह क्या ? तुम आकाशके समान निर्मल इस तलवारको पुनः क्यों म्यानसे बाहर निकाल रहे हो ? तुम मुझे मेरी बातका उत्तर दो । मैं तुम्हारा अभीष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये पुनः कोई योग्य उपाय बताऊँगा' ॥ २३½ ॥

इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन
सुदुःखितः केशवमर्जुनोऽब्रवीत्॥ २४ ॥
अहं हनिष्ये स्वशरीरमेव
प्रसह्य येनाहितमाचरं वै ।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार पूछनेपर अर्जुन अत्यन्त दुखी हो उनसे इस प्रकार बोले—'भगवन् ! मैंने जिसके द्वारा हठपूर्वक भाईका अपमानरूप अहितकर कार्य कर डाला है, अपने उस शरीरको ही अब नष्ट कर डालूँगा' ॥ २४½ ॥

निशम्य तत् पार्थवचोऽब्रवीदिदं
धनंजयं धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २५ ॥
राजानमेनं त्वमितीदमुक्त्वा
किं कश्मलं प्राविशः पार्थ घोरम्।
त्वं चात्मानं हन्तुमिच्छस्यरिघ्न
नेदं सद्भिः सेवितं वै किरीटिन्॥ २६ ॥

अर्जुनका यह वचन सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा—'पार्थ ! राजा युधिष्ठिरको 'तू' ऐसा कहकर तुम इतने घोर दुःखमें क्यों डूब गये ! शत्रुसूदन ! क्या तुम आत्मघात करना चाहते हो ? किरीटधारी वीर ! साधुपुरुषोंने कभी ऐसा कार्य नहीं किया है ॥ २५-२६ ॥

धर्मात्मानं भ्रातरं ज्येष्ठमद्य
खड्गेन चैनं यदि हन्या नृवीर ।
धर्माद् भीतस्तत् कथं नाम ते स्यात्
किंचोत्तरं वाकरिष्यस्त्वमेव ॥ २७ ॥

'नरवीर ! यदि आज धर्मसे डरकर तुमने अपने बड़े भाई इन धर्मात्मा युधिष्ठिरको तलवारसे मार डाला होता तो तुम्हारी कैसी दशा होती और इसके बाद तुम क्या करते ? ॥

सूक्ष्मो धर्मो दुर्विदश्चापि पार्थ
विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध।
हत्वाऽऽत्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्वं
वधाद् भ्रातुर्नरकं चातिघोरम् ॥ २८ ॥

'कुन्तीनन्दन ! धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है । उसको जानना या समझना बहुत कठिन है । विशेषतः अज्ञानी पुरुषोंके लिये तो उसका जानना और भी मुश्किल है । अब मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो, भाईका वध करनेसे जिस अत्यन्त घोर नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक तुम्हें स्वयं ही अपनी हत्या करनेसे प्राप्त हो सकता है ॥

ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ ।
तथास्तु कृष्णेत्यभिनन्द्य तद्वचो
धनंजयः प्राह धनुर्विनाम्य ॥ २९ ॥
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठं
शृणुष्व राजन्निति शक्रसूनुः ।

'अतः पार्थ ! अब तुम यहाँ अपनी ही वाणीद्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो । ऐसा करनेसे यह मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया ।' यह सुनकर अर्जुनने उनकी बातका अभिनन्दन करते हुए कहा—'श्रीकृष्ण ! ऐसा ही हो' । फिर इन्द्रकुमार अर्जुन अपने धनुषको नवाकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! सुनिये ॥ २९½ ॥

न मादृशोऽन्यो नरदेव विद्यते
धनुर्धरो देवमृते पिनाकिनम् ॥ ३० ॥
अहं हि तेनानुमतो महात्मना
क्षणेन हन्यां सचराचरं जगत् ।

'नरदेव ! पिनाकधारी भगवान् शङ्करको छोड़कर दूसरा कोई भी मेरे समान धनुर्धर नहीं है । उन महात्मा महेश्वरने मेरी वीरताका अनुमोदन किया है । मैं चाहूँ तो क्षणभरमें चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्को नष्ट कर डालूँ॥३०½॥

मया हि राजन् सदिगीश्वरा दिशो
विजित्य सर्वा भवतः कृता वशे॥ ३१ ॥
स राजसूयश्च समाप्तदक्षिणः
सभा च दिव्या भवतो ममौजसा।

'राजन् ! मैंने सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्पालोंको जीतकर आपके अधीन कर दिया था । पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त राजसूय यज्ञका अनुष्ठान तथा आपकी दिव्य सभाका निर्माण मेरे ही बलसे सम्भव हुआ है ॥ ३१½ ॥

पाणौ पृषत्का निशिता ममैव
धनुश्च सज्यं विततं सबाणम् ॥ ३२ ॥
पादौ च मे सरथौ सध्वजौ च
न मादृशं युद्धगतं जयन्ति ।

'मेरे ही हाथमें तीखे तीर और बाण तथा प्रत्यञ्चासहित विशाल धनुष हैं। मेरे चरणोंमें रथ और ध्वजाके चिह्न हैं। मेरे-जैसा वीर यदि युद्धभूमिमें पहुँच जाय तो उसे शत्रु जीत नहीं सकते ॥ ३२½ ॥

हता उदीच्या निहताः प्रतीच्याः
प्राच्या निरस्ता दाक्षिणात्या विशस्ताः॥३३॥
संशप्तकानां किंचिदेवास्ति शिष्टं
सर्वस्य सैन्यस्य हतं मयार्धम्।
शेते मया निहता भारतीयं
चमू राजन् देवचमूप्रकाशा ॥ ३४ ॥

'मेरेद्वारा उत्तर दिशाके वीर मारे गये, पश्चिमके योद्धाओंका संहार हो गया, पूर्वदेशके क्षत्रिय नष्ट हो गये और दक्षिणदेशीय योद्धा काट डाले गये। संशप्तकोंका भी थोड़ा-सा ही भाग शेष रह गया है। मैंने सारी कौरव-सेनाके आधे भागको स्वयं ही नष्ट किया है। राजन्! देवताओं-की सेनाके समान प्रकाशित होनेवाली भरतवंशियोंकी यह विशाल वाहिनी मेरे ही हाथों मारी जाकर रणभूमिमें सो रही है ॥ ३३-३४ ॥

ये चास्त्रज्ञास्तानहं हन्मि चास्त्रै-
स्तस्माल्लोकान्नेह करोमि भस्मसात्।
जैत्रं रथं भीममास्थाय कृष्ण
यावः शीघ्रं सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥ ३५ ॥

'जो अस्त्रविद्याके ज्ञाता हैं, उन्हींको मैं अस्त्रोंद्वारा मारता हूँ; इसीलिये मैं यहाँ सम्पूर्ण लोकोंको भस्म नहीं करता हूँ। श्रीकृष्ण ! अब हम दोनों विजयशाली एवं भयंकर रथपर बैठकर सूतपुत्रका वध करनेके लिये शीघ्र ही चल दें ॥

राजा भवत्वद्य सुनिर्वृतोऽयं
कर्णं रणे नाशयितास्मि बाणैः।
इत्येवमुक्त्वा पुनराह पार्थो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ ३६ ॥

'आज ये राजा युधिष्ठिर संतुष्ट हों। मैं रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा कर्णका नाश कर डालूँगा।' यों कहकर अर्जुन पुनः धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे बोले—॥ ३६ ॥

अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री
कुन्ती वाथो वा मया तेन वापि।
सत्यं वदाम्यद्य न कर्णमाजौ
शरैरहत्वा कवचं विमोक्ष्ये ॥ ३७ ॥

'आज मेरेद्वारा सूतपुत्रकी माता पुत्रहीन हो जायगी अथवा मेरी माता कुन्ती ही कर्णके द्वारा मुझ एक पुत्रसे हीन हो जायगी। मैं सत्य कहता हूँ, आज युद्धस्थलमें अपने बाणोंद्वारा कर्णको मारे बिना मैं कवच नहीं उतारूँगा ॥३७॥

संजय उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुनरेव पार्थो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
विमुच्य शस्त्राणि धनुर्विसृज्य
कोशे च खड्गं विनिधाय तूर्णम् ॥ ३८ ॥
स व्रीडया नम्रशिराः किरीटी
युधिष्ठिरं प्राञ्जलिरभ्युवाच।
प्रसीद राजन् क्षम यन्मयोक्तं
काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे पुनः ऐसा कहकर शस्त्र खोल, धनुष नीचे डाल और तलवारको तुरंत ही म्यानमें रखकर लज्जासे नतमस्तक हो हाथ जोड़ पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! आप प्रसन्न हों। मैंने जो कुछ कहा है, उसके लिये क्षमा करें। समयपर आपको सब कुछ मालूम हो जायगा। इसलिये आपको मेरा नमस्कार है' ॥ ३८-३९ ॥

प्रसाद्य राजानममित्रसाहं
स्थितोऽब्रवीच्चैव पुनः प्रवीरः।
नेदं चिरात् क्षिप्रमिदं भविष्य-
त्यावर्ततेऽसावभियामि चैनम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ राजा युधिष्ठिरको प्रसन्न करके प्रमुख वीर अर्जुन खड़े होकर फिर बोले—'महाराज! अब कर्णके वधमें देर नहीं है। यह कार्य शीघ्र ही होगा। वह इधर ही आ रहा है; अतः मैं भी उसीपर चढ़ाई कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

याम्येष भीमं समरात् प्रमोक्तुं
सर्वात्मना सूतपुत्रं च हन्तुम्।
तव प्रियार्थं मम जीवितं हि
ब्रवीमि सत्यं तदवेहि राजन् ॥ ४१ ॥

'राजन् ! मैं अभी भीमसेनको संग्रामसे छुटकारा दिलाने और सब प्रकारसे सूतपुत्र कर्णका वध करनेके लिये जा रहा हूँ। मेरा जीवन आपका प्रिय करनेके लिये ही है। यह मैं सत्य कहता हूँ। आप इसे अच्छी तरह समझ लें' ॥ ४१ ॥

इति प्रयास्यन्नुपगृह्य पादौ
समुत्थितो दीप्ततेजाः किरीटी।
एतच्छ्रुत्वा पाण्डवो धर्मराजो
भ्रातुर्वाक्यं परुषं फाल्गुनस्य ॥ ४२ ॥
उत्थाय तस्माच्छयनादुवाच
पार्थं ततो दुःखपरीतचेताः।

इस प्रकार जानेके लिये उद्यत हो राजा युधिष्ठिरके चरण छूकर उद्दीप्त तेजवाले किरीटधारी अर्जुन उठ खड़े हुए। इधर अपने भाई अर्जुनका पूर्वोक्तरूपसे कठोर वचन सुनकर पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर दुःखसे व्याकुलचित्त होकर उस शय्यासे उठ गये और अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

कृतं मया पार्थ यथा न साधु
येन प्राप्तं व्यसनं वः सुघोरम् ॥ ४३ ॥

तस्माच्छिरश्छिन्धि ममेदमद्य
कुलान्तकस्याधमपूरुषस्य ।
पापस्य पापव्यसनान्वितस्य
विमूढबुद्धेरलसस्य भीरोः ॥ ४४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! अवश्य ही मैंने अच्छा कर्म नहीं किया है, जिससे तुमलोगोंपर अत्यन्त भयङ्कर सङ्कट आ पड़ा है। मैं कुलान्तकारी नराधम पापी, पापमय दुर्व्यसनमें आसक्त, मूढ़बुद्धि, आलसी और डरपोक हूँ; इसलिये आज तुम मेरा यह मस्तक काट डालो ॥ ४३-४४ ॥

वृद्धावमन्तुः परुषस्य चैव
किं ते चिरं मे ह्यनुसृत्य रूक्षम्।
गच्छाम्यहं वनमेवाद्य पापः
सुखं भवान् वर्ततां मद्विहीनः ॥ ४५ ॥

'मैं बड़े बूढ़ोंका अनादर करनेवाला और कठोर हूँ। तुम्हें मेरी रूखी बातोंका दीर्घकालतक अनुसरण करनेकी क्या आवश्यकता है। मैं पापी आज वनमें ही चला जा रहा हूँ। तुम मुझसे अलग होकर सुखसे रहो ॥ ४५ ॥

योग्यो राजा भीमसेनो महात्मा
क्लीबस्य वा मम किं राज्यकृत्यम्।
न चापि शक्तः परुषाणि सोढुं
पुनस्त्वेमानि रुषान्वितस्य ॥ ४६ ॥

'महामनस्वी भीमसेन सुयोग्य राजा होंगे। मुझ कायरको राज्य लेनेसे क्या काम है ? अब पुनः मुझमें तुम्हारे रोषपूर्वक कहे हुए इन कठोर वचनोंको सहनेकी शक्ति नहीं है ॥४६॥

भीमोऽस्तु राजा मम जीवितेन
न कार्यमद्यावमतस्य वीर ।
इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात
राजा ततस्तच्छयनं विहाय ॥ ४७ ॥
इयेष निर्गन्तुमथो वनाय
तं वासुदेवः प्रणतोऽभ्युवाच ॥ ४८ ॥

'वीर ! भीमसेन राजा हों। आज इतना अपमान हो जानेपर मुझे जीवित रहनेकी आवश्यकता नहीं है।' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर सहसा पलंग छोड़कर वहाँसे नीचे कूद पड़े और वनमें जानेकी इच्छा करने लगे। तब भगवान् श्रीकृष्णने उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥४७-४८॥

राजन् विदितमेतद् वै यथा गाण्डीवधन्वनः।
प्रतिज्ञा सत्यसंधस्य गाण्डीवं प्रति विश्रुता ॥ ४९ ॥

'राजन् ! आपको तो यह विदित ही है कि गाण्डीवधारी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने गाण्डीव धनुषके विषयमें कैसी प्रतिज्ञा कर रक्खी है ? उनकी वह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है ॥ ४९ ॥

ब्रूयाद् य एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत।
वध्योऽस्य स पुमाँल्लोके त्वया चोक्तोऽयमीदृशम् ॥

'जो अर्जुनसे यह कह दे कि 'तुम्हें अपना गाण्डीवधनुष दूसरेको दे देना चाहिये' वह मनुष्य इस जगत्‌में उनका वध्य है।' आपने आज अर्जुनसे ऐसी ही बात कह दी है ॥५०॥

ततः सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षता।
मच्छन्दादवमानोऽयं कृतस्तव महीपते ॥ ५१ ॥
गुरूणामवमानो हि वध इत्यभिधीयते ।

'अतः भूपाल ! अर्जुनने अपनी उस सच्ची प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मेरी आज्ञासे आपका यह अपमान किया; क्योंकि गुरुजनोंका अपमान ही उनका वध कहा जाता है ॥

तस्मात् त्वं वै महाबाहो मम पार्थस्य चोभयोः ॥ ५२ ॥
व्यतिक्रममिमं राजन् सत्यसंरक्षणं प्रति ।

'इसलिये महाबाहो ! राजन् ! मेरे और अर्जुन दोनोंके सत्यकी रक्षाके लिये किये गये इस अपराधको आप क्षमा करें ॥ ५२½ ॥

शरणं त्वां महाराज प्रपन्नौ स्व उभावपि ॥ ५३ ॥
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् प्रणतस्याभियाचतः।

'महाराज ! हम दोनों आपकी शरणमें आये हैं और मैं चरणोंमें गिरकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ; आप मेरे अपराधको क्षमा करें ॥ ५३½ ॥

राधेयस्याद्य पापस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५४ ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि हतं विद्ध्यद्य सूतजम्।
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम् ॥ ५५ ॥

'आज पृथ्वी पापी राधापुत्र कर्णके रक्तका पान करेगी। मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, समझ लीजिये कि अब सूतपुत्र कर्ण मार दिया गया। आप जिसका वध चाहते हैं, उसका जीवन समाप्त हो गया' ॥ ५४-५५ ॥

इति कृष्णवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
ससम्भ्रमं हृषीकेशमुत्थाप्य प्रणतं तदा ॥ ५६ ॥
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यमुवाचानन्तरं वचः।

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने चरणोंमें पड़े हुए हृषीकेशको वेगपूर्वक उठाकर फिर दोनों हाथ जोड़कर यह बात कही—॥ ५६½ ॥

एवमेव यथाऽऽत्थ त्वमस्त्येषोऽतिक्रमो मम॥ ५७ ॥
अनुनीतोऽस्मि गोविन्द तारितश्चास्मि माधव।
मोचिता व्यसनाद् घोराद् वयमद्य त्वयाच्युत॥ ५८ ॥

'गोविन्द ! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। वास्तवमें मुझसे यह नियमका उल्लङ्घन हो गया है। माधव ! आपने अनुनयद्वारा मुझे संतुष्ट कर दिया और सङ्कटके समुद्रमें डूबनेसे बचा लिया। अच्युत ! आज आपके द्वारा हमलोग घोर विपत्तिसे बच गये ॥ ५७-५८ ॥

भवन्तं नाथमासाद्य ह्यावां व्यसनसागरात्।
घोरादद्य समुत्तीर्णावुभावज्ञानमोहितौ ॥ ५९ ॥
त्वद्बुद्धिप्लवमासाद्य दुःखशोकार्णवाद् वयम्।

समुत्तीर्णाः सहामात्याः सनाथाः स्म त्वयाच्युत ॥ ६० ॥

'आज आपको अपना रक्षक पाकर हम दोनों सङ्कटके भयानक समुद्रसे पार हो गये। हम दोनों ही अज्ञानसे मोहित हो रहे थे; परंतु आपकी बुद्धिरूपी नौकाका आश्रय लेकर दुःख-शोकके समुद्रसे मन्त्रियोंसहित पार हो गये। अच्युत! हम आपसे ही सनाथ हैं' ॥ ५९-६० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरसमाश्वासने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

एकसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश, अर्जुन और युधिष्ठिरका प्रसन्नतापूर्वक मिलन एवं अर्जुनद्वारा कर्णवधकी प्रतिज्ञा, युधिष्ठिरका आशीर्वाद

संजय उवाच

धर्मराजस्य तच्छ्रुत्वा प्रीतियुक्तं वचस्ततः।
पार्थं प्रोवाच धर्मात्मा गोविन्दो यदुनन्दनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! धर्मराजके मुखसे यह प्रेमपूर्ण वचन सुनकर यदुकुलको आनन्दित करनेवाले धर्मात्मा गोविन्द अर्जुनसे कुछ कहने लगे ॥ १ ॥

इति स्म कृष्णवचनात् प्रत्युच्चार्य युधिष्ठिरम्।
बभूव विमनाः पार्थः किंचित् कृत्वेव पातकम् ॥ २ ॥

अर्जुन श्रीकृष्णके कहनेसे युधिष्ठिरके प्रति जो तिरस्कारपूर्ण वचन बोले थे, इसके कारण वे मन-ही-मन ऐसे उदास हो गये थे, मानो कोई पाप कर बैठे हों ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम्।
कथं नाम भवेदेतद् यदि त्वं पार्थ धर्मजम् ॥ ३ ॥
असिना तीक्ष्णधारेण हन्या धर्मे व्यवस्थितम्।
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेवं कश्मलमाविशः ॥ ४ ॥

उनकी यह अवस्था देख भगवान् श्रीकृष्ण हँसते हुए-से उन पाण्डुकुमारसे बोले—'पार्थ! तुम तो राजाके प्रति केवल 'तू' कह देने मात्रसे ही इस प्रकार शोकमें डूब गये हो। फिर यदि धर्ममें स्थित रहनेवाले धर्मकुमार युधिष्ठिरको तीखी धारवाले तलवारसे मार डालते, तब तुम्हारी दशा कैसी हो जाती?॥ ३-४ ॥

हत्वा तु नृपतिं पार्थ अकरिष्यः किमुत्तरम्।
एवं हि दुर्विदो धर्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषतः ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुम राजाका वध करनेके पश्चात् क्या करते? इस तरह धर्मका स्वरूप सभीके लिये दुर्विज्ञेय है। विशेषतः उन लोगोंके लिये, जिनकी बुद्धि मन्द है, उसके सूक्ष्म स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है॥ ५ ॥

स भवान् धर्मभीरुत्वाद् ध्रुवमैष्यन्महत्तमः।
नरकं घोररूपं च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥ ६ ॥

'अतः तुम धर्मभीरु होनेके कारण अपने ज्येष्ठ भाईके वधसे निश्चय ही घोर नरकरूप महान् अन्धकार (दुःख) में डूब जाते ॥ ६ ॥

स त्वं धर्मभृतां श्रेष्ठं राजानं धर्मसंहितम्।
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मतं मम ॥ ७ ॥

'इसलिये इस विषयमें मेरा विचार यह है कि तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपरायण कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरको प्रसन्न करो॥

प्रसाद्य भक्त्या राजानं प्रीते चैव युधिष्ठिरे।
प्रयावस्त्वरितौ योद्धुं सूतपुत्ररथं प्रति ॥ ८ ॥

'राजा युधिष्ठिरको भक्तिभावसे प्रसन्न कर लो। जब वे प्रसन्न हो जायँ, तब हमलोग तुरंत ही युद्धके लिये सूतपुत्रके रथपर चढ़ाई करेंगे ॥ ८ ॥

हत्वा तु समरे कर्णं त्वमद्य निशितैः शरैः।
विपुलां प्रीतिमाधत्स्व धर्मपुत्रस्य मानद ॥ ९ ॥

'मानद! आज तुम तीखे बाणोंसे समरभूमिमें कर्णका वध करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरके हृदयमें अत्यन्त हर्षोल्लास भर दो॥

एतदत्र महाबाहो प्राप्तकालं मतं मम।
एवं कृते कृतं चैव तव कार्यं भविष्यति ॥ १० ॥

'महाबाहो! मुझे तो इस समय यहाँ यही करना उचित जान पड़ता है। ऐसा कर लेनेपर तुम्हारा सारा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ॥ १० ॥

ततोऽर्जुनो महाराज लज्जया वै समन्वितः।
धर्मराजस्य चरणौ प्रपद्य शिरसा नतः ॥ ११ ॥
उवाच भरतश्रेष्ठं प्रसीदेति पुनः पुनः।
क्षमस्व राजन् यत् प्रोक्तं धर्मकामेन भीरुणा ॥ १२ ॥

'महाराज! तब अर्जुन लज्जित हो धर्मराजके चरणोंमें गिरकर मस्तक नवाकर उन भरतश्रेष्ठ नरेशसे बारंबार बोले—'राजन्! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये। मैंने धर्मपालनकी इच्छासे भयभीत होकर जो अनुचित वचन कहा है, उसके लिये क्षमा कीजिये' ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा तु पतितं पद्भ्यां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
धनंजयममित्रघ्नं रुदन्तं भरतर्षभ ॥ १३ ॥
उत्थाय भ्रातरं राजा धर्मराजो धनंजयम्।
समाश्लिष्य च सस्नेहं प्ररुरोद महीपतिः ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ! धर्मराज युधिष्ठिरने शत्रुसूदन, भाई धनंजयको अपने चरणोंपर गिरकर रोते देख बड़े स्नेहसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। फिर वे भूपाल धर्मराज भी फूट-फूटकर रोने लगे ॥ १३-१४ ॥

रुदित्वा सुचिरं कालं भ्रातरौ सुमहाद्युती।

कृतशौचौ महाराज प्रीतिमन्तौ बभूवतुः ॥ १५ ॥

महाराज ! वे दोनों महातेजस्वी भाई दीर्घकालतक रोते रहे । इससे उनके मनकी मैल धुल गयी और वे दोनों भाई परस्पर प्रेमसे भर गये ॥ १५ ॥

तत आश्लिष्य तं प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डवः।
प्रीत्या परमया युक्तो विस्मयंश्च पुनः पुनः ॥१६॥
अब्रवीत् तं महेष्वासं धर्मराजो धनंजयम् ।

तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न हो बारंबार मुस्कराते हुए पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने महाधनुर्धर धनंजयको बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा और उनसे इस प्रकार कहा—॥ १६½ ॥

कर्णेन मे महाबाहो सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥१७॥
कवचं च ध्वजं चैव धनुः शक्तिर्हयाः शराः ।
शरैः कृत्ता महेष्वास यतमानस्य संयुगे ॥१८॥

'महाधनुर्धर ! महाबाहो ! मैं युद्धमें यत्नपूर्वक लगा हुआ था, किंतु कर्णने सारी सेनाके देखते-देखते अपने बाणोंद्वारा मेरे कवच, ध्वज, धनुष, शक्ति, घोड़े और बाणोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं ॥ १७-१८ ॥

सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य कर्म दृष्ट्वा च फाल्गुन।
व्यवसीदामि दुःखेन न च मे जीवितं प्रियम् ॥१९॥

'फाल्गुन ! रणभूमिमें उसके इस कर्मको देख और समझकर मैं दुःखसे पीड़ित हो रहा हूँ । मुझे अपना जीवन प्रिय नहीं रह गया है ॥ १९ ॥

न चेदद्य हि तं वीरं निहनिष्यसि संयुगे ।
प्राणानेव परित्यक्ष्ये जीवितार्थो हि को मम ॥ २० ॥

'यदि आज युद्धस्थलमें तुम वीर कर्णका वध नहीं करोगे, तो मैं अपने प्राणोंका ही परित्याग कर दूँगा । फिर मेरे जीवनका प्रयोजन ही क्या है ?' ॥ २० ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच विजयो भरतर्षभ ।
सत्येन ते शपे राजन् प्रसादेन तथैव च ।
भीमेन च नरश्रेष्ठ यमाभ्यां च महीपते ॥ २१ ॥
यथाद्य समरे कर्णं हनिष्यामि हतोऽपि वा ।
महीतले पतिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उत्तर दिया—'राजन् ! नरश्रेष्ठ महीपाल ! मैं आपसे सत्यकी, आपके कृपापूर्ण प्रसादकी, भीमसेनकी तथा नकुल और सहदेवकी शपथ खाकर सत्यके द्वारा अपने धनुषको छूकर कहता हूँ कि आज समरमें या तो कर्णको मार डालूँगा या स्वयं ही मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाऊँगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधवं वचः ।
अद्य कर्णं रणे कृष्ण सूदयिष्ये न संशयः ॥ २३ ॥
तव बुद्ध्या हि भद्रं ते वधस्तस्य दुरात्मनः ।

राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'श्रीकृष्ण ! आज रणभूमिमें मैं कर्णका वध करूँगा, इसमें संशय नहीं है । आपका कल्याण हो । आपकी बुद्धिसे ही उस दुरात्माका वध होगा' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ॥ २४ ॥
शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ हन्तुं कर्णं महाबलम् ।
एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ॥ २५ ॥
कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यादिति सत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'भरतश्रेष्ठ ! तुम महाबली कर्णका वध करनेमें समर्थ हो । सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महारथी वीर ! मेरे मनमें भी सदा यही इच्छा बनी रहती है कि तुम रणभूमिमें कर्णको किसी तरह मार डालो' ॥ २४-२५½ ॥

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्मनन्दनम् ॥ २६ ॥
युधिष्ठिरेमं बीभत्सुं त्वं सान्त्वयितुमर्हसि ।
अनुज्ञातुं च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मनः ॥ २७ ॥

फिर बुद्धिमान् भगवान् माधवने धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—'महाराज ! आप अर्जुनको सान्त्वना और दुरात्मा कर्णके वधके लिये आज्ञा प्रदान करें ॥ २६-२७ ॥

श्रुत्वा ह्यहमयं चैव त्वां कर्णशरपीडितम् ।
प्रवृत्तिं ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! राजन् ! आप कर्णके बाणोंसे बहुत पीड़ित हो गये हैं—यह सुनकर मैं और ये अर्जुन दोनों आपका समाचार जाननेके लिये यहाँ आये थे ॥ २८ ॥

दिष्ट्यासि राजन् न हतो दिष्ट्या न ग्रहणं गतः।
परिसान्त्वय बीभत्सुं जयमाशाधि चानघ ॥ २९ ॥

'निष्पाप नरेश ! सौभाग्यकी बात है कि (कर्णकेद्वारा) न तो आप मारे गये और न पकड़े ही गये । अब आप अर्जुनको सान्त्वना दें और उन्हें विजयके लिये आशीर्वाद प्रदान करें' ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि पार्थ बीभत्सो मां परिष्वज पाण्डव ।
वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हितं त्वया क्षान्तं च तन्मया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर बोले—कुन्तीनन्दन ! बीभत्सो ! आओ, आओ ! पाण्डुकुमार ! मेरे हृदयसे लग जाओ । तुमने तो मेरे प्रति कहने योग्य और हितकी ही बात कही है तथा मैंने उसके लिये क्षमा भी कर दी ॥ ३० ॥

अहं त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनंजय ।
मन्युं च मा कृथाः पार्थ यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥३१॥

धनंजय ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, कर्णका वध करो । पार्थ ! मैंने जो तुमसे कठोर वचन कहा है, उसके लिये खेद न करना ॥

संजय उवाच

ततो धनंजयो राजञ्शिरसा प्रणतस्तदा ।
पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥ ३२ ॥

संजय कहते हैं—माननीय नरेश ! तब धनंजयने

मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और दोनों हाथोंसे बड़े भाईके पैर पकड़ लिये ॥ ३२ ॥

तमुत्थाप्य ततो राजा परिष्वज्य च पीडितम् ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय चैवैनमिदं पुनरुवाच ह ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् राजाने मन-ही-मन पीड़ाका अनुभव करनेवाले अर्जुनको उठाकर छातीसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघकर पुनः उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

धनंजय महाबाहो मानितोऽस्मि दृढं त्वया ।
माहात्म्यं विजयं चैव भूयः प्राप्नुहि शाश्वतम् ॥ ३४ ॥

'महाबाहु धनंजय ! तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया है; अतः तुम्हारी महिमा बढ़े और तुम्हें पुनः सनातन विजय प्राप्त हो' ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

अद्य तं पापकर्माणं सानुबन्धं रणे शरैः ।
नयाम्यन्तं समासाद्य राधेयं बलगर्वितम् ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! आज मैं अपने बलका घमंड रखनेवाले उस पापाचारी राधापुत्र कर्णको रणभूमिमें पाकर उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मृत्युके समीप भेज दूँगा ॥

येन त्वं पीडितो बाणैर्दृढमायम्य कार्मुकम् ।
तस्याद्य कर्मणः कर्णः फलमाप्स्यति दारुणम् ॥ ३६ ॥

राजन् ! जिसने धनुषको दृढ़तापूर्वक खींचकर अपने बाणोंद्वारा आपको पीड़ित किया है, वह कर्ण आज अपने उस पापकर्मका अत्यन्त भयंकर फल पायेगा ॥ ३६ ॥

अद्य त्वामनुपश्यामि कर्णं हत्वा महीपते ।
सभाजयितुमाक्रन्दादिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३७ ॥

भूपाल ! आज मैं कर्णको मारकर ही आपका दर्शन करूँगा और युद्धस्थलसे आपका अभिनन्दन करनेके लिये आऊँगा । यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ ॥ ३७ ॥

नाहत्वा विनिवर्तिष्ये कर्णमद्य रणाजिरात् ।
इति सत्येन ते पादौ स्पृशामि जगतीपते ॥ ३८ ॥

पृथ्वीपते ! आज मैं कर्णको मारे बिना समराङ्गणसे नहीं लौटूँगा । इस सत्यके द्वारा मैं आपके दोनों चरण छूता हूँ ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

इति ब्रुवाणं सुमनाः किरीटिनं
युधिष्ठिरः प्राह वचो बृहत्तरम् ।
यशोऽक्षयं जीवितमीप्सितं ते
जयं सदा वीर्यमरिक्षयं तदा ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसी बातें कहनेवाले किरीटधारी अर्जुनसे युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त होकर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'वीर ! तुम्हें अक्षय यश, पूर्ण आयु, मनोवाञ्छित कामना, विजय तथा शत्रुनाशक पराक्रम—ये सदा प्राप्त होते रहें ॥ ३९ ॥

प्रयाहि वृद्धिं च दिशन्तु देवता
यथाहमिच्छामि तवास्तु तत् तथा।
प्रयाहि शीघ्रं जहि कर्णमाहवे
पुरंदरो वृत्रमिवात्मवृद्धये ॥ ४० ॥

'जाओ, देवता तुम्हें अभ्युदय प्रदान करें । मैं तुम्हारे लिये जैसा चाहता हूँ, वैसा ही सब कुछ तुम्हें प्राप्त हो। आगे बढ़ो और युद्धस्थलमें शीघ्र ही कर्णको मार डालो । ठीक उसी तरह, जैसे देवराज इन्द्रने अपने ही ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये वृत्रासुरका नाश किया था ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनप्रतिज्ञायामेकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अर्जुनकी प्रतिज्ञाविषयक ~~एक सौ~~ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रणयात्रा, मार्गमें शुभ शकुन तथा श्रीकृष्णका अर्जुनको प्रोत्साहन देना

संजय उवाच

प्रसाद्य धर्मराजानं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
पार्थः प्रोवाच गोविन्दं सूतपुत्रवधोद्यतः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करके अर्जुन सूतपुत्र कर्णका वध करनेके लिये उद्यत हो प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णसे बोले—॥ १ ॥

कल्प्यतां मे रथो भूयो युज्यन्तां च हयोत्तमाः ।
आयुधानि च सर्वाणि सज्जन्तां मे महारथे ॥ २ ॥
उपावृत्ताश्च तुरगाः शिक्षिताश्चाश्वसादिभिः ।
रथोपकरणैः सज्जा उपायान्तु त्वरान्विताः ॥ ३ ॥
प्रयाहि शीघ्रं गोविन्द सूतपुत्रजिघांसया ।

'गोविन्द ! अब मेरा रथ तैयार हो । उसमें पुनः उत्तम घोड़े जोते जायँ और मेरे उस विशाल रथमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र सजाकर रख दिये जायँ । अश्वारोहियों-द्वारा सिखलाये और टहलाये गये घोड़े रथ-सम्बन्धी उपकरणों-से सुसज्जित हो शीघ्र यहाँ आवें और आप सूतपुत्रके वधकी इच्छासे जल्दी ही यहाँसे प्रस्थान कीजिये' ॥२-३½॥

एवमुक्तो महाराज फाल्गुनेन महात्मना ॥ ४ ॥
उवाच दारुकं कृष्णः कुरु सर्वं यथाब्रवीत् ।
अर्जुनो भरतश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ५ ॥

महाराज ! महात्मा अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने दारुकसे कहा—'सारथे ! समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ भरतभूषण अर्जुनने जैसा कहा है, उसके अनुसार सारी तैयारी करो' ॥ ४-५ ॥

आज्ञप्तस्त्वथ कृष्णेन दारुको राजसत्तम ।
योजयामास स रथं वैयाघ्रं शत्रुतापनम् ॥ ६ ॥
सज्जं निवेदयामास पाण्डवस्य महात्मनः ।

नृपश्रेष्ठ ! श्रीकृष्णके इस प्रकार आदेश देनेपर दारुकने व्याघ्र-चर्मसे आच्छादित तथा शत्रुओंको तपानेवाले रथको जोतकर तैयार कर दिया और महामना पाण्डुकुमार अर्जुनके पास आकर निवेदन किया कि 'आपका रथ सब सामग्रियोंसे सुसज्जित है' ॥ ६½ ॥

युक्तं तु तं रथं दृष्ट्वा दारुकेण महात्मना ॥ ७ ॥
आपृच्छ्य धर्मराजानं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
सुमङ्गलस्वस्त्ययनमारुरोह रथोत्तमम् ॥ ८ ॥

महामना दारुकके द्वारा जोतकर लाये हुए उस रथको देखकर अर्जुन धर्मराजसे आज्ञा ले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर कल्याणके आश्रयभूत उस परम मङ्गलमय उत्तम रथपर आरूढ हुए ॥ ७-८ ॥

तस्य राजा महाप्राज्ञो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आशिषोऽयुङ्क्त स ततः प्रायात् कर्णरथं प्रति ॥ ९ ॥

उस समय महाबुद्धिमान् धर्मराज राजा युधिष्ठिरने अर्जुनको आशीर्वाद दिये। तत्पश्चात् उन्होंने कर्णके रथकी ओर प्रस्थान किया ॥ ९ ॥

तमायान्तं महेष्वासं दृष्ट्वा भूतानि भारत ।
निहतं मेनिरे कर्णं पाण्डवेन महात्मना ॥ १० ॥

भारत ! महाधनुर्धर अर्जुनको आते देख समस्त प्राणियोंको यह विश्वास हो गया कि अब कर्ण महामनस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे अवश्य मारा जायगा ॥ १० ॥

बभूवुर्विमलाः सर्वा दिशो राजन् समन्ततः ।
चाषाश्च शतपत्राश्च क्रौञ्चाश्चैव जनेश्वर ॥ ११ ॥
प्रदक्षिणमकुर्वन्त तदा वै पाण्डुनन्दनम् ।

राजन् ! सम्पूर्ण दिशाएँ सब ओरसे निर्मल हो गयी थीं। नरेश्वर ! नीलकण्ठ, सारस और क्रौञ्च पक्षी पाण्डुनन्दन अर्जुनको दाहिने रखते हुए जाने लगे ॥ ११½ ॥

बहवः पक्षिणो राजन् पुंनामानः शुभाः शिवाः ॥१२॥
त्वरयन्तोऽर्जुनं युद्धे हृष्टरूपा ववाशिरे ।

राजन् ! पुरुष जातिवाले बहुत-से शुभकारक मङ्गलदायक पक्षी अर्जुनको युद्धके लिये उतावले करते हुए बड़े हर्षमें भरकर चहचहा रहे थे ॥ १२½ ॥

कङ्का गृध्रा बकाः श्येना वायसाश्च विशाम्पते॥ १३ ॥
अग्रतस्तस्य गच्छन्ति मांसहेतोर्भयानकाः ।

प्रजानाथ ! कङ्क, गृध्र, बक, बाज और कौए आदि भयानक पक्षी मांसके लिये उनके आगे-आगे जा रहे थे ॥

निमित्तानि च धन्यानि पाण्डवस्य शशंसिरे ॥ १४ ॥
विनाशमरिसैन्यानां कर्णस्य च वधं प्रति ।

इस प्रकार बहुत-से शुभ शकुन पाण्डुपुत्र अर्जुनको उनके शत्रुओंके विनाश तथा कर्णके वधकी सूचना दे रहे थे॥

प्रयातस्याथ पार्थस्य महान् स्वेदो व्यजायत ॥ १५ ॥
चिन्ता च विपुला जज्ञे कथं चेदं भविष्यति ।

युद्धके लिये प्रस्थान करनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनके शरीरमें बड़े जोरसे पसीना छूटने लगा तथा मन-ही-मन भारी चिन्ता होने लगी कि 'यह सब कैसे होगा ?' ॥ १५½ ॥

ततो गाण्डीवधन्वानमब्रवीन्मधुसूदनः ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा पार्थं तथा यान्तं चिन्तापरिगतं तदा ।

रथमें बैठकर चलते समय गाण्डीवधारी अर्जुनको चिन्तामग्न देख भगवान् श्रीकृष्णने उनसे इस प्रकार कहा ॥

वासुदेव उवाच

गाण्डीवधन्वन् संग्रामे ये त्वया धनुषा जिताः॥१७॥
न तेषां मानुषो जेता त्वदन्य इह विद्यते ।

श्रीकृष्ण बोले—गाण्डीवधारी अर्जुन ! तुमने अपने धनुषसे जिन-जिन वीरोंपर विजय पायी है, उन्हें जीतनेवाला इस संसारमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य नहीं है ॥ १७½ ॥

दृष्टा हि बहवः शूराः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ १८ ॥
त्वां प्राप्य समरे शूरं ते गताः परमां गतिम् ।

मैंने देखा है इन्द्रके समान पराक्रमी बहुत-से शूरवीर समराङ्गणमें तुझ शौर्यसम्पन्न वीरके पास आकर परम गतिको प्राप्त हो गये ॥ १८½ ॥

को हि द्रोणं च भीष्मं च भगदत्तं च मारिष॥ १९ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम् ।
श्रुतायुषं महावीर्यमच्युतायुषमेव च ।
प्रत्युद्गम्य भवेत् क्षेमी यो न स्यात् त्वमिव प्रभो॥२०॥

प्रभो ! आर्य ! जो तुम्हारे-जैसा वीर न हो, ऐसा कौन पुरुष द्रोणाचार्य, भीष्म, भगदत्त, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण, महापराक्रमी श्रुतायु तथा अच्युतायुका सामना करके सकुशल रह सकता था ॥ १९-२० ॥

तव ह्यस्त्राणि दिव्यानि लाघवं बलमेव च ।
असम्मोहश्च युद्धेषु विज्ञानस्य च संततिः ॥ २१ ॥
वेधः पातश्च लक्ष्येषु योगश्चैव तथार्जुन ।
भवान् देवान् सगन्धर्वान् हन्यात् सह चराचरान् ।२२।

तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं, तुममें फुर्ती है, बल है, युद्धके समय तुम्हें घबराहट नहीं होती, तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंका विस्तृत ज्ञान है तथा लक्ष्यको वेधने तथा गिरानेकी कला ज्ञात है । अर्जुन ! लक्ष्यको वेधते समय तुम्हारा चित्त एकाग्र रहता है । गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा चराचर प्राणियोंको तुम एक साथ मार सकते हो॥२१-२२॥

पृथिव्यां तु रणे पार्थ न योद्धा त्वत्समः पुमान् ।
धनुर्ग्राहा हि ये केचित् क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ २३ ॥
आ देवात् त्वत्समं तेषां न पश्यामि शृणोमि च ।

कुन्तीकुमार ! इस भूमण्डलपर दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान योद्धा नहीं है । यहाँसे देवलोकतक धनुष धारण करनेवाले जो कोई भी रणदुर्मद क्षत्रिय हैं, उनमेंसे किसीको भी मैं तुम्हारे समान न तो देखता हूँ और न सुनता ही हूँ ॥

ब्रह्मणा च प्रजाः सृष्टा गाण्डीवं च महद् धनुः ॥२४॥
येन त्वं युध्यसे पार्थ तस्मान्नास्ति त्वया समः ।

पार्थ ! ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्रजाकी सृष्टि की है और उन्होंने ही उस विशाल धनुष गाण्डीवकी भी रचना की है, जिसके द्वारा तुम युद्ध करते हो; अतः तुम्हारी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ २४½ ॥

अवश्यं तु मया वाच्यं यत् पथ्यं तव पाण्डव ॥ २५ ॥
मावमंस्था महाबाहो कर्णमाहवशोभिनम् ।

पाण्डुनन्दन ! तो भी जो बात तुम्हारे लिये हितकर हो, उसे बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ । महाबाहो ! संग्राममें शोभा पानेवाले कर्णकी अवहेलना न करना ॥ २५½ ॥

कर्णो हि बलवान् दृप्तः कृतास्त्रश्च महारथः ॥ २६ ॥
कृती च चित्रयोधी च देशकालस्य कोविदः ।

क्योंकि कर्ण बलवान्, अभिमानी, अस्त्रविद्याका विद्वान्, महारथी, युद्धकुशल, विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाला तथा देशकालको समझनेवाला है ॥ २६½ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपाच्छृणु पाण्डव ॥ २७ ॥
त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम् ।
परमं यत्नमास्थाय त्वया वध्यो महाहवे ॥ २८ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ, संक्षेपसे ही सुन लो । मैं महारथी कर्णको तुम्हारे समान या तुमसे भी बढ़कर मानता हूँ । अतः महासमरमें महान् प्रयत्न करके तुम्हें उसका वध करना होगा ॥ २७-२८ ॥

तेजसा वह्निसदृशो वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः क्रोधे सिंहसंहननो बली ॥ २९ ॥

कर्ण तेजमें अग्निके सदृश, वेगमें वायुके समान, क्रोधमें यमराजके तुल्य, सुदृढ़ शरीरमें सिंहके सदृश तथा बलवान् है ॥ २९ ॥

अष्टरत्निर्महाबाहुर्व्यूढोरस्कः सुदुर्जयः ।
अभिमानी च शूरश्च प्रवीरः प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

उसके शरीरकी ऊँचाई आठ रत्नि[1] (एक सौ अड़सठ अंगुल) है । उसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी हैं। उसे जीतना अत्यन्त कठिन है । वह अभिमानी, शौर्यसम्पन्न, प्रमुख वीर और प्रियदर्शन (सुन्दर) है॥ ३० ॥

सर्वयोधगुणैर्युक्तो मित्राणामभयंकरः ।
सततं पाण्डवद्वेषी धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ ३१ ॥

उसमें योद्धाओंके सभी गुण हैं । वह अपने मित्रोंको अभय देनेवाला है तथा दुर्योधनके हितमें तत्पर रहकर पाण्डवोंसे सदा द्वेष रखता है ॥ ३१ ॥

सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपि सवासवैः ।
ऋते त्वामिति मे बुद्धिस्तदद्य जहि सूतजम् ॥ ३२ ॥

मेरा तो ऐसा विचार है कि राधापुत्र कर्ण तुम्हें छोड़कर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अवध्य है; अतः तुम आज सूतपुत्रका वध करो ॥ ३२ ॥

देवैरपि हि संयत्तैर्बिभ्रद्भिर्मांसशोणितम् ।
अशक्यः स रथो जेतुं सर्वैरपि युयुत्सुभिः ॥ ३३ ॥

समस्त देवता भी यदि रक्त-मांसयुक्त शरीरको धारण करके युद्धकी अभिलाषा लेकर विजयके लिये प्रयत्नशील हो रणभूमिमें आ जायँ तो उनके लिये रथसहित कर्णको जीतना असम्भव है ॥ ३३ ॥

दुरात्मानं पापवृत्तं नृशंसं
दुष्टप्रज्ञं पाण्डवेयेषु नित्यम् ।
हीनस्वार्थं पाण्डवेयैर्विरोधे
हत्वा कर्णं निश्चितार्थो भवाद्य ॥ ३४ ॥

अतः आज तुम दुरात्मा, पापाचारी, क्रूर, पाण्डवोंके प्रति सदा दुर्भावना रखनेवाले और किसी स्वार्थके बिना ही पाण्डव-विरोधमें तत्पर हुए कर्णका वध करके सफलमनोरथ हो जाओ ॥ ३४ ॥

तं सूतपुत्रं रथिनां वरिष्ठं
निष्कालिकं कालवशं नयाद्य ।
तं सूतपुत्रं रथिनां वरिष्ठं
हत्वा प्रीतिं धर्मराजे कुरुष्व ॥ ३५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र अपनेको कालके वशमें नहीं समझता है । तुम उसे आज ही कालके अधीन कर दो । रथियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णको मारकर धर्मराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करो ॥ ३५ ॥

जानामि ते पार्थ वीर्यं यथावद्
दुर्वारणीयं च सुरासुरैश्च ।
सदावजानाति हि पाण्डुपुत्रा-
नसौ दर्पात् सूतपुत्रो दुरात्मा ॥ ३६ ॥

पार्थ ! मैं तुम्हारे उस बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानता हूँ, जिसका निवारण करना देवताओं और असुरोंके लिये भी कठिन है । दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण घमंडमें आकर सदा पाण्डवोंका अपमान करता है ॥ ३६ ॥

आत्मानं मन्यते वीरं येन पापः सुयोधनः ।
तमद्य मूलं पापानां जहि सौतिं धनंजय ॥ ३७ ॥

धनंजय ! जिसके साथ होनेसे पापी दुर्योधन अपनेको वीर मानता है, वह सूतपुत्र कर्ण ही सारे पापोंकी जड़ है; अतः आज तुम उसे मार डालो ॥ ३७ ॥

खड्गजिह्वं धनुरास्यं शरदंष्ट्रं तरस्विनम् ।
दृप्तं पुरुषशार्दूलं जहि कर्णं धनंजय ॥ ३८ ॥

---
[1] मुट्ठी बंधे हुए हाथके मापको रत्नि कहते हैं ।

अर्जुन ! कर्ण पुरुषोंमें सिंहके समान है, तलवार ही उसकी जिह्वा है, धनुष ही उसका फैला हुआ मुख है, बाण उसकी दाढ़ें हैं, वह अत्यन्त वेगशाली और अभिमानी है। तुम उसका वध करो ॥ ३८ ॥

अहं त्वामनुजानामि वीर्येण च बलेन च।
जहि कर्णं रणे शूर मातङ्गमिव केसरी ॥ ३९ ॥

जैसे सिंह मतवाले हाथीको मार डालता है, उसी प्रकार तुम भी अपने बल और पराक्रमसे रणभूमिमें शूरवीर कर्णको मार डालो। इसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ ॥ ३९ ॥

यस्य वीर्येण वीर्यं ते धार्तराष्ट्रोऽवमन्यते।
तमद्य पार्थ संग्रामे कर्णं वैकर्तनं जहि ॥ ४० ॥

पार्थ ! जिसके बलसे दुर्योधन तुम्हारे बल-पराक्रमकी अवहेलना करता है, उस वैकर्तन कर्णको आज तुम युद्धमें मार डालो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कृष्णार्जुनसंवादे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणके पराक्रमका वर्णन करते हुए अर्जुनके बलकी प्रशंसा करके श्रीकृष्णका कर्ण और दुर्योधनके अन्यायकी याद दिलाकर अर्जुनको कर्णवधके लिये उत्तेजित करना

संजय उवाच

ततः पुनरमेयात्मा केशवोऽर्जुनमब्रवीत्।
कृतसंकल्पमायान्तं वधे कर्णस्य भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतनन्दन ! तदनन्तर कर्णका वध करनेके लिये कृतसंकल्प होकर जाते हुए अर्जुनसे अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अद्य सप्तदशाहानि वर्तमानस्य भारत।
विनाशस्यातिघोरस्य नरवारणवाजिनाम् ॥ २ ॥

'भारत ! मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंका जो यह अत्यन्त भयंकर विनाश चल रहा है, इसे आज सत्रह दिन हो गये ॥ २ ॥

भूत्वा हि विपुला सेना तावकानां परैः सह।
अन्योन्यं समरं प्राप्य किंचिच्छेषा विशाम्पते ॥ ३ ॥

'प्रजानाथ ! शत्रुओंके साथ-साथ तुमलोगोंके पास भी विशाल सेना जुट गयी थी; परंतु परस्पर युद्ध करके प्रायः नष्ट हो गयी, अब थोड़ी-सी ही शेष रह गयी है ॥ ३ ॥

भूत्वा वै कौरवाः पार्थ प्रभूतगजवाजिनः।
त्वां वै शत्रुं समासाद्य विनष्टा रणमूर्धनि ॥ ४ ॥

'पार्थ ! कौरवपक्षके योद्धा बहुसंख्यक हाथी-घोड़ोंसे सम्पन्न थे, परंतु तुम-जैसे वीर शत्रुको पाकर युद्धके मुहानेपर नष्ट हो गये ॥ ४ ॥

एते ते पृथिवीपालाः सृञ्जयाश्च समागताः।
त्वां समासाद्य दुर्धर्षं पाण्डवाश्च व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥

'तुम शत्रुओंके लिये दुर्जय हो, तुम्हारे ही आश्रयमें रहकर ये तुम्हारे पक्षके भूमिपाल सृञ्जय और पाण्डव योद्धा युद्धस्थलमें डटे हुए हैं ॥ ५ ॥

पाञ्चालैः पाण्डवैर्मत्स्यैः कारूषैश्चेदिभिः सह।
त्वया गुप्तैरमित्रघ्नैः कृतः शत्रुगणक्षयः ॥ ६ ॥

'तुमसे सुरक्षित हुए इन पाण्डव, पाञ्चाल, मत्स्य, करूष तथा चेदिदेशीय शत्रुनाशक वीरोंने शत्रुसमूहोंका संहार कर डाला है ॥ ६ ॥

को हि शक्तो रणे जेतुं कौरवांस्तात संयुगे।
अन्यत्र पाण्डवान् युद्धे त्वया गुप्तान् महारथान् ॥ ७ ॥

'तात ! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित पाण्डव महारथियोंको छोड़कर दूसरा कौन नरेश युद्धमें कौरवोंको परास्त कर सकता है ॥ ७ ॥

शक्तस्त्वं हि रणे जेतुं ससुरासुरमानुषान्।
त्रीँल्लोकान् समरे युक्तान् किं पुनः कौरवं बलम् ॥ ८ ॥

'तुम तो युद्धके लिये तैयार होकर आये हुए देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोकोंको समरभूमिमें जीत सकते हो, फिर कौरव-सेनाकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८ ॥

भगदत्तं च राजानं कोऽन्यः शक्तस्त्वया विना।
जेतुं पुरुषशार्दूल योऽपि स्याद् वासवोपमः ॥ ९ ॥

'पुरुषसिंह ! कोई इन्द्रके समान भी पराक्रमी क्यों न हो, तुम्हारे सिवा दूसरा कौन वीर राजा भगदत्तको जीत सकता था ? ॥ ९ ॥

तथेमां विपुलां सेनां गुप्तां पार्थ त्वयानघ।
न शेकुः पार्थिवाः सर्वे चक्षुर्भिरपि वीक्षितुम् ॥ १० ॥

'निष्पाप कुन्तीकुमार ! तुम जिसकी रक्षा करते हो, उस विशाल सेनाकी ओर सारे राजा आँख उठाकर देख भी नहीं सके हैं ॥ १० ॥

तथैव सततं पार्थ रक्षिताभ्यां त्वया रणे।
धृष्टद्युम्नशिखण्डिभ्यां भीष्मद्रोणौ निपातितौ ॥ ११ ॥

'पार्थ ! इसी प्रकार रणक्षेत्रमें सदा तुमसे सुरक्षित रहकर ही धृष्टद्युम्न और शिखण्डीने द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिराया है ॥ ११ ॥

को हि शक्तो रणे पार्थ भारतानां महारथौ।
भीष्मद्रोणौ युधा जेतुं शक्रतुल्यपराक्रमौ ॥ १२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! भरतवंशियोंकी सेनाके दो महारथी इन्द्रतुल्य पराक्रमी भीष्म और द्रोणको रणभूमिमें युद्ध करते समय कौन जीत सकता था ? ॥ १२ ॥

को हि शान्तनवं भीष्मं द्रोणं वैकर्तनं कृपम्।
द्रौणिं च सौमदत्तिं च कृतवर्माणमेव च ॥ १३ ॥
सैन्धवं मद्रराजानं राजानं च सुयोधनम्।
वीरान् कृतास्त्रान् समरे सर्वानेवानिवर्तिनः ॥ १४ ॥
अक्षौहिणीपतीनुग्रान् संहतान् युद्धदुर्मदान्।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र जेतुं शक्तः पुमानिह ॥ १५ ॥

'नरव्याघ्र! अक्षौहिणी सेनाके अधिपति, वीर, अस्त्रवेत्ता, भयंकर पराक्रमी, संगठित, रणोन्मत्त तथा कभी पीछे न हटनेवाले भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, जयद्रथ, शल्य तथा राजा दुर्योधन-जैसे समस्त महारथियोंपर इस जगत्में तुम्हारे सिवा, दूसरा कौन पुरुष विजय पा सकता है? ॥ १३-१५ ॥

श्रेण्यश्च बहुलाः क्षीणाः प्रदीर्णाश्वरथद्विपाः।
नानाजनपदाश्चोग्राः क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १६ ॥

'अमर्षशील क्षत्रियोंके बहुत-से दल थे, जो बड़े भयंकर और अनेक जनपदोंके निवासी थे, वे सब-के-सब नष्ट हो गये, उनके घोड़े, रथ और हाथी भी धूलमें मिल गये ॥ १६ ॥

गोवासदासमीयानां वसातीनां च भारत।
प्राच्यानां वाटधानानां भोजानां चाभिमानिनाम् ॥ १७ ॥
उदीर्णाश्वगजा सेना सर्वक्षत्रस्य भारत।
त्वां समासाद्य निधनं गता भीमं च भारत ॥ १८ ॥

'भारत! गोवास, दासमीय, वसाति, प्राच्य, वाटधान और भोजदेशनिवासी अभिमानी वीरोंकी तथा सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी सेना, जिसमें उद्दण्ड घोड़ों और उन्मत्त हाथियोंकी संख्या अधिक थी, तुम्हारे और भीमसेनके पास पहुँचकर नष्ट हो गयी ॥ १७-१८ ॥

उग्राश्च भीमकर्माणस्तुषारा यवनाः खशाः।
दार्वाभिसारा दरदाः शका माठरतङ्गणाः ॥ १९ ॥
आन्ध्रकाश्च पुलिन्दाश्च किराताश्चोग्रविक्रमाः।
म्लेच्छाश्च पर्वतीयाश्च सागरानूपवासिनः ॥ २० ॥
संरम्भिणो युद्धशौण्डा बलिनो दण्डपाणयः।
एते सुयोधनस्यार्थे संरब्धाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
न शक्या युधि निर्जेतुं त्वदन्येन परंतप।

'उग्रस्वभाव, भीषण पराक्रमी एवं भयंकर कर्म करनेवाले तुषार, यवन, खश, दार्वाभिसार, दरद, शक, माठर, तङ्गण, आन्ध्र, पुलिन्द, किरात, म्लेच्छ, पर्वतीय तथा समुद्रतटवर्ती योद्धा, जो युद्धकुशल, रोषावेशसे युक्त, बलवान् एवं हाथोंमें डंडे लिये हुए हैं, क्रोधमें भरकर कौरव-सैनिकोंके साथ दुर्योधनकी सहायताके लिये आये हैं; शत्रुओंको संताप देने-वाले वीर! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इन्हें नहीं जीत सकता ॥ १९-२१½ ॥

धार्तराष्ट्रमुदग्रं हि व्यूढं दृष्ट्वा महद् बलम् ॥ २२ ॥
यदि त्वं न भवेस्त्राता प्रतीयात् को नु मानवः।

'यदि तुम रक्षक न होते तो व्यूहाकारमें खड़ी हुई धृतराष्ट्रपुत्रोंकी प्रचण्ड एवं विशाल सेनाको सामने देखकर कौन मनुष्य उसपर चढ़ाई कर सकता था? ॥ २२½ ॥

तत् सागरमिवोद्धूतं रजसा संवृतं बलम् ॥ २३ ॥
विदार्य पाण्डवैः क्रुद्धैस्त्वया गुप्तैर्हतं विभो।

'प्रभो! तुमसे सुरक्षित रहकर ही क्रोधभरे पाण्डव योद्धा-ओंने धूलसे आच्छादित और समुद्रके समान उमड़ी हुई कौरवसेनाको छिन्न-भिन्न करके मार डाला है ॥ २३½ ॥

मगधानामधिपतिर्जयत्सेनो महाबलः ॥ २४ ॥
अद्य सप्तैव चाहानि हतः संख्येऽभिमन्युना।

'अभी सात दिन ही हुए हैं, अभिमन्युने मगधदेशके राजा महाबली जयत्सेनको युद्धमें मार डाला था ॥ २४½ ॥

ततो दशसहस्राणि गजानां भीमकर्मणाम् ॥ २५ ॥
जघान गदया भीमस्तस्य राज्ञः परिच्छदम्।
ततोऽन्येऽभिहता नागा रथाश्च शतशो बलात् ॥ २६ ॥

'तत्पश्चात् भीमसेनने राजा जयत्सेनके भयानक कर्म करनेवाले दस हजार हाथियोंको, जो उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े थे, गदाके आघातसे नष्ट कर दिया। तदनन्तर और भी बहुत-से हाथी तथा सैकड़ों रथ उनके द्वारा बलपूर्वक नष्ट किये गये ॥ २५-२६ ॥

तदेवं समरे पार्थ वर्तमाने महाभये।
भीमसेनं समासाद्य त्वां च पाण्डव कौरवाः ॥ २७ ॥
सवाजिरथमातङ्गा मृत्युलोकमितो गताः।

'पाण्डुनन्दन! पार्थ! इस प्रकार महाभयंकर युद्ध आरम्भ होनेपर तुम्हारे और भीमसेनके सामने आकर बहुत-से कौरव-सैनिक घोड़े, रथ और हाथियोंसहित यहाँसे यमलोक पधार गये ॥ २७½ ॥

तथा सेनामुखे तत्र निहते पार्थ पाण्डवैः ॥ २८ ॥
भीष्मः प्रासृजदुग्राणि शरजालानि मारिष।

'माननीय कुन्तीनन्दन! पाण्डव वीरोंने जब वहाँ सेनाके प्रमुख भागका विनाश कर डाला, तब भीष्मजी भयंकर बाण-समूहोंकी वृष्टि करने लगे ॥ २८½ ॥

स चेदिकाशिपाञ्चालान् करूषान् मत्स्यकेकयान् ॥ २९ ॥
शरैः प्रच्छाद्य निधनमनयत् परमास्त्रवित्।

'वे उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता तो थे ही, उन्होंने पाण्डवपक्षके चेदि, काशी, पाञ्चाल, करूष, मत्स्य और केकयदेशीय योद्धाओंको अपने बाणोंसे आच्छादित करके मौतके मुखमें डाल दिया ॥ २९½ ॥

तस्य चापच्युतैर्बाणैः परदेहविदारणैः ॥ ३० ॥
पूर्णमाकाशमभवद् रुक्मपुङ्खैरजिह्मगैः।

'उनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंकी कायाको विदीर्ण कर देनेवाले थे, उनमें सोनेके पंख लगे थे और वे लक्ष्यकी ओर सीधे पहुँचते थे। उन बाणोंसे सम्पूर्ण आकाश भर गया ॥ ३०½ ॥

हन्याद् रथसहस्राणि एकैकेनैव मुष्टिना ॥ ३१ ॥
लक्षं नरद्विपान् हत्वा समेतान् समहाबलान् ।

'वे एक-एक मुट्ठी बाणसे ही युद्धस्थलमें एकत्र हुए लाखों महाबली पैदल मनुष्यों और हाथियोंका संहार करके सहस्रों रथियोंको मार सकते थे ॥ ३१½ ॥

गत्या दशम्या ते गत्वा जघ्नुर्वाजिरथद्विपान् ॥ ३२ ॥
हित्वा नवगतीर्दुष्टाः स बाणानाहवेऽत्यजत् ।

'भीष्मजी युद्धस्थलमें दोषयुक्त आविद्ध आदि नौ गतियोंको छोड़कर केवल दशवीं गतिसे बाण छोड़ते थे। वे बाण पाण्डवपक्षके घोड़ों, रथों और हाथियोंका संहार करने लगे ३२½

दिनानि दश भीष्मेण निघ्नता तावकं बलम् ॥ ३३ ॥
शून्याः कृता रथोपस्था हताश्च गजवाजिनः ।

'लगातार दस दिनोंतक तुम्हारी सेनाका विनाश करते हुए भीष्मजीने असंख्य रथोंकी बैठकें सूनी कर दीं, बहुत-से हाथी और घोड़े मार डाले ॥ ३३½ ॥

दर्शयित्वाऽऽत्मनो रूपं रुद्रोपेन्द्रसमं युधि ॥ ३४ ॥
पाण्डवानामनीकानि प्रगृह्यासौ व्यशातयत् ।

'उन्होंने रणभूमिमें भगवान् रुद्र और विष्णुके समान अपना भयंकर रूप दिखाकर पाण्डव-सेनाओंका बलपूर्वक विनाश कर डाला ॥ ३४½ ॥

विनिघ्नन् पृथिवीपालांश्चेदिपाञ्चालकेकयान् ॥ ३५ ॥
अदहत् पाण्डवीं सेनां रथाश्वगजसंकुलाम् ।
मज्जन्तमप्लवे मन्दमुज्जिहीर्षुः सुयोधनम् ॥ ३६ ॥

'मूर्ख दुर्योधन नौकारहित विपत्तिके सागरमें डूब रहा था; अतः भीष्मजी उसका उद्धार करना चाहते थे, उन्होंने चेदि, पाञ्चाल तथा केकयनरेशोंका वध करते हुए, रथ, घोड़ों और रथियोंसे भरी हुई पाण्डवसेनाको भस्म कर डाला ॥ ३५-३६ ॥

तथा चरन्तं समरे तपन्तमिव भास्करम् ।
पदातिकोटिसाहस्राः प्रवरायुधपाणयः ॥ ३७ ॥
न शेकुः सृंजया द्रष्टुं तथैवान्ये महीक्षितः ।
विचरन्तं तथा तं तु संग्रामे जितकाशिनम् ॥ ३८ ॥
सर्वोद्यमेन महता पाण्डवाः समभिद्रवन् ।

'कोटि सहस्र पैदल तथा हाथोंमें उत्तम आयुध धारण किये हुए सृंजय सैनिक और दूसरे नरेश सूर्यदेवके समान ताप देते और समराङ्गणमें विचरते हुए भीष्मकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके। उस समय संग्रामभूमिमें विचरते तथा विजयसे उल्लसित होते हुए भीष्मजीपर पाण्डवयोद्धा अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े वेगसे टूट पड़े ॥ ३७-३८½ ॥

स तु विद्राव्य समरे पाण्डवान् सृंजयानपि ॥ ३९ ॥
एक एव रणे भीष्म एकवीरत्वमागतः ।

'किंतु समराङ्गणमें भीष्मजी अकेले ही पाण्डवों और सृंजयोंको खदेड़कर युद्धमें अद्वितीय वीरके रूपमें विख्यात हुए ॥ ३९½ ॥

तं शिखण्डी समासाद्य त्वया गुप्तो महाव्रतम् ॥ ४० ॥
जघान पुरुषव्याघ्रं शरैः संनतपर्वभिः
स एष पतितः शेते शरतल्पे पितामहः ॥ ४१ ॥
त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्रं वृत्रः प्राप्येव वासवम् ।

'अर्जुन ! तुमसे सुरक्षित हुए शिखण्डीने महान् व्रतधारी पुरुषसिंह भीष्मजीपर चढ़ाई करके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन्हें मार गिराया, वे ही ये पितामह भीष्म तुम-जैसे पुरुषसिंहको विपक्षमें पाकर धराशायी हो शरशय्यापर सो रहे हैं। ठीक उसी तरह, जैसे वृत्रासुर इन्द्रसे टक्कर लेकर रणशय्यापर सो गया था ॥ ४०-४१½ ॥

द्रोणः पञ्चदिनान्युग्रो विधम्य रिपुवाहिनीम् ॥ ४२ ॥
कृत्वा व्यूहमभेद्यं च पातयित्वा महारथान् ।
जयद्रथस्य समरे कृत्वा रक्षां महारथः ॥ ४३ ॥
अन्तकप्रतिमश्चोग्रो रात्रियुद्धेऽदहत् प्रजाः ।

'तत्पश्चात् उग्रमूर्ति महारथी द्रोणाचार्य पाँच दिनोंतक अभेद्यव्यूहका निर्माण, शत्रुसेनाका विध्वंस, महारथियोंका विनाश तथा समराङ्गणमें जयद्रथकी रक्षा करनेके अनन्तर रात्रियुद्धमें यमराजके समान प्रजाको दग्ध करने लगे४२-४३½

दग्ध्वा योधाञ्छरैर्वीरो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥
धृष्टद्युम्नं समासाद्य स गतः परमां गतिम् ।

'प्रतापी भरद्वाजनन्दन वीर द्रोणाचार्य अपने बाणोंद्वारा शत्रुयोद्धाओंको दग्ध करके धृष्टद्युम्नसे भिड़कर परमगतिको प्राप्त हो गये ॥ ४४½ ॥

यदि वाद्य भवान् युद्धे सूतपुत्रमुखान् रथान् ॥ ४५ ॥
नावारयिष्यः संग्रामे न स्म द्रोणो व्यनङ्क्ष्यत ।

'उस समय यदि तुम युद्धस्थलमें सूतपुत्र आदि रथियोंको न रोकते तो रणभूमिमें द्रोणाचार्यका नाश नहीं होता॥४५½॥

भवता तु बलं सर्वं धार्तराष्ट्रस्य वारितम् ॥ ४६ ॥
ततो द्रोणो हतो युद्धे पार्षतेन धनंजय ।

'धनंजय ! तुमने दुर्योधनकी सारी सेनाको रोक रक्खा था; इसीलिये धृष्टद्युम्न संग्राममें द्रोणाचार्यका वध कर सके ॥ ४६½ ॥

एवं वा को रणे कुर्यात् त्वदन्यः क्षत्रियो युधि ॥ ४७ ॥
यादृशं ते कृतं पार्थ जयद्रथवधं प्रति ।

'पार्थ ! जयद्रथका वध करते समय युद्धमें तुमने जैसा पराक्रम किया था, वैसा तुम्हारे सिवा दूसरा कौन क्षत्रिय कर सकता है ? ॥ ४७½ ॥

निवार्य सेनां महतीं हत्वा शूरांश्च पार्थिवान् ॥ ४८ ॥
निहतः सैन्धवो राजा त्वयास्त्रबलतेजसा ।

'तुमने अपने अस्त्रोंके बल और तेजसे शूरवीर राजाओंका वध करके दुर्योधनकी विशाल सेनाको रोककर सिन्धुराज जयद्रथको मार गिराया ॥ ४८½ ॥

आश्चर्यं सिन्धुराजस्य वधं जानन्ति पार्थिवाः ॥ ४९ ॥
अनाश्चर्यं हि तत् त्वत्तस्त्वं हि पार्थ महारथः ।

'पार्थ ! सब राजा जानते हैं कि सिंधुराज जयद्रथका वध एक आश्चर्यभरी घटना है, किंतु तुमसे ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम असाधारण महारथी हो ॥ ४९½ ॥

त्वां हि प्राप्य रणे क्षत्रमेकाहादिति भारत ॥ ५० ॥
नश्यमानमहं युक्तं मन्येयमिति मे मतिः ।

'रणभूमिमें तुम्हें पाकर सारा क्षत्रियसमाज एक दिनमें नष्ट हो सकता है, ऐसा कहना मैं युक्तिसंगत मानता हूँ । मेरी तो ऐसी ही धारणा है ॥ ५०½ ॥

सेयं पार्थ चमूर्घोरा धार्तराष्ट्रस्य संयुगे ॥ ५१ ॥
हतसर्वस्ववीरा हि भीष्मद्रोणौ यदा हतौ ।

'कुन्तीनन्दन ! जब भीष्म और द्रोणाचार्य युद्धमें मार डाले गये, तभीसे मानो दुर्योधनकी इस भयंकर सेनाके सारे वीर मारे गये—इसका सर्वस्व नष्ट हो गया ॥ ५१½ ॥

शीर्णप्रवरयोधाद्य हतवाजिरथद्विपा ॥ ५२ ॥
हीना सूर्येन्दुनक्षत्रैर्द्यौरिवाभाति भारती ।

'इसके प्रधान-प्रधान योद्धा नष्ट हो गये । घोड़े, रथ और हाथी भी मार डाले गये । अब यह कौरवसेना सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रोंसे रहित आकाशके समान श्रीहीन जान पड़ती है ॥ ५२½ ॥

विध्वस्ता हि रणे पार्थ सेनेयं भीमविक्रम ॥ ५३ ॥
आसुरीव पुरा सेना शक्रस्येव पराक्रमैः ।

'भयंकर पराक्रमी पार्थ ! रणभूमिमें विध्वंसको प्राप्त हुई यह कौरवसेना पूर्वकालमें इन्द्रके पराक्रमसे नष्ट हुई असुरोंकी सेनाके समान प्रतीत होती है ॥ ५३½ ॥

तेषां हतावशिष्टास्तु सन्ति पञ्च महारथाः ॥ ५४ ॥
अश्वत्थामा कृतवर्मा कर्णो मद्राधिपः कृपः ।

'इन कौरवसैनिकोंमेंसे अश्वत्थामा, कृतवर्मा, कर्ण, शल्य और कृपाचार्य—ये पाँच प्रमुख महारथी मरनेसे बच गये हैं ॥ ५४½ ॥

तांस्त्वमद्य नरव्याघ्र हत्वा पञ्च महारथान् ॥ ५५ ॥
हतामित्रः प्रयच्छोर्वीं राज्ञे सद्वीपपत्तनाम् ।

'नरव्याघ्र ! आज इन पाँचों महारथियोंको मारकर तुम शत्रुहीन हो द्वीपों और नगरोंसहित यह सारी पृथ्वी राजा युधिष्ठिरको दे दो ॥ ५५½ ॥

साकाशजलपातालां सपर्वतमहावनाम् ॥ ५६ ॥
प्राप्नोत्वमितवीर्यश्रीरद्य पार्थो वसुन्धराम् ।

'अमित पराक्रम और कान्तिसे सम्पन्न कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आज आकाश, जल, पाताल, पर्वत और बड़े-बड़े वनोंसहित इस वसुधाको प्राप्त कर लें ॥ ५६½ ॥

एतां पुरा विष्णुरिव हत्वा दैतेयदानवान् ॥ ५७ ॥
प्रयच्छ मेदिनीं राज्ञे शक्रायेव हरिर्यथा ।

'जैसे पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने दैत्यों और दानवोंको मारकर यह त्रिलोकी इन्द्रको दे दी थी, उसी प्रकार तुम यह पृथ्वी राजा युधिष्ठिरको सौंप दो ॥ ५७½ ॥

अद्य मोदन्तु पञ्चाला निहतेष्वरिषु त्वया ।
विष्णुना निहतेष्वेव दानवेयेषु देवताः ॥ ५८ ॥

'जैसे भगवान् विष्णुके द्वारा दानवोंके मारे जानेपर देवता प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार आज तुम्हारे द्वारा शत्रुओं-का संहार हो जानेपर समस्त पाञ्चाल आनन्दित हो उठें ॥

यदि वा द्विपदां श्रेष्ठं द्रोणं मानयतो गुरुम् ।
अश्वत्थाम्नि कृपा तेऽस्ति कृपे वाचार्यगौरवात् ॥ ५९ ॥
अत्यन्तापचितान् बन्धून् मानयन् मातृबान्धवान् ।
कृतवर्माणमासाद्य न नेष्यसि यमक्षयम् ॥ ६० ॥
भ्रातरं मातुरासाद्य शल्यं मद्रजनाधिपम् ।
यदि त्वमरविन्दाक्ष दयावान् न जिघांससि ॥ ६१ ॥
इमं पापमतिं क्षुद्रमत्यन्तं पाण्डवान् प्रति ।
कर्णमद्य नरश्रेष्ठ जह्याः सुनिशितैः शरैः ॥ ६२ ॥

'कमलनयन नरश्रेष्ठ अर्जुन ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्य-का सम्मान करते हुए तुम्हारे हृदयमें यदि अश्वत्थामाके प्रति दया है, अथवा आचार्योचित गौरवके कारण कृपाचार्यके प्रति कृपाभाव है, यदि माता कुन्तीके अत्यन्त पूजनीय बन्धु-बान्धवोंके प्रति आदरका भाव रखते हुए तुम कृतवर्मापर आक्रमण करके उसे यमलोक भेजना नहीं चाहते तथा माता माद्रीके भाई, मद्रदेशीय जनताके अधिपति, राजा शल्यको भी तुम दयावश मारनेकी इच्छा नहीं रखते तो न सही, किंतु पाण्डवोंके प्रति सदा पापबुद्धि रखनेवाले इस अत्यन्त नीच कर्णको तो आज अपने पैने बाणोंसे मार ही डालो ॥ ५९-६२ ॥

एतत् ते सुकृतं कर्म नात्र किंचन युज्यते ।
वयमप्यनुजानीमो नात्र दोषोऽस्ति कश्चन ॥ ६३ ॥

'यह तुम्हारे लिये पुण्य कर्म होगा । इस विषयमें कोई विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । मैं भी तुम्हें इसके लिये आज्ञा देता हूँ, अतः इसमें कोई दोष नहीं है ॥ ६३ ॥

दहने यत् सपुत्राया निशि मातुस्तवानघ ।
द्यूतार्थे यच्च युष्मासु प्रावर्तत सुयोधनः ॥ ६४ ॥
तस्य सर्वस्य दुष्टात्मा कर्णो वै मूलमित्युत ।

'निष्पाप अर्जुन ! रात्रिके समय पुत्रसहित तुम्हारी माता कुन्तीको जला देने और तुम सब लोगोंके साथ जूआ खेलनेके कार्यमें जो दुर्योधनकी प्रवृत्ति हुई थी, उन सब षड्यन्त्रोंका मूल कारण यह दुष्टात्मा कर्ण ही था ॥ ६४½ ॥

कर्णाद्धि मन्यते त्राणं नित्यमेव सुयोधनः ॥ ६५ ॥
ततो मामपि संरब्धो निग्रहीतुं प्रचक्रमे ।

'दुर्योधनको सदासे ही यह विश्वास बना हुआ है कि कर्ण मेरी रक्षा कर लेगा; इसीलिये वह आवेशमें आकर मुझे भी कैद करनेकी तैयारी करने लगा था ॥ ६५½ ॥

स्थिरा बुद्धिर्नरेन्द्रस्य धार्तराष्ट्रस्य मानद ॥ ६६ ॥
कर्णः पार्थान् रणे सर्वान् विजेष्यति न संशयः ।

'मानद ! धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनका यह दृढ़ विचार है कि कर्ण रणभूमिमें कुन्तीके सभी पुत्रोंको निःसंदेह जीत लेगा ॥ ६६½ ॥

कर्णमाश्रित्य कौन्तेय धार्तराष्ट्रेण विग्रहः ॥ ६७ ॥
रोचितो भवता सार्धं जानतापि बलं तव ।

'कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे बलको जानते हुए भी दुर्योधनने कर्णका भरोसा करके ही तुम्हारे साथ युद्ध छेड़ना पसंद किया है ॥ ६७½ ॥

कर्णो हि भाषते नित्यमहं पार्थान् समागतान् ॥ ६८ ॥
वासुदेवं च दाशार्हं विजेष्यामि महारथम् ।

'कर्ण सदा ही यह कहता रहता है कि 'मैं युद्धमें एक साथ आये हुए समस्त कुन्तीपुत्रों तथा वसुदेवनन्दन महारथी श्रीकृष्णको भी जीत लूँगा' ॥ ६८½ ॥

प्रोत्साहयन् दुरात्मानं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ ६९ ॥
समितौ गर्जते कर्णस्तमद्य जहि भारत ।

'भारत ! अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले दुरात्मा दुर्योधनका उत्साह बढ़ाता हुआ कर्ण राजसभामें उपर्युक्त बातें कहकर गर्जता रहता है; इसलिये आज तुम उसे मार डालो ॥ ६९½ ॥

यच्च युष्मासु पापं वै धार्तराष्ट्रः प्रयुक्तवान् ॥ ७० ॥
तत्र सर्वत्र दुष्टात्मा कर्णः पापमतिर्मुखम् ।

'दुर्योधनने तुमलोगोंके साथ जो-जो पापपूर्ण बर्ताव किया है, उन सबमें पापबुद्धि दुष्टात्मा कर्ण ही प्रधान कारण है ॥ ७०½ ॥

यच्च तद् धार्तराष्ट्रस्य क्रूरैः षड्भिर्महारथैः ॥ ७१ ॥
अपश्यं निहतं वीरं सौभद्रमृषभेक्षणम् ।
द्रोणद्रौणिकृपान् वीरान् कर्षयन्तं नरर्षभान् ॥ ७२ ॥
निर्मनुष्यांश्च मातङ्गान् विरथांश्च महारथान् ।
व्यश्वारोहांश्च तुरगान् पत्तीन् व्यायुधजीविनः ॥ ७३ ॥
कुर्वन्तमृषभस्कन्धं कुरुवृष्णियशस्करम् ।
विधमन्तमनीकानि व्यथयन्तं महारथान् ॥ ७४ ॥
मनुष्यवाजिमातङ्गान् प्रहिण्वन्तं यमक्षयम् ।
शरैः सौभद्रमायान्तं दहन्तमिव वाहिनीम् ॥ ७५ ॥
तन्मे दहति गात्राणि सखे सत्येन ते शपे ।
यत् तत्रापि च दुष्टात्मा कर्णोऽभ्यद्रुह्यत प्रभो ॥ ७६ ॥

'सखे ! सुभद्राका वीरपुत्र अभिमन्यु साँड़के समान बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित तथा कुरुकुल एवं वृष्णिवंशके यशको बढ़ानेवाला था । उसके कंधे साँड़के कंधोंके समान मांसल थे । वह द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि नरश्रेष्ठ वीरोंको पीड़ा दे रहा था । हाथियोंको महावतों और सवारोंसे, महारथियोंको रथोंसे, घोड़ोंको सवारोंसे तथा पैदल सैनिकोंको अस्त्र-शस्त्र एवं जीवनसे वञ्चित कर रहा था । सेनाओंका विध्वंस और महारथियोंको व्यथित करके वह मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको यमलोक भेज रहा था । बाणोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध-सी करके आते हुए सुभद्राकुमारको जो दुर्योधनके छः क्रूर महारथियोंने मार डाला और उस अवस्थामें मारे गये अभिमन्युको जो मैंने अपनी आँखोंसे देखा, वह सब मेरे अङ्गोंको दग्ध किये देता है । प्रभो ! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि उसमें भी दुष्टात्मा कर्णका ही द्रोह काम कर रहा था ॥ ७१—७६ ॥

अशक्नुवंश्चाभिमन्योः कर्णः स्थातुं रणेऽग्रतः ।
सौभद्रशरनिर्भिन्नो विसंज्ञः शोणितोक्षितः ॥ ७७ ॥

'रणभूमिमें अभिमन्युके सामने खड़े होनेकी शक्ति कर्णमें नहीं रह गयी थी । वह सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो खूनसे लथपथ एवं अचेत हो गया था ॥ ७७ ॥

निःश्वसन् क्रोधसंदीप्तो विमुखः सायकार्दितः ।
अपयानकृतोत्साहो निराशश्चापि जीविते ॥ ७८ ॥

'वह क्रोधसे जलकर लंबी साँस खींचता हुआ अभिमन्युके बाणोंसे पीड़ित हो युद्धसे मुँह मोड़ चुका था । अब उसके मनमें भाग जानेका ही उत्साह था । वह जीवनसे निराश हो चुका था ॥ ७८ ॥

तस्थौ सुविह्वलः संख्ये प्रहारजनितश्रमः ।
अथ द्रोणस्य समरे तत्कालसदृशं तदा ॥ ७९ ॥
श्रुत्वा कर्णो वचः क्रूरं ततश्चिच्छेद कार्मुकम् ।

'युद्धस्थलमें प्रहारोंके कारण अधिक क्लान्त हो जानेसे वह व्याकुल होकर खड़ा रहा । तदनन्तर समराङ्गणमें द्रोणाचार्यका समयोचित क्रूर वचन सुनकर कर्णने अभिमन्युके धनुषको काट डाला ॥ ७९½ ॥

ततश्छिन्नायुधं तेन रणे पञ्च महारथाः ॥ ८० ॥
तं चैव निकृतिप्रज्ञाः प्राहरञ्छरवृष्टिभिः ।

'उसके द्वारा धनुष कट जानेपर रणभूमिमें शेष पाँच महारथी, जो शठतापूर्ण बर्ताव करनेमें प्रवीण थे, बाणोंकी वर्षाद्वारा अभिमन्युको घायल करने लगे ॥ ८०½ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे सर्वेषां दुःखमाविशत् ॥ ८१ ॥
प्राहसत् स तु दुष्टात्मा कर्णः स च सुयोधनः ।

'उस वीरके इस तरह मारे जानेपर प्रायः सभीको बड़ा दुःख हुआ । केवल दुष्टात्मा कर्ण और दुर्योधन ही जोर-जोरसे हँसे थे ॥ ८१½ ॥

यच्च कर्णोऽब्रवीत् कृष्णां सभायां परुषं वचः ॥ ८२ ॥
प्रमुखे पाण्डवेयानां कुरूणां च नृशंसवत् ।

'इसके सिवा, कर्णने भरी सभामें पाण्डवों और कौरवोंके सामने एक क्रूर मनुष्यकी भाँति द्रौपदीके प्रति इस तरह कठोर वचन कहे थे ॥ ८२½ ॥

विनष्टाः पाण्डवाः कृष्णे शाश्वतं नरकं गताः ॥ ८३ ॥
पतिमन्यं पृथुश्रोणि वृणीष्व मृदुभाषिणि ।
एषा त्वं धृतराष्ट्रस्य दासीभूता निवेशनम् ॥ ८४ ॥
प्रविशारालपक्ष्माक्षि न सन्ति पतयस्तव ।
न पाण्डवाः प्रभवन्ति तव कृष्णे कथञ्चन ॥ ८५ ॥

''कृष्णे ! पाण्डव तो नष्ट होकर सदाके लिये नरकमें पड़ गये। पृथुश्रोणि ! अब तू दूसरा पति वरण कर ले। मृदुभाषिणि ! आजसे तू राजा धृतराष्ट्रकी दासी हुई; अतः राजमहलमें प्रवेश कर। टेढ़ी बरौनियोंवाली कृष्णे ! पाण्डव अब तेरे पति नहीं रहे। वे तुझपर किसी तरह कोई अधिकार नहीं रखते॥ ८३-८५॥

दासभार्या च पाञ्चालि स्वयं दासी च शोभने।
अद्य दुर्योधनो ह्येकः पृथिव्यां नृपतिः स्मृतः॥ ८६॥

''सुन्दरी पाञ्चालराजकुमारी ! अब तू दासोंकी भार्या और स्वयं भी दासी है। आज एकमात्र राजा दुर्योधन समस्त भूमण्डलके स्वामी मान लिये गये हैं॥ ८६॥

सर्वे चास्य महीपाला योगक्षेममुपासते।
पश्येदानीं यथा भद्रे विनष्टाः पाण्डवाः समम्॥ ८७॥
अन्योन्यं समुदीक्षन्ते धार्तराष्ट्रस्य तेजसा।

''अन्य सब नरेश इन्हींके योग-क्षेममें लगे हुए हैं। भद्रे ! देख, इस समय पाण्डव दुर्योधनके तेजसे एक साथ ही नष्टप्राय होकर एक दूसरेका मुँह देख रहे हैं॥ ८७½॥

व्यक्तं षण्ढतिला ह्येते निरये च निमज्जिताः॥ ८८॥
प्रेष्यवच्चापि राजानमुपस्थास्यन्ति कौरवम्।

''निश्चय ही ये थोथे तिलोंके समान नपुंसक हैं और नरकमें डूब गये हैं। आजसे ये दासोंके समान कौरव-नरेशकी सेवामें उपस्थित होंगे'॥ ८८½॥

इत्युक्तवानधर्मज्ञस्तदा परमदुर्मतिः॥ ८९॥
पापः पापवचः कर्णः शृण्वतस्तव भारत।

'भारत ! उस समय अधर्मका ही ज्ञान रखनेवाले परम दुर्बुद्धि पापी कर्णने तुम्हारे सुनते हुए ऐसे-ऐसे पापपूर्ण वचन कहे थे॥ ८९½॥

अद्य पापस्य तद् वाक्यं सुवर्णविकृताः शराः॥ ९०॥
शमयन्तु शिलाधौतास्त्वयास्ता जीवितच्छिदः।

'आज तुम्हारे छोड़े हुए एवं शिलापर स्वच्छ किये हुए सुवर्णनिर्मित प्राणान्तकारी बाण पापी कर्णके उन वचनोंका उत्तर देते हुए उसे सदाके लिये शान्त कर दें॥ ९०½॥

यानि चान्यानि दुष्टात्मा पापानि कृतवांस्त्वयि॥ ९१॥
तान्यद्य जीवितं चास्य शमयन्तु शरास्तव।

'दुष्टात्मा कर्णने तुम्हारे प्रति और भी जो-जो पापपूर्ण बर्ताव किये हैं, उन सबको और इसके जीवनको भी आज तुम्हारे बाण नष्ट कर दें॥ ९१½॥

गाण्डीवप्रहितान् घोरानद्य गात्रैः स्पृशञ्छरान्॥ ९२॥
कर्णः स्मरतु दुष्टात्मा वचनं द्रोणभीष्मयोः।

'आज दुष्टात्मा कर्ण अपने अङ्गोंपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए भयङ्कर बाणोंकी चोट सहता हुआ द्रोणाचार्य और भीष्मके वचनोंको याद करे॥ ९२½॥

सुवर्णपुङ्खा नाराचाः शत्रुघ्ना वैद्युतप्रभाः॥ ९३॥
त्वयास्तास्तस्य वर्माणि भित्त्वा पास्यन्ति शोणितम्।

'बिजलीकी-सी प्रभा और सोनेके पङ्ख धारण करनेवाले तुम्हारे चलाये हुए शत्रुनाशक नाराच कवच छेदकर कर्णका रक्त पान करेंगे॥ ९३½॥

उग्रास्त्वद्भुजनिर्मुक्ता मर्म भित्त्वा महाशराः॥ ९४॥
अद्य कर्णं महावेगाः प्रेषयन्तु यमक्षयम्।

'आज तुम्हारे हाथोंसे छूटे हुए महान् वेगशाली, भयङ्कर एवं विशाल बाण कर्णका मर्मस्थल विदीर्ण करके उसे यमलोक भेज दें॥ ९४½॥

अद्य हाहाकृता दीना विषण्णास्त्वच्छरार्दिताः॥ ९५॥
प्रपतन्तं रथात् कर्णं पश्यन्तु वसुधाधिपाः।

'आज तुम्हारे बाणोंसे पीड़ित हुए भूमिपाल दीन और विषादयुक्त होकर हाहाकार मचाते हुए कर्णको रथसे नीचे गिरता देखें॥ ९५½॥

अद्य शोणितसम्मग्नं शयानं पतितं भुवि॥ ९६॥
अपविद्धायुधं कर्णं दीनाः पश्यन्तु बान्धवाः।

'आज कर्ण रक्तमें डूबकर पृथ्वीपर पड़ा सो रहा हो और उसके आयुध इधर-उधर फेंके पड़े हों। इस अवस्थामें उसके बन्धु-बान्धव दीन-दुखी होकर उसे देखें॥ ९६½॥

हस्तिकक्ष्यो महानस्य भल्लेनोन्मथितस्त्वया।
प्रकम्पमानः पततु भूमावाधिरथेर्ध्वजः॥ ९७॥

'आज हाथीके रस्सेके चिह्नसे युक्त अधिरथपुत्र कर्णका विशाल ध्वज तुम्हारे भल्लसे कटकर काँपता हुआ इस पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ९७॥

त्वया शरशतैश्छिन्नं रथं हेमविभूषितम्।
हतयोधाश्वमुत्सृज्य भीतः शल्यः पलायताम्॥ ९८॥

'आज राजा शल्य भी तुम्हारे सैकड़ों बाणोंसे छिन्न-भिन्न उस सुवर्णविभूषित रथको, जिसके रथी और घोड़े मार डाले गये हों, छोड़कर भयभीत हो भाग जायँ॥ ९८॥

त्वं चेत् कर्णसुतं पार्थ सूतपुत्रस्य पश्यतः।
प्रतिज्ञावारणार्थाय निहनिष्यसि सायकैः॥ ९९॥
हतं कर्णस्तु तं दृष्ट्वा प्रियं पुत्रं दुरात्मवान्।
स्मरतां द्रोणभीष्माभ्यां वचः क्षत्तुश्च मानद॥१००॥

'माननीय पुरुषोंको मान देनेवाले पार्थ ! यदि तुम सूतपुत्र कर्णके देखते-देखते अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये उसके पुत्र वृषसेनको बाणोंद्वारा मार डालो तो अपने प्रिय पुत्रको मारा गया देख वह दुरात्मा कर्ण द्रोणाचार्य, भीष्म और विदुरजीकी कही हुई बातोंको याद करे॥ ९९-१००॥

ततः सुयोधनो दृष्ट्वा हतमाधिरथिं त्वया।
निराशो जीविते त्वद्य राज्ये चैव भवत्वरिः॥१०१॥

'तत्पश्चात् आज तुम्हारे द्वारा अधिरथपुत्र कर्णको मारा गया देख तुम्हारा शत्रु दुर्योधन अपने जीवन और राज्य दोनोंसे निराश हो जाय॥ १०१॥

एते द्रवन्ति पञ्चाला वध्यमानाः शितैः शरैः।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ पाण्डवानुज्जिहीर्षवः॥१०२॥

'भरतश्रेष्ठ ! कर्णके तीखे बाणोंकी मार खाते हुए भी ये पाञ्चालवीर पाण्डव-सैनिकोंका उद्धार करनेकी इच्छासे (कर्णकी ओर ही) दौड़े जा रहे हैं ॥ १०२ ॥

पञ्चालान् द्रौपदेयांश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ।
धृष्टद्युम्नतनूजांश्च शतानीकं च नाकुलिम् ॥१०३॥
नकुलं सहदेवं च दुर्मुखं जनमेजयम् ।
सुधर्माणं सात्यकिं च विद्धि कर्णवशं गतान् ॥ १०४॥

'अर्जुन ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि पाञ्चालयोद्धा, द्रौपदीके पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, धृष्टद्युम्नके पुत्रगण, नकुलकुमार शतानीक, नकुल-सहदेव, दुर्मुख, जनमेजय, सुधर्मा और सात्यकि—ये सब-के-सब कर्णके वशमें पड़ गये हैं ॥ १०३-१०४ ॥

अभ्याहतानां कर्णेन पञ्चालानामसौ रणे ।
श्रूयते निनदो घोरस्त्वद्बन्धूनां परंतप ॥१०५॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन ! देखो, कर्णके द्वारा घायल हुए तुम्हारे बान्धव पाञ्चालोंका वह घोर आर्तनाद रणभूमिमें स्पष्ट सुनायी दे रहा है ॥ १०५ ॥

न त्वेव भीताः पञ्चालाः कथंचित् स्युः पराङ्मुखाः ।
न हि मृत्युं महेष्वासा गणयन्ति महारणे ॥१०६॥

'पाञ्चाल योद्धा किसी तरह भयभीत होकर युद्धसे विमुख नहीं हो सकते । वे महाधनुर्धर वीर महासमरमें मृत्युको कुछ नहीं गिनते हैं ॥ १०६ ॥

य एकः पाण्डवीं सेनां शरौघैः समवेष्टयत् ।
तं समासाद्य पञ्चाला भीष्मं नासन् पराङ्मुखाः ॥१०७॥
ते कथं कर्णमासाद्य विद्रवेयुर्महारथाः ।

'जो सारी पाण्डवसेनाको अकेले ही अपने बाणसमूहों-द्वारा लपेट लेते थे, उन भीष्मजीका सामना करके भी पाञ्चालयोद्धा कभी युद्धसे मुँह मोड़कर नहीं भागे । वे ही महारथी वीर कर्णको सामने पाकर कैसे भाग सकते हैं ? ॥

यस्त्वेकः सर्वपञ्चालानहन्यहनि नाशयन् ॥१०८॥
कालवच्चरते वीरः पञ्चालानां रथव्रजे ।
तमप्यासाद्य समरे मित्रार्थे मित्रवत्सल ॥१०९॥
तथा ज्वलन्तमस्त्राग्निं गुरुं सर्वधनुष्मताम् ।
निर्दहन्तं च समरे दुर्धर्षं द्रोणमोजसा ॥११०॥
ते नित्यमुदिता जेतुं मृधे शत्रूनरिंदम ।
न जात्वाधिरथेर्भीताः पञ्चालाः स्युः पराङ्मुखाः॥१११॥

'मित्रवत्सल ! जो वीर द्रोणाचार्य प्रतिदिन अकेले ही सम्पूर्ण पाञ्चालोंका विनाश करते हुए पाञ्चालोंकी रथसेनामें कालके समान विचरते थे, अस्त्रोंकी आगसे प्रज्वलित होते थे, सम्पूर्ण धनुर्धरोंके गुरु थे और समराङ्गणमें शत्रुसेनाको दग्ध किये देते थे, अपने बल और पराक्रमसे दुर्धर्ष उन द्रोणाचार्यको भी संग्राममें सामने पाकर वे पाञ्चाल अपने मित्र पाण्डवोंके लिये सदा डटकर युद्ध करते रहे । शत्रुदमन अर्जुन ! पाञ्चाल सैनिक युद्धमें सदा शत्रुओंको जीतनेके लिये उद्यत रहते हैं । वे सूतपुत्र कर्णसे भयभीत हो कभी युद्धसे मुँह नहीं मोड़ सकते ॥ १०८—१११ ॥

तेषामापततां शूरः पञ्चालानां तरस्विनाम् ।
आदत्तासून्शरैः कर्णः पतङ्गानामिवानलः ॥११२॥

'जैसे आग अपने पास आये हुए पतङ्गोंके प्राण ले लेती है, उसी प्रकार शूरवीर कर्ण बाणोंद्वारा अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले वेगशाली पाञ्चालोंके प्राण ले रहा है ॥ ११२ ॥

एते द्रवन्ति पञ्चाला द्राव्यन्ते योधिभिर्ध्रुवम् ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ पश्य पश्य तथाकृतान् ॥११३॥

'भरतश्रेष्ठ ! देखो, ये पाञ्चालयोद्धा दौड़ रहे हैं । निश्चय ही कर्ण और दूसरे-दूसरे योद्धा उन्हें दौड़ा रहे हैं । देखो, वे कैसी बुरी अवस्थामें पड़ गये हैं ! ॥ ११३ ॥

तांस्तथाभिमुखान् वीरान् मित्रार्थे त्यक्तजीवितान् ।
क्षयं नयति राधेयः पञ्चालाञ्छतशो रणे ॥११४॥

'जो अपने मित्रके लिये प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुके सामने खड़े होकर जूझ रहे हैं, उन सैकड़ों पाञ्चालवीरोंको कर्ण रणभूमिमें नष्ट कर रहा है ॥ ११४ ॥

तद् भारत महेष्वासानगाधे मज्जतोऽप्लवे ।
कर्णार्णवे प्लवो भूत्वा पञ्चालांस्त्रातुमर्हसि ॥११५॥

'भारत ! कर्णरूपी अगाध महासागरमें महाधनुर्धर पाञ्चाल बिना नावके डूब रहे हैं । तुम नौका बनकर उनका उद्धार करो ॥ ११५ ॥

अस्त्रं हि रामात् कर्णेन भार्गवादृषिसत्तमात् ।
यदुपात्तं महाघोरं तस्य रूपमुदीर्यते ॥११६॥

'कर्णने मुनिश्रेष्ठ भृगुनन्दन परशुरामजीसे जो महाघोर अस्त्र प्राप्त किया है, उसीका रूप इस समय प्रकट हो रहा है ॥

तापनं सर्वसैन्यानां घोररूपं सुदारुणम् ।
समावृत्य महासेनां ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ॥११७॥

'यह अत्यन्त भयंकर एवं घोर भार्गवास्त्र पाण्डवोंकी विशाल सेनाको आच्छादित करके अपने तेजसे प्रज्वलित हो सम्पूर्ण सैनिकोंको संतप्त कर रहा है ॥ ११७ ॥

एते चरन्ति संग्रामे कर्णचापच्युताः शराः ।
भ्रमराणामिव व्रातास्तापयन्ति स्म तावकान् ॥११८॥

'ये संग्राममें कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाण भ्रमरोंके समूहोंकी भाँति चलते और तुम्हारे योद्धाओंको संतप्त करते हैं ॥ ११८ ॥

एते द्रवन्ति पञ्चाला दिक्षु सर्वासु भारत ।
कर्णास्त्रं समरे प्राप्य दुर्निवार्यमनात्मभिः ॥११९॥

'भरतनन्दन ! जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर रक्खा है, उनके लिये कर्णके अस्त्रको रोकना अत्यन्त कठिन है । समराङ्गणमें इसकी चोट खाकर ये पाञ्चालसैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग रहे हैं ॥ ११९ ॥

एष भीमो दृढक्रोधो वृतः पार्थ समन्ततः ।
सृञ्जयैर्योधयन् कर्णं पीड्यते निशितैः शरैः ॥१२०॥

'पार्थ ! दृढ़तापूर्वक क्रोधको धारण करनेवाले ये भीमसेन सब ओरसे सृञ्जयोंद्वारा घिरकर कर्णके साथ युद्ध करते हुए उसके पैने बाणोंसे पीड़ित हो रहे हैं ॥ १२० ॥

पाण्डवान् सृञ्जयांश्चैव पञ्चालांश्चैव भारत ।
हन्यादुपेक्षितः कर्णो रोगो देहमिवागतः ॥१२१॥

'भारत ! जैसे प्राप्त हुए रोगकी चिकित्सा न की गयी तो वह शरीरको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यदि कर्णकी उपेक्षा की गयी तो वह पाण्डवों, सृञ्जयों और पाञ्चालोंका भी नाश कर सकता है ॥ १२१ ॥

नान्यं त्वत्तो हि पश्यामि योधं यौधिष्ठिरे बले ।
यः समासाद्य राधेयं स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥१२२॥

'युधिष्ठिरकी सेनामें मैं तुम्हारे सिवा दूसरे किसी योद्धाको ऐसा नहीं देखता, जो राधापुत्र कर्णका सामना करके कुशलपूर्वक घर लौट सके ॥ १२२ ॥

तमद्य निशितैर्बाणैर्विनिहत्य नरर्षभ ।
यथाप्रतिज्ञं पार्थ त्वं कृत्वा कीर्तिमवाप्नुहि ॥१२३॥

'नरश्रेष्ठ ! पार्थ ! आज तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तीखे बाणोंसे कर्णका वध करके उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करो ॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं सकर्णानपि कौरवान् ।
नान्यो युधि युधां श्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२४॥

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ ! केवल तुम्हीं संग्राममें कर्णसहित सम्पूर्ण कौरवोंको जीत सकते हो, दूसरा कोई नहीं । यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ १२४ ॥

एतत् कृत्वा महत् कर्म हत्वा कर्णं महारथम् ।
कृतार्थः सफलः पार्थ सुखी भव नरोत्तम ॥१२५॥

'पुरुषोत्तम पार्थ ! अतः महारथी कर्णको मारकर यह महान् कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् तुम कृतकृत्य, सफल-मनोरथ एवं सुखी हो जाओ' ॥ १२५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके वीरोचित उद्गार

संजय उवाच

स केशवस्य बीभत्सुः श्रुत्वा भारत भाषितम् ।
विशोकः सम्प्रहृष्टश्च क्षणेन समपद्यत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं— भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णका यह भाषण सुनकर अर्जुन एक ही क्षणमें शोकरहित एवं हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न हो गये ॥ १ ॥

ततो ज्यामभिमृज्याशु व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः।
दध्रे कर्णविनाशाय केशवं चाभ्यभाषत ॥ २ ॥

तत्पश्चात् धनुषकी प्रत्यञ्चाको साफ करके उन्होंने शीघ्र ही गाण्डीवधनुषकी टङ्कार की और कर्णके विनाशका दृढ़ निश्चय कर लिया । फिर वे भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

त्वया नाथेन गोविन्द ध्रुव एव जयो मम ।
प्रसन्नो यस्य मेऽद्य त्वं लोके भूतभविष्यकृत् ॥ ३ ॥

'गोविन्द ! जब आप मेरे स्वामी और संरक्षक हैं, तब युद्धमें मेरी विजय निश्चित ही है । संसारके भूत और भविष्यका निर्माण करनेवाले आप ही हैं । जिसके ऊपर आप प्रसन्न हैं, उसकी (अर्थात् मेरी) विजयमें आज क्या संदेह है ॥

त्वत्सहायो ह्यहं कृष्ण त्रीँल्लोकान् वै समागतान् ।
प्रापयेयं परं लोकं किमु कर्णं महाहवे ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! आपकी सहायता मिलनेपर तो मैं युद्धके लिये सामने आये हुए तीनों लोकोंको भी परलोकका पथिक बना सकता हूँ, फिर इस महासमरमें कर्णको जीतना कौन बड़ी बात है ? ॥ ४ ॥

पश्यामि द्रवतीं सेनां पञ्चालानां जनार्दन ।
पश्यामि कर्णं समरे विचरन्तमभीतवत् ॥ ५ ॥

'जनार्दन ! मैं समरभूमिमें निर्भयसे विचरते हुए कर्णको और भागती हुई पाञ्चालोंकी सेनाको भी देख रहा हूँ ॥ ५ ॥

भार्गवास्त्रं च पश्यामि ज्वलन्तं कृष्ण सर्वशः ।
सृष्टं कर्णेन वार्ष्णेय शक्रेणेव यथाशनिम् ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्ण ! वार्ष्णेय ! सब ओरसे प्रज्वलित होनेवाले भार्गवास्त्रपर भी मेरी दृष्टि है, जिसे कर्णने उसी तरह प्रकट किया है, जैसे इन्द्र वज्रका प्रयोग करते हैं ॥ ६ ॥

अयं खलु स संग्रामो यत्र कर्णं मया हतम् ।
कथयिष्यन्ति भूतानि यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥ ७ ॥

'निश्चय ही यह वह संग्राम है, जहाँ कर्ण मेरे हाथसे मारा जायगा और जबतक यह पृथ्वी विद्यमान रहेगी, तबतक समस्त प्राणी इसकी चर्चा करेंगे ॥ ७ ॥

अद्य कृष्ण विकर्णा मे कर्णं नेष्यन्ति मृत्यवे ।
गाण्डीवमुक्ताः क्षिण्वन्तो मम हस्तप्रचोदिताः ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्ण ! आज मेरे हाथसे प्रेरित और गाण्डीव धनुषसे मुक्त हुए विकर्ण नामक बाण कर्णको क्षत-विक्षत करते हुए उसे यमलोक पहुँचा देंगे ॥ ८ ॥

अद्य राजा धृतराष्ट्रः स्वां बुद्धिमवमंस्यते ।
दुर्योधनमराज्यार्हं यया राज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ९ ॥

'आज राजा धृतराष्ट्र अपनी उस बुद्धिका अनादर करेंगे, जिसके द्वारा उन्होंने राज्यके अनधिकारी दुर्योधनको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया था ॥ ९ ॥

अद्य राज्यात् सुखाच्चैव श्रियो राष्ट्रात् तथा पुरात् ।
पुत्रेभ्यश्च महाबाहो धृतराष्ट्रो विमोक्ष्यति ॥ १० ॥

'महाबाहो ! आज धृतराष्ट्र अपने राज्यसे, सुखसे, लक्ष्मीसे, राष्ट्रसे, नगरसे और अपने पुत्रोंसे भी बिछुड़ जायँगे ॥

गुणवन्तं हि यो द्वेष्टि निर्गुणं कुरुते प्रभुम् ।
स शोचति नृपः कृष्ण क्षिप्रमेवागते क्षये ॥ ११ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो गुणवान्से द्वेष करता और गुणहीन-को राजा बनाता है, वह नरेश विनाशकाल उपस्थित होनेपर शोकमग्न हो पश्चात्ताप करता है ॥ ११ ॥

यथा च पुरुषः कश्चिच्छित्त्वा चाम्रवणं महत् ।
फलं दृष्ट्वा भृशं दुःखी भविष्यति जनार्दन ।
सूतपुत्रे हते त्वद्य निराशो भविता प्रभुः ॥ १२ ॥

'जनार्दन ! जैसे कोई पुरुष आमके विशाल वनको काटकर उसके दुष्परिणामको उपस्थित देख अत्यन्त दुखी हो जाता है, उसी प्रकार आज सूतपुत्रके मारे जानेपर राजा दुर्योधन निराश हो जायगा ॥ १२ ॥

अद्य दुर्योधनो राज्याज्जीविताच्च निराशकः ।
भविष्यति हते कर्णे कृष्ण सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ । आज कर्णका वध हो जानेपर दुर्योधन अपने राज्य और जीवन दोनोंसे निराश हो जायगा ॥ १३ ॥

अद्य दृष्ट्वा मया कर्णं शरैर्विशकलीकृतम् ।
स्मरतां तव वाक्यानि शमं प्रति जनेश्वरः ॥ १४ ॥

'आज मेरे बाणोंसे कर्णके शरीरको टूक-टूक हुआ देखकर राजा दुर्योधन सन्धिके लिये कहे हुए आपके वचनोंका स्मरण करे ॥ १४ ॥

अद्यासौ सौबलः कृष्ण ग्लहाञ्जानातु वै शरान् ।
दुरोदरं च गाण्डीवं मण्डलं च रथं प्रति ॥ १५ ॥

'श्रीकृष्ण ! आज सुबलपुत्र जुआरी शकुनिको यह मालूम हो जाय कि मेरे बाण ही दाँव हैं, गाण्डीव धनुष ही पासा है और मेरा रथ ही मण्डल (चौपड़के खाने) है ॥

अद्य कुन्तीसुतस्याहं दृढं राज्ञः प्रजागरम् ।
व्यपनेष्यामि गोविन्द हत्वा कर्णं शितैः शरैः ॥ १६ ॥

'गोविन्द ! आज मैं अपने पैने बाणोंसे कर्णको मारकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके चिन्ताजनित जागरणके स्थायी रोगको दूर कर दूँगा ॥ १६ ॥

अद्य कुन्तीसुतो राजा हते सूतसुते मया ।
सुप्रहृष्टमनाः प्रीतश्चिरं सुखमवाप्स्यति ॥ १७ ॥

'आज कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर मेरेद्वारा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर प्रसन्नचित्त हो दीर्घकालके लिये संतुष्ट एवं सुखी हो जायँगे ॥ १७ ॥

अद्य चाहमनाधृष्यं केशवाप्रतिमं शरम् ।
उत्स्रक्ष्यामीह यः कर्णं जीविताद् भ्रंशयिष्यति ॥ १८ ॥

'आज मैं ऐसा अनुपम और अजेय बाण छोड़ूँगा, जो कर्णको उसके प्राणोंसे वञ्चित कर देगा ॥ १८ ॥

यस्य चैतद् व्रतं मह्यं वधे किल दुरात्मनः ।
पादौ नधावये तावद् यावद्धन्यां न फाल्गुनम् ॥ १९ ॥
मृषा कृत्वा व्रतं तस्य पापस्य मधुसूदन ।
पातयिष्ये रथात् कायं शरैः संनतपर्वभिः ॥ २० ॥

'मधुसूदन ! जिस दुरात्माने मेरे वधके लिये यह व्रत लिया है कि जबतक अर्जुनको मार न लूँगा, तबतक दूसरों-से पैर न धुलाऊँगा । उस पापीके इस व्रतको मिथ्या करके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसके इस शरीरको रथसे नीचे गिरा दूँगा ॥ १९-२० ॥

योऽसौ रणे नरं नान्यं पृथिव्यामनुमन्यते ।
तस्याद्य सूतपुत्रस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥

'जो भूमण्डलमें दूसरे किसी पुरुषको रणभूमिमें अपने समान नहीं मानता है, आज यह पृथ्वी उस सूतपुत्रके रक्त-का पान करेगी ॥ २१ ॥

अपतिर्ह्यसि कृष्णेति सूतपुत्रो यदब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रमते कर्णः श्लाघमानः स्वकान् गुणान् ॥ २२ ॥
अनृतं तत् करिष्यन्ति मामका निशिताः शराः ।
आशीविषा इव क्रुद्धास्तस्य पास्यन्ति शोणितम् ॥ २३ ॥

'सूतपुत्र कर्णने धृतराष्ट्रके मतमें होकर अपने गुणोंकी प्रशंसा करते हुए जो द्रौपदीसे यह कहा था कि 'कृष्णे ! तू पतिहीन है' उसके इस कथनको मेरे तीखे बाण असत्य कर दिखायेंगे और क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान उसके रक्तका पान करेंगे ॥ २२-२३ ॥

मया हस्तवता मुक्ता नाराचा वैद्युतत्विषः ।
गाण्डीवसृष्टा दास्यन्ति कर्णस्य परमां गतिम् ॥ २४ ॥

'मैं बाण चलानेमें सिद्धहस्त हूँ । मेरेद्वारा गाण्डीव धनुषसे छोड़े गये बिजलीके समान चमकते हुए नाराच कर्णको परम गति प्रदान करेंगे ॥ २४ ॥

अद्य तप्स्यति राधेयः पाञ्चालीं यत्तदाब्रवीत् ।
सभामध्ये वचः क्रूरं कुत्सयन् पाण्डवान् प्रति ॥ २५ ॥

'राधापुत्र कर्णने भरी सभामें पाण्डवोंकी निन्दा करते हुए द्रौपदीसे जो क्रूरतापूर्ण वचन कहा था, उसके लिये उसे बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ २५ ॥

ये वै षण्ढतिलास्तत्र भवितारोऽद्य ते तिलाः ।
हते वैकर्तने कर्णे सूतपुत्रे दुरात्मनि ॥ २६ ॥

'जो पाण्डव वहाँ थोथे तिलोंके समान नपुंसक कहे गये थे, वे दुरात्मा सूतपुत्र वैकर्तन कर्णके मारे जानेपर आज अच्छे तिल और शूरवीर सिद्ध होंगे ॥ २६ ॥

अहं वः पाण्डुपुत्रेभ्यस्त्रास्यामीति यदब्रवीत्।
धृतराष्ट्रसुतान् कर्णः श्लाघमानोऽऽत्मनो गुणान्॥ २७॥
अनृतं तत् करिष्यन्ति मामका निशिताः शराः।
उद्योगः पाण्डुपुत्राणां समाप्तिमुपयास्यति॥ २८॥

'अपने गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सूतपुत्र कर्णने धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे जो यह कहा था कि 'मैं पाण्डवोंसे तुम्हारी रक्षा करूँगा' उसके इस कथनको मेरे तीखे बाण असत्य कर देंगे और पाण्डवोंका युद्धविषयक उद्योग समाप्त हो जायगा॥ २७-२८॥

हन्ताहं पाण्डवान् सर्वान् सपुत्रानिति योऽब्रवीत्।
तमद्य कर्णं हन्तास्मि मिषतां सर्वधन्विनाम्॥ २९॥

'जिसने यह कहा था कि मैं 'पुत्रोंसहित समस्त पाण्डवोंको मार डालूँगा' उस कर्णको आज समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं नष्ट कर दूँगा॥ २९॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्रो महामनाः।
अवामन्यत दुर्बुद्धिर्नित्यमस्मान् दुरात्मवान्॥ ३०॥
हत्वाहं कर्णमाजौ हि तोषयिष्यामि भ्रातरम्।

'जिसके बल-पराक्रमका भरोसा करके महामनस्वी दुर्बुद्धि एवं दुरात्मा दुर्योधन सदा हमलोगोंका अपमान करता आया है, उस कर्णका आज युद्धस्थलमें वध करके मैं अपने भाई युधिष्ठिरको संतुष्ट करूँगा॥ ३०½॥

शरान् नानाविधान् मुक्त्वा त्रासयिष्यामि शात्रवान्।
आकर्णमुक्तैरिषुभिर्यमराष्ट्रविवर्धनैः॥ ३१॥
भूमिशोभां करिष्यामि पातितै रथकुञ्जरैः।

'नाना प्रकारके बाणोंका प्रहार करके मैं शत्रुसैनिकोंको भयभीत कर दूँगा। धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये यमराष्ट्रवर्धक बाणोंद्वारा धराशायी किये गये रथों और हाथियोंसे रणभूमिकी शोभा बढ़ाऊँगा॥ ३१½॥

तत्राहं वै महासंख्ये संपन्नं युद्धदुर्मदम्॥ ३२॥
अद्य कर्णमहं घोरं सूदयिष्यामि सायकैः।

'मैं महासमरमें शक्तिसम्पन्न रणदुर्मद एवं भयंकर कर्णको आज अपने बाणोंद्वारा मार डालूँगा॥ ३२½॥

अद्य कर्णे हते कृष्ण धार्तराष्ट्राः सराजकाः॥ ३३॥
विद्रवन्तु दिशो भीताः सिंहत्रस्ता मृगा इव।

'श्रीकृष्ण! आज कर्णके मारे जानेपर राजासहित धृतराष्ट्रके सभी पुत्र सिंहसे डरे हुए मृगोंके समान भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग जायँ॥ ३३½॥

अद्य दुर्योधनो राजा आत्मानं चानुशोचताम्॥ ३४॥
हते कर्णे मया संख्ये सपुत्रे ससुहृज्जने।

'आज युद्धस्थलमें पुत्रों और सुहृदोंसहित कर्णके मेरे द्वारा मारे जानेपर राजा दुर्योधन अपने लिये निरन्तर शोक करे॥

अद्य कर्णं हतं दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः॥ ३५॥
जानातु मां रणे कृष्ण प्रवरं सर्वधन्विनाम्।

'श्रीकृष्ण! अमर्षशील दुर्योधन आज कर्णको रणभूमिमें मारा गया देख मुझे सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ समझ ले॥

सपुत्रपौत्रं सामात्यं सभृत्यं च निराशिषम्॥ ३६॥
अद्य राज्ये करिष्यामि धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।

'मैं आज ही पुत्र, पौत्र, मन्त्री और सेवकोंसहित राजा धृतराष्ट्रको राज्यकी ओरसे निराश कर दूँगा॥ ३६½॥

अद्य कर्णस्य चक्राङ्गाः क्रव्यादाश्च पृथग्विधाः॥ ३७॥
शरैश्छिन्नानि गात्राणि विहरिष्यन्ति केशव।

'केशव! आज चक्रवाक तथा भिन्न-भिन्न मांसभोजी पक्षी बाणोंसे कटे हुए कर्णके अङ्गोंको उठा ले जायँगे॥

अद्य राधासुतस्याहं संग्रामे मधुसूदन॥ ३८॥
शिरश्छेत्स्यामि कर्णस्य मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'मधुसूदन! आज संग्राममें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं राधापुत्र कर्णका मस्तक काट डालूँगा॥ ३८½॥

अद्य तीक्ष्णैर्विपाठैश्च क्षुरैश्च मधुसूदन॥ ३९॥
रणे छेत्स्यामि गात्राणि राधेयस्य दुरात्मनः।

'श्रीकृष्ण! आज तीखे विपाठों और क्षुरोंसे रणभूमिमें दुरात्मा राधापुत्रके अङ्गोंको काट डालूँगा॥ ३९½॥

अद्य राजा महत् कृच्छ्रं संत्यक्ष्यति युधिष्ठिरः॥ ४०॥
संतापं मानसं वीरश्चिरसम्भृतमात्मनः।

'आज वीर राजा युधिष्ठिर महान् कष्ट और अपने चिर-संचित मानसिक संतापसे छुटकारा पा जायँगे॥ ४०½॥

अद्य केशव राधेयमहं हत्वा सबान्धवम्॥ ४१॥
नन्दयिष्यामि राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।

'केशव! आज मैं बन्धु-बान्धवोंसहित राधापुत्रको मारकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको आनन्दित करूँगा॥४१½॥

अद्याहमनुगान् कृष्ण कर्णस्य कृपणान् युधि॥ ४२॥
हन्ता ज्वलनसंकाशैः शरैः सर्पविषोपमैः।

'श्रीकृष्ण! आज मैं युद्धस्थलमें कर्णके पीछे चलनेवाले दीन-हीन सैनिकोंको सर्पविष और अग्निके समान बाणोंद्वारा भस्म कर डालूँगा॥ ४२½॥

अद्याहं हेमकवचैराबद्धमणिकुण्डलैः॥ ४३॥
संस्तरिष्यामि गोविन्द वसुधां वसुधाधिपैः।

'गोविन्द! आज मैं सुवर्णमय कवच और मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले भूपतियोंकी लाशोंसे रणभूमिको पाट दूँगा॥ ४३½॥

अद्याभिमन्योः शत्रूणां सर्वेषां मधुसूदन॥ ४४॥
प्रमथिष्यामि गात्राणि शिरांसि च शितैः शरैः।

'मधुसूदन! आज पैने बाणोंसे मैं अभिमन्युके समस्त शत्रुओंके शरीरों और मस्तकोंको मथ डालूँगा॥ ४४½॥

अद्य निर्धार्तराष्ट्रां च भ्रात्रे दास्यामि मेदिनीम्॥४५॥
निरर्जुनां वा पृथिवीं केशवानुचरिष्यसि।

'केशव! या तो आज इस पृथ्वीको धृतराष्ट्रपुत्रोंसे

सूनी करके अपने भाईके अधिकारमें दे दूँगा या आप अर्जुनरहित पृथ्वीपर विचरेंगे ॥ ४५½ ॥

अद्याहमनृणः कृष्ण भविष्यामि धनुर्भृताम् ॥ ४६ ॥
कोपस्य च कुरूणां च शराणां गाण्डिवस्य च ।

'श्रीकृष्ण ! आज मैं सम्पूर्ण धनुर्धरोंके, क्रोधके, कौरवोंके, बाणोंके तथा गाण्डीव धनुषके भी ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा ॥

अद्य दुःखमहं मोक्ष्ये त्रयोदशसमार्जितम् ॥ ४७ ॥
हत्वा कर्णं रणे कृष्ण शम्बरं मघवानिव ।

'श्रीकृष्ण ! जैसे इन्द्रने शम्बरासुरका वध किया था, उसी प्रकार मैं रणभूमिमें कर्णको मारकर आज तेरह वर्षोंसे संचित किये हुए दुःखका परित्याग कर दूँगा ॥ ४७½ ॥

अद्य कर्णे हते युद्धे सोमकानां महारथाः ॥ ४८ ॥
कृतं कार्यं च मन्यन्तां मित्रकार्येप्सवो युधि ।

'आज युद्धमें कर्णके मारे जानेपर मित्रके कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले सोमकवंशी महारथी अपनेको कृतकार्य समझ लें ॥

न जाने च कथं प्रीतिः शैनेयस्याद्य माधव ॥ ४९ ॥
भविष्यति हते कर्णे मयि चापि जयाधिके ।

'माधव ! आज कर्णके मारे जाने और विजयके कारण मेरी प्रतिष्ठा बढ़ जानेपर न जाने शिनिपौत्र सात्यकिको कितनी प्रसन्नता होगी ? ॥ ४९½ ॥

अहं हत्वा रणे कर्णं पुत्रं चास्य महारथम् ॥ ५० ॥
प्रीतिं दास्यामि भीमस्य यमयोः सात्यकस्य च ।

'मैं रणभूमिमें कर्ण और उसके महारथी पुत्रको मारकर भीमसेन, नकुल, सहदेव तथा सात्यकिको प्रसन्न करूँगा ॥

धृष्टद्युम्नशिखण्डिभ्यां पञ्चालानां च माधव ॥ ५१ ॥
अद्यानृण्यं गमिष्यामि हत्वा कर्णं महाहवे ।

'माधव ! आज महासमरमें कर्णका वध करके मैं धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पाञ्चालोंके ऋणसे छुटकारा पा जाऊँगा ॥

अद्य पश्यन्तु संग्रामे धनंजयममर्षणम् ॥ ५२ ॥
युध्यन्तं कौरवान् संख्ये पातयन्तं च सूतजम् ।

'आज समस्त सैनिक देखें कि संग्रामभूमिमें अमर्षशील धनंजय किस प्रकार कौरवोंसे युद्ध करता और सूतपुत्र कर्णको मारता है ॥ ५२½ ॥

भवत्सकाशे वक्ष्ये च पुनरेवात्मसंस्तवम् ॥ ५३ ॥
धनुर्वेदे मत्समो नास्ति लोके
पराक्रमे वा मम कोऽस्ति तुल्यः ।
को वाप्यन्यो मत्समोऽस्ति क्षमायां-
स्तथा क्रोधे सदृशोऽन्यो न मेऽस्ति ॥५४॥

'मैं आपके निकट पुनः अपनी प्रशंसासे भरी हुई बात कहता हूँ, धनुर्वेदमें मेरी समानता करनेवाला इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है । फिर पराक्रममें मेरे-जैसा कौन है ? मेरे समान क्षमाशील भी दूसरा कौन है तथा क्रोधमें भी मेरे-जैसा दूसरा कोई नहीं है ॥ ५३-५४ ॥

अहं धनुष्मान् ससुरासुरांश्च
सर्वाणि भूतानि च सङ्गतानि ।
स्वबाहुवीर्याद् गमये पराभवं
मत्पौरुषं विद्धि परं परेभ्यः ॥ ५५ ॥

'मैं धनुष लेकर अपने बाहुबलसे एक साथ आये हुए देवताओं, असुरों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको परास्त कर सकता हूँ । मेरे पुरुषार्थको उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट समझो ॥ ५५ ॥

शरार्चिषा गाण्डिवेनाहमेकः
सर्वान् कुरून् बाह्लिकांश्चाभिहत्य ।
हिमात्यये कक्षगतो यथाग्नि-
स्तथा दहेयं सगणान् प्रसह्य ॥ ५६ ॥

'मैं अकेला ही बाणोंकी ज्वालासे युक्त गाण्डीव धनुषके द्वारा समस्त कौरवों और बाह्लिकोंको दल-बलसहित मारकर ग्रीष्मऋतुमें सूखे काठमें लगी हुई आगके समान सबको भस्म कर डालूँगा ॥ ५६ ॥

पाणौ पृषत्का लिखिता ममैते
धनुश्च दिव्यं विततं सबाणम् ।
पादौ च मे सरथौ सध्वजौ च
न मादृशं युद्धगतं जयन्ति ॥ ५७ ॥

'मेरे एक हाथमें बाणके चिह्न हैं और दूसरेमें फैले हुए बाणसहित दिव्य धनुषकी रेखा है । इसी प्रकार मेरे पैरोंमें भी रथ और ध्वजाके चिह्न हैं । मेरे-जैसे लक्षणोंवाला योद्धा जब युद्धमें उपस्थित होता है, तब उसे शत्रु जीत नहीं सकते हैं' ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वार्जुन एकवीरः
क्षिप्रं रिपुघ्नः क्षतजोपमाक्षः ।
भीमं मुमुक्षुः समरे प्रयातः
कर्णस्य कायाच्च शिरो जिहीर्षुः ॥ ५८ ॥

भगवान्‌से ऐसा कहकर अद्वितीय वीर शत्रुसूदन अर्जुन क्रोधसे लाल आँखें किये समरभूमिमें भीमसेनको संकटसे छुड़ाने और कर्णके मस्तकको धड़से अलग करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक वहाँसे चल दिये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

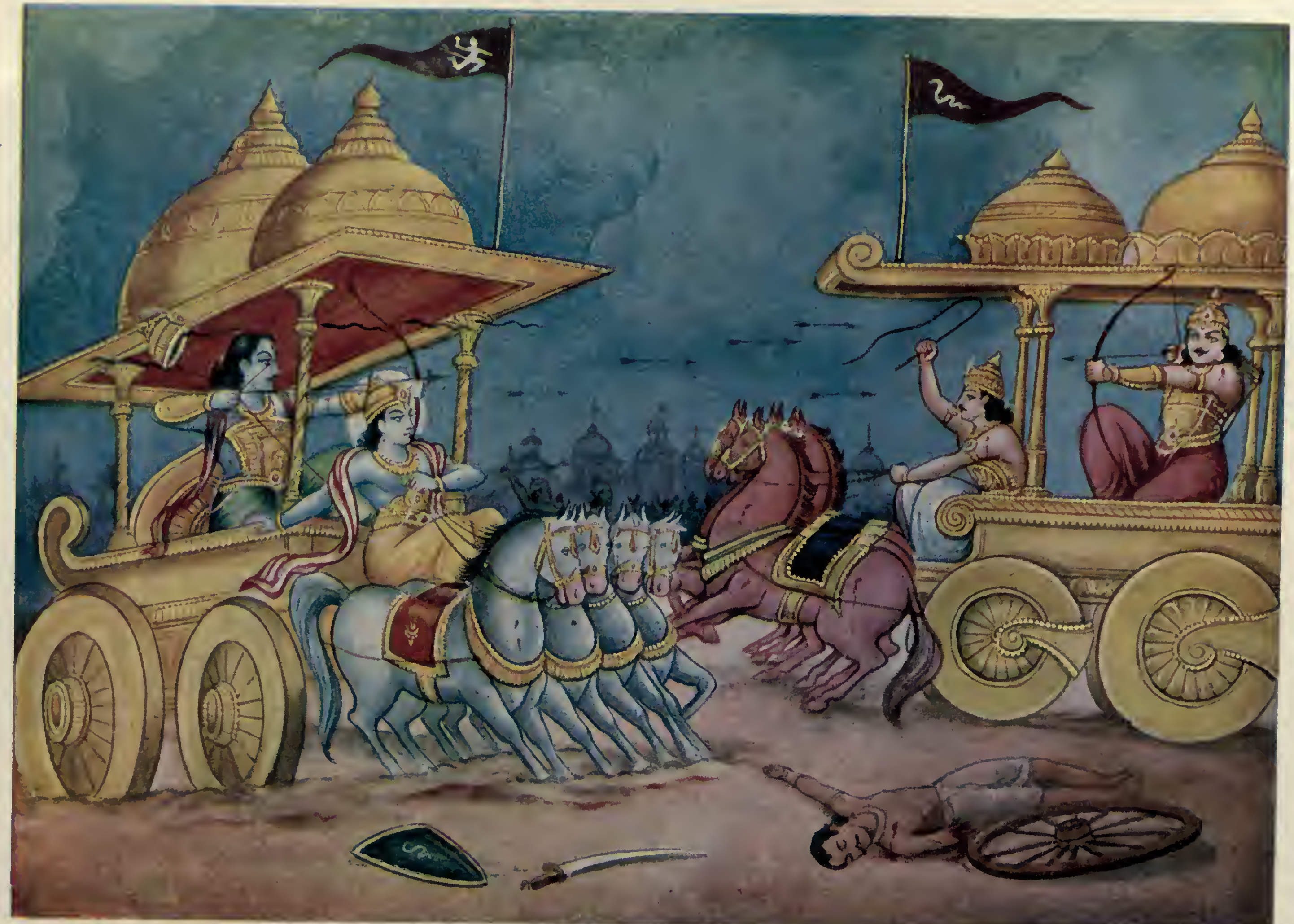

भगवान्‌के द्वारा अर्जुनकी सर्पमुख बाणसे रक्षा

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों पक्षोंकी सेनाओंमें द्वन्द्वयुद्ध तथा सुषेणका वध

धृतराष्ट्र उवाच

समागमे पाण्डवसृंजयानां
महाभये मामकानामगाधे ।
धनंजये तात रणाय याते
कर्णेन तद् युद्धमथोऽत्र कीदृक् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात संजय ! मेरे पुत्रों तथा पाण्डवों और सृञ्जयोंमें पहलेसे ही अगाध एवं महाभयंकर संग्राम छिड़ा हुआ था। फिर जब धनंजय भी वहाँ कर्णके साथ युद्धके लिये जा पहुँचे, तब उस युद्धका स्वरूप कैसा हो गया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

तेषामनीकानि बृहद्ध्वजानि
रणे समृद्धानि समागतानि ।
गर्जन्ति भेरीनिनदोन्मुखानि
नादैर्यथा मेघगणास्तपान्ते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ग्रीष्म ऋतु बीत जानेपर जैसे मेघसमूह गर्जना करने लगते हैं, उसी प्रकार दोनों पक्षोंकी सेनाएँ एकत्र हो रणभूमिमें गर्जना करने लगीं। उनके भीतर बड़े-बड़े ध्वज फहरा रहे थे और सभी सैनिक अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। रणभेरियोंकी ध्वनि उन्हें युद्धके लिये उत्सुक किये हुए थी ॥ २ ॥

महागजाभ्राकुलमस्त्रतोयं
वादित्रनेमीतलशब्दवच्च ।
हिरण्यचित्रायुधविद्युतं च
शरासिनाराचमहास्त्रधारम् ॥ ३ ॥
तद् भीमवेगं रुधिरौघवाहि
खड्गाकुलं क्षत्रियजीवघाति ।
अनार्तवं क्रूरमनिष्टवर्षं
बभूव तत् संहरणं प्रजानाम् ॥ ४ ॥

क्रमशः वह क्रूरतापूर्ण युद्ध बिना ऋतुकी अनिष्टकारी वर्षाके समान प्रजाजनोंका संहार करने लगा। बड़े-बड़े हाथियोंका समूह मेघोंकी घटा बनकर वहाँ छाया हुआ था। अस्त्र ही जल थे, वाद्यों और पहियोंकी घर्घराहटका शब्द ही मेघ-गर्जनके समान प्रतीत होता था। सुवर्णजटित विचित्र आयुध विद्युत्के समान प्रकाशित होते थे। बाण, खड्ग और नाराच आदि बड़े-बड़े अस्त्रोंकी धारावाहिक वृष्टि हो रही थी। धीरे-धीरे उस युद्धका वेग बड़ा भयंकर हो उठा, रक्तका स्रोत बह चला। तलवारोंकी खचाखच मार होने लगी, जिससे क्षत्रियोंके प्राणोंका संहार होने लगा ॥ ३-४ ॥

एकं रथं सम्परिवार्य मृत्युं
नयन्त्यनेके च रथाः समेताः ।
एकस्तथैकं रथिनं रथाग्र्यां-
स्तथा रथश्चापि रथाननेकान् ॥ ५ ॥

बहुत-से रथी एक साथ मिलकर किसी एक रथीको घेर लेते और उसे यमलोक पहुँचा देते थे। इसी प्रकार एक रथी एक रथीको और अनेक श्रेष्ठ रथियोंको भी यमलोकका पथिक बना देता था ॥ ५ ॥

रथं ससूतं सहयं च कश्चित्
कश्चिद्रथी मृत्युवशं निनाय ।
निनाय चाप्येकगजेन कश्चिद्
रथान् बहून् मृत्युवशे तथाश्वान् ॥ ६ ॥

किसी रथीने किसी एक रथीको घोड़ों और सारथिसहित मौतके हवाले कर दिया तथा किसी दूसरे वीरने एकमात्र हाथीके द्वारा बहुत-से रथियों और घोड़ोंको मौतका ग्रास बना दिया ॥ ६ ॥

रथान् ससूतान् सहयान् गजांश्च
सर्वानरीन् मृत्युवशं शरौघैः ।
निन्ये हयांश्चैव तथा ससादीन्
पदातिसङ्घांश्च तथैव पार्थः ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुनने सारथिसहित रथों, घोड़ोंसहित हाथियों, समस्त शत्रुओं, सवारोंसहित घोड़ों तथा पैदलसमूहोंको भी अपने बाणसमूहोंद्वारा मृत्युके अधीन कर दिया ॥

कृपः शिखण्डी च रणे समेतौ
दुर्योधनं सात्यकिरभ्यगच्छत् ।
श्रुतश्रवा द्रोणपुत्रेण सार्धं
युधामन्युश्चित्रसेनेन सार्धम् ॥ ८ ॥

उस रणभूमिमें कृपाचार्य और शिखण्डी एक दूसरेसे भिड़े थे, सात्यकिने दुर्योधनपर धावा किया था, श्रुतश्रवा द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ जूझ रहा था और युधामन्यु चित्रसेनके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ८ ॥

कर्णस्य पुत्रं तु रथी सुषेणं
समागतं संजयश्चोत्तमौजाः ।
गान्धारराजं सहदेवः क्षुधार्तो
महर्षभं सिंह इवाभ्यधावत् ॥ ९ ॥

संजयवंशी रथी उत्तमौजाने अपने सामने आये हुए कर्ण-पुत्र सुषेणपर आक्रमण किया था। जैसे भूखसे पीड़ित हुआ सिंह किसी साँड़पर धावा करता है, उसी प्रकार सहदेव गान्धारराज शकुनिपर टूट पड़े थे ॥ ९ ॥

शतानीको नाकुलिः कर्णपुत्रं
युवा युवानं वृषसेनं शरौघैः ।
समार्पयत् कर्णपुत्रश्च शूरः
पाञ्चालेयं शरवर्षैरनेकैः ॥ १० ॥

नकुलपुत्र नवयुवक शतानीकने कर्णके नौजवान बेटे वृषसेनको अपने बाणसमूहोंसे घायल कर दिया तथा शूरवीर कर्णपुत्र वृषसेनने भी अनेक बाणोंकी वर्षा करके पाञ्चाली-कुमार शतानीकको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

रथर्षभः कृतवर्माणमार्छ-
न्माद्रीपुत्रो नकुलश्चित्रयोधी ।
पञ्चालानामधिपो याज्ञसेनिः
सेनापतिः कर्णमार्छत् ससैन्यम् ॥ ११ ॥

विचित्र युद्ध करनेवाले, रथियोंमें श्रेष्ठ माद्रीकुमार नकुलने कृतवर्मापर चढ़ाई की। द्रुपदकुमार पाञ्चालराज सेनापति धृष्टद्युम्नने सेनासहित कर्णपर आक्रमण किया ॥११॥

दुःशासनो भारत भारती च
संशप्तकानां पृतना समृद्धा ।
भीमं रणे शस्त्रभृतां वरिष्ठं
भीमं समार्छत्तमसह्यवेगम् ॥ १२ ॥

भारत ! दुःशासन, कौरवसेना और संशप्तकोंकी समृद्धि-शालिनी वाहिनीने असह्य वेगशाली, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तथा युद्धमें भयंकर प्रतीत होनेवाले भीमसेनपर चढ़ाई की ॥१२॥

कर्णात्मजं तत्र जघान वीर-
स्तथाच्छिनच्चोत्तमौजाः प्रसह्य ।
तस्योत्तमाङ्गं निपपात भूमौ
निनादयद् गां निनदेन खं च ॥ १३ ॥

वीर उत्तमौजाने हठपूर्वक वहाँ कर्णपुत्र सुषेणपर घातक प्रहार किया और उसका मस्तक काट डाला। सुषेणका वह मस्तक अपने आर्तनादसे आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करता हुआ भूमिपर गिर पड़ा ॥ १३ ॥

सुषेणशीर्षं पतितं पृथिव्यां
विलोक्य कर्णोऽथ तदार्तरूपः ।
क्रोधाद्धयांस्तस्य रथं ध्वजं च
बाणैः सुधारैर्निशितैरकृन्तत् ॥ १४ ॥

सुषेणके मस्तकको पृथ्वीपर पड़ा देख कर्ण शोकसे आतुर हो उठा। उसने कुपित हो उत्तम धारवाले पैने बाणों-से उत्तमौजाके रथ, ध्वज और घोड़ोंको काट डाला ॥ १४॥

स तूत्तमौजा निशितैः पृषत्कै-
र्विव्याध खड्गेन च भास्वरेण ।
पार्ष्णिं हयांश्चैव कृपस्य हत्वा
शिखण्डिवाहं स ततोऽध्यरोहत् ॥ १५ ॥

तब उत्तमौजाने तीखे बाणोंसे कर्णको बींध डाला और (जब कृपाचार्यने बाधा दी तब) चमचमाती हुई तलवारसे कृपाचार्यके पृष्ठरक्षकों और घोड़ोंको मारकर वह शिखण्डीके रथपर आरूढ़ हो गया ॥ १५ ॥

कृपं तु दृष्ट्वा विरथं रथस्थो
नैच्छच्छरैस्ताडयितुं शिखण्डी ।
तं द्रौणिरावार्य रथं कृपस्य
समुज्जह्रे पङ्कगतां यथा गाम् ॥ १६ ॥

कृपाचार्यको रथहीन देख रथपर बैठे हुए शिखण्डीने उनपर बाणोंसे आघात करनेकी इच्छा नहीं की। तब अश्वत्थामाने शिखण्डीको रोककर कीचड़में फँसी हुई गायके समान कृपाचार्यके रथका उद्धार किया ॥ १६ ॥

हिरण्यवर्मा निशितैः पृषत्कै-
स्तवात्मजानामनिलात्मजो वै ।
अतापयत् सैन्यमतीव भीमः
काले शुचौ मध्यगतो यथार्कः ॥ १७ ॥

जैसे आषाढ़मासमें दोपहरका सूर्य अत्यन्त ताप प्रदान करता है, उसी प्रकार सुवर्णकवचधारी वायुपुत्र भीमसेन आपके पुत्रोंकी सेनाको तीखे बाणोंद्वारा अधिक संताप देने लगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलद्वन्द्वयुद्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलद्वन्द्वयुद्धविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका अपने सारथि विशोकसे संवाद

संजय उवाच

अथ त्विदानीं तुमुले विमर्दे
द्विषद्भिरेको बहुभिः समावृतः ।
महारणे सारथिमित्युवाच
भीमश्चमूं वाहय धार्तराष्ट्रीम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय उस घमासान युद्धमें बहुत-से शत्रुओंद्वारा अकेले घिरे हुए भीमसेन महासमर-में अपने सारथिसे बोले—'सारथे ! अब तुम रथको धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी सेनाकी ओर ले चलो ॥ १ ॥

त्वं सारथे याहि जवेन वाहै-
र्नयाम्येतान् धार्तराष्ट्रान् यमाय ।
संचोदितो भीमसेनेन चैवं
स सारथिः पुत्रबलं त्वदीयम् ॥ २ ॥
प्रायात् ततः सत्वरमुग्रवेगो
यतो भीमस्तद् बलं गन्तुमैच्छत् ।
ततोऽपरे नागरथाश्वपत्तिभिः
प्रत्युद्ययुस्तं कुरवः समन्तात् ॥ ३ ॥

'सूत ! तुम अपने वाहनोंद्वारा वेगपूर्वक आगे बढ़ो। जिससे इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मैं यमलोक भेज सकूँ।' भीमसेन-के इस प्रकार आदेश देनेपर सारथि तुरंत ही भयंकर वेगसे युक्त हो आपके पुत्रोंकी सेनाकी ओर, जिधर भीमसेन जाना चाहते थे, चल दिया। तब अन्यान्य कौरवोंने हाथी, घोड़े,

रथ और पैदलोंकी विशाल सेना साथ ले सब ओरसे उनपर आक्रमण किया ॥ २-३ ॥

भीमस्य वाहाग्र्यमुदारवेगं
समन्ततो बाणगणैर्निजघ्नुः ।
ततः शरानापततो महात्मा
चिच्छेद बाणैस्तपनीयपुङ्खैः ॥ ४ ॥

वे भीमसेनके अत्यन्त वेगशाली श्रेष्ठ रथपर चारों ओरसे बाणसमूहोंद्वारा प्रहार करने लगे; परंतु महामनस्वी भीमसेनने अपने ऊपर आते हुए उन बाणोंको सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा काट डाला ॥ ४ ॥

ते वै निपेतुस्तपनीयपुङ्खा
द्विधा त्रिधा भीमशरैर्निकृत्ताः ।
ततो राजन् नागरथाश्वयूनां
भीमाहतानां वरराजमध्ये ॥ ५ ॥
घोरो निनादः प्रबभौ नरेन्द्र
वज्राहतानामिव पर्वतानाम् ।

वे सोनेकी पाँखवाले बाण भीमसेनके बाणोंसे दो-दो तीन-तीन टुकड़ोंमें कटकर गिर गये । राजन् ! नरेन्द्र ! तत्पश्चात् श्रेष्ठ राजाओंकी मण्डलीमें भीमसेनके द्वारा मारे गये हाथियों, रथों, घोड़ों और पैदल युवकोंका भयंकर आर्तनाद प्रकट होने लगा, मानो वज्रके मारे हुए पहाड़ फट पड़े हों ॥५½ ॥

ते वध्यमानाश्च नरेन्द्रमुख्या
निर्भिद्यन्तो भीमशरप्रवेकैः ॥ ६ ॥
भीमं समन्तात् समरेऽभ्यरोहन्
वृक्षं शकुन्ता इव जातपक्षाः ।

जैसे जिनके पंख निकल आये हैं, वे पक्षी सब ओरसे उड़कर किसी वृक्षपर चढ़ बैठते हैं, उसी प्रकार भीमसेनके उत्तम बाणोंसे आहत और विदीर्ण होनेवाले प्रधान-प्रधान नरेश समराङ्गणमें सब ओरसे भीमसेनपर ही चढ़ आये ॥६½॥

ततोऽभियाते तव सैन्ये स भीमः
प्रादुश्चक्रे वेगमनन्तवेगः ॥ ७ ॥
यथान्तकाले क्षपयन् दिधक्षु-
र्भूतान्तकृत् काल इवात्तदण्डः ।

आपकी सेनाके आक्रमण करनेपर अनन्त वेगशाली भीमसेनने अपना महान् वेग प्रकट किया । ठीक उसी तरह, जैसे प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करनेवाला काल हाथमें दण्ड लिये सबको नष्ट और दग्ध करनेकी इच्छासे असीम वेग प्रकट करता है ॥ ७½ ॥

तस्यातिवेगस्य रणेऽतिवेगं
नाशक्नुवन् वारयितुं त्वदीयाः ॥ ८ ॥
व्यात्ताननस्यापततो यथैव
कालस्य काले हरतः प्रजा वै ।

अत्यन्त वेगशाली भीमसेनके महान् वेगको आपके सैनिक रणभूमिमें रोक न सके । जैसे प्रलयकालमें मुँह बाकर आक्रमण करनेवाले प्रजासंहारकारी कालके वेगको कोई नहीं रोक सकता ॥ ८½ ॥

ततो बलं भारत भारतानां
प्रदह्यमानं समरे महात्मना ॥ ९ ॥
भीतं दिशोऽकीर्यत भीमनुन्नं
महानिलेनाभ्रगणा यथैव ।

भारत ! तदनन्तर समराङ्गणमें महामना भीमसेनके द्वारा दग्ध होती हुई कौरवसेना भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखर गयी । जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने आपके सैनिकोंको मार भगाया था ॥ ९½ ॥

ततो धीमान् सारथिमब्रवीद् बली
स भीमसेनः पुनरेव हृष्टः ॥ १० ॥
सूताभिजानीहि स्वकान् परान् वा
रथान् ध्वजांश्चापततः समेतान् ।
युद्ध्यन् ह्यहं नाभिजानामि किंचि-
न्मा सैन्यं स्वं छादयिष्ये पृषत्कैः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् बलवान् और बुद्धिमान् भीमसेन हर्षसे उल्लसित हो अपने सारथिसे पुनः इस प्रकार बोले—'सूत ! ये जो बहुत-से रथ और ध्वज एक साथ इधर बढ़े आ रहे हैं, उन्हें पहचानो तो सही ! ये अपने पक्षके हैं या शत्रुपक्षके ? क्योंकि युद्ध करते समय मुझे अपने-परायेका ज्ञान नहीं रहता, कहीं ऐसा न हो कि अपनी ही सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर डालूँ ॥ १०-११ ॥

अरीन् विशोकाभिनिरीक्ष्य सर्वतो
मनस्तु चिन्ता प्रदुनोति मे भृशम् ।
राजाऽऽतुरो नागमद् यत् किरीटी
बहूनि दुःखान्यभियातोऽस्मि सूत ॥ १२ ॥

'विशोक ! सम्पूर्ण दिशाओंमें शत्रुओंको देखकर उठी हुई चिन्ता मेरे हृदयको अत्यन्त संतप्त कर रही है; क्योंकि राजा युधिष्ठिर बाणोंके आघातसे पीड़ित हैं और किरीटधारी अर्जुन अभीतक उनका समाचार लेकर लौटे नहीं । सूत ! इन सब कारणोंसे मुझे बहुत दुःख हो रहा है ॥ १२ ॥

एतद् दुःखं सारथे धर्मराजो
यन्मां हित्वा यातवाञ्शत्रुमध्ये ।
नैनं जीवं नाद्य जानाम्यजीवं
बीभत्सुं वा तन्ममाद्यातिदुःखम् ॥ १३ ॥

'सारथे ! पहले तो इस बातका दुःख हो रहा है कि धर्मराज मुझे छोड़कर स्वयं ही शत्रुओंके बीचमें चले गये । पता नहीं, वे अबतक जीवित हैं या नहीं ? अर्जुनका भी कोई समाचार नहीं मिला; इससे आज मुझे अधिक दुःख है ।

सोऽहं द्विषत्सैन्यमुदग्रकल्पं
विनाशयिष्ये परमप्रतीतः ।

पतन्निहत्याजिमध्ये समेतं
प्रीतो भविष्यामि सह त्वयाद्य ॥ १४ ॥

'अच्छा, अब मैं अत्यन्त विश्वस्त होकर शत्रुओंकी प्रचण्ड सेनाका विनाश करूँगा। यहाँ एकत्र हुई इस सेनाको युद्धस्थलमें नष्ट करके मैं तुम्हारे साथ ही आज प्रसन्नताका अनुभव करूँगा ॥ १४ ॥

सर्वांस्तूणान् सायकानामवेक्ष्य
किं शिष्टं स्यात् सायकानां रथे मे।
का वा जातिः किं प्रमाणं च तेषां
ज्ञात्वा व्यक्तं तत् समाचक्ष्व सूत॥ १५ ॥
(कति वा सहस्राणि कति वा शतानि
ह्याचक्ष्व मे सारथे क्षिप्रमेव ॥

'सूत ! तुम मेरे रथपर रक्खे हुए बाणोंके सारे तरकसोंकी देख-भाल करके ठीक-ठीक समझकर मुझे स्पष्टरूपसे बताओ कि अब उनमें कितने बाण अवशिष्ट रह गये हैं ? किस-किस जातिके बाण बचे हैं और उनकी संख्या कितनी है ? सारथे ! शीघ्र बताओ, कौन बाण कितने हजार और कितने सौ शेष हैं ?' ॥ १५ ॥

विशोक उवाच

सर्वं विदित्वैवमहं वदामि
तवार्थसिद्धिप्रदमद्य वीर ॥
कैकेयकाम्बोजसुराष्ट्रबाह्लिका
म्लेच्छाश्च सुह्माः परतङ्गणाश्च।
मद्राश्च वङ्गा मगधाः कुलिन्दा
आनर्तकावर्तकाः पर्वतीयाः ॥
सर्वे गृहीतप्रवरायुधास्त्वां
संख्ये समावेष्ट्य ततो विनेदुः ॥)

विशोकने कहा--वीर ! मैं आज सब कुछ पता लगाकर आपके मनोरथकी सिद्धि करनेवाली बात बता रहा हूँ, कैकेय, काम्बोज, सौराष्ट्र, बाह्लिक, म्लेच्छ, सुह्म, परतङ्गण, मद्र, वङ्ग, मगध, कुलिन्द, आनर्त, आवर्त और पर्वतीय सभी योद्धा हाथोंमें श्रेष्ठ आयुध लिये आपको चारों ओरसे घेरकर युद्धस्थलमें शत्रुओंका सामना करनेके लिये गरज रहे हैं ॥

षण्मार्गणानामयुतानि वीर
क्षुराश्च भल्लाश्च तथायुताख्याः।
नाराचानां द्वे सहस्रे च वीर
त्रीण्येव च प्रदराणां स्म पार्थ ॥ १६ ॥

वीरवर ! अभी अपने पास साठ हजार मार्गण हैं, दस-दस हजार क्षुर और भल्ल हैं, दो हजार नाराच शेष हैं तथा पार्थ ! तीन हजार प्रदर बाकी रह गये हैं ॥ १६ ॥

अस्त्यायुधं पाण्डवेयावशिष्टं
न यद् वहेच्छकटं षड्गवीयम्।
एतद् विद्वन् मुञ्च सहस्रशोऽपि
गदासिबाहुद्रविणं च तेऽस्ति ॥ १७ ॥
प्रासाश्च मुद्गराः शक्तयस्तोमराश्च
मा भैषीस्त्वं सङ्क्षयादायुधानाम् ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! अभी इतने आयुध शेष हैं कि छः बैलोंसे जुता हुआ छकड़ा भी उन्हें नहीं खींच सकता। विद्वन् ! इन सहस्रों अस्त्रोंका आप प्रयोग कीजिये। अभी तो आपके पास बहुत-सी गदाएँ, तलवारें और बाहुबलकी सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार बहुतेरे प्रास, मुद्गर, शक्ति और तोमर बाकी बचे हैं। आप इन आयुधोंके समाप्त हो जानेके डरमें न रहिये १७-१८

भीमसेन उवाच

सूताद्यैनं पश्य भीमप्रयुक्तैः
संछिन्दद्भिः पार्थिवानां सुवेगैः।
छन्नं बाणैराहवं घोररूपं
नष्टादित्यं मृत्युलोकेन तुल्यम् ॥ १९ ॥

भीमसेन बोले— सूत ! आज इस युद्धस्थलकी ओर दृष्टिपात करो। भीमसेनके छोड़े हुए अत्यन्त वेगशाली बाणोंने राजाओंका विनाश करते हुए सारे रणक्षेत्रको आच्छादित कर दिया है, जिससे सूर्य भी अदृश्य हो गये हैं और यह भूमि यमलोकके समान भयंकर प्रतीत होती है ॥१९॥

अद्यैतद् वै विदितं पार्थिवानां
भविष्यति ह्याकुमारं च सूत।
निमग्नो वा समरे भीमसेन
एकः कुरून् वा समरे व्यजैषीत्॥ २० ॥

सूत ! आज बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक समस्त भूपालोंको यह विदित हो जायगा कि भीमसेन समरसागरमें डूब गये अथवा उन्होंने अकेले ही समस्त कौरवोंको युद्धमें जीत लिया ॥२०॥

सर्वे संख्ये कुरवो निष्पतन्तु
मां वा लोकाः कीर्तयन्त्वाकुमारम्।
सर्वानेकस्तानहं पातयिष्ये
ते वा सर्वे भीमसेनं तुदन्तु ॥ २१ ॥

आज युद्धस्थलमें समस्त कौरव धराशायी हो जायँ अथवा बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सब लोग मुझ भीमसेनको ही रणभूमिमें गिरा हुआ बतावें ! मैं अकेला ही उन समस्त कौरवोंको मार गिराऊँगा अथवा वे ही सब लोग मुझ भीमसेनको पीड़ित करें ॥ २१ ॥

आशास्तारः कर्म चाप्युत्तमं ये
तन्मे देवाः केवलं साधयन्तु।
आयात्विहाद्यार्जुनः शत्रुघाती
शक्रस्तूर्णं यज्ञ इवोपहूतः ॥ २२ ॥

जो उत्तम कर्मोंका उपदेश देनेवाले हैं, वे देवता लोग मेरा केवल एक कार्य सिद्ध कर दें। जैसे यज्ञमें आवाहन करनेपर इन्द्रदेव तुरंत पदार्पण करते हैं, उसी प्रकार शत्रुघाती अर्जुन यहाँ शीघ्र ही आ पहुँचे ॥ २२ ॥

(पश्यस्व पश्यस्व विशोक मे त्वं
बलं परेषामभिघातभिन्नम्।

नानास्त्रान् पश्य विमुच्य सर्वे
तथा द्रवन्ते बलिनो धार्तराष्ट्राः॥)

विशोक ! देखो, देखो, मेरा बल। मेरे आघातोंसे शत्रुओंकी सेना विदीर्ण हो उठी है। देखो, धृतराष्ट्रके सभी बलवान् पुत्र नाना प्रकारके आर्तनाद करते हुए भागने लगे हैं॥

ईक्षस्वैतां भारतीं दीर्यमाणा-
मेते कस्माद् विद्रवन्ते नरेन्द्राः।
व्यक्तं धीमान् सव्यसाची नराग्र्यः
सैन्यं ह्येतच्छादयत्याशु बाणैः॥ २३॥

सारथे ! इस कौरवसेनापर तो दृष्टिपात करो। इसमें भी दरार पड़ती जा रही है। ये राजालोग क्यों भाग रहे हैं ? इससे तो स्पष्ट जान पड़ता है कि बुद्धिमान् नरश्रेष्ठ अर्जुन आ गये। वे ही अपने बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक इस सेनाको आच्छादित कर रहे हैं॥ २३॥

पश्य ध्वजांश्च द्रवतो विशोक
नागान् हयान् पत्तिसंघांश्च संख्ये।
रथान् विकीर्णाञ्शरशक्तिताडितान्
पश्यस्वैतान् रथिनश्चैव सूत॥ २४॥

विशोक ! युद्धस्थलमें भागते हुए रथोंकी ध्वजाओं, हाथियों, घोड़ों और पैदलसमूहोंको देखो। सूत ! बाणों और शक्तियोंसे प्रताड़ित होकर बिखरे पड़े हुए इन रथों और रथियोंपर भी दृष्टिपात करो॥ २४॥

आपूर्यते कौरवी चाप्यभीक्ष्णं
सेना ह्यसौ सुभृशं हन्यमाना।
धनंजयस्याशनितुल्यवेगै-
र्ग्रस्ता शरैः काञ्चनबर्हिवाजैः॥ २५॥

अर्जुनके बाण वज्रके समान वेगशाली हैं। उनमें सोने और मयूरपिच्छके पंख लगे हैं। उन बाणोंद्वारा आक्रान्त हुई यह कौरवसेना अत्यन्त मार पड़नेके कारण बारंबार आर्तनाद कर रही है॥ २५॥

एते द्रवन्ति स्म रथाश्वनागाः
पदातिसङ्घानतिमर्दयन्तः।
सम्मुह्यमानाः कौरवाः सर्व एव
द्रवन्ति नागा इव दाहभीताः॥ २६॥

ये रथ, घोड़े और हाथी पैदलसमूहोंको कुचलते हुए भागे जा रहे हैं। प्रायः सभी कौरव अचेत-से होकर दावानलके दाहसे डरे हुए हाथियोंके समान पलायन कर रहे हैं २६

हाहाकृताश्चैव रणे विशोक
मुञ्चन्ति नादान् विपुलान् गजेन्द्राः॥ २७॥

विशोक ! रणभूमिमें सब ओर हाहाकार मचा हुआ है। बहुसंख्यक गजराज बड़े जोर-जोरसे चीत्कार कर रहे हैं॥२७॥

विशोक उवाच

किं भीम नैनं त्वमिहाश्रृणोषि
विस्फारितं गाण्डिवस्यातिघोरम्।
क्रुद्धेन पार्थेन विकृष्यतोऽद्य
कच्चिन्नेमौ तव कर्णौ विनष्टौ॥ २८॥

विशोकने कहा—भीमसेन ! क्रोधमें भरे हुए अर्जुनके द्वारा खींचे जाते हुए गाण्डीव धनुषकी यह अत्यन्त भयंकर टंकार क्या आज आपको सुनायी नहीं दे रही है ? आपके ये दोनों कान बहरे तो नहीं हो गये हैं ?॥ २८॥

सर्वे कामाः पाण्डव ते समृद्धाः
कपिर्ह्यसौ दृश्यते हस्तिसैन्ये।
नीलाद् घनाद् विद्युतमुच्चरन्तीं
तथा पश्य विस्फुरन्तीं धनुर्ज्याम्॥ २९॥

पाण्डुनन्दन ! आपकी सारी कामनाएँ सफल हुईं। हाथियोंकी सेनामें अर्जुनके रथकी ध्वजाका वह वानर दिखायी दे रहा है। काले मेघसे प्रकट होनेवाली बिजलीके समान चमकती हुई गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चाको देखिये॥ २९॥

कपिर्ह्यसौ वीक्षते सर्वतो वै
ध्वजाग्रमारुह्य धनंजयस्य।
वित्रासयन् रिपुसंघान् विमर्दे
बिभेम्यस्मादात्मनैवाभिवीक्ष्य॥ ३०॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर आरूढ़ हो वह वानर सब ओर देखता और युद्धस्थलमें शत्रुसमूहोंको भयभीत करता है। मैं स्वयं भी देखकर उससे डर रहा हूँ॥ ३०॥

विभ्राजते चातिमात्रं किरीटं
विचित्रमेतच्च धनंजयस्य।
दिवाकराभो मणिरेष दिव्यो
विभ्राजते चैव किरीटसंस्थः॥ ३१॥

धनंजयका यह विचित्र मुकुट अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है। इस मुकुटमें लगी हुई यह दिव्य मणि दिवाकरके समान देदीप्यमान होती है॥ ३१॥

पार्श्वे भीमं पाण्डुराभ्रप्रकाशं
पश्यस्व शङ्खं देवदत्तं सुघोषम्।
अभीषुहस्तस्य जनार्दनस्य
विगाहमानस्य चमूं परेषाम्॥ ३२॥
रविप्रभं वज्रनाभं क्षुरान्तं
पार्श्वे स्थितं पश्य जनार्दनस्य।
चक्रं यशोवर्धनं केशवस्य
सदार्चितं यदुभिः पश्य वीर॥ ३३॥

वीर ! अर्जुनके पार्श्वभागमें श्वेत बादलके समान प्रकाशित होनेवाला और गम्भीर घोष करनेवाला देवदत्त नामक भयानक शङ्ख रक्खा हुआ है, उसपर दृष्टिपात कीजिये। साथ ही हाथोंमें घोड़ोंकी बागडोर लिये शत्रुओंकी सेनामें घुसे जाते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी बगलमें सूर्यके समान प्रकाशमान चक्र विद्यमान है, जिसकी नाभिमें वज्र और किनारेके भागोंमें छुरे लगे हुए हैं। भगवान् केशवका वह

चक्र उनका यश बढ़ानेवाला है । सम्पूर्ण यदुवंशी सदा उसकी पूजा करते हैं । आप उस चक्रको भी देखिये ॥ ३२-३३ ॥

महाद्विपानां सरलद्रुमोपमाः
करा निकृत्ताः प्रपतन्त्यमी क्षुरैः ।
किरीटिना तेन पुनः ससादिनः
शरैर्निकृत्ताः कुलिशैरिवाद्रयः॥ ३४ ॥

अर्जुनके छुरनामक बाणोंसे कटे हुए ये बड़े-बड़े हाथियोंके शुण्डदण्ड देवदारुके समान गिर रहे हैं । फिर उन्हीं किरीटीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वज्रके मारे हुए पर्वतोंके समान वे हाथी सवारोंसहित धराशायी हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

तथैव कृष्णस्य च पाञ्चजन्यं
महार्हमेतं द्विजराजवर्णम् ।
कौन्तेय पश्योरसि कौस्तुभं च
जाज्वल्यमानं विजयां स्रजं च ॥ ३५ ॥

कुन्तीनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णके इस बहुमूल्य पाञ्चजन्य शङ्खको, जो चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण है, देखिये । साथ ही उनके वक्षःस्थलपर अपनी प्रभासे प्रज्वलित होनेवाली कौस्तुभमणि तथा वैजयन्ती मालापर भी दृष्टिपात कीजिये ॥ ३५ ॥

ध्रुवं रथाग्र्यः समुपैति पार्थो
विद्रावयन् सैन्यमिदं परेषाम् ।
सिताभ्रवर्णैरसितप्रयुक्तै-
र्हयैर्महार्हैं रथिनां वरिष्ठः ॥ ३६ ॥

निश्चय ही रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन अर्जुन शत्रुओंकी सेनाको खदेड़ते हुए इधर ही आ रहे हैं । सफेद बादलोंके समान श्वेत कान्तिवाले उनके महामूल्यवान् अश्व श्यामसुन्दर श्रीकृष्णद्वारा संचालित हो रहे हैं ॥ ३६ ॥

रथान् हयान् पत्तिगणांश्च सायकै-
र्विदारितान् पश्य पतन्त्यमी यथा ।
तवानुजेनामरराजतेजसा
महावनानीव सुपर्णवायुना ॥ ३७ ॥

देखिये, जैसे गरुड़के पंखसे उठी हुई वायुके द्वारा बड़े-बड़े जंगल धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी आपके छोटे भाई अर्जुन बाणोंद्वारा शत्रुओंके रथों, घोड़ों और पैदलसमूहोंको विदीर्ण कर रहे हैं और वे सब-के-सब पृथ्वीपर गिरते जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

चतुःशतान् पश्य रथानिमान् हतान्
सवाजिसूतान् समरे किरीटिना ।
महेषुभिः सप्तशतानि दन्तिनां
पदातिसादींश्च रथाननेकशः ॥ ३८ ॥

वह देखिये, किरीटधारी अर्जुनने समराङ्गणमें सारथि और घोड़ोंसहित इन चार सौ रथियोंको मार डाला तथा अपने विशाल बाणोंद्वारा सात सौ हाथियों, बहुत-से पैदलों, घुड़सवारों और अनेकानेक रथोंका संहार कर डाला ॥ ३८ ॥

अयं समभ्येति तवान्तिकं बली
निघ्नन् कुरूंश्चित्र इव ग्रहोऽर्जुनः ।
समृद्धकामोऽसि हतास्तवाहिता
बलं तवायुश्च चिराय वर्धताम् ॥ ३९ ॥

विचित्र ग्रहके समान ये बलवान् अर्जुन कौरवोंका संहार करते हुए आपके निकट आ रहे हैं । अब आपकी कामना सफल हुई । आपके शत्रु मारे गये । इस समय चिरकालके लिये आपका बल और आयु बढ़े ॥ ३९ ॥

भीमसेन उवाच

ददानि ते ग्रामवरांश्चतुर्दश
प्रियाख्याने सारथे सुप्रसन्नः ।
दासीशतं चापि रथांश्च विंशतिं
यदर्जुनं वेदयसे विशोक ॥ ४० ॥

भीमसेनने कहा—विशोक ! तुम अर्जुनके आनेका समाचार सुना रहे हो । सारथे ! इस प्रिय संवादसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः मैं तुम्हें चौदह बड़े-बड़े गाँवकी जागीर देता हूँ । साथ ही सौ दासियाँ तथा बीस रथ तुम्हें पारितोषिकके रूपमें प्राप्त होंगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि भीमसेनविशोकसंवादे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें भीमसेन और विशोकका संवादविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कौरवसेनाका संहार तथा भीमसेनसे शकुनिकी पराजय एवं दुर्योधनादि धृतराष्ट्रपुत्रोंका सेनासहित भागकर कर्णका आश्रय लेना

संजय उवाच

श्रुत्वा तु रथनिर्घोषं सिंहनादं च संयुगे ।
अर्जुनः प्राह गोविन्दं शीघ्रं नोदय वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उधर युद्धस्थलमें शत्रुओंके रथोंकी घर्घराहट और सिंहनाद सुनकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो ! घोड़ोंको जल्दी-जल्दी हाँकिये' ॥ १ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा गोविन्दोऽर्जुनमब्रवीत् ।
एष गच्छामि सुक्षिप्रं यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने उनसे कहा—'यह लो, मैं बहुत जल्दी उस स्थानपर जा पहुँचता हूँ, जहाँ भीमसेन खड़े हैं' ॥ २ ॥

तं यान्तमश्वैर्हिमशङ्खवर्णैः
सुवर्णमुक्तामणिजालनद्धैः ।
जम्भं जिघांसुं प्रगृहीतवज्रं
जयाय देवेन्द्रमिवोग्रमन्युम् ॥ ३ ॥
रथाश्वमातङ्गपदातिसंघा
बाणस्वनैर्नेमिखुरस्वनैश्च ।
संनादयन्तो वसुधां दिशश्च
क्रुद्धा नृसिंहा जयमभ्युदीयुः ॥ ४ ॥

जैसे देवराज इन्द्र हाथमें वज्र लेकर जम्भासुरको मार डालनेकी इच्छासे मनमें भयानक क्रोध भरकर चले थे, उसी प्रकार अर्जुन भी शत्रुओंको जीतनेके लिये भयंकर क्रोधसे युक्त हो सुवर्ण, मुक्ता और मणियोंके जालसे आवद्ध हुए हिम और शङ्खके समान श्वेत कान्तिवाले अश्वोंद्वारा यात्रा कर रहे थे। उस समय क्रोधमें भरे हुए शत्रुपक्षके पुरुषसिंह वीर, रथी, घुड़सवार, हाथीसवार और पैदलों-के समूह अपने बाणोंकी सनसनाहट, पहियोंकी घर्घराहट तथा टापोंके टप-टपकी आवाजसे सम्पूर्ण दिशाओं और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए अर्जुनका सामना करने-के लिये आगे बढ़े ॥ ३–४ ॥

तेषां च पार्थस्य च मारिषासीद्
देहासुपापक्षपणं सुयुद्धम् ।
त्रैलोक्यहेतोरसुरैर्यथाऽऽसीद्
देवस्य विष्णोर्जयतां वरस्य ॥ ५ ॥

मान्यवर ! फिर तो त्रिलोकीके राज्यके लिये जैसे असुरोंके साथ भगवान् विष्णुका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार अर्जुनका उन योद्धाओं-के साथ घोर संग्राम होने लगा, जो उनके शरीर, प्राण और पापोंका विनाश करनेवाला था ॥ ५ ॥

तैरस्तमुच्चावचमायुधं त-
देकः प्रचिच्छेद किरीटमाली ।
क्षुरार्धचन्द्रैर्निशितैश्च भल्लैः
शिरांसि तेषां बहुधा च बाहून् ॥ ६ ॥
छत्राणि वालव्यजनानि केतू-
नश्वान् रथान् पत्तिगणान् द्विपांश्च ।
ते पेतुरुर्व्यां बहुधा विरूपा
वातप्रणुन्नानि यथा वनानि ॥ ७ ॥

उनके चलाये हुए छोटे-बड़े सभी अस्त्र-शस्त्रोंको अकेले किरीटमाली अर्जुनने छुर, अर्धचन्द्र तथा तीखे भल्लोंसे काट डाला। साथ ही उनके मस्तकों, भुजाओं, छत्रों, चवरों, ध्वजाओं, अश्वों, रथों, पैदलसमूहों तथा हाथियोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वे सब अनेक टुकड़ोंमें बँटकर विरूप हो आँधीके उखाड़े हुए वनोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

सुवर्णजालावतता महागजाः
सवैजयन्तीध्वजयोधकल्पिताः ।
सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः समाचिता-
श्चकाशिरे प्रज्वलिता यथाचलाः ॥ ८ ॥

सोनेकी जालियोंसे आच्छादित, वैजयन्ती ध्वजासे सुशो-भित तथा योद्धाओंद्वारा सुसज्जित किये हुए बड़े-बड़े हाथी सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे व्याप्त हो प्रज्वलित पर्वतोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

विदार्य नागाश्वरथान् धनंजयः
शरोत्तमैर्वासववज्रसंनिभैः ।
द्रुतं ययौ कर्णजिघांसया तथा
यथा मरुत्वान् बलभेदने पुरा ॥ ९ ॥

जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने बलासुरका विनाश करनेके लिये बड़े वेगसे यात्रा की थी, उसी प्रकार अर्जुन कर्णको मार डालनेकी इच्छासे इन्द्रके वज्रसदृश उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुओं-के हाथी, घोड़ों और रथोंको विदीर्ण करते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ९ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तव सैन्यमरिंदमः ।
प्रविवेश महाबाहुर्मकरः सागरं यथा ॥ १० ॥

तदनन्तर जैसे मगर समुद्रमें घुस जाता है, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनने आप-की सेनाके भीतर प्रवेश किया ॥ १० ॥

तं हृष्टास्तावका राजन् रथपत्तिसमन्विताः ।
गजाश्वसादिबहुलाः पाण्डवं समुपाद्रवन् ॥ ११ ॥

राजन् ! उस समय हर्षमें भरे हुए आपके रथियों और पैदलोंसहित हाथीसवार तथा घुड़सवार सैनिक जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, पाण्डुपुत्र अर्जुनपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

तेषामापततां पार्थमारावः सुमहानभूत् ।
सागरस्येव क्षुब्धस्य यथा स्यात् सलिलस्वनः ॥ १२ ॥

पार्थपर आक्रमण करते हुए उन सैनिकोंका महान् कोलाहल विक्षुब्ध समुद्रके जलकी गम्भीर ध्वनिके समान सब ओर गूँज उठा ॥ १२ ॥

ते तु तं पुरुषव्याघ्रं व्याघ्रा इव महारथाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा प्राणकृतं भयम् ॥ १३ ॥

वे महारथी संग्राममें प्राणोंका भय छोड़कर बाघके समान पुरुषसिंह अर्जुनकी ओर दौड़े ॥ १३ ॥

तेषामापततां तत्र शरवर्षाणि मुञ्चताम् ।
अर्जुनो व्यधमत् सैन्यं महावातो घनानिव ॥ १४ ॥

परंतु जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने बाणोंकी वर्षापूर्वक आक्रमण करनेवाले उन समस्त योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ १४ ॥

तेऽर्जुनं सहिता भूत्वा रथवंशैः प्रहारिणः ।
अभियाय महेष्वासा विव्यधुर्निशितैः शरैः ॥ १५ ॥

तब वे महाधनुर्धर योद्धा संगठित हो रथसमूहोंके साथ चढ़ाई करके अर्जुनको तीखे बाणोंसे घायल करने लगे ।१५।

(शक्तिभिस्तोमरैः प्रासैः कुणपैः कूटमुद्गरैः ।
शूलैस्त्रिशूलैः परिघैः भिन्दिपालैः परश्वधैः ॥
करवालैर्हेमदण्डैर्यष्टिभिर्मुसलैर्हलैः ।
प्रहृष्टाश्चक्रिरे पार्थं समन्ताद् गूढमायुधैः ॥)

उन हर्षभरे योद्धाओंने शक्ति, तोमर, प्रास, कुणप, कूट, मुद्गर, शूल, त्रिशूल, परिघ, भिन्दिपाल, परशु, खड्ग, हेमदण्ड, डंडे, मुसल और हल आदि आयुधोंद्वारा अर्जुनको सब ओरसे ढक दिया ॥

ततोऽर्जुनः सहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ।
प्रेषयामास विशिखैर्यमस्य सदनं प्रति ॥ १६ ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सहस्रों रथों, हाथियों और घोड़ोंको यमलोक भेजना आरम्भ किया ॥१६॥

ते वध्यमानाः समरे पार्थचापच्युतैः शरैः ।
तत्र तत्र स्म लीयन्ते भये जाते महारथाः ॥ १७ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा समराङ्गणमें मारे जाते हुए कौरव महारथी भयके मारे इधर-उधर छिपने लगे ॥

तेषां चतुःशतान् वीरान् यतमानान् महारथान् ।
अर्जुनो निशितैर्बाणैरनयद् यमसादनम् ॥ १८ ॥

उनमेंसे चार सौ वीर महारथी यत्नपूर्वक लड़ते रहे, जिन्हें अर्जुनने अपने पैने बाणोंसे यमलोक पहुँचा दिया॥१८॥

ते वध्यमानाः समरे नानालिङ्गैः शितैः शरैः ।
अर्जुनं समभित्यज्य दुद्रुवुर्वै दिशो दश ॥ १९ ॥

संग्राममें नाना प्रकारके चिह्नोंसे युक्त तीखे बाणोंकी मार खाकर वे सैनिक अर्जुनको छोड़कर दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ १९ ॥

तेषां शब्दो महानासीद् द्रवतां वाहिनीमुखे ।
महौघस्येव जलधेर्गिरिमासाद्य दीर्यतः ॥ २० ॥

युद्धके मुहानेपर भागते हुए उन योद्धाओंका महान् कोलाहल वैसा ही जान पड़ता था, जैसा कि समुद्रके महान् जलप्रवाहके पर्वतसे टकरानेपर होता है ॥ २० ॥

तां तु सेनां भृशं विद्ध्वा द्रावयित्वार्जुनः शरैः।
प्रायादभिमुखः पार्थः सूतानीकं हि मारिष ॥ २१ ॥

मान्यवर नरेश ! उस सेनाको अपने बाणोंसे अत्यन्त घायल करके भगा देनेके पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुन कर्णकी सेनाके सामने चले ॥ २१ ॥

तस्य शब्दो महानासीत् परानभिमुखस्य वै ।
गरुडस्येव पततः पन्नगार्थे यथा पुरा ॥ २२ ॥

शत्रुओंकी ओर उन्मुख हुए उनके रथका महान् शब्द वैसा ही प्रतीत होता था, जैसा कि पहले किसी सर्पको पकड़नेके लिये झपटते हुए गरुड़के पंखसे प्रकट हुआ था ॥२२॥

तं तु शब्दमभिश्रुत्य भीमसेनो महाबलः ।
बभूव परमप्रीतः पार्थदर्शनलालसः ॥ २३ ॥

उस शब्दको सुनकर महाबली भीमसेन अर्जुनके दर्शनकी लालसासे बड़े प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

श्रुत्वैव पार्थमायान्तं भीमसेनः प्रतापवान् ।
त्यक्त्वा प्राणान् महाराज सेनां तव ममर्द ह ॥ २४ ॥

महाराज ! पार्थका आना सुनते ही प्रतापी भीमसेन प्राणोंका मोह छोड़कर आपकी सेनाका मर्दन करने लगे ॥

स वायुवीर्यप्रतिमो वायुवेगसमो जवे ।
वायुवद् व्यचरद् भीमो वायुपुत्रः प्रतापवान् ॥ २५ ॥

प्रतापी वायुपुत्र भीमसेन वायुके समान वेगशाली थे । बल और पराक्रममें भी वायुकी ही समानता रखते थे । वे उस रणभूमिमें वायुके समान विचरण करने लगे ॥ २५ ॥

तेनार्द्यमाना राजेन्द्र सेना तव विशाम्पते ।
व्यभ्रश्यत महाराज भिन्ना नौरिव सागरे ॥ २६ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! राजेन्द्र ! उनसे पीड़ित हुई आपकी सेना समुद्रमें टूटी हुई नावके समान पथभ्रष्ट होने लगी ॥ २६ ॥

तां तु सेनां तदा भीमो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
शरैरवचकर्तोग्रैः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥ २७ ॥

उस समय भीमसेन अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए आपकी उस सेनाको यमलोक भेजनेके लिये भयंकर बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न करने लगे ॥ २७ ॥

तत्र भारत भीमस्य बलं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
व्यभ्रमन्त रणे योधाः कालस्येव युगक्षये ॥ २८ ॥

भारत ! उस समय प्रलयकालीन कालके समान भीमसेनके अलौकिक बलको देखकर रणभूमिमें सारे योद्धा इधर-उधर भटकने लगे ॥ २८ ॥

तथार्दितान् भीमबलान् भीमसेनेन भारत ।
दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा इदं वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! भयंकर बलशाली अपने सैनिकोंको भीमसेनके द्वारा इस प्रकार पीड़ित देखकर राजा दुर्योधनने उनसे निम्नाङ्कित वचन कहा ॥ २९ ॥

सैनिकांश्च महेष्वासान् योधांश्च भरतर्षभ ।
समादिशन् रणे सर्वान् हत भीममिति स्म ह ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसने अपने महाधनुर्धर समस्त सैनिकों और योद्धाओंको रणभूमिमें इस प्रकार आदेश देते हुए कहा—'तुम सब लोग मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ ३० ॥

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डुसैन्यमशेषतः ।
प्रतिगृह्य च तामाज्ञां तव पुत्रस्य पार्थिवाः ॥ ३१ ॥
भीमं प्रच्छादयामासुः शरवर्षैः समन्ततः ।

'उनके मारे जानेपर मैं सारी पाण्डवसेनाको मरी हुई ही मानता हूँ ।' आपके पुत्रकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके समस्त राजाओंने चारों ओरसे बाणवर्षा करके भीमसेनको ढक दिया ॥ ३१½ ॥

गजाश्च बहुला राजन् नराश्च जयगृद्धिनः ॥ ३२ ॥
रथे स्थिताश्च राजेन्द्र परिवव्रुर्वृकोदरम् ।

राजन्! राजेन्द्र ! बहुतसे हाथियों, विजयाभिलाषी पैदल मनुष्यों तथा रथियोंने भी भीमसेनको घेर लिया था ॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो राजन् समन्ततः ॥ ३३ ॥
शुशुभे भरतश्रेष्ठो नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।

नरेश्वर ! उन शूरवीरोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए शौर्य-सम्पन्न भरतश्रेष्ठ भीम नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३३½ ॥

परिवेषी यथा सोमः परिपूर्णो विराजते ॥ ३४ ॥
स रराज तथा संख्ये दर्शनीयो नरोत्तमः ।
निर्विशेषो महाराज यथा हि विजयस्तथा ॥ ३५ ॥

जैसे घेरेसे घिरे हुए पूर्णिमाके चन्द्रमा प्रकाशित होते हों, उसी प्रकार युद्धस्थलमें दर्शनीय नरश्रेष्ठ भीमसेन शोभा पा रहे थे । महाराज ! वे अर्जुनके समान ही प्रतीत होते थे । उनमें और अर्जुनमें कोई अन्तर नहीं रह गया था ॥

तस्य ते पार्थिवाः सर्वे शरवृष्टिं समासृजन् ।
क्रोधरक्तेक्षणाः शूरा हन्तुकामा वृकोदरम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर क्रोधसे लाल आँखें किये वे समस्त शूरवीर भूपाल भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३६ ॥

तां विदार्य महासेनां शरैः संनतपर्वभिः ।
निश्चक्राम रणाद् भीमो मत्स्यो जालादिवाम्भसि॥३७॥

यह देख भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उस विशाल सेनाको विदीर्ण करके उसी प्रकार उसके घेरेसे बाहर निकल आये, जैसे कोई-कोई मत्स्य पानीमें डाले हुए जालको छेदकर बाहर निकल जाता है ॥ ३७ ॥

हत्वा दशसहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम् ।
नृणां शतसहस्रे द्वे द्वे शते चैव भारत ॥ ३८ ॥
पञ्च चाश्वसहस्राणि रथानां शतमेव च ।
हत्वा प्रास्यन्दयद् भीमो नदीं शोणितवाहिनीम्॥३९॥

भारत ! युद्धसे पीछे न हटनेवाले दस हजार गजराजों, दो लाख और दो सौ पैदल मनुष्यों, पाँच हजार घोड़ों और सौ रथोंको नष्ट करके भीमसेनने वहाँ रक्तकी नदी बहा दी ॥ ३८-३९ ॥

शोणितोदां रथावर्तां हस्तिग्राहसमाकुलाम् ।
नरमीनाश्वनक्रान्तां केशशैवलशाद्वलाम् ॥ ४० ॥
संछिन्नभुजनागेन्द्रां बहुरत्नापहारिणीम् ।
ऊरुग्राहां मज्जपङ्कां शीर्षोपलसमावृताम् ॥ ४१ ॥
धनुष्काशां शरावापां गदापरिघपन्नगाम् ।
हंसच्छत्रध्वजोपेतामुष्णीषवरफेनिलाम् ॥ ४२ ॥
हारपद्माकरां चैव भूमिरेणूर्मिमालिनीम् ।
आर्यवृत्तवतां संख्ये सुतरां भीरुदुस्तराम् ॥ ४३ ॥
योधग्राहवतीं संख्ये वहन्तीं यमसादनम् ।
क्षणेन पुरुषव्याघ्रः प्रावर्तयत निम्नगाम् ॥ ४४ ॥
यथा वैतरणीमुग्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तथा दुस्तरणीं घोरां भीरूणां भयवर्धिनीम् ॥ ४५ ॥

रक्त ही उस नदीका जल था, रथ भँवरके समान जान पड़ते थे, हाथीरूपी ग्राहोंसे वह नदी भरी हुई थी, मनुष्य, मत्स्य और घोड़े नाकोंके समान जान पड़ते थे, सिरके बाल उसमें सेवार और घासके समान थे । कटी हुई भुजाएँ बड़े-बड़े सर्पोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं । वह बहुतसे रत्नोंको बहाये लिये जाती थी । उसके भीतर पड़ी हुई जाँघें ग्राहोंके समान जान पड़ती थीं । मज्जा पङ्कका काम देती थी, मस्तक पत्थरके टुकड़ोंके समान वहाँ छा रहे थे, धनुष किनारे उगे हुए कासके समान जान पड़ते थे । बाण ही वहाँके अङ्कुर थे, गदा और परिघ सर्पोंके समान प्रतीत होते थे । छत्र और ध्वज उसमें हंसके सदृश दिखायी पड़ते थे । पगड़ी फेनका भ्रम उत्पन्न करती थी । हार कमलवनके समान प्रतीत होते थे । धरतीकी धूल तरङ्गमाला बनकर शोभा दे रही थी । योद्धा ग्राह आदि जलजन्तुओं-से प्रतीत होते थे । युद्धस्थलमें बहने-वाली वह रक्तनदी यमलोककी ओर जा रही थी, वैतरणीके समान वह सदाचारी पुरुषोंके लिये सुगमतासे पार होने योग्य और कायरोंके लिये दुस्तर थी। पुरुषसिंह भीमसेनने क्षणभरमें वैतरणीके समान भयंकर रक्तकी नदी बहा दी थी । वह अकृतात्मा पुरुषोंके लिये दुस्तर, घोर एवं भीरु पुरुषोंका भय बढ़ानेवाली थी॥ ४०–४५ ॥

यतो यतः पाण्डवेयः प्रविष्टो रथसत्तमः ।
ततस्ततोऽघातयत योधाञ्शतसहस्रशः ॥ ४६ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेन जिस-जिस ओर घुसते, उसी ओर लाखों योद्धाओंका संहार कर डालते थे ॥ ४६ ॥

एवं दृष्ट्वा कृतं कर्म भीमसेनेन संयुगे ।
दुर्योधनो महाराज शकुनिं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

महाराज ! युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा किये गये ऐसे कर्मको देखकर दुर्योधनने शकुनिसे कहा—॥ ४७॥

जहि मातुल संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
अस्मिञ्जिते जितं मन्ये पाण्डवेयं महाबलम् ॥ ४८ ॥

'मामाजी ! आप संग्राममें महाबली भीमसेनको मार डालिये । यदि इनको जीत लिया गया तो मैं समझूँगा कि पाण्डवोंकी विशाल सेना ही जीत ली गयी' ॥ ४८ ॥

ततः प्रायान्महाराज सौबलेयः प्रतापवान् ।
रणाय महते युक्तो भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ४९ ॥
स समासाद्य संग्रामे भीमं भीमपराक्रमम् ।
वारयामास तं वीरो वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥

महाराज ! तब भाइयोंसे घिरा हुआ प्रतापी सुबलपुत्र शकुनि महान् युद्धके लिये उद्यत हो आगे बढ़ा । संग्राममें भयानक पराक्रमी भीमसेनके पास पहुँचकर उस वीरने उन्हें उसी तरह रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको रोक देती है ॥ ४९-५० ॥

संन्यवर्तत तं भीमो वार्यमाणः शितैः शरैः ।
शकुनिस्तस्य राजेन्द्र वामपार्श्वे स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
प्रेषयामास नाराचान् रुक्मपुङ्खाञ्शिलाशितान्।

राजेन्द्र ! उसके तीखे बाणोंसे रोके जाते हुए भीमसेन उसीकी ओर लौट पड़े ! उस समय शकुनिने उनकी बायीं पसली और छातीमें सोनेके पंखवाले और शिलापर तेज किये हुए कई नाराच मारे ॥ ५१½ ॥

वर्म भित्त्वा तु ते घोराः पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ५२॥
न्यमज्जन्त महाराज कङ्कबर्हिणवाससः ।

महाराज ! कङ्क और मयूरके पंखवाले वे भयंकर नाराच महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनका कवच छेदकर उनके शरीरमें डूब गये ॥ ५२½ ॥

सोऽतिविद्धो रणे भीमः शरं रुक्मविभूषितम् ॥ ५३ ॥
प्रेषयामास स रुषा सौबलं प्रति भारत ।

भारत ! तब रणभूमिमें अत्यन्त घायल हुए भीमसेनने कुपित हो शकुनिकी ओर एक सुवर्णभूषित बाण चलाया ॥

तमायान्तं शरं घोरं शकुनिः शत्रुतापनः ॥ ५४ ॥
चिच्छेद सप्तधा राजन् कृतहस्तो महाबलः ।

राजन् ! शत्रुओंको संताप देनेवाला महाबली शकुनि सिद्धहस्त था। उसने अपनी ओर आते हुए उस भयंकर बाणके सात टुकड़े कर डाले ॥ ५४½ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ भीमः क्रुद्धो विशाम्पते ॥ ५५ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सौबलस्य हसन्निव ।

राजन् ! उस बाणके धराशायी हो जानेपर भीमसेनने क्रोधपूर्वक हँसते हुए-से एक भल्ल मारकर शकुनिके धनुषको काट दिया ॥ ५५½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं सौबलेयः प्रतापवान् ॥ ५६ ॥
अन्यदादाय वेगेन धनुर्भल्लांश्च षोडश ।

प्रतापी सुबलपुत्र शकुनिने उस कटे हुए धनुषको फेंककर बड़े वेगसे दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और उसके द्वारा सोलह भल्ल चलाये ॥ ५६½ ॥

तैस्तस्य तु महाराज भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ ५७ ॥
द्वाभ्यां स सारथिं ह्यार्च्छद् भीमं सप्तभिरेव च।

महाराज ! झुकी हुई गाँठवाले उन भल्लोंमेंसे दोके द्वारा शकुनिने भीमसेनके सारथिको और सातसे स्वयं भीमसेनको भी घायल कर दिया ॥ ५७½ ॥

ध्वजमेकेन चिच्छेद द्वाभ्यां छत्रं विशाम्पते ॥ ५८ ॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् विव्याध सुबलात्मजः ।

प्रजानाथ ! फिर सुबलपुत्रने एक बाणसे ध्वजको, दो बाणोंसे छत्रको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ ५८½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
शक्तिं चिक्षेप समरे रुक्मदण्डामयस्मयीम् ।

महाराज ! तब क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने समराङ्गणमें शकुनिपर सुवर्णमय दण्डवाली एक लोहेकी शक्ति चलायी ॥ ५९½ ॥

सा भीमभुजनिर्मुक्ता नागजिह्वेव चञ्चला ॥ ६० ॥
निपपात रणे तूर्णं सौबलस्य महात्मनः ।

भीमसेनके हाथोंसे छूटी हुई सर्पकी जिह्वाके समान वह चञ्चल शक्ति रणभूमिमें तुरंत ही महामना शकुनिपर जा पड़ी ॥ ६०½ ॥

ततस्तामेव संगृह्य शक्तिं कनकभूषणाम् ॥ ६१ ॥
भीमसेनाय चिक्षेप क्रुद्धरूपो विशाम्पते ।

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए शकुनिने उस सुवर्णभूषित शक्तिको हाथसे पकड़ लिया और उसीको भीमसेनपर दे मारा ॥

सा निर्भिद्य भुजं सव्यं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ६२ ॥
निपपात तदा भूमौ यथा विद्युन्नभश्च्युता ।

आकाशसे गिरी हुई बिजलीके समान वह शक्ति महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनकी बायीं भुजाको विदीर्ण करके तत्काल भूमिपर गिर पड़ी ॥ ६२½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महाराज धार्तराष्ट्रैः समन्ततः ॥ ६३ ॥
न तु तं ममृषे भीमः सिंहनादं तरस्विनाम् ।

महाराज ! यह देखकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने चारों ओरसे गर्जना की; परंतु भीमसेन उन वेगशाली वीरोंका वह सिंहनाद नहीं सह सके ॥ ६३½ ॥

अन्यद् गृह्य धनुः सज्यं त्वरमाणो महाबलः ॥ ६४ ॥
मुहूर्तादिव राजेन्द्र च्छादयामास सायकैः ।
सौबलस्य बलं संख्ये त्यक्त्वाऽऽत्मानं महाबलः॥ ६५॥

राजेन्द्र ! महाबली भीमने बड़ी उतावलीके साथ दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और युद्धमें अपने जीवनका मोह छोड़कर सुबलपुत्रकी सेनाको उसी समय बाणोंद्वारा ढक दिया ॥ ६४-६५ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं चैव विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन त्वरमाणः पराक्रमी ॥ ६६ ॥

प्रजानाथ ! पराक्रमी भीमसेनने फुर्ती दिखाते हुए शकुनिके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर एक भल्लके द्वारा उसके ध्वजको भी काट दिया ॥ ६६ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य त्वरमाणो नरोत्तमः ।
तस्थौ विस्फारयंश्चापं क्रोधरक्तेक्षणः श्वसन् ॥ ६७ ॥

उस समय नरश्रेष्ठ शकुनि उस अश्वहीन रथको छोड़कर क्रोधसे लाल आँखें किये लंबी साँस खींचता और धनुषकी टङ्कार करता हुआ तुरंत भूमिपर खड़ा हो गया ॥ ६७ ॥

शरैश्च बहुधा राजन् भीममार्च्छत् समन्ततः ।
प्रतिहत्य तु वेगेन भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ६८ ॥
धनुश्चिच्छेद संक्रुद्धो विव्याध च शितैः शरैः।

राजन् ! उसने अपने बाणोंद्वारा भीमसेनपर सब ओरसे

बारंबार प्रहार किया, किंतु प्रतापी भीमसेनने बड़े वेगसे उसके बाणोंको नष्ट करके अत्यन्त कुपित हो उसका धनुष काट डाला और पैने बाणोंसे उसे घायल कर दिया ॥६८½॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुकर्शनः ॥ ६९ ॥
निपपात तदा भूमौ किंचित्प्राणो नराधिपः ।

बलवान् शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किया हुआ शत्रुसूदन राजा शकुनि तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय उसमें जीवनका कुछ-कुछ लक्षण शेष था ॥ ६९½ ॥

ततस्तं विह्वलं ज्ञात्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ ७० ॥
अपोवाह रथेनाजौ भीमसेनस्य पश्यतः ।

प्रजानाथ ! उसे विह्वल जानकर आपका पुत्र दुर्योधन रणभूमिमें रथके द्वारा भीमसेनके देखते-देखते अन्यत्र हटा ले गया ॥ ७०½ ॥

रथस्थे तु नरव्याघ्रे धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखाः ॥ ७१ ॥
प्रदुद्रुवुर्दिशो भीता भीमाज्जाते महाभये ।

पुरुषसिंह भीमसेन रथपर ही बैठे रहे । उनसे महान् भय प्राप्त होनेके कारण धृतराष्ट्रके सभी पुत्र युद्धसे मुँह मोड़, डरकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ७१½ ॥

सौबले निर्जिते राजन् भीमसेनेन धन्विना ॥ ७२ ॥
भयेन महताऽऽविष्टः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अपायाज्जवनैरश्वैः सापेक्षो मातुलं प्रति ॥ ७३ ॥

राजन् ! धनुर्धर भीमसेनके द्वारा शकुनिके परास्त हो जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनको बड़ा भय हुआ । वह मामाके जीवनकी रक्षा चाहता हुआ वेगशाली घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग निकला ॥ ७२-७३ ॥

पराङ्मुखं तु राजानं दृष्ट्वा सैन्यानि भारत ।
विप्रजग्मुः समुत्सृज्य द्वैरथानि समन्ततः ॥ ७४ ॥

भारत ! राजा दुर्योधनको युद्धसे विमुख हुआ देख सारी सेनाएँ सब ओरसे द्वैरथ युद्ध छोड़कर भाग चलीं ॥ ७४ ॥

तान् दृष्ट्वा विद्रुतान् सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान्।
जवेनाभ्यापतद् भीमः किरञ्शरशतान् बहून् ॥ ७५ ॥

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे विमुख होकर भागते देख भीमसेन कई सौ बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे उनपर टूट पड़े ॥ ७५ ॥

ते वध्यमाना भीमेन धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखाः ।
कर्णमासाद्य समरे स्थिता राजन् समन्ततः ॥ ७६ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें भीमसेनकी मार खाकर युद्धसे विमुख हुए धृतराष्ट्रके पुत्र सब ओरसे कर्णके पास जाकर खड़े हुए ॥ ७६ ॥

स हि तेषां महावीर्यो द्वीपोऽभूत् सुमहाबलः ।
भिन्ननौका यथा राजन् द्वीपमासाद्य निर्वृताः॥ ७७ ॥
भवन्ति पुरुषव्याघ्र नाविकाः कालपर्यये ।
तथा कर्णं समासाद्य तावकाः पुरुषर्षभ ॥ ७८ ॥
समाश्वस्ताः स्थिता राजन् सम्प्रहृष्टाः परस्परम्।
समाजग्मुश्च युद्धाय मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ७९ ॥

उस समय महापराक्रमी महाबली कर्ण ही उन भागते हुए कौरवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हुआ । पुरुषसिंह ! नरेश्वर ! जैसे टूटी हुई नौकावाले नाविक कुछ कालके पश्चात् किसी द्वीपकी शरण लेकर संतुष्ट होते हैं, उसी प्रकार आपके सैनिक कर्णके पास पहुँचकर परस्पर आश्वासन पाकर निर्भय खड़े हुए । फिर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी सीमा निश्चित करके वे युद्धके लिये आगे बढ़े ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शकुनिपराजये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शकुनिकी पराजयविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८१ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवसेनाका संहार और पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

ततो भग्नेषु सैन्येषु भीमसेनेन संयुगे ।
दुर्योधनोऽब्रवीत् किं नु सौबलो वापि संजय ॥ १ ॥
कर्णो वा जयतां श्रेष्ठो योधा वा मामका युधि।
कृपो वा कृतवर्मा वा द्रौणिर्दुःशासनोऽपि वा ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा जब कौरवसेनाएँ भगा दी गयीं, तब दुर्योधन, शकुनि, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ कर्ण, मेरे अन्य योद्धा कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा अथवा दुःशासनने क्या कहा ? ॥ १-२ ॥

अत्यद्भुतमहं मन्ये पाण्डवेयस्य विक्रमम् ।
यदेकः समरे सर्वान् योधयामास मामकान् ॥ ३ ॥

मैं पाण्डुनन्दन भीमसेनका पराक्रम बड़ा अद्भुत मानता हूँ कि उन्होंने अकेले ही समराङ्गणमें मेरे समस्त योद्धाओंके साथ युद्ध किया ॥ ३ ॥

यथाप्रतिज्ञं योधानां राधेयः कृतवानपि ।
कुरूणामथ सर्वेषां कर्णः शत्रुनिषूदनः ॥ ४ ॥
शर्म वर्म प्रतिष्ठा च जीविताशा च संजय ।

शत्रुसूदन राधापुत्र कर्णने भी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सारा कार्य किया । संजय ! वही समस्त कौरव योद्धाओंका कल्याणकारी आश्रय, कवचके समान संरक्षक, प्रतिष्ठा और जीवनकी आशा था ॥ ४½ ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा कौन्तेयेनामितौजसा ॥ ५ ॥
राधेयो वाप्याधिरथिः कर्णः किमकरोद् युधि ।
पुत्रा वा मम दुर्धर्षा राजानो वा महारथाः ।

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि संजय ॥ ६ ॥

अमिततेजस्वी कुन्तीपुत्र भीमसेनके द्वारा अपनी सेनाको भगायी गयी देख अधिरथ और राधाके पुत्र कर्णने युद्धमें कौन-सा पराक्रम किया ? मेरे पुत्रों अथवा महारथी दुर्धर्ष नरेशोंने क्या किया ? संजय ! यह सब वृत्तान्त मुझे बताओ; क्योंकि तुम कथा कहनेमें कुशल हो ॥ ५-६ ॥

संजय उवाच

अपराह्णे महाराज सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
जघान सोमकान् सर्वान् भीमसेनस्य पश्यतः॥ ७ ॥

संजय बोला—महाराज ! प्रतापी सूतपुत्रने अपराह्ण कालमें भीमसेनके देखते-देखते समस्त सोमकोंका संहार कर डाला ॥ ७ ॥

भीमोऽप्यतिबलं सैन्यं धार्तराष्ट्रं व्यपोथयत् ।
अथ कर्णोऽब्रवीच्छल्यं पञ्चालान् प्रापयस्व माम्॥ ८ ॥

इसी प्रकार भीमसेनने भी कौरवोंकी अत्यन्त बलवती सेनाको मार गिराया । तत्पश्चात् कर्णने शल्यसे कहा—'मुझे पाञ्चालोंके पास ले चलो' ॥ ८ ॥

द्राव्यमाणं बलं दृष्ट्वा भीमसेनेन धीमता ।
यन्तारमब्रवीत् कर्णः पञ्चालानेव मां वह ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् भीमसेनके द्वारा कौरवसेनाको भगायी जाती देख रथी कर्णने सारथि शल्यसे कहा—'मुझे पाञ्चालोंकी ओर ही ले चलो' ॥ ९ ॥

मद्रराजस्ततः शल्यः श्वेतानश्वान् महाजवान् ।
प्राहिणोच्चेदिपञ्चालान् करूषांश्च महाबलः ॥ १० ॥

तब महाबली मद्रराज शल्यने महान् वेगशाली श्वेत अश्वोंको चेदि, पाञ्चाल और करूषोंकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

प्रविश्य च महत् सैन्यं शल्यः परबलार्दनः ।
न्ययच्छत् तुरगान् हृष्टो यत्र यत्रैच्छदग्रणीः ॥ ११ ॥

शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले शल्यने उस विशाल सेनामें प्रवेश करके जहाँ सेनापतिकी इच्छा हुई, वहीं बड़े हर्षके साथ घोड़ोंको रोक दिया ॥ ११ ॥

तं रथं मेघसंकाशं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
संदृश्य पाण्डुपञ्चालास्त्रस्ता ह्यासन् विशाम्पते॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और मेघगर्जनके समान गम्भीर घोष करनेवाले उस रथको देखकर पाण्डव तथा पाञ्चाल सैनिक त्रस्त हो उठे ॥ १२ ॥

ततो रथस्य निनदः प्रादुरासीन्महारणे ।
पर्जन्यसमनिर्घोषः पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १३ ॥

तदनन्तर उस महायुद्धमें फटते हुए पर्वत और गर्जते हुए मेघके समान उसके रथका गम्भीर घोष प्रकट हुआ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैः कर्ण आकर्णनिःसृतैः ।
जघान पाण्डवबलं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् कर्णने कानतक खींचकर छोड़े गये सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाके सैकड़ों और हजारों वीरोंका संहार कर डाला ॥ १४ ॥

तं तथा समरे कर्म कुर्वाणमपराजितम् ।
परिवव्रुर्महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १५ ॥

संग्राममें ऐसा पराक्रम प्रकट करनेवाले उस अपराजित वीरको महाधनुर्धर पाण्डव महारथियोंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

तं शिखण्डी च भीमश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च सात्यकिः ॥ १६ ॥
परिवव्रुर्जिघांसन्तो राधेयं शरवृष्टिभिः ।

शिखण्डी, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और सात्यकिने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा राधापुत्र कर्णको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ १६½ ॥

सात्यकिस्तु तदा कर्णं विंशत्या निशितैः शरैः॥ १७ ॥
अताडयद् रणे शूरो जत्रुदेशे नरोत्तमः ।

उस समय शूरवीर नरश्रेष्ठ सात्यकिने रणभूमिमें बीस पैने बाणोंद्वारा कर्णके गलेकी हँसलीपर प्रहार किया ॥१७½॥

शिखण्डी पञ्चविंशत्या धृष्टद्युम्नश्च सप्तभिः ॥ १८ ॥
द्रौपदेयाश्चतुःषष्ट्या सहदेवश्च सप्तभिः ।
नकुलश्च शतेनाजौ कर्णं विव्याध सायकैः ॥ १९ ॥

शिखण्डीने पचीस, धृष्टद्युम्नने सात, द्रौपदीके पुत्रोंने चौसठ, सहदेवने सात और नकुलने सौ बाणोंद्वारा कर्णको युद्धमें घायल कर दिया ॥ १८-१९ ॥

भीमसेनस्तु राधेयं नवत्या नतपर्वणाम् ।
विव्याध समरे क्रुद्धो जत्रुदेशे महाबलः ॥ २० ॥

तदनन्तर महाबली भीमसेनने समरभूमिमें कुपित हो राधापुत्र कर्णके गलेकी हँसलीपर झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंका प्रहार किया ॥ २० ॥

अथ प्रहस्याधिरथिर्व्याक्षिपद् धनुरुत्तमम् ।
मुमोच निशितान् बाणान् पीडयन् सुमहाबलः॥ २१ ॥

तब अधिरथपुत्र महाबली कर्णने हँसकर अपने उत्तम धनुषकी टंकार की और उन सबको पीड़ा देते हुए उनपर पैने बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ २१ ॥

तान् प्रत्यविध्यद् राधेयः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।
सात्यकेस्तु धनुश्छित्त्वा ध्वजं च भरतर्षभ ॥ २२ ॥
तं तथा नवभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

भरतश्रेष्ठ ! राधापुत्र कर्णने पाँच-पाँच बाणोंसे उन सबको घायल कर दिया । फिर सात्यकिका ध्वज और धनुष काटकर उनकी छातीमें नौ बाणोंका प्रहार किया ॥ २२½ ॥

भीमसेनं ततः क्रुद्धो विव्याध त्रिंशता शरैः ॥ २३ ॥
सहदेवस्य भल्लेन ध्वजं चिच्छेद मारिष ।

आर्य ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए कर्णने भीमसेनको

तीस बाणोंसे घायल किया और एक भल्लसे सहदेवकी ध्वजा काट डाली ॥ २३½ ॥

सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान परंतपः ॥ २४ ॥
विरथान् द्रौपदेयांश्च चकार भरतर्षभ ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, शत्रुओंको संताप देनेवाले कर्णने तीन बाणोंसे सहदेवके सारथिको भी मार डाला और पलक मारते-मारते द्रौपदीके पुत्रोंको रथहीन कर दिया । भरतश्रेष्ठ ! वह अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ २४-२५ ॥

विमुखीकृत्य तान् सर्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
पञ्चालानहनच्छूरांश्चेदीनां च महारथान् ॥ २६ ॥

उसने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उन समस्त वीरोंको युद्धसे विमुख करके पाञ्चालवीरों और चेदि-देशीय महारथियोंको मारना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ते वध्यमानाः समरे चेदिमत्स्या विशाम्पते ।
कर्णमेकमभिद्रुत्य शरसङ्घैः समार्पयन् ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! समरमें घायल होते हुए भी चेदि और मत्स्य देशके वीरोंने एकमात्र कर्णपर धावा करके उसे बाण-समूहोंसे ढक दिया ॥ २७ ॥

ताञ्जघान शितैर्बाणैः सूतपुत्रो महारथः ।
ते वध्यमानाः समरे चेदिमत्स्या विशाम्पते ॥ २८ ॥
प्राद्रवन्त रणे भीताः सिंहत्रस्ता मृगा इव ।

महारथी सूतपुत्रने पैने बाणोंसे उन सबको घायल कर दिया । प्रजानाथ ! समरमें मारे जाते हुए चेदि और मत्स्य देशके वीर सिंहसे डरे हुए मृगोंके समान रणभूमिमें कर्णसे भयभीत हो भागने लगे ॥ २८½ ॥

एतदत्यद्भुतं कर्म दृष्टवानस्मि भारत ॥ २९ ॥
यदेकः समरे शूरान् सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
यतमानान् परं शक्त्या योधयानांश्च धन्विनः॥ ३० ॥
पाण्डवेयान् महाराज शरैर्वारितवान् रणे ।

भारत ! महाराज ! यह अद्भुत पराक्रम मैंने अपनी आँखों देखा था कि अकेले प्रतापी सूतपुत्रने समराङ्गणमें पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले पाण्डवपक्षीय धनुर्धर वीरोंको अपने बाणोंद्वारा रणभूमिमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २९-३०½ ॥

तत्र भारत कर्णस्य लाघवेन महात्मनः ॥ ३१ ॥
तुतुषुर्देवताः सर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

भरतनन्दन ! वहाँ महामनस्वी कर्णकी फुर्ती देखकर चारणोंसहित सिद्धगण और सम्पूर्ण देवता बहुत संतुष्ट हुए ॥

अपूजयन् महेष्वासा धार्तराष्ट्रा नरोत्तमम् ॥ ३२ ॥
कर्णं रथवरश्रेष्ठं श्रेष्ठं सर्वधनुष्मताम् ।

धृतराष्ट्रके महाधनुर्धर पुत्र सम्पूर्ण धनुर्धरों तथा रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम कर्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततः कर्णो महाराज ददाह रिपुवाहिनीम् ॥ ३३ ॥
कक्षमिद्धो यथा वह्निर्निदाघे ज्वलितो महान् ।

महाराज ! जैसे ग्रीष्मऋतुमें अत्यन्त प्रज्वलित हुई आग सूखे काठ एवं घास-फूसको जला देती है, उसी प्रकार कर्ण शत्रुसेनाको दग्ध करने लगा ॥ ३३½ ॥

ते वध्यमानाः कर्णेन पाण्डवेयास्ततस्ततः ॥ ३४ ॥
प्राद्रवन्त रणे भीताः कर्णं दृष्ट्वा महारथम् ।

कर्णके द्वारा मारे जाते हुए पाण्डवसैनिक रणभूमिमें उस महारथी वीरको देखते ही भयभीत हो जहाँ-तहाँसे भागने लगे ॥ ३४½ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् पञ्चालानां महारणे ॥ ३५ ॥
वध्यतां सायकैस्तीक्ष्णैः कर्णचापवरच्युतैः ।

कर्णके धनुषसे छूटे हुए तीखे बाणोंद्वारा मारे जानेवाले पाञ्चालोंका महान् आर्तनाद उस महासमरमें गूँजने लगा ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता पाण्डवानां महाचमूः ॥ ३६ ॥
कर्णमेकं रणे योधं मेनिरे तत्र शात्रवाः ।

उस घोर शब्दसे पाण्डवोंकी विशाल सेना भयभीत हो उठी । शत्रुओंके सभी सैनिक रणभूमिमें एकमात्र कर्णको ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा मानने लगे ॥ ३६½ ॥

तत्राद्भुतं पुनश्चक्रे राधेयः शत्रुकर्शनः ॥ ३७ ॥
यदेनं पाण्डवाः सर्वे न शेकुरभिवीक्षितुम् ।

शत्रुसूदन राधापुत्रने पुनः वहाँ अद्भुत पराक्रम प्रकट किया, जिससे समस्त पाण्डव-योद्धा उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सके ॥ ३७½ ॥

यथौघः पर्वतश्रेष्ठमासाद्याभिप्रदीर्यते ॥ ३८ ॥
तथा तत् पाण्डवं सैन्यं कर्णमासाद्य दीर्यते ।

जैसे जलका महान् प्रवाह किसी ऊँचे पर्वतसे टकराकर कई धाराओंमें बँट जाता है, उसी प्रकार पाण्डवसेना कर्णके पास पहुँचकर तितर-बितर हो जाती थी ॥ ३८½ ॥

कर्णोऽपि समरे राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ ३९ ॥
दहंस्तस्थौ महाबाहुः पाण्डवानां महाचमूम् ।

राजन् ! समराङ्गणमें धूमरहित अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाला महाबाहु कर्ण भी पाण्डवोंकी विशाल सेनाको दग्ध करता हुआ स्थिरभावसे खड़ा रहा ॥ ३९½ ॥

शिरांसि च महाराज कर्णांश्चैव सकुण्डलान् ॥ ४० ॥
बाहूंश्च वीरो वीराणां चिच्छेद लघु चेषुभिः ।

महाराज ! वीर कर्णने बाणोंद्वारा पाण्डव-पक्षके वीरोंके मस्तक, कुण्डलसहित कान तथा भुजाएँ शीघ्रतापूर्वक काट डालीं ॥ ४०½ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गान् ध्वजाञ्शक्तीर्हयान् गजान्॥
रथांश्च विविधान् राजन् पताका व्यजनानि च ।
अक्षं च युगयोक्त्राणि चक्राणि विविधानि च॥ ४२ ॥
चिच्छेद बहुधा कर्णो योधव्रतमनुष्ठितः ।

राजन् ! योद्धाओंके व्रतका पालन करनेवाले कर्णने हाथी-दाँतकी बनी हुई मूँठवाले खड्गों, ध्वजों, शक्तियों, घोड़ों, हाथियों, नाना प्रकारके रथों, पताकाओं, व्यजनों, धुरों, जूओं, जोतों और भाँति-भाँतिके पहियोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४१-४२½ ॥

तत्र भारत कर्णेन निहतैर्गजवाजिभिः ॥ ४३ ॥
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ।

भारत ! वहाँ कर्णद्वारा मारे गये हाथियों और घोड़ोंकी लाशोंसे पृथ्वीपर चलना असम्भव हो गया । रक्त और मांसकी कीच जम गयी ॥ ४३½ ॥

विषमं च समं चैव हतैरश्वपदातिभिः ॥ ४४ ॥
रथैश्च कुञ्जरैश्चैव न प्राज्ञायत किञ्चन ।

मरे हुए घोड़ों, पैदलों, रथों और हाथियोंसे पट जानेके कारण वहाँकी ऊँची-नीची भूमिका कुछ पता नहीं लगता था ॥

नापि स्वे न परे योधाः प्राज्ञायन्त परस्परम् ॥ ४५ ॥
घोरे शरान्धकारे तु कर्णास्त्रे च विजृम्भिते ।

कर्णका अस्त्र जब वेगपूर्वक बढ़ने लगा तो वहाँ बाणोंसे घोर अन्धकार छा गया । उसमें अपने और शत्रुपक्षके योद्धा परस्पर पहचाने नहीं जाते थे ॥ ४५½ ॥

राधेयचापनिर्मुक्तैः शरैः काञ्चनभूषणैः ॥ ४६ ॥
संछादिता महाराज पाण्डवानां महारथाः ।

महाराज ! राधापुत्रके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा समस्त पाण्डव महारथी आच्छादित हो गये ॥

ते पाण्डवेयाः समरे राधेयेन पुनः पुनः ॥ ४७ ॥
अभज्यन्त महाराज यतमाना महारथाः ।

महाराज ! समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले पाण्डवपक्षके महारथी राधापुत्र कर्णके द्वारा बारंबार भागनेको विवश कर दिये जाते थे ॥ ४७½ ॥

मृगसङ्घान् यथा क्रुद्धः सिंहो द्रावयते वने ॥ ४८ ॥
पञ्चालानां रथश्रेष्ठान् द्रावयञ्शात्रवांस्तथा ।
कर्णस्तु समरे योधांस्त्रासयन् सुमहायशाः ॥ ४९ ॥
कालयामास तत् सैन्यं यथा पशुगणान् वृकः ।

जैसे वनमें कुपित हुआ सिंह मृगसमूहोंको खदेड़ता रहता है, उसी प्रकार शत्रुपक्षके पाञ्चाल महारथियोंको भगाता हुआ महायशस्वी कर्ण समराङ्गणमें समस्त योद्धाओंको त्रास देने लगा । जैसे भेड़िया पशुसमूहोंको भयभीत करके भगा देता है, उसी प्रकार कर्णने पाण्डवसेनाको खदेड़ दिया ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवीं सेनां धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखीम्॥ ५० ॥
तत्राजग्मुर्महेष्वासा रुवन्तो भैरवान् रवान् ।

पाण्डवसेनाको युद्धसे विमुख हुई देख आपके महाधनुर्धर पुत्र भीषण गर्जना करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥

दुर्योधनो हि राजेन्द्र मुदा परमया युतः ॥ ५१ ॥
वादयामास संहृष्टो नानावाद्यानि सर्वशः ।

राजेन्द्र ! उस समय दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । वह हर्षमें भरकर सब ओर नाना प्रकारके बाजे बजवाने लगा ॥

पञ्चालापि महेष्वासा भग्नास्तत्र नरोत्तमाः ॥ ५२ ॥
न्यवर्तन्त यथा शूरं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ।

उस समय वहाँ भगे हुए महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ पाञ्चाल मृत्युको ही युद्धसे लौटनेकी अवधि निश्चित करके पुनः सूतपुत्र कर्णसे जूझनेके लिये लौट आये ॥ ५२½ ॥

तान् निवृत्तान् रणे शूरान् राधेयः शत्रुतापनः॥ ५३ ॥
अनेकशो महाराज बभञ्ज पुरुषर्षभः ।

महाराज ! शत्रुओंको संताप देनेवाला पुरुषश्रेष्ठ राधापुत्र कर्ण उन लौटे हुए शूरवीरोंको रणभूमिमें बारंबार भगा देता था॥

तत्र भारत कर्णेन पञ्चाला विंशती रथाः ॥ ५४ ॥
निहताः सायकैः क्रोधाच्चेदयश्च परः शताः ।

भरतनन्दन ! कर्णने वहाँ बाणोंद्वारा बीस पाञ्चाल रथियों और सौसे भी अधिक चेदिदेशीय योद्धाओंको क्रोधपूर्वक मार डाला ॥ ५४½ ॥

कृत्वा शून्यान् रथोपस्थान् वाजिपृष्ठांश्च भारत॥ ५५ ॥
निर्मनुष्यान् गजस्कन्धान् पादातांश्चैव विद्रुतान् ।

भारत ! उसने रथकी बैठकें सूनी कर दीं, घोड़ोंकी पीठें खाली कर दीं, हाथियोंके पीठों और कंधोंपर कोई मनुष्य नहीं रहने दिये और पैदलोंको भी मार भगाया ॥ ५५½ ॥

आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यः परंतपः ॥ ५६ ॥
कालान्तकवपुः शूरः सूतपुत्रोऽभ्यराजत ।

इस प्रकार शत्रुओंको तपानेवाला कर्ण मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति तप रहा था । उस समय उसकी ओर देखना कठिन हो गया था । शूरवीर सूतपुत्रका शरीर काल और अन्तकके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५६½ ॥

एवमेतन्महाराज नरवाजिरथद्विपान् ॥ ५७ ॥
हत्वा तस्थौ महेष्वासः कर्णोऽरिगणसूदनः ।
यथा भूतगणान् हत्वा कालस्तिष्ठेन्महाबलः ॥ ५८ ॥
तथा स सोमकान् हत्वा तस्थावेको महारथः ।

महाराज ! इस प्रकार शत्रुसूदन महाधनुर्धर कर्ण शत्रु-पक्षके पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंका संहार करके अविचल भावसे खड़ा रहा । जैसे समस्त प्राणियोंका संहार करके काल खड़ा हो, उसी प्रकार महाबली महारथी कर्ण सोमकोंका विनाश करके युद्धभूमिमें अकेला ही डटा रहा ॥५७-५८½॥

तत्राद्भुतमपश्याम पञ्चालानां पराक्रमम् ॥ ५९ ॥
वध्यमानापि यत् कर्णं नाजहू रणमूर्धनि ।

वहाँ हमलोगोंने पाञ्चाल वीरोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि वे मारे जानेपर भी युद्धके मुहानेपर कर्णको छोड़कर पीछे न हटे ॥ ५९½ ॥

राजा दुःशासनश्चैव कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ६० ॥
अश्वत्थामा कृतवर्मा शकुनिश्च महाबलः ।
न्यहनन् पाण्डवीं सेनां शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६१ ॥

राजा दुर्योधन, दुःशासन, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा और महाबली शकुनिने भी पाण्डव-सेनाके सैकड़ों-हजारों वीरोंका संहार कर डाला ॥ ६०-६१ ॥

कर्णपुत्रौ तु राजेन्द्र भ्रातरौ सत्यविक्रमौ।
निजघ्नाते बलं क्रुद्धौ पाण्डवानामितस्ततः ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! कर्णके दो सत्यपराक्रमी पुत्र शेष रह गये थे। वे दोनों भाई क्रोधपूर्वक इधर-उधरसे पाण्डव-सेनाका विनाश करते थे ॥ ६२ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् क्रूरं विशसनं महत्।
तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ६३ ॥
द्रौपदेयाश्च संक्रुद्धा अभ्यघ्नंस्तावकं बलम्।

इस प्रकार वहाँ महान् संहारकारी एवं क्रूरतापूर्ण भारी युद्ध हुआ। इसी तरह पाण्डववीर धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र आदिने भी कुपित होकर आपकी सेनाका संहार किया ॥ ६३½ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डवानां ततस्ततः।
तावकानामपि रणे भीमं प्राप्य महाबलम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार कर्णको पाकर जहाँ-तहाँ पाण्डव योद्धाओंका संहार हुआ और महाबली भीमसेनको पाकर रणभूमिमें आपके योद्धाओंका भी महान् विनाश हुआ ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका कौरवसेनाको विनाश करके खूनकी नदी बहा देना और अपना रथ कर्णके पास ले चलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णसे कहना तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनको आते देख शल्य और कर्णकी बातचीत तथा अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका विध्वंस

संजय उवाच

अर्जुनस्तु महाराज हत्वा सैन्यं चतुर्विधम्।
सूतपुत्रं च संक्रुद्धं दृष्ट्वा चैव महारणे ॥ १ ॥
शोणितोदां महीं कृत्वा मांसमज्जास्थिपङ्किलाम्।
मनुष्यशीर्षपाषाणां हस्त्यश्वकृतरोधसम् ॥ २ ॥
शूरास्थिचयसंकीर्णां काकगृध्रानुनादिताम्।
छत्रहंसप्लवोपेतां वीरवृक्षापहारिणीम् ॥ ३ ॥
हारपद्माकरवतीमुष्णीषवरफेनिलाम्।
धनुःशरध्वजोपेतां नरक्षुद्रकपालिनीम् ॥ ४ ॥
चर्मवर्मभ्रमोपेतां रथोडुपसमाकुलाम्।
जयैषिणां च सुतरां भीरूणां च सुदुस्तराम् ॥ ५ ॥
नदीं प्रवर्तयित्वा च बीभत्सुः परवीरहा।
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस महासमरमें शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए सूतपुत्रको देखकर कौरवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करके वहाँ रक्तकी नदी बहा दी। जिसमें जलके स्थानमें इस पृथ्वीपर रक्त ही बह रहा था; मांस-मज्जा और हड्डियाँ कीचड़का काम दे रही थीं। मनुष्योंके कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान जान पड़ते थे, हाथी और घोड़ोंकी लाशें कगार बनी हुई थीं, शूरवीरोंकी हड्डियोंके ढेर वहाँ सब ओर बिखरे हुए थे, कौए और गीध वहाँ अपनी बोली बोल रहे थे, छत्र ही हंस और छोटी नौकाका काम देते थे, वीरोंके शरीररूपी वृक्षको वह नदी बहाये लिये जाती थी, उसमें हार ही कमलवन और सफेद पगड़ी ही फेन थी, धनुष और बाण वहाँ मछलीके समान जान पड़ते थे, मनुष्योंकी छोटी-छोटी खोपड़ियाँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं, ढाल और कवच ही उसमें भँवरके समान प्रतीत होते थे, रथरूपी छोटी नौकासे व्याप्त वह नदी विजयाभिलाषी वीरोंके लिये सुगमतापूर्वक पार होने योग्य और कायरोंके लिये अत्यन्त दुस्तर थी। उस नदीको बहाकर पुरुषप्रवर अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ १—६ ॥

अर्जुन उवाच

एष केतू रणे कृष्ण सूतपुत्रस्य दृश्यते।
भीमसेनादयश्चैते योधयन्ति महारथम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! रणभूमिमें यह सूतपुत्र कर्णकी ध्वजा दिखायी देती है। ये भीमसेन आदि वीर महारथी कर्णसे युद्ध करते हैं ॥ ७ ॥

एते द्रवन्ति पञ्चालाः कर्णत्रस्ता जनार्दन।
एष दुर्योधनो राजा श्वेतच्छत्रेण धार्यता ॥ ८ ॥
कर्णेन भग्नान् पञ्चालान् द्रावयन् बहु शोभते।

जनार्दन ! ये पाञ्चालयोद्धा कर्णसे डरकर भाग रहे हैं, यह राजा दुर्योधन है, जिसके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ है और कर्णने जिनके पाँव उखाड़ दिये हैं उन पाञ्चालोंको खदेड़ता हुआ यह बड़ी शोभा पा रहा है ॥ ८½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्चैव महारथः ॥ ९ ॥
एते रक्षन्ति राजानं सूतपुत्रेण रक्षिताः।
अवध्यमानास्तेऽस्माभिर्घातयिष्यन्ति सोमकान् ॥ १० ॥

कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी अश्वत्थामा—ये सूतपुत्रसे सुरक्षित हो राजा दुर्योधनकी रक्षा करते हैं। यदि हम इन तीनोंको नहीं मारते हैं तो ये सोमकोंका संहार कर डालेंगे ॥ ९-१० ॥

एष शल्यो रथोपस्थे रश्मिसंचारकोविदः।
सूतपुत्ररथं कृष्ण वाहयन् बहु शोभते ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! घोड़ोंकी बागडोरका संचालन करनेकी कलामें कुशल ये राजा शल्य रथके निचले भागमें बैठकर सूतपुत्रका रथ हाँकते हुए बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ११ ॥

तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना वाहयात्र महारथम्।
नाहत्वा समरे कर्णं निवर्तिष्ये कथञ्चन ॥ १२ ॥
राधेयो ह्यन्यथा पार्थान् सृञ्जयांश्च महारथान्।
निःशेषान् समरे कुर्यात् पश्यतां नो जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! यहाँ मेरा ऐसा विचार हो रहा है कि आप मेरे इस विशाल रथको वहीं हाँक ले चलें (जहाँ कर्ण खड़ा है)। मैं समराङ्गणमें कर्णका वध किये बिना किसी प्रकार पीछे नहीं लौटूँगा। अन्यथा राधापुत्र हमारे देखते-देखते पाण्डव तथा सृंजय महारथियोंको समरभूमिमें निःशेष कर देगा—किसीको जीवित नहीं छोड़ेगा ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रायाद् रथेनाशु केशवस्तव वाहिनीम्।
कर्णं प्रति महेष्वासं द्वैरथे सव्यसाचिना ॥ १४ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण रथके द्वारा शीघ्र ही सव्यसाची अर्जुनके साथ कर्णका द्वैरथ युद्ध करानेके लिये आपकी सेनामें महाधनुर्धर कर्णकी ओर चले ॥ १४ ॥

प्रयातश्च महाबाहुः पाण्डवानुज्ञया हरिः।
आश्वासयन् रथेनैव पाण्डुसैन्यानि सर्वशः ॥ १५ ॥

अर्जुनकी अनुमतिसे महाबाहु श्रीकृष्ण रथके द्वारा ही पाण्डव-सेनाओंको सब ओरसे आश्वासन देते हुए आगे बढ़े ॥

रथघोषः स संग्रामे पाण्डवेयस्य सम्बभौ।
वासवाशनितुल्यस्य मेघौघस्येव मारिष ॥ १६ ॥

मान्यवर नरेश ! संग्राममें पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथका वह घर्घरघोष इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहट तथा मेघसमूहोंकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ १६ ॥

महता रथघोषेण पाण्डवः सत्यविक्रमः।
अभ्ययादप्रमेयात्मा निर्जयंस्तव वाहिनीम् ॥ १७ ॥

सत्यपराक्रमी पाण्डव अर्जुन अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे। वे महान् रथघोषके द्वारा आपकी सेनाको परास्त करते हुए आगे बढ़े ॥ १७ ॥

तमायान्तं समीक्ष्यैव श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
मद्रराजोऽब्रवीत् कर्णं केतुं दृष्ट्वा महात्मनः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उन श्वेतवाहन अर्जुनको आते देख और उन महात्माकी ध्वजापर दृष्टिपात करके मद्रराज शल्यने कर्णसे कहा—॥ १८ ॥

अयं स रथ आयाति श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
निघ्नन्नमित्रान् समरे यं कर्ण परिपृच्छसि ॥ १९ ॥

'कर्ण ! तुम जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वही यह श्वेत घोड़ोंवाला रथ, जिसके सारथि श्रीकृष्ण हैं, समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करता हुआ इधर ही आ रहा है ॥ १९ ॥

एष तिष्ठति कौन्तेयः संस्पृशन् गाण्डिवं धनुः।
तं हनिष्यसि चेदद्य तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥ २० ॥

'ये कुन्तीकुमार अर्जुन हाथमें गाण्डीव धनुष लिये हुए खड़े हैं। यदि तुम आज उनको मार डालोगे तो वह हमलोगोंके लिये श्रेयस्कर होगा ॥ २० ॥

धनुर्ज्या चन्द्रताराङ्का पताकाकिङ्किणीयुता।
पश्य कर्णार्जुनस्यैषा सौदामन्यम्बरे यथा ॥ २१ ॥

'कर्ण ! देखो, अर्जुनके धनुषकी यह प्रत्यञ्चा तथा चन्द्रमा और तारोंसे चिह्नित यह रथकी पताका है, जिसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हैं, वह आकाशमें बिजलीके समान चमक रही है ॥ २१ ॥

एष ध्वजाग्रे पार्थस्य प्रेक्षमाणः समन्ततः।
दृश्यते वानरो भीमो वीराणां भयवर्धनः ॥ २२ ॥

'कुन्तीकुमार अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागमें एक भयङ्कर वानर दिखायी देता है, जो सब ओर देखता हुआ कौरव-वीरोंका भय बढ़ा रहा है ॥ २२ ॥

एतच्चक्रं गदा शङ्खः शार्ङ्गं कृष्णस्य च प्रभो।
दृश्यते पाण्डवरथे वाहयानस्य वाजिनः ॥ २३ ॥

'पाण्डुपुत्रके रथपर बैठकर घोड़े हाँकते हुए भगवान् श्रीकृष्णके ये चक्र, गदा, शङ्ख तथा शार्ङ्ग धनुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ २३ ॥

एतत् कूजति गाण्डीवं विसृष्टं सव्यसाचिना।
एते हस्तवता मुक्ता घ्नन्त्यमित्राञ्शिताः शराः ॥ २४ ॥

'यह सव्यसाचीके द्वारा खींचा गया गाण्डीव धनुष टङ्कार रहा है, सिद्धहस्त अर्जुनके छोड़े हुए ये पैने बाण शत्रुओंका विनाश कर रहे हैं ॥ २४ ॥

विशालायतताम्राक्षैः पूर्णचन्द्रनिभाननैः।
एषा भूः कीर्यते राज्ञां शिरोभिरपलायिनाम् ॥ २५ ॥

'जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते, उन राजाओंके कटे हुए मस्तकोंसे यह रणभूमि पटी जा रही है। उन मस्तकोंके नेत्र बड़े-बड़े और लाल हैं तथा मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है ॥ २५ ॥

एते परिघसंकाशाः पुण्यगन्धानुलेपनाः।
उद्धता रणशूराणां पात्यन्ते सायुधा भुजाः ॥ २६ ॥

'रणवीरोंकी ये अस्त्र-शस्त्रोंसहित उठी हुई भुजाएँ, जो परिघोंके समान मोटी तथा पवित्र सुगन्धयुक्त चन्दनसे चर्चित हैं, काटकर गिरायी जा रही हैं ॥ २६ ॥

निरस्तजिह्वानेत्रान्ता वाजिनः सह सादिभिः।
पतिताः पात्यमानाश्च क्षितौ क्षीणा विशेरते ॥ २७ ॥

'ये कौरवपक्षके सवारोंसहित घोड़े क्षत-विक्षत हो, अर्जुनके द्वारा गिराये जा रहे हैं। इनकी जीभें और आँखें बाहर निकल आयी हैं। ये गिरकर पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥

एते पर्वतशृङ्गाणां तुल्या हैमवता गजाः।
संछिन्नकुम्भाः पार्थेन प्रपतन्त्यद्रयो यथा ॥ २८ ॥

'ये हिमाचलप्रदेशके हाथी, जो पर्वत-शिखरोंके समान जान पड़ते हैं, पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे हैं। अर्जुनने इनके कुम्भस्थल काट डाले हैं ॥ २८ ॥

गन्धर्वनगराकारा रथा वा ते नरेश्वराः।
विमानादिव पुण्यान्ते स्वर्गिणो निपतन्त्यमी ॥ २९ ॥

'ये गन्धर्व-नगरके समान विशाल रथ हैं, जिनसे ये मारे गये राजालोग उसी प्रकार नीचे गिर रहे हैं, जैसे पुण्य समाप्त होनेपर स्वर्गवासी प्राणी विमानसे नीचे गिर जाते हैं ॥

व्याकुलीकृतमत्यर्थं परसैन्यं किरीटिना।
नानामृगसहस्राणां यूथं केसरिणा यथा ॥ ३० ॥

'किरीटधारी अर्जुनने शत्रुसेनाको उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुल कर दिया है, जैसे सिंह नाना जातिके सहस्रों मृगोंके झुंडको व्याकुल कर देता है ॥ ३० ॥

त्वामभिप्रेप्सुरायाति कर्ण निघ्नन् वरान् रथान्।
असह्यमानो राधेय तं याहि प्रति भारत ॥ ३१ ॥

'राधापुत्र कर्ण ! अर्जुन बड़े-बड़े रथियोंका संहार करते हुए तुम्हें ही प्राप्त करनेके लिये इधर आ रहे हैं। ये शत्रुओंके लिये असह्य हैं। तुम इन भरतवंशी वीरका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ३१ ॥

(घृणां त्यक्त्वा प्रमादं च भृगोरस्त्रं च संस्मर।
दृष्टिं मुष्टिं च संधानं स्मृत्वा रामोपदेशजम्।
धनंजयं जयप्रेप्सुः प्रत्युद्गच्छ महारथम् ॥)

'कर्ण ! तुम दया और प्रमाद छोड़कर भृगुवंशी परशुरामजीके दिये हुए अस्त्रका स्मरण करो, उनके उपदेशके अनुसार लक्ष्यकी ओर दृष्टि रखना, धनुषको अपनी मुट्ठीसे दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना और बाणोंका संधान करना आदि बातें याद करके मनमें विजय पानेकी इच्छा लिये महारथी अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥

एषा विदीर्यते सेना धार्तराष्ट्री समन्ततः।
अर्जुनस्य भयात् तूर्णं निघ्नतः शात्रवान् बहून् ॥ ३२ ॥

'अर्जुन थोड़ी ही देरमें बहुत-से शत्रुओंका संहार कर डालते हैं, इसलिये उनके भयसे दुर्योधनकी यह सेना चारों ओरसे छिन्न-भिन्न होकर भागी जा रही है ॥ ३२ ॥

वर्जयन् सर्वसैन्यानि त्वरते हि धनंजयः।
त्वदर्थमिति मन्येऽहं यथास्योदीर्यते वपुः ॥ ३३ ॥

'इस समय अर्जुनका शरीर जैसा उत्तेजित हो रहा है उससे मैं समझता हूँ कि वे सारी सेनाओंको छोड़कर तुम्हारे पास पहुँचनेके लिये जल्दी कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

न ह्यवस्थास्यते पार्थो युयुत्सुः केनचित् सह।
त्वामृते क्रोधदीप्तो हि पीड्यमाने वृकोदरे ॥ ३४ ॥

'भीमसेनके पीड़ित होनेसे अर्जुन क्रोधसे तमतमा उठे हैं, इसलिये आज तुम्हारे सिवा और किसीसे युद्ध करनेके लिये वे नहीं रुक सकेंगे ॥ ३४ ॥

विरथं धर्मराजं तु दृष्ट्वा सुदृढविक्षतम्।
शिखण्डिनं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ३५ ॥
द्रौपदेयान् युधामन्युमुत्तमौजसमेव च।
नकुलं सहदेवं च भ्रातरौ द्वौ समीक्ष्य च ॥ ३६ ॥
सहसैकरथः पार्थस्त्वामभ्येति परंतपः।
क्रोधरक्तेक्षणः क्रुद्धो जिघांसुः सर्वपार्थिवान् ॥ ३७ ॥

'तुमने धर्मराज युधिष्ठिरको अत्यन्त घायल करके रथहीन कर दिया है। शिखण्डी, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके पुत्रों, उत्तमौजा, युधामन्यु तथा दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी तुम्हारे हाथों बहुत चोट पहुँची है। यह सब देखकर शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे हैं। उनके नेत्र रोषसे रक्तवर्ण हो गये हैं, अतः वे समस्त राजाओंका संहार करनेकी इच्छासे एकमात्र रथके साथ सहसा तुम्हारे ऊपर चढ़े आ रहे हैं ॥३५-३७॥

त्वरितोऽभिपतत्यस्मांस्त्यक्त्वा सैन्यान्यसंशयम्।
त्वं कर्ण प्रतियाह्येनं नास्त्यन्यो हि धनुर्धरः ॥ ३८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वे सारी सेनाओंको छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ हमलोगोंपर टूट पड़े हैं; अतः कर्ण ! अब तुम भी इनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो, क्योंकि तुम्हारे सिवा दूसरा कोई धनुर्धर ऐसा करनेमें समर्थ नहीं है ॥

न तं पश्यामि लोकेऽस्मिंस्त्वत्तो ह्यन्यं धनुर्धरम्।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं यो वेलामिव धारयेत् ॥ ३९ ॥

'इस संसारमें मैं तुम्हारे सिवा दूसरे किसी धनुर्धरको ऐसा नहीं देखता, जो समुद्रमें उठे हुए ज्वारके समान समराङ्गणमें कुपित हुए अर्जुनको रोक सके ॥ ३९ ॥

न चास्य रक्षां पश्यामि पार्श्वतो न च पृष्ठतः।
एक एवाभियाति त्वां पश्य साफल्यमात्मनः ॥ ४० ॥

'मैं देखता हूँ कि अगल-बगलसे या पीछेकी ओरसे उनकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। वे अकेले ही तुमपर चढ़ाई कर रहे हैं; अतः देखो, तुम्हें अपनी सफलताके लिये कैसा सुन्दर अवसर हाथ लगा है ॥ ४० ॥

त्वं हि कृष्णौ रणे शक्तः संसाधयितुमाहवे।
तवैव भारो राधेय प्रत्युद्याहि धनंजयम् ॥ ४१ ॥

'राधापुत्र ! रणभूमिमें तुम्हीं श्रीकृष्ण और अर्जुनको परास्त करनेकी शक्ति रखते हो, तुम्हारे ऊपर ही यह भार रक्खा गया है; इसलिये तुम अर्जुनको रोकनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ४१ ॥

समानो ह्यसि भीष्मेण द्रोणद्रौणिकृपेण च।
सव्यसाचिनमायान्तं निवारय महारणे ॥ ४२ ॥

'तुम भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके समान पराक्रमी हो, अतः इस महासमरमें आक्रमण करते हुए सव्यसाची अर्जुनको रोको ॥ ४२ ॥

लेलिहानं यथा सर्पं गर्जन्तमृषभं यथा।

वनस्थितं यथा व्याघ्रं जहि कर्ण धनंजयम् ॥ ४३ ॥

'कर्ण ! जीभ लपलपाते हुए सर्प, गर्जते हुए साँड़ और वनवासी व्याघ्रके समान भयङ्कर अर्जुनका तुम वध करो ॥४३॥

एते द्रवन्ति समरे धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
अर्जुनस्य भयात् तूर्णं निरपेक्षा जनाधिपाः ॥ ४४ ॥

'देखो ! समरभूमिमें दुर्योधनकी सेनाके ये महारथी नरेश अर्जुनके भयसे आत्मीयजनोंकी भी अपेक्षा न रखकर बड़ी उतावलीके साथ भागे जा रहे हैं ॥ ४४ ॥

द्रवतामथ तेषां तु नान्योऽस्ति युधि मानवः ।
भयहा यो भवेद् वीरस्त्वामृते सूतनन्दन ॥ ४५ ॥

'सूतनन्दन ! इस युद्धस्थलमें तुम्हारे सिवा ऐसा कोई भी वीर पुरुष नहीं है, जो उन भागते हुए नरेशोंका भय दूर कर सके ॥ ४५ ॥

एते त्वां कुरवः सर्वे द्वीपमासाद्य संयुगे ।
धिष्ठिताः पुरुषव्याघ्र त्वत्तः शरणकाङ्क्षिणः ॥ ४६ ॥

'पुरुषसिंह ! इस समुद्र-जैसे युद्धस्थलमें तुम द्वीपके समान हो । ये समस्त कौरव तुमसे शरण पानेकी आशा रखकर, तुम्हारे ही आश्रयमें आकर खड़े हुए हैं ॥ ४६ ॥

वैदेहाम्बष्ठकाम्बोजास्तथा नग्नजितस्त्वया ।
गान्धाराश्च यया धृत्या जिताः संख्ये सुदुर्जयाः।
तां धृतिं कुरु राधेय ततः प्रत्येहि पाण्डवम् ॥ ४७ ॥

'राधानन्दन ! तुमने जिस धैर्यसे पहले अत्यन्त दुर्जय विदेह, अम्बष्ठ, काम्बोज, नग्नजित् तथा गान्धारगणोंको युद्धमें पराजित किया था, उसीको पुनः अपनाओ और पाण्डुपुत्र अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ४७ ॥

वासुदेवं च वार्ष्णेयं प्रीयमाणं किरीटिना ।
प्रत्युद्याहि महाबाहो पौरुषे महति स्थितः ॥ ४८ ॥

'महाबाहो ! तुम महान् पुरुषार्थमें स्थित होकर अर्जुनसे सतत प्रसन्न रहनेवाले वृष्णिवंशी, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका भी सामना करो ॥ ४८ ॥

(यथैकेन त्वया पूर्वं कृतो दिग्विजयः पुरा ।
मरुत्सूनोर्यथा सूनुर्घातितः शक्रदत्तया ॥
तदेतत् सर्वमालम्ब्य जहि पार्थ धनंजयम् ।)

'जैसे पूर्वकालमें तुमने अकेले ही सम्पूर्ण दिशाओंपर विजय पायी थी, इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे भीमपुत्र घटोत्कच-का वध किया था, उसी तरह इस सारे बल-पराक्रमका आश्रय ले कुन्तीपुत्र अर्जुनको मार डालो' ॥

कर्ण उवाच

प्रकृतिस्थोऽसि मे शल्य इदानीं सम्मतस्तथा ।
प्रतिभासि महाबाहो मा भैषीस्त्वं धनंजयात्॥ ४९ ॥

कर्णने कहा—शल्य ! इस समय तुम अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो और मुझसे सहमत जान पड़ते हो । महाबाहो ! तुम अर्जुनसे डरो मत ॥ ४९ ॥

पश्य बाह्वोर्बलं मेऽद्य शिक्षितस्य च पश्य मे ।
एकोऽद्य निहनिष्यामि पाण्डवानां महाचमूम् ॥ ५० ॥

आज मेरी इन दोनों भुजाओंका बल देखो और मेरी शिक्षाकी शक्तिपर भी दृष्टिपात करो । आज मैं अकेला ही पाण्डवोंकी विशाल सेनाका संहार कर डालूँगा ॥ ५० ॥

कृष्णौ च पुरुषव्याघ्र ततः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नाहत्वा युधि तौ वीरौ व्यपयास्ये कथंचन ॥ ५१ ॥

पुरुषसिंह ! मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि युद्धस्थलमें उन दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध किये बिना मैं किसी तरह पीछे नहीं हटूँगा ॥ ५१ ॥

स्वप्स्ये वा निहतस्ताभ्यामनित्यो हि रणे जयः ।
कृतार्थोऽद्य भविष्यामि हत्वा वाप्यथवा हतः ॥ ५२ ॥

अथवा उन्हीं दोनोंके हाथों मारा जाकर सदाके लिये सो जाऊँगा; क्योंकि रणमें विजय अनिश्चित होती है । आज मैं उन दोनोंको मारकर अथवा मारा जाकर सर्वथा कृतार्थ हो जाऊँगा ॥ ५२ ॥

शल्य उवाच

अजय्यमेनं प्रवदन्ति युद्धे
महारथाः कर्ण रथप्रवीरम् ।
एकाकिनं किमु कृष्णाभिगुप्तं
विजेतुमेनं क इहोत्सहेत ॥ ५३ ॥

शल्यने कहा—कर्ण ! रथियोंमें प्रमुख वीर अर्जुन अकेले भी हों तो महारथी योद्धा उन्हें युद्धमें अजेय बताते हैं, फिर इस समय तो वे श्रीकृष्णसे सुरक्षित हैं; ऐसी दशामें कौन इन्हें जीतनेका साहस कर सकता है ?॥ ५३ ॥

कर्ण उवाच

नैतादृशो जातु बभूव लोके
रथोत्तमो यावदुपश्रुतं नः ।
तमीदृशं प्रतियोत्स्यामि पार्थं
महाहवे पश्य च पौरुषं मे ॥ ५४ ॥

कर्ण बोला—शल्य ! मैंने जहाँतक सुना है, वहाँतक संसारमें ऐसा श्रेष्ठ महारथी वीर कभी नहीं उत्पन्न हुआ, ऐसे कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ मैं महासमरमें युद्ध करूँगा, मेरा पुरुषार्थ देखो ॥ ५४ ॥

रणे चरत्येष रथप्रवीरः
सितैर्हयैः कौरवराजपुत्रः ।
स वाद्य मां नेष्यति कृच्छ्रमेतत्
कर्णस्यान्तादेतदन्तास्तु सर्वे ॥ ५५ ॥

ये रथियोंमें प्रधान वीर कौरवराजकुमार अर्जुन अपने श्वेत अश्वोंद्वारा रणभूमिमें विचर रहे हैं । ये आज मुझे मृत्युके संकटमें डाल देंगे और मुझ कर्णका अन्त होनेपर कौरवदलके अन्य समस्त योद्धाओंका विनाश भी निश्चित ही है ॥ ५५ ॥

अस्वेदिनौ राजपुत्रस्य हस्ता-
ववेपमानौ जातकिणौ बृहन्तौ ।
दृढायुधः कृतिमान् क्षिप्रहस्तो
न पाण्डवेयेन समोऽस्ति योधः॥ ५६ ॥

राजकुमार अर्जुनके दोनों विशाल हाथोंमें कभी पसीना नहीं होता, उनमें धनुषकी प्रत्यञ्चाके चिह्न बन गये हैं और वे दोनों हाथ कभी काँपते नहीं हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र भी सुदृढ़ हैं। वे विद्वान् एवं शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले हैं। पाण्डुपुत्र अर्जुनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है ॥ ५६ ॥

गृह्णात्यनेकानपि कङ्कपत्रा-
नेकं यथा तान् प्रतियोज्य चाशु ।
ते क्रोशमात्रे निपतन्त्यमोघाः
कस्तेन योधोऽस्ति समः पृथिव्याम् ॥ ५७ ॥

वे कङ्कपत्रयुक्त अनेक बाणोंको इस प्रकार हाथमें लेते हैं, मानो एक ही बाण हो और उन सबको शीघ्रतापूर्वक धनुषपर रखकर चला देते हैं। वे अमोघ बाण एक कोस दूर जाकर गिरते हैं; अतः इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा योद्धा कौन है ? ॥ ५७ ॥

अतोषयत् खाण्डवे यो हुताशं
कृष्णद्वितीयोऽतिरथस्तरस्वी ।
लेभे चक्रं यत्र कृष्णो महात्मा
धनुर्गाण्डीवं पाण्डवः सव्यसाची ॥ ५८ ॥

उन वेगशाली और अतिरथी वीर अर्जुनने अपने दूसरे साथी श्रीकृष्णके साथ जाकर खाण्डववनमें अग्निदेवको तृप्त किया था, जहाँ महात्मा श्रीकृष्णको तो चक्र मिला और पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुनने गाण्डीव धनुष प्राप्त किया ॥ ५८ ॥

श्वेताश्वयुक्तं च सुघोषमुग्रं
रथं महाबाहुरदीनसत्त्वः ।
महेषुधी चाक्षये दिव्यरूपे
शस्त्राणि दिव्यानि च हव्यवाहात्॥ ५९ ॥

उदार अन्तःकरणवाले महाबाहु अर्जुनने अग्निदेवसे श्वेत घोड़ोंसे जुता हुआ गम्भीर घोष करनेवाला एक भयंकर रथ, दो दिव्य विशाल और अक्षय तरकस तथा अलौकिक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये ॥ ५९ ॥

तथेन्द्रलोके निजघान दैत्या-
नसंख्येयान् कालकेयांश्च सर्वान्।
लेभे शङ्खं देवदत्तं स तत्र
को नाम तेनाभ्यधिकः पृथिव्याम्॥ ६० ॥

उन्होंने इन्द्रलोकमें जाकर असंख्य कालकेयनामक सम्पूर्ण दैत्योंका संहार किया और वहाँ देवदत्त नामक शङ्ख प्राप्त किया; अतः इस पृथ्वीपर उनसे अधिक कौन है ? ॥ ६० ॥

महादेवं तोषयामास योऽस्त्रैः
साक्षात् सुयुद्धेन महानुभावः ।
लेभे ततः पाशुपतं सुघोरं
त्रैलोक्यसंहारकरं महास्त्रम् ॥ ६१ ॥

जिन महानुभावने अस्त्रोंद्वारा उत्तम युद्ध करके साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया और उनसे त्रिलोकीका संहार करनेमें समर्थ अत्यन्त भयंकर पाशुपतनामक महान् अस्त्र प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

पृथक् पृथग्लोकपालाः समेता
ददुर्महास्त्राण्यप्रमेयाणि संख्ये ।
यैस्ताञ्जघानाशु रणे नृसिंहः
सकालकेयानसुरान् समेतान् ॥ ६२ ॥

भिन्न-भिन्न लोकपालोंने आकर उन्हें ऐसे महान् अस्त्र प्रदान किये, जो युद्धस्थलमें अपना सानी नहीं रखते। उन पुरुषसिंहने रणभूमिमें उन्हीं अस्त्रोंद्वारा संगठित होकर आये हुए कालकेय नामक असुरोंका शीघ्र ही संहार कर डाला ॥

तथा विराटस्य पुरे समेतान्
सर्वानस्मानेकरथेन जित्वा ।
जहार तद् गोधनमाजिमध्ये
वस्त्राणि चादत्त महारथेभ्यः ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार विराटनगरमें एकत्र हुए हम सब लोगोंको एकमात्र रथके द्वारा युद्धमें जीतकर अर्जुनने उस विराटका गोधन लौटा लिया और महारथियोंके शरीरोंसे वस्त्र भी उतार लिये॥

तमीदृशं वीर्यगुणोपपन्नं
कृष्णद्वितीयं परमं नृपाणाम् ।
तमाह्वयन् साहसमुत्तमं वै
जाने स्वयं सर्वलोकस्य शल्य ॥ ६४ ॥

शल्य ! इस प्रकार जो पराक्रमसम्बन्धी गुणोंसे सम्पन्न, श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त और क्षत्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हें युद्धके लिये ललकारना सम्पूर्ण जगत्के लिये बहुत बड़े साहसका काम है; इस बातको मैं स्वयं भी जानता हूँ ॥६४॥

अनन्तवीर्येण च केशवेन
नारायणेनाप्रतिमेन गुप्तः ।
वर्षायुतैर्यस्य गुणा न शक्या
वक्तुं समेतैरपि सर्वलोकैः ॥ ६५ ॥
महात्मनः शङ्खचक्रासिपाणे-
र्विष्णोर्जिष्णोर्वसुदेवात्मजस्य ।

अर्जुन उन अनन्त पराक्रमी, उपमारहित, नारायणावतार, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले, विष्णुस्वरूप, विजयशील, वसुदेवपुत्र महात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित हैं; जिनके गुणोंका वर्णन सम्पूर्ण जगत्के लोग मिलकर दस हजार वर्षोंमें भी नहीं कर सकते ॥६५½॥

भयं मे वै जायते साध्वसं च
दृष्ट्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ६६ ॥
अतीव पार्थो युधि कार्मुकिभ्यो
नारायणश्चाप्रति चक्रयुद्धे ।

एवंविधौ पाण्डववासुदेवौ
चलेत् स्वदेशाद्धिमवान् न कृष्णौ ॥ ६७ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको एक रथपर मिले हुए देखकर मुझे बड़ा भय लगता है, मेरा हृदय घबरा उठता है। अर्जुन युद्धमें समस्त धनुर्धरोंसे बढ़कर हैं और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण भी चक्र-युद्धमें अपना सानी नहीं रखते। पाण्डुपुत्र अर्जुन और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दोनों ऐसे ही पराक्रमी हैं। हिमालय भले ही अपने स्थानसे हट जाय; किंतु दोनों कृष्ण अपनी मर्यादासे विचलित नहीं हो सकते॥

उभौ हि शूरौ बलिनौ दृढायुधौ
महारथौ संहननोपपन्नौ।
एतादृशौ फाल्गुनवासुदेवौ
कोऽन्यः प्रतीयान्मदृते तौ तु शल्य ॥ ६८ ॥

वे दोनों ही शौर्यसम्पन्न, बलवान्, सुदृढ़ आयुधोंवाले और महारथी हैं, उनके शरीर सुगठित एवं शक्तिशाली हैं। शल्य ! ऐसे अर्जुन और श्रीकृष्णका सामना करनेके लिये मेरे सिवा दूसरा कौन जा सकता है ? ॥ ६८ ॥

मनोरथो यस्तु ममाद्य तस्य
मद्रेश युद्धं प्रति पाण्डवस्य।
नैतच्चिरादाशु भविष्यतीद-
मत्यद्भुतं चित्रमतुल्यरूपम् ॥ ६९ ॥
एतौ च हत्वा युधि पातयिष्ये
मां वापि कृष्णौ निहनिष्यतोऽद्य।

मद्रराज ! अर्जुनके साथ युद्धके विषयमें जो आज मेरा मनोरथ है, वह अविलम्ब और शीघ्र सफल होगा। यह युद्ध अत्यन्त अद्भुत, विचित्र और अनुपम होगा। मैं युद्धस्थलमें इन दोनोंको मार गिराऊँगा अथवा वे दोनों ही कृष्ण मुझे मार डालेंगे ॥ ६९½ ॥

इति ब्रुवञ्शल्यममित्रहन्ता
कर्णो रणे मेघ इवोन्ननाद ॥ ७० ॥
अभ्येत्य पुत्रेण तवाभिनन्दितः
समेत्य चोवाच कुरुप्रवीरम्।
कृपं च भोजं च महाभुजावुभौ
तथैव गान्धारपतिं सहानुजम् ॥ ७१ ॥
गुरोः सुतं चावरजं तथाऽऽत्मनः
पदातिनोऽथ द्विपसादिनश्च तान्।
निरुध्यताभिद्रवताच्युतार्जुनौ
श्रमेण संयोजयताशु सर्वशः ॥ ७२ ॥
यथा भवद्भिर्भृशविक्षितावुभौ
सुखेन हन्यामहमद्य भूमिपाः।

राजन् ! शत्रुहन्ता कर्ण शल्यसे ऐसा कहकर रणभूमिमें मेघके समान उच्चस्वरसे गर्जना करने लगा। उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने निकट आकर उसका अभिनन्दन किया। उससे मिलकर कर्णने कुरुकुलके उस प्रमुख वीरसे, महाबाहु कृपाचार्य और कृतवर्मासे, भाइयोंसहित गान्धारराज शकुनिसे, गुरुपुत्र अश्वत्थामासे, अपने छोटे भाईसे तथा पैदल और गजारोही सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'वीरो ! श्रीकृष्ण और अर्जुनपर धावा करो, उन्हें आगे बढ़नेसे रोको तथा शीघ्र ही सब प्रकारसे प्रयत्न करके उन्हें परिश्रमसे थका दो। भूमिपालो ! ऐसा करो, जिससे तुम्हारेद्वारा अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए उन दोनों कृष्णोंको आज मैं सुखपूर्वक मार सकूँ' ॥ ७०–७२½ ॥

तथेति चोक्त्वा त्वरिताः स्म तेऽर्जुनं
जिघांसवो वीरतराः समभ्ययुः॥ ७३ ॥
शरैश्च जघ्नुर्युधि तं महारथा
धनंजयं कर्णनिदेशकारिणः।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे अत्यन्त वीर सैनिक बड़ी उतावलीके साथ अर्जुनको मार डालनेके लिये एक साथ आगे बढ़े। कर्णकी आज्ञाका पालन करनेवाले वे महारथी योद्धा युद्धस्थलमें बाणोंद्वारा अर्जुनको चोट पहुँचाने लगे ॥

नदीनदं भूरिजलो महार्णवो
यथा तथा तान् समरेऽर्जुनोऽग्रसत्॥ ७४ ॥
न संदधानो न तथा शरोत्तमान्
प्रमुञ्चमानो रिपुभिः प्रदृश्यते।
धनंजयास्तैस्तु शरैर्विदारिता
हता निपेतुर्नरवाजिकुञ्जराः॥ ७५ ॥

परंतु जैसे प्रचुर जलसे भरा हुआ महासागर नदियों और नदोंके जलको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार अर्जुनने समराङ्गणमें उन सब वीरोंको ग्रस लिया। वे कब धनुषपर उत्तम बाणोंका संधान करते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह शत्रुओंको नहीं दिखायी देता था; किंतु अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण हुए हाथी, घोड़े और मनुष्य प्राणशून्य हो धड़ाधड़ गिरते जा रहे थे ॥ ७४-७५ ॥

शरार्चिषं गाण्डिवचारुमण्डलं
युगान्तसूर्यप्रतिमानतेजसम्।
न कौरवाः शेकुरुदीक्षितुं जयं
यथा रविं व्याधितचक्षुषो जनाः॥ ७६॥

उस समय अर्जुन प्रलयकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी जान पड़ते थे। उनके बाण किरण-समूहोंके समान सब ओर छिटक रहे थे। खींचा हुआ गाण्डीव धनुष सूर्यके मनोहर मण्डल-सा प्रतीत होता था। जैसे रोगी नेत्रोंवाले मनुष्य सूर्यकी ओर नहीं देख सकते, उसी प्रकार कौरव अर्जुनकी ओर देखनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ७६ ॥

शरोत्तमान् सम्प्रहितान् महारथै-
श्चिच्छेद पार्थः प्रहसञ्छरौघैः।
भूयश्च तानहनद् बाणसङ्घान्
गाण्डीवधन्वायतपूर्णमण्डलः ॥ ७७ ॥

कौरवमहारथियोंके चलाये हुए उत्तम बाणोंको कुन्तीकुमारने अपने शरसमूहोंद्वारा हँसते-हँसते काट दिया। उनका गाण्डीव धनुष खींचा जाकर पूरा मण्डलाकार बन गया था और उसके द्वारा वे उन शत्रु-सैनिकोंपर बारंबार बाण-समूहोंका प्रहार करते थे ॥ ७७ ॥

यथोग्ररश्मिः शुचिशुक्रमध्यगः
सुखं विवस्वान् हरते जलौघान्।
तथार्जुनो बाणगणान् निरस्य
ददाह सेनां तव पार्थिवेन्द्र ॥ ७८ ॥

राजेन्द्र ! जैसे ज्येष्ठ और आषाढ़के मध्यवर्ती प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव धरतीके जलसमूहोंको अनायास ही सोख लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अपने बाणसमूहोंका प्रहार करके आपकी सेनाको भस्म करने लगे ॥ ७८ ॥

तमभ्यधावद् विसृजन् कृपः शरां-
स्तथैव भोजस्तव चात्मजः स्वयम्।
महारथो द्रोणसुतश्च सायकै-
रवाकिरंस्तोयधरा यथाचलम् ॥ ७९ ॥

उस समय कृपाचार्य उनपर बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए उनकी ओर दौड़े। इसी प्रकार कृतवर्मा, आपके पुत्र स्वयं राजा दुर्योधन और महारथी अश्वत्थामा भी पर्वतपर वर्षा करनेवाले बादलोंके समान अर्जुनपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ ७९ ॥

जिघांसुभिस्तान् कुशलः शरोत्तमान्
महाहवे सम्प्रहितान् प्रयत्नतः।
शरैः प्रचिच्छेद स पाण्डवस्त्वरन्
पराभिनद् वक्षसि चेषुभिस्त्रिभिः ॥ ८० ॥

वधकी इच्छासे आक्रमण करनेवाले उन सब योद्धाओंद्वारा प्रयत्नपूर्वक चलाये गये उन उत्तम बाणोंको महासमरमें युद्धकुशल पाण्डुपुत्र अर्जुनने तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा काट डाला और उन सबकी छातीमें तीन-तीन बाण मारे ॥

स गाण्डिवव्यायतपूर्णमण्डल-
स्तपन् रिपूनर्जुनभास्करो बभौ।
शरोग्ररश्मिः शुचिशुक्रमध्यगो
यथैव सूर्यः परिवेषवांस्तथा ॥ ८१ ॥

खींचे हुए गाण्डीव धनुषरूपी पूर्ण मण्डलसे युक्त अर्जुनरूपी सूर्य अपनी बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंसे प्रकाशित हो शत्रुओंको संताप देते हुए ज्येष्ठ और आषाढ़के मध्यवर्ती उस सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे, जिसपर घेरा पड़ा हुआ हो ॥ ८१ ॥

अथाग्र्यबाणैर्दशभिर्धनंजयं
पराभिनद् द्रोणसुतोऽच्युतं त्रिभिः।
चतुर्भिरश्वांश्चतुरः कपिं ततः
शरैश्च नाराचवरैरवाकिरत् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने दस बाणोंसे अर्जुनको, तीनसे भगवान् श्रीकृष्णको और चारसे उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया। तत्पश्चात् वह ध्वजापर बैठे हुए वानरके ऊपर बाणों तथा उत्तम नाराचोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८२ ॥

तथापि तं प्रस्फुरदात्तकार्मुकं
त्रिभिः शरैर्यन्तृशिरः क्षुरेण।
हयांश्चतुर्भिश्च पुनस्त्रिभिर्ध्वजं
धनंजयो द्रौणिरथादपातयत् ॥ ८३ ॥

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे चमकते हुए उसके धनुषको, एक छुरेके द्वारा सारथिके मस्तकको, चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको तथा तीनसे उसके ध्वजको भी अश्वत्थामाके रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ८३ ॥

स रोषपूर्णो मणिवज्रहाटकै-
रलङ्कृतं तक्षकभोगवर्चसम्।
महाधनं कार्मुकमन्यदाददे
यथा महाहिप्रवरं गिरेस्तटात् ॥ ८४ ॥

फिर अश्वत्थामाने रोषमें भरकर मणि, हीरा और सुवर्णसे अलंकृत तथा तक्षकके शरीरकी भाँति अरुण कान्तिवाले दूसरे बहुमूल्य धनुषको हाथमें लिया, मानो पर्वतके किनारेसे विशाल अजगरको उठा लिया हो ॥ ८४ ॥

स्वमायुधं चोपनिकीर्य भूतले
धनुश्च कृत्वा सगुणं गुणाधिकः।
समार्दयत्तावजितौ नरोत्तमौ
शरोत्तमैर्द्रौणिरविध्यदन्तिकात् ॥ ८५ ॥

अपने टूटे हुए धनुषको पृथ्वीपर फेंककर अधिक गुणशाली अश्वत्थामाने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और किसीसे पराजित न होनेवाले उन दोनों नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको उत्तम बाणोंद्वारा निकटसे पीड़ित एवं घायल करना आरम्भ किया ॥ ८५ ॥

कृपश्च भोजश्च तवात्मजश्च ते
शरैरनेकैर्युधि पाण्डवर्षभम्।
महारथाः संयुगमूर्धनि स्थिता-
स्तमोनुदं वारिधरा इवापतन् ॥ ८६ ॥

युद्धके मुहानेपर खड़े हुए कृपाचार्य, कृतवर्मा और आपके पुत्र दुर्योधन—ये तीन महारथी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा पाण्डवप्रवर अर्जुनको चोट पहुँचाने लगे, मानो बहुत-से मेघ सूर्यदेवपर टूट पड़े हों ॥ ८६ ॥

कृपस्य पार्थः सशरं शरासनं
हयान् ध्वजान् सारथिमेव पत्रिभिः।
समार्पयद् बाहुसहस्रविक्रम-
स्तथा यथा वज्रधरः पुरा बलेः ॥ ८७ ॥

सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी कुन्तीकुमार अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा कृपाचार्यके बाण-

सहित धनुष, घोड़े, ध्वज और सारथिको भी उसी प्रकार बींध डाला, जैसे पूर्वकालमें वज्रधारी इन्द्रने राजा बलिके धनुष आदिको क्षतिग्रस्त कर दिया था ॥ ८७ ॥

स पार्थबाणैर्विनिपातितायुधो
ध्वजावमर्दे च कृते महाहवे ।
कृतः कृपो बाणसहस्रयन्त्रितो
यथाऽऽपगेयः प्रथमं किरीटिना ॥८८॥

उस महासमरमें अर्जुनके बाणोंद्वारा जब कृपाचार्यके आयुध नीचे गिरा दिये गये और ध्वज खण्डित कर दिया गया, उस समय किरीटधारी अर्जुनने जैसे पहले भीष्मजीको सहस्रों बाणोंसे आवेष्टित कर दिया था, उसी प्रकार कृपाचार्यको हजारों बाणोंसे बाँध-सा लिया ॥ ८८ ॥

शरैः प्रचिच्छेद तवात्मजस्य
ध्वजं धनुश्च प्रचकर्त नर्दतः ।
जघान चाश्वान् कृतवर्मणः शुभान्
ध्वजं च चिच्छेद ततः प्रतापवान् ॥८९॥

तत्पश्चात् प्रतापी अर्जुनने गर्जना करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनके ध्वज और धनुषको अपने बाणोंद्वारा काट दिया । फिर कृतवर्माके सुन्दर घोड़ोंको मार डाला और उसकी ध्वजाके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ८९ ॥

सवाजिसूतेष्वसनान् सकेतनान्
जघान नागाश्वरथांस्त्वरंश्च सः ।
ततः प्रकीर्णं सुमहद् बलं तव
प्रदारितः सेतुरिवाम्भसा यथा॥ ९० ॥

इसके बाद अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजाओंसहित रथों, हाथियों और अश्वोंको भी मारना आरम्भ किया । फिर तो पानीसे टूटे हुए पुलके समान आपकी वह विशाल सेना सब ओर बिखर गयी॥

ततोऽर्जुनस्याशु रथेन केशव-
श्चकार शत्रूनपसव्यमातुरान् ।
ततः प्रयातं त्वरितं धनंजयं
शतक्रतुं वृत्रनिजघ्नुषं यथा ॥ ९१ ॥
समन्वधावन् पुनरुत्थितैर्ध्वजै
रथैः सुयुक्तैरपरे युयुत्सवः ।

तदनन्तर श्रीकृष्णने व्याकुल हुए समस्त शत्रुओंको अपने रथके द्वारा शीघ्र ही दाहिने कर दिया । फिर वृत्रासुरको मारनेकी इच्छासे आगे बढ़नेवाले इन्द्रके समान वेगपूर्वक आगे जाते हुए धनंजयपर दूसरे योद्धाओंने ऊँचे किये ध्वजवाले सुसज्जित रथोंद्वारा पुनः धावा किया ॥ ९१½ ॥

अथाभिसृत्य प्रतिवार्य तानरीन्
धनंजयस्याभिमुखं महारथाः ॥ ९२ ॥
शिखण्डिशैनेययमाः शितैः शरै-
र्विदारयन्तो व्यनदन् सुभैरवम् ।

अर्जुनके सम्मुख जाते हुए उन शत्रुओंके सामने पहुँचकर महारथी शिखण्डी, सात्यकि, नकुल और सहदेवने उन्हें रोका और पैने बाणोंद्वारा उन सबको विदीर्ण करते हुए भयंकर गर्जना की ॥ ९२½ ॥

ततोऽभिजघ्नुः कुपिताः परस्परं
शरैस्तदाशुगतिभिः सुतेजनैः ॥ ९३ ॥
कुरुप्रवीराः सह सृंजयैर्यथा-
सुराः पुरा देवगणैस्तथाऽऽहवे ।

तत्पश्चात् सृञ्जयोंके साथ भिड़े हुए कौरव वीर कुपित हो शीघ्रगामी और तेज बाणोंद्वारा एक दूसरेपर उसी प्रकार चोट करने लगे, जैसे पूर्वकालमें देवताओंके साथ युद्ध करनेवाले असुरोंने संग्राममें परस्पर प्रहार किया था ॥ ९३½ ॥

जयेप्सवः स्वर्गमनाय चोत्सुकाः
पतन्ति नागाश्वरथाः परंतप ॥ ९४ ॥
जगर्जुरुच्चैर्बलवच्च विव्यधुः
शरैः सुमुक्तैरितरेतरं पृथक् ।

शत्रुओंको तपानेवाले नरेश ! हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी योद्धा विजय चाहते हुए स्वर्गलोकमें जानेके लिये उत्सुक हो शत्रुओंपर टूट पड़ते, उच्च स्वरसे गर्जते और अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको पृथक्-पृथक् गहरी चोट पहुँचाते थे ॥ ९४½ ॥

शरान्धकारे तु महात्मभिः कृते
महामृधे योधवरैः परस्परम् ।
चतुर्दिशो वै विदिशश्च पार्थिव
प्रभा च सूर्यस्य तमोवृताभवत् ॥९५॥

महाराज ! उस महासमरमें महामनस्वी श्रेष्ठ योद्धाओंने परस्पर छोड़े हुए बाणोंद्वारा घोर अन्धकार फैला दिया । चारों दिशाएँ, विदिशाएँ तथा सूर्यकी प्रभा भी उस अन्धकारसे आच्छादित हो गयीं ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ९८ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका कौरवसेनाको नष्ट करके आगे बढ़ना

संजय उवाच

राजन् कुरूणां प्रवरैर्बलैर्भीममभिद्रुतम् ।
मज्जन्तमिव कौन्तेयमुज्जिहीर्षुर्धनंजयः ॥ १ ॥
विसृज्य सूतपुत्रस्य सेनां भारत सायकैः ।

प्राहिणोन्मृत्युलोकाय परवीरान् धनंजयः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंने कुन्तीपुत्र भीमसेनपर धावा किया था और वे उस सैन्य-सागरमें डूबते-से जान पड़ते थे। भारत ! उस समय उनका उद्धार करनेके लिये अर्जुनने सूतपुत्रकी सेनाको छोड़कर उधर ही आक्रमण किया और बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके बहुत-से वीरोंको यमलोक भेज दिया ॥ १–२ ॥

ततोऽस्याम्बरमाश्रित्य शरजालानि भागशः ।
अदृश्यन्त तथान्ये च निघ्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके बाणजाल आकाशके विभिन्न भागोंमें छा गये, वे तथा और भी बहुत-से बाण आपकी सेनाका संहार करते दिखायी दिये ॥ ३ ॥

स पक्षिसंघाचरितमाकाशं पूरयञ्शरैः ।
धनंजयो महाबाहुः कुरूणामन्तकोऽभवत् ॥ ४ ॥

जहाँ पक्षियोंके झुंड उड़ा करते थे, उस आकाशको बाणोंसे भरते हुए महाबाहु धनंजय वहाँ कौरव-सैनिकोंके काल बन गये ॥ ४ ॥

ततो भल्लैः क्षुरप्रैश्च नाराचैर्विमलैरपि ।
गात्राणि प्राच्छिनत् पार्थः शिरांसि च चकर्त ह ॥ ५ ॥

पार्थने भल्लों, क्षुरप्रों तथा निर्मल नाराचोंद्वारा शत्रुओं-का अङ्ग-अङ्ग काट डाला और उनके मस्तक भी धड़से अलग कर दिये ॥ ५ ॥

छिन्नगात्रैर्विकवचैर्विशिरस्कैः समन्ततः ।
पातितैश्च पतद्भिश्च योधैरासीत् समावृता ॥ ६ ॥

जिनके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, कवच कटकर गिर गये थे और मस्तक भी काट डाले गये थे, ऐसे बहुत-से योद्धा वहाँ पृथ्वीपर गिरे थे और गिरते जा रहे थे, उन सबकी लाशोंसे वहाँकी भूमि सब ओरसे पट गयी थी ॥ ६ ॥

धनंजयशराभ्यस्तैः स्यन्दनाश्वरथद्विपैः ।
संछिन्नभिन्नविध्वस्तैर्व्यङ्गाङ्गावयवैः स्तृता ॥ ७ ॥

जिनपर अर्जुनके बाणोंकी बारंबार मार पड़ी थी, वे रथके घोड़े, रथ और हाथी छिन्न-भिन्न और विध्वस्त हो गये थे; उनका एक-एक अङ्ग अथवा अवयव कटकर अलग हो गया था। इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ७ ॥

सुदुर्गमा सुविषमा घोरात्यर्थं सुदुर्दृशा ।
रणभूमिरभूद् राजन् महावैतरणी यथा ॥ ८ ॥

राजन् ! उस समय रणभूमि महावैतरणी नदीके समान अत्यन्त दुर्गम, बहुत ऊँची-नीची और भयंकर हो गयी थी, उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥

ईषाचक्राक्षभग्नैश्च व्यश्वैः साश्वैश्च युध्यताम् ।
ससूतैर्हतसूतैश्च रथैस्तीर्णाभवन्मही ॥ ९ ॥

योद्धाओंके टूटे-फूटे रथोंसे रणभूमि ढक गयी थी। उन रथोंके ईषादण्ड, पहिये और धुरे खण्डित हो गये थे। कुछ रथोंके घोड़े और सारथि जीवित थे और कुछके अश्व एवं सारथि मार डाले गये थे ॥ ९ ॥

सुवर्णवर्णसंनाहैर्योधैः कनकभूषणैः ।
आस्थिताः क्लृप्तवर्माणो भद्रा नित्यमदा द्विपाः ॥ १० ॥
क्रुद्धाः क्रूरैर्महामात्रैः पार्ष्ण्यङ्गुष्ठप्रचोदिताः ।
चतुःशताः शरवरैर्हताः पेतुः किरीटिना ॥ ११ ॥
पर्यस्तानीव शृङ्गाणि ससत्त्वानि महागिरेः ।
धनंजयशराभ्यस्तैः स्तीर्णा भूर्वरवारणैः ॥ १२ ॥

किरीटधारी अर्जुनके उत्तम बाणोंसे आहत होकर नित्य मद बहानेवाले, कवचधारी एवं मङ्गलमय लक्षणोंसे युक्त चार सौ रोषभरे हाथी धराशायी हो गये। उन हाथियोंपर सुवर्णमय कवच और सोनेके आभूषण धारण करनेवाले योद्धा बैठे थे और क्रूर स्वभाववाले महावत उन्हें अपने पैरोंकी एड़ियों तथा अँगूठोंसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे। उन सबके साथ गिरे हुए वे हाथी जीव-जन्तुओंसहित धराशायी हुए महान् पर्वतके शिखरोंके समान सब ओर पड़े थे। अर्जुनके बाणोंसे विशेष घायल होकर गिरे हुए उन गजराजों-के शरीरोंसे रणभूमि ढक गयी थी ॥ १०–१२ ॥

समन्ताज्जलदप्रख्यान् वारणान् मदवर्षिणः ।
अभिपेदेऽर्जुनरथो घनान् भिन्दन्निवांशुमान् ॥ १३ ॥

जैसे अंशुमाली सूर्य बादलोंको छिन्न-भिन्न करते हुए प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार अर्जुनका रथ सब ओरसे मेघोंकी घटाके समान काले मदस्रावी गजराजोंको विदीर्ण करता हुआ वहाँ आ पहुँचा था ॥ १३ ॥

हतैर्गजमनुष्याश्वैर्भिन्नैश्च बहुधा रथैः ।
विशस्त्रयन्त्रकवचैर्युद्धशौण्डैर्गतासुभिः ॥ १४ ॥
अपविद्धायुधैर्मार्गः स्तीर्णोऽभूत् फाल्गुनेन वै ।

मारे गये हाथियों, मनुष्यों और घोड़ोंसे; टूट-फूटकर बिखरे हुए अनेकानेक रथोंसे; शस्त्र, यन्त्र तथा कवचोंसे रहित हुए युद्धकुशल प्राणशून्य योद्धाओंसे और इधर-उधर फेंके हुए आयुधोंसे अर्जुनने वहाँके मार्गको आच्छादित कर दिया था ॥ १४½ ॥

व्यस्फारयद् वै गाण्डीवं सुमहद् भैरवारवम् ॥ १५ ॥
घोरवज्रविनिष्पेषं स्तनयित्नुरिवाम्बरे ।

उन्होंने आकाशमें मेघके समान भयानक वज्रपातके शब्दको तिरस्कृत करनेवाले भयंकर स्वरमें अपने विशाल गाण्डीव धनुषकी टंकार की ॥ १५½ ॥

ततः प्रादीर्यत चमूर्धनंजयशराहता ॥ १६ ॥
महावातसमाविद्धा महानौरिव सागरे ।

तदनन्तर अर्जुनके बाणोंसे आहत हुई कौरवसेना समुद्र-में उठे तूफानसे टकराये हुए जहाजके समान विदीर्ण हो उठी ॥

नानारूपाः प्राणहराः शरा गाण्डीवचोदिताः ॥ १७ ॥

अलातोल्काशनिप्रख्यास्तव सैन्यं विनिर्दहन्।

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए प्राण लेनेवाले नाना प्रकारके बाण जो अलात, उल्का और बिजलीके समान प्रकाशित हो रहे थे, आपकी सेनाको दग्ध करने लगे ॥ १७½ ॥

महागिरौ वेणुवनं निशि प्रज्वलितं यथा ॥ १८ ॥
तथा तव महासैन्यं प्रास्फुरच्छरपीडितम्।

जैसे रात्रिकालमें किसी महान् पर्वतपर बाँसोंका वन जल रहा हो, उसी प्रकार अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुई आपकी विशाल सेना आगकी लपटोंसे घिरी हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥ १८½ ॥

संपिष्टदग्धविध्वस्तं तव सैन्यं किरीटिना ॥ १९ ॥
कृतं प्रविहतं बाणैः सर्वतः प्रद्रुतं दिशः।

किरीटधारी अर्जुनने आपकी सेनाको पीस डाला, जला दिया, विध्वस्त कर दिया, बाणोंसे बींध डाला और सम्पूर्ण दिशाओंमें भगा दिया ॥ १९½ ॥

महावने मृगगणा दावाग्नित्रासिता यथा ॥ २० ॥
कुरवः पर्यवर्तन्त निर्दग्धाः सव्यसाचिना।

जैसे विशाल वनमें दावानलसे डरे हुए मृगोंके समूह इधर-उधर भागते हैं, उसी प्रकार सव्यसाची अर्जुनके बाण-रूपी अग्निसे जलते हुए कौरवसैनिक चारों ओर चक्कर काट रहे थे ॥ २०½ ॥

उत्सृज्य च महाबाहुं भीमसेनं तथा रणे ॥ २१ ॥
बलं कुरूणामुद्विग्नं सर्वमासीत् पराङ्मुखम्।

रणभूमिमें उद्विग्न हुई सारी कौरवसेनाने महाबाहु भीम-सेनको छोड़कर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ २१½ ॥

ततः कुरुषु भग्नेषु बीभत्सुरपराजितः ॥ २२ ॥
भीमसेनं समासाद्य मुहूर्तं सोऽभ्यवर्तत।

इस प्रकार कौरवसैनिकोंके भाग जानेपर कभी पराजित न होनेवाले अर्जुन भीमसेनके पास पहुँचकर दो घड़ीतक रुके रहे ॥ २२½ ॥

समागम्य च भीमेन मन्त्रयित्वा च फाल्गुनः ॥ २३ ॥
विशल्यमरुजं चास्मै कथयित्वा युधिष्ठिरम्।

फिर भीमसे मिलकर उन्होंने कुछ सलाह की और यह बताया कि राजा युधिष्ठिरके शरीरसे बाण निकाल दिये गये हैं, अतः वे इस समय स्वस्थ हैं ॥ २३½ ॥

भीमसेनाभ्यनुज्ञातस्ततः प्रायाद् धनंजयः ॥ २४ ॥
नादयन् रथघोषेण पृथिवीं द्यां च भारत।

भारत ! तत्पश्चात् भीमसेनकी आज्ञा ले अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे चल दिये ॥ २४½ ॥

ततः परिवृतो वीरैर्दशभिर्योधपुङ्गवैः ॥ २५ ॥
दुःशासनादवरजैस्तव पुत्रैर्धनंजयः।

इसी समय आपके दस वीर पुत्रोंने, जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ और दुःशासनसे छोटे थे, अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २५½ ॥

ते तमभ्यर्दयन् बाणैरुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ २६ ॥
आततेष्वसनाः शूरा नृत्यन्त इव भारत।

भरतनन्दन ! जैसे शिकारी लुआठोंसे हाथीको मारते हैं, उसी प्रकार अपने धनुषको ताने हुए उन शूर-वीरोंने नाचते हुए-से वहाँ अर्जुनको बाणोंद्वारा व्यथित कर डाला ॥२६½॥

अपसव्यांस्तु तांश्चक्रे रथेन मधुसूदनः ॥ २७ ॥
न युक्तान् हि स तान् मेने यमायाशु किरीटिना।

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि अर्जुन-द्वारा इन सबको यमलोकमें भेज देना उचित नहीं है, रथके द्वारा उन्हें शीघ्र ही अपने दाहिने भागमें कर दिया ॥२७½॥

तथान्ये प्राद्रवन् मूढाः पराङ्मुखरथेऽर्जुने ॥ २८ ॥
तेषामापततां केतूनश्वांश्चापानि सायकान्।
नाराचैरर्धचन्द्रैश्च क्षिप्रं पार्थो न्यपातयत् ॥ २९ ॥

जब अर्जुनका रथ दूसरी ओर जाने लगा, तब दूसरे मूढ़ कौरव योद्धा लोग उनपर टूट पड़े। उस समय कुन्तीकुमार अर्जुनने उन आक्रमणकारियोंके ध्वज, अश्व, धनुष और बाणोंको नाराचों और अर्धचन्द्रोंद्वारा शीघ्र ही काट गिराया ॥ २८-२९ ॥

अथान्यैर्बहुभिर्भल्लैः शिरांस्येषामपातयत्।
रोषसंरक्तनेत्राणि संदष्टौष्ठानि भूतले ॥ ३० ॥
तानि वक्त्राणि विबभुः कमलानीव भूरिशः।

तदनन्तर अन्य बहुत-से भल्लोंद्वारा उन सबके मस्तक काट डाले। वे मस्तक रोषसे लाल हुए नेत्रोंसे युक्त थे और उनके ओठ दाँतोंतले दबे हुए थे। पृथ्वीपर गिरे हुए उनके वे मुख बहुसंख्यक कमलपुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३०½ ॥

तांस्तु भल्लैर्महावेगैर्दशभिर्दश भारत ॥ ३१ ॥
रुक्माङ्गदान् रुक्मपुङ्खैर्हत्वा प्रायादमित्रहा ॥ ३२ ॥

भारत ! शत्रुओंका संहार करनेवाले अर्जुन सुवर्णमय पंखवाले महान् वेगशाली दस भल्लोंद्वारा सोनेके अंगदोंसे विभूषित उन दसों वीरोंको बींधकर आगे बढ़ गये ।३१-३२।

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कौरव वीरोंका संहार तथा कर्णका पराक्रम

संजय उवाच

तं प्रयान्तं महावेगैरश्वैः कपिवरध्वजम्।
युद्धायाभ्यद्रवन् वीराः कुरूणां नवती रथाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जिनकी ध्वजामें श्रेष्ठ कपि-

का चिह्न है; उन वीर अर्जुनको महावेगशाली अश्वोंद्वारा आगे बढ़ते देख कौरव-दलके नब्बे वीर रथियोंने युद्धके लिये धावा किया ॥ १ ॥

कृत्वा संशप्तका घोरं शपथं पारलौकिकम्।
परिवव्रुर्नरव्याघ्रा नरव्याघ्रं रणेऽर्जुनम् ॥ २ ॥

उन नरव्याघ्र संशप्तक वीरोंने परलोकसम्बन्धी घोर शपथ खाकर पुरुषसिंह अर्जुनको रणभूमिमें चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

कृष्णः श्वेतान् महावेगानश्वान् काञ्चनभूषणान्।
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नान् प्रैषीत् कर्णरथं प्रति ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित तथा मोतीकी जालियोंसे आच्छादित श्वेत रंगके महान् वेगशाली अश्वोंको कर्णके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३ ॥

ततः कर्णरथं यान्तमरिघ्नं तं धनंजयम्।
बाणवर्षैरभिघ्नन्तः संशप्तकरथा ययुः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् कर्णके रथकी ओर जाते हुए शत्रुसूदन धनंजयको बाणोंकी वर्षासे घायल करते हुए संशप्तक रथियोंने उनपर आक्रमण कर दिया ॥ ४ ॥

त्वरमाणांस्तु तान् सर्वान् ससूतेष्वसनध्वजान्।
जघान नवतिं वीरानर्जुनो निशितैः शरैः ॥ ५ ॥

सारथि, धनुष और ध्वजसहित उतावलीके साथ आक्रमण करनेवाले उन सभी नब्बे वीरोंको अर्जुनने अपने पैने बाणोंद्वारा मार गिराया ॥ ५ ॥

तेऽपतन्त हता बाणैर्नानारूपैः किरीटिना।
सविमाना यथा सिद्धाः स्वर्गात् पुण्यक्षये तथा॥ ६ ॥

किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए नाना प्रकारके बाणोंसे मारे जाकर वे संशप्तक रथी पुण्यक्षय होनेपर विमानसहित स्वर्गसे गिरनेवाले सिद्धोंके समान रथसे नीचे गिर पड़े ॥६॥

ततः सरथनागाश्वाः कुरवः कुरुसत्तमम्।
निर्भया भरतश्रेष्ठमभ्यवर्तन्त फाल्गुनम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित बहुत-से कौरव वीर निर्भय हो भरतभूषण कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका सामना करनेके लिये चढ़ आये ॥ ७ ॥

तदायस्तमनुष्याश्वमुदीर्णवरवारणम्।
पुत्राणां ते महासैन्यं समरौत्सीद् धनंजयम् ॥ ८ ॥

आपके पुत्रोंकी उस विशाल सेनामें मनुष्य और अश्व तो थक गये थे, परंतु बड़े-बड़े हाथी उद्धत होकर आगे बढ़ रहे थे। उस सेनाने अर्जुनकी गति रोक दी ॥ ८ ॥

शक्त्यृष्टितोमरप्रासैर्गदानिस्त्रिंशसायकैः।
प्राच्छादयन् महेष्वासाः कुरवः कुरुनन्दनम् ॥ ९ ॥

उन महाधनुर्धर कौरवोंने कुरुकुलनन्दन अर्जुनको शक्ति, ऋष्टि, तोमर, प्रास, गदा, खड्ग और बाणोंके द्वारा ढक दिया ॥ ९ ॥

तामन्तरिक्षे विततां शस्त्रवृष्टिं समन्ततः।
व्यधमत् पाण्डवो बाणैस्तमः सूर्य इवांशुभिः ॥ १० ॥

परंतु जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें सब ओर फैली हुई उस बाणवर्षाको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १० ॥

ततो म्लेच्छाः स्थिता मत्तैस्त्रयोदशशतैर्गजैः।
पार्श्वतो व्यहनन् पार्थं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ११ ॥

तब आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे म्लेच्छसैनिक तेरह सौ मतवाले हाथियोंके साथ आ पहुँचे और पार्श्वभागमें खड़े हो अर्जुनको घायल करने लगे ॥ ११ ॥

कर्णिनालीकनाराचैस्तोमरप्रासशक्तिभिः।
मुसलैर्भिन्दिपालैश्च रथस्थं पार्थमार्दयन् ॥ १२ ॥

उन्होंने रथपर बैठे हुए अर्जुनको कर्णी, नालीक, नाराच, तोमर, मुसल, प्रास, भिंदिपाल और शक्तियोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ १२ ॥

तां शस्त्रवृष्टिमतुलां द्विपहस्तैः प्रवेरिताम्।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरर्धचन्द्रैश्च फाल्गुनः ॥ १३ ॥

हाथियोंकी सूँड़ोंद्वारा की हुई उस अनुपम शस्त्रवर्षाको अर्जुनने तीखे भल्लों तथा अर्धचन्द्रोंसे नष्ट कर दिया ॥१३॥

अथ तान् द्विरदान् सर्वान् नानालिङ्गैः शरोत्तमैः।
सपताकध्वजारोहान् गिरीन् वज्रैरिवाहनत् ॥ १४ ॥

फिर नाना प्रकारके चिह्नवाले उत्तम बाणोंद्वारा पताका, ध्वज और सवारोंसहित उन सभी हाथियोंको उसी तरह मार गिराया, जैसे इन्द्रने वज्रके आघातोंसे पर्वतोंको धराशायी कर दिया था ॥ १४ ॥

ते हेमपुङ्खैरिषुभिरर्दिता हेममालिनः।
हताः पेतुर्महानागाः साग्निज्वाला इवाद्रयः ॥ १५ ॥

सोनेके पंखवाले बाणोंसे पीड़ित हुए वे सुवर्णमालाधारी बड़े-बड़े गजराज मारे जाकर आगकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतोंके समान धरतीपर गिर पड़े ॥ १५ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषो महानासीद् विशाम्पते।
स्तनतां कूजतां चैव मनुष्यगजवाजिनाम् ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! तदनन्तर गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनि बड़े जोर-जोरसे सुनायी देने लगी। साथ ही चिग्घाड़ते और आर्तनाद करते हुए मनुष्यों, हाथियों तथा घोड़ोंकी आवाज भी वहाँ गूँज उठी ॥ १६ ॥

कुञ्जराश्च हता राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १७ ॥

राजन्! घायल हाथी सब ओर भागने लगे। जिनके सवार मार दिये गये थे, वे घोड़े भी दसों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे ॥ १७ ॥

रथा हीना महाराज रथिभिर्वाजिभिस्तथा।
गन्धर्वनगराकारा दृश्यन्ते स्म सहस्रशः ॥ १८ ॥

महाराज ! गन्धर्वनगरोंके समान सहस्रों विशाल रथ रथियों और घोड़ोंसे हीन दिखायी देने लगे ॥ १८ ॥

अश्वारोहा महाराज धावमाना इतस्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते निहताः पार्थसायकैः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए अश्वारोही भी जहाँ-तहाँ इधर-उधर भागते दिखायी दे रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन् क्षणे पाण्डवस्य बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
यत् सादिनो वारणांश्च रथांश्चैकोऽजयद् युधि॥२०॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनकी भुजाओंका बल देखा गया, उन्होंने अकेले ही युद्धमें रथों, सवारों और हाथियोंको भी परास्त कर दिया ॥ २० ॥

(असंयुक्ताश्च ते राजन् परिवृत्ता रणं प्रति ।
हया नागा रथाश्चैव नदन्तोऽर्जुनमभ्ययुः ॥)

राजन् ! तदनन्तर पृथक्-पृथक् वे हाथी, घोड़े और रथ पुनः युद्धस्थलमें लौट आये और अर्जुनके सामने गर्जना करते हुए डट गये ॥

ततस्त्र्यङ्गेण महता बलेन भरतर्षभ ।
दृष्ट्वा परिवृतं राजन् भीमसेनः किरीटिनम् ॥ २१ ॥
हतावशेषानुत्सृज्य त्वदीयान्,कतिचिद् रथान् ।
जवेनाभ्यद्रवद् राजन् धनंजयरथं प्रति ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अर्जुनको तीन अङ्गोंवाली विशाल सेनासे घिरा देख भीमसेन मरनेसे बचे हुए आपके कतिपय रथियोंको छोड़कर बड़े वेगसे धनंजयके रथकी ओर दौड़े ॥ २१-२२ ॥

ततस्तत् प्राद्रवत् सैन्यं हतभूयिष्ठमातुरम् ।
दृष्ट्वार्जुनं तदा भीमो जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २३ ॥

उस समय आपके अधिकांश सैनिक मारे जा चुके थे, बहुत-से घायल होकर आतुर हो गये थे । फिर तो कौरव-सेनामें भगदड़ मच गयी । यह सब देखते हुए भीमसेन अपने भाई अर्जुनके पास आ पहुँचे ॥ २३ ॥

हतावशिष्टांस्तुरगानर्जुनेन महाबलान् ।
भीमो व्यधमदश्रान्तो गदापाणिर्महाहवे ॥ २४ ॥

भीमसेन अभी थके नहीं थे, उन्होंने हाथमें गदा ले उस महासमरमें अर्जुनद्वारा मारे जानेसे बचे हुए महाबली घोड़ों और सवारोंका संहार कर डाला ॥ २४ ॥

कालरात्रिमिवात्युग्रां नरनागाश्वभोजनाम् ।
प्राकाराट्टपुरद्वारदारणीमतिदारुणाम् ॥ २५ ॥
ततो गदां नृनागाश्वेष्वाशु भीमो व्यवासृजत् ।
सा जघान बहूनश्वानश्वारोहांश्च मारिष ॥ २६ ॥

मान्यवर नरेश ! तदनन्तर भीमसेनने कालरात्रिके समान अत्यन्त भयंकर, मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंको कालका ग्रास बनानेवाली, परकोटों, अट्टालिकाओं और नगरद्वारोंको भी विदीर्ण कर देनेवाली अपनी अति दारुण गदाका वहाँ मनुष्यों, गजराजों तथा अश्वोंपर तीव्रवेगसे प्रहार किया । उस गदाने बहुत-से घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डाला ॥ २५-२६ ॥

कार्ष्णायसतनुत्राणान् नरानश्वांश्च पाण्डवः ।
पोथयामास गदया सशब्दं तेऽपतन् हताः ॥ २७ ॥

पाण्डुपुत्र भीमने काले लोहेका कवच पहने हुए बहुत-से मनुष्यों और अश्वोंको भी गदासे मार गिराया । वे सब-के-सब आर्तनाद करते हुए प्राणशून्य होकर गिर पड़े ॥ २७ ॥

दन्तैर्दशन्तो वसुधां शेरते क्षतजोक्षिताः ।
भग्नमूर्धास्थिचरणाः क्रव्यादगणभोजनाः ॥ २८ ॥

घायल हुए कौरवसैनिक खूनसे नहाकर दाँतोंसे ओठ चबाते हुए धरतीपर सो गये थे, किन्हींका माथा फट गया था, किन्हींकी हड्डियाँ चूर-चूर हो गयी थीं और किन्हींके पाँव उखड़ गये थे । वे सब-के-सब मांसभक्षी पशुओंके भोजन बन गये थे ॥ २८ ॥

असृङ्मांसवसाभिश्च तृप्तिमभ्यागता गदा ।
अस्थीन्यप्यश्नती तस्थौ कालरात्रीव दुर्दशा ॥ २९ ॥

वह गदा दुर्लक्ष्य कालरात्रिके समान शत्रुओंके रक्त, मांस और चर्बीसे तृप्त होकर उनकी हड्डियोंको भी चबाये जा रही थी ॥ २९ ॥

सहस्राणि दशाश्वानां हत्वा पत्तींश्च भूयसा ।
भीमोऽभ्यधावत् संक्रुद्धो गदापाणिरितस्ततः ॥ ३० ॥

दस हजार घोड़ों और बहुसंख्यक पैदलोंका संहार करके क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथमें गदा लेकर इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ३० ॥

गदापाणिं ततो भीमं दृष्ट्वा भारत तावकाः ।
मेनिरे समनुप्राप्तं कालदण्डोद्यतं यमम् ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! भीमसेनको गदा हाथमें लिये देख आपके सैनिक कालदण्ड लेकर आया हुआ यमराज मानने लगे ३१

स मत्त इव मातङ्गः संक्रुद्धः पाण्डुनन्दनः ।
प्रविवेश गजानीकं मकरः सागरं यथा ॥ ३२ ॥

मतवाले हाथीके समान अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डु-नन्दन भीमसेनने शत्रुओंकी गजसेनामें प्रवेश किया, मानो मगर समुद्रमें जा घुसा हो ॥ ३२ ॥

विगाह्य च गजानीकं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
क्षणेन भीमः संक्रुद्धस्तन्निन्ये यमसादनम् ॥ ३३ ॥

विशाल गदा हाथमें ले अत्यन्त कुपित हो भीमसेनने हाथियोंकी सेनामें घुसकर उसे क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया ॥

गजान् सकङ्कटान् मत्तान् सारोहान् सपताकिनः ।
पततः समपश्याम सपक्षान् पर्वतानिव ॥ ३४ ॥

कवचों, सवारों और पताकाओंसहित मतवाले हाथियोंको हमने पंखधारी पर्वतोंके समान धराशायी होते देखा था ॥

हत्वा तु तद् गजानीकं भीमसेनो महाबलः ।
पुनः स्वरथमास्थाय पृष्ठतोऽर्जुनमभ्ययात् ॥ ३५ ॥

महाबली भीमसेन उस गजसेनाका संहार करके पुनः अपने रथपर आ बैठे और अर्जुनके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ ३५ ॥

ततः पराङ्मुखप्रायं निरुत्साहं बलं तव।
व्यालम्बत महाराज प्रायशः शस्त्रवेष्टितम् ॥ ३६ ॥

महाराज! उस समय भीमसेन और अर्जुनके अस्त्र-शस्त्रोंसे घिरी हुई आपकी अधिकांश सेना उत्साहशून्य, विमुख और जडवत् हो गयी ॥ ३६ ॥

विलम्बमानं तत् सैन्यमप्रगल्भमवस्थितम्।
दृष्ट्वा प्राच्छादयद् बाणैरर्जुनः प्राणतापनैः ॥ ३७ ॥

उस सेनाको जडवत्, उद्योगशून्य हुई देख अर्जुनने प्राणोंको संतप्त कर देनेवाले बाणोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

नराश्वरथमातङ्गा युधि गाण्डीवधन्वना।
शरव्रातैश्चिता रेजुः कदम्बा इव केसरैः ॥ ३८ ॥

युद्धस्थलमें गाण्डीवधारी अर्जुनके बाणोंसे छिदे हुए मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथी केसरयुक्त कदम्बपुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३८ ॥

ततः कुरूणामभवदार्तनादो महान् नृप।
नराश्वनागासुहरैर्वध्यतामर्जुनेषुभिः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण लेनेवाले अर्जुनके बाणोंद्वारा हताहत होते हुए कौरवोंका महान् आर्तनाद प्रकट होने लगा ॥ ३९ ॥

हाहाकृतं भृशं त्रस्तं लीयमानं परस्परम्।
अलातचक्रवत् सैन्यं तदाभ्रमत तावकम् ॥ ४० ॥

महाराज! उस समय अत्यन्त भयभीत हो हाहाकार मचाती और एक दूसरेकी आड़में छिपती हुई आपकी सेना अलातचक्रके समान वहाँ चक्कर काटने लगी ॥ ४० ॥

ततस्तद् युद्धमभवत् कुरूणां सुमहद् बलैः।
न ह्यत्रासीदनिर्भिन्नो रथः सादी हयो गजः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंकी सेनाके साथ महान् युद्ध होने लगा। उसमें कोई भी ऐसा रथ, सवार, घोड़ा अथवा हाथी नहीं था, जो अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण न हो गया हो ॥ ४१ ॥

आदीप्तमिव तत् सैन्यं शरैश्छिन्नतनुच्छदम्।
आसीत् सुशोणितक्लिन्नं फुल्लाशोकवनं यथा ॥ ४२ ॥

उस समय सारी सेना जलती हुई-सी दिखायी देती थी। बाणोंसे उसके कवच छिन्न-भिन्न हो गये थे तथा वह खूनसे लथपथ हो खिले हुए अशोकवनके समान प्रतीत होती थी ॥ ४२ ॥

(तत् सैन्यं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं शितैः शरैः।
न जहौ समरं प्राप्य फाल्गुनं शत्रुतापनम् ॥
तत्राद्भुतमपश्याम कौरवाणां पराक्रमम्।
वध्यमानापि यत् पार्थं न जहुर्भरतर्षभ ॥)

भरतश्रेष्ठ! शत्रुओंको तपनेवाले अर्जुनको सामने पाकर तीखे बाणोंसे मारी जाती हुई आपकी उस सेनाने युद्ध नहीं छोड़ा। भरतभूषण! वहाँ हमलोगोंने कौरवयोद्धाओंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि वे मारे जानेपर भी अर्जुनको छोड़ नहीं रहे थे ॥

तं दृष्ट्वा कुरवस्तत्र विक्रान्तं सव्यसाचिनम्।
निराशाः समपद्यन्त सर्वे कर्णस्य जीविते ॥ ४३ ॥

सव्यसाची अर्जुनको इस प्रकार पराक्रम प्रकट करते देख समस्त कौरवसैनिक कर्णके जीवनसे निराश हो गये ॥ ४३ ॥

अविषह्यं तु पार्थस्य शरसम्पातमाहवे।
मत्वा न्यवर्तन् कुरवो जिता गाण्डीवधन्वना ॥ ४४ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा परास्त हुए कौरव योद्धा समराङ्गणमें उनकी बाणवर्षाको अपने लिये असह्य मानकर युद्धसे पीछे हटने लगे ॥ ४४ ॥

ते हित्वा समरे कर्णं वध्यमानाश्च सायकैः।
प्रदुद्रुवुर्दिशो भीताश्चुक्रुशुश्चापि सूतजम् ॥ ४५ ॥

बाणोंसे बिंध जानेके कारण वे भयभीत हो रणभूमिमें कर्णको अकेला ही छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चले; किंतु अपनी रक्षाके लिये सूतपुत्र कर्णको ही पुकारते रहे ॥ ४५ ॥

अभ्यद्रवत तान् पार्थः किरञ्शरशतान् बहून्।
हर्षयन् पाण्डवान् योधान् भीमसेनपुरोगमान् ॥ ४६ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुन सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते और भीमसेन आदि पाण्डव-योद्धाओंका हर्ष बढ़ाते हुए आपके उन सैनिकोंको खदेड़ने लगे ॥ ४६ ॥

पुत्रास्तु ते महाराज जग्मुः कर्णरथं प्रति।
अगाधे मज्जतां तेषां द्वीपः कर्णोऽभवत्तदा ॥ ४७ ॥

महाराज! इसके बाद आपके पुत्र भागकर कर्णके रथके पास गये। वे संकटके अगाध समुद्रमें डूब रहे थे। उस समय कर्ण ही द्वीपके समान उनका रक्षक हुआ ॥ ४७ ॥

कुरवो हि महाराज निर्विषाः पन्नगा इव।
कर्णमेवोपलीयन्त भयाद् गाण्डीवधन्वनः ॥ ४८ ॥

महाराज! कौरव विषरहित सर्पोंके समान गाण्डीवधारी अर्जुनके भयसे कर्णके ही पास छिपने लगे ॥ ४८ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि मृत्योर्भीतानि मारिष।
धर्ममेवोपलीयन्ते कर्मवन्ति हि यानि च ॥ ४९ ॥
तथा कर्णं महेष्वासं पुत्रास्तव नराधिप।
उपालीयन्त संत्रासात् पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ५० ॥

माननीय नरेश! जैसे कर्म करनेवाले सब जीव मृत्युसे डरकर धर्मकी ही शरण लेते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्र महामना पाण्डुपुत्र अर्जुनके भयसे महाधनुर्धर कर्णकी ही ओटमें छिपने लगे थे ॥ ४९-५० ॥

ताञ्शोणितपरिक्लिन्नान् विषमस्थाञ्शरातुरान्।
मा भैष्टेत्यब्रवीत् कर्णो ह्यभीतो मामितेति च ॥ ५१ ॥

कर्णने उन्हें खूनसे लथपथ, संकटमें मग्न और बाणोंकी चोटसे व्याकुल देखकर कहा—'वीरो ! डरो मत । तुम सब लोग निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ' ॥ ५१ ॥

सम्भग्नं हि बलं दृष्ट्वा बलात् पार्थेन तावकम् ।
धनुर्विस्फारयन् कर्णस्तस्थौ शत्रुजिघांसया ॥ ५२ ॥

अर्जुनने बलपूर्वक आपकी सेनाको भगा दिया है—यह देखकर कर्ण शत्रुओंका वध करनेकी इच्छासे धनुष तानकर खड़ा हो गया ॥ ५२ ॥

तान् प्रद्रुतान् कुरून् दृष्ट्वा कर्णः शस्त्रभृतां वरः ।
संचिन्तयित्वा पार्थस्य वधे दध्रे मनः श्वसन् ॥ ५३ ॥

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्णने कौरवसैनिकोंको भागते देख खूब सोच-विचारकर लंबी साँस लेते हुए मन-ही-मन अर्जुनके वधका निश्चय किया ॥ ५३ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं ततश्चाधिरथिर्वृषः ।
पञ्चालान् पुनराधावत् पश्यतः सव्यसाचिनः ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा अधिरथपुत्र कर्णने अपने विशाल धनुषको फैलाकर अर्जुनके देखते-देखते पुनः पाञ्चाल-योद्धाओंपर धावा किया ॥ ५४ ॥

ततः क्षणेन क्षितिपाः क्षतजप्रतिमेक्षणाः ।
कर्णं ववर्षुर्बाणौघैर्यथा मेघा महीधरम् ॥ ५५ ॥

यह देख पाञ्चालनरेशोंके नेत्र रोषसे लाल हो गये । जैसे बादल पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे क्षणभरमें कर्णपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५५ ॥

ततः शरसहस्राणि कर्णमुक्तानि मारिष ।
व्ययोजयन्त पञ्चालान् प्राणैः प्राणभृतां वर ॥ ५६ ॥

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ मान्यवर नरेश ! तदनन्तर कर्णके छोड़े हुए सहस्रों बाण पाञ्चालोंको प्राणहीन करने लगे ॥

तत्र शब्दो महानासीत् पञ्चालानां महामते ।
वध्यतां सूतपुत्रेण मित्रार्थे मित्रगृद्धिना ॥ ५७ ॥

महामते ! वहाँ मित्रका हित चाहनेवाले सूतपुत्र कर्णके द्वारा मित्रकी ही भलाईके लिये मारे जानेवाले पाञ्चालोंका महान् आर्तनाद होने लगा ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३२ श्लोक मिलाकर कुल ६० श्लोक हैं)

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

सात्यकिके द्वारा कर्णपुत्र प्रसेनका वध, कर्णका पराक्रम और दुःशासन एवं भीमसेनका युद्ध

संजय उवाच

ततः कर्णः कुरुषु प्रद्रुतेषु
वरूथिना श्वेतहयेन राजन् ।
पाञ्चालपुत्रान् व्यधमत् सूतपुत्रो
महेषुभिर्वात इवाभ्रसंघान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब कौरवसैनिक बड़े वेगसे भागने लगे, उस समय जैसे वायु मेघोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार सूतपुत्र कर्णने श्वेत घोड़ोंवाले रथके द्वारा आक्रमण करके अपने विशाल बाणोंसे पाञ्चालराजकुमारोंका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

सूतं रथादञ्जलिकैर्निपात्य
जघान चाश्वाञ्जनमेजयस्य ।
शतानीकं सुतसोमं च भल्लै-
रवाकिरद् धनुषी चाप्यकृन्तत् ॥ २ ॥

उसने अञ्जलिक नामवाले बाणोंसे जनमेजयके सारथिको रथसे नीचे गिराकर उसके घोड़ोंको भी मार डाला । फिर शतानीक तथा सुतसोमको भल्लोंसे ढक दिया और उन दोनोंके धनुष भी काट डाले ॥ २ ॥

धृष्टद्युम्नं निर्बिभेदाथ षड्भि-
र्जघानाश्वांस्तरसा तस्य संख्ये ।
हत्वा चाश्वान् सात्यकेः सूतपुत्रः
कैकेयपुत्रं न्यवधीद् विशोकम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् छः बाणोंसे युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके घोड़ोंको भी वेगपूर्वक मार डाला । इसके बाद सूतपुत्रने सात्यकिके घोड़ोंको नष्ट करके केकयराजकुमार विशोकका भी वध कर डाला ॥ ३ ॥

तमभ्यधावन्निहते कुमारे
कैकेयसेनापतिरुग्रकर्मा ।
शरैर्विधुन्वन् भृशमुग्रवेगैः
कर्णात्मजं चाप्यहनत् प्रसेनम् ॥ ४ ॥

केकयराजकुमारके मारे जानेपर वहाँके सेनापति उग्रकर्माने कर्णपर धावा किया । उसने धनुषको तीव्रवेगसे संचालित करते हुए भयंकर वेगवाले बाणोंद्वारा कर्णके पुत्र प्रसेनको भी घायल कर दिया ॥ ४ ॥

तस्यार्धचन्द्रैस्त्रिभिरुच्चकर्त
प्रहस्य बाहू च शिरश्च कर्णः ।
स स्यन्दनाद् गामगमद् गतासुः
परश्वधैः शाल इवावरुग्णः ॥ ५ ॥

तब कर्णने हँसकर तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उग्रकर्माकी दोनों भुजाएँ और मस्तक काट डाले । वह प्राणशून्य होकर कुल्हाड़ीके काटे हुए शाखूके पेड़के समान रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५ ॥

हताश्वमञ्जोगतिभिः प्रसेनः
शिनिप्रवीरं निशितैः पृषत्कैः ।

प्रच्छाद्य नृत्यन्निव कर्णपुत्रः
शैनेयबाणाभिहतः पपात ॥ ६ ॥

उधर कर्णने जब सात्यकिके घोड़े मार डाले, तब कर्णपुत्र प्रसेनने तीव्रगामी पैने बाणोंद्वारा शिनिप्रवर सात्यकिको ढक दिया। इसके बाद सात्यकिके बाणोंकी चोट खाकर वह नाचता हुआ-सा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

पुत्रे हते क्रोधपरीतचेताः
कर्णः शिनीनामृषभं जिघांसुः।
हतोऽसि शैनेय इति ब्रुवन् स
व्यवासृजद् बाणममित्रसाहम् ॥ ७ ॥

पुत्रके मारे जानेपर क्रोधसे व्याकुलचित्त हुए कर्णने शिनिप्रवर सात्यकिका वध करनेके लिये उनपर एक शत्रुनाशक बाण छोड़ा और कहा—'सात्यके ! अब तू मारा गया' ॥ ७ ॥

तमस्य चिच्छेद शरं शिखण्डी
त्रिभिस्त्रिभिश्च प्रतुतोद कर्णम्।
शिखण्डिनः कार्मुकं च ध्वजं च
छित्त्वा क्षुराभ्यां न्यपतत् सुजातः॥ ८ ॥

परंतु उसके उस बाणको शिखण्डीने तीन बाणोंद्वारा काट दिया और उसे भी तीन बाणोंसे पीड़ित कर दिया । तब कर्णने दो छुरोंसे शिखण्डीकी ध्वजा और धनुष काटकर नीचे गिरा दिये ॥ ८ ॥

शिखण्डिनं षड्भिरविध्यदुग्रो
धार्ष्टद्युम्नेः स शिरश्चोच्चकर्त ।
तथाभिनत् सुतसोमं शरेण
सुसंशितेनाधिरथिर्महात्मा ॥ ९ ॥

फिर भयंकर वीर कर्णने छः बाणोंसे शिखण्डीको घायल कर दिया और धृष्टद्युम्नके पुत्रका मस्तक काट डाला। साथ ही महामनस्वी अधिरथपुत्रने अत्यन्त तीखे बाणसे सुतसोमको भी क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ९ ॥

अथाक्रन्दे तुमुले वर्तमाने
धार्ष्टद्युम्ने निहते तत्र कृष्णः।
अपाञ्चाल्यं क्रियते याहि पार्थ
कर्णं जहीत्यब्रवीद् राजसिंह ॥ १० ॥

राजसिंह ! इस प्रकार जब वह भयंकर घमासान युद्ध चलने लगा और धृष्टद्युम्नका पुत्र मारा गया, तब भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण पाञ्चालोंका संहार कर रहा है, अतः आगे बढ़ो और उसे मार डालो' ॥ १० ॥

ततः प्रहस्याशु नरप्रवीरो
रथं रथेनाधिरथेर्जगाम ।
भये तेषां त्राणमिच्छन् सुबाहु-
रभ्याहतानां रथयूथपेन ॥ ११ ॥

तदनन्तर सुन्दर भुजाओंवाले नरवीर अर्जुन हँसकर भयके अवसरपर उन घायल सैनिकोंकी रक्षाके लिये रथसमूहोंके अधिपति विशाल रथके द्वारा सूतपुत्रके रथकी ओर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ११ ॥

विस्फार्य गाण्डीवमथोग्रघोषं
ज्यया समाहत्य तले भृशं च ।
बाणान्धकारं सहसैव कृत्वा
जघान नागाश्वरथध्वजांश्च ॥ १२ ॥

उन्होंने भयानक टंकार करनेवाले गाण्डीव धनुषको फैलाकर उसकी प्रत्यञ्चाद्वारा अपनी हथेलीमें आघात करते हुए सहसा बाणोंद्वारा अन्धकार फैला दिया और शत्रुपक्षके हाथी, घोड़े, रथ एवं ध्वज नष्ट कर दिये ॥ १२ ॥

प्रतिश्रुतिः प्राचरदन्तरिक्षे
गुहा गिरीणामपतन् वयांसि ।
यन्मण्डलज्येन विजृम्भमाणो
रौद्रे मुहूर्तेऽभ्यपतत् किरीटी ॥ १३ ॥

उस भयंकर मुहूर्तमें गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चाको मण्डलाकार करके जब किरीटधारी अर्जुन शत्रुसेनापर टूट पड़े तथा बल और प्रतापमें बढ़ने लगे, उस समय धनुषकी टंकारकी प्रतिध्वनि आकाशमें गूँज उठी, जिससे डरे हुए पक्षी पर्वतोंकी कन्दराओंमें छिप गये ॥ १३ ॥

तं भीमसेनोऽनुययौ रथेन
पृष्ठे रक्षन् पाण्डवमेकवीरः ।
तौ राजपुत्रौ त्वरितौ रथाभ्यां
कर्णाय यातावरिभिर्विषक्तौ ॥ १४ ॥

प्रमुख वीर भीमसेन पीछेसे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी रक्षा करते हुए रथके द्वारा उनका अनुसरण करने लगे। वे दोनों पाण्डवराजकुमार बड़ी उतावलीके साथ शत्रुओंसे जूझते हुए कर्णकी ओर बढ़ने लगे ॥ १४ ॥

तत्रान्तरे सुमहत् सूतपुत्र-
श्चक्रे युद्धं सोमकान् सम्प्रमृद्नन्।
रथाश्वमातङ्गगणाञ्जघान
प्रच्छादयामास शरैर्दिशश्च ॥ १५ ॥

इसी बीचमें सूतपुत्र कर्णने सोमकोंका संहार करते हुए उनके साथ महान् युद्ध किया। उनके बहुत-से घोड़े, रथ और हाथियोंका वध कर डाला और बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ १५ ॥

तमुत्तमौजा जनमेजयश्च
क्रुद्धौ युधामन्युशिखण्डिनौ च ।
कर्णं बिभिदुः सहिताः पृषत्कैः
संनर्दमानाः सह पार्षतेन ॥ १६ ॥

उस समय धृष्टद्युम्नके साथ गर्जते हुए उत्तमौजा, जनमेजय, कुपित युधामन्यु और शिखण्डी—ये सब संगठित होकर अपने बाणोंद्वारा कर्णको घायल करने लगे ॥ १६ ॥

ते पञ्च पाञ्चालरथप्रवीरा
वैकर्तनं कर्णमभिद्रवन्तः ।
तस्माद् रथाच्च्यावयितुं न शेकु-
र्धैर्यात् कृतात्मानमिवेन्द्रियार्थाः॥ १७ ॥

पाञ्चाल रथियोंमें प्रमुख ये पाँचों वीर वैकर्तन कर्णपर आक्रमण करके भी उसे उस रथसे नीचे न गिरा सके । ठीक उसी तरह, जैसे जिसने अपने मनको वशमें कर रक्खा है उस योगीको शब्द, स्पर्श आदि विषय धैर्यसे विचलित नहीं कर पाते हैं ॥ १७ ॥

तेषां धनूंषि ध्वजवाजिसूतां-
स्तूर्णं पताकाश्च निकृत्य बाणैः ।
तान् पञ्चभिस्त्वभ्यहनत् पृषत्कैः
कर्णस्ततः सिंह इवोन्ननाद ॥ १८ ॥

कर्णने अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही उनके धनुष, ध्वज, घोड़े, सारथि और पताकाएँ काट डालीं और पाँच बाणोंसे उन पाँचों वीरोंको भी घायल कर दिया। तत्पश्चात् वह सिंहके समान दहाड़ने लगा ॥ १८ ॥

तस्यास्यतस्तानभिनिघ्नतश्च
ज्याबाणहस्तस्य धनुःस्वनेन ।
साद्रिद्रुमा स्यात् पृथिवी विशीर्णे-
त्यतीव मत्वा जनता व्यषीदत् ॥ १९ ॥

कर्ण बाण छोड़ता और शत्रुओंका संहार करता जा रहा था । उसके हाथमें धनुषकी प्रत्यञ्चा और बाण सदा मौजूद रहते थे । उसके धनुषकी टंकारसे पर्वतों और वृक्षोंसहित यह सारी पृथ्वी विदीर्ण हो जायगी, ऐसा समझकर सब लोग अत्यन्त खिन्न हो उठे थे ॥ १९ ॥

स शक्रचापप्रतिमेन धन्वना
भृशायतेनाधिरथिः शरान् सृजन् ।
बभौ रणे दीप्तमरीचिमण्डलो
यथांशुमाली परिवेषवांस्तथा॥ २० ॥

इन्द्रधनुषके समान खींचे हुए मण्डलाकार विशाल धनुषके द्वारा बाणोंकी वर्षा करता हुआ अधिरथपुत्र कर्ण रणभूमिमें प्रकाशमान किरणोंवाले परिधियुक्त अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २० ॥

शिखण्डिनं द्वादशभिः पराभिन-
च्छितैः शरैः षड्भिरथोत्तमौजसम्।
त्रिभिर्युधामन्युमविध्यदाशुगै-
स्त्रिभिस्त्रिभिः सोमकपार्षतात्मजौ॥२१॥

उसने शिखण्डीको बारह, उत्तमौजाको छः, युधामन्युको तीन तथा जनमेजय और धृष्टद्युम्नको भी तीन-तीन पैने बाणोंसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ २१ ॥

पराजिताः पञ्च महारथास्तु ते
महाहवे सूतसुतेन मारिष ।
निरुद्यमास्तस्थुरमित्रनन्दना
यथेन्द्रियार्थात्मवता पराजिताः॥ २२ ॥

आर्य ! जैसे मनको वशमें रखनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषके द्वारा पराजित हुए विषय उसे आकृष्ट नहीं कर पाते, उसी प्रकार महासमरमें सूतपुत्र कर्णके द्वारा परास्त हुए वे पाँचों पाञ्चाल वीर निश्चेष्टभावसे खड़े हो गये और शत्रुओंका आनन्द बढ़ाने लगे ॥ २२ ॥

निमज्जतस्तानथ कर्णसागरे
विपन्ननावो वणिजो यथार्णवे ।
उद्दध्रिरे नौभिरिवार्णवाद् रथैः
सुकल्पितैर्द्रौपदिजाः स्वमातुलान्॥ २३ ॥

जैसे समुद्रमें जिनकी नाव डूब गयी हो, उन डूबते हुए व्यापारियोंको दूसरी नौकाओंद्वारा लोग बचा लेते हैं, उसी प्रकार द्रौपदीके पुत्रोंने कर्णरूपी सागरमें डूबनेवाले अपने उन मामाओंको रण-सामग्रीसे सजे-सजाये रथोंद्वारा बचाया ॥

ततः शिनीनामृषभः शितैः शरै-
र्निकृत्य कर्णप्रहितानिषून् बहून्।
विदार्य कर्णं निशितैरयस्मयै-
स्तवात्मजं ज्येष्ठमविध्यदष्टभिः॥ २४ ॥

तत्पश्चात् शिनिप्रवर सात्यकिने कर्णके छोड़े हुए बहुत-से बाणोंको अपने तीखे बाणोंसे काटकर लोहेके पैने बाणोंसे कर्णको घायल करनेके पश्चात् आपके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनको आठ बाण मारकर बींध डाला ॥ २४ ॥

कृपोऽथ भोजश्च तवात्मजस्तथा
स्वयं च कर्णो निशितैरताडयत् ।
स तैश्चतुर्भिर्युयुधे यदूत्तमो
दिगीश्वरैर्दैत्यपतिर्यथा तथा ॥ २५ ॥

तब कृपाचार्य, कृतवर्मा, आपका पुत्र दुर्योधन तथा स्वयं कर्ण भी सात्यकिको तीखे बाणोंसे घायल करने लगे । यदुकुलतिलक सात्यकिने अकेले ही उन चारों वीरोंके साथ उसी प्रकार युद्ध किया, जैसे दैत्यराज हिरण्यकशिपुने चारों दिक्पालोंके साथ किया था ॥ २५ ॥

समाततेनेष्वसनेन कूजता
भृशायतेनामितबाणवर्षिणा ।
बभूव दुर्धर्षतरः स सात्यकिः
शरन्नभोमध्यगतो यथा रविः ॥ २६ ॥

जैसे शरद्ऋतुके आकाशमण्डलके बीचमें आये हुए मध्याह्नकालिक सूर्य प्रचण्ड हो उठते हैं, उसी प्रकार असंख्य बाणोंकी वर्षा करनेवाले तथा कानतक खींचे जानेके कारण गम्भीर टंकार करनेवाले अपने विशाल धनुषके द्वारा सात्यकि उस समय शत्रुओंके लिये अत्यन्त दुर्जय हो उठे ॥ २६ ॥

पुनः समास्थाय रथान् सुदंशिताः
शिनिप्रवीरं जुगुपुः परंतपाः ।

समेत्य पाञ्चालमहारथा रणे
मरुद्गणाः शक्रमिवारिनिग्रहे ॥ २७ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको तपानेवाले पूर्वोक्त पाञ्चाल महारथी कवच पहन रथोंपर आरूढ़ हो पुनः आकर शिनिप्रवर सात्यकिकी रणभूमिमें उसी तरह रक्षा करने लगे, जैसे मरुद्गण शत्रुओंके दमनकालमें देवराज इन्द्रकी रक्षा करते हैं ॥

ततोऽभवद् युद्धमतीव दारुणं
तवाहितानां तव सैनिकैः सह ।
रथाश्वमातङ्गविनाशनं तथा
यथा सुराणामसुरैः पुराभवत्॥ २८ ॥

इसके बाद आपके शत्रुओंका आपके सैनिकोंके साथ अत्यन्त दारुण युद्ध होने लगा, जो रथों, घोड़ों और हाथियोंका विनाश करनेवाला था । वह युद्ध प्राचीन कालके देवासुर-संग्रामके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

रथा द्विपा वाजिपदातयस्तथा
भवन्ति नानाविधशस्त्रवेष्टिताः ।
परस्परेणाभिहताश्च चस्खलु-
र्विनेदुरार्ता व्यसवोऽपतंस्तथा॥ २९ ॥

बहुत-से रथी, सवारोंसहित हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे आच्छादित हो एक दूसरेसे टकराकर लड़खड़ाने लगते, आर्तनाद करते और प्राणशून्य होकर गिर पड़ते थे ॥ २९ ॥

तथागते भीममभीस्तवात्मजः
ससार राजावरजः किरञ्शरैः ।
तमभ्यधावत् त्वरितो वृकोदरो
महारुरुं सिंह इवाभिपेदिवान् ॥ ३० ॥

राजन् ! इस प्रकार जब वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय राजा दुर्योधनका छोटा भाई आपका पुत्र दुःशासन निर्भय हो बाणोंकी वर्षा करता हुआ भीमसेनपर चढ़ आया । उसे देखते ही भीमसेन भी बड़े उतावले होकर उसकी ओर दौड़े और जिस प्रकार सिंह महारुरु नामक मृगपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसके पास जा पहुँचे ॥

ततस्तयोर्युद्धमतीव दारुणं
प्रदीव्यतोः प्राणदुरोदरं द्वयोः ।
परस्परेणाभिनिविष्टरोषयो-
रुदग्रयोः शम्बरशक्रयोर्यथा ॥ ३१ ॥

उन दोनोंके मनमें एक दूसरेके प्रति महान् रोष भरा हुआ था । दोनों ही प्राणोंकी बाजी लगाकर अत्यन्त भयंकर युद्धका जूआ खेल रहे थे । उन प्रचण्ड वीरोंका वह संग्राम शम्बरासुर और इन्द्रके समान हो रहा था ॥ ३१ ॥

शरैः शरीरार्तिकरैः सुतेजनै-
र्निजघ्नतुस्तावितरेतरं भृशम् ।
सकृत्प्रभिन्नाविव वासितान्तरे
महागजौ मन्मथसक्तचेतसौ ॥ ३२ ॥

शरीरको पीड़ा देनेवाले अत्यन्त पैने बाणोंद्वारा वे दोनों वीर एक दूसरेको गहरी चोट पहुँचाने लगे; मानो मैथुनकी इच्छावाली हथिनीके लिये कामासक्त चित्त होकर दो मदस्रावी गजराज परस्पर आघात करते हों ॥ ३२ ॥

(आलोक्य तौ तत्र परस्परं ततः
समं च शूरौ च ससारथी तदा ।
भीमोऽब्रवीद् याहि दुःशासनाय
दुःशासनो याहि वृकोदराय ॥

सारथिसहित उन दोनों शूरवीरोंने जब वहाँ एक दूसरेको एक साथ देखा, तब भीमने अपने सारथिसे कहा—'दुःशासनकी ओर चलो' और दुःशासनने अपने सारथिसे कहा—'भीमसेनकी ओर चलो' ॥

तयो रथौ सारथिभ्यां प्रचोदितौ
समं रणे तौ सहसा समीयतुः ।
नानायुधौ चित्रपताकिनौ ध्वजौ
दिवीव पूर्वं बलशक्रयो रणे ॥

सारथियोंद्वारा एक साथ हाँके गये उन दोनोंके रथ रणभूमिमें दोनोंके पास सहसा जा पहुँचे । वे दोनों ही रथ नाना प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न तथा विचित्र पताकाओं और ध्वजाओंसे सुशोभित थे । जैसे पूर्वकालमें स्वर्गके निमित्त होनेवाले युद्धमें बलासुर और इन्द्रके रथ थे, उसी प्रकार दुःशासन और भीमसेनके भी थे ॥

भीम उवाच

दिष्ट्यासि दुःशासन मेऽद्य दृष्टः
ऋणं प्रतीच्छे सहवृद्धिमूलम् ।
चिरोद्यतं यन्मया ते सभायां
कृष्णाभिमर्शेन गृहाण मत्तः ॥

भीमसेन बोले—दुःशासन ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तू आज मुझे दिखायी दिया है । कौरव-सभामें द्रौपदीका स्पर्श करनेके कारण दीर्घकालसे जो तेरा ऋण मेरे ऊपर चढ़ गया है, उसे मैं आज ब्याज और मूलसहित चुकाना चाहता हूँ । तू मुझसे वह सब ग्रहण कर ॥

संजय उवाच

स एवमुक्तस्तु ततो महात्मा
दुःशासनो वाक्यमुवाच वीरः ।

संजय कहते हैं—राजन् ! भीमसेनके ऐसा कहनेपर महामनस्वी वीर दुःशासनने इस प्रकार कहा ॥

दुःशासन उवाच

सर्वं स्मरे नैव च विस्मरामि
उदीर्यमाणं शृणु भीमसेन ॥
स्मरामि चात्मप्रभवं चिराय
यज्जातुषे वेश्मनि राज्यहानि ।
विश्वासहीना मृगयां चरन्तो
वसन्ति सर्वत्र निराकृतास्तु ॥

दुःशासन बोला—भीमसेन ! मुझे सब कुछ याद है। मैं भूलता नहीं हूँ। तुम मेरी कही हुई बात सुनो। मैं अपनी की हुई सारी बातोंको चिरकालसे याद रखता हूँ। पहले तुमलोग लाक्षागृहमें रात-दिन सशङ्क होकर निवास करते थे। फिर वहाँसे निकाले जाकर वनमें सर्वत्र शिकार खेलते हुए रहने लगे॥

महाभये राज्यहनी स्मरन्त-
स्तथोपभोगाच्च सुखाच्च हीनाः।
वनेष्वटन्तो गिरिगह्वराणि
पाञ्चालराजस्य पुरं प्रविष्टाः॥
मायां यूयं कामपि सम्प्रविष्टा
यतो वृतः कृष्णया फाल्गुनो वः।

रात-दिन महान् भयमें डूबे रहकर तुम चिन्तामें पड़े रहते और सुख एवं उपभोगसे वञ्चित हो जंगलों तथा पर्वतकी कन्दराओंमें घूमते थे। इसी अवस्थामें तुम सब लोग एक दिन पाञ्चालराजके नगरमें जा घुसे। वहाँ तुम लोगोंने किसी मायामें प्रविष्ट होकर अपने स्वरूपको छिपा लिया था; इसलिये द्रौपदीने तुमलोगोंमेंसे अर्जुनका वरण कर लिया॥

सम्भूय पापैस्तदनार्यवृत्तं
कृतं तदा मातृकृतानुरूपम्॥
एको वृतः पञ्चभिः साभिपन्ना
ह्यलज्जमानैश्च परस्परस्य।
स्मरे सभायां सुबलात्मजेन
दासीकृताः स्थ सह कृष्णया च॥)

परंतु तुम सब पापियोंने मिलकर उसके साथ वह नीचोंका-सा बर्ताव किया, जो तुम्हारी माताकी करनीके अनुरूप था। द्रौपदीने तो एकहीका वरण किया, परंतु तुम पाँचोंने उसे अपनी पत्नी बनाया और इस कार्यमें तुम्हें एक दूसरेसे तनिक भी लज्जा नहीं हुई। मुझे यह भी याद है कि कौरवसभामें शकुनिने द्रौपदीसहित तुम सब लोगोंको दास बना लिया था॥

संजय उवाच

(इत्येवमुक्तस्तु तवात्मजेन
पाण्डोः सुतः कोपवशं जगाम।)

तवात्मजस्याथ वृकोदरस्त्वरन्
धनुः क्षुराभ्यां ध्वजमेव चाच्छिनत्।
ललाटमप्यस्य बिभेद पत्रिणा
शिरश्च कायात् प्रजहार सारथेः॥ ३३॥

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रके ऐसा कहनेपर पाण्डुकुमार भीमसेन क्रोधके वशीभूत हो गये। वृकोदरने बड़ी उतावलीके साथ दो क्षुरोंके द्वारा आपके पुत्र दुःशासनके धनुष और ध्वजको काट दिया, एक बाणसे उसके ललाटमें घाव कर दिया और दूसरेसे उसके सारथिका मस्तक भी धड़से अलग कर दिया॥ ३३॥

स राजपुत्रोऽन्यदवाप्य कार्मुकं
वृकोदरं द्वादशभिः पराभिनत्।
स्वयं नियच्छंस्तुरगानजिह्मगैः
शरैश्च भीमं पुनरप्यवीवृषत्॥ ३४॥

तब राजकुमार दुःशासनने भी दूसरा धनुष लेकर भीमसेनको बारह बाणोंसे बींध डाला और स्वयं ही घोड़ोंको काबूमें रखते हुए उसने पुनः उनके ऊपर सीधे जानेवाले बाणोंकी झड़ी लगा दी॥ ३४॥

ततः शरं सूर्यमरीचिसप्रभं
सुवर्णवज्रोत्तमरत्नभूषितम्।
महेन्द्रवज्राशनिपातदुःसहं
मुमोच भीमाङ्गविदारणक्षमम्॥ ३५॥

इसके बाद दुःशासनने सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान्, सुवर्ण और हीरे आदि उत्तम रत्नोंसे विभूषित तथा देवराज इन्द्रके वज्र एवं विद्युत्-पातके समान दुःसह एक ऐसा भयंकर बाण छोड़ा, जो भीमसेनके अङ्गोंको विदीर्ण कर देनेमें समर्थ था॥ ३५॥

स तेन निर्विद्धतनुर्वृकोदरो
निपातितः स्रस्ततनुर्गतासुवत्।
प्रसार्य बाहू रथवर्यमाश्रितः
पुनः स संज्ञामुपलभ्य चानदत्॥ ३६॥

उससे भीमसेनका शरीर छिद गया। वे बहुत शिथिल हो गये और प्राणहीनके समान दोनों बाँहें फैलाकर अपने श्रेष्ठ रथपर लुढ़क गये। फिर थोड़ी ही देरमें होशमें आकर भीमसेन सिंहके समान दहाड़ने लगे॥ ३६॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि दुःशासनभीमसेनयुद्धे द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें दुःशासन और भीमसेनका युद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $8\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $44\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

भीमद्वारा दुःशासनका रक्तपान और उसका वध, युधामन्युद्वारा चित्रसेनका वध तथा भीमका हर्षोद्गार

संजय उवाच

तत्राकरोद् दुष्करं राजपुत्रो
दुःशासनस्तुमुलं युद्ध्यमानः।
चिच्छेद भीमस्य धनुः शरेण
षड्भ्या शरैः सारथिमप्यविध्यत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! वहाँ तुमुल युद्ध करते हुए

राजकुमार दुःशासनने दुष्कर पराक्रम प्रकट किया। उसने एक बाणसे भीमसेनका धनुष काट डाला और साठ बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

स तत् कृत्वा राजपुत्रस्तरस्वी
विव्याध भीमं नवभिः पृषत्कैः।
ततोऽभिनद् बहुभिः क्षिप्रमेव
वरेषुभिर्भीमसेनं महात्मा ॥ २ ॥

ऐसा करके उस वेगशाली राजपुत्रने भीमसेनपर नौ बाणोंका प्रहार किया। इसके बाद महामना दुःशासनने बड़ी फुर्तीके साथ बहुत-से उत्तम बाणोंद्वारा भीमसेनको अच्छी तरह बींध डाला ॥ २ ॥

ततः क्रुद्धो भीमसेनस्तरस्वी
शक्तिं चोग्रां प्राहिणोत् ते सुताय।
तामापतन्तीं सहसातिघोरां
दृष्ट्वा सुतस्ते ज्वलितामिवोल्काम्॥ ३ ॥
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्महात्मा
चिच्छेद पुत्रो दशभिः पृषत्कैः।

तब क्रोधमें भरे हुए वेगशाली भीमसेनने आपके पुत्रपर एक भयंकर शक्ति छोड़ी। प्रज्वलित उल्काके समान उस अत्यन्त भयानक शक्तिको सहसा अपने ऊपर आती देख आपके महामनस्वी पुत्रने कानतक खींचकर छोड़े हुए दस बाणोंके द्वारा उसे काट डाला॥ ३½ ॥

दृष्ट्वा तु तत् कर्म कृतं सुदुष्करं
प्रापूजयन् सर्वयोधाः प्रहृष्टाः ॥ ४ ॥
अथाशु भीमं च शरेण भूयो
गाढं स विव्याध सुतस्त्वदीयः।
चुक्रोध भीमः पुनराशु तस्मै
भृशं प्रजज्वाल रुषाभिवीक्ष्य ॥ ५ ॥

उसके इस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर सभी योद्धा बड़े प्रसन्न हुए और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। फिर आपके पुत्रने तुरंत ही एक बाण मारकर भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। इससे फिर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। वे उसकी ओर देखकर शीघ्र ही रोषसे प्रज्वलित हो उठे ॥

विद्धोऽस्मि वीराशु भृशं त्वयाद्य
सहस्व भूयोऽपि गदाप्रहारम्।
उक्त्वैवमुच्चैः कुपितोऽथ भीमो
जग्राह तां भीमगदां वधाय ॥ ६ ॥

और बोले—'वीर ! तूने तो आज मुझे शीघ्रतापूर्वक बाण मारकर बहुत घायल कर दिया; किंतु अब स्वयं भी मेरी गदाका प्रहार सहन कर' उच्चस्वरसे ऐसा कहकर कुपित हुए भीमसेनने दुःशासनके वधके लिये एक भयंकर गदा हाथमें ले ली ॥ ६ ॥

उवाच चाद्याहमहं दुरात्मन्
पास्यामि ते शोणितमाजिमध्ये।
अथैवमुक्तस्तनयस्तवोग्रां
शक्तिं वेगात् प्राहिणोन्मृत्युरूपाम्॥७॥

फिर वे इस प्रकार बोले—'दुरात्मन् ! आज इस संग्राममें मैं तेरा रक्त पान करूँगा।' भीमके ऐसा कहते ही आपके पुत्रने उनके ऊपर बड़े वेगसे एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युरूप जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

आविध्य भीमोऽपि गदां सुघोरां
विचिक्षिपे रोषपरीतमूर्तिः।
सा तस्य शक्तिं सहसा विरुज्य
पुत्रं तवाजौ ताडयामास मूर्ध्नि ॥ ८ ॥

इधरसे रोषमें भरे हुए भीमसेनने भी अपनी अत्यन्त घोर गदा घुमाकर फेंकी। वह गदा रणभूमिमें दुःशासनकी उस शक्तिको टूक-टूक करती हुई सहसा उसके मस्तकमें जा लगी॥

स विक्षरन् नाग इव प्रभिन्नो
गदामस्मै तुमुले प्राहिणोद् वै।
तयाहरद् दश धन्वन्तराणि
दुःशासनं भीमसेनः प्रसह्य ॥ ९ ॥

मदस्रावी गजराजके समान अपने घावोंसे रक्त बहाते हुए भीमसेनने उस तुमुल युद्धमें दुःशासनपर जो गदा चलायी थी, उसके द्वारा उन्होंने उसे बलपूर्वक दस धनुष (चालीस हाथ) पीछे हटा दिया ॥ ९ ॥

तया हतः पतितो वेपमानो
दुःशासनो गदया वेगवत्या।
विध्वस्तवर्माभरणाम्बरस्रग्
विचेष्टमानो भृशवेदनातुरः ॥ १० ॥

दुःशासन उस वेगवती गदाके आघातसे धरतीपर गिरकर काँपने और अत्यन्त वेदनासे व्याकुल हो छटपटाने लगा। उसका कवच टूट गया, आभूषण और हार बिखर गये तथा कपड़े फट गये थे ॥ १० ॥

हयाः ससूता निहता नरेन्द्र
चूर्णीकृतश्चास्य रथः पतन्त्या।
दुःशासनं पाण्डवाः प्रेक्ष्य सर्वे
हृष्टाः पञ्चालाः सिंहनादानमुञ्चन्॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उस गदाने गिरते ही दुःशासनके रथको चूर-चूर कर डाला और सारथिसहित उसके घोड़ोंको भी मार डाला। दुःशासनको उस अवस्थामें देखकर समस्त पाण्डव और पाञ्चाल योधा हर्षमें भरकर सिंहनाद करने लगे ॥ ११ ॥

तं पातयित्वाथ वृकोदरोऽथ
जगर्ज हर्षेण विनादयन् दिशः।
नादेन तेनाखिलपार्श्ववर्तिनो
मूर्च्छाकुलाः पतितास्त्वाजमीढ ॥ १२ ॥

इस प्रकार वृकोदर भीम दुःशासनको धराशायी करके हर्षसे उल्लसित हो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए

जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। अजमीढ़वंशी नरेश ! उस सिंहनादसे भयभीत हो आसपास खड़े हुए समस्त योद्धा मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ १२ ॥

भीमोऽपि वेगादवतीर्य यानाद्
दुःशासनं वेगवानभ्यधावत्।
ततः स्मृत्वा भीमसेनस्तरस्वी
सापत्नकं यत् प्रयुक्तं सुतैस्ते ॥ १३ ॥

फिर भीमसेन भी शीघ्रतापूर्वक रथसे उतरकर बड़े वेगसे दुःशासनकी ओर दौड़े। उस समय वेगशाली भीमसेनको आपके पुत्रोंद्वारा किये गये शत्रुतापूर्ण बर्ताव याद आने लगे थे॥

तस्मिन् सुघोरे तुमुले वर्तमाने
प्रधानभूयिष्ठतरैः समन्तात्।
दुःशासनं तत्र समीक्ष्य राजन्
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ १४ ॥
स्मृत्वाथ केशग्रहणं च देव्या
वस्त्रापहारं च रजस्वलायाः।
अनागसो भर्तृपराङ्मुखाया
दुःखानि दत्तान्यपि विप्रचिन्त्य ॥ १५ ॥
जज्वाल क्रोधादथ भीमसेन
आज्यप्रसिक्तो हि यथा हुताशः।

राजन् ! वहाँ चारों ओर जब प्रधान-प्रधान वीरोंका वह अत्यन्त घोर तुमुल युद्ध चल रहा था, उस समय अचिन्त्यपराक्रमी महाबाहु भीमसेन दुःशासनको देखकर पिछली बातें याद करने लगे—'देवी द्रौपदी रजस्वला थी। उसने कोई अपराध नहीं किया था। उसके पति भी उसकी सहायतासे मुँह मोड़ चुके थे तो भी इस दुःशासनने द्रौपदीके केश पकड़े और भरी सभामें उसके वस्त्रोंका अपहरण किया।' उसने और भी जो-जो दुःख दिये थे, उन सबको याद करके भीमसेन घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान क्रोधसे जल उठे ॥ १४–१५½ ॥

तत्राह कर्णं च सुयोधनं च
कृपं द्रौणिं कृतवर्माणमेव ॥ १६ ॥
निहन्मि दुःशासनमद्य पापं
संरक्ष्यतामद्य समस्तयोधाः।

उन्होंने वहाँ कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माको सम्बोधित करके कहा—'आज मैं पापी दुःशासनको मारे डालता हूँ। तुम समस्त योद्धा मिलकर उसकी रक्षा कर सको तो करो' ॥ १६½ ॥

इत्येवमुक्त्वा सहसाभ्यधाव-
न्निहन्तुकामोऽतिबलस्तरस्वी ॥ १७ ॥
तथा तु विक्रम्य रणे वृकोदरो
महागजं केसरिको यथैव।
निगृह्य दुःशासनमेकवीरः
सुयोधनस्याधिरथेः समक्षम् ॥ १८ ॥
रथादवप्लुत्य गतः स भूमौ
यत्नेन तस्मिन् प्रणिधाय चक्षुः।
असिं समुद्यम्य सितं सुधारं
कण्ठे पदाऽऽक्रम्य च वेपमानम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त बलवान् वेगशाली एवं अद्वितीय वीर भीमसेन अपने रथसे कूदकर पृथ्वीपर आ गये और दुःशासनको मार डालनेकी इच्छासे सहसा उसकी ओर दौड़े। उन्होंने युद्धमें पराक्रम करके दुर्योधन और कर्णके सामने ही दुःशासनको उसी प्रकार धर दबाया, जैसे सिंह किसी विशाल हाथीपर आक्रमण कर रहा हो। वे यत्नपूर्वक उसीकी ओर दृष्टि जमाये हुए थे। उन्होंने उत्तम धारवाली सफेद तलवार उठा ली और उसके गलेपर लात मारी। उस समय दुःशासन थरथर काँप रहा था ॥ १७—१९ ॥

उवाच तद्गौरिति यद् ब्रुवाणो
हृष्टो वदेः कर्णसुयोधनाभ्याम्।
ये राजसूयावभृथे पवित्रा
जाताः कचा याज्ञसेन्या दुरात्मन् ॥ २० ॥
ते पाणिना कतरेणावकृष्टा-
स्तद् ब्रूहि त्वां पृच्छति भीमसेनः।

वे उससे इस प्रकार बोले—'दुरात्मन् ! याद है न वह दिन, जब तुमने कर्ण और दुर्योधनके साथ बड़े हर्षमें भरकर मुझे 'बैल' कहा था। राजसूययज्ञमें अवभृथस्नानसे पवित्र हुए महारानी द्रौपदीके केश तूने किस हाथसे खींचे थे ? बता, आज भीमसेन तुझसे यह पूछता और इसका उत्तर चाहता है' ॥ २०½ ॥

श्रुत्वा तु तद् भीमवचः सुघोरं
दुःशासनो भीमसेनं निरीक्ष्य ॥ २१ ॥
जज्वाल भीमं स तदा स्मयेन
संशृण्वतां कौरवसोमकानाम्।
उक्तस्तदाऽऽजौ स तथा सरोषं
जगाद भीमं परिवर्तनेत्रः ॥ २२ ॥

भीमसेनका यह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दुःशासनने उनकी ओर देखा। देखते ही वह क्रोधसे जल उठा। युद्धस्थलमें उनके वैसा कहनेपर उसकी त्यौरी बदल गयी थी; अतः वह समस्त कौरवों तथा सोमकोंके सुनते-सुनते मुस्कराकर रोषपूर्वक बोला—॥ २१-२२ ॥

अयं करिकराकारः पीनस्तनविमर्दनः।
गोसहस्रप्रदाता च क्षत्रियान्तकरः करः ॥ २३ ॥
अनेन याज्ञसेन्या मे भीम केशा विकर्षिताः।
पश्यतां कुरुमुख्यानां युष्माकं च सभासदाम् ॥ २४ ॥

'यह है हाथीकी सूँड़के समान मोटा मेरा हाथ, जो रमणीके ऊँचे उरोजोंका मर्दन, सहस्रों गोदान तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला है। भीमसेन ! इसी हाथसे मैंने सभामें

बैठे हुए कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुषों और तुमलोगोंके देखते-देखते द्रौपदीके केश खींचे थे' ॥ २३-२४ ॥

एवं त्वसौ राजसुतं निशम्य
ब्रुवन्तमाजौ विनिपीड्य वक्षः।
भीमो बलात्तं प्रतिगृह्य दोर्भ्या-
मुच्चैर्ननादाथ समस्तयोधान् ॥ २५ ॥
उवाच यस्यास्ति बलं स रक्ष-
त्वसौ भवेदद्य निरस्तबाहुः।
दुःशासनं जीवितं प्रोत्सृजन्त-
माक्षिप्य योधांस्तरसा महाबलः॥ २६ ॥
एवं क्रुद्धो भीमसेनः करेण
उत्पाटयामास भुजं महात्मा।
दुःशासनं तेन स वीरमध्ये
जघान वज्राशनिसंनिभेन ॥ २७ ॥

युद्धस्थलमें ऐसी बात कहते हुए राजकुमार दुःशासनकी छातीपर चढ़कर भीमसेनने उसे दोनों हाथोंसे बलपूर्वक पकड़ लिया और उच्चस्वरसे सिंहनाद करते हुए समस्त योद्धाओंसे कहा—'आज दुःशासनकी बाँह उखाड़ी जा रही है। यह अब अपने प्राणोंको त्यागना ही चाहता है। जिसमें बल हो, वह आकर इसे मेरे हाथसे बचा ले।' इस प्रकार समस्त योद्धाओंको ललकारकर महाबली, महामनस्वी, कुपित भीमसेनने एक ही हाथसे वेगपूर्वक दुःशासनकी बाँह उखाड़ ली। उसकी वह बाँह वज्रके समान कठोर थी। भीमसेन समस्त वीरोंके बीच उसीके द्वारा उसे पीटने लगे ॥

उत्कृत्य वक्षः पतितस्य भूमा-
वथापिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
ततो निपात्यास्य शिरोऽपकृत्य
तेनासिना तव पुत्रस्य राजन् ॥ २८ ॥
सत्यां चिकीर्षुर्मतिमान् प्रतिज्ञां
भीमोऽपिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
आस्वाद्य चास्वाद्य च वीक्षमाणः
क्रुद्धो हि चैनं निजगाद वाक्यम्॥ २९ ॥

इसके बाद पृथ्वीपर पड़े हुए दुःशासनकी छाती फाड़कर वे उसका गरम-गरम रक्त पीनेका उपक्रम करने लगे। राजन्! उठनेकी चेष्टा करते हुए दुःशासनको पुनः गिराकर बुद्धिमान् भीमसेनने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये तलवारसे आपके पुत्रका मस्तक काट डाला और उसके कुछ-कुछ गरम रक्तको वे स्वाद ले-लेकर पीने लगे। फिर क्रोधमें भरकर उसकी ओर देखते हुए इस प्रकार बोले—॥

स्तन्यस्य मातुर्मधुसर्पिषोर्वा
माध्वीकपानस्य च सत्कृतस्य।
दिव्यस्य वा तोयरसस्य पानात्
पयोदधिभ्यां मथिताच्च मुख्यात्॥ ३० ॥
अन्यानि पानानि च यानि लोके
सुधामृतस्वादुरसानि तेभ्यः।
सर्वेभ्य एवाभ्यधिको रसोऽयं
ममाद्य चास्याहितलोहितस्य ॥ ३१ ॥

'मैंने माताके दूधका, मधु और घीका, अच्छी तरह तैयार किये हुए मधूक पुष्प-निर्मित पेय पदार्थका, दिव्य जल-के रसका, दूध और दहीसे बिलोये हुए ताजे माखनका भी पान या रसास्वादन किया है; इन सबसे तथा इनके अतिरिक्त भी संसारमें जो अमृतके समान स्वादिष्ट पीने योग्य पदार्थ हैं, उन सबसे भी मेरे इस शत्रुके रक्तका स्वाद अधिक है ॥ ३०-३१ ॥

अथाह भीमः पुनरुग्रकर्मा
दुःशासनं क्रोधपरीतचेताः।
गतासुमालोक्य विहस्य सुस्वरं
किं वा कुर्यां मृत्युना रक्षितोऽसि॥ ३२ ॥

तदनन्तर भयानक कर्म करनेवाले भीमसेन क्रोधसे व्याकुलचित्त हो दुःशासनको प्राणहीन हुआ देख जोर-जोरसे अट्टहास करते हुए बोले—'क्या करूँ! मृत्युने तुझे दुर्दशासे बचा दिया' ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवाणं पुनराद्रवन्त-
मास्वाद्य रक्तं तमतिप्रहृष्टम्।
ये भीमसेनं ददृशुस्तदानीं
भयेन तेऽपि व्यथिता निपेतुः ॥ ३३ ॥

ऐसा कहते हुए वे बारंबार अत्यन्त प्रसन्न हो उसके रक्तका आस्वादन करने और उछलने-कूदने लगे। उस समय जिन्होंने भीमसेनकी ओर देखा, वे भी भयसे पीड़ित हो पृथ्वीपर गिर गये ॥ ३३ ॥

ये चापि नासन् व्यथिता मनुष्या-
स्तेषां करेभ्यः पतितं हि शस्त्रम्।
भयाच्च संचुक्रुशुरस्वरैस्ते
निमीलिताक्षा ददृशुः समन्ततः ॥ ३४ ॥

जो लोग भयसे व्याकुल नहीं हुए, उनके हाथोंसे भी हथियार तो गिर ही पड़ा। वे भयसे मन्द स्वरमें सहायकोंको पुकारने लगे और आँखें कुछ-कुछ बंद किये ही सब ओर देखने लगे ॥ ३४ ॥

तं तत्र भीमं ददृशुः समन्ताद्
दौःशासनं तद् रुधिरं पिबन्तम्।
सर्वेऽपलायन्त भयाभिपन्ना
न वै मनुष्योऽयमिति ब्रुवाणाः ॥ ३५ ॥

जिन लोगोंने भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीते देखा, वे सभी भयभीत हो यह कहते हुए सब ओर भागने लगे कि 'यह मनुष्य नहीं राक्षस है!' ॥ ३५ ॥

तस्मिन् कृते भीमसेनेन रूपे
दृष्ट्वा जनाः शोणितं पीयमानम्।

सम्प्राद्रवंश्चित्रसेनेन सार्धं
भीमं रक्षो भाषमाणा भयार्ताः ॥ ३६ ॥

भीमसेनके वैसा भयानक रूप बना लेनेपर उनके द्वारा रक्तका पीया जाना देखकर सब लोग भयसे आतुर हो भीमको राक्षस बताते हुए चित्रसेनके साथ भाग चले ॥ ३६ ॥

युधामन्युः प्रद्रुतं चित्रसेनं
सहानीकस्त्वभ्ययाद् राजपुत्रः ।
विव्याध चैनं निशितैः पृषत्कै-
र्व्यपेतभीः सप्तभिराशुमुक्तैः ॥ ३७ ॥

चित्रसेनको भागते देख राजकुमार युधामन्युने अपनी सेनाके साथ उसका पीछा किया और निर्भय होकर शीघ्र छोड़े हुए सात पैने बाणोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥ ३७ ॥

संक्रान्तभोग इव लेलिहानो
महोरगः क्रोधविषं सिसृक्षुः ।
निवृत्य पाञ्चालजमभ्यविध्य-
त् त्रिभिः शरैः सारथिमस्य षड्भिः ॥ ३८ ॥

तब जिसका शरीर पैरोंसे कुचल गया हो, अतएव जो क्रोधजनित विषका वमन करना चाहता हो, उस जीभ लपलपानेवाले महान् सर्पके समान चित्रसेनने पुनः लौटकर उस पाञ्चालराजकुमारको तीन और उसके सारथिको छः बाण मारे ॥ ३८ ॥

ततः सुपुङ्खेन सुयन्त्रितेन
सुसंशिताग्रेण शरेण शूरः ।
आकर्णमुक्तेन समाहितेन
युधामन्युस्तस्य शिरो जहार ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् शूरवीर युधामन्युने धनुषको कानतक खींचकर ठीकसे संधान करके छोड़े हुए सुन्दर पंख और तीखी धारवाले सुनियन्त्रित बाणद्वारा चित्रसेनका मस्तक काट दिया॥

तस्मिन् हते भ्रातरि चित्रसेने
क्रुद्धः कर्णः पौरुषं दर्शयानः ।
व्यद्रावयत् पाण्डवानामनीकं
प्रत्युद्यातो नकुलेनामितौजाः ॥ ४० ॥

अपने भाई चित्रसेनके मारे जानेपर कर्ण क्रोधमें भर गया और अपना पराक्रम दिखाता हुआ पाण्डवसेनाको खदेड़ने लगा। उस समय अमितबलशाली नकुलने आगे आकर उसका सामना किया ॥ ४० ॥

भीमोऽपि हत्वा तत्रैव दुःशासनममर्षणम् ।
पूरयित्वाञ्जलिं भूयो रुधिरस्योग्रनिःस्वनः ॥ ४१ ॥
शृण्वतां लोकवीराणामिदं वचनमब्रवीत् ।

इधर भीमसेन भी अमर्षमें भरे हुए दुःशासनका वहीं वध करके पुनः उसके खूनसे अञ्जलि भरकर भयंकर गर्जना करते और विश्वविख्यात वीरोंके सुनते हुए इस प्रकार बोले—॥

एष ते रुधिरं कण्ठात् पिबामि पुरुषाधम ॥ ४२ ॥
ब्रूहीदानीं तु संहृष्टः पुनर्गौरिति गौरिति ।

'नराधम दुःशासन ! यह देख, मैं तेरे गलेका खून पी रहा हूँ। अब इस समय पुनः हर्षमें भरकर मुझे 'बैल-बैल' कहकर पुकार तो सही ॥ ४२½ ॥

ये तदास्मान् प्रनृत्यन्ति पुनर्गौरिति गौरिति ॥ ४३ ॥
तान् वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति ।

'जो लोग उस दिन कौरवसभामें हमें 'बैल-बैल' कहकर खुशीके मारे नाच उठते थे, उन सबको आज बारंबार 'बैल-बैल' कहते हुए हम भी प्रसन्नतापूर्वक नृत्य कर रहे हैं।४३½।

प्रमाणकोट्यां शयनं कालकूटस्य भोजनम् ॥ ४४ ॥
दंशनं चाहिभिः कृष्णैर्दाहं च जतुवेश्मनि ।
द्यूतेन राज्यहरणमरण्ये वसतिश्च या ॥ ४५ ॥
द्रौपद्याः केशपक्षस्य ग्रहणं च सुदारुणम् ।
इष्वस्त्राणि च संग्रामेष्वसुखानि च वेश्मनि ॥ ४६ ॥
विराटभवने यश्च क्लेशोऽस्माकं पृथग्विधः ।
शकुनेर्धार्तराष्ट्रस्य राधेयस्य च मन्त्रिते ॥ ४७ ॥
अनुभूतानि दुःखानि तेषां हेतुस्त्वमेव हि ।
दुःखान्येतानि जानीमो न सुखानि कदाचन ॥ ४८ ॥
धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्यात् सपुत्रस्य सदा वयम् ।

'मुझे प्रमाणकोटितीर्थमें विष पिलाकर नदीमें डाल दिया गया, कालकूट नामक विष खिलाया गया, काले सर्पोंसे डसाया गया, लाक्षागृहमें जलानेकी चेष्टा की गयी, जूएके द्वारा हमारे राज्यका अपहरण किया गया और हम सब लोगोंको वनवास दे दिया गया। द्रौपदीके केश खींचे गये, जो अत्यन्त दारुण कर्म था। संग्राममें हमपर बाणों तथा अन्य घातक अस्त्रोंका प्रयोग किया गया और घरमें भी चैनसे नहीं रहने दिया गया। राजा विराटके भवनमें हमें जो महान् क्लेश उठाना पड़ा, वह तो सबसे विलक्षण है। शकुनि, दुर्योधन और कर्णकी सलाहसे हमें जो-जो दुःख भोगने पड़े, उन सबकी जड़ तू ही था। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रकी दुष्टतासे हमें ये दुःख भोगने पड़े हैं। इन दुःखोंको तो हम जानते हैं, किंतु हमें कभी सुख मिला हो, इसका स्मरण नहीं है' ॥ ४४—४८½ ॥

इत्युक्त्वा वचनं राजञ्जयं प्राप्य वृकोदरः ।
पुनराह महाराज स्मयंस्तौ केशवार्जुनौ ॥ ४९ ॥
असृग्दिग्धो विस्रवल्लोहितास्यः
क्रुद्धोऽत्यर्थं भीमसेनस्तरस्वी ।
दुःशासने यद् रणे संश्रुतं मे
तद् वै सत्यं कृतमद्येह वीरौ ॥ ५० ॥

महाराज ! ऐसी बात कहकर खूनसे भीगे और रक्तसे लाल मुखवाले, अत्यन्त क्रोधी, वेगशाली वीर भीमसेन युद्धमें विजय पाकर मुस्कराते हुए पुनः श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बोले—'वीरो ! दुःशासनके विषयमें मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे आज यहाँ रणभूमिमें सत्य कर दिखाया ॥ ४९-५० ॥

अत्रैव दास्याम्यपरं द्वितीयं
दुर्योधनं यज्ञपशुं विशस्य।
शिरो मृदित्वा च पदा दुरात्मनः
शान्तिं लप्स्ये कौरवाणां समक्षम्॥ ५१ ॥

'यहीं दूसरे यज्ञपशु दुर्योधनको काटकर उसकी बलि दूँगा और समस्त कौरवोंकी आँखोंके सामने उस दुरात्माके मस्तकको पैरसे कुचलकर शान्ति प्राप्त करूँगा' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं प्रहृष्टो
ननाद चोच्चै रुधिरार्द्रगात्रः।
ननर्द चैवातिबलो महात्मा
वृत्रं निहत्येव सहस्रनेत्रः॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर खूनसे भीगे शरीरवाले अत्यन्त बलशाली महामना भीम वृत्रासुरका वध करके गर्जनेवाले सहस्र नेत्र-धारी इन्द्रके समान उच्चस्वरसे गर्जन और सिंहनाद करने लगे॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि दुःशासनवधे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें दुःशासनवधविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके दस पुत्रोंका वध, कर्णका भय और शल्यका समझाना तथा नकुल और वृषसेनका युद्ध

संजय उवाच

दुःशासने तु निहते तव पुत्रा महारथाः।
महाक्रोधविषा वीराः समरेष्वपलायिनः॥ १ ॥
दश राजन् महावीर्या भीमं प्राच्छादयञ्शरैः।

संजय कहते हैं— राजन्! दुःशासनके मारे जानेपर युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले और महान् क्रोधरूपी विषसे भरे हुए आपके दस महारथी महापराक्रमी वीर पुत्रोंने आकर भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया॥ १½ ॥

निषङ्गी कवची पाशी दण्डधारो धनुर्ग्रहः॥ २ ॥
अलोलुपः शलः सन्धो वातवेगसुवर्चसौ।
एते समेत्य सहिता भ्रातृव्यसनकर्शिताः॥ ३ ॥
भीमसेनं महाबाहुं मार्गणैः समवारयन्।

निषङ्गी, कवची, पाशी, दण्डधार, धनुर्ग्रह (धनुग्रह), अलोलुप, शल, सन्ध (सत्यसन्ध), वातवेग और सुवर्चा (सुवर्चस्)—ये एक साथ आकर भाईकी मृत्युसे दुखी हो महाबाहु भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा रोकने लगे॥ २-३½॥

स वार्यमाणो विशिखैः समन्तात् तैर्महारथैः॥ ४ ॥
भीमः क्रोधाग्निरक्ताक्षः क्रुद्धः काल इवाबभौ।

उन महारथियोंके चलाये हुए बाणोंद्वारा चारों ओरसे रोके जानेपर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे कुपित हुए कालके समान प्रतीत होने लगे॥ ४½ ॥

तांस्तु भल्लैर्महावेगैर्दशभिर्दश भारतान्॥ ५ ॥
रुक्माङ्गदान् रुक्मपुङ्खैः पार्थो निन्ये यमक्षयम्।

कुन्तीकुमार भीमने सोनेके पंखवाले महान् वेगशाली दस भल्लोंद्वारा सुवर्णमय अङ्गदोंसे विभूषित उन दसों भरत-वंशी राजकुमारोंको यमलोक पहुँचा दिया॥ ५½ ॥

हतेषु तेषु वीरेषु प्रदुद्राव बलं तव॥ ६ ॥
पश्यतः सूतपुत्रस्य पाण्डवस्य भयार्दितम्।

उन वीरोंके मारे जानेपर पाण्डुपुत्र भीमसेनके भयसे पीड़ित हो आपकी सारी सेना सूतपुत्रके देखते-देखते भाग चली॥ ६½ ॥

ततः कर्णो महाराज प्रविवेश महद् भयम्॥ ७ ॥
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तमन्तकस्य प्रजास्विव।

महाराज! जैसे प्रजावर्गपर यमराजका बल काम करता है, उसी प्रकार भीमसेनका वह पराक्रम देखकर कर्णके मनमें महान् भय समा गया॥ ७½ ॥

तस्य त्वाकारभावज्ञः शल्यः समितिशोभनः॥ ८ ॥
उवाच वचनं कर्णं प्राप्तकालमरिंदमम्।

युद्धमें शोभा पानेवाले शल्य कर्णकी आकृति देखकर ही उसके मनका भाव समझ गये; अतः शत्रुदमन कर्णसे यह समयोचित वचन बोले—॥ ८½ ॥

मा व्यथां कुरु राधेय नैवं त्वय्युपपद्यते॥ ९ ॥
एते द्रवन्ति राजानो भीमसेनभयार्दिताः।
दुर्योधनश्च सम्मूढो भ्रातृव्यसनकर्शितः॥ १० ॥

'राधानन्दन! तुम खेद न करो, तुम्हें यह शोभा नहीं देता है। ये राजालोग भीमसेनके भयसे पीड़ित हो भागे जा रहे हैं। अपने भाइयोंकी मृत्युसे दुःखित हो राजा दुर्योधन भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है॥ ९-१०॥

दुःशासनस्य रुधिरे पीयमाने महात्मना।
व्यापन्नचेतसश्चैव शोकोपहतचेतसः॥ ११ ॥
दुर्योधनमुपासन्ते परिवार्य समन्ततः।
कृपप्रभृतयश्चैते हतशेषाः सहोदराः॥ १२ ॥

'महामना भीमसेन जब दुःशासनका रक्त पी रहे थे, तभीसे ये कृपाचार्य आदि वीर तथा मरनेसे बचे हुए सब भाई कौरव विपन्न और शोकाकुलचित्त होकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर उसके पास खड़े हैं॥ ११-१२॥

पाण्डवा लब्धलक्ष्याश्च धनंजयपुरोगमाः।
त्वामेवाभिमुखाः शूरा युद्धाय समुपस्थिताः॥ १३ ॥

'अर्जुन आदि पाण्डव वीर अपना लक्ष्य सिद्ध कर चुके हैं और अब युद्धके लिये तुम्हारे ही सामने उपस्थित हो रहे हैं॥ १३ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल पौरुषेण समास्थितः।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य प्रत्युद्याहि धनंजयम्॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह ! ऐसी अवस्थामें तुम पुरुषार्थका भरोसा करके क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए अर्जुनपर चढ़ाई करो ॥

भारो हि धार्तराष्ट्रेण त्वयि सर्वः समाहितः ।
तमुद्वह महाबाहो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ १५ ॥

'महाबाहो ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने सारा भार तुम्हींपर रख छोड़ा है । तुम अपने बल और शक्तिके अनुसार उस भारका वहन करो ॥ १५ ॥

जये स्याद् विपुला कीर्तिर्ध्रुवः स्वर्गः पराजये ।
वृषसेनश्च राधेय संक्रुद्धस्तनयस्तव ॥ १६ ॥
त्वयि मोहं समापन्ने पाण्डवानभिधावति ।

'यदि विजय हुई तो तुम्हारी बहुत बड़ी कीर्ति फैलेगी और पराजय होनेपर अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति निश्चित है । राधानन्दन ! तुम्हारे मोहग्रस्त हो जानेके कारण तुम्हारा पुत्र वृषसेन अत्यन्त कुपित हो पाण्डवोंपर धावा कर रहा है' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं शल्यस्यामिततेजसः ।
हृदि चावश्यकं भावं चक्रे युद्धाय सुस्थिरम् ॥ १७ ॥

अमिततेजस्वी शल्यकी यह बात सुनकर कर्णने अपने हृदयमें युद्धके लिये आवश्यक भाव (उत्साह, अमर्ष आदि) को दृढ़ किया ॥ १७ ॥

ततः क्रुद्धो वृषसेनोऽभ्यधाव-
दवस्थितं प्रमुखे पाण्डवं तम् ।
वृकोदरं कालमिवात्तदण्डं
गदाहस्तं योधयन्तं त्वदीयान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए वृषसेनने सामने खड़े हुए पाण्डुपुत्र भीमसेनपर धावा किया, जो दण्डधारी कालके समान हाथमें गदा लिये आपके सैनिकोंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १८ ॥

तमभ्यधावन्नकुलः प्रवीरो
रोषादमित्रं प्रतुदन् पृषत्कैः ।
कर्णस्य पुत्रं समरे प्रहृष्टं
पुरा जिघांसुर्मघवेव जम्भम् ॥ १९ ॥

यह देख प्रमुख वीर नकुलने अपने शत्रु कर्णपुत्र वृषसेनको, जो समराङ्गणमें बड़े हर्षके साथ युद्ध कर रहा था, बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए उसपर रोषपूर्वक चढ़ाई कर दी । ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने 'जम्भ' नामक दैत्यपर आक्रमण किया था ॥ १९ ॥

ततो ध्वजं स्फाटिकचित्रकञ्चुकं
चिच्छेद वीरो नकुलः क्षुरेण ।
कर्णात्मजस्येष्वसनं च चित्रं
भल्लेन जाम्बूनदचित्रनद्धम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वीर नकुलने एक क्षुरद्वारा कर्णपुत्रके उस ध्वजको काट डाला, जिसे स्फटिकमणिसे जटित विचित्र कंचुक (चोला) पहनाया गया था । साथ ही एक भल्लद्वारा उसके सुवर्णजटित विचित्र धनुषको भी खण्डित कर दिया ॥ २० ॥

अथान्यदादाय धनुः स शीघ्रं
कर्णात्मजः पाण्डवमभ्यविध्यत् ।
दिव्यैरस्त्रैरभ्यवर्षच्च सोऽपि
कर्णस्य पुत्रो नकुलं कृतास्त्रः ॥ २१ ॥

तब कर्णपुत्र वृषसेनने तुरंत ही दूसरा धनुष हाथमें लेकर पाण्डुकुमार नकुलको बींध डाला । कर्णका पुत्र अस्त्र-विद्याका ज्ञाता था, इसलिये वह नकुलपर दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

शराभिघाताच्च रुषा च राजन्
स्वया च भासास्त्रसमीरणाच्च ।
जज्वाल कर्णस्य सुतोऽतिमात्र-
मिद्धो यथाऽऽज्याहुतिभिर्हुताशः॥२२॥
कर्णस्य पुत्रो नकुलस्य राजन्
सर्वानश्वानक्षिणोदुत्तमास्त्रैः ।
वनायुजान् वै नकुलस्य शुभ्रा-
नुदग्रगान् हेमजालावनद्धान् ॥ २३ ॥

राजन् ! जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार कर्णका पुत्र बाणोंके प्रहारसे अपनी प्रभासे, अस्त्रोंके प्रयोगसे और रोषसे जल उठा । उसने नकुलके सब घोड़ोंको, जो वनायु देशमें उत्पन्न, श्वेत-वर्ण, तीव्रगामी और सोनेकी जालीसे आच्छादित थे, अपने अस्त्रोंद्वारा काट डाला ॥ २२-२३ ॥

ततो हताश्वादवरुह्य याना-
दादाय चर्मामलरुक्मचन्द्रम् ।
आकाशसंकाशमसिं प्रगृह्य
दोधूयमानः खगवच्चचार ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् अश्वहीन रथसे उतरकर स्वर्णमय निर्मल चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढाल और आकाशके समान स्वच्छ तलवार ले उसे घुमाते हुए नकुल एक पक्षीके समान विचरने लगे ॥ २४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे च रथाश्वनागं
चिच्छेद तूर्णं नकुलश्चित्रयोधी ।
ते प्रापतन्नसिना गां विशस्ता
यथाश्वमेधे पशवः शमित्रा ॥ २५ ॥

फिर विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुलने बड़े-बड़े रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंको तुरंत ही आकाशमें तलवार घुमाकर काट डाला । वे अश्वमेध-यज्ञमें शामित्र कर्म करनेवाले पुरुषके द्वारा मारे गये पशुओंके समान तलवारसे कटकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

द्विसाहस्राः पातिता युद्धशौण्डा
नानादेश्याः सुभृताः सत्यसंधाः ।

एकेन संख्ये नकुलेन कृत्ता
जयेप्सुनानुत्तमचन्दनाङ्गाः ॥ २६ ॥

युद्धस्थलमें विजयकी इच्छा रखनेवाले एकमात्र वीर नकुलके द्वारा उत्तम चन्दनसे चर्चित अङ्गोंवाले, नाना देशोंमें उत्पन्न, युद्धकुशल, सत्यप्रतिज्ञ और अच्छी तरह पाले-पोसे गये दो हजार योद्धा काट डाले गये ॥ २६ ॥

तमापतन्तं नकुलं सोऽभिपत्य
समन्ततः सायकैः प्रत्यविद्ध्यत्।
स तुद्यमानो नकुलः पृषत्कै-
र्विव्याध वीरं स चुकोप विद्धः॥ २७ ॥

अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले नकुलके पास पहुँचकर वृषसेनने अपने सायकोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बींध डाला। बाणोंसे पीड़ित हुए नकुल अत्यन्त कुपित हो उठे और स्वयं घायल होकर उन्होंने वीर वृषसेनको भी बींध डाला ॥ २७॥

महाभये रक्ष्यमाणो महात्मा
भ्रात्रा भीमेनाकरोत् तत्र भीमम्।
तं कर्णपुत्रो विधमन्तमेकं
नराश्वमातङ्गरथाननेकान् ॥ २८ ॥
क्रीडन्तमष्टादशभिः पृषत्कै-
र्विव्याध वीरं नकुलं सरोषः।

उस महान् भयके अवसरपर अपने भाई भीमसे सुरक्षित हो महामना नकुलने वहाँ भयंकर पराक्रम प्रकट किया। अकेले ही बहुत-से पैदल मनुष्यों, घोड़ों, हाथियों और रथोंका संहार करते एवं खेलते हुए-से वीर नकुलको रोषमें भरे हुए कर्णपुत्रने अठारह बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥२८½॥

स तेन विद्धोऽतिभृशं तरस्वी
महाहवे वृषसेनेन राजन् ॥ २९ ॥
क्रुद्धेन धावन् समरे जिघांसुः
कर्णात्मजं पाण्डुसुतो नृवीरः।

राजन्! उस महासमरमें कुपित हुए वृषसेनके द्वारा अत्यन्त घायल किये गये वेगवान् वीर पाण्डुपुत्र नकुल कर्णके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥२९½॥

वितत्य पक्षौ सहसा पतन्तं
श्येनं यथैवामिषलुब्धमाजौ ॥ ३० ॥
अवाकिरद् वृषसेनस्ततस्तं
शितैः शरैर्नकुलमुदारवीर्यम्।

जैसे बाज मांसके लोभसे पंख फैलाकर सहसा टूट पड़ता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उदार पराक्रमी नकुलको वृषसेनने अपने पैने बाणोंसे ढक दिया ॥ ३०½ ॥

स तान् मोघांस्तस्य कुर्वञ्शरौघां-
श्चचार मार्गान् नकुलश्चित्ररूपान्॥ ३१ ॥
अथास्य तूर्णं चरतो नरेन्द्र
खड्गेन चित्रं नकुलस्य तस्य।
महेषुभिर्व्यधमत् कर्णपुत्रो
महाहवे चर्म सहस्रतारम् ॥ ३२ ॥

नकुल उसके उन बाणसमूहोंको व्यर्थ करते हुए विचित्र मार्गोंसे विचरने लगे (युद्धके अद्भुत पैंतरे दिखाने लगे)। नरेन्द्र! तलवारके विचित्र हाथ दिखाते हुए शीघ्रतापूर्वक विचरनेवाले नकुलकी सहस्र तारोंके चिह्नवाली ढालको कर्णके पुत्रने उस महायुद्धमें अपने विशाल बाणोंद्वारा नष्ट कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

तं चायसं निशितं तीक्ष्णधारं
विकोशमुग्रं गुरुभारसाहम्।
द्विषच्छरीरान्तकरं सुघोर-
माधुन्वतः सर्पमिवोग्ररूपम् ॥ ३३ ॥
क्षिप्रं शरैः षड्भिरमित्रसाह-
श्चकर्त खड्गं निशितैः सुवेगैः।
पुनश्च दीप्तैर्निशितैः पृषत्कैः
स्तनान्तरे गाढमथाभ्यविद्ध्यत् ॥ ३४ ॥

इसके बाद शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ वृषसेनने अत्यन्त वेगशाली और तीखी धारवाले छः बाणोंद्वारा तलवार घुमाते हुए नकुलकी उस तलवारके भी शीघ्रतापूर्वक टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वह तलवार लोहेकी बनी हुई, तेजधारवाली तीखी, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, म्यानसे बाहर निकली हुई, भयंकर, सर्पके समान उग्र रूपधारी, अत्यन्त घोर और शत्रुओंके शरीरोंका अन्त कर देनेवाली थी। तलवार काटनेके पश्चात् उसने पुनः प्रज्वलित एवं पैने बाणोंद्वारा नकुलकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥३३-३४॥

कृत्वा तु तद् दुष्करमार्यजुष्ट-
मन्यैर्नरैः कर्म रणे महात्मा।
ययौ रथं भीमसेनस्य राजञ्
शराभितप्तो नकुलस्त्वरावान् ॥ ३५ ॥

राजन्! महामना नकुल रणभूमिमें अन्य मनुष्योंके लिये दुष्कर तथा सज्जन पुरुषोंद्वारा सेवित उत्तम कर्म करके वृषसेनके बाणोंसे संतप्त हो बड़ी उतावलीके साथ भीमसेनके रथपर जा चढ़े ॥ ३५ ॥

स भीमसेनस्य रथं हताश्वो
माद्रीसुतः कर्णसुताभितप्तः।
आपुप्लुवे सिंह इवाचलाग्रं
सम्प्रेक्षमाणस्य धनंजयस्य ॥ ३६ ॥

अपने घोड़ोंके मारे जानेपर कर्णपुत्रके बाणोंसे पीड़ित हुए माद्रीकुमार नकुल अर्जुनके देखते-देखते पर्वतके शिखरपर उछलकर चढ़नेवाले सिंहके समान छलाँग मारकर भीमसेनके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ३६ ॥

ततः क्रुद्धो वृषसेनो महात्मा
ववर्ष ताविषुजालेन वीरः।

महारथावेकरथे समेतौ
शरैः प्रभिन्दन्निव पाण्डवेयौ ॥ ३७ ॥

इससे महामनस्वी वीर वृषसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वह एक रथपर एकत्र हुए उन महारथी पाण्डुकुमारोंको बाणोंद्वारा विदीर्ण करता हुआ उन दोनोंपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा ॥ ३७ ॥

तस्मिन् रथे निहते पाण्डवस्य
क्षिप्रं च खड्गे विशिखैर्निकृत्ते।
अन्ये च संहत्य कुरुप्रवीरा-
स्ततो न्यघ्नञ्शरवर्षैरुपेत्य ॥ ३८ ॥

जब पाण्डुपुत्र नकुलका वह रथ नष्ट हो गया और बाणोंद्वारा उनकी तलवार शीघ्रतापूर्वक काट दी गयी, तब दूसरे कौरव वीर भी संगठित हो निकट आकर उन दोनोंको बाणोंकी वर्षासे चोट पहुँचाने लगे ॥ ३८ ॥

तौ पाण्डवेयौ परितः समेतान्
संह्वयमानाविव हव्यवाहौ।
भीमार्जुनौ वृषसेनाय क्रुद्धौ
ववर्षतुः शरवर्षं सुघोरम् ॥ ३९ ॥

तब वृषसेनपर कुपित हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए दो अग्नियोंके समान प्रकाशित होने लगे। उन दोनोंने अपने आस-पास एकत्र हुए कौरवसैनिकोंपर अत्यन्त घोर बाणवर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३९ ॥

अथाब्रवीन्मारुतिः फाल्गुनं च
पश्यस्वैनं नकुलं पीड्यमानम्।
अयं च नो बाधते कर्णपुत्र-
स्तस्माद् भवान् प्रत्युपयातु कार्णिम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर वायुपुत्र भीमसेनने अर्जुनसे कहा—'देखो, यह नकुल वृषसेनसे पीड़ित हो गया है। कर्णका यह पुत्र हमें बहुत सता रहा है, अतः तुम इस कर्णपुत्रपर आक्रमण करो' ॥ ४० ॥

स तन्निशम्यैव वचः किरीटी
रथं समासाद्य वृकोदरस्य।
अथाब्रवीन्नकुलो वीक्ष्य वीर-
मुपागतं शातय शीघ्रमेनम् ॥ ४१ ॥

भीमसेनके रथके समीप आकर जब किरीटधारी अर्जुन उनकी बात सुनकर जाने लगे, तब नकुलने भी पास आये हुए वीर अर्जुनकी ओर देखकर उनसे कहा—'भैया! आप इस वृषसेनको शीघ्र मार डालिये' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तः सहसा किरीटी
भ्रात्रा समक्षं नकुलेन संख्ये।
कपिध्वजं केशवसंगृहीतं
प्रैषीदुदग्रो वृषसेनाय वाहम् ॥ ४२ ॥

युद्धमें सामने आये हुए भाई नकुलके ऐसा कहनेपर किरीटधारी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा काबूमें किये हुए कपिध्वज रथको सहसा वृषसेनकी ओर तीव्र वेगसे हाँक दिया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि वृषसेनयुद्धे नकुलपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें वृषसेनका युद्ध और नकुलकी पराजयविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

कौरववीरोंद्वारा कुलिन्दराजके पुत्रों और हाथियोंका संहार तथा अर्जुनद्वारा वृषसेनका वध

संजय उवाच

नकुलमथ विदित्वा छिन्नबाणासनासिं
विरथमरिशरार्तं कर्णपुत्रास्त्रभग्नम्।
पवनधुतपताकाह्लादिनो वल्गिताश्वा
वरपुरुषनियुक्तास्ते रथैः शीघ्रमीयुः ॥ १ ॥
द्रुपदसुतवरिष्ठाः पञ्च शैनेयषष्ठा
द्रुपददुहितृपुत्राः पञ्च चामित्रसाहाः।
द्विरदरथनराश्वान् सूदयन्तस्त्वदीयान्
भुजगपतिनिकाशैर्मार्गणैरात्तशस्त्राः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! वृषसेनने नकुलके धनुष और तलवारको काट दिया है, वे रथहीन हो गये हैं, शत्रुके बाणोंसे पीड़ित हैं तथा कर्णके पुत्रने अपने अस्त्रोंद्वारा उन्हें पराजित कर दिया है, यह जानकर श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके आदेशसे हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ द्रुपदके पाँच श्रेष्ठ पुत्र, छठे सात्यकि तथा द्रौपदीके पाँच पुत्र—ये ग्यारह वीर आपके पक्षके हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंका अपने सर्पतुल्य बाणोंद्वारा संहार करते हुए रथोंद्वारा वहाँ शीघ्रतापूर्वक आ पहुँचे। उस समय उनके रथकी पताकाएँ वायुके वेगसे फहरा रही थीं। उनके घोड़े उछलते हुए आ रहे थे और वे सब-के-सब जोर-जोरसे गर्जना कर रहे थे ॥ १-२ ॥

अथ तव रथमुख्यास्तान् प्रतीयुस्त्वरन्तः
कृपहृदिकसुतौ च द्रौणिदुर्योधनौ च।
शकुनिसुतवृकौ च क्राथदेवावृधौ च
द्विरदजलदघोषैः स्यन्दनैः कार्मुकैश्च ॥ ३ ॥

तदनन्तर कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, दुर्योधन, शकुनिपुत्र उलूक, वृक, क्राथ और देवावृध—ये आपके प्रमुख महारथी बड़ी उतावलीके साथ धनुष लिये हाथी और मेघोंके समान शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो उन पाण्डववीरोंका सामना करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

तव नृप रथिवर्यास्तान् दशैकं च वीरान्
नृवर शरवराग्रैस्ताडयन्तोऽभ्यरुन्धन्।
नवजलदसवर्णैर्हस्तिभिस्तानुदीयु-
र्गिरिशिखरनिकाशैर्भीमवेगैः कुलिन्दाः ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! कृपाचार्य आदि आपके रथी वीरोंने अपने उत्तम बाणोंद्वारा प्रहार करते हुए वहाँ पाण्डव-पक्षके उन ग्यारह महारथी वीरोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया। तत्पश्चात् कुलिन्ददेशके योधा नूतन मेघके समान काले, पर्वतशिखरोंके समान विशालकाय और भयंकर वेगशाली हाथियोंद्वारा कौरव-वीरोंपर चढ़ आये ॥ ४ ॥

सुकल्पिता हैमवता मदोत्कटा
रणाभिकामैः कृतिभिः समास्थिताः।
सुवर्णजालैर्विततां बभुर्गजा-
स्तथा यथा खे जलदाः सविद्युतः॥ ५ ॥

वे हिमाचलप्रदेशके मदोन्मत्त हाथी अच्छी तरह सजाये गये थे। उनकी पीठोंपर सोनेकी जालियोंसे युक्त झूल पड़े हुए थे और उनके ऊपर युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले, रणकुशल कुलिन्द वीर बैठे हुए थे। उस समय रणभूमिमें वे हाथी आकाशमें बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५ ॥

कुलिन्दपुत्रो दशभिर्महायसैः
कृपं ससूताश्वमपीडयद् भृशम्।
ततः शरद्वत्सुतसायकैर्हतः
सहैव नागेन पपात भूतले ॥ ६ ॥

कुलिन्दराजके पुत्रने लोहेके बने हुए दस विशाल बाणोंसे सारथि और घोड़ोंसहित कृपाचार्यको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। तदनन्तर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके बाणोंद्वारा मारा जाकर वह हाथीके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

कुलिन्दपुत्रावरजस्तु तोमरै-
र्दिवाकरांशुप्रतिमैरयस्मयैः ।
रथं च विक्षोभ्य ननाद नर्दत-
स्ततोऽस्य गान्धारपतिः शिरोऽहरत्॥ ७ ॥

कुलिन्द-राजकुमारका छोटा भाई सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान् एवं लोहेके बने हुए तोमरोंद्वारा गान्धारराजके रथकी धज्जियाँ उड़ाकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। इतनेहीमें गान्धारराजने उस गर्जते हुए वीरका सिर काट लिया ॥ ७ ॥

ततः कुलिन्देषु हतेषु तेष्वथ
प्रहृष्टरूपास्तव ते महारथाः।
भृशं प्रदध्मुर्लवणाम्बुसम्भवान्
परांश्च बाणासनपाणयोऽभ्ययुः॥ ८ ॥

उन कुलिन्द वीरोंके मारे जानेपर आपके महारथी बड़े प्रसन्न हुए। वे जोर-जोरसे शङ्ख बजाने लगे और हाथमें धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ ८ ॥

अथाभवद् युद्धमतीव दारुणं
पुनः कुरूणां सह पाण्डुसृञ्जयैः।
शरासिशक्त्यृष्टिगदापरश्वधै-
र्नराश्वनागासुहरं भृशाकुलम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा। वह घमासान युद्ध बाण, खड्ग, शक्ति, ऋष्टि, गदा और फरसोंकी मारसे मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण ले रहा था ॥ ९ ॥

रथाश्वमातङ्गपदातिभिस्ततः
परस्परं विप्रहतापतन् क्षितौ।
यथा सविद्युत्स्तनिता बलाहकाः
समाहता दिग्भ्य इवोग्रमारुतैः ॥ १० ॥

जैसे बिजलीकी चमक और गर्जनासे युक्त मेघ भयंकर वायुके वेगसे ताड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओंसे गिर जाते हैं, उसी प्रकार रथों, घोड़ों, हाथियों और पैदलोंद्वारा परस्पर मारे जाकर वे युद्धपरायण योद्धा धराशायी होने लगे ॥ १० ॥

ततः शतानीकमतान् महागजां-
स्तथा रथान् पत्तिगणांश्च तान् बहून्।
जघान भोजस्तु हयानथापतन्
क्षणाद् विशस्ताः कृतवर्मणः शरैः॥ ११ ॥

तदनन्तर शतानीकद्वारा सम्मानित विशाल गजराजों, अश्वों, रथों और बहुत-से पैदलसमूहोंको कृतवर्माने मार डाला। वे कृतवर्माके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो क्षणभरमें धरतीपर गिर पड़े ॥ ११ ॥

अथापरे द्रौणिहता महाद्विपा-
स्त्रयः ससर्वायुधयोधकेतनाः।
निपेतुरुर्व्यां व्यसवो निपातिता-
स्तथा यथा वज्रहता महाचलाः॥ १२ ॥

इसके बाद अश्वत्थामाने सम्पूर्ण आयुधों, योद्धाओं और ध्वजाओंसहित अन्य तीन विशाल गजराजोंको मार गिराया। उसके द्वारा मारे गये वे विशाल गजराज वज्रके मारे हुए महान् पर्वतोंके समान प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

कुलिन्दराजावरजादनन्तरः
स्तनान्तरे पत्रिवरैरताडयत्।
तवात्मजं तस्य तवात्मजः शरैः
शितैः शरीरं व्यहनद् द्विपं च तम्॥ १३ ॥

कुलिन्दराजके छोटे भाईसे भी जो छोटा था, उसने श्रेष्ठ बाणोंद्वारा आपके पुत्रकी छातीमें चोट पहुँचायी। तब आपके पुत्रने अपने तीखे बाणोंसे उसके शरीर और हाथी दोनोंको घायल कर दिया ॥ १३ ॥

स नागराजः सह राजसूनुना
पपात रक्तं बहु सर्वतः क्षरन्।
महेन्द्रवज्रप्रहतोऽम्बुदागमे
यथा जलं गैरिकपर्वतस्तथा ॥ १४ ॥

जैसे वर्षाकालमें इन्द्रके वज्रसे आहत हुआ गेरुका पर्वत लाल रंगका पानी बहाता है, इसी प्रकार वह गजराज अपने शरीरसे सब ओर बहुत-सा रक्त बहाता हुआ कुलिन्दराज-कुमारके साथ ही धराशायी हो गया ॥ १४ ॥

कुलिन्दपुत्रप्रहितोऽपरो द्विपः
क्राथस्य सूताश्वरथं व्यपोथयत्।
ततोऽपतत् क्राथशराभिघातितः
सहेश्वरो वज्रहतो यथा गिरिः ॥ १५ ॥

अब कुलिन्दराजकुमारने दूसरा हाथी आगे बढ़ाया। उसने क्राथके सारथि, घोड़ों और रथको कुचल डाला, परंतु क्राथके बाणोंसे पीड़ित हो वह हाथी वज्रताड़ित पर्वतके समान अपने स्वामीके साथ ही धराशायी हो गया ॥ १५ ॥

रथी द्विपस्थेन हतोऽपतच्छरैः
क्राथाधिपः पर्वतजेन दुर्जयः।
सवाजिसूतेष्वसनध्वजस्तथा
यथा महावातहतो महाद्रुमः ॥ १६ ॥

तदनन्तर जैसे आँधीका उखाड़ा हुआ विशाल वृक्ष पृथ्वीपर गिर जाता है, उसी प्रकार घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजसहित दुर्जय महारथी क्राथ नरेश हाथीपर बैठे हुए एक पर्वतीय वीरके बाणोंसे मारा जाकर रथसे नीचे जा गिरा॥

वृको द्विपस्थं गिरिराजवासिनं
भृशं शरैर्द्वादशभिः पराभिनत्।
ततो वृकं साश्वरथं महाद्विपो
द्रुतं चतुर्भिश्चरणैर्व्यपोथयत् ॥ १७ ॥

तब वृकने उस पहाड़ी राजाको बारह बाण मारकर अत्यन्त घायल कर दिया। चोट खाकर पर्वतीय नरेशका वह विशाल गजराज वृककी ओर झपटा और उसने रथ और घोड़ोंसहित वृकको अपने चारों पैरोंसे दबाकर तुरंत ही उसका कचूमर निकाल दिया ॥ १७ ॥

स नागराजः सनियन्तृकोऽपतत्
तथा हतो बभ्रुसुतेषुभिर्भृशम्।
स चापि देवावृधसूनुरर्दितः
पपात नुन्नः सहदेवसूनुना ॥ १८ ॥

अन्तमें बभ्रुपुत्रके बाणोंसे अत्यन्त आहत होकर वह गजराज भी संचालकसहित धरतीपर लोट गया। फिर वह देवावृधकुमार भी सहदेवके पुत्रसे पीड़ित हो धराशायी हो गया॥

विषाणगात्रावरयोधपातिना
गजेन हन्तुं शकुनिं कुलिन्दजः।
जगाम वेगेन भृशार्दयंश्च तं
ततोऽस्य गान्धारपतिः शिरोऽहरत् ॥१९॥

तत्पश्चात् दूसरे कुलिन्दराजकुमारने शकुनिको मार डालनेके लिये दाँत, शरीर और सूँड़के द्वारा बड़े-बड़े योद्धाओंको मार गिरानेवाले हाथीके द्वारा उसपर वेगपूर्वक आक्रमण किया और उसे अत्यन्त घायल कर दिया। तब गान्धारराज शकुनिने उसका सिर काट लिया ॥ १९ ॥

ततः शतानीकहता महागजा
हया रथाः पत्तिगणाश्च तावकाः।
सुपर्णवातप्रहता यथोरगा-
स्तथागता गां विवशा विचूर्णिताः॥ २० ॥

यह देख शतानीकने आपकी सेनापर आक्रमण किया। जैसे गरुड़के पंखोंकी हवासे आहत हुए सर्प पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार शतानीकद्वारा मारे गये आपके विशाल हाथी, घोड़े, रथ और पैदल विवश हो पृथ्वीपर गिरकर चूर-चूर हो गये ॥ २० ॥

ततोऽभ्यविद्ध्यद् बहुभिः शितैः शरैः
कलिङ्गपुत्रो नकुलात्मजं स्मयन्।
ततोऽस्य कोपाद् विचकर्त नाकुलिः
शिरः क्षुरेणाम्बुजसंनिभाननम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर मुस्कराते हुए कलिङ्गराजके पुत्रने अपने बहुसंख्यक पैने बाणोंद्वारा नकुलके पुत्र शतानीकको क्षत-विक्षत कर दिया। इससे नकुलकुमारको बड़ा क्रोध हुआ और उसने एक क्षुरके द्वारा कलिङ्गराजकुमारका कमलसदृश मुखवाला मस्तक काट डाला ॥ २१ ॥

ततः शतानीकमविध्यदायसै-
स्त्रिभिः शरैः कर्णसुतोऽर्जुनं त्रिभिः।
त्रिभिश्च भीमं नकुलं च सप्तभि-
र्जनार्दनं द्वादशभिश्च सायकैः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् कर्णपुत्र वृषसेनने लोहेके बने हुए तीन बाणोंसे शतानीकको घायल कर दिया। फिर उसने अर्जुनको तीन, भीमसेनको तीन, नकुलको सात और श्रीकृष्णको बारह बाणोंसे बींध डाला ॥ २२ ॥

तदस्य कर्मातिमनुष्यकर्मणः
समीक्ष्य हृष्टाः कुरवोऽभ्यपूजयन्।
पराक्रमज्ञास्तु धनंजयस्य ये
हुतोऽयमग्नाविति ते तु मेनिरे ॥ २३ ॥

अलौकिक पराक्रम करनेवाले वृषसेनके इस कर्मको देखकर समस्त कौरव हर्षमें भर गये और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे; परंतु जो अर्जुनके पराक्रमको जानते थे, उन्होंने निश्चित रूपसे यह समझ लिया कि अब यह वृषसेन आगकी आहुति बन जायगा ॥ २३ ॥

ततः किरीटी परवीरघाती
हताश्वमालोक्य नरप्रवीरः।
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये
समीक्ष्य कृष्णं भृशविक्षतं च ॥ २४ ॥
समभ्यधावद् वृषसेनमाहवे
स सूतजस्य प्रमुखे स्थितस्तदा।

तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मानवलोकके प्रमुख वीर किरीटधारी अर्जुनने समस्त सेनाओंके बीच माद्रीकुमार नकुलके घोड़ोंको वृषसेनद्वारा मारा गया और भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त घायल हुआ देख युद्धस्थलमें वृषसेनपर धावा किया। वृषसेन उस समय कर्णके सामने खड़ा था॥२४½॥

तमापतन्तं नरवीरमुग्रं
महाहवे बाणसहस्रधारिणम् ॥ २५ ॥
अभ्यापतत् कर्णसुतो महारथं
यथा महेन्द्रं नमुचिः पुरा तथा ।

महासमरमें सहस्रों बाण धारण करनेवाले भयंकर नरवीर महारथी अर्जुनको अपनी ओर आते देख कर्णकुमार वृषसेन भी उनकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे पूर्वकालमें नमुचिने देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया था ॥ २५½ ॥

ततो द्रुतं चैकशरेण पार्थं
शितेन विद्ध्वा युधि कर्णपुत्रः॥ २६ ॥
ननाद नादं सुमहानुभावो
विद्ध्वेव शक्रं नमुचिः स वीरः ।

फिर महानुभाव कर्णपुत्र वीर वृषसेन युद्धस्थलमें कुन्तीकुमार अर्जुनको तुरंत ही एक तीखे बाणसे घायल करके बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगा । ठीक वैसे ही, जैसे नमुचिने इन्द्रको बींधकर सिंहनाद किया था ॥ २६½ ॥

पुनः स पार्थं वृषसेन उग्रै-
र्बाणैरविद्धयद् भुजमूले तु सव्ये॥ २७ ॥
तथैव कृष्णं नवभिः समार्दयत्
पुनश्च पार्थं दशभिर्जघान ।

इसके बाद वृषसेनने भयंकर बाणोंद्वारा अर्जुनकी बायीं भुजाके मूलभागमें पुनः प्रहार किया तथा नौ बाणोंसे श्रीकृष्णको भी चोट पहुँचाकर दस बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको फिर घायल कर दिया ॥ २७½ ॥

पूर्वं यथा वृषसेनप्रयुक्तै-
रभ्याहतः श्वेतहयः शरैस्तैः ॥ २८ ॥
संरम्भमीषद्गमितो वधाय
कर्णात्मजस्याथ मनः प्रदध्रे ।

वृषसेनके चलाये हुए उन बाणोंद्वारा पहले ही आहत होकर श्वेतवाहन अर्जुनके मनमें थोड़ा-सा क्रोध जाग्रत् हुआ। फिर उन्होंने मन ही-मन कर्णकुमारके वधका निश्चय किया॥

ततः किरीटी रणमूर्ध्नि कोपात्
कृत्वा त्रिशाखां भ्रुकुटिं ललाटे॥ २९ ॥
मुमोच तूर्णं विशिखान् महात्मा
वधे धृतः कर्णसुतस्य संख्ये ।

तदनन्तर किरीटधारी महात्मा अर्जुनने युद्धस्थलमें कर्णपुत्रके वधका दृढ़ निश्चय करके अपने ललाटमें स्थित भौंहोंको क्रोधपूर्वक तीन जगहसे टेढ़ी करके युद्धके मुहानेपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ २९½ ॥

आरक्तनेत्रोऽन्तकशत्रुहन्ता
उवाच कर्णं भृशमुत्स्मयंस्तदा ॥ ३० ॥
दुर्योधनं द्रौणिमुखांश्च सर्वा-
नहं रणे वृषसेनं तमुग्रम् ।
सम्पश्यतः कर्ण तवाद्य संख्ये
नयामि लोकं निशितैः पृषत्कैः ॥ ३१ ॥

उस समय उनके नेत्र रोषसे कुछ लाल हो गये थे । वे यमराज-जैसे शत्रुको भी मार डालनेमें समर्थ थे । उस समय उन्होंने मुस्कराते हुए वहाँ कर्ण, दुर्योधन और अश्वत्थामा आदि सब वीरोंको लक्ष्य करके कहा—'कर्ण ! आज युद्धस्थलमें मैं तुम्हारे देखते-देखते उस उग्रपराक्रमी वीर वृषसेनको अपने पैने बाणोंद्वारा यमलोक भेज दूँगा ॥ ३०-३१ ॥

ऊनं च तावद्धि जना वदन्ति
सर्वैर्भवद्भिर्मम सूनुर्हतोऽसौ ।
एको रथो मद्विहीनस्तरस्वी
अहं हनिष्ये भवतां समक्षम् ॥ ३२ ॥
संरक्ष्यतां रथसंस्थाः सुतोऽय-
महं हनिष्ये वृषसेनमुग्रम् ।
पश्चाद् वधिष्ये त्वामपि सम्प्रमूढ-
महं हनिष्येऽर्जुन आजिमध्ये ॥ ३३ ॥

'मेरा वेगशाली वीर पुत्र महारथी अभिमन्यु अकेला था । मैं उसके साथ नहीं था । उस अवस्थामें तुम सब लोगोंने मिलकर उसका वध किया था । तुम्हारे उस कर्मको सब लोग खोटा बताते हैं; परंतु आज मैं तुम सब लोगोंके सामने वृषसेनका वध करूँगा । रथपर बैठे हुए महारथियो ! अपने इस पुत्रको बचा सको तो बचाओ । मैं अर्जुन आज रणभूमिमें पहले उग्रवीर वृषसेनको मारूँगा; फिर तुझ विवेकशून्य सूतपुत्रका भी वध कर डालूँगा ॥ ३२-३३ ॥

तमद्य मूलं कलहस्य संख्ये
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ।
त्वामद्य हन्तास्मि रणे प्रसह्य
अस्यैव हन्ता युधि भीमसेनः ॥ ३४ ॥
दुर्योधनस्याधमपूरुषस्य
यस्यानयादेष महान् क्षयोऽभवत् ।

'कर्ण ! तू ही इस कलहकी जड़ है । दुर्योधनका सहारा मिल जानेसे तेरा घमंड बहुत बढ़ गया है । आज रणक्षेत्रमें मैं हठपूर्वक तेरा वध करूँगा और जिसके अन्यायसे यह महान् संहार हुआ है, उस नराधम दुर्योधनका वध युद्धमें भीमसेन करेंगे' ॥ ३४½ ॥

स एवमुक्त्वा विनिमृज्य चापं
लक्ष्यं हि कृत्वा वृषसेनमाजौ ॥ ३५ ॥
ससर्ज बाणान् विशिखान् महात्मा
वधाय राजन् कर्णसुतस्य संख्ये ।

राजन् ! ऐसा कहकर महात्मा अर्जुनने अपने धनुषको पोंछा और कर्णपुत्र वृषसेनका वध करनेके लिये युद्धमें उसीको लक्ष्य बनाकर बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥

विव्याध चैनं दशभिः पृषत्कै-
र्मर्मस्वशङ्कं प्रहसन् किरीटी ॥ ३६ ॥
चिच्छेद चास्येष्वसनं भुजौ च
क्षुरैश्चतुर्भिर्निशितैः शिरश्च ।

किरीटधारी अर्जुनने हँसते हुए-से दस बाणोंसे उसके मर्म-स्थानोंमें निर्भीक होकर आघात किया। फिर चार तीखे छुरोंसे उसके धनुषको, दोनों भुजाओंको तथा मस्तकको भी काट डाला॥

स पार्थबाणाभिहतः पपात
रथाद् विबाहुर्विशिरा धरायाम् ॥ ३७ ॥
सुपुष्पितो वृक्षवरोऽतिकायो
वातेरितः शाल इवाद्रिशृङ्गात् ।

अर्जुनके बाणोंसे आहत हो बाहु और मस्तकसे रहित होकर वृषसेन उसी प्रकार रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे सुन्दर फूलोंसे भरा हुआ श्रेष्ठ एवं विशाल शालवृक्ष हवाके झोंके खाकर पर्वतशिखरसे नीचे जा गिरा हो ॥ ३७½ ॥

सम्प्रेक्ष्य बाणाभिहतं पतन्तं
रथात् सुतं सूतजः क्षिप्रकारी ॥ ३८ ॥
रथं रथेनाशु जगाम रोषात्
किरीटिनः पुत्रवधाभितप्तः ।

शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाला सूतपुत्र कर्ण अपने बेटेको बाणविद्ध हो रथसे नीचे गिरते देख पुत्रके वधसे संतप्त हो उठा और रोषमें भरकर रथके द्वारा अर्जुनके रथकी ओर तीव्र वेगसे चला ॥ ३८½ ॥

ततः समक्षं स्वसुतं विलोक्य
कर्णो हतं श्वेतहयेन संख्ये ।
संरम्भमागम्य परं महात्मा
कृष्णार्जुनौ सहसैवाभ्यधावत् ॥ ३९ ॥

अपने पुत्रको अपनी आँखोंके सामने ही युद्धमें श्वेत-वाहन अर्जुनद्वारा मारा गया देख महामनस्वी कर्णको महान् क्रोध हुआ तथा उसने श्रीकृष्ण और अर्जुनपर सहसा आक्रमण कर दिया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि वृषसेनवधे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें वृषसेनका वधविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

कर्णके साथ युद्ध करनेके विषयमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत तथा अर्जुनका कर्णके सामने उपस्थित होना

संजय उवाच

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ।
गर्जन्तं सुमहाकायं दुर्निवारं सुरैरपि ॥ १ ॥
अर्जुनं प्राह दाशार्हः प्रहस्य पुरुषर्षभः ।
अयं स रथ आयाति श्वेताश्वः शल्यसारथिः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सीमाको लाँघकर आगे बढ़ते हुए महासागरके सदृश विशालकाय कर्ण गर्जना करता हुआ आगे बढ़ा। वह देवताओंके लिये भी दुर्जय था। उसे आते देख दशार्हकुलनन्दन पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने हँसकर अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! जिसके सारथि शल्य हैं और रथमें श्वेत घोड़े जुते हैं, वही यह कर्ण रथसहित इधर आ रहा है ॥ १-२ ॥

येन ते सह योद्धव्यं स्थिरो भव धनंजय ।
पश्य चैनं समायुक्तं रथं कर्णस्य पाण्डव ॥ ३ ॥
श्वेतवाजिसमायुक्तं युक्तं राधासुतेन च ।

'धनंजय ! तुम्हें जिसके साथ युद्ध करना है, वह कर्ण आ गया। अब स्थिर हो जाओ। पाण्डुनन्दन ! श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए कर्णके इस सजे-सजाये रथको, जिसपर वह स्वयं विराजमान है, देखो ॥ ३½ ॥

नानापताकाकलिलं किङ्किणीजालमालिनम् ॥ ४ ॥
उह्यमानमिवाकाशे विमानं पाण्डुरैर्हयैः ।
ध्वजं च पश्य कर्णस्य नागकक्षं महात्मनः ॥ ५ ॥

'इसपर भाँति-भाँतिकी पताकाएँ फहरा रही हैं तथा वह छोटी-छोटी घंटियोंवाली झालरसे अलंकृत है। ये सफेद घोड़े आकाशमें विमानके समान इस रथको लेकर मानो उड़े जा रहे हैं। महामनस्वी कर्णकी इस ध्वजाको तो देखो, जिसमें हाथीके रस्सेका चिह्न बना हुआ है ॥ ४-५ ॥

आखण्डलधनुःप्रख्यमुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।
पश्य कर्णं समायान्तं धार्तराष्ट्रप्रियैषिणम् ॥ ६ ॥
शरधारा विमुञ्चन्तं धारासारमिवाम्बुदम् ।

'वह ध्वज इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित होता हुआ आकाशमें रेखा-सा खींच रहा है। देखो, दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाला कर्ण इधर ही आ रहा है। वह जलकी धारा गिरानेवाले बादलके समान बाणधाराकी वर्षा कर रहा है ६½

एष मद्रेश्वरो राजा रथाग्रे पर्यवस्थितः ॥ ७ ॥
नियच्छति हयानस्य राधेयस्यामितौजसः ।

'ये मद्रदेशके स्वामी राजा शल्य रथके अग्रभागमें बैठकर अमित बलशाली इस राधापुत्र कर्णके घोड़ोंको काबूमें रख रहे हैं ॥ ७½ ॥

शृणु दुन्दुभिनिर्घोषं शङ्खशब्दं च दारुणम् ॥ ८ ॥
सिंहनादांश्च विविधाञ्शृणु पाण्डव सर्वतः ।

'पाण्डुनन्दन ! सुनो, दुन्दुभिका गम्भीर घोष और

भयंकर शङ्खध्वनि हो रही है। चारों ओर नाना प्रकारके सिंहनाद भी होने लगे हैं, इन्हें सुनो ॥ ८½ ॥

अन्तर्धाय महाशब्दान् कर्णेनामिततेजसा ॥ ९ ॥
दोधूयमानस्य भृशं धनुषः शृणु निःस्वनम्।

'अमिततेजस्वी कर्ण अपने धनुषको बड़े वेगसे हिला रहा है। उसकी टंकारध्वनि बड़ी भारी आवाजको भी दबाकर सुनायी पड़ रही है, सुनो ॥ ९½ ॥

एते दीर्यन्ति सगणाः पञ्चालानां महारथाः ॥ १० ॥
दृष्ट्वा केसरिणं क्रुद्धं मृगा इव महावने।

'जैसे महान् वनमें मृग कुपित हुए सिंहको देखकर भागने लगते हैं, उसी प्रकार ये पाञ्चाल महारथी अपने सैन्यदलके साथ कर्णको देखकर भागे जा रहे हैं ॥ १०½ ॥

सर्वयत्नेन कौन्तेय हन्तुमर्हसि सूतजम् ॥ ११ ॥
न हि कर्णशरानन्यः सोढुमुत्सहते नरः।

'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें पूर्ण प्रयत्न करके सूतपुत्र कर्णका वध करना चाहिये। दूसरा कोई मनुष्य कर्णके बाणोंको नहीं सह सकता है ॥ ११½ ॥

सदेवासुरगन्धर्वांस्त्रीँल्लोकान सचराचरान् ॥ १२ ॥
त्वं हि जेतुं रणे शक्तस्तथैव विदितं मम।

'देवता, असुर, गन्धर्व तथा चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको तुम रणभूमिमें जीत सकते हो; यह मुझे अच्छी तरह मालूम है ॥ १२½ ॥

भीममुग्रं महात्मानं त्र्यक्षं शर्वं कपर्दिनम् ॥ १३ ॥
न शक्ता द्रष्टुमीशानं किं पुनर्योधितुं प्रभुम्।
त्वया साक्षान्महादेवः सर्वभूतशिवः शिवः ॥ १४ ॥
युद्धेनाराधितः स्थाणुर्देवाश्च वरदास्तव।
तस्य पार्थ प्रसादेन देवदेवस्य शूलिनः ॥ १५ ॥
जहि कर्णं महाबाहो नमुचिं वृत्रहा यथा।
श्रेयस्तेऽस्तु सदा पार्थ युद्धे जयमवाप्नुहि ॥ १६ ॥

'जिनकी मूर्ति बड़ी ही उग्र और भयंकर है, जो महात्मा हैं, जिनके तीन नेत्र और मस्तकपर जटाजूट है, उन सर्वसमर्थ ईश्वर भगवान् शंकरको दूसरे लोग देख भी नहीं सकते फिर उनके साथ युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ? परंतु तुमने सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण करनेवाले उन्हीं स्थाणुस्वरूप महादेव साक्षात् भगवान् शिवकी युद्धके द्वारा आराधना की है, अन्य देवताओंने भी तुम्हें वरदान दिये हैं; इसलिये महाबाहु पार्थ ! तुम उन देवाधिदेव त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करकी कृपासे कर्णको उसी प्रकार मार डालो, जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचिका वध किया था। कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा सदा ही कल्याण हो। तुम युद्धमें विजय प्राप्त करो' १३—१६

अर्जुन उवाच

ध्रुव एव जयः कृष्ण मम नास्त्यत्र संशयः।
सर्वलोकगुरुर्यस्त्वं तुष्टोऽसि मधुसूदन ॥ १७ ॥

अर्जुनने कहा—मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मेरी विजय अवश्य होगी, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के गुरु आप मुझपर प्रसन्न हैं ॥ १७ ॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश रथं मम महारथ।
नाहत्वा समरे कर्णं निवर्तिष्यति फाल्गुनः ॥ १८ ॥

महारथी हृषीकेश ! आप मेरे रथ और घोड़ोंको आगे बढ़ाइये। अब अर्जुन समराङ्गणमें कर्णका वध किये बिना पीछे नहीं लौटेगा ॥ १८ ॥

अद्य कर्णं हतं पश्य मच्छरैः शकलीकृतम्।
मां वा द्रक्ष्यसि गोविन्द कर्णेन निहतं शरैः ॥ १९ ॥

गोविन्द ! आज आप मेरे बाणोंसे मरकर टुकड़े-टुकड़े हुए कर्णको देखिये। अथवा मुझे ही कर्णके बाणोंसे मरा हुआ देखियेगा ॥ १९ ॥

उपस्थितमिदं घोरं युद्धं त्रैलोक्यमोहनम्।
यज्जनाः कथयिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥ २० ॥

आज तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला यह घोर युद्ध उपस्थित है। जबतक पृथ्वी कायम रहेगी, तबतक संसारके लोग इस युद्धकी चर्चा करेंगे ॥ २० ॥

एवं ब्रुवंस्तदा पार्थः कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
प्रत्युद्ययौ रथेनाशु गजं प्रतिगजो यथा ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन उस समय रथके द्वारा शीघ्रतापूर्वक कर्णके सामने गये, मानो किसी हाथीका सामना करनेके लिये प्रतिद्वन्द्वी हाथी जा रहा हो ॥ २१ ॥

पुनरप्याह तेजस्वी पार्थः कृष्णमरिंदमम्।
चोदयाश्वान् हृषीकेश कालोऽयमतिवर्तते ॥ २२ ॥

उस समय तेजस्वी पार्थने शत्रुदमन श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार कहा—'हृषीकेश ! मेरे घोड़ोंको हाँकिये, यह समय बीता जा रहा है' ॥ २२ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन पाण्डवेन महात्मना।
जयेन सम्पूज्य स पाण्डवं तदा
प्रचोदयामास हयान् मनोजवान्।
स पाण्डुपुत्रस्य रथो मनोजवः
क्षणेन कर्णस्य रथाग्रतोऽभवत् ॥ २३ ॥

महामना पाण्डुकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने विजयसूचक आशीर्वादके द्वारा उनका आदर करके उस समय मनके समान वेगशाली घोड़ोंको तीव्रवेगसे आगे बढ़ाया। पाण्डुपुत्र अर्जुनका वह मनोजव रथ एक ही क्षणमें कर्णके रथके सामने जाकर खड़ा हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनद्वैरथे वासुदेववाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धके प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्णका वाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुनका द्वैरथयुद्धमें समागम, उनकी जय-पराजयके सम्बन्धमें सब प्राणियोंका संशय, ब्रह्मा और महादेवजीद्वारा अर्जुनकी विजयघोषणा तथा कर्णकी शल्यसे और अर्जुनकी श्रीकृष्णसे वार्ता

संजय उवाच

वृषसेनं हतं दृष्ट्वा शोकामर्षसमन्वितः ।
पुत्रशोकोद्भवं वारि नेत्राभ्यां समवासृजत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! जब कर्णने वृषसेनको मारा गया देखा, तब वह शोक और अमर्षके वशीभूत हो अपने दोनों नेत्रोंसे पुत्रशोकजनित आँसू बहाने लगा ॥१॥

रथेन कर्णस्तेजस्वी जगामाभिमुखो रिपुम् ।
युद्धायामर्षताम्राक्षः समाहूय धनंजयम् ॥ २ ॥

फिर तेजस्वी कर्ण क्रोधसे लाल आँखें करके अपने शत्रु धनंजयको युद्धके लिये ललकारता हुआ रथके द्वारा उनके सामने आया ॥ २ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ वैयाघ्रपरिवारितौ ।
समेतौ ददृशुस्तत्र द्वाविवार्कौ समुद्गतौ ॥ ३ ॥

व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सूर्यके समान तेजस्वी वे दोनों रथ जब एकत्र हुए, तब लोगोंने वहाँ उन्हें इस प्रकार देखा, मानो दो सूर्य उदित हुए हों ॥ ३ ॥

श्वेताश्वौ पुरुषौ दिव्यावास्थितावरिमर्दनौ ।
शुशुभाते महात्मानौ चन्द्रादित्यौ यथा दिवि॥ ४ ॥

दोनोंके घोड़े सफेद रंगके थे। दोनों ही दिव्य पुरुष और शत्रुओंका मर्दन करनेमें समर्थ थे। वे दोनों महामनस्वी वीर आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान रणभूमिमें शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

तौ दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुः सर्वसैन्यानि मारिष ।
त्रैलोक्यविजये यत्ताविन्द्रवैरोचनाविव ॥ ५ ॥

मान्यवर! तीनों लोकोंपर विजय पानेके लिये प्रयत्नशील हुए इन्द्र और बलिके समान उन दोनों वीरोंको आमने-सामने देखकर समस्त सेनाओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५ ॥

रथज्यातलनिर्ह्रादैर्बाणसिंहरवैस्तथा ।
तौ रथावभिधावन्तौ समालोक्य महीक्षिताम्॥ ६ ॥
ध्वजौ च दृष्ट्वा संसक्तौ विस्मयः समपद्यत ।
हस्तिकक्षं च कर्णस्य वानरं च किरीटिनः ॥ ७ ॥

रथ, धनुषकी प्रत्यञ्चा और हथेलीके शब्द, बाणोंकी सनसनाहट तथा सिंहनादके साथ एक दूसरेके सम्मुख दौड़ते हुए उन दोनों रथोंको देखकर एवं उनकी परस्पर सटी हुई ध्वजाओंका अवलोकन करके वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ। कर्णकी ध्वजामें हाथीके साँकलका चिह्न था और किरीटधारी अर्जुनकी ध्वजापर मूर्तिमान् वानर बैठा था ॥ ६-७ ॥

तौ रथौ सम्प्रसक्तौ तु दृष्ट्वा भारत पार्थिवाः ।
सिंहनादरवांश्चक्रुः साधुवादांश्च पुष्कलान् ॥ ८ ॥

भरतनन्दन! उन दोनों रथोंको एक दूसरेसे सटा देख सब राजा सिंहनाद करने और प्रचुर साधुवाद देने लगे ॥८॥

दृष्ट्वा च द्वैरथं ताभ्यां तत्र योधाः सहस्रशः ।
चक्रुर्बाहुस्वनांश्चैव तथा चैलावधूननम् ॥ ९ ॥

उन दोनोंका द्वैरथ युद्ध प्रस्तुत देख वहाँ खड़े हुए सहस्रों योद्धा अपनी भुजाओंपर ताल ठोकने और कपड़े हिलाने लगे ॥ ९ ॥

आजघ्नुः कुरवस्तत्र वादित्राणि समन्ततः ।
कर्णं प्रहर्षयिष्यन्तः शङ्खान् दध्मुश्च सर्वशः ॥ १० ॥

तदनन्तर कर्णका हर्ष बढ़ानेके लिये कौरवसैनिक वहाँ सब ओर बाजे बजाने और शङ्खध्वनि करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे हर्षयन्तो धनंजयम् ।
तूर्यशङ्खनिनादेन दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनका हर्ष बढ़ाते हुए वाद्यों और शङ्खोंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे ॥ ११ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत्।
बाहुशब्दैश्च शूराणां कर्णार्जुनसमागमे ॥ १२ ॥

कर्ण और अर्जुनके उस संघर्षमें शूरवीरोंके सिंहनाद करने, ताली बजाने, गर्जने और भुजाओंपर ताल ठोकनेसे सब ओर भयानक आवाज गूँज उठी ॥ १२ ॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ रथस्थौ रथिनां वरौ ।
प्रगृहीतमहाचापौ शरशक्तिध्वजायुतौ ॥ १३ ॥
वर्मिणौ बद्धनिस्त्रिंशौ श्वेताश्वौ शङ्खशोभितौ।
तूणीरवरसम्पन्नौ द्वावप्येतौ सुदर्शनौ ॥ १४ ॥
रक्तचन्दनदिग्धाङ्गौ समदौ गोवृषाविव ।
चापविद्युद्ध्वजोपेतौ शस्त्रसम्पत्तियोधिनौ ॥ १५ ॥
चामरव्यजनोपेतौ श्वेतच्छत्रोपशोभितौ ।
कृष्णशल्यरथोपेतौ तुल्यरूपौ महारथौ ॥ १६ ॥
सिंहस्कन्धौ दीर्घभुजौ रक्ताक्षौ हेममालिनौ ।
सिंहस्कन्धप्रतीकाशौ व्यूढोरस्कौ महाबलौ ॥ १७ ॥
अन्योन्यवधमिच्छन्तावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
अन्योन्यमभिधावन्तौ गोष्ठे गोवृषभाविव ।
प्रभिन्नाविव मातङ्गौ सुसंरब्धाविवाचलौ ॥ १८ ॥
आशीविषशिशुप्रख्यौ यमकालान्तकोपमौ ।
इन्द्रवृत्राविव क्रुद्धौ सूर्याचन्द्रसमप्रभौ ॥ १९ ॥
महाग्रहाविव क्रुद्धौ युगान्ताय समुत्थितौ ।
देवगर्भौ देवबलौ देवतुल्यौ च रूपतः ॥ २० ॥
यदृच्छया समायातौ सूर्याचन्द्रमसौ यथा ।
बलिनौ समरे दृप्तौ नानाशस्त्रधरौ युधि ॥ २१ ॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ शार्दूलाविव धिष्ठितौ।
बभूव परमो हर्षस्तावकानां विशाम्पते ॥ २२ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह रथपर विराजमान और रथियोंमें श्रेष्ठ थे। दोनोंने विशाल धनुष धारण किये थे। दोनों ही बाण, शक्ति और ध्वजसे सम्पन्न थे। दोनों कवचधारी थे और कमरमें तलवार बाँधे हुए थे। उन दोनोंके घोड़े श्वेत रंगके थे। वे दोनों ही शङ्खसे सुशोभित, उत्तम तरकससे सम्पन्न और देखनेमें सुन्दर थे। दोनोंके ही अंगोंमें लाल चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था। दोनों ही साँड़ोंके समान मदमत्त थे। दोनोंके धनुष और ध्वज विद्युत्के समान कान्तिमान् थे। दोनों ही शस्त्रसमूहोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल थे। दोनों ही चँवर और व्यजनोंसे युक्त तथा श्वेत छत्रसे सुशोभित थे। एकके सारथि श्रीकृष्ण थे तो दूसरेके शल्य। उन दोनों महारथियोंके रूप एक-से ही थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और आँखें लाल थीं। दोनोंने सुवर्णकी मालाएँ पहन रक्खी थीं। दोनों सिंहके समान उन्नत कंधोंसे प्रकाशित होते थे। दोनोंकी छाती चौड़ी थी और दोनों ही महान् बलशाली थे। दोनों एक दूसरेका वध चाहते और परस्पर विजय पानेकी अभिलाषा रखते थे। गोशालामें लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान वे दोनों एक दूसरेपर धावा करते थे। मद बहानेवाले मदोन्मत्त हाथियोंके समान दोनों ही रोषावेशमें भरे हुए थे। पर्वतके समान अविचल थे। विषधर सर्पोंके शिशुओं-जैसे जान पड़ते थे। यम, काल और अन्तकके समान भयंकर प्रतीत होते थे। इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे एक दूसरेपर कुपित थे। सूर्य और चन्द्रमाके समान अपनी प्रभा बिखेर रहे थे। क्रोधमें भरे हुए दो महान् ग्रहोंके समान प्रलय मचानेके लिये उठ खड़े हुए थे। दोनों ही देवताओंके बालक, देवताओंके समान बली और देवतुल्य रूपवान् थे। दैवेच्छासे भूतलपर उतरे हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। दोनों ही समराङ्गणमें बलवान् और अभिमानी थे। युद्धके लिये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए थे। प्रजानाथ! आमने-सामने खड़े हुए दो सिंहोंके समान उन दोनों नरव्याघ्र वीरोंको देखकर आपके सैनिकोंको महान् हर्ष हुआ ॥ १३–२२ ॥

संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत।
समेतौ पुरुषव्याघ्रौ प्रेक्ष्य कर्णधनंजयौ ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह कर्ण और धनंजयको एकत्र हुआ देखकर समस्त प्राणियोंको किसी एककी विजयमें संदेह होने लगा ॥

उभौ वरायुधधरावुभौ रणकृतश्रमौ।
उभौ च बाहुशब्देन नादयन्तौ नभस्तलम् ॥ २४ ॥

दोनोंने श्रेष्ठ आयुध धारण कर रखे थे, दोनोंने ही युद्धकी कला सीखनेमें परिश्रम किया था और दोनों अपनी भुजाओंके शब्दसे आकाशको प्रतिध्वनित कर रहे थे ॥२४॥

उभौ विश्रुतकर्माणौ पौरुषेण बलेन च।
उभौ च सदृशौ युद्धे शम्बरामरराजयोः ॥ २५ ॥

दोनोंके कर्म विख्यात थे। युद्धमें पुरुषार्थ और बलकी दृष्टिसे दोनों ही शम्बरासुर और देवराज इन्द्रके समान थे ॥ २५ ॥

कार्तवीर्यसमौ चोभौ तथा दाशरथेः समौ।
विष्णुवीर्यसमौ चोभौ तथा भवसमौ युधि ॥ २६ ॥

दोनों ही युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुन, दशरथनन्दन श्रीराम, भगवान् विष्णु और भगवान् शङ्करके समान पराक्रमी थे ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् रथप्रवरवाहिनौ।
सारथी प्रवरौ चैव तयोरास्तां महारणे ॥ २७ ॥

राजन्! दोनोंके घोड़े सफेद रंगके थे। दोनों ही श्रेष्ठ रथपर सवार थे और उस महासमरमें दोनोंके सारथि श्रेष्ठ पुरुष थे ॥ २७ ॥

ततो दृष्ट्वा महाराज राजमानौ महारथौ।
सिद्धचारणसंघानां विस्मयः समपद्यत ॥ २८ ॥

महाराज! वहाँ सुशोभित होनेवाले दोनों महारथियोंको देखकर सिद्धों और चारणोंके समुदायोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

तव पुत्रास्ततः कर्णं सबला भरतर्षभ।
परिवव्रुर्महात्मानं क्षिप्रमाहवशोभिनम् ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर सेनासहित आपके पुत्र युद्धमें शोभा पानेवाले महामनस्वी कर्णको शीघ्र ही सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २९ ॥

तथैव पाण्डवा हृष्टा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
परिवव्रुर्महात्मानं पार्थमप्रतिमं युधि ॥ ३० ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव वीर युद्धमें अपना सानी न रखनेवाले महात्मा कुन्तीकुमार अर्जुनको घेरकर खड़े हुए ॥ ३० ॥

(यमौ च चेकितानश्च प्रहृष्टाश्च प्रभद्रकाः।
नानादेश्याश्च ये शूराः शिष्टा युद्धाभिनन्दिनः ॥
ते सर्वे सहिता हृष्टाः परिवव्रुर्धनंजयम्।
रिरक्षिषन्तः शत्रुघ्नं पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ॥
धनंजयस्य विजये धृताः कर्णवधेऽपि च।

नकुल, सहदेव, चेकितान, हर्षमें भरे हुए प्रभद्रकगण, नाना देशोंके निवासी और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले अवशिष्ट शूरवीर—ये सब-के-सब हर्षमें भरकर एक साथ अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। वे पैदल, घुड़सवार, रथों और हाथियोंद्वारा शत्रुसूदन अर्जुनकी रक्षा करना चाहते थे। उन्होंने अर्जुनकी विजय और कर्णके वधके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥

तथैव तावकाः सर्वे यत्ताः सेनाप्रहारिणः।
दुर्योधनमुखा राजन् कर्णं जुगुपुराहवे।)

राजन्! इसी प्रकार दुर्योधन आदि आपके सभी पुत्र

सावधान एवं शत्रुसेनाओंपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो युद्धस्थलमें कर्णकी रक्षा करने लगे ॥

तावकानां रणे कर्णो ग्लहो ह्यासीद् विशाम्पते ।
तथैव पाण्डवेयानां ग्लहः पार्थोऽभवत् तदा ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! आपकी ओरसे युद्धरूपी जूएमें कर्णको दाँव-पर लगा दिया गया था । इसी प्रकार पाण्डवपक्षकी ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुन दाँवपर चढ़ गये थे ॥ ३१ ॥

त एव सभ्यास्तत्रासन् प्रेक्षकाश्चाभवन् स्म ते ।
तत्रैषां ग्लहमानानां ध्रुवौ जयपराजयौ ॥ ३२ ॥

जो पहलेके जूएमें दर्शक थे, वे ही वहाँ भी सभासद् बने हुए थे । वहाँ युद्धरूपी जूआ खेलते हुए इन वीरोंमें-से एककी जय और दूसरेकी पराजय अवश्यम्भावी थी ॥३२॥

ताभ्यां द्यूतं समासक्तं विजयायेतराय च ।
अस्माकं पाण्डवानां च स्थितानां रणमूर्धनि ॥ ३३ ॥

उन दोनोंने युद्धके मुहानेपर खड़े हुए हमलोगों तथा पाण्डवोंकी विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत आरम्भ किया था ॥ ३३ ॥

तौ तु स्थितौ महाराज समरे युद्धशालिनौ ।
अन्योन्यं प्रतिसंरब्धावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३४ ॥

महाराज ! युद्धमें शोभा पानेवाले वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो एक दूसरेके वधकी इच्छासे संग्रामके लिये खड़े हुए थे ॥ ३४ ॥

तावुभौ प्रजिहीर्षन्ताविन्द्रवृत्राविव प्रभो ।
भीमरूपधरावास्तां महाधूमाविव ग्रहौ ॥ ३५ ॥

प्रभो ! इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे दोनों एक दूसरे-पर प्रहारकी इच्छा रखते थे । उस समय उन दोनोंने दो महान् केतु—ग्रहोंके समान अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर लिया था ॥ ३५ ॥

ततोऽन्तरिक्षे साक्षेपा विवादा भरतर्षभ ।
मिथो भेदाश्च भूतानामासन् कर्णार्जुनान्तरे ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अन्तरिक्षमें स्थित हुए समस्त भूतोंमें कर्ण और अर्जुनकी जय-पराजयको लेकर परस्पर आक्षेपयुक्त विवाद और मतभेद पैदा हो गया ॥ ३६ ॥

व्यश्रूयन्त मिथो भिन्नाः सर्वलोकास्तु मारिष ।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ ३७ ॥
प्रतिपक्षग्रहं चक्रुः कर्णार्जुनसमागमे ।

मान्यवर ! सब लोग परस्पर भिन्न विचार व्यक्त करते सुनायी देते थे । देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग और राक्षस—इन सबने कर्ण और अर्जुनके युद्धके विषयमें पक्ष और विपक्ष ग्रहण कर लिया ॥ ३७½ ॥

द्यौरासीत् सूतपुत्रस्य पक्षे मातेव धिष्ठिता ॥ ३८ ॥
भूमिर्धनंजयस्यासीन्मातेव जयकाङ्क्षिणी ।

द्यौ (आकाशकी अधिष्ठात्री देवी) माताके समान सूतपुत्र कर्णके पक्षमें खड़ी थी; परंतु भूदेवी माताकी भाँति धनंजयकी विजय चाहती थी ॥ ३८½ ॥

गिरयः सागराश्चैव नद्यश्च सजलास्तथा ॥ ३९ ॥
वृक्षाश्चौषधयश्चैव व्याश्रयन्त किरीटिनम् ।

पर्वत, समुद्र, सजल नदियाँ, वृक्ष तथा ओषधियाँ—इन सबने अर्जुनके पक्षका आश्रय ले रक्खा था ॥ ३९½ ॥

असुरा यातुधानाश्च गुह्यकाश्च परंतप ॥ ४० ॥
ते कर्णं समपद्यन्त हृष्टरूपाः समन्ततः ।

शत्रुओंको तपानेवाले वीर ! असुर, यातुधान और गुह्यक—ये सब ओरसे प्रसन्नचित्त हो कर्णके ही पक्षमें आ गये थे ॥ ४०½ ॥

मुनयश्चारणाः सिद्धा वैनतेया वयांसि च ॥ ४१ ॥
रत्नानि निधयः सर्वे वेदाश्चाख्यानपञ्चमाः ।
सोपवेदोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ ४२ ॥
वासुकिश्चित्रसेनश्च तक्षको मणिकस्तथा ।
सर्पाश्चैव तथा सर्वे काद्रवेयाश्च सान्वयाः ॥ ४३ ॥
विषवन्तो महाराज नागाश्चार्जुनतोऽभवन् ।
ऐरावताः सौरभेया वैशालेयाश्च भोगिनः ॥ ४४ ॥
एतेऽभवन्नर्जुनतः क्षुद्रसर्पाश्च कर्णतः ।

महाराज ! मुनि, चारण, सिद्ध, गरुड़, पक्षी, रत्न, निधियाँ, उपवेद, उपनिषद्, रहस्य, संग्रह और इतिहास-पुराणसहित सम्पूर्ण वेद, वासुकि, चित्रसेन, तक्षक, मणिक, सम्पूर्ण सर्पगण, अपने वंशजोंसहित कद्रूकी संतानें, विषैले नाग, ऐरावत, सौरभेय और वैशालेय सर्प—ये सब अर्जुनके पक्षमें हो गये । छोटे-छोटे सर्प कर्णका साथ देने लगे ॥४१—४४½॥

ईहामृगा व्यालमृगा माङ्गल्याश्च मृगद्विजाः ॥ ४५ ॥
पार्थस्य विजये राजन् सर्व एवाभिसंस्थिताः ।

राजन् ! ईहामृग, व्यालमृग, मङ्गलसूचक मृग, पशु और पक्षी, सिंह तथा व्याघ्र—ये सब-के-सब अर्जुनकी ही विजयका आग्रह रखने लगे ॥ ४५½ ॥

वसवो मरुतः साध्या रुद्रा विश्वेऽश्विनौ तथा ॥ ४६ ॥
अग्निरिन्द्रश्च सोमश्च पवनोऽथ दिशो दश ।
धनंजयस्य ते पक्षे आदित्याः कर्णतोऽभवन् ॥ ४७ ॥
विशः शूद्राश्च सूताश्च ये च संकरजातयः ।
सर्वशस्ते महाराज राधेयमभजंस्तदा ॥ ४८ ॥

वसु, मरुद्गण, साध्य, रुद्र, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, सोम, पवन और दसों दिशाएँ अर्जुनके पक्षमें हो गये एवं (इन्द्रके सिवा अन्य) आदित्यगण कर्णके पक्षमें हो गये । महाराज ! वैश्य, शूद्र, सूत तथा सङ्कर जातिके लोग सब प्रकारसे उस समय राधापुत्र कर्णको ही अपनाने लगे ॥ ४६—४८ ॥

देवास्तु पितृभिः सार्धं सगणाः सपदानुगाः ।
यमो वैश्रवणश्चैव वरुणश्च यतोऽर्जुनः ॥ ४९ ॥
ब्रह्म क्षत्रं च यज्ञाश्च दक्षिणाश्चार्जुनं श्रिताः ।

अपने गणों और सेवकोंसहित देवता, पितर, यम, कुबेर और वरुण अर्जुनके पक्षमें थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, यज्ञ और दक्षिणा आदिने भी अर्जुनका ही साथ दिया ॥ ४९½ ॥

प्रेताश्चैव पिशाचाश्च क्रव्यादाश्च मृगाण्डजाः ॥ ५० ॥
राक्षसाः सह यादोभिः श्वसृगालाश्च कर्णतः।

प्रेत, पिशाच, मांसभोजी पशु-पक्षी, राक्षस, जल-जन्तु, कुत्ते और सियार—ये कर्णके पक्षमें हो गये ॥ ५०½ ॥

देवब्रह्मनृपर्षीणां गणाः पाण्डवतोऽभवन् ॥ ५१ ॥
तुम्बुरुप्रमुखा राजन् गन्धर्वाश्च यतोऽर्जुनः।
प्राधेयाः सहमौनेया गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ ५२ ॥

राजन्! देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंके समुदाय पाण्डुपुत्र अर्जुनके पक्षमें थे। तुम्बुरु आदि गन्धर्व, प्राधा और मुनिसे उत्पन्न हुए गन्धर्व एवं अप्सराओंके समुदाय भी अर्जुनकी ही ओर थे ॥ ५१-५२ ॥

(सहाप्सरोभिः शुद्धाभिर्देवदूताश्च गुह्यकाः।
किरीटिनं संश्रिताः स्म पुण्यगन्धा मनोरमाः ॥
अमनोज्ञाश्च ये गन्धास्ते सर्वे कर्णमाश्रिताः।

शुद्ध अप्सराओंसहित देवदूत, गुह्यक और मनोरम पवित्र सुगन्ध—ये सब किरीटधारी अर्जुनके पक्षमें आ गये तथा मनको प्रिय न लगनेवाले जो दुर्गन्धयुक्त पदार्थ थे, उन सबने कर्णका आश्रय लिया था ॥

विपरीतान्यरिष्टानि भवन्ति विनशिष्यताम् ॥
ये त्वन्तकाले पुरुषं विपरीतमुपाश्रितम्।
प्रविशन्ति नरं क्षिप्रं मृत्युकालेऽभ्युपागते ॥
ते भावाः सहिताः कर्णं प्रविष्टाः सूतनन्दनम्।

विनाशोन्मुख प्राणियोंके समक्ष जो विपरीत अनिष्ट प्रकट होते हैं, अन्तकालमें विपरीत भावका आश्रय लेनेवाले पुरुषमें उसकी मृत्युकी घड़ी आनेपर जो भाव प्रवेश करते हैं, वे सभी भाव और अरिष्ट एक साथ सूतपुत्र कर्णके भीतर प्रविष्ट हुए ॥

ओजस्तेजश्च सिद्धिश्च प्रहर्षः सत्यविक्रमौ ॥
मनस्तुष्टिर्जयश्चापि तथाऽऽनन्दो नृपोत्तम।
ईदृशानि नरव्याघ्र तस्मिन् संग्रामसागरे ॥
निमित्तानि च शुभ्राणि विविशुर्जिष्णुमाहवे।

नरव्याघ्र! नृपश्रेष्ठ! ओज, तेज, सिद्धि, हर्ष, सत्य, पराक्रम, मानसिक संतोष, विजय तथा आनन्द—ऐसे ही भाव और शुभ निमित्त उस युद्धसागरमें विजयशील अर्जुनके भीतर प्रविष्ट हुए थे ॥

ऋषयो ब्राह्मणैः सार्धमभजन्त किरीटिनम् ॥
ततो देवगणैः सार्धं सिद्धाश्च सह चारणैः।
द्विधाभूता महाराज व्याश्रयन्त नरोत्तमौ ॥

ब्राह्मणोंसहित ऋषियोंने किरीटधारी अर्जुनका साथ दिया। महाराज! देवसमुदायों और चारणोंके साथ सिद्ध-गण दो दलोंमें विभक्त होकर उन दोनों नरश्रेष्ठ अर्जुन और कर्णका पक्ष लेने लगे ॥

विमानानि विचित्राणि गुणवन्ति च सर्वशः।
समारुह्य समाजग्मुर्द्वैरथं कर्णपार्थयोः ॥)

वे सब लोग विचित्र एवं गुणवान् विमानोंपर बैठकर कर्ण और अर्जुनका द्वैरथ युद्ध देखनेके लिये आये थे ॥

ईहामृगाः पक्षिगणा द्विपाश्वरथपत्तिभिः।
उह्यमानास्तथा मेघैर्वायुना च मनीषिणः ॥ ५३ ॥
दिदृक्षवः समाजग्मुः कर्णार्जुनसमागमम्।

क्रीडामृग, पक्षीसमुदाय तथा हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित दिव्य मनीषी पुरुष वायु तथा बादलोंको वाहन बनाकर कर्ण और अर्जुनका युद्ध देखनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥

देवदानवगन्धर्वा नागयक्षाः पतत्त्रिणः ॥ ५४ ॥
महर्षयो वेदविदः पितरश्च स्वधाभुजः।
तपोविद्यास्तथौषध्यो नानारूपबलान्विताः ॥ ५५ ॥
अन्तरिक्षे महाराज विनदन्तोऽवतस्थिरे।

महाराज! देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, पक्षी, वेदज्ञ महर्षि, स्वधाभोजी पितर, तप, विद्या तथा नाना प्रकारके रूप और बलसे सम्पन्न ओषधियाँ—ये सब-के-सब कोलाहल मचाते हुए अन्तरिक्षमें खड़े हुए थे ॥ ५४-५५½ ॥

ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिः सार्धं प्रजापतिभिरेव च ॥ ५६ ॥
भवश्चैव स्थितो याने दिव्ये तं देशमागमत्।

ब्रह्मर्षियों तथा प्रजापतियोंके साथ ब्रह्मा और महादेवजी भी दिव्य विमानपर स्थित हो उस प्रदेशमें आये ॥

समेतौ तौ महात्मानौ दृष्ट्वा कर्णधनंजयौ ॥ ५७ ॥
अर्जुनो जयतां कर्णमिति शक्रोऽब्रवीत्तदा।

उन दोनों महामनस्वी वीर कर्ण और अर्जुनको एकत्र हुआ देख उस समय इन्द्र बोल उठे—'अर्जुन कर्णपर विजय प्राप्त करे' ॥ ५७½ ॥

जयतामर्जुनं कर्ण इति सूर्योऽभ्यभाषत ॥ ५८ ॥
हत्वार्जुनं मम सुतः कर्णो जयतु संयुगे।
हत्वा कर्णं जयत्वद्य मम पुत्रो धनंजयः ॥ ५९ ॥

यह सुनकर सूर्यदेव कहने लगे—'नहीं, कर्ण ही अर्जुनको जीत ले। मेरा पुत्र कर्ण युद्धस्थलमें अर्जुनको मारकर विजय प्राप्त करे।' (इन्द्र बोले—) 'नहीं, मेरा पुत्र अर्जुन ही आज कर्णका वध करके विजयश्रीका वरण करे' ॥ ५८-५९ ॥

इति सूर्यस्य चैवासीद् विवादो वासवस्य च।
पक्षसंस्थितयोस्तत्र तयोर्विबुधसिंहयोः।
द्वैपक्ष्यमासीद् देवानामसुराणां च भारत ॥ ६० ॥

इस प्रकार सूर्य और इन्द्रमें विवाद होने लगा। वे दोनों देवश्रेष्ठ वहाँ एक-एक पक्षमें खड़े थे। भारत! देवताओं और असुरोंमें भी वहाँ दो पक्ष हो गये थे ॥ ६० ॥

समेतौ तौ महात्मानौ दृष्ट्वा कर्णधनंजयौ।

अकम्पन्त त्रयो लोकाः सहदेवर्षिचारणाः ॥ ६१ ॥

महामना कर्ण और अर्जुनको युद्धके लिये एकत्र हुआ देख देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंसहित तीनों लोकके प्राणी काँपने लगे ॥ ६१ ॥

सर्वे देवगणाश्चैव सर्वभूतानि यानि च।
यतः पार्थस्ततो देवा यतः कर्णस्ततोऽसुराः ॥ ६२ ॥

सम्पूर्ण देवता तथा समस्त प्राणी भी भयभीत हो उठे थे। जिस ओर अर्जुन थे, उधर देवता और जिस ओर कर्ण था, उधर असुर खड़े थे ॥ ६२ ॥

रथयूथपयोः पक्षौ कुरुपाण्डववीरयोः।
दृष्ट्वा प्रजापतिं देवाः स्वयम्भुवमचोदयन् ॥ ६३ ॥

रथयूथपति कर्ण और अर्जुन कौरव तथा पाण्डव दलके प्रमुख वीर थे। उनके विषयमें दो पक्ष देखकर देवताओंने प्रजापति स्वयम्भू ब्रह्माजीसे पूछा—॥ ६३ ॥

कोऽनयोर्विजयी देव कुरुपाण्डवयोधयोः।
समोऽस्तु विजयो देव एतयोर्नरसिंहयोः ॥ ६४ ॥

'देव ! इन कौरव-पाण्डव योद्धाओंमें कौन विजयी होगा ? भगवन् ! हम चाहते हैं कि इन दोनों पुरुषसिंहोंकी एक-सी ही विजय हो ॥ ६४ ॥

कर्णार्जुनविवादेन सर्वं संशयितं जगत्।
स्वयम्भो ब्रूहि नस्तथ्यमेतयोर्विजयं प्रभो ॥ ६५ ॥
स्वयम्भो ब्रूहि तद्वाक्यं समोऽस्तु विजयोऽनयोः।

'प्रभो ! कर्ण और अर्जुनके विवादसे सारा संसार संशयमें पड़ गया। स्वयम्भू ! आप हमें इनके विजयके सम्बन्धमें सच्ची बात बताइये। आप ऐसा वचन बोलिये, जिससे इन दोनोंकी समान विजय सूचित हो' ॥ ६५½ ॥

तदुपश्रुत्य मघवा प्रणिपत्य पितामहम् ॥ ६६ ॥
व्यज्ञापयत देवेशमिदं मतिमतां वरः।

देवताओंकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने देवेश्वर भगवान् ब्रह्माको प्रणाम करके यह निवेदन किया—॥ ६६½ ॥

पूर्वं भगवता प्रोक्तं कृष्णयोर्विजयो ध्रुवः ॥ ६७ ॥
तत् तथास्तु नमस्तेऽस्तु प्रसीद भगवन् मम।

'भगवन् ! आपने पहले कहा था कि 'इन दोनों कृष्णों-की विजय अटल है।' आपका वह कथन सत्य हो। आपको नमस्कार है। आप मुझपर प्रसन्न होइये' ॥६७½ ॥

ब्रह्मेशानावथो वाक्यमूचतुस्त्रिदशेश्वरम् ॥ ६८ ॥
विजयो ध्रुवमेवास्य विजयस्य महात्मनः।
खाण्डवे येन हुतभुक्तोषितः सव्यसाचिना ॥ ६९ ॥
स्वर्गं च समनुप्राप्य साहाय्यं शक्र ते कृतम्।

तब ब्रह्मा और महादेवजीने देवेश्वर इन्द्रसे कहा—'महात्मा अर्जुनकी विजय तो निश्चित ही है। इन्द्र ! इन्हीं सव्यसाची अर्जुनने खाण्डववनमें अग्निदेवको संतुष्ट किया और स्वर्गलोकमें जाकर तुम्हारी भी सहायता की ॥

कर्णश्च दानवः पक्ष अतः कार्यः पराजयः ॥ ७० ॥
एवं कृते भवेत् कार्यं देवानामेव निश्चितम्।
आत्मकार्यं च सर्वेषां गरीयस्त्रिदशेश्वर ॥ ७१ ॥

'कर्ण दानव पक्षका पुरुष है; अतः उसकी पराजय करनी चाहिये—ऐसा करनेपर निश्चित रूपसे देवताओंका ही कार्य सिद्ध होगा। देवेश्वर ! अपना कार्य सभीके लिये गुरुतर होता है ॥ ७०-७१ ॥

महात्मा फाल्गुनश्चापि सत्यधर्मरतः सदा।
विजयस्तस्य नियतं जायते नात्र संशयः ॥ ७२ ॥

'महात्मा अर्जुन सदा सत्य और धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः उनकी विजय अवश्य होगी, इसमें संशय नहीं है ॥

तोषितो भगवान् येन महात्मा वृषभध्वजः।
कथं वा तस्य न जयो जायते शतलोचन ॥ ७३ ॥

'शतलोचन ! जिन्होंने महात्मा भगवान् वृषभध्वजको संतुष्ट किया है, उनकी विजय कैसे नहीं होगी ॥ ७३ ॥

यस्य चक्रे स्वयं विष्णुः सारथ्यं जगतः प्रभुः।
मनस्वी बलवाञ्शूरः कृतास्त्रोऽथ तपोधनः ॥ ७४ ॥

'साक्षात् जगदीश्वर भगवान् विष्णुने जिनका सारथ्य किया है, जो मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और तपस्याके धनी हैं, उनकी विजय क्यों न होगी ? ॥ ७४ ॥

बिभर्ति च महातेजा धनुर्वेदमशेषतः।
पार्थः सर्वगुणोपेतो देवकार्यमिदं यतः ॥ ७५ ॥

'सर्वगुणसम्पन्न महातेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुन सम्पूर्ण धनुर्वेदको धारण करते हैं; अतः उनकी विजय होगी ही; क्योंकि यह देवताओंका ही कार्य है ॥ ७५ ॥

क्लिश्यन्ते पाण्डवा नित्यं वनवासादिभिर्भृशम्।
सम्पन्नस्तपसा चैव पर्याप्तः पुरुषर्षभः ॥ ७६ ॥

'पाण्डव वनवास आदिके द्वारा सदा महान् कष्ट उठाते आये हैं। पुरुषप्रवर अर्जुन तपोबलसे सम्पन्न और पर्याप्त शक्तिशाली हैं ॥ ७६ ॥

अतिक्रमेच्च माहात्म्याद् दिष्टमप्यर्थपर्ययम्।
अतिक्रान्ते च लोकानामभावो नियतं भवेत् ॥ ७७ ॥

'ये अपनी महिमासे दैवके भी निश्चित विधानको पलट सकते हैं; यदि ऐसा हुआ तो सम्पूर्ण लोकोंका अवश्य ही अन्त हो जायगा ॥ ७७ ॥

न विद्यते व्यवस्थानं क्रुद्धयोः कृष्णयोः क्वचित्।
स्रष्टारौ जगतश्चैव सततं पुरुषर्षभौ ॥ ७८ ॥

'श्रीकृष्ण और अर्जुनके कुपित होनेपर यह संसार कहीं टिक नहीं सकता; पुरुषप्रवर श्रीकृष्ण और अर्जुन ही निरन्तर जगत्‌की सृष्टि करते हैं ॥ ७८ ॥

नरनारायणावेतौ पुराणावृषिसत्तमौ।
अनियम्यौ नियन्तारावेतौ तस्मात् परंतपौ ॥ ७९ ॥

'ये ही प्राचीन ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायण हैं; इन-

पर किसीका शासन नहीं चलता। ये ही सबके नियन्ता हैं; अतः ये शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हैं ॥ ७९ ॥

नैतयोस्तु समः कश्चिद् दिवि वा मानुषेषु वा।
अनुगम्यास्त्रयो लोकाः सह देवर्षिचारणैः ॥ ८० ॥
सर्वदेवगणाश्चापि सर्वभूतानि यानि च।
अनयोस्तु प्रभावेण वर्तते निखिलं जगत् ॥ ८१ ॥

'देवलोक अथवा मनुष्यलोकमें कोई भी इन दोनोंकी समानता करनेवाला नहीं है। देवता, ऋषि और चारणोंके साथ तीनों लोक, समस्त देवगण और सम्पूर्ण भूत इनके ही नियन्त्रणमें रहनेवाले हैं। इन्हींके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत् अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होता है ॥ ८०-८१ ॥

कर्णो लोकानयं मुख्यानाप्नोतु पुरुषर्षभः।
कर्णो वैकर्तनः शूरो विजयस्त्वस्तु कृष्णयोः ॥ ८२॥

'शूरवीर पुरुषप्रवर वैकर्तन कर्ण श्रेष्ठ लोक प्राप्त करे; परंतु विजय तो श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ही हो ॥८२॥

वसूनां समलोकत्वं मरुतां वा समाप्नुयात्।
सहितो द्रोणभीष्माभ्यां नाकलोकमवाप्नुयात्॥ ८३ ॥

'कर्ण द्रोणाचार्य और भीष्मजीके साथ वसुओं अथवा मरुद्गणोंके लोकमें जाय अथवा स्वर्गलोक ही प्राप्त करे' ॥८३॥

इत्युक्तो देवदेवाभ्यां सहस्राक्षोऽब्रवीद् वचः।
आमन्त्र्य सर्वभूतानि ब्रह्मेशानानुशासनम् ॥ ८४ ॥

देवाधिदेव ब्रह्मा और महादेवजीके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सम्पूर्ण प्राणियोंको बुलाकर उन दोनोंकी आज्ञा सुनायी॥

श्रुतं भवद्भिर्यत् प्रोक्तं भगवद्भ्यां जगद्धितम्।
तत्तथा नान्यथा तद्धि तिष्ठध्वं विगतज्वराः ॥ ८५ ॥

वे बोले—'हमारे पूज्य प्रभुओंने संसारके हितके लिये जो कुछ कहा है, वह सब तुमलोगोंने सुन ही लिया होगा। वह वैसे ही होगा। उसके विपरीत होना असम्भव है; अतः अब निश्चिन्त हो जाओ' ॥ ८५ ॥

इति श्रुत्वेन्द्रवचनं सर्वभूतानि मारिष।
विस्मितान्यभवन् राजन् पूजायांचक्रिरे तदा ॥ ८६ ॥
व्यसृजंश्च सुगन्धीनि पुष्पवर्षाणि हर्षिताः।
नानारूपाणि विबुधा देवतूर्याण्यवादयन् ॥ ८७ ॥

माननीय नरेश! इन्द्रका यह वचन सुनकर समस्त प्राणी विस्मित हो गये और हर्षमें भरकर श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे। साथ ही उन दोनोंके ऊपर उन्होंने दिव्य सुगन्धित फूलोंकी वर्षा की। देवताओंने नाना प्रकारके दिव्य बाजे बजाने आरम्भ कर दिये ॥ ८६-८७ ॥

दिदृक्षवश्चाप्रतिमं द्वैरथं नरसिंहयोः।
देवदानवगन्धर्वाः सर्व एवावतस्थिरे ॥ ८८ ॥

पुरुषसिंह कर्ण और अर्जुनका अनुपम द्वैरथ युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, दानव और गन्धर्व सभी वहाँ खड़े हो गये ॥

रथौ तयोः श्वेतहयौ दिव्यौ युक्तौ महात्मनोः।
यौ तौ कर्णार्जुनौ राजन् प्रहृष्टावभ्यतिष्ठताम् ॥ ८९ ॥

राजन्! कर्ण और अर्जुन हर्षमें भरकर जिन रथोंपर बैठे हुए थे, उन महामनस्वी वीरोंके वे दोनों रथ श्वेत घोड़ोंसे युक्त, दिव्य और आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न थे ॥८९॥

समागता लोकवीराः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ कर्णशल्यौ च भारत ॥ ९० ॥

भरतनन्दन! वहाँ एकत्र हुए सम्पूर्ण जगत्के वीर पृथक्-पृथक् शङ्खध्वनि करने लगे। वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनने तथा शल्य और कर्णने भी अपना-अपना शङ्ख बजाया ॥

तद् भीरुसंत्रासकरं युद्धं समभवत्तदा।
अन्योन्यस्पर्धिनोरुग्रं शक्रशम्बरयोरिव ॥ ९१ ॥

इन्द्र और शम्बरासुरके समान एक दूसरेसे डाह रखनेवाले उन दोनों वीरोंमें उस समय घोर युद्ध आरम्भ हुआ, जो कायरोंके हृदयमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ ९१ ॥

तयोर्ध्वजौ वीतमलौ शुशुभाते रथे स्थितौ।
राहुकेतू यथाऽऽकाशे उदितौ जगतः क्षये ॥ ९२ ॥

उन दोनोंके रथोंपर निर्मल ध्वजाएँ शोभा पा रही थीं, मानो संसारके प्रलयकालमें आकाशमें राहु और केतु दोनों ग्रह उदित हुए हों ॥ ९२ ॥

कर्णस्याशीविषनिभा रत्नसारमयी दृढा।
पुरन्दरधनुःप्रख्या हस्तिकक्ष्या व्यराजत ॥ ९३ ॥

कर्णके ध्वजकी पताकामें हाथीकी साँकलका चिह्न था, वह साँकल रत्नसारमयी, सुदृढ़ और विषधर सर्पके समान आकारवाली थी। वह आकाशमें इन्द्रधनुषके समान शोभा पाती थी ॥ ९३ ॥

कपिश्रेष्ठस्तु पार्थस्य व्यादितास्य इवान्तकः।
दंष्ट्राभिर्भीषयन् भाभिर्दुर्निरीक्ष्यो रविर्यथा ॥ ९४ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनके रथपर मुँह बाये हुए यमराजके समान एक श्रेष्ठ वानर बैठा हुआ था, जो अपनी दाढ़ोंसे सबको डराया करता था। वह अपनी प्रभासे सूर्यके समान जान पड़ता था। उसकी ओर देखना कठिन था ॥ ९४ ॥

युद्धाभिलाषुको भूत्वा ध्वजो गाण्डीवधन्वनः।
कर्णध्वजमुपातिष्ठत् स्वस्थानाद् वेगवान् कपिः॥ ९५ ॥
उत्पपात महावेगः कक्ष्यामभ्याहनत्तदा।
नखैश्च दशनैश्चैव गरुडः पन्नगं यथा ॥ ९६ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनका ध्वज मानो युद्धका इच्छुक होकर कर्णके ध्वजपर आक्रमण करने लगा। अर्जुनकी ध्वजाका महान् वेगशाली वानर उस समय अपने स्थानसे उछला और कर्णकी ध्वजाकी साँकलपर चोट करने लगा, जैसे गरुड़ अपने पंजों और चोंचसे सर्पपर प्रहार कर रहे हों ॥९५-९६॥

सा किङ्किणीकाभरणा कालपाशोपमाऽऽयसी।
अभ्यद्रवत् सुसंरब्धा हस्तिकक्ष्याथ तं कपिम् ॥९७॥

कर्णके ध्वजपर जो हाथीकी साँकल थी, वह कालपाशके

समान जान पड़ती थी। वह लोहनिर्मित हाथीकी साँकल छोटी-छोटी घण्टियोंसे विभूषित थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर उस वानरपर धावा किया ॥ ९७ ॥

तयोर्घोरतरे युद्धे द्वैरथे द्यूत आहिते।
प्रकुर्वाते ध्वजौ युद्धं पूर्वं पूर्वतरं तदा ॥ ९८ ॥

उन दोनोंमें घोरतर द्वैरथ युद्धरूपी जूएका अवसर उपस्थित था, इसीलिये उन दोनोंकी ध्वजाओंने पहले स्वयं ही युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९८ ॥

हया हयानभ्यहेषन् स्पर्धमानाः परस्परम्।
अविध्यत् पुण्डरीकाक्षः शल्यं नयनसायकैः ॥ ९९ ॥

एकके घोड़े दूसरेके घोड़ोंको देखकर परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हिनहिनाने लगे। इसी समय कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने शल्यकी ओर त्यौरी चढ़ाकर देखा, मानो वे उसे नेत्ररूपी बाणोंसे बींध रहे हों ॥ ९९ ॥

शल्यश्च पुण्डरीकाक्षं तथैवाभिसमैक्षत।
तत्राजयद् वासुदेवः शल्यं नयनसायकैः ॥१००॥

इसी प्रकार शल्यने भी कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया; परंतु वहाँ विजय श्रीकृष्णकी ही हुई। उन्होंने अपने नेत्ररूपी बाणोंसे शल्यको पराजित कर दिया॥

कर्णं चाप्यजयद् दृष्ट्या कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अथाब्रवीत् सूतपुत्रः शल्यमाभाष्य सस्मितम् ॥१०१॥
यदि पार्थो रणे हन्यादद्य मामिह कर्हिचित्।
किं करिष्यसि संग्रामे शल्य सत्यमथोच्यताम्॥१०२॥

इसी तरह कुन्तीनन्दन धनंजयने भी अपनी दृष्टिद्वारा कर्णको परास्त कर दिया। तदनन्तर कर्णने शल्यसे मुसकराते हुए कहा—'शल्य! सच बताओ, यदि कदाचित् आज रणभूमिमें कुन्तीपुत्र अर्जुन मुझे यहाँ मार डालें तो तुम इस संग्राममें क्या करोगे ?' ॥ १०१-१०२ ॥

शल्य उवाच

यदि कर्ण रणे हन्यादद्य त्वां श्वेतवाहनः।
उभावेकरथेनाहं हन्यां माधवपाण्डवौ ॥१०३॥

शल्यने कहा—कर्ण! यदि श्वेतवाहन अर्जुन आज युद्धमें तुझे मार डालें तो मैं एकमात्र रथके द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका वध कर डालूँगा ॥ १०३ ॥

संजय उवाच

एवमेव तु गोविन्दमर्जुनः प्रत्यभाषत।
तं प्रहस्याब्रवीत् कृष्णः सत्यं पार्थमिदं वचः ॥१०४॥

संजय कहते हैं—राजन्! इसी प्रकार अर्जुनने भी श्रीकृष्णसे पूछा। तब श्रीकृष्णने हँसकर अर्जुनसे यह सत्य बात कही—॥ १०४ ॥

पतेद् दिवाकरः स्थानाच्छुष्येदपि महोदधिः।
शैत्यमग्निरियान्न त्वां हन्यात् कर्णो धनंजय ॥१०५॥

'धनंजय! सूर्य अपने स्थानसे गिर जाय, समुद्र सूख जाय और अग्नि सदाके लिये शीतल हो जाय तो भी कर्ण तुम्हें मार नहीं सकता ॥ १०५ ॥

यदि चैतत् कथञ्चित् स्याल्लोकपर्यासनं भवेत्।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे ॥१०६॥

'यदि किसी तरह ऐसा हो जाय तो संसार उलट जायगा। मैं अपनी दोनों भुजाओंसे ही युद्धभूमिमें कर्ण तथा शल्यको मसल डालूँगा' ॥ १०६ ॥

इति कृष्णवचः श्रुत्वा प्रहसन् कपिकेतनः।
अर्जुनः प्रत्युवाचेदं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥१०७॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर कपिध्वज अर्जुन हँस पड़े और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ १०७ ॥

मम तावदपर्याप्तौ कर्णशल्यौ जनार्दन।
सपताकध्वजं कर्णं सशल्यरथवाजिनम् ॥१०८॥
सच्छत्रकवचं चैव सशक्तिशरकार्मुकम्।
द्रष्टास्यद्य रणे कृष्ण शरैश्छिन्नमनेकधा ॥१०९॥

'जनार्दन! ये कर्ण और शल्य तो मेरे ही लिये पर्याप्त नहीं हैं। श्रीकृष्ण! आज रणभूमिमें आप देखियेगा, मैं कवच, छत्र, शक्ति, धनुष, बाण, ध्वजा, पताका, रथ, घोड़े तथा राजा शल्यके सहित कर्णको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा ॥ १०८-१०९ ॥

अद्यैव सरथं साश्वं सशक्तिकवचायुधम्।
संचूर्णितमिवारण्ये पादपं दन्तिना यथा ॥११०॥

'जैसे जंगलमें दन्तार हाथी किसी पेड़को टूक-टूक कर देता है, उसी प्रकार आज ही मैं रथ, घोड़े, शक्ति, कवच तथा अस्त्र-शस्त्रोंसहित कर्णको चूर-चूर कर डालूँगा ॥ ११० ॥

अद्य राधेयभार्याणां वैधव्यं समुपस्थितम्।
ध्रुवं स्वप्नेष्वनिष्टानि ताभिर्दृष्टानि माधव ॥१११॥

'माधव! आज राधापुत्र कर्णकी स्त्रियोंके विधवा होनेका अवसर उपस्थित है। निश्चय ही, उन्होंने स्वप्नमें अनिष्ट वस्तुओंके दर्शन किये हैं ॥ १११ ॥

द्रष्टासि ध्रुवमद्यैव विधवाः कर्णयोषितः।
न हि मे शाम्यते मन्युर्यदनेन पुरा कृतम् ॥११२॥
कृष्णां सभागतां दृष्ट्वा मूढेनादीर्घदर्शिना।
अस्मांस्तथावहसता क्षिपता च पुनः पुनः ॥११३॥

'आप निश्चय ही, आज कर्णकी स्त्रियोंको विधवा हुई देखेंगे। इस अदूरदर्शी मूर्खने सभामें द्रौपदीको आयी देख बारंबार उसकी तथा हमलोगोंकी हँसी उड़ायी और हम सब लोगोंपर आक्षेप किया। ऐसा करते हुए इस कर्णने पहले जो कुकृत्य किया है, उसे याद करके मेरा क्रोध शान्त नहीं होता है ॥ ११२-११३ ॥

अद्य द्रष्टासि गोविन्द कर्णमुन्मथितं मया।
वारणेनेव मत्तेन पुष्पितं जगतीरुहम् ॥११४॥

'गोविन्द ! जैसे मतवाला हाथी फले-फूले वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार आज मैं इस कर्णको मथ डालूँगा। आप यह सब कुछ अपनी आँखों देखेंगे ॥ ११४ ॥

अद्य ता मधुरा वाचः श्रोतासि मधुसूदन।
दिष्ट्या जयसि वार्ष्णेय इति कर्णे निपातिते ॥११५॥

'मधुसूदन ! आज कर्णके मारे जानेपर आपको मधुर बातें सुननेको मिलेंगी। हमलोग कहेंगे—'वृष्णिनन्दन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज आपकी विजय हुई' ॥ ११५ ॥

अद्याभिमन्युजननीं प्रहृष्टः सान्त्वयिष्यसि।
कुन्तीं पितृष्वसारं च प्रहृष्टः सजनार्दन ॥११६॥

'जनार्दन ! आज आप अत्यन्त प्रसन्न होकर अभिमन्युकी माता सुभद्राको और अपनी बुआ कुन्तीदेवीको सान्त्वना देंगे ॥ ११६ ॥

अद्य बाष्पमुखीं कृष्णां सान्त्वयिष्यसि माधव।
वाग्भिश्चामृतकल्पाभिर्धर्मराजं च पाण्डवम् ॥११७॥

'माधव ! आज आप मुखपर आँसुओंकी धारा बहानेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णा तथा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको अमृतके समान मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना प्रदान करेंगे' ॥११७॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनसमागमे द्वैरथे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनका द्वैरथयुद्धमें समागमविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार, अश्वत्थामाका दुर्योधनसे संधिके लिये प्रस्ताव और दुर्योधनद्वारा उसकी अस्वीकृति

संजय उवाच

तद् देवनागासुरसिद्धयक्षै-
र्गन्धर्वरक्षोऽप्सरसां च संघैः।
ब्रह्मर्षिराजर्षिसुपर्णजुष्टं
बभौ वियद् विस्मयनीयरूपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस समय आकाशमें देवता, नाग, असुर, सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, अप्सराओंके समुदाय, ब्रह्मर्षि, राजर्षि और गरुड़—ये सब जुटे हुए थे। इनके कारण आकाशका स्वरूप अत्यन्त आश्चर्यमय प्रतीत होता था ॥ १ ॥

नानद्यमानं निनदैर्मनोज्ञै-
र्वादित्रगीतस्तुतिनृत्यहासैः।
सर्वेऽन्तरिक्षं ददृशुर्मनुष्याः
खस्थाश्च तद् विस्मयनीयरूपम् ॥ २ ॥

नाना प्रकारके मनोरम शब्दों, वाद्यों, गीतों, स्तोत्रों, नृत्यों और हास्य आदिसे आकाश मुखरित हो उठा। उस समय भूतलके मनुष्य और आकाशचारी प्राणी सभी उस आश्चर्यमय अन्तरिक्षकी ओर देख रहे थे ॥ २ ॥

ततः प्रहृष्टाः कुरुपाण्डुयोधा
वादित्रशङ्खस्वनसिंहनादैः।
विनादयन्तो वसुधां दिशश्च
स्वनेन सर्वान् द्विषतो निजघ्नुः॥ ३ ॥

तदनन्तर कौरव और पाण्डवपक्षके समस्त योद्धा बड़े हर्षमें भरकर वाद्य, शङ्खध्वनि, सिंहनाद और कोलाहलसे रणभूमि एवं सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए समस्त शत्रुओंका संहार करने लगे ॥ ३ ॥

नराश्वमातङ्गरथैः समाकुलं
शरासिशक्त्यृष्टिनिपातदुःसहम्।
अभीरुजुष्टं हतदेहसंकुलं
रणाजिरं लोहितमाबभौ तदा ॥ ४ ॥

उस समय हाथी, अश्व, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरा हुआ बाण, खड्ग, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे दुःसह प्रतीत होनेवाला एवं मृतकोंके शरीरोंसे व्याप्त हुआ वह वीरसेवित समराङ्गण खूनसे लाल दिखायी देने लगा ॥

बभूव युद्धं कुरुपाण्डवानां
यथा सुराणामसुरैः सहाभवत्।
तथा प्रवृत्ते तुमुले सुदारुणे
धनंजयस्याधिरथेश्च सायकैः ॥ ५ ॥
दिशश्च सैन्यं च शितैरजिह्मगैः
परस्परं प्रावृणुतां सुदंशितौ।

जैसे पूर्वकालमें देवताओंका असुरोंके साथ संग्राम हुआ था, उसी प्रकार पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध होने लगा। अर्जुन और कर्णके बाणोंसे वह अत्यन्त दारुण तुमुल युद्ध आरम्भ होनेपर वे दोनों कवचधारी वीर अपने पैने बाणोंसे परस्पर सम्पूर्ण दिशाओं तथा सेनाको आच्छादित करने लगे ॥ ५½ ॥

ततस्त्वदीयाश्च परे च सायकैः
कृतेऽन्धकारे ददृशुर्न किंचन ॥ ६ ॥
भयातुरा एकरथौ समाश्रयं-
स्ततोऽभवत् त्वद्भुतमेव सर्वतः।

तत्पश्चात् आपके और शत्रुपक्षके सैनिक जब बाणोंसे फैले हुए अन्धकारमें कुछ भी देख न सके, तब भयसे आतुर हो उन दोनों प्रधान रथियोंकी शरणमें आ गये। फिर तो चारों ओर अद्भुत युद्ध होने लगा ॥ ६½ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण परस्परं तौ
विधूय वाताविव पूर्वपश्चिमौ ॥ ७ ॥

घनान्धकारे वितते तमोनुदौ
यथोदितौ तद्वदतीव रेजतुः ।

तदनन्तर जैसे पूर्व और पश्चिमकी हवाएँ एक दूसरीको दबाती हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट करके फैले हुए प्रगाढ़ अन्धकारमें उदित हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान अत्यन्त प्रकाशित होने लगे ॥ ७½ ॥

न चाभिसर्तव्यमिति प्रचोदिताः
परे त्वदीयाश्च तथावतस्थिरे ॥ ८ ॥
महारथौ तौ परिवार्य सर्वतः
सुरासुराः शम्बरवासवाविव ।

'किसीको युद्धसे मुँह मोड़कर भागना नहीं चाहिये' इस नियमसे प्रेरित होकर आपके और शत्रुपक्षके सैनिक उन दोनों महारथियोंको चारों ओरसे घेरकर उसी प्रकार युद्धमें डटे रहे, जैसे पूर्वकालमें देवता और असुर, इन्द्र और शम्बरासुरको घेरकर खड़े हुए थे ॥ ८½ ॥

मृदङ्गभेरीपणवानकस्वनैः
ससिंहनादैर्नदतुर्नरोत्तमौ ॥ ९ ॥
शशाङ्कसूर्याविव मेघनिःस्वनै-
र्विरेजतुस्तौ पुरुषर्षभौ तदा ।

दोनों दलोंमें होती हुई मृदङ्ग, भेरी, पणव और आनक आदि बाद्योंकी ध्वनिके साथ वे दोनों नरश्रेष्ठ जोर-जोरसे सिंहनाद कर रहे थे, उस समय वे दोनों पुरुषरत्न मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ उदित हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९½ ॥

महाधनुर्मण्डलमध्यगावुभौ
सुवर्चसौ बाणसहस्रदीधिती ॥ १० ॥
दिधक्षमाणौ सचराचरं जगद्-
युगान्तसूर्याविव दुःसहौ रणे ।

रणभूमिमें वे दोनों वीर चराचर जगत्को दग्ध करनेकी इच्छासे प्रकट हुए प्रलयकालके दो सूर्योंके समान शत्रुओंके लिये दुःसह हो रहे थे। कर्ण और अर्जुनरूप वे दोनों सूर्य अपने विशाल धनुषरूपी मण्डलके मध्यमें प्रकाशित होते थे। सहस्रों बाण ही उनकी किरण थे और वे दोनों ही महान् तेजसे सम्पन्न दिखायी देते थे ॥ १०½ ॥

उभावजेयावहितान्तकावुभा-
वुभौ जिघांसू कृतिनौ परस्परम् ॥ ११ ॥
महाहवे वीतभयौ समीयतु-
र्महेन्द्रजम्भाविव कर्णपाण्डवौ ।

दोनों ही अजेय और शत्रुओंका विनाश करनेवाले थे। दोनों ही अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और एक दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले थे। कर्ण और अर्जुन दोनों वीर इन्द्र और जम्भासुरके समान उस महासमरमें निर्भय विचरते थे ॥ ११½ ॥

ततो महास्त्राणि महाधनुर्धरौ
विमुञ्चमानाविषुभिर्भयानकैः ॥ १२ ॥
नराश्वनागानमितान् निजघ्नतुः
परस्परं चापि महारथौ नृप ।

नरेश्वर ! वे महाधनुर्धर और महारथी वीर महान् अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए अपने भयानक बाणोंद्वारा असंख्य मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंका संहार करते और आपसमें भी एक दूसरेको चोट पहुँचाते थे ॥ १२½ ॥

ततो विसस्रुः पुनरर्दिता नरा
नरोत्तमाभ्यां कुरुपाण्डवाश्रयाः ॥ १३ ॥
सनागपत्त्यश्वरथा दिशो दश
तथा यथा सिंहहता वनौकसः ।

जैसे सिंहके द्वारा घायल किये हुए जंगली पशु सब ओर भागने लगते हैं, उसी प्रकार उन नरश्रेष्ठ वीरोंके द्वारा बाणोंसे पीड़ित किये हुए कौरव तथा पाण्डवसैनिक हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित दसों दिशाओंमें भाग खड़े हुए ॥ १३½ ॥

ततस्तु दुर्योधनभोजसौबलाः
कृपेण शारद्वतसूनुना सह ॥ १४ ॥
महारथाः पञ्च धनंजयाच्युतौ
शरैः शरीरार्तिकरैरताडयन् ।

महाराज ! तदनन्तर दुर्योधन, कृतवर्मा, शकुनि, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य और कर्ण—ये पाँच महारथी शरीरको पीड़ा देनेवाले बाणोंद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनको घायल करने लगे ॥ १४½ ॥

धनूंषि तेषामिषुधीन् ध्वजान् हयान्
रथांश्च सूतांश्च धनंजयः शरैः ॥ १५ ॥
समं प्रमथ्याशु परान् समन्ततः
शरोत्तमैर्द्वादशभिश्च सूतजम् ।

यह देख अर्जुनने उनके धनुष, तरकस, ध्वज, घोड़े, रथ और सारथि—इन सबको अपने बाणोंद्वारा एक साथ ही प्रमथित करके चारों ओर खड़े हुए शत्रुओंको शीघ्र ही बींध डाला और सूतपुत्र कर्णपर भी बारह बाणोंका प्रहार किया १५½

अथाभ्यधावंस्त्वरिताः शतं रथाः
शतं गजाश्चार्जुनमाततायिनः ॥ १६ ॥
शकास्तुषारा यवनाश्च सादिनः
सहैव काम्बोजवरैर्जिघांसवः ।

तदनन्तर वहाँ सैकड़ों रथी और सैकड़ों हाथीसवार आततायी बनकर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे दौड़े आये, उनके साथ शक, तुषार, यवन तथा काम्बोजदेशोंके अच्छे घुड़सवार भी थे ॥ १६½ ॥

वरायुधान् पाणिगतैः शरैः सह
क्षुरैर्न्यकृन्तत् प्रपतन् शिरांसि च ॥ १७ ॥
हयांश्च नागांश्च रथांश्च युध्यतो
धनंजयः शत्रुगणान् क्षितौ क्षिणोत् ।

परंतु अर्जुनने अपने हाथके बाणों और क्षुरोंद्वारा उन सबके उत्तम-उत्तम अस्त्रोंको काट डाला। शत्रुओंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे। अर्जुनने विपक्षियोंके घोड़ों, हाथियों और रथोंको तथा युद्धमें तत्पर हुए उन शत्रुओंको भी पृथ्वीपर काट गिराया ॥ १७½ ॥

ततोऽन्तरिक्षे सुरतूर्यनिःस्वनाः
ससाधुवादा हृषितैः समीरिताः ॥ १८ ॥
निपेतुरप्युत्तमपुष्पवृष्टयः
सुगन्धिगन्धाः पवनेरिताः शुभाः।

तत्पश्चात् आकाशमें हर्षसे उल्लसित हुए दर्शकोंद्वारा साधुवाद देनेके साथ-साथ दिव्य बाजे भी बजाये जाने लगे। वायुकी प्रेरणासे वहाँ सुन्दर सुगन्धित और उत्तम फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १८½ ॥

तदद्भुतं देवमनुष्यसाक्षिकं
समीक्ष्य भूतानि विसिस्मियुस्तदा॥१९॥
तवात्मजः सूतसुतश्च न व्यथां
न विस्मयं जग्मतुरेकनिश्चयौ।

देवताओं और मनुष्योंके साक्षित्वमें होनेवाले उस अद्भुत युद्धको देखकर समस्त प्राणी उस समय आश्चर्यसे चकित हो उठे; परंतु आपका पुत्र दुर्योधन और सूतपुत्र कर्ण—ये दोनों एक निश्चयपर पहुँच चुके थे; अतः इनके मनमें न तो व्यथा हुई और न ये विस्मयको ही प्राप्त हुए ॥ १९½ ॥

अथाब्रवीद् द्रोणसुतस्तवात्मजं
करं करेण प्रतिपीड्य सान्त्वयन् ॥ २० ॥
प्रसीद दुर्योधन शाम्य पाण्डवै-
रलं विरोधेन धिगस्तु विग्रहम्।
हतो गुरुर्ब्रह्मसमो महास्त्रवित्
तथैव भीष्मप्रमुखा महारथाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने दुर्योधनका हाथ अपने हाथसे दबाकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'दुर्योधन! अब प्रसन्न हो जाओ। पाण्डवोंसे संधि कर लो। विरोधसे कोई लाभ नहीं है। आपसके इस झगड़ेको धिक्कार है! तुम्हारे गुरुदेव अस्त्रविद्याके महान् पण्डित थे। साक्षात् ब्रह्माजीके समान थे तो भी इस युद्धमें मारे गये। यही दशा भीष्म आदि महारथियोंकी भी हुई है ॥ २०-२१ ॥

अहं त्ववध्यो मम चापि मातुलः
प्रशाधि राज्यं सह पाण्डवैश्चिरम्।
धनंजयः शाम्यति वारितो मया
जनार्दनो नैव विरोधमिच्छति ॥ २२ ॥

'मैं और मेरे मामा कृपाचार्य तो अवध्य हैं (इसीलिये अबतक बचे हुए हैं)। अतः अब तुम पाण्डवोंके साथ मिलकर चिरकालतक राज्यशासन करो। अर्जुन मेरे मना करनेपर शान्त हो जायँगे। श्रीकृष्ण भी तुमलोगोंमें विरोध नहीं चाहते हैं ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरो भूतहिते रतः सदा
वृकोदरस्तद्वशगस्तथा यमौ।
त्वया तु पार्थैश्च कृते च संविदे
प्रजाः शिवं प्राप्नुयुरिच्छया तव॥ २३ ॥
व्रजन्तु शेषाः स्वपुराणि बान्धवा
निवृत्तयुद्धाश्च भवन्तु सैनिकाः।
न चेद् वचः श्रोष्यसि मे नराधिप
ध्रुवं प्रतप्तासि हतोऽरिभिर्युधि ॥ २४ ॥

'युधिष्ठिर तो सभी प्राणियोंके हितमें ही लगे रहते हैं। अतः वे भी मेरी बात मान लेंगे। बाकी रहे भीमसेन और नकुल-सहदेव, सो ये भी धर्मराजके अधीन हैं; (अतः उनकी इच्छाके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे) इस प्रकार पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जानेपर सारी प्रजाका कल्याण होगा। फिर तुम्हारी इच्छासे शेष सगे-सम्बन्धी भाई-बन्धु अपने-अपने नगरको लौट जायँ और समस्त सैनिकोंको युद्धसे छुट्टी मिल जाय। नरेश्वर! यदि मेरी बात नहीं सुनोगे तो निश्चय ही युद्धमें शत्रुओंके हाथसे मारे जाओगे और उस समय तुम्हें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ २३-२४ ॥

(वृद्धं पितरमालोक्य गान्धारीं च यशस्विनीम्।
कृपालुर्धर्मराजो हि याचितः शममेष्यति ॥

'बूढ़े पिता धृतराष्ट्र और यशस्विनी माता गान्धारीकी ओर देखकर दयालु धर्मराज युधिष्ठिर मेरे अनुरोध करनेपर भी संधि कर लेंगे ॥

यथोचितं च वै राज्यमनुशास्यति ते प्रभुः।
विपश्चित् सुमतिर्धीरः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥

'वे सामर्थ्यशाली, विद्वान्, उत्तम बुद्धिसे युक्त, धैर्यवान् तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः तुम्हारे लिये राज्यका जितना भाग उचित है, उसपर शासन करनेके लिये वे तुम्हें स्वयं ही आज्ञा दे देंगे ॥

वैरं नेष्यति धर्मात्मा स्वजने नास्त्यतिक्रमः।
न विग्रहमतिः कृष्णः स्वजने प्रतिनन्दति ॥

'धर्मात्मा युधिष्ठिर वैर दूर कर देंगे; क्योंकि आत्मीयजनसे कोई भूल हो जाय तो उसे अक्षम्य अपराध नहीं माना जाता। श्रीकृष्ण भी यह नहीं चाहते कि आपसमें कलह हो, वे स्वजनोंपर सदा संतुष्ट रहते हैं ॥

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
वासुदेवमते चैव पाण्डवस्य च धीमतः ॥
स्थास्यन्ति पुरुषव्याघ्रास्तयोर्वचनगौरवात्।

'भीमसेन, अर्जुन और दोनों भाई माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण तथा बुद्धिमान् युधिष्ठिरकी रायसे चलते हैं; अतः ये पुरुषसिंह वीर उन दोनोंके आदेशका गौरव रखते हुए युद्धसे निवृत्त हो जायँगे ॥

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम् ॥
जीवने यत्नमातिष्ठ जीवन् भद्राणि पश्यति।

'दुर्योधन ! तुम स्वयं ही अपनी रक्षा करो । आत्मा ही सब सुखोंका भाजन है । तुम जीवन-रक्षाके लिये प्रयत्न करो। जीवित रहनेवाला पुरुष ही कल्याणका दर्शन करता है ।।

राज्यं श्रीश्चैव भद्रं ते जीवमाने तु कल्पते ॥
मृतस्य खलु कौरव्य नैव राज्यं कुतः सुखम् ।

'तुम्हारा कल्याण हो; तुम जीवित रहोगे, तभी तुम्हें राज्य और लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है । कुरुनन्दन ! मरे हुएको राज्य नहीं मिलता, फिर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? ।।

लोकवृत्तमिदं वृत्तं प्रवृत्तं पश्य भारत ॥
शाम्य त्वं पाण्डवैः सार्धं शेषं कुरुकुलस्य च ।

'भारत ! लोकमें घटित होनेवाले इस प्रचलित व्यवहारकी ओर दृष्टिपात करो; पाण्डवोंके साथ संधि कर लो और कौरवकुलको शेष रहने दो ।।

मा भूत् स कालः कौरव्य यदाहमहितं वचः ॥
ब्रूयां कामं महाबाहो मावमंस्था वचो मम ।

'कुरुनन्दन ! ऐसा समय कभी न आवे जब कि मैं इच्छानुसार तुमसे कोई अहितकर बात कहूँ; अतः महाबाहो! तुम मेरी बातका अनादर न करो ।।

धर्मिष्ठमिदमत्यर्थं राज्ञश्चैव कुलस्य च ॥
एतद्धि परमं श्रेयः कुरुवंशस्य वृद्धये ।

'मेरा यह कथन धर्मके अनुकूल तथा राजा और राजकुलके लिये अत्यन्त हितकर है; यह कौरववंशकी वृद्धिके लिये परम कल्याणकारी है ।।

प्रजाहितं च गान्धारे कुलस्य च सुखावहम् ॥
पथ्यमायतिसंयुक्तं कर्णोऽप्यर्जुनमाहवे ।
न जेष्यति नरव्याघ्रमिति मे निश्चिता मतिः ॥
रोचतां ते नरश्रेष्ठ ममैतद् वचनं शुभम् ।
अतोऽन्यथा हि राजेन्द्र विनाशः सुमहान् भवेत्॥)

'गान्धारीनन्दन ! मेरा यह वचन प्रजाजनोंके लिये हितकर, इस कुलके लिये सुखदायक, लाभकारी तथा भविष्यमें भी मङ्गलकारक है । नरश्रेष्ठ ! मेरी यह निश्चित धारणा है कि कर्ण नरव्याघ्र अर्जुनको कदापि जीत न सकेगा; अतः मेरा यह शुभ वचन तुम्हें पसंद आना चाहिये । राजेन्द्र ! यदि ऐसा नहीं हुआ तो बड़ा भारी विनाश होगा ।।

इदं च दृष्टं जगता सह त्वया
कृतं यदेकेन किरीटमालिना ।
यथा न कुर्याद् बलभिन्न चान्तको
न चापि धाता भगवान् न यक्षराट्॥ २५॥

'किरीटधारी अर्जुनने अकेले जो पराक्रम किया है, इसे सारे संसारके साथ तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है । ऐसा पराक्रम न तो इन्द्र कर सकते हैं और न यमराज । न धाता कर सकते हैं और न भगवान् यक्षराज कुबेर ।। २५ ।।

अतोऽपि भूयान् स्वगुणैर्धनंजयो
न चातिवर्तिष्यति मे वचोऽखिलम् ।
तवानुयात्रां च सदा करिष्यति
प्रसीद राजेन्द्र शमं त्वमाप्नुहि ॥ २६ ॥

'यद्यपि अर्जुन अपने गुणोंद्वारा इससे भी बहुत बढ़े-चढ़े हैं, तथापि मुझे विश्वास है कि वे मेरी कही हुई इन सारी बातोंको कदापि नहीं टालेंगे । यही नहीं, वे सदा तुम्हारा अनुसरण करेंगे; इसलिये राजेन्द्र ! तुम प्रसन्न होओ और संधि कर लो २६ ।।

ममापि मानः परमः सदा त्वयि
ब्रवीम्यतस्त्वां परमाच्च सौहृदात्।
निवारयिष्यामि च कर्णमप्यहं
यदा भवान् सप्रणयो भविष्यति॥ २७ ॥

'तुम्हारे प्रति मेरे मनमें भी सदा बड़े आदरका भाव रहा है । हम दोनोंकी जो घनिष्ठ मित्रता है, उसीके कारण मैं तुमसे यह प्रस्ताव करता हूँ । यदि तुम प्रेमपूर्वक राजी हो जाओगे तो मैं कर्णको भी युद्धसे रोक दूँगा ।। २७ ।।

वदन्ति मित्रं सहजं विचक्षणा-
स्तथैव साम्ना च धनेन चार्जितम् ।
प्रतापतश्चोपनतं चतुर्विधं
तदस्ति सर्वं तव पाण्डवेषु ॥ २८ ॥

'विद्वान् पुरुष चार प्रकारके मित्र बतलाते हैं । एक सहज मित्र होते हैं (जिनके साथ स्वाभाविक मैत्री होती है) । दूसरे हैं संधि करके बनाये हुए मित्र । तीसरे वे हैं जो धन देकर अपनाये गये हैं । जो किसीके प्रबल प्रतापसे प्रभावित हो स्वतः शरणमें आ जाते हैं, वे चौथे प्रकारके मित्र हैं । पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सभी प्रकारकी मित्रता सम्भव है ।।

निसर्गतस्ते तव वीर बान्धवाः
पुनश्च साम्ना समवाप्नुहि प्रभो ।
त्वयि प्रसन्ने यदि मित्रतां गते
हितं कृतं स्याज्जगतस्त्वयातुलम्॥ २९ ॥

'वीर ! एक तो वे तुम्हारे जन्मजात भाई हैं; अतः सहज मित्र हैं । प्रभो ! फिर तुम संधि करके उन्हें अपना मित्र बना लो । यदि तुम प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंसे मित्रता स्वीकार कर लो तो तुम्हारेद्वारा संसारका अनुपम हित हो सकता है' ।। २९ ।।

स एवमुक्तः सुहृदा वचो हितं
विचिन्त्य निःश्वस्य च दुर्मनाब्रवीत् ।
यथा भवानाह सखे तथैव त-
न्ममापि विज्ञापयतो वचः शृणु॥ ३० ॥

सुहृद् अश्वत्थामाने जब इस प्रकार हितकी बात कही, तब दुर्योधन उसपर विचार करके लंबी साँस खींचकर मन-ही-मन दुखी हो इस प्रकार बोला—'सखे ! तुम जैसा कहते हो, वह सब ठीक है; परंतु इस विषयमें कुछ मैं भी निवेदन कर रहा हूँ, अतः मेरी बात भी सुन लो ।। ३० ।।

निहत्य दुःशासनमुक्तवान् वचः
प्रसह्य शार्दूलवदेष दुर्मतिः।
वृकोदरस्तद्धृदये मम स्थितं
न तत् परोक्षं भवतः कुतः शमः॥ ३१ ॥

'इस दुर्बुद्धि भीमसेनने सिंहके समान हठपूर्वक दुःशासनका वध करके जो बात कही थी, वह तुमसे छिपी नहीं है। वह इस समय भी मेरे हृदयमें स्थित होकर पीड़ा दे रही है। ऐसी दशामें कैसे संधि हो सकती है ?॥ ३१ ॥

न चापि कर्णं प्रसहेद् रणेऽर्जुनो
महागिरिं मेरुमिवोग्रमारुतः।
न चाश्वसिष्यन्ति पृथात्मजा मयि
प्रसह्य वैरं बहुशो विचिन्त्य ॥ ३२ ॥

'इसके सिवा भयंकर वायु जैसे महापर्वत मेरुका सामना नहीं कर सकती, उसी प्रकार अर्जुन इस रणभूमिमें कर्णका वेग नहीं सह सकते। हमने हठपूर्वक बारंबार जो वैर किया है, उसे सोचकर कुन्तीके पुत्र मुझपर विश्वास भी नहीं करेंगे॥

न चापि कर्णं गुरुपुत्र संयुगा-
दुपारमेत्यर्हसि वक्तुमच्युत।
श्रमेण युक्तो महताद्य फाल्गुन-
स्तमेष कर्णः प्रसभं हनिष्यति ॥ ३३ ॥

'अपनी मर्यादा न छोड़नेवाले गुरुपुत्र ! तुम्हें कर्णसे युद्ध बंद करनेके लिये नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इस समय अर्जुन महान् परिश्रमसे थक गये हैं; अतः अब कर्ण उन्हें बलपूर्वक मार डालेगा'॥ ३३ ॥

तमेवमुक्त्वाप्यनुनीय चासकृत्
तवात्मजः स्वाननुशास्ति सैनिकान्।
विनिघ्नताभिद्रवताहितान् मम
सबाणहस्ताः किमु जोषमासत ॥ ३४ ॥

अश्वत्थामासे ऐसा कहकर बारंबार अनुनय-विनयके द्वारा उसे प्रसन्न करके आपके पुत्रने अपने सैनिकोंको आदेश देते हुए कहा—'अरे ! तुमलोग हाथोंमें बाण लिये चुपचाप बैठे क्यों हो ? मेरे शत्रुओंपर टूट पड़ो और उन्हें मार डालो'॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामवाक्येऽष्टाशीति तमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामाका वचनविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुनका भयंकर युद्ध और कौरव वीरोंका पलायन

संजय उवाच

तौ शङ्खभेरीनिनदे समृद्धे
समीयतुः श्वेतहयौ नराग्र्यौ।
वैकर्तनः सूतपुत्रोऽर्जुनश्च
दुर्मन्त्रिते तव पुत्रस्य राजन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप जब वहाँ शङ्ख और भेरियोंकी गम्भीर ध्वनि होने लगी, उस समय वहाँ श्वेत घोड़ोंवाले दोनों नरश्रेष्ठ वैकर्तन कर्ण और अर्जुन युद्धके लिये एक दूसरेकी ओर बढ़े ॥ १ ॥

(आशीविषावग्निमिवापधूमं
वैरं मुखाभ्यामभिनिःश्वसन्तौ।
यशस्विनौ जज्वलतुर्मृधे तदा
घृतावसिक्ताविव हव्यवाहौ ॥)

वे दोनों यशस्वी वीर उस समय दो विषधर सर्पोंके समान लंबी साँस खींचकर मानो अपने मुखोंसे धूमरहित अग्निके सदृश वैरभाव प्रकट कर रहे थे। वे घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई दो अग्नियोंकी भाँति युद्धभूमिमें देदीप्यमान होने लगे ॥

यथा गजौ हैमवतौ प्रभिन्नौ
प्रवृद्धदन्ताविव वासितार्थे।
तथा समाजग्मतुरुग्रवीर्यौ
धनंजयश्चाधिरथिश्च वीरौ ॥ २ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके बड़े-बड़े दाँतोंवाले दो हाथी किसी हथिनीके लिये लड़ रहे हों, उसी प्रकार भयंकर पराक्रमी वीर अर्जुन और कर्ण युद्धके लिये एक-दूसरेके सामने आये ॥ २ ॥

बलाहकेनेव महाबलाहको
यदृच्छया वा गिरिणा यथा गिरिः।
तथा धनुर्ज्यातलनेमिनिस्वनैः
समीयतुस्ताविषुवर्षवर्षिणौ ॥ ३ ॥

जैसे महान् मेघ किसी दूसरे मेघके साथ अथवा दैवेच्छासे एक पर्वत दूसरे पर्वतके साथ टक्कर लेनेके लिये उद्यत हो, उसी प्रकार धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली तथा रथके पहियोंकी गम्भीर ध्वनिके साथ बाणोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों वीर एक दूसरेके सामने आये ॥ ३ ॥

प्रवृद्धशृङ्गद्रुमवीरुदोषधी
प्रवृद्धनानाविधनिर्झरौकसौ।
यथाचलौ वा चलितौ महाबलौ
तथा महास्त्रैरितरेतरं हतः ॥ ४ ॥

जिनके शिखर, वृक्ष, लता-गुल्म और ओषधि सभी विशाल एवं बढ़े हुए हों तथा जो नाना प्रकारके बड़े-बड़े झरनोंके उद्गमस्थान हों, ऐसे दो पर्वतोंके समान वे महाबली कर्ण और अर्जुन आगे बढ़कर अपने महान् अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेपर आघात करने लगे ॥ ४ ॥

स संनिपातस्तु तयोर्महानभूत्
सुरेशवैरोचनयोर्यथा पुरा।
शरैर्विनुन्नाङ्गनियन्तृवाहयोः
सुदुःसहोऽन्यैः कटुशोणितोदकः॥ ५ ॥

उन दोनोंका वह संग्राम वैसा ही महान् था, जैसा कि पूर्वकालमें इन्द्र और बलिका युद्ध हुआ था। बाणोंके आघातसे उन दोनोंके शरीर, सारथि और घोड़े क्षत-विक्षत हो गये थे और वहाँ कटु रक्तरूपी जलका प्रवाह बह रहा था। वह युद्ध दूसरोंके लिये अत्यन्त दुःसह था॥ ५॥

प्रभूतपद्मोत्पलमत्स्यकच्छपौ
महाह्रदौ पक्षिगणैरिवावृतौ।
सुसंनिकृष्टावनिलोद्धतौ यथा
तथा रथौ तौ ध्वजिनौ समीयतुः॥ ६ ॥

जैसे प्रचुर पद्म, उत्पल, मत्स्य और कच्छपोंसे युक्त तथा पक्षिसमूहोंसे आवृत दो अत्यन्त निकटवर्ती विशाल सरोवर वायुसे संचालित हो परस्पर मिल जायँ, उसी प्रकार ध्वजोंसे सुशोभित उनके वे दोनों रथ एक दूसरेसे भिड़ गये थे॥

उभौ महेन्द्रस्य समानविक्रमा-
वुभौ महेन्द्रप्रतिमौ महारथौ।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैश्च सायकै-
र्महेन्द्रवृत्राविव सम्प्रजघ्नतुः॥ ७ ॥

वे दोनों वीर इन्द्रके समान पराक्रमी और उन्हींके सदृश महारथी थे। इन्द्रके वज्रतुल्य बाणोंसे इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ ७॥

सनागपत्त्यश्वरथे उभे बले
विचित्रवर्माभरणाम्बरायुधे।
चकम्पतुर्विस्मयनीयरूपे
वियद्गताश्चार्जुनकर्णसंयुगे॥ ८ ॥

विचित्र कवच, आभूषण, वस्त्र और आयुध धारण करनेवाली, हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित उभय पक्षकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ अर्जुन और कर्णके उस युद्धमें भयके कारण आश्चर्यजनक-रूपसे काँपने लगीं तथा आकाशवर्ती प्राणी भी भयसे थर्रा उठे॥ ८॥

भुजाः सवस्त्राङ्गुलयः समुच्छ्रिताः
ससिंहनादैर्हृषितैर्दिदृक्षुभिः।
यदर्जुनो मत्त इव द्विपो द्विपं
समभ्ययादाधिरथिं जिघांसया॥ ९ ॥

जैसे मतवाला हाथी किसी हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार अर्जुन जब कर्णके वधकी इच्छासे उसपर धावा करने लगे, उस समय दर्शकोंने आनन्दित हो सिंहनाद करते हुए अपने हाथ ऊपर उठा दिये और अङ्गुलियोंमें वस्त्र लेकर उन्हें हिलाना आरम्भ किया॥ ९॥

(ततः कुरूणामथ सोमकानां
शब्दो महान् प्रादुरभूत् समन्तात्।
यदार्जुनं सूतपुत्रोऽपराह्णे
महाहवे शैलमिवाम्बुदोऽर्छत्॥
तदैव चासीद् रथयोः समागमो
महारणे शोणितमांसकर्दमे॥)

जब महासमरमें अपराह्णके समय पर्वतपर जानेवाले मेघके समान सूतपुत्र कर्णने अर्जुनपर आक्रमण किया, उस समय कौरवों और सोमकोंका महान् कोलाहल सब ओर प्रकट होने लगा। उसी समय उन दोनों रथोंका संघर्ष आरम्भ हुआ। उस महायुद्धमें रक्त और मांसकी कीच जम गयी थी॥

उदक्रोशन् सोमकास्तत्र पार्थं
पुरःसराश्चार्जुन भिन्धि कर्णम्।
छिन्ध्यस्य मूर्धानमलं चिरेण
श्रद्धां च राज्याद् धृतराष्ट्रसूनोः॥ १० ॥

उस समय सोमकोंने आगे बढ़कर वहाँ कुन्तीकुमारसे पुकार-पुकारकर कहा—'अर्जुन! तुम कर्णको मार डालो। अब देर करनेकी आवश्यकता नहीं है। कर्णके मस्तक और दुर्योधनकी राज्य-प्राप्तिकी आशा दोनोंको एक साथ ही काट डालो'॥

तथास्माकं बहवस्तत्र योधाः
कर्णं तथा याहि याहीत्यवोचन्।
जह्यर्जुनं कर्ण शरैः सुतीक्ष्णैः
पुनर्वनं यान्तु चिराय पार्थाः॥ ११ ॥

इसी प्रकार हमारे पक्षके बहुत-से योद्धा कर्णको प्रेरित करते हुए बोले—'कर्ण! आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। अपने पैने बाणोंसे अर्जुनको मार डालो, जिससे कुन्तीके सभी पुत्र पुनः दीर्घकालके लिये वनमें चले जायँ'॥ ११॥

ततः कर्णः प्रथमं तत्र पार्थं
महेषुभिर्दशभिः प्रत्यविध्यत्।
तं चार्जुनः प्रत्यविद्ध्यच्छिताग्रैः
कक्षान्तरे दशभिः सम्प्रहस्य॥ १२ ॥

तदनन्तर वहाँ कर्णने पहले दस विशाल बाणोंद्वारा अर्जुनको बींध डाला, तब अर्जुनने भी हँसकर तीखी धारवाले दस बाणोंसे कर्णकी काँखमें प्रहार किया॥ १२॥

परस्परं तौ विशिखैः सुपुङ्खै-
स्ततक्षतुः सूतपुत्रोऽर्जुनश्च।
परस्परं तौ विभिदुर्विमर्दे
सुभीममभ्यापततुश्च हृष्टौ॥ १३ ॥

सूतपुत्र कर्ण और अर्जुन दोनों उस युद्धमें अत्यन्त हर्षमें भरकर सुन्दर पङ्खवाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे। वे परस्पर क्षति पहुँचाते और भयानक आक्रमण करते थे॥ १३॥

ततोऽर्जुनः प्रासृजदुग्रधन्वा
भुजावुभौ गाण्डिवं चानुमृज्य।

नाराचनालीकवराहकर्णान्
क्षुरांस्तथा साञ्जलिकार्धचन्द्रान् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् भयंकर धनुषवाले अर्जुनने अपनी दोनों भुजाओं तथा गाण्डीव धनुषको पोंछकर नाराच, नालीक, वराहकर्ण, क्षुर, अञ्जलिक तथा अर्धचन्द्र आदि बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ १४ ॥

ते सर्वतः समकीर्यन्त राजन्
पार्थेषवः कर्णरथं विशन्तः ।
अवाङ्मुखाः पक्षिगणा दिनान्ते
विशन्ति केतार्थमिवाशु वृक्षम् ॥ १५ ॥

राजन् ! वे अर्जुनके बाण कर्णके रथमें घुसकर सब ओर बिखर जाते थे । ठीक उसी तरह, जैसे संध्याके समय पक्षियों-के झुंड बसेरा लेनेके लिये नीचे मुख किये शीघ्र ही किसी वृक्षपर जा बैठते हैं ॥ १५ ॥

यानर्जुनः सभ्रुकुटीकटाक्षं
कर्णाय राजन्नसृजज्जितारिः ।
तान् सायकैर्ग्रसते सूतपुत्रः
क्षिप्तान् क्षिप्तान् पाण्डवस्याशु संघान् ॥१६॥

नरेश्वर ! शत्रुविजयी अर्जुन भौंहें टेढ़ी करके कटाक्ष-पूर्वक देखते हुए कर्णपर जिन-जिन बाणोंका प्रहार करते थे, पाण्डुपुत्र अर्जुनके चलाये हुए उन सभी बाण-समूहोंको सूतपुत्र कर्ण शीघ्र ही नष्ट कर देता था ॥ १६ ॥

ततोऽस्त्रमाग्नेयममित्रसाधनं
मुमोच कर्णाय महेन्द्रसूनुः ।
भूम्यन्तरिक्षे च दिशोऽर्कमार्गं
प्रावृत्य देहोऽस्य बभूव दीप्तः ॥ १७ ॥

तब इन्द्रकुमार अर्जुनने कर्णपर शत्रुनाशक आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया । उस आग्नेयास्त्रका स्वरूप पृथ्वी, आकाश, दिशा तथा सूर्यके मार्गको व्याप्त करके वहाँ प्रज्वलित हो उठा । ॥ १७ ॥

योधाश्च सर्वे ज्वलिताम्बरा भृशं
प्रदुद्रुवुस्तत्र विदग्धवस्त्राः ।
शब्दश्च घोरोऽतिबभूव तत्र
यथा वने वेणुवनस्य दह्यतः ॥ १८ ॥

इससे वहाँ समस्त योद्धाओंके वस्त्र जलने लगे । कपड़े जल जानेसे वे सब-के-सब वहाँसे भाग चले । जैसे जंगलके बीच बाँसके वनमें आग लगनेपर जोर-जोरसे चटकनेकी आवाज होती है, उसी प्रकार आगकी लपटमें झुलसते हुए सैनिकोंका अत्यन्त भयंकर आर्तनाद होने लगा ॥ १८ ॥

तद् वीक्ष्य कर्णो ज्वलनास्त्रमुद्यतं
स वारुणं तत्प्रशमार्थमाहवे ।
समुत्सृजन् सूतसुतः प्रतापवान्
स तेन वह्निं शमयाम्बभूव ॥ १९ ॥

प्रतापी सूतपुत्र कर्णने उस आग्नेयास्त्रको उद्दीप्त हुआ देखकर रणक्षेत्रमें उसकी शान्तिके लिये वारुणास्त्रका प्रयोग किया और उसके द्वारा उस आगको बुझा दिया ॥ १९ ॥

बलाहकौघश्च दिशस्तरस्वी
चकार सर्वास्तिमिरेण संवृताः ।
ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसः
समन्ततो वै परिवार्य वारिणा ॥ २० ॥

फिर तो बड़े वेगसे मेघोंकी घटा घिर आयी और उसने सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकारसे आच्छादित कर दिया । दिशाओंका अन्तिम भाग काले पर्वतके समान दिखायी देने लगा । मेघोंकी घटाओंने वहाँका सारा प्रदेश जलसे आप्लावित कर दिया था ॥ २० ॥

तैश्चातिवेगात् स तथाविधोऽपि
नीतः शमं वह्निरतिप्रचण्डः ।
बलाहकैरेव दिगन्तराणि
व्याप्तानि सर्वाणि यथा नभश्च ॥ २१ ॥

उन मेघोंने वहाँ पूर्वोक्तरूपसे बढ़ी हुई अति प्रचण्ड आगको बड़े वेगसे बुझा दिया । फिर समस्त दिशाओं और आकाशमें वे ही छा गये ॥ २१ ॥

तथा च सर्वास्तिमिरेण वै दिशो
मेघैर्वृता न प्रदृश्येत किंचित् ।
अथापोवाह्याभ्रसंघान् समस्तान्
वायव्यास्त्रेणापततः स कर्णात् ॥ २२ ॥

ततोऽप्यस्त्रं दयितं देवराज्ञः
प्रादुश्चक्रे वज्रमतिप्रभावम् ।
गाण्डीवं ज्यां विशिखांश्चानुमन्त्र्य
धनंजयः शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ २३ ॥

मेघोंसे घिरकर सारी दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हो गयीं; अतः कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी । तदनन्तर कर्ण-की ओरसे आये हुए सम्पूर्ण मेघसमूहोंको वायव्यास्त्रसे छिन्न-भिन्न करके शत्रुओंके लिये अजेय अर्जुनने गाण्डीव धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा तथा बाणोंको अभिमन्त्रित करके अत्यन्त प्रभावशाली वज्रास्त्रको प्रकट किया, जो देवराज इन्द्रका प्रिय अस्त्र है ॥ २२-२३ ॥

ततः क्षुरप्राञ्जलिकार्धचन्द्रा
नालीकनाराचवराहकर्णाः ।
गाण्डीवतः प्रादुरासन् सुतीक्ष्णाः
सहस्रशो वज्रसमानवेगाः ॥ २४ ॥

उस गाण्डीव धनुषसे क्षुरप्र, अञ्जलिक, अर्धचन्द्र, नालीक, नाराच और वराहकर्ण आदि तीखे अस्त्र हजारोंकी संख्यामें छूटने लगे । वे सभी अस्त्र वज्रके समान वेगशाली थे ॥२४॥

ते कर्णमासाद्य महाप्रभावाः
सुतेजना गार्ध्रपत्राः सुवेगाः ।

गात्रेषु सर्वेषु हयेषु चापि
शरासने युगचक्रे ध्वजे च ॥ २५ ॥

वे महाप्रभावशाली, गीधके पंखोंसे युक्त, तेज धारवाले और अतिशय वेगवान् अस्त्र कर्णके पास पहुँचकर उसके समस्त अङ्गोंमें, घोड़ोंपर, धनुषमें तथा रथके जूओं, पहियों और ध्वजोंमें जा लगे ॥ २५ ॥

निर्भिद्य तूर्णं विविशुः सुतीक्ष्णा-
स्ताक्ष्यत्रस्ता भूमिमिवोरगास्ते ।
शराचिताङ्गो रुधिरार्द्रगात्रः
कर्णस्तदा रोषविवृत्तनेत्रः ॥ २६ ॥

जैसे गरुड़से डरे हुए सर्प धरती छेदकर उसके भीतर घुस जाते हैं, उसी प्रकार वे तीखे अस्त्र उपर्युक्त वस्तुओंको विदीर्ण कर शीघ्र ही उनके भीतर धँस गये। कर्णके सारे अङ्ग बाणोंसे भर गये। सम्पूर्ण शरीर रक्तसे नहा उठा। इससे उसके नेत्र उस समय क्रोधसे घूमने लगे ॥ २६ ॥

दृढज्यमानाम्य समुद्रघोषं
प्रादुश्चक्रे भार्गवास्त्रं महात्मा ।
महेन्द्रशस्त्राभिमुखान् विमुक्तां-
श्छित्त्वा कर्णः पाण्डवस्येषुसंघान्।२७।
तस्यास्त्रमस्त्रेण निहत्य सोऽथ
जघान संख्ये रथनागपत्तीन् ।
अमृष्यमाणश्च महेन्द्रकर्मा
महारणे भार्गवास्त्रप्रतापात् ॥ २८ ॥

उस महामनस्वी वीरने अपने धनुषको जिसकी प्रत्यञ्चा सुदृढ़ थी, झुकाकर समुद्रके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले भार्गवास्त्रको प्रकट किया और अर्जुनके महेन्द्रास्त्रसे प्रकट हुए बाण-समूहोंके टुकड़े-टुकड़े करके अपने अस्त्रसे उनके अस्त्रको दबाकर युद्धस्थलमें रथों, हाथियों और पैदल-सैनिकोंका संहार कर डाला। अमर्षशील कर्ण उस महासमरमें भार्गवास्त्रके प्रतापसे देवराज इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट कर रहा था ॥

पञ्चालानां प्रवरांश्चापि योधान्
क्रोधाविष्टः सूतपुत्रस्तरस्वी ।
बाणैर्विव्याधाहवे सुप्रमुक्तैः
शिलाशितै रुक्मपुङ्खैः प्रसह्य ॥ २९ ॥

क्रोधमें भरे हुए वेगशाली सूतपुत्र कर्णने अच्छी तरह छोड़े गये और शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें हठपूर्वक मुख्य-मुख्य पाञ्चालयोद्धाओंको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

ततपञ्चालाः सोमकाश्चापि राजन्
कर्णेनाजौ पीड्यमानाः शरौघैः ।
क्रोधाविष्टा विव्यधुस्तं समन्तात्
तीक्ष्णैर्बाणैः सूतपुत्रं समेताः ॥ ३० ॥

राजन्! समराङ्गणमें कर्णके बाणसमूहोंसे पीड़ित होते हुए पाञ्चाल और सोमक योद्धा भी क्रोधपूर्वक एकत्र हो अपने पैने बाणोंसे सूतपुत्र कर्णको बींधने लगे ॥ ३० ॥

तान् सूतपुत्रो निजघान बाणैः
पञ्चालानां रथनागाश्वसंघान् ।
अभ्यर्दयद् बाणगणैः प्रसह्य
विद्ध्वा हर्षात् सङ्गरे सूतपुत्रः॥ ३१ ॥

किंतु उस रणक्षेत्रमें सूतपुत्र कर्णने बाणसमूहोंद्वारा हर्ष और उत्साहके साथ पाञ्चालोंके रथियों, हाथीसवारों और घुड़सवारोंको घायल करके बड़ी पीड़ा दी और उन्हें बाणोंसे मार डाला ॥ ३१ ॥

ते भिन्नदेहा व्यसवो निपेतुः
कर्णेषुभिर्भूमितले स्वनन्तः ।
क्रुद्धेन सिंहेन यथेभयूथा
महावने भीमबलेन तद्वत् ॥ ३२ ॥

कर्णके बाणोंसे उनके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये और वे प्राणशून्य होकर कराहते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े। जैसे विशाल वनमें भयानक बलशाली और क्रोधमें भरे हुए सिंहसे विदीर्ण किये गये हाथियोंके झुंड धराशायी हो जाते हैं, वैसी ही दशा उन पाञ्चालयोद्धाओंकी भी हुई ॥ ३२ ॥

पञ्चालानां प्रवरान् संनिहत्य
प्रसह्य योधानखिलानदीनः ।
ततः स राजन् विरराज कर्णो
यथाम्बरे भास्कर उग्ररश्मिः ॥ ३३ ॥

राजन्! पाञ्चालोंके समस्त श्रेष्ठ योद्धाओंका बलपूर्वक वध करके उदार वीर कर्ण आकाशमें प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ३३ ॥

कर्णस्य मत्वा तु जयं त्वदीयाः
परां मुदं सिंहनादांश्च चक्रुः ।
सर्वे ह्यमन्यन्त भृशाहतौ च
कर्णेन कृष्णाविति कौरवेन्द्र ॥ ३४ ॥

उस समय आपके सैनिक कर्णकी विजय समझकर बड़े प्रसन्न हुए और सिंहनाद करने लगे। कौरवेन्द्र! उन सबने यही समझा कि कर्णने श्रीकृष्ण और अर्जुनको बहुत घायल कर दिया है ॥ ३४ ॥

तत् तादृशं प्रेक्ष्य महारथस्य
कर्णस्य वीर्यं च परैरसह्यम् ।
दृष्ट्वा च कर्णेन धनंजयस्य
तथाऽऽजिमध्ये निहतं तदस्त्रम् ॥३५॥
ततस्त्वमर्षी क्रोधसंदीप्तनेत्रो
वातात्मजः पाणिना पाणिमाच्छेत् ।
भीमोऽब्रवीदर्जुनं सत्यसंध-
ममर्षितो निःश्वसञ्जातमन्युः ॥ ३६ ॥

महारथी कर्णका वह शत्रुओंके लिये असह्य वैसा पराक्रम

दृष्टिपथमें लाकर तथा रणभूमिमें कर्णद्वारा अर्जुनके उस अस्त्रको नष्ट हुआ देखकर अमर्षशील वायुपुत्र भीमसेन हाथ-से-हाथ मलने लगे। उनके नेत्र क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे। हृदयमें अमर्ष और क्रोधका प्रादुर्भाव हो गया; अतः वे सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ ३५-३६ ॥

कथं नु पापोऽयमपेतधर्मः
सूतात्मजः समरेऽद्य प्रसह्य।
पञ्चालानां योधमुख्याननेकान्
निजघ्निवांस्तव जिष्णो समक्षम् ॥ ३७ ॥

'विजयी अर्जुन! आज समराङ्गणमें धर्मसे दूर रहनेवाले इस पापी सूतपुत्र कर्णने तुम्हारी आँखोंके सामने अनेक प्रमुख पाञ्चालयोद्धाओंका वध कैसे कर डाला?॥ ३७ ॥

पूर्वं देवैरजितं कालकेयैः
साक्षात् स्थाणोर्बाहुसंस्पर्शमेत्य।
कथं नु त्वां सूतपुत्रः किरीटि-
न्नथेषुभिर्दशभिः प्रागविद्ध्यत् ॥ ३८ ॥

'किरीटधारी अर्जुन! तुम्हें तो पूर्वकालमें देवता भी नहीं जीत सके थे। कालकेय दानव भी नहीं परास्त कर सके थे। तुम साक्षात् भगवान् शङ्करकी भुजाओंसे टक्कर ले चुके हो तो भी इस सूतपुत्रने तुम्हें पहले ही दस बाण मारकर कैसे बींध डाला?॥ ३८ ॥

त्वया क्षिप्तांश्चाग्रसद् बाणसंघा-
नाश्चर्यमेतत् प्रतिभाति मेऽद्य।
कृष्णापरिक्लेशमनुस्मर त्वं
यथाब्रवीत् षण्ढतिलान् स्म वाचः ॥३९॥
रूक्षाः सुतीक्ष्णाश्च हि पापबुद्धिः
सूतात्मजोऽयं गतभीर्दुरात्मा।
संस्मृत्य सर्वं तदिहाद्य पापं
जह्याशु कर्णं युधि सव्यसाचिन् ॥ ४० ॥

'तुम्हारे चलाये हुए बाणसमूहोंको इसने नष्ट कर दिया, यह तो आज मुझे बड़े आश्चर्यकी बात जान पड़ती है। सव्यसाची अर्जुन! कौरव-सभामें द्रौपदीको दिये गये उन क्लेशोंको तो याद करो। इस पापबुद्धि दुरात्मा सूतपुत्रने जो निर्भय होकर हमलोगोंको थोथे तिलोंके समान नपुंसक बताया था और बहुत-सी अत्यन्त तीखी एवं रूखी बातें सुनायी थीं, उन सबको यहाँ याद करके तुम पापी कर्णको शीघ्र ही युद्धमें मार डालो॥ ३९-४० ॥

कस्मादुपेक्षां कुरुषे किरीटि-
न्नुपेक्षितुं नायमिहाद्य कालः।
यया धृत्या सर्वभूतान्यजैषी-
र्ग्रासं ददत् खाण्डवे पावकाय ॥ ४१ ॥
तया धृत्या सूतपुत्रं जहि त्व-
महं चैनं गदया पोथयिष्ये।

'किरीटधारी पार्थ! तुम क्यों इसकी उपेक्षा करते हो? आज यहाँ यह उपेक्षा करनेका समय नहीं है। तुमने जिस धैर्यसे खाण्डववनमें अग्निदेवको ग्रास समर्पित करते हुए समस्त प्राणियोंपर विजय पायी थी, उसी धैर्यके द्वारा सूतपुत्रको मार डालो। फिर मैं भी इसे अपनी गदासे कुचल डालूँगा'॥ ४१½ ॥

अथाब्रवीद् वासुदेवोऽपि पार्थं
दृष्ट्वा रथेषून् प्रतिहन्यमानान् ॥ ४२ ॥
अमीमृदत् सर्वपातेऽद्य कर्णो
ह्यस्त्रैरस्त्रं किमिदं भो किरीटिन्।
स वीर किं मुह्यसि नावधत्से
नदन्त्येते कुरवः सम्प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके रथसम्बन्धी बाणोंको कर्णके द्वारा नष्ट होते देख उनसे इस प्रकार कहा 'किरीटधारी अर्जुन! यह क्या बात है? तुमने अबतक जितने बार प्रहार किये हैं, उन सबमें कर्णने तुम्हारे अस्त्रको अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट कर दिया है। वीर! आज तुमपर कैसा मोह छा रहा है? तुम सावधान क्यों नहीं होते? देखो, ये तुम्हारे शत्रु कौरव अत्यन्त हर्षमें भरकर सिंहनाद कर रहे हैं!॥ ४२-४३ ॥

कर्णं पुरस्कृत्य विदुर्हि सर्वे
तवास्त्रमस्त्रैर्विनिपात्यमानम्।
यया धृत्या निहतं तामसास्त्रं
युगे युगे राक्षसाश्चापि घोराः ॥ ४४ ॥
दम्भोद्भवाश्चासुराश्चाहवेषु
तया धृत्या जहि कर्णं त्वमद्य।

'कर्णको आगे करके सब लोग यही समझ रहे हैं कि तुम्हारा अस्त्र उसके अस्त्रोंद्वारा नष्ट होता जा रहा है। तुमने जिस धैर्यसे प्रत्येक युगमें घोर राक्षसोंका, उनके मायामय तामस अस्त्रका तथा दम्भोद्भव नामवाले असुरोंका युद्धस्थलोंमें विनाश किया है, उसी धैर्यसे आज तुम कर्णको भी मार डालो॥ ४४½ ॥

अनेन चास्य क्षुरनेमिनाद्य
संछिन्धि मूर्धानमरेः प्रसह्य ॥ ४५ ॥
मया विसृष्टेन सुदर्शनेन
वज्रेण शक्रो नमुचेरिवारेः।

'तुम मेरे दिये हुए इस सुदर्शनचक्रके द्वारा जिसके नेमिभागमें (किनारे) क्षुर लगे हुए हैं, आज बलपूर्वक शत्रुका मस्तक काट डालो। जैसे इन्द्रने वज्रके द्वारा अपने शत्रु नमुचिका सिर काट दिया था॥ ४५½ ॥

किरातरूपी भगवान् सुधृत्या
त्वया महात्मा परितोषितोऽभूत् ॥ ४६ ॥
तां त्वं पुनर्वीर धृतिं गृहीत्वा
सहानुबन्धं जहि सूतपुत्रम्।

'वीर ! तुमने अपने जिस उत्तम धैर्यके द्वारा किरातरूपधारी महात्मा भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया था, उसी धैर्यको पुनः अपनाकर सगे-सम्बन्धियोंसहित सूतपुत्रका वध कर डालो ॥

ततो महीं सागरमेखलां त्वं
सपत्तनां ग्रामवतीं समृद्धाम् ॥ ४७ ॥
प्रयच्छ राज्ञे निहतारिसंघां
यशश्च पार्थातुलमाप्नुहि त्वम्।

'पार्थ ! तत्पश्चात् समुद्रसे घिरी हुई' नगरों और गाँवोंसे युक्त तथा शत्रुसमुदायसे शून्य यह समृद्धिशालिनी पृथ्वी राजा युधिष्ठिरको दे दो और अनुपम यश प्राप्त करो' ॥४७½॥

स एवमुक्तोऽतिबलो महात्मा
चकार बुद्धिं हि वधाय सौतेः ॥ ४८ ॥
स चोदितो भीमजनार्दनाभ्यां
स्मृत्वा तथाऽऽत्मानमवेक्ष्य सर्वम्।
इहात्मनश्चागमने विदित्वा
प्रयोजनं केशवमित्युवाच ॥ ४९ ॥

भीमसेन और श्रीकृष्णके इस प्रकार प्रेरणा देने और कहनेपर अत्यन्त बलशाली महात्मा अर्जुनने सूतपुत्रके वधका विचार किया । उन्होंने अपने स्वरूपका स्मरण करके सब बातोंपर दृष्टिपात किया और इस युद्धभूमिमें अपने आगमनके प्रयोजनको समझकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥४८-४९॥

प्रादुष्करोम्येष महास्त्रमुग्रं
शिवाय लोकस्य वधाय सौतेः।
तन्मेऽनुजानातु भवान् सुराश्च
ब्रह्मा भवो वेदविदश्च सर्वे ॥ ५० ॥

'प्रभो ! मैं जगत्के कल्याण और सूतपुत्रके वधके लिये अब एक महान् एवं भयंकर अस्त्र प्रकट कर रहा हूँ । इसके लिये आप, ब्रह्माजी, शङ्करजी, समस्त देवता तथा सम्पूर्ण ब्रह्मवेत्ता मुझे आज्ञा दें' ॥ ५० ॥

इत्युच्य देवं स तु सव्यसाची
नमस्कृत्वा ब्रह्मणे सोऽमितात्मा।
तदुत्तमं ब्राह्ममसह्यमस्त्रं
प्रादुश्चक्रे मनसा यद् विधेयम् ॥ ५१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर अमितात्मा सव्यसाची अर्जुनने ब्रह्माजीको नमस्कार करके जिसका मनसे ही प्रयोग किया जाता है, उस असह्य एवं उत्तम ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया ॥ ५१ ॥

तदस्य हत्वा विरराज कर्णो
मुक्त्वा शरान् मेघ इवाम्बुधाराः।
समीक्ष्य कर्णेन किरीटिनस्तु
तथाऽऽजिमध्ये निहतं तदस्त्रम् ॥ ५२ ॥
ततोऽमर्षी बलवान् क्रोधदीप्तो
भीमोऽब्रवीदर्जुनं सत्यसंधम्।

परंतु जैसे मेघ जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार बाणोंकी बौछारसे कर्ण उस अस्त्रको नष्ट करके बड़ी शोभा पाने लगा । रणभूमिमें किरीटधारी अर्जुनके उस अस्त्रको कर्णद्वारा नष्ट हुआ देख अमर्षशील बलवान् भीमसेन पुनः क्रोधसे जल उठे और सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

ननु त्वाहुर्वेदितारं महास्त्रं
ब्राह्मं विधेयं परमं जनास्तत् ॥ ५३ ॥
तस्मादन्यद् योजय सव्यसाचि-
न्निति स्मोक्तोऽयोजयत् सव्यसाची।
ततो दिशः प्रदिशश्चापि सर्वाः
समावृणोत् सायकैर्भूरितेजाः ॥ ५४ ॥
गाण्डीवमुक्तैर्भुजगैरिवोग्रै-
र्दिवाकरांशुप्रतिमैर्ज्वलद्भिः।

'सव्यसाचिन् ! सब लोग कहते हैं कि तुम परम उत्तम एवं मनके द्वारा प्रयोग करनेयोग्य महान् ब्रह्मास्त्रके ज्ञाता हो; इसलिये तुम दूसरे किसी श्रेष्ठ अस्त्रका प्रयोग करो ।' उनके ऐसा कहनेपर सव्यसाची अर्जुनने दूसरे दिव्यास्त्रका प्रयोग किया । इससे महातेजस्वी अर्जुनने अपने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान भयंकर और सूर्य-किरणोंके तुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया, कोना-कोना ढक दिया ॥ ५३-५४½ ॥

सृष्टास्तु बाणा भरतर्षभेण
शतं शतानीव सुवर्णपुङ्खाः ॥ ५५ ॥
प्राच्छादयन् कर्णरथं क्षणेन
युगान्तवह्न्यर्ककरप्रकाशाः।

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके छोड़े हुए प्रलयकालीन सूर्य और अग्निकी किरणोंके समान प्रकाशित होनेवाले दस हजार बाणोंने क्षणभरमें कर्णके रथको आच्छादित कर दिया ॥

ततश्च शूलानि परश्वधानि
चक्राणि नाराचशतानि चैव ॥ ५६ ॥
निश्चक्रमुर्घोरतराणि योधा-
स्ततो ह्यहन्यन्त समन्ततोऽपि।

उस दिव्यास्त्रसे शूल, फरसे, चक्र और सैकड़ों नाराच आदि घोरतर अस्त्र-शस्त्र प्रकट होने लगे, जिनसे सब ओरके योद्धाओंका विनाश होने लगा ॥ ५६½ ॥

छिन्नं शिरः कस्यचिदाजिमध्ये
पपात योधस्य परस्य कायात् ॥ ५७ ॥
भयेन सोऽप्याशु पपात भूमा-
वन्यः प्रणष्टः पतितं विलोक्य।
अन्यस्य सासिर्निपपात कृत्तो
योधस्य बाहुः करिहस्ततुल्यः ॥ ५८ ॥

उस युद्धस्थलमें किसी शत्रुपक्षीय योद्धाका सिर धड़से कटकर धरतीपर गिर पड़ा । उसे देखकर दूसरा भी भयके

मारे धराशायी हो गया । उसको गिरा हुआ देख तीसरा योद्धा वहाँसे भाग खड़ा हुआ । किसी दूसरे योद्धाकी हाथीकी सूँड़के समान मोटी दाहिनी बाँह तलवारसहित कटकर गिर पड़ी ॥ ५७-५८ ॥

अन्यस्य सव्यः सह वर्मणा च
क्षुरप्रकृत्तः पतितो धरण्याम् ।
एवं समस्तानपि योधमुख्यान्
विध्वंसयामास किरीटमाली ॥ ५९ ॥

दूसरेकी बायीं भुजा क्षुरोंद्वारा कवचके साथ कटकर भूमिपर गिर गयी । इस प्रकार किरीटधारी अर्जुनने शत्रुपक्षके सभी मुख्य-मुख्य योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ५९ ॥

शरैः शरीरान्तकरैः सुघोरै-
र्दौर्योधनं सैन्यमशेषमेव ।
वैकर्तनेनापि तथाऽऽजिमध्ये
सहस्रशो बाणगणा विसृष्टाः ॥ ६० ॥

उन्होंने शरीरका अन्त कर देनेवाले घोर बाणोंद्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाका विध्वंस कर दिया । इसी प्रकार वैकर्तन कर्णने भी समराङ्गणमें सहस्रों बाणसमूहोंकी वर्षा की ॥

ते घोषिणः पाण्डवमभ्युपेयुः
पर्जन्यमुक्ता इव वारिधाराः ।
ततः स कृष्णं च किरीटिनं च
वृकोदरं चाप्रतिमप्रभावः ॥ ६१ ॥
त्रिभिस्त्रिभिर्भीमबलो निहत्य
ननाद घोरं महता स्वरेण ।

वे बाण मेघोंकी बरसायी हुई जलधाराओंके समान शब्द करते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको जा लगे । तत्पश्चात् अप्रतिम प्रभावशाली और भयंकर बलवान् कर्णने तीन-तीन बाणोंसे श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनको घायल करके बड़े जोरसे भयानक गर्जना की ॥ ६१½ ॥

स कर्णबाणाभिहतः किरीटी
भीमं तथा प्रेक्ष्य जनार्दनं च ॥ ६२ ॥
अमृष्यमाणः पुनरेव पार्थः
शरान् दशाष्टौ च समुद्बबर्ह ।

कर्णके बाणोंसे घायल हुए किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुन भीमसेन तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी उसी प्रकार क्षत-विक्षत देखकर सहन न कर सके; अतः उन्होंने अपने तरकससे पुनः अठारह बाण निकाले ॥ ६२½ ॥

स केतुमेकेन शरेण विद्ध्वा
शल्यं चतुर्भिस्त्रिभिरेव कर्णम् ॥ ६३ ॥
ततः स मुक्तैर्दशभिर्जघान
सभापतिं काञ्चनवर्मनद्धम् ।

एक बाणसे कर्णकी ध्वजाको बींधकर अर्जुनने चार बाणोंसे शल्यको और तीनसे कर्णको घायल कर दिया । तत्पश्चात् उन्होंने दस बाण छोड़कर सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले सभापति नामक राजकुमारको मार डाला ६३½

स राजपुत्रो विशिरा विबाहु-
र्विवाजिसूतो विधनुर्विकेतुः ॥ ६४ ॥
हतो रथाग्रादपतत् स रुग्णः
परश्वधैः शाल इवावकृत्तः ।

वह राजकुमार मस्तक, भुजा, घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजसे रहित हो मरकर रथके अग्रभागसे नीचे गिर पड़ा, मानो फरसोंसे काटा गया शालवृक्ष टूटकर धराशायी हो गया हो ॥ ६४½ ॥

पुनश्च कर्णं त्रिभिरष्टभिश्च
द्वाभ्यां चतुर्भिर्दशभिश्च विद्ध्वा ॥ ६५ ॥
चतुःशतान् द्विरदान् सायुधान् वै
हत्वा रथानष्टशतान्जघान ।

इसके बाद अर्जुनने पुनः तीन, आठ, दो, चार और दस बाणोंद्वारा कर्णको बारंबार घायल करके अस्त्र-शस्त्रधारी सवारोंसहित चार सौ हाथियोंको मारकर आठ सौ रथोंको नष्ट कर दिया ॥ ६५½ ॥

सहस्रशोऽश्वांश्च पुनः स सादी-
नष्टौ सहस्राणि च पत्तिवीरान् ॥ ६६ ॥
कर्णं ससूतं सरथं सकेतु-
मदृश्यमञ्जोगतिभिः प्रचक्रे ।

तदनन्तर सवारोंसहित हजारों घोड़ों और सहस्रों पैदल वीरोंको मारकर रथ, सारथि और ध्वजसहित कर्णको भी शीघ्रगामी बाणोंद्वारा ढककर अदृश्य कर दिया ॥ ६६½ ॥

अथाक्रोशन् कुरवो वध्यमाना
धनंजयेनाधिरथिं समन्तात् ॥ ६७ ॥
मुञ्चाभिविद्ध्यर्जुनमाशु कर्ण
बाणैः पुरा हन्ति कुरून् समग्रान् ।

अर्जुनकी मार खाते हुए कौरवसैनिक चारों ओरसे कर्णको पुकारने लगे—'कर्ण ! शीघ्र बाण छोड़ो और अर्जुनको घायल कर डालो । कहीं ऐसा न हो कि ये पहले ही समस्त कौरवोंका वध कर डालें' ॥ ६७½ ॥

स चोदितः सर्वयत्नेन कर्णो
मुमोच बाणान् सुबहूनभीक्ष्णम् ॥ ६८ ॥
ते पाण्डुपञ्चालगणान् निजघ्नु-
र्मर्मच्छिदः शोणितपांसुदिग्धाः ।

इस प्रकार प्रेरणा मिलनेपर कर्णने सारी शक्ति लगाकर बारंबार बहुत-से बाण छोड़े । रक्त और धूलमें सने हुए वे मर्मभेदी बाण पाण्डव और पाञ्चालोंका विनाश करने लगे ६८½

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ॥ ६९ ॥
निजघ्नतुश्चाहितसैन्यमुग्र-
मन्योन्यमप्यस्त्रविदौ महास्त्रैः ।

वे दोनों सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ, महाबली, सारे शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ और अस्त्रविद्याके विद्वान् थे; अतः भयंकर शत्रुसेनाको तथा आपसमें भी एक दूसरेको महान् अस्त्रोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ६९½ ॥

अथोपयातस्त्वरितो दिदृक्षु-
र्मन्त्रौषधीभिर्निरुजो विशल्यः ॥ ७० ॥
कृतः सुहृद्भिर्भिषजां वरिष्ठै-
र्युधिष्ठिरस्तत्र सुवर्णवर्मा ।

तत्पश्चात् शिविरमें हितैषी वैद्यशिरोमणियोंने मन्त्र और ओषधियोंद्वारा राजा युधिष्ठिरके शरीरसे बाण निकालकर उन्हें रोगरहित (स्वस्थ) कर दिया; इसलिये वे बड़ी उतावलीके साथ सुवर्णमय कवच धारण करके वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये ॥ ७०½ ॥

तथोपयातं युधि धर्मराजं
दृष्ट्वा मुदा सर्वभूतान्यनन्दन् ॥ ७१ ॥
राहोर्विमुक्तं विमलं समग्रं
चन्द्रं यथैवाभ्युदितं तथैव ।

धर्मराजको युद्धस्थलमें आया हुआ देख समस्त प्राणी बड़ी प्रसन्नताके साथ उनका अभिनन्दन करने लगे । ठीक उसी तरह, जैसे राहुके ग्रहणसे छूटे हुए निर्मल एवं सम्पूर्ण चन्द्रमाको उदित देख सब लोग बड़े प्रसन्न होते हैं ॥७१½॥

दृष्ट्वा तु मुख्यावथ युध्यमानौ
दिदृक्षवः शूरवरावरिघ्नौ ॥ ७२ ॥
कर्णं च पार्थं च विलोकयन्तः
खस्था महीस्थाश्च जनावतस्थुः ।

परस्पर जूझते हुए उन दोनों शत्रुनाशक एवं प्रधान शूरवीर कर्ण और अर्जुनको देखकर उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये आकाश और भूतलमें ठहरे हुए सभी दर्शक अपनी-अपनी जगह स्थिरभावसे खड़े रहे ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकज्यातलसंनिपातः
सुमुक्तबाणस्तुमुलो बभूव ॥ ७३ ॥
घ्नतोस्तथान्योन्यमिषुप्रवेकै-
र्धनंजयस्याधिरथेश्च तत्र ।

उस समय वहाँ अर्जुन और कर्ण उत्तम बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचा रहे थे । उनके धनुष, प्रत्यञ्चा और हथेलीका संघर्ष बड़ा भयंकर होता जा रहा था और उससे उत्तमोत्तम बाण छूट रहे थे ॥ ७३½ ॥

ततो धनुर्ज्या सहसातिकृष्टा
सुघोषमच्छिद्यत पाण्डवस्य ॥ ७४ ॥
तस्मिन् क्षणे पाण्डवं सूतपुत्रः
समाचिनोत् क्षुद्रकाणां शतेन ।

इसी समय पाण्डुपुत्र अर्जुनके धनुषकी डोरी अधिक खींची जानेके कारण सहसा भारी आवाजके साथ टूट गयी । उस अवसरपर सूतपुत्र कर्णने पाण्डुकुमार अर्जुनको सौ बाण मारे ॥ ७४½ ॥

निर्मुक्तसर्पप्रतिमैरभीक्ष्णं
तैलप्रधौतैः खगपत्रवाजैः ॥ ७५ ॥
षष्ट्या विभेदाशु च वासुदेव-
मनन्तरं फाल्गुनमष्टभिश्च ।

फिर तेलके धोये और पक्षियोंके पंख लगाये गये, केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान भयंकर साठ बाणोंद्वारा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी तुरंत ही क्षत-विक्षत कर दिया । इसके बाद पुनः अर्जुनको आठ बाण मारे ॥ ७५½ ॥

पूषात्मजो मर्मसु निर्बिभेद
मरुत्सुतं चायुतशः शराग्र्यैः ॥ ७६ ॥
कृष्णं च पार्थं च तथा ध्वजं च
पार्थानुजान् सोमकान् पातयंश्च ।

तदनन्तर सूर्यकुमार कर्णने दस हजार उत्तम बाणोंद्वारा वायुपुत्र भीमसेनके मर्मस्थानोंपर गहरा आघात किया । साथ ही, श्रीकृष्ण, अर्जुन और उनके रथकी ध्वजाको, उनके छोटे भाइयोंको तथा सोमकोंको भी उसने मार गिरानेका प्रयत्न किया ॥ ७६½ ॥

प्राच्छादयंस्ते विशिखैः पृषत्कै-
र्जीमूतसंघा नभसीव सूर्यम् ॥ ७७ ॥
आगच्छतस्तान् विशिखैरनेकै-
र्व्यष्टम्भयत् सूतपुत्रः कृतास्त्रः ।

तब जैसे मेघोंके समूह आकाशमें सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार सोमकोंने अपने बाणोंद्वारा कर्णको आच्छादित कर दिया; परंतु सूतपुत्र अस्त्रविद्याका महान् पण्डित था, उसने अनेक बाणोंद्वारा अपने ऊपर आक्रमण करते हुए सोमकोंको जहाँ-के-तहाँ रोक दिया ॥ ७७½ ॥

तैरस्तमस्त्रं विनिहत्य सर्वं
जघान तेषां रथवाजिनागान् ॥ ७८ ॥
तथा तु सैन्यप्रवरांश्च राज-
न्नभ्यर्दयन्मार्गणैः सूतपुत्रः ।

राजन् ! उनके चलाये हुए सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका नाश करके सूतपुत्रने उनके बहुत-से रथों, घोड़ों और हाथियोंका भी संहार कर डाला और अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको पीड़ा देना प्रारम्भ किया ॥ ७८½ ॥

ते भिन्नदेहा व्यसवो निपेतुः
कर्णेषुभिर्भूमितले स्वनन्तः ॥ ७९ ॥
सिंहेन क्रुद्धेन यथा श्वयूथ्या
महाबला भीमबलेन तद्वत् ।

उन सबके शरीर कर्णके बाणोंसे विदीर्ण हो गये और वे आर्तनाद करते हुए प्राणशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े । जैसे क्रोधमें भरे हुए भयंकर बलशाली सिंहने कुत्तोंके महाबली समुदायको मार गिराया हो, वही दशा सोमकोंकी हुई ७९½

पुनश्च पाञ्चालवरास्तथान्ये
तदन्तरे कर्णधनंजयाभ्याम् ॥ ८० ॥
प्रस्कन्दन्तो बलिना साधुमुक्तैः
कर्णेन बाणैर्निहताः प्रसह्य ।

पाञ्चालोंके प्रधान-प्रधान सैनिक तथा दूसरे योद्धा पुनः कर्ण और अर्जुनके बीचमें आ पहुँचे; परंतु बलवान् कर्णने अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबको हठपूर्वक मार गिराया ॥ ८०½ ॥

जयं मत्वा विपुलं वै त्वदीया-
स्तलान् निजघ्नुःसिंहनादांश्च नेदुः॥ ८१ ॥
सर्वे ह्यमन्यन्त वशे कृतौ तौ
कर्णेन कृष्णाविति ते विमर्दे ।

फिर तो आपके सैनिक कर्णकी बड़ी भारी विजय मानकर ताली पीटने और सिंहनाद करने लगे । उन सबने यह समझ लिया कि 'इस युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णके वशमें हो गये' ॥ ८१½ ॥

ततो धनुर्ज्यामवनाम्य शीघ्रं
शरानस्तानाधिरथेर्विधम्य ॥ ८२ ॥
सुसंरब्धः कर्णशरक्षताङ्गो
रणे पार्थः कौरवान् प्रत्यगृह्णात् ।

तब कर्णके बाणोंसे जिनका अङ्ग-अङ्ग क्षत-विक्षत हो गया था, उन कुन्तीकुमार अर्जुनने रणभूमिमें अत्यन्त कुपित हो शीघ्र ही धनुषकी प्रत्यञ्चाको झुकाकर चढ़ा दिया और कर्णके चलाये हुए बाणोंको छिन्न-भिन्न करके कौरवोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ८२½ ॥

ज्यां चानुमृज्याभ्यहनत् तलत्रे
बाणान्धकारं सहसा च चक्रे ॥ ८३ ॥
कर्णं च शल्यं च कुरूंश्च सर्वान्
बाणैरविध्यत् प्रसभं किरीटी ।

तत्पश्चात् किरीटधारी अर्जुनने धनुषकी प्रत्यञ्चाको हाथसे रगड़कर कर्णके दस्तानेपर आघात किया और सहसा बाणोंका जाल फैलाकर वहाँ अन्धकार कर दिया । फिर कर्ण, शल्य और समस्त कौरवोंको अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक घायल किया ॥ ८३½ ॥

न पक्षिणो बभ्रमुरन्तरिक्षे
तदा महास्त्रेण कृतेऽन्धकारे ॥ ८४ ॥
वायुर्वियत्स्थैरीरितो भूतसंघै-
रुवाह दिव्यः सुरभिस्तदानीम् ।

अर्जुनके महान् अस्त्रोंद्वारा आकाशमें घोर अन्धकार फैल जानेसे उस समय वहाँ पक्षी भी नहीं उड़ पाते थे । तब अन्तरिक्षमें खड़े हुए प्राणिसमूहोंसे प्रेरित होकर तत्काल वहाँ दिव्य सुगन्धित वायु चलने लगी ॥ ८४½ ॥

शल्यं च पार्थो दशभिः पृषत्कै-
र्भृशं तनुत्रे प्रहसन्नविध्यत् ॥ ८५ ॥
ततः कर्णं द्वादशभिः सुमुक्तै-
र्विद्ध्वा पुनः सप्तभिरभ्यविद्ध्यत् ।

इसी समय कुन्तीकुमार अर्जुनने हँसते-हँसते दस बाणोंसे शल्यको गहरी चोट पहुँचायी और उनके कवचको छिन्न-भिन्न कर डाला । फिर अच्छी तरह छोड़े हुए बारह बाणोंसे कर्णको घायल करके पुनः उसे सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ८५½ ॥

स पार्थबाणासनवेगमुक्तै-
र्दृढाहतः पत्रिभिरुग्रवेगैः ॥ ८६ ॥
विभिन्नगात्रः क्षतजोक्षिताङ्गः
कर्णो बभौ रुद्र इवाततेषुः ।
प्रक्रीडमानोऽथ श्मशानमध्ये
रौद्रे मुहूर्ते रुधिरार्द्रगात्रः ॥ ८७ ॥

अर्जुनके धनुषसे वेगपूर्वक छूटे हुए भयंकर वेगशाली बाणोंद्वारा गहरी चोट खाकर कर्णके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये । वह खूनसे नहा उठा और रौद्र मुहूर्तमें श्मशानके भीतर क्रीड़ा करते हुए, बाणोंसे व्याप्त एवं रक्तसे भीगे शरीरवाले रुद्रदेवके समान प्रतीत होने लगा ॥ ८६-८७ ॥

ततस्त्रिभिस्तं त्रिदशाधिपोपमं
शरैर्बिभेदाधिरथिर्धनंजयम् ।
शरांश्च पञ्च ज्वलितानिवोरगान्
प्रवेशयामास जिघांसयाच्युतम् ॥ ८८ ॥

तदनन्तर अधिरथपुत्र कर्णने देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनको तीन बाणोंसे बींध डाला और श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे उनके शरीरमें प्रज्वलित सर्पोंके समान पाँच बाण घुसा दिये ॥ ८८ ॥

ते वर्म भित्त्वा पुरुषोत्तमस्य
सुवर्णचित्रा न्यपतन् सुमुक्ताः ।
वेगेन गामाविविशुः सुवेगाः
स्नात्वा च कर्णाभिमुखाः प्रतीयुः ॥ ८९ ॥

अच्छी तरह छोड़े हुए वे सुवर्णजटित वेगशाली बाण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके कवचको विदीर्ण करके बड़े वेगसे धरतीमें समा गये और पातालगङ्गामें नहाकर पुनः कर्णकी ओर जाने लगे ॥ ८९ ॥

तान् पञ्च भल्लैर्दशभिः सुमुक्तै-
स्त्रिधा त्रिधैकैकमथोच्चकर्त ।
धनंजयास्त्रैर्न्यपतन् पृथिव्यां
महाहयस्तक्षकपुत्रपक्षाः ॥ ९० ॥

वे बाण नहीं, तक्षकपुत्र अश्वसेनके पक्षपाती पाँच विशाल सर्प थे । अर्जुनने सावधानीसे छोड़े गये दस भल्लोंद्वारा उनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े कर डाले । अर्जुनके बाणोंसे मारे जाकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९० ॥

ततः प्रजज्वाल किरीटमाली
क्रोधेन कक्षं प्रदहन्निवाग्निः ।

तथा विनुन्नाङ्गमवेक्ष्य कृष्णं
सर्वेषुभिः कर्णभुजप्रसृष्टैः ॥ ९१ ॥

कर्णके हाथोंसे छूटे हुए उन सभी बाणोंद्वारा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंको घायल हुआ देख किरीटधारी अर्जुन सूखे काठ या घास-फूसके ढेरको जलानेवाली आगके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ९१ ॥

स कर्णमाकर्णविकृष्टसृष्टैः
शरैः शरीरान्तकरैर्ज्वलद्भिः ।
मर्मस्वविध्यत् स चचाल दुःखाद्
दैवादवातिष्ठत धैर्यबुद्धिः ॥ ९२ ॥

उन्होंने कानतक खींचकर छोड़े गये शरीरनाशक प्रज्वलित बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी। कर्ण दुःखसे विचलित हो उठा; परंतु किसी तरह मनमें धैर्य धारण करके दैवयोगसे रणभूमिमें डटा रहा ॥ ९२ ॥

ततः शरौघैः प्रदिशो दिशश्च
रवेः प्रभा कर्णरथश्च राजन् ।
अदृश्यमासीत् कुपिते धनंजये
तुषारनीहारवृतं यथा नभः ॥ ९३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने बाणसमूहोंका ऐसा जाल फैलाया कि दिशाएँ, विदिशाएँ, सूर्यकी प्रभा और कर्णका रथ सब कुछ कुहासेसे ढके हुए आकाशकी भाँति अदृश्य हो गया ॥ ९३ ॥

स चक्ररक्षानथ पादरक्षान्
पुरःसरान् पृष्ठगोपांश्च सर्वान् ।
दुर्योधनेनानुमतानरिघ्नः
समुद्यतान् स रथान् सारभूतान् ॥ ९४ ॥
द्विसाहस्रान् समरे सव्यसाची
कुरुप्रवीरानृषभः कुरूणाम् ।
क्षणेन सर्वान् सरथाश्वसूतान्
निनाय राजन् क्षयमेकवीरः ॥ ९५ ॥

नरेश्वर ! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष अद्वितीय वीर शत्रुनाशक सव्यसाची अर्जुनने कर्णके चक्ररक्षक, पादरक्षक, अग्रगामी और पृष्ठरक्षक सभी कौरवदलके सारभूत प्रमुख वीरोंको, जो दुर्योधनकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले और युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले थे तथा जिनकी संख्या दो हजार थी, एक ही क्षणमें रथ, घोड़ों और सारथियोंसहित कालके गालमें भेज दिया ॥ ९४-९५ ॥

ततोऽपलायन्त विहाय कर्णं
तवात्मजाः कुरवो येऽवशिष्टाः ।
हतानपाकीर्य शरक्षतांश्च
लालप्यमानांस्तनयान् पितॄंश्च ॥ ९६ ॥

तदनन्तर जो मरनेसे बच गये थे, वे आपके पुत्र और कौरवसैनिक कर्णको छोड़कर तथा मारे गये और बाणोंसे घायल हो सगे-सम्बन्धियोंको पुकारनेवाले अपने पुत्रों एवं पिताओंकी भी उपेक्षा करके वहाँसे भाग गये ॥ ९६ ॥

(सर्वे प्रणेशुः कुरवो विभिन्नाः
पार्थेषुभिः सम्परिकम्पमानाः ।
सुयोधनेनाथ पुनर्वरिष्ठाः
प्रचोदिताः कर्णरथानुयाने ॥

अर्जुनके बाणोंसे संतप्त और क्षत-विक्षत हो समस्त कौरवयोद्धा जब वहाँसे भाग खड़े हुए, तब दुर्योधनने उनमेंसे श्रेष्ठ वीरोंको पुनः कर्णके रथके पीछे जानेके लिये आज्ञा दी॥

दुर्योधन उवाच

भो क्षत्रियाः शूरतमास्तु सर्वे
क्षात्रे च धर्मे निरताः स्थ यूयम् ।
न युक्तरूपं भवतां समीपात्
पलायनं कर्णमिह प्रहाय ॥

दुर्योधन बोला—क्षत्रियो ! तुम सब लोग शूरवीर हो, क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहते हो । यहाँ कर्णको छोड़कर उसके निकटसे भाग जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥

संजय उवाच

तवात्मजेनापि तथोच्यमानाः
पार्थेषुभिः सम्परितप्यमानाः ।
नैवावतिष्ठन्त भयाद् विवर्णाः
क्षणेन नष्टाः प्रदिशो दिशश्च ॥)

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रके इस प्रकार कहनेपर भी वे योद्धा वहाँ खड़े न हो सके । अर्जुनके बाणोंसे उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी । भयसे उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी; इसलिये वे क्षणभरमें दिशाओं और उनके कोनोंमें जाकर छिप गये ॥

स सर्वतः प्रेक्ष्य दिशो विशून्या
भयावदीर्णैः कुरुभिर्विहीनः ।
न विव्यथे भारत तत्र कर्णः
प्रहृष्ट एवार्जुनमभ्यधावत् ॥ ९७ ॥

भारत ! भयसे भागे हुए कौरवयोद्धाओंसे परित्यक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको सूनी देखकर भी वहाँ कर्ण अपने मनमें तनिक भी व्यथित नहीं हुआ । उसने पूरे हर्ष और उत्साहके साथ ही अर्जुनपर धावा किया ॥ ९७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनद्वैरथे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनका द्वैरथ-युद्धविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल १०२½ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका घोर युद्ध भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी सर्पमुख बाणसे रक्षा तथा कर्णका अपना पहिया पृथ्वीमें फँस जानेपर अर्जुनसे बाण न चलानेके लिये अनुरोध करना

संजय उवाच

ततः प्रयाताः शरपातमात्र-
मवस्थिताः कुरवो भिन्नसेनाः।
विद्युत्प्रकाशं ददृशुः समन्ताद्
धनंजयास्त्रं समुदीर्यमाणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भागे हुए कौरव, जिनकी सेना तितर-बितर हो गयी थी, धनुषसे छोड़ा हुआ बाण जहाँतक पहुँचता है, उतनी दूरीपर जाकर खड़े हो गये। वहींसे उन्होंने देखा कि अर्जुनका बड़े वेगसे बढ़ता हुआ अस्त्र चारों ओर बिजलीके समान चमक रहा है ॥ १ ॥

तदर्जुनास्त्रं ग्रसति स्म कर्णो
वियद्गतं घोरतरैः शरैस्तत्।
क्रुद्धेन पार्थेन भृशाभिसृष्टं
वधाय कर्णस्य महाविमर्दे ॥ २ ॥

उस महासमरमें अर्जुन कुपित होकर कर्णके वधके लिये जिस-जिस अस्त्रका वेगपूर्वक प्रयोग करते थे, उसे आकाशमें ही कर्ण अपने भयंकर बाणोंद्वारा काट देता था ॥ २ ॥

उदीर्यमाणं स्म कुरून् दहन्तं
सुवर्णपुङ्खैर्विशिखैर्ममर्द ।
कर्णस्त्वमोघेष्वसनं दृढज्यं
विस्फारयित्वा विसृजञ्छरौघान् ॥ ३ ॥

कर्णका धनुष अमोघ था। उसकी डोरी भी बहुत मजबूत थी। वह अपने धनुषको खींचकर उसके द्वारा बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगा। कौरवसेनाको दग्ध करनेवाले अर्जुनके छोड़े हुए अस्त्रको उसने सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा धूलमें मिला दिया ॥ ३ ॥

रामादुपात्तेन महामहिम्ना
ह्याथर्वणेनारिविनाशनेन ।
तदर्जुनास्त्रं व्यधमद् दहन्तं
कर्णस्तु बाणैर्निशितैर्महात्मा ॥ ४ ॥

महामनस्वी वीर कर्णने परशुरामजीसे प्राप्त हुए महाप्रभावशाली शत्रुनाशक आथर्वण अस्त्रका प्रयोग करके पैने बाणोंद्वारा अर्जुनके उस अस्त्रको, जो कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था, नष्ट कर दिया ॥ ४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान् बभूव
तत्रार्जुनस्याधिरथेश्च राजन्।
अन्योन्यमासादयतोः पृषत्कै-
र्विषाणघातैर्द्विपयोरिवोग्रैः ॥ ५ ॥

राजन्! जैसे दो हाथी अपने भयंकर दाँतोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन और कर्ण एक दूसरेपर बाणोंका प्रहार कर रहे थे। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भारी युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥

तत्रास्त्रसंघातसमावृतं तदा
बभूव राजंस्तुमुलं स्म सर्वतः।
तत् कर्णपार्थौ शरवृष्टिसंघै-
र्निरन्तरं चक्रतुरम्बरं तदा ॥ ६ ॥

नरेश्वर! उस समय वहाँ अस्त्रसमूहोंसे आच्छादित होकर सारा प्रदेश सब ओरसे भयंकर प्रतीत होने लगा। कर्ण और अर्जुनने अपने बाणोंकी वर्षासे आकाशको ठसाठस भर दिया ॥

ततो जालं बाणमयं महान्तं
सर्वेऽद्राक्षुः कुरवः सोमकाश्च।
नान्यं च भूतं ददृशुस्तदा ते
बाणान्धकारे तुमुलेऽथ किंचित् ॥ ७ ॥

तदनन्तर समस्त कौरवों और सोमकोंने भी देखा कि वहाँ बाणोंका विशाल जाल फैल गया है। बाणजनित उस भयानक अन्धकारमें उस समय उन्हें दूसरे किसी प्राणीका दर्शन नहीं होता था ॥ ७ ॥

(ततस्तु तौ वै पुरुषप्रवीरौ
राजन् वरौ सर्वधनुर्धराणाम्।
त्यक्त्वाऽऽत्मदेहौ समरेऽतिघोरे
प्राप्तश्रमौ शत्रुदुरासदौ हि ॥
दृष्ट्वा तु तौ संयति सम्प्रयुक्तौ
परस्परं छिद्रनिविष्टदृष्टी।
देवर्षिगन्धर्वगणाः सयक्षाः
संतुष्टुवुस्तौ पितरश्च हृष्टाः ॥)

राजन्! सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों नरवीर उस भयानक समरमें अपने शरीरोंका मोह छोड़कर बड़ा भारी परिश्रम कर रहे थे, वे दोनों ही शत्रुओंके लिये दुर्जय थे। युद्धमें तत्पर होकर एक दूसरेके छिद्रोंकी ओर दृष्टि रखनेवाले उन दोनों वीरोंको देखकर देवता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और पितर सभी हर्षमें भरकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥

तौ संदधानावनिशं च राजन्
समस्यन्तौ चापि शराननेकान्।
संदर्शयेतां युधि मार्गान् विचित्रान्
धनुर्धरौ तौ विविधैः कृतास्त्रैः ॥ ८ ॥

राजन्! निरन्तर अनेकानेक बाणोंका संधान और प्रहार करते हुए वे दोनों धनुर्धर वीर सिद्ध किये हुए विविध अस्त्रोंद्वारा युद्धमें अद्भुत पैंतरे दिखाने लगे ॥ ८ ॥

तयोरेवं युद्ध्यतोराजिमध्ये
सूतात्मजोऽभूदधिकः कदाचित्।

पार्थः कदाचित् त्वधिकः किरीटी
वीर्यास्त्रमायाबलपौरुषेण ॥ ९ ॥

इस प्रकार संग्रामभूमिमें जूझते समय उन दोनों वीरोंमें पराक्रम, अस्त्रसंचालन, मायाबल तथा पुरुषार्थकी दृष्टिसे कभी सूतपुत्र कर्ण बढ़ जाता था और कभी किरीटधारी अर्जुन ॥

दृष्ट्वा तयोस्तं युधि सम्प्रहारं
परस्परस्यान्तरमीक्षमाणयोः ।
घोरं तयोर्दुर्विषहं रणेऽन्यै-
र्योधाः सर्वे विस्मयमभ्यगच्छन् ॥ १० ॥

युद्धस्थलमें एक दूसरेपर प्रहार करनेका अवसर देखते हुए उन दोनों वीरोंका दूसरोंके लिये दुःसह वह घोर आघात-प्रत्याघात देखकर रणभूमिमें खड़े हुए समस्त योद्धा आश्चर्यसे चकित हो उठे ॥ १० ॥

ततो भूतान्यन्तरिक्षस्थितानि
तौ कर्णपार्थौ प्रशशंसुर्नरेन्द्र ।
भोः कर्ण साध्वर्जुन साधु चेति
वियत्सु वाणी श्रूयते सर्वतोऽपि ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उस समय आकाशमें स्थित हुए प्राणी कर्ण और अर्जुन दोनोंकी प्रशंसा करने लगे। 'वाह रे कर्ण !' 'शाबाश अर्जुन !' यही बात अन्तरिक्षमें सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ११ ॥

तस्मिन् विमर्दे रथवाजिनागै-
स्तदाभिघातैर्दलिते हि भूतले ।
ततस्तु पातालतले शयानो
नागोऽश्वसेनः कृतवैरोऽर्जुनेन ॥ १२ ॥
राजंस्तदा खाण्डवदाहमुक्तो
विवेश कोपाद् वसुधातले यः ।
अथोत्पपातोर्ध्वगतिर्जवेन
संदृश्य कर्णार्जुनयोर्विमर्दम् ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय घमासान युद्धमें जब रथ, घोड़े और हाथियोंद्वारा सारा भूतल रौंदा जा रहा था, उस समय पाताल-निवासी अश्वसेन नामक नाग, जिसने अर्जुनके साथ वैर बाँध रक्खा था और जो खाण्डवदाहके समय जीवित बचकर क्रोधपूर्वक इस पृथ्वीके भीतर घुस गया था; कर्ण तथा अर्जुन-का वह संग्राम देखकर बड़े वेगसे ऊपरको उछला और उस युद्धस्थलमें आ पहुँचा; उसमें ऊपरको उड़नेकी भी शक्ति थी ॥ १२-१३ ॥

अयं हि कालोऽस्य दुरात्मनो वै
पार्थस्य वैरप्रतियातनाय ।
संचिन्त्य तूणं प्रविवेश चैव
कर्णस्य राजञ्शररूपधारी ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! वह यह सोचकर कि 'दुरात्मा अर्जुनके वैरका बदला लेनेके लिये यही सबसे अच्छा अवसर है, बाणका रूप धारण करके कर्णके तरकसमें घुस गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्त्रसंघातसमाकुलं तदा
बभूव जन्यं विततांशुजालम् ।
तत् कर्णपार्थौ शरसंघवृष्टिभि-
र्निरन्तरं चक्रतुरम्बरं तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर अस्त्रसमूहोंके प्रहारसे भरा हुआ वह युद्धस्थल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वहाँ किरणोंका जाल बिछ गया हो। कर्ण और अर्जुनने अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे आकाशमें तिलभर भी अवकाश नहीं रहने दिया ॥ १५ ॥

तद् बाणजालैकमयं महान्तं
सर्वेऽत्रसन् कुरवः सोमकाश्च ।
नान्यत् किंचिद् ददृशुः सम्पतद् वै
बाणान्धकारे तुमुलेऽतिमात्रम् ॥ १६ ॥

वहाँ बाणोंका एक महाजाल-सा बना हुआ देखकर कौरव और सोमक सभी भयसे थर्रा उठे। उस अत्यन्त घोर बाणान्धकारमें उन्हें दूसरा कुछ भी गिरता नहीं दिखायी देता था ॥ १६ ॥

ततस्तौ पुरुषव्याघ्रौ सर्वलोकधनुर्धरौ ।
त्यक्तप्राणौ रणे वीरौ युद्धश्रममुपागतौ ।
समुत्क्षेपैर्वीज्यमानौ सिक्तौ चन्दनवारिणा ॥ १७ ॥
सवालव्यजनैर्दिव्यैर्दिविस्थैरप्सरोगणैः ।
शक्रसूर्यकराब्जाभ्यां प्रमार्जितमुखावुभौ ॥ १८ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वके विख्यात धनुर्धर वीर पुरुषसिंह कर्ण और अर्जुन प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते-करते थक गये। उस समय आकाशमें खड़ी हुई अप्सराओंने दिव्य-चँवर डुलाकर उन दोनोंको चन्दनके जलसे सींचा। फिर इन्द्र और सूर्यने अपने कर-कमलोंसे उनके मुँह पोंछे ॥ १७-१८ ॥

कर्णोऽथ पार्थं न विशेषयद् यदा
भृशं च पार्थेन शराभितप्तः ।
ततस्तु वीरः शरविक्षताङ्गो
दध्रे मनो ह्येकशयस्य तस्य ॥ १९ ॥

जब किसी तरह कर्ण युद्धमें अर्जुनसे बढ़कर पराक्रम न दिखा सका और अर्जुनने अपने बाणोंकी मारसे उसे अत्यन्त संतप्त कर दिया, तब बाणोंके आघातसे सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जानेके कारण वीर कर्णने उस सर्पमुख बाणके प्रहारका विचार किया ॥ १९ ॥

ततो रिपुघ्नं समधत्त कर्णः
सुसंचितं सर्पमुखं ज्वलन्तम् ।
रौद्रं शरं संनतमुग्रधौतं
पार्थार्थमत्यर्थचिराभिगुप्तम् ॥ २० ॥
सदार्चितं चन्दनचूर्णशायितं
सुवर्णतूणीरशयं महार्चिषम् ।
आकर्णपूर्णं च विकृष्य कर्णः
पार्थोन्मुखः संदधे चोत्तमौजाः ॥ २१ ॥

उत्तम बलशाली कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये ही जिसे सुदीर्घकालसे सुरक्षित रख छोड़ा था, सोनेके तरकसमें चन्दनके चूर्णके अंदर जिसे रखता था और सदा जिसकी पूजा करता था, उस शत्रुनाशक, झुकी हुई गाँठवाले, स्वच्छ, महातेजस्वी, सुसंचित, प्रज्वलित एवं भयानक सर्पमुख बाणको उसने धनुषपर रक्खा और कानतक खींचकर अर्जुनकी ओर संधान किया ॥ २०-२१ ॥

प्रदीप्तमैरावतवंशसम्भवं
शिरो जिहीर्षुर्युधि सव्यसाचिनः ।
ततः प्रजज्वाल दिशो नभश्च
उल्काश्च घोराः शतशः प्रपेतुः ॥ २२ ॥

कर्ण युद्धमें सव्यसाची अर्जुनका मस्तक काट लेना चाहता था। उसका चलाया हुआ वह प्रज्वलित बाण ऐरावतकुलमें उत्पन्न अश्वसेन ही था । उस बाणके छूटते ही सम्पूर्ण दिशाओंसहित आकाश जाज्वल्यमान हो उठा । सैकड़ों भयङ्कर उल्काएँ गिरने लगीं ॥ २२ ॥

तस्मिंस्तु नागे धनुषि प्रयुक्ते
हाहाकृता लोकपालाः सशक्राः।
न चापि तं बुबुधे सूतपुत्रो
बाणे प्रविष्टं योगबलेन नागम् ॥ २३ ॥

धनुषपर उस नागका प्रयोग होते ही इन्द्रसहित सम्पूर्ण लोकपाल हाहाकार कर उठे । सूतपुत्रको भी यह मालूम नहीं था कि मेरे इस बाणमें योगबलसे नाग घुसा बैठा है ॥

दशशतनयनोऽहिं दृश्य बाणे प्रविष्टं
निहत इति सुतो मे स्रस्तगात्रो बभूव ।
जलजकुसुमयोनिः श्रेष्ठभावो जितात्मा
त्रिदशपतिमवोचन्मा व्यथिष्ठा जये श्रीः ।२४।

सहस्रनेत्रधारी इन्द्र उस बाणमें सर्पको घुसा हुआ देख यह सोचकर शिथिल हो गये कि 'अब तो मेरा पुत्र मारा गया ।' तब मनको वशमें रखनेवाले श्रेष्ठस्वभाव कमलयोनि ब्रह्माजीने उन देवराज इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर ! दुखी न होओ । विजयश्री अर्जुनको ही प्राप्त होगी' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीन्मद्रराजो महात्मा
दृष्ट्वा कर्णं प्रहितेषुं तमुग्रम् ।
न कर्ण ग्रीवामिषुरेष लप्स्यते
समीक्ष्य संधत्स्व शरं शिरोघ्नम् ॥ २५ ॥

उस समय महामनस्वी मद्रराज शल्यने कर्णको उस भयंकर बाणका प्रहार करनेके लिये उद्यत देख उससे कहा— 'कर्ण ! तुम्हारा यह बाण शत्रुके कण्ठमें नहीं लगेगा; अतः सोच-विचारकर फिरसे बाणका संधान करो, जिससे वह मस्तक काट सके' ॥ २५ ॥

अथाब्रवीत् क्रोधसंरक्तनेत्रो
मद्राधिपं सूतपुत्रस्तरस्वी ।
न संधत्ते द्विः शरं शल्य कर्णो
न मादृशा जिह्मयुद्धा भवन्ति ॥ २६ ॥

यह सुनकर वेगशाली सूतपुत्र कर्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । उसने मद्रराजसे कहा—'कर्ण दो बार बाणका संधान नहीं करता । मेरे-जैसे वीर कपटपूर्वक युद्ध नहीं करते हैं' ॥

इतीदमुक्त्वा विससर्ज तं शरं
प्रयत्नतो वर्षगणाभिपूजितम् ।
हतोऽसि वै फाल्गुन इत्यधिक्षिप-
न्नुवाच चोच्चैर्गिरमूर्जितां वृषः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर कर्णने जिसकी वर्षोंसे पूजा की थी, उस बाणको प्रयत्नपूर्वक शत्रुकी ओर छोड़ दिया और आक्षेप करते हुए उच्चस्वरसे कहा—'अर्जुन ! अब तू निश्चय ही मारा गया' ॥ २७ ॥

स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो
हुताशनार्कप्रतिमः सुघोरः ।
गुणच्युतः कर्णधनुःप्रमुक्तो
वियद्गतः प्राज्वलदन्तरिक्षे ॥ २८ ॥

अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी वह अत्यन्त भयंकर बाण कर्णकी भुजाओंसे प्रेरित हो उसके धनुष और प्रत्यञ्चासे छूटकर आकाशमें जाते ही प्रज्वलित हो उठा ॥ २८ ॥

तं प्रेक्ष्य दीप्तं युधि माधवस्तु
त्वरान्वितं सत्वरयैव लीलया ।
पदा विनिष्पिष्य रथोत्तमं स
प्रावेशयत् पृथिवीं किंचिदेव ॥ २९ ॥
क्षितिं गता जानुभिस्तेऽथ वाहा
हेमच्छन्नाश्चन्द्रमरीचिवर्णाः ।
ततोऽन्तरिक्षे सुमहान् निनादः
सम्पूजनार्थं मधुसूदनस्य ॥ ३० ॥
दिव्याश्च वाचः सहसा बभूवु-
र्दिव्यानि पुष्पाण्यथ सिंहनादाः ।
तस्मिंस्तथा वै धरणीं निमग्ने
रथे प्रयत्नान्मधुसूदनस्य ॥ ३१ ॥

उस प्रज्वलित बाणको बड़े वेगसे आते देख भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें खेल-सा करते हुए अपने उत्तम रथको तुरंत ही पैरसे दबाकर उसके पहियोंका कुछ भाग पृथ्वीमें धँसा दिया । साथ ही सोनेके साज-बाजसे ढके हुए चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेतवर्णवाले उनके घोड़े भी धरतीपर घुटने टेककर झुक गये । उस समय आकाशमें सब ओर महान् कोलाहल गूँज उठा । भगवान् मधुसूदनकी स्तुति-प्रशंसाके लिये कहे गये दिव्य वचन सहसा सुनायी देने लगे । श्रीमधुसूदनके प्रयत्नसे उस रथके धरतीमें धँस जानेपर भगवान्‌के ऊपर दिव्यपुष्पोंकी वर्षा होने लगी और दिव्य सिंहनाद भी प्रकट होने लगे ॥ २९—३१ ॥

ततः शरः सोऽभ्यहनत् किरीटं
तस्येन्द्रदत्तं सुदृढं च धीमतः ।

अथार्जुनस्योत्तमगात्रभूषणं
धरावियद्द्योसलिलेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् अर्जुनके मस्तकको विभूषित करनेवाला किरीट भूतल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और वरुणलोकमें भी विख्यात था। वह मुकुट उन्हें इन्द्रने प्रदान किया था। कर्णका चलाया हुआ वह सर्पमुख बाण रथ नीचा हो जानेके कारण अर्जुनके उसी किरीटमें जा लगा ॥ ३२ ॥

व्यालास्त्रसर्गोत्तमयत्नमन्युभिः
शरेण मूर्ध्नः प्रजहार सूतजः।
दिवाकरेन्दुज्वलनप्रभत्विषं
सुवर्णमुक्तामणिवज्रभूषितम् ॥ ३३ ॥

सूतपुत्र कर्णने सर्पमुख बाणके निर्माणकी सफलता, उत्तम प्रयत्न और क्रोध—इन सबके सहयोगसे जिस बाणका प्रयोग किया था, उसके द्वारा अर्जुनके मस्तकसे उस किरीटको नीचे गिरा दिया, जो सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान कान्तिमान् तथा सुवर्ण, मुक्ता, मणि एवं हीरोंसे विभूषित था ॥ ३३ ॥

पुरन्दरार्थं तपसा प्रयत्नतः
स्वयं कृतं यद् विभुना स्वयम्भुवा।
महार्हरूपं द्विषतां भयंकरं
बिभर्तुरत्यर्थसुखं सुगन्धिनम् ॥ ३४ ॥
जिघांसते देवरिपून् सुरेश्वरः
स्वयं ददौ यत् सुमनाः किरीटिने।
हराम्बुपाखण्डलवित्तगोप्तृभिः
पिनाकपाशाशनिसायकोत्तमैः ॥ ३५ ॥
सुरोत्तमैरप्यविषह्यमर्दितुं
प्रसह्य नागेन जहार तद् वृषः।
स दुष्टभावो वितथप्रतिज्ञः
किरीटमत्यद्भुतमर्जुनस्य ॥ ३६ ॥
नागो महार्हं तपनीयचित्रं
पार्थोत्तमाङ्गात् प्रहरत् तरस्वी।

ब्रह्माजीने तपस्या और प्रयत्न करके देवराज इन्द्रके लिये स्वयं ही जिसका निर्माण किया था, जिसका स्वरूप बहुमूल्य, शत्रुओंके लिये भयंकर, धारण करनेवालेके लिये अत्यन्त सुखदायक तथा परम सुगन्धित था, दैत्योंके वधकी इच्छावाले किरीटधारी अर्जुनको स्वयं देवराज इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर जो किरीट प्रदान किया था, भगवान् शिव, वरुण, इन्द्र और कुबेर—ये देवेश्वर भी अपने पिनाक, पाश, वज्र और बाणरूप उत्तम अस्त्रोंद्वारा जिसे नष्ट नहीं कर सकते थे, उसी दिव्य मुकुटको कर्णने अपने सर्पमुख बाणद्वारा बलपूर्वक हर लिया। मनमें दुर्भाव रखनेवाले उस मिथ्याप्रतिज्ञ तथा वेगशाली नागने अर्जुनके मस्तकसे उसी अत्यन्त अद्भुत, बहुमूल्य और सुवर्णचित्रित मुकुटका अपहरण कर लिया था ॥ ३४—३६½ ॥

तद्धेमजालावततं सुघोषं
जाज्वल्यमानं निपपात भूमौ ॥ ३७ ॥
तदुत्तमेषून्मथितं विषाग्निना
प्रदीप्तमर्चिष्मदथो क्षितौ प्रियम्।
पपात पार्थस्य किरीटमुत्तमं
दिवाकरोऽस्तादिव रक्तमण्डलः॥ ३८ ॥

सोनेकी जालीसे व्याप्त वह जगमगाता हुआ मुकुट धमाकेकी आवाज़के साथ धरतीपर जा गिरा जैसे अस्ताचलसे लाल रंगके मण्डलवाला सूर्य नीचे गिरता है, उसी प्रकार पार्थका वह प्रिय, उत्तम एवं तेजस्वी किरीट पूर्वोक्त श्रेष्ठ बाणसे मथित और विषाग्निसे प्रज्वलित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३७-३८ ॥

स वै किरीटं बहुरत्नभूषितं
जहार नागोऽर्जुनमूर्धतो बलात्।
गिरेः सुजाताङ्कुरपुष्पितद्रुमं
महेन्द्रवज्रः शिखरोत्तमं यथा ॥ ३९ ॥

उस नागने नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित पूर्वोक्त किरीटको अर्जुनके मस्तकसे उसी प्रकार बलपूर्वक हर लिया, जैसे इन्द्रका वज्र वृक्षों और लताओंके नवजात अङ्कुरों तथा पुष्पशाली वृक्षोंसे सुशोभित पर्वतके उत्तम शिखरको नीचे गिरा देता है ॥ ३९ ॥

महीवियद्द्योसलिलानि वायुना
यथा विरुग्णानि नदन्ति भारत।
तथैव शब्दं भुवनेषु तं तदा
जना व्यवस्यन् व्यथिताश्च चस्खलुः॥४०॥

भारत! जैसे पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और जल—ये वायुद्वारा वेगपूर्वक संचालित हो महान् शब्द करने लगते हैं, उस समय वहाँ जगत्के सब लोगोंने वैसे ही शब्दका अनुभव किया और व्यथित होकर सभी अपने-अपने स्थानसे लड़खड़ाकर गिर पड़े ॥ ४० ॥

विना किरीटं शुशुभे स पार्थः
श्यामो युवा नील इवोच्चशृङ्गः।
ततः समुद्ग्रथ्य सितेन वाससा
स्वमूर्धजानव्यथितस्तदार्जुनः ।
विभासितः सूर्यमरीचिना दृढं
शिरोगतेनोदयपर्वतो यथा ॥ ४१ ॥

मुकुट गिर जानेपर श्यामवर्ण, नवयुवक अर्जुन ऊँचे शिखरवाले नीलगिरिके समान शोभा पाने लगे। उस समय उन्हें तनिक भी व्यथा नहीं हुई। वे अपने केशोंको सफेद वस्त्रसे बाँधकर युद्धके लिये डटे रहे। श्वेत वस्त्रसे केश बाँधनेके कारण वे शिखरपर फैली हुई सूर्यदेवकी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले उदयाचलके समान सुशोभित हुए ॥४१॥

गोकर्णा सुमुखी कृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम्।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
गोकर्णासनमर्दनश्च न ययावप्राप्य मृत्योर्वशम्॥ ४२ ॥

अंशुमाली सूर्यके पुत्र कर्णने जिसे चलाया था, जो अपने ही द्वारा उत्पादित एवं सुरक्षित बाणरूपधारी पुत्रके रूपमें मानो स्वयं उपस्थित हुई थी, गौ अर्थात् नेत्रेन्द्रियसे कानोंका काम लेनेके कारण जो गोकर्णा (चक्षुःश्रवा) और मुखसे पुत्रकी रक्षा करनेके कारण सुमुखी कही गयी हैं, उस सर्पिणीने तेज और प्राणशक्तिसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनके मस्तकको घोड़ोंकी लगामके सामने लक्ष्य करके (चलनेपर भी रथ नीचा होनेसे उसे न पाकर) उनके उस मुकुटको ही हर लिया, जिसे ब्रह्माजीने स्वयं सुन्दररूपसे इन्द्रके मस्तकका भूषण बनाया था और जो सूर्यसदृश किरणोंकी प्रभासे जगत्‌को परिपूर्ण (प्रकाशित) करनेवाला था। उक्त सर्पको अपने बाणोंकी मारसे कुचल देनेवाले अर्जुन उसे पुनः आक्रमणका अवसर न देनेके कारण मृत्युके अधीन नहीं हुए ॥

स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो
हुताशनार्कप्रतिमो महार्हः।
महोरगः कृतवैरोऽर्जुनेन
किरीटमाहत्य ततो व्यतीयात् ॥ ४३ ॥

कर्णके हाथोंसे छूटा हुआ वह अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, बहुमूल्य बाण, जो वास्तवमें अर्जुनके साथ वैर-रखनेवाला महानाग था, उनके किरीटपर आघात करके पुनः वहाँसे लौट पड़ा ॥ ४३ ॥

तं चापि दग्ध्वा तपनीयचित्रं
किरीटमाकृष्य तदर्जुनस्य।
इयेष गन्तुं पुनरेव तूणं
दृष्टश्च कर्णेन ततोऽब्रवीत् तम् ॥ ४४ ॥

अर्जुनका वह मुकुट सुवर्णमय होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करता था। उसे खींचकर अपनी विषाग्निसे दग्ध करके वह सर्प पुनः कर्णके तरकसमें घुसना ही चाहता था कि कर्णकी दृष्टि उसपर पड़ गयी। तब उसने कर्णसे कहा—॥ ४४ ॥

मुक्तस्त्वयाहं त्वसमीक्ष्य कर्ण
शिरो हृतं यन्न मयार्जुनस्य।
समीक्ष्य मां मुञ्च रणे त्वमाशु
हन्तास्मि शत्रुं तव चात्मनश्च ॥ ४५ ॥

'कर्ण ! तुमने अच्छी तरह सोच-विचारकर मुझे नहीं छोड़ा था; इसीलिये मैं अर्जुनके मस्तकका अपहरण न कर सका। अब पुनः सोच-समझकर, टीकसे निशाना साधकर रणभूमिमें शीघ्र ही मुझे छोड़ो, तब मैं अपने और तुम्हारे उस शत्रुका वध कर डालूँगा' ॥ ४५ ॥

स एवमुक्तो युधि सूतपुत्र-
स्तमब्रवीत् को भवानुग्ररूपः।
नागोऽब्रवीद् विद्धि कृतागसं मां
पार्थेन मातुर्वधजातवैरम् ॥ ४६ ॥
यदि स्वयं वज्रधरोऽस्य गोप्ता
तथापि याता पितृराजवेश्मनि।

युद्धस्थलमें उस नागके ऐसा कहनेपर सूतपुत्र कर्णने उससे पूछा—'पहले यह तो बताओ कि ऐसा भयानक रूप धारण करनेवाले तुम हो कौन ?' तब नागने कहा—'अर्जुनने मेरा अपराध किया है। मेरी माताका उनके द्वारा वध होनेके कारण मेरा उनसे वैर हो गया है। तुम मुझे नाग समझो। यदि साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी अर्जुनकी रक्षाके लिये आ जायँ तो भी आज अर्जुनको यमलोकमें जाना ही पड़ेगा' ॥ ४६½ ॥

कर्ण उवाच

न नाग कर्णोऽद्य रणे परस्य
बलं समास्थाय जयं बुभूषेत् ॥ ४७ ॥
न संदध्यां द्विः शरं चैव नाग
यद्यर्जुनानां शतमेव हन्याम्।

कर्ण बोला—नाग ! आज रणभूमिमें कर्ण दूसरेके बलका सहारा लेकर विजय पाना नहीं चाहता है। नाग ! मैं सौ अर्जुनको मार सकूँ तो भी एक बाणका दो बार संधान नहीं कर सकता ॥ ४७½ ॥

तमाह कर्णः पुनरेव नागं
तदाऽऽजिमध्ये रविसूनुसत्तमः॥ ४८ ॥
व्यालास्त्रसर्गोत्तमयत्नमन्युभि-
र्हन्तास्मि पार्थं सुसुखी व्रज त्वम्।

इतना कहकर सूर्यके श्रेष्ठ पुत्र कर्णने युद्धस्थलमें उस नागसे फिर इस प्रकार कहा—'मेरे पास सर्पमुख बाण है। मैं उत्तम यत्न कर रहा हूँ और मेरे मनमें अर्जुनके प्रति पर्याप्त रोष भी है; अतः मैं स्वयं ही पार्थको मार डालूँगा। तुम सुखपूर्वक यहाँसे पधारो' ॥ ४८½ ॥

इत्येवमुक्तो युधि नागराजः
कर्णेन रोषादसहंस्तस्य वाक्यम् ॥ ४९ ॥
स्वयं प्रायात् पार्थवधाय राजन्
कृत्वा स्वरूपं विजिघांसुरुग्रः।

राजन् ! युद्धस्थलमें कर्णके द्वारा इस प्रकार टका-सा उत्तर पाकर वह नागराज रोषपूर्वक उसके इस वचनको सहन न कर सका। उस उग्र सर्पने अपने स्वरूपको प्रकट करके मनमें प्रतिहिंसाकी भावना लेकर पार्थके वधके लिये स्वयं ही उनपर आक्रमण किया ॥ ४९½ ॥

ततः कृष्णः पार्थमुवाच संख्ये
महोरगं कृतवैरं जहि त्वम् ॥ ५० ॥
स एवमुक्तो मधुसूदनेन
गाण्डीवधन्वा रिपुवीर्यसाहः।
उवाच को ह्येष ममाद्य नागः
स्वयं य आयाद् गरुडस्य वक्त्रम्॥ ५१॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें अर्जुनसे कहा—'यह विशाल नाग तुम्हारा वैरी है। तुम इसे मार डालो'। भगवान् मधुसूदनके ऐसा कहनेपर शत्रुओंके बलका सामना करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुनने पूछा—'प्रभो! आज मेरे पास आनेवाला यह नाग कौन है? जो स्वयं ही गरुड़के मुखमें चला आया है' ॥ ५०-५१ ॥

कृष्ण उवाच

योऽसौ त्वया खाण्डवे चित्रभानुं
संतर्पयाणेन धनुर्धरेण।
वियद्गतो जननीगुप्तदेहो
मत्वैकरूपं निहतास्य माता ॥ ५२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! खाण्डव वनमें जब तुम हाथमें धनुष लेकर अग्निदेवको तृप्त कर रहे थे, उस समय यही सर्प अपनी माताके मुँहमें घुसकर अपने शरीरको सुरक्षित करके आकाशमें उड़ा जा रहा था। तुमने उसे एक ही सर्प समझकर केवल इसकी माताका वध किया था ॥ ५२ ॥

स एष तद् वैरमनुस्मरन् वै
त्वां प्रार्थयत्यात्मवधाय नूनम्।
नभश्च्युतां प्रज्वलितामिवोल्कां
पश्यैनमायान्तममित्रसाह ॥ ५३ ॥

उसी वैरको याद करके यह अवश्य अपने वधके लिये ही तुमसे भिड़ना चाहता है। शत्रुसूदन! आकाशसे गिरती हुई प्रज्वलित उल्काके समान आते हुए इस सर्पको देखो ॥ ५३ ॥

संजय उवाच

ततः स जिष्णुः परिवृत्य रोषा-
च्चिच्छेद षड्भिर्निशितैः सुधारैः।
नागं वियत्तिर्यगिवोत्पतन्तं
स च्छिन्नगात्रो निपपात भूमौ ॥ ५४ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब अर्जुनने रोषपूर्वक घूमकर उत्तम धारवाले छः तीखे बाणोंद्वारा आकाशमें तिरछी गतिसे उड़ते हुए उस नागके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। शरीर टूक-टूक हो जानेके कारण वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५४ ॥

हते च तस्मिन् भुजगे किरीटिना
स्वयं विभुः पार्थिव भूतलादथ।
समुज्जहाराशु पुनः पतन्तं
रथं भुजाभ्यां पुरुषोत्तमस्ततः ॥ ५५ ॥

राजन्! किरीटधारी अर्जुनके द्वारा उस सर्पके मारे जानेपर स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उस नीचे धँसते हुए रथको पुनः अपनी दोनों भुजाओंसे शीघ्र ही ऊपर उठा दिया ॥ ५५ ॥

तस्मिन् मुहूर्ते दशभिः पृषत्कैः
शिलाशितैर्बर्हिणबर्हवाजितैः।
विव्याध कर्णः पुरुषप्रवीरो
धनंजयं तिर्यगवेक्षमाणः ॥ ५६ ॥

उस मुहूर्तमें नरवीर कर्णने धनंजयकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखते हुए मयूरपंखसे युक्त, शिलापर तेज किये हुए, दस बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ॥ ५६ ॥

ततोऽर्जुनो द्वादशभिः सुमुक्तै-
र्वराहकर्णैर्निशितैः समर्प्य।
नाराचमाशीविषतुल्यवेग-
माकर्णपूर्णायतमुत्ससर्ज ॥ ५७ ॥

तब अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए बारह वराहकर्ण नामक पैने बाणोंद्वारा कर्णको घायल करके पुनः विषधर सर्पके तुल्य एक वेगशाली नाराचको कानतक खींचकर उसकी ओर छोड़ दिया ॥ ५७ ॥

स चित्रवर्मेषुवरो विदार्य
प्राणान्निरस्यन्निव साधुमुक्तः।
कर्णस्य पीत्वा रुधिरं विवेश
वसुन्धरां शोणितदिग्धवाजः ॥ ५८ ॥

भलीभाँति छूटे हुए उस उत्तम नाराचने कर्णके विचित्र कवचको चीर-फाड़कर उसके प्राण निकालते हुए-से रक्तपान किया, फिर वह धरतीमें समा गया। उस समय उसके पंख खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ ५८ ॥

ततो वृषो बाणनिपातकोपितो
महोरगो दण्डविघट्टितो यथा।
तदाशुकारी व्यसृजच्छरोत्तमान्
महाविषः सर्प इवोत्तमं विषम् ॥ ५९ ॥

तब उस बाणके प्रहारसे क्रोधमें भरे हुए शीघ्रकारी कर्णने लाठीकी चोट खाये हुए महान् सर्पके समान तिलमिलाकर उसी प्रकार उत्तम बाणोंका प्रहार आरम्भ किया, जैसे महाविषैला सर्प अपने उत्तम विषका वमन करता है ॥ ५९ ॥

जनार्दनं द्वादशभिः पराभिन-
न्नवैर्नवत्या च शरैस्तथार्जुनम्।
शरेण घोरेण पुनश्च पाण्डवं
विदार्य कर्णो व्यनदज्जहास च ॥ ६० ॥

उसने बारह बाणोंसे श्रीकृष्णको और निन्यानबे बाणोंसे अर्जुनको अच्छी तरह घायल किया। तत्पश्चात् एक भयंकर बाणसे पाण्डुपुत्र अर्जुनको पुनः क्षत-विक्षत करके कर्ण सिंहके समान दहाड़ने और हँसने लगा ॥ ६० ॥

तमस्य हर्षं ममृषे न पाण्डवो
बिभेद मर्माणि ततोऽस्य मर्मवित्।
परःशतैः पत्रिभिरिन्द्रविक्रम-
स्तथा यथेन्द्रो बलमोजसा रणे॥ ६१ ॥

उसके उस हर्षको पाण्डुपुत्र अर्जुन सहन न कर सके। वे उसके मर्मस्थलोंको जानते थे और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। अतः जैसे इन्द्रने रणभूमिमें बलासुरको बलपूर्वक आहत किया था, उसी प्रकार अर्जुनने सौसे भी अधिक बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर दिया ॥ ६१ ॥

ततः शराणां नवतिं तदार्जुनः
ससर्ज कर्णेऽन्तकदण्डसंनिभाम् ।
तैः पत्रिभिर्विद्धतनुः स विव्यथे
तथा यथा वज्रविदारितोऽचलः ॥ ६२ ॥

तदनन्तर अर्जुनने यमदण्डके समान भयंकर नब्बे बाण कर्णपर छोड़े । उन पंखवाले बाणोंसे उसका सारा शरीर बिंध गया तथा वह वज्रसे विदीर्ण किये हुए पर्वतके समान व्यथित हो उठा ॥ ६२ ॥

मणिप्रवेकोत्तमवज्रहाटकै-
रलंकृतं चास्य वराङ्गभूषणम् ।
प्रविद्धमुर्व्यां निपपात पत्रिभि-
र्धनंजयेनोत्तमकुण्डलेऽपि च ॥ ६३ ॥

उत्तम मणियों, हीरों और सुवर्णसे अलंकृत कर्णके मस्तकका आभूषण मुकुट और उसके दोनों उत्तम कुण्डल भी अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६३ ॥

महाधनं शिल्पिवरैः प्रयत्नतः
कृतं यदस्योत्तमवर्म भास्वरम् ।
सुदीर्घकालेन ततोऽस्य पाण्डवः
क्षणेन बाणैर्बहुधा व्यशातयत् ॥ ६४ ॥

अच्छे-अच्छे शिल्पियोंने कर्णके जिस उत्तम बहुमूल्य और तेजस्वी कवचको दीर्घकालमें बनाकर तैयार किया था, उसके उसी कवचके पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा क्षणभरमें बहुत-से टुकड़े कर डाले ॥ ६४ ॥

स तं विवर्माणमथोत्तमेषुभिः
शितैश्चतुर्भिः कुपितः पराभिनत् ।
स विव्यथेऽत्यर्थमरिप्रताडितो
यथातुरः पित्तकफानिलज्वरैः ॥ ६५ ॥

कवच कट जानेपर कर्णको कुपित हुए अर्जुनने चार उत्तम तीखे बाणोंसे पुनः क्षत-विक्षत कर दिया । शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किये जानेपर कर्ण वात, पित्त और कफ सम्बन्धी ज्वर (त्रिदोष या सन्निपात) से आतुर हुए मनुष्यकी भाँति अधिक पीड़ाका अनुभव करने लगा ॥ ६५ ॥

महाधनुर्मण्डलनिःसृतैः शितैः
क्रियाप्रयत्नप्रहितैर्बलेन च ।
ततक्ष कर्णं बहुभिः शरोत्तमै-
र्बिभेद मर्मस्वपि चार्जुनस्त्वरन् ॥ ६६ ॥

अर्जुनने उतावले होकर क्रिया, प्रयत्न और बलपूर्वक छोड़े गये तथा विशाल धनुर्मण्डलसे छूटे हुए बहुसंख्यक पैने और उत्तम बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचाकर उसे विदीर्ण कर दिया ॥ ६६ ॥

दृढाहतः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन कर्णो विविधैः शिताग्रैः ।
बभौ गिरिर्गैरिकधातुरक्तः
क्षरन् प्रपातैरिव रक्तमम्भः ॥ ६७ ॥

अर्जुनके भयंकर वेगशाली और तेजधारवाले नाना प्रकारके बाणोंद्वारा गहरी चोट खाकर कर्ण अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाता हुआ उस पर्वतके समान सुशोभित हुआ, जो गेरु आदि धातुओंसे रँगा होनेके कारण अपने झरनोंसे लाल पानी बहाया करता है ॥ ६७ ॥

ततोऽर्जुनः कर्णमवक्रगैर्नवैः
सुवर्णपुङ्खैः सुदृढैरयस्मयैः ।
यमाग्निदण्डप्रतिमैः स्तनान्तरे
पराभिनत् क्रौञ्चमिवाद्रिमग्निजः ॥ ६८ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने सोनेके पंखवाले लोहनिर्मित, सुदृढ़ तथा यमदण्ड और अग्निदण्डके तुल्य भयंकर बाणोंद्वारा कर्णकी छातीको उसी प्रकार विदीर्ण कर डाला, जैसे कुमार कार्तिकेयने क्रौञ्च पर्वतको चीर डाला था ॥ ६८ ॥

ततः शरावापमपास्य सूतजो
धनुश्च तच्छक्रशरासनोपमम् ।
ततो रथस्थः स मुमोह च स्खलन्
प्रशीर्णमुष्टिः सुभृशाहतः प्रभो ॥ ६९ ॥

प्रभो ! अत्यन्त आहत हो जानेके कारण सूतपुत्र कर्ण तरकस और इन्द्रधनुषके समान अपना धनुष छोड़कर रथपर ही लड़खड़ाता हुआ मूर्छित हो गया । उस समय उसकी मुट्ठी ढीली हो गयी थी ॥ ६९ ॥

न चार्जुनस्तं व्यसने तदेषिवान्-
निहन्तुमार्यः पुरुषव्रते स्थितः ।
ततस्तमिन्द्रावरजः सुसम्भ्रमा-
दुवाच किं पाण्डव हे प्रमाद्यसे ॥ ७० ॥

राजन् ! अर्जुन सत्पुरुषोंके व्रतमें स्थित रहनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य हैं; अतः उन्होंने उस संकटके समय कर्णको मारनेकी इच्छा नहीं की । तब इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्णने बड़े वेगसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम लापरवाही क्यों दिखाते हो ? ॥ ७० ॥

नैवाहितानां सततं विपश्चितः
क्षणं प्रतीक्षन्त्यपि दुर्बलीयसाम् ।
विशेषतोऽरीन् व्यसनेषु पण्डितो
निहत्य धर्मं च यशश्च विन्दते ॥ ७१ ॥

'विद्वान् पुरुष कभी दुर्बल-से-दुर्बल शत्रुओंको भी नष्ट करनेके लिये किसी अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करते । विशेषतः संकटमें पड़े हुए शत्रुओंको मारकर बुद्धिमान् पुरुष धर्म और यशका भागी होता है ॥ ७१ ॥

तदेकवीरं तव चाहितं सदा
त्वरस्व कर्णं सहसाभिमर्दितुम् ।
पुरा समर्थः समुपैति सूतजो
भिन्धि त्वमेनं नमुचिं यथा हरिः ॥ ७२ ॥

'इसलिये सदा तुमसे शत्रुता रखनेवाले इस अद्वितीय

वीर कर्णको सहसा कुचल डालनेके लिये तुम शीघ्रता करो। सूतपुत्र कर्ण शक्तिशाली होकर आक्रमण करे, इसके पहले ही तुम इसे उसी प्रकार मार डालो, जैसे इन्द्रने नमुचिका वध किया था' ॥ ७२ ॥

ततस्तदेवेत्यभिपूज्य सत्वरं
जनार्दनं कर्णमविध्यदर्जुनः ।
शरोत्तमैः सर्वकुरूत्तमस्त्वरं-
स्तथा यथा शम्बरहा पुरा बलिम् ॥७३॥

'अच्छा, ऐसा ही होगा' यों कहकर श्रीकृष्णका समादर करते हुए सम्पूर्ण कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष अर्जुन उत्तम बाणों-द्वारा शीघ्रतापूर्वक कर्णको उसी प्रकार बींधने लगे, जैसे पूर्व-कालमें शम्बर शत्रु इन्द्रने राजा बलिपर प्रहार किया था ७३

साश्वं तु कर्णं सरथं किरीटी
समाचिनोद् भारत वत्सदन्तैः ।
प्रच्छादयामास दिशश्च बाणैः
सर्वप्रयत्नात्तपनीयपुङ्खैः ॥ ७४ ॥

भरतनन्दन ! किरीटधारी अर्जुनने घोड़ों और रथसहित कर्णके शरीरको वत्सदन्त नामक बाणोंसे भर दिया। फिर सारी शक्ति लगाकर सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

स वत्सदन्तैः पृथुपीनवक्षाः
समाचितः सोऽधिरथिर्विभाति ।
सुपुष्पिताशोकपलाशशाल्मलि-
र्यथाचलश्चन्दनकाननायुतः ॥ ७५ ॥

चौड़े और मोटे वक्षःस्थलवाले अधिरथपुत्र कर्णका शरीर वत्सदन्तनामक बाणोंसे व्याप्त होकर खिले हुए अशोक, पालाश, सेमल और चन्दनवनसे युक्त पर्वतके समान सुशोभित होने लगा ॥ ७५ ॥

शरैः शरीरे बहुभिः समर्पितै-
र्विभाति कर्णः समरे विशाम्पते ।
महीरुहैराचितसानुकन्दरो
यथा गिरीन्द्रः स्फुटकर्णिकारवान् ॥७६॥

प्रजानाथ ! कर्णके शरीरमें बहुत-से बाण धँस गये थे। उनके द्वारा समराङ्गणमें उसकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे वृक्षोंसे व्याप्त शिखर और कन्दरावाले गिरिराजके ऊपर लाल कनेरके फूल खिलनेसे उसकी शोभा होती है ॥ ७६ ॥

स बाणसङ्घान् बहुधा व्यवासृजद्
विभाति कर्णः शरजालरश्मिवान् ।
सलोहितो रक्तगभस्तिमण्डलो
दिवाकरोऽस्ताभिमुखो यथा तथा ॥ ७७ ॥

तदनन्तर कर्ण (सावधान होकर) शत्रुओंपर बहुत-से बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा। उस समय जैसे अस्ताचलकी ओर जाते हुए सूर्यमण्डल और उसकी किरणें लाल हो जाती हैं, उसी प्रकार खूनसे लाल हुआ वह शरसमूहरूपी किरणोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ७७ ॥

बाह्वन्तरादाधिरथेर्विमुक्तान्
बाणान् महाहीनिव दीप्यमानान् ।
व्यध्वंसयन्नर्जुनबाहुमुक्ताः
शराः समासाद्य दिशः शिताग्राः ॥ ७८ ॥

कर्णकी भुजाओंसे छूटकर बड़े-बड़े सर्पोंके समान प्रकाशित होनेवाले बाणोंको अर्जुनके हाथोंसे छूटे हुए तीखे बाणोंने सम्पूर्ण दिशाओंमें फैलकर नष्ट कर दिया ॥ ७८ ॥

ततः स कर्णः समवाप्य धैर्यं
बाणान् विमुञ्चन् कुपिताहिकल्पान् ।
विव्याध पार्थं दशभिः पृषत्कैः
कृष्णं च षड्भिः कुपिताहिकल्पैः ॥७९॥

तदनन्तर कर्ण धैर्य धारण करके कुपित सर्पोंके समान भयंकर बाण छोड़ने लगा। उसने क्रोधमें भरे हुए भुजङ्ग-मोंके सदृश दस बाणोंसे अर्जुनको और छःसे श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया ॥ ७९ ॥

ततः किरीटी भृशमुग्रनिःस्वनं
महाशरं सर्पविषानलोपमम् ।
अयस्मयं रौद्रमहास्त्रसम्भृतं
महाहवे क्षेप्तुमना महामतिः ॥ ८० ॥

तब परम बुद्धिमान् किरीटधारी अर्जुनने उस महासमरमें कर्णपर भयानक शब्द करनेवाले, सर्पविष और अग्निके समान तेजस्वी लोहनिर्मित तथा महारौद्रास्त्रसे अभिमन्त्रित विशाल बाण छोड़नेका विचार किया ॥ ८० ॥

कालो ह्यदृश्यो नृप विप्रकोपा-
न्निदर्शयन् कर्णवधं ब्रुवाणः ।
भूमिस्तु चक्रं ग्रसतीत्यवोचत्-
कर्णस्य तस्मिन् वधकाल आगते॥ ८१ ॥

नरेश्वर ! उस समय काल अदृश्य रहकर ब्राह्मणके क्रोधसे कर्णके वधकी सूचना देता हुआ उसकी मृत्युका समय उपस्थित होनेपर इस प्रकार बोला—'अब भूमि तुम्हारे पहियेको निगलना ही चाहती है' ॥ ८१ ॥

ततस्तदस्त्रं मनसः प्रणष्टं
यद् भार्गवोऽस्मै प्रददौ महात्मा ।
चक्रं च वामं ग्रसते भूमिरस्य
प्राप्ते तस्मिन् वधकाले नृवीर ॥ ८२ ॥

नरवीर ! अब कर्णके वधका समय आ पहुँचा था। महात्मा परशुरामने कर्णको जो भार्गवास्त्र प्रदान किया था, वह उस समय उसके मनसे निकल गया—उसे उसकी याद न रह सकी। साथ ही, पृथ्वी उसके रथके बायें पहियेको निगलने लगी ॥ ८२ ॥

ततो रथो घूर्णितवान् नरेन्द्र
शापात्तदा ब्राह्मणसत्तमस्य ।

ततश्चक्रमपतत्तस्य भूमौ
स विह्वलः समरे सूतपुत्रः ॥ ८३ ॥

नरेन्द्र ! श्रेष्ठ ब्राह्मणके शापसे उस समय उसका रथ डगमगाने लगा और उसका पहिया पृथ्वीमें धँस गया। यह देख सूतपुत्र कर्ण समराङ्गणमें व्याकुल हो उठा ॥ ८३ ॥

सवेदिकश्चैत्य इवातिमात्रः
सुपुष्पितो भूमितले निमग्नः ।
घूर्णे रथे ब्राह्मणस्याभिशापाद्
रामादुपात्ते त्वविभाति चास्त्रे ॥८४॥
छिन्ने शरे सर्पमुखे च घोरे
पार्थेन तस्मिन् विषसाद कर्णः ।
अमृष्यमाणो व्यसनानि तानि
हस्तौ विधुन्वन् स विगर्हमाणः॥ ८५ ॥

जैसे सुन्दर पुष्पोंसे युक्त विशाल चैत्यवृक्ष वेदीसहित पृथ्वीमें धँस जाय, वही दशा उस रथकी भी हुई। ब्राह्मणके शापसे जब रथ डगमग करने लगा, परशुरामजीसे प्राप्त हुआ अस्त्र भूल गया और घोर सर्पमुख बाण अर्जुनके द्वारा काट डाला गया, तब उस अवस्थामें उन संकटोंको सहन न कर सकनेके कारण कर्ण खिन्न हो उठा और दोनों हाथ हिला-हिलाकर धर्मकी निन्दा करने लगा ॥ ८४-८५ ॥

धर्मप्रधानं किल पाति धर्म
इत्यब्रुवन् धर्मविदः सदैव ।
वयं च धर्मे प्रयताम नित्यं
चर्तुं यथाशक्ति यथाश्रुतं च ॥
स चापि निघ्नाति न पाति भक्तान्
मन्ये न नित्यं परिपाति धर्मः ॥ ८६ ॥

'धर्मज्ञ पुरुषोंने सदा ही यह बात कही है कि 'धर्म-परायण पुरुषकी धर्म सदा रक्षा करता है। हम अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार सदा धर्मपालनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, किंतु वह भी हमें मारता ही है, भक्तोंकी रक्षा नहीं करता; अतः मैं समझता हूँ, धर्म सदा किसीकी रक्षा नहीं करता है' ॥

एवं ब्रुवन् प्रस्खलिताश्वसूतो
विचाल्यमानोऽर्जुनबाणपातैः ।
मर्माभिघाताच्छिथिलः क्रियासु
पुनः पुनर्धर्ममसौ जगर्ह ॥ ८७ ॥

ऐसा कहता हुआ कर्ण जब अर्जुनके बाणोंकी मारसे विचलित हो उठा, उसके घोड़े और सारथि लड़खड़ाकर गिरने लगे और मर्मपर आघात होनेसे वह कार्य करनेमें शिथिल हो गया, तब बारंबार धर्मकी ही निन्दा करने लगा ॥८७॥

ततः शरैर्भीमतरैरविध्यत् त्रिभिराहवे ।
हस्ते कृष्णं तथा पार्थमभ्यविध्यच्च सप्तभिः ॥ ८८ ॥

तदनन्तर उसने तीन भयानक बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें श्रीकृष्णके हाथमें चोट पहुँचायी और अर्जुनको भी सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ८८ ॥

ततोऽर्जुनः सप्तदश तिग्मवेगानजिह्मगान् ।
इन्द्राशनिसमान् घोरानसृजत् पावकोपमान्॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने इन्द्रके वज्र तथा अग्निके समान प्रचण्ड वेगशाली सत्रह घोर बाण कर्णपर छोड़े ॥ ८९ ॥

निर्भिद्य ते भीमवेगा ह्यपतन् पृथिवीतले ।
कम्पितात्मा ततः कर्णः शक्त्या चेष्टामदर्शयत् ॥९०॥

वे भयानक वेगशाली बाण कर्णको घायल करके पृथ्वी-पर गिर पड़े। इससे कर्ण काँप उठा। फिर भी यथाशक्ति युद्धकी चेष्टा दिखाता रहा ॥ ९० ॥

बलेनाथ स संस्तभ्य ब्रह्मास्त्रं समुदैरयत् ।
ऐन्द्रं ततोऽर्जुनश्चापि तं दृष्ट्वाभ्युपमन्त्रयत् ॥ ९१ ॥

उसने बलपूर्वक धैर्य धारण करके ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। यह देख अर्जुनने भी ऐन्द्रास्त्रको अभिमन्त्रित किया ॥९१॥

गाण्डीवं ज्यां च बाणांश्च सोऽनुमन्त्र्य परंतपः ।
व्यसृजच्छरवर्षाणि वर्षाणीव पुरन्दरः ॥ ९२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने गाण्डीव धनुष, प्रत्यञ्चा और बाणोंको भी अभिमन्त्रित करके वहाँ शरसमूहों-की उसी प्रकार वर्षा आरम्भ कर दी, जैसे इन्द्र जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ९२ ॥

ततस्तेजोमया बाणा रथात् पार्थस्य निःसृताः ।
प्रादुरासन् महावीर्याः कर्णस्य रथमन्तिकात्॥ ९३ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार अर्जुनके रथसे महान् शक्तिशाली और तेजस्वी बाण निकलकर कर्णके रथके समीप प्रकट होने लगे ॥ ९३ ॥

तान् कर्णस्त्वग्रतो न्यस्तान् मोघांश्चक्रे महारथः ।
ततोऽब्रवीद् वृष्णिवीरस्तस्मिन्नस्त्रे विनाशिते ॥९४॥

महारथी कर्णने अपने सामने आये हुए उन सभी बाणों-को व्यर्थ कर दिया। उस अस्त्रके नष्ट कर दिये जानेपर वृष्णिवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—॥ ९४ ॥

विसृजास्त्रं परं पार्थ राधेयो ग्रसते शरान् ।
ततो ब्रह्मास्त्रमत्युग्रं सम्मन्त्र्य समयोजयत् ॥ ९५ ॥

'पार्थ ! दूसरा कोई उत्तम अस्त्र छोड़ो। राधापुत्र कर्ण तुम्हारे बाणोंको नष्ट करता जा रहा है।' तब अर्जुनने अत्यन्त भयंकर ब्रह्मास्त्रको अभिमन्त्रित करके धनुषपर रक्खा ॥९५॥

छादयित्वा ततो बाणैः कर्णं प्रत्यस्यदर्जुनः ।
ततः कर्णः शितैर्बाणैर्ज्यां चिच्छेद सुतेजनैः ॥ ९६ ॥

और उसके द्वारा बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनने कर्णको आच्छादित कर दिया। इसके बाद भी वे लगातार बाणोंका प्रहार करते रहे। तब कर्णने तेज किये हुए पैने बाणोंसे अर्जुनके धनुषकी डोरी काट डाली ॥ ९६ ॥

द्वितीयां च तृतीयां च चतुर्थीं पञ्चमीं तथा ।
षष्ठीमथास्य चिच्छेद सप्तमीं च तथाष्टमीम् ॥ ९७ ॥

उसने क्रमशः दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं डोरी भी काट दी ॥ ९७ ॥

नवमीं दशमीं चास्य तथा चैकादशीं वृषः।
ज्याशतं शतसंधानः स कर्णो नावबुध्यते ॥ ९८ ॥

इतना ही नहीं, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं डोरी काटकर भी सौ बाणोंका संधान करनेवाले कर्णको यह पता नहीं चला कि अर्जुनके धनुषमें सौ डोरियाँ लगी हैं ॥ ९८ ॥

ततो ज्यां विनिधायान्यामभिमन्त्र्य च पाण्डवः।
शरैरवाकिरत् कर्णं दीप्यमानैरिवाहिभिः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर दूसरी डोरी चढ़ाकर पाण्डुकुमार अर्जुनने उसे भी अभिमन्त्रित किया और प्रज्वलित सर्पोंके समान बाणोंद्वारा कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ ९९ ॥

तस्य ज्याछेदनं कर्णो ज्यावधानं च संयुगे।
नान्वबुध्यत शीघ्रत्वात्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१००॥

युद्धस्थलमें अर्जुनके धनुषकी डोरी काटना और पुनः दूसरी डोरीका चढ़ जाना इतनी शीघ्रतासे होता था कि कर्णको भी उसका पता नहीं चलता था। वह एक अद्भुत-सी घटना थी ॥ १०० ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य प्रनिघ्नन् सव्यसाचिनः।
चक्रे चाप्यधिकं पार्थात् स्ववीर्यमतिदर्शयन् ॥१०१॥

कर्ण अपने अस्त्रोंद्वारा सव्यसाची अर्जुनके अस्त्रोंका निवारण करके उन सबको नष्ट कर दिया और अपने पराक्रमका प्रदर्शन करते हुए उसने अपने आपको अर्जुनसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर दिखाया ॥ १०१ ॥

ततः कृष्णोऽर्जुनं दृष्ट्वा कर्णास्त्रेण च पीडितम्।
अभ्यस्येत्यब्रवीत् पार्थमातिष्ठास्त्रं व्रजेति च ॥१०२॥

तब श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्णके अस्त्रसे पीड़ित हुआ देखकर कहा—'पार्थ! लगातार अस्त्र छोड़ो। उत्तम अस्त्रोंका प्रयोग करो और आगे बढ़े चलो' ॥ १०२ ॥

ततोऽग्निसदृशं घोरं शरं सर्पविषोपमम्।
अश्मसारमयं दिव्यमभिमन्त्र्य परंतपः ॥१०३॥
रौद्रमस्त्रं समाधाय क्षेप्तुकामः किरीटवान्।
ततोऽग्रसन्मही चक्रं राधेयस्य तदा नृप ॥ १०४ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने अग्नि और सर्पविषके समान भयंकर लोहमय दिव्य बाणको अभिमन्त्रित करके उसमें रौद्रास्त्रका आधान किया और उसे कर्णपर छोड़नेका विचार किया। नरेश्वर! इतनेहीमें पृथ्वीने राधापुत्र कर्णके पहियेको ग्रस लिया ॥ १०३-१०४ ॥

ततोऽवतीर्य राधेयो रथादाशु समुद्यतः।
चक्रं भुजाभ्यामालम्ब्य समुत्क्षेप्तुमियेष सः ॥१०५॥

यह देख राधापुत्र कर्ण शीघ्र ही रथसे उतर पड़ा और उद्योगपूर्वक अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको थामकर उसे ऊपर उठानेका विचार किया ॥ १०५ ॥

सप्तद्वीपा वसुमती सशैलवनकानना।
जीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता कर्णेन चतुरङ्गुलम् ॥१०६॥

कर्णने उस रथको ऊपर उठाते समय ऐसा झटका दिया कि सात द्वीपोंसे युक्त, पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी चक्रको निगले हुए ही चार अङ्गुल ऊपर उठ आयी ॥ १०६ ॥

ग्रस्तचक्रस्तु राधेयः क्रोधादश्रूण्यवर्तयत्।
अर्जुनं वीक्ष्य संरब्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥१०७॥

पहिया फँस जानेके कारण राधापुत्र कर्ण क्रोधसे आँसू बहाने लगा और रोषावेशसे युक्त अर्जुनकी ओर देखकर इस प्रकार बोला— ॥ १०७ ॥

भो भोः पार्थ महेष्वास मुहूर्तं परिपालय।
यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महीतलात् ॥१०८॥

'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल लूँ ॥ १०८ ॥

सव्यं चक्रं महीग्रस्तं दृष्ट्वा दैवादिदं मम।
पार्थ कापुरुषाचीर्णमभिसंधिं विसर्जय ॥१०९॥

'पार्थ! दैवयोगसे मेरे इस बायें पहियेको धरतीमें फँसा हुआ देखकर तुम कापुरुषोचित कपटपूर्ण बर्तावका परित्याग करो ॥ १०९ ॥

न त्वं कापुरुषाचीर्णं मार्गमास्थातुमर्हसि।
ख्यातस्त्वमसि कौन्तेय विशिष्टो रणकर्मसु ॥११०॥
विशिष्टतरमेव त्वं कर्तुमर्हसि पाण्डव।

'कुन्तीनन्दन! जिस मार्गपर कायर चला करते हैं, उसीपर तुम भी न चलो; क्योंकि तुम युद्धकर्ममें विशिष्ट वीरके रूपमें विख्यात हो। पाण्डुनन्दन! तुम्हें तो अपने आपको और भी विशिष्ट ही सिद्ध करना चाहिये ॥ ११०½ ॥

प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणेऽथ कृताञ्जलौ ॥१११॥
शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथार्जुन।
अबाणे भ्रष्टकवचे भ्रष्टभग्नायुधे तथा ॥११२॥
न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि शूराः साधुव्रते स्थिताः।

'अर्जुन! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथियार डाल चुका हो, प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते हैं ॥ १११-११२½ ॥

त्वं च शूरतमो लोके साधुवृत्तश्च पाण्डव ॥११३॥
अभिज्ञो युद्धधर्माणां वेदान्तावभृथाप्लुतः।
दिव्यास्त्रविदमेयात्मा कार्तवीर्यसमो युधि ॥११४॥

'पाण्डुनन्दन! तुम लोकमें महान् शूर और सदाचारी माने जाते हो। युद्धके धर्मोंको जानते हो। वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथस्नान कर चुके हो। तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। तुम अमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा युद्धस्थलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हो ॥ ११३-११४ ॥

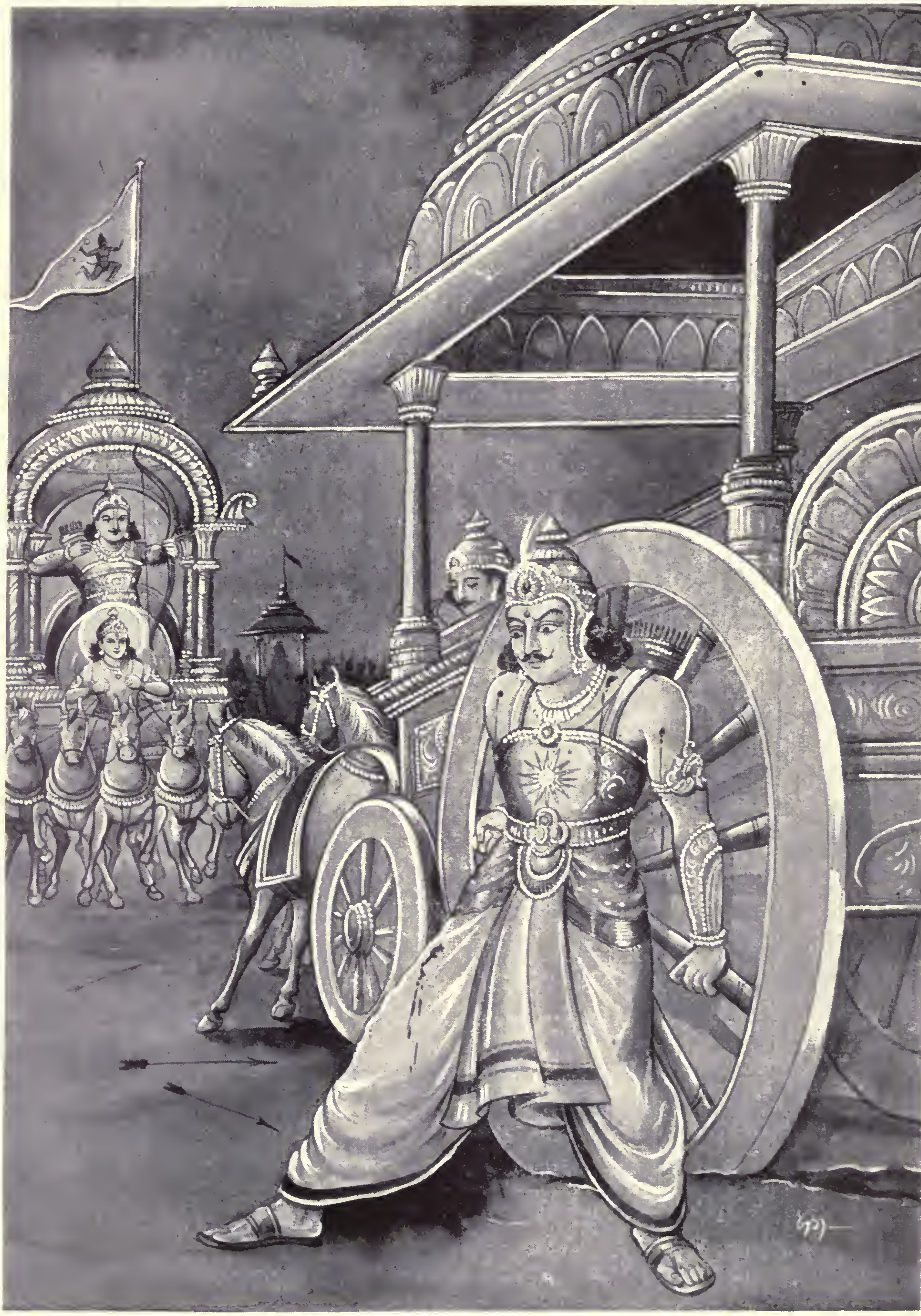

कर्णद्वारा पृथ्वीमें धँसे हुए पहियेको उठानेका प्रयत्न

यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महाभुज।
न मां रथस्थो भूमिष्ठं विकलं हन्तुमर्हसि ॥११५॥

'महाबाहो ! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल न करो ॥ ११५ ॥

न वासुदेवात् त्वत्तो वा पाण्डवेय बिभेम्यहम्।
त्वं हि क्षत्रियदायादो महाकुलविवर्धनः।
अतस्त्वां प्रब्रवीम्येष मुहूर्तं क्षम पाण्डव ॥११६॥

'पाण्डुपुत्र ! मैं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अथवा तुमसे तनिक भी डरता नहीं हूँ। तुम क्षत्रियके पुत्र हो, एक उच्च कुलका गौरव बढ़ाते हो; इसलिये तुमसे ऐसी बात कहता हूँ। पाण्डव ! तुम दो घड़ीके लिये मुझे क्षमा करो' ॥११६॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णरथचक्रग्रसने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णके रथके पहियेका पृथ्वीमें फँसना—इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥९०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ११८ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको चेतावनी देना और कर्णका वध

संजय उवाच

तमब्रवीद् वासुदेवो रथस्थो
राधेय दिष्ट्या स्मरसीह धर्मम्।
प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस समय रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी याद आ रही है! प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं। अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं ॥ १ ॥

यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां सभाया-
मानाययेस्त्वं च सुयोधनश्च।
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च
न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः ॥ २ ॥

'कर्ण ! जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबल-पुत्र शकुनिने एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलवाया था, उस समय तुम्हारे मनमें धर्मका विचार नहीं उठा था ? ॥ २ ॥

यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम्।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ३ ॥

'जब कौरवसभामें जूएके खेलका ज्ञान न रखनेवाले राजा युधिष्ठिरको शकुनिने जान-बूझकर छलपूर्वक हराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ३ ॥

वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥ ४ ॥

'कर्ण ! वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी जब तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ४ ॥

यद् भीमसेनं सर्पैश्च विषयुक्तैश्च भोजनैः।
आचरत् त्वन्मते राजा क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ५ ॥

'जब राजा दुर्योधनने तुम्हारी ही सलाह लेकर भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? ॥ ५ ॥

यद् वारणावते पार्थान् सुप्ताञ्जतुगृहे तदा।
आदीपयस्त्वं राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ६ ॥

'राधानन्दन ! उन दिनों वारणावतनगरमें लाक्षाभवनके भीतर सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? ॥ ६ ॥

यदा रजस्वलां कृष्णां दुःशासनवशे स्थिताम्।
सभायां प्राहसः कर्ण क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ७ ॥

'कर्ण ! भरी सभामें दुःशासनके वशमें पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदीको लक्ष्य करके जब तुमने उपहास किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ७ ॥

यदनार्यैः पुरा कृष्णां क्लिश्यमानामनागसम्।
उपप्रेक्षसि राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ८ ॥

'राधानन्दन ! पहले नीच कौरवोंद्वारा क्लेश पाती हुई निरपराध द्रौपदीको जब तुम निकटसे देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? ॥ ८ ॥

विनष्टाः पाण्डवाः कृष्णे शाश्वतं नरकं गताः।
पतिमन्यं वृणीष्वेति वदंस्त्वं गजगामिनीम् ॥ ९ ॥
उपप्रेक्षसि राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः।

'(याद है न, तुमने द्रौपदीसे कहा था) 'कृष्णे पाण्डव नष्ट हो गये, सदाके लिये नरकमें पड़ गये। अब तू किसी दूसरे पतिका वरण कर ले। जब तुम ऐसी बात कहते हुए गजगामिनी द्रौपदीको निकटसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ९½ ॥

राज्यलुब्धः पुनः कर्ण समाव्ययसि पाण्डवान्।
यदा शकुनिमाश्रित्य क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ १० ॥

'कर्ण ! फिर राज्यके लोभमें पड़कर तुमने शकुनिकी सलाहके अनुसार जब पाण्डवोंको दुबारा जूएके लिये बुलवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ १० ॥

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥ ११ ॥

'जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?॥ ११ ॥

यद्येष धर्मस्तत्र न विद्यते हि
किं सर्वथा तालुविशोषणेन ।
अद्येह धर्म्याणि विधत्स्व सूत
तथापि जीवन्न विमोक्ष्यसे हि ॥ १२ ॥

'यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, तथापि जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

नलो ह्यक्षैर्निर्जितः पुष्करेण
पुनर्यशो राज्यमवाप वीर्यात् ।
प्राप्तास्तथा पाण्डवा बाहुवीर्यात्-
सर्वैः समेताः परिवृत्तलोभाः ॥ १३ ॥
निहत्य शत्रून् समरे प्रवृद्धान्
ससोमका राज्यमवाप्नुयुस्ते ।
तथा गता धार्तराष्ट्रा विनाशं
धर्माभिगुप्तैः सततं नृसिंहैः ॥ १४ ॥

'पुष्करने राजा नलको जूएमें जीत लिया था; किंतु उन्होंने अपने ही पराक्रमसे पुनः अपने राज्य और यश दोनोंको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार लोभशून्य पाण्डव भी अपनी भुजाओंके बलसे सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धियोंके साथ रहकर समराङ्गणमें बढ़े-चढ़े शत्रुओंका संहार करके फिर अपना राज्य प्राप्त करेंगे । निश्चय ही ये सोमकोंके साथ अपने राज्यपर अधिकार कर लेंगे । पुरुषसिंह पाण्डव सदैव अपने धर्मसे सुरक्षित हैं; अतः इनके द्वारा अवश्य धृतराष्ट्रके पुत्रोंका नाश हो जायगा' ॥ १३-१४ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तदा कर्णो वासुदेवेन भारत ।
लज्जयावनतो भूत्वा नोत्तरं किञ्चिदुक्तवान् ॥ १५ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया, उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना ॥ १५ ॥

क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठो धनुरुद्यम्य भारत ।
योधयामास वै पार्थं महावेगपराक्रमः ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! वह महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न हो क्रोधसे ओठ फड़फड़ाता हुआ धनुष उठाकर अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ १६ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः फाल्गुनं पुरुषर्षभम् ।
दिव्यास्त्रेणैव निर्भिद्य पातयस्व महाबल ॥ १७ ॥

तब वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने पुरुषप्रवर अर्जुनसे इस प्रकार कहा— 'महाबली वीर ! तुम कर्णको दिव्यास्त्रसे ही घायल करके मार गिराओ' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन क्रोधमागात्तदार्जुनः ।
मन्युमभ्याविशद् घोरं स्मृत्वा तत्तु धनंजयः॥ १८ ॥

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर अर्जुन उस समय कर्णके प्रति अत्यन्त कुपित हो उठे । उसकी पिछली करतूतोंको याद करके उनके मनमें भयानक रोष जाग उठा ॥ १८ ॥

तस्य क्रुद्धस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
प्रादुरासंस्तदा राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १९ ॥

कुपित होनेपर उनके सभी छिद्रोंसे—रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं । राजन् ! उस समय यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १९ ॥

तत् समीक्ष्य ततः कर्णो ब्रह्मास्त्रेण धनंजयम् ।
अभ्यवर्षत् पुनर्यत्नमकरोद् रथसर्जने ॥ २० ॥

यह देख कर्णने अर्जुनपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके बाणोंकी झड़ी लगा दी और पुनः रथको उठानेका प्रयत्न किया॥

ब्रह्मास्त्रेणैव तं पार्थो ववर्ष शरवृष्टिभिः ।
तदस्त्रमस्त्रेणावार्य प्रजहार च पाण्डवः ॥ २१ ॥

तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रसे ही उसके अस्त्रको दबाकर उसके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी और उसे अच्छी तरह घायल किया ॥ २१ ॥

ततोऽन्यदस्त्रं कौन्तेयो दयितं जातवेदसः ।
मुमोच कर्णमुद्दिश्य तत् प्रजज्वाल तेजसा ॥ २२ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमारने कर्णको लक्ष्य करके दूसरे दिव्यास्त्रका प्रयोग किया, जो जातवेदा अग्निका प्रिय अस्त्र था । वह आग्नेयास्त्र अपने तेजसे प्रज्वलित हो उठा ॥ २२ ॥

वारुणेन ततः कर्णः शमयामास पावकम् ।
जीमूतैश्च दिशः सर्वाश्चक्रे तिमिरदुर्दिनाः ॥ २३ ॥

परंतु कर्णने वारुणास्त्रका प्रयोग करके उस अग्निको बुझा दिया । साथ ही सम्पूर्ण दिशाओंमें मेघोंकी घटा घिर आयी और सब ओर अन्धकार छा गया ॥ २३ ॥

पाण्डवेयस्त्वसम्भ्रान्तो वायव्यास्त्रेण वीर्यवान् ।
अपोवाह तदाभ्राणि राधेयस्य प्रपश्यतः ॥ २४ ॥

पराक्रमी अर्जुन इससे विचलित नहीं हुए । उन्होंने राधापुत्र कर्णके देखते-देखते वायव्यास्त्रसे उन बादलोंको उड़ा दिया ॥ २४ ॥

ततः शरं महाघोरं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
आददे पाण्डुपुत्रस्य सूतपुत्रो जिघांसया ॥ २५ ॥

तब सूतपुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनका वध करनेके लिये जलती हुई आगके समान एक महाभयंकर बाण हाथमें लिया॥

योज्यमाने ततस्तस्मिन् बाणे धनुषि पूजिते ।
चचाल पृथिवी राजन् सशैलवनकानना ॥ २६ ॥

राजन् ! उस उत्तम बाणको धनुषपर चढ़ाते ही पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी डगमगाने लगी ॥ २६ ॥

ववौ सशर्करो वायुर्दिशश्च रजसा वृताः ।

हाहाकारश्च संजज्ञे सुराणां दिवि भारत ॥ २७ ॥

भारत ! कंकड़ोंकी वर्षा करती हुई प्रचण्ड वायु चलने लगी । सम्पूर्ण दिशाओंमें धूल छा गयी और स्वर्गके देवताओंमें भी हाहाकार मच गया ॥ २७ ॥

तमिषुं संधितं दृष्ट्वा सूतपुत्रेण मारिष ।
विषादं परमं जग्मुः पाण्डवा दीनचेतसः ॥ २८ ॥

माननीय नरेश ! जब सूतपुत्रने उस बाणका संधान किया, उस समय उसे देखकर समस्त पाण्डव दीनचित्त हो बड़े भारी विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

स सायकः कर्णभुजप्रमुक्तः
शक्राशनिप्रख्यरुचिः शिताग्रः ॥ २९ ॥
भुजान्तरं प्राप्य धनंजयस्य
विवेश वल्मीकमिवोरगोत्तमः ।

कर्णके हाथसे छूटा हुआ वह बाण इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहा था । उसका अग्रभाग बहुत तेज था । वह अर्जुनकी छातीमें जा लगा और जैसे उत्तम सर्प बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह उनके वक्षःस्थलमें समा गया २९½

स गाढविद्धः समरे महात्मा
विघूर्णमानः श्लथहस्तगाण्डिवः॥ ३० ॥
चचाल बीभत्सुरमित्रमर्दनः
क्षितेः प्रकम्पे च यथाचलोत्तमः।

समराङ्गणमें उस बाणकी गहरी चोट खाकर महात्मा अर्जुनको चक्कर आ गया । गाण्डीव धनुषपर रक्खा हुआ उनका हाथ ढीला पड़ गया और वे शत्रुमर्दन अर्जुन भूकम्पके समय हिलते हुए श्रेष्ठ पर्वतके समान काँपने लगे ॥३०½॥

तदन्तरं प्राप्य वृषो महारथो
रथाङ्गमुर्वीगतमुज्जिहीर्षुः ॥ ३१ ॥
रथादवप्लुत्य निगृह्य दोर्भ्यां
शशाक दैवान्न महाबलोऽपि ।

इसी बीचमें मौका पाकर महारथी कर्णने धरतीमें धँसे हुए पहियेको निकालनेका विचार किया । वह रथसे कूद पड़ा और दोनों हाथोंसे पकड़कर उसे ऊपर उठानेकी कोशिश करने लगा; परंतु महाबलवान् होनेपर भी वह दैववश अपने प्रयासमें सफल न हो सका ॥ ३१½ ॥

ततः किरीटी प्रतिलभ्य संज्ञां
जग्राह बाणं यमदण्डकल्पम् ॥ ३२ ॥
ततोऽर्जुनः प्राञ्जलिकं महात्मा
ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽपि पार्थम् ।
छिन्ध्यस्य मूर्धानमरेः शरेण
न यावदारोहति वै रथं वृषः ॥ ३३ ॥

इसी समय होशमें आकर किरीटधारी महात्मा अर्जुनने यमदण्डके समान भयंकर अञ्जलिक नामक बाण हाथमें लिया । यह देख भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता, तबतक ही अपने बाणके द्वारा इस शत्रुका मस्तक काट डालो' ॥ ३२-३३ ॥

तथैव सम्पूज्य स तद् वचः प्रभो-
स्ततः शरं प्रज्वलितं प्रगृह्य ।
जघान कक्षाममलार्कवर्णां
महारथे रथचक्रे विमग्ने ॥ ३४ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और उस प्रज्वलित बाणको हाथमें लेकर जिसका पहिया फँसा हुआ था, कर्णके उस विशाल रथपर फहराती हुई सूर्यके समान प्रकाशमान ध्वजापर प्रहार किया ॥ ३४ ॥

तं हस्तिकक्षाप्रवरं च केतुं
सुवर्णमुक्तामणिवज्रपृष्ठम् ।
ज्ञानप्रकर्षोत्तमशिल्पियुक्तैः
कृतं सुरूपं तपनीयचित्रम् ॥ ३५ ॥

हाथीकी साँकलके चिह्नसे युक्त उस श्रेष्ठ ध्वजाके पृष्ठभागमें सुवर्ण, मुक्ता, मणि और हीरे जड़े हुए थे । अत्यन्त ज्ञानवान् एवं उत्तम शिल्पियोंने मिलकर उस सुवर्णजटित सुन्दर ध्वजका निर्माण किया था ॥ ३५ ॥

जयास्पदं तव सैन्यस्य नित्य-
ममित्रवित्रासनमीड्यरूपम् ।
विख्यातमादित्यसमं स्म लोके
त्विषा समं पावकभानुचन्द्रैः ॥ ३६ ॥

वह विश्वविख्यात ध्वजा आपकी सेनाकी विजयका आधार स्तम्भ होकर सदा शत्रुओंको भयभीत करती रहती थी। उसका स्वरूप प्रशंसाके ही योग्य था । वह अपनी प्रभासे सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी समानता करती थी ॥ ३६ ॥

ततः क्षुरप्रेण सुसंशितेन
सुवर्णपुङ्खेन हुताग्निवर्चसा ।
श्रिया ज्वलन्तं ध्वजमुन्ममाथ
महारथस्याधिरथेः किरीटी ॥ ३७ ॥

किरीटधारी अर्जुनने सोनेके पंखवाले और आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान तेजस्वी उस तीखे क्षुरप्रसे महारथी कर्णके उस ध्वजको नष्ट कर दिया, जो अपनी प्रभासे निरन्तर देदीप्यमान होता रहता था ॥ ३७ ॥

यशश्च दर्पश्च तथा प्रियाणि
सर्वाणि कार्याणि च तेन केतुना ।
साकं कुरूणां हृदयानि चापतन्
बभूव हाहेति च निःस्वनो महान्॥ ३८ ॥

कटकर गिरते हुए उस ध्वजके साथ ही कौरवोंके यश, अभिमान, समस्त प्रिय कार्य तथा हृदयका भी पतन हो गया और चारों ओर महान् हाहाकार मच गया ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा ध्वजं पातितमाशुकारिणा
कुरुप्रवीरेण निकृत्तमाहवे ।

नाशंसिरे सूतपुत्रस्य सर्वे
जयं तदा भारत ये त्वदीयाः ॥ ३९ ॥

भारत ! शीघ्रकारी कौरव वीर अर्जुनके द्वारा युद्धस्थलमें उस ध्वजको काटकर गिराया हुआ देख उस समय आपके सभी सैनिकोंने सूतपुत्रकी विजयकी आशा त्याग दी ॥ ३९ ॥

अथ त्वरन् कर्णवधाय पार्थो
महेन्द्रवज्रानलदण्डसंनिभम् ।
आदत्त चाथाञ्जलिकं निषङ्गात्
सहस्ररश्मेरिव रश्मिमुत्तमम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर कर्णके वधके लिये शीघ्रता करते हुए अर्जुनने अपने तरकससे एक अञ्जलिक नामक बाण निकाला, जो इन्द्रके वज्र और अग्निके दण्डके समान भयंकर तथा सूर्यकी एक उत्तम किरणके समान कान्तिमान् था ॥ ४० ॥

मर्मच्छिदं शोणितमांसदिग्धं
वैश्वानरार्कप्रतिमं महार्हम् ।
नराश्वनागासुहरं त्र्यरत्निं
षड्वाजमञ्जोगतिमुग्रवेगम् ॥ ४१ ॥
सहस्रनेत्राशनितुल्यवीर्यं
कालानलं व्यात्तमिवातिघोरम् ।
पिनाकनारायणचक्रसंनिभं
भयङ्करं प्राणभृतां विनाशनम् ॥ ४२ ॥

वह शत्रुके मर्मस्थलको छेदनेमें समर्थ, रक्त और मांससे लिप्त होनेवाला, अग्नि तथा सूर्यके तुल्य तेजस्वी, बहुमूल्य, मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण लेनेवाला, मूठी बँधे हुए हाथसे तीन हाथ बड़ा, छः पंखोंसे युक्त, शीघ्रगामी, भयंकर वेगशाली, इन्द्रके वज्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेवाला, मुँह बाये हुए कालाग्निके समान अत्यन्त भयानक, भगवान् शिवके पिनाक और नारायणके चक्र-सदृश भयदायक तथा प्राणियोंका विनाश करनेवाला था ॥ ४१-४२ ॥

जग्राह पार्थः स शरं प्रहृष्टो
यो देवसङ्घैरपि दुर्निवार्यः ।
सम्पूजितो यः सततं महात्मा
देवासुरान् यो विजयेन्महेषुः ॥ ४३ ॥

देवताओंके समुदाय भी जिनकी गतिको अनायास नहीं रोक सकते, जो सदा सबके द्वारा सम्मानित, महामनस्वी, विशाल बाण धारण करनेवाले और देवताओं तथा असुरोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हैं, उन कुन्तीकुमार अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर उस बाणको हाथमें लिया ॥ ४३ ॥

तं वै प्रमृष्टं प्रसमीक्ष्य युद्धे
चचाल सर्वं सचराचरं जगत् ।
स्वस्ति जगत् स्याद‍ृषयः प्रचुक्रुशु-
स्तमुद्यतं प्रेक्ष्य महाहवेषुम् ॥ ४४ ॥

महायुद्धमें उस बाणको हाथमें लिया और ऊपर उठाया गया देख समस्त चराचर जगत् काँप उठा। ऋषिलोग जोर-जोरसे पुकार उठे कि 'जगत्का कल्याण हो !' ॥ ४४ ॥

ततस्तु तं वै शरमप्रमेयं
गाण्डीवधन्वा धनुषि व्ययोजयत् ।
युक्त्वा महास्त्रेण परेण चापं
विकृष्य गाण्डीवमुवाच सत्वरम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् गाण्डीवधारी अर्जुनने उस अप्रमेय शक्तिशाली बाणको धनुषपर रक्खा और उसे उत्तम एवं महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित करके तुरंत ही गाण्डीवको खींचते हुए कहा—॥

अयं महास्त्रप्रहितो महाशरः
शरीरहृच्चासुहरश्च दुर्हृदः ।
तपोऽस्ति तप्तं गुरवश्च तोषिता
मया यदीष्टं सुहृदां श्रुतं तथा ॥ ४६ ॥
अनेन सत्येन निहन्त्वयं शरः
सुसंहितः कर्णमरिं ममोर्जितम् ।
इत्यूचिवांस्तं प्रमुमोच बाणं
धनंजयः कर्णवधाय घोरम् ॥ ४७ ॥

'यह महान् दिव्यास्त्रसे प्रेरित महाबाण शत्रुके शरीर, हृदय और प्राणोंका विनाश करनेवाला है। यदि मैंने तप किया हो, गुरुजनोंको सेवाद्वारा संतुष्ट रक्खा हो, यज्ञ किया हो और हितैषी मित्रोंकी बातें ध्यान देकर सुनी हो तो इस सत्यके प्रभावसे यह अच्छी तरह संधान किया हुआ बाण मेरे शक्तिशाली शत्रु कर्णका नाश कर डाले, ऐसा कहकर धनंजयने उस घोर बाणको कर्णके वधके लिये छोड़ दिया ॥ ४६-४७ ॥

कृत्यामथर्वाङ्गिरसीमिवोग्रां
दीप्तामसह्यां युधि मृत्युनापि ।
ब्रुवन् किरीटी तमतिप्रहृष्टो
ह्ययं शरो मे विजयावहोऽस्तु ॥ ४८ ॥
जिघांसुरर्केन्दुसमप्रभावः
कर्णं मयास्तो नयतां यमाय ।

जैसे अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंद्वारा आभिचारिक प्रयोग करके उत्पन्न की हुई कृत्या उग्र, प्रज्वलित और युद्धमें मृत्युके लिये भी असह्य होती है, उसी प्रकार वह बाण भी था। किरीटधारी अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न होकर उस बाणको लक्ष्य करके बोले—'मेरा यह बाण मुझे विजय दिलानेवाला हो। इसका प्रभाव चन्द्रमा और सूर्यके समान है। मेरा छोड़ा हुआ यह घातक अस्त्र कर्णको यमलोक पहुँचा दे' ॥ ४८½ ॥

तेनेषुवर्येण किरीटमाली
प्रहृष्टरूपो विजयावहेन ॥ ४९ ॥
जिघांसुरर्केन्दुसमप्रभेण
चक्रे विषक्तं रिपुमाततायी ।

किरीटधारी अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अपने शत्रुको मारनेकी इच्छासे आततायी बन गये थे। उन्होंने चन्द्रमा

कर्णवध

और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले उस विजयदायक श्रेष्ठ बाणसे अपने शत्रुको बींध डाला ॥ ४९½ ॥

तथा विमुक्तो बलिनार्कतेजाः
प्रज्वालयामास दिशो नभश्च ।
ततोऽर्जुनस्तस्य शिरो जहार
वृत्रस्य वज्रेण यथा महेन्द्रः ॥ ५० ॥

बलवान् अर्जुनके द्वारा इस प्रकार छोड़ा हुआ वह सूर्यके तुल्य तेजस्वी बाण आकाश एवं दिशाओंको प्रकाशित करने लगा। जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे वृत्रासुरका मस्तक काट लिया था, उसी प्रकार अर्जुनने उस बाणद्वारा कर्णका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ५० ॥

शरोत्तमेनाञ्जलिकेन राजं-
स्तदा महास्त्रप्रतिमन्त्रितेन ।
पार्थोऽपराह्णे शिर उच्चकर्त
वैकर्तनस्याथ महेन्द्रसूनुः ॥ ५१ ॥

राजन्! महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा इन्द्रपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुनने अपराह्णकालमें वैकर्तन कर्णका सिर काट लिया ॥ ५१ ॥

तत् प्रापतच्चाञ्जलिकेन छिन्न-
मथास्य कायो निपपात पश्चात् ।
तदुद्यतादित्यसमानतेजसं
शरन्नभोमध्यगभास्करोपमम् ॥ ५२ ॥
वराङ्गमुर्व्यामपतच्चमूमुखे
दिवाकरोऽस्तादिव रक्तमण्डलः ।

अञ्जलिकसे कटा हुआ कर्णका वह मस्तक पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके बाद उसका शरीर भी धराशायी हो गया। जैसे लाल मण्डलवाला सूर्य अस्ताचलसे नीचे गिरता है, उसी प्रकार उदित सूर्यके समान तेजस्वी तथा शरत्कालीन आकाशके मध्यभागमें तपनेवाले भास्करके समान दुःसह वह मस्तक सेनाके अग्रभागमें पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२½ ॥

ततोऽस्य देहं सततं सुखोचितं
सुरूपमत्यर्थमुदारकर्मणः ॥ ५३ ॥
परेण कृच्छ्रेण शिरः समत्यजद्
गृहं महर्द्धीव ससङ्गमीश्वरः ।

तदनन्तर सदा सुख भोगनेके योग्य, उदारकर्मा कर्णके उस अत्यन्त सुन्दर शरीरको उसके मस्तकने बड़ी कठिनाईसे छोड़ा। ठीक उसी तरह, जैसे धनवान् पुरुष अपने समृद्धिशाली घरको और मन एवं इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष सत्सङ्गको बड़े कष्टसे छोड़ पाता है ॥ ५३½ ॥

शरैर्विभिन्नं व्यसु तत् सुवर्चसः
पपात कर्णस्य शरीरमुच्छ्रितम् ॥ ५४ ॥
स्रवद्व्रणं गैरिकतोयविस्रवं
गिरेर्यथा वज्रहतं महाशिरः ।
देहाच्च कर्णस्य निपातितस्य
तेजः सूर्यं खं वितत्याविवेश ॥ ५५ ॥

तेजस्वी कर्णका वह ऊँचा शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो घावोंसे खूनकी धारा बहाता हुआ प्राणशून्य होकर गिर पड़ा, मानो वज्रके आघातसे भग्न हुआ किसी पर्वतका विशाल शिखर गेरुमिश्रित जलकी धारा बहा रहा हो। धरतीपर गिराये गये कर्णके शरीरसे एक तेज निकलकर आकाशमें फैल गया और ऊपर जाकर सूर्यमण्डलमें विलीन हो गया ५४-५५

तदद्भुतं सर्वमनुष्ययोधाः
संदृष्टवन्तो निहते स्म कर्णे ।
ततः शङ्खान् पाण्डवा दध्मुरुच्चै-
र्दृष्ट्वा कर्णं पातितं फाल्गुनेन ॥ ५६ ॥

इस अद्भुत दृश्यको वहाँ खड़े हुए सब लोगोंने अपनी आँखों देखा था। कर्णके मारे जानेपर उसे अर्जुनद्वारा गिराया हुआ देख पाण्डवोंने उच्चस्वरसे शङ्ख बजाया ॥ ५६ ॥

तथैव कृष्णश्च धनंजयश्च
हृष्टौ यमौ दध्मतुर्वारिजातौ ।
तं सोमकाः प्रेक्ष्य हतं शयानं
सैन्यैः सार्धं सिंहनादान् प्रचक्रुः ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा हर्षमें भरे हुए नकुल-सहदेवने भी शङ्ख बजाये। सोमकगण कर्णको मरकर गिरा हुआ देख अपनी सेनाओंके साथ सिंहनाद करने लगे ॥५७॥

तूर्याणि संजघ्नुरतीव हृष्टा
वासांसि चैवादुधुवुर्भुजांश्च ।
संवर्धयन्तश्च नरेन्द्र योधाः
पार्थं समाजग्मुरतीव हृष्टाः ॥ ५८ ॥

वे बड़े हर्षमें भरकर बाजे-बजाने और कपड़े तथा हाथ हिलाने लगे। नरेन्द्र! अत्यन्त हर्षमें भरे हुए पाण्डव योद्धा अर्जुनको बधाई देते हुए उनके पास आकर मिले ॥ ५८ ॥

बलान्विताश्चापरे ह्यप्यनृत्य-
न्नन्योन्यमाश्लिष्य नदन्त ऊचुः ।
दृष्ट्वा तु कर्णं भुवि वा विपन्नं
कृत्तं रथात् सायकैरर्जुनस्य ॥ ५९ ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न एवं प्राणशून्य हुए कर्णको रथसे नीचे पृथ्वीपर गिरा देख दूसरे बलवान् सैनिक एक दूसरेको गलेसे लगाकर नाचते और गर्जते हुए बातें करते थे ॥ ५९ ॥

महानिलेनाद्रिमिवापविद्धं
यज्ञावसानेऽग्निमिव प्रशान्तम् ।
रराज कर्णस्य शिरो निकृत्त-
मस्तं गतं भास्करस्येव बिम्बम् ॥ ६० ॥

कर्णका वह कटा हुआ मस्तक वायुके वेगसे टूटकर गिरे हुए पर्वतखण्डके समान, यज्ञके अन्तमें बुझी हुई अग्निके सदृश तथा अस्ताचलपर पहुँचे हुए सूर्यके बिम्बकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ६० ॥

शरैराचितसर्वाङ्गः शोणितौघपरिप्लुतः ।
विभाति देहः कर्णस्य स्वरश्मिभिरिवांशुमान्॥ ६१ ॥

सभी अङ्गोंमें बाणोंसे व्याप्त और खूनसे लथपथ हुआ कर्णका शरीर अपनी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ ६१ ॥

प्रताप्य सेनामामित्रीं दीप्तैः शरगभस्तिभिः ।
बलिनार्जुनकालेन नीतोऽस्तं कर्णभास्करः ॥ ६२ ॥

बाणमयी उद्दीप्त किरणोंसे शत्रुकी सेनाको तपाकर कर्णरूपी सूर्य बलवान् अर्जुनरूपी कालसे प्रेरित हो अस्ताचलको जा पहुँचा ॥ ६२ ॥

अस्तं गच्छन् यथादित्यः प्रभामादाय गच्छति ।
तथा जीवितमादाय कर्णस्येषुर्जगाम सः ॥ ६३ ॥

जैसे अस्ताचलको जाता हुआ सूर्य अपनी प्रभाको लेकर चला जाता है, उसी प्रकार वह बाण कर्णके प्राण लेकर चला गया॥

अपराह्णेऽपराह्णोऽस्य सूतपुत्रस्य मारिष ।
छिन्नमञ्जलिकेनाजौ सोत्सेधमपतच्छिरः ॥ ६४ ॥

माननीय नरेश ! दान देते समय जो दूसरे दिनके लिये वादा नहीं करता था, उस सूतपुत्र कर्णका अञ्जलिक नामक बाणसे कटा हुआ देहसहित मस्तक अपराह्णकालमें धराशायी हो गया॥

उपर्युपरि सैन्यानामस्य शत्रोस्तदञ्जसा ।
शिरः कर्णस्य सोत्सेधमिषुः सोऽप्यहरद् द्रुतम्॥ ६५ ॥

उस बाणने सारी सेनाके ऊपर-ऊपर जाकर अर्जुनके शत्रुभूत कर्णके शरीरसहित मस्तकको वेगपूर्वक अनायास ही काट डाला था ॥ ६५ ॥

कर्णं तु शूरं पतितं पृथिव्यां
शराचितं शोणितदिग्धगात्रम् ।
दृष्ट्वा शयानं भुवि मद्रराज-
श्छिन्नध्वजेनाथ ययौ रथेन ॥ ६६ ॥

शूरवीर कर्णको बाणसे व्याप्त और खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा हुआ देख मद्रराज शल्य उस कटी हुई ध्वजावाले रथके द्वारा ही वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ६६ ॥

हते कर्णे कुरवः प्राद्रवन्त
भयार्दिता गाढविद्धाश्च संख्ये ।
अवेक्षमाणा मुहुरर्जुनस्य
ध्वजं महान्तं वपुषा ज्वलन्तम् ॥ ६७ ॥

कर्णके मारे जानेपर युद्धमें अत्यन्त घायल हुए कौरव-सैनिक अर्जुनके प्रज्वलित होते हुए महान् ध्वजको बारंबार देखते हुए भयसे पीड़ित हो भागने लगे ॥ ६७ ॥

सहस्रनेत्रप्रतिमानकर्मणः
सहस्रपत्रप्रतिमाननं शुभम् ।
सहस्ररश्मिर्दिनसंक्षये यथा
तथापतत् कर्णशिरो वसुंधराम् ॥ ६८ ॥

सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी कर्णका सहस्रदल कमलके समान वह सुन्दर मस्तक उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे सायंकालमें सहस्र किरणोंवाले सूर्यका मण्डल अस्त हो जाता है ॥ ६८ ॥

(व्यूढोरस्कं कमलनयनं तप्तहेमावभासं
कर्णं दृष्ट्वा भुवि निपतितं पार्थबाणाभितप्तम् ।
पांशुग्रस्तं मलिनमसकृत् पुत्रमन्वीक्षमाणो
मन्दं मन्दं व्रजति सविता मन्दिरं मन्दरश्मिः॥)

जिसकी छाती चौड़ी और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे तथा कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान जान पड़ती थी, वह कर्ण अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो धरतीपर पड़ा, धूलमें सना मलिन हो गया था । अपने उस पुत्रकी ओर बारंबार देखते हुए मन्द किरणोंवाले सूर्यदेव धीरे-धीरे अपने मन्दिर (अस्ताचल) की ओर जा रहे थे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णवधे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णवधविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६९ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

कौरवोंका शोक, भीम आदि पाण्डवोंका हर्ष, कौरव-सेनाका पलायन और दुःखित शल्यका दुर्योधनको सान्त्वना देना

संजय उवाच

शल्यस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे
बलानि दृष्ट्वा मृदितानि बाणैः ।
ययौ हते चाधिरथौ पदानुगे
रथेन संछिन्नपरिच्छदेन ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कर्ण और अर्जुनके संग्राममें बाणोंद्वारा सारी सेनाएँ रौंद डाली गयी थीं और अधिरथपुत्र कर्ण पैदल होकर मारा गया था। यह सब देखकर राजा शल्य, जिसका आवरण एवं अन्य सारी सामग्री नष्ट कर दी गयी थी, उस रथके द्वारा वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

निपातितस्यन्दनवाजिनागं
बलं च दृष्ट्वा हतसूतपुत्रम् ।
दुर्योधनोऽश्रुप्रतिपूर्णनेत्रो
दीनो मुहुर्निःश्वसंश्चार्तरूपः ॥ २ ॥

कौरव-सेनाके रथ, घोड़े और हाथी मार डाले गये थे । सूतपुत्रका भी वध कर दिया गया था । उस अवस्थामें उस सेनाको देखकर दुर्योधनकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह बारंबार लंबी साँस खींचता हुआ दीन एवं दुखी हो गया ॥

कर्णं तु शूरं पतितं पृथिव्यां
शराचितं शोणितदिग्धगात्रम्।
यदृच्छया सूर्यमिवावनिस्थं
दिदृक्षवः सम्परिवार्य तस्थुः ॥ ३ ॥

शूरवीर कर्ण पृथ्वीपर पड़ा हुआ था। उसके शरीरमें बहुत-से बाण व्याप्त हो रहे थे तथा सारा अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहा था। उस अवस्थामें दैवेच्छासे पृथ्वीपर उतरे हुए सूर्यके समान उसे देखनेके लिये सब लोग उसकी लाशको घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

प्रहृष्टवित्रस्तविषण्णविस्मिता-
स्तथा परे शोकहता इवाभवन्।
परे त्वदीयाश्च परस्परेण
यथायथैषां प्रकृतिस्तथाभवन् ॥ ४ ॥

कोई प्रसन्न था तो कोई भयभीत। कोई विषादग्रस्त था तो कोई आश्चर्यचकित तथा दूसरे बहुत-से लोग शोकसे मृतप्राय हो रहे थे। आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जिसकी जैसी प्रकृति थी, वे परस्पर उसी भावमें मग्न थे॥४॥

प्रविद्धवर्माभरणाम्बरायुधं
धनंजयेनाभिहतं महौजसम्।
निशाम्य कर्णं कुरवः प्रदुद्रुवु-
र्हतर्षभा गाव इवाजने वने ॥ ५ ॥

जिसके कवच, आभूषण, वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न होकर पड़े थे, उस महाबली कर्णको अर्जुनद्वारा मारा गया देख कौरवसैनिक निर्जन वनमें साँड़के मारे जानेपर भागनेवाली गायोंके समान इधर-उधर भाग चले ॥ ५ ॥

भीमश्च भीमेन तदा स्वनेन
नादं कृत्वा रोदसीः कम्पयानः।
आस्फोटयन् वल्गते नृत्यते च
हते कर्णे त्रासयन् धार्तराष्ट्रान् ॥ ६ ॥

कर्णके मारे जानेपर धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करते हुए भीमसेन भयंकर स्वरसे सिंहनाद करके आकाश और पृथ्वीको कँपाने तथा ताल ठोंककर नाचने-कूदने लगे॥ ६ ॥

तथैव राजन् सोमकाः सृञ्जयाश्च
शङ्खान् दध्मुः सस्वजुश्चापि सर्वे।
परस्परं क्षत्रिया हृष्टरूपाः
सूतात्मजे वै निहते तदानीम् ॥ ७ ॥

राजन्! इसी प्रकार समस्त सोमक और संजय भी शङ्ख बजाने और एक दूसरेको छातीसे लगाने लगे। सूतपुत्रके मारे जानेपर उस समय पाण्डवदलके सभी क्षत्रिय परस्पर हर्षमग्न हो रहे थे ॥ ७ ॥

कृत्वा विमर्दं महदर्जुनेन
कर्णो हतः केसरिणेव नागः।
तीर्णा प्रतिज्ञा पुरुषर्षभेण
वैरस्यान्तं गतवांश्चापि पार्थः ॥ ८ ॥

जैसे सिंह हाथीको पछाड़ देता है, उसी प्रकार पुरुषप्रवर अर्जुनने बड़ी भारी मार-काट मचाकर कर्णका वध किया, अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और उन्होंने वैरका अन्त कर दिया ॥ ८ ॥

मद्राधिपश्चापि विमूढचेता-
स्तूर्णं रथेनापकृतध्वजेन।
दुर्योधनस्यान्तिकमेत्य राजन्
सबाष्पदुःखाद् वचनं बभाषे ॥ ९ ॥

राजन्! जिसकी ध्वजा काट दी गयी थी, उस रथके द्वारा मद्रराज शल्य भी विमूढ़चित्त होकर तुरंत दुर्योधनके पास गये और दुःखसे आँसू बहाते हुए इस प्रकार बोले—॥

विशीर्णनागाश्वरथप्रवीरं
बलं त्वदीयं यमराष्ट्रकल्पम्।
अन्योन्यमासाद्य हतं महद्भि-
र्नराश्वनागैर्गिरिकूटकल्पैः ॥ १० ॥

'नरेश्वर! तुम्हारी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और प्रमुख वीर नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारी सेनामें यमराजका राज्य-सा हो गया है। पर्वतशिखरोंके समान विशाल हाथी, घोड़े और पैदल मनुष्य एक दूसरेसे टक्कर लेकर अपने प्राण खो बैठे हैं॥

नैतादृशं भारत युद्धमासीद्
यथा तु कर्णार्जुनयोर्बभूव।
ग्रस्तौ हि कर्णेन समेत्य कृष्णा-
वन्ये च सर्वे तव शत्रवो ये ॥ ११ ॥

'भारत! आज कर्ण और अर्जुनमें जैसा युद्ध हुआ है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। कर्णने धावा करके श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा तुम्हारे अन्य सब शत्रुओंको भी प्रायः प्राणोंके संकटमें डाल दिया था; परंतु कोई फल नहीं निकला॥

दैवं ध्रुवं पार्थवशात् प्रवृत्तं
यत् पाण्डवान् पाति हिनस्ति चास्मान्।
तवार्थसिद्ध्यर्थकरास्तु सर्वे
प्रसह्य वीरा निहता द्विषद्भिः ॥ १२ ॥

'निश्चय ही दैव कुन्तीपुत्रोंके अधीन होकर काम कर रहा है, क्योंकि वह पाण्डवोंकी तो रक्षा करता है और हमारा विनाश। यही कारण है कि तुम्हारे अर्थकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले प्रायः सभी वीर शत्रुओंके हाथसे बलपूर्वक मारे गये ॥ १२ ॥

कुबेरवैवस्वतवासवानां
तुल्यप्रभावा नृपते सुवीराः।
वीर्येण शौर्येण बलेन तेजसा
तैस्तैस्तु युक्ता विविधैर्गुणौघैः ॥ १३ ॥

'राजन्! तुम्हारी सेनाके श्रेष्ठ वीर कुबेर, यम और इन्द्रके समान प्रभावशाली तथा बल, पराक्रम, शौर्य, तेज एवं अन्य नाना प्रकारके गुणसमूहोंसे सम्पन्न थे ॥ १३ ॥

अवध्यकल्पा निहता नरेन्द्रा-
स्तवार्थकामा युधि पाण्डवेयैः।

तस्मा शुचो भारत दिष्टमेतत्
पर्याश्वस त्वं न सदास्ति सिद्धिः ॥ १४॥

'जो-जो राजा तुम्हारे स्वार्थकी सिद्धि चाहनेवाले और अवध्यके समान थे, उन सबको पाण्डवोंने युद्धमें मार डाला। अतः भारत ! तुम शोक न करो । यह सब प्रारब्धका खेल है । सबको सदा ही सिद्धि नहीं मिलती, ऐसा जानकर धैर्य धारण करो' ॥ १४ ॥

एतद् वचो मद्रपतेर्निशम्य
स्वं चाप्यनीतं मनसा निरीक्ष्य ।
दुर्योधनो दीनमना विसंज्ञः
पुनः पुनर्न्यश्वसदार्तरूपः ॥ १५ ॥

मद्रराज शल्यकी ये बातें सुनकर और अपने अन्यायपर भी मन-ही-मन दृष्टि डालकर दुर्योधन बहुत उदास एवं दुखी हो गया । वह अत्यन्त पीड़ित और अचेत-सा होकर बारंबार लंबी उसाँसें भरने लगा ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शल्यप्रत्यागमने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शल्यका युद्धसे प्रत्यागमनविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

भीमसेनद्वारा पच्चीस हजार पैदल सैनिकोंका वध, अर्जुनद्वारा रथसेनाका विध्वंस, कौरवसेनाका पलायन और दुर्योधनका उसे रोकनेके लिये विफल प्रयास

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिंस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे
दग्धस्य रौद्रेऽहनि विद्रुतस्य ।
बभूव रूपं कुरुसृञ्जयानां
बलस्य बाणोन्मथितस्य कीदृक् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! कर्ण और अर्जुनके उस संग्राममें, जब कि सबके लिये भयानक दिन उपस्थित हुआ था, बाणोंकी आगसे दग्ध और उन्मथित होकर भागती हुई कौरवसेना तथा सृंजयसेनाकी कैसी अवस्था हुई ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा वृत्तो महाक्षयः ।
घोरो मनुष्यदेहानामाजौ च गजवाजिनाम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! उस युद्धस्थलमें मनुष्यके शरीरों, हाथियों और घोड़ोंका जैसा घोर एवं महान् विनाश हुआ, वह सब सावधान होकर सुनिये ॥ २ ॥

यत्र कर्णे हते पार्थः सिंहनादमथाकरोत् ।
तदा तव सुतान् राजन्नाविवेश महद् भयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! कर्णके मारे जानेपर अर्जुनने महान् सिंहनाद किया, उस समय आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ३ ॥

न संधातुमनीकानि न चैवाशु पराक्रमे ।
आसीद् बुद्धिर्हते कर्णे तव योधस्य कर्हिचित् ॥ ४ ॥

जब कर्णका वध हो गया, तब आपके किसी भी योद्धाका मन कदापि जल्दी पराक्रम दिखानेमें नहीं लगा और न सेनाको संगठित रखनेकी ओर ही किसीका ध्यान गया ॥४॥

वणिजो नावि भिन्नायामगाधे विप्लवे यथा ।
अपारे पारमिच्छन्तो हते द्वीपे किरीटिना ॥ ५ ॥

अगाध एवं अपार समुद्रमें तूफान उठनेपर जब जहाज फट जाता है, उस समय पार जानेकी इच्छावाले व्यापारियोंकी जैसी अवस्था होती है, वही दशा किरीटधारी अर्जुनके द्वारा द्वीपस्वरूप कर्णके मारे जानेपर कौरवोंकी हुई ॥ ५ ॥

सूतपुत्रे हते राजन् वित्रस्ताः शस्त्रविक्षताः ।
अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहैरिवार्दिताः ॥ ६ ॥

राजन् ! सूतपुत्रका वध हो जानेपर सिंहसे पीड़ित हुए मृगोंके समान कौरवसैनिक भयभीत हो उठे । वे अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल हो गये थे और अनाथ होकर अपने लिये कोई रक्षक चाहते थे ॥ ६ ॥

भग्नशृङ्गा वृषा यद्वद् भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ।
प्रत्यपायाम सायाह्ने निर्जिताः सव्यसाचिना ॥ ७ ॥

हम सब लोग सायंकालमें सव्यसाची अर्जुनसे परास्त होकर शिबिरकी ओर लौटे थे । उस समय हमारी दशा उन बैलोंके समान हो रही थी, जिनके सींग तोड़ दिये गये हों । हम उन सर्पोंके समान हो गये थे, जिनके विषैले दाँत नष्ट कर दिये गये हों ॥ ७ ॥

हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ता निशितैः शरैः ।
सूतपुत्रे हते राजन् पुत्रास्ते दुद्रुवुर्भयात् ॥ ८ ॥

राजन् ! सूतपुत्रके मारे जानेपर पैने बाणोंसे क्षत-विक्षत एवं पराजित हुए आपके पुत्र भयके मारे भागने लगे । उनके प्रमुख वीर रणभूमिमें मारे जा चुके थे ॥ ८ ॥

विध्वस्तयन्त्रकवचाः कांदिग्भूता विचेतसः ।
अन्योन्यमवमृद्नन्तो वीक्षमाणा भयार्दिताः ॥ ९ ॥

उनके यन्त्र और कवच गिर गये थे । वे अचेत होकर यह भी नहीं सोच पाते थे कि हम भागकर किस दिशामें जायँ ? एक दूसरेको कुचलते और चारों ओर देखते हुए भयसे पीड़ित हो गये थे ॥ ९ ॥

मामेव नूनं बीभत्सुर्मामेव च वृकोदरः ।
अभियातीति मन्वानाः पेतुर्म्लुश्च सम्भ्रमात् ॥ १० ॥

'निश्चय अर्जुन मेरा ही पीछा कर रहे हैं । भीमसेन मेरी ही ओर चढ़े आ रहे हैं' ऐसा मानते हुए कौरव सैनिक

घबराहटमें पड़कर गिर जाते थे। वे सब-के-सब उदास हो गये थे ॥ १० ॥

हयानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः।
आरुह्य जवसम्पन्नाः पदातीन् प्रजहुर्भयात् ॥ ११ ॥

कुछ लोग घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर और कुछ दूसरे महारथी रथोंपर आरूढ़ हो भयके मारे बड़े वेगसे भागने लगे। उन्होंने पैदल सैनिकोंको वहीं छोड़ दिया ॥ ११ ॥

कुञ्जरैः स्यन्दनाः क्षुण्णाः सादिनश्च महारथैः।
पदातिसंघाश्चाश्वौघैः पलायद्भिर्भयार्दितैः ॥ १२ ॥

भयभीत होकर भागते हुए हाथियोंने रथोंको चकनाचूर कर दिया। विशाल रथपर बैठे हुए महारथियोंने घुड़सवारोंको कुचल दिया और अश्वसमुदायोंने पैदलसमूहोंके कचूमर निकाल दिये ॥ १२ ॥

व्यालतस्करसंकीर्णे सार्थहीना यथा वने।
सूतपुत्रे हते राजंस्तव योधास्तथाभवन् ॥ १३ ॥

राजन्! जैसे सर्पों और चोरों-बटमारोंसे भरे हुए वनमें अपने दलसे बिछुड़े हुए लोग अनाथ हो भारी विपत्तिमें पड़ जाते हैं, सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके योद्धाओंकी भी वैसी ही दशा हो गयी ॥ १३ ॥

हतारोहा यथा नागाश्छिन्नहस्ता यथा नराः।
सर्वे पार्थमयं लोकं सम्पश्यन्तो भयार्दिताः ॥ १४ ॥

जिनके सवार मारे गये हों वे हाथी और जिनके हाथ काट लिये गये हों वे मनुष्य जैसी दुरवस्थामें पड़ जाते हैं, वैसी ही दशामें पड़कर समस्त कौरव भयसे पीड़ित हो सारे जगत्‌को अर्जुनमय देखने लगे ॥ १४ ॥

सम्प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान्।
दुर्योधनोऽथ स्वं सूतं हा हा कृत्वेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाराज! उस समय अपने समस्त योद्धाओंको भीमसेनके भयसे व्याकुल हो भागते देख दुर्योधनने हाहाकार करके अपने सारथिसे कहा—॥ १५ ॥

नातिक्रमेच्च मां पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम्।
जघने सर्वसैन्यानां शनैरश्वान् प्रचोदय ॥ १६ ॥

'सूत! तुम धीरे-धीरे रथ आगे बढ़ाओ। मैं सम्पूर्ण सेनाओंके पीछे जब हाथमें धनुष लेकर खड़ा होऊँगा, उस समय अर्जुन मुझे लाँघकर आगे नहीं बढ़ सकते ॥ १६ ॥

युध्यमानं हि कौन्तेयं हनिष्यामि न संशयः।
नोत्सहेन्मामतिक्रान्तुं वेलामिव महोदधिः ॥ १७ ॥

'यदि वे मुझसे युद्ध करेंगे तो मैं उन्हें निःसंदेह मार गिराऊँगा। जैसे महासागर अपनी तटभूमिको लाँघकर आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे भी मुझे लाँघ नहीं सकते ॥ १७ ॥

अद्यार्जुनं सगोविन्दं मानिनं च वृकोदरम्।
हन्यां शिष्टांस्तथा शत्रून् कर्णस्यानृण्यमाप्नुयाम् ॥ १८ ॥

'आज मैं अर्जुन, श्रीकृष्ण और उस घमंडी भीमसेनको तथा बचे-खुचे दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँ, तभी कर्णके ऋणसे मुक्त हो सकता हूँ' ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य शूरार्यसदृशं वचः।
सूतो हेमपरिच्छन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत् ॥ १९ ॥

कुरुराज दुर्योधनकी वह श्रेष्ठ शूरवीरोंके योग्य बात सुनकर सारथिने सोनेके साज-बाजसे सजे हुए घोड़ोंको धीरे-धीरे आगे बढ़ाया ॥ १९ ॥

रथाश्वनागहीनास्तु पादातास्तव मारिष।
पञ्चविंशतिसाहस्रा युद्धायैव व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

माननीय नरेश! उस समय रथों, घोड़ों और हाथियोंसे रहित आपके केवल पचीस हजार पैदल सैनिक ही युद्धके लिये डटे हुए थे ॥ २० ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
बलेन चतुरङ्गेण संवृत्याजघ्नतुः शरैः ॥ २१ ॥

उन सबको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपनी चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा चारों ओरसे घेरकर बाणोंसे मारना आरम्भ किया ॥ २१ ॥

प्रत्ययुध्यन्त समरे भीमसेनं सपार्षतम्।
पार्थपार्षतयोश्चान्ये जगृहुस्तत्र नामनी ॥ २२ ॥

वे भी समराङ्गणमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नका डटकर सामना करने लगे। उनमेंसे कितने ही योद्धा भीमसेन और धृष्टद्युम्नके नाम ले-लेकर उन्हें युद्धके लिये ललकारने लगे ॥

अक्रुध्यत रणे भीमस्तैस्तदा पर्यवस्थितैः।
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं गदापाणिरयुध्यत ॥ २३ ॥

उस समय भीमसेन रणमें कुपित हो उठे और तुरंत ही रथसे नीचे उतरकर हाथमें गदा ले वहाँ खड़े हुए पैदल-सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २३ ॥

न तान् रथस्थो भूमिष्ठान् धर्मापेक्षी वृकोदरः।
योधयामास कौन्तेयो भुजवीर्यव्यपाश्रयः ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन भीमसेन युद्धधर्मका पालन करनेवाले थे, इसलिये उन्होंने स्वयं रथपर बैठकर भूमिपर खड़े हुए पैदल-सैनिकोंके साथ युद्ध नहीं किया। उन्हें अपने बाहुबलका पूरा भरोसा था ॥ २४ ॥

जातरूपपरिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम्।
अवधीत्तावकान् सर्वान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २५ ॥

वे दण्डपाणि यमराजके समान सुवर्णजटित विशाल गदा हाथमें लेकर आपके समस्त सैनिकोंका वध करने लगे ॥ २५ ॥

पदातिनोऽपि संत्यज्य प्रियं जीवितमात्मनः।
भीममभ्यद्रवन् संख्ये पतङ्गा ज्वलनं यथा ॥ २६ ॥

वे पैदल सैनिक भी अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर उस युद्धस्थलमें भीमसेनकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे पतंग आगपर टूट पड़ते हैं ॥ २६ ॥

आसाद्य भीमसेनं तु संरब्धा युद्धदुर्मदाः।

विनेशुः सहसा दृष्ट्वा भूतग्रामा इवान्तकम् ॥ २७ ॥

जैसे प्राणियोंके समुदाय यमराजको देखते ही प्राण त्याग देते हैं, उसी प्रकार वे रोषभरे रणदुर्मद सैनिक भीमसेनसे टक्कर लेकर सहसा नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

श्येनवद् विचरन् भीमो गदाहस्तो महाबलः।
पञ्चविंशतिसाहस्रांस्तावकान् समपोथयत् ॥ २८ ॥

हाथमें गदा लिये बाजके समान विचरते हुए महाबली भीमसेनने आपके उन पचीसों हजार सैनिकोंको मार गिराया ॥

हत्वा तत्पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः।
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य तस्थौ तत्र महाबलः ॥ २९ ॥

सत्यपराक्रमी महाबली भीमसेन उस पैदल सेनाका संहार करके धृष्टद्युम्नको आगे किये वहीं खड़े रहे ॥ २९ ॥

धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान्।
माद्रीपुत्रौ तु शकुनिं सात्यकिश्च महारथः ॥ ३० ॥
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा घ्नन्तो दौर्योधनं बलम्।

दूसरी ओर पराक्रमी अर्जुनने रथसेनापर आक्रमण किया। माद्रीकुमार नकुल-सहदेव और महारथी सात्यकि हर्षमें भरकर दुर्योधनकी सेनाका संहार करते हुए बड़े वेगसे शकुनिपर टूट पड़े ॥ ३०½ ॥

तस्याश्वसादीन् सुबहूंस्ते निहत्य शितैः शरैः ॥ ३१ ॥
समभ्यधावंस्त्वरितास्तत्र युद्धमभून्महत्।

वे अपने पैने बाणोंद्वारा उसके बहुत-से घुड़सवारोंको मारकर तुरंत ही उसकी ओर भी दौड़े। फिर तो वहाँ बड़ा भारी युद्ध होने लगा ॥ ३१½ ॥

धनंजयोऽपि चाभ्येत्य रथानीकं तव प्रभो ॥ ३२ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः।

प्रभो! अर्जुन भी आपकी रथसेनाके समीप जाकर त्रिभुवनविख्यात गाण्डीव धनुषकी टंकार करने लगे ॥३२½॥

कृष्णसारथिमायान्तं दृष्ट्वा श्वेतहयं रथम् ॥ ३३ ॥
अर्जुनं चापि योद्धारं त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात्।

श्रीकृष्ण जिसके सारथि हैं, उस श्वेत घोड़ोंवाले रथ और अर्जुन-जैसे रथी योद्धाको आते देख आपके सैनिक भयसे भागने लगे ॥ ३३½ ॥

विप्रहीणरथाश्चैव शरैश्च परिकर्षिताः ॥ ३४ ॥
पञ्चविंशतिसाहस्राः कालमार्छन् पदातयः।

बहुतोंके रथ नष्ट हो गये और कितने ही बाणोंकी मारसे अत्यन्त घायल हो गये। इस प्रकार पचीस हजार पैदल सैनिक कालके गालमें चले गये ॥ ३४½ ॥

हत्वा तान् पुरुषव्याघ्रः पञ्चालानां महारथः ॥ ३५ ॥
पुत्रः पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नो महामनाः।
भीमसेनं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत ॥ ३६ ॥
महाधनुर्धरः श्रीमानमित्रगणतापनः।

पाञ्चालराजकुमार, पाञ्चाल महारथी और महामनस्वी पुरुषसिंह धृष्टद्युम्न उन पैदल सैनिकोंका संहार करके भीमसेनको आगे किये शीघ्र ही वहाँ दिखायी दिये। वे महाधनुर्धर, तेजस्वी और शत्रुसमूहोंको संताप देनेवाले हैं ॥ ३५-३६½ ॥

पारावतसवर्णाश्वं कोविदारमयध्वजम् ॥ ३७ ॥
धृष्टद्युम्नं रणे दृष्ट्वा त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात्।

धृष्टद्युम्नके रथके घोड़े कबूतरके समान रंगवाले थे, उनकी ध्वजापर कचनारके वृक्षका चिह्न था। धृष्टद्युम्नको रणमें उपस्थित देख आपके योद्धा भयसे भाग खड़े हुए ३७½

गान्धारराजं शीघ्रास्त्रमनुसृत्य यशस्विनौ ॥ ३८ ॥
नचिरात् प्रत्यदृश्येतां माद्रीपुत्रौ ससात्यकी।

गान्धारराज शकुनि शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चला रहा था, यशस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव और सात्यकि तुरंत ही उसका पीछा करते दिखायी दिये ॥ ३८½ ॥

चेकितानः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च मारिष ॥ ३९ ॥
हत्वा त्वदीयं सुमहत् सैन्यं शङ्खांस्तथाधमन्।

माननीय नरेश! चेकितान, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपकी विशाल सेनाका विनाश करके शङ्ख बजाने लगे ॥ ३९½ ॥

ते सर्वे तावकान् प्रेक्ष्य द्रवतोऽपि पराङ्मुखान् ॥ ४० ॥
अभ्यवर्तन्त संरब्धान् वृषाञ्जित्वा यथा वृषाः।

उन सबने आपके सैनिकोंको पीठ दिखाकर भागते देख उनका उसी प्रकार पीछा किया, जैसे साँड़ रोषमें भरे हुए दूसरे साँड़ोंको जीतकर उन्हें खदेड़ने लगते हैं ॥ ४०½ ॥

सेनावशेषं तं दृष्ट्वा तव सैन्यस्य पाण्डवः ॥ ४१ ॥
व्यवस्थितः सव्यसाची चुक्रोध बलवान् नृप।
धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान् ॥ ४२ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः।

नरेश्वर! उस समय वहाँ खड़े हुए बलवान् पराक्रमी सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन आपकी सेनाका कुछ भाग अवशिष्ट देखकर कुपित हो उठे और अपने त्रिलोकविख्यात गाण्डीवधनुषकी टंकार करते हुए आपकी रथसेनापर जा चढ़े ॥ ४१-४२½ ॥

तत एनाञ्शरव्रातैः सहसा समवाकिरत् ॥ ४३ ॥
तमसा संवृतेनाथ न स्म किंचिद् व्यदृश्यत।

उन्होंने अपने बाणसमूहोंद्वारा उन सबको सहसा आच्छादित कर दिया। उस समय सब ओर अन्धकार फैल गया; अतः कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ४३½ ॥

अन्धकारीकृते लोके रजोभूते महीतले ॥ ४४ ॥
योधाः सर्वे महाराज तावकाः प्राद्रवन् भयात्।

महाराज! इस प्रकार जब जगत्में अँधेरा छा गया और भूतलपर धूल-ही-धूल उड़ने लगी, तब आपके समस्त योद्धा भयभीत होकर भाग गये ॥ ४४½ ॥

सम्भज्यमाने सैन्ये तु कुरुराजो विशाम्पते ॥ ४५ ॥

परानभिमुखांश्चैव सुतस्ते समुपाद्रवत्।
ततो दुर्योधनः सर्वानाजुहावाथ पाण्डवान्॥ ४६॥
युद्धाय भरतश्रेष्ठ देवानिव पुरा बलिः।

प्रजानाथ! आपकी सेनामें भगदड़ मच जानेपर आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनने अपने सामने खड़े हुए शत्रुओंपर धावा किया। भरतश्रेष्ठ! जैसे पूर्वकालमें राजा बलिने देवताओंको युद्धके लिये ललकारा था, उसी प्रकार दुर्योधनने भी समस्त पाण्डवोंका युद्धके लिये आह्वान किया॥४५-४६½॥

त एनमभिगर्जन्तः सहिताः समुपाद्रवन्॥ ४७॥
नानाशस्त्रभृतः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः।

तब नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये कुपित पाण्डव सैनिक एक साथ गर्जना करते हुए वहाँ दुर्योधनपर टूट पड़े और बारंबार उसे फटकारने लगे॥ ४७½॥

दुर्योधनोऽप्यसम्भ्रान्तस्तान् रणे निशितैः शरैः॥४८॥
तत्रावधीत्ततः क्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः।
तत् सैन्यं पाण्डवेयानां योधयामास सर्वतः॥ ४९॥

इससे दुर्योधनको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। वह रणभूमिमें कुपित हो पैने बाणोंसे शत्रुपक्षके सैकड़ों और हजारों योद्धाओंका संहार करने लगा। वह सब ओर घूम-घूमकर पाण्डवसेनाके साथ जूझ रहा था॥ ४८-४९॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम्।
यदेकः सहितान् सर्वान् रणेऽयुध्यत पाण्डवान्॥५०॥

राजन्! वहाँ हमलोगोंने आपके पुत्रका यह अद्भुत पुरुषार्थ देखा कि उसने अकेले ही रणभूमिमें एक साथ आये हुए समस्त पाण्डवोंका डटकर सामना किया॥ ५०॥

ततोऽपश्यन्महात्मा स स्वसैन्यं भृशदुःखितम्।
ततोऽवस्थाप्य राजेन्द्र कृतबुद्धिस्तवात्मजः॥ ५१॥
हर्षयन्निव तान् योधानिदं वचनमब्रवीत्।

राजेन्द्र! उस समय आपके बुद्धिमान् पुत्र महामनस्वी दुर्योधनने अपनी सेनाको जब बहुत दुखी देखा, तब उन सबको सुस्थिर करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥ ५१½॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र याता भयार्दिताः॥ ५२॥
गतानां यत्र वै मोक्षः पाण्डवात् किं गतेन वः।
अल्पं च बलमेतेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ॥ ५३॥
अद्य सर्वान् हनिष्यामि ध्रुवो हि विजयो भवेत्।

'योद्धाओ! तुम भयसे पीड़ित हो रहे हो। परंतु मैं ऐसा कोई स्थान नहीं देखता, जहाँ तुम भागकर जाओ और वहाँ जानेपर तुम्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन या भीमसेनसे छुटकारा मिल जाय। ऐसी दशामें तुम्हारे भागनेसे क्या लाभ है? इन शत्रुओंके पास थोड़ी-सी ही सेना बच गयी है। श्रीकृष्ण और अर्जुन भी बहुत घायल हो चुके हैं; अतः आज मैं इन सब लोगोंको मार डालूँगा। हमारी विजय अवश्य होगी॥५२-५३½॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतकिल्बिषान्५४
अनुसृत्य वधिष्यन्ति श्रेयान् नः समरे वधः।

'यदि तुम अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव तुम सब अपराधियोंका पीछा करके तुम्हें मार डालेंगे। ऐसी दशामें युद्धमें मारा जाना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है॥ ५४½॥

सुखं सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम्॥५५॥
मृतो दुःखं न जानीते प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।

'क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीरोंकी संग्राममें सुखपूर्वक मृत्यु होती है। वहाँ मरे हुएको मृत्युके दुःखका अनुभव नहीं होता और परलोकमें जानेपर उसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है॥ ५५½॥

शृणुध्वं क्षत्रियाः सर्वे यावन्तः स्थ समागताः॥५६॥
यदा शूरं च भीरुं च मारयत्यन्तको यमः।
को नु मूढो न युध्येत मादृशः क्षत्रियव्रतः॥ ५७॥

'तुम जितने क्षत्रिय वीर यहाँ आये हो सभी कान खोलकर सुन लो। जब प्राणियोंका अन्त करनेवाला यमराज शूरवीर और कायर दोनोंको ही मार डालता है, तब मेरे-जैसा क्षत्रियव्रतका पालन करनेवाला होकर भी कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो युद्ध नहीं करेगा?॥ ५६-५७॥

द्विषतो भीमसेनस्य क्रुद्धस्य वशमेष्यथ।
पितामहैराचरितं न धर्मं हातुमर्हथ॥ ५८॥

'हमारा शत्रु भीमसेन क्रोधमें भरा हुआ है। यदि भागोगे तो उसके वशमें पड़कर मारे जाओगे; अतः अपने बाप-दादोंके द्वारा आचरणमें लाये हुए क्षत्रिय-धर्मका परित्याग न करो॥

न ह्यधर्मोऽस्ति पापीयान् क्षत्रियस्य पलायनात्।
न युद्धधर्माच्छ्रेयो हि पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः।
अचिरेण हता लोकान् सद्यो योधाः समश्नुत॥ ५९॥

'कौरववीरो! क्षत्रियके लिये युद्धसे पीठ दिखाकर भागनेसे बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है तथा युद्ध-धर्मके पालनसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्गकी प्राप्तिका कल्याणकारी मार्ग भी नहीं है; अतः योद्धाओ! तुम युद्धमें मारे जाकर शीघ्र ही उत्तम लोकोंके सुखका अनुभव करो'॥५९॥

संजय उवाच

एवं ब्रुवति पुत्रे ते सैनिका भृशविक्षताः।
अनवेक्ष्यैव तद्वाक्यं प्राद्रवन् सर्वतो दिशः॥ ६०॥

संजय कहते हैं—महाराज! आपका पुत्र इस प्रकार व्याख्यान देता ही रह गया; किंतु अत्यन्त घायल हुए सैनिक उसकी बातपर ध्यान दिये बिना ही सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये॥ ६०॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कौरवसैन्यपलायने त्रिनवतितमोऽध्यायः॥ ९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कौरवसेनाका पलायनविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९३॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

शल्यके द्वारा रणभूमिका दिग्दर्शन, कौरवसेनाका पलायन और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका शिविरकी ओर गमन

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु सैन्यं परिवर्त्यमानं
पुत्रेण ते मद्रपतिस्तदानीम्।
संत्रस्तरूपः परिमूढचेता
दुर्योधनं वाक्यमिदं बभाषे॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रद्वारा सेनाको पुनः लौटानेका प्रयत्न होता देख उस समय भयभीत और मूढ़चित्त हुए मद्रराज शल्यने दुर्योधनसे इस प्रकार कहा॥ १॥

शल्य उवाच

पश्येदमुग्रं नरवाजिनागै-
रायोधनं वीरहतैः सुपूर्णम्।
महीधराभैः पतितैश्च नागैः
सकृत्प्रभिन्नैः शरभिन्नदेहैः॥ २॥
सुविह्वलद्भिश्च गतासुभिश्च
प्रध्वस्तवर्मायुधचर्मखड्गैः।
वज्रापविद्धैरिव चाचलोत्तमै-
र्विभिन्नपाषाणमहाद्रुमौषधैः॥ ३॥
प्रविद्धघण्टाङ्कुशतोमरध्वजैः
सहेमजालै रुधिरौघसम्प्लुतैः।
शरावभिन्नैः पतितैस्तुरङ्गमैः
श्वसद्भिरार्तैः क्षतजं वमद्भिः॥ ४॥
दीनं स्तनद्भिः परिवृत्तनेत्रै-
र्महीं दशद्भिः कृपणं नदद्भिः।
तथापविद्धैर्गजवाजियोधैः
शरापविद्धैरथ वीरसंघैः॥ ५॥
मन्दासुभिश्चैव गतासुभिश्च
नराश्वनागैश्च रथैश्च मर्दितैः।
मन्दांशुभिश्चैव मही महाहवे
नूनं यथा वैतरणीव भाति॥ ६॥

शल्य बोले—वीर नरेश! देखो, मारे गये मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशोंसे भरा हुआ यह युद्धस्थल कैसा भयंकर जान पड़ता है? पर्वताकार गजराज, जिनके मस्तकोंसे मदकी धारा फूटकर बहती थी, एक ही साथ बाणोंकी मारसे शरीर विदीर्ण हो जानेके कारण धराशायी हो गये हैं। उनमेंसे कितने ही वेदनासे छटपटा रहे हैं, कितनोंके प्राण निकल गये हैं। उनपर बैठे हुए सवारोंके कवच, अस्त्र-शस्त्र, ढाल और तलवार आदि नष्ट हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो वज्रके आघातसे बड़े-बड़े पर्वत ढह गये हों और उनके प्रस्तरखण्ड, विशाल वृक्ष तथा औषध-समूह छिन्न-भिन्न हो गये हों। उन गजराजोंके घंटा, अङ्कुश, तोमर और ध्वज आदि सभी वस्तुएँ बाणोंके आघातसे टूट-फूटकर बिखर गयी हैं। उन हाथियोंके ऊपर सोनेकी जालीसे युक्त आवरण पड़ा है। उनकी लाशें रक्तके प्रवाहसे नहा गयी हैं। घोड़े बाणोंसे विदीर्ण होकर गिरे हैं, वेदनासे व्यथित हो उच्छ्वास लेते और मुखसे रक्त वमन करते हैं। वे दीनतापूर्ण आर्तनाद कर रहे हैं। उनकी आँखें घूम रही हैं। वे धरतीमें दाँत गड़ाते और करुण चीत्कार करते हैं। हाथी, घोड़े, पैदल सैनिक तथा वीरसमुदाय बाणोंसे क्षत-विक्षत हो मरे पड़े हैं। किन्हींकी साँसें कुछ-कुछ चल रही हैं और कुछ लोगोंके प्राण सर्वथा निकल गये हैं। हाथी, घोड़े, मनुष्य और रथ कुचल दिये गये हैं। इन सबकी कान्ति मन्द पड़ गयी है। इनके कारण उस महासमरकी भूमि निश्चय ही वैतरणीके समान प्रतीत होती है॥ २—६॥

गजैर्निकृत्तैर्वरहस्तगात्रै-
रुद्वेपमानैः पतितैः पृथिव्याम्।
विशीर्णदन्तैः क्षतजं वमद्भिः
स्फुरद्भिरार्तैः करुणं नदद्भिः॥ ७॥

हाथियोंके शुण्डदण्ड और शरीर छिन्न-भिन्न हो गये हैं। कितने ही हाथी पृथ्वीपर गिरकर काँप रहे हैं, कितनोंके दाँत टूट गये हैं और वे खून उगलते तथा छटपटाते हुए वेदना-ग्रस्त हो करुण स्वरमें कराह रहे हैं॥ ७॥

निकृत्तचक्रेषुयुगैः सयोक्त्रैः
प्रविद्धतूणीरपताककेतुभिः।
सुवर्णजालावततैर्भृशाहतै-
र्महारथौघैर्जलदैरिवावृता॥ ८॥

बड़े-बड़े रथोंके समूह इस रणभूमिमें बादलोंके समान छा गये हैं। उनके पहिये, बाण, जूए और बन्धन कट गये हैं। तरकस, ध्वज और पताकाएँ फेंकी पड़ी हैं; सोनेके जालसे आवृत हुए वे रथ बहुत ही क्षतिग्रस्त हो गये हैं॥

यशस्विभिर्नागरथाश्वयोधिभिः
पदातिभिश्चाभिमुखैर्हतैः परैः।
विशीर्णवर्माभरणाम्बरायुधै-
र्वृता प्रशान्तैरिव तावकैर्मही॥ ९॥

हाथी, रथ और घोड़ोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले यशस्वी योद्धा और पैदल वीर सामने लड़ते हुए शत्रुओंके हाथसे मारे गये हैं। उनके कवच, आभूषण, वस्त्र और आयुध सभी छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये हैं। इस प्रकार शान्त पड़े हुए आपके प्राणहीन योद्धाओंसे यह पृथ्वी पट गयी है॥ ९॥

शरप्रहाराभिहतैर्महाबलै-
रवेक्ष्यमाणैः पतितैः सहस्रशः ।
दिवश्च्युतैर्भूरतिदीप्तिमद्भि-
र्नक्तं ग्रहैर्द्यौरमलप्रदीप्तैः ॥ १० ॥

बाणोंके प्रहारसे घायल होकर गिरे हुए सहस्रों महाबली योद्धा आकाशसे नीचे गिरे हुए अत्यन्त दीप्तिमान् एवं निर्मल प्रभासे प्रकाशित ग्रहोंके समान दिखायी देते हैं और उनसे ढकी हुई यह भूमि रातके समय उन ग्रहोंसे व्याप्त हुए आकाशके सदृश सुशोभित होती है ॥ १० ॥

प्रणष्टसंज्ञैः पुनरुच्छ्वसद्भि-
र्मही बभूवानुगतैरिवाग्निभिः ।
कर्णार्जुनाभ्यां शरभिन्नगात्रै-
र्हतैः प्रवीरैः कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ११ ॥

कर्ण और अर्जुनके बाणोंसे जिनके अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उन मारे गये कौरव-सृंजय वीरोंकी लाशोंसे भरी हुई भूमि यज्ञमें स्थापित हुई अग्नियोंके द्वारा यज्ञभूमिके समान सुशोभित होती है। उनमेंसे कितने ही वीरोंकी चेतना लुप्त हो गयी है और कितने ही पुनः साँस ले रहे हैं ॥ ११॥

शरास्तु कर्णार्जुनबाहुमुक्ता
विदार्य नागाश्वमनुष्यदेहान् ।
प्राणान् निरस्याशु महीं प्रतीयु-
र्महोरगा वासमिवातिताम्राः ॥ १२ ॥

कर्ण और अर्जुनके हाथोंसे छूटे हुए बाण हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंको विदीर्ण करके उनके प्राण निकालकर तुरंत पृथ्वीमें घुस गये थे, मानो अत्यन्त लाल रंगके विशाल सर्प अपनी बिलमें जा घुसे हों ॥ १२ ॥

हतैर्मनुष्याश्वगजैश्च संख्ये
शरापविद्धैश्च रथैर्नरेन्द्र ।
धनंजयस्याधिरथेश्च मार्गणै-
रगम्यरूपा वसुधा बभूव ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! अर्जुन और कर्णके बाणोंद्वारा मारे गये हाथी, घोड़े एवं मनुष्योंसे तथा बाणोंसे नष्ट-भ्रष्ट होकर गिरे पड़े रथोंसे इस पृथ्वीपर चलना-फिरना असम्भव हो गया है॥१३॥

रथैर्वरेषून्मथितैः सुकल्पैः
सयोधशस्त्रैश्च वरायुधैर्ध्वजैः ।
विशीर्णयोक्त्रैर्विनिकृत्तवन्धनै-
र्निकृत्तचक्राक्षयुगत्रिवेणुभिः ॥ १४ ॥

सजे-सजाये रथ बाणोंके आघातसे मथ डाले गये हैं। उनके साथ जो योद्धा, शस्त्र, श्रेष्ठ आयुध और ध्वज आदि थे, उनकी भी यही दशा हुई है। उनके पहिये, बन्धन-रज्जु, धुरे, जूए और त्रिवेणु काष्ठके भी टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं ॥

विमुक्तशस्त्रैश्च तथा व्युपस्करै-
र्हतानुकर्षैर्विनिषङ्गवन्धनैः ।
प्रभग्ननीडैर्मणिहेमभूषितैः
स्तृता मही द्यौरिव शारदैर्घनैः॥१५॥

उनपर जो अस्त्र-शस्त्र रक्खे गये थे, वे सब दूर जा पड़े हैं। सारी सामग्री नष्ट हो गयी है। अनुकर्ष, तूणीर और बन्धनरज्जु—ये सब-के-सब नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। उन रथों-की बैठकें टूट-फूट गयी हैं। सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित उन रथोंद्वारा आच्छादित हुई पृथ्वी शरद्ऋतुके बादलोंसे ढके हुए आकाशके समान जान पड़ती है ॥ १५ ॥

विकृष्यमाणैर्जवनैस्तुरङ्गमै-
र्हतेश्वरै राजरथैः सुकल्पितैः ।
मनुष्यमातङ्गरथाश्वराशिभि-
र्द्रुतं व्रजन्तो बहुधा विचूर्णिताः ॥१६॥

जिनके स्वामी (रथी) मारे गये हैं, राजाओंके उन सुसज्जित रथोंको, जब वेगशाली घोड़े खींचे लिये जाते थे और झुंड-के-झुंड मनुष्य, हाथी, साधारण रथ और अश्व भी भागे जा रहे थे, उस समय उनके द्वारा शीघ्रतापूर्वक भागनेवाले बहुत-से मनुष्य कुचलकर चूर-चूर हो गये हैं ॥ १६ ॥

सहेमपट्टाः परिघाः परश्वधाः
शिताश्च शूला मुसलानि मुद्गराः ।
पेतुश्च खड्गा विमला विकोशा
गदाश्च जाम्बूनदपट्टनद्धाः ॥ १७ ॥

सुवर्ण-पत्रसे जड़े गये परिघ, फरसे, तीखे शूल, मुसल, मुद्गर, म्यानसे बाहर निकाली हुई चमचमाती तलवारें और स्वर्णजटित गदाएँ जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं ॥ १७ ॥

चापानि रुक्माङ्गदभूषणानि
शराश्च कार्तस्वरचित्रपुङ्खाः ।
ऋष्टयश्च पीता विमला विकोशाः
प्रासाश्च दण्डैः कनकावभासैः ॥ १८ ॥

छत्राणि वालव्यजनानि शङ्खा-
श्छिन्नापविद्धाश्च स्रजो विचित्राः ।

सुवर्णमय अङ्गदोंसे विभूषित धनुष, सोनेके विचित्र पंखवाले बाण, ऋष्टि, पानीदार एवं कोशरहित निर्मल खड्ग तथा सुनहरे डंडोंसे युक्त प्रास, छत्र, चँवर, शङ्ख और विचित्र मालाएँ छिन्न-भिन्न होकर फेंकी पड़ी हैं ॥ १८½ ॥

कुथाः पताकाम्बरभूषणानि
किरीटमाला मुकुटाश्च शुभ्राः ॥ १९ ॥
प्रकीर्णका विप्रकीर्णाश्च राजन्
प्रवालमुक्तातरलाश्च हाराः ।

राजन् ! हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले कम्बल या झूल, पताका, वस्त्र, आभूषण, किरीटमाला, उज्ज्वल मुकुट, श्वेत चामर, मूँगे और मोतियोंके हार—ये सब-के-सब इधर-उधर बिखरे पड़े हैं ॥ १९½ ॥

आपीडकेयूरवराङ्गदानि
ग्रैवेयनिष्काः ससुवर्णसूत्राः ॥ २० ॥
मण्युत्तमा वज्रसुवर्णमुक्ता
रत्नानि चोच्चावचमङ्गलानि ।

गात्राणि चात्यन्तसुखोचितानि
शिरांसि चेन्दुप्रतिमाननानि ॥ २१ ॥
देहांश्च भोगांश्च परिच्छदांश्च
त्यक्त्वा मनोज्ञानि सुखानि चैव ।
स्वधर्मनिष्ठां महतीमवाप्य
व्याप्याशु लोकान् यशसा गतास्ते ॥२२॥

शिरोभूषण, केयूर, सुन्दर अङ्गद, गलेके हार, पदक, सोनेकी जंजीर, उत्तम मणि, हीरे, सुवर्ण तथा मुक्ता आदि छोटे-बड़े माङ्गलिक रत्न, अत्यन्त सुख भोगनेके योग्य शरीर, चन्द्रमाको भी लज्जित करनेवाले मुखसे युक्त मस्तक, देह, भोग, आच्छादन-वस्त्र तथा मनोरम सुख—इन सबको त्यागकर स्वधर्मकी पराकाष्ठाका पालन करते हुए सम्पूर्ण लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके वे वीर सैनिक दिव्य लोकोंमें पहुँच गये हैं ॥

निवर्त दुर्योधन यान्तु सैनिका
व्रजस्व राजञ्शिबिराय मानद ।
दिवाकरोऽप्येष विलम्बते प्रभो
पुनस्त्वमेवात्र नरेन्द्र कारणम् ॥ २३ ॥

दूसरोंको सम्मान देनेवाले राजा दुर्योधन ! अब लौटो । इन सैनिकोंको भी जाने दो । शिविरमें चलो । प्रभो ! ये भगवान् सूर्य भी अस्ताचलपर लटक रहे हैं । नरेन्द्र ! तुम्हीं इस नर-संहारके प्रधान कारण हो ॥ २३ ॥

इत्येवमुक्त्वा विरराम शल्यो
दुर्योधनं शोकपरीतचेताः ।
हा कर्ण हा कर्ण इति ब्रुवाण-
मार्तं विसंज्ञं भृशमश्रुनेत्रम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनसे ऐसा कहकर राजा शल्य चुप हो गये। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था । दुर्योधन भी आर्त होकर 'हा कर्ण ! हा कर्ण !' पुकारने लगा । वह सुध-बुध खो बैठा था। उसके नेत्रोंसे वेगपूर्वक आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी॥

तं द्रोणपुत्रप्रमुखा नरेन्द्राः
सर्वे समाश्वास्य मुहुः प्रयान्ति ।
निरीक्षमाणा मुहुरर्जुनस्य
ध्वजं महान्तं यशसा ज्वलन्तम् ॥ २५ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा अन्य सभी नरेश बारंबार आकर दुर्योधनको सान्त्वना देते और अर्जुनके महान् ध्वजको, जो उनके उज्ज्वल यशसे प्रकाशित हो रहा था, देखते हुए फिर लौट जाते थे ॥ २५ ॥

नराश्वमातङ्गशरीरजेन
रक्तेन सिक्तां च तथैव भूमिम् ।
रक्ताम्बरस्रक्तपनीययोगा-
न्नारीं प्रकाशामिव सर्वगम्याम् ॥ २६ ॥

मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके शरीरसे बहते हुए रक्तकी धारासे वहाँकी भूमि ऐसी सिंच गयी थी कि लालवस्त्र, लाल फूलोंकी माला तथा तपाये हुए सुवर्णके आभूषण धारण करके सबके सामने आयी हुई सर्वगम्या नारी (वेश्या) के समान प्रतीत होती थी ॥ २६ ॥

प्रच्छन्नरूपां रुधिरेण राजन्
रौद्रे मुहूर्तेऽतिविराजमाने ।
नैवावतस्थुः कुरवः समीक्ष्य
प्रव्राजिता देवलोकाय सर्वे ॥ २७ ॥

राजन् ! अत्यन्त शोभा पानेवाले उस रौद्रमुहूर्त (सायंकाल) में, रुधिरसे जिसका स्वरूप छिप गया था, उस भूमिको देखते हुए कौरवसैनिक वहाँ ठहर न सके । वे सब-के-सब देवलोककी यात्राके लिये उद्यत थे ॥ २७ ॥

वधेन कर्णस्य तु दुःखितास्ते
हा कर्ण हा कर्ण इति ब्रुवाणाः ।
द्रुतं प्रयाताः शिबिराणि राजन्
दिवाकरं रक्तमवेक्षमाणाः ॥ २८ ॥

महाराज ! समस्त कौरव कर्णके वधसे अत्यन्त दुखी हो 'हा कर्ण ! हा कर्ण !' की रट लगाते और लाल सूर्यकी ओर देखते हुए बड़े वेगसे शिबिरकी ओर चले ॥ २८ ॥

गाण्डीवमुक्तैस्तु सुवर्णपुङ्खैः
शिलाशितैः शोणितदिग्धवाजैः ।
शरैश्चिताङ्गो युधि भाति कर्णो
हतोऽपि सन् सूर्य इवांशुमाली ॥ २९ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखवाले और शिलापर तेज किये हुए बाणोंसे कर्णका अङ्ग-अङ्ग बिंध गया था । उन बाणोंकी पाँखें रक्तमें डूबी हुई थीं । उनके द्वारा युद्धस्थलमें पड़ा हुआ कर्ण मर जानेपर भी अंशुमाली सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २९ ॥

कर्णस्य देहं रुधिरावसिक्तं
भक्तानुकम्पी भगवान् विवस्वान् ।
स्पृष्ट्वांशुभिर्लोहितरक्तरूपः
सिष्णासुरभ्येति परं समुद्रम् ॥ ३० ॥

भक्तोंपर कृपा करनेवाले भगवान् सूर्य खूनसे भीगे हुए कर्णके शरीरका किरणोंद्वारा स्पर्श करके रक्तके समान ही लालरूप धारणकर मानो स्नान करनेकी इच्छासे पश्चिम समुद्रकी ओर जा रहे थे ॥ ३० ॥

इतीव संचिन्त्य सुरर्षिसंघाः
सम्प्रस्थिता यान्ति यथा निकेतनम् ।
संचिन्तयित्वा जनता विसस्रु-
र्यथासुखं खं च महीतलं च ॥ ३१ ॥

इस युद्धके ही विषयमें सोच-विचार करते हुए देवताओं तथा ऋषियोंके समुदाय वहाँसे प्रस्थित हो अपने-अपने स्थानको चल दिये और इसी विषयका चिन्तन करते हुए अन्य लोग भी सुखपूर्वक अन्तरिक्ष अथवा भूतलपर अपने-अपने निवासस्थानको चले गये ॥ ३१ ॥

तदद्भुतं प्राणभृतां भयंकरं
निशाम्य युद्धं कुरुवीरमुख्ययोः ।

धनंजयस्याधिरथेश्च विस्मिताः
प्रशंसमानाः प्रययुस्तश जनाः ॥ ३२ ॥

कौरव तथा पाण्डव पक्षके उन प्रमुख वीर अर्जुन और कर्णका वह अद्भुत तथा प्राणियोंके लिये भयंकर युद्ध देखकर सब लोग आश्चर्यचकित हो उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँसे चले गये ॥ ३२ ॥

शरसंकृत्तवर्माणं रुधिरोक्षितवाससम् ।
गतासुमपि राधेयं नैव लक्ष्मीर्विमुञ्चति ॥ ३३ ॥

राधापुत्र कर्णका कवच बाणोंसे कट गया था । उसके सारे वस्त्र खूनसे भीग गये थे और प्राण भी निकल गये थे तो भी उसे शोभा छोड़ नहीं रही थी ॥ ३३ ॥

तप्तजाम्बूनदनिभं ज्वलनार्कसमप्रभम् ।
जीवन्तमिव तं शूरं सर्वभूतानि मेनिरे ॥ ३४ ॥

वह तपाये हुए सुवर्ण तथा अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् था । उस शूरवीरको देखकर सब प्राणी जीवित-सा समझते थे ॥ ३४ ॥

हतस्यापि महाराज सूतपुत्रस्य संयुगे ।
वित्रेसुः सर्वतो योधाः सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ३५ ॥

महाराज ! जैसे सिंहसे दूसरे जङ्गली पशु सदा डरते रहते हैं, उसी प्रकार युद्धस्थलमें मारे गये सूतपुत्रसे भी समस्त योद्धा भय मानते थे ॥ ३५ ॥

हतोऽपि पुरुषव्याघ्र जीववानिव लक्ष्यते ।
नाभवद् विकृतिः काचिद्धतस्यापि महात्मनः ॥ ३६ ॥

पुरुषसिंह नरेश ! वह मारा जानेपर भी जीवित-सा दीखता था, महामना कर्णके शरीरमें मरनेपर भी कोई विकार नहीं हुआ था ॥ ३६ ॥

चारुवेषधरं वीरं चारुमौलिशिरोधरम् ।
तन्मुखं सूतपुत्रस्य पूर्णचन्द्रसमद्युति ॥ ३७ ॥

सूतपुत्र कर्णका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था । उसने मनोहर वेष धारण किया था । वह वीरोचित शोभासे सम्पन्न था । उसके मस्तक और कण्ठ भी मनोहर थे ॥

नानाभरणवान् राजंस्तप्तजाम्बूनदाङ्गदः ।
हतो वैकर्तनः शेते पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित तथा तपाये हुए सुवर्णका अङ्गद (बाजूबंद) धारण किये वैकर्तन कर्ण मारा जाकर अङ्कुरयुक्त वृक्षके समान पड़ा था ॥ ३८ ॥

कनकोत्तमसंकाशो ज्वलन्निव विभावसुः ।
स शान्तः पुरुषव्याघ्र पार्थसायकवारिणा ॥ ३९ ॥

नरव्याघ्र नरेश ! उत्तम सुवर्णके समान कान्तिमान् कर्ण प्रज्वलित अग्निके तुल्य प्रकाशित होता था; परंतु पार्थके बाणरूपी जलसे वह बुझ गया ॥ ३९ ॥

यथा हि ज्वलनो दीप्तो जलमासाद्य शाम्यति ।
कर्णाग्निः समरे तद्वत् पार्थमेघेन शामितः ॥ ४० ॥

जैसे प्रज्वलित आग जलको पाकर बुझ जाती है, उसी प्रकार समराङ्गणमें कर्णरूपी अग्निको अर्जुनरूपी मेघने बुझा दिया ॥ ४० ॥

आहृत्य च यशो दीप्तं सुयुद्धेनात्मनो भुवि ।
विसृज्य शरवर्षाणि प्रताप्य च दिशो दश ॥ ४१ ॥
सपुत्रः समरे कर्णः स शान्तः पार्थतेजसा ।

इस पृथ्वीपर उत्तम युद्धके द्वारा अपने लिये उत्तम यशका उपार्जन करके, बाणोंकी झड़ी लगाकर, दसों दिशाओंको संतप्त करके, पुत्रसहित कर्ण अर्जुनके तेजसे शान्त हो गया ॥

प्रताप्य पाण्डवान् सर्वान् पञ्चालांश्चास्त्रतेजसा ॥४२॥
वर्षित्वा शरवर्षेण प्रताप्य रिपुवाहिनीम् ।
श्रीमानिव सहस्रांशुर्जगत् सर्वं प्रताप्य च ॥ ४३ ॥
हतो वैकर्तनः कर्णः सपुत्रः सहवाहनः ।
अर्थिनां पक्षिसंघस्य कल्पवृक्षो निपातितः ॥ ४४ ॥

अस्त्रके तेजसे सम्पूर्ण पाण्डव और पाञ्चालोंको संताप देकर, बाणोंकी वर्षाके द्वारा शत्रुसेनाको तपाकर तथा सहस्र किरणोंवाले तेजस्वी सूर्यके समान सम्पूर्ण संसारमें अपना प्रताप बिखेरकर वैकर्तन कर्ण पुत्र और वाहनोंसहित मारा गया । याचकरूपी पक्षियोंके समुदायके लिये जो कल्पवृक्षके समान था, वह कर्ण मार गिराया गया ॥ ४२—४४ ॥

ददानीत्येव योऽवोचन्न नास्तीत्यर्थितोऽर्थिभिः ।
सद्भिः सदा सत्पुरुषः स हतो द्वैरथे वृषः ॥ ४५ ॥

जो माँगनेपर सदा यही कहता था कि 'मैं दूँगा ।' श्रेष्ठ याचकोंके माँगनेपर जिसके मुँहसे कभी 'नाहीं' नहीं निकला, वह धर्मात्मा कर्ण द्वैरथ युद्धमें मारा गया ॥ ४५ ॥

यस्य ब्राह्मणसात् सर्वं वित्तमासीन्महात्मनः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीद् यस्य स्वमपि जीवितम् ॥ ४६ ॥
सदा स्त्रीणां प्रियो नित्यं दाता चैव महारथः ।
स वै पार्थास्त्रनिर्दग्धो गतः परमिकां गतिम् ॥ ४७ ॥

जिस महामनस्वी कर्णका सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन था, ब्राह्मणोंके लिये जिसका कुछ भी, अपना जीवन भी अदेय नहीं था, जो स्त्रियोंको सदा प्रिय लगता था और प्रतिदिन दान किया करता था, वह महारथी कर्ण पार्थके बाणोंसे दग्ध हो परम गतिको प्राप्त हो गया ॥ ४६-४७ ॥

यमाश्रित्याकरोद् वैरं पुत्रस्ते स गतो दिवम् ।
आदाय तव पुत्राणां जयाशां शर्म वर्म च ॥ ४८ ॥

राजन् ! जिसका सहारा लेकर आपके पुत्रने पाण्डवोंके साथ वैर किया था, वह कर्ण आपके पुत्रोंकी विजयकी आशा, सुख तथा कवच (रक्षा) लेकर स्वर्गलोकको चला गया ॥४८॥

हते कर्णे सरितो न प्रसस्रु-
र्जगाम चास्तं सविता दिवाकरः ।
ग्रहश्च तिर्यग् ज्वलनार्कवर्णः
सोमस्य पुत्रोऽभ्युदियाय तिर्यक् ॥ ४९ ॥

कर्णके मारे जानेपर नदियोंका प्रवाह रुक गया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और अग्नि तथा सूर्यके समान

कान्तिमान् मङ्गल एवं सोमपुत्र बुध तिरछे होकर उदित हुए॥

नभः पफालेव ननाद चोर्वी
ववुश्च वाताः परुषाः सुघोराः।
दिशो बभूवुर्ज्वलिताः सधूमा
महार्णवाः सस्वनुश्चुक्षुभुश्च॥ ५०॥

आकाश फटने-सा लगा, पृथ्वी चीत्कार कर उठी, भयानक और रूखी हवा चलने लगी, सम्पूर्ण दिशाएँ धूमसहित अग्निसे प्रज्वलित-सी होने लगीं और महासागर भयंकर स्वरमें गर्जने तथा विक्षुब्ध होने लगे॥ ५०॥

सकाननाश्चाद्रिचयाश्चकम्पिरे
प्रविव्यथुर्भूतगणाश्च सर्वे।
बृहस्पतिः सम्परिवार्य रोहिणीं
बभूव चन्द्रार्कसमो विशाम्पते॥ ५१॥

वनोंसहित पर्वतसमूह काँपने लगे, सम्पूर्ण भूतसमुदाय व्यथित हो उठे। प्रजानाथ! बृहस्पति नामक ग्रह रोहिणी नक्षत्रको सब ओरसे घेरकर चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा॥ ५१॥

हते तु कर्णे विदिशोऽपि जज्वलु-
स्तमोवृता द्यौर्विचचाल भूमिः।
पपात चोल्का ज्वलनप्रकाशा
निशाचराश्चाप्यभवन् प्रहृष्टाः॥ ५२॥

कर्णके मारे जानेपर दिशाओंके कोने-कोनेमें आग-सी लग गयी, आकाशमें अँधेरा छा गया, धरती डोलने लगी, अग्निके समान प्रकाशमान उल्का गिरने लगी और निशाचर प्रसन्न हो गये॥ ५२॥

शशिप्रकाशाननमर्जुनो यदा
क्षुरेण कर्णस्य शिरो न्यपातयत्।
तदान्तरिक्षे सहसैव शब्दो
बभूव हाहेति सुरैर्विमुक्तः॥ ५३॥

जिस समय अर्जुनने क्षुरके द्वारा कर्णके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुखवाले मस्तकको काट गिराया, उस समय आकाशमें देवताओंके मुखसे निकला हुआ हाहाकारका शब्द गूँज उठा॥ ५३॥

सदेवगन्धर्वमनुष्यपूजितं
निहत्य कर्णं रिपुमाहवेऽर्जुनः।
रराज राजन् परमेण वर्चसा
यथा पुरा वृत्रवधे शतक्रतुः॥ ५४॥

राजन्! देवता, गन्धर्व और मनुष्योंद्वारा पूजित अपने शत्रु कर्णको युद्धमें मारकर अर्जुन अपने उत्तम तेजसे उसी प्रकार प्रकाशित होने लगे, जैसे पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध करके इन्द्र सुशोभित हुए थे॥ ५४॥

ततो रथेनाम्बुदवृन्दनादिना
शरन्नभोमध्यदिवाकरार्चिषा।
पताकिना भीमनिनादकेतुना
हिमेन्दुशङ्खस्फटिकावभासिना॥ ५५॥

महेन्द्रवाहप्रतिमेन तावुभौ
महेन्द्रवीर्यप्रतिमानपौरुषौ।
सुवर्णमुक्तामणिवज्रविद्रुमै-
रलंकृतावप्रतिमेन रंहसा॥ ५६॥

नरोत्तमौ केशवपाण्डुनन्दनौ
तदाहितावग्निदिवाकराविव।
रणाजिरे वीतभयौ विरेजतुः
समानयानाविव विष्णुवासवौ॥ ५७॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन समराङ्गणमें रथपर आरूढ़ हो अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी एक ही वाहनपर बैठे हुए भगवान् विष्णु और इन्द्रके सदृश भयरहित हो विशेष शोभा पाने लगे। वे जिस रथसे यात्रा करते थे, उससे मेघसमूहोंकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती थी, वह रथ शरत्कालके मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजसे उद्दीप्त हो रहा था, उसपर पताका फहराती थी और उसकी ध्वजापर भयानक शब्द करनेवाला वानर बैठा था। उसकी कान्ति हिम, चन्द्रमा, शङ्ख और स्फटिकमणिके समान सुन्दर थी। वह रथ वेगमें अपना सानी नहीं रखता था और देवराज इन्द्रके रथके समान तीव्रगामी था। उसपर बैठे हुए दोनों नरश्रेष्ठ देवराज इन्द्रके समान शक्तिशाली और पुरुषार्थी थे तथा सुवर्ण, मुक्ता, मणि, हीरे और मूँगेके बने हुए आभूषण उनके श्रीअङ्गोंकी शोभा बढ़ाते थे॥ ५५—५७॥

ततो धनुर्ज्यातलबाणनिःस्वनैः
प्रसह्य कृत्वा च रिपून् हतप्रभान्।
संछादयित्वा तु कुरूञ्शरोत्तमैः
कपिध्वजः पक्षिवरध्वजश्च॥ ५८॥

हृष्टौ ततस्तावमितप्रभावौ
मनांस्यरीणामवदारयन्तौ।
सुवर्णजालावततौ महास्वनौ
हिमावदातौ परिगृह्य पाणिभिः।
चुचुम्बतुः शङ्खवरौ नृणां वरौ
वराननाभ्यां युगपच्च दध्मतुः॥ ५९॥

तत्पश्चात् धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली और बाणके शब्दोंसे शत्रुओंको बलपूर्वक श्रीहीन करके, उत्तम बाणोंद्वारा कौरव-सैनिकोंको ढककर अमित प्रभावशाली नरश्रेष्ठ गरुडध्वज श्रीकृष्ण और कपिध्वज अर्जुन हर्षमें भरकर विपक्षियोंका हृदय विदीर्ण करते हुए हाथोंमें दो श्रेष्ठ शङ्ख ले उन्हें अपने सुन्दर मुखोंसे एक ही साथ चूमने और बजाने लगे। उनके वे दोनों शङ्ख सोनेकी जालीसे आवृत, बर्फके समान सफेद और महान् शब्द करनेवाले थे॥ ५८-५९॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो देवदत्तस्य चोभयोः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिशश्चैवान्वनादयत्॥ ६०॥

पाञ्चजन्य तथा देवदत्त दोनों शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनिने

पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥

वित्रस्ताश्चाभवन् सर्वे कौरवा राजसत्तम ।
शङ्खशब्देन तेनाथ माधवस्यार्जुनस्य च ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! श्रीकृष्ण और अर्जुनकी उस शङ्खध्वनिसे समस्त कौरव संत्रस्त हो उठे ॥ ६१ ॥

तौ शङ्खशब्देन निनादयन्तौ
वनानि शैलान् सरितो गुहाश्च ।
वित्रासयन्तौ तव पुत्रसेनां
युधिष्ठिरं नन्दयतां वरिष्ठौ ॥ ६२ ॥

अपने शङ्खनादसे नदियों, पर्वतों, कन्दराओं तथा काननोंको प्रतिध्वनित करके आपके पुत्रकी सेनाको भयभीत करते हुए वे दोनों श्रेष्ठतम वीर युधिष्ठिरका आनन्द बढ़ाने लगे ॥

ततः प्रयाताः कुरवो जवेन
श्रुत्वैव शङ्खस्वनमीर्यमाणम् ।
विहाय मद्राधिपतिं पतिं च
दुर्योधनं भारत भारतानाम् ॥ ६३ ॥

भारत ! उस शङ्खध्वनिको सुनते ही समस्त कौरवयोद्धा मद्रराज शल्य तथा भरतवंशियोंके अधिपति दुर्योधनको वहीं छोड़कर वेगपूर्वक भागने लगे ॥ ६३ ॥

महाहवे तं बहु रोचमानं
धनंजयं भूतगणाः समेताः ।
तदान्वमोदन्त जनार्दनं च
दिवाकरावभ्युदितौ यथैव ॥ ६४ ॥

उस समय उदित हुए दो सूर्योंके समान उस महासमरमें प्रकाशित होनेवाले अत्यन्त कान्तिमान् अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर समस्त प्राणी उनके कार्यका अनुमोदन करने लगे ॥ ६४ ॥

समाचितौ कर्णशरैः परंतपा-
वुभौ व्यभातां समरेऽच्युतार्जुनौ ।
तमो निहत्याभ्युदितौ यथामलौ
शशाङ्कसूर्यौ दिवि रश्मिमालिनौ ॥ ६५ ॥

समरभूमिमें कर्णके बाणोंसे व्याप्त हुए वे दोनों शत्रुसंतापी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन अन्धकारका नाश करके आकाशमें उदित हुए निर्मल अंशुमाली सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६५ ॥

विहाय तान् बाणगणानथागतौ
सुहृद्वृतावप्रतिमानविक्रमौ ।
सुखं प्रविष्टौ शिबिरं स्वमीश्वरौ
सदस्यनिन्द्याविव विष्णुवासवौ ॥ ६६ ॥

उन बाणोंको निकालकर वे अनुपम पराक्रमी सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण और अर्जुन सुहृदोंसे घिरे हुए छावनीपर आये और यज्ञमें पदार्पण करनेवाले भगवान् विष्णु तथा इन्द्रके समान वे दोनों ही सुखपूर्वक शिबिरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥

तौ देवगन्धर्वमनुष्यचारणै-
र्महर्षिभिर्यक्षमहोरगैरपि ।
जयाभिवृद्ध्या परयाभिपूजितौ
हते तु कर्णे परमाहवे तदा ॥ ६७ ॥

उस महासमरमें कर्णके मारे जानेपर देवता, गन्धर्व, मनुष्य, चारण, महर्षि, यक्ष तथा बड़े-बड़े नागोंने भी 'आपकी जय हो, वृद्धि हो' ऐसा कहते हुए बड़ी श्रद्धासे उन दोनोंका समादर किया ॥ ६७ ॥

यथानुरूपं प्रतिपूजितावुभौ
प्रशस्यमानौ स्वकृतैर्गुणौघैः ।
ननन्दतुस्तौ ससुहृद्गणौ तदा
बलं नियम्येव सुरेशकेशवौ ॥ ६८ ॥

जैसे बलासुरका दमन करके देवराज इन्द्र और भगवान् विष्णु अपने सुहृदोंके साथ आनन्दित हुए थे, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णका वध करके यथायोग्य पूजित तथा अपने उपार्जित गुण-समूहोंद्वारा भूरि-भूरि प्रशंसित हो हितैषी-सम्बन्धियोंसहित बड़े हर्षका अनुभव करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि रणभूमिवर्णनं नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें रणभूमिका वर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसेनाका शिबिरकी ओर पलायन और शिबिरोंमें प्रवेश

संजय उवाच

हते वैकर्तने राजन् कुरवो भयपीडिताः ।
वीक्षमाणा दिशः सर्वाः पर्यापेतुः सहस्रशः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वैकर्तन कर्णके मारे जानेपर भयसे पीड़ित हुए सहस्रों कौरव योद्धा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए भाग निकले ॥ १ ॥

कर्णं तु निहतं दृष्ट्वा शत्रुभिः परमाहवे ।
भीता दिशो व्यकीर्यन्त तावकाः क्षतविक्षताः॥ २ ॥

शत्रुओंने उस महायुद्धमें वैकर्तन कर्णको मार डाला है, यह देखकर आपके सैनिक भयभीत हो उठे थे । उनका सारा शरीर घावोंसे भर गया था । इसलिये वे भागकर सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखर गये ॥ २ ॥

ततोऽवहारं चक्रुस्ते योधाः सर्वे समन्ततः ।
निवार्यमाणाश्चोद्विग्नास्तावका भृशदुःखिताः ॥ ३ ॥

तब आपके समस्त योद्धा जो अत्यन्त दुखी और उद्विग्न हो रहे थे, मना करनेपर सब ओरसे युद्ध बंद करके लौटने लगे ॥

तेषां तन्मतमाज्ञाय पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अवहारं ततश्चक्रे शल्यस्यानुमते नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! उन सबका अभिप्राय जानकर राजा शल्यकी अनुमति ले आपके पुत्र दुर्योधनने सेनाको लौटनेकी आज्ञा दी॥

कृतवर्मा रथैस्तूर्णं वृतो भारत तावकैः।
नारायणावशेषैश्च शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ५ ॥

भारत ! नारायणी-सेनाके जो वीर शेष रह गये थे, उनसे तथा आपके अन्य रथी योद्धाओंसे घिरा हुआ कृतवर्मा भी तुरंत शिबिरकी ओर ही भाग चला ॥ ५ ॥

गान्धाराणां सहस्रेण शकुनिः परिवारितः।
हतमाधिरथिं दृष्ट्वा शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ६ ॥

सहस्रों गान्धार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि भी अधिरथपुत्र कर्णको मारा गया देख छावनीकी ओर ही भागा ॥

कृपः शारद्वतो राजन् नागानीकेन भारत।
महामेघनिभेनाशु शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ७ ॥

भरतवंशी नरेश ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य मेघोंकी घटाके समान अपनी गजसेनाके साथ शीघ्रतापूर्वक शिबिरकी ओर ही भाग चले ॥ ७ ॥

अश्वत्थामा ततः शूरो विनिःश्वस्य पुनः पुनः।
पाण्डवानां जयं दृष्ट्वा शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ८ ॥

तदनन्तर शूरवीर अश्वत्थामा पाण्डवोंकी विजय देख बारंबार उच्छ्वास लेता हुआ छावनीकी ओर ही भागने लगा॥

संशप्तकावशिष्टेन बलेन महता वृतः।
सुशर्मापि ययौ राजन् वीक्षमाणो भयार्दितः ॥ ९ ॥

राजन् ! संशप्तकोंकी बची हुई विशाल सेनासे घिरा हुआ सुशर्मा भी भयसे पीड़ित हो इधर-उधर देखता हुआ छावनी-की ओर चल दिया ॥ ९ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिर्हतसर्वस्वबान्धवः।
ययौ शोकसमाविष्टश्चिन्तयन् विमना बहु ॥ १० ॥

जिसके भाई नष्ट हो गये थे और सर्वस्व लुट गया था, वह राजा दुर्योधन भी शोकमग्न, उदास और विशेष चिन्तित होकर शिबिरकी ओर चल पड़ा ॥ १० ॥

छिन्नध्वजेन शल्यस्तु रथेन रथिनां वरः।
प्रययौ शिबिरायैव वीक्षमाणो दिशो दश ॥ ११ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा शल्यने भी जिसकी ध्वजा कट गयी थी, उस रथके द्वारा दसों दिशाओंकी ओर देखते हुए छावनीकी ओर ही प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

ततोऽपरे सुबहवो भरतानां महारथाः।
प्राद्रवन्त भयत्रस्ता ह्रियाविष्टा विचेतसः ॥ १२ ॥

भरतवंशियोंके दूसरे-दूसरे बहुसंख्यक महारथी भी भयभीत, लज्जित और अचेत होकर शिबिरकी ओर दौड़े ॥ १२ ॥

असृक् क्षरन्तः सोद्विग्ना वेपमानास्तथातुराः।
कुरवो दुद्रुवुः सर्वे दृष्ट्वा कर्णं निपातितम् ॥ १३ ॥

कर्णको मारा गया देख सभी कौरव-सैनिक खून बहाते और काँपते हुए उद्विग्न तथा आतुर होकर छावनीकी ओर भागने लगे ॥ १३ ॥

प्रशंसन्तोऽर्जुनं केचित् केचित् कर्णं महारथाः।
व्यद्रवन्त दिशो भीताः कुरवः कुरुसत्तम ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कौरव-महारथियोंमेंसे कुछ लोग अर्जुनकी प्रशंसा करते थे और कुछ कर्णकी। वे सब-के-सब भयभीत होकर चारों दिशाओंमें भाग खड़े हुए ॥ १४ ॥

तेषां योधसहस्राणां तावकानां महामृधे।
नासीत्तत्र पुमान् कश्चिद् यो युद्धाय मनो दधे ॥ १५ ॥

आपके उन हजारों योद्धाओंमें वहाँ कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो अपने मनमें उस महासमरमें युद्धके लिये उत्साह रखता हो ॥ १५ ॥

हते कर्णे महाराज निराशाः कुरवोऽभवन्।
जीवितेष्वपि राज्येषु दारेषु च धनेषु च ॥ १६ ॥

महाराज ! कर्णके मारे जानेपर कौरव अपने राज्यसे, धनसे, स्त्रियोंसे और जीवनसे भी निराश हो गये ॥ १६ ॥

तान् समानीय पुत्रस्ते यत्नेन महता विभुः।
निवेशाय मनो दध्रे दुःखशोकसमन्वितः ॥ १७ ॥

दुःख और शोकमें डूबे हुए आपके पुत्र राजा दुर्योधनने बड़े यत्नसे उन सबको साथ ले आकर छावनीमें विश्राम करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

तस्याज्ञां शिरसा योधाः परिगृह्य विशाम्पते।
विवर्णवदना राजन् न्यविशन्त महारथाः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! वे सब महारथी योद्धा दुर्योधनकी आज्ञा शिरोधार्य करके शिबिरमें प्रविष्ट हुए। उन सबके मुखोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शिबिरप्रयाणे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कौरव-सेनाका शिबिरकी ओर प्रस्थानविषयक पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका रणभूमिमें कर्णको मारा गया देखकर प्रसन्न हो श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करना, धृतराष्ट्रका शोकमग्न होना तथा कर्णपर्वके श्रवणकी महिमा

संजय उवाच

तथा निपतिते कर्णे परसैन्ये च विद्रुते।
आश्लिष्य पार्थं दाशार्हो हर्षाद् वचनमब्रवीत्॥ १ ॥

संजय कहते हैं--राजन् ! जब कर्ण मारा गया और शत्रुसेना भाग चली, तब दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको हृदयसे लगाकर बड़े हर्षके साथ इस प्रकार बोले--॥

हतो वज्रभृता वृत्रस्त्वया कर्णो धनंजय ।
वृत्रकर्णवधं घोरं कथयिष्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

'धनंजय ! पूर्वकालमें वज्रधारी इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था और आज तुमने कर्णको मारा है । वृत्रासुर और कर्ण दोनोंके वधका वृत्तान्त बड़ा भयंकर है । मनुष्य सदा इसकी चर्चा करते रहेंगे ॥ २ ॥

वज्रेण निहतो वृत्रः संयुगे भूरितेजसा ।
त्वया तु निहतः कर्णो धनुषा निशितैः शरैः ॥ ३ ॥

'वृत्रासुर युद्धमें महातेजस्वी वज्रके द्वारा मारा गया था; परंतु तुमने कर्णको धनुष एवं पैने बाणोंसे ही मार डाला है ॥

तमिमं विक्रमं लोके प्रथितं ते यशस्करम् ।
निवेदयावः कौन्तेय कुरुराजस्य धीमतः ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! चलो, हम दोनों तुम्हारे इस विश्वविख्यात और यशोवर्धक पराक्रमका वृत्तान्त बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरको बतावें ॥ ४ ॥

वधं कर्णस्य संग्रामे दीर्घकालचिकीर्षितम् ।
निवेद्य धर्मराजाय त्वमानृण्यं गमिष्यसि ॥ ५ ॥

'उन्हें दीर्घकालसे युद्धमें कर्णके वधकी अभिलाषा थी । आज धर्मराजको यह समाचार बताकर तुम उऋण हो जाओगे ॥

वर्तमाने महायुद्धे तव कर्णस्य चोभयोः ।
द्रष्टुमायोधनं पूर्वमागतो धर्मनन्दनः ॥ ६ ॥

'जब यह महायुद्ध चल रहा था, उस समय तुम्हारा और कर्णका युद्ध देखनेके लिये धर्मनन्दन युधिष्ठिर पहले आये थे॥

भृशं तु गाढविद्धत्वान्नाशकत् स्थातुमाहवे ।
ततः स शिबिरं गत्वा स्थितवान् पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

'परंतु गहरी चोट खानेके कारण वे देरतक युद्धस्थलमें ठहर न सके । यहाँसे शिबिरमें जाकर वे पुरुषप्रवर युधिष्ठिर विश्राम कर रहे हैं' ॥ ७ ॥

तथेत्युक्तः केशवस्तु पार्थेन यदुपुङ्गवः ।
पर्यावर्तयदव्यग्रो रथं रथवरस्य तम् ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने केशवसे 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की । तत्पश्चात् यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने शान्तभावसे रथिश्रेष्ठ अर्जुनके उस रथको युधिष्ठिरके शिबिरकी ओर लौटाया ॥

एवमुक्त्वार्जुनं कृष्णः सैनिकानिदमब्रवीत् ।
परानभिमुखा यत्तास्तिष्ठध्वं भद्रमस्तु वः ॥ ९ ॥

अर्जुनसे पूर्वोक्त बात कहकर भगवान् श्रीकृष्ण सैनिकोंसे इस प्रकार बोले—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम शत्रुओंका सामना करनेके लिये सदा प्रयत्नपूर्वक डटे रहना' ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्नं युधामन्युं माद्रीपुत्रौ वृकोदरम् ।
युयुधानं च गोविन्द इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

इसके बाद गोविन्द धृष्टद्युम्न, युधामन्यु, नकुल, सहदेव, भीमसेन और सात्यकिसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

यावदावेद्यते राज्ञे हतः कर्णोऽर्जुनेन वै ।
तावद्भवद्भिर्यत्तैस्तु भवितव्यं नराधिपैः ॥ ११ ॥

'अर्जुनने कर्णको मार डाला' यह समाचार जबतक हमलोग राजा युधिष्ठिरसे निवेदन करते हैं, तबतक तुम सभी नरेशोंको यहाँ शत्रुओंकी ओरसे सावधान रहना चाहिये॥

स तैः शूरैरनुज्ञातो ययौ राजनिवेशनम् ।
पार्थमादाय गोविन्दो ददर्श च युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥

उन शूरवीरोंने उनकी आज्ञा स्वीकार करके जब जानेकी अनुमति दे दी, तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको साथ लेकर राजा युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ १२ ॥

शयानं राजशार्दूलं काञ्चने शयनोत्तमे ।
अगृह्णीतां च मुदितौ चरणौ पार्थिवस्य तौ ॥ १३ ॥

उस समय नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर सोनेके उत्तम पलंगपर सो रहे थे । उन दोनोंने वहाँ पहुँचकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजाके चरण पकड़ लिये ॥ १३ ॥

तयोः प्रहर्षमालक्ष्य हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ।
राधेयं निहतं मत्वा समुत्तस्थौ युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

उन दोनोंके हर्षोल्लासको देखकर राजा युधिष्ठिर यह समझ गये कि राधापुत्र कर्ण मारा गया; अतः वे शय्यासे उठ खड़े हुए और नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाने लगे ॥

उवाच च महाबाहुः पुनः पुनररिंदमः ।
वासुदेवार्जुनौ प्रेम्णा तावुभौ परिषस्वजे ॥ १५ ॥

शत्रुदमन महाबाहु युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बारं-बार प्रेमपूर्वक बोलने और उन दोनोंको हृदयसे लगाने लगे ॥

तत् तस्मै तद् यथावृत्तं वासुदेवः सहार्जुनः ।
कथयामास कर्णस्य निधनं यदुपुङ्गवः ॥ १६ ॥

उस समय अर्जुनसहित यदुकुलतिलक वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कर्णके मारे जानेका सारा समाचार उन्हें यथावत्‌रूपसे कह सुनाया ॥ १६ ॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु कृष्णो राजानमब्रवीत् ।
युधिष्ठिरं हतामित्रं कृताञ्जलिरथाच्युतः ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर किञ्चित् मुस्कराते हुए, जिनका शत्रु मारा गया था, उस राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च पाण्डवश्च वृकोदरः ।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १८ ॥

'राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डव भीमसेन, पाण्डुकुमार माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव और आप भी सकुशल हैं ॥ १८ ॥

मुक्ता वीरक्षयादस्मात् संग्रामाल्लोमहर्षणात् ।
क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि पाण्डव ॥ १९ ॥

'आप सब लोग वीरोंका विनाश करनेवाले इस रोमाञ्चकारी संग्रामसे मुक्त हो गये । पाण्डुनन्दन ! अब आगे जो कार्य करने हैं, उन्हें शीघ्र पूर्ण कीजिये ॥ १९ ॥

हतो वैकर्तनो राजन् सूतपुत्रो महारथः ।
दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र दिष्ट्या वर्धसि भारत ॥ २० ॥

'राजन्! महारथी सूतपुत्र वैकर्तन कर्ण मारा गया, राजेन्द्र ! सौभाग्यसे आप विजयी हो रहे हैं। भारत ! आपकी वृद्धि हो रही है, यह परम सौभाग्यकी बात है ॥ २० ॥

यस्तु द्यूतजितां कृष्णां प्राहसत् पुरुषाधमः।
तस्याद्य सूतपुत्रस्य भूमिः पिबति शोणितम् ॥ २१ ॥

'जिस नराधमने जूएमें जीती हुई द्रौपदीका उपहास किया था, आज पृथ्वी उस सूतपुत्र कर्णका रक्त पी रही है ॥ २१ ॥

शेतेऽसौ शरपूर्णाङ्गः शत्रुस्ते कुरुपुङ्गव।
तं पश्य पुरुषव्याघ्र विभिन्नं बहुभिः शरैः ॥ २२ ॥

'कुरुपुङ्गव ! आपका वह शत्रु रणभूमिमें सो रहा है और उसके सारे शरीरमें बाण भरे हुए हैं। नरव्याघ्र ! अनेक बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए उस कर्णको आप देखिये ॥ २२ ॥

हतामित्रामिमामुर्वीमनुशाधि महाभुज।
यत्तो भूत्वा सहास्माभिर्भुङ्क्ष्व भोगांश्च पुष्कलान्॥२३॥

'महाबाहो ! आप सावधान होकर हम सब लोगोंके साथ इस निष्कंटक हुई पृथ्वीका शासन और प्रचुर भोगोंका उपभोग कीजिये' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा दाशार्हं वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महात्मा श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे वार्तालाप आरम्भ किया ॥ २४ ॥

दिष्ट्या दिष्ट्येति राजेन्द्र वाक्यं चेदमुवाच ह।
नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दन ॥ २५ ॥
त्वया सारथिना पार्थो यत्नवानहनच्च तम्।
न तच्चित्रं महाबाहो युष्मद्बुद्धिप्रसादजम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! 'अहो भाग्य ! अहो भाग्य !' ऐसा कहकर युधिष्ठिर इस प्रकार बोले—'महाबाहु देवकीनन्दन ! आपके रहते यह महान् कार्य सम्पन्न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आप-जैसे सारथिके होते ही पार्थने प्रयत्नपूर्वक उसका वध किया है। महाबाहो ! आपकी बुद्धिके प्रसादसे ऐसा होना आश्चर्य नहीं है' ॥ २५-२६ ॥

प्रगृह्य च कुरुश्रेष्ठ साङ्गदं दक्षिणं भुजम्।
उवाच धर्मभृत् पार्थ उभौ तौ केशवार्जुनौ ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इसके बाद धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने बाजूबंद-विभूषित श्रीकृष्णका दाहिना हाथ अपने हाथमें लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंसे कहा—॥ २७ ॥

नरनारायणौ देवौ कथितौ नारदेन मे।
धर्मात्मानौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ २८ ॥

'प्रभो ! देवर्षि नारदने मुझसे कहा था कि आप दोनों धर्मात्मा, महात्मा, पुराणपुरुष तथा ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् नर और नारायण हैं ॥ २८ ॥

असकृच्चापि मेधावी कृष्णद्वैपायनो मम।
कथामेतां महाभाग कथयामास तत्त्ववित् ॥ २९ ॥

'महाभाग ! परम बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता महर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायनने भी बारंबार मुझसे यही बात कही है ॥ २९ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन पाण्डवोऽयं धनंजयः।
जिगायाभिमुखः शत्रून् न चासीद् विमुखः कचित्॥३०॥

'श्रीकृष्ण ! आपके प्रसादसे ही ये पाण्डुपुत्र धनंजय सदा सामने रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजयी हुए हैं और कभी युद्धसे मुँह नहीं मोड़ सके हैं ॥ ३० ॥

जयश्चैव ध्रुवोऽस्माकं न त्वस्माकं पराजयः।
यदा त्वं युधि पार्थस्य सारथ्यमुपजग्मिवान् ॥ ३१ ॥

'प्रभो ! जब आप युद्धमें अर्जुनके सारथि बने थे, तभी हमें यह विश्वास हो गया था कि हमलोगोंकी विजय निश्चित है, अटल है। हमारी पराजय नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च महात्मा गौतमः कृपः।
अन्ये च बहवः शूरा ये च तेषां पदानुगाः ॥ ३२ ॥
त्वद्बुद्ध्या निहते कर्णे हता गोविन्द सर्वथा।

'गोविन्द ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, महात्मा गौतमवंशी कृपाचार्य तथा इनके पीछे चलनेवाले जो और भी बहुत-से शूरवीर हैं और रहे हैं, आपकी बुद्धिसे आज कर्णके मारे जानेपर उन सबका वध हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ' ३२½

इत्युक्त्वा धर्मराजस्तु रथं हेमविभूषितम् ॥ ३३ ॥
श्वेतवर्णैर्हयैर्युक्तं कालवालैर्मनोजवैः।
आस्थाय पुरुषव्याघ्रः स्वबलेनाभिसंवृतः ॥ ३४ ॥
प्रययौ स महाबाहुर्द्रष्टुमायोधनं तदा।
कृष्णार्जुनाभ्यां वीराभ्यामनुमन्त्र्य ततः प्रियम्॥ ३५ ॥
आभाषमाणस्तौ वीरावुभौ माधवफाल्गुनौ।
स ददर्श रणे कर्णं शयानं पुरुषर्षभम् ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर पुरुषसिंह महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर श्वेत-वर्ण और काली पूँछवाले, मनके समान वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो अपनी सेनाके साथ युद्ध देखनेके लिये चले। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों वीरोंके साथ प्रिय विषयपर परामर्श और उनसे वार्तालाप करते हुए युधिष्ठिरने रणभूमिमें सोये हुए पुरुषप्रवर कर्णको देखा॥ ३३—३६॥

यथा कदम्बकुसुमं केसरैः सर्वतो वृतम्।
चितं शरशतैः कर्णं धर्मराजो ददर्श सः ॥ ३७ ॥

जैसे कदम्बका फूल सब ओरसे केसरोंसे भरा होता है, उसी प्रकार कर्णका शरीर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त था। धर्म-राज युधिष्ठिरने इसी अवस्थामें उसे देखा ॥ ३७ ॥

गन्धतैलावसिक्ताभिः काञ्चनीभिः सहस्रशः।
दीपिकाभिः कृतोद्योतं पश्यते वै वृषं तदा ॥ ३८ ॥

उस समय सुगन्धित तेलसे भरे हुए सहस्रों सोनेके दीपक जलाकर प्रकाश किया गया था। उसी उजालेमें वे धर्मात्मा कर्णको देख रहे थे ॥ ३८ ॥

संछिन्नभिन्नकवचं बाणैश्च विदलीकृतम्।
सपुत्रं निहतं दृष्ट्वा कर्णं राजा युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
संजातप्रत्ययोऽतीव वीक्ष्य चैवं पुनः पुनः।
प्रशशंस नरव्याघ्रावुभौ माधवपाण्डवौ ॥ ४० ॥

उसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया था और सारा शरीर बाणोंसे विदीर्ण हो चुका था। उस अवस्थामें पुत्रसहित मरे हुए कर्णको देखकर बारंबार उसका निरीक्षण करके राजा युधिष्ठिरको इस बातपर पूरा-पूरा विश्वास हुआ। फिर वे पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३९-४० ॥

अद्य राजास्मि गोविन्द पृथिव्यां भ्रातृभिः सह।
त्वया नाथेन वीरेण विदुषा परिपालितः ॥ ४१ ॥

उन्होंने कहा—'गोविन्द ! आप-जैसे विद्वान् और वीर स्वामी एवं संरक्षकके द्वारा सुरक्षित होकर आज मैं भाइयोंसहित इस भूमण्डलका राजा हो गया ॥ ४१ ॥

हतं श्रुत्वा नरव्याघ्रं राधेयमतिमानिनम्।
निराशोऽद्य दुरात्मासौ धार्तराष्ट्रो भविष्यति॥ ४२ ॥
जीविते चैव राज्ये च हते राधात्मजे रणे।
त्वत्प्रसादाद् वयं चैव कृतार्थाः पुरुषर्षभ ॥ ४३ ॥

'आज दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त अभिमानी नरव्याघ्र राधापुत्र कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर राज्य और जीवनसे भी निराश हो जायगा। पुरुषोत्तम ! आपकी कृपासे रणभूमिमें राधापुत्र कर्णके मारे जानेपर हम सब लोग कृतार्थ हो गये ॥ ४२-४३ ॥

दिष्ट्या जयसि गोविन्द दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च विजयी पाण्डुनन्दनः ॥ ४४॥

'गोविन्द ! बड़े भाग्यसे आपकी विजय हुई है। भाग्यसे ही हमारा शत्रु कर्ण आज मार गिराया गया है और सौभाग्यसे ही गाण्डीवधारी पाण्डुनन्दन अर्जुन विजयी हुए हैं ॥

त्रयोदश समास्तीर्णा जागरेण सुदुःखिताः।
स्वप्स्यामोऽद्य सुखं रात्रौ त्वत्प्रसादान्महाभुज॥४५॥

'महाबाहो ! अत्यन्त दुखी होकर हमलोगोंने जागते हुए तेरह वर्ष व्यतीत किये हैं। आजकी रातमें आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक सो सकेंगे' ॥ ४५ ॥

संजय उवाच

एवं स बहुशो राजा प्रशशंस जनार्दनम्।
अर्जुनं च कुरुश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार धर्मराज राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कुरुश्रेष्ठ अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा की ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वा च निहतं कर्णं सपुत्रं पार्थसायकैः।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने च स महीपतिः ॥ ४७ ॥

पुत्रसहित कर्णको अर्जुनके बाणोंसे मारा गया देख राजा युधिष्ठिरने अपना नया जन्म हुआ-सा माना ॥ ४७ ॥

समेत्य च महाराज कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
हर्षयन्ति स्म राजानं हर्षयुक्ता महारथाः ॥ ४८ ॥

महाराज ! उस समय हर्षमें भरे हुए पाण्डवपक्षके महारथी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे मिलकर उनका हर्ष बढ़ाने लगे ॥ ४८ ॥

नकुलः सहदेवश्च पाण्डवश्च वृकोदरः।
सात्यकिश्च महाराज वृष्णीनां प्रवरो रथः ॥ ४९ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पाण्डुपाञ्चालसृञ्जयाः।
पूजयन्ति स्म कौन्तेयं निहते सूतनन्दने ॥ ५० ॥

राजेन्द्र ! नकुल-सहदेव, पाण्डुपुत्र भीमसेन, वृष्णिवंशके श्रेष्ठ महारथी सात्यकि, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदि पाण्डव, पाञ्चाल तथा सृंजय योद्धा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४९-५० ॥

ते वर्धयित्वा नृपतिं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
जितकाशिनो लब्धलक्ष्या युद्धशौण्डाः प्रहारिणः॥५१॥
स्तुवन्तः स्तवयुक्ताभिर्वाग्भिः कृष्णौ परंतपौ।
जग्मुः स्वशिबिरायैव मुदा युक्ता महारथाः ॥ ५२ ॥

वे विजयसे उल्लसित हो रहे थे। उनका लक्ष्य सिद्ध हो गया था। वे युद्धकुशल महारथी योद्धा धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको बधाई देकर स्तुतियुक्त वचनोंद्वारा शत्रुसंतापी श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने शिविरको गये॥ ५१-५२ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः सुमहाँल्लोमहर्षणः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् किमर्थमनुशोचसि ॥ ५३ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी ही कुमन्त्रणाके फलस्वरूप यह रोमाञ्चकारी महान् जनसंहार हुआ है। अब आप किसलिये बारंबार शोक करते हैं ? ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदप्रियं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
पपात भूमौ निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह अप्रिय समाचार सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र निश्चेष्ट हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

तथा सा पतिता देवी गान्धारी दीर्घदर्शिनी।
शुशोच बहुलालापैः कर्णस्य निधनं युधि ॥ ५५ ॥

इसी तरह दूरतक सोचनेवाली गान्धारी देवी भी पछाड़ खाकर गिरीं और बहुत विलाप करती हुई युद्धमें कर्णकी मृत्युके लिये शोक करने लगीं ॥ ५५ ॥

तां पर्यगृह्णाद् विदुरो नृपतिं संजयस्तथा।
पर्याश्वासयतां चैव तावुभावेव भूमिपम् ॥ ५६ ॥

उस समय विदुरजीने गान्धारी देवीको और संजयने

राजा धृतराष्ट्रको सँभाला । फिर दोनों ही मिलकर राजाको समझाने-बुझाने लगे ॥ ५६ ॥

तथैवोत्थापयामासुर्गान्धारीं कुरुयोषितः ।
स दैवं परमं मत्वा भवितव्यं च पार्थिवः ॥ ५७ ॥
परां पीडां समाश्रित्य नष्टचित्तो महातपाः ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा न जज्ञे मोहपीडितः ।
स समाश्वासितो राजा तूष्णीमासीद् विचेतनः॥ ५८ ॥

इसी प्रकार कुरुकुलकी स्त्रियोंने आकर गान्धारी देवीको उठाया । भाग्य और भवितव्यताको ही प्रबल मानकर राजा धृतराष्ट्र भारी व्यथाका अनुभव करने लगे । उनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी । वे महातपस्वी नरेश चिन्ता और शोकमें डूब गये और मोहसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें किसी भी बातकी सुध न रही । विदुर और संजयके समझानेपर राजा धृतराष्ट्र अचेत-से होकर चुपचाप बैठे रह गये ॥ ५७-५८ ॥

श्रवणमहिमा

इमं महायुद्धमखं महात्मनो-
र्धनंजयस्याधिरथेश्च यः पठेत् ।
स सम्यगिष्टस्य मखस्य यत् फलं
तदाप्नुयात् संश्रवणाच्च भारत ॥ ५९ ॥

भारत ! जो मनुष्य महात्मा अर्जुन और कर्णके इस महायुद्धरूपी यज्ञका पाठ अथवा श्रवण करेगा, वह विधिपूर्वक किये हुए यज्ञानुष्ठानका फल प्राप्त कर लेगा ॥ ५९ ॥

मखो हि विष्णुर्भगवान् सनातनो
वदन्ति तच्चाग्न्यनिलेन्दुभानवः ।
अतोऽनसूयुः शृणुयात् पठेच्च यः
स सर्वलोकानुचरः सुखी भवेत्॥ ६० ॥

सनातन भगवान् विष्णु यज्ञस्वरूप हैं, इस बातको अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य भी कहते हैं । अतः जो मनुष्य दोषदृष्टिका परित्याग करके इस युद्धयज्ञका वर्णन पढ़ता या सुनता है, वह सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाला और सुखी होता है[1]॥

तां सर्वदा भक्तिमुपागता नराः
पठन्ति पुण्यां वरसंहितामिमाम् ।
धनेन धान्येन यशसा च मानुषा
नन्दन्ति ते नात्र विचारणास्ति ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य सदा भक्तिभावसे इस उत्तम एवं पुण्यमयी संहिताका पाठ करते हैं, वे धन-धान्य एवं यशसे सम्पन्न हो आनन्दके भागी होते हैं । इस बातमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६१ ॥

अतोऽनसूयुः शृणुयात् सदा तु वै
नरः स सर्वाणि सुखानि चाप्नुयात् ।
विष्णुः स्वयंभूर्भगवान् भवश्च
तुष्यन्ति ते तस्य नरोत्तमस्य ॥ ६२ ॥

अतः जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर सदा इस संहिताको सुनता है, वह सम्पूर्ण सुखोंको प्राप्त कर लेता है, उस श्रेष्ठ मनुष्यपर भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और महादेवजी भी प्रसन्न होते हैं ॥ ६२ ॥

वेदावाप्तिर्ब्राह्मणस्येह दृष्टा
रणे बलं क्षत्रियाणां जयो युधि ।
धनज्येष्ठाश्चापि भवन्ति वैश्याः
शूद्राऽऽरोग्यं प्राप्नुवन्तीह सर्वे॥ ६३ ॥

इसके पढ़ने और सुननेसे ब्राह्मणोंको वेदोंका ज्ञान प्राप्त होता है, क्षत्रियोंको बल और युद्धमें विजय प्राप्त होती है, वैश्य धनमें बढ़े-चढ़े हो जाते हैं और समस्त शूद्र आरोग्य लाभ करते हैं ॥ ६३ ॥

तथैव विष्णुर्भगवान् सनातनः
स चात्र देवः परिकीर्त्यते यतः ।
ततः स कामाल्लँभते सुखी नरो
महामुनेस्तस्य वचोऽर्चितं यथा॥ ६४ ॥

इसमें सनातन भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) की महिमाका वर्णन किया गया है; अतः मनुष्य इसके स्वाध्यायसे सुखी होकर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है । महामुनि व्यासदेवकी इस परम पूजित वाणीका ऐसा ही प्रभाव है ॥ ६४ ॥

कपिलानां सवत्सानां वर्षमेकं निरन्तरम् ।
यो दद्यात् सुकृतं तद्धि श्रवणात् कर्णपर्वणः॥ ६५ ॥

लगातार एक वर्षतक प्रतिदिन जो बछड़ोंसहित कपिला गौओंका दान करता है, उसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वही कर्णपर्वके श्रवणमात्रसे मिल जाता है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरहर्षे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरका हर्षविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

॥ कर्णपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	४०९२॥	(९०७॥)	१२४७॥।-	५३४०।-
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१२५॥	(२८)	३८॥	१६४
कर्णपर्वकी		कुल श्लोक-संख्या		५५०४।-

[1] 'सर्वलोकानुचरः' का यह अर्थ भी हो सकता है कि सब लोग उसके अनुचर हो जाते हैं ।

युधिष्ठिरकी ललकारपर दुर्योधनका पानीसे बाहर निकल आना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

शल्यपर्व

प्रथमोऽध्यायः

संजयके मुखसे शल्य और दुर्योधनके वधका वृत्तान्त सुनकर राजा धृतराष्ट्रका मूर्च्छित होना और सचेत होनेपर उन्हें विदुरका आश्वासन देना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं निपातिते कर्णे समरे सव्यसाचिना।
अल्पावशिष्टाः कुरवः किमकुर्वत वै द्विज॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब इस प्रकार समराङ्गणमें सव्यसाची अर्जुनने कर्णको मार गिराया, तब थोड़े-से बचे हुए कौरवसैनिकोंने क्या किया? ॥ १॥

उदीर्यमाणं च बलं दृष्ट्वा राजा सुयोधनः।
पाण्डवैः प्राप्तकालं च किं प्रापद्यत कौरवः॥ २॥

पाण्डवोंका बल बढ़ता देखकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने उनके साथ कौन-सा समयोचित बर्ताव करनेका निश्चय किया?॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तदाचक्ष्व द्विजोत्तम।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्॥ ३॥

द्विजश्रेष्ठ! मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। मुझे अपने पूर्वजोंका महान् चरित्र सुनते-सुनते तृप्ति नहीं हो रही है, अतः आप इसका वर्णन कीजिये॥ ३॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णे हते राजन् धार्तराष्ट्रः सुयोधनः।
भृशं शोकार्णवे मग्नो निराशः सर्वतोऽभवत्॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! कर्णके मारे जानेपर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन शोकके समुद्रमें डूब गया और सब ओरसे निराश हो गया॥ ४॥

हा कर्ण हा कर्ण इति शोचमानः पुनः पुनः।
कृच्छ्रात् स्वशिबिरं प्राप्तो हतशेषैर्नृपैः सह॥ ५॥

'हा कर्ण! हा कर्ण!' ऐसा कहकर बारंबार शोकग्रस्त हो मरनेसे बचे हुए नरेशोंके साथ वह बड़ी कठिनाईसे अपने शिबिरमें आया॥ ५॥

स समाश्वास्यमानोऽपि हेतुभिः शास्त्रनिश्चितैः।
राजभिर्नालभच्छर्म सूतपुत्रवधं स्मरन्॥ ६॥

राजाओंने शास्त्रनिश्चित युक्तियोंद्वारा उसे बहुत समझाया-बुझाया तो भी सूतपुत्रके वधका स्मरण करके उसे शान्ति नहीं मिली॥ ६॥

स दैवं बलवन्मत्वा भवितव्यं च पार्थिवः।
संग्रामे निश्चयं कृत्वा पुनर्युद्धाय निर्ययौ॥ ७॥

उस राजा दुर्योधनने दैव और भवितव्यताको प्रबल मानकर संग्राम जारी रखनेका ही दृढ़ निश्चय करके पुनः युद्धके लिये प्रस्थान किया॥ ७॥

शल्यं सेनापतिं कृत्वा विधिवद् राजपुङ्गवः।
रणाय निर्ययौ राजा हतशेषैर्नृपैः सह॥ ८॥

नृपश्रेष्ठ राजा दुर्योधन शल्यको विधिपूर्वक सेनापति बनाकर मरनेसे बचे हुए राजाओंके साथ युद्धके लिये निकला॥

ततः सुतुमुलं युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः।
बभूव भरतश्रेष्ठ देवासुररणोपमम्॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर कौरव-पाण्डव सेनाओंमें घोर युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था॥ ९॥

ततः शल्यो महाराज कृत्वा कदनमाहवे।
ससैन्योऽथ स मध्याह्ने धर्मराजेन घातितः॥ १०॥

महाराज! तत्पश्चात् सेनासहित शल्य युद्धमें बड़ा भारी संहार मचाकर मध्याह्नकालमें धर्मराज युधिष्ठिरके हाथसे मारे गये॥ १०॥

ततो दुर्योधनो राजा हतबन्धू रणाजिरात्।
अपसृत्य ह्रदं घोरं विवेश रिपुजाद् भयात्॥ ११॥

तदनन्तर राजा दुर्योधन अपने भाइयोंके मारे जानेपर समराङ्गणसे दूर जाकर शत्रुके भयसे भयंकर तालाबमें घुस गया॥ ११॥

अथापराह्णे तस्याह्नः परिवार्य सुयोधनः ।
ह्रदादाहूय युद्धाय भीमसेनेन पातितः ॥ १२ ॥

इसके बाद उसी दिन अपराह्णकालमें दुर्योधनपर घेरा डालकर उसे युद्धके लिये तालाबसे बुलाकर भीमसेनने मार गिराया ॥ १२ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे हतशिष्टास्त्रयो रथाः ।
संरम्भान्निशि राजेन्द्र जघ्नुः पाञ्चालसोमकान् ॥ १३॥

राजेन्द्र ! उस महाधनुर्धर दुर्योधनके मारे जानेपर मरनेसे बचे हुए तीन रथी—कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामाने रातमें सोते समय पाञ्चालों और सोमकोंको रोषपूर्वक मार डाला ॥ १३ ॥

ततः पूर्वाह्णसमये शिबिरादेत्य संजयः ।
प्रविवेश पुरीं दीनो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् पूर्वाह्णकालमें दुःख और शोकमें डूबे हुए संजयने शिविरसे आकर दीनभावसे हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥

स प्रविश्य पुरीं सूतो भुजावुच्छ्रित्य दुःखितः ।
वेपमानस्ततो राज्ञः प्रविवेश निकेतनम् ॥ १५ ॥

पुरीमें प्रवेश करके दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःख-मग्न हो काँपते हुए संजय राजभवनके भीतर गये ॥ १५ ॥

रुरोद च नरव्याघ्र हा राजन्निति दुःखितः ।
अहो बत विनष्टाः स्म निधनेन महात्मनः ॥ १६ ॥

और रोते हुए दुखी होकर बोले— 'हा नरव्याघ्र नरेश ! हा राजन् ! बड़े शोककी बात है ! महामनस्वी कुरुराजके निधनसे हम सर्वथा नष्टप्राय हो गये ! ॥ १६ ॥

विधिश्च बलवानत्र पौरुषं तु निरर्थकम् ।
शक्रतुल्यबलाः सर्वे यथावध्यन्त पाण्डवैः ॥ १७ ॥

'इस जगत्में भाग्य ही बलवान् है । पुरुषार्थ तो निरर्थक है, क्योंकि आपके सभी पुत्र इन्द्रके तुल्य बलवान् होनेपर भी पाण्डवोंके हाथसे मारे गये !' ॥ १७ ॥

दृष्ट्वैव च पुरे राजञ्जनः सर्वः स संजयम् ।
क्लेशेन महता युक्तं सर्वतो राजसत्तम ॥ १८ ॥
रुरोद च भृशोद्विग्नो हा राजन्निति विस्वरम् ।
आकुमारं नरव्याघ्र तत्र तत्र समन्ततः ॥ १९ ॥
आर्तनादं ततश्चक्रे श्रुत्वा विनिहतं नृपम् ।

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! हस्तिनापुरके सभी लोग संजयको सर्वथा महान् क्लेशसे युक्त देखकर अत्यन्त उद्विग्न हो 'हा राजन् !' ऐसा कहते हुए फूट-फूटकर रोने लगे । नरव्याघ्र ! वहाँ चारों ओर बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सब लोग राजाको मारा गया सुन आर्तनाद करने लगे ॥ १८-१९½ ॥

धावतश्चाप्यपश्यामस्तत्र तान् पुरुषर्षभान् ॥ २० ॥
नष्टचित्तानिवोन्मत्ताञ्शोकेन भृशपीडितान् ।

हमलोगोंने देखा कि वे नगरके श्रेष्ठ पुरुष अचेत और उन्मत्त-से होकर शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो वहाँ दौड़ रहे हैं॥

तथा स विह्वलः सूतः प्रविश्य नृपतिक्षयम् ॥ २१ ॥
ददर्श नृपतिश्रेष्ठं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।

इस प्रकार व्याकुल हुए संजयने राजभवनमें प्रवेश करके अपने स्वामी प्रज्ञाचक्षु नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्रका दर्शन किया ॥

तथा चासीनमनघं समन्तात् परिवारितम् ॥ २२ ॥
स्नुषाभिर्भरतश्रेष्ठ गान्धार्या विदुरेण च ।
तथान्यैश्च सुहृद्भिश्च ज्ञातिभिश्च हितैषिभिः ॥ २३ ॥
तमेव चार्थं ध्यायन्तं कर्णस्य निधनं प्रति ।

भरतश्रेष्ठ ! वे निष्पाप नरेश अपनी पुत्रवधुओं, गान्धारी, विदुर तथा अन्य हितैषी सुहृदों एवं बन्धु-बान्धवोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए बैठे थे और कर्णके मारे जानेसे होनेवाले परिणामका चिन्तन कर रहे थे ॥ २२-२३½ ॥

रुदन्नेवाब्रवीद् वाक्यं राजानं जनमेजय ॥ २४ ॥
नातिहृष्टमनाः सूतो वाक्यसंदिग्धया गिरा ।
संजयोऽहं नरव्याघ्र नमस्ते भरतर्षभ ॥ २५ ॥

जनमेजय ! उस समय संजयने खिन्नचित्त होकर रोते हुए ही संदिग्ध वाणीमें कहा—'नरव्याघ्र ! भरतश्रेष्ठ ! मैं संजय हूँ । आपको नमस्कार है ॥ २४-२५ ॥

मद्राधिपो हतः शल्यः शकुनिः सौबलस्तथा ।
उलूकः पुरुषव्याघ्र कैतव्यो दृढविक्रमः ॥ २६ ॥

'पुरुषसिंह ! मद्रराज शल्य, सुबलपुत्र शकुनि तथा जुआरीका पुत्र सुदृढ़पराक्रमी, उलूक—ये सब-के-सब मारे गये ॥ २६ ॥

संशप्तका हताः सर्वे काम्बोजाश्च शकैः सह ।
म्लेच्छाश्च पर्वतीयाश्च यवना विनिपातिताः ॥ २७ ॥

'समस्त संशप्तक वीर, काम्बोज, शक, म्लेच्छ, पर्वतीय योद्धा और यवनसैनिक मार गिराये गये ॥ २७ ॥

प्राच्या हता महाराज दाक्षिणात्याश्च सर्वशः ।
उदीच्याश्च हताः सर्वे प्रतीच्याश्च नरोत्तमाः ॥ २८ ॥

'महाराज ! पूर्वदेशके योद्धा मारे गये, समस्त दाक्षिणात्योंका संहार हो गया तथा उत्तर और पश्चिमके सभी श्रेष्ठ मनुष्य मार डाले गये ॥ २८ ॥

राजानो राजपुत्राश्च सर्वे ते निहता नृप ।
दुर्योधनो हतो राजा यथोक्तं पाण्डवेन ह ॥ २९ ॥
भग्नसक्थो महाराज शेते पांसुषु रूषितः ।

'नरेश्वर ! समस्त राजा और राजकुमार कालके गालमें चले गये । महाराज ! जैसा पाण्डुपुत्र भीमसेनने कहा था, उसके अनुसार राजा दुर्योधन भी मारा गया । उसकी जाँघ टूट गयी और वह धूल-धूसर होकर पृथ्वीपर पड़ा है॥२९½॥

धृष्टद्युम्नो महाराज शिखण्डी चापराजितः ॥ ३० ॥
उत्तमौजा युधामन्युस्तथा राजन् प्रभद्रकाः ।
पञ्चालाश्च नरव्याघ्र चेदयश्च निषूदिताः ॥ ३१ ॥

'महाराज ! नरव्याघ्र नरेश ! धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर

शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, प्रभद्रकगण, पाञ्चाल और चेदिदेशीय योद्धाओंका भी संहार हो गया ॥ ३०-३१ ॥

तव पुत्रा हताः सर्वे द्रौपदेयाश्च भारत।
कर्णपुत्रो हतः शूरो वृषसेनः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

'भारत ! आपके तथा द्रौपदीके भी सभी पुत्र मारे गये। कर्णका प्रतापी एवं शूरवीर पुत्र वृषसेन भी नष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

नरा विनिहताः सर्वे गजाश्च विनिपातिताः।
रथिनश्च नरव्याघ्र हयाश्च निहता युधि ॥ ३३ ॥

'नरव्याघ्र ! युद्धस्थलमें समस्त पैदल मनुष्य, हाथीसवार, रथी और घुड़सवार भी मार गिराये गये ॥ ३३ ॥

किञ्चिच्छेषं च शिबिरं तावकानां कृतं प्रभो।
पाण्डवानां कुरूणां च समासाद्य परस्परम् ॥ ३४ ॥

'प्रभो ! पाण्डवों तथा कौरवोंमें परस्पर संघर्ष होकर आपके पुत्रों तथा पाण्डवके शिबिरमें किंचिन्मात्र ही शेष रह गया है ॥

प्रायः स्त्रीशेषमभवज्जगत् कालेन मोहितम्।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो रथाः ॥ ३५ ॥

'प्रायः कालसे मोहित हुए सारे जगत्‌में स्त्रियाँ ही शेष रह गयी हैं। पाण्डवपक्षमें सात और आपके पक्षमें तीन रथी मरनेसे बचे हैं ॥ ३५ ॥

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्च जयतां वरः ॥ ३६ ॥

'उधर पाँचों भाई पाण्डव, वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और सात्यकि शेष हैं तथा इधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा जीवित हैं ॥ ३६ ॥

तथाप्येते महाराज रथिनो नृपसत्तम।
अक्षौहिणीनां सर्वासां समेतानां जनेश्वर ॥ ३७ ॥
एते शेषा महाराज सर्वेऽन्ये निधनं गताः।

'नृपश्रेष्ठ ! जनेश्वर ! महाराज ! उभय पक्षमें जो समस्त अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, उनमेंसे ये ही रथी शेष रह गये हैं, अन्य सब लोग कालके गालमें चले गये ॥ ३७½ ॥

कालेन निहतं सर्वं जगद् वै भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
दुर्योधनं वै पुरतः कृत्वा वैरं च भारत।

'भरतश्रेष्ठ ! भरतनन्दन ! कालने दुर्योधन और उसके वैरको आगे करके सम्पूर्ण जगत्‌को नष्ट कर दिया' ॥ ३८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ३९ ॥
निपपात स राजेन्द्रो गतसत्त्वो महीतले।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह क्रूर वचन सुनकर राजाधिराज जनेश्वर धृतराष्ट्र प्राणहीन-से होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९½ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ विदुरोऽपि महायशाः ॥ ४० ॥
निपपात महाराज शोकव्यसनकर्षितः।

महाराज ! उनके गिरते ही महायशस्वी विदुरजी भी शोकसंतापसे दुर्बल हो धड़ामसे गिर पड़े ॥ ४०½ ॥

गान्धारी च नृपश्रेष्ठ सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ ४१ ॥
पतिताः सहसा भूमौ श्रुत्वा क्रूरं वचस्तदा।
निःसंज्ञं पतितं भूमौ तदासीद् राजमण्डलम् ॥ ४२ ॥
प्रलापयुक्तं महति चित्रन्यस्तं पटे यथा।

नृपश्रेष्ठ ! उस समय वह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर कुरुकुलकी समस्त स्त्रियाँ और गान्धारी देवी सहसा पृथ्वीपर गिर गयीं, राजपरिवारके सभी लोग अपनी सुध-बुध खोकर धरतीपर गिर पड़े और प्रलाप करने लगे। वे ऐसे जान पड़ते थे मानो विशाल पटपर अङ्कित किये गये चित्र हों ॥ ४१-४२½ ॥

कृच्छ्रेण तु ततो राजा धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ ४३ ॥
शनैरलभत प्राणान् पुत्रव्यसनकर्शितः।

तत्पश्चात् पुत्रशोकसे पीड़ित हुए पृथ्वीपति राजा धृतराष्ट्रमें बड़ी कठिनाईसे धीरे-धीरे प्राणोंका संचार हुआ ॥

लब्ध्वा तु स नृपः संज्ञां वेपमानः सुदुःखितः ॥ ४४ ॥
उदीक्ष्य च दिशः सर्वाः क्षत्तारं वाक्यमब्रवीत्।
विद्वन् क्षत्तर्महाप्राज्ञ त्वं गतिर्भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ममानाथस्य सुभृशं पुत्रैर्हीनस्य सर्वशः।
एवमुक्त्वा ततो भूयो विसंज्ञो निपपात ह ॥ ४६ ॥

चेतना पाकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त दुखी हो थर-थर काँपने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखकर विदुरसे इस प्रकार बोले—'विद्वन् ! महाज्ञानी विदुर ! भरतभूषण ! अब तुम्हीं मुझ पुत्रहीन और अनाथके सर्वथा आश्रय हो'। इतना कहकर वे पुनः अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४४-४६ ॥

तं तथा पतितं दृष्ट्वा बान्धवा येऽस्य केचन।
शीतैस्ते सिषिचुस्तोयैर्विव्यजुर्व्यजनैरपि ॥ ४७ ॥

उन्हें इस प्रकार गिरा हुआ देख उनके जो कोई बन्धु-बान्धव वहाँ मौजूद थे, उन्होंने राजाके शरीरपर ठंडे जलके छींटे दिये और व्यजन डुलाये ॥ ४७ ॥

स तु दीर्घेण कालेन प्रत्याश्वस्तो नराधिपः।
तूष्णीं दध्यौ महीपालः पुत्रव्यसनकर्शितः ॥ ४८ ॥

फिर बहुत देरके बाद जब राजा धृतराष्ट्रको होश हुआ, तब वे पुत्रशोकसे पीड़ित हो चिन्तामग्न हो गये ॥ ४८ ॥

निःश्वसञ्जिह्मग इव कुम्भक्षिप्तो विशाम्पते।
संजयोऽप्यरुदत् तत्र दृष्ट्वा राजानमातुरम् ॥ ४९ ॥

प्रजानाथ ! उस समय वे घड़ेमें रक्खे हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे। राजाको इस प्रकार आतुर देखकर संजय भी वहाँ रोने लगे ॥ ४९ ॥

तथा सर्वाः स्त्रियश्चैव गान्धारी च यशस्विनी।
ततो दीर्घेण कालेन विदुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठ मुह्यमानो मुहुर्मुहुः।

गच्छन्तु योषितः सर्वा गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५१ ॥
तथेमे सुहृदः सर्वे भ्राम्यते मे मनो भृशम् ।

फिर सारी स्त्रियाँ और यशस्विनी गान्धारी देवी भी फूट-फूटकर रोने लगीं । नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् बहुत देरके बाद बारंबार मोहित होते हुए धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'ये सारी स्त्रियाँ और यशस्विनी गान्धारी देवी भी यहाँसे चली जायँ । ये समस्त सुहृद् भी अब यहाँसे पधारें; क्योंकि मेरा चित्त अत्यन्त भ्रान्त हो रहा है' ॥ ५०-५१½ ॥

एवमुक्तस्ततः क्षत्ता ताः स्त्रियो भरतर्षभ ॥ ५२ ॥
विसर्जयामास शनैर्वेपमानः पुनः पुनः ।

भरतश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर बारंबार काँपते हुए विदुरजीने उन सब स्त्रियोंको धीरे-धीरे बिदा कर दिया ॥

निश्चक्रमुस्ततः सर्वाः स्त्रियो भरतसत्तम ॥ ५३ ॥
सुहृदश्च तथा सर्वे दृष्ट्वा राजानमातुरम् ।

भरतभूषण ! फिर वे सारी स्त्रियाँ और समस्त सुहृद्गण राजाको आतुर देखकर वहाँसे चले गये ॥ ५३½ ॥

ततो नरपतिं तत्र लब्धसंज्ञं परंतप ॥ ५४ ॥
अवैक्षत् संजयो दीनं रोदमानं भृशातुरम् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर होशमें आकर अत्यन्त आतुर हो दीनभावसे विलाप करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर संजयने देखा ॥ ५४½ ॥

प्राञ्जलिर्निःश्वसन्तं च तं नरेन्द्रं मुहुर्मुहुः ।
समाश्वासयत क्षत्ता वचसा मधुरेण च ॥ ५५ ॥

उस समय बारंबार लंबी साँस खींचते हुए राजा धृतराष्ट्रको विदुरजीने हाथ जोड़कर अपनी मधुर वाणीद्वारा आश्वासन दिया ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि धृतराष्ट्रप्रमोहे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रका मोहविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका विलाप करना और संजयसे युद्धका वृत्तान्त पूछना

वैशम्पायन उवाच

विसृष्टास्वथ नारीषु धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विललाप महाराज दुःखाद् दुःखान्तरं गतः ॥ १ ॥
सधूममिव निःश्वस्य करौ धुन्वन् पुनः पुनः ।
विचिन्त्य च महाराज वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! स्त्रियोंके बिदा हो जानेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़कर गरम-गरम उच्छ्वास लेते और बारंबार दोनों हाथ हिलाते हुए विलाप करने लगे और बड़ी देरतक चिन्तामग्न रहकर इस प्रकार बोले ॥ १-२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अहो बत महद् दुःखं यदहं पाण्डवान् रणे ।
क्षेमिणश्चाव्ययांश्चैव त्वत्तः सूत शृणोमि वै ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूत ! मेरे लिये महान् दुःखकी बात है कि मैं तुम्हारे मुखसे रणभूमिमें पाण्डवोंको सकुशल और विनाशरहित सुन रहा हूँ ॥ ३ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम ।
यच्छ्रुत्वा निहतान् पुत्रान् दीर्यते न सहस्रधा ॥ ४ ॥

निश्चय ही मेरा यह सुदृढ़ हृदय वज्रके सारतत्त्वका बना हुआ है; क्योंकि अपने पुत्रोंको मारा गया सुनकर भी इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ४ ॥

चिन्तयित्वा वयस्तेषां बालक्रीडां च संजय ।
हतान् पुत्रानशेषेण दीर्यते मे भृशं मनः ॥ ५ ॥

संजय ! मैं उनकी अवस्था और बाल-क्रीडाका चिन्तन करके जब उन सबके मारे जानेकी बात सोचता हूँ, तब मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण होने लगता है ॥ ५ ॥

अनेत्रत्वाद् यदेतेषां न मे रूपनिदर्शनम् ।
पुत्रस्नेहकृता प्रीतिर्नित्यमेतेषु धारिता ॥ ६ ॥

यद्यपि नेत्रहीन होनेके कारण मैंने उनका रूप कभी नहीं देखा था, तथापि इन सबके प्रति पुत्रस्नेह-जनित प्रेमका भाव सदा ही रक्खा है ॥ ६ ॥

बालभावमतिक्रम्य यौवनस्थांश्च तानहम् ।
मध्यप्राप्तांस्तथा श्रुत्वा हृष्ट आसं तदानघ ॥ ७ ॥

निष्पाप संजय ! जब मैं यह सुनता था कि मेरे बच्चे बाल्यावस्थाको लाँघकर युवावस्थामें प्रविष्ट हुए हैं और धीरे-धीरे मध्य अवस्थातक पहुँच गये हैं, तब हर्षसे फूल उठता था ॥ ७ ॥

तानद्य निहताञ्छ्रुत्वा हतैश्वर्यान् हतौजसः ।
न लभेयं क्वचिच्छान्तिं पुत्राधिभिरभिप्लुतः ॥ ८ ॥

आज उन्हीं पुत्रोंको ऐश्वर्य और बलसे हीन एवं मारा गया सुनकर उनकी चिन्तासे व्यथित हो कहीं भी शान्ति नहीं पा रहा हूँ ॥ ८ ॥

एह्येहि पुत्र राजेन्द्र ममानाथस्य साम्प्रतम् ।
त्वया हीनो महाबाहो कां नु यास्याम्यहं गतिम् ॥ ९ ॥

(इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार विलाप करने लगे—) बेटा ! राजाधिराज ! इस समय मुझ अनाथके पास आओ, आओ । महाबाहो ! तुम्हारे बिना न जाने मैं किस दशाको पहुँच जाऊँगा ? ॥ ९ ॥

कथं त्वं पृथिवीपालांस्त्यक्त्वा तात समागतान् ।
शेषे विनिहतो भूमौ प्राकृतः कुनृपो यथा ॥ १० ॥

तात ! तुम यहाँ पधारे हुए समस्त भूमिपालोंको छोड़कर

किसी नीच और दुष्ट राजाके समान मारे जाकर पृथ्वीपर कैसे सो रहे हो ? ॥ १० ॥

गतिर्भूत्वा महाराज ज्ञातीनां सुहृदां तथा ।
अन्धं वृद्धं च मां वीर विहाय क्व नु यास्यसि ॥ ११ ॥

वीर महाराज ! तुम भाई-बन्धुओं और सुहृदोंके आश्रय होकर भी मुझ अंधे और बूढ़ेको छोड़कर कहाँ चले जा रहे हो ? ॥ ११ ॥

सा कृपा सा च ते प्रीतिः क्व सा राजन् सुमानिता ।
कथं विनिहतः पार्थैः संयुगेष्वपराजितः ॥ १२ ॥

राजन् ! तुम्हारी वह कृपा, वह प्रीति और दूसरोंको सम्मान देनेकी वह वृत्ति कहाँ चली गयी ? तुम तो किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे; फिर कुन्तीके पुत्रोंके द्वारा युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥ १२ ॥

को नु मामुत्थितं वीर तात तातेति वक्ष्यति ।
महाराजेति सततं लोकनाथेति चासकृत् ॥ १३ ॥

वीर ! अब मेरे उठनेपर मुझे सदा तात, महाराज और लोकनाथ आदि बारंबार कहकर कौन पुकारेगा ? ॥ १३ ॥

परिष्वज्य च मां कण्ठे स्नेहेन क्लिन्नलोचनः ।
अनुशाधीति कौरव्य तत् साधु वद मे वचः ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन ! तुम पहले स्नेहसे नेत्रोंमें आँसू भरकर मेरे गलेसे लग जाते और कहते 'पिताजी ! मुझे कर्तव्यका उपदेश दीजिये,' वही सुन्दर बात फिर मुझसे कहो ॥ १४॥

ननु नामाहमश्रौषं वचनं तव पुत्रक ।
भूयसी मम पृथ्वीयं यथा पार्थस्य नो तथा ॥ १५ ॥

बेटा ! मैंने तुम्हारे मुँहसे यह बात सुनी थी कि 'मेरे अधिकारमें बहुत बड़ी पृथ्वी है । इतना विशाल भूभाग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके अधिकारमें कभी नहीं रहा ॥ १५ ॥

भगदत्तः कृपः शल्य आवन्त्योऽथ जयद्रथः ।
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ॥ १६ ॥
अश्वत्थामा च भोजश्च मागधश्च महाबलः ।
बृहद्बलश्च क्राथश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
म्लेच्छाश्च शतसाहस्राः शकाश्च यवनैः सह ।
सुदक्षिणश्च काम्बोजस्त्रिगर्ताधिपतिस्तथा ॥ १८ ॥
भीष्मः पितामहश्चैव भारद्वाजोऽथ गौतमः ।
श्रुतायुश्चायुतायुश्च शतायुश्चापि वीर्यवान् ॥ १९ ॥
जलसन्धोऽथार्ष्यशृङ्गी राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
अलम्बुषो महाबाहुः सुबाहुश्च महारथः ॥ २० ॥
एते चान्ये च बहवो राजानो राजसत्तम ।
मदर्थमुद्यताः सर्वे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ २१ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, अवन्तीके राजकुमार, जयद्रथ, भूरिश्रवा, सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, महाबली मगधनरेश बृहद्बल, क्राथ, सुबलपुत्र शकुनि, लाखों म्लेच्छ, यवन एवं शक, काम्बोजराज सुदक्षिण, त्रिगर्तराज सुशर्मा, पितामह भीष्म, भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य, गौतमगोत्रीय कृपाचार्य, श्रुतायु, अयुतायु, पराक्रमी शतायु, जलसन्ध, ऋष्यशृङ्गपुत्र राक्षस अलायुध, महाबाहु अलम्बुष और महारथी सुबाहु—ये तथा और भी बहुत-से नरेश मेरे लिये प्राणों और धनका मोह छोड़कर सब-के-सब युद्धके लिये उद्यत हैं ॥ १६–२१ ॥

तेषां मध्ये स्थितो युद्धे भ्रातृभिः परिवारितः ।
योधयिष्याम्यहं पार्थान् पञ्चालांश्चैव सर्वशः ॥ २२ ॥

'इन सबके बीचमें रहकर भाइयोंसे घिरा हुआ मैं रणभूमिमें पाण्डवों और पाञ्चालोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ २२ ॥

चेदींश्च नृपशार्दूल द्रौपदेयांश्च संयुगे ।
सात्यकिं कुन्तिभोजं च राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ २३ ॥

'राजसिंह ! मैं युद्धस्थलमें चेदियों, द्रौपदीकुमारों, सात्यकि, कुन्तिभोज तथा राक्षस घटोत्कचका भी सामना करूँगा ॥ २३ ॥

एकोऽप्येषां महाराज समर्थः संनिवारणे ।
समरे पाण्डवेयानां संक्रुद्धो ह्यभिधावताम् ॥ २४ ॥
किं पुनः सहिता वीराः कृतवैराश्च पाण्डवैः ।

'महाराज ! मेरे इन सहयोगियोंमेंसे एक-एक वीर भी समराङ्गणमें कुपित होकर मुझपर आक्रमण करनेवाले समस्त पाण्डवोंको रोकनेमें समर्थ हैं । फिर यदि पाण्डवोंके साथ वैर रखनेवाले ये सारे वीर एक साथ होकर युद्ध करें तब क्या नहीं कर सकते ॥ २४½ ॥

अथवा सर्व एवैते पाण्डवस्यानुयायिभिः ॥ २५ ॥
योत्स्यन्ते सह राजेन्द्र हनिष्यन्ति च तान् मृधे ।

'राजेन्द्र ! अथवा ये सभी योद्धा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अनुयायियोंके साथ युद्ध करेंगे और उन सबको रणभूमिमें मार गिरायेंगे ॥ २५½ ॥

कर्ण एको मया सार्धं निहनिष्यति पाण्डवान् ॥ २६ ॥
ततो नृपतयो वीराः स्थास्यन्ति मम शासने ।

'अकेला कर्ण ही मेरे साथ रहकर समस्त पाण्डवोंको मार डालेगा । फिर सारे वीर नरेश मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे ॥ २६½ ॥

यश्च तेषां प्रणेता वै वासुदेवो महाबलः ॥ २७ ॥
न स संनह्यते राजन्निति मामब्रवीद् वचः ।

'राजन् ! पाण्डवोंके जो नेता हैं, वे महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण युद्धके लिये कवच नहीं धारण करेंगे' । ऐसी बात दुर्योधन मुझसे कहता था ॥ २७½ ॥

तस्याथ वदतः सूत बहुशो मम संनिधौ ॥ २८ ॥
शक्तितो ह्यनुपश्यामि निहतान् पाण्डवान् रणे ।

सूत ! मेरे निकट दुर्योधन जब इस तरहकी बहुत-सी बातें कहने लगा तो मैं यह समझ बैठा कि 'हमारी शक्तिसे समस्त पाण्डव रणभूमिमें मारे जायँगे' ॥ २८½ ॥

तेषां मध्ये स्थिता यत्र हन्यन्ते मम पुत्रकाः ॥ २९ ॥
व्यायच्छमानाः समरे किमन्यद् भागधेयतः ।

जब ऐसे वीरोंके बीचमें रहकर भी प्रयत्नपूर्वक लड़नेवाले मेरे पुत्र समराङ्गणमें मार डाले गये, तब इसे भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ २९½ ॥

भीष्मश्च निहतो यत्र लोकनाथः प्रतापवान् ॥ ३० ॥
शिखण्डिनं समासाद्य मृगेन्द्र इव जम्बुकम् ।
द्रोणश्च ब्राह्मणो यत्र सर्वशस्त्रास्त्रपारगः ॥ ३१॥
निहतः पाण्डवैः संख्ये किमन्यद् भागधेयतः ।

जैसे सिंह सियारसे लड़कर मारा जाय, उसी प्रकार जहाँ लोकरक्षक प्रतापी वीर भीष्म शिखण्डीसे भिड़कर वधको प्राप्त हुए, जहाँ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंकी विद्याके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण द्रोणाचार्य पाण्डवोंद्वारा युद्धस्थलमें मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥

कर्णश्च निहतः संख्ये दिव्यास्त्रज्ञो महाबलः ॥ ३२ ॥
भूरिश्रवा हतो यत्र सोमदत्तश्च संयुगे ।
बाह्लिकश्च महाराजः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३३ ॥

जहाँ दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाला महाबली कर्ण युद्धमें मारा गया, जहाँ समराङ्गणमें भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिकका संहार हो गया, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण बताया जा सकता है ? ॥ ३२-३३ ॥

भगदत्तो हतो यत्र गजयुद्धविशारदः ।
जयद्रथश्च निहतः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३४ ॥

जहाँ गजयुद्धविशारद राजा भगदत्त मारे गये और सिंधुराज जयद्रथका वध हो गया, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३४ ॥

सुदक्षिणो हतो यत्र जलसन्धश्च पौरवः ।
श्रुतायुश्चायुतायुश्च किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३५ ॥

जहाँ काम्बोजराज सुदक्षिण, पौरव जलसन्ध, श्रुतायु और अयुतायु मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

महाबलस्तथा पाण्ड्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
निहतः पाण्डवैः संख्ये किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३६ ॥

जहाँ सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबली पाण्ड्यनरेश युद्धमें पाण्डवोंके हाथसे मारे गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण है ? ॥ ३६ ॥

बृहद्बलो हतो यत्र मागधश्च महाबलः ।
उग्रायुधश्च विक्रान्तः प्रतिमानं धनुष्मताम् ॥ ३७ ॥
आवन्त्यो निहतो यत्र त्रैगर्तश्च जनाधिपः ।
संशप्तकाश्च निहताः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३८ ॥

जहाँ बृहद्बल, महाबली मगधनरेश, धनुर्धरोंके आदर्श एवं पराक्रमी उग्रायुध, अवन्तीके राजकुमार, त्रिगर्तनरेश सुशर्मा तथा सम्पूर्ण संशप्तक योद्धा मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३७-३८ ॥

अलम्बुषो महाशूरो राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
आर्ष्यशृङ्गिश्च निहतः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३९ ॥

जहाँ शूरवीर अलम्बुष और ऋष्यशृङ्गपुत्र राक्षस अलायुध मारे गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण बताया जा सकता है ? ॥ ३९ ॥

नारायणा हता यत्र गोपाला युद्धदुर्मदाः ।
म्लेच्छाश्च बहुसाहस्राः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४० ॥

जहाँ नारायण नामवाले रणदुर्मद ग्वाले और कई हजार म्लेच्छ योद्धा मौतके घाट उतार दिये गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ ४० ॥

शकुनिः सौबलो यत्र कैतव्यश्च महाबलः ।
निहतः सबलो वीरः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४१ ॥

जहाँ सुबलपुत्र महाबली शकुनि और उस जुआरीका पुत्र वीर उलूक दोनों ही सेनासहित मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

एते चान्ये च बहवः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः ॥ ४२ ॥
निहता बहवो यत्र किमन्यद् भागधेयतः ।

ये तथा और भी बहुत-से अस्त्रवेत्ता, रणदुर्मद, शूरवीर और परिघ-जैसी भुजाओंवाले राजा एवं राजकुमार अधिक संख्यामें मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण बताया जाय ? ॥ ४२½ ॥

यत्र शूरा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ ४३ ॥
बहवो निहताः सूत महेन्द्रसमविक्रमाः ।
नानादेशसमावृत्ताः क्षत्रिया यत्र संजय ॥ ४४ ॥
निहताः समरे सर्वे किमन्यद् भागधेयतः ।

सूत संजय ! जहाँ समरभूमिमें नाना देशोंसे आये हुए देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी बहुत-से शूरवीर महाधनुर्धर, अस्त्रवेत्ता एवं युद्धदुर्मद क्षत्रिय सारे-के-सारे मार डाले गये, वहाँ भाग्यके अतिरिक्त दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥

पुत्राश्च मे विनिहताः पौत्राश्चैव महाबलाः ॥ ४५ ॥
वयस्या भ्रातरश्चैव किमन्यद् भागधेयतः ।

हाय ! मेरे महाबली पुत्र, पौत्र, मित्र और भाई-बन्धु सभी मार डाले गये, इसे दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहूँ ? ॥

भागधेयसमायुक्तो ध्रुवमुत्पद्यते नरः ॥ ४६ ॥
यस्तु भाग्यसमायुक्तः स शुभं प्राप्नुयान्नरः ।

निश्चय ही मनुष्य अपना-अपना भाग्य लेकर उत्पन्न होता है, जो सौभाग्यसे सम्पन्न होता है, उसे ही शुभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ ४६½ ॥

अहं वियुक्तस्तैर्भाग्यैः पुत्रैश्चैवेह संजय ॥ ४७ ॥
कथमद्य भविष्यामि वृद्धः शत्रुवशं गतः ।

संजय ! मैं उन शुभकारक भाग्योंसे वञ्चित हूँ और पुत्रोंसे भी हीन हूँ । आज इस वृद्धावस्थामें शत्रुके वशमें पड़कर न जाने मेरी कैसी दशा होगी ? ॥ ४७½ ॥

नान्यदत्र परं मन्ये वनवासादृते प्रभो ॥ ४८ ॥
सोऽहं वनं गमिष्यामि निर्बन्धुर्ज्ञातिसंक्षये ।
न हि मेऽन्यद् भवेच्छ्रेयो वनाभ्युपगमादृते ॥ ४९ ॥
इमामवस्थां प्राप्तस्य लूनपक्षस्य संजय ।

सामर्थ्यशाली संजय ! मेरे लिये वनवासके सिवा और कोई कार्य श्रेष्ठ नहीं जान पड़ता । अब कुटुम्बीजनोंका विनाश हो जानेपर बन्धु-बान्धवोंसे रहित हो मैं वनमें ही चला जाऊँगा । संजय ! पंख कटे हुए पक्षीकी भाँति इस अवस्थाको पहुँचे हुए मेरे लिये वनवास स्वीकार करनेके सिवा दूसरा कोई श्रेयस्कर कार्य नहीं है ॥ ४८-४९½ ॥

दुर्योधनो हतो यत्र शल्यश्च निहतो युधि ॥ ५० ॥
दुःशासनो विविंशश्च विकर्णश्च महाबलः ।
कथं हि भीमसेनस्य श्रोष्येऽहं शब्दमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
एकेन समरे येन हतं पुत्रशतं मम ।

जब दुर्योधन मारा गया, शल्यका युद्धमें संहार हो गया तथा दुःशासन, विविंशति और महाबली विकर्ण भी मार डाले गये, तब मैं उस भीमसेनका उच्चस्वरसे कहा गया वचन कैसे सुनूँगा, जिसने अकेले ही समराङ्गणमें मेरे सौ पुत्रोंका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

असकृद्वदतस्तस्य दुर्योधनवधेन च ॥ ५२ ॥
दुःखशोकाभिसंतप्तो न श्रोष्ये परुषा गिरः ।

दुर्योधनके वधसे दुःख और शोकसे संतप्त हुआ मैं बारंबार बोलनेवाले भीमसेनकी कठोर बातें नहीं सुन सकूँगा॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वृद्धश्च संतप्तः पार्थिवो हतबान्धवः ॥ ५३ ॥
मुहुर्मुहुर्मुह्यमानः पुत्राधिभिरभिप्लुतः ।
विलप्य सुचिरं कालं धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ५४ ॥
दीर्घमुष्णं स निःश्वस्य चिन्तयित्वा पराभवम् ।
दुःखेन महता राजन् संतप्तो भरतर्षभः ॥ ५५ ॥
पुनर्गावल्गणिं सूतं पर्यपृच्छद् यथातथम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पुत्रोंकी चिन्तामें डूबकर बारंबार मूर्छित होनेवाले, संतप्त एवं बूढ़े भरतश्रेष्ठ राजा अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, जिनके बन्धु-बान्धव मार डाले गये थे, दीर्घकालतक विलाप करके गरम साँस खींचते और अपने पराभवकी बात सोचते हुए महान् दुःखसे संतप्त हो उठे तथा गवल्गणपुत्र संजयसे पुनः युद्धका यथावत् समाचार पूछने लगे ॥ ५३—५५½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा सूतपुत्रं च घातितम् ॥ ५६ ॥
सेनापतिं प्रणेतारं किमकुर्वत मामकाः ।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! भीष्म और द्रोणाचार्यके वधका तथा युद्ध-संचालक सेनापति सूतपुत्र कर्णके विनाशका समाचार सुनकर मेरे पुत्रोंने क्या किया ? ॥ ५६½ ॥

यं यं सेनाप्रणेतारं युधि कुर्वन्ति मामकाः ॥ ५७ ॥
अचिरेणैव कालेन तं तं निघ्नन्ति पाण्डवाः ।

मेरे पुत्र युद्धस्थलमें जिस-जिस वीरको अपना सेनापति बनाते थे, पाण्डव उस-उसको थोड़े ही समयमें मार गिराते थे॥

रणमूर्ध्नि हतो भीष्मः पश्यतां वः किरीटिना ॥ ५८ ॥
एवमेव हतो द्रोणः सर्वेषामेव पश्यताम् ।

युद्धके मुहानेपर तुमलोगोंके देखते-देखते भीष्मजी किरीटधारी अर्जुनके हाथसे मारे गये । इसी प्रकार द्रोणाचार्यका भी तुम सब लोगोंके सामने ही संहार हो गया ॥ ५८½ ॥

एवमेव हतः कर्णः सूतपुत्रः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
स राजकानां सर्वेषां पश्यतां वः किरीटिना ।

इसी तरह प्रतापी सूतपुत्र कर्ण भी राजाओंसहित तुम सब लोगोंके देखते-देखते किरीटधारी अर्जुनके हाथसे मारा गया ॥ ५९½ ॥

पूर्वमेवाहमुक्तो वै विदुरेण महात्मना ॥ ६० ॥
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं विनशिष्यति ।

महात्मा विदुरने मुझसे पहले ही कहा था कि 'दुर्योधनके अपराधसे इस प्रजाका विनाश हो जायगा' ॥ ६०½ ॥

केचिन्न सम्यक् पश्यन्ति मूढाः सम्यगवेक्ष्य च ।
तदिदं मम मूढस्य तथाभूतं वचः स्म तत् ॥ ६१ ॥

संसारमें कुछ मूढ़ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो अच्छी तरह देखकर भी नहीं देख पाते । मैं भी वैसा ही मूढ़ हूँ । मेरे लिये वह वचन वैसा ही हुआ (मैं उसे सुनकर भी न सुन सका) ॥ ६१ ॥

यदब्रवीत् स धर्मात्मा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ।
तत्तथा समनुप्राप्तं वचनं सत्यवादिनः ॥ ६२ ॥

दूरदर्शी धर्मात्मा विदुरने पहले जो कुछ कहा था, वह सब उसी रूपमें सामने आया है । सत्यवादी महात्माका वचन सत्य होकर ही रहा ॥ ६२ ॥

दैवोपहतचित्तेन यन्मया न कृतं पुरा ।
अनयस्य फलं तस्य ब्रूहि गावल्गणे पुनः ॥ ६३ ॥

संजय ! पहले दैवसे मेरी बुद्धि मारी गयी थी; इसलिये मैंने जो विदुरजीकी बात नहीं मानी, मेरे उस अन्यायका फल जैसे-जैसे प्रकट हुआ है, उसका वर्णन करो ॥ ६३ ॥

को वा मुखमनीकानामासीत् कर्णे निपातिते ।
अर्जुनं वासुदेवं च को वा प्रत्युद्ययौ रथी ॥ ६४ ॥

कर्णके मारे जानेपर सेनाके मुखस्थानपर खड़ा होनेवाला कौन था ? कौन रथी अर्जुन और श्रीकृष्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ? ॥ ६४ ॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं मद्रराजस्य संयुगे ।
वामं च योद्धुकामस्य के वा वीरस्य पृष्ठतः ॥ ६५ ॥

युद्धस्थलमें जूझनेकी इच्छावाले मद्रराज शल्यके दाहिने या बायें पहियेकी रक्षा किन लोगोंने की ? अथवा उस वीर सेनापतिके पृष्ठ-रक्षक कौन थे ? ॥ ६५ ॥

कथं च वः समेतानां मद्रराजो महारथः ।

निहतः पाण्डवैः संख्ये पुत्रो वा मम संजय ॥ ६६ ॥

संजय ! तुम सब लोगोंके एक साथ रहते हुए भी महारथी मद्रराज शल्य अथवा मेरा पुत्र दुर्योधन दोनों ही तुम्हारे सामने पाण्डवोंके हाथसे कैसे मारे गये ? ॥ ६६ ॥

ब्रूहि सर्वं यथातत्त्वं भरतानां महाक्षयम् ।
यथा च निहतः संख्ये पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ ६७ ॥

तुम भरतवंशियोंके इस महान् विनाशका सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे बताओ । साथ ही यह भी कहो कि युद्धस्थलमें मेरा पुत्र दुर्योधन किस प्रकार मारा गया ? ॥ ६७ ॥

पञ्चालाश्च यथा सर्वे निहताः सपदानुगाः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः॥ ६८ ॥

समस्त पाञ्चाल-सैनिक अपने सेवकोंसहित कैसे मारे गये ? धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका वध किस प्रकार हुआ ? ॥ ६८ ॥

पाण्डवाश्च यथा मुक्तास्तथोभौ माधवौ युधि ।
कृपश्च कृतवर्मा च भारद्वाजस्य चात्मजः ॥ ६९ ॥

पाँचों पाण्डव, दोनों मधुवंशी वीर श्रीकृष्ण और सात्यकि, कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा—ये युद्धस्थलसे किस प्रकार जीवित बच गये ? ॥ ६९ ॥

यद् यथा यादृशं चैव युद्धं वृत्तं च साम्प्रतम् ।
अखिलं श्रोतुमिच्छामि कुशलो ह्यसि संजय ॥ ७० ॥

संजय ! जो युद्धका वृत्तान्त जिस प्रकार और जैसे संघटित हुआ हो, वह सब इस समय मैं सुनना चाहता हूँ । तुम वह सब बतानेमें कुशल हो ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रका विलापविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णके मारे जानेपर पाण्डवोंके भयसे कौरवसेनाका पलायन, सामना करनेवाले पचीस हजार पैदलोंका भीमसेनद्वारा वध तथा दुर्योधनका अपने सैनिकोंको समझा-बुझाकर पुनः पाण्डवोंके साथ युद्धमें लगाना

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथावृत्तो महान् क्षयः ।
कुरूणां पाण्डवानां च समासाद्य परस्परम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंके आपसमें भिड़नेसे जिस प्रकार महान् जनसंहार हुआ है, वह सब सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥

निहते सूतपुत्रे तु पाण्डवेन महात्मना ।
विद्रुतेषु च सैन्येषु समानीतेषु चासकृत् ॥ २ ॥
घोरे मनुष्यदेहानामाजौ नरवर क्षये ।
यत्तत् कर्णे हते पार्थः सिंहनादमथाकरोत् ॥ ३ ॥
तदा तव सुतान् राजन् प्राविशत् सुमहद् भयम् ।

नरश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डुकुमार अर्जुनके द्वारा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर जब आपकी सेनाएँ बार-बार भागने और लौटायी जाने लगीं एवं रणभूमिमें मानवशरीरोंका भयानक संहार होने लगा, उस समय कर्णवधके पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने बड़े जोरसे सिंहनाद किया । राजन् ! उसे सुनकर आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ २-३½ ॥

न संधातुमनीकानि न चैवाथ पराक्रमे ॥ ४ ॥
आसीद् बुद्धिर्हते कर्णे तव योधस्य कस्यचित् ।

कर्णके मारे जानेपर आपके किसी भी योद्धाके मनमें न तो सेनाओंको एकत्र संगठित रखनेका उत्साह रह गया और न पराक्रममें ही वे मन लगा सके ॥ ४½ ॥

वणिजो नावि भिन्नायामगाधे विप्लवा इव ॥ ५ ॥
अपारे पारमिच्छन्तो हते द्वीपे किरीटिना ।
सूतपुत्रे हते राजन् वित्रस्ताः शरविक्षताः ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे अगाध महासागरमें नाव फट जानेपर नौका-रहित व्यापारी उस अपार समुद्रसे पार जानेकी इच्छा रखते हुए घबरा उठते हैं, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा द्वीपस्वरूप सूतपुत्रके मारे जानेपर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो हम सब लोग भयभीत हो गये थे ॥ ५-६ ॥

अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहार्दिता इव ।
भग्नशृङ्गा इव वृषाः शीर्णदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ७ ॥

हम अनाथ होकर कोई रक्षक चाहते थे । हमारी दशा सिंहके सताये हुए मृगों, टूटे सींगवाले बैलों तथा जिनके दाँत तोड़ लिये गये हों उन सर्पोंकी तरह हो रही थी ॥ ७ ॥

प्रत्युपायाम सायाह्ने निर्जिताः सव्यसाचिना ।
हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ता निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

सायंकालमें सव्यसाची अर्जुनसे परास्त होकर हम सब लोग शिबिरकी ओर लौटे । हमारी सेनाके प्रमुख वीर मारे गये थे । हम सब लोग पैने बाणोंसे घायल होकर विध्वंसके निकट पहुँच गये थे ॥ ८ ॥

सूतपुत्रे हते राजन् पुत्रास्ते प्राद्रवंस्ततः ।
विध्वस्तकवचाः सर्वे कांदिशीका विचेतसः ॥ ९ ॥

राजन् ! सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके सब पुत्र अचेत हो वहाँसे भागने लगे । उन सबके कवच नष्ट हो गये थे । उन्हें इतनी भी सुध नहीं रह गयी थी कि हम कहाँ और किस दिशामें जायँ ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिनिघ्नन्तो वीक्षमाणा भयाद् दिशः ।
मामेव नूनं बीभत्सुर्मामेव च वृकोदरः ॥ १० ॥
अभियातीति मन्वानाः पेतुर्मम्लुश्च भारत ।

वे सब लोग एक दूसरेपर चोट करते और भयसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए ऐसा समझते थे कि अर्जुन और भीमसेन मेरे ही पीछे लगे हुए हैं। भारत! ऐसा सोचकर वे हर्ष और उत्साह खो बैठते तथा लड़खड़ाकर गिर पड़ते थे॥

अश्वानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः ॥ ११ ॥
आरुह्य जवसम्पन्नाः पादातान् प्रजहुर्भयात्।

कुछ महारथी भयके मारे घोड़ोंपर, दूसरे लोग हाथियोंपर और कुछ लोग रथोंपर आरूढ़ हो पैदलोंको वहीं छोड़ बड़े वेगसे भागे॥ ११½ ॥

कुञ्जरैः स्यन्दना भग्नाः सादिनश्च महारथैः ॥ १२ ॥
पदातिसंघाश्चाश्वौघैः पलायद्भिर्भृशं हताः।

भागते हुए हाथियोंने बहुत-से रथ तोड़ डाले, बड़े-बड़े रथोंने घुड़सवारोंको कुचल दिया और दौड़ते हुए अश्व-समूहोंने पैदल सैनिकोंको अत्यन्त घायल कर दिया॥ १२½ ॥

व्यालतस्करसंकीर्णे सार्थहीना यथा वने ॥ १३ ॥
तथा त्वदीया निहते सूतपुत्रे तदाभवन्।

जैसे सर्पों और लुटेरोंसे भरे हुए जंगलमें अपने साथियोंसे बिछुड़े हुए लोग अनाथके समान भटकते हैं, वही दशा उस समय सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके सैनिकोंकी हुई॥ १३½ ॥

हतारोहास्तथा नागाश्छिन्नहस्तास्तथापरे ॥ १४ ॥
सर्वं पार्थमयं लोकमपश्यन् वै भयार्दिताः।

कितने ही हाथियोंके सवार मारे गये, बहुत-से गजराजोंकी सूँड़ें काट डाली गयीं, सब लोग भयसे पीड़ित होकर सम्पूर्ण जगत्‌को अर्जुनमय देख रहे थे॥ १४½ ॥

तान् प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान् ॥ १५ ॥
दुर्योधनोऽथ स्वं सूतं हा हा कृत्वैवमब्रवीत्।

भीमसेनके भयसे पीड़ित हुए समस्त सैनिकोंको भागते देख दुर्योधनने 'हाय-हाय!' करके अपने सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ १५½ ॥

नातिक्रमिष्यते पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम् ॥ १६ ॥
जघने युद्ध्यमानं मां तूर्णमश्वान् प्रचोदय।

'जब मैं सेनाके पिछले भागमें खड़ा हो हाथमें धनुष ले युद्ध करूँगा, उस समय कुन्तीकुमार अर्जुन मुझे लाँघकर आगे नहीं बढ़ सकेंगे; अतः तुम घोड़ोंको आगे बढ़ाओ॥

समरे युद्ध्यमानं हि कौन्तेयो मां धनंजयः ॥ १७ ॥
नोत्सहेताप्यतिक्रान्तुं वेलामिव महार्णवः।

'जैसे महासागर तटको नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन समराङ्गणमें युद्ध करते हुए मुझ दुर्योधनको लाँघकर आगे जानेकी हिम्मत नहीं कर सकते॥ १७½ ॥

अद्यार्जुनं सगोविन्दं मानिनं च वृकोदरम् ॥ १८ ॥
निहत्य शिष्टाञ्शत्रूंश्च कर्णस्यानृण्यमाप्नुयाम्।

'आज मैं श्रीकृष्ण, अर्जुन, मानी भीमसेन तथा शेष बचे हुए अन्य शत्रुओंका संहार करके कर्णके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा'॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य शूरार्यसदृशं वचः ॥ १९ ॥
सूतो हेमपरिच्छन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत्।

कुरुराज दुर्योधनके इस श्रेष्ठ वीरोचित वचनको सुनकर सारथिने सोनेके साज-बाजसे ढके हुए अश्वोंको धीरेसे आगे बढ़ाया॥ १९½ ॥

गजाश्वरथहीनास्तु पादाताश्चैव मारिष ॥ २० ॥
पञ्चविंशतिसाहस्राः प्राद्रवञ्शनकैरिव।

माननीय नरेश! उस समय हाथी, घोड़े और रथोंसे रहित पचीस हजार पैदल सैनिक धीरे-ही-धीरे पाण्डवोंपर चढ़ाई करने लगे॥ २०½ ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २१ ॥
बलेन चतुरङ्गेण परिक्षिप्याहनच्छरैः।

तब क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा उन्हें तितर-बितर करके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया॥ २१½ ॥

प्रत्ययुध्यंस्तु ते सर्वे भीमसेनं सपार्षतम् ॥ २२ ॥
पार्थपार्षतयोश्चान्ये जगृहुस्तत्र नामनी।

वे समस्त सैनिक भी भीमसेन और धृष्टद्युम्नका डटकर सामना करने लगे। दूसरे बहुत-से योद्धा वहाँ उन दोनोंके नाम ले-लेकर ललकारने लगे॥ २२½ ॥

अक्रुद्ध्यत रणे भीमस्तैर्मृधे प्रत्यवस्थितैः ॥ २३ ॥
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं गदापाणिरयुध्यत।

युद्धस्थलमें सामने खड़े हुए उन योद्धाओंके साथ जूझते समय भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वे तुरंत ही रथसे उतरकर हाथमें गदा ले उन सबके साथ युद्ध करने लगे॥२३½॥

न तान् रथस्थो भूमिष्ठान् धर्मापेक्षी वृकोदरः ॥ २४ ॥
योधयामास कौन्तेयो भुजवीर्यमुपाश्रितः।

युद्धधर्मके पालनकी इच्छा रखनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने स्वयं रथपर बैठकर भूमिपर खड़े हुए पैदल सैनिकोंके साथ युद्ध करना उचित नहीं समझा। वे अपने बाहुबलका भरोसा करके उन सबके साथ पैदल ही जूझने लगे॥

जातरूपपरिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ २५ ॥
न्यवधीत् तावकान् सर्वान् दण्डपाणिरिवान्तकः।

उन्होंने दण्डपाणि यमराजके समान सुवर्णपत्रसे जटित विशाल गदा लेकर उसके द्वारा आपके समस्त सैनिकोंका संहार आरम्भ किया॥ २५½ ॥

पदातयो हि संरब्धास्त्यक्तजीवितबान्धवाः ॥ २६ ॥
भीममभ्यद्रवन् संख्ये पतङ्गा इव पावकम्।

उस समय अपने प्राणों और बन्धु-बान्धवोंका मोह छोड़कर रोष और आवेशमें भरे हुए पैदल सैनिक युद्धस्थलमें भीमसेनकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे पतङ्ग जलती हुई आगपर टूट पड़ते हैं॥ २६½ ॥

आसाद्य भीमसेनं ते संरब्धा युद्धदुर्मदाः ॥ २७ ॥
विनेदुः सहसा दृष्ट्वा भूतग्रामा इवान्तकम् ।

क्रोधमें भरे हुए वे रणदुर्मद योद्धा भीमसेनसे भिड़कर सहसा उसी प्रकार आर्तनाद करने लगे, जैसे प्राणियोंके समुदाय यमराजको देखकर चीख उठते हैं ॥ २७½ ॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमः खड्गेन गदया तथा ॥ २८ ॥
पञ्चविंशतिसाहस्रांस्तावकानां व्यपोथयत् ।

उस समय भीमसेन रणभूमिमें बाजकी तरह विचर रहे थे। उन्होंने तलवार और गदाके द्वारा आपके उन पचीस हजार योद्धाओंको मार गिराया ॥ २८½ ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः ॥ २९ ॥
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य पुनस्तस्थौ महाबलः ।

सत्यपराक्रमी महाबली भीमसेन उस पैदल-सेनाका संहार करके धृष्टद्युम्नको आगे किये पुनः युद्धके लिये डट गये ॥

धनंजयो रथानीकमन्वपद्यत वीर्यवान् ॥ ३० ॥
माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महाबलः ।
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा घ्नन्तो दौर्योधनं बलम् ॥ ३१ ॥

दूसरी ओर पराक्रमी अर्जुनने रथसेनापर आक्रमण किया। माद्रीकुमार नकुल-सहदेव तथा महाबली सात्यकि दुर्योधनकी सेनाका विनाश करते हुए बड़े वेगसे शकुनिपर टूट पड़े ॥

तस्याश्ववाहान् सुबहूंस्ते निहत्य शितैः शरैः ।
तमन्वधावंस्त्वरितास्तत्र युद्धमवर्तत ॥ ३२ ॥

उन सबने शकुनिके बहुत-से घुड़सवारोंको अपने पैने बाणोंसे मारकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँ शकुनिपर धावा किया। फिर तो उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ३२ ॥

ततो धनंजयो राजन् रथानीकमगाहत ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु गाण्डीवं व्याक्षिपन् धनुः ॥ ३३ ॥

राजन् ! तदनन्तर अर्जुनने अपने त्रिभुवनविख्यात गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए आपके रथियोंकी सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

कृष्णसारथिमायान्तं दृष्ट्वा श्वेतहयं रथम् ।
अर्जुनं चापि योद्धारं त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण जिसके सारथि हैं, उस श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको और रथी योद्धा अर्जुनको आते देखकर आपके सारे रथी भयसे भाग चले ॥ ३४ ॥

विप्रहीनरथाश्वाश्च शरैश्च परिवारिताः ।
पञ्चविंशतिसाहस्राः पार्थमार्च्छन् पदातयः ॥ ३५ ॥

तब रथों और घोड़ोंसे रहित तथा बाणोंसे आच्छादित हुए पचीस हजार पैदल योद्धाओंने कुन्तीकुमार अर्जुनपर चढ़ाई की ॥ ३५ ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं पञ्चालानां महारथः ।
भीमसेनं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत ॥ ३६ ॥

उस पैदल सेनाका वध करके पाञ्चाल महारथी धृष्टद्युम्न भीमसेनको आगे किये शीघ्र ही वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ ३६ ॥

महाधनुर्धरः श्रीमानमित्रगणमर्दनः ।
पुत्रः पञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नो महायशाः ॥ ३७ ॥

पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्न महाधनुर्धर, महायशस्वी, तेजस्वी तथा शत्रुसमूहका संहार करनेमें समर्थ थे ॥ ३७ ॥

पारावतसवर्णाश्वं कोविदारवरध्वजम् ।
धृष्टद्युम्नं रणे दृष्ट्वा त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ३८ ॥

जिनके रथमें कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जुते हुए थे तथा रथकी श्रेष्ठ ध्वजापर कचनारवृक्षका चिह्न बना हुआ था, उन धृष्टद्युम्नको रणभूमिमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे भाग खड़े हुए ॥ ३८ ॥

गान्धारराजं शीघ्रास्त्रमनुसृत्य यशस्विनौ ।
अचिरात् प्रत्यदृश्येतां माद्रीपुत्रौ ससात्यकी ॥ ३९ ॥

सात्यकिसहित यशस्वी माद्रीकुमार नकुल और सहदेव शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले गान्धारराज शकुनिका तुरंत पीछा करते हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

चेकितानः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च मारिष ।
हत्वा त्वदीयं सुमहत् सैन्यं शङ्खानथाधमन् ॥ ४० ॥

माननीय नरेश ! चेकितान, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र—आपकी विशाल सेनाका संहार करके शङ्ख बजाने लगे ॥ ४० ॥

ते सर्वे तावकान् प्रेक्ष्य द्रवतो वै पराङ्मुखान् ।
अभ्यधावन्त निघ्नन्तो वृषाञ्जित्वा वृषा इव ॥ ४१ ॥

जैसे साँड़ साँड़ोंको परास्त करके उन्हें बहुत दूरतक खदेड़ते रहते हैं, उसी प्रकार उन सब पाण्डववीरोंने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धसे विमुख होकर भागते देख बाणोंका प्रहार करते हुए दूरतक उनका पीछा किया ॥ ४१ ॥

सेनावशेषं तं दृष्ट्वा तव पुत्रस्य पाण्डवः ।
अवस्थितं सव्यसाची चुक्रोध बलवन्नृप ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन आपके पुत्रकी सेनाके उस एक भागको अवशिष्ट एवं सामने उपस्थित देख अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४२ ॥

तत एनं शरै राजन् सहसा समवाकिरत् ।
रजसा चोद्गतेनाथ न स्म किंचन दृश्यते ॥ ४३ ॥

राजन् ! तदनन्तर उन्होंने सहसा बाणोंद्वारा उस सेनाको आच्छादित कर दिया। उस समय इतनी धूल ऊपर उठी कि कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ४३ ॥

अन्धकारीकृते लोके शरीभूते महीतले ।
दिशः सर्वा महाराज तावकाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ४४ ॥

महाराज ! जब जगत्‌में उस धूलसे अन्धकार छा गया और पृथ्वीपर बाण-ही-बाण बिछ गया, उस समय आपके सैनिक भयके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ४४ ॥

भज्यमानेषु सर्वेषु कुरुराजो विशाम्पते ।
परेषामात्मनश्चैव सैन्ये ते समुपाद्रवत् ॥ ४५ ॥

प्रजानाथ ! उन सबके भाग जानेपर कुरुराज दुर्योधनने शत्रुपक्षकी और अपनी दोनों ही सेनाओंपर आक्रमण किया ॥

ततो दुर्योधनः सर्वानाजुहावाथ पाण्डवान् ।
युद्धाय भरतश्रेष्ठ देवानिव पुरा बलिः ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे पूर्वकालमें राजा बलिने देवताओंको युद्धके लिये ललकारा था, उसी प्रकार दुर्योधनने समस्त पाण्डवोंका आह्वान किया ॥ ४६ ॥

त एनमभिगर्जन्तं सहिताः समुपाद्रवन् ।
नानाशस्त्रसृजः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ ४७ ॥

तब वे पाण्डवयोद्धा अत्यन्त कुपित हो गर्जना करनेवाले दुर्योधनको बारंबार फटकारते और क्रोधपूर्वक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए एक साथ ही उसपर टूट पड़े ॥

दुर्योधनोऽप्यसम्भ्रान्तस्तानरीन् व्यधमच्छरैः ।
तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ॥ ४८ ॥
यदेनं पाण्डवाः सर्वे न शेकुरतिवर्तितुम् ।

दुर्योधन भी बिना किसी घबराहटके अपने बाणोंद्वारा उन शत्रुओंको छिन्न-भिन्न करने लगा । वहाँ हमलोगोंने आपके पुत्रका अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव मिलकर भी उसे लाँघकर आगे न बढ़ सके ॥ ४८½ ॥

नातिदूरापयातं च कृतबुद्धिः पलायने ॥ ४९ ॥
दुर्योधनः स्वकं सैन्यमपश्यद् भृशविक्षतम् ।

दुर्योधनने देखा कि मेरी सेना अत्यन्त घायल हो रणभूमिसे पलायन करनेका विचार रखकर भाग रही है, परंतु अधिक दूर नहीं गयी है ॥ ४९½ ॥

ततोऽवस्थाप्य राजेन्द्र कृतबुद्धिस्तवात्मजः ॥ ५० ॥
हर्षयन्निव तान् योधांस्ततो वचनमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! तब युद्धका ही दृढ़ निश्चय रखनेवाले आपके पुत्रने उन समस्त सैनिकोंको खड़ा करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥ ५०½ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ५१ ॥
यत्र यातान्न वो हन्युः पाण्डवाः किं सृतेन वः ।

'वीरो ! मैं भूतलपर और पर्वतोंमें भी कोई ऐसा स्थान नहीं देखता, जहाँ चले जानेपर तुमलोगोंको पाण्डव मार न सकें; फिर तुम्हारे भागनेसे क्या लाभ है ? ॥ ५१½ ॥

स्वल्पं चैव बलं तेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ ॥ ५२ ॥
यदि सर्वेऽत्र तिष्ठामो ध्रुवं नो विजयो भवेत् ।

'पाण्डवोंके पास थोड़ी-सी ही सेना शेष रह गयी है और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन भी बहुत घायल हो चुके हैं । यदि हम सब लोग यहाँ डटे रहें तो निश्चय ही हमारी विजय होगी॥५२½॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतकिल्बिषान्॥५३॥
अनुसृत्य हनिष्यन्ति श्रेयो नः समरे वधः ।

'यदि तुमलोग पृथक्-पृथक् होकर भागोगे तो पाण्डव तुम सभी अपराधियोंका पीछा करके तुम्हें मार डालेंगे, अतः युद्धमें ही मारा जाना हमारे लिये श्रेयस्कर होगा ॥ ५३½ ॥

सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥ ५४ ॥
मृतो दुःखं न जानीते प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।

'क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीरोंके लिये संग्रामभूमिमें होनेवाली मृत्यु ही सुखद है; क्योंकि वहाँ मरा हुआ मनुष्य मृत्युके दुःखको नहीं जानता और मृत्युके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ५४½ ॥

शृण्वन्तु क्षत्रियाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः ॥ ५५ ॥
द्विषतो भीमसेनस्य वशमेष्यथ विद्रुताः ।

'जितने क्षत्रिय यहाँ आये हैं वे सब सुनें—'तुमलोग भागनेपर अपने शत्रु भीमसेनके अधीन हो जाओगे ॥५५½॥

पितामहैराचरितं न धर्मं हातुमर्हथ ॥ ५६ ॥
नान्यत् कर्मास्ति पापीयः क्षत्रियस्य पलायनात् ।

'इसलिये अपने बाप-दादोंके द्वारा आचरणमें लाये हुए धर्मका परित्याग न करो । क्षत्रियके लिये युद्ध छोड़कर भागनेसे बढ़कर दूसरा कोई अत्यन्त पापपूर्ण कर्म नहीं है ॥

न युद्धधर्माच्छ्रेयान् हि पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ॥ ५७ ॥
सुचिरेणार्जितााँल्लोकान् सद्यो युद्धात् समश्नुते ।

'कौरवो ! युद्धधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्गका श्रेष्ठ मार्ग नहीं है । दीर्घकालतक पुण्यकर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोकोंको वीर क्षत्रिय युद्धसे तत्काल प्राप्त कर लेता है' ॥

तस्य तद् वचनं राज्ञः पूजयित्वा महारथाः ॥ ५८ ॥
पुनरेवाभ्यवर्तन्त क्षत्रियाः पाण्डवान् प्रति ।
पराजयममृष्यन्तः कृतचित्ताश्च विक्रमे ॥ ५९ ॥

राजा दुर्योधनकी उस बातका आदर करके वे महारथी क्षत्रिय पुनः युद्ध करनेके लिये पाण्डवोंके सामने आये । उन्हें पराजय असह्य हो उठी थी; इसलिये उन्होंने पराक्रम करनेमें ही मन लगाया था ॥ ५८-५९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं पुनरेव सुदारुणम् ।
तावकानां परेषां च देवासुररणोपमम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें पुनः देवासुर-संग्रामके समान अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिरपुरोगांश्च सर्वसैन्येन पाण्डवान् ।
अन्वधावन्महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ६१ ॥

महाराज ! उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने अपनी सारी सेनाके साथ युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डवोंपर धावा किया था ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि कौरवसैन्यापयाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें कौरवसेनाका पलायनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कृपाचार्यका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

पतितान् रथनीडांश्च रथांश्चापि महात्मनाम्।
रणे च निहतान् नागान् दृष्ट्वा पत्तींश्च मारिष ॥ १ ॥
आयोधनं चातिघोरं रुद्रस्याक्रीड संनिभम्।
अप्रख्यातिं गतानां तु राज्ञां शतसहस्रशः ॥ २ ॥
विमुखे तव पुत्रे तु शोकोपहतचेतसि।
भृशोद्विग्नेषु सैन्येषु दृष्ट्वा पार्थस्य विक्रमम् ॥ ३ ॥
ध्यायमानेषु सैन्येषु दुःखं प्राप्तेषु भारत।
बलानां मथ्यमानानां श्रुत्वा निनदमुत्तमम् ॥ ४ ॥
अभिज्ञानं नरेन्द्राणां विक्षतं प्रेक्ष्य संयुगे।
कृपाविष्टः कृपो राजन् वयःशीलसमन्वितः ॥ ५ ॥
अब्रवीत् तत्र तेजस्वी सोऽभिसृत्य जनाधिपम्।
दुर्योधनं मन्युवशाद् वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ६ ॥

संजय कहते हैं—माननीय नरेश ! उस समय रणभूमिमें महामनस्वी वीरोंके रथ और उनकी बैठकें टूटी पड़ी थीं । सवारोंसहित हाथी और पैदल सैनिक मार डाले गये थे । वह युद्धस्थल रुद्रदेवकी क्रीडाभूमि श्मशानके समान अत्यन्त भयानक जान पड़ता था और वहाँ लाखों नरेशोंका नामोनिशान मिट गया था । यह सब देखकर जब आपके पुत्र दुर्योधनका मन शोकमें डूब गया और उसने युद्धसे मुँह मोड़ लिया, कुन्तीपुत्र अर्जुनका पराक्रम देखकर समस्त सेनाएँ जब भयसे अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और भारी दुःखमें पड़कर चिन्तामग्न हो गयीं, उस समय मथे जाते हुए सैनिकोंका जोर-जोरसे आर्तनाद सुनकर तथा राजाओंके चिह्नस्वरूप ध्वज आदिको युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत हुआ देखकर प्रौढ़ अवस्था और उत्तम स्वभावसे युक्त तेजस्वी कृपाचार्यके मनमें बड़ी दया आयी । भरतवंशी नरेश ! वे बातचीत करनेमें अत्यन्त कुशल थे । उन्होंने राजा दुर्योधनके निकट जाकर उसकी दीनता देखकर इस प्रकार कहा—॥ १–६ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
श्रुत्वा कुरु महाराज यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

'कुरुवंशी महाराज दुर्योधन ! मैं इस समय तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । अनघ ! मेरी बात सुनकर यदि तुम्हें रुचे तो उसके अनुसार कार्य करो ॥ ७ ॥

न युद्धधर्माच्छ्रेयान् वै पन्था राजेन्द्र विद्यते।
यं समाश्रित्य युद्ध्यन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ८ ॥

'राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! युद्धधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है, जिसका आश्रय लेकर क्षत्रिय लोग युद्धमें तत्पर रहते हैं ॥ ८ ॥

पुत्रो भ्राता पिता चैव स्वस्रीयो मातुलस्तथा।
सम्बन्धिबान्धवाश्चैव योद्धव्या वै क्षत्रजीविना ॥ ९ ॥

'क्षत्रिय-धर्मसे जीवन-निर्वाह करनेवाले पुरुषके लिये पुत्र, भ्राता, पिता, भानजा, मामा, सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धव—इन सबके साथ युद्ध करना कर्तव्य है ॥ ९ ॥

वधे चैव परो धर्मस्तथाधर्मः पलायने।
ते स्म घोरां समापन्ना जीविकां जीवितार्थिनः ॥ १० ॥

'युद्धमें शत्रुको मारना या उसके हाथसे मारा जाना दोनों ही उत्तम धर्म है और युद्धसे भागनेपर महान् पाप होता है । सभी क्षत्रिय जीवन-निर्वाहकी इच्छा रखते हुए उसी घोर जीविकाका आश्रय लेते हैं ॥ १० ॥

तदत्र प्रतिवक्ष्यामि किंचिदेव हितं वचः।
हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णे चैव महारथे ॥ ११ ॥
जयद्रथे च निहते तव भ्रातृषु चानघ।
लक्ष्मणे तव पुत्रे च किं शेषं पर्युपास्महे ॥ १२ ॥

'ऐसी दशामें मैं यहाँ तुम्हारे लिये कुछ हितकी बात बताऊँगा । अनघ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महारथी कर्ण, जयद्रथ तथा तुम्हारे सभी भाई मारे जा चुके हैं । तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण भी जीवित नहीं है । अब दूसरा कौन बच गया है, जिसका हमलोग आश्रय ग्रहण करें ॥ ११-१२ ॥

येषु भारं समासाद्य राज्ये मतिमकुर्महि।
ते संत्यज्य तनूर्याताः शूरा ब्रह्मविदां गतिम् ॥ १३ ॥

'जिनपर युद्धका भार रखकर हम राज्य पानेकी आशा करते थे, वे शूरवीर तो शरीर छोड़कर ब्रह्मवेत्ताओंकी गतिको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

वयं त्विह विना भूता गुणवद्भिर्महारथैः।
कृपणं वर्तयिष्याम पातयित्वा नृपान् बहून् ॥ १४ ॥

'इस समय हमलोग यहाँ भीष्म आदि गुणवान् महारथियोंके सहयोगसे वञ्चित हो गये हैं और बहुत-से नरेशोंको मरवाकर दयनीय स्थितिमें आ गये हैं ॥ १४ ॥

सर्वैरथ च जीवद्भिर्बीभत्सुरपराजितः।
कृष्णनेत्रो महाबाहुर्देवैरपि दुरासदः ॥ १५ ॥

'जब सब लोग जीवित थे, तब भी अर्जुन किसीके द्वारा पराजित नहीं हुए । श्रीकृष्ण-जैसे नेताके रहते हुए महाबाहु अर्जुन देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रकार्मुकतुल्याभमिन्द्रकेतुमिवोच्छ्रितम्।
वानरं केतुमासाद्य संचचाल महाचमूः ॥ १६ ॥

'उनका वानरध्वज इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगा और इन्द्रध्वजके समान अत्यन्त ऊँचा है । उसके पास पहुँचकर हमारी विशाल सेना भयसे विचलित हो उठती है ॥ १६ ॥

सिंहनादाच्च भीमस्य पाञ्चजन्यस्वनेन च।
गाण्डीवस्य च निर्घोषात् सम्मुह्यन्ते मनांसि नः ॥ १७ ॥

'भीमसेनके सिंहनाद, पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि और

गाण्डीव धनुषकी टङ्कारसे हमारा दिल दहल उठता है ॥१७॥

चरन्तीव महाविद्युन्मुष्णन्ती नयनप्रभाम्।
अलातमिव चाविद्धं गाण्डीवं समदृश्यत ॥ १८ ॥

'जैसे चमकती हुई महाविद्युत् नेत्रोंकी प्रभाको छीनती-सी दिखायी देती है तथा जैसे अलातचक्र घूमता देखा जाता है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष भी दृष्टिगोचर होता है ॥ १८ ॥

जाम्बूनदविचित्रं च धूयमानं महद् धनुः।
दृश्यते दिक्षु सर्वासु विद्युदभ्रघनेष्विव ॥ १९ ॥

'अर्जुनके हाथमें डोलता हुआ उनका सुवर्णजटित महान् धनुष सम्पूर्ण दिशाओंमें वैसा ही दिखायी देता है, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली ॥ १९ ॥

श्वेताश्च वेगसम्पन्नाः शशिकाशसमप्रभाः।
पिबन्त इव चाकाशं रथे युक्तास्तु वाजिनः ॥ २० ॥

'उनके रथमें जुते हुए घोड़े श्वेत वर्णवाले, वेगशाली तथा चन्द्रमा और कासके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित हैं । वे ऐसी तीव्र गतिसे चलते हैं, मानो आकाशको पी जायँगे ॥ २० ॥

उह्यमानांश्च कृष्णेन वायुनेव बलाहकाः।
जाम्बूनदविचित्राङ्गा वहन्ते चार्जुनं रणे ॥ २१ ॥

'जैसे वायुकी प्रेरणासे बादल उड़ते फिरते हैं, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णद्वारा हाँके जाते हुए घोड़े, जो सुनहरे साजोंसे सजे होनेके कारण अङ्गोंमें विचित्र शोभा धारण करते हैं, रणभूमिमें अर्जुनकी सवारी ढोते हैं ॥ २१ ॥

तावकं तद् बलं राजन्नर्जुनोऽस्त्रविशारदः।
गहनं शिशिरापाये ददाहाग्निरिवोल्वणः ॥ २२ ॥

'राजन् ! अर्जुन अस्त्रविद्यामें कुशल हैं, उन्होंने तुम्हारी सेनाको उसी प्रकार भस्म किया है, जैसे भयंकर आग ग्रीष्म ऋतुमें बहुत बड़े जंगलको जला डालती है ॥ २२ ॥

गाहमानमनीकानि महेन्द्रसदृशप्रभम्।
धनंजयमपश्याम चतुर्दंष्ट्रमिव द्विपम् ॥ २३ ॥

'देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी अर्जुनको हम चार दाँत-वाले गजराजके समान अपनी सेनामें प्रवेश करते देखते हैं ॥

विक्षोभयन्तं सेनां ते त्रासयन्तं च पार्थिवान्।
धनंजयमपश्याम नलिनीमिव कुञ्जरम् ॥ २४ ॥

'जैसे मतवाला हाथी तालाबमें घुसकर उसे मथ डालता है, उसी प्रकार हमने अर्जुनको तुम्हारी सेनाको मथते और राजाओंको भयभीत करते देखा है ॥ २४ ॥

त्रासयन्तं तथा योधान् धनुर्घोषेण पाण्डवम्।
भूय एनमपश्याम सिंहं मृगगणानिव ॥ २५ ॥

'जैसे सिंह मृगोंके झुंडको भयभीत कर देता है, उसी प्रकार पाण्डुकुमार अर्जुन अपने धनुषकी टङ्कारसे तुम्हारे समस्त योद्धाओंको बारंबार भयभीत करते दिखायी दिये हैं ॥

सर्वलोकमहेष्वासौ वृषभौ सर्वधन्विनाम्।
आमुक्तकवचौ कृष्णौ लोकमध्ये विचेरतुः ॥ २६ ॥

'अपने अङ्गोंमें कवच धारण किये श्रीकृष्ण और अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वके महाधनुर्धर और सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हैं, योद्धाओंके समूहमें निर्भय विचरते हैं ॥ २६ ॥

अद्य सप्तदशाहानि वर्तमानस्य भारत।
संग्रामस्यातिघोरस्य वध्यतां चाभितो युधि ॥ २७ ॥

'भारत ! परस्पर मार-काट मचाते हुए दोनों ओरसे योद्धाओंके इस अत्यन्त भयंकर संग्रामको आरम्भ हुए आज सत्रह दिन हो गये ॥ २७ ॥

वायुनेव विधूतानि तव सैन्यानि सर्वतः।
शरदम्भोदजालानि व्यशीर्यन्त समन्ततः ॥ २८ ॥

'जैसे हवा शरद् ऋतुके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनकी मारसे तुम्हारी सेनाएँ सब ओर तितर-बितर हो गयी हैं ॥ २८ ॥

तां नावमिव पर्यस्तां वातधूतां महार्णवे।
तव सेनां महाराज सव्यसाची व्यकम्पयत् ॥ २९ ॥

'महाराज ! जैसे महासागरमें हवाके थपेड़े खाकर नाव डगमगाने लगती है, उसी प्रकार सव्यसाची अर्जुनने तुम्हारी सेनाको कँपा डाला है ॥ २९ ॥

क नु ते सूतपुत्रोऽभूत् क नु द्रोणः सहानुगः।
अहं क च क चात्मा ते हार्दिक्यश्च तथा क नु ॥ ३० ॥
दुःशासनश्च ते भ्राता भ्रातृभिः सहितः क नु।
बाणगोचरसम्प्राप्तं प्रेक्ष्य चैव जयद्रथम् ॥ ३१ ॥

'उस दिन जयद्रथको अर्जुनके बाणोंका निशाना बनते देखकर भी तुम्हारा कर्ण कहाँ चला गया था ? अपने अनु-यायियोंके साथ आचार्य द्रोण कहाँ थे ? मैं कहाँ था ? तुम कहाँ थे ? कृतवर्मा कहाँ चले गये थे और भाइयोंसहित तुम्हारा भ्राता दुःशासन भी कहाँ था ? ॥ ३०-३१ ॥

सम्बन्धिनस्ते भ्रातॄंश्च सहायान् मातुलांस्तथा।
सर्वान् विक्रम्य मिषतो लोकमाक्रम्य मूर्धनि ॥ ३२ ॥
जयद्रथो हतो राजन् किं नु शेषमुपास्महे।
को हीह स पुमानस्ति यो विजेष्यति पाण्डवम् ॥ ३३ ॥

'राजन् ! तुम्हारे सम्बन्धी, भाई, सहायक और मामा सब-के-सब देख रहे थे तो भी अर्जुनने उन सबको अपने पराक्रमद्वारा परास्त करके सब लोगोंके मस्तकपर पैर रखकर जयद्रथको मार डाला । अब और कौन बचा है जिसका हम भरोसा करें ? यहाँ कौन ऐसा पुरुष है जो पाण्डुपुत्र अर्जुनपर विजय पायेगा ? ॥ ३२-३३ ॥

तस्य चास्त्राणि दिव्यानि विविधानि महात्मनः।
गाण्डीवस्य च निर्घोषो धैर्याणि हरते हि नः ॥ ३४ ॥

'महात्मा अर्जुनके पास नाना प्रकारके दिव्यास्त्र हैं । उनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष हमारा धैर्य छीन लेता है ॥

नष्टचन्द्रा यथा रात्रिः सेनेयं हतनायका ।
नागभग्नद्रुमा शुष्का नदीवाकुलतां गता ॥ ३५ ॥

'जैसे चन्द्रमाके उदित न होनेपर रात्रि अन्धकारमयी दिखायी देती है, उसी प्रकार हमारी यह सेना सेनापतिके मारे जानेसे श्रीहीन हो रही है । हाथीने जिसके किनारेके वृक्षोंको तोड़ डाला हो, उस सूखी नदीके समान यह व्याकुल हो उठी है ॥ ३५ ॥

ध्वजिन्यां हतनेत्रायां यथेष्टं श्वेतवाहनः ।
चरिष्यति महाबाहुः कक्षेष्वग्निरिव ज्वलन् ॥ ३६ ॥

'हमारी इस विशाल वाहिनीका नेता नष्ट हो गया है । ऐसी दशामें घास-फूसके ढेरमें प्रज्वलित होनेवाली आगके समान श्वेत घोड़ोंवाले महाबाहु अर्जुन इस सेनाके भीतर इच्छानुसार विचरेंगे ॥ ३६ ॥

सात्यकेश्चैव यो वेगो भीमसेनस्य चोभयोः ।
दारयेच्च गिरीन् सर्वाञ्शोषयेच्चैव सागरान् ॥३७॥

'उधर सात्यकि और भीमसेन दोनों वीरोंका जो वेग है, वह सारे पर्वतोंको विदीर्ण कर सकता है । समुद्रोंको भी सुखा सकता है ॥ ३७ ॥

उवाच वाक्यं यद् भीमः सभामध्ये विशाम्पते ।
कृतं तत् सफलं तेन भूयश्चैव करिष्यति ॥ ३८ ॥

'प्रजानाथ ! द्यूतसभामें भीमसेनने जो बात कही थी, उसे उन्होंने सत्य कर दिखाया और जो शेष है, उसे भी वे अवश्य ही पूर्ण करेंगे ॥ ३८ ॥

प्रमुखस्थे तदा कर्णे बलं पाण्डवरक्षितम् ।
दुरासदं तदा गुप्तं व्यूढं गाण्डीवधन्वना ॥ ३९ ॥

'जब कर्णके साथ युद्ध चल रहा था, उस समय कर्ण सामने ही था तो भी पाण्डवोंद्वारा रक्षित सेना उसके लिये दुर्जय हो गयी; क्योंकि गाण्डीवधारी अर्जुन व्यूहरचनापूर्वक उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ ३९ ॥

युष्माभिस्तानि चीर्णानि यान्यसाधूनि साधुषु ।
अकारणकृतान्येव तेषां वः फलमागतम् ॥ ४० ॥

'पाण्डव साधुपुरुष हैं तो भी तुमलोगोंने अकारण ही उनके साथ जो बहुत-से अनुचित बर्ताव किये हैं, उन्हींका यह फल तुम्हें मिला है ॥ ४० ॥

आत्मनोऽर्थे त्वया लोको यत्नतः सर्व आहृतः ।
स ते संशयितस्तात आत्मा वै भरतर्षभ ॥ ४१॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुमने अपनी रक्षाके लिये ही प्रयत्नपूर्वक सारे जगत्के लोगोंको एकत्र किया था, किंतु तुम्हारा ही जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ ४१ ॥

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम् ।
भिन्ने हि भाजने तात दिशो गच्छति तद्गतम् ॥ ४२॥

'दुर्योधन ! अब तुम अपने शरीरकी रक्षा करो; क्योंकि आत्मा (शरीर) ही समस्त सुखोंका भाजन है । जैसे पात्रके फूट जानेपर उसमें रक्खा हुआ जल चारों ओर बह जाता है, उसी प्रकार शरीरके नष्ट होनेसे उसपर अवलम्बित सुखोंका भी अन्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

हीयमानेन वै सन्धिः पर्येष्टव्यः समेन वा ।
विग्रहो वर्धमानेन मतिरेषा बृहस्पतेः ॥ ४३ ॥

'बृहस्पतिकी यह नीति है कि जब अपना बल कम या बराबर जान पड़े तो शत्रुके साथ संधि कर लेनी चाहिये । लड़ाई तो उसी वक्त छेड़नी चाहिये, जब अपनी शक्ति शत्रुसे बढ़ी-चढ़ी हो ॥ ४३ ॥

ते वयं पाण्डुपुत्रेभ्यो हीना स्म बलशक्तितः ।
तदत्र पाण्डवैः सार्धं सन्धिं मन्ये क्षमं प्रभो ॥ ४४ ॥

'हमलोग बल और शक्तिमें पाण्डवोंसे हीन हो गये हैं । अतः प्रभो ! इस अवस्थामें मैं पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ ॥ ४४ ॥

न जानीते हि यः श्रेयः श्रेयसश्चावमन्यते ।
स क्षिप्रं भ्रश्यते राज्यान्न च श्रेयोऽनुविन्दते ॥ ४५ ॥

'जो राजा अपनी भलाईकी बात नहीं समझता और श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान करता है, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट हो जाता है । उसे कभी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

प्रणिपत्य हि राजानं राज्यं यदि लभेमहि ।
श्रेयः स्यान्न तु मौढ्येन राजन् गन्तुः पराभवम् ॥ ४६ ॥

'राजन् ! यदि राजा युधिष्ठिरके सामने नतमस्तक होकर हम अपना राज्य प्राप्त कर लें तो यही श्रेयस्कर होगा । मूर्खतावश पराजय स्वीकार करनेवालेका कभी भला नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

वैचित्रवीर्यवचनात् कृपाशीलो युधिष्ठिरः ।
विनियुञ्जीत राज्ये त्वां गोविन्दवचनेन च ॥ ४७ ॥

'युधिष्ठिर दयालु हैं । वे राजा धृतराष्ट्र और भगवान् श्रीकृष्णके कहनेसे तुम्हें राज्यपर प्रतिष्ठित कर सकते हैं ॥ ४७ ॥

यद् ब्रूयाद्धि हृषीकेशो राजानमपराजितम् ।
अर्जुनं भीमसेनं च सर्वे कुर्युरसंशयम् ॥ ४८ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण किसीसे पराजित न होनेवाले राजा युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमसेनसे जो कुछ भी कहेंगे, वे सब लोग उसे निःसंदेह स्वीकार कर लेंगे ॥ ४८ ॥

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु ।
धृतराष्ट्रस्य मन्येऽहं नापि कृष्णस्य पाण्डवः ॥ ४९ ॥

'कुरुराज धृतराष्ट्रकी बात श्रीकृष्ण नहीं टालेंगे और श्रीकृष्णकी आज्ञाका उल्लङ्घन युधिष्ठिर नहीं कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९ ॥

एतत् क्षेममहं मन्ये न च पार्थैश्च विग्रहम् ।
न त्वां ब्रवीमि कार्पण्यान्न प्राणपरिरक्षणात् ॥ ५० ॥
पथ्यं राजन् ब्रवीमि त्वां तत्परासुः स्मरिष्यसि ।

'राजन् ! मैं इस संधिको ही तुम्हारे लिये कल्याणकारी मानता हूँ । पाण्डवोंके साथ किये जानेवाले युद्धको नहीं । मैं

कायरता या प्राण-रक्षाकी भावनासे यह सब नहीं कहता हूँ। तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ। तुम मरणासन्न अवस्थामें मेरी यह बात याद करोगे ॥ ५०½ ॥

इति वृद्धो विलप्यैतत् कृपः शारद्वतो वचः।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य शुशोच च मुमोह च ॥ ५१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र वृद्ध कृपाचार्य इस प्रकार विलाप करके गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए शोक और मोहके वशीभूत हो गये ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि कृपवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें कृपाचार्यका वचनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

दुर्योधनका कृपाचार्यको उत्तर देते हुए सन्धि स्वीकार न करके युद्धका ही निश्चय करना

संजय उवाच

एवमुक्तस्ततो राजा गौतमेन तपस्विना।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च तूष्णीमासीद् विशाम्पते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! तपस्वी कृपाचार्यके ऐसा कहनेपर दुर्योधन जोर-जोरसे गरम साँस खींचता हुआ कुछ देरतक चुपचाप बैठा रहा ॥ १ ॥

ततो मुहूर्तं स ध्यात्वा धार्तराष्ट्रो महामनाः।
कृपं शारद्वतं वाक्यमित्युवाच परंतपः ॥ २ ॥

दो घड़ीतक सोच-विचार करनेके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके उस महामनस्वी पुत्रने शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २ ॥

यत् किञ्चित् सुहृदा वाच्यं तत् सर्वं श्रावितो ह्यहम्।
कृतं च भवता सर्वं प्राणान् संत्यज्य युध्यता ॥ ३ ॥

'विप्रवर ! एक हितैषी सुहृद्‌को जो कुछ कहना चाहिये, वह सब आपने कह सुनाया। इतना ही नहीं, आपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हुए मेरी भलाईके लिये सब कुछ किया है ॥ ३ ॥

गाहमानमनीकानि युध्यमानं महारथैः।
पाण्डवैरतितेजोभिर्लोकस्त्वामनुदृष्टवान् ॥ ४ ॥

'सब लोगोंने आपको शत्रुओंकी सेनाओंमें घुसते और अत्यन्त तेजस्वी महारथी पाण्डवोंके साथ युद्ध करते हुए बारंबार देखा है ॥ ४ ॥

सुहृदा यदिदं वाक्यं भवता श्रावितो ह्यहम्।
न मां प्रीणाति तत् सर्वं मुमूर्षोरिव भेषजम् ॥ ५ ॥

'आप मेरे हितचिन्तक सुहृद् हैं तो भी आपने मुझे जो बात सुनायी है, वह सब मेरे मनको उसी तरह पसंद नहीं आती, जैसे मरणासन्न रोगीको दवा अच्छी नहीं लगती है ॥

हेतुकारणसंयुक्तं हितं वचनमुत्तमम्।
उच्यमानं महाबाहो न मे विप्राग्र्य रोचते ॥ ६ ॥

'महाबाहो ! विप्रवर ! आपने युक्ति और कारणोंसे सुसङ्गत, हितकारक एवं उत्तम बात कही है तो भी वह मुझे अच्छी नहीं लग रही है ॥ ६ ॥

राज्याद् विनिकृतोऽस्माभिः कथं सोऽस्मासु विश्वसेत्।
अक्षद्यूते च नृपतिर्जितोऽस्माभिर्महाधनः ॥ ७ ॥
स कथं मम वाक्यानि श्रद्दध्याद् भूय एव तु।

'हमलोगोंने राजा युधिष्ठिरके साथ छल किया है। वे महाधनी थे, हमने उन्हें जूएमें जीतकर निर्धन बना दिया। ऐसी दशामें वे हमलोगोंपर विश्वास कैसे कर सकते हैं ? हमारी बातोंपर उन्हें फिर श्रद्धा कैसे हो सकती है ? ॥ ७½ ॥

तथा दौत्येन सम्प्राप्तः कृष्णः पार्थहिते रतः ॥ ८ ॥
प्रलब्धश्च हृषीकेशस्तच्च कर्माविचारितम्।
स च मे वचनं ब्रह्मन् कथमेवाभिमन्यते ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले श्रीकृष्ण मेरे यहाँ दूत बनकर आये थे, किंतु मैंने उन हृषीकेशके साथ धोखा किया। मेरा वह कर्म अविचारपूर्ण था। भला, अब वे मेरी बात कैसे मानेंगे ? ॥ ८-९ ॥

विललाप च यत् कृष्णा सभामध्ये समेयुषी।
न तन्मर्षयते कृष्णो न राज्यहरणं तथा ॥ १० ॥

'सभामें बलात्कारपूर्वक लायी हुई द्रौपदीने जो विलाप किया था तथा पाण्डवोंका जो राज्य छीन लिया गया था, वह बर्ताव श्रीकृष्ण सहन नहीं कर सकते ॥ १० ॥

एकप्राणावुभौ कृष्णावन्योन्यमभिसंश्रितौ।
पुरा यच्छ्रुतमेवासीदद्य पश्यामि तत् प्रभो ॥ ११ ॥

'प्रभो ! श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं। वे दोनों एक दूसरेके आश्रित हैं। पहले जो बात मैंने केवल सुन रक्खी थी, उसे अब प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥

स्वस्रीयं निहतं श्रुत्वा दुःखं स्वपिति केशवः।
कृतागसो वयं तस्य स मदर्थं कथं क्षमेत् ॥ १२ ॥

'अपने भानजे अभिमन्युके मारे जानेका समाचार सुनकर श्रीकृष्ण सुखकी नींद नहीं सोते हैं। हम सब लोग उनके अपराधी हैं, फिर वे हमें कैसे क्षमा कर सकते हैं ? ॥ १२ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन न शर्म लभतेऽर्जुनः।
स कथं मद्धिते यत्नं प्रकरिष्यति याचितः ॥ १३ ॥

'अभिमन्युके मारे जानेसे अर्जुनको भी चैन नहीं है, फिर वे प्रार्थना करनेपर भी मेरे हितके लिये कैसे यत्न करेंगे ? ॥ १३ ॥

मध्यमः पाण्डवस्तीक्ष्णो भीमसेनो महाबलः।
प्रतिज्ञातं च तेनोग्रं भज्येतापि न संनमेत् ॥ १४ ॥

'मझले पाण्डव महाबली भीमसेनका स्वभाव बड़ा ही कठोर है। उन्होंने बड़ी भयंकर प्रतिज्ञा की है। सूखे काठकी तरह वे टूट भले ही जायँ, झुक नहीं सकते ॥ १४ ॥

उभौ तौ बद्धनिस्त्रिंशावुभौ चाबद्धकङ्कटौ।
कृतवैरावुभौ वीरौ यमावपि यमोपमौ ॥ १५ ॥

'दोनों भाई नकुल और सहदेव तलवार बाँधे और कवच धारण किये हुए यमराजके समान भयंकर जान पड़ते हैं। वे दोनों वीर मुझसे वैर मानते हैं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च कृतवैरौ मया सह।
तौ कथं मद्धिते यत्नं कुर्यातां द्विजसत्तम ॥ १६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! धृष्टद्युम्न और शिखण्डीने भी मेरे साथ वैर बाँध रक्खा है, फिर वे दोनों मेरे हितके लिये कैसे यत्न कर सकते हैं? ॥ १६ ॥

दुःशासनेन यत् कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला।
परिक्लिष्टा सभामध्ये सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ १७ ॥
तथा विवसनां दीनां स्मरन्त्यद्यापि पाण्डवाः।

'द्रौपदी एक वस्त्र पहने हुए थी, रजस्वला थी। उस अवस्थामें जो वह भरी सभामें लायी गयी और दुःशासनने सब लोगोंके सामने जो उसे महान् क्लेश पहुँचाया, उसका जो वस्त्र उतारा गया और उसे जो दयनीय दशाको पहुँचा दिया गया, उन सब बातोंको पाण्डव आज भी याद रखते हैं ॥

न निवारयितुं शक्याः संग्रामात्ते परंतपाः ॥ १८ ॥
यदा च द्रौपदी क्लिष्टा मद्विनाशाय दुःखिता।
स्थण्डिले नित्यदा शेते यावद् वैरस्य यातनम् ॥१९॥

'इसलिये अब उन शत्रुसंतापी वीरोंको युद्धसे रोका नहीं जा सकता। जबसे द्रौपदीको क्लेश दिया गया, तबसे वह दुखी हो मेरे विनाशका संकल्प लेकर प्रतिदिन मिट्टीकी वेदीपर सोया करती है। जबतक वैरका पूरा बदला न चुका लिया जाय, तबतकके लिये उसने यह व्रत ले रखा है ॥१८-१९॥

उग्रं तेपे तपः कृष्णा भर्तॄणामर्थसिद्धये।
निक्षिप्य मानं दर्पं च वासुदेवसहोदरा ॥ २० ॥
कृष्णायाः प्रेष्यवद् भूत्वा शुश्रूषां कुरुते सदा।
इति सर्वं समुन्नद्धं न निर्वाति कथञ्चन ॥ २१ ॥

'द्रौपदी अपने पतियोंके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये बड़ी कठोर तपस्या करती है और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी सगी बहन सुभद्रा मान और अभिमानको दूर फेंककर सदा दासीकी भाँति द्रौपदीकी सेवा करती है। इस प्रकार इन सारे कार्योंके रूपमें वैरकी आग प्रज्वलित हो उठी है, जो किसी प्रकार बुझ नहीं सकती ॥ २०-२१ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन स संधेयः कथं मया।
कथं च राजा भुक्त्वेमां पृथिवीं सागराम्बराम्॥ २२ ॥
पाण्डवानां प्रसादेन भोक्ष्ये राज्यमहं कथम्।

'अभिमन्युके विनाशसे जिनके हृदयमें गहरी चोट पहुँची है, उस अर्जुनके साथ मेरी सन्धि कैसे हो सकती है? जब मैं समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीका एकच्छत्र राजाकी हैसियतसे उपभोग कर चुका हूँ, तब इस समय पाण्डवोंकी कृपाका पात्र बनकर कैसे राज्य भोगूँगा? ॥ २२½ ॥

उपर्युपरि राज्ञां वै ज्वलित्वा भास्करो यथा ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरं कथं पश्चादनुयास्यामि दासवत्।

'समस्त राजाओंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशित होकर अब दासकी भाँति युधिष्ठिरके पीछे-पीछे कैसे चलूँगा?॥२३½॥

कथं भुक्त्वा स्वयं भोगान् दत्त्वा दायांश्च पुष्कलान् ॥
कृपणं वर्तयिष्यामि कृपणैः सह जीविकाम्।

'स्वयं बहुत-से भोग भोगकर और प्रचुर धन दान करके अब दीन पुरुषोंके साथ दीनतापूर्ण जीविकाका आश्रय ले किस प्रकार निर्वाह कर सकूँगा? ॥ २४½ ॥

नाभ्यसूयामि ते वाक्यमुक्तं स्निग्धं हितं त्वया॥२५॥
न तु सन्धिमहं मन्ये प्राप्तकालं कथञ्चन।

'आपने स्नेहवश हितकी ही बात कही है। आपकी इस बातमें मैं दोष नहीं निकालता और न इसकी निन्दा ही करता हूँ। मेरा कथन तो इतना ही है कि अब किसी प्रकार सन्धिका अवसर नहीं रह गया है। मेरी ऐसी ही मान्यता है ॥ २५½ ॥

सुनीतमनुपश्यामि सुयुद्धेन परंतप ॥ २६ ॥
नायं क्लीबयितुं कालः संयोद्धुं काल एव नः।

'शत्रुओंको तपानेवाले वीर! अब मैं अच्छी तरह युद्ध करनेमें ही उत्तम नीतिका पालन समझ रहा हूँ। हमारा यह समय कायरता दिखानेका नहीं, उत्साहपूर्वक युद्ध करनेका ही है ॥ २६½ ॥

इष्टं मे बहुभिर्यज्ञैर्दत्ता विप्रेषु दक्षिणाः ॥ २७ ॥
प्राप्ताः कामाः श्रुता वेदाः शत्रूणां मूर्ध्नि च स्थितम्।
भृत्या मे सुभृतास्तात दीनश्चाभ्युद्धृतो जनः ॥ २८ ॥
नोत्सहेऽद्य द्विजश्रेष्ठ पाण्डवान् वक्तुमीदृशम्।

'तात! मैंने बहुतसे यज्ञोंका अनुष्ठान कर लिया। ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणाएँ दे दीं। सारी कामनाएँ पूर्ण कर लीं। वेदोंका श्रवण कर लिया। शत्रुओंके माथेपर पैर रक्खा और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंके पालन-पोषणकी अच्छी व्यवस्था कर दी। इतना ही नहीं, मैंने दीनोंका उद्धारकार्य भी सम्पन्न कर दिया है। अतः द्विजश्रेष्ठ! अब मैं पाण्डवोंसे इस प्रकार सन्धिके लिये याचना नहीं कर सकता॥२७-२८½॥

जितानि परराष्ट्राणि स्वराष्ट्रमनुपालितम् ॥ २९ ॥
भुक्ताश्च विविधा भोगास्त्रिवर्गः सेवितो मया।
पितॄणां गतमानृण्यं क्षत्रधर्मस्य चोभयोः ॥ ३० ॥

'मैंने दूसरोंके राज्य जीते, अपने राष्ट्रका निरन्तर पालन किया, नाना प्रकारके भोग भोगे; धर्म, अर्थ और कामका सेवन किया और पितरों तथा क्षत्रियधर्म—दोनोंके ऋणसे उऋण हो गया ॥ २९-३० ॥

न ध्रुवं सुखमस्तीति कुतो राष्ट्रं कुतो यशः ।
इह कीर्तिर्विधातव्या सा च युद्धेन नान्यथा ॥ ३१ ॥

'संसारमें कोई भी सुख सदा रहनेवाला नहीं है । फिर राष्ट्र और यश भी कैसे स्थिर रह सकते हैं ? यहाँ तो कीर्तिका ही उपार्जन करना चाहिये और कीर्ति युद्धके सिवा किसी दूसरे उपायसे नहीं मिल सकती ॥ ३१ ॥

गृहे यत् क्षत्रियस्यापि निधनं तद् विगर्हितम् ।
अधर्मः सुमहानेष यच्छय्यामरणं गृहे ॥ ३२ ॥

'क्षत्रियकी भी यदि घरमें मृत्यु हो जाय तो उसे निन्दित माना गया है । घरमें खाटपर सोकर मरना यह क्षत्रियके लिये महान् पाप है ॥ ३२ ॥

अरण्ये यो विमुच्येत संग्रामे वा तनुं नरः ।
क्रतूनाहृत्य महतो महिमानं स गच्छति ॥ ३३ ॥

'जो बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके वनमें या संग्राममें शरीरका त्याग करता है, वही क्षत्रिय महत्त्वको प्राप्त होता है ॥

कृपणं विलपन्नार्तो जरयाभिपरिप्लुतः ।
म्रियते रुदतां मध्ये ज्ञातीनां न स पूरुषः ॥ ३४ ॥

'जिसका शरीर बुढ़ापेसे जर्जर हो गया हो, जो रोगसे पीड़ित हो, परिवारके लोग जिसके आसपास बैठकर रो रहे हों और उन रोते हुए स्वजनोंके बीचमें जो करुण विलाप करते-करते अपने प्राणोंका परित्याग करता है, वह पुरुष कहलानेयोग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

त्यक्त्वा तु विविधान् भोगान् प्राप्तानां परमां गतिम् ।
अपीदानीं सुयुद्धेन गच्छेयं यत्सलोकताम् ॥ ३५ ॥

'अतः जिन्होंने नाना प्रकारके भोगोंका परित्याग करके उत्तम गति प्राप्त कर ली है, इस समय युद्धके द्वारा मैं उन्हींके लोकोंमें जाऊँगा ॥ ३५ ॥

शूराणामार्यवृत्तानां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।
धीमतां सत्यसंधानां सर्वेषां क्रतुयाजिनाम् ॥ ३६ ॥
शस्त्रावभृथपूतानां ध्रुवं वासस्त्रिविष्टपे ।

'जिनके आचरण श्रेष्ठ हैं, जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते, अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाते और यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले हैं तथा जिन्होंने शस्त्रकी धारामें अवभृथस्नान किया है, उन समस्त बुद्धिमान् पुरुषोंका निश्चय ही स्वर्गमें निवास होता है ॥ ३६½ ॥

मुदा नूनं प्रपश्यन्ति युद्धे ह्यप्सरसां गणाः ॥ ३७ ॥
पश्यन्ति नूनं पितरः पूजितान् सुरसंसदि ।
अप्सरोभिः परिवृतान् मोदमानांस्त्रिविष्टपे ॥ ३८ ॥

'निश्चय ही युद्धमें प्राण देनेवालोंकी ओर अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नतासे निहारा करती हैं । पितृगण उन्हें अवश्य ही देवताओंकी सभामें सम्मानित होते देखते हैं । वे स्वर्गमें अप्सराओंसे घिरकर आनन्दित होते देखे जाते हैं ॥३७-३८॥

पन्थानममरैर्यान्तं शूरैश्चैवानिवर्तिभिः ।
अपि तत्संगतं मार्गं वयमध्यारुहेमहि ॥ ३९ ॥
पितामहेन वृद्धेन तथाऽऽचार्येण धीमता ।
जयद्रथेन कर्णेन तथा दुःशासनेन च ॥ ४० ॥

'देवता तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीर जिस मार्गसे जाते हैं, क्या उसी मार्गपर अब हमलोग भी वृद्ध पितामह, बुद्धिमान् आचार्य द्रोण, जयद्रथ, कर्ण तथा दुःशासनके साथ आरूढ़ होंगे ? ॥ ३९-४० ॥

घटमाना मदर्थेऽस्मिन् हताः शूरा जनाधिपाः ।
शेरते लोहिताक्ताङ्गाः संग्रामे शरविक्षताः ॥ ४१ ॥

'कितने ही वीर नरेश मेरी विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते हुए बाणोंसे क्षत-विक्षत हो मारे जाकर रक्तरञ्जित शरीरसे संग्रामभूमिमें सो रहे हैं ॥ ४१ ॥

उत्तमास्त्रविदः शूरा यथोक्तक्रतुयाजिनः ।
त्यक्त्वा प्राणान् यथान्यायमिन्द्रसद्मस्वधिष्ठिताः ॥४२॥

'उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता और शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञ करनेवाले अन्य शूरवीर यथोचित रीतिसे युद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं ॥ ४२ ॥

तैः स्वयं रचितो मार्गो दुर्गमो हि पुनर्भवेत् ।
सम्पतद्भिर्महावेगैर्यास्यद्भिरिह सद्गतिम् ॥ ४३ ॥

'उन वीरोंने स्वयं ही जिस मार्गका निर्माण किया है, वह पुनः बड़े वेगसे सद्गतिको जानेवाले बहुसंख्यक वीरोंद्वारा दुर्गम हो जाय (अर्थात् इतने अधिक वीर उस मार्गसे यात्रा करें कि भीड़के मारे उसपर चलना कठिन हो जाय) ॥४३॥

ये मदर्थे हताः शूरास्तेषां कृतमनुस्मरन् ।
ऋणं तत् प्रतियुञ्जानो न राज्ये मन आदधे ॥ ४४ ॥

'जो शूरवीर मेरे लिये मारे गये हैं, उनके उस उपकारका निरन्तर स्मरण करता हुआ उस ऋणको उतारनेकी चेष्टामें संलग्न होकर मैं राज्यमें मन नहीं लगा सकता ॥ ४४ ॥

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितामहान् ।
जीवितं यदि रक्षेयं लोको मां गर्हयेद् ध्रुवम् ॥ ४५ ॥

'मित्रों, भाइयों और पितामहोंको मरवाकर यदि मैं अपने प्राणोंकी रक्षा करूँ तो सारा संसार निश्चय ही मेरी निन्दा करेगा ॥ ४५ ॥

कीदृशं च भवेद् राज्यं मम हीनस्य बन्धुभिः ।
सखिभिश्च विशेषेण प्रणिपत्य च पाण्डवम् ॥ ४६ ॥

'बन्धु-बान्धवों और मित्रोंसे हीन हो युधिष्ठिरके पैरोंमें पड़नेपर मुझे जो राज्य मिलेगा, वह कैसा होगा ? ॥ ४६ ॥

सोऽहमेतादृशं कृत्वा जगतोऽस्य पराभवम् ।
सुयुद्धेन ततः स्वर्गं प्राप्स्यामि न तदन्यथा ॥ ४७ ॥

'इसलिये मैं जगत्का ऐसा विनाश करके अब उत्तम युद्धके द्वारा ही स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा । मेरी सद्गतिके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है' ॥ ४७ ॥

एवं दुर्योधनेनोक्तं सर्वे सम्पूज्य तद्वचः ।
साधु साध्विति राजानं क्षत्रियाः सम्बभाषिरे ॥ ४८ ॥

इस प्रकार राजा दुर्योधनकी कही हुई यह बात सुनकर सब क्षत्रियोंने 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उसका आदर किया और उसे भी धन्यवाद दिया ॥ ४८ ॥

पराजयमशोचन्तः कृतचित्ताश्च विक्रमे ।
सर्वे सुनिश्चिता योद्धुमुदग्रमनसोऽभवन् ॥ ४९ ॥

सबने अपनी पराजयका शोक छोड़कर मन-ही-मन पराक्रम करनेका निश्चय किया। युद्ध करनेके विषयमें सबका पक्का विचार हो गया और सबके हृदयमें उत्साह भर गया ॥

ततो वाहान् समाश्वस्य सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
ऊने द्वियोजने गत्वा प्रत्यतिष्ठन्त कौरवाः ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् सब योद्धाओंने अपने-अपने वाहनोंको विश्राम दे युद्धका अभिनन्दन किया और आठ कोससे कुछ कम दूरीपर जाकर डेरा डाला ॥ ५० ॥

आकाशे विद्रुमे पुण्ये प्रस्थे हिमवतः शुभे ।
अरुणां सरस्वतीं प्राप्य पपुः सस्नुश्च ते जलम् ॥ ५१ ॥

आकाशके नीचे हिमालयके शिखरकी सुन्दर, पवित्र एवं वृक्षरहित चौरस भूमिपर अरुणसलिला सरस्वतीके निकट जाकर उन सबने स्नान और जलपान किया ॥ ५१ ॥

तव पुत्रकृतोत्साहाः पर्यवर्तन्त ते ततः ।
पर्यवस्थाप्य चात्मानमन्योन्येन पुनस्तदा ।
सर्वे राजन् न्यवर्तन्त क्षत्रियाः कालचोदिताः ॥ ५२ ॥

राजन्! वे कालप्रेरित समस्त क्षत्रिय आपके पुत्रद्वारा उत्साह देनेपर एक दूसरेके द्वारा मनको स्थिर करके पुनः रणभूमिकी ओर लौटे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें दुर्योधनका वाक्यविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर अश्वत्थामाका शल्यको सेनापति बनानेके लिये प्रस्ताव, दुर्योधनका शल्यसे अनुरोध और शल्यद्वारा उसकी स्वीकृति

संजय उवाच

अथ हैमवते प्रस्थे स्थित्वा युद्धाभिनन्दिनः ।
सर्व एव महायोधास्तत्र तत्र समागताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर हिमालयके ऊपरकी चौरस भूमिमें डेरा डालकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले सभी महान् योद्धा वहाँ एकत्र हुए ॥ १ ॥

शल्यश्च चित्रसेनश्च शकुनिश्च महारथः ।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २ ॥
सुषेणोऽरिष्टसेनश्च धृतसेनश्च वीर्यवान् ।
जयत्सेनश्च राजानस्ते रात्रिमुषितास्ततः ॥ ३ ॥

शल्य, चित्रसेन, महारथी शकुनि, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, सात्वतवंशी कृतवर्मा, सुषेण, अरिष्टसेन, पराक्रमी धृतसेन और जयत्सेन आदि राजाओंने वहीं रात बितायी ॥ २-३ ॥

रणे कर्णे हते वीरे त्रासिता जितकाशिभिः ।
नालभञ्शर्म ते पुत्रा हिमवन्तमृते गिरिम् ॥ ४ ॥

रणभूमिमें वीर कर्णके मारे जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंद्वारा डराये हुए आपके पुत्र हिमालय पर्वतके सिवा और कहीं शान्ति न पा सके ॥ ४ ॥

तेऽब्रुवन् सहितास्तत्र राजानं शल्यसंनिधौ ।
कृतयत्ना रणे राजन् सम्पूज्य विधिवत्तदा ॥ ५ ॥

राजन्! संग्रामभूमिमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सब योद्धाओंने वहाँ एक साथ होकर शल्यके समीप राजा दुर्योधनका विधिपूर्वक सम्मान करके उससे इस प्रकार कहा— ॥

कृत्वा सेनाप्रणेतारं परांस्त्वं योद्धुमर्हसि ।
येनाभिगुप्ताः संग्रामे जयेमासुहृदो वयम् ॥ ६ ॥

'नरेश्वर! तुम किसीको सेनापति बनाकर शत्रुओंके साथ युद्ध करो, जिससे सुरक्षित होकर हमलोग विपक्षियोंपर विजय प्राप्त करें' ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः स्थित्वा रथे रथवरोत्तमम् ।
सर्वयुद्धविभावज्ञमन्तकप्रतिमं युधि ॥ ७ ॥
स्वङ्गं प्रच्छन्नशिरसं कम्बुग्रीवं प्रियंवदम् ।
व्याकोशपद्मपत्राक्षं व्याघ्रास्यं मेरुगौरवम् ॥ ८ ॥
स्थाणोर्वृषस्य सदृशं स्कन्धनेत्रगतिस्वरैः ।
पुष्टश्लिष्टायतभुजं सुविस्तीर्णवरोरसम् ॥ ९ ॥
बले जवे च सदृशमरुणानुजवातयोः ।
आदित्यस्यार्चिषा तुल्यं बुद्ध्या चोशनसा समम् १०
कान्तिरूपमुखैश्वर्यैस्त्रिभिश्चन्द्रमसा समम् ।
काञ्चनोपलसंघातैः सदृशं श्लिष्टसंधिकम् ॥ ११ ॥
सुवृत्तोरुकटीजङ्घं सुपादं स्वङ्गुलीनखम् ।
स्मृत्वा स्मृत्वैव तु गुणान् धात्रा यत्नाद् विनिर्मितम् १२
सर्वलक्षणसम्पन्नं निपुणं श्रुतिसागरम् ।
जेतारं तरसारीणामजेयमरिभिर्बलात् ॥ १३ ॥
दशाङ्गं यश्चतुष्पादमिष्वस्त्रं वेद तत्त्वतः ।
साङ्गांस्तु चतुरो वेदान् सम्यगाख्यानपञ्चमान् ।१४।
आराध्य त्र्यम्बकं यत्नाद् व्रतैरुग्रैर्महातपाः ।
अयोनिजायामुत्पन्नो द्रोणेनायोनिजेन यः ॥ १५ ॥
तमप्रतिमकर्माणं रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
पारगं सर्वविद्यानां गुणार्णवमनिन्दितम् ॥ १६ ॥

तमभ्येत्यात्मजस्तुभ्यमश्वत्थामानमब्रवीत् ।

राजन् ! तब आपका पुत्र दुर्योधन रथपर बैठकर अश्वत्थामाके निकट गया । अश्वत्थामा महारथियोंमें श्रेष्ठ, युद्धविषयक सभी विभिन्न भावोंका ज्ञाता और युद्धमें यमराजके समान भयंकर है । उसके अङ्ग सुन्दर हैं, मस्तक केशोंसे आच्छादित है और कण्ठ शङ्खके समान सुशोभित होता है । वह प्रिय वचन बोलनेवाला है । उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर और मुख व्याघ्रके समान भयंकर है । उसमें मेरुपर्वतकी-सी गुरुता है । स्कन्ध, नेत्र, गति और स्वरमें वह भगवान् शङ्करके वाहन वृषभके समान है । उसकी भुजाएँ पुष्ट, सुगठित एवं विशाल हैं । वक्षःस्थलका उत्तमभाग भी सुविस्तृत है । वह बल और वेगमें गरुड़ एवं वायुकी बराबरी करनेवाला है । तेजमें सूर्य और बुद्धिमें शुक्राचार्यके समान है । कान्ति, रूप तथा मुखकी शोभा—इन तीन गुणोंमें वह चन्द्रमाके तुल्य है । उसका शरीर सुवर्णमय प्रस्तरसमूहके समान सुशोभित होता है । अङ्गोंका जोड़ या संधिस्थान भी सुगठित है । ऊरु, कटिप्रदेश और पिण्डलियाँ—ये सुन्दर और गोल हैं । उसके दोनों चरण मनोहर हैं । अङ्गुलियाँ और नख भी सुन्दर हैं, मानो विधाताने उत्तम गुणोंका बारंबार स्मरण करके बड़े यत्नसे उसके अङ्गोंका निर्माण किया हो । वह समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, समस्त कार्योंमें कुशल और वेदविद्याका समुद्र है । अश्वत्थामा शत्रुओंपर वेगपूर्वक विजय पानेमें समर्थ है । परंतु शत्रुओंके लिये बलपूर्वक उसके ऊपर विजय पाना असम्भव है । वह दसों[1] अङ्गोंसे युक्त चारों[2] चरणोंवाले धनुर्वेदको ठीक-ठीक जानता है । छहों अङ्गोंसहित चार वेदों और इतिहास-पुराणस्वरूप पञ्चम वेदका भी अच्छा ज्ञाता है । महातपस्वी अश्वत्थामाको उसके पिता अयोनिज द्रोणाचार्यने बड़े यत्नसे कठोर व्रतोंद्वारा तीन नेत्रोंवाले भगवान् शङ्करकी आराधना करके अयोनिजा कृपीके गर्भसे उत्पन्न किया था । उसके कर्मोंकी कहीं तुलना नहीं है । इस भूतलपर वह अनुपम रूप-सौन्दर्यसे युक्त है । सम्पूर्ण विद्याओंका पारङ्गत विद्वान् और गुणोंका महासागर है । उस अनिन्दित अश्वत्थामाके निकट जाकर आपके पुत्र दुर्योधनने इस प्रकार कहा—॥ ७–१६½ ॥

यं पुरस्कृत्य सहिता युधि जेष्याम पाण्डवान् ॥ १७ ॥
गुरुपुत्रोऽद्य सर्वेषामस्माकं परमा गतिः ।
भवांस्तस्मान्नियोगात्ते कोऽस्तु सेनापतिर्मम ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! तुम हमारे गुरुपुत्र हो और इस समय तुम्हीं हमारे सबसे बड़े सहारे हो । अतः मैं तुम्हारी आज्ञासे सेनापतिका निर्वाचन करना चाहता हूँ । बताओ, अब कौन मेरा सेनापति हो, जिसे आगे रखकर हम सब लोग एक साथ हो युद्धमें पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करें ?' ॥ १७-१८ ॥

द्रौणिरुवाच

अयं कुलेन रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सर्वैर्गुणैः समुदितः शल्यो नोऽस्तु चमूपतिः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामाने कहा—ये राजा शल्य उत्तम कुल, सुन्दर रूप, तेज, यश, श्री एवं समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, अतः ये ही हमारे सेनापति हों ॥ १९ ॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा कृतज्ञोऽस्मानुपागतः ।
महासेनो महाबाहुर्महासेन इवापरः ॥ २० ॥

ये ऐसे कृतज्ञ हैं कि अपने सगे भानजोंको भी छोड़कर हमारे पक्षमें आ गये हैं । ये महाबाहु शल्य दूसरे महासेन (कार्तिकेय) के समान महती सेनासे सम्पन्न हैं ॥ २० ॥

एनं सेनापतिं कृत्वा नृपतिं नृपसत्तम ।
शक्यः प्राप्तुं जयोऽस्माभिर्देवैः स्कन्दमिवाजितम् २१

नृपश्रेष्ठ ! जैसे देवताओंने किसीसे पराजित न होनेवाले स्कन्दको सेनापति बनाकर असुरोंपर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार हमलोग भी इन राजा शल्यको सेनापति बनाकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं ॥ २१ ॥

तथोक्ते द्रोणपुत्रेण सर्व एव नराधिपाः ।
परिवार्य स्थिताः शल्यं जयशब्दांश्च चक्रिरे ॥ २२ ॥
युद्धाय च मतिं चक्रुरावेशं च परं ययुः ।

द्रोणपुत्रके ऐसा कहनेपर सभी नरेश राजा शल्यको घेरकर खड़े हो गये और उनकी जय-जयकार करने लगे । उन्होंने युद्धके लिये पूर्ण निश्चय कर लिया और वे अत्यन्त आवेशमें भर गये ॥ २२½ ॥

ततो दुर्योधनो भूमौ स्थित्वा रथवरे स्थितम् ॥ २३ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा द्रोणभीष्मसमं रणे ।
अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ॥ २४ ॥
यत्र मित्रममित्रं वा परीक्षन्ते बुधा जनाः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने भूमिपर खड़ा हो रथपर बैठे हुए रणभूमिमें द्रोण और भीष्मके समान पराक्रमी राजा शल्यसे हाथ जोड़कर कहा—'मित्रवत्सल ! आज आपके मित्रोंके सामने वह समय आ गया है जब कि विद्वान् पुरुष शत्रु या मित्रकी परीक्षा करते हैं ॥ २३-२४½ ॥

स भवानस्तु नः शूरः प्रणेता वाहिनीमुखे ॥ २५ ॥
रणं याते च भवति पाण्डवा मन्दचेतसः ।
भविष्यन्ति सहामात्याः पञ्चालाश्च निरुद्यमाः ॥ २६ ॥

'आप हमारे शूरवीर सेनापति होकर सेनाके मुहानेपर खड़े हों । रणभूमिमें आपके जाते ही मन्दबुद्धि पाण्डव और पाञ्चाल अपने मन्त्रियोंसहित उद्योगशून्य हो जायँगे' ॥ २५-२६ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा शल्यो मद्राधिपस्तदा ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो राजानं राजसंनिधौ ॥ २७ ॥

---

१. धनुर्वेदके दस अङ्ग इस प्रकार हैं—व्रत, प्राप्ति, धृति, पुष्टि, स्मृति, क्षेप, शत्रुभेदन, चिकित्सा, उद्दीपन और कृष्टि ।

२. दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा और इसका साधन—ये धनुर्वेदके चार चरण कहे गये हैं ।

उस समय वचनके रहस्यको जाननेवाले मद्रदेशके स्वामी राजा शल्य दुर्योधनके वचन सुनकर समस्त राजाओंके सम्मुख राजा दुर्योधनसे यह वचन बोले ॥ २७ ॥

शल्य उवाच

यत्तु मां मन्यसे राजन् कुरुराज करोमि तत् ।
त्वत्प्रियार्थं हि मे सर्वं प्राणा राज्यं धनानि च ॥ २८ ॥

शल्य बोले—राजन् ! कुरुराज ! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, मैं उसे पूर्ण करूँगा; क्योंकि मेरे प्राण, राज्य और धन सब तुम्हारा प्रिय करनेके लिये ही हैं ॥ २८ ॥

दुर्योधन उवाच

सैनापत्येन वरये त्वामहं मातुलातुलम् ।
सोऽस्मान् पाहि युधां श्रेष्ठ स्कन्दो देवानिवाहवे ॥ २९ ॥

दुर्योधनने कहा—योद्धाओंमें श्रेष्ठ मामाजी ! आप अनुपम वीर हैं । अतः मैं सेनापति-पद ग्रहण करनेके लिये आपका वरण करता हूँ । जैसे स्कन्दने युद्धस्थलमें देवताओंकी रक्षा की थी, उसी प्रकार आप हमलोगोंका पालन कीजिये ॥

अभिषिच्यस्व राजेन्द्र देवानामिव पावकिः ।
जहि शत्रून् रणे वीर महेन्द्रो दानवानिव ॥ ३० ॥

राजाधिराज ! वीर ! जैसे स्कन्दने देवताओंका सेनापतित्व स्वीकार किया था, उसी प्रकार आप भी हमारे सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक कराइये तथा दानवोंका वध करनेवाले देवराज इन्द्रके समान रणभूमिमें हमारे शत्रुओंका संहार कीजिये ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यदुर्योधनसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्य और दुर्योधनका संवादविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

राजा शल्यके वीरोचित उद्गार तथा श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको शल्यवधके लिये उत्साहित करना

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो मद्रराजः प्रतापवान् ।
दुर्योधनं तदा राजन् वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रतापी मद्रराज शल्यने उससे इस प्रकार कहा—॥

दुर्योधन महाबाहो शृणु वाक्यविदां वर ।
यावेतौ मन्यसे कृष्णौ रथस्थौ रथिनां वरौ ॥ २ ॥
न मे तुल्यावुभावेतौ बाहुवीर्ये कथंचन ।

'वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महाबाहु दुर्योधन ! तुम रथपर बैठे हुए जिन दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथियोंमें श्रेष्ठ समझते हो, ये दोनों बाहुबलमें किसी प्रकार मेरे समान नहीं हैं ॥ २½ ॥

उद्यतां पृथिवीं सर्वां ससुरासुरमानवाम् ॥ ३ ॥
योधयेयं रणमुखे संक्रुद्धः किमु पाण्डवान् ।

'मैं युद्धके मुहानेपर कुपित हो अपने सामने युद्धके लिये आये हुए देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सारे भूमण्डलके साथ युद्ध कर सकता हूँ । फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३½ ॥

विजेष्यामि रणे पार्थान् सोमकांश्च समागतान् ॥ ४ ॥
अहं सेनाप्रणेता ते भविष्यामि न संशयः ।
तं च व्यूहं विधास्यामि न तरिष्यन्ति यं परे ॥ ५ ॥
इति सत्यं ब्रवीम्येष दुर्योधन न संशयः ।

'मैं रणभूमिमें कुन्तीके सभी पुत्रों और सामने आये हुए सोमकोंपर भी विजय प्राप्त कर लूँगा । इसमें भी संदेह नहीं कि मैं तुम्हारा सेनापति होऊँगा और ऐसे व्यूहका निर्माण करूँगा, जिसे शत्रु लाँघ नहीं सकेंगे । दुर्योधन ! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ४-५½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजा मद्राधिपतिमञ्जसा ॥ ६ ॥
अभ्यषिञ्चत सेनाया मध्ये भरतसत्तम ।
विधिना शास्त्रदृष्टेन क्लिष्टरूपो विशाम्पते ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रजानाथ ! उनके ऐसा कहनेपर क्लेशसे दबे हुए राजा दुर्योधनने शास्त्रीय विधिके अनुसार सेनाके मध्यभागमें मद्रराज शल्यका सेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ ६-७ ॥

अभिषिक्ते ततस्तस्मिन् सिंहनादो महानभूत् ।
तव सैन्येऽभ्यवाद्यन्त वादित्राणि च भारत ॥ ८ ॥

भारत ! उनका अभिषेक हो जानेपर आपकी सेनामें बड़े जोरसे सिंहनाद होने लगा और भाँति-भाँतिके बाजे बज उठे ॥

हृष्टाश्चासंस्तथा योधा मद्रकाश्च महारथाः ।
तुष्टुवुश्चैव राजानं शल्यमाहवशोभिनम् ॥ ९ ॥

मद्रदेशके महारथी योद्धा हर्षमें भर गये और संग्राममें शोभा पानेवाले राजा शल्यकी स्तुति करने लगे—॥ ९ ॥

जय राजंश्चिरञ्जीव जहि शत्रून् समागतान् ।
तव बाहुबलं प्राप्य धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ १० ॥
निखिलाः पृथिवीं सर्वां प्रशासन्तु हतद्विषः ।

'राजन्! आप चिरंजीवी हों । सामने आये हुए शत्रुओंका संहार कर डालें । आपके बाहुबलको पाकर धृतराष्ट्रके सभी महाबली पुत्र शत्रुओंका नाश करके सारी पृथ्वीका शासन करें ॥ १०½ ॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं ससुरासुरमानवान् ॥ ११ ॥
मर्त्यधर्माण इह तु किमु सृञ्जयसोमकान् ।

'आप रणभूमिमें सम्पूर्ण देवताओं, असुरों और मनुष्योंको जीत सकते हैं । फिर यहाँ मरणधर्मा सृंजयों और सोमकोंपर विजय पाना कौन बड़ी बात है?' ॥ ११½ ॥

शल्यका कौरवोंके सेनापति-पदपर अभिषेक

एवं सम्पूज्यमानस्तु मद्राणामधिपो बली ॥ १२ ॥
हर्षं प्राप तदा वीरो दुरापमकृतात्मभिः ।

उनके द्वारा इस प्रकार प्रशंसित होनेपर बलवान् वीर मद्रराज शल्यको वह हर्ष प्राप्त हुआ, जो अकृतात्मा (युद्धकी शिक्षासे रहित) पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ॥ १२½ ॥

शल्य उवाच

अद्य चाहं रणे सर्वान् पञ्चालान् सह पाण्डवैः ॥१३॥
निहनिष्यामि वा राजन् स्वर्गं यास्यामि वा हतः।

शल्यने कहा—राजन् ! आज मैं रणभूमिमें पाण्डवों-सहित समस्त पाञ्चालोंको मार डालूँगा या स्वयं ही मारा जाकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचूँगा ॥ १३½ ॥

अद्य पश्यन्तु मां लोका विचरन्तमभीतवत् ॥ १४ ॥
अद्य पाण्डुसुताः सर्वे वासुदेवः ससात्यकिः ।
पञ्चालाश्चेदयश्चैव द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सर्वे चापि प्रभद्रकाः ।
विक्रमं मम पश्यन्तु धनुषश्च महद् बलम् ॥ १६ ॥

आज सब लोग मुझे रणभूमिमें निर्भय विचरते देखें, आज समस्त पाण्डव, श्रीकृष्ण, सात्यकि, पाञ्चाल और चेदि-देशके योद्धा, द्रौपदीके सभी पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा समस्त प्रभद्रकगण मेरा पराक्रम तथा मेरे धनुषका महान् बल अपनी आँखों देख लें ॥ १४–१६ ॥

लाघवं चास्त्रवीर्यं च भुजयोश्च बलं युधि ।
अद्य पश्यन्तु मे पार्थाः सिद्धाश्च सह चारणैः ॥ १७ ॥
यादृशं मे बलं बाह्वोः सम्पदस्त्रेषु या च मे ।
अद्य मे विक्रमं दृष्ट्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ १८ ॥
प्रतीकारपरा भूत्वा चेष्टन्तां विविधाः क्रियाः ।

आज कुन्तीके सभी पुत्र तथा चारणोंसहित सिद्धगण भी युद्धमें मेरी फुर्ती, अस्त्र-बल और बाहुबलको देखें । मेरी दोनों भुजाओंमें जैसा बल है तथा अस्त्रोंका मुझे जैसा ज्ञान है, उसके अनुसार आज मेरा पराक्रम देखकर पाण्डव महारथी उसके प्रतीकारमें तत्पर हो नाना प्रकारके कार्योंके लिये सचेष्ट हों ॥ १७-१८½ ॥

अद्य सैन्यानि पाण्डूनां द्रावयिष्ये समन्ततः ॥ १९ ॥
द्रोणभीष्मावति विभो सूतपुत्रं च संयुगे ।
विचरिष्ये रणे युध्यन् प्रियार्थं तव कौरव ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! आज मैं पाण्डवोंकी सेनाओंको चारों ओर भगा दूँगा । प्रभो ! युद्धस्थलमें तुम्हारा प्रिय करनेके लिये आज मैं द्रोणाचार्य, भीष्म तथा सूतपुत्र कर्णसे भी बढ़कर पराक्रम दिखाता और जूझता हुआ रणभूमिमें सब ओर विचरण करूँगा ॥ १९-२० ॥

संजय उवाच

अभिषिक्ते तथा शल्ये तव सैन्येषु मानद ।
न कर्णव्यसनं किंचिन्मेनिरे तत्र भारत ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—मानद ! भरतनन्दन ! इस प्रकार आपकी सेनाओंमें राजा शल्यका अभिषेक होनेपर समस्त योद्धाओंको कर्णके मारे जानेका थोड़ा-सा भी दुःख नहीं रह गया ॥ २१ ॥

हृष्टाः सुमनसश्चैव बभूवुस्तत्र सैनिकाः ।
मेनिरे निहतान् पार्थान् मद्रराजवशं गतान् ॥ २२ ॥

वे सब-के-सब प्रसन्नचित्त होकर हर्षसे भर गये और यह मानने लगे कि कुन्तीके पुत्र मद्रराज शल्यके वशमें पड़कर अवश्य ही मारे जायँगे ॥ २२ ॥

प्रहर्षं प्राप्य सेना तु तावकी भरतर्षभ ।
तां रात्रिमुषिता सुप्ता हर्षचित्ता च साभवत् ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपकी सेना महान् हर्ष पाकर उस रातमें वहीं रही और सो गयी । उसके मनमें बड़ा उत्साह था ॥ २३ ॥

सैन्यस्य तव तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् वाक्यं सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥ २४ ॥

उस समय आपकी सेनाका वह महान् हर्षनाद सुनकर राजा युधिष्ठिरने समस्त क्षत्रियोंके सामने ही भगवान् श्रीकृष्ण-से कहा— ॥ २४ ॥

मद्रराजः कृतः शल्यो धार्तराष्ट्रेण माधव ।
सेनापतिर्महेष्वासः सर्वसैन्येषु पूजितः ॥ २५ ॥

'माधव ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने समस्त सेनाओंद्वारा सम्मानित महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको सेनापति बनाया है ॥

एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं कुरु माधव यत्क्षमम् ।
भवान् नेता च गोप्ता च विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २६ ॥

'माधव ! यह यथार्थ रूपसे जानकर आप जो उचित हो वैसा करें; क्योंकि आप ही हमारे नेता और संरक्षक हैं । इसलिये अब जो कार्य आवश्यक हो, उसका सम्पादन कीजिये' ॥

तमब्रवीन्महाराज वासुदेवो जनाधिपम् ।
आर्तायनिमहं जाने यथातत्त्वेन भारत ॥ २७ ॥

महाराज ! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजासे कहा—'भारत ! मैं ऋतायनकुमार राजा शल्यको अच्छी तरह जानता हूँ ॥ २७ ॥

वीर्यवांश्च महातेजा महात्मा च विशेषतः ।
कृती च चित्रयोधी च संयुक्तो लाघवेन च ॥ २८ ॥

'वे बलशाली, महातेजस्वी, महामनस्वी, विद्वान्, विचित्र युद्ध करनेवाले और शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करने-वाले हैं ॥ २८ ॥

यादृग् भीष्मस्तथा द्रोणो यादृक् कर्णश्च संयुगे ।
तादृशस्तद्विशिष्टो वा मद्रराजो मतो मम ॥ २९ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य और कर्ण—ये सब लोग युद्धमें जैसे पराक्रमी थे, वैसे ही या उनसे भी बढ़कर पराक्रमी मैं मद्रराज शल्यको मानता हूँ ॥ २९ ॥

युद्ध्यमानस्य तस्याहं चिन्तयानश्च भारत ।
योद्धारं नाधिगच्छामि तुल्यरूपं जनाधिप ॥ ३० ॥

'भारत ! नरेश्वर ! मैं बहुत सोचनेपर भी युद्धपरायण शल्यके अनुरूप दूसरे किसी योद्धाको नहीं पा रहा हूँ ॥३०॥

शिखण्ड्यर्जुनभीमानां सात्वतस्य च भारत ।

धृष्टद्युम्नस्य च तथा बलेनाभ्यधिको रणे ॥ ३१ ॥

'भरतनन्दन ! शिखण्डी, अर्जुन, भीम, सात्यकि और धृष्टद्युम्नसे भी वे रणभूमिमें अधिक बलशाली हैं ॥ ३१ ॥

मद्रराजो महाराज सिंहद्विरदविक्रमः ।
विचरिष्यत्यभीः काले कालः क्रुद्धः प्रजास्विव ॥ ३२ ॥

'महाराज ! सिंह और हाथीके समान पराक्रमी मद्रराज शल्य प्रलयकालमें प्रजापर कुपित हुए कालके समान निर्भय होकर रणभूमिमें विचरेंगे ॥ ३२ ॥

तस्याद्य न प्रपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३३ ॥

'पुरुषसिंह ! आपका पराक्रम सिंहके समान है । आज आपके सिवा युद्धस्थलमें दूसरेको ऐसा नहीं देखता, जो शल्यके सम्मुख होकर युद्ध कर सके ॥ ३३ ॥

सदेवलोके कृत्स्नेऽस्मिन् नान्यस्त्वत्तः पुमान् भवेत् ।
मद्रराजं रणे क्रुद्धं यो हन्यात् कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

'कुरुनन्दन ! देवताओंसहित इस सम्पूर्ण जगत्में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो रणमें कुपित हुए मद्रराज शल्यको मार सके ॥ ३४ ॥

अहन्यहनि युध्यन्तं क्षोभयन्तं बलं तव ।
तस्माज्जहि रणे शल्यं मघवानिव शम्बरम् ॥ ३५ ॥

'इसलिये प्रतिदिन समराङ्गणमें जूझते और आपकी सेनाको विक्षुब्ध करते हुए राजा शल्यको युद्धमें आप उसी प्रकार मार डालिये, जैसे इन्द्रने शम्बरासुरका वध किया था ॥ ३५ ॥

अजेयश्चाप्यसौ वीरो धार्तराष्ट्रेण सत्कृतः ।
तवैव हि जयो नूनं हते मद्रेश्वरे युधि ॥ ३६ ॥

'वीर शल्य अजेय हैं । दुर्योधनने उनका बड़ा सम्मान किया है । युद्धमें मद्रराजके मारे जानेपर निश्चय आपकी ही जीत होगी ॥ ३६ ॥

तस्मिन् हते हतं सर्वं धार्तराष्ट्रबलं महत् ।
एतच्छ्रुत्वा महाराज वचनं मम साम्प्रतम् ॥ ३७ ॥
प्रत्युद्याहि रणे पार्थ मद्रराजं महारथम् ।
जहि चैनं महाबाहो वासवो नमुचिं यथा ॥ ३८ ॥

'महाराज ! कुन्तीकुमार ! उनके मारे जानेपर आप समझ लें कि दुर्योधनकी सारी विशाल सेना ही मार डाली गयी । इस समय मेरी इस बातको सुनकर महारथी मद्रराजपर चढ़ाई कीजिये और महाबाहो ! जैसे इन्द्रने नमुचिका वध किया था, उसी प्रकार आप भी उन्हें मार डालिये ॥ ३७-३८ ॥

न चैवात्र दया कार्या मातुलोऽयं ममेति वै ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य जहि मद्रजनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

'ये मेरे मामा हैं' ऐसा समझकर आपको उनपर दया नहीं करनी चाहिये । आप क्षत्रियधर्मको सामने रखते हुए मद्रराज शल्यको मार डालें ॥ ३९ ॥

द्रोणभीष्मार्णवं तीर्त्वा कर्णपातालसम्भवम् ।
मा निमज्जस्व सगणः शल्यमासाद्य गोष्पदम् ॥ ४० ॥

'भीष्म, द्रोण और कर्णरूपी महासागरको पार करके आप अपने सेवकोंसहित शल्यरूपी गायकी खुरीमें न डूब जाइये ॥ ४० ॥

यच्च ते तपसो वीर्यं यच्च क्षात्रं बलं तव ।
तद् दर्शय रणे सर्वं जहि चैनं महारथम् ॥ ४१ ॥

'राजन् ! आपका जो तपोबल और क्षात्रबल है, वह सब रणभूमिमें दिखाइये और इन महारथी शल्यको मार डालिये' ॥

एतावदुक्त्वा वचनं केशवः परवीरहा ।
जगाम शिबिरं सायं पूज्यमानोऽथ पाण्डवैः ॥ ४२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यह बात कहकर सायंकाल पाण्डवोंसे सम्मानित हो अपने शिबिरमें चले गये ॥ ४२ ॥

केशवे तु तदा याते धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विसृज्य सर्वान् भ्रातॄंश्च पञ्चालानथ सोमकान् ॥ ४३ ॥
सुष्वाप रजनीं तां तु विशल्य इव कुञ्जरः ।

श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अपने सब भाइयों तथा पाञ्चालों और सोमकोंको भी विदा करके रातमें अङ्कुशरहित हाथीके समान शयन किया ॥ ४३½ ॥

ते च सर्वे महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवास्तथा ॥ ४४ ॥
कर्णस्य निधने हृष्टाः सुषुपुस्तां निशां तदा ।

वे सभी महाधनुर्धर पाञ्चाल और पाण्डव-योद्धा कर्णके मारे जानेसे हर्षमें भरकर रात्रिमें सुखकी नींद सोये ॥ ४४½ ॥

गतज्वरं महेष्वासं तीर्णपारं महारथम् ॥ ४५ ॥
बभूव पाण्डवेयानां सैन्यं च मुदितं नृप ।
सूतपुत्रस्य निधने जयं लब्ध्वा च मारिष ॥ ४६ ॥

माननीय नरेश ! सूतपुत्र कर्णके मारे जानेसे विजय पाकर महान् धनुष एवं विशाल रथोंसे सुशोभित पाण्डव-सेना बहुत प्रसन्न हुई थी, मानो वह युद्धसे पार होकर निश्चिन्त हो गयी हो ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यसैनापत्याभिषेके सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका सेनापतिके पदपर अभिषेकविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका समराङ्गणमें उपस्थित होना एवं बची हुई दोनों सेनाओंकी संख्याका वर्णन

संजय उवाच

व्यतीतायां रजन्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् संनह्यन्तां महारथाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—जब रात व्यतीत हो गयी, तब राजा दुर्योधनने आपके समस्त सैनिकोंसे कहा—'महारथीगण कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो जायँ' ॥ १ ॥

राज्ञश्च मतमाज्ञाय समनह्यत सा चमूः।
अयोजयन् रथांस्तूर्णं पर्यधावंस्तथा परे ॥ २ ॥
अकल्प्यन्त च मातङ्गाः समनह्यन्त पत्तयः।
रथानास्तरणोपेतांश्चक्रुरन्ये सहस्रशः ॥ ३ ॥

राजाका यह अभिप्राय जानकर सारी सेना युद्धके लिये सुसज्जित होने लगी। कुछ लोगोंने तुरंत ही रथ जोत दिये। दूसरे चारों ओर दौड़ने लगे। हाथी सुसज्जित किये जाने लगे। पैदल सैनिक कवच बाँधने लगे तथा अन्य सहस्रों सैनिकोंने रथोंपर आवरण डाल दिये ॥ २-३ ॥

वादित्राणां च निनदः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
आयोधनार्थं योधानां बलानां चाप्युदीर्यताम् ॥ ४ ॥

प्रजानाथ! उस समय सब ओरसे भाँति-भाँतिके बाद्योंकी गम्भीर ध्वनि प्रकट होने लगी। युद्धके लिये उद्यत योद्धाओं और आगे बढ़ती हुई सेनाओंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ४ ॥

ततो बलानि सर्वाणि हतशिष्टानि भारत।
प्रस्थितानि व्यदृश्यन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ५ ॥

भारत! तत्पश्चात् मरनेसे बची हुई सारी सेनाएँ मृत्युको ही युद्धसे लौटनेका निमित्त बनाकर प्रस्थान करती दिखायी दीं ॥ ५ ॥

शल्यं सेनापतिं कृत्वा मद्रराजं महारथाः।
प्रविभज्य बलं सर्वमनीकेषु व्यवस्थिताः ॥ ६ ॥

समस्त महारथी मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर और सारी सेनाको अनेक भागोंमें विभक्त करके भिन्न-भिन्न दलोंमें खड़े हुए ॥ ६ ॥

ततः सर्वे समागम्य पुत्रेण तव सैनिकाः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिः शल्योऽथ सौबलः ॥ ७ ॥
अन्ये च पार्थिवाः शेषाः समयं चक्रुराद‍ृताः।

तदनन्तर आपके सम्पूर्ण सैनिक कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, शल्य, शकुनि तथा बचे हुए अन्य नरेशोंने राजा दुर्योधनसे मिलकर आदरपूर्वक यह नियम बनाया—॥ ७½ ॥

न न एकेन योद्धव्यं कथञ्चिदपि पाण्डवैः ॥ ८ ॥
यो ह्येकः पाण्डवैर्युध्येद् यो वा युध्यन्तमुत्सृजेत्।
स पञ्चभिर्भवेद् युक्तः पातकैश्चोपपातकैः ॥ ९ ॥

'हमलोगोंमेंसे कोई एक योद्धा अकेला रहकर किसी तरह भी पाण्डवोंके साथ युद्ध न करे। जो अकेला ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा अथवा जो पाण्डवोंके साथ जूझते हुए वीरको अकेला छोड़ देगा, वह पाँच पातकों और उपपातकोंसे युक्त होगा ॥ ८-९ ॥

(अद्याचार्यसुतो द्रौणिर्नैको युध्येत शत्रुभिः।)
अन्योन्यं परिरक्षद्भिर्योद्धव्यं सहितैश्च ह।
एवं ते समयं कृत्वा सर्वे तत्र महारथाः ॥ १० ॥
मद्रराजं पुरस्कृत्य तूर्णमभ्यद्रवन् परान्।

'आज आचार्यपुत्र अश्वत्थामा शत्रुओंके साथ अकेले युद्ध न करें। हम सब लोगोंको एक साथ होकर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए युद्ध करना चाहिये। ऐसा नियम बनाकर वे सब महारथी मद्रराज शल्यको आगे करके तुरंत ही शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ १०½ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् व्यूह्य सैन्यं महारणे ॥ ११ ॥
अभ्ययुः कौरवान् राजन् योत्स्यमानाः समन्ततः।

राजन्! इसी प्रकार उस महासमरमें पाण्डव भी अपनी सेनाका व्यूह बनाकर सब ओरसे युद्धके लिये उद्यत हो कौरवोंपर चढ़ आये ॥ ११½ ॥

तद् बलं भरतश्रेष्ठ क्षुब्धार्णवसमस्वनम् ॥ १२ ॥
समुद्धतार्णवाकारमुद्धूतरथकुञ्जरम्।

भरतश्रेष्ठ! वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान कोलाहल कर रही थी। उसके रथ और हाथी बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे थे, मानो किसी महासमुद्रमें ज्वार उठ रहा हो। १२½।

धृतराष्ट्र उवाच

द्रोणस्य चैव भीष्मस्य राधेयस्य च मे श्रुतम् ॥ १३ ॥
पातनं शंस मे भूयः शल्यस्याथ सुतस्य मे।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैंने द्रोणाचार्य, भीष्म तथा राधापुत्र कर्णके वधका सारा वृत्तान्त सुन लिया है। अब पुनः मुझे शल्य तथा मेरे पुत्र दुर्योधनके मारे जानेका सारा समाचार कह सुनाओ ॥ १३½ ॥

कथं रणे हतः शल्यो धर्मराजेन संजय ॥ १४ ॥
भीमेन च महाबाहुः पुत्रो दुर्योधनो मम।

संजय! रणभूमिमें राजा शल्य धर्मराजके द्वारा कैसे मारे गये तथा भीमसेनने मेरे महाबाहु पुत्र दुर्योधनका वध कैसे किया? ॥ १४½ ॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां तथा नागाश्वसंक्षयम् ॥ १५ ॥
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा संग्रामं शंसतो मम।

संजयने कहा—राजन्! जहाँ हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंका महान् संहार हुआ था, उस संग्रामका मैं वर्णन करता हूँ; आप सुस्थिर होकर सुनिये ॥ १५½ ॥

आशा बलवती राजन् पुत्राणां तेऽभवत्तदा ॥ १६ ॥
हते द्रोणे च भीष्मे च सूतपुत्रे च पातिते।
शल्यः पार्थान् रणे सर्वान् निहनिष्यति मारिष ॥ १७ ॥

माननीय नरेश! द्रोणाचार्य, भीष्म तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके पुत्रोंके मनमें यह प्रबल आशा हो गयी कि शल्य रणभूमिमें सम्पूर्ण कुन्तीकुमारोंका वध कर डालेंगे ॥ १६-१७ ॥

तामाशां हृदये कृत्वा समाश्वस्य च भारत।
मद्रराजं च समरे समाश्रित्य महारथम् ॥ १८ ॥
नाथवन्तं तदाऽऽत्मानममन्यन्त सुतास्तव।

भारत! उसी आशाको हृदयमें रखकर आपके पुत्रोंको कुछ आश्वासन मिला और वे समराङ्गणमें महारथी मद्रराज शल्यका आश्रय ले अपने-आपको सनाथ मानने लगे ॥ १८½ ॥

यदा कर्णे हते पार्थाः सिंहनादं प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥

तदा तु तावकान् राजन्नाविवेश महद् भयम् ।

राजन् ! कर्णके मारे जानेसे प्रसन्न हुए कुन्तीके पुत्र जब सिंहनाद करने लगे, उस समय आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ १९½ ॥

तान् समाश्वास्य योधांस्तु मद्रराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
व्यूह्य व्यूहं महाराज सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ।
प्रत्युद्ययौ रणे पार्थान् मद्रराजः प्रतापवान् ॥ २१ ॥
विधुन्वन् कार्मुकं चित्रं भारघ्नं वेगवत्तरम् ।
रथप्रवरमास्थाय सैन्धवाश्वं महारथः ॥ २२ ॥

महाराज ! तब प्रतापी महारथी मद्रराज शल्यने उन योद्धाओंको आश्वासन दे समृद्धिशाली सर्वतोभद्रनामक व्यूह बनाकर भारनाशक, अत्यन्त वेगशाली और विचित्र धनुषको कँपाते हुए सिंधी घोड़ोंसे युक्त श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो पाण्डवों-पर आक्रमण किया ॥ २०–२२ ॥

तस्य सूतो महाराज रथस्थोऽशोभयद् रथम् ।
स तेन संवृतो वीरो रथेनामित्रकर्षणः ॥ २३ ॥
तस्थौ शूरो महाराज पुत्राणां ते भयप्रणुत् ।

राजाधिराज ! शल्यके रथपर बैठा हुआ उनका सारथि उस रथकी शोभा बढ़ा रहा था। उस रथसे घिरे हुए शत्रु-सूदन शूरवीर राजा शल्य आपके पुत्रोंका भय दूर करते हुए युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ २३½ ॥

प्रयाणे मद्रराजोऽभून्मुखं व्यूहस्य दंशितः ॥ २४ ॥
मद्रकैः सहितो वीरैः कर्णपुत्रैश्च दुर्जयैः ।

प्रस्थानकालमें कवचधारी मद्रराज शल्य उस सैन्यव्यूहके मुखस्थानमें थे। उनके साथ मद्रदेशीय वीर तथा कर्णके दुर्जय पुत्र भी थे ॥ २४½ ॥

सव्येऽभूत् कृतवर्मा च त्रिगर्तैः परिवारितः ॥ २५ ॥
गौतमो दक्षिणे पार्श्वे शकैश्च यवनैः सह ।
अश्वत्थामा पृष्ठतोऽभूत् काम्बोजैः परिवारितः ॥ २६ ॥

व्यूहके वामभागमें त्रिगर्तोंसे घिरा हुआ कृतवर्मा खड़ा था। दक्षिण पार्श्वमें शकों और यवनोंकी सेनाके साथ कृपाचार्य थे और पृष्ठभागमें काम्बोजोंसे घिरकर अश्वत्थामा खड़ा था ॥ २५-२६ ॥

दुर्योधनोऽभवन्मध्ये रक्षितः कुरुपुङ्गवैः ।
हयानीकेन महता सौबलश्चापि संवृतः ॥ २७ ॥
प्रययौ सर्वसैन्येन कैतव्यश्च महारथः ।

मध्यभागमें कुरुकुलके प्रमुख वीरोंद्वारा सुरक्षित दुर्योधन और घुड़सवारोंकी विशाल सेनासे घिरा हुआ शकुनि भी था। उसके साथ महारथी उलूक भी सम्पूर्ण सेनासहित युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था ॥ २७½ ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा व्यूह्य सैन्यमरिंदमाः ॥ २८ ॥
त्रिधा भूता महाराज तव सैन्यमुपाद्रवन् ।

महाराज ! शत्रुओंका दमन करनेवाले महाधनुर्धर पाण्डव भी सेनाका व्यूह बनाकर तीन भागोंमें विभक्त हो आपकी सेनापर चढ़ आये ॥ २८½ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ॥ २९ ॥
शल्यस्य वाहिनीं हन्तुमभिदुद्रुवुराहवे ।

(उन तीनोंके अध्यक्ष थे—) धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और महारथी सात्यकि। इन लोगोंने युद्धस्थलमें शल्यकी सेनाका वध करनेके लिये उसपर धावा बोल दिया ॥ २९½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वेनानीकेन संवृतः ॥ ३० ॥
शल्यमेवाभिदुद्राव जिघांसुर्भरतर्षभः ।

अपनी सेनासे घिरे हुए भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने शल्य-को मार डालनेकी इच्छासे उनपर ही आक्रमण किया॥३०½॥

हार्दिक्यं च महेष्वासमर्जुनः शत्रुसैन्यहा ॥ ३१ ॥
संशप्तकगणांश्चैव वेगितोऽभिविदुद्रुवे ।

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुनने महाधनुर्धर कृतवर्मा तथा संशप्तकगणोंपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥

गौतमं भीमसेनो वै सोमकाश्च महारथाः ॥ ३२ ॥
अभ्यद्रवन्त राजेन्द्र जिघांसन्तः परान् युधि ।

राजेन्द्र ! भीमसेन और महारथी सोमकगणोंने युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेकी इच्छासे कृपाचार्यपर धावा बोल दिया॥

माद्रीपुत्रौ तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ॥ ३३ ॥
ससैन्यौ सहसैन्यौ तावुपतस्थतुराहवे ।

सेनासहित माद्रीकुमार नकुल और सहदेव युद्धस्थलमें अपनी सेनाके साथ खड़े हुए महारथी शकुनि और उलूकका सामना करनेके लिये उपस्थित थे ॥ ३३½ ॥

तथैवायुतशो योधास्तावकाः पाण्डवान् रणे ॥ ३४ ॥
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धा विविधायुधपाणयः ।

इसी प्रकार रणभूमिमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये क्रोधमें भरे हुए आपके पक्षके दस हजार योद्धा पाण्डवोंका सामना करने लगे ॥ ३४½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हते भीष्मे महेष्वासे द्रोणे कर्णे महारथे ॥ ३५ ॥
कुरुष्वल्पावशिष्टेषु पाण्डवेषु च संयुगे ।
सुसंरब्धेषु पार्थेषु पराक्रान्तेषु संजय ॥ ३६ ॥
मामकानां परेषां च किं शिष्टमभवद् बलम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! महाधनुर्धर भीष्म, द्रोण तथा महारथी कर्णके मारे जानेपर जब युद्धस्थलमें कौरव और पाण्डवयोद्धा थोड़े-से ही बच गये थे और कुन्तीके पुत्र अत्यन्त कुपित होकर पराक्रम दिखाने लगे थे, उस समय मेरे और शत्रुओंके पक्षमें कितनी सेना शेष रह गयी थी ? ॥

संजय उवाच

यथा वयं परे राजन् युद्धाय समुपस्थिताः ॥ ३७ ॥
यावच्चासीद् बलं शिष्टं संग्रामे तन्निबोध मे ।

संजयने कहा—राजन् ! हम और हमारे शत्रु जिस प्रकार युद्धके लिये उपस्थित हुए और उस समय संग्राममें हमलोगोंके पास जितनी सेना शेष रह गयी थी, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ ३७½ ॥

एकादश सहस्राणि रथानां भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

दश दन्तिसहस्राणि सप्त चैव शतानि च ।
पूर्णे शतसहस्रे द्वे हयानां तत्र भारत ॥ ३९ ॥
पत्तिकोट्यस्तथा तिस्रो बलमेतत्तवाभवत् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पक्षमें ग्यारह हजार रथ, दस हजार सात सौ हाथी, दो लाख घोड़े तथा तीन करोड़ पैदल—इतनी सेना शेष रह गयी थी ॥ ३८-३९½ ॥

रथानां षट्सहस्राणि षट्सहस्राश्च कुञ्जराः ॥ ४० ॥
दश चाश्वसहस्राणि पत्तिकोटी च भारत ।
एतद् बलं पाण्डवानामभवच्छेषमाहवे ॥ ४१ ॥

भारत ! उस युद्धमें पाण्डवोंके पास छः हजार रथ, छः हजार हाथी, दस हजार घोड़े और दो करोड़ पैदल—इतनी सेना शेष थी ॥ ४०-४१ ॥

एत एव समाजग्मुर्युद्धाय भरतर्षभ ।
एवं विभज्य राजेन्द्र मद्रराजवशे स्थिताः ॥ ४२ ॥
पाण्डवान् प्रत्युदीयुस्ते जयगृद्धाः प्रमन्यवः ।

भरतश्रेष्ठ ! ये ही सैनिक युद्धके लिये उपस्थित हुए थे। राजेन्द्र ! इस प्रकार सेनाका विभाग करके विजयकी अभिलाषासे क्रोधमें भरे हुए आपके सैनिक मद्रराज शल्यके अधीन हो पाण्डवोंपर चढ़ आये ॥ ४२½ ॥

तथैव पाण्डवाः शूराः समरे जितकाशिनः ॥ ४३ ॥
उपयाता नरव्याघ्राः पञ्चालाश्च यशस्विनः ।

इसी प्रकार समराङ्गणमें विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर पुरुषसिंह पाण्डव और यशस्वी पाञ्चाल वीर आपकी सेनाके समीप आ पहुँचे ॥ ४३½ ॥

इमे ते च बलौघेन परस्परवधैषिणः ॥ ४४ ॥
उपयाता नरव्याघ्राः पूर्वां संध्यां प्रति प्रभो ।

प्रभो ! इस प्रकार परस्पर वधकी इच्छावाले ये और वे पुरुषसिंह योद्धा प्रातःकाल एक दूसरेके निकट आये ॥४४½॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ ४५ ॥

फिर तो परस्पर प्रहार करते हुए आपके और शत्रु-पक्षके सैनिकोंमें अत्यन्त भयानक घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि व्यूहनिर्माणेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें व्यूह-निर्माणविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और कौरव-सेनाका पलायन

संजय उवाच

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां भयवर्धनम् ।
सृंजयैः सह राजेन्द्र घोरं देवासुरोपमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर कौरवोंका सृंजयोंके साथ घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जो देवासुर-संग्राम-के समान भय बढ़ानेवाला था ॥ १ ॥

नरा रथा गजौघाश्च सादिनश्च सहस्रशः ।
वाजिनश्च पराक्रान्ताः समाजग्मुः परस्परम् ॥ २ ॥

पैदल, रथी, हाथीसवार तथा सहस्रों घुड़सवार पराक्रम दिखाते हुए एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २ ॥

गजानां भीमरूपाणां द्रवतां निःस्वनो महान् ।
अश्रूयत यथा काले जलदानां नभस्तले ॥ ३ ॥

जैसे वर्षाकालके आकाशमें मेघोंकी गम्भीर गर्जना होती रहती है, उसी प्रकार रणभूमिमें दौड़ लगाते हुए भीमकाय गजराजोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ३ ॥

नागैरभ्याहताः केचित् सरथा रथिनोऽपतन् ।
व्यद्रवन्त रणे वीरा द्राव्यमाणा मदोत्कटैः ॥ ४ ॥

मदोन्मत्त हाथियोंके आघातसे कितने ही रथी रथसहित धरतीपर लोट गये। बहुत-से वीर उनसे खदेड़े जाकर इधर-उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

हयौघान् पादरक्षांश्च रथिनस्तत्र शिक्षिताः ।
शरैः सम्प्रेषयामासुः परलोकाय भारत ॥ ५ ॥

भारत ! उस युद्धस्थलमें शिक्षाप्राप्त रथियोंने घुड़सवारों तथा पादरक्षकोंको अपने बाणोंसे मारकर यमलोक भेज दिया॥

सादिनः शिक्षिता राजन् परिवार्य महारथान् ।
विचरन्तो रणेऽभ्यघ्नन् प्रासशक्त्यृष्टिभिस्तथा ॥ ६ ॥

राजन् ! रणभूमिमें विचरते हुए बहुत-से सुशिक्षित घुड़सवार बड़े-बड़े रथोंको घेरकर उनपर प्रास, शक्ति तथा ऋष्टियोंका प्रहार करने लगे ॥ ६ ॥

धन्विनः पुरुषाः केचित् परिवार्य महारथान् ।
एकं बहव आसाद्य प्रययुर्यमसादनम् ॥ ७ ॥

कितने ही धनुर्धर पुरुष महारथियोंको घेर लेते और एक-एकपर बहुत-से योद्धा आक्रमण करके उसे यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ७ ॥

नागान् रथवरांश्चान्ये परिवार्य महारथाः ।
सान्तरायोधिनं जघ्नुर्द्रवमाणं महारथम् ॥ ८ ॥

अन्य महारथी कितने ही हाथियों और श्रेष्ठ रथियोंको घेर लेते और किसीकी ओटमें युद्ध करनेवाले भागते हुए महा-रथीको मार डालते थे ॥ ८ ॥

तथा च रथिनं क्रुद्धं विकिरन्तं शरान् बहून् ।
नागा जघ्नुर्महाराज परिवार्य समन्ततः ॥ ९ ॥

महाराज ! कई हाथियोंने क्रोधपूर्वक बहुत-से बाणोंकी वर्षा करनेवाले किसी रथीको सब ओरसे घेरकर मार डाला॥

नागो नागमभिद्रुत्य रथी च रथिनं रणे ।
शक्तितोमरनाराचैर्निजघ्ने तत्र भारत ॥ १० ॥

भारत ! वहाँ रणभूमिमें एक हाथीसवार दूसरे हाथी-

सवारपर और एक रथी दूसरे रथीपर आक्रमण करके शक्ति, तोमर और नाराचोंकी मारसे उसे यमलोक पहुँचा देता था ॥

पादातानवमृद्नन्तो रथवारणवाजिनः ।
रणमध्ये व्यदृश्यन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ११ ॥

समराङ्गणके बीच बहुत-से रथ, हाथी और घोड़े पैदल योद्धाओंको कुचलते तथा सबको अत्यन्त व्याकुल करते हुए दृष्टिगोचर होते थे ॥ ११ ॥

हयाश्च पर्यधावन्त चामरैरुपशोभिताः ।
हंसा हिमवतः प्रस्थे पिबन्त इव मेदिनीम् ॥ १२ ॥

जैसे हिमालयके शिखरकी चौरस भूमिपर रहनेवाले हंस नीचे पृथ्वीपर जल पीनेके लिये तीव्र गतिसे उड़ते हुए जाते हैं, उसी प्रकार चामरशोभित अश्व वहाँ सब ओर बड़े वेगसे दौड़ लगा रहे थे ॥ १२ ॥

तेषां तु वाजिनां भूमिः खुरैश्चित्रा विशाम्पते ।
अशोभत यथा नारी करजैः क्षतविक्षता ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! उन घोड़ोंकी टापोंसे खुदी हुई भूमि प्रियतमके नखोंसे क्षत-विक्षत हुई नारीके समान विचित्र शोभा धारण करती थी ॥ १३ ॥

वाजिनां खुरशब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
पत्तीनां चापि शब्देन नागानां बृंहितेन च ॥ १४ ॥
वादित्राणां च घोषेण शङ्खानां निनदेन च ।
अभवन्नादिता भूमिर्निर्घातैरिव भारत ॥ १५ ॥

भारत! घोड़ोंकी टापोंके शब्द, रथके पहियोंकी घर्घराहट, पैदल योद्धाओंके कोलाहल, हाथियोंकी गर्जना तथा वाद्योंके गम्भीर घोष और शङ्खोंकी ध्वनिसे प्रतिध्वनित हुई यह पृथ्वी वज्रपातकी आवाजसे गूँजती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥

धनुषां कूजमानानां शस्त्रौघानां च दीप्यताम् ।
कवचानां प्रभाभिश्च न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ १६ ॥

टंकारते हुए धनुष, दमकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंके समुदाय तथा कवचोंकी प्रभासे चकाचौंधके कारण कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ १६ ॥

बहवो बाहवश्छिन्ना नागराजकरोपमाः ।
उद्वेष्टन्ते विचेष्टन्ते वेगं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ १७ ॥

हाथीकी सूँड़के समान बहुत-सी भुजाएँ कटकर धरतीपर उछलती, लोटती और भयंकर वेग प्रकट करती थीं ॥१७॥

शिरसां च महाराज पततां धरणीतले ।
च्युतानामिव तालेभ्यस्तालानां श्रूयते स्वनः ॥ १८ ॥

महाराज ! पृथ्वीपर गिरते हुए मस्तकोंका शब्द, ताड़के वृक्षोंसे चूकर गिरे हुए फलोंके धमाकेकी आवाजके समान सुनायी देता था ॥ १८ ॥

शिरोभिः पतितैर्भाति रुधिरार्द्रैर्वसुन्धरा ।
तपनीयनिभैः काले नलिनैरिव भारत ॥ १९ ॥

भारत ! गिरे हुए रक्तरञ्जित मस्तकोंसे इस पृथ्वीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वहाँ सुवर्णमय कमल बिछाये गये हों ॥ १९ ॥

उद्वृत्तनयनैस्तैस्तु गतसत्त्वैः सुविक्षतैः ।
व्यभ्राजत मही राजन् पुण्डरीकैरिवावृता ॥ २० ॥

राजन् ! खुले नेत्रोंवाले प्राणशून्य घायल मस्तकोंसे ढकी हुई पृथ्वी लाल कमलोंसे आच्छादित हुई-सी शोभा पाती थी ॥ २० ॥

बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः सकेयूरैर्महाधनैः ।
पतितैर्भाति राजेन्द्र महाशक्रध्वजैरिव ॥ २१ ॥

राजेन्द्र ! बाजूबंद तथा दूसरे बहुमूल्य आभूषणोंसे विभूषित, चन्दनचर्चित भुजाएँ कटकर पृथ्वीपर गिरी थीं, जो महान् इन्द्रध्वजके समान जान पड़ती थीं । उनके द्वारा रणभूमिकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां विनिकृत्तैर्महाहवे ।
हस्तिहस्तोपमैरन्यैः संवृतं तद् रणाङ्गणम् ॥ २२ ॥

उस महासमरमें कटी हुई नरेशोंकी जाँघें हाथीकी सूँड़ोंके समान प्रतीत होती थी । उनके द्वारा वह सारा समराङ्गण पट गया था ॥ २२ ॥

कबन्धशतसंकीर्णं छत्रचामरसंकुलम् ।
सेनावनं तच्छुशुभे वनं पुष्पाचितं यथा ॥ २३ ॥

वहाँ सैकड़ों कबन्ध सब ओर बिखरे पड़े थे । छत्र और चँवर भरे हुए थे । उन सबसे वह सेनारूपी वन फूलोंसे व्याप्त हुए विशाल विपिनके समान सुशोभित होता था ॥२३॥

तत्र योधा महाराज विचरन्तो ह्यभीतवत् ।
दृश्यन्ते रुधिराक्ताङ्गाः पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ २४ ॥

महाराज ! वहाँ खूनसे लथपथ शरीर लेकर निर्भय-से विचरनेवाले योद्धा फूले हुए पलाशवृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

मातङ्गाश्चाप्यदृश्यन्त शरतोमरपीडिताः ।
पतन्तस्तत्र तत्रैव छिन्नाभ्रसदृशा रणे ॥ २५ ॥

रणभूमिमें बाणों और तोमरोंकी मारसे पीड़ित हो जहाँ-तहाँ गिरते हुए मतवाले हाथी भी कटे हुए बादलोंके समान दिखायी देते थे ॥ २५ ॥

गजानीकं महाराज वध्यमानं महात्मभिः ।
व्यदीर्यत दिशः सर्वा वातनुन्ना घना इव ॥ २६ ॥

महाराज ! वायुके वेगसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान महामनस्वी वीरोंके बाणोंसे घायल हुई गजसेना सम्पूर्ण दिशाओंमें विदीर्ण हो रही थी ॥ २६ ॥

ते गजा घनसंकाशाः पेतुरुर्व्यां समन्ततः ।
वज्रनुन्ना इव बभुः पर्वता युगसंक्षये ॥ २७ ॥

मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले हाथी चारों ओरसे पृथ्वीपर पड़े थे, जो प्रलयकालमें वज्रके आघातसे विदीर्ण होकर गिरे हुए पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ २७ ॥

हयानां सादिभिः सार्धं पतितानां महीतले ।
राशयः स्म प्रदृश्यन्ते गिरिमात्रास्ततस्ततः ॥ २८ ॥

सवारोंसहित धरतीपर गिरे हुए घोड़ोंके पहाड़ों-जैसे ढेर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते थे ॥ २८ ॥

संजज्ञे रणभूमौ तु परलोकवहा नदी ।
शोणितोदा रथावर्ता ध्वजवृक्षास्थिशर्करा ॥ २९ ॥
भुजनक्रा धनुःस्रोता हस्तिशैला हयोपला ।
मेदोमज्जाकर्दमिनी छत्रहंसा गदोडुपा ॥ ३० ॥
कवचोष्णीषसंछन्ना पताकारुचिरद्रुमा ।
चक्रचक्रावलीजुष्टा त्रिवेणूरगसंवृता ॥ ३१ ॥

उस समय रणभूमिमें एक रक्तकी नदी बह चली, जो परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली थी । रक्त ही उसका जल था, रथ भँवरके समान प्रतीत होते थे, ध्वज तटवर्ती वृक्षके समान जान पड़ते थे, हड्डियाँ कंकड़-पत्थरोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं, कटी हुई भुजाएँ नाकोंके समान दिखायी देती थीं, धनुष उसके स्रोत थे, हाथी पार्श्ववर्ती पर्वत और घोड़े प्रस्तर-खण्डके तुल्य थे, मेदा और मज्जा ये ही उसके पङ्क थे, छत्र हंस थे, गदाएँ नौका जान पड़ती थीं, कवच और पगड़ी आदि वस्तुएँ सेवारके समान उस नदीके जलको आच्छादित किये हुए थीं, पताकाएँ सुन्दर वृक्ष-सी दिखायी देती थीं, चक्र (पहिये) चक्रवाकोंके समूहकी भाँति उस नदीका सेवन करते थे और त्रिवेणुरूपी सर्प उसमें भरे हुए थे ॥ २९–३१ ॥

शूराणां हर्षजननी भीरूणां भयवर्धनी ।
प्रावर्तत नदी रौद्रा कुरुसृञ्जयसंकुला ॥ ३२ ॥

वह भयंकर नदी शूरवीरोंके लिये हर्षजनक तथा कायरोंके लिये भय बढ़ानेवाली थी । कौरवों और सृंजयोंके समुदायसे वह व्याप्त हो रही थी ॥ ३२ ॥

तां नदीं परलोकाय वहन्तीमतिभैरवाम् ।
तेरुर्वाहननौभिस्तैः शूराः परिघबाहवः ॥ ३३ ॥

परलोककी ओर ले जानेवाली उस अत्यन्त भयंकर नदी-को परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले शूरवीर योद्धा अपने-अपने वाहनरूपी नौकाओंद्वारा पार करते थे ॥ ३३ ॥

वर्तमाने तदा युद्धे निर्मर्यादे विशाम्पते ।
चतुरङ्गक्षये घोरे पूर्वदेवासुरोपमे ॥ ३४ ॥
व्याक्रोशन् बान्धवानन्ये तत्र तत्र परंतप ।
क्रोशद्भिर्दयितैरन्ये भयार्ता न निवर्तिरे ॥ ३५ ॥

प्रजानाथ ! परंतप ! प्राचीन देवासुर-संग्रामके समान चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करनेवाला वह मर्यादाशून्य घोर युद्ध जब चलने लगा; तब भयसे पीड़ित हुए कितने ही सैनिक अपने बन्धु-बान्धवोंको पुकारने लगे और बहुत-से योद्धा प्रियजनोंके पुकारनेपर भी पीछे नहीं लौटते थे ॥ ३४-३५ ॥

निर्मर्यादे तथा युद्धे वर्तमाने भयानके ।
अर्जुनो भीमसेनश्च मोहयांचक्रतुः परान् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वह भयानक युद्ध सारी मर्यादाको तोड़कर चल रहा था । उस समय अर्जुन और भीमसेनने शत्रुओंको मूर्छित कर दिया था ॥ ३६ ॥

सा वध्यमाना महती सेना तव नराधिप ।
अमुह्यत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! उनकी मार पड़नेसे आपकी विशाल सेना मदमत्त युवतीकी भाँति जहाँकी तहाँ बेहोश हो गयी ॥ ३७ ॥

मोहयित्वा च तां सेनां भीमसेनधनंजयौ ।
दध्मतुर्वारिजौ तत्र सिंहनादांश्च चक्रतुः ॥ ३८ ॥

उस कौरवसेनाको मूर्छित करके भीमसेन और अर्जुन शङ्ख बजाने तथा सिंहनाद करने लगे ॥ ३८ ॥

श्रुत्वैव तु महाशब्दं धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ।
धर्मराजं पुरस्कृत्य मद्रराजमभिद्रुतौ ॥ ३९ ॥

उस महान् शब्दको सुनते ही धृष्टद्युम्न और शिखण्डीने धर्मराज युधिष्ठिरको आगे करके मद्रराज शल्यपर धावा कर दिया ॥ ३९ ॥

तत्राश्चर्यमपश्याम घोररूपं विशाम्पते ।
शल्येन सङ्गताः शूरा यदयुध्यन्त भागशः ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! वहाँ हमने यह भयंकर आश्चर्यकी बात देखी कि पृथक्-पृथक् दल बनाकर आये हुए सभी शूरवीर अकेले शल्यके साथ ही जूझते रहे ॥ ४० ॥

माद्रीपुत्रौ तु रभसौ कृतास्त्रौ युद्धदुर्मदौ ।
अभ्ययातां त्वरायुक्तौ जिगीषन्तौ परंतप ॥ ४१ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! अस्त्रोंके ज्ञाता, रण-दुर्मद और वेगशाली वीर माद्रीकुमार नकुल-सहदेव विजयकी अभिलाषा लेकर बड़ी उतावलीके साथ राजा शल्य-पर चढ़ आये ॥ ४१ ॥

ततो न्यवर्तत बलं तावकं भरतर्षभ ।
शरैः प्रणुन्नं बहुधा पाण्डवैर्जितकाशिभिः ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंने अपने बाणोंकी मारसे आपकी सेनाको बारंबार घायल किया ॥४२॥

वध्यमाना चमूः सा तु पुत्राणां प्रेक्षतां तव ।
भेजे दिशो महाराज प्रणुन्ना शरवृष्टिभिः ॥ ४३ ॥

महाराज ! इस प्रकार चोट सहती हुई वह सेना बाणोंकी वर्षासे क्षत-विक्षत हो आपके पुत्रोंके देखते-देखते सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चली ॥ ४३ ॥

हाहाकारो महाञ्जज्ञे योधानां तव भारत ।
तिष्ठ तिष्ठेति चाप्यासीद् द्रावितानां महात्मनाम्॥४४॥

भरतनन्दन ! वहाँ आपके योद्धाओंमें महान् हाहाकार मच गया । भागे हुए योद्धाओंके पीछे महामनस्वी पाण्डव वीरोंकी 'ठहरो, ठहरो' की आवाज सुनायी देने लगी ॥४४॥

क्षत्रियाणां तदान्योन्यं संयुगे जयमिच्छताम् ।
प्राद्रवन्नेव सम्भग्नाः पाण्डवैस्तव सैनिकाः ॥ ४५ ॥
त्यक्त्वा युद्धे प्रियान् पुत्रान् भ्रातॄनथ पितामहान् ।
मातुलान् भागिनेयांश्च वयस्यानपि भारत ॥ ४६ ॥

भारत ! युद्धमें परस्पर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले क्षत्रियोंमेंसे पाण्डवोंद्वारा पराजित होकर आपके सैनिक युद्धमें अपने प्यारे पुत्रों, भाइयों, पितामहों, मामाओं, भानजों और मित्रोंको भी छोड़कर भाग गये ॥ ४५-४६ ॥

हयान् द्विपांस्त्वरयन्तो योधा जग्मुः समन्ततः ।

आत्मत्राणकृतोत्साहास्तावका भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपनी रक्षामात्रके लिये उत्साह रखनेवाले आपके सैनिक घोड़ों और हाथियोंको तीव्र गतिसे हाँकते हुए सब ओर भाग चले ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

नकुलद्वारा कर्णके तीन पुत्रोंका वध तथा उभयपक्षकी सेनाओंका भयानक युद्ध

संजय उवाच

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा मद्रराजः प्रतापवान् ।
उवाच सारथिं तूर्णं चोदयाश्वान् महाजवान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस सेनाको इस तरह भागती देख प्रतापी मद्रराज शल्यने अपने सारथिसे कहा—'सूत ! मेरे महावेगशाली घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ाओ॥

एष तिष्ठति वै राजा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रेण ध्रियमाणेन पाण्डुरेण विराजता ॥ २ ॥

'देखो, ये सामने मस्तकपर शोभाशाली श्वेत छत्र लगाये हुए पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर खड़े हैं ॥ २ ॥

अत्र मां प्रापय क्षिप्रं पश्य मे सारथे बलम् ।
न समर्थो हि मे पार्थः स्थातुमद्य पुरो युधि ॥ ३ ॥

'सारथे ! मुझे शीघ्र उनके पास पहुँचा दो । फिर मेरा बल देखो । आज युद्धमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिर मेरे सामने कदापि नहीं ठहर सकते' ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्ततः प्रायान्मद्रराजस्य सारथिः ।
यत्र राजा सत्यसंधो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मद्रराजका सारथि वहीं जा पहुँचा, जहाँ सत्यप्रतिज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ४ ॥

प्रापतत् तच्च सहसा पाण्डवानां महद् बलम् ।
दधारैको रणे शल्यो वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ॥ ५ ॥

साथ ही पाण्डवोंकी वह विशाल सेना भी सहसा वहाँ आ पहुँची । परंतु जैसे तट उमड़ते हुए समुद्रको रोक देता है, उसी प्रकार अकेले राजा शल्यने रणभूमिमें उस सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ५ ॥

पाण्डवानां बलौघस्तु शल्यमासाद्य मारिष ।
व्यतिष्ठत तदा युद्धे सिन्धोर्वेग इवाचलम् ॥ ६ ॥

माननीय नरेश ! जैसे किसी नदीका वेग किसी पर्वतके पास पहुँचकर अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार पाण्डवोंकी सेनाका वह समुदाय युद्धमें राजा शल्यके पास पहुँचकर खड़ा हो गया ॥ ६ ॥

मद्रराजं तु समरे दृष्ट्वा युद्धाय धिष्ठितम् ।
कुरवः संन्यवर्तन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ७ ॥

समराङ्गणमें मद्रराज शल्यको युद्धके लिये डटा हुआ देख कौरव-सैनिक मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिकी सीमा नियत करके पुनः रणभूमिमें लौट आये ॥ ७ ॥

तेषु राजन् निवृत्तेषु व्यूढानीकेषु भागशः ।
प्रावर्तत महारौद्रः संग्रामः शोणितोदकः ॥ ८ ॥

राजन् ! पृथक्-पृथक् सेनाओंकी व्यूह-रचना करके जब वे सभी सैनिक लौट आये, तब दोनों दलोंमें महाभयंकर संग्राम छिड़ गया, जहाँ पानीकी तरह खून बहाया जा रहा था ॥८॥

समार्च्छच्चित्रसेनं तु नकुलो युद्धदुर्मदः ।
तौ परस्परमासाद्य चित्रकार्मुकधारिणौ ॥ ९ ॥
मेघाविव यथोद्वृत्तौ दक्षिणोत्तरवर्षिणौ ।
शरतोयैः सिषिचतुस्तौ परस्परमाहवे ॥ १० ॥

इसी समय रणदुर्मद नकुलने कर्णपुत्र चित्रसेनपर आक्रमण किया । विचित्र धनुष धारण करनेवाले वे दोनों वीर एक-दूसरेसे भिड़कर दक्षिण तथा उत्तरकी ओरसे आये हुए दो बड़े जलवर्षक मेघोंके समान परस्पर बाणरूपी जलकी बौछार करने लगे ॥ ९-१० ॥

नान्तरं तत्र पश्यामि पाण्डवस्येतरस्य च ।
उभौ कृतास्त्रौ बलिनौ रथचर्याविशारदौ ॥ ११ ॥
परस्परवधे यत्तौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।

उस समय वहाँ पाण्डुपुत्र नकुल और कर्णकुमार चित्रसेनमें मुझे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था । दोनों ही अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान् तथा रथयुद्धमें कुशल थे । परस्पर घातमें लगे हुए वे दोनों वीर एक-दूसरेके छिद्र (प्रहारके योग्य अवसर) ढूँढ़ रहे थे ॥ ११½ ॥

चित्रसेनस्तु भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ १२ ॥
नकुलस्य महाराज मुष्टिदेशेऽच्छिनद् धनुः ।

महाराज ! इतनेहीमें चित्रसेनने एक पानीदार पैने भल्लके द्वारा नकुलके धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया॥

अथैनं छिन्नधन्वानं रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ १३ ॥
त्रिभिः शरैरसम्भ्रान्तो ललाटे वै समार्पयत् ।

धनुष कट जानेपर उनके ललाटमें शिलापर तेज किये हुए सुनहरे पंखवाले तीन बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी । उस समय चित्रसेनके चित्तमें तनिक भी घबराहट नहीं हुई ॥

हयांश्चास्य शरैस्तीक्ष्णैः प्रेषयामास मृत्यवे ॥ १४ ॥
तथा ध्वजं सारथिं च त्रिभिस्त्रिभिरपातयत् ।

उसने अपने तीखे बाणोंद्वारा नकुलके घोड़ोंको भी मृत्युके हवाले कर दिया तथा तीन-तीन बाणोंसे उनके ध्वज और सारथिको भी काट गिराया ॥ १४½ ॥

स शत्रुभुजनिर्मुक्तैर्ललाटस्थैस्त्रिभिः शरैः ॥ १५ ॥
नकुलः शुशुभे राजंस्त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ।

राजन् ! शत्रुकी भुजाओंसे छूटकर ललाटमें धँसे हुए उन तीन बाणोंके द्वारा नकुल तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान

शोभा पाने लगे ॥ १५½ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः खड्गमादाय चर्म च ॥ १६ ॥
रथादवातरद् वीरः शैलाग्रादिव केसरी ।

धनुष कट जानेपर रथहीन हुए वीर नकुल हाथमें ढाल-तलवार लेकर पर्वतके शिखरसे उतरनेवाले सिंहके समान रथसे नीचे आ गये ॥ १६½ ॥

पद्भ्यामापततस्तस्य शरवृष्टिं समासृजत् ॥ १७ ॥
नकुलोऽप्यग्रसत् तां वै चर्मणा लघुविक्रमः ।

उस समय चित्रसेन पैदल आक्रमण करनेवाले नकुलके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा । परंतु शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले नकुलने ढालके द्वारा ही रोककर उस बाण-वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ १७½ ॥

चित्रसेनरथं प्राप्य चित्रयोधी जितश्रमः ॥ १८ ॥
आरुरोह महाबाहुः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले महाबाहु नकुल परिश्रम-को जीत चुके थे । वे सारी सेनाके देखते-देखते चित्रसेनके रथके समीप जा उसपर चढ़ गये ॥ १८½ ॥

सकुण्डलं समुकुटं सुनसं स्वायतेक्षणम् ॥ १९ ॥
चित्रसेनशिरः कायादपाहरत पाण्डवः ।

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने सुन्दर नासिका और विशाल नेत्रोंसे युक्त कुण्डल और मुकुटसहित चित्रसेनके मस्तकको धड़से काट लिया ॥ १९½ ॥

स पपात रथोपस्थे दिवाकरसमद्युतिः ॥ २० ॥
चित्रसेनं विशस्तं तु दृष्ट्वा तत्र महारथाः ।
साधुवादस्वनांश्चक्रुः सिंहनादांश्च पुष्कलान् ॥ २१ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी चित्रसेन रथके पिछले भागमें गिर पड़ा । चित्रसेनको मारा गया देख वहाँ खड़े हुए पाण्डव महारथी नकुलको साधुवाद देने और प्रचुरमात्रामें सिंहनाद करने लगे ॥ २०-२१ ॥

विशस्तं भ्रातरं दृष्ट्वा कर्णपुत्रौ महारथौ ।
सुषेणः सत्यसेनश्च मुञ्चन्तौ विविधाञ्शरान् ॥ २२ ॥
ततोऽभ्यधावतां तूर्णं पाण्डवं रथिनां वरम् ।

अपने भाईको मारा गया देख कर्णके दो महारथी पुत्र सुषेण और सत्यसेन नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र नकुलपर तुरंत ही चढ़ आये ।२२½।

जिघांसन्तौ यथा नागं व्याघ्रौ राजन् महावने ॥ २३ ॥
तावभ्यधावतां तीक्ष्णौ द्वावप्येनं महारथम् ।
शरौघान् सम्यगस्यन्तौ जीमूतौ सलिलं यथा ॥ २४ ॥

राजन् ! जैसे विशाल वनमें दो व्याघ्र किसी एक हाथी-को मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़ें, उसी प्रकार तीखे स्वभाववाले वे दोनों भाई इन महारथी नकुलपर अपने बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे, मानो दो मेघ पानीकी धारावाहिक वृष्टि करते हों ॥ २३-२४ ॥

स शरैः सर्वतो विद्धः प्रहृष्ट इव पाण्डवः ।
अन्यत् कार्मुकमादाय रथमारुह्य वेगवान् ॥ २५ ॥
अतिष्ठत रणे वीरः क्रुद्धरूप इवान्तकः ।

सब ओरसे बाणोंद्वारा विद्ध होनेपर भी पाण्डुकुमार नकुल हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वीर योद्धाकी भाँति दूसरा धनुष हाथमें लेकर बड़े वेगसे दूसरे रथपर जा चढ़े और कुपित हुए कालके समान रणभूमिमें खड़े हो गये ॥ २५½ ॥

तस्य तौ भ्रातरौ राजञ्शरैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥
रथं विशकलीकर्तुं समारब्धौ विशाम्पते ।

राजन् ! प्रजानाथ ! उन दोनों भाइयोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा नकुलके रथके टुकड़े-टुकड़े करनेकी चेष्टा आरम्भ की ॥ २६½ ॥

ततः प्रहस्य नकुलश्चतुर्भिश्चतुरो रणे ॥ २७ ॥
जघान निशितैर्बाणैः सत्यसेनस्य वाजिनः ।

तब नकुलने हँसकर रणभूमिमें चार पैने बाणोंद्वारा सत्य-सेनके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ २७½ ॥

ततः संधाय नाराचं रुक्मपुङ्खं शिलाशितम् ॥ २८ ॥
धनुश्चिच्छेद राजेन्द्र सत्यसेनस्य पाण्डवः ।

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले एक नाराचका संधान करके पाण्डुपुत्र नकुलने सत्यसेनका धनुष काट दिया ॥ २८½ ॥

अथान्यं रथमास्थाय धनुरादाय चापरम् ॥ २९ ॥
सत्यसेनः सुषेणश्च पाण्डवं पर्यधावताम् ।

इसके बाद दूसरे रथपर सवार हो दूसरा धनुष हाथमें लेकर सत्यसेन और सुषेण दोनोंने पाण्डुकुमार नकुलपर धावा किया ॥ २९½ ॥

अविध्यत् तावसम्भ्रान्तो माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ३० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां महाराज शराभ्यां रणमूर्धनि ।

महाराज ! माद्रीके प्रतापी पुत्र नकुलने बिना किसी घबराहटके युद्धके मुहानेपर दो-दो बाणोंसे उन दोनों भाइयोंको घायल कर दिया ॥ ३०½ ॥

सुषेणस्तु ततः क्रुद्धः पाण्डवस्य महद् धनुः ॥ ३१ ॥
चिच्छेद प्रहसन् युद्धे क्षुरप्रेण महारथः ।

इससे सुषेणको बड़ा क्रोध हुआ । उस महारथीने हँसते-हँसते युद्धस्थलमें एक क्षुरप्रके द्वारा पाण्डुकुमार नकुलके विशाल धनुषको काट डाला ॥ ३१½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय नकुलः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३२ ॥
सुषेणं पञ्चभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ।

फिर तो नकुल क्रोधसे तमतमा उठे और दूसरा धनुष लेकर उन्होंने पाँच बाणोंसे सुषेणको घायल करके एकसे उसकी ध्वजाको भी काट डाला ॥ ३२½ ॥

सत्यसेनस्य च धनुर्हस्तावापं च मारिष ॥ ३३ ॥
चिच्छेद तरसा युद्धे तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ।

आर्य ! इसके बाद रणभूमिमें सत्यसेनके धनुष और दस्तानेके भी नकुलने वेगपूर्वक टुकड़े-टुकड़े कर डाले । इससे सब लोग जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ॥ ३३½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय वेगघ्नं भारसाधनम् ॥ ३४ ॥

शरैः संछादयामास समन्तात् पाण्डुनन्दनम् ।

तब सत्यसेनने शत्रुका वेग नष्ट करनेवाले दूसरे भार-साधक धनुषको हाथमें लेकर अपने बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन नकुलको ढक दिया ॥ ३४½ ॥

संनिवार्य तु तान् बाणान् नकुलः परवीरहा ॥ ३५ ॥
सत्यसेनं सुषेणं च द्वाभ्यां द्वाभ्यामविध्यत ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने उन बाणोंका निवारण करके सत्यसेन और सुषेणको भी दो-दो बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३५½ ॥

तावेनं प्रत्यविध्येतां पृथक् पृथगजिह्मगैः ॥ ३६ ॥
सारथिं चास्य राजेन्द्र शितैर्विव्यधतुः शरैः ।

राजेन्द्र ! फिर उन दोनों भाइयोंने भी पृथक्-पृथक् अनेक बाणोंसे नकुलको बींध डाला और पैने बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ ३६½ ॥

सत्यसेनो रथेषां तु नकुलस्य धनुस्तथा ॥ ३७ ॥
पृथक्छराभ्यां चिच्छेद कृतहस्तः प्रतापवान् ।

तत्पश्चात् सिद्धहस्त और प्रतापी वीर सत्यसेनने पृथक्-पृथक् दो-दो बाणोंसे नकुलका धनुष और उनके रथके ईषा-दण्ड भी काट डाले ॥ ३७½ ॥

स रथेऽतिरथस्तिष्ठन् रथशक्तिं परामृशत् ॥ ३८ ॥
स्वर्णदण्डामकुण्ठाग्रां तैलधौतां सुनिर्मलाम् ।
लेलिहानामिव विभो नागकन्यां महाविषाम् ॥ ३९ ॥
समुद्यम्य च चिक्षेप सत्यसेनस्य संयुगे ।

तदनन्तर रथपर खड़े हुए अतिरथी वीर नकुलने एक रथशक्ति हाथमें ली, जिसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसका अग्रभाग कहीं भी कुण्ठित होनेवाला नहीं था । प्रभो! तेलमें धोकर साफ की हुई वह निर्मल शक्ति जीभ लपलपाती हुई महाविषैली नागिनके समान प्रतीत होती थी । नकुल-ने युद्धस्थलमें सत्यसेनको लक्ष्य करके ऊपर उठाकर वह रथशक्ति चला दी ॥ ३८-३९½ ॥

सा तस्य हृदयं संख्ये बिभेद च तथा नृप ॥ ४० ॥
स पपात रथाद् भूमिं गतसत्त्वोऽल्पचेतनः ।

नरेश्वर ! उस शक्तिने रणभूमिमें उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया । सत्यसेनकी चेतना जाती रही और वह प्राणशून्य होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४०½ ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा सुषेणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४१ ॥
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं पादातं पाण्डुनन्दनम् ।

भाईको मारा गया देख सुषेण क्रोधसे व्याकुल हो उठा और तुरंत ही हरसा कट जानेसे पैदल हुए-से पाण्डुनन्दन नकुलपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४१½ ॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् ध्वजं छित्त्वा च पञ्चभिः ॥४२ ॥
त्रिभिर्वै सारथिं हत्वा कर्णपुत्रो ननाद ह ।

उसने चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको मार डाला और पाँचसे उनकी ध्वजा काटकर तीनसे सारथिके भी प्राण ले लिये । इसके बाद कर्णपुत्र जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥

नकुलं विरथं दृष्ट्वा द्रौपदेयो महारथम् ॥ ४३ ॥
सुतसोमोऽभिदुद्राव परीप्सन् पितरं रणे ।

महारथी नकुलको रथहीन हुआ देख द्रौपदीका पुत्र सुतसोम अपने चाचाकी रक्षाके लिये वहाँ दौड़ा आया ४३½

ततोऽधिरुह्य नकुलः सुतसोमस्य तं रथम् ॥ ४४ ॥
शुशुभे भरतश्रेष्ठो गिरिस्थ इव केसरी ।

तब सुतसोमके उस रथपर आरूढ़ हो भरतश्रेष्ठ नकुल पर्वतपर बैठे हुए सिंहके समान सुशोभित होने लगे ॥४४½॥

अन्यत् कार्मुकमादाय सुषेणं समयोधयत् ॥ ४५ ॥
तावुभौ शरवर्षाभ्यां समासाद्य परस्परम् ।
परस्परवधे यत्नं चक्रतुः सुमहारथौ ॥ ४६ ॥

उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर सुषेणके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया । वे दोनों महारथी वीर बाणोंकी वर्षाद्वारा एक दूसरेसे टक्कर लेकर परस्पर वधके लिये प्रयत्न करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

सुषेणस्तु ततः क्रुद्धः पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ।
सुतसोमं तु विंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४७ ॥

उस समय सुषेणने कुपित होकर तीन बाणोंसे पाण्डुपुत्र नकुलको बींध डाला और सुतसोमकी दोनों भुजाओं एवं छातीमें बीस बाण मारे ॥ ४७ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज नकुलः परवीरहा ।
शरैस्तस्य दिशः सर्वाश्छादयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परा-क्रमी नकुलने कुपित हो बाणोंकी वर्षासे सुषेणकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ४८ ॥

ततो गृहीत्वा तीक्ष्णाग्रमर्धचन्द्रं सुतेजनम् ।
सुवेगवन्तं चिक्षेप कर्णपुत्राय संयुगे ॥ ४९ ॥

इसके बाद तीखी धारवाले एक अत्यन्त तेज और वेगशाली अर्धचन्द्राकार बाण लेकर उसे समराङ्गणमें कर्णपुत्र-पर चला दिया ॥ ४९ ॥

तस्य तेन शिरः कायाज्जहार नृपसत्तम ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस बाणसे नकुलने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते सुषेणका मस्तक धड़से काट गिराया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ५० ॥

स हतः प्रापतद् राजन् नकुलेन महात्मना ।
नदीवेगादिवारुग्णस्तीरजः पादपो महान् ॥ ५१ ॥

महामनस्वी नकुलके हाथसे मारा जाकर सुषेण पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो नदीके वेगसे कटकर महान् तटवर्ती वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ ५१ ॥

कर्णपुत्रवधं दृष्ट्वा नकुलस्य च विक्रमम् ।
प्रदुद्राव भयात् सेना तावकी भरतर्षभ ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्णपुत्रोंका वध और नकुलका पराक्रम देख-कर आपकी सेना भयसे भाग चली ॥ ५२ ॥

तां तु सेनां महाराज मद्रराजः प्रतापवान् ।
अपालयद् रणे शूरः सेनापतिररिंदमः ॥ ५३ ॥

महाराज ! उस समय रणभूमिमें शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर सेनापति प्रतापी मद्रराज शल्यने आपकी उस सेनाका संरक्षण किया ॥ ५३ ॥

विभीस्तस्थौ महाराज व्यवस्थाप्य च वाहिनीम् ।
सिंहनादं भृशं कृत्वा धनुःशब्दं च दारुणम् ॥ ५४ ॥

राजाधिराज ! वे जोर-जोरसे सिंहनाद और धनुषकी भयंकर टंकार करके कौरवसेनाको स्थिर रखते हुए रणभूमिमें निर्भय खड़े थे ॥ ५४ ॥

तावकाः समरे राजन् रक्षिता दृढधन्वना ।
प्रत्युद्ययुररातींस्तु समन्ताद् विगतव्यथाः ॥ ५५ ॥

राजन् ! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले राजा शल्यसे सुरक्षित हो व्यथाशून्य हुए आपके सैनिक समरमें सब ओरसे शत्रुओंकी ओर बढ़ने लगे ॥ ५५ ॥

मद्रराजं महेष्वासं परिवार्य समन्ततः ।
स्थिता राजन् महासेना योद्धुकामा समन्ततः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! आपकी विशाल सेना महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको चारों ओरसे घेरकर शत्रुओंके साथ युद्धके लिये खड़ी हो गयी ॥ ५६ ॥

सात्यकिर्भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य ह्रीनिषेवमरिंदमम् ॥ ५७ ॥

उधरसे सात्यकि, भीमसेन तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव शत्रुदमन एवं लज्जाशील युधिष्ठिरको आगे करके चढ़ आये ॥ ५७ ॥

परिवार्य रणे वीराः सिंहनादं प्रचक्रिरे ।
बाणशङ्खरवांस्तीव्रान् क्ष्वेडाश्च विविधा दधुः ॥ ५८ ॥

रणभूमिमें वे सभी वीर युधिष्ठिरको बीचमें करके सिंहनाद करने, बाणों और शङ्खोंकी तीव्र ध्वनि फैलाने तथा भाँति-भाँतिसे गर्जना करने लगे ॥ ५८ ॥

तथैव तावकाः सर्वे मद्राधिपतिमञ्जसा ।
परिवार्य सुसंरब्धाः पुनर्युद्धमरोचयन् ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक मद्रराजको चारों ओरसे घेरकर रोष और आवेशसे युक्त हो पुनः युद्धमें ही रुचि दिखाने लगे ॥ ५९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं भीरूणां भयवर्धनम् ।
तावकानां परेषां च मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिका निमित्त बनाकर आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमें घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जो कायरोंका भय बढ़ानेवाला था ॥ ६० ॥

यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीद् विशाम्पते ।
अभीतानां तथा राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! प्रजानाथ ! जैसे पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार भयशून्य कौरवों और पाण्डवोंमें यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला भयंकर संग्राम होने लगा ॥ ६१ ॥

ततः कपिध्वजो राजन् हत्वा संशप्तकान् रणे ।
अभ्यद्रवत तां सेनां कौरवीं पाण्डुनन्दनः ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर पाण्डुनन्दन कपिध्वज अर्जुनने भी संशप्तकोंका संहार करके रणभूमिमें उस कौरवसेनापर आक्रमण किया ॥ ६२ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
अभ्यधावन्त तां सेनां विसृजन्तः शिताञ्शरान् ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव वीर पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए आपकी उस सेनापर चढ़ आये ॥ ६३ ॥

पाण्डवैरवकीर्णानां सम्मोहः समजायत ।
न च जज्ञुस्त्वनीकानि दिशो वा विदिशस्तथा ॥ ६४ ॥

पाण्डवोंके बाणोंसे आच्छादित हुए कौरव-योद्धाओंपर मोह छा गया । उन्हें दिशाओं अथवा विदिशाओंका भी ज्ञान न रहा ॥ ६४ ॥

आपूर्यमाणा निशितैः शरैः पाण्डवचोदितैः ।
हतप्रवीरा विध्वस्ता वार्यमाणा समन्ततः ॥ ६५ ॥

पाण्डवोंके चलाये हुए पैने बाणोंसे व्याप्त हो कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये । वह सेना नष्ट होने लगी और चारों ओरसे उसकी गति अवरुद्ध हो गयी ॥ ६५ ॥

कौरव्यवध्यत चमूः पाण्डुपुत्रैर्महारथैः ।
तथैव पाण्डवं सैन्यं शरै राजन् समन्ततः ॥ ६६ ॥
रणेऽहन्यत पुत्रैस्ते शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! महारथी पाण्डुपुत्र कौरवसेनाका वध करने लगे । इसी प्रकार आपके पुत्र भी पाण्डवसेनाके सैकड़ों, हजारों वीरोंका समराङ्गणमें सब ओरसे अपने बाणोंद्वारा संहार करने लगे ॥ ६६½ ॥

ते सेने भृशसंतप्ते वध्यमाने परस्परम् ॥ ६७ ॥
व्याकुले समपद्येतां वर्षासु सरिताविव ।

जैसे वर्षाकालमें दो नदियाँ एक दूसरीके जलसे भरकर व्याकुल-सी हो उठती हैं, उसी प्रकार आपसकी मार खाती हुई वे दोनों सेनाएँ अत्यन्त संतप्त हो उठीं ॥ ६७½ ॥

आविवेश ततस्तीव्रं तावकानां महद् भयम् ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तथाभूते महाहवे ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र ! उस अवस्थामें उस महासमरमें खड़े हुए आपके और पाण्डवयोद्धाओंके मनमें भी दुःसह एवं भारी भय समा गया ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

शल्यका पराक्रम, कौरव-पाण्डव योद्धाओंके द्वन्द्वयुद्ध तथा भीमसेनके द्वारा शल्यकी पराजय

संजय उवाच

तस्मिन् विलुलिते सैन्ये वध्यमाने परस्परम्।
द्रवमाणेषु योधेषु विनदत्सु च दन्तिषु॥ १॥
कूजतां स्तनतां चैव पदातीनां महाहवे।
निहतेषु महाराज हयेषु बहुधा तदा॥ २॥
प्रक्षये दारुणे घोरे संहारे सर्वदेहिनाम्।
नानाशस्त्रसमावाये व्यतिषक्तरथद्विपे॥ ३॥
हर्षणे युद्धशौण्डानां भीरूणां भयवर्धने।
गाहमानेषु योधेषु परस्परवधैषिषु॥ ४॥
प्राणादाने महाघोरे वर्तमाने दुरोदरे।
संग्रामे घोररूपे तु यमराष्ट्रविवर्धने॥ ५॥
पाण्डवास्तावकं सैन्यं व्यधमन्निशितैः शरैः।
तथैव तावका योधा जघ्नुः पाण्डवसैनिकान्॥ ६॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस महासमरमें जब दोनों पक्षोंकी सेनाएँ परस्परकी मार खाकर भयसे व्याकुल हो उठीं, दोनों दलोंके योद्धा पलायन करने लगे, हाथी चिग्घाड़ने तथा पैदल सैनिक कराहने और चिल्लाने लगे; बहुत-से घोड़े मारे गये, सम्पूर्ण देहधारियोंका घोर भयंकर एवं विनाशकारी संहार होने लगा, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र परस्पर टकराने लगे, रथ और हाथी एक दूसरेसे उलझ गये, युद्धकुशल योद्धाओंका हर्ष और कायरोंका भय बढ़ानेवाला संग्राम होने लगा, एक दूसरेके वधकी इच्छासे उभय-पक्षकी सेनाओंमें दोनों दलोंके योद्धा प्रवेश करने लगे, प्राणों-की बाजी लगाकर महाभयंकर युद्धका जूआ आरम्भ हो गया तथा यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला घोर संग्राम चलने लगा, उस समय पाण्डव अपने तीखे बाणोंसे आपकी सेनाका संहार करने लगे। इसी प्रकार आपके योद्धा भी पाण्डवसैनिकोंके वधमें प्रवृत्त हो गये॥ १–६॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने युद्धे भीरुभयावहे।
पूर्वाह्णे चापि सम्प्राप्ते भास्करोदयनं प्रति॥ ७॥
लब्धलक्षाः परे राजन् रक्षितास्तु महात्मना।
अयोधयंस्तव बलं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम्॥ ८॥

राजन्! पूर्वाह्णकाल प्राप्त होनेपर सूर्योदयके समय जब कायरोंका भय बढ़ानेवाला वर्तमान युद्ध चल रहा था, उस समय महात्मा अर्जुनसे सुरक्षित शत्रु-योद्धा, जो लक्ष्य वेधनेमें कुशल थे, मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी सीमा नियत करके आपकी सेनाके साथ जूझने लगे॥ ७-८॥

बलिभिः पाण्डवैर्दृप्तैर्लब्धलक्षैः प्रहारिभिः।
कौरव्यसीदत् पृतना मृगीवाग्निसमाकुला॥ ९॥

पाण्डव योद्धा बलवान् और प्रहारकुशल थे। उनका निशाना कभी खाली नहीं जाता था। उनकी मार खाकर कौरवसेना दावानलसे घिरी हुई हरिणीके समान अत्यन्त संतप्त हो उठी॥ ९॥

तां दृष्ट्वा सीदतीं सेनां पङ्के गामिव दुर्बलाम्।
उज्जिहीर्षुस्तदा शल्यः प्रायात् पाण्डुसुतान् प्रति॥ १०॥

कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायके समान कौरवसेनाको बहुत कष्ट पाती देख उसका उद्धार करनेकी इच्छासे राजा शल्यने उस समय पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥ १०॥

मद्रराजः सुसंक्रुद्धो गृहीत्वा धनुरुत्तमम्।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानाततायिनः॥ ११॥

मद्रराज शल्यने अत्यन्त क्रोधमें भरकर उत्तम धनुष हाथमें ले संग्राममें अपने वधके लिये उद्यत हुए पाण्डवोंपर वेगपूर्वक धावा किया॥ ११॥

पाण्डवा अपि भूपाल समरे जितकाशिनः।
मद्रराजं समासाद्य विभिदुर्निशितैः शरैः॥ १२॥

भूपाल! समरमें विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डव भी मद्रराज शल्यके निकट जाकर उन्हें अपने पैने बाणोंसे बींधने लगे॥ १२॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैर्मद्रराजो महारथः।
अर्दयामास तां सेनां धर्मराजस्य पश्यतः॥ १३॥

तब महारथी मद्रराज धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते उनकी सेनाको अपने सैकड़ों तीखे बाणोंसे संतप्त करने लगे॥ १३॥

प्रादुरासन् निमित्तानि नानारूपाण्यनेकशः।
चचाल शब्दं कुर्वाणा मही चापि सपर्वता॥ १४॥

उस समय नाना प्रकारके बहुत-से अशुभसूचक निमित्त प्रकट होने लगे। पर्वतोंसहित पृथ्वी महान् शब्द करती हुई डोलने लगी॥ १४॥

सदण्डशूला दीप्ताग्राः शीर्यमाणाः समन्ततः।
उल्का भूमिं दिवः पेतुराहत्य रविमण्डलम्॥ १५॥

आकाशसे बहुत-सी उल्काएँ सूर्यमण्डलसे टकराकर पृथ्वीपर गिरने लगीं। उनके साथ दण्डयुक्त शूल भी गिर रहे थे। उन उल्काओंके अग्रभाग अपनी दीप्तिसे दमक रहे थे। वे सब-की-सब चारों ओर बिखरी पड़ती थीं॥ १५॥

मृगाश्च महिषाश्चापि पक्षिणश्च विशाम्पते।
अपसव्यं तदा चक्रुः सेनां ते बहुशो नृप॥ १६॥

प्रजानाथ! नरेश्वर! उस समय मृग, महिष और पक्षी आपकी सेनाको बारंबार दाहिने करके जाने लगे॥ १६॥

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।
चरमं पाण्डुपुत्राणां पुरस्तात् सर्वभूभुजाम्॥ १७॥

शुक्र और मंगल बुधसे संयुक्त हो पाण्डवोंके पृष्ठभागमें तथा अन्य सब नरेशोंके सम्मुख उदित हुए थे॥ १७॥

शस्त्राग्रेष्वभवज्ज्वाला नेत्राण्याहत्य वर्षती।
शिरःस्वलीयन्त भृशं काकोलूकाश्च केतुषु॥ १८॥

शस्त्रोंके अग्रभागमें ज्वाला-सी प्रकट होती और नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करके वह पृथ्वीपर गिर जाती थी। योद्धाओं-

के मस्तकों और ध्वजाओंमें कौए और उल्लू बारंबार छिपने लगे ॥

ततस्तद् युद्धमत्युग्रमभवत् सहचारिणाम् ।
तथा सर्वाण्यनीकानि संनिपत्य जनाधिप ॥ १९ ॥
अभ्ययुः कौरवा राजन् पाण्डवानामनीकिनीम् ।

नरेश्वर ! तत्पश्चात् एक साथ संगठित होकर जूझनेवाले दोनों पक्षोंके वीरोंका वह युद्ध बड़ा भयंकर हो गया । राजन्! कौरव-योद्धाओंने अपनी सारी सेनाओंको एकत्र करके पाण्डव-सेनापर धावा बोल दिया ॥ १९½ ॥

शल्यस्तु शरवर्षेण वर्षन्निव सहस्रदृक् ॥ २० ॥
अभ्यवर्षत धर्मात्मा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

धर्मात्मा राजा शल्यने वर्षा करनेवाले इन्द्रकी भाँति कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥२०½॥

भीमसेनं शरैश्चापि रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ २१ ॥
द्रौपदेयांस्तथा सर्वान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
धृष्टद्युम्नं च शैनेयं शिखण्डिनमथापि च ॥ २२ ॥
एकैकं दशभिर्बाणैर्विव्याध स महाबलः ।
ततोऽसृजद् बाणवर्षं घर्मान्ते मघवानिव ॥ २३ ॥

महाबली शल्यने भीमसेन, द्रौपदीके सभी पुत्र, माद्री-कुमार नकुल-सहदेव, धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा शिखण्डी—इनमेंसे प्रत्येकको शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंख-वाले दस-दस बाणोंसे घायल कर दिया । तत्पश्चात् वे वर्षा-कालमें जल बरसानेवाले इन्द्रके समान बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ २१–२३ ॥

ततः प्रभद्रका राजन् सोमकाश्च सहस्रशः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्ते शल्यसायकैः ॥ २४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् सहस्रों प्रभद्रक और सोमक योद्धा शल्यके बाणोंसे घायल होकर गिरे और गिरते हुए दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

भ्रमराणामिव व्राताः शलभानामिव व्रजाः ।
ह्रादिन्य इव मेघेभ्यः शल्यस्य न्यपतञ्शराः ॥ २५ ॥

शल्यके बाण भ्रमरोंके समूह, टिड्डियोंके दल और मेघों-की घटासे प्रकट होनेवाली बिजलियोंके समान पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ २५ ॥

द्विरदास्तुरगाश्चार्ताः पत्तयो रथिनस्तथा ।
शल्यस्य बाणैरपतन् बभ्रमुर्व्यनदंस्तथा ॥ २६ ॥

शल्यके बाणोंकी मार खाकर पीड़ित हुए हाथी, घोड़े, रथी और पैदल-सैनिक गिरने, चक्कर काटने और आर्तनाद करने लगे ॥ २६ ॥

आविष्ट इव मद्रेशो मन्युना पौरुषेण च ।
प्राच्छादयदरीन् संख्ये कालसृष्ट इवान्तकः ॥ २७ ॥

प्रलयकालमें प्रकट हुए यमराजके समान मद्रराज शल्य क्रोधसे आविष्ट हुए पुरुषकी भाँति अपने पुरुषार्थसे युद्धस्थल-में शत्रुओंको बाणोंद्वारा आच्छादित करने लगे ॥ २७ ॥

विनर्दमानो मद्रेशो मेघह्रादो महाबलः ।
सा वध्यमाना शल्येन पाण्डवानामनीकिनी ॥ २८ ॥
अजातशत्रुं कौन्तेयमभ्यधावद् युधिष्ठिरम् ।

महाबली मद्रराज मेघोंकी गर्जनाके समान सिंहनाद कर रहे थे । उनके द्वारा मारी जाती हुई पाण्डवसेना भागकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके पास चली गयी ॥ २८½॥

तां सम्मर्द्य ततः संख्ये लघुहस्तः शितैः शरैः॥ २९ ॥
बाणवर्षेण महता युधिष्ठिरमताडयत् ।

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शल्यने युद्धस्थलमें पैने बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाका मर्दन करके बड़ी भारी बाणवर्षाके द्वारा युधिष्ठिरको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ २९½ ॥

तमापतन्तं पत्त्यश्वैः क्रुद्धो राजा युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥
अवारयच्छरैस्तीक्ष्णैर्महाद्विपमिवाङ्कुशैः ।

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने पैदलों और घुड़-सवारोंके साथ आते हुए शल्यको अपने तीखे बाणोंसे उसी प्रकार रोक दिया, जैसे महावत अङ्कुशोंकी मारसे विशालकाय हाथीको आगे बढ़नेसे रोक देता है ॥ ३०½ ॥

तस्य शल्यः शरं घोरं मुमोचाशीविषोपमम् ॥ ३१ ॥
स निर्भिद्य महात्मानं वेगेनाभ्यपतच्च गाम् ।

उस समय शल्यने युधिष्ठिरपर विषैले सर्पके समान एक भयंकर बाणका प्रहार किया । वह बाण बड़े वेगसे महात्मा युधिष्ठिरको घायल करके पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३१½ ॥

ततो वृकोदरः क्रुद्धः शल्यं विव्याध सप्तभिः ॥ ३२ ॥
पञ्चभिः सहदेवस्तु नकुलो दशभिः शरैः ।
द्रौपदेयाश्च शत्रुघ्नं शूरमार्तायनिं शरैः ॥ ३३ ॥

यह देख भीमसेन कुपित हो उठे । उन्होंने सात बाणोंसे शल्यको बींध डाला । फिर सहदेवने पाँच, नकुलने दस और द्रौपदीके पुत्रोंने अनेक बाणोंसे शत्रुसूदन शूरवीर शल्यको घायल कर दिया ॥ ३२-३३ ॥

अभ्यवर्षन् महाराज मेघा इव महीधरम् ।
ततो दृष्ट्वा वार्यमाणं शल्यं पार्थैः समन्ततः ॥ ३४ ॥
कृतवर्मा कृपश्चैव संक्रुद्धावभ्यधावताम् ।
उलूकश्च महावीर्यः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ३५ ॥
समागम्याथ शनकैरश्वत्थामा महाबलः ।
तव पुत्राश्च कार्त्स्न्येन जुगुपुः शल्यमाहवे ॥ ३६ ॥

महाराज ! जैसे मेघ पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे शल्यपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे । शल्यको कुन्ती-के पुत्रोंद्वारा सब ओरसे अवरुद्ध हुआ देख कृतवर्मा और कृपाचार्य क्रोधमें भरकर उनकी ओर दौड़े आये । साथ ही महापराक्रमी उलूक, सुबलपुत्र शकुनि, महाबली अश्वत्थामा तथा आपके सम्पूर्ण पुत्र भी धीरे-धीरे वहाँ आकर रणभूमिमें शल्यकी रक्षा करने लगे ॥ ३४–३६ ॥

भीमसेनं त्रिभिर्विद्ध्वा कृतवर्मा शिलीमुखैः ।
बाणवर्षेण महता क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ३७ ॥

कृतवर्माने क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको तीन बाणोंसे घायल करके भारी बाणवर्षाके द्वारा आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३७ ॥

धृष्टद्युम्नं कृपः क्रुद्धो बाणवर्षैरपीडयत् ।
द्रौपदेयांश्च शकुनिर्यमौ च द्रौणिरभ्ययात् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् कुपित हुए कृपाचार्यने धृष्टद्युम्नको अपनी बाण-वर्षाद्वारा पीड़ित कर दिया। शकुनिने द्रौपदीके पुत्रोंपर और अश्वत्थामाने नकुल-सहदेवपर धावा किया ॥ ३८ ॥

दुर्योधनो युधां श्रेष्ठ आहवे केशवार्जुनौ।
समभ्ययादुग्रतेजाः शरैश्चाप्यहनद् बली ॥ ३९ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ, भयंकर तेजस्वी और बलवान् दुर्योधनने समराङ्गणमें श्रीकृष्ण और अर्जुनपर चढ़ाई की तथा बाणोंद्वारा उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३९ ॥

एवं द्वन्द्वशतान्यासंस्त्वदीयानां परैः सह।
घोररूपाणि चित्राणि तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार जहाँ-तहाँ आपके सैनिकोंके शत्रुओं-के साथ सैकड़ों भयानक एवं विचित्र द्वन्द्वयुद्ध होने लगे ॥

ऋक्षवर्णाञ्जघानाश्वान् भोजो भीमस्य संयुगे।
सोऽवतीर्य रथोपस्थाद्धताश्वात् पाण्डुनन्दनः ॥ ४१ ॥
कालो दण्डमिवोद्यम्य गदापाणिरयुध्यत।

कृतवर्माने युद्धस्थलमें भीमसेनके रीछके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला। घोड़ोंके मारे जानेपर पाण्डुनन्दन भीम-सेन रथकी बैठकसे नीचे उतरकर हाथमें गदा ले युद्ध करने लगे, मानो यमराज अपना दण्ड उठाकर प्रहार कर रहे हों ॥ ४१½ ॥

प्रमुखे सहदेवस्य जघानाश्वान् स मद्रराट् ॥ ४२ ॥
ततः शल्यस्य तनयं सहदेवोऽसिनावधीत्।

मद्रराज शल्यने अपने सामने आये हुए सहदेवके घोड़ों-को मार डाला। तब सहदेवने भी शल्यके पुत्रको तलवारसे मार गिराया ॥ ४२½ ॥

गौतमः पुनराचार्यो धृष्टद्युम्नमयोधयत् ॥ ४३ ॥
असम्भ्रान्तमसम्भ्रान्तो यत्नवान् यत्नवत्तरम्।

कृपाचार्य बिना किसी घबराहटके विजयके लिये यत्न-शील हो सम्भ्रमरहित और अधिक प्रयत्नशील धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४३½ ॥

द्रौपदेयांस्तथा वीरानेकैकं दशभिः शरैः ॥ ४४ ॥
अविद्धयदाचार्यसुतो नातिक्रुद्धो हसन्निव।

आचार्य द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने अधिक क्रुद्ध न होकर हँसते हुए-से दस-दस बाणोंद्वारा द्रौपदीके वीर पुत्रोंमेंसे प्रत्येक-को घायल कर दिया ॥ ४४½ ॥

पुनश्च भीमसेनस्य जघानाश्वांस्तथाऽऽहवे ॥ ४५ ॥
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं हताश्वः पाण्डुनन्दनः।
कालो दण्डमिवोद्यम्य गदां क्रुद्धो महाबलः ॥ ४६ ॥
पोथयामास तुरगान् रथं च कृतवर्मणः।
कृतवर्मा त्ववप्लुत्य रथात् तस्मादपाक्रमत् ॥ ४७ ॥

(इसी बीचमें भीमसेन दूसरे रथपर आरूढ़ हो गये थे) कृतवर्माने युद्धस्थलमें पुनः भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला। तब घोड़ोंके मारे जानेपर महाबली पाण्डुकुमार भीम-सेन शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और कुपित हो दण्ड उठाये कालके समान गदा लेकर उन्होंने कृतवर्माके घोड़ों तथा रथ-को चूर-चूर कर दिया। कृतवर्मा उस रथसे कूदकर भाग गया ॥ ४५-४७ ॥

शल्योऽपि राजन् संक्रुद्धो निघ्नन् सोमकपाण्डवान्।
पुनरेव शितैर्बाणैर्युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ ४८ ॥

राजन् ! इधर शल्य भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर सोमकों और पाण्डवयोद्धाओंका संहार करने लगे। उन्होंने पुनः पैने बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको पीड़ा देना प्रारम्भ किया ॥ ४८ ॥

तस्य भीमो रणे क्रुद्धः संदश्य दशनच्छदम्।
विनाशायाभिसंधाय गदामादाय वीर्यवान् ॥ ४९ ॥
यमदण्डप्रतीकाशां कालरात्रिमिवोद्यताम्।
गजवाजिमनुष्याणां देहान्तकरणीमपि ॥ ५० ॥

यह देख पराक्रमी भीमसेन कुपित हो ओठ चबाते हुए रणभूमिमें शल्यके विनाशका संकल्प लेकर यमदण्डके समान भयंकर गदा लिये उनपर टूट पड़े। हाथी, घोड़े और मनुष्योंके भी शरीरोंका विनाश करनेवाली वह गदा संहारके लिये उद्यत हुई कालरात्रिके समान जान पड़ती थी ॥ ४९-५० ॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तामुल्कां प्रज्वलितामिव।
शैक्यां व्यालीमिवात्युग्रां वज्रकल्पामयोमयीम् ॥ ५१ ॥
चन्दनागुरुपङ्काक्तां प्रमदामीप्सितामिव।
वसामेदोपदिग्धाङ्गीं जिह्वां वैवस्वतीमिव ॥ ५२ ॥

उसके ऊपर सोनेका पत्र जड़ा गया था। वह लोहेकी बनी हुई वज्रतुल्य गदा प्रज्वलित उल्का तथा छींकेपर बैठी हुई सर्पिणीके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होती थी। अङ्गों-में चन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए मनचाही प्रियतमा रमणीके समान उसके सर्वाङ्गमें वसा और मेद लिपटे हुए थे। वह देखनेमें यमराजकी जिह्वाके समान भयंकर थी ५१-५२

पट्टघण्टाशतरवां वासवीमशनीमिव।
निर्मुक्ताशीविषाकारां पृक्तां गजमदैरपि ॥ ५३ ॥
त्रासनीं सर्वभूतानां स्वसैन्यपरिहर्षिणीम्।
मनुष्यलोके विख्यातां गिरिशृङ्गविदारणीम् ॥ ५४ ॥

उसमें सैकड़ों घंटियाँ लगी थीं, जिनका कलरव गूँजता रहता था। वह इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक जान पड़ती थी। केंचुलसे छूटे हुए विषधर सर्पके समान वह सम्पूर्ण प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करती थी और अपनी सेनाका हर्ष बढ़ाती रहती थी। उसमें हाथीके मद लिपटे हुए थे। पर्वतशिखरों-को विदीर्ण करनेवाली वह गदा मनुष्यलोकमें सर्वत्र विख्यात है ॥ ५३-५४ ॥

यया कैलासभवने महेश्वरसखं बली।
आह्वयामास युद्धाय भीमसेनो महाबलः ॥ ५५ ॥

यह वही गदा है, जिसके द्वारा महाबली भीमसेनने कैलासशिखरपर भगवान् शङ्करके सखा कुबेरको युद्धके लिये ललकारा था ॥ ५५ ॥

यया मायामयान् दृप्तान् सुबहून् धनदालये।
जघान गुह्यकान् क्रुद्धो नदन् पार्थो महाबलः ॥ ५६ ॥
निवार्यमाणो बहुभिर्द्रौपद्याः प्रियमास्थितः।

तथा जिसके द्वारा क्रोधमें भरे हुए महाबलवान् कुन्ती-कुमार भीमने बहुतोंके मना करनेपर भी द्रौपदीका प्रिय करने-के लिये उद्यत हो गर्जना करते हुए कुबेरभवनमें रहनेवाले

बहुत-से मायामय अभिमानी गुह्यकोंका वध किया था ५६½

तां वज्रमणिरत्नौघकल्मषां वज्रगौरवाम् ॥ ५७ ॥
समुद्यम्य महाबाहुः शल्यमभ्यपतद् रणे ।

जिसमें वज्रकी गुरुता भरी है और जो हीरे, मणि तथा रत्न-समूहोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करती है, उसीको हाथमें उठाकर महाबाहु भीमसेन रणभूमिमें शल्यपर टूट पड़े ॥

गदया युद्धकुशलस्तया दारुणनादया ॥ ५८ ॥
पोथयामास शल्यस्य चतुरोऽश्वान् महाजवान् ।

युद्धकुशल भीमसेनने भयंकर शब्द करनेवाली उस गदाके द्वारा शल्यके महान् वेगशाली चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥५८½॥

ततः शल्यो रणे क्रुद्धः पीने वक्षसि तोमरम् ॥ ५९ ॥
निचखान नदन् वीरो वर्म भित्त्वा च सोऽभ्ययात् ।

तब रणभूमिमें कुपित हो गर्जना करते हुए वीर शल्यने भीमसेनके विशाल वक्षःस्थलमें एक तोमर धँसा दिया । वह उनके कवचको छेदकर छातीमें गड़ गया ॥ ५९½ ॥

वृकोदरस्त्वसम्भ्रान्तस्तमेवोद्धृत्य तोमरम् ॥ ६० ॥
यन्तारं मद्रराजस्य निर्बिभेद ततो हृदि ।

इससे भीमसेनको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने उसी तोमरको निकालकर उसके द्वारा मद्रराज शल्यके सारथि-की छाती छेद डाली ॥ ६०½ ॥

स भिन्नमर्मा रुधिरं वमन् वित्रस्तमानसः ॥ ६१ ॥
पपाताभिमुखो दीनो मद्रराजस्त्वपाक्रमत् ।

इससे सारथिका मर्मस्थल विदीर्ण हो गया और वह मुँह-से रक्तवमन करता हुआ दीन एवं भयभीतचित्त होकर शल्य-के सामने ही रथसे नीचे गिर पड़ा । फिर तो मद्रराज शल्य वहाँसे पीछे हट गये ॥ ६१½ ॥

कृतप्रतिकृतं दृष्ट्वा शल्यो विस्मितमानसः ॥ ६२ ॥
गदामाश्रित्य धर्मात्मा प्रत्यमित्रमवैक्षत ।

अपने प्रहारका भरपूर उत्तर प्राप्त हुआ देख धर्मात्मा शल्यका चित्त आश्चर्यसे चकित हो उठा । वे गदा हाथमें लेकर अपने शत्रुकी ओर देखने लगे ॥ ६२½ ॥

ततः सुमनसः पार्था भीमसेनमपूजयन् ।
ते दृष्ट्वा कर्म संग्रामे घोरमक्लिष्टकर्मणः ॥ ६३ ॥

संग्राममें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भीमसेनका वह घोर पराक्रम देखकर कुन्तीके सभी पुत्र प्रसन्नचित्त हो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि भीमसेनशल्ययुद्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें भीमसेन और शल्यका युद्धविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

भीमसेन और शल्यका भयानक गदायुद्ध तथा युधिष्ठिरके साथ शल्यका युद्ध, दुर्योधनद्वारा चेकितानका और युधिष्ठिरद्वारा चन्द्रसेन एवं द्रुमसेनका वध, पुनः युधिष्ठिर और माद्रीपुत्रोंके साथ शल्यका युद्ध

संजय उवाच

पतितं प्रेक्ष्य यन्तारं शल्यः सर्वायसीं गदाम् ।
आदाय तरसा राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने सारथिको गिरा हुआ देख मद्रराज शल्य वेगपूर्वक लोहेकी गदा हाथमें लेकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ १ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
सशृङ्गमिव कैलासं सवज्रमिव वासवम् ॥ २ ॥
सशूलमिव हर्यक्षं वने मत्तमिव द्विपम् ।
जवेनाभ्यपतद् भीमः प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ३ ॥

वे प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्नि, पाशधारी यमराज, शिखरयुक्त कैलास, वज्रधारी इन्द्र, त्रिशूलधारी रुद्र तथा जंगलके मतवाले हाथीके समान भयंकर जान पड़ते थे । भीमसेन बहुत बड़ी गदा हाथमें लेकर वेगपूर्वक उनके ऊपर टूट पड़े ॥

ततः शङ्खप्रणादश्च तूर्याणां च सहस्रशः ।
सिंहनादश्च संजज्ञे शूराणां हर्षवर्धनः ॥ ४ ॥

फिर तो शङ्खनाद, सहस्रों वाद्योंका गम्भीर घोष तथा शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाला सिंहनाद सब ओर होने लगा ॥

प्रेक्षन्तः सर्वतस्तौ हि योधा योधमहाद्विपौ ।
तावकाश्चापरे चैव साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ५ ॥

योद्धाओंमें महान् गजराजके समान पराक्रमी उन दोनों वीरोंको देखकर आपके और शत्रुपक्षके योद्धा सब ओरसे 'वाह-वाह' कहकर उनके प्रति सम्मान प्रकट करने लगे—॥

न हि मद्राधिपादन्यो रामाद् वा यदुनन्दनात् ।
सोढुमुत्सहते वेगं भीमसेनस्य संयुगे ॥ ६ ॥

'संसारमें मद्रराज शल्य अथवा यदुनन्दन बलरामजीके सिवा दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो युद्धमें भीमसेनका वेग सह सके ॥ ६ ॥

तथा मद्राधिपस्यापि गदावेगं महात्मनः ।
सोढुमुत्सहते नान्यो योधो युधि वृकोदरात् ॥ ७ ॥

'इसी प्रकार महामना मद्रराज शल्यकी गदाका वेग भी रणभूमिमें भीमसेनके सिवा दूसरा कोई योद्धा नहीं सह सकता'॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मण्डलानि विचेरतुः ।
आवर्तितौ गदाहस्तौ मद्रराजवृकोदरौ ॥ ८ ॥

शल्य और भीमसेन दोनों वीर हाथमें गदा लिये साँड़ोंकी तरह गर्जते हुए चक्कर लगाने और पैंतरे देने लगे ॥ ८ ॥

मण्डलावर्तमार्गेषु गदाविहरणेषु च ।
निर्विशेषमभूद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ ९ ॥

मण्डलाकार गतिसे घूमनेमें, भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाने-की कलामें तथा गदाका प्रहार करनेमें उन दोनों पुरुषसिंहोंमें

कोई भी अन्तर नहीं दिखायी देता था; दोनों एक-से जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तप्तहेममयैः शुभ्रैर्बभूव भयवर्धिनी ।
अग्निजालैरिवाबद्धा पट्टैः शल्यस्य सा गदा ॥ १० ॥

तपाये हुए उज्ज्वल सुवर्णमय पत्रोंसे जड़ी हुई शल्यकी वह भयंकर गदा आगकी ज्वालाओंसे लिपटी हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ १० ॥

तथैव चरतो मार्गान् मण्डलेषु महात्मनः ।
विद्युदभ्रप्रतीकाशा भीमस्य शुशुभे गदा ॥ ११ ॥

इसी प्रकार मण्डलाकार गतिसे विचित्र पैंतरोंके साथ विचरते हुए महामनस्वी भीमसेनकी गदा बिजलीसहित मेघके समान सुशोभित होती थी ॥ ११ ॥

ताडिता मद्रराजेन भीमस्य गदया गदा ।
दह्यमानेव खे राजन् सासृजत् पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

राजन् ! मद्रराजने अपनी गदासे जब भीमसेनकी गदापर चोट की, तब वह प्रज्वलित-सी हो उठी और उससे आगकी लपटें निकलने लगीं ॥ १२ ॥

तथा भीमेन शल्यस्य ताडिता गदया गदा ।
अङ्गारवर्षं मुमुचे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार भीमसेनकी गदासे ताड़ित होकर शल्यकी गदा भी अङ्गारे बरसाने लगी। वह अद्भुत-सा दृश्य हुआ ॥ १३ ॥

दन्तैरिव महानागौ शृङ्गैरिव महर्षभौ ।
तोत्रैरिव तदान्योन्यं गदाग्राभ्यां निजघ्नतुः ॥ १४ ॥

जैसे दो विशाल हाथी दाँतोंसे और दो बड़े-बड़े साँड़ सींगोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार अङ्कुशों-जैसी उन श्रेष्ठ गदाओंद्वारा वे दोनों वीर एक दूसरेपर आघात करने लगे ॥ १४ ॥

तौ गदाभिहतैर्गात्रैः क्षणेन रुधिरोक्षितौ ।
प्रेक्षणीयतरावास्तां पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ १५ ॥

उन दोनोंके अङ्गोंमें गदाकी गहरी चोटोंसे घाव हो गये थे। अतः दोनों ही क्षणभरमें खूनसे नहा गये। उस समय खिले हुए दो पलाशवृक्षोंके समान वे दोनों वीर देखने ही योग्य जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

गदया मद्रराजस्य सव्यदक्षिणमाहतः ।
भीमसेनो महाबाहुर्न चचालाचलो तथा ॥ १६ ॥

मद्रराजकी गदासे दायें-बायें अच्छी तरह चोट खाकर भी महाबाहु भीमसेन विचलित नहीं हुए। वे पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े रहे ॥ १६ ॥

तथा भीमगदावेगैस्ताड्यमानो मुहुर्मुहुः ।
शल्यो न विव्यथे राजन् दन्तिनेव महागिरिः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार भीमसेनकी गदाके वेगसे बारंबार आहत होनेपर भी शल्यको उसी प्रकार व्यथा नहीं हुई, जैसे दन्तार हाथीके आघातसे महान् पर्वत पीड़ित नहीं होता ॥ १७ ॥

शुश्रुवे दिक्षु सर्वासु तयोः पुरुषसिंहयोः ।
गदानिपातसंह्रादो वज्रयोरिव निस्वनः ॥ १८ ॥

उस समय उन दोनों पुरुषसिंहोंकी गदाओंके टकरानेकी आवाज सम्पूर्ण दिशाओंमें दो वज्रोंके आघातके समान सुनायी देती थी ॥ १८ ॥

निवृत्य तु महावीर्यौ समुच्छ्रितमहागदौ ।
पुनरन्तरमार्गस्थौ मण्डलानि विचेरतुः ॥ १९ ॥

महापराक्रमी भीमसेन और शल्य दोनों वीर अपनी विशाल गदाओंको ऊपर उठाये कभी पीछे लौट पड़ते, कभी मध्यम मार्गमें स्थित होते और कभी मण्डलाकार घूमने लगते थे ॥ १९ ॥

अथाभ्येत्य पदान्यष्टौ संनिपातोऽभवत् तयोः ।
उद्यम्य लोहदण्डाभ्यामतिमानुषकर्मणोः ॥ २० ॥

वे युद्ध करते-करते आठ कदम आगे बढ़ आये और लोहेके डंडे उठाकर एक दूसरेको मारने लगे। उनका पराक्रम अलौकिक था। उन दोनोंमें उस समय भयानक संघर्ष होने लगा ॥ २० ॥

पोथयन्तौ तदान्योन्यं मण्डलानि विचेरतुः ।
क्रियाविशेषं कृतिनौ दर्शयामासतुस्तदा ॥ २१ ॥

वे दोनों युद्धकलाके विद्वान् वीर, एक दूसरेको कुचलते हुए मण्डलाकार विचरते और अपना-अपना विशेष कार्य-कौशल प्रदर्शित करते थे ॥ २१ ॥

अथोद्यम्य गदे घोरे सशृङ्गाविव पर्वतौ ।
तावाजघ्नतुरन्योन्यं मण्डलानि विचेरतुः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वे पुनः अपनी भयंकर गदाएँ उठाकर शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान परस्पर आघात करने और मण्डलाकार गतिसे विचरने लगे ॥ २२ ॥

क्रियाविशेषकृतिनौ रणभूमितलेऽचलौ ।
तौ परस्परसंरम्भाद् गदाभ्यां सुभृशाहतौ ॥ २३ ॥
युगपत् पेततुर्वीरावुभाविन्द्रध्वजाविव ।
उभयोः सेनयोर्वीरास्तदा हाहाकृतोऽभवन् ॥ २४ ॥

युद्धविषयक कार्यविशेषके ज्ञाता वे दोनों वीर अविचल-भावसे रणभूमिमें डटे हुए थे। वे एक दूसरेपर क्रोधपूर्वक गदाओंका प्रहार करके अत्यन्त घायल हो गये और दो इन्द्र-ध्वजोंके समान एक ही साथ पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय दोनों सेनाओंके वीर हाहाकार करने लगे ॥ २३-२४ ॥

भृशं मर्माण्यभिहतावुभावास्तां सुविह्वलौ ।
ततः स्वरथमारोप्य मद्राणामृषभं रणे ॥ २५ ॥
अपोवाह कृपः शल्यं तूर्णमायोधनादथ ।

भीम और शल्य दोनोंके मर्मस्थानोंमें गहरी चोटें लगी थीं; इसलिये दोनों ही अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। इतने-हीमें कृपाचार्य मद्रराज शल्यको अपने रथपर बिठाकर तुरंत ही युद्धभूमिसे दूर हटा ले गये ॥ २५½ ॥

क्षीणवद् विह्वलत्वात् तु निमेषात् पुनरुत्थितः॥ २६ ॥
भीमसेनो गदापाणिः समाह्वयत मद्रपम् ।

इधर गदाधारी भीमसेन पलक मारते-मारते पुनः होशमें आकर उठ खड़े हुए और विह्वलताके कारण मतवाले पुरुष-

के समान मद्रराजको युद्धके लिये ललकारने लगे ॥ २६½ ॥

ततस्तु तावकाः शूरा नानाशस्त्रसमायुताः ॥ २७ ॥
नानावादित्रशब्देन पाण्डुसेनामयोधयन् ।

तब आपके सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर भाँति-भाँतिके रणवाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ पाण्डवसेनासे युद्ध करने लगे ॥ २७½ ॥

भुजावुच्छ्रित्य शस्त्रं च शब्देन महता ततः ॥ २८ ॥
अभ्यद्रवन् महाराज दुर्योधनपुरोगमाः ।

महाराज ! दुर्योधन आदि कौरववीर दोनों हाथ और शस्त्र उठाकर महान् कोलाहल एवं सिंहनाद करते हुए शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ २८½ ॥

तदनीकमभिप्रेक्ष्य ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ॥ २९ ॥
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनपुरोगमान् ।

उस कौरवदलको धावा करते देख पाण्डव-वीर सिंहके समान गर्जना करके दुर्योधन आदिकी ओर बढ़ चले ।२९½।

तेषामापततां तूर्णं पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ ३० ॥
प्रासेन चेकितानं वै विव्याध हृदये भृशम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रने तुरंत ही एक प्रासका प्रहार करके उन आक्रमणकारी पाण्डव योद्धाओंमेंसे चेकितानकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३०½ ॥

स पपात रथोपस्थे तव पुत्रेण ताडितः ॥ ३१ ॥
रुधिरौघपरिक्लिन्नः प्रविश्य विपुलं तमः ।

आपके पुत्रद्वारा ताड़ित होकर चेकितान अत्यन्त मूर्छित हो रथकी बैठकमें गिर पड़ा । उस समय उसका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो गया था ॥ ३१½ ॥

चेकितानं हतं दृष्ट्वा पाण्डवेया महारथाः ॥ ३२ ॥
असक्तमभ्यवर्षन्त शरवर्षाणि भागशः ।

चेकितानको मारा गया देख पाण्डव महारथी पृथक्-पृथक् बाणोंकी लगातार वर्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

तावकानामनीकेषु पाण्डवा जितकाशिनः ॥ ३३ ॥
व्यचरन्त महाराज प्रेक्षणीयाः समन्ततः ।

महाराज ! विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव आपकी सेनाओंमें सब ओर निर्भय विचरते थे । उस समय वे देखने ही योग्य थे ॥ ३३½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च सौबलश्च महारथः ॥ ३४ ॥
अयोधयन् धर्मराजं मद्रराजपुरस्कृताः ।

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी शकुनि मद्रराज शल्यको आगे करके धर्मराज युधिष्ठिरसे युद्ध करने लगे ॥

भारद्वाजस्य हन्तारं भूरिवीर्यपराक्रमम् ॥ ३५ ॥
दुर्योधनो महाराज धृष्टद्युम्नमयोधयत् ।

राजाधिराज ! आपका पुत्र दुर्योधन अत्यन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्नके साथ जूझने लगा ॥३५½॥

त्रिसाहस्रास्तथा राजंस्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ ३६ ॥
अयोधयन्त विजयं द्रोणपुत्रपुरस्कृताः ।

राजन् ! आपके पुत्रसे प्रेरित हो तीन हजार योद्धा अश्वत्थामाको अगुआ बनाकर अर्जुनके साथ युद्ध करने लगे ॥

विजये धृतसंकल्पाः समरे त्यक्तजीविताः ॥ ३७ ॥
प्राविशंस्तावका राजन् हंसा इव महत् सरः ।

नरेश्वर ! जैसे हंस महान् सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार आपके सैनिक समराङ्गणमें विजयका दृढ़ संकल्प ले प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंकी सेनामें जा घुसे ॥ ३७½ ॥

ततो युद्धमभूद् घोरं परस्परवधैषिणाम् ॥ ३८ ॥
अन्योन्यवधसंयुक्तमन्योन्यप्रीतिवर्धनम् ।

फिर तो एक दूसरेके वधकी इच्छावाले उभयपक्षके सैनिकोंमें घोर युद्ध होने लगा । सभी एक दूसरेके संहारके लिये सचेष्ट थे और वह युद्ध उनकी पारस्परिक प्रसन्नताको बढ़ा रहा था ॥ ३८½ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे राजन् वीरवरक्षये ॥ ३९ ॥
अनिलेनेरितं घोरमुत्तस्थौ पार्थिवं रजः ।

राजन् ! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस घोर संग्रामके आरम्भ होते ही वायुकी प्रेरणासे धरतीकी भयंकर धूल ऊपरको उठने लगी ॥ ३९½ ॥

श्रवणान्नामधेयानां पाण्डवानां च कीर्तनात् ॥ ४० ॥
परस्परं विजानीमो यद्युध्यन्नभीतवत् ।

उस समय उस धूलके अन्धकारमें समस्त योद्धा निर्भय-से होकर युद्ध कर रहे थे । पाण्डव तथा कौरवयोद्धा जो अपना नाम लेकर परिचय देते थे, उसे ही सुनकर हमलोग एक दूसरेको पहचान पाते थे ॥ ४०½ ॥

तद्रजः पुरुषव्याघ्र शोणितेन प्रशामितम् ॥ ४१ ॥
दिशश्च विमला जातास्तस्मिंस्तमसि नाशिते ।

पुरुषसिंह ! उस समय इतना खून बहा कि उससे वहाँ छायी हुई सारी धूल बैठ गयी । उस धूलजनित अन्धकारका नाश होनेपर सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥ ४१½ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे घोररूपे भयानके ॥ ४२ ॥
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ।

इस प्रकार वह घोर एवं भयानक संग्राम चलने लगा । उस समय आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमेंसे कोई भी युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ ४२½ ॥

ब्रह्मलोकपरा भूत्वा प्रार्थयन्तो जयं युधि ॥ ४३ ॥
सुयुद्धेन पराक्रान्ता नराः स्वर्गमभीप्सवः ।

सबका लक्ष्य था ब्रह्मलोककी प्राप्ति । वे सभी सैनिक युद्धमें विजय चाहते और उत्तम युद्धके द्वारा पराक्रम दिखाते हुए स्वर्गलोक पानेकी अभिलाषा रखते थे ॥ ४३½ ॥

भर्तृपिण्डविमोक्षार्थं भर्तृकार्यविनिश्चिताः ॥ ४४ ॥
स्वर्गसंसक्तमनसो योधा युयुधिरे तदा ।

सभी योद्धा स्वामीके दिये हुए अन्नके ऋणसे उऋण होनेके लिये उनके कार्यको सिद्ध करनेका दृढ़ निश्चय किये मनमें स्वर्गकी अभिलाषा रखकर उस समय उत्साहपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ४४½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ ४५ ॥
अन्योन्यमभिगर्जन्तः प्रहरन्तः परस्परम् ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके परस्पर प्रहार करनेवाले महारथी एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करते थे ॥

हत विध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत ॥ ४६ ॥
इति स्म वाचः श्रूयन्ते तव तेषां च वै बले ।

आपकी और पाण्डवोंकी सेनामें 'मारो, बींध डालो, पकड़ो, प्रहार करो और टुकड़े-टुकड़े कर डालो' ये ही बातें सुनायी देती थीं ॥ ४६½ ॥

ततः शल्यो महाराज धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ४७ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैर्हन्तुकामो महारथम् ।

महाराज ! तदनन्तर राजा शल्यने महारथी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥

तस्य पार्थो महाराज नाराचान् वै चतुर्दश ॥ ४८ ॥
मर्माण्युद्दिश्य मर्मज्ञो निचखान हसन्निव ।

महाराज ! मर्मज्ञ कुन्तीकुमारने शल्यके मर्मस्थानोंको लक्ष्य करके हँसते हुए-से चौदह नाराच चलाये और उनके अङ्गोंमें धँसा दिये ॥ ४८½ ॥

आवार्य पाण्डवं बाणैर्हन्तुकामो महाबलः ॥ ४९ ॥
विव्याध समरे क्रुद्धो बहुभिः कङ्कपत्रिभिः ।

महाबली शल्य पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रोककर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे समराङ्गणमें कङ्कपत्रयुक्त अनेक बाणों-द्वारा उनपर क्रोधपूर्वक प्रहार करने लगे ॥ ४९½ ॥

अथ भूयो महाराज शरेणानतपर्वणा ॥ ५० ॥
युधिष्ठिरं समाजघ्ने सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजाधिराज ! फिर उन्होंने सारी सेनाके देखते-देखते झुकी हुई गाँठवाले बाणसे युधिष्ठिरको घायल कर दिया ५०½

धर्मराजोऽपि संक्रुद्धो मद्रराजं महायशाः ॥ ५१ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

तब महायशस्वी धर्मराजने भी अत्यन्त कुपित हो कङ्क और मोरकी पाँखोंवाले पैने बाणोंसे मद्रराज शल्यको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५१½ ॥

चन्द्रसेनं च सप्तत्या सूतं च नवभिः शरैः ॥ ५२ ॥
द्रुमसेनं चतुःषष्ट्या निजघान महारथः ।

इसके बाद महारथी युधिष्ठिरने सत्तर बाणोंसे चन्द्रसेन-को, नव बाणोंसे शल्यके सारथिको और चौंसठ बाणोंसे द्रुमसेनको मार डाला ॥ ५२½ ॥

चक्ररक्षे हते शल्यः पाण्डवेन महात्मना ॥ ५३ ॥
निजघान ततो राजंश्चेदीन् वै पञ्चविंशतिम् ।

महात्मा पाण्डवके द्वारा अपने चक्ररक्षकके मारे जानेपर राजा शल्यने पचीस चेदि-योद्धाओंका संहार कर डाला ५३½

सात्यकिं पञ्चविंशत्या भीमसेनं च पञ्चभिः ॥ ५४ ॥
माद्रीपुत्रौ शतेनाजौ विव्याध निशितैः शरैः ।

फिर सात्यकिको पचीस, भीमसेनको पाँच तथा माद्रीके पुत्रोंको सौ तीखे बाणोंसे रणभूमिमें घायल कर दिया ॥५४½॥

एवं विचरतस्तस्य संग्रामे राजसत्तम ॥ ५५ ॥
सम्प्रैषयच्छितान् पार्थः शरानाशीविषोपमान् ।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार संग्राममें विचरते हुए राजा शल्य-को लक्ष्य करके कुन्तीकुमारने विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीखे बाण चलाये ॥ ५५½ ॥

ध्वजाग्रं चास्य समरे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५६ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरद् रथात् ।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने समराङ्गणमें सामने खड़े हुए शल्यकी ध्वजाके अग्रभागको एक भल्लके द्वारा रथसे काट गिराया ॥

पाण्डुपुत्रेण वै तस्य केतुं छिन्नं महात्मना ॥ ५७ ॥
निपतन्तमपश्याम गिरिशृङ्गमिवाहतम् ।

महात्मा पाण्डुपुत्रके द्वारा कटकर गिरते हुए उस ध्वजको हमलोगोंने वज्रके आघातसे टूटकर नीचे गिरनेवाले पर्वत-शिखरके समान देखा था ॥ ५७½ ॥

ध्वजं निपतितं दृष्ट्वा पाण्डवं च व्यवस्थितम् ॥ ५८ ॥
संक्रुद्धो मद्रराजोऽभूच्छरवर्षं मुमोच ह ।

ध्वज नीचे गिर पड़ा और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर सामने खड़े हैं; यह देखकर मद्रराज शल्यको बड़ा क्रोध हुआ और वे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५८½ ॥

शल्यः सायकवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ५९ ॥
अभ्यवर्षदमेयात्मा क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न क्षत्रियशिरोमणि शल्य वृष्टि-कारी मेघके समान क्षत्रियोंपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ५९½

सात्यकिं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ६० ॥
एकैकं पञ्चभिर्विद्ध्वा युधिष्ठिरमपीडयत् ।

सात्यकि, भीमसेन और माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव—इनमेंसे प्रत्येकको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके वे युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगे ॥ ६०½ ॥

ततो बाणमयं जालं विततं पाण्डवोरसि ॥ ६१ ॥
अपश्याम महाराज मेघजालमिवोद्गतम् ।

महाराज ! तदनन्तर हमलोगोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी छातीपर बाणोंका जाल-सा बिछा हुआ देखा, मानो आकाशमें मेघोंकी घटा घिर आयी हो ॥ ६१½ ॥

तस्य शल्यो रणे क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६२ ॥
दिशः संछादयामास प्रदिशश्च महारथः ।

रणभूमिमें कुपित हुए महारथी शल्यने झुकी हुई गाँठ-वाले बाणोंसे युधिष्ठिरकी सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको ढक दिया ॥ ६२½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बाणजालेन पीडितः ।
बभूवाद्भुतविक्रान्तो जम्भो वृत्रहणा यथा ॥ ६३ ॥

उस समय अद्भुत पराक्रमी राजा युधिष्ठिर उस बाण-समूहसे वैसे ही पीड़ित हो गये, जैसे इन्द्रने जम्भासुरको संतप्त किया था ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

मद्रराज शल्यका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

पीडिते धर्मराजे तु मद्रराजेन मारिष।
सात्यकिर्भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १ ॥
परिवार्य रथैः शल्यं पीडयामासुराहवे।

संजय कहते हैं—आर्य ! जब मद्रराज शल्य धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगे, तब सात्यकि, भीमसेन और माद्रीपुत्र पाण्डव नकुल-सहदेवने युद्धस्थलमें शल्यको रथोंद्वारा घेरकर उन्हें पीड़ा देना प्रारम्भ किया ॥ १½ ॥

तमेकं बहुभिर्दृष्ट्वा पीड्यमानं महारथैः ॥ २ ॥
साधुवादो महाञ्जज्ञे सिद्धाश्चासन् प्रहर्षिताः।
आश्चर्यमित्यभाषन्त मुनयश्चापि सङ्गताः ॥ ३ ॥

अकेले शल्यको अनेक महारथियोंद्वारा पीड़ित होते देख उनको सब ओरसे महान् साधुवाद प्राप्त होने लगा। वहाँ एकत्र हुए सिद्ध और महर्षि भी हर्षमें भरकर बोल उठे—'आश्चर्य है' ॥ २-३ ॥

भीमसेनो रणे शल्यं शल्यभूतं पराक्रमे।
एकेन विद्ध्वा बाणेन पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ ४ ॥

भीमसेनने रणभूमिमें अपने पराक्रमके लिये कण्टकरूप शल्यको पहले एक बाणसे घायल करके फिर सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ४ ॥

सात्यकिश्च शतेनैनं धर्मपुत्रपरीप्सया।
मद्रेश्वरमवाकीर्य सिंहनादमथानदत् ॥ ५ ॥

सात्यकि भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये मद्रराजको सौ बाणोंसे आच्छादित करके सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥५॥

नकुलः पञ्चभिश्चैनं सहदेवश्च पञ्चभिः।
विद्ध्वा तं तु पुनस्तूर्णं ततो विव्याध सप्तभिः ॥ ६ ॥

नकुल और सहदेवने पाँच-पाँच बाणोंसे शल्यको घायल करके फिर सात बाणोंसे उन्हें तुरंत ही बींध डाला ॥ ६ ॥

स तु शूरो रणे यत्तः पीडितस्तैर्महारथैः।
विकृष्य कार्मुकं घोरं वेगघ्नं भारसाधनम् ॥ ७ ॥
सात्यकिं पञ्चविंशत्या शल्यो विव्याध मारिष।
भीमसेनं तु सप्तत्या नकुलं सप्तभिस्तथा ॥ ८ ॥

माननीय नरेश ! समराङ्गणमें शूरवीर शल्यने उन महारथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर भी विजयके लिये यत्नशील हो भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुके वेगका नाश करनेवाले एक भयंकर धनुषको खींचकर सात्यकिको पचीस, भीमसेनको सत्तर और नकुलको सात बाण मारे ॥ ७-८ ॥

ततः सविशिखं चापं सहदेवस्य धन्विनः।
छित्त्वा भल्लेन समरे विव्याधैनं त्रिसप्तभिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् समरभूमिमें एक भल्लके द्वारा धनुर्धर सहदेवके बाणसहित धनुषको काटकर शल्यने उन्हें इकीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ९ ॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं भूरिवर्चसम्।
सज्यमन्यद् धनुः कृत्वा पञ्चभिः समताडयत् ॥ १० ॥
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलज्ज्वलनसंनिभैः ।

तब सहदेवने संग्राममें दूसरे धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर अपने अत्यन्त तेजस्वी मामाको विषधर सर्पोंके समान भयंकर और जलती हुई आगके समान प्रज्वलित पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ १०½ ॥

सारथिं चास्य समरे शरेणानतपर्वणा ॥ ११ ॥
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तं वै भूयस्त्रिभिः शरैः।

साथ ही अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उनके सारथिको भी पीट दिया और उन्हें भी पुनः तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ११½ ॥

भीमसेनस्तु सप्तत्या सात्यकिर्नवभिः शरैः ॥ १२ ॥
धर्मराजस्तथा षष्ट्या गात्रे शल्यं समार्पयत्।

तत्पश्चात् भीमसेनने सत्तर, सात्यकिने नौ और धर्मराज युधिष्ठिरने साठ बाणोंसे शल्यके शरीरको चोट पहुँचायी १२½

ततः शल्यो महाराज निर्विद्धस्तैर्महारथैः ॥ १३ ॥
सुस्राव रुधिरं गात्रैर्गैरिकं पर्वतो यथा।

महाराज ! उन महारथियोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिये जानेपर राजा शल्य अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाने लगे, मानो पर्वत गेरु-मिश्रित जलका झरना बहा रहा हो ॥१३½॥

तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ॥१४॥
विव्याध तरसा राजंस्तदद्भुतमिवाभवत्।

राजन् ! उन्होंने उन सभी महाधनुर्धरोंको पाँच-पाँच बाणोंसे वेगपूर्वक घायल कर दिया। वह उनके द्वारा अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ १४½ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन धर्मपुत्रस्य मारिष ॥ १५ ॥
धनुश्चिच्छेद समरे सज्यं स सुमहारथः।

मान्यवर ! तदनन्तर उन श्रेष्ठ महारथी शल्यने समराङ्गणमें एक दूसरे भल्लके द्वारा धर्मपुत्र युधिष्ठिरके प्रत्यञ्चासहित धनुषको काट डाला ॥ १५½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
साश्वसूतध्वजरथं शल्यं प्राच्छादयच्छरैः।

तब धर्मपुत्र युधिष्ठिरने दूसरा धनुष हाथमें लेकर घोड़े, सारथि, ध्वज और रथसहित शल्यको अपने बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १६½ ॥

स च्छाद्यमानः समरे धर्मपुत्रस्य सायकैः ॥ १७ ॥
युधिष्ठिरमथाविध्यद् दशभिर्निशितैः शरैः।

समराङ्गणमें धर्मपुत्रके बाणोंसे आच्छादित होते हुए शल्यने युधिष्ठिरको दस पैने बाणोंसे बींध डाला ॥ १७½ ॥

सात्यकिस्तु ततः क्रुद्धो धर्मपुत्रे शरार्दिते ॥ १८ ॥
मद्राणामधिपं शूरं शरैर्विव्याध पञ्चभिः।

जब धर्मपुत्र युधिष्ठिर शल्यके बाणोंसे पीड़ित हो गये, तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने शूरवीर मद्रराजपर पाँच बाणोंका प्रहार किया ॥ १८½ ॥

स सात्यकेः प्रचिच्छेद क्षुरप्रेण महद् धनुः ॥ १९ ॥
भीमसेनमुखांस्तांश्च त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ।

यह देख शल्यने एक क्षुरप्रसे सात्यकिके विशाल धनुषको काट दिया और भीमसेन आदिको भी तीन-तीन बाणोंसे चोट पहुँचायी ॥ १९½ ॥

तस्य क्रुद्धो महाराज सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ २० ॥
तोमरं प्रेषयामास स्वर्णदण्डं महाधनम् ।

महाराज ! तब सत्यपराक्रमी सात्यकिने कुपित हो शल्यपर सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक बहुमूल्य तोमरका प्रहार किया ॥ २०½ ॥

भीमसेनोऽथ नाराचं ज्वलन्तमिव पन्नगम् ॥ २१ ॥
नकुलः समरे शक्तिं सहदेवो गदां शुभाम् ।
धर्मराजः शतघ्नीं च जिघांसुः शल्यमाहवे ॥ २२ ॥

भीमसेनने प्रज्वलित सर्पके समान नाराच चलाया, नकुलने संग्रामभूमिमें शल्यपर शक्ति छोड़ी, सहदेवने सुन्दर गदा चलायी और धर्मराज युधिष्ठिरने रणक्षेत्रमें शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर शतघ्नीका प्रहार किया ॥२१-२२॥

तानापतत एवाशु पञ्चानां वै भुजच्युतान् ।
वारयामास समरे शस्त्रसङ्घैः स मद्रराट् ॥ २३ ॥

परंतु मद्रराज शल्यने समराङ्गणमें अपने शस्त्रसमूहोंद्वारा उन पाँचों वीरोंके हाथोंसे छूटे हुए उक्त सभी अस्त्रोंका शीघ्र ही निवारण कर दिया ॥ २३ ॥

सात्यकिप्रहितं शल्यो भल्लैश्चिच्छेद तोमरम् ।
प्रहितं भीमसेनेन शरं कनकभूषणम् ॥ २४ ॥
द्विधा चिच्छेद समरे कृतहस्तः प्रतापवान् ।

सिद्धहस्त एवं प्रतापी वीर शल्यने अपने भल्लोंद्वारा सात्यकिके चलाये हुए तोमरके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और भीमसेनके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाणके दो खण्ड कर डाले ॥

नकुलप्रेषितां शक्तिं हेमदण्डां भयावहाम् ॥ २५ ॥
गदां च सहदेवेन शरौघैः समवारयत् ।

इसी प्रकार उन्होंने नकुलकी चलायी हुई स्वर्ण-दण्ड-विभूषित भयंकर शक्तिका तथा सहदेवकी फेंकी हुई गदाका भी अपने बाणसमूहोंद्वारा निवारण कर दिया ॥ २५½ ॥

शराभ्यां च शतघ्नीं तां राज्ञश्चिच्छेद भारत ॥ २६ ॥
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां सिंहनादं ननाद च ।

भारत ! फिर शल्यने दो बाणोंसे राजा युधिष्ठिरकी उस शतघ्नीको भी पाण्डवोंके देखते-देखते काट डाला और सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया ॥ २६½ ॥

नामृष्यत्तत्र शैनेयः शत्रोर्विजयमाहवे ॥ २७ ॥
अथान्यद् धनुरादाय सात्यकिः क्रोधमूर्च्छितः ।
द्वाभ्यां मद्रेश्वरं विद्ध्वा सारथिं च त्रिभिः शरैः॥२८॥

युद्धमें शत्रुकी इस विजयको शिनिपौत्र सात्यकि नहीं सहन कर सके । उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर क्रोधसे आतुर हो दो बाणोंसे मद्रराजको घायल करके तीनसे उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ २७-२८ ॥

ततः शल्यो रणे राजन् सर्वांस्तान् दशभिः शरैः ।
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपान् ॥ २९ ॥

राजन् ! तब राजा शल्य रणभूमिमें अत्यन्त कुपित हो उठे और जैसे महावत अङ्कुशोंसे बड़े-बड़े हाथियोंको चोट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार उन्होंने उन सब योद्धाओंको दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २९ ॥

ते वार्यमाणाः समरे मद्रराज्ञा महारथाः ।
न शेकुः सम्मुखे स्थातुं तस्य शत्रुनिषूदनाः ॥ ३० ॥

समराङ्गणमें मद्रराज शल्यके द्वारा इस प्रकार रोके जाते हुए शत्रुसूदन पाण्डव-महारथी उनके सामने ठहर न सके ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा शल्यस्य विक्रमम् ।
निहतान् पाण्डवान् मेने पञ्चालानथ सृञ्जयान्॥ ३१ ॥

उस समय राजा दुर्योधन शल्यका वह पराक्रम देखकर ऐसा समझने लगा कि अब पाण्डव, पाञ्चाल और सृंजय अवश्य मार डाले जायँगे ॥ ३१ ॥

ततो राजन् महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
संत्यज्य मनसा प्राणान् मद्राधिपमयोधयत् ॥ ३२ ॥

राजन् ! तदनन्तर प्रतापी महाबाहु भीमसेन मनसे प्राणोंका मोह छोड़कर मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
परिवार्य तदा शल्यं समन्ताद् व्यकिरञ्शरैः ॥ ३३ ॥

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने भी उस समय शल्यको घेरकर उनके ऊपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३३ ॥

स चतुर्भिर्महेष्वासैः पाण्डवानां महारथैः ।
वृतस्तान् योधयामास मद्रराजः प्रतापवान् ॥ ३४ ॥

इन चार महाधनुर्धर पाण्डवपक्षके महारथियोंसे घिरे हुए प्रतापी मद्रराज शल्य उन सबके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

तस्य धर्मसुतो राजन् क्षुरप्रेण महाहवे ।
चक्ररक्षं जघानाशु मद्रराजस्य पार्थिवः ॥ ३५ ॥

राजन् ! उस महासमरमें धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने एक क्षुरप्रद्वारा मद्रराज शल्यके चक्ररक्षकको शीघ्र ही मार डाला॥

तस्मिंस्तु निहते शूरे चक्ररक्षे महारथे ।
मद्रराजोऽपि बलवान् सैनिकानावृणोच्छरैः ॥ ३६ ॥

अपने महारथी शूरवीर चक्ररक्षकके मारे जानेपर बलवान् मद्रराजने भी बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके समस्त योद्धाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३६ ॥

समावृतांस्ततस्तांस्तु राजन् वीक्ष्य स्वसैनिकान् ।
चिन्तयामास समरे धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें अपने समस्त सैनिकोंको बाणोंसे ढका हुआ देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे— ॥ ३७ ॥

कथं नु समरे शक्यं तन्माधववचो महत्।
न हि क्रुद्धो रणे राजा क्षपयेत बलं मम ॥ ३८ ॥

'इस युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई वह महत्त्वपूर्ण बात कैसे सिद्ध हो सकेगी? कहीं ऐसा न हो कि रणभूमिमें कुपित हुए महाराज शल्य मेरी सारी सेनाका संहार कर डालें ॥ ३८ ॥

(अहं मद्भ्रातरश्चैव सात्यकिश्च महारथः।
पञ्चालाः सृञ्जयाश्चैव न शक्ताः स्म हि मद्रपम्॥
निहनिष्यति चैवाद्य मातुलोऽस्मान् महाबलः।
गोविन्दवचनं सत्यं कथं भवति किं त्विदम् ॥)

'मैं, मेरे भाई, महारथी सात्यकि तथा पाञ्चाल और सृंजय योद्धा सब मिलकर भी मद्रराज शल्यको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं। जान पड़ता है ये महाबली मामा आज हमलोगोंका वध कर डालेंगे। फिर भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात (कि शल्य मेरे हाथसे मारे जायँगे) कैसे सिद्ध होगी?' ॥

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
मद्रराजं समासेदुः पीडयन्तः समन्ततः ॥ ३९ ॥

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र! तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित समस्त पाण्डवयोद्धा मद्रराज शल्यको सब ओरसे पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये ॥ ३९ ॥

नानाशस्त्रौघबहुलां शस्त्रवृष्टिं समुद्यताम्।
व्यधमत् समरे राजा महाभ्राणीव मारुतः ॥ ४० ॥

जैसे वायु बड़े-बड़े बादलोंको उड़ा देती है, उसी प्रकार समराङ्गणमें राजा शल्यने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे परिपूर्ण उस उमड़ी हुई शस्त्रवर्षाको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥

ततः कनकपुङ्खां तां शल्यक्षिप्तां वियद्गताम्।
शरवृष्टिमपश्याम शलभानामिवायतिम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् शल्यके चलाये हुए सुनहरे पंखवाले बाणोंकी वर्षा आकाशमें टिड्डीदलोंके समान छा गयी, जिसे हमने अपनी आँखों देखा था ॥ ४१ ॥

ते शरा मद्रराजेन प्रेषिता रणमूर्धनि।
सम्पतन्तः स्म दृश्यन्ते शलभानां व्रजा इव ॥ ४२ ॥

युद्धके मुहानेपर मद्रराजके चलाये हुए वे बाण शलभसमूहोंके समान गिरते दिखायी देते थे ॥ ४२ ॥

मद्रराजधनुर्मुक्तैः शरैः कनकभूषणैः।
निरन्तरमिवाकाशं सम्बभूव जनाधिप ॥ ४३ ॥

नरेश्वर! मद्रराज शल्यके धनुषसे छूटे हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंसे आकाश ठसाठस भर गया था ॥ ४३ ॥

न पाण्डवानां नास्माकं तत्र किञ्चिद् व्यदृश्यत।
बाणान्धकारे महति कृते तत्र महाहवे ॥ ४४ ॥

उस महायुद्धमें बाणोंद्वारा महान् अन्धकार छा गया, जिससे वहाँ हमारी और पाण्डवोंकी कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी ॥ ४४ ॥

मद्रराजेन बलिना लाघवाच्छरवृष्टिभिः।
चाल्यमानं तु तं दृष्ट्वा पाण्डवानां बलार्णवम् ॥ ४५॥
विस्मयं परमं जग्मुर्देवगन्धर्वदानवाः।

बलवान् मद्रराजके द्वारा शीघ्रतापूर्वक की जानेवाली उस बाणवर्षासे पाण्डवोंके उस सैन्यसमुद्रको विचलित होते देख देवता, गन्धर्व और दानव अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये ४५½

स तु तान् सर्वतो यत्ताञ्शरैः संछाद्य मारिष ॥४६ ॥
धर्मराजमवच्छाद्य सिंहवद् व्यनदन्मुहुः।

मान्यवर! विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन समस्त योद्धाओंको सब ओरसे बाणोंद्वारा आच्छादित करके शल्य धर्मराज युधिष्ठिरको भी ढककर बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे ॥ ४६½ ॥

ते च्छन्नाः समरे तेन पाण्डवानां महारथाः ॥ ४७ ॥
नाशक्नुवंस्तदा युद्धे प्रत्युद्यातुं महारथम्।

समराङ्गणमें उनके बाणोंसे आच्छादित हुए पाण्डवोंके महारथी उस युद्धमें महारथी शल्यकी ओर आगे बढ़नेमें समर्थ न हो सके ॥ ४७½ ॥

धर्मराजपुरोगास्तु भीमसेनमुखा रथाः।
न जहुः समरे शूरं शल्यमाहवशोभिनम् ॥ ४८ ॥

तो भी धर्मराजको आगे रखकर भीमसेन आदि रथी संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर शल्यको वहाँ छोड़कर पीछे न हटे ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्ययुद्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका युद्धविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

अर्जुन और अश्वत्थामाका युद्ध तथा पाञ्चाल वीर सुरथका वध

संजय उवाच

अर्जुनो द्रौणिना विद्धो युद्धे बहुभिरायसैः।
तस्य चानुचरैः शूरैस्त्रिगर्तानां महारथैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! दूसरी ओर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा उसके पीछे चलनेवाले त्रिगर्तदेशीय शूरवीर महारथियोंने अर्जुनको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ १ ॥

द्रौणिं विव्याध समरे त्रिभिरेव शिलीमुखैः।
तथेतरान् महेष्वासान् द्वाभ्यां द्वाभ्यां धनंजयः ॥ २ ॥

तब अर्जुनने समरभूमिमें तीन बाणोंसे अश्वत्थामाको और दो-दो बाणोंसे अन्य महाधनुर्धरोंको बींध डाला ॥ २ ॥

भूयश्चैव महाराज शरवर्षैरवाकिरत्।
शरकण्टकितास्ते तु तावका भरतर्षभ ॥ ३ ॥
न जहुः पार्थमासाद्य ताड्यमानाः शितैः शरैः।

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अर्जुनने पुनः उन सबको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित कर दिया । अर्जुनके पैने बाणोंकी मार खाकर उन बाणोंसे कण्टकयुक्त होकर भी आपके सैनिक अर्जुनको छोड़ न सके ॥ ३½ ॥

अर्जुनं रथवंशेन द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ ४ ॥
अयोधयन्त समरे परिवार्य महारथाः ।

समराङ्गणमें द्रोणपुत्रको आगे करके कौरव महारथी अर्जुनको रथसमूहसे घेरकर उनके साथ युद्ध करने लगे ॥४½॥

तैस्तु क्षिप्ताः शरा राजन् कार्तस्वरविभूषिताः ॥ ५ ॥
अर्जुनस्य रथोपस्थं पूरयामासुरञ्जसा ।

राजन् ! उनके चलाये हुए सुवर्णभूषित बाणोंने अर्जुनके रथकी बैठकको अनायास ही भर दिया ॥ ५½ ॥

तथा कृष्णौ महेष्वासौ वृषभौ सर्वधन्विनाम् ॥ ६ ॥
शरैर्वीक्ष्य विनुन्नाङ्गौ प्रहृष्टा युद्धदुर्मदाः ।

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ तथा महाधनुर्धर श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंको बाणोंसे व्यथित हुआ देख रणदुर्मद कौरवयोद्धा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ६½ ॥

कूबरं रथचक्राणि ईषा योक्त्राणि वा विभो ॥ ७ ॥
युगं चैवानुकर्षं च शरभूतमभूत्तदा ।

प्रभो ! अर्जुनके रथके पहिये, कूबर, ईषादण्ड, लगाम या जोते, जूआ और अनुकर्ष—ये सब-के-सब उस समय बाणमय हो रहे थे ॥ ७½ ॥

नैतादृशं दृष्टपूर्वं राजन् नैव च नः श्रुतम् ॥ ८ ॥
यादृशं तत्र पार्थस्य तावकाः सम्प्रचक्रिरे ।

राजन् ! वहाँ आपके योद्धाओंने अर्जुनकी जैसी अवस्था कर दी थी, वैसी पहले कभी न तो देखी गयी और न सुनी ही गयी थी ॥ ८½ ॥

स रथः सर्वतो भाति चित्रपुङ्खैः शितैः शरैः ॥ ९ ॥
उल्काशतैः सम्प्रदीप्तं विमानमिव भूतले ।

विचित्र पंखवाले पैने बाणोंद्वारा सब ओरसे व्याप्त हुआ अर्जुनका रथ भूतलपर सैकड़ों मसालोंसे प्रकाशित होनेवाले विमानके समान शोभा पाता था ॥ ९½ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥
अवाकिरत्तां पृतनां मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ।

महाराज ! तदनन्तर अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा आपकी उस सेनाको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे मेघ पानीकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥ १०½ ॥

ते वध्यमानाः समरे पार्थनामाङ्कितैः शरैः ॥ ११ ॥
पार्थभूतममन्यन्त प्रेक्षमाणास्तथाविधम् ।

समरभूमिमें अर्जुनके नामसे अङ्कित बाणोंकी चोट खाते हुए कौरवसैनिक उन्हें उसी रूपमें देखते हुए सब कुछ अर्जुनमय ही मानने लगे ॥ ११½ ॥

कोपोद्धतशरज्वालो धनुःशब्दानिलो महान् ॥ १२ ॥
सैन्येन्धनं ददाहाशु तावकं पार्थपावकः ।

अर्जुनरूपी महान् अग्निने क्रोधसे प्रज्वलित हुई बाणमयी ज्वालाएँ फैलाकर धनुषकी टंकाररूपी वायुसे प्रेरित हो आपके सैन्यरूपी ईंधनको शीघ्रतापूर्वक जलाना आरम्भ किया ॥१२½॥

चक्राणां पततां चापि युगानां च धरातले ॥ १३ ॥
तूणीराणां पताकानां ध्वजानां च रथैः सह ।
ईषाणामनुकर्षाणां त्रिवेणूनां च भारत ॥ १४ ॥
अक्षाणामथ योक्त्राणां प्रतोदानां च सर्वशः ।
शिरसां पततां चापि कुण्डलोष्णीषधारिणाम् ॥ १५ ॥
भुजानां च महाभाग स्कन्धानां च समन्ततः ।
छत्राणां व्यजनैः सार्धं मुकुटानां च राशयः ॥ १६ ॥
समदृश्यन्त पार्थस्य रथमार्गेषु भारत ।

भारत! महाभाग! अर्जुनके रथके मार्गोंमें धरतीपर गिरते हुए रथके पहियों, जूओं, तरकसों, पताकाओं, ध्वजों, रथों, हरसों, अनुकर्षों, त्रिवेणु नामक काष्ठों, धुरों, रस्सियों, चाबुकों,कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले मस्तकों, भुजाओं, कंधों, छत्रों, व्यजनों और मुकुटोंके ढेर-के-ढेर दिखायी देने लगे। १३—१६½।

ततः क्रुद्धस्य पार्थस्य रथमार्गे विशाम्पते ॥१७॥
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ।

प्रजानाथ ! कुपित हुए अर्जुनके रथके मार्गकी भूमिपर मांस और रक्तकी कीच जम जानेके कारण वहाँ चलना-फिरना असम्भव हो गया ॥ १७½ ॥

भीरूणां त्रासजननी शूराणां हर्षवर्धिनी ॥ १८ ॥
बभूव भरतश्रेष्ठ रुद्रस्याक्रीडनं यथा ।

भरतश्रेष्ठ ! वह रणभूमि रुद्रदेवके क्रीडास्थल (श्मशान) की भाँति कायरोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली और शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाली थी ॥ १८½ ॥

हत्वा तु समरे पार्थः सहस्रे द्वे परंतपः ॥ १९ ॥
रथानां सवरूथानां विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले पार्थ समराङ्गणमें आवरणसहित दो सहस्र रथोंका संहार करके धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १९½ ॥

यथा हि भगवानग्निर्जगद् दग्ध्वा चराचरम् ॥ २० ॥
विधूमो दृश्यते राजंस्तथा पार्थो धनंजयः ।

राजन् ! जैसे चराचर जगत्को दग्ध करके भगवान् अग्निदेव धूमरहित देखे जाते हैं, उसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन भी देदीप्यमान हो रहे थे ॥ २०½ ॥

द्रौणिस्तु समरे दृष्ट्वा पाण्डवस्य पराक्रमम् ॥ २१ ॥
रथेनातिपताकेन पाण्डवं प्रत्यवारयत् ।

संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वह पराक्रम देखकर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने अत्यन्त ऊँची पताकावाले रथके द्वारा आकर उन्हें रोका ॥ २१½ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ तावुभौ धन्विनां वरौ ॥ २२ ॥
समीयतुस्तदान्योन्यं परस्परवधैषिणौ ।

वे दोनों ही मनुष्योंमें व्याघ्रके समान पराक्रमी थे और दोनों ही धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे । उस समय परस्पर वधकी इच्छासे दोनों ही एक-दूसरेके साथ भिड़ गये ॥२२½॥

तयोरासीन्महाराज बाणवर्षं सुदारुणम् ॥ २३ ॥
जीमूतयोर्यथा वृष्टिस्तपान्ते भरतर्षभ ।

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! जैसे वर्षा ऋतुमें दो मेघखण्ड पानी बरसा रहे हों, उसी प्रकार उन दोनोंके बाणोंकी वहाँ अत्यन्त भयंकर वर्षा होने लगी ॥ २३½ ॥

अन्योन्यस्पर्धिनौ तौ तु शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥
ततक्षतुस्तदान्योन्यं शृङ्गाभ्यां वृषभाविव ।

जैसे दो साँड़ परस्पर सींगोंसे प्रहार करते हैं, उसी प्रकार आपसमें लाग-डाँट रखनेवाले वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठ-वाले बाणोंद्वारा एक-दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे ॥ २४½ ॥

तयोर्युद्धं महाराज चिरं सममिवाभवत् ॥ २५ ॥
शस्त्राणां सङ्गमश्चैव घोरस्तत्राभवत् पुनः ।

महाराज ! बहुत देरतक तो उन दोनोंका युद्ध एक-सा चलता रहा । फिर उनमें वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंका घोर संघर्ष आरम्भ हो गया ॥ २५½ ॥

ततोऽर्जुनं द्वादशभी रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः ॥ २६ ॥
वासुदेवं च दशभिर्द्रौणिर्विव्याध भारत ।

भरतनन्दन ! तब अश्वत्थामाने अत्यन्त तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बारह बाणोंसे अर्जुनको और दस सायकोंसे श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया ॥ २६½ ॥

ततः प्रहर्षाद् बीभत्सुर्व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः ॥२७॥
मानयित्वा मुहूर्तं तु गुरुपुत्रं महाहवे ।

तदनन्तर उस महासमरमें दो घड़ीतक गुरुपुत्रका आदर करके अर्जुनने बड़े हर्ष और उत्साहके साथ गाण्डीव धनुषको खींचना आरम्भ किया ॥ २७½ ॥

व्यश्वसूतरथं चक्रे सव्यसाची परंतपः ॥ २८ ॥
मृदुपूर्वं ततश्चैनं पुनः पुनरताडयत् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाचीने अश्वत्थामाके घोड़े, सारथि एवं रथको चौपट कर दिया । फिर वे हल्के हाथों बाण चलाकर बारंबार उसे घायल करने लगे ॥ २८½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् द्रोणपुत्रस्त्वयस्मयम् ॥ २९ ॥
मुसलं पाण्डुपुत्राय चिक्षेप परिघोपमम् ।

जिसके घोड़े मार डाले गये थे, उसी रथपर खड़े हुए द्रोणपुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनपर लोहेका एक मुसल चलाया, जो परिघके समान प्रतीत होता था ॥ २९½ ॥

तमापतन्तं सहसा हेमपट्टविभूषितम् ॥ ३० ॥
चिच्छेद सप्तधा वीरः पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।

शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर अर्जुनने सहसा अपनी ओर आते हुए उस सुवर्णपत्रविभूषित मुसलके सात टुकड़े कर डाले ॥ ३०½ ॥

स च्छिन्नं मुसलं दृष्ट्वा द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३१ ॥
आददे परिघं घोरं नगेन्द्रशिखरोपमम् ।

अपने मुसलको कटा हुआ देख अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने पर्वतशिखरके समान एक भयंकर परिघ हाथमें ले लिया ॥ ३१½ ॥

चिक्षेप चैव पार्थाय द्रौणिर्युद्धविशारदः ॥ ३२ ॥
तमन्तकमिव क्रुद्धं परिघं प्रेक्ष्य पाण्डवः ।
अर्जुनस्त्वरितो जघ्ने पञ्चभिः सायकोत्तमैः ॥ ३३ ॥

युद्धविशारद द्रोणपुत्रने वह परिघ अर्जुनपर दे मारा । क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उस परिघको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने तुरंत ही पाँच उत्तम बाणोंद्वारा उसे काट गिराया ॥ ३२-३३ ॥

स च्छिन्नः पतितो भूमौ पार्थबाणैर्महाहवे ।
दारयन् पृथिवीन्द्राणां मनांसीव च भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस महासमरमें पार्थके बाणोंसे कटकर वह परिघ राजाओंके हृदयोंको विदीर्ण करता हुआ-सा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

ततोऽपरैस्त्रिभिर्भल्लैर्द्रौणिं विव्याध पाण्डवः ।
सोऽतिविद्धो बलवता पार्थेन सुमहात्मना ॥ ३५ ॥
नाकम्पत तदा द्रौणिः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ।

तत्पश्चात् पाण्डुकुमार अर्जुनने दूसरे तीन भल्लोंसे द्रोण-पुत्रको घायल कर दिया । महामनस्वी बलवान् वीर अर्जुनके द्वारा अत्यन्त घायल होकर भी अश्वत्थामा अपने पुरुषार्थका आश्रय ले तनिक भी कम्पित नहीं हुआ ॥ ३५½ ॥

सुरथं च ततो राजन् भारद्वाजो महारथम् ॥ ३६ ॥
अवाकिरच्छरव्रातैः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब भारद्वाजनन्दन अश्वत्थामाने सम्पूर्ण क्षत्रियों-के देखते-देखते महारथी सुरथको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ३६½ ॥

ततस्तु सुरथोऽप्याजौ पञ्चालानां महारथः ॥ ३७ ॥
रथेन मेघघोषेण द्रौणिमेवाभ्यधावत ।

तब युद्धस्थलमें पाञ्चाल महारथी सुरथने भी मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा अश्वत्थामापर ही धावा किया ॥

विकर्षन् वै धनुः श्रेष्ठं सर्वभारसहं दृढम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनाशीविषनिभैः शरैश्चैनमवाकिरत् ।

सब प्रकारके भारोंको सहन करनेमें समर्थ, सुदृढ़ एवं उत्तम धनुषको खींचकर सुरथने अग्नि और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया ॥

सुरथं तं ततः क्रुद्धमापतन्तं महारथम् ॥ ३९ ॥
चुकोप समरे द्रौणिर्दण्डाहत इवोरगः ।

महारथी सुरथको क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख अश्व-त्थामा समरमें डंडेकी चोट खाये हुए सर्पके समान अत्यन्त कुपित हो उठा ॥ ३९½ ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा सृक्किणी परिसंलिहन् ॥४०॥
उद्वीक्ष्य सुरथं रोषाद् धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
मुमोच तीक्ष्णं नाराचं यमदण्डोपमद्युतिम् ॥ ४१ ॥

वह भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके अपने गलफरोंको चाटने लगा और सुरथकी ओर रोषपूर्वक देखकर धनुषकी प्रत्यञ्चाको साफ करके उसने यमदण्डके समान तेजस्वी तीखे नाराचका प्रहार किया ॥ ४०-४१ ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा प्रविवेशातिवेगितः ।
शक्राशनिरिवोत्सृष्टो विदार्य धरणीतलम् ॥ ४२॥

जैसे इन्द्रका छोड़ा हुआ अत्यन्त वेगशाली वज्र पृथ्वी फाड़कर उसके भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार वह नाराच वेगपूर्वक सुरथकी छाती छेदकर उसके भीतर समा गया ॥ ४२॥

ततः स पतितो भूमौ नाराचेन समाहतः ।
वज्रेण च यथा शृङ्गं पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ४३ ॥

नाराचसे घायल हुआ सुरथ वज्रसे विदीर्ण हुए पर्वतके शिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
आरुरोह रथं तूर्णं तमेव रथिनां वरः ॥ ४४ ॥

उस वीरके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तुरंत ही उसी रथपर आरूढ हो गया ॥ ४४ ॥

ततः सज्जो महाराज द्रौणिराहवदुर्मदः ।
अर्जुनं योधयामास संशप्तकवृतो रणे ॥ ४५ ॥

महाराज ! फिर युद्धसज्जासे सुसज्जित हो रणभूमिमें संशप्तकोंसे घिरा हुआ रणदुर्मद द्रोणकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ४५ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीदर्जुनस्य परैः सह ।
मध्यंदिनगते सूर्ये यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ ४६ ॥

वहाँ दोपहर होते-होते अर्जुनका शत्रुओंके साथ महाघोर युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥

तत्राश्चर्यमपश्याम दृष्ट्वा तेषां पराक्रमम् ।
यदेको युगपद् वीरान् समयोधयदर्जुनः ॥ ४७ ॥

उस समय उन कौरववंशीय वीरोंका पराक्रम देखकर हमने एक और आश्चर्यकी बात यह देखी कि अर्जुन अकेले ही एक ही समय उन सभी वीरोंके साथ युद्ध कर रहे हैं ॥४७॥

विमर्दः सुमहानासीदेकस्य बहुभिः सह ।
शतक्रतुर्यथा पूर्वं महत्या दैत्यसेनया ॥ ४८ ॥

जैसे पूर्वकालमें विशाल दैत्यसेनाके साथ इन्द्रका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार एकमात्र अर्जुनका बहुसंख्यक विपक्षियोंके साथ महान् संग्राम होने लगा ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

दुर्योधन और धृष्टद्युम्नका एवं अर्जुन और अश्वत्थामाका तथा शल्यके साथ नकुल और सात्यकि आदिका घोर संग्राम

संजय उवाच

दुर्योधनो महाराज धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
चक्रतुः सुमहद् युद्धं शरशक्तिसमाकुलम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! एक ओर दुर्योधन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न महान् युद्ध कर रहे थे । वह युद्ध बाणों और शक्तियोंके प्रहारसे व्याप्त हो रहा था ॥ १ ॥

तयोरासन् महाराज शरधाराः सहस्रशः ।
अम्बुदानां यथा काले जलधाराः समन्ततः ॥ २ ॥

राजाधिराज ! जैसे वर्षाकालमें सब ओर मेघोंकी जलधाराएँ बरसती हैं, उसी प्रकार उन दोनोंकी ओरसे बाणोंकी सहस्रों धाराएँ गिर रही थीं ॥ २ ॥

राजा च पार्षतं विद्ध्वा शरैः पञ्चभिराशुगैः ।
द्रोणहन्तारमुग्रेषुं पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने पाँच शीघ्रगामी बाणोंद्वारा भयंकर बाणवाले द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्नको बींधकर पुनः सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे बलवान् दृढविक्रमः ।
सप्तत्या विशिखानां वै दुर्योधनमपीडयत् ॥ ४ ॥

तब सुदृढ़ पराक्रमी बलवान् धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें सत्तर बाण मारकर दुर्योधनको पीड़ित कर दिया ॥ ४ ॥

पीडितं वीक्ष्य राजानं सोदर्या भरतर्षभ ।
महत्या सेनया सार्धं परिवव्रुः स्म पार्षतम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनको पीड़ित हुआ देख उसके सारे भाइयोंने विशाल सेनाके साथ आकर धृष्टद्युम्नको घेर लिया॥

स तैः परिवृतः शूरः सर्वतोऽतिरथैर्भृशम् ।
व्यचरत् समरे राजन् दर्शयन्नस्त्रलाघवम् ॥ ६ ॥

राजन् ! उन अतिरथी वीरोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए धृष्टद्युम्न अपनी अस्त्रसंचालनकी फुर्ती दिखाते हुए समरभूमिमें विचरने लगे ॥ ६ ॥

शिखण्डी कृतवर्माणं गौतमं च महारथम् ।
प्रभद्रकैः समायुक्तो योधयामास धन्विनौ ॥ ७ ॥

दूसरी ओर शिखण्डीने प्रभद्रकोंकी सेना साथ लेकर कृतवर्मा और महारथी कृपाचार्य—इन दोनों धनुर्धरोंसे युद्ध छेड़ दिया ॥ ७ ॥

तत्रापि सुमहद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते ।
प्राणान् संत्यजतां युद्धे प्राणद्यूताभिदेवने ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ भी जीवनका मोह छोड़कर प्राणोंकी बाजी लगाकर खेले जानेवाले युद्धरूपी जूएमें लगे हुए समस्त सैनिकोंमें घोर संग्राम हो रहा था ॥ ८ ॥

शल्यः सायकवर्षाणि विमुञ्चन् सर्वतोदिशम् ।
पाण्डवान् पीडयामास ससात्यकिवृकोदरान् ॥ ९ ॥

इधर शल्य सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें सात्यकि और भीमसेनसहित पाण्डवोंको पीड़ा देने लगे॥

तथा तौ तु यमौ युद्धे यमतुल्यपराक्रमौ ।
योधयामास राजेन्द्र वीर्येणास्त्रबलेन च ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे युद्धमें यमराजके तुल्य पराक्रमी नकुल और सहदेवके साथ भी अपने पराक्रम और अस्त्रबलसे युद्ध कर रहे थे ॥ १० ॥

शल्यसायकनुन्नानां पाण्डवानां महामृधे ।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्त केचित्तत्र महारथाः ॥ ११॥

जब शल्य अपने बाणोंसे पाण्डव महारथियोंको आहत कर रहे थे, उस समय उस महासमरमें उन्हें कोई अपना रक्षक नहीं मिलता था ॥ ११ ॥

ततस्तु नकुलः शूरो धर्मराजे प्रपीडिते ।
अभिदुद्राव वेगेन मातुलं मातृनन्दनः ॥१२॥

जब धर्मराज युधिष्ठिर शल्यकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो गये, तब माताको आनन्दित करनेवाले शूरवीर नकुलने बड़े वेगसे अपने मामापर आक्रमण किया ॥ १२ ॥

संछाद्य समरे शल्यं नकुलः परवीरहा ।
विव्याध चैनं दशभिः स्मयमानः स्तनान्तरे ॥ १३ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने समराङ्गणमें शल्यको शरसमूहोंद्वारा आच्छादित करके मुसकराते हुए उनकी छातीमें दस बाण मारे ॥ १३ ॥

सर्वपारसवैर्बाणैः कर्मारपरिमार्जितैः ।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैर्धनुर्यन्त्रप्रचोदितैः ॥ १४ ॥

वे बाण सब-के-सब लोहेके बने थे । कारीगरने उन्हें अच्छी तरह माँज-धोकर स्वच्छ बनाया था । उनमें सोनेके पंख लगे थे और उन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था । वे दसों बाण धनुषरूपी यन्त्रपर रखकर चलाये गये थे ॥१४॥

शल्यस्तु पीडितस्तेन स्वस्रीयेण महात्मना ।
नकुलं पीडयामास पत्रिभिर्नतपर्वभिः ॥ १५॥

अपने महामनस्वी भानजेके द्वारा पीड़ित हुए शल्यने झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा नकुलको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनोऽथ सात्यकिः ।
सहदेवश्च माद्रेयो मद्रराजमुपाद्रवन् ॥ १६॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, सात्यकि और माद्रीकुमार सहदेवने एक साथ मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया॥

तानापतत एवाशु पूरयाणान् रथस्वनैः ।
दिशश्च विदिशश्चैव कम्पयानांश्च मेदिनीम् ॥ १७ ॥
प्रतिजग्राह समरे सेनापतिरमित्रजित् ।

वे अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको गुँजाते हुए पृथ्वीको कम्पित कर रहे थे । सहसा आक्रमण करनेवाले उन वीरोंको शत्रुविजयी सेनापति शल्यने समरभूमिमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १७½ ॥

युधिष्ठिरं त्रिभिर्विद्ध्वा भीमसेनं च पञ्चभिः ॥ १८ ॥
सात्यकिं च शतेनाजौ सहदेवं त्रिभिः शरैः ।
ततस्तु सशरं चापं नकुलस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
मद्रेश्वरः क्षुरप्रेण तदा मारिष चिच्छिदे ।
तदशीर्यत विच्छिन्नं धनुः शल्यस्य सायकैः ॥ २० ॥

माननीय नरेश ! मद्रराज शल्यने युद्धस्थलमें युधिष्ठिरको तीन, भीमसेनको पाँच, सात्यकिको सौ और सहदेवको तीन बाणोंसे घायल करके महामनस्वी नकुलके बाणसहित धनुषको क्षुरप्रसे काट डाला । शल्यके बाणोंसे कटा हुआ वह धनुष टूक-टूक होकर बिखर गया॥ १८–२० ॥

अथान्यद् धनुरादाय माद्रीपुत्रो महारथः ।
मद्रराजरथं तूर्णं पूरयामास पत्रिभिः ॥ २१ ॥

इसके बाद माद्रीपुत्र महारथी नकुलने तुरंत ही दूसरा धनुष हाथमें लेकर मद्रराजके रथको बाणोंसे भर दिया॥२१॥

युधिष्ठिरस्तु मद्रेशं सहदेवश्च मारिष ।
दशभिर्दशभिर्बाणैरुरस्येनमविध्यताम् ॥ २२ ॥

आर्य ! साथ ही युधिष्ठिर और सहदेवने दस-दस बाणोंसे उनकी छाती छेद डाली ॥ २२ ॥

भीमसेनस्तु तं षष्ट्या सात्यकिर्दशभिः शरैः ।
मद्रराजमभिद्रुत्य जघ्नतुः कङ्कपत्रिभिः ॥ २३ ॥

फिर भीमसेनने साठ और सात्यकिने कङ्कपत्रयुक्त दस बाणोंसे मद्रराजपर वेगपूर्वक प्रहार किया ॥ २३ ॥

मद्रराजस्ततः क्रुद्धः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
विव्याध भूयः सप्तत्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ २४ ॥

तब कुपित हुए मद्रराज शल्यने सात्यकिको झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे घायल करके फिर सत्तर बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २४ ॥

अथास्य सशरं चापं मुष्टौ चिच्छेद मारिष ।
हयांश्च चतुरः संख्ये प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २५॥

मान्यवर ! इसके बाद शल्यने उनके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया और संग्राममें उनके चारों घोड़ोंको भी मौतके घर भेज दिया ॥ २५ ॥

विरथं सात्यकिं कृत्वा मद्रराजो महारथः ।
विशिखानां शतेनैनमाजघान समन्ततः ॥ २६ ॥

सात्यकिको रथहीन करके महारथी मद्रराज शल्यने सौ बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

माद्रीपुत्रौ च संरब्धौ भीमसेनं च पाण्डवम् ।
युधिष्ठिरं च कौरव्य विव्याध दशभिः शरैः ॥ २७ ॥

कुरुनन्दन ! इतना ही नहीं, उन्होंने क्रोधमें भरे हुए माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, पाण्डुपुत्र भीमसेन तथा युधिष्ठिरको भी दस बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २७ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम मद्रराजस्य पौरुषम् ।
यदेनं सहिताः पार्था नाभ्यवर्तन्त संयुगे ॥ २८ ॥

उस महान् संग्राममें हमलोगोंने मद्रराज शल्यका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव एक साथ होकर भी इन्हें युद्धमें पराजित न कर सके ॥ २८ ॥

अथान्यं रथमास्थाय सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
पीडितान् पाण्डवान् दृष्ट्वा मद्रराजवशंगतान् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मद्राणामधिपं बलात् ।

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने दूसरे रथपर आरूढ़

होकर पाण्डवोंको पीड़ित तथा मद्रराजके अधीन हुआ देख बड़े वेगसे बलपूर्वक उनपर धावा किया ॥ २९½ ॥

आपतन्तं रथं तस्य शल्यः समितिशोभनः ॥ ३० ॥
प्रत्युद्ययौ रथेनैव मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

युद्धमें शोभा पानेवाले शल्य उनके रथको अपनी ओर आते देख स्वयं भी रथके द्वारा ही उनकी ओर बढ़े । ठीक उसी तरह, जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मदमत्त हाथीका सामना करनेके लिये जाता है ॥ ३०½ ॥

स संनिपातस्तुमुलो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ३१ ॥
सात्यकेश्चैव शूरस्य मद्राणामधिपस्य च ।
यादृशो वै पुरा वृत्तः शम्बरामरराजयोः ॥ ३२ ॥

शूरवीर सात्यकि और मद्रराज शल्य इन दोनोंका वह संग्राम बड़ा भयंकर और अद्भुत दिखायी देता था। वह वैसा ही था, जैसा कि पूर्वकालमें शम्बरासुर और देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ था ॥ ३१-३२ ॥

सात्यकिः प्रेक्ष्य समरे मद्रराजमवस्थितम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

सात्यकिने समराङ्गणमें खड़े हुए मद्रराजको देखकर उन्हें दस बाणोंसे बींध डाला और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥

मद्रराजस्तु सुभृशं विद्धस्तेन महात्मना ।
सात्यकिं प्रतिविव्याध चित्रपुङ्खैः शितैः शरैः ॥ ३४ ॥

महामनस्वी सात्यकिके द्वारा अत्यन्त घायल किये हुए मद्रराजने विचित्र पंखवाले पैने बाणोंसे सात्यकिको भी घायल करके बदला चुकाया ॥ ३४ ॥

ततः पार्था महेष्वासाः सात्वताभिसृतं नृपम् ।
अभ्यवर्तन् रथैस्तूर्णं मातुलं वधकाङ्क्षया ॥ ३५ ॥

तब महाधनुर्धर पृथापुत्रोंने सात्यकिके साथ उलझे हुए मामा मद्रराज शल्यके वधकी इच्छासे रथोंद्वारा उनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

तत आसीत् परामर्दस्तुमुलः शोणितोदकः ।
शूराणां युध्यमानानां सिंहानामिव नर्दताम् ॥ ३६ ॥

फिर तो वहाँ घोर संग्राम छिड़ गया । सिंहोंके समान गर्जते और जूझते हुए शूरवीरोंका खून पानीकी तरह बहाया जाने लगा ॥ ३६ ॥

तेषामासीन्महाराज व्यतिक्षेपः परस्परम् ।
सिंहानामामिषेप्सूनां कूजतामिव संयुगे ॥ ३७ ॥

महाराज ! जैसे मांसके लोभसे सिंह गर्जते हुए आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार उस युद्धस्थलमें उन समस्त योद्धाओंका एक-दूसरेके प्रति भयंकर प्रहार हो रहा था ॥ ३७ ॥

तेषां बाणसहस्रौघैराकीर्णा वसुधाभवत् ।
अन्तरिक्षं च सहसा बाणभूतमभूत्तदा ॥ ३८ ॥

उस समय उनके सहस्रों बाणसमूहोंसे रणभूमि आच्छादित हो गयी और आकाश भी सहसा बाणमय प्रतीत होने लगा ॥ ३८ ॥

शरान्धकारं सहसा कृतं तत्र समन्ततः ।
अभ्रच्छायेव संजज्ञे शरैर्मुक्तैर्महात्मभिः ॥ ३९ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके छोड़े हुए बाणोंसे सहसा चारों ओर अन्धकार छा गया । मेघोंकी छाया-सी प्रकट हो गयी ॥

तत्र राजञ्शरैर्मुक्तैर्निर्मुक्तैरिव पन्नगैः ।
स्वर्णपुङ्खैः प्रकाशद्भिर्व्यरोचन्त दिशस्तदा ॥ ४० ॥

राजन् ! केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान वहाँ छूटे हुए सुवर्णमय पंखवाले चमकीले बाणोंसे उस समय सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकाशित हो उठी थीं ॥ ४० ॥

तत्राद्भुतं परं चक्रे शल्यः शत्रुनिबर्हणः ।
यदेकः समरे शूरो योधयामास वै बहून् ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें शत्रुसूदन शूरवीर शल्यने यह बड़ा अद्भुत पराक्रम किया कि अकेले ही वे उन बहुसंख्यक वीरोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ ४१ ॥

मद्रराजभुजोत्सृष्टैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।
सम्पतद्भिः शरैर्घोरैरवाकीर्यत मेदिनी ॥ ४२ ॥

मद्रराजकी भुजाओंसे छूटकर गिरनेवाले कंक और मोरकी पाँखोंसे युक्त भयानक बाणोंद्वारा वहाँकी सारी पृथ्वी ढक गयी थी ॥ ४२ ॥

तत्र शल्यरथं राजन् विचरन्तं महाहवे ।
अपश्याम यथापूर्वं शक्रस्यासुरसंक्षये ॥ ४३ ॥

राजन् ! जैसे पूर्वकालमें असुरोंका विनाश करते समय इन्द्रका रथ आगे बढ़ता था, उसी प्रकार उस महासमरमें हमलोगोंने राजा शल्यके रथको विचरते देखा था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

पाण्डवसैनिकों और कौरवसैनिकोंका द्वन्द्वयुद्ध, भीमसेनद्वारा दुर्योधनकी तथा युधिष्ठिरद्वारा शल्यकी पराजय

संजय उवाच

ततः सैन्यास्तव विभो मद्रराजपुरस्कृताः ।
पुनरभ्यद्रवन् पार्थान् वेगेन महता रणे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रभो ! तदनन्तर आपके सभी सैनिक रणभूमिमें मद्रराजको आगे करके पुनः बड़े वेगसे पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ १ ॥

पीडितास्तावकाः सर्वे प्रधावन्तो रणोत्कटाः ।
क्षणेन चैव पार्थांस्ते बहुत्वात् समलोडयन् ॥ २ ॥

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले आपके सभी योद्धा यद्यपि पीड़ित हो रहे थे, तथापि संख्यामें अधिक होनेके कारण उन सबने धावा बोलकर क्षणभरमें पाण्डवयोद्धाओंको मथ डाला ॥ २ ॥

ते वध्यमानाः समरे पाण्डवा नावतस्थिरे ।
निवार्यमाणा भीमेन पश्यतोः कृष्णयोस्तदा ॥ ३ ॥

समराङ्गणमें कौरवोंकी मार खाकर पाण्डवयोद्धा श्रीकृष्ण और अर्जुनके देखते-देखते भीमसेनके रोकनेपर भी वहाँ ठहर न सके ॥ ३ ॥

ततो धनंजयः क्रुद्धः कृपं सह पदानुगैः ।
अवाकिरच्छरौघेण कृतवर्माणमेव च ॥ ४ ॥

तदनन्तर दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने सेवकोंसहित कृपाचार्य और कृतवर्माको अपने बाणसमूहोंसे ढक दिया ॥ ४ ॥

शकुनिं सहदेवस्तु सहसैन्यमवाकिरत् ।
नकुलः पार्श्वतः स्थित्वा मद्रराजमवैक्षत ॥ ५ ॥

सहदेवने सेनासहित शकुनिको बाणोंसे आच्छादित कर दिया । नकुल पास ही खड़े होकर मद्रराजकी ओर देख रहे थे ॥ ५ ॥

द्रौपदेया नरेन्द्रांश्च भूयिष्ठान् समवारयन् ।
द्रोणपुत्रं च पाञ्चाल्यः शिखण्डी समवारयत् ॥ ६ ॥

द्रौपदीके पुत्रोंने बहुत-से राजाओंको आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था । पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको रोक दिया ॥ ६ ॥

भीमसेनस्तु राजानं गदापाणिरवारयत् ।
शल्यं तु सह सैन्येन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

भीमसेनने हाथमें गदा लेकर राजा दुर्योधनको रोका और सेनासहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शल्यको ॥ ७ ॥

ततः समभवत् सैन्यं संसक्तं तत्र तत्र ह ।
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् संग्राममें पीठ न दिखानेवाले आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंकी वह सेना जहाँ-तहाँ परस्पर युद्ध करने लगी ॥ ८ ॥

तत्र पश्याम्यहं कर्म शल्यस्यातिमहद्रणे ।
यदेकः सर्वसैन्यानि पाण्डवानामयोधयत् ॥ ९ ॥

वहाँ रणभूमिमें मैंने राजा शल्यका बहुत बड़ा पराक्रम यह देखा कि वे अकेले ही पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ९ ॥

व्यदृश्यत तदा शल्यो युधिष्ठिरसमीपतः ।
रणे चन्द्रमसोऽभ्याशे शनैश्चर इव ग्रहः ॥ १० ॥

उस समय शल्य युधिष्ठिरके समीप रणभूमिमें ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो चन्द्रमाके समीप शनैश्चर नामक ग्रह हो ॥ १० ॥

पीडयित्वा तु राजानं शरैराशीविषोपमैः ।
अभ्यधावत् पुनर्भीमं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ११ ॥

वे विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको पीड़ित करके पुनः भीमसेनकी ओर दौड़े और उन्हें अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करने लगे ॥ ११ ॥

तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा तथैव च कृतास्त्रताम् ।
अपूजयन्ननीकानि परेषां तावकानि च ॥ १२ ॥

उनकी वह फुर्ती और अस्त्रविद्याका ज्ञान देखकर आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

पीड्यमानास्तु शल्येन पाण्डवा भृशविक्षताः ।
प्राद्रवन्त रणं हित्वा क्रोशमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

शल्यके द्वारा पीड़ित एवं अत्यन्त घायल हुए पाण्डव-सैनिक युधिष्ठिरके पुकारनेपर भी युद्ध छोड़कर भाग चले ॥

वध्यमानेष्वनीकेषु मद्रराजेन पाण्डवः ।
अमर्षवशमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

जब मद्रराजके द्वारा इस प्रकार पाण्डव-सैनिकोंका संहार होने लगा, तब पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर अमर्षके वशीभूत हो गये ॥ १४ ॥

ततः पौरुषमास्थाय मद्रराजमताडयत् ।
जयो वास्तु वधो वास्तु कृतबुद्धिर्महारथः ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने पुरुषार्थका आश्रय ले मद्रराजपर प्रहार आरम्भ किया । महारथी युधिष्ठिरने यह निश्चय कर लिया कि आज या तो मेरी विजय होगी अथवा मेरा वध हो जायगा ॥ १५ ॥

समाहूयाब्रवीत् सर्वान् भ्रातॄन् कृष्णं च माधवम् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च ये चान्ये पृथिवीक्षितः ॥ १६ ॥
कौरवार्थे पराक्रान्ताः संग्रामे निधनं गताः ।
यथाभागं यथोत्साहं भवन्तः कृतपौरुषाः ॥ १७ ॥

उन्होंने अपने समस्त भाइयों तथा श्रीकृष्ण और सात्यकिको बुलाकर इस प्रकार कहा—'बन्धुओ ! भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा अन्य जो-जो राजा दुर्योधनके लिये पराक्रम दिखाते थे, वे सब-के-सब संग्राममें मारे गये । तुमलोगोंने पुरुषार्थ करके उत्साहपूर्वक अपने-अपने हिस्सेका कार्य पूरा कर लिया ॥ १६-१७ ॥

भागोऽवशिष्ट एकोऽयं मम शल्यो महारथः ।
सोऽहमद्य युधा जेतुमाशंसे मद्रकाधिपम् ॥ १८ ॥

'अब एकमात्र महारथी शल्य शेष रह गये हैं, जो मेरे हिस्सेमें पड़ गये हैं । अतः आज मैं इन मद्रराज शल्यको युद्धमें जीतनेकी आशा करता हूँ ॥ १८ ॥

तत्र यन्मानसं मह्यं तत् सर्वं निगदामि वः ।
चक्ररक्षाविमौ वीरौ मम माद्रवतीसुतौ ॥ १९ ॥
अजेयौ वासवेनापि समरे शूरसम्मतौ ।

'इसके सम्बन्धमें मेरे मनमें जो संकल्प है, वह सब तुम लोगोंसे बता रहा हूँ, सुनो । जो समराङ्गणमें इन्द्रके लिये भी अजेय तथा शूरवीरोंद्वारा सम्मानित हैं, वे दोनों माद्रीकुमार वीर नकुल और सहदेव मेरे रथके पहियोंकी रक्षा करें ॥ १९½ ॥

साध्विमौ मातुलं युद्धे क्षत्रधर्मपुरस्कृतौ ॥ २० ॥
मदर्थं प्रतियुद्ध्येतां मानार्हौ सत्यसङ्गरौ ।
मां वा शल्यो रणे हन्ता तं वाहं भद्रमस्तु वः ॥ २१ ॥

'क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए ये सम्मान पानेके योग्य सत्यप्रतिज्ञ नकुल और सहदेव मेरे लिये समराङ्गणमें अपने मामाके साथ अच्छी तरह युद्ध करें । फिर या तो शल्य रण-

भूमिमें मुझे मार डालें या मैं उनका वध कर डालूँ। आपलोगोंका कल्याण हो ॥ २०-२१ ॥

इति सत्यामिमां वाणीं लोकवीरा निबोधत।
योत्स्येऽहं मातुलेनाद्य क्षात्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २२ ॥
स्वमंशमभिसंधाय विजयायेतराय च।

'विश्वविख्यात वीरो! तुमलोग मेरा यह सत्य वचन सुन लो। राजाओ! मैं क्षत्रियधर्मके अनुसार अपने हिस्सेका कार्य पूर्ण करनेका संकल्प लेकर अपनी विजय अथवा वधके लिये मामा शल्यके साथ आज युद्ध करूँगा ॥ २२½ ॥

तस्य मेऽप्यधिकं शस्त्रं सर्वोपकरणानि च ॥ २३ ॥
संसज्जन्तु रथे क्षिप्रं शास्त्रवद् रथयोजकाः।

'अतः रथ जोतनेवाले लोग शीघ्र ही मेरे रथपर शास्त्रीय विधिके अनुसार अधिक-से-अधिक शस्त्र तथा अन्य सब आवश्यक सामग्री सजाकर रख दें ॥ २३½ ॥

शैनेयो दक्षिणं चक्रं धृष्टद्युम्नस्तथोत्तरम् ॥ २४ ॥
पृष्ठगोपो भवत्वद्य मम पार्थो धनंजयः।
पुरःसरो ममाद्यास्तु भीमः शस्त्रभृतां वरः ॥ २५ ॥

'(नकुल-सहदेवके अतिरिक्त) सात्यकि मेरे दाहिने चक्रकी रक्षा करें और धृष्टद्युम्न बायें चक्रकी। आज कुन्तीकुमार अर्जुन मेरे पृष्ठभागकी रक्षामें तत्पर रहें और शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन मेरे आगे-आगे चलें ॥ २४-२५ ॥

एवमभ्यधिकः शल्याद् भविष्यामि महामृधे।
एवमुक्तास्तथा चक्रुस्तदा राज्ञः प्रियैषिणः ॥ २६ ॥

'ऐसी व्यवस्था होनेपर मैं इस महायुद्धमें शल्यसे अधिक शक्तिशाली हो जाऊँगा।' उनके ऐसा कहनेपर राजाका प्रिय करनेकी इच्छावाले भाइयोंने उस समय वैसा ही किया ।२६।

ततः प्रहर्षः सैन्यानां पुनरासीत् तदा मृधे।
पञ्चालानां सोमकानां मत्स्यानां च विशेषतः॥ २७ ॥

तदनन्तर उस युद्धस्थलमें पुनः पाण्डवसैनिकों विशेषतः पाञ्चालों, सोमकों और मत्स्यदेशीय योद्धाओंके मनमें महान् हर्षोल्लास छा गया ॥ २७ ॥

प्रतिज्ञां तां तदा राजा कृत्वा मद्रेशमभ्ययात्।
ततः शङ्खांश्च भेरीश्च शतशश्चैव पुष्कलान् ॥ २८ ॥
अवादयन्त पञ्चालाः सिंहनादांश्च नेदिरे।

राजा युधिष्ठिरने उस समय पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके मद्रराज शल्यपर चढ़ाई की। फिर तो पाञ्चाल योद्धा शङ्ख, भेरी आदि सैकड़ों प्रकारके प्रचुर रणवाद्य बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २८½ ॥

तेऽभ्यधावन्त संरब्धा मद्रराजं तरस्विनम् ॥ २९ ॥
महता हर्षजेनाथ नादेन कुरुपुङ्गवाः।

उन कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरोंने रोषमें भरकर महान् हर्षनादके साथ वेगशाली वीर मद्रराज शल्यपर धावा किया ॥२९½॥

ह्रादेन गजघण्टानां शङ्खानां निनदेन च ॥ ३० ॥
तूर्यशब्देन महता नादयन्तश्च मेदिनीम्।

वे हाथियोंके घण्टोंकी आवाज, शङ्खोंकी ध्वनि तथा वाद्योंके महान् घोषसे पृथ्वीको गुँजा रहे थे ॥ ३०½ ॥

तान् प्रत्यगृह्णात् पुत्रस्ते मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥ ३१ ॥
महामेघानिव बहूञ्शैलावस्तोदयावुभौ।

उस समय आपके पुत्र दुर्योधन तथा पराक्रमी मद्रराज शल्यने उन सबको आगे बढ़नेसे रोका। ठीक उसी तरह, जैसे अस्ताचल और उदयाचल दोनों बहुसंख्यक महामेघोंको रोक देते हैं ॥ ३१½ ॥

शल्यस्तु समरश्लाघी धर्मराजमरिंदमम् ॥ ३२ ॥
ववर्ष शरवर्षेण शम्बरं मघवा इव।

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले शल्य शत्रुदमन धर्मराज युधिष्ठिरपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे शम्बरासुरपर इन्द्र ॥ ३२½ ॥

तथैव कुरुराजोऽपि प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३३ ॥
द्रोणोपदेशान् विविधान् दर्शयानो महामनाः।
ववर्ष शरवर्षाणि चित्रं लघु च सुष्ठु च ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार महामना कुरुराज युधिष्ठिरने भी सुन्दर धनुष हाथमें लेकर द्रोणाचार्यके दिये हुए नाना प्रकारके उपदेशोंका प्रदर्शन करते हुए शीघ्रतापूर्वक सुन्दर एवं विचित्र रीतिसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३३-३४ ॥

न चास्य विवरं कश्चिद् ददर्श चरतो रणे।
तावुभौ विविधैर्बाणैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥
शार्दूलावामिषप्रेप्सू पराक्रान्ताविवाहवे।

रणमें विचरते हुए युधिष्ठिरकी कोई भी त्रुटि किसीने नहीं देखी। मांसके लोभसे पराक्रम प्रकट करनेवाले दो सिंहोंके समान वे दोनों वीर युद्धस्थलमें नाना प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे ॥ ३५½ ॥

भीमस्तु तव पुत्रेण युद्धशौण्डेन संगतः ॥ ३६ ॥
पाञ्चाल्यः सात्यकिश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
शकुनिप्रमुखान् वीरान् प्रत्यगृह्णन् समन्ततः॥ ३७ ॥

राजन्! भीमसेन तो आपके युद्धकुशल पुत्र दुर्योधनके साथ भिड़ गये और धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेव सब ओरसे शकुनि आदि वीरोंका सामना करने लगे ॥ ३६-३७ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं पुनरेव जयैषिणाम्।
तावकानां परेषां च राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३८ ॥

नरेश्वर! फिर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमें उस समय घोर संग्राम छिड़ गया, जो आपकी कुमन्त्रणाका परिणाम था ॥ ३८ ॥

दुर्योधनस्तु भीमस्य शरेणानतपर्वणा।
चिच्छेदादिश्य संग्रामे ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

दुर्योधनने घोषणा करके झुकी हुई गाँठवाले बाणसे संग्राममें भीमसेनके सुवर्णभूषित ध्वजको काट डाला ॥ ३९ ॥

स किङ्किणीकजालेन महता चारुदर्शनः।
पपात रुचिरः संख्ये भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ४० ॥

वह देखनेमें मनोहर और सुन्दर ध्वज भीमसेनके देखते-

देखते छोटी-छोटी घंटियोंके महान् समूहके साथ युद्धस्थलमें गिर पड़ा ॥ ४० ॥

पुनश्चास्य धनुश्चित्रं गजराजकरोपमम् ।
क्षुरेण शितधारेण प्रचकर्त नराधिपः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधनने तीखी धारवाले क्षुरसे भीमसेनके विचित्र धनुषको भी, जो हाथीकी सूँड़के समान था, काट डाला ॥ ४१ ॥

स च्छिन्नधन्वा तेजस्वी रथशक्त्या सुतं तव ।
बिभेदोरसि विक्रम्य स रथोपस्थ आविशत् ॥ ४२ ॥

धनुष कट जानेपर तेजस्वी भीमसेनने पराक्रमपूर्वक आपके पुत्रकी छातीमें रथशक्तिका प्रहार किया । उसकी चोट खाकर दुर्योधन रथके पिछले भागमें मूर्छित होकर बैठ गया ॥ ४२ ॥

तस्मिन् मोहमनुप्राप्ते पुनरेव वृकोदरः ।
यन्तुरेव शिरः कायात् क्षुरप्रेणाहरत् तदा ॥ ४३ ॥

उसके मूर्छित हो जानेपर भीमसेनने फिर क्षुरप्रके द्वारा उसके सारथिका ही सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ४३ ॥

हतसूता हयास्तस्य रथमादाय भारत ।
व्यद्रवन्त दिशो राजन् हाहाकारस्तदाभवत् ॥ ४४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सारथिके मारे जानेपर उसके घोड़े रथ लिये चारों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे । उस समय आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ४४ ॥

तमभ्यधावत् त्राणार्थं द्रोणपुत्रो महारथः ।
कृपश्च कृतवर्मा च पुत्रं तेऽपि परीप्सवः ॥ ४५ ॥

तब महारथी द्रोणपुत्र दुर्योधनकी रक्षाके लिये दौड़ा । कृपाचार्य और कृतवर्मा भी आपके पुत्रको बचानेके लिये आ पहुँचे ॥ ४५ ॥

तस्मिन् विलुलिते सैन्ये त्रस्तास्तस्य पदानुगाः ।
गाण्डीवधन्वा विस्फार्य धनुस्तानहनच्छरैः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार जब सारी सेनामें हलचल मच गयी, तब दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सैनिक भयसे थर्रा उठे । उस समय गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने धनुषको खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबको मार डाला ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरस्तु मद्रेशमभ्यधावदमर्षितः ।
स्वयं संनोदयन्नश्वान् दन्तवर्णान् मनोजवान् ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अमर्षमें भरकर दाँतोंके समान श्वेत वर्णवाले और मनके तुल्य वेगशाली घोड़ोंको स्वयं ही हाँकते हुए मद्रराज शल्यपर धावा किया ॥ ४७ ॥

तत्राश्चर्यमपश्याम कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ।
पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तो यत् तदा दारुणोऽभवत् ॥ ४८ ॥

वहाँ हमने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरमें एक आश्चर्यकी बात देखी । वे पहलेसे जितेन्द्रिय और कोमल स्वभावके होकर भी उस समय कठोर हो गये ॥ ४८ ॥

विवृताक्षश्च कौन्तेयो वेपमानश्च मन्युना ।
चिच्छेद योधान् निशितैः शरैः शतसहस्रशः ॥ ४९ ॥

क्रोधसे काँपते तथा आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए कुन्तीकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा सैकड़ों और हजारों शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ४९ ॥

यां यां प्रत्युद्ययौ सेनां तां तां ज्येष्ठः स पाण्डवः ।
शरैरपातयद् राजन् गिरीन् वज्रैरिवोत्तमैः ॥ ५० ॥

राजन् ! जैसे इन्द्रने उत्तम वज्रोंके प्रहारसे पर्वतोंको धराशायी कर दिया था, उसी प्रकार वे ज्येष्ठ पाण्डव जिस-जिस सेनाकी ओर अग्रसर हुए, उसी-उसीको अपने बाणोंद्वारा मार गिराया ॥ ५० ॥

साश्वसूतध्वजरथान् रथिनः पातयन् बहून् ।
अक्रीडदेको बलवान् पवनस्तोयदानिव ॥ ५१ ॥

जैसे प्रबल वायु मेघोंको छिन्न-भिन्न करती हुई उनके साथ खेलती है, उसी प्रकार बलवान् युधिष्ठिर अकेले ही घोड़े, सारथि, ध्वज और रथोंसहित बहुत-से रथियोंको धराशायी करते हुए उनके साथ खेल-सा करने लगे ॥ ५१ ॥

साश्वारोहांश्च तुरगान् पत्तींश्चैव सहस्रधा ।
व्यपोथयत संग्रामे क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव ॥ ५२ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए रुद्रदेव पशुओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरने इस संग्राममें कुपित हो घुड़सवारों, घोड़ों और पैदलोंके सहस्रों टुकड़े कर डाले ॥ ५२ ॥

शून्यमायोधनं कृत्वा शरवर्षैः समन्ततः ।
अभ्यद्रवत मद्रेशं तिष्ठ शल्येति चाब्रवीत् ॥ ५३ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा चारों ओरसे युद्धस्थलको सूना करके मद्रराजपर धावा किया और कहा—'शल्य ! खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ ५३ ॥

तस्य तच्चरितं दृष्ट्वा संग्रामे भीमकर्मणः ।
वित्रेसुस्तावकाः सर्वे शल्यस्त्वेनं समभ्ययात् ॥ ५४ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले युधिष्ठिरका युद्धमें वह पराक्रम देखकर आपके सारे सैनिक थर्रा उठे; परंतु शल्यने इनपर आक्रमण कर दिया ॥ ५४ ॥

ततस्तौ भृशसंक्रुद्धौ प्रध्माय सलिलोद्भवौ ।
समाहूय तदान्योन्यं भर्त्सयन्तौ समीयतुः ॥ ५५ ॥

फिर वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित हो शङ्ख बजाकर एक दूसरेको ललकारते और फटकारते हुए परस्पर भिड़ गये ॥

शल्यस्तु शरवर्षेण पीडयामास पाण्डवम् ।
मद्रराजं तु कौन्तेयः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५६ ॥

शल्यने बाणोंकी वर्षा करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको पीड़ित कर दिया तथा कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भी बाणोंकी वर्षाद्वारा मद्रराज शल्यको आच्छादित कर दिया ॥ ५६ ॥

अदृश्येतां तदा राजन् कङ्कपत्रिभिराचितौ ।
उद्भिन्नरुधिरौ शूरौ मद्रराजयुधिष्ठिरौ ॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय शूरवीर मद्रराज और युधिष्ठिर दोनों कङ्कपत्रयुक्त बाणोंसे व्याप्त हो खून बहाते दिखायी देते थे ॥५७॥

पुष्पितौ शुशुभाते वै वसन्ते किंशुकौ यथा ।
दीप्यमानौ महात्मानौ प्राणद्यूतेन दुर्मदौ ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा सर्वाणि सैन्यानि नाध्यवस्यंस्तयोर्जयम् ।

जैसे वसन्त ऋतुमें फूले हुए दो पलाशके वृक्ष शोभा पाते हों, वैसे ही उन दोनोंकी शोभा हो रही थी। प्राणोंकी बाजी लगाकर युद्धका जूआ खेलते हुए उन मदमत्त महामनस्वी एवं दीप्तिमान् वीरोंको देखकर सारी सेनाएँ यह निश्चय नहीं कर पाती थीं कि इन दोनोंमें किसकी विजय होगी ॥ ५८½ ॥

हत्वा मद्राधिपं पार्थो भोक्ष्यतेऽद्य वसुन्धराम्॥ ५९ ॥
शल्यो वा पाण्डवं हत्वा दद्याद् दुर्योधनाय गाम्।
इतीव निश्चयो नाभूद् योधानां तत्र भारत ॥ ६० ॥

भरतनन्दन ! 'आज कुन्तीकुमार युधिष्ठिर मद्रराजको मारकर इस भूतलका राज्य भोगेंगे अथवा शल्य ही पाण्डुकुमार युधिष्ठिरको मारकर दुर्योधनको भूमण्डलका राज्य सौंप देंगे ।' इस बातका निश्चय वहाँ योद्धाओंको नहीं हो पाता था ॥ ५९-६० ॥

प्रदक्षिणमभूत् सर्वं धर्मराजस्य युध्यतः।
ततः शरशतं शल्यो मुमोचाथ युधिष्ठिरे ॥ ६१ ॥
धनुश्चास्य शिताग्रेण बाणेन निरकृन्तत।

युद्ध करते समय युधिष्ठिरके लिये सब कुछ प्रदक्षिण (अनुकूल) हो रहा था। तदनन्तर शल्यने युधिष्ठिरपर सौ बाणोंका प्रहार किया तथा तीखी धारवाले बाणसे उनके धनुषको भी काट दिया ॥ ६१½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शल्यं शरशतैस्त्रिभिः॥ ६२ ॥
अविध्यत् कार्मुकं चास्य क्षुरेण निरकृन्तत।
अथास्य निजघानाश्वांश्चतुरो नतपर्वभिः ॥ ६३ ॥
द्वाभ्यामतिशिताग्राभ्यामुभौ तत् पार्ष्णिसारथी।
ततोऽस्य दीप्यमानेन पीतेन निशितेन च ॥ ६४ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरद् ध्वजम्।
ततः प्रभग्नं तत् सैन्यं दौर्योधनमरिंदम ॥ ६५ ॥

तब युधिष्ठिरने दूसरा धनुष लेकर शल्यको तीन सौ बाणोंसे घायल कर दिया और एक क्षुरके द्वारा उनके धनुषके भी दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको मार डाला। फिर दो अत्यन्त तीखे बाणोंसे दोनों पार्श्वरक्षकोंको यमलोक भेज दिया। तदनन्तर एक चमकते हुए पानीदार पैने भल्लसे सामने खड़े हुए शल्यके ध्वजको भी काट गिराया। शत्रुदमन नरेश ! फिर तो दुर्योधनकी वह सेना वहाँसे भाग खड़ी हुई ॥ ६२-६५ ॥

ततो मद्राधिपं द्रौणिरभ्यधावत् तथा कृतम्।
आरोप्य चैनं स्वरथे त्वरमाणः प्रदुद्रुवे ॥ ६६ ॥

उस समय मद्रराज शल्यकी ऐसी अवस्था हुई देख अश्वत्थामा दौड़ा और उन्हें अपने रथपर बिठाकर तुरंत वहाँसे भाग गया ॥ ६६ ॥

मुहूर्तमिव तौ गत्वा नर्दमाने युधिष्ठिरे।
स्मित्वा ततो मद्रपतिरन्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ ६७ ॥
विधिवत् कल्पितं शुभ्रं महाम्बुदनिनादिनम्।
सज्जयन्त्रोपकरणं द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर दो घड़ीतक उनका पीछा करके सिंहके समान दहाड़ते रहे। तत्पश्चात् मद्रराज शल्य मुस्कराकर दूसरे रथपर जा बैठे। उनका वह उज्ज्वल रथ विधिपूर्वक सजाया गया था। उससे महान् मेघके समान गम्भीर ध्वनि होती थी। उसमें यन्त्र आदि आवश्यक उपकरण सजाकर रख दिये गये थे और वह रथ शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्ययुधिष्ठिरयुद्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्य और युधिष्ठिरका युद्धविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

भीमसेनद्वारा राजा शल्यके घोड़े और सारथिका तथा युधिष्ठिरद्वारा राजा शल्य और उनके भाईका वध एवं कृतवर्माकी पराजय

संजय उवाच

अथान्यद् धनुरादाय बलवान् वेगवत्तरम्।
युधिष्ठिरं मद्रपतिर्भित्त्वा सिंह इवानदत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर बलवान् मद्रराज शल्य दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष हाथमें लेकर युधिष्ठिरको घायल करके सिंहके समान गर्जने लगे ॥ १ ॥

ततः स शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान्।
अभ्यवर्षदमेयात्मा क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न क्षत्रियशिरोमणि शल्य वर्षा करनेवाले मेघके समान क्षत्रियवीरोंपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ २ ॥

सात्यकिं दशभिर्विद्ध्वा भीमसेनं त्रिभिः शरैः।
सहदेवं त्रिभिर्विद्ध्वा युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ ३ ॥

उन्होंने सात्यकिको दस, भीमसेनको तीन तथा सहदेवको भी तीन बाणोंसे घायल करके युधिष्ठिरको भी पीड़ित कर दिया ॥

तांस्तानन्यान् महेष्वासान् साश्वान् सरथकूबरान्।
अर्दयामास विशिखैरुल्काभिरिव कुञ्जरान् ॥ ४ ॥

जैसे शिकारी जलते हुए काष्ठोंसे हाथियोंको पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार वे दूसरे-दूसरे महाधनुर्धर वीरोंको भी घोड़े, रथ और कूबरोंसहित अपने बाणोंद्वारा पीड़ित करने लगे ॥ ४ ॥

कुञ्जरान् कुञ्जरारोहानश्वानश्वप्रयायिनः।
रथांश्च रथिनः सार्धं जघान रथिनां वरः ॥ ५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शल्यने हाथियों और हाथीसवारोंको, घोड़ों और घुड़सवारोंको तथा रथों और रथियोंको एक साथ ही नष्ट कर दिया ॥ ५ ॥

बाहूंश्चिच्छेद तरसा सायुधान् केतनानि च।

चकार च महीं योधैस्तीर्णां वेदीं कुशैरिव ॥ ६ ॥

उन्होंने आयुधोंसहित भुजाओं और ध्वजोंको वेगपूर्वक काट डाला और पृथ्वीपर उसी प्रकार योद्धाओंकी लाशें बिछा दीं, जैसे वेदीपर कुश बिछाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तथा तमरिसैन्यानि घ्नन्तं मृत्युमिवान्तकम् ।
परिवव्रुर्भृशं क्रुद्धाः पाण्डुपाञ्चालसोमकाः ॥ ७ ॥

इस प्रकार मृत्यु और यमराजके समान शत्रुसेनाका संहार करनेवाले राजा शल्यको अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव, पाञ्चाल तथा सोमक-योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७ ॥

तं भीमसेनश्च शिनेश्च नप्ता
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
समागतं भीमबलेन राज्ञा
पर्याप्तमन्योन्यमथाह्वयन्त ॥ ८ ॥

भीमसेन, शिनिपौत्र सात्यकि और माद्रीके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव—ये भयंकर बलशाली राजा युधिष्ठिरके साथ भिड़े हुए सामर्थ्यशाली वीर शल्यको परस्पर युद्धके लिये ललकारने लगे ॥ ८ ॥

ततस्तु शूराः समरे नरेन्द्र
नरेश्वरं प्राप्य युधां वरिष्ठम् ।
आवार्य चैनं समरे नृवीरा
जघ्नुः शरैः पत्रिभिरुग्रवेगैः ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! तत्पश्चात् वे शौर्यशाली नरवीर योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर शल्यको रोककर समरभूमिमें भयंकर वेगशाली बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ९ ॥

संरक्षितो भीमसेनेन राजा
माद्रीसुताभ्यामथ माधवेन ।
मद्राधिपं पत्रिभिरुग्रवेगैः
स्तनान्तरे धर्मसुतो निजघ्ने ॥ १० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भीमसेन, नकुल-सहदेव तथा सात्यकिसे सुरक्षित हो मद्रराज शल्यकी छातीमें उग्रवेगशाली बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ १० ॥

ततो रणे तावकानां रथौघाः
समीक्ष्य मद्राधिपतिं शरार्तम् ।
पर्यावव्रुः प्रवरास्ते सुसज्जा
दुर्योधनस्यानुमते पुरस्तात् ॥ ११ ॥

तब रणभूमिमें मद्रराजको बाणोंसे पीड़ित देख आपके श्रेष्ठ रथी योद्धा दुर्योधनकी आज्ञासे सुसज्जित हो उन्हें घेरकर युधिष्ठिरके आगे खड़े हो गये ॥ ११ ॥

ततो द्रुतं मद्रजनाधिपो रणे
युधिष्ठिरं सप्तभिरभ्यविद्ध्यत् ।
तं चापि पार्थो नवभिः पृषत्कै-
र्विव्याध राजंस्तुमुले महात्मा ॥ १२ ॥

इसके बाद मद्रराजने संग्राममें तुरंत ही सात बाणोंसे युधिष्ठिरको बींध डाला । राजन् ! उस तुमुल युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरने भी नौ बाणोंसे शल्यको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

आकर्णपूर्णायतसम्प्रयुक्तैः
शरैस्तदा संयति तैलधौतैः ।
अन्योन्यमाच्छादयतां महारथौ
मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरश्च ॥ १३ ॥

मद्रराज शल्य और युधिष्ठिर दोनों महारथी कानतक खींचकर छोड़े गये और तेलमें धोये हुए बाणोंद्वारा उस समय युद्धमें एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु तूर्णं समरे महारथौ
परस्परस्यान्तरमीक्षमाणौ ।
शरैर्भृशं विव्यधतुर्नृपोत्तमौ
महाबलौ शत्रुभिरप्रधृष्यौ ॥ १४ ॥

वे दोनों महारथी समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करनेका अवसर देख रहे थे । दोनों ही शत्रुओंके लिये अजेय, महाबलवान् तथा राजाओंमें श्रेष्ठ थे । अतः बड़ी उतावलीके साथ बाणोंद्वारा एक-दूसरेको गहरी चोट पहुँचाने लगे ॥ १४ ॥

तयोर्धनुर्ज्यातलनिःस्वनो महान्
महेन्द्रवज्राशनितुल्यनिःस्वनः ।
परस्परं बाणगणैर्महात्मनोः
प्रवर्षतोर्मद्रपपाण्डुवीरयोः ॥ १५ ॥

परस्पर बाणोंकी वर्षा करते हुए महामना मद्रराज तथा पाण्डववीर युधिष्ठिरके धनुषकी प्रत्यञ्चाका महान् शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ता था ॥ १५ ॥

तौ चेरतुर्व्याघ्रशिशुप्रकाशौ
महावनेष्वामिषगृद्धिनाविव ।
विषाणिनौ नागवराविवोभौ
ततक्षतुः संयति जातदर्पौ ॥ १६ ॥

उन दोनोंका घमण्ड बढ़ा हुआ था । वे दोनों मांसके लोभसे महान् वनमें जूझते हुए व्याघ्रके दो बच्चोंके समान तथा दाँतोंवाले दो बड़े-बड़े गजराजोंकी भाँति युद्धस्थलमें परस्पर आघात करने लगे ॥ १६ ॥

ततस्तु मद्राधिपतिर्महात्मा
युधिष्ठिरं भीमबलं प्रसह्य ।
विव्याध वीरं हृदयेऽतिवेगं
शरेण सूर्याग्निसमप्रभेण ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् महामना मद्रराज शल्यने सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी बाणसे अत्यन्त वेगवान् और भयंकर बलशाली वीर युधिष्ठिरकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

ततोऽतिविद्धोऽथ युधिष्ठिरोऽपि
सुसम्प्रयुक्तेन शरेण राजन् ।
जघान मद्राधिपतिं महात्मा
मुदं च लेभे ऋषभः कुरूणाम् ॥ १८ ॥

राजन् ! उससे अत्यन्त घायल होनेपर भी कुरुकुल-शिरोमणि महात्मा युधिष्ठिरने अच्छी तरह चलाये हुए बाणके द्वारा मद्रराज शल्यको आहत (एवं मूर्च्छित) कर दिया । इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

ततो मुहूर्तादिव पार्थिवेन्द्रो
लब्ध्वा संज्ञां क्रोधसंरक्तनेत्रः ।
शतेन पार्थं त्वरितो जघान
सहस्रनेत्रप्रतिमप्रभावः ॥ १९ ॥

तब इन्द्रके समान प्रभावशाली राजा शल्यने दो ही घड़ीमें होशमें आकर क्रोधसे लाल आँखें करके बड़ी उतावलीके साथ युधिष्ठिरको सौ बाण मारे ॥ १९ ॥

त्वरंस्ततो धर्मसुतो महात्मा
शल्यस्य कोपान्नवभिः पृषत्कैः ।
भित्त्वा ह्युरस्तपनीयं च वर्म
जघान षड्भिस्त्वपरैः पृषत्कैः ॥ २० ॥

इसके बाद धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरने कुपित हो शीघ्रतापूर्वक नौ बाण मारकर राजा शल्यकी छाती और उनके सुवर्णमय कवचको विदीर्ण कर दिया । फिर छः बाण और मारे ॥ २० ॥

ततस्तु मद्राधिपतिः प्रकृष्टं
धनुर्विकृष्य व्यसृजत् पृषत्कान् ।
द्वाभ्यां शराभ्यां च तथैव राज्ञ-
श्चिच्छेद चापं कुरुपुङ्गवस्य ॥ २१ ॥

तदनन्तर मद्रराजने अपने उत्तम धनुषको खींचकर बहुत-से बाण छोड़े । उन्होंने दो बाणोंसे कुरुकुलशिरोमणि राजा युधिष्ठिरके धनुषको काट दिया ॥ २१ ॥

नवं ततोऽन्यत् समरे प्रगृह्य
राजा धनुर्घोरतरं महात्मा ।
शल्यं तु विव्याध शरैः समन्ताद्
यथा महेन्द्रो नमुचिं शिताग्रैः ॥ २२ ॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने समराङ्गणमें दूसरे नये और अत्यन्त भयंकर धनुषको हाथमें लेकर तीखी धारवाले बाणोंसे शल्यको उसी प्रकार सब ओरसे घायल कर दिया, जैसे देवराज इन्द्रने नमुचिको ॥ २२ ॥

ततस्तु शल्यो नवभिः पृषत्कै-
र्भीमस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
निकृत्य रौक्मे पटुवर्मणी तयो-
र्विदारयामास भुजौ महात्मा ॥ २३ ॥

तब महामनस्वी शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेन तथा राजा युधिष्ठिरके सोनेके सुदृढ़ कवचोंको काटकर उन दोनोंकी भुजाओंको विदीर्ण कर डाला ॥ २३ ॥

ततोऽपरेण ज्वलनार्कतेजसा
क्षुरेण राज्ञो धनुरुन्ममाथ ।
कृपश्च तस्यैव जघान सूतं
षड्भिः शरैः सोऽभिमुखः पपात ॥ २४ ॥

इसके बाद अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी क्षुरके द्वारा उन्होंने राजा युधिष्ठिरके धनुषको मथित कर दिया। फिर कृपाचार्यने भी छः बाणोंसे उन्हींके सारथिको मार डाला। सारथि उनके सामने ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरस्य
शरैश्चतुर्भिर्निजघान वाहान् ।
वाहांश्च हत्वा व्यकरोन्महात्मा
योधक्षयं धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् मद्रराजने चार बाणोंसे युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंका भी संहार कर डाला। घोड़ोंको मारकर महामनस्वी शल्यने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके योद्धाओंका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ २५ ॥

(यदद्भुतं कर्म न शक्यमन्यैः
सुदुःसहं तत् कृतवन्तमेकम् ।
शल्यं नरेन्द्रस्य विषण्णभावाद्
विचिन्तयामास मृदङ्गकेतुः ॥
किमेतदिन्द्रावरजस्य वाक्यं
मोघं भवत्यद्य विधेर्बलेन ।
जहीति शल्यं ह्यवदत् तदाजौ
न लोकनाथस्य वचोऽन्यथा स्यात् ॥)

जो अद्भुत एवं दुःसह कार्य दूसरे किसीसे नहीं हो सकता, वही एकमात्र शल्यने राजा युधिष्ठिरके प्रति कर दिखाया। इससे मृदंगचिह्नित ध्वजवाले युधिष्ठिर विषादग्रस्त हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'क्या आज दैवबलसे इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्णकी बात झूठी हो जायगी। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'आप युद्धमें शल्यको मार डालिये' उन जगदीश्वरका कथन व्यर्थ तो नहीं होना चाहिये ॥'

तथा कृते राजनि भीमसेनो
मद्राधिपस्याथ ततो महात्मा ।
छित्त्वा धनुर्वेगवता शरेण
द्वाभ्यामविध्यत् सुभृशं नरेन्द्रम् ॥ २६ ॥

जब मद्रराज शल्यने राजा युधिष्ठिरकी ऐसी दशा कर दी, तब महामनस्वी भीमसेनने एक वेगवान् बाणद्वारा उनके धनुषको काट दिया और दो बाणोंसे उन नरेशको भी अत्यन्त घायल कर दिया ॥ २६ ॥

तथापरेणास्य जहार यन्तुः
कायाच्छिरः संहननीयमध्यात् ।
जघान चाश्वांश्चतुरः सुशीघ्रं
तथा भृशं कुपितो भीमसेनः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अधिक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने दूसरे बाणसे शल्यके सारथिका मस्तक उसके धड़से अलग कर दिया और उनके चारों घोड़ोंको भी शीघ्र ही मार डाला ॥ २७ ॥

तमग्रणीः सर्वधनुर्धराणा-
मेकं चरन्तं समरेऽतिवेगम् ।
भीमः शतेन व्यकिरच्छराणां
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तथैव ॥ २८ ॥

इसके बाद सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य भीमसेन तथा माद्रीकुमार सहदेवने समराङ्गणमें बड़े वेगसे एकाकी विचरनेवाले शल्यपर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा की ॥ २८ ॥

तैः सायकैर्मोहितं वीक्ष्य शल्यं
भीमः शरैरस्य चकर्त वर्म।
स भीमसेनेन निकृत्तवर्मा
मद्राधिपश्चर्म सहस्रतारम् ॥ २९ ॥
प्रगृह्य खड्गं च रथान्महात्मा
प्रस्कन्द्य कुन्तीसुतमभ्यधावत्।
छित्त्वा रथेषां नकुलस्य सोऽथ
युधिष्ठिरं भीमबलोऽभ्यधावत् ॥ ३० ॥

उन बाणोंसे शल्यको मोहित हुआ देख भीमसेनने उनके कवचको भी काट डाला। भीमसेनके द्वारा अपना कवच कट जानेपर भयंकर बलशाली महामनस्वी मद्रराज शल्य सहस्र तारोंके चिह्नसे सुशोभित ढाल और तलवार लेकर उस रथसे कूद पड़े और कुन्तीपुत्रकी ओर दौड़े। उन्होंने नकुलके रथका हरसा काटकर युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ २९-३० ॥

तं चापि राजानमथोत्पतन्तं
क्रुद्धं यथैवान्तकमापतन्तम्।
धृष्टद्युम्नो द्रौपदेयाः शिखण्डी
शिनेश्च नप्ता सहसा परीयुः ॥ ३१ ॥

क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उछलकर आनेवाले राजा शल्यको धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पुत्र, शिखण्डी तथा सात्यकिने सहसा चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३१ ॥

अथास्य चर्माप्रतिमं न्यकृन्तद्
भीमो महात्मा नवभिः पृषत्कैः।
खड्गं च भल्लैर्निचकर्त मुष्टौ
नदन् प्रहृष्टस्तव सैन्यमध्ये ॥ ३२ ॥

महामना भीमने नौ बाणोंसे उनकी अनुपम ढालके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर आपकी सेनाके बीचमें बड़े हर्षके साथ गर्जना करते हुए उन्होंने अनेक भल्लोंद्वारा उनकी तलवारकी मुट्ठी भी काट डाली ॥ ३२ ॥

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य हृष्टा-
स्ते पाण्डवानां प्रवरा रथौघाः।
नादं च चक्रुर्भृशमुत्स्मयन्तः
शङ्खांश्च दध्मुः शशिसंनिकाशान् ॥ ३३ ॥

भीमसेनका यह अद्भुत कर्म देखकर पाण्डवदलके श्रेष्ठ रथी बड़े प्रसन्न हुए और वे हँसते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल शङ्ख बजाने लगे ॥ ३३ ॥

तेनाथ शब्देन विभीषणेन
तथाभितप्तं बलमप्रधृष्यम्।
कांदिग्भूतं रुधिरेणोक्षिताङ्गं
विसंज्ञकल्पं च तदा विषण्णम् ॥ ३४ ॥

उस भयानक शब्दसे संतप्त हो अजेय कौरवसेना विषाद-ग्रस्त एवं अचेत-सी हो गयी। वह खूनसे लथपथ हो अज्ञात दिशाओंकी ओर भागने लगी ॥ ३४ ॥

स मद्रराजः सहसा विकीर्णो
भीमाग्रगैः पाण्डवयोधमुख्यैः।
युधिष्ठिरस्याभिमुखं जवेन
सिंहो यथा मृगहेतोः प्रयातः ॥ ३५ ॥

भीम जिनके अगुआ थे, उन पाण्डवपक्षके प्रमुख वीरों-द्वारा बाणोंसे आच्छादित किये गये मद्रराज शल्य सहसा बड़े वेगसे युधिष्ठिरकी ओर दौड़े, मानो कोई सिंह किसी मृगको पकड़नेके लिये झपटा हो ॥ ३५ ॥

स धर्मराजो निहताश्वसूतः
क्रोधेन दीप्तो ज्वलनप्रकाशः।
दृष्ट्वा च मद्राधिपतिं स तूर्णं
समभ्यधावत् तमरिं बलेन ॥ ३६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके घोड़े और सारथि मारे गये थे, इसलिये वे क्रोधसे उद्दीप्त हो प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे। उन्होंने अपने शत्रु मद्रराज शल्यको देखकर उन-पर बलपूर्वक आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

गोविन्दवाक्यं त्वरितं विचिन्त्य
दध्रे मतिं शल्यविनाशनाय।
स धर्मराजो निहताश्वसूतो
रथे तिष्ठञ्शक्तिमेवाभ्यकाङ्क्षत् ॥ ३७ ॥

उस समय श्रीकृष्णके वचनको स्मरण करके उन्होंने शीघ्र ही शल्यको मार डालनेका निश्चय किया। धर्मराजके घोड़े और सारथि तो मारे ही जा चुके थे केवल रथ शेष था, अतः उसीपर खड़े होकर उन्होंने शल्यपर शक्तिके ही प्रयोग-का विचार किया ॥ ३७ ॥

तच्चापि शल्यस्य निशम्य कर्म
महात्मनो भागमथावशिष्टम्।
कृत्वा मनः शल्यवधे महात्मा
यथोक्तमिन्द्रावरजस्य चक्रे ॥ ३८ ॥

महात्मा युधिष्ठिरने महामना शल्यके पूर्वोक्त कर्मको देख-सुनकर और उन्हें अपना ही भाग अवशिष्ट जानकर, जैसा श्रीकृष्णने कहा था उसके अनुसार शल्यके वधका संकल्प किया ॥

स धर्मराजो मणिहेमदण्डां
जग्राह शक्तिं कनकप्रकाशाम्।
नेत्रे च दीप्ते सहसा विवृत्य
मद्राधिपं क्रुद्धमना निरैक्षत् ॥ ३९ ॥

धर्मराजने मणि और सुवर्णमय दण्डसे युक्त तथा सोनेके समान प्रकाशित होनेवाली शक्ति हाथमें ली और मन-ही-मन कुपित हो सहसा रोषसे जलती हुई आँखें फाड़कर मद्र-राज शल्यकी ओर देखा ॥ ३९ ॥

निरीक्षितोऽसौ नरदेव राज्ञा
पूतात्मना निहृतकल्मषेण।
आसीन्न यद् भस्मसान्मद्रराज-
स्तदद्भुतं मे प्रतिभाति राजन् ॥ ४० ॥

नरदेव! पापरहित, पवित्र अन्तःकरणवाले, राजा युधिष्ठिरके रोषपूर्वक देखनेपर भी मद्रराज शल्य जलकर भस्म नहीं हो गये, यह मुझे अद्भुत बात जान पड़ती है ॥ ४० ॥

ततस्तु शक्तिं रुचिरोग्रदण्डां
मणिप्रवेकोज्ज्वलितां प्रदीप्ताम्।
चिक्षेप वेगात् सुभृशं महात्मा
मद्राधिपाय प्रवरः कुरूणाम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर कौरव-शिरोमणि महात्मा युधिष्ठिरने सुन्दर एवं भयंकर दण्डवाली तथा उत्तम मणियोंसे जटित होनेके कारण प्रज्वलित दिखायी देनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको मद्रराज शल्यके ऊपर बड़े वेगसे चलाया ॥ ४१ ॥

दीप्तामथैनां प्रहितां बलेन
सविस्फुलिङ्गां सहसा पतन्तीम्।
प्रैक्षन्त सर्वे कुरवः समेता
दिवो युगान्ते महतीमिवोल्काम् ॥ ४२ ॥

बलपूर्वक फेंकी जानेसे प्रज्वलित हुई तथा आगकी चिनगारियाँ छोड़ती हुई उस शक्तिको, वहाँ आये हुए समस्त कौरवोंने प्रलयकालमें आकाशसे गिरनेवाली बड़ी भारी उल्काके समान सहसा शल्यपर गिरती देखा ॥ ४२ ॥

तां कालरात्रीमिव पाशहस्तां
यमस्य धात्रीमिव चोग्ररूपाम्।
स ब्रह्मदण्डप्रतिमाममोघां
ससर्ज यत्तो युधि धर्मराजः ॥ ४३ ॥

वह शक्ति पाश हाथमें लिये हुए कालरात्रिके समान उग्र, यमराजकी धायके समान भयंकर तथा ब्रह्मदण्डके समान अमोघ थी। धर्मराजने बड़े यत्न और सावधानीके साथ युद्धमें उसका प्रयोग किया था ॥ ४३ ॥

गन्धस्रगग्र्यासनपानभोजनै-
रभ्यर्चितां पाण्डुसुतैः प्रयत्नात्।
सांवर्तकाग्निप्रतिमां ज्वलन्तीं
कृत्यामथर्वाङ्गिरसीमिवोग्राम् ॥ ४४ ॥

पाण्डवोंने गन्ध (चन्दन), माला, उत्तम आसन, पेय-पदार्थ और भोजन आदि अर्पण करके सदा प्रयत्नपूर्वक उसकी पूजा की थी। वह प्रलयकालिक संवर्तक नामक अग्निके समान प्रज्वलित होती और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंसे प्रकट की गयी कृत्याके समान अत्यन्त भयंकर जान पड़ती थी ॥४४॥

ईशानहेतोः प्रतिनिर्मितां तां
त्वष्ट्रा रिपूणामसुदेहभक्ष्याम्।
भूम्यन्तरिक्षादिजलाशयानि
प्रसह्य भूतानि निहन्तुमीशाम् ॥ ४५ ॥

त्वष्टा प्रजापति (विश्वकर्मा) ने भगवान् शंकरके लिये उस शक्तिका निर्माण किया था। वह शत्रुओंके प्राण और शरीरको अपना ग्रास बना लेनेवाली थी तथा जल, थल एवं आकाश आदिमें रहनेवाले प्राणियोंको भी बलपूर्वक मार डालनेमें समर्थ थी ॥ ४५ ॥

घण्टापताकामणिवज्रभाजं
वैदूर्यचित्रां तपनीयदण्डाम्।
त्वष्ट्रा प्रयत्नान्नियमेन क्लृप्तां
ब्रह्मद्विषामन्तकरीममोघाम् ॥ ४६ ॥

उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ और पताकाएँ लगी थीं, मणि और हीरे जड़े गये थे, वैदूर्यमणिके द्वारा उसे चित्रित किया गया था। उस शक्तिका दण्ड तपाये हुए सुवर्णका बना था। विश्वकर्माने नियमपूर्वक रहकर बड़े प्रयत्नसे उसको बनाया था। वह ब्रह्मद्रोहियोंका विनाश करनेवाली तथा लक्ष्य वेधनेमें अचूक थी ॥ ४६ ॥

बलप्रयत्नादधिरूढवेगां
मन्त्रैश्च घोरैरभिमन्त्र्य यत्नात्।
ससर्ज मार्गेण च तां परेण
वधाय मद्राधिपतेस्तदानीम् ॥ ४७ ॥

बल और प्रयत्नके द्वारा उसका वेग बहुत बढ़ गया था, युधिष्ठिरने उस समय मद्रराजका वध करनेके लिये उसे घोर मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके उत्तम मार्गके द्वारा प्रयत्नपूर्वक छोड़ा था ॥ ४७ ॥

हतोऽसि पापेत्यभिगर्जमानो
रुद्रोऽन्धकायान्तकरं यथेषुम्।
प्रसार्य बाहुं सुदृढं सुपाणिं
क्रोधेन नृत्यन्निव धर्मराजः ॥ ४८ ॥

जैसे रुद्रने अन्धकासुरपर प्राणान्तकारी बाण छोड़ा था, उसी प्रकार क्रोधसे नृत्य-सा करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने सुन्दर हाथवाली अपनी सुदृढ़ बाँह फैलाकर वह शक्ति शल्यपर चला दी और गरजते हुए कहा—'ओ पापी ! तू मारा गया' ॥

(स्फुरत्प्रभामण्डलमंशुजालै-
र्धर्मात्मनो मद्रविनाशकाले।
पुरत्रयप्रोत्सरणे पुरस्ता-
न्माहेश्वरं रूपमभूत् तदानीम् ॥)

पूर्वकालमें त्रिपुरोंका विनाश करते समय भगवान् महेश्वरका जैसा स्वरूप प्रकट हुआ था, वैसा ही शल्यके संहारकालमें उस समय धर्मात्मा युधिष्ठिरका रूप जान पड़ता था। वे अपने किरणसमूहोंसे प्रभाका पुञ्ज बिखेर रहे थे ॥

तां सर्वशक्त्या प्रहितां सुशक्तिं
युधिष्ठिरेणाप्रतिवार्यवीर्याम्।
प्रतिग्रहायाभिननर्द शल्यः
सम्यग्घुतामग्निरिवाज्यधाराम् ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिरने उस उत्तम शक्तिको अपना सारा बल लगाकर चलाया था। इसके सिवा, उसके बल और प्रभावको रोकना किसीके लिये भी असम्भव था तो भी उसकी चोट सहनेके लिये मद्रराज शल्य गरज उठे, मानो हवन की हुई घृतधाराको ग्रहण करनेके लिये अग्निदेव प्रज्वलित हो उठे हों ॥४९॥

सा तस्य मर्माणि विदार्य शुभ्र-
मुरो विशालं च तथैव भित्त्वा।
विवेश गां तोयमिवाप्रसक्ता
यशो विशालं नृपतेर्दहन्ती ॥ ५० ॥

परंतु वह शक्ति राजा शल्यके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करके उनके उज्ज्वल एवं विशाल वक्षःस्थलको चीरती तथा विस्तृत

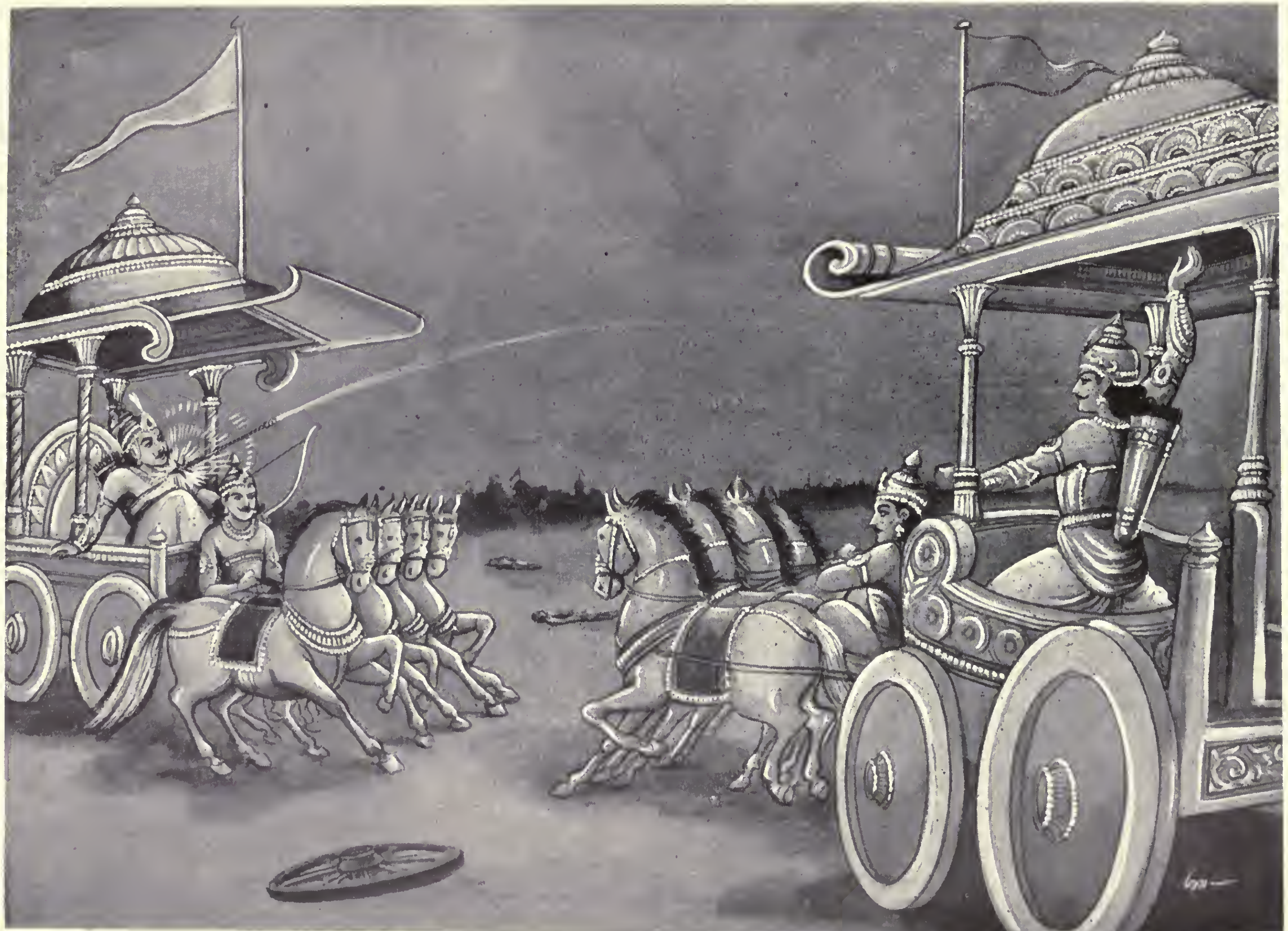

युधिष्ठिरद्वारा शल्यपर शक्तिका घातक प्रहार

यशको दग्ध करती हुई जलकी भाँति धरतीमें समा गयी। उसकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी ॥ ५० ॥

नासाक्षिकर्णास्यविनिःसृतेन
प्रस्यन्दता च व्रणसम्भवेन।
संसिक्तगात्रो रुधिरेण सोऽभूत्
क्रौञ्चो यथा स्कन्दहतो महाद्रिः ॥ ५१ ॥

जैसे कार्तिकेयकी शक्तिसे आहत हुआ महापर्वत क्रौञ्च गेरूमिश्रित झरनोंके जलसे भीग गया था, उसी प्रकार नाक, आँख, कान और मुखसे निकले तथा घावोंसे बहते हुए खूनसे शल्यका सारा शरीर नहा गया ॥ ५१ ॥

प्रसार्य बाहू च रथाद् गतो गां
संछिन्नवर्मा कुरुनन्दनेन।
महेन्द्रवाहप्रतिमो महात्मा
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ५२ ॥

कुरुनन्दन! भीमसेनने जिनके कवचको छिन्न-भिन्न कर डाला था, वे इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान विशालकाय राजा शल्य दोनों बाहें फैलाकर वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति रथसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५२ ॥

बाहू प्रसार्याभिमुखो धर्मराजस्य मद्रराट्।
ततो निपतितो भूमाविन्द्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ५३ ॥

मद्रराज शल्य धर्मराज युधिष्ठिरके सामने ही अपनी दोनों भुजाओंको फैलाकर ऊँचे इन्द्रध्वजके समान धराशायी हो गये ॥ ५३ ॥

स तथा भिन्नसर्वाङ्गो रुधिरेण समुक्षितः।
प्रत्युद्गत इव प्रेम्णा भूम्या स नरपुङ्गवः ॥ ५४ ॥
प्रियया कान्तया कान्तः पतमान इवोरसि।

उनके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये थे तथा वे खूनसे नहा उठे थे। जैसे प्रियतमा कामिनी अपने वक्षःस्थलपर गिरनेकी इच्छावाले प्रियतमका प्रेमपूर्वक स्वागत करती है, उसी प्रकार पृथ्वीने अपने ऊपर गिरते हुए नरश्रेष्ठ शल्यको मानो प्रेमपूर्वक आगे बढ़कर अपनाया था ॥ ५४½ ॥

चिरं भुक्त्वा वसुमतीं प्रियां कान्तामिव प्रभुः ॥ ५५ ॥
सर्वैरङ्गैः समाश्लिष्य प्रसुप्त इव चाभवत्।

प्रियतमा कान्ताकी भाँति इस वसुधाका चिरकालतक उपभोग करनेके पश्चात् राजा शल्य मानो अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे उसका आलिङ्गन करके सो गये थे ॥ ५५½ ॥

धर्म्ये धर्मात्मना युद्धे निहतो धर्मसूनुना ॥ ५६ ॥
सम्यग्घुत इव स्विष्टः प्रशान्तोऽग्निरिवाध्वरे।

उस धर्मानुकूल युद्धमें धर्मात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा मारे गये राजा शल्य यज्ञमें विधिपूर्वक घीकी आहुति पाकर शान्त होनेवाली 'स्विष्टकृत्' अग्निके समान सर्वथा शान्त हो गये ॥ ५६½ ॥

शक्त्या विभिन्नहृदयं विप्रविद्धायुधध्वजम् ॥ ५७ ॥
संशान्तमपि मद्रेशं लक्ष्मीर्नैव विमुञ्चति।

शक्तिने राजा शल्यके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर डाला था, उनके आयुध तथा ध्वज छिन्न-भिन्न हो बिखरे पड़े थे और वे सदाके लिये शान्त हो गये थे तो भी मद्रराजको लक्ष्मी (शोभा या कान्ति) छोड़ नहीं रही थी ॥ ५७½ ॥

ततो युधिष्ठिरश्चापमादायेन्द्रधनुष्प्रभम् ॥ ५८ ॥
व्यधमद् द्विषतः संख्ये खगराडिव पन्नगान्।
देहान् सुनिशितैर्भल्लै रिपूणां नाशयन् क्षणात् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने इन्द्रधनुषके समान कान्तिमान् दूसरा धनुष लेकर सर्पोंका संहार करनेवाले गरुड़की भाँति युद्धस्थलमें तीखे भल्लोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंका नाश करते हुए क्षणभरमें उन सबका विध्वंस कर दिया ॥ ५८-५९ ॥

ततः पार्थस्य बाणौघैरावृताः सैनिकास्तव।
निमीलिताक्षाः क्षिण्वन्तो भृशमन्योन्यमर्दिताः ॥ ६० ॥
क्षरन्तो रुधिरं देहैर्विपन्नायुधजीविताः।

युधिष्ठिरके बाणसमूहोंसे आच्छादित हुए आपके सैनिकोंने आँखें मीच लीं और आपसमें ही एक-दूसरेको घायल करके वे अत्यन्त पीडित हो गये। उस समय शरीरोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए वे अपने अस्त्र-शस्त्र और जीवनसे भी हाथ धो बैठे॥

ततः शल्ये निपतिते मद्रराजानुजो युवा ॥ ६१ ॥
भ्रातुस्तुल्यो गुणैः सर्वै रथी पाण्डवमभ्ययात्।

तदनन्तर, मद्रराज शल्यके मारे जानेपर उनका छोटा भाई, जो अभी नवयुवक था और सभी गुणोंमें अपने भाईकी ही समानता करता था, रथपर आरूढ हो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर-पर चढ़ आया ॥ ६१½ ॥

विव्याध च नरश्रेष्ठो नाराचैर्बहुभिस्त्वरन् ॥ ६२ ॥
हतस्यापचितिं भ्रातुश्चिकीर्षुर्युद्धदुर्मदः।

मारे गये भाईका प्रतिशोध लेनेकी इच्छासे वह रण-दुर्मद नरश्रेष्ठ वीर बड़ी उतावलीके साथ उन्हें बहुत-से नाराचों-द्वारा घायल करने लगा ॥ ६२½ ॥

तं विव्याधाशुगैः षड्भिर्धर्मराजस्त्वरन्निव ॥ ६३ ॥
कार्मुकं चास्य चिच्छेद क्षुराभ्यां ध्वजमेव च।

तब धर्मराजने उसे शीघ्रतापूर्वक छः बाणोंसे बींध डाला तथा दो क्षुरोंसे उसके धनुष और ध्वजको काट दिया ॥

ततोऽस्य दीप्यमानेन सुदृढेन शितेन च ॥ ६४ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरच्छिरः।

तत्पश्चात् एक चमकीले, सुदृढ़ और तीखे भल्लसे सामने खड़े हुए उस राजकुमारके मस्तकको काट गिराया ॥६४½॥

सकुण्डलं तद् ददृशे पतमानं शिरो रथात् ॥ ६५ ॥
पुण्यक्षयमनुप्राप्य पतन् स्वर्गादिव च्युतः।

पुण्य समाप्त होनेपर स्वर्गसे भ्रष्ट हो नीचे गिरनेवाले जीवकी भाँति उसका वह कुण्डलसहित मस्तक रथसे भूतलपर गिरता देखा गया ॥ ६५½ ॥

तस्यापकृत्तशीर्षं तु शरीरं पतितं रथात् ॥ ६६ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं दृष्ट्वा सैन्यमभज्यत।

फिर खूनसे लथपथ हुआ उसका शरीर भी, जिसका सिर काट लिया गया था, रथसे नीचे गिर पड़ा। उसे देखकर आपकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ ६६½ ॥

विचित्रकवचे तस्मिन् हते मद्रनृपानुजे ॥ ६७ ॥
हाहाकारं प्रकुर्वाणाः कुरवोऽभिप्रदुद्रुवुः ।

मद्रनरेशका वह छोटा भाई विचित्र कवचसे सुशोभित था, उसके मारे जानेपर समस्त कौरव हाहाकार करते हुए भाग चले ॥ ६७½ ॥

शल्यानुजं हतं दृष्ट्वा तावकास्त्यक्तजीविताः ॥ ६८॥
वित्रेसुः पाण्डवभयाद् रजोध्वस्तास्तदा भृशम् ।

शल्यके भाईको मारा गया देख धूलिधूसरित हुए आपके सारे सैनिक पाण्डुपुत्रके भयसे जीवनकी आशा छोड़कर अत्यन्त त्रस्त हो गये ॥ ६८½ ॥

तांस्तथा भज्यमानांस्तु कौरवान् भरतर्षभ ॥ ६९ ॥
शिनेर्नप्ता किरन् बाणैरभ्यवर्तत सात्यकिः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भागते हुए उन कौरवयोद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करते हुए शिनि-पौत्र सात्यकि उनका पीछा करने लगे ॥ ६९½ ॥

तमायान्तं महेष्वासं दुष्प्रसह्यं दुरासदम् ॥ ७० ॥
हार्दिक्यस्त्वरितो राजन् प्रत्यगृह्णादभीतवत् ।

राजन् ! दुःसह एवं दुर्जय महाधनुर्धर सात्यकिको अक्रमण करते देख कृतवर्माने शीघ्रतापूर्वक एक निर्भय वीरकी भाँति उन्हें रोका ॥ ७०½ ॥

तौ समेतौ महात्मानौ वार्ष्णेयौ वरवाजिनौ ॥ ७१ ॥
हार्दिक्यः सात्यकिश्चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ।

श्रेष्ठ घोड़ोंवाले वे महामनस्वी वृष्णिवंशी वीर सात्यकि और कृतवर्मा दो बलोन्मत्त सिंहोंके समान एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ ७१½ ॥

इषुभिर्विमलाभासैश्छादयन्तौ परस्परम् ॥ ७२ ॥
अर्चिर्भिरिव सूर्यस्य दिवाकरसमप्रभौ ।

सूर्यके समान तेजस्वी वे दोनों वीर दिनकरकी किरणोंके सदृश निर्मल कान्तिवाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ ७२½ ॥

चापमार्गबलोद्धूतान् मार्गणान् वृष्णिसिंहयोः ॥ ७३ ॥
आकाशगानपश्याम पतङ्गानिव शीघ्रगान् ।

वृष्णिवंशके उन दोनों सिंहोंके धनुषद्वारा बलपूर्वक चलाये हुए शीघ्रगामी बाणोंको हमने टिड्डीदलोंके समान आकाशमें व्याप्त हुआ देखा था ॥ ७३½ ॥

सात्यकिं दशभिर्विद्ध्वा हयांश्चास्य त्रिभिः शरैः ॥ ७४॥
चापमेकेन चिच्छेद हार्दिक्यो नतपर्वणा ।

कृतवर्माने दस बाणोंसे सात्यकिको तथा तीनसे उनके घोड़ोंको घायल करके झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके धनुषको भी काट दिया ॥ ७४½ ॥

तन्निकृत्तं धनुः श्रेष्ठमपास्य शिनिपुङ्गवः ॥ ७५ ॥
अन्यदादत्त वेगेन वेगवत्तरमायुधम् ।

उस कटे हुए श्रेष्ठ धनुषको फेंककर शिनिप्रवर सात्यकिने उससे भी अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष शीघ्रतापूर्वक हाथमें ले लिया ॥ ७५½ ॥

तदादाय धनुः श्रेष्ठं वरिष्ठः सर्वधन्विनाम् ॥ ७६ ॥
हार्दिक्यं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

उस श्रेष्ठ धनुषको लेकर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य सात्यकिने कृतवर्माकी छातीमें दस बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७६½ ॥

ततो रथं युगेषां च च्छित्त्वा भल्लैः सुसंयतैः ॥ ७७ ॥
अश्वांस्तस्यावधीत् तूर्णमुभौ च पार्ष्णिसारथी ।

तत्पश्चात् सुसंयत भल्लोंके प्रहारसे उसके रथ, जूए और ईषादण्ड (हरसे) को काटकर शीघ्र ही घोड़ों तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी मार डाला ॥ ७७½ ॥

ततस्तं विरथं दृष्ट्वा कृपः शारद्वतः प्रभो ॥ ७८ ॥
अपोवाह ततः क्षिप्रं रथमारोप्य वीर्यवान् ।

प्रभो ! कृतवर्माको रथहीन हुआ देख शरद्वान्के पराक्रमी पुत्र कृपाचार्य उसे शीघ्र ही अपने रथपर बिठाकर वहाँसे दूर हटा ले गये ॥ ७८½ ॥

मद्रराजे हते राजन् विरथे कृतवर्मणि ॥ ७९ ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ।

राजन् ! जब मद्रराज मारे गये और कृतवर्मा भी रथहीन हो गया, तब दुर्योधनकी सारी सेना पुनः युद्धसे मुँह मोड़कर भागने लगी ॥ ७९½ ॥

तत् परे नान्वबुध्यन्त सैन्येन रजसा वृते ॥ ८० ॥
बलं तु हतभूयिष्ठं तत् तदाऽऽसीत् पराङ्मुखम् ।

परंतु वहाँ सब ओर धूल छा रही थी, इसलिये शत्रुओंको इस बातका पता न चला । अधिकांश योद्धाओंके मारे जानेसे उस समय वह सारी सेना युद्धसे विमुख हो गयी थी ॥ ८०½ ॥

ततो मुहूर्तात् तेऽपश्यन् रजो भीमं समुत्थितम् ॥ ८१ ॥
विविधैः शोणितस्रावैः प्रशान्तं पुरुषर्षभ ।

पुरुषप्रवर ! तदनन्तर दो ही घड़ीमें उन सबने देखा कि धरतीकी जो धूल ऊपर उड़ रही थी, वह नाना प्रकारके रक्तका स्रोत बहनेसे शान्त हो गयी है ॥ ८१½ ॥

ततो दुर्योधनो दृष्ट्वा भग्नं स्वबलमन्तिकात् ॥ ८२ ॥
जवेनापततः पार्थानेकः सर्वानवारयत् ।

उस समय दुर्योधनने यह देखकर कि मेरी सेना मेरे पाससे भाग गयी है, वेगसे आक्रमण करनेवाले समस्त पाण्डव-योद्धाओंको अकेले ही रोका ॥ ८२½ ॥

पाण्डवान् सरथान् दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ८३ ॥
आनर्तं च दुराधर्षं शितैर्बाणैरवारयत् ।

रथसहित पाण्डवोंको, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तथा दुर्जय वीर आनर्तनरेशको सामने देखकर उसने तीखे बाणोंद्वारा उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ८३½ ॥

तं परे नाभ्यवर्तन्त मर्त्या मृत्युमिवागतम् ॥ ८४ ॥
अथान्यं रथमास्थाय हार्दिक्योऽपि न्यवर्तत ।

जैसे मरणधर्मा मनुष्य पास आयी हुई अपनी मौतको नहीं टाल सकते, उसी प्रकार वे शत्रुपक्षके सैनिक दुर्योधनको

लाँघकर आगे न बढ़ सके। इसी समय कृतवर्मा भी दूसरे रथपर आरूढ़ हो पुनः वहीं लौट आया ॥ ८४½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥ ८५ ॥
चतुर्भिर्निजघानाश्वान् पत्रिभिः कृतवर्मणः ।
विव्याध गौतमं चापि षड्भिर्भल्लैः सुतेजनैः ॥ ८६ ॥

तब महारथी राजा युधिष्ठिरने बड़ी उतावलीके साथ चार बाण मारकर कृतवर्माके चारों घोड़ोंका संहार कर डाला तथा छः तेज धारवाले भल्लोंसे कृपाचार्यको भी घायल कर दिया ॥ ८५-८६ ॥

अश्वत्थामा ततो राज्ञा हताश्वं विरथीकृतम् ।
तमपोवाह हार्दिक्यं स्वरथेन युधिष्ठिरात् ॥ ८७ ॥

इसके बाद अश्वत्थामा अपने रथके द्वारा घोड़ोंके मारे जानेसे रथहीन हुए कृतवर्माको राजा युधिष्ठिरके पाससे दूर हटा ले गया ॥ ८७ ॥

ततः शारद्वतः षड्भिः प्रत्यविद्ध्यद् युधिष्ठिरम् ।
विव्याध चाश्वान्निशितैस्तस्याष्टाभिः शिलीमुखैः॥८८॥

तब कृपाचार्यने छः बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको बींध डाला और आठ पैने बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥

एवमेतन्महाराज युद्धशेषमवर्तत ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् सह पुत्रस्य भारत ॥ ८९ ॥

महाराज ! भरतवंशी नरेश ! इस प्रकार पुत्रसहित आपकी कुमन्त्रणासे इस युद्धका अन्त हुआ ॥ ८९ ॥

तस्मिन् महेष्वासवरे विशस्ते
संग्राममध्ये कुरुपुङ्गवेन ।
पार्थाः समेताः परमप्रहृष्टाः
शङ्खान् प्रदध्मुर्हतमीक्ष्य शल्यम्॥ ९० ॥

कुरुकुलशिरोमणि युधिष्ठिरके द्वारा युद्धमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर शल्यके मारे जानेपर कुन्तीके सभी पुत्र एकत्र हो अत्यन्त हर्षमें भर गये और शल्यको मारा गया देख शङ्ख बजाने लगे ॥ ९० ॥

युधिष्ठिरं च प्रशशंसुराजौ
पुरा कृते वृत्रवधे यथेन्द्रम् ।
चक्रुश्च नानाविधवाद्यशब्दान्
निनादयन्तो वसुधां समेताः ॥ ९१ ॥

जैसे पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध करनेपर देवताओंने इन्द्रकी स्तुति की थी, उसी प्रकार सब पाण्डवोंने रणभूमिमें युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए वे सब लोग नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनि फैलाने लगे ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यवधे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका वधविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ९४ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

मद्रराजके अनुचरोंका वध और कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

शल्येऽथ निहते राजन् मद्रराजपदानुगाः ।
रथाः सप्तशता वीरा निर्ययुर्महतो बलात् ॥ १ ॥
दुर्योधनस्तु द्विरदमारुह्याचलसंनिभम् ।
छत्रेण ध्रियमाणेन वीज्यमानश्च चामरैः ॥ २ ॥
न गन्तव्यं न गन्तव्यमिति मद्रानवारयत् ।
दुर्योधनेन ते वीरा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरं जिघांसन्तः पाण्डूनां प्राविशन् बलम् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! मद्रराज शल्यके मारे जानेपर उनके अनुगामी सात सौ वीर रथी विशाल कौरव-सेनासे निकल पड़े । उस समय दुर्योधन पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो सिरपर छत्र धारण किये चामरोंसे वीजित होता हुआ वहाँ आया और 'न जाओ, न जाओ' ऐसा कहकर उन मद्र-देशीय वीरोंको रोकने लगा; परंतु दुर्योधनके बारंबार रोकनेपर भी वे वीर योद्धा युधिष्ठिरके वधकी इच्छासे पाण्डवोंकी सेनामें जा घुसे ॥ १-३½ ॥

ते तु शूरा महाराज कृतचित्ताश्च योधने ॥ ४ ॥
धनुःशब्दं महत् कृत्वा सहायुध्यन्त पाण्डवैः ।

महाराज ! उन शूरवीरोंने युद्ध करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था, अतः धनुषकी गम्भीर टंकार करके पाण्डवोंके साथ संग्राम आरम्भ कर दिया ॥ ४½ ॥

श्रुत्वा च निहतं शल्यं धर्मपुत्रं च पीडितम् ॥ ५ ॥
मद्रराजप्रिये युक्तैर्मद्रकाणां महारथैः ।
आजगाम ततः पार्थो गाण्डीवं विक्षिपन् धनुः ॥ ६ ॥
पूरयन् रथघोषेण दिशः सर्वा महारथः ।

शल्य मारे गये और मद्रराजका प्रिय करनेमें लगे हुए मद्रदेशीय महारथियोंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको पीड़ित कर रखा है; यह सुनकर कुन्तीपुत्र महारथी अर्जुन गाण्डीव धनुषकी टंकार करते और रथके गम्भीर घोषसे सम्पूर्ण दिशाओंको परिपूर्ण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ५-६½ ॥

ततोऽर्जुनश्च भीमश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ७ ॥
सात्यकिश्च नरव्याघ्रो द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाः सह सोमकैः॥ ८ ॥
युधिष्ठिरं परीप्सन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ।

तदनन्तर अर्जुन, भीमसेन, माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार नकुल, सहदेव, पुरुषसिंह सात्यकि, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, पाञ्चाल और सोमक वीर—इन सबने युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ७-८½

ते समन्तात् परिवृताः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
क्षोभयन्ति स्म तां सेनां मकराः सागरं यथा ।

युधिष्ठिरको तब ओरसे घेरकर लड़ते हुए पुरुषप्रवर पाण्डव उस सेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध करने लगे, जैसे मगर समुद्रको ॥ ९½ ॥

वृक्षानिव महावाताः कम्पयन्ति स्म तावकान् ॥ १० ॥
पुरोवातेन गङ्गेव क्षोभ्यमाणा महानदी ।
अक्षोभ्यत तदा राजन् पाण्डूनां ध्वजिनी ततः ॥ ११ ॥

जैसे महावायु (आँधी) वृक्षोंको हिला देती है, उसी प्रकार पाण्डव-वीरोंने आपके सैनिकोंको कम्पित कर दिया। राजन् ! जैसे पूर्वी हवा महानदी गङ्गाको क्षुब्ध कर देती है, उसी प्रकार उन सैनिकोंने पाण्डवोंकी सेनामें भी हलचल मचा दी ॥ १०-११ ॥

प्रस्कन्द्य सेनां महतीं महात्मानो महारथाः ।
बहवश्चुक्रुशुस्तत्र क्व स राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
भ्रातरो वास्य ते शूरा दृश्यन्ते नेह केन च ।

वे बहुसंख्यक महामनस्वी मद्रमहारथी विशाल पाण्डव-सेनाको मथकर जोर-जोरसे पुकार-पुकारकर कहने लगे—'कहाँ है वह राजा युधिष्ठिर ? अथवा उसके वे शूरवीर भाई ? वे सब यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते ? ॥ १२½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ शैनेयो द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥ १३ ॥
पञ्चालाश्च महावीर्याः शिखण्डी च महारथः ।

'धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके सभी पुत्र, महापराक्रमी पाञ्चाल और महारथी शिखण्डी—ये सब कहाँ हैं ?' ॥ १३½ ॥

एवं तान् वादिनः शूरान् द्रौपदेया महारथाः ॥ १४ ॥
अभ्यघ्नन् युयुधानश्च मद्रराजपदानुगान् ।

ऐसी बातें कहते हुए उन मद्रराजके अनुगामी वीर योद्धाओंको द्रौपदीके महारथी पुत्रों और सात्यकिने मारना आरम्भ किया ॥ १४½ ॥

चक्रैर्विमथितैः केचित् केचिच्छिन्नैर्महाध्वजैः ॥ १५ ॥
ते दृश्यन्तेऽपि समरे तावका निहताः परैः ।

समराङ्गणमें आपके वे सैनिक शत्रुओंद्वारा मारे जाने लगे। कुछ योद्धा छिन्न-भिन्न हुए रथके पहियों और कुछ कटे हुए विशाल ध्वजोंके साथ ही धराशायी होते दिखायी देने लगे ॥ १५½ ॥

आलोक्य पाण्डवान् युद्धे योधा राजन् समन्ततः ॥ १६ ॥
वार्यमाणा ययुर्वेगात् पुत्रेण तव भारत ।

राजन् ! भरतनन्दन ! वे योद्धा युद्धमें सब ओर फैले हुए पाण्डवोंको देखकर आपके पुत्रके मना करनेपर भी वेग-पूर्वक आगे बढ़ गये ॥ १६½ ॥

दुर्योधनश्च तान् वीरान् वारयामास सान्त्वयन् ॥ १७ ॥
न चास्य शासनं केचित्तत्र चक्रुर्महारथाः ।

दुर्योधनने उन वीरोंको सान्त्वना देते हुए बहुत मना किया, किंतु वहाँ किन्हीं महारथियोंने उसकी इस आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ १७½ ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरब्रवीत् ॥ १८ ॥
दुर्योधनं महाराज वचनं वचनक्षमः ।

महाराज ! तब प्रवचनपटु गान्धारराजपुत्र शकुनिने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १८½ ॥

किं नः सम्प्रेक्षमाणानां मद्राणां हन्यते बलम् ॥ १९ ॥
न युक्तमेतत् समरे त्वयि तिष्ठति भारत ।

'भारत ! हमलोगोंके देखते-देखते मद्रदेशकी यह सेना क्यों मारी जाती है ? तुम्हारे रहते ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये ॥ १९½ ॥

सहितैश्चापि योद्धव्यमित्येष समयः कृतः ॥ २० ॥
अथ कस्मात् परानेव घ्नतो मर्षयसे नृप ।

'यह शपथ ली जा चुकी है कि 'हम सब लोग एक साथ होकर लड़ें।' नरेश्वर ! ऐसी दशामें शत्रुओंको अपनी सेनाका संहार करते देखकर भी तुम क्यों सहन करते हो ?' ॥ २०½ ॥

दुर्योधन उवाच

वार्यमाणा मया पूर्वं नैते चक्रुर्वचो मम ॥ २१ ॥
एते विनिहताः सर्वे प्रस्कन्नाः पाण्डुवाहिनीम् ।

दुर्योधनने कहा—मैंने पहले ही इन्हें बहुत मना किया था, परंतु इन लोगोंने मेरी बात नहीं मानी और पाण्डवसेनामें घुसकर ये प्रायः सब-के-सब मारे गये ॥ २१½ ॥

शकुनिरुवाच

न भर्तुः शासनं वीरा रणे कुर्वन्त्यमर्षिताः ॥ २२ ॥
अलं क्रोद्धुमथैतेषां नायं काल उपेक्षितुम् ।
यामः सर्वे च सम्भूय सवाजिरथकुञ्जराः ॥ २३ ॥
परित्रातुं महेष्वासान् मद्रराजपदानुगान् ।
अन्योन्यं परिरक्षामो यत्नेन महता नृप ॥ २४ ॥

शकुनि बोला—नरेश्वर ! युद्धस्थलमें रोषामर्षके वशीभूत हुए वीर स्वामीकी आज्ञाका पालन नहीं करते हैं; वैसी दशामें इनपर क्रोध करना उचित नहीं है। यह इनकी उपेक्षा करनेका समय नहीं है। हम सब लोग एक साथ हो मद्रराजके महाधनुर्धर सेवकोंकी रक्षाके लिये हाथी, घोड़े और रथसहित चलें तथा महान् प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेकी रक्षा करें ॥ २२–२४ ॥

संजय उवाच

एवं सर्वेऽनुसंचिन्त्य प्रययुर्यत्र सैनिकाः ।
एवमुक्तस्तदा राजा बलेन महता वृतः ॥ २५ ॥
प्रययौ सिंहनादेन कम्पयन्निव मेदिनीम् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा विचारकर सब लोग वहीं गये, जहाँ वे सैनिक मौजूद थे। शकुनिके वैसा कहने-पर राजा दुर्योधन विशाल सेनाके साथ सिंहनाद करता और पृथ्वीको कँपाता हुआ-सा आगे बढ़ा ॥ २५½ ॥

हत विध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत ॥ २६ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दस्तव सैन्यस्य भारत ।

भारत ! उस समय आपकी सेनामें 'मार डालो, घायल करो, पकड़ लो, प्रहार करो और टुकड़े-टुकड़े कर डालो' यह भयंकर शब्द गूँज रहा था ॥ २६½ ॥

पाण्डवास्तु रणे दृष्ट्वा मद्रराजपदानुगान् ॥ २७ ॥
सहितानभ्यवर्तन्त गुल्ममास्थाय मध्यमम् ।

रणभूमिमें मद्रराजके सेवकोंको एक साथ धावा करते देख पाण्डवोंने मध्यम गुल्म (सेना) का आश्रय ले उनका सामना किया ॥ २७½ ॥

ते मुहूर्ताद् रणे वीरा हस्ताहस्ति विशाम्पते ॥ २८ ॥
निहताः प्रत्यदृश्यन्त मद्रराजपदानुगाः ।

प्रजानाथ ! वे मद्रराजके अनुगामी वीर रणभूमिमें दो ही घड़ीके भीतर हाथों-हाथ मारे गये दिखायी दिये ॥२८½॥

ततो नः सम्प्रयातानां हता मद्रास्तरस्विनः ॥ २९ ॥
हृष्टाः किलकिलाशब्दमकुर्वन् सहिताः परे ।

वहाँ हमारे पहुँचते ही मद्रदेशके वे वेगशाली वीर काल-के गालमें चले गये और शत्रुसैनिक अत्यन्त प्रसन्न हो एक साथ किलकारियाँ भरने लगे ॥ २९½ ॥

उत्थितानि कबन्धानि समदृश्यन्त सर्वशः ॥ ३० ॥
पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलम् ।

सब ओर कबन्ध खड़े दिखायी दे रहे थे और सूर्य-मण्डलके बीचसे वहाँ बड़ी भारी उल्का गिरी ॥ ३०½ ॥

रथैर्भग्नैर्युगाक्षैश्च निहतैश्च महारथैः ॥ ३१ ॥
अश्वैर्निपतितैश्चैव संछन्नाभूद् वसुन्धरा ।

टूटे-फूटे रथों, जूओं और धुरोंसे, मारे गये महारथियों-से तथा धराशायी हुए घोड़ोंसे भूमि ढक गयी थी ॥ ३१½॥

वातायमानैस्तुरगैर्युगासक्तैस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥
अदृश्यन्त महाराज योधास्तत्र रणाजिरे ।

महाराज ! वहाँ समराङ्गणमें बहुत-से योद्धा जूएमें बँधे हुए वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा इधर-उधर ले जाये जाते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

भग्नचक्रान् रथान् केचिदहरंस्तुरगा रणे ॥ ३३ ॥
रथार्धं केचिदादाय दिशो दश विबभ्रमुः ।

कुछ घोड़े रणभूमिमें टूटे पहियोंवाले रथोंको लिये जा रहे थे और कितने ही अश्व आधे ही रथको लेकर दसों दिशाओंमें चक्कर लगाते थे ॥ ३३½ ॥

तत्र तत्र व्यदृश्यन्त योक्त्रैः श्लिष्टाः स्म वाजिनः॥३४॥
रथिनः पतमानाश्च दृश्यन्ते स्म नरोत्तमाः ।
गगनात् प्रच्युताः सिद्धाः पुण्यानामिव संक्षये ॥ ३५ ॥

जहाँ-तहाँ जोतोंसे जुड़े हुए घोड़े और नरश्रेष्ठ रथी गिरते दिखायी दे रहे थे, मानो सिद्ध (पुण्यात्मा) पुरुष पुण्यक्षय होनेपर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हों ॥ ३४-३५॥

निहतेषु च शूरेषु मद्रराजानुगेषु वै ।
अस्मानापततश्चापि दृष्ट्वा पार्था महारथाः ॥ ३६ ॥
अभ्यवर्तन्त वेगेन जयगृद्धाः प्रहारिणः ।
बाणशब्दरवान् कृत्वा विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ३७ ॥

मद्रराजके उन शूरवीर सैनिकोंके मारे जानेपर हमें आक्रमण करते देख विजयकी अभिलाषा रखनेवाले महारथी पाण्डव-योद्धा शङ्खध्वनिके साथ बाणोंकी सनसनाहट फैलाते हुए हमारा सामना करनेके लिये बड़े वेगसे आये ३६-३७

अस्मांस्तु पुनरासाद्य लब्धलक्ष्यप्रहारिणः ।
शरासनानि धुन्वानाः सिंहनादान् प्रचुक्रुशुः ॥ ३८ ॥

हमारे पास पहुँचकर लक्ष्य वेधनेमें सफल और प्रहार-कुशल पाण्डव-सैनिक अपने धनुष हिलाते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ३८ ॥

ततो हतमभिप्रेक्ष्य मद्रराजबलं महत् ।
मद्रराजं च समरे दृष्ट्वा शूरं निपातितम् ॥ ३९ ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ।

मद्रराजकी वह विशाल सेना मारी गयी तथा शूरवीर मद्रराज शल्य पहले ही समरभूमिमें धराशायी किये जा चुके हैं, यह सब अपनी आँखों देखकर दुर्योधनकी सारी सेना पुनः पीठ दिखाकर भाग चली ॥ ३९½ ॥

वध्यमानं महाराज पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
दिशो भेजेऽथ सम्भ्रान्तं भ्रामितं दृढधन्विभिः ॥ ४० ॥

महाराज ! विजयसे उल्लसित होनेवाले दृढ़ धनुर्धर पाण्डवोंकी मार खाकर कौरव-सेना घबरा उठी और भ्रान्त-सी होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवसैनिकोंका आपसमें बातचीत करते हुए पाण्डवोंकी प्रशंसा और धृतराष्ट्रकी निन्दा करना तथा कौरव-सेनाका पलायन, भीमद्वारा इक्कीस हजार पैदलोंका संहार और दुर्योधनका अपनी सेनाको उत्साहित करना

संजय उवाच

पातिते युधि दुर्धर्षे मद्रराजे महारथे ।
तावकास्तव पुत्राश्च प्रायशो विमुखाभवन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्जय महारथी मद्रराज शल्यके मारे जानेपर आपके सैनिक और पुत्र प्रायः संग्रामसे विमुख हो गये ॥ १ ॥

वणिजो नावि भिन्नायां यथागाधेऽप्लवेऽर्णवे ।
अपारे पारमिच्छन्तो हते शूरे महात्मना ॥ २ ॥
मद्रराजे महाराज वित्रस्ताः शरविक्षताः ।

महाराज ! जैसे अगाध महासागरमें नाव टूट जानेपर उस नौकारहित अपार समुद्रसे पार जानेकी इच्छावाले व्यापारी व्याकुल हो उठते हैं, उसी प्रकार महात्मा युधिष्ठिरके द्वारा

शूरवीर मद्रराज शल्यके मारे जानेपर आपके सैनिक बाणोंसे क्षत-विक्षत एवं भयभीत हो बड़ी घबराहटमें पड़ गये ॥

अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ ३ ॥
वृषा यथा भग्नशृङ्गाः शीर्णदन्ता यथा गजाः ।

वे अपनेको अनाथ समझते हुए किसी नाथ (सहायक) की इच्छा रखते थे और सिंहके सताये हुए मृगों, टूटे सींगवाले साँड़ों तथा जीर्ण-शीर्ण दाँतोंवाले हाथियोंके समान असमर्थ हो गये थे ॥ ३½ ॥

मध्याह्ने प्रत्यपायाम निर्जिताजातशत्रुणा ॥ ४ ॥
न संधातुमनीकानि न च राजन् पराक्रमे ।
आसीद् बुद्धिर्हते शल्ये भूयो योधस्य कस्यचित्॥ ५ ॥

राजन् ! अजातशत्रु युधिष्ठिरसे पराजित हो दोपहरके समय हमलोग युद्धसे भाग चले थे । शल्यके मारे जानेसे किसी भी योद्धाके मनमें सेनाओंको संगठित करने तथा पराक्रम दिखानेका उत्साह नहीं होता था ॥ ४-५ ॥

भीष्मे द्रोणे च निहते सूतपुत्रे च भारत ।
यद् दुःखं तव योधानां भयं चासीद् विशाम्पते॥ ६ ॥
तद् भयं स च नः शोको भूय एवाभ्यवर्तत ।

भारत ! प्रजानाथ ! भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके योद्धाओंको जो दुःख और भय प्राप्त हुआ था, वही भय और वही शोक पुनः(शल्यके मारे जानेपर) हमारे सामने उपस्थित हुआ ॥ ६½ ॥

निराशाश्च जये तस्मिन् हते शल्ये महारथे ॥ ७ ॥
हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।

जिनके प्रमुख वीर मारे गये थे, वे कौरव-सैनिक महारथी शल्यका वध हो जानेपर पैने बाणोंसे क्षत-विक्षत और विध्वस्त हो विजयकी ओरसे निराश हो गये थे ॥ ७½ ॥

मद्रराजे हते राजन् योधास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ८ ॥
अश्वानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः ।
आरुह्य जवसम्पन्नाः पादाताः प्राद्रवंस्तथा ॥ ९ ॥

राजन् ! मद्रराजकी मृत्यु हो जोनेपर आपके वे सभी योद्धा भयके मारे भागने लगे । कुछ सैनिक घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर और दूसरे महारथी रथोंपर आरूढ़ हो बड़े वेगसे भागे । पैदल सैनिक भी वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

द्विसाहस्राश्च मातङ्गा गिरिरूपाः प्रहारिणः ।
सम्प्राद्रवन् हते शल्ये अङ्कुशाङ्गुष्ठनोदिताः ॥ १० ॥

दो हजार प्रहारकुशल पर्वताकार मतवाले हाथी शल्यके मारे जानेपर अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो तीव्र गतिसे पलायन करने लगे ॥ १० ॥

ते रणाद् भरतश्रेष्ठ तावकाः प्राद्रवन् दिशः ।
धावतश्चाप्यपश्याम श्वसमानाञ्शराहतान् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके वे सैनिक रणभूमिसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागे थे । हमने देखा, वे बाणोंसे क्षत-विक्षत हो हाँफते हुए दौड़े जा रहे हैं ॥ ११ ॥

तान् प्रभग्नान् द्रुतान् दृष्ट्वा हतोत्साहान् पराजितान् ।
अभ्यवर्तन्त पञ्चालाः पाण्डवाश्च जयैषिणः ॥ १२ ॥

उन्हें हतोत्साह, पराजित एवं हताश होकर भागते देख विजयकी अभिलाषा रखनेवाले पाञ्चाल और पाण्डव उनका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

बाणशब्दरवाश्चापि सिंहनादाश्च पुष्कलाः ।
शङ्खशब्दश्च शूराणां दारुणः समपद्यत ॥१३ ॥

बाणोंकी सनसनाहट, शूरवीरोंका सिंहनाद और शङ्खध्वनि इन सबकी मिली-जुली आवाज बड़ी भयानक जान पड़ती थी॥

दृष्ट्वा तु कौरवं सैन्यं भयत्रस्तं प्रविद्रुतम् ।
अन्योन्यं समभाषन्त पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १४ ॥

कौरव-सेनाको भयसे संत्रस्त होकर भागती देख पाण्डवोंसहित पाञ्चाल योद्धा आपसमें इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—॥

अद्य राजा सत्यधृतिर्हतामित्रो युधिष्ठिरः ।
अद्य दुर्योधनो हीनो दीप्तया नृपतिश्रियः ॥ १५ ॥

'आज सत्यपरायण राजा युधिष्ठिर शत्रुहीन हो गये और आज दुर्योधन अपनी देदीप्यमान राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया ॥

अद्य श्रुत्वा हतं पुत्रं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
विह्वलः पतितो भूमौ किल्बिषं प्रतिपद्यताम् ॥ १६ ॥

'आज राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रको मारा गया सुनकर व्याकुल हो पृथ्वीपर पछाड़ खाकर गिरें और दुःख भोगें ॥

अद्य जानातु कौन्तेयं समर्थं सर्वधन्विनाम् ।
अद्यात्मानं च दुर्मेधा गर्हयिष्यति पापकृत् ॥ १७ ॥
अद्य क्षत्तुर्वचः सत्यं स्मरतां ब्रुवतो हितम् ।

'आज वे समझ लें कि कुन्तीपुत्र अर्जुन सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ एवं सामर्थ्यशाली हैं । आज पापाचारी दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र अपनी भरपेट निन्दा करें और विदुरजीने जो सत्य एवं हितकर वचन कहे थे, उन्हें याद करें ॥ १७½ ॥

अद्यप्रभृति पार्थं च प्रेष्यभूत इवाचरन् ॥ १८ ॥
विजानातु नृपो दुःखं यत् प्राप्तं पाण्डुनन्दनैः ।

'आजसे वे स्वयं ही दासतुल्य होकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी परिचर्या करते हुए अच्छी तरह समझ लें कि 'पाण्डवोंने पहले कितना कष्ट उठाया था ?' ॥ १८½ ॥

अद्य कृष्णस्य माहात्म्यं विजानातु महीपतिः ॥ १९ ॥
अद्यार्जुनधनुर्घोषं घोरं जानातु संयुगे ।
अस्त्राणां च बलं सर्वं बाह्वोश्च बलमाहवे ॥ २० ॥

'आज राजा धृतराष्ट्र अनुभव करें कि भगवान् श्रीकृष्णका कैसा माहात्म्य है और आज वे यह भी जान लें कि युद्धस्थलमें अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार कितनी भयंकर है ! उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी सारी शक्ति कैसी है तथा रणभूमिमें उनकी दोनों भुजाओंका बल कितना अद्भुत है ?॥ १९-२० ॥

अद्य ज्ञास्यति भीमस्य बलं घोरं महात्मनः ।
हते दुर्योधने युद्धे शक्रेणेवासुरे बले ॥ २१ ॥

'जैसे इन्द्रने असुरोंकी सेनाका संहार किया था, उसी प्रकार युद्धमें भीमसेनके हाथसे दुर्योधनके मारे जानेपर आज धृतराष्ट्रको यह ज्ञात हो जायगा कि 'महामनस्वी भीमका बल कैसा भयंकर है !'॥ २१ ॥

यत् कृतं भीमसेनेन दुःशासनवधे तदा ।
नान्यः कर्तास्ति लोकेऽस्मिन्नृते भीमान्महाबलात् ॥२२॥

'दुःशासनके वधके समय भीमसेनने जो कुछ किया था, उसे महाबली भीमसेनके सिवा इस संसारमें दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

अद्य श्रेष्ठस्य जानीतां पाण्डवस्य पराक्रमम् ।
मद्रराजं हतं श्रुत्वा देवैरपि सुदुःसहम् ॥ २३ ॥

'देवताओंके लिये भी दुःसह मद्रराज शल्यके वधका वृत्तान्त सुनकर आज धृतराष्ट्र ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके पराक्रमको भी अच्छी तरह जान लें ॥ २३ ॥

अद्य ज्ञास्यति संग्रामे माद्रीपुत्रौ सुदुःसहौ ।
निहते सौबले वीरे प्रवीरेषु च सर्वशः ॥ २४ ॥

'आज संग्राममें सुबलपुत्र वीर शकुनि तथा दूसरे समस्त प्रमुख वीरोंके मारे जानेपर उन्हें शत्रुके लिये अत्यन्त दुःसह माद्रीकुमार नकुल-सहदेवकी शक्तिका भी ज्ञान हो जायगा ॥

कथं जयो न तेषां स्याद् येषां योद्धा धनंजयः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २५ ॥
द्रौपद्यास्तनयाः पञ्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
शिखण्डी च महेष्वासो राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

'जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले धनंजय, सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव, महाधनुर्धर शिखण्डी तथा स्वयं राजा युधिष्ठिर-जैसे वीर हैं, उनकी विजय कैसे न हो? ।२५-२६।

येषां च जगतीनाथो नाथः कृष्णो जनार्दनः ।
कथं तेषां जयो न स्याद् येषां धर्मो व्यपाश्रयः ॥२७॥

'सम्पूर्ण जगत्के स्वामी जनार्दन श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं और जिन्हें धर्मका आश्रय प्राप्त है, उनकी विजय क्यों न हो? ॥ २७ ॥

(लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषां नाथो हृषीकेशः सर्वलोकविभुर्हरिः ॥)

'अखिल विश्वके प्रभु और सबकी इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीहरि जिनके स्वामी और संरक्षक हैं, उन्हींको लाभ प्राप्त होता है और उन्हींकी विजय होती है। भला उनकी पराजय कैसे हो सकती है? ॥

भीष्मं द्रोणं च कर्णं च मद्रराजानमेव च ।
तथान्यान् नृपतीन् वीराञ्शतशोऽथ सहस्रशः॥ २८ ॥
कोऽन्यः शक्तो रणे जेतुमृते पार्थाद् युधिष्ठिरात् ।
यस्य नाथो हृषीकेशः सदा सत्ययशोनिधिः ॥ २९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा है जो रणभूमिमें भीष्म, द्रोण, कर्ण, मद्रराज शल्य तथा अन्य सैकड़ों-हजारों नरपतियोंपर विजय प्राप्त कर सके। सदा सत्य और यशके सागर भगवान् श्रीकृष्ण जिनके स्वामी एवं रक्षक हैं, उन्हींको यह सफलता प्राप्त हो सकती है' ॥ २८-२९ ॥

इत्येवं वदमानास्ते हर्षेण महता युताः ।
प्रभग्नांस्तावकान् योधान् संजयाः पृष्ठतोऽन्वयुः ॥३०॥

इस तरहकी बातें करते हुए संजयवीर अत्यन्त हर्षमें भरकर आपके भागते हुए योद्धाओंका पीछा करने लगे ॥

धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान् ।
माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महारथः ॥ ३१ ॥

इसी समय पराक्रमी अर्जुनने आपकी रथसेनापर धावा किया। साथ ही नकुल-सहदेव और महारथी सात्यकिने शकुनिपर चढ़ाई की ॥ ३१ ॥

तान् प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान् ।
दुर्योधनस्तदा सूतमब्रवीद् विजयाय च ॥ ३२ ॥

भीमसेनके भयसे पीड़ित हुए अपने उन समस्त योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनने विजयकी इच्छासे अपने सारथिसे कहा— ॥ ३२ ॥

मामतिक्रमते पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम् ।
जघने सर्वसैन्यानां ममाश्वान् प्रतिपादय ॥ ३३ ॥

'सूत! मैं यहाँ हाथमें धनुष लिये खड़ा हूँ और अर्जुन मुझे लाँघ जानेकी चेष्टा कर रहे हैं। अतः तुम मेरे घोड़ोंको सारी सेनाके पिछले भागमें पहुँचा दो ॥ ३३ ॥

जघने युध्यमानं हि कौन्तेयो मां समन्ततः ।
नोत्सहेदभ्यतिक्रान्तुं वेलामिव महोदधिः ॥ ३४ ॥

'पृष्ठभागमें रहकर युद्ध करते समय मुझे अर्जुन किसी ओरसे भी लाँघनेका साहस नहीं कर सकते। ठीक वैसे ही, जैसे महासागर अपने तटप्रान्तको नहीं लाँघ पाता है ॥ ३४ ॥

पश्य सैन्यं महत् सूत पाण्डवैः समभिद्रुतम् ।
सैन्यरेणुं समुद्भूतं पश्यस्वैनं समन्ततः ॥ ३५ ॥

'सारथे! देखो, पाण्डव मेरी विशाल सेनाको खदेड़ रहे हैं और सैनिकोंके दौड़नेसे उठी हुई धूल जो सब ओर छा गयी है उसपर भी दृष्टिपात करो ॥ ३५ ॥

सिंहनादांश्च बहुशः शृणु घोरान् भयावहान् ।
तस्माद् याहि शनैः सूत जघनं परिपालय ॥ ३६ ॥

'सूत! वह सुनो, बारंबार भय उत्पन्न करनेवाले घोर सिंहनाद हो रहे हैं। इसलिये तुम धीरे-धीरे चलो और सेनाके पृष्ठ-भागकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

मयि स्थिते च समरे निरुद्धेषु च पाण्डुषु ।
पुनरावर्तते तूर्णं मामकं बलमोजसा ॥ ३७ ॥

'जब मैं समराङ्गणमें खड़ा होऊँगा और पाण्डवोंका बढ़ाव रुक जायगा, तब मेरी सेना पुनः शीघ्र ही लौट आयेगी और सारी शक्ति लगाकर युद्ध करेगी' ॥ ३७ ॥

तच्छ्रुत्वा तव पुत्रस्य शूरार्यसदृशं वचः ।
सारथिर्हेमसंछन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत् ॥ ३८ ॥

राजन्! आपके पुत्रका यह श्रेष्ठ वीरोचित वचन सुनकर सारथिने सोनेके साज-बाजसे सजे हुए घोड़ोंको धीरे-धीरे आगे बढ़ाया ॥ ३८ ॥

गजाश्वरथिभिर्हीनास्त्यक्तात्मानः पदातयः ।
एकविंशतिसाहस्राः संयुगायावतस्थिरे ॥ ३९ ॥

उस समय वहाँ हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथियोंसे

रहित इक्कीस हजार केवल पैदल योद्धा अपने जीवनका मोह छोड़कर युद्धके लिये डट गये ॥ ३९ ॥

नानादेशसमुद्भूता नानानगरवासिनः ।
अवस्थितास्तदा योधाः प्रार्थयन्तो महद् यशः ॥ ४० ॥

वे अनेक देशोंमें उत्पन्न और अनेक नगरोंके निवासी वीर सैनिक महान् यशकी अभिलाषा रखते हुए वहाँ युद्ध करनेके लिये खड़े हुए थे ॥ ४० ॥

तेषामापततां तत्र संहृष्टानां परस्परम् ।
सम्मर्दः सुमहाञ्जज्ञे घोररूपो भयानकः ॥ ४१ ॥

परस्पर हर्षमें भरकर एक-दूसरेपर आक्रमण करनेवाले उभय पक्षके सैनिकोंका वह घोर एवं महान् संघर्ष बड़ा भयंकर हुआ ॥ ४१ ॥

भीमसेनस्तदा राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
बलेन चतुरङ्गेण नानादेश्यानवारयत् ॥ ४२ ॥

राजन् ! उस समय भीमसन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न चतुरगिणी सेना साथ लेकर उन अनेकदशीय सैनिकोंको रोकने लगे ॥ ४२ ॥

भीममेवाभ्यवर्तन्त रणेऽन्ये तु पदातयः ।
प्रक्ष्वेड्यास्फोट्य संहृष्टा वीरलोकं यियासवः ॥४३॥

तब रणभूममे अन्य पैदल योद्धा हर्ष और उत्साहमें भरकर भुजाओंपर ताल ठोंकते और सिंहनाद करते हुए वीरलोकमें जानेकी इच्छासे भीमसेनके ही सामने आ पहुँचे ॥

आसाद्य भीमसेनं तु संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
धार्तराष्ट्रा विनेदुर्हि नान्यामकथयन् कथाम् ॥ ४४ ॥

भीमसेनके पास पहुंचकर वे रोषभरे रणदुर्मद कौरव-योद्धा केवल गर्जना करने लगे, मुँहसे दूसरी कोइ बात नहीं कहते थे ॥ ४४ ॥

परिवार्य रणे भीमं निजघ्नुस्ते समन्ततः ।
स वध्यमानः समरे पदातिगणसंवृतः ॥ ४५ ॥
न चचाल ततः स्थानान्मैनाक इव पर्वतः ।

उन्होंने रणभूमिमें भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर उनपर प्रहार आरम्भ कर दिया । समराङ्गणमें पैदल सैनिकोंसे घिरे हुए भीमसेन उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट सहते हुए भी मैनाक पर्वतके समान अपने स्थानसे विचलित नहीं हुए ॥

ते तु क्रुद्धा महाराज पाण्डवस्य महारथम् ॥ ४६ ॥
निग्रहीतुं प्रवृत्ता हि योधांश्चान्यानवारयन् ।

महाराज ! वे सभी सैनक कुपित हो पाण्डव महारथी भीमसेनको पकड़नेकी चेष्टामें सलग्न हो गये और दूसरे योद्धाओंको भी आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ४६½ ॥

अक्रुध्यत रणे भीमस्तैस्तदा पर्यवस्थितैः ॥ ४७ ॥
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं पदातिः समवस्थितः ।
जातरूपप्रतिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ४८ ॥
अवधीत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ।

उनके इस प्रकार सब ओर खड़े होनेपर उस समय रणभूमिमें भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ । वे तुरंत अपने रथसे उतरकर पैदल खड़े हो गये और सोनेसे जड़ी हुई विशाल गदा हाथमें लेकर दण्डधारी यमराजके समान आपके उन योद्धाओंका सहार करने लगे ॥ ४७-४८½ ॥

विप्रहीणरथाश्वांस्तानवधीत् पुरुषर्षभः ॥ ४९ ॥
एकविंशतिसाहस्रान् पदातीन् समपोथयत् ।

रथ और घोड़ोंसे रहित उन इक्कीसों हजार पैदल सैनिकोंको पुरुषप्रवर भीमने गदासे मारकर धराशायी कर दिया ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः ॥ ५० ॥
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत ।

सत्यपराक्रमी भीमसेन उस पैदल सेनाका संहार करके थोड़ी ही देरमें धृष्टद्युम्नको आगे किये दिखायी दिये ॥५०½॥

पादाता निहता भूमौ शिश्यिरे रुधिरोक्षिताः ॥ ५१ ॥
सम्भग्ना इव वातेन कर्णिकाराः सुपुष्पिताः ।

मारे गये पैदल सैनिक खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर सदाके लिये सो गये, मानो हवाके उखाड़े हुए सुन्दर लाल फूलोंसे भरे कनेरके वृक्ष पड़े हों ॥ ५१½ ॥

नानाशस्त्रसमायुक्ता नानाकुण्डलधारिणः ॥ ५२ ॥
नानाजात्या हतास्तत्र नानादेशसमागताः ।

वहाँ नाना देशोंसे आये हुए, नाना जातिके, नाना शस्त्र धारण किये और नाना प्रकारके कुण्डलधारी योद्धा मारे गये थे ॥ ५२½ ॥

पताकाध्वजसंछन्नं पदातीनां महद् बलम् ॥ ५३ ॥
निकृत्तं विबभौ रौद्रं घोररूपं भयावहम् ।

ध्वज और पताकाओंसे आच्छादित पैदलोंकी वह विशाल सेना छिन्न-भिन्न होकर रौद्र, घोर एव भयानक प्रतीत होती थी ॥ ५३½ ॥

युधिष्ठिरपुरोगाश्च सहसैन्या महारथाः ॥ ५४ ॥
अभ्यधावन् महात्मानं पुत्रं दुर्योधनं तव ।

तत्पश्चात् सेनासहित युधिष्ठिर आदि महारथी आपके महामनस्वी पुत्र दुर्योधनकी ओर दौड़े ॥ ५४½ ॥

ते सर्वे तावकान् दृष्ट्वा महेष्वासाः पराङ्मुखान्॥५५॥
नात्यवर्तन्त ते पुत्रं वेलेव मकरालयम् ।

आपके योद्धाओंको युद्धसे विमुख हो भागते देख वे सब महाधनुर्धर पाण्डव-महारथी आपके पुत्रको लाँघकर आगे नहीं बढ़ सके । जैसे तटभूमि समुद्रको आगे नहीं बढ़ने देती है (उसी प्रकार दुर्योधनने उन्हें अग्रसर नही होने दिया)॥

तदद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ॥ ५६ ॥
यदेकं सहिताः पार्था न शेकुरतिवर्तितुम् ।

उस समय हमलोगोंने आपके पुत्रका अद्भुत पराक्रम देखा कि कुन्तीके सभी पुत्र एक साथ प्रयत्न करनेपर भी उसे लाँघकर आगे न जा सके ॥ ५६½ ॥

नातिदूरापयातं तु कृतबुद्धिं पलायने ॥ ५७ ॥
दुर्योधनः स्वकं सैन्यमब्रवीद् भृशविक्षतम् ।

जब दुर्योधनने देखा कि मेरी सेना भागनेका निश्चय करके अभी अधिक दूर नहीं गयी है, तब उसने उन अत्यन्त घायल हुए सैनिकोंको पुकारकर कहा—॥ ५७½ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ५८ ॥
यत्र यातान्न वा हन्युः पाण्डवाः किं सृतेन वः ।

'अरे ! इस तरह भागनेसे क्या लाभ है ? मैं पृथ्वीमें या पर्वतोंपर ऐसा कोई स्थान नहीं देखता, जहाँ जानेपर तुम्हें पाण्डव मार न सकें ॥ ५८½ ॥

अल्पं च बलमेतेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ ॥ ५९ ॥
यदि सर्वेऽत्र तिष्ठामो ध्रुवं नो विजयो भवेत् ।

'अब तो इनके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी है और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन भी अत्यन्त घायल हो चुके हैं, ऐसी दशामें यदि हम सब लोग साहस करके डटे रहें तो हमारी विजय अवश्य होगी ॥ ५९½ ॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतविप्रियाः ॥ ६० ॥
अनुसृत्य हनिष्यन्ति श्रेयान्नः समरे वधः ।

'तुम पाण्डवोंके अपराध तो कर ही चुके हो । यदि अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव पीछा करके तुम्हें अवश्य मार डालेंगे । ऐसी दशामें हमारे लिये संग्राममें मारा जाना ही श्रेयस्कर है ॥ ६०½ ॥

शृण्वन्तु क्षत्रियाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः ॥ ६१ ॥
यदा शूरं च भीरुं च मारयत्यन्तकः सदा ।
को नु मूढो न युध्येत पुरुषः क्षत्रियो ध्रुवम् ॥ ६२ ॥

'जितने क्षत्रिय यहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब कान खोलकर सुन लें—जब शूरवीर और कायर सभीको सदा ही मौत मार डालती है, तब ऐसा कौन मूर्ख मनुष्य है, जो क्षत्रिय कहलाकर भी निश्चितरूपसे युद्ध नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

श्रेयो नो भीमसेनस्य क्रुद्धस्याभिमुखे स्थितम् ।
सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥ ६३ ॥

'अतः क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके सामने डटे रहना ही हमारे लिये कल्याणकारी होगा । क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीर पुरुषोंके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्यु ही सुखद है ॥

मर्त्येनावश्यमर्तव्यं गृहेष्वपि कदाचन ।
युध्यतः क्षत्रधर्मेण मृत्युरेष सनातनः ॥ ६४ ॥

'मरणधर्मा मनुष्यको कभी-न-कभी अवश्य मरना पड़ेगा । घरमें भी उससे छुटकारा नहीं है । अतः क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करते हुए ही जो मृत्यु होती है, यही क्षत्रियके लिये सनातन मृत्यु है ॥ ६४ ॥

हत्वेह सुखमाप्नोति हतः प्रेत्य महत् फलम् ।
न युद्धधर्माच्छ्रेयान् वै पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ॥ ६५ ॥
अचिरेणैव तॉंल्लोकान् हतो युद्धे समश्नुते ।

'कौरवो ! वीर पुरुष शत्रुको मारकर इह लोकमें सुख भोगता है और यदि मारा गया तो वह परलोकमें जाकर महान् फलका भागी होता है; अतः युद्धधर्मसे बढ़कर स्वर्गकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है । युद्धमें मारा गया वीर पुरुष थोड़ी ही देरमें उन प्रसिद्ध पुण्य-लोकोंमें जाकर सुख भोगता है' ॥ ६५½ ॥

श्रुत्वा तद् वचनं तस्य पूजयित्वा च पार्थिवाः ॥ ६६ ॥
पुनरेवाभ्यवर्तन्त पाण्डवानाततायिनः ।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब राजा उसका आदर करते हुए पुनः आततायी पाण्डवोंका सामना करनेके लिये लौट आये ॥ ६६½ ॥

तानापतत एवाशु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ ६७ ॥
प्रत्युद्ययुस्तदा पार्था जयगृद्धाः प्रमन्यवः ।

उनके आक्रमण करते ही अपनी सेनाका व्यूह बनाकर प्रहारकुशल, विजयाभिलाषी तथा बढ़े हुए क्रोधवाले पाण्डव शीघ्र ही उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

धनंजयो रथेनाजावभ्यवर्तत वीर्यवान् ॥ ६८ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ।

पराक्रमी अर्जुन अपने त्रिलोकविख्यात गाण्डीव धनुषकी टङ्कार करते हुए रथके द्वारा युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥

माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महाबलः ॥ ६९ ॥
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा यत्ता वै तावकं बलम् ॥ ७० ॥

माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव और महाबली सात्यकिने शकुनिपर धावा किया । ये सब लोग हर्ष और उत्साहमें भरकर बड़ी सावधानीके साथ आपकी सेनापर वेगपूर्वक टूट पड़े ॥ ६९-७० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७१ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नद्वारा राजा शाल्वके हाथीका और सात्यकिद्वारा राजा शाल्वका वध

संजय उवाच

संनिवृत्ते जनौघे तु शाल्वो म्लेच्छगणाधिपः ।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः पाण्डवानां महद् बलम् ॥ १ ॥
आस्थाय सुमहानागं प्रभिन्नं पर्वतोपमम् ।
दृप्तमैरावतप्रख्यममित्रगणमर्दनम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब कौरवपक्षका जन-समूह पुनः युद्धके लिये लौट आया, उस समय म्लेच्छोंका राजा शाल्व अत्यन्त क्रुद्ध हो मदकी धारा बहानेवाले, पर्वतके समान विशालकाय, अभिमानी तथा ऐरावतके सदृश शत्रु-समुदायका संहार करनेमें समर्थ एक महान् गजराजपर आरूढ़ हो पाण्डवोंकी विशाल सेनाका सामना करनेके लिये आया ॥

योऽसौ महाभद्रकुलप्रसूतः
सुपूजितो धार्तराष्ट्रेण नित्यम् ।
सुकल्पितः शास्त्रविनिश्चयज्ञैः
सदोपवाह्यः समरेषु राजन् ॥ ३ ॥

राजन् ! वह हाथी महाभद्र नामक गजराजके कुलमें

उत्पन्न हुआ था। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने नित्य ही उसका आदर किया था, गजशास्त्रके ज्ञाता पुरुषोंने उसे अच्छी तरह सजाया था और सदा ही युद्धके अवसरोंपर वह सवारीके उपयोगमें लाया जाता था॥ ३॥

तमास्थितो राजवरो बभूव
यथोदयस्थः सविता क्षपान्ते।
स तेन नागप्रवरेण राज-
न्नभ्युद्ययौ पाण्डुसुतान् समेतान्॥४॥
शितैः पृषत्कैर्विददार वेगै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः सुघोरैः।

राजाओंमें श्रेष्ठ शाल्व उस गजराजपर बैठकर प्रातःकाल उदयाचलपर स्थित हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित होने लगा। महाराज! वह उस श्रेष्ठ हाथीके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंपर चढ़ आया और इन्द्रके वज्रकी भाँति अत्यन्त भयंकर तीखे बाणोंसे उन सबको वेगपूर्वक विदीर्ण करने लगा॥ ४½॥

ततः शरान् वै सृजतो महारणे
योधांश्च राजन् नयतो यमालयम्॥ ५॥
नास्यान्तरं ददृशुः स्वे परे वा
यथा पुरा वज्रधरस्य दैत्याः।
ऐरावणस्थस्य चमूविमर्दे-
ऽदैत्याः पुरा वासवस्येव राजन्॥ ६॥

राजन्! जैसे पूर्वकालमें ऐरावतपर बैठकर शत्रु-सेनाका संहार करते हुए वज्रधारी इन्द्रके बाण छोड़ने और विपक्षीको मार गिरानेके अन्तरको दैत्य और देवता नहीं देख पाते थे, उसी प्रकार उस महासमरमें शाल्वके बाण छोड़ने तथा सैनिकोंको यमलोक पहुँचानेमें कितनी देर लगती है, इसे अपने या शत्रुपक्षके योद्धा नहीं देख सके॥ ५-६॥

ते पाण्डवाः सोमकाः सृञ्जयाश्च
तमेकनागं ददृशुः समन्तात्।
सहस्रशो वै विचरन्तमेकं
यथा महेन्द्रस्य गजं समीपे॥ ७॥

इन्द्रके ऐरावत हाथीकी भाँति म्लेच्छराजका वह गजराज यद्यपि रणभूमिमें अकेला ही निकट विचर रहा था, तो भी पाण्डव, सृंजय और सोमक योद्धा उसे सहस्रोंकी संख्यामें देखते थे। उन्हें सब ओर वही वह दिखायी देता था॥ ७॥

संद्राव्यमाणं तु बलं परेषां
परीतकल्पं विबभौ समन्ततः।
नैवावतस्थे समरे भृशं भयाद्
विमृद्यमानं तु परस्परं तदा॥ ८॥

उस हाथीके द्वारा खदेड़ी जाती हुई वह सेना सब ओरसे घिरी हुई-सी जान पड़ती थी। अत्यन्त भयके कारण वह समरभूमिमें ठहर न सकी। उस समय सभी सैनिक आपसमें ही धक्के खाकर कुचले जाने लगे॥ ८॥

ततः प्रभग्ना सहसा महाचमूः
सा पाण्डवी तेन नराधिपेन।
दिशश्चतस्रः सहसा विधाविता
गजेन्द्रवेगं तमपारयन्ती॥ ९॥
दृष्ट्वा च तां वेगवतीं प्रभग्नां
सर्वे त्वदीया युधि योधमुख्याः।
अपूजयंस्ते तु नराधिपं तं
दध्मुश्च शङ्खाञ्शशिसंनिकाशान्॥ १०॥

म्लेच्छराज शाल्वने पाण्डवोंकी उस विशाल सेनामें सहसा भगदड़ मचा दी। उस गजराजके वेगको सहन न कर सकनेके कारण वह सेना तत्काल चारों दिशाओंमें भाग चली! उस वेगशालिनी सेनाको भागती देख युद्धस्थलमें खड़े हुए आपके सभी प्रधान-प्रधान योद्धा म्लेच्छराज शाल्वकी प्रशंसा करने और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल शङ्ख बजाने लगे॥ ९-१०॥

श्रुत्वा निनादं त्वथ कौरवाणां
हर्षाद् विमुक्तं सह शङ्खशब्दैः।
सेनापतिः पाण्डवसृञ्जयानां
पाञ्चालपुत्रो मसृषे न कोपात्॥ ११॥

शङ्खध्वनिके साथ कौरवोंका वह हर्षनाद सुनकर पाण्डवों और सृंजयोंके सेनापति पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न क्रोधपूर्वक उसे सहन न कर सके॥ ११॥

ततस्तु तं वै द्विरदं महात्मा
प्रत्युद्ययौ त्वरमाणो जयाय।
जम्भो यथा शक्रसमागमे वै
नागेन्द्रमैरावणमिन्द्रवाह्यम्॥ १२॥

तदनन्तर उन महामनस्वी धृष्टद्युम्नने बड़ी उतावलीके साथ विजय प्राप्त करनेके लिये उस हाथीपर चढ़ाई की। जैसे इन्द्रके साथ युद्ध छिड़नेपर जम्भासुरने इन्द्रवाहन नागराज ऐरावतपर धावा किया था॥ १२॥

तमापतन्तं सहसा तु दृष्ट्वा
पाञ्चालपुत्रं युधि राजसिंहः।
तं वै द्विपं प्रेषयामास तूर्णं
वधाय राजन् द्रुपदात्मजस्य॥ १३॥

राजन्! पाञ्चालपुत्र धृष्टद्युम्नको युद्धमें सहसा आक्रमण करते देख नृपश्रेष्ठ शाल्वने उस हाथीको उनके वधके लिये तुरंत ही उनकी ओर बढ़ाया॥ १३॥

स तं द्विपेन्द्रं सहसा पतन्त-
मविध्यदग्निप्रतिमैः पृषत्कैः।
कर्मारधौतैर्निशितैर्ज्वलद्भि-
र्नाराचमुख्यैस्त्रिभिरुग्रवेगैः॥ १४॥

उस नागराजको सहसा आते देख धृष्टद्युम्नने अग्निके समान प्रज्वलित, कारीगरके साफ किये हुए, तेजधारवाले, तीन भयंकर वेगशाली उत्तम नाराचोंद्वारा घायल कर दिया॥

ततोऽपरान् पञ्चशतान् महात्मा
नाराचमुख्यान् विससर्ज कुम्भे।
स तैस्तु विद्धः परमद्विपो रणे
तदा परावृत्य भृशं प्रदुद्रुवे॥ १५॥

तत्पश्चात् महामना धृष्टद्युम्नने उसके कुम्भस्थलको लक्ष्य करके पाँच सौ उत्तम नाराच और छोड़े। उनके द्वारा अत्यन्त घायल हुआ वह महान् गजराज युद्धसे मुँह मोड़कर वेगपूर्वक भागने लगा ॥ १५ ॥

तं नागराजं सहसा प्रणुन्नं
विद्राव्यमाणं विनिवर्त्य शाल्वः।
तोत्राङ्कुशैः प्रेषयामास तूर्णं
पाञ्चालराजस्य रथं प्रदिश्य ॥ १६ ॥

उस नागराजको सहसा पीड़ित होकर भागते देख शाल्वराजने पुनः युद्धकी ओर लौटाया और पीड़ा देनेवाले अङ्कुशोंसे मारकर उसे तुरंत ही पाञ्चालराजके रथकी ओर दौड़ाया ॥

दृष्ट्वाऽऽपतन्तं सहसा तु नागं
धृष्टद्युम्नः स्वरथाच्छीघ्रमेव।
गदां प्रगृह्योग्रजवेन वीरो
भूमिं प्रपन्नो भयविह्वलाङ्गः ॥ १७ ॥

हाथीको सहसा आक्रमण करते देख वीर धृष्टद्युम्न हाथमें गदा ले शीघ्र ही अत्यन्त वेगपूर्वक अपने रथसे कूदकर पृथ्वीपर आ गये। उस समय उनके सारे अङ्ग भयसे व्याकुल हो रहे थे ॥ १७ ॥

स तं रथं हेमविभूषिताङ्गं
साश्वं ससूतं सहसा विमृद्य।
उत्क्षिप्य हस्तेन नदन् महाद्विपो
विपोथयामास वसुन्धरातले ॥ १८ ॥

गर्जना करते हुए उस विशालकाय हाथीने धृष्टद्युम्नके उस सुवर्णभूषित रथको घोड़ों और सारथिसहित सहसा कुचल डाला और सूँड़से ऊपर उठाकर पृथ्वीपर दे मारा ॥

पाञ्चालराजस्य सुतं च दृष्ट्वा
तदार्दितं नागवरेण तेन।
तमभ्यधावत् सहसा जवेन
भीमः शिखण्डी च शिनेश्च नप्ता ॥ १९ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको उस गजराजके द्वारा पीड़ित हुआ देख भीमसेन, शिखण्डी और सात्यकि सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥ १९ ॥

शरैश्च वेगं सहसा निगृह्य
तस्याभितो व्यापततो गजस्य।
स संगृहीतो रथिभिर्गजो वै
चचाल तैर्वार्यमाणश्च संख्ये ॥ २० ॥

उन रथियोंने सब ओर आक्रमण करनेवाले उस हाथीके वेगको सहसा अपने बाणोंद्वारा अवरुद्ध कर दिया। उनके द्वारा अपनी प्रगति रुक जानेके कारण वह निगृहीत-सा होकर विचलित हो उठा ॥ २० ॥

ततः पृषत्कान् प्रववर्ष राजा
सूर्यो यथा रश्मिजालं समन्तात्।
तैराशुगैर्वध्यमाना रथौघाः
प्रदुद्रुवुः सहितास्तत्र तत्र ॥ २१ ॥

तदनन्तर जैसे सूर्यदेव सब ओर अपनी किरणोंका प्रसार करते हैं, उसी प्रकार राजा शाल्वने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। उन शीघ्रगामी बाणोंकी मार खाकर वे पाण्डव रथी एक साथ इधर-उधर भागने लगे ॥ २१ ॥

तत् कर्म शाल्वस्य समीक्ष्य सर्वे
पाञ्चालपुत्रा नृप सृञ्जयाश्च।
हाहाकारैर्नादयन्ति स्म युद्धे
द्विपं समन्ताद् रुरुधुर्नराग्र्याः ॥ २२ ॥

नरेश्वर! शाल्वका वह पराक्रम देखकर समस्त नरश्रेष्ठ पाञ्चाल तथा सृंजय अपने हाहाकारोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे। उन्होंने युद्धभूमिमें उस हाथीको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २२ ॥

पाञ्चालपुत्रस्त्वरितस्तु शूरो
गदां प्रगृह्याचलशृङ्गकल्पाम्।
ससम्भ्रमं भारत शत्रुघाती
जवेन वीरोऽनुससार नागम् ॥ २३ ॥

भारत! इसी समय शत्रुघाती शूरवीर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने तुरंत ही पर्वतशिखरके समान विशाल गदा हाथमें लेकर बड़े वेगसे उस हाथीपर आक्रमण किया ॥ २३ ॥

ततस्तु नागं धरणीधराभं
मदं स्रवन्तं जलदप्रकाशम्।
गदां समाविध्य भृशं जघान
पाञ्चालराजस्य सुतस्तरस्वी ॥ २४ ॥

पाञ्चालराजके वेगवान् पुत्रने मेघोंके समान मदकी वर्षा करनेवाले उस पर्वताकार गजराजपर अपनी गदा घुमाकर बड़े वेगसे प्रहार किया ॥ २४ ॥

स भिन्नकुम्भः सहसा विनद्य
मुखात् प्रभूतं क्षतजं विमुञ्चन्।
पपात नागो धरणीधराभः
क्षितिप्रकम्पाच्चलितो यथाद्रिः ॥ २५ ॥

गदाके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और वह पर्वतके समान विशालकाय गजराज सहसा चीत्कार करके मुँहसे रक्तवमन करता हुआ गिर पड़ा, मानो भूकम्प आनेसे कोई पहाड़ ढह गया हो ॥ २५ ॥

निपात्यमाने तु तदा गजेन्द्रे
हाहाकृते तव पुत्रस्य सैन्ये।
स शाल्वराजस्य शिनिप्रवीरो
जहार भल्लेन शिरः शितेन ॥ २६ ॥

जब वह गजराज गिराया जाने लगा, उस समय आपके पुत्रकी सेनामें हाहाकार मच गया। इतनेहीमें शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने एक तीखे भल्लसे शाल्वराजका सिर काट दिया ॥ २६ ॥

हृतोत्तमाङ्गो युधि सात्वतेन
पपात भूमौ सह नागराज्ञा।
यथाद्रिशृङ्गं सुमहत् प्रणुन्नं
वज्रेण देवाधिपचोदितेन ॥ २७ ॥

रणभूमिमें सात्यकिद्वारा मस्तक कट जानेपर शाल्वराज भी उस गजराजके साथ ही धराशायी हो गया, मानो देवराज इन्द्रके चलाये हुए वज्रसे कटकर कोई विशाल पर्वतशिखर पृथ्वीपर गिर पड़ा हो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शाल्ववधे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शाल्वका वधविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा क्षेमधूर्तिका वध, कृतवर्माका युद्ध और उसकी पराजय एवं कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

तस्मिंस्तु निहते शूरे शाल्वे समितिशोभने।
तवाभज्यद् बलं वेगाद् वातेनेव महाद्रुमः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले शूरवीर शाल्वके मारे जानेपर आपकी सेनाके पाँव उखड़ गये। जैसे वेगपूर्वक चली हुई वायुके झोंकेसे कोई विशाल वृक्ष उखड़ गया हो ॥ १ ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा कृतवर्मा महारथः।
दधार समरे शूरः शत्रुसैन्यं महाबलः ॥ २ ॥

अपनी सेनाका व्यूह भङ्ग हुआ देखकर महाबलवान् महारथी शूरवीर कृतवर्माने समराङ्गणमें शत्रुकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २ ॥

संनिवृत्तास्तु ते शूरा दृष्ट्वा सात्वतमाहवे।
शैलोपमं स्थिरं राजन् कीर्यमाणं शरैर्युधि ॥ ३ ॥

राजन्! कृतवर्माको युद्धस्थलमें डटा हुआ देख वे भागे हुए शूरमा भी लौट आये। युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षासे आच्छादित होनेपर भी वह सात्वतवंशी वीर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा था ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह।
निवृत्तानां महाराज मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ४ ॥

महाराज! तदनन्तर लौटे हुए कौरवोंका पाण्डवोंके साथ मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिकी सीमा नियत करके घोर संग्राम होने लगा ॥ ४ ॥

तत्राश्चर्यमभूद् युद्धं सात्वतस्य परैः सह।
यदेको वारयामास पाण्डुसेनां दुरासदाम् ॥ ५ ॥

वहाँ कृतवर्माका शत्रुओंके साथ होनेवाला युद्ध अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता था; क्योंकि उसने अकेले ही दुर्जय पाण्डव-सेनाकी प्रगति रोक दी थी ॥ ५ ॥

तेषामन्योन्यसुहृदां कृते कर्मणि दुष्करे।
सिंहनादः प्रहृष्टानां दिविस्पृक् सुमहानभूत् ॥ ६ ॥

एक दूसरेका हित चाहनेवाले कौरवसैनिक कृतवर्माके द्वारा यह दुष्कर पराक्रम किये जानेपर अत्यन्त हर्षमें भर गये। उनका महान् सिंहनाद आकाशमें गूँज उठा ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ताः पञ्चाला भरतर्षभ।
शिनेर्नप्ता महाबाहुरन्वपद्यत सात्यकिः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! उनकी उस गर्जनासे पाञ्चाल सैनिक थर्रा उठे। उस समय शिनिपौत्र महाबाहु सात्यकि उन शत्रुओंका सामना करनेके लिये आये ॥ ७ ॥

स समासाद्य राजानं क्षेमधूर्तिं महाबलम्।
सप्तभिर्निशितैर्बाणैरनयद् यमसादनम् ॥ ८ ॥

उन्होंने आते ही महाबली राजा क्षेमधूर्तिको सात पैने बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

तमायान्तं महाबाहुं प्रवपन्तं शिताञ्शरान्।
जवेनाभ्यपतद् धीमान् हार्दिक्यः शिनिपुङ्गवम् ॥ ९ ॥

तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए शिनि-पौत्र महाबाहु सात्यकिको आते देख बुद्धिमान् कृतवर्मा बड़े वेगसे उनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ९ ॥

सात्वतौ च महावीर्यौ धन्विनौ रथिनां वरौ।
अन्योन्यमभ्यधावेतां शस्त्रप्रवरधारिणौ ॥ १० ॥

फिर तो उत्तम अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले, रथियोंमें श्रेष्ठ, महापराक्रमी, धनुर्धर वीर सात्वतवंशी सात्यकि और कृतवर्मा एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ १० ॥

पाण्डवाः सहपञ्चाला योधाश्चान्ये नृपोत्तमाः।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त तयोर्घोरे समागमे ॥ ११ ॥

उन दोनोंके घोर संग्राममें पाञ्चालोंसहित पाण्डव और दूसरे नृपश्रेष्ठ योद्धा दर्शक होकर तमाशा देखने लगे ॥ ११ ॥

नाराचैर्वत्सदन्तैश्च वृष्ण्यन्धकमहारथौ।
अभिजघ्नतुरन्योन्यं प्रहृष्टाविव कुञ्जरौ ॥ १२ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशके वे दोनों वीर महारथी हर्षमें भरकर लड़ते हुए दो हाथियोंके समान एक दूसरेपर नाराचों और वत्सदन्तोंका प्रहार करने लगे ॥ १२ ॥

चरन्तौ विविधान् मार्गान् हार्दिक्यशिनिपुङ्गवौ।
मुहुरन्तर्दधाते तौ बाणवृष्ट्या परस्परम् ॥ १३ ॥

कृतवर्मा और सात्यकि दोनों नाना प्रकारके पैंतरे दिखाते हुए विचरते थे और बारंबार बाणोंकी वर्षा करके वे एक दूसरेको अदृश्य कर देते थे ॥ १३ ॥

चापवेगबलोद्धूतान् मार्गणान् वृष्णिसिंहयोः।
आकाशे समपश्याम पतङ्गानिव शीघ्रगान् ॥ १४ ॥

वृष्णिवंशके उन दोनों सिंहोंके धनुषके वेग और बलसे चलाये हुए शीघ्रगामी बाणोंको हम आकाशमें छाये हुए टिड्डीदलोंके समान देखते थे ॥ १४ ॥

तमेकं सत्यकर्माणमासाद्य हृदिकात्मजः।
अविध्यन्निशितैर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ १५ ॥

कृतवर्माने अद्वितीय वीर सत्यपराक्रमी सात्यकिके पास पहुँचकर चार पैने बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

स दीर्घबाहुः संक्रुद्धस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
अष्टभिः कृतवर्माणमविद्ध्यत् परमेषुभिः ॥ १६ ॥

तब महाबाहु सात्यकिने अङ्कुशोंकी चोट खाये हुए गजराजके समान अत्यन्त क्रोधमें भरकर आठ उत्तम बाणोंद्वारा कृतवर्माको घायल कर दिया ॥ १६ ॥

ततः पूर्णायतोत्सृष्टैः कृतवर्मा शिलाशितैः।
सात्यकिं त्रिभिराहत्य धनुरेकेन चिच्छिदे ॥ १७ ॥

यह देख कृतवर्माने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये और शिलापर तेज किये हुए तीन बाणोंसे सात्यकिको घायल करके एकसे उनके धनुषको काट डाला ॥ १७ ॥

निकृत्तं तद् धनुः श्रेष्ठमपास्य शिनिपुङ्गवः।
अन्यदादत्त वेगेन शैनेयः सशरं धनुः ॥ १८ ॥

उस कटे हुए श्रेष्ठ धनुषको फेंककर शिनिप्रवर सात्यकिने बाणसहित दूसरे धनुषको वेगपूर्वक हाथमें ले लिया ॥ १८ ॥

तदादाय धनुः श्रेष्ठं वरिष्ठः सर्वधन्विनाम्।
आरोप्य च धनुः शीघ्रं महावीर्यो महाबलः ॥ १९ ॥
अमृष्यमाणो धनुषश्छेदनं कृतवर्मणा।
कुपितोऽतिरथः शीघ्रं कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ २० ॥

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महाबली एवं महापराक्रमी युयुधानने उस उत्तम धनुषको लेकर शीघ्र ही उसपर बाण चढ़ाया और कृतवर्माके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना सहन न करके उन अतिरथी वीरने कुपित हो शीघ्रतापूर्वक उसपर आक्रमण किया ॥ १९-२० ॥

ततः सुनिशितैर्बाणैर्दशभिः शिनिपुङ्गवः।
जघान सूतं चाश्वांश्च ध्वजं च कृतवर्मणः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् शिनिप्रवर सात्यकिने अत्यन्त तीखे दस बाणोंके द्वारा कृतवर्माके ध्वज, सारथि और घोड़ोंको नष्ट कर दिया ॥

ततो राजन् महेष्वासः कृतवर्मा महारथः।
हताश्वसूतं सम्प्रेक्ष्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ २२ ॥
रोषेण महताऽऽविष्टः शूलमुद्यम्य मारिष।
चिक्षेप भुजवेगेन जिघांसुः शिनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

राजन्! महाधनुर्धर महारथी कृतवर्मा अपने सुवर्णभूषित रथको घोड़े और सारथिसे रहित देख महान् रोषसे भर गया। मान्यवर! फिर उसने शिनिप्रवर सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे एक शूल उठाकर उसे अपनी भुजाओंके सम्पूर्ण वेगसे चला दिया ॥ २२-२३ ॥

तच्छूलं सात्वतो ह्याजौ निर्भिद्य निशितैः शरैः।
चूर्णितं पातयामास मोहयन्निव माधवम् ॥ २४ ॥

परंतु सात्यकिने युद्धस्थलमें अपने पैने बाणोंद्वारा उस शूलको काटकर चकनाचूर कर दिया और कृतवर्माको मोहमें डालते हुए से उस चूर-चूर हुए शूलको पृथ्वीपर गिरा दिया॥

ततोऽपरेण भल्लेन हृद्येनं समताडयत्।
स युद्धे युयुधानेन हताश्वो हतसारथिः ॥ २५ ॥
कृतवर्मा कृतस्तेन धरणीमन्वपद्यत।

इसके बाद उन्होंने कृतवर्माकी छातीमें एक भल्लद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। तब वह युयुधानद्वारा घोड़ों और सारथिसे रहित किया हुआ कृतवर्मा रथ छोड़कर युद्धस्थलमें पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ २५½ ॥

तस्मिन् सात्यकिना वीरे द्वैरथे विरथीकृते ॥ २६ ॥
समपद्यत सर्वेषां सैन्यानां सुमहद् भयम्।

उस द्वैरथ युद्धमें सात्यकिद्वारा वीर कृतवर्माके रथहीन हो जानेपर आपके सारे सैनिकोंके मनमें महान् भय समा गया॥

पुत्रस्य तव चात्यर्थं विषादः समजायत ॥ २७ ॥
हतसूते हताश्वे तु विरथे कृतवर्मणि।

जब कृतवर्माके घोड़े और सारथि मारे गये तथा वह रथहीन हो गया, तब आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें बड़ा खेद हुआ ॥

हताश्वं च समालक्ष्य हतसूतमरिंदम ॥ २८ ॥
अभ्यधावत् कृपो राजञ्जिघांसुः शिनिपुङ्गवम्।

शत्रुदमन नरेश! कृतवर्माके घोड़ों और सारथिको मारा गया देख कृपाचार्य सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे वहाँ दौड़े हुए आये ॥ २८½ ॥

तमारोप्य रथोपस्थे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ २९ ॥
अपोवाह महाबाहुं तूर्णमायोधनादपि।

फिर सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते महाबाहु कृतवर्माको अपने रथपर बिठाकर वे उसे तुरंत ही युद्धस्थलसे दूर हटा ले गये ॥ २९½ ॥

शैनेयेऽधिष्ठिते राजन् विरथे कृतवर्मणि ॥ ३० ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम्।

राजन्! जब सात्यकि युद्धके लिये डटे रहे और कृतवर्मा रथहीन होकर भाग गया, तब दुर्योधनकी सारी सेना पुनः युद्धसे विमुख हो वहाँसे पलायन करने लगी ॥ ३०½ ॥

तत् परे नान्वबुध्यन्त सैन्येन रजसा वृताः ॥ ३१ ॥
तावकाः प्रद्रुता राजन् दुर्योधनमृते नृपम्।

परंतु सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित होनेके कारण शत्रुओंके सैनिक कौरव-सेनाके भागनेकी बात न जान सके। राजन्! राजा दुर्योधनके सिवा, आपके सभी योद्धा वहाँसे भाग गये ॥ ३१½ ॥

दुर्योधनस्तु सम्प्रेक्ष्य भग्नं स्वबलमन्तिकात् ॥ ३२ ॥
जवेनाभ्यपतत् तूर्णं सर्वांश्चैको न्यवारयत्।

दुर्योधन अपनी सेनाको निकटसे भागती देख बड़े वेगसे शत्रुओंपर टूट पड़ा और उन सबको अकेले ही शीघ्रतापूर्वक रोकने लगा ॥ ३२½ ॥

पाण्डूंश्च सर्वान् संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ३३ ॥
शिखण्डिनं द्रौपदेयान् पञ्चालानां च ये गणाः।
केकयान् सोमकांश्चैव सृञ्जयांश्चैव मारिष ॥ ३४ ॥
असम्भ्रमं दुराधर्षः शितैर्बाणैरवाकिरत्।
अतिष्ठदाहवे यत्तः पुत्रस्तव महाबलः ॥ ३५ ॥

माननीय नरेश! उस समय क्रोधमें भरा हुआ आपका महाबली पुत्र दुर्धर्ष दुर्योधन सावधान हो बिना किसी घबराहटके समस्त पाण्डवों, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, शिखण्डी,

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों, पाञ्चालों, केकयों, सोमकों और सृञ्जयों-पर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगा तथा निर्भय होकर युद्धभूमि-में डटा रहा ॥ ३३–३५ ॥

यथा यज्ञे महानग्निर्मन्त्रपूतः प्रकाशवान् ।
तथा दुर्योधनो राजा संग्रामे सर्वतोऽभवत् ॥ ३६ ॥

जैसे यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र हुए महान् अग्निदेव प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार संग्राममें राजा दुर्योधन सब ओरसे देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३६ ॥

तं परे नाभ्यवर्तन्त मर्त्या मृत्युमिवाहवे ।
अथान्यं रथमास्थाय हार्दिक्यः समपद्यत ॥ ३७ ॥

जैसे मरणधर्मा मनुष्य अपनी मृत्युका उल्लङ्घन नहीं कर सकते, उसी प्रकार युद्धभूमिमें शत्रुसैनिक राजा दुर्योधनका सामना न कर सके । इतनेहीमें कृतवर्मा दूसरे रथपर आरूढ़ होकर वहाँ आ पहुँचा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि सात्यकिकृतवर्मयुद्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें सात्यकि और कृतवर्माका युद्धविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दुर्योधनका पराक्रम और उभयपक्षकी सेनाओंका घोर संग्राम

संजय उवाच

पुत्रस्तु ते महाराज रथस्थो रथिनां वरः ।
दुरुत्सहो बभौ युद्धे यथा रुद्रः प्रतापवान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! रथपर बैठा हुआ रथियोंमें श्रेष्ठ आपका प्रतापी पुत्र दुर्योधन रुद्रदेवके समान युद्धमें शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होने लगा ॥ १ ॥

तस्य बाणसहस्रैस्तु प्रच्छन्ना ह्यभवन्मही ।
परांश्च सिषिचे बाणैर्धाराभिरिव पर्वतान् ॥ २ ॥

उसके सहस्रों बाणोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी । जैसे मेघ जलकी धाराओंसे पर्वतको सींचते हैं, उसी प्रकार वह शत्रुओंको अपनी बाणधारासे नहलाने लगा ॥ २ ॥

न च सोऽस्ति पुमान् कश्चित् पाण्डवानां बलार्णवे ।
हयो गजो रथो वापि यः स्याद् बाणैरविक्षतः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंके सैन्यसागरमें कोई भी ऐसा मनुष्य, घोड़ा, हाथी अथवा रथ नहीं था, जो दुर्योधनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हुआ हो ॥ ३ ॥

यं यं हि समरे योधं प्रपश्यामि विशाम्पते ।
स स बाणैश्चितोऽभूद् वै पुत्रेण तव भारत ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! मैं समराङ्गणमें जिस-जिस योद्धा-को देखता था, वही-वही आपके पुत्रके बाणोंसे व्याप्त हुआ दिखायी देता था ॥ ४ ॥

यथा सैन्येन रजसा समुद्भूतेन वाहिनी ।
प्रत्यदृश्यत संछन्ना तथा बाणैर्महात्मनः ॥ ५ ॥

जैसे सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धूलसे सारी सेना आच्छादित हो गयी थी, उसी प्रकार वह महामनस्वी दुर्योधनके बाणोंसे ढकी दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

बाणभूतामपश्याम पृथिवीं पृथिवीपते ।
दुर्योधनेन प्रकृतां क्षिप्रहस्तेन धन्विना ॥ ६ ॥

पृथ्वीपते ! हमने देखा कि शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले धनुर्धर वीर दुर्योधनने सारी रणभूमिको बाणमयी कर दिया है ॥ ६ ॥

तेषु योधसहस्रेषु तावकेषु परेषु च ।
एको दुर्योधनो ह्यासीत् पुमानिति मतिर्मम ॥ ७ ॥

आपके या शत्रुपक्षके सहस्रों योद्धाओंमें मुझे एकमात्र दुर्योधन ही वीर पुरुष जान पड़ता था ॥ ७ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य विक्रमम् ।
यदेकं सहिताः पार्था नाभ्यवर्तन्त भारत ॥ ८ ॥

भारत ! हमने वहाँ आपके पुत्रका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव एक साथ मिलकर भी उस एकाकी वीरका सामना नहीं कर सके ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं शतेनाजौ विव्याध भरतर्षभ ।
भीमसेनं च सप्तत्या सहदेवं च पञ्चभिः ॥ ९ ॥
नकुलं च चतुःषष्ट्या धृष्टद्युम्नं च पञ्चभिः ।
सप्तभिर्द्रौपदेयांश्च त्रिभिर्विव्याध सात्यकिम् ॥ १० ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सहदेवस्य मारिष ।

भरतश्रेष्ठ ! उसने युद्धस्थलमें युधिष्ठिरको सौ, भीमसेनको सत्तर, सहदेवको पाँच, नकुलको चौसठ, धृष्टद्युम्नको पाँच, द्रौपदीके पुत्रोंको सात तथा सात्यकिको तीन बाणोंसे घायल कर दिया । मान्यवर ! साथ ही उसने एक भल्ल मारकर सहदेवका धनुष भी काट डाला ॥ ९-१०½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
अभ्यद्रवत राजानं प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ।
ततो दुर्योधनं संख्ये विव्याध दशभिः शरैः ॥ १२ ॥

प्रतापी माद्रीपुत्र सहदेवने उस कटे हुए धनुषको फेंक-कर दूसरा विशाल धनुष हाथमें ले राजा दुर्योधनपर धावा किया और युद्धस्थलमें दस बाणोंसे उसे घायल कर दिया ॥

नकुलस्तु ततो वीरो राजानं नवभिः शरैः ।
घोररूपैर्महेष्वासो विव्याध च ननाद च ॥ १३ ॥

इसके बाद महाधनुर्धर वीर नकुलने नौ भयंकर बाणोंद्वारा राजा दुर्योधनको बींध डाला और उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ १३ ॥

सात्यकिश्चैव राजानं शरेणानतपर्वणा ।
द्रौपदेयास्त्रिसप्तत्या धर्मराजश्च पञ्चभिः ॥ १४ ॥
अशीत्या भीमसेनश्च शरै राजानमार्पयन् ।

फिर सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे राजा-को घायल कर दिया । तदनन्तर द्रौपदीके पुत्रोंने राजा

दुर्योधनको तिहत्तर, धर्मराजने पाँच और भीमसेनने अस्सी बाण मारे ॥ १४½ ॥

समन्तात् कीर्यमाणस्तु बाणसंघैर्महात्मभिः ॥ १५ ॥
न चचाल महाराज सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

महाराज ! वे महामनस्वी वीर सारी सेनाके देखते-देखते दुर्योधनपर चारों ओरसे बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे तो भी वह विचलित नहीं हुआ ॥ १५½ ॥

लाघवं सौष्ठवं चापि वीर्यं चापि महात्मनः ॥ १६ ॥
अति सर्वाणि भूतानि ददृशुः सर्वमानवाः ।

उस महामनस्वी वीरकी फुर्ती, अस्त्र-संचालनका सुन्दर ढंग तथा पराक्रम—इन सबको सब लोगोंने सम्पूर्ण प्राणियोंसे बढ़-चढ़कर देखा ॥ १६½ ॥

धार्तराष्ट्रा हि राजेन्द्र योधास्तु स्वल्पमन्तरम् ॥ १७ ॥
अपश्यमाना राजानं पर्यवर्तन्त दंशिताः ।

राजेन्द्र ! आपके योद्धा थोड़ा-सा भी अन्तर न देखकर कवच आदिसे सुसज्जित हो राजा दुर्योधनको चारों ओरसे घेर-कर खड़े हो गये ॥ १७½ ॥

तेषामापततां घोरस्तुमुलः समपद्यत ॥ १८ ॥
क्षुब्धस्य हि समुद्रस्य प्रावृट्काले यथा स्वनः ।

जैसे वर्षाकालमें विक्षुब्ध हुए समुद्रकी भीषण गर्जना सुनायी देती है, उसी प्रकार उन आक्रमणकारी कौरवोंका घोर एवं भयंकर कोलाहल प्रकट होने लगा ॥ १८½ ॥

समासाद्य रणे ते तु राजानमपराजितम् ॥ १९ ॥
प्रत्युद्ययुर्महेष्वासाः पाण्डवानाततायिनः ।

वे महाधनुर्धर कौरवयोद्धा रणभूमिमें अपराजित राजा दुर्योधनके पास पहुँचकर आततायी पाण्डवोंपर जा चढ़े ॥

भीमसेनं रणे क्रुद्धो द्रोणपुत्रो न्यवारयत् ॥ २० ॥
नानाबाणैर्महाराज प्रमुक्तैः सर्वतोदिशम् ।
नाज्ञायन्त रणे वीरा न दिशः प्रदिशः कुतः ॥ २१ ॥

महाराज ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने सम्पूर्ण दिशाओंमें छोड़े गये अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा भीम-सेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया। उस समय संग्राममें न तो वीरोंकी पहचान होती थी और न दिशाओंकी, फिर अवान्तर-दिशाओं (कोणों) की तो बात ही क्या है ? ॥ २०-२१ ॥

तावुभौ क्रूरकर्माणावुभौ भारत दुःसहौ ।
घोररूपमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २२ ॥

भारत ! वे दोनों वीर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले और शत्रुओंके लिये दुःसह थे। अतः एक-दूसरेके प्रहारका भरपूर जवाब देनेकी इच्छा रखकर वे घोर युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

त्रासयन्तौ दिशः सर्वा ज्याक्षेपकठिनत्वचौ ।
शकुनिस्तु रणे वीरो युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ २३ ॥

प्रत्यञ्चा खींचनेसे उनके हाथोंकी त्वचा बहुत कठोर हो गयी थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको आतङ्कित कर रहे थे। दूसरी ओर वीर शकुनि रणभूमिमें युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगा॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सुबलस्य सुतो विभो ।
नादं चकार बलवत् सर्वसैन्यानि कोपयन् ॥ २४ ॥

प्रभो ! सुबलके उस पुत्रने युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको मारकर सम्पूर्ण सेनाओंका क्रोध बढ़ाते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरं राजानमपराजितम् ।
अपोवाह रथेनाजौ सहदेवः प्रतापवान् ॥ २५ ॥

इसी बीचमें प्रतापी सहदेव युद्धमें किसीसे परास्त न होनेवाले वीर राजा युधिष्ठिरको अपने रथपर बिठाकर दूर हटा ले गये ॥ २५ ॥

अथान्यं रथमास्थाय धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
शकुनिं नवभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने दूसरे रथपर आरूढ़ हो पुनः धावा किया और शकुनिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर पाँच बाणोंसे बींध डाला ॥ २६ ॥

ननाद च महानादं प्रवरः सर्वधन्विनाम् ।
तद् युद्धमभवच्चित्रं घोररूपं च मारिष ॥ २७ ॥
प्रेक्षतां प्रीतिजननं सिद्धचारणसेवितम् ।

इसके बाद सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने बड़े जोरसे सिंहनाद किया। मान्यवर ! उनका वह युद्ध विचित्र, भयंकर, सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित तथा दर्शकोंका हर्ष बढ़ानेवाला था॥

उलूकस्तु महेष्वासं नकुलं युद्धदुर्मदम् ॥ २८ ॥
अभ्यद्रवदमेयात्मा शरवर्षैः समन्ततः ।

दूसरी ओर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न उलूकने महाधनुर्धर रणदुर्मद नकुलपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए धावा किया।

तथैव नकुलः शूरः सौबलस्य सुतं रणे ॥ २९ ॥
शरवर्षेण महता समन्तात् पर्यवारयत् ।

इसी प्रकार शूरवीर नकुलने रणभूमिमें शकुनिके पुत्रको बड़ी भारी बाणवर्षाके द्वारा सब ओरसे अवरुद्ध कर दिया ॥

तौ तत्र समरे वीरौ कुलपुत्रौ महारथौ ॥ ३० ॥
योधयन्तावपश्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर महारथी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए थे ! अतः समराङ्गणमें एक-दूसरेके प्रहारका प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर जूझते दिखायी देते थे ॥ ३०½ ॥

तथैव कृतवर्माणं शैनेयः शत्रुतापनः ॥ ३१ ॥
योधयञ्शुशुभे राजन् बलिं शक्र इवाहवे ।

राजन् ! इसी तरह शत्रुसंतापी सात्यकि कृतवर्माके साथ युद्ध करते हुए युद्धस्थलमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे इन्द्र बलिके साथ ॥ ३१½ ॥

दुर्योधनो धनुश्छित्त्वा धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ॥ ३२ ॥
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध निशितैः शरैः ।

दुर्योधनने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और धनुष कट जानेपर उन्हें पैने बाणोंसे बींध डाला ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे प्रगृह्य परमायुधम् ॥ ३३ ॥
राजानं योधयामास पश्यतां सर्वधन्विनाम् ।

तब धृष्टद्युम्न भी दूसरा उत्तम धनुष लेकर समरभूमिमें

सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते राजा दुर्योधनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३३½ ॥

तयोर्युद्धं महच्चासीत् संग्रामे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
प्रभिन्नयोर्यथा सक्तं मत्तयोर्वरहस्तिनोः ।

भरतश्रेष्ठ! रणभूमिमें उन दोनोंका महान् युद्ध ऐसा जान पड़ता था, मानो मदकी धारा बहानेवाले दो उत्तम मतवाले हाथी आपसमें जूझ रहे हों ॥ ३४½ ॥

गौतमस्तु रणे क्रुद्धो द्रौपदेयान् महाबलान् ॥ ३५ ॥
विव्याध बहुभिः शूरः शरैः संनतपर्वभिः ।

दूसरी ओर शूरवीर कृपाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो महाबली द्रौपदीपुत्रोंको झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३५½ ॥

तस्य तैरभवद् युद्धमिन्द्रियैरिव देहिनः ॥ ३६ ॥
घोररूपमसंवार्यं निर्मर्यादमवर्तत ।

जैसे देहधारी जीवात्माका पाँचों इन्द्रियोंके साथ युद्ध हो रहा हो, उसी प्रकार उन पाँचों भाइयोंके साथ कृपाचार्यका युद्ध हो रहा था। धीरे-धीरे वह युद्ध अत्यन्त घोर, अनिवार्य और अमर्यादित हो गया ॥ ३६½ ॥

ते च सम्पीडयामासुरिन्द्रियाणीव बालिशम् ॥ ३७ ॥
स च तान् प्रति संरब्धः प्रत्ययोधयदाहवे ।

जैसे इन्द्रियाँ मूढ़ मनुष्यको पीड़ा देती हैं, उसी प्रकार वे पाँचों भाई कृपाचार्यको पीड़ित करने लगे। कृपाचार्य भी अत्यन्त रोषमें भरकर रणक्षेत्रमें उन सबके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

एवं चित्रमभूद् युद्धं तस्य तैः सह भारत ॥ ३८ ॥
उत्थायोत्थाय हि यथा देहिनामिन्द्रियैर्विभो ।

भारत! उनका उन द्रौपदीपुत्रोंके साथ ऐसा विचित्र युद्ध होने लगा, जैसे बारंबार उठ-उठकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियोंके साथ देहधारियोंका युद्ध होता रहता है ॥

नराश्चैव नरैः सार्धं दन्तिनो दन्तिभिस्तथा ॥ ३९ ॥
हया हयैः समासक्ता रथिनो रथिभिः सह ।
संकुलं चाभवद् भूयो घोररूपं विशाम्पते ॥ ४० ॥

प्रजानाथ! उस समय मनुष्य मनुष्योंसे, हाथी हाथियोंसे, घोड़े घोड़ोंसे और रथी रथियोंसे भिड़ गये थे। फिर उनमें अत्यन्त घोर घमासान युद्ध होने लगा ॥ ३९-४० ॥

इदं चित्रमिदं घोरमिदं रौद्रमिति प्रभो ।
युद्धान्यासन् महाराज घोराणि च बहूनि च ॥ ४१ ॥

प्रभो! महाराज! यह विचित्र, यह घोर, यह रौद्र युद्ध—इस प्रकार बहुत-से भीषण युद्ध चलने लगे ॥ ४१ ॥

ते समासाद्य समरे परस्परमरिंदमाः ।
व्यनदंश्चैव जघ्नुश्च समासाद्य महाहवे ॥ ४२ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे समस्त योद्धा समराङ्गणमें एक-दूसरेसे भिड़कर उस महायुद्धमें परस्पर टक्कर लेते हुए प्रहार और सिंहनाद करने लगे ॥ ४२ ॥

तेषां पत्रसमुद्भूतं रजस्तीव्रमदृश्यत ।
वातेन चोद्धतं राजन् धावद्भिश्चाश्वसादिभिः ॥ ४३ ॥

राजन्! उनके वाहनोंसे, हवासे और दौड़ते हुए घुड़सवारोंसे उड़ायी गयी भयंकर धूल सब ओर व्याप्त दिखायी देती थी ॥

रथनेमिसमुद्भूतं निःश्वासैश्चापि दन्तिनाम् ।
रजः संध्याभ्रकलिलं दिवाकरपथं ययौ ॥ ४४ ॥

रथके पहियों और हाथियोंके उच्छ्वासोंसे ऊपर उठायी हुई धूल संध्याकालके मेघोंके समान सूर्यके मार्गमें छा गयी थी ॥

रजसा तेन सम्पृक्तो भास्करो निष्प्रभः कृतः ।
संछादिताभवद् भूमिस्ते च शूरा महारथाः॥ ४५ ॥

उस धूलके सम्पर्कमें आकर सूर्य प्रभाहीन हो गये थे तथा पृथ्वी और वे महारथी शूरवीर भी ढक गये थे ॥ ४५ ॥

मुहूर्तादिव संवृत्तं नीरजस्कं समन्ततः ।
वीरशोणितसिक्तायां भूमौ भरतसत्तम ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर दो ही घड़ीमें वीरोंके रक्तसे धरती सिंच उठी और सब ओरकी धूल बैठ जानेके कारण रणक्षेत्र निर्मल हो गया ॥ ४६ ॥

उपाशाम्यत् ततस्तीव्रं तद् रजो घोरदर्शनम् ।
ततोऽपश्यमहं भूयो द्वन्द्वयुद्धानि भारत ॥ ४७ ॥
यथाप्राणं यथाश्रेष्ठं मध्याह्ने वै सुदारुणे ।
वर्मणां तत्र राजेन्द्र व्यदृश्यन्तोज्ज्वलाः प्रभाः॥ ४८ ॥

वह भयंकर दिखायी देनेवाली तीव्र धूलि सर्वथा शान्त हो गयी। भारत! राजेन्द्र! तब मैं फिर उस दारुण मध्याह्न-कालमें अपने बल और श्रेष्ठताके अनुसार अनेक द्वन्द्वयुद्ध देखने लगा। योद्धाओंके कवचोंकी प्रभा वहाँ अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी ॥ ४७-४८ ॥

शब्दश्च तुमुलः संख्ये शराणां पतताभूत् ।
महावेणुवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ॥ ४९ ॥

जैसे पर्वतपर जलते हुए विशाल बाँसोंके वनसे प्रकट होनेवाला चटचट शब्द सुनायी देता है, उसी प्रकार युद्ध-स्थलमें बाणोंके गिरनेका भयंकर शब्द वहाँ गूँज रहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

कौरवपक्षके सात सौ रथियोंका वध, उभयपक्षकी सेनाओंका मर्यादाशून्य घोर संग्राम तथा शकुनिका कूट युद्ध और उसकी पराजय

संजय उवाच

वर्तमाने तदा युद्धे घोररूपे भयानके ।
अभज्यत बलं तत्र तव पुत्रस्य पाण्डवैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब वह भयानक घोर

युद्ध होने लगा, उस समय पाण्डवोंने आपके पुत्रकी सेनाके पाँव उखाड़ दिये ॥ १ ॥

तांस्तु यत्नेन महता संनिवार्य महारथान् ।
पुत्रस्ते योधयामास पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २ ॥

उन भागते हुए महारथियोंको महान् प्रयत्नसे रोककर आपका पुत्र पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा ॥ २ ॥

निवृत्ताः सहसा योधास्तव पुत्रजयैषिणः ।
संनिवृत्तेषु तेष्वेवं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ३ ॥

यह देख आपके पुत्रकी विजय चाहनेवाले योद्धा सहसा लौट पड़े । इस प्रकार उनके लौटनेपर उन सबमें अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३ ॥

तावकानां परेषां च देवासुररणोपमम् ।
परेषां तव सैन्ये वा नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

आपके और शत्रुओंके योद्धाओंका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था । उस समय शत्रुओंकी अथवा आपकी सेनामें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं होता था ॥ ४ ॥

अनुमानेन युध्यन्ते संज्ञाभिश्च परस्परम् ।
तेषां क्षयो महानासीद् युध्यतामितरेतरम् ॥ ५ ॥

सब लोग अनुमानसे और नाम बतानेसे शत्रु तथा मित्रकी पहचान करके परस्पर युद्ध करते थे । परस्पर जूझते हुए उन वीरोंका वहाँ बड़ा भारी विनाश हो रहा था ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा क्रोधेन महता युतः ।
जिगीषमाणः संग्रामे धार्तराष्ट्रान् सराजकान् ॥ ६ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर महान् क्रोधसे युक्त हो संग्राममें राजा दुर्योधनसहित आपके पुत्रोंको जीतना चाहते थे ॥ ६ ॥

त्रिभिः शारद्वतं विद्ध्वा रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
चतुर्भिर्निजघानाश्वान् नाराचैः कृतवर्मणः ॥ ७ ॥

उन्होंने शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तीन बाणोंसे कृपाचार्यको घायल करके चार नाराचोंसे कृत-वर्माके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७ ॥

अश्वत्थामा तु हार्दिक्यमपोवाह यशस्विनम् ।
अथ शारद्वतोऽष्टाभिः प्रत्यविद्ध्यद् युधिष्ठिरम्॥ ८ ॥

तब अश्वत्थामा यशस्वी कृतवर्माको अपने रथपर बिठाकर अन्यत्र हटा ले गया । तदनन्तर कृपाचार्यने आठ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको बींध डाला ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनो राजा रथान् सप्तशतान् रणे ।
प्रैषयद् यत्र राजासौ धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

इसके बाद राजा दुर्योधनने रणभूमिमें सात सौ रथियोंको वहाँ भेजा, जहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ९ ॥

ते रथा रथिभिर्युक्ता मनोमारुतरंहसः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे कौन्तेयस्य रथं प्रति ॥१०॥

रथियोंसे युक्त और मन तथा वायुके समान वेगशाली वे रथ रणभूमिमें कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके रथकी ओर दौड़े ॥

ते समन्तान्महाराज परिवार्य युधिष्ठिरम् ।
अदृश्यं सायकैश्चक्रुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥११॥

महाराज ! जैसे बादल सूर्यको ढक देते हैं, उसी प्रकार उन रथियोंने युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर अपने बाणों-द्वारा उन्हें अदृश्य कर दिया ॥ ११ ॥

ते दृष्ट्वा धर्मराजानं कौरवेयैस्तथा कृतम् ।
नामृष्यन्त सुसंरब्धाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः ॥ १२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको कौरवोंद्वारा वैसी दशामें पहुँचाया गया देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए शिखण्डी आदि रथी सहन न कर सके ॥ १२ ॥

रथैरश्ववरैर्युक्तैः किङ्किणीजालसंवृतैः ।
आजग्मुरथ रक्षन्तः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

वे छोटी-छोटी घंटियोंकी जालीसे ढके और श्रेष्ठ अश्वोंसे जुते हुए रथोंद्वारा कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १३ ॥

ततः प्रववृते रौद्रः संग्रामः शोणितोदकः ।
पाण्डवानां कुरूणां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर कौरवों और पाण्डवोंका अत्यन्त भयंकर संग्राम आरम्भ हो गया, जिसमें पानीकी तरह खून बहाया जाता था । वह युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ॥

रथान् सप्तशतान् हत्वा कुरूणामाततायिनाम् ।
पाण्डवाः सह पञ्चालैः पुनरेवाभ्यवारयन् ॥ १५ ॥

उस समय पाञ्चालोंसहित पाण्डवोंने आततायी कौरवोंके उन सात सौ रथियोंको मारकर पुनः अन्य योद्धाओंको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १५ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् तव पुत्रस्य पाण्डवैः ।
न च तत् तादृशं दृष्टं नैव चापि परिश्रुतम् ॥ १६ ॥

वहाँ आपके पुत्रका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हुआ । वैसा युद्ध मैंने न तो कभी देखा था और न मेरे सुननेमें ही आया था ॥ १६ ॥

वर्तमाने तदा युद्धे निर्मर्यादे समन्ततः ।
वध्यमानेषु योधेषु तावकेष्वितरेषु च ॥ १७ ॥
विनदत्सु च योधेषु शङ्खवर्यैश्च पूरितैः ।
उत्कृष्टैः सिंहनादैश्च गर्जितैश्चैव धन्विनाम् ॥ १८ ॥
अतिप्रवृत्ते युद्धे च छिद्यमानेषु मर्मसु ।
धावमानेषु योधेषु जयगृद्धिषु मारिष ॥ १९ ॥
संहारे सर्वतो जाते पृथिव्यां शोकसम्भवे ।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां सीमन्तोद्धरणे तथा ॥ २० ॥
निर्मर्यादे महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे ।
प्रादुरासन् विनाशाय तदोत्पाताः सुदारुणाः ॥ २१ ॥

माननीय नरेश ! जब सब ओरसे वह मर्यादाशून्य युद्ध होने लगा, आपके और शत्रुपक्षके योद्धा मारे जाने लगे, युद्ध-परायण वीरोंकी गर्जना और श्रेष्ठ शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी, धनुर्धरोंकी ललकार, सिंहनाद और गर्जनाओंके साथ जब वह युद्ध औचित्यकी सीमाको पार कर गया, योद्धाओंके मर्मस्थल विदीर्ण किये जाने लगे, विजयाभिलाषी योद्धा इधर-उधर दौड़ने लगे, रणभूमिमें सब ओर शोकजनक संहार होने

लगा, बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंके सीमन्तके सिन्दूर मिटाये जाने लगे तथा सारी मर्यादाओंको तोड़कर अत्यन्त भयंकर महायुद्ध चलने लगा, उस समय विनाशकी सूचना देनेवाले अति दारुण उत्पात प्रकट होने लगे ॥ १७–२१ ॥

चचाल शब्दं कुर्वाणा सपर्वतवना मही ।
सदण्डाः सोल्मुका राजन् कीर्यमाणाः समन्ततः ॥२२॥
उल्का पेतुर्दिवो भूमावाहत्य रविमण्डलम् ।

राजन्! पर्वत और वनोंसहित पृथ्वी भयानक शब्द करती हुई डोलने लगी और आकाशसे दण्ड तथा जलते हुए काष्ठोंसहित बहुत-सी उल्काएँ सूर्यमण्डलसे टकराकर सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरी पड़ती थीं ॥ २२½ ॥

विष्वग्वाताः प्रादुरासन् नीचैः शर्करवर्षिणः ॥ २३ ॥
अश्रूणि मुमुचुर्नागा वेपथुं चास्पृशन् भृशम् ।

चारों ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसानेवाली हवाएँ चलने लगीं । हाथी आँसू बहाने और थरथर काँपने लगे ॥

एतान् घोराननादृत्य समुत्पातान् सुदारुणान् ॥ २४ ॥
पुनर्युद्धाय संयत्ताः क्षत्रियास्तस्थुरव्यथाः ।
रमणीये कुरुक्षेत्रे पुण्ये स्वर्गं यियासवः ॥ २५ ॥

इन घोर एवं दारुण उत्पातोंकी अवहेलना करके क्षत्रिय वीर मनमें व्यथासे रहित हो पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये और स्वर्गमें जानेकी अभिलाषा ले रमणीय एवं पुण्यमय कुरुक्षेत्रमें उत्साहपूर्वक डट गये ॥ २४-२५ ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरब्रवीत् ।
युद्धयध्वमग्रतो यावत् पृष्ठतो हन्मि पाण्डवान् ॥२६॥

तत्पश्चात् गान्धारराजके पुत्र शकुनिने कौरवयोद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुमलोग सामनेसे युद्ध करो और मैं पीछेसे पाण्डवोंका संहार करता हूँ' ॥ २६ ॥

ततो नः सम्प्रयातानां मद्रयोधास्तरस्विनः ।
हृष्टाः किलकिलाशब्दमकुर्वन्तापरे तथा ॥ २७ ॥

इस सलाहके अनुसार जब हमलोग चले तो मद्रदेशके वेगशाली योद्धा तथा अन्य सैनिक हर्षसे उल्लसित हो किलकारियाँ भरने लगे ॥ २७ ॥

अस्मांस्तु पुनरासाद्य लब्धलक्ष्या दुरासदाः ।
शरासनानि धुन्वन्तः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २८ ॥

इतनेहीमें दुर्धर्ष पाण्डव पुनः हमारे पास आ पहुँचे और हमें अपने लक्ष्यके रूपमें पाकर धनुष हिलाते हुए हम लोगोंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २८ ॥

ततो हतं परैस्तत्र मद्रराजबलं तदा ।
दुर्योधनबलं दृष्ट्वा पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥ २९ ॥

थोड़ी ही देरमें शत्रुओंने वहाँ मद्रराजकी सेनाका संहार कर डाला । यह देख दुर्योधनकी सेना पुनः पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ २९ ॥

गान्धारराजस्तु पुनर्वाक्यमाह ततो बली ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ॥ ३० ॥

तब बलवान् गान्धारराज शकुनिने पुनः इस प्रकार कहा—'अपने धर्मको न जाननेवाले पापियो ! इस तरह तुम्हारे भागनेसे क्या होगा ? लौटो और युद्ध करो' ॥३०॥

अनीकं दशसाहस्रमश्वानां भरतर्षभ ।
आसीद् गान्धारराजस्य विशालप्रासयोधिनाम् ॥ ३१ ॥
बलेन तेन विक्रम्य वर्तमाने जनक्षये ।
पृष्ठतः पाण्डवानीकमभ्यघ्नन्निशितैः शरैः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय गान्धारराज शकुनिके पास विशाल प्रास लेकर युद्ध करनेवाले घुड़सवारोंकी दस हजार सेना मौजूद थी । उसीको साथ लेकर वह उस जन-संहारकारी युद्धमें पाण्डव-सेनाके पिछले भागकी ओर गया और वे सब मिलकर पैने बाणोंसे उस सेनापर चोट करने लगे ॥

तदभ्रमिव वातेन क्षिप्यमाणं समन्ततः ।
अभज्यत महाराज पाण्डूनां सुमहद् बलम् ॥ ३३ ॥

महाराज ! जैसे वायुके वेगसे मेघोंका दल सब ओरसे छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार इस आक्रमणसे पाण्डवोंकी विशाल सेनाका व्यूह भंग हो गया ॥ ३३ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रेक्ष्य भग्नं स्वबलमन्तिकात् ।
अभ्यनादयदव्यग्रः सहदेवं महाबलम् ॥ ३४ ॥

तब युधिष्ठिरने पास ही अपनी सेनामें भगदड़ मची देख शान्तभावसे महाबली सहदेवको पुकारा ॥ ३४ ॥

असौ सुबलपुत्रो नो जघनं पीड्य दंशितः ।
सैन्यानि सूदयत्येष पश्य पाण्डव दुर्मतिम् ॥ ३५ ॥

और कहा—'पाण्डुनन्दन ! कवच धारण करके आया हुआ वह सुबलपुत्र शकुनि हमारी सेनाके पिछले भागको पीड़ा देकर सारे सैनिकोंका संहार कर रहा है; इस दुर्बुद्धिको देखो तो सही ॥ ३५ ॥

गच्छ त्वं द्रौपदेयैश्च शकुनिं सौबलं जहि ।
रथानीकमहं धक्ष्ये पाञ्चालसहितोऽनघ ॥ ३६ ॥

'निष्पाप वीर ! तुम द्रौपदीके पुत्रोंको साथ लेकर जाओ और सुबलपुत्र शकुनिको मार डालो । मैं पाञ्चाल योद्धाओंके साथ यहीं रहकर शत्रुकी इस रथसेनाको भस्म कर डालूँगा ॥

गच्छन्तु कुञ्जराः सर्वे वाजिनश्च सह त्वया ।
पादाताश्च त्रिसाहस्राः शकुनिं तैर्वृतो जहि ॥ ३७ ॥

'तुम्हारे साथ सभी हाथीसवार, घुड़सवार और तीन हजार पैदल सैनिक भी जायँ तथा उन सबसे घिरे रहकर तुम शकुनिका नाश करो' ॥ ३७ ॥

ततो गजाः सप्तशताश्चापपाणिभिरास्थिताः ।
पञ्च चाश्वसहस्राणि सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ ३८ ॥
पादाताश्च त्रिसाहस्रा द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
रणे ह्यभ्यद्रवंस्ते तु शकुनिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार हाथमें धनुष लिये बैठे हुए सवारोंसे युक्त सात सौ हाथी, पाँच हजार घुड़सवार, पराक्रमी सहदेव, तीन हजार पैदल योद्धा और द्रौपदीके सभी पुत्र—इन सबने रणभूमिमें युद्ध-दुर्मद शकुनिपर धावा किया ॥ ३८-३९ ॥

ततस्तु सौबलो राजन्नभ्यतिक्रम्य पाण्डवान्।
जघान पृष्ठतः सेनां जयगृद्धः प्रतापवान्॥ ४०॥

राजन्! उधर विजयाभिलाषी प्रतापी सुबलपुत्र शकुनि पाण्डवोंका उल्लङ्घन करके पीछेकी ओरसे उनकी सेनाका संहार कर रहा था॥ ४०॥

अश्वारोहास्तु संरब्धाः पाण्डवानां तरस्विनाम्।
प्राविशन् सौबलानीकमभ्यतिक्रम्य तान् रथान्॥ ४१॥

वेगशाली पाण्डवोंके घुड़सवारोंने अत्यन्त कुपित होकर उन कौरव रथियोंका उल्लङ्घन करके सुबलपुत्रकी सेनामें प्रवेश किया॥ ४१॥

ते तत्र सादिनः शूराः सौबलस्य महद् बलम्।
रणमध्ये व्यतिष्ठन्त शरवर्षैरवाकिरन्॥ ४२॥

वे शूरवीर घुड़सवार वहाँ जाकर रणभूमिके मध्यभागमें खड़े हो गये और शकुनिकी उस विशाल सेनापर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ४२॥

तदुद्यतगदाप्रासमकापुरुषसेवितम्।
प्रावर्तत महद् युद्धं राजन् दुर्मन्त्रिते तव॥ ४३॥

राजन्! फिर तो आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप वह महान् युद्ध आरम्भ हो गया, जो कायरोंसे नहीं, वीर पुरुषोंसे सेवित था। उस समय सभी योद्धाओंके हाथोंमें गदा अथवा प्रास उठे रहते थे॥ ४३॥

उपारमन्त ज्याशब्दाः प्रेक्षका रथिनोऽभवन्।
न हि स्वेषां परेषां वा विशेषः प्रत्यदृश्यत॥ ४४॥

धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्द बंद हो गये। रथी योद्धा दर्शक बनकर तमाशा देखने लगे। उस समय अपने या शत्रुपक्षके योद्धाओंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था॥ ४४॥

शूरबाहुविसृष्टानां शक्तीनां भरतर्षभ।
ज्योतिषामिव सम्पातमपश्यन् कुरुपाण्डवाः॥ ४५॥

भरतश्रेष्ठ! शूरवीरोंकी भुजाओंसे छूटी हुई शक्तियाँ शत्रुओंपर इस प्रकार गिरती थीं, मानो आकाशसे तारे टूटकर पड़ रहे हों। कौरव-पाण्डवयोद्धाओंने इसे प्रत्यक्ष देखा था॥

ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च तत्र तत्र विशाम्पते।
सम्पतन्तीभिराकाशमावृतं बह्वशोभत॥ ४६॥

प्रजानाथ! वहाँ गिरती हुई निर्मल ऋष्टियोंसे व्याप्त हुए आकाशकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ ४६॥

प्रासानां पततां राजन् रूपमासीत् समन्ततः।
शलभानामिवाकाशे तदा भरतसत्तम॥ ४७॥

भरतकुलभूषण नरेश! उस समय सब ओर गिरते हुए प्रासोंका स्वरूप आकाशमें छाये हुए टिड्डीदलोंके समान जान पड़ता था॥ ४७॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गा विप्रविद्धैर्नियन्तृभिः।
हयाः परिपतन्ति स्म शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४८॥

सैकड़ों और हजारों घोड़े अपने घायल सवारोंके साथ सारे अङ्गोंमें लहू-लुहान होकर धरतीपर गिर रहे थे॥४८॥

अन्योन्यं परिपिष्टाश्च समासाद्य परस्परम्।
आविक्षताः स्म दृश्यन्ते वमन्तो रुधिरं मुखैः॥ ४९॥

बहुत-से सैनिक परस्पर टकराकर एक दूसरेसे पिस जाते और क्षत-विक्षत हो मुखोंसे रक्त वमन करते हुए दिखायी देते थे॥ ४९॥

ततोऽभवत्तमो घोरं सैन्येन रजसा वृते।
तानपाक्रमतोऽद्राक्षं तस्माद् देशादरिंदम॥ ५०॥

शत्रुदमन नरेश! तत्पश्चात् जब सेनाद्वारा उठी हुई धूलसे सब ओर घोर अन्धकार छा गया, उस समय हमने देखा कि बहुत-से योद्धा वहाँसे भागे जा रहे हैं॥ ५०॥

अश्वान् राजन् मनुष्यांश्च रजसा संवृते सति।
भूमौ निपतिताश्चान्ये वमन्तो रुधिरं बहु॥ ५१॥

राजन्! धूलसे सारा रणक्षेत्र भर जानेके कारण अँधेरेमें बहुत-से घोड़ों और मनुष्योंको भी हमने भागते देखा था। कितने ही योद्धा पृथ्वीपर गिरकर मुँहसे बहुत-सा रक्त वमन कर रहे थे॥ ५१॥

केशाकेशि समालग्ना न शेकुश्चेष्टितुं नराः।
अन्योन्यमश्वपृष्ठेभ्यो विकर्षन्तो महाबलाः॥ ५२॥

बहुत-से मनुष्य परस्पर केश पकड़कर इतने सट गये थे कि कोई चेष्टा नहीं कर पाते थे। कितने ही महाबली योद्धा एक दूसरेको घोड़ोंकी पीठोंसे खींच रहे थे॥ ५२॥

मल्ला इव समासाद्य निजघ्नुरितरेतरम्।
अश्वैश्च व्यपकृष्यन्त बहवोऽत्र गतासवः॥ ५३॥

बहुत-से सैनिक पहलवानोंकी भाँति परस्पर भिड़कर एक दूसरेपर चोट करते थे। कितने ही प्राणशून्य होकर अश्वोंद्वारा इधर-उधर घसीटे जा रहे थे॥ ५३॥

भूमौ निपतिताश्चान्ये बहवो विजयैषिणः।
तत्र तत्र व्यदृश्यन्त पुरुषाः शूरमानिनः॥ ५४॥

बहुतेरे विजयाभिलाषी तथा अपनेको शूरवीर माननेवाले पुरुष जहाँ-तहाँ पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे॥ ५४॥

रक्तोक्षितैश्छिन्नभुजैरवकृष्टशिरोरुहैः।
व्यदृश्यत मही कीर्णा शतशोऽथ सहस्रशः॥ ५५॥

कटी हुई बाँहों और खींचे गये केशोंवाले सैकड़ों और हजारों रक्तरंजित शरीरोंसे रणभूमि आच्छादित दिखायी देती थी॥

दूरं न शक्यं तत्रासीद् गन्तुमश्वेन केनचित्।
साश्वारोहैर्हतैरश्वैरावृते वसुधातले॥ ५६॥

सवारोंसहित घोड़ोंकी लाशोंसे पटे हुए भूतलपर किसीके लिये भी घोड़ेद्वारा दूरतक जाना असम्भव हो गया था॥

रुधिरोक्षितसंनाहैरात्तशस्त्रैरुदायुधैः।
नानाप्रहरणैर्घोरैः परस्परवधैषिभिः॥ ५७॥
सुसंनिकृष्टैः संग्रामे हतभूयिष्ठसैनिकैः।

योद्धाओंके कवच रक्तसे भीग गये थे। वे सब हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये धनुष उठाये नाना प्रकारके भयंकर आयुधोंद्वारा एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे। उस संग्राममें सभी योद्धा अत्यन्त निकट होकर युद्ध करते थे और उनमेंसे अधिकांश सैनिक मार डाले गये थे॥ ५७½॥

स मुहूर्तं ततो युद्ध्वा सौबलोऽथ विशाम्पते ॥ ५८ ॥
षट्साहस्रैर्हयैः शिष्टैरपायाच्छकुनिस्ततः ।

प्रजानाथ ! शकुनि वहाँ दो घड़ी युद्ध करके शेष बचे हुए छः हजार घुड़सवारोंके साथ भाग निकला ॥ ५८½ ॥

तथैव पाण्डवानीकं रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ५९ ॥
षट्साहस्रैर्हयैः शिष्टैरपायाच्छ्रान्तवाहनम् ।

इसी प्रकार खूनसे नहायी हुई पाण्डव-सेना भी शेष छः हजार घुड़सवारोंके साथ युद्धसे निवृत्त हो गयी । उसके सारे वाहन थक गये थे ॥ ५९½ ॥

अश्वारोहाश्च पाण्डूनामब्रुवन् रुधिरोक्षिताः ॥ ६० ॥
सुसंनिकृष्टे संग्रामे भूयिष्ठे त्यक्तजीविताः ।

उस समय उस निकटवर्ती महायुद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर जूझनेवाले पाण्डवसेनाके रक्तरंजित घुड़सवार इस प्रकार बोले—॥ ६०½ ॥

न हि शक्यं रथैर्योद्धुं कुत एव महागजैः ॥ ६१ ॥
रथानेव रथा यान्तु कुञ्जराः कुञ्जरानपि ।
प्रतियातो हि शकुनिः स्वमनीकमवस्थितः ॥ ६२ ॥
न पुनः सौबलो राजा युद्धमभ्यागमिष्यति ।

'यहाँ रथोंद्वारा भी युद्ध नहीं किया जा सकता । फिर बड़े-बड़े हाथियोंकी तो बात ही क्या है ? रथ रथोंका सामना करनेके लिये जायँ और हाथी हाथियोंका । शकुनि भागकर अपनी सेनामें चला गया । अब फिर राजा शकुनि युद्धमें नहीं आयेगा' ॥ ६१-६२½ ॥

ततस्तु द्रौपदेयाश्च ते च मत्ता महाद्विपाः ॥ ६३ ॥
प्रययुर्यत्र पाञ्चाल्यो धृष्टद्युम्नो महारथः ।

उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीके पाँचों पुत्र और वे मतवाले हाथी वहीं चले गये, जहाँ पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न थे ॥ ६३½ ॥

सहदेवोऽपि कौरव्य रजोमेघे समुत्थिते ॥ ६४ ॥
एकाकी प्रययौ तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

कुरुनन्दन ! वहाँ धूलका बादल-सा घिर आया था । उस समय सहदेव भी अकेले ही, जहाँ राजा युधिष्ठिर थे, वहीं चले गये ॥ ६४½ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु शकुनिः सौबलः पुनः ॥ ६५ ॥
पार्श्वतोऽभ्यहनत् क्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य वाहिनीम् ।

उन सबके चले जानेपर सुबलपुत्र शकुनि पुनः कुपित हो पार्श्वभागसे आकर धृष्टद्युम्नकी सेनाका संहार करने लगा॥

तत् पुनस्तुमुलं युद्धं प्राणांस्त्यक्त्वाभ्यवर्तत॥ ६६ ॥
तावकानां परेषां च परस्परवधैषिणाम् ।

फिर तो परस्पर वधकी इच्छावाले आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर युद्ध होने लगा।६६½।

ते चान्योन्यमवैक्षन्त तस्मिन् वीरसमागमे ॥ ६७ ॥
योधाः पर्यपतन् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! शूरवीरोंके उस संघर्षमें सब ओरसे सैकड़ों-हजारों योद्धा टूट पड़े और वे एक-दूसरेकी ओर देखने लगे॥

असिभिश्छिद्यमानानां शिरसां लोकसंक्षये ॥ ६८ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दस्तालानां पततामिव ।

उस लोकसंहारकारी संग्राममें तलवारोंसे काटे जाते हुए मस्तक जब पृथ्वीपर गिरते थे, तब उनसे ताड़के फलोंके गिरनेकी-सी धमाकेकी आवाज होती थी ॥ ६८½ ॥

विमुक्तानां शरीराणां छिन्नानां पततां भुवि ॥ ६९ ॥
सायुधानां च बाहूनामूरूणां च विशाम्पते ।
आसीत् कटकटाशब्दः सुमहाँल्लोमहर्षणः ॥ ७० ॥

प्रजानाथ ! छिन्न-भिन्न होकर धरतीपर गिरनेवाले कवच-शून्य शरीरों, आयुधोंसहित भुजाओं और जाँघोंका अत्यन्त भयंकर एवं रोमाञ्चकारी कट-कट शब्द सुनायी पड़ता था ॥

निघ्नन्तो निशितैः शस्त्रैर्भ्रातॄन् पुत्रान् सखीनपि ।
योधाः परिपतन्ति स्म यथामिषकृते खगाः ॥ ७१ ॥

जैसे पक्षी मांसके लिये एक-दूसरेपर झपटते हैं, उसी प्रकार वहाँ योद्धा अपने तीखे शस्त्रोंद्वारा भाइयों, मित्रों और पुत्रोंका भी संहार करते हुए एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे ॥

अन्योन्यं प्रतिसंरब्धाः समासाद्य परस्परम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति न्यघ्नन् सहस्रशः ॥ ७२ ॥

दोनों पक्षोंके योद्धा एक दूसरेसे भिड़कर परस्पर अत्यन्त कुपित हो 'पहले मैं, पहले मैं' ऐसा कहते हुए सहस्रों सैनिकोंका वध करने लगे ॥ ७२ ॥

संघातेनासनभ्रष्टैरश्वारोहैर्गतासुभिः ।
हयाः परिपतन्ति स्म शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७३ ॥

शत्रुओंके आघातसे प्राणशून्य होकर आसनसे भ्रष्ट हुए अश्वारोहियोंके साथ सैकड़ों और हजारों घोड़े धराशायी होने लगे ॥ ७३ ॥

स्फुरतां प्रतिपिष्टानामश्वानां शीघ्रगामिनाम् ।
स्तनतां च मनुष्याणां संनद्धानां विशाम्पते ॥ ७४ ॥
शक्त्यृष्टिप्रासशब्दश्च तुमुलः समपद्यत ।
भिन्दतां परमर्माणि राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ७५ ॥

प्रजापालक नरेश ! आपकी खोटी सलाहके अनुसार बहुत-से शीघ्रगामी अश्व गिरकर छटपटा रहे थे । कितने ही पिस गये थे और बहुत-से कवचधारी मनुष्य गर्जना करते हुए शत्रुओंके मर्म विदीर्ण कर रहे थे । उन सबके शक्ति, ऋष्टि और प्रासोंका भयंकर शब्द वहाँ गूँजने लगा था ॥

श्रमाभिभूताः संरब्धाः श्रान्तवाहाः पिपासवः ।
विक्षताश्च शितैः शस्त्रैरभ्यवर्तन्त तावकाः ॥ ७६ ॥

आपके सैनिक परिश्रमसे थक गये थे, क्रोधमें भरे हुए थे, उनके वाहन भी थकावटसे चूर-चूर हो रहे थे और वे सब-के-सब प्याससे पीड़ित थे । उनके सारे अङ्ग तीक्ष्ण शस्त्रोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे ॥ ७६ ॥

मत्ता रुधिरगन्धेन बहवोऽत्र विचेतसः ।
जघ्नुः परान् स्वकांश्चैव प्राप्तान् प्राप्ताननन्तरान् ॥७७॥

वहाँ बहते हुए रक्तकी गन्धसे मतवाले हो बहुत-से सैनिक विवेक-शक्ति खो बैठे थे और बारी-बारीसे अपने पास आये

हुए शत्रुपक्षके तथा अपने पक्षके सैनिकोंका भी वध कर डालते थे ॥ ७७ ॥

बहवश्च गतप्राणाः क्षत्रिया जयगृद्धिनः ।
भूमावभ्यपतन् राजन् शरवृष्टिभिरावृताः ॥ ७८ ॥

राजन्! बहुत-से विजयाभिलाषी क्षत्रिय बाणोंकी वर्षासे आच्छादित हो प्राणोंका परित्याग करके पृथ्वीपर पड़े थे ॥

वृकगृध्रशृगालानां तुमुले मोदनेऽहनि ।
आसीद् बलक्षयो घोरस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ७९ ॥

भेड़ियों, गीधों और सियारोंका आनन्द बढ़ानेवाले उस भयंकर दिनमें आपके पुत्रकी आँखोंके सामने कौरवसेनाका घोर संहार हुआ ॥ ७९ ॥

नराश्वकायैः संछन्ना भूमिरासीद् विशाम्पते ।
रुधिरोदकचित्रा च भीरूणां भयवर्धिनी ॥ ८० ॥

प्रजानाथ! वह रणभूमि मनुष्यों और घोड़ोंकी लाशोंसे पट गयी थी तथा पानीकी तरह बहाये जाते हुए रक्तसे विचित्र शोभा धारण करके कायरोंका भय बढ़ा रही थी ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैस्तक्षमाणाः पुनः पुनः ।
तावकाः पाण्डवेयाश्च न न्यवर्तन्त भारत ॥ ८१ ॥

भारत! खड्गों, पट्टिशों और शूलोंसे एक-दूसरेको बारंबार घायल करते हुए आपके और पाण्डवोंके योद्धा युद्धसे पीछे नहीं हटते थे ॥ ८१ ॥

प्रहरन्तो यथाशक्ति यावत् प्राणस्य धारणम् ।
योधाः परिपतन्ति स्म वमन्तो रुधिरं व्रणैः ॥ ८२ ॥

जबतक प्राण रहते, तबतक यथाशक्ति प्रहार करते हुए योद्धा अन्ततोगत्वा अपने घावोंसे रक्त बहाते हुए धराशायी हो जाते थे ॥ ८२ ॥

शिरो गृहीत्वा केशेषु कबन्धः स्म प्रदृश्यते ।
उद्यम्य च शितं खड्गं रुधिरेण परिप्लुतम् ॥ ८३ ॥

वहाँ कोई-कोई कबन्ध (धड़) ऐसा दिखायी दिया, जो एक हाथमें शत्रुके कटे हुए मस्तकको केशसहित पकड़े हुए और दूसरे हाथमें खूनसे रँगी हुई तीखी तलवार उठाये खड़ा था॥

तथोत्थितेषु बहुषु कबन्धेषु नराधिप ।
तथा रुधिरगन्धेन योधाः कश्मलमाविशन् ॥ ८४ ॥

नरेश्वर! फिर उस तरहके बहुत-से कबन्ध उठे दिखायी देने लगे तथा रुधिरकी गन्धसे प्रायः सभी योद्धाओंपर मोह छा गया था ॥ ८४ ॥

मन्दीभूते ततः शब्दे पाण्डवानां महद् बलम् ।
अल्पावशिष्टैस्तुरगैरभ्यवर्तत सौबलः ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् जब उस युद्धका कोलाहल कुछ कम हुआ, तब सुबलपुत्र शकुनि थोड़े-से बचे हुए घुड़सवारोंके साथ पुनः पाण्डवोंकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ॥ ८५ ॥

ततोऽभ्यधावंस्त्वरिताः पाण्डवा जयगृद्धिनः ।
पदातयश्च नागाश्च सादिनश्चोद्यतायुधाः ॥ ८६ ॥
कोष्ठकीकृत्य चाप्येनं परिक्षिप्य च सर्वशः ।
शस्त्रैर्नानाविधैर्जघ्नुर्युद्धपारं तितीर्षवः ॥ ८७ ॥

तब विजयाभिलाषी पाण्डवोंने भी तुरंत उसपर धावा कर दिया। पाण्डव युद्धसे पार होना चाहते थे; अतः उनके पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार सभी हथियार उठाये आगे बढ़े तथा शकुनिको सब ओरसे घेरकर उसे कोष्ठबद्ध करके नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा घायल करने लगे ॥८६-८७॥

त्वदीयास्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य सर्वतः समभिद्रुतान् ।
रथाश्वपत्तिद्विरदाः पाण्डवानभिदुद्रुवुः ॥ ८८ ॥

पाण्डवसैनिकोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख आपके रथी, घुड़सवार, पैदल और हाथीसवार भी पाण्डवोंपर टूट पड़े॥

केचित् पदातयः पद्भिर्मुष्टिभिश्च परस्परम् ।
निजघ्नुः समरे शूराः क्षीणशस्त्रास्ततोऽपतन् ॥ ८९ ॥

कुछ शूरवीर पैदल योद्धा समराङ्गणमें पैदलोंके साथ भिड़ गये और अस्त्र-शस्त्रोंके क्षीण हो जानेपर एक दूसरेको मुक्कोंसे मारने लगे। इस प्रकार लड़ते-लड़ते वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८९ ॥

रथेभ्यो रथिनः पेतुर्द्विपेभ्यो हस्तिसादिनः ।
विमानेभ्यो दिवो भ्रष्टाः सिद्धाः पुण्यक्षयादिव ॥ ९० ॥

जैसे सिद्ध पुरुष पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गलोकके विमानोंसे नीचे गिर जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ रथी रथोंसे और हाथी-सवार हाथियोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९० ॥

एवमन्योन्यमायत्ता योधा जघ्नुर्महाहवे ।
पितॄन् भ्रातॄन् वयस्यांश्च पुत्रानपि तथा परे ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उस महायुद्धमें दूसरे-दूसरे योद्धा परस्पर विजयके लिये प्रयत्नशील हो पिता, भाई, मित्र और पुत्रोंका भी वध करने लगे ॥ ९१ ॥

एवमासीदमर्यादं युद्धं भरतसत्तम ।
प्रासासिबाणकलिले वर्तमाने सुदारुणे ॥ ९२ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्रास, खड्ग और बाणोंसे व्याप्त हुए उस अत्यन्त भयंकर रणक्षेत्रमें इस प्रकार मर्यादाशून्य युद्ध हो रहा था ॥ ९२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके सम्मुख अर्जुनद्वारा दुर्योधनके दुराग्रहकी निन्दा और रथियोंकी सेनाका संहार

संजय उवाच

तस्मिञ्शब्दे मृदौ जाते पाण्डवैर्निहते बले ।
अश्वैः सप्तशतैः शिष्टैरुपावर्तत सौबलः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब पाण्डव-योद्धाओंने

अधिकांश सेनाका संहार कर डाला और युद्धका कोलाहल कम हो गया, तब सुबलपुत्र शकुनि शेष बचे हुए सात सौ घुड़सवारोंके साथ कौरव सेनाके समीप चला गया ॥ १ ॥

स यात्वा वाहिनीं तूर्णमब्रवीत् त्वरयन् युधि ।
युद्ध्यध्वमिति संहृष्टाः पुनः पुनररिंदमाः ॥ २ ॥
अपृच्छत् क्षत्रियांस्तत्र क्व नु राजा महाबलः ।

वह तुरंत कौरव-सेनामें पहुँचकर सबको युद्धके लिये शीघ्रता करनेकी प्रेरणा देता हुआ बोला—'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीरो ! तुम हर्ष और उत्साहके साथ युद्ध करो ।' ऐसा कहकर उसने वहाँ बारम्बार क्षत्रियोंसे पूछा—'महाबली राजा दुर्योधन कहाँ है ?' ॥ २½ ॥

शकुनेस्तद् वचः श्रुत्वा तमूचुर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥
असौ तिष्ठति कौरव्यो रणमध्ये महाबलः ।
यत्रैतत् सुमहच्छत्रं पूर्णचन्द्रसमप्रभम् ॥ ४ ॥
यत्र ते सतनुत्राणा रथास्तिष्ठन्ति दंशिताः ।

भरतश्रेष्ठ ! शकुनिकी वह बात सुनकर उन क्षत्रियोंने उसे यह उत्तर दिया—'प्रभो ! महाबली कुरुराज रणक्षेत्रके मध्यभागमें वहाँ खड़े हैं, जहाँ यह पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् विशाल छत्र तना हुआ है तथा जहाँ वे शरीर-रक्षक आवरणों एवं कवचोंसे सुसज्जित रथ खड़े हैं ॥ ३-४½ ॥

यत्रैष तुमुलः शब्दः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ५ ॥
तत्र गच्छ द्रुतं राजंस्ततो द्रक्ष्यसि कौरवम् ।

'राजन् ! जहाँ यह मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान भयानक शब्द गूँज रहा है, वहीं शीघ्रतापूर्वक चले जाइये, वहाँ आप कुरुराजका दर्शन कर सकेंगे' ॥ ५½ ॥

एवमुक्तस्तु तैर्योधैः शकुनिः सौबलस्तदा ॥ ६ ॥
प्रययौ तत्र यत्रासौ पुत्रस्तव नराधिप ।
सर्वतः संवृतो वीरैः समरे चित्रयोधिभिः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! तब उन योद्धाओंके ऐसा कहनेपर सुबलपुत्र शकुनि वहीं गया, जहाँ आपका पुत्र दुर्योधन समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले वीरोंद्वारा सब ओरसे घिरा हुआ खड़ा था ॥ ६-७ ॥

ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा रथानीके व्यवस्थितम् ।
स रथांस्तावकान् सर्वान् हर्षयञ्शकुनिस्ततः ॥ ८ ॥
दुर्योधनमिदं वाक्यं हृष्टरूपो विशाम्पते ।
कृतकार्यमिवात्मानं मन्यमानोऽब्रवीन्नृपम् ॥ ९ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर दुर्योधनको रथसेनामें खड़ा देख आपके सम्पूर्ण रथियोंका हर्ष बढ़ाता हुआ शकुनि अपनेको कृतार्थ-सा मानकर बड़े हर्षके साथ राजा दुर्योधनसे इस प्रकार बोला— ॥

जहि राजन् रथानीकमश्वाः सर्वे जिता मया ।
नात्यक्त्वा जीवितं संख्ये शक्यो जेतुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'राजन् ! शत्रुकी रथसेनाका नाश कीजिये । समस्त घुड़सवारोंको मैंने जीत लिया है । राजा युधिष्ठिर अपने प्राणोंका परित्याग किये बिना जीते नहीं जा सकते ॥ १० ॥

हते तस्मिन् रथानीके पाण्डवेनाभिपालिते ।
गजानेतान् हनिष्यामः पदातींश्चेतरांस्तथा ॥ ११ ॥

'पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा सुरक्षित इस रथ-सेनाका संहार हो जानेपर हम इन हाथीसवारों, पैदलों और घुड़सवारोंका भी वध कर डालेंगे' ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य तावका जयगृद्धिनः ।
जवेनाभ्यपतन् हृष्टाः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १२ ॥

विजयाभिलाषी शकुनिकी यह बात सुनकर आपके सैनिक अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े ॥

सर्वे विवृततूणीराः प्रगृहीतशरासनाः ।
शरासनानि धुन्वानाः सिंहनादान् प्रणेदिरे ॥ १३ ॥

सबके तरकसोंके मुँह खुल गये, सबने हाथमें धनुष ले लिये और सभी धनुष हिलाते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

ततो ज्यातलनिर्घोषः पुनरासीद् विशाम्पते ।
प्रादुरासीच्छराणां च सुमुक्तानां सुदारुणः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर फिर प्रत्यञ्चाकी टङ्कार और अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंकी भयानक सनसनाहट प्रकट होने लगी ॥

तान् समीपगतान् दृष्ट्वा जवेनोद्यतकार्मुकान् ।
उवाच देवकीपुत्रं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १५ ॥

उन सबको बड़े वेगसे धनुष उठाये पास आया देखकर कुन्तीकुमार अर्जुनने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

चोदयाश्वानसम्भ्रान्तः प्रविशैतद् बलार्णवम् ।
अन्तमद्य गमिष्यामि शत्रूणां निशितैः शरैः ॥ १६ ॥
अष्टादश दिनान्यद्य युद्धस्यास्य जनार्दन ।
वर्तमानस्य महतः समासाद्य परस्परम् ॥ १७ ॥

'जनार्दन ! आप स्वस्थचित्त होकर इन घोड़ोंको हाँकिये और इस सैन्यसागरमें प्रवेश कीजिये । आज मैं तीखे बाणोंसे शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा । परस्पर भिड़कर इस महान् संग्रामके आरम्भ हुए आज अठारह दिन हो गये ॥ १६-१७ ॥

अनन्तकल्पा ध्वजिनी भूत्वा ह्येषां महात्मनाम् ।
क्षयमद्य गता युद्धे पश्य दैवं यथाविधम् ॥ १८ ॥

'इन महामनस्वी कौरवोंके पास अपार सेना थी; परंतु युद्धमें इस समयतक प्रायः नष्ट हो गयी । देखिये, प्रारब्धका कैसा खेल है ? ॥ १८ ॥

समुद्रकल्पं च बलं धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
अस्मानासाद्य संजातं गोष्पदोपममच्युत ॥ १९ ॥

'माधव ! अच्युत ! दुर्योधनकी समुद्र-जैसी अनन्त सेना हमलोगोंसे टक्कर लेकर आज गायकी खुरीके समान हो गयी है ॥ १९ ॥

हते भीष्मे तु संदध्याच्छिवं स्यादिह माधव ।
न च तत् कृतवान् मूढो धार्तराष्ट्रः सुबालिशः ॥ २० ॥

'माधव ! यदि भीष्मके मारे जानेपर दुर्योधन सन्धि कर लेता तो यहाँ सबका कल्याण होता; परंतु उस अज्ञानी मूर्खने वैसा नहीं किया ॥ २० ॥

उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं हितं तथ्यं च माधव ।
तच्चापि नासौ कृतवान् वीतबुद्धिः सुयोधनः ॥ २१ ॥

'मधुकुलभूषण ! भीष्मजीने जो सच्ची और हितकर बात बतायी थी, उसे भी उस बुद्धिहीन दुर्योधनने नहीं माना॥

तस्मिंस्तु तुमुले भीष्मे प्रच्युते धरणीतले ।
न जाने कारणं किं तु येन युद्धमवर्तत ॥ २२ ॥

'तदनन्तर घमासान युद्ध आरम्भ हुआ और उसमें भीष्मजी पृथ्वीपर मार गिराये गये । फिर भी न जाने क्या कारण था, जिससे युद्ध चालू ही रह गया ॥ २२ ॥

मूढांस्तु सर्वथा मन्ये धार्तराष्ट्रान् सुबालिशान् ।
पतिते शान्तनोः पुत्रे येऽकार्षुः संयुगं पुनः ॥ २३ ॥

'मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको सर्वथा मूर्ख और नादान समझता हूँ, जिन्होंने शान्तनुनन्दन भीष्मजीके धराशायी होनेपर भी पुनः युद्ध जारी रक्खा ॥ २३ ॥

अनन्तरं च निहते द्रोणे ब्रह्मविदां वरे ।
राधेये च विकर्णे च नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २४ ॥

'तत्पश्चात् वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, राधापुत्र कर्ण और विकर्ण मारे गये तो भी यह मार-काट बंद नहीं हुई ॥

अल्पावशिष्टे सैन्येऽस्मिन् सूतपुत्रे च पातिते ।
सपुत्रे वै नरव्याघ्रे नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २५ ॥

'पुत्रसहित नरश्रेष्ठ सूतपुत्रके मार गिराये जानेपर जब कौरवसेना थोड़ी-सी ही बच रही थी तो भी यह युद्धकी आग नहीं बुझी ॥ २५ ॥

श्रुतायुषि हते वीरे जलसन्धे च पौरवे ।
श्रुतायुधे च नृपतौ नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २६ ॥

'श्रुतायु, वीर जलसन्ध पौरव तथा राजा श्रुतायुधके मारे जानेपर भी यह संहार बंद नहीं हुआ ॥ २६ ॥

भूरिश्रवसि शल्ये च शाल्वे चैव जनार्दन ।
आवन्त्येषु च वीरेषु नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २७॥

'जनार्दन ! भूरिश्रवा, शल्य, शाल्व तथा अवन्ति देशके वीर मारे गये तो भी यह युद्धकी ज्वाला शान्त न हो सकी ॥

जयद्रथे च निहते राक्षसे चाप्यलायुधे ।
बाह्लिके सोमदत्ते च नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २८ ॥

'जयद्रथ, बाह्लिक, सोमदत्त तथा राक्षस अलायुध—ये सभी परलोकवासी हो गये तो भी यह युद्धकी प्यास न बुझ सकी ॥

भगदत्ते हते शूरे काम्बोजे च सुदारुणे ।
दुःशासने च निहते नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २९॥

'भगदत्त, शूरवीर काम्बोजराज सुदक्षिण तथा अत्यन्त दारुण दुःशासनके मारे जानेपर भी कौरवोंकी युद्ध-पिपासा शान्त नहीं हुई ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा विनिहताञ्शूरान् पृथङ्माण्डलिकान् नृपान् ।
बलिनश्च रणे कृष्ण नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ ३०॥

'श्रीकृष्ण ! विभिन्न मण्डलोंके स्वामी शूरवीर बलवान् नरेशोंको रणभूमिमें मारा गया देखकर भी यह युद्धकी आग बुझ न सकी ॥ ३० ॥

अक्षौहिणीपतीन् दृष्ट्वा भीमसेननिपातितान् ।
मोहाद् वा यदि वा लोभान्नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ ३१ ॥

'भीमसेनके द्वारा धराशायी किये गये अक्षौहिणीपतियों-को देखकर भी मोहवश अथवा लोभके कारण युद्ध बंद न हो सका ॥ ३१ ॥

को नु राजकुले जातः कौरवेयो विशेषतः ।
निरर्थकं महद् वैरं कुर्यादन्यः सुयोधनात् ॥ ३२ ॥

'राजाके कुलमें उत्पन्न होकर विशेषतः कुरुकुलकी संतान होकर दुर्योधनके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो व्यर्थ ही (अपने बन्धुओंके साथ) महान् वैर बाँधे ॥ ३२ ॥

गुणतोऽभ्यधिकाञ्ज्ञात्वा बलतः शौर्यतोऽपि वा ।
अमूढः को नु युद्ध्येत जानन् प्राज्ञो हिताहितम् ॥ ३३ ॥

'दूसरोंको गुणसे, बलसे अथवा शौर्यसे भी अपनी अपेक्षा महान् जानकर भी अपने हित और अहितको समझने-वाला मूढ़ताशून्य कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा ? जो उनके साथ युद्ध करेगा ॥ ३३ ॥

यन्न तस्य मनो ह्यासीत् त्वयोक्तस्य हितं वचः ।
प्रशमे पाण्डवैः सार्धं सोऽन्यस्य शृणुयात् कथम् ॥३४॥

'आपके द्वारा हितकारक वचन कहे जानेपर भी जिसका पाण्डवोंके साथ संधि करनेका मन नहीं हुआ, वह दूसरेकी बात कैसे सुन सकता है ? ॥ ३४ ॥

येन शान्तनवो वीरो द्रोणो विदुर एव च ।
प्रत्याख्याताः शमस्यार्थे किं नु तस्याद्य भेषजम् ॥ ३५ ॥

'जिसने संधिके विषयमें वीर शान्तनुनन्दन भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुरजीकी भी बात माननेसे इन्कार कर दी, उसके लिये अब कौन-सी दवा है ? ॥ ३५ ॥

मौर्ख्याद् येन पिता वृद्धः प्रत्याख्यातो जनार्दन ।
तथा माता हितं वाक्यं भाषमाणा हितैषिणी ॥ ३६ ॥
प्रत्याख्याता ह्यसत्कृत्य स कस्मै रोचयेद् वचः ।

'जनार्दन ! जिसने मूर्खतावश अपने वृद्ध पिताकी भी बात नहीं मानी और हितकी बात बतानेवाली अपनी हितैषिणी माताका भी अपमान करके उसकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया, उसे दूसरे किसीकी बात क्यों रुचेगी ? ॥ ३६½ ॥

कुलान्तकरणो व्यक्तं जात एष जनार्दन ॥ ३७ ॥
तथास्य दृश्यते चेष्टा नीतिश्चैव विशाम्पते ।

'जनार्दन ! निश्चय ही यह अपने कुलका विनाश करनेवाला पैदा हुआ है । प्रजानाथ ! इसकी नीति और चेष्टा ऐसी ही दिखायी देती है ॥ ३७½ ॥

नैष दास्यति नो राज्यमिति मे मतिरच्युत ॥ ३८ ॥
उक्तोऽहं बहुशस्तात विदुरेण महात्मना ।
न जीवन् दास्यते भागं धार्तराष्ट्रस्तु मानद ॥ ३९ ॥

'अच्युत ! मैं समझता हूँ, यह अब भी हमें अपना राज्य नहीं देगा । तात ! महात्मा विदुरने मुझसे अनेक बार कहा है कि 'मानद ! दुर्योधन जीते-जी राज्यका भाग नहीं लौटायेगा ॥ ३८-३९ ॥

यावत् प्राणा धरिष्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः।
तावद् युष्मास्वपापेषु प्रचरिष्यति पापकम् ॥ ४० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्राण जबतक शरीरमें स्थित रहेंगे, तबतक तुम निष्पाप बन्धुओंपर भी वह पापपूर्ण बर्ताव ही करता रहेगा ॥ ४० ॥

न च युक्तोऽन्यथा जेतुमृते युद्धेन माधव।
इत्यब्रवीत् सदा मां हि विदुरः सत्यदर्शनः ॥ ४१ ॥

'माधव ! युद्धके सिवा और किसी उपायसे दुर्योधनको जीतना सम्भव नहीं है।' यह बात सत्यदर्शी विदुरजी सदासे ही मुझसे कहते आ रहे हैं ॥ ४१ ॥

तत् सर्वमद्य जानामि व्यवसायं दुरात्मनः।
यदुक्तं वचनं तेन विदुरेण महात्मना ॥ ४२ ॥

'महात्मा विदुरने जो बात कही है, उसके अनुसार मैं उस दुरात्माके सम्पूर्ण निश्चयको आज जानता हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि श्रुत्वा वचः पथ्यं जामदग्न्याद् यथातथम्।
अवामन्यत दुर्बुद्धिर्ध्रुवं नाशमुखे स्थितः ॥ ४३ ॥

'जिस दुर्बुद्धिने यमदग्निनन्दन परशुरामजीके मुखसे यथार्थ एवं हितकारक वचन सुनकर भी उसकी अवहेलना कर दी, वह निश्चय ही विनाशके मुखमें स्थित है ॥ ४३ ॥

उक्तं हि बहुशः सिद्धैर्जातमात्रे सुयोधने।
एनं प्राप्य दुरात्मानं क्षयं क्षत्रं गमिष्यति ॥ ४४ ॥

'दुर्योधनके जन्म लेते ही सिद्ध पुरुषोंने बारंबार कहा था कि 'इस दुरात्माको पाकर क्षत्रियजातिका बिनाश हो जायगा'॥

तदिदं वचनं तेषां निरुक्तं वै जनार्दन।
क्षयं याता हि राजानो दुर्योधनकृते भृशम् ॥ ४५ ॥

'जनार्दन ! उनकी वह बात यथार्थ हो गयी; क्योंकि दुर्योधनके कारण बहुत-से राजा नष्ट हो गये ॥ ४५ ॥

सोऽद्य सर्वान् रणे योधान् निहनिष्यामि माधव।
क्षत्रियेषु हतेष्वाशु शून्ये च शिबिरे कृते ॥ ४६ ॥
वधाय चात्मनोऽस्माभिः संयुगं रोचयिष्यति।
तदन्तं हि भवेद् वैरमनुमानेन माधव ॥ ४७ ॥

'माधव ! आज मैं रणभूमिमें शत्रुपक्षके समस्त योद्धाओं-को मार गिराऊँगा। इन क्षत्रियोंका शीघ्र ही संहार हो जाने-पर जब सारा शिविर सूना हो जायगा, तब वह अपने वधके लिये हमलोगोंके साथ जूझना पसंद करेगा। माधव ! मेरे अनुमानसे उसका वध होनेपर ही इस वैरका अन्त होगा ॥

एवं पश्यामि वार्ष्णेय चिन्तयन् प्रज्ञया स्वया।
विदुरस्य च वाक्येन चेष्टया च दुरात्मनः ॥ ४८ ॥

'वृष्णिनन्दन ! मैं अपनी बुद्धिसे, विदुरजीके वाक्यसे और दुरात्मा दुर्योधनकी चेष्टासे भी सोच-विचारकर ऐसा ही होता देखता हूँ ॥ ४८ ॥

तस्माद् याहि चमूं वीर यावद्धन्मि शितैः शरैः।
दुर्योधनं महाबाहो वाहिनीं चास्य संयुगे ॥ ४९ ॥

'अतः वीर ! महाबाहो ! आप कौरव-सेनाकी ओर चलिये, जिससे मैं पैने बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें दुर्योधन और उसकी सेनाका संहार करूँ ॥ ४९ ॥

क्षेममद्य करिष्यामि धर्मराजस्य माधव।
हत्वैतद् दुर्बलं सैन्यं धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ ५० ॥

'माधव ! आज मैं दुर्योधनके देखते-देखते इस दुर्बल सेनाका नाश करके धर्मराजका कल्याण करूँगा' ॥ ५० ॥

संजय उवाच

अभीषुहस्तो दाशार्हस्तथोक्तः सव्यसाचिना।
तद् बलौघममित्राणामभीतः प्राविशद् बलात् ॥ ५१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सव्यसाची अर्जुनके ऐसा कहने-पर घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लिये दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने निर्भय हो शत्रुओंके उस सैन्य-सागरमें बलपूर्वक प्रवेश किया॥

कुन्तखड्गशरैर्घोरं शक्तिकण्टकसंकुलम्।
गदापरिघपन्थानं रथनागमहाद्रुमम् ॥ ५२ ॥
हयपत्तिलताकीर्णं गाहमानो महायशाः।
व्यचरत्तत्र गोविन्दो रथेनातिपताकिना ॥ ५३ ॥

वह सेना एक वनके समान थी। वह वन कुन्त, खड्ग और बाणोंसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था, शक्तिरूपी काँटोंसे भरा हुआ था, गदा और परिघ उसमें जानेके मार्ग थे, रथ और हाथी उसमें रहनेवाले बड़े-बड़े वृक्ष थे, घोड़े और पैदलरूपी लताओंसे वह व्याप्त हो रहा था, महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण ऊँची पताकावाले रथके द्वारा उस सैन्य-वनमें प्रवेश करके सब ओर विचरने लगे ॥ ५२-५३ ॥

ते हयाः पाण्डुरा राजन् वहन्तोऽर्जुनमाहवे।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त दाशार्हेण प्रचोदिताः ॥ ५४ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णके द्वारा हाँके गये वे सफेद घोड़े युद्ध-स्थलमें अर्जुनको ढोते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दिखायी पड़ते थे ॥

ततः प्रायाद् रथेनाजौ सव्यसाची परंतपः।
किरञ्शरशतांस्तीक्ष्णान् वारिधारा घनो यथा॥ ५५ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः शराणां नतपर्वणाम्।

फिर तो जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन युद्धस्थलमें सैकड़ों पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए रथके द्वारा आगे बढ़े। उस समय झुकी हुई गाँठवाले बाणोंका महान् शब्द प्रकट होने लगा ॥

इषुभिश्छाद्यमानानां समरे सव्यसाचिना ॥ ५६ ॥
असज्जन्तस्तनुत्रेषु शरौघाः प्रापतन् भुवि।

सव्यसाची अर्जुनद्वारा समरभूमिमें बाणोंसे आच्छादित होनेवाले सैनिकोंके कवचोंपर उनके बाण अटकते नहीं थे। वे चोट करके पृथ्वीपर गिर जाते थे ॥ ५६½ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शा गाण्डीवप्रेषिताः शराः ॥ ५७ ॥
नरान् नागान् समाहत्य हयांश्चापि विशाम्पते।
अपतन्त रणे बाणाः पतङ्गा इव घोषिणः ॥ ५८ ॥

प्रजानाथ ! इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर स्पर्शवाले बाण गाण्डीवसे प्रेरित हो मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंका भी संहार करके शब्द करनेवाले टिड्डीदलोंके समान रणभूमिमें गिर पड़ते थे॥

आसीत् सर्वमवच्छन्नं गाण्डीवप्रेषितैः शरैः।
न प्राज्ञायन्त समरे दिशो वा प्रदिशोऽपि वा ॥ ५९ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उस रणभूमिकी सारी वस्तुएँ आच्छादित हो गयी थीं। दिशाओं अथवा विदिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ५९ ॥

सर्वमासीज्जगत् पूर्णं पार्थनामाङ्कितैः शरैः।
रुक्मपुङ्खैस्तैलधौतैः कर्मारपरिमार्जितैः ॥ ६० ॥

अर्जुनके नामसे अंकित, तेलके धोये और कारीगरके साफ किये सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा वहाँका सारा जगत् व्याप्त हो रहा था ॥ ६० ॥

ते दह्यमानाः पार्थेन पावकेनेव कुञ्जराः।
पार्थं न प्रजहुर्घोरा वध्यमानाः शितैः शरैः ॥ ६१ ॥

दावानलके आगसे जलनेवाले हाथियोंके समान पार्थके पैने बाणोंकी मार खाकर दग्ध होते हुए वे घोर कौरव-योद्धा अर्जुनको छोड़कर हटते नहीं थे ॥ ६१ ॥

शरचापधरः पार्थः प्रज्वलन्निव भास्करः।
ददाह समरे योधान् कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ६२ ॥

जैसे जलती हुई आग घास-फूसके ढेरको जला देती है, उसी प्रकार सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले धनुष-बाणधारी अर्जुनने समराङ्गणमें आपके योद्धाओंको दग्ध कर दिया ॥

यथा वनान्ते वनपैर्विसृष्टः
कक्षं दहेत् कृष्णगतिः सुघोषः।
भूरिद्रुमं शुष्कलतावितानं
भृशं समृद्धो ज्वलनः प्रतापी ॥ ६३ ॥
एवं स नाराचगणप्रतापी
शरार्चिरुच्चावचतिग्मतेजाः ।
ददाह सर्वां तव पुत्रसेना-
ममृष्यमाणस्तरसा तरस्वी ॥ ६४ ॥

जैसे वनचरोंद्वारा वनके भीतर लगायी हुई आग धीरे-धीरे बढ़कर प्रज्वलित एवं महान् तापसे युक्त हो घास-फूसके ढेरको, बहुसंख्यक वृक्षोंको और सूखी हुई लतावल्लरियोंको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार नाराचसमूहोंद्वारा ताप देनेवाले, बाणरूपी ज़्वालाओंसे युक्त, वेगवान्, प्रचण्ड तेजस्वी और अमर्षमें भरे हुए अर्जुनने समराङ्गणमें आपके पुत्रकी सारी रथसेनाको शीघ्रतापूर्वक भस्म कर डाला।६३-६४।

तस्येषवः प्राणहराः सुमुक्ता
नासज्जन् वै वर्मसु रुक्मपुङ्खाः।
न च द्वितीयं प्रमुमोच बाणं
नरे हये वा परमद्विपे वा ॥ ६५ ॥

उनके अच्छी तरह छोड़े हुए सुवर्णमय पंखवाले प्राणान्तकारी बाण कवचोंपर नहीं अटकते थे। उन्हें छेदकर भीतर घुस जाते थे। वे मनुष्य, घोड़े अथवा विशालकाय हाथीपर भी दूसरा बाण नहीं छोड़ते थे (एक ही बाणसे उसका काम तमाम कर देते थे) ॥ ६५ ॥

अनेकरूपाकृतिभिर्हि बाणै-
र्महारथानीकमनुप्रविश्य ।
स एवैकस्तव पुत्रस्य सेनां
जघान दैत्यानिव वज्रपाणिः ॥ ६६ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दैत्योंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार एकमात्र अर्जुनने ही रथियोंकी विशाल सेनामें प्रवेश करके अनेक रूप-रंगवाले बाणोंद्वारा आपके पुत्रकी सेनाका विनाश कर दिया ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनद्वारा कौरवोंकी रथसेना एवं गजसेनाका संहार, अश्वत्थामा आदिके द्वारा दुर्योधनकी खोज, कौरवसेनाका पलायन तथा सात्यकिद्वारा संजयका पकड़ा जाना

संजय उवाच

पश्यतां यतमानानां शूराणामनिवर्तिनाम्।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! यद्यपि कौरवयोद्धा युद्धसे पीछे न हटनेवाले शूरवीर थे और विजयके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे तो भी उनके देखते-देखते अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे उनके संकल्पको व्यर्थ कर दिया ॥ १ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शानविषह्यान् महौजसः।
विसृजन् दृश्यते बाणान् धारा मुञ्चन्निवाम्बुदः॥ २ ॥

जैसे बादल पानीकी धारा गिराता है, उसी प्रकार वे बाणोंकी वर्षा करते दिखायी देते थे। उन बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर था। वे बाण असह्य एवं महान् शक्तिशाली थे ॥ २ ॥

ततः सैन्यं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं किरीटिना।
सम्प्रदुद्राव संग्रामात् तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! किरीटधारी अर्जुनकी मार खाकर वह बची हुई सेना आपके पुत्रके देखते-देखते रणभूमिसे भाग चली ॥

पितॄन् भ्रातॄन् परित्यज्य वयस्यानपि चापरे।
हतधुर्या रथाः केचिद्धतसूतास्तथा परे ॥ ४ ॥

कुछ लोग अपने पिता और भाइयोंको छोड़कर भागे तो दूसरे लोग मित्रोंको। कितने ही रथोंके घोड़े मारे गये थे और कितनोंके सारथि ॥ ४ ॥

भग्नाक्षयुगचक्रेषाः केचिदासन् विशाम्पते।
अन्येषां सायकाः क्षीणास्तथान्ये बाणपीडिताः॥ ५ ॥

प्रजानाथ! किन्हींके रथोंके जूए, धुरे, पहिये और हरसे भी टूट गये थे, दूसरे योद्धाओंके बाण नष्ट हो गये और अन्य योद्धा अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो गये थे ॥ ५ ॥

अक्षता युगपत् केचित् प्राद्रवन् भयपीडिताः ।
केचित् पुत्रानुपादाय हतभूयिष्ठबान्धवाः ॥ ६ ॥

कुछ लोग घायल न होनेपर भी भयसे पीड़ित हो एक साथ ही भागने लगे और कुछ लोग अधिकांश बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर पुत्रोंको साथ लेकर भागे ॥ ६ ॥

विचुक्रुशुः पितॄंस्त्वन्ये सहायानपरे पुनः ।
बान्धवांश्च नरव्याघ्र भ्रातॄन् सम्बन्धिनस्तथा ॥ ७ ॥
दुद्रुवुः केचिदुत्सृज्य तत्र तत्र विशाम्पते ।
बहवोऽत्र भृशं विद्धा मुह्यमाना महारथाः ॥ ८ ॥

नरव्याघ्र ! कोई पिताको पुकारते थे, कोई सहायकोंको । प्रजानाथ ! कुछ लोग अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंको जहाँ-के-तहाँ छोड़कर भाग गये । बहुत-से महारथी पार्थके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो मूर्च्छित हो रहे थे ॥७-८॥

निःश्वसन्ति स्म दृश्यन्ते पार्थबाणहता नराः ।
तानन्ये रथमारोप्य ह्याश्वास्य च मुहूर्तकम् ॥ ९ ॥
विश्रान्ताश्च वितृष्णाश्च पुनर्युद्धाय जग्मिरे ।

अर्जुनके बाणोंसे आहत हो कितने ही मनुष्य रणभूमिमें ही पड़े-पड़े उच्छ्वास लेते दिखायी देते थे । उन्हें दूसरे लोग अपने रथपर बिठाकर घड़ी-दो-घड़ी आश्वासन दे स्वयं भी विश्राम करके प्यास बुझाकर पुनः युद्धके लिये जाते थे ॥

तानपास्य गताः केचित् पुनरेव युयुत्सवः ॥ १० ॥
कुर्वन्तस्तव पुत्रस्य शासनं युद्धदुर्मदाः ।

रणभूमिमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले कितने ही युद्धाभिलाषी योद्धा उन घायलोंको वैसे ही छोड़कर आपके पुत्रकी आज्ञाका पालन करते हुए पुनः युद्धके लिये चल देते थे ॥ १०½ ॥

पानीयमपरे पीत्वा पर्याश्वास्य च वाहनम् ॥ ११ ॥
वर्माणि च समारोप्य केचिद् भरतसत्तम ।
समाश्वास्यापरे भ्रातॄन् निक्षिप्य शिबिरेऽपि च ॥ १२ ॥
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये पुनर्युद्धमरोचयन् ।

भरतश्रेष्ठ ! दूसरे लोग स्वयं पानी पीकर घोड़ोंकी भी थकावट दूर करते । उसके बाद कवच धारण करके लड़नेके लिये जाते थे । अन्य बहुत-से सैनिक अपने घायल बन्धुओं, पुत्रों और पिताओंको आश्वासन दे उन्हें शिबिरमें रख आते । उसके बाद युद्धमें मन लगाते थे ॥ ११-१२½ ॥

सज्जयित्वा रथान् केचिद् यथामुख्यं विशाम्पते ॥ १३ ॥
आप्लुत्य पाण्डवानीकं पुनर्युद्धमरोचयन् ।

प्रजानाथ ! कुछ लोग अपने रथको रणसामग्रीसे सुसज्जित करके पाण्डव-सेनापर चढ़ आते और अपनी प्रधानताके अनुसार किसी श्रेष्ठ वीरके साथ जूझना पसंद करते थे ॥

ते शूराः किङ्किणीजालैः समाच्छन्ना बभासिरे ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यविजये युक्ता यथा दैतेयदानवाः ।

वे शूरवीर कौरव-सैनिक रथमें लगे हुए किंकिणीसमूहसे आच्छादित हो तीनों लोकोंपर विजय पानेके लिये उद्यत हुए दैत्यों और दानवोंके समान सुशोभित होते थे ॥ १४½ ॥

आगम्य सहसा केचिद् रथैः स्वर्णविभूषितैः ॥ १५ ॥
पाण्डवानामनीकेषु धृष्टद्युम्नमयोधयन् ।

कुछ लोग अपने सुवर्णभूषित रथोंके द्वारा सहसा आकर पाण्डवसेनाओंमें धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करने लगे ॥ १५½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ॥ १६ ॥
नाकुलिस्तु शतानीको रथानीकमयोधयन् ।

पाञ्चालराजपुत्र धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी और नकुलपुत्र शतानीक—ये आपकी रथसेनाके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १६½ ॥

पाञ्चाल्यस्तु ततः क्रुद्धः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ १७ ॥
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धस्तावकान् हन्तुमुद्यतः ।

तदनन्तर आपके सैनिकोंका वध करनेके लिये उद्यत हो विशाल सेनासे घिरे हुए धृष्टद्युम्नने अत्यन्त क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥ १७½ ॥

ततस्त्वापततस्तस्य तव पुत्रो जनाधिप ॥ १८ ॥
बाणसंघाननेकान् वै प्रेषयामास भारत ।

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! उस समय आपके पुत्रने आक्रमण करनेवाले धृष्टद्युम्नपर बहुत-से बाणसमूहोंका प्रहार किया ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजंस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १९ ॥
नाराचैरर्धनाराचैर्बहुभिः क्षिप्रकारिभिः ।
वत्सदन्तैश्च बाणैश्च कर्मारपरिमार्जितैः ॥ २० ॥
अश्वांश्च चतुरो हत्वा बाह्वोरुरसि चार्पितः ।

राजन् ! आपके धनुर्धर पुत्रने बहुत-से नाराच, अर्धनाराच, शीघ्रकारी वत्सदन्त और कारीगरद्वारा साफ किये हुए बाणोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको मारकर उनकी दोनों भुजाओं और छातीमें भी चोट पहुँचायी ॥ १९-२०½ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ २१ ॥
तस्याश्वांश्चतुरो बाणैः प्रेषयामास मृत्यवे ।
सारथेश्चास्य भल्लेन शिरः कायादपाहरत् ॥ २२ ॥

दुर्योधनके प्रहारसे अत्यन्त घायल हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न अङ्कुशसे पीड़ित हुए हाथीके समान कुपित हो उठे और उन्होंने अपने बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको मौतके हवाले कर दिया तथा एक भल्लसे उसके सारथिका भी सिर धड़से काट लिया ॥ २१-२२ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पृष्ठमारुह्य वाजिनः ।
अपाक्रामद्धतरथो नातिदूरमरिंदमः ॥ २३ ॥

इस प्रकार रथके नष्ट हो जानेपर शत्रुदमन राजा दुर्योधन एक घोड़ेकी पीठपर सवार हो वहाँसे कुछ दूर हट गया ॥

दृष्ट्वा तु हतविक्रान्तं स्वमनीकं महाबलः ।
तव पुत्रो महाराज प्रययौ यत्र सौबलः ॥ २४ ॥

महाराज ! अपनी सेनाका पराक्रम नष्ट हुआ देख आपका महाबली पुत्र दुर्योधन वहीं चला गया, जहाँ सुबलपुत्र शकुनि खड़ा था ॥ २४ ॥

ततो रथेषु भग्नेषु त्रिसाहस्रा महाद्विपाः ।
पाण्डवान् रथिनः सर्वान् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २५ ॥

रथसेनाके भंग हो जानेपर तीन हजार विशालकाय गज-

राजोंने समस्त पाण्डवरथियोंको चारों ओरसे घेर लिया ॥

ते वृताः समरे पञ्च गजानीकेन भारत।
अशोभन्त महाराज ग्रहा व्याप्ता घनैरिव ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! समराङ्गणमें गजसेनासे घिरे हुए पाँचों पाण्डव मेघोंसे आवृत हुए पाँच ग्रहोंके समान शोभा पाते थे ॥ २६ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज लब्धलक्ष्यो महाभुजः।
विनिर्ययौ रथेनैव श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! तब भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे श्वेतवाहन महाबाहु अर्जुन अपने बाणोंका लक्ष्य पाकर रथके द्वारा आगे बढ़े ॥ २७ ॥

तैः समन्तात् परिवृतः कुञ्जरैः पर्वतोपमैः।
नाराचैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्गजानीकमयोधयत् ॥ २८ ॥

उन्हें चारों ओरसे पर्वताकार हाथियोंने घेर रक्खा था। वे तीखी धारवाले निर्मल नाराचोंद्वारा उस गजसेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥ २८ ॥

तत्रैकबाणनिहतानपश्याम महागजान्।
पतितान् पात्यमानांश्च निर्भिन्नान् सव्यसाचिना॥ २९ ॥

वहाँ हमने देखा कि सव्यसाची अर्जुनके एक ही बाणकी चोट खाकर बड़े-बड़े हाथियोंके शरीर विदीर्ण होकर गिर गये हैं और लगातार गिराये जा रहे हैं ॥ २९ ॥

भीमसेनस्तु तान् दृष्ट्वा नागान् मत्तगजोपमः।
करेणादाय महतीं गदामभ्यपतद् बली ॥ ३० ॥
अथाप्लुत्य रथात् तूर्णं दण्डपाणिरिवान्तकः।

मतवाले हाथीके समान पराक्रमी बलवान् भीमसेन उन गजराजोंको आते देख तुरंत ही रथसे कूदकर हाथमें विशाल गदा लिये दण्डधारी यमराजके समान उनपर टूट पड़े।३०½।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा पाण्डवानां महारथम् ॥ ३१ ॥
वित्रेसुस्तावकाः सैन्याः शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः।

पाण्डव महारथी भीमसेनको गदा उठाये देख आपके सैनिक भयसे थर्रा उठे और मल-मूत्र करने लगे ॥ ३१½ ॥

आविग्नं च बलं सर्वं गदाहस्ते वृकोदरे ॥ ३२ ॥
गदया भीमसेनेन भिन्नकुम्भान् रजस्वलान्।
धावमानानपश्याम कुञ्जरान् पर्वतोपमान् ॥ ३३ ॥

भीमसेनके गदा हाथमें लेते ही सारी कौरवसेना उद्विग्न हो उठी। हमने देखा, भीमसेनकी गदासे उन धूलिधूसर पर्वताकार हाथियोंके कुम्भस्थल फट गये हैं और वे इधर-उधर भाग रहे हैं ॥ ३२-३३ ॥

प्राद्रवन् कुञ्जरास्ते तु भीमसेनगदाहताः।
पेतुरार्तस्वरं कृत्वा छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३४ ॥

भीमसेनकी गदासे घायल हो वे हाथी भाग चले और आर्तनाद करके पंख कटे हुए पर्वतोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३४ ॥

प्रभिन्नकुम्भांस्तु बहून् द्रवमाणानितस्ततः।
पतमानांश्च सम्प्रेक्ष्य वित्रेसुस्तव सैनिकाः ॥ ३५ ॥

कुम्भस्थल फट जानेके कारण इधर-उधर भागते और गिरते हुए बहुत-से हाथियोंको देखकर आपके सैनिक संत्रस्त हो उठे ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरोऽपि संक्रुद्धो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
गार्ध्रपत्रैः शितैर्बाणैर्निन्युर्वै यमसादनम् ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव भी अत्यन्त कुपित हो गीधकी पाँखोंसे युक्त पैने बाणोंद्वारा उन हाथियोंको यमलोक भेजने लगे ॥ ३६ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे पराजित्य नराधिपम्।
अपक्रान्ते तव सुते हयपृष्ठं समाश्रिते ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वा च पाण्डवान् सर्वान् कुञ्जरैः परिवारितान्।
धृष्टद्युम्नो महाराज सहसा समुपाद्रवत् ॥ ३८ ॥
पुत्रः पाञ्चालराजस्य जिघांसुः कुञ्जरान् ययौ।

उधर धृष्टद्युम्नने समराङ्गणमें राजा दुर्योधनको पराजित कर दिया था। महाराज ! जब आपका पुत्र घोड़ेकी पीठपर सवार हो वहाँसे भाग गया, तब समस्त पाण्डवोंको हाथियोंसे घिरा हुआ देखकर धृष्टद्युम्नने सहसा उस गजसेनापर धावा किया। पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्न उन हाथियोंको मार डालनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥ ३७-३८½ ॥

अदृष्ट्वा तु रथानीके दुर्योधनमरिंदमम् ॥ ३९ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः।
अपृच्छन् क्षत्रियांस्तत्र क्व नु दुर्योधनो गतः ॥ ४० ॥

इधर रथसेनामें शत्रुदमन दुर्योधनको न देखकर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्माने समस्त क्षत्रियोंसे पूछा—'राजा दुर्योधन कहाँ चले गये ? ॥३९-४०॥

तेऽपश्यमाना राजानं वर्तमाने जनक्षये।
मन्वाना निहतं तत्र तव पुत्रं महारथाः ॥ ४१ ॥
विवर्णवदना भूत्वा पर्यपृच्छन्त ते सुतम्।

वर्तमान जनसंहारमें राजाको न देखकर वे महारथी आपके पुत्रको मारा गया मान बैठे और मुँह उदास करके सबसे आपके पुत्रका पता पूछने लगे ॥ ४१½ ॥

आहुः केचिद्धते सूते प्रयातो यत्र सौबलः ॥ ४२ ॥
हित्वा पाञ्चालराजस्य तदनीकं दुरुत्सहम्।

कुछ लोगोंने कहा—'सारथिके मारे जानेपर पाञ्चालराजकी उस दुःसह सेनाको त्यागकर राजा दुर्योधन वहीं गये हैं, जहाँ शकुनि हैं' ॥ ४२½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र क्षत्रिया भृशविक्षताः ॥ ४३ ॥
दुर्योधनेन किं कार्यं द्रक्ष्यध्वं यदि जीवति।
युद्ध्यध्वं सहिताः सर्वे किं वो राजा करिष्यति ॥ ४४ ॥

दूसरे अत्यन्त घायल हुए क्षत्रिय वहाँ इस प्रकार कहने लगे—'अरे ! दुर्योधनसे यहाँ क्या काम है ? यदि वे जीवित होंगे तो तुम सब लोग उन्हें देख ही लोगे। इस समय तो सब लोग एक साथ होकर केवल युद्ध करो। राजा तुम्हारी क्या (सहायता) करेंगे' ॥ ४३-४४ ॥

ते क्षत्रियाः क्षतैर्गात्रैर्हतभूयिष्ठवाहनाः।

शरैः सम्पीड्यमानास्तु नातिव्यक्तमथाब्रुवन् ॥ ४५ ॥
इदं सर्वं बलं हन्मो येन स्म परिवारिताः ।
एते सर्वे गजान् हत्वा उपयान्ति स्म पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

वहाँ जो क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे, उनके अधिकांश वाहन नष्ट हो गये थे। शरीर क्षत-विक्षत हो रहे थे। वे बाणोंसे पीड़ित होकर कुछ अस्पष्ट वाणीमें बोले—'हमलोग जिससे घिरे हैं, इस सारी सेनाको मार डालें। ये सारे पाण्डव गज-सेनाका संहार करके हमारे समीप चले आ रहे हैं' ॥४५-४६॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषामश्वत्थामा महाबलः ।
भित्त्वा पाञ्चालराजस्य तदनीकं दुरुत्सहम् ॥ ४७ ॥
कृपश्च कृतवर्मा च प्रययौ यत्र सौबलः ।
रथानीकं परित्यज्य शूराः सुदृढधन्विनः ॥ ४८ ॥

उनकी बात सुनकर महाबली अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—ये सभी दृढ़ धनुर्धर शूरवीर पाञ्चालराजकी उस दुःसह सेनाका व्यूह तोड़कर, रथसेनाका परित्याग करके जहाँ शकुनि था, वहीं जा पहुँचे ॥ ४७-४८ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु धृष्टद्युम्नपुरस्कृताः ।
आययुः पाण्डवा राजन् विनिघ्नन्तः स्म तावकम् ॥ ४९ ॥

राजन्! उन सबके आगे बढ़ जानेपर धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव आपकी सेनाका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥

दृष्ट्वा तु तानापततः सम्प्रहृष्टान् महारथान् ।
पराक्रान्तास्ततो वीरा निराशा जीविते तदा ॥ ५० ॥

हर्ष और उत्साहमें भरे हुए उन महारथियोंको आक्रमण करते देख आपके पराक्रमी वीर उस समय जीवनसे निराश हो गये ॥ ५० ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठमभवत् तावकं बलम् ।
परिक्षीणायुधान् दृष्ट्वा तानहं परिवारितान् ॥ ५१ ॥
राजन् बलेन द्व्यङ्गेन त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
आत्मना पञ्चमोऽयुद्ध्यं पाञ्चालस्य बलेन ह ॥ ५२ ॥

आपकी सेनाके अधिकांश योद्धाओंका मुख उदास हो गया। उन सबके आयुध नष्ट हो गये थे और वे चारों ओरसे घिर गये थे। राजन्! उन सबकी वैसी अवस्था देख मैं जीवनका मोह छोड़कर अन्य चार महारथियोंको साथ ले हाथी और घोड़े दो अङ्गोंवाली सेनासे मिलकर धृष्टद्युम्नकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा ॥ ५१-५२ ॥

तस्मिन् देशे व्यवस्थाय यत्र शारद्वतः स्थितः ।
सम्प्रद्रुता वयं पञ्च किरीटिशरपीडिताः ॥ ५३ ॥
धृष्टद्युम्नं महारौद्रं तत्र नोऽभूद् रणो महान् ।
जितास्तेन वयं सर्वे व्यपयाम रणात् ततः ॥ ५४॥

मैं उसी स्थानमें स्थित होकर युद्ध कर रहा था, जहाँ कृपाचार्य मौजूद थे; परंतु किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होकर हम पाँचों वहाँसे भागकर महाभयंकर धृष्टद्युम्नके पास जा पहुँचे। वहाँ उनके साथ हमलोगोंका बड़ा भारी युद्ध हुआ। उन्होंने हम सबको परास्त कर दिया। तब हम वहाँसे भी भाग निकले ॥ ५३-५४ ॥

अथापश्यं सात्यकिं तमुपायान्तं महारथम् ।
रथैश्चतुःशतैर्वीरो मामभ्यद्रवदाहवे ॥ ५५ ॥

इतनेहीमें मैंने महारथी सात्यकिको अपने पास आते देखा। वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें चार सौ रथियोंके साथ मुझपर धावा किया ॥ ५५ ॥

धृष्टद्युम्नादहं मुक्तः कथंचिच्छ्रान्तवाहनात् ।
पतितो माधवानीकं दुष्कृती नरकं यथा ॥ ५६ ॥

थके हुए वाहनोंवाले धृष्टद्युम्नसे किसी प्रकार छूटा तो मैं सात्यकिकी सेनामें आ फँसा; जैसे कोई पापी नरकमें गिर गया हो ॥ ५६ ॥

तत्र युद्धमभूद् घोरं मुहूर्तमतिदारुणम् ।
सात्यकिस्तु महाबाहुर्मम हत्वा परिच्छदम् ॥ ५७ ॥
जीवग्राहमगृह्णान्मां मूर्छितं पतितं भुवि ।

वहाँ दो घड़ीतक बड़ा भयंकर एवं घोर युद्ध हुआ। महाबाहु सात्यकिने मेरी सारी युद्धसामग्री नष्ट कर दी और जब मैं मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब मुझे जीवित ही पकड़ लिया ॥ ५७½ ॥

ततो मुहूर्तादिव तद् गजानीकमवध्यत ॥ ५८ ॥
गदया भीमसेनेन नाराचैरर्जुनेन च ।

तदनन्तर दो ही घड़ीमें भीमसेनने गदासे और अर्जुनने नाराचोंसे उस गजसेनाका संहार कर डाला ॥ ५८½ ॥

अभिपिष्टैर्महानागैः समन्तात् पर्वतोपमैः ॥ ५९ ॥
नातिप्रसिद्धेव गतिः पाण्डवानामजायत ।

चारों ओर पर्वताकार विशालकाय हाथी पड़े थे, जो भीमसेन और अर्जुनके आघातोंसे पिस गये थे। उनके कारण पाण्डवोंका आगे बढ़ना अत्यन्त दुष्कर हो गया था ॥५९½॥

रथमार्गं ततश्चक्रे भीमसेनो महाबलः ॥ ६० ॥
पाण्डवानां महाराज व्यपाकर्षन्महागजान् ।

महाराज! तब महाबली भीमसेनने बड़े-बड़े हाथियोंको खींचकर हटाया और पाण्डवोंके लिये रथ जानेका मार्ग बनाया ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ६१ ॥
अपश्यन्तो रथानीके दुर्योधनमरिंदमम् ।
राजानं मृगयामासुस्तव पुत्रं महारथम् ॥ ६२ ॥

इधर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा—ये रथसेनामें आपके महारथी पुत्र शत्रुदमन राजा दुर्योधनको न देखकर उसकी खोज करने लगे ॥ ६१-६२ ॥

परित्यज्य च पाञ्चाल्यं प्रयाता यत्र सौबलः ।
राज्ञोऽदर्शनसंविग्ना वर्तमाने जनक्षये ॥ ६३ ॥

वे धृष्टद्युम्नका सामना करना छोड़कर जहाँ शकुनि था, वहाँ चले गये। वर्तमान नरसंहारमें राजा दुर्योधनको न देखनेके कारण वे उद्विग्न हो उठे थे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें दुर्योधनका पलायनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंका और बहुत-सी चतुरङ्गिणी सेनाका वध

संजय उवाच

गजानीके हते तस्मिन् पाण्डुपुत्रेण भारत।
वध्यमाने बले चैव भीमसेनेन संयुगे॥ १॥
चरन्तं च तथा दृष्ट्वा भीमसेनमरिंदमम्।
दण्डहस्तं यथा क्रुद्धमन्तकं प्राणहारिणम्॥ २॥
समेत्य समरे राजन् हतशेषाः सुतास्तव।
अदृश्यमाने कौरव्ये पुत्रे दुर्योधने तव॥ ३॥
सोदर्याः सहिता भूत्वा भीमसेनमुपाद्रवन्।

संजय कहते हैं—राजन्! भरतनन्दन! पाण्डुपुत्र भीमसेनके द्वारा आपकी गजसेना तथा दूसरी सेनाका भी संहार हो जानेपर जब आपका पुत्र कुरुवंशी दुर्योधन कहीं दिखायी नहीं दिया, तब मरनेसे बचे हुए आपके सभी पुत्र एक साथ हो गये और समराङ्गणमें दण्डधारी, प्राणान्तकारी यमराजके समान कुपित हुए शत्रुदमन भीमसेनको विचरते देख सब मिलकर उनपर टूट पड़े॥ १–३½॥

दुर्मर्षणः श्रुतान्तश्च जैत्रो भूरिबलो रविः॥ ४॥
जयत्सेनः सुजातश्च तथा दुर्विषहोऽरिहा।
दुर्विमोचननामा च दुष्प्रधर्षस्तथैव च॥ ५॥
श्रुतर्वा च महाबाहुः सर्वे युद्धविशारदाः।
इत्येते सहिता भूत्वा तव पुत्राः समन्ततः॥ ६॥
भीमसेनमभिद्रुत्य रुरुधुः सर्वतोदिशम्।

दुर्मर्षण, श्रुतान्त (चित्राङ्ग), जैत्र, भूरिबल (भीमबल), रवि, जयत्सेन, सुजात, दुर्विषह (दुर्विगाह), शत्रुनाशक दुर्विमोचन, दुष्प्रधर्ष (दुष्प्रधर्षण) और महाबाहु श्रुतर्वा—ये सभी आपके युद्धविशारद पुत्र एक साथ हो सब ओरसे भीमसेनपर धावा करके उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोककर खड़े हो गये॥ ४–६½॥

ततो भीमो महाराज स्वरथं पुनरास्थितः॥ ७॥
मुमोच निशितान् बाणान् पुत्राणां तव मर्मसु।

महाराज! तब भीम पुनः अपने रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्रोंके मर्मस्थानोंमें तीखे बाणोंका प्रहार करने लगे॥

ते कीर्यमाणा भीमेन पुत्रास्तव महारणे॥ ८॥
भीमसेनमपाकर्षन् प्रवणादिव कुञ्जरम्।

उस महासमरमें जब भीमसेन आपके पुत्रोंपर बाणोंका प्रहार करने लगे, तब वे भीमसेनको उसी प्रकार दूरतक खींच ले गये, जैसे शिकारी नीचे स्थानसे हाथीको खींचते हैं॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमः शिरो दुर्मर्षणस्य ह॥ ९॥
क्षुरप्रेण प्रमथ्याशु पातयामास भूतले।

तब रणभूमिमें क्रुद्ध हुए भीमसेनने एक क्षुरप्रसे दुर्मर्षण-का मस्तक शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपर काट गिराया॥ ९½॥

ततोऽपरेण भल्लेन सर्वावरणभेदिना॥ १०॥
श्रुतान्तमवधीद् भीमस्तव पुत्रं महारथः।

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले दूसरे भल्लके द्वारा महारथी भीमसेनने आपके पुत्र श्रुतान्तका अन्त कर दिया॥ १०½॥

जयत्सेनं ततो विद्ध्वा नाराचेन हसन्निव॥ ११॥
पातयामास कौरव्यं रथोपस्थादरिंदमः।

फिर हँसते-हँसते उन शत्रुदमन वीरने कुरुवंशी जयत्सेन-को नाराचसे घायल करके उसे रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया॥ ११½॥

स पपात रथाद् राजन् भूमौ तूर्णं ममार च॥ १२॥
श्रुतर्वा तु ततो भीमं क्रुद्धो विव्याध मारिष।
शतेन गृध्रवाजानां शराणां नतपर्वणाम्॥ १३॥

राजन्! जयत्सेन रथसे पृथ्वीपर गिरा और तुरंत मर गया। मान्यवर नरेश! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए श्रुतर्वाने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाणोंसे भीमसेन-को बींध डाला॥ १२-१३॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमो जैत्रं भूरिबलं रविम्।
त्रीनेतांस्त्रिभिरानर्च्छद् विषाग्निप्रतिमैः शरैः॥ १४॥

यह देख भीमसेन क्रोधसे जल उठे और उन्होंने रण-भूमिमें विष और अग्निके समान भयंकर तीन बाणोंद्वारा जैत्र, भूरिबल और रवि—इन तीनोंपर प्रहार किया॥ १४॥

ते हता न्यपतन् भूमौ स्यन्दनेभ्यो महारथाः।
वसन्ते पुष्पशबला निकृत्ता इव किंशुकाः॥ १५॥

उन बाणोंद्वारा मारे गये वे तीनों महारथी वसन्त ऋतुमें कटे हुए पुष्पयुक्त पलाशके वृक्षोंकी भाँति रथोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १५॥

ततोऽपरेण भल्लेन तीक्ष्णेन च परंतपः।
दुर्विमोचनमाहत्य प्रेषयामास मृत्यवे॥ १६॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने दूसरे तीखे भल्लसे दुर्विमोचनको मारकर मृत्युके लोकमें भेज दिया॥

स हतः प्रापतद् भूमौ स्वरथाद् रथिनां वरः।
गिरेस्तु कूटजो भग्नो मारुतेनेव पादपः॥ १७॥

रथियोंमें श्रेष्ठ दुर्विमोचन उस भल्लकी चोट खाकर अपने रथसे भूमिपर गिर पड़ा, मानो पर्वतके शिखरपर उत्पन्न हुआ वृक्ष वायुके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो॥

दुष्प्रधर्षं ततश्चैव सुजातं च सुतं तव।
एकैकं न्यहनत् संख्ये द्वाभ्यां द्वाभ्यां चमूमुखे॥ १८॥

तदनन्तर भीमसेनने आपके पुत्र दुष्प्रधर्ष और सुजातको रणक्षेत्रमें सेनाके मुहानेपर दो-दो बाणोंसे मार गिराया॥ १८॥

तौ शिलीमुखविद्धाङ्गौ पेततू रथसत्तमौ।
ततः पतन्तं समरे अभिवीक्ष्य सुतं तव॥ १९॥
भल्लेन पातयामास भीमो दुर्विषहं रणे।
स पपात हतो वाहात् पश्यतां सर्वधन्विनाम्॥ २०॥

वे दोनों महारथी वीर बाणोंसे सारा शरीर बिंध जानेके कारण रणभूमिमें गिर पड़े। तत्पश्चात् आपके पुत्र दुर्विषहको संग्राममें चढ़ाई करते देख भीमसेनने एक भल्लसे मार गिराया। उस भल्लकी चोट खाकर दुर्विषह सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते रथसे नीचे जा गिरा ॥ १९-२० ॥

दृष्ट्वा तु निहतान् भ्रातॄन् बहूनेकेन संयुगे।
अमर्षवशमापन्नः श्रुतर्वा भीमसभ्ययात् ॥ २१ ॥

युद्धस्थलमें एकमात्र भीमके द्वारा अपने बहुत-से भाइयोंको मारा गया देख श्रुतर्वा अमर्षके वशीभूत हो भीमसेनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ २१ ॥

विक्षिपन् सुमहच्चापं कार्तस्वरविभूषितम्।
विसृजन् सायकांश्चैव विषाग्निप्रतिमान् बहून् ॥ २२ ॥

वह अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको खींचकर उसके द्वारा विष और अग्निके समान भयंकर बहुतेरे बाणोंकी वर्षा कर रहा था ॥ २२ ॥

स तु राजन् धनुश्छित्त्वा पाण्डवस्य महामृधे।
अथैनं छिन्नधन्वानं विंशत्या समवाकिरत् ॥ २३ ॥

राजन्! उसने उस महासमरमें पाण्डुपुत्रके धनुषको काटकर कटे हुए धनुषवाले भीमसेनको बीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २३ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीमसेनो महाबलः।
अवाकिरत् तव सुतं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २४ ॥

तब महाबली भीमसेन दूसरा धनुष लेकर आपके पुत्रपर बाणोंकी वर्षा करने लगे और बोले—'खड़ा रह, खड़ा रह'॥

महदासीत् तयोर्युद्धं चित्ररूपं भयानकम्।
यादृशं समरे पूर्वं जम्भवासवयोर्युधि ॥ २५ ॥

उस समय उन दोनोंमें विचित्र, भयानक और महान् युद्ध होने लगा। पूर्वकालमें रणक्षेत्रमें जम्भ और इन्द्रका जैसा युद्ध हुआ था, वैसा ही उन दोनोंका भी हुआ ॥२५॥

तयोस्तत्र शितैर्मुक्तैर्यमदण्डनिभैः शरैः।
समाच्छन्ना धरा सर्वा खं दिशो विदिशस्तथा॥ २६ ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए यमदण्डके समान तीखे बाणोंसे सारी पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ आच्छादित हो गयीं ॥ २६ ॥

ततः श्रुतर्वा संक्रुद्धो धनुरादाय सायकैः।
भीमसेनं रणे राजन् बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २७ ॥

राजन्! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए श्रुतर्वाने धनुष लेकर अपने बाणोंसे रणभूमिमें भीमसेनकी दोनों भुजाओं और छातीमें प्रहार किया ॥ २७ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज तव पुत्रेण धन्विना।
भीमः संचुक्षुभे क्रुद्धः पर्वणीव महोदधिः ॥ २८ ॥

महाराज! आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा अत्यन्त घायल कर दिये जानेपर भीमसेनका क्रोध भड़क उठा और वे पूर्णिमाके दिन उमड़ते हुए महासागरके समान बहुत ही क्षुब्ध हो उठे॥

ततो भीमो रुषाविष्टः पुत्रस्य तव मारिष।
सारथिं चतुरश्चाश्वाञ्शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ २९ ॥

आर्य! फिर रोषसे आविष्ट हुए भीमसेनने अपने बाणोंद्वारा आपके पुत्रके सारथि और चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २९ ॥

विरथं तं समालक्ष्य विशिखैर्लोमवाहिभिः।
अवाकिरदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ ३० ॥

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमसेन श्रुतर्वाको रथहीन हुआ देख अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए उसके ऊपर पक्षियोंके पंखसे युक्त होकर उड़नेवाले बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

श्रुतर्वा विरथो राजन्नाददे खड्गचर्मणी।
अथास्याददतः खड्गं शतचन्द्रं च भानुमत् ॥ ३१ ॥
क्षुरप्रेण शिरः कायात् पातयामास पाण्डवः।

राजन्! रथहीन हुए श्रुतर्वाने अपने हाथोंमें ढाल और तलवार ले ली। वह सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढाल तथा अपनी प्रभासे चमकती हुई तलवार ले ही रहा था कि पाण्डुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रद्वारा उसके मस्तकको धड़से काट गिराया ॥ ३१½ ॥

छिन्नोत्तमाङ्गस्य ततः क्षुरप्रेण महात्मना ॥ ३२ ॥
पपात कायः स रथाद् वसुधामनुनादयन्।

महामनस्वी भीमसेनके क्षुरप्रसे मस्तक कट जानेपर उसका धड़ वसुधाको प्रतिध्वनित करता हुआ रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३२½ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे तावका भयमोहिताः ॥ ३३ ॥
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीमसेनं युयुत्सवः।

उस वीरके गिरते ही आपके सैनिक भयसे व्याकुल होनेपर भी संग्राममें जूझनेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर दौड़े ॥

तानापतत एवाशु हतशेषाद् बलार्णवात् ॥ ३४ ॥
दंशितान् प्रतिजग्राह भीमसेनः प्रतापवान्।

मरनेसे बचे हुए सैन्य-समूहसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक अपने ऊपर आक्रमण करते हुए उन कवचधारी योद्धाओंको प्रतापी भीमसेनने आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३४½ ॥

ते तु तं वै समासाद्य परिवव्रुः समन्ततः ॥ ३५ ॥
ततस्तु संवृतो भीमस्तावकान् निशितैः शरैः।
पीडयामास तान् सर्वान् सहस्राक्ष इवासुरान् ॥ ३६ ॥

वे योद्धा भीमसेनके पास पहुँचकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। तब जैसे इन्द्र असुरोंको नष्ट करते हैं, उसी प्रकार घिरे हुए भीमसेनने पैने बाणोंद्वारा आपके उन समस्त सैनिकोंको पीड़ित करना आरम्भ किया ॥ ३५-३६ ॥

ततः पञ्चशतान् हत्वा सवरूथान् महारथान्।
जघान कुञ्जरानीकं पुनः सप्तशतं युधि ॥ ३७ ॥
हत्वा शतसहस्राणि पत्तीनां परमेषुभिः।
वाजिनां च शतान्यष्टौ पाण्डवः स्म विराजते ॥ ३८ ॥

तदनन्तर भीमसेनने आवरणोंसहित पाँच सौ विशाल रथोंका संहार करके युद्धमें सात सौ हाथियोंकी सेनाको पुनः मार गिराया। फिर उत्तम बाणोंद्वारा एक लाख पैदलों और सवारों-

श्रीकृष्ण दुर्योधनकी ओर संकेत करते हुए उसे मारनेके लिये अर्जुनको प्रेरित कर रहे हैं

सहित आठ सौ घोड़ोंका वध करके पाण्डव भीमसेन विजयश्रीसे सुशोभित होने लगे ॥ ३७-३८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो हत्वा युद्धे सुतांस्तव ।
मेने कृतार्थमात्मानं सफलं जन्म च प्रभो ॥ ३९ ॥

प्रभो ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र भीमसेनने युद्धमें आपके पुत्रोंका विनाश करके अपने आपको कृतार्थ और जन्मको सफल हुआ समझा ॥ ३९ ॥

तं तथा युद्ध्यमानं च विनिघ्नन्तं च तावकान् ।
ईक्षितुं नोत्सहन्ते स्म तव सैन्या नराधिप ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! इस तरह युद्ध और आपके पुत्रोंका वध करते हुए भीमसेनको आपके सैनिक देखनेका भी साहस नहीं कर पाते थे ॥ ४० ॥

विद्राव्य च कुरून् सर्वांस्तांश्च हत्वा पदानुगान् ।
दोर्भ्यां शब्दं ततश्चक्रे त्रासयानो महाद्विपान् ॥ ४१ ॥

समस्त कौरवोंको भगाकर और उनके अनुगामी सैनिकोंका संहार करके भीमसेनने बड़े-बड़े हाथियोंको डराते हुए अपनी दोनों भुजाओंद्वारा ताल ठोंकनेका शब्द किया ॥४१॥

हतभूयिष्ठयोधा तु तव सेना विशाम्पते ।
किंचिच्छेषा महाराज कृपणं समपद्यत ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! महाराज ! आपकी सेनाके अधिकांश योद्धा मारे गये और बहुत थोड़े सैनिक शेष रह गये; अतः वह सेना अत्यन्त दीन हो गयी थी ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि एकादशधार्तराष्ट्रवधे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंका वधविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा सत्यकर्मा, सत्येषु तथा पैंतालीस पुत्रों और सेनासहित सुशर्माका वध तथा भीमके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्र सुदर्शनका अन्त

संजय उवाच

दुर्योधनो महाराज सुदर्शश्चापि ते सुतः ।
हतशेषौ तदा संख्ये वाजिमध्ये व्यवस्थितौ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस समय आपके पुत्र दुर्योधन और सुदर्शन ये—दो ही बच गये थे। दोनों ही घुड़सवारोंके बीचमें खड़े थे ॥ १ ॥

ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा वाजिमध्ये व्यवस्थितम् ।
उवाच देवकीपुत्रः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ २ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको घुड़सवारोंके बीचमें खड़ा देख देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीकुमार अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

शत्रवो हतभूयिष्ठा ज्ञातयः परिपालिताः ।
गृहीत्वा संजयं चासौ निवृत्तः शिनिपुङ्गवः ॥ ३ ॥
परिश्रान्तश्च नकुलः सहदेवश्च भारत ।
योधयित्वा रणे पापान् धार्तराष्ट्रान् सहानुगान्॥ ४ ॥

'भरतनन्दन ! शत्रुओंके अधिकांश योद्धा मारे गये और अपने कुटुम्बी जनोंकी रक्षा हुई । उधर देखो, वे शिनिप्रवर सात्यकि संजयको कैद करके उसे साथ लिये लौटे आ रहे हैं । रणभूमिमें सेवकोंसहित धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंसे युद्ध करके दोनों भाई नकुल और सहदेव भी बहुत थक गये हैं ॥३-४॥

दुर्योधनमभित्यज्य त्रय एते व्यवस्थिताः ।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्चैव महारथः ॥ ५ ॥

'उधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी अश्वत्थामा—ये तीनों युद्धभूमिमें दुर्योधनको छोड़कर कहीं अन्यत्र स्थित हैं ॥

असौ तिष्ठति पाञ्चाल्यः श्रिया परमया युतः ।
दुर्योधनबलं हत्वा सह सर्वैः प्रभद्रकैः ॥ ६ ॥

'इधर, सम्पूर्ण प्रभद्रकोंसहित दुर्योधनकी सेनाका संहार करके पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न अपनी सुन्दर कान्तिसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६ ॥

असौ दुर्योधनः पार्थ वाजिमध्ये व्यवस्थितः ।
छत्रेण ध्रियमाणेन प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

'पार्थ ! वह रहा दुर्योधन, जो छत्र धारण किये घुड़सवारोंके बीचमें खड़ा है और बारंबार इधर ही देख रहा है ॥

प्रतिव्यूह्य बलं सर्वं रणमध्ये व्यवस्थितः ।
एनं हत्वा शितैर्बाणैः कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ८ ॥

'वह अपनी सारी सेनाका व्यूह बनाकर युद्धभूमिमें खड़ा है । तुम इसे पैने बाणोंसे मारकर कृतकृत्य हो जाओगे ॥८॥

गजानीकं हतं दृष्ट्वा त्वां च प्राप्तमरिंदम ।
यावन्न विद्रवन्त्येते तावज्जहि सुयोधनम् ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! गजसेनाका वध और तुम्हारा आगमन हुआ देख ये कौरव-योद्धा जबतक भाग नहीं जाते तभीतक दुर्योधनको मार डालो ॥ ९ ॥

यातु कश्चित्तु पाञ्चाल्यं क्षिप्रमागम्यतामिति ।
परिश्रान्तबलस्तात नैष मुच्येत किल्बिषी ॥ १० ॥

'अपने दलका कोई पुरुष पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके पास जाय और कहे कि 'आप शीघ्रतापूर्वक चलें ।' तात ! यह पापात्मा दुर्योधन अब बच नहीं सकता, क्योंकि इसकी सारी सेना थक गयी है ॥ १० ॥

हत्वा तव बलं सर्वं संग्रामे धृतराष्ट्रजः ।
जितान् पाण्डुसुतान् मत्वा रूपं धारयते महत्॥ ११ ॥

'दुर्योधन समझता है कि 'संग्रामभूमिमें तुम्हारी सारी सेनाका संहार करके पाण्डवोंको पराजित कर दूँगा ।' इसीलिये वह अत्यन्त उग्र रूप धारण कर रहा है ॥ ११ ॥

निहतं स्वबलं दृष्ट्वा पीडितं चापि पाण्डवैः ।
ध्रुवमेष्यति संग्रामे वधायैवात्मनो नृपः ॥ १२ ॥

'परंतु अपनी सेनाको पाण्डवोंद्वारा पीड़ित एवं मारी गयी देख राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने विनाशके लिये ही युद्धस्थलमें पदार्पण करेगा' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः फाल्गुनस्तु कृष्णं वचनमब्रवीत्।
धृतराष्ट्रसुताः सर्वे हता भीमेन माधव ॥ १३ ॥
यावेतावास्थितौ कृष्ण तावद्य न भविष्यतः।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुन उनसे इस प्रकार बोले—'माधव ! धृतराष्ट्रके प्रायः सभी पुत्र भीमसेनके हाथसे मारे गये हैं। श्रीकृष्ण ! ये जो दो पुत्र खड़े हैं, इनका भी आज अन्त हो जायगा ॥ १३½ ॥

हतो भीष्मो हतो द्रोणः कर्णो वैकर्तनो हतः ॥ १४ ॥
मद्रराजो हतः शल्यो हतः कृष्ण जयद्रथः।

'श्रीकृष्ण ! भीष्म मारे जा चुके, द्रोणका भी अन्त हो गया, वैकर्तन कर्ण भी मार डाला गया, मद्रराज शल्यका भी वध हो गया और जयद्रथ भी यमलोक पहुँच गया ॥१४½॥

हयाः पञ्चशताः शिष्टाः शकुनेः सौबलस्य च ॥ १५ ॥
रथानां तु शते शिष्टे द्वे एव तु जनार्दन।
दन्तिनां च शतं साग्रं त्रिसाहस्राः पदातयः ॥ १६ ॥

'सुबलपुत्र शकुनिके पास पाँच सौ घुड़सवारोंकी सेना अभी शेष है। जनार्दन ! उसके पास दो सौ रथ, सौसे कुछ अधिक हाथी और तीन हजार पैदल सैनिक भी शेष रह गये हैं ॥ १५-१६ ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव त्रिगर्ताधिपतिस्तथा।
उलूकः शकुनिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १७ ॥
एतद् बलमभूच्छेषं धार्तराष्ट्रस्य माधव।

'माधव ! दुर्योधनकी सेनामें अश्वत्थामा, कृपाचार्य, त्रिगर्तराज सुशर्मा, उलूक, शकुनि और सात्वतवंशी कृतवर्मा— ये थोड़े-से ही वीर सैनिक शेष रह गये हैं ॥ १७½ ॥

मोक्षो न नूनं कालात् तु विद्यते भुवि कस्यचित्॥ १८ ॥
तथा विनिहते सैन्ये पश्य दुर्योधनं स्थितम्।
अद्याह्ना हि महाराजो हतामित्रो भविष्यति ॥ १९ ॥

'निश्चय ही इस पृथ्वीपर किसीको भी कालसे छुटकारा नहीं मिलता, तभी तो इस प्रकार अपनी सेनाका संहार होनेपर भी दुर्योधन युद्धके लिये खड़ा है, उसे देखिये। आजके दिन महाराज युधिष्ठिर शत्रुहीन हो जायँगे ॥ १८-१९ ॥

न हि मे मोक्ष्यते कश्चित् परेषामिह चिन्तये।
ये त्वद्य समरं कृष्ण न हास्यन्ति मदोत्कटाः ॥ २० ॥
तान् वै सर्वान् हनिष्यामि यद्यपि स्युर्न मानुषाः।

'श्रीकृष्ण ! मैं सोचता हूँ कि आज शत्रुदलका कोई भी योद्धा यहाँ मेरे हाथसे बचकर नहीं जा सकेगा । जो मदोन्मत्त वीर आज युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायँगे, उन सबको, वे मनुष्य न होकर देवता या दैत्य ही क्यों न हों, मैं मार डालूँगा ॥ २०½ ॥

अद्य युद्धे सुसंक्रुद्धो दीर्घं राज्ञः प्रजागरम् ॥ २१ ॥
अपनेष्यामि गान्धारं घातयित्वा शितैः शरैः।

'आज मैं अत्यन्त कुपित हो गान्धारराज शकुनिको पैने बाणोंसे मरवाकर राजा युधिष्ठिरके दीर्घकालीन जागरणरूपी रोगको दूर कर दूँगा ॥ २१½ ॥

निकृत्या वै दुराचारो यानि रत्नानि सौबलः ॥ २२ ॥
सभायामहरद् द्यूते पुनस्तान्याहराम्यहम्।

'दुराचारी सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें छल करके जिन रत्नोंको हर लिया था, उन सबको मैं वापस ले लूँगा ॥

अद्य ता अपि रोत्स्यन्ति सर्वा नागपुरे स्त्रियः॥ २३ ॥
श्रुत्वा पतींश्च पुत्रांश्च पाण्डवैर्निहतान् युधि।

'आज हस्तिनापुरकी वे सारी स्त्रियाँ भी युद्धमें पाण्डवोंके हाथसे अपने पतियों और पुत्रोंको मारा गया सुनकर फूट-फूटकर रोयेंगी ॥ २३½ ॥

समाप्तमद्य वै कर्म सर्वं कृष्ण भविष्यति ॥ २४ ॥
अद्य दुर्योधनो दीप्तां श्रियं प्राणांश्च मोक्ष्यति।

'श्रीकृष्ण ! आज हमलोगोंका सारा कार्य समाप्त हो जायगा। आज दुर्योधन अपनी उज्ज्वल राजलक्ष्मी और प्राणोंको भी खो बैठेगा ॥ २४½ ॥

नापयाति भयात् कृष्ण संग्रामाद् यदि चेन्मम॥ २५ ॥
निहतं विद्धि वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रं सुबालिशम्।

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि वह मेरे भयसे युद्धसे भाग न जाय, तो मेरेद्वारा उस मूढ़ दुर्योधनको आप मारा गया ही समझें ॥ २५½ ॥

मम ह्येतदशक्तं वै वाजिवृन्दमरिंदम ॥ २६ ॥
सोढुं ज्यातलनिर्घोषं याहि यावन्निहन्म्यहम्।

'शत्रुदमन ! यह घुड़सवारोंकी सेना मेरे गाण्डीव धनुष-की टङ्कारको नहीं सह सकेगी। आप घोड़े बढ़ाइये, मैं अभी इन सबको मारे डालता हूँ' ॥ २६½ ॥

एवमुक्तस्तु दाशार्हः पाण्डवेन यशस्विना ॥ २७ ॥
अचोदयद्धयान् राजन् दुर्योधनबलं प्रति।

राजन् ! यशस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुनके ऐसा कहनेपर दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने दुर्योधनकी सेनाकी ओर घोड़े बढ़ा दिये ॥ २७½ ॥

तदनीकमभिप्रेक्ष्य त्रयः सज्जा महारथाः ॥ २८ ॥
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव सहदेवश्च मारिष।
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनजिघांसया ॥ २९ ॥

मान्यवर ! उस सेनाको देखकर तीन महारथी भीमसेन, अर्जुन और सहदेव युद्ध-सामग्रीसे सुसज्जित हो दुर्योधनके वधकी इच्छासे सिंहनाद करते हुए आगे बढ़े ॥ २८-२९ ॥

तान् प्रेक्ष्य सहितान् सर्वाञ्जवेनोद्यतकार्मुकान्।
सौबलोऽभ्यद्रवद् युद्धे पाण्डवानाततायिनः ॥ ३० ॥

उन सबको बड़े वेगसे धनुष उठाये एक साथ आक्रमण करते देख सुबलपुत्र शकुनि रणभूमिमें आततायी पाण्डवोंकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

सुदर्शनस्तव सुतो भीमसेनं समभ्ययात्।
सुशर्मा शकुनिश्चैव युयुधाते किरीटिना ॥ ३१ ॥

आपका पुत्र सुदर्शन भीमका सामना करने लगा। सुशर्मा और शकुनिने किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्ध छेड़ दिया॥

सहदेवं तव सुतो हयपृष्ठगतोऽभ्ययात्।
ततो हि यत्नतः क्षिप्रं तव पुत्रो जनाधिप ॥ ३२ ॥
प्रासेन सहदेवस्य शिरसि प्राहरद् भृशम्।

नरेश्वर ! घोड़ेकी पीठपर बैठा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन सहदेवके सामने आया। उसने बड़े यत्नसे सहदेवके मस्तकपर शीघ्रतापूर्वक प्रासका प्रहार किया ॥ ३२½ ॥

सोपाविशद् रथोपस्थे तव पुत्रेण ताडितः ॥ ३३ ॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्ग आशीविष इव श्वसन्।

आपके पुत्रद्वारा ताड़ित होकर सहदेव फुफकारते हुए विषधर सर्पके समान लंबी साँस खींचते हुए रथके पिछले भागमें बैठ गये। उनका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया। ३३½।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां सहदेवो विशाम्पते ॥ ३४ ॥
दुर्योधनं शरैस्तीक्ष्णैः संक्रुद्धः समवाकिरत्।

प्रजानाथ ! थोड़ी देरमें सचेत होनेपर क्रोधमें भरे हुए सहदेव दुर्योधनपर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३४½ ॥

पार्थोऽपि युधि विक्रम्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ३५ ॥
शूराणामश्वपृष्ठेभ्यः शिरांसि निचकर्त ह।

कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी युद्धमें पराक्रम करके घोड़ोंकी पीठोंसे शूरवीरोंके मस्तक काट गिराये ॥ ३५½ ॥

तदनीकं तदा पार्थो व्यधमद् बहुभिः शरैः ॥ ३६ ॥
पातयित्वा हयान् सर्वांस्त्रिगर्तानां रथान् ययौ।

पार्थने अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घुड़सवारोंकी उस सेनाको छिन्न-भिन्न कर डाला तथा समस्त घोड़ोंको धराशायी करके त्रिगर्तदेशीय रथियोंपर चढ़ाई कर दी ॥ ३६½ ॥

ततस्ते सहिता भूत्वा त्रिगर्तानां महारथाः ॥ ३७ ॥
अर्जुनं वासुदेवं च शरवर्षैरवाकिरन्।

तब वे त्रिगर्तदेशीय महारथी एक साथ होकर अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करने लगे॥

सत्यकर्माणमाक्षिप्य क्षुरप्रेण महायशाः ॥ ३८ ॥
ततोऽस्य स्यन्दनस्येषां चिच्छिदे पाण्डुनन्दनः।
शिलाशितेन च विभो क्षुरप्रेण महायशाः ॥ ३९ ॥
शिरश्चिच्छेद सहसा तप्तकुण्डलभूषणम्।

प्रभो ! उस समय महायशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनने क्षुरप्रद्वारा सत्यकर्मापर प्रहार करके उसके रथकी ईषा (हरसा) काट डाली। तत्पश्चात् उन महायशस्वी वीरने शिलापर तेज किये हुए क्षुरप्रद्वारा उसके तपाये हुए सुवर्णके कुण्डलोंसे विभूषित मस्तकको सहसा काट लिया ॥३८-३९½॥

सत्येषुमथ चादत्त योधानां मिषतां ततः ॥ ४० ॥
यथा सिंहो वने राजन् मृगं परिबुभुक्षितः।

राजन् ! जैसे वनमें भूखा सिंह किसी मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार अर्जुनने समस्त योद्धाओंके देखते-देखते सत्येषुके भी प्राण हर लिये ॥ ४०½ ॥

तं निहत्य ततः पार्थः सुशर्माणं त्रिभिः शरैः ॥ ४१ ॥
विद्ध्वा तानहनत् सर्वान् रथान् रुक्मविभूषितान्।

सत्येषुका वध करके अर्जुनने सुशर्माको तीन बाणोंसे घायल कर दिया और उन समस्त स्वर्णभूषित रथोंका विध्वंस कर डाला ॥ ४१½ ॥

ततः प्रायात् त्वरन् पार्थो दीर्घकालं सुसंवृतम्॥ ४२ ॥
मुञ्चन् क्रोधविषं तीक्ष्णं प्रस्थलाधिपतिं प्रति।

तत्पश्चात् पार्थ अपने दीर्घकालसे संचित किये हुए तीखे क्रोधरूपी विषको प्रस्थलेश्वर सुशर्मापर छोड़नेके लिये तीव्र गतिसे आगे बढ़े ॥ ४२½ ॥

तमर्जुनः पृषत्कानां शतेन भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
पूरयित्वा ततो वाहान् प्राहरत् तस्य धन्विनः।

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुनने सौ बाणोंद्वारा उसे आच्छादित करके उस धनुर्धर वीरके घोड़ोंपर घातक प्रहार किया ।४३½।

ततः शरं समादाय यमदण्डोपमं तदा ॥ ४४ ॥
सुशर्माणं समुद्दिश्य चिक्षेपाशु हसन्निव।

इसके बाद यमदण्डके समान भयंकर बाण हाथमें लेकर सुशर्माको लक्ष्य करके हँसते हुए-से शीघ्र ही छोड़ दिया॥

स शरः प्रेषितस्तेन क्रोधदीप्तेन धन्विना ॥ ४५ ॥
सुशर्माणं समासाद्य बिभेद हृदयं रणे।

क्रोधसे तमतमाये हुए धनुर्धर अर्जुनके द्वारा चलाये गये उस बाणने सुशर्मापर चोट करके उसकी छाती छेद डाली॥

स गतासुर्महाराज पपात धरणीतले ॥ ४६ ॥
नन्दयन् पाण्डवान् सर्वान् व्यथयंश्चापि तावकान्।

महाराज ! सुशर्मा आपके पुत्रोंको व्यथित और समस्त पाण्डवोंको आनन्दित करता हुआ प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४६½ ॥

सुशर्माणं रणे हत्वा पुत्रानस्य महारथान् ॥ ४७ ॥
सप्त चाष्टौ च त्रिंशच्च सायकैरनयत् क्षयम्।

रणभूमिमें सुशर्माका वध करके अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उसके पैंतालीस महारथी पुत्रोंको भी यमलोक पहुँचा दिया॥

ततोऽस्य निशितैर्बाणैः सर्वान् हत्वा पदानुगान्॥ ४८ ॥
अभ्यगाद् भारतीं सेनां हतशेषां महारथः।

तदनन्तर पैने बाणोंद्वारा उसके सारे सेवकोंका संहार करके महारथी अर्जुनने मरनेसे बची हुई कौरवी सेनापर आक्रमण किया॥

भीमस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रं तव जनाधिप ॥ ४९ ॥
सुदर्शनमदृश्यं तं शरैश्चक्रे हसन्निव।
ततोऽस्य प्रहसन् क्रुद्धः शिरः कायादपाहरत् ॥ ५० ॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतः प्रापतद् भुवि।

जनेश्वर ! दूसरी ओर कुपित हुए भीमसेनने हँसते-हँसते बाणोंकी वर्षा करके सुदर्शनको ढक दिया। फिर क्रोधपूर्वक अट्टहास करते हुए उन्होंने उसके मस्तकको तीखे क्षुरप्रद्वारा धड़से काट लिया। सुदर्शन मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥४९-५०½॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे ततस्तस्य पदानुगाः ॥ ५१ ॥
परिवव्रू रणे भीमं किरन्तो विविधाञ्शरान्।

उस वीरके मारे जानेपर उसके सेवकोंने नाना प्रकारके

बाणोंकी वर्षा करते हुए रणभूमिमें भीमसेनको सब ओरसे घेर लिया ॥ ५१½ ॥

ततस्तु निशितैर्बाणैस्तवानीकं वृकोदरः ॥ ५२ ॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शैः समन्तात् पर्यवाकिरत् ।

तत्पश्चात् भीमसेनने इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर स्पर्शवाले तीखे बाणोंद्वारा आपकी सेनाको चारों ओरसे ढक दिया॥

ततः क्षणेन तद् भीमो न्यहनद् भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
तेषु तूत्सायमानेषु सेनाध्यक्षा महारथाः ।
भीमसेनं समासाद्य ततोऽयुद्ध्यन्त भारत ॥ ५४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद भीमसेनने क्षणभरमें आपकी सेनाका संहार कर डाला । भारत ! जब उन कौरव-सैनिकोंका संहार होने लगा, तब महारथी सेनापतिगण भीमसेनपर आक्रमण करके उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ५३-५४ ॥

स तान् सर्वाञ्शरैर्घोरैरवाकिरत पाण्डवः ।
तथैव तावका राजन् पाण्डवेयान् महारथान् ॥ ५५ ॥
शरवर्षेण महता समन्तात् पर्यवारयन् ।

राजन् ! पाण्डुपुत्र भीमने उन सबपर भयंकर बाणोंकी वृष्टि की । इसी प्रकार आपके सैनिकोंने भी बड़ी भारी बाण-वर्षा करके पाण्डव महारथियोंको सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ ५५½ ॥

व्याकुलं तदभूत् सर्वं पाण्डवानां परैः सह ॥ ५६ ॥
तावकानां च समरे पाण्डवेयैर्युयुत्सताम् ।

शत्रुओंके साथ जूझनेवाले पाण्डवोंका और पाण्डवोंके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले आपके सैनिकोंका सारा सैन्यदल समराङ्गणमें परस्पर मिलकर एक-सा हो गया ॥ ५६½ ॥

तत्र योधास्तदा पेतुः परस्परसमाहताः ।
उभयोः सेनयो राजन् संशोचन्तः स्म बान्धवान्॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ एक-दूसरेकी मार खाकर दोनों दलोंके योद्धा अपने भाई-बन्धुओंके लिये शोक करते हुए धराशायी हो जाते थे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि सुशर्मवधे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें सुशर्माका वधविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा उलूक और शकुनिका वध एवं बची हुई सेनासहित दुर्योधनका पलायन

संजय उवाच

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे गजवाजिनरक्षये ।
शकुनिः सौबलो राजन् सहदेवं समभ्ययात् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! हाथी-घोड़ों और मनुष्योंका संहार करनेवाले उस युद्धका आरम्भ होनेपर सुबलपुत्र शकुनिने सहदेवपर धावा किया ॥ १ ॥

ततोऽस्यापततस्तूर्णं सहदेवः प्रतापवान् ।
शरौघान् प्रेषयामास पतङ्गानिव शीघ्रगान् ॥ २ ॥

तब प्रतापी सहदेवने भी अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शकुनिपर तुरंत ही बहुत-से शीघ्रगामी बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, जो आकाशमें टिड्डीदलोंके समान छा रहे थे॥

उलूकश्च रणे भीमं विव्याध दशभिः शरैः ।
शकुनिश्च महाराज भीमं विद्ध्वा त्रिभिः शरैः ॥ ३ ॥
सायकानां नवत्या वै सहदेवमवाकिरत् ।

महाराज! शकुनिके साथ उलूक भी था, उसने भीमसेनको दस बाणोंसे बींध डाला । फिर शकुनिने भी तीन बाणोंसे भीमको घायल करके नब्बे बाणोंसे सहदेवको ढक दिया ॥

ते शूराः समरे राजन् समासाद्य परस्परम् ॥ ४ ॥
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैराकर्णप्रहितैः शरैः ॥ ५ ॥

राजन् ! वे शूरवीर समराङ्गणमें एक-दूसरेसे टक्कर लेकर कङ्क और मोरके-से पङ्खवाले तीखे बाणोंद्वारा परस्पर आघात-प्रत्याघात करने लगे । उनके वे बाण सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित, शिलापर साफ किये हुए और कानोंतक खींचकर छोड़े गये थे ॥ ४-५ ॥

तेषां चापभुजोत्सृष्टा शरवृष्टिर्विशाम्पते ।
आच्छादयद् दिशः सर्वा धारा इव पयोमुचः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! उन वीरोंके धनुष और बाहुबलसे छोड़े गये बाणोंकी उस वर्षाने सम्पूर्ण दिशाओंको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे मेघकी जलधारा सारी दिशाओंको ढक देती है ॥ ६ ॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमः सहदेवश्च भारत ।
चेरतुः कदनं संख्ये कुर्वन्तौ सुमहाबलौ ॥ ७ ॥

भारत ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और सहदेव दोनों महाबली वीर युद्धस्थलमें भीषण संहार मचाते हुए विचरने लगे ॥ ७ ॥

ताभ्यां शरशतैश्छन्नं तद् बलं तव भारत ।
सान्धकारमिवाकाशमभवत् तत्र तत्र ह ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंके सैकड़ों बाणोंसे ढकी हुई आपकी सेना जहाँ-तहाँ अन्धकारपूर्ण आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ८ ॥

अश्वैर्विपरिधावद्भिः शरच्छन्नैर्विशाम्पते ।
तत्र तत्र वृतो मार्गो विकर्षद्भिर्हतान् बहून् ॥ ९ ॥

प्रजानाथ ! बाणोंसे ढके हुए भागते घोड़ोंने, जो बहुत-से मरे हुए वीरोंको अपने साथ इधर-उधर खींचे लिये जाते थे, यत्र-तत्र जानेका मार्ग अवरुद्ध कर दिया ॥ ९ ॥

निहतानां हयानां च सहैव हयसादिभिः ।
वर्मभिर्विनिकृत्तैश्च प्रासैश्छिन्नैश्च मारिष ॥ १० ॥
ऋष्टिभिः शक्तिभिश्चैव सासिप्रासपरश्वधैः ।
संछन्ना पृथिवी जज्ञे कुसुमैः शबला इव ॥ ११ ॥

मान्यवर नरेश ! घुड़सवारोंसहित मारे गये घोड़ोंके शरीरों, कटे हुए कवचों, टूक-टूक हुए प्रासों, ऋष्टियों, शक्तियों, खड्गों, भालों और फरसोंसे ढकी हुई पृथ्वी बहुरंगी फूलोंसे आच्छादित हो चितकबरी हुई-सी जान पड़ती थी ॥

योधास्तत्र महाराज समासाद्य परस्परम् ।
व्यचरन्त रणे क्रुद्धा विनिघ्नन्तः परस्परम् ॥ १२ ॥

महाराज ! वहाँ रणभूमिमें कुपित हुए योद्धा एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर चोट करते हुए घूम रहे थे ॥ १२ ॥

उद्‌वृत्तनयनै रोषात् संदष्टौष्ठपुटैर्मुखैः ।
सकुण्डलैर्मही च्छन्ना पद्मकिञ्जल्कसंनिभैः ॥ १३ ॥

कमलकेसरकी-सी कान्तिवाले कुण्डलमण्डित कटे हुए मस्तकोंसे यह पृथ्वी ढक गयी थी । उनकी आँखें घूर रही थीं और उन्होंने रोषके कारण अपने ओठोंको दाँतोंसे दबा रक्खा था ॥ १३ ॥

भुजैश्छिन्नैर्महाराज नागराजकरोपमैः ।
साङ्गदैः सतनुत्रैश्च सासिप्रासपरश्वधैः ॥ १४ ॥
कबन्धैरुत्थितैश्छिन्नैर्नृत्यद्भिश्चापरैर्युधि ।
क्रव्यादगणसंछन्ना घोराभूत् पृथिवी विभो ॥ १५ ॥

महाराज ! अङ्गद, कवच, खड्ग, प्रास और फरसोंसहित कटी हुई हाथीकी सूँड़के समान भुजाओं, छिन्न-भिन्न एवं खड़े होकर नाचते हुए कबन्धों तथा अन्य लोगोंसे भरी और मांस-भक्षी जीव-जन्तुओंसे आच्छादित हुई यह पृथ्वी बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी ॥ १४-१५ ॥

अल्पावशिष्टे सैन्ये तु कौरवेयान् महाहवे ।
प्रहृष्टाः पाण्डवा भूत्वा निन्यिरे यमसादनम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस महासमरमें जब कौरवोंके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी, तब हर्ष और उत्साहमें भरकर पाण्डव वीर उन सबको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरः सौबलेयः प्रतापवान् ।
प्रासेन सहदेवस्य शिरसि प्राहरद् भृशम् ॥ १७ ॥

इसी समय प्रतापी वीर सुबलपुत्र शकुनिने अपने प्राससे सहदेवके मस्तकपर गहरी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

स विह्वलो महाराज रथोपस्थ उपाविशत् ।
सहदेवं तथा दृष्ट्वा भीमसेनः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
सर्वसैन्यानि संक्रुद्धो वारयामास भारत ।
निर्बिभेद च नाराचैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

महाराज ! उस चोटसे व्याकुल होकर सहदेव रथकी बैठकमें धम्मसे बैठ गये । उनकी वैसी अवस्था देख प्रतापी भीमसेन अत्यन्त कुपित हो उठे । भारत ! उन्होंने आपकी सारी सेनाओंको आगे बढ़नेसे रोक दिया तथा सैकड़ों और हजारों नाराचोंकी वर्षा करके उन सबको विदीर्ण कर डाला॥

विनिर्भिद्याकरोच्चैव सिंहनादमरिंदमः ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः सर्वे सहयवारणाः ॥ २० ॥
प्राद्रवन् सहसा भीताः शकुनेश्च पदानुगाः ।

शत्रुदमन भीमसेनने शत्रुसेनाको विदीर्ण करके बड़े जोर-से सिंहनाद किया । उनकी उस गर्जनासे भयभीत हो शकुनि-के पीछे चलनेवाले सारे सैनिक घोड़े और हाथियोंसहित सहसा भाग खड़े हुए ॥ २०½ ॥

प्रभग्नानथ तान् दृष्ट्वा राजा दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
निवर्तध्वमधर्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ।
इह कीर्तिं समाधाय प्रेत्य लोकान् समश्नुते ॥ २२ ॥
प्राणाञ्जहाति यो धीरो युद्धे पृष्ठमदर्शयन् ।

उन सबको भागते देख राजा दुर्योधनने इस प्रकार कहा—'अरे पापियो ! लौट आओ और युद्ध करो । भागनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जो धीर वीर रणभूमिमें पीठ न दिखाकर प्राणोंका परित्याग करता है, वह इस लोकमें अपनी कीर्ति स्थापित करके मृत्युके पश्चात् उत्तम लोकोंमें सुख भोगता है' ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सौबलस्य पदानुगाः ॥ २३ ॥
पाण्डवानभ्यवर्तन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ।

राजा दुर्योधनके ऐसा कहनेपर सुबलपुत्र शकुनिके पीछे चलनेवाले सैनिक 'अब हमें मृत्यु ही युद्धसे लौटा सकती है' ऐसा संकल्प लेकर पुनः पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ २३½ ॥

द्रवद्भिस्तत्र राजेन्द्र कृतः शब्दोऽतिदारुणः ॥ २४ ॥
क्षुब्धसागरसंकाशाः क्षुभिताः सर्वतोऽभवन् ।

राजेन्द्र ! वहाँ धावा करते समय उन सैनिकोंने बड़ा भयंकर कोलाहल मचाया । वे विक्षुब्ध समुद्रके समान क्षोभमें भरकर सब ओर छा गये ॥ २४½ ॥

तांस्तथा पुरतो दृष्ट्वा सौबलस्य पदानुगान् ॥ २५ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज पाण्डवा विजयोद्यताः ।

महाराज ! शकुनिके सेवकोंको इस प्रकार सामने आया देख विजयके लिये उद्यत हुए पाण्डव वीर आगे बढ़े ॥

प्रत्याश्वस्य च दुर्धर्षः सहदेवो विशाम्पते ॥ २६ ॥
शकुनिं दशभिर्विद्ध्वा हयांश्चास्य त्रिभिः शरैः ।
धनुश्चिच्छेद च शरैः सौबलस्य हसन्निव ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! इतनेहीमें स्वस्थ होकर दुर्धर्ष वीर सहदेवने हँसते हुए-से दस बाणोंसे शकुनिको बींध डाला और तीन बाणोंसे उसके घोड़ोंको मारकर हँसते हुए-से अनेक बाणोंद्वारा सुबलपुत्रके धनुषको भी टूक-टूक कर डाला ॥ २६-२७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय शकुनिर्युद्धदुर्मदः ।
विव्याध नकुलं षष्ट्या भीमसेनं च सप्तभिः ॥ २८ ॥

तदनन्तर दूसरा धनुष हाथमें लेकर रणदुर्मद शकुनिने नकुलको साठ और भीमसेनको सात बाणोंसे घायल कर दिया॥

उलूकोऽपि महाराज भीमं विव्याध सप्तभिः ।
सहदेवं च सप्तत्या परीप्सन् पितरं रणे ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें पिताकी रक्षा करते हुए उलूकने भीमसेनको सात और सहदेवको सत्तर बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २९ ॥

तं भीमसेनः समरे विव्याध नवभिः शरैः ।
शकुनिं च चतुःषष्ट्या पार्श्वस्थांश्च त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ३० ॥

तब भीमसेनने समराङ्गणमें नौ बाणोंसे उलूकको, चौसठ

बाणोंसे शकुनिको और तीन-तीन बाणोंसे उसके पार्श्वरक्षकोंको भी घायल कर दिया ॥ ३० ॥

ते हन्यमाना भीमेन नाराचैस्तैलपायितैः ।
सहदेवं रणे क्रुद्धाश्छादयञ्शरवृष्टिभिः ॥ ३१ ॥
पर्वतं वारिधाराभिः सविद्युत इवाम्बुदाः ।

भीमसेनके नाराचोंको तेल पिलाया गया था । उनके द्वारा भीमसेनके हाथसे मार खाये हुए शत्रु-सैनिकोंने रणभूमिमें कुपित होकर सहदेवको अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया, मानो बिजलीसहित मेघोंने जलकी धाराओंसे पर्वतको आच्छादित कर दिया हो ॥ ३१½ ॥

ततोऽस्यापततः शूरः सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥
उलूकस्य महाराज भल्लेनापाहरच्छिरः ।

महाराज ! तब प्रतापी शूरवीर सहदेवने एक भल्ल मारकर अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले उलूकका मस्तक काट डाला ॥ ३२½ ॥

स जगाम रथाद् भूमिं सहदेवेन पातितः ॥ ३३ ॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्गो नन्दयन् पाण्डवान् युधि ।

सहदेवके हाथसे मारा गया उलूक युद्धमें पाण्डवोंको आनन्दित करता हुआ रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये थे ॥ ३३½ ॥

पुत्रं तु निहतं दृष्ट्वा शकुनिस्तत्र भारत ॥ ३४ ॥
साश्रुकण्ठो विनिःश्वस्य क्षत्तुर्वाक्यमनुस्मरन् ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं स बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन् ॥ ३५ ॥

भारत ! अपने पुत्रको मारा गया देख वहाँ शकुनिका गला भर आया । वह लंबी साँस खींचकर विदुरजीकी बातोंको याद करने लगा। अपनी आँखोंमें आँसू भरकर उच्छ्वास लेता हुआ दो घड़ीतक चिन्तामें डूबा रहा ॥ ३४-३५ ॥

सहदेवं समासाद्य त्रिभिर्विव्याध सायकैः ।
तानपास्य शरान् मुक्ताञ्शरसंघैः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥
सहदेवो महाराज धनुश्चिच्छेद संयुगे ।

महाराज ! इसके बाद सहदेवके पास जाकर उसने तीन बाणोंद्वारा उनपर प्रहार किया । उसके छोड़े हुए उन बाणोंका अपने शरसमूहोंसे निवारण करके प्रतापी सहदेवने युद्धस्थलमें उसका धनुष काट डाला ॥ ३६½ ॥

छिन्ने धनुषि राजेन्द्र शकुनिः सौबलस्तदा ॥ ३७ ॥
प्रगृह्य विपुलं खड्गं सहदेवाय प्राहिणोत् ।

राजेन्द्र ! धनुष कट जानेपर उस समय सुबलपुत्र शकुनिने एक विशाल खड्ग लेकर उसे सहदेवपर दे मारा ॥३७½॥

तमापतन्तं सहसा घोररूपं विशाम्पते ॥ ३८ ॥
द्विधा चिच्छेद समरे सौबलस्य हसन्निव ।

प्रजानाथ ! शकुनिके उस घोर खड्गको सहसा आते देख समराङ्गणमें सहदेवने हँसते हुए-से उसके दो टुकड़े कर डाले॥

असिं दृष्ट्वा तथा च्छिन्नं प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ३९ ॥
प्राहिणोत् सहदेवाय सा मोघा न्यपतद् भुवि ।

उस खड्गको कटा हुआ देख शकुनिने सहदेवपर एक विशाल गदा चलायी; परंतु वह विफल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३९½ ॥

ततः शक्तिं महाघोरां कालरात्रिमिवोद्यताम् ॥ ४० ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धः पाण्डवं प्रति सौबलः ।

यह देख सुबलपुत्र क्रोधसे जल उठा । अबकी बार उसने उठी हुई कालरात्रिके समान एक महाभयंकर शक्ति सहदेवको लक्ष्य करके चलायी ॥ ४०½ ॥

तामापतन्तीं सहसा शरैः कनकभूषणैः ॥ ४१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे सहदेवो हसन्निव ।

अपने ऊपर आती हुई उस शक्तिको सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा मारकर सहदेवने समराङ्गणमें हँसते हुए-से सहसा उसके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ४१½ ॥

सा पपात त्रिधा च्छिन्ना भूमौ कनकभूषणा ॥ ४२ ॥
शीर्यमाणा यथा दीप्ता गगनाद् वै शतह्रदा ।

तीन टुकड़ोंमें कटी हुई वह सुवर्णभूषित शक्ति आकाशसे गिरनेवाली चमकीली बिजलीके समान पृथ्वीपर बिखर गयी॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा सौबलं च भयार्दितम् ॥ ४३ ॥
दुद्रुवुस्तावकाः सर्वे भये जाते ससौबलाः ।

उस शक्तिको नष्ट हुई देख और सुबलपुत्र शकुनिको भी भयसे पीड़ित जान आपके सभी सैनिक भयभीत हो शकुनिसहित वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ४३½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महच्चासीत् पाण्डवैर्जितकाशिभिः ॥ ४४ ॥
धार्तराष्ट्रास्ततः सर्वे प्रायशो विमुखाभवन् ।

उस समय विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया । इससे आपके सभी सैनिक प्रायः युद्धसे विमुख हो गये ॥ ४४½ ॥

तान् वै विमनसो दृष्ट्वा माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास संयुगे ।

उन सबको युद्धसे उदासीन देख प्रतापी माद्रीकुमार सहदेवने अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा करके उन्हें युद्धस्थलमें ही रोक दिया ॥ ४५½ ॥

ततो गान्धारकैर्गुप्तं पुष्टैरश्वैर्जये धृतम् ॥ ४६ ॥
आससाद रणे यान्तं सहदेवोऽथ सौबलम् ।

इसके बाद गान्धारदेशके हृष्टपुष्ट घोड़ों और घुड़सवारोंसे सुरक्षित तथा विजयके लिये दृढ़संकल्प होकर रणभूमिमें जाते हुए सुबलपुत्र शकुनिपर सहदेवने आक्रमण किया ॥

स्वमंशमवशिष्टं तं संस्मृत्य शकुनिं नृप ॥ ४७ ॥
रथेन काञ्चनाङ्गेन सहदेवः समभ्ययात् ।

नरेश्वर ! शकुनिको अपना अवशिष्ट भाग मानकर सहदेवने सुवर्णमय अङ्गोंवाले रथके द्वारा उसका पीछा किया ॥

अधिज्यं बलवत् कृत्वा व्याक्षिपन् सुमहद् धनुः ॥४८॥
स सौबलमभिद्रुत्य गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भृशमभ्यहनत् क्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ ४९ ॥

उन्होंने एक विशाल धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शिलापर तेज किये हुए गीधके पंखोंवाले बाणोंद्वारा शकुनिपर

आक्रमण किया और जैसे किसी विशाल गजराजको अङ्कुशोंसे मारा जाय; उसी प्रकार कुपित हो उसको गहरी चोट पहुँचायी॥

उवाच चैनं मेधावी विगृह्य स्मारयन्निव ।
क्षत्रधर्मे स्थिरो भूत्वा युध्यस्व पुरुषो भव ॥ ५० ॥
यत् तदा हृष्यसे मूढ ग्लहन्नक्षैः सभातले ।
फलमद्य प्रपश्यस्व कर्मणस्तस्य दुर्मते ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् सहदेवने उसपर आक्रमण करके कुछ याद दिलाते हुए-से इस प्रकार कहा—'ओ मूढ़ ! क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्ध कर और पुरुष बन। खोटी बुद्धिवाले शकुनि ! तू सभामें पासे फेंककर जूआ खेलते समय जो उस दिन बहुत खुश हो रहा था, आज उस दुष्कर्मका महान् फल प्राप्त कर ले ॥ ५०-५१ ॥

निहतास्ते दुरात्मानो येऽस्मानवहसन् पुरा ।
दुर्योधनः कुलाङ्गारः शिष्टस्त्वं चास्य मातुलः ॥ ५२ ॥
अद्य ते निहनिष्यामि क्षुरेणोन्मथितं शिरः ।
वृक्षात् फलमिवाविद्धं लगुडेन प्रमाथिना ॥ ५३ ॥

'जिन दुरात्माओंने पूर्वकालमें हमलोगोंकी हँसी उड़ायी थी, वे सब मारे गये। अब केवल कुलाङ्गार दुर्योधन और उसका मामा तू—ये दो ही बच गये हैं। जैसे मथ डालनेवाले डंडेसे मारकर पेड़से फल तोड़ लिया जाता है, उसी प्रकार आज मैं क्षुरके द्वारा तेरा मस्तक काटकर तुझे मौतके हवाले कर दूँगा' ॥ ५२-५३ ॥

एवमुक्त्वा महाराज सहदेवो महाबलः ।
संक्रुद्धो रणशार्दूलो वेगेनाभिजगाम तम् ॥ ५४ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर रणक्षेत्रमें सिंहके समान पराक्रम दिखानेवाले महाबली सहदेवने अत्यन्त कुपित हो बड़े वेगसे उसपर आक्रमण किया ॥ ५४ ॥

अभिगम्य सुदुर्धर्षः सहदेवो युधां पतिः ।
विकृष्य बलवच्चापं क्रोधेन प्रज्वलन्निव ॥ ५५ ॥
शकुनिं दशभिर्विद्ध्वा चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ।
छत्रं ध्वजं धनुश्चास्य च्छित्त्वा सिंह इवानदत् ॥ ५६ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव अत्यन्त दुर्जय वीर हैं। उन्होंने क्रोधसे जलते हुए-से पास जाकर अपने धनुषको बलपूर्वक खींचा और दस बाणोंसे शकुनिको घायल करके चार बाणोंसे उसके घोड़ोंको भी बींध डाला। तत्पश्चात् उसके छत्र, ध्वज और धनुषको भी काटकर सिंहके समान गर्जना की॥५५-५६॥

छिन्नध्वजधनुश्छत्रः सहदेवेन सौबलः ।
कृतो विद्धश्च बहुभिः सर्वमर्मसु सायकैः ॥ ५७ ॥

सहदेवने शकुनिके ध्वज, छत्र और धनुषको काट देनेके पश्चात् उसके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥

ततो भूयो महाराज सहदेवः प्रतापवान् ।
शकुनेः प्रेषयामास शरवृष्टिं दुरासदाम् ॥ ५८ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् प्रतापी सहदेवने पुनः शकुनिपर दुर्जय बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ५८ ॥

ततस्तु क्रुद्धः सुबलस्य पुत्रो
माद्रीसुतं सहदेवं विमर्दे ।
प्रासेन जाम्बूनदभूषणेन
जिघांसुरेकोऽभिपपात शीघ्रम् ॥ ५९ ॥

इससे सुबलपुत्र शकुनिको बड़ा क्रोध हुआ। उसने उस संग्राममें माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित प्रासके द्वारा मार डालनेकी इच्छासे अकेले ही उनपर तीव्र गतिसे आक्रमण किया॥

माद्रीसुतस्तस्य समुद्यतं तं
प्रासं सुवृत्तौ च भुजौ रणाग्रे ।
भल्लैस्त्रिभिर्युगपत् संचकर्त
ननाद चोच्चैस्तरसाऽऽजिमध्ये ॥ ६० ॥

माद्रीकुमारने शकुनिके उस उठे हुए प्रासको और उसकी दोनों सुन्दर गोल-गोल भुजाओंको भी युद्धके मुहानेपर तीन भल्लोंद्वारा एक साथ ही काट डाला और युद्धस्थलमें उच्चस्वरसे वेगपूर्वक गर्जना की ॥ ६० ॥

तस्याशुकारी सुसमाहितेन
सुवर्णपुङ्खेन दृढायसेन ।
भल्लेन सर्वावरणातिगेन
शिरः शरीरात् प्रममाथ भूयः ॥ ६१ ॥

तत्पश्चात् शीघ्रता करनेवाले सहदेवने अच्छी तरह संधान करके छोड़े गये सुवर्णमय पंखवाले लोहेके बने हुए सुदृढ़ भल्लके द्वारा, जो समस्त आवरणोंको छेद डालनेवाला था, शकुनिके मस्तकको पुनः धड़से काट गिराया ॥ ६१ ॥

शरेण कार्तस्वरभूषितेन
दिवाकराभेण सुसंहितेन ।
हृतोत्तमाङ्गो युधि पाण्डवेन
पपात भूमौ सुबलस्य पुत्रः ॥ ६२ ॥

वह सुवर्णभूषित बाण सूर्यके समान तेजस्वी तथा अच्छी तरह संधान करके चलाया गया था। उसके द्वारा पाण्डुकुमार सहदेवने युद्धस्थलमें जब सुबलपुत्र शकुनिका मस्तक काट डाला, तब वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

स तच्छिरो वेगवता शरेण
सुवर्णपुङ्खेन शिलाशितेन ।
प्रावेरयत् कुपितः पाण्डुपुत्रो
यत्तत् कुरूणामनयस्य मूलम् ॥ ६३ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुपुत्र सहदेवने शिलापर तेज किये हुए और सुवर्णमय पंखवाले वेगवान् बाणसे शकुनिके उस मस्तकको काट गिराया, जो कौरवोंके अन्यायका मूल कारण था॥

भुजौ सुवृत्तौ प्रचकर्त वीरः
पश्चात् कबन्धं रुधिरावसिक्तम् ।
विस्पन्दमानं निपपात घोरं
रथोत्तमात् पार्थिव पार्थिवस्य ॥ ६४ ॥

राजन् ! वीर सहदेवने जब उसकी गोल-गोल सुन्दर दोनों भुजाएँ काट दीं, उसके पश्चात् राजा शकुनिका भयंकर धड़ लहूलुहान होकर श्रेष्ठ रथसे नीचे गिर पड़ा और छटपटाने लगा॥

हृतोत्तमाङ्गं शकुनिं समीक्ष्य
भूमौ शयानं रुधिरार्द्रगात्रम् ।

योधास्त्वदीया भयनष्टसत्त्वा
दिशः प्रजग्मुः प्रगृहीतशस्त्राः ॥ ६५ ॥

शकुनिको मस्तकसे रहित एवं खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख आपके योद्धा भयके कारण अपना धैर्य खो बैठे और हथियार लिये हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥

प्रविद्रुताः शुष्कमुखा विसंज्ञा
गाण्डीवघोषेण समाहताश्च ।
भयार्दिता भग्नरथाश्वनागाः
पदातयश्चैव सधार्तराष्ट्राः ॥ ६६ ॥

उनके मुख सूख गये थे । उनकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी । वे गाण्डीवकी टंकारसे मृतप्राय हो रहे थे; उनके रथ, घोड़े और हाथी नष्ट हो गये थे; अतः वे भयसे पीड़ित हो आपके पुत्र दुर्योधनसहित पैदल ही भाग चले ॥ ६६ ॥

ततो रथाच्छकुनिं पातयित्वा
मुदान्विता भारत पाण्डवेयाः ।
शङ्खान् प्रदध्मुः समरेऽतिहृष्टाः
सकेशवाः सैनिकान् हर्षयन्तः ॥ ६७ ॥

भरतनन्दन ! रथसे शकुनिको गिराकर समराङ्गणमें श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव अत्यन्त हर्षमें भरकर सैनिकोंका हर्ष बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक शङ्खनाद करने लगे ॥ ६७ ॥

तं चापि सर्वे- प्रतिपूजयन्तो
हृष्टा ब्रुवाणाः सहदेवमाजौ ।
दिष्ट्या हतो नैकृतिको महात्मा
सहात्मजो वीर रणे त्वयेति ॥ ६८ ॥

सहदेवको देखकर युद्धक्षेत्रमें सब लोग उनकी पूजा (प्रशंसा) करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'वीर ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने रणभूमिमें कपटद्यूतके विधायक महामना शकुनिको पुत्रसहित मार डाला है' ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शकुन्युलूकवधेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शकुनि और उलूकका वधविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(ह्रदप्रवेशपर्व)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

बची हुई समस्त कौरवसेनाका वध, संजयका कैदसे छूटना, दुर्योधनका सरोवरमें प्रवेश तथा युयुत्सुका राजमहिलाओंके साथ हस्तिनापुरमें जाना

संजय उवाच

ततः क्रुद्धा महाराज सौबलस्य पदानुगाः ।
त्यक्त्वा जीवितमाक्रन्दे पाण्डवान् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शकुनिके अनुचर क्रोधमें भर गये और प्राणोंका मोह छोड़कर उन्होंने उस महासमरमें पाण्डवोंको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

तानर्जुनः प्रत्यगृह्णात् सहदेवजये धृतः ।
भीमसेनश्च तेजस्वी क्रुद्धाशीविषदर्शनः ॥ २ ॥

उस समय सहदेवकी विजयको सुरक्षित रखनेका दृढ़ निश्चय लेकर अर्जुनने उन समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोका । उनके साथ तेजस्वी भीमसेन भी थे, जो कुपित हुए विषधर सर्पके समान दिखायी देते थे ॥ २ ॥

शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां सहदेवं जिघांसताम् ।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३ ॥

सहदेवको मारनेकी इच्छासे शक्ति, ऋष्टि और प्रास हाथमें लेकर आक्रमण करनेवाले उन समस्त योद्धाओंका संकल्प अर्जुनने गाण्डीव धनुषके द्वारा व्यर्थ कर दिया ॥ ३ ॥

संगृहीतायुधान् बाहून् योधानामभिधावताम् ।
भल्लैश्चिच्छेद बीभत्सुः शिरांस्यपि हयानपि ॥ ४ ॥

सहदेवपर धावा करनेवाले उन योद्धाओंकी अस्त्र-शस्त्र-युक्त भुजाओं, मस्तकों और उनके घोड़ोंको भी अर्जुनने भल्लोंसे काट गिराया ॥ ४ ॥

ते हयाः प्रत्यपद्यन्त वसुधां विगतासवः ।
चरता लोकवीरेण प्रहताः सव्यसाचिना ॥ ५ ॥

रणभूमिमें विचरते हुए विश्वविख्यात वीर सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे गये वे घोड़े और घुड़सवार प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा स्वबलसंक्षयम् ।
हतशेषान् समानीय क्रुद्धो रथगणान् बहून् ॥ ६ ॥
कुञ्जरांश्च हयांश्चैव पादातांश्च समन्ततः ।
उवाच सहितान् सर्वान् धार्तराष्ट्र इदं वचः ॥ ७ ॥

अपनी सेनाका इस प्रकार संहार होता देख राजा दुर्योधन-को बड़ा क्रोध हुआ । उसने मरनेसे बचे हुए बहुत-से रथियों, हाथीसवारों, घुड़सवारों और पैदलोंको सब ओरसे एकत्र करके उन सबसे इस प्रकार कहा—॥ ६-७ ॥

समासाद्य रणे सर्वान् पाण्डवान् ससुहृद्गणान् ।
पाञ्चाल्यं चापि सबलं हत्वा शीघ्रं न्यवर्तत ॥ ८ ॥

'वीरो ! तुम सब लोग रणभूमिमें समस्त पाण्डवों तथा उनके मित्रोंसे भिड़कर उन्हें मार डालो और पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नका भी सेनासहित संहार करके शीघ्र लौट आओ' ॥

तस्य ते शिरसा गृह्य वचनं युद्धदुर्मदाः ।
अभ्युद्ययू रणे पार्थांस्तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥

राजन् ! आपके पुत्रकी आज्ञासे उसके उस वचनको शिरोधार्य करके वे रणदुर्मद योद्धा युद्धके लिये आगे बढ़े ॥

तानभ्यापततः शीघ्रं हतशेषान् महारणे ।
शरैराशीविषाकारैः पाण्डवाः समवाकिरन् ॥ १० ॥

उस महासमरमें शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करनेवाले मरनेसे बचे हुए उन सैनिकोंपर समस्त पाण्डवोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १० ॥

तत् सैन्यं भरतश्रेष्ठ मुहूर्तेन महात्मभिः।
अवध्यत रणं प्राप्य त्रातारं नाभ्यविन्दत ॥ ११ ॥
प्रतिष्ठमानं तु भयान्नावतिष्ठति दंशितम्।

भरतश्रेष्ठ ! वह सेना युद्धस्थलमें आकर महात्मा पाण्डवों-द्वारा दो ही घड़ीमें मार डाली गयी। उस समय उसे कोई भी अपना रक्षक नहीं मिला। वह युद्धके लिये कवच बाँधकर प्रस्थित तो हुई, किंतु भयके मारे वहाँ टिक न सकी ॥११½॥

अश्वैर्विपरिधावद्भिः सैन्येन रजसा वृते ॥ १२ ॥
न प्राज्ञायन्त समरे दिशः सप्रदिशस्तथा।

चारों ओर दौड़ते हुए घोड़ों तथा सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे वहाँका सारा प्रदेश छा गया था। अतः समरभूमिमें दिशाओं तथा विदिशाओंका कुछ पता नहीं चलता था॥१२½॥

ततस्तु पाण्डवानीकान्निःसृत्य बहवो जनाः ॥ १३ ॥
अभ्यघ्नंस्तावकान् युद्धे मुहूर्तादिव भारत।
ततो निःशेषमभवत् तत् सैन्यं तव भारत ॥ १४ ॥

भारत ! पाण्डवसेनासे बहुत-से सैनिकोंने निकलकर युद्धमें एक ही मुहूर्तके भीतर आपके सम्पूर्ण योद्धाओंका संहार कर डाला। भरतनन्दन ! उस समय आपकी वह सेना सर्वथा नष्ट हो गयी। उसमेंसे एक भी योद्धा बच न सका ॥

अक्षौहिण्यः समेतास्तु तव पुत्रस्य भारत।
एकादश हता युद्धे ताः प्रभो पाण्डुसृञ्जयैः ॥ १५ ॥

प्रभो ! भरतवंशी नरेश ! आपके पुत्रके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं; परंतु युद्धमें पाण्डवों और सृंजयोंने उन सबका विनाश कर डाला ॥ १५ ॥

तेषु राजसहस्रेषु तावकेषु महात्मसु।
एको दुर्योधनो राजन्नदृश्यत भृशं क्षतः ॥ १६ ॥

राजन् ! आपके दलके उन सहस्रों महामनस्वी राजाओंमें एकमात्र दुर्योधन ही उस समय दिखायी देता था; परंतु वह भी बहुत घायल हो चुका था ॥ १६ ॥

ततो वीक्ष्य दिशः सर्वा दृष्ट्वा शून्यां च मेदिनीम्।
विहीनः सर्वयोधैश्च पाण्डवान् वीक्ष्य संयुगे ॥ १७ ॥
मुदितान् सर्वतः सिद्धान् नर्दमानान् समन्ततः।
बाणशब्दरवांश्चैव श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ॥ १८ ॥
दुर्योधनो महाराज कश्मलेनाभिसंवृतः।
अपयाने मनश्चक्रे विहीनबलवाहनः ॥ १९ ॥

उस समय उसे सम्पूर्ण दिशाएँ और सारी पृथ्वी सूनी दिखायी दी। वह अपने समस्त योद्धाओंसे हीन हो चुका था। महाराज ! दुर्योधनने युद्धस्थलमें पाण्डवोंको सर्वथा प्रसन्न, सफलमनोरथ और सब ओरसे सिंहनाद करते देख तथा उन महामनस्वी वीरोंके बाणोंकी सनसनाहट सुनकर शोकसे संतप्त हो वहाँसे भाग जानेका विचार किया। उसके पास न तो सेना थी और न कोई सवारी ही ॥ १७—१९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

निहते मामके सैन्ये निःशेषे शिबिरे कृते।
पाण्डवानां बले सूत किं नु शेषमभूत् तदा ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत ! जब मेरी सेना मार डाली गयी और सारी छावनी सूनी कर दी गयी, उस समय पाण्डवोंकी सेनामें कितने सैनिक शेष रह गये थे ? ॥ २० ॥

एतन्मे पृच्छतो ब्रूहि कुशलो ह्यसि संजय।
यच्च दुर्योधनो मन्दः कृतवांस्तनयो मम ॥ २१ ॥
बलक्षयं तथा दृष्ट्वा स एकः पृथिवीपतिः।

संजय ! मैं यह बात पूछ रहा हूँ, तुम मुझे बताओ; क्योंकि यह सब बतानेमें तुम कुशल हो। अपनी सेनाका संहार हुआ देखकर अकेले बचे हुए मेरे मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधनने क्या किया ? ॥ २१½ ॥

संजय उवाच

रथानां द्वे सहस्रे तु सप्त नागशतानि च ॥ २२ ॥
पञ्च चाश्वसहस्राणि पत्तीनां च शतं शताः।
एतच्छेषमभूद् राजन् पाण्डवानां महद् बलम् ॥ २३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! पाण्डवोंकी विशाल सेनामेंसे केवल दो हजार रथ, सात सौ हाथी, पाँच हजार घोड़े और दस हजार पैदल बच गये थे ॥ २२-२३ ॥

परिगृह्य हि यद् युद्धे धृष्टद्युम्नो व्यवस्थितः।
एकाकी भरतश्रेष्ठ ततो दुर्योधनो नृपः ॥ २४ ॥

इन सबको साथ लेकर सेनापति धृष्टद्युम्न युद्धभूमिमें खड़े थे। उधर राजा दुर्योधन अकेला हो गया था ॥ २४ ॥

नापश्यत् समरे कंचित् सहायं रथिनां वरः।
नर्दमानान् परान् दृष्ट्वा स्वबलस्य च संक्षयम् ॥ २५ ॥
तथा दृष्ट्वा महाराज एकः स पृथिवीपतिः।
हतं स्वहयमुत्सृज्य प्राङ्मुखः प्राद्रवद् भयात् ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ दुर्योधनने जब समरभूमिमें अपने किसी सहायकको न देखकर शत्रुओंको गर्जते देखा और अपनी सेनाके विनाशपर दृष्टिपात किया, तब वह अकेला भूपाल अपने मरे हुए घोड़ेको वहीं छोड़कर भयके मारे पूर्व दिशाकी ओर भाग चला ॥ २५-२६ ॥

एकादशचमूभर्ता पुत्रो दुर्योधनस्तव।
गदामादाय तेजस्वी पदातिः प्रस्थितो ह्रदम् ॥ २७ ॥

जो किसी समय ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका सेनापति था, वही आपका तेजस्वी पुत्र दुर्योधन अब गदा लेकर पैदल ही सरोवरकी ओर भागा जा रहा था ॥ २७ ॥

नातिदूरं ततो गत्वा पद्भ्यामेव नराधिपः।
सस्मार वचनं क्षत्तुर्धर्मशीलस्य धीमतः ॥ २८ ॥

अपने पैरोंसे ही थोड़ी ही दूर जानेके पश्चात् राजा दुर्योधनको धर्मशील बुद्धिमान् विदुरजीकी कही हुई बातें याद आने लगीं ॥ २८ ॥

इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा।
महद् वैशसमस्माकं क्षत्रियाणां च संयुगे ॥ २९ ॥

वह मन-ही-मन सोचने लगा कि हमारा और इन क्षत्रियोंका जो महान् संहार हुआ है, इसे महाज्ञानी विदुरजीने अवश्य पहले ही देख और समझ लिया था ॥ २९ ॥

एवं विचिन्तयानस्तु प्रविविक्षुर्ह्रदं नृपः ।
दुःखसंतप्तहृदयो दृष्ट्वा राजन् बलक्षयम् ॥ ३० ॥

राजन् ! अपनी सेनाका संहार देखकर इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजा दुर्योधनका हृदय दुःख और शोकसे संतप्त हो उठा था । उसने सरोवरमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥

पाण्डवास्तु महाराज धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धास्तव राजन् बलं प्रति ॥ ३१ ॥
शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां बलानामभिगर्जताम् ।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३२ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवोंने अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेनापर धावा किया था तथा शक्ति, ऋष्टि और प्रास हाथमें लेकर गर्जना करनेवाले आपके योद्धाओंका सारा संकल्प अर्जुनने अपने गाण्डीव धनुषसे व्यर्थ कर दिया था ॥

तान् हत्वा निशितैर्बाणैः सामात्यान् सह बन्धुभिः ।
रथे श्वेतहये तिष्ठन्नर्जुनो बह्वशोभत ॥ ३३ ॥

अपने पैने बाणोंसे बन्धुओं और मन्त्रियोंसहित उन योद्धाओंका संहार करके श्वेत घोड़ोंवाले रथपर स्थित हुए अर्जुनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३३ ॥

सुबलस्य हते पुत्रे सवाजिरथकुञ्जरे ।
महावनमिव च्छिन्नमभवत् तावकं बलम् ॥ ३४ ॥

घोड़े, रथ और हाथियोंसहित सुबलपुत्रके मारे जानेपर आपकी सेना कटे हुए विशाल वनके समान प्रतीत होती थी ॥

अनेकशतसाहस्रे बले दुर्योधनस्य ह ।
नान्यो महारथो राजन् जीवमानो व्यदृश्यत ॥ ३५ ॥
द्रोणपुत्रादृते वीरात् तथैव कृतवर्मणः ।
कृपाच्च गौतमाद् राजन् पार्थिवाच्च तवात्मजात् ॥ ३६ ॥

राजन् ! दुर्योधनकी कई लाख सेनामेंसे द्रोणपुत्र वीर अश्वत्थामा, कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य तथा आपके पुत्र राजा दुर्योधनके अतिरिक्त दूसरा कोई महारथी जीवित नहीं दिखायी देता था ॥ ३५-३६ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु मां दृष्ट्वा हसन् सात्यकिमब्रवीत् ।
किमनेन गृहीतेन नानेनार्थोऽस्ति जीवता ॥ ३७ ॥

उस समय मुझे कैदमें पड़ा हुआ देखकर हँसते हुए धृष्टद्युम्नने सात्यकिसे कहा—'इसको कैद करके क्या करना है ? इसके जीवित रहनेसे अपना कोई लाभ नहीं है' ॥ ३७ ॥

धृष्टद्युम्नवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता महारथः ।
उद्यम्य निशितं खड्गं हन्तुं मामुद्यतस्तदा ॥ ३८ ॥

धृष्टद्युम्नकी बात सुनकर शिनिपौत्र महारथी सात्यकि तीखी तलवार उठाकर उसी क्षण मुझे मार डालनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ३८ ॥

तमागम्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
मुच्यतां संजयो जीवन्न हन्तव्यः कथंचन ॥ ३९ ॥

उस समय महाज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी सहसा आकर बोले—'संजयको जीवित छोड़ दो । यह किसी प्रकार वधके योग्य नहीं है' ॥ ३९ ॥

द्वैपायनवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता कृताञ्जलिः ।
ततो मामब्रवीन्मुक्त्वा स्वस्ति संजय साधय ॥ ४० ॥

हाथ जोड़े हुए शिनिपौत्र सात्यकिने व्यासजीकी वह बात सुनकर मुझे कैदसे मुक्त करके कहा—'संजय ! तुम्हारा कल्याण हो । जाओ, अपना अभीष्ट साधन करो' ॥ ४० ॥

अनुज्ञातस्त्वहं तेन न्यस्तवर्मा निरायुधः ।
प्रातिष्ठं येन नगरं सायाह्ने रुधिरोक्षितः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मैंने कवच उतार दिया और अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित हो सायंकालके समय नगरकी ओर प्रस्थित हुआ । उस समय मेरा सारा शरीर रक्तसे भीगा हुआ था ॥

क्रोशमात्रमपक्रान्तं गदापाणिमवस्थितम् ।
एकं दुर्योधनं राजन्नपश्यं भृशविक्षतम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! एक कोस आनेपर मैंने भागे हुए दुर्योधनको गदा हाथमें लिये अकेला खड़ा देखा । उसके शरीरपर बहुत-से घाव हो गये थे ॥ ४२ ॥

स तु मामश्रुपूर्णाक्षो नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ।
उपप्रैक्षत मां दृष्ट्वा तथा दीनमवस्थितम् ॥ ४३ ॥

मुझपर दृष्टि पड़ते ही उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वह अच्छी तरह मेरी ओर देख न सका । मैं उस समय दीन भावसे खड़ा था । वह मेरी उस अवस्थापर दृष्टिपात करता रहा ॥ ४३ ॥

तं चाहमपि शोचन्तं दृष्ट्वैकाकिनमाहवे ।
मुहूर्तं नाशकं वक्तुमतिदुःखपरिप्लुतः ॥ ४४ ॥

मैं भी युद्धक्षेत्रमें अकेले शोकमग्न हुए दुर्योधनको देखकर अत्यन्त दुःखशोकमें डूब गया और दो घड़ीतक कोई बात मुँहसे न निकाल सका ॥ ४४ ॥

(यस्य मूर्धाभिषिक्तानां सहस्रं मणिमौलिनाम् ।
आहृत्य च करं सर्वे स्वस्य वै वशमागतम् ॥
चतुःसागरपर्यन्ता पृथिवी रत्नभूषिता ।
कर्णेनैकेन यस्यार्थे करमाहारिता पुरा ॥
यस्याज्ञा परराष्ट्रेषु कर्णेनैव प्रसारिता ।
नाभवद् यस्य शस्त्रेषु खेदो राज्ञः प्रशासतः ॥
आसीनो हास्तिनपुरे क्षेमं राज्यमकण्टकम् ।
अन्वपालयदैश्वर्यात् कुबेरमपि नास्मरत् ॥
भवनाद् भवनं राजन् प्रयातुः पृथिवीपते ।
देवालयप्रवेशे च पन्था यस्य हिरण्मयः ॥
आरुह्यैरावतप्रख्यं नागमिन्द्रसमो बली ।
विभूत्या सुमहत्या यः प्रयाति पृथिवीपतिः ॥
तं भृशक्षतमिन्द्राभं पद्भ्यामेव धरातले ।
तिष्ठन्तमेकं दृष्ट्वा तु ममाभूत् क्लेश उत्तमः ॥
तस्य चैवंविधस्यास्य जगन्नाथस्य भूपतेः ।
विपदप्रतिमाभूद् या बलीयान् विधिरेव हि ॥)

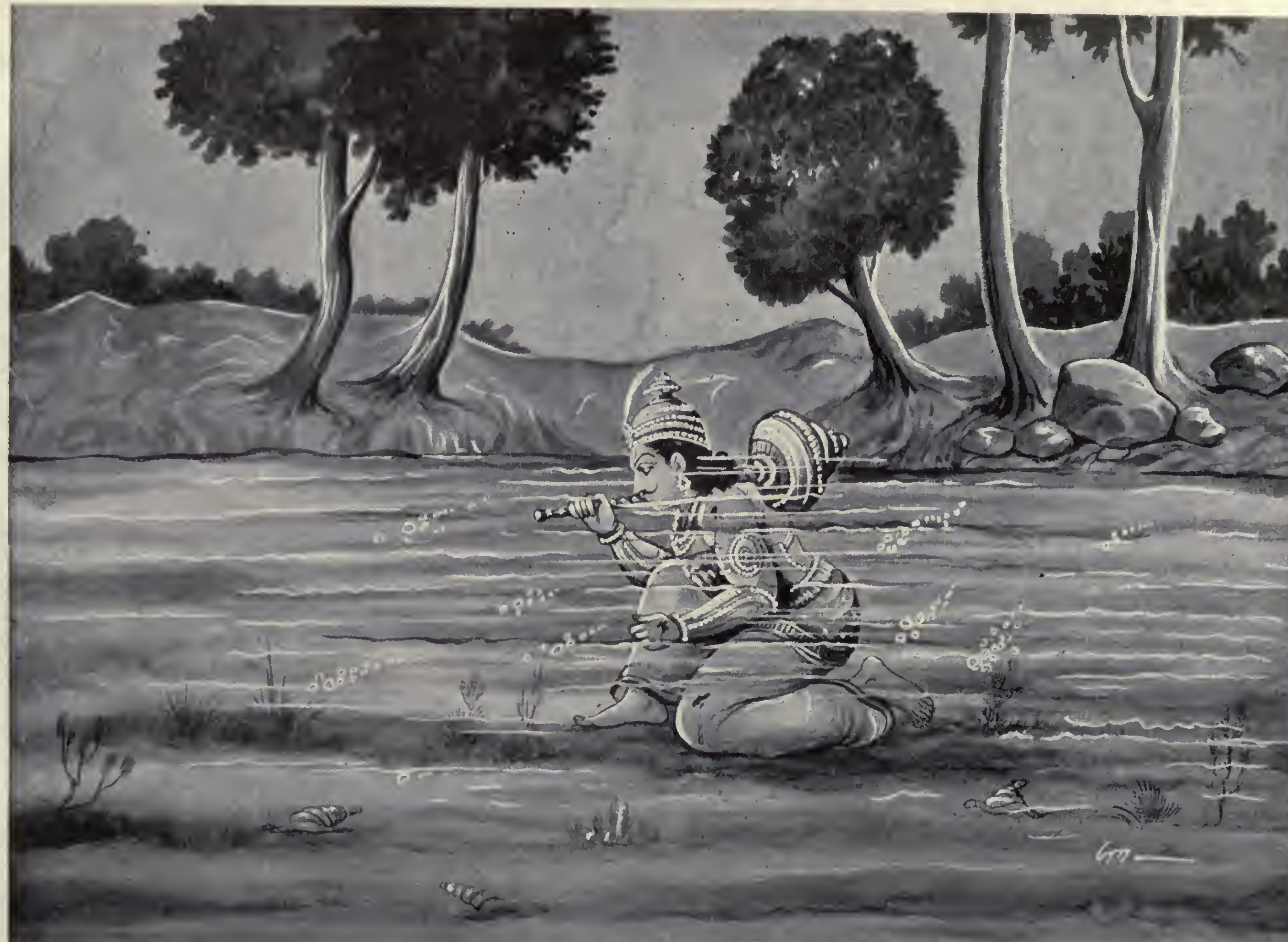

विश्रामके लिये सरोवरमें छिपे हुए दुर्योधन

मस्तकपर मुकुट धारण करनेवाले सहस्रों मूर्धाभिषिक्त नरेश जिसके लिये भेंट लाकर देते थे और वे सब-के-सब जिसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे, पूर्वकालमें एकमात्र वीर कर्णने जिसके लिये चारों समुद्रोंतक फैली हुई इस रत्न-भूषित पृथ्वीसे कर वसूल किया था, कर्णने ही दूसरे राष्ट्रोंमें जिसकी आज्ञाका प्रसार किया था, जिस राजाको राज्य-शासन करते समय कभी हथियार उठानेका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा था, जो हस्तिनापुरमें ही रहकर अपने कल्याणमय निष्कण्टक राज्यका निरन्तर पालन करता था, जिसने अपने ऐश्वर्यसे कुबेरको भी भुला दिया था, राजन्! पृथ्वीनाथ! एक घरसे दूसरे घरमें जाने अथवा देवालयमें प्रवेश करनेके हेतु जिसके लिये सुवर्णमय मार्ग बनाया गया था, जो इन्द्रके समान बलवान् भूपाल ऐरावतके समान कान्तिमान् गजराजपर आरूढ़ हो महान् ऐश्वर्यके साथ यात्रा करता था, उसी इन्द्र-तुल्य तेजस्वी राजा दुर्योधनको अत्यन्त घायल हो पाँव-पयादे ही पृथ्वीपर अकेला खड़ा देख मुझे महान् क्लेश हुआ। ऐसे प्रतापी और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी इस भूपालको जो अनुपम विपत्ति प्राप्त हुई, उसे देखकर कहना पड़ता है कि 'विधाता ही सबसे बड़ा बलवान् है' ॥

ततोऽस्मै तदहं सर्वमुक्तवान् ग्रहणं तदा।
द्वैपायनप्रसादाच्च जीवतो मोक्षमाहवे ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् मैंने युद्धमें अपने पकड़े जाने और व्यासजीकी कृपासे जीवित छूटनेका सारा समाचार उससे कह सुनाया ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम्।
भ्रातॄंश्च सर्वसैन्यानि पर्यपृच्छत मां ततः ॥ ४६ ॥

उसने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर सचेत होनेपर मुझसे अपने भाइयों तथा सम्पूर्ण सेनाओंका समाचार पूछा ॥

तस्मै तदहमाचक्षे सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान्।
भ्रातॄंश्च निहतान् सर्वान् सैन्यं च विनिपातितम् ॥ ४७ ॥
त्रयः किल रथाः शिष्टास्तावकानां नराधिप।
इति प्रस्थानकाले मां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥

मैंने भी जो कुछ आँखों देखा था, वह सब कुछ उसे इस प्रकार बताया—'नरेश्वर! तुम्हारे सारे भाई मार डाले गये और समस्त सेनाका भी संहार हो गया। रणभूमिसे प्रस्थान करते समय व्यासजीने मुझसे कहा था कि 'तुम्हारे पक्षमें तीन ही महारथी बच गये हैं' ॥ ४७-४८ ॥

स दीर्घमिव निःश्वस्य प्रत्यवेक्ष्य पुनः पुनः।
असौ मां पाणिना स्पृष्ट्वा पुत्रस्ते पर्यभाषत ॥ ४९ ॥
त्वदन्यो नेह संग्रामे कश्चिज्जीवति संजय।
द्वितीयं नेह पश्यामि ससहायाश्च पाण्डवाः ॥ ५० ॥

यह सुनकर आपके पुत्रने लंबी साँस खींचकर बारंबार मेरी ओर देखा और हाथसे मेरा स्पर्श करके इस प्रकार कहा—'संजय! इस संग्राममें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मेरा आत्मीय जन सम्भवतः जीवित नहीं है; क्योंकि मैं यहाँ दूसरे किसी स्वजनको देख नहीं रहा हूँ। उधर पाण्डव अपने सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ४९-५० ॥

ब्रूयाः संजय राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
दुर्योधनस्तव सुतः प्रविष्टो ह्रदमित्युत ॥ ५१ ॥
सुहृद्भिस्तादृशैर्हीनः पुत्रैर्भ्रातृभिरेव च।
पाण्डवैश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥ ५२ ॥
आचक्षीथाः सर्वमिदं मां च मुक्तं महाहवात्।
अस्मिंस्तोयह्रदे गुप्तं जीवन्तं भृशविक्षतम् ॥ ५३ ॥

'संजय! तुम प्रज्ञाचक्षु ऐश्वर्यशाली महाराजसे कहना कि 'आपका पुत्र दुर्योधन वैसे पराक्रमी सुहृदों, पुत्रों और भ्राताओंसे हीन होकर सरोवरमें प्रवेश कर गया है। जब पाण्डवोंने मेरा राज्य हर लिया, तब इस दयनीय-दशामें मेरे-जैसा कौन पुरुष जीवन धारण कर सकता है?' संजय! तुम ये सारी बातें कहना और यह भी बताना कि 'दुर्योधन उस महासंग्रामसे जीवित बचकर पानीसे भरे हुए इस सरोवरमें छिपा है और उसका सारा शरीर अत्यन्त घायल हो गया है'' ॥ ५१—५३ ॥

एवमुक्त्वा महाराज प्राविशत् तं महाह्रदम्।
अस्तम्भयत तोयं च मायया मनुजाधिपः ॥ ५४ ॥

महाराज! ऐसा कहकर राजा दुर्योधनने उस महान् सरोवरमें प्रवेश किया और मायासे उसका पानी बाँध दिया ॥

तस्मिन् ह्रदं प्रविष्टे तु त्रीन् रथान् श्रान्तवाहनान्।
अपश्यं सहितानेकस्तं देशं समुपेयुषः ॥ ५५ ॥

जब दुर्योधन सरोवरमें समा गया, उसके बाद अकेले खड़े हुए मैंने अपने पक्षके तीन महारथियोंको वहाँ उपस्थित देखा, जो एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे थे। उन तीनोंके घोड़े थक गये थे ॥ ५५ ॥

कृपं शारद्वतं वीरं द्रौणिं च रथिनां वरम्।
भोजं च कृतवर्माणं सहिताञ्शरविक्षतान् ॥ ५६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—शरद्वान्के पुत्र वीर कृपाचार्य, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणकुमार अश्वत्थामा तथा भोजवंशी कृतवर्मा। ये सब लोग एक साथ थे और बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ ५६ ॥

ते सर्वे मामभिप्रेक्ष्य तूर्णमश्वाननोदयन्।
उपायाय तु मामूचुर्दिष्ट्या जीवसि संजय ॥ ५७ ॥

मुझे देखते ही उन तीनोंने शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े बढ़ाये और निकट आकर मुझसे कहा—'संजय! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो' ॥ ५७ ॥

अपृच्छंश्चैव मां सर्वे पुत्रं तव जनाधिपम्।
कच्चिद् दुर्योधनो राजा स नो जीवति संजय ॥ ५८ ॥

फिर उन सबने आपके पुत्र राजा दुर्योधनका समाचार पूछा—'संजय! क्या हमारे राजा दुर्योधन जीवित हैं?' ॥ ५८ ॥

आख्यातवानहं तेभ्यस्तदा कुशलिनं नृपम्।
तच्चैव सर्वमाचक्षं यन्मां दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
ह्रदं चैवाहमाचक्षं यं प्रविष्टो नराधिपः।

तब मैंने उन लोगोंसे दुर्योधनका कुशल-समाचार बताया तथा दुर्योधनने मुझसे जो संदेश दिया था, वह भी सब उनसे

कह सुनाया और जिस सरोवरमें वह घुसा था, उसका भी पता बता दिया ॥ ५९½ ॥

अश्वत्थामा तु तद् राजन् निशम्य वचनं मम ॥ ६० ॥
तं ह्रदं विपुलं प्रेक्ष्य करुणं पर्यदेवयत् ।
अहो धिक् स न जानाति जीवतोऽस्मान् नराधिपः॥६१॥
पर्याप्ता हि वयं तेन सह योधयितुं परान् ।

राजन् ! मेरी बात सुनकर अश्वत्थामाने उस विशाल सरोवरकी ओर देखा और करुण विलाप करते हुए कहा—'अहो ! धिक्कार है, राजा दुर्योधन नहीं जानते हैं कि हम सब जीवित हैं । उनके साथ रहकर हमलोग शत्रुओंसे जूझनेके लिये पर्याप्त हैं' ॥ ६०-६१½ ॥

ते तु तत्र चिरं कालं विलप्य च महारथाः ॥ ६२ ॥
प्राद्रवन् रथिनां श्रेष्ठा दृष्ट्वा पाण्डुसुतान् रणे ।

तत्पश्चात् वे महारथी दीर्घकाल तक वहाँ विलाप करते रहे । फिर रणभूमिमें पाण्डवोंको आते देख वे रथियोंमें श्रेष्ठ तीनों वीर वहाँसे भाग निकले ॥ ६२½ ॥

ते तु मां रथमारोप्य कृपस्य सुपरिष्कृतम् ॥ ६३ ॥
सेनानिवेशमाजग्मुर्हतशेषास्त्रयो रथाः ।
तत्र गुल्माः परित्रस्ताः सूर्ये चास्तमिते सति ॥ ६४ ॥
सर्वे विचुक्रुशुः श्रुत्वा पुत्राणां तव संक्षयम् ।

मरनेसे बचे हुए वे तीनों रथी मुझे भी कृपाचार्यके सुसज्जित रथपर बिठाकर छावनीतक ले आये । सूर्य अस्ताचल-पर जा चुके थे । वहाँ छावनीके पहरेदार भयसे घबराये हुए थे । आपके पुत्रोंके विनाशका समाचार सुनकर वे सभी फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

ततो वृद्धा महाराज योषितां रक्षिणो नराः ॥ ६५ ॥
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ।

महाराज ! तदनन्तर स्त्रियोंकी रक्षामें नियुक्त हुए वृद्ध पुरुषोंने राजकुलकी महिलाओंको साथ लेकर नगरकी ओर प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥ ६५½ ॥

तत्र विक्रोशमानानां रुदतीनां च सर्वशः ॥ ६६ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः श्रुत्वा तद् बलसंक्षयम्।
ततस्ता योषितो राजन् क्रन्दन्त्यो वै मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥
कुरर्य इव शब्देन नादयन्त्यो महीतलम् ।

उस समय वहाँ अपने पतियोंको पुकारती और रोती-बिलखती हुई राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद सब ओर गूँज उठा । राजन् ! अपनी सेना और पतियोंके संहारका समाचार सुनकर वे राजकुलकी युवतियाँ अपने आर्तनादसे भूतलको प्रतिध्वनित करती हुई बारंबार कुररीकी भाँति विलाप करने लगीं ॥ ६६-६७½ ॥

आजघ्नुः करजैश्चापि पाणिभिश्च शिरांस्युत ॥ ६८ ॥
लुलुचुश्च तदा केशान् क्रोशन्त्यस्तत्र तत्र ह ।
हाहाकारविनादिन्यो विनिघ्नन्त्य उरांसि च ॥ ६९ ॥
शोचन्त्यस्तत्र रुरुदुः क्रन्दमाना विशाम्पते ।

वे जहाँ-तहाँ हाहाकार करती हुई अपने ऊपर नखोंसे आघात करने, हाथोंसे सिर और छाती पीटने तथा केश नोचने लगीं । प्रजानाथ ! शोकमें डूबकर पतिको पुकारती हुई वे रानियाँ करुण स्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥६८-६९½॥

ततो दुर्योधनामात्याः साश्रुकण्ठा भृशातुराः ॥ ७० ॥
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ।

इससे दुर्योधनके मन्त्रियोंका गला भर आया और वे अत्यन्त व्याकुल हो राजमहिलाओंको साथ ले नगरकी ओर चल दिये ॥ ७०½ ॥

वेत्रव्यासक्तहस्ताश्च द्वाराध्यक्षा विशाम्पते ॥ ७१ ॥
शयनीयानि शुभ्राणि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।
समादाय ययुस्तूर्णं नगरं दाररक्षिणः ॥ ७२ ॥

प्रजानाथ ! उनके साथ हाथोंमें बेंतकी छड़ी लिये द्वारपाल भी चल रहे थे । रानियोंकी रक्षामें नियुक्त हुए सेवक शुभ्र एवं बहुमूल्य बिछौने लेकर शीघ्रतापूर्वक नगरकी ओर चलने लगे ॥ ७१-७२ ॥

आस्थायाश्वतरीयुक्तान् स्यन्दनानपरे पुनः ।
स्वान् स्वान् दारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥ ७३ ॥

अन्य बहुत-से राजकीय पुरुष खचरियोंसे जुते हुए रथोंपर आरूढ़ हो अपनी-अपनी रक्षामें स्थित स्त्रियोंको लेकर नगरकी ओर यात्रा करने लगे ॥ ७३ ॥

अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु ।
ददृशुस्ता महाराज जना याताः पुरं प्रति ॥ ७४ ॥

महाराज ! जिन राजमहिलाओंको महलोंमें रहते समय पहले सूर्यदेवने भी नहीं देखा होगा, उन्हें ही नगरकी ओर जाते हुए साधारण लोग भी देख रहे थे ॥ ७४ ॥

ताः स्त्रियो भरतश्रेष्ठ सौकुमार्यसमन्विताः ।
प्रययुर्नगरं तूर्णं हतस्वजनबान्धवाः ॥ ७५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिनके स्वजन और बान्धव मारे गये थे, वे सुकुमारी स्त्रियाँ तीव्र गतिसे नगरकी ओर जा रही थीं ॥७५॥

आगोपालाविपालेभ्यो द्रवन्तो नगरं प्रति ।
ययुर्मनुष्याः सम्भ्रान्ता भीमसेनभयार्दिताः ॥ ७६ ॥

उस समय भीमसेनके भयसे पीड़ित हो सभी मनुष्य गायों और भेड़ोंके चरवाहे तक घबराकर नगरकी ओर भाग रहे थे ॥ ७६ ॥

अपि चैषां भयं तीव्रं पार्थेभ्योऽभूत् सुदारुणम् ।
प्रेक्षमाणास्तदान्योन्यमाधावन्नगरं प्रति ॥ ७७ ॥

उन्हें कुन्तीके पुत्रोंसे दारुण एवं तीव्र भय प्राप्त हुआ था । वे एक दूसरेकी ओर देखते हुए नगरकी ओर भागने लगे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने विद्रवे भृशदारुणे ।
युयुत्सुः शोकसम्मूढः प्राप्तकालमचिन्तयत् ॥ ७८ ॥

जब इस प्रकार अति भयंकर भगदड़ मची हुई थी, उस समय युयुत्सु शोकसे मूर्छित हो मन-ही-मन समयोचित कर्तव्यका विचार करने लगा—॥ ७८ ॥

जितो दुर्योधनः संख्ये पाण्डवैर्भीमविक्रमैः ।
एकादशचमूभर्ता भ्रातरश्चास्य सूदिताः ॥ ७९ ॥

'भयंकर पराक्रमी पाण्डवोंने ग्यारह अक्षौहिणीसेनाके स्वामी राजा दुर्योधनको युद्धमें परास्त कर दिया और उसके भाइयोंको भी मार डाला ॥ ७९ ॥

हताश्च कुरवः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अहमेको विमुक्तस्तु भाग्ययोगाद् यदृच्छया ॥ ८० ॥

'भीष्म और द्रोणाचार्य जिनके अगुआ थे, वे समस्त कौरव मारे गये । अकस्मात् भाग्य-योगसे अकेला मैं ही बच गया हूँ ॥ ८० ॥

विद्रुतानि च सर्वाणि शिबिराणि समन्ततः ।
इतस्ततः पलायन्ते हतनाथा हतौजसः ॥ ८१ ॥

'सारे शिबिरके लोग सब ओर भाग गये । स्वामीके मारे जानेसे हतोत्साह होकर सभी सेवक इधर-उधर पलायन कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

अदृष्टपूर्वा दुःखार्ता भयव्याकुललोचनाः ।
हरिणा इव वित्रस्ता वीक्षमाणा दिशो दश ॥ ८२ ॥
दुर्योधनस्य सचिवा ये केचिदवशेषिताः ।
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥ ८३ ॥

'उन सबकी ऐसी अवस्था हो गयी है, जैसी पहले कभी नहीं देखी गयी । सभी दुःखसे आतुर हैं और सबके नेत्र भयसे व्याकुल हो उठे हैं । सभी लोग भयभीत मृगोंके समान दसों दिशाओंकी ओर देख रहे हैं । दुर्योधनके मन्त्रियों-मेंसे जो कोई बच गये हैं, वे राजमहिलाओंको साथ लेकर नगरकी ओर जा रहे हैं ॥ ८२-८३ ॥

प्राप्तकालमहं मन्ये प्रवेशं तैः सह प्रभुम् ।
युधिष्ठिरमनुज्ञाय वासुदेवं तथैव च ॥ ८४ ॥

'मैं राजा युधिष्ठिर और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी आज्ञा लेकर उन मन्त्रियोंके साथ ही नगरमें प्रवेश करूँ, यही मुझे समयोचित कर्तव्य जान पड़ता है' ॥ ८४ ॥

एतमर्थं महाबाहुरुभयोः स न्यवेदयत् ।
तस्य प्रीतोऽभवद् राजा नित्यं करुणवेदिता ॥ ८५ ॥
परिष्वज्य महाबाहुर्वैश्यापुत्रं व्यसर्जयत् ।

ऐसा सोचकर महाबाहु युयुत्सुने उन दोनोंके सामने अपना विचार प्रकट किया । उसकी बात सुनकर निरन्तर करुणाका अनुभव करनेवाले महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वैश्यकुमारीके पुत्र युयुत्सुको छातीसे लगाकर बिदा कर दिया ॥ ८५½ ॥

ततः स रथमास्थाय द्रुतमश्वानचोदयत् ॥ ८६ ॥
संवाहयितवांश्चापि राजदारान् पुरं प्रति ।

तत्पश्चात् उसने रथपर बैठाकर तुरंत ही अपने घोड़े बढ़ाये और राजकुलकी स्त्रियोंको राजधानीमें पहुँचा दिया ॥

तैश्चैव सहितः क्षिप्रमस्तं गच्छति भास्करे ॥ ८७ ॥
प्रविष्टो हास्तिनपुरं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।

सूर्यके अस्त होते-होते नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए उसने उन सबके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया । उस समय उसका गला भर आया था ॥ ८७½ ॥

अपश्यत महाप्राज्ञं विदुरं साश्रुलोचनम् ॥ ८८ ॥
राज्ञः समीपान्निष्क्रान्तं शोकोपहतचेतसम् ।

राजन् ! वहाँ उसने आपके पाससे निकले हुए महाज्ञानी विदुरजीका दर्शन किया, जिनके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे और मन शोकमें डूबा हुआ था ॥ ८८½ ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः प्रणतं त्वग्रतः स्थितम् ॥ ८९ ॥
दिष्ट्या कुरुक्षये वृत्ते अस्मिंस्त्वं पुत्र जीवसि ।
विना राज्ञः प्रवेशाद् वै किमसि त्वमिहागतः ॥ ९० ॥
एतद् वै कारणं सर्वं विस्तरेण निवेदय ।

सत्यपरायण विदुरने प्रणाम करके सामने खड़े हुए युयुत्सुसे कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कौरवोंके इस विकट संहारमें भी तुम जीवित बच गये हो; परंतु राजा युधिष्ठिरके हस्तिनापुरमें प्रवेश करनेसे पहले ही तुम यहाँ कैसे चले आये ? यह सारा कारण मुझे विस्तारपूर्वक बताओ' ॥

युयुत्सुरुवाच

निहते शकुनौ तत्र सज्ञातिसुतबान्धवे ॥ ९१ ॥
हतशेषपरीवारो राजा दुर्योधनस्ततः ।
स्वकं स हयमुत्सृज्य प्राङ्मुखः प्राद्रवद् भयात् ॥ ९२ ॥

युयुत्सुने कहा—चाचाजी ! जाति, भाई और पुत्र-सहित शकुनिके मारे जानेपर जिसके शेष परिवार नष्ट हो गये थे, वह राजा दुर्योधन अपने घोड़ेको युद्धभूमिमें ही छोड़कर भयके मारे पूर्व दिशाकी ओर भाग गया ॥ ९१-९२ ॥

अपक्रान्ते तु नृपतौ स्कन्धावारनिवेशनात् ।
भयव्याकुलितं सर्वं प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ ९३ ॥

राजाके छावनीसे दूर भाग जानेपर सब लोग भयसे व्याकुल हो राजधानीकी ओर भाग चले ॥ ९३ ॥

ततो राज्ञः कलत्राणि भ्रातॄणां चास्य सर्वतः ।
वाहनेषु समारोप्य अध्यक्षाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ९४ ॥

तब राजा तथा उनके भाइयोंकी पत्नियोंको सब ओरसे सवारियोंपर बिठाकर अन्तःपुरके अध्यक्ष भी भयके मारे भाग खड़े हुए ॥ ९४ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाप्य राजानं सहकेशवम् ।
प्रविष्टो हास्तिनपुरं रक्षँल्लोकान् प्रधावितान् ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैं भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर भागे हुए लोगोंकी रक्षाके लिये हस्तिनापुरमें चला आया हूँ ॥ ९५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वैश्यापुत्रेण भाषितम् ।
प्राप्तकालमिति ज्ञात्वा विदुरः सर्वधर्मवित् ॥ ९६ ॥
अपूजयदमेयात्मा युयुत्सुं वाक्यमब्रवीत् ।
प्राप्तकालमिदं सर्वं ब्रुवता भरतक्षये ॥ ९७ ॥
रक्षितः कुलधर्मश्च सानुक्रोशतया त्वया ।

वैश्यापुत्र युयुत्सुकी कही हुई यह बात सुनकर और इसे समयोचित जानकर सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता तथा अमेय आत्म-बलसे सम्पन्न विदुरजीने युयुत्सुकी भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं इस प्रकार कहा—'भरतवंशियोंके इस विनाशके समय जो यह समयोचित कर्तव्य प्राप्त था, वह सब बताकर अपनी दयालुता-

के कारण तुमने कुल-धर्मकी रक्षा की है ॥ ९६-९७½ ॥

दिष्ट्या त्वामिह संग्रामादस्माद् वीरक्षयात् पुरम् ॥९८॥
समागतमपश्याम ह्यंशुमन्तमिव प्रजाः ।

'वीरोंका विनाश करनेवाले इस संग्रामसे बचकर तुम कुशलपूर्वक नगरमें लौट आये—इस अवस्थामें हमने तुम्हें उसी प्रकार देखा है, जैसे रात्रिके अन्तमें प्रजा भगवान् भास्करका दर्शन करती है ॥ ९८½ ॥

अन्धस्य नृपतेर्यष्टिर्लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ९९ ॥
बहुशो याच्यमानस्य दैवोपहतचेतसः ।
त्वमेको व्यसनार्तस्य ध्रियसे पुत्र सर्वथा ॥१००॥

'लोभी, अदूरदर्शी और अन्धे राजाके लिये तुम लाठीके सहारे हो । मैंने उनसे युद्ध रोकनेके लिये बारंबार याचना की थी, परंतु दैवसे उनकी बुद्धि मारी गयी थी; इसलिये उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी । आज वे संकटसे पीड़ित हैं, बेटा ! इस अवस्थामें एकमात्र तुम्हीं उन्हें सहारा देनेके लिये जीवित हो ॥ ९९-१०० ॥

अद्य त्वमिह विश्रान्तः श्वोऽभिगन्ता युधिष्ठिरम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं विदुरः साश्रुलोचनः ॥१०१॥
युयुत्सुं समनुप्राप्य प्रविवेश नृपक्षयम् ।
पौरजानपदैर्दुःखाद्धाहेति भृशनादितम् ॥१०२॥

'आज यहीं विश्राम करो । कल सबेरे युधिष्ठिरके पास चले जाना' ऐसा कहकर नेत्रोंमें आँसू भरे विदुरजीने युयुत्सुको साथ लेकर राजमहलमें प्रवेश किया । वह भवन नगर और जनपदके लोगोंद्वारा दुःखपूर्वक किये जानेवाले हाहाकार एवं भयंकर आर्तनादसे गूँज उठा था ॥ १०१-१०२ ॥

निरानन्दं गतश्रीकं हृतारामिवाशयम् ।
शून्यरूपमपध्वस्तं दुःखाद् दुःखतरोऽभवत् ॥१०३॥

वहाँ न तो आनन्द था और न वैभवजनित शोभा ही दृष्टिगोचर होती थी । वह राजभवन उस जलाशयके समान जनशून्य और विध्वस्त-सा जान पड़ता था, जिसके तटका उद्यान नष्ट हो गया हो । वहाँ पहुँचकर विदुरजी दुःखसे अत्यन्त खिन्न हो गये ॥ १०३ ॥

विदुरः सर्वधर्मज्ञो विक्लवेनान्तरात्मना ।
विवेश नगरे राजन् निःशश्वास शनैः शनैः ॥१०४॥

राजन् ! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने व्याकुल अन्तःकरणसे नगरमें प्रवेश किया और धीरे-धीरे वे लंबी साँस खींचने लगे ॥ १०४ ॥

युयुत्सुरपि तां रात्रिं स्वगृहे न्यवसत् तदा ।
वन्द्यमानः स्वकैश्चापि नाभ्यनन्दत् सुदुःखितः ।
चिन्तयानः क्षयं तीव्रं भरतानां परस्परम् ॥१०५॥

युयुत्सु भी उस रातमें अपने घरपर ही रहे । उनके मनमें अत्यन्त दुःख था, इसलिये वे स्वजनोंद्वारा वन्दित होनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए । इस पारस्परिक युद्धसे भरतवंशियोंका जो घोर संहार हुआ था, उसीकी चिन्तामें वे निमग्न हो गये थे ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि ह्रदप्रवेशपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत ह्रदप्रवेशपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

(गदापर्व)

त्रिंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्यका सरोवरपर जाकर दुर्योधनसे युद्ध करनेके विषयमें बातचीत करना, व्याधोंसे दुर्योधनका पता पाकर युधिष्ठिरका सेनासहित सरोवरपर जाना और कृपाचार्य आदिका दूर हट जाना

धृतराष्ट्र उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु पाण्डुपुत्रै रणाजिरे ।
मम सैन्यावशिष्टास्ते किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब पाण्डुके पुत्रोंने समराङ्गणमें समस्त सेनाओंका संहार कर डाला, तब मेरी सेनाके शेष वीरोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

कृतवर्मा कृपश्चैव द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनश्च मन्दात्मा राजा किमकरोत् तदा ॥ २ ॥

कृतवर्मा, कृपाचार्य, पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा मन्दबुद्धि राजा दुर्योधनने उस समय क्या किया ? ॥ २ ॥

संजय उवाच

सम्प्राद्रवत्सु दारेषु क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
विद्रुते शिविरे शून्ये भृशोद्विग्नास्त्रयो रथाः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! जब महामनस्वी क्षत्रिय राजाओंकी पत्नियाँ भाग चलीं और सब लोगोंके पलायन करनेसे सारा शिविर सूना हो गया, उस समय पूर्वोक्त तीनों रथी अत्यन्त उद्विग्न हो गये ॥ ३ ॥

निशम्य पाण्डुपुत्राणां तदा वै जयिनां स्वनम् ।
विद्रुतं शिविरं दृष्ट्वा सायाह्ने राजगृद्धिनः ॥ ४ ॥
स्थानं नारोचयंस्तत्र ततस्ते ह्रदमभ्ययुः ।

सायंकालमें विजयी पाण्डवोंकी गर्जना सुनकर और अपने सारे शिविरके लोगोंको भागा हुआ देखकर राजा दुर्योधनको चाहनेवाले उन तीनों महारथियोंको वहाँ ठहरना अच्छा न लगा; इसलिये वे उसी सरोवरके तटपर गये ॥ ४½ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो रणे ॥ ५ ॥
हृष्टः पर्यचरद् राजन् दुर्योधनवधेप्सया ।

राजन् ! इधर धर्मात्मा युधिष्ठिर भी रणभूमिमें दुर्योधनके बधकी इच्छासे बड़े हर्षके साथ भाइयोंसहित विचर रहे थे ॥

मार्गमाणास्तु संक्रुद्धास्तव पुत्रं जयैषिणः ॥ ६ ॥
यत्नतोऽन्वेषमाणास्ते नैवापश्यञ्जनाधिपम् ।

विजयके अभिलाषी पाण्डव अत्यन्त कुपित होकर आपके पुत्रका पता लगाने लगे; परंतु यत्नपूर्वक खोज करनेपर भी उन्हें राजा दुर्योधन कहीं दिखायी नहीं दिया ॥ ६½ ॥

स हि तीव्रेण वेगेन गदापाणिरपाक्रमत् ॥ ७ ॥
तं ह्रदं प्राविशच्चापि विष्टभ्यापः स्वमायया ।

वह हाथमें गदा लेकर तीव्र वेगसे भागा और अपनी मायासे जलको स्तम्भित करके उस सरोवरके भीतर जा घुसा ॥

यदा तु पाण्डवाः सर्वे सुपरिश्रान्तवाहनाः ॥ ८ ॥
ततः स्वशिविरं प्राप्य व्यतिष्ठन्त ससैनिकाः ।

दुर्योधनकी खोज करते-करते जब पाण्डवोंके वाहन बहुत थक गये, तब सभी पाण्डव सैनिकोंसहित अपने शिविरमें आकर ठहर गये ॥ ८½ ॥

ततः कृपश्च द्रौणिश्च कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ९ ॥
संनिविष्टेषु पार्थेषु प्रयातास्तं ह्रदं शनैः ।

तदनन्तर जब कुन्तीके सभी पुत्र शिविरमें विश्राम करने लगे, तब कृपाचार्य, अश्वत्थामा और सात्वतवंशी कृतवर्मा धीरे-धीरे उस सरोवरके तटपर जा पहुँचे ॥ ९½ ॥

ते तं ह्रदं समासाद्य यत्र शेते जनाधिपः ॥ १० ॥
अभ्यभाषन्त दुर्धर्षं राजानं सुप्तमम्भसि ।
राजन्नुत्तिष्ठ युद्ध्यस्व सहास्माभिर्युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥
जित्वा वा पृथिवीं भुङ्क्ष्व हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।

जिसमें राजा दुर्योधन सो रहा था, उस सरोवरके समीप पहुँचकर, वे जलमें सोये हुए उस दुर्धर्ष नरेशसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! उठो और हमारे साथ चलकर युधिष्ठिरसे युद्ध करो । विजयी होकर पृथ्वीका राज्य भोगो अथवा मारे जाकर स्वर्गलोक प्राप्त करो ॥ १०-११½ ॥

तेषामपि बलं सर्वं हतं दुर्योधन त्वया ॥ १२ ॥
प्रतिविद्धाश्च भूयिष्ठं ये शिष्टास्तत्र सैनिकाः ।
न ते वेगं विषहितुं शक्तास्तव विशाम्पते ॥ १३ ॥
अस्माभिरपि गुप्तस्य तस्मादुत्तिष्ठ भारत ।

'प्रजानाथ दुर्योधन ! भरतनन्दन ! तुमने भी तो पाण्डवोंकी सारी सेनाका संहार कर डाला है । वहाँ जो सैनिक शेष रह गये हैं, वे भी बहुत घायल हो चुके हैं; अतः जब तुम हमारेद्वारा सुरक्षित होकर उनपर आक्रमण करोगे तो वे तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे; इसलिये तुम युद्धके लिये उठो' ॥

दुर्योधन उवाच

दिष्ट्या पश्यामि वो मुक्तानीदृशात् पुरुषक्षयात् ॥ १४ ॥
पाण्डुकौरवसम्मर्दाज्जीवमानान् नरर्षभान् ।

दुर्योधन बोला—मैं ऐसे जनसंहारकारी पाण्डव-कौरव-संग्रामसे आप सभी नरश्रेष्ठ वीरोंको जीवित बचा हुआ देख रहा हूँ, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १४½ ॥

विजेष्यामो वयं सर्वे विश्रान्ता विगतक्लमाः ॥ १५ ॥
भवन्तश्च परिश्रान्ता वयं च भृशविक्षताः ।
उदीर्णं च बलं तेषां तेन युद्धं न रोचये ॥ १६ ॥

हम सब लोग विश्राम करके अपनी थकावट दूर कर लें तो अवश्य विजयी होंगे । आप लोग भी बहुत थके हुए हैं और हम भी अत्यन्त घायल हो चुके हैं । उधर पाण्डवोंका बल बढ़ा हुआ है; इसलिये इस समय मेरी युद्ध करनेकी रुचि नहीं हो रही है ॥ १५-१६ ॥

न त्वेतदद्भुतं वीरा यद् वो महदिदं मनः ।
अस्मासु च परा भक्तिर्न तु कालः पराक्रमे ॥ १७ ॥

वीरो ! आपके मनमें जो युद्धके लिये महान् उत्साह बना हुआ है, यह कोई अद्भुत बात नहीं है । आपलोगोंका मुझपर महान् प्रेम भी है, तथापि यह पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है ॥ १७ ॥

विश्रम्यैकां निशामद्य भवद्भिः सहितो रणे ।
प्रतियोत्स्याम्यहं शत्रूञ्छ्वो न मेऽस्त्यत्र संशयः ॥ १८ ॥

आज एक रात विश्राम करके कल सबेरे रणभूमिमें आप लोगोंके साथ रहकर मैं शत्रुओंके साथ युद्ध करूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽब्रवीद् द्रौणी राजानं युद्धदुर्मदम् ।
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते विजेष्यामो वयं परान् ॥ १९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणकुमारने उस रणदुर्मद राजासे इस प्रकार कहा—'महाराज ! उठो, तुम्हारा कल्याण हो । हम शत्रुओंपर विजय प्राप्त करेंगे ॥

इष्टापूर्तेन दानेन सत्येन च जपेन च ।
शपे राजन् यथा ह्यद्य निहनिष्यामि सोमकान् ॥ २० ॥

'राजन् ! मैं अपने इष्टापूर्त कर्म, दान, सत्य और जपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज सोमकोंका संहार कर डालूँगा ॥

मा स्म यज्ञकृतां प्रीतिमाप्नुयां सज्जनोचिताम् ।
यदीमां रजनीं व्युष्टां न हि हन्मि परान् रणे ॥ २१ ॥

'यदि यह रात बीतते ही प्रातःकाल रणभूमिमें शत्रुओंको न मार डालूँ तो मुझे सज्जन पुरुषोंके योग्य और यज्ञकर्ताओंको प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता न प्राप्त हो ॥ २१ ॥

नाहत्वा सर्वपञ्चालान् विमोक्ष्ये कवचं विभो ।
इति सत्यं ब्रवीम्येतत्तन्मे शृणु जनाधिप ॥ २२ ॥

'प्रभो ! नरेश्वर ! मैं समस्त पाञ्चालोंका संहार किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा, यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ । मेरे इस कथनको तुम ध्यानसे सुनो' ॥ २२ ॥

तेषु सम्भाषमाणेषु व्याधास्तं देशमाययुः ।
मांसभारपरिश्रान्ताः पानीयार्थं यदृच्छया ॥ २३ ॥

वे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि मांसके भारसे थके हुए बहुत-से व्याध उस स्थानपर पानी पीनेके लिये अकस्मात् आ पहुँचे ॥ २३ ॥

ते तत्र धिष्ठितास्तेषां सर्वं तद् वचनं रहः ।
दुर्योधनवचश्चैव शुश्रुवुः संगता मिथः ॥ २४ ॥

उन्होंने वहाँ खड़े होकर उनकी एकान्तमें होनेवाली सारी बातें सुन लीं । परस्पर मिले हुए उन व्याधोंने दुर्योधनकी भी बात सुनी ॥ २४ ॥

तेऽपि सर्वे महेष्वासा अयुद्धार्थिनि कौरवे ।
निर्बन्धं परमं चक्रुस्तदा वै युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २५ ॥

कुरुराज दुर्योधन युद्ध नहीं चाहता था तो भी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वे सभी महाधनुर्धर योद्धा उससे युद्ध छेड़नेके लिये बड़ा आग्रह कर रहे थे ॥ २५ ॥

तांस्तथा समुदीक्ष्याथ कौरवाणां महारथान् ।
अयुद्धमनसं चैव राजानं स्थितमम्भसि ॥ २६ ॥
तेषां श्रुत्वा च संवादं राज्ञश्च सलिले सतः ।
व्याधाभ्यजानन् राजेन्द्र सलिलस्थं सुयोधनम्॥२७॥

राजन् ! उन कौरवमहारथियोंकी वैसी मनोवृत्ति जानकर जलमें ठहरे हुए राजा दुर्योधनके मनमें युद्धका उत्साह न देखकर और सलिलनिवासी नरेशके साथ उन तीनोंका संवाद सुनकर व्याध यह समझ गये कि 'दुर्योधन इसी सरोवरके जलमें छिपा हुआ है' ॥ २६-२७ ॥

ते पूर्वं पाण्डुपुत्रेण पृष्टा ह्यासन् सुतं तव ।
यदृच्छोपगतास्तत्र राजानं परिमार्गता ॥ २८ ॥

पहले राजा दुर्योधनकी खोज करते हुए पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने दैववश अपने पास पहुँचे हुए उन व्याधोंसे आपके पुत्रका पता पूछा था ॥ २८ ॥

ततस्ते पाण्डुपुत्रस्य स्मृत्वा तद् भाषितं तदा ।
अन्योन्यमब्रुवन् राजन् मृगव्याधाः शनैरिव ॥ २९ ॥

राजन् ! उस समय पाण्डुपुत्रकी कही हुई बात याद करके वे व्याध आपसमें धीरे-धीरे बोले—॥ २९ ॥

दुर्योधनं ख्यापयामो धनं दास्यति पाण्डवः ।
सुव्यक्तमिह नः ख्यातो ह्रदे दुर्योधनो नृपः ॥ ३० ॥

'यदि हम दुर्योधनका पता बता दें तो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हमें धन देंगे। हमें तो यहाँ यह स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गया कि राजा दुर्योधन इसी सरोवरमें छिपा हुआ है ॥ ३० ॥

तस्माद् गच्छामहे सर्वे यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
आख्यातुं सलिले सुप्तं दुर्योधनममर्षणम् ॥ ३१ ॥

अतः जलमें सोये हुए अमर्षशील दुर्योधनका पता बतानेके लिये हम सब लोग उस स्थानपर चलें, जहाँ राजा युधिष्ठिर मौजूद हैं ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते ।
शयानं सलिले सर्वे कथयामो धनुर्भृते ॥ ३२ ॥

'बुद्धिमान् धनुर्धर भीमसेनको हम सब यह बता दें कि धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन जलमें सो रहा है ॥ ३२ ॥

स नो दास्यति सुप्रीतो धनानि बहुलान्युत ।
किं नो मांसेन शुष्केण परिक्लिष्टेन शोषिणा ॥ ३३ ॥

'इससे अत्यन्त प्रसन्न होकर वे हमें बहुत धन देंगे । फिर हमें शरीरका रक्त सुखा देनेवाले इस सूखे मांसको ढोकर व्यर्थ कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता है ?' ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा तु ते व्याधाः सम्प्रहृष्टा धनार्थिनः ।
मांसभारानुपादाय प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ३४ ॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके धनकी अभिलाषा रखनेवाले वे व्याध बड़े प्रसन्न हुए और मांसके बोझ उठाकर पाण्डव-शिविरकी ओर चल दिये ॥ ३४ ॥

पाण्डवापि महाराज लब्धलक्ष्याः प्रहारिणः ।
अपश्यमानाः समरे दुर्योधनमवस्थितम् ॥ ३५ ॥
निकृतेस्तस्य पापस्य ते पारं गमनेप्सवः ।
चारान् सम्प्रेषयामासुः समन्तात् तद्रणाजिरे ॥३६॥

महाराज ! प्रहार करनेमें कुशल पाण्डवोंने अपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया था; उन्होंने दुर्योधनको समराङ्गणमें खड़ा न देख उस पापीके किये हुए छल-कपटका बदला चुकाकर वैरके पार जानेकी इच्छासे उस संग्रामभूमिमें चारों ओर गुप्तचर भेज रक्खे थे ॥ ३५-३६ ॥

आगम्य तु ततः सर्वे नष्टं दुर्योधनं नृपम् ।
न्यवेदयन्त सहिता धर्मराजस्य सैनिकाः ॥ ३७ ॥

धर्मराजके उन सभी गुप्तचर सैनिकोंने एक साथ लौटकर यह निवेदन किया कि 'राजा दुर्योधन लापता हो गया है' ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा चाराणां भरतर्षभ ।
चिन्तामभ्यगमत् तीव्रां निःशश्वास च पार्थिवः ॥३८॥

भरतश्रेष्ठ ! उन गुप्तचरोंकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिर घोर चिन्तामें पड़ गये और लंबी साँस खींचने लगे ॥ ३८ ॥

अथ स्थितानां पाण्डूनां दीनानां भरतर्षभ ।
तस्माद् देशादपक्रम्य त्वरिता लुब्धका विभो ॥ ३९ ॥
आजग्मुः शिबिरं हृष्टा दृष्ट्वा दुर्योधनं नृपम् ।
वार्यमाणाः प्रविष्टाश्च भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ४० ॥

भरतभूषण ! नरेश ! तदनन्तर जब पाण्डव खिन्न होकर बैठे हुए थे, उसी समय वे व्याध राजा दुर्योधनको अपनी आँखों देखकर तुरंत ही उस स्थानसे हट गये और बड़े हर्षके साथ पाण्डव-शिविरमें जा पहुँचे । द्वारपालोंके रोकनेपर भी वे भीमसेनके देखते-देखते भीतर घुस गये ॥ ३९-४० ॥

ते तु पाण्डवमासाद्य भीमसेनं महाबलम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचख्युर्यद् वृत्तं यच्च वै श्रुतम् ॥ ४१ ॥

महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनके पास जाकर उन्होंने सरोवरके तटपर जो कुछ हुआ था और जो कुछ सुननेमें आया था, वह सब कह सुनाया ॥ ४१ ॥

ततो वृकोदरो राजन् दत्त्वा तेषां धनं बहु ।

धर्मराजाय तत् सर्वमाचचक्षे परंतपः ॥ ४२ ॥

राजन् ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमने उन व्याधोंको बहुत धन देकर धर्मराजसे सारा समाचार कहा ॥४२॥

असौ दुर्योधनो राजन् विज्ञातो मम लुब्धकैः ।
संस्तभ्य सलिलं शेते यस्यार्थे परितप्यसे ॥ ४३ ॥

वे बोले—"धर्मराज ! मेरे व्याधोंने राजा दुर्योधनका पता लगा लिया है। आप जिसके लिये संतप्त हैं, वह मायासे पानी बाँधकर सरोवरमें सो रहा है" ॥ ४३ ॥

तद् वचो भीमसेनस्य प्रियं श्रुत्वा विशाम्पते ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो हृष्टोऽभूत् सह सोदरैः ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ ! भीमसेनका वह प्रिय वचन सुनकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥

तं च श्रुत्वा महेष्वासं प्रविष्टं सलिलह्रदे ।
क्षिप्रमेव ततोऽगच्छन् पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ ४५ ॥

महाधनुर्धर दुर्योधनको पानीसे भरे सरोवरमें घुसा सुनकर राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ ४५ ॥

ततः किलकिलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
पाण्डवानां प्रहृष्टानां पञ्चालानां च सर्वशः ॥ ४६ ॥

प्रजानाथ ! फिर तो हर्षमें भरे हुए पाण्डव और पाञ्चालोंकी किलकिलाहटका शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ ४६ ॥

सिंहनादांस्ततश्चक्रुः क्ष्वेडाश्च भरतर्षभ ।
त्वरिताः क्षत्रिया राजञ्जग्मुर्द्वैपायनं ह्रदम् ॥ ४७ ॥

भरतभूषण नरेश ! वे सभी क्षत्रिय सिंहनाद एवं गर्जना करने लगे तथा तुरंत ही द्वैपायन नामक सरोवरके पास जा पहुँचे ॥ ४७ ॥

ज्ञातः पापो धार्तराष्ट्रो दृष्टश्चेत्यसकृद्रणे ।
प्राक्रोशन् सोमकास्तत्र हृष्टरूपाः समन्ततः ॥ ४८ ॥

हर्षमें भरे हुए सोमक वीर रणभूमिमें सब ओर पुकार-पुकारकर कहने लगे 'धृतराष्ट्रके पापी पुत्रका पता लग गया और उसे देख लिया गया' ॥ ४८ ॥

तेषामाशु प्रयातानां रथानां तत्र वेगिनाम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो दिविस्पृक् पृथिवीपते ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! वहाँ शीघ्रतापूर्वक यात्रा करनेवाले उनके वेगशाली रथोंका घोर घर्घर शब्द आकाशमें व्याप्त हो गया ॥

दुर्योधनं परीप्सन्तस्तत्र तत्र युधिष्ठिरम् ।
अन्वयुस्त्वरितास्ते वै राजानं श्रान्तवाहनाः ॥ ५० ॥
अर्जुनो भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी चापराजितः ॥ ५१ ॥
उत्तमौजा युधामन्युः सात्यकिश्च महारथः ।
पञ्चालानां च ये शिष्टा द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ५२ ॥
हयाश्च सर्वे नागाश्च शतशश्च पदातयः ।

भारत ! उस समय अर्जुन, भीमसेन, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, महारथी सात्यकि, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा पाञ्चालोंमेंसे जो जीवित बच गये थे, वे वीर दुर्योधनको पकड़नेकी इच्छासे अपने वाहनोंके थके होनेपर भी बड़ी उतावलीके साथ राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे गये। उनके साथ सभी घुड़सवार, हाथीसवार और सैकड़ों पैदल सैनिक भी थे ॥ ५०—५२½ ॥

ततः प्राप्तो महाराज धर्मराजः प्रतापवान् ॥ ५३ ॥
द्वैपायनं ह्रदं घोरं यत्र दुर्योधनोऽभवत् ।

महाराज ! तत्पश्चात् प्रतापी धर्मराज युधिष्ठिर उस भयंकर द्वैपायनह्रदके तटपर जा पहुँचे, जिसके भीतर दुर्योधन छिपा हुआ था ॥ ५३½ ॥

शीतामलजलं हृद्यं द्वितीयमिव सागरम् ॥ ५४ ॥
मायया सलिलं स्तभ्य यत्राभूत् ते स्थितः सुतः ।
अत्यद्भुतेन विधिना दैवयोगेन भारत ॥ ५५ ॥

उसका जल शीतल और निर्मल था। वह देखनेमें मनोरम और दूसरे समुद्रके समान विशाल था। भारत ! उसीके भीतर मायाद्वारा जलको स्तम्भित करके दैवयोग एवं अद्भुत विधिसे आपका पुत्र विश्राम कर रहा था ॥ ५४-५५ ॥

सलिलान्तर्गतः शेते दुर्दर्शः कस्यचित् प्रभो ।
मानुषस्य मनुष्येन्द्र गदाहस्तो जनाधिपः ॥ ५६ ॥

प्रभो ! नरेन्द्र ! हाथमें गदा लिये राजा दुर्योधन जलके भीतर सोया था। उस समय किसी भी मनुष्यके लिये उसको देखना कठिन था ॥ ५६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सलिलान्तर्गतो वसन् ।
शुश्रुवे तुमुलं शब्दं जलदोपमनिःस्वनम् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर पानीके भीतर बैठे हुए राजा दुर्योधनने मेघकी गर्जनाके समान भयंकर शब्द सुना ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरश्च राजेन्द्र तं ह्रदं सह सोदरैः ।
आजगाम महाराज तव पुत्रवधाय वै ॥ ५८ ॥

राजेन्द्र ! महाराज ! आपके पुत्रका वध करनेके लिये राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ उस सरोवरके तटपर आ पहुँचे ॥ ५८ ॥

महता शङ्खनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
ऊर्ध्वं धुन्वन् महारेणुं कम्पयंश्चापि मेदिनीम् ॥ ५९ ॥
यौधिष्ठिरस्य सैन्यस्य श्रुत्वा शब्दं महारथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणी राजानमिदमब्रुवन् ॥ ६० ॥

वे महान् शङ्खनाद तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे पृथ्वीको कँपाते और धूलका महान् ढेर ऊपर उड़ाते हुए वहाँ आये थे। युधिष्ठिरकी सेनाका कोलाहल सुनकर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तीनों महारथी राजा दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ५९-६० ॥

इमे ह्यायान्ति संहृष्टाः पाण्डवा जितकाशिनः ।
अपयास्यामहे तावदनुजानातु नो भवान् ॥ ६१ ॥

'ये विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बड़े हर्षमें भर-

कर इधर ही आ रहे हैं । अतः हमलोग यहाँसे हट जायँगे । इसके लिये तुम हमें आज्ञा प्रदान करो' ॥ ६१ ॥

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा तेषां तत्र तरस्विनाम् ।
तथेत्युक्त्वा ह्रदं तं वै माययास्तम्भयत् प्रभो ॥ ६२ ॥

प्रभो ! उन वेगशाली वीरोंकी वह बात सुनकर दुर्योधनने 'तथास्तु' कहकर उस सरोवरके जलको पुनः मायाद्वारा स्तम्भित कर दिया ॥ ६२ ॥

ते त्वनुज्ञाप्य राजानं भृशं शोकपरायणाः ।
जग्मुर्दूरे महाराज कृपप्रभृतयो रथाः ॥ ६३ ॥

महाराज ! राजाकी आज्ञा लेकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए कृपाचार्य आदि महारथी वहाँसे दूर चले गये ॥ ६३ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं न्यग्रोधं प्रेक्ष्य मारिष ।
न्यविशन्त भृशं श्रान्ताश्चिन्तयन्तो नृपं प्रति ॥ ६४ ॥

मान्यवर ! दूरके मार्गपर जाकर उन्हें एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया । वे अत्यन्त थके होनेके कारण राजा दुर्योधनके विषयमें चिन्ता करते हुए उसीके नीचे बैठ गये॥

विष्टभ्य सलिलं सुप्तो धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
पाण्डवाश्चापि सम्प्राप्तास्तं देशं युद्धमीप्सवः ॥ ६५ ॥

इधर महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन पानी बाँधकर सो गया । इतनेहीमें युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डव भी वहाँ आ पहुँचे ॥ ६५ ॥

कथं नु युद्धं भविता कथं राजा भविष्यति ।
कथं नु पाण्डवा राजन् प्रतिपत्स्यन्ति कौरवम्॥ ६६ ॥
इत्येवं चिन्तयानास्तु रथेभ्योऽश्वान् विमुच्य ते ।
तत्रासांचक्रिरे राजन् कृपप्रभृतयो रथाः ॥ ६७ ॥

राजन् ! उधर कृपाचार्य आदि महारथी रथोंसे घोड़ोंको खोलकर यह सोचने लगे कि 'अब युद्ध किस तरह होगा ? राजा दुर्योधनकी क्या दशा होगी और पाण्डव किस प्रकार कुरुराज दुर्योधनका पता पायेंगे' ऐसी चिन्ता करते हुए वे वहाँ बैठकर आराम करने लगे ॥ ६६-६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैपायनसरोवरपर जाना, वहाँ युधिष्ठिर और श्रीकृष्णकी बातचीत तथा तालाबमें छिपे हुए दुर्योधनके साथ युधिष्ठिरका संवाद

संजय उवाच

ततस्तेष्वपयातेषु रथेषु त्रिषु पाण्डवाः ।
ते ह्रदं प्रत्यपद्यन्त यत्र दुर्योधनोऽभवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं––महाराज ! उन तीनों रथियोंके हट जानेपर पाण्डव उस सरोवरके तटपर आये, जिसमें दुर्योधन छिपा हुआ था ॥ १ ॥

आसाद्य च कुरुश्रेष्ठ तदा द्वैपायनं ह्रदम् ।
स्तम्भितं धार्तराष्ट्रेण दृष्ट्वा तं सलिलाशयम् ॥ २ ॥
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुनन्दनः ।
पश्येमां धार्तराष्ट्रेण मायामप्सु प्रयोजिताम् ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! द्वैपायन-कुण्डपर पहुँचकर युधिष्ठिरने देखा कि दुर्योधनने इस जलाशयके जलको स्तम्भित कर दिया है । यह देखकर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'प्रभो ! देखिये तो सही, दुर्योधनने जलके भीतर इस मायाका कैसा प्रयोग किया है ? ॥ २-३ ॥

विष्टभ्य सलिलं शेते नास्य मानुषतो भयम् ।
दैवीं मायामिमां कृत्वा सलिलान्तर्गतो ह्ययम् ॥ ४ ॥

'यह पानीको रोककर सो रहा है । इसे यहाँ मनुष्यसे किसी प्रकारका भय नहीं है; क्योंकि यह इस दैवी मायाका प्रयोग करके जलके भीतर निवास करता है ॥ ४ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो न मे जीवन् विमोक्ष्यते ।
यद्यस्य समरे साह्यं कुरुते वज्रभृत् स्वयम् ॥ ५ ॥
तथाप्येनं हतं युद्धे लोका द्रक्ष्यन्ति माधव ।

'माधव ! यद्यपि यह छल-कपटकी विद्यामें बड़ा चतुर है, तथापि कपट करके मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकता । यदि समराङ्गणमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र इसकी सहायता करें तो भी युद्धमें इसे सब लोग मरा हुआ ही देखेंगे' ॥ ५½ ॥

वासुदेव उवाच

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ॥ ६ ॥
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा––भारत ! मायावी दुर्योधनकी इस मायाको आप मायाद्वारा ही नष्ट कर डालिये ! युधिष्ठिर ! मायावीका वध मायासे ही करना चाहिये, यह सच्ची नीति है ॥ ६½ ॥

क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्मायामप्सु प्रयोज्य च ॥ ७ ॥
जहि त्वं भरतश्रेष्ठ मायात्मानं सुयोधनम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आप बहुत-से रचनात्मक उपायोंद्वारा जलमें मायाका प्रयोग करके मायामय दुर्योधनका वध कीजिये ॥

क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण निहता दैत्यदानवाः ॥ ८ ॥
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्बलिर्बद्धो महात्मना ।
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्हिरण्याक्षो महासुरः ॥ ९ ॥

रचनात्मक उपायोंसे ही इन्द्रने बहुत-से दैत्य और दानवोंका संहार किया, नाना प्रकारके रचनात्मक उपायोंसे ही महात्मा श्रीहरिने बलिको बाँधा और बहुसंख्यक रचनात्मक उपायोंसे ही उन्होंने महान् असुर हिरण्याक्षका वध किया था ॥ ८-९ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव क्रिययैव निषूदितौ ।
वृत्रश्च निहतो राजन् क्रिययैव न संशयः ॥ १० ॥

क्रियात्मक प्रयत्नके द्वारा ही भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको भी मारा था । राजन् ! वृत्रासुरका वध भी क्रियात्मक उपायसे ही हुआ था, इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

तथा पौलस्त्यतनयो रावणो नाम राक्षसः ।
रामेण निहतो राजन् सानुबन्धः सहानुगः ॥ ११ ॥
क्रियया योगमास्थाय तथा त्वमपि विक्रम ।

राजन् ! पुलस्त्यकुमार विश्रवाका पुत्र रावणनामक राक्षस श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा क्रियात्मक उपाय और युक्ति-कौशलके सहारे ही सम्बन्धियों और सेवकोंसहित मारा गया, उसी प्रकार आप भी पराक्रम प्रकट करें ॥ ११½ ॥

क्रियाभ्युपायैर्निहतौ मया राजन् पुरातनौ ॥ १२ ॥
तारकश्च महादैत्यो विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ।

नरेश्वर ! पूर्वकालके महादैत्य तारक और पराक्रमी विप्रचित्तिको मैंने क्रियात्मक उपायोंसे ही मारा था ॥१२½॥

वातापिरिल्वलश्चैव त्रिशिराश्च तथा विभो ॥ १३ ॥
सुन्दोपसुन्दावसुरौ क्रिययैव निषूदितौ ।
क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण त्रिदिवं भुज्यते विभो ॥ १४ ॥

प्रभो ! वातापि, इल्वल, त्रिशिरा तथा सुन्द-उपसुन्द नामक असुर भी कार्यकौशलसे ही मारे गये हैं । क्रियात्मक उपायोंसे ही इन्द्र स्वर्गका राज्य भोगते हैं ॥ १३-१४ ॥

क्रिया बलवती राजन् नान्यत् किंचिद् युधिष्ठिर।
दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसाः पार्थिवास्तथा ॥ १५ ॥
क्रियाभ्युपायैर्निहताः क्रियां तस्मात् समाचर ।

राजन् ! कार्यकौशल ही बलवान् है, दूसरी कोई वस्तु नहीं । युधिष्ठिर ! दैत्य, दानव, राक्षस तथा बहुत-से भूपाल क्रियात्मक उपायोंसे ही मारे गये हैं; अतः आप भी क्रियात्मक उपायका ही आश्रय लें ॥ १५½ ॥

संजय उवाच

इत्युक्तो वासुदेवेन पाण्डवः संशितव्रतः ॥ १६ ॥
जलस्थं तं महाराज तव पुत्रं महाबलम् ।
अभ्यभाषत कौन्तेयः प्रहसन्निव भारत ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डुकुमार कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जलमें स्थित हुए आपके महाबली पुत्रसे हँसते हुए-से कहा—॥१६-१७॥

सुयोधन किमर्थोऽयमारम्भोऽप्सु कृतस्त्वया ।
सर्वं क्षत्रं घातयित्वा स्वकुलं च विशाम्पते ॥ १८ ॥
जलाशयं प्रविष्टोऽद्य वाञ्छञ्जीवितमात्मनः ।
उत्तिष्ठ राजन् युध्यस्व सहास्माभिः सुयोधन ॥ १९ ॥

'प्रजानाथ सुयोधन ! तुमने किस लिये पानीमें यह अनुष्ठान आरम्भ किया है । सम्पूर्ण क्षत्रियों तथा अपने कुलका संहार कराकर आज अपनी जान बचानेकी इच्छासे तुम जलाशयमें घुसे बैठे हो । राजा सुयोधन ! उठो और हम लोगोंके साथ युद्ध करो ॥ १८-१९ ॥

स ते दर्पो नरश्रेष्ठ स च मानः क्व ते गतः ।
यस्त्वं संस्तभ्य सलिलं भीतो राजन् व्यवस्थितः॥ २० ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा वह पहलेका दर्प और अभिमान कहाँ चला गया, जो डरके मारे जलका स्तम्भन करके यहाँ छिपे हुए हो ? ॥ २० ॥

सर्वे त्वां शूर इत्येवं जना जल्पन्ति संसदि ।
व्यर्थं तद् भवतो मन्ये शौर्यं सलिलशायिनः ॥ २१ ॥

'सभामें सब लोग तुम्हें शूरवीर कहा करते हैं । जब तुम भयभीत होकर पानीमें सो रहे हो, तब तुम्हारे उस तथा-कथित शौर्यको मैं व्यर्थ समझता हूँ ॥ २१ ॥

उत्तिष्ठ राजन् युध्यस्व क्षत्रियोऽसि कुलोद्भवः ।
कौरवेयो विशेषेण कुलं जन्म च संस्मर ॥ २२ ॥

'राजन् ! उठो, युद्ध करो; क्योंकि तुम कुलीन क्षत्रिय हो, विशेषतः कुरुकुलकी संतान हो । अपने कुल और जन्म-का स्मरण तो करो ॥ २२ ॥

स कथं कौरवे वंशे प्रशंसञ्जन्म चात्मनः ।
युद्धाद् भीतस्ततस्तोयं प्रविश्य प्रतितिष्ठसि ॥ २३ ॥

'तुम तो कौरववंशमें उत्पन्न होनेके कारण अपने जन्मकी प्रशंसा करते थे । फिर आज युद्धसे डरकर पानीके भीतर कैसे घुसे बैठे हो ? ॥ २३ ॥

अयुद्धमव्यवस्थानं नैष धर्मः सनातनः ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन् पलायनम् ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! युद्ध न करना अथवा युद्धमें स्थिर न रहकर वहाँसे पीठ दिखाकर भागना यह सनातन धर्म नहीं है । नीच पुरुष ही ऐसे कुमार्गका आश्रय लेते हैं । इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २४ ॥

कथं पारमगत्वा हि युद्धे त्वं वै जिजीविषुः ।
इमान् निपतितान् दृष्ट्वा पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄंस्तथा॥ २५॥
सम्बन्धिनो वयस्यांश्च मातुलान् बान्धवांस्तथा ।
घातयित्वा कथं तात ह्रदे तिष्ठसि साम्प्रतम् ॥ २६ ॥

'युद्धसे पार पाये बिना ही तुम्हें जीवित रहनेकी इच्छा कैसे हो गयी ? तात ! रणभूमिमें गिरे हुए इन पुत्रों, भाइयों और चाचे-ताउओंको देखकर सम्बन्धियों, मित्रों, मामाओं और बन्धु-बान्धवोंका वध कराकर इस समय तालाबमें क्यों छिपे बैठे हो ? ॥ २५-२६ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मृषा वदसि भारत ।

शूरोऽहमिति दुर्बुद्धे सर्वलोकस्य शृण्वतः ॥ २७ ॥

'तुम अपनेको शूर तो मानते हो, परंतु शूर हो नहीं। भरतवंशके खोटी बुद्धिवाले नरेश ! तुम सब लोगोंके सुनते हुए व्यर्थ ही कहा करते हो कि 'मैं शूरवीर हूँ' ॥ २७ ॥

न हि शूराः पलायन्ते शत्रून् दृष्ट्वा कथञ्चन ।
ब्रूहि वा त्वं यया वृत्त्या शूर त्यजसि संगरम् ॥ २८ ॥

'जो वास्तवमें शूरवीर हैं, वे शत्रुओंको देखकर किसी तरह भागते नहीं हैं। अपनेको शूर कहनेवाले सुयोधन ! बताओ तो सही, तुम किस वृत्तिका आश्रय लेकर युद्ध छोड़ रहे हो ॥ २८ ॥

स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व विनीय भयमात्मनः ।
घातयित्वा सर्वसैन्यं भ्रातृंश्चैव सुयोधन ॥ २९ ॥
नेदानीं जीविते बुद्धिः कार्या धर्मचिकीर्षया ।
क्षत्रधर्ममुपाश्रित्य त्वद्विधेन सुयोधन ॥ ३० ॥

'अतः तुम अपना भय दूर करके उठो और युद्ध करो। सुयोधन ! भाइयों तथा सम्पूर्ण सेनाको मरवाकर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लिये हुए तुम्हारे-जैसे पुरुषको धर्मसम्पादन-की इच्छासे इस समय केवल अपनी जान बचानेका विचार नहीं करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

यत् तु कर्णमुपाश्रित्य शकुनिं चापि सौबलम् ।
अमर्त्य इव सम्मोहात् त्वमात्मानं न बुद्धवान्॥ ३१ ॥
तत् पापं सुमहत् कृत्वा प्रतियुद्ध्यस्व भारत ।
कथं हि त्वद्विधो मोहाद् रोचयेत पलायनम् ॥ ३२ ॥

'तुम जो कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिका सहारा लेकर मोहवश अपने आपको अजर-अमर-सा मान बैठे थे, अपनेको मनुष्य समझते ही नहीं थे, वह महान् पाप करके अब युद्ध क्यों नहीं करते ? भारत ! उठो, हमारे साथ युद्ध करो। तुम्हारे-जैसा वीर पुरुष मोहवश पीठ दिखाकर भागना कैसे पसंद करेगा ? ॥ ३१-३२ ॥

क्व ते तत् पौरुषं यातं क्व च मानः सुयोधन।
क्व च विक्रान्तता याता क्व च विस्फूर्जितं महत्॥ ३३ ॥
क्व ते कृतास्त्रता याता किञ्च शेषे जलाशये ।
स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व क्षत्रधर्मेण भारत ॥ ३४ ॥

'सुयोधन ! तुम्हारा वह पौरुष कहाँ चला गया ? कहाँ है वह तुम्हारा अभिमान ? कहाँ गया पराक्रम ? कहाँ है वह महान् गर्जन-तर्जन ? और कहाँ गया वह अस्त्रविद्याका ज्ञान ? इस समय इस तालाबमें तुम्हें कैसे नींद आ रही है ? भारत ! उठो और क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३३-३४ ॥

अस्मांस्तु वा पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निहतोऽस्माभिर्भूमौ स्वप्स्यसि भारत ॥ ३५ ॥

'भरतनन्दन ! हम सब लोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो अथवा हमारे हाथों मारे जाकर सदाके लिये रणभूमिमें सो जाओ ॥ ३५ ॥

एष ते परमो धर्मः सृष्टो धात्रा महात्मना ।
तं कुरुष्व यथातथ्यं राजा भव महारथ ॥ ३६ ॥

'भगवान् ब्रह्माने तुम्हारे लिये यही उत्तम धर्म बनाया है। उस धर्मका यथार्थरूपसे पालन करो। महारथी वीर ! वास्तवमें राजा बनो (राजोचित पराक्रम प्रकट करो)' ॥ ३६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज धर्मपुत्रेण धीमता ।
सलिलस्थस्तव सुत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जलके भीतर स्थित हुए तुम्हारे पुत्रने यह बात कही ॥ ३७ ॥

दुर्योधन उवाच

नैतच्चित्रं महाराज यद्भीः प्राणिनमाविशेत् ।
न च प्राणभयाद् भीतो व्यपयातोऽस्मि भारत॥ ३८ ॥

दुर्योधन बोला—महाराज ! किसी भी प्राणीके मनमें भय समा जाय, यह आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु भरत-नन्दन ! मैं प्राणोंके भयसे भागकर यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३८ ॥

अरथश्चानिषङ्गी च निहतः पार्ष्णिसारथिः ।
एकश्चाप्यगणः संख्ये प्रत्याश्वासमरोचयम् ॥ ३९ ॥

मेरे पास न तो रथ है और न तरकस। मेरे पार्श्वरक्षक भी मारे जा चुके हैं। मेरी सेना नष्ट हो गयी और मैं युद्ध-स्थलमें अकेला रह गया था; इस दशामें मुझे कुछ देरतक विश्राम करनेकी इच्छा हुई ॥ ३९ ॥

न प्राणहेतोर्न भयान्न विषादाद् विशाम्पते ।
इदमम्भः प्रविष्टोऽस्मि श्रमात् त्विदमनुष्ठितम् ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! मैं न तो प्राणोंकी रक्षाके लिये, न किसी भयसे और न विषादके ही कारण इस जलमें आ घुसा हूँ। केवल थक जानेके कारण मैंने ऐसा किया है ॥ ४० ॥

त्वं चाश्वसिहि कौन्तेय ये चाप्यनुगतास्तव ।
अहमुत्थाय वः सर्वान् प्रतियोत्स्यामि संयुगे ॥ ४१ ॥

कुन्तीकुमार ! तुम भी कुछ देरतक विश्राम कर लो। तुम्हारे अनुगामी सेवक भी सुस्ता लें। फिर मैं उठकर समराङ्गणमें तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आश्वस्ता एव सर्वे स्म चिरं त्वां मृगयामहे ।
तदिदानीं समुत्तिष्ठ युध्यस्वेह सुयोधन ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुयोधन ! हम सब लोग तो सुस्ता ही चुके हैं और बहुत देरसे तुम्हें खोज रहे हैं; इस-लिये अब तुम उठो और यहीं युद्ध करो ॥ ४२ ॥

हत्वा वा समरे पार्थान् स्फीतं राज्यमवाप्नुहि ।
निहतो वा रणेऽस्माभिर्वीरलोकमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥

संग्राममें समस्त पाण्डवोंको मारकर समृद्धिशाली राज्य

प्राप्त करो अथवा रणभूमिमें हमारे हाथों मारे जाकर वीरोंको मिलने योग्य पुण्यलोकोंमें चले जाओ ॥ ४३ ॥

दुर्योधन उवाच

यदर्थं राज्यमिच्छामि कुरूणां कुरुनन्दन।
त इमे निहताः सर्वे भ्रातरो मे जनेश्वर ॥ ४४ ॥
क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुङ्गवाम्।
न ह्युत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधन बोला—कुरुनन्दन नरेश्वर ! मैं जिनके लिये कौरवोंका राज्य चाहता था, वे मेरे सभी भाई मारे जा चुके हैं। भूमण्डलके सभी क्षत्रियशिरोमणियोंका संहार हो गया है। यहाँके सभी रत्न नष्ट हो गये हैं; अतः विधवा स्त्रीके समान श्रीहीन हुई इस पृथ्वीका उपभोग करनेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ ४४-४५ ॥

अद्यापि त्वहमाशंसे त्वां विजेतुं युधिष्ठिर।
भङ्क्त्वा पाञ्चालपाण्डूनामुत्साहं भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैं आज भी पाञ्चालों और पाण्डवोंका उत्साह भङ्ग करके तुम्हें जीतनेका हौसला रखता हूँ ॥

न त्विदानीमहं मन्ये कार्यं युद्धेन कर्हिचित्।
द्रोणे कर्णे च संशान्ते निहते च पितामहे ॥ ४७ ॥

किंतु जब द्रोण और कर्ण शान्त हो गये तथा पितामह भीष्म मार डाले गये तो अब मेरी रायमें कभी भी इस युद्धकी कोई आवश्यकता नहीं रही ॥ ४७ ॥

अस्त्विदानीमियं राजन् केवला पृथिवी तव।
असहायो हि को राजा राज्यमिच्छेत् प्रशासितुम् ॥४८॥

राजन् ! अब यह सूनी पृथ्वी तुम्हारी ही रहे। कौन राजा सहायकोंसे रहित होकर राज्य-शासनकी इच्छा करेगा ? ॥

सुहृदस्तादृशान् हित्वा पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि।
भवद्भिश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥ ४९ ॥

वैसे हितैषी सुहृदों, पुत्रों, भाइयों और पिताओंको छोड़कर तुमलोगोंके द्वारा राज्यका अपहरण हो जानेपर कौन मेरे-जैसा पुरुष जीवित रहेगा ? ॥ ४९ ॥

अहं वनं गमिष्यामि ह्यजिनैः प्रतिवासितः।
रतिर्हि नास्ति मे राज्ये हतपक्षस्य भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन ! मैं मृगचर्म धारण करके वनमें चला जाऊँगा। अपने पक्षके लोगोंके मारे जानेसे अब इस राज्यमें मेरा तनिक भी अनुराग नहीं है ॥ ५० ॥

हतबान्धवभूयिष्ठा हताश्वा हतकुञ्जरा।
एषा ते पृथिवी राजन् भुङ्क्ष्वैनां विगतज्वरः ॥ ५१ ॥

राजन् ! यह पृथ्वी, जहाँ मेरे अधिक-से-अधिक भाई-बन्धु, घोड़े और हाथी मारे गये हैं, अब तुम्हारे ही अधिकारमें रहे। तुम निश्चिन्त होकर इसका उपभोग करो ॥ ५१ ॥

वनमेव गमिष्यामि वसानो मृगचर्मणी।
न हि मे निर्जनस्यास्ति जीवितेऽद्य स्पृहा विभो ॥ ५२ ॥

प्रभो ! मैं तो दो मृगछाला धारण करके वनमें ही चला जाऊँगा, जब मेरे स्वजन ही नहीं रहे, तब मुझे भी इस जीवनको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं है ॥ ५२ ॥

गच्छ त्वं भुङ्क्ष्व राजेन्द्र पृथिवीं निहतेश्वराम्।
हतयोधां नष्टरत्नां क्षीणवृत्तिर्यथासुखम् ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! जाओ, जिसके स्वामीका नाश हो गया है, योद्धा मारे गये हैं और सारे रत्न नष्ट हो गये हैं, उस पृथ्वीका आनन्दपूर्वक उपभोग करो; क्योंकि तुम्हारी जीविका क्षीण हो गयी थी ॥ ५३ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनं तव सुतं सलिलस्थं महायशाः।
श्रुत्वा तु करुणं वाक्यमभाषत युधिष्ठिरः ॥ ५४ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महायशस्वी युधिष्ठिरने वह करुणायुक्त बचन सुनकर पानीमें स्थित हुए आपके पुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आर्तप्रलापान्मा तात सलिलस्थः प्रभाषिथाः।
नैतन्मनसि मे राजन् वाशितं शकुनेरिव ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर बोले—नरेश्वर ! तुम जलमें स्थित होकर आर्त पुरुषोंके समान प्रलाप न करो। तात ! चिड़ियोंके चहचहानेके समान तुम्हारी यह बात मेरे मनमें कोई अर्थ नहीं रखती है ॥

यदि वापि समर्थः स्यास्त्वं दानाय सुयोधन।
नाहमिच्छेयमवनिं त्वया दत्तां प्रशासितुम् ॥ ५६ ॥

सुयोधन ! यदि तुम इसे देनेमें समर्थ होते तो भी मैं तुम्हारी दी हुई इस पृथ्वीपर शासन करनेकी इच्छा नहीं रखता ॥ ५६ ॥

अधर्मेण न गृह्णीयां त्वया दत्तां महीमिमाम्।
न हि धर्मः स्मृतो राजन् क्षत्रियस्य प्रतिग्रहः ॥ ५७ ॥

राजन् ! तुम्हारी दी हुई इस भूमिको मैं अधर्मपूर्वक नहीं ले सकता; क्षत्रियके लिये दान लेना धर्म नहीं बताया गया है॥

त्वया दत्तां न चेच्छेयं पृथिवीमखिलामहम्।
त्वां तु युद्धे विनिर्जित्य भोक्तास्मि वसुधामिमाम्॥५८॥

तुम्हारे देनेपर इस सम्पूर्ण पृथ्वीको भी मैं नहीं लेना चाहता। तुम्हें युद्धमें परास्त करके ही इस वसुधाका उपभोग करूँगा ॥ ५८ ॥

अनीश्वरश्च पृथिवीं कथं त्वं दातुमिच्छसि।
त्वयेयं पृथिवी राजन् किन्न दत्ता तदैव हि ॥ ५९ ॥
धर्मतो याचमानानां प्रशमार्थं कुलस्य नः।

अब तो तुम स्वयं ही इस पृथ्वीके स्वामी नहीं रहे; फिर इसका दान कैसे करना चाहते हो ? राजन् ! जब हम लोग कुलमें शान्ति बनाये रखनेके लिये पहले धर्मके अनुसार अपना ही राज्य माँग रहे थे, उसी समय तुमने हमें यह पृथ्वी क्यों नहीं दे दी ॥ ५९½ ॥

वार्ष्णेयं प्रथमं राजन् प्रत्याख्याय महाबलम् ॥ ६० ॥
किमिदानीं ददासि त्वं को हि ते चित्तविभ्रमः।

नरेश्वर ! पहले महाबली भगवान् श्रीकृष्णको हमारे लिये

राज्य देनेसे इन्कार करके इस समय क्यों दे रहे हो ? तुम्हारे चित्तमें यह कैसा भ्रम छा रहा है ? ॥ ६०½ ॥

अभियुक्तस्तु को राजा दातुमिच्छेद्धि मेदिनीम्॥६१ ॥
न त्वमद्य महीं दातुमीशः कौरवनन्दन ।
आच्छेत्तुं वा बलाद् राजन् स कथं दातुमिच्छसि॥६२॥

जो शत्रुओंसे आक्रान्त हो, ऐसा कौन राजा किसीको भूमि देनेकी इच्छा करेगा ? कौरवनन्दन नरेश ! अब न तो तुम किसीको पृथ्वी दे सकते हो और न बलपूर्वक उसे छीन ही सकते हो। ऐसी दशामें तुम्हें भूमि देनेकी इच्छा कैसे हो गयी?॥

मां तु निर्जित्य संग्रामे पालयेमां वसुन्धराम् ।
सूच्यग्रेणापि यद् भूमेरपि भिद्येत भारत ॥ ६३ ॥
तन्मात्रमपि तन्मह्यं न ददाति पुरा भवान् ।
स कथं पृथिवीमेतां प्रददासि विशाम्पते ॥ ६४ ॥

मुझे संग्राममें जीतकर इस पृथ्वीका पालन करो । भारत! पहले तो तुम सूईकी नोकसे जितना छिद सके, भूमिका उतना-सा भाग भी मुझे नहीं दे रहे थे । प्रजानाथ ! फिर आज यह सारी पृथ्वी कैसे दे रहे हो ? ॥ ६३-६४ ॥

सूच्यग्रं नात्यजः पूर्वं स कथं त्यजसि क्षितिम्।
एवमैश्वर्यमासाद्य प्रशास्य पृथिवीमिमाम् ॥ ६५ ॥
को हि मूढो व्यवस्येत शत्रोर्दातुं वसुन्धराम् ।

पहले तो तुम सूईकी नोक बराबर भी भूमि नहीं छोड़ रहे थे, अब सारी पृथ्वी कैसे त्याग रहे हो ? इस प्रकार ऐश्वर्य पाकर इस वसुधाका शासन करके कौन मूर्ख शत्रुके हाथमें अपनी भूमि देना चाहेगा ? ॥ ६५½ ॥

त्वं तु केवलमौर्ख्येण विमूढो नावबुद्ध्यसे ॥ ६६ ॥
पृथिवीं दातुकामोऽपि जीवितेन विमोक्ष्यसे ।

तुम तो केवल मूर्खतावश विवेक खो बैठे हो; इसीलिये यह नहीं समझते कि आज भूमि देनेकी इच्छा करनेपर भी तुम्हें अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा ॥ ६६½ ॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्॥६७॥
अथवा निहतोऽस्माभिर्व्रज लोकाननुत्तमान् ।

या तो हमलोगोंको परास्त करके तुम्हीं इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे हाथों मारे जाकर परम उत्तम लोकोंमें चले जाओ ॥ ६७½ ॥

आवयोर्जीवतो राजन् मयि च त्वयि च ध्रुवम् ॥ ६८ ॥
संशयः सर्वभूतानां विजये नौ भविष्यति ।

राजन् ! मेरे और तुम्हारे दोनोंके जीते-जी हमारी विजयके विषयमें समस्त प्राणियोंको संदेह बना रहेगा ॥ ६८½ ॥

जीवितं तव दुष्प्रज्ञ मयि सम्प्रति वर्तते ॥ ६९ ॥
जीवयेयमहं कामं न तु त्वं जीवितुं क्षमः ।

दुर्मते ! इस समय तुम्हारा जीवन मेरे हाथमें है । मैं इच्छानुसार तुम्हें जीवनदान दे सकता हूँ; परंतु तुम स्वेच्छापूर्वक जीवित रहनेमें समर्थ नहीं हो ॥ ६९½ ॥

दहने हि कृतो यत्नस्त्वयास्मासु विशेषतः ॥ ७० ॥
आशीविषैर्विषैश्चापि जले चापि प्रवेशनैः ।
त्वया विनिकृता राजन् राज्यस्य हरणेन च ॥ ७१ ॥
अप्रियाणां च वचनैर्द्रौपद्याः कर्षणेन च ।
एतस्मात् कारणात् पाप जीवितं ते न विद्यते ॥ ७२ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युध्यस्व युद्धे श्रेयो भविष्यति ।

याद है न, तुमने हमलोगोंको जला डालनेके लिये विशेष प्रयत्न किया था । भीमको विषधर सर्पोंसे डसवाया, विष खिलाकर उन्हें पानीमें डुबाया, हमलोगोंका राज्य छीनकर हमें अपने कपटजालका शिकार बनाया, द्रौपदीको कटु वचन सुनाये और उसके केश खींचे । पापी ! इन सब कारणोंसे तुम्हारा जीवन नष्ट-सा हो चुका है । उठो-उठो, युद्ध करो; इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ७०–७२½ ॥

एवं तु विविधा वाचो जययुक्ताः पुनः पुनः ।
कीर्तयन्ति स्म ते वीरास्तत्र तत्र जनाधिप ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! वे विजयी वीर पाण्डव इस प्रकार वहाँ बारम्बार नाना प्रकारकी बातें कहने लगे ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि सुयोधनयुधिष्ठिरसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधन-युधिष्ठिरसंवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके कहनेसे दुर्योधनका तालाबसे बाहर होकर किसी एक पाण्डवके साथ गदायुद्धके लिये तैयार होना

धृतराष्ट्र उवाच

एवं संतर्ज्यमानस्तु मम पुत्रो महीपतिः ।
प्रकृत्या मन्युमान् वीरः कथमासीत् परंतपः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! शत्रुओंको संताप देनेवाला मेरा वीर पुत्र राजा दुर्योधन स्वभावसे ही क्रोधी था । जब युधिष्ठिरने उसे इस प्रकार फटकारा, तब उसकी कैसी दशा हुई ? ॥ १ ॥

न हि संतर्जना तेन श्रुतपूर्वा कथञ्चन ।
राजभावेन मान्यश्च सर्वलोकस्य सोऽभवत् ॥ २ ॥

उसने पहले कभी किसी तरह ऐसी फटकार नहीं सुनी थी; क्योंकि राजा होनेके कारण वह सब लोगोंके सम्मानका पात्र था ॥ २ ॥

यस्यातपत्रच्छायापि स्वका भानोस्तथा प्रभा ।
खेदायैवाभिमानित्वात् सहेत् सैवं कथं गिरः ॥ ३ ॥

अभिमानी होनेके कारण जिसके मनमें अपने छत्रकी छाया और सूर्यकी प्रभा भी खेद ही उत्पन्न करती थी, वह ऐसी कठोर बातें कैसे सह सकता था ? ॥ ३ ॥

इयं च पृथिवी सर्वा सम्लेच्छाटविका भृशम् ।
प्रसादाद् ध्रियते यस्य प्रत्यक्षं तव संजय ॥ ४ ॥

संजय ! तुमने तो प्रत्यक्ष ही देखा था कि म्लेच्छों तथा जंगली जातियोंसहित यह सारी पृथ्वी दुर्योधनकी कृपासे ही जीवन धारण करती थी ॥ ४ ॥

स तथा तर्ज्यमानस्तु पाण्डुपुत्रैर्विशेषतः ।
विहीनश्च स्वकैर्भृत्यैर्निर्जने चावृतो भृशम् ॥ ५ ॥
स श्रुत्वा कटुका वाचो जययुक्ताः पुनः पुनः ।
किमब्रवीत् पाण्डवेयांस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ६ ॥

इस समय वह अपने सेवकोंसे हीन हो चुका था और एकान्त स्थानमें घिर गया था। उस दशामें विशेषतः पाण्डवोंने जब उसे वैसी कड़ी फटकार सुनायी, तब शत्रुओंके विजयसे युक्त उन कटुवचनोंको बारंबार सुनकर दुर्योधनने पाण्डवोंसे क्या कहा ? यह मुझे बताओ ॥ ५-६ ॥

संजय उवाच

तर्ज्यमानस्तदा राजन्नुदकस्थस्तवात्मजः ।
युधिष्ठिरेण राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितेन ह ॥ ७ ॥
श्रुत्वा स कटुका वाचो विषमस्थो नराधिपः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य सलिलस्थः पुनः पुनः ॥ ८ ॥
सलिलान्तर्गतो राजा धुन्वन् हस्तौ पुनः पुनः ।
मनश्चकार युद्धाय राजानं चाभ्यभाषत ॥ ९ ॥

संजयने कहा—राजाधिराज ! राजन् ! उस समय भाइयों-सहित युधिष्ठिरने जब इस प्रकार फटकारा, तब जलमें खड़े हुए आपके पुत्रने उन कठोर वचनोंको सुनकर गरम-गरम लंबी साँस छोड़ी। राजा दुर्योधन विषम परिस्थितिमें पड़ गया था और पानीमें स्थित था; इसलिये बारंबार उच्छ्वास लेता रहा। उसने जलके भीतर ही अनेक बार दोनों हाथ हिलाकर मन-ही मन युद्धका निश्चय किया और राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ७—९ ॥

यूयं ससुहृदः पार्थाः सर्वे सरथवाहनाः ।
अहमेकः परिद्यूनो विरथो हतवाहनः ॥ १० ॥

'तुम सभी पाण्डव अपने हितैषी मित्रोंको साथ लेकर आये हो। तुम्हारे रथ और वाहन भी मौजूद हैं। मैं अकेला थका-मादा, रथहीन और वाहनशून्य हूँ ॥ १० ॥

आत्तशस्त्रै रथोपेतैर्बहुभिः परिवारितः ।
कथमेकः पदातिः सन्नशस्त्रो योद्धुमुत्सहे ॥ ११ ॥

'तुम्हारी संख्या अधिक है। तुमने रथपर बैठकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर मुझे घेर रक्खा है। फिर तुम्हारे साथ मैं अकेला पैदल और अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित होकर कैसे युद्ध कर सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

एकैकेन तु मां यूयं योधयध्वं युधिष्ठिर ।
न ह्येको बहुभिर्वीरैर्न्याय्यो योधयितुं युधि ॥ १२ ॥

'युधिष्ठिर ! तुमलोग एक-एक करके मुझसे युद्ध करो। युद्धमें बहुत-से वीरोंके साथ किसी एकको लड़नेके लिये विवश करना न्यायोचित नहीं है ॥ १२ ॥

विशेषतो विकवचः श्रान्तश्चापत्समाश्रितः ।
भृशं विक्षतगात्रश्च श्रान्तवाहनसैनिकः ॥ १३ ॥

'विशेषतः उस दशामें जिसके शरीरपर कवच नहीं हो, जो थका-माँदा, आपत्तिमें पड़ा और अत्यन्त घायल हो तथा जिसके वाहन और सैनिक भी थक गये हों, उसे युद्धके लिये विवश करना न्यायसंगत नहीं है ॥ १३ ॥

न मे त्वत्तो भयं राजन् न च पार्थाद् वृकोदरात् ।
फाल्गुनाद् वासुदेवाद् वा पञ्चालेभ्योऽथवा पुनः॥१४॥
यमाभ्यां युयुधानाद् वा ये चान्ये तव सैनिकाः ।
एकः सर्वानहं क्रुद्धो वारयिष्ये युधि स्थितः ॥ १५ ॥

'राजन् ! मुझे न तो तुमसे, न कुन्तीके बेटे भीमसेनसे, न अर्जुनसे, न श्रीकृष्णसे अथवा पाञ्चालोंसे ही कोई भय है। नकुल-सहदेव, सात्यकि तथा अन्य जो-जो तुम्हारे सैनिक हैं, उनसे भी मैं नहीं डरता। युद्धमें क्रोधपूर्वक स्थित होनेपर मैं अकेला ही तुम सब लोगोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥

धर्ममूला सतां कीर्तिर्मनुष्याणां जनाधिप ।
धर्मं चैवेह कीर्तिं च पालयन् प्रब्रवीम्यहम् ॥ १६ ॥

'नरेश्वर ! साधु पुरुषोंकी कीर्तिका मूल कारण धर्म ही है। मैं यहाँ उस धर्म और कीर्तिका पालन करता हुआ ही यह बात कह रहा हूँ ॥ १६ ॥

अहमुत्थाय सर्वान् वै प्रतियोत्स्यामि संयुगे ।
अनुगम्यागतान् सर्वानृतून् संवत्सरो यथा ॥ १७ ॥

'मैं उठकर रणभूमिमें एक-एक करके आये हुए तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करूँगा, ठीक उसी तरह, जैसे संवत्सर बारी-बारीसे आये हुए सम्पूर्ण ऋतुओंको ग्रहण करता है ॥ १७ ॥

अद्य वः सरथान् साश्वानशस्त्रो विरथोऽपि सन् ।
नक्षत्राणीव सर्वाणि सविता रात्रिसंक्षये ॥ १८ ॥
तेजसा नाशयिष्यामि स्थिरीभवत पाण्डवाः ।

'पाण्डवो ! स्थिर होकर खड़े रहो। आज मैं अस्त्र-शस्त्र एवं रथसे हीन होकर भी घोड़ों और रथोंपर चढ़कर आये हुए तुम सब लोगोंको उसी तरह अपने तेजसे नष्ट कर दूँगा, जैसे रात्रिके अन्तमें सूर्यदेव सम्पूर्ण नक्षत्रोंको अपने तेजसे अदृश्य कर देते हैं ॥ १८½ ॥

अद्यानृण्यं गमिष्यामि क्षत्रियाणां यशस्विनाम् ॥ १९ ॥
बाह्लीकद्रोणभीष्माणां कर्णस्य च महात्मनः ।
जयद्रथस्य शूरस्य भगदत्तस्य चोभयोः ॥ २० ॥
मद्रराजस्य शल्यस्य भूरिश्रवस एव च ।
पुत्राणां भरतश्रेष्ठ शकुनेः सौबलस्य च ॥ २१ ॥
मित्राणां सुहृदां चैव बान्धवानां तथैव च ।
आनृण्यमद्य गच्छामि हत्वा त्वां भ्रातृभिः सह ॥२२॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम जनाधिपः ।

'भरतश्रेष्ठ ! आज मैं भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके उन यशस्वी क्षत्रियोंके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा। बाह्लीक, द्रोण, भीष्म, महामना कर्ण, शूरवीर जयद्रथ, भगदत्त, मद्रराज-

शल्य, भूरिश्रवा, सुबलकुमार शकुनि तथा पुत्रों, मित्रों, सुहृदों एवं बन्धु-बान्धवोंके ऋणसे भी उऋण हो जाऊँगा।' राजा दुर्योधन इतना कहकर चुप हो गया॥ १९-२२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या त्वमपि जानीषे क्षत्रधर्मं सुयोधन ॥ २३ ॥
दिष्ट्या ते वर्तते बुद्धिर्युद्धायैव महाभुज ।
दिष्ट्या शूरोऽसि कौरव्य दिष्ट्या जानासि संगरम् ॥

युधिष्ठिर बोले—सुयोधन ! सौभाग्यकी बात है कि तुम भी क्षत्रिय-धर्मको जानते हो। महाबाहो ! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अभी तुम्हारा विचार युद्ध करनेका ही है। कुरुनन्दन ! तुम शूरवीर हो और युद्ध करना जानते हो—यह हर्ष और सौभाग्यकी बात है॥ २३-२४॥

यस्त्वमेको हि नः सर्वान् संगरे योद्धुमिच्छसि ।
एक एकेन संगम्य यत् ते सम्मतमायुधम् ॥ २५ ॥
तत् त्वमादाय युध्यस्व प्रेक्षकास्ते वयं स्थिताः ।

तुम रणभूमिमें अकेले ही एक-एकके साथ भिड़कर हम सब लोगोंसे युद्ध करना चाहते हो तो ऐसा ही सही। जो हथियार तुम्हें पसंद हो, उसीको लेकर हमलोगोंमेंसे एक-एकके साथ युद्ध करो। हम सब लोग दर्शक बनकर खड़े रहेंगे॥

स्वयमिष्टं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम् ॥ २६ ॥
हत्वैकं भवतो राज्यं हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।

वीर ! मैं स्वयं ही पुनः तुम्हें यह अभीष्ट वर देता हूँ कि 'हममेंसे एकका भी वध कर देनेपर सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा अथवा यदि तुम्हीं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त करोगे।'

दुर्योधन उवाच

एकश्चेद् योद्धुमाक्रन्दे शूरोऽद्य मम दीयताम् ॥ २७ ॥
आयुधानामियं चापि वृता त्वत्सम्मते गदा ।

दुर्योधन बोला—राजन् ! यदि ऐसी बात है तो इस महासमरमें मेरे साथ लड़नेके लिये आज किसी भी एक शूरवीरको दे दो और तुम्हारी सम्मतिके अनुसार हथियारोंमें मैंने एक मात्र इस गदाका ही वरण किया है॥ २७½ ॥

हन्तैकं भवतामेकः शक्यं मां योऽभिमन्यते ॥ २८ ॥
पदातिर्गदया संख्ये स युध्यतु मया सह ।

मैं हर्षके साथ कह रहा हूँ कि 'तुममेंसे कोई भी एक वीर जो मुझ अकेलेको जीत सकनेका अभिमान रखता हो, वह रणभूमिमें पैदल ही गदाद्वारा मेरे साथ युद्ध करे' ॥ २८½ ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि विचित्राणि पदे पदे ॥ २९ ॥
इदमेकं गदायुद्धं भवत्वद्याद्भुतं महत् ।

रथके विचित्र युद्ध तो पग-पगपर हुए हैं। आज यह एक अत्यन्त अद्भुत गदायुद्ध भी हो जाय॥ २९½ ॥

अस्त्राणामपि पर्यायं कर्तुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ३० ॥
युद्धानामपि पर्यायो भवत्वनुमते तव ।

मनुष्य बारी-बारीसे एक-एक अस्त्रका प्रयोग करना चाहते हैं; परंतु आज तुम्हारी अनुमतिसे युद्ध भी क्रमशः एक-एक योद्धाके साथ ही हो॥ ३०½ ॥

गदया त्वां महाबाहो विजेष्यामि सहानुजम् ॥ ३१ ॥
पञ्चालान् सृंजयांश्चैव ये चान्ये तव सैनिकाः ।
न हि मे सम्भ्रमो जातु शक्रादपि युधिष्ठिर ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! मैं गदाके द्वारा भाइयोंसहित तुमको, पाञ्चालों और सृञ्जयोंको तथा जो तुम्हारे दूसरे सैनिक हैं, उनको भी जीत लूँगा। युधिष्ठिर ! मुझे इन्द्रसे भी कभी घबराहट नहीं होती॥ ३१-३२॥

युधिष्ठिर उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारे मां योधय सुयोधन ।
एक एकेन संगम्य संयुगे गदया बली ॥ ३३ ॥
पुरुषो भव गान्धारे युध्यस्व सुसमाहितः ।
अद्य ते जीवितं नास्ति यदीन्द्रोऽपि तवाश्रयः ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर बोले—गान्धारीनन्दन ! सुयोधन ! उठो-उठो और मेरे साथ युद्ध करो। बलवान् तो तुम हो ही। युद्धमें गदाके द्वारा अकेले किसी एक वीरके साथ ही भिड़कर अपने पुरुषत्वका परिचय दो। एकाग्रचित्त होकर युद्ध करो। यदि इन्द्र भी तुम्हारे आश्रयदाता हो जायँ तो भी आज तुम्हारे प्राण नहीं बच सकते॥ ३३-३४॥

संजय उवाच

एतत् स नरशार्दूलो नामृष्यत तवात्मजः ।
सलिलान्तर्गतः श्वभ्रे महानाग इव श्वसन् ॥ ३५ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके इस कथनको जलमें स्थित हुआ आपका पुत्र पुरुषसिंह दुर्योधन नहीं सह सका। वह बिलमें बैठे हुए विशाल सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगा॥ ३५॥

तथासौ वाक्प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
वचो न ममृषे राजन्नुत्तमाश्वः कशामिव ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसे अच्छा घोड़ा कोड़ेकी मार नहीं सह सकता है, उसी प्रकार वचनरूपी चाबुकसे बारंबार पीड़ित किया जाता हुआ दुर्योधन युधिष्ठिरकी उस बातको सहन न कर सका॥

संक्षोभ्य सलिलं वेगाद् गदामादाय वीर्यवान् ।
अद्रिसारमयीं गुर्वीं काञ्चनाङ्गदभूषणाम् ॥ ३७ ॥
अन्तर्जलात् समुत्तस्थौ नागेन्द्र इव निःश्वसन् ।

वह पराक्रमी वीर बड़े वेगसे सोनेके अङ्गदसे विभूषित एवं लोहेकी बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर पानीको चीरता हुआ उसके भीतरसे उठ खड़ा हुआ और सर्पराजके समान लंबी साँस खींचने लगा॥ ३७½ ॥

स भित्त्वा स्तम्भितं तोयं स्कन्धे कृत्वाऽऽयसीं गदाम्॥
उदतिष्ठत पुत्रस्ते प्रतपन् रश्मिवानिव ।

कंधेपर लोहेकी गदा रखकर बँधे हुए जलका भेदन करके आपका वह पुत्र प्रतापी सूर्यके समान ऊपर उठा॥३८½॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं जातरूपपरिष्कृताम् ॥ ३९ ॥
गदां परामृशद् धीमान् धार्तराष्ट्रो महाबलः ।

इसके बाद महाबली बुद्धिमान् दुर्योधनने लोहेकी बनी हुई वह सुवर्णभूषित भारी गदा हाथमें ली ॥ ३९½ ॥

गदाहस्तं तु तं दृष्ट्वा सश्रृङ्गमिव पर्वतम् ॥ ४० ॥
प्रजानामिव संक्रुद्धं शूलपाणिमिव स्थितम् ।

हाथमें गदा लिये हुए दुर्योधनको पाण्डवोंने इस प्रकार देखा, मानो कोई शृङ्गयुक्त पर्वत हो अथवा प्रजापर कुपित होकर हाथमें त्रिशूल लिये हुए रुद्रदेव खड़े हों ॥ ४०½ ॥

सगदो भारतो भाति प्रतपन् भास्करो यथा ॥ ४१ ॥
तमुत्तीर्णं महाबाहुं गदाहस्तमरिंदमम् ।
मेनिरे सर्वभूतानि दण्डपाणिमिवान्तकम् ॥ ४२ ॥

वह गदाधारी भरतवंशी वीर तपते हुए सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु दुर्योधनको हाथमें गदा लिये जलसे निकला हुआ देख समस्त प्राणी ऐसा मानने लगे, मानो दण्डधारी यमराज प्रकट हो गये हों ॥ ४१-४२ ॥

वज्रहस्तं यथा शक्रं शूलहस्तं यथा हरम् ।
ददृशुः सर्वपञ्चालाः पुत्रं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! सम्पूर्ण पाञ्चालोंने आपके पुत्रको वज्रधारी इन्द्र और त्रिशूलधारी रुद्रके समान देखा ॥ ४३ ॥

तमुत्तीर्णं तु सम्प्रेक्ष्य समहृष्यन्त सर्वशः ।
पञ्चालाः पाण्डवेयाश्च तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः॥ ४४ ॥

उसे जलसे बाहर निकला देख समस्त पाञ्चाल और पाण्डव हर्षसे खिल उठे और एक-दूसरेसे हाथ मिलाने लगे ॥

अवहासं तु तं मत्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
उद्वृत्य नयने क्रुद्धो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ॥ ४५ ॥

महाराज ! उनके इस हाथ मिलनेको दुर्योधनने अपना उपहास समझा; अतः क्रोधपूर्वक आँखें घुमाकर पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें जलाकर भस्म कर देना चाहता हो ॥ ४५ ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा संदष्टदशनच्छदः ।
प्रत्युवाच ततस्तान् वै पाण्डवान् सहकेशवान् ॥ ४६ ॥

उसने अपनी भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके दाँतोंसे ओठको दबाया और श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा ॥

दुर्योधन उवाच

अस्यावहासस्य फलं प्रतिभोक्ष्यथ पाण्डवाः ।
गमिष्यथ हताः सद्यः सपञ्चाला यमक्षयम् ॥ ४७ ॥

दुर्योधन बोला—पाञ्चालो और पाण्डवो ! इस उपहासका फल तुम्हें अभी भोगना पड़ेगा; मेरे हाथसे मारे जाकर तुम तत्काल यमलोकमें पहुँच जाओगे ॥ ४७ ॥

संजय उवाच

उत्थितश्च जलात् तस्मात् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अतिष्ठत गदापाणी रुधिरेण समुक्षितः ॥ ४८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपका पुत्र दुर्योधन उस जलसे निकलकर हाथमें गदा लिये खड़ा हो गया। वह रक्तसे भीगा हुआ था ॥ ४८ ॥

तस्य शोणितदिग्धस्य सलिलेन समुक्षितम् ।
शरीरं स्म तदा भाति स्रवन्निव महीधरः ॥ ४९ ॥

उस समय खूनसे लथपथ हुए दुर्योधनका शरीर पानीसे भीगकर जलका स्रोत बहानेवाले पर्वतके समान प्रतीत होता था॥

तमुद्यतगदं वीरं मेनिरे तत्र पाण्डवाः ।
वैवस्वतमिव क्रुद्धं शूलपाणिमिव स्थितम् ॥ ५० ॥

वहाँ हाथमें गदा उठाये हुए वीर दुर्योधनको पाण्डवोंने क्रोधमें भरे हुए यमराज तथा हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए रुद्रके समान समझा ॥ ५० ॥

स मेघनिनदो हर्षान्नर्दन्निव च गोवृषः ।
आजुहाव ततः पार्थान् गदया युधि वीर्यवान् ॥ ५१ ॥

उस पराक्रमी वीरने हँकड़ते हुए साँड़के समान मेघके तुल्य गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े हर्षके साथ गदायुद्धके लिये पाण्डवोंको ललकारा ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच

एकैकेन च मां यूयमासीदत युधिष्ठिर ।
न ह्येको बहुभिर्न्याय्यो वीरो योधयितुं युधि ॥ ५२ ॥

दुर्योधन बोला—युधिष्ठिर ! तुमलोग एक-एक करके मेरे साथ युद्धके लिये आते जाओ। रणभूमिमें किसी एक वीरको बहुसंख्यक वीरोंके साथ युद्धके लिये विवश करना न्यायसंगत नहीं है ॥ ५२ ॥

न्यस्तवर्मा विशेषेण श्रान्तश्चाप्सु परिप्लुतः ।
भृशं विक्षतगात्रश्च हतवाहनसैनिकः ॥ ५३ ॥

विशेषतः उस वीरको जिसने अपना कवच उतार दिया हो, जो थककर जलमें गोता लगाकर विश्राम कर रहा हो, जिसके सारे अङ्ग अत्यन्त घायल हो गये हों तथा जिसके वाहन और सैनिक मार डाले गये हों, किसी समूहके साथ युद्धके लिये बाध्य करना कदापि उचित नहीं है ॥ ५३ ॥

अवश्यमेव योद्धव्यं सर्वैरेव मया सह ।
युक्तं त्वयुक्तमित्येतद् वेत्सि त्वं चैव सर्वदा ॥ ५४ ॥

मुझे तो तुम सब लोगोंके साथ अवश्य युद्ध करना है; परंतु इसमें क्या उचित है और क्या अनुचित; इसे तुम सदा अच्छी तरह जानते हो ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मा भूदियं तव प्रज्ञा कथमेवं सुयोधन ।
यदाभिमन्युं बहवो जघ्नुर्युधि महारथाः ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुयोधन ! जब तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर युद्धमें अभिमन्युको मारा था, उस समय तुम्हारे मनमें ऐसा विचार क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ?॥ ५५ ॥

क्षत्रधर्मं भृशं क्रूरं निरपेक्षं सुनिर्घृणम् ।
अन्यथा तु कथं हन्युरभिमन्युं तथा गतम् ॥ ५६ ॥
सर्वे भवन्तो धर्मज्ञाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ।

वास्तवमें क्षत्रिय-धर्म बड़ा ही क्रूर, किसीकी भी अपेक्षा

न रखनेवाला तथा अत्यन्त निर्दय है; अन्यथा तुम सब लोग धर्मज्ञ, शूरवीर तथा युद्धमें शरीरका विसर्जन करनेको उद्यत रहनेवाले होकर भी उस असहाय-अवस्थामें अभिमन्युका वध कैसे कर सकते थे ? ॥ ५६½ ॥

न्यायेन युध्यतां प्रोक्ता शक्रलोकगतिः परा ॥ ५७ ॥
यद्येकस्तु न हन्तव्यो बहुभिर्धर्म एव तु ।
तदाभिमन्युं बहवो निजघ्नुस्त्वन्मते कथम् ॥ ५८ ॥

न्यायपूर्वक युद्ध करनेवाले वीरोंके लिये परम उत्तम इन्द्र-लोककी प्राप्ति बतलायी गयी है । 'बहुत-से योद्धा मिलकर किसी एक वीरको न मारें' यदि यही धर्म है तो तुम्हारी सम्मतिसे अनेक महारथियोंने अभिमन्युका वध कैसे किया ? ॥

सर्वो विमृशते जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्मदर्शनम् ।
पदस्थः पिहितं द्वारं परलोकस्य पश्यति ॥ ५९ ॥

प्रायः सभी प्राणी जब स्वयं संकटमें पड़ जाते हैं तो अपनी रक्षाके लिये धर्मशास्त्रकी दुहाई देने लगते हैं और जब अपने उच्च पदपर प्रतिष्ठित होते हैं, उस समय उन्हें पर-लोकका दरवाजा बंद दिखायी देता है ॥ ५९ ॥

आमुञ्च कवचं वीर मूर्धजान् यमयस्व च ।
यच्चान्यदपि ते नास्ति तदप्यादत्स्व भारत ॥ ६० ॥

वीर भरतनन्दन ! तुम कवच धारण कर लो, अपने केशोंको अच्छी तरह बाँध लो तथा युद्धकी और कोई आवश्यक सामग्री जो तुम्हारे पास न हो, उसे भी ले लो ॥

इममेकं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम् ।
पञ्चानां पाण्डवेयानां येन त्वं योद्धुमिच्छसि ॥ ६१ ॥
तं हत्वा वै भवान् राजा हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।
ऋते च जीवितात् वीर युद्धे किं कर्म ते प्रियम् ॥ ६२ ॥

वीर ! मैं पुनः तुम्हें एक अभीष्ट वर देता हूँ—'पाँचों पाण्डवोंमेंसे जिसके साथ युद्ध करना चाहो, उस एकका ही वध कर देनेपर तुम राजा हो सकते हो अथवा यदि स्वयं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे । शूरवीर ! बताओ, युद्धमें जीवनकी रक्षाके सिवा तुम्हारा और कौन-सा प्रिय कार्य हम कर सकते हैं ? ॥ ६१-६२ ॥

संजय उवाच

ततस्तव सुतो राजन् वर्म जग्राह काञ्चनम् ।
विचित्रं च शिरस्त्राणं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ ६३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर आपके पुत्रने सुवर्णमय कवच तथा स्वर्णजटित विचित्र शिरस्त्राण धारण किया॥

सोऽवबद्धशिरस्त्राणः शुभकाञ्चनवर्मभृत् ।
रराज राजन् पुत्रस्ते काञ्चनः शैलराडिव ॥ ६४ ॥

महाराज ! शिरस्त्राण बाँधकर सुन्दर सुवर्णमय कवच धारण करके आपका पुत्र स्वर्णमय गिरिराज मेरुके समान शोभा पाने लगा ॥ ६४ ॥

संनद्धः सगदो राजन् सज्जः संग्राममूर्धनि ।
अब्रवीत् पाण्डवान् सर्वान् पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ६५ ॥

नरेश्वर ! युद्धके मुहानेपर सुसज्जित हो कवच बाँधे और गदा हाथमें लिये आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त पाण्डवोंसे कहा—॥

भ्रातॄणां भवतामेको युध्यतां गदया मया ।
सहदेवेन वा योत्स्ये भीमेन नकुलेन वा ॥ ६६ ॥
अथवा फाल्गुनेनाद्य त्वया वा भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे भाइयोंमेंसे कोई एक मेरे साथ गदा-द्वारा युद्ध करे । मैं सहदेव, नकुल, भीमसेन, अर्जुन अथवा स्वयं तुमसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ ६६½ ॥

योत्स्येऽहं संगरं प्राप्य विजेष्ये च रणाजिरे ॥ ६७ ॥
अहमद्य गमिष्यामि वैरस्यान्तं सुदुर्गमम् ।
गदया पुरुषव्याघ्र हेमपट्टनिबद्धया ॥ ६८ ॥

'रणक्षेत्रमें पहुँचकर मैं तुममेंसे किसी एकके साथ युद्ध करूँगा और मेरा विश्वास है कि समराङ्गणमें विजय पाऊँगा । पुरुषसिंह ! आज मैं सुवर्णपत्रजटित गदाके द्वारा वैरके उस पार पहुँच जाऊँगा, जहाँ जाना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ६७-६८ ॥

गदायुद्धे न मे कश्चित् सदृशोऽस्तीति चिन्तये ।
गदया वो हनिष्यामि सर्वानेव समागतान् ॥ ६९ ॥

'मैं इस बातको सदा याद रखता हूँ कि 'गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ।' गदाके द्वारा सामने आनेपर मैं तुम सभी लोगोंको मार डालूँगा ॥ ६९ ॥

न मे समर्थाः सर्वे वै योद्धुं न्यायेन केचन ।
न युक्तमात्मना वक्तुमेवं गर्वोद्धतं वचः ।
अथवा सफलं ह्येतत् करिष्ये भवतां पुरः ॥ ७० ॥

'तुम सभी लोग अथवा तुममेंसे कोई भी मेरे साथ न्यायपूर्वक युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो । मुझे स्वयं ही अपने विषयमें इस प्रकार गर्वसे उद्धत वचन नहीं कहना चाहिये, तथापि कहना पड़ा है अथवा कहनेकी क्या आवश्यकता ? मैं तुम्हारे सामने ही यह सब सफल कर दिखाऊँगा ॥ ७० ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सत्यं वा मिथ्या वैतद् भविष्यति ।
गृह्णातु च गदां यो वै योत्स्यतेऽद्य मया सह ॥ ७१ ॥

'मेरा वचन सत्य है या मिथ्या, यह इसी मुहूर्तमें स्पष्ट हो जायगा । आज मेरे साथ जो भी युद्ध करनेको उद्यत हो, वह गदा उठावे' ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युधिष्ठिरदुर्योधनसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युधिष्ठिर और दुर्योधनका संवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२॥

मित्रावरुणके आश्रममें बलरामजीकी देवर्षि नारदजीसे भेंट

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको फटकारना, भीमसेनकी प्रशंसा तथा भीम और दुर्योधनमें वाग्युद्ध

संजय उवाच

एवं दुर्योधने राजन् गर्जमाने मुहुर्मुहुः।
युधिष्ठिरस्य संक्रुद्धो वासुदेवोऽब्रवीदिदम्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब यों कहकर दुर्योधन बारंबार गर्जना करने लगा, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त कुपित होकर युधिष्ठिरसे बोले—॥ १॥

यदि नाम ह्ययं युद्धे वरयेत् त्वां युधिष्ठिर।
अर्जुनं नकुलं चैव सहदेवमथापि वा॥ २॥

'युधिष्ठिर! यदि यह दुर्योधन युद्धमें तुमको, अर्जुनको अथवा नकुल या सहदेवको ही युद्धके लिये वरण कर ले, तब क्या होगा?॥ २॥

किमिदं साहसं राजंस्त्वया व्याहृतमीदृशम्।
एकमेव निहत्याजौ भव राजा कुरुष्विति॥ ३॥

'राजन्! आपने क्यों ऐसी दुःसाहस पूर्ण बात कह डाली कि 'तुम हममेंसे एकको ही मारकर कौरवोंका राजा हो जाओ'॥

न समर्थानहं मन्ये गदाहस्तस्य संयुगे।
एतेन हि कृता योग्या वर्षाणीह त्रयोदश॥ ४॥
आयसे पुरुषे राजन् भीमसेनजिघांसया।

'मैं नहीं मानता कि आपलोग युद्धमें गदाधारी दुर्योधनका सामना करनेमें समर्थ हैं। राजन्! इसने भीमसेनका वध करनेकी इच्छासे उनकी लोहेकी मूर्तिके साथ तेरह वर्षोंतक गदायुद्धका अभ्यास किया है॥ ४½॥

कथं नाम भवेत् कार्यमस्माभिर्भरतर्षभ॥ ५॥
साहसं कृतवांस्त्वं तु ह्यनुक्रोशान्नृपोत्तम।

'भरतभूषण! अब हमलोग अपना कार्य कैसे सिद्ध कर सकते हैं? नृपश्रेष्ठ! आपने दयावश यह दुःसाहसपूर्ण कार्य कर डाला है॥ ५½॥

नान्यमस्यानुपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे॥ ६॥
ऋते वृकोदरात् पार्थात् स च नातिकृतश्रमः।

'मैं कुन्तीपुत्र भीमसेनके सिवा, दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो गदायुद्धमें दुर्योधनका सामना कर सके, परंतु भीमसेनने भी अधिक परिश्रम नहीं किया है॥ ६½॥

तदिदं द्यूतमारब्धं पुनरेव यथा पुरा॥ ७॥
विषमं शकुनेश्चैव तव चैव विशाम्पते।

'इस समय आपने पहलेके समान ही पुनः यह जूएका खेल आरम्भ कर दिया है। प्रजानाथ! आपका यह जूआ शकुनिके जूएसे कहीं अधिक भयंकर है॥ ७½॥

बली भीमः समर्थश्च कृती राजा सुयोधनः॥ ८॥
बलवान् वा कृती वेति कृती राजन् विशिष्यते।

'राजन्! माना कि भीमसेन बलवान् और समर्थ हैं, परंतु राजा दुर्योधनने अभ्यास अधिक किया है। एक ओर बलवान् हो और दूसरी ओर युद्धका अभ्यासी, तो उनमें युद्धका अभ्यास करनेवाला ही बड़ा माना जाता है॥ ८½॥

सोऽयं राजंस्त्वया शत्रुः समे पथि निवेशितः॥ ९॥
न्यस्तश्चात्मा सुविषमे कृच्छ्रमापादिता वयम्।

'अतः महाराज! आपने अपने शत्रुको समान मार्गपर ला दिया है। अपने आपको तो भारी सङ्कटमें फँसाया ही है, हमलोगोंको भी भारी कठिनाईमें डाल दिया है॥ ९½॥

को नु सर्वान् विनिर्जित्य शत्रूनेकेन वैरिणा॥ १०॥
कृच्छ्रप्राप्तेन च तथा हारयेद् राज्यमागतम्।
पणित्वा चैकपाणेन रोचयेदेवमाहवम्॥ ११॥

'भला कौन ऐसा होगा, जो सब शत्रुओंको जीत लेनेके बाद जब एक ही बाकी रह जाय और वह भी सङ्कटमें पड़ा हो तो उसके साथ अपने हाथमें आये हुए राज्यको दाँवपर लगाकर हार जाय और इस प्रकार एकके साथ युद्ध करनेकी शर्त रखकर लड़ना पसंद करे?॥ १०-११॥

न हि पश्यामि तं लोके योऽद्य दुर्योधनं रणे।
गदाहस्तं विजेतुं वै शक्तः स्यादमरोऽपि हि॥ १२॥

'मैं संसारमें किसी भी शूरवीरको, वह देवता ही क्यों न हो, ऐसा नहीं देखता, जो आज रणभूमिमें गदाधारी दुर्योधनको परास्त करनेमें समर्थ हो॥ १२॥

न त्वं भीमो न नकुलः सहदेवोऽथ फाल्गुनः।
जेतुं न्यायेन शक्तो वै कृती राजा सुयोधनः॥ १३॥

'आप, भीमसेन, नकुल, सहदेव अथवा अर्जुन—कोई भी न्यायपूर्वक युद्ध करके दुर्योधनपर विजय नहीं पा सकते; क्योंकि राजा सुयोधनने गदायुद्धका अधिक अभ्यास किया है॥

स कथं वदसे शत्रुं युध्यस्व गदयेति हि।
एकं च नो निहत्याजौ भव राजेति भारत॥ १४॥

'भारत! जब ऐसी अवस्था है, तब आपने अपने शत्रुसे कैसे यह कह दिया कि 'तुम गदाद्वारा युद्ध करो और हममेंसे किसी एकको मारकर राजा हो जाओ'॥ १४॥

वृकोदरं समासाद्य संशयो वै जये हि नः।
न्यायतो युध्यमानानां कृती ह्येष महाबलः॥ १५॥

'भीमसेनपर युद्धका भार रक्खा जाय तो भी हमें विजय मिलनेमें संदेह है; क्योंकि न्यायपूर्वक युद्ध करनेवाले योद्धाओंमें महाबली सुयोधनका अभ्यास सबसे अधिक है।१५।

एकं वास्मान् निहत्य त्वं भव राजेति वै पुनः।
नूनं न राज्यभागेषा पाण्डोः कुन्त्याश्च संततिः॥ १६॥
अत्यन्तवनवासाय सृष्टा भैक्ष्याय वा पुनः।

'फिर भी आपने बारंबार कहा है कि 'तुम हमलोगोंमेंसे एकको भी मारकर राजा हो जाओ।' निश्चय ही राजा पाण्डु और कुन्तीदेवीकी संतान राज्य भोगनेकी अधिकारिणी नहीं है। विधाताने इसे अनन्त कालतक वनवास करने अथवा भीख माँगनेके लिये ही पैदा किया है'॥ १६½॥

भीमसेन उवाच

मधुसूदन मा कार्षीर्विषादं यदुनन्दन ॥ १७ ॥
अद्य पारं गमिष्यामि वैरस्य भृशदुर्गमम् ।

यह सुनकर भीमसेन बोले—मधुसूदन ! आप विषाद न करें । यदुनन्दन ! मैं आज वैरकी उस अन्तिम सीमापर पहुँच जाऊँगा, जहाँ जाना दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ १७½ ॥

अहं सुयोधनं संख्ये हनिष्यामि न संशयः ॥ १८ ॥
विजयो वै ध्रुवः कृष्ण धर्मराजस्य दृश्यते ।

श्रीकृष्ण ! इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि मैं युद्धमें सुयोधनको मार डालूँगा । मुझे तो धर्मराजकी निश्चय ही विजय दिखायी देती है ॥ १८½ ॥

अध्यर्धेन गुणेनेयं गदा गुरुतरी मम ॥ १९ ॥
न तथा धार्तराष्ट्रस्य मा कार्षीर्माधव व्यथाम् ।
अहमेनं हि गदया संयुगे योद्धुमुत्सहे ॥ २० ॥

मेरी यह गदा दुर्योधनकी गदासे डेढ़गुनी भारी है । ऐसी दुर्योधनकी गदा नहीं है; अतः माधव ! आप व्यथित न हों । मैं समराङ्गणमें इस गदाद्वारा इससे भिड़नेका उत्साह रखता हूँ ॥ १९-२० ॥

भवन्तः प्रेक्षकाः सर्वे मम सन्तु जनार्दन ।
सामरानपि लोकांस्त्रीन् नानाशस्त्रधरान् युधि ॥ २१ ॥
योधयेयं रणे कृष्ण किमुताद्य सुयोधनम् ।

जनार्दन ! आप सब लोग दर्शक बनकर मेरा युद्ध देखते रहें । श्रीकृष्ण ! मैं रणक्षेत्रमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले देवताओंसहित तीनों लोकोंके साथ युद्ध कर सकता हूँ; फिर इस सुयोधनकी तो बात ही क्या है ? ॥

संजय उवाच

तथा सम्भाषमाणं तु वासुदेवो वृकोदरम् ॥ २२ ॥
हृष्टः सम्पूजयामास वचनं चेदमब्रवीत् ।

संजय कहते हैं—महाराज ! भीमसेनने जब ऐसी बात कही, तब भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे और इस प्रकार बोले—॥ २२½ ॥

त्वामाश्रित्य महाबाहो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥
निहतारिः स्वकां दीप्तां श्रियं प्राप्तो न संशयः ।
त्वया विनिहताः सर्वे धृतराष्ट्रसुता रणे ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! इसमें संदेह नहीं कि धर्मराज युधिष्ठिरने तुम्हारा आश्रय लेकर ही शत्रुओंका संहार करके पुनः अपनी उज्ज्वल राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर लिया है । धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तुम्हारे ही हाथसे युद्धमें मारे गये हैं ॥ २३-२४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च नागाश्च विनिपातिताः ।
कलिङ्गा मागधाः प्राच्या गान्धाराः कुरवस्तथा ॥ २५ ॥
त्वामासाद्य महायुद्धे निहताः पाण्डुनन्दन ।

'तुमने कितने ही राजाओं, राजकुमारों और गजराजोंको मार गिराया है । पाण्डुनन्दन ! कलिङ्ग, मगध, प्राच्य, गान्धार और कुरुदेशके योद्धा भी इस महायुद्धमें तुम्हारे सामने आकर कालके गालमें चले गये हैं ॥ २५½ ॥

हत्वा दुर्योधनं चापि प्रयच्छोर्वीं ससागराम् ॥ २६ ॥
धर्मराजाय कौन्तेय यथा विष्णुः शचीपतेः ।

'कुन्तीकुमार ! जैसे भगवान् विष्णुने शचीपति इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य प्रदान किया था, उसी प्रकार तुम भी दुर्योधनका वध करके समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी धर्मराज युधिष्ठिरको समर्पित कर दो ॥ २६½ ॥

त्वां च प्राप्य रणे पापो धार्तराष्ट्रो विनङ्क्ष्यति ॥ २७ ॥
त्वमस्य सक्थिनी भङ्क्त्वा प्रतिज्ञां पालयिष्यसि ।

'अवश्य ही रणभूमिमें तुमसे टक्कर लेकर पापी दुर्योधन नष्ट हो जायगा और तुम उसकी दोनों जाँघें तोड़कर अपनी प्रतिज्ञाका पालन करोगे ॥ २७½ ॥

यत्नेन तु सदा पार्थ योद्धव्यो धृतराष्ट्रजः ॥ २८ ॥
कृती च बलवांश्चैव युद्धशौण्डश्च नित्यदा ।

'किंतु पार्थ ! तुम्हें दुर्योधनके साथ सदा प्रयत्नपूर्वक युद्ध करना चाहिये; क्योंकि वह अभ्यासकुशल, बलवान् और युद्धकी कलामें निरन्तर चतुर है' ॥ २८½ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् पूजयामास पाण्डवम् ॥ २९ ॥
पञ्चालाः पाण्डवेयाश्च धर्मराजपुरोगमाः ।
तद् वचो भीमसेनस्य सर्व एवाभ्यपूजयन् ॥ ३० ॥

राजन् ! तदनन्तर सात्यकिने पाण्डुपुत्र भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । धर्मराज आदि पाण्डव तथा पाञ्चाल समीने भीमसेनके उस वचनका बड़ा आदर किया ॥ २९-३० ॥

ततो भीमबलो भीमो युधिष्ठिरमथाब्रवीत् ।
सृंजयैः सह तिष्ठन्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भयंकर बलशाली भीमसेनने सृंजयोंके साथ खड़े हुए तपते सूर्यके समान तेजस्वी युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३१ ॥

अहमेतेन संगम्य संयुगे योद्धुमुत्सहे ।
न हि शक्तो रणे जेतुं मामेष पुरुषाधमः ॥ ३२ ॥

'भैया ! मैं रणभूमिमें इस दुर्योधनके साथ भिड़कर लड़नेका उत्साह रखता हूँ । यह नराधम मुझे युद्धमें परास्त नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निहितं हृदये भृशम् ।
सुयोधने धार्तराष्ट्रे खाण्डवेऽग्निमिवार्जुनः ॥ ३३ ॥

'मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो अत्यन्त क्रोध संचित है, उसे आज मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे अर्जुनने खाण्डव वनमें अग्निदेवको छोड़ा था ॥ ३३ ॥

शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पाण्डव हृच्छयम् ।
निहत्य गदया पापमद्य राजन् सुखी भव ॥ ३४ ॥

'पाण्डुनन्दन ! नरेश ! आज मैं गदाद्वारा पापी दुर्योधन-का वध करके आपके हृदयका काँटा निकाल दूँगा; अतः आप सुखी होइये ॥ ३४ ॥

अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्ये तवानघ ।
प्राणाञ्छ्रियं च राज्यं च मोक्ष्यतेऽद्य सुयोधनः ॥ ३५ ॥

'अनघ ! आज आपके गलेमें मैं कीर्तिमयी माला

पहुनाऊँगा तथा आज यह दुर्योधन अपने राज्यलक्ष्मी और प्राणोंका परित्याग करेगा ॥ ३५ ॥

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं मया हतम् ।
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत् तच्छकुनिबुद्धिजम् ॥ ३६ ॥

'आज मेरे हाथसे पुत्रको मारा गया सुनकर राजा धृतराष्ट्र शकुनिकी सलाहसे किये हुए अपने अशुभ कर्मोंको याद करेंगे' ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।
उदतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर भरतवंशी वीरोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी भीमसेन गदा उठाकर युद्धके लिये उठ खड़े हुए और जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको ललकारा था, उसी प्रकार उन्होंने दुर्योधनका आह्वान किया ॥ ३७ ॥

तदाह्वानममृष्यन् वै तव पुत्रोऽतिवीर्यवान् ।
प्रत्युपस्थित एवाशु मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ३८ ॥

महाराज ! उस समय आपका अत्यन्त पराक्रमी पुत्र दुर्योधन भीमसेनकी उस ललकारको न सह सका । वह तुरंत ही उनका सामना करनेके लिये उपस्थित हो गया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त गजराजसे भिड़नेको उद्यत हो गया हो ॥ ३८ ॥

गदाहस्तं तव सुतं युद्धाय समुपस्थितम् ।
ददृशुः पाण्डवाः सर्वे कैलासमिव शृङ्गिणम् ॥ ३९ ॥

हाथमें गदा लेकर युद्धके लिये उपस्थित हुए आपके पुत्रको समस्त पाण्डवोंने शृङ्गधारी कैलासपर्वतके समान देखा॥

तमेकाकिनमासाद्य धार्तराष्ट्रं महाबलम् ।
वियूथमिव मातङ्गं समहृष्यन्त पाण्डवाः ॥ ४० ॥

जैसे कोई मतवाला हाथी अपने यूथसे बिछुड़ गया हो, उसी प्रकार अकेले आये हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनको पाकर समस्त पाण्डव हर्षसे खिल उठे ॥ ४० ॥

न सम्भ्रमो न च भयं न च ग्लानिर्न च व्यथा ।
आसीद् दुर्योधनस्यापि स्थितः सिंह इवाहवे ॥ ४१ ॥

उस समय दुर्योधनके मनमें न घबराहट थी, न भय । न ग्लानि थी, न व्यथा । वह युद्धस्थलमें सिंहके समान निर्भय खड़ा था ॥ ४१ ॥

समुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनस्तदा राजन् दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन् ! शृङ्गधारी कैलासपर्वतके समान गदा उठाये दुर्योधनको देखकर भीमसेनने उससे कहा—॥ ४२ ॥

राज्ञापि धृतराष्ट्रेण त्वया चास्मासु यत् कृतम् ।
स्मर तद् दुष्कृतं कर्म यद् भूतं वारणावते ॥ ४३ ॥

'दुर्योधन ! तूने तथा राजा धृतराष्ट्रने भी हमलोगोंपर जो-जो अत्याचार किया था और वारणावत नगरमें जो कुछ हुआ था, उन सारे पापकर्मोंको याद कर ले ॥ ४३ ॥

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला ।
द्यूते यद् विजितो राजा शकुनेर्बुद्धिनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

यानि चान्यानि दुष्टात्मन् पापानि कृतवानसि ।
अनागःसु च पार्थेषु तस्य पश्य महत् फलम् ॥ ४५ ॥

'दुरात्मन् ! तूने भरी सभामें रजस्वला द्रौपदीको क्लेश पहुँचाया, शकुनिकी सलाह लेकर राजा युधिष्ठिरको कपटपूर्वक जूएमें हराया तथा निरपराध कुन्तीपुत्रोंपर दूसरे-दूसरे जो पाप एवं अत्याचार किये थे, उन सबका महान् अशुभ फल आज तू अपनी आँखों देख ले ॥ ४४-४५ ॥

त्वत्कृते निहतः शेते शरतल्पे महायशाः ।
गाङ्गेयो भरतश्रेष्ठः सर्वेषां नः पितामहः ॥ ४६ ॥

'तेरे ही कारण हम सब लोगोंके पितामह महायशस्वी गङ्गानन्दन भरतश्रेष्ठ भीष्मजी आज शरशय्यापर पड़े हुए हैं॥

हतो द्रोणश्च कर्णश्च हतः शल्यः प्रतापवान् ।
वैरस्य चादिकर्तासौ शकुनिर्निहतो रणे ॥ ४७ ॥

'तेरी ही करतूतोंसे आचार्य द्रोण, कर्ण, प्रतापी शल्य तथा वैरका आदि स्रष्टा वह शकुनि—ये सभी रणभूमिमें मारे गये हैं ॥ ४७ ॥

भ्रातरस्ते हताः शूराः पुत्राश्च सहसैनिकाः ।
राजानश्च हताः शूराः समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ४८ ॥

'तेरे भाई, शूरवीर पुत्र, सैनिक तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य बहुत-से शौर्यसम्पन्न नरेश भी मृत्युके अधीन हो गये हैं ॥ ४८ ॥

एते चान्ये च निहता बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
प्रातिकामी तथा पापो द्रौपद्याः क्लेशकृद्धतः ॥ ४९ ॥

'ये तथा दूसरे बहुसंख्यक क्षत्रियशिरोमणि वीर मार डाले गये हैं । द्रौपदीको क्लेश पहुँचानेवाले पापी प्रातिकामीका भी वध हो चुका है ॥ ४९ ॥

अवशिष्टस्त्वमेवैकः कुलघ्नोऽधमपूरुषः ।
त्वामप्यद्य हनिष्यामि गदया नात्र संशयः ॥ ५० ॥

'अब इस वंशका नाश करनेवाला नराधम एकमात्र तू ही बच गया है । आज इस गदासे तुझे भी मार डालूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ ५० ॥

अद्य तेऽहं रणे दर्पं सर्वं नाशयिता नृप ।
राज्याशां विपुलां राजन् पाण्डवेषु च दुष्कृतम्॥ ५१ ॥

'नरेश्वर ! आज रणभूमिमें मैं तेरा सारा घमंड चूर्ण कर दूँगा । राजन् ! तेरे मनमें राज्य पानेकी जो बड़ी भारी लालसा है, उसका तथा पाण्डवोंपर तेरे द्वारा किये जानेवाले अत्याचारोंका भी अन्त कर डालूँगा' ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच

किं कत्थितेन बहुना युद्ध्यस्वाद्य मया सह ।
अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां वृकोदर ॥ ५२ ॥

दुर्योधन बोला—वृकोदर ! बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? आज मेरे साथ भिड़ तो सही । मैं युद्धका तेरा सारा हौसला मिटा दूँगा ॥ ५२ ॥

किं न पश्यसि मां पाप गदायुद्धे व्यवस्थितम् ।
हिमवच्छिखराकारां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ५३ ॥

पापी ! क्या तू देखता नहीं कि मैं हिमालयके शिखरकी भाँति विशाल गदा हाथमें लेकर युद्धके लिये खड़ा हूँ॥

गदिनं कोऽद्य मां पाप हन्तुमुत्सहते रिपुः।
न्यायतो युद्ध्यमानश्च देवेष्वपि पुरन्दरः॥ ५४॥

ओ पापी ! आज कौन ऐसा शत्रु है, जो मेरे हाथमें गदा रहते हुए भी मुझे मार सके। न्यायपूर्वक युद्ध करते हुए देवताओंके राजा इन्द्र भी मुझे परास्त नहीं कर सकते॥

मा वृथा गर्ज कौन्तेय शारदाभ्रमिवाजलम्।
दर्शयस्व बलं युद्धे यावत् तत् तेऽद्य विद्यते॥ ५५॥

कुन्तीपुत्र ! शरद् ऋतुके निर्जल मेघकी भाँति व्यर्थ गर्जना न कर। आज तेरे पास जितना बल हो, वह सब युद्धमें दिखा॥ ५५॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पाण्डवाः सहसृंजयाः।
सर्वे सम्पूजयामासुस्तद्वचो विजिगीषवः॥ ५६॥

दुर्योधनका यह वचन सुनकर विजयकी इच्छा रखनेवाले समस्त पाण्डवों और सृंजयोंने भी उसकी बड़ी सराहना की॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं तलशब्देन मानवाः।
भूयः संहर्षयामासू राजन् दुर्योधनं नृपम्॥ ५७॥

राजन् ! जैसे मतवाले हाथीको मनुष्य ताली बजाकर कुपित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बारंबार ताल ठोककर राजा दुर्योधनके युद्धविषयक हर्ष और उत्साहको बढ़ाया॥

बृंहन्ति कुञ्जरास्तत्र हया ह्रेषन्ति चासकृत्।
शस्त्राणि सम्प्रदीप्यन्ते पाण्डवानां जयैषिणाम्॥५८॥

उस समय वहाँ विजयाभिलाषी पाण्डवोंके हाथी बारंबार चिग्घाड़ने और घोड़े हिनहिनाने लगे। साथ ही उनके अस्त्र-शस्त्र दीप्तिसे प्रकाशित हो उठे॥ ५८॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि भीमसेनदुर्योधनसंवादे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें भीमसेन और दुर्योधनका संवादविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

बलरामजीका आगमन और स्वागत तथा भीमसेन और दुर्योधनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

तस्मिन् युद्धे महाराज सुसंवृत्ते सुदारुणे।
उपविष्टेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु॥ १॥
ततस्तालध्वजो रामस्तयोर्युद्ध उपस्थिते।
श्रुत्वा तच्छिष्ययो राजन्नाजगाम हलायुधः॥ २॥

संजय कहते हैं—महाराज ! वह अत्यन्त भयंकर युद्ध जब आरम्भ होने लगा और समस्त महात्मा पाण्डव उसे देखनेके लिये बैठ गये, उस समय अपने दोनों शिष्योंका संग्राम उपस्थित होनेपर उसका समाचार सुन तालचिह्नित ध्वजवाले हलधारी बलरामजी वहाँ आ पहुँचे॥ १-२॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीताः पाण्डवाः सहकेशवाः।
उपगम्योपसंगृह्य विधिवत् प्रत्यपूजयन्॥ ३॥

उन्हें देखकर श्रीकृष्णसहित पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने निकट जाकर उनका चरणस्पर्श किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा की॥ ३॥

पूजयित्वा ततः पश्चादिदं वचनमब्रुवन्।
शिष्ययोः कौशलं युद्धे पश्य रामेति पार्थिव॥ ४॥

राजन् ! पूजनके पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा—'बलरामजी ! अपने दोनों शिष्योंका युद्धकौशल देखिये'॥

अब्रवीच्च तदा रामो दृष्ट्वा कृष्णं सपाण्डवम्।
दुर्योधनं च कौरव्यं गदापाणिमवस्थितम्॥ ५॥
चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै।
पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः॥ ६॥
शिष्ययोर्वै गदायुद्धं द्रष्टुकामोऽस्मि माधव।

उस समय बलरामजीने श्रीकृष्ण, पाण्डव तथा हाथमें गदा लेकर खड़े हुए कुरुवंशी दुर्योधनकी ओर देखकर कहा—'माधव ! तीर्थयात्राके लिये निकले हुए आज मुझे बयालीस दिन हो गये। पुष्य नक्षत्रमें चला था और श्रवण नक्षत्रमें पुनः वापस आया हूँ। मैं अपने दोनों शिष्योंका गदायुद्ध देखना चाहता हूँ'॥ ५-६½॥

ततस्तदा गदाहस्तौ दुर्योधनवृकोदरौ॥ ७॥
युद्धभूमिं गतौ वीरावुभावेव रराजतुः।

तदनन्तर गदा हाथमें लेकर दुर्योधन और भीमसेन युद्ध-भूमिमें उतरे। वे दोनों ही वीर वहाँ बड़ी शोभा पा रहे थे॥

ततो युधिष्ठिरो राजा परिष्वज्य हलायुधम्॥ ८॥
स्वागतं कुशलं चास्मै पर्यपृच्छद् यथातथम्।

उस समय राजा युधिष्ठिरने बलरामजीको हृदयसे लगाकर उनका स्वागत किया और यथोचितरूपसे उनका कुशल-समाचार पूछा॥ ८½॥

कृष्णौ चापि महेष्वासावभिवाद्य हलायुधम्॥ ९॥
सस्वजाते परिप्रीतौ प्रीयमाणौ यशस्विनौ।

यशस्वी महाधनुर्धर श्रीकृष्ण और अर्जुन भी बलरामजीको प्रणाम करके अत्यन्त प्रसन्न हो प्रेमपूर्वक उनके हृदयसे लग गये॥ ९½॥

माद्रीपुत्रौ तथा शूरौ द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः॥ १०॥
अभिवाद्य स्थिता राजन् रौहिणेयं महाबलम्।

राजन् ! माद्रीके दोनों शूरवीर पुत्र नकुल-सहदेव और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी रोहिणीनन्दन महाबली बलरामजीको प्रणाम करके उनके पास विनीतभावसे खड़े हो गये॥१०½॥

भीमसेनोऽथ बलवान् पुत्रस्तव जनाधिप॥ ११॥
तथैव चोद्यतगदौ पूजयामासतुर्बलम्।

नरेश्वर ! भीमसेन और आपका बलवान् पुत्र दुर्योधन इन दोनोंने गदाको ऊँचे उठाकर बलरामजीके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया॥ ११½॥

पाण्डवोंद्वारा बलरामजीकी पूजा

स्वागतेन च ते तत्र प्रतिपूज्य समन्ततः ॥ १२ ॥
पश्य युद्धं महाबाहो इति ते राममब्रुवन् ।
एवमूचुर्महात्मानं रौहिणेयं नराधिपाः ॥ १३ ॥

वे सब नरेश सब ओरसे स्वागतपूर्वक समादर करके वहाँ महात्मा रोहिणीपुत्र बलरामजीसे बोले—'महाबाहो ! युद्ध देखिये' ॥ १२-१३ ॥

परिष्वज्य तदा रामः पाण्डवान् सहसृञ्जयान् ।
अपृच्छत् कुशलं सर्वान् पार्थिवांश्चामितौजसः ॥१४॥

उस समय बलरामजीने पाण्डवों, सृंजयों तथा अमित बलशाली सम्पूर्ण भूपालोंको हृदयसे लगाकर उनका कुशल-मङ्गल पूछा ॥ १४ ॥

तथैव ते समासाद्य पप्रच्छुस्तमनामयम् ।
प्रत्यभ्यर्च्य हली सर्वान् क्षत्रियांश्च महात्मनः ॥ १५ ॥
कृत्वा कुशलसंयुक्तां संविदं च यथावयः ।
जनार्दनं सात्यकिं च प्रेम्णा स परिषस्वजे ॥ १६ ॥

उसी प्रकार वे राजा भी उनसे मिलकर उनके आरोग्यका समाचार पूछने लगे । हलधरने सम्पूर्ण महामनस्वी क्षत्रियोंका समादर करके अवस्थाके अनुसार क्रमशः उनसे कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा की और श्रीकृष्ण तथा सात्यकिको प्रेमपूर्वक छातीसे लगा लिया ॥ १५-१६ ॥

मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय कुशलं पर्यपृच्छत ।
तौ च तं विधिवद् राजन् पूजयामासतुर्गुरुम् ॥ १७ ॥
ब्रह्माणमिव देवेशमिन्द्रोपेन्द्रौ मुदान्वितौ ।

राजन् ! इन दोनोंका मस्तक सूँघकर उन्होंने कुशल-समाचार पूछा और उन दोनोंने भी अपने गुरुजन बलरामजीका विधिपूर्वक पूजन किया । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्र और उपेन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक देवेश्वर ब्रह्माजीकी पूजा की थी ॥

ततोऽब्रवीद् धर्मसुतो रौहिणेयमरिंदमम् ॥ १८ ॥
इदं भ्रात्रोर्महायुद्धं पश्य रामेति भारत ।

भारत ! तत्पश्चात् धर्मपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुदमन रोहिणीकुमारसे कहा—'बलरामजी ! दोनों भाइयोंका यह महान् युद्ध देखिये' ॥ १८½ ॥

तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ॥ १९ ॥
न्यविशत् परमप्रीतः पूज्यमानो महारथैः ।

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णके बड़े भ्राता महाबाहु बलवान् श्रीराम उन महारथियोंसे पूजित हो उनके बीचमें अत्यन्त प्रसन्न होकर बैठे ॥ १९½ ॥

स बभौ राजमध्यस्थो नीलवासाः सितप्रभः ॥ २० ॥
दिवीव नक्षत्रगणैः परिकीर्णो निशाकरः ।

राजाओंके मध्यभागमें बैठे हुए नीलाम्बरधारी गौरकान्ति बलरामजी आकाशमें नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ २०½ ॥

ततस्तयोः संनिपातस्तुमुलो लोमहर्षणः ॥ २१ ॥
आसीदन्तकरो राजन् वैरस्य तव पुत्रयोः ॥ २२ ॥

राजन् ! तदनन्तर आपके उन दोनों पुत्रोंमें वैरका अन्त कर देनेवाला भयंकर एवं रोमाञ्चकारी संग्राम होने लगा ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलरामजीका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

बलदेवजीकी तीर्थयात्रा तथा प्रभास-क्षेत्रके प्रभावका वर्णनके प्रसंगमें चन्द्रमाके शापमोचनकी कथा

जनमेजय उवाच

पूर्वमेव यदा रामस्तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ।
आमन्त्र्य केशवं यातो वृष्णिभिः सहितः प्रभुः ॥ १ ॥
साहाय्यं धार्तराष्ट्रस्य न च कर्तास्मि केशव ।
न चैव पाण्डुपुत्राणां गमिष्यामि यथागतम् ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! जब महाभारतयुद्ध आरम्भ होनेका समय निकट आ गया, उस समय युद्ध प्रारम्भ होनेसे पहले ही भगवान् बलराम श्रीकृष्णकी सम्मति ले, अन्य वृष्णिवंशियोंके साथ तीर्थयात्राके लिये चले गये और जाते समय यह कह गये कि 'केशव ! मैं न तो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी सहायता करूँगा और न पाण्डवोंकी ही' ॥ १-२ ॥

एवमुक्त्वा तदा रामो यातः क्षत्रनिबर्हणः ।
तस्य चागमनं भूयो ब्रह्मञ्शंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

विप्रवर ! उन दिनों ऐसी बात कहकर जब क्षत्रिय-संहारक बलरामजी चले गये, तब उनका पुनः आगमन कैसे हुआ, यह बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

आख्याहि मे विस्तरशः कथं राम उपस्थितः ।
कथं च दृष्टवान् युद्धं कुशलो ह्यसि सत्तम ॥ ४ ॥

साधुशिरोमणे ! आप कथा कहनेमें कुशल हैं; अतः मुझे विस्तारपूर्वक बताइये कि बलरामजी कैसे वहाँ उपस्थित हुए और किस प्रकार उन्होंने युद्ध देखा ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
प्रेषितो धृतराष्ट्रस्य समीपं मधुसूदनः ॥ ५ ॥
शमं प्रति महाबाहो हितार्थं सर्वदेहिनाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! जिन दिनों महामनस्वी पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें छावनी डालकर ठहरे हुए थे, उन्हीं दिनोंकी बात है । महाबाहो ! पाण्डवोंने समस्त प्राणियोंके हितके लिये सन्धिके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रके पास भेजा ॥ ५½ ॥

स गत्वा हास्तिनपुरं धृतराष्ट्रं समेत्य च ॥ ६ ॥
उक्तवान् वचनं तथ्यं हितं चैव विशेषतः ।

भगवान्‌ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्रसे भेंट की और उनसे सबके लिये विशेष हितकारक एवं यथार्थ बातें कहीं ॥

न च तत् कृतवान् राजा यथा ख्यातं हि तत् पुरा॥ ७ ॥
अनवाप्य शमं तत्र कृष्णः पुरुषसत्तमः।
आगच्छत महाबाहुरुपप्लव्यं जनाधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! किंतु राजा धृतराष्ट्रने भगवान्‌का कहना नहीं माना । यह सब बात पहले यथार्थरूपसे बतायी गयी है। महाबाहु पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ संधि करानेमें सफलता न मिलनेपर पुनः उपप्लव्यमें ही लौट आये ॥७-८॥

ततः प्रत्यागतः कृष्णो धार्तराष्ट्रविसर्जितः।
अक्रियायां नरव्याघ्र पाण्डवानिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

नरव्याघ्र ! कार्य न होनेपर धृतराष्ट्रसे विदा ले वहाँसे लौटे हुए श्रीकृष्णने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

न कुर्वन्ति वचो मह्यं कुरवः कालनोदिताः।
निर्गच्छध्वं पाण्डवेयाः पुष्येण सहिता मया ॥ १० ॥

'कौरव कालके अधीन हो रहे हैं, इसलिये वे मेरा कहना नहीं मानते हैं । पाण्डवो ! अब तुमलोग मेरे साथ पुष्य नक्षत्रमें युद्धके लिये निकल पड़ो' ॥ १० ॥

ततो विभज्यमानेषु बलेषु बलिनां वरः।
प्रोवाच भ्रातरं कृष्णं रौहिणेयो महामनाः ॥ ११ ॥

इसके बाद जब सेनाका बटवारा होने लगा, तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महामना बलदेवजीने अपने भाई श्रीकृष्णसे कहा—॥

तेषामपि महाबाहो साहाय्यं मधुसूदन ।
क्रियतामिति तत् कृष्णो नास्य चक्रे वचस्तदा ॥ १२ ॥

'महाबाहु मधुसूदन ! उनकौरवोंकी भी सहायता करना।' परंतु श्रीकृष्णने उस समय उनकी यह बात नहीं मानी' ॥

ततो मन्युपरीतात्मा जगाम यदुनन्दनः।
तीर्थयात्रां हलधरः सरस्वत्यां महायशाः॥ १३ ॥

इससे मन-ही-मन कुपित और खिन्न होकर महायशस्वी यदुनन्दन हलधर सरस्वतीके तटपर तीर्थयात्राके लिये चल दिये॥

मैत्रनक्षत्रयोगे स सहितः सर्वयादवैः।
आश्रयामास भोजस्तु दुर्योधनमरिंदमः ॥ १४ ॥

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले कृतवर्माने सम्पूर्ण यादवोंके साथ अनुराधानक्षत्रमें दुर्योधनका पक्ष ग्रहण किया॥

युयुधानेन सहितो वासुदेवस्तु पाण्डवान् ।
रौहिणेये गते शूरे पुष्येण मधुसूदनः ॥ १५ ॥
पाण्डवेयान् पुरस्कृत्य ययावभिमुखः कुरून् ।

सात्यकिसहित भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंका पक्ष लिया। रोहिणीनन्दन शूरवीर बलरामजीके चले जानेपर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको आगे करके पुष्यनक्षत्रमें कुरुक्षेत्रकी ओर प्रस्थान किया ॥ १५½ ॥

गच्छन्नेव पथिस्थस्तु रामः प्रेष्यानुवाच ह ॥ १६ ॥
सम्भारांस्तीर्थयात्रायां सर्वोपकरणानि च ।
आनयध्वं द्वारकायामग्नीन् वै याजकांस्तथा ॥ १७ ॥

यात्रा करते हुए बलरामजीने स्वयं मार्गमें ही रहकर अपने सेवकोंसे कहा—'तुमलोग शीघ्र ही द्वारका जाकर वहाँसे तीर्थयात्रामें काम आनेवाली सब सामग्री, समस्त आवश्यक उपकरण, अग्निहोत्रकी अग्नि तथा पुरोहितोंको ले आओ ॥

सुवर्णं रजतं चैव धेनूर्वासांसि वाजिनः।
कुञ्जरांश्च रथांश्चैव खरोष्ट्रं वाहनानि च ॥ १८ ॥
क्षिप्रमानीयतां सर्वं तीर्थहेतोः परिच्छदम् ।

'सोना, चाँदी, दूध देनेवाली गायें, वस्त्र, घोड़े, हाथी, रथ, गदहा और ऊँट आदि वाहन एवं तीर्थोपयोगी सब सामान शीघ्र ले आओ ॥ १८½ ॥

प्रतिस्रोतः सरस्वत्या गच्छध्वं शीघ्रगामिनः ॥ १९ ॥
ऋत्विजश्चानयध्वं वै शतशश्च द्विजर्षभान् ।

'शीघ्रगामी सेवको ! तुम सरस्वतीके स्रोतकी ओर चलो और सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा ऋत्विजोंको ले आओ' ॥१९½॥

एवं संदिश्य तु प्रेष्यान् बलदेवो महाबलः ॥ २० ॥
तीर्थयात्रां ययौ राजन् कुरूणां वैशसे तदा ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतः समन्तादभिजग्मिवान् ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भिश्च सुहृद्भिश्च तथान्यैर्द्विजसत्तमैः।
रथैर्गजैस्तथाश्वैश्च प्रेष्यैश्च भरतर्षभ ॥ २२ ॥
गोखरोष्ट्रप्रयुक्तैश्च यानैश्च बहुभिर्वृतः।

राजन् ! महाबली बलदेवजीने सेवकोंको ऐसी आज्ञा देकर उस समय कुरुक्षेत्रमें ही तीर्थयात्रा आरम्भ कर दी। भरतश्रेष्ठ ! वे सरस्वतीके स्रोतकी ओर चलकर उसके दोनों तटोंपर गये। उनके साथ ऋत्विज, सुहृद्, अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मण, रथ, हाथी, घोड़े और सेवक भी थे। बैल, गदहा और ऊँटोंसे जुते हुए बहुसंख्यक रथोंसे बलरामजी घिरे हुए थे॥

श्रान्तानां क्लान्तवपुषां शिशूनां विपुलायुषाम् ॥ २३ ॥
देशे देशे तु देयानि दानानि विविधानि च ।
अर्चायै चार्थिनां राजन् क्लृप्तानि बहुशस्तथा॥ २४ ॥

राजन् ! उस समय उन्होंने देश-देशमें थके-माँदे रोगी, बालक और वृद्धोंका सत्कार करनेके लिये नाना प्रकारकी देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रामें तैयार करा रक्खी थीं ॥२३-२४॥

तानि यानीह देशेषु प्रतीक्षन्ति स्म भारत ।
बुभुक्षितानामर्थाय क्लृप्तमन्नं समन्ततः ॥ २५ ॥

भारत ! विभिन्न देशोंमें लोग जिन वस्तुओंकी इच्छा रखते थे, उन्हें वे ही दी जाती थीं। भूखोंको भोजन करानेके लिये सर्वत्र अन्नका प्रबन्ध किया गया था ॥ २५ ॥

यो यो यत्र द्विजो भोज्यं भोक्तुं कामयते तदा ।
तस्य तस्य तु तत्रैवमुपजह्रुस्तदा नृप ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! जिस किसी देशमें जो-जो ब्राह्मण जब कभी भोजनकी इच्छा प्रकट करता, बलरामजीके सेवक उसे वहीं तत्काल खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित करते थे ॥ २६ ॥

तत्र तत्र स्थिता राजन् रौहिणेयस्य शासनात् ।
भक्ष्यपेयस्य कुर्वन्ति राशींस्तत्र समन्ततः ॥ २७ ॥

राजन् ! रोहिणीकुमार बलरामजीकी आज्ञासे उनके सेवक विभिन्न तीर्थस्थानोंमें खाने-पीनेकी वस्तुओंके ढेर लगाये रखते थे ॥ २७ ॥

वासांसि च महार्हाणि पर्यङ्कास्तरणानि च ।

पूजार्थं तत्र क्लृप्तानि विप्राणां सुखमिच्छताम्॥ २८ ॥

सुख चाहनेवाले ब्राह्मणोंके सत्कारके लिये बहुमूल्य वस्त्र, पलंग और बिछौने तैयार रक्खे जाते थे ॥ २८ ॥

यत्र यः स्वपते विप्रो यो वा जागर्ति भारत ।
तत्र तत्र तु तस्यैव सर्वं क्लृप्तमदृश्यत ॥ २९ ॥

भारत ! जो ब्राह्मण जहाँ भी सोता या जागता था, वहाँ-वहाँ उसके लिये सारी आवश्यक वस्तुएँ सदा प्रस्तुत दिखायी देती थीं ॥ २९ ॥

यथासुखं जनः सर्वो याति तिष्ठति वै तदा ।
यातुकामस्य यानानि पानानि तृषितस्य च ॥ ३० ॥
बुभुक्षितस्य चान्नानि स्वादूनि भरतर्षभ ।
उपजह्रुर्नरास्तत्र वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस यात्रामें सब लोग सुखपूर्वक चलते और विश्राम करते थे । यात्रीकी इच्छा हो तो उसे सवारियाँ दी जाती थीं, प्यासेको पानी और भूखेको स्वादिष्ठ अन्न दिये जाते थे । साथ ही वहाँ बलरामजीके सेवक वस्त्र और आभूषण भी भेंट करते थे ॥ ३०-३१ ॥

स पन्थाः प्रबभौ राजन् सर्वस्यैव सुखावहः ।
स्वर्गोपमस्तदा वीर नराणां तत्र गच्छताम् ।
नित्यप्रमुदितोपेतः स्वादुभक्ष्यः शुभान्वितः ॥ ३२ ॥

वीर नरेश ! वहाँ यात्रा करनेवाले सब लोगोंको वह मार्ग स्वर्गके समान सुखदायक प्रतीत होता था । उस मार्गमें सदा आनन्द रहता, स्वादिष्ठ भोजन मिलता और शुभकी ही प्राप्ति होती थी ॥ ३२ ॥

विपण्यापणपण्यानां नानाजनशतैर्वृतः ।
नानाद्रुमलतोपेतो नानारत्नविभूषितः ॥ ३३ ॥

उस पथपर खरीदने-बेचनेकी वस्तुओंका बाजार भी साथ-साथ चलता था, जिसमें नाना प्रकारके सैकड़ों मनुष्य भरे रहते थे । वह हाट भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अनेकानेक रत्नोंसे विभूषित दिखायी देता था॥

ततो महात्मा नियमे स्थितात्मा
पुण्येषु तीर्थेषु वसूनि राजन् ।
ददौ द्विजेभ्यः क्रतुदक्षिणाश्च
यदुप्रवीरो हलभृत् प्रतीतः ॥ ३४ ॥

राजन् ! यदुकुलके प्रमुख वीर हलधारी महात्मा बलराम नियमपूर्वक रहकर प्रसन्नताके साथ पुण्यतीर्थोंमें ब्राह्मणोंको धन और यज्ञकी दक्षिणाएँ देते थे ॥ ३४ ॥

दोग्ध्रीश्च धेनूश्च सहस्रशो वै
सुवाससः काञ्चनबद्धशृङ्गीः ।
हयांश्च नानाविधदेशजातान्
यानानि दासांश्च शुभान् द्विजेभ्यः॥ ३५ ॥
रत्नानि मुक्तामणिविद्रुमं चा-
प्यग्र्यं सुवर्णं रजतं सुशुद्धम् ।
अयस्मयं ताम्रमयं च भाण्डं
ददौ द्विजातिप्रवरेषु रामः ॥ ३६ ॥

बलरामने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सहस्रों दूध देनेवाली गौएँ दान कीं, जिन्हें सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित करके उनके सींगोंमें सोनेके पत्र जड़े गये थे । साथ ही उन्होंने अनेक देशोंमें उत्पन्न घोड़े, रथ और सुन्दर वेश-भूषावाले दास भी ब्राह्मणोंकी सेवामें अर्पित किये । इतना ही नहीं, बलरामने भाँति-भाँतिके रत्न, मोती, मणि, मूँगा, उत्तम सुवर्ण, विशुद्ध चाँदी तथा लोहे और ताँबेके बर्तन भी बाँटे थे ॥ ३५-३६ ॥

एवं स वित्तं प्रददौ महात्मा
सरस्वतीतीर्थवरेषु भूरि ।
ययौ क्रमेणाप्रतिमप्रभाव-
स्ततः कुरुक्षेत्रमुदारवृत्तिः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार उदार वृत्तिवाले अनुपम प्रभावशाली महात्मा बलरामने सरस्वतीके श्रेष्ठ तीर्थोंमें बहुत धन दान किया और क्रमशः यात्रा करते हुए वे कुरुक्षेत्रमें आये ॥ ३७ ॥

जनमेजय उवाच

सारस्वतानां तीर्थानां गुणोत्पत्तिं वदस्व मे ।
फलं च द्विपदां श्रेष्ठ कर्मनिर्वृत्तिमेव च ॥ ३८ ॥
यथाक्रमेण भगवंस्तीर्थानामनुपूर्वशः ।
ब्रह्मन् ब्रह्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं हि मे ॥ ३९ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें उत्तम ब्राह्मणदेव ! अब आप मुझे सरस्वती-तटवर्ती तीर्थोंके गुण, प्रभाव और उत्पत्तिकी कथा सुनाइये । भगवन् ! क्रमशः उन तीर्थोंके सेवनका फल और जिस कर्मसे वहाँ सिद्धि प्राप्त होती है, उसका अनुष्ठान भी बताइये, मेरे मनमें यह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ ३८-३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तीर्थानां च फलं राजन् गुणोत्पत्तिं च सर्वशः ।
मयोच्यमानं वै पुण्यं शृणु राजेन्द्र कृत्स्नशः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र ! मैं तुम्हें तीर्थोंके गुण, प्रभाव, उत्पत्ति तथा उनके सेवनका पुण्य-फल बता रहा हूँ । वह सब तुम ध्यानसे सुनो ॥ ४० ॥

पूर्वं महाराज यदुप्रवीर
ऋत्विक्सुहृद्विप्रगणैश्च सार्धम् ।
पुण्यं प्रभासं समुपाजगाम
यत्रोडुराड् यक्ष्मणा क्लिश्यमानः॥ ४१ ॥
विमुक्तशापः पुनराप्य तेजः
सर्वं जगद् भासयते नरेन्द्र ।
एवं तु तीर्थप्रवरं पृथिव्यां
प्रभासनात् तस्य ततः प्रभासः ॥ ४२ ॥

महाराज ! यदुकुलके प्रमुख वीर बलरामजी सबसे पहले ऋत्विजों, सुहृदों और ब्राह्मणोंके साथ पुण्यमय प्रभासक्षेत्रमें गये, जहाँ राजयक्ष्मासे कष्ट पाते हुए चन्द्रमाको शापसे छुटकारा मिला था । नरेन्द्र ! वे वहीं पुनः अपना तेज प्राप्त करके सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करते हैं । इस प्रकार चन्द्रमाको प्रभासित करनेके कारण ही वह प्रधान तीर्थ इस पृथ्वीपर प्रभास नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१-४२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं तु भगवन् सोमो यक्ष्मणा समगृह्यत ।
कथं च तीर्थप्रवरे तस्मिंश्चन्द्रो न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! चन्द्रमा कैसे राजयक्ष्मासे ग्रस्त हो गये और उस उत्तम तीर्थमें किस प्रकार उन्होंने स्नान किया ? ॥ ४३ ॥

कथमाप्लुत्य तस्मिंस्तु पुनराप्यायितः शशी ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामुने ॥ ४४ ॥

महामुने ! उस तीर्थमें गोता लगाकर चन्द्रमा पुनः किस प्रकार हृष्ट-पुष्ट हुए ? यह सब प्रसंग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

दक्षस्य तनयास्तात प्रादुरासन् विशाम्पते ।
स सप्तविंशतिं कन्या दक्षः सोमाय वै ददौ ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! प्रजानाथ ! प्रजापति दक्षके बहुत-सी संतानें उत्पन्न हुई थीं । उनमेंसे अपनी सत्ताईस कन्याओंका विवाह उन्होंने चन्द्रमाके साथ कर दिया था ॥ ४५ ॥

नक्षत्रयोगनिरताः संख्यानार्थं च ताभवन् ।
पत्न्यो वै तस्य राजेन्द्र सोमस्य शुभकर्मणः ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! शुभ कर्म करनेवाले सोमकी वे पत्नियाँ समयकी गणनाके लिये नक्षत्रोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण उसी नामसे विख्यात हुईं ॥ ४६ ॥

तास्तु सर्वा विशालाक्ष्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
अत्यरिच्यत तासां तु रोहिणी रूपसम्पदा ॥ ४७ ॥

वे सब-की-सब विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती थीं । इस भूतलपर उनके रूपकी समानता करनेवाली कोई स्त्री नहीं थी । उनमें भी रोहिणी अपने रूप-वैभवकी दृष्टिसे सबकी अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी थी ॥ ४७ ॥

ततस्तस्यां स भगवान् प्रीतिं चक्रे निशाकरः ।
सास्य हृद्या बभूवाथ तस्मात् तां बुभुजे सदा ॥ ४८ ॥

इसलिये भगवान् चन्द्रमा उससे अधिक प्रेम करने लगे, वही उनकी हृदयवल्लभा हुई; अतः वे सदा उसीका उपभोग करते थे ॥ ४८ ॥

पुरा हि सोमो राजेन्द्र रोहिण्यामवसत् परम् ।
ततस्ताः कुपिताः सर्वा नक्षत्राख्या महात्मनः ॥ ४९ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें चन्द्रमा सदा रोहिणीके ही समीप रहते थे; अतः नक्षत्रनामसे प्रसिद्ध हुई महात्मा सोमकी वे सारी पत्नियाँ उनपर कुपित हो उठीं ॥ ४९ ॥

ता गत्वा पितरं प्राहुः प्रजापतिमतन्द्रिताः ।
सोमो वसति नास्मासु रोहिणीं भजते सदा ॥ ५० ॥

और आलस्य छोड़कर अपने पिताके पास जाकर बोलीं—'प्रभो ! चन्द्रमा हमारे पास नहीं आते । वे सदा रोहिणीका ही सेवन करते हैं ॥ ५० ॥

ता वयं सहिताः सर्वास्त्वत्सकाशे प्रजेश्वर ।
वत्स्यामो नियताहारास्तपश्चरणतत्पराः ॥ ५१ ॥

'अतः प्रजेश्वर ! हम सब बहिनें एक साथ नियमित आहार करके तपस्यामें संलग्न हो आपके ही पास रहेंगी' ॥

श्रुत्वा तासां तु वचनं दक्षः सोममथाब्रवीत् ।
समं वर्तस्व भार्यासु मा त्वाधर्मो महान् स्पृशेत्॥५२॥

उनकी यह बात सुनकर प्रजापति दक्षने चन्द्रमासे कहा—'सोम ! तुम अपनी सभी पत्नियोंके साथ समानतापूर्ण बर्ताव करो, जिससे तुम्हें महान् पाप न लगे' ॥ ५२ ॥

तास्तु सर्वाब्रवीद् दक्षो गच्छध्वं शशिनोऽन्तिकम् ।
समं वत्स्यति सर्वासु चन्द्रमा मम शासनात् ॥ ५३ ॥

फिर दक्षने उन सभी कन्याओंसे कहा—'अब तुमलोग चन्द्रमाके पास ही जाओ । वे मेरी आज्ञासे तुम सब लोगोंके प्रति समान भाव रक्खेंगे' ॥ ५३ ॥

विसृष्टास्तास्तथा जग्मुः शीतांशुभवनं तदा ।
तथापि सोमो भगवान् पुनरेव महीपते ॥ ५४ ॥
रोहिणीं निवसत्येव प्रीयमाणो मुहुर्मुहुः ।

पृथ्वीनाथ ! पिताके विदा करनेपर वे पुनः चन्द्रमाके घरमें लौट गयीं, तथापि भगवान् सोम फिर रोहिणीके पास ही अधिकाधिक प्रेमपूर्वक रहने लगे ॥ ५४½ ॥

ततस्ताः सहिताः सर्वा भूयः पितरमब्रुवन् ॥ ५५ ॥
तव शुश्रूषणे युक्ता वत्स्यामो हि तवान्तिके ।
सोमो वसति नास्मासु नाकरोद् वचनं तव ॥ ५६ ॥

तब वे सब कन्याएँ पुनः एक साथ अपने पिताके पास जाकर बोलीं—'हम सब लोग आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपके ही समीप रहेंगी । चन्द्रमा हमारे साथ नहीं रहते । उन्होंने आपकी बात नहीं मानी' ॥ ५५-५६ ॥

तासां तद् वचनं श्रुत्वा दक्षः सोममथाब्रवीत् ।
समं वर्तस्व भार्यासु मा त्वां शप्स्ये विरोचन ॥ ५७ ॥

उनकी बात सुनकर दक्षने पुनः सोमसे कहा—'प्रकाशमान चन्द्रदेव ! तुम अपनी सभी पत्नियोंके साथ समान बर्ताव करो, नहीं तो तुम्हें शाप दे दूँगा' ॥ ५७ ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं दक्षस्य भगवाञ्शशी ।
रोहिण्या सार्धमवसत् ततस्ताः कुपिताः पुनः ॥ ५८ ॥
गत्वा च पितरं प्राहुः प्रणम्य शिरसा तदा ।
सोमो वसति नास्मासु तस्मान्नः शरणं भव ॥ ५९ ॥

दक्षके इतना कहनेपर भी भगवान् चन्द्रमा उनकी बातकी अवहेलना करके केवल रोहिणीके ही साथ रहने लगे । यह देख दूसरी स्त्रियाँ पुनः क्रोधसे जल उठीं और पिताके पास जा उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करनेके अनन्तर बोलीं—'भगवन् ! सोम हमारे पास नहीं रहते । अतः आप हमें शरण दें ॥ ५८-५९ ॥

रोहिण्यामेव भगवान् सदा वसति चन्द्रमाः ।
न त्वद्वचो गणयति नास्मासु स्नेहमिच्छति ॥ ६० ॥
तस्मान्नस्त्राहि सर्वा वै यथा नः सोम आविशेत् ।

'भगवान् चन्द्रमा सदा रोहिणीके ही समीप रहते हैं । वे आपकी बातको कुछ गिनते ही नहीं हैं । हमलोगोंपर स्नेह

रखना नहीं चाहते हैं; अतः आप हम सब लोगोंकी रक्षा करें, जिससे चन्द्रमा हमारे साथ भी सम्बन्ध रक्खें' ॥ ६०½ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धो यक्ष्माणं पृथिवीपते ॥ ६१ ॥
ससर्ज रोषात् सोमाय स चोडुपतिमाविशत् ।

पृथ्वीनाथ ! यह सुनकर भगवान् दक्ष कुपित हो उठे । उन्होंने चन्द्रमाके लिये रोषपूर्वक राजयक्ष्माकी सृष्टि की । वह चन्द्रमाके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ६१½ ॥

स यक्ष्मणाभिभूतात्माक्षीयताहरहः शशी ॥ ६२ ॥
यत्नं चाप्यकरोद् राजन् मोक्षार्थं तस्य यक्ष्मणः ।

यक्ष्मासे शरीर ग्रस्त हो जानेके कारण चन्द्रमा प्रतिदिन क्षीण होने लगे । राजन् ! उस यक्ष्मासे छूटनेके लिये उन्होंने बड़ा यत्न किया ॥ ६२½ ॥

इष्ट्वेष्टिभिर्महाराज विविधाभिर्निशाकरः ॥ ६३ ॥
न चामुच्यत शापाद् वै क्षयं चैवाभ्यगच्छत ।

महाराज ! नाना प्रकारके यज्ञ-यागोंका अनुष्ठान करके भी चन्द्रमा उस शापसे मुक्त न हो सके और धीरे-धीरे क्षीण होते चले गये ॥ ६३½ ॥

क्षीयमाणे ततः सोमे ओषध्यो न प्रजज्ञिरे ॥ ६४ ॥
निरास्वादरसाः सर्वा हतवीर्याश्च सर्वशः ।

चन्द्रमाके क्षीण होनेसे अन्न आदि ओषधियाँ उत्पन्न नहीं होती थीं । उन सबके स्वाद, रस और प्रभाव नष्ट हो गये ॥

ओषधीनां क्षये जाते प्राणिनामपि संक्षयः ॥ ६५ ॥
कृशाश्चासन् प्रजाः सर्वाः क्षीयमाणे निशाकरे ।

ओषधियोंके क्षीण होनेसे समस्त प्राणियोंका भी क्षय होने लगा । इस प्रकार चन्द्रमाके क्षयके साथ-साथ सारी प्रजा अत्यन्त दुर्बल हो गयी ॥ ६५½ ॥

ततो देवाः समागम्य सोममूचुर्महीपते ॥ ६६ ॥
किमिदं भवतो रूपमीदृशं न प्रकाशते ।
कारणं ब्रूहि नः सर्वं येनेदं ते महद् भयम् ॥ ६७ ॥
श्रुत्वा तु वचनं त्वत्तो विधास्यामस्ततो वयम् ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय देवताओंने चन्द्रमासे मिलकर पूछा—'आपका रूप ऐसा कैसे हो गया ? यह प्रकाशित क्यों नहीं होता है ? हमलोगोंसे सारा कारण बताइये, जिससे आपको महान् भय प्राप्त हुआ । आपकी बात सुनकर हमलोग इस संकटके निवारणका कोई उपाय करेंगे' ॥ ६६-६७½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच सर्वांस्ताञ्शशलक्षणः ॥ ६८ ॥
शापस्य लक्षणं चैव यक्ष्माणं च तथाऽऽत्मनः ।

उनके इस प्रकार पूछनेपर चन्द्रमाने उन सबको उत्तर देते हुए अपनेको प्राप्त हुए शापके कारण राजयक्ष्माकी उत्पत्ति बतलायी ॥ ६८½ ॥

देवास्तथा वचः श्रुत्वा गत्वा दक्षमथाब्रुवन् ॥ ६९ ॥
प्रसीद भगवन् सोमे शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।

उनका वचन सुनकर देवता दक्षके पास जाकर बोले—'भगवन् ! आप चन्द्रमापर प्रसन्न होइये और यह शाप हटा लीजिये ॥ ६९½ ॥

असौ हि चन्द्रमाः क्षीणः किञ्चिच्छेषो हि लक्ष्यते ॥ ७० ॥
क्षयाच्चैवास्य देवेश प्रजाश्चैव गताः क्षयम् ।
वीरुदोषधयश्चैव बीजानि विविधानि च ॥ ७१ ॥

'चन्द्रमा क्षीण हो चुके हैं और उनका कुछ ही अंश शेष दिखायी देता है । देवेश्वर ! उनके क्षयसे लता, वीरुत्, ओषधियाँ भाँति-भाँतिके बीज और सम्पूर्ण प्रजा भी क्षीण हो गयी है॥

तेषां क्षये क्षयोऽस्माकं विनास्माभिर्जगच्च किम् ।
इति ज्ञात्वा लोकगुरो प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७२ ॥

'उन सबके क्षीण होनेपर हमारा भी क्षय हो जायगा । फिर हमारे बिना संसार कैसे रह सकता है ? लोकगुरो ! ऐसा जानकर आपको चन्द्रदेवपर अवश्य कृपा करनी चाहिये'॥

एवमुक्तस्ततो देवान् प्राह वाक्यं प्रजापतिः ।
नैतच्छक्यं मम वचो व्यावर्तयितुमन्यथा ॥ ७३ ॥
हेतुना तु महाभागा निवर्तिष्यति केनचित् ।

उनके ऐसा कहनेपर प्रजापति दक्ष देवताओंसे इस प्रकार बोले—'महाभाग देवगण ! मेरी बात पलटी नहीं जा सकती । किसी विशेष कारणसे वह स्वतः निवृत्त हो जायगी ॥७३½॥

समं वर्ततु सर्वासु शशी भार्यासु नित्यशः ॥ ७४ ॥
सरस्वत्या वरे तीर्थे उन्मज्जञ्शशलक्षणः ।
पुनर्वर्धिष्यते देवास्तद् वै सत्यं वचो मम ॥ ७५ ॥

'यदि चन्द्रमा अपनी सभी पत्नियोंके प्रति सदा समान बर्ताव करें और सरस्वतीके श्रेष्ठ तीर्थमें गोता लगायें तो वे पुनः बढ़कर पुष्ट हो जायेंगे । देवताओ ! मेरी यह बात अवश्य सच होगी ॥ ७४-७५ ॥

मासार्धं च क्षयं सोमो नित्यमेव गमिष्यति ।
मासार्धं तु सदा वृद्धिं सत्यमेतद् वचो मम ॥ ७६ ॥

'सोम आधे मासतक प्रतिदिन क्षीण होंगे और आधे मासतक निरन्तर बढ़ते रहेंगे । मेरी यह बात अवश्य सत्य होगी ॥ ७६ ॥

समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसङ्गमम् ।
आराधयतु देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यति ॥ ७७ ॥

'पश्चिमी समुद्रके तटपर जहाँ सरस्वती और समुद्रका सङ्गम हुआ है, वहाँ जाकर चन्द्रमा देवेश्वर महादेवजीकी आराधना करें तो पुनः ये अपनी कान्ति प्राप्त कर लेंगे'॥७७॥

सरस्वतीं ततः सोमः स जगामर्षिशासनात् ।
प्रभासं प्रथमं तीर्थं सरस्वत्या जगाम ह ॥ ७८ ॥

ऋषि (दक्ष प्रजापति) के इस आदेशसे सोम सरस्वतीके प्रथम तीर्थ प्रभासक्षेत्रमें गये ॥ ७८ ॥

अमावास्यां महातेजास्तत्रोन्मज्जन् महाद्युतिः ।
लोकान् प्रभासयामास शीतांशुत्वमवाप च ॥ ७९ ॥

महातेजस्वी महाकान्तिमान् चन्द्रमाने अमावास्याको उस तीर्थमें गोता लगाया । इससे उन्हें शीतल किरणें प्राप्त हुईं और वे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करने लगे ॥ ७९ ॥

देवास्तु सर्वे राजेन्द्र प्रभासं प्राप्य पुष्कलम् ।
सोमेन सहिता भूत्वा दक्षस्य प्रमुखेऽभवन् ॥ ८० ॥

राजेन्द्र ! फिर सम्पूर्ण देवता सोमके साथ महान् प्रकाश प्राप्त करके पुनः दक्षप्रजापतिके सामने उपस्थित हुए ॥८०॥

ततः प्रजापतिः सर्वा विससर्जाथ देवताः ।
सोमं च भगवान् प्रीतो भूयो वचनमब्रवीत् ॥ ८१ ॥

तब भगवान् प्रजापतिने समस्त देवताओंको विदा कर दिया और सोमसे पुनः प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ८१ ॥

मावमंस्थाः स्त्रियः पुत्र मा च विप्रान् कदाचन ।
गच्छ युक्तः सदा भूत्वा कुरु वै शासनं मम ॥ ८२ ॥

'बेटा ! अपनी स्त्रियों तथा ब्राह्मणोंकी कभी अवहेलना न करना । जाओ, सदा सावधान रहकर मेरी आज्ञाका पालन करते रहो' ॥ ८२ ॥

स विसृष्टो महाराज जगामाथ स्वमालयम् ।
प्रजाश्च मुदिता भूत्वा पुनस्तस्थुर्यथा पुरा ॥ ८३ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर प्रजापतिने उन्हें विदा कर दिया । चन्द्रमा अपने स्थानको चले गये और सारी प्रजा पूर्ववत् प्रसन्न रहने लगी ॥ ८३ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यथा शप्तो निशाकरः ।
प्रभासं च यथा तीर्थं तीर्थानां प्रवरं महत् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार चन्द्रमाको जैसे शाप प्राप्त हुआ था और महान् प्रभासतीर्थ जिस प्रकार सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ माना गया, वह सारा प्रसङ्ग मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ ८४ ॥

अमावास्यां महाराज नित्यशः शशलक्षणः ।
स्नात्वा ह्याप्यायते श्रीमान् प्रभासे तीर्थ उत्तमे ॥ ८५ ॥

महाराज ! चन्द्रमा उत्तम प्रभासतीर्थमें प्रत्येक अमावास्याको स्नान करके कान्तिमान् एवं पुष्ट होते हैं ॥ ८५ ॥

अतश्चैतत् प्रजानन्ति प्रभासमिति भूमिप ।
प्रभां हि परमां लेभे तस्मिन्नुन्मज्ज्य चन्द्रमाः ॥ ८६ ॥

भूमिपाल ! इसीलिये सब लोग इसे प्रभासतीर्थके नामसे जानते हैं; क्योंकि उसमें गोता लगाकर चन्द्रमाने उत्कृष्ट प्रभा प्राप्त की थी ॥ ८६ ॥

ततस्तु चमसोद्भेदमच्युतस्त्वगमद् बली ।
चमसोद्भेद इत्येवं यं जनाः कथयन्त्युत ॥ ८७ ॥

तदनन्तर भगवान् बलराम चमसोद्भेद नामक तीर्थमें गये । उस तीर्थको सब लोग चमसोद्भेदके नामसे ही पुकारते हैं ॥

तत्र दत्त्वा च दानानि विशिष्टानि हलायुधः ।
उषित्वा रजनीमेकां स्नात्वा च विधिवत्तदा ॥ ८८ ॥
उदपानमथागच्छत्त्वरावान् केशवाग्रजः ।
आद्यं स्वस्त्ययनं चैव यत्रावाप्य महत् फलम् ॥ ८९ ॥
स्निग्धत्वादोषधीनां च भूमेश्च जनमेजय ।
जानन्ति सिद्धा राजेन्द्र नष्टामपि सरस्वतीम् ॥ ९० ॥

श्रीकृष्णके बड़े भाई हलधारी बलरामने वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके उत्तम दान दे एक रात रहकर बड़ी उतावली-के साथ वहाँसे उदपानतीर्थको प्रस्थान किया, जो मङ्गल-कारी आदि तीर्थ है । राजेन्द्र जनमेजय ! उदपान वह तीर्थ है, जहाँ उपस्थित होने मात्रसे महान् फलकी प्राप्ति होती है । सिद्ध पुरुष वहाँ ओषधियों (वृक्षों और लताओं) की स्निग्धता और भूमिकी आर्द्रता देखकर अदृश्य हुई सरस्वती-को भी जान लेते हैं ॥ ८८—९० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां प्रभासोत्पत्तिकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें प्रभासतीर्थका वर्णनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उदपानतीर्थकी उत्पत्तिकी तथा त्रित मुनिके कूपमें गिरने, वहाँ यज्ञ करने और अपने भाइयोंको शाप देनेकी कथा

वैशम्पायन उवाच

तस्मान्नदीगतं चापि ह्युदपानं यशस्विनः ।
त्रितस्य च महाराज जगामाथ हलायुधः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उस चमसोद्भेद-तीर्थसे चलकर बलरामजी यशस्वी त्रितमुनिके उदपान तीर्थमें गये, जो सरस्वती नदीके जलमें स्थित है ॥ १ ॥

तत्र दत्त्वा बहु द्रव्यं पूजयित्वा तथा द्विजान् ।
उपस्पृश्य च तत्रैव प्रहृष्टो मुसलायुधः ॥ २ ॥

मुसलधारी बलरामजीने वहाँ जलका स्पर्श, आचमन एवं स्नान करके बहुत-सा द्रव्य दान करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंका पूजन किया । फिर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

तत्र धर्मपरो भूत्वा त्रितः स सुमहातपाः ।
कूपे च वसता तेन सोमः पीतो महात्मना ॥ ३ ॥

वहाँ महातपस्वी त्रितमुनि धर्मपरायण होकर रहते थे । उन महात्माने कुएँमें रहकर ही सोमपान किया था ॥ ३ ॥

तत्र चैनं समुत्सृज्य भ्रातरौ जग्मतुर्गृहान् ।
ततस्तौ वै शशापाथ त्रितो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ४ ॥

उनके दो भाई उस कुएँमें ही उन्हें छोड़कर घरको चले गये थे । इससे ब्राह्मणश्रेष्ठ त्रितने दोनोंको शाप दे दिया था ॥ ४ ॥

जनमेजय उवाच

उदपानं कथं ब्रह्मन् कथं च सुमहातपाः ।
पतितः किं च संत्यक्तो भ्रातृभ्यां द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कूपे कथं च हित्वैनं भ्रातरौ जग्मतुर्गृहान् ।
कथं च याजयामास पपौ सोमं च वै कथम् ॥ ६ ॥
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मञ्श्रोतव्यं यदि मन्यसे ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! उदपान तीर्थ कैसे हुआ ? वे महातपस्वी त्रितमुनि उसमें कैसे गिर पड़े और द्विजश्रेष्ठ ! उनके दोनों भाइयोंने उन्हें क्यों वहीं छोड़ दिया था ? क्या कारण था, जिससे वे दोनों भाई उन्हें कुएँमें ही त्यागकर घर चले गये थे ? वहाँ रहकर उन्होंने यज्ञ और सोमपान कैसे किया ? ब्रह्मन् ! यदि यह प्रसङ्ग मेरे सुनने योग्य समझें तो अवश्य मुझे बतावें ॥ ५-६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

आसन् पूर्वयुगे राजन् मुनयो भ्रातरस्त्रयः ॥ ७ ॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसंनिभाः ।
सर्वे प्रजापतिसमाः प्रजावन्तस्तथैव च ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकजितः सर्वे तपसा ब्रह्मवादिनः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! पहले युगमें तीन सहोदर भाई रहते थे । वे तीनों ही मुनि थे । उनके नाम थे एकत, द्वित और त्रित । वे सभी महर्षि सूर्यके समान तेजस्वी, प्रजापतिके समान संतानवान् और ब्रह्मवादी थे । उन्होंने तपस्याद्वारा ब्रह्मलोकपर विजय प्राप्त की थी ।७-८½।

तेषां तु तपसा प्रीतो नियमेन दमेन च ॥ ९ ॥
अभवद् गौतमो नित्यं पिता धर्मरतः सदा ।

उनकी तपस्या, नियम और इन्द्रियनिग्रहसे उनके धर्मपरायण पिता गौतम सदा ही प्रसन्न रहा करते थे ॥ ९½ ॥

स तु दीर्घेण कालेन तेषां प्रीतिमवाप्य च ॥ १० ॥
जगाम भगवान् स्थानमनुरूपमिवात्मनः ।

उन पुत्रोंकी त्याग-तपस्यासे संतुष्ट रहते हुए वे पूजनीय महात्मा गौतम दीर्घकालके पश्चात् अपने अनुरूप स्थान (स्वर्गलोक) में चले गये ॥ १०½ ॥

राजानस्तस्य ये ह्यासन् याज्या राजन् महात्मनः॥११॥
ते सर्वे स्वर्गते तस्मिंस्तस्य पुत्रानपूजयन् ।

राजन् ! उन महात्मा गौतमके यजमान जो राजा लोग थे, वे सब उनके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके पुत्रोंका ही आदर-सत्कार करने लगे ॥ ११½ ॥

तेषां तु कर्मणा राजंस्तथा चाध्ययनेन च ॥ १२ ॥
त्रितः स श्रेष्ठतां प्राप यथैवास्य पिता तथा ।

नरेश्वर ! उन तीनोंमें भी अपने शुभ कर्म और स्वाध्यायके द्वारा महर्षि त्रितने सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया ! जैसे उनके पिता सम्मानित थे, वैसे ही वे भी हो गये ॥ १२½ ॥

तथा सर्वे महाभागा मुनयः पुण्यलक्षणाः ॥ १३ ॥
अपूजयन् महाभागं यथास्य पितरं तथा ।

महान् सौभाग्यशाली और पुण्यात्मा सभी महर्षि भी महाभाग त्रितका उनके पिताके तुल्य ही सम्मान करते थे ॥

कदाचिद्धि ततो राजन् भ्रातरावेकतद्वितौ ॥ १४ ॥
यज्ञार्थं चक्रतुश्चिन्तां तथा वित्तार्थमेव च ।
तयोर्बुद्धिः समभवत् त्रितं गृह्य परंतप ॥ १५ ॥
याज्यान् सर्वानुपादाय प्रतिगृह्य पशूंस्ततः ।
सोमं पास्यामहे हृष्टाः प्राप्य यज्ञं महाफलम् ॥ १६ ॥

राजन् ! एक दिनकी बात है, उनके दोनों भाई एकत और द्वित यज्ञ और धनके लिये चिन्ता करने लगे । शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि हमलोग त्रितको साथ लेकर यजमानोंका यज्ञ करावें और दक्षिणाके रूपमें बहुत-से पशु प्राप्त करके महान् फलदायक यज्ञका अनुष्ठान करें और उसीमें प्रसन्नतापूर्वक सोमरसका पान करें ॥ १४—१६ ॥

चक्रुश्चैवं तथा राजन् भ्रातरस्त्रय एव च ।
तथा ते तु परिक्रम्य याज्यान् सर्वान् पशून् प्रति॥१७॥
याजयित्वा ततो याज्याँल्लब्ध्वा तु सुबहून् पशून् ।
याज्येन कर्मणा तेन प्रतिगृह्य विधानतः ॥ १८ ॥
प्राचीं दिशं महात्मान आजग्मुस्ते महर्षयः ।

राजन् ! ऐसा विचार करके उन तीनों भाइयोंने वही किया । वे सभी यजमानोंके यहाँ पशुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे गये और उनसे विधिपूर्वक यज्ञ करवाकर उस याज्यकर्मके द्वारा उन्होंने बहुतेरे पशु प्राप्त कर लिये । तत्पश्चात् वे महात्मा महर्षि पूर्वदिशाकी ओर चल दिये ॥ १७-१८½ ॥

त्रितस्तेषां महाराज पुरस्ताद् याति हृष्टवत् ॥ १९ ॥
एकतश्च द्वितश्चैव पृष्ठतः कालयन् पशून् ।

महाराज ! उनमें त्रित मुनि तो प्रसन्नतापूर्वक आगे-आगे चलते थे और एकत तथा द्वित पीछे रहकर पशुओंको हाँकते जाते थे ॥ १९½ ॥

तयोश्चिन्ता समभवद् दृष्ट्वा पशुगणं महत् ॥ २० ॥
कथं च स्युरिमा गाव आवाभ्यां हि विना त्रितम् ।

पशुओंके उस महान् समुदायको देखकर एकत और द्वितके मनमें यह चिन्ता समायी कि किस उपायसे ये गौएँ त्रितको न मिलकर हम दोनोंके ही पास रह जायँ ॥ २०½ ॥

तावन्योन्यं समाभाष्य एकतश्च द्वितश्च ह ॥ २१ ॥
यदूचतुर्मिथः पापौ तन्निबोध जनेश्वर ।

जनेश्वर ! उन एकत और द्वित दोनों पापियोंने एक दूसरेसे सलाह करके परस्पर जो कुछ कहा, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २१½ ॥

त्रितो यज्ञेषु कुशलस्त्रितो वेदेषु निष्ठितः ॥ २२ ॥
अन्यास्तु बहुला गावस्त्रितः समुपलप्स्यते ।
तदावां सहितौ भूत्वा गाः प्रकाल्य व्रजावहे ॥ २३ ॥
त्रितोऽपि गच्छतां काममावाभ्यां वै विना कृतः ।

'त्रित यज्ञ करानेमें कुशल हैं, त्रित वेदोंके परिनिष्ठित विद्वान् हैं, अतः वे और बहुत-सी गौएँ प्राप्त कर लेंगे । इस समय हम दोनों एक साथ होकर इन गौओंको हाँक ले चलें और त्रित हमसे अलग होकर जहाँ इच्छा हो वहाँ चले जायँ'॥

तेषामागच्छतां रात्रौ पथिस्थानां वृकोऽभवत् ॥ २४ ॥
तत्र कूपोऽविदूरेऽभूत् सरस्वत्यास्तटे महान् ।

रात्रिका समय था और वे तीनों भाई रास्ता पकड़े चले आ रहे थे । उनके मार्गमें एक भेड़िया खड़ा था । वहाँ पास ही सरस्वतीके तटपर एक बहुत बड़ा कुआँ था ॥ २४½ ॥

अथ त्रितो वृकं दृष्ट्वा पथि तिष्ठन्तमग्रतः ॥ २५ ॥
तद्भयादपसर्पन् वै तस्मिन् कूपे पपात ह ।
अगाधे सुमहाघोरे सर्वभूतभयंकरे ॥ २६ ॥

त्रित अपने आगे रास्तेमें खड़े हुए भेड़ियेको देखकर उसके भयसे भागने लगे । भागते-भागते वे समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर उस महाघोर अगाध कूपमें गिर पड़े ॥२५-२६॥

त्रितस्ततो महाराज कूपस्थो मुनिसत्तमः ।
आर्तनादं ततश्चक्रे तौ तु शुश्रुवतुर्मुनी ॥ २७ ॥

महाराज ! कुएँमें पहुँचनेपर मुनिश्रेष्ठ त्रितने बड़े जोरसे आर्तनाद किया, जिसे उन दोनों मुनियोंने सुना॥ २७ ॥

तं ज्ञात्वा पतितं कूपे भ्रातरावेकतद्वितौ ।
वृकत्रासाच्च लोभाच्च समुत्सृज्य प्रजग्मतुः ॥ २८ ॥

अपने भाईको कुएँमें गिरा हुआ जानकर भी दोनों भाई एकत और द्वित भेड़ियेके भय और लोभसे उन्हें वहीं छोड़-कर चल दिये ॥ २८ ॥

भ्रातृभ्यां पशुलुब्धाभ्यामुत्सृष्टः स महातपाः ।
उदपाने तदा राजन् निर्जले पांसुसंवृते ॥ २९ ॥

राजन् ! पशुओंके लोभमें आकर उन दोनों भाइयोंने उस समय उन महातपस्वी त्रितको धूलिसे भरे हुए उस निर्जल कूपमें ही छोड़ दिया ॥ २९ ॥

त्रित आत्मानमालक्ष्य कूपे वीरुत्तृणावृते ।
निमग्नं भरतश्रेष्ठ नरके दुष्कृती यथा ॥ ३० ॥
स बुद्ध्यागणयत् प्राज्ञो मृत्योर्भीतो ह्यसोमपः।
सोमः कथं तु पातव्य इहस्थेन मया भवेत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे पापी मनुष्य अपने-आपको नरकमें डूबा हुआ देखता है, उसी प्रकार तृण, वीरुध और लताओंसे व्याप्त हुए उस कुएँमें अपने आपको गिरा देख मृत्युसे डरे और सोमपानसे वञ्चित हुए विद्वान् त्रित अपनी बुद्धिसे सोचने लगे कि 'मैं इस कुएँमें रहकर कैसे सोमरसका पान कर सकता हूँ ?'॥ ३०-३१ ॥

स एवमभिनिश्चित्य तस्मिन् कूपे महातपाः ।
ददर्श वीरुधं तत्र लम्बमानां यदृच्छया ॥ ३२ ॥

इस प्रकार विचार करते-करते महातपस्वी त्रितने उस कुएँमें एक लता देखी, जो दैवयोगसे वहाँ फैली हुई थी ॥

पांसुग्रस्ते ततः कूपे विचिन्त्य सलिलं मुनिः ।
अग्नीन् संकल्पयामास होतॄनात्मानमेव च ॥ ३३ ॥

मुनिने उस बालूभरे कूपमें जलकी भावना करके उसीमें संकल्पद्वारा अग्निकी स्थापना की और होता आदिके स्थानपर अपने आपको ही प्रतिष्ठित किया ॥ ३३ ॥

ततस्तां वीरुधं सोमं संकल्प्य सुमहातपाः ।
ऋचो यजूंषि सामानि मनसा चिन्तयन् मुनिः॥ ३४ ॥
ग्रावाणः शर्कराः कृत्वा प्रचक्रेऽभिषवं नृप ।
आज्यं च सलिलं चक्रे भागांश्च त्रिदिवौकसाम्॥ ३५ ॥
सोमस्याभिषवं कृत्वा चकार विपुलं ध्वनिम् ।

तत्पश्चात् उन महातपस्वी त्रितने उस फैली हुई लतामें सोमकी भावना करके मन-ही-मन ऋग्, यजु और सामका चिन्तन किया । नरेश्वर ! इसके बाद कंकड़ या बालू-कणोंमें सिल और लोढ़ेकी भावना करके उसपर पीसकर लतासे सोमरस निकाला । फिर जलमें घीका संकल्प करके उन्होंने देवताओंके भाग नियत किये और सोमरस तैयार करके उसकी आहुति देते हुए वेद-मन्त्रोंकी गम्भीर ध्वनि की ॥ ३४-३५½ ॥

स चाविशद् दिवं राजन् पुनः शब्दस्त्रितस्य वै॥ ३६ ॥
समवाप्य च तं यज्ञं यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।

राजन् ! ब्रह्मवादियोंने जैसा बताया है, उसके अनुसार ही उस यज्ञका सम्पादन करके की हुई त्रितकी वह वेदध्वनि स्वर्गलोक तक गूँज उठी ॥ ३६½ ॥

वर्तमाने महायज्ञे त्रितस्य सुमहात्मनः ॥ ३७ ॥
आविग्नं त्रिदिवं सर्वं कारणं च न बुद्ध्यते ।

महात्मा त्रितका वह महान् यज्ञ जब चालू हुआ, उस समय सारा स्वर्गलोक उद्विग्न हो उठा, परंतु किसीको इसका कोई कारण नहीं जान पड़ा ॥ ३७½ ॥

ततः सुतुमुलं शब्दं शुश्रावाथ बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥
श्रुत्वा चैवाब्रवीत् सर्वान् देवान् देवपुरोहितः ।
त्रितस्य वर्तते यज्ञस्तत्र गच्छामहे सुराः ॥ ३९ ॥

तब देवपुरोहित बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंके उस तुमुलनाद-को सुनकर देवताओंसे कहा—'देवगण ! त्रित मुनिका यज्ञ हो रहा है, वहाँ हमलोगोंको चलना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

स हि क्रुद्धः सृजेदन्यान् देवानपि महातपाः ।

'वे महान् तपस्वी हैं । यदि हम नहीं चलेंगे तो वे कुपित होकर दूसरे देवताओंकी सृष्टि कर लेंगे' ॥ ३९½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सहिताः सर्वदेवताः ॥ ४० ॥
प्रययुस्तत्र यत्रासौ त्रितयज्ञः प्रवर्तते ।

बृहस्पतिजीका यह वचन सुनकर सब देवता एक साथ हो उस स्थानपर गये, जहाँ त्रितमुनिका यज्ञ हो रहा था ॥

ते तत्र गत्वा विबुधास्तं कूपं यत्र स त्रितः ॥ ४१ ॥
ददृशुस्तं महात्मानं दीक्षितं यज्ञकर्मसु ।
दृष्ट्वा चैनं महात्मानं श्रिया परमया युतम् ॥ ४२ ॥
ऊचुश्चैनं महाभागं प्राप्ता भागार्थिनो वयम् ।

वहाँ पहुँचकर देवताओंने उस कूपको देखा, जिसमें त्रित मौजूद थे । साथ ही उन्होंने यज्ञमें दीक्षित हुए महात्मा त्रितमुनिका भी दर्शन किया । वे बड़े तेजस्वी दिखायी दे रहे थे । उन महाभाग मुनिका दर्शन करके देवताओंने उनसे कहा—'हमलोग यज्ञमें अपना भाग लेनेके लिये आये हैं' ॥

अथाब्रवीदृषिर्देवान् पश्यध्वं मा दिवौकसः ॥ ४३ ॥
अस्मिन् प्रतिभये कूपे निमग्नं नष्टचेतसम् ।

उस समय महर्षिने उनसे कहा—'देवताओ ! देखो, मैं किस दशामें पड़ा हूँ । इस भयानक कूपमें गिरकर अपनी सुधबुध खो बैठा हूँ'॥ ४३½ ॥

ततस्त्रितो महाराज भागांस्तेषां यथाविधि ॥ ४४ ॥
मन्त्रयुक्तान् समददत् ते च प्रीतास्तदाभवन्।

महाराज ! तदनन्तर त्रितने देवताओंको विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए उनके भाग समर्पित किये। इससे वे उस समय बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४४½ ॥

ततो यथाविधि प्राप्तान् भागान् प्राप्य दिवौकसः॥ ४५॥
प्रीतात्मानो ददुस्तस्मै वरान् यान् मनसेच्छति।

विधिपूर्वक प्राप्त हुए उन भागोंको ग्रहण करके प्रसन्नचित्त हुए देवताओंने उन्हें मनोवाञ्छित वर प्रदान किया ॥

स तु वव्रे वरं देवांस्त्रातुमर्हथ मामितः ॥ ४६ ॥
यश्चेहोपस्पृशेत् कूपे स सोमपगतिं लभेत्।

मुनिने देवताओंसे वर माँगते हुए कहा—'मुझे इस कूपसे आपलोग बचावें तथा जो मनुष्य इसमें आचमन करे, उसे यज्ञमें सोमपान करनेवालोंकी गति प्राप्त हो' ॥ ४६½ ॥

तत्र चोर्मिमती राजन्नुत्पपात सरस्वती ॥ ४७ ॥
तयोत्क्षिप्तः समुत्तस्थौ पूजयंस्त्रिदिवौकसः।

राजन् ! मुनिके इतना कहते ही कुएँमें तरङ्गमालाओंसे सुशोभित सरस्वती लहरा उठी। उसने अपने जलके वेगसे मुनिको ऊपर उठा दिया और वे बाहर निकल आये। फिर उन्होंने देवताओंका पूजन किया ॥ ४७½ ॥

तथेति चोक्त्वा विबुधा जग्मू राजन् यथागताः॥ ४८ ॥
त्रितश्चाभ्यागमत् प्रीतः स्वमेव निलयं तदा।

नरेश्वर ! मुनिके माँगे हुए वरके विषयमें 'तथास्तु' कहकर सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। फिर त्रित भी प्रसन्नतापूर्वक अपने घरको ही लौट गये ॥ ४८½ ॥

क्रुद्धस्तु स समासाद्य तावृषी भ्रातरौ तदा ॥ ४९ ॥
उवाच परुषं वाक्यं शशाप च महातपाः।
पशुलुब्धौ युवां यस्मान्मामुत्सृज्य प्रधावितौ ॥ ५० ॥
तस्माद् वृकाकृती रौद्रौ दंष्ट्रिणावभितश्चरौ।
भवितारौ मया शप्तौ पापेनानेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
प्रसवश्चैव युवयोर्गोलाङ्गूलर्क्षवानराः।

उन महातपस्वीने कुपित हो अपने उन दोनों ऋषि भाइयोंके पास पहुँचकर कठोर वाणीमें शाप देते हुए कहा—'तुम दोनों पशुओंके लोभमें फँसकर मुझे छोड़कर भाग आये। इसलिये इसी पापकर्मके कारण मेरे शापसे तुम दोनों भाई महाभयंकर भेड़ियेका शरीर धारण करके दाढ़ोंसे युक्त हो इधर-उधर भटकते फिरोगे। तुम दोनोंकी संतानके रूपमें गोलाङ्गूल, रीछ और वानर आदि पशुओंकी उत्पत्ति होगी' ॥

इत्युक्तेन तदा तेन क्षणादेव विशाम्पते ॥ ५२ ॥
तथाभूतावदृश्येतां वचनात् सत्यवादिनः।

प्रजानाथ ! उनके इतना कहते ही वे दोनों भाई उस सत्यवादीके वचनसे उसी क्षण भेड़ियेकी शकलमें दिखायी देने लगे ॥ ५२½ ॥

तत्राप्यमितविक्रान्तः स्पृष्ट्वा तोयं हलायुधः ॥ ५३ ॥
दत्त्वा च विविधान् दायान् पूजयित्वा च वै द्विजान्।

अमित पराक्रमी बलरामजीने उस तीर्थमें भी जलका स्पर्श किया और ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें नाना प्रकारके धन प्रदान किये ॥ ५३½ ॥

उदपानं च तं वीक्ष्य प्रशस्य च पुनः पुनः ॥ ५४ ॥
नदीगतमदीनात्मा प्राप्तो विनशनं तदा ॥ ५५ ॥

उदार चित्तवाले बलरामजी सरस्वती नदीके अन्तर्गत उदपानतीर्थका दर्शन करके उसकी बारंबार स्तुति-प्रशंसा करते हुए वहाँसे विनशन तीर्थमें चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां त्रिताख्याने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें त्रितका उपाख्यानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

विनशन, सुभूमिक, गन्धर्व, गर्गस्रोत, शङ्ख, द्वैतवन तथा नैमिषेय आदि तीर्थोंमें होते हुए बलभद्रजीका सप्त सारस्वततीर्थमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो विनशनं राजन् जगामाथ हलायुधः।
शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती ॥ १ ॥
तस्मात् तु ऋषयो नित्यं प्राहुर्विनशनेति च।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उदपानतीर्थसे चलकर हलधारी बलराम विनशनतीर्थमें आये, जहाँ (दुष्कर्मपरायण) शूद्रों और आभीरोंके प्रति द्वेष होनेसे सरस्वती नदी विनष्ट (अदृश्य) हो गयी है। इसीलिये ऋषिगण उसे सदा विनशनतीर्थ कहते हैं ॥ १½ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य बलः सरस्वत्यां महाबलः ॥ २ ॥
सुभूमिकं ततोऽगच्छत् सरस्वत्यास्तटे वरे।

महाबली बलराम वहाँ भी सरस्वतीमें आचमन और स्नान करके उसके सुन्दर तटपर स्थित हुए 'सुभूमिक' तीर्थमें गये॥

तत्र चाप्सरसः शुभ्रा नित्यकालमतन्द्रिताः ॥ ३ ॥
क्रीडाभिर्विमलाभिश्च क्रीडन्ति विमलाननाः।

उस तीर्थमें गौरवर्ण तथा निर्मल मुखवाली सुन्दरी अप्सराएँ आलस्य त्यागकर सदा नाना प्रकारकी विमल क्रीडाओंद्वारा मनोरञ्जन करती हैं ॥ ३½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा मासि मासि जनेश्वर ॥ ४ ॥
अभिगच्छन्ति तत् तीर्थं पुण्यं ब्राह्मणसेवितम्।

जनेश्वर ! वहाँ उस ब्राह्मणसेवित पुण्यतीर्थमें गन्धर्वोंसहित देवता भी प्रतिमास आया करते हैं ॥ ४½ ॥

तत्रादृश्यन्त गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ॥ ५ ॥
समेत्य सहिता राजन् यथाप्राप्तं यथासुखम्।

राजन् ! गन्धर्वगण और अप्सराएँ एक साथ मिलकर वहाँ आती और सुखपूर्वक विचरण करती दिखायी देती हैं ॥

तत्र मोदन्ति देवाश्च पितरश्च सवीरुधः ॥ ६ ॥
पुण्यैः पुष्पैः सदा दिव्यैः कीर्यमाणाः पुनः पुनः ।

वहाँ देवता और पितर लता-वेलोंके साथ आमोदित होते हैं, उनके ऊपर सदा पवित्र एवं दिव्य पुष्पोंकी वर्षा बारंबार होती रहती है ॥ ६½ ॥

आक्रीडभूमिः सा राजंस्तासामप्सरसां शुभा ॥ ७ ॥
सुभूमिकेति विख्याता सरस्वत्यास्तटे वरे ।

राजन् ! सरस्वतीके सुन्दर तटपर वह उन अप्सराओंकी मङ्गलमयी क्रीडाभूमि है, इसलिये वह स्थान सुभूमिक नामसे विख्यात है ॥ ७½ ॥

तत्र स्नात्वा च दत्त्वा च वसु विप्राय माधवः ॥ ८ ॥
श्रुत्वा गीतं च तद् दिव्यं वादित्राणां च निःस्वनम् ।
छायाश्च विपुला दृष्ट्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥ ९ ॥
गन्धर्वाणां ततस्तीर्थमागच्छद् रोहिणीसुतः ।

बलरामजीने वहाँ स्नान करके ब्राह्मणोंको धन दान किया और दिव्य गीत एवं दिव्य वाद्योंकी ध्वनि सुनकर देवताओं, गन्धर्वों तथा राक्षसोंकी बहुत-सी मूर्तियोंका दर्शन किया । तत्पश्चात् रोहिणीनन्दन बलराम गन्धर्वतीर्थमें गये ॥८-९½॥

विश्वावसुमुखास्तत्र गन्धर्वास्तपसान्विताः ॥ १० ॥
नृत्यवादित्रगीतं च कुर्वन्ति सुमनोरमम् ।

वहाँ तपस्यामें लगे हुए विश्वावसु आदि गन्धर्व अत्यन्त मनोरम नृत्य, वाद्य और गीतका आयोजन करते रहते हैं ॥

तत्र दत्त्वा हलधरो विप्रेभ्यो विविधं वसु ॥ ११ ॥
अजाविकं गोखरोष्ट्रं सुवर्णं रजतं तथा ।
भोजयित्वा द्विजान् कामैः संतर्प्य च महाधनैः ॥१२॥
प्रययौ सहितो विप्रैः स्तूयमानश्च माधवः ।

हलधरने वहाँ भी ब्राह्मणोंको भेड़, बकरी, गाय, गदहा, ऊँट और सोना-चाँदी आदि नाना प्रकारके धन देकर उन्हें इच्छानुसार भोजन कराया तथा प्रचुर धनसे संतुष्ट करके ब्राह्मणोंके साथ ही वहाँसे प्रस्थान किया । उस समय ब्राह्मण लोग बलरामजीकी बड़ी स्तुति करते थे ॥ ११-१२½ ॥

तस्माद् गन्धर्वतीर्थाच्च महाबाहुररिंदमः ॥ १३ ॥
गर्गस्रोतो महातीर्थमाजगामैककुण्डली ।

उस गन्धर्वतीर्थसे चलकर एक कानमें कुण्डल धारण करनेवाले शत्रुदमन महाबाहु बलराम गर्गस्रोत नामक महातीर्थमें आये ॥ १३½ ॥

तत्र गर्गेण वृद्धेन तपसा भावितात्मना ॥ १४ ॥
कालज्ञानगतिश्चैव ज्योतिषां च व्यतिक्रमः ।
उत्पाता दारुणाश्चैव शुभाश्च जनमेजय ॥ १५ ॥
सरस्वत्याः शुभे तीर्थे विदिता वै महात्मना ।
तस्य नाम्ना च तत् तीर्थं गर्गस्रोत इति स्मृतम् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! वहाँ तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले महात्मा वृद्ध गर्गने सरस्वतीके उस शुभ तीर्थमें कालका ज्ञान, कालकी गति, ग्रहों और नक्षत्रोंके उलट-फेर, दारुण उत्पात तथा शुभ लक्षण—इन सभी बातोंकी जानकारी प्राप्त कर ली थी । उन्हींके नामसे वह तीर्थ गर्गस्रोत कहलाता है ।१४-१६।

तत्र गर्गं महाभागमृषयः सुव्रता नृप ।
उपासांचक्रिरे नित्यं कालज्ञानं प्रति प्रभो ॥ १७ ॥

सामर्थ्यशाली नरेश्वर ! वहाँ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषियोंने कालज्ञानके लिये सदा महाभाग गर्गमुनिकी उपासना (सेवा) की थी ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा महाराज बलः श्वेतानुलेपनः ।
विधिवद्धि धनं दत्त्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १८ ॥
उच्चावचांस्तथा भक्ष्यान् विप्रेभ्यो विप्रदाय सः ।
नीलवासास्तदागच्छच्छङ्खतीर्थं महायशाः ॥ १९ ॥

महाराज ! वहाँ जाकर श्वेतचन्दनचर्चित, नीलाम्बरधारी महायशस्वी बलरामजी विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंको विधिपूर्वक धन देकर ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ समर्पित करके वहाँसे शङ्खतीर्थमें चले गये ॥

तत्रापश्यन्महाशङ्खं महामेरुमिवोच्छ्रितम् ।
श्वेतपर्वतसंकाशमृषिसंघैर्निषेवितम् ॥ २० ॥
सरस्वत्यास्तटे जातं नगं तालध्वजो बली ।

वहाँ तालचिह्नित ध्वजावाले बलवान् बलरामने महाशङ्ख नामक एक वृक्ष देखा, जो महान् मेरुपर्वतके समान ऊँचा और श्वेताचलके समान उज्ज्वल था । उसके नीचे ऋषियोंके समूह निवास करते थे । वह वृक्ष सरस्वतीके तटपर ही उत्पन्न हुआ था ॥ २०½ ॥

यक्षा विद्याधराश्चैव राक्षसाश्चामितौजसः ॥ २१ ॥
पिशाचाश्चामितबला यत्र सिद्धाः सहस्रशः ।

उस वृक्षके आस-पास यक्ष, विद्याधर, अमित तेजस्वी राक्षस, अनन्त बलशाली पिशाच तथा सिद्धगण सहस्रोंकी संख्यामें निवास करते थे ॥ २१½ ॥

ते सर्वे ह्यशनं त्यक्त्वा फलं तस्य वनस्पतेः ॥ २२ ॥
व्रतैश्च नियमैश्चैव काले काले स्म भुञ्जते ।

वे सब-के-सब अन्न छोड़कर व्रत और नियमोंका पालन करते हुए समय-समयपर उस वृक्षका ही फल खाया करते थे॥

प्राप्तैश्च नियमैस्तैस्तैर्विचरन्तः पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥
अदृश्यमाना मनुजैर्व्यचरन् पुरुषर्षभ ।
एवं ख्यातो नरव्याघ्र लोकेऽस्मिन् स वनस्पतिः॥ २४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! वे उन स्वीकृत नियमोंके अनुसार पृथक्-पृथक् विचरते हुए मनुष्योंसे अदृश्य रहकर घूमते थे । नरव्याघ्र ! इस प्रकार वह वनस्पति इस विश्वमें विख्यात था ॥

ततस्तीर्थं सरस्वत्याः पावनं लोकविश्रुतम् ।
तस्मिंश्च यदुशार्दूलो दत्त्वा तीर्थे पयस्विनीः ॥ २५ ॥
ताम्रायसानि भाण्डानि वस्त्राणि विविधानि च ।
पूजयित्वा द्विजांश्चैव पूजितश्च तपोधनैः ॥ २६ ॥

वह वृक्ष सरस्वतीका लोकविख्यात पावन तीर्थ है । यदुश्रेष्ठ बलराम उस तीर्थमें दूध देनेवाली गौओंका दान करके

ताँबे और लोहेके बर्तन तथा नाना प्रकारके वस्त्र भी ब्राह्मणोंको दिये। ब्राह्मणोंका पूजन करके वे स्वयं भी तपस्वी मुनियोंद्वारा पूजित हुए ॥ २५-२६ ॥

पुण्यं द्वैतवनं राजन्नाजगाम हलायुधः।
तत्र गत्वा मुनीन् दृष्ट्वा नानावेषधरान् बलः ॥ २७ ॥
आप्लुत्य सलिले चापि पूजयामास वै द्विजान्।

राजन्! वहाँसे हलधर बलभद्रजी पवित्र द्वैतवनमें आये और वहाँके नाना वेशधारी मुनियोंका दर्शन करके जलमें गोता लगाकर उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २७½ ॥

तथैव दत्त्वा विप्रेभ्यः परिभोगान् सुपुष्कलान् ॥ २८ ॥
ततः प्रायाद् बलो राजन् दक्षिणेन सरस्वतीम्।

राजन्! इसी प्रकार विप्रवृन्दको प्रचुर भोगसामग्री अर्पित करके फिर बलरामजी सरस्वतीके दक्षिण तटपर होकर यात्रा करने लगे ॥ २८½ ॥

गत्वा चैवं महाबाहुर्नातिदूरे महायशाः ॥ २९ ॥
धर्मात्मा नागधन्वानं तीर्थमागमदच्युतः।
यत्र पन्नगराजस्य वासुकेः संनिवेशनम् ॥ ३० ॥
महाद्युतेर्महाराज बहुभिः पन्नगैर्वृतम्।
ऋषीणां हि सहस्राणि तत्र नित्यं चतुर्दश ॥ ३१ ॥

महाराज! इस प्रकार थोड़ी ही दूर जाकर महाबाहु, महायशस्वी धर्मात्मा भगवान् बलराम नागधन्वा नामक तीर्थमें पहुँच गये, जहाँ महातेजस्वी नागराज वासुकिका बहुसंख्यक सर्पोंसे घिरा हुआ निवासस्थान है। वहाँ सदा चौदह हजार ऋषि निवास करते हैं ॥ २९–३१ ॥

यत्र देवाः समागम्य वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
सर्वपन्नगराजानमभ्यषिञ्चन् यथाविधि ॥ ३२ ॥

वहीं देवताओंने आकर सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकिको समस्त सर्पोंके राजाके पदपर विधिपूर्वक अभिषिक्त किया था ॥ ३२ ॥

पन्नगेभ्यो भयं तत्र विद्यते न स्म पौरव।
तत्रापि विधिवद् दत्त्वा विप्रेभ्यो रत्नसंचयान् ॥ ३३ ॥
प्रायात् प्राचीं दिशं तत्र तत्र तीर्थान्यनेकशः।
सहस्रशतसंख्यानि प्रथितानि पदे पदे ॥ ३४ ॥

पौरव! वहाँ किसीको सर्पोंसे भय नहीं होता। उस तीर्थमें भी बलरामजी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक ढेर-के-ढेर रत्न देकर पूर्वदिशाकी ओर चल दिये, जहाँ पग-पगपर अनेक प्रकारके प्रसिद्ध तीर्थ प्रकट हुए हैं। उनकी संख्या लगभग एक लाख है ॥ ३३-३४ ॥

आप्लुत्य तत्र तीर्थेषु यथोक्तं तत्र चर्षिभिः।
कृत्वोपवासनियमं दत्त्वा दानानि सर्वशः ॥ ३५ ॥
अभिवाद्य मुनींस्तान् वै तत्र तीर्थनिवासिनः।
उद्दिष्टमार्गः प्रययौ यत्र भूयः सरस्वती ॥ ३६ ॥
प्राङ्मुखं वै निववृते वृष्टिर्वातहता यथा।

उन तीर्थोंमें स्नान करके उन्होंने ऋषियोंके बताये अनुसार व्रत-उपवास आदि नियमोंका पालन किया। फिर सब प्रकारके दान करके तीर्थनिवासी मुनियोंको मस्तक नवाकर उनके बताये हुए मार्गसे वे पुनः उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ सरस्वती हवाकी मारी हुई वर्षाके समान पुनः पूर्व दिशाकी ओर लौट पड़ी हैं ॥ ३५-३६½ ॥

ऋषीणां नैमिषेयाणामवेक्षार्थं महात्मनाम् ॥ ३७ ॥
निवृत्तां तां सरिच्छ्रेष्ठां तत्र दृष्ट्वा तु लाङ्गली।
बभूव विस्मितो राजन् बलः श्वेतानुलेपनः ॥ ३८ ॥

राजन्! नैमिषारण्यनिवासी महात्मा मुनियोंके दर्शनके लिये पूर्व दिशाकी ओर लौटी हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका दर्शन करके श्वेत-चन्दनचर्चित हलधारी बलराम आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ३७-३८ ॥

जनमेजय उवाच

कस्मात् सरस्वती ब्रह्मन् निवृत्ता प्राङ्मुखीभवत्।
व्याख्यातमेतदिच्छामि सर्वमध्वर्युसत्तम ॥ ३९ ॥
कस्मिंश्चित् कारणे तत्र विस्मितो यदुनन्दनः।
निवृत्ता हेतुना केन कथमेव सरिद्वरा ॥ ४० ॥

जनमेजयने पूछा—यजुर्वेदके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ विप्रवर! मैं आपके मुँहसे यह सुनना चाहता हूँ कि सरस्वती नदी किस कारणसे पीछे लौटकर पूर्वाभिमुख बहने लगी? क्या कारण था कि वहाँ यदुनन्दन बलरामजीको भी आश्चर्य हुआ? सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती किस कारणसे और किस प्रकार पूर्व दिशाकी ओर लौटी थीं? ॥ ३९-४० ॥

वैशम्पायन उवाच

पूर्वं कृतयुगे राजन् नैमिषेयास्तपस्विनः।
वर्तमाने सुविपुले सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ ४१ ॥
ऋषयो बहवो राजंस्तत् सत्रमभिपेदिरे।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है, वहाँ बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया गया था। उस सत्रमें नैमिषारण्यनिवासी तपस्वी मुनि तथा अन्य बहुत-से ऋषि पधारे थे ॥

उषित्वा च महाभागास्तस्मिन् सत्रे यथाविधि ॥ ४२ ॥
निवृत्ते नैमिषेये वै सत्रे द्वादशवार्षिके।
आजग्मुर्ऋषयस्तत्र बहवस्तीर्थकारणात् ॥ ४३ ॥

नैमिषारण्यवासियोंके उस द्वादशवर्षीय यज्ञमें वे महाभाग ऋषि दीर्घकालतक रहे। जब वह यज्ञ समाप्त हो गया तब बहुत-से महर्षि तीर्थसेवनके लिये वहाँ आये ॥ ४२-४३ ॥

ऋषीणां बहुलत्वात्तु सरस्वत्या विशाम्पते।
तीर्थानि नगरायन्ते कूले वै दक्षिणे तदा ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ! ऋषियोंकी संख्या अधिक होनेके कारण सरस्वतीके दक्षिण तटपर जितने तीर्थ थे, वे सभी नगरोंके समान प्रतीत होने लगे ॥ ४४ ॥

समन्तपञ्चकं यावत्तावत्ते द्विजसत्तमाः।
तीर्थलोभान्नरव्याघ्र नद्यास्तीरं समाश्रिताः ॥ ४५ ॥

पुरुषसिंह! तीर्थसेवनके लोभसे वे ब्रह्मर्षिगण समन्तपञ्चक तीर्थतक सरस्वती नदीके तटपर ठहर गये ॥ ४५ ॥

जुह्वतां तत्र तेषां तु मुनीनां भावितात्मनाम्।

स्वाध्यायेनातिमहता बभूवुः पूरिता दिशः ॥ ४६ ॥

वहाँ होम करते हुए पवित्रात्मा मुनियोंके अत्यन्त गम्भीर स्वरसे किये जानेवाले स्वाध्यायके शब्दसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ ४६ ॥

अग्निहोत्रैस्ततस्तेषां क्रियमाणैर्महात्मनाम् ।
अशोभत सरिच्छ्रेष्ठा दीप्यमानैः समन्ततः ॥ ४७ ॥

चारों ओर प्रकाशित हुए उन महात्माओंद्वारा किये जानेवाले यज्ञसे सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४७ ॥

वालखिल्या महाराज अश्मकुट्टाश्च तापसाः ।
दन्तोलूखलिनश्चान्ये प्रसंख्यानास्तथा परे ॥ ४८ ॥
वायुभक्षा जलाहाराः पर्णभक्षाश्च तापसाः ।
नानानियमयुक्ताश्च तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४९ ॥
आसन् वै मुनयस्तत्र सरस्वत्याः समीपतः ।
शोभयन्तः सरिच्छ्रेष्ठां गङ्गामिव दिवौकसः ॥ ५० ॥

महाराज ! सरस्वतीके उस निकटवर्ती तटपर सुप्रसिद्ध तपस्वी वालखिल्य, अश्मकुट्ट[1], दन्तोलूखली[2], प्रसंख्यान[3], हवा पीकर रहनेवाले, जलपानपर ही निर्वाह करनेवाले, पत्तोंका ही आहार करनेवाले, भाँति-भाँतिके नियमोंमें संलग्न तथा वेदीपर शयन करनेवाले तपस्वी-मुनि विराजमान थे । वे सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीकी उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे, जैसे देवतालोग गङ्गाजीकी ॥ ४८-५० ॥

शतशश्च समापेतुर्ऋषयः सत्रयाजिनः ।
तेऽवकाशं न ददृशुः सरस्वत्या महाव्रताः ॥ ५१ ॥

सत्रयागमें सम्मिलित हुए सैकड़ों महान् व्रतधारी ऋषि वहाँ आये थे; परंतु उन्होंने सरस्वतीके तटपर अपने रहनेके लिये स्थान नहीं देखा ॥ ५१ ॥

ततो यज्ञोपवीतैस्ते तत्तीर्थं निर्मिमाय वै ।
जुहुवुश्चाग्निहोत्रांश्च चक्रुश्च विविधाः क्रियाः ॥ ५२ ॥

तब उन्होंने यज्ञोपवीतसे उस तीर्थका निर्माण करके वहाँ अग्निहोत्र-सम्बन्धी आहुतियाँ दीं और नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान किया ॥ ५२ ॥

ततस्तमृषिसंघातं निराशं चिन्तयान्वितम् ।
दर्शयामास राजेन्द्र तेषामर्थे सरस्वती ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! उस समय उस ऋषि-समूहको निराश और चिन्तित जान सरस्वतीने उनकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ५३ ॥

ततः कुञ्जान् बहून् कृत्वा संनिवृत्ता सरस्वती ।
ऋषीणां पुण्यतपसां कारुण्याज्जनमेजय ॥ ५४ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् बहुत-से कुञ्जोंका निर्माण करती हुई सरस्वती पीछे लौट पड़ीं; क्योंकि उन पुण्यतपस्वी ऋषियोंपर उनके हृदयमें करुणाका संचार हो आया था ॥ ५४ ॥

ततो निवृत्य राजेन्द्र तेषामर्थे सरस्वती ।
भूयः प्रतीच्यभिमुखी प्रसुस्राव सरिद्वरा ॥ ५५ ॥

राजेन्द्र ! उनके लिये लौटकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पुनः पश्चिमकी ओर मुड़कर बहने लगीं ॥ ५५ ॥

अमोघागमनं कृत्वा तेषां भूयो व्रजाम्यहम् ।
इत्यद्भुतं महच्चक्रे तदा राजन् महानदी ॥ ५६ ॥

राजन् ! उस महानदीने यह सोच लिया था कि मैं इन ऋषियोंके आगमनको सफल बनाकर पुनः पश्चिम मार्गसे ही लौट जाऊँगी । यह सोचकर ही उसने वह महान् अद्भुत कर्म किया ॥ ५६ ॥

एवं स कुञ्जो राजन् वै नैमिषीय इति स्मृतः ।
कुरुश्रेष्ठ कुरुक्षेत्रे कुरुष्व महतीं क्रियाम् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार वह कुञ्ज नैमिषीय नामसे प्रसिद्ध हुआ । कुरुश्रेष्ठ ! तुम भी कुरुक्षेत्रमें महान् कर्म करो ॥

तत्र कुञ्जान् बहून् दृष्ट्वा निवृत्तां च सरस्वतीम् ।
बभूव विस्मयस्तत्र रामस्याथ महात्मनः ॥ ५८ ॥

वहाँ बहुत-से कुञ्जों तथा लौटी हुई सरस्वतीका दर्शन करके महात्मा बलरामजीको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५८ ॥

उपस्पृश्य तु तत्रापि विधिवद् यदुनन्दनः ।
दत्त्वा दायान् द्विजातिभ्यो भाण्डानि विविधानि च ॥ ५९ ॥
भक्ष्यं भोज्यं च विविधं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय च ।
ततः प्रायाद् बलो राजन् पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ ६० ॥

यदुनन्दन बलरामने वहाँ विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके ब्राह्मणोंको धन और भाँति-भाँतिके बर्तन दान किये । राजन् ! फिर उन्हें नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देकर द्विजातियोंद्वारा पूजित होते हुए बलरामजी वहाँसे चल दिये ॥

सरस्वतीतीर्थवरं नानाद्विजगणायुतम् ।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यप्लक्षाश्वत्थविभीतकैः ॥ ६१ ॥
कङ्कोलैश्च पलाशैश्च करीरैः पीलुभिस्तथा ।
सरस्वतीतीर्थरुहैस्तरुभिर्विविधैस्तथा ॥ ६२ ॥
करूषकवरैश्चैव बिल्वैराम्रातकैस्तथा ।
अतिमुक्तकषण्डैश्च पारिजातैश्च शोभितम् ॥ ६३ ॥
कदलीवनभूयिष्ठं दृष्टिकान्तं मनोहरम् ।
वाय्वम्बुफलपर्णादैर्दन्तोलूखलिकैरपि ॥ ६४ ॥
तथाश्मकुट्टैर्वानेयैर्मुनिभिर्बहुभिर्वृतम् ।
स्वाध्यायघोषसंघुष्टं मृगयूथशताकुलम् ॥ ६५ ॥
अहिंस्रैर्धर्मपरमैर्नृभिरत्यर्थसेवितम् ।
सप्तसारस्वतं तीर्थमाजगाम हलायुधः ॥ ६६ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धस्तपस्तेपे महामुनिः ॥ ६७ ॥

तदनन्तर हलायुध बलदेवजी सप्तसारस्वत नामक तीर्थमें आये, जो सरस्वतीके तीर्थोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं । वहाँ अनेकानेक ब्राह्मणोंके समुदाय निवास करते थे । बेर, इंगुद, काश्मर्य (गम्भारी), पाकर, पीपल, बहेड़े, कङ्कोल, पलाश, करीर, पीलु, करूष, बिल्व, अमड़ा, अतिमुक्त, पारिजात तथा

---

१. पत्थरसे फोड़े हुए फलका भोजन करनेवाले ।

२. दाँतसे ही ओखलीका काम लेनेवाले अर्थात् ओखलीमें कूटकर नहीं, दाँतोंसे ही चबाकर खानेवाले ।

३. गिने हुए फल खानेवाले ।

सरस्वतीके तटपर उगे हुए अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वह तीर्थ देखनेमें कमनीय और मनको मोह लेनेवाला है। वहाँ केलेके बहुत-से बगीचे हैं। उस तीर्थमें वायु, जल, फल और पत्ते चबाकर रहनेवाले, दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेनेवाले और पत्थरसे फोड़े हुए फल खानेवाले बहुतेरे वानप्रस्थ मुनि भरे हुए थे। वहाँ वेदोंके स्वाध्यायकी गम्भीर ध्वनि गूँज रही थी। मृगोंके सैकड़ों यूथ सब ओर फैले हुए थे। हिंसारहित धर्मपरायण मनुष्य उस तीर्थका अधिक सेवन करते थे। वहीं सिद्ध महामुनि मङ्कणकने बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ ६१–६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

सप्तसारस्वत तीर्थकी उत्पत्ति, महिमा और मङ्कणक मुनिका चरित्र

जनमेजय उवाच

सप्तसारस्वतं कस्मात् कश्च मङ्कणको मुनिः।
कथं सिद्धः स भगवान् कश्चास्य नियमोऽभवत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! सप्तसारस्वत तीर्थकी उत्पत्ति किस हेतुसे हुई ? पूजनीय मङ्कणक मुनि कौन थे? कैसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई और उनका नियम क्या था ?॥ १ ॥

कस्य वंशे समुत्पन्नः किं चाधीतं द्विजोत्तम।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विधिवद् द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वे किसके वंशमें उत्पन्न हुए थे और उन्होंने किस शास्त्रका अध्ययन किया था ? यह सब मैं विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजन् सप्त सरस्वत्यो याभिर्व्याप्तमिदं जगत्।
आहूता बलवद्भिर्हि तत्र तत्र सरस्वती ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! सरस्वती नामकी सात नदियाँ और हैं, जो इस सारे जगत्‌में फैली हुई हैं। तपोबलसम्पन्न महात्माओंने जहाँ-जहाँ सरस्वतीका आवाहन किया है, वहाँ-वहाँ वे गयी हैं ॥ ३ ॥

सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला च मनोरमा।
सरस्वती चौघवती सुरेणुर्विमलोदका ॥ ४ ॥

उन सबके नाम इस प्रकार हैं—सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मनोरमा, सरस्वती, ओघवती, सुरेणु और विमलोदका॥

पितामहस्य महतो वर्तमाने महामखे।
वितते यज्ञवाटे च संसिद्धेषु द्विजातिषु ॥ ५ ॥
पुण्याहघोषैर्विमलैर्वेदानां निनदैस्तथा।
देवेषु चैव व्यग्रेषु तस्मिन् यज्ञविधौ तदा ॥ ६ ॥

एक समयकी बात है, पुष्करतीर्थमें महात्मा ब्रह्माजीका एक महान् यज्ञ हो रहा था। उनकी विस्तृत यज्ञशालामें सिद्ध ब्राह्मण विराजमान थे। पुण्याहवाचनके निर्दोष घोष तथा वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे सारा यज्ञमण्डप गूँज रहा था और सम्पूर्ण देवता उस यज्ञ-कर्मके सम्पादनमें व्यस्त थे ॥

तत्र चैव महाराज दीक्षिते प्रपितामहे।
यजतस्तस्य सत्रेण सर्वकामसमृद्धिना ॥ ७ ॥

महाराज ! साक्षात् ब्रह्माजीने उस यज्ञकी दीक्षा ली थी। उनके यज्ञ करते समय सबकी समस्त इच्छाएँ उस यज्ञद्वारा परिपूर्ण होती थीं ॥ ७ ॥

मनसा चिन्तिता ह्यर्था धर्मार्थकुशलैस्तदा।
उपतिष्ठन्ति राजेन्द्र द्विजातींस्तत्र तत्र ह ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! धर्म और अर्थमें कुशल मनुष्य मनमें जिन पदार्थोंका चिन्तन करते थे, वे उनके पास वहाँ तत्काल उपस्थित हो जाते थे ॥ ८ ॥

जगुश्च तत्र गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
वादित्राणि च दिव्यानि वादयामासुरञ्जसा ॥ ९ ॥

उस यज्ञमें गन्धर्व गीत गाते और अप्सराएँ नृत्य करती थीं। वहाँ दिव्य बाजे बजाये जा रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि।
विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुषयोनयः ॥ १० ॥

उस यज्ञके वैभवसे देवता भी संतुष्ट थे और अत्यन्त आश्चर्यमें निमग्न हो रहे थे; फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?॥

वर्तमाने तथा यज्ञे पुष्करस्थे पितामहे।
अब्रुवन्नृषयो राजन्नायं यज्ञो महागुणः ॥ ११ ॥
न दृश्यते सरिच्छ्रेष्ठा यस्मादिह सरस्वती।

राजन् ! इस प्रकार जब पितामह ब्रह्मा पुष्करमें रहकर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऋषियोंने उनसे कहा—'भगवन्! आपका यह यज्ञ अभी महान् गुणसे सम्पन्न नहीं है; क्योंकि यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती नहीं दिखायी देती हैं' ॥ ११½॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सस्माराथ सरस्वतीम् ॥ १२॥
पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै।

यह सुनकर भगवान् ब्रह्माने प्रसन्नतापूर्वक सरस्वती देवीकी आराधना करके पुष्करमें यज्ञ करते समय उनका आवाहन किया॥

सुप्रभा नाम राजेन्द्र नाम्ना तत्र सरस्वती ॥ १३ ॥
तां दृष्ट्वा मुनयस्तुष्टास्त्वरायुक्तां सरस्वतीम्।
पितामहं मानयन्तीं क्रतुं ते बहु मेनिरे ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! तब वहाँ सरस्वती सुप्रभा नामसे प्रकट हुई। बड़ी उतावलीके साथ आकर ब्रह्माजीका सम्मान करती हुई सरस्वतीका दर्शन करके ऋषिगण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उस यज्ञको बहुत सम्मान दिया ॥ १३-१४ ॥

एवमेषा सरिच्छ्रेष्ठा पुष्करेषु सरस्वती।

पितामहार्थं सम्भूता तुष्ट्यर्थं च मनीषिणाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पुष्करतीर्थमें ब्रह्माजी तथा मनीषी महात्माओंके संतोषके लिये प्रकट हुई ॥

नैमिषे मुनयो राजन् समागम्य समासते ।
तत्र चित्राः कथा ह्यासन् वेदं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

राजन् ! जनेश्वर ! नैमिषारण्यमें बहुत-से मुनि आकर रहते थे। वहाँ वेदके विषयमें विचित्र कथा-वार्ता होती रहती थी ॥

यत्र ते मुनयो ह्यासन् नानास्वाध्यायवेदिनः ।
ते समागम्य मुनयः सस्मरुर्वै सरस्वतीम् ॥ १७ ॥

जहाँ वे नाना प्रकारके स्वाध्यायोंका ज्ञान रखनेवाले मुनि रहते थे, वहीं उन्होंने परस्पर मिलकर सरस्वती देवीका स्मरण किया ॥ १७ ॥

सा तु ध्याता महाराज ऋषिभिः सत्रयाजिभिः ।
समागतानां राजेन्द्र साहाय्यार्थं महात्मनाम् ॥ १८ ॥
आजगाम महाभागा तत्र पुण्या सरस्वती ।

महाराज ! राजाधिराज ! उन सत्रयाजी (ज्ञानयज्ञ करनेवाले) ऋषियोंके ध्यान लगानेपर महाभागा पुण्यसलिला सरस्वतीदेवी उन समागत महात्माओंकी सहायताके लिये वहाँ आयीं ॥ १८½ ॥

नैमिषे काञ्चनाक्षी तु मुनीनां सत्रयाजिनाम् ॥ १९ ॥
आगता सरितां श्रेष्ठा तत्र भारत पूजिता ।

भारत ! नैमिषारण्य तीर्थमें उन सत्रयाजी मुनियोंके समक्ष आयी हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती काञ्चनाक्षी नामसे सम्मानित हुई ॥ १९½ ॥

गयस्य यजमानस्य गयेष्वेव महाक्रतुम् ॥ २० ॥
आहूता सरितां श्रेष्ठा गययज्ञे सरस्वती ।
विशालां तु गयस्याहुर्ऋषयः संशितव्रताः ॥ २१ ॥

राजा गय गयदेशमें ही एक महान् यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। उनके यज्ञमें भी सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका आवाहन किया गया था। कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गयके यज्ञमें आयी हुई सरस्वतीको विशाला कहते हैं ॥ २०-२१ ॥

सरित् सा हिमवत्पार्श्वात् प्रस्रुता शीघ्रगामिनी ।
औद्दालकेस्तथा यज्ञे यजतस्तस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! यज्ञपरायण उद्दालक ऋषिके यज्ञमें भी सरस्वतीका आवाहन किया गया। वे शीघ्रगामिनी सरस्वती हिमालयसे निकलकर उस यज्ञमें आयी थीं ॥ २२ ॥

समेते सर्वतः स्फीते मुनीनां मण्डले तदा ।
उत्तरे कोसलाभागे पुण्ये राजन् महात्मना ॥ २३ ॥
उद्दालकेन यजता पूर्वं ध्याता सरस्वती ।
आजगाम सरिच्छ्रेष्ठा तं देशं मुनिकारणात् ॥ २४ ॥

राजन् ! उन दिनों समृद्धिशाली एवं पुण्यमय उत्तर कोसल प्रान्तमें सब ओरसे मुनिमण्डली एकत्र हुई थी। उसमें यज्ञ करते हुए महात्मा उद्दालकने पूर्वकालमें सरस्वती देवीका ध्यान किया। तब मुनिका कार्य सिद्ध करनेके लिये सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती उस देशमें आयीं ॥ २३-२४ ॥

पूज्यमाना मुनिगणैर्वल्कलाजिनसंवृतैः ।
मनोरमेति विख्याता सा हि तैर्मनसा कृता ॥ २५ ॥

वहाँ वल्कल और मृगचर्मधारी मुनियोंसे पूजित होनेवाली सरस्वतीका नाम हुआ मनोरमा; क्योंकि उन्होंने मनके द्वारा उनका चिन्तन किया था ॥ २५ ॥

सुरेणुर्ऋषभे द्वीपे पुण्ये राजर्षिसेविते ।
कुरोश्च यजमानस्य कुरुक्षेत्रे महात्मनः ॥ २६ ॥
आजगाम महाभागा सरिच्छ्रेष्ठा सरस्वती ।

राजर्षियोंसे सेवित पुण्यमय ऋषभद्वीप तथा कुरुक्षेत्रमें जब महात्मा राजा कुरु यज्ञ कर रहे थे, उस समय सरिताओंमें श्रेष्ठ महाभागा सरस्वती वहाँ आयी थीं; उनका नाम हुआ सुरेणु ॥ २६½ ॥

ओघवत्यपि राजेन्द्र वसिष्ठेन महात्मना ॥ २७ ॥
समाहूता कुरुक्षेत्रे दिव्यतोया सरस्वती ।
दक्षेण यजता चापि गङ्गाद्वारे सरस्वती ॥ २८ ॥
सुरेणुरिति विख्याता प्रस्रुता शीघ्रगामिनी ।

गङ्गाद्वारमें यज्ञ करते समय दक्षप्रजापतिने जब सरस्वतीका स्मरण किया था, उस समय भी शीघ्रगामिनी सरस्वती वहाँ बहती हुई सुरेणु नामसे ही विख्यात हुई। राजेन्द्र ! इसी प्रकार महात्मा वसिष्ठने भी कुरुक्षेत्रमें दिव्यसलिला सरस्वतीका आवाहन किया था, जो ओघवतीके नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ २७-२८½ ॥

विमलोदा भगवती ब्रह्मणा यजता पुनः ॥ २९ ॥
समाहूता ययौ तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।

ब्रह्माजीने एक बार फिर पुण्यमय हिमालयपर्वतपर यज्ञ किया था। उस समय उनके आवाहन करनेपर भगवती सरस्वतीने विमलोदका नामसे प्रसिद्ध होकर वहाँ पदार्पण किया था ॥ २९½ ॥

एकीभूतास्ततस्तास्तु तस्मिंस्तीर्थे समागताः ॥ ३० ॥
सप्तसारस्वतं तीर्थं ततस्तु प्रथितं भुवि ।

फिर ये सातों सरस्वतियाँ एकत्र होकर उस तीर्थमें आयी थीं, इसीलिये इस भूतलपर 'सप्तसारस्वत तीर्थ'के नामसे उसकी प्रसिद्धि हुई ॥ ३०½ ॥

इति सप्तसरस्वत्यो नामतः परिकीर्तिताः ॥ ३१ ॥
सप्तसारस्वतं चैव तीर्थं पुण्यं तथा स्मृतम् ।

इस प्रकार सात सरस्वती नदियोंका नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है। इन्हींसे सप्तसारस्वत नामक परम पुण्यमय तीर्थका प्रादुर्भाव बताया गया है ॥ ३१½ ॥

शृणु मङ्कणकस्यापि कौमारब्रह्मचारिणः ॥ ३२ ॥
आपगामवगाढस्य राजन् प्रक्रीडितं महत् ।

राजन् ! कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन तथा प्रतिदिन सरस्वती नदीमें स्नान करनेवाले मङ्कणक मुनिका महान् लीलामय चरित्र सुनो ॥ ३२½ ॥

दृष्ट्वा यदृच्छया तत्र स्त्रियमम्भसि भारत ॥ ३३ ॥
जायन्तीं रुचिरापाङ्गीं दिग्वाससमनिन्दिताम् ।

सरस्वत्यां महाराज चस्कन्दे वीर्यमम्भसि ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! एक समयकी बात है, कोई सुन्दर नेत्रोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी रमणी सरस्वतीके जलमें नंगी नहा रही थी । दैवयोगसे मङ्कणक मुनिकी दृष्टि उसपर पड़ गयी और उनका वीर्य स्खलित होकर जलमें गिर पड़ा ॥

तद् रेतः स तु जग्राह कलशे वै महातपाः ।
सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह ॥ ३५ ॥

महातपस्वी मुनिने उस वीर्यको एक कलशमें ले लिया । कलशमें स्थित होनेपर वह वीर्य सात भागोंमें विभक्त हो गया ॥

तत्रर्षयः सप्त जाता जज्ञिरे मरुतां गणाः ।
वायुवेगो वायुबलो वायुहा वायुमण्डलः ॥ ३६ ॥
वायुज्वालो वायुरेता वायुचक्रश्च वीर्यवान् ।
एवमेते समुत्पन्ना मरुतां जनयिष्णवः ॥ ३७ ॥

उस कलशमें सात ऋषि उत्पन्न हुए, जो मूलभूत मरुद्गण थे । उनके नाम इस प्रकार हैं—वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्वाल, वायुरेता और शक्तिशाली वायुचक्र । ये उन्चास मरुद्गणोंके जन्मदाता 'मरुत्' उत्पन्न हुए थे* ॥

इदमत्यद्भुतं राजञ्शृण्वाश्चर्यतरं भुवि ।
महर्षेश्चरितं यादृक् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! महर्षि मङ्कणकका यह तीनों लोकोंमें विख्यात अद्भुत चरित्र जैसा सुना गया है, इसे तुम भी श्रवण करो । वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है ॥ ३८ ॥

पुरा मङ्कणकः सिद्धः कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ।
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी सिद्ध मङ्कणक मुनिका हाथ किसी कुशके अग्रभागसे छिद गया था, उससे रक्तके स्थानपर शाकका रस चूने लगा था ॥ ३९ ॥

स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ।
ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते वै स्थावरं जङ्गमं च यत् ॥ ४० ॥
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ।

वह शाकका रस देखकर मुनि हर्षके आवेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे । वीर ! उनके नृत्यमें प्रवृत्त होते ही स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणी उनके तेजसे मोहित होकर नाचने लगे ॥ ४०½ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ॥ ४१ ॥
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ।
नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! तब ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंने ऋषिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया—'देव ! आप ऐसा कोई उपाय करें, जिससे ये मुनि नृत्य न करें' ॥ ४१-४२ ॥

* इन्हीं ऋषियोंकी तपस्यासे कल्पान्तरमें दितिके गर्भसे उन्चास मरुद्गणोंका आविर्भाव हुआ । ये ही दितिके उदरमें एक गर्भके रूपमें प्रकट हुए, फिर इन्द्रके वज्रसे कटकर उन्चास अमर शरीरोंके रूपमें उत्पन्न हुए—ऐसा समझना चाहिये ।

ततो देवो मुनिं दृष्ट्वा हर्षाविष्टमतीव ह ।
सुराणां हितकामार्थं महादेवोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

मुनिको हर्षके आवेशसे अत्यन्त मतवाला हुआ देख महादेवजीने (ब्राह्मणका रूप धारण करके) देवताओंके हितके लिये उनसे इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

भो भो ब्राह्मण धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं च तवेदमधिकं मुने ॥ ४४ ॥
तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।

'धर्मज्ञ ब्राह्मण ! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं ? मुने ! आपके लिये अधिक हर्षका कौन-सा कारण उपस्थित हो गया है ? द्विजश्रेष्ठ ! आप तो तपस्वी हैं, सदा धर्मके मार्गपर स्थित रहते हैं, फिर आप क्यों हर्षसे उन्मत्त हो रहे हैं?' ॥

ऋषिरुवाच

किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥ ४५ ॥
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तो वै हर्षेण महता विभो ।

ऋषिने कहा—ब्रह्मन् ! क्या आप नहीं देखते कि मेरे हाथसे शाकका रस चू रहा है । प्रभो ! उसीको देखकर मैं महान् हर्षसे नाचने लगा हूँ ॥ ४५½ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद् देवो मुनिं रागेण मोहितम् ॥ ४६ ॥
अहं न विस्मयं विप्र गच्छामीति प्रपश्य माम् ।

यह सुनकर महादेवजी ठठाकर हँस पड़े और उन आसक्तिसे मोहित हुए मुनिसे बोले—'विप्रवर ! मुझे तो यह देखकर विस्मय नहीं हो रहा है । मेरी ओर देखो' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं महादेवेन धीमता ॥ ४७ ॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वङ्गुष्ठस्ताडितोऽभवत् ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम् ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ मङ्कणकसे ऐसा कहकर बुद्धिमान् महादेवजीने अपनी अङ्गुलिके अग्रभागसे अँगूठेमें घाव कर दिया । उस घावसे बर्फके समान सफेद भस्म झड़ने लगा ॥

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः ।
मेने देवं महादेवमिदं चोवाच विस्मितः ॥ ४९ ॥

राजन् ! यह देखकर मुनि लजा गये और महादेवजीके चरणोंमें गिर पड़े । उन्होंने महादेवजीको पहचान लिया और विस्मित होकर कहा—॥ ४९ ॥

नान्यं देवादहं मन्ये रुद्रात् परतरं महत् ।
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृत् ॥ ५० ॥

'भगवन् ! मैं रुद्रदेवके सिवा दूसरे किसी देवताको परम महान् नहीं मानता । आप ही देवताओं तथा असुरों-सहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रयभूत त्रिशूलधारी महादेव हैं ॥

त्वया सृष्टमिदं विश्वं वदन्तीह मनीषिणः ।
त्वामेव सर्वं व्रजति पुनरेव युगक्षये ॥ ५१ ॥

'मनीषी पुरुष कहते हैं कि आपने ही इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है । प्रलयके समय यह सारा जगत् आपमें ही विलीन हो जाता है ॥ ५१ ॥

देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ।

त्वयि सर्वस्य दृश्यन्ते भावा ये जगति स्थिताः ॥ ५२ ॥

'सम्पूर्ण देवता भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जान सकते, फिर मैं कैसे जान सकूँगा ? संसारमें जो-जो पदार्थ स्थित हैं, वे सब आपमें देखे जाते हैं ॥ ५२ ॥

त्वामुपासन्त वरदं देवा ब्रह्मादयोऽनघ ।
सर्वस्त्वमसि देवानां कर्ता कारयिता च ह ॥ ५३ ॥
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः ।

'अनघ ! ब्रह्मा आदि देवता आप वरदायक प्रभुकी ही उपासना करते हैं। आप सर्वस्वरूप हैं। देवताओंके कर्ता और कारयिता भी आप ही हैं। आपके प्रसादसे ही सम्पूर्ण देवता यहाँ निर्भय हो आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ५३½ ॥

(त्वं प्रभुः परमैश्वर्यादधिकं भासि शङ्कर ।
त्वयि ब्रह्मा च शक्रश्च लोकान् संधार्य तिष्ठतः॥

'शङ्कर ! आप सबके प्रभु हैं। अपने उत्कृष्ट ऐश्वर्यसे आपकी अधिक शोभा हो रही है। ब्रह्मा और इन्द्र सम्पूर्ण लोकोंको धारण करके आपमें ही स्थित हैं ॥

त्वन्मूलं च जगत् सर्वं त्वदन्तं हि महेश्वर ।
त्वया हि वितता लोकाः सप्तेमे सर्वसम्भव ॥

'महेश्वर ! सम्पूर्ण जगत्के मूलकारण आप ही हैं। इसका अन्त भी आपमें ही होता है। सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत परमेश्वर ! ये सातों लोक आपसे ही उत्पन्न होकर ब्रह्माण्डमें फैले हुए हैं ॥

सर्वथा सर्वभूतेश त्वामेवार्चन्ति देवताः ।
त्वन्मयं हि जगत् सर्वं भूतं स्थावरजङ्गमम् ॥

'सर्वभूतेश्वर ! देवता सब प्रकारसे आपकी ही पूजा-अर्चा करते हैं। सम्पूर्ण विश्व तथा चराचर भूतोंके उपादान कारण भी आप ही हैं ॥

स्वर्गं च परमं स्थानं नृणामभ्युदयार्थिनाम् ।
ददासि कर्मिणां कर्म भावयन् ध्यानयोगतः ॥

'आप ही अभ्युदयकी इच्छा रखनेवाले सत्कर्मपरायण मनुष्योंको ध्यानयोगसे उनके कर्मोंका विचार करके उत्तम पद—स्वर्गलोक प्रदान करते हैं ॥

न वृथास्ति महादेव प्रसादस्ते महेश्वर ।
यस्मात् त्वयोपकरणात् करोमि कमलेक्षण ॥
प्रपद्ये शरणं शम्भुं सर्वदा सर्वतः स्थितम् ।)

'महादेव ! महेश्वर ! कमलनयन ! आपका कृपाप्रसाद कभी व्यर्थ नहीं होता ! आपकी दी हुई सामग्रीसे ही मैं कार्य कर पाता हूँ, अतः सर्वदा सब ओर स्थित हुए सर्वव्यापी आप भगवान् शङ्करकी मैं शरणमें आता हूँ' ॥

एवं स्तुत्वा महादेवं स ऋषिः प्रणतोऽभवत् ॥ ५४ ॥
यदिदं चापलं देव कृतमेतत् स्मयादिकम् ।
ततः प्रसादयामि त्वां तपो मे न क्षरेदिति ॥ ५५ ॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके वे महर्षि नतमस्तक हो गये और इस प्रकार बोले—'देव ! मैंने जो यह अहंकार आदि प्रकट करनेकी चपलता की है, उसके लिये क्षमा माँगते हुए आपसे प्रसन्न होनेकी मैं प्रार्थना करता हूँ। मेरी तपस्या नष्ट न हो' ॥ ५४-५५ ॥

ततो देवः प्रीतमनास्तमृषिं पुनरब्रवीत् ।
तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा ॥ ५६ ॥
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सार्धमहं सदा ।
सप्तसारस्वते चास्मिन् यो मामर्चिष्यते नरः ॥ ५७ ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चिद् भवितेह परत्र वा ।
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर महादेवजीका मन प्रसन्न हो गया। वे उन महर्षिसे पुनः बोले—'विप्रवर ! मेरे प्रसादसे तुम्हारी तपस्या सहस्रगुनी बढ़ जाय। मैं इस आश्रममें सदा तुम्हारे साथ निवास करूँगा। जो इस सप्तसारस्वत तीर्थमें मेरी पूजा करेगा, उसके लिये इहलोक या परलोकमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। वे सारस्वत लोकमें जायँगे—इसमें संशय नहीं है'॥

एतन्मङ्कणकस्यापि चरितं भूरितेजसः ।
स हि पुत्रः सुकन्यायामुत्पन्नो मातरिश्वना ॥ ५९ ॥

यह महातेजस्वी मङ्कणक मुनिका चरित्र बताया गया है। वे वायुके औरस पुत्र थे। वायुदेवताने सुकन्याके गर्भसे उन्हें उत्पन्न किया था ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्यानेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

औशनस एवं कपालमोचन तीर्थकी माहात्म्यकथा तथा रुषङ्गुके आश्रम पृथूदक तीर्थकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा तत्र रामस्तु सम्पूज्याश्रमवासिनः ।
तथा मङ्कणके प्रीतिं शुभां चक्रे हलायुधः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस सप्तसारस्वत तीर्थमें रहकर हलधर बलरामजीने आश्रमवासी ऋषियोंका पूजन किया और मङ्कणक मुनिपर अपनी उत्तम प्रीतिका परिचय दिया॥

दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यो रजनीं तामुपोष्य च ।
पूजितो मुनिसङ्घैश्च प्रातरुत्थाय लाङ्गली ॥ २ ॥
अनुज्ञाप्य मुनीन् सर्वान् स्पृष्ट्वा तोयं च भारत ।
प्रययौ त्वरितो रामस्तीर्थहेतोर्महाबलः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ ब्राह्मणोंको दान दे उस रात्रिमें निवास करनेके पश्चात् प्रातःकाल उठकर मुनिमण्डलीसे सम्मानित हो महाबली लाङ्गलधारी बलरामने पुनः तीर्थके जलमें स्नान किया और सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंकी आज्ञा ले

अन्य तीर्थोंमें जानेके लिये वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान कर दिया ॥ २-३ ॥

ततस्त्वौशनसं तीर्थमाजगाम हलायुधः।
कपालमोचनं नाम यत्र मुक्तो महामुनिः ॥ ४ ॥
महता शिरसा राजन् ग्रस्तजङ्घो महोदरः।
राक्षसस्य महाराज रामक्षिप्तस्य वै पुरा ॥ ५ ॥

तदनन्तर हलधारी बलराम औशनस तीर्थमें आये, जिसका दूसरा नाम कपालमोचन तीर्थ भी है। महाराज! पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामने एक राक्षसको मारकर उसे दूर फेंक दिया था। उसका विशाल सिर महामुनि महोदरकी जाँघमें चपक गया था। वे महामुनि इस तीर्थमें स्नान करनेपर उस कपालसे मुक्त हुए थे ॥ ४-५ ॥

तत्र पूर्वं तपस्तप्तं काव्येन सुमहात्मना।
यत्रास्य नीतिरखिला प्रादुर्भूता महात्मनः ॥ ६ ॥

महात्मा शुक्राचार्यने वहीं पहले तप किया था, जिससे उनके हृदयमें सम्पूर्ण नीति-विद्या स्फुरित हुई थी ॥ ६ ॥

यत्रस्थश्चिन्तयामास दैत्यदानवविग्रहम्।
तत् प्राप्य च बलो राजंस्तीर्थप्रवरमुत्तमम् ॥ ७ ॥
विधिवद् वै ददौ वित्तं ब्राह्मणानां महात्मनाम्।

वहीं रहकर उन्होंने दैत्यों अथवा दानवोंके युद्धके विषयमें विचार किया था। राजन्! उस श्रेष्ठ तीर्थमें पहुँचकर बलरामजीने महात्मा ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धनका दान दिया था ॥ ७½ ॥

जनमेजय उवाच

कपालमोचनं ब्रह्मन् कथं यत्र महामुनिः ॥ ८ ॥
मुक्तः कथं चास्य शिरो लग्नं केन च हेतुना।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! उस तीर्थका नाम कपालमोचन कैसे हुआ, जहाँ महामुनि महोदरको छुटकारा मिला था? उनकी जाँघमें वह सिर कैसे और किस कारणसे चिपक गया था? ॥ ८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा वै दण्डकारण्ये राघवेण महात्मना ॥ ९ ॥
वसता राजशार्दूल राक्षसान् शमयिष्यता।
जनस्थाने शिरश्छिन्नं राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ १० ॥
क्षुरेण शितधारेण उत्पपात महावने।
महोदरस्य तल्लग्नं जंघायां वै यदृच्छया ॥ ११ ॥
वने विचरतो राजन्नस्थि भित्त्वास्फुरत् तदा।

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ! पूर्वकालकी बात है, रघुकुलतिलक महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें रहते समय जब राक्षसोंके संहारका विचार किया, तब तीखी धारवाले क्षुरसे जनस्थानमें उस दुरात्मा राक्षसका मस्तक काट दिया। वह कटा हुआ मस्तक उस महान् वनमें ऊपरको उछला और दैवयोगसे वनमें विचरते हुए महोदर मुनिकी जाँघमें जा लगा। नरेश्वर! उस समय उनकी हड्डी छेदकर वह भीतर तक घुस गया ॥ ९—११½ ॥

स तेन लग्नेन तदा द्विजातिर्न शशाक ह ॥ १२ ॥
अभिगन्तुं महाप्राज्ञस्तीर्थान्यायतनानि च।

उस मस्तकके चिपक जानेसे वे महाबुद्धिमान् ब्राह्मण किसी तीर्थ या देवालयमें सुगमतापूर्वक आ-जा नहीं सकते थे॥

स पूतिना विस्रवता वेदनार्तो महामुनिः ॥ १३ ॥
जगाम सर्वतीर्थानि पृथिव्यां चेति नः श्रुतम्।

उस मस्तकसे दुर्गन्धयुक्त पीब बहती रहती थी और महामुनि महोदर वेदनासे पीड़ित हो गये थे। हमने सुना है कि मुनिने किसी तरह भूमण्डलके सभी तीर्थोंकी यात्रा की ॥

स गत्वा सरितः सर्वाः समुद्रांश्च महातपाः ॥ १४ ॥
कथयामास तत् सर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
आप्लुत्य सर्वतीर्थेषु न च मोक्षमवाप्तवान् ॥ १५ ॥

उन महातपस्वी महर्षिने सम्पूर्ण सरिताओं और समुद्रोंकी यात्रा करके वहाँ रहनेवाले पवित्रात्मा मुनियोंसे वह सब वृत्तान्त कह सुनाया। सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करके भी वे उस कपालसे छुटकारा न पा सके ॥ १४-१५ ॥

स तु शुश्राव विप्रेन्द्र मुनीनां वचनं महत्।
सरस्वत्यास्तीर्थवरं ख्यातमौशनसं तदा ॥ १६ ॥
सर्वपापप्रशमनं सिद्धिक्षेत्रमनुत्तमम्।

विप्रवर! उन्होंने मुनियोंके मुखसे यह महत्त्वपूर्ण बात सुनी कि 'सरस्वतीका श्रेष्ठ तीर्थ जो औशनस नामसे विख्यात है, सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला तथा परम उत्तम सिद्धि-क्षेत्र है' ॥ १६½ ॥

स तु गत्वा ततस्तत्र तीर्थमौशनसं द्विजः ॥ १७ ॥
तत औशनसे तीर्थे तस्योपस्पृशतस्तदा।
तच्छिरश्चरणं मुक्त्वा पपातान्तर्जले तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मर्षि वहाँ औशनस तीर्थमें गये और उसके जलसे आचमन एवं स्नान किया। उसी समय वह कपाल उनके चरण (जाँघ) को छोड़कर पानीके भीतर गिर पड़ा॥

विमुक्तस्तेन शिरसा परं सुखमवाप ह।
स चाप्यन्तर्जले मूर्धा जगामादर्शनं विभो ॥ १९ ॥

प्रभो! उस मस्तक या कपालसे मुक्त होनेपर महोदर मुनिको बड़ा सुख मिला। साथ ही वह मस्तक भी (जो उनकी जाँघसे छूटकर गिरा था) पानीके भीतर अदृश्य हो गया॥

ततः स विशिरा राजन् पूतात्मा वीतकल्मषः।
आजगामाश्रमं प्रीतः कृतकृत्यो महोदरः ॥ २० ॥

राजन्! उस कपालसे मुक्त हो निष्पाप एवं पवित्र अन्तःकरणवाले महोदर मुनि कृतकृत्य हो प्रसन्नतापूर्वक अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २० ॥

सोऽथ गत्वाऽऽश्रमं पुण्यं विप्रमुक्तो महातपाः।
कथयामास तत् सर्वमृषीणां भावितात्मनाम् ॥ २१ ॥

संकटसे मुक्त हुए उन महातपस्वी मुनिने अपने पवित्र आश्रमपर जाकर वहाँ रहनेवाले पवित्रात्मा ऋषियोंसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २१ ॥

ते श्रुत्वा वचनं तस्य ततस्तीर्थस्य मानद।

कपालमोचनमिति नाम चक्रुः समागताः ॥ २२ ॥

मानद ! तदनन्तर वहाँ आये हुए महर्षियोंने महोदर मुनिकी बात सुनकर उस तीर्थका नाम कपालमोचन रख दिया ॥

स चापि तीर्थप्रवरं पुनर्गत्वा महानृषिः ।
पीत्वा पयः सुविपुलं सिद्धिमायात् तदा मुनिः ॥२३॥

इसके बाद महर्षि महोदर पुनः उस श्रेष्ठ तीर्थमें गये और वहाँका प्रचुर जल पीकर उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए ॥

तत्र दत्त्वा बहून् दायान् विप्रान् सम्पूज्य माधवः ।
जगाम वृष्णिप्रवरो रुषङ्गोराश्रमं तदा ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशावतंस बलरामजीने वहाँ ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें बहुत धनका दान किया । इसके बाद वे रुषङ्गु मुनिके आश्रमपर गये ॥ २४ ॥

यत्र तप्तं तपो घोरमार्ष्टिषेणेन भारत ।
ब्राह्मण्यं लब्धवांस्तत्र विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! वहीं आर्ष्टिषेण मुनिने घोर तपस्या की थी और वहीं महामुनि विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ॥

सर्वकामसमृद्धं च तदाश्रमपदं महत् ।
मुनिभिर्ब्राह्मणैश्चैव सेवितं सर्वदा विभो ॥ २६ ॥

प्रभो ! वह महान् आश्रम सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंसे सम्पन्न है । वहाँ बहुत-से मुनि और ब्राह्मण सदा निवास करते हैं ॥ २६ ॥

ततो हलधरः श्रीमान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।
जगाम तत्र राजेन्द्र रुषङ्गुस्तनुमत्यजत् ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् श्रीमान् हलधर ब्राह्मणोंसे घिरकर उस स्थानपर गये, जहाँ रुषङ्गुने अपना शरीर छोड़ा था ॥

रुषङ्गुर्ब्राह्मणो वृद्धस्तपोनित्यश्च भारत ।
देहन्यासे कृतमना विचिन्त्य बहुधा तदा ॥ २८ ॥
ततः सर्वानुपादाय तनयान् वै महातपाः ।
रुषङ्गुरब्रवीत् तत्र नयध्वं मां पृथूदकम् ॥ २९ ॥

भारत ! बूढ़े ब्राह्मण रुषङ्गु सदा तपस्यामें संलग्न रहते थे । एक समय उन महातपस्वी रुषङ्गु मुनिने शरीर त्याग देनेका विचार करके बहुत कुछ सोचकर अपने सभी पुत्रोंको बुलाया और उनसे कहा—'मुझे पृथूदक तीर्थमें ले चलो' ॥

विज्ञायातीतवयसं रुषङ्गुं ते तपोधनाः ।
तं च तीर्थमुपानिन्युः सरस्वत्यास्तपोधनम् ॥ ३० ॥

उन तपस्वी पुत्रोंने तपोधन रुषङ्गुको अत्यन्त वृद्ध जानकर उन्हें सरस्वतीके उस उत्तम तीर्थमें पहुँचा दिया ।३०।

स तैः पुत्रैस्तदा धीमानानीतो वै सरस्वतीम् ।
पुण्यां तीर्थशतोपेतां विप्रसङ्घैर्निषेविताम् ॥ ३१ ॥
स तत्र विधिना राजन्नाप्लुत्य सुमहातपाः ।
ज्ञात्वा तीर्थगुणांश्चैव प्राहेदमृषिसत्तमः ॥ ३२ ॥
सुप्रीतः पुरुषव्याघ्र सर्वान् पुत्रानुपासतः ।

राजन् ! नरव्याघ्र ! वे पुत्र जब उन बुद्धिमान् मुनिको ब्राह्मणसमूहोंसे सेवित तथा सैकड़ों तीर्थोंसे सुशोभित पुण्यसलिला सरस्वतीके तटपर ले आये, तब वे महातपस्वी महर्षि वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके तीर्थके गुणोंको जानकर अपने पास बैठे हुए सभी पुत्रोंसे प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥३१-३२½॥

सरस्वत्युत्तरे तीरे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ॥ ३३ ॥
पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ।

'जो सरस्वतीके उत्तर तटपर पृथूदक तीर्थमें जप करते हुए अपने शरीरका परित्याग करता है, उसे भविष्यमें पुनः मृत्युका कष्ट नहीं भोगना पड़ता' ॥ ३३½ ॥

तत्राप्लुत्य स धर्मात्मा उपस्पृश्य हलायुधः ॥ ३४ ॥
दत्त्वा चैव बहून् दायान् विप्राणां विप्रवत्सलः ।

धर्मात्मा विप्रवत्सल हलधर बलरामजीने उस तीर्थमें स्नान करके ब्राह्मणोंको बहुत धनका दान किया ॥ ३४½ ॥

ससर्ज यत्र भगवाँल्लोकाँल्लोकपितामहः ॥ ३५ ॥
यत्रार्ष्टिषेणः कौरव्य ब्राह्मण्यं संशितव्रतः ।
तपसा महता राजन् प्राप्तवानृषिसत्तमः ॥ ३६ ॥
सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपाः ।
ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस्तथा मुनिः ॥ ३७ ॥
महातपस्वी भगवानुग्रतेजा महायशाः ।
तत्राजगाम बलवान् बलभद्रः प्रतापवान् ॥ ३८ ॥

कुरुवंशी नरेश ! तत्पश्चात् बलवान् एवं प्रतापी बलभद्रजी उस तीर्थमें आ गये, जहाँ लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने सृष्टि की थी, जहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ आर्ष्टिषेणने बड़ी भारी तपस्या करके ब्राह्मणत्व पाया था तथा जहाँ राजर्षि सिन्धुद्वीप, महान् तपस्वी देवापि और महायशस्वी, उग्रतेजस्वी एवं महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र मुनिने भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ॥ ३५–३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

आर्ष्टिषेण एवं विश्वामित्रकी तपस्या तथा वरप्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथमार्ष्टिषेणो भगवान् विपुलं तप्तवांस्तपः ।
सिन्धुद्वीपः कथं चापि ब्राह्मण्यं लब्धवांस्तदा ॥ १ ॥
देवापिश्च कथं ब्रह्मन् विश्वामित्रश्च सत्तम ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! मुनिश्रेष्ठ ! पूज्य आर्ष्टिषेण-

ने वहाँ किस प्रकार बड़ी भारी तपस्या की थी तथा सिन्धुद्वीप, देवापि और विश्वामित्रजीने किस तरह ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ? भगवन् ! यह सब मुझे बताइये। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी भारी उत्सुकता है ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा कृतयुगे राजन्नार्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः।
वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालकी सत्ययुगकी बात है, द्विजश्रेष्ठ आर्ष्टिषेण सदा गुरुकुलमें निवास करते हुए निरन्तर वेद-शास्त्रोंके अध्ययनमें लगे रहते थे ॥३॥

तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च।
समाप्तिं नागमद् विद्या नापि वेदा विशाम्पते॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! नरेश्वर ! गुरुकुलमें सर्वदा रहते हुए भी न तो उनकी विद्या समाप्त हुई और न वे सम्पूर्ण वेद ही पढ़ सके॥

स निर्विण्णस्ततो राजंस्तपस्तेपे महातपाः।
ततो वै तपसा तेन प्राप्य वेदाननुत्तमान्॥ ५ ॥
स विद्वान् वेदयुक्तश्च सिद्धश्चाप्यृषिसत्तमः।
तत्र तीर्थे वरान् प्रादात् त्रीनेव सुमहातपाः॥ ६ ॥

नरेश्वर ! इससे महातपस्वी आर्ष्टिषेण खिन्न एवं विरक्त हो उठे, फिर उन्होंने सरस्वतीके उसी तीर्थमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की। उस तपके प्रभावसे उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके वे ऋषिश्रेष्ठ विद्वान् वेदज्ञ और सिद्ध हो गये। तदनन्तर उन महातपस्वीने उस तीर्थको तीन वर प्रदान किये—॥

अस्मिंस्तीर्थे महानद्या अद्यप्रभृति मानवः।
आप्लुतो वाजिमेधस्य फलं प्राप्स्यति पुष्कलम्॥ ७ ॥
अद्यप्रभृति नैवात्र भयं व्यालाद् भविष्यति।
अपि चाल्पेन कालेन फलं प्राप्स्यति पुष्कलम्॥ ८ ॥

'आजसे जो मनुष्य महानदी सरस्वतीके इस तीर्थमें स्नान करेगा, उसे अश्वमेध यज्ञका सम्पूर्ण फल प्राप्त होगा। आजसे इस तीर्थमें किसीको सर्पसे भय नहीं होगा। थोड़े समय तक ही इस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको बहुत अधिक फल प्राप्त होगा' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम त्रिदिवं मुनिः।
एवं सिद्धः स भगवानार्ष्टिषेणः प्रतापवान्॥ ९ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी मुनि स्वर्गलोकको चले गये। इस प्रकार पूजनीय एवं प्रतापी आर्ष्टिषेण ऋषि उस तीर्थमें सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ ९ ॥

तस्मिन्नेव तदा तीर्थे सिन्धुद्वीपः प्रतापवान्।
देवापिश्च महाराज ब्राह्मण्यं प्रापतुर्महत्॥ १० ॥

महाराज ! उन्हीं दिनों उसी तीर्थमें प्रतापी सिन्धुद्वीप तथा देवापिने वहाँ तप करके महान् ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था॥

तथा च कौशिकस्तात तपोनित्यो जितेन्द्रियः।
तपसा वै सुतप्तेन ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्॥ ११ ॥

तात ! कुशिकवंशी विश्वामित्र भी वहीं निरन्तर इन्द्रिय-संयमपूर्वक तपस्या करते थे। उस भारी तपस्याके प्रभावसे उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति हुई ॥ ११ ॥

गाधिर्नाम महानासीत् क्षत्रियः प्रथितो भुवि।
तस्य पुत्रोऽभवद् राजन् विश्वामित्रः प्रतापवान्॥ १२॥

राजन् ! पहले इस भूतलपर गाधिनामसे विख्यात महान् क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। प्रतापी विश्वामित्र उन्हींके पुत्र थे ॥ १२ ॥

स राजा कौशिकस्तात महायोग्यभवत् किल।
स पुत्रमभिषिच्याथ विश्वामित्रं महातपाः॥ १३ ॥
देहन्यासे मनश्चक्रे तमूचुः प्रणताः प्रजाः।
न गन्तव्यं महाप्राज्ञ त्राहि चास्मान् महाभयात्॥ १४ ॥

तात ! लोग कहते हैं कि कुशिकवंशी राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। उन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्रको राज्यपर अभिषिक्त करके शरीरको त्याग देनेका विचार किया। तब सारी प्रजा उनसे नतमस्तक होकर बोली—'महाबुद्धिमान् नरेश ! आप कहीं न जायँ, यहीं रहकर हमारी इस जगत्के महान् भयसे रक्षा करते रहें' ॥१३-१४॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच ततो गाधिः प्रजास्ततः।
विश्वस्य जगतो गोप्ता भविष्यति सुतो मम॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर गाधिने सम्पूर्ण प्रजाओंसे कहा—'मेरा पुत्र सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाला होगा (अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये)' ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा तु ततो गाधिर्विश्वामित्रं निवेश्य च।
जगाम त्रिदिवं राजन् विश्वामित्रोऽभवन्नृपः॥ १६ ॥

राजन् ! यों कहकर राजा गाधि विश्वामित्रको राजसिंहासनपर बिठाकर स्वर्गलोकको चले गये। तत्पश्चात् विश्वामित्र राजा हुए ॥ १६ ॥

न स शक्नोति पृथिवीं यत्नवानपि रक्षितुम्।
ततः शुश्राव राजा स राक्षसेभ्यो महाभयम्॥ १७ ॥

वे प्रयत्नशील होनेपर भी सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षा नहीं कर पाते थे। एक दिन राजा विश्वामित्रने सुना कि 'प्रजाको राक्षसोंसे महान् भय प्राप्त हुआ है' ॥ १७ ॥

निर्ययौ नगराच्चापि चतुरङ्गबलान्वितः।
स गत्वा दूरमध्वानं वसिष्ठाश्रममभ्ययात्॥ १८ ॥

तब वे चतुरंगिणी सेना लेकर नगरसे निकल पड़े और दूर तकका रास्ता तय करके वसिष्ठके आश्रमके पास जा पहुँचे॥

तस्य ते सैनिका राजंश्चक्रुस्तत्रानयान् बहून्।
ततस्तु भगवान् विप्रो वसिष्ठोऽऽश्रममभ्ययात्॥ १९॥

राजन् ! उनके उन सैनिकोंने वहाँ बहुत-से अन्याय एवं अत्याचार किये। तदनन्तर पूज्य ब्रह्मर्षि वसिष्ठ कहींसे अपने आश्रमपर आये ॥ १९ ॥

ददृशेऽथ ततः सर्वं भज्यमानं महावनम्।
तस्य क्रुद्धो महाराज वसिष्ठो मुनिसत्तमः॥ २० ॥

आकर उन्होंने देखा कि वह सारा विशाल वन उजाड़ होता जा रहा है। महाराज ! यह देखकर मुनिवर वसिष्ठ राजा विश्वामित्रपर कुपित हो उठे ॥ २० ॥

सृजस्व शबरान् घोरानिति स्वां गामुवाच ह ।
तथोक्ता सासृजद् धेनुः पुरुषान् घोरदर्शनान् ॥ २१ ॥

फिर उन्होंने अपनी गौ नन्दिनीसे कहा—'तुम भयंकर भील जातिके सैनिकोंकी सृष्टि करो'। उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उनकी होमधेनुने ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न किया, जो देखनेमें बड़े भयानक थे ॥ २१ ॥

ते तु तद्बलमासाद्य बभञ्जुः सर्वतोदिशम् ।
तच्छ्रुत्वा विद्रुतं सैन्यं विश्वामित्रस्तु गाधिजः ॥ २२ ॥
तपः परं मन्यमानस्तपस्येव मनो दधे ।

उन्होंने विश्वामित्रकी सेनापर आक्रमण करके उनके सैनिकोंको सम्पूर्ण दिशाओंमें मार भगाया। गाधिनन्दन विश्वामित्रने जब यह सुना कि मेरी सेना भाग गयी तो तपको ही अधिक प्रबल मानकर तपस्यामें ही मन लगाया ॥२२½॥

सोऽस्मिंस्तीर्थवरे राजन् सरस्वत्याः समाहितः ॥ २३ ॥
नियमैश्चोपवासैश्च कर्षयन् देहमात्मनः ।

राजन्! उन्होंने सरस्वतीके उस श्रेष्ठ तीर्थमें चित्तको एकाग्र करके नियमों और उपवासोंके द्वारा अपने शरीरको सुखाना आरम्भ किया ॥ २३½ ॥

जलाहारो वायुभक्षः पर्णाहारश्च सोऽभवत् ॥ २४ ॥
तथा स्थण्डिलशायी च ये चान्ये नियमाः पृथक् ।

वे कभी जल पीकर रहते, कभी वायुको ही आहार बनाते और कभी पत्ते चबाकर रहते थे। सदा भूमिकी वेदी बनाकर उसपर सोते और तपस्यासम्बन्धी जो अन्य सारे नियम हैं, उनका भी पृथक्-पृथक् पालन करते थे ॥ २४½ ॥

असकृत्तस्य देवास्तु व्रतविघ्नं प्रचक्रिरे ॥ २५ ॥
न चास्य नियमाद् बुद्धिरपयाति महात्मनः ।

देवताओंने उनके व्रतमें बारंबार विघ्न डाला; परंतु उन महात्माकी बुद्धि कभी नियमसे विचलित नहीं होती थी॥

ततः परेण यत्नेन तप्त्वा बहुविधं तपः ॥ २६ ॥
तेजसा भास्कराकारो गाधिजः समपद्यत ।

तदनन्तर महान् प्रयत्नके द्वारा नाना प्रकारकी तपस्या करके गाधिनन्दन विश्वामित्र अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ २६½ ॥

तपसा तु तथा युक्तं विश्वामित्रं पितामहः ॥ २७ ॥
अमन्यत महातेजा वरदो वरमस्य तत् ।

विश्वामित्रको ऐसी तपस्यासे युक्त देख महातेजस्वी एवं वरदायक ब्रह्माजीने उन्हें वर देनेका विचार किया ॥२७½॥

स तु वव्रे वरं राजन् स्यामहं ब्राह्मणस्त्विति ॥ २८ ॥
तथेति चाब्रवीद् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।

राजन्! तब उन्होंने यह वर माँगा कि 'मैं ब्राह्मण हो जाऊँ।' सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने उन्हें 'तथास्तु' कहकर वह वर दे दिया ॥ २८½ ॥

स लब्ध्वा तपसोग्रेण ब्राह्मणत्वं महायशाः ॥ २९ ॥
विचचार महीं कृत्स्नां कृतकामः सुरोपमः ।

उस उग्र तपस्याके द्वारा ब्राह्मणत्व पाकर सफलमनोरथ हुए महायशस्वी विश्वामित्र देवताके समान समस्त भूमण्डलमें विचरने लगे ॥ २९½ ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे रामः प्रदाय विविधं वसु ॥ ३० ॥
पयस्विनीस्तथा धेनूर्यानानि शयनानि च ।
अथ वस्त्राण्यलङ्कारं भक्ष्यं पेयं च शोभनम् ॥ ३१ ॥
अददान्मुदितो राजन् पूजयित्वा द्विजोत्तमान् ।
ययौ राजंस्ततो रामो बकस्याश्रममन्तिकात् ।
यत्र तेपे तपस्तीव्रं दाल्भ्यो बक इति श्रुतिः ॥ ३२ ॥

राजन्! बलरामजीने उस श्रेष्ठ तीर्थमें उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें दूध देनेवाली गौएँ, वाहन, शय्या, वस्त्र, अलङ्कार तथा खाने-पीनेके सुन्दर पदार्थ प्रसन्नतापूर्वक दिये। फिर वहाँसे वे बकके आश्रमके निकट गये, जहाँ दल्भपुत्र बकने तीव्र तपस्या की थी ॥ ३०-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अवाकीर्ण और यायात तीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें दाल्भ्यकी कथा और ययातिके यज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मयोनेरवाकीर्णं जगाम यदुनन्दनः ।
यत्र दाल्भ्यो बको राजन्नाश्रमस्थो महातपाः ॥ १ ॥
जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं वैचित्रवीर्यिणः ।
तपसा घोररूपेण कर्षयन् देहमात्मनः ॥ २ ॥
क्रोधेन महताऽऽविष्टो धर्मात्मा वै प्रतापवान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करानेवाले उस तीर्थसे प्रस्थित होकर यदुनन्दन बलरामजी 'अवाकीर्ण' तीर्थमें गये, जहाँ आश्रममें रहते हुए महातपस्वी धर्मात्मा एवं प्रतापी दल्भपुत्र बकने महान् क्रोधमें भरकर घोर तपस्याद्वारा अपने शरीरको सुखाते हुए विचित्रवीर्य-कुमार राजा धृतराष्ट्रके राष्ट्रका होम कर दिया था ॥ १-२½ ॥

पुरा हि नैमिषीयाणां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ ३ ॥
वृत्ते विश्वजितोऽन्ते वै पञ्चालानृषयोऽगमन् ।
तत्रेश्वरमयाचन्त दक्षिणार्थं मनस्विनः ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें नैमिषारण्यनिवासी ऋषियोंने बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले एक सत्रका आरम्भ किया था। जब वह पूरा हो गया, तब वे सब ऋषि विश्वजित् नामक यज्ञके अन्तमें पाञ्चाल देशमें गये। वहाँ जाकर उन मनस्वी मुनियोंने उस देशके राजासे दक्षिणाके लिये धनकी याचना की ॥ ३-४ ॥

(तत्र ते लेभिरे राजन् पञ्चालेभ्यो महर्षयः)
बलान्वितान् वत्सतरान् निर्व्याधीनेकविंशतिम् ।
तानब्रवीद् बको दाल्भ्यो विभजध्वं पशूनिति ॥ ५ ॥
पशूनेतानहं त्यक्त्वा भिक्षिष्ये राजसत्तमम् ।

राजन् ! वहाँ महर्षियोंने पाञ्चालोंसे इक्कीस बलवान् और नीरोग बछड़े प्राप्त किये । तब उनमेंसे दल्भपुत्र बकने अन्य सब ऋषियोंसे कहा—'आपलोग इन पशुओंको बाँट लें । मैं इन्हें छोड़कर किसी श्रेष्ठ राजासे दूसरे पशु माँग लूँगा'॥

एवमुक्त्वा ततो राजन्नृषीन् सर्वान् प्रतापवान्॥
जगाम धृतराष्ट्रस्य भवनं ब्राह्मणोत्तमः ।

नरेश्वर ! उन सब ऋषियोंसे ऐसा कहकर वे प्रतापी उत्तम ब्राह्मण राजा धृतराष्ट्रके घरपर गये ॥ ६½ ॥

स समीपगतो भूत्वा धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ७ ॥
अयाचत पशून् दाल्भ्यः स चैनं रुषितोऽब्रवीत् ।
यदृच्छया मृता दृष्ट्वा गास्तदा नृपसत्तमः ॥ ८ ॥
एतान् पशून् नय क्षिप्रं ब्रह्मबन्धो यदीच्छसि ।

निकट जाकर दाल्भ्यने कौरवनरेश धृतराष्ट्रसे पशुओंकी याचना की । यह सुनकर नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्र कुपित हो उठे । उनके यहाँ कुछ गौएँ दैवेच्छासे मर गयी थीं । उन्हींको लक्ष्य करके राजाने क्रोधपूर्वक कहा—'ब्रह्मबन्धो ! यदि पशु चाहते हो तो इन मरे हुए पशुओंको ही शीघ्र ले जाओ' ॥

ऋषिस्तथा वचः श्रुत्वा चिन्तयामास धर्मवित्॥ ९ ॥
अहो बत नृशंसं वै वाक्यमुक्तोऽस्मि संसदि ।

उनकी वैसी बात सुनकर धर्मज्ञ ऋषिने चिन्तामग्न होकर सोचा—'अहो ! बड़े खेदकी बात है कि इस राजाने भरी सभामें मुझसे ऐसा कठोर वचन कहा है' ॥ ९½ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तेन रोषाविष्टो द्विजोत्तमः ॥ १० ॥
मतिं चक्रे विनाशाय धृतराष्ट्रस्य भूपतेः ।

दो घड़ीतक इस प्रकार चिन्ता करके रोषमें भरे हुए द्विजश्रेष्ठ दाल्भ्यने राजा धृतराष्ट्रके विनाशका विचार किया ॥

स तूत्कृत्य मृतानां वै मांसानि मुनिसत्तमः ॥ ११ ॥
जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेः पुरा ।

वे मुनिश्रेष्ठ उन मृत पशुओंके ही मांस काट-काटकर उनके द्वारा राजा धृतराष्ट्रके राष्ट्रकी ही आहुति देने लगे ॥

अवाकीर्णे सरस्वत्यास्तीर्थे प्रज्वाल्य पावकम् ॥ १२ ॥
बको दाल्भ्यो महाराज नियमं परमं स्थितः ।
स तैरेव जुहावास्य राष्ट्रं मांसैर्महातपाः ॥ १३ ॥

महाराज ! सरस्वतीके अवाकीर्ण तीर्थमें अग्नि प्रज्वलित करके महातपस्वी दल्भपुत्र बक उत्तम नियमका आश्रय ले उन मृत पशुओंके मांसोंद्वारा ही उनके राष्ट्रका हवन करने लगे॥

तस्मिंस्तु विधिवत् सत्रे सम्प्रवृत्ते सुदारुणे ।
अक्षीयत ततो राष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ॥ १४ ॥

राजन् ! वह भयंकर यज्ञ जब विधिपूर्वक आरम्भ हुआ, तबसे धृतराष्ट्रका राष्ट्र क्षीण होने लगा ॥ १४ ॥

ततः प्रक्षीयमाणं तद् राज्यं तस्य महीपतेः ।
छिद्यमानं यथानन्तं वनं परशुना विभो ॥ १५ ॥
बभूवापद्गतं तच्च व्यवकीर्णमचेतनम् ।

प्रभो ! जैसे बड़ा भारी वन कुल्हाड़ीसे काटा जा रहा हो, उसी प्रकार उस राजाका राज्य क्षीण होता हुआ भारी आफतमें फँस गया; वह संकटग्रस्त होकर अचेत हो गया ॥

दृष्ट्वा तथावकीर्णं तु राष्ट्रं स मनुजाधिपः ॥ १६ ॥
बभूव दुर्मना राजंश्चिन्तयामास च प्रभुः ।
मोक्षार्थमकरोद् यत्नं ब्राह्मणैः सहितः पुरा ॥ १७ ॥

राजन् ! अपने राष्ट्रको इस प्रकार सङ्कटमग्न हुआ देख वे नरेश मन-ही-मन बहुत दुखी हुए और गहरी चिन्तामें डूब गये । फिर ब्राह्मणोंके साथ अपने देशको सङ्कटसे बचानेका प्रयत्न करने लगे ॥ १६-१७ ॥

न च श्रेयोऽध्यगच्छत्तु क्षीयते राष्ट्रमेव च ।
यदा स पार्थिवः खिन्नस्ते च विप्रास्तदानघ ॥ १८ ॥

अनघ ! जब किसी प्रकार भी वे भूपाल अपने राष्ट्रका कल्याण साधन न कर सके और वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होता ही चला गया, तब राजा और उन ब्राह्मणोंको बड़ा खेद हुआ ॥ १८ ॥

यदा चापि न शक्नोति राष्ट्रं मोक्षयितुं नृप ।
अथ वै प्राश्निकांस्तत्र पप्रच्छ जनमेजय ॥ १९ ॥

नरेश्वर जनमेजय ! जब धृतराष्ट्र अपने राष्ट्रको उस विपत्तिसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ न हो सके, तब उन्होंने प्राश्निकों (प्रश्न पूछनेपर भूत, वर्तमान और भविष्यकी बातें बतानेवालों) को बुलाकर उनसे इसका कारण पूछा ॥

ततो वै प्राश्निकाः प्राहुः पशोर्विप्रकृतस्त्वया ।
मांसैरभिजुहोतीदं तव राष्ट्रं मुनिर्बकः ॥ २० ॥

तब उन प्राश्निकोंने कहा—'आपने पशुके लिये याचना करनेवाले बक मुनिका तिरस्कार किया है; इसलिये वे मृत पशुओंके मांसोंद्वारा आपके इस राष्ट्रका विनाश करनेकी इच्छासे होम कर रहे हैं ॥ २० ॥

तेन ते हूयमानस्य राष्ट्रस्यास्य क्षयो महान् ।
तस्यैतत् तपसः कर्म येन तेऽद्य लयो महान् ॥ २१ ॥

'उनके द्वारा आपके राष्ट्रकी आहुति दी जा रही है; इसलिये इसका महान् विनाश हो रहा है । यह सब उनकी तपस्याका प्रभाव है, जिससे आपके इस देशका इस समय महान् विलय होने लगा है ॥ २१ ॥

अपां कुञ्जे सरस्वत्यास्तं प्रसादय पार्थिव ।
सरस्वतीं ततो गत्वा स राजा बकमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'भूपाल ! सरस्वतीके कुञ्जमें जलके समीप वे मुनि विराजमान हैं, आप उन्हें प्रसन्न कीजिये ।' तब राजाने सरस्वतीके तटपर जाकर बक मुनिसे इस प्रकार कहा ॥ २२ ॥

निपत्य शिरसा भूमौ प्राञ्जलिर्भरतर्षभ ।
प्रसादये त्वां भगवन्नपराधं क्षमस्व मे ॥ २३ ॥
मम दीनस्य लुब्धस्य मौर्ख्येण हतचेतसः ।
त्वं गतिस्त्वं च मे नाथः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे पृथ्वीपर माथा टेक हाथ जोड़कर बोले—'भगवन् ! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मुझ दीन, लोभी और मूर्खतासे हतबुद्धि हुए अपराधीके अपराधको क्षमा कर दें। आप ही मेरी गति हैं। आप ही मेरे रक्षक हैं। आप मुझपर अवश्य कृपा करें' ॥ २३-२४ ॥

तं तथा विलपन्तं तु शोकोपहतचेतसम्।
दृष्ट्वा तस्य कृपा जज्ञे राष्ट्रं तस्य व्यमोचयत् ॥ २५ ॥

राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार शोकसे अचेत होकर विलाप करते देख उनके मनमें दया आ गयी और उन्होंने राजाके राज्यको सङ्कटसे मुक्त कर दिया ॥ २५ ॥

ऋषिः प्रसन्नस्तस्याभूत् संरम्भं च विहाय सः।
मोक्षार्थं तस्य राज्यस्य जुहाव पुनराहुतिम् ॥ २६ ॥

ऋषि क्रोध छोड़कर राजापर प्रसन्न हुए और पुनः उनके राज्यको सङ्कटसे बचानेके लिये आहुति देने लगे ॥२६॥

मोक्षयित्वा ततो राष्ट्रं प्रतिगृह्य पशून् बहून्।
हृष्टात्मा नैमिषारण्यं जगाम पुनरेव सः ॥ २७ ॥

इस प्रकार राज्यको विपत्तिसे छुड़ाकर राजासे बहुत-से पशु ले प्रसन्नचित्त हुए महर्षि दाल्भ्य पुनः नैमिषारण्यको ही चले गये ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रोऽपि धर्मात्मा स्वस्थचेता महामनाः।
स्वमेव नगरं राजन् प्रतिपेदे महर्द्धिमत् ॥ २८ ॥

राजन् ! फिर महामनस्वी धर्मात्मा धृतराष्ट्र भी स्वस्थचित्त हो अपने समृद्धिशाली नगरको ही लौट आये ॥२८॥

तत्र तीर्थे महाराज बृहस्पतिरुदारधीः।
असुराणामभावाय भवाय च दिवौकसाम् ॥ २९ ॥
मांसैरभिजुहावेष्टिमक्षीयन्त ततोऽसुराः।
दैवतैरपि सम्भग्ना जितकाशिभिराहवे ॥ ३० ॥

महाराज ! उसी तीर्थमें उदारबुद्धि बृहस्पतिजीने असुरोंके विनाश और देवताओंकी उन्नतिके लिये मांसोंद्वारा आभिचारिक यज्ञका अनुष्ठान किया था। इससे वे असुर क्षीण हो गये और युद्धमें विजयसे सुशोभित होनेवाले देवताओंने उन्हें मार भगाया ॥ २९-३० ॥

तत्रापि विधिवद् दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः।
वाजिनः कुञ्जरांश्चैव रथांश्चाश्वतरीयुतान् ॥ ३१ ॥
रत्नानि च महार्हाणि धनं धान्यं च पुष्कलम्।
ययौ तीर्थं महाबाहुर्यायातं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥

पृथ्वीनाथ ! महायशस्वी महाबाहु बलरामजी उस तीर्थमें भी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक हाथी, घोड़े, खच्चरियोंसे जुते हुए रथ, बहुमूल्य रत्न तथा प्रचुर धन-धान्यका दान करके वहाँसे यायात तीर्थमें गये ॥ ३१-३२ ॥

तत्र यज्ञे ययातेश्च महाराज सरस्वती।
सर्पिः पयश्च सुस्राव नाहुषस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ पूर्वकालमें नहुषनन्दन महात्मा ययातिने यज्ञ किया था, जिसमें सरस्वतीने उनके लिये दूध और घीका स्रोत बहाया था ॥ ३३ ॥

तत्रेष्ट्वा पुरुषव्याघ्रो ययातिः पृथिवीपतिः।
अक्रामदूर्ध्वं मुदितो लेभे लोकांश्च पुष्कलान् ॥ ३४ ॥

पुरुषसिंह भूपाल ययाति वहाँ यज्ञ करके प्रसन्नतापूर्वक ऊर्ध्वलोकमें चले गये और वहाँ उन्हें बहुत-से पुण्यलोक प्राप्त हुए॥

पुनस्तत्र च राज्ञस्तु ययातेर्यजतः प्रभोः।
औदार्यं परमं कृत्वा भक्तिं चात्मनि शाश्वतीम् ॥३५॥
ददौ कामान् ब्राह्मणेभ्यो यान् यान् यो मनसेच्छति।

शक्तिशाली राजा ययाति जब वहाँ यज्ञ कर रहे थे, उस समय उनकी उत्कृष्ट उदारताको दृष्टिमें रखकर और अपने प्रति उनकी सनातन भक्ति देख सरस्वतीने उस यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंको, जिसने अपने मनसे जिन-जिन भोगोंको चाहा, वे सभी मनोवाञ्छित भोग प्रदान किये ॥ ३५½ ॥

यो यत्र स्थित एवेह आहूतो यज्ञसंस्तरे ॥ ३६ ॥
तस्य तस्य सरिच्छ्रेष्ठा गृहादिशयनादिकम्।
षड्रसं भोजनं चैव दानं नानाविधं तथा ॥ ३७ ॥

राजाके यज्ञमण्डपमें बुलाकर आया हुआ जो ब्राह्मण जहाँ कहीं ठहर गया, वहीं उसके लिये सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने पृथक्-पृथक् गृह, शय्या, आसन, षड्रस भोजन तथा नाना प्रकारके दानकी व्यवस्था की ॥ ३६-३७ ॥

ते मन्यमाना राज्ञस्तु सम्प्रदानमनुत्तमम्।
राजानं तुष्टुवुः प्रीता दत्त्वा चैवाशिषः शुभाः ॥ ३८ ॥

उन ब्राह्मणोंने यह समझकर कि राजाने ही यह उत्तम दान दिया है, अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा ययातिको शुभाशीर्वाद दे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः प्रीता यज्ञस्य सम्पदा।
विस्मिता मानुषाश्चासन् दृष्ट्वा तां यज्ञसम्पदम् ॥ ३९ ॥

उस यज्ञकी सम्पत्तिसे देवता और गन्धर्व भी बड़े प्रसन्न हुए थे। मनुष्योंको तो वह यज्ञ-वैभव देखकर महान् आश्चर्य हुआ था ॥ ३९ ॥

ततस्तालकेतुर्महाधर्मकेतु-
र्महात्मा कृतात्मा महादाननित्यः।
वसिष्ठापवाहं महाभीमवेगं
धृतात्मा जितात्मा समभ्याजगाम ॥ ४० ॥

तदनन्तर महान् धर्म ही जिनकी ध्वजा है और जिनकी पताकापर ताड़का चिह्न सुशोभित है, वे महात्मा, कृतात्मा, धृतात्मा तथा जितात्मा बलरामजी, जो प्रतिदिन बड़े-बड़े दान किया करते थे, वहाँसे वसिष्ठापवाह नामक तीर्थमें गये, जहाँ सरस्वतीका वेग बड़ा भयङ्कर है ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

वसिष्ठापवाह तीर्थकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें विश्वामित्रका क्रोध और वसिष्ठजीकी सहनशीलता

जनमेजय उवाच

वसिष्ठस्यापवाहोऽसौ भीमवेगः कथं नु सः ।
किमर्थं च सरिच्छ्रेष्ठा तमृषिं प्रत्यवाहयत् ॥ १ ॥
कथमस्याभवद् वैरं कारणं किं च तत् प्रभो ।
शंस पृष्टो महाप्राज्ञ न हि तृप्यामि ते वचः ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—प्रभो ! वसिष्ठापवाह तीर्थमें सरस्वतीके जलका भयंकर वेग कैसे हुआ ? सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने उन महर्षिको किस लिये बहाया ? उनके साथ उसका वैर कैसे हुआ ? उस वैरका कारण क्या है ? महामते ! मैंने जो पूछा है, वह बताइये । मैं आपके वचनोंको सुनते-सुनते तृप्त नहीं होता हूँ ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रस्य विप्रर्षेर्वसिष्ठस्य च भारत ।
भृशं वैरमभूद् राजंस्तपःस्पर्धाकृतं महत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भारत ! तपस्यामें होड़ लग जानेके कारण विश्वामित्र तथा ब्रह्मर्षि वसिष्ठमें बड़ा भारी वैर हो गया था ॥ ३ ॥

आश्रमो वै वसिष्ठस्य स्थाणुतीर्थेऽभवन्महान् ।
पूर्वतः पार्श्वतश्चासीद् विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ४ ॥

सरस्वतीके स्थाणुतीर्थमें पूर्वतटपर वसिष्ठका बहुत बड़ा आश्रम था और पश्चिम तटपर बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिका आश्रम बना हुआ था ॥ ४ ॥

यत्र स्थाणुर्महाराज तप्तवान् परमं तपः ।
तत्रास्य कर्म तद् घोरं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५ ॥

महाराज ! जहाँ भगवान् स्थाणुने बड़ी भारी तपस्या की थी, वहाँ मनीषी पुरुष उनके घोर तपका वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥

यत्रेष्ट्वा भगवान् स्थाणुः पूजयित्वा सरस्वतीम् ।
स्थापयामास तत् तीर्थं स्थाणुतीर्थमिति प्रभो ॥ ६ ॥

प्रभो ! जहाँ भगवान् स्थाणु (शिव) ने सरस्वतीका पूजन और यज्ञ करके तीर्थकी स्थापना की थी, वहाँ वह तीर्थ स्थाणुतीर्थके नामसे विख्यात हुआ ॥ ६ ॥

तत्र तीर्थे सुराः स्कन्दमभ्यषिञ्चन्नराधिप ।
सैनापत्येन महता सुरारिविनिबर्हणम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! उसी तीर्थमें देवताओंने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले स्कन्दको महान् सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था।

तस्मिन् सारस्वते तीर्थे विश्वामित्रो महामुनिः ।
वसिष्ठं चालयामास तपसोग्रेण तच्छृणु ॥ ८ ॥

उसी सारस्वत तीर्थमें महामुनि विश्वामित्रने अपनी उग्र तपस्यासे वसिष्ठमुनिको विचलित कर दिया था । वह प्रसंग सुनाता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवसिष्ठौ तावहन्यहनि भारत ।
स्पर्धां तपःकृतां तीव्रां चक्रतुस्तौ तपोधनौ ॥ ९ ॥

भारत ! विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों ही तपस्याके धनी थे, वे प्रतिदिन होड़ लगाकर अत्यन्त कठोर तप किया करते थे ॥ ९ ॥

तत्राप्यधिकसंतापो विश्वामित्रो महामुनिः ।
दृष्ट्वा तेजो वसिष्ठस्य चिन्तामभिजगाम ह ॥ १० ॥

उनमें भी महामुनि विश्वामित्रको ही अधिक संताप होता था, वे वसिष्ठका तेज देखकर चिन्तामग्न हो गये थे ॥१०॥

तस्य बुद्धिरियं ह्यासीद् धर्मनित्यस्य भारत ।
इयं सरस्वती तूर्णं मत्समीपं तपोधनम् ॥ ११ ॥
आनयिष्यति वेगेन वसिष्ठं तपतां वरम् ।
इहागतं द्विजश्रेष्ठं हनिष्यामि न संशयः ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले विश्वामित्र मुनिके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह सरस्वती तपोधन वसिष्ठको अपने जलके वेगसे तुरंत ही मेरे समीप ला देगी और यहाँ आ जानेपर तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ विप्रवर वसिष्ठका मैं वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ ११-१२ ॥

एवं निश्चित्य भगवान् विश्वामित्रो महामुनिः ।
सस्मार सरितां श्रेष्ठां क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १३ ॥

ऐसा निश्चय करके पूज्य महामुनि विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे रक्त-वर्ण हो गये । उन्होंने सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका स्मरण किया ॥ १३ ॥

सा ध्याता मुनिना तेन व्याकुलत्वं जगाम ह ।
जज्ञे चैनं महावीर्यं महाकोपं च भाविनी ॥ १४ ॥

उन मुनिके चिन्तन करनेपर विचारशीला सरस्वती व्याकुल हो उठी । उसे ज्ञात हो गया कि ये महान् शक्तिशाली महर्षि इस समय बड़े भारी क्रोधसे भरे हुए हैं ॥१४॥

तत एनं वेपमाना विवर्णा प्राञ्जलिस्तदा ।
उपतस्थे मुनिवरं विश्वामित्रं सरस्वती ॥ १५ ॥

इससे सरस्वतीकी कान्ति फीकी पड़ गयी और वह हाथ जोड़ थर-थर काँपती हुई मुनिवर विश्वामित्रकी सेवामें उपस्थित हुई ॥ १५ ॥

हतवीरा यथा नारी साभवद् दुःखिता भृशम् ।
ब्रूहि किं करवाणीति प्रोवाच मुनिसत्तमम् ॥ १६ ॥

जिसका पति मारा गया हो उस विधवा नारीके समान वह अत्यन्त दुखी हो गयी और उन मुनिश्रेष्ठसे बोली—'प्रभो ! बताइये, मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ?' ॥

तामुवाच मुनिः क्रुद्धो वसिष्ठं शीघ्रमानय ।
यावदेनं निहन्म्यद्य तच्छ्रुत्वा व्यथिता नदी ॥ १७ ॥

तब कुपित हुए मुनिने उससे कहा—'वसिष्ठको शीघ्र यहाँ बहाकर ले आओ, जिससे आज मैं इनका वध कर डालूँ ।' यह सुनकर सरस्वती नदी व्यथित हो उठी ॥ १७ ॥

प्राञ्जलिं तु ततः कृत्वा पुण्डरीकनिभेक्षणा ।

प्राकम्पत भृशं भीता वायुनेवाहता लता ॥ १८ ॥

वह कमलनयना अबला हाथ जोड़कर वायुके झकोरेसे हिलायी गयी लताके समान अत्यन्त भयभीत हो जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ १८ ॥

तथारूपां तु तां दृष्ट्वा मुनिराह महानदीम् ।
अविचारं वसिष्ठं त्वमानयस्वान्तिकं मम ॥ १९ ॥

उसकी ऐसी अवस्था देखकर मुनिने उस महानदीसे कहा– 'तुम बिना कोई विचार किये वसिष्ठको मेरे पास ले आओ' ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा ज्ञात्वा पापं चिकीर्षितम् ।
वसिष्ठस्य प्रभावं च जानन्त्यप्रतिमं भुवि ॥ २० ॥
साभिगम्य वसिष्ठं च इदमर्थमचोदयत् ।
यदुक्ता सरितां श्रेष्ठा विश्वामित्रेण धीमता ॥ २१ ॥

विश्वामित्रकी बात सुनकर और उनकी पापपूर्ण चेष्टा जानकर वसिष्ठके भूतलपर विख्यात अनुपम प्रभावको जानती हुई उस नदीने उनके पास जाकर बुद्धिमान् विश्वामित्रने जो कुछ कहा था, वह सब उनसे कह सुनाया ॥ २०-२१ ॥

उभयोः शापयोर्भीता वेपमाना पुनः पुनः ।
चिन्तयित्वा महाशापमृषिवित्रासिता भृशम् ॥ २२ ॥

वह दोनोंके शापसे भयभीत हो बारंबार काँप रही थी । महान् शापका चिन्तन करके विश्वामित्र ऋषिके डरसे बहुत डर गयी थी ॥ २२ ॥

तां कृशां च विवर्णां च दृष्ट्वा चिन्तासमन्विताम् ।
उवाच राजन् धर्मात्मा वसिष्ठो द्विपदां वरः ॥ २३ ॥

राजन्! उसे दुर्बल, उदास और चिन्तामग्न देख मनुष्योंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा वसिष्ठने कहा ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

पाह्यात्मानं सरिच्छ्रेष्ठे वह मां शीघ्रगामिनी ।
विश्वामित्रः शपेद्धि त्वां मा कृथास्त्वं विचारणाम्॥२४॥

वसिष्ठ बोले--सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती ! तुम शीघ्र गतिसे प्रवाहित होकर मुझे बहा ले चलो और अपनी रक्षा करो, अन्यथा विश्वामित्र तुम्हें शाप दे देंगे; इसलिये तुम कोई दूसरा विचार मनमें न लाओ ॥ २४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृपाशीलस्य सा सरित् ।
चिन्तयामास कौरव्य किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन ! उन कृपाशील महर्षिका वह वचन सुनकर सरस्वती सोचने लगी, 'क्या करनेसे शुभ होगा ?' ॥ २५ ॥

तस्याश्चिन्ता समुत्पन्ना वसिष्ठो मय्यतीव हि ।
कृतवान् हि दयां नित्यं तस्य कार्यं हितं मया ॥ २६ ॥

उसके मनमें यह विचार उठा कि 'वसिष्ठने मुझपर बड़ी भारी दया की है । अतः सदा मुझे इनका हित साधन करना चाहिये' ॥ २६ ॥

अथ कूले स्वके राजन् जपन्तमृषिसत्तमम् ।
जुह्वानं कौशिकं प्रेक्ष्य सरस्वत्यभ्यचिन्तयत् ॥ २७ ॥
इदमन्तरमित्येवं ततः सा सरितां वरा ।
कूलापहारमकरोत् स्वेन वेगेन सा सरित् ॥ २८ ॥

राजन् ! तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्रको अपने तटपर जप और होम करते देख सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने सोचा, यही अच्छा अवसर है, फिर तो उस नदीने पूर्वतटको तोड़कर उसे अपने वेगसे बहाना आरम्भ किया ॥ २७-२८ ॥

तेन कूलापहारेण मैत्रावरुणिरौह्यत ।
उह्यमानः स तुष्टाव तदा राजन् सरस्वतीम् ॥ २९ ॥

उस बहते हुए किनारेके साथ मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी भी बहने लगे । राजन् ! बहते समय वसिष्ठजी सरस्वतीकी स्तुति करने लगे—॥ २९ ॥

पितामहस्य सरसः प्रवृत्तासि सरस्वति ।
व्याप्तं चेदं जगत् सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः ॥ ३० ॥

'सरस्वती ! तुम पितामह ब्रह्माजीके सरोवरसे प्रकट हुई हो, इसीलिये तुम्हारा नाम सरस्वती है । तुम्हारे उत्तम जलसे ही यह सारा जगत् व्याप्त है ॥ ३० ॥

त्वमेवाकाशगा देवि मेघेषु सृजसे पयः ।
सर्वाश्चापस्त्वमेवेति त्वत्तो वयमधीमहि ॥ ३१ ॥

'देवि ! तुम्हीं आकाशमें जाकर मेघोंमें जलकी सृष्टि करती हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जल हो; तुमसे ही हम ऋषिगण वेदोंका अध्ययन करते हैं ॥ ३१ ॥

पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्तिः सिद्धिर्बुद्धिरुमा तथा ।
त्वमेव वाणी स्वाहा त्वं तवायत्तमिदं जगत् ॥ ३२ ॥
त्वमेव सर्वभूतेषु वससीह चतुर्विधा ।

'तुम्हीं पुष्टि, कीर्ति, द्युति, सिद्धि, बुद्धि, उमा, वाणी और स्वाहा हो । यह सारा जगत् तुम्हारे अधीन है । तुम्हीं समस्त प्राणियोंमें चार* प्रकारके रूप धारण करके निवास करती हो' ॥ ३२½ ॥

एवं सरस्वती राजन् स्तूयमाना महर्षिणा ॥ ३३ ॥
वेगेनोवाह तं विप्रं विश्वामित्राश्रमं प्रति ।
न्यवेदयत चाभीक्ष्णं विश्वामित्राय तं मुनिम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! महर्षिके मुखसे इस प्रकार स्तुति सुनती हुई सरस्वतीने उन ब्रह्मर्षिको अपने वेगद्वारा विश्वामित्रके आश्रमपर पहुँचा दिया और विश्वामित्रसे बारंबार निवेदन किया कि 'वसिष्ठ मुनि उपस्थित हैं' ॥ ३३-३४ ॥

तमानीतं सरस्वत्या दृष्ट्वा कोपसमन्वितः ।
अथान्वेषत् प्रहरणं वसिष्ठान्तकरं तदा ॥ ३५ ॥

सरस्वतीद्वारा लाये हुए वसिष्ठको देखकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उनके जीवनका अन्त कर देनेके लिये कोई हथियार ढूँढ़ने लगे ॥ ३५ ॥

तं तु क्रुद्धमभिप्रेक्ष्य ब्रह्मवध्याभयान्नदी ।
अपोवाह वसिष्ठं तु प्राचीं दिशमतन्द्रिता ॥ ३६ ॥
उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम् ।

उन्हें कुपित देख सरस्वती नदी ब्रह्महत्याके भयसे आलस्य छोड़ दोनोंकी आज्ञाका पालन करती हुई विश्वामित्रको धोखा देकर वसिष्ठ मुनिको पुनः पूर्व दिशाकी ओर बहा ले गयी ॥

* परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—यह चार प्रकारकी वाणी ही सरस्वतीका चतुर्विध रूप है ।

ततोऽपवाहितं दृष्ट्वा वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ३७ ॥
अब्रवीद् दुःखसंक्रुद्धो विश्वामित्रो ह्यमर्षणः ।
यस्मान्मां त्वं सरिच्छ्रेष्ठे वञ्चयित्वा पुनर्गता॥ ३८ ॥
शोणितं वह कल्याणि रक्षोग्रामणिसम्मतम् ।

मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुनः अपनेसे दूर बहाया गया देख अमर्षशील विश्वामित्र दुःखसे अत्यन्त कुपित हो बोले—'सरिताओंमें श्रेष्ठ कल्याणमयी सरस्वती ! तुम मुझे धोखा देकर फिर चली गयी, इसलिये अब जलकी जगह रक्त बहाओ, जो राक्षसोंके समूहको अधिक प्रिय है ॥ ३७-३८½ ॥

ततः सरस्वती शप्ता विश्वामित्रेण धीमता ॥ ३९ ॥
अवहच्छोणितोन्मिश्रं तोयं संवत्सरं तदा ।

बुद्धिमान् विश्वामित्रके इस प्रकार शाप देनेपर सरस्वती नदी एक सालतक रक्तमिश्रित जल बहाती रही ॥ ३९½ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तदा ॥ ४० ॥
सरस्वतीं तथा दृष्ट्वा बभूवुर्भृशदुःखिताः ।

तदनन्तर ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सरा सरस्वतीको उस अवस्थामें देखकर अत्यन्त दुखी हो गये ॥ ४०½ ॥

एवं वसिष्ठापवाहो लोके ख्यातो जनाधिप ॥ ४१ ॥
आगच्छच्च पुनर्मार्गं स्वमेव सरितां वरा ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार वह स्थान जगत्में वसिष्ठापवाहके नामसे विख्यात हुआ। वसिष्ठजीको बहानेके पश्चात् सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती फिर अपने पूर्व मार्गपर ही बहने लग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ऋषियोंके प्रयत्नसे सरस्वतीके शापकी निवृत्ति, जलकी शुद्धि तथा अरुणासङ्गममें स्नान करनेसे राक्षसों और इन्द्रका संकटमोचन

वैशम्पायन उवाच

सा शप्ता तेन क्रुद्धेन विश्वामित्रेण धीमता ।
तस्मिंस्तीर्थवरे शुभ्रे शोणितं समुपावहत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कुपित हुए बुद्धिमान् विश्वामित्रने जब सरस्वती नदीको शाप दे दिया, तब वह नदी उस उज्ज्वल एवं श्रेष्ठ तीर्थमें रक्तकी धारा बहाने लगी ॥ १ ॥

अथाजग्मुस्ततो राजन् राक्षसास्तत्र भारत ।
तत्र ते शोणितं सर्वे पिबन्तः सुखमासते ॥ २ ॥

भारत ! तदनन्तर वहाँ बहुत-से राक्षस आ पहुँचे। वे सब-के-सब उस रक्तको पीते हुए वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥

तृप्ताश्च सुभृशं तेन सुखिता विगतज्वराः ।
नृत्यन्तश्च हसन्तश्च यथा स्वर्गजितस्तथा ॥ ३ ॥

उस रक्तसे अत्यन्त तृप्त, सुखी और निश्चिन्त हो वे राक्षस वहाँ नाचने और हँसने लगे, मानो उन्होंने स्वर्गलोकको जीत लिया हो ॥ ३ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य ऋषयः सुतपोधनाः ।
तीर्थयात्रां समाजग्मुः सरस्वत्यां महीपते ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ ! कुछ कालके पश्चात् बहुत-से तपोधन मुनि सरस्वतीके तटपर तीर्थयात्राके लिये पधारे ॥ ४ ॥

तेषु सर्वेषु तीर्थेषु स्वाप्लुत्य मुनिपुङ्गवाः ।
प्राप्य प्रीतिं परां चापि तपोलुब्धा विशारदाः ॥ ५ ॥
प्रययुर्हि ततो राजन् येन तीर्थमसृग्वहम् ।

पूर्वोक्त सभी तीर्थोंमें गोता लगाकर वे तपस्याके लोभी विज्ञ मुनिवर पूर्ण प्रसन्न हो उसी ओर गये, जिधर रक्तकी धारा बहानेवाला पूर्वोक्त तीर्थ था ॥ ५½ ॥

अथागम्य महाभागास्तत् तीर्थं दारुणं तदा ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्याः शोणितेन परिप्लुतम् ।
पीयमानं च रक्षोभिर्बहुभिर्नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वहाँ आकर उन महाभाग मुनियोंने देखा कि उस तीर्थकी दारुण दशा हो गयी है, वहाँ सरस्वतीका जल रक्तसे ओतप्रोत है और बहुत-से राक्षस उसका पान कर रहे हैं॥

तान् दृष्ट्वा राक्षसान् राजन् मुनयः संशितव्रताः ।
परित्राणे सरस्वत्याः परं यत्नं प्रचक्रिरे ॥ ८ ॥

राजन् ! उन राक्षसोंको देखकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनियोंने सरस्वतीके उस तीर्थकी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न किया ॥ ८ ॥

ते तु सर्वे महाभागाः समागम्य महाव्रताः ।
आहूय सरितां श्रेष्ठामिदं वचनमब्रुवन् ॥ ९ ॥

उन सभी महान् व्रतधारी महाभाग ऋषियोंने मिलकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीको बुलाकर पूछा—॥ ९ ॥

कारणं ब्रूहि कल्याणि किमर्थं ते ह्रदो ह्ययम् ।
एवमाकुलतां यातः श्रुत्वा ध्यास्यामहे वयम् ॥ १० ॥

'कल्याणि ! तुम्हारा यह कुण्ड इस प्रकार रक्तसे मिश्रित क्यों हो गया ? इसका क्या कारण है ? बताओ। उसे सुनकर हमलोग कोई उपाय सोचेंगे' ॥ १० ॥

ततः सा सर्वमाचष्ट यथावृत्तं प्रवेपती ।
दुःखितामथ तां दृष्ट्वा ऊचुस्ते वै तपोधनाः ॥ ११ ॥

तब काँपती हुई सरस्वतीने सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे कह सुनाया। उसे दुखी देख वे तपोधन महर्षि उससे बोले—॥

कारणं श्रुतमस्माभिः शापश्चैव श्रुतोऽनघे ।
करिष्यन्ति तु यत् प्राप्तं सर्व एव तपोधनाः ॥ १२ ॥

'निष्पाप सरस्वती ! हमने शाप और उसका कारण सुन

लिया । ये सभी तपोधन इस विषयमें समयोचित कर्तव्यका पालन करेंगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा सरिच्छ्रेष्ठामूचुस्तेऽथ परस्परम् ।
विमोचयामहे सर्वे शापादेतां सरस्वतीम् ॥ १३ ॥

सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीसे ऐसा कहकर वे आपसमें बोले—'हम सब लोग मिलकर इस सरस्वतीको शापसे छुटकारा दिलावें' ॥ १३ ॥

ते सर्वे ब्राह्मणा राजंस्तपोभिर्नियमैस्तथा ।
उपवासैश्च विविधैर्यमैः कष्टव्रतैस्तथा ॥ १४ ॥
आराध्य पशुभर्तारं महादेवं जगत्पतिम् ।
तां देवीं मोक्षयामासुः सरिच्छ्रेष्ठां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥

राजन् ! उन सभी ब्राह्मणोंने तप, नियम, उपवास, नाना प्रकारके संयम तथा कष्टसाध्य व्रतोंके द्वारा पशुपति विश्वनाथ महादेवजीकी आराधना करके सरिताओंमें श्रेष्ठ उस सरस्वती देवीको शापसे छुटकारा दिलाया ॥ १४-१५ ॥

तेषां तु सा प्रभावेण प्रकृतिस्था सरस्वती ।
प्रसन्नसलिला जज्ञे यथापूर्वं तथैव हि ॥ १६ ॥

उनके प्रभावसे सरस्वती प्रकृतिस्थ हुई, उसका जल पूर्ववत् स्वच्छ हो गया ॥ १६ ॥

निर्मुक्ता च सरिच्छ्रेष्ठा विबभौ सा यथा पुरा ।
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्या मुनिभिस्तैस्तथा कृतम् ॥ १७ ॥
तानेव शरणं जग्मू राक्षसाः क्षुधितास्तथा ।

शापमुक्त हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पहलेकी भाँति शोभा पाने लगी । उन मुनियोंके द्वारा सरस्वतीका जल वैसा शुद्ध कर दिया गया—यह देखकर वे भूखे हुए राक्षस उन्हीं महर्षियोंकी शरणमें गये ॥ १७½ ॥

कृत्वाञ्जलिं ततो राजन् राक्षसाः क्षुधयार्दिताः ॥ १८ ॥
ऊचुस्तान् वै मुनीन् सर्वान् कृपायुक्तान् पुनः पुनः ।
वयं च क्षुधिताश्चैव धर्माद्धीनाश्च शाश्वतात् ॥ १९ ॥

राजन् ! तदनन्तर वे भूखसे पीड़ित हुए राक्षस उन सभी कृपालु मुनियोंसे बारंबार हाथ जोड़कर कहने लगे—'महात्माओ ! हम भूखे हैं । सनातन धर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं ॥

न च नः कामकारोऽयं यद् वयं पापकारिणः ।
युष्माकं चाप्रसादेन दुष्कृतेन च कर्मणा ॥ २० ॥
यत् पापं वर्धतेऽस्माकं ततः स्मो ब्रह्मराक्षसाः ।

'हमलोग जो पापाचार करते हैं, यह हमारा स्वेच्छाचार नहीं है । आप-जैसे महात्माओंकी हमलोगोंपर कभी कृपा नहीं हुई और हम सदा दुष्कर्म ही करते चले आये । इससे हमारे पापकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है और हम ब्रह्मराक्षस हो गये हैं ॥ २०½ ॥

योषितां चैव पापेन योनिदोषकृतेन च ॥ २१ ॥
एवं हि वैश्यशूद्राणां क्षत्रियाणां तथैव च ।
ये ब्राह्मणान् प्रद्विषन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ २२ ॥

'स्त्रियाँ अपने योनिदोषजनित पाप (व्यभिचार) से राक्षसी हो जाती हैं । इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें से जो लोग ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं, वे भी इस जगत्‌में राक्षस होते हैं ॥ २१-२२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव गुरुं वृद्धजनं तथा ।
प्राणिनो येऽवमन्यन्ते ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ २३ ॥

'जो प्राणधारी मानव आचार्य, ऋत्विज, गुरु और वृद्ध पुरुषोंका अपमान करते हैं, वे भी यहाँ राक्षस होते हैं ॥२३॥

तत् कुरुध्वमिहास्माकं तारणं द्विजसत्तमाः ।
शक्ता भवन्तः सर्वेषां लोकानामपि तारणे ॥ २४ ॥

'अतः विप्रवरो ! आप यहाँ हमारा उद्धार करें, क्योंकि आपलोग सम्पूर्ण लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं' ॥ २४ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा तुष्टुवुस्तां महानदीम् ।
मोक्षार्थं रक्षसां तेषामूचुः प्रयतमानसाः ॥ २५ ॥

उन राक्षसोंका वचन सुनकर एकाग्रचित्त महर्षियोंने उनकी मुक्तिके लिये महानदी सरस्वतीका स्तवन किया और इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

क्षुतं कीटावपन्नं च यच्चोच्छिष्टाचितं भवेत् ।
सकेशमवधूतं च रुदितोपहतं च यत् ॥ २६ ॥
श्वभिः संसृष्टमन्नं च भागोऽसौ रक्षसामिह ।
तस्माज्ज्ञात्वा सदा विद्वानेतान् यत्नाद् विवर्जयेत्॥२७॥
राक्षसान्नमसौ भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यन्नमीदृशम्।

'जिस अन्नपर थूक पड़ गयी हो, जिसमें कीड़े पड़े हों, जो जूठा हो, जिसमें बाल गिरा हो, जो तिरस्कारपूर्वक प्राप्त हुआ हो, जो अश्रुपातसे दूषित हो गया हो तथा जिसे कुत्तोंने छू दिया हो, वह सारा अन्न इस जगत्‌में राक्षसोंका भाग है । अतः विद्वान् पुरुष सदा समझ-बूझकर इन सब प्रकारके अन्नोंका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे । जो ऐसे अन्नको खाता है, वह मानो राक्षसोंका अन्न खाता है' ॥ २६-२७½ ॥

शोधयित्वा ततस्तीर्थमृषयस्ते तपोधनाः ॥ २८ ॥
मोक्षार्थं राक्षसानां च नदीं तां प्रत्यचोदयन् ।

तदनन्तर उन तपोधन महर्षियोंने उस तीर्थकी शुद्धि करके उन राक्षसोंकी मुक्तिके लिये सरस्वती नदीसे अनुरोध किया।

महर्षीणां मतं ज्ञात्वा ततः सा सरितां वरा ॥ २९ ॥
अरुणामानयामास स्वां तनूं पुरुषर्षभ ।
तस्यां ते राक्षसाः स्नात्वा तनूस्त्यक्त्वा दिवं गताः॥३०॥
अरुणायां महाराज ब्रह्मवध्यापहा हि सा ।

नरश्रेष्ठ ! महर्षियोंका यह मत जानकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती अपनी ही स्वरूपभूता अरुणाको ले आयी । महाराज ! उस अरुणामें स्नान करके वे राक्षस अपना शरीर छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये; क्योंकि वह ब्रह्महत्याका निवारण करनेवाली है॥

एतमर्थमभिज्ञाय देवराजः शतक्रतुः ॥ ३१ ॥
तस्मिंस्तीर्थे वरे स्नात्वा विमुक्तः पाप्मना किल ।

राजन् ! कहते हैं, इस बातको जानकर देवराज इन्द्र उसी श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हुए थे ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् शक्रो ब्रह्मवध्यामवाप्तवान् ॥ ३२ ॥

कथमस्मिंश्च तीर्थे वै आप्लुत्याकल्मषोऽभवत् ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप कैसे लगा तथा वे किस प्रकार इस तीर्थमें स्नान करके पाप मुक्त हुए थे ? ॥ ३२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वैतदुपाख्यानं यथावृत्तं जनेश्वर ॥ ३३ ॥
यथा बिभेद समयं नमुचेर्वासवः पुरा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! पूर्वकालमें इन्द्रने नमुचिके साथ अपनी की हुई प्रतिज्ञाको जिस प्रकार तोड़ डाला था, वह सारी कथा जैसे घटित हुई थी, तुम यथार्थरूपसे सुनो ॥ ३३½ ॥

नमुचिर्वासवाद् भीतः सूर्यरश्मिं समाविशत् ॥ ३४ ॥
तेनेन्द्रः सख्यमकरोत् समयं चेदमब्रवीत् ।
न चार्द्रेण न शुष्केण न रात्रौ नापि चाहनि ॥ ३५ ॥
वधिष्याम्यसुरश्रेष्ठ सखे सत्येन ते शपे ।

पहलेकी बात है, नमुचि इन्द्रके भयसे डरकर सूर्यकी किरणोंमें समा गया था । तब इन्द्रने उसके साथ मित्रता कर ली और यह प्रतिज्ञा की 'असुरश्रेष्ठ ! मैं न तो तुम्हें गीले हथियारसे मारूँगा न सूखेसे । न दिनमें मारूँगा न रातमें । सखे ! मैं सत्यकी सौगन्ध खाकर यह बात तुमसे कहता हूँ' ॥

एवं स कृत्वा समयं दृष्ट्वा नीहारमीश्वरः ॥ ३६ ॥
चिच्छेदास्य शिरो राजन्नपां फेनेन वासवः ।

राजन् ! इस प्रकार प्रतिज्ञा करके भी देवराज इन्द्रने चारों ओर कुहासा छाया हुआ देख पानीके फेनसे नमुचिका सिर काट लिया ॥ ३६½ ॥

तच्छिरो नमुचेश्छिन्नं पृष्ठतः शक्रमन्वियात् ॥ ३७ ॥
भो भो मित्रघ्न पापेति ब्रुवाणं शक्रमन्तिकात् ।

नमुचिका वह कटा हुआ मस्तक इन्द्रके पीछे लग गया। वह उनके पास जाकर बारंबार कहने लगा, 'ओ मित्रघाती पापात्मा इन्द्र ! तू कहाँ जाता है !' ॥ ३७½ ॥

एवं स शिरसा तेन चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
पितामहाय संतप्त एतमर्थं न्यवेदयत् ।

इस प्रकार उस मस्तकके द्वारा बारंबार पूर्वोक्त बात पूछी जानेपर अत्यन्त संतप्त हुए इन्द्रने ब्रह्माजीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ३८½ ॥

तमब्रवील्लोकगुरुररुणायां यथाविधि ॥ ३९ ॥
इष्ट्वोपस्पृश देवेन्द्र तीर्थे पापभयापहे ।

तब लोकगुरु ब्रह्माने उनसे कहा—'देवेन्द्र ! अरुणा तीर्थ पाप-भयको दूर करनेवाला है । तुम वहाँ विधिपूर्वक यज्ञ करके अरुणाके जलमें स्नान करो ॥ ३९½ ॥

एषा पुण्यजला शक्र कृता मुनिभिरेव तु ॥ ४० ॥
निगूढमस्यागमनमिहासीत् पूर्वमेव तु ।
ततोऽभ्येत्यारुणां देवीं प्लावयामास वारिणा ॥ ४१ ॥

'शक्र ! महर्षियोंने इस अरुणाके जलको परम पवित्र बना दिया है । इस तीर्थमें पहले ही गुप्तरूपसे उसका आगमन हो चुका था, फिर सरस्वतीने निकट आकर अरुणादेवीको अपने जलसे आप्लावित कर दिया ॥ ४०-४१ ॥

सरस्वत्यारुणायाश्च पुण्योऽयं संगमो महान् ।
इह त्वं यज देवेन्द्र दद दानान्यनेकशः ॥ ४२ ॥
अत्राप्लुत्य सुघोरात् त्वं पातकाद् विप्रमोक्ष्यसे ।

'देवेन्द्र ! सरस्वती और अरुणाका यह संगम महान् पुण्यदायक तीर्थ है । तुम यहाँ यज्ञ करो और अनेक प्रकारके दान दो । फिर उसमें स्नान करके तुम भयानक पातकसे मुक्त हो जाओगे' ॥ ४२½ ॥

इत्युक्तः स सरस्वत्याः कुञ्जे वै जनमेजय ॥ ४३ ॥
इष्ट्वा यथावद् बलभिदरुणायामुपास्पृशत् ।
स मुक्तः पाप्मना तेन ब्रह्मवध्याकृतेन च ॥ ४४ ॥
जगाम संहृष्टमनास्त्रिदिवं त्रिदशेश्वरः ।

जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सरस्वतीके कुञ्जमें विधिपूर्वक यज्ञ करके अरुणामें स्नान किया । फिर ब्रह्महत्याजनित पापसे मुक्त हो देवराज इन्द्र हर्षोत्फुल्ल हृदयसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ४३-४४½ ॥

शिरस्तच्चापि नमुचेस्तत्रैवाप्लुत्य भारत ।
लोकान् कामदुघान् प्राप्तमक्षयान् राजसत्तम ॥ ४५ ॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! नमुचिका वह मस्तक भी उसी तीर्थमें गोता लगाकर मनोवाञ्छित फल देनेवाले अक्षय लोकोंमें चला गया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्राप्युपस्पृश्य बलो महात्मा
दत्त्वा च दानानि पृथग्विधानि ।
अवाप्य धर्मं परमार्थकर्मा
जगाम सोमस्य महत् सुतीर्थम् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पारमार्थिक कार्य करनेवाले महात्मा बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान करके नाना प्रकारकी वस्तुओंका दान करके धर्मका फल पाकर सोमके महान् एवं उत्तम तीर्थमें गये ॥ ४६ ॥

यत्रायजद् राजसूयेन सोमः
साक्षात् पुरा विधिवत् पार्थिवेन्द्रः ।
अत्रिर्धीमान् विप्रमुख्यो बभूव
होता यस्मिन् क्रतुमुख्ये महात्मा ॥ ४७ ॥

जहाँ पूर्वकालमें साक्षात् राजाधिराज सोमने विधिपूर्वक राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था । उस श्रेष्ठ यज्ञमें बुद्धिमान् विप्रवर महात्मा अत्रिने होताका कार्य किया था ॥ ४७ ॥

यस्यान्तेऽभूत् सुमहद् दानवानां
दैतेयानां राक्षसानां च देवैः ।
यस्मिन् युद्धं तारकाख्यं सुतीव्रं
यत्र स्कन्दस्तारकाख्यं जघान ॥ ४८ ॥

उस यज्ञके अन्तमें देवताओंके साथ दानवों, दैत्यों तथा राक्षसोंका महान् एवं भयंकर तारकामय संग्राम हुआ था, जिसमें स्कन्दने तारकासुरका वध किया था ॥ ४८ ॥

सैनापत्यं लब्धवान् देवतानां
महासेनो यत्र दैत्यान्तकर्ता ।
साक्षाच्चैवं न्यवसत् कार्तिकेयः
सदा कुमारो यत्र स प्लक्षराजः ॥ ४९ ॥

उसीमें दैत्यविनाशक महासेन कार्तिकेयने देवताओंका सेनापतित्व ग्रहण किया था। जहाँ वह पाकड़का श्रेष्ठ वृक्ष है, वहाँ साक्षात् कुमार कार्तिकेय इस तीर्थमें सदा निवास करते हैं ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यान विषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कुमार कार्तिकेयका प्राकट्य और उनके अभिषेककी तैयारी

जनमेजय उवाच

सरस्वत्याः प्रभावोऽयमुक्तस्ते द्विजसत्तम ।
कुमारस्याभिषेकं तु ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपने सरस्वतीका यह प्रभाव बताया है। ब्रह्मन् ! अब कुमार कार्तिकेयके अभिषेकका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

यस्मिन् देशे च काले च यथा च वदतां वर ।
यैश्चाभिषिक्तो भगवान् विधिना येन च प्रभुः ॥ २ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! किस देश और कालमें किन लोगोंने किस विधिसे किस प्रकार शक्तिशाली भगवान् स्कन्दका अभिषेक किया ? ॥ २ ॥

स्कन्दो यथा च दैत्यानामकरोत् कदनं महत् ।
तथा मे सर्वमाचक्ष्व परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

स्कन्दने जिस प्रकार दैत्योंका महान् संहार किया हो, वह सब उसी तरह मुझे बताइये; क्योंकि मेरे मनमें इसे सुननेके लिये बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

कुरुवंशस्य सदृशं कौतूहलमिदं तव ।
हर्षमुत्पादयत्येव वचो मे जनमेजय ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! तुम्हारा यह कौतूहल कुरुवंशके योग्य ही है। तुम्हारा वचन मेरे मनमें बड़ा भारी हर्ष उत्पन्न कर रहा है ॥ ४ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि शृण्वानस्य नराधिप ।
अभिषेकं कुमारस्य प्रभावं च महात्मनः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! तुम ध्यान देकर सुन रहे हो, इसलिये मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक महात्मा कुमार कार्तिकेयके अभिषेक और प्रभावका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

तेजो माहेश्वरं स्कन्नमग्नौ प्रपतितं पुरा ।
तत् सर्वभक्षो भगवान् नाशकद् दग्धुमक्षयम् ॥ ६ ॥

पूर्वकालकी बात है, भगवान् शिवका तेजोमय वीर्य अग्निमें गिर पड़ा। भगवान् अग्नि सर्वभक्षी हैं तो भी उस अक्षय वीर्यको वे भस्म न कर सके ॥ ६ ॥

तेनासीदतितेजस्वी दीप्तिमान् हव्यवाहनः ।
न चैव धारयामास गर्भं तेजोमयं तदा ॥ ७ ॥
स गङ्गामभिसंगम्य नियोगाद् ब्रह्मणः प्रभुः ।
गर्भमाहितवान् दिव्यं भास्करोपमतेजसम् ॥ ८ ॥

उस वीर्यके कारण अग्निदेव दीप्तिमान्, तेजस्वी तथा शक्तिसम्पन्न होकर भी कष्टका अनुभव करने लगे। वे उस समय उस तेजोमय गर्भको जब धारण न कर सके, तब ब्रह्माजीकी आज्ञासे उन भगवान् अग्निदेवने सूर्यके समान तेजस्वी उस दिव्य गर्भको गङ्गाजीमें डाल दिया ॥ ७-८ ॥

अथ गङ्गापि तं गर्भमसहन्ती विधारणे ।
उत्ससर्ज गिरौ रम्ये हिमवत्यमरार्चिते ॥ ९ ॥

तदनन्तर गङ्गाने भी उस गर्भको धारण करनेमें असमर्थ होकर उसे देवपूजित सुरम्य हिमालय पर्वतके शिखरपर सरकण्डोंमें छोड़ दिया ॥ ९॥

स तत्र ववृधे लोकानावृत्य ज्वलनात्मजः ।
ददृशुर्ज्वलनाकारं तं गर्भमथ कृत्तिकाः ॥ १० ॥
शरस्तम्बे महात्मानमनलात्मजमीश्वरम् ।
ममायमिति ताः सर्वाः पुत्रार्थिन्योऽभिचुक्रुशुः ॥ ११ ॥

अग्निका वह पुत्र अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके वहाँ बढ़ने लगा। सरकण्डोंके समूहमें अग्निके समान प्रकाशित होते हुए उस सर्वसमर्थ महात्मा अग्निपुत्रको, जो नवजात शिशुके रूपमें उपस्थित था, छहों कृत्तिकाओंने देखा। उसे देखते ही पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली वे सभी कृत्तिकाएँ पुकार-पुकारकर कहने लगीं 'यह मेरा पुत्र है' ॥ १०-११ ॥

तासां विदित्वा भावं तं मातॄणां भगवान् प्रभुः ।
प्रस्नुतानां पयः षड्भिर्वदनैरपिबत् तदा ॥ १२ ॥

उन माताओंके उस वात्सल्यभावको जानकर प्रभावशाली भगवान् स्कन्द छः मुख प्रकट करके उनके स्तनोंसे झरते हुए दूधको पीने लगे ॥ १२ ॥

तं प्रभावं समालक्ष्य तस्य बालस्य कृत्तिकाः ।
परं विस्मयमापन्ना देव्यो दिव्यवपुर्धराः ॥ १३ ॥

वे दिव्य रूपधारिणी छहों कृत्तिका देवियाँ उस बालकका वह प्रभाव देखकर अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठीं ॥

यत्रोत्सृष्टः स भगवान् गङ्गया गिरिमूर्धनि ।
स शैलः काञ्चनः सर्वः सम्बभौ कुरुसत्तम ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! गङ्गाजीने पर्वतके जिस शिखरपर स्कन्दको छोड़ा था, वह सारा-का-सारा सुवर्णमय हो गया ॥ १४ ॥

वर्धता चैव गर्भेण पृथिवी तेन रञ्जिता ।
अतश्च सर्वे संवृत्ता गिरयः काञ्चनाकराः ॥ १५ ॥

उस बढ़ते हुए शिशुने वहाँकी भूमिको रंजित (प्रकाशित)

कर दिया था । इसलिये वहाँके सभी पर्वत सोनेकी खान बन गये ॥ १५ ॥

कुमारः सुमहावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृतः ।
गाङ्गेयः पूर्वमभवन्महायोगबलान्वितः ॥ १६ ॥

वह महान् शक्तिशाली कुमार कार्तिकेयके नामसे विख्यात हुआ । वह महान् योगबलसे सम्पन्न बालक पहले गङ्गाजीका पुत्र था ॥ १६ ॥

शमेन तपसा चैव वीर्येण च समन्वितः ।
ववृधेऽतीव राजेन्द्र चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! शम, तपस्या और पराक्रमसे युक्त वह कुमार अत्यन्त वेगसे बढ़ने लगा । वह देखनेमें चन्द्रमाके समान प्रिय लगता था ॥ १७ ॥

स तस्मिन् काञ्चने दिव्ये शरस्तम्बे श्रिया वृतः ।
स्तूयमानः सदा शेते गन्धर्वैर्मुनिभिस्तथा ॥ १८ ॥

उस दिव्य सुवर्णमय प्रदेशमें सरकण्डोंके समूहपर स्थित हुआ वह कान्तिमान् बालक निरन्तर गन्धर्वों एवं मुनियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ सो रहा था ॥ १८ ॥

तथैतमन्वनृत्यन्त देवकन्याः सहस्रशः ।
दिव्यवादित्रनृत्यज्ञाः स्तुवन्त्यश्चारुदर्शनाः ॥ १९ ॥

तदनन्तर दिव्य वाद्य और नृत्यकी कला जाननेवाली सहस्रों सुन्दरी देवकन्याएँ उस कुमारकी स्तुति करती हुई उसके समीप नृत्य करने लगीं ॥ १९ ॥

अन्वास्ते च नदी देवं गङ्गा वै सरितां वरा ।
दधार पृथिवी चैनं बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २० ॥

सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा भी उस दिव्य बालकके पास आ बैठीं । पृथ्वीदेवीने उत्तम रूप धारण करके उसे अपने अङ्कमें धारण किया ॥ २० ॥

जातकर्मादिकास्तत्र क्रियाश्चक्रे बृहस्पतिः ।
वेदश्चैनं चतुर्मूर्तिरुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

बृहस्पतिजीने वहाँ उस बालकके जातकर्म आदि संस्कार किये और चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाला वेद हाथ जोड़कर उसकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २१ ॥

धनुर्वेदश्चतुष्पादः शस्त्रग्रामः ससंग्रहः ।
तत्रैनं समुपातिष्ठत् साक्षाद् वाणी च केवला ॥ २२ ॥

चारों चरणोंसे युक्त धनुर्वेद, संग्रहसहित शस्त्र-समूह तथा केवल साक्षात् वाणी—ये सभी कुमारकी सेवामें उपस्थित हुए॥

स ददर्श महावीर्यं देवदेवमुमापतिम् ।
शैलपुत्र्या समासीनं भूतसंघशतैर्वृतम् ॥ २३ ॥

कुमारने देखा कि सैकड़ों भूतसङ्घोंसे घिरे हुए महापराक्रमी देवाधिदेव उमापति गिरिराजनन्दिनी उमाके साथ पास ही बैठे हुए हैं ॥ २३ ॥

निकाया भूतसंघानां परमाद्भुतदर्शनाः ।
विकृता विकृताकारा विकृताभरणध्वजाः ॥ २४ ॥

उनके साथ आये हुए भूतसङ्घोंके शरीर देखनेमें बड़े ही अद्भुत, विकृत और विकराल थे । उनके आभूषण और ध्वज भी बड़े विकट थे ॥ २४ ॥

व्याघ्रसिंहर्क्षवदना बिडालमकराननाः ।
वृषदंशमुखाश्चान्ये गजोष्ट्रवदनास्तथा ॥ २५ ॥
उलूकवदनाः केचिद् गृध्रगोमायुदर्शनाः ।
क्रौञ्चपारावतनिभैर्वदनै राङ्कवैरपि ॥ २६ ॥

उनमेंसे किन्हींके मुँह बाघ और सिंहके समान थे तो किन्हींके रीछ, बिल्ली और मगरके समान । कितनोंके मुख वन-बिलावोंके तुल्य थे । कितने ही हाथी, ऊँट और उल्लूके समान मुखवाले थे । बहुत-से गीधों और गीदड़ोंके समान दिखायी देते थे । किन्हीं-किन्हींके मुख क्रौञ्च पक्षी, कबूतर और रङ्कु मृगके समान थे ॥ २५-२६ ॥

श्वाविच्छल्यकगोधानामजैडकगवां तथा ।
सदृशानि वपूंष्यन्ते तत्र तत्र व्यधारयन् ॥ २७ ॥

बहुतेरे भूत जहाँ-तहाँ हिंसक जन्तु, साही, गोह, बकरी, भेड़ और गायोंके समान शरीर धारण करते थे ॥ २७ ॥

केचिच्छैलाम्बुदप्रख्याश्चक्रोद्यतगदायुधाः ।
केचिदञ्जनपुञ्जाभाः केचिच्छ्वेताचलप्रभाः ॥ २८ ॥

कितने ही मेघों और पर्वतोंके समान जान पड़ते थे । उन्होंने अपने हाथोंमें चक्र और गदा आदि आयुध ले रक्खे थे । कोई अंजन-पुञ्जके समान काले और कोई श्वेत गिरिके समान गौर कान्तिसे सुशोभित होते थे ॥ २८ ॥

सप्त मातृगणाश्चैव समाजग्मुर्विशाम्पते ।
साध्या विश्वेऽथ मरुतो वसवः पितरस्तथा ॥ २९ ॥
रुद्रादित्यास्तथा सिद्धा भुजगा दानवाः खगाः ।
ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् सपुत्रः सह विष्णुना ॥ ३० ॥
शक्रस्तथाभ्ययाद् द्रष्टुं कुमारवरमच्युतम् ।

प्रजानाथ ! वहाँ सात मातृकाएँ[1] आ गयी थीं । साध्य, विश्व, मरुद्गण, वसुगण, पितर, रुद्र, आदित्य, सिद्ध, भुजङ्ग, दानव, पक्षी, पुत्रसहित स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा, श्रीविष्णु तथा इन्द्र अपने नियमोंसे च्युत न होनेवाले उस श्रेष्ठ कुमारको देखनेके लिये पधारे थे ॥ २९-३०½ ॥

नारदप्रमुखाश्चापि देवगन्धर्वसत्तमाः ॥ ३१ ॥
देवर्षयश्च सिद्धाश्च बृहस्पतिपुरोगमाः ।
पितरो जगतः श्रेष्ठा देवानामपि देवताः ॥ ३२ ॥
तेऽपि तत्र समाजग्मुर्यामा धामाश्च सर्वशः ।

देवताओं और गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ नारद आदि देवर्षि, बृहस्पति आदि सिद्ध, सम्पूर्ण जगत्से श्रेष्ठ तथा देवताओंके भी देवता पितृ-गण, सम्पूर्ण यामगण और धामगण भी वहाँ आये थे ॥ ३१-३२½ ॥

स तु बालोऽपि बलवान् महायोगबलान्वितः ॥३३॥
अभ्याजगाम देवेशं शूलहस्तं पिनाकिनम् ।

बालक होनेपर भी बलशाली एवं महान् योगबलसे सम्पन्न कुमार त्रिशूल और पिनाक धारण करनेवाले देवेश्वर भगवान् शिवकी ओर चले ॥ ३३½ ॥

तमाव्रजन्तमालक्ष्य शिवस्यासीन्मनोगतम् ॥ ३४ ॥
युगपच्छैलपुत्र्याश्च गङ्गायाः पावकस्य च ।

---

१. ब्राह्मी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, इन्द्राणी, वाराही तथा चामुण्डा—ये सात मातृकाएँ हैं ।

कं नु पूर्वमयं बालो गौरवादभ्युपैष्यति ॥ ३५ ॥
अपि मामिति सर्वेषां तेषामासीन्मनोगतम् ।

उन्हें आते देख एक ही समय भगवान् शङ्कर, गिरिराजनन्दिनी उमा, गङ्गा और अग्निदेवके मनमें यह संकल्प उठा कि देखें यह बालक पिता-माताका गौरव प्रदान करनेके लिये पहले किसके पास जाता है ? क्या यह मेरे पास आयेगा ? यह प्रश्न उन सबके मनमें उठा ॥ ३४-३५½ ॥

तेषामेतमभिप्रायं चतुर्णामुपलक्ष्य सः ॥ ३६ ॥
युगपद् योगमास्थाय ससर्ज विविधास्तनूः ।

तब उन सबके अभिप्रायको लक्ष्य करके कुमारने एक ही साथ योगबलका आश्रय ले अपने अनेक शरीर बना लिये॥

ततोऽभवच्चतुर्मूर्तिः क्षणेन भगवान् प्रभुः ॥ ३७ ॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः ।

तदनन्तर प्रभावशाली भगवान् स्कन्द क्षणभरमें चार रूपोंमें प्रकट हो गये । पीछे जो उनकी मूर्तियाँ प्रकट हुईं, उनका नाम क्रमशः शाख, विशाख और नैगमेय हुआ ॥

एवं स कृत्वा ह्यात्मानं चतुर्धा भगवान् प्रभुः ॥ ३८ ॥
यतो रुद्रस्ततः स्कन्दो जगामाद्भुतदर्शनः ।
विशाखस्तु ययौ येन देवी गिरिवरात्मजा ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने आपको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके अद्भुत दिखायी देनेवाले प्रभावशाली भगवान् स्कन्द जहाँ रुद्र थे, उधर ही गये । विशाख उस ओर चल दिये, जिस ओर गिरिराजनन्दिनी उमा देवी बैठी थीं॥ ३८-३९ ॥

शाखो ययौ स भगवान् वायुमूर्तिर्विभावसुम् ।
नैगमेयोऽगमद् गङ्गां कुमारः पावकप्रभः ॥ ४० ॥

वायुमूर्ति भगवान् शाख अग्निके पास और अग्नितुल्य तेजस्वी नैगमेय गङ्गाजीके निकट गये ॥ ४० ॥

सर्वे भासुरदेहास्ते चत्वारः समरूपिणः ।
तान् समभ्ययुरव्यग्रास्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४१ ॥

उन चारोंके रूप एक समान थे । उन सबके शरीर तेजसे उद्भासित हो रहे थे । वे चारों कुमार उन चारोंके पास एक साथ जा पहुँचे । वह एक अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥४१॥

हाहाकारो महानासीद् देवदानवरक्षसाम् ।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमद्भुतं लोमहर्षणम् ॥४२ ॥

वह महान् आश्चर्यमय, अद्भुत तथा रोमाञ्चकारी घटना देखकर देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंमें महान् हाहाकार मच गया ॥ ४२ ॥

ततो रुद्रश्च देवी च पावकश्च पितामहम् ।
गङ्गया सहिताः सर्वे प्रणिपेतुर्जगत्पतिम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर भगवान् रुद्र, देवी पार्वती, अग्निदेव तथा गङ्गाजी—इन सबने एक साथ लोकनाथ ब्रह्माजीको प्रणाम किया॥

प्रणिपत्य ततस्ते तु विधिवद् राजपुङ्गव ।
इदमूचुर्वचो राजन् कार्तिकेयप्रियेप्सया ॥ ४४ ॥

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! विधिपूर्वक प्रणाम करके वे सब कार्तिकेयका प्रिय करनेकी इच्छासे यह वचन बोले—॥ ४४ ॥

अस्य बालस्य भगवन्नाधिपत्यं यथेप्सितम् ।
अस्मत्प्रियार्थं देवेश सदृशं दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

'देवेश्वर ! भगवन् ! आप हमलोगोंका प्रिय करनेके लिये इस बालकको यथायोग्य मनकी इच्छाके अनुरूप कोई आधिपत्य प्रदान कीजिये' ॥ ४५ ॥

ततः स भगवान् धीमान् सर्वलोकपितामहः ।
मनसा चिन्तयामास किमयं लभतामिति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सर्वलोकपितामह बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने मन-ही-मन चिन्तन किया कि 'यह बालक कौन-सा आधिपत्य ग्रहण करे' ॥ ४६ ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
भूतयक्षविहङ्गानां पन्नगानां च सर्वशः ॥ ४७ ॥
पूर्वमेवादिदेशासौ निकायेषु महात्मनाम् ।
समर्थं च तमैश्वर्ये महामतिरमन्यत ॥ ४८ ॥

महामति ब्रह्माने जगत्के भिन्न-भिन्न पदार्थोंके ऊपर देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, भूत, नाग और पक्षियोंका आधिपत्य पहलेसे ही निर्धारित कर रक्खा था । साथ ही वे कुमारको भी आधिपत्य करनेमें समर्थ मानते थे ॥ ४७-४८ ॥

ततो मुहूर्तं स ध्यात्वा देवानां श्रेयसि स्थितः ।
सैनापत्यं ददौ तस्मै सर्वभूतेषु भारत ॥ ४९ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर देवगणोंके मङ्गल सम्पादनमें तत्पर हुए ब्रह्माने दो घड़ी तक चिन्तन करनेके पश्चात् सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ कार्तिकेयको सम्पूर्ण देवताओंका सेनापति पद प्रदान किया ॥ ४९ ॥

सर्वदेवनिकायानां ये राजानः परिश्रुताः ।
तान् सर्वान् व्यादिदेशास्मै सर्वभूतपितामहः ॥ ५० ॥

जो सम्पूर्ण देवसमूहोंके राजारूपमें विख्यात थे, उन सबको सर्वभूतपितामह ब्रह्माने कुमारके अधीन रहनेका आदेश दिया ॥ ५० ॥

ततः कुमारमादाय देवा ब्रह्मपुरोगमाः ।
अभिषेकार्थमाजग्मुः शैलेन्द्रं सहितास्ततः ॥ ५१ ॥
पुण्यां हैमवतीं देवीं सरिच्छ्रेष्ठां सरस्वतीम् ।
समन्तपञ्चके या वै त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ५२ ॥

तब ब्रह्मा आदि देवता अभिषेकके लिये कुमारको लेकर एक साथ गिरिराज हिमालयपर वहाँसे निकली हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ पुण्यसलिला सरस्वती देवीके तटपर गये, जो समन्तपञ्चक तीर्थमें प्रवाहित होकर तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥

तत्र तीरे सरस्वत्याः पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
निषेदुर्देवगन्धर्वाः सर्वे सम्पूर्णमानसाः ॥ ५३ ॥

वहाँ वे सभी देवता और गन्धर्व पूर्ण मनोरथ हो सरस्वतीके सर्वगुणसम्पन्न पावन तटपर विराजमान हुए ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने कुमाराभिषेकोपक्रमे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारके अभिषेककी तैयारीविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्दका अभिषेक और उनके महापार्षदोंके नाम, रूप आदिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेकसम्भारान् सर्वान् सम्भृत्य शास्त्रतः।
बृहस्पतिः समिद्धेऽग्नौ जुहावाग्निं यथाविधि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर बृहस्पतिजीने सम्पूर्ण अभिषेकसामग्रीका संग्रह करके शास्त्रीय पद्धतिसे प्रज्वलित की हुई अग्निमें विधिपूर्वक होम किया ॥ १ ॥

ततो हिमवता दत्ते मणिप्रवरशोभिते।
दिव्यरत्नाचिते पुण्ये निषण्णं परमासने ॥ २ ॥
सर्वमङ्गलसम्भारैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम्।
आभिषेचनिकं द्रव्यं गृहीत्वा देवतागणाः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् हिमवान्‌के दिये हुए उत्तम मणियोंसे सुशोभित तथा दिव्य रत्नोंसे जटित पवित्र सिंहासनपर कुमार कार्तिकेय विराजमान हुए। उस समय उनके पास सम्पूर्ण माङ्गलिक उपकरणोंके साथ विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक अभिषेक-द्रव्य लेकर समस्त देवता वहाँ पधारे ॥ २-३ ॥

इन्द्राविष्णू महावीर्यौ सूर्याचन्द्रमसौ तथा।
धाता चैव विधाता च तथा चैवानिलानलौ ॥ ४ ॥
पूष्णा भगेनार्यम्णा च अंशेन च विवस्वता।
रुद्रश्च सहितो धीमान् मित्रेण वरुणेन च ॥ ५ ॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां च वृतः प्रभुः।

महापराक्रमी इन्द्र और विष्णु, सूर्य और चन्द्रमा, धाता और विधाता, वायु और अग्नि, पूषा, भग, अर्यमा, अंश, विवस्वान्, मित्र और वरुणके साथ बुद्धिमान् रुद्रदेव, एकादश रुद्रगण, आठ वसु, बारह आदित्य और दोनों अश्विनीकुमार—ये सब-के-सब प्रभावशाली कुमार कार्तिकेयको घेरकर खड़े हुए ॥ ४-५½ ॥

विश्वेदेवैर्मरुद्भिश्च साध्यैश्च पितृभिः सह ॥ ६ ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यक्षराक्षसपन्नगैः।
देवर्षिभिरसंख्यातैस्तथा ब्रह्मर्षिभिस्तथा ॥ ७ ॥
वैखानसैर्वालखिल्यैर्वाय्वाहारैर्मरीचिपैः।
भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ८ ॥
सर्पैर्विद्याधरैः पुण्यैर्योगसिद्धैस्तथा वृतः।

विश्वेदेव, मरुद्गण, साध्यगण, पितृगण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, नाग, असंख्य देवर्षि, ब्रह्मर्षि, वनवासी मुनि, वालखिल्य, वायु पीकर रहनेवाले ऋषि, सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले मुनि, भृगु और अङ्गिराके वंशमें उत्पन्न महर्षि, महात्मा यतिगण, सर्प, विद्याधर तथा पुण्यात्मा योगसिद्ध मुनि भी कार्तिकेयको घेरकर खड़े हुए ॥ ६-८½ ॥

पितामहः पुलस्त्यश्च पुलहश्च महातपाः ॥ ९ ॥
अङ्गिराः कश्यपोऽत्रिश्च मरीचिर्भृगुरेव च।
क्रतुर्हरः प्रचेताश्च मनुर्दक्षस्तथैव च ॥ १० ॥
ऋतवश्च ग्रहाश्चैव ज्योतींषि च विशाम्पते।
मूर्तिमत्यश्च सरितो वेदाश्चैव सनातनाः ॥ ११ ॥
समुद्राश्च ह्रदाश्चैव तीर्थानि विविधानि च।
पृथिवी द्यौर्दिशश्चैव पादपाश्च जनाधिप ॥ १२ ॥
अदितिर्देवमाता च ह्रीः श्रीः स्वाहा सरस्वती।
उमा शची सिनीवाली तथा चानुमतिः कुहूः ॥ १३ ॥
राका च धिषणा चैव पत्न्यश्चान्या दिवौकसाम्।
हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्चानेकशृङ्गवान् ॥ १४ ॥
ऐरावतः सानुचरः कलाः काष्ठास्तथैव च।
मासार्धमासा ऋतवस्तथा रात्र्यहनी नृप ॥ १५ ॥
उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो नागराजश्च वासुकिः।
अरुणो गरुडश्चैव वृक्षाश्चौषधिभिः सह ॥ १६ ॥
धर्मश्च भगवान् देवः समाजग्मुर्हि सङ्गताः।
कालो यमश्च मृत्युश्च यमस्यानुचराश्च ये ॥ १७ ॥

प्रजानाथ! ब्रह्माजी, पुलस्त्य, महातपस्वी पुलह, अङ्गिरा, कश्यप, अत्रि, मरीचि, भृगु, क्रतु, हर, वरुण, मनु, दक्ष, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र, मूर्तिमती सरिताएँ, मूर्तिमान् सनातन वेद, समुद्र, सरोवर, नाना प्रकारके तीर्थ, पृथिवी, द्युलोक, दिशा, वृक्ष, देवमाता अदिति, ह्री, श्री, स्वाहा, सरस्वती, उमा, शची, सिनीवाली, अनुमति, कुहू, राका, धिषणा, देवताओंकी अन्यान्य पत्नियाँ, हिमवान्, विन्ध्य, अनेक शिखरोंसे सुशोभित मेरुगिरि, अनुचरोंसहित ऐरावत, कला, काष्ठा, मास, पक्ष, ऋतु, रात्रि, दिन, अश्वोंमें श्रेष्ठ उच्चैःश्रवा, नागराज वासुकि, अरुण, गरुड, ओषधियोंसहित वृक्ष, भगवान् धर्मदेव, काल, यम, मृत्यु तथा यमके अनुचर—ये सब-के-सब वहाँ एक साथ पधारे थे ॥ ९—१७ ॥

बहुलत्वाच्च नोक्ता ये विविधा देवतागणाः।
ते कुमाराभिषेकार्थं समाजग्मुस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

संख्यामें अधिक होनेके कारण जिनके नाम यहाँ नहीं बताये गये हैं, वे सभी नाना प्रकारके देवता कुमार कार्तिकेयका अभिषेक करनेके लिये इधर-उधरसे वहाँ आ पहुँचे थे ॥

जगृहुस्ते तदा राजन् सर्व एव दिवौकसः।
आभिषेचनिकं भाण्डं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ १९ ॥

राजन्! उस समय उन सभी देवताओंने अभिषेकके पात्र और सब प्रकारके माङ्गलिक द्रव्य हाथोंमें ले रक्खे थे॥

दिव्यसम्भारसंयुक्तैः कलशैः काञ्चनैर्नृप।
सरस्वतीभिः पुण्याभिर्दिव्यतोयाभिरेव तु ॥ २० ॥
अभ्यषिञ्चन् कुमारं वै सम्प्रहृष्टा दिवौकसः।
सेनापतिं महात्मानमसुराणां भयंकरम् ॥ २१ ॥

नरेश्वर! हर्षसे उत्फुल्ल देवता पवित्र एवं दिव्य जलवाली सातों सरस्वती नदियोंके जलसे भरे हुए, दिव्य सामग्रियोंसे सम्पन्न, सुवर्णमय कलशोंद्वारा असुर-भयंकर महामनस्वी कुमार कार्तिकेयका सेनापतिके पदपर अभिषेक करने लगे ॥

पुरा यथा महाराज वरुणं वै जलेश्वरम् ।
तथाभ्यषिञ्चद् भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २२ ॥
कश्यपश्च महातेजा ये चान्ये लोकविश्रुताः ।

महाराज ! जैसे पूर्वकालमें जलके स्वामी वरुणका अभिषेक किया गया था, उसी प्रकार सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्मा, महातेजस्वी कश्यप तथा दूसरे विश्वविख्यात महर्षियोंने कार्तिकेयका अभिषेक किया ॥ २२½ ॥

तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो बलिनो वातरंहसः ॥ २३ ॥
कामवीर्यधरान् सिद्धान् महापारिषदान् प्रभुः ।
नन्दिसेनं लोहिताक्षं घण्टाकर्णं च सम्मतम् ॥ २४ ॥
चतुर्थमस्यानुचरं ख्यातं कुमुदमालिनम् ।

उस समय भगवान् ब्रह्माने संतुष्ट होकर कार्तिकेयको वायुके समान वेगशाली, इच्छानुसार शक्तिधारी, बलवान् और सिद्ध चार महान् अनुचर प्रदान किये, जिनमें पहला नन्दिसेन, दूसरा लोहिताक्ष, तीसरा परम प्रिय घंटाकर्ण और उनका चौथा अनुचर कुमुदमालीके नामसे विख्यात था ॥ २३-२४½ ॥

तत्र स्थाणुर्महातेजा महापारिषदं प्रभुः ॥ २५ ॥
मायाशतधरं कामं कामवीर्यं बलान्वितम् ।
ददौ स्कन्दाय राजेन्द्र सुरारिविनिबर्हणम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! फिर वहाँ महातेजस्वी भगवान् शङ्करने स्कन्दको एक महान् असुर समर्पित किया, जो सैकड़ों मायाओंको धारण करनेवाला, इच्छानुसार बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा दैत्योंका संहार करनेमें समर्थ था ॥ २५-२६ ॥

स हि देवासुरे युद्धे दैत्यानां भीमकर्मणाम् ।
जघान दोर्भ्यां संक्रुद्धः प्रयुतानि चतुर्दश ॥ २७ ॥

उसने देवासुरसंग्राममें अत्यन्त कुपित होकर भयानक कर्म करनेवाले चौदह प्रयुत[1] दैत्योंका केवल अपनी दोनों भुजाओंसे वध कर डाला था ॥ २७ ॥

तथा देवा ददुस्तस्मै सेनां नैर्ऋतसंकुलाम् ।
देवशत्रुक्षयकरीमजय्यां विष्णुरूपिणीम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार देवताओंने उन्हें देव-शत्रुओंका विनाश करनेवाली, अजेय एवं विष्णुरूपिणी सेना प्रदान की, जो नैर्ऋतोंसे भरी हुई थी ॥ २८ ॥

जयशब्दं तथा चक्रुर्देवाः सर्वे सवासवाः ।
गन्धर्वा यक्षरक्षांसि मुनयः पितरस्तथा ॥ २९ ॥

उस समय इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों, राक्षसों, मुनियों तथा पितरोंने जय-जयकार किया ॥ २९ ॥

ततः प्रादादनुचरौ यमः कालोपमावुभौ ।
उन्माथश्च प्रमाथश्च महावीर्यौ महाद्युती ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् यमराजने उन्हें दो अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम थे उन्माथ और प्रमाथ । वे दोनों कालके समान महापराक्रमी और महातेजस्वी थे ॥ ३० ॥

सुभ्राजो भास्वरश्चैव यौ तौ सूर्यानुयायिनौ ।
तौ सूर्यः कार्तिकेयाय ददौ प्रीतः प्रतापवान् ॥ ३१ ॥

सुभ्राज और भास्वर—जो सूर्यके अनुचर थे, उन्हें प्रतापी सूर्यने प्रसन्न होकर कार्तिकेयकी सेवामें दे दिया ॥ ३१ ॥

कैलासशृङ्गसंकाशौ श्वेतमाल्यानुलेपनौ ।
सोमोऽप्यनुचरौ प्रादान्मणिं सुमणिमेव च ॥ ३२ ॥

चन्द्रमाने भी कैलास-शिखरके समान श्वेतवर्णवाले तथा श्वेत माला और श्वेत चन्दन धारण करनेवाले दो अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम थे मणि और सुमणि ॥ ३२ ॥

ज्वालाजिह्वं तथा ज्योतिरात्मजाय हुताशनः ।
ददावनुचरौ शूरौ परसैन्यप्रमाथिनौ ॥ ३३ ॥

अग्निदेवने भी अपने पुत्र स्कन्दको ज्वालाजिह्व तथा ज्योति नामक दो शूर सेवक प्रदान किये, जो शत्रुसेनाको मथ डालनेवाले थे ॥ ३३ ॥

परिघं च वटं चैव भीमं च सुमहाबलम् ।
दहतिं दहनं चैव प्रचण्डौ वीर्यसम्मतौ ॥ ३४ ॥
अंशोऽप्यनुचरान् पञ्च ददौ स्कन्दाय धीमते ।

अंशने भी बुद्धिमान् स्कन्दको पाँच अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परिघ, वट, महाबली भीम तथा दहति और दहन । इनमेंसे दहति और दहन बड़े प्रचण्ड तथा बल-पराक्रमकी दृष्टिसे सम्मानित थे ॥ ३४½ ॥

उत्क्रोशं पञ्चकं चैव वज्रदण्डधरावुभौ ॥ ३५ ॥
ददावनलपुत्राय वासवः परवीरहा ।
तौ हि शत्रून् महेन्द्रस्य जघ्नतुः समरे बहून् ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रने अग्निकुमार स्कन्दको उत्क्रोश और पञ्चक नामक दो अनुचर प्रदान किये । वे दोनों क्रमशः वज्र और दण्ड धारण करनेवाले थे । उन दोनोंने समराङ्गणमें इन्द्रके बहुत-से शत्रुओंका संहार कर डाला था ॥

चक्रं विक्रमकं चैव संक्रमं च महाबलम् ।
स्कन्दाय त्रीननुचरान् ददौ विष्णुर्महायशाः ॥ ३७ ॥

महायशस्वी भगवान् विष्णुने स्कन्दको चक्र, विक्रम और महाबली संक्रम—ये तीन अनुचर दिये ॥ ३७ ॥

वर्धनं नन्दनं चैव सर्वविद्याविशारदौ ।
स्कन्दाय ददतुः प्रीतावश्विनौ भिषजां वरौ ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण चिकित्सकचूड़ामणि अश्विनीकुमारोंने प्रसन्न होकर स्कन्दको वर्धन और नन्दन नामक दो सेवक दिये ॥ ३८ ॥

कुन्दं च कुसुमं चैव कुमुदं च महायशाः ।
डम्बराडम्बरौ चैव ददौ धाता महात्मने ॥ ३९ ॥

महायशस्वी धाताने महात्मा स्कन्दको कुन्द, कुसुम, कुमुद, डम्बर और आडम्बर—ये पाँच सेवक प्रदान किये ॥

चक्रानुचक्रौ बलिनौ मेघचक्रौ बलोत्कटौ ।
ददौ त्वष्टा महामायौ स्कन्दायानुचरावुभौ ॥ ४० ॥

प्रजापति त्वष्टाने बलवान्, बलोन्मत्त, महामायावी और मेघचक्रधारी चक्र और अनुचक्र नामक दो अनुचर स्कन्दकी सेवामें उपस्थित किये ॥ ४० ॥

सुव्रतं सत्यसंधं च ददौ मित्रो महात्मने ।

१. एक प्रयुत दस लाखके बराबर होता है ।

कुमाराय महात्मानौ तपोविद्याधरौ प्रभुः ॥ ४१ ॥
सुदर्शनीयौ वरदौ त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ।

भगवान् मित्रने महात्मा कुमारको सुव्रत और सत्यसंध नामक दो सेवक प्रदान किये। वे दोनों ही तप और विद्या धारण करनेवाले तथा महामनस्वी थे। इतना ही नहीं, वे देखनेमें बड़े ही सुन्दर, वर देनेमें समर्थ तथा तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ४१½ ॥

सुव्रतं च महात्मानं शुभकर्माणमेव च ॥ ४२ ॥
कार्तिकेयाय सम्प्रादाद् विधाता लोकविश्रुतौ ।

विधाताने कार्तिकेयको महामना सुव्रत और सुकर्मा—ये दो लोक-विख्यात सेवक प्रदान किये ॥ ४२½ ॥

पाणीतकं कालिकं च महामायाविनावुभौ ॥ ४३ ॥
पूषा च पार्षदौ प्रादात् कार्तिकेयाय भारत ।

भरतनन्दन ! पूषाने कार्तिकेयको पाणीतक और कालिक नामक दो पार्षद प्रदान किये। वे दोनों ही बड़े भारी मायावी थे॥

बलं चातिबलं चैव महावक्त्रौ महाबलौ ॥ ४४ ॥
प्रददौ कार्तिकेयाय वायुर्भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! वायु देवताने कृत्तिकाकुमारको महान् बलशाली एवं विशाल मुखवाले बल और अतिबल नामक दो सेवक प्रदान किये ॥ ४४½ ॥

यमं चातियमं चैव तिमिवक्त्रौ महाबलौ ॥ ४५ ॥
प्रददौ कार्तिकेयाय वरुणः सत्यसङ्गरः ।

सत्यप्रतिज्ञ वरुणने कृत्तिकानन्दन स्कन्दको यम और अतियम नामक दो महाबली पार्षद दिये, जिनके मुख तिमि नामक महामत्स्यके समान थे ॥ ४५½ ॥

सुवर्चसं महात्मानं तथैवाप्यतिवर्चसम् ॥ ४६ ॥
हिमवान् प्रददौ राजन् हुताशनसुताय वै ।

राजन् ! हिमवान्ने अग्निकुमारको महामना सुवर्चा और अतिवर्चा नामक दो पार्षद प्रदान किये ॥ ४६½ ॥

काञ्चनं च महात्मानं मेघमालिनमेव च ॥ ४७ ॥
ददावनुचरौ मेरुरग्निपुत्राय भारत ।

भारत ! मेरुने अग्निपुत्र स्कन्दको महामना काञ्चन और मेघमाली नामक दो अनुचर अर्पित किये ॥ ४७½ ॥

स्थिरं चातिस्थिरं चैव मेरुरेवापरौ ददौ ॥ ४८ ॥
महात्मा त्वग्निपुत्राय महाबलपराक्रमौ ।

महामना मेरुने ही अग्निपुत्र कार्तिकेयको स्थिर और अतिस्थिर नामक दो पार्षद और दिये। वे दोनों महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे ॥ ४८½ ॥

उच्छृङ्गं चातिशृङ्गं च महापाषाणयोधिनौ ॥ ४९ ॥
प्रददावग्निपुत्राय विन्ध्यः पारिषदावुभौ ।

विन्ध्य पर्वतने भी अग्निकुमारको दो पार्षद प्रदान किये, जिनके नाम थे उच्छृङ्ग और अतिशृङ्ग। वे दोनों ही बड़े-बड़े पत्थरोंकी चट्टानोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल थे ॥ ४९½ ॥

संग्रहं विग्रहं चैव समुद्रोऽपि गदाधरौ ॥ ५० ॥
प्रददावग्निपुत्राय महापारिषदावुभौ ।

समुद्रने भी अग्निपुत्रको दो गदाधारी महापार्षद दिये, जिनके नाम थे—संग्रह और विग्रह ॥ ५०½ ॥

उन्मादं शङ्कुकर्णं च पुष्पदन्तं तथैव च ॥ ५१ ॥
प्रददावग्निपुत्राय पार्वती शुभदर्शना ।

शुभदर्शना पार्वती देवीने अग्निपुत्रको तीन पार्षद दिये—उन्माद, शङ्कुकर्ण तथा पुष्पदन्त ॥ ५१½ ॥

जयं महाजयं चैव नागौ ज्वलनसूनवे ॥ ५२ ॥
प्रददौ पुरुषव्याघ्र वासुकिः पन्नगेश्वरः ।

पुरुषसिंह ! नागराज वासुकिने अग्निकुमारको पार्षदरूपसे जय और महाजय नामक दो नाग भेंट किये ॥ ५२½ ॥

एवं साध्याश्च रुद्राश्च वसवः पितरस्तथा ॥ ५३ ॥
सागराः सरितश्चैव गिरयश्च महाबलाः ।
ददुः सेनागणाध्यक्षान् शूलपट्टिशधारिणः ॥ ५४ ॥
दिव्यप्रहरणोपेतान् नानावेषविभूषितान् ।

इस प्रकार साध्य, रुद्र, वसु, पितृगण, समुद्र, सरिताओं और महाबली पर्वतोंने उन्हें विभिन्न सेनापति अर्पित किये, जो शूल, पट्टिश और नाना प्रकारके दिव्य आयुध धारण किये हुए थे। वे सब-के-सब भाँति-भाँतिकी वेश-भूषासे विभूषित थे ॥ ५३-५४½ ॥

शृणु नामानि चाप्येषां येऽन्ये स्कन्दस्य सैनिकाः॥ ५५॥
विविधायुधसम्पन्नाश्चित्राभरणभूषिताः ।

स्कन्दके जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न और विचित्र आभूषणोंसे विभूषित अन्य सैनिक थे, उनके नाम सुनो ॥

शङ्कुकर्णो निकुम्भश्च पद्मः कुमुद एव च ॥ ५६ ॥
अनन्तो द्वादशभुजस्तथा कृष्णोपकृष्णकौ ।
घ्राणश्रवाः कपिस्कन्धः काञ्चनाक्षो जलन्धमः ॥ ५७ ॥
अक्षः संतर्जनो राजन् कुनदीकस्तमोऽन्तकृत् ।
एकाक्षो द्वादशाक्षश्च तथैवैकजटः प्रभुः ॥ ५८ ॥
सहस्रबाहुर्विकटो व्याघ्राक्षः क्षितिकम्पनः ।
पुण्यनामा सुनामा च सुचक्रः प्रियदर्शनः ॥ ५९ ॥
परिश्रुतः कोकनदः प्रियमाल्यानुलेपनः ।
अजोदरो गजशिराः स्कन्धाक्षः शतलोचनः ॥ ६० ॥
ज्वालाजिह्वः करालाक्षः शितिकेशो जटी हरिः।
परिश्रुतः कोकनदः कृष्णकेशो जटाधरः ॥ ६१ ॥
चतुर्दंष्ट्रोऽष्टजिह्वश्च मेघनादः पृथुश्रवाः ।
विद्युताक्षो धनुर्वक्त्रो जाठरो मारुताशनः ॥ ६२ ॥
उदाराक्षो रथाक्षश्च वज्रनाभो वसुप्रभः ।
समुद्रवेगो राजेन्द्र शैलकम्पी तथैव च ॥ ६३ ॥
वृषो मेषः प्रवाहश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ।
धूम्रः श्वेतः कलिङ्गश्च सिद्धार्थो वरदस्तथा ॥ ६४ ॥
प्रियकश्चैव नन्दश्च गोनन्दश्च प्रतापवान् ।
आनन्दश्च प्रमोदश्च स्वस्तिको ध्रुवकस्तथा ॥ ६५ ॥
क्षेमवाहः सुवाहश्च सिद्धपात्रश्च भारत ।
गोव्रजः कनकापीडो महापारिषदेश्वरः ॥ ६६ ॥
गायनो हसनश्चैव बाणः खड्गश्च वीर्यवान् ।

वैताली गतिताली च तथा कथकवातिकौ ॥ ६७ ॥
हंसजः पङ्कदिग्धाङ्गः समुद्रोन्मादनश्च ह ।
रणोत्कटः प्रहासश्च श्वेतसिद्धश्च नन्दनः ॥ ६८ ॥
कालकण्ठः प्रभासश्च तथा कुम्भाण्डकोदरः ।
कालकक्षः सितश्चैव भूतानां मथनस्तथा ॥ ६९ ॥
यज्ञवाहः सुवाहश्च देवयाजी च सोमपः ।
मज्जानश्च महातेजाः क्रथक्राथौ च भारत ॥ ७० ॥
तुहरश्च तुहारश्च चित्रदेवश्च वीर्यवान् ।
मधुरः सुप्रसादश्च किरीटी च महाबलः ॥ ७१ ॥
वत्सलो मधुवर्णश्च कलशोदर एव च ।
धर्मदो मन्मथकरः सूचीवक्त्रश्च वीर्यवान् ॥ ७२ ॥
श्वेतवक्त्रः सुवक्त्रश्च चारुवक्त्रश्च पाण्डुरः ।
दण्डबाहुः सुबाहुश्च रजः कोकिलकस्तथा ॥ ७३ ॥
अचलः कनकाक्षश्च बालानामपि यः प्रभुः ।
संचारकः कोकनदो गृध्रपत्रश्च जम्बुकः ॥ ७४ ॥
लोहाजवक्त्रो जवनः कुम्भवक्त्रश्च कुम्भकः ।
स्वर्णग्रीवश्च कृष्णौजा हंसवक्त्रश्च चन्द्रभः ॥ ७५ ॥
पाणिकूर्चश्च शम्बूकः पञ्चवक्त्रश्च शिक्षकः ।
चाषवक्त्रश्च जम्बूकः शाकवक्त्रश्च कुञ्जलः ॥ ७६ ॥

शङ्कुकर्ण, निकुम्भ, पद्म, कुमुद, अनन्त, द्वादशभुज, कृष्ण, उपकृष्ण, घ्राणश्रवा, कपिस्कन्ध, काञ्चनाक्ष, जलन्धम, अक्ष, संतर्जन, कुनदीक, तमोऽन्तकृत्, एकाक्ष, द्वादशाक्ष, एकजट, प्रभु, सहस्रबाहु, विकट, व्याघ्राक्ष, क्षितिकम्पन, पुण्यनामा, सुनामा, सुचक्र, प्रियदर्शन, परिश्रुत, कोकनद, प्रियमाल्यानुलेपन, अजोदर, गजशिरा, स्कन्धाक्ष, शतलोचन, ज्वालाजिह्व, करालाक्ष, शितिकेश, जटी, हरि, परिश्रुत, कोकनद, कृष्णकेश, जटाधर, चतुर्दंष्ट्र, अष्टजिह्व, मेघनाद, पृथुश्रवा, विद्युताक्ष, धनुर्वक्त्र, जाठर, मारुताशन, उदाराक्ष, रथाक्ष, वज्रनाभ, वसुप्रभ, समुद्रवेग, शैलकम्पी, वृष, मेष, प्रवाह, नन्द, उपनन्द, धूम्र, श्वेत, कलिङ्ग, सिद्धार्थ, वरद, प्रियक, नन्द, प्रतापी गोनन्द, आनन्द, प्रमोद, स्वस्तिक, ध्रुवक, क्षेमवाह, सुवाह, सिद्धपात्र, गोव्रज, कनकापीड, महापरिषदेश्वर, गायन, हसन, बाण, पराक्रमी खड्ग, वैताली, गतिताली, कथक, वातिक, हंसज, पङ्कदिग्धाङ्ग, समुद्रोन्मादन, रणोत्कट, प्रहास, श्वेतसिद्ध, नन्दन, कालकण्ठ, प्रभास, कुम्भाण्डकोदर, कालकक्ष, सित, भूतमथन, यज्ञवाह, सुवाह, देवयाजी, सोमप, मज्जान, महातेजा, क्रथ, क्राथ, तुहर, तुहार, पराक्रमी चित्रदेव, मधुर, सुप्रसाद, किरीटी, महाबल, वत्सल, मधुवर्ण, कलशोदर, धर्मद, मन्मथकर, शक्तिशाली सूचीवक्त्र, श्वेतवक्त्र, सुवक्त्र, चारुवक्त्र, पाण्डुर, दण्डबाहु, सुबाहु, रज, कोकिलक, अचल, कनकाक्ष, बालस्वामी, संचारक, कोकनद, गृध्रपत्र, जम्बुक, लोहवक्त्र, अजवक्त्र, जवन, कुम्भवक्त्र, कुम्भक, स्वर्णग्रीव, कृष्णौजा, हंसवक्त्र, चन्द्रभ, पाणिकूर्च, शम्बूक, पञ्चवक्त्र, शिक्षक, चापवक्त्र, जम्बूक, शाकवक्त्र और कुञ्जल ॥ ५६—७६ ॥

योगयुक्ता महात्मानः सततं ब्राह्मणप्रियाः ।
पैतामहा महात्मानो महापारिषदाश्च ये ॥ ७७ ॥
यौवनस्थाश्च बालाश्च वृद्धाश्च जनमेजय ।
सहस्रशः पारिषदाः कुमारमवतस्थिरे ॥ ७८ ॥

जनमेजय ! ये सब पार्षद योगयुक्त, महामना तथा निरन्तर ब्राह्मणोंसे प्रेम रखनेवाले हैं । इनके सिवा, पितामह ब्रह्माजीके दिये हुए जो महामना महापार्षद हैं, वे तथा दूसरे बालक, तरुण एवं वृद्ध सहस्रों पार्षद कुमारकी सेवामें उपस्थित हुए॥

वक्त्रैर्नानाविधैर्ये तु शृणु ताञ्जनमेजय ।
कूर्मकुक्कुटवक्त्राश्च शशोलूकमुखास्तथा ॥ ७९ ॥
खरोष्ट्रवदनाश्चान्ये वराहवदनास्तथा ।

जनमेजय ! उन सबके नाना प्रकारके मुख थे । किनके कैसे मुख थे ? यह बताता हूँ, सुनो । कुछ पार्षदोंके मुख कछुओं और मुर्गोंके समान थे, कितनोंके मुख खरगोश, उल्लू, गदहा, ऊँट और सूअरके समान थे ॥ ७९½ ॥

मार्जारशशवक्त्राश्च दीर्घवक्त्राश्च भारत ॥ ८० ॥
नकुलोलूकवक्त्राश्च काकवक्त्रास्तथा परे ।
आखुबभ्रुकवक्त्राश्च मयूरवदनास्तथा ॥ ८१ ॥

भारत ! बहुतोंके मुख बिल्ली और खरगोशके समान थे । किन्हींके मुख बहुत बड़े थे और किन्हींके नेवले, उल्लू, कौए, चूहे, बभ्रु तथा मयूरके मुखोंके समान थे ॥८०-८१॥

मत्स्यमेषाननाश्चान्ये अजाविमहिषाननाः ।
ऋक्षशार्दूलवक्त्राश्च द्वीपिसिंहाननास्तथा ॥ ८२ ॥

किन्हीं-किन्हींके मुख मछली, मेढे, बकरी, भेड़, भैंसे, रीछ, व्याघ्र, भेड़िये तथा सिंहोंके समान थे ॥ ८२ ॥

भीमा गजाननाश्चैव तथा नक्रमुखाश्च ये ।
गरुडाननाः कङ्कमुखा वृककाकमुखास्तथा ॥ ८३ ॥

किन्हींके मुख हाथीके समान थे, इसलिये वे बड़े भयानक जान पड़ते थे । कुछ पार्षदोंके मुख मगर, गरुड़, कङ्क, भेड़ियों और कौओंके समान जान पड़ते थे ॥ ८३ ॥

गोखरोष्ट्रमुखाश्चान्ये वृषदंशमुखास्तथा ।
महाजठरपादाङ्गास्तारकाक्षाश्च भारत ॥ ८४ ॥

भारत ! कुछ पार्षद गाय, गदहा, ऊँट और वनबिलावके समान मुख धारण करते थे । किन्हींके पेट, पैर और दूसरे-दूसरे अङ्ग भी विशाल थे । उनकी आँखें तारोंके समान चमकती थीं ॥ ८४ ॥

पारावतमुखाश्चान्ये तथा वृषमुखाः परे ।
कोकिलाभाननाश्चान्ये श्येनतित्तिरिकाननाः ॥ ८५ ॥

कुछ पार्षदोंके मुख कबूतर, बैल, कोयल, बाज और तीतरोंके समान थे ॥ ८५ ॥

कृकलासमुखाश्चैव विरजोऽम्बरधारिणः ।
व्यालवक्त्राः शूलमुखाश्चण्डवक्त्राः शुभाननाः ॥८६॥

किन्हीं-किन्हींके मुख गिरगिटके समान जान पड़ते थे । कुछ बहुत ही श्वेत वस्त्र धारण करते थे । किन्हींके मुख सर्पोंके समान थे तो किन्हींके शूलके समान । किन्हींके मुखसे

अत्यन्त क्रोध टपकता था और किन्हींके मुखपर सौम्यभाव छा रहा था ॥ ८६ ॥

आशीविषाश्चीरधरा गोनासावदनास्तथा ।
स्थूलोदराः कृशाङ्गाश्च स्थूलाङ्गाश्च कृशोदराः ॥ ८७ ॥

कुछ विषधर सर्पोंके समान जान पड़ते थे । कोई चीर धारण करते थे और किन्हीं-किन्हींके मुख गायके नथुनोंके समान प्रतीत होते थे । किन्हींके पेट बहुत मोटे थे और किन्हींके अत्यन्त कृश । कोई शरीरसे बहुत दुबले-पतले थे तो कोई महास्थूलकाय दिखायी देते थे ॥ ८७ ॥

ह्रस्वग्रीवा महाकर्णा नानाव्यालविभूषणाः ।
गजेन्द्रचर्मवसनास्तथा कृष्णाजिनाम्बराः ॥ ८८ ॥

किन्हींकी गर्दन छोटी और कान बड़े-बड़े थे । नाना प्रकारके सर्पोंको उन्होंने आभूषणके रूपमें धारण कर रक्खा था । कोई अपने शरीरमें हाथीकी खाल लपेटे हुए थे तो कोई काला मृगछाला धारण करते थे ॥ ८८ ॥

स्कन्धेमुखा महाराज तथाप्युदरतोमुखाः ।
पृष्ठेमुखा हनुमुखास्तथा जङ्घामुखा अपि ॥ ८९ ॥

महाराज ! किन्हींके मुख कंधोंपर थे तो किन्हींके पेटमें । कोई पीठमें, कोई दाढ़ीमें और कोई जाँघोंमें ही मुख धारण करते थे ॥ ८९ ॥

पार्श्वाननाश्च बहवो नानादेशमुखास्तथा ।
तथा कीटपतङ्गानां सदृशास्या गणेश्वराः ॥ ९० ॥

बहुत-से ऐसे भी थे, जिनके मुख पार्श्वभागमें स्थित थे । शरीरके विभिन्न प्रदेशोंमें मुख धारण करनेवाले पार्षदोंकी संख्या भी कम नहीं थी । भिन्न-भिन्न गणोंके अधिपति कीट-पतङ्गोंके समान मुख धारण करते थे ॥ ९० ॥

नानाव्यालमुखाश्चान्ये बहुबाहुशिरोधराः ।
नानावृक्षभुजाः केचित् कटिशीर्षास्तथा परे ॥ ९१ ॥

किन्हींके अनेक और सर्पाकार मुख थे । किन्हीं-किन्हींके बहुत-सी भुजाएँ और गर्दनें थीं । किन्हींकी बहुसंख्यक भुजाएँ नाना प्रकारके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं । किन्हीं-किन्हींके मस्तक उनके कटि-प्रदेशमें ही दिखायी देते थे ॥ ९१ ॥

भुजङ्गभोगवदना नानागुल्मनिवासिनः ।
चीरसंवृतगात्राश्च नानाकनकवाससः ॥ ९२ ॥

किन्हींके सर्पाकार मुख थे । कोई नाना प्रकारके गुल्मों और लताओंसे अपनेको आच्छादित किये हुए थे । कोई चीर वस्त्रसे ही अपनेको ढके हुए थे और कोई नाना प्रकारके सुनहरे वस्त्र धारण करते थे ॥ ९२ ॥

नानावेषधराश्चैव नानामाल्यानुलेपनाः ।
नानावस्त्रधराश्चैव चर्मवासस एव च ॥ ९३ ॥

वे नाना प्रकारके वेश, भाँति-भाँतिकी माला और चन्दन तथा अनेक प्रकारके वस्त्र धारण करते थे । कोई-कोई चमड़े-का ही वस्त्र पहनते थे ॥ ९३ ॥

उष्णीषिणो मुकुटिनः सुग्रीवाश्च सुवर्चसः ।
किरीटिनः पञ्चशिखास्तथा काञ्चनमूर्धजाः ॥ ९४ ॥

किन्हींके मस्तकपर पगड़ी थी तो किन्हींके सिरपर मुकुट शोभा पाते थे । किन्हींकी गर्दन और अङ्गकान्ति बड़ी ही सुन्दर थी । कोई किरीट धारण करते और कोई सिरपर पाँच शिखाएँ रखते थे । किन्हींके सिरके बाल सुनहरे रंगके थे ॥

त्रिशिखा द्विशिखाश्चैव तथा सप्तशिखाः परे ।
शिखण्डिनो मुकुटिनो मुण्डाश्च जटिलास्तथा ॥ ९५ ॥

कोई दो, कोई तीन और कोई सात शिखाएँ रखते थे । कोई माथेपर मोरपंख और कोई मुकुट धारण करते थे । कोई मूँड़ मुड़ाये और कोई जटा बढ़ाये हुए थे ॥ ९५ ॥

चित्रमालाधराः केचित् केचिद् रोमाननास्तथा ।
विग्रहैकरसा नित्यमजेयाः सुरसत्तमैः ॥ ९६ ॥

कोई विचित्र माला धारण किये हुए थे और किन्हींके मुखपर बहुत-से रोयें जमे हुए थे । उन सबको लड़ाई-झगड़ेमें ही रस आता था । वे सदा श्रेष्ठ देवताओंके लिये भी अजेय थे ॥

कृष्णा निर्मांसवक्त्राश्च दीर्घपृष्ठास्तनूदराः ।
स्थूलपृष्ठा ह्रस्वपृष्ठाः प्रलम्बोदरमेहनाः ॥ ९७ ॥

कोई काले थे, किन्हींके मुखपर मांसरहित हड्डियोंका ढाँचा मात्र था । किन्हींकी पीठ बहुत बड़ी थी और पेट भीतरको धँसा हुआ था । किन्हींकी पीठ मोटी और किन्हींकी छोटी थी । किन्हींके पेट और मूत्रेन्द्रिय दोनों बड़े थे ॥९७॥

महाभुजा ह्रस्वभुजा ह्रस्वगात्राश्च वामनाः ।
कुब्जाश्च ह्रस्वजङ्घाश्च हस्तिकर्णशिरोधराः ॥ ९८ ॥

किन्हींकी भुजाएँ विशाल थीं तो किन्हींकी बहुत छोटी । कोई छोटे-छोटे अङ्गोंवाले और बौने थे । कोई कुबड़े थे तो किन्हीं-किन्हींकी जाँघें बहुत छोटी थीं । कोई हाथीके समान कान और गर्दन धारण करते थे ॥ ९८ ॥

हस्तिनासाः कूर्मनासा वृकनासास्तथा परे ।
दीर्घोच्छ्वासा दीर्घजङ्घा विकराला ह्यधोमुखाः॥ ९९ ॥

किन्हींकी नाक हाथी-जैसी, किन्हींकी कछुओंके समान और किन्हींकी भेड़ियों-जैसी थी । कोई लंबी साँस लेते थे । किन्हींकी जाँघें बहुत बड़ी थीं । किन्हींका मुख नीचेकी ओर था और वे विकराल दिखायी देते थे ॥ ९९ ॥

महादंष्ट्रा ह्रस्वदंष्ट्राश्चतुर्दंष्ट्रास्तथा परे ।
वारणेन्द्रनिभाश्चान्ये भीमा राजन् सहस्रशः ॥१००॥

किन्हींकी दाढ़ें बड़ी, किन्हींकी छोटी और किन्हींकी चार थीं । राजन् ! दूसरे भी सहस्रों पार्षद गजराजके समान विशाल-काय एवं भयंकर थे ॥ १०० ॥

सुविभक्तशरीराश्च दीप्तिमन्तः स्वलंकृताः ।
पिङ्गाक्षाः शङ्कुकर्णाश्च रक्तनासाश्च भारत ॥१०१॥

उनके शरीरके सभी अङ्ग सुन्दर विभागपूर्वक देखे जाते थे । वे दीप्तिमान् तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे । भारत ! उनके नेत्र पिंगलवर्णके थे, कान शङ्कुके समान जान पड़ते थे और नासिका लाल रंगकी थी ॥ १०१ ॥

पृथुदंष्ट्रा महादंष्ट्राः स्थूलौष्ठा हरिमूर्धजाः ।
नानापादौष्ठदंष्ट्राश्च नानाहस्तशिरोधराः ॥१०२॥

किन्हींकी दाढ़ें बड़ी और किन्हींकी मोटी थीं। किन्हींके ओठ मोटे और सिरके बाल नीले थे। किन्हींके पैर, ओठ, दाढ़ें, हाथ और गर्दनें नाना प्रकारकी और अनेक थीं॥१०२॥

नानाचर्मभिराच्छन्ना नानाभाषाश्च भारत।
कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः॥१०३॥

भारत! कुछ लोग नाना प्रकारके चर्ममय वस्त्रोंसे आच्छादित, नाना प्रकारकी भाषाएँ बोलनेवाले, देशकी सभी भाषाओंमें कुशल एवं परस्पर बातचीत करनेमें समर्थ थे॥

हृष्टाः परिपतन्ति स्म महापारिषदास्तथा।
दीर्घग्रीवा दीर्घनखा दीर्घपादशिरोभुजाः॥१०४॥

वे महापार्षदगण हर्षमें भरकर चारों ओरसे दौड़े चले आ रहे थे। उनकी ग्रीवा, मस्तक, हाथ, पैर और नख सभी बड़े-बड़े थे॥ १०४॥

पिङ्गाक्षा नीलकण्ठाश्च लम्बकर्णाश्च भारत।
वृकोदरनिभाश्चैव केचिदञ्जनसंनिभाः॥१०५॥

भरतनन्दन! उनकी आँखें भूरी थीं, कण्ठमें नीले रङ्गका चिह्न था और कान लंबे लंबे थे। किन्हींका रङ्ग भेड़ियोंके उदरके समान था तो कोई काजलके समान काले थे॥१०५॥

श्वेताक्षा लोहितग्रीवाः पिङ्गाक्षाश्च तथा परे।
कल्माषा बहवो राजंश्चित्रवर्णाश्च भारत॥१०६॥

किन्हींकी आँखें सफेद और गर्दन लाल थीं। कुछ लोगोंके नेत्र पिङ्गल वर्णके थे। भरतवंशी नरेश! बहुत-से पार्षद विचित्र वर्णवाले और चितकबरे थे॥ १०६॥

चामरापीडकनिभाः श्वेतलोहितराजयः।
नानावर्णाः सवर्णाश्च मयूरसदृशप्रभाः॥१०७॥

कितने ही पार्षदोंके शरीरका रङ्ग चँवर तथा फूलोंके मुकुट-सा सफेद था। कुछ लोगोंके अङ्गोंमें श्वेत और लाल रङ्गोंकी पङ्क्तियाँ दिखायी देती थीं। कुछ पार्षद एक दूसरे-से भिन्न रङ्गके थे और बहुत-से समान रङ्गवाले भी थे। किन्हीं-किन्हींकी कान्ति मोरोंके समान थी॥ १०७॥

पुनः प्रहरणान्येषां कीर्त्यमानानि मे शृणु।
शेषैः कृतः पारिषदैरायुधानां परिग्रहः॥१०८॥

अब शेष पार्षदोंने जिन आयुधोंको ग्रहण किया था, उनके नाम बता रहा हूँ, सुनो॥ १०८॥

पाशोद्यतकराः केचिद् व्यादितास्याः खराननाः।
पृष्ठाक्षा नीलकण्ठाश्च तथा परिघबाहवः॥१०९॥

कुछ पार्षद हाथोंमें पाश लिये हुए थे, कोई मुँह बाये खड़े थे, किन्हींके मुख गदहोंके समान थे, कितनोंकी आँखें पृष्ठभागमें थीं और कितनोंके कण्ठोंमें नील रङ्गका चिह्न था। बहुत-से पार्षदोंकी भुजाएँ ही परिघके समान थीं॥ १०९॥

शतघ्नीचक्रहस्ताश्च तथा मुसलपाणयः।
असिमुद्गरहस्ताश्च दण्डहस्ताश्च भारत॥११०॥

भरतनन्दन! किन्हींके हाथोंमें शतघ्नी थी तो किन्हींके चक्र। कोई हाथमें मुसल लिये हुए थे तो कोई तलवार, मुद्गर और डंडे लेकर खड़े थे॥ ११०॥

गदाभुशुण्डिहस्ताश्च तथा तोमरपाणयः।
आयुधैर्विविधैर्घोरैर्महात्मानो महाजवाः॥१११॥

किन्हींके हाथोंमें गदा, तोमर और भुशुण्डि शोभा पा रहे थे। वे महावेगशाली महामनस्वी पार्षद नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे॥ १११॥

महाबला महावेगा महापारिषदास्तथा।
अभिषेकं कुमारस्य दृष्ट्वा हृष्टा रणप्रियाः॥११२॥

उनका बल और वेग महान् था। वे युद्धप्रेमी महा-पार्षदगण कुमारका अभिषेक देखकर बड़े प्रसन्न हुए॥११२॥

घण्टाजालपिनद्धाङ्गा ननृतुस्ते महौजसः।
एते चान्ये च बहवो महापारिषदा नृप॥११३॥
उपतस्थुर्महात्मानं कार्तिकेयं यशस्विनम्।

वे अपने अङ्गोंमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त जालीदार वस्त्र पहने हुए थे। उनमें महान् ओज भरा था। नरेश्वर! वे हर्षमें भरकर नृत्य कर रहे थे। ये तथा और भी बहुत-से महापार्षदगण यशस्वी महात्मा कार्तिकेयकी सेवामें उपस्थित हुए थे॥ ११३½॥

दिव्याश्चाप्यान्तरिक्षाश्च पार्थिवाश्चानिलोपमाः॥११४॥
व्यादिष्टा दैवतैः शूराः स्कन्दस्यानुचराभवन्।

देवताओंकी आज्ञा पाकर देवलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूलोकके वायुतुल्य वेगशाली शूरवीर पार्षद स्कन्दके अनुचर हुए थे॥ ११४½॥

तादृशानां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अभिषिक्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे॥११५॥

ऐसे-ऐसे सहस्रों, लाखों और अरबों पार्षद अभिषेक-के पश्चात् महात्मा स्कन्दको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलरामतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने स्कन्दाभिषेके पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलरामजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दका अभिषेकविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

मातृकाओंका परिचय तथा स्कन्ददेवकी रणयात्रा और उनके द्वारा तारकासुर, महिषासुर आदि दैत्योंका सेनासहित संहार

वैशम्पायन उवाच

शृणु मातृगणान् राजन् कुमारानुचरानिमान्।
कीर्त्यमानान् मया वीर सपत्नगणसूदनान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीर नरेश! अब मैं उन

मातृकाओंके नाम बता रहा हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली तथा कुमार कार्तिकेयकी अनुचरी हैं ॥ १ ॥

यशस्विनीनां मातृणां शृणु नामानि भारत ।
याभिर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः कल्याणीभिश्च भागशः ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! तुम उन यशस्वी मातृकाओंके नाम सुनो, जिन कल्याणकारिणी देवियोंने विभागपूर्वक तीनों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है ॥ २ ॥

प्रभावती विशालाक्षी पालिता गोस्तनी तथा ।
श्रीमती बहुला चैव तथैव बहुपुत्रिका ॥ ३ ॥
अप्सु जाता च गोपाली बृहदम्बालिका तथा ।
जयावती मालतिका ध्रुवरत्ना भयंकरी ॥ ४ ॥
वसुदामा च दामा च विशोका नन्दिनी तथा ।
एकचूडा महाचूडा चक्रनेमिश्च भारत ॥ ५ ॥
उत्तेजनी जयत्सेना कमलाक्ष्यथ शोभना ।
शत्रुंजया तथा चैव क्रोधना शलभी खरी ॥ ६ ॥
माधवी शुभवक्त्रा च तीर्थनेमिश्च भारत ।
गीतप्रिया च कल्याणी रुद्ररोमामिताशना ॥ ७ ॥
मेघस्वना भोगवती सुभ्रूश्च कनकावती ।
अलाताक्षी वीर्यवती विद्युज्जिह्वा च भारत ॥ ८ ॥
पद्मावती सुनक्षत्रा कन्दरा बहुयोजना ।
संतानिका च कौरव्य कमला च महाबला ॥ ९ ॥
सुदामा बहुदामा च सुप्रभा च यशस्विनी ।
नृत्यप्रिया च राजेन्द्र शतोलूखलमेखला ॥ १० ॥
शतघण्टा शतानन्दा भगनन्दा च भाविनी ।
वपुष्मती चन्द्रसीता भद्रकाली च भारत ॥ ११ ॥
ऋक्षाम्बिका निष्कुटिका वामा चत्वरवासिनी ।
सुमङ्गला स्वस्तिमती बुद्धिकामा जयप्रिया ॥ १२ ॥
धनदा सुप्रसादा च भवदा च जलेश्वरी ।
एडी भेडी समेडी च वेतालजननी तथा ॥ १३ ॥
कण्डूतिः कालिका चैव देवमित्रा च भारत ।
वसुश्रीः कोटरा चैव चित्रसेना तथाचला ॥ १४ ॥
कुक्कुटिका शङ्खलिका तथा शकुनिका नृप ।
कुण्डारिका कौकुलिका कुम्भिकाथ शतोदरी ॥ १५ ॥
उत्क्राथिनी जलेला च महावेगा च कङ्कणा ।
मनोजवा कण्टकिनी प्रघसा पूतना तथा ॥ १६ ॥
केशयन्त्री त्रुटिर्वामा क्रोशनाथ तडित्प्रभा ।
मन्दोदरी च मुण्डी च कोटरा मेघवाहिनी ॥ १७ ॥
सुभगा लम्बनी लम्बा ताम्रचूडा विकाशिनी ।
ऊर्ध्ववेणीधरा चैव पिङ्गाक्षी लोहमेखला ॥ १८ ॥
पृथुवस्त्रा मधुलिका मधुकुम्भा तथैव च ।
पक्षालिका मत्कुलिका जरायुर्जर्जरानना ॥ १९ ॥
ख्याता दहदहा चैव तथा धमधमा नृप ।
खण्डखण्डा च राजेन्द्र पूषणा मणिकुट्टिका ॥ २० ॥
अमोघा चैव कौरव्य तथा लम्बपयोधरा ।
वेणुवीणाधरा चैव पिङ्गाक्षी लोहमेखला ॥ २१ ॥
शशोलूकमुखी कृष्णा खरजङ्घा महाजवा ।
शिशुमारमुखी श्वेता लोहिताक्षी विभीषणा ॥ २२ ॥
जटालिका कामचरी दीर्घजिह्वा बलोत्कटा ।
कालेहिका वामनिका मुकुटा चैव भारत ॥ २३ ॥
लोहिताक्षी महाकाया हरिपिण्डा च भूमिप ।
एकत्वचा सुकुसुमा कृष्णकर्णी च भारत ॥ २४ ॥
क्षुरकर्णी चतुष्कर्णी कर्णप्रावरणा तथा ।
चतुष्पथनिकेता च गोकर्णी महिषानना ॥ २५ ॥
खरकर्णी महाकर्णी भेरीस्वनमहास्वना ।
शङ्खकुम्भश्रवाश्चैव भगदा च महाबला ॥ २६ ॥
गणा च सुगणा चैव तथाभीत्यथ कामदा ।
चतुष्पथरता चैव भूतितीर्थान्यगोचरी ॥ २७ ॥
पशुदा वित्तदा चैव सुखदा च महायशाः ।
पयोदा गोमहिषदा सुविशाला च भारत ॥ २८ ॥
प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा च रोचमाना सुरोचना ।
नौकर्णी मुखकर्णी च विशिरा मन्थिनी तथा ॥ २९ ॥
एकचन्द्रा मेघकर्णा मेघमाला विरोचना ।

कुरुवंशी ! भरतकुलनन्दन ! राजेन्द्र ! वे नाम इस प्रकार हैं—प्रभावती, विशालाक्षी, पालिता, गोस्तनी, श्रीमती, बहुला, बहुपुत्रिका, अप्सु जाता, गोपाली, बृहदम्बालिका, जयावती, मालतिका, ध्रुवरत्ना, भयंकरी, वसुदामा, दामा, विशोका, नन्दिनी, एकचूडा, महाचूडा, चक्रनेमि, उत्तेजनी, जयत्सेना, कमलाक्षी, शोभना, शत्रुंजया, क्रोधना, शलभी, खरी, माधवी, शुभवक्त्रा, तीर्थनेमि, गीतप्रिया, कल्याणी, रुद्ररोमा, अमिताशना, मेघस्वना, भोगवती, सुभ्रू, कनकावती, अलाताक्षी, वीर्यवती, विद्युज्जिह्वा, पद्मावती, सुनक्षत्रा, कन्दरा, बहुयोजना, संतानिका, कमला, महाबला, सुदामा, बहुदामा, सुप्रभा, यशस्विनी, नृत्यप्रिया, शतोलूखलमेखला, शतघण्टा, शतानन्दा, भगनन्दा, भाविनी, वपुष्मती, चन्द्रसीता, भद्रकाली, ऋक्षाम्बिका, निष्कुटिका, वामा, चत्वरवासिनी, सुमङ्गला, स्वस्तिमती, बुद्धिकामा, जयप्रिया, धनदा, सुप्रसादा, भवदा, जलेश्वरी, एडी, भेडी, समेडी, वेतालजननी, कण्डूतिकालिका, देवमित्रा, वसुश्री, कोटरा, चित्रसेना, अचला, कुक्कुटिका, शङ्खलिका, शकुनिका, कुण्डारिका, कौकुलिका, कुम्भिका, शतोदरी, उत्क्राथिनी, जलेला, महावेगा, कङ्कणा, मनोजवा, कण्टकिनी, प्रघसा, पूतना, केशयन्त्री, त्रुटि, वामा, क्रोशना, तडित्प्रभा, मन्दोदरी, मुण्डी, कोटरा, मेघवाहिनी, सुभगा, लम्बिनी, लम्बा, ताम्रचूड़ा, विकाशिनी, ऊर्ध्ववेणीधरा, पिङ्गाक्षी, लोहमेखला, पृथुवस्त्रा, मधुलिका, मधुकुम्भा, पक्षालिका, मत्कुलिका, जरायु, जर्जरानना, ख्याता, दहदहा, धमधमा, खण्डखण्डा, पूषणा, मणिकुट्टिका, अमोघा, लम्बपयोधरा, वेणुवीणाधरा, पिङ्गाक्षी, लोहमेखला, शशोलूकमुखी, कृष्णा, खरजंघा, महाजवा, शिशुमारमुखी, श्वेता, लोहिताक्षी, विभीषणा, जटालिका, कामचरी, दीर्घजिह्वा, बलोत्कटा,

कालेहिका, वामनिका, मुकुटा, लोहिताक्षी, महाकाया, हरिपिण्डा, एकत्वचा, सुकुसुमा, कृष्णकर्णी, क्षुरकर्णी, चतुष्कर्णी, कर्णप्रावरणा, चतुष्पथनिकेता, गोकर्णी, महिषानना, खरकर्णी, महाकर्णी, भेरीस्वना, महास्वना, शङ्खश्रवा, कुम्भश्रवा, भगदा, महाबला, गणा, सुगणा, अभीति, कामदा, चतुष्पथरता, भूतितीर्था, अन्यगोचरी, पशुदा, वित्तदा, सुखदा, महायशा, पयोदा, गोदा, महिषदा, सुविशाला, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, रोचमाना, सुरोचना, नौकर्णी, मुखकर्णी, विशिरा, मन्थिनी, एकचन्द्रा, मेघकर्णा, मेघमाला और विरोचना ॥ ३—२९½ ॥

एताश्चान्याश्च बहवो मातरो भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कार्तिकेयानुयायिन्यो नानारूपाः सहस्रशः ।

भरतश्रेष्ठ ! ये तथा और भी नाना रूपधारिणी बहुत-सी सहस्रों मातृकाएँ हैं, जो कुमार कार्तिकेयका अनुसरण करती हैं॥

दीर्घनख्यो दीर्घदन्त्यो दीर्घतुण्ड्यश्च भारत ॥ ३१ ॥
सबला मधुराश्चैव यौवनस्थाः स्वलंकृताः ।
माहात्म्येन च संयुक्ताः कामरूपधरास्तथा ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! इनके नख, दाँत और मुख सभी विशाल हैं। ये सबला, मधुरा (सुन्दरी), युवावस्थासे सम्पन्न तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हैं। इनकी बड़ी महिमा है। ये अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाली हैं ॥३१-३२॥

निर्मांसगात्र्यः श्वेताश्च तथा काञ्चनसंनिभाः ।
कृष्णमेघनिभाश्चान्या धूम्राश्च भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

इनमेंसे कुछ मातृकाओंके शरीर केवल हड्डियोंके ढाँचे हैं। उनमें मांसका पता नहीं है। कुछ श्वेत वर्णकी हैं और कितनोंकी ही अङ्गकान्ति सुवर्णके समान है। भरतश्रेष्ठ ! कुछ मातृकाएँ कृष्णमेघके समान काली तथा कुछ धूम्रवर्णकी हैं॥

अरुणाभा महाभोगा दीर्घकेश्यः सिताम्बराः ।
ऊर्ध्ववेणीधराश्चैव पिङ्गाक्ष्यो लम्बमेखलाः ॥ ३४ ॥

कितनोंकी कान्ति अरुण वर्णकी है। वे सभी महान् भोगोंसे सम्पन्न हैं। उनके केश बड़े-बड़े और वस्त्र उज्ज्वल हैं। वे ऊपरकी ओर वेणी धारण करनेवाली, भूरी आँखोंसे सुशोभित तथा लम्बी मेखलासे अलंकृत हैं ॥ ३४ ॥

लम्बोदर्यो लम्बकर्णास्तथा लम्बपयोधराः ।
ताम्राक्ष्यस्ताम्रवर्णाश्च हर्यक्ष्यश्च तथा पराः ॥ ३५ ॥

उनमेंसे किन्हींके उदर, किन्हींके कान तथा किन्हींके दोनों स्तन लंबे हैं। कितनोंकी आँखें ताँबेके समान लाल रङ्गकी हैं। कुछ मातृकाओंके शरीरकी कान्ति भी ताम्रवर्णकी हैं। बहुतोंकी आँखें काले रङ्गकी हैं ॥ ३५ ॥

वरदाः कामचारिण्यो नित्यं प्रमुदितास्तथा ।
याम्या रौद्रास्तथा सौम्याः कौबेर्योऽथ महाबलाः ॥३६॥
वारुण्योऽथ च माहेन्द्र्यस्तथाऽऽग्नेय्यः परंतप ।
वायव्यश्चाथ कौमार्यो ब्राह्मयश्च भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
वैष्णव्यश्च तथा सौर्यो वाराह्यश्च महाबलाः ।
रूपेणाप्सरसां तुल्या मनोहार्यो मनोरमाः ॥ ३८ ॥

वे वर देनेमें समर्थ, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाली और सदा आनन्दमें निमग्न रहनेवाली हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! उन मातृकाओंमेंसे कुछ यमकी शक्तियाँ हैं, कुछ रुद्रकी। कुछ सोमकी शक्तियाँ हैं और कुछ कुबेरकी। वे सबकी सब महान् बलसे सम्पन्न हैं। इसी तरह कुछ वरुणकी, कुछ देवराज इन्द्रकी, कुछ अग्नि, वायु, कुमार, ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा भगवान् वराहकी महाबलशालिनी शक्तियाँ हैं, जो रूपमें अप्सराओंके समान मनोहारिणी और मनोरमा हैं ॥ ३६—३८ ॥

परपुष्टोपमा वाक्ये तथर्द्ध्या धनदोपमाः ।
शक्रवीर्योपमा युद्धे दीप्त्या वह्निसमास्तथा ॥ ३९ ॥

वे मीठी वाणी बोलनेमें कोयल और धनसमृद्धिमें कुबेरके समान हैं। युद्धमें इन्द्रके सदृश पराक्रम प्रकट करनेवाली तथा अग्निके समान तेजस्विनी हैं ॥ ३९ ॥

शत्रूणां विग्रहे नित्यं भयदास्ता भवन्त्युत ।
कामरूपधराश्चैव जवे वायुसमास्तथा ॥ ४० ॥

युद्ध छिड़ जानेपर वे सदा शत्रुओंके लिये भयदायिनी होती हैं। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली तथा वायुके समान वेगशालिनी हैं ॥ ४० ॥

अचिन्त्यबलवीर्याश्च तथाचिन्त्यपराक्रमाः ।
वृक्षचत्वरवासिन्यश्चतुष्पथनिकेतनाः ॥ ४१ ॥

उनके बल, वीर्य और पराक्रम अचिन्त्य हैं। वे वृक्षों, चबूतरों और चौराहोंपर निवास करती हैं ॥ ४१ ॥

गुहाश्मशानवासिन्यः शैलप्रस्रवणालयाः ।
नानाभरणधारिण्यो नानामाल्याम्बरास्तथा ॥ ४२ ॥

गुफाएँ, श्मशान, पर्वत और झरने भी उनके निवासस्थान हैं। वे नाना प्रकारके आभूषण, पुष्पहार और वस्त्र धारण करती हैं ॥ ४२ ॥

नानाविचित्रवेषाश्च नानाभाषास्तथैव च ।
एते चान्ये च बहवो गणाः शत्रुभयंकराः ॥ ४३ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं त्रिदशेन्द्रस्य सम्मते ।

उनके वेश नाना प्रकारके और विचित्र हैं। वे अनेक प्रकारकी भाषाएँ बोलती हैं। ये तथा और भी बहुत-से शत्रुओंको भयभीत करनेवाले गण देवेन्द्रकी सम्मतिसे महात्मा स्कन्दका अनुसरण करने लगे ॥ ४३½ ॥

ततः शक्त्यस्त्रमददद् भगवान् पाकशासनः ॥ ४४ ॥
गुहाय राजशार्दूल विनाशाय सुरद्विषाम् ।
महास्वनां महाघण्टां द्योतमानां सितप्रभाम् ॥ ४५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर भगवान् पाकशासनने देवद्रोहियोंके विनाशके लिये कुमार कार्तिकेयको शक्ति नामक अस्त्र प्रदान किया। साथ ही उन्होंने बड़े जोरसे आवाज करनेवाला एक विशाल घंटा भी दिया, जो अपनी उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित हो रहा था ॥ ४४-४५ ॥

अरुणादित्यवर्णां च पताकां भरतर्षभ ।
ददौ पशुपतिस्तस्मै सर्वभूतमहाचमूम् ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् पशुपतिने उन्हें अरुण और सूर्यके समान प्रकाशमान एक पताका और अपने सम्पूर्ण भूतगणोंकी विशाल सेना भी प्रदान की ॥ ४६ ॥

उग्रां नानाप्रहरणां तपोवीर्यबलान्विताम् ।
अजेयां स्वगणैर्युक्तां नाम्ना सेनां धनंजयाम् ॥ ४७॥
रुद्रतुल्यबलैर्युक्तां योधानामयुतैस्त्रिभिः ।
न सा विजानाति रणात् कदाचिद् विनिवर्तितुम्॥ ४८॥

वह भयंकर सेना धनंजय नामसे विख्यात थी। उसमें सभी सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, तपस्या, बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। रुद्रके समान बलशाली तीस हजार रुद्रगणोंसे युक्त वह सेना शत्रुओंके लिये अजेय थी। वह कभी भी युद्धसे पीछे हटना जानती ही नहीं थी ॥ ४७-४८ ॥

विष्णुर्ददौ वैजयन्तीं मालां बलविवर्धिनीम् ।
उमा ददौ विरजसी वाससी रविसप्रभे ॥ ४९ ॥

भगवान् विष्णुने कुमारको बल बढ़ानेवाली वैजयन्ती माला दी और उमाने सूर्यके समान चमकीले दो निर्मल वस्त्र प्रदान किये ॥ ४९ ॥

गङ्गा कमण्डलुं दिव्यममृतोद्भवमुत्तमम् ।
ददौ प्रीत्या कुमाराय दण्डं चैव बृहस्पतिः ॥ ५० ॥

गङ्गाने कुमारको प्रसन्नतापूर्वक एक दिव्य और उत्तम कमण्डलु दिया, जो अमृत प्रकट करनेवाला था। बृहस्पतिजीने दण्ड प्रदान किया ॥ ५० ॥

गरुडो दयितं पुत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम् ।
अरुणस्ताम्रचूडं च प्रददौ चरणायुधम् ॥ ५१ ॥

गरुडने विचित्र पङ्खोंसे सुशोभित अपना प्रिय पुत्र मयूर भेंट किया। अरुणने लाल शिखावाले अपने पुत्र ताम्रचूड (मुर्गे) को समर्पित किया, जिसका पैर ही आयुध था ॥ ५१ ॥

नागं तु वरुणो राजा बलवीर्यसमन्वितम् ।
कृष्णाजिनं ततो ब्रह्मा ब्रह्मण्याय ददौ प्रभुः ॥ ५२ ॥
समरेषु जयं चैव प्रददौ लोकभावनः ।

राजा वरुणने बल और वीर्यसे सम्पन्न एक नाग भेंट किया और लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने ब्राह्मणहितैषी कुमारको काला मृगचर्म तथा युद्धमें विजयका आशीर्वाद प्रदान किया॥

सैनापत्यमनुप्राप्य स्कन्दो देवगणस्य ह ॥ ५३ ॥
शुशुभे ज्वलितोऽर्चिष्मान् द्वितीय इव पावकः ।

देवताओंका सेनापतित्व पाकर तेजस्वी स्कन्द अपने तेजसे प्रज्वलित हो दूसरे अग्निदेवके समान सुशोभित होने लगे॥

ततः पारिषदैश्चैव मातृभिश्च समन्वितः ॥ ५४ ॥
ययौ दैत्यविनाशाय ह्लादयन् सुरपुङ्गवान् ।

तदनन्तर अपने पार्षदों तथा मातृकागणोंके साथ कुमार कार्तिकेयने देवेश्वरोंको आनन्द प्रदान करते हुए दैत्योंके विनाशके लिये प्रस्थान किया ॥ ५४½ ॥

सा सेना नैर्ऋती भीमा सघण्टोच्छ्रितकेतना ॥ ५५ ॥
सभेरीशङ्खमुरजा सायुधा सपताकिनी ।
शारदी द्यौरिवाभाति ज्योतिर्भिरिव शोभिता ॥ ५६ ॥

नैर्ऋतों (भूतगणों) की वह भयंकर सेना घंटा, भेरी, शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनिसे गूँज रही थी। उसकी ऊँचे उठी हुई पताकाएँ फहरा रही थीं। अस्त्र-शस्त्रों और पताकाओंसे सम्पन्न वह विशाल वाहिनी नक्षत्रोंसे सुशोभित शरत् कालके आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥५५-५६॥

ततो देवनिकायास्ते नानाभूतगणास्तथा ।
वादयामासुरव्यग्रा भेरीः शङ्खांश्च पुष्कलान् ॥ ५७ ॥
पटहाञ्झर्झरांश्चैव क्रकचान् गोविषाणकान्।
आडम्बरान् गोमुखांश्च डिण्डिमांश्च महास्वनान् ॥५८॥

तदनन्तर वे देवसमूह तथा नाना प्रकारके भूतगण शान्त-चित्त हो भेरी, बहुत-से शङ्ख, पटह, झाँझ, क्रकच, गोशृङ्ग, आडम्बर, गोमुख और भारी आवाज करनेवाले नगाड़े बजाने लगे ॥ ५७-५८ ॥

तुष्टुवुस्ते कुमारं तु सर्वे देवाः सवासवाः ।
जगुश्च देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ५९ ॥

फिर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता कुमारकी स्तुति करने लगे। देव-गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ५९ ॥

ततः प्रीतो महासेनस्त्रिदशेभ्यो वरं ददौ ।
रिपून् हन्तास्मि समरे ये वो वधचिकीर्षवः ॥ ६० ॥

इससे प्रसन्न होकर कुमार महासेनने देवताओंको यह वर दिया कि 'जो आपलोगोंका वध करना चाहते हैं, आपके उन समस्त शत्रुओंका मैं समराङ्गणमें संहार कर डालूँगा' ॥

प्रतिगृह्य वरं देवास्तस्माद् विबुधसत्तमात् ।
प्रीतात्मानो महात्मानो मेनिरे निहतान् रिपून् ॥ ६१ ॥

उन सुरश्रेष्ठ कुमारसे वह वर पाकर महामनस्वी देवता बड़े प्रसन्न हुए और अपने शत्रुओंको मरा हुआ ही मानने लगे॥

सर्वेषां भूतसंघानां हर्षान्नादः समुत्थितः ।
अपूरयत लोकांस्त्रीन् वरे दत्ते महात्मना ॥ ६२ ॥

महात्मा कुमारके वर देनेपर सम्पूर्ण भूत-समुदायोंने जो हर्षनाद किया, वह तीनों लोकोंमें गूँज उठा ॥ ६२ ॥

स निर्ययौ महासेनो महत्या सेनया वृतः ।
वधाय युधि दैत्यानां रक्षार्थं च दिवौकसाम् ॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् विशाल सेनासे घिरे हुए स्वामी महासेन युद्धमें दैत्योंका वध और देवताओंकी रक्षा करनेके लिये आगे बढ़े॥

व्यवसायो जयो धर्मः सिद्धिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्मृतिः ।
महासेनस्य सैन्यानामग्रे जग्मुर्नराधिप ॥ ६४ ॥

नरेश्वर ! उस समय व्यवसाय (दृढ़ निश्चय), विजय, धर्म, सिद्धि, लक्ष्मी, धृति और स्मृति—ये सब-के-सब महासेनके सैनिकोंके आगे-आगे चलने लगे ॥ ६४ ॥

स तया भीमया देवः शूलमुद्गरहस्तया ।
ज्वलितालातधारिण्या चित्राभरणवर्मया ॥ ६५ ॥
गदामुसलनाराचशक्तितोमरहस्तया ।
दृप्तसिंहनिनादिन्या विनद्य प्रययौ गुहः ॥ ६६ ॥

वह सेना बड़ी भयंकर थी। उसने हाथोंमें शूल, मुद्गर,

जलते हुए काठ, गदा, मुसल, नाराच, शक्ति और तोमर धारण कर रक्खे थे। सारी सेना विचित्र आभूषणों और कवचोंसे सुसज्जित थी तथा दर्पयुक्त सिंहके समान दहाड़ रही थी, उस सेनाके साथ सिंहनाद करके कुमार कार्तिकेय युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ ६५-६६ ॥

तं दृष्ट्वा सर्वदैतेया राक्षसा दानवास्तथा ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा भयोद्विग्नाः समन्ततः॥ ६७ ॥

उन्हें देखकर सम्पूर्ण दैत्य, दानव और राक्षस भयसे उद्विग्न हो सारी दिशाओंमें सब ओर भाग गये ॥ ६७ ॥

अभ्यद्रवन्त देवास्तान् विविधायुधपाणयः ।
दृष्ट्वा च स ततः क्रुद्धः स्कन्दस्तेजोबलान्वितः ॥ ६८ ॥
शक्त्यस्त्रं भगवान् भीमं पुनः पुनरवाकिरत् ।
आदधच्चात्मनस्तेजो हविषेद्ध इवानलः ॥ ६९ ॥

देवता अपने हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र शस्त्र ले उन दैत्योंका पीछा करने लगे । यह सब देखकर तेज और बलसे सम्पन्न भगवान् स्कन्द कुपित हो उठे और शक्ति नामक भयानक अस्त्रका बारंबार प्रयोग करने लगे । उन्होंने उसमें अपना तेज स्थापित कर दिया था और वे उस समय घीसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥६८-६९॥

अभ्यस्यमाने शक्त्यस्त्रे स्कन्देनामिततेजसा ।
उल्काज्वाला महाराज पपात वसुधातले ॥ ७० ॥

महाराज ! अमित तेजस्वी स्कन्दके द्वारा शक्तिका बारंबार प्रयोग होनेसे पृथ्वीपर प्रज्वलित उल्का गिरने लगी॥

संह्रादयन्तश्च तथा निर्घाताश्चापतन् क्षितौ ।
यथान्तकालसमये सुघोराः स्युस्तथा नृप ॥ ७१ ॥

नरेश्वर ! जैसे प्रलयके समय अत्यन्त भयंकर वज्र भारी गड़गड़ाहटके साथ पृथ्वीपर गिरने लगते हैं, उसी प्रकार उस समय भी भीषण गर्जनाके साथ वज्रपात होने लगा॥७१॥

क्षिप्ता ह्येका यदा शक्तिः सुघोरानलसूनुना ।
ततः कोट्यो विनिष्पेतुः शक्तीनां भरतर्षभ ॥ ७२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अग्निकुमारने जब एक बार अत्यन्त भयंकर शक्ति छोड़ी, तब उससे करोड़ों शक्तियाँ प्रकट होकर गिरने लगीं ॥ ७२ ॥

ततः प्रीतो महासेनो जघान भगवान् प्रभुः ।
दैत्येन्द्रं तारकं नाम महाबलपराक्रमम् ॥ ७३ ॥
वृतं दैत्यायुतैर्वीरैर्बलिभिर्दशभिर्नृप ।

इससे प्रभावशाली भगवान् महासेन बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने महान् बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न उस दैत्यराज तारकको मार गिराया, जो एक लाख बलवान् एवं वीर दैत्यों-से घिरा हुआ था ॥ ७३½ ॥

महिषं चाष्टभिः पद्मैर्वृतं संख्ये निजघ्निवान् ॥ ७४ ॥
त्रिपादं चायुतशतैर्जघान दशभिर्वृतम् ।
ह्रदोदरं निखर्वैश्च वृतं दशभिरीश्वरः ॥ ७५ ॥
जघानानुचरैः सार्धं विविधायुधपाणिभिः ।

साथ ही उन्होंने युद्धस्थलमें आठ पद्म दैत्योंसे घिरे हुए महिषासुरका, दस लाख असुरोंसे सुरक्षित त्रिपादका और दस निखर्व दैत्य-योद्धाओंसे घिरे हुए ह्रदोदरका भी नाना प्रकारके आयुधधारी अनुचरोंसहित वध कर डाला॥७४-७५½॥

तथाकुर्वन्त विपुलं नादं वध्यत्सु शत्रुषु ॥ ७६ ॥
कुमारानुचरा राजन् पूरयन्तो दिशो दश ।
ननृतुश्च ववल्गुश्च जहसुश्च मुदान्विताः ॥ ७७ ॥

राजन् ! जब शत्रु मारे जाने लगे, उस समय कुमारके अनुचर दसों दिशाओंको गुँजाते हुए बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे । इतना ही नहीं, वे आनन्दमग्न होकर नाचने, कूदने तथा जोर-जोरसे हँसने भी लगे ॥ ७६-७७ ॥

शक्त्यस्त्रस्य तु राजेन्द्र ततोऽर्चिर्भिः समन्ततः ।
त्रैलोक्यं त्रासितं सर्वं जृम्भमाणाभिरेव च ॥ ७८ ॥

राजेन्द्र ! उस शक्तिनामक अस्त्रकी सब ओर फैलती हुई ज्वालाओंसे सारी त्रिलोकी थर्रा उठी ॥ ७८ ॥

दग्धाः सहस्रशो दैत्या नादैः स्कन्दस्य चापरे ।
पताकयावधूताश्च हताः केचित् सुरद्विषः ॥ ७९ ॥

सहस्रों दैत्य उस शक्तिकी आगमें जलकर भस्म हो गये । कितने ही स्कन्दके सिंहनादोंसे ही डरकर अपने प्राण खो बैठे तथा कुछ देवद्रोही उनकी पताकासे ही कम्पित होकर मर गये ॥ ७९ ॥

केचिद् घण्टारवत्रस्ता निपेतुर्वसुधातले ।
केचित् प्रहरणैश्छिन्ना विनिष्पेतुर्गतायुषः ॥ ८० ॥

कुछ दैत्य उनके घंटानादसे संत्रस्त होकर धरतीपर बैठ गये और कुछ उनके आयुधोंसे छिन्न-भिन्न हो गतायु होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८० ॥

एवं सुरद्विषोऽनेकान् बलवानाततायिनः ।
जघान समरे वीरः कार्तिकेयो महाबलः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार महाबली शक्तिशाली वीर कीर्तिकेयने समराङ्गणमें अनेक आततायी देवद्रोहियोंका संहार कर डाला॥

बाणो नामाथ दैतेयो बलेः पुत्रो महाबलः ।
क्रौञ्चं पर्वतमाश्रित्य देवसंघानबाधत ॥ ८२ ॥

राजा बलिका महाबली पुत्र बाणासुर क्रौञ्च पर्वतका आश्रय लेकर देवसमूहोंको कष्ट पहुँचाया करता था ॥ ८२ ॥

तमभ्ययान्महासेनः सुरशत्रुमुदारधीः ।
स कार्तिकेयस्य भयात् क्रौञ्चं शरणमीयिवान् ॥ ८३ ॥

उदारबुद्धि महासेनने उस दैत्यपर भी आक्रमण किया । तब वह कार्तिकेयके भयसे क्रौञ्च पर्वतकी शरणमें जा छिपा ॥

ततः क्रौञ्चं महामन्युः क्रौञ्चनादनिनादितम् ।
शक्त्या बिभेद भगवान् कार्तिकेयोऽग्निदत्तया ॥ ८४ ॥

इससे भगवान् कार्तिकेयको महान् क्रोध हुआ । उन्होंने अग्निकी दी हुई शक्तिसे क्रौञ्च पक्षियोंके कोलाहलसे गूँजते हुए क्रौञ्चपर्वतको विदीर्ण कर डाला ॥ ८४ ॥

स शालस्कन्धशबलं त्रस्तवानरवारणम् ।
प्रोड्डीनोद्भ्रान्तविहगं विनिष्पतितपन्नगम् ॥ ८५ ॥
गोलाङ्गूलर्क्षसंघैश्च द्रवद्भिरनुनादितम् ।

कुरङ्गमविनिर्घोषनिनादितवनान्तरम् ॥ ८६ ॥
विनिष्पतद्भिः शरभैः सिंहैश्च सहसा द्रुतैः ।
शोच्यामपि दशां प्राप्तो रराजैव स पर्वतः ॥ ८७ ॥

क्रौञ्च पर्वत शालवृक्षके तनोंसे भरा हुआ था। वहाँके वानर और हाथी संत्रस्त हो उठे थे, पक्षी भयसे व्याकुल होकर उड़ चले थे, सर्प धराशायी हो गये थे, गोलाङ्गूल जातिके वानरों और रीछोंके समुदाय भाग रहे थे तथा उनके चीत्कारसे वह पर्वत गूँज उठा था, हरिणोंके आर्तनादसे उस पर्वतका वनप्रान्त प्रतिध्वनित हो रहा था, गुफासे निकलकर सहसा भागनेवाले सिंहों और शरभोंके कारण वह पर्वत बड़ी शोचनीय दशामें पड़ गया था तो भी वह सुशोभित-सा ही हो रहा था ॥ ८५–८७ ॥

विद्याधराः समुत्पेतुस्तस्य शृङ्गनिवासिनः ।
किन्नराश्च समुद्विग्नाः शक्तिपातरवोद्धताः ॥ ८८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर निवास करनेवाले विद्याधर और किन्नर शक्तिके आघातजनित शब्दसे उद्विग्न होकर आकाशमें उड़ गये ॥ ८८ ॥

ततो दैत्या विनिष्पेतुः शतशोऽथ सहस्रशः ।
प्रदीप्तात् पर्वतश्रेष्ठाद् विचित्राभरणस्रजः ॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् उस जलते हुए श्रेष्ठ पर्वतसे विचित्र आभूषण और माला धारण करनेवाले सैकड़ों और हजारों दैत्य निकल पड़े॥

तान् निजघ्नुरतिक्रम्य कुमारानुचरा मृधे ।
स चैव भगवान् क्रुद्धो दैत्येन्द्रस्य सुतं तदा ॥ ९० ॥
सहानुजं जघानाशु वृत्रं देवपतिर्यथा ।

कुमारके पार्षदोंने युद्धमें आक्रमण करके उन सब दैत्योंको मार गिराया। साथ ही भगवान् कार्तिकेयने कुपित होकर वृत्रासुरको मारनेवाले देवराज इन्द्रके समान दैत्यराजके उस पुत्रको उसके छोटे भाईसहित शीघ्र ही मार डाला ॥

बिभेद क्रौञ्चं शक्त्या च पावकिः परवीरहा ॥ ९१ ॥
बहुधा चैकधा चैव कृत्वाऽऽत्मानं महाबलः ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली अग्निपुत्र कार्तिकेयने अपने आपको एक और अनेक रूपोंमें प्रकट करके शक्तिद्वारा क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर डाला ॥ ९१½ ॥

शक्तिः क्षिप्ता रणे तस्य पाणिमेति पुनः पुनः ॥ ९२ ॥
एवंप्रभावो भगवांस्ततो भूयश्च पावकिः ।
शौर्याद्द्विगुणयोगेन तेजसा यशसा श्रिया ॥ ९३ ॥
क्रौञ्चस्तेन विनिर्भिन्नो दैत्याश्च शतशो हताः ।

रणभूमिमें बार-बार चलायी हुई उनकी शक्ति शत्रुका संहार करके पुनः उनके हाथमें लौट आती थी। अग्निपुत्र कार्तिकेयका ऐसा ही प्रभाव है, बल्कि इससे भी बढ़कर है। वे शौर्यकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दुगुने तेज, यश और श्रीसे सम्पन्न हैं। उन्होंने क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण करके सैकड़ों दैत्योंको मार गिराया ॥ ९२-९३½ ॥

ततः स भगवान् देवो निहत्य विबुधद्विषः ॥ ९४ ॥
सभाज्यमानो विबुधैः परं हर्षमवाप ह ।

तदनन्तर भगवान् स्कन्ददेव देवशत्रुओंका संहार करके देवताओंसे सेवित हो अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ ९४½ ॥

ततो दुन्दुभयो राजन् नेदुः शङ्खाश्च भारत ॥ ९५ ॥
मुमुचुर्देवयोषाश्च पुष्पवर्षमनुत्तमम् ।
योगिनामीश्वरं देवं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ९६ ॥

भरतवंशी नरेश ! तत्पश्चात् दुन्दुभियाँ बज उठीं, शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी, सैकड़ों और हजारों देवाङ्गनाएँ योगीश्वर स्कन्ददेवपर उत्तम फूलोंकी वर्षा करने लगीं ॥

दिव्यगन्धमुपादाय ववौ पुण्यश्च मारुतः ।
गन्धर्वास्तुष्टुवुश्चैनं यज्वानश्च महर्षयः ॥ ९७ ॥

दिव्य फूलोंकी सुगन्ध लेकर पवित्र वायु चलने लगी। गन्धर्व और यज्ञपरायण महर्षि उनकी स्तुति करने लगे॥९७॥

केचिदेनं व्यवस्यन्ति पितामहसुतं प्रभुम् ।
सनत्कुमारं सर्वेषां ब्रह्मयोनिं तमग्रजम् ॥ ९८ ॥

कोई उनके विषयमें यह निश्चय करने लगे कि 'ये ब्रह्माजीके पुत्र, सबके अग्रज एवं ब्रह्मयोनि सनत्कुमार हैं' ॥

केचिन्महेश्वरसुतं केचित् पुत्रं विभावसोः ।
उमायाः कृत्तिकानां च गङ्गायाश्च वदन्त्युत ॥ ९९ ॥

कोई उन्हें महादेवजीका, कोई अग्निका, कोई पार्वतीका, कोई कृत्तिकाओंका और कोई गङ्गाजीका पुत्र बताने लगे ॥

एकधा च द्विधा चैव चतुर्धा च महाबलम् ।
योगिनामीश्वरं देवं शतशोऽथ सहस्रशः ॥१००॥

उन महाबली योगेश्वर स्कन्ददेवको लोग एक, दो, चार, सौ तथा सहस्रों रूपोंमें देखते और जानते हैं ॥१००॥

एतत् ते कथितं राजन् कार्तिकेयाभिषेचनम् ।
शृणु चैव सरस्वत्यास्तीर्थवर्यस्य पुण्यताम् ॥१०१॥

राजन् ! यह मैंने तुम्हें कार्तिकेयके अभिषेकका प्रसङ्ग सुनाया है। अब तुम सरस्वतीके उस श्रेष्ठ तीर्थकी पावनताका वर्णन सुनो ॥ १०१ ॥

बभूव तीर्थप्रवरं हतेषु सुरशत्रुषु ।
कुमारेण महाराज त्रिविष्टपमिवापरम् ॥ १०२॥

महाराज ! कुमार कार्तिकेयके द्वारा देवशत्रुओंके मारे जानेपर वह श्रेष्ठ तीर्थ दूसरे स्वर्गके समान सुखदायक हो गया॥

ऐश्वर्याणि च तत्रस्थो ददावीशः पृथक् पृथक् ।
ददौ नैर्ऋतमुख्येभ्यस्त्रैलोक्यं पावकात्मजः ॥१०३॥

वहीं रहकर स्वामी स्कन्दने पृथक्-पृथक् ऐश्वर्य प्रदान किये। अग्निकुमारने अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारियोंको तीनों लोक सौंप दिये ॥ १०३ ॥

एवं स भगवांस्तस्मिंस्तीर्थे दैत्यकुलान्तकः ।
अभिषिक्तो महाराज देवसेनापतिः सुरैः ॥१०४॥

महाराज ! इस प्रकार दैत्यकुलविनाशक देवसेनापति भगवान् स्कन्दका उस तीर्थमें देवताओंद्वारा अभिषेक किया गया ॥ १०४ ॥

तैजसं नाम तत् तीर्थं यत्र पूर्वमपां पतिः ।
अभिषिक्तः सुरगणैर्वरुणो भरतर्षभ ॥१०५॥

भरतश्रेष्ठ ! वह तैजस नामका तीर्थ है, जहाँ पहले जलके स्वामी वरुणदेवका देवताओंद्वारा अभिषेक किया गया था ॥

अस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा स्कन्दं चाभ्यर्च्य लाङ्गली ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ रुक्मं वासांस्याभरणानि च ॥१०६॥

उस श्रेष्ठ तीर्थमें हलधारी बलरामने स्नान करके स्कन्द देवका पूजन किया और ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र एवं आभूषण दिये ॥ १०६ ॥

उषित्वा रजनीं तत्र माधवः परवीरहा ।
पूज्य तीर्थवरं तच्च स्पृष्ट्वा तोयं च लाङ्गली ॥१०७॥
हृष्टः प्रीतमनाश्चैव ह्यभवन्माधवोत्तमः ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी हलधर वहाँ रात-भर रहे और उस श्रेष्ठ तीर्थका पूजन एवं उसके जलमें स्नान करके हर्षसे खिल उठे । उन यदुश्रेष्ठ बलरामका मन वहाँ प्रसन्न हो गया था ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
यथाभिषिक्तो भगवान् स्कन्दो देवैः समागतैः ॥१०८॥
(सेनानीश्च कृतो राजन् बाल एव महाबलः ।)

राजन् ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, वह सब प्रसङ्ग मैंने तुम्हें कह सुनाया । समागत देवताओंद्वारा किस प्रकार भगवान् स्कन्दका अभिषेक हुआ और किस प्रकार बाल्यावस्थामें ही वे महाबली कुमार सेनापति बना दिये गये, यह सब कुछ बता दिया गया ॥ १०८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने तारकवधे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा एवं सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें तारकासुरका वधविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १०८½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

वरुणका अभिषेक तथा अग्नितीर्थ, ब्रह्मयोनि और कुबेरतीर्थकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् श्रुतवानस्मि तत्त्वतः ।
अभिषेकं कुमारस्य विस्तरेण यथाविधि ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! आज मैंने आपके मुखसे कुमारके विधिपूर्वक अभिषेकका यह अद्भुत वृत्तान्त यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक सुना है ॥ १ ॥

यच्छ्रुत्वा पूतमात्मानं विजानामि तपोधन ।
प्रहृष्टानि च रोमाणि प्रसन्नं च मनो मम ॥ २ ॥

तपोधन ! उसे सुनकर मैं अपने आपको पवित्र हुआ समझता हूँ । हर्षसे मेरे रोयें खड़े हो गये हैं और मेरा मन प्रसन्नतासे भर गया है ॥ २ ॥

अभिषेकं कुमारस्य दैत्यानां च वधं तथा ।
श्रुत्वा मे परमा प्रीतिर्भूयः कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

कुमारके अभिषेक और उनके द्वारा दैत्योंके वधका वृत्तान्त सुनकर मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है और पुनः मेरे मनमें इस विषयको सुननेकी उत्कण्ठा जाग्रत् हो गयी है ॥

अपां पतिः कथं ह्यस्मिन्नभिषिक्तः पुरा सुरैः ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ कुशलो ह्यसि सत्तम ॥ ४ ॥

साधुशिरोमणे ! महाप्राज्ञ ! इस तीर्थमें देवताओंने पहले जलके स्वामी वरुणका अभिषेक किस प्रकार किया था, यह सब मुझे बताइये; क्योंकि आप प्रवचन करनेमें कुशल हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन्निदं चित्रं पूर्वकल्पे यथातथम् ।
आदौ कृतयुगे राजन् वर्तमाने यथाविधि ॥ ५ ॥
वरुणं देवताः सर्वा समेत्येदमथाब्रुवन् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस विचित्र प्रसङ्गको यथार्थरूपसे सुनो । पूर्वकल्पकी बात है, जब आदि कृतयुग चल रहा था, उस समय सम्पूर्ण देवताओंने वरुणके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

यथास्मान् सुरराट् छक्रो भयेभ्यः पाति सर्वदा ॥ ६ ॥
तथा त्वमपि सर्वासां सरितां वै पतिर्भव ।

'जैसे देवराज इन्द्र सदा भयसे हमलोगोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी समस्त सरिताओंके अधिपति हो जाइये (और हमारी रक्षा कीजिये) ॥ ६½ ॥

वासश्च ते सदा देव सागरे मकरालये ॥ ७ ॥
समुद्रोऽयं तव वशे भविष्यति नदीपतिः ।
सोमेन सार्धं च तव हानिवृद्धी भविष्यतः ॥ ८ ॥

'देव ! मकरालय समुद्रमें आपका सदा निवासस्थान होगा और यह नदीपति समुद्र सदा आपके वशमें रहेगा । चन्द्रमाके साथ आपकी भी हानि और वृद्धि होगी' ॥ ७-८ ॥

एवमस्त्विति तान् देवान् वरुणो वाक्यमब्रवीत् ।
समागम्य ततः सर्वे वरुणं सागरालयम् ॥ ९ ॥
अपां पतिं प्रचक्रुर्हि विधिदृष्टेन कर्मणा ।

तब वरुणने उन देवताओंसे कहा—'एवमस्तु' । इस प्रकार उनकी अनुमति पाकर सब देवता इकट्ठे होकर उन्होंने समुद्रनिवासी वरुणको शास्त्रीय विधिके अनुसार जलका राजा बना दिया ॥ ९½ ॥

अभिषिच्य ततो देवा वरुणं यादसां पतिम् ॥ १० ॥
जग्मुः स्वान्येव स्थानानि पूजयित्वा जलेश्वरम् ।

जलजन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणका अभिषेक और पूजन करके सम्पूर्ण देवता अपने-अपने स्थानको ही चले गये ॥

अभिषिक्तस्ततो देवैर्वरुणोऽपि महायशाः ॥ ११ ॥
सरितः सागरांश्चैव नदांश्चापि सरांसि च ।
पालयामास विधिना यथा देवाञ्शतक्रतुः ॥ १२ ॥

देवताओंद्वारा अभिषिक्त होकर महायशस्वी वरुण देवगणोंकी रक्षा करनेवाले इन्द्रके समान सरिताओं, सागरों, नदों और सरोवरोंका भी विधिपूर्वक पालन करने लगे ॥

ततस्तत्राप्युपस्पृश्य दत्त्वा च विविधं वसु ।
अग्नितीर्थं महाप्राज्ञो जगामाथ प्रलम्बहा ॥ १३ ॥

प्रलम्बासुरका वध करनेवाले महाज्ञानी बलरामजी उस तीर्थमें स्नान और भाँति-भाँतिके धनका दान करके अग्नि-तीर्थमें गये ॥ १३ ॥

नष्टो न दृश्यते यत्र शमीगर्भे हुताशनः ।
लोकालोकविनाशे च प्रादुर्भूते तदानघ ॥ १४ ॥
उपतस्थुः सुरा यत्र सर्वलोकपितामहम् ।
अग्निः प्रणष्टो भगवान् कारणं च न विद्महे ॥१५॥
सर्वभूतक्षयो मा भूत् सम्पादय विभोऽनलम् ।

निष्पाप नरेश ! जब शमीके गर्भमें छिप जानेके कारण कहीं अग्निदेवका दर्शन नहीं हो रहा था और सम्पूर्ण जगत्के प्रकाश अथवा दृष्टिशक्तिके विनाशकी घड़ी उपस्थित हो गयी, तब सब देवता सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए और बोले—'प्रभो ! भगवान् अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं। इसका क्या कारण है, यह हमारी समझमें नहीं आता । सम्पूर्ण भूतोंका विनाश न हो जाय, इसके लिये अग्निदेवको प्रकट कीजिये' ॥ १४-१५½ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः प्रणष्टो लोकभावनः ॥ १६ ॥
विज्ञातश्च कथं देवैस्तन्ममाचक्ष्व तत्त्वतः ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! लोकभावन भगवान् अग्नि क्यों अदृश्य हो गये थे और देवताओंने कैसे उनका पता लगाया ? यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

भृगोः शापाद् भृशं भीतो जातवेदाः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
शमीगर्भमथासाद्य ननाश भगवांस्ततः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है कि प्रतापी भगवान् अग्निदेव महर्षि भृगुके शापसे अत्यन्त भयभीत हो शमीके भीतर जाकर अदृश्य हो गये ॥ १७½ ॥

प्रणष्टे तु तदा वह्नौ देवाः सर्वे सवासवाः ॥ १८ ॥
अन्वैषन्त तदा नष्टं ज्वलनं भृशदुःखिताः ।

उस समय अग्निदेवके दिखायी न देनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बहुत दुखी हो उनकी खोज करने लगे ।१८½।

ततोऽग्नितीर्थमासाद्य शमीगर्भस्थमेव हि ॥ १९ ॥
ददृशुर्ज्वलनं तत्र वसमानं यथाविधि ।

तत्पश्चात् अग्नितीर्थमें आकर देवताओंने अग्निको शमीके गर्भमें विधिपूर्वक निवास करते देखा ॥ १९½ ॥

देवाः सर्वे नरव्याघ्र बृहस्पतिपुरोगमाः ॥ २० ॥
ज्वलनं तं समासाद्य प्रीताभूवन् सवासवाः ।

नरव्याघ्र ! इन्द्रसहित सब देवता बृहस्पतिको आगे करके अग्निदेवके समीप आये और उन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २०½ ॥

पुनर्यथागतं जग्मुः सर्वभक्षश्च सोऽभवत् ॥ २१ ॥
भृगोः शापान्महाभाग यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।

महाभाग ! फिर वे जैसे आये थे, वैसे लौट गये और अग्निदेव महर्षि भृगुके शापसे सर्वभक्षी हो गये । उन ब्रह्मवादी मुनिने जैसा कहा था, वैसा ही हुआ ॥ २१½ ॥

तत्राप्याप्लुत्य मतिमान् ब्रह्मयोनिं जगाम ह ॥ २२ ॥
ससर्ज भगवान् यत्र सर्वलोकपितामहः ।

उस तीर्थमें गोता लगाकर बुद्धिमान् बलरामजी ब्रह्मयोनि तीर्थमें गये; जहाँ सर्वलोकपितामह ब्रह्माने सृष्टि की थी॥

तत्राप्लुत्य ततो ब्रह्मा सह देवैः प्रभुः पुरा ॥ २३ ॥
ससर्ज तीर्थानि तथा देवतानां यथाविधि ।

पूर्वकालमें देवताओंसहित भगवान् ब्रह्माने वहाँ स्नान करके विधिपूर्वक देवतीर्थोंकी रचना की थी ॥ २३½ ॥

तत्र स्नात्वा च दत्त्वा च वसूनि विविधानि च ॥ २४ ॥
कौबेरं प्रययौ तीर्थं तत्र तप्त्वा महत्तपः ।
धनाधिपत्यं सम्प्राप्तो राजन्नैलविलः प्रभुः ॥ २५ ॥

राजन् ! उस तीर्थमें स्नान और नाना प्रकारके धनका दान करके बलरामजी कुबेर-तीर्थमें गये, जहाँ बड़ी भारी तपस्या करके भगवान् कुबेरने धनाध्यक्षका पद प्राप्त किया था॥

तत्रस्थमेव तं राजन् धनानि निधयस्तथा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठ तत् तीर्थं लाङ्गली बलः ॥ २६ ॥
गत्वा स्नात्वा च विधिवद् ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ।

नरेश्वर ! वहीं उनके पास धन और निधियाँ पहुँच गयी थीं । नरश्रेष्ठ ! हलधारी बलरामने उस तीर्थमें जाकर स्नानके पश्चात् ब्राह्मणोंके लिये विधिपूर्वक धनका दान किया ॥२६½॥

ददृशे तत्र तत् स्थानं कौबेरे काननोत्तमे ॥ २७ ॥
पुरा यत्र तपस्तप्तं विपुलं सुमहात्मना ।
यक्षराज्ञा कुबेरेण वरा लब्धाश्च पुष्कलाः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने वहाँके एक उत्तम वनमें कुबेरके उस स्थानका दर्शन किया, जहाँ पूर्वकालमें महात्मा यक्षराज कुबेरने बड़ी भारी तपस्या की और बहुत-से वर प्राप्त किये॥२७-२८॥

धनाधिपत्यं सख्यं च रुद्रेणामिततेजसा ।
सुरत्वं लोकपालत्वं पुत्रं च नलकूबरम् ॥ २९ ॥
यत्र लेभे महाबाहो धनाधिपतिरञ्जसा ।

महाबाहो ! धनपति कुबेरने वहाँ अमिततेजस्वी रुद्रके साथ मित्रता, धनका स्वामित्व, देवत्व, लोकपालत्व और नलकूबर नामक पुत्र अनायास ही प्राप्त कर लिये ॥ २९½ ॥

अभिषिक्तश्च तत्रैव समागम्य मरुद्गणैः ॥ ३० ॥
वाहनं चास्य तद् दत्तं हंसयुक्तं मनोजवम् ।
विमानं पुष्पकं दिव्यं नैर्ऋतैश्वर्यमेव च ॥ ३१ ॥

वहीं आकर देवताओंने उनका अभिषेक किया तथा उनके लिये हंसोंसे जुता हुआ और मनके समान वेगशाली वाहन दिव्य पुष्पक विमान दिया । साथ ही उन्हें यक्षोंका राजा बना दिया ॥ ३०-३१ ॥

तत्राप्लुत्य बलो राजन् दत्त्वा दायांश्च पुष्कलान् ।

जगाम त्वरितो रामस्तीर्थं श्वेतानुलेपनः ॥ ३२ ॥
निषेवितं सर्वसत्त्वैर्नाम्ना बदरपाचनम् ।
नानर्तुकवनोपेतं सदापुष्पफलं शुभम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! उस तीर्थमें स्नान और प्रचुर दान करके श्वेत चन्दनधारी बलरामजी शीघ्रतापूर्वक बदरपाचन नामक शुभ तीर्थमें गये, जो सब प्रकारके जीव-जन्तुओंसे सेवित, नाना ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न वनस्थलियोंसे युक्त तथा निरन्तर फूलों और फलोंसे भरा रहनेवाला था ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

बदरपाचन तीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें श्रुतावती और अरुन्धतीके तपकी कथा

वैशम्पायन उवाच

ततस्तीर्थवरं रामो ययौ बदरपाचनम् ।
तपस्विसिद्धचरितं यत्र कन्या धृतव्रता ॥ १ ॥
भरद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पहले कहा गया है कि वहाँसे बलरामजी बदरपाचन नामक श्रेष्ठ तीर्थमें गये, जहाँ तपस्वी और सिद्ध पुरुष विचरण करते हैं तथा जहाँ पूर्वकालमें उत्तम व्रत धारण करनेवाली भरद्वाजकी ब्रह्मचारिणी पुत्री कुमारी कन्या श्रुतावती, जिसके रूप और सौन्दर्यकी भूमण्डलमें कहीं तुलना नहीं थी, निवास करती थी ॥ १-२ ॥

तपश्चचार सात्युग्रं नियमैर्बहुभिर्वृता ।
भर्ता मे देवराजः स्यादिति निश्चित्य भामिनी ॥ ३ ॥

वह भामिनी बहुत-से नियमोंको धारण करके वहाँ अत्यन्त उग्र तपस्या कर रही थी । उसने अपनी तपस्याका यही उद्देश्य निश्चित कर लिया था कि देवराज इन्द्र मेरे पति हों ॥ ३ ॥

समास्तस्या व्यतिक्रान्ता बह्व्यः कुरुकुलोद्वह ।
चरन्त्या नियमांस्तांस्तान् स्त्रीभिस्तीव्रान् सुदुश्चरान् ४

कुरुकुलभूषण ! स्त्रियोंके लिये जिनका पालन अत्यन्त दुष्कर और दुःसह है, उन-उन कठोर नियमोंका पालन करती हुई श्रुतावतीके वहाँ अनेक वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ४ ॥

तस्यास्तु तेन वृत्तेन तपसा च विशाम्पते ।
भक्त्या च भगवान् प्रीतः परया पाकशासनः ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! उसके उस आचरण, तपस्या तथा पराभक्तिसे भगवान् पाकशासन (इन्द्र) बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

आजगामाश्रमं तस्यास्त्रिदशाधिपतिः प्रभुः ।
आस्थाय रूपं विप्रर्षेर्वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वे शक्तिशाली देवराज ब्रह्मर्षि महात्मा वसिष्ठका रूप धारण करके उसके आश्रमपर आये ॥ ६ ॥

सा तं दृष्ट्वोग्रतपसं वसिष्ठं तपतां वरम् ।
आचारैर्मुनिभिर्दृष्टैः पूजयामास भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उसने तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ और उग्र तपस्यापरायण वसिष्ठको देखकर मुनिजनोचित आचारोंद्वारा उनका पूजन किया ॥ ७ ॥

उवाच नियमज्ञा च कल्याणी सा प्रियंवदा ।
भगवन् मुनिशार्दूल किमाज्ञापयसि प्रभो ॥ ८ ॥
सर्वमद्य यथाशक्ति तव दास्यामि सुव्रत ।
शक्रभक्त्या च ते पाणिं न दास्यामि कथंचन ॥ ९ ॥

फिर नियमोंका ज्ञान रखनेवाली और मधुर एवं प्रिय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी श्रुतावतीने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! प्रभो ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ? सुव्रत ! आज मैं यथाशक्ति आपको सब कुछ दूँगी; परंतु इन्द्रके प्रति अनुराग रखनेके कारण अपना हाथ आपको किसी प्रकार नहीं दे सकूँगी ॥ ८-९ ॥

व्रतैश्च नियमैश्चैव तपसा च तपोधन ।
शक्रस्तोषयितव्यो वै मया त्रिभुवनेश्वरः ॥ १० ॥

'तपोधन ! मुझे अपने व्रतों, नियमों तथा तपस्याद्वारा त्रिभुवनसम्राट् भगवान् इन्द्रको ही संतुष्ट करना है' ॥ १० ॥

इत्युक्तो भगवान् देवः स्मयन्निव निरीक्ष्य ताम् ।
उवाच नियमं ज्ञात्वा सान्त्वयन्निव भारत ॥ ११ ॥

भारत ! श्रुतावतीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने मुस्कराते हुए-से उसकी ओर देखा और उसके नियमको जानकर उसे सान्त्वना देते हुए-से कहा—॥ ११ ॥

उग्रं तपश्चरसि वै विदिता मेऽसि सुव्रते ।
यदर्थमयमारम्भस्तव कल्याणि हृद्गतः ॥ १२ ॥
तच्च सर्वं यथाभूतं भविष्यति वरानने ।

'सुव्रते ! मैं जानता हूँ तुम बड़ी उग्र तपस्या कर रही हो । कल्याणि ! सुमुखि ! जिस उद्देश्यसे तुमने यह अनुष्ठान आरम्भ किया है और तुम्हारे हृदयमें जो संकल्प है, वह सब यथार्थरूपसे सफल होगा ॥ १२½ ॥

तपसा लभ्यते सर्वं यथाभूतं भविष्यति ॥ १३ ॥
यथा स्थानानि दिव्यानि विबुधानां शुभानने ।
तपसा तानि प्राप्याणि तपोमूलं महत् सुखम् ॥ १४ ॥

'शुभानने ! तपस्यासे सब कुछ प्राप्त होता है । तुम्हारा मनोरथ भी यथावत् रूपसे सिद्ध होगा । देवताओंके जो दिव्य स्थान हैं, वे तपस्यासे प्राप्त होनेवाले हैं । महान् सुखका मूल कारण तपस्या ही है ॥ १३-१४ ॥

इति कृत्वा तपो घोरं देहं संन्यस्य मानवाः ।
देवत्वं यान्ति कल्याणि शृणुष्वैकं वचो मम ॥ १५ ॥

'कल्याणि ! इस उद्देश्यसे मनुष्य घोर तपस्या करके अपने शरीरको त्यागकर देवत्व प्राप्त कर लेते हैं । अच्छा, अब तुम मेरी एक बात सुनो ॥ १५ ॥

पञ्च चैतानि सुभगे बदराणि शुभव्रते।
पचेत्युक्त्वा तु भगवाञ्जगाम बलसूदनः ॥ १६ ॥
आमन्त्र्य तां तु कल्याणीं ततो जप्यं जजाप सः।
अविदूरे ततस्तस्मादाश्रमात् तीर्थमुत्तमम् ॥ १७ ॥

'सुभगे ! शुभव्रते ! ये पाँच बेरके फल हैं। तुम इन्हें पका दो।' ऐसा कहकर भगवान् इन्द्र कल्याणी श्रुतावतीसे पूछकर उस आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर स्थित उत्तम तीर्थमें गये और वहाँ स्नान करके जप करने लगे ॥ १६-१७ ॥

इन्द्रतीर्थेति विख्यातं त्रिषु लोकेषु मानद।
तस्या जिज्ञासनार्थं स भगवान् पाकशासनः ॥ १८ ॥
बदराणामपचनं चकार विबुधाधिपः।

मानद ! वह तीर्थ तीनों लोकोंमें इन्द्र-तीर्थके नामसे विख्यात है। देवराज भगवान् पाकशासनने उस कन्याके मनोभावकी परीक्षा लेनेके लिये उन बेरके फलोंको पकने नहीं दिया ॥

ततः प्रतप्ता सा राजन् वाग्यता विगतक्लमा ॥ १९ ॥
तत्परा शुचिसंवीता पावके समधिश्रयत्।
अपचद् राजशार्दूल बदराणि महाव्रता ॥ २० ॥

राजन् ! तदनन्तर शौचाचारसे सम्पन्न उस तपस्विनीने थकावटसे रहित हो मौनभावसे उन फलोंको आगपर चढ़ा दिया। नृपश्रेष्ठ ! फिर वह महाव्रता कुमारी बड़ी तत्परताके साथ उन बेरके फलोंको पकाने लगी ॥ १९-२० ॥

तस्याः पचन्त्याः सुमहान् कालोऽगात् पुरुषर्षभ।
न च स्म तान्यपच्यन्त दिनं च क्षयमभ्यगात् ॥ २१ ॥

पुरुषप्रवर ! उन फलोंको पकाते हुए उसका बहुत समय व्यतीत हो गया, परंतु वे फल पक न सके। इतनेमें ही दिन समाप्त हो गया ॥ २१ ॥

हुताशनेन दग्धश्च यस्तस्याः काष्ठसंचयः।
अकाष्ठमग्निं सा दृष्ट्वा स्वशरीरमथादहत् ॥ २२ ॥

उसने जो ईंधन जमा कर रक्खे थे, वे सब आगमें जल गये। तब अग्निको ईंधनरहित देख उसने अपने शरीरको जलाना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

पादौ प्रक्षिप्य सा पूर्वं पावके चारुदर्शना।
दग्धौ दग्धौ पुनः पादावुपावर्तयतानघ ॥ २३ ॥

निष्पाप नरेश ! मनोहर दिखायी देनेवाली उस कन्याने पहले अपने दोनों पैर आगमें डाल दिये। वे ज्यों-ज्यों जलने लगे, त्यों-ही-त्यों वह उन्हें आगके भीतर बढ़ाती गयी ॥२३॥

चरणौ दह्यमानौ च नाचिन्तयदनिन्दिता।
कुर्वाणा दुष्करं कर्म महर्षिप्रियकाम्यया ॥ २४ ॥

उस साध्वीने अपने जलते हुए चरणोंकी कुछ भी परवा नहीं की। वह महर्षिका प्रिय करनेकी इच्छासे दुष्कर कार्य कर रही थी ॥ २४ ॥

न वैमनस्यं तस्यास्तु मुखभेदोऽथवाभवत्।
शरीरमग्निनाऽऽदीप्य जलमध्ये यथा स्थिता ॥ २५ ॥

उसके मनमें तनिक भी उदासी नहीं आयी। मुखकी कान्तिमें भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह अपने शरीरको आगमें जलाकर भी ऐसी प्रसन्न थी, मानो जलके भीतर खड़ी हो ॥

तच्चास्या वचनं नित्यमवर्तद्धृदि भारत।
सर्वथा बदराण्येव पक्तव्यानीति कन्यका ॥ २६ ॥

भारत ! उसके मनमें निरन्तर इसी बातका चिन्तन होता रहता था कि 'इन बेरके फलोंको हर तरहसे पकाना है' ॥ २६ ॥

सा तन्मनसि कृत्वैव महर्षेर्वचनं शुभा।
अपचद् बदराण्येव न चापच्यन्त भारत ॥ २७ ॥

भरतनन्दन ! महर्षिके वचनको मनमें रखकर वह शुभलक्षणा कन्या उन बेरोंको पकाती ही रही, परंतु वे पक न सके ॥ २७ ॥

तस्यास्तु चरणौ वह्निर्ददाह भगवान् स्वयम्।
न च तस्या मनोदुःखं स्वल्पमप्यभवत् तदा ॥ २८ ॥

भगवान् अग्निने स्वयं ही उसके दोनों पैरोंको जला दिया, तथापि उस समय उसके मनमें थोड़ा-सा भी दुःख नहीं हुआ॥

अथ तत् कर्म दृष्ट्वास्याः प्रीतस्त्रिभुवनेश्वरः।
ततः संदर्शयामास कन्यायै रूपमात्मनः ॥ २९ ॥

उसका यह कर्म देखकर त्रिभुवनके स्वामी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने उस कन्याको अपना यथार्थ रूप दिखाया ॥ २९ ॥

उवाच च सुरश्रेष्ठस्तां कन्यां सुदृढव्रताम्।
प्रीतोऽस्मि ते शुभे भक्त्या तपसा नियमेन च ॥ ३० ॥
तस्माद् योऽभिमतः कामः स ते सम्पत्स्यते शुभे।
देहं त्यक्त्वा महाभागे त्रिदिवे मयि वत्स्यसि ॥ ३१ ॥

इसके बाद सुरश्रेष्ठ इन्द्रने दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'शुभे ! मैं तुम्हारी तपस्या, नियमपालन और भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ। अतः कल्याणि ! तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट मनोरथ है, वह पूर्ण होगा। महाभागे ! तुम इस शरीरका परित्याग करके स्वर्गलोकमें मेरे पास रहोगी ॥ ३०-३१ ॥

इदं च ते तीर्थवरं स्थिरं लोके भविष्यति।
सर्वपापापहं सुभ्रु नाम्ना बदरपाचनम् ॥ ३२ ॥

'सुभ्रु ! तुम्हारा यह श्रेष्ठ तीर्थ इस जगत्में सुस्थिर होगा, बदरपाचन नामसे प्रसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होगा ॥ ३२ ॥

विख्यातं त्रिषु लोकेषु ब्रह्मर्षिभिरभिप्लुतम्।
अस्मिन् खलु महाभागे शुभे तीर्थवरेऽनघे ॥ ३३ ॥
त्यक्त्वा सप्तर्षयो जग्मुर्हिमवन्तमरुन्धतीम्।

'यह तीनों लोकोंमें विख्यात है। बहुत-से ब्रह्मर्षियोंने इसमें स्नान किया है। पापरहित महाभागे ! एक समय सप्तर्षिगण इस मङ्गलमय श्रेष्ठ तीर्थमें अरुन्धतीको छोड़कर हिमालय पर्वतपर गये थे ॥ ३३½ ॥

ततस्ते वै महाभागा गत्वा तत्र सुसंशिताः ॥ ३४ ॥
वृत्त्यर्थं फलमूलानि समाहर्तुं ययुः किल।

'वहाँ पहुँचकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे महाभाग महर्षि जीवन-निर्वाहके निमित्त फल-मूल लानेके लिये वनमें गये॥

तेषां वृत्त्यर्थिनां तत्र वसतां हिमवद्वने ॥ ३५ ॥
अनावृष्टिरनुप्राप्ता तदा द्वादशवार्षिकी ।

'जीविकाकी इच्छासे जब वे हिमालयके वनमें निवास करते थे, उन्हीं दिनों बारह वर्षोंतक इस देशमें वर्षा ही नहीं हुई ॥

ते कृत्वा चाश्रमं तत्र न्यवसन्त तपस्विनः ॥ ३६ ॥
अरुन्धत्यपि कल्याणी तपोनित्याभवत् तदा ।

'वे तपस्वी मुनि वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे । उस समय कल्याणी अरुन्धती भी प्रतिदिन तपस्यामें ही लगी रही॥

अरुन्धतीं ततो दृष्ट्वा तीव्रं नियममास्थिताम् ॥ ३७ ॥
अथागमत् त्रिनयनः सुप्रीतो वरदस्तदा ।

'अरुन्धतीको कठोर नियमका आश्रय लेकर तपस्या करती देख त्रिनेत्रधारी वरदायक भगवान् शंकर बड़े प्रसन्न हुए ॥

ब्राह्मं रूपं ततः कृत्वा महादेवो महायशाः ॥ ३८ ॥
तामभ्येत्याब्रवीद् देवो भिक्षामिच्छाम्यहं शुभे ।

'फिर वे महायशस्वी महादेवजी ब्राह्मणका रूप धारण करके उनके पास गये और बोले—'शुभे ! मैं भिक्षा चाहता हूँ'॥

प्रत्युवाच ततः सा तं ब्राह्मणं चारुदर्शना ॥ ३९ ॥
क्षीणोऽन्नसंचयो विप्र बदराणीह भक्षय ।

'तब परम सुन्दरी अरुन्धतीने उन ब्राह्मण देवतासे कहा— 'विप्रवर ! अन्नका संग्रह तो समाप्त हो गया । अब यहाँ ये बेर हैं, इन्हींको खाइये' ॥ ३९½ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवः पचस्वैतानि सुव्रते ॥ ४० ॥
इत्युक्ता सापचत् तानि ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
अधिश्रित्य समिद्धेऽग्नौ बदराणि यशस्विनी ॥ ४१ ॥

'तब महादेवजीने कहा—'सुव्रते ! इन बेरोंको पका दो ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर यशस्विनी अरुन्धतीने ब्राह्मण-का प्रिय करनेकी इच्छासे उन बेरोंको प्रज्वलित अग्निपर रखकर पकाना आरम्भ किया ॥ ४०-४१ ॥

दिव्या मनोरमाः पुण्याः कथाः शुश्राव सा तदा।
अतीता सा त्वनावृष्टिर्घोरा द्वादशवार्षिकी ॥ ४२ ॥
अनश्नन्त्याः पचन्त्याश्च शृण्वन्त्याश्च कथाः शुभाः।
दिनोपमः स तस्याथ कालोऽतीतः सुदारुणः॥ ४३ ॥

'उस समय उसे परम पवित्र मनोहर एवं दिव्य कथाएँ सुनायी देने लगीं । वह बिना खाये ही बेर पकाती और मङ्गल-मयी कथाएँ सुनती रही । इतनेमें ही बारह वर्षोंकी वह भयंकर अनावृष्टि समाप्त हो गयी । वह अत्यन्त दारुण समय उसके लिये एक दिनके समान व्यतीत हो गया ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तु मुनयः प्राप्ताः फलान्यादाय पर्वतात् ।
ततः स भगवान् प्रीतः प्रोवाचारुन्धतीं ततः ॥ ४४ ॥
उपसर्पस्व धर्मज्ञे यथापूर्वमिमानृषीन् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञे तपसा नियमेन च ॥ ४५ ॥

'तदनन्तर सप्तर्षिगण हिमालय पर्वतसे फल लेकर वहाँ आये । उस समय भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर अरुन्धतीसे कहा—'धर्मज्ञे ! अब तुम पहलेके समान इन ऋषियोंके पास जाओ ! धर्मको जाननेवाली देवि ! मैं तुम्हारी तपस्या और नियमसे बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ४४-४५ ॥

ततः संदर्शयामास स्वरूपं भगवान् हरः ।
ततोऽब्रवीत् तदा तेभ्यस्तस्याश्च चरितं महत् ॥ ४६ ॥

'ऐसा कहकर भगवान् शंकरने अपने स्वरूपका दर्शन कराया और उन सप्तर्षियोंसे अरुन्धतीके महान् चरित्रका वर्णन किया ॥ ४६ ॥

भवद्भिर्हिमवत्पृष्ठे यत् तपः समुपार्जितम् ।
अस्याश्च यत् तपो विप्रा न समं तन्मतं मम ॥ ४७ ॥

'वे बोले—'विप्रवरो ! आपलोगोंने हिमालयके शिखरपर रहकर जो तपस्या की है और अरुन्धतीने यहीं रहकर जो तप किया है, इन दोनोंमें कोई समानता नहीं है (अरुन्धतीका ही तप श्रेष्ठ है) ॥ ४७ ॥

अनया हि तपस्विन्या तपस्तप्तं सुदुश्चरम् ।
अनश्नन्त्या पचन्त्या च समा द्वादश पारिताः ॥ ४८ ॥

'इस तपस्विनीने बिना कुछ खाये-पीये बेर पकाते हुए बारह वर्ष बिता दिये हैं । इस प्रकार इसने दुष्कर तपका उपार्जन कर लिया है' ॥ ४८ ॥

ततः प्रोवाच भगवांस्तामेवारुन्धतीं पुनः ।
वरं वृणीष्व कल्याणि यत् तेऽभिलषितं हृदि ॥ ४९ ॥

'इसके बाद भगवान् शंकरने पुनः अरुन्धतीसे कहा— 'कल्याणि ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसके अनुसार कोई वर माँग लो' ॥ ४९ ॥

साब्रवीत् पृथुताम्राक्षी देवं सप्तर्षिसंसदि ।
भगवान् यदि मे प्रीतस्तीर्थं स्यादिदमद्भुतम् ॥ ५० ॥
सिद्धदेवर्षिदयितं नाम्ना बदरपाचनम् ।

'तब विशाल एवं अरुण नेत्रोंवाली अरुन्धतीने सप्तर्षियों-की सभामें महादेवजीसे कहा—'भगवान् यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो यह स्थान बदरपाचन नामसे प्रसिद्ध होकर सिद्धों और देवर्षियोंका प्रिय एवं अद्भुत तीर्थ हो जाय ॥ ५०½ ॥

तथास्मिन् देवदेवेश त्रिरात्रमुषितः शुचिः ॥ ५१ ॥
प्राप्नुयादुपवासेन फलं द्वादशवार्षिकम् ।

'देवदेवेश्वर ! इस तीर्थमें तीन राततक पवित्र भावसे रहकर वास करनेसे मनुष्यको बारह वर्षोंके उपवासका फल प्राप्त हो' ॥ ५१½ ॥

एवमस्त्विति तां देवः प्रत्युवाच तपस्विनीम् ॥ ५२ ॥
सप्तर्षिभिः स्तुतो देवस्ततो लोकं ययौ तदा ।

'तब महादेवजीने उस तपस्विनीसे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) । फिर सप्तर्षियोंने उनकी स्तुति की । तत्पश्चात् महादेवजी अपने लोकमें चले गये ॥ ५२½ ॥

ऋषयो विस्मयं जग्मुस्तां दृष्ट्वा चाप्यरुन्धतीम् ॥ ५३ ॥
अश्रान्तां चाविवर्णां च क्षुत्पिपासासमायुताम् ।

'अरुन्धती भूख-प्याससे युक्त होनेपर भी न तो थकी थी और न उसकी अङ्गकान्ति ही फीकी पड़ी थी । उसे देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५३½ ॥

एवं सिद्धिः परा प्राप्ता अरुन्धत्या विशुद्धया ॥ ५४ ॥

यथा त्वया महाभागे मदर्थं संशितव्रते ।
विशेषो हि त्वया भद्रे व्रते ह्यस्मिन् समर्पितः ॥ ५५ ॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाली महाभागे ! इस प्रकार विशुद्धहृदया अरुन्धती देवीने यहाँ परम सिद्धि प्राप्त की थी, जैसी कि तुमने मेरे लिये तप करके सिद्धि पायी है । भद्रे ! तुमने इस व्रतमें विशेष आत्मसमर्पण किया है ।५४-५५।

तथा चेदं ददाम्यद्य नियमेन सुतोषितः ।
विशेषं तव कल्याणि प्रयच्छामि वरं वरे ॥ ५६ ॥

'सती कल्याणि ! मैं तुम्हारे नियमसे संतुष्ट होकर यह विशेष वर प्रदान करता हूँ ॥ ५६ ॥

अरुन्धत्या वरस्तस्या यो दत्तो वै महात्मना ।
तस्य चाहं प्रभावेण तव कल्याणि तेजसा ॥ ५७ ॥
प्रवक्ष्यामि परं भूयो वरमत्र यथाविधि ।

'कल्याणि ! महात्मा भगवान् शंकरने अरुन्धती देवीको जो वर दिया था, तुम्हारे तेज और प्रभावसे मैं उससे भी बढ़कर उत्तम वर देता हूँ ॥ ५७½ ॥

यस्त्वेकां रजनीं तीर्थे वत्स्यते सुसमाहितः ॥ ५८ ॥
स स्नात्वा प्राप्स्यते लोकान् देहन्यासात् सुदुर्लभान् ।

'जो इस तीर्थमें एकाग्रचित्त होकर एक रात निवास करेगा, वह यहाँ स्नान करके देह-त्यागके पश्चात् उन पुण्यलोकोंमें जायगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं' ॥ ५८½ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् देवः सहस्राक्षः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
श्रुतावतीं ततः पुण्यां जगाम त्रिदिवं पुनः ।

पुण्यमयी श्रुतावतीसे ऐसा कहकर सहस्र नेत्रधारी प्रतापी भगवान् इन्द्रदेव पुनः स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ५९½ ॥

गते वज्रधरे राजंस्तत्र वर्षं पपात ह ॥ ६० ॥
पुष्पाणां भरतश्रेष्ठ दिव्यानां पुण्यगन्धिनाम् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुस्तत्र महास्वनाः ॥ ६१ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! वज्रधारी इन्द्रके चले जानेपर वहाँ पवित्र सुगन्धवाले दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और महान् शब्द करनेवाली देवदुन्दुभियाँ बज उठीं ॥ ६०-६१ ॥

मारुतश्च ववौ पुण्यः पुण्यगन्धो विशाम्पते ।
उत्सृज्य तु शुभा देहं जगामास्य च भार्यताम् ॥ ६२ ॥
तपसोग्रेण तं लब्ध्वा तेन रेमे सहाच्युत ।

प्रजानाथ ! पावन सुगंधसे युक्त पवित्र वायु चलने लगी । शुभलक्षणा श्रुतावती अपने शरीरको त्यागकर इन्द्रकी भार्या हो गयी । अच्युत ! वह अपनी उग्र तपस्यासे इन्द्रको पाकर उनके साथ रमण करने लगी ॥ ६२½ ॥

जनमेजय उवाच

का तस्या भगवन् माता क संवृद्धा च शोभना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ६३ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! शोभामयी श्रुतावतीकी माता कौन थी और वह कहाँ पली थी ? यह मैं सुनना चाहता हूँ । विप्रवर ! इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

भरद्वाजस्य विप्रर्षेः स्कन्नं रेतो महात्मनः ॥ ६४ ॥
दृष्ट्वाप्सरसमायान्तीं घृताचीं पृथुलोचनाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक दिन विशाल नेत्रोंवाली घृताची अप्सरा कहींसे आ रही थी । उसे देखकर महात्मा महर्षि भरद्वाजका वीर्य स्खलित हो गया ॥ ६४½ ॥

स तु जग्राह तद्रेतः करेण जपतां वरः ॥ ६५ ॥
तदापतत् पर्णपुटे तत्र सा समभवत् सुता ।

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऋषिने उस वीर्यको अपने हाथमें ले लिया, परंतु वह तत्काल ही एक पत्तेके दोनेमें गिर पड़ा ? वहीं वह कन्या प्रकट हो गयी ॥ ६५½ ॥

तस्यास्तु जातकर्मादि कृत्वा सर्वं तपोधनः ॥ ६६ ॥
नाम चास्याः स कृतवान् भरद्वाजो महामुनिः ।
श्रुतावतीति धर्मात्मा देवर्षिगणसंसदि ।
स्वे च तामाश्रमे न्यस्य जगाम हिमवद्वनम् ॥ ६७ ॥

तपस्याके धनी धर्मात्मा महामुनि भरद्वाजने उसके जातकर्म आदि सब संस्कार करके देवर्षियोंकी सभामें उसका नाम श्रुतावती रख दिया । फिर वे उस कन्याको अपने आश्रममें रखकर हिमालयके जंगलमें चले गये थे ॥ ६६-६७ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य महानुभावो
वसूनि दत्त्वा च महाद्विजेभ्यः ।
जगाम तीर्थं सुसमाहितात्मा
शक्रस्य वृष्णिप्रवरस्तदानीम् ॥ ६८ ॥

वृष्णिवंशावतंस महानुभाव बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनका दान करके उस समय एकाग्रचित्त हो वहाँसे इन्द्र-तीर्थमें चले गये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने बदरपाचनतीर्थकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसंगमें बदरपाचन तीर्थका वर्णनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

इन्द्रतीर्थ, रामतीर्थ, यमुनातीर्थ और आदित्यतीर्थकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रतीर्थं ततो गत्वा यदूनां प्रवरो बलः ।
विप्रेभ्यो धनरत्नानि ददौ स्नात्वा यथाविधि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वहाँसे इन्द्रतीर्थमें जाकर स्नान करके यदुकुलतिलक बलरामजीने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन और रत्नोंका दान किया ॥ १ ॥

तत्र ह्यमरराजोऽसावीजे क्रतुशतेन च ।
बृहस्पतेश्च देवेशः प्रददौ विपुलं धनम् ॥ २ ॥

उस तीर्थमें देवेश्वर देवराज इन्द्रने सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और बृहस्पतिजीको प्रचुर धन दिया था ॥ २ ॥

निरर्गलान् सजारूथ्यान् सर्वान् विविधदक्षिणान् ।
आजहार क्रतूंस्तत्र यथोक्तान् वेदपारगैः ॥ ३ ॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त एवं पुष्ट उन सभी शास्त्रोक्त यज्ञोंको इन्द्रने वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके वहाँ पूर्ण कर लिया ॥ ३ ॥

तान् क्रतून् भरतश्रेष्ठ शतकृत्वो महाद्युतिः ।
पूरयामास विधिवत् ततः ख्यातः शतक्रतुः ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महातेजस्वी इन्द्रने उन यज्ञोंको सौ बार विधिपूर्वक पूर्ण किया, इसलिये इन्द्र शतक्रतु नामसे विख्यात हो गये॥

तस्य नाम्ना च तत् तीर्थं शिवं पुण्यं सनातनम् ।
इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ५ ॥

उन्हींके नामसे वह सर्वपापापहारी, कल्याणकारी एवं सनातन पुण्य तीर्थ 'इन्द्रतीर्थ' कहलाने लगा ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य च तत्रापि विधिवन्मुसलायुधः ।
ब्राह्मणान् पूजयित्वा च सदाच्छादनभोजनैः ॥ ६ ॥
शुभं तीर्थवरं तस्माद् रामतीर्थं जगाम ह ।

मुसलधारी बलरामजी वहाँ भी विधिपूर्वक स्नान तथा उत्तम भोजन-वस्त्रद्वारा ब्राह्मणोंका पूजन करके वहाँसे शुभ तीर्थप्रवर रामतीर्थमें चले गये ॥ ६½ ॥

यत्र रामो महाभागो भार्गवः सुमहातपाः ॥ ७ ॥
असकृत् पृथिवीं जित्वा हतक्षत्रियपुङ्गवाम् ।
उपाध्यायं पुरस्कृत्य कश्यपं मुनिसत्तमम् ॥ ८ ॥
अयजद् वाजपेयेन सोऽश्वमेधशतेन च ।
प्रददौ दक्षिणां चैव पृथिवीं वै ससागराम् ॥ ९ ॥

जहाँ महातपस्वी भृगुवंशी महाभाग परशुरामजीने बारंबार क्षत्रियनरेशोंका संहार करके इस पृथ्वीको जीतनेके पश्चात् मुनिश्रेष्ठ कश्यपको आचार्यरूपसे आगे रखकर वाजपेय तथा एक सौ अश्वमेध यज्ञद्वारा भगवान्‌का पूजन किया और दक्षिणारूपमें समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी दे दी ॥ ७-९ ॥

दत्त्वा च दानं विविधं नानारत्नसमन्वितम् ।
सगोहस्तिकदासीकं साजाविं गतवान् वनम् ॥ १० ॥

नाना प्रकारके रत्न, गौ, हाथी, दास, दासी और भेड़-बकरोंसहित अनेक प्रकारके दान देकर वे वनमें चले गये ॥

पुण्ये तीर्थवरे तत्र देवब्रह्मर्षिसेविते ।
मुनींश्चैवाभिवाद्याथ यमुनातीर्थमागमत् ॥ ११ ॥
यत्रानयामास तदा राजसूयं महीपते ।
पुत्रोऽदितेर्महाभागो वरुणो वै सितप्रभः ॥ १२ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवताओं और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस उत्तम पुण्यमय तीर्थमें मुनियोंको प्रणाम करके बलरामजी यमुनातीर्थमें आये, जहाँ अदितिके महाभाग पुत्र गौरकान्ति वरुणजीने राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ ११-१२ ॥

तत्र निर्जित्य संग्रामे मानुषान् देवतास्तथा ।
वरं क्रतुं समाजह्रे वरुणः परवीरहा ॥ १३ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वरुणने संग्राममें मनुष्यों और देवताओंको जीतकर उस श्रेष्ठ यज्ञका आयोजन किया था ॥

तस्मिन् क्रतुवरे वृत्ते संग्रामः समजायत ।
देवानां दानवानां च त्रैलोक्यस्य भयावहः ॥ १४ ॥

राजन् ! वह श्रेष्ठ यज्ञ समाप्त होनेपर देवताओं और दानवोंमें घोर संग्राम हुआ था, जो तीनों लोकोंके लिये भयंकर था ॥ १४ ॥

राजसूये क्रतुश्रेष्ठे निवृत्ते जनमेजय ।
जायते सुमहाघोरः संग्रामः क्षत्रियान् प्रति ॥ १५ ॥

जनमेजय ! क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान पूर्ण हो जानेपर उस देशके क्षत्रियोंमें महाभयंकर संग्राम हुआ करता है ॥

तत्रापि लाङ्गली देव ऋषीनभ्यर्च्य पूजया ।
इतरेभ्योऽप्यदाद् दानमर्थिभ्यः कामदो विभुः ॥ १६ ॥

सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान् हलधरने उस तीर्थमें भी स्नान एवं ऋषियोंका पूजन करके अन्य याचकोंको भी धन दान किया ॥ १६ ॥

वनमाली ततो हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ।
तस्मादादित्यतीर्थं च जगाम कमलेक्षणः ॥ १७ ॥

तदनन्तर महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न हुए वनमालाधारी कमलनयन बलराम वहाँसे आदित्यतीर्थमें गये ॥ १७ ॥

यत्रेष्ट्वा भगवाञ्ज्योतिर्भास्करो राजसत्तम ।
ज्योतिषामाधिपत्यं च प्रभावं चाभ्यपद्यत ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वहीं यज्ञ करके ज्योतिर्मय भगवान् भास्करने ज्योतियोंका आधिपत्य एवं प्रभुत्व प्राप्त किया था ॥ १८ ॥

तस्या नद्यास्तु तीरे वै सर्वे देवाः सवासवाः ।
विश्वेदेवाः समरुतो गन्धर्वाप्सरसश्च ह ॥ १९ ॥
द्वैपायनः शुकश्चैव कृष्णश्च मधुसूदनः ।
यक्षाश्च राक्षसाश्चैव पिशाचाश्च विशाम्पते ॥ २० ॥
एते चान्ये च बहवो योगसिद्धाः सहस्रशः ।

प्रजानाथ ! उसी नदीके तटपर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता, विश्वेदेव, मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ, द्वैपायन व्यास, शुकदेव, मधुसूदन श्रीकृष्ण, यक्ष, राक्षस एवं पिशाच—ये तथा और भी बहुत-से पुरुष सहस्रोंकी संख्यामें योगसिद्ध हो गये हैं ॥

तस्मिंस्तीर्थे सरस्वत्याः शिवे पुण्ये परंतप ॥ २१ ॥
तत्र हत्वा पुरा विष्णुरसुरौ मधुकैटभौ ।
आप्लुत्य भरतश्रेष्ठ तीर्थप्रवर उत्तमे ॥ २२ ॥
द्वैपायनश्च धर्मात्मा तत्रैवाप्लुत्य भारत ।
सम्प्राप्य परमं योगं सिद्धिं च परमां गतः ॥ २३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! सरस्वतीके उस परम उत्तम कल्याणकारी पुण्यतीर्थमें पहले मधु और कैटभ नामक असुरोंका वध करके भगवान् विष्णुने स्नान किया था। भारत ! इसी प्रकार धर्मात्मा द्वैपायन व्यासने भी उसी तीर्थमें

गोता लगाया था। इससे उन्होंने परम योगको पाकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ २१–२३ ॥

असितो देवलश्चैव तस्मिन्नेव महातपाः ।
परमं योगमास्थाय ऋषिर्योगमवाप्तवान् ॥ २४ ॥

महातपस्वी असित देवल ऋषिने उसी तीर्थमें परम योगका आश्रय ले योगसिद्धि पायी थी ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आदित्यतीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें असित देवल तथा जैगीषव्य मुनिका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नेव तु धर्मात्मा वसति स्म तपोधनः ।
गार्हस्थ्यं धर्ममास्थाय ह्यसितो देवलः पुरा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्राचीन कालकी बात है, उसी तीर्थमें तपस्याके धनी धर्मात्मा असित देवल मुनि गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर निवास करते थे ॥ १ ॥

धर्मनित्यः शुचिर्दान्तो न्यस्तदण्डो महातपाः ।
कर्मणा मनसा वाचा समः सर्वेषु जन्तुषु ॥ २ ॥

वे सदा धर्मपरायण, पवित्र, जितेन्द्रिय, किसीको भी दण्ड न देनेवाले, महातपस्वी तथा मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी जीवोंके प्रति समान भाव रखनेवाले थे ॥ २ ॥

अक्रोधनो महाराज तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
प्रियाप्रिये तुल्यवृत्तिर्यमवत्समदर्शनः ॥ ३ ॥

महाराज ! उनमें क्रोध नहीं था। वे अपनी निन्दा और स्तुतिको समान समझते थे। प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें उनकी चित्तवृत्ति एक-सी रहती थी। वे यमराजकी भाँति सबके प्रति सम दृष्टि रखते थे ॥ ३ ॥

काञ्चने लोष्टभावे च समदर्शी महातपाः ।
देवानपूजयन्नित्यमतिथींश्च द्विजैः सह ॥ ४ ॥

सोना हो या मिट्टीका ढेला, महातपस्वी देवल दोनोंको समान दृष्टिसे देखते थे और प्रतिदिन देवताओं तथा ब्राह्मणोंसहित अतिथियोंका पूजन एवं आदर-सत्कार करते थे ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यरतो नित्यं सदा धर्मपरायणः ।
ततोऽभ्येत्य महाभाग योगमास्थाय भिक्षुकः ॥ ५ ॥
जैगीषव्यो मुनिर्धीमांस्तस्मिंस्तीर्थे समाहितः ।

वे मुनि सदा ब्रह्मचर्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्हें सब समय धर्मका ही सबसे बड़ा सहारा था। महाभाग ! एक दिन बुद्धिमान् जैगीषव्य मुनि जो संन्यासी थे, योगका आश्रय लेकर उस तीर्थमें आये और एकाग्रचित्त होकर वहाँ रहने लगे ॥ ५½ ॥

देवलस्याश्रमे राजन्न्यवसत् स महाद्युतिः ॥ ६ ॥
योगनित्यो महाराज सिद्धिं प्राप्तो महातपाः ।

राजन् ! महाराज ! वे महातेजस्वी और महातपस्वी जैगीषव्य सदा योगपरायण रहकर सिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथा देवलके ही आश्रममें रहते थे ॥ ६½ ॥

तं तत्र वसमानं तु जैगीषव्यं महामुनिम् ॥ ७ ॥
देवलो दर्शयन्नेव नैवायुञ्जत धर्मतः ।
एवं तयोर्महाराज दीर्घकालो व्यतिक्रमत् ॥ ८ ॥

यद्यपि महामुनि जैगीषव्य उस आश्रममें ही रहते थे तथापि देवल मुनि उन्हें दिखाकर धर्मतः योग-साधना नहीं करते थे। इस तरह दोनोंको वहाँ रहते हुए बहुत समय बीत गया ॥ ७-८ ॥

जैगीषव्यं मुनिवरं न ददर्शाथ देवलः ।
आहारकाले मतिमान् परिव्राड् जनमेजय ॥ ९ ॥
उपातिष्ठत धर्मज्ञो भैक्ष्यकाले स देवलम् ।

जनमेजय ! तदनन्तर कुछ कालतक ऐसा हुआ कि देवल मुनिवर जैगीषव्यको हर समय नहीं देख पाते थे। धर्मके ज्ञाता बुद्धिमान् संन्यासी जैगीषव्य केवल भोजन या भिक्षा लेनेके समय देवलके पास आते थे ॥ ९½ ॥

स दृष्ट्वा भिक्षुरूपेण प्राप्तं तत्र महामुनिम् ॥ १० ॥
गौरवं परमं चक्रे प्रीतिं च विपुलां तथा ।
देवलस्तु यथाशक्ति पूजयामास भारत ॥ ११ ॥
ऋषिदृष्टेन विधिना समा बह्वीः समाहितः ।

भारत ! संन्यासीके रूपमें वहाँ आये हुए महामुनि जैगीषव्यको देखकर देवल उनके प्रति अत्यन्त गौरव और महान् प्रेम प्रकट करते तथा यथाशक्ति शास्त्रीय विधिसे एकाग्रचित्त हो उनका पूजन (आदर-सत्कार) किया करते थे। बहुत वर्षोंतक उन्होंने ऐसा ही किया ॥ १०-११½ ॥

कदाचित् तस्य नृपते देवलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
चिन्ता सुमहती जाता मुनिं दृष्ट्वा महाद्युतिम् ।

नरेश्वर ! एक दिन महातेजस्वी जैगीषव्य मुनिको देखकर महात्मा देवलके मनमें बड़ी भारी चिन्ता हुई ॥ १२½ ॥

समास्तु समतिक्रान्ता बह्व्यः पूजयतो मम ॥ १३ ॥
न चायमलसो भिक्षुरभ्यभाषत किंचन ।

उन्होंने सोचा, 'इनकी पूजा करते हुए मुझे बहुत वर्ष बीत गये; परंतु ये आलसी भिक्षु आजतक एक बात भी नहीं बोले' ॥ १३½ ॥

एवं विगणयन्नेव स जगाम महोदधिम् ॥ १४ ॥
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् कलशं गृह्य देवलः ।

यही सोचते हुए श्रीमान् देवलमुनि कलश हाथमें लेकर आकाशमार्गसे समुद्र तटकी ओर चल दिये ॥ १४½ ॥

गच्छन्नेव स धर्मात्मा समुद्रं सरितां पतिम् ॥ १५ ॥

जैगीषव्यं ततोऽपश्यद् गतं प्रागेव भारत।

भारत! नदीपति समुद्रके पास पहुँचते ही धर्मात्मा देवलने देखा कि जैगीषव्य वहाँ पहलेसे ही गये हैं॥ १५½॥

ततः सविस्मयश्चिन्तां जगामाथामितप्रभः॥ १६॥
कथं भिक्षुरयं प्राप्तः समुद्रे स्नात एव च।
इत्येवं चिन्तयामास महर्षिरसितस्तदा॥ १७॥

तब तो अमित तेजस्वी महर्षि असित देवलको चिन्ताके साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। वे सोचने लगे, 'ये भिक्षु यहाँ पहले ही कैसे आ पहुँचे? इन्होंने तो समुद्रमें स्नानका कार्य भी पूर्ण कर लिया'॥ १६-१७॥

स्नात्वा समुद्रे विधिवच्छुचिर्जप्यं जजाप सः।
कृतजप्याह्निकः श्रीमानाश्रमं च जगाम ह॥ १८॥
कलशं जलपूर्णं वै गृहीत्वा जनमेजय।

जनमेजय! फिर उन्होंने समुद्रमें विधिपूर्वक स्नान करके पवित्र हो जपने योग्य मन्त्रका जप किया। जप आदि नित्य कर्म पूर्ण करके श्रीमान् देवल जलसे भरा हुआ कलश लेकर अपने आश्रमपर आये॥ १८½॥

ततः स प्रविशन्नेव स्वमाश्रमपदं मुनिः॥ १९॥
आसीनमाश्रमे तत्र जैगीषव्यमपश्यत।
न व्याहरति चैवैनं जैगीषव्यः कथंचन॥ २०॥
काष्ठभूतोऽऽश्रमपदे वसति स्म महातपाः।

आश्रममें प्रवेश करते ही देवल मुनिने वहाँ बैठे हुए जैगीषव्यको देखा, परंतु जैगीषव्यने उस समय भी किसी तरह उनसे बात नहीं की। वे महातपस्वी मुनि आश्रमपर काष्ठमौन होकर बैठे हुए थे॥ १९-२०½॥

तं दृष्ट्वा चाप्लुतं तोये सागरे सागरोपमम्॥ २१॥
प्रविष्टमाश्रमं चापि पूर्वमेव ददर्श सः।
असितो देवलो राजंश्चिन्तयामास बुद्धिमान्॥ २२॥

राजन्! समुद्रके समान अत्यन्त प्रभावशाली मुनिको समुद्रके जलमें स्नान करके अपनेसे पहले ही आश्रममें प्रविष्ट हुआ देख बुद्धिमान् असित देवलको पुनः बड़ी चिन्ता हुई॥

दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम्।
चिन्तयामास राजेन्द्र तदा स मुनिसत्तमः॥ २३॥
मया दृष्टः समुद्रे च आश्रमे च कथं त्वयम्।

राजेन्द्र! जैगीषव्यकी तपस्याका वह योगजनित प्रभाव देखकर ये मुनिश्रेष्ठ देवल फिर सोचने लगे—'मैंने इन्हें अभी-अभी समुद्रतट पर देखा है, फिर ये आश्रममें कैसे उपस्थित हैं?'॥ २३½॥

एवं विगणयन्नेव स मुनिर्मन्त्रपारगः॥ २४॥
उत्पपाताश्रमात् तस्मादन्तरिक्षं विशाम्पते।
जिज्ञासार्थं तदा भिक्षोर्जैगीषव्यस्य देवलः॥ २५॥

प्रजानाथ! ऐसा विचार करते हुए वे मन्त्रशास्त्रके पारंगत विद्वान् मुनि उस आश्रमसे आकाशकी ओर उड़ चले। उस समय भिक्षु जैगीषव्यकी परीक्षा लेनेके लिये उन्होंने ऐसा किया॥ २४-२५॥

सोऽन्तरिक्षचरान् सिद्धान् समपश्यत् समाहितान्।
जैगीषव्यं च तैः सिद्धैः पूज्यमानमपश्यत॥ २६॥

ऊपर जाकर उन्होंने बहुत-से अन्तरिक्षचारी एकाग्रचित्तवाले सिद्धोंको देखा। साथ ही उन सिद्धोंके द्वारा पूजे जाते हुए जैगीषव्य मुनिका भी उन्हें दर्शन हुआ॥

ततोऽसितः सुसंरब्धो व्यवसायी दृढव्रतः।
अपश्यद् वै दिवं यान्तं जैगीषव्यं स देवलः॥ २७॥

तदनन्तर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले दृढ़निश्चयी असित देवल मुनि रोषावेशमें भर गये। फिर उन्होंने जैगीषव्यको स्वर्गलोकमें जाते देखा॥ २७॥

तस्मात् तु पितृलोकं तं व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत।
पितृलोकाच्च तं यान्तं याम्यं लोकमपश्यत॥ २८॥

स्वर्गलोकसे उन्हें पितृलोकमें और पितृलोकसे यमलोकमें जाते देखा॥ २८॥

तस्मादपि समुत्पत्य सोमलोकमभिप्लुतम्।
व्रजन्तमन्वपश्यत् स जैगीषव्यं महामुनिम्॥ २९॥

वहाँसे भी ऊपर उठकर महामुनि जैगीषव्य जलमय चन्द्रलोकमें जाते दिखायी दिये॥ २९॥

लोकान् समुत्पतन्तं तु शुभानेकान्तयाजिनाम्।
ततोऽग्निहोत्रिणां लोकांस्ततश्चाप्युत्पपात ह॥ ३०॥

फिर वे एकान्ततः यज्ञ करनेवाले पुरुषोंके उत्तम लोकोंकी ओर उड़ते दिखायी दिये। वहाँसे वे अग्निहोत्रियोंके लोकोंमें गये॥ ३०॥

दर्शं च पौर्णमासं च ये यजन्ति तपोधनाः।
तेभ्यः स ददृशे धीमाँल्लोकेभ्यः पशुयाजिनाम्॥ ३१॥

उन लोकोंसे ऊपर उठकर वे बुद्धिमान् मुनि उन तपोधनोंके लोकमें गये, जो दर्श और पौर्णमास यज्ञ करते हैं। वहाँसे वे पशुयाग करनेवालोंके लोकोंमें जाते दिखायी दिये॥

व्रजन्तं लोकममलमपश्यद् देवपूजितम्।
चातुर्मास्यैर्बहुविधैर्यजन्ते ये तपोधनाः॥ ३२॥

जो तपस्वी नाना प्रकारके चातुर्मास यज्ञ करते हैं, उनके निर्मल लोकोंमें जाते हुए जैगीषव्यको देवल मुनिने देखा। वे वहाँ देवताओंसे पूजित हो रहे थे॥ ३२॥

तेषां स्थानं ततो यातं तथाग्निष्टोमयाजिनाम्।
अग्निष्टुतेन च तथा ये यजन्ति तपोधनाः॥ ३३॥
तत् स्थानमनुसम्प्राप्तमन्वपश्यत देवलः।

वहाँसे अग्निष्टोमयाजी तथा अग्निष्टुत् यज्ञके द्वारा यज्ञ करनेवाले तपोधनोंके लोकमें पहुँचे हुए जैगीषव्यको देवल मुनिने देखा॥ ३३½॥

वाजपेयं क्रतुवरं तथा बहुसुवर्णकम्॥ ३४॥
आहरन्ति महाप्राज्ञास्तेषां लोकेष्वपश्यत।

जो महाप्राज्ञ पुरुष बहुत-सी सुवर्णमयी दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ वाजपेय यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी उन्होंने जैगीषव्यका दर्शन किया॥ ३४½॥

यजन्ते राजसूयेन पुण्डरीकेण चैव ये॥ ३५॥

तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

जो राजसूय और पुण्डरीक यज्ञके द्वारा यजन करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यको देखा ॥ ३५½ ॥

अश्वमेधं क्रतुवरं नरमेधं तथैव च ॥ ३६ ॥
आहरन्ति नरश्रेष्ठास्तेषां लोकेष्वपश्यत।

जो नरश्रेष्ठ क्रतुओंमें उत्तम अश्वमेध तथा नरमेधका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी उनका दर्शन किया ॥

सर्वमेधं च दुष्प्रापं तथा सौत्रामणिं च ये ॥ ३७ ॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

जो लोग दुर्लभ सर्वमेध तथा सौत्रामणि यज्ञ करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यको देखा ॥ ३७½ ॥

द्वादशाहैश्च सत्रैश्च यजन्ते विविधैर्नृप ॥ ३८ ॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

नरेश्वर ! जो नाना प्रकारके द्वादशाह यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यका दर्शन किया॥

मैत्रावरुणयोर्लोकानादित्यानां तथैव च ॥ ३९ ॥
सलोकतामनुप्राप्तमपश्यत ततोऽसितः।

तत्पश्चात् असितने मित्र, वरुण और आदित्योंके लोकोंमें पहुँचे हुए जैगीषव्यको देखा ॥ ३९½ ॥

रुद्राणां च वसूनां च स्थानं यच्च बृहस्पतेः ॥ ४० ॥
तानि सर्वाण्यतीतानि समपश्यत् ततोऽसितः।

तदनन्तर रुद्र, वसु और बृहस्पतिके जो स्थान हैं, उन सबको लाँघकर ऊपर उठे हुए जैगीषव्यका असित देवलने दर्शन किया ॥ ४०½ ॥

आरुह्य च गवां लोकं प्रयातो ब्रह्मसत्रिणाम् ॥ ४१ ॥
लोकानपश्यद् गच्छन्तं जैगीषव्यं ततोऽसितः।

इसके बाद असितने गौओंके लोकमें जाकर जैगीषव्यको ब्रह्मसत्र करनेवालोंके लोकोंमें जाते देखा ॥ ४१½ ॥

त्रीँल्लोकानपरान् विप्रमुत्पतन्तं स्वतेजसा ॥ ४२ ॥
पतिव्रतानां लोकांश्च व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत।

तत्पश्चात् देवलने देखा कि विप्रवर जैगीषव्य मुनि अपने तेजसे ऊपर-ऊपरके तीन लोकोंको लाँघकर पतिव्रताओंके लोकमें जा रहे हैं ॥ ४२½ ॥

ततो मुनिवरं भूयो जैगीषव्यमथासितः ॥ ४३ ॥
नान्वपश्यत लोकस्थमन्तर्हितमरिंदम।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश ! इसके बाद असितने मुनिवर जैगीषव्यको पुनः किसी लोकमें स्थित नहीं देखा। वे अदृश्य हो गये थे ॥ ४३½ ॥

सोऽचिन्तयन्महाभागो जैगीषव्यस्य देवलः ॥ ४४ ॥
प्रभावं सुव्रतत्वं च सिद्धिं योगस्य चातुलाम्।

तत्पश्चात् महाभाग देवलने जैगीषव्यके प्रभाव, उत्तम व्रत और अनुपम योगसिद्धिके विषयमें विचार किया ॥

असितोऽपृच्छत तदा सिद्धाँल्लोकेषु सत्तमान्॥ ४५ ॥
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा धीरस्तान् ब्रह्मसत्रिणः।
जैगीषव्यं न पश्यामि तं शंसध्वं महौजसम् ॥ ४६ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।

इसके बाद धैर्यवान् असितने उन लोकोंमें रहनेवाले ब्रह्मयाजी सिद्धों और साधु पुरुषोंसे हाथ जोड़कर विनीतभावसे पूछा—'महात्माओ ! मैं महातेजस्वी जैगीषव्यको अब देख नहीं रहा हूँ। आप उनका पता बतावें। मैं उनके विषयमें सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है'॥

सिद्धा ऊचुः

शृणु देवल भूतार्थं शंसतां नो दृढव्रत ॥ ४७ ॥
जैगीषव्यः स वै लोकं शाश्वतं ब्रह्मणो गतः।

सिद्धोंने कहा—दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवल! सुनो। हम तुम्हें वह बात बता रहे हैं, जो हो चुकी है। जैगीषव्य मुनि सनातन ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

स श्रुत्वा वचनं तेषां सिद्धानां ब्रह्मसत्रिणाम्॥ ४८ ॥
असितो देवलस्तूर्णमुत्पपात पपात च।
ततः सिद्धास्त ऊचुर्हि देवलं पुनरेव ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन ब्रह्मयाजी सिद्धोंकी बात सुनकर देवलमुनि तुरंत ऊपरकी ओर उछले, परंतु नीचे गिर पड़े। तब उन सिद्धोंने पुनः देवलसे कहा—॥

न देवलगतिस्तत्र तव गन्तुं तपोधन।
ब्रह्मणः सदने विप्र जैगीषव्यो यदाप्तवान् ॥ ५० ॥

'तपोधन देवल ! विप्रवर ! जहाँ जैगीषव्य गये हैं, उस ब्रह्मलोकमें जानेकी शक्ति तुममें नहीं है' ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सिद्धानां देवलः पुनः।
आनुपूर्व्येण लोकांस्तान् सर्वानवततार ह ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं–राजन् ! उन सिद्धोंकी बात सुनकर देवलमुनि पुनः क्रमशः उन सभी लोकोंमें होते हुए नीचे उतर आये ॥ ५१ ॥

स्वमाश्रमपदं पुण्यमाजगाम पतत्रिवत्।
प्रविशन्नेव चापश्यज्जैगीषव्यं स देवलः ॥ ५२ ॥

पक्षीकी तरह उड़ते हुए वे अपने पुण्यमय आश्रमपर आ पहुँचे। आश्रमके भीतर प्रवेश करते ही देवलने जैगीषव्य मुनिको वहाँ बैठा देखा ॥ ५२ ॥

ततो बुद्ध्या व्यगणयद् देवलो धर्मयुक्तया।
दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम् ॥ ५३ ॥

तब देवलने जैगीषव्यकी तपस्याका वह योगजनित प्रभाव देखकर धर्मयुक्त बुद्धिसे उसपर विचार किया ॥ ५३ ॥

ततोऽब्रवीन्महात्मानं जैगीषव्यं स देवलः।
विनयावनतो राजन्नुपसर्प्य महामुनिम् ॥ ५४ ॥

राजन् ! इसके बाद महामुनि महात्मा जैगीषव्यके पास जाकर देवलने विनीतभावसे कहा—॥ ५४ ॥

मोक्षधर्मं समास्थातुमिच्छेयं भगवन्नहम्।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा उपदेशं चकार सः ॥ ५५ ॥

विधिं च योगस्य परं कार्याकार्यस्य शास्त्रतः।
संन्यासकृतबुद्धिं तं ततो दृष्ट्वा महातपाः ॥ ५६ ॥
सर्वाश्चास्य क्रियाश्चक्रे विधिदृष्टेन कर्मणा।

'भगवन्! मैं मोक्षधर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ।' उनकी वह बात सुनकर महातपस्वी जैगीषव्यने उनका संन्यास लेनेका विचार जानकर उन्हें ज्ञानका उपदेश किया। साथ ही योगकी उत्तम विधि बताकर शास्त्रके अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्यका भी उपदेश दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने शास्त्रीय विधिके अनुसार उनके संन्यासग्रहणसम्बन्धी समस्त कार्य (दीक्षा और संस्कार आदि) किये ॥ ५५-५६½ ॥

संन्यासकृतबुद्धिं तं भूतानि पितृभिः सह ॥ ५७ ॥
ततो दृष्ट्वा प्ररुरुदुः कोऽस्मान् संविभजिष्यति।

उनका संन्यास लेनेका विचार जानकर पितरोंसहित समस्त प्राणी यह कहते हुए रोने लगे 'कि अब हमें कौन विभागपूर्वक अन्नदान करेगा' ॥ ५७½ ॥

देवलस्तु वचः श्रुत्वा भूतानां करुणं तथा ॥ ५८ ॥
दिशो दश व्याहरतां मोक्षं त्यक्तुं मनो दधे।

दसों दिशाओंमें विलाप करते हुए उन प्राणियोंका करुणायुक्त वचन सुनकर देवलने मोक्षधर्म (संन्यास) को त्याग देनेका विचार किया ॥ ५८½ ॥

ततस्तु फलमूलानि पवित्राणि च भारत ॥ ५९ ॥
पुष्पाण्योषधयश्चैव रोरूयन्ति सहस्रशः।
पुनर्नो देवलः क्षुद्रो नूनं छेत्स्यति दुर्मतिः ॥ ६० ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो दत्त्वा नावबुध्यते।

भारत! यह देख फल-मूल, पवित्री (कुश), पुष्प और ओषधियाँ—ये सहस्रों पदार्थ यह कहकर बारंबार रोने लगे कि 'यह खोटी बुद्धिवाला क्षुद्र देवल निश्चय ही फिर हमारा उच्छेद करेगा। तभी तो यह सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देकर भी अब अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं करता है' ॥ ५९-६०½ ॥

ततो भूयो व्यगणयत् स्वबुद्ध्या मुनिसत्तमः ॥ ६१ ॥
मोक्षे गार्हस्थ्यधर्मे वा किं नु श्रेयस्करं भवेत्।

तब मुनिश्रेष्ठ देवल पुनः अपनी बुद्धिसे विचार करने लगे, मोक्ष और गार्हस्थ्यधर्म इनमेंसे कौन-सा मेरे लिये श्रेयस्कर होगा ॥ ६१½ ॥

इति निश्चित्य मनसा देवलो राजसत्तम ॥ ६२ ॥
त्यक्त्वा गार्हस्थ्यधर्मं स मोक्षधर्ममरोचयत्।

नृपश्रेष्ठ! देवलने मन-ही-मन इस बातपर निश्चित विचार करके गार्हस्थ्यधर्मको त्यागकर अपने लिये मोक्षधर्मको पसंद किया ॥ ६२½ ॥

एवमादीनि संचिन्त्य देवलो निश्चयात् ततः ॥ ६३ ॥
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं परं योगं च भारत।

भारत! इन सब बातोंको सोच-विचारकर देवलने जो संन्यास लेनेका ही निश्चय किया, उससे उन्होंने परमसिद्धि और उत्तम योगको प्राप्त कर लिया ॥ ६३½ ॥

ततो देवाः समागम्य बृहस्पतिपुरोगमाः ॥ ६४ ॥
जैगीषव्ये तपश्चास्य प्रशंसन्ति तपस्विनः।

तब बृहस्पति आदि सब देवता और तपस्वी वहाँ आकर जैगीषव्य मुनिके तपकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६४½ ॥

अथाब्रवीदृषिवरो देवान् वै नारदस्तथा ॥ ६५ ॥
जैगीषव्ये तपो नास्ति विस्मापयति योऽसितम्।

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ नारदने देवताओंसे कहा—'जैगीषव्यमें तपस्या नहीं है; क्योंकि ये असित मुनिको अपना प्रभाव दिखाकर आश्चर्यमें डाल रहे हैं' ॥ ६५½ ॥

तमेवंवादिनं धीरं प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ॥ ६६ ॥
नैवमित्येव शंसन्तो जैगीषव्यं महामुनिम्।
नातः परतरं किंचित् तुल्यमस्ति प्रभावतः ॥ ६७ ॥
तेजसस्तपसश्चास्य योगस्य च महात्मनः।

ऐसा कहनेवाले ज्ञानी नारदमुनिको देवताओंने महामुनि जैगीषव्यकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया—'आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि प्रभाव, तेज, तपस्या और योगकी दृष्टिसे इन महात्मासे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है' ॥ ६६-६७½ ॥

एवं प्रभावो धर्मात्मा जैगीषव्यस्तथासितः।
तयोरिदं स्थानवरं तीर्थं चैव महात्मनोः ॥ ६८ ॥

धर्मात्मा जैगीषव्य तथा असितमुनिका ऐसा ही प्रभाव था। उन दोनों महात्माओंका यह श्रेष्ठ स्थान ही तीर्थ है ॥

तत्राप्युपस्पृश्य ततो महात्मा
दत्त्वा च वित्तं हलभृद् द्विजेभ्यः।
अवाप्य धर्मं परमार्थकर्मा
जगाम सोमस्य महत् सुतीर्थम् ॥ ६९ ॥

पारमार्थिक कर्म करनेवाले महात्मा हलधर वहाँ भी स्नान करके ब्राह्मणोंको धन-दान दे धर्मका फल पाकर सोमके महान् एवं उत्तम तीर्थमें गये ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सारस्वततीर्थकी महिमाके प्रसंगमें दधीच ऋषि और सारस्वत मुनिके चरित्रका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

यत्रेजिवानुडुपती राजसूयेन भारत।
तस्मिंस्तीर्थे महानासीत् संग्रामस्तारकामयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! वही सोमतीर्थ है, जहाँ नक्षत्रोंके स्वामी चन्द्रमाने राजसूय यज्ञ किया था। उसी तीर्थमें महान् तारकामय संग्राम हुआ था ॥ १ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य बलो दत्त्वा दानानि चात्मवान् ।
सारस्वतस्य धर्मात्मा मुनेस्तीर्थं जगाम ह ॥ २ ॥

धर्मात्मा एवं मनस्वी बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान एवं दान करके सारस्वत मुनिके तीर्थमें गये ॥ २ ॥

तत्र द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान् ।
वेदानध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः ॥ ३ ॥

प्राचीनकालमें जब बारह वर्षोंतक अनावृष्टि हो गयी थी, सारस्वत मुनिने वहीं उत्तम ब्राह्मणोंको वेदाध्ययन कराया था॥

जनमेजय उवाच

कथं द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान् ।
ऋषीनध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! प्राचीन कालमें सारस्वत मुनिने बारह वर्षोंकी अनावृष्टिके समय उत्तम ब्राह्मणोंको किस प्रकार वेदोंका अध्ययन कराया था ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

आसीत् पूर्वं महाराज मुनिर्धीमान् महातपाः ।
दधीच इति विख्यातो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! पूर्वकालमें एक बुद्धिमान् महातपस्वी मुनि रहते थे, जो ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय थे । उनका नाम था दधीच ॥ ५ ॥

तस्यातितपसः शक्रो बिभेति सततं विभो ।
न स लोभयितुं शक्यः फलैर्बहुविधैरपि ॥ ६ ॥

प्रभो ! उनकी भारी तपस्यासे इन्द्र सदा डरते रहते थे । नाना प्रकारके फलोंका प्रलोभन देनेपर भी उन्हें लुभाया नहीं जा सकता था ॥ ६ ॥

प्रलोभनार्थं तस्याथ प्राहिणोत् पाकशासनः ।
दिव्यामप्सरसं पुण्यां दर्शनीयामलम्बुषाम् ॥ ७ ॥

तब इन्द्रने मुनिको लुभानेके लिये एक पवित्र दर्शनीय एवं दिव्य अप्सरा भेजी, जिसका नाम था अलम्बुषा ॥ ७ ॥

तस्य तर्पयतो देवान् सरस्वत्यां महात्मनः ।
समीपतो महाराज सोपातिष्ठत भाविनी ॥ ८ ॥

महाराज ! एक दिन, जब महात्मा दधीच सरस्वती नदीमें देवताओंका तर्पण कर रहे थे, वह माननीय अप्सरा उनके पास जाकर खड़ी हो गयी ॥ ८ ॥

तां दिव्यवपुषं दृष्ट्वा तस्यर्षेर्भावितात्मनः ।
रेतः स्कन्नं सरस्वत्यां तत् सा जग्राह निम्नगा॥ ९ ॥

उस दिव्यरूपधारिणी अप्सराको देखकर उन विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका वीर्य सरस्वतीके जलमें गिर पड़ा । उस वीर्यको सरस्वती नदीने स्वयं ग्रहण कर लिया ॥ ९ ॥

कुक्षौ चाप्यदधाद्धृष्टा तद् रेतः पुरुषर्षभ ।
सा दधार च तं गर्भं पुत्रहेतोर्महानदी ॥ १० ॥

पुरुषप्रवर ! उस महानदीने हर्षमें भरकर पुत्रके लिये उस वीर्यको अपनी कुक्षिमें रख लिया और इस प्रकार वह गर्भवती हो गयी ॥ १० ॥

सुषुवे चापि समये पुत्रं सा सरितां वरा ।
जगाम पुत्रमादाय तमृषिं प्रति च प्रभो ॥ ११ ॥

प्रभो ! समय आनेपर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने एक पुत्रको जन्म दिया और उसे लेकर वह ऋषिके पास गयी ॥

ऋषिसंसदि तं दृष्ट्वा सा नदी मुनिसत्तमम् ।
ततः प्रोवाच राजेन्द्र ददती पुत्रमस्य तम् ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! ऋषियोंकी सभामें बैठे हुए मुनिश्रेष्ठ दधीचको देखकर उन्हें उनका वह पुत्र सौंपती हुई सरस्वती नदी इस प्रकार बोली—॥ १२ ॥

ब्रह्मर्षे तव पुत्रोऽयं त्वद्भक्त्या धारितो मया ।
दृष्ट्वा तेऽप्सरसं रेतो यत् स्कन्नं प्रागलम्बुषाम्॥ १३ ॥
तत् कुक्षिणा वै ब्रह्मर्षे त्वद्भक्त्या धृतवत्यहम् ।
न विनाशमिदं गच्छेत् त्वत्तेज इति निश्चयात्॥ १४ ॥
प्रतिगृह्णीष्व पुत्रं स्वं मया दत्तमनिन्दितम् ।

'ब्रह्मर्षे ! यह आपका पुत्र है । इसे आपके प्रति भक्ति होनेके कारण मैंने अपने गर्भमें धारण किया था । ब्रह्मर्षे ! पहले अलम्बुषा नामक अप्सराको देखकर जो आपका वीर्य स्खलित हुआ था, उसे आपके प्रति भक्ति होनेके कारण मैंने अपने गर्भमें धारण कर लिया था; क्योंकि मेरे मनमें यह विचार हुआ था कि आपका यह तेज नष्ट न होने पावे । अतः आप मेरे दिये हुए अपने इस अनिन्दनीय पुत्रको ग्रहण कीजिये' ॥ १३-१४½ ॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह प्रीतिं चावाप पुष्कलाम् ॥ १५ ॥
स्वसुतं चाप्यजिघ्रत् तं मूर्ध्नि प्रेम्णा द्विजोत्तमः ।
परिष्वज्य चिरं कालं तदा भरतसत्तम ॥ १६ ॥
सरस्वत्यै वरं प्रादात् प्रीयमाणो महामुनिः ।
विश्वेदेवाः सपितरो गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
तृप्तिं यास्यन्ति सुभगे तर्प्यमाणास्तवाम्भसा ।

उसके ऐसा कहनेपर मुनिने उस पुत्रको ग्रहण कर लिया और वे बड़े प्रसन्न हुए । भरतभूषण ! उन द्विजश्रेष्ठने बड़े प्रेमसे अपने उस पुत्रका मस्तक सूँघा और दीर्घकालतक छाती-से लगाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महामुनिने सरस्वतीको वर दिया—'सुभगे ! तुम्हारे जलसे तर्पण करनेपर विश्वेदेव, पितृगण तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय सभी तृप्ति-लाभ करेंगे' ॥ १५–१७½ ॥

इत्युक्त्वा स तु तुष्टाव वचोभिर्वै महानदीम् ॥ १८ ॥
प्रीतः परमहृष्टात्मा यथावच्छृणु पार्थिव ।

राजन् ! ऐसा कहकर अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल हृदयसे मुनिने प्रेमपूर्वक उत्तम वाणीद्वारा सरस्वती देवीका स्तवन किया । उस स्तुतिको तुम यथार्थरूपसे सुनो ॥ १८½ ॥

प्रसृतासि महाभागे सरसो ब्रह्मणः पुरा ॥ १९ ॥
जानन्ति त्वां सरिच्छ्रेष्ठे मुनयः संशितव्रताः ।
मम प्रियकरी चापि सततं प्रियदर्शने ॥ २० ॥
तस्मात् सारस्वतः पुत्रो महांस्ते वरवर्णिनि ।
तवैव नाम्ना प्रथितः पुत्रस्ते लोकभावनः ॥ २१ ॥

'महाभागे ! तुम पूर्वकालमें ब्रह्माजीके सरोवरसे प्रकट हुई

हो । सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती ! कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि तुम्हारी महिमाको जानते हैं । प्रियदर्शने ! तुम सदा मेरा भी प्रिय करती रही हो; अतः वरवर्णिनि ! तुम्हारा यह लोकभावन महान् पुत्र तुम्हारे ही नामपर 'सारस्वत' कहलायेगा ॥

सारस्वत इति ख्यातो भविष्यति महातपाः ।
एष द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजर्षभान् ॥ २२ ॥
सारस्वतो महाभागे वेदानध्यापयिष्यति ।

'यह सारस्वत नामसे विख्यात महातपस्वी होगा । महाभागे ! इस संसारमें बारह वर्षोंतक जब वर्षा बंद हो जायगी, उस समय यह सारस्वत ही श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वेद पढ़ायेगा ॥ २२½ ॥

पुण्याभ्यश्च सरिद्भ्यस्त्वं सदा पुण्यतमा शुभे॥ २३ ॥
भविष्यसि महाभागे मत्प्रसादात् सरस्वति ।

'शुभे ! महासौभाग्यशालिनी सरस्वति ! तुम मेरे प्रसादसे अन्य पवित्र सरिताओंकी अपेक्षा सदा ही अधिक पवित्र बनी रहोगी' ॥ २३½ ॥

एवं सा संस्तुतानेन वरं लब्ध्वा महानदी ॥ २४ ॥
पुत्रमादाय मुदिता जगाम भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उनके द्वारा प्रशंसित हो वर पाकर वह महानदी पुत्रको लेकर प्रसन्नतापूर्वक चली गयी ॥

एतस्मिन्नेव काले तु विरोधे देवदानवैः ॥ २५ ॥
शक्रः प्रहरणान्वेषी लोकांस्त्रीन् विचचार ह ।

इसी समय देवताओं और दानवोंमें विरोध होनेपर इन्द्र अस्त्र-शस्त्रोंकी खोजके लिये तीनों लोकोंमें विचरण करने लगे॥

न चोपलेभे भगवाञ्छक्रः प्रहरणं तदा ॥ २६ ॥
यद् वै तेषां भवेद् योग्यं वधाय विबुधद्विषाम् ।

परंतु भगवान् शक्र उस समय ऐसा कोई हथियार न पा सके, जो उन देवद्रोहियोंके वधके लिये उपयोगी हो सके ॥

ततोऽब्रवीत् सुराञ्शक्रो न मे शक्या महासुराः॥ २७ ॥
ऋतेऽस्थिभिर्दधीचस्य निहन्तुं त्रिदशद्विषः ।

तदनन्तर इन्द्रने देवताओंसे कहा—'दधीच मुनिकी अस्थियोंके सिवा और किसी अस्त्र-शस्त्रसे मेरे द्वारा देवद्रोही महान् असुर नहीं मारे जा सकते ॥ २७½ ॥

तस्माद् गत्वा ऋषिश्रेष्ठो याच्यतां सुरसत्तमाः॥ २८ ॥
दधीचास्थीनि देहीति तैर्वधिष्यामहे रिपून् ।

'अतः सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग जाकर मुनिवर दधीचसे याचना करो कि आप अपनी हड्डियाँ हमें दे दें । हम उन्हींके द्वारा अपने शत्रुओंका वध करेंगे' ॥ २८½ ॥

स च तैर्याचितोऽस्थीनि यत्नादृषिवरस्तदा ॥ २९ ॥
प्राणत्यागं कुरुश्रेष्ठ चकारैवाविचारयन् ।
स लोकानक्षयान् प्राप्तो देवप्रियकरस्तदा ॥ ३० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! देवताओंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अस्थियोंके लिये याचना की जानेपर मुनिवर दधीचने बिना कोई विचार किये अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया । उस समय देवताओंका प्रिय करनेके कारण वे अक्षय लोकोंमें चले गये ॥ २९-३० ॥

तस्यास्थिभिरथो शक्रः सम्प्रहृष्टमनास्तदा ।
कारयामास दिव्यानि नानाप्रहरणानि च ॥ ३१ ॥
गदावज्राणि चक्राणि गुरून् दण्डांश्च पुष्कलान् ।

तब इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर दधीचकी हड्डियोंसे गदा, वज्र, चक्र और बहुसंख्यक भारी दण्ड आदि नाना प्रकारके दिव्य आयुध तैयार कराये ॥ ३१½ ॥

स हि तीव्रेण तपसा सम्भृतः परमर्षिणा ॥ ३२ ॥
प्रजापतिसुतेनाथ भृगुणा लोकभावनः ।
अतिकायः स तेजस्वी लोकसारो विनिर्मितः ॥ ३३ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र महर्षि भृगुने तीव्र तपस्यासे भरे हुए लोकमङ्गलकारी विशालकाय एवं तेजस्वी दधीचको उत्पन्न किया था । ऐसा जान पड़ता था, मानो सम्पूर्ण जगत्‌के सारतत्त्वसे उनका निर्माण किया गया हो ॥ ३२-३३ ॥

जज्ञे शैलगुरुः प्रांशुर्महिम्ना प्रथितः प्रभुः ।
नित्यमुद्विजते चास्य तेजसः पाकशासनः ॥ ३४ ॥

वे पर्वतके समान भारी और ऊँचे थे । अपनी महत्ताके लिये वे सामर्थ्यशाली मुनि सर्वत्र विख्यात थे । पाकशासन इन्द्र उनके तेजसे सदा उद्विग्न रहते थे ॥ ३४ ॥

तेन वज्रेण भगवान् मन्त्रयुक्तेन भारत ।
भृशं क्रोधविसृष्टेन ब्रह्मतेजोद्भवेन च ॥ ३५ ॥
दैत्यदानववीराणां जघान नवतीर्नव ।

भरतनन्दन ! ब्रह्मतेजसे प्रकट हुए उस वज्रको मन्त्रोच्चारणके साथ अत्यन्त क्रोधपूर्वक छोड़कर भगवान् इन्द्रने आठ सौ दस दैत्य-दानव वीरोंका वध कर डाला ॥ ३५½ ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते महत्यतिभयंकरे ॥ ३६ ॥
अनावृष्टिरनुप्राप्ता राजन् द्वादशवार्षिकी ।

राजन् ! तदनन्तर सुदीर्घ काल व्यतीत होनेपर जगत्‌में बारह वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अत्यन्त भयंकर अनावृष्टि प्राप्त हुई ॥ ३६½ ॥

तस्यां द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महर्षयः ॥ ३७ ॥
वृत्त्यर्थं प्राद्रवन् राजन् क्षुधार्ताः सर्वतोदिशम् ।

नरेश्वर ! बारह वर्षोंकी उस अनावृष्टिमें सब महर्षि भूखसे पीड़ित हो जीविकाके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगे ॥

दिग्भ्यस्तान् प्रद्रुतान् दृष्ट्वा मुनिः सारस्वतस्तदा ॥ ३८ ॥
गमनाय मतिं चक्रे तं प्रोवाच सरस्वती ।

सम्पूर्ण दिशाओंसे भागकर इधर-उधर जाते हुए उन महर्षियोंको देखकर सारस्वत मुनिने भी वहाँसे अन्यत्र जानेका विचार किया । तब सरस्वतीदेवीने उनसे कहा ॥ ३८½ ॥

न गन्तव्यमितः पुत्र तवाहारमहं सदा ॥ ३९ ॥
दास्यामि मत्स्यप्रवरानुष्यतामिह भारत ।

भरतनन्दन ! सरस्वती इस प्रकार बोलीं—'बेटा ! तुम्हें यहाँसे कहीं नहीं जाना चाहिये । मैं सदा तुम्हें भोजनके लिये उत्तमोत्तम मछलियाँ दूँगी; अतः तुम यहीं रहो' ॥ ३९½ ॥

इत्युक्तस्तर्पयामास स पितॄन् देवतास्तथा ॥ ४० ॥
आहारमकरोन्नित्यं प्राणान् वेदांश्च धारयन् ।

सरस्वतीके ऐसा कहनेपर सारस्वत मुनि वहीं रहकर देवताओं और पितरोंको तृप्त करने लगे । वे प्रतिदिन भोजन करते और अपने प्राणों तथा वेदोंकी रक्षा करते थे ॥४०½॥

अथ तस्यामनावृष्ट्यामतीतायां महर्षयः ॥ ४१ ॥
अन्योन्यं परिपप्रच्छुः पुनः स्वाध्यायकारणात् ।

जब बारह वर्षोंकी वह अनावृष्टि प्रायः बीत गयी, तब महर्षि पुनः स्वाध्यायके लिये एक-दूसरेसे पूछने लगे ॥४१½॥

तेषां क्षुधापरीतानां नष्टा वेदाभिधावताम् ॥ ४२ ॥
सर्वेषामेवं राजेन्द्र न कश्चित् प्रतिभानवान् ।

राजेन्द्र ! उस समय भूखसे पीड़ित होकर इधर-उधर दौड़नेवाले सभी महर्षि वेद भूल गये थे । कोई भी ऐसा प्रतिभाशाली नहीं था, जिसे वेदोंका स्मरण रह गया हो ॥

अथ कश्चिदृषिस्तेषां सारस्वतमुपेयिवान् ॥ ४३ ॥
कुर्वाणं संशितात्मानं स्वाध्यायमृषिसत्तमम् ।

तदनन्तर उनमेंसे कोई ऋषि प्रतिदिन स्वाध्याय करनेवाले शुद्धात्मा मुनिवर सारस्वतके पास आये ॥ ४३½ ॥

स गत्वाऽऽचष्ट तेभ्यश्च सारस्वतमतिप्रभम् ॥ ४४ ॥
स्वाध्यायममरप्रख्यं कुर्वाणं विजने वने ।

फिर वहाँसे जाकर उन्होंने सब महर्षियोंको बताया कि 'देवताओंके समान अत्यन्त कान्तिमान् एक सारस्वत मुनि हैं, जो निर्जन वनमें रहकर सदा स्वाध्याय करते हैं' ॥ ४४½ ॥

ततः सर्वे समाजग्मुस्तत्र राजन् महर्षयः ॥ ४५ ॥
सारस्वतं मुनिश्रेष्ठमिदमूचुः समागताः ।
अस्मानध्यापयस्वेति तानुवाच ततो मुनिः ॥ ४६ ॥
शिष्यत्वमुपगच्छध्वं विधिवद्धि ममेत्युत ।

राजन् ! यह सुनकर वे सब महर्षि वहाँ आये और आकर मुनिश्रेष्ठ सारस्वतसे इस प्रकार बोले—'मुने ! आप हम लोगोंको वेद पढ़ाइये ।' तब सारस्वतने उनसे कहा—'आपलोग विधिपूर्वक मेरी शिष्यता ग्रहण करें' ॥ ४५-४६½ ॥

तत्राब्रुवन् मुनिगणा बालस्त्वमसि पुत्रक ॥ ४७ ॥
स तानाह न मे धर्मो नश्येदिति पुनर्मुनीन् ।
यो ह्यधर्मेण वै ब्रूयाद् गृह्णीयाद् योऽप्यधर्मतः ॥ ४८ ॥
हीयेतां तावुभौ क्षिप्रं स्यातां वा वैरिणावुभौ ।

तब वहाँ उन मुनियोंने कहा—'बेटा ! तुम तो अभी बालक हो' (हम तुम्हारे शिष्य कैसे हो सकते हैं ?) तब सारस्वतने पुनः उन मुनियोंसे कहा—'मेरा धर्म नष्ट न हो, इसलिये मैं आपलोगोंको शिष्य बनाना चाहता हूँ; क्योंकि जो अधर्मपूर्वक वेदोंका प्रवचन करता है तथा जो अधर्मपूर्वक उन वेदमन्त्रोंको ग्रहण करता है, वे दोनों शीघ्र ही हीनावस्थाको प्राप्त होते हैं अथवा दोनों एक-दूसरेके वैरी हो जाते हैं ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ॥ ४९ ॥
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।

'न बहुत वर्षोंकी अवस्था होनेसे, न बाल पकनेसे, न धनसे और न अधिक भाई-बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है । ऋषियोंने हमारे लिये यही धर्म निश्चित किया है कि हममेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सके, वही महान् है' ॥ ४९½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मुनयस्ते विधानतः ॥ ५० ॥
तस्माद् वेदाननुप्राप्य पुनर्धर्मं प्रचक्रिरे ।

सारस्वतकी यह बात सुनकर वे मुनि उनसे विधिपूर्वक वेदोंका उपदेश पाकर पुनः धर्मका अनुष्ठान करने लगे ॥

षष्टिर्मुनिसहस्राणि शिष्यत्वं प्रतिपेदिरे ॥ ५१ ॥
सारस्वतस्य विप्रर्षेर्वेदस्वाध्यायकारणात् ।

साठ हजार मुनियोंने स्वाध्यायके निमित्त ब्रह्मर्षि सारस्वतकी शिष्यता ग्रहण की थी ॥ ५१½ ॥

मुष्टिं मुष्टिं ततः सर्वे दर्भाणां ते ह्युपाहरन् ।
तस्यासनार्थं विप्रर्षेर्बालस्यापि वशे स्थिताः ॥ ५२ ॥

वे ब्रह्मर्षि यद्यपि बालक थे तो भी वे सभी बड़े-बड़े महर्षि उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उनके आसनके लिये एक-एक मुट्ठी कुश ले आया करते थे ॥ ५२ ॥

तत्रापि दत्त्वा वसु रौहिणेयो
महाबलः केशवपूर्वजोऽथ ।
जगाम तीर्थं मुदितः क्रमेण
ख्यातं महद् वृद्धकन्या स यत्र ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्णके बड़े भाई महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजी वहाँ भी स्नान और धन दान करके प्रसन्नतापूर्वक क्रमशः सब तीर्थोंमें विचरते हुए उस विख्यात महातीर्थमें गये, जहाँ कभी वृद्धा कुमारी कन्या निवास करती थी ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वृद्ध कन्याका चरित्र, शृङ्गवान्के साथ उसका विवाह और स्वर्गगमन तथा उस तीर्थका माहात्म्य

जनमेजय उवाच

कथं कुमारी भगवंस्तपोयुक्ता ह्यभूत् पुरा ।
किमर्थं च तपस्तेपे को वास्या नियमोऽभवत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! पूर्वकालमें वह कुमारी तपस्यामें क्यों संलग्न हुई ? उसने किसलिये तपस्या की और उसका कौन-सा नियम था ? ॥ १ ॥

सुदुष्करमिदं ब्रह्मंस्त्वत्तः श्रुतमनुत्तमम् ।
आख्याहि तत्त्वमखिलं यथा तपसि सा स्थिता ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने आपके मुखसे यह अत्यन्त उत्तम तथा परम दुष्कर तपकी बात सुनी है । आप सारा वृत्तान्त यथार्थ

रूपसे बताइये; वह कन्या क्यों तपस्यामें प्रवृत्त हुई थी ? ॥

वैशम्पायन उवाच

ऋषिरासीन्महावीर्यः कुणिर्गर्गो महायशाः ।
स तप्त्वा विपुलं राजंस्तपो वै तपतां वरः ॥ ३ ॥
मनसाथ सुतां सुभ्रूं समुत्पादितवान् विभुः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालमें एक महान् शक्तिशाली और महायशस्वी कुणिर्गर्ग नामक ऋषि रहते थे । तपस्या करनेवालोंमें श्रेष्ठ उन महर्षिने बड़ा भारी तप करके अपने मनसे एक सुन्दरी कन्या उत्पन्न की ॥३½॥

तां च दृष्ट्वा मुनिः प्रीतः कुणिर्गर्गो महायशाः ॥ ४ ॥
जगाम त्रिदिवं राजन् संत्यज्येह कलेवरम् ।

नरेश्वर ! उसे देखकर महायशस्वी मुनि कुणिर्गर्ग बड़े प्रसन्न हुए और कुछ कालके पश्चात् अपना यह शरीर छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ४½ ॥

सुभ्रूः सा ह्यथ कल्याणी पुण्डरीकनिभेक्षणा ॥ ५ ॥
महता तपसोग्रेण कृत्वाऽऽश्रममनिन्दिता ।
उपवासैः पूजयन्ती पितॄन् देवांश्च सा पुरा ॥ ६ ॥

तदनन्तर कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली वह कल्याणमयी सती साध्वी सुन्दरी कन्या पूर्वकालमें अपने लिये आश्रम बनाकर बड़ी कठोर तपस्या तथा उपवासके साथ-साथ देवताओं और पितरोंका पूजन करती हुई वहाँ रहने लगी ॥ ५-६ ॥

तस्यास्तु तपसोग्रेण महान् कालोऽत्यगान्नृप ।
सा पित्रा दीयमानापि तत्र नैच्छदनिन्दिता ॥ ७ ॥
आत्मनः सदृशं सा तु भर्तारं नान्वपश्यत ।

राजन् ! उग्र तपस्या करते हुए उसका बहुत समय व्यतीत हो गया । पिताने अपने जीवनकालमें उसका किसीके साथ ब्याह कर देनेका प्रयत्न किया; परंतु उस अनिन्द्य सुन्दरीने विवाहकी इच्छा नहीं की । उसे अपने योग्य कोई वर ही नहीं दिखायी देता था ॥ ७½ ॥

ततः सा तपसोग्रेण पीडयित्वाऽऽत्मनस्तनुम् ॥ ८ ॥
पितृदेवार्चनरता बभूव विजने वने ।

तब वह उग्र तपस्याके द्वारा अपने शरीरको पीड़ा देकर निर्जन वनमें पितरों तथा देवताओंके पूजनमें तत्पर हो गयी ॥

साऽऽत्मानं मन्यमानापि कृतकृत्यं श्रमान्विता ॥ ९ ॥
वार्धकेन च राजेन्द्र तपसा चैव कर्शिता ।

राजेन्द्र ! परिश्रमसे थक जानेपर भी वह अपने आपको कृतार्थ मानती रही । धीरे-धीरे बुढ़ापा और तपस्याने उसे दुर्बल बना दिया ॥ ९½ ॥

सा नाशकद् यदा गन्तुं पदात् पदमपि स्वयम् ॥ १० ॥
चकार गमने बुद्धिं परलोकाय वै तदा ।

जब वह स्वयं एक पग भी चलनेमें असमर्थ हो गयी, तब उसने परलोकमें जानेका विचार किया ॥ १०½ ॥

मोक्तुकामां तु तां दृष्ट्वा शरीरं नारदोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥
असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे ।
एवं तु श्रुतमस्माभिर्देवलोके महाव्रते ॥ १२ ॥
तपः परमकं प्राप्तं न तु लोकास्त्वया जिताः ।

उसकी देहत्यागकी इच्छा देख देवर्षि नारदने उससे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाली निष्पाप नारी ! तुम्हारा तो अभी विवाहसंस्कार भी नहीं हुआ, तुम तो अभी कन्या हो । फिर तुम्हें पुण्यलोक कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? तुम्हारे सम्बन्धमें ऐसी बात मैंने देवलोकमें सुनी है । तुमने तपस्या तो बहुत बड़ी की है; परंतु पुण्यलोकोंपर अधिकार नहीं प्राप्त किया है' ॥ ११-१२½ ॥

तन्नारदवचः श्रुत्वा साब्रवीदृषिसंसदि ॥ १३ ॥
तपसोऽर्धं प्रयच्छामि पाणिग्राहस्य सत्तम ।

नारदजीकी यह बात सुनकर वह ऋषियोंकी सभामें उपस्थित होकर बोली—'साधुशिरोमणे ! आपमेंसे जो कोई मेरा पाणिग्रहण करेगा, उसे मैं अपनी तपस्याका आधा भाग दे दूँगी' ॥ १३½ ॥

इत्युक्ते चास्या जग्राह पाणिं गालवसम्भवः ॥ १४ ॥
ऋषिः प्राक् शृङ्गवान्नाम समयं चेममब्रवीत् ।
समयेन तवाद्याहं पाणिं स्प्रक्ष्यामि शोभने ॥ १५ ॥
यद्येकरात्रं वस्तव्यं त्वया सह मयेति ह ।

उसके ऐसा कहनेपर सबसे पहले गालवके पुत्र शृङ्गवान् ऋषिने उसका पाणिग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की और सबसे पहले उसके सामने यह शर्त रक्खी—'शोभने ! मैं एक शर्तके साथ आज तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा । विवाहके बाद तुम्हें एक रात मेरे साथ रहना होगा । यदि यह स्वीकार हो तो मैं तैयार हूँ' ॥ १४-१५½ ॥

तथेति सा प्रतिश्रुत्य तस्मै पाणिं ददौ तदा ॥ १६ ॥
यथादृष्टेन विधिना हुत्वा चाग्निं विधानतः ।
चक्रे च पाणिग्रहणं तस्योद्वाहं च गालविः ॥ १७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर उसने मुनिके हाथमें अपना हाथ दे दिया । फिर गालव-पुत्रने शास्त्रोक्त रीतिसे विधिपूर्वक अग्निमें हवन करके उसका पाणिग्रहण और विवाह-संस्कार किया॥

सा रात्रावभवद् राजंस्तरुणी वरवर्णिनी ।
दिव्याभरणवस्त्रा च दिव्यगन्धानुलेपना ॥ १८ ॥

राजन् ! रात्रिमें वह दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और दिव्य गन्धयुक्त अङ्गरागसे अलंकृत परम सुन्दरी तरुणी हो गयी ॥ १८ ॥

तां दृष्ट्वा गालविः प्रीतो दीपयन्तीमिव श्रिया ।
उवास च क्षपामेकां प्रभाते साब्रवीच्च तम् ॥ १९ ॥

उसे अपनी कान्तिसे सब ओर प्रकाश फैलाती देख गालवकुमार बड़े प्रसन्न हुए और उसके साथ एक रात निवास किया । सवेरा होते ही वह मुनिसे बोली—॥ १९ ॥

यस्त्वया समयो विप्र कृतो मे तपतां वर ।
तेनोषितास्मि भद्रं ते स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ २० ॥

'तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! आपने जो शर्त की थी, उसके अनुसार मैं आपके साथ रह चुकी । आपका मङ्गल हो, कल्याण हो । अब आज्ञा दीजिये, मैं जाती हूँ' ॥ २० ॥

सा निर्गताब्रवीद् भूयो योऽस्मिंस्तीर्थे समाहितः।
वसते रजनीमेकां तर्पयित्वा दिवौकसः ॥ २१ ॥
चत्वारिंशतमष्टौ च द्वौ चाष्टौ सम्यगाचरेत् ।
यो ब्रह्मचर्यं वर्षाणि फलं तस्य लभेत सः ॥ २२ ॥

यों कहकर वह वहाँसे चल दी । जाते-जाते उसने फिर कहा—'जो अपने चित्तको एकाग्र कर इस तीर्थमें स्नान और देवताओंका तर्पण करके एक रात निवास करेगा, उसे अट्ठावन वर्षोंतक विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य पालन करनेका फल प्राप्त होगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा ततः साध्वी देहं त्यक्त्वा दिवं गता ।
ऋषिरप्यभवद् दीनस्तस्या रूपं विचिन्तयन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वह साध्वी तपस्विनी देह त्यागकर स्वर्गलोकमें चली गयी और मुनि उसके दिव्यरूपका चिन्तन करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥ २३ ॥

समयेन तपोऽर्धं च कृच्छ्रात् प्रतिगृहीतवान् ।
साधयित्वा तदाऽऽत्मानं तस्याः स गतिमन्वियात् ॥
दुःखितो भरतश्रेष्ठ तस्या रूपबलात्कृतः ।

उन्होंने शर्तके अनुसार उसकी तपस्याका आधा भाग बड़े कष्टसे स्वीकार किया । फिर वे भी अपने शरीरका परित्याग करके उसीके पथपर चले गये । भरतश्रेष्ठ ! वे उसके रूपपर बलात् आकृष्ट होकर अत्यन्त दुखी हो गये थे ॥ २४½ ॥

एतत्ते वृद्धकन्याया व्याख्यातं चरितं महत् ॥२५॥
तथैव ब्रह्मचर्यं च स्वर्गस्य च गतिः शुभा ।

यह मैंने तुमसे वृद्ध कन्याके महान् चरित्र ,ब्रह्मचर्यपालन तथा स्वर्गलोककी प्राप्तिरूप सद्गतिका वर्णन किया ॥

तत्रस्थश्चापि शुश्राव हतं शल्यं हलायुधः ॥ २६ ॥
तत्रापि दत्त्वा दानानि द्विजातिभ्यः परंतपः ।
शुशोच शल्यं संग्रामे निहतं पाण्डवैस्तदा ॥ २७ ॥
समन्तपञ्चकद्वारात् ततो निष्क्रम्य माधवः ।
पप्रच्छर्षिगणान् रामः कुरुक्षेत्रस्य यत् फलम् ॥ २८ ॥

वहीं रहकर शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजीने शल्यके मारे जानेका समाचार सुना था । वहाँ भी मधुवंशी बलरामने ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दे समन्तपञ्चक द्वारसे निकलकर ऋषियोंसे कुरुक्षेत्रके सेवनका फल पूछा॥

ते पृष्टा यदुसिंहेन कुरुक्षेत्रफलं विभो ।
समाचख्युर्महात्मानस्तस्मै सर्वं यथातथम् ॥ २९ ॥

प्रभो ! उस यदुसिंहके द्वारा कुरुक्षेत्रके फलके विषयमें पूछे जानेपर वहाँ रहनेवाले महात्माओंने उन्हें सब कुछ यथावत् रूपसे बताया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

ऋषियोंद्वारा कुरुक्षेत्रकी सीमा और महिमाका वर्णन

ऋषय ऊचुः

प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते
सनातनं राम समन्तपञ्चकम् ।
समीजिरे यत्र पुरा दिवौकसो
वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥ १ ॥

ऋषियोंने कहा—बलरामजी ! समन्तपञ्चक क्षेत्र सनातन तीर्थ है । इसे प्रजापतिकी उत्तरवेदी कहते हैं । वहाँ प्राचीनकालमें महान् वरदायक देवताओंने बहुत बड़े यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

पुरा च राजर्षिवरेण धीमता
बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा ।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना
ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ॥ २ ॥

पहले अमित तेजस्वी बुद्धिमान् राजर्षिप्रवर महात्मा कुरुने इस क्षेत्रको बहुत वर्षोंतक जोता था, इसलिये इस जगत्में इसका नाम कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध हो गया ॥ २ ॥

राम उवाच

किमर्थं कुरुणा कृष्टं क्षेत्रमेतन्महात्मना ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कथ्यमानं तपोधनाः ॥ ३ ॥

बलरामजीने पूछा—तपोधनो ! महात्मा कुरुने इस क्षेत्रको किसलिये जोता था ? मैं आपलोगोंके मुखसे यह कथा सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

पुरा किल कुरुं राम कर्षन्तं सततोत्थितम् ।
अभ्येत्य शक्रस्त्रिदिवात् पर्यपृच्छत कारणम् ॥ ४ ॥

ऋषि बोले—राम ! सुना जाता है कि पूर्वकालमें सदा प्रत्येक शुभ कार्यके लिये उद्यत रहनेवाले कुरु जब इस क्षेत्रको जोत रहे थे, उस समय इन्द्रने स्वर्गसे आकर इसका कारण पूछा ॥ ४॥

इन्द्र उवाच

किमिदं वर्तते राजन् प्रयत्नेन परेण च ।
राजर्षे किमभिप्रेतं येनेयं कृष्यते क्षितिः ॥ ५ ॥

इन्द्रने प्रश्न किया—राजन् ! यह महान् प्रयत्नके साथ क्या हो रहा है ? राजर्षे ! आप क्या चाहते हैं, जिसके कारण यह भूमि जोत रहे हैं ? ॥ ५ ॥

कुरुरुवाच

इह ये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो ।
ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान् पापविवर्जितान् ॥ ६ ॥

कुरुने कहा—शतक्रतो ! जो मनुष्य इस क्षेत्रमें मरेंगे, वे पुण्यात्माओंके पापरहित लोकोंमें जायँगे ॥ ६ ॥

अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिदिवं पुनः ।
राजर्षिरप्यनिर्विण्णः कर्षत्येव वसुंधराम् ॥ ७ ॥

तब इन्द्र उनका उपहास करके स्वर्गलोकमें चले गये। राजर्षि कुरु उस कार्यसे उदासीन न होकर वहाँकी भूमि जोतते ही रहे ॥ ७ ॥

आगम्यागम्य चैवैनं भूयोभूयोऽवहस्य च ।
शतक्रतुरनिर्विण्णं पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह ॥ ८ ॥

शतक्रतु इन्द्र अपने कार्यसे विरत न होनेवाले कुरुके पास बारंबार आते और उनसे पूछ-पूछकर प्रत्येक बार उनकी हँसी उड़ाकर स्वर्गलोकमें चले जाते थे ॥ ८॥

यदा तु तपसोग्रेण चकर्ष वसुधां नृपः ।
ततः शक्रोऽब्रवीद् देवान् राजर्षेर्यच्चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥

जब राजा कुरु कठोर तपस्यापूर्वक पृथ्वीको जोतते ही रह गये, तब इन्द्रने देवताओंसे राजर्षि कुरुकी वह चेष्टा बतायी ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वाब्रुवन् देवाः सहस्राक्षमिदं वचः ।
वरेण च्छन्द्यतां शक्र राजर्षिर्यदि शक्यते ॥१०॥

यह सुनकर देवताओंने सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे कहा—'शक्र ! यदि सम्भव हो तो राजर्षि कुरुको वर देकर अपने अनुकूल किया जाय ॥ १० ॥

यदि ह्यत्र प्रमीता वै स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ।
अस्मानननिष्ट्वा क्रतुभिर्भागो नो न भविष्यति ॥११॥

'यदि यहाँ मरे हुए मानव यज्ञोंद्वारा हमारा पूजन किये बिना ही स्वर्गलोकमें चले जायँगे, तब तो हमलोगोंका भाग सर्वथा नष्ट हो जायगा' ॥ ११ ॥

आगम्य च ततः शक्रस्तदा राजर्षिमब्रवीत् ।
अलं खेदेन भवतः क्रियतां वचनं मम ॥ १२ ॥
मानवा ये निराहारा देहं त्यक्ष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
युधि वा निहताः सम्यगपि तिर्यग्गता नृप ॥ १३ ॥
ते स्वर्गभाजो राजेन्द्र भविष्यन्ति महामते ।

तब इन्द्रने वहाँसे आकर राजर्षि कुरुसे कहा—'नरेश्वर ! आप व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हैं ? मेरी बात मान लीजिये। महामते ! राजेन्द्र ! जो मनुष्य और पशु-पक्षी यहाँ निराहार रहकर देह त्याग करेंगे अथवा युद्धमें मारे जायँगे, वे स्वर्गलोकके भागी होंगे' ॥ १२-१३½ ॥

तथास्त्विति ततो राजा कुरुः शक्रमुवाच ह ॥ १४ ॥
ततस्तमभ्यनुज्ञाप्य प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
जगाम त्रिदिवं भूयः क्षिप्रं बलनिषूदनः ॥ १५ ॥

तब राजा कुरुने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! ऐसा ही हो' तदनन्तर कुरुसे विदा ले बलसूदन इन्द्र फिर शीघ्र ही प्रसन्न चित्तसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १४-१५ ॥

एवमेतद् यदुश्रेष्ठ कृष्टं राजर्षिणा पुरा ।
शक्रेण चाभ्यनुज्ञातं ब्रह्माद्यैश्च सुरैस्तथा ॥ १६ ॥

यदुश्रेष्ठ ! इस प्रकार प्राचीनकालमें राजर्षि कुरुने इस क्षेत्रको जोता और इन्द्र तथा ब्रह्मा आदि देवताओंने इसे वर देकर अनुगृहीत किया ॥ १६ ॥

नातः परतरं पुण्यं भूमेः स्थानं भविष्यति ।
इह तप्स्यन्ति ये केचित्तपः परमकं नराः ॥ १७ ॥
देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम् ।

भूतलका कोई भी स्थान इससे बढ़कर पुण्यदायक नहीं होगा। जो मनुष्य यहाँ रहकर बड़ी भारी तपस्या करेंगे, वे सब लोग देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जायँगे ॥ १७½ ॥

ये पुनः पुण्यभाजो वै दानं दास्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
तेषां सहस्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण वै ।

जो पुण्यात्मा मानव वहाँ दान देंगे, उनका वह दान शीघ्र ही सहस्रगुना हो जायगा ॥ १८½ ॥

ये चेह नित्यं मनुजा निवत्स्यन्ति शुभैषिणः ॥ १९ ॥
यमस्य विषयं ते तु न द्रक्ष्यन्ति कदाचन ।

जो मानव शुभकी इच्छा रखकर यहाँ नित्य निवास करेंगे, उन्हें कभी यमका राज्य नहीं देखना पड़ेगा ॥१९½॥

यक्ष्यन्ति ये च क्रतुभिर्महद्भिर्मनुजेश्वराः ॥ २० ॥
तेषां त्रिविष्टपे वासो यावद्भूमिर्धरिष्यति ।

जो नरेश्वर यहाँ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे, वे जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक स्वर्गलोकमें निवास करेंगे ॥ २०½ ॥

अपि चात्र स्वयं शक्रो जगौ गाथां सुराधिपः ॥ २१ ॥
कुरुक्षेत्रनिबद्धां वै तां शृणुष्व हलायुध ।

हलायुध ! स्वयं देवराज इन्द्रने कुरुक्षेत्रके सम्बन्धमें यहाँ जो गाथा गायी है, उसे आप सुनिये ॥ २१½ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ २२ ॥

'कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूलियाँ भी यदि ऊपर पड़ जायँ तो वे पापी मनुष्यको भी परम पदकी प्राप्ति कराती हैं ॥ २२ ॥

सुरर्षभा ब्राह्मणसत्तमाश्च
तथा नृगाद्या नरदेवमुख्याः ।
इष्ट्वा महार्हैः क्रतुभिर्नृसिंहाः
संत्यज्य देहान् सुगतिं प्रपन्नाः ॥ २३ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! यहाँ ब्राह्मणशिरोमणि तथा नृग आदि मुख्य-मुख्य पुरुषसिंह नरेश महान् यज्ञोंका अनुष्ठान करके देहत्यागके पश्चात् उत्तम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥२३॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते ॥ २४ ॥

'तरन्तुक, अरन्तुक, रामह्रद (परशुराम कुण्ड) तथा मचक्रुक—इनके बीचका जो भूभाग है, यही समन्तपञ्चक एवं कुरुक्षेत्र है। इसे प्रजापतिकी उत्तरवेदी कहते हैं ॥ ४ ॥

शिवं महापुण्यमिदं दिवौकसां
सुसम्मतं सर्वगुणैः समन्वितम्।
अतश्च सर्वे निहता नृपा रणे
यास्यन्ति पुण्यां गतिमक्षयां सदा ॥२५॥

'यह महान् पुण्यप्रद, कल्याणकारी, देवताओंका प्रिय एवं सर्वगुणसम्पन्न तीर्थ है। अतः यहाँ रणभूमिमें मारे गये सम्पूर्ण नरेश सदा पुण्यमयी अक्षय गति प्राप्त करेंगे' ॥२५॥

इत्युवाच स्वयं शक्रः सह ब्रह्मादिभिस्तदा।
तच्चानुमोदितं सर्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ॥ २६ ॥

ब्रह्मा आदि देवताओंसहित साक्षात् इन्द्रने ऐसी बातें कही थीं तथा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीने इन सारी बातोंका अनुमोदन किया था ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने कुरुक्षेत्रकथने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुरुक्षेत्रकी महिमाका वर्णनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्लक्षप्रस्रवण आदि तीर्थों तथा सरस्वतीकी महिमा एवं नारदजीसे कौरवोंके विनाश और भीम तथा दुर्योधनके युद्धका समाचार सुनकर बलरामजीका उसे देखनेके लिये जाना

वैशम्पायन उवाच

कुरुक्षेत्रं ततो दृष्ट्वा दत्त्वा दायांश्च सात्वतः।
आश्रमं सुमहद् दिव्यमगमज्जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सात्वतवंशी बलरामजी कुरुक्षेत्रका दर्शन कर वहाँ बहुत-सा धन दान करके उस स्थानसे एक महान् एवं दिव्य आश्रममें गये ॥१॥

मधूकाम्रवणोपेतं प्लक्षन्यग्रोधसंकुलम्।
चिरबिल्वयुतं पुण्यं पनसार्जुनसंकुलम् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठः प्रवरं पुण्यलक्षणम्।
पप्रच्छ तानृषीन् सर्वान् कस्याश्रमवरस्त्वयम् ॥ ३ ॥

महुआ और आमके वन उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। पाकड़ और बरगदके वृक्ष वहाँ अपनी छाया फैला रहे थे। चिलबिल, कटहल और अर्जुन (समूह)के पेड़ चारों ओर भरे हुए थे। पुण्यदायक लक्षणोंसे युक्त उस पुण्यमय श्रेष्ठ आश्रमका दर्शन करके यादवश्रेष्ठ बलरामजीने उन समस्त ऋषियोंसे पूछा कि 'यह सुन्दर आश्रम किसका है ?' ॥२-३॥

ते तु सर्वे महात्मानमूचू राजन् हलायुधम्।
शृणु विस्तरशो राम यस्यायं पूर्वमाश्रमः ॥ ४ ॥

राजन्! तब वे सभी ऋषि महात्मा हलधरसे बोले—'बलरामजी! पहले यह आश्रम जिसके अधिकारमें था, उसकी कथा विस्तारपूर्वक सुनिये—॥ ४ ॥

अत्र विष्णुः पुरा देवस्तप्तवांस्तप उत्तमम्।
अत्रास्य विधिवद् यज्ञाः सर्वे वृत्ताः सनातनाः ॥ ५ ॥

'प्राचीनकालमें यहाँ भगवान् विष्णुने उत्तम तपस्या की है, यहीं उनके सभी सनातन यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न हुए हैं॥

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ॥ ६ ॥

'यहीं कुमारावस्थासे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाली एक सिद्ध ब्राह्मणी रहती थी, जो तपःसिद्ध तपस्विनी थी। वह योगयुक्त होकर स्वर्गलोकमें चली गयी ॥ ६ ॥

बभूव श्रीमती राजञ्शाण्डिल्यस्य महात्मनः।
सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी ॥ ७ ॥

'राजन्! नियमपूर्वक व्रतधारण और ब्रह्मचर्यपालन करनेवाली वह तेजस्विनी साध्वी महात्मा शाण्डिल्यकी सुपुत्री थी ॥ ७ ॥

सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मणपूजिता ॥ ८ ॥

'स्त्रियोंके लिये जो अत्यन्त दुष्कर था, ऐसा घोर तप करके देवताओं और ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हुई वह महान् सौभाग्यशालिनी देवी स्वर्गलोकको चली गयी थी' ॥ ८ ॥

श्रुत्वा ऋषीणां वचनमाश्रमं तं जगाम ह।
ऋषींस्तानभिवाद्याथ पार्श्वे हिमवतोऽच्युतः ॥ ९ ॥
संध्याकार्याणि सर्वाणि निर्वर्त्यारुरुहेऽचलम्।

ऋषियोंका वचन सुनकर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले बलरामजी उस आश्रममें गये। वहाँ हिमालयके पार्श्वभागमें उन ऋषियोंको प्रणाम करके संध्या-वन्दन आदि सब कार्य करनेके अनन्तर वे हिमालयपर चढ़ने लगे ॥ ९½ ॥

नातिदूरं ततो गत्वा नगं तालध्वजो बली ॥ १० ॥
पुण्यं तीर्थवरं दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः।
प्रभावं च सरस्वत्याः प्लक्षप्रस्रवणं बलः ॥ ११ ॥

जिनकी ध्वजापर तालका चिह्न सुशोभित होता है, वे बलरामजी उस पर्वतपर थोड़ी ही दूर गये थे कि उनकी दृष्टि एक पुण्यमय उत्तम तीर्थपर पड़ी। वह सरस्वतीकी उत्पत्तिका स्थान प्लक्षप्रस्रवण नामक तीर्थ था। उसका दर्शन करके बलरामजीको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ १०-११ ॥

सम्प्राप्तः कारपवनं प्रवरं तीर्थमुत्तमम्।
हलायुधस्तत्र चापि दत्त्वा दानं महाबलः ॥ १२ ॥
आप्लुतः सलिले पुण्ये सुशीते विमले शुचौ।
संतर्पयामास पितॄन् देवांश्च रणदुर्मदः ॥ १३ ॥
तत्रोष्यैकां तु रजनीं यतिभिर्ब्राह्मणैः सह।
मित्रावरुणयोः पुण्यं जगामाश्रममच्युतः ॥ १४ ॥

फिर वे कारपवन नामक उत्तम तीर्थमें गये। महाबली

हलधरने वहाँके निर्मल, पवित्र और अत्यन्त शीतल पुण्यदायक जलमें गोता लगाकर ब्राह्मणोंको दान दे देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। तत्पश्चात् रणदुर्मद बलरामजी यतियों और ब्राह्मणोंके साथ वहाँ एक रात रहकर मित्रावरुणके पवित्र आश्रमपर गये ॥ १२–१४ ॥

इन्द्रोऽग्निरर्यमा चैव यत्र प्राक् प्रीतिमाप्नुवन्।
तं देशं कारपवनाद् यमुनायां जगाम ह ॥ १५ ॥
स्नात्वा तत्र च धर्मात्मा परां प्रीतिमवाप्य च।
ऋषिभिश्चैव सिद्धैश्च सहितो वै महाबलः ॥ १६ ॥
उपविष्टः कथाः शुभ्राः शुश्राव यदुपुङ्गवः।

जहाँ पूर्वकालमें इन्द्र, अग्नि और अर्यमाने बड़ी प्रसन्नता प्राप्त की थी, वह स्थान यमुनाके तटपर है। कारपवनसे उस तीर्थमें जाकर महाबली धर्मात्मा बलरामने स्नान करके बड़ा हर्ष प्राप्त किया। फिर वे यदुपुङ्गव बलभद्र ऋषियों और सिद्धोंके साथ बैठकर उत्तम कथाएँ सुनने लगे ॥ १५-१६½॥

तथा तु तिष्ठतां तेषां नारदो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
आजगामाथ तं देशं यत्र रामो व्यवस्थितः।

इस प्रकार वे लोग वहीं ठहरे हुए थे, तबतक देवर्षि भगवान् नारद भी उनके पास उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ बलरामजी विराजमान थे ॥ १७½ ॥

जटामण्डलसंवीतः स्वर्णचीरो महातपाः ॥ १८ ॥
हेमदण्डधरो राजन् कमण्डलुधरस्तथा।
कच्छपीं सुखशब्दां तां गृह्य वीणां मनोरमाम्॥ १९ ॥

राजन्! महातपस्वी नारद जटामण्डलसे मण्डित हो सुनहरा चीर धारण किये हुए थे। उन्होंने कमण्डलु, सोनेका दण्ड तथा सुखदायक शब्द करनेवाली कच्छपी नामक मनोरम वीणा भी ले रक्खी थी ॥ १८-१९ ॥

नृत्ये गीते च कुशलो देवब्राह्मणपूजितः।
प्रकर्ता कलहानां च नित्यं च कलहप्रियः ॥ २० ॥

वे नृत्य-गीतमें कुशल, देवताओं तथा ब्राह्मणोंसे सम्मानित, कलह करानेवाले तथा सदैव कलहके प्रेमी हैं ॥ २० ॥

तं देशमगमद् यत्र श्रीमान् रामो व्यवस्थितः।
प्रत्युत्थाय च तं सम्यक् पूजयित्वा यतव्रतम् ॥ २१॥
देवर्षिं पर्यपृच्छत् स यथा वृत्तं कुरून् प्रति।

वे उस स्थानपर गये, जहाँ तेजस्वी बलराम बैठे हुए थे। उन्होंने उठकर नियम और व्रतका पालन करनेवाले देवर्षिका भलीभाँति पूजन करके उनसे कौरवोंका समाचार पूछा ॥ २१½ ॥

ततोऽस्याकथयद् राजन् नारदः सर्वधर्मवित् ॥ २२॥
सर्वमेतद् यथावृत्तमतीव कुरुसंक्षयम्।

राजन्! तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता नारदजीने उनसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे बता दिया कि कुरुकुलका अत्यन्त संहार हो गया है ॥ २२½ ॥

ततोऽब्रवीद् रौहिणेयो नारदं दीनया गिरा ॥ २३ ॥
किमवस्थं तु तत् क्षत्रं ये तु तत्राभवन् नृपाः।
श्रुतमेतन्मया पूर्वं सर्वमेव तपोधन ॥ २४ ॥
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे।

तब रोहिणीनन्दन बलरामने दीनवाणीमें नारदजीसे पूछा—'तपोधन! जो राजा लोग वहाँ उपस्थित हुए थे, उन सब क्षत्रियोंकी क्या अवस्था हुई है, यह सब तो मैंने पहले ही सुन लिया था। इस समय कुछ विशेष और विस्तृत समाचार जाननेके लिये मेरे मनमें अत्यन्त उत्सुकता हुई है' ॥ २३-२४½ ॥

नारद उवाच

पूर्वमेव हतो भीष्मो द्रोणः सिन्धुपतिस्तथा ॥ २५ ॥
हतो वैकर्तनः कर्णः पुत्राश्चास्य महारथाः।
भूरिश्रवा रौहिणेय मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

नारदजीने कहा—रोहिणीनन्दन! भीष्मजी तो पहले ही मारे गये। फिर सिंधुराज जयद्रथ, द्रोण, वैकर्तन कर्ण तथा उसके महारथी पुत्र भी मारे गये हैं। भूरिश्रवा तथा पराक्रमी मद्रराज शल्य भी मार डाले गये ॥ २५-२६॥

एते चान्ये च बहवस्तत्र तत्र महाबलाः।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य जयार्थं कौरवस्य वै॥ २७ ॥
राजानो राजपुत्राश्च समरेष्वनिवर्तिनः।

ये तथा और भी बहुत-से महाबली राजा और राजकुमार जो युद्धसे पीछे हटनेवाले नहीं थे, कुरुराज दुर्योधनकी विजयके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ २७½ ॥

अहतांस्तु महाबाहो शृणु मे तत्र माधव ॥ २८ ॥
धार्तराष्ट्रबले शेषास्त्रयः समितिमर्दनाः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

महाबाहु माधव! जो वहाँ नहीं मारे गये हैं, उनके नाम भी मुझसे सुन लो। दुर्योधनकी सेनामें कृपाचार्य, कृतवर्मा और पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये शत्रुदलका मर्दन करनेवाले तीन ही वीर शेष रह गये हैं ॥ २८-२९ ॥

तेऽपि वै विद्रुता राम दिशो दश भयात् तदा।
दुर्योधने हते शल्ये विद्रुतेषु कृपादिषु ॥ ३० ॥
ह्रदं द्वैपायनं नाम विवेश भृशदुःखितः।

परंतु बलरामजी! जब शल्य मारे गये, तब ये तीनों भी भयके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें पलायन कर गये थे। शल्यके मारे जाने और कृप आदिके भाग जानेपर दुर्योधन बहुत दुखी हुआ और भागकर द्वैपायनसरोवरमें जा छिपा ३०½

शयानं धार्तराष्ट्रं तु सलिले स्तम्भिते तदा ॥ ३१ ॥
पाण्डवाः सह कृष्णेन वाग्भिरुग्राभिरार्दयन्।

जब दुर्योधन जलको स्तम्भित करके उसके भीतर सो रहा था, उस समय पाण्डवलोग भगवान् श्रीकृष्णके साथ वहाँ आ पहुँचे और अपनी कठोर बातोंसे उसे कष्ट पहुँचाने लगे ३१½

स तुद्यमानो बलवान् वाग्भी राम समन्ततः ॥ ३२ ॥
उत्थितः स ह्रदाद् वीरः प्रगृह्य महतीं गदाम्।

बलराम ! जब सब ओरसे कड़वी बातोंद्वारा उसे व्यथित किया जाने लगा, तब वह बलवान् वीर विशाल गदा हाथमें लेकर सरोवरसे उठ खड़ा हुआ ॥ ३२½ ॥

स चाप्युपगतो योद्धुं भीमेन सह साम्प्रतम् ॥ ३३ ॥
भविष्यति तयोरद्य युद्धं राम सुदारुणम् ।
यदि कौतूहलं तेऽस्ति व्रज माधव मा चिरम् ।
पश्य युद्धं महाघोरं शिष्ययोर्यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥

इस समय वह भीमके साथ युद्ध करनेके लिये उनके पास जा पहुँचा है । राम ! आज उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होगा, माधव ! यदि तुम्हारे मनमें भी उसे देखनेका कौतूहल हो तो शीघ्र जाओ । यदि ठीक समझो तो अपने दोनों शिष्योंका वह महाभयंकर युद्ध अपनी आँखोंसे देख लो ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा तानभ्यर्च्य द्विजर्षभान् ।
सर्वान् विसर्जयामास ये तेनाभ्यागताः सह ॥ ३५ ॥
गम्यतां द्वारकां चेति सोऽन्वशादनुयायिनः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीकी बात सुनकर बलरामजीने अपने साथ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया और सेवकोंको आज्ञा दे दी कि तुम लोग द्वारका चले जाओ ॥ ३५½ ॥

सोऽवतीर्याचलश्रेष्ठात् प्लक्षप्रस्रवणाच्छुभात् ॥ ३६ ॥
ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वा तीर्थफलं महत् ।
विप्राणां संनिधौ श्लोकमगायदिममच्युतः ॥ ३७ ॥

फिर वे प्लक्षप्रस्रवण नामक शुभ पर्वतशिखरसे नीचे उतर आये और तीर्थ-सेवनका महान् फल सुनकर प्रसन्नचित्त हो अच्युत बलरामने ब्राह्मणोंके समीप इस श्लोकका गान किया—॥ ३६-३७ ॥

सरस्वतीवाससमा कुतो रतिः
सरस्वतीवाससमाः कुतो गुणाः ।
सरस्वतीं प्राप्य दिवं गता जनाः
सदा स्मरिष्यन्ति नदीं सरस्वतीम् ॥ ३८ ॥

'सरस्वती नदीके तटपर निवास करनेमें जो सुख और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँसे मिल सकता है ? सरस्वती-तटपर निवास करनेमें जो गुण हैं, वे अन्यत्र कहाँ हैं ? सरस्वतीका सेवन करके स्वर्गलोकमें पहुँचे हुए मनुष्य सदा सरस्वती नदीका स्मरण करते रहेंगे ॥ ३८ ॥

सरस्वती सर्वनदीषु पुण्या
सरस्वती लोकशुभावहा सदा ।
सरस्वतीं प्राप्य जनाः सुदुष्कृतं
सदा न शोचन्ति परत्र चेह च ॥ ३९ ॥

'सरस्वती सब नदियोंमें पवित्र है । सरस्वती सदा सम्पूर्ण जगत्का कल्याण करनेवाली है । सरस्वतीको पाकर मनुष्य इहलोक और परलोकमें कभी पापोंके लिये शोक नहीं करते हैं' ॥ ३९ ॥

ततो मुहुर्मुहुः प्रीत्या प्रेक्षमाणः सरस्वतीम् ।
हयैर्युक्तं रथं शुभ्रमातिष्ठत परंतपः ॥ ४० ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजी बार-बार प्रेमपूर्वक सरस्वती नदीकी ओर देखते हुए घोड़ोंसे जुते उज्ज्वल रथपर आरूढ़ हुए ॥ ४० ॥

स शीघ्रगामिना तेन रथेन यदुपुङ्गवः ।
दिदृक्षुरभिसम्प्राप्तः शिष्ययुद्धमुपस्थितम् ॥ ४१ ॥

उसी शीघ्रगामी रथके द्वारा तत्काल उपस्थित हुए दोनों शिष्योंका युद्ध देखनेके लिये यदुपुङ्गव बलरामजी उनके पास जा पहुँचे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

बलरामजीकी सलाहसे सबका कुरुक्षेत्रके समन्तपञ्चक तीर्थमें जाना और वहाँ भीम तथा दुर्योधनमें गदायुद्धकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एवं तदभवद् युद्धं तुमुलं जनमेजय ।
यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वह तुमुल युद्ध हुआ, जिसके विषयमें अत्यन्त दुखी हुए राजा धृतराष्ट्रने इस तरह प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

रामं संनिहितं दृष्ट्वा गदायुद्ध उपस्थिते ।
मम पुत्रः कथं भीमं प्रत्ययुध्यत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! गदायुद्ध उपस्थित होनेपर बलरामजीको निकट आया देख मेरे पुत्रने भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ २ ॥

संजय उवाच

रामसांनिध्यमासाद्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
युद्धकामो महाबाहुः समहृष्यत वीर्यवान् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! बलरामजीको निकट पाकर युद्धकी इच्छा रखनेवाला आपका शक्तिशाली पुत्र महाबाहु दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा लाङ्गलिनं राजा प्रत्युत्थाय च भारत ।
प्रीत्या परमया युक्तः समभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ४ ॥

आसनं च ददौ तस्मै पर्यपृच्छदनामयम् ।

भरतनन्दन ! हलधरको देखते ही राजा युधिष्ठिर उठकर खड़े हो गये और बड़े प्रेमसे विधिपूर्वक उनकी पूजा करके उन्हें बैठनेके लिये उन्होंने आसन दिया तथा उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछा ॥ ४½ ॥

ततो युधिष्ठिरं रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ५ ॥
मधुरं धर्मसंयुक्तं शूराणां हितमेव च ।

तब बलरामने युधिष्ठिरसे मधुर वाणीमें शूरवीरोंके लिये हितकर धर्मयुक्त वचन कहा—॥ ५½ ॥

मया श्रुतं कथयतामृषीणां राजसत्तम ॥ ६ ॥
कुरुक्षेत्रं परं पुण्यं पावनं स्वर्ग्यमेव च ।
दैवतैर्ऋषिभिर्जुष्टं ब्राह्मणैश्च महात्मभिः ॥ ७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैंने माहात्म्य-कथा कहनेवाले ऋषियोंके मुखसे यह सुना है कि कुरुक्षेत्र परम पावन पुण्यमय तीर्थ है। वह स्वर्ग प्रदान करनेवाला है। देवता, ऋषि तथा महात्मा ब्राह्मण सदा उसका सेवन करते हैं ॥ ६-७ ॥

तत्र वै योत्स्यमाना ये देहं त्यक्ष्यन्ति मानवाः ।
तेषां स्वर्गे ध्रुवो वासः शक्रेण सह मारिष ॥ ८ ॥

'माननीय नरेश ! जो मानव वहाँ युद्ध करते हुए अपने शरीरका त्याग करेंगे, उनका निश्चय ही स्वर्गलोकमें इन्द्रके साथ निवास होगा ॥ ८ ॥

तस्मात् समन्तपञ्चकमितो याम द्रुतं नृप ।
प्रथितोत्तरवेदी सा देवलोके प्रजापतेः ॥ ९ ॥
तस्मिन् महापुण्यतमे त्रैलोक्यस्य सनातने ।
संग्रामे निधनं प्राप्य ध्रुवं स्वर्गे भविष्यति ॥ १० ॥

'अतः नरेश्वर ! हम सब लोग यहाँसे शीघ्र ही समन्तपञ्चक तीर्थमें चलें। वह भूमि देवलोकमें प्रजापतिकी उत्तरवेदीके नामसे प्रसिद्ध है। त्रिलोकीके उस परम पुण्यतम सनातन तीर्थमें युद्ध करके मृत्युको प्राप्त हुआ मनुष्य निश्चय ही स्वर्गलोकमें जायगा' ॥ ९-१० ॥

तथेत्युक्त्वा महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
समन्तपञ्चकं वीरः प्रायादभिमुखः प्रभुः ॥ ११ ॥
ततो दुर्योधनो राजा प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
पद्भ्याममर्षी द्युतिमानगच्छत् पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

महाराज ! तब 'बहुत अच्छा', कहकर वीर राजा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर समन्तपञ्चक तीर्थकी ओर चल दिये। उस समय अमर्षमें भरा हुआ तेजस्वी राजा दुर्योधन हाथमें विशाल गदा लेकर पाण्डवोंके साथ पैदल ही चला ।११-१२।

तथाऽऽयान्तं गदाहस्तं वर्मणा चापि दंशितम् ।
अन्तरिक्षचरा देवाः साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ १३ ॥

गदा हाथमें लिये कवच धारण किये दुर्योधनको इस प्रकार आते देख आकाशमें विचरनेवाले देवता साधु-साधु कहकर उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

वातिकाश्चारणा ये तु दृष्ट्वा ते हर्षमागताः ।
स पाण्डवैः परिवृतः कुरुराजस्तवात्मजः ॥ १४ ॥
मत्तस्येव गजेन्द्रस्य गतिमास्थाय सोऽव्रजत् ।

वातिक और चारण भी उसे देखकर हर्षसे खिल उठे। पाण्डवोंसे घिरा हुआ आपका पुत्र कुरुराज दुर्योधन मतवाले गजराजकी-सी गतिका आश्रय लेकर चल रहा था ॥ १४½ ॥

ततः शङ्खनिनादेन भेरीणां च महास्वनैः ॥ १५ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां दिशः सर्वाः प्रपूरिताः ।

उस समय शङ्खोंकी ध्वनि, रणभेरियोंके गम्भीर घोष और शूरवीरोंके सिंहनादोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ।१५½।

ततस्ते तु कुरुक्षेत्रं प्राप्ता नरवरोत्तमाः ॥ १६ ॥
प्रतीच्यभिमुखं देशं यथोद्दिष्टं सुतेन ते ।
दक्षिणेन सरस्वत्याः स्वयनं तीर्थमुत्तमम् ॥ १७ ॥
तस्मिन् देशे त्वनिरिणे ते तु युद्धमरोचयन् ।

तदनन्तर वे सभी श्रेष्ठ नरवीर आपके पुत्रके साथ पश्चिमाभिमुख चलकर पूर्वोक्त कुरुक्षेत्रमें आ पहुँचे। वह उत्तम तीर्थ सरस्वतीके दक्षिण तटपर स्थित एवं सद्गतिकी प्राप्ति करानेवाला था। वहाँ कहीं ऊसर भूमि नहीं थी। उसी स्थानमें आकर सबने युद्ध करना पसंद किया ।१६-१७½।

ततो भीमो महाकोटिं गदां गृह्याथ वर्मभृत् ॥ १८ ॥
बिभ्रद्रूपं महाराज सदृशं हि गरुत्मतः ।

फिर तो भीमसेन कवच पहनकर बहुत बड़ी नोकवाली गदा हाथमें ले गरुडका-सा रूप धारण करके युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १८½ ॥

अवबद्धशिरस्त्राणः संख्ये काञ्चनवर्मभृत् ॥ १९ ॥
रराज राजन् पुत्रस्ते काञ्चनः शैलराडिव ।

तत्पश्चात् दुर्योधन भी सिरपर टोप लगाये सोनेका कवच बाँधे भीमके साथ युद्धके लिये डट गया। राजन् ! उस समय आपका पुत्र सुवर्णमय गिरिराज मेरुके समान शोभा पा रहा था ॥ १९½ ॥

वर्मभ्यां संयतौ वीरौ भीमदुर्योधनावुभौ ॥ २० ॥
संयुगे च प्रकाशेते संरब्धाविव कुञ्जरौ ।

कवच बाँधे हुए दोनों वीर भीमसेन और दुर्योधन युद्धभूमिमें कुपित हुए दो मतवाले हाथियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २०½ ॥

रणमण्डलमध्यस्थौ भ्रातरौ तौ नरर्षभौ ॥ २१ ॥
अशोभेतां महाराज चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।

महाराज ! रणमण्डलके बीचमें खड़े हुए ये दोनों नरश्रेष्ठ भ्राता उदित हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान शोभा पा रहे थे ॥ २१½ ॥

तावन्योन्यं निरीक्षेतां क्रुद्धाविव महाद्विपौ ॥ २२ ॥
दहन्तौ लोचनै राजन् परस्परवधैषिणौ ।

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए दो गजराजोंके समान एक दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले वे दोनों वीर परस्पर इस प्रकार देखने लगे, मानो नेत्रोंद्वारा एक दूसरेको भस्म कर डालेंगे ॥ २२½ ॥

सम्प्रहृष्टमना राजन् गदामादाय कौरवः ॥ २३ ॥

सृक्किणी संलिहन् राजन् क्रोधरक्तेक्षणः श्वसन्।
ततो दुर्योधनो राजन् गदामादाय वीर्यवान् ॥ २४ ॥
भीमसेनमभिप्रेक्ष्य गजो गजमिवाह्वयत्।

नरेश्वर ! तदनन्तर शक्तिशाली कुरुवंशी राजा दुर्योधन प्रसन्नचित्त हो गदा हाथमें ले क्रोधसे लाल आँखें करके गलफरोंको चाटता और लंबी साँसें खींचता हुआ भीमसेनकी ओर देखकर उसी प्रकार ललकारने लगा, जैसे एक हाथी दूसरे हाथीको पुकार रहा हो ॥ २३-२४½ ॥

अद्रिसारमयीं भीमस्तथैवादाय वीर्यवान् ॥ २५ ॥
आह्वयामास नृपतिं सिंहं सिंहो यथा वने।

उसी प्रकार पराक्रमी भीमसेनने लोहेकी गदा लेकर राजा दुर्योधनको ललकारा, मानो वनमें एक सिंह दूसरे सिंहको पुकार रहा हो ॥ २५½ ॥

तावुद्यतगदापाणी दुर्योधनवृकोदरौ ॥ २६ ॥
संयुगे च प्रकाशेतां गिरी सशिखराविव।

दुर्योधन और भीमसेन दोनोंकी गदाएँ ऊपरको उठी थीं। उस समय रणभूमिमें वे दोनों शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २६½ ॥

तावुभौ समतिक्रुद्धावुभौ भीमपराक्रमौ ॥ २७ ॥
उभौ शिष्यौ गदायुद्धे रौहिणेयस्य धीमतः।

दोनों ही अत्यन्त क्रोधमें भरे थे। दोनों भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले थे और दोनों ही गदायुद्धमें बुद्धिमान् रोहिणीनन्दन बलरामजीके शिष्य थे ॥ २७½ ॥

उभौ सदृशकर्माणौ यमवासवयोरिव ॥ २८ ॥
तथा सदृशकर्माणौ वरुणस्य महाबलौ।
वासुदेवस्य रामस्य तथा वैश्रवणस्य च ॥ २९ ॥
सदृशौ तौ महाराज मधुकैटभयोर्युधि।
उभौ सदृशकर्माणौ तथा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ ३० ॥
रामरावणयोश्चैव वालिसुग्रीवयोस्तथा।
तथैव कालस्य समौ मृत्योश्चैव परंतपौ ॥ ३१ ॥

महाराज ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों महाबली वीर यमराज, इन्द्र, वरुण, श्रीकृष्ण, बलराम, कुबेर, मधु, कैटभ, सुन्द, उपसुन्द, राम, रावण तथा बाली और सुग्रीवके समान पराक्रम दिखानेवाले थे तथा काल एवं मृत्युके समान जान पड़ते थे ॥ २८–३१ ॥

अन्योन्यमभिधावन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ।
वासितासंगमे दृप्तौ शरदीव मदोत्कटौ ॥ ३२ ॥
उभौ क्रोधविषं दीप्तं वमन्तावुरगाविव।
अन्योन्यमभिसंरब्धौ प्रेक्षमाणावरिंदमौ ॥ ३३ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें मैथुनकी इच्छावाली हथिनीसे समागम करनेके लिये दो मतवाले हाथी मदोन्मत्त होकर एक दूसरेपर धावा करते हों, उसी प्रकार अपने बलका गर्व रखनेवाले वे दोनों वीर एक दूसरेसे टक्कर लेनेको उद्यत थे। शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों योद्धा दो सर्पोंके समान प्रज्वलित क्रोधरूपी विषका वमन करते हुए एक दूसरेको रोषपूर्वक देख रहे थे ॥ ३२-३३ ॥

उभौ भरतशार्दूलौ विक्रमेण समन्वितौ।
सिंहाविव दुराधर्षौ गदायुद्धविशारदौ ॥ ३४ ॥

भरतवंशके वे विक्रमशाली सिंह दो जंगली सिंहोंके समान दुर्जय थे और दोनों ही गदायुद्धके विशेषज्ञ माने जाते थे ॥ ३४ ॥

नखदंष्ट्रायुधौ वीरौ व्याघ्राविव दुरुत्सहौ।
प्रजासंहरणे क्षुब्धौ समुद्राविव दुस्तरौ ॥ ३५ ॥
लोहिताङ्गाविव क्रुद्धौ प्रतपन्तौ महारथौ।

पञ्जों और दाढ़ोंसे प्रहार करनेवाले दो व्याघ्रोंके समान उन दोनों वीरोंका वेग शत्रुओंके लिये दुःसह था। प्रलयकालमें विक्षुब्ध हुए दो समुद्रोंके समान उन्हें पार करना कठिन था। वे दोनों महारथी क्रोधमें भरे हुए दो मङ्गल ग्रहोंके समान एक दूसरेको ताप दे रहे थे ॥ ३५½ ॥

पूर्वपश्चिमजौ मेघौ प्रेक्षमाणावरिंदमौ ॥ ३६ ॥
गर्जमानौ सुविषमं क्षरन्तौ प्रावृषीव हि।

जैसे वर्षा ऋतुमें पूर्व और पश्चिम दिशाओंमें स्थित दो वृष्टिकारक मेघ भयंकर गर्जना कर रहे हों, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर एक दूसरेको देखते हुए भयानक सिंहनाद कर रहे थे ॥ ३६½ ॥

रश्मियुक्तौ महात्मानौ दीप्तिमन्तौ महाबलौ ॥ ३७ ॥
ददृशाते कुरुश्रेष्ठौ कालसूर्याविवोदितौ।

महामनस्वी महाबली कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन और भीमसेन प्रखर किरणोंसे युक्त, प्रलयकालमें उगे हुए दो दीप्तिशाली सूर्योंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३७½ ॥

व्याघ्राविव सुसंरब्धौ गर्जन्ताविव तोयदौ ॥ ३८ ॥
जहृषाते महाबाहू सिंहकेसरिणाविव।

रोषमें भरे हुए दो व्याघ्रों, गरजते हुए दो मेघों और दहाड़ते हुए दो सिंहोंके समान वे दोनों महाबाहु वीर हर्षोत्फुल्ल हो रहे थे ॥ ३८½ ॥

गजाविव सुसंरब्धौ ज्वलिताविव पावकौ ॥ ३९ ॥
ददृशाते महात्मानौ सशृङ्गाविव पर्वतौ।

वे दोनों महामनस्वी योद्धा परस्पर कुपित हुए दो हाथियों, प्रज्वलित हुई दो अग्नियों और शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३९½ ॥

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठौ निरीक्षन्तौ परस्परम् ॥ ४० ॥
तौ समेतौ महात्मानौ गदाहस्तौ नरोत्तमौ।

उन दोनोंके ओठ रोषसे फड़क रहे थे। वे दोनों नरश्रेष्ठ एक दूसरेपर दृष्टिपात करते हुए हाथमें गदा ले परस्पर भिड़नेके लिये उद्यत थे ॥ ४०½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ परमसम्मतौ ॥ ४१ ॥
सदश्वाविव हेषन्तौ बृहन्ताविव कुञ्जरौ।
वृषभाविव गर्जन्तौ दुर्योधनवृकोदरौ ॥ ४२ ॥
दैत्याविव बलोन्मत्तौ रेजतुस्तौ नरोत्तमौ।

दोनों अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरे थे। दोनों ही बड़े सम्मानित वीर थे। मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे दुर्योधन और भीमसेन

हींसते हुए दो अच्छे घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए दो गजराजों और हँकड़ते हुए दो साँड़ों तथा बलसे उन्मत्त हुए दो दैत्योंके समान शोभा पाते थे ॥ ४१-४२½ ॥

ततो दुर्योधनो राजन्निदमाह युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥
भ्रातृभिः सहितं चैव कृष्णेन च महात्मना ।
रामेणामितवीर्येण वाक्यं शौटीर्यसम्मतम् ॥ ४४ ॥
केकयैः सृञ्जयैर्दृप्तं पञ्चालैश्च महात्मभिः ।

राजन् ! तदनन्तर दुर्योधनने अमितपराक्रमी बलराम, महात्मा श्रीकृष्ण, महामनस्वी पाञ्चाल, सृंजय, केकयगण तथा अपने भाइयोंके साथ खड़े हुए अभिमानी युधिष्ठिरसे इस प्रकार गर्वयुक्त वचन कहा—॥ ४३-४४½ ॥

इदं व्यवसितं युद्धं मम भीमस्य चोभयोः ॥ ४५ ॥
उपोपविष्टाः पश्यध्वं सहितैर्नृपपुङ्गवैः ।

'वीरो ! मेरा और भीमसेनका जो यह युद्ध निश्चित हुआ है, इसे आपलोग सभी श्रेष्ठ नरेशोंके साथ निकट बैठकर देखिये' ॥ ४५½ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनवचः प्रत्यपद्यन्त तत्तथा ॥ ४६ ॥
ततः समुपविष्टं तत् सुमहद्राजमण्डलम् ।
विराजमानं ददृशे दिवीवादित्यमण्डलम् ॥ ४७ ॥
तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ।
उपविष्टो महाराज पूज्यमानः समन्ततः ॥ ४८ ॥
शुशुभे राजमध्यस्थो नीलवासाः सितप्रभः ।
नक्षत्रैरिव सम्पूर्णो वृतो निशि निशाकरः ॥ ४९ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब लोगोंने उसे स्वीकार कर लिया, फिर तो राजाओंका वह विशाल समूह वहाँ सब ओर बैठ गया । नरेशोंकी वह मण्डली आकाशमें सूर्यमण्डल-के समान दिखायी दे रही थी । उन सबके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णके बड़े भ्राता तेजस्वी महाबाहु बलरामजी विराजमान हुए । महाराज ! सब ओरसे सम्मानित होते हुए नीलाम्बर-धारी, गौरकान्ति बलभद्रजी राजाओंके बीचमें वैसे ही शोभा पा रहे थे, जैसे रात्रिमें नक्षत्रोंसे घिरे हुए पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ॥ ४६–४९ ॥

तौ तथा तु महाराज गदाहस्तौ सुदुःसहौ ।
अन्योन्यं वाग्भिरुग्राभिस्तक्षमाणौ व्यवस्थितौ॥ ५० ॥

महाराज ! हाथमें गदा लिये वे दोनों दुःसह वीर एक दूसरेको अपने कठोर वचनोंद्वारा पीड़ा देते हुए खड़े थे ॥ ५० ॥

अप्रियाणि ततोऽन्योन्यमुक्त्वा तौ कुरुसत्तमौ ।
उदीक्षन्तौ स्थितौ तत्र वृत्रशक्रौ यथाऽऽहवे ॥ ५१ ॥

परस्पर कटु वचनोंका प्रयोग करके वे दोनों कुरुकुलके श्रेष्ठतम वीर वहाँ युद्धस्थलमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान एक दूसरेको देखते हुए युद्धके लिये डटे रहे ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युद्धारम्भे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युद्धका आरम्भविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनके लिये अपशकुन, भीमसेनका उत्साह तथा भीम और दुर्योधनमें वाग्युद्धके पश्चात् गदायुद्धका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततो वाग्युद्धमभवत् तुमुलं जनमेजय ।
यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेन और दुर्योधनमें भयंकर वाग्युद्ध होने लगा । इस प्रसङ्गको सुनकर राजा धृतराष्ट्र बहुत दुखी हुए और संजयसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं यस्य निष्ठेयमीदृशी ।
एकादशचमूभर्ता यत्र पुत्रो ममानघ ॥ २ ॥
आज्ञाप्य सर्वान् नृपतीन् भुक्त्वा चेमां वसुंधराम् ।
गदामादाय वेगेन पदातिः प्रस्थितो रणे ॥ ३ ॥

'निष्पाप संजय ! जिसका परिणाम ऐसा दुःखद होता है, उस मानव-जन्मको धिक्कार है ! मेरा पुत्र एक दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका स्वामी था । उसने सब राजाओंपर हुक्म चलाया और सारी पृथ्वीका अकेले उपभोग किया; किंतु अन्तमें उसकी यह दशा हुई कि गदा हाथमें लेकर उसे वेगपूर्वक पैदल ही युद्धमें जाना पड़ा ॥ २-३ ॥

भूत्वा हि जगतो नाथो ह्यनाथ इव मे सुतः ।
गदामुद्यम्य यो याति किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४ ॥

'जो मेरा पुत्र सम्पूर्ण जगत्का नाथ था, वही अनाथकी भाँति गदा हाथमें लेकर युद्धस्थलमें पैदल जा रहा था । इसे भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ ४ ॥

अहो दुःखं महत् प्राप्तं पुत्रेण मम संजय ।
एवमुक्त्वा स दुःखार्तो विरराम जनाधिपः ॥ ५ ॥

'संजय ! हाय ! मेरे पुत्रने बड़ा भारी दुःख उठाया ।' ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र दुःखसे पीड़ित हो चुप हो रहे ॥ ५ ॥

संजय उवाच

स मेघनिनदो हर्षान्निनदन्निव गोवृषः ।
आजुहाव तदा पार्थं युद्धाय युधि वीर्यवान् ॥ ६ ॥

संजयने कहा—महाराज ! उस समय रणभूमिमें मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले पराक्रमी दुर्योधनने हर्षमें भरकर जोर-जोरसे शब्द करनेवाले साँड़की भाँति सिंहनाद करके कुन्तीपुत्र भीमसेनको युद्धके लिये ललकारा ॥ ६ ॥

भीममाह्वयमाने तु कुरुराजे महात्मनि ।

प्रादुरासन् सुघोराणि रूपाणि विविधान्युत ॥ ७ ॥

महामनस्वी कुरुराज दुर्योधन जब भीमसेनका आह्वान करने लगा, उस समय नाना प्रकारके भयंकर अपशकुन प्रकट हुए ॥ ७ ॥

ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांशुवर्षं पपात च ।
बभूवुश्च दिशः सर्वास्तिमिरेण समावृताः ॥ ८ ॥
महास्वनाः सनिर्घातास्तुमुला लोमहर्षणाः ।
पेतुस्तथोल्काः शतशः स्फोटयन्त्यो नभस्तलात्॥ ९ ॥
राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
चकम्पे च महाकम्पं पृथिवी सवनद्रुमा ॥ १० ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी, सब ओर धूलिकी वर्षा होने लगी, सम्पूर्ण दिशाएँ अन्धकार-से आच्छन्न हो गयीं, आकाशसे महान् शब्द तथा वज्रकी-सी गड़गड़ाहटके साथ रोंगटे खड़े कर देनेवाली सैकड़ों भयंकर उल्काएँ भूतलको विदीर्ण करती हुई गिरने लगीं। प्रजानाथ! अमावास्याके बिना ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ८–१० ॥

रूक्षाश्च वाताः प्रववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
गिरीणां शिखराण्येव न्यपतन्त महीतले ॥ ११ ॥

नीचे धूल और कंकड़की वर्षा करती हुई रूखी हवा चलने लगी । पर्वतोंके शिखर टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ ११ ॥

मृगा बहुविधाकाराः सम्पतन्ति दिशो दश ।
दीप्ताः शिवाश्चाप्यनदन् घोररूपाः सुदारुणाः ॥ १२ ॥

नाना प्रकारकी आकृतिवाले मृग दसों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे। अत्यन्त भयंकर एवं घोररूप धारण करनेवाली सियारिनें जिनका मुख अग्निसे प्रज्वलित हो रहा था, अमङ्गलसूचक बोली बोल रही थीं ॥ १२ ॥

निर्घाताश्च महाघोरा बभूवुर्लोमहर्षणाः ।
दीप्तायां दिशि राजेन्द्र मृगाश्चाशुभवेदिनः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी शब्द प्रकट हो रहे थे, दिशाएँ मानो जल रही थीं और मृग किसी भावी अमङ्गलकी सूचना दे रहे थे ॥ १३ ॥

उदपानगताश्चापो व्यवर्धन्त समन्ततः ।
अशरीरा महानादाः श्रूयन्ते स्म तदा नृप ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! कुओंके जल सब ओरसे अपने आप बढ़ने लगे और बिना शरीरके ही जोर-जोरसे गर्जनाएँ सुनायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

एवमादीनि दृष्ट्वाथ निमित्तानि वृकोदरः ।
उवाच भ्रातरं ज्येष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से अपशकुन देखकर भीमसेन अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले—॥ १५ ॥

नैष शक्तो रणे जेतुं मन्दात्मा मां सुयोधनः ।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निगूढं हृदये चिरम् ॥ १६ ॥
सुयोधने कौरवेन्द्रे खाण्डवेऽग्निमिवार्जुनः ।
शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पाण्डव हृच्छयम् ॥ १७ ॥

'भैया ! यह मन्दबुद्धि दुर्योधन रणभूमिमें मुझे किसी प्रकार परास्त नहीं कर सकता। आज मैं अपने हृदयमें चिरकालसे छिपाये हुए क्रोधको कौरवराज दुर्योधनपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे अर्जुनने खाण्डववनमें अग्निको छोड़ा था । पाण्डुनन्दन ! आज आपके हृदयका काँटा मैं निकाल दूँगा ॥ १६-१७ ॥

निहत्य गदया पापमिमं कुरुकुलाधमम् ।
अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्याम्यहं त्वयि ॥ १८ ॥

'मैं अपनी गदासे इस कुरुकुलाधम पापीको मारकर आज आपको कीर्तिमयी माला पहनाऊँगा ॥ १८ ॥

हत्वेमं पापकर्माणं गदया रणमूर्धनि ।
अद्यास्य शतधा देहं भिनद्मि गदयानया ॥ १९ ॥

'युद्धके मुहानेपर गदाके आघातसे इस पापीका वध करके आज इसी गदासे इसके शरीरके सौ-सौ टुकड़े कर डालूँगा ॥ १९ ॥

नायं प्रवेष्टा नगरं पुनर्वारणसाह्वयम् ।
सर्पोत्सर्गस्य शयने विषदानस्य भोजने ॥ २० ॥
प्रमाणकोट्यां पातस्य दाहस्य जतुवेश्मनि ।
सभायामवहासस्य सर्वस्वहरणस्य च ॥ २१ ॥
वर्षमज्ञातवासस्य वनवासस्य चानघ ।
अद्यान्तमेषां दुःखानां गन्ताहं भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'अब फिर कभी यह हस्तिनापुरमें प्रवेश नहीं करेगा। भरतश्रेष्ठ ! इसने जो मेरी शय्यापर साँप छोड़ा था, भोजनमें विष दिया था, प्रमाणकोटिके जलमें मुझे गिराया था, लाक्षा-गृहमें जलानेकी चेष्टा की थी, भरी सभामें मेरा उपहास किया था, सर्वस्व हर लिया था तथा बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवासके लिये विवश किया था; इसके द्वारा प्राप्त हुए मैं इन सभी दुःखोंका अन्त कर डालूँगा ॥२०–२२॥

एकाह्ना विनिहत्येमं भविष्याम्यात्मनोऽनृणः ।
अद्यायुर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेरकृतात्मनः ॥ २३ ॥
समाप्तं भरतश्रेष्ठ मातापित्रोश्च दर्शनम् ।

'आज एक दिनमें इसका वध करके मैं अपने आपसे उऋण हो जाऊँगा। भरतभूषण ! आज दुर्बुद्धि एवं अजितात्मा धृतराष्ट्रपुत्रकी आयु समाप्त हो गयी है। इसे माता-पिताके दर्शनका अवसर भी अब नहीं मिलनेवाला है।२३½।

अद्य सौख्यं तु राजेन्द्र कुरुराजस्य दुर्मतेः ॥ २४ ॥
समाप्तं च महाराज नारीणां दर्शनं पुनः ।

'राजेन्द्र ! महाराज ! आज खोटी बुद्धिवाले कुरुराज दुर्योधनका सारा सुख समाप्त हो गया। अब इसके लिये पुनः अपनी स्त्रियोंको देखना और उनसे मिलना असम्भव है ॥ २४½ ॥

अद्यायं कुरुराजस्य शान्तनोः कुलपांसनः ॥ २५ ॥
प्राणान् श्रियं च राज्यं च त्यक्त्वा शेष्यति भूतले ।

'कुरुराज शान्तनुके कुलका यह जीता-जागता कलंक

आज अपने प्राण, लक्ष्मी तथा राज्यको छोड़कर सदाके लिये पृथ्वीपर सो जायगा ॥ २५½ ॥

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं निपातितम् ॥ २६ ॥
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत्तच्छकुनिबुद्धिजम् ।

'आज राजा धृतराष्ट्र अपने इस पुत्रको मारा गया सुनकर अपने उन अशुभ कर्मोंको याद करेंगे, जिन्हें उन्होंने शकुनिकी सलाहके अनुसार किया था' ॥ २६½ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूल गदामादाय वीर्यवान् ॥ २७ ॥
अभ्यतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ।

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर पराक्रमी भीमसेन हाथमें गदा ले युद्धके लिये खड़े हो गये और जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको ललकारा था, उसी प्रकार वे दुर्योधनका आह्वान करने लगे ॥ २७½ ॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ॥ २८ ॥
भीमसेनः पुनः क्रुद्धो दुर्योधनमुवाच ह ।

शिखरयुक्त कैलास पर्वतके समान गदा उठाये दुर्योधनको खड़ा देख भीमसेन पुनः कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ २८½ ॥

राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य तथा त्वमपि चात्मनः ॥ २९ ॥
स्मर तद् दुष्कृतं कर्म यद् वृत्तं वारणावते ।

'दुर्योधन ! वारणावत नगरमें जो कुछ हुआ था, राजा धृतराष्ट्रके और अपने भी उस कुकर्मको तू याद कर ले २९½

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला ॥ ३० ॥
द्यूते न वञ्चितो राजा यत् त्वया सौबलेन च ।
वने दुःखं च यत् प्राप्तमस्माभिस्त्वत्कृतं महत् ॥ ३१ ॥
विराटनगरे चैव योन्यन्तरगतैरिव ।
तत् सर्वं पातयाम्यद्य दिष्ट्या दृष्टोऽसि दुर्मते ॥ ३२ ॥

'तूने भरी सभामें जो रजस्वला द्रौपदीको अपमानित करके उसे क्लेश पहुँचाया था, सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा जूएमें जो राजा युधिष्ठिरको ठग लिया था, तुम्हारे कारण हम सब लोगोंने जो वनमें महान् दुःख उठाया था और विराटनगरमें जो हमें दूसरी योनिमें गये हुए प्राणियोंके समान रहना पड़ा था; इन सब कष्टोंके कारण मेरे मनमें जो क्रोध संचित है, वह सब-का-सब आज तुझपर डाल दूँगा। दुर्मते ! सौभाग्यसे आज तू मुझे दीख गया है ॥ ३०—३२ ॥

त्वत्कृतेऽसौ हतः शेते शरतल्पे प्रतापवान् ।
गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठो निहतो याज्ञसेनिना ॥ ३३ ॥

'तेरे ही कारण रथियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी गङ्गानन्दन भीष्म द्रुपदकुमार शिखण्डीके हाथसे मारे जाकर बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ३३ ॥

हतो द्रोणश्च कर्णश्च तथा शल्यः प्रतापवान् ।
वैराग्नेरादिकर्तासौ शकुनिः सौबलो हतः ॥ ३४ ॥

'द्रोणाचार्य, कर्ण और प्रतापी शल्य मारे गये तथा इस वैरकी आगको प्रज्वलित करनेमें जिसका सबसे पहला हाथ था, वह सुबलपुत्र शकुनि भी मार डाला गया ॥ ३४ ॥

प्रातिकामी तथा पापो द्रौपद्याः क्लेशकृद्धतः ।
भ्रातरस्ते हताः सर्वे शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ३५ ॥

'द्रौपदीको क्लेश देनेवाला पापात्मा प्रातिकामी भी मारा गया । साथ ही जो पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले थे, वे तेरे सभी शूरवीर भाई भी मारे जा चुके हैं ॥

एते चान्ये च बहवो निहतास्त्वत्कृते नृपाः ।
त्वामद्य निहनिष्यामि गदया नात्र संशयः ॥ ३६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से नरेश तेरे लिये युद्धमें मारे गये हैं । आज तुझे भी गदासे मार गिराऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३६ ॥

इत्येवमुच्चै राजेन्द्र भाषमाणं वृकोदरम् ।
उवाच गतभी राजन् पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार उच्च स्वरसे बोलनेवाले भीमसेनसे आपके सत्यपराक्रमी पुत्रने निर्भय होकर कहा—॥ ३७ ॥

किं कत्थनेन बहुना युध्यस्व त्वं वृकोदर ।
अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां कुलाधम ॥ ३८ ॥

'वृकोदर ! बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? तू मेरे साथ संग्राम कर ले । कुलाधम ! आज मैं तेरा युद्धका हौसला मिटा दूँगा ॥ ३८ ॥

न हि दुर्योधनः क्षुद्र केनचित् त्वद्विधेन वै ।
शक्यस्त्रासयितुं वाचा यथान्यः प्राकृतो नरः ॥ ३९ ॥

'ओ नीच ! तेरे-जैसा कोई भी मनुष्य अन्य प्राकृत पुरुषके समान दुर्योधनकोवाणीद्वारा नहीं डरा सकता ॥३९॥

चिरकालेप्सितं दिष्ट्या हृदयस्थमिदं मम ।
त्वया सह गदायुद्धं त्रिदशैरुपपादितम् ॥ ४० ॥

'सौभाग्यकी बात है कि मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो तेरे साथ गदायुद्ध करनेकी अभिलाषा थी, उसे देवताओंने पूर्ण कर दिया ॥ ४० ॥

किं वाचा बहुनोक्तेन कत्थितेन च दुर्मते ।
वाणी सम्पद्यतामेषा कर्मणा मा चिरं कृथाः ॥ ४१ ॥

'दुर्बुद्धे ! वाणीद्वारा बहुत शेखी बघारनेसे क्या होगा? तू जो कुछ कहता है, उसे शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत कर'॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्व एवाभ्यपूजयन् ।
राजानः सोमकाश्चैव ये तत्रासन् समागताः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर वहाँ आये हुए समस्त राजाओं तथा सोमकोंने उसकी बड़ी सराहना की ॥ ४२ ॥

ततः सम्पूजितः सर्वैः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
भूयो धीरां मतिं चक्रे युद्धाय कुरुनन्दनः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सबसे सम्मानित हो कुरुनन्दन दुर्योधनने युद्धके लिये धीर बुद्धिका आश्रय लिया । उस समय उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया था ॥ ४३ ॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं तलशब्दैर्नराधिपाः ।
भूयः संहर्षयांचक्रुर्दुर्योधनममर्षणम् ॥ ४४ ॥

इसके बाद जैसे लोग ताली बजाकर मतवाले हाथीको कुपित कर देते हैं, उसी प्रकार राजाओंने ताली पीटकर

दुर्योधन और भीमका गदायुद्ध

अमर्षशील दुर्योधनको पुनः हर्ष और उत्साहसे भर दिया ॥

तं महात्मा महात्मानं गदामुद्यम्य पाण्डवः।
अभिदुद्राव वेगेन धार्तराष्ट्रं वृकोदरः ॥ ४५ ॥

महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने गदा उठाकर आपके महामना पुत्र दुर्योधनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ४५ ॥

बृंहन्ति कुञ्जरास्तत्र हया हेषन्ति चासकृत्।
शस्त्राणि चाप्यदीप्यन्त पाण्डवानां जयैषिणाम्॥ ४६ ॥

उस समय हाथी बारंबार चिग्घाड़ने और घोड़े हिनहिनाने लगे। साथ ही विजयाभिलाषी पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र चमक उठे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि गदायुद्धारम्भे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें गदायुद्धका आरम्भविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन और दुर्योधनका गदायुद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो दृष्ट्वा भीमसेनं तथागतम्।
प्रत्युद्ययावदीनात्मा वेगेन महता नदन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर उदारहृदय दुर्योधनने भीमसेनको इस प्रकार आक्रमण करते देख स्वयं भी गर्जना करते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़कर उनका सामना किया॥

समापेततुरन्योन्यं शृङ्गिणौ वृषभाविव।
महानिर्घातघोषश्च प्रहाराणामजायत ॥ २ ॥

वे दोनों बड़े-बड़े सींगवाले दो साँड़ोंके समान एक-दूसरेसे भिड़ गये। उनके प्रहारोंकी आवाज महान् वज्रपातके समान भयंकर जान पड़ती थी ॥ २ ॥

अभवच्च तयोर्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
जिगीषतोर्यथान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ ३ ॥

एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले उन दोनोंमें इन्द्र और प्रह्लादके समान भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गौ गदाहस्तौ मनस्विनौ।
ददृशाते महात्मानौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४ ॥

उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये थे। हाथमें गदा लिये वे दोनों महामना मनस्वी वीर फूले हुए दो पलाश-वृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

तथा तस्मिन् महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे।
खद्योतसंघैरिव खं दर्शनीयं व्यरोचत ॥ ५ ॥

उस अत्यन्त भयंकर महायुद्धके चालू होनेपर गदाओंके आघातसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं। वे आकाशमें जुगनुओंके दलके समान जान पड़ती थीं और उनसे वहाँके आकाशकी दर्शनीय शोभा हो रही थी ॥ ५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम्।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिंदमौ ॥ ६ ॥

इस प्रकार चलते हुए उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्धमें लड़ते-लड़ते वे दोनों शत्रुदमन वीर बहुत थक गये ॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परंतपौ।
सम्प्रहारयतां चित्रे सम्प्रगृह्य गदे शुभे ॥ ७ ॥

फिर उन दोनोंने दो घड़ीतक विश्राम किया। इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों योद्धा फिर विचित्र एवं सुन्दर गदाएँ हाथमें लेकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे॥

तौ तु दृष्ट्वा महावीर्यौ समाश्वस्तौ नरर्षभौ।
बलिनौ वारणौ यद्वद्वा सितार्थे मदोत्कटौ ॥ ८ ॥
समानवीर्यौ सम्प्रेक्ष्य प्रगृहीतगदावुभौ।
विस्मयं परमं जग्मुर्देवगन्धर्वमानवाः ॥ ९ ॥

उन समान बलशाली महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंने विश्राम करके पुनः हाथमें गदा ले ली और मैथुनकी इच्छावाली हथिनीके लिये लड़नेवाले दो बलवान् एवं मदोन्मत्त गजराजोंके समान पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया है, यह देखकर देवता, गन्धर्व और मनुष्य सभी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे ॥ ८-९ ॥

प्रगृहीतगदौ दृष्ट्वा दुर्योधनवृकोदरौ।
संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत ॥ १० ॥

दुर्योधन और भीमसेनको पुनः गदा उठाये देख उनमेंसे किसी एकको विजयके सम्बन्धमें समस्त प्राणियोंके हृदयमें संशय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

समागम्य ततो भूयो भ्रातरौ बलिनां वरौ।
अन्योन्यस्यान्तरप्रेप्सू प्रचक्रातेऽन्तरं प्रति ॥ ११ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों भाइयोंमें जब पुनः भिड़न्त हुई तो दोनों ही दोनोंके चूकनेका अवसर देखते हुए पैंतरे बदलने लगे ॥ ११ ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिमिवोद्यताम्।
ददृशुः प्रेक्षका राजन् रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १२ ॥
आविद्ध्यतो गदां तस्य भीमसेनस्य संयुगे।
शब्दः सुतुमुलो घोरो मुहूर्तं समपद्यत ॥ १३ ॥

राजन्! उस समय युद्धस्थलमें जब भीमसेन अपनी गदा घुमाने लगे, तब दर्शकोंने देखा, उनकी भारी गदा यमदण्डके समान भयंकर है। वह इन्द्रके वज्रके समान ऊपर उठी हुई है और शत्रुको छिन्न-भिन्न कर डालनेमें समर्थ है। गदा घुमाते समय उसकी घोर एवं भयानक आवाज वहाँ दो घड़ीतक गूँजती रही ॥ १२-१३ ॥

आविद्ध्यन्तमरिं प्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रोऽथ पाण्डवम्।
गदामतुलवेगां तां विस्मितः सम्बभूव ह ॥ १४ ॥

आपका पुत्र दुर्योधन अपने शत्रु पाण्डुकुमार भीमसेनको वह अनुपम वेगशालिनी गदा घुमाते देख आश्चर्यमें पड़ गया॥

चरंश्च विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भारत ।
अशोभत तदा वीरो भूय एव वृकोदरः ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! वीर भीमसेन भाँति-भाँतिके मार्गों और मण्डलोंका प्रदर्शन करते हुए पुनः बड़ी शोभा पाने लगे ॥

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यरक्षणे ।
मार्जाराविव भक्षार्थे ततक्षाते मुहुर्मुहुः ॥ १६ ॥

वे दोनों परस्पर भिड़कर एक दूसरेसे अपनी रक्षाके लिये प्रयत्नशील हो रोटीके टुकड़ोंके लिये लड़नेवाले दो बिलावोंके समान बारंबार आघात-प्रतिघात कर रहे थे ॥ १६ ॥

अचरद् भीमसेनस्तु मार्गान् बहुविधांस्तथा ।
मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ १७ ॥

उस समय भीमसेन नाना प्रकारके मार्ग और विचित्र मण्डल दिखाने लगे । वे कभी शत्रुके सम्मुख आगे बढ़ते और कभी उसका सामना करते हुए ही पीछे हट आते थे ॥

अस्त्रयन्त्राणि चित्राणि स्थानानि विविधानि च ।
परिमोक्षं प्रहाराणां वर्जनं परिधावनम् ॥ १८ ॥

विचित्र अस्त्र-यन्त्रों और भाँति-भाँतिके स्थानोंका प्रदर्शन करते हुए वे दोनों शत्रुके प्रहारोंसे अपनेको बचाते, विपक्षीके प्रहारको व्यर्थ कर देते और दायें-बायें दौड़ लगाते थे ॥१८॥

अभिद्रवणमाक्षेपमवस्थानं सविग्रहम् ।
परिवर्तनसंवर्तमवप्लुतमुपप्लुतम् ॥ १९ ॥
उपन्यस्तमपन्यस्तं गदायुद्धविशारदौ ।
एवं तौ विचरन्तौ तु परस्परमविध्यताम् ॥ २० ॥

कभी वेगसे एक-दूसरेके सामने जाते, कभी विरोधीको गिरानेकी चेष्टा करते, कभी स्थिरभावसे खड़े होते, कभी गिरे हुए शत्रुके उठनेपर पुनः उसके साथ युद्ध करते, कभी विरोधीपर प्रहार करनेके लिये चक्कर काटते, कभी शत्रुके बढ़ावको रोक देते, कभी विपक्षीके प्रहारको विफल करनेके लिये झुककर निकल जाते, कभी उछलते-कूदते, कभी निकट आकर गदाका प्रहार करते और कभी लौटकर पीछेकी ओर किये हुए हाथसे शत्रुपर आघात करते थे । दोनों ही गदा-युद्धके विशेषज्ञ थे और इस प्रकार पैंतरे बदलते हुए एक-दूसरेपर चोट करते थे ॥ १९-२० ॥

वञ्चयानौ पुनश्चैव चेरतुः कुरुसत्तमौ ।
विक्रीडन्तौ सुबलिनौ मण्डलानि विचेरतुः ॥ २१ ॥

कुरुकुलके वे दोनों श्रेष्ठ और बलवान् वीर विपक्षीको चकमा देते हुए बारंबार युद्धके खेल दिखाते तथा पैंतरे बदलते थे ॥ २१ ॥

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ।
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिंदमौ ॥ २२ ॥

समराङ्गणमें सब ओर युद्धकी क्रीडाका प्रदर्शन करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरोंने सहसा अपनी गदाओंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार किया ॥ २२ ॥

परस्परं समासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ।
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ॥ २३ ॥

महाराज ! जैसे दो हाथी अपने दाँतोंसे परस्पर प्रहार करके लहू-लुहान हो जाते हैं, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेपर चोट करके खूनसे भीगकर शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

एवं तदभवद् युद्धं घोररूपं परंतप ।
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! इस प्रकार दिनकी समाप्तिके समय उन दोनों वीरोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान क्रूरतापूर्ण एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २४ ॥

गदाहस्तौ ततस्तौ तु मण्डलावस्थितौ बली ।
दक्षिणं मण्डलं राजन् धार्तराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ॥ २५ ॥
सव्यं तु मण्डलं तत्र भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।

राजन् ! दोनों ही हाथमें गदा लेकर मण्डलाकार युद्ध-स्थलमें खड़े थे । उनमेंसे बलवान् दुर्योधन दक्षिण मण्डलमें खड़ा था और भीमसेन बायें मण्डलमें ॥ २५½ ॥

तथा तु चरतस्तस्य भीमस्य रणमूर्धनि ॥ २६ ॥
दुर्योधनो महाराज पार्श्वदेशेऽभ्यताडयत् ।

महाराज ! युद्धके मुहानेपर वाममण्डलमें विचरते हुए भीमसेनकी पसलीमें दुर्योधनने गदा मारी ॥ २६½ ॥

आहतस्तु ततो भीमः पुत्रेण तव भारत ॥ २७ ॥
आविद्ध्यत गदां गुर्वीं प्रहारं तमचिन्तयन् ।

भरतनन्दन ! आपके पुत्रद्वारा आहत किये गये भीमसेन उस प्रहारको कुछ भी न गिनते हुए अपनी भारी गदा घुमाने लगे ॥ २७½ ॥

इन्द्राशनिसमां घोरां यमदण्डमिवोद्यताम् ॥ २८ ॥
ददृशुस्ते महाराज भीमसेनस्य तां गदाम् ।

राजेन्द्र ! दर्शकोंने भीमसेनकी उस भयंकर गदाको इन्द्रके वज्र और यमराजके दण्डके समान उठी हुई देखा ॥

आविध्यन्तं गदां दृष्ट्वा भीमसेनं तवात्मजः ॥ २९ ॥
समुद्यम्य गदां घोरां प्रत्यविध्यत् परंतपः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीमसेनको गदा घुमाते देख अपनी भयंकर गदा उठाकर उनकी गदापर दे मारी ॥ २९½ ॥

गदामारुतवेगेन तव पुत्रस्य भारत ॥ ३० ॥
शब्द आसीत् सुतुमुलस्तेजश्च समजायत ।

भारत ! आपके पुत्रकी वायुतुल्य गदाके वेगसे उस गदाके टकरानेपर बड़े जोरका शब्द हुआ और दोनों गदाओंसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं ॥ ३०½ ॥

स चरन् विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भागशः॥ ३१॥
समशोभत तेजस्वी भूयो भीमात् सुयोधनः ।

नाना प्रकारके मार्गों और भिन्न-भिन्न मण्डलोंसे विचरते हुए तेजस्वी दुर्योधनकी उस समय भीमसेनसे अधिक शोभा हुई॥

आविद्धा सर्ववेगेन भीमेन महती गदा ॥ ३२ ॥
सधूमं सार्चिषं चाग्निं मुमोचोग्रमहास्वना ।

भीमसेनके द्वारा सम्पूर्ण वेगसे घुमायी गयी वह विशाल गदा उस समय भयंकर शब्द करती हुई धूम और ज्वालाओं-सहित आग प्रकट करने लगी ॥ ३२½ ॥

आधूतां भीमसेनेन गदां दृष्ट्वा सुयोधनः ॥ ३३ ॥
अद्रिसारमयीं गुर्वीमाविध्यन् बह्वशोभत ।

भीमसेनके द्वारा घुमायी गयी उस गदाको देखकर दुर्योधन भी अपनी लोहमयी भारी गदाको घुमाता हुआ अधिक शोभा पाने लगा ॥ ३३½ ॥

गदामारुतवेगं हि दृष्ट्वा तस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥
भयं विवेश पाण्डूंस्तु सर्वानेव ससोमकान् ।

उस महामनस्वी वीरकी वायुतुल्य गदाके वेगको देखकर सोमकोंसहित समस्त पाण्डवोंके मनमें भय समा गया ॥

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ॥ ३५ ॥
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिंदमौ ।

समराङ्गणमें सब ओर युद्धकी क्रीडाका प्रदर्शन करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरोंने सहसा अपनी गदाओंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार किया ॥ ३५½ ॥

तौ परस्परमासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ॥ ३६ ॥
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ।

महाराज ! जैसे दो हाथी अपने दाँतोंसे परस्पर प्रहार करके लहू-लुहान हो जाते हैं, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेपर चोट करके खूनसे लथपथ हो अद्भुत शोभा पाने लगे ॥

एवं तदभवद् युद्धं घोररूपमसंवृतम् ॥ ३७ ॥
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ।

इस प्रकार दिनकी समाप्तिके समय, उन दोनों वीरोंमें प्रकटरूपमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान क्रूरतापूर्ण एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३७½ ॥

दृष्ट्वा व्यवस्थितं भीमं तव पुत्रो महाबलः ॥ ३८ ॥
चरंश्चित्रतरान् मार्गान् कौन्तेयमभिदुद्रुवे ।

तदनन्तर विचित्र मार्गोंसे विचरते हुए आपके महाबली पुत्रने कुन्तीकुमार भीमसेनको खड़ा देख उनपर सहसा आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

तस्य भीमो महावेगां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ३९ ॥
अतिक्रुद्धस्य क्रुद्धस्तु ताडयामास तां गदाम् ।

यह देख क्रोधमें भरे भीमसेनने अत्यन्त कुपित हुए दुर्योधनकी सुवर्णजटित उस महावेगशालिनी गदापर ही अपनी गदासे आघात किया ॥ ३९½ ॥

सविस्फुलिङ्गो निर्ह्रादस्तयोस्तत्राभिघातजः ॥ ४० ॥
प्रादुरासीन्महाराज सृष्टयोर्वज्रयोरिव ॥

महाराज ! उन दोनों गदाओंके टकरानेसे भयंकर शब्द हुआ और आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं । उस समय ऐसा जान पड़ा, मानो दोनों ओरसे छोड़े गये दो वज्र परस्पर टकरा गये हों ॥ ४०½ ॥

वेगवत्या तया तत्र भीमसेनप्रमुक्तया ॥ ४१ ॥
निपतन्त्या महाराज पृथिवी समकम्पत ।

राजेन्द्र ! भीमसेनकी छोड़ी हुई उस वेगवती गदाके गिरनेसे धरती डोलने लगी ॥ ४१½ ॥

तां नामृष्यत कौरव्यो गदां प्रतिहतां रणे ॥ ४२ ॥
मत्तो द्विप इव क्रुद्धः प्रतिकुञ्जरदर्शनात् ।

जैसे क्रोधमें भरा हुआ मतवाला हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी गजराजको देखकर सहन नहीं कर पाता, उसी प्रकार रणभूमिमें अपनी गदाको प्रतिहत हुई देख कुरुवंशी दुर्योधन नहीं सह सका ॥ ४२½ ॥

स सव्यं मण्डलं राजा उद्भ्राम्य कृतनिश्चयः ॥ ४३ ॥
आजघ्ने मूर्ध्नि कौन्तेयं गदया भीमवेगया ।

तत्पश्चात् राजा दुर्योधनने अपने मनमें दृढ़ निश्चय लेकर बायें मण्डलसे चक्कर लगाते हुए अपनी भयंकर वेगशाली गदासे कुन्तीकुमार भीमसेनके मस्तकपर प्रहार किया ॥४३½॥

तया त्वभिहतो भीमः पुत्रेण तव पाण्डवः ॥ ४४ ॥
नाकम्पत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

महाराज ! आपके पुत्रके आघातसे पीड़ित होनेपर भी पाण्डुपुत्र भीमसेन विचलित नहीं हुए । वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४४½ ॥

आश्चर्यं चापि तद् राजन् सर्वसैन्यान्यपूजयन् ॥ ४५ ॥
यद् गदाभिहतो भीमो नाकम्पत पदात् पदम् ।

राजन् ! गदाकी चोट खाकर भी जो भीमसेन एक पग भी इधर-उधर नहीं हुए, वह महान् आश्चर्यकी बात थी, जिसकी सभी सैनिकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ४५½ ॥

ततो गुरुतरां दीप्तां गदां हेमपरिष्कृताम् ॥ ४६ ॥
दुर्योधनाय व्यसृजद् भीमो भीमपराक्रमः ।

तदनन्तर भयंकर पराक्रमी भीमसेनने दुर्योधनपर अपनी सुवर्णजटित तेजस्विनी एवं बड़ी भारी गदा छोड़ी ॥ ४६½ ॥

तं प्रहारमसम्भ्रान्तो लाघवेन महाबलः ॥ ४७ ॥
मोघं दुर्योधनश्चक्रे तत्राभूद् विस्मयो महान् ।

परंतु महाबली दुर्योधनको इससे तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उसने फुर्तीसे इधर-उधर होकर उस प्रहारको व्यर्थ कर दिया । यह देख वहाँ सब लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ॥

सा तु मोघा गदा राजन् पतन्ती भीमचोदिता ॥ ४८ ॥
चालयामास पृथिवीं महानिर्घातनिःस्वना ।

राजन् ! भीमसेनकी चलायी हुई वह गदा जब व्यर्थ होकर गिरने लगी, उस समय उसने वज्रपातके समान महान् शब्द प्रकट करके पृथ्वीको हिला दिया ॥ ४८½ ॥

आस्थाय कौशिकान् मार्गानुत्पतन् स पुनः पुनः॥ ४९ ॥
गदानिपातं प्रज्ञाय भीमसेनं च वञ्चितम् ।
वञ्चयित्वा तदा भीमं गदया कुरुसत्तमः ॥ ५० ॥
ताडयामास संक्रुद्धो वक्षोदेशे महाबलः ।

जब राजा दुर्योधनने देखा कि भीमसेनकी गदा नीचे गिर गयी और उनका वार खाली गया, तब क्रोधमें भरे हुए महाबली कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनने कौशिक मार्गोंका आश्रय ले बार-बार उछलकर भीमसेनको धोखा देकर उनकी छातीमें गदा मारी ॥ ४९-५०½ ॥

गदया निहतो भीमो मुह्यमानो महारणे ॥ ५१ ॥
नाभ्यमन्यत कर्तव्यं पुत्रेणाभ्याहतस्तव ।

उस महासमरमें आपके पुत्रकी गदाकी चोट खाकर भीमसेन मूर्च्छित-से हो गये और एक क्षणतक उन्हें अपने कर्तव्यका ज्ञानतक न रहा ॥ ५१½ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने राजन् सोमकपाण्डवाः ॥ ५२ ॥
भृशोपहतसंकल्पा न हृष्टमनसोऽभवन् ।

राजन् ! जब भीमसेनकी ऐसी अवस्था हो गयी, उस समय सोमक और पाण्डव बहुत ही खिन्न और उदास हो गये । उनकी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ॥ ५२½ ॥

स तु तेन प्रहारेण मातङ्ग इव रोषितः ॥ ५३ ॥
हस्तिवद्धस्तिसंकाशमभिदुद्राव ते सुतम् ।

उस प्रहारसे भीमसेन मतवाले हाथीकी भाँति कुपित हो उठे और जैसे एक गजराज दूसरे गजराजपर धावा करता है, उसी प्रकार उन्होंने आपके पुत्रपर आक्रमण किया ॥५३½॥

ततस्तु तरसा भीमो गदया तनयं तव ॥ ५४ ॥
अभिदुद्राव वेगेन सिंहो वनगजं यथा ।

जैसे सिंह जंगली हाथीपर झपटता है, उसी प्रकार भीमसेन गदा लेकर बड़े वेगसे आपके पुत्रकी ओर दौड़े ॥५४½॥

उपसृत्य तु राजानं गदामोक्षविशारदः ॥ ५५ ॥
आविध्यत गदां राजन् समुद्दिश्य सुतं तव ।
अताडयद् भीमसेनः पार्श्वे दुर्योधनं तदा ॥ ५६ ॥

राजन् ! गदाका प्रहार करनेमें कुशल भीमसेनने आपके पुत्र राजा दुर्योधनके निकट पहुँचकर गदा घुमायी और उसे मार डालनेके उद्देश्यसे उसकी पसलीमें आघात किया ॥

स विह्वलः प्रहारेण जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तस्मिन् कुरुकुलश्रेष्ठे जानुभ्यामवनीं गते ॥ ५७ ॥
उदतिष्ठत् ततो नादः सृंजयानां जगत्पते ।

राजन् ! उस प्रहारसे व्याकुल हो आपका पुत्र पृथ्वीपर घुटने टेककर बैठ गया । उस कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर दुर्योधनके घुटने टेक देनेपर सृंजयोंने बड़े जोरसे हर्षध्वनि की ॥५७½॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सृंजयानां नरर्षभः ॥ ५८ ॥
अमर्षाद् भरतश्रेष्ठ पुत्रस्ते समकुप्यत ।
उत्थाय तु महाबाहुर्महानाग इव श्वसन् ॥ ५९ ॥
दिधक्षन्निव नेत्राभ्यां भीमसेनमवैक्षत ।

भरतश्रेष्ठ ! उन सृंजयोंका वह सिंहनाद सुनकर पुरुषप्रवर आपका महाबाहु पुत्र दुर्योधन अमर्षसे कुपित हो उठा और खड़ा होकर महान् सर्पके समान फुंकार करने लगा । उसने दोनों आँखोंसे भीमसेनकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालना चाहता हो ॥ ५८-५९½ ॥

ततः स भरतश्रेष्ठो गदापाणिरभिद्रवन् ॥ ६० ॥
प्रमथिष्यन्निव शिरो भीमसेनस्य संयुगे ।

भरतवंशका वह श्रेष्ठ वीर हाथमें गदा लेकर युद्धस्थलमें भीमसेनका मस्तक कुचल डालनेके लिये उनकी ओर दौड़ा ॥

स महात्मा महात्मानं भीमं भीमपराक्रमः ॥ ६१ ॥
अताडयच्छङ्खदेशे न चचालाचलोपमः ।

पास पहुँचकर उस भयंकर पराक्रमी महामनस्वी वीरने महामना भीमसेनके ललाटपर गदासे आघात किया, परंतु भीमसेन पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े रह गये, तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ६१½ ॥

स भूयः शुशुभे पार्थस्ताडितो गदया रणे ।
उद्भिन्नरुधिरो राजन् प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ६२ ॥

राजन् ! रणभूमिमें उस गदाकी चोट खाकर भीमसेनके मस्तकसे रक्तकी धारा बह चली और वे मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान अधिक शोभा पाने लगे ॥ ६२ ॥

ततो गदां वीरहणीमयोमयीं
प्रगृह्य वज्राशनितुल्यनिःस्वनाम् ।
अताडयच्छत्रुममित्रकर्षणो
बलेन विक्रम्य धनंजयाग्रजः ॥ ६३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके बड़े भाई शत्रुसूदन भीमसेनने बलपूर्वक पराक्रम प्रकट करके वज्र और अशनिके तुल्य महान् शब्द करनेवाली वीरविनाशिनी लोहमयी गदा हाथमें लेकर उसके द्वारा अपने शत्रुपर प्रहार किया ॥ ६३ ॥

स भीमसेनाभिहतस्तवात्मजः
पपात संकम्पितदेहबन्धनः ।
सुपुष्पितो मारुतवेगताडितो
वने यथा शाल इवावघूर्णितः ॥ ६४ ॥

भीमसेनके उस प्रहारसे आहत होकर आपके पुत्रके शरीरकी नस-नस ढीली हो गयी और वह वायुके वेगसे प्रताड़ित हो झोंके खानेवाले विकसित शालवृक्षकी भाँति काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६४ ॥

ततः प्रणेदुर्जहृषुश्च पाण्डवाः
समीक्ष्य पुत्रं पतितं क्षितौ तव ।
ततः सुतस्ते प्रतिलभ्य चेतनां
समुत्पपात द्विरदो यथा ह्रदात् ॥ ६५ ॥

आपके पुत्रको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षमें भरकर सिंहनाद करने लगे । इतनेहीमें आपका पुत्र होशमें आ गया और सरोवरसे निकले हुए हाथीके समान उछलकर खड़ा हो गया ॥ ६५ ॥

स पार्थिवो नित्यममर्षितस्तदा
महारथः शिक्षितवत् परिभ्रमन् ।
अताडयत् पाण्डवमग्रतः स्थितं
स विह्वलाङ्गो जगतीमुपास्पृशत् ॥ ६६ ॥

सदा अमर्षमें भरे रहनेवाले महारथी राजा दुर्योधनने एक शिक्षित योद्धाकी भाँति विचरते हुए अपने सामने खड़े भीमसेनपर पुनः गदाका प्रहार किया । उसकी चोट खाकर भीमसेनका सारा शरीर शिथिल हो गया और उन्होंने धरती थाम ली ॥

स सिंहनादं विननाद कौरवो
निपात्य भूमौ युधि भीममोजसा ।
बिभेद चैवाशनितुल्यमोजसा
गदानिपातेन शरीररक्षणम् ॥ ६७ ॥

भीमसेनको युद्धस्थलमें बलपूर्वक भूमिपर गिराकर कुरुराज दुर्योधन सिंहके समान दहाड़ने लगा । उसने सारी शक्ति

लगाकर चलायी हुई गदाके आघातसे भीमसेनके वज्रतुल्य कवचका भेदन कर दिया था ॥ ६७ ॥

ततोऽन्तरिक्षे निनदो महानभूद्
दिवौकसामप्सरसां च नेदुषाम्।
पपात चोच्चैरमरप्रवेरितं
विचित्रपुष्पोत्करवर्षमुत्तमम् ॥ ६८ ॥

उस समय आकाशमें हर्षध्वनि करनेवाले देवताओं और अप्सराओंका महान् कोलाहल गूँज उठा। साथ ही देवताओं-द्वारा बहुत ऊँचेसे की हुई विचित्र पुष्पसमूहोंकी वहाँ अच्छी वर्षा होने लगी ॥ ६८ ॥

ततः परानाविशदुत्तमं भयं
समीक्ष्य भूमौ पतितं नरोत्तमम् ।
अहीयमानं च बलेन कौरवं
निशाम्य भेदं सुदृढस्य वर्मणः ॥ ६९ ॥

राजन् ! तदनन्तर यह देखकर कि भीमसेनका सुदृढ़ कवच छिन्न-भिन्न हो गया, नरश्रेष्ठ भीम धराशायी हो गये और कुरुराज दुर्योधनका बल क्षीण नहीं हो रहा है, शत्रुओंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ६९ ॥

ततो मुहूर्तादुपलभ्य चेतनां
प्रमृज्य वक्त्रं रुधिराक्तमात्मनः ।
धृतिं समालम्ब्य विवृत्य लोचने
बलेन संस्तभ्य वृकोदरः स्थितः ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् दो घड़ीमें सचेत हो भीमसेन खूनसे भीगे हुए अपने मुँहको पोंछते हुए उठे और बलपूर्वक अपनेको सँभाल-कर धैर्यका आश्रय ले आँख खोलकर देखते हुए पुनः युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ७० ॥

(ततो यमौ यमसदृशौ पराक्रमे
सपार्षतः शिनितनयश्च वीर्यवान्।
समाह्वयन्नहमित्यभित्वरं-
स्त्वात्मजं समभियुर्जयैषिणः ॥

उस समय यमराजके सदृश पराक्रमी नकुल और सहदेव, धृष्टद्युम्न तथा पराक्रमी शिनिपौत्र सात्यकि—ये सब-के-सब विजयके अभिलाषी हो 'मैं लड़ूँगा, मैं लड़ूँगा' ऐसा कहकर बड़ी उतावलीके साथ आपके पुत्रको ललकारने और उसपर आक्रमण करने लगे ॥

निगृह्य तान् पुनरपि पाण्डवो बली
तवात्मजं स्वयमभिगम्य कालवत्।
चचार च व्यपगतखेदवेपथुः
सुरेश्वरो नमुचिमिवोत्तमं रणे ॥)

परंतु बलवान् पाण्डुपुत्र भीमने उन सबको रोककर स्वयं ही आपके पुत्रपर पुनः कालके समान आक्रमण किया और खेद एवं कम्पसे रहित होकर वे रणभूमिमें उसी प्रकार विचरने लगे, जैसे देवराज इन्द्र श्रेष्ठ दैत्य नमुचिपर आक्रमण करके युद्धस्थलमें विचरण करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि गदायुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें गदायुद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७२ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत तथा अर्जुनके संकेतके अनुसार भीमसेनका गदासे दुर्योधनकी जाँघें तोड़कर उसे धराशायी करना एवं भीषण उत्पातोंका प्रकट होना

संजय उवाच

समुदीर्णं ततो दृष्ट्वा संग्रामं कुरुमुख्ययोः ।
अथाब्रवीदर्जुनस्तु वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कुरुकुलके उन दोनों प्रमुख वीरोंके उस संग्रामको उत्तरोत्तर बढ़ता देख अर्जुनने यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—॥ १ ॥

अनयोर्वीरयोर्युद्धे को ज्यायान् भवतो मतः ।
कस्य वा को गुणो भूयानेतद् वद जनार्दन ॥ २ ॥

'जनार्दन ! आपकी रायमें इन दोनों वीरोंमेंसे इस युद्धस्थलमें कौन बड़ा है अथवा किसमें कौन-सा गुण अधिक है ! यह मुझे बताइये' ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

उपदेशोऽनयोस्तुल्यो भीमस्तु बलवत्तरः ।
कृती यत्नपरस्त्वेष धार्तराष्ट्रो वृकोदरात् ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! इन दोनोंको शिक्षा तो एक-सी मिली है; परंतु भीमसेन बलमें अधिक हैं और यह दुर्योधन उनकी अपेक्षा अभ्यास और प्रयत्नमें बढ़ा-चढ़ा है ॥ ३ ॥

भीमसेनस्तु धर्मेण युद्ध्यमानो न जेष्यति ।
अन्यायेन तु युध्यन् वै हन्यादेव सुयोधनम् ॥ ४ ॥

यदि भीमसेन धर्मपूर्वक युद्ध करते रहे तो कदापि नहीं जीतेंगे और अन्यायपूर्वक युद्ध करनेपर निश्चय ही दुर्योधन-का वध कर डालेंगे ॥ ४ ॥

मायया निर्जिता देवैरसुरा इति नः श्रुतम् ।
विरोचनस्तु शक्रेण मायया निर्जितः स वै ॥ ५ ॥

हमने सुना है कि देवताओंने पूर्वकालमें मायासे ही असुरोंपर विजय पायी थी और इन्द्रने मायासे ही विरोचनको परास्त किया था ॥ ५ ॥

मायया चाक्षिपत् तेजो वृत्रस्य बलसूदनः ।
तस्मान्मायामयं भीम आतिष्ठतु पराक्रमम् ॥ ६ ॥

बलसूदन इन्द्रने मायासे वृत्रासुरके तेजको नष्ट कर दिया था, इसलिये भीमसेन भी यहाँ मायामय पराक्रमका ही आश्रय लें ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञातं च भीमेन द्यूतकाले धनंजय ।
ऊरू भेत्स्यामि ते संख्ये गदयेति सुयोधनम् ॥ ७ ॥

धनंजय ! जूएके समय भीमने प्रतिज्ञा करते हुए दुर्योधनसे यह कहा था कि 'मैं युद्धमें गदा मारकर तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ ७ ॥

सोऽयं प्रतिज्ञां तां चापि पालयत्वरिकर्षणः ।
मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु ॥ ८ ॥

अतः शत्रुसूदन भीमसेन अपनी उस प्रतिज्ञाका पालन करें और मायावी राजा दुर्योधनको मायासे ही नष्ट कर डालें॥

यद्येष बलमास्थाय न्यायेन प्रहरिष्यति ।
विषमस्थस्ततो राजा भविष्यति युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

यदि ये बलका सहारा लेकर न्यायपूर्वक प्रहार करेंगे, तब राजा युधिष्ठिर पुनः बड़ी विषम परिस्थितिमें पड़ जायँगे ॥

पुनरेव तु वक्ष्यामि पाण्डवेय निबोध मे ।
धर्मराजापराधेन भयं नः पुनरागतम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं पुनः यह बात कहे देता हूँ, तुम उसे ध्यान देकर सुनो । धर्मराजके अपराधसे हमलोगोंपर फिर भय आ पहुँचा है ॥ १० ॥

कृत्वा हि सुमहत् कर्म हत्वा भीष्ममुखान् कुरून् ।
जयः प्राप्तो यशः प्राग्र्यं वैरं च प्रतियातितम् ॥ ११ ॥
तदेवं विजयः प्राप्तः पुनः संशयितः कृतः ।

महान् प्रयास करके भीष्म आदि कौरवोंको मारकर विजय एवं श्रेष्ठ यशकी प्राप्ति की गयी और वैरका पूरा-पूरा बदला चुकाया गया था । इस प्रकार जो विजय प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने फिर संशयमें डाल दिया है ॥ ११½ ॥

अबुद्धिरेषा महती धर्मराजस्य पाण्डव ॥ १२ ॥
यदेकविजये युद्धं पणितं घोरमीदृशम् ।

पाण्डुनन्दन ! एककी ही हार-जीतसे सबकी हार-जीतकी शर्त लगाकर जो इन्होंने इस भयंकर युद्धको जूएका दाँव बना डाला, यह धर्मराजकी बड़ी भारी नासमझी है॥ १२½ ॥

सुयोधनः कृती वीर एकायनगतस्तथा ॥ १३ ॥
अपि चोशनसा गीतः श्रूयतेऽयं पुरातनः ।
श्लोकस्तत्त्वार्थसहितस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

दुर्योधन युद्धकी कला जानता है, वीर है और एक निश्चयपर डटा हुआ है । इस विषयमें शुक्राचार्यका कहा हुआ यह एक प्राचीन श्लोक सुननेमें आता है, जो नीति-शास्त्रके तात्त्विक अर्थसे भरा हुआ है, उसे सुना रहा हूँ, मेरे कहनेसे वह श्लोक सुनो ॥ १३-१४ ॥

पुनरावर्तमानानां भग्नानां जीवितैषिणाम् ।
भेतव्यमरिशेषाणामेकायनगता हिते ॥ १५ ॥

'मरनेसे बचे हुए शत्रुगण यदि युद्धमें जान बचानेकी इच्छासे भाग गये हों और पुनः युद्धके लिये लौटने लगे हों तो उनसे डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे एक निश्चयपर पहुँचे हुए होते हैं (उस समय वे मृत्युसे भी नहीं डरते हैं)'॥

साहसोत्पतितानां च निराशानां च जीविते ।
न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनंजय ॥ १६ ॥

धनंजय ! जो जीवनकी आशा छोड़कर साहसपूर्वक युद्धमें कूद पड़े हों, उनके सामने इन्द्र भी नहीं ठहर सकते॥

सुयोधनमिमं भग्नं हतसैन्यं ह्रदं गतम् ।
पराजितं वनप्रेप्सुं निराशं राज्यलम्भने ॥ १७ ॥
को न्वेष संयुगे प्राज्ञः पुनर्द्वन्द्वे समाह्वयेत् ।

इस दुर्योधनकी सेना मारी गयी थी । यह परास्त हो गया था और अब राज्य पानेसे निराश हो वनमें चला जाना चाहता था; इसीलिये भागकर पोखरेमें छिपा था, ऐसे हताश शत्रुको कौन बुद्धिमान् पुरुष समराङ्गणमें द्वन्द्व-युद्धके लिये आमन्त्रित करेगा ? ॥ १७½ ॥

अपि नो निर्जितं राज्यं न हरेत सुयोधनः ॥ १८ ॥
यस्त्रयोदशवर्षाणि गदया कृतनिश्रमः ।
चरत्यूर्ध्वं च तिर्यक् च भीमसेनजिघांसया ॥ १९ ॥

कहीं ऐसा न हो कि हमारे जीते हुए राज्यको दुर्योधन फिर हड़प ले । उसने तेरह वर्षोंतक गदाद्वारा युद्ध करनेका निरन्तर श्रम एवं अभ्यास किया है । देखो, यह भीमसेनके वधकी इच्छासे इधर-उधर और ऊपरकी ओर विचर रहा है॥

एनं चेन्न महाबाहुरन्यायेन हनिष्यति ।
एष वः कौरवो राजा धार्तराष्ट्रो भविष्यति ॥ २० ॥

यदि महाबाहु भीमसेन इसे अन्यायपूर्वक नहीं मारेंगे तो यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन ही आपका तथा समस्त कुरुकुल-का राजा होगा ॥ २० ॥

धनंजयस्तु श्रुत्वैतत् केशवस्य महात्मनः ।
प्रेक्षतो भीमसेनस्य सव्यमूरुमताडयत् ॥ २१ ॥

महात्मा भगवान् केशवका यह वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनके देखते हुए अपनी बायीं जाँघको ठोंका ॥ २१ ॥

गृह्य संज्ञां ततो भीमो गदया व्यचरद् रणे ।
मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ॥ २२ ॥

इससे संकेत पाकर भीमसेन रणभूमिमें गदाद्वारा यमक तथा अन्य प्रकारके विचित्र मण्डल दिखाते हुए विचरने लगे॥

दक्षिणं मण्डलं सव्यं गोमूत्रकमथापि च ।
व्यचरत् पाण्डवो राजन्नरिं सम्मोहयन्निव ॥ २३ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र भीमसेन आपके शत्रुको मोहित करते हुए-से दक्षिण, वाम और गोमूत्रक मण्डलसे विचरने लगे ॥

तथैव तव पुत्रोऽपि गदामार्गविशारदः ।
व्यचरल्लघु चित्रं च भीमसेनजिघांसया ॥ २४ ॥

इसी प्रकार गदायुद्धकी प्रणालीका विशेषज्ञ आपका पुत्र भी भीमसेनके वधकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक विचित्र पैंतरे देता हुआ विचरने लगा ॥ २४ ॥

आधुन्वन्तौ गदे घोरे चन्दनागरुरूषिते ।
वैरस्यान्तं परीप्सन्तौ रणे क्रुद्धाविवान्तकौ ॥ २५ ॥

वैरका अन्त करनेकी इच्छावाले वे दोनों वीर रणभूमिमें चन्दन और अगुरुसे चर्चित भयंकर गदाएँ घुमाते हुए कुपित कालके समान प्रतीत होते थे ॥ २५ ॥

अन्योन्यं तौ जिघांसन्तौ प्रवीरौ पुरुषर्षभौ ।
युयुधाते गरुत्मन्तौ यथा नागामिषैषिणौ ॥ २६ ॥

जैसे दो गरुड़ किसी सर्पके मांसको पानेकी इच्छासे परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार एक दूसरेके वधकी इच्छा-वाले वे दोनों पुरुषप्रवर प्रमुख वीर भीमसेन और दुर्योधन आपसमें जूझ रहे थे ॥ २६ ॥

मण्डलानि विचित्राणि चरतोर्नृपभीमयोः ।
गदासम्पातजास्तत्र प्रजज्ञुः पावकार्चिषः ॥ २७ ॥

विचित्र मण्डलों (पैंतरों) से विचरते हुए राजा दुर्योधन और भीमसेनकी गदाओंके टकरानेसे वहाँ आगकी लपटें प्रकट होने लगीं ॥ २७ ॥

समं प्रहरतोस्तत्र शूरयोर्बलिनोर्मृधे ।
क्षुब्धयोर्वायुना राजन् द्वयोरिव समुद्रयोः ॥ २८ ॥
तयोः प्रहरतोस्तुल्यं मत्तकुञ्जरयोरिव ।
गदानिर्घातसंह्रादः प्रहाराणामजायत ॥ २९ ॥

राजन्! जैसे वायुसे विक्षुब्ध हुए दो समुद्र एक दूसरेसे टकरा रहे हों अथवा दो मतवाले हाथी परस्पर चोट कर रहे हों, उसी प्रकार वहाँ एक दूसरेपर समान रूपसे प्रहार करनेवाले दोनों बलवान् वीरोंके परस्पर चोट करनेपर गदाओं-के टकरानेकी आवाज वज्रकी कड़कके समान प्रकट होती थी॥

तस्मिंस्तदा सम्प्रहारे दारुणे संकुले भृशम् ।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिंदमौ ॥ ३० ॥

उस समय उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्धमें शत्रुओं-का दमन करनेवाले वे दोनों वीर परस्पर युद्ध करते हुए बहुत थक गये ॥ ३० ॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परंतप ।
अभ्यहारयतां क्रुद्धौ प्रगृह्य महती गदे ॥ ३१ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तब दोनों दो घड़ीतक विश्राम करके पुनः विशाल गदाएँ हाथमें लेकर क्रोधपूर्वक एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ३१ ॥

तयोः समभवद् युद्धं घोररूपमसंवृतम् ।
गदानिपातै राजेन्द्र तक्षतोर्वै परस्परम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र! गदाकी चोटसे एक दूसरेको घायल करते हुए उन दोनोंमें खुले तौरपर घोर युद्ध हो रहा था ॥ ३२ ॥

समरे प्रद्रुतौ तौ तु वृषभाक्षौ तरस्विनौ ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ पङ्कस्थौ महिषाविव ॥ ३३ ॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वे दोनों वेगशाली वीर समराङ्गणमें परस्पर धावा करके कीचड़में खड़े हुए दो भैंसोंके समान एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ ३३ ॥

जर्जरीकृतसर्वाङ्गौ रुधिरेणाभिसम्प्लुतौ ।
ददृशाते हिमवति पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३४ ॥

उन दोनोंके सारे अङ्ग गदाके प्रहारसे जर्जर हो गये थे और दोनों ही खूनसे लथपथ हो गये थे। उस दशामें वे हिमालयपर खिले हुए दो पलाश वृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

दुर्योधनस्तु पार्थेन विवरे सम्प्रदर्शिते ।
ईषदुन्मिषमाणस्तु सहसा प्रससार ह ॥ ३५ ॥

जब अर्जुनने छिद्रकी ओर संकेत किया, तब कनखियोंसे उसे देखकर दुर्योधन सहसा भीमसेनकी ओर बढ़ा ॥३५॥

तमभ्याशगतं प्राज्ञो रणे प्रेक्ष्य वृकोदरः ।
अवाक्षिपद् गदां तस्मिन् वेगेन महता बली ॥ ३६ ॥

रणभूमिमें उसे निकट आया देख बुद्धिमान् एवं बलवान् भीमने उसपर बड़े वेगसे गदा चलायी ॥ ३६ ॥

आक्षिपन्तं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ।
अवासर्पत्ततः स्थानात् सा मोघा न्यपतद् भुवि ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ! उन्हें गदा चलाते देख आपका पुत्र सहसा उस स्थानसे हट गया और वह गदा व्यर्थ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३७ ॥

मोक्षयित्वा प्रहारं तं सुतस्तव सुसम्भ्रमात् ।
भीमसेनं च गदया प्राहरत् कुरुसत्तम ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ! उस प्रहारसे अपनेको बचाकर आपके पुत्रने भीमसेनपर बड़े वेगसे गदाद्वारा आघात किया ॥ ३८ ॥

तस्य विस्यन्दमानेन रुधिरेणामितौजसः ।
प्रहारगुरुपाताच्च मूर्छेव समजायत ॥ ३९ ॥

उसकी चोटसे अमिततेजस्वी भीमके शरीरसे रक्तकी धारा बह चली। साथ ही उस प्रहारके गहरे आघातसे उन्हें मूर्छा-सी आ गयी ॥ ३९ ॥

दुर्योधनो न तं वेद पीडितं पाण्डवं रणे ।
धारयामास भीमोऽपि शरीरमतिपीडितम् ॥ ४० ॥

उस समय दुर्योधन यह न जान सका कि रणभूमिमें पाण्डुपुत्र भीमसेन अधिक पीड़ित हो गये हैं। यद्यपि उनके शरीरमें अत्यन्त वेदना हो रही थी तो भी भीमसेन उसे सँभाले रहे ॥ ४० ॥

अमन्यत स्थितं ह्येनं प्रहरिष्यन्तमाहवे ।
अतो न प्राहरत् तस्मै पुनरेव तवात्मजः ॥ ४१ ॥

उसने यही समझा कि रणक्षेत्रमें भीमसेन अब मुझपर प्रहार करनेके लिये खड़े हैं; अतः बचनेकी ही चेष्टामें संलग्न होकर आपके पुत्रने पुनः उनपर प्रहार नहीं किया ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तमाश्वस्य दुर्योधनमुपस्थितम् ।
वेगेनाभ्यपतद् राजन् भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४२ ॥

राजन्! तदनन्तर दो घड़ी सुस्ताकर प्रतापी भीमसेनने निकट आये हुए दुर्योधनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥४२॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संरब्धममितौजसम् ।
मोघमस्य प्रहारं तं चिकीर्षुर्भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ! अमिततेजस्वी भीमको रोषपूर्वक धावा करते देख आपके पुत्रने उनके उस प्रहारको व्यर्थ कर देनेकी इच्छा की ॥ ४३ ॥

अवस्थाने मतिं कृत्वा पुत्रस्तव महामनाः ।
इयेषोत्पतितुं राजञ्छलयिष्यन् वृकोदरम् ॥ ४४ ॥

राजन्! भीमसेनको छलनेके लिये आपके महामनस्वी

पुत्रने पहले वहाँ स्थिरतापूर्वक खड़े रहनेका विचार करके फिर उछलकर दूर हट जानेकी इच्छा की ॥ ४४ ॥

अबुद्ध्यद् भीमसेनस्तु राजस्तस्य चिकीर्षितम् ।
अथास्य समभिद्रुत्य समुत्क्रुश्य च सिंहवत् ॥ ४५ ॥
सृत्या वञ्चयतो राजन् पुनरेवोत्पतिष्यतः ।
ऊरुभ्यां प्राहिणोद् राजन् गदां वेगेन पाण्डवः ॥ ४६ ॥

भीमसेन समझ गये कि राजा दुर्योधन क्या करना चाहता है । अतः पैंतरेसे छलने और ऊपर उछलनेकी इच्छावाले दुर्योधनके ऊपर आक्रमण करके भीमसेनने सिंहके समान गर्जना की और उसकी जाँघोंपर बड़े वेगसे गदा चलायी ॥

सा वज्रनिष्पेषसमा प्रहिता भीमकर्मणा ।
ऊरू दुर्योधनस्याथ बभञ्ज प्रियदर्शनौ ॥ ४७ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके द्वारा चलायी हुई वह गदा वज्रपातके समान गिरी और दुर्योधनकी सुन्दर दिखायी देनेवाली जाँघोंको उसने तोड़ दिया ॥ ४७ ॥

स पपात नरव्याघ्रो वसुधामनुनादयन् ।
भग्नोरुर्भीमसेनेन पुत्रस्तव महीपते ॥ ४८ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार जब भीमसेनने उसकी जाँघें तोड़ डालीं, तब आपका पुत्र पुरुषसिंह दुर्योधन पृथ्वीको प्रतिध्वनित करता हुआ गिर पड़ा ॥ ४८ ॥

ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांशुवर्षं पपात च ।
चचाल पृथिवी चापि सवृक्षक्षुपपर्वता ॥ ४९ ॥
तस्मिन् निपतिते वीरे पत्यौ सर्वमहीक्षिताम् ।

फिर तो समस्त भूपालोंके स्वामी वीर राजा दुर्योधनके धराशायी होनेपर वहाँ बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ प्रचण्ड हवा चलने लगी, धूलिकी वर्षा होने लगी और वृक्षों, वनों एवं पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ ४९½ ॥

महास्वना पुनर्दीप्ता सनिर्घाता भयंकरी ॥ ५० ॥
पपात चोल्का महती पतिते पृथिवीपतौ ।

पृथ्वीपति दुर्योधनके गिर जानेपर आकाशसे पुनः महान् शब्द और बिजलीकी कड़कके साथ प्रज्वलित, भयंकर एवं विशाल उल्का भूमिपर गिरी ॥ ५०½ ॥

तथा शोणितवर्षं च पांशुवर्षं च भारत ॥ ५१ ॥
ववर्ष मघवांस्तत्र तव पुत्रे निपातिते ।

भरतनन्दन ! आपके पुत्रके धराशायी हो जानेपर इन्द्रने वहाँ रक्त और धूलिकी वर्षा की ॥ ५१½ ॥

यक्षाणां राक्षसानां च पिशाचानां तथैव च ॥ ५२ ॥
अन्तरिक्षे महानादः श्रूयते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उस समय आकाशमें यक्षों, राक्षसों तथा पिशाचोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ५२½ ॥

तेन शब्देन घोरेण मृगाणामथ पक्षिणाम् ॥ ५३ ॥
जज्ञे घोरतरः शब्दो बहूनां सर्वतोदिशम् ।

उस घोर शब्दके साथ बहुत-से पशुओं और पक्षियोंकी भयानक आवाज भी सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठी ॥ ५३½ ॥

ये तत्र वाजिनः शेषा गजाश्च मनुजैः सह ॥ ५४ ॥
मुमुचुस्ते महानादं तव पुत्रे निपातिते ।

वहाँ जो घोड़े, हाथी और मनुष्य शेष रह गये थे, वे सभी आपके पुत्रके मारे जानेपर महान् कोलाहल करने लगे॥

भेरीशङ्खमृदङ्गानामभवच्च स्वनो महान् ॥ ५५ ॥
अन्तर्भूमिगतश्चैव तव पुत्रे निपातिते ।

राजन् ! जब आपका पुत्र मार गिराया गया, उस समय इस भूतलपर भेरी, शङ्खों और मृदङ्गोंका गम्भीर घोष होने लगा ॥ ५५½ ॥

बहुपादैर्बहुभुजैः कबन्धैर्घोरदर्शनैः ॥ ५६ ॥
नृत्यद्भिर्भयदैर्व्याप्ता दिशस्तत्राभवन् नृप ।

नरेश्वर ! वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें नाचते हुए अनेक पैर और अनेक बाँहवाले घोर एवं भयंकर कबन्ध व्याप्त हो रहे थे ॥ ५६½ ॥

ध्वजवन्तोऽस्त्रवन्तश्च शस्त्रवन्तस्तथैव च ॥ ५७ ॥
प्राकम्पन्त ततो राजंस्तव पुत्रे निपातिते ।

राजन् ! आपके पुत्रके धराशायी हो जानेपर वहाँ अस्त्र-शस्त्र और ध्वजावाले सभी वीर काँपने लगे ॥ ५७½ ॥

ह्रदाः कूपाश्च रुधिरमुद्वेमुर्नृपसत्तम ॥ ५८ ॥
नद्यश्च सुमहावेगाः प्रतिस्रोतोवहाभवन् ।

नृपश्रेष्ठ ! तालाबों और कूपोंमें रक्तका उफान आने लगा और महान् वेगशालिनी नदियाँ उल्टी अपने उद्गमकी ओर बहने लगीं ॥ ५८½ ॥

पुँल्लिङ्गा इव नार्यस्तु स्त्रीलिङ्गाः पुरुषाभवन् ॥ ५९ ॥
दुर्योधने तदा राजन् पतिते तनये तव ।

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनके धराशायी होनेपर स्त्रियोंमें पुरुषत्व और पुरुषोंमें स्त्रीत्वके सूचक लक्षण प्रकट होने लगे॥

दृष्ट्वा तानद्भुतोत्पातान् पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ६० ॥
आविग्नमनसः सर्वे बभूवुर्भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उन अद्भुत उत्पातोंको देखकर पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे ॥

ययुर्देवा यथाकामं गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६१ ॥
कथयन्तोऽद्भुतं युद्धं सुतयोस्तव भारत ।

भारत ! तदनन्तर देवता, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह आपके दोनों पुत्रोंके अद्भुत युद्धकी चर्चा करते हुए अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ६१½ ॥

तथैव सिद्धा राजेन्द्र तथा वातिकचारणाः ।
नरसिंहौ प्रशंसन्तौ विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! उसी प्रकार सिद्ध, वातिक (वायुचारी) और चारण उन दोनों पुरुषसिंहोंकी प्रशंसा करते हुए जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि दुर्योधनवधेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधनका वधविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनका तिरस्कार, युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाकर अन्यायसे रोकना और दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए खेद प्रकट करना

संजय उवाच

तं पातितं ततो दृष्ट्वा महाशालमिवोद्गतम्।
प्रहृष्टमनसः सर्वे ददृशुस्तत्र पाण्डवाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! दुर्योधनको ऊँचे एवं विशाल शालवृक्षके समान गिराया गया देख समस्त पाण्डव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और निकट जाकर उसे देखने लगे ॥ १ ॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं सिंहेन विनिपातितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः सर्वे ते चापि सोमकाः ॥ २ ॥

समस्त सोमकोंने भी सिंहके द्वारा गिराये गये मदमत्त गजराजके समान जब दुर्योधनको धराशायी हुआ देखा तो हर्षसे उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनं हत्वा भीमसेनः प्रतापवान्।
पातितं कौरवेन्द्रं तमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार दुर्योधनका वध करके प्रतापी भीमसेन उस गिराये गये कौरवराजके पास जाकर बोले—॥ ३ ॥

गौर्गौरिति पुरा मन्द द्रौपदीमेकवाससम्।
यत् सभायां हसन्नस्मांस्तदा वदसि दुर्मते ॥ ४ ॥
तस्यावहासस्य फलमद्य त्वं समवाप्नुहि।

'खोटी बुद्धिवाले मूर्ख! तूने पहले मुझे 'बैल, बैल' कहकर और एक वस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदीको सभामें लाकर जो हमलोगोंका उपहास किया था तथा हम सबके प्रति कटुवचन सुनाये थे, उस उपहासका फल आज तू प्राप्त कर ले' ॥ ४½ ॥

एवमुक्त्वा स वामेन पदा मौलिमुपास्पृशत् ॥ ५ ॥
शिरश्च राजसिंहस्य पादेन समलोडयत्।

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने बायें पैरसे उसके मुकुटको ठुकराया और उस राजसिंहके मस्तकपर भी पैरसे ठोकर मारा ५½

तथैव क्रोधसंरक्तो भीमः परबलार्दनः ॥ ६ ॥
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं यत् तच्छृणु नराधिप।

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुसेनाका संहार करनेवाले भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके फिर जो बात कही, उसे भी सुन लीजिये ॥ ६½ ॥

येऽस्मान् पुरोपनृत्यन्त मूढा गौरिति गौरिति ॥ ७ ॥
तान् वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति।

जिन मूर्खोंने पहले हमें 'बैल-बैल' कहकर नृत्य किया था, आज उन्हें 'बैल-बैल' कहकर उस अपमानका बदला लेते हुए हम भी प्रसन्नतासे नाच रहे हैं ॥ ७½ ॥

नास्माकं निकृतिर्वह्निर्नाक्षद्यूतं न वञ्चना।
स्वबाहुबलमाश्रित्य प्रबाधामो वयं रिपून् ॥ ८ ॥

छल-कपट करना, घरमें आग लगाना, जूआ खेलना अथवा ठगी करना हमारा काम नहीं है। हम तो अपने बाहुबलका भरोसा करके शत्रुओंको संताप देते हैं ॥ ८ ॥

सोऽवाप्य वैरस्य परस्य पारं
वृकोदरः प्राह शनैः प्रहस्य।
युधिष्ठिरं केशवसृंजयांश्च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च ॥ ९ ॥

इस प्रकार भारी वैरसे पार होकर भीमसेन धीरे-धीरे हँसते हुए युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, सृंजयगण, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेवसे बोले—॥ ९ ॥

रजस्वलां द्रौपदीमानयन् ये
ये चाप्यकुर्वन्त सदस्यवस्त्राम्।
तान् पश्यध्वं पाण्डवैर्धार्तराष्ट्रान्
रणे हतांस्तपसा याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

'जिन लोगोंने रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलाया, जिन्होंने उसे भरी सभामें नंगी करनेका प्रयत्न किया, उन्हीं धृतराष्ट्रपुत्रोंको द्रौपदीकी तपस्यासे पाण्डवोंने रणभूमिमें मार गिराया, यह सब लोग देख लो ॥ १० ॥

ये नः पुरा षण्ढतिलानवोचन्
क्रूरा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
ते नो हताः सगणाः सानुबन्धाः
कामं स्वर्गं नरकं वा पतामः ॥ ११ ॥

'राजा धृतराष्ट्रके जिन क्रूर पुत्रोंने पहले हमें थोथे तिलोंके समान नपुंसक कहा था, वे अपने सेवकों और सम्बन्धियोंसहित हमारे हाथसे मार डाले गये। अब हम भले ही स्वर्गमें जायँ या नरकमें गिरें, इसकी चिन्ता नहीं है' ॥ ११ ॥

पुनश्च राज्ञः पतितस्य भूमौ
स तां गदां स्कन्धगतां प्रगृह्य।
वामेन पादेन शिरः प्रमृद्य
दुर्योधनं नैकृतिकं न्यवोचत् ॥ १२ ॥

यों कहकर भीमसेनने पृथ्वीपर पड़े हुए राजा दुर्योधनके कंधेसे लगी हुई उसकी गदा ले ली और बायें पैरसे उसका सिर कुचलकर उसे छलिया और कपटी कहा ॥ १२ ॥

हृष्टेन राजन् कुरुसत्तमस्य
क्षुद्रात्मना भीमसेनेन पादम्।
दृष्ट्वा कृतं मूर्धनि नाभ्यनन्दन्
धर्मात्मानः सोमकानां प्रबर्हाः ॥ १३ ॥

राजन्! क्षुद्र बुद्धिवाले भीमसेनने हर्षमें भरकर जो कुरुश्रेष्ठ राजा दुर्योधनके मस्तकपर पैर रक्खा, उनके इस कार्यको देखकर सोमकोंमें जो श्रेष्ठ एवं धर्मात्मा पुरुष थे, वे प्रसन्न नहीं हुए और न उन्होंने उनके इस कुकृत्यका अभिनन्दन ही किया ॥ १३ ॥

तव पुत्रं तथा हत्वा कत्थमानं वृकोदरम्।

नृत्यमानं च बहुशो धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥

आपके पुत्रको मारकर बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनाते और बारंबार नाचते-कूदते हुए भीमसेनसे धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

गतोऽसि वैरस्यानृण्यं प्रतिज्ञा पूरिता त्वया।
शुभेनाथाशुभेनैव कर्मणा विरमाधुना ॥ १५ ॥

'भीम ! तुम वैरसे उऋण हुए। तुमने शुभ या अशुभ कर्मसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। अब तो इस कार्यसे विरत हो जाओ॥ १५ ॥

मा शिरोऽस्य पदा मार्दीर्मा धर्मस्तेऽतिगो भवेत्।
राजा ज्ञातिर्हतश्चायं नैतन्न्याय्यं तवानघ ॥१६॥

'तुम इसके मस्तकको पैरसे न ठुकराओ। तुम्हारे द्वारा धर्मका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। अनघ ! दुर्योधन राजा और हमारा भाई-बन्धु है; यह मार डाला गया, अब तुम्हें इसके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित नहीं है ॥ १६॥

एकादशचमूनाथं कुरूणामधिपं तथा।
मा स्प्राक्षीर्भीम पादेन राजानं ज्ञातिमेव च ॥१७ ॥

'भीम ! ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके स्वामी तथा अपने ही बान्धव कुरुराज राजा दुर्योधनको पैरसे न ठुकराओ ॥ १७ ॥

हतबन्धुर्हतामात्यो भ्रष्टसैन्यो हतो मृधे।
सर्वाकारेण शोच्योऽयं नावहास्योऽयमीश्वरः ॥१८॥

'इसके भाई और मन्त्री मारे गये, सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी और यह स्वयं भी युद्धमें मारा गया। ऐसी दशामें राजा दुर्योधन सर्वथा शोकके योग्य है, उपहासका पात्र नहीं है॥ १८ ॥

विध्वस्तोऽयं हतामात्यो हतभ्राता हतप्रजः।
उत्सन्नपिण्डो भ्राता च नैतन्न्याय्यं कृतं त्वया॥ १९ ॥

'इसका सर्वथा विध्वंस हो गया इसके मन्त्री, भाई और पुत्र भी मार डाले गये। अब इसे पिण्ड देनेवाला भी कोई नहीं रह गया है। इसके सिवा यह हमारा ही भाई है। तुमने इसके साथ यह न्यायोचित बर्ताव नहीं किया है ॥१९॥

धार्मिको भीमसेनोऽसावित्याहुस्त्वां पुरा जनाः।
स कस्माद् भीमसेन त्वं राजानमधितिष्ठसि ॥ २०॥

'तुम्हारे विषयमें लोग पहले कहा करते थे कि भीमसेन बड़े धर्मात्मा हैं। भीम ! वही तुम आज राजा दुर्योधनको क्यों पैरसे ठुकराते हो ?' ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनं तु साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः।
उपसृत्याब्रवीद् दीनो दुर्योधनमरिंदमम् ॥ २१ ॥

भीमसेनसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर दीनभावसे शत्रुदमन दुर्योधनके पास गये और अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले—॥ २१ ॥

तात मन्युर्न ते कार्यो नात्मा शोच्यस्त्वया तथा।
नूनं पूर्वकृतं कर्म सुघोरमनुभूयते ॥ २२ ॥

'तात ! तुम्हें खेद या क्रोध नहीं करना चाहिये। साथ ही अपने लिये शोक करना भी उचित नहीं है। निश्चय ही सब लोग अपने पहलेके किये हुए अत्यन्त भयंकर कर्मोंका ही परिणाम भोगते हैं ॥ २२ ॥

धात्रोपदिष्टं विषमं नूनं फलमसंस्कृतम्।
यद् वयं त्वां जिघांसामस्त्वं चास्मान् कुरुसत्तम॥२३॥

'कुरुश्रेष्ठ ! इस समय जो हमलोग तुम्हें और तुम हमें मार डालना चाहते थे, यह अवश्य ही विधाताका दिया हुआ हमारे ही अशुद्ध कर्मोंका विषम फल है ॥ २३ ॥

आत्मनो ह्यपराधेन महद् व्यसनमीदृशम्।
प्राप्तवानसि यल्लोभान्मदाद् बाल्याच्च भारत॥ २४ ॥

'भरतनन्दन ! तुमने लोभ, मद और अविवेकके कारण अपने ही अपराधसे ऐसा भारी संकट प्राप्त किया है ॥ २४॥

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितॄंस्तथा।
पुत्रान् पौत्रांस्तथा चान्यांस्ततोऽसि निधनं गतः॥ २५ ॥

'तुम अपने मित्रों, भाइयों, पितृतुल्य पुरुषों, पुत्रों और पौत्रोंका वध कराकर फिर स्वयं भी मारे गये ॥ २५ ॥

तवापराधादस्माभिर्भ्रातरस्ते निपातिताः।
निहता ज्ञातयश्चापि दिष्टं मन्ये दुरत्ययम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे अपराधसे ही हमलोगोंने तुम्हारे भाइयोंको मार गिराया और कुटुम्बीजनोंका वध किया है, मैं इसे दैवका दुर्लङ्घ्य विधान ही मानता हूँ ॥ २६ ॥

आत्मा न शोचनीयस्ते श्लाघ्यो मृत्युस्तवानघ।
वयमेवाधुना शोच्याः सर्वावस्थासु कौरव ॥ २७ ॥
कृपणं वर्तयिष्यामस्तैर्हीना बन्धुभिः प्रियैः।

'अनघ ! तुम्हें अपने लिये शोक नहीं करना चाहिये, तुम्हारी प्रशंसनीय मृत्यु हो रही है। कुरुराज ! अब तो सभी अवस्थाओंमें इस समय हमलोग ही शोचनीय हो गये हैं; क्योंकि उन प्रिय बन्धु-बान्धवोंसे रहित होकर हमें दीनतापूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ेगा ॥ २७½ ॥

भ्रातॄणां चैव पुत्राणां तथा वै शोकविह्वलाः ॥ २८ ॥
कथं द्रक्ष्यामि विधवा वधूः शोकपरिप्लुताः।

'भला, मैं भाइयों और पुत्रोंकी उन शोकविह्वला और दुःखमें डूबी हुई विधवा बहुओंको कैसे देख सकूँगा ॥२८½॥

त्वमेकः सुस्थितो राजन् स्वर्गे ते निलयो ध्रुवः॥ २९ ॥
वयं नरकसंज्ञं वै दुःखं प्राप्स्याम दारुणम्।

'राजन् ! तुम अकेले सुखी हो। निश्चय ही स्वर्गमें तुम्हें स्थान प्राप्त होगा और हमें यहाँ नरकतुल्य दारुण दुःख भोगना पड़ेगा ॥ २९½ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य विह्वलाः।
गर्हयिष्यन्ति नो नूनं विधवाः शोककर्शिताः ॥ ३० ॥

'धृतराष्ट्रकी वे शोकातुर एवं व्याकुल विधवा पुत्रवधुएँ और पौत्रवधुएँ भी निश्चय ही हमलोगोंकी निन्दा करेंगी' ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निशश्वास स पार्थिवः।

विललाप चिरं चापि धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३१ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस छोड़ते हुए बहुत देरतक विलाप करते रहे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युधिष्ठिरविलापे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युधिष्ठिरका विलापविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

क्रोधमें भरे हुए बलरामको श्रीकृष्णका समझाना और युधिष्ठिरके साथ श्रीकृष्णकी तथा भीमसेनकी बातचीत

धृतराष्ट्र उवाच

अधर्मेण हतं दृष्ट्वा राजानं माधवोत्तमः।
किमब्रवीत् तदा सूत बलदेवो महाबलः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा--सूत! उस समय राजा दुर्योधनको अधर्मपूर्वक मारा गया देख महाबली मधुकुलशिरोमणि बलदेवजीने क्या कहा था? ॥ १ ॥

गदायुद्धविशेषज्ञो गदायुद्धविशारदः।
कृतवान् रौहिणेयो यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

संजय! गदायुद्धके विशेषज्ञ तथा उसकी कलामें कुशल रोहिणीनन्दन बलरामजीने वहाँ जो कुछ किया हो, वह मुझे बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

शिरस्यभिहतं दृष्ट्वा भीमसेनेन ते सुतम्।
रामः प्रहरतां श्रेष्ठश्चुक्रोध बलवद्बली ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! भीमसेनके द्वारा आपके पुत्रके मस्तक पर पैरका प्रहार हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् बलरामको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३ ॥

ततो मध्ये नरेन्द्राणामूर्ध्वबाहुर्हलायुधः।
कुर्वन्नार्तस्वरं घोरं धिग् धिग् भीमेत्युवाच ह ॥ ४ ॥

फिर वहाँ राजाओंकी मण्डलीमें अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर हलधर बलरामने भयंकर आर्तनाद करते हुए कहा—'भीमसेन! तुम्हें धिक्कार है! धिक्कार है!! ॥ ४ ॥

अहो धिग् यदधो नाभेः प्रहृतं धर्मविग्रहे।
नैतद् दृष्टं गदायुद्धे कृतवान् यद् वृकोदरः ॥ ५ ॥

'अहो! इस धर्मयुद्धमें नाभिसे नीचे, जो प्रहार किया गया है और जिसे भीमसेनने स्वयं किया है, यह गदायुद्धमें कभी नहीं देखा गया ॥ ५ ॥

अधो नाभ्या न हन्तव्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः।
अयं त्वशास्त्रविन्मूढः स्वच्छन्दात् सम्प्रवर्तते ॥ ६ ॥

'नाभिसे नीचे आघात नहीं करना चाहिये। यह गदा-युद्धके विषयमें शास्त्रका सिद्धान्त है। परंतु यह शास्त्रज्ञानसे शून्य मूर्ख भीमसेन यहाँ स्वेच्छाचार कर रहा है' ॥ ६ ॥

तस्य तत् तद् ब्रुवाणस्य रोषः समभवन्महान्।
ततो राजानमालोक्य रोषसंरक्तलोचनः ॥ ७ ॥

ये सब बातें कहते हुए बलदेवजीका रोष बहुत बढ़ गया। फिर राजा दुर्योधनकी ओर दृष्टिपात करके उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ ७ ॥

बलदेवो महाराज ततो वचनमब्रवीत्।
न चैष पतितः कृष्ण केवलं मत्समोऽसमः ॥ ८ ॥
आश्रितस्य तु दौर्बल्यादाश्रयः परिभर्त्स्यते।

महाराज! फिर बलदेवजीने कहा—'श्रीकृष्ण! राजा दुर्योधन मेरे समान बलवान् था। गदायुद्धमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं था। यहाँ अन्याय करके केवल दुर्योधन ही नहीं गिराया गया है, (मेरा भी अपमान किया गया है) शरणागतकी दुर्बलताके कारण शरण देनेवालेका तिरस्कार किया जा रहा है' ॥ ८½ ॥

ततो लाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद् बली ॥ ९ ॥
तस्योर्ध्वबाहोः सदृशं रूपमासीन्महात्मनः।
बहुधातुविचित्रस्य श्वेतस्येव महागिरेः ॥ १० ॥

ऐसा कहकर महाबली बलराम अपना हल उठाकर भीमसेनकी ओर दौड़े। उस समय अपनी भुजाएँ ऊपर उठाये हुए महात्मा बलरामजीका रूप अनेक धातुओंके कारण विचित्र शोभा पानेवाले महान् श्वेतपर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ९-१० ॥

(भ्रातृभिः सहितो भीमः सार्जुनैरस्त्रकोविदैः।
न विव्यथे महाराज दृष्ट्वा हलधरं बली ॥)

महाराज! हलधरको आक्रमण करते देख अर्जुनसहित अस्त्रवेत्ता भाइयोंके साथ खड़े हुए बलवान् भीमसेन तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥

तमुत्पतन्तं जग्राह केशवो विनयान्वितः।
बाहुभ्यां पीनवृत्ताभ्यां प्रयत्नाद् बलवद्बली ॥ ११ ॥

उस समय विनयशील, बलवान् श्रीकृष्णने आक्रमण करते हुए बलरामजीको अपनी मोटी एवं गोल-गोल भुजाओं-द्वारा बड़े प्रयत्नसे पकड़ा ॥ ११ ॥

सितासितौ यदुवरौ शुशुभातेऽधिकं तदा।
(संगताविव राजेन्द्र कैलासाञ्जनपर्वतौ ॥)
नभोगतौ यथा राजंश्चन्द्रसूर्यौ दिनक्षये ॥ १२ ॥

राजेन्द्र! वे श्याम-गौर यदुकुलतिलक दोनों भाई परस्पर मिले हुए कैलास और कज्जल पर्वतोंके समान शोभा पा रहे थे। राजन्! संध्याकालके आकाशमें जैसे चन्द्रमा और सूर्य उदित हुए हों, वैसे ही उस रणक्षेत्रमें वे दोनों भाई सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

उवाच चैनं संरब्धं शमयन्निव केशवः।
आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्रमित्रोदयस्तथा ॥ १३ ॥

विपरीतं द्विषत्स्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः ।

उस समय श्रीकृष्णने रोषसे भरे हुए बलरामजीको शान्त करते हुए-से कहा—'भैया ! अपनी उन्नति छः प्रकारकी होती है—अपनी वृद्धि, मित्रकी वृद्धि और मित्रके मित्रकी वृद्धि । तथा शत्रुपक्षमें इसके विपरीत स्थिति अर्थात् शत्रुकी हानि, शत्रुके मित्रकी हानि तथा शत्रुके मित्रके मित्र-की हानि ॥ १३½ ॥

आत्मन्यपि च मित्रे च विपरीतं यदा भवेत् ॥ १४ ॥
तदा विद्यान्मनोग्लानिमाशु शान्तिकरो भवेत् ।

'अपनी और अपने मित्रकी यदि इसके विपरीत परि-स्थिति हो तो मन-ही-मन ग्लानिका अनुभव करना चाहिये और मित्रोंकी उस हानिके निवारणके लिये शीघ्र प्रयत्नशील होना चाहिये ॥ १४½ ॥

अस्माकं सहजं मित्रं पाण्डवाः शुद्धपौरुषाः ॥ १५ ॥
स्वकाः पितृष्वसुः पुत्रास्ते परैर्निकृता भृशम् ।

'शुद्ध पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले पाण्डव हमारे सहज मित्र हैं । बुआके पुत्र होनेके कारण सर्वथा अपने हैं । शत्रुओंने इनके साथ बहुत छल-कपट किया था ॥ १५½ ॥

प्रतिज्ञापालनं धर्मः क्षत्रियस्येह वेद्म्यहम् ॥ १६ ॥
सुयोधनस्य गदया भङ्क्तास्म्यूरू महाहवे ।
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं भीमेन हि सभातले ॥ १७ ॥

'मैं समझता हूँ कि इस जगत्में अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना क्षत्रियके लिये धर्म ही है । पहले सभामें भीमसेनने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं महायुद्धमें अपनी गदासे दुर्योधन-की दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ १६-१७ ॥

मैत्रेयेणाभिशप्तश्च पूर्वमेव महर्षिणा ।
ऊरू ते भेत्स्यते भीमो गदयेति परंतप ॥ १८ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजी ! महर्षि मैत्रेयने भी दुर्योधनको पहलेसे ही यह शाप दे रक्खा था कि 'भीमसेन अपनी गदासे तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालेंगे' ॥ १८ ॥

अतो दोषं न पश्यामि मा क्रुद्धस्त्वं प्रलम्बहन् ।
यौनैः स्वैः सुखहार्दैश्च सम्बन्धः सह पाण्डवैः ॥ १९ ॥
तेषां वृद्ध्या हि वृद्धिर्नो मा क्रुधः पुरुषर्षभ ।

'अतः प्रलम्बहन्ता बलभद्रजी ! मैं इसमें भीमसेनका कोई दोष नहीं देखता; इसलिये आप क्रोध न कीजिये । हमारा पाण्डवोंके साथ यौन-सम्बन्ध तो है ही । परस्पर सुख देनेवाले सौहार्दसे भी हमलोग बँधे हुए हैं । पुरुषप्रवर ! इन पाण्डवोंकी वृद्धिसे हमारी भी वृद्धि है, अतः आप क्रोध न करें' ॥ १९½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा सीरभृत् प्राह धर्मवित् ॥ २० ॥
धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति ।

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ हलधरने इस प्रकार कहा—'श्रीकृष्ण ! श्रेष्ठ पुरुषोंने धर्मका अच्छी तरह आचरण किया है; किंतु वह अर्थ और काम—इन दो वस्तुओंसे संकुचित हो जाता है ॥ २०½ ॥

अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चातिप्रसङ्गिणः ॥ २१ ॥
धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् ।
धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २२ ॥

'अत्यन्त लोभीका अर्थ और अधिक आसक्ति रखने-वालेका काम—ये दोनों ही धर्मको हानि पहुँचाते हैं ! जो मनुष्य कामसे धर्म और अर्थको, अर्थसे धर्म और कामको तथा धर्मसे अर्थ और कामको हानि न पहुँचाकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथोचित रूपसे सेवन करता है, वह अत्यन्त सुखका भागी होता है ॥ २१-२२ ॥

तदिदं व्याकुलं सर्वं कृतं धर्मस्य पीडनात् ।
भीमसेनेन गोविन्द कामं त्वं तु यथाऽऽत्थ माम् ॥ २३ ॥

'गोविन्द ! भीमसेनने (अर्थके लोभसे) धर्मको हानि पहुँचाकर इन सबको विकृत कर डाला है । तुम मुझसे जिस प्रकार इस कार्यको धर्मसंगत बता रहे हो वह सब तुम्हारी मनमानी कल्पना है' ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अरोषणो हि धर्मात्मा सततं धर्मवत्सलः ।
भवान् प्रख्यायते लोके तस्मात् संशाम्य मा क्रुधः ॥ २४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भैया ! आप संसारमें क्रोधरहित, धर्मात्मा और निरन्तर धर्मपर अनुग्रह रखनेवाले सत्पुरुषके रूपमें विख्यात हैं; अतः शान्त हो जाइये, क्रोध न कीजिये ॥

प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च ।
आनृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः ॥ २५ ॥

समझ लीजिये कि कलियुग आ गया । पाण्डुपुत्र भीम-सेनकी प्रतिज्ञापर भी ध्यान दीजिये । आज पाण्डुकुमार भीम वैर और प्रतिज्ञाके ऋणसे मुक्त हो जायँ ॥ २५ ॥

(गतः पुरुषशार्दूलो हत्वा नैकृतिकं रणे ।
अधर्मो विद्यते नात्र यद् भीमो हतवान् रिपुम् ॥

पुरुषसिंह भीम रणभूमिमें कपटी दुर्योधनको मारकर चले गये । उन्होंने जो अपने शत्रुका वध किया है, इसमें कोई अधर्म नहीं है ॥

युद्ध्यन्तं समरे वीरं कुरुवृष्णियशस्करम् ।
अनेन कर्णः संदिष्टः पृष्ठतो धनुराच्छिनत् ॥

इसी दुर्योधनने कर्णको आज्ञा दी थी, जिससे उसने कुरु और वृष्णि दोनों कुलोंके सुयशकी वृद्धि करनेवाले, युद्ध-परायण, वीर अभिमन्युके धनुषको समराङ्गणमें पीछेसे आकर काट दिया था ॥

ततः संछिन्नधन्वानं विरथं पौरुषे स्थितम् ।
व्यायुधीकृत्य हतवान् सौभद्रमपलायिनम् ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और रथसे हीन हो जानेपर भी जो पुरुषार्थमें ही तत्पर था, रणभूमिमें पीठ न दिखाने-वाले उस सुभद्राकुमार अभिमन्युको इसने निहत्था करके मार डाला था ॥

जन्मप्रभृतिलुब्धश्च पापश्चैव दुरात्मवान् ।

निहतो भीमसेनेन दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥

यह दुरात्मा, दुर्बुद्धि एवं पापी दुर्योधन जन्मसे ही लोभी तथा कुरुकुलका कलंक रहा है, जो भीमसेनके हाथसे मारा गया है॥

प्रतिज्ञां भीमसेनस्य त्रयोदशसमार्जिताम् ।
किमर्थं नाभिजानाति युद्ध्यमानोऽपि विश्रुताम्॥

भीमसेनकी प्रतिज्ञा तेरह वर्षोंसे चल रही थी और सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुकी थी। युद्ध करते समय दुर्योधनने उसे याद क्यों नहीं रक्खा ? ॥

ऊर्ध्वमुत्क्रम्य वेगेन जिघांसन्तं वृकोदरः ।
बभञ्ज गदया चोरू न स्थाने न च मण्डले ॥)

यह वेगसे ऊपर उछलकर भीमसेनको मार डालना चाहता था। उस अवस्थामें भीमने अपनी गदासे इसकी दोनों जाँघें तोड़ डाली थीं। उस समय न तो यह किसी स्थानमें था और न मण्डलमें ही ॥

संजय उवाच

धर्मच्छलमपि श्रुत्वा केशवात् स विशाम्पते ।
नैव प्रीतमना रामो वचनं प्राह संसदि ॥ २६ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्णसे यह छलरूप धर्मका विवेचन सुनकर बलदेवजीके मनको संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भरी सभामें कहा—॥ २६ ॥

हत्वाधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डवः ॥

'धर्मात्मा राजा दुर्योधनको अधर्मपूर्वक मारकर पाण्डुपुत्र भीमसेन इस संसारमें कपटपूर्ण युद्ध करनेवाले योद्धाके रूपमें विख्यात होंगे ॥ २७ ॥

दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः ॥ २८ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र धर्मात्मा राजा दुर्योधन सरलतासे युद्ध कर रहा था, उस अवस्थामें मारा गया है; अतः वह सनातन सद्गतिको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

युद्धदीक्षां प्रविश्याजौ रणयज्ञं वितत्य च ।
हुत्वाऽऽत्मानममित्राग्नौ प्राप चावभृथं यशः ॥ २९ ॥

'युद्धकी दीक्षा ले संग्रामभूमिमें प्रविष्ट हो रणयज्ञका विस्तार करके शत्रुरूपी प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरकी आहुति दे दुर्योधनने सुयशरूपी अवभृथ-स्नानका शुभ अवसर प्राप्त किया है' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय रौहिणेयः प्रतापवान् ।
श्वेताभ्रशिखराकारः प्रययौ द्वारकां प्रति ॥ ३० ॥

यह कहकर प्रतापी रोहिणीनन्दन बलरामजी, जो श्वेत बादलोंके अग्रभागकी भाँति गौर-कान्तिसे सुशोभित हो रहे थे, रथपर आरूढ़ हो द्वारकाकी ओर चल दिये ॥३०॥

पञ्चालाश्च सवार्ष्णेयाः पाण्डवाश्च विशाम्पते ।
रामे द्वारवतीं याते नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! बलरामजीके इस प्रकार द्वारका चले जानेपर पाञ्चाल, वृष्णिवंशी तथा पाण्डव वीर उदास हो गये। उनके मनमें अधिक उत्साह नहीं रह गया ॥ ३१ ॥

ततो युधिष्ठिरं दीनं चिन्तापरमधोमुखम् ।
शोकोपहतसंकल्पं वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ॥ ३२ ॥

उस समय युधिष्ठिर बहुत दुखी थे। वे नीचे मुख किये चिन्तामें डूब गये थे। शोकसे उनका मनोरथ भङ्ग हो गया था। उस अवस्थामें उनसे भगवान् श्रीकृष्ण बोले ॥

वासुदेव उवाच

धर्मराज किमर्थं त्वमधर्ममनुमन्यसे ।
हतबन्धोर्यदेतस्य पतितस्य विचेतसः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनस्य भीमेन मृद्यमानं शिरः पदा ।
उपप्रेक्षसि कस्मात् त्वं धर्मज्ञः सन्नराधिप ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—धर्मराज ! आप चुप होकर अधर्मका अनुमोदन क्यों कर रहे हैं ? नरेश्वर दुर्योधनके भाई और सहायक मारे जा चुके हैं। यह पृथ्वीपर गिरकर अचेत हो रहा है। ऐसी दशामें भीमसेन इसके मस्तकको पैरसे कुचल रहे हैं। आप धर्मज्ञ होकर समीपसे ही यह सब कैसे देख रहे हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतत् प्रियं कृष्ण यद् राजानं वृकोदरः ।
पदा मूर्ध्न्यस्पृशत् क्रोधान्न च हृष्ये कुलक्षये ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! भीमसेनने क्रोधमें भरकर जो राजा दुर्योधनके मस्तकको पैरोंसे ठुकराया है, यह मुझे भी अच्छा नहीं लगा। अपने कुलका संहार हो जानेसे मैं प्रसन्न नहीं हूँ ॥ ३५ ॥

निकृत्या निकृता नित्यं धृतराष्ट्रसुतैर्वयम् ।
बहूनि परुषाण्युक्त्वा वनं प्रस्थापिताः स्म ह ॥ ३६ ॥

परंतु क्या करूँ, धृतराष्ट्रके पुत्रोंने सदा ही हमें अपने कपट-जालका शिकार बनाया और बहुत-से कटुवचन सुनाकर वनमें भेज दिया ॥ ३६ ॥

भीमसेनस्य तद् दुःखमतीव हृदि वर्तते ।
इति संचिन्त्य वार्ष्णेय मयैतत् समुपेक्षितम् ॥ ३७ ॥

वृष्णिनन्दन ! भीमसेनके हृदयमें इन सब बातोंके लिये बड़ा दुःख था। यही सोचकर मैंने उनके इस कार्यकी उपेक्षा की है ॥ ३७ ॥

तस्माद्धत्वाकृतप्रज्ञं लुब्धं कामवशानुगम् ।
लभतां पाण्डवः कामं धर्मेऽधर्मे च वा कृते ॥ ३८ ॥

इसलिये मैंने विचार किया कि कामके वशीभूत हुए लोभी और अजितात्मा दुर्योधनको मारकर धर्म या अधर्म करके पाण्डुपुत्र भीम अपनी इच्छा पूरी कर लें ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

इत्युक्ते धर्मराजेन वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ।
काममस्त्वेतदिति वै कृच्छ्राद् यदुकुलोद्वहः ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! धर्मराजके ऐसा कहनेपर यदुकुलश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने बड़े कष्टसे यह कहा कि 'अच्छा, ऐसा ही सही' ॥ ३९ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन भीमप्रियहितैषिणा ।
अन्वमोदत तत् सर्वं यद् भीमेन कृतं युधि ॥ ४० ॥

भीमसेनका प्रिय और हित चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-के ऐसा कहनेपर युधिष्ठिरने भीमसेनके द्वारा युद्धस्थलमें जो कुछ किया गया था, उस सबका अनुमोदन किया ॥ ४० ॥

(अर्जुनोऽपि महाबाहुरप्रीतेनान्तरात्मना ।
नोवाच वचनं किंचित् भ्रातरं साध्वसाधु वा॥)

महाबाहु अर्जुन भी अप्रसन्न-चित्तसे अपने भाईके प्रति भला बुरा कुछ नहीं बोले ॥

भीमसेनोऽपि हत्वाऽऽजौ तव पुत्रममर्षणः ।
अभिवाद्याग्रतः स्थित्वा सम्प्रहृष्टः कृताञ्जलिः ॥ ४१ ॥

अमर्षशील भीमसेन युद्धस्थलमें आपके पुत्रका वध करके बड़े प्रसन्न हुए और युधिष्ठिरको प्रणाम करके उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

प्रोवाच सुमहातेजा धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
हर्षादुत्फुल्लनयनो जितकाशी विशाम्पते ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय महातेजस्वी भीमसेन विजयश्रीसे प्रकाशित हो रहे थे । उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे, उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ४२ ॥

तवाद्य पृथिवी सर्वा क्षेमा निहतकण्टका ।
तां प्रशाधि महाराज स्वधर्ममनुपालय ॥ ४३ ॥

'महाराज ! आज यह सारी पृथ्वी आपकी हो गयी, इसके काँटे नष्ट कर दिये गये, अतः यह मङ्गलमयी हो गयी है । आप इसका शासन तथा अपने धर्मका पालन कीजिये ॥

यस्तु कर्तास्य वैरस्य निकृत्या निकृतिप्रियः ।
सोऽयं विनिहतः शेते पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ४४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जिसे छल और कपट ही प्रिय था तथा जिसने कपटसे ही इस वैरकी नींव डाली थी, वही यह दुर्योधन आज मारा जाकर पृथ्वीपर सो रहा है ॥ ४४ ॥

दुःशासनप्रभृतयः सर्वे ते चोग्रवादिनः ।
राधेयः शकुनिश्चैव हताश्च तव शत्रवः ॥ ४५ ॥

'वे भयङ्कर कटुवचन बोलनेवाले दुःशासन आदि धृतराष्ट्रपुत्र तथा कर्ण और शकुनि आदि आपके सभी शत्रु मार डाले गये ॥ ४५ ॥

सेयं रत्नसमाकीर्णा मही सवनपर्वता ।
उपावृत्ता महाराज त्वामद्य निहतद्विषम् ॥ ४६ ॥

'महाराज ! आपके शत्रु नष्ट हो गये । आज यह रत्नोंसे भरी हुई वन और पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी आपकी सेवामें प्रस्तुत है' ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गतो वैरस्य निधनं हतो राजा सुयोधनः ।
कृष्णस्य मतमास्थाय विजितेयं वसुन्धरा ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! सौभाग्यकी बात है कि तुमने वैरका अन्त कर दिया, राजा दुर्योधन मारा गया और श्रीकृष्णके मतका आश्रय लेकर हमने यह सारी पृथ्वी जीत ली ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या गतस्त्वमानृण्यं मातुः कोपस्य चोभयोः ।
दिष्ट्या जयति दुर्धर्ष दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः ॥ ४८ ॥

सौभाग्यसे तुम माता तथा क्रोध दोनोंके ऋणसे उऋण हो गये । दुर्धर्ष वीर ! भाग्यवश तुम विजयी हुए और सौभाग्यसे ही तुमने अपने शत्रुको मार गिराया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवसान्त्वने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें श्रीकृष्णका बलदेवजीको सान्त्वना देनाविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डव-सैनिकोंद्वारा भीमकी स्तुति, श्रीकृष्णका दुर्योधनपर आक्षेप, दुर्योधनका उत्तर तथा श्रीकृष्णके द्वारा पाण्डवोंका समाधान एवं शङ्खध्वनि

धृतराष्ट्र उवाच

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
पाण्डवाः सृञ्जयाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! रणभूमिमें भीमसेनके द्वारा दुर्योधनको मारा गया देख पाण्डवों तथा सृंजयोंने क्या किया?॥

संजय उवाच

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
सिंहेनेव महाराज मत्तं वनगजं यथा ॥ २ ॥
प्रहृष्टमनसस्तत्र कृष्णेन सह पाण्डवाः ।

संजयने कहा—महाराज ! जैसे कोई मतवाला जंगली हाथी सिंहके द्वारा मारा गया हो, उसी प्रकार दुर्योधन-को भीमसेनके हाथसे रणभूमिमें मारा गया देख श्रीकृष्ण-सहित पाण्डव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २½ ॥

पञ्चाला सृञ्जयाश्चैव निहते कुरुनन्दने ॥ ३ ॥
आविद्धयन्नुत्तरीयाणि सिंहनादांश्च नेदिरे ।
नैतान् हर्षसमाविष्टानियं सेहे वसुंधरा ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधनके मारे जानेपर पाञ्चाल और सृंजय तो अपने दुपट्टे उछालने और सिंहनाद करने लगे । हर्षमें भरे हुए इन पाण्डव वीरोंका भार यह पृथ्वी सहन नहीं कर पाती थी ॥ ३-४ ॥

धनूंष्यन्ये व्याक्षिपन्त ज्याश्चाप्यन्ये तथाक्षिपन् ।
दध्मुरन्ये महाशङ्खानन्ये जघ्नुश्च दुन्दुभीन् ॥ ५ ॥

किसीने धनुष टंकारा, किसीने प्रत्यञ्चा खींची, कुछ लोग बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे और दूसरे बहुत-से सैनिक डंके पीटने लगे ॥ ५ ॥

चिक्रीडुश्च तथैवान्ये जहसुश्च तवाहिताः ।
अब्रुवंश्चासकृद् वीरा भीमसेनमिदं वचः ॥ ६ ॥

आपके बहुत-से शत्रु भाँति-भाँतिके खेल खेलने और

हास-परिहास करने लगे। कितने ही वीर भीमसेनके पास जाकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ६ ॥

दुष्करं भवता कर्म रणेऽद्य सुमहत् कृतम्।
कौरवेन्द्रं रणे हत्वा गदयातिकृतश्रमम्॥ ७ ॥

'कौरवराज दुर्योधनने गदायुद्धमें बड़ा भारी परिश्रम किया था। आज रणभूमिमें उसका वध करके आपने महान् एवं दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है॥ ७ ॥

इन्द्रेणेव हि वृत्रस्य वधं परमसंयुगे।
त्वया कृतममन्यन्त शत्रोर्वधमिमं जनाः॥ ८ ॥

'जैसे महासमरमें इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, आपके द्वारा किया हुआ यह शत्रुका संहार भी उसी कोटिका है—ऐसा सब लोग समझने लगे हैं॥ ८ ॥

चरन्तं विविधान् मार्गान् मण्डलानि च सर्वशः।
दुर्योधनमिमं शूरं कोऽन्यो हन्याद् वृकोदरात्॥ ९ ॥

'भला, नाना प्रकारके पैंतरे बदलते और सब तरहकी मण्डलाकार गतियोंसे चलते हुए इस शूरवीर दुर्योधनको भीमसेनके सिवा दूसरा कौन मार सकता था?॥ ९ ॥

वैरस्य च गतः पारं त्वमिहान्यैः सुदुर्गमम्।
अशक्यमेतदन्येन सम्पादयितुमीदृशम्॥ १० ॥

'आप वैरके समुद्रसे पार हो गये, जहाँ पहुँचना दूसरे लोगोंके लिये अत्यन्त कठिन है। दूसरे किसीके लिये ऐसा पराक्रम कर दिखाना सर्वथा असम्भव है॥ १० ॥

कुञ्जरेणेव मत्तेन वीर संग्राममूर्धनि।
दुर्योधनशिरो दिष्ट्या पादेन मृदितं त्वया॥ ११ ॥

'वीर! मतवाले गजराजकी भाँति आपने युद्धके मुहानेपर अपने पैरसे दुर्योधनके मस्तकको कुचल दिया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ ११ ॥

सिंहेन महिषस्येव कृत्वा सङ्गरमुत्तमम्।
दुःशासनस्य रुधिरं दिष्ट्या पीतं त्वयानघ॥ १२ ॥

'अनघ! जैसे सिंहने भैंसेका खून पी लिया हो, उसी प्रकार आपने महान् युद्ध ठानकर दुःशासनके रक्तका पान किया है, यह भी सौभाग्यकी ही बात है॥ १२ ॥

ये विप्रकुर्वन् राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
मूर्ध्नि तेषां कृतः पादो दिष्ट्या ते स्वेन कर्मणा॥ १३ ॥

'जिन लोगोंने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका अपराध किया था, उन सबके मस्तकपर आपने अपने पराक्रमद्वारा पैर रख दिया, यह कितने हर्षका विषय है॥ १३ ॥

अमित्राणामधिष्ठानाद् वधाद् दुर्योधनस्य च।
भीम दिष्ट्या पृथिव्यां ते प्रथितं सुमहद् यशः॥ १४ ॥

'भीम! शत्रुओंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और दुर्योधनको मार डालनेसे भाग्यवश इस भूमण्डलमें आपका महान् यश फैल गया है॥ १४ ॥

एवं नूनं हते वृत्रे शक्रं नन्दन्ति वन्दिनः।
तथा त्वां निहतामित्रं वयं नन्दाम भारत॥ १५ ॥

'भारत! निश्चय ही वृत्रासुरके मारे जानेपर वन्दीजनोंने जिस प्रकार इन्द्रका अभिनन्दन किया था, उसी प्रकार हम शत्रुओंका वध करनेवाले आपका अभिनन्दन करते हैं॥ १५॥

दुर्योधनवधे यानि रोमाणि हृषितानि नः।
अद्यापि न विकृष्यन्ते तानि तद् विद्धि भारत॥ १६ ॥

'भरतनन्दन! दुर्योधनके वधके समय हमारे शरीरमें जो रोंगटे खड़े हुए थे, वे अब भी ज्यों-के-त्यों हैं, गिर नहीं रहे हैं। इन्हें आप देख लें'॥ १६ ॥

इत्यब्रुवन् भीमसेनं वातिकास्तत्र सङ्गताः।
तान् हृष्टान् पुरुषव्याघ्रान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह॥ १७॥
ब्रुवतोऽसदृशं तत्र प्रोवाच मधुसूदनः।

प्रशंसा करनेवाले वीरगण वहाँ एकत्र होकर भीमसेनसे उपर्युक्त बातें कह रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि पुरुषसिंह पाञ्चाल और पाण्डव अयोग्य बातें कह रहे हैं, तब वे वहाँ उन सबसे बोले—॥ १७½ ॥

न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः॥ १८ ॥
असकृद् वाग्भिरुग्राभिर्निहतो ह्येष मन्दधीः।

'नरेश्वरो! मरे हुए शत्रुको पुनः मारना उचित नहीं है। तुमलोगोंने इस मन्दबुद्धि दुर्योधनको बारंबार कठोर वचनोंद्वारा घायल किया है॥ १८½ ॥

तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः॥ १९ ॥
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः।

'यह निर्लज्ज पापी तो उसी समय मर चुका था जब लोभमें फँसा और पापियोंको अपना सहायक बनाकर सुहृदोंके शासनसे दूर रहने लगा॥ १९½ ॥

बहुशो विदुरद्रोणकृपगाङ्गेयसृंजयैः॥ २० ॥
पाण्डुभ्यः प्रार्थ्यमानोऽपि पित्र्यमंशं न दत्तवान्।

'विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म तथा सृंजयोंके बारंबार प्रार्थना करनेपर भी इसने पाण्डवोंको उनका पैतृक भाग नहीं दिया॥ २०½ ॥

नैष योग्योऽद्य मित्रं वा शत्रुर्वा पुरुषाधमः॥ २१ ॥
किमनेनातिभुग्नेन वाग्भिः काष्ठसधर्मणा।
रथेष्वारोहत क्षिप्रं गच्छामो वसुधाधिपाः॥ २२ ॥
दिष्ट्या हतोऽयं पापात्मा सामात्यज्ञातिबान्धवः।

'यह नराधम अब किसी योग्य नहीं है। न यह किसीका मित्र है और न शत्रु। राजाओ! यह तो सूखे काठके समान कठोर है। इसे कटुवचनोंद्वारा अधिक झुकानेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ? अब शीघ्र अपने रथोंपर बैठो। हम सब लोग छावनीकी ओर चलें। सौभाग्यसे यह पापात्मा अपने मन्त्री, कुटुम्ब और भाई-बन्धुओंसहित मार डाला गया।'

इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं कृष्णाद् दुर्योधनो नृपः॥ २३ ॥
अमर्षवशमापन्न उदतिष्ठद् विशाम्पते।
स्फिग्देशेनोपविष्टः स दोर्भ्यां विष्टभ्य मेदिनीम्॥ २४ ॥

प्रजानाथ! श्रीकृष्णके मुखसे यह आक्षेपयुक्त वचन सुन राजा दुर्योधन अमर्षके वशीभूत होकर उठा और दोनों हाथ पृथ्वीपर टेककर चूतड़के सहारे बैठ गया॥ २३-२४॥

दृष्टिं भ्रूसङ्कटां कृत्वा वासुदेवे न्यपातयत्।
अर्धोन्नतशरीरस्य रूपमासीन्नृपस्य तु ॥ २५ ॥
क्रुद्धस्याशीविषस्येव च्छिन्नपुच्छस्य भारत।

तत्पश्चात् उसने श्रीकृष्णकी ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा, उसका आधा शरीर उठा हुआ था। उस समय राजा दुर्योधनका रूप उस कुपित विषधरके समान जान पड़ता था, जो पूँछ कट जानेके कारण अपने आधे शरीरको ही उठाकर देख रहा हो ॥ २५½ ॥

प्राणान्तकरणीं घोरां वेदनामप्यचिन्तयन् ॥ २६ ॥
दुर्योधनो वासुदेवं वाग्भिरुग्राभिरार्दयत्।

उसे प्राणोंका अन्त कर देनेवाली भयंकर वेदना हो रही थी, तो भी उसकी चिन्ता न करते हुए दुर्योधनने अपने कठोर वचनोंद्वारा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पीड़ा देना प्रारम्भ किया—॥ २६½ ॥

कंसदासस्य दायाद न ते लज्जास्त्यनेन वै ॥ २७ ॥
अधर्मेण गदायुद्धे यदहं विनिपातितः।

'ओ कंसके दासके बेटे! मैं जो गदायुद्धमें अधर्मसे मारा गया हूँ, इस कुकृत्यके कारण क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती है?॥ २७½ ॥

ऊरू भिन्धीति भीमस्य स्मृतिं मिथ्या प्रयच्छता॥ २८ ॥
किं न विज्ञातमेतन्मे यदर्जुनमवोचथाः।

'भीमसेनको मेरी जाँघें तोड़ डालनेका मिथ्या स्मरण दिलाते हुए तुमने अर्जुनसे जो कुछ कहा था, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है?॥ २८½ ॥

घातयित्वा महीपालानृजुयुद्धान् सहस्रशः ॥ २९ ॥
जिह्मैरुपायैर्बहुभिर्न ते लज्जा न ते घृणा।

'सरलतासे धर्मानुकूल युद्ध करनेवाले सहस्रों भूमिपालोंको बहुत-से कुटिल उपायोंद्वारा मरवाकर न तुम्हें लज्जा आती है और न इस बुरे कर्मसे घृणा ही होती है ॥ २९½ ॥

अहन्यहनि शूराणां कुर्वाणः कदनं महत् ॥ ३० ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य घातितस्ते पितामहः।

'जो प्रतिदिन शूरवीरोंका भारी संहार मचा रहे थे, उन पितामह भीष्मका तुमने शिखण्डीको आगे रखकर वध कराया ॥ ३०½ ॥

अश्वत्थाम्नः सनामानं हत्वा नागं सुदुर्मते ॥ ३१ ॥
आचार्यो न्यासितः शस्त्रं किं तन्न विदितं मया।

'दुर्मते! अश्वत्थामाके सदृश नामवाले एक हाथीको मारकर तुमलोगोंने द्रोणाचार्यके हाथसे शस्त्र नीचे डलवा दिया था, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है?॥ ३१½ ॥

स चानेन नृशंसेन धृष्टद्युम्नेन वीर्यवान् ॥ ३२ ॥
पात्यमानस्त्वया दृष्टो न चैनं त्वमवारयः।

'इस नृशंस धृष्टद्युम्नने पराक्रमी आचार्यको उस अवस्थामें मार गिराया, जिसे तुमने अपनी आँखों देखा; किंतु मना नहीं किया ॥ ३२½ ॥

वधार्थं पाण्डुपुत्रस्य याचितां शक्तिमेव च ॥ ३३ ॥
घटोत्कचे व्यंसयतः कस्त्वत्तः पापकृत्तमः।

'पाण्डुपुत्र अर्जुनके वधके लिये माँगी हुई इन्द्रकी शक्तिको तुमने घटोत्कचपर छुड़वा दिया। तुमसे बढ़कर महापापी कौन हो सकता है?॥ ३३½ ॥

छिन्नहस्तः प्रायगतस्तथा भूरिश्रवा बली ॥ ३४ ॥
त्वयाभिसृष्टेन हतः शैनेयेन महात्मना।

'बलवान् भूरिश्रवाका हाथ कट गया था और वे आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठे हुए थे। उस दशामें तुमसे ही प्रेरित होकर महामना सात्यकिने उनका वध किया॥

कुर्वाणश्चोत्तमं कर्म कर्णः पार्थजिगीषया ॥ ३५ ॥
व्यंसनेनाश्वसेनस्य पन्नगेन्द्रस्य वै पुनः।
पुनश्च पतिते चक्रे व्यसनार्तः पराजितः ॥ ३६ ॥
पातितः समरे कर्णश्चक्रव्यग्रोऽग्रणीर्नृणाम्।

'मनुष्योंमें अग्रगण्य कर्ण अर्जुनको जीतनेकी इच्छासे उत्तम पराक्रम कर रहा था। उस समय नागराज अश्वसेनको जो कर्णके बाणके साथ अर्जुनके वधके लिये जा रहा था, तुमने अपने प्रयत्नसे विफल कर दिया। फिर जब कर्णके रथका पहिया गड्ढेमें गिर गया और वह उसे उठानेमें व्यग्रतापूर्वक संलग्न हुआ, उस समय उसे संकटसे पीड़ित एवं पराजित जानकर तुमलोगोंने मार गिराया॥ ३५—३६½ ॥

यदि मां चापि कर्णं च भीष्मद्रोणौ च संयुतौ॥ ३७ ॥
ऋजुना प्रतियुध्येथा न ते स्याद् विजयो ध्रुवम्।

'यदि मेरे, कर्णके तथा भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ मायारहित सरलभावसे तुम युद्ध करते तो निश्चय ही तुम्हारे पक्षकी विजय नहीं होती ॥ ३७½ ॥

त्वया पुनरनार्येण जिह्ममार्गेण पार्थिवाः॥ ३८ ॥
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो वयं चान्ये च घातिताः।

'परंतु तुम-जैसे अनार्यने कुटिल मार्गका आश्रय लेकर स्वधर्म-पालनमें लगे हुए हमलोगोंका तथा दूसरे राजाओंका भी वध करवाया है' ॥ ३८½ ॥

वासुदेव उवाच

हतस्त्वमसि गान्धारे सभ्रातृसुतबान्धवः ॥ ३९ ॥
सगणः ससुहृच्चैव पापं मार्गमनुष्ठितः।
तवैव दुष्कृतैर्वीरौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ॥ ४० ॥
कर्णश्च निहतः संख्ये तव शीलानुवर्तकः।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—गान्धारीनन्दन! तुमने पापके रास्तेपर पैर रक्खा था; इसीलिये तुम भाई, पुत्र, बान्धव, सेवक और सुहृद्गणोंसहित मारे गये हो। वीर भीष्म और द्रोणाचार्य तुम्हारे दुष्कर्मोंसे ही मारे गये हैं। कर्ण भी तुम्हारे स्वभावका ही अनुसरण करनेवाला था; इसलिये युद्धमें मारा गया ॥ ३९-४०½ ॥

याच्यमानं मया मूढ पित्र्यमंशं न दित्ससि ॥ ४१ ॥
पाण्डवेभ्यः स्वराज्यं च लोभाच्छकुनिनिश्चयात्।

ओ मूर्ख! तुम शकुनिकी सलाह मानकर मेरे माँगनेपर भी पाण्डवोंको उनकी पैतृकसम्पत्ति, उनका अपना राज्य लोभवश नहीं देना चाहते थे ॥ ४१½ ॥

विषं ते भीमसेनाय दत्तं सर्वे च पाण्डवाः ॥ ४२ ॥
प्रदीपिता जतुगृहे मात्रा सह सुदुर्मते ।
सभायां याज्ञसेनी च कृष्टा द्यूते रजस्वला ॥ ४३ ॥
तदैव तावद् दुष्टात्मन् वध्यस्त्वं निरपत्रप ।

सुदुर्मते ! तुमने जब भीमसेनको विष दिया, समस्त पाण्डवोंको उनकी माताके साथ लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया और निर्लज्ज ! दुष्टात्मन् ! द्यूतक्रीड़ाके समय भरी सभामें रजस्वला द्रौपदीको जब तुमलोग घसीट लाये, तभी तुम वधके योग्य हो गये थे ॥ ४२-४३½ ॥

अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं सौबलेनाक्षवेदिना ॥ ४४ ॥
निकृत्या यत् पराजैषीस्तस्मादसि हतो रणे ।

तुमने द्यूतक्रीड़ाके जानकार सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा उस कलाको न जाननेवाले धर्मज्ञ युधिष्ठिरको, जो छलसे पराजित किया था, उसी पापसे तुम रणभूमिमें मारे गये हो ॥४४½॥

जयद्रथेन पापेन यत् कृष्णा क्लेशिता वने ॥ ४५ ॥
यातेषु मृगयां चैव तृणबिन्दोरथाश्रमम् ।
अभिमन्युश्च यद् बाल एको बहुभिराहवे ॥ ४६ ॥
त्वद्दोषैर्निहतः पाप तस्मादसि हतो रणे ।

जब पाण्डव शिकारके लिये तृणबिन्दुके आश्रमपर चले गये थे, उस समय पापी जयद्रथने वनके भीतर द्रौपदीको जो क्लेश पहुँचाया और पापात्मन् ! तुम्हारे ही अपराधसे बहुत-से योद्धाओंने मिलकर युद्धस्थलमें जो अकेले बालक अभिमन्यु-का वध किया था, इन्हीं सब कारणोंसे आज तुम भी रण-भूमिमें मारे गये हो ॥ ४५-४६½ ॥

(कुर्वाणं कर्म समरे पाण्डवानर्थकाङ्क्षिणम् ।
यच्छिखण्ड्यवधीद् भीष्मं मित्रार्थे न व्यतिक्रमः॥

भीष्म पाण्डवोंके अनर्थकी इच्छा रखकर समरभूमिमें पराक्रम प्रकट कर रहे थे । उस समय अपने मित्रोंके हितके लिये शिखण्डीने जो उनका वध किया है, वह कोई दोष या अपराधकी बात नहीं है ॥

स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा आचार्यस्त्वत्प्रियेप्सया ।
पार्षतेन हतः संख्ये वर्तमानोऽसतां पथि ॥

आचार्य द्रोण तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे अपने धर्म-को पीछे करके असाधु पुरुषोंके मार्गपर चल रहे थे; अतः युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नने उनका वध किया है ॥

प्रतिज्ञामात्मनः सत्यां चिकीर्षन् समरे रिपुम् ।
हतवान् सात्वतो विद्वान् सौमदत्तिं महारथम्॥

विद्वान् सात्वतवंशी सात्यकिने अपनी सच्ची प्रतिज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे समराङ्गणमें अपने शत्रु महारथी भूरिश्रवाका वध किया था ॥

अर्जुनः समरे राजन् युध्यमानः कदाचन ।
निन्दितं पुरुषव्याघ्रः करोति न कथंचन ॥

राजन् ! समरभूमिमें युद्ध करते हुए पुरुषसिंह अर्जुन कभी किसी प्रकार भी कोई निन्दित कार्य नहीं करते हैं ! ॥

लब्ध्वापि बहुशश्छिद्रं वीरवृत्तमनुस्मरन् ।
न जघान रणे कर्णं मैवं वोचः सुदुर्मते ॥

दुर्मते ! अर्जुनने वीरोचित सदाचारका विचार करके बहुत-से छिद्र (प्रहार करनेके अवसर) पाकर भी युद्धमें कर्णका वध नहीं किया है; अतः तुम उनके विषयमें ऐसी बात न कहो ॥

देवानां मतमाज्ञाय तेषां प्रियहितेप्सया ।
नार्जुनस्य महानागं मया व्यंसितमस्त्रजम् ॥

देवताओंका मत जानकर उनका प्रिय और हित करनेकी इच्छासे मैंने अर्जुनपर महानागास्त्रका प्रहार नहीं होने दिया। उसे विफल कर दिया ॥

त्वं च भीष्मश्च कर्णश्च द्रोणो द्रौणिस्तथा कृपः ।
विराटनगरे तस्य आनृशंस्याच्च जीविताः ॥

तुम, भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य विराटनगरमें अर्जुनकी दयालुतासे ही जीवित बच गये ॥

स्मर पार्थस्य विक्रान्तं गन्धर्वेषु कृतं तदा ।
अधर्मः कोऽत्र गान्धारे पाण्डवैर्यत् कृतं त्वयि॥

याद करो, अर्जुनके उस पराक्रमको; जो उन्होंने तुम्हारे लिये उन दिनों गन्धर्वोंपर प्रकट किया था । गान्धारीनन्दन ! पाण्डवोंने यहाँ तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया है, उसमें कौन-सा अधर्म है ॥

स्वबाहुबलमास्थाय स्वधर्मेण परंतपाः ।
जितवन्तो रणे वीरा पापोऽसि निधनं गतः ॥)

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर पाण्डवोंने अपने बाहुबल-का आश्रय लेकर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार विजय पायी है । तुम पापी हो, इसीलिये मारे गये हो ॥

यान्यकार्याणि चास्माकं कृतानीति प्रभाषसे ॥ ४७ ॥
वैगुण्येन तवात्यर्थं सर्वं हि तदनुष्ठितम् ।

तुम जिन्हें हमारे किये हुए अनुचित कार्य बता रहे हो, वे सब तुम्हारे महान् दोषसे ही किये गये हैं ॥ ४७½ ॥

बृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया ॥ ४८ ॥
वृद्धा नोपासिताश्चैव हितं वाक्यं न ते श्रुतम् ।

तुमने बृहस्पति और शुक्राचार्यके नीतिसम्बन्धी उपदेश-को नहीं सुना है, बड़े-बूढ़ोंकी उपासना नहीं की है और उनके हितकर वचन भी नहीं सुने हैं ॥ ४८½ ॥

लोभेनातिबलेन त्वं तृष्णया च वशीकृतः ॥ ४९ ॥
कृतवानस्यकार्याणि विपाकस्तस्य भुज्यताम् ।

तुमने अत्यन्त प्रबल लोभ और तृष्णाके वशीभूत होकर न करने योग्य कार्य किये हैं; अतः उनका परिणाम अब तुम्हीं भोगो ॥ ४९½ ॥

दुर्योधन उवाच

अधीतं विधिवद् दत्तं भूः प्रशास्ता ससागरा ॥ ५० ॥
मूर्ध्नि स्थितममित्राणां को नु स्वन्ततरो मया ।

दुर्योधनने कहा—मैंने विधिपूर्वक अध्ययन किया, दान दिये, समुद्रोंसहित पृथ्वीका शासन किया और शत्रुओंके मस्तकपर पैर रखकर मैं खड़ा रहा । मेरे समान उत्तम अन्त (परिणाम) किसका हुआ है ? ॥ ५०½ ॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुपश्यताम् ॥ ५१ ॥
तदिदं निधनं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

अपने धर्मपर दृष्टि रखनेवाले क्षत्रिय-बन्धुओंको जो अभीष्ट है, वही यह मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है; अतः मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ है ? ॥ ५१½ ॥

देवार्हा मानुषा भोगाः प्राप्ता असुलभा नृपैः ॥ ५२ ॥
ऐश्वर्यं चोत्तमं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

जो दूसरे राजाओंके लिये दुर्लभ हैं, वे देवताओंको ही सुलभ होनेवाले मानवभोग मुझे प्राप्त हुए हैं। मैंने उत्तम ऐश्वर्य पा लिया है; अतः मुझसे उत्कृष्ट अन्त और किसका हुआ है ?॥ ५२½ ॥

ससुहृत् सानुगश्चैव स्वर्गं गन्ताहमच्युत ॥ ५३ ॥
यूयं निहतसंकल्पाः शोचन्तो वर्तयिष्यथ ।

अच्युत ! मैं सुहृदों और सेवकोंसहित स्वर्गलोकमें जाऊँगा और तुमलोग भग्नमनोरथ होकर शोचनीय जीवन बिताते रहोगे ॥ ५३½ ॥

(न मे विषादो भीमेन पादेन शिर आहतम् ।
काका वा कङ्कगृध्रा वा निधास्यन्ति पदं क्षणात् ॥)

भीमसेनने अपने पैरसे जो मेरे सिरपर आघात किया है, इसके लिये मुझे कोई खेद नहीं है; क्योंकि अभी क्षणभरके बाद कौए, कङ्क अथवा गृध्र भी तो इस शरीरपर अपना पैर रक्खेंगे ॥

संजय उवाच

अस्य वाक्यस्य निधने कुरुराजस्य धीमतः ॥ ५४ ॥
अपतत् सुमहद् वर्षं पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।

संजय कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् कुरुराज दुर्योधनकी यह बात पूरी होते ही उसके ऊपर पवित्र सुगंधवाले पुष्पोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ ५४½ ॥

अवादयन्त गन्धर्वा वादित्रं सुमनोहरम् ॥ ५५ ॥
जगुश्चाप्सरसो राज्ञो यशःसम्बद्धमेव च ।

गन्धर्वगण अत्यन्त मनोहर बाजे बजाने लगे और अप्सराएँ राजा दुर्योधनके सुयशसम्बन्धी गीत गाने लगीं५५½

सिद्धाश्च मुमुचुर्वाचः साधु साध्विति पार्थिव ॥ ५६ ॥
ववौ च सुरभिर्वायुः पुण्यगन्धो मृदुः सुखः ।
व्यराजंश्च दिशः सर्वा नभो वैदूर्यसंनिभम् ॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय सिद्धगण बोल उठे—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'। फिर पवित्र गन्धवाली मनोहर, मृदुल एवं सुखदायक हवा चलने लगी। सारी दिशाओंमें प्रकाश छा गया और आकाश नीलमके समान चमक उठा ॥ ५६-५७॥

अत्यद्भुतानि ते दृष्ट्वा वासुदेवपुरोगमाः ।
दुर्योधनस्य पूजां तु दृष्ट्वा व्रीडामुपागमन् ॥ ५८॥

श्रीकृष्ण आदि सब लोग ये अद्भुत बातें और दुर्योधनकी यह पूजा देखकर बहुत लज्जित हुए ॥ ५८ ॥

हतांश्चाधर्मतः श्रुत्वा शोकार्ताः शुशुचुर्हि ते ।
भीष्मं द्रोणं तथा कर्णं भूरिश्रवसमेव च ॥ ५९ ॥

भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवाको अधर्मपूर्वक मारा गया सुनकर सब लोग शोकसे व्याकुल हो खेद प्रकट करने लगे ॥ ५९ ॥

तांस्तु चिन्तापरान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
प्रोवाचेदं वचः कृष्णो मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ६० ॥

पाण्डवोंको दीनचित्त एवं चिन्तामग्न देख मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा--॥ ६० ॥

नैष शक्योऽतिशीघ्रास्त्रस्ते च सर्वे महारथाः ।
ऋजुयुद्धेन विक्रान्ता हन्तुं युष्माभिराहवे ॥ ६१ ॥

'यह दुर्योधन अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला था, अतः इसे कोई जीत नहीं सकता था और वे भीष्म, द्रोण आदि महारथी भी बड़े पराक्रमी थे। उन्हें धर्मानुकूल सरलता-पूर्वक युद्धके द्वारा आपलोग नहीं मार सकते थे ॥ ६१ ॥

नैष शक्यः कदाचित् तु हन्तुं धर्मेण पार्थिवः ।
ते वा भीष्ममुखाः सर्वे महेष्वासा महारथाः ॥ ६२ ॥

'यह राजा दुर्योधन अथवा वे भीष्म आदि सभी महाधनुर्धर महारथी कभी धर्मयुद्धके द्वारा नहीं मारे जा सकते थे ॥ ६२ ॥

मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत् ।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥ ६३ ॥

'आपलोगोंका हित चाहते हुए मैंने ही बारंबार मायाका प्रयोग करके अनेक उपायोंसे युद्धस्थलमें उन सबका वध किया ॥ ६३ ॥

यदि नैवंविधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे ।
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम्॥ ६४ ॥

'यदि कदाचित् युद्धमें मैं इस प्रकार कपटपूर्ण कार्य नहीं करता तो फिर तुम्हें विजय कैसे प्राप्त होती, राज्य कैसे हाथमें आता और धन कैसे मिल सकता था ? ॥ ६४ ॥

ते हि सर्वे महात्मानश्चत्वारोऽतिरथा भुवि ।
न शक्या धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम् ॥ ६५ ॥

'भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा—ये चारों महामना इस भूतलपर अतिरथीके रूपमें विख्यात थे। साक्षात् लोकपाल भी धर्मयुद्ध करके उन सबको नहीं मार सकते थे ॥६५॥

तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रो गतक्लमः ।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं कालेनापीह दण्डिना ॥ ६६ ॥

'यह गदाधारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन भी युद्धसे थकता नहीं था, इसे दण्डधारी काल भी धर्मानुकूल युद्धके द्वारा नहीं मार सकता था ॥ ६६ ॥

न च वो हृदि कर्तव्यं यदयं घातितो रिपुः ।
मिथ्यावध्यास्तथोपायैर्बहवः शत्रवोऽधिकाः ॥ ६७ ॥

'इस प्रकार जो यह शत्रु मारा गया है इसके लिये तुम्हें अपने मनमें विचार नहीं करना चाहिये ? बहुतेरे अधिक शक्तिशाली शत्रु नाना प्रकारके उपायों और कूटनीतिके प्रयोगोंद्वारा मारनेके योग्य होते हैं ॥ ६७ ॥

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः।
सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥ ६८ ॥

'असुरोंका विनाश करनेवाले पूर्ववर्ती देवताओंने इस मार्गका आश्रय लिया है। श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे चले हैं, उसका सभी लोग अनुसरण करते हैं ॥ ६८ ॥

कृतकृत्याश्च सायाह्ने निवासं रोचयामहे।
साश्वनागरथाः सर्वे विश्रमामो नराधिपाः ॥ ६९ ॥

'अब हमलोगोंका कार्य पूरा हो गया, अतः सायंकालके समय विश्राम करनेकी इच्छा हो रही है। राजाओ! हम सब लोग घोड़े, हाथी एवं रथसहित विश्राम करें' ॥ ६९ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा तदानीं पाण्डवैः सह।
पञ्चाला भृशसंहृष्टा विनेदुः सिंहसंघवत् ॥ ७०॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर उस समय पाण्डवों-सहित समस्त पाञ्चाल अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंहसमुदाय-के समान दहाड़ने लगे ॥ ७० ॥

ततः प्राध्मापयञ्शङ्खान् पाञ्चजन्यं च माधवः।
हृष्टा दुर्योधनं दृष्ट्वा निहतं पुरुषर्षभ ॥ ७१ ॥

पुरुषप्रवर! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य लोग दुर्योधनको मारा गया देख हर्षमें भरकर अपने-अपने शङ्ख बजाने लगे। श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ ७१ ॥

(देवदत्तं प्रहृष्टात्मा शङ्खप्रवरमर्जुनः।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।

प्रसन्नचित्त अर्जुनने देवदत्त नामक श्रेष्ठ शङ्खकी ध्वनि की। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥
धृष्टद्युम्नस्तथा जैत्रं सात्यकिर्नन्दिवर्धनम्।
तेषां नादेन महता शङ्खानां भरतर्षभ ॥
आपुपूरे नभः सर्वं पृथिवी च चचाल ह ॥

नकुल और सहदेवने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये। धृष्टद्युम्नने जैत्र और सात्यकिने नन्दि-वर्धन नामक शङ्खकी ध्वनि फैलायी। भरतश्रेष्ठ! उन महान् शङ्खोंके शब्दसे सारा आकाश भर गया और धरती डोलने लगी ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
पाण्डुसैन्येष्ववाद्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥
अस्तुवन् पाण्डवानन्ये गीर्भिश्च स्तुतिमङ्गलैः।)

तत्पश्चात् पाण्डवसेनाओंमें शङ्ख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख आदि बाजे बजाये जाने लगे। उन सबकी मिली-जुली आवाज बड़ी भयानक जान पड़ती थी। उस समय अन्य बहुत-से मनुष्य स्तुति एवं मङ्गलमय वचनोंद्वारा पाण्डवोंका स्तवन करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि कृष्णपाण्डवदुर्योधनसंवादे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें श्रीकृष्ण, पाण्डव और दुर्योधनका संवादविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका कौरव शिबिरमें पहुँचना, अर्जुनके रथका दग्ध होना और पाण्डवोंका भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजना

संजय उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे निवासाय महीक्षितः।
शङ्खान् प्रध्मापयन्तो वै हृष्टाः परिघबाहवः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर परिघके समान मोटी भुजाओंवाले सब नरेश अपना-अपना शङ्ख बजाते हुए शिबिरमें विश्राम करनेके लिये प्रसन्नतापूर्वक चल दिये ॥१॥

पाण्डवान् गच्छतश्चापि शिबिरं नो विशाम्पते।
महेष्वासोऽन्वगात् पश्चाद् युयुत्सुः सात्यकिस्तथा॥२॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च सर्वशः।
सर्वे चान्ये महेष्वासाः प्रययुः शिबिराण्युत ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! हमारे शिबिरकी ओर जाते हुए पाण्डवोंके पीछे-पीछे महाधनुर्धर युयुत्सु, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदीके सभी पुत्र तथा अन्य सब धनुर्धर योद्धा भी उन शिबिरोंमें गये ॥ २-३ ॥

ततस्ते प्राविशन् पार्था हतत्विट्कं हतेश्वरम्।
दुर्योधनस्य शिबिरं रङ्गवद्विसृते जने ॥ ४ ॥
गतोत्सवं पुरमिव हृतनागमिव ह्रदम्।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठं वृद्धामात्यैरधिष्ठितम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीके पुत्रोंने पहले दुर्योधनके शिबिरमें प्रवेश किया। जैसे दर्शकोंके चले जानेपर सूना रङ्गमण्डप शोभाहीन दिखायी देता है, उसी प्रकार जिसका स्वामी मारा गया था, वह शिबिर उत्सवशून्य नगर और नागरहित सरोवरके समान श्रीहीन जान पड़ता था। वहाँ रहनेवाले लोगोंमें अधिकांश स्त्रियाँ और नपुंसक थे तथा बूढ़े मन्त्री

अधिष्ठाता बनकर उस शिबिरका संरक्षण कर रहे थे ॥४-५॥

तत्रैतान् पर्युपातिष्ठन् दुर्योधनपुरःसराः ।
कृताञ्जलिपुटा राजन् काषायमलिनाम्बराः ॥ ६ ॥

राजन् ! वहाँ दुर्योधनके आगे-आगे चलनेवाले सेवक-गण मलिन भगवा वस्त्र पहनकर हाथ जोड़े हुए इन पाण्डवों-के समक्ष उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

शिबिरं समनुप्राप्य कुरुराजस्य पाण्डवाः ।
अवतेरुर्महाराज रथेभ्यो रथसत्तमाः ॥ ७ ॥

महाराज ! कुरुराजके शिबिरमें पहुँचकर रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव अपने रथोंसे नीचे उतरे ॥ ७ ॥

ततो गाण्डीवधन्वानमभ्यभाषत केशवः ।
स्थितः प्रियहिते नित्यमतीव भरतर्षभ ॥ ८ ॥
अवरोपय गाण्डीवमक्षयौ च महेषुधी ।
अथाहमवरोक्ष्यामि पश्चाद् भरतसत्तम ॥ ९ ॥
स्वयं चैवावरोह त्वमेतच्छ्रेयस्तवानघ ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् सदा अर्जुनके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनसे कहा— 'भरतवंशशिरोमणे ! तुम गाण्डीव धनुषको और इन दोनों बाणोंसे भरे हुए अक्षय तरकसोंको उतार लो । फिर स्वयं भी उतर जाओ ! इसके बाद मैं उतरूँगा ! अनघ ! ऐसा करनेमें ही तुम्हारी भलाई है' ॥ ८-९½ ॥

तच्चाकरोत् तथा वीरः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ १० ॥
अथ पश्चात् ततः कृष्णो रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ।
अवारोहत मेधावी रथाद् गाण्डीवधन्वनः ॥ ११ ॥

वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनने वह सब वैसे ही किया । तद-नन्तर परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर गाण्डीवधारी अर्जुनके रथसे स्वयं भी उतर पड़े ॥ १०-११ ॥

अथावतीर्णे भूतानामीश्वरे सुमहात्मनि ।
कपिरन्तर्दधे दिव्यो ध्वजो गाण्डीवधन्वनः ॥ १२ ॥

समस्त प्राणियोंके ईश्वर परमात्मा श्रीकृष्णके उतरते ही गाण्डीवधारी अर्जुनका ध्वजस्वरूप दिव्य वानर उस रथसे अन्तर्धान हो गया ॥ १२॥

स दग्धो द्रोणकर्णाभ्यां दिव्यैरस्त्रैर्महारथः ।
अथादीप्तोऽग्निना ह्याशु प्रजज्वाल महीपते ॥ १३ ॥

पृथ्वीनाथ ! इसके बाद अर्जुनका वह विशाल रथ, जो द्रोण और कर्णके दिव्यास्त्रोंद्वारा दग्धप्राय हो गया था, तुरंत ही आगसे प्रज्वलित हो उठा ॥ १३ ॥

सोपासङ्गः सरश्मिश्च साश्वः सयुगबन्धुरः ।
भस्मीभूतोऽपतद् भूमौ रथो गाण्डीवधन्वनः ॥ १४ ॥

गाण्डीवधारीका वह रथ उपासङ्ग, बागडोर, जूआ, बन्धुरकाष्ठ और घोड़ोंसहित भस्म होकर भूमिपर गिर पड़ा ॥

तं तथा भस्मभूतं तु दृष्ट्वा पाण्डुसुताः प्रभो ।
अभवन् विस्मिता राजन्नर्जुनश्चेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिः सप्रणयं प्रणिपत्याभिवाद्य ह ।
गोविन्द कस्माद् भगवन् रथो दग्धोऽयमग्निना ॥ १६ ॥
किमेतन्महदाश्चर्यमभवद् यदुनन्दन ।
तन्मे ब्रूहि महाबाहो श्रोतव्यं यदि मन्यसे ॥ १७ ॥

प्रभो ! नरेश्वर ! उस रथको भस्मीभूत हुआ देख समस्त पाण्डव आश्चर्यचकित हो उठे और अर्जुनने भी हाथ जोड़-कर भगवान्‌के चरणोंमें बारंबार प्रणाम करके प्रेमपूर्वक पूछा—'गोविन्द ! यह रथ अकस्मात् कैसे आगसे जल गया? भगवन् ! यदुनन्दन ! यह कैसी महान् आश्चर्यकी बात हो गयी ? महाबाहो ! यदि आप सुनने योग्य समझें तो इसका रहस्य मुझे बतावें' ॥ १५–१७ ॥

वासुदेव उवाच

अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुन ।
मदधिष्ठितत्वात् समरे न विशीर्णः परंतप ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन ! यह रथ नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा पहले ही दग्ध हो चुका था; परंतु मेरे बैठे रहनेके कारण समराङ्गणमें भस्म होकर गिर न सका ॥ १८ ॥

इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि ॥ १९ ॥

कुन्तीनन्दन ! आज जब तुम अपना अभीष्ट कार्य पूर्ण कर चुके हो, तब मैंने इसे छोड़ दिया है; इसलिये पहलेसे ही ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध हुआ यह रथ इस समय बिखरकर गिर पड़ा है ॥ १९ ॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु भगवान् केशवोऽरिहा ।
परिष्वज्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-ने किंचित् मुस्कराते हुए वहाँ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाकर कहा—॥ २० ॥

दिष्ट्या जयसि कौन्तेय दिष्ट्या ते शत्रवो जिताः ।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २१ ॥
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
मुक्ता वीरक्षयादस्मात् संग्रामान्निहतद्विषः ॥ २२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! सौभाग्यसे आपकी विजय हुई और सारे शत्रु परास्त हो गये । राजन् ! गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डु-कुमार भीमसेन, आप और माद्रीपुत्र पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव—ये सब-के-सब सकुशल हैं तथा जहाँ वीरोंका विनाश हुआ और तुम्हारे सारे शत्रु कालके गालमें चले गये, उस घोर संग्रामसे तुमलोग जीवित बच गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ २१-२२ ॥

युद्धके अन्तमें अर्जुनके रथका दाह

क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि भारत।
उपायातमुपप्लव्यं सह गाण्डीवधन्वना ॥ २३ ॥
आनीय मधुपर्कं मां यत् पुरा त्वमवोचथाः।
एष भ्राता सखा चैव तव कृष्ण धनंजयः ॥ २४ ॥
रक्षितव्यो महाबाहो सर्वास्वापत्स्विति प्रभो।

'भरतनन्दन ! अब आगे समयानुसार जो कार्य प्राप्त हो उसे शीघ्र कर डालिये। पहले गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जब मैं उपप्लव्य नगरमें आया था, उस समय मेरे लिये मधुपर्क अर्पित करके आपने मुझसे यह बात कही थी कि 'श्रीकृष्ण ! यह अर्जुन तुम्हारा भाई और सखा है। प्रभो ! महाबाहो ! तुम्हें इसकी सब आपत्तियोंसे रक्षा करनी चाहिये' २३-२४½

तव चैव ब्रुवाणस्य तथेत्येवाहमब्रुवम् ॥ २५ ॥
स सव्यसाची गुप्तस्ते विजयी च जनेश्वर।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शूरः सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥
मुक्तो वीरक्षयादस्मात् संग्रामाल्लोमहर्षणात्।

'आपने जब ऐसा कहा, तब मैंने 'तथास्तु' कहकर वह आज्ञा स्वीकार कर ली थी। जनेश्वर ! राजेन्द्र ! आपका वह शूरवीर, सत्यपराक्रमी भाई सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा सुरक्षित रहकर विजयी हुआ है तथा वीरोंका विनाश करनेवाले इस रोमाञ्चकारी संग्रामसे भाइयोंसहित जीवित बच गया है' ॥ २५-२६½ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥
हृष्टरोमा महाराज प्रत्युवाच जनार्दनम्।

महाराज ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। वे उनसे इस प्रकार बोले॥२७½॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रमुक्तं द्रोणकर्णाभ्यां ब्रह्मास्त्रमरिमर्दन ॥ २८ ॥
कस्त्वदन्यः सहेत् साक्षादपि वज्री पुरंदरः।

युधिष्ठिरने कहा—शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ! द्रोणाचार्य और कर्णने जिस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था। साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसका आघात नहीं सह सकते थे ॥ २८½ ॥

भवतस्तु प्रसादेन संशप्तकगणा जिताः ॥ २९ ॥
महारणगतः पार्थो यच्च नासीत् पराङ्मुखः।

आपकी ही कृपासे संशप्तकगण परास्त हुए हैं और कुन्तीकुमार अर्जुनने उस महासमरमें जो कभी पीठ नहीं दिखायी है, वह भी आपके ही अनुग्रहका फल है ॥ २९½ ॥

तथैव च महाबाहो पर्यायैर्बहुभिर्मया ॥ ३० ॥
कर्मणामनुसंतानं तेजसश्च गतीः शुभाः।

महाबाहो ! आपके द्वारा अनेकों बार हमारे कार्योंकी सिद्धि हुई है और हमें तेजके शुभ परिणाम प्राप्त हुए हैं ॥ ३०½ ॥

उपप्लव्ये महर्षिर्मे कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

उपप्लव्य नगरमें महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायनने मुझसे कहा था कि 'जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है' ॥ ३१½ ॥

इत्येवमुक्ते ते वीराः शिबिरं तव भारत ॥ ३२ ॥
प्रविश्य प्रत्यपद्यन्त कोशरत्नर्धिसंचयान्।

भारत ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर पाण्डव वीरोंने आपके शिबिरमें प्रवेश करके खजाना, रत्नोंकी ढेरी तथा भण्डार-घरपर अधिकार कर लिया ॥ ३२½ ॥

रजतं जातरूपं च मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ ३३ ॥
भूषणान्यथ मुख्यानि कम्बलान्यजिनानि च।
दासीदासमसंख्येयं राज्योपकरणानि च ॥ ३४ ॥

चाँदी, सोना, मोती, मणि, अच्छे-अच्छे आभूषण, कम्बल (कालीन), मृगचर्म, असंख्य दास-दासी तथा राज्यके बहुत-से सामान उनके हाथ लगे ॥ ३३-३४ ॥

ते प्राप्य धनमक्षय्यं त्वदीयं भरतर्षभ।
उदक्रोशन्महाभागा नरेन्द्र विजितारयः ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! आपके धनका अक्षय भण्डार पाकर शत्रुविजयी महाभाग पाण्डव जोर-जोरसे हर्षध्वनि करने लगे ॥ ३५ ॥

ते तु वीराः समाश्वस्य वाहनान्यवमुच्य च।
अतिष्ठन्त मुहुः सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा ॥ ३६ ॥

वे सारे वीर अपने वाहनोंको खोलकर वहीं विश्राम करने लगे। समस्त पाण्डव और सात्यकि वहाँ एक साथ बैठे हुए थे ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीन्महाराज वासुदेवो महायशाः।
अस्माभिर्मङ्गलार्थाय वस्तव्यं शिबिराद् बहिः ॥ ३७ ॥

महाराज ! तदनन्तर महायशस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने कहा—'आजकी रातमें हमलोगोंको अपने मङ्गलके लिये शिबिरसे बाहर ही रहना चाहिये' ॥ ३७ ॥

तथेत्युक्त्वा हि ते सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा।
वासुदेवेन सहिता मङ्गलार्थं बहिर्ययुः ॥ ३८ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर समस्त पाण्डव और सात्यकि श्रीकृष्णके साथ अपने मङ्गलके लिये छावनीसे बाहर चले गये ॥ ३८ ॥

ते समासाद्य सरितं पुण्यामोघवतीं नृप।
न्यवसन्नथ तां रात्रिं पाण्डवा हतशत्रवः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! जिनके शत्रु मारे गये थे, उन पाण्डवोंने उस रातमें पुण्यसलिला ओघवती नदीके तटपर जाकर निवास किया ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्ततो राजा प्राप्तकालमचिन्तयत् ।
तत्र ते गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥ ४० ॥
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिंदम ।

तब राजा युधिष्ठिरने वहाँ समयोचित कार्यका विचार किया और कहा—'शत्रुदमन माधव ! एक बार क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त करनेके लिये आपका हस्तिनापुरमें जाना उचित जान पड़ता है ॥ ४०½ ॥

हेतुकारणयुक्तैश्च वाक्यैः कालसमीरितैः ॥ ४१ ॥
क्षिप्रमेव महाभाग गान्धारीं प्रशमिष्यसि ।
पितामहश्च भगवान् व्यासस्तत्र भविष्यति ॥ ४२ ॥

'महाभाग ! आप युक्ति और कारणोंसहित समयोचित बातें कहकर गान्धारी देवीको शीघ्र ही शान्त कर सकेंगे। हमारे पितामह भगवान् व्यास भी इस समय वहीं होंगे' ४१-४२

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रेषयामासुर्यादवं नागसाह्वयम् ।
स च प्रायाज्जवेनाशु वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ४३ ॥
दारुकं रथमारोप्य येन राजाम्बिकासुतः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पाण्डवोंने यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजा। प्रतापी वासुदेव दारुकको रथपर बिठाकर स्वयं भी बैठे और जहाँ अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र थे, वहाँ पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे चले ॥ ४३½ ॥

तमूचुः सम्प्रयास्यन्तं शैब्यसुग्रीववाहनम् ॥ ४४ ॥
प्रत्याश्वासय गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम् ।

शैब्य और सुग्रीव नामक अश्व जिनके वाहन हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके जाते समय पाण्डवोंने फिर उनसे कहा—'प्रभो ! यशस्विनी गान्धारी देवीके पुत्र मारे गये हैं; अतः आप उस दुखिया माताको धीरज बँधावें' ॥ ४४½ ॥

स प्रायात् पाण्डवैरुक्तस्तत् पुरं सात्वतां वरः ॥
आससाद ततः क्षिप्रं गान्धारीं निहतात्मजाम्॥ ४५ ॥

पाण्डवोंके ऐसा कहनेपर सात्वतवंशके श्रेष्ठ पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण जिनके पुत्र मारे गये थे, उन गान्धारी देवीके पास हस्तिनापुरमें शीघ्र जा पहुँचे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि वासुदेवप्रेषणे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें पाण्डवोंका भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजनाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी प्रेरणासे श्रीकृष्णका हस्तिनापुरमें जाकर धृतराष्ट्र और गान्धारीको आश्वासन दे पुनः पाण्डवोंके पास लौट आना

जनमेजय उवाच

किमर्थं द्विजशार्दूल धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
गान्धार्याः प्रेषयामास वासुदेवं परंतपम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! धर्मराज युधिष्ठिरने शत्रुसंतापी भगवान् श्रीकृष्णको गान्धारी देवीके पास किसलिये भेजा ? ॥ १ ॥

यदा पूर्वं गतः कृष्णः शमार्थं कौरवान् प्रति ।
न च तं लब्धवान् कामं ततो युद्धमभूदिदम्॥ २ ॥

जब पूर्वकालमें श्रीकृष्ण संधि करानेके लिये कौरवोंके पास गये थे, उस समय तो उन्हें उनका अभीष्ट मनोरथ प्राप्त ही नहीं हुआ, जिससे यह युद्ध उपस्थित हुआ ॥ २ ॥

निहतेषु तु योधेषु हते दुर्योधने तदा ।
पृथिव्यां पाण्डवेयस्य निःसपत्ने कृते युधि ॥ ३ ॥
विद्रुते शिबिरे शून्ये प्राप्ते यशसि चोत्तमे ।
किं नु तत् कारणं ब्रह्मन् येन कृष्णो गतः पुनः॥ ४ ॥

ब्रह्मन् ! जब युद्धमें सारे योद्धा मारे गये, दुर्योधनका भी अन्त हो गया, भूमण्डलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके शत्रुओंका सर्वथा अभाव हो गया, कौरवदलके लोग शिबिरको सूना करके भाग गये और पाण्डवोंको उत्तम यशकी प्राप्ति हो गयी, तब कौन-सा ऐसा कारण आ गया, जिससे श्रीकृष्ण पुनः हस्तिनापुरमें गये ? ॥ ३-४ ॥

न चैतत् कारणं ब्रह्मन्नल्पं विप्रतिभाति मे ।
यत्रागमदमेयात्मा स्वयमेव जनार्दनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! मुझे इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं जान पड़ता, जिससे अप्रमेयस्वरूप साक्षात् भगवान् जनार्दनको ही जाना पड़ा ॥ ५ ॥

तत्त्वतो वै समाचक्ष्व सर्वमध्वर्युसत्तम ।
यच्चात्र कारणं ब्रह्मन् कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ६ ॥

यजुर्वेदीय विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव ! इस कार्यका निश्चय करनेमें जो भी कारण हो, वह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

त्वयुक्तोऽयमनुप्रश्नो यन्मां पृच्छसि पार्थिव ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण नरेश ! तुमने

जो प्रश्न किया है, वह सर्वथा उचित है । तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुझे यथार्थरूपसे बताऊँगा ॥ ७ ॥

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
व्युत्क्रम्य समयं राजन् धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ ८ ॥
अन्यायेन हतं दृष्ट्वा गदायुद्धेन भारत ।
युधिष्ठिरं महाराज महद् भयमथाविशत् ॥ ९ ॥

राजन् ! भरतवंशी महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र महाबली दुर्योधनको भीमसेनने युद्धमें उसके नियमका उल्लङ्घन करके मारा है । वह गदायुद्धके द्वारा अन्यायपूर्वक मारा गया है । इन सब बातोंपर दृष्टिपात करके युधिष्ठिरके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ८-९ ॥

चिन्तयानो महाभागां गान्धारीं तपसान्विताम् ।
घोरेण तपसा युक्तां त्रैलोक्यमपि सा दहेत् ॥ १० ॥

वे घोर तपस्यासे युक्त महाभागा तपस्विनी गान्धारीदेवीका चिन्तन करने लगे । उन्होंने सोचा 'गान्धारी देवी कुपित होनेपर तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर सकती हैं'॥ १० ॥

तस्य चिन्तयमानस्य बुद्धिः समभवत् तदा ।
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः पूर्वं प्रशमनं भवेत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजा युधिष्ठिरके हृदयमें उस समय यह विचार हुआ कि पहले क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त कर देना चाहिये ॥ ११ ॥

सा हि पुत्रवधं श्रुत्वा कृतमस्माभिरीदृशम् ।
मानसेनाग्निना क्रुद्धा भस्मसान्नः करिष्यति ॥ १२ ॥

वे हमलोगोंके द्वारा इस तरह पुत्रका वध किया गया सुनकर कुपित हो अपने संकल्पजनित अग्निसे हमें भस्म कर डालेंगी ॥ १२ ॥

कथं दुःखमिदं तीव्रं गान्धारी सा सहिष्यति ।
श्रुत्वा विनिहतं पुत्रं छलेनाजिह्मयोधिनम् ॥ १३ ॥

उनका पुत्र सरलतासे युद्ध कर रहा था; परंतु छलसे मारा गया । यह सुनकर गान्धारी देवी इस तीव्र दुःखको कैसे सह सकेंगी ? ॥ १३ ॥

एवं विचिन्त्य बहुधा भयशोकसमन्वितः ।
वासुदेवमिदं वाक्यं धर्मराजोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे विचार करके धर्मराज युधिष्ठिर भय और शोकमें डूब गये और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ १४ ॥

तव प्रसादाद् गोविन्द राज्यं निहतकण्टकम् ।
अप्राप्यं मनसापीदं प्राप्तमस्माभिरच्युत ॥ १५ ॥

'गोविन्द ! अच्युत ! जिसे मनके द्वारा भी प्राप्त करना असम्भव था, वही यह अकण्टक राज्य हमें आपकी कृपासे प्राप्त हो गया ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षं मे महाबाहो संग्रामे लोमहर्षणे ।
विमर्दः सुमहान् प्राप्तस्त्वया यादवनन्दन ॥ १६ ॥

'यादवनन्दन ! महाबाहो ! इस रोमाञ्चकारी संग्राममें जो महान् विनाश प्राप्त हुआ था, वह सब आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥ १६ ॥

त्वया देवासुरे युद्धे वधार्थममरद्विषाम् ।
यथा साह्यं पुरा दत्तं हताश्च विबुधद्विषः ॥ १७ ॥
साह्यं तथा महाबाहो दत्तमस्माकमच्युत ।
सारथ्येन च वार्ष्णेय भवता हि धृता वयम् ॥ १८ ॥

'पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर जैसे आपने देवद्रोही दैत्योंके वधके लिये देवताओंकी सहायता की थी, जिससे वे सारे देवशत्रु मारे गये, महाबाहु अच्युत ! उसी प्रकार इस युद्धमें आपने हमें सहायता प्रदान की है । वृष्णिनन्दन ! आपने सारथिका कार्य करके हमलोगोंको बचा लिया ।१७-१८।

यदि न त्वं भवेर्नाथः फाल्गुनस्य महारणे ।
कथं शक्यो रणे जेतुं भवेदेष बलार्णवः ॥ १९ ॥

'यदि आप इस महासमरमें अर्जुनके स्वामी और सहायक न होते तो युद्धमें इस कौरव-सेनारूपी समुद्रपर विजय पाना कैसे सम्भव हो सकता था ? ॥ १९ ॥

गदाप्रहारा विपुलाः परिघैश्चापि ताडनम् ।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च तोमरैः सपरश्वधैः ॥ २० ॥
अस्मत्कृते त्वया कृष्ण वाचः सुपरुषाः श्रुताः ।
शस्त्राणां च निपाता वै वज्रस्पर्शोपमा रणे ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण ! आपने हमलोगोंके लिये गदाओंके बहुत-से आघात सहे, परिघोंकी मार खायी; शक्ति, भिन्दिपाल, तोमर और फरसोंकी चोटें सहन कीं तथा बहुत-सी कठोर बातें सुनीं । आपके ऊपर रणभूमिमें ऐसे-ऐसे शस्त्रोंके प्रहार हुए, जिनका स्पर्श वज्रके तुल्य था ॥ २०-२१ ॥

ते च ते सफला जाता हते दुर्योधनेऽच्युत ।
तत् सर्वं न यथा नश्येत् पुनः कृष्ण तथा कुरु॥ २२ ॥

'अच्युत ! दुर्योधनके मारे जानेपर वे सारे आघात सफल हो गये । श्रीकृष्ण ! अब ऐसा कीजिये, जिससे वह सारा किया-कराया कार्य फिर नष्ट न हो जाय ॥ २२ ॥

संदेहदोलां प्राप्तं नश्चेतः कृष्ण जये सति ।
गान्धार्या हि महाबाहो क्रोधं बुद्ध्यस्व माधव ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण ! आज विजय हो जानेपर भी हमारा मन संदेहके झूलापर झूल रहा है । महाबाहु माधव ! आप गान्धारी देवीके क्रोधपर तो ध्यान दीजिये ॥ २३ ॥

सा हि नित्यं महाभागा तपसोग्रेण कर्शिता ।
पुत्रपौत्रवधं श्रुत्वा ध्रुवं नः सम्प्रधक्ष्यति ॥ २४ ॥

'महाभागा गान्धारी प्रतिदिन उग्र तपस्यासे अपने शरीरको दुर्बल करती जा रही हैं । वे पुत्रों और पौत्रोंका वध

हुआ सुनकर निश्चय ही हमें जला डालेंगी ॥ २४ ॥

तस्याः प्रसादनं वीर प्राप्तकालं मतं मम ।
कश्च तां क्रोधताम्राक्षीं पुत्रव्यसनकर्शिताम् ॥ २५ ॥
वीक्षितुं पुरुषः शक्तस्त्वामृते पुरुषोत्तम ।

'वीर ! अब उन्हें प्रसन्न करनेका कार्य ही मुझे समयोचित जान पड़ता है । पुरुषोत्तम ! आपके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो पुत्रोंके शोकसे दुर्बल हो क्रोधसे लाल आँखें करके बैठी हुई गान्धारी देवीकी ओर आँख उठाकर देख सके ॥ २५½ ॥

तत्र मे गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥ २६ ॥
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिंदम ।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले माधव ! इस समय क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त करनेके लिये आपका वहाँ जाना ही मुझे उचित जान पड़ता है ॥ २६½ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभवाप्ययः ॥ २७ ॥
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैः कालसमीरितैः ।
क्षिप्रमेव महाबाहो गान्धारीं शमयिष्यसि ॥ २८ ॥

'महाबाहो ! आप सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और संहारक हैं। आप ही सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। आप युक्ति और कारणोंसे संयुक्त समयोचित वचनोंद्वारा गान्धारी देवीको शीघ्र ही शान्त कर देंगे ॥ २७-२८ ॥

पितामहश्च भगवान् कृष्णस्तत्र भविष्यति ।
सर्वथा ते महाबाहो गान्धार्याः क्रोधनाशनम् ॥ २९ ॥
कर्तव्यं सात्वतां श्रेष्ठ पाण्डवानां हितार्थिना ।

'हमारे पितामह श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास भी वहीं होंगे । महाबाहो ! सात्वतवंशके श्रेष्ठ पुरुष ! आप पाण्डवोंके हितैषी हैं । आपको सब प्रकारसे गान्धारी देवीके क्रोधको शान्त कर देना चाहिये' ॥ २९½ ॥

धर्मराजस्य वचनं श्रुत्वा यदुकुलोद्वहः ॥ ३० ॥
आमन्त्र्य दारुकं प्राह रथः सज्जो विधीयताम् ।

धर्मराजकी यह बात सुनकर यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने दारुकको बुलाकर कहा--'रथ तैयार करो' ॥ ३०½ ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणोऽथ दारुकः ॥ ३१ ॥
न्यवेदयद् रथं सज्जं केशवाय महात्मने ।

केशवका यह आदेश सुनकर दारुकने बड़ी उतावलीके साथ रथको सुसज्जित किया और उन महात्माको इसकी सूचना दी ॥ ३१½ ॥

तं रथं यादवश्रेष्ठः समारुह्य परंतपः ॥ ३२ ॥
जगाम हास्तिनपुरं त्वरितः केशवो विभुः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले यादवश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो हस्तिनापुरकी ओर चल दिये।

ततः प्रायान्महाराज माधवो भगवान् रथी ॥ ३३ ॥
नागसाह्वयमासाद्य प्रविवेश च वीर्यवान् ।

महाराज ! पराक्रमी भगवान् माधव उस रथपर बैठकर हस्तिनापुरमें जा पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३३½ ॥

प्रविश्य नगरं वीरो रथघोषेण नादयन् ॥ ३४ ॥
विदितो धृतराष्ट्रस्य सोऽवतीर्य रथोत्तमात् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥ ३५ ॥

नगरमें प्रविष्ट होकर वीर श्रीकृष्ण अपने रथके गम्भीर घोषसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे । धृतराष्ट्रको उनके आगमनकी सूचना दी गयी और वे अपने उत्तम रथसे उतरकर मनमें दीनता न लाते हुए धृतराष्ट्रके महलमें गये ॥

पूर्वं चाभिगतं तत्र सोऽपश्यदृषिसत्तमम् ।
पादौ प्रपीड्य कृष्णस्य राज्ञश्चापि जनार्दनः ॥ ३६ ॥
अभ्यवादयदव्यग्रो गान्धारीं चापि केशवः ।

वहाँ उन्होंने मुनिश्रेष्ठ व्यासजीको पहलेसे ही उपस्थित देखा । व्यास तथा राजा धृतराष्ट्र दोनोंके चरण दबाकर जनार्दन श्रीकृष्णने बिना किसी व्यग्रताके गान्धारी देवीको प्रणाम किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तु यादवश्रेष्ठो धृतराष्ट्रमधोक्षजः ॥ ३७ ॥
पाणिमालम्ब्य राजेन्द्र सुस्वरं प्ररुरोद ह ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रका हाथ अपने हाथमें लेकर उन्मुक्त स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥

स मुहूर्तादिवोत्सृज्य बाष्पं शोकसमुद्भवम् ॥ ३८ ॥
प्रक्षाल्य वारिणा नेत्रे ह्याचम्य च यथाविधि ।
उवाच प्रस्तुतं वाक्यं धृतराष्ट्रमरिंदमः ॥ ३९ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् वृद्धस्य तव भारत ।
कालस्य च यथावृत्तं तत् ते सुविदितं प्रभो ॥ ४० ॥

उन्होंने दो घड़ीतक शोकके आँसू बहाकर शुद्ध जलसे नेत्र धोये और विधिपूर्वक आचमन किया । तत्पश्चात् शत्रुदमन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रसे प्रस्तुत वचन कहा--'भारत! आप वृद्ध पुरुष हैं; अतः कालके द्वारा जो कुछ भी संघटित हुआ और हो रहा है, वह कुछ भी आपसे अज्ञात नहीं है । प्रभो ! आपको सब कुछ अच्छी तरह विदित है ॥३८-४०॥

यतितं पाण्डवैः सर्वैस्तव चित्तानुरोधिभिः ।
कथं कुलक्षयो न स्यात्तथा क्षत्रस्य भारत ॥ ४१ ॥

'भारत ! समस्त पाण्डव सदासे ही आपकी इच्छाके अनुसार बर्ताव करनेवाले हैं । उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि किसी तरह हमारे कुलका तथा क्षत्रियसमूहका विनाश न हो ॥ ४१ ॥

भ्रातृभिः समयं कृत्वा क्षान्तवान् धर्मवत्सलः ।
द्यूतच्छलजितैः शुद्धैर्वनवासो ह्युपागतः ॥ ४२

'धर्मवत्सल युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ नियत समयकी प्रतीक्षा करते हुए सारा कष्ट चुपचाप सहन किया था। पाण्डव शुद्ध भावसे आपके पास आये थे तो भी उन्हें कपटपूर्वक जूएमें हराकर वनवास दिया गया ॥ ४२ ॥

अज्ञातवासचर्यां च नानावेषसमावृतैः।
अन्ये च बहवः क्लेशात् त्वशक्तैरिव सर्वदा ॥ ४३ ॥

'उन्होंने नाना प्रकारके वेशोंमें अपनेको छिपाकर अज्ञातवासका कष्ट भोगा। इसके सिवा और भी बहुत-से क्लेश उन्हें असमर्थ पुरुषोंके समान सदा सहन करने पड़े हैं ॥४३॥

मया च स्वयमागम्य युद्धकाल उपस्थिते।
सर्वलोकस्य सांनिध्ये ग्रामांस्त्वं पञ्च याचितः ॥ ४४ ॥

'जब युद्धका अवसर उपस्थित हुआ, उस समय मैंने स्वयं आकर शान्ति स्थापित करनेके लिये सब लोगोंके सामने आपसे केवल पाँच गाँव माँगे थे ॥ ४४ ॥

त्वया कालोपसृष्टेन लोभतो नापवर्जिताः।
तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम् ॥ ४५ ॥

'परंतु कालसे प्रेरित हो आपने लोभवश वे पाँच गाँव भी नहीं दिये। नरेश्वर! आपके अपराधसे समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो गया ॥ ४५ ॥

भीष्मेण सोमदत्तेन बाह्लीकेन कृपेण च।
द्रोणेन च सपुत्रेण विदुरेण च धीमता ॥ ४६ ॥
याचितस्त्वं शमं नित्यं न च तत् कृतवानसि।

'भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुरजीने भी सदा आपसे शान्तिके लिये याचना की थी; परंतु आपने वह कार्य नहीं किया॥

कालोपहतचित्ता हि सर्वे मुह्यन्ति भारत ॥ ४७ ॥
यथा मूढो भवान् पूर्वमस्मिन्नर्थे समुद्यते।
किमन्यत् कालयोगाद्धि दिष्टमेव परायणम् ॥ ४८ ॥

'भारत! जिनका चित्त कालके प्रभावसे दूषित हो जाता है, वे सब लोग मोहमें पड़ जाते हैं। जैसे कि पहले युद्धकी तैयारीके समय आपकी भी बुद्धि मोहित हो गयी थी। इसे कालयोगके सिवा और क्या कहा जा सकता है? भाग्य ही सबसे बड़ा आश्रय है ॥ ४७-४८ ॥

मा च दोषान् महाप्राज्ञ पाण्डवेषु निवेशय।
अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति पाण्डवानां महात्मनाम् ॥४९॥
धर्मतो न्यायतश्चैव स्नेहतश्च परंतप।

'महाप्राज्ञ! आप पाण्डवोंपर दोषारोपण न कीजियेगा। परंतप! धर्म, न्याय और स्नेहकी दृष्टिसे महात्मा पाण्डवोंका इसमें थोड़ा-सा भी अपराध नहीं है ॥ ४९½ ॥

एतत् सर्वं तु विज्ञाय ह्यात्मदोषकृतं फलम् ॥ ५० ॥
असूयां पाण्डुपुत्रेषु न भवान् कर्तुमर्हति।

'यह सब अपने ही अपराधोंका फल है, ऐसा जानकर आपको पाण्डवोंके प्रति दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये ॥५०½॥

कुलं वंशश्च पिण्डाश्च यच्च पुत्रकृतं फलम् ॥ ५१ ॥
गान्धार्यास्तव वै नाथ पाण्डवेषु प्रतिष्ठितम्।

'अब तो आपका कुल और वंश पाण्डवोंसे ही चलनेवाला है। नाथ! आपको और गान्धारी देवीको पिण्डा-पानी तथा पुत्रसे प्राप्त होनेवाला सारा फल पाण्डवोंसे ही मिलनेवाला है। उन्हींपर यह सब कुछ अवलम्बित है ॥ ५१½ ॥

त्वं चैव कुरुशार्दूल गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५२ ॥
मा शुचो नरशार्दूल पाण्डवान् प्रति किल्बिषम्।

'कुरुप्रवर! पुरुषसिंह! आप और यशस्वी गान्धारीदेवी कभी पाण्डवोंकी बुराई करनेकी बात न सोचें ॥५२½॥

एतत् सर्वमनुध्याय आत्मनश्च व्यतिक्रमम् ॥ ५३ ॥
शिवेन पाण्डवान् पाहि नमस्ते भरतर्षभ।

'भरतश्रेष्ठ! इन सब बातों तथा अपने अपराधोंका चिन्तन करके आप पाण्डवोंके प्रति कल्याण-भावना रखते हुए उनकी रक्षा करें। आपको नमस्कार है ॥ ५३½ ॥

जानासि च महाबाहो धर्मराजस्य या त्वयि ॥ ५४ ॥
भक्तिर्भरतशार्दूल स्नेहश्चापि स्वभावतः।

'महाबाहो! भरतवंशके सिंह! आप जानते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें आपके प्रति कितनी भक्ति और कितना स्वाभाविक स्नेह है ॥ ५४½ ॥

एतच्च कदनं कृत्वा शत्रूणामपकारिणाम् ॥ ५५ ॥
दह्यते स दिवा रात्रौ न च शर्माधिगच्छति।

'अपने अपराधी शत्रुओंका ही यह संहार करके वे दिन-रात शोककी आगमें जलते हैं, कभी चैन नहीं पाते हैं ॥

त्वां चैव नरशार्दूल गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ५६ ॥
स शोचन् नरशार्दूलः शान्तिं नैवाधिगच्छति।

'पुरुषसिंह! आप और यशस्विनी गान्धारी देवीके लिये निरन्तर शोक करते हुए नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरको शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ५६½ ॥

ह्रिया च परयाऽऽविष्टो भवन्तं नाधिगच्छति ॥ ५७ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं बुद्धिव्याकुलितेन्द्रियम्।

'आप पुत्रशोकसे सर्वथा संतप्त हैं। आपकी बुद्धि और इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हैं। ऐसी दशामें वे अत्यन्त लज्जित होनेके कारण आपके सामने नहीं आ रहे हैं' ॥ ५७½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज धृतराष्ट्रं यदूत्तमः ॥ ५८ ॥
उवाच परमं वाक्यं गान्धारीं शोककर्शिताम्।

महाराज! यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर शोकसे दुर्बल हुई गान्धारी देवीसे यह उत्तम वचन बोले—॥

सौबलेयि निबोध त्वं यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ५९ ॥
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे।

'सुबलनन्दिनि! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान

देकर सुनो और समझो । शुभे ! इस संसारमें तुम्हारी-जैसी तपोबल-सम्पन्न स्त्री दूसरी कोई नहीं है ॥ ५९½ ॥

जानासि च यथा राज्ञि सभायां मम संनिधौ ॥ ६० ॥
धर्मार्थसहितं वाक्यमुभयोः पक्षयोर्हितम् ।
उक्तवत्यसि कल्याणि न च ते तनयैः कृतम् ॥ ६१ ॥

'रानी ! तुम्हें याद होगा, उस दिन सभामें मेरे सामने ही तुमने दोनों पक्षोंका हित करनेवाला धर्म और अर्थयुक्त वचन कहा था, किंतु कल्याणि ! तुम्हारे पुत्रोंने उसे नहीं माना ॥ ६०-६१ ॥

दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी परुषं वचः ।
शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ६२ ॥

'तुमने विजयकी अभिलाषा रखनेवाले दुर्योधनको सम्बोधित करके उससे बड़ी रुखाईके साथ कहा था—'ओ मूढ ! मेरी बात सुन ले, जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है' ॥ ६२ ॥

तदिदं समनुप्राप्तं तव वाक्यं नृपात्मजे ।
एवं विदित्वा कल्याणि मा स्म शोके मनः कृथाः॥ ६३ ॥

'कल्याणमयी राजकुमारी ! तुम्हारी वही बात आज सत्य हुई है, ऐसा समझकर तुम मनमें शोक न करो ॥ ६३ ॥

पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन ।
शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम् ॥ ६४ ॥
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात् ।

'पाण्डवोंके विनाशका विचार तुम्हारे मनमें कभी नहीं आना चाहिये । महाभागे ! तुम अपनी तपस्याके बलसे क्रोध-भरी दृष्टिद्वारा चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको भस्म कर डालनेकी शक्ति रखती हो' ॥ ६४½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि केशव ।
आधिभिर्दह्यमानाया मतिः संचलिता मम ॥ ६६ ॥
सा मे व्यवस्थिता श्रुत्वा तव वाक्यं जनार्दन ।

भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'महाबाहु केशव ! तुम जैसा कहते हो, वह बिल्कुल ठीक है । अबतक मेरे मनमें बड़ी व्यथाएँ थीं और उन व्यथाओंकी आगसे दग्ध होनेके कारण मेरी बुद्धि विचलित हो गयी थी (अतः मैं पाण्डवोंके अनिष्टकी बात सोचने लगी थी); परंतु जनार्दन ! इस समय तुम्हारी बात सुनकर मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है—क्रोधका आवेश उतर गया है ॥६५–६६½॥

राज्ञस्त्वन्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य केशव ॥ ६७ ॥
त्वं गतिः सहितैर्वीरैः पाण्डवैर्द्विपदां वर ।

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ केशव ! ये राजा अन्धे और बूढ़े हैं तथा इनके सभी पुत्र मारे गये हैं । अब समस्त वीर पाण्डवोंके साथ तुम्हीं इनके आश्रयदाता हो' ॥ ६७½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मुखं प्रच्छाद्य वाससा ॥ ६८ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी प्ररुरोद ह ।

इतनी बात कहकर पुत्रशोकसे संतप्त हुई गान्धारी देवी अपने मुखको आँचलसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥

तत एनां महाबाहुः केशवः शोककर्शिताम् ॥ ६९ ॥
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैराश्वासयत् प्रभुः ।

तब महाबाहु भगवान् केशवने शोकसे दुर्बल हुई गान्धारी-को कितने ही कारण बताकर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आश्वासन दिया—धीरज बँधाया ॥ ६९½ ॥

समाश्वास्य च गान्धारीं धृतराष्ट्रं च माधवः ॥ ७० ॥
द्रौणिसंकल्पितं भावमवबुद्ध्यत केशवः ।

गान्धारी और धृतराष्ट्रको सान्त्वना दे माधव श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके मनमें जो भीषण संकल्प हुआ था, उसका स्मरण किया ॥ ७०½ ॥

ततस्त्वरित उत्थाय पादौ मूर्ध्ना प्रणम्य च ॥ ७१ ॥
द्वैपायनस्य राजेन्द्र ततः कौरवमब्रवीत् ।
आपृच्छे त्वां कुरुश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः॥ ७२ ॥
द्रौणेः पापोऽस्त्यभिप्रायस्तेनास्मि सहसोत्थितः ।
पाण्डवानां वधे रात्रौ बुद्धिस्तेन प्रदर्शिता ॥ ७३ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर वे सहसा उठकर खड़े हो गये और व्यासजीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करके कुरुवंशी धृतराष्ट्रसे बोले—'कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे जानेकी आज्ञा चाहता हूँ । अब आप अपने मनको शोकमग्न न कीजिये । द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके मनमें पापपूर्ण संकल्प उदित हुआ है । इसीलिये मैं सहसा उठ गया हूँ । उसने रातको सोते समय पाण्डवोंके वधका विचार किया है' ॥ ७१–७३ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं गान्धार्या सहितोऽब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो महाबाहुः केशवं केशिसूदनम् ॥ ७४ ॥
शीघ्रं गच्छ महाबाहो पाण्डवान् परिपालय ।
भूयस्त्वया समेष्यामि क्षिप्रमेव जनार्दन ॥ ७५ ॥

यह सुनकर गान्धारीसहित महाबाहु धृतराष्ट्रने केशिहन्ता केशवसे कहा—'महाबाहु जनार्दन ! आप शीघ्र जाइये और पाण्डवोंकी रक्षा कीजिये । मैं पुनः शीघ्र ही आपसे मिलूँगा' ॥

प्रायात् ततस्तु त्वरितो दारुकेण सहाच्युतः ।
वासुदेवे गते राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ७६ ॥
आश्वासयदमेयात्मा व्यासो लोकनमस्कृतः ।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण दारुकके साथ वहाँसे शीघ्र चल दिये । राजन् ! श्रीकृष्णके चले जानेपर अप्रमेयस्वरूप विश्ववन्दित भगवान् व्यासने राजा धृतराष्ट्रको सान्त्वना दी ॥

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा कृतकृत्यो जगाम ह ॥ ७७ ॥
शिबिरं हास्तिनपुराद् दिदृक्षुः पाण्डवान् नृप ।

नरेश्वर ! इधर धर्मात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण कृतकृत्य हो हस्तिनापुरसे पाण्डवोंको देखनेके लिये शिबिरमें लौट आये॥

आगम्य शिबिरं रात्रौ सोऽभ्यगच्छत पाण्डवान् ।
तच्च तेभ्यः समाख्याय सहितस्तैः समाहितः ॥ ७८ ॥

शिबिरमें आकर रातमें वे पाण्डवोंसे मिले और उनसे सारा समाचार कहकर उन्हींके साथ सावधान होकर रहे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि धृतराष्ट्रगान्धारीसमाश्वासने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें धृतराष्ट्र और गान्धारीका श्रीकृष्णको आश्वासन देना विषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका संजयके सम्मुख विलाप और वाहकोंद्वारा अपने साथियोंको संदेश भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

अधिष्ठितः पदा मूर्ध्नि भग्नसक्थो महीं गतः ।
शौटीर्यमानी पुत्रो मे किमभाषत संजय ॥ १ ॥
अत्यर्थं कोपनो राजा जातवैरश्च पाण्डुषु ।
व्यसनं परमं प्राप्तः किमाह परमाहवे ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब जाँघें टूट जानेके कारण मेरा पुत्र पृथ्वीपर गिर पड़ा और भीमसेनने उसके मस्तकपर पैर रख दिया, तब उसने क्या कहा ? उसे अपने बलपर बड़ा अभिमान था । राजा दुर्योधन अत्यन्त क्रोधी तथा पाण्डवोंसे वैर रखनेवाला था । उस युद्धभूमिमें जब वह बड़ी भारी विपत्तिमें फँस गया, तब क्या बोला ?॥१-२॥

संजय उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तं नराधिप ।
राज्ञा यदुक्तं भग्नेन तस्मिन् व्यसन आगते ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! सुनिये । नरेश्वर ! उस भारी संकटमें पड़ जानेपर टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनने जो कुछ कहा था, वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे बता रहा हूँ॥

भग्नसक्थो नृपो राजन् पांसुना सोऽवगुण्ठितः ।
यमयन् मूर्धजांस्तत्र वीक्ष्य चैव दिशो दश ॥ ४ ॥
केशान् नियम्य यत्नेन निःश्वसन्नुरगो यथा ।
संरम्भाश्रुपरीताभ्यां नेत्राभ्यामभिवीक्ष्य माम् ॥ ५ ॥
बाहू धरण्यां निष्पिष्य सुदुर्मत्त इव द्विपः ।
प्रकीर्णान् मूर्धजान् धुन्वन् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन्॥ ६ ॥
गर्हयन् पाण्डवं ज्येष्ठं निःश्वस्येदमथाब्रवीत् ।

राजन् ! जब कौरव-नरेशकी जाँघें टूट गयीं, तब वह धरतीपर गिरकर धूलमें सन गया । फिर बिखरे हुए बालोंको समेटता हुआ वहाँ दसों दिशाओंकी ओर देखने लगा । बड़े प्रयत्नसे अपने बालोंको बाँधकर सर्पके समान फुफकारते हुए उसने रोष और आँसुओंसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा मेरी ओर देखा । इसके बाद दोनों भुजाओंको पृथ्वीपर रगड़कर मदोन्मत्त गजराजके समान अपने बिखरे केशोंको हिलाता, दाँतोंसे दाँतोंको पीसता तथा ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरकी निन्दा करता हुआ, वह उच्छ्वास ले इस प्रकार बोला—॥ ४–६½ ॥

भीष्मे शान्तनवे नाथे कर्णे शस्त्रभृतां वरे ॥ ७ ॥
गौतमे शकुनौ चापि द्रोणे चास्त्रभृतां वरे ।
अश्वत्थाम्नि तथा शल्ये शूरे च कृतवर्मणि ॥ ८ ॥
इमामवस्थां प्राप्तोऽस्मि कालो हि दुरतिक्रमः ।

'शान्तनुनन्दन भीष्म, अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, कृपाचार्य, शकुनि, अस्त्रधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, शूरवीर शल्य तथा कृतवर्मा मेरे रक्षक थे तो भी मैं इस दशाको आ पहुँचा । निश्चय ही कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ७–८½ ॥

एकादशचमूभर्ता सोऽहमेतां दशां गतः ॥ ९ ॥
कालं प्राप्य महाबाहो न कश्चिदतिवर्तते ।

'महाबाहो ! मैं एक दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका स्वामी था; परंतु आज इस दशामें आ पड़ा हूँ । वास्तवमें कालको पाकर कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥

आख्यातव्यं मदीयानां येऽस्मिञ्जीवन्ति संयुगे ॥ १० ॥
यथाहं भीमसेनेन व्युत्क्रम्य समयं हतः ।

'मेरे पक्षके वीरोंमेंसे जो लोग इस युद्धमें जीवित बच गये हों, उन्हें यह बताना कि भीमसेनने किस तरह गदायुद्धके नियमका उल्लङ्घन करके मुझे मारा ॥ १०½ ॥

बहूनि सुनृशंसानि कृतानि खलु पाण्डवैः ॥ ११ ॥
भूरिश्रवसि कर्णे च भीष्मे द्रोणे च श्रीमति ।

'पाण्डवोंने भूरिश्रवा, कर्ण, भीष्म तथा श्रीमान् द्रोणाचार्यके प्रति बहुत-से नृशंस कार्य किये हैं ॥ ११½ ॥

इदं चाकीर्तिजं कर्म नृशंसैः पाण्डवैः कृतम् ॥ १२ ॥
येन ते सत्सु निर्वेदं गमिष्यन्ति हि मे मतिः ।

'उन क्रूरकर्मा पाण्डवोंने यह भी अपनी अकीर्ति फैलानेवाला कर्म ही किया है, जिससे वे साधु पुरुषोंकी सभामें पश्चात्ताप करेंगे; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२½ ॥

का प्रीतिः सत्त्वयुक्तस्य कृत्वोपधिकृतं जयम् ॥ १३ ॥

को वा समयभेत्तारं बुधः सम्मन्तुमर्हति ।

'छलसे विजय पाकर किसी सत्त्वगुणी या शक्तिशाली पुरुषको क्या प्रसन्नता होगी ? अथवा जो युद्धके नियमको भंग कर देता है, उसका सम्मान कौन विद्वान् कर सकता है?॥

अधर्मेण जयं लब्ध्वा को नु हृष्येत पण्डितः ॥ १४ ॥
यथा संहृष्यते पापः पाण्डुपुत्रो वृकोदरः ।

'अधर्मसे विजय प्राप्त करके किस बुद्धिमान् पुरुषको हर्ष होगा ? जैसा कि पापी पाण्डुपुत्र भीमसेनको हो रहा है॥

किन्नु चित्रमितस्त्वद्य भग्नसक्थस्य यन्मम ॥ १५ ॥
क्रुद्धेन भीमसेनेन पादेन मृदितं शिरः ।

'आज जब मेरी जाँघें टूट गयी हैं; ऐसी दशामें कुपित हुए भीमसेनने मेरे मस्तकको जो पैरसे ठुकराया है, इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ! ॥ १५½ ॥

प्रतपन्तं श्रिया जुष्टं वर्तमानं च बन्धुषु ॥ १६ ॥
एवं कुर्यान्नरो यो हि स वै संजय पूजितः ।

'संजय ! जो अपने तेजसे तप रहा हो, राजलक्ष्मीसे सेवित हो और अपने सहायक बन्धुओंके बीचमें विद्यमान हो, ऐसे शत्रुके साथ जो उक्त बर्ताव करे, वही वीर पुरुष सम्मानित होता है (मरे हुएको मारनेमें क्या बड़ाई है) ॥

अभिज्ञौ युद्धधर्मस्य मम माता पिता च मे ॥ १७ ॥
तौ हि संजय दुःखार्तौ विज्ञाप्यौ वचनाद्धि मे ।
इष्टं भृत्या भृताः सम्यग् भूः प्रशास्ताससागरा॥१८ ॥

'मेरे माता-पिता युद्धधर्मके ज्ञाता हैं। वे दोनों मेरी मृत्युका समाचार सुनकर दुःखसे आतुर हो जायँगे। तुम मेरे कहनेसे उन्हें यह संदेश देना कि मैंने यज्ञ किये, जो भरण-पोषण करने योग्य थे, उनका पालन किया और समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका अच्छी तरह शासन किया॥ १७-१८ ॥

मूर्ध्नि स्थितममित्राणां जीवतामेव संजय ।
दत्ता दाया यथाशक्ति मित्राणां च प्रियं कृतम् ॥ १९ ॥
अमित्रा बाधिताः सर्वे को नु स्वन्ततरो मया ।

'संजय ! मैंने जीवित शत्रुओंके ही मस्तकपर पैर रक्खा। यथाशक्ति धनका दान और मित्रोंका प्रिय किया। साथ ही सम्पूर्ण शत्रुओंको सदा ही क्लेश पहुँचाया। संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जिसका अन्त मेरे समान सुन्दर हुआ हो ?॥

मानिता बान्धवाः सर्वे वश्यः सम्पूजितो जनः ॥ २०॥
त्रितयं सेवितं सर्वं को नु स्वन्ततरो मया ।

'मैंने सभी बन्धु-बान्धवोंको सम्मान दिया। अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले लोगोंका सत्कार किया और धर्म, अर्थ एवं काम सबका सेवन कर लिया। मेरे समान सुन्दर अन्त किसका हुआ होगा ? ॥ २०½ ॥

आज्ञप्तं नृपमुख्येषु मानः प्राप्तः सुदुर्लभः ॥ २१ ॥
आजानेयैस्तथा यातं को नु स्वन्ततरो मया ।

'बड़े-बड़े राजाओंपर हुक्म चलाया, अत्यन्त दुर्लभ सम्मान प्राप्त किया तथा आजानेय (अरबी) घोड़ोंपर सवारी की, मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ?॥२१½॥

यातानि परराष्ट्राणि नृपा भुक्ताश्च दासवत् ॥ २२ ॥
प्रियेभ्यः प्रकृतं साधु को नु स्वन्ततरो मया ।

'दूसरे राष्ट्रोंपर आक्रमण किया और कितने ही राजाओं-से दासकी भाँति सेवाएँ लीं। जो अपने प्रिय व्यक्ति थे, उनकी सदा ही भलाई की। फिर मुझसे अच्छा अन्त किसका हुआ होगा ? ॥ २२½ ॥

अधीतं विधिवद् दत्तं प्राप्तमायुर्निरामयम् ॥ २३ ॥
स्वधर्मेण जिता लोकाः को नु स्वन्ततरो मया ।
दिष्ट्या नाहं जितः संख्ये परान् प्रेष्यवदाश्रितः॥ २४ ॥
दिष्ट्या मे विपुला लक्ष्मीर्मृते त्वन्यगता विभो ।

'विधिवत् वेदोंका स्वाध्याय किया, नाना प्रकारके दान दिये और रोगरहित आयु प्राप्त की। इसके सिवा, मैंने अपने धर्मके द्वारा पुण्यलोकोंपर विजय पायी है। फिर मेरे समान अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ? सौभाग्यकी बात है कि मैं न तो युद्धमें कभी पराजित हुआ और न दासकी भाँति कभी शत्रुओंकी शरण ली। सौभाग्यसे मेरे अधिकारमें विशाल राजलक्ष्मी रही है, जो मेरे मरनेके बाद ही दूसरेके हाथमें गयी है ॥ २३-२४½ ॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ २५ ॥
निधनं तन्मया प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

'अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रिय-बन्धुओंको जो अभीष्ट है, वैसी ही मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है; अतः मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ? ॥ २५½ ॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो वैरात् प्राकृतवज्जितः ॥ २६ ॥
दिष्ट्या न विमतिं कांचिद् भजित्वा तु पराजितः ।

'हर्षकी बात है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर भागा नहीं। निम्नश्रेणीके मनुष्यकी भाँति हार मानकर वैरसे कभी पीछे नहीं हटा तथा कभी किसी दुर्विचारका आश्रय लेकर पराजित नहीं हुआ—यह भी मेरे लिये गौरवकी ही बात है॥ २६½ ॥

सुप्तं वाथ प्रमत्तं वा यथा हन्याद् विषेण वा ॥ २७ ॥
एवं व्युत्क्रान्तधर्मेण व्युत्क्रम्य समयं हतः ।

'जैसे कोई सोये अथवा पागल हुए मनुष्यको मार दे या धोखेसे जहर देकर किसीकी हत्या कर डाले, उसी प्रकार धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले पापी भीमसेनने गदायुद्धकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके मुझे मारा है ॥ २७½ ॥

अश्वत्थामा महाभागः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २८ ॥
कृपः शारद्वतश्चैव वक्तव्या वचनान्मम ।

'महाभाग अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा तथा शरद्वान‌्के पुत्र कृपाचार्य—इन सबको मेरी यह बात सुना देना॥

अधर्मेण प्रवृत्तानां पाण्डवानामनेकशः ॥ २९ ॥
विश्वासं समयघ्नानां न यूयं गन्तुमर्हथ ।

'पाण्डवोंने अधर्ममें प्रवृत्त होकर अनेकों बार युद्धकी मर्यादा तोड़ी है; अतः आपलोग कभी उनका विश्वास न करें' ॥

वार्तिकांश्चाब्रवीद् राजा पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥ ३० ॥
अधर्माद् भीमसेनेन निहतोऽहं यथा रणे ।
सोऽहं द्रोणं स्वर्गगतं कर्णशल्यावुभौ तथा ॥ ३१ ॥
वृषसेनं महावीर्यं शकुनिं चापि सौबलम् ।
जलसंधं महावीर्यं भगदत्तं च पार्थिवम् ॥ ३२ ॥
सोमदत्तं महेष्वासं सैन्धवं च जयद्रथम् ।
दुःशासनपुरोगांश्च भ्रातॄनात्मसमांस्तथा ॥ ३३ ॥
दौःशासनिं च विक्रान्तं लक्ष्मणं चात्मजावुभौ ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् मदीयांश्च सहस्रशः ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सार्थहीनो यथाध्वगः ।

इसके बाद आपके सत्यपराक्रमी पुत्र राजा दुर्योधनने संदेशवाहक दूतोंसे इस प्रकार कहा—'भीमसेनने रणभूमिमें अधर्मसे मेरा वध किया है । अब मैं स्वर्गमें गये हुए द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्य, महापराक्रमी वृषसेन, सुबलपुत्र शकुनि, महाबली जलसन्ध, राजा भगदत्त, महाधनुर्धर सोमदत्त, सिंधुराज जयद्रथ, अपने ही समान पराक्रमी दुःशासन आदि बन्धुगण, विक्रमशाली दुःशासनकुमार और अपने पुत्र लक्ष्मण—इन सबके तथा और भी जो बहुत-से मेरे पक्षके सहस्रों योद्धा मारे गये हैं, उन सबके पीछे मैं स्वर्गमें जाऊँगा । मेरी दशा उस पथिकके समान है, जो अपने साथियोंसे बिछुड़ गया हो ॥ ३०–३४½ ॥

कथं भ्रातॄन् हतान्श्रुत्वा भर्तारं च स्वसा मम ॥ ३५ ॥
रोरूयमाणा दुःखार्ता दुःशला सा भविष्यति ।

'हाय ! अपने भाइयों और पतिकी मृत्युका समाचार सुनकर दुःखसे आतुर हो अत्यन्त रोदन करती हुई मेरी बहिन दुःशलाकी क्या दशा होगी ? ॥ ३५½ ॥

स्नुषाभिः प्रस्नुषाभिश्च वृद्धो राजा पिता मम ॥ ३६ ॥
गान्धारीसहितश्चैव कां गतिं प्रतिपत्स्यति ।

'पुत्रों और पौत्रोंकी बिलखती हुई बहुओंके साथ मेरे बूढ़े पिता राजा धृतराष्ट्र माता गान्धारीसहित किस अवस्थाको पहुँच जायँगे ? ॥ ३६½ ॥

नूनं लक्ष्मणमातापि हतपुत्रा हतेश्वरा ॥ ३७ ॥
विनाशं यास्यति क्षिप्रं कल्याणी पृथुलोचना ।

'निश्चय ही जिसके पति और पुत्र मारे गये हैं, वह कल्याणमयी विशाललोचना लक्ष्मणकी माता भी सारा समाचार सुनकर तुरंत ही प्राण दे देगी ॥ ३७½ ॥

यदि जानाति चार्वाकः परिव्राड् वाग्विशारदः ॥ ३८ ॥
करिष्यति महाभागो ध्रुवं चापचितिं मम ।

'संन्यासीके वेषमें सब ओर घूमनेवाले प्रवचनकुशल चार्वाकको[1] यदि मेरी दशा ज्ञात हो जायगी तो वे महाभाग निश्चय ही मेरे वैरका बदला लेंगे ॥ ३८½ ॥

समन्तपञ्चके पुण्ये त्रिषु लोकेषु विश्रुते ॥ ३९ ॥
अहं निधनमासाद्य लोकान् प्राप्स्यामि शाश्वतान् ।

'तीनों लोकोंमें विख्यात पुण्यमय समन्तपञ्चकक्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त होकर अब मैं सनातन लोकोंमें जाऊँगा'॥ ३९½॥

ततो जनसहस्राणि बाष्पपूर्णानि मारिष ॥ ४० ॥
प्रलापं नृपतेः श्रुत्वा व्यद्रवन्त दिशो दश ।

मान्यवर ! राजा दुर्योधनका यह विलाप सुनकर हजारों मनुष्योंकी आँखोंमें आँसू भर आये और वे दसों दिशाओंमें भाग चले ॥ ४०½ ॥

ससागरवना घोरा पृथिवी सचराचरा ॥ ४१ ॥
चचालाथ सनिर्ह्रादा दिशश्चैवाविलाभवन् ।

उस समय समुद्र, वन और चराचर प्राणियोंसहित यह पृथ्वी भयानक रूपसे हिलने लगी । सब ओर वज्रकी-सी गर्जना होने लगी और सारी दिशाएँ मलिन हो गयीं ॥ ४१½ ॥

ते द्रोणपुत्रमासाद्य यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ ४२ ॥
व्यवहारं गदायुद्धे पार्थिवस्य च पातनम् ।
तदाख्याय ततः सर्वे द्रोणपुत्रस्य भारत ॥
(वार्तिका दुःखसंतप्ताः शोकोपहतचेतसः ।)
ध्यात्वा च सुचिरं कालं जग्मुरार्ता यथागतम् ॥ ४३ ॥

उन संदेशवाहकोंने आकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे यथावत् समाचार कह सुनाया । भारत ! गदायुद्धमें भीमसेनका जैसा व्यवहार हुआ तथा राजाको जिस प्रकार धराशायी किया गया, वह सारा वृत्तान्त द्रोणपुत्रको बताकर दुःखसे संतप्त हो वे बहुत देरतक चिन्तामें डूबे रहे । फिर शोकसे व्याकुल-चित्त एवं आर्त होकर जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि दुर्योधनविलापे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधनका विलापविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

---

१. आचार्य नीलकण्ठकी सम्मतिके अनुसार चार्वाक संन्यासी मुनिके वेषमें विचरनेवाला एक नास्तिक राक्षस था ।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनकी दशा देखकर अश्वत्थामाका विषाद, प्रतिज्ञा और सेनापतिके पदपर अभिषेक

संजय उवाच

वार्तिकाणां सकाशात् तु श्रुत्वा दुर्योधनं हतम्।
हतशिष्टास्ततो राजन् कौरवाणां महारथाः ॥ १ ॥
विनिर्भिन्नाः शितैर्बाणैर्गदातोमरशक्तिभिः।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २ ॥
त्वरिता जवनैरश्वैरायोधनमुपागमन्।

संजय कहते हैं—राजन्! संदेशवाहकोंके मुखसे दुर्योधनके मारे जानेका समाचार सुनकर मरनेसे बचे हुए कौरव महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा—जो स्वयं भी तीखे बाण, गदा, तोमर और शक्तियोंके प्रहारसे विशेष घायल हो चुके थे, तेज चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो तुरंत ही युद्धभूमिमें आये॥

तत्रापश्यन् महात्मानं धार्तराष्ट्रं निपातितम् ॥ ३ ॥
प्रभग्नं वायुवेगेन महाशालं यथा वने।
भूमौ विचेष्टमानं तं रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ४ ॥
महागजमिवारण्ये व्याधेन विनिपातितम्।
विवर्तमानं बहुशो रुधिरौघपरिप्लुतम् ॥ ५ ॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि महामनस्वी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन मार गिराया गया है, मानो वनमें कोई विशाल शालवृक्ष वायुके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो। खूनसे लथपथ हो दुर्योधन पृथ्वीपर पड़ा छटपटा रहा था, मानो जंगलमें किसी व्याधेने बहुत बड़े हाथीको मार गिराया हो। रक्तकी धारामें डूबा हुआ वह बारंबार करवटें बदल रहा था॥

यदृच्छया निपतितं चक्रमादित्यगोचरम्।
महावातसमुत्थेन संशुष्कमिव सागरम् ॥ ६ ॥
पूर्णचन्द्रमिव व्योम्नि तुषारावृतमण्डलम्।
रेणुध्वस्तं दीर्घभुजं मातङ्गमिव विक्रमे ॥ ७ ॥

जैसे दैवेच्छासे सूर्यका चक्र गिर पड़ा हो, बहुत बड़ी आँधी चलनेसे समुद्र सूख गया हो, आकाशमें पूर्ण चन्द्र-मण्डलपर कुहरा छा गया हो, वही दशा उस समय दुर्योधन-की हुई थी। मतवाले हाथीके समान पराक्रमी और विशाल भुजाओंवाला वह वीर धूलमें सन गया था ॥ ६-७ ॥

वृतं भूतगणैर्घोरैः क्रव्यादैश्च समन्ततः।
यथा धनं लिप्समानैर्भृत्यैर्नृपतिसत्तमम् ॥ ८ ॥

जैसे धन चाहनेवाले भृत्यगण किसी श्रेष्ठ राजाको घेरे रहते हैं, उसी प्रकार भयंकर मांसभक्षी भूतोंने चारों ओरसे उसे घेर रक्खा था ॥ ८ ॥

भ्रुकुटीकृतवक्त्रान्तं क्रोधादुद्वृत्तचक्षुषम्।
सामर्षं तं नरव्याघ्रं व्याघ्रं निपतितं यथा ॥ ९ ॥

उसके मुँहपर भौंहें तनी हुई थीं, आँखें क्रोधसे चढ़ी हुई थीं और गिरे हुए व्याघ्रके समान वह नरश्रेष्ठ वीर अमर्षमें भरा हुआ दिखायी देता था ॥ ९ ॥

ते तं दृष्ट्वा महेष्वासं भूतले पतितं नृपम्।
मोहमभ्यागमन् सर्वे कृपप्रभृतयो रथाः ॥ १० ॥

महाधनुर्धर राजा दुर्योधनको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देख कृपाचार्य आदि सभी महारथी मोहके वशीभूत हो गये॥१०॥

अवतीर्य रथेभ्यश्च प्राद्रवन् राजसंनिधौ।
दुर्योधनं च सम्प्रेक्ष्य सर्वे भूमावुपाविशन् ॥ ११ ॥

वे अपने रथोंसे उतरकर राजाके पास दौड़े गये और दुर्योधनको देखकर सब लोग उसके पास ही जमीनपर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो द्रौणिर्महाराज बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन्।
उवाच भरतश्रेष्ठं सर्वलोकेश्वरेश्वरम् ॥ १२ ॥

महाराज! उस समय अश्वत्थामाकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह सिसकता हुआ सम्पूर्ण जगत्के राजाधिराज भरत-श्रेष्ठ दुर्योधनसे इस प्रकार बोला—॥ १२ ॥

न नूनं विद्यते सत्यं मानुषे किंचिदेव हि।
यत्र त्वं पुरुषव्याघ्र शेषे पांसुषु रूषितः ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह! निश्चय ही इस मनुष्यलोकमें कुछ भी सत्य नहीं है, सभी नाशवान् है, जहाँ तुम्हारे-जैसा राजा धूलमें सना हुआ लोट रहा है ॥ १३ ॥

भूत्वा हि नृपतिः पूर्वं समाज्ञाप्य च मेदिनीम्।
कथमेकोऽद्य राजेन्द्र तिष्ठसे निर्जने वने ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र! तुम पहले सम्पूर्ण जगत्के मनुष्योंपर आधिपत्य रखकर सारे भूमण्डलपर हुक्म चलाते थे। वही तुम आज अकेले इस निर्जन वनमें कैसे पड़े हुए हो?॥१४॥

दुःशासनं न पश्यामि नापि कर्णं महारथम्।
नापि तान् सुहृदः सर्वान् किमिदं भरतर्षभ ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ! न तो मैं दुःशासनको देखता हूँ और न महारथी कर्णको। अन्य सब सुहृदोंका भी मुझे दर्शन नहीं हो रहा है, यह क्या बात है? ॥ १५ ॥

दुःखं नूनं कृतान्तस्य गतिं ज्ञातुं कथंचन।
लोकानां च भवान् यत्र शेषे पांसुषु रूषितः॥ १६ ॥

'निश्चय ही काल और लोकोंकी गतिको जानना किसी प्रकार भी कठिन ही है, जिसके अधीन होकर आप धूलमें सने हुए पड़े हैं ॥ १६ ॥

एष मूर्धाभिषिक्तानामग्रे गत्वा परंतपः।
सतृणं ग्रसते पांसुं पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १७ ॥

'अहो ! ये मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे चलनेवाले शत्रुसंतापी महाराज दुर्योधन तिनकोंसहित धूल फाँक रहे हैं। यह कालका उलट-फेर तो देखो ॥ १७ ॥

क्व ते तदमलं छत्रं व्यजनं क्व च पार्थिव।
सा च ते महती सेना क्व गता पार्थिवोत्तम ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! कहाँ है आपका वह निर्मल छत्र, कहाँ है व्यजन और कहाँ गयी आपकी वह विशालसेना? ॥

दुर्विज्ञेया गतिर्नूनं कार्याणां कारणान्तरे।
यद् वै लोकगुरुर्भूत्वा भवानेतां दशां गतः ॥ १९ ॥

'किस कारणसे कौन-सा कार्य होगा, इसको समझ लेना निश्चय ही बहुत कठिन है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के आदरणीय नरेश होकर भी आज तुम इस दशाको पहुँच गये ॥ १९ ॥

अध्रुवा सर्वमर्त्येषु श्रीरुपालक्ष्यते भृशम्।
भवतो व्यसनं दृष्ट्वा शक्रविस्पर्धिनो भृशम् ॥ २० ॥

'तुम तो अपनी साम्राज्य-लक्ष्मीके द्वारा इन्द्रकी समानता करनेवाले थे। आज तुमपर भी यह संकट आया हुआ देखकर निश्चय हो गया कि किसी भी मनुष्यकी सम्पत्ति सदा स्थिर नहीं देखी जा सकती' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दुःखितस्य विशेषतः।
उवाच राजन् पुत्रस्ते प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २१ ॥
विमृज्य नेत्रे पाणिभ्यां शोकजं बाष्पमुत्सृजन्।
कृपादीन् स तदा वीरान् सर्वानेव नराधिपः ॥ २२ ॥

राजन् ! अत्यन्त दुखी हुए अश्वत्थामाकी वह बात सुनकर आपके पुत्र राजा दुर्योधनके नेत्रोंसे शोकके आँसू बहने लगे। उसने दोनों हाथोंसे नेत्रोंको पोंछा और कृपाचार्य आदि समस्त वीरोंसे यह समयोचित वचन कहा—॥२१-२२॥

ईदृशो लोकधर्मोऽयं धात्रा निर्दिष्ट उच्यते।
विनाशः सर्वभूतानां कालपर्यायमागतः ॥ २३ ॥

'मित्रो ! इस मर्त्यलोकका ऐसा ही धर्म (नियम) है। विधाताने ही इसका निर्देश किया है, ऐसा कहा जाता है; इसलिये कालक्रमसे एक-न-एक दिन सम्पूर्ण प्राणियोंके विनाशकी घड़ी आ ही जाती है ॥ २३ ॥

सोऽयं मां समनुप्राप्तः प्रत्यक्षं भवतां हि यः।
पृथिवीं पालयित्वाहमेतां निष्ठामुपागतः ॥ २४ ॥

'वही यह विनाशका समय अब मुझे भी प्राप्त हुआ है, जिसे आपलोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। एक दिन मैं सारी पृथ्वीका पालन करता था और आज इस अवस्थाको पहुँच गया हूँ ॥ २४ ॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो युद्धे कस्यांचिदापदि।
दिष्ट्याहं निहतः पापैश्छलेनैव विशेषतः ॥ २५ ॥

'तो भी मुझे इस बातकी खुशी है कि कैसी ही आपत्ति क्यों न आयी, मैं युद्धमें कभी पीछे नहीं हटा। पापियोंने मुझे मारा भी तो छलसे ॥ २५ ॥

उत्साहश्च कृतो नित्यं मया दिष्ट्या युयुत्सता।
दिष्ट्या चास्मिन् हतो युद्धे निहतज्ञातिबान्धवः॥ २६ ॥

'सौभाग्यवश मैंने रणभूमिमें जूझनेकी इच्छा रखकर सदा ही उत्साह दिखाया है और भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर स्वयं भी युद्धमें ही प्राण-त्याग कर रहा हूँ, इससे मुझे विशेष संतोष है ॥ २६ ॥

दिष्ट्या च वोऽहं पश्यामि मुक्तानस्माज्जनक्षयात्।
स्वस्तियुक्तांश्च कल्यांश्च तन्मे प्रियमनुत्तमम् ॥ २७ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि मैं आपलोगोंको इस नरसंहारसे मुक्त देख रहा हूँ। साथ ही आपलोग सकुशल एवं कुछ करनेमें समर्थ हैं—यह मेरे लिये और भी उत्तम एवं प्रसन्नताकी बात है ॥ २७ ॥

मा भवन्तोऽत्र तप्यन्तां सौहृदान्निधनेन मे।
यदि वेदाः प्रमाणं वो जिता लोका मयाक्षयाः ॥ २८ ॥

'आपलोगोंका मुझपर स्वाभाविक स्नेह है, इसलिये मेरी मृत्युसे यहाँ आपलोगोंको जो दुःख और संताप हो रहा है, वह नहीं होना चाहिये। यदि आपकी दृष्टिमें वेद-शास्त्र प्रामाणिक हैं तो मैंने अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ २८ ॥

मन्यमानः प्रभावं च कृष्णस्यामिततेजसः।
तेन न च्यावितश्चाहं क्षत्रधर्मात् स्वनुष्ठितात् ॥ २९ ॥
स मया समनुप्राप्तो नास्मि शोच्यः कथंचन।

'मैं अमित तेजस्वी श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको मानता हुआ भी कभी उनकी प्रेरणासे अच्छी तरह पालन किये हुए क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुआ। मैंने उस धर्मका फल प्राप्त किया है; अतः किसी प्रकार भी मैं शोकके योग्य नहीं हूँ ॥

कृतं भवद्भिः सदृशमनुरूपमिवात्मनः ॥ ३० ॥
यतितं विजये नित्यं दैवं तु दुरतिक्रमम्।

'आपलोगोंने अपने स्वरूपके अनुरूप योग्य पराक्रम प्रकट किया और सदा मुझे विजय दिलानेकी ही चेष्टा की; तथापि दैवके विधानका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी सर्वथा कठिन है' ॥ ३०½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पव्याकुललोचनः ॥ ३१ ॥
तूष्णीं बभूव राजेन्द्र रुजासौ विह्वलो भृशम्।

राजेन्द्र ! इतना कहते-कहते दुर्योधनकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं और वह वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होकर चुप हो गया—उससे कुछ बोला नहीं गया ॥ ३१½ ॥

तथा दृष्ट्वा तु राजानं बाष्पशोकसमन्वितम् ॥ ३२ ॥
द्रौणिः क्रोधेन जज्वाल यथा वह्निर्जगत्क्षये।

राजा दुर्योधनको शोकके आँसू बहाते देख अश्वत्थामा प्रलयकालकी अग्निके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥

स च क्रोधसमाविष्टः पाणौ पाणिं निपीड्य च॥ ३३ ॥
बाष्पविह्वलया वाचा राजानमिदमब्रवीत् ।

रोषके आवेशमें भरकर उसने हाथपर हाथ दबाया और अश्रुगद्गद वाणीद्वारा उसने राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ३३½ ॥

पिता मे निहतः क्षुद्रैः सुनृशंसेन कर्मणा ॥ ३४ ॥
न तथा तेन तप्यामि यथा राजंस्त्वयाद्य वै ।

'राजन् ! नीच पाण्डवोंने अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मके द्वारा मेरे पिताका वध किया था; परंतु उसके कारण भी मैं उतना संतप्त नहीं हूँ, जैसा कि आज तुम्हारे वधके कारण मुझे कष्ट हो रहा है ॥ ३४½ ॥

शृणु चेदं वचो मह्यं सत्येन वदतः प्रभो ॥ ३५ ॥
इष्टापूर्तेन दानेन धर्मेण सुकृतेन च ।
अद्याहं सर्वपञ्चालान् वासुदेवस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥
सर्वोपायैर्हि नेष्यामि प्रेतराजनिवेशनम् ।
अनुज्ञां तु महाराज भवान् मे दातुमर्हति ॥ ३७ ॥

'प्रभो ! मैं सत्यकी शपथ खाकर जो कह रहा हूँ, मेरी इस बातको सुनो । मैं अपने इष्ट, आपूर्त, दान, धर्म तथा अन्य शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज श्रीकृष्णके देखते-देखते सम्पूर्ण पाञ्चालोंको सभी उपायोंद्वारा यमराजके लोकमें भेज दूँगा । महाराज ! इसके लिये तुम मुझे आज्ञा दे दो' ॥ ३५—३७ ॥

इति श्रुत्वा तु वचनं द्रोणपुत्रस्य कौरवः ।
मनसः प्रीतिजननं कृपं वचनमब्रवीत् ॥ ३८ ॥
आचार्य शीघ्रं कलशं जलपूर्णं समानय ।

द्रोणपुत्रका यह मनको प्रसन्न करनेवाला वचन सुनकर कुरुराज दुर्योधनने कृपाचार्यसे कहा—'आचार्य ! आप शीघ्र ही जलसे भरा हुआ कलश ले आइये' ॥ ३८½ ॥

स तद् वचनमाज्ञाय राज्ञो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३९ ॥
कलशं पूर्णमादाय राज्ञोऽन्तिकमुपागमत् ।

राजाकी वह बात मानकर ब्राह्मणशिरोमणि कृपाचार्य जलसे भरा हुआ कलश ले उसके समीप आये ॥ ३९½ ॥

तमब्रवीन्महाराज पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ ४० ॥
ममाज्ञया द्विजश्रेष्ठ द्रोणपुत्रोऽभिषिच्यताम् ।
सैनापत्येन भद्रं ते मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ४१ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! तब आपके पुत्रने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो । यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मेरी आज्ञासे द्रोणपुत्रका सेनापतिके पद-पर अभिषेक कीजिये ॥ ४०-४१ ॥

राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ४२ ॥

'ब्राह्मणको विशेषतः राजाकी आज्ञासे क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए युद्ध करना चाहिये—ऐसा धर्मज्ञ पुरुष मानते हैं' ॥ ४२ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा कृपः शारद्वतस्तथा ।
द्रौणिं राज्ञो नियोगेन सैनापत्येऽभ्यषेचयत् ॥ ४३ ॥

राजाकी वह बात सुनकर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उसकी आज्ञाके अनुसार अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥ ४३ ॥

सोऽभिषिक्तो महाराज परिष्वज्य नृपोत्तमम् ।
प्रययौ सिंहनादेन दिशः सर्वा विनादयन् ॥ ४४ ॥

महाराज ! अभिषेक हो जानेपर अश्वत्थामाने नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको हृदयसे लगाया और अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र शोणितेन परिप्लुतः ।
तां निशां प्रतिपेदेऽथ सर्वभूतभयावहाम् ॥ ४५ ॥

राजेन्द्र ! खूनमें डूबे हुए दुर्योधनने भी सम्पूर्ण भूतोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली वह रात वहीं व्यतीत की ॥

अपक्रम्य तु ते तूर्णं तस्मादायोधनान्नृप ।
शोकसंविग्नमनसश्चिन्ताध्यानपराभवन् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! शोकसे व्याकुलचित्त हुए वे तीनों महारथी उस युद्धभूमिसे तुरंत ही दूर हट गये और चिन्ता एवं कर्तव्यके विचारमें निमग्न हो गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि अश्वत्थामसैनापत्याभिषेके पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेकविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

॥ शल्यपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	३५३१	(११५)	१५८=	३६८९=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	४२	(५)	६॥=	४८॥=
शल्यपर्वकी कुल श्लोकसंख्या				३७३८

भीमसेन अश्वत्थामासे प्राप्त हुई मणि द्रौपदीको दे रहे हैं

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सौप्तिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

तीनों महारथियोंका एक वनमें विश्राम, कौओंपर उल्लूका आक्रमण देख अश्वत्थामाके मनमें क्रूर संकल्पका उदय तथा अपने दोनों साथियोंसे उसका सलाह पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

संजय उवाच

**ततस्ते सहिता वीराः प्रयाता दक्षिणामुखाः ।
उपास्तमनवेलायां शिबिराभ्याशमागताः ॥ १ ॥**

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनकी आज्ञाके अनुसार कृपाचार्यके द्वारा अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो जानेके अनन्तर वे तीनों वीर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा एक साथ दक्षिण दिशाकी ओर चले और सूर्यास्तके समय सेनाकी छावनीके निकट जा पहुँचे ॥ १ ॥

**विमुच्य वाहांस्त्वरिता भीता समभवंस्तदा ।
गहनं देशमासाद्य प्रच्छन्ना न्यविशन्त ते ॥ २ ॥**

शत्रुओंको पता न लग जाय, इस भयसे वे सब-के-सब डरे हुए थे, अतः बड़ी उतावलीके साथ वनके गहन प्रदेशमें जाकर उन्होंने घोड़ोंको खोल दिया और छिपकर एक स्थानपर वे जा बैठे ॥ २ ॥

**सेनानिवेशमभितो नातिदूरमवस्थिताः ।
निकृत्ता निशितैः शस्त्रैः समन्तात् क्षतविक्षताः ॥ ३ ॥**

जहाँ सेनाकी छावनी थी, उस स्थानके पास थोड़ी ही दूरपर वे तीनों विश्राम करने लगे। उनके शरीर तीखे शस्त्रोंके आघातसे घायल हो गये थे । वे सब ओरसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ ३ ॥

**दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य पाण्डवानेव चिन्तयन् ।
श्रुत्वा च निनदं घोरं पाण्डवानां जयैषिणाम् ॥ ४ ॥
अनुसारभयाद् भीताः प्राङ्मुखाः प्राद्रवन् पुनः।**

वे गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए पाण्डवोंकी ही चिन्ता करने लगे । इतनेहीमें विजयाभिलाषी पाण्डवोंकी भयंकर गर्जना सुनकर उन्हें यह भय हुआ कि पाण्डव कहीं हमारा पीछा न करने लगें; अतः वे पुनः घोड़ोंको रथमें जोतकर पूर्व दिशाकी ओर भाग चले ॥ ४½ ॥

**ते मुहूर्तात् ततो गत्वा श्रान्तवाहाः पिपासिताः॥ ५ ॥
नामृष्यन्त महेष्वासाः क्रोधामर्षवशं गताः ।
राज्ञो वधेन संतप्ता मुहूर्तं समवस्थिताः ॥ ६ ॥**

दो ही घड़ीमें उस स्थानसे कुछ दूर जाकर क्रोध और अमर्षके वशीभूत हुए वे महाधनुर्धर योद्धा प्याससे पीड़ित हो गये । उनके घोड़े भी थक गये । उनके लिये यह अवस्था असह्य हो उठी थी । वे राजा दुर्योधनके मारे जानेसे बहुत दुखी हो एक मुहूर्ततक वहाँ चुपचाप खड़े रहे ॥ ५-६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

**अश्रद्धेयमिदं कर्म कृतं भीमेन संजय ।
यत् स नागायुतप्राणः पुत्रो मम निपातितः ॥ ७ ॥**

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरे पुत्र दुर्योधनमें दस हजार हाथियोंका बल था तो भी उसे भीमसेनने मार गिराया। उनके द्वारा जो यह कार्य किया गया है, इसपर सहसा विश्वास नहीं होता ॥ ७ ॥

**अवध्यः सर्वभूतानां वज्रसंहननो युवा ।
पाण्डवैः समरे पुत्रो निहतो मम संजय ॥ ८ ॥**

संजय ! मेरा पुत्र नवयुवक था । उसका शरीर वज्रके समान कठोर था और इसीलिये वह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य था, तथापि पाण्डवोंने समराङ्गणमें उसका वध कर डाला ॥ ८ ॥

**न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं गावल्गणे नरैः ।
यत् समेत्य रणे पार्थैः पुत्रो मम निपातितः ॥ ९ ॥**

गवल्गणकुमार ! कुन्तीके पुत्रोंने मिलकर रणभूमिमें जो मेरे पुत्रको धराशायी कर दिया है, इससे जान पड़ता है कि कोई भी मनुष्य दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता॥

अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ।

हतं पुत्रशतं श्रुत्वा यन्न दीर्णं सहस्रधा ॥ १० ॥

संजय ! निश्चय ही मेरा हृदय पत्थरके सारतत्त्वका बना हुआ है, जो अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेका समाचार सुनकर भी इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो गये ॥ १० ॥

कथं हि वृद्धमिथुनं हतपुत्रं भविष्यति ।
न ह्यहं पाण्डवेयस्य विषये वस्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

हाय ! अब हम दोनों बूढ़े पति-पत्नी अपने पुत्रोंके मारे जानेसे कैसे जीवित रहेंगे ? मैं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके राज्यमें नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

कथं राज्ञः पिता भूत्वा स्वयं राजा च संजय ।
प्रेष्यभूतः प्रवर्तेयं पाण्डवेयस्य शासनात् ॥ १२ ॥

संजय ! मैं राजाका पिता और स्वयं भी राजा ही था। अब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञाके अधीन हो दासकी भाँति कैसे जीवननिर्वाह करूँगा ? ॥ १२ ॥

आज्ञाप्य पृथिवीं सर्वां स्थित्वा मूर्ध्नि च संजय ।
कथमद्य भविष्यामि प्रेष्यभूतो दुरन्तकृत् ॥ १३ ॥

संजय ! पहले समस्त भूमण्डलपर मेरी आज्ञा चलती थी और मैं सबका शिरमौर था; ऐसा होकर अब मैं दूसरोंका दास बनकर कैसे रहूँगा । मैंने स्वयं ही अपने जीवनकी अन्तिम अवस्थाको दुःखमय बना दिया है ! ॥ १३ ॥

कथं भीमस्य वाक्यानि श्रोतुं शक्ष्यामि संजय ।
येन पुत्रशतं पूर्णमेकेन निहतं मम ॥ १४ ॥

ओह ! जिसने अकेले ही मेरे पूरे-के-पूरे सौ पुत्रोंका वध कर डाला, उस भीमसेनकी बातोंको मैं कैसे सुन सकूँगा ?

कृतं सत्यं वचस्तस्य विदुरस्य महात्मनः ।
अकुर्वता वचस्तेन मम पुत्रेण संजय ॥ १५ ॥

संजय ! मेरे पुत्रने मेरी बात न मानकर महात्मा विदुर-के कहे हुए वचनको सत्य कर दिखाया ॥ १५ ॥

अधर्मेण हते तात पुत्रे दुर्योधने मम ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः किमकुर्वत संजय ॥ १६ ॥

तात संजय ! अब यह बताओ कि मेरे पुत्र दुर्योधनके अधर्मपूर्वक मारे जानेपर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा-ने क्या किया ? ॥ १६ ॥

संजय उवाच

गत्वा तु तावका राजन् नातिदूरमवस्थिताः ।
अपश्यन्त वनं घोरं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पक्षके वे तीनों वीर वहाँसे थोड़ी ही दूरपर जाकर खड़े हो गये । वहाँ उन्होंने नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे भरा हुआ एक भयंकर वन देखा ॥ १७ ॥

ते मुहूर्तं तु विश्रम्य लब्धतोयैर्हयोत्तमैः ।
सूर्यास्तमनवेलायां समासेदुर्महद् वनम् ॥ १८ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं नानापक्षिगणावृतम् ।
नानाद्रुमलताच्छन्नं नानाव्यालनिषेवितम् ॥ १९ ॥

उस स्थानपर थोड़ी देरतक ठहरकर उन सब लोगोंने अपने उत्तम घोड़ोंको पानी पिलाया और सूर्यास्त होते-होते वे उस विशाल वनमें जा पहुँचे, जहाँ अनेक प्रकारके मृग और भाँति-भाँतिके पक्षी निवास करते थे, तरह-तरहके वृक्षों और लताओंने उस वनको व्याप्त कर रक्खा था और अनेक जातिके सर्प उसका सेवन करते थे ॥ १८-१९ ॥

नानातोयैः समाकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ।
पद्मिनीशतसंछन्नं नीलोत्पलसमायुतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ अनेक प्रकारके जलाशय थे, भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे, शत-शत रक्त कमल और असंख्य नीलकमल वहाँके जलाशयोंमें सब ओर छा रहे थे ॥ २० ॥

प्रविश्य तद् वनं घोरं वीक्षमाणाः समन्ततः ।
शाखासहस्रसंछन्नं न्यग्रोधं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

उस भयंकर वनमें प्रवेश करके सब ओर दृष्टि डालनेपर उन्हें सहस्रों शाखाओंसे आच्छादित एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया ॥ २१ ॥

उपेत्य तु तदा राजन् न्यग्रोधं ते महारथाः ।
ददृशुर्द्विपदां श्रेष्ठाः श्रेष्ठं तं वै वनस्पतिम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ उन महारथियोंने पास जाकर उस उत्तम वनस्पति (बरगद) को देखा ॥ २२ ॥

तेऽवतीर्य रथेभ्यश्च विप्रमुच्य च वाजिनः ।
उपस्पृश्य यथान्यायं संध्यामन्वासत प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! वहाँ रथोंसे उतरकर उन तीनोंने अपने घोड़ोंको खोल दिया और यथोचितरूपसे स्नान आदि करके संध्योपासना की ॥ २३ ॥

ततोऽस्तं पर्वतश्रेष्ठमनुप्राप्ते दिवाकरे ।
सर्वस्य जगतो धात्री शर्वरी समपद्यत ॥ २४ ॥

तदनन्तर सूर्यदेवके पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचलपर पहुँच जानेपर धायकी भाँति सम्पूर्ण जगत्को अपनी गोदमें विश्राम देनेवाली रात्रिदेवीका सर्वत्र आधिपत्य हो गया ॥ २४ ॥

ग्रहनक्षत्रताराभिः सम्पूर्णाभिरलंकृतम् ।
नभोंऽशुकमिवाभाति प्रेक्षणीयं समन्ततः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण ग्रहों, नक्षत्रों और ताराओंसे अलंकृत हुआ आकाश जरीकी साड़ीके समान सब ओरसे देखनेयोग्य प्रतीत होता था ॥ २५ ॥

इच्छया ते प्रवल्गन्ति ये सत्त्वा रात्रिचारिणः ।
दिवाचराश्च ये सत्त्वास्ते निद्रावशमागताः ॥ २६ ॥

रात्रिमें विचरनेवाले प्राणी अपनी इच्छाके अनुसार उछल-कूद मचाने लगे और जो दिनमें विचरनेवाले जीव-जन्तु थे, वे निद्राके अधीन हो गये ॥ २६ ॥

रात्रिचराणां सत्त्वानां निर्घोषोऽभूत् सुदारुणः ।
क्रव्यादाश्च प्रमुदिता घोरा प्राप्ता च शर्वरी ॥ २७ ॥

रात्रिमें घूमने-फिरनेवाले जीवोंका अत्यन्त भयंकर शब्द प्रकट होने लगा । मांसभक्षी प्राणी प्रसन्न हो गये और वह भयंकर रात्रि सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २७ ॥

तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे दुःखशोकसमन्विताः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिरुपोपविविशुः समम् ॥ २८ ॥

रात्रिका प्रथम प्रहर बीत रहा था । उस भयंकर वेलामें दुःख और शोकसे संतप्त हुए कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा एक साथ ही आस-पास बैठ गये ॥ २८ ॥

तत्रोपविष्टाः शोचन्तो न्यग्रोधस्य समीपतः ।
तमेवार्थमतिक्रान्तं कुरुपाण्डवयोः क्षयम् ॥ २९ ॥
निद्रया च परीताङ्गा निषेदुर्धरणीतले ।
श्रमेण सुदृढं युक्ता विक्षता विविधैः शरैः ॥ ३० ॥

वटवृक्षके समीप बैठकर कौरवों तथा पाण्डवयोद्धाओंके उसी विनाशकी बीती हुई बातके लिये शोक करते हुए वे तीनों वीर निद्रासे सारे अंग शिथिल हो जानेके कारण पृथ्वीपर लेट गये । उस समय वे भारी थकावटसे चूर-चूर हो रहे थे और नाना प्रकारके बाणोंसे उनके सारे अंग क्षत-विक्षत हो गये थे॥

ततो निद्रावशं प्राप्तौ कृपभोजौ महारथौ ।
सुखोचितावदुःखार्हौ निषण्णौ धरणीतले ॥ ३१ ॥

तदनन्तर कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनों महारथियोंको गाढ़ी नींद आ गयी । वे सुख भोगनेके योग्य थे, दुःख पानेके योग्य कदापि नहीं थे, तो भी धरतीपर ही सो गये थे ॥ ३१ ॥

तौ तु सुप्तौ महाराज श्रमशोकसमन्वितौ ।
महार्हशयनोपेतौ भूमावेव ह्यनाथवत् ॥ ३२ ॥
क्रोधामर्षवशं प्राप्तो द्रोणपुत्रस्तु भारत ।
न वै स्म स जगामाथ निद्रां सर्प इव श्वसन् ॥ ३३ ॥

महाराज ! बहुमूल्य शय्या एवं सुखसामग्रीसे सम्पन्न होनेपर भी उन दोनों वीरोंको परिश्रम और शोकसे पीड़ित हो अनाथकी भाँति पृथ्वीपर ही पड़ा देख द्रोणपुत्र अश्वत्थामा क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो गया । भारत ! उस समय उसे नींद नहीं आयी । वह सर्पके समान लंबी साँस खींचता रहा॥

न लेभे स तु निद्रां वै दह्यमानो हि मन्युना ।
वीक्षाञ्चक्रे महाबाहुस्तद् वनं घोरदर्शनम् ॥ ३४ ॥

क्रोधसे जलते रहनेके कारण नींद उसके पास फटकने नहीं पाती थी । उस महाबाहु वीरने भयंकर दिखायी देनेवाले उस वनकी ओर बारंबार दृष्टिपात किया ॥ ३४ ॥

वीक्षमाणो वनोद्देशं नानासत्त्वैर्निषेवितम् ।
अपश्यत महाबाहुर्न्यग्रोधं वायसैर्युतम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंसे सेवित वनस्थलीका निरीक्षण करते हुए महाबाहु अश्वत्थामाने कौओंसे भरे हुए वटवृक्षपर दृष्टिपात किया ॥ ३५ ॥

तत्र काकसहस्राणि तां निशां पर्यणामयन् ।
सुखं स्वपन्ति कौरव्य पृथक् पृथगुपाश्रयाः ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन ! उस वृक्षपर सहस्रों कौए रातमें बसेरा ले रहे थे । वे पृथक्-पृथक् घोंसलोंका आश्रय लेकर सुखकी नींद सो रहे थे ॥ ३६ ॥

सुप्तेषु तेषु काकेषु विस्रब्धेषु समन्ततः ।
सोऽपश्यत् सहसा यान्तमुलूकं घोरदर्शनम् ॥ ३७ ॥

उन कौओंके सब ओर निर्भय होकर सो जानेपर अश्वत्थामाने देखा कि सहसा एक भयानक उल्लू उधर आ निकला॥

महास्वनं महाकायं हर्यक्षं बभ्रुपिङ्गलम् ।
सुदीर्घघोणानखरं सुपर्णमिव वेगितम् ॥ ३८ ॥

उसकी बोली बड़ी भयंकर थी । डील-डौल भी बड़ा था । आँखें काले रंगकी थीं, उसका शरीर भूरा और पिङ्गलवर्णका था । उसकी चोंच और पंजे बहुत बड़े थे और वह गरुड़के समान वेगशाली जान पड़ता था ॥ ३८ ॥

सोऽथ शब्दं मृदुं कृत्वा लीयमान इवाण्डजः ।
न्यग्रोधस्य ततः शाखां प्रार्थयामास भारत ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन ! वह पक्षी कोमल बोली बोलकर छिपता हुआ-सा बरगदकी उस शाखापर आनेकी इच्छा करने लगा॥

संनिपत्य तु शाखायां न्यग्रोधस्य विहङ्गमः ।
सुप्ताञ्जघान सुबहून् वायसान् वायसान्तकः ॥ ४० ॥

कौओंके लिये कालरूपधारी उस विहङ्गमने वटवृक्षकी उस शाखापर बड़े वेगसे आक्रमण किया और सोये हुए बहुत-से कौओंको मार डाला ॥ ४० ॥

केषांचिदच्छिनत् पक्षाञ्शिरांसि च चकर्त ह ।
चरणांश्चैव केषांचिद् बभञ्ज चरणायुधः ॥ ४१ ॥

उसने अपने पंजोंसे ही अस्त्रका काम लेकर किन्हीं कौओंके पंख नोच डाले, किन्हींके सिर काट लिये और किन्हींके पैर तोड़ डाले ॥ ४१ ॥

क्षणेनाहन् स बलवान् येऽस्य दृष्टिपथे स्थिताः ।
तेषां शरीरावयवैः शरीरैश्च विशाम्पते ॥ ४२ ॥
न्यग्रोधमण्डलं सर्वं संछन्नं सर्वतोऽभवत् ।

प्रजानाथ ! उस बलवान् उल्लूने, जो-जो कौए उसकी दृष्टिमें आ गये, उन सबको क्षणभरमें मार डाला । इससे वह सारा वटवृक्ष कौओंके शरीरों तथा उनके विभिन्न अवयवोंद्वारा सब ओरसे आच्छादित हो गया ॥ ४२½ ॥

तांस्तु हत्वा ततः काकान् कौशिको मुदितोऽभवत् ॥
प्रतिकृत्य यथाकामं शत्रूणां शत्रुसूदनः ।

वह शत्रुओंका संहार करनेवाला उलूक उन कौओंका वध करके अपने शत्रुओंसे इच्छानुसार भरपूर बदला लेकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ४३½ ॥

तद् दृष्ट्वा सोपधं कर्म कौशिकेन कृतं निशि ॥ ४४ ॥
तद्भावकृतसंकल्पो द्रौणिरेकोऽन्वचिन्तयत् ।

रात्रिमें उल्लूके द्वारा किये गये उस कपटपूर्ण क्रूर कर्मको देखकर स्वयं भी वैसा ही करनेका संकल्प लेकर अश्वत्थामा अकेला ही विचार करने लगा—॥ ४४½ ॥

उपदेशः कृतोऽनेन पक्षिणा मम संयुगे ॥ ४५ ॥
शत्रूणां क्षपणे युक्तः प्राप्तः कालश्च मे मतः ।

'इस पक्षीने युद्धमें क्या करना चाहिये, इसका उपदेश मुझे दे दिया । मैं समझता हूँ कि मेरे लिये इसी प्रकार शत्रुओंके संहार करनेका समय प्राप्त हुआ है ॥ ४५½ ॥

नाद्य शक्या मया हन्तुं पाण्डवा जितकाशिनः ॥ ४६ ॥
बलवन्तः कृतोत्साहाः प्राप्तलक्ष्याः प्रहारिणः ।

'पाण्डव इस समय विजयसे उल्लसित हो रहे हैं। वे बलवान्, उत्साही और प्रहार करनेमें कुशल हैं। उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है। ऐसी अवस्थामें आज मैं अपनी शक्तिसे उनका वध नहीं कर सकता ॥ ४६½ ॥

राज्ञः सकाशात् तेषां तु प्रतिज्ञातो वधो मया ॥ ४७ ॥
पतङ्गाग्निसमां वृत्तिमास्थायात्मविनाशिनीम् ।
न्यायतो युध्यमानस्य प्राणत्यागो न संशयः ॥ ४८ ॥

'इधर मैंने राजा दुर्योधनके समीप पाण्डवोंके वधकी प्रतिज्ञा कर ली है। परंतु यह कार्य वैसा ही है, जैसा पतिंगोंका आगमें कूद पड़ना। मैंने जिस वृत्तिका आश्रय लेकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा की है, वह मेरा ही विनाश करनेवाली है। इसमें संदेह नहीं कि यदि मैं न्यायके अनुसार युद्ध करूँगा तो मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा ॥ ४७-४८ ॥

छद्मना च भवेत् सिद्धिः शत्रूणां च क्षयो महान् ।
तत्र संशयितादर्थाद् योऽर्थो निःसंशयो भवेत्॥ ४९ ॥
तं जना बहु मन्यन्ते ये च शास्त्रविशारदाः ।

'यदि छलसे काम लूँ तो अवश्य मेरे अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि हो सकती है। शत्रुओंका महान् संहार भी तभी सम्भव होगा। जहाँ सिद्धि मिलनेमें संदेह हो, उसकी अपेक्षा उस उपायका अवलम्बन करना उत्तम है, जिसमें संशयके लिये स्थान न हो। साधारण लोग तथा शास्त्रज्ञ पुरुष भी उसीका अधिक आदर करते हैं ॥ ४९½ ॥

यच्चाप्यत्र भवेद् वाच्यं गर्हितं लोकनिन्दितम्॥ ५० ॥
कर्तव्यं तन्मनुष्येण क्षत्रधर्मेण वर्तता ।

'इस लोकमें जिस कार्यको गर्हणीय समझा जाता हो, जिसकी सब लोग भरपेट निन्दा करते हों, वह भी क्षत्रियधर्मके अनुसार बर्ताव करनेवाले मनुष्यके लिये कर्तव्य माना गया है ॥ ५०½ ॥

निन्दितानि च सर्वाणि कुत्सितानि पदे पदे ॥ ५१ ॥
सोपधानि कृतान्येव पाण्डवैरकृतात्मभिः ।

'अपवित्र अन्तःकरणवाले पाण्डवोंने भी तो पद-पदपर ऐसे कार्य किये हैं, जो सब-के-सब निन्दा और घृणाके योग्य रहे हैं। उनके द्वारा भी अनेक कपटपूर्ण कर्म किये ही गये हैं॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीता श्रूयन्ते धर्मचिन्तकैः ॥ ५२ ॥
श्लोका न्यायमवेक्षद्भिस्तत्त्वार्थास्तत्त्वदर्शिभिः ।

'इस विषयमें न्यायपर दृष्टि रखनेवाले धर्मचिन्तक एवं तत्त्वदर्शी पुरुषोंने प्राचीन कालमें ऐसे श्लोकोंका गान किया है, जो तात्त्विक अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं। वे श्लोक इस प्रकार सुने जाते हैं—॥ ५२½ ॥

परिश्रान्ते विदीर्णे वा भुञ्जाने वापि शत्रुभिः ॥ ५३ ॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रहर्तव्यं रिपोर्बलम् ।

''शत्रुओंकी सेना यदि बहुत थक गयी हो, तितर-बितर हो गयी हो, भोजन कर रही हो, कहीं जा रही हो अथवा किसी स्थानविशेषमें प्रवेश कर रही हो तो भी विपक्षियोंको उसपर प्रहार करना ही चाहिये ॥ ५३½ ॥

निद्रार्तमर्धरात्रे च तथा नष्टप्रणायकम् ॥ ५४ ॥
भिन्नयोधं बलं यच्च द्विधा युक्तं च यद् भवेत् ।

''जो सेना आधी रातके समय नींदमें अचेत पड़ी हो, जिसका नायक नष्ट हो गया हो, जिसके योद्धाओंमें फूट हो गयी हो और जो दुविधेमें पड़ गयी हो, उसपर भी शत्रुको अवश्य प्रहार करना चाहिये'' ॥ ५४½ ॥

इत्येवं निश्चयं चक्रे सुप्तानां निशि मारणे ॥ ५५ ॥
पाण्डूनां सह पञ्चालैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।

इस प्रकार विचार करके प्रतापी द्रोणपुत्रने रातको सोते समय पाञ्चालोंसहित पाण्डवोंको मार डालनेका निश्चय किया ॥

स क्रूरां मतिमास्थाय विनिश्चित्य मुहुर्मुहुः ॥ ५६ ॥
सुप्तौ प्राबोधयत् तौ तु मातुलं भोजमेव च ।

क्रूरतापूर्ण बुद्धिका आश्रय ले बारंबार उपर्युक्त निश्चय करके अश्वत्थामाने सोये हुए अपने मामा कृपाचार्यको तथा भोजवंशी कृतवर्माको भी जगाया ॥ ५६½ ॥

तौ प्रबुद्धौ महात्मानौ कृपभोजौ महाबलौ ॥ ५७ ॥
नोत्तरं प्रतिपद्येतां तत्र युक्तं ह्रिया वृतौ ।

जागनेपर महामनस्वी महाबली कृपाचार्य और कृतवर्माने जब अश्वत्थामाका निश्चय सुना, तब वे लज्जासे गड़ गये और उन्हें कोई उचित उत्तर नहीं सूझा ॥ ५७½ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पविह्वलमब्रवीत् ॥ ५८ ॥
हतो दुर्योधनो राजा एकवीरो महाबलः ।
यस्यार्थे वैरमस्माभिरासक्तं पाण्डवैः सह ॥ ५९ ॥

तब अश्वत्थामा दो घड़ीतक चिन्तामग्न रहकर अश्रुगद्गद वाणीमें इस प्रकार बोला—'संसारका अद्वितीय वीर महाबली राजा दुर्योधन मारा गया, जिसके लिये हमलोगोंने पाण्डवोंके साथ वैर बाँध रक्खा था ॥ ५८-५९ ॥

एकाकी बहुभिः क्षुद्रैराहवे शुद्धविक्रमः ।
पातितो भीमसेनेन एकादशचमूपतिः ॥ ६० ॥

'जो किसी दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका स्वामी था, वह राजा दुर्योधन विशुद्ध पराक्रमका परिचय देता हुआ अकेला युद्ध कर रहा था; किंतु बहुत-से नीच पुरुषोंने मिलकर युद्धस्थलमें उसे भीमसेनके द्वारा धराशायी करा दिया ॥

वृकोदरेण क्षुद्रेण सुनृशंसमिदं कृतम् ।
मूर्धाभिषिक्तस्य शिरः पादेन परिमृद्नता ॥ ६१ ॥

'एक मूर्धाभिषिक्त सम्राट्के मस्तकपर लात मारते हुए नीच भीमसेनने यह बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कार्य कर डाला है ॥

विनर्दन्ति च पञ्चालाः क्ष्वेलन्ति च हसन्ति च ।
धमन्ति शङ्खाञ्शतशो हृष्टा घ्नन्ति च दुन्दुभीन्॥ ६२ ॥

'पाञ्चालयोद्धा हर्षमें भरकर सिंहनाद करते, हल्ला मचाते, हँसते, सैकड़ों शङ्ख बजाते और डंके पीटते हैं ॥ ६२ ॥

वादित्रघोषस्तुमुलो विमिश्रः शङ्खनिःस्वनैः ।
अनिलेनेरितो घोरो दिशः पूरयतीव ह ॥ ६३ ॥

'शङ्खध्वनिसे मिला हुआ नाना प्रकारके वाद्योंका गम्भीर एवं भयंकर घोष वायुसे प्रेरित हो सम्पूर्ण दिशाओंको भरता-सा जान पड़ता है ॥ ६३ ॥

अश्वानां हेषमाणानां गजानां चैव बृंहताम् ।
सिंहनादश्च शूराणां श्रूयते सुमहानयम् ॥ ६४ ॥

'हींसते हुए घोड़ों और चिग्घाड़ते हुए हाथियोंकी आवाज-के साथ शूरवीरोंका यह महान् सिंहनाद सुनायी दे रहा है ॥

दिशं प्राचीं समाश्रित्य हृष्टानां गच्छतां भृशम् ।
रथनेमिस्वनाश्चैव श्रूयन्ते लोमहर्षणाः ॥ ६५ ॥

'हर्षमें भरकर पूर्व दिशाकी ओर वेगपूर्वक जाते हुए पाण्डव-योद्धाओंके रथोंके पहियोंके ये रोमाञ्चकारी शब्द कानोंमें पड़ रहे हैं ॥ ६५ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां यदिदं कदनं कृतम् ।
वयमेव त्रयः शिष्टा अस्मिन् महति वैशसे ॥ ६६ ॥

'हाय ! पाण्डवोंने धृतराष्ट्रके पुत्रों और सैनिकोंका जो यह विनाश किया है, इस महान् संहारसे हम तीन ही बच पाये हैं ॥ ६६ ॥

केचिन्नागशतप्राणाः केचित् सर्वास्त्रकोविदाः ।
निहताः पाण्डवेयैस्ते मन्ये कालस्य पर्ययम् ॥ ६७ ॥

'कितने ही वीर सौ-सौ हाथियोंके बराबर बलशाली थे और कितने ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी संचालन-कलामें कुशल थे; किंतु पाण्डवोंने उन सबको मार गिराया । मैं इसे समय-का ही फेर समझता हूँ ॥ ६७ ॥

एवमेतेन भाव्यं हि नूनं कार्येण तत्त्वतः ।
यथा ह्यस्येदृशी निष्ठा कृतकार्येऽपि दुष्करे ॥ ६८ ॥

'निश्चय ही इस कार्यसे ठीक ऐसा ही परिणाम होनेवाला था । हमलोगोंके द्वारा अत्यन्त दुष्कर कार्य किया गया तो भी इस युद्धका अन्तिम फल इस रूपमें प्रकट हुआ ॥६८॥

भवतोस्तु यदि प्रज्ञा न मोहादपनीयते ।
व्यापन्नेऽस्मिन् महत्यर्थे यन्नः श्रेयस्तदुच्यताम् ॥ ६९॥

'यदि आप दोनोंकी बुद्धि मोहसे नष्ट न हो गयी हो तो इस महान् संकटके समय अपने बिगड़े हुए कार्यको बनाने-के उद्देश्यसे हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ होगा? यह बताइये'॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

कृपाचार्यका अश्वत्थामाको दैवकी प्रबलता बताते हुए कर्तव्यके विषयमें सत्पुरुषोंसे सलाह लेनेकी प्रेरणा देना

कृप उवाच

श्रुतं ते वचनं सर्वं यद् यदुक्तं त्वया विभो ।
ममापि तु वचः किंचिच्छृणुष्वाद्य महाभुज ॥ १ ॥

तब कृपाचार्यने कहा—शक्तिशाली महाबाहो ! तुमने जो-जो बात कही है, वह सब मैंने सुन ली । अब कुछ मेरी भी बात सुनो ॥ १ ॥

आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः ।
दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥ २ ॥

सभी मनुष्य प्रारब्ध और पुरुषार्थ दो प्रकारके कर्मोंसे बँधे हुए हैं । इन दोके सिवा दूसरा कुछ नहीं है ॥ २ ॥

न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम ।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धस्तु योगतः ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामन् ! केवल दैव या प्रारब्धसे अथवा अकेले पुरुषार्थसे भी कार्योंकी सिद्धि नहीं होती है । दोनोंके संयोगसे ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सर्वार्था निबद्धा अधमोत्तमाः ।
प्रवृत्ताश्चैव दृश्यन्ते निवृत्ताश्चैव सर्वशः ॥ ४ ॥

उन दोनोंसे ही उत्तम-अधम सभी कार्य बँधे हुए हैं । उन्हींसे प्रवृत्ति और निवृत्ति-सम्बन्धी कार्य होते देखे जाते हैं ॥ ४ ॥

पर्जन्यः पर्वते वर्षन् किन्नु साधयते फलम् ।
कृष्टे क्षेत्रे तथा वर्षन् किन्न साधयते फलम् ॥ ५ ॥

बादल पर्वतपर वर्षा करके किस फलकी सिद्धि करता है ? वही यदि जोते हुए खेतमें वर्षा करे तो वह कौन-सा फल नहीं उत्पन्न कर सकता ? ॥ ५ ॥

उत्थानं चाप्यदैवस्य ह्यनुत्थानं च दैवतम् ।
व्यर्थं भवति सर्वत्र पूर्वस्तत्र विनिश्चयः ॥ ६ ॥

दैवरहित पुरुषका पुरुषार्थ व्यर्थ है और पुरुषार्थशून्य दैव भी व्यर्थ हो जाता है । सर्वत्र ये दो ही पक्ष उठाये जाते हैं । इन दोनोंमें पहला पक्ष ही सिद्धान्तभूत एवं श्रेष्ठ है (अर्थात् दैवके सहयोगके बिना पुरुषार्थ नहीं काम देता है)॥

सुवृष्टे च यथा देवे सम्यक् क्षेत्रे च कर्षिते ।
बीजं महागुणं भूयात् तथा सिद्धिर्हि मानुषी ॥ ७ ॥

जैसे मेघने अच्छी तरह वर्षा की हो और खेतको भी भलीभाँति जोता गया हो, तब उसमें बोया हुआ बीज अधिक लाभदायक हो सकता है । इसी प्रकार मनुष्योंकी सारी सिद्धि दैव और पुरुषार्थके सहयोगपर ही अवलम्बित है ॥ ७ ॥

तयोर्दैवं विनिश्चित्य स्वयं चैव प्रवर्तते ।
प्राज्ञाः पुरुषकारेषु वर्तन्ते दाक्ष्यमाश्रिताः ॥ ८ ॥

इन दोनोंमें दैव बलवान् है । वह स्वयं ही निश्चय करके पुरुषार्थकी अपेक्षा किये बिना ही फल-साधनमें प्रवृत्त हो जाता है, तथापि विद्वान् पुरुष कुशलताका आश्रय ले पुरुषार्थ-में ही प्रवृत्त होते हैं ॥ ८ ॥

ताभ्यां सर्वे हि कार्यार्था मनुष्याणां नरर्षभ ।
विचेष्टन्तः स्म दृश्यन्ते निवृत्तास्तु तथैव च ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! मनुष्योंके प्रवृत्ति और निवृत्ति-सम्बन्धी सारे कार्य दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही सिद्ध होते देखे जाते हैं ॥

कृतः पुरुषकारश्च सोऽपि दैवेन सिध्यति ।
तथास्य कर्मणः कर्तुरभिनिर्वर्तते फलम् ॥ १० ॥

किया हुआ पुरुषार्थ भी दैवके सहयोगसे ही सफल होता है तथा दैवकी अनुकूलतासे ही कर्ताको उसके कर्मका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

उत्थानं च मनुष्याणां दक्षाणां दैववर्जितम् ।
अफलं दृश्यते लोके सम्यगप्युपपादितम् ॥ ११ ॥

चतुर मनुष्योंद्वारा अच्छी तरह सम्पादित किया हुआ पुरुषार्थ भी यदि दैवके सहयोगसे वञ्चित है तो वह संसारमें निष्फल होता दिखायी देता है ॥ ११ ॥

तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः ।
उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥ १२ ॥

मनुष्योंमें जो आलसी और मनपर काबू न रखनेवाले होते हैं, वे पुरुषार्थकी निन्दा करते हैं । परंतु विद्वानोंको यह बात अच्छी नहीं लगती ॥ १२ ॥

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि ।
अकृत्वा च पुनर्दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम् ॥ १३ ॥

प्रायः किया हुआ कर्म इस भूतलपर कभी निष्फल होता नहीं देखा जाता है; परंतु कर्म न करनेसे दुःखकी प्राप्ति ही देखनेमें आती है; अतः कर्मको महान् फलदायक समझना चाहिये ॥ १३ ॥

चेष्टामकुर्वँल्लँभते यदि किंचिद् यदृच्छया ।
यो वा न लभते कृत्वा दुर्दशौ तावुभावपि ॥ १४ ॥

यदि कोई पुरुषार्थ न करके दैवेच्छासे ही कुछ पा जाता है अथवा जो पुरुषार्थ करके भी कुछ नहीं पाता, इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका मिलना बहुत कठिन है ॥ १४ ॥

शक्नोति जीवितुं दक्षो नालसः सुखमेधते ।
दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन् दक्षाः प्रायो हितैषिणः ॥ १५ ॥

पुरुषार्थमें लगा हुआ दक्ष पुरुष सुखसे जीवन-निर्वाह कर सकता है; परंतु आलसी मनुष्य कभी सुखी नहीं होता है । इस जीव-जगत्में प्रायः तत्परतापूर्वक कर्म करनेवाले ही अपना हित साधन करते देखे जाते हैं ॥ १५ ॥

यदि दक्षः समारम्भात् कर्मणो नाश्नुते फलम् ।
नास्य वाच्यं भवेत् किंचिल्लब्धव्यं वाधिगच्छति ॥ १६ ॥

यदि कार्य-दक्ष मनुष्य कर्मका आरम्भ करके भी उसका कोई फल नहीं पाता है तो उसके लिये उसकी कोई निन्दा नहीं की जाती अथवा वह अपने प्राप्तव्य लक्ष्यको पा ही लेता है ॥ १६ ॥

अकृत्वा कर्म यो लोके फलं विन्दति धिष्ठितः ।
स तु वक्तव्यतां याति द्वेष्यो भवति भूयशः ॥ १७ ॥

परंतु जो इस जगत्में कोई काम न करके बैठा-बैठा फल भोगता है; वह प्रायः निन्दित होता है और दूसरोंके द्वेषका पात्र बन जाता है ॥ १७ ॥

एवमेतदनादृत्य वर्तते यस्त्वतोऽन्यथा ।
स करोत्यात्मनोऽनर्थानेष बुद्धिमतां नयः ॥ १८ ॥

इस प्रकार जो पुरुष इस मतका अनादर करके इसके विपरीत बर्ताव करता है अर्थात् जो दैव और पुरुषार्थ दोनों-के सहयोगको न मानकर केवल एकके भरोसे ही बैठा रहता है, वह अपना ही अनर्थ करता है, यही बुद्धिमानोंकी नीति है ॥ १८ ॥

हीनं पुरुषकारेण यदि दैवेन वा पुनः ।
कारणाभ्यामथैताभ्यामुत्थानमफलं भवेत् ॥ १९ ॥

पुरुषार्थहीन दैव अथवा दैवहीन पुरुषार्थ—इन दो ही कारणोंसे मनुष्यका उद्योग निष्फल होता है ॥ १९ ॥

हीनं पुरुषकारेण कर्म त्विह न सिद्ध्यति ।
दैवतेभ्यो नमस्कृत्य यस्त्वर्थान् सम्यगीहते ॥ २० ॥
दक्षो दाक्षिण्यसम्पन्नो न स मोघैर्विहन्यते ।

पुरुषार्थके बिना तो यहाँ कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । जो दैवको मस्तक झुकाकर सभी कार्योंके लिये भली-भाँति चेष्टा करता है, वह दक्ष एवं उदार पुरुष असफलताओं-का शिकार नहीं होता ॥ २०½ ॥

सम्यगीहा पुनरियं यो वृद्धानुपसेवते ॥ २१ ॥
आपृच्छति च यच्छ्रेयः करोति च हितं वचः ।

यह भलीभाँति चेष्टा उसीकी मानी जाती है जो बड़े-बूढ़ों-की सेवा करता है, उनसे अपने कल्याणकी बात पूछता है और उनके बताये हुए हितकारक वचनोंका पालन करता है ॥ २१½ ॥

उत्थायोत्थाय हि सदा प्रष्टव्या वृद्धसम्मताः ॥ २२ ॥
ते स्म योगे परं मूलं तन्मूला सिद्धिरुच्यते ।

प्रतिदिन सबेरे उठ-उठकर वृद्धजनोंद्वारा सम्मानित पुरुषोंसे अपने हितकी बात पूछनी चाहिये; क्योंकि वे अप्राप्तकी प्राप्ति करानेवाले उपायके मुख्य हेतु हैं । उनका बताया हुआ वह उपाय ही सिद्धिका मूल कारण कहा जाता है ॥ २२½ ॥

वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत् ॥ २३ ॥
उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ।

जो वृद्ध पुरुषोंका वचन सुनकर उसके अनुसार कार्य आरम्भ करता है, वह उस कार्यका उत्तम फल शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ २३½ ॥

रागात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् योऽर्थानीहति मानवः ॥ २४ ॥
अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ।

अपने मनको वशमें न रखते हुए दूसरोंकी अवहेलना करनेवाला जो मानव राग, क्रोध, भय और लोभसे किसी कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा करता है, वह बहुत जल्दी अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २४½ ॥

सोऽयं दुर्योधनेनार्थो लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥ २५ ॥

असमर्थ्य समारब्धो मूढत्वादविचिन्तितः ।
हितबुद्धीननादृत्य सम्मन्त्र्यासाधुभिः सह ॥ २६ ॥
वार्यमाणोऽकरोद् वैरं पाण्डवैर्गुणवत्तरैः ।

दुर्योधन लोभी और अदूरदर्शी था। उसने मूर्खतावश न तो किसीका समर्थन प्राप्त किया और न स्वयं ही अधिक सोच-विचार किया। उसने अपना हित चाहनेवाले लोगोंका अनादर करके दुष्टोंके साथ सलाह की और सबके मना करनेपर भी अधिक गुणवान् पाण्डवोंके साथ वैर बाँध लिया ॥ २५-२६½ ॥

पूर्वमप्यतिदुःशीलो न धैर्यं कर्तुमर्हति ॥ २७ ॥
तपत्यर्थे विपन्ने हि मित्राणां न कृतं वचः ।

पहले भी वह बड़े दुष्ट स्वभावका था। धैर्य रखना तो वह जानता ही नहीं था। उसने मित्रोंकी बात नहीं मानी; इसलिये अब काम बिगड़ जानेपर पश्चात्ताप करता है।२७½।

अनुवर्तामहे यत्तु तं वयं पापपूरुषम् ॥ २८ ॥
अस्मानप्यनयस्तस्मात् प्राप्तोऽयं दारुणो महान् ।

हमलोग जो उस पापीका अनुसरण करते हैं, इसीलिये हमें भी यह अत्यन्त दारुण अनर्थ प्राप्त हुआ है ॥ २८½ ॥

अनेन तु ममाद्यापि व्यसनेनोपतापिता ॥ २९ ॥
बुद्धिश्चिन्तयते किंचित् स्वं श्रेयो नावबुद्ध्यते ।

इस संकटसे सर्वथा संतप्त होनेके कारण मेरी बुद्धि आज बहुत सोचने-विचारनेपर भी अपने लिये किसी हितकर कार्यका निर्णय नहीं कर पाती है ॥ २९½ ॥

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ॥ ३० ॥
तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्र श्रेयश्च पश्यति ।

जब मनुष्य मोहके वशीभूत हो हिताहितका निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाय, तब उसे अपने सुहृदोंसे सलाह लेनी चाहिये। वहीं उसे बुद्धि और विनयकी प्राप्ति हो सकती है और वहीं उसे अपने हितका साधन भी दिखायी देता है ३०½

ततोऽस्य मूलं कार्याणां बुद्ध्या निश्चित्य वै बुधाः॥३१॥
तेऽत्र पृष्टा यथा ब्रूयुस्तत् कर्तव्यं तथा भवेत् ।

पूछनेपर वे विद्वान् हितैषी अपनी बुद्धिसे उसके कार्योंके मूल कारणका निश्चय करके जैसी सलाह दें, वैसा ही उसे करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रं च गान्धारीं च समेत्य ह ॥ ३२ ॥
उपपृच्छामहे गत्वा विदुरं च महामतिम् ।

अतः हमलोग राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी देवी तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीके पास चलकर पूछें ॥ ३२½ ॥

ते पृष्टास्तु वदेयुर्यच्छ्रेयो नः समनन्तरम् ॥ ३३ ॥
तदस्माभिः पुनः कार्यमिति मे नैष्ठिकी मतिः ।

हमारे पूछनेपर वे लोग अब हमारे लिये जो श्रेयस्कर कार्य बतावें, वही हमें करना चाहिये; मेरी बुद्धिका तो यही दृढ़ निश्चय है ॥ ३३½ ॥

अनारम्भात् तु कार्याणां नार्थः सम्पद्यते क्वचित्॥३४॥
कृते पुरुषकारे तु येषां कार्यं न सिद्ध्यति ।
दैवेनोपहतास्ते तु नात्र कार्या विचारणा ॥ ३५ ॥

कार्यको आरम्भ न करनेसे कहीं कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है; परंतु पुरुषार्थ करनेपर भी जिनका कार्य सिद्ध नहीं होता है, वे निश्चय ही दैवके मारे हुए हैं। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिकृपसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामा और कृपाचार्यका संवादविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अश्वत्थामाका कृपाचार्य और कृतवर्माको उत्तर देते हुए उन्हें अपना क्रूरतापूर्ण निश्चय बताना

संजय उवाच

कृपस्य वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं शुभम् ।
अश्वत्थामा महाराज दुःखशोकसमन्वितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! कृपाचार्यका वचन धर्म और अर्थसे युक्त तथा मङ्गलकारी था। उसे सुनकर अश्वत्थामा दुःख और शोकमें डूब गया ॥ १ ॥

दह्यमानस्तु शोकेन प्रदीप्तेनाग्निना यथा ।
क्रूरं मनस्ततः कृत्वा तावुभौ प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

उसके हृदयमें शोककी आग प्रज्वलित हो उठी। वह उससे जलने लगा और अपने मनको कठोर बनाकर कृपाचार्य और कृतवर्मा दोनोंसे बोला— ॥ २ ॥

पुरुषे पुरुषे बुद्धिर्या या भवति शोभना ।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया ॥ ३ ॥

'मामाजी! प्रत्येक मनुष्यमें जो पृथक्-पृथक् बुद्धि होती है, वही उसे सुन्दर जान पड़ती है। अपनी-अपनी उसी बुद्धिसे वे सब लोग अलग-अलग संतुष्ट रहते हैं ॥ ३ ॥

सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरम् ।
सर्वस्यात्मा बहुमतः सर्वात्मानं प्रशंसति ॥ ४ ॥

'सभी लोग अपने आपको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं। सबको अपनी ही बुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है और सब लोग अपनी ही बुद्धिकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

सर्वस्य हि स्वका प्रज्ञा साधुवादे प्रतिष्ठिता ।
परबुद्धिं च निन्दन्ति स्वां प्रशंसन्ति चासकृत् ॥ ५ ॥

'सबकी दृष्टिमें अपनी ही बुद्धि धन्यवाद पानेके योग्य ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित जान पड़ती है। सब लोग दूसरोंकी बुद्धिकी निन्दा और अपनी बुद्धिकी बारंबार सराहना करते हैं ॥ ५ ॥

कारणान्तरयोगेन योगे येषां समागतिः ।

अन्योन्येन च तुष्यन्ति बहु मन्यन्ति चासकृत् ॥ ६ ॥

'यदि किन्हीं दूसरे कारणोंके संयोगसे एक समुदायमें जिनके-जिनके विचार परस्पर मिल जाते हैं, वे एक दूसरेसे संतुष्ट होते हैं और बारंबार एक दूसरेके प्रति अधिक सम्मान प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

तस्यैव तु मनुष्यस्य सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
कालयोगे विपर्यासं प्राप्यान्योन्यं विपद्यते ॥ ७ ॥

'किंतु समयके फेरसे उसी मनुष्यकी वही-वही बुद्धि विपरीत होकर परस्पर विरुद्ध हो जाती है ॥ ७ ॥

विचित्रत्वात् तु चित्तानां मनुष्याणां विशेषतः ।
चित्तवैक्लव्यमासाद्य सा सा बुद्धिः प्रजायते ॥ ८ ॥

'सभी प्राणियोंके विशेषतः मनुष्योंके चित्त एक दूसरेसे विलक्षण तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं; अतः विभिन्न घटनाओंके कारण जो चित्तमें व्याकुलता होती है, उसका आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धि पैदा हो जाती है ॥

यथा हि वैद्यः कुशलो ज्ञात्वा व्याधिं यथाविधि ।
भैषज्यं कुरुते योगात् प्रशमार्थमिति प्रभो ॥ ९ ॥
एवं कार्यस्य योगार्थं बुद्धिं कुर्वन्ति मानवाः ।
प्रज्ञया हि स्वया युक्तास्तां च निन्दन्ति मानवाः ॥ १० ॥

'प्रभो! जैसे कुशल वैद्य विधिपूर्वक रोगकी जानकारी प्राप्त करके उसकी शान्तिके लिये योग्यतानुसार औषध प्रदान करता है, इसी प्रकार मनुष्य कार्यकी सिद्धिके लिये अपनी विवेकशक्तिसे विचार करके किसी निश्चयात्मक बुद्धिका आश्रय लेते हैं; परंतु दूसरे लोग उसकी निन्दा करने लगते हैं ९-१०

अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्ध्या भवति मोहितः ।
मध्येऽन्यया जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिम् ॥ ११ ॥

'मनुष्य जवानीमें किसी और ही प्रकारकी बुद्धिसे मोहित होता है, मध्यम अवस्थामें दूसरी ही बुद्धिसे वह प्रभावित होता है; किंतु वृद्धावस्थामें उसे अन्य प्रकारकी ही बुद्धि अच्छी लगने लगती है ॥ ११ ॥

व्यसनं वा महाघोरं समृद्धिं चापि तादृशीम् ।
अवाप्य पुरुषो भोज कुरुते बुद्धिवैकृतम् ॥ १२ ॥

'भोज[1]! मनुष्य जब किसी अत्यन्त घोर संकटमें पड़ जाता है अथवा उसे किसी महान् ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो जाती है, तब उस संकट और समृद्धिको पाकर उसकी बुद्धिमें क्रमशः शोक एवं हर्षरूपी विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १२ ॥

एकस्मिन्नेव पुरुषे सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
भवत्यकृतधर्मत्वात् सा तस्यैव न रोचते ॥ १३ ॥

'उस विकारके कारण एक ही पुरुषमें उसी समय भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धि (विचारधारा) उत्पन्न हो जाती है; परंतु अवसरके अनुरूप न होनेपर उसकी अपनी ही बुद्धि उसीके लिये अरुचिकर हो जाती है ॥ १३ ॥

निश्चित्य तु यथाप्रज्ञं यां मतिं साधु पश्यति ।
तया प्रकुरुते भावं सा तस्योद्योगकारिका ॥ १४ ॥

'मनुष्य अपने विवेकके अनुसार किसी निश्चयपर पहुँचकर जिस बुद्धिको अच्छा समझता है, उसीके द्वारा कार्य-सिद्धिकी चेष्टा करता है। वही बुद्धि उसके उद्योगको सफल बनानेवाली होती है ॥ १४ ॥

सर्वो हि पुरुषो भोज साध्वेतदिति निश्चितः ।
कर्तुमारभते प्रीतो मारणादिषु कर्मसु ॥ १५ ॥

'कृतवर्मन्! सभी मनुष्य 'यह अच्छा कार्य है' ऐसा निश्चय करके प्रसन्नतापूर्वक कार्य आरम्भ करते हैं और हिंसा आदि कर्मोंमें भी लग जाते हैं ॥ १५ ॥

सर्वे हि बुद्धिमाज्ञाय प्रज्ञां वापि स्वकां नराः ।
चेष्टन्ते विविधां चेष्टां हितमित्येव जानते ॥ १६ ॥

'सब लोग अपनी ही बुद्धि अथवा विवेकका आश्रय लेकर तरह-तरहकी चेष्टाएँ करते हैं और उन्हें अपने लिये हितकर ही समझते हैं ॥ १६ ॥

उपजाता व्यसनजा येयमद्य मतिर्मम ।
युवयोस्तां प्रवक्ष्यामि मम शोकविनाशिनीम् ॥ १७ ॥

'आज संकटमें पड़नेसे मेरे अंदर जो बुद्धि पैदा हुई है, उसे मैं आप दोनोंको बता रहा हूँ। वह मेरे शोकका विनाश करनेवाली है ॥ १७ ॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च ।
वर्णे वर्णे समाधत्ते ह्येकैकं गुणभाग् गुणम् ॥ १८ ॥

'गुणवान् प्रजापति ब्रह्माजी प्रजाओंकी सृष्टि करके उनके लिये कर्मका विधान करते हैं और प्रत्येक वर्णमें एक-एक विशेष गुणकी स्थापना कर देते हैं ॥ १८ ॥

ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम् ।
दाक्ष्यं वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम् ॥ १९ ॥

'वे ब्राह्मणमें सर्वोत्तम वेद, क्षत्रियमें उत्तम तेज, वैश्यमें व्यापारकुशलता तथा शूद्रमें सब वर्णोंके अनुकूल चलनेकी वृत्तिको स्थापित कर देते हैं ॥ १९ ॥

अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः ।
अदक्षो निन्द्यते वैश्यः शूद्रश्च प्रतिकूलवान् ॥ २० ॥

'मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला ब्राह्मण अच्छा नहीं माना जाता। तेजोहीन क्षत्रिय अधम समझा जाता है, जो व्यापारमें कुशल नहीं है, उस वैश्यकी निन्दा की जाती है और अन्य वर्णोंके प्रतिकूल चलनेवाले शूद्रको भी निन्दनीय माना जाता है ॥ २० ॥

सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते ।
मन्दभाग्यतयास्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः ॥ २१ ॥

'मैं ब्राह्मणोंके परम सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, तथापि दुर्भाग्यके कारण इस क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करता हूँ ॥ २१ ॥

क्षत्रधर्मं विदित्वाहं यदि ब्राह्मण्यमाश्रितः ।
प्रकुर्यां सुमहत् कर्म न मे तत् साधुसम्मतम् ॥ २२ ॥

'यदि क्षत्रियके धर्मको जानकर भी मैं ब्राह्मणत्वका सहारा लेकर कोई दूसरा महान् कर्म करने लगूँ तो सत्पुरुषोंके

१. भोजका अर्थ है भोजवंशी कृतवर्मा ।

समाजमें मेरे उस कार्यका सम्मान नहीं होगा ॥ २२ ॥

धारयंश्च धनुर्दिव्यं दिव्यान्यस्त्राणि चाहवे ।
पितरं निहतं दृष्ट्वा किं नु वक्ष्यामि संसदि ॥२३॥

'मैं दिव्य धनुष और दिव्य अस्त्रोंको धारण करता हूँ तो भी युद्धमें अपने पिताको अन्यायपूर्वक मारा गया देखकर यदि उसका बदला न लूँ तो वीरोंकी सभामें क्या कहूँगा ?॥

सोऽहमद्य यथाकामं क्षत्रधर्ममुपास्य तम् ।
गन्तास्मि पदवीं राज्ञः पितुश्चापि महात्मनः ॥ २४ ॥

'अतः आज मैं अपनी रुचिके अनुसार उस क्षत्रियधर्मका सहारा लेकर अपने महात्मा पिता तथा राजा दुर्योधनके पथका अनुसरण करूँगा ॥ २४ ॥

अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विश्वस्ता जितकाशिनः।
विमुक्तयुग्यकवचा हर्षेण च समन्विताः ॥ २५ ॥
जयं मत्वाऽऽत्मनश्चैव श्रान्ता व्यायामकर्शिताः।

'आज अपनी जीत हुई जान विजयसे सुशोभित होनेवाले पाञ्चाल योद्धा बड़े हर्षमें भरकर कवच उतार, जूओंमें जुते हुए घोड़ोंको खोलकर बेखटके सो रहे होंगे । वे थके तो होंगे ही, विशेष परिश्रमके कारण चूर-चूर हो गये होंगे २५½

तेषां निशि प्रसुप्तानां सुस्थानां शिबिरे स्वके ॥ २६ ॥
अवस्कन्दं करिष्यामि शिबिरस्याद्य दुष्करम् ।

'रातमें सुस्थिर चित्तसे सोये हुए उन पाञ्चालोंके अपने ही शिबिरमें घुसकर मैं उन सबका संहार कर डालूँगा । समूचे शिबिरका ऐसा विनाश करूँगा जो दूसरोंके लिये दुष्कर है ॥ २६½ ॥

तानवस्कन्द्य शिबिरे प्रेतभूतविचेतसः ॥ २७ ॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य मघवानिव दानवान् ।

'जैसे इन्द्र दानवोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शिबिरमें मुर्दोंके समान अचेत पड़े हुए पाञ्चालोंकी छातीपर चढ़कर उन्हें पराक्रमपूर्वक मार डालूँगा ॥ २७½ ॥

अद्य तान् सहितान् सर्वान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ॥२८॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य कक्षं दीप्त इवानलः ।
निहत्य चैव पञ्चालान् शान्तिं लब्धास्मि सत्तम॥२९॥

'साधुशिरोमणे ! जैसे जलती हुई आग सूखे जंगल या तिनकोंकी राशिको जला डालती है, उसी प्रकार आज मैं एक साथ सोये हुए धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाञ्चालोंपर आक्रमण करके उन्हें मौतके घाट उतार दूँगा । उनका संहार कर लेनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी ॥ २८-२९ ॥

पञ्चालेषु भविष्यामि सूदयन्नद्य संयुगे ।
पिनाकपाणिः संक्रुद्धः स्वयं रुद्रः पशुष्विव ॥ ३० ॥

'जैसे प्रलयके समय क्रोधमें भरे हुए साक्षात् पिनाकधारी रुद्र समस्त पशुओं (प्राणियों) पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार आज युद्धमें मैं पाञ्चालोंका विनाश करता हुआ उनके लिये कालरूप हो जाऊँगा ॥ ३० ॥

अद्याहं सर्वपञ्चालान् निहत्य च निकृत्य च ।
अर्दयिष्यामि संहृष्टो रणे पाण्डुसुतांस्तथा ॥ ३१ ॥

'आज मैं रणभूमिमें समस्त पाञ्चालोंको मारकर उनके टुकड़े-टुकड़े करके हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न हो पाण्डवोंको भी कुचल डालूँगा ॥ ३१ ॥

अद्याहं सर्वपञ्चालैः कृत्वा भूमिं शरीरिणीम् ।
प्रहृत्यैकैकशस्तेषु भविष्याम्यनृणः पितुः ॥ ३२ ॥

'आज समस्त पाञ्चालोंके शरीरोंसे रणभूमिको शरीरधारिणी बनाकर एक-एक पाञ्चालपर भरपूर प्रहार करके मैं अपने पिताके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३२ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य भीष्मसैन्धवयोरपि ।
गमयिष्यामि पञ्चालान् पदवीमद्य दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

'आज पाञ्चालोंको दुर्योधन, कर्ण, भीष्म तथा जयद्रथके दुर्गम मार्गपर भेजकर छोड़ूँगा ॥ ३३ ॥

अद्य पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नस्य वै निशि।
नचिरात् प्रमथिष्यामि पशोरिव शिरो बलात्॥ ३४ ॥

'आज रातमें मैं शीघ्र ही पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके सिरको पशुके मस्तककी भाँति बलपूर्वक मरोड़ डालूँगा ॥ ३४ ॥

अद्य पाञ्चालपाण्डूनां शयितानात्मजान् निशि ।
खड्गेन निशितेनाजौ प्रमथिष्यामि गौतम ॥ ३५ ॥

'गौतम ! आज रातके युद्धमें सोये हुए पाञ्चालों और पाण्डवोंके पुत्रोंको भी मैं अपनी तीखी तलवारसे टूक-टूक कर दूँगा ॥ ३५ ॥

अद्य पाञ्चालसेनां तां निहत्य निशि सौप्तिके ।
कृतकृत्यः सुखी चैव भविष्यामि महामते ॥ ३६ ॥

'महामते ! आज रातको सोते समय उस पाञ्चालसेनाका वध करके मैं कृतकृत्य एवं सुखी हो जाऊँगा' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कृपाचार्यका कल प्रातःकाल युद्ध करनेकी सलाह देना और अश्वत्थामाका इसी रात्रिमें सोते हुओंको मारनेका आग्रह प्रकट करना

कृप उवाच

दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये मतिर्जातेयमच्युत ।
न त्वां वारयितुं शक्तो वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

कृपाचार्य बोले—तात ! तुम अपनी टेकसे टलनेवाले नहीं हो, सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारे मनमें बदला लेनेका दृढ़ विचार उत्पन्न हुआ । तुम्हें साक्षात् वज्रधारी

इन्द्र भी इस कार्यसे रोक नहीं सकते ॥ १ ॥

अनुयास्यावहे त्वां तु प्रभाते सहितावुभौ ।
अद्य रात्रौ विश्रमस्व विमुक्तकवचध्वजः ॥ २ ॥

आज रातमें कवच और ध्वजा खोलकर विश्राम करो । कल सबेरे हम दोनों एक साथ होकर तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥२॥

अहं त्वामनुयास्यामि कृतवर्मा च सात्वतः ।
परानभिमुखं यान्तं रथावास्थाय दंशितौ ॥ ३ ॥

जब तुम शत्रुओंका सामना करनेके लिये आगे बढ़ोगे, उस समय मैं और सात्वतवंशी कृतवर्मा दोनों ही कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो तुम्हारे साथ चलेंगे ॥ ३ ॥

आवाभ्यां सहितः शत्रूञ्श्वो निहन्ता समागमे ।
विक्रम्य रथिनां श्रेष्ठ पञ्चालान् सपदानुगान्॥ ४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वीर ! कल सबेरेके संग्राममें हम दोनोंके साथ रहकर तुम अपने शत्रु पाञ्चालों और उनके सेवकोंको बलपूर्वक मार डालना ॥ ४ ॥

शक्तस्त्वमसि विक्रम्य विश्रमस्व निशामिमाम् ।
चिरं ते जाग्रतस्तात स्वप तावन्निशामिमाम् ॥ ५ ॥

तात ! तुम पराक्रम दिखाकर शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ हो, अतः इस रातमें विश्राम कर लो । तुम्हें जागते हुए बहुत देर हो गयी है, अब इस रातमें सो लो ॥ ५ ॥

विश्रान्तश्च विनिद्रश्च स्वस्थचित्तश्च मानद ।
समेत्य समरे शत्रून् वधिष्यसि न संशयः ॥ ६ ॥

मानद ! थकावट दूर करके नींद पूरी कर लेनेसे तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जायगा । फिर तुम समरभूमिमें जाकर शत्रुओं-का वध कर सकोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

न हि त्वां रथिनां श्रेष्ठं प्रगृहीतवरायुधम् ।
जेतुमुत्सहते शश्वदपि देवेषु वासवः ॥ ७ ॥

तुम रथियोंमें श्रेष्ठ हो, तुमने अपने हाथमें उत्तम आयुध ले रक्खा है । तुम्हें देवताओंके राजा इन्द्र भी कभी जीतनेका साहस नहीं कर सकते हैं ॥ ७ ॥

कृपेण सहितं यान्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ।
को द्रौणिं युधि संरब्धं योधयेदपि देवराट् ॥ ८ ॥

जब कृतवर्मासे सुरक्षित हो द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मुझ कृपाचार्यके साथ कुपित होकर युद्धके लिये प्रस्थान करेगा, उस समय कौन वीर, वह देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उसका सामना कर सकता है ? ॥ ८ ॥

ते वयं निशि विश्रान्ता विनिद्रा विगतज्वराः ।
प्रभातायां रजन्यां वै निहनिष्याम शात्रवान् ॥ ९ ॥

अतः हमलोग रातमें विश्राम करके निद्रारहित और विगतज्वर हो प्रातःकाल अपने शत्रुओंका संहार करेंगे ॥९॥

तव ह्यस्त्राणि दिव्यानि मम चैव न संशयः ।
सात्वतोऽपि महेष्वासो नित्यं युद्धेषु कोविदः ॥१०॥

इसमें संशय नहीं कि तुम्हारे और मेरे पास भी दिव्यास्त्र हैं तथा महाधनुर्धर कृतवर्मा भी युद्ध करनेकी कलामें सदा ही कुशल हैं ॥ १० ॥

ते वयं सहितास्तात सर्वाञ्शत्रून् समागतान् ।
प्रसह्य समरे हत्वा प्रीतिं प्राप्स्याम पुष्कलाम् ॥ ११ ॥

तात ! हम सब लोग एक साथ होकर समराङ्गणमें सामने आये हुए समस्त शत्रुओंका संहार करके अत्यन्त हर्ष-का अनुभव करेंगे ॥ ११ ॥

विश्रमस्व त्वमव्यग्रः स्वप चेमां निशां सुखम् ।
अहं च कृतवर्मा च त्वां प्रयान्तं नरोत्तमम् ॥ १२ ॥
अनुयास्याव सहितौ धन्विनौ परतापनौ ।
रथिनं त्वरया यान्तं रथमास्थाय दंशितौ ॥ १३ ॥

तुम व्यग्रता छोड़कर विश्राम करो और इस रातमें सुखपूर्वक सो लो । कल सबेरे युद्धके लिये प्रस्थान करते समय तुम-जैसे नरश्रेष्ठ वीरके पीछे शत्रुओंको संताप देनेवाले हम और कृतवर्मा धनुष लेकर एक साथ चलेंगे । बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ते हुए रथी अश्वत्थामाके साथ हम दोनों भी कवच धारण करके रथपर आरूढ़ हो यात्रा करेंगे ॥ १२-१३ ॥

स गत्वा शिबिरं तेषां नाम विश्राव्य चाहवे ।
ततः कर्तासि शत्रूणां युध्यतां कदनं महत् ॥ १४ ॥

उस अवस्थामें शत्रुओंके शिबिरमें जाकर युद्धके लिये अपने नामकी घोषणा करके सामने आकर जूझते हुए उन शत्रुओंका बड़ा भारी संहार मचा देना ॥ १४ ॥

कृत्वा च कदनं तेषां प्रभाते विमलेऽहनि ।
विहरस्व यथा शक्रः सूदयित्वा महासुरान् ॥ १५ ॥

जैसे इन्द्र बड़े-बड़े असुरोंका विनाश करके सुखपूर्वक विचरते हैं, उसी प्रकार तुम भी कल प्रातःकाल निर्मल दिन निकल आनेपर उन शत्रुओंका विनाश करके इच्छानुसार विहार करो ॥ १५ ॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं पञ्चालानां वरूथिनीम् ।
दैत्यसेनामिव क्रुद्धः सर्वदानवसूदनः॥ १६ ॥

जैसे सम्पूर्ण दानवोंका संहार करनेवाले इन्द्र कुपित होनेपर दैत्योंकी सेनाको जीत लेते हैं, उसी प्रकार तुम भी रणभूमिमें पाञ्चालोंकी विशाल वाहिनीपर विजय पानेमें समर्थ हो ॥ १६ ॥

मया त्वां सहितं संख्ये गुप्तं च कृतवर्मणा ।
न सहेत विभुः साक्षाद् वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥ १७ ॥

युद्धस्थलमें जब तुम मेरे साथ खड़े होओगे और कृत-वर्मा तुम्हारी रक्षामें लगे होंगे, उस समय हाथमें वज्र लिये हुए साक्षात् देवसम्राट् इन्द्र भी तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे ॥ १७ ॥

न चाहं समरे तात कृतवर्मा न चैव हि ।
अनिर्जित्य रणे पाण्डून् न च यास्यामि कर्हिचित्॥ १८ ॥

तात ! समराङ्गणमें मैं और कृतवर्मा पाण्डवोंको परास्त किये बिना कभी पीछे नहीं हटेंगे ॥ १८ ॥

हत्वा च समरे क्रुद्धान् पञ्चालान् पाण्डुभिः सह।
निवर्तिष्यामहे सर्वे हता वा स्वर्गगा वयम् ॥ १९ ॥

समराङ्गणमें कुपित हुए पाञ्चालोंको पाण्डवोंसहित मारकर ही हम सब लोग पीछे हटेंगे अथवा स्वयं ही मारे जाकर स्वर्गलोककी राह लेंगे ॥ १९ ॥

सर्वोपायैः सहायास्ते प्रभाते वयमाहवे ।
सत्यमेतन्महाबाहो प्रब्रवीमि तवानघ ॥ २० ॥

निष्पाप महाबाहु वीर ! कल प्रातःकाल हमलोग सभी उपायोंसे युद्धमें तुम्हारे सहायक होंगे । मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ २० ॥

एवमुक्तस्ततो द्रौणिर्मातुलेन हितं वचः ।
अब्रवीन्मातुलं राजन् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ २१ ॥

राजन् ! मामाके इस प्रकार हितकारक वचन कहनेपर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने क्रोधसे लाल आँखें करके उनसे कहा—॥ २१ ॥

आतुरस्य कुतो निद्रा नरस्यामर्षितस्य च ।
अर्थांश्चिन्तयतश्चापि कामयानस्य वा पुनः ।
तदिदं समनुप्राप्तं पश्य मेऽद्य चतुष्टयम् ॥ २२ ॥

'मामाजी ! जो मनुष्य शोकसे आतुर हो, अमर्षसे भरा हुआ हो, नाना प्रकारके कार्योंकी चिन्ता कर रहा हो अथवा किसी कामनामें आसक्त हो, उसे नींद कैसे आ सकती है ? देखिये, ये चारों बातें आज मेरे ऊपर एक साथ आ पड़ी हैं ॥ २२ ॥

यस्य भागश्चतुर्थो मे स्वप्नमह्नाय नाशयेत् ।
किं नाम दुःखं लोकेऽस्मिन् पितुर्वधमनुस्मरन्॥ २३ ॥
हृदयं निर्दहन्मेऽद्य रात्र्यहानि न शाम्यति ।

'इन चारोंका एक चौथाई भाग जो क्रोध है, वही मेरी निद्राको तत्काल नष्ट किये देता है । अपने पिताके वधकी घटनाका बारंबार स्मरण करके इस संसारमें कौन-सा ऐसा दुःख है, जिसका मुझे अनुभव न होता हो । वह दुःखकी आग रात-दिन मेरे हृदयको जलाती हुई अबतक बुझ नहीं पा रही है ॥ २३½ ॥

यथा च निहतः पापैः पिता मम विशेषतः ॥ २४ ॥
प्रत्यक्षमपि ते सर्वं तन्मे मर्माणि कृन्तति ।
कथं हि मादृशो लोके मुहूर्तमपि जीवति ॥ २५ ॥

'इन पापियोंने विशेषतः मेरे पिताजीको जिस प्रकार मारा था, वह सब आपने प्रत्यक्ष देखा है । वह घटना मेरे मर्मस्थानोंको छेदे डालती है । ऐसी अवस्थामें मेरे-जैसा वीर इस जगत्में दो घड़ी भी कैसे जीवित रह सकता है ? ॥ २४-२५॥

द्रोणो हतेति यद् वाचः पञ्चालानां शृणोम्यहम् ।
धृष्टद्युम्नमहत्वा तु नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २६ ॥

'द्रोणाचार्य धृष्टद्युम्नके हाथसे मारे गये' यह बात जब मैं पाञ्चालोंके मुखसे सुनता आ रहा हूँ, तब धृष्टद्युम्नका वध किये बिना जीवित नहीं रह सकता ॥ २६ ॥

स मे पितुर्वधाद् वध्यः पञ्चाला ये च संगताः ।
विलापो भग्नसक्थस्य यस्तु राज्ञो मया श्रुतः॥ २७ ॥
स पुनर्हृदयं कस्य क्रूरस्यापि न निर्दहेत् ।

'धृष्टद्युम्न तो पिताजीका वध करनेके कारण मेरा वध्य होगा और उसके सङ्गी-साथी जो पाञ्चाल हैं, वे भी उसका साथ देनेके कारण मारे जायँगे । इधर, जिसकी जाँघें तोड़ डाली गयी हैं, उस राजा दुर्योधनका जो विलाप मैंने अपने कानों सुना है, वह किस क्रूर मनुष्यके भी हृदयको शोक-दग्ध नहीं कर देगा ? ॥ २७½ ॥

कस्य ह्यकरुणस्यापि नेत्राभ्यामश्रु नाव्रजेत् ॥ २८ ॥
नृपतेर्भग्नसक्थस्य श्रुत्वा तादृग् वचः पुनः ।

'टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनकी वैसी बात पुनः सुनकर किस निष्ठुरके भी नेत्रोंसे आँसू नहीं बह चलेगा ? ॥ २८½॥

यश्चायं मित्रपक्षो मे मयि जीवति निर्जितः ॥ २९ ॥
शोकं मे वर्धयत्येष वारिवेग इवार्णवम् ।
एकाग्रमनसो मेऽद्य कुतो निद्रा कुतः सुखम् ॥ ३० ॥

'मेरे जीते-जी जो यह मेरा मित्र-पक्ष परास्त हो गया, वह मेरे शोककी उसी प्रकार वृद्धि कर रहा है, जैसे जलका वेग समुद्रको बढ़ा देता है । आज मेरा मन एक ही कार्यकी ओर लगा हुआ है, फिर मुझे नींद कैसे आ सकती है और मुझे सुख भी कैसे मिल सकता है ? ॥ २९-३० ॥

वासुदेवार्जुनाभ्यां च तानहं परिरक्षितान् ।
अविषह्यतमान् मन्ये महेन्द्रेणापि सत्तम ॥ ३१ ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मामाजी ! पाण्डव और पाञ्चाल जब श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित हों, उस दशामें मैं उन्हें देवराज इन्द्रके लिये भी अत्यन्त असह्य एवं अजेय मानता हूँ ॥३१॥

न चापि शक्तः संयन्तुं कोपमेतं समुत्थितम् ।
तं न पश्यामि लोकेऽस्मिन् यो मां कोपान्निवर्तयेत्॥३२॥

'इस समय जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, इसे मैं स्वयं भी रोक नहीं सकता । इस संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको नहीं देख रहा हूँ, जो मुझे क्रोधसे दूर हटा दे ॥ ३२ ॥

तथैव निश्चिता बुद्धिरेषा साधु मता मम ।
वार्तिकैः कथ्यमानस्तु मित्राणां मे पराभवः ॥ ३३ ॥
पाण्डवानां च विजयो हृदयं दहतीव मे ।

'इसी प्रकार मैंने जो अपनी बुद्धिमें शत्रुओंके संहारका यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, यही मुझे अच्छा प्रतीत होता है । जब संदेशवाहक दूत मेरे मित्रोंकी पराजय और पाण्डवोंकी विजयका समाचार कहने लगते हैं, तब वह मेरे हृदयको दग्ध-सा कर देता है ॥ ३३½ ॥

अहं तु कदनं कृत्वा शत्रूणामद्य सौप्तिके ।
ततो विश्रमिता चैव स्वप्ता च विगतज्वरः ॥ ३४ ॥

'मैं तो आज सोते समय शत्रुओंका संहार करके निश्चिन्त होनेपर ही विश्राम करूँगा और नींद लूँगा' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अश्वत्थामा और कृपाचार्यका संवाद तथा तीनोंका पाण्डवोंके शिबिरकी ओर प्रस्थान

कृप उवाच

शुश्रूषुरपि दुर्मेधाः पुरुषोऽनियतेन्द्रियः ।
नालं वेदयितुं कृत्स्नौ धर्मार्थाविति मे मतिः ॥ १ ॥

कृपाचार्य बोले—अश्वत्थामन् ! मेरा विचार है कि जिस मनुष्यकी बुद्धि दुर्भावनासे युक्त है तथा जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें नहीं रखा है, वह धर्म और अर्थकी बातोंको सुननेकी इच्छा रखनेपर भी उन्हें पूर्णरूपसे समझ नहीं सकता ॥ १ ॥

तथैव तावन्मेधावी विनयं यो न शिक्षते ।
न च किंचन जानाति सोऽपि धर्मार्थनिश्चयम्॥ २ ॥

इसी प्रकार मेधावी होनेपर भी जो मनुष्य विनय नहीं सीखता, वह भी धर्म और अर्थके निर्णयको थोड़ा भी नहीं समझ पाता है ॥ २ ॥

चिरं ह्यपि जडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
न स धर्मान् विजानाति दर्वी सूपरसानिव ॥ ३ ॥

जिसकी बुद्धिपर जडता छा रही हो, वह शूरवीर योद्धा दीर्घकालतक विद्वान्‌की सेवामें रहनेपर भी धर्मोंका रहस्य नहीं जान पाता। ठीक उसी तरह, जैसे करछुल दालमें डूबी रहनेपर भी उसके स्वादको नहीं जानती है ॥ ३ ॥

मुहूर्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
क्षिप्रं धर्मान् विजानाति जिह्वा सूपरसानिव ॥ ४ ॥

जैसे जिह्वा दालके स्वादको जानती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष यदि दो घड़ी भी विवेकशीलकी सेवामें रहे तो वह शीघ्र ही धर्मोंका रहस्य जान लेता है ॥ ४ ॥

शुश्रूषुस्त्वेव मेधावी पुरुषो नियतेन्द्रियः ।
जानीयादागमान् सर्वान् ग्राह्यं च न विरोधयेत्॥ ५ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला मेधावी पुरुष यदि विद्वानोंकी सेवामें रहे और उनसे कुछ सुननेकी इच्छा रक्खे तो वह सम्पूर्ण शास्त्रोंको समझ लेता है तथा ग्रहण करने योग्य वस्तुका विरोध नहीं करता ॥ ५ ॥

अनेयस्त्ववमानी यो दुरात्मा पापपूरुषः ।
दिष्टमुत्सृज्य कल्याणं करोति बहुपापकम् ॥ ६ ॥

परंतु जिसे सन्मार्गपर नहीं ले जाया जा सकता, जो दूसरोंकी अवहेलना करनेवाला है तथा जिसका अन्तःकरण दूषित है, वह पापात्मा पुरुष बताये हुए कल्याणकारी पथको छोड़कर बहुत-से पापकर्म करने लगता है ॥ ६ ॥

नाथवन्तं तु सुहृदः प्रतिषेधन्ति पातकात् ।
निवर्तते तु लक्ष्मीवान् नालक्ष्मीवान् निवर्तते ॥ ७ ॥

जो सनाथ है, उसे उसके हितैषी सुहृद् पापकर्मोंसे रोकते हैं, जो भाग्यवान् है—जिसके भाग्यमें सुख भोगना बदा है, वह मना करनेपर उस पापकर्मसे रुक जाता है; परंतु जो भाग्यहीन है, वह उस दुष्कर्मसे नहीं निवृत्त होता है ॥७॥

यथा ह्युच्चावचैर्वाक्यैः क्षिप्तचित्तो नियम्यते ।
तथैव सुहृदा शक्यो न शक्यस्त्ववसीदति ॥ ८ ॥

जैसे मनुष्य विक्षिप्त चित्तवाले पागलको नाना प्रकारके ऊँच-नीच वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर या डरा-धमकाकर काबूमें लाते हैं, उसी प्रकार सुहृद्‌गण भी अपने स्वजनको समझा-बुझाकर और डाँट-डपटकर वशमें रखनेकी चेष्टा करते हैं। जो वशमें आ जाता है, वह तो सुखी होता है और जो किसी तरह काबूमें नहीं आ सकता, वह दुःख भोगता है ॥ ८ ॥

तथैव सुहृदं प्राज्ञं कुर्वाणं कर्म पापकम् ।
प्राज्ञाः सम्प्रतिषेधन्ति यथाशक्ति पुनः पुनः ॥ ९ ॥

इसी तरह विद्वान् पुरुष पापकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले अपने बुद्धिमान् सुहृद्‌को भी यथाशक्ति बारंबार मना करते हैं ॥ ९ ॥

स कल्याणे मनः कृत्वा नियम्यात्मानमात्मना ।
कुरु मे वचनं तात येन पश्चान्न तप्यसे ॥ १० ॥

तात ! तुम भी स्वयं ही अपने मनको काबूमें करके उसे कल्याणसाधनमें लगाकर मेरी बात मानो, जिससे तुम्हें पश्चात्ताप न करना पड़े ॥ १० ॥

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः ।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ॥ ११ ॥
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः ।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ॥ १२ ॥

जो सोये हुए हों, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये हों, रथ और घोड़े खोल दिये हों, 'जो मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहे हों, जो शरणमें आ गये हों, जिनके बाल खुले हुए हों तथा जिनके वाहन नष्ट हो गये हों, इस लोकमें ऐसे लोगोंका वध करना धर्मकी दृष्टिसे अच्छा नहीं समझा जाता ११-१२

अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विमुक्तकवचा विभो ।
विश्वस्ता रजनीं सर्वे प्रेता इव विचेतसः ॥ १३ ॥
यस्तेषां तदवस्थानां द्रुह्येत पुरुषोऽनृजुः ।
व्यक्तं स नरके मज्जेदगाधे विपुलेऽप्लवे ॥ १४ ॥

प्रभो ! आज रातमें समस्त पाञ्चाल कवच उतारकर निश्चिन्त हो मुर्दोंके समान अचेत सो रहे होंगे। उस अवस्थामें जो क्रूर मनुष्य उनके साथ द्रोह करेगा, वह निश्चय ही नौकारहित अगाध एवं विशाल नरकके समुद्रमें डूब जायगा ॥ १३-१४ ॥

सर्वास्त्रविदुषां लोके श्रेष्ठस्त्वमसि विश्रुतः ।
न च ते जातु लोकेऽस्मिन् सुसूक्ष्ममपि किल्बिषम् ॥

संसारके सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें तुम श्रेष्ठ हो। तुम्हारी सर्वत्र ख्याति है। इस जगत्‌में अबतक कभी तुम्हारा छोटे-से-छोटा दोष भी देखनेमें नहीं आया है ॥ १५ ॥

त्वं पुनः सूर्यसंकाशः श्वोभूत उदिते रवौ।
प्रकाशे सर्वभूतानां विजेता युधि शात्रवान्॥ १६॥

कल सवेरे सूर्योदय होनेपर तुम सूर्यके समान प्रकाशित हो उजालेमें युद्ध छेड़कर समस्त प्राणियोंके सामने पुनः शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना॥ १६॥

असम्भावितरूपं हि त्वयि कर्म विगर्हितम्।
शुक्ले रक्तमिव न्यस्तं भवेदिति मतिर्मम॥१७॥

जैसे सफेद वस्त्रमें लाल रंगका धब्बा लग जाय, उस प्रकार तुममें निन्दित कर्मका होना सम्भावनासे परेकी बात है, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १७॥

अश्वत्थामोवाच

एवमेव यथाऽऽत्थ त्वं मातुलेह न संशयः।
तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः॥ १८॥

अश्वत्थामा बोला—मामाजी! आप जैसा कहते हैं, निःसंदेह वही ठीक है; परंतु पाण्डवोंने ही पहले इस धर्म-मर्यादाके सैकड़ों टुकड़े कर डाले हैं॥ १८॥

प्रत्यक्षं भूमिपालानां भवतां चापि संनिधौ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः॥ १९॥

धृष्टद्युम्नने समस्त राजाओंके सामने और आपलोगोंके निकट ही मेरे उस पिताको मार गिराया, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये थे॥ १९॥

कर्णश्च पतिते चक्रे रथस्य रथिनां वरः।
उत्तमे व्यसने मग्नो हतो गाण्डीवधन्वना॥ २०॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णको भी गाण्डीवधारी अर्जुनने उस अवस्थामें मारा था, जब कि उनके रथका पहिया गड्ढेमें गिरकर फँस गया था और इसीलिये वे भारी संकटमें पड़े हुए थे॥ २०॥

तथा शान्तनवो भीष्मो न्यस्तशस्त्रो निरायुधः।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य हतो गाण्डीवधन्वना॥ २१॥

इसी प्रकार शान्तनुनन्दन भीष्म जब हथियार डालकर अस्त्रहीन हो गये, उस अवस्थामें शिखण्डीको आगे करके गाण्डीवधारी धनंजयने उनका वध किया था॥ २१॥

भूरिश्रवा महेष्वासस्तथा प्रायगतो रणे।
क्रोशतां भूमिपालानां युयुधानेन पातितः॥ २२॥

महाधनुर्धर भूरिश्रवा तो रणभूमिमें अनशन व्रत लेकर बैठ गये थे। उस अवस्थामें समस्त भूमिपाल चिल्ला-चिल्लाकर रोकते ही रह गये; परंतु सात्यकिने उन्हें मार गिराया॥ २२॥

दुर्योधनश्च भीमेन समेत्य गदया रणे।
पश्यतां भूमिपालानामधर्मेण निपातितः॥ २३॥

भीमसेनने भी सम्पूर्ण राजाओंके देखते-देखते रणभूमिमें गदायुद्ध करते समय दुर्योधनको अधर्मपूर्वक गिराया था॥

एकाकी बहुभिस्तत्र परिवार्य महारथैः।
अधर्मेण नरव्याघ्रो भीमसेनेन पातितः॥ २४॥

नरश्रेष्ठ राजा दुर्योधन अकेला था और बहुत-से महारथियोंने उसे वहाँ घेर रक्खा था, उस दशामें भीमसेनने उसको धराशायी किया है॥ २४॥

विलापो भग्नसक्थस्य यो मे राज्ञः परिश्रुतः।
वार्तिकाणां कथयतां स मे मर्माणि कृन्तति॥ २५॥

टूटी जाँघोंवाले राजा दुर्योधनका जो विलाप मैंने सुना है और संदेशवाहक दूतोंके मुखसे जो समाचार मुझे ज्ञात हुआ है, वह सब मेरे मर्मस्थानोंको विदीर्ण किये देता है॥ २५॥

एवं चाधार्मिकाः पापाः पञ्चाला भिन्नसेतवः।
तानेवं भिन्नमर्यादान् किं भवान् न विगर्हति॥ २६॥

इस प्रकार वे सब-के-सब पापी और अधार्मिक हैं। पाञ्चालोंने भी धर्मकी मर्यादा तोड़ डाली है। इस तरह मर्यादा भङ्ग करनेवाले उन पाण्डवों और पाञ्चालोंकी आप निन्दा क्यों नहीं करते हैं?॥ २६॥

पितृहन्तॄनहं हत्वा पञ्चालान् निशि सौप्तिके।
कामं कीटः पतङ्गो वा जन्म प्राप्य भवामि वै॥ २७॥

पिताकी हत्या करनेवाले पाञ्चालोंका रातको सोते समय वध करके मैं भले ही दूसरे जन्ममें कीट या पतङ्ग हो जाऊँ, सब कुछ स्वीकार है॥ २७॥

त्वरे चाहमनेनाद्य यदिदं मे चिकीर्षितम्।
तस्य मे त्वरमाणस्य कुतो निद्रा कुतः सुखम्॥ २८॥

इस समय मैं जो कुछ करना चाहता हूँ, उसीको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उतावला हो रहा हूँ। इतनी उतावलीमें रहते हुए मुझे नींद कहाँ और सुख कहाँ?॥ २८॥

न स जातः पुमाँल्लोके कश्चिन्न स भविष्यति।
यो मे व्यावर्तयेदेतां वधे तेषां कृतां मतिम्॥ २९॥

इस संसारमें ऐसा कोई पुरुष न तो पैदा हुआ है और न होगा ही, जो उन पाञ्चालोंके वधके लिये किये गये मेरे इस दृढ़ निश्चयको पलट दे॥ २९॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
एकान्ते योजयित्वाश्वान् प्रायादभिमुखः परान्॥ ३०॥

संजय कहते हैं—महाराज! ऐसा कहकर प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा एकान्तमें घोड़ोंको जोतकर शत्रुओंकी ओर चल दिया॥ ३०॥

तमब्रूतां महात्मानौ भोजशारद्वतावुभौ।
किमर्थं स्यन्दनो युक्तः किं च कार्यं चिकीर्षितम्॥ ३१॥

उस समय भोजवंशी कृतवर्मा और शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य दोनों महामनस्वी वीरोंने उससे कहा—'अश्वत्थामन्! तुमने किस लिये रथको जोता है? तुम इस समय कौन-सा कार्य करना चाहते हो?॥ ३१॥

एकसार्थप्रयातौ स्वस्त्वया सह नरर्षभ।
समदुःखसुखौ चापि नावां शङ्कितुमर्हसि॥ ३२॥

'नरश्रेष्ठ! हम दोनों एक साथ तुम्हारी सहायताके लिये चले हैं। तुम्हारे दुःख-सुखमें हमारा समान भाग होगा, तुम्हें हम दोनोंपर संदेह नहीं करना चाहिये'॥ ३२॥

अश्वत्थामा तु संक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन्।
ताभ्यां तथ्यं तथाऽऽचख्यौ यदस्यात्मचिकीर्षितम्॥

उस समय अश्वत्थामा पिताके वधका स्मरण करके रोषसे आगबबूला हो रहा था। उसके मनमें जो कुछ करनेकी इच्छा थी, वह सब उसने उन दोनोंसे ठीक ठीक कह सुनाया॥ ३३॥

हत्वा शतसहस्राणि योधानां निशितैः शरैः।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः॥ ३४॥

वह बोला—'मेरे पिता अपने तीखे बाणोंसे लाखों योद्धाओंका वध करके जब अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल चुके थे, उस अवस्थामें धृष्टद्युम्नने उन्हें मारा है॥ ३४॥

तं तथैव हनिष्यामि न्यस्तधर्माणमद्य वै।
पुत्रं पाञ्चालराजस्य पापं पापेन कर्मणा॥ ३५॥

'अतः धर्मका परित्याग करनेवाले उस पापी पाञ्चाल-राजकुमारको भी मैं उसी प्रकार पापकर्मद्वारा ही मार डालूँगा॥

कथं च निहतः पापः पाञ्चाल्यः पशुवन्मया।
शस्त्रेण विजिताँल्लोकान् नाप्नुयादिति मे मतिः॥३६॥

'मेरा ऐसा निश्चय है कि मेरे हाथसे पशुकी भाँति मारे गये पापी पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको किसी तरह भी अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मिलनेवाले पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो!! ३६॥

क्षिप्रं संनद्धकवचौ सखड्गावात्तकार्मुकौ।
मामास्थाय प्रतीक्षेतां रथवर्यौ परंतपौ॥ ३७॥

'आप दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और शत्रुओंको संताप देने-वाले वीर हैं। शीघ्र ही कवच बाँधकर खड्ग और धनुष लेकर रथपर बैठ जाइये तथा मेरी प्रतीक्षा कीजिये'॥३७॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय प्रायादभिमुखः परान्।
तमन्वगात् कृपो राजन् कृतवर्मा च सात्वतः॥ ३८॥

राजन्! ऐसा कहकर अश्वत्थामा रथपर आरूढ़ हो शत्रुओंकी ओर चल दिया। कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा भी उसीके मार्गका अनुसरण करने लगे॥ ३८॥

ते प्रयाता व्यरोचन्त परानभिमुखास्त्रयः।
हूयमाना यथा यज्ञे समिद्धा हव्यवाहनाः॥ ३९॥

शत्रुओंकी ओर जाते समय वे तीनों तेजस्वी वीर यज्ञमें आहुति पाकर प्रज्वलित हुए तीन अग्नियोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे॥ ३९॥

ययुश्च शिबिरं तेषां सम्प्रसुप्तजनं विभो।
द्वारदेशं तु सम्प्राप्य द्रौणिस्तस्थौ महारथः॥ ४०॥

प्रभो! वे तीनों पाण्डवों और पाञ्चालोंके उस शिविरके पास गये, जहाँ सब लोग सो गये थे। शिविरके द्वारपर पहुँच-कर महारथी अश्वत्थामा खड़ा हो गया॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिगमने पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाका प्रयाणविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः

अश्वत्थामाका शिविर-द्वारपर एक अद्भुत पुरुषको देखकर उसपर अस्त्रोंका प्रहार करना और अस्त्रोंके अभावमें चिन्तित हो भगवान् शिवकी शरणमें जाना

धृतराष्ट्र उवाच

द्वारदेशे ततो द्रौणिमवस्थितमवेक्ष्य तौ।
अकुर्वातां भोजकृपौ किं संजय वदस्व मे॥ १॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! अश्वत्थामाको शिविरके द्वारपर खड़ा देख कृतवर्मा और कृपाचार्यने क्या किया? यह मुझे बताओ॥ १॥

संजय उवाच

कृतवर्माणमामन्त्र्य कृपं च स महारथः।
द्रौणिर्मन्युपरीतात्मा शिबिरद्वारमागमत्॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! कृतवर्मा और कृपाचार्यको आमन्त्रित करके महारथी अश्वत्थामा क्रोधपूर्ण हृदयसे शिबिर-के द्वारपर आया॥ २॥

तत्र भूतं महाकायं चन्द्रार्कसदृशद्युतिम्।
सोऽपश्यद् द्वारमाश्रित्य तिष्ठन्तं लोमहर्षणम्॥ ३॥
वसानं चर्म वैयाघ्रं महारुधिरविस्रवम्।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं नागयज्ञोपवीतिनम्॥ ४॥
बाहुभिः स्वायतैः पीनैर्नानाप्रहरणोद्यतैः।
बद्धाङ्गदमहासर्पं ज्वालामालाकुलाननम्॥ ५॥
दंष्ट्राकरालवदनं व्यादितास्यं भयानकम्।
नयनानां सहस्रैश्च विचित्रैरभिभूषितम्॥ ६॥

वहाँ उसने चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी एक विशालकाय अद्भुत प्राणीको देखा, जो द्वार रोककर खड़ा था, उसे देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। उस महापुरुषने व्याघ्रका ऐसा चर्म धारण कर रक्खा था, जिससे बहुत अधिक रक्त चू रहा था, वह काले मृगचर्मकी चादर ओढ़े और सर्पोंका यज्ञोपवीत पहने हुए था। उसकी विशाल और मोटी भुजाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये प्रहार करनेको उद्यत जान पड़ती थीं। उनमें बाजूबंदोंके स्थानमें बड़े-बड़े सर्प बँधे हुए थे तथा उसका मुख आगकी लपटोंसे व्याप्त दिखायी देता था। उसने मुँह फैला रक्खा था, जो दाढ़ोंके कारण विकराल जान पड़ता था। वह भयानक पुरुष सहस्रों विचित्र नेत्रोंसे सुशोभित था॥ ३-६॥

नैव तस्य वपुः शक्यं प्रवक्तुं वेष एव च।
सर्वथा तु तदालक्ष्य स्फुटेयुरपि पर्वताः॥ ७॥

उसके शरीर और वेषका वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्वथा उसे देख लेनेपर पर्वत भी भयके मारे विदीर्ण हो सकते थे॥ ७॥

तस्यास्यान्नासिकाभ्यां च श्रवणाभ्यां च सर्वशः।
तेभ्यश्चाक्षिसहस्रेभ्यः प्रादुरासन् महार्चिषः ॥ ८ ॥

उसके मुखसे, दोनों नासिकाओंसे, कानोंसे और हजारों नेत्रोंसे भी सब ओर आगकी बड़ी-बड़ी लपटें निकल रही थीं॥

तथा तेजोमरीचिभ्यः शङ्खचक्रगदाधराः।
प्रादुरासन् हृषीकेशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ९ ॥

उसके तेजकी किरणोंसे शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले सैकड़ों, हजारों विष्णु प्रकट हो रहे थे॥ ९॥

तदत्यद्भुतमालोक्य भूतं लोकभयंकरम्।
द्रौणिरव्यथितो दिव्यैरस्त्रवर्षैरवाकिरत् ॥ १० ॥

सम्पूर्ण जगत्‌को भयभीत करनेवाले उस अद्भुत प्राणीको देखकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा भयभीत नहीं हुआ, अपितु उसके ऊपर दिव्य अस्त्रोंकी वर्षा करने लगा॥ १०॥

द्रौणिमुक्ताञ्छरांस्तांस्तु तद् भूतं महदग्रसत्।
उदधेरिव वार्योघान् पावको वडवामुखः ॥ ११ ॥

परंतु जैसे बडवानल समुद्रकी जलराशिको पी जाता है, उसी प्रकार उस महाभूतने अश्वत्थामाके छोड़े हुए सारे बाणों-को अपना ग्रास बना लिया॥ ११॥

अग्रसत् तांस्तथाभूतं द्रौणिना प्रहिताञ्शरान्।
अश्वत्थामा तु सम्प्रेक्ष्य शरौघांस्तान् निरर्थकान्॥१२॥
रथशक्तिं मुमोचासौ दीप्तामग्निशिखामिव।

अश्वत्थामाने जो-जो बाण छोड़े, उन सबको वह महाभूत निगल गया। अपने बाण-समूहोंको व्यर्थ हुआ देख अश्वत्थामा-ने प्रज्वलित अग्निशिखाके समान देदीप्यमान रथ-शक्ति छोड़ी॥ १२½॥

सा तमाहत्य दीप्ताग्रा रथशक्तिरदीर्यत ॥ १३ ॥
युगान्ते सूर्यमाहत्य महोल्केव दिवश्च्युता।

उसका अग्रभाग तेजसे प्रकाशित हो रहा था। वह रथ-शक्ति उस महापुरुषसे टकराकर उसी प्रकार विदीर्ण हो गयी, जैसे प्रलयकालमें आकाशसे गिरी हुई बड़ी भारी उल्का सूर्यसे टकराकर नष्ट हो जाती है॥ १३½॥

अथ हेमत्सरुं दिव्यं खड्गमाकाशवर्चसम् ॥ १४ ॥
कोशात् समुद्बवर्हाशु बिलाद् दीप्तमिवोरगम्।

तब अश्वत्थामाने सोनेकी मूँठसे सुशोभित तथा आकाश-के समान निर्मल कान्तिवाली अपनी दिव्य तलवार तुरंत ही म्यानसे बाहर निकाली, मानो प्रज्वलित सर्पको बिलसे बाहर निकाला गया हो॥ १४½॥

ततः खड्गवरं धीमान् भूताय प्राहिणोत् तदा ॥ १५ ॥
स तदासाद्य भूतं वै विलयं नकुलवद् ययौ।

फिर बुद्धिमान् द्रोणपुत्रने वह अच्छी-सी तलवार तत्काल ही उस महाभूतपर चला दी; परंतु वह उसके शरीरमें लगकर उसी तरह विलीन हो गयी, जैसे कोई नेवला बिलमें घुस गया हो॥ १५½॥

ततः स कुपितो द्रौणिरिन्द्रकेतुनिभां गदाम् ॥ १६ ॥
ज्वलन्तीं प्राहिणोत् तस्मै भूतं तामपि चाग्रसत्।

तदनन्तर कुपित हुए अश्वत्थामाने उसके ऊपर अपनी इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होनेवाली गदा चलायी; परंतु वह भूत उसे भी लील गया॥ १६½॥

ततः सर्वायुधाभावे वीक्षमाणस्ततस्ततः ॥ १७ ॥
अपश्यत् कृतमाकाशमनाकाशं जनार्दनैः।

इस प्रकार जब उसके सारे अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गये, तब वह इधर-उधर देखने लगा। उस समय उसे सारा आकाश असंख्य विष्णुओंसे भरा दिखायी दिया॥ १७½॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा द्रोणपुत्रो निरायुधः ॥ १८ ॥
अब्रवीदतिसंतप्तः कृपवाक्यमनुस्मरन्।

अस्त्रहीन अश्वत्थामा यह अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखकर कृपाचार्यके वचनोंका बारंबार स्मरण करता हुआ अत्यन्त संतप्त हो उठा और मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगा—॥

ब्रुवतामप्रियं पथ्यं सुहृदां न शृणोति यः ॥ १९ ॥
स शोचत्यापदं प्राप्य यथाहमतिवर्त्य तौ।

'जो पुरुष अप्रिय किंतु हितकर वचन बोलनेवाले अपने सुहृदोंकी सीख नहीं सुनता है, वह विपत्तिमें पड़कर उसी तरह शोक करता है, जैसे मैं अपने उन दोनों सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कष्ट पा रहा हूँ॥ १९½॥

शास्त्रदृष्टानविद्वान् यः समतीत्य जिघांसति ॥ २० ॥
स पथः प्रच्युतो धर्मात् कुपथे प्रतिहन्यते।

'जो मूर्ख शास्त्रदर्शी पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके दूसरोंकी हिंसा करना चाहता है, वह धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो कुमार्गमें पड़कर स्वयं ही मारा जाता है॥ २०½॥

गोब्राह्मणनृपस्त्रीषु सख्युर्मातुर्गुरोस्तथा ॥ २१ ॥
हीनप्राणजडान्धेषु सुप्तभीतोत्थितेषु च।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न शस्त्राणि च पातयेत् ॥ २२ ॥

'गौ, ब्राह्मण, राजा, स्त्री, मित्र, माता, गुरु, दुर्बल, जड, अन्धे, सोये हुए, डरे हुए, मतवाले, उन्मत्त और असावधान पुरुषोंपर मनुष्य शस्त्र न चलाये॥ २१-२२॥

इत्येवं गुरुभिः पूर्वमुपदिष्टं नृणां सदा।
सोऽहमुत्क्रम्य पन्थानं शास्त्रदिष्टं सनातनम् ॥ २३ ॥
अमार्गेणैवमारभ्य घोरामापदमागतः।

'इस प्रकार गुरुजनोंने पहले-से ही सब लोगोंको सदाके लिये यह शिक्षा दे रक्खी है। परंतु मैं उस शास्त्रोक्त सनातन मार्गका उल्लङ्घन करके बिना रास्तेके ही चलकर इस प्रकार अनुचित कर्मका आरम्भ करके भयंकर आपत्तिमें पड़ गया हूँ॥ २३½॥

तां चापदं घोरतरां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥
यदुद्यम्य महत् कृत्यं भयादपि निवर्तते।
अशक्तश्चैव तत् कर्तुं कर्म शक्तिबलादिह ॥ २५ ॥

'मनीषी पुरुष उसीको अत्यन्त भयंकर आपत्ति बताते हैं, जब कि मनुष्य किसी महान् कार्यका आरम्भ करके भयके कारण भी उससे पीछे हट जाता है और शक्ति-बलसे यहाँ उस कर्मको करनेमें असमर्थ हो जाता है॥ २४-२५॥

न हि दैवाद् गरीयो वै मानुषं कर्म कथ्यते।
मानुष्यं कुर्वतः कर्म यदि दैवान्न सिध्यति ॥ २६ ॥
स पथः प्रच्युतो धर्माद् विपदं प्रतिपद्यते।

'मानव-कर्म (पुरुषार्थ) को दैवसे बढ़कर नहीं बताया गया है। पुरुषार्थ करते समय यदि दैववश सिद्धि नहीं प्राप्त हुई तो मनुष्य धर्ममार्गसे भ्रष्ट होकर विपत्तिमें फँस जाता है॥

प्रतिज्ञानं ह्यविज्ञानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २७ ॥
यदारभ्य क्रियां काञ्चिद् भयादिह निवर्तते।

'यदि मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करके यहाँ भयके कारण उससे निवृत्त हो जाता है तो ज्ञानी पुरुष उसकी उस कार्यको करनेकी प्रतिज्ञाको अज्ञान या मूर्खता बताते हैं॥

तदिदं दुष्प्रणीतेन भयं मां समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
न हि द्रोणसुतः संख्ये निवर्तेत कथंचन।
इदं च सुमहद् भूतं दैवदण्डमिवोद्यतम् ॥ २९ ॥

'इस समय अपने ही दुष्कर्मके कारण मुझपर यह भय आ पहुँचा है। द्रोणाचार्यका पुत्र किसी प्रकार भी युद्धसे पीछे नहीं हट सकता; परंतु क्या करूँ, यह महाभूत मेरे मार्गमें विघ्न डालनेके लिये दैवदण्डके समान उठ खड़ा हुआ है॥ २८-२९॥

न चैतदभिजानामि चिन्तयन्नपि सर्वथा।
ध्रुवं येयमधर्मे मे प्रवृत्ता कलुषा मतिः ॥ ३० ॥
तस्याः फलमिदं घोरं प्रतिघाताय कल्पते।
तदिदं दैवविहितं मम संख्ये निवर्तनम् ॥ ३१ ॥

'मैं सब प्रकारसे सोचने-विचारनेपर भी नहीं समझ पाता कि यह कौन है? निश्चय ही जो मेरी यह कलुषित बुद्धि अधर्ममें प्रवृत्त हुई है, उसीका विघात करनेके लिये यह भयंकर परिणाम सामने आया है, अतः आज युद्धसे मेरा पीछे हटना दैवके विधानसे ही सम्भव हुआ है।३०-३१।

नान्यत्र दैवादुद्यन्तुमिह शक्यं कथंचन।
सोऽहमद्य महादेवं प्रपद्ये शरणं विभुम् ॥ ३२ ॥
दैवदण्डमिमं घोरं स हि मे नाशयिष्यति।

'दैवकी अनुकूलताके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, जिससे किसी प्रकार फिर यहाँ युद्धविषयक उद्योग किया जा सके; इसलिये आज मैं सर्वव्यापी भगवान् महादेवजीकी शरण लेता हूँ। वे ही मेरे सामने आये हुए इस भयानक दैवदण्डका नाश करेंगे॥ ३२½॥

कपर्दिनं देवदेवमुमापतिमनामयम् ॥ ३३ ॥
कपालमालिनं रुद्रं भगनेत्रहरं हरम्।
स हि देवोऽत्यगाद् देवांस्तपसा विक्रमेण च।
तस्माच्छरणमभ्येमि गिरिशं शूलपाणिनम् ॥ ३४ ॥

'भगवान् शङ्कर तपस्या और पराक्रममें सब देवताओंसे बढ़कर हैं; अतः मैं उन्हीं रोग-शोकसे रहित, जटाजूटधारी, देवताओंके भी देवता, भगवती उमाके प्राणवल्लभ, कपाल-मालाधारी, भगनेत्र-विनाशक, पापहारी, त्रिशूलधारी एवं पर्वतपर शयन करनेवाले रुद्रदेवकी शरणमें जाता हूँ'।३३-३४।

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिचिन्तायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी चिन्ताविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाद्वारा शिवकी स्तुति, उसके सामने एक अग्निवेदी तथा भूतगणोंका प्राकट्य और उसका आत्मसमर्पण करके भगवान् शिवसे खड्ग प्राप्त करना

संजय उवाच

एवं संचिन्तयित्वा तु द्रोणपुत्रो विशाम्पते।
अवतीर्य रथोपस्थाद् देवेशं प्रणतः स्थितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! ऐसा सोचकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रथकी बैठकसे उतर पड़ा और देवेश्वर महादेवजी-को प्रणाम करके खड़ा हो इस प्रकार स्तुति करने लगा॥१॥

द्रौणिरुवाच

उग्रं स्थाणुं शिवं रुद्रं शर्वमीशानमीश्वरम्।
गिरिशं वरदं देवं भवभावनमीश्वरम् ॥ २ ॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं दक्षक्रतुहरं हरम्।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३ ॥
श्मशानवासिनं दृप्तं महागणपतिं विभुम्।
खट्वाङ्गधारिणं रुद्रं जटिलं ब्रह्मचारिणम् ॥ ४ ॥
मनसा सुविशुद्धेन दुष्करेणाल्पचेतसा।
सोऽहमात्मोपहारेण यक्ष्ये त्रिपुरघातिनम् ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा बोला—प्रभो! आप उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, ईशान, ईश्वर और गिरिश आदि नामोंसे प्रसिद्ध वरदायक देवता तथा सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हैं। आपके कण्ठमें नील चिह्न है। आप अजन्मा एवं शुद्धात्मा हैं। आपने ही दक्षके यज्ञका विनाश किया है। आप ही संहारकारी हर, विश्वरूप, भयानक नेत्रोंवाले, अनेक रूपधारी तथा उमादेवीके प्राणनाथ हैं। आप श्मशानमें निवास करते हैं। आपको अपनी शक्तिपर गर्व है। आप अपने महान् गणोंके अधिपति, सर्वव्यापी तथा खट्वाङ्गधारी हैं, उपासकोंका दुःख दूर करनेवाले रुद्र हैं, मस्तकपर जटा धारण करनेवाले ब्रह्मचारी हैं। आपने त्रिपुरासुरका विनाश किया है। मैं विशुद्ध हृदयसे अपने आपकी बलि देकर, जो मन्दमति मानवोंके लिये अति दुष्कर है, आपका यजन करूँगा॥

स्तुतं स्तुत्यं स्तूयमानममोघं कृत्तिवाससम्।
विलोहितं नीलकण्ठमसह्यं दुर्निवारणम् ॥ ६ ॥
शुक्रं ब्रह्मसृजं ब्रह्म ब्रह्मचारिणमेव च।
व्रतवन्तं तपोनिष्ठमनन्तं तपतां गतिम् ॥ ७ ॥
बहुरूपं गणाध्यक्षं त्र्यक्षं पारिषदप्रियम्।

धनाध्यक्षेक्षितमुखं गौरीहृदयवल्लभम् ॥ ८ ॥
कुमारपितरं पिङ्गं गोवृषोत्तमवाहनम् ।
तनुवाससमत्युग्रमुमाभूषणतत्परम् ॥ ९ ॥
परं परेभ्यः परमं परं यस्मान्न विद्यते ।
इष्वस्त्रोत्तमभर्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम् ॥ १० ॥
हिरण्यकवचं देवं चन्द्रमौलिविभूषणम् ।
प्रपद्ये शरणं देवं परमेण समाधिना ॥ ११ ॥

पूर्वकालमें आपकी स्तुति की गयी है, भविष्यमें भी आप स्तुतिके योग्य बने रहेंगे और वर्तमानकालमें भी आपकी स्तुति की जाती है। आपका कोई भी संकल्प या प्रयत्न व्यर्थ नहीं होता। आप व्याघ्र-चर्ममय वस्त्र धारण करते हैं, लोहितवर्ण और नीलकण्ठ हैं। आपके वेगको सहन करना असम्भव है और आपको रोकना सर्वथा कठिन है। आप शुद्धस्वरूप ब्रह्म हैं। आपने ही ब्रह्माजीकी सृष्टि की है। आप ब्रह्मचारी, व्रतधारी तथा तपोनिष्ठ हैं, आपका कहीं अन्त नहीं है। आप तपस्वी जनोंके आश्रय, बहुत-से रूप धारण करनेवाले तथा गणपति हैं। आपके तीन नेत्र हैं। अपने पार्षदोंको आप बहुत प्रिय हैं। धनाध्यक्ष कुबेर सदा आपका मुख निहारा करते हैं। आप गौराङ्गिनी गिरिराजनन्दिनीके हृदय-वल्लभ हैं। कुमार कार्तिकेयके पिता भी आप ही हैं। आपका वर्ण पिङ्गल है। वृषभ आपका श्रेष्ठ वाहन है। आप अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र धारण करनेवाले और अत्यन्त उग्र हैं। उमा देवीको विभूषित करनेमें तत्पर रहते हैं। ब्रह्मा आदि देवताओंसे श्रेष्ठ और परात्पर हैं। आपसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। आप उत्तम धनुष धारण करनेवाले, दिगन्तव्यापी तथा सब देशोंके रक्षक हैं। आपके श्रीअङ्गोंमें सुवर्णमय कवच शोभा पाता है। आपका स्वरूप दिव्य है तथा आप चन्द्रमय मुकुटसे विभूषित होते हैं। मैं अपने चित्तको पूर्णतः एकाग्र करके आप परमेश्वरकी शरणमें आता हूँ॥ ६–११ ॥

इमां चेदापदं घोरां तराम्यद्य सुदुष्कराम् ।
सर्वभूतोपहारेण यक्ष्येऽहं शुचिना शुचिम् ॥ १२ ॥

यदि मैं आज इस अत्यन्त दुष्कर और भयंकर विपत्तिसे पार पा जाऊँ तो मैं सर्वभूतमय पवित्र उपहार समर्पित करके आप परम पावन परमेश्वरकी पूजा करूँगा ॥ १२ ॥

इति तस्य व्यवसितं ज्ञात्वा योगात् सुकर्मणः ।
पुरस्तात् काञ्चनी वेदी प्रादुरासीन्महात्मनः ॥ १३ ॥

इस प्रकार अश्वत्थामाका दृढ़ निश्चय जानकर उसके शुभकर्मके योगसे उस महामनस्वी वीरके आगे एक सुवर्णमयी वेदी प्रकट हुई ॥ १३ ॥

तस्यां वेद्यां तदा राजंश्चित्रभानुरजायत ।
स दिशो विदिशः खं च ज्वालाभिरिव पूरयन्॥ १४ ॥

राजन्! उस वेदीपर तत्काल ही अग्निदेव प्रकट हो गये, जो अपनी ज्वालाओंसे सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं और आकाशको परिपूर्ण-सा कर रहे थे॥ १४ ॥

दीप्तास्यनयनाश्चात्र नैकपादशिरोभुजाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥ १५ ॥
द्वीपशैलप्रतीकाशाः प्रादुरासन् महागणाः ।

वहीं बहुत-से महान् गण प्रकट हो गये, जो द्वीपवर्ती पर्वतोंके समान बहुत ऊँचे कदके थे। उनके मुख और नेत्र दीप्तिसे दमक रहे थे। उन गणोंके पैर, मस्तक और भुजाएँ अनेक थीं। वे अपनी बाहोंमें रत्न-निर्मित विचित्र अङ्गद धारण किये हुए थे। उन सबने अपने हाथ ऊपर उठा रक्खे थे॥ १५½ ॥

श्ववराहोष्ट्ररूपाश्च हयगोमायुगोमुखाः ॥ १६ ॥
ऋक्षमार्जारवदना व्याघ्रद्वीपिमुखास्तथा ।
काकवक्त्राः प्लवमुखाः शुकवक्त्रास्तथैव च ॥ १७ ॥
महाजगरवक्त्राश्च हंसवक्त्राः सितप्रभाः ।
दार्वाघाटमुखाश्चापि चाषवक्त्राश्च भारत ॥ १८ ॥

उनके रूप कुत्ते, सूअर और ऊँटोंके समान थे; मुँह घोड़ों, गीदड़ों और गाय-बैलोंके समान जान पड़ते थे। किन्हींके मुख रीछोंके समान थे तो किन्हींके बिलावोंके समान। कोई बाघोंके समान मुँहवाले थे तो कोई चीतोंके। कितने ही गणोंके मुख कौओं, वानरों, तोतों, बड़े-बड़े अजगरों और हंसोंके समान थे। भारत! कितनोंकी कान्ति भी हंसोंके समान सफेद थी, कितने ही गणोंके मुख कठफोरवा पक्षी और नीलकण्ठके समान थे ॥ १६–१८ ॥

कूर्मनक्रमुखाश्चैव शिशुमारमुखास्तथा ।
महामकरवक्त्राश्च तिमिवक्त्रास्तथैव च ॥ १९ ॥
हरिवक्त्राः क्रौञ्चमुखाः कपोतेभमुखास्तथा ।
पारावतमुखाश्चैव मद्गुवक्त्रास्तथैव च ॥ २० ॥

इसी प्रकार बहुत-से गण कछुए, नाके, सूँस, बड़े-बड़े मगर, तिमि नामक मत्स्य, मोर, क्रौञ्च (कुरर), कबूतर, हाथी, परेवा तथा मद्गु नामक जलपक्षीके समान मुखवाले थे ॥ १९-२० ॥

पाणिकर्णाः सहस्राक्षास्तथैव च महोदराः ।
निर्मांसाः काकवक्त्राश्च श्येनवक्त्राश्च भारत ॥ २१ ॥
तथैवाशिरसो राजन्नृक्षवक्त्राश्च भारत ।
प्रदीप्तनेत्रजिह्वाश्च ज्वालावर्णास्तथैव च ॥ २२ ॥

किन्हींके हाथोंमें ही कान थे। कितने ही हजार-हजार नेत्र और लंबे पेटवाले थे। कितनोंके शरीर मांसरहित, हड्डियोंके ढाँचे मात्र थे। भरतनन्दन! कोई कौओंके समान मुखवाले थे तो कोई बाजके समान। राजन्! किन्हीं-किन्हींके तो सिर ही नहीं थे। भारत! कोई-कोई भालूके समान मुखवाले थे। उन सबके नेत्र और जिह्वाएँ तेजसे प्रज्वलित हो रही थीं। अङ्गोंकी कान्ति आगकी ज्वालाके समान जान पड़ती थी ॥ २१-२२ ॥

ज्वालकेशाश्च राजेन्द्र ज्वलद्रोमचतुर्भुजाः ।
मेषवक्त्रास्तथैवान्ये तथा छागमुखा नृप ॥ २३ ॥

राजेन्द्र! उनके केश भी अग्नि-शिखाके समान प्रतीत होते थे। उनका रोम-रोम प्रज्वलित हो रहा था। उन सबके

चार भुजाएँ थीं। नरेश्वर ! कितने ही गणोंके मुख भेड़ों और बकरोंके समान थे ॥ २३ ॥

शङ्खाभाः शङ्खवक्त्राश्च शङ्खवर्णास्तथैव च ।
शङ्खमालापरिकराः शङ्खध्वनिसमस्वनाः ॥ २४ ॥

कितनोंके मुख, वर्ण और कान्ति शङ्खके सदृश थे। वे शङ्खकी मालाओंसे अलङ्कृत थे और उनके मुखसे शङ्खध्वनिके समान ही शब्द प्रकट होते थे ॥ २४ ॥

जटाधराः पञ्चशिखास्तथा मुण्डाः कृशोदराः ।
चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्जिह्वाः शङ्कुकर्णाः किरीटिनः ॥ २५ ॥

कोई समूचे सिरपर जटा धारण करते थे, कोई पाँच शिखाएँ रखते थे और कितने ही मूड़ मुड़ाये रहते थे। बहुतोंके उदर अत्यन्त कृश थे, कितनोंके चार दाढ़ें और चार जिह्वाएँ थीं। किन्हींके कान खूँटीके समान जान पड़ते थे और कितने ही पार्षद अपने मस्तकपर किरीट धारण करते थे ॥ २५ ॥

मौञ्जीधराश्च राजेन्द्र तथा कुञ्चितमूर्धजाः ।
उष्णीषिणो मुकुटिनश्चारुवक्त्राः स्वलङ्कृताः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! कोई मूँजकी मेखला पहने हुए थे, किन्हींके सिरके बाल घुँघराले दिखायी देते थे, कोई पगड़ी धारण किये हुए थे तो कोई मुकुट। कितनोंके मुख बड़े ही मनोहर थे। कितने ही सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २६ ॥

पद्मोत्पलापीडधरास्तथा मुकुटधारिणः ।
माहात्म्येन च संयुक्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

कोई अपने मस्तकपर कमलों और कुमुदोंका किरीट धारण करते थे। बहुतोंने विशुद्ध मुकुट धारण कर रक्खा था। वे भूतगण सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें थे और सभी अद्भुत माहात्म्यसे सम्पन्न थे ॥ २७ ॥

शतघ्नीवज्रहस्ताश्च तथा मुसलपाणयः ।
भुशुण्डीपाशहस्ताश्च दण्डहस्ताश्च भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उनके हाथोंमें शतघ्नी, वज्र, मूसल, भुशुण्डी, पाश और दण्ड शोभा पाते थे ॥ २८ ॥

पृष्ठेषु बद्धेषुधयश्चित्रबाणोत्कटास्तथा ।
सध्वजाः सपताकाश्च सघण्टाः सपरश्वधाः ॥ २९ ॥

उनकी पीठोंपर तरकस बँधे थे। वे विचित्र बाण लिये युद्धके लिये उन्मत्त जान पड़ते थे। उनके पास ध्वजा, पताका, घंटे और फरसे मौजूद थे ॥ २९ ॥

महापाशोद्यतकरास्तथा लगुडपाणयः ।
स्थूणाहस्ताः खड्गहस्ताः सर्पोच्छ्रितकिरीटिनः॥ ३० ॥

उन्होंने अपने हाथोंमें बड़े-बड़े पाश उठा रक्खे थे, कितनोंके हाथोंमें डंडे, खम्भे और खड्ग शोभा पाते थे तथा कितनोंके मस्तकपर सर्पोंके उन्नत किरीट सुशोभित होते थे ॥

महासर्पाङ्गदधराश्चित्राभरणधारिणः ।
रजोध्वस्ताः पङ्कदिग्धाः सर्वे शुक्लाम्बरस्रजः ॥ ३१ ॥

कितनोंने बाजूबंदोंके स्थानमें बड़े-बड़े सर्प धारण कर रक्खे थे। कितने ही विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थे, बहुतोंके शरीर धूलि-धूसर हो रहे थे। कितने ही अपने अङ्गोंमें कीचड़ लपेटे हुए थे। उन सबने श्वेत वस्त्र और श्वेत फूलोंकी माला धारण कर रक्खी थी ॥ ३१ ॥

नीलाङ्गाः पिङ्गलाङ्गाश्च मुण्डवक्त्रास्तथैव च ।
भेरीशङ्खमृदङ्गांश्च झर्झरानकगोमुखान् ॥ ३२ ॥
अवादयन् पारिषदाः प्रहृष्टाः कनकप्रभाः ।
गायमानास्तथैवान्ये नृत्यमानास्तथा परे ॥ ३३ ॥

कितनोंके अङ्ग नील और पिङ्गलवर्णके थे। कितनोंने अपने मस्तकके बाल मुँड़वा दिये। कितने ही सुनहरी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे। वे सभी पार्षद हर्षसे उत्फुल्ल हो भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग, झाँझ, ढोल और गोमुख बजा रहे थे। कितने ही गीत गा रहे थे और दूसरे बहुत-से पार्षद नाच रहे थे ॥

लङ्घयन्तः प्लवन्तश्च वल्गन्तश्च महारथाः ।
धावन्तो जवना मुण्डाः पवनोद्धूतमूर्धजाः ॥ ३४ ॥

वे महारथी भूतगण उछलते, कूदते और लाँघते हुए बड़े वेगसे दौड़ रहे थे। उनमेंसे कितने तो माथ मुँड़ाये हुए थे और कितनोंके सिरके बाल हवाके झोंकेसे ऊपरकी ओर उठ गये थे ॥ ३४ ॥

मत्ता इव महानागा विनदन्तो मुहुर्मुहुः ।
सुभीमा घोररूपाश्च शूलपट्टिशपाणयः ॥ ३५ ॥

वे मतवाले गजराजोंके समान बारंबार गर्जना करते थे। उनके हाथोंमें शूल और पट्टिश दिखायी देते थे। वे घोर रूपधारी और भयंकर थे ॥ ३५ ॥

नानाविरागवसनाश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥ ३६ ॥

उनके वस्त्र नाना प्रकारके रंगोंमें रँगे हुए थे। वे विचित्र माला और चन्दनसे अलङ्कृत थे। उन्होंने रत्ननिर्मित विचित्र अङ्गद धारण कर रक्खे थे और उन सबके हाथ ऊपरकी ओर उठे हुए थे ॥ ३६ ॥

हन्तारो द्विषतां शूराः प्रसह्यासह्यविक्रमाः ।
पातारोऽसृग्वसौघानां मांसान्त्रकृतभोजनाः ॥ ३७ ॥

वे शूरवीर पार्षद हठपूर्वक शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे। उनका पराक्रम असह्य था। वे रक्त और वसा पीते तथा आँत और मांस खाते थे ॥ ३७ ॥

चूडालाः कर्णिकाराश्च प्रहृष्टाः पिठरोदराः ।
अतिह्रस्वातिदीर्घाश्च प्रलम्बाश्चातिभैरवाः ॥ ३८ ॥

कितनोंके मस्तकपर शिखाएँ थीं। कितने ही कनेरके फूल धारण करते थे। बहुतेरे पार्षद अत्यन्त हर्षसे खिल उठे थे। कितनोंके पेट बटलोई या कड़ाहीके समान जान पड़ते थे। कोई बहुत नाटे, कोई बहुत मोटे, कोई बहुत लंबे और कोई अत्यन्त भयंकर थे ॥ ३८ ॥

विकटाः काललम्बोष्ठा बृहच्छेफाण्डपिण्डिकाः ।
महार्हनानामुकटा मुण्डाश्च जटिलाः परे ॥ ३९ ॥

कितनोंके आकार बहुत विकट थे, कितनोंके काले-काले और लंबे ओठ लटक रहे थे, किन्हींके लिङ्ग बड़े थे तो किन्हीं-

के अण्डकोष। किन्हींके मस्तकोंपर नाना प्रकारके बहुमूल्य मुकुट शोभा पाते थे, कुछ लोग मथमुंडे थे और कुछ जटाधारी॥

सार्केन्दुग्रहनक्षत्रां द्यां कुर्युस्ते महीतले।
उत्सहेरंश्च ये हन्तुं भूतग्रामं चतुर्विधम्॥ ४०॥

वे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाश-मण्डलको पृथ्वीपर गिरा सकते थे और चार प्रकारके समस्त प्राणि-समुदायका संहार करनेमें समर्थ थे॥ ४०॥

ये च वीतभया नित्यं हरस्य भ्रुकुटीसहाः।
कामकारकरा नित्यं त्रैलोक्यस्येश्वरेश्वराः॥ ४१॥

वे सदा निर्भय होकर भगवान् शंकरके भ्रूभंगको सहन करनेवाले थे। प्रतिदिन इच्छानुसार कार्य करते और तीनों लोकोंके ईश्वरोंपर भी शासन कर सकते थे॥ ४१॥

नित्यानन्दप्रमुदिता वागीशा वीतमत्सराः।
प्राप्याष्टगुणमैश्वर्यं ये न यास्यन्ति वै स्मयम्॥ ४२॥

वे पार्षद नित्य आनन्दमें मग्न रहते थे, वाणीपर उनका अधिकार था। उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या और द्वेष नहीं रह गये थे। वे अणिमा-महिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यको पाकर भी कभी अभिमान नहीं करते थे॥ ४२॥

येषां विस्मयते नित्यं भगवान् कर्मभिर्हरः।
मनोवाक्कर्मभिर्युक्तैर्नित्यमाराधितश्च यैः॥ ४३॥

साक्षात् भगवान् शंकर भी प्रतिदिन उनके कर्मोंको देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। वे मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा सदा सावधान रहकर महादेवजीकी आराधना करते थे॥

मनोवाक्कर्मभिर्भक्तान् पाति पुत्रानिवौरसान्।
पिबन्तोऽसृग्वसाश्चान्ये क्रुद्धा ब्रह्मद्विषां सदा॥ ४४॥

मन, वाणी और कर्मसे अपने प्रति भक्ति रखनेवाले उन भक्तोंका भगवान् शिव सदा औरस पुत्रोंकी भाँति पालन करते थे। बहुत-से पार्षद रक्त और वसा पीकर रहते थे। वे ब्रह्मद्रोहियोंपर सदा क्रोध प्रकट करते थे॥ ४४॥

चतुर्विधात्मकं सोमं ये पिबन्ति च सर्वदा।
श्रुतेन ब्रह्मचर्येण तपसा च दमेन च॥ ४५॥
ये समाराध्य शूलाङ्कं भवसायुज्यमागताः।

अन्न, सोमलताका रस, अमृत और चन्द्रमण्डल—ये चार प्रकारके सोम हैं, वे पार्षदगण इनका सदा पान करते हैं। उन्होंने वेदोंके स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यपालन, तपस्या और इन्द्रिय-संयमके द्वारा त्रिशूल-चिह्नित भगवान् शिवकी आराधना करके उनका सायुज्य प्राप्त कर लिया है॥ ४५½॥

यैरात्मभूतैर्भगवान् पार्वत्या च महेश्वरः॥ ४६॥
महाभूतगणैर्भुङ्क्ते भूतभव्यभवत्प्रभुः।

वे महाभूतगण भगवान् शिवके आत्मस्वरूप हैं, उनके तथा पार्वतीदेवीके साथ भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी महेश्वर यज्ञ-भाग ग्रहण करते हैं॥ ४६½॥

नानावादित्रहसितक्ष्वेडितोत्कुष्टगर्जितैः॥ ४७॥
संत्रासयन्तस्ते विश्वमश्वत्थामानमभ्ययुः।

भगवान् शिवके वे पार्षद नाना प्रकारके बाजे बजाने, हँसने, सिंहनाद करने, ललकारने तथा गर्जने आदिके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको भयभीत करते हुए अश्वत्थामाके पास आये॥

संस्तुवन्तो महादेवं भाः कुर्वाणाः सुवर्चसः॥ ४८॥
विवर्धयिषवो द्रौणेर्महिमानं महात्मनः।
जिज्ञासमानास्तत्तेजः सौप्तिकं च दिदृक्षवः॥ ४९॥
भीमोग्रपरिघालातशूलपट्टिशपाणयः।
घोररूपाः समाजग्मुर्भूतसङ्घाः समन्ततः॥ ५०॥

भूतोंके वे समूह बड़े भयंकर और तेजस्वी थे तथा सब ओर अपनी प्रभा फैला रहे थे। अश्वत्थामामें कितना तेज है, इस बातको वे जानना चाहते थे और सोते समय जो महान् संहार होनेवाला था, उसे भी देखनेकी इच्छा रखते थे। साथ ही महामनस्वी द्रोणकुमारकी महिमा बढ़ाना चाहते थे; इसीलिये महादेवजीकी स्तुति करते हुए वे चारों ओरसे वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथोंमें अत्यन्त भयंकर परिघ, जलते लुआठे, त्रिशूल और पट्टिश शोभा पा रहे थे॥ ४८—५०॥

जनयेयुर्भयं ये स्म त्रैलोक्यस्यापि दर्शनात्।
तान् प्रेक्षमाणोऽपि व्यथां न चकार महाबलः॥ ५१॥

भगवान् भूतनाथके वे गण दर्शन देनेमात्रसे तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न कर सकते थे, तथापि महाबली अश्वत्थामा उन्हें देखकर तनिक भी व्यथित नहीं हुआ॥

अथ द्रौणिर्धनुष्पाणिर्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
स्वयमेवात्मनात्मानमुपहारमुपाहरत्॥ ५२॥

तदनन्तर हाथमें धनुष लिये और गोहके चर्मके बने दस्ताने पहने हुए द्रोणकुमारने स्वयं ही अपने आपको भगवान् शिवके चरणोंमें भेंट चढ़ा दिया॥ ५२॥

धनूंषि समिधस्तत्र पवित्राणि शिताः शराः।
हविरात्मवतश्चात्मा तस्मिन् भारत कर्मणि॥ ५३॥

भारत! उस आत्म-समर्पणरूपी यज्ञकर्ममें आत्मबलसम्पन्न अश्वत्थामाका धनुष ही समिधा, तीखे बाण ही कुशा और शरीर ही हविष्यरूपमें प्रस्तुत हुए॥ ५३॥

ततः सौम्येन मन्त्रेण द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
उपहारं महामन्युरथात्मानमुपाहरत्॥ ५४॥

फिर महाक्रोधी प्रतापी द्रोणपुत्रने सोमदेवता-सम्बन्धी मन्त्र[1]के द्वारा अपने शरीरको ही उपहारके रूपमें अर्पित कर दिया॥

तं रुद्रं रौद्रकर्माणं रौद्रैः कर्मभिरच्युतम्।
अभिष्टुत्य महात्मानमित्युवाच कृताञ्जलिः॥ ५५॥

भयंकर कर्म करनेवाले तथा अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले महात्मा रुद्रदेवकी रौद्रकर्मोंद्वारा ही स्तुति करके अश्वत्थामा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला॥ ५५॥

द्रौणिरुवाच

इममात्मानमद्याहं जातमाङ्गिरसे कुले।
स्वग्नौ जुहोमि भगवन् प्रतिगृह्णीष्व मां बलिम्॥ ५६॥

अश्वत्थामाने कहा—भगवन्! आज मैं आङ्गिरस

१. वह मन्त्र इस प्रकार है—'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे।'

कुलमें उत्पन्न हुए अपने शरीरकी प्रज्वलित अग्निमें आहुति देता हूँ। आप मुझे हविष्यरूपमें ग्रहण कीजिये ॥ ५६ ॥

भवद्भक्त्या महादेव परमेण समाधिना ।
अस्यामापदि विश्वात्मन्नुपाकुर्मि तवाग्रतः ॥ ५७ ॥

विश्वात्मन्! महादेव! इस आपत्तिके समय आपके प्रति भक्तिभावसे अपने चित्तको पूर्ण एकाग्र करके आपके समक्ष यह भेंट समर्पित करता हूँ (आप इसे स्वीकार करें)॥५७॥

त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चासि वै ।
गुणानां हि प्रधानानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥ ५८ ॥

प्रभो! सम्पूर्ण भूत आपमें स्थित हैं और आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित हैं। आपमें ही मुख्य-मुख्य गुणोंकी एकता होती है ॥ ५८ ॥

सर्वभूताश्रय विभो हविर्भूतमवस्थितम् ।
प्रतिगृहाण मां देव यद्यशक्याः परे मया ॥ ५९ ॥

विभो! आप सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय हैं। देव! यदि शत्रुओंका मेरे द्वारा पराभव नहीं हो सकता तो आप हविष्यरूपमें सामने खड़े हुए मुझ अश्वत्थामाको स्वीकार कीजिये ॥

इत्युक्त्वा द्रौणिरास्थाय तां वेदीं दीप्तपावकाम् ।
संत्यज्यात्मानमारुह्य कृष्णवर्त्मन्युपाविशत्॥ ६० ॥

ऐसा कहकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा प्रज्वलित अग्निसे प्रकाशित हुई उस वेदीपर चढ़ गया और प्राणोंका मोह छोड़कर आगके बीचमें बैठ गया ॥ ६० ॥

तमूर्ध्वबाहुं निश्चेष्टं दृष्ट्वा हविरुपस्थितम् ।
अब्रवीद् भगवान् साक्षान्महादेवो हसन्निव ॥ ६१ ॥

उसे हविष्यरूपसे दोनों बाँहें ऊपर उठाये निश्चेष्ट भावसे बैठे देख साक्षात् भगवान् महादेवने हँसते हुए-से कहा—॥

सत्यशौचार्जवत्यागैस्तपसा नियमेन च ।
क्षान्त्या भक्त्या च धृत्या च बुद्ध्या च वचसा तथा ॥
यथावदहमाराद्धः कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते ॥ ६३ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णने सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तपस्या, नियम, क्षमा, भक्ति, धैर्य, बुद्धि और वाणीके द्वारा मेरी यथोचित आराधना की है; अतः श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई मुझे परम प्रिय नहीं है॥

कुर्वता तात सम्मानं त्वां च जिज्ञासता मया ।
पञ्चालाः सहसा गुप्ता मायाश्च बहुशः कृताः॥ ६४ ॥

'तात! उन्हींका सम्मान और तुम्हारी परीक्षा करनेके लिये मैंने पाञ्चालोंकी सहसा रक्षा की है और बारंबार मायाओंका प्रयोग किया है ॥ ६४ ॥

कृतस्तस्यैव सम्मानः पञ्चालान् रक्षता मया ।
अभिभूतास्तु कालेन नैषामद्यास्ति जीवितम् ॥ ६५ ॥

'पाञ्चालोंकी रक्षा करके मैंने श्रीकृष्णका ही सम्मान किया है; परंतु अब वे कालसे पराजित हो गये हैं, अब इनका जीवन शेष नहीं है' ॥ ६५ ॥

एवमुक्त्वा महात्मानं भगवानात्मनस्तनुम् ।
आविवेश ददौ चास्मै विमलं खड्गमुत्तमम् ॥ ६६ ॥

महामना अश्वत्थामासे ऐसा कहकर भगवान् शिवने अपने स्वरूपभूत उसके शरीरमें प्रवेश किया और उसे एक निर्मल एवं उत्तम खड्ग प्रदान किया ॥ ६६ ॥

अथाविष्टो भगवता भूयो जज्वाल तेजसा ।
वेगवांश्चाभवद् युद्धे देवसृष्टेन तेजसा ॥ ६७ ॥

भगवान्का आवेश हो जानेपर अश्वत्थामा पुनः अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो उठा। उस देवप्रदत्त तेजसे सम्पन्न हो वह युद्धमें और भी वेगशाली हो गया ॥ ६७ ॥

तमदृश्यानि भूतानि रक्षांसि च समाद्रवन् ।
अभितः शत्रुशिबिरं यान्तं साक्षादिवेश्वरम् ॥ ६८ ॥

साक्षात् महादेवजीके समान शत्रुशिबिरकी ओर जाते हुए अश्वत्थामाके साथ-साथ बहुत-से अदृश्य भूत और राक्षस भी दौड़े गये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिक पर्वणि द्रौणिकृतशिवार्चने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें द्रोणपुत्रद्वारा की हुई भगवान् शिवकी पूजाविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके द्वारा रात्रिमें सोये हुए पाञ्चाल आदि समस्त वीरोंका संहार तथा फाटकसे निकलकर भागते हुए योद्धाओंका कृतवर्मा और कृपाचार्य द्वारा वध

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रयाते शिबिरं द्रोणपुत्रे महारथे ।
कच्चित् कृपश्च भोजश्च भयार्तौ न व्यवर्तताम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब महारथी द्रोणपुत्र इस प्रकार शिबिरकी ओर चला, तब कृपाचार्य और कृतवर्मा भयसे पीड़ित हो लौट तो नहीं गये? ॥ १ ॥

कच्चिन्न वारितौ क्षुद्रै रक्षिभिर्नोपलक्षितौ ।
असह्यमिति मन्वानौ न निवृत्तौ महारथौ ॥ २ ॥
कच्चिदुन्मथ्य शिबिरं हत्वा सोमकपाण्डवान् ।
(कृता प्रतिज्ञा सफला कच्चित् संजय सा निशि ।)

कहीं नीच द्वार-रक्षकोंने उन्हें रोक तो नहीं दिया? किसीने उन्हें देखा तो नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे दोनों महारथी इस कार्यको असह्य मानकर लौट गये हों? संजय! क्या उस शिबिरको मथकर सोमकों और पाण्डवोंकी हत्या करके रातमें अश्वत्थामाने अपनी प्रतिज्ञा सफल कर ली? ॥

दुर्योधनस्य पदवीं गतौ परमिकां रणे ॥ ३ ॥
पञ्चालैर्निहतौ वीरौ कच्चिन्नास्वपतां क्षितौ ।
कच्चित् ताभ्यां कृतं कर्म तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ४ ॥

वे दोनों वीर पाञ्चालोंके द्वारा मारे जाकर धरतीपर सदाके लिये सो तो नहीं गये ? रणभूमिमें मरकर दुर्योधनके ही उत्तम मार्गपर चले तो नहीं गये ? क्या उन दोनोंने भी वहाँ कोई पराक्रम किया ? संजय ! ये सब बातें मुझे बताओ॥

संजय उवाच

तस्मिन् प्रयाते शिविरं द्रोणपुत्रे महात्मनि ।
कृपश्च कृतवर्मा च शिविरद्वार्यतिष्ठताम् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—राजन् ! महामनस्वी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा जब शिविरके भीतर जाने लगा, उस समय कृपाचार्य और कृतवर्मा भी उसके दरवाजेपर जा खड़े हुए ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा यत्नवन्तौ महारथौ ।
प्रहृष्टः शनकै राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

महाराज ! उन दोनों महारथियोंको अपना साथ देनेके लिये प्रयत्नशील देख अश्वत्थामाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने उनसे धीरेसे इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

यत्तौ भवन्तौ पर्याप्तौ सर्वक्षत्रस्य नाशने ।
किं पुनर्योधशेषस्य प्रसुप्तस्य विशेषतः ॥ ७ ॥

'यदि आप दोनों सावधान होकर चेष्टा करें तो सम्पूर्ण क्षत्रियोंका विनाश करनेके लिये पर्याप्त हैं । फिर इन बचे-खुचे और विशेषतः सोये हुए योद्धाओंको मारना कौन बड़ी बात है ? ॥ ७ ॥

अहं प्रवेक्ष्ये शिविरं चरिष्यामि च कालवत् ।
यथा न कश्चिदपि वा जीवन् मुच्येत मानवः ॥ ८ ॥
तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यादिति मे निश्चिता मतिः ।

'मैं तो इस शिविरके भीतर घुस जाऊँगा और वहाँ कालके समान विचरूँगा । आपलोग ऐसा करें जिससे कोई भी मनुष्य आप दोनोंके हाथसे जीवित न बच सके, यही मेरा दृढ़ विचार है' ॥ ८½ ॥

इत्युक्त्वा प्राविशद् द्रौणिः पार्थानां शिविरं महत् ॥ ९ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य विहाय भयमात्मनः ।

ऐसा कहकर द्रोणकुमार पाण्डवोंके विशाल शिविरमें बिना दरवाजेके ही कूदकर घुस गया । उसने अपने जीवनका भय छोड़ दिया था ॥ ९½ ॥

स प्रविश्य महाबाहुरुद्देशज्ञश्च तस्य ह ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नस्य निलयं शनकैरभ्युपागमत् ।

वह महाबाहु वीर शिविरके प्रत्येक स्थानसे परिचित था, अतः धीरे-धीरे धृष्टद्युम्नके खेमेमें जा पहुँचा ॥ १०½ ॥

ते तु कृत्वा महत् कर्म श्रान्ताश्च बलवद् रणे ॥ ११ ॥
प्रसुप्ताश्चैव विश्वस्ताः स्वसैन्यपरिवारिताः ।

वहाँ वे पाञ्चाल वीर रणभूमिमें महान् पराक्रम करके बहुत थक गये थे और अपने सैनिकोंसे घिरे हुए निश्चिन्त सो रहे थे ॥ ११½ ॥

अथ प्रविश्य तद् वेश्म धृष्टद्युम्नस्य भारत ॥ १२ ॥
पाञ्चाल्यं शयने द्रौणिरपश्यत् सुप्तमन्तिकात् ।
क्षौमावदाते महति स्पर्ध्यास्तरणसंवृते ॥ १३ ॥
माल्यप्रवरसंयुक्ते धूपैश्चूर्णैश्च वासिते ।

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्नके उस डेरेमें प्रवेश करके द्रोणकुमारने देखा कि पाञ्चालराजकुमार पास ही बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त तथा रेशमी चादरसे ढकी हुई एक विशाल शय्यापर सो रहा है । वह शय्या श्रेष्ठ मालाओंसे सुसज्जित तथा धूप एवं चन्दन चूर्णसे सुवासित थी ॥ १२-१३½ ॥

तं शयानं महात्मानं विश्रब्धमकुतोभयम् ॥ १४ ॥
प्राबोधयत पादेन शयनस्थं महीपते ।

भूपाल ! अश्वत्थामाने निश्चिन्त एवं निर्भय होकर शय्यापर सोये हुए महामनस्वी धृष्टद्युम्नको पैरसे ठोकर मारकर जगाया ॥ १४½ ॥

सम्बुध्य चरणस्पर्शादुत्थाय रणदुर्मदः ॥ १५ ॥
अभ्यजानादमेयात्मा द्रोणपुत्रं महारथम् ।

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न रणदुर्मद धृष्टद्युम्न उसके पैर लगते ही जाग उठा और जागते ही उसने महारथी द्रोणपुत्रको पहचान लिया ॥ १५½ ॥

तमुत्पतन्तं शयनादश्वत्थामा महाबलः ॥ १६ ॥
केशेष्वालभ्य पाणिभ्यां निष्पिपेष महीतले ।

अब वह शय्यासे उठनेकी चेष्टा करने लगा । इतनेहीमें महाबली अश्वत्थामाने दोनों हाथसे उसके बाल पकड़कर पृथ्वीपर पटक दिया और वहाँ अच्छी तरह रगड़ा ॥ १६½ ॥

सबलं तेन निष्पिष्टः साध्वसेन च भारत ॥ १७ ॥
निद्रया चैव पाञ्चाल्यो नाशकच्चेष्टितुं तदा ।

भारत ! धृष्टद्युम्न भय और निद्रासे दबा हुआ था । उस अवस्थामें जब अश्वत्थामाने उसे जोरसे पटककर रगड़ना आरम्भ किया, तब उससे कोई भी चेष्टा करते न बना ॥

तमाक्रम्य पदा राजन् कण्ठे चोरसि चोभयोः ॥ १८ ॥
नदन्तं विस्फुरन्तं च पशुमारममारयत् ।

राजन् ! उसने पैरसे उसकी छाती और गला दोनोंको दबा दिया और उसे पशुकी तरह मारना आरम्भ किया । वह बेचारा चीखता और छटपटाता रह गया ॥ १८½ ॥

तुदन्नखैस्तु स द्रौणिं नातिव्यक्तमुदाहरत् ॥ १९ ॥
आचार्यपुत्र शस्त्रेण जहि मां मा चिरं कृथाः ।
त्वत्कृते सुकृताँल्लोकान् गच्छेयं द्विपदां वर ॥ २० ॥

उसने अपने नखोंसे द्रोणकुमारको बकोटते हुए अस्पष्ट वाणीमें कहा—'मनुष्योंमें श्रेष्ठ आचार्यपुत्र ! अब देरी न करो । मुझे किसी शस्त्रसे मार डालो, जिससे तुम्हारे कारण मैं पुण्यलोकोंमें जा सकूँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं विरराम परंतपः ।
सुतः पाञ्चालराजस्य आक्रान्तो बलिना भृशम् ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर बलवान् शत्रुके द्वारा बड़े जोरसे दबाया हुआ शत्रुसंतापी पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न चुप हो गया ॥

तस्याव्यक्तां तु तां वाचं संश्रुत्य द्रौणिरब्रवीत् ।
आचार्यघातिनां लोका न सन्ति कुलपांसन ॥ २२ ॥
तस्माच्छस्त्रेण निधनं न त्वमर्हसि दुर्मते ।

उसकी उस अस्पष्ट वाणीको सुनकर द्रोणपुत्रने कहा—'रे कुलकलंक ! अपने आचार्यकी हत्या करनेवाले लोगोंके लिये पुण्यलोक नहीं हैं; अतः दुर्मते ! तू शस्त्रके द्वारा मारे जानेके योग्य नहीं है' ॥ २२½ ॥

एवं ब्रुवाणस्तं वीरं सिंहो मत्तमिव द्विपम् ॥ २३ ॥
मर्मस्वभ्यवधीत् क्रुद्धः पादाष्ठीलैः सुदारुणैः ।

उस वीरसे ऐसा कहते हुए क्रोधी अश्वत्थामाने मतवाले हाथीपर चोट करनेवाले सिंहके समान अपनी अत्यन्त भयंकर एड़ियोंसे उसके मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ २३½ ॥

तस्य वीरस्य शब्देन मार्यमाणस्य वेश्मनि ॥ २४ ॥
अबुध्यन्त महाराज स्त्रियो ये चास्य रक्षिणः ।

महाराज ! उस समय मारे जाते हुए वीर धृष्टद्युम्नके आर्तनादसे उस शिविरकी स्त्रियाँ तथा सारे रक्षक जाग उठे॥

ते दृष्ट्वा धर्षयन्तं तमतिमानुषविक्रमम् ॥ २५ ॥
भूतमेवाध्यवस्यन्तो न स्म प्रव्याहरन् भयात् ।

उन्होंने उस अलौकिक पराक्रमी पुरुषको धृष्टद्युम्नपर प्रहार करते देख उसे कोई भूत ही समझा; इसीलिये भय-के मारे वे कुछ बोल न सके ॥ २५½ ॥

तं तु तेनाभ्युपायेन गमयित्वा यमक्षयम् ॥ २६ ॥
अध्यतिष्ठत तेजस्वी रथं प्राप्य सुदर्शनम् ।
स तस्य भवनाद् राजन् निष्क्रम्यानादयन् दिशः॥२७॥
रथेन शिबिरं प्रायाज्जिघांसुर्द्विषतो बली ।

राजन् ! इस उपायसे धृष्टद्युम्नको यमलोक भेजकर तेजस्वी अश्वत्थामा उसके खेमेसे बाहर निकला और सुन्दर दिखायी देनेवाले अपने रथके पास आकर उसपर सवार हो गया । इसके बाद वह बलवान् वीर अन्य शत्रुओंको मार डालनेकी इच्छा रखकर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ रथके द्वारा प्रत्येक शिविरपर आक्रमण करने लगा ॥ २६-२७½ ॥

अपक्रान्ते ततस्तस्मिन् द्रोणपुत्रे महारथे ॥ २८ ॥
सहितै रक्षिभिः सर्वैः प्राणेदुर्योषितस्तदा ।

महारथी द्रोणपुत्रके वहाँसे हट जानेपर एकत्र हुए सम्पूर्ण रक्षकोंसहित धृष्टद्युम्नकी रानियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ॥

राजानं निहतं दृष्ट्वा भृशं शोकपरायणाः ॥ २९ ॥
व्याक्रोशन् क्षत्रियाः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य भारत ।

भरतनन्दन ! अपने राजाको मारा गया देख धृष्टद्युम्नकी सेनाके सारे क्षत्रिय अत्यन्त शोकमें मग्न हो आर्तस्वरसे विलाप करने लगे ॥ २९½ ॥

तासां तु तेन शब्देन समीपे क्षत्रियर्षभाः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं च समनह्यन्त किमेतदिति चाब्रुवन् ।

स्त्रियोंके रोनेकी आवाज सुनकर आसपासके सारे क्षत्रिय-शिरोमणि वीर तुरंत कवच बाँधकर तैयार हो गये और बोले—'अरे ! यह क्या हुआ ?' ॥ ३०½ ॥

स्त्रियस्तु राजन् वित्रस्ता भारद्वाजं निरीक्ष्य ताः॥ ३१ ॥
अब्रुवन् दीनकण्ठेन क्षिप्रमाद्रवतेति वै ।
राक्षसो वा मनुष्यो वा नैनं जानीमहे वयम् ॥ ३२ ॥
हत्वा पाञ्चालराजानं रथमारुह्य तिष्ठति ।

राजन् ! वे सारी स्त्रियाँ अश्वत्थामाको देखकर बहुत डर गयी थीं; अतः दीन कण्ठसे बोलीं—'अरे ! जल्दी दौड़ो ! जल्दी दौड़ो ! हमारी समझमें नहीं आता कि यह कोई राक्षस है या मनुष्य । देखो, यह पाञ्चालराजकी हत्या करके रथपर चढ़कर खड़ा है' ॥ ३१-३२½ ॥

ततस्ते योधमुख्याश्च सहसा पर्यवारयन् ॥ ३३ ॥
स तानापततः सर्वान् रुद्रास्त्रेण व्यपोथयत् ।

तब उन श्रेष्ठ योद्धाओंने सहसा पहुँचकर अश्वत्थामाको चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अश्वत्थामाने पास आते ही उन सबको रुद्रास्त्रसे मार गिराया ॥ ३३½ ॥

धृष्टद्युम्नं च हत्वा स तांश्चैवास्य पदानुगान् ॥ ३४ ॥
अपश्यच्छयने सुप्तमुत्तमौजसमन्तिके ।

इस प्रकार धृष्टद्युम्न और उसके सेवकोंका वध करके अश्वत्थामाने निकटके ही खेमेमें पलंगपर सोये हुए उत्त-मौजाको देखा ॥ ३४½ ॥

तमप्याक्रम्य पादेन कण्ठे चोरसि तेजसा ॥ ३५ ॥
तथैव मारयामास विनर्दन्तमरिंदमम् ।

फिर तो शत्रुदमन उत्तमौजाके भी कण्ठ और छातीको बलपूर्वक पैरसे दबाकर उसने उसी प्रकार पशुकी तरह मार डाला । वह बेचारा भी चीखता-चिल्लाता रह गया था ॥

युधामन्युश्च सम्प्राप्तो मत्वा तं रक्षसा हतम् ॥ ३६ ॥
गदामुद्यम्य वेगेन हृदि द्रौणिमताडयत् ।

उत्तमौजाको राक्षसद्वारा मारा गया समझकर युधामन्यु भी वहाँ आ पहुँचा । उसने बड़े वेगसे गदा उठाकर अश्व-त्थामाकी छातीमें प्रहार किया ॥ ३६½ ॥

तमभिद्रुत्य जग्राह क्षितौ चैनमपातयत् ॥ ३७ ॥
विस्फुरन्तं च पशुवत् तथैवैनममारयत् ।

अश्वत्थामाने झपटकर उसे पकड़ लिया और पृथ्वीपर दे मारा । वह उसके चंगुलसे छूटनेके लिये बहुतेरा हाथ-पैर मारता रहा; किंतु अश्वत्थामाने उसे भी पशुकी तरह गला घोंटकर मार डाला ॥ ३७½ ॥

तथा स वीरो हत्वा तं ततोऽन्यान् समुपाद्रवत् ॥३८॥
संसुप्तानेव राजेन्द्र तत्र तत्र महारथान् ।
स्फुरतो वेपमानांश्च शमितेव पशून् मखे ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार युधामन्युका वध करके वीर अश्वत्थामाने अन्य महारथियोंपर भी वहाँ सोते समय ही आक्रमण किया । वे सब भयसे काँपने और छटपटाने लगे । परंतु जैसे हिंसाप्रधान यज्ञमें वधके लिये नियुक्त हुआ पुरुष पशुओंको मार डालता है, उसी प्रकार उसने भी उन्हें मार डाला ॥ ३८-३९ ॥

ततो निस्त्रिंशमादाय जघानान्यान् पृथक् पृथक् ।
भागशो विचरन् मार्गानसियुद्धविशारदः ॥ ४० ॥

तदनन्तर तलवारसे युद्ध करनेमें कुशल अश्वत्थामाने

हाथमें खड्ग लेकर प्रत्येक भागमें विभिन्न मार्गोंसे विचरते हुए वहाँ बारी-बारीसे अन्य वीरोंका भी वध कर डाला ॥ ४० ॥

तथैव गुल्मे सम्प्रेक्ष्य शयानान् मध्यगौल्मिकान् ।
श्रान्तान् व्यस्तायुधान् सर्वान् क्षणेनैव व्यपोथयत् ॥

इसी प्रकार खेमेमें मध्य श्रेणीके रक्षक सैनिक भी थककर सो रहे थे। उनके अस्त्र-शस्त्र अस्त-व्यस्त होकर पड़े थे। उन सबको उस अवस्थामें देखकर अश्वत्थामाने क्षणभरमें मार डाला ॥ ४१ ॥

योधानश्वान् द्विपांश्चैव प्राच्छिनत् स वरासिना ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गः कालसृष्ट इवान्तकः ॥ ४२॥

उसने अपनी अच्छी तलवारसे योद्धाओं, घोड़ों और हाथियोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे, वह कालप्रेरित यमराजके समान जान पड़ता था ॥ ४२ ॥

विस्फुरद्भिश्च तैर्द्रौणिर्निस्त्रिंशस्योद्यमेन च ।
आक्षेपणेन चैवासेस्त्रिधा रक्तोक्षितोऽभवत् ॥ ४३ ॥

मारे जानेवाले योद्धाओंका हाथ-पैर हिलाना, उन्हें मारनेके लिये तलवारको उठाना तथा उसके द्वारा सब ओर प्रहार करना—इन तीन कारणोंसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा खूनसे नहा गया था ॥ ४३ ॥

तस्य लोहितरक्तस्य दीप्तखड्गस्य युध्यतः ।
अमानुष इवाकारो बभौ परमभीषणः ॥ ४४ ॥

वह खूनसे रँग गया था। जूझते हुए उस वीरकी तलवार चमक रही थी। उस समय उसका आकार मानवेतर प्राणीके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ ४४ ॥

ये त्वजाग्रन्त कौरव्य तेऽपि शब्देन मोहिताः ।
निरीक्ष्यमाणा अन्योन्यं दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रविव्यथुः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! जो जाग रहे थे, वे भी उस कोलाहलसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये थे। परस्पर देखे जाते हुए वे सभी सैनिक अश्वत्थामाको देख-देखकर व्यथित हो रहे थे ॥

तद् रूपं तस्य ते दृष्ट्वा क्षत्रियाः शत्रुकर्षिणः ।
राक्षसं मन्यमानास्तं नयनानि न्यमीलयन् ॥ ४६ ॥

वे शत्रुसूदन क्षत्रिय अश्वत्थामाका वह रूप देख उसे राक्षस समझकर आँखें मूँद लेते थे ॥ ४६ ॥

स घोररूपो व्यचरत् कालवच्छिबिरे ततः ।
अपश्यद् द्रौपदीपुत्रानवशिष्टांश्च सोमकान् ॥ ४७ ॥

वह भयानक रूपधारी द्रोणकुमार सारे शिविरमें कालके समान विचरने लगा। उसने द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और मरनेसे बचे हुए सोमकोंको देखा ॥ ४७ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता धनुर्हस्ता महारथाः ।
धृष्टद्युम्नं हतं श्रुत्वा द्रौपदेया विशाम्पते ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! धृष्टद्युम्नको मारा गया सुनकर द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र उस शब्दसे भयभीत हो हाथमें धनुष लिये आगे बढ़े ॥ ४८ ॥

अवाकिरञ्शरव्रातैर्भारद्वाजमभीतवत् ।
ततस्तेन निनादेन सम्प्रबुद्धाः प्रभद्रकाः ॥ ४९ ॥
शिलीमुखैः शिखण्डी च द्रोणपुत्रं समार्दयन् ।

उन्होंने निर्भयसे होकर अश्वत्थामापर बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। तदनन्तर वह कोलाहल सुनकर वीर प्रभद्रकगण जाग उठे। शिखण्डी भी उनके साथ हो लिया। उन सबने द्रोणपुत्रको पीड़ा देना आरम्भ किया ४९½

भारद्वाजः स तान् दृष्ट्वा शरवर्षाणि वर्षतः ॥ ५० ॥
ननाद बलवन्नादं जिघांसुस्तान् महारथान् ।

उन महारथियोंको बाणोंकी वर्षा करते देख अश्वत्थामा उन्हें मार डालनेकी इच्छासे जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ५०½ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ॥ ५१ ॥
अवरुह्य रथोपस्थात् त्वरमाणोऽभिदुद्रुवे ।
सहस्रचन्द्रविमलं गृहीत्वा चर्म संयुगे ॥ ५२ ॥
खड्गं च विमलं दिव्यं जातरूपपरिष्कृतम् ।

तदनन्तर पिताके वधका स्मरण करके वह अत्यन्त कुपित हो उठा और रथकी बैठकसे उतरकर सहस्रों चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त चमकीली ढाल और सुवर्णभूषित दिव्य एवं निर्मल खड्ग लेकर युद्धमें बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़ा ॥ ५१-५२½ ॥

द्रौपदेयानभिद्रुत्य खड्गेन व्यधमद् बली ॥ ५३ ॥
ततः स नरशार्दूलः प्रतिविन्ध्यं महाहवे ।
कुक्षिदेशेऽवधीद् राजन् स हतो न्यपतद् भुवि॥ ५४ ॥

उस बलवान् वीरने द्रौपदीके पुत्रोंपर आक्रमण करके उन्हें खड्गसे छिन्न-भिन्न कर दिया। राजन् ! उस समय पुरुषसिंह अश्वत्थामाने उस महासमरमें प्रतिविन्ध्यको उसकी कोखमें तलवार भोंककर मार डाला। वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५३-५४ ॥

प्रासेन विद्ध्वा द्रौणिं तु सुतसोमः प्रतापवान् ।
पुनश्चासिं समुद्यम्य द्रोणपुत्रमुपाद्रवत् ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् प्रतापी सुतसोमने द्रोणकुमारको पहले प्राससे घायल करके फिर तलवार उठाकर उसपर धावा किया ॥

सुतसोमस्य सासिं तं बाहुं छित्त्वा नरर्षभ ।
पुनरप्याहनत् पार्श्वे स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ ५६ ॥

नरश्रेष्ठ ! तब अश्वत्थामाने तलवारसहित सुतसोमकी बाँह काटकर पुनः उसकी पसलीमें आघात किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह धराशायी हो गया ॥ ५६॥

नाकुलिस्तु शतानीको रथचक्रेण वीर्यवान् ।
दोर्भ्यामुत्क्षिप्य वेगेन वक्षस्येनमताडयत् ॥ ५७ ॥

इसके बाद नकुलके पराक्रमी पुत्र शतानीकने अपनी दोनों भुजाओंसे रथचक्रको उठाकर उसके द्वारा बड़े वेगसे अश्वत्थामाकी छातीपर प्रहार किया ॥ ५७ ॥

अताडयच्छतानीकं मुक्तचक्रं द्विजस्तु सः ।
स विह्वलो ययौ भूमिं ततोऽस्यापाहरच्छिरः ॥ ५८ ॥

शतानीकने जब चक्र चला दिया, तब ब्राह्मण अश्व-

त्थामाने भी उसपर गहरा आघात किया । इससे व्याकुल होकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । इतनेहीमें अश्वत्थामाने उसका सिर काट लिया ॥ ५८ ॥

श्रुतकर्मा तु परिघं गृहीत्वा समताडयत् ।
अभिद्रुत्य ययौ द्रौणिं सव्ये सफलके भृशम् ॥ ५९ ॥

अब श्रुतकर्मा परिघ लेकर अश्वत्थामाकी ओर दौड़ा । उसने उसके ढालयुक्त बायें हाथमें भारी चोट पहुँचायी ॥

स तु तं श्रुतकर्माणमास्ये जघ्ने वरासिना ।
स हतो न्यपतद् भूमौ विमूढो विकृताननः ॥ ६० ॥

अश्वत्थामाने अपनी तेज तलवारसे श्रुतकर्माके मुखपर आघात किया । वह चोट खाकर बेहोश हो पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय उसका मुख विकृत हो गया था ॥ ६० ॥

तेन शब्देन वीरस्तु श्रुतकीर्तिर्महारथः ।
अश्वत्थामानमासाद्य शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ६१ ॥

वह कोलाहल सुनकर वीर महारथी श्रुतकीर्ति अश्वत्थामाके पास आकर उसके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥६१॥

तस्यापि शरवर्षाणि चर्मणा प्रतिवार्य सः ।
सकुण्डलं शिरः कायाद् भ्राजमानमुपाहरत् ॥ ६२ ॥

उसकी बाण-वर्षाको ढालसे रोककर अश्वत्थामाने उसके कुण्डलमण्डित तेजस्वी मस्तकको धड़से अलग कर दिया ६२

ततो भीष्मनिहन्ता तं सह सर्वैः प्रभद्रकैः ।
अहनत् सर्वतो वीरं नानाप्रहरणैर्बली ॥ ६३ ॥
शिलीमुखेन चान्येन भ्रुवोर्मध्ये समार्पयत् ।

तदनन्तर समस्त प्रभद्रकोंसहित बलवान् भीष्महन्ता शिखण्डी नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा अश्वत्थामापर सब ओरसे प्रहार करने लगा तथा एक दूसरे बाणसे उसने उसकी दोनों भौंहोंके बीचमें आघात किया ॥ ६३½ ॥

स तु क्रोधसमाविष्टो द्रोणपुत्रो महाबलः ॥ ६४ ॥
शिखण्डिनं समासाद्य द्विधा चिच्छेद सोऽसिना।

तब महाबली द्रोणपुत्रने क्रोधके आवेशमें आकर शिखण्डीके पास जा अपनी तलवारसे उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ६४½ ॥

शिखण्डिनं ततो हत्वा क्रोधाविष्टः परंतपः ॥ ६५ ॥
प्रभद्रकगणान् सर्वानभिदुद्राव वेगवान् ।
यच्च शिष्टं विराटस्य बलं तु भृशमाद्रवत् ॥ ६६ ॥

क्रोधसे भरे हुए शत्रुसंतापी अश्वत्थामाने इस प्रकार शिखण्डीका वध करके समस्त प्रभद्रकोंपर बड़े वेगसे धावा किया । साथ ही, राजा विराटकी जो सेना शेष थी, उसपर भी जोरसे चढ़ाई कर दी ॥ ६५-६६ ॥

द्रुपदस्य च पुत्राणां पौत्राणां सुहृदामपि ।
चकार कदनं घोरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाबलः ॥ ६७ ॥

उस महाबली वीरने द्रुपदके पुत्रों, पौत्रों और सुहृदोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका घोर संहार मचा दिया ॥६७॥

अन्यानन्यांश्च पुरुषानभिसृत्याभिसृत्य च ।
न्यकृन्तदसिना द्रौणिरसिमार्गविशारदः ॥ ६८ ॥

तलवारके पैंतरोंमें कुशल द्रोणपुत्रने दूसरे-दूसरे पुरुषोंके भी निकट जाकर तलवारसे ही उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ६८ ॥

कालीं रक्तास्यनयनां रक्तमाल्यानुलेपनाम् ।
रक्ताम्बरधरामेकां पाशहस्तां कुटुम्बिनीम् ॥ ६९ ॥
ददृशुः कालरात्रिं ते गायमानामवस्थिताम् ।
नराश्वकुञ्जरान् पाशैर्बद्ध्वा घोरैः प्रतस्थुषीम्॥ ७० ॥

उस समय पाण्डव-पक्षके योद्धाओंने मूर्तिमती कालरात्रिको देखा, जिसके शरीरका रंग काला था, मुख और नेत्र लाल थे । वह लाल फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये हुए थी । उसने लाल रंगकी ही साड़ी पहन रक्खी थी । वह अपने ढंगकी अकेली थी और हाथमें पाश लिये हुए थी । उसकी सखियोंका समुदाय भी उसके साथ था । वह गीत गाती हुई खड़ी थी और भयंकर पाशोंद्वारा मनुष्यों, घोड़ों एवं हाथियोंको बाँधकर लिये जाती थी ॥ ६९-७० ॥

वहन्तीं विविधान् प्रेतान् पाशबद्धान् विमूर्धजान्।
तथैव च सदा राजन् न्यस्तशस्त्रान् महारथान्॥ ७१ ॥
स्वप्ने सुप्तान्नयन्तीं तां रात्रिष्वन्यासु मारिष ।
ददृशुर्योधमुख्यास्ते घ्नन्तं द्रौणिं च सर्वदा ॥ ७२ ॥

माननीय नरेश ! मुख्य-मुख्य योद्धा अन्य रात्रियोंमें भी सपनेमें उस कालरात्रिको देखते थे । राजन् ! वह सदा नाना प्रकारके केशरहित प्रेतोंको अपने पाशोंमें बाँधकर लिये जाती दिखायी देती थी, इसी प्रकार हथियार डालकर सोये हुए महारथियोंको भी लिये जाती हुई स्वप्नमें दृष्टिगोचर होती थी। वे योद्धा सबका संहार करते हुए द्रोणकुमारको भी सदा सपनोंमें देखा करते थे ॥ ७१-७२ ॥

यतः प्रभृति संग्रामः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
ततः प्रभृति तां कन्यामपश्यन् द्रौणिमेव च ॥ ७३ ॥
तांस्तु दैवहतान् पूर्वं पश्चाद् द्रौणिर्न्यपातयत् ।
त्रासयन् सर्वभूतानि विनदन् भैरवान् रवान् ॥ ७४ ॥

जबसे कौरव-पाण्डव सेनाओंका संग्राम आरम्भ हुआ था, तभीसे वे योद्धा कन्यारूपिणी कालरात्रिको और कालरूपधारी अश्वत्थामाको भी देखा करते थे । पहलेसे ही दैवके मारे हुए उन वीरोंका द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पीछे वध किया था । वह अश्वत्थामा भयानक स्वरसे गर्जना करके समस्त प्राणियोंको भयभीत कर रहा था ॥ ७३-७४ ॥

तदनुस्मृत्य ते वीरा दर्शनं पूर्वकालिकम् ।
इदं तदित्यमन्यन्त दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ७५ ॥

वे दैवपीडित वीरगण पूर्वकालके देखे हुए सपनेको याद करके ऐसा मानने लगे कि 'यह वही स्वप्न इस रूपमें सत्य हो रहा है' ॥ ७५ ॥

ततस्तेन निनादेन प्रत्यबुद्ध्यन्त धन्विनः ।
शिबिरे पाण्डवेयानां शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७६ ॥

तदनन्तर अश्वत्थामाके उस सिंहनादसे पाण्डवोंके शिबिरमें सैकड़ों और हजारों धनुर्धर वीर जाग उठे ॥ ७६ ॥

सोऽच्छिनत् कस्यचित् पादौ जघनं चैव कस्यचित् ।
कांश्चिद् बिभेद पार्श्वेषु कालसृष्ट इवान्तकः ॥ ७७ ॥

उस समय कालप्रेरित यमराजके समान उसने किसीके पैर काट लिये, किसीकी कमर टूक-टूक कर दी और किन्हींकी पसलियोंमें तलवार भोंककर उन्हें चीर डाला ॥ ७७ ॥

अत्युग्रप्रतिपिष्टैश्च नदद्भिश्च भृशोत्कटैः ।
गजाश्वमथितैश्चान्यैर्मही कीर्णाभवत् प्रभो ॥ ७८ ॥

वे सब-के-सब बड़े भयानक रूपसे कुचल दिये गये थे, अतः उन्मत्त-से होकर जोर-जोरसे चीखते और चिल्लाते थे। इसी प्रकार छूटे हुए घोड़ों और हाथियोंने भी अन्य बहुत-से योद्धाओंको कुचल दिया था। प्रभो! उन सबकी लाशोंसे धरती पट गयी थी ॥ ७८ ॥

क्रोशतां किमिदं कोऽयं कः शब्दः किं नु किं कृतम् ।
एवं तेषां तथा द्रौणिरन्तकः समपद्यत ॥ ७९॥

घायल वीर चिल्ला चिल्लाकर कहते थे कि 'यह क्या है? यह कौन है? यह कैसा कोलाहल हो रहा है? यह क्या कर डाला?' इस प्रकार चीखते हुए उन सब योद्धाओंके लिये द्रोणकुमार अश्वत्थामा काल बन गया था ॥ ७९ ॥

अपेतशस्त्रसन्नाहान् सन्नद्धान् पाण्डुसृंजयान् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय द्रौणिः प्रहरतां वरः ॥ ८० ॥

पाण्डवों और सृंजयोंमेंसे जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र और कवच उतार दिये थे तथा जिन लोगोंने पुनः कवच बाँध लिये थे, उन सबको प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोणपुत्रने मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥ ८० ॥

ततस्तच्छब्दवित्रस्ता उत्पतन्तो भयातुराः ।
निद्रान्धा नष्टसंज्ञाश्च तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ ८१ ॥

जो लोग नींदके कारण अंधे और अचेत-से हो रहे थे, वे उसके शब्दसे चौंककर उछल पड़े; किंतु पुनः भयसे व्याकुल हो जहाँ-तहाँ छिप गये ॥ ८१ ॥

ऊरुस्तम्भगृहीताश्च कश्मलाभिहतौजसः ।
विनदन्तो भृशं त्रस्ताः समासीदन् परस्परम् ॥ ८२ ॥

उनकी जाँघें अकड़ गयी थीं। मोहवश उनका बल और उत्साह मारा गया था। वे भयभीत हो जोर-जोरसे चीखते हुए एक दूसरेसे लिपट जाते थे ॥ ८२ ॥

ततो रथं पुनर्द्रौणिरास्थितो भीमनिःस्वनम् ।
धनुष्पाणिः शरैरन्यान् प्रैषयद् वै यमक्षयम् ॥ ८३ ॥

इसके बाद द्रोणकुमार अश्वत्थामा पुनः भयानक शब्द करनेवाले अपने रथपर सवार हुआ और हाथमें धनुष ले बाणोंद्वारा दूसरे योद्धाओंको यमलोक भेजने लगा ॥ ८३ ॥

पुनरुत्पततश्चापि दूरादपि नरोत्तमान् ।
शूरान् सम्पततश्चान्यान् कालरात्र्यै न्यवेदयत् ॥ ८४॥

अश्वत्थामा पुनः उछलने और अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले दूसरे-दूसरे नरश्रेष्ठ शूरवीरोंको दूरसे भी मारकर कालरात्रिके हवाले कर देता था ॥ ८४ ॥

तथैव स्यन्दनाग्रेण प्रमथन् स विधावति ।
शरवर्षैश्च विविधैरवर्षच्छात्रवांस्ततः ॥ ८५ ॥

वह अपने रथके अग्रभागसे शत्रुओंको कुचलता हुआ सब ओर दौड़ लगाता और नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षासे शत्रुसैनिकोंको घायल करता था ॥ ८५ ॥

पुनश्च सुविचित्रेण शतचन्द्रेण चर्मणा ।
तेन चाकाशवर्णेन तथाचरत सोऽसिना ॥ ८६ ॥

फिर वह सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त विचित्र ढाल और आकाशके रंगवाली चमचमाती तलवार लेकर सब ओर विचरने लगा ॥ ८६ ॥

तथा च शिबिरं तेषां द्रौणिराहवदुर्मदः ।
व्यक्षोभयत राजेन्द्र महाह्रदमिव द्विपः ॥ ८७ ॥

राजेन्द्र! रणदुर्मद द्रोणकुमारने उन शत्रुओंके शिबिरको उसी प्रकार मथ डाला, जैसे कोई गजराज किसी विशाल सरोवरको विक्षुब्ध कर डालता है ॥ ८७ ॥

उत्पेतुस्तेन शब्देन योधा राजन् विचेतसः ।
निद्रार्ताश्च भयार्ताश्च व्यधावन्त ततस्ततः ॥ ८८ ॥

राजन्! उस मार-काटके कोलाहलसे निद्रामें अचेत पड़े हुए योद्धा चौंककर उछल पड़ते और भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भागने लगते थे ॥ ८८ ॥

विस्वरं चुक्रुशुश्चान्ये बह्वबद्धं तथा वदन् ।
न च स्म प्रत्यपद्यन्त शस्त्राणि वसनानि च ॥ ८९ ॥

कितने ही योद्धा गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते और बहुत-सी उटपटाँग बातें बकने लगते थे। वे अपने अस्त्र-शस्त्र तथा वस्त्रोंको भी नहीं ढूँढ़ पाते थे ॥ ८९ ॥

विमुक्तकेशाश्चाप्यन्ये नाभ्यजानन् परस्परम् ।
उत्पतन्तोऽपतञ्श्रान्ताः केचित् तत्राभ्रमंस्तदा॥ ९० ॥

दूसरे बहुत-से योद्धा बाल बिखेरे हुए भागते थे। उस दशामें वे एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे। कोई उछलते हुए भागते और थककर गिर जाते थे तथा कोई उसी स्थानपर चक्कर काटते रहते थे ॥ ९० ॥

पुरीषमसृजन् केचित् केचिन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
बन्धनानि च राजेन्द्र संछिद्य तुरगा द्विपाः ॥ ९१ ॥
समं पर्यपतंश्चान्ये कुर्वन्तो महदाकुलम् ।

कितने ही मलत्याग करने लगे। कितनोंके पेशाब झड़ने लगे। राजेन्द्र! दूसरे बहुत से घोड़े और हाथी बन्धन तोड़-कर एक साथ ही सब ओर दौड़ने और लोगोंको अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ९१½ ॥

तत्र केचिन्नरा भीता व्यलीयन्त महीतले ॥ ९२ ॥
तथैव तान् निपतितानपिंषन् गजवाजिनः ।

कितने ही योद्धा भयभीत हो पृथ्वीपर छिपे पड़े थे। उन्हें उसी अवस्थामें भागते हुए घोड़ों और हाथियोंने अपने पैरोंसे कुचल दिया ॥ ९२½ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रक्षांसि पुरुषर्षभ ॥ ९३ ॥
हृष्टानि व्यनदन्नुच्चैर्मुदा भरतसत्तम ।

पुरुषप्रवर! भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार जब वह मारकाट

मची हुई थी, उस समय हर्षमें भरे हुए राक्षस बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ ९३½ ॥

स शब्दः पूरितो राजन् भूतसंघैर्मुदायुतैः ॥ ९४ ॥
अपूरयद् दिशः सर्वा दिवं चातिमहान् स्वनः ।

राजन्! आनन्दमग्न हुए भूतसमुदायोंके द्वारा किया हुआ वह महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओं तथा आकाशमें गूँज उठा ॥ ९४½ ॥

तेषामार्तरवं श्रुत्वा वित्रस्ता गजवाजिनः ॥ ९५ ॥
मुक्ताः पर्यपतन् राजन् मृद्नन्तः शिविरे जनम् ।

राजन्! मारे जानेवाले योद्धाओंका आर्तनाद सुनकर हाथी और घोड़े भयसे थर्रा उठे और बन्धनमुक्त हो शिविरमें रहनेवाले लोगोंको रौंदते हुए चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ ९५½ ॥

तैस्तत्र परिधावद्भिश्चरणोदीरितं रजः ॥ ९६ ॥
अकरोच्छिबिरे तेषां रजन्यां द्विगुणं तमः ।

उन दौड़ते हुए घोड़ों और हाथियोंने अपने पैरोंसे जो धूल उड़ायी थी, उसने पाण्डवोंके शिविरमें रात्रिके अन्धकारको दुगुना कर दिया ॥ ९६½ ॥

तस्मिंस्तमसि संजाते प्रमूढाः सर्वतो जनाः ॥ ९७ ॥
नाजानन् पितरः पुत्रान् भ्रातॄन् भ्रातर एव च ।

वह घोर अन्धकार फैल जानेपर वहाँ सब लोगोंपर मोह छा गया। उस समय पिता पुत्रोंको और भाई भाइयोंको नहीं पहचान पाते थे ॥ ९७½ ॥

गजा गजानतिक्रम्य निर्मनुष्या हया हयान् ॥ ९८ ॥
अताडयंस्तथाभञ्जंस्तथामृद्नंश्च भारत ।

भारत! हाथी हाथियोंपर और बिना सवारके घोड़े घोड़ोंपर आक्रमण करके एक दूसरेपर चोट करने लगे। उन्होंने अङ्ग-भंग करके एक दूसरेको रौंद डाला ॥ ९८½ ॥

ते भग्नाः प्रपतन्ति स्म निघ्नन्तश्च परस्परम् ॥ ९९ ॥
न्यपातयंस्तथा चान्यान् पातयित्वा तदापिषन् ।

परस्पर आघात करते हुए वे हाथी, घोड़े स्वयं भी घायल होकर गिर जाते थे तथा दूसरोंको भी गिरा देते और गिराकर उनका कचूमर निकाल देते थे ॥ ९९½ ॥

विचेतसः सनिद्राश्च तमसा चावृता नराः ॥ १०० ॥
जघ्नुः स्वानेव तत्राथ कालेनैव प्रचोदिताः ।

कितने ही मनुष्य निद्रामें अचेत पड़े थे और घोर अन्धकारसे घिर गये थे। वे सहसा उठकर कालसे प्रेरित हो आत्मीय जनोंका ही वध करने लगे ॥ १००½ ॥

त्यक्त्वा द्वाराणि च द्वाःस्थास्तथा गुल्मानि गौल्मिकाः ॥
प्राद्रवन्त यथाशक्ति कांदिशीका विचेतसः ।

द्वारपाल दरवाजोंको और तम्बूकी रक्षा करनेवाले सैनिक तम्बुओंको छोड़कर यथाशक्ति भागने लगे। वे सब-के-सब अपनी सुध-बुध खो बैठे थे और यह भी नहीं जानते थे कि 'उन्हें किस दिशामें भागकर जाना है' ॥ १०१½ ॥

विप्रणष्टाश्च तेऽन्योन्यं नाजानन्त तथा विभो ॥ १०२ ॥
क्रोशन्तस्तात पुत्रेति दैवोपहतचेतसः ।

प्रभो! वे भागे हुए सैनिक एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे। दैववश उनकी बुद्धि मारी गयी थी। वे 'हा तात! हा पुत्र!' कहकर अपने स्वजनोंको पुकार रहे थे ॥ १०२½ ॥

पलायतां दिशस्तेषां स्वानप्युत्सृज्य बान्धवान् ॥ १०३ ॥
गोत्रनामभिरन्योन्यमाक्रन्दन्त ततो जनाः ।
हाहाकारं च कुर्वाणाः पृथिव्यां शेरते परे ॥ १०४ ॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए योद्धाओंके नाम और गोत्रको पुकार-पुकारकर लोग परस्पर बुला रहे थे। कितने ही मनुष्य हाहाकार करते हुए धरतीपर पड़ गये थे ॥ १०३-१०४ ॥

तान् बुद्ध्वा रणमत्तोऽसौ द्रोणपुत्रो व्यपोथयत् ।
तत्रापरे वध्यमाना मुहुर्मुहुरचेतसः ॥ १०५ ॥
शिबिरान् निष्पतन्ति स्म क्षत्रिया भयपीडिताः ।

युद्धके लिये उन्मत्त हुआ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा उन सबको पहचान-पहचानकर मार गिराता था। बारंबार उसकी मार खाते हुए दूसरे बहुत-से क्षत्रिय भयसे पीड़ित और अचेत हो शिविरसे बाहर निकलने लगे ॥ १०५½ ॥

तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्तान् शिबिराज्जीवितैषिणः ॥ १०६ ॥
कृतवर्मा कृपश्चैव द्वारदेशे निजघ्नतुः ।

प्राण बचानेकी इच्छासे भयभीत हो शिविरसे निकले हुए उन क्षत्रियोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यने दरवाजेपर ही मार डाला ॥ १०६½ ॥

विस्रस्तयन्त्रकवचान् मुक्तकेशान् कृताञ्जलीन् ॥ १०७ ॥
वेपमानान् क्षितौ भीतान् नैव कांश्चिदमुञ्चताम् ।
नामुच्यत तयोः कश्चिन्निष्क्रान्तः शिबिराद् बहिः ॥

उनके यन्त्र और कवच गिर गये थे। वे बाल खोले, हाथ जोड़े, भयभीत हो थरथर काँपते हुए पृथ्वीपर खड़े थे, किंतु उन दोनोंने उनमेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ा। शिविरसे निकला हुआ कोई भी क्षत्रिय उन दोनोंके हाथसे जीवित नहीं छूट सका ॥ १०७-१०८ ॥

कृपश्चैव महाराज हार्दिक्यश्चैव दुर्मतिः ।
भूयश्चैव चिकीर्षन्तौ द्रोणपुत्रस्य तौ प्रियम् ॥ १०९ ॥
त्रिषु देशेषु ददतुः शिबिरस्य हुताशनम् ।

महाराज! कृपाचार्य तथा दुर्बुद्धि कृतवर्मा दोनों ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामाका अधिक-से-अधिक प्रिय करना चाहते थे; अतः उन्होंने उस शिविरमें तीन ओरसे आग लगा दी ॥ १०९½ ॥

ततः प्रकाशे शिबिरे खड्गेन पितृनन्दनः ॥ ११० ॥
अश्वत्थामा महाराज व्यचरत् कृतहस्तवत् ।

महाराज! उससे सारे शिविरमें उजाला हो गया और उस उजालेमें पिताको आनन्दित करनेवाला अश्वत्थामा हाथमें खड्ग लिये एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति बेखटके विचरने लगा ॥ ११०½ ॥

कांश्चिदापततो वीरानपरांश्चैव धावतः ॥ १११ ॥

व्ययोजयत खड्गेन प्राणैर्द्विजवरोत्तमः ।

उस समय कुछ वीर क्षत्रिय आक्रमण कर रहे थे और दूसरे पीठ दिखाकर भागे जा रहे थे। ब्राह्मणशिरोमणि अश्वत्थामाने उन दोनों ही प्रकारके योद्धाओंको तलवारसे मारकर प्राणहीन कर दिया ॥ १११½ ॥

कांश्चिद् योधान् स खड्गेन मध्ये संछिद्य वीर्यवान् ॥११२॥
अपातयद् द्रोणपुत्रः संरब्धस्तिलकाण्डवत् ।

क्रोधसे भरे हुए शक्तिशाली द्रोणपुत्रने कुछ योद्धाओंको तिलके डंठलोंकी भाँति बीचसे ही तलवारसे काट गिराया ॥

निनदद्भिर्भृशायस्तैर्नराश्वद्विरदोत्तमैः ॥११३॥
पतितैरभवत् कीर्णा मेदिनी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिरकर चिल्लाते हुए मनुष्यों, घोड़ों और बड़े-बड़े हाथियोंसे वहाँकी भूमि ढँक गयी थी ॥ ११३½ ॥

मानुषाणां सहस्रेषु हतेषु पतितेषु च ॥११४॥
उदतिष्ठन् कबन्धानि बहून्युत्थाय चापतन् ।

सहस्रों मनुष्य मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े थे। उनमेंसे बहुतेरे कबन्ध (धड़) उठकर खड़े हो जाते और पुनः गिर पड़ते थे ॥ ११४½ ॥

सायुधान् साङ्गदान् बाहून् विचकर्त शिरांसि च ॥११५॥
हस्तिहस्तोपमानूरून् हस्तान् पादांश्च भारत ।

भारत ! उसने आयुधों और भुजबंदोंसहित बहुत-सी भुजाओं तथा मस्तकोंको काट डाला। हाथीकी सूँडके समान दिखायी देनेवाली जाँघों, हाथों और पैरोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ११५½ ॥

पृष्ठच्छिन्नान् पार्श्वच्छिन्नाञ्शिरश्छिन्नांस्तथा परान्११६
स महात्माकरोद् द्रौणिः कांश्चिच्चापि पराङ्मुखान् ।

महामनस्वी द्रोणकुमारने किन्हींकी पीठ काट डाली, किन्हींकी पसलियाँ उड़ा दीं, किन्हींके सिर उतार लिये तथा कितनोंको उसने मार भगाया ॥ ११६½ ॥

मध्यदेशे नरानन्यांश्चिच्छेदान्यांश्च कर्णतः ॥११७॥
अंसदेशे निहत्यान्यान् काये प्रावेशयच्छिरः ।

बहुत-से मनुष्योंको अश्वत्थामाने कटिभागसे ही काट डाला और कितनोंको कर्णहीन कर दिया। दूसरे-दूसरे योद्धाओंके कंधेपर चोट करके उनके सिरको धड़में घुसेड़ दिया ॥ ११७½ ॥

एवं विचरतस्तस्य निघ्नतः सुबहून् नरान् ॥११८॥
तमसा रजनी घोरा बभौ दारुणदर्शना ।

इस प्रकार अनेकों मनुष्योंका संहार करता हुआ वह शिविरमें विचरण करने लगा। उस समय दारुण दिखायी देनेवाली वह रात्रि अन्धकारके कारण और भी घोर तथा भयानक प्रतीत होती थी ॥ ११८½ ॥

किञ्चित्प्राणैश्च पुरुषैर्हतैश्चान्यैः सहस्रशः ॥११९॥
बहुना च गजाश्वेन भूरभूद् भीमदर्शना ।

मरे और अधमरे सहस्रों मनुष्यों और बहुसंख्यक हाथी-घोड़ोंसे पटी हुई भूमि बड़ी डरावनी दिखायी देती थी ॥

यक्षरक्षःसमाकीर्णे रथाश्वद्विपदारुणे ॥१२०॥
क्रुद्धेन द्रोणपुत्रेण संछिन्नाः प्रापतन् भुवि ।

यक्षों तथा राक्षसोंसे भरे हुए एवं रथों, घोड़ों और हाथियोंसे भयंकर दिखायी देनेवाले रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणपुत्रके हाथोंसे कटकर कितने ही क्षत्रिय पृथ्वीपर पड़े थे॥

भ्रातॄनन्ये पितॄनन्ये पुत्रानन्ये विचुक्रुशुः ॥१२१॥
केचिदूचुर्न तत् क्रुद्धैर्धार्तराष्ट्रैः कृतं रणे ।
यत् कृतं नः प्रसुप्तानां रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ॥१२२॥

कुछ लोग भाइयोंको, कुछ पिताओंको और दूसरे लोग पुत्रोंको पुकार रहे थे। कुछ लोग कहने लगे—'भाइयो ! रोषमें भरे हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी रणभूमिमें हमारी वैसी दुर्गति नहीं की थी, जो आज इन क्रूरकर्मा राक्षसोंने हम सोये हुए लोगोंकी कर डाली है ॥ १२१-१२२ ॥

असांनिध्याद्धि पार्थानामिदं नः कदनं कृतम् ।
न चासुरैर्न गन्धर्वैर्न च यक्षैर्न च राक्षसैः ॥१२३॥
शक्यो विजेतुं कौन्तेयो गोप्ता यस्य जनार्दनः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवाग् दान्तः सर्वभूतानुकम्पकः ॥१२४॥

'आज कुन्तीके पुत्र हमारे पास नहीं हैं, इसीलिये हमलोगोंका यह संहार किया गया है। कुन्तीपुत्र अर्जुनको तो असुर, गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षस कोई भी नहीं जीत सकते; क्योंकि साक्षात् श्रीकृष्ण उनके रक्षक हैं। वे ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, जितेन्द्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंपर दया करनेवाले हैं ॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा न्यस्तशस्त्रं कृताञ्जलिम् ।
धावन्तं मुक्तकेशं वा हन्ति पार्थो धनंजयः ॥१२५॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन सोये हुए, असावधान, शस्त्रहीन, हाथ जोड़े हुए, भागते हुए अथवा बाल खोलकर दीनता दिखाते हुए मनुष्यको कभी नहीं मारते हैं ॥ १२५ ॥

तदिदं नः कृतं घोरं रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ।
इति लालप्यमानाः स्म शेरते बहवो जनाः ॥१२६॥

'आज क्रूरकर्मा राक्षसोंद्वारा हमारी यह भयंकर दुर्दशा की गयी है।' इस प्रकार विलाप करते हुए बहुत-से मनुष्य रणभूमिमें सो रहे थे ॥ १२६ ॥

स्तनतां च मनुष्याणामपरेषां च कूजताम् ।
ततो मुहूर्तात् प्राशाम्यत् स शब्दस्तुमुलो महान् ॥१२७॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें कराहते और विलाप करते हुए मनुष्योंका वह भयंकर कोलाहल शान्त हो गया ॥ १२७ ॥

शोणितव्यतिषिक्तायां वसुधायां च भूमिप ।
तद्रजस्तुमुलं घोरं क्षणेनान्तरधीयत ॥१२८॥

राजन् ! खूनसे भीगी हुई पृथ्वीपर गिरकर वह भयानक धूल क्षणभरमें अदृश्य हो गयी ॥ १२८ ॥

स चेष्टमानानुद्विग्नान् निरुत्साहान् सहस्रशः ।

न्यपातयन्नरान् क्रुद्धः पशून् पशुपतिर्यथा ॥१२९॥

जैसे प्रलयके समय क्रोधमें भरे हुए पशुपति रुद्र समस्त पशुओं (प्राणियों) का संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार कुपित हुए अश्वत्थामाने ऐसे सहस्रों मनुष्योंको भी मार डाला, जो किसी प्रकार प्राण बचानेके प्रयत्नमें लगे हुए थे, एकदम घबराये हुए थे और सारा उत्साह खो बैठे थे ॥१२९॥

अन्योन्यं सम्परिष्वज्य शयानान् द्रवतोऽपरान् ।
संलीनान् युद्धयमानांश्च सर्वान् द्रौणिरपोथयत्॥१३०॥

कुछ लोग एक दूसरेसे लिपटकर सो रहे थे, दूसरे भाग रहे थे, तीसरे छिप गये थे और चौथी श्रेणीके लोग जूझ रहे थे, उन सबको द्रोणकुमारने वहाँ मार गिराया ॥

दह्यमाना हुताशेन वध्यमानाश्च तेन ते ।
परस्परं तदा योधा अनयन् यमसादनम् ॥१३१॥

एक ओर लोग आगसे जल रहे थे और दूसरी ओर अश्वत्थामाके हाथसे मारे जाते थे, ऐसी दशामें वे सब योद्धा स्वयं ही एक दूसरेको यमलोक भेजने लगे ॥ १३१ ॥

तस्या रजन्यास्त्वर्धेन पाण्डवानां महद् बलम् ।
गमयामास राजेन्द्र द्रौणिर्यमनिवेशनम् ॥१३२॥

राजेन्द्र ! उस रातका आधा भाग बीतते-बीतते द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको यमराजके घर भेज दिया ॥ १३२ ॥

निशाचराणां सत्त्वानां रात्रिः सा हर्षवर्धिनी ।
आसीन्नरगजाश्वानां रौद्री क्षयकरी भृशम् ॥१३३॥

वह भयानक रात्रि निशाचर प्राणियोंका हर्ष बढ़ानेवाली थी और मनुष्यों, घोड़ों तथा हाथियोंके लिये अत्यन्त विनाशकारिणी सिद्ध हुई ॥ १३३ ॥

तत्रादृश्यन्त रक्षांसि पिशाचाश्च पृथग्विधाः ।
खादन्तो नरमांसानि पिबन्तः शोणितानि च ॥१३४॥

वहाँ नाना प्रकारकी आकृतिवाले बहुत-से राक्षस और पिशाच मनुष्योंके मांस खाते और खून पीते दिखायी देते थे॥

करालाः पिङ्गलाश्चैव शैलदन्ता रजस्वलाः ।
जटिला दीर्घशङ्खाश्च पञ्चपादा महोदराः ॥१३५॥

वे बड़े ही विकराल और पिङ्गल वर्णके थे । उनके दाँत पहाड़ों-जैसे जान पड़ते थे । वे सारे अङ्गोंमें धूल लपेटे और सिरपर जटा रखाये हुए थे । उनके माथेकी हड्डी बहुत बड़ी थी । उनके पाँच-पाँच पैर और बड़े-बड़े पेट थे ॥ १३५ ॥

पश्चादङ्गुलयो रूक्षा विरूपा भैरवस्वनाः ।
घण्टाजालावसक्ताश्च नीलकण्ठा विभीषणाः ॥१३६॥
सपुत्रदाराः सक्रूराः सुदुर्दर्शाः सुनिर्घृणाः ।
विविधानि च रूपाणि तत्रादृश्यन्त रक्षसाम् ॥१३७॥

उनकी अङ्गुलियाँ पीछेकी ओर थीं । वे रूखे, कुरूप और भयंकर गर्जना करनेवाले थे । बहुतोंने घंटोंकी मालाएँ पहन रक्खी थीं । उनके गलेमें नील चिह्न था । वे बड़े भयानक दिखायी देते थे । उनके स्त्री और पुत्र भी साथ ही थे । वे अत्यन्त क्रूर और निर्दय थे । उनकी ओर देखना भी बहुत कठिन था । वहाँ उन राक्षसोंके भाँति-भाँतिके रूप दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ १३६-१३७ ॥

पीत्वा च शोणितं हृष्टाः प्रानृत्यन् गणशोऽपरे ।
इदं परमिदं मेध्यमिदं स्वाद्विति चाब्रुवन् ॥१३८॥

कोई रक्त पीकर हर्षसे खिल उठे थे । दूसरे अलग-अलग झुंड बनाकर नाच रहे थे । वे आपसमें कहते थे—'यह उत्तम है, यह पवित्र है और यह बहुत स्वादिष्ट है' ॥

मेदोमज्जास्थिरक्तानां वसानां च भृशाशिताः ।
परमांसानि खादन्तः क्रव्यादा मांसजीविनः ॥१३९॥

मेदा, मज्जा, हड्डी, रक्त और चर्बीका विशेष आहार करनेवाले मांसजीवी राक्षस एवं हिंसक जन्तु दूसरोंके मांस खा रहे थे ॥ १३९ ॥

वसाश्चैवापरे पीत्वा पर्यधावन् विकुक्षिकाः ।
नानावक्त्रास्तथा रौद्राः क्रव्यादाः पिशिताशनाः॥१४०॥

दूसरे कुक्षिरहित राक्षस चर्बियोंका पान करके चारों ओर दौड़ लगा रहे थे । कच्चा मांस खानेवाले उन भयंकर राक्षसोंके अनेक मुख थे ॥ १४० ॥

अयुतानि च तत्रासन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रक्षसां घोररूपाणां महतां क्रूरकर्मणाम् ॥१४१॥
मुदितानां वितृप्तानां तस्मिन् महति वैशसे ।
समेतानि बहून्यासन् भूतानि च जनाधिप ॥१४२॥

वहाँ उस महान् जनसंहारमें तृप्त और आनन्दित हुए क्रूर कर्म करनेवाले घोर रूपधारी महाकाय राक्षसोंके कई दल थे । किसी दलमें दस हजार, किसीमें एक लाख और किसीमें एक अर्बुद (दस लाख) राक्षस थे । नरेश्वर ! वहाँ और भी बहुत-से मांसभक्षी प्राणी एकत्र हो गये थे ॥

प्रत्यूषकाले शिबिरात् प्रतिगन्तुमियेष सः ।
नृशोणितावसिक्तस्य द्रौणेरासीदसित्सरुः ॥१४३॥
पाणिना सह संश्लिष्ट एकीभूत इव प्रभो ।

प्रातःकाल पौ फटते ही अश्वत्थामाने शिबिरसे बाहर निकल जानेका विचार किया । प्रभो ! उस समय नररक्तसे नहाये हुए अश्वत्थामाके हाथसे सटकर उसकी तलवारकी मूँठ ऐसी जान पड़ती थी, मानो वह उससे अभिन्न हो ॥

दुर्गमां पदवीं गत्वा विरराज जनक्षये ॥१४४॥
युगान्ते सर्वभूतानि भस्म कृत्वेव पावकः ।

जैसे प्रलयकालमें आग सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म करके प्रकाशित होती है, उसी प्रकार वह नरसंहार हो जानेपर अपने दुर्गम लक्ष्यतक पहुँचकर अश्वत्थामा अधिक शोभा पाने लगा ॥ १४४½ ॥

यथाप्रतिज्ञं तत् कर्म कृत्वा द्रौणायनिः प्रभो ॥१४५॥
दुर्गमां पदवीं गच्छन् पितुरासीद् गतज्वरः ।

नरेश्वर ! अपने पिताके दुर्गम पथपर चलता हुआ द्रोणकुमार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सारा कार्य पूर्ण करके शोक और चिन्तासे रहित हो गया ॥ १४५½ ॥

यथैव संसुप्तजने शिबिरे प्राविशन्निशि ॥१४६॥

तथैव हत्वा निःशब्दे निश्चक्राम नरर्षभः ।

जिस प्रकार रातके समय सबके सो जानेपर शान्त शिविरमें उसने प्रवेश किया था, उसी प्रकार वह नरश्रेष्ठ वीर सबको मारकर कोलाहलशून्य हुए शिविरसे बाहर निकला ॥

निष्क्रम्य शिबिरात् तस्मात् ताभ्यां संगम्य वीर्यवान् ॥
आचख्यौ कर्म तत् सर्वं हृष्टः संहर्षयन् विभो ।

प्रभो ! उस शिविरसे निकलकर शक्तिशाली अश्वत्थामा उन दोनोंसे मिला और स्वयं हर्षमग्न हो उन दोनोंका हर्ष बढ़ाते हुए उसने अपना किया हुआ सारा कर्म उनसे कह सुनाया ॥ १४७½ ॥

तावथाचख्यतुस्तस्मै प्रियं प्रियकरौ तदा ॥१४८॥
पञ्चालान् सृञ्जयांश्चैव विनिकृत्तान् सहस्रशः ।

अश्वत्थामाका प्रिय करनेवाले उन दोनों वीरोंने भी उस समय उससे यह प्रिय समाचार निवेदन किया कि हम दोनोंने भी सहस्रों पाञ्चालों और सृंजयोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं ॥

प्रीत्या चोच्चैरुदक्रोशंस्तथैवास्फोटयंस्तलान् ॥१४९॥
एवंविधा हि सा रात्रिः सोमकानां जनक्षये ।
प्रसुप्तानां प्रमत्तानामासीत् सुभृशदारुणा ॥१५०॥

फिर तो वे तीनों प्रसन्नताके मारे उच्चस्वरसे गर्जने और ताल ठोकने लगे । इस प्रकार वह रात्रि उस जन-संहारकी वेलामें असावधान होकर सोये हुए सोमकोंके लिये अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुई ॥ १४९-१५० ॥

असंशयं हि कालस्य पर्यायो दुरतिक्रमः ।
तादृशा निहता यत्र कृत्वास्माकं जनक्षयम् ॥१५१॥

राजन् ! इसमें संशय नहीं कि कालकी गतिका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है । जहाँ हमारे पक्षके लोगोंका संहार करके विजयको प्राप्त हुए वैसे-वैसे वीर मार डाले गये ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रागेव सुमहत् कर्म द्रौणिरेतन्महारथः ।
नाकरोदीदृशं कस्मान्मत्पुत्रविजये धृतः ॥१५२॥

राजा धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! अश्वत्थामा तो मेरे पुत्रको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुका था । फिर उस महारथी वीरने पहले ही ऐसा महान् पराक्रम क्यों नहीं किया?॥

अथ कस्माद्धते क्षुद्रं कर्मेदं कृतवानसौ ।
द्रोणपुत्रो महात्मा स तन्मे शंसितुमर्हसि ॥१५३॥

जब दुर्योधन मार डाला गया, तब उस महामनस्वी द्रोणपुत्रने ऐसा नीच कर्म क्यों किया ? यह सब मुझे बताओ॥

संजय उवाच

तेषां नूनं भयान्नासौ कृतवान् कुरुनन्दन ।
असांनिध्याद्धि पार्थानां केशवस्य च धीमतः ॥१५४॥
सात्यकेश्चापि कर्मेदं द्रोणपुत्रेण साधितम् ।

संजयने कहा—कुरुनन्दन ! अश्वत्थामाको पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकिसे सदा भय बना रहता था; इसीलिये पहले उसने ऐसा नहीं किया । इस समय कुन्तीके पुत्र, बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा सात्यकिके दूर चले जानेसे अश्वत्थामाने अपना यह कार्य सिद्ध कर लिया ॥ १५४½ ॥

को हि तेषां समक्षं तान् हन्यादपि मरुत्पतिः ॥१५५॥
एतदीदृशकं वृत्तं राजन् सुप्तजने विभो ।

उन पाण्डव आदिके समक्ष कौन उन्हें मार सकता था? साक्षात् देवराज इन्द्र भी उस दशामें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे । प्रभो ! नरेश्वर ! उस रात्रिमें सब लोगोंके सो जानेपर यह इस प्रकारकी घटना घटित हुई ॥ १५५½ ॥

ततो जनक्षयं कृत्वा पाण्डवानां महात्ययम् ॥१५६॥
दिष्ट्या दिष्ट्येति चान्योन्यं समेत्योचुर्महारथाः ।

उस समय पाण्डवोंके लिये महान् विनाशकारी जनसंहार करके वे तीनों महारथी जब परस्पर मिले, तब आपसमें कहने लगे—'बड़े सौभाग्यसे यह कार्य सिद्ध हुआ है' ॥

पर्यष्वजत् ततो द्रौणिस्ताभ्यां सम्प्रतिनन्दितः ॥१५७॥
इदं हर्षात् तु सुमहदाददे वाक्यमुत्तमम् ।

तदनन्तर उन दोनोंका अभिनन्दन स्वीकार करके द्रोणपुत्रने उन्हें हृदयसे लगाया और बड़े हर्षसे यह महत्त्वपूर्ण उत्तम वचन मुँहसे निकाला—॥ १५७½ ॥

पञ्चाला निहताः सर्वे द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥१५८॥
सोमका मत्स्यशेषाश्च सर्वे विनिहता मया ।

'सारे पाञ्चाल, द्रौपदीके सभी पुत्र, सोमकवंशी क्षत्रिय तथा मत्स्य देशके अवशिष्ट सैनिक ये सभी मेरे हाथसे मारे गये॥

इदानीं कृतकृत्याः स याम तत्रैव मा चिरम् ।
यदि जीवति नो राजा तस्मै शंसमहे वयम् ॥१५९॥

'इस समय हम कृतकृत्य हो गये । अब हमें शीघ्र वहीं चलना चाहिये । यदि हमारे राजा दुर्योधन जीवित हों तो हम उन्हें भी यह समाचार कह सुनावें' ॥ १५९ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि रात्रियुद्धे पाञ्चालादिवधेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें पाञ्चाल आदिका वधविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १५९½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

दुर्योधनकी दशा देखकर कृपाचार्य और अश्वत्थामाका विलाप तथा उनके मुखसे पाञ्चालोंके वधका वृत्तान्त जानकर दुर्योधनका प्रसन्न होकर प्राणत्याग करना

संजय उवाच

ते हत्वा सर्वपञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
आगच्छन् सहितास्तत्र यत्र दुर्योधनो हतः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वे तीनों महारथी समस्त पाञ्चालों और द्रौपदीके सभी पुत्रोंका वध करके एक साथ उस स्थानमें आये, जहाँ राजा दुर्योधन मारा गया था ॥१॥

गत्वा चैनमपश्यन्त किञ्चित्प्राणं जनाधिपम् ।
ततो रथेभ्यः प्रस्कन्द्य परिवव्रुस्तवात्मजम् ॥ २ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने राजा दुर्योधनको देखा, उसकी कुछ-कुछ साँस चल रही थी। फिर वे रथोंसे कूद पड़े और आपके पुत्रके पास जा उसे सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥

तं भग्नसक्थं राजेन्द्र कृच्छ्रप्राणमचेतसम् ।
वमन्तं रुधिरं वक्त्रादपश्यन् वसुधातले ॥ ३ ॥
वृतं समन्ताद् बहुभिः श्वापदैर्घोरदर्शनैः ।
शालावृकगणैश्चैव भक्षयिष्यद्भिरन्तिकात् ॥ ४ ॥
निवारयन्तं कृच्छ्रात्तांश्वापदांश्च चिखादिषून् ।
विचेष्टमानं मह्यां च सुभृशं गाढवेदनम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उन्होंने देखा कि राजाकी जाँघें टूट गयी हैं। ये बड़े कष्टसे प्राण धारण करते हैं। इनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी है और ये अपने मुँहसे पृथ्वीपर खून उगल रहे हैं। इन्हें चट कर जानेके लिये बहुत-से भयंकर दिखायी देनेवाले हिंसक जीव और कुत्ते चारों ओरसे घेरकर आसपास ही खड़े हैं। ये अपनेको खा जानेकी इच्छा रखनेवाले उन हिंसक जन्तुओं-को बड़ी कठिनाईसे रोकते हैं। इन्हें बड़ी भारी पीड़ा हो रही है, जिसके कारण ये पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे हैं ॥

तं शयानं तथा दृष्ट्वा भूमौ सुरुधिरोक्षितम् ।
हतशिष्टास्त्रयो वीराः शोकार्ताः पर्यवारयन् ॥ ६ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।

दुर्योधनको इस प्रकार खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़ा देख मरनेसे बचे हुए वे तीनों वीर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा शोकसे व्याकुल हो उसे तीन ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ६½ ॥

तैस्त्रिभिः शोणितादिग्धैर्निःश्वसद्भिर्महारथैः ॥ ७ ॥
शुशुभे स वृतो राजा वेदी त्रिभिरिवाग्निभिः ।

वे तीनों महारथी वीर खूनसे रँग गये थे और लंबी साँसें खींच रहे थे। उनसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन तीन अग्नियोंसे घिरी हुई वेदीके समान सुशोभित हो रहा था ॥

ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य राजानमतथोचितम् ॥ ८ ॥
अविषह्येन दुःखेन ततस्ते रुरुदुस्त्रयः ।

राजाको इस प्रकार अयोग्य अवस्थामें सोया देख वे तीनों असह्य दुःखसे पीड़ित हो रोने लगे ॥ ८½ ॥

ततस्तु रुधिरं हस्तैर्मुखान्निर्मृज्य तस्य हि ।
रणे राज्ञः शयानस्य कृपणं पर्यदेवयन् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् रणभूमिमें सोये हुए राजा दुर्योधनके मुखसे बहते हुए रक्तको हाथोंसे पोंछकर वे तीनों दीन वाणीमें विलाप करने लगे ॥ ९ ॥

कृप उवाच

न दैवस्यातिभारोऽस्ति यदयं रुधिरोक्षितः ।
एकादशचमूभर्ता शेते दुर्योधनो हतः ॥ १० ॥

कृपाचार्य बोले—हाय ! विधाताके लिये कुछ भी करना कठिन नहीं है। जो कभी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे, वे ही ये राजा दुर्योधन यहाँ मारे जाकर खूनसे लथपथ हुए पड़े हैं ॥ १० ॥

पश्य चामीकराभस्य चामीकरविभूषिताम् ।
गदां गदाप्रियस्येमां समीपे पतितां भुवि ॥ ११ ॥

देखो, सुवर्णके समान कान्तिवाले इन गदाप्रेमी नरेशके समीप यह सुवर्णभूषित गदा पृथ्वीपर पड़ी है ॥ ११ ॥

इयमेनं गदा शूरं न जहाति रणे रणे ।
स्वर्गायापि व्रजन्तं हि न जहाति यशस्विनम् ॥ १२ ॥

यह गदा इन शूरवीर भूपालका साथ किसी भी युद्धमें नहीं छोड़ती थी और आज स्वर्गलोकमें जाते समय भी यशस्वी नरेशका साथ नहीं छोड़ रही है ॥ १२ ॥

पश्येमां सह वीरेण जाम्बूनदविभूषिताम् ।
शयानां शयने हर्म्ये भार्यां प्रीतिमतीमिव ॥ १३ ॥

देखो, यह सुवर्णभूषित गदा इन वीर भूपालके साथ रणशय्यापर उसी प्रकार सो रही है, जैसे महलमें प्रेम रखने-वाली पत्नी इनके साथ सोया करती थी ॥ १३ ॥

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे यातः परंतपः ।
स हतो ग्रसते पांसून् पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १४ ॥

जो ये शत्रुसंतापी नरेश सभी मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे चला करते थे, वे ही आज मारे जाकर धरतीपर पड़े-पड़े धूल फाँक रहे हैं। यह समयका उलट-फेर तो देखो ॥

येनाजौ निहता भूमावशेरत पुरा द्विषः ।
स भूमौ निहतः शेते कुरुराजः परैरयम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें जिनके द्वारा युद्धमें मारे गये शत्रु भूमिपर सोया करते थे, वे ही ये कुरुराज आज शत्रुओंद्वारा स्वयं मारे जाकर भूमिपर शयन करते हैं ॥ १५ ॥

भयान्नमन्ति राजानो यस्य स्म शतसंघशः ।
स वीरशयने शेते क्रव्याद्भिः परिवारितः ॥ १६ ॥

जिनके आगे सैकड़ों राजा भयसे सिर झुकाते थे, वे ही आज हिंसक जन्तुओंसे घिरे हुए वीर-शय्यापर सो रहे हैं ॥

उपासत द्विजाः पूर्वमर्थहेतोर्यमीश्वरम् ।
उपासते च तं ह्यद्य क्रव्यादा मांसहेतवः ॥ १७ ॥

पहले बहुत-से ब्राह्मण धनकी प्राप्तिके लिये जिन नरेशके पास बैठे रहते थे, उन्हींके समीप आज मांसके लिये मांसाहारी जन्तु बैठे हुए हैं ॥ १७ ॥

संजय उवाच

तं शयानं कुरुश्रेष्ठं ततो भरतसत्तम ।
अश्वत्थामा समालोक्य करुणं पर्यदेवयत् ॥ १८ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर कुरुकुल-भूषण दुर्योधनको रणशय्यापर पड़ा देख अश्वत्थामा इस प्रकार करुण विलाप करने लगा—॥ १८ ॥

आहुस्त्वां राजशार्दूल मुख्यं सर्वधनुष्मताम् ।
धनाध्यक्षोपमं युद्धे शिष्यं संकर्षणस्य च ॥ १९ ॥
कथं विवरमद्राक्षीद् भीमसेनस्तवानघ ।
बलिनं कृतिनं नित्यं स च पापात्मवान् नृप ॥ २० ॥

'निष्पाप राजसिंह ! आपको समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कहा जाता था। आप गदायुद्धमें धनाध्यक्ष कुबेरकी समानता करनेवाले तथा साक्षात् संकर्षणके शिष्य थे तो भी भीमसेनने कैसे आपपर प्रहार करनेका अवसर पा लिया ? नरेश्वर ! आप तो सदासे ही बलवान् और गदायुद्धके विद्वान् रहे हैं। फिर उस पापात्माने कैसे आपको मार दिया ? ॥१९-२०॥

कालो नूनं महाराज लोकेऽस्मिन् बलवत्तरः।
पश्यामो निहतं त्वां च भीमसेनेन संयुगे ॥ २१ ॥

'महाराज ! निश्चय ही इस संसारमें समय महाबलवान् है, तभी तो युद्धस्थलमें हम आपको भीमसेनके द्वारा मारा गया देखते हैं॥ २१ ॥

कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं क्षुद्रः पापो वृकोदरः।
निकृत्या हतवान् मन्दो नूनं कालो दुरत्ययः ॥ २२ ॥

'आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता थे। आपको उस मूर्ख, नीच और पापी भीमसेनने किस तरह धोखेसे मार डाला ? अवश्य ही कालका उल्लङ्घन करना सर्वथा कठिन है ॥२२॥

धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण समाहूयौजसा मृधे।
गदया भीमसेनेन निर्भग्ने सक्थिनी तव ॥ २३ ॥

'भीमसेनने आपको धर्मयुद्धके लिये बुलाकर रणभूमिमें अधर्मके बलसे गदाद्वारा आपकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं ॥

अधर्मेण हतस्याजौ मृद्यमानं पदा शिरः।
य उपेक्षितवान् क्षुद्रं धिक् कृष्णं धिग्युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

'एक तो आप रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारे गये। दूसरे भीमसेनने आपके मस्तकपर लात मारी। इतनेपर भी जिन्होंने उस नीचकी उपेक्षा की, उसे कोई दण्ड नहीं दिया, उन श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरको धिक्कार है !॥ २४ ॥

युद्धेष्वपवदिष्यन्ति योधा नूनं वृकोदरम्।
यावत् स्थास्यन्ति भूतानि निकृत्या ह्यसि पातितः॥२५॥

'आप धोखेसे गिराये गये हैं, अतः इस संसारमें जबतक प्राणियोंकी स्थिति रहेगी, तबतक सभी युद्धोंमें सम्पूर्ण योद्धा भीमसेनकी निन्दा ही करेंगे ॥ २५ ॥

ननु रामोऽब्रवीद् राजंस्त्वां सदा यदुनन्दनः।
दुर्योधनसमो नास्ति गदया इति वीर्यवान् ॥ २६ ॥

'राजन् ! पराक्रमी यदुनन्दन बलरामजी आपके विषयमें सदा कहा करते थे कि 'गदायुद्धकी शिक्षामें दुर्योधनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है' ॥ २६ ॥

श्लाघते त्वां हि वार्ष्णेयो राजसंसत्सु भारत।
स शिष्यो मम कौरव्यो गदायुद्ध इति प्रभो ॥ २७ ॥

'प्रभो ! भरतनन्दन ! वे वृष्णिकुलभूषण बलराम राजाओंकी सभामें सदा आपकी प्रशंसा करते हुए कहते थे कि 'कुरुराज दुर्योधन गदायुद्धमें मेरा शिष्य है' ॥ २७ ॥

यां गतिं क्षत्रियस्याहुः प्रशस्तां परमर्षयः।
हतस्याभिमुखस्याजौ प्राप्तस्त्वमसि तां गतिम्॥ २८ ॥

'महर्षियोंने युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए मारे जानेवाले क्षत्रियके लिये जो उत्तम गति बतायी है, आपने वही गति प्राप्त की है ॥ २८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं पुरुषर्षभ।
हतपुत्रौ तु शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ २९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ राजा दुर्योधन ! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो माता गान्धारी और आपके पिता धृतराष्ट्रके लिये शोक हो रहा है, जिनके सभी पुत्र मार डाले गये हैं ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम्।
धिगस्तु कृष्णं वार्ष्णेयमर्जुनं चापि दुर्मतिम् ॥ ३० ॥
धर्मज्ञमानिनौ यौ त्वां वध्यमानमुपेक्षताम्।

'अब वे बेचारे शोकमग्न हो भिखारी बनकर इस भूतलपर भीख माँगते फिरेंगे। उस वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण और खोटी बुद्धिवाले अर्जुनको भी धिक्कार है, जिन्होंने अपनेको धर्मज्ञ मानते हुए भी आपके अन्यायपूर्वक वधकी उपेक्षा की ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे किं वक्ष्यन्ति नराधिप ॥ ३१ ॥
कथं दुर्योधनोऽस्माभिर्हत इत्यनपत्रपाः।

'नरेश्वर ! क्या वे समस्त पाण्डव भी निर्लज्ज होकर लोगोंके सामने कह सकेंगे कि 'हमने दुर्योधनको किस प्रकार मारा था ?' ॥ ३१½ ॥

धन्यस्त्वमसि गान्धारे यस्त्वमायोधने हतः ॥ ३२ ॥
प्रायशोऽभिमुखः शत्रून् धर्मेण पुरुषर्षभ।

'पुरुषप्रवर गान्धारीनन्दन ! आप धन्य हैं, क्योंकि युद्धमें प्रायः धर्मपूर्वक शत्रुओंका सामना करते हुए मारे गये हैं ॥

हतपुत्रा हि गान्धारी निहतज्ञातिबान्धवा ॥ ३३ ॥
प्रज्ञाचक्षुश्च दुर्धर्षः कां गतिं प्रतिपत्स्यते।

'जिनके सभी पुत्र, कुटुम्बी और भाई-बन्धु मारे जा चुके हैं, वे माता गान्धारी तथा प्रज्ञाचक्षु दुर्जय राजा धृतराष्ट्र अब किस दशाको प्राप्त होंगे ? ॥ ३३½ ॥

धिगस्तु कृतवर्माणं मां कृपं च महारथम् ॥ ३४ ॥
ये वयं न गताः स्वर्गं त्वां पुरस्कृत्य पार्थिवम्।

'मुझको, कृतवर्माको तथा महारथी कृपाचार्यको भी धिक्कार है कि हम आप-जैसे महाराजको आगे करके स्वर्गलोकमें नहीं गये ॥ ३४½ ॥

दातारं सर्वकामानां रक्षितारं प्रजाहितम् ॥ ३५ ॥
यद् वयं नानुगच्छाम त्वां धिगस्मान् नराधमान्।

'आप हमें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थ देते रहे और प्रजाके हितकी रक्षा करते रहे। फिर भी हमलोग जो आपका अनुसरण नहीं कर रहे हैं, इसके लिये हम-जैसे नराधमोंको धिक्कार है ! ॥ ३५½ ॥

कृपस्य तव वीर्येण मम चैव पितुश्च मे ॥ ३६ ॥
सभृत्यानां नरव्याघ्र रत्नवन्ति गृहाणि च।

'नरश्रेष्ठ ! आपके ही बल-पराक्रमसे सेवकोंसहित कृपाचार्यको, मुझको तथा मेरे पिताजीको रत्नोंसे भरे हुए भव्य भवन प्राप्त हुए थे ॥ ३६½ ॥

तव प्रसादादस्माभिः समित्रैः सह बान्धवैः ॥ ३७ ॥
अवाप्ताः क्रतवो मुख्या बहवो भूरिदक्षिणाः।

'आपके ही प्रसादसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित हम

लोगोंने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक मुख्य-मुख्य यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥ ३७½ ॥

कुतश्चापीदृशं पापाः प्रवर्तिष्यामहे वयम् ॥ ३८ ॥
यादृशेन पुरस्कृत्य त्वं गतः सर्वपार्थिवान् ।

'महाराज ! आप जिस भावसे समस्त राजाओंको आगे करके स्वर्ग सिधार रहे हैं, हम पापी ऐसा भाव कहाँसे ला सकेंगे ?॥ ३८½ ॥

वयमेव त्रयो राजन् गच्छन्तं परमां गतिम् ॥ ३९ ॥
यद् वै त्वां नानुगच्छामस्तेन धक्ष्यामहे वयम् ।
तत् स्वर्गहीना हीनार्थाः स्मरन्तः सुकृतस्य ते ॥ ४० ॥

'राजन् ! परम गतिको जाते समय आपके पीछे-पीछे जो हम तीनों भी नहीं चल रहे हैं, इसके कारण हम स्वर्ग और अर्थ दोनोंसे वञ्चित हो आपके सुकृतोंका स्मरण करते हुए दिन-रात शोकाग्निमें जलते रहेंगे ॥ ३९-४० ॥

किं नाम तद् भवेत् कर्म येन त्वां न व्रजाम वै ।
दुःखं नूनं कुरुश्रेष्ठ चरिष्याम महीमिमाम् ॥ ४१ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! न जाने वह कौन-सा कर्म है, जिससे विवश होकर हम आपके साथ नहीं चल रहे हैं। निश्चय ही इस पृथ्वीपर हमें निरन्तर दुःख भोगना पड़ेगा ॥ ४१ ॥

हीनानां नस्त्वया राजन् कुतः शान्तिः कुतः सुखम् ।
गत्वैव तु महाराज समेत्य च महारथान् ॥४२॥
यथाज्येष्ठं यथाश्रेष्ठं पूजयेर्वचनान्मम ।

'महाराज ! आपसे बिछुड़ जानेपर हमें शान्ति और सुख कैसे मिल सकते हैं ? राजन् ! स्वर्गमें जाकर सब महारथियोंसे मिलनेपर आप मेरी ओरसे बड़े-छोटेके क्रमसे उन सबका आदर-सत्कार करें ॥ ४२½ ॥

आचार्यं पूजयित्वा च केतुं सर्वधनुष्मताम् ॥ ४३ ॥
हतं मयाद्य शंसेथा धृष्टद्युम्नं नराधिप ।

'नरेश्वर ! फिर सम्पूर्ण धनुर्धरोंके ध्वजस्वरूप आचार्यका पूजन करके उनसे कह दें कि 'आज अश्वत्थामाके द्वारा धृष्टद्युम्न मार डाला गया' ॥ ४३½ ॥

परिष्वजेथा राजानं वाह्लिकं सुमहारथम् ॥ ४४ ॥
सैन्धवं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ।

'महारथी राजा वाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, सोमदत्त तथा भूरिश्रवाका भी आप मेरी ओरसे आलिङ्गन करें ॥ ४४½ ॥

तथा पूर्वगतानन्यान् स्वर्गे पार्थिवसत्तमान् ॥ ४५ ॥
अस्मद्वाक्यात् परिष्वज्य सम्पृच्छेस्त्वमनामयम्॥४६॥

'दूसरे-दूसरे भी जो नृपश्रेष्ठ पहलेसे ही स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं, उन सबको मेरे कथनानुसार हृदयसे लगाकर उनकी कुशल पूछें' ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

इत्येवमुक्त्वा राजानं भग्नसक्थमचेतनम् ।
अश्वत्थामा समुद्वीक्ष्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जिसकी जाँघें टूट गयी थीं, उस अचेत पड़े हुए राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर अश्वत्थामाने पुनः उसकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—॥

दुर्योधन जीवसि त्वं वाक्यं श्रोत्रसुखं शृणु ।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ॥ ४८ ॥

'राजा दुर्योधन ! यदि आप जीवित हों तो यह कानोंको सुख देनेवाली बात सुनें । पाण्डवपक्षमें केवल सात और कौरवपक्षमें सिर्फ हम तीन ही व्यक्ति बच गये हैं ॥ ४८ ॥

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ४९ ॥

'उधर तो पाँचों भाई पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि बचे हैं और इधर मैं, कृतवर्मा तथा शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य शेष रह गये हैं ॥ ४९ ॥

द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
पञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्यशेषं च भारत ॥ ५० ॥

'भरतनन्दन ! द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्नके सभी पुत्र मारे गये, समस्त पाञ्चालोंका संहार कर दिया गया और मत्स्य देशकी अवशिष्ट सेना भी समाप्त हो गयी ॥ ५० ॥

कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।
सौप्तिके शिबिरं तेषां हतं सनरवाहनम् ॥ ५१ ॥

'राजन् ! देखिये, शत्रुओंकी करनीका कैसा बदला चुकाया गया ? पाण्डवोंके भी सारे पुत्र मार डाले गये । रातमें सोते समय मनुष्यों और वाहनोंसहित उनके सारे शिबिरका नाश कर दिया गया ॥ ५१ ॥

मया च पापकर्मासौ धृष्टद्युम्नो महीपते ।
प्रविश्य शिबिरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥ ५२ ॥

'भूपाल ! मैंने स्वयं रातके समय शिबिरमें घुसकर पापाचारी धृष्टद्युम्नको पशुओंकी तरह गला घोंट-घोंटकर मार डाला है' ॥ ५२ ॥

दुर्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियाम् ।
प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

यह मनको प्रिय लगनेवाली बात सुनकर दुर्योधनको पुनः होश आ गया और वह इस प्रकार बोला—॥ ५३ ॥

न मेऽकरोत् तद् गाङ्गेयो न कर्णो न च ते पिता ।
यत् त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतम् ॥ ५४ ॥

'मित्रवर ! आज आचार्य कृप और कृतवर्माके साथ तुमने जो कार्य कर दिखाया है, उसे न गङ्गानन्दन भीष्म, न कर्ण और न तुम्हारे पिताजी ही कर सके थे ॥ ५४ ॥

स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्धं शिखण्डिना ।
तेन मन्ये मघवता सममात्मानमद्य वै ॥ ५५ ॥

'शिखण्डीसहित वह नीच सेनापति धृष्टद्युम्न मार डाला गया, इससे आज निश्चय ही मैं अपनेको इन्द्रके समान समझता हूँ ॥ ५५ ॥

स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः संगमः पुनः ।
इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥ ५६ ॥
प्राणानुपास्सृजद् वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन् ।
अपाक्रामद् दिवं पुण्यां शरीरं क्षितिमाविशत् ॥ ५७ ॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो । तुम्हें सुख प्राप्त हो । अब स्वर्गमें ही हमलोगोंका पुनर्मिलन होगा ।' ऐसा कहकर महामनस्वी वीर कुरुराज दुर्योधन चुप हो गया और अपने सुहृदोंके लिये दुःख छोड़कर उसने अपने प्राण त्याग दिये । वह स्वयं तो पुण्यधाम स्वर्गलोकमें चला गया; किंतु उसका पार्थिव शरीर इस पृथ्वीपर ही पड़ा रह गया ॥ ५६-५७ ॥

एवं ते निधनं यातः पुत्रो दुर्योधनो नृप ।
अग्रे यात्वा रणे शूरः पश्चाद् विनिहतः परैः ॥ ५८ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन मृत्युको प्राप्त हुआ । वह समराङ्गणमें सबसे पहले गया था और सबसे पीछे शत्रुओंद्वारा मारा गया ॥ ५८ ॥

तथैव ते परिष्वक्ताः परिष्वज्य च ते नृपम् ।
पुनः पुनः प्रेक्षमाणाः स्वकानारुरुहू रथान् ॥ ५९ ॥

मरनेसे पहले दुर्योधनने तीनों वीरोंको गले लगाया और उन तीनोंने भी राजाको हृदयसे लगाकर विदा दी, फिर वे बारंबार उसकी ओर देखते हुए अपने-अपने रथोंपर सवार हो गये ॥ ५९ ॥

इत्येवं द्रोणपुत्रस्य निशम्य करुणां गिरम् ।
प्रत्यूषकाले शोकार्तः प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ ६० ॥

इस प्रकार द्रोणपुत्रके मुखसे वह करुणाजनक समाचार सुनकर मैं शोकसे व्याकुल हो उठा और प्रातःकाल नगरकी ओर दौड़ा चला आया ॥ ६० ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः ।
घोरो विशसनो रौद्रो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ६१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणाके अनुसार कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाओंका यह घोर एवं भयंकर विनाशकार्य सम्पन्न हुआ है ॥ ६१ ॥

तव पुत्रे गते स्वर्गं शोकार्तस्य ममानघ ।
ऋषिदत्तं प्रणष्टं तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै ॥ ६२ ॥

निष्पाप नरेश ! आपके पुत्रके स्वर्गलोकमें चले जानेसे मैं शोकसे आतुर हो गया हूँ और महर्षि व्यासजीकी दी हुई मेरी वह दिव्य दृष्टि भी अब नष्ट हो गयी है ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति श्रुत्वा स नृपतिः पुत्रस्य निधनं तदा ।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपने पुत्रकी मृत्युका समाचार सुनकर राजा धृतराष्ट्र गरम-गरम लंबी साँस खींचकर गहरी चिन्तामें डूब गये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि दुर्योधनप्राणत्यागे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें दुर्योधनका प्राणत्यागविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(ऐषीकपर्व)

दशमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके सारथिके मुखसे पुत्रों और पाञ्चालोंके वधका वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिरका विलाप, द्रौपदीको बुलानेके लिये नकुलको भेजना, सुहृदोंके साथ शिविरमें जाना तथा मारे हुए पुत्रादिको देखकर भाईसहित शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धृष्टद्युम्नस्य सारथिः ।
शशंस धर्मराजाय सौप्तिके कदनं कृतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वह रात व्यतीत होनेपर धृष्टद्युम्नके सारथिने रातको सोते समय जो संहार किया गया था, उसका समाचार धर्मराज युधिष्ठिरसे कह सुनाया ॥ १ ॥

सूत उवाच

द्रौपदेया हता राजन् द्रुपदस्यात्मजैः सह ।
प्रमत्ता निशि विश्वस्ताः स्वपन्तः शिबिरे स्वके ॥ २ ॥

सारथि बोला—राजन् ! द्रुपदके पुत्रोंसहित द्रौपदी देवीके भी सारे पुत्र मारे गये । वे रातको अपने शिबिरमें निश्चिन्त एवं असावधान होकर सो रहे थे ॥ २ ॥

कृतवर्मणा नृशंसेन गौतमेन कृपेण च ।
अश्वत्थाम्ना च पापेन हतं वः शिबिरं निशि ॥ ३ ॥

उसी समय क्रूर कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य तथा पापी अश्वत्थामाने आक्रमण करके आपके सारे शिबिरका विनाश कर डाला ॥ ३ ॥

एतैर्नरगजाश्वानां प्रासशक्तिपरश्वधैः ।
सहस्राणि निकृन्तद्भिर्निःशेषं ते बलं कृतम् ॥ ४ ॥

इन तीनोंने प्रास, शक्ति और फरसोंद्वारा सहस्रों मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको काट-काटकर आपकी सारी सेनाको समाप्त कर दिया है ॥ ४ ॥

छिद्यमानस्य महतो वनस्येव परश्वधैः ।
शुश्रुवे सुमहाञ्शब्दो बलस्य तव भारत ॥ ५ ॥

भारत ! जैसे फरसोंसे विशाल जङ्गल काटा जा रहा हो, उसी प्रकार उनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जाती हुई आपकी विशाल वाहिनीका महान् आर्तनाद सुनायी पड़ता था ॥५॥

अहमेकोऽवशिष्टस्तु तस्मात् सैन्यान्महामते ।
मुक्तः कथंचिद् धर्मात्मन् व्यग्राच्च कृतवर्मणः ॥ ६ ॥

महामते ! धर्मात्मन् ! उस विशाल सेनासे अकेला मैं ही किसी प्रकार बचकर निकल आया हूँ । कृतवर्मा दूसरोंको

मारनेमें लगा हुआ था; इसीलिये मैं उस सङ्कटसे मुक्त हो सका हूँ ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यमशिवं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पपात मह्यां दुर्धर्षः पुत्रशोकसमन्वितः ॥ ७ ॥

वह अमङ्गलमय वचन सुनकर दुर्धर्ष राजा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर पुत्रशोकसे संतप्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ७ ॥

पतन्तं तमतिक्रम्य परिजग्राह सात्यकिः।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ८ ॥

गिरते समय आगे बढ़कर सात्यकिने उन्हें थाम लिया। भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेवने भी उन्हें पकड़ लिया ॥ ८ ॥

लब्धचेतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा।
जित्वा शत्रूञ्जितः पश्चात् पर्यदेवयदार्तवत् ॥ ९ ॥

फिर होशमें आनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर शोकाकुल वाणीद्वारा आर्तकी भाँति विलाप करने लगे—'हाय ! मैं शत्रुओंको पहले जीतकर पीछे पराजित हो गया ॥ ९ ॥

दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुषः।
जीयमाना जयन्त्यन्ये जयमाना वयं जिताः ॥ १० ॥

'जो लोग दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न हैं, उनके लिये भी पदार्थोंकी गतिको समझना अत्यन्त दुष्कर है। हाय ! दूसरे लोग तो हारकर जीतते हैं; किंतु हमलोग जीतकर हार गये हैं ! ॥ १० ॥

हत्वा भ्रातॄन् वयस्यांश्च पितॄन् पुत्रान् सुहृद्गणान्।
बन्धूनमात्यान् पौत्रांश्च जित्वा सर्वाञ्जिता वयम् ॥ ११ ॥

'हमने भाइयों, समवयस्क मित्रों, पितृतुल्य पुरुषों, पुत्रों, सुहृद्गणों, बन्धुओं, मन्त्रियों तथा पौत्रोंकी हत्या करके उन सबको जीतकर विजय प्राप्त की थी; परंतु अब शत्रुओंद्वारा हम ही पराजित हो गये ॥ ११ ॥

अनर्थो ह्यर्थसंकाशस्तथानर्थोऽर्थदर्शनः।
जयोऽयमजयाकारो जयस्तस्मात् पराजयः ॥ १२ ॥

'कभी-कभी अनर्थ भी अर्थ-सा हो जाता है और अर्थके रूपमें दिखायी देनेवाली वस्तु भी अनर्थके रूपमें परिणत हो जाती है, इसी प्रकार हमारी यह विजय भी पराजयका ही रूप धारण करके आयी थी, इसलिये जय भी पराजय बन गयी ॥ १२ ॥

यज्जित्वा तप्यते पश्चादापन्न इव दुर्मतिः।
कथं मन्येत विजयं ततो जिततरः परैः ॥ १३ ॥

'दुर्बुद्धि मनुष्य यदि विजय-लाभके पश्चात् विपत्तिमें पड़े हुए पुरुषकी भाँति अनुताप करता है तो वह अपनी उस जीतको जीत कैसे मान सकता है ? क्योंकि उस दशामें तो वह शत्रुओंद्वारा पूर्णतः पराजित हो चुका है ॥ १३ ॥

येषामर्थाय पापं स्याद् विजयस्य सुहृद्वधैः।
निर्जितैरप्रमत्तैर्हि विजिता जितकाशिनः ॥ १४ ॥

'जिन्हें विजयके लिये सुहृदोंके वधका पाप करना पड़ता है, वे एक बार विजयलक्ष्मीसे उल्लसित भले ही हो जायँ, अन्तमें पराजित होकर सतत सावधान रहनेवाले शत्रुओंके हाथसे उन्हें पराजित होना ही पड़ता है ॥ १४ ॥

कर्णिनालीकदंष्ट्रस्य खड्गजिह्वस्य संयुगे।
चापव्यात्तस्य रौद्रस्य ज्यातलस्वननादिनः ॥ १५ ॥
क्रुद्धस्य नरसिंहस्य संग्रामेष्वपलायिनः।
ये व्यमुञ्चन्त कर्णस्य प्रमादात् त इमे हताः ॥ १६ ॥

'क्रोधमें भरा हुआ कर्ण मनुष्योंमें सिंहके समान था। कर्णि और नालीक नामक बाण उसकी दाढ़ें तथा युद्धमें उठी हुई तलवार उसकी जिह्वा थी। धनुषका खींचना ही उसका मुँह फैलाना था। प्रत्यञ्चाकी टङ्कार ही उसके लिये दहाड़नेके समान थी। युद्धोंमें कभी पीठ न दिखानेवाले उस भयंकर पुरुषसिंहके हाथसे जो जीवित छूट गये, वे ही ये मेरे सगे-सम्बन्धी अपनी असावधानीके कारण मार डाले गये हैं ॥ १५-१६ ॥

रथह्रदं शरवर्षोर्मिमन्तं
रत्नाचितं वाहनवाजियुक्तम्।
शक्त्यृष्टिमीनध्वजनागनक्रं
शरासनावर्तमहेषुफेनम् ॥ १७ ॥
संग्रामचन्द्रोदयवेगवेलं
द्रोणार्णवं ज्यातलनेमिघोषम्।
ये तेरुरुच्चावचशस्त्रनौभि-
स्ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥ १८ ॥

'द्रोणाचार्य महासागरके समान थे, रथ ही पानीका कुण्ड था, बाणोंकी वर्षा ही लहरोंके समान ऊपर उठती थी, रत्नमय आभूषण ही उस द्रोणरूपी समुद्रके रत्न थे, रथके घोड़े ही समुद्री घोड़ोंके समान जान पड़ते थे, शक्ति और ऋष्टि मत्स्यके समान तथा ध्वज नाग एवं मगरके तुल्य थे, धनुष ही भँवर तथा बड़े-बड़े बाण ही फेन थे, संग्राम ही चन्द्रोदय बनकर उस समुद्रके वेगको चरम सीमातक पहुँचा देता था, प्रत्यञ्चा और पहियोंकी ध्वनि ही उस महासागरकी गर्जना थी; ऐसे द्रोणरूपी सागरको जो छोटे बड़े नाना प्रकारके शस्त्रोंकी नौका बनाकर पार गये, वे ही राजकुमार असावधानीसे मार डाले गये

न हि प्रमादात् परमस्ति कश्चिद्
वधो नराणामिह जीवलोके।
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात्
त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ॥ १९ ॥

'प्रमादसे बढ़कर इस संसारमें मनुष्योंके लिये दूसरी कोई मृत्यु नहीं। प्रमादी मनुष्यको सारे अर्थ सब ओरसे त्याग देते हैं और अनर्थ बिना बुलाये ही उसके पास चले आते हैं ॥ १९ ॥

ध्वजोत्तमाग्रोच्छ्रितधूमकेतुं
शरार्चिषं कोपमहासमीरम्।
महाधनुर्ज्यातलनेमिघोषं
तनुत्रनानाविधशस्त्रहोमम् ॥ २० ॥
महाचमूकक्षदवाभिपन्नं
महाहवे भीष्ममयाग्निदाहम्।
ये सेहुरात्तायुधतीक्ष्णवेगं
ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥ २१ ॥

'महासमरमें भीष्मरूपी अग्नि जब पाण्डव-सेनाको जला रही थी, उस समय ऊँची ध्वजाओंके शिखरपर फहराती हुई पताका ही धूमके समान जान पड़ती थी, बाणवर्षा ही आगकी लपटें थीं, क्रोध ही प्रचण्ड वायु बनकर उस ज्वालाको बढ़ा रहा था, विशाल धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली और रथके पहियोंका शब्द ही मानो उस अग्निदाहसे उठनेवाली चट-चट ध्वनि था, कवच और नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उस आगकी आहुति बन रहे थे, विशाल सेनारूपी सूखे जङ्गलमें दावानलके समान वह आग लगी थी, हाथमें लिये हुए अस्त्र-शस्त्र ही उस अग्निके प्रचण्ड वेग थे, ऐसे अग्निदाहके कष्टको जिन्होंने सह लिया, वे ही राजपुत्र प्रमादवश मारे गये ॥ २०-२१॥

न हि प्रमत्तेन नरेण शक्यं
विद्या तपः श्रीर्विपुलं यशो वा ।
पश्याप्रमादेन निहत्य शत्रून्
सर्वान् महेन्द्रं सुखमेधमानम् ॥ २२ ॥

'प्रमादी मनुष्य कभी विद्या, तप, वैभव अथवा महान् यश नहीं प्राप्त कर सकता । देखो, देवराज इन्द्र प्रमाद छोड़ देनेके ही कारण अपने सारे शत्रुओंका संहार करके सुखपूर्वक उन्नति कर रहे हैं ॥ २२ ॥

इन्द्रोपमान् पार्थिवपुत्रपौत्रान्
पश्याविशेषेण हतान् प्रमादात् ।
तीर्त्वा समुद्रं वणिजः समृद्धा
मग्नाः कुनद्यामिव हेलमानाः ॥ २३ ॥

'देखो, प्रमादके ही कारण ये इन्द्रके समान पराक्रमी, राजाओंके पुत्र और पौत्र सामान्य रूपसे मार डाले गये, जैसे समृद्धिशाली व्यापारी समुद्रको पार करके प्रमादवश अवहेलना करनेके कारण छोटी-सी नदीमें डूब गये हों ॥ २३ ॥

अमर्षितैर्ये निहताः शयाना
निःसंशयं ते त्रिदिवं प्रपन्नाः ।
कृष्णां तु शोचामि कथं नु साध्वी
शोकार्णवे साद्य विनङ्क्ष्यतीति ॥ २४ ॥

'शत्रुओंने अमर्षके वशीभूत होकर जिन्हें सोते समय ही मार डाला है वे तो निःसंदेह स्वर्गलोकमें पहुँच गये हैं । मुझे तो उस सती साध्वी कृष्णाके लिये चिन्ता हो रही है जो आज शोकके समुद्रमें डूबकर नष्ट हो जानेकी स्थितिमें पहुँच गयी है ॥ २४ ॥

भ्रातृंश्च पुत्रांश्च हतान् निशम्य
पाञ्चालराजं पितरं च वृद्धम् ।
ध्रुवं विसंज्ञा पतिता पृथिव्यां
सा शोष्यते शोककृशाङ्गयष्टिः ॥ २५ ॥

'एक तो पहलेसे ही शोकके कारण क्षीण होकर उसकी देह सूखी लकड़ीके समान हो गयी है ? दूसरे फिर जब वह अपने भाइयों, पुत्रों तथा बूढ़े पिता पाञ्चालराज द्रुपदकी मृत्युका समाचार सुनेगी तब और भी सूख जायगी तथा अवश्य ही अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ेगी ॥ २५ ॥

तच्छोकजं दुःखमपारयन्ती
कथं भविष्यत्युचिता सुखानाम् ।
पुत्रक्षयभ्रातृवधप्रणुन्ना
प्रदह्यमानेन हुताशनेन ॥ २६ ॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह उस शोकजनित दुःखको न सह सकनेके कारण न जाने कैसी दशाको पहुँच जायगी ? पुत्रों और भाइयोंके विनाशसे व्यथित हो उसके हृदयमें जो शोककी आग जल उठेगी, उससे उसकी बड़ी शोचनीय दशा हो जायगी' ॥ २६ ॥

इत्येवमार्तः परिदेवयन् स
राजा कुरूणां नकुलं बभाषे ।
गच्छानयैनामिह मन्दभाग्यां
समातृपक्षामिति राजपुत्रीम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार आर्तस्वरसे विलाप करते हुए कुरुराज युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'भाई ! जाओ, मन्दभागिनी राजकुमारी द्रौपदीको उसके मातृपक्षकी स्त्रियोंके साथ यहाँ लिवा लाओ' ॥

माद्रीसुतस्तत् परिगृह्य वाक्यं
धर्मेण धर्मप्रतिमस्य राज्ञः ।
ययौ रथेनालयमाशु देव्याः
पाञ्चालराजस्य च यत्र दाराः ॥ २८ ॥

माद्रीकुमार नकुलने धर्माचरणके द्वारा साक्षात् धर्मराजकी समानता करनेवाले राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य करके रथके द्वारा तुरंत ही महारानी द्रौपदीके उस भवनकी ओर प्रस्थान किया, जहाँ पाञ्चालराजके घरकी भी महिलाएँ रहती थीं ॥ २८ ॥

प्रस्थाप्य माद्रीसुतमाजमीढः
शोकार्दितस्तैः सहितः सुहृद्भिः ।
रोरूयमाणः प्रययौ सुताना-
मायोधनं भूतगणानुकीर्णम् ॥ २९ ॥

माद्रीकुमारको वहाँ भेजकर अजमीढ़कुलनन्दन युधिष्ठिर शोकाकुल हो उन सभी सुहृदोंके साथ बारंबार रोते हुए पुत्रोंके उस युद्धस्थलमें गये, जो भूतगणोंसे भरा हुआ था ॥

स तत् प्रविश्याशिवमुग्ररूपं
ददर्श पुत्रान् सुहृदः सखींश्च ।
भूमौ शयानान् रुधिरार्द्रगात्रान्
विभिन्नदेहान् प्रहृतोत्तमाङ्गान् ॥ ३० ॥

उस भयङ्कर एवं अमङ्गलमय स्थानमें प्रवेश करके उन्होंने अपने पुत्रों, सुहृदों और सखाओंको देखा, जो खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़े थे । उनके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे और मस्तक कट गये थे ॥३० ॥

स तांस्तु दृष्ट्वा भृशमार्तरूपो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
उच्चैः प्रचुक्रोश च कौरवाग्र्यः
पपात चोर्व्यां सगणो विसंज्ञः ॥ ३१ ॥

उन्हें देखकर कुरुकुलशिरोमणि तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखी हो गये और उच्चस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगे। धीरे-धीरे उनकी संज्ञा लुप्त हो गयी और वे अपने साथियोंसहित पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरशिविरप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिरका शिविरमें प्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शोकमें व्याकुल होना, द्रौपदीका विलाप तथा द्रोणकुमारके वधके लिये आग्रह, भीमसेनका अश्वत्थामाको मारनेके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

स दृष्ट्वा निहतान् संख्ये पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ।
महादुःखपरीतात्मा बभूव जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रों, पौत्रों और मित्रोंको युद्धमें मारा गया देख राजा युधिष्ठिरका हृदय महान् दुःखसे संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

ततस्तस्य महाञ्शोकः प्रादुरासीन्महात्मनः ।
स्मरतः पुत्रपौत्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य ह ॥ २ ॥

उस समय पुत्रों, पौत्रों, भाइयों और स्वजनोंका स्मरण करके उन महात्माके मनमें महान् शोक प्रकट हुआ ॥ २ ॥

तमश्रुपरिपूर्णाक्षं वेपमानमचेतसम् ।
सुहृदो भृशसंविग्नाः सान्त्वयाञ्चक्रिरे तदा ॥ ३ ॥

उनकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं, शरीर काँपने लगा और चेतना लुप्त होने लगी। उनकी ऐसी अवस्था देख उनके सुहृद् अत्यन्त व्याकुल हो उस समय उन्हें सान्त्वना देने लगे ॥ ३ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे कल्पो रथेनादित्यवर्चसा ।
नकुलः कृष्णया सार्धमुपायात् परमार्तया ॥ ४ ॥

इसी समय सामर्थ्यशाली नकुल सूर्यके समान तेजस्वी रथके द्वारा शोकसे अत्यन्त पीड़ित हुई कृष्णाको साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे ॥ ४ ॥

उपप्लव्यं गता सा तु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
तदा विनाशं सर्वेषां पुत्राणां व्यथिताभवत् ॥ ५ ॥

उस समय द्रौपदी उपप्लव्य नगरमें गयी हुई थी, वहाँ अपने सारे पुत्रोंके मारे जानेका अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर वह व्यथित हो उठी थी ॥ ५ ॥

कम्पमानेव कदली वातेनाभिसमीरिता ।
कृष्णा राजानमासाद्य शोकार्ता न्यपतद् भुवि ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके पास पहुँचकर शोकसे व्याकुल हुई कृष्णा हवासे हिलायी गयी कदलीके समान कम्पित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६ ॥

बभूव वदनं तस्याः सहसा शोककर्शितम् ।
फुल्लपद्मपलाशाक्ष्यास्तमोग्रस्त इवांशुमान् ॥ ७ ॥

प्रफुल्ल कमलके समान विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली द्रौपदीका मुख सहसा शोकसे पीड़ित हो राहुके द्वारा ग्रस्त हुए सूर्यके समान तेजोहीन हो गया ॥ ७ ॥

ततस्तां पतितां दृष्ट्वा संरम्भी सत्यविक्रमः ।
बाहुभ्यां परिजग्राह समुत्पत्य वृकोदरः ॥ ८ ॥
सा समाश्वासिता तेन भीमसेनेन भामिनी ।

उसे गिरी हुई देख क्रोधमें भरे हुए सत्यपराक्रमी भीमसेनने उछलकर दोनों बाँहोंसे उसको उठा लिया और उस मानिनी पत्नीको धीरज बँधाया ॥ ८½ ॥

रुदती पाण्डवं कृष्णा सा हि भारतमब्रवीत् ॥ ९ ॥
दिष्ट्या राजन्नवाप्येमामखिलां भोक्ष्यसे महीम् ।
आत्मजान् क्षत्रधर्मेण सम्प्रदाय यमाय वै ॥ १० ॥

उस समय रोती हुई कृष्णाने भरतनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! सौभाग्यकी बात है कि आप क्षत्रिय-धर्मके अनुसार अपने पुत्रोंको यमराजकी भेंट चढ़ाकर यह सारी पृथ्वी पा गये और अब इसका उपभोग करेंगे ९-१०

दिष्ट्या त्वं कुशली पार्थ मत्तमातङ्गगामिनीम् ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां सौभद्रं न स्मरिष्यसि ॥ ११ ॥

'कुन्तीनन्दन! सौभाग्यसे ही आपने कुशलपूर्वक रहकर इस मत्त-मातङ्गगामिनी सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर लिया, अब तो आपको सुभद्राकुमार अभिमन्युकी भी याद नहीं आयेगी ॥ ११ ॥

आत्मजान् क्षत्रधर्मेण श्रुत्वा शूरान् निपातितान् ।
उपप्लव्ये मया सार्धं दिष्ट्या त्वं न स्मरिष्यसि ॥ १२ ॥

'अपने वीर पुत्रोंको क्षत्रिय-धर्मके अनुसार मारा गया सुनकर भी आप उपप्लव्यनगरमें मेरे साथ रहते हुए उन्हें सर्वथा भूल जायँगे; यह भी भाग्यकी ही बात है ॥ १२ ॥

प्रसुप्तानां वधं श्रुत्वा द्रौणिना पापकर्मणा ।
शोकस्तपति मां पार्थ हुताशन इवाश्रयम् ॥ १३ ॥

'पार्थ! पापाचारी द्रोणपुत्रके द्वारा मेरे सोये हुए पुत्रोंका वध किया गया, यह सुनकर शोक मुझे उसी प्रकार संतप्त कर रहा है, जैसे आग अपने आधारभूत काष्ठको ही जला डालती है ॥ १३ ॥

तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदद्य त्वया रणे ।
ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम् ॥ १४ ॥
इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः ।
न चेत् फलमवाप्नोति द्रौणिः पापस्य कर्मणः ॥ १५ ॥

'यदि आज आप रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करके सगे-सम्बन्धियोंसहित पापाचारी द्रोणकुमारके प्राण नहीं हर लेते

हैं तो मैं यहीं अनशन करके अपने जीवनका अन्त कर दूँगी। पाण्डवो ! आप सब लोग इस बातको कान खोलकर सुन लें। यदि अश्वत्थामा अपने पापकर्मका फल नहीं पा लेता है तो मैं अवश्य प्राण त्याग दूँगी' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णा पाण्डवं प्रत्युपाविशत्।
युधिष्ठिरं याज्ञसेनी धर्मराजं यशस्विनी ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर यशस्विनी द्रुपदकुमारी कृष्णा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सामने ही अनशनके लिये बैठ गयी ॥ १६ ॥

दृष्ट्वोपविष्टां राजर्षिः पाण्डवो महिषीं प्रियाम्।
प्रत्युवाच स धर्मात्मा द्रौपदीं चारुदर्शनाम् ॥ १७ ॥

अपनी प्रिय महारानी परम सुन्दरी द्रौपदीको उपवासके लिये बैठी देख धर्मात्मा राजर्षि युधिष्ठिरने उससे कहा—॥

धर्म्यं धर्मेण धर्मज्ञे प्राप्तास्ते निधनं शुभे।
पुत्रास्ते भ्रातरश्चैव तान्न शोचितुमर्हसि ॥ १८ ॥

'शुभे ! तुम धर्मको जाननेवाली हो। तुम्हारे पुत्रों और भाइयोंने धर्मपूर्वक युद्ध करके धर्मानुकूल मृत्यु प्राप्त की है; अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

स कल्याणि वनं दुर्गं दूरं द्रौणिरितो गतः।
तस्य त्वं पातनं संख्ये कथं ज्ञास्यसि शोभने ॥ १९ ॥

'कल्याणि ! द्रोणकुमार तो यहाँसे भागकर दुर्गम वनमें चला गया है। शोभने ! यदि उसे युद्धमें मार गिराया जाय तो भी तुम्हें इसका विश्वास कैसे होगा ?' ॥१९ ॥

द्रौपद्युवाच

द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मे श्रुतः।
निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतम् ॥ २० ॥
राजञ्शिरसि ते कृत्वा जीवेयमिति मे मतिः।

द्रौपदी बोली—महाराज ! मैंने सुना है कि द्रोणपुत्रके मस्तकमें एक मणि है जो उसके जन्मके साथ ही पैदा हुई है। उस पापीको युद्धमें मारकर यदि वह मणि ला दी जायगी तो मैं उसे देख लूँगी राजन् ! उस मणिको आपके सिरपर धारण कराकर ही मैं जीवन धारण कर सकूँगी; ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है २०½

इत्युक्त्वा पाण्डवं कृष्णा राजानं चारुदर्शना ॥ २१ ॥
भीमसेनमथागत्य परमं वाक्यमब्रवीत्।
त्रातुमर्हसि मां भीम क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ २२ ॥

पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर सुन्दरी कृष्णा भीमसेनके पास आयी और यह उत्तम वचन बोली—'प्रिय भीम ! आप क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करके मेरे जीवनकी रक्षा कर सकते हैं ॥ २१-२२ ॥

जहि तं पापकर्माणं शम्बरं मघवानिव।
न हि ते विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ॥ २३ ॥

'वीर ! जैसे इन्द्रने शम्बरासुरको मारा था, उसी प्रकार आप भी उस पापकर्मी अश्वत्थामाका वध करें। इस संसारमें कोई भी पुरुष पराक्रममें आपकी समानता करनेवाला नहीं है ॥ २३ ॥

श्रुतं तत् सर्वलोकेषु परमव्यसने यथा।
द्वीपोऽभूस्त्वं हि पार्थानां नगरे वारणावते ॥ २४ ॥

'यह बात सम्पूर्ण जगत्में प्रसिद्ध है कि वारणावतनगरमें जब कुन्तीके पुत्रोंपर भारी सङ्कट पड़ा था, तब आप ही द्वीपके समान उनके रक्षक हुए थे ॥ २४ ॥

हिडिम्बदर्शने चैव तथा त्वमभवो गतिः।
तथा विराटनगरे कीचकेन भृशार्दिताम् ॥ २५ ॥
मामप्युद्धृतवान् कृच्छ्रात् पौलोमीं मघवानिव।

'इसी प्रकार हिडिम्बासुरसे भेंट होनेपर भी आप ही उनके आश्रयदाता हुए। विराटनगरमें जब कीचकने मुझे बहुत तंग कर दिया, तब उस महान् संकटसे आपने मेरा भी उसी तरह उद्धार किया, जैसे इन्द्रने शचीका किया था ॥ २५½ ॥

यथैतान्यकृथाः पार्थ महाकर्माणि वै पुरा ॥ २६ ॥
तथा द्रौणिममित्रघ्न विनिहत्य सुखी भव।

'शत्रुसूदन पार्थ ! जैसे पूर्वकालमें ये महान् कर्म आपने किये थे, उसी प्रकार इस द्रोणपुत्रको भी मारकर सुखी हो जाइये' ॥ २६½ ॥

तस्या बहुविधं दुःखान्निशम्य परिदेवितम् ॥ २७ ॥
नामर्षयत कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।

दुःखके कारण द्रौपदीका यह भाँति-भाँतिका विलाप सुनकर महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन इसे सहन न कर सके ॥२७½॥

स काञ्चनविचित्राङ्गमारुरोह महारथम् ॥ २८ ॥
आदाय रुचिरं चित्रं समार्गणगुणं धनुः।
नकुलं सारथिं कृत्वा द्रोणपुत्रवधे धृतः ॥ २९ ॥
विस्फार्य सशरं चापं तूर्णमश्वानचोदयत्।

वे द्रोणपुत्रके वधका निश्चय करके सुवर्णभूषित विचित्र अङ्गोंवाले रथपर आरूढ़ हुए। उन्होंने बाण और प्रत्यञ्चासहित एक सुन्दर एवं विचित्र धनुष हाथमें लेकर नकुलको सारथि बनाया तथा बाणसहित धनुषको फैलाकर तुरंत ही घोड़ोंको हँकवाया ॥ २८-२९½ ॥

ते हयाः पुरुषव्याघ्र चोदिता वातरंहसः ॥ ३० ॥
वेगेन त्वरिता जग्मुर्हरयः शीघ्रगामिनः।

पुरुषसिंह नरेश ! नकुलके द्वारा हाँके गये वे वायुके समान वेगवाले शीघ्रगामी घोड़े बड़ी उतावलीके साथ तीव्र गतिसे चल दिये ॥ ३०½ ॥

शिबिरात् स्वाद् गृहीत्वा स रथस्य पदमच्युतः॥ ३१ ॥
(द्रोणपुत्रगतेनाशु ययौ मार्गेण भारत।)

भरतनन्दन ! छावनीसे बाहर निकलकर अपनी टेकसे न टलनेवाले भीमसेन अश्वत्थामाके रथका चिह्न देखते हुए उसी मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े, जिससे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा गया था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि द्रौणिवधार्थं भीमसेनगमने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अश्वत्थामाके वधके लिये भीमसेनका प्रस्थानविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अश्वत्थामाकी चपलता एवं क्रूरताके प्रसङ्गमें सुदर्शनचक्र माँगनेकी बात सुनाते हुए उससे भीमसेनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे यदूनामृषभस्ततः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दुर्धर्ष वीर भीमसेनके चले जानेपर यदुकुलतिलक कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे कहा— ॥ १ ॥

एष पाण्डव ते भ्राता पुत्रशोकपरायणः।
जिघांसुर्द्रौणिमाक्रन्दे एक एवाभिधावति ॥ २ ॥

'पाण्डुनन्दन! ये आपके भाई भीमसेन पुत्रशोकमें मग्न होकर युद्धमें द्रोणकुमारके वधकी इच्छासे अकेले ही उसपर धावा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भीमः प्रियस्ते सर्वेभ्यो भ्रातृभ्यो भरतर्षभ।
तं कृच्छ्रगतमद्य त्वं कस्मान्नाभ्युपपद्यसे ॥ ३ ॥

'भरतश्रेष्ठ! भीमसेन आपको समस्त भाइयोंसे अधिक प्रिय हैं; किंतु आज वे संकटमें पड़ गये हैं। फिर आप उनकी सहायताके लिये जाते क्यों नहीं हैं? ॥ ३ ॥

यत् तदाचष्ट पुत्राय द्रोणः परपुरंजयः।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम दहेत पृथिवीमपि ॥ ४ ॥

'शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले द्रोणाचार्यने अपने पुत्रको जिस ब्रह्मशिर नामक अस्त्रका उपदेश दिया है, वह समस्त भूमण्डलको भी दग्ध कर सकता है ॥ ४ ॥

तन्महात्मा महाभागः केतुः सर्वधनुष्मताम्।
प्रत्यपादयदाचार्यः प्रीयमाणो धनंजयम् ॥ ५ ॥

'सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सिरमौर महाभाग महात्मा द्रोणाचार्यने प्रसन्न होकर वह अस्त्र पहले अर्जुनको दिया था ॥ ५ ॥

तं पुत्रोऽप्येक एवैनमन्वयाचदमर्षणः।
ततः प्रोवाच पुत्राय नातिहृष्टमना इव ॥ ६ ॥

'अश्वत्थामा इसे सहन न कर सका। वह उनका एकलौता पुत्र था; अतः उसने भी अपने पितासे उसी अस्त्रके लिये प्रार्थना की। तब आचार्यने अपने पुत्रको उस अस्त्रका उपदेश कर दिया; किंतु इससे उनका मन अधिक प्रसन्न नहीं था ॥ ६ ॥

विदितं चापलं ह्यासीदात्मजस्य दुरात्मनः।
सर्वधर्मविदाचार्यः सोऽन्वशात् स्वसुतं ततः ॥ ७ ॥

'उन्हें अपने दुरात्मा पुत्रकी चपलता ज्ञात थी; अतः सब धर्मोंके ज्ञाता आचार्यने अपने पुत्रको इस प्रकार शिक्षा दी ॥ ७ ॥

परमापद्गतेनापि न स्म तात त्वया रणे।
इदमस्त्रं प्रयोक्तव्यं मानुषेषु विशेषतः ॥ ८ ॥

''बेटा! बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी तुम्हें रणभूमिमें विशेषतः मनुष्योंपर इस अस्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये' ॥ ८ ॥

इत्युक्तवान् गुरुः पुत्रं द्रोणः पश्चादथोक्तवान्।
न त्वं जातु सतां मार्गे स्थातेति पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ! अपने पुत्रसे ऐसा कहकर गुरु द्रोण पुनः उससे बोले—'बेटा! मुझे संदेह है कि तुम कभी सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर नहीं रहोगे' ॥ ९ ॥

स तदाज्ञाय दुष्टात्मा पितुर्वचनमप्रियम्।
निराशः सर्वकल्याणैः शोकात् पर्यचरन्महीम्॥ १० ॥

'पिताके इस अप्रिय वचनको सुन और समझकर दुष्टात्मा द्रोणपुत्र सब प्रकारके कल्याणकी आशा छोड़ बैठा और बड़े शोकसे पृथ्वीपर विचरने लगा ॥ १० ॥

ततस्तदा कुरुश्रेष्ठ वनस्थे त्वयि भारत।
अवसद् द्वारकामेत्य वृष्णिभिः परमार्चितः ॥ ११ ॥

'भरतनन्दन! कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर जब तुम वनमें रहते थे, उन्हीं दिनों अश्वत्थामा द्वारकामें आकर रहने लगा। वहाँ वृष्णिवंशियोंने उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ११ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते वसन् द्वारवतीमनु।
एक एकं समागम्य मामुवाच हसन्निव ॥ १२ ॥

'एक दिन द्वारकामें समुद्रके तटपर रहते समय उसने अकेले ही मुझ अकेलेके पास आकर हँसते हुए-से कहा— ॥

यत् तदुग्रं तपः कृष्ण चरन् सत्यपराक्रमः।
अगस्त्याद् भारताचार्यः प्रत्यपद्यत मे पिता ॥ १३ ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम देवगन्धर्वपूजितम्।
तदद्य मयि दाशार्ह यथा पितरि मे तथा ॥ १४ ॥
अस्मत्तस्तदुपादाय दिव्यमस्त्रं यदूत्तम।
ममाप्यस्त्रं प्रयच्छ त्वं चक्रं रिपुहणं रणे ॥ १५ ॥

''दशार्हनन्दन! श्रीकृष्ण! भरतवंशके आचार्य मेरे सत्यपराक्रमी पिताने उग्र तपस्या करके महर्षि अगस्त्यसे जो ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था, वह देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सम्मानित अस्त्र इस समय जैसा मेरे पिताके पास है, वैसा ही मेरे पास भी है; अतः यदुश्रेष्ठ! आप मुझसे वह दिव्य अस्त्र लेकर रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करनेवाला अपना चक्रनामक अस्त्र मुझे दे दीजिये' ॥ १३—१५ ॥

स राजन् प्रीयमाणेन मयाप्युक्तः कृताञ्जलिः।
याचमानः प्रयत्नेन मत्तोऽस्त्रं भरतर्षभ ॥ १६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! वह हाथ जोड़कर बड़े प्रयत्नके द्वारा मुझसे अस्त्रकी याचना कर रहा था, तब मैंने भी प्रसन्नतापूर्वक ही उससे कहा— ॥ १६ ॥

देवदानवगन्धर्वमनुष्यपतगोरगाः ।
न समा मम वीर्यस्य शतांशेनापि पिण्डिताः ॥ १७ ॥

''ब्रह्मन् ! देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, पक्षी और नाग—ये सब मिलकर मेरे पराक्रमके सौवें अंशकी भी समानता नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इदं धनुरियं शक्तिरिदं चक्रमियं गदा ।
यद्यदिच्छसि चेदस्त्रं मत्तस्तत् तद् ददामि ते ॥ १८ ॥

''यह मेरा धनुष है, यह शक्ति है, यह चक्र है और यह गदा है । तुम जो-जो अस्त्र मुझसे लेना चाहते हो, वही वह तुम्हें दिये देता हूँ ॥ १८ ॥

यच्छक्नोषि समुद्यन्तुं प्रयोक्तुमपि वा रणे ।
तद् गृहाण विनास्त्रेण यन्मे दातुमभीप्ससि ॥ १९ ॥

''तुम मुझे जो अस्त्र देना चाहते हो, उसे दिये बिना ही रणभूमिमें मेरे जिस आयुधको उठा अथवा चला सको, उसे ही ले लो' ॥ १९ ॥

स सुनाभं सहस्रारं वज्रनाभमयस्मयम् ।
वव्रे चक्रं महाभागो मत्तः स्पर्धन्मया सह ॥ २० ॥

'तब उस महाभागने मेरे साथ स्पर्धा रखते हुए मुझसे मेरा वह लोहमय चक्र माँगा, जिसकी सुन्दर नाभिमें वज्र लगा हुआ है तथा जो एक सहस्र अरोंसे सुशोभित होता है ! ॥

गृहाण चक्रमित्युक्तो मया तु तदनन्तरम् ।
जग्राहोत्पत्य सहसा चक्रं सव्येन पाणिना ॥ २१ ॥

'मैंने भी कह दिया—'ले लो चक्र,' मेरे इतना कहते ही उसने सहसा उछलकर बायें हाथसे चक्रको पकड़ लिया ।२१।

न चैनमशकत् स्थानात् संचालयितुमप्युत ।
अथैनं दक्षिणेनापि गृहीतुमुपचक्रमे ॥ २२ ॥

'परंतु वह उसे अपनी जगहसे हिला भी न सका। तब उसने उसे दाहिने हाथसे उठानेका प्रयत्न आरम्भ किया ॥

सर्वयत्नबलेनापि गृह्णन्नेवमिदं ततः ।
ततः सर्वबलेनापि यदैनं न शशाक ह ॥ २३ ॥
उद्यन्तुं वा चालयितुं द्रौणिः परमदुर्मनाः ।
कृत्वा यत्नं परिश्रान्तः स न्यवर्तत भारत ॥ २४ ॥

'सारा प्रयत्न और सारी शक्ति लगाकर भी जब उसे पकड़कर उठा अथवा हिला न सका, तब द्रोणकुमार मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया । भारत ! यत्न करके थक जानेपर वह उसे लेनेकी चेष्टासे निवृत्त हो गया ॥ २३-२४ ॥

निवृत्तमनसं तस्मादभिप्रायाद् विचेतसम् ।
अहमामन्त्र्य संविग्नमश्वत्थामानमब्रुवम् ॥ २५ ॥

'जब उस संकल्पसे उसका मन हट गया और वह दुःखसे अचेत एवं उद्विग्न हो गया, तब मैंने अश्वत्थामाको बुलाकर पूछा— ॥ २५ ॥

यः सदैव मनुष्येषु प्रमाणं परमं गतः ।
गाण्डीवधन्वा श्वेताश्वः कपिप्रवरकेतनः ॥ २६ ॥
यः साक्षाद् देवदेवेशं शितिकण्ठमुमापतिम् ।
द्वन्द्वयुद्धे पराजिष्णुस्तोषयामास शङ्करम् ॥ २७ ॥
यस्मात् प्रियतरो नास्ति ममान्यः पुरुषो भुवि ।
नादेयं यस्य मे किञ्चिदपि दाराः सुतास्तथा ॥ २८ ॥
तेनापि सुहृदा ब्रह्मन् पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
नोक्तपूर्वमिदं वाक्यं यत् त्वं मामभिभाषसे ॥ २९ ॥

''ब्रह्मन् ! जो मनुष्य समाजमें सदा ही परम प्रामाणिक समझे जाते हैं, जिनके पास गाण्डीव धनुष और श्वेत घोड़े हैं, जिनकी ध्वजापर श्रेष्ठ वानर विराजमान होता है, जिन्होंने द्वन्द्वयुद्धमें साक्षात् देवदेवेश्वर नीलकण्ठ उमावल्लभ भगवान् शङ्करको पराजित करनेका साहस करके उन्हें संतुष्ट किया था, इस भूमण्डलमें मुझे जिनसे बढ़कर परम प्रिय दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, जिनके लिये मेरे पास स्त्री, पुत्र आदि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो देने योग्य न हो, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे उस प्रिय सुहृद् कुन्तीकुमार अर्जुनने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही थी, जो आज तुम मुझसे कह रहे हो ॥ २६–२९ ॥

ब्रह्मचर्यं महद् घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम् ।
हिमवत्पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः ॥ ३० ॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत ।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥ ३१ ॥
तेनाप्येतन्महद् दिव्यं चक्रमप्रतिमं रणे ।
न प्रार्थितमभून्मूढ यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३२ ॥

'' मूढ ब्राह्मण ! मैंने बारह वर्षोंतक अत्यन्त घोर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके हिमालयकी घाटीमें रहकर बड़ी भारी तपस्याके द्वारा जिसे प्राप्त किया था, मेरे समान व्रतका पालन करनेवाली रुक्मिणीदेवीके गर्भसे जिसका जन्म हुआ है, जिसके रूपमें साक्षात् तेजस्वी सनत्कुमारने ही मेरे यहाँ अवतार लिया है, वह प्रद्युम्न मेरा प्रिय पुत्र है । परंतु रणभूमिमें जिसकी कहीं तुलना नहीं है, मेरे इस परम दिव्य चक्रको कभी उस प्रद्युम्नने भी नहीं माँगा था, जिसकी आज तुमने माँग की है ॥ ३०–३२ ॥

रामेणातिबलेनैतन्नोक्तपूर्वं कदाचन ।
न गदेन न साम्बेन यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३३ ॥

''अत्यन्त बलशाली बलरामजीने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही है । जिसे तुमने माँगा है, उसे गद और साम्बने भी कभी लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३३ ॥

द्वारकावासिभिश्चान्यैर्वृष्ण्यन्धकमहारथैः ।
नोक्तपूर्वमिदं जातु यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३४ ॥

''द्वारकामें निवास करनेवाले जो अन्य वृष्णि तथा अन्धकवंशके महारथी हैं, उन्होंने भी कभी मेरे सामने ऐसा प्रस्ताव नहीं किया था, जैसा कि तुमने इस चक्रको माँगते हुए किया है ॥ ३४ ॥

भारताचार्यपुत्रस्त्वं मानितः सर्वयादवैः ।
चक्रेण रथिनां श्रेष्ठ कं नु तात युयुत्ससे ॥ ३५ ॥

''तात ! रथियोंमें श्रेष्ठ ! तुम तो भरतकुलके आचार्यके

पुत्र हो। सम्पूर्ण यादवोंने तुम्हारा बड़ा सम्मान किया है। फिर बनाओ तो सही, इस चक्रके द्वारा तुम किसके साथ युद्ध करना चाहते हो?' ॥ ३५ ॥

एवमुक्तो मया द्रौणिर्मामिदं प्रत्युवाच ह।
प्रयुज्य भवते पूजां योत्स्ये कृष्ण त्वया सह ॥ ३६ ॥
प्रार्थितं ते मया चक्रं देवदानवपूजितम्।
अजेयः स्यामिति विभो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३७ ॥

'जब मैंने इस तरह पूछा, तब द्रोणकुमारने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण ! मैं आपकी पूजा करके फिर आपके ही साथ युद्ध करूँगा। प्रभो ! मैं यह सच कहता हूँ कि मैंने इस देव-दानवपूजित चक्रको आपसे इसीलिये माँगा था कि इसे पाकर अजेय हो जाऊँ ॥ ३६-३७ ॥

त्वत्तोऽहं दुर्लभं काममनवाप्यैव केशव।
प्रतियास्यामि गोविन्द शिवेनाभिवदस्व माम् ॥ ३८ ॥

''किंतु केशव ! अब मैं अपनी इस दुर्लभ कामनाको आपसे प्राप्त किये बिना ही लौट जाऊँगा। गोविन्द ! आप मुझसे केवल इतना कह दें कि 'तेरा कल्याण हो' ॥ ३८ ॥

एतत् सुभीमं भीमानामृषभेण त्वया धृतम्।
चक्रमप्रतिचक्रेण भुवि नान्योऽभिपद्यते ॥ ३९ ॥

''यह चक्र अत्यन्त भयंकर है और आप भी भयानक वीरोंके शिरोमणि हैं। आपके किसी विरोधीके पास ऐसा चक्र नहीं है। आपने ही इसे धारण कर रक्खा है। इस भूतलपर दूसरा कोई पुरुष इसे नहीं उठा सकता' ॥ ३९ ॥

एतावदुक्त्वा द्रौणिर्मां युग्यानश्वान् धनानि च।
आदायोपययौ काले रत्नानि विविधानि च ॥ ४० ॥

'मुझसे इतना ही कहकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा रथमें जोतने योग्य घोड़े, धन तथा नाना प्रकारके रत्न लेकर वहाँसे यथासमय लौट गया ॥ ४० ॥

स संरम्भी दुरात्मा च चपलः क्रूर एव च।
वेद चास्त्रं ब्रह्मशिरस्तस्माद् रक्ष्यो वृकोदरः ॥ ४१ ॥

'वह क्रोधी, दुष्टात्मा, चपल और क्रूर है। साथ ही उसे ब्रह्मास्त्रका भी ज्ञान है; अतः उससे भीमसेनकी रक्षा करनी चाहिये' ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवादविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिरका भीमसेनके पीछे जाना, भीमका गङ्गातटपर पहुँचकर अश्वत्थामाको ललकारना और अश्वत्थामाके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा युधां श्रेष्ठः सर्वयादवनन्दनः।
सर्वायुधवरोपेतमारुरोह रथोत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सम्पूर्ण यादवकुलको आनन्दित करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा कहकर समस्त श्रेष्ठ आयुधोंसे सम्पन्न उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ १ ॥

युक्तं परमकाम्बोजैस्तुरगैर्हेममालिभिः।
आदित्योदयवर्णस्य धुरं रथवरस्य तु ॥ २ ॥
दक्षिणामवहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽभवत्।
पार्ष्णिवाहौ तु तस्यास्तां मेघपुष्पवलाहकौ ॥ ३ ॥

उसमें सोनेकी माला पहने हुए अच्छी जातिके काबुली घोड़े जुते हुए थे। उस श्रेष्ठ रथकी कान्ति उदयकालीन सूर्यके समान अरुण थी। उसकी दाहिनी धुराका बोझ शैब्य ढो रहा था और बायींका सुग्रीव। उन दोनोंके पार्श्वभागमें क्रमशः मेघपुष्प और बलाहक जुते हुए थे ॥ २-३ ॥

विश्वकर्मकृता दिव्या रत्नधातुविभूषिता।
उच्छ्रितेव रथे माया ध्वजयष्टिरदृश्यत ॥ ४ ॥

उस रथपर विश्वकर्माद्वारा निर्मित तथा रत्नमय धातुओंसे विभूषित दिव्य ध्वजा दिखायी दे रही थी, जो ऊँचे उठी हुई मायाके समान प्रतीत होती थी ॥ ४ ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभामण्डलरश्मिवान्।
तस्य सत्यवतः केतुर्भुजगारिरदृश्यत ॥ ५ ॥

उस ध्वजापर प्रभापुञ्ज एवं किरणोंसे सुशोभित विनतानन्दन गरुड़ विराज रहे थे। सर्पोंके शत्रु गरुड़ सत्यवान् श्रीकृष्णके रथकी पताकाके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥५॥

अथारोहद्धृषीकेशः केतुः सर्वधनुष्मताम्।
अर्जुनः सत्यकर्मा च कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण पहले उस रथपर सवार हुए। तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी अर्जुन तथा कुरुराज युधिष्ठिर उस रथपर बैठे ॥ ६ ॥

अशोभेतां महात्मानौ दाशार्हमभितः स्थितौ।
रथस्थं शार्ङ्गधन्वानमश्विनाविव वासवम् ॥ ७ ॥

वे दोनों महात्मा पाण्डव रथपर स्थित हुए शार्ङ्ग धनुषधारी दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णके समीप विराजमान हो इन्द्रके पास बैठे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

तावुपारोप्य दाशार्हः स्यन्दनं लोकपूजितम्।
प्रतोदेन जवोपेतान् परमाश्वानचोदयत् ॥ ८ ॥

उन दोनों भाइयोंको उस लोकपूजित रथपर चढ़ाकर दशार्हवंशी श्रीकृष्णने वेगशाली उत्तम अश्वोंको चाबुकसे हाँका।

ते हयाः सहसोत्पेतुर्गृहीत्वा स्यन्दनोत्तमम् ।
आस्थितं पाण्डवेयाभ्यां यदूनामृषभेण च ॥ ९ ॥

वे घोड़े दोनों पाण्डवों तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्णकी सवारीमें आये हुए उस उत्तम रथको लेकर सहसा उड़ चले॥

वहतां शार्ङ्गधन्वानमश्वानां शीघ्रगामिनाम् ।
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः पक्षिणां पततामिव ॥ १० ॥

शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णकी सवारी ढोते हुए उन शीघ्रगामी अश्वोंका महान् शब्द उड़ते हुए पक्षियोंके समान प्रकट हो रहा था ॥ १० ॥

ते समार्च्छन्नरव्याघ्राः क्षणेन भरतर्षभ ।
भीमसेनं महेष्वासं समनुद्रुत्य वेगिताः ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे तीनों नरश्रेष्ठ बड़े वेगसे पीछे-पीछे दौड़कर क्षणभरमें महाधनुर्धर भीमसेनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

क्रोधदीप्तं तु कौन्तेयं द्विषदर्थे समुद्यतम् ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समेत्यापि महारथाः ॥ १२ ॥

इस समय कुन्तीकुमार भीमसेन क्रोधसे प्रज्वलित हो शत्रुका संहार करनेके लिये तुले हुए थे । इसलिये वे तीनों महारथी उनसे मिलकर भी उन्हें रोक न सके ॥ १२ ॥

स तेषां प्रेक्षतामेव श्रीमतां दृढधन्विनाम् ।
ययौ भागीरथीतीरं हरिभिर्भृशवेगितैः ॥ १३ ॥
यत्र स्म श्रूयते द्रौणिः पुत्रहन्ता महात्मनाम् ।

उन सुदृढ़ धनुर्धर तेजस्वी वीरोंके देखते-देखते वे अत्यन्त वेगशाली घोड़ोंके द्वारा भागीरथीके तटपर जा पहुँचे, जहाँ उन महात्मा पाण्डवोंके पुत्रोंका वध करनेवाला अश्वत्थामा बैठा सुना गया था ॥ १३½ ॥

स ददर्श महात्मानमुदकान्ते यशस्विनम् ॥ १४ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासमासीनमृषिभिः सह ।
तं चैव क्रूरकर्माणं घृताक्तं कुशचीरिणम् ॥ १५ ॥
रजसा ध्वस्तमासीनं ददर्श द्रौणिमन्तिके ।

वहाँ जाकर उन्होंने गङ्गाजीके जलके किनारे परम यशस्वी महात्मा श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासको अनेकों महर्षियोंके साथ बैठे देखा । उनके पास ही वह क्रूरकर्मा द्रोणपुत्र भी बैठा दिखायी दिया । उसने अपने शरीरमें घी लगाकर कुशका चीर पहन रक्खा था । उसके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही थी ॥ १४-१५½ ॥

तमभ्यधावत् कौन्तेयः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ १६ ॥
भीमसेनो महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन बाणसहित धनुष लिये उसकी ओर दौड़े और बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह'॥

स दृष्ट्वा भीमधन्वानं प्रगृहीतशरासनम् ॥ १७ ॥
भ्रातरौ पृष्ठतश्चास्य जनार्दनरथे स्थितौ ।
व्यथितात्माभवद् द्रौणिः प्राप्तं चेदममन्यत ॥ १८ ॥

अश्वत्थामाने देखा कि भयंकर धनुर्धर भीमसेन हाथमें धनुष लिये आ रहे हैं । उनके पीछे श्रीकृष्णके रथपर बैठे हुए दो भाई और हैं । यह सब देखकर द्रोणकुमारके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई । उस घबराहटमें उसने यही करना उचित समझा ॥ १७-१८ ॥

स तद् दिव्यमदीनात्मा परमास्त्रमचिन्तयत् ।
जग्राह च स चैषीकां द्रौणिः सव्येन पाणिना ॥ १९ ॥

उदारहृदय अश्वत्थामाने उस दिव्य एवं उत्तम अस्त्रका चिन्तन किया । साथ ही बायें हाथसे एक सींक उठा ली ॥

स तामापदमासाद्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ।
अमृष्यमाणस्ताञ्छूरान् दिव्यायुधधरान् स्थितान्॥२०॥
अपाण्डवायेति रुषा व्यसृजद् दारुणं वचः ।

दिव्य आयुध धारण करके खड़े हुए उन शूरवीरोंका आना वह सहन न कर सका । उस आपत्तिमें पड़कर उसने रोषपूर्वक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया और मुखसे कठोर वचन निकाला कि 'यह अस्त्र समस्त पाण्डवोंका विनाश कर डाले'॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूल द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥ २१ ॥
सर्वलोकप्रमोहार्थं तदस्त्रं प्रमुमोच ह ।

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर प्रतापी द्रोणपुत्रने सम्पूर्ण लोकोंको मोहमें डालनेके लिये वह अस्त्र छोड़ दिया ॥ २१½ ॥

ततस्तस्यामिषीकायां पावकः समजायत ।
प्रधक्ष्यन्निव लोकांस्त्रीन् कालान्तकयमोपमः ॥ २२ ॥

तदनन्तर उस सींकमें काल, अन्तक और यमराजके समान भयंकर आग प्रकट हो गयी । उस समय ऐसा जान पड़ा कि वह अग्नि तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर डालेगी ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रत्यागे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अश्वत्थामाके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोगविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अश्वत्थामाके अस्त्रका निवारण करनेके लिये अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग एवं वेदव्यासजी और देवर्षि नारदका प्रकट होना

वैशम्पायन उवाच

इङ्गितेनैव दाशार्हस्तमभिप्रायमादितः ।
द्रौणेर्बुद्ध्वा महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! दशार्हनन्दन महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अश्वत्थामाकी चेष्टासे ही उसके मनका भाव पहले ही ताड़ गये थे । उन्होंने अर्जुनसे कहा—॥

अर्जुनार्जुन यद्दिव्यमस्त्रं ते हृदि वर्तते।
द्रोणोपदिष्टं तस्यायं कालः सम्प्रति पाण्डव ॥ २ ॥

'अर्जुन ! अर्जुन ! पाण्डुनन्दन ! आचार्य द्रोणका उपदेश किया हुआ जो दिव्य अस्त्र तुम्हारे हृदयमें विद्यमान है, उसके प्रयोगका अब यह समय आ गया है ॥ २ ॥

भ्रातृणामात्मनश्चैव परित्राणाय भारत।
विसृजैतत् त्वमप्याजावस्त्रमस्त्रनिवारणम् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन ! भाइयोंकी और अपनी रक्षाके लिये तुम भी युद्धमें इस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करो। अश्वत्थामाके अस्त्रका निवारण इसीके द्वारा हो सकता है' ॥ ३ ॥

केशवेनैवमुक्तोऽथ पाण्डवः परवीरहा।
अवातरद् रथात् तूर्णं प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन धनुष-बाण हाथमें लेकर तुरंत ही रथसे नीचे उतर गये ॥ ४ ॥

पूर्वमाचार्यपुत्राय ततोऽनन्तरमात्मने।
भ्रातृभ्यश्चैव सर्वेभ्यः स्वस्तीत्युक्त्वा परंतपः ॥ ५ ॥
देवताभ्यो नमस्कृत्य गुरुभ्यश्चैव सर्वशः।
उत्ससर्ज शिवं ध्यायन्नस्त्रमस्त्रेण शाम्यताम् ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने सबसे पहले यह कहा कि 'आचार्यपुत्रका कल्याण हो'। तत्पश्चात् अपने और सम्पूर्ण भाइयोंके लिये मङ्गल-कामना करके उन्होंने देवताओं और सभी गुरुजनोंको नमस्कार किया। इसके बाद 'इस ब्रह्मास्त्रसे शत्रुका ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाय' ऐसा संकल्प करके सबके कल्याणकी भावना करते हुए अपना दिव्य अस्त्र छोड़ दिया ॥ ५-६ ॥

ततस्तदस्त्रं सहसा सृष्टं गाण्डीवधन्वना।
प्रजज्वाल महार्चिष्मद् युगान्तानलसंनिभम् ॥ ७ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा छोड़ा गया वह ब्रह्मास्त्र सहसा प्रज्वलित हो उठा। उससे प्रलयाग्निके समान बड़ी-बड़ी लपटें उठने लगीं ॥ ७ ॥

तथैव द्रोणपुत्रस्य तदस्त्रं तिग्मतेजसः।
प्रजज्वाल महाज्वालं तेजोमण्डलसंवृतम् ॥ ८ ॥

इसी प्रकार प्रचण्ड तेजस्वी द्रोणपुत्रका वह अस्त्र भी तेजोमण्डलसे घिरकर बड़ी-बड़ी ज्वालाओंके साथ जलने लगा॥

निर्घाता बहवश्चासन् पेतुरुल्काः सहस्रशः।
महद् भयं च भूतानां सर्वेषां समजायत ॥ ९ ॥

उस समय बारंबार वज्रपातके समान शब्द होने लगे, आकाशसे सहस्रों उल्काएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं और समस्त प्राणियोंपर महान् भय छा गया ॥ ९ ॥

सशब्दमभवद् व्योम ज्वालामालाकुलं भृशम्।
चचाल च मही कृत्स्ना सपर्वतवनद्रुमा ॥ १० ॥

सारा आकाश आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे व्याप्त हो उठा और वहाँ जोर-जोरसे शब्द होने लगा। पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी हिलने लगी ॥ १० ॥

ते त्वस्त्रतेजसी लोकांस्तापयन्ती व्यवस्थिते।
महर्षी सहितौ तत्र दर्शयामासतुस्तदा ॥ ११ ॥
नारदः सर्वभूतात्मा भरतानां पितामहः।

उन दोनों अस्त्रोंके तेज समस्त लोकोंको संतप्त करते हुए वहाँ स्थित हो गये। उस समय वहाँ सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा नारद तथा भरतवंशके पितामह व्यास इन दो महर्षियोंने एक साथ दर्शन दिया ॥ ११½ ॥

उभौ शमयितुं वीरौ भारद्वाजधनंजयौ ॥ १२ ॥
तौ मुनी सर्वधर्मज्ञौ सर्वभूतहितैषिणौ।
दीप्तयोरस्त्रयोर्मध्ये स्थितौ परमतेजसौ ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता तथा समस्त प्राणियोंके हितैषी वे दोनों परम तेजस्वी मुनि अश्वत्थामा और अर्जुन—इन दोनों वीरोंको शान्त करनेके लिये इनके प्रज्वलित अस्त्रोंके बीचमें खड़े हो गये ॥ १२-१३ ॥

तदन्तरमथाधृष्यावुपगम्य यशस्विनौ।
आस्तामृषिवरौ तत्र ज्वलिताविव पावकौ ॥ १४ ॥

उन अस्त्रोंके बीचमें आकर वे दुर्धर्ष एवं यशस्वी महर्षि-प्रवर दो प्रज्वलित अग्नियोंके समान वहाँ स्थित हो गये ॥

प्राणभृद्भिरनाधृष्यौ देवदानवसम्मतौ।
अस्त्रतेजः शमयितुं लोकानां हितकाम्यया ॥ १५ ॥

कोई भी प्राणी उन दोनोंका तिरस्कार नहीं कर सकता था। देवता और दानव दोनों ही उनका सम्मान करते थे। वे समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन अस्त्रोंके तेजको शान्त करानेके लिये वहाँ आये थे ॥ १५ ॥

ऋषी ऊचतुः

नानाशस्त्रविदः पूर्वे येऽप्यतीता महारथाः।
नैतदस्त्रं मनुष्येषु तैः प्रयुक्तं कथंचन।
किमिदं साहसं वीरौ कृतवन्तौ महात्ययम् ॥ १६ ॥

उन दोनों ऋषियोंने उन दोनों वीरोंसे कहा—'वीरो ! पूर्वकालमें भी जो बहुत-से महारथी हो चुके हैं, वे नाना प्रकारके शस्त्रोंके जानकार थे, परंतु उन्होंने किसी प्रकार भी मनुष्योंपर इस अस्त्रका प्रयोग नहीं किया था। तुम दोनोंने यह महान् विनाशकारी दुःसाहस क्यों किया है ? ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि अर्जुनास्त्रत्यागे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोगविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

अश्वत्थामा एवं अर्जुनके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रोंको शान्त करनेके लिये नारदजी और व्यासजीका आगमन

पञ्चदशोऽध्यायः

वेदव्यासजीकी आज्ञासे अर्जुनके द्वारा अपने अस्त्रका उपसंहार तथा अश्वत्थामाका अपनी मणि देकर पाण्डवोंके गर्भोंपर दिव्यास्त्र छोड़ना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वैव नरशार्दूल तावग्निसमतेजसौ।
गाण्डीवधन्वा संचिन्त्य प्राप्तकालं महारथः।
संजहार शरं दिव्यं त्वरमाणो धनंजयः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! उन अग्निके समान तेजस्वी दोनों महर्षियोंको देखते ही गाण्डीवधारी महारथी अर्जुनने समयोचित कर्त्तव्यका विचार करके बड़ी फुर्तीसे अपने दिव्यास्त्रका उपसंहार आरम्भ किया॥ १॥

उवाच भरतश्रेष्ठ तावृषी प्राञ्जलिस्तदा।
प्रमुक्तमस्त्रमस्त्रेण शाम्यतामिति वै मया॥ २॥
संहृते परमास्त्रेऽस्मिन् सर्वानस्मानशेषतः।
पापकर्मा ध्रुवं द्रौणिः प्रधक्ष्यत्यस्त्रतेजसा॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय उन्होंने हाथ जोड़कर उन दोनों महर्षियोंसे कहा—'मुनिवरो! मैंने तो इसी उद्देश्यसे यह अस्त्र छोड़ा था कि इसके द्वारा शत्रुका छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाय। अब इस उत्तम अस्त्रको लौटा लेनेपर पापाचारी अश्वत्थामा अपने अस्त्रके तेजसे अवश्य ही हम सब लोगोंको भस्म कर डालेगा॥ २-३॥

यदत्र हितमस्माकं लोकानां चैव सर्वथा।
भवन्तौ देवसंकाशौ तथा सम्मन्तुमर्हतः॥ ४॥

'आप दोनों देवताके तुल्य हैं; अतः इस समय जैसा करनेसे हमारा और सब लोगोंका सर्वथा हित हो, उसीके लिये आप हमें सलाह दें'॥ ४॥

इत्युक्त्वा संजहारास्त्रं पुनरेवं धनंजयः।
संहारो दुष्करस्तस्य देवैरपि हि संयुगे॥ ५॥
विसृष्टस्य रणे तस्य परमास्त्रस्य संग्रहे।
अशक्तः पाण्डवादन्यः साक्षादपि शतक्रतुः॥ ६॥

ऐसा कहकर अर्जुनने पुनः उस अस्त्रको पीछे लौटा लिया। युद्धमें उसे लौटा लेना देवताओंके लिये भी दुष्कर था। संग्राममें एक बार उस दिव्य अस्त्रको छोड़ देनेपर पुनः उसे लौटा लेनेमें पाण्डुपुत्र अर्जुनके सिवा साक्षात् इन्द्र भी समर्थ नहीं थे॥ ५-६॥

ब्रह्मतेजोद्भवं तद्धि विसृष्टमकृतात्मना।
न शक्यमावर्तयितुं ब्रह्मचारिव्रतादृते॥ ७॥

वह अस्त्र ब्रह्मतेजसे प्रकट हुआ था। यदि अजितेन्द्रिय पुरुषके द्वारा इसका प्रयोग किया गया हो तो उसके लिये इसे पुनः लौटाना असम्भव है; क्योंकि ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना कोई इसे लौटा नहीं सकता॥ ७॥

अचीर्णब्रह्मचर्यो यः सृष्ट्वा वर्तयते पुनः।
तदस्त्रं सानुबन्धस्य मूर्धानं तस्य कृन्तति॥ ८॥

जिसने ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया हो, वह पुरुष यदि उसका एक बार प्रयोग करके उसे फिर लौटानेका प्रयत्न करे तो वह अस्त्र सगे-सम्बन्धियोंसहित उसका सिर काट लेता था॥ ८॥

ब्रह्मचारी व्रती चापि दुरवापमवाप्य तत्।
परमव्यसनार्तोऽपि नार्जुनोऽस्त्रं व्यमुञ्चत॥ ९॥

अर्जुनने ब्रह्मचारी तथा व्रतधारी रहकर ही उस दुर्लभ अस्त्रको प्राप्त किया था। वे बड़े-से-बड़े सङ्कटमें पड़नेपर भी कभी उस अस्त्रका प्रयोग नहीं करते थे॥ ९॥

सत्यव्रतधरः शूरो ब्रह्मचारी च पाण्डवः।
गुरुवर्ती च तेनास्त्रं संजहारार्जुनः पुनः॥ १०॥

सत्यव्रतधारी, ब्रह्मचारी, शूरवीर पाण्डव अर्जुन गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाले थे; इसलिये उन्होंने फिर उस अस्त्रको लौटा लिया॥ १०॥

द्रौणिरप्यथ सम्प्रेक्ष्य तावृषी पुरतः स्थितौ।
न शशाक पुनर्घोरमस्त्रं संहर्तुमोजसा॥ ११॥

अश्वत्थामाने भी जब उन ऋषियोंको अपने सामने खड़ा देखा तो उस घोर अस्त्रको बलपूर्वक लौटा लेनेका प्रयत्न किया, किंतु वह उसमें सफल न हो सका॥ ११॥

अशक्तः प्रतिसंहारे परमास्त्रस्य संयुगे।
द्रौणिर्दीनमना राजन् द्वैपायनमभाषत॥ १२॥

राजन्! युद्धमें उस दिव्य अस्त्रका उपसंहार करनेमें समर्थ न होनेके कारण द्रोणकुमार मन-ही-मन बहुत दुखी हुआ और व्यासजीसे इस प्रकार बोला—॥ १२॥

उत्तमव्यसनार्तेन प्राणत्राणमभीप्सुना।
मयैतदस्त्रमुत्सृष्टं भीमसेनभयान्मुने॥ १३॥

'मुने! मैंने भीमसेनके भयसे भारी संकटमें पड़कर अपने प्राणोंको बचानेके लिये ही यह अस्त्र छोड़ा था॥ १३॥

अधर्मश्च कृतोऽनेन धार्तराष्ट्रं जिघांसता।
मिथ्याचारेण भगवन् भीमसेनेन संयुगे॥ १४॥

'भगवन्! दुर्योधनके वधकी इच्छासे इस भीमसेनने संग्रामभूमिमें मिथ्याचारका आश्रय लेकर महान् अधर्म किया था॥ १४॥

अतः सृष्टमिदं ब्रह्मन् मयास्त्रमकृतात्मना।
तस्य भूयोऽद्य संहारं कर्तुं नाहमिहोत्सहे॥ १५॥

'ब्रह्मन्! यद्यपि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ, तथापि मैंने इस अस्त्रका प्रयोग कर दिया है। अब पुनः इसे लौटा लेनेकी शक्ति मुझमें नहीं है॥ १५॥

विसृष्टं हि मया दिव्यमेतदस्त्रं दुरासदम्।
अपाण्डवायेति मुने वह्नितेजोऽनुमन्त्र्य वै॥ १६॥

'मुने ! मैंने इस दुर्जय दिव्यास्त्रको अग्निके तेजसे युक्त एवं अभिमन्त्रित करके इस उद्देश्यसे छोड़ा था कि पाण्डवों-का नामो-निशान मिट जाय ॥ १६ ॥

तदिदं पाण्डवेयानामन्तकायाभिसंहितम् ।
अद्य पाण्डुसुतान् सर्वान् जीविताद् भ्रंशयिष्यति ॥ १७॥

'पाण्डवोंके विनाशका संकल्प लेकर छोड़ा गया यह दिव्यास्त्र आज समस्त पाण्डुपुत्रोंको जीवनशून्य कर देगा ॥

कृतं पापमिदं ब्रह्मन् रोषाविष्टेन चेतसा ।
वधमाशास्य पार्थानां मयास्त्रं सृजता रणे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने मनमें रोष भरकर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रोंके वधकी इच्छासे इस अस्त्रका प्रयोग करके अवश्य ही बड़ा भारी पाप किया है' ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात विद्वान् पार्थो धनंजयः ।
उत्सृष्टवान्न रोषेण न नाशाय तवाहवे ॥ १९ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! कुन्तीपुत्र धनंजय भी तो इस ब्रह्मास्त्रके ज्ञाता हैं; किंतु उन्होंने रोषमें भरकर युद्धमें तुम्हें मारनेके लिये उसे नहीं छोड़ा है ॥ १९ ॥

अस्त्रमस्त्रेण तु रणे तव संशमयिष्यता ।
विसृष्टमर्जुनेनेदं पुनश्च प्रतिसंहृतम् ॥ २० ॥

देखो, रणभूमिमें अपने अस्त्रद्वारा तुम्हारे अस्त्रको शान्त करनेके उद्देश्यसे ही अर्जुनने उसका प्रयोग किया था और अब पुनः उसे लौटा लिया है ॥ २० ॥

ब्रह्मास्त्रमप्यवाप्यैतदुपदेशात् पितुस्तव ।
क्षत्रधर्मान्महाबाहुर्नाकम्पत धनंजयः ॥ २१ ॥

इस ब्रह्मास्त्रको पाकर भी महाबाहु अर्जुन तुम्हारे पिताजी-का उपदेश मानकर कभी क्षात्रधर्मसे विचलित नहीं हुए हैं ॥

एवं धृतिमतः साधोः सर्वास्त्रविदुषः सतः ।
सभ्रातृबन्धोः कस्मात् त्वं वधमस्य चिकीर्षसि॥ २२ ॥

ये ऐसे धैर्यवान्, साधु, सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता तथा सत्पुरुष हैं, तथापि तुम भाई-बन्धुओंसहित इनका वध करनेकी इच्छा क्यों रखते हो ? ॥ २२ ॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमास्त्रेण वध्यते ।
समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्ट्रं नाभिवर्षति ॥ २३ ॥

जिस देशमें एक ब्रह्मास्त्रको दूसरे उत्कृष्ट अस्त्रसे दबा दिया जाता है, उस राष्ट्रमें बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं होती है॥

एतदर्थं महाबाहुः शक्तिमानपि पाण्डवः ।
न विहन्त्येतदस्त्रं तु प्रजाहितचिकीर्षया ॥ २४ ॥

इसीलिये प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महाबाहु अर्जुन शक्तिशाली होते हुए भी तुम्हारे इस अस्त्रको नष्ट नहीं कर रहे हैं॥

पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च सदा संरक्ष्यमेव हि ।
तस्मात् संहर दिव्यं त्वमस्त्रमेतन्महाभुज ॥ २५ ॥

महाबाहो ! तुम्हें पाण्डवोंकी, अपनी और इस राष्ट्रकी भी सदा रक्षा ही करनी चाहिये; इसलिये तुम अपने इस दिव्यास्त्रको लौटा लो ॥ २५ ॥

अरोषस्तव चैवास्तु पार्थाः सन्तु निरामयाः ।
न ह्यधर्मेण राजर्षिः पाण्डवो जेतुमिच्छति ॥ २६ ॥

तुम्हारा रोष शान्त हो और पाण्डव भी स्वस्थ रहें। पाण्डुपुत्र राजर्षि युधिष्ठिर किसीको भी अधर्मसे नहीं जीतना चाहते हैं ॥ २६ ॥

मणिं चैव प्रयच्छाद्य यस्ते शिरसि तिष्ठति ।
एतदादाय ते प्राणान् प्रतिदास्यन्ति पाण्डवाः ॥ २७ ॥

तुम्हारे सिरमें जो मणि है, इसे आज इन्हें दे दो। इस मणिको ही लेकर पाण्डव बदलेमें तुम्हें प्राणदान देंगे ॥२७॥

द्रौणिरुवाच

पाण्डवैर्यानि रत्नानि यच्चान्यत् कौरवैर्धनम् ।
अवाप्तमिह तेभ्योऽयं मणिर्मम विशिष्यते ॥ २८ ॥

अश्वत्थामा बोला—पाण्डवोंने अबतक जो-जो रत्न प्राप्त किये हैं तथा कौरवोंने भी यहाँ जो धन पाया है, मेरी यह मणि उन सबसे अधिक मूल्यवान् है ॥ २८ ॥

यमाबध्य भयं नास्ति शस्त्रव्याधिक्षुधाश्रयम् ।
देवेभ्यो दानवेभ्यो वा नागेभ्यो वा कथंचन ॥ २९ ॥

इसे बाँध लेनेपर शस्त्र, व्याधि, क्षुधा, देवता, दानव अथवा नाग किसीसे भी किसी तरहका भय नहीं रहता ॥

न च रक्षोगणभयं न तस्करभयं तथा ।
एवंवीर्यो मणिरयं न मे त्याज्यः कथंचन ॥ ३० ॥

न राक्षसोंका भय रहता है न चोरोंका। मेरी इस मणि-का ऐसा अद्भुत प्रभाव है। इसलिये मुझे इसका त्याग तो किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

यत्तु मे भगवानाह तन्मे कार्यमनन्तरम् ।
अयं मणिरयं चाहमीषिका तु पतिष्यति ॥ ३१ ॥
गर्भेषु पाण्डवेयानाममोघं चैतदुत्तमम् ।
न च शक्तोऽस्मि भगवन् संहर्तुं पुनरुद्यतम् ॥ ३२ ॥

परंतु आप पूज्यपाद महर्षि मुझे जो आज्ञा देते हैं उसी-का अब मुझे पालन करना है, अतः यह रही मणि और यह रहा मैं। किंतु यह दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित की हुई सींक तो पाण्डवोंके गर्भस्थ शिशुओंपर गिरेगी ही; क्योंकि यह उत्तम अस्त्र अमोघ है । भगवन् ! इस उठे हुए अस्त्रको मैं पुनः लौटा लेनेमें असमर्थ हूँ ॥ ३१-३२ ॥

एतदस्त्रमतश्चैव गर्भेषु विसृजाम्यहम् ।
न च वाक्यं भगवतो न करिष्ये महामुने ॥ ३३ ॥

महामुने ! अतः यह अस्त्र मैं पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़ रहा हूँ। आपकी आज्ञाका मैं कदापि उल्लङ्घन नहीं करूँगा॥

व्यास उवाच

एवं कुरु न चान्या तु बुद्धिः कार्या त्वयानघ ।
गर्भेषु पाण्डवेयानां विसृज्यैतदुपारम ॥ ३४ ॥

व्यासजीने कहा—अनघ ! अच्छा, ऐसा ही करो। अब अपने मनमें दूसरा कोई विचार न लाना। इस अस्त्रको पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़कर शान्त हो जाओ ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः परममस्त्रं तु द्रौणिरुद्यतमाहवे।
द्वैपायनवचः श्रुत्वा गर्भेषु प्रमुमोच ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीका यह वचन सुनकर द्रोणकुमारने युद्धमें उठे हुए उस दिव्यास्त्रको पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़ दिया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रस्य पाण्डवेयगर्भप्रवेशने पञ्चदशोऽध्यायः १५ ॥ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें ब्रह्मास्त्रका पाण्डवोंके गर्भमें प्रवेशविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे शाप पाकर अश्वत्थामाका वनको प्रस्थान तथा पाण्डवोंका मणि देकर द्रौपदीको शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

तदाज्ञाय हृषीकेशो विसृष्टं पापकर्मणा।
हृष्यमाण इदं वाक्यं द्रौणिं प्रत्यब्रवीत्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पापी अश्वत्थामाने अपना अस्त्र पाण्डवोंके गर्भपर छोड़ दिया, यह जानकर भगवान् श्रीकृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय उन्होंने द्रोणपुत्रसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

विराटस्य सुतां पूर्वं स्नुषां गाण्डीवधन्वनः।
उपप्लव्यगतां दृष्ट्वा व्रतवान् ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'पहलेकी बात है, राजा विराटकी कन्या और गाण्डीवधारी अर्जुनकी पुत्रवधू जब उपप्लव्यनगरमें रहती थी, उस समय किसी व्रतवान् ब्राह्मणने उसे देखकर कहा—॥

परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति।
एतदस्य परिक्षित्त्वं गर्भस्थस्य भविष्यति ॥ ३ ॥

'बेटी! जब कौरववंश परिक्षीण हो जायगा, तब तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा और इसीलिये उस गर्भस्थ शिशुका नाम परिक्षित् होगा' ॥ ३ ॥

तस्य तद् वचनं साधोः सत्यमेतद् भविष्यति।
परिक्षिद् भविता ह्येषां पुनर्वंशकरः सुतः ॥ ४ ॥

'उस साधु ब्राह्मणका वह वचन सत्य होगा। उत्तराका पुत्र परिक्षित् ही पुनः पाण्डववंशका प्रवर्तक होगा?' ॥ ४ ॥

एवं ब्रुवाणं गोविन्दं सात्वतां प्रवरं तदा।
द्रौणिः परमसंरब्धः प्रत्युवाचेदमुत्तरम् ॥ ५ ॥

सात्वतवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय द्रोणकुमार अश्वत्थामा अत्यन्त कुपित हो उठा और उन्हें उत्तर देता हुआ बोला—॥ ५ ॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं पक्षपातेन केशव।
वचनं पुण्डरीकाक्ष न च मद्वाक्यमन्यथा ॥ ६ ॥

'कमलनयन केशव! तुम पाण्डवोंका पक्षपात करते हुए इस समय जैसी बात कह गये हो, वह कभी हो नहीं सकती। मेरा वचन झूठा नहीं होगा ॥ ६ ॥

पतिष्यति तदस्त्रं हि गर्भे तस्या मयोद्यतम्।
विराटदुहितुः कृष्ण यं त्वं रक्षितुमिच्छसि ॥ ७ ॥

'श्रीकृष्ण! मेरे द्वारा चलाया गया वह अस्त्र विराटपुत्री उत्तराके गर्भपर ही, जिसकी तुम रक्षा करना चाहते हो, गिरेगा' ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति।
स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—द्रोणकुमार! उस दिव्य अस्त्रका प्रहार तो अमोघ ही होगा। उत्तराका वह गर्भ मरा हुआ ही पैदा होगा; फिर उसे लंबी आयु प्राप्त हो जायगी ॥ ८ ॥

त्वां तु कापुरुषं पापं विदुः सर्वे मनीषिणः।
असकृत्पापकर्माणं बालजीवितघातकम् ॥ ९ ॥
तस्मात्त्वमस्य पापस्य कर्मणः फलमाप्नुहि।
त्रीणि वर्षसहस्राणि चरिष्यसि महीमिमाम् ॥ १० ॥
अप्राप्नुवन् क्वचित् काञ्चित् संविदं जातु केनचित्।
निर्जनानसहायस्त्वं देशान् प्रविचरिष्यसि ॥ ११ ॥

परंतु तुझे सभी मनीषी पुरुष कायर, पापी, बारंबार पापकर्म करनेवाला और बाल-हत्यारा समझते हैं। इसलिये तू इस पाप-कर्मका फल प्राप्त कर ले। आजसे तीन हजार वर्षोंतक तू इस पृथ्वीपर भटकता फिरेगा। तुझे कभी कहीं और किसीके साथ भी बातचीत करनेका सुख नहीं मिल सकेगा। तू अकेला ही निर्जन-स्थानोंमें घूमता रहेगा ९—११

भवित्री न हि ते क्षुद्र जनमध्येषु संस्थितिः।
पूयशोणितगन्धी च दुर्गकान्तारसंश्रयः ॥ १२ ॥
विचरिष्यसि पापात्मन् सर्वव्याधिसमन्वितः।

ओ नीच! तू जनसमुदायमें नहीं ठहर सकेगा। तेरे शरीरसे पीब और लोहूकी दुर्गन्ध निकलती रहेगी; अतः तुझे दुर्गम स्थानोंका ही आश्रय लेना पड़ेगा। पापात्मन्! तू सभी रोगोंसे पीड़ित होकर इधर-उधर भटकेगा ॥ १२½ ॥

वयः प्राप्य परिक्षित् तु वेदव्रतमवाप्य च ॥ १३ ॥
कृपाच्छारद्वताच्छूरः सर्वास्त्राण्युपपत्स्यते।

परिक्षित् तो दीर्घ आयु प्राप्त करके ब्रह्मचर्यपालन एवं वेदाध्ययनका व्रत धारण करेगा और वह शूरवीर बालक शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यसे ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करेगा ॥ १३½ ॥

विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ॥ १४ ॥
षष्टिं वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति।

इस प्रकार उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो साठ वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करेगा १४½

इतश्चोर्ध्वं महाबाहुः कुरुराजो भविष्यति ॥ १५ ॥
परिक्षिन्नाम नृपतिर्मिषतस्ते सुदुर्मते ।

दुर्मते ! इसके बाद तेरे देखते-देखते महाबाहु कुरुराज परिक्षित् ही इस भूमण्डलका सम्राट् होगा ॥ १५½ ॥

अहं तं जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा ।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम ॥ १६ ॥

नराधम ! तेरी शस्त्राग्निके तेजसे दग्ध हुए उस बालकको मैं जीवित कर दूँगा । उस समय तू मेरे तप और सत्यका प्रभाव देख लेना ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

यस्मादनादृत्य कृतं त्वयास्मान् कर्म दारुणम् ।
ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात् ते वृत्तमीदृशम् ॥ १७ ॥
तस्माद् यद् देवकीपुत्र उक्तवानुत्तमं वचः ।
असंशयं ते तद् भावि क्षत्रधर्मस्त्वयाऽऽश्रितः ॥ १८ ॥

व्यासजीने कहा—द्रोणकुमार ! तूने हमलोगोंका अनादर करके यह भयंकर कर्म किया है, ब्राह्मण होनेपर भी तेरा आचार ऐसा गिर गया है और तूने क्षत्रियधर्मको अपना लिया है; इसलिये देवकीनन्दन श्रीकृष्णने जो उत्तम बात कही है, वह सब तेरे लिये होकर ही रहेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १७-१८ ॥

अश्वत्थामोवाच

सहैव भवता ब्रह्मन् स्थास्यामि पुरुषेष्विह ।
सत्यवागस्तु भगवानयं च पुरुषोत्तमः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा बोला—ब्रह्मन् ! अब मैं मनुष्योंमें केवल आपके ही साथ रहूँगा । इन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात सत्य हो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रदायाथ मणिं द्रौणिः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
जगाम विमनास्तेषां सर्वेषां पश्यतां वनम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके बाद महात्मा पाण्डवोंको मणि देकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा उदास मनसे उन सबके देखते-देखते वनमें चला गया ॥ २० ॥

पाण्डवाश्चापि गोविन्दं पुरस्कृत्य हतद्विषः ।
कृष्णद्वैपायनं चैव नारदं च महामुनिम् ॥ २१ ॥
द्रोणपुत्रस्य सहजं मणिमादाय सत्वराः ।
द्रौपदीमभ्यधावन्त प्रायोपेतां मनस्विनीम् ॥ २२ ॥

इधर जिनके शत्रु मारे गये थे, वे पाण्डव भी भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास तथा महामुनि नारदजीको आगे करके द्रोणपुत्रके साथ ही उत्पन्न हुई मणि लिये आमरण अनशनका निश्चय किये बैठी हुई मनस्विनी द्रौपदीके पास पहुँचनेके लिये शीघ्रतापूर्वक चले ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पुरुषव्याघ्राः सदश्वैरनिलोपमैः ।
अभ्ययुः सहदाशार्हाः शिबिरं पुनरेव हि ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णसहित वे पुरुषसिंह पाण्डव वहाँसे वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंद्वारा पुनः अपने शिबिरमें आ पहुँचे ॥ २३ ॥

अवतीर्य रथेभ्यस्तु त्वरमाणा महारथाः ।
ददृशुर्द्रौपदीं कृष्णामार्तामार्ततराः स्वयम् ॥ २४ ॥

वहाँ रथोंसे उतरकर वे महारथी वीर बड़ी उतावलीके साथ आकर शोकपीड़ित द्रुपदकुमारी कृष्णासे मिले । वे स्वयं भी शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे ॥ २४ ॥

तामुपेत्य निरानन्दां दुःखशोकसमन्विताम् ।
परिवार्य व्यतिष्ठन्त पाण्डवाः सहकेशवाः ॥ २५ ॥

दुःख-शोकमें डूबी हुई आनन्दशून्य द्रौपदीके पास पहुँचकर श्रीकृष्णसहित पाण्डव उसे चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २५ ॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो भीमसेनो महाबलः ।
प्रददौ तं मणिं दिव्यं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब राजाकी आज्ञा पाकर महाबली भीमसेनने वह दिव्य मणि द्रौपदीके हाथमें दे दी और इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

अयं भद्रे तव मणिः पुत्रहन्तुर्जितः स ते ।
उत्तिष्ठ शोकमुत्सृज्य क्षात्रधर्ममनुस्मर ॥ २७ ॥

'भद्रे ! यह तुम्हारे पुत्रोंका वध करनेवाले अश्वत्थामाकी मणि है । तुम्हारे उस शत्रुको हमने जीत लिया । अब शोक छोड़कर उठो और क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करो ॥ २७ ॥

प्रयाणे वासुदेवस्य शमार्थमसितेक्षणे ।
यान्युक्तानि त्वया भीरु वाक्यानि मधुघातिनि॥ २८ ॥

'कजरारे नेत्रोंवाली भोली-भाली कृष्णे ! जब मधुसूदन श्रीकृष्ण कौरवोंके पास संधि करानेके लिये जा रहे थे, उस समय तुमने इनसे जो बातें कही थीं, उन्हें याद तो करो ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा भ्रातरो न च ।
न वै त्वमिति गोविन्द शममिच्छति राजनि ॥ २९ ॥
उक्तवत्यसि तीव्राणि वाक्यानि पुरुषोत्तमम् ।
क्षत्रधर्मानुरूपाणि तानि संस्मर्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'जब राजा युधिष्ठिर शान्तिके लिये संधि कर लेना चाहते थे, उस समय तुमने पुरुषोत्तम श्रीकृष्णसे बड़े कठोर वचन कहे थे—"गोविन्द ! (मेरे अपमानको भुलाकर शत्रुओंके साथ संधि की जा रही है, इसलिये मैं समझती हूँ कि) न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं और न तुम्हीं हो' । क्षत्रिय-धर्मके अनुसार कहे गये उन वचनोंको तुम्हें आज स्मरण करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

हतो दुर्योधनः पापो राज्यस्य परिपन्थिकः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतं विस्फुरतो मया ॥ ३१ ॥
वैरस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ।
जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च ॥ ३२ ॥

'हमारे राज्यका लुटेरा पापी दुर्योधन मारा गया और छटपटाते हुए दुःशासनका रक्त भी मैंने पी लिया। वैरका भरपूर बदला चुका लिया गया। अब कुछ कहनेकी इच्छावाले लोग हमलोगोंकी निन्दा नहीं कर सकते। हमने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको जीतकर केवल ब्राह्मण और गुरुपुत्र होनेके कारण ही उसे जीवित छोड़ दिया है ॥ ३१-३२ ॥

यशोऽस्य पतितं देवि शरीरं त्ववशेषितम्।
वियोजितश्च मणिना भ्रंशितश्चायुधं भुवि ॥ ३३ ॥

'देवि! उसका सारा यश धूलमें मिल गया। केवल शरीर शेष रह गया है। उसकी मणि भी छीन ली गयी और उससे पृथ्वीपर हथियार डलवा दिया गया है' ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

केवलानृण्यमाप्तास्मि गुरुपुत्रो गुरुर्मम।
शिरस्येतं मणिं राजा प्रतिबध्नातु भारत ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भरतनन्दन! गुरुपुत्र तो मेरे लिये भी गुरुके ही समान हैं। मैं तो केवल पुत्रोंके वधका प्रतिशोध लेना चाहती थी, वह पा गयी। अब महाराज इस मणिको अपने मस्तकपर धारण करें ॥ ३४ ॥

तं गृहीत्वा ततो राजा शिरस्येवाकरोत् तदा।
गुरोरुच्छिष्टमित्येव द्रौपद्या वचनादपि ॥ ३५ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने वह मणि लेकर द्रौपदीके कथनानुसार उसे अपने मस्तकपर ही धारण कर लिया। उन्होंने उस मणिको गुरुका प्रसाद ही समझा ॥ ३५ ॥

ततो दिव्यं मणिवरं शिरसा धारयन् प्रभुः।
शुशुभे स तदा राजा सचन्द्र इव पर्वतः ॥ ३६ ॥

उस दिव्य एवं उत्तम मणिको मस्तकपर धारण करके शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर चन्द्रोदयकी शोभासे युक्त उदयाचलके समान सुशोभित हुए ॥ ३६ ॥

उत्तस्थौ पुत्रशोकार्ता ततः कृष्णा मनस्विनी।
कृष्णं चापि महाबाहुः परिपप्रच्छ धर्मराट् ॥ ३७ ॥

तब पुत्रशोकसे पीड़ित हुई मनस्विनी कृष्णा अनशन छोड़कर उठ गयी और महाबाहु धर्मराजने भगवान् श्रीकृष्णसे एक बात पूछी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि द्रौपदीसान्त्वनायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें द्रौपदीकी सान्त्वनाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अपने समस्त पुत्रों और सैनिकोंके मारे जानेके विषयमें युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे पूछना और उत्तरमें श्रीकृष्णके द्वारा महादेवजीकी महिमाका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु सौप्तिके तै रथैस्त्रिभिः।
शोचन् युधिष्ठिरो राजा दाशार्हमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! रातको सोते समय उन तीन महारथियोंने पाण्डवोंकी सारी सेनाओंका जो संहार कर डाला था, उसके लिये शोक करते हुए राजा युधिष्ठिरने दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

कथं नु कृष्ण पापेन क्षुद्रेणाकृतकर्मणा।
द्रौणिना निहताः सर्वे मम पुत्रा महारथाः ॥ २ ॥

'श्रीकृष्ण! नीच एवं पापात्मा द्रोणकुमारने कोई विशेष तप या पुण्यकर्म भी तो नहीं किया था, जिससे उसमें अलौकिक शक्ति आ जाती। फिर उसने मेरे सभी महारथी पुत्रोंका वध कैसे कर डाला? ॥ २ ॥

तथा कृतास्त्रविक्रान्ताः सहस्रशतयोधिनः।
द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रोणपुत्रेण पातिताः ॥ ३ ॥

'द्रुपदके पुत्र तो अस्त्र-विद्याके पूरे पण्डित, पराक्रमी तथा लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ थे तो भी द्रोणपुत्रने उन्हें मार गिराया, यह कितने आश्चर्यकी बात है? ॥ ३ ॥

यस्य द्रोणो महेष्वासो न प्रादादाहवे मुखम्।
निजघ्ने रथिनां श्रेष्ठं धृष्टद्युम्नं कथं नु सः ॥ ४ ॥

'महाधनुर्धर द्रोणाचार्य युद्धमें जिसके सामने मुँह नहीं दिखाते थे, उसी रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाने कैसे मार डाला? ॥ ४ ॥

किं नु तेन कृतं कर्म तथायुक्तं नरर्षभ।
यदेकः समरे सर्वानवधीन्नो गुरोः सुतः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ! आचार्यपुत्रने ऐसा कौन-सा उपयुक्त कर्म किया था, जिससे उसने अकेले ही समराङ्गणमें हमारे सभी सैनिकोंका वध कर डाला' ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नूनं स देवदेवानामीश्वरेश्वरमव्ययम्।
जगाम शरणं द्रौणिरेकस्तेनावधीद् बहून् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन्! निश्चय ही अश्वत्थामाने ईश्वरोंके भी ईश्वर देवाधिदेव अविनाशी भगवान् शिवकी शरण ली थी, इसीलिये उसने अकेले ही बहुत-से वीरोंका विनाश कर डाला ॥ ६ ॥

प्रसन्नो हि महादेवो दद्यादमरतामपि।
वीर्यं च गिरिशो दद्याद् येनेन्द्रमपि शातयेत् ॥ ७ ॥

पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजी तो प्रसन्न होनेपर अमरत्व भी दे सकते हैं। वे उपासकको इतनी शक्ति दे देते हैं, जिससे वह इन्द्रको भी नष्ट कर सकता है ॥ ७ ॥

वेदाहं हि महादेवं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
यानि चास्य पुराणानि कर्माणि विविधानि च॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं महादेवजीको यथार्थरूपसे जानता हूँ। उनके जो नाना प्रकारके प्राचीन कर्म हैं, उनसे भी मैं पूर्ण परिचित हूँ ॥ ८ ॥

आदिरेष हि भूतानां मध्यमन्तश्च भारत ।
विचेष्टते जगच्चेदं सर्वमस्यैव कर्मणा ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! ये भगवान् शिव सम्पूर्ण भूतोंके आदि, मध्य और अन्त हैं। उन्हींके प्रभावसे यह सारा जगत् भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करता है ॥ ९ ॥

एवं सिसृक्षुर्भूतानि ददर्श प्रथमं विभुः ।
पितामहोऽब्रवीच्चैनं भूतानि सृज मा चिरम् ॥ १० ॥

प्रभावशाली ब्रह्माजीने प्राणियोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे सबसे पहले महादेवजीको ही देखा था। तब पितामह ब्रह्माने उनसे कहा—'प्रभो ! आप अविलम्ब सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि कीजिये' ॥ १० ॥

हरिकेशस्तथेत्युक्त्वा भूतानां दोषदर्शिवान् ।
दीर्घकालं तपस्तेपे मग्नोऽम्भसि महातपाः ॥ ११ ॥

यह सुन महादेवजी 'तथास्तु' कहकर भूतगणोंके नाना प्रकारके दोष देख जलमें मग्न हो गये और महान् तपका आश्रय ले दीर्घकालतक तपस्या करते रहे ॥ ११ ॥

सुमहान्तं ततः कालं प्रतीक्ष्यैनं पितामहः ।
स्रष्टारं सर्वभूतानां ससर्ज मनसा परम् ॥ १२ ॥

इधर पितामह ब्रह्माने सुदीर्घकालतक उनकी प्रतीक्षा करके अपने मानसिक संकल्पसे दूसरे सर्वभूतस्रष्टाको उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं दृष्ट्वा गिरिशं सुप्तमम्भसि ।
यदि मे नाग्रजोऽस्त्यन्यस्ततः स्रक्ष्याम्यहं प्रजाः॥ १३ ॥

उस विराट् पुरुष या स्रष्टाने महादेवजीको जलमें सोया देख अपने पिता ब्रह्माजीसे कहा—'यदि दूसरा कोई मुझसे ज्येष्ठ न हो तो मैं प्रजाकी सृष्टि करूँगा' ॥ १३ ॥

तमब्रवीत् पिता नास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ।
स्थाणुरेष जले मग्नो विस्रब्धः कुरु वैकृतम् ॥ १४ ॥

यह सुनकर पिता ब्रह्माने स्रष्टासे कहा—'तुम्हारे सिवा दूसरा कोई अग्रज पुरुष नहीं है। ये स्थाणु (शिव) हैं भी तो पानीमें डूबे हुए हैं; अतः तुम निश्चिन्त होकर सृष्टिका कार्य आरम्भ करो' ॥ १४ ॥

भूतान्यन्वसृजत् सप्त दक्षादींस्तु प्रजापतीन् ।
यैरिमं व्यकरोत् सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

तब स्रष्टाने सात प्रकारके प्राणियों और दक्ष आदि प्रजापतियों-को उत्पन्न किया, जिनके द्वारा उन्होंने इस चार प्रकारके समस्त प्राणिसमुदायका विस्तार किया ॥ १५ ॥

ताः सृष्टमात्राः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम्।
बिभक्षयिषवो राजन् सहसा प्राद्रवंस्तदा ॥ १६ ॥

राजन् ! सृष्टि होते ही समस्त प्रजा भूखसे पीड़ित हो प्रजापतिको ही खा जानेकी इच्छासे सहसा उनके पास दौड़ी गयी ॥ १६ ॥

स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवत् ।
आभ्यो मां भगवांस्त्रातु वृत्तिरासां विधीयताम्॥ १७ ॥

जब प्रजा प्रजापतिको अपना आहार बनानेके लिये उद्यत हुई, तब वे आत्मरक्षाके लिये बड़े वेगसे भागकर पितामह ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए और बोले—'भगवन् ! आप मुझे इन प्रजाओंसे बचाइये और इनके लिये कोई जीविका-वृत्ति नियत कर दीजिये' ॥ १७ ॥

ततस्ताभ्यो ददावन्नमोषधीः स्थावराणि च ।
जङ्गमानि च भूतानि दुर्बलानि बलीयसाम् ॥ १८ ॥

तब ब्रह्माजीने उन प्रजाओंको अन्न और ओषधि आदि स्थावर वस्तुएँ जीवन-निर्वाहके लिये दीं और अत्यन्त बलवान् हिंसक जन्तुओंके लिये दुर्बल जङ्गम प्राणियोंको ही आहार निश्चित कर दिया ॥ १८ ॥

विहितान्नाः प्रजास्तास्तु जग्मुः सृष्टा यथागतम् ।
ततो ववृधिरे राजन् प्रीतिमत्यः स्वयोनिषु ॥ १९ ॥

जिनकी सृष्टि हुई थी, उनके लिये जब भोजनकी व्यवस्था कर दी गयी, तब वे प्रजावर्गके लोग जैसे आये थे, वैसे लौट गये। राजन् ! तदनन्तर सारी प्रजा अपनी ही योनियोंमें प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई उत्तरोत्तर बढ़ने लगी॥१९॥

भूतग्रामे विवृद्धे तु तुष्टे लोकगुरावपि ।
उदतिष्ठज्जलाज्ज्येष्ठः प्रजाश्चेमा ददर्श सः ॥ २० ॥

जब प्राणिसमुदायकी भलीभाँति वृद्धि हो गयी और लोक-गुरु ब्रह्मा भी संतुष्ट हो गये, तब वे ज्येष्ठ पुरुष शिव जलसे बाहर निकले । निकलनेपर उन्होंने इन समस्त प्रजाओंको देखा ॥ २० ॥

बहुरूपाः प्रजाः सृष्टा विवृद्धाश्च स्वतेजसा ।
चुक्रोध भगवान् रुद्रो लिङ्गं स्वं चाप्यविध्यत॥ २१ ॥

अनेक रूपवाली प्रजाकी सृष्टि हो गयी और वह अपने ही तेजसे भलीभाँति बढ़ भी गयी। यह देखकर भगवान् रुद्र कुपित हो उठे और उन्होंने अपना लिङ्ग काटकर फेंक दिया ॥ २१ ॥

तत् प्रविद्धं तथा भूमौ तथैव प्रत्यतिष्ठत ।
तमुवाचाव्ययो ब्रह्मा वचोभिः शमयन्निव ॥ २२ ॥

इस प्रकार भूमिपर डाला गया वह लिङ्ग उसी रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। तब अविनाशी ब्रह्माने अपने वचनोंद्वारा उन्हें शान्त करते हुए-से कहा—॥ २२ ॥

किं कृतं सलिले शर्व चिरकालस्थितेन ते ।
किमर्थं चेदमुत्पाद्य लिङ्गं भूमौ प्रवेशितम् ॥ २३ ॥

'रुद्रदेव ! आपने दीर्घकालतक जलमें स्थित रहकर कौन-सा कार्य किया है ? और इस लिङ्गको उत्पन्न करके किसलिये पृथ्वीपर डाल दिया है ?' ॥ २३ ॥

सोऽब्रवीज्जातसंरम्भस्तथा लोकगुरुर्गुरुम् ।
प्रजाः सृष्टाः परेणेमाः किं करिष्याम्यनेन वै ॥ २४ ॥

यह प्रश्न सुनकर कुपित हुए जगद्गुरु शिवने ब्रह्माजी-से कहा—'प्रजाकी सृष्टि तो दूसरेने कर डाली; फिर इस लिङ्गको रखकर मैं क्या करूँगा ॥ २४ ॥

तपसाधिगतं चान्नं प्रजार्थं मे पितामह ।
ओषध्यः परिवर्तेरन् यथैवं सततं प्रजाः ॥ २५ ॥

'पितामह ! मैंने जलमें तपस्या करके प्रजाके लिये अन्न प्राप्त किया है; वे अन्नरूप ओषधियाँ प्रजाओंके ही समान निरन्तर विभिन्न अवस्थाओंमें परिणत होती रहेंगी' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा स सक्रोधो जगाम विमना भवः ।
गिरेर्मुञ्जवतः पादं तपस्तप्तुं महातपाः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए महातपस्वी महादेवजी उदास मनसे मुञ्जवान् पर्वतकी घाटीपर तपस्या करनेके लिये चले गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवादविषयक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

महादेवजीके कोपसे देवता, यज्ञ और जगत्की दुरवस्था तथा उनके प्रसादसे सबका स्वस्थ होना

श्रीभगवानुवाच

ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन् ।
यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद् यष्टुमीप्सवः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—तदनन्तर सत्ययुग बीत जानेपर देवताओंने विधिपूर्वक भगवान्का यजन करनेकी इच्छासे वैदिक प्रमाणके अनुसार यज्ञकी कल्पना की ॥ १ ॥

कल्पयामासुरथ ते साधनानि हवींषि च ।
भागार्हा देवताश्चैव यज्ञियं द्रव्यमेव च ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने यज्ञके साधनों, हविष्यों, यज्ञभागके अधिकारी देवताओं और यज्ञोपयोगी द्रव्योंकी कल्पना की ॥

ता वै रुद्रमजानन्त्यो याथातथ्येन देवताः ।
नाकल्पयन्त देवस्य स्थाणोर्भागं नराधिप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! उस समय देवता भगवान् रुद्रको यथार्थ-रूपसे नहीं जानते थे; इसलिये उन्होंने 'स्थाणु' नामधारी भगवान् शिवके भागकी कल्पना नहीं की ॥ ३ ॥

सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः।
ततः साधनमन्विच्छन् धनुरादौ ससर्ज ह ॥ ४ ॥

जब देवताओंने यज्ञमें उनका कोई भाग नियत नहीं किया, तब व्याघ्रचर्मधारी भगवान् शिवने उनके दमनके लिये साधन जुटानेकी इच्छा रखकर सबसे पहले धनुषकी सृष्टि की।

लोकयज्ञः क्रियायज्ञो गृहयज्ञः सनातनः ।
पञ्चभूतनृयज्ञश्च जज्ञे सर्वमिदं जगत् ॥ ५ ॥

लोकयज्ञ, क्रियायज्ञ, सनातन गृहयज्ञ, पञ्चभूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच प्रकारके यज्ञ हैं। इन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

लोकयज्ञैर्नृयज्ञैश्च कपर्दी विदधे धनुः ।
धनुः सृष्टमभूत् तस्य पञ्चकिष्कुप्रमाणतः ॥ ६ ॥

मस्तकपर जटाजूट धारण करनेवाले भगवान् शिवने लोकयज्ञ और मनुष्ययज्ञोंसे एक धनुषका निर्माण किया । उनका वह धनुष पाँच हाथ लंबा बनाया गया था ॥ ६ ॥

वषट्कारोऽभवज्ज्या तु धनुषस्तस्य भारत ।
यज्ञाङ्गानि च चत्वारि तस्य संनहनेऽभवन् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! वषट्कार उस धनुषकी प्रत्यञ्चा था। यज्ञके चारों अङ्ग स्नान, दान, होम और जप उन भगवान् शिवके लिये कवच हो गये ॥ ७ ॥

ततः क्रुद्धो महादेवस्तदुपादाय कार्मुकम् ।
आजगामाथ तत्रैव यत्र देवाः समीजिरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर कुपित हुए महादेवजी उस धनुषको लेकर उसी स्थानपर आये, जहाँ देवतालोग यज्ञ कर रहे थे ॥८॥

तमात्तकार्मुकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम् ।
विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥ ९ ॥

उन ब्रह्मचारी एवं अविनाशी रुद्रको हाथमें धनुष उठाये देख पृथ्वीदेवीको बड़ी व्यथा हुई और पर्वत भी काँपने लगे ॥ ९ ॥

न ववौ पवनश्चैव नाग्निर्जज्वाल चैधितः ।
व्यभ्रमच्चापि संविग्नं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥ १० ॥

हवाकी गति रुक गयी, आग समिधा और घी आदिसे जलानेकी चेष्टा की जानेपर भी प्रज्वलित नहीं होती थी और आकाशमें नक्षत्रोंका समूह उद्विग्न होकर घूमने लगा ॥१०॥

न बभौ भास्करश्चापि सोमः श्रीमुक्तमण्डलः ।
तिमिरेणाकुलं सर्वमाकाशं चाभवद् वृतम् ॥ ११ ॥

सूर्य भी पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो रहे थे, चन्द्रमण्डल भी श्रीहीन हो गया था तथा सारा आकाश अन्धकारसे व्याप्त हो रहा था ॥ ११ ॥

अभिभूतास्ततो देवा विषयान्न प्रजज्ञिरे ।
न प्रत्यभाच्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥ १२ ॥

उससे अभिभूत होकर देवता किसी विषयको पहचान नहीं पाते थे, वह यज्ञ भी अच्छी तरह प्रतीत नहीं होता था। इससे सारे देवता भयसे थर्रा उठे ॥ १२ ॥

ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः ॥ १३ ॥

तदनन्तर रुद्रदेवने भयंकर बाणके द्वारा उस यज्ञके हृदयमें आघात किया। तब अग्निसहित यज्ञ मृगका रूप धारण करके वहाँसे भाग निकला ॥ १३ ॥

स तु तेनैव रूपेण दिवं प्राप्य व्यराजत।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभस्तले ॥ १४ ॥

वह उसी रूपसे आकाशमें पहुँचकर (मृगशिरा नक्षत्रके रूपमें) प्रकाशित होने लगा। युधिष्ठिर ! आकाशमण्डलमें रुद्रदेव उस दशामें भी (आर्द्रा नक्षत्रके रूपमें) उसके पीछे लगे रहते हैं ॥ १४ ॥

अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात् सुरान्।
नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

यज्ञके वहाँसे हट जानेपर देवताओंकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। चेतना लुप्त होनेसे देवताओंको कुछ भी प्रतीत नहीं होता था ॥ १५ ॥

त्र्यम्बकः सवितुर्बाहू भगस्य नयने तथा।
पूष्णश्च दशनान् क्रुद्धो धनुष्कोट्या व्यशातयत्॥ १६ ॥

उस समय कुपित हुए त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवने अपने धनुषकी कोटिसे सविताकी दोनों बाँहें काट डालीं, भगकी आँखें फोड़ दीं और पूषाके सारे दाँत तोड़ डाले ॥ १६ ॥

प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञाङ्गानि च सर्वशः।
केचित् तत्रैव घूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवता और यज्ञके सारे अङ्ग वहाँसे पलायन कर गये। कुछ वहीं चक्कर काटते हुए प्राणहीन-से हो गये ॥ १७ ॥

स तु विद्राव्य तत् सर्वं शितिकण्ठोऽवहस्य च।
अवष्टभ्य धनुष्कोटिं रुरोध विबुधांस्ततः ॥ १८ ॥

वह सब कुछ दूर हटाकर भगवान् नीलकण्ठने देवताओंका उपहास करते हुए धनुषकी कोटिका सहारा ले उन सबको रोक दिया ॥ १८ ॥

ततो वागमरैरुक्ता ज्यां तस्य धनुषोऽच्छिनत्।
अथ तत् सहसा राजंश्छिन्नज्यं व्यस्फुरद् धनुः॥ १९ ॥

तत्पश्चात् देवताओंद्वारा प्रेरित हुई वाणीने महादेवजीके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट डाली। राजन्! सहसा प्रत्यञ्चा कट जानेपर वह धनुष उछलकर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

ततो विधनुषं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन्।
शरणं सह यज्ञेन प्रसादं चाकरोत् प्रभुः ॥ २० ॥

तब देवता यज्ञको साथ लेकर धनुषरहित देवश्रेष्ठ महादेवजीकी शरणमें गये। उस समय भगवान् शिवने उन सबपर कृपा की ॥ २० ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् स्थाप्य कोपं जलाशये।
स जलं पावको भूत्वा शोषयत्यनिशं प्रभो ॥ २१ ॥

इसके बाद प्रसन्न हुए भगवान्ने अपने क्रोधको समुद्रमें स्थापित कर दिया। प्रभो ! वह क्रोध वडवानल बनकर निरन्तर उसके जलको सोखता रहता है ॥ २१ ॥

भगस्य नयने चैव बाहू च सवितुस्तथा।
प्रादात् पूष्णश्च दशनान् पुनर्यज्ञांश्च पाण्डव ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर भगवान् शिवने भगको आँखें, सविताको दोनों बाँहें, पूषाको दाँत और देवताओंको यज्ञ प्रदान किये॥

ततः सुस्थमिदं सर्वं बभूव पुनरेव हि।
सर्वाणि च हवींष्यस्य देवा भागमकल्पयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर यह सारा जगत् पुनः सुस्थिर हो गया। देवताओंने सारे हविष्योंमेंसे महादेवजीके लिये भाग नियत किया॥

तस्मिन् क्रुद्धेऽभवत् सर्वमसुस्थं भुवनं प्रभो।
प्रसन्ने च पुनः सुस्थं प्रसन्नोऽस्य च वीर्यवान्॥ २४ ॥

राजन् ! भगवान् शङ्करके कुपित होनेपर सारा जगत् डाँवाडोल हो गया था और उनके प्रसन्न होनेपर वह पुनः सुस्थिर हो गया। वे ही शक्तिशाली भगवान् शिव अश्वत्थामापर प्रसन्न हो गये थे ॥ २४ ॥

ततस्ते निहताः सर्वे तव पुत्रा महारथाः।
अन्ये च बहवः शूराः पाञ्चालस्य पदानुगाः ॥ २५ ॥

इसीलिये उसने आपके सभी महारथी पुत्रों तथा पाञ्चालराजका अनुसरण करनेवाले अन्य बहुत-से शूरवीरोंका वध किया है ॥ २५ ॥

न तन्मनसि कर्तव्यं न च तद् द्रौणिना कृतम्।
महादेवप्रसादेन कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ २६ ॥

अतः इस बातको आप मनमें न लावें। अश्वत्थामाने यह कार्य अपने बलसे नहीं, महादेवजीकी कृपासे सम्पन्न किया है। अब आप आगे जो कुछ करना हो, वही कीजिये॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

॥ सौप्तिकपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	७९०॥	(१४)	१९।	८०९॥।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१	....	...	१
सौप्तिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या				८१०॥।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

स्त्रीपर्व

(जलप्रदानिकपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप और संजयका उनको सान्त्वना देना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओं-का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः।
धृतराष्ट्रो महाराज श्रुत्वा किमकरोन्मुने॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधन और उसकी सारी सेनाका संहार हो जानेपर महाराज धृतराष्ट्रने जब इस समा-चारको सुना तो क्या किया ? ॥ १ ॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः॥ २ ॥

इसी प्रकार कुरुवंशी राजा महामनस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तथा कृपाचार्य आदि तीनों महारथियोंने भी इसके बाद क्या किया ? ॥ २ ॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापादन्योन्यकारितात्।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत संजयः॥ ३ ॥

अश्वत्थामाको श्रीकृष्णसे और पाण्डवोंको अश्वत्थामासे जो परस्पर शाप प्राप्त हुए थे, वहाँतक मैंने अश्वत्थामाकी करतूत सुन ली। अब उसके बादका वृत्तान्त बताइये कि संजयने धृतराष्ट्रसे क्या कहा ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हते पुत्रशते दीनं छिन्नशाखमिव द्रुमम्।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं धृतराष्ट्रं महीपतिम्॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेपर राजा धृतराष्ट्रकी दशा वैसी ही दयनीय हो गयी, जैसे समस्त शाखाओंके कट जानेपर वृक्षकी हो जाती है। वे पुत्रोंके शोकसे संतप्त हो उठे ॥ ४ ॥

ध्यानमूकत्वमापन्नं चिन्तया समभिप्लुतम्।
अभिगम्य महाराज संजयो वाक्यमब्रवीत्॥ ५ ॥

महाराज ! उन्हीं पुत्रोंका ध्यान करते-करते वे मौन हो गये, चिन्तामें डूब गये। उस अवस्थामें उनके पास जाकर संजयने इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

किं शोचसि महाराज नास्ति शोके सहायता।
अक्षौहिण्यो हताश्चाष्टौ दश चैव विशाम्पते॥ ६ ॥

'महाराज ! आप क्यों शोक कर रहे हैं ? इस शोकमें जो आपकी सहायता कर सके, आपका दुःख बँटा ले, ऐसा भी तो कोई नहीं बच गया है। प्रजानाथ ! इस युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ मारी गयी हैं ॥ ६ ॥

निर्जनेयं वसुमती शून्या सम्प्रति केवला।
नानादिग्भ्यः समागम्य नानादेश्या नराधिपाः॥ ७ ॥
सहैव तव पुत्रेण सर्वे वै निधनं गताः।

'इस समय यह पृथ्वी निर्जन होकर केवल सूनी-सी दिखायी देती है। नाना देशोंके नरेश विभिन्न दिशाओंसे आकर आपके पुत्रके साथ ही सब-के-सब कालके गालमें चले गये हैं ॥ ७½ ॥

पितॄणां पुत्रपौत्राणां ज्ञातीनां सुहृदां तथा।
गुरूणां चानुपूर्व्येण प्रेतकार्याणि कारय॥ ८ ॥

'राजन् ! अब आप क्रमशः अपने चाचा, ताऊ, पुत्र, पौत्र, भाई-बन्धु, सुहृद् तथा गुरुजनोंके प्रेतकार्य सम्पन्न कराइये' ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं पुत्रपौत्रवधार्दितः।
पपात भुवि दुर्धर्षो वाताहत इव द्रुमः॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! संजयकी यह करुणाजनक बात सुनकर बेटों और पोतोंके वधसे व्याकुल हुए दुर्जय राजा धृतराष्ट्र आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतपुत्रो हतामात्यो हतसर्वसुहृज्जनः।
दुःखं नूनं भविष्यामि विचरन् पृथिवीमिमाम्॥ १० ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरे पुत्र, मन्त्री और समस्त सुहृद् मारे गये । अब तो अवश्य ही मैं इस पृथ्वीपर भटकता हुआ केवल दुःख-ही-दुःख भोगूँगा ॥ १० ॥

किं नु बन्धुविहीनस्य जीवितेन ममाद्य वै ।
लूनपक्षस्य इव मे जराजीर्णस्य पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिसकी पाँखें काट ली गयी हों, उस जराजीर्ण पक्षीके समान बन्धु-बान्धवोंसे हीन हुए मुझ वृद्धको अब इस जीवनसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

हृतराज्यो हतबन्धुर्हृतचक्षुश्च वै तथा ।
न भ्राजिष्ये महाप्राज्ञ क्षीणरश्मिरिवांशुमान् ॥ १२ ॥

महामते ! मेरा राज्य छिन गया, बन्धु-बान्धव मारे गये और आँखें तो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी थीं । अब मैं क्षीण किरणोंवाले सूर्यके समान इस जगत्‌में प्रकाशित नहीं होऊँगा ॥

न कृतं सुहृदां वाक्यं जामदग्न्यस्य जल्पतः ।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ १३ ॥

मैंने सुहृदोंकी बात नहीं मानी, जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सबने हितकी बात बतायी थी, पर मैंने किसीकी नहीं सुनी ॥ १३ ॥

सभामध्ये तु कृष्णेन यच्छ्रेयोऽभिहितं मम ।
अलं वैरेण ते राजन् पुत्रः संगृह्यतामिति ॥ १४ ॥
तच्च वाक्यमकृत्वाहं भृशं तप्यामि दुर्मतिः ।

श्रीकृष्णने सारी सभाके बीचमें मेरे भलेके लिये कहा था—'राजन् ! वैर बढ़ानेसे आपको क्या लाभ है ? अपने पुत्रोंको रोकिये ।' उनकी उस बातको न मानकर आज मैं अत्यन्त संतप्त हो रहा हूँ । मेरी बुद्धि बिगड़ गयी थी ॥ १४½ ॥

न हि श्रोतास्मि भीष्मस्य धर्मयुक्तं प्रभाषितम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनस्य च तथा वृषभस्येव नर्दतः ।

हाय ! अब मैं भीष्मजीकी धर्मयुक्त बात नहीं सुन सकूँगा । साँड़के समान गर्जनेवाले दुर्योधनके वीरोचित वचन भी अब मेरे कानोंमें नहीं पड़ सकेंगे ॥ १५½ ॥

दुःशासनवधं श्रुत्वा कर्णस्य च विपर्ययम् ॥ १६ ॥
द्रोणसूर्योपरागं च हृदयं मे विदीर्यते ।

दुःशासन मारा गया, कर्णका विनाश हो गया और द्रोणरूपी सूर्यपर भी ग्रहण लग गया, यह सब सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ १६½ ॥

न स्मराम्यात्मनः किंचित् पुरा संजय दुष्कृतम् ॥ १७ ॥
यस्येदं फलमद्येह मया मूढेन भुज्यते ।

संजय ! इस जन्ममें पहले कभी अपना किया हुआ कोई ऐसा पाप मुझे नहीं याद आ रहा है, जिसका मुझ मूढ़को आज यहाँ यह फल भोगना पड़ रहा है ॥ १७½ ॥

नूनं व्यपकृतं किंचिन्मया पूर्वेषु जन्मसु ॥ १८ ॥
येन मां दुःखभागेषु धाता कर्मसु युक्तवान् ।

अवश्य ही मैंने पूर्वजन्मोंमें कोई ऐसा महान् पाप किया है, जिससे विधाताने मुझे इन दुःखमय कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है ॥ १८½ ॥

परिणामश्च वयसः सर्वबन्धुक्षयश्च मे ॥ १९ ॥
सुहृन्मित्रविनाशश्च दैवयोगादुपागतः ।
कोऽन्योऽस्ति दुःखिततरो मत्तोऽन्यो हि पुमान् भुवि ॥

अब मेरा बुढ़ापा आ गया, सारे बन्धु-बान्धवोंका विनाश हो गया और दैववश मेरे सुहृदों तथा मित्रोंका भी अन्त हो गया । भला, इस भूमण्डलमें अब मुझसे बढ़कर महान् दुखी दूसरा कौन होगा ? ॥ १९-२० ॥

तन्मामद्यैव पश्यन्तु पाण्डवाः संशितव्रताः ।
विवृतं ब्रह्मलोकस्य दीर्घमध्वानमास्थितम् ॥ २१ ॥

इसलिये कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डवलोग मुझे आज ही ब्रह्मलोकके खुले हुए विशाल मार्गपर आगे बढ़ते देखें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य लालप्यमानस्य बहुशोकं वितन्वतः ।
शोकापहं नरेन्द्रस्य संजयो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र जब बहुत शोक प्रकट करते हुए बारंबार विलाप करने लगे, तब संजयने उनके शोकका निवारण करनेके लिये यह बात कही—॥ २२ ॥

शोकं राजन् व्यपनुद श्रुतास्ते वेदनिश्चयाः ।
शास्त्रागमाश्च विविधा वृद्धेभ्यो नृपसत्तम ॥ २३ ॥
सृंजये पुत्रशोकार्ते यदूचुर्मुनयः पुरा ।

'नृपश्रेष्ठ राजन् ! आपने बड़े-बूढ़ोंके मुखसे वे वेदोंके सिद्धान्त, नाना प्रकारके शास्त्र एवं आगम सुने हैं, जिन्हें पूर्वकालमें मुनियोंने राजा सृंजयको पुत्रशोकसे पीडित होनेपर सुनाया था, अतः आप शोक त्याग दीजिये ॥ २३½ ॥

यथा यौवनजं दर्पमास्थिते तं सुते नृप ॥ २४ ॥
न त्वया सुहृदां वाक्यं ब्रुवतामवधारितम् ।

'नरेश्वर ! जब आपका पुत्र दुर्योधन जवानीके घमंडमें आकर मनमाना बर्ताव करने लगा, तब आपने हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनपर ध्यान नहीं दिया ॥ २४½ ॥

स्वार्थश्च न कृतः कश्चिल्लुब्धेन फलगृद्धिना ॥ २५ ॥
असिनैवैकधारेण स्वबुद्ध्या तु विचेष्टितम् ।
प्रायशोऽवृत्तसम्पन्नाः सततं पर्युपासिताः ॥ २६ ॥

उसके मनमें लोभ था और वह राज्यका सारा लाभ स्वयं ही भोगना चाहता था, इसलिये उसने दूसरे किसीको अपने स्वार्थका सहायक या साझीदार नहीं बनाया । एक ओर धारवाली तलवारके समान अपनी ही बुद्धिसे सदा काम लिया । प्रायः जो अनाचारी मनुष्य थे, उन्हींका निरन्तर साथ किया ॥ २५-२६ ॥

यस्य दुःशासनो मन्त्री राधेयश्च दुरात्मवान् ।
शकुनिश्चैव दुष्टात्मा चित्रसेनश्च दुर्मतिः ॥ २७ ॥
शल्यश्च येन वै सर्वं शल्यभूतं कृतं जगत् ।

'दुःशासन, दुरात्मा राधापुत्र कर्ण, दुष्टात्मा शकुनि, दुर्बुद्धि चित्रसेन तथा जिन्होंने सारे जगत्‌को शल्यमय (कण्टकाकीर्ण) बना दिया था, वे शल्य—ये ही लोग दुर्योधनके मन्त्री थे ॥

कुरुवृद्धस्य भीष्मस्य गान्धार्या विदुरस्य च ॥ २८ ॥
द्रोणस्य च महाराज कृपस्य च शरद्वतः ।
कृष्णस्य च महाबाहो नारदस्य च धीमतः ॥ २९ ॥
ऋषीणां च तथान्येषां व्यासस्यामिततेजसः ।
न कृतं तेन वचनं तव पुत्रेण भारत ॥ ३० ॥

'महाराज ! महाबाहो ! भरतनन्दन ! कुरुकुलके ज्ञान-वृद्ध पुरुष भीष्म, गान्धारी, विदुर, द्रोणाचार्य, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् देवर्षि नारद, अमिततेजस्वी वेदव्यास तथा अन्य महर्षियोंकी भी बातें आपके पुत्रने नहीं मानीं ॥ २८–३० ॥

न धर्मः सत्कृतः कश्चिन्नित्यं युद्धमभीप्सता ।
अल्पबुद्धिरहंकारी नित्यं युद्धमिति ब्रुवन् ।
क्रूरो दुर्मर्षणो नित्यमसंतुष्टश्च वीर्यवान् ॥ ३१ ॥

'वह सदा युद्धकी ही इच्छा रखता था; इसलिये उसने कभी किसी धर्मका आदरपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया । वह मन्दबुद्धि और अहङ्कारी था; अतः नित्य युद्ध-युद्ध ही चिल्लाया करता था । उसके हृदयमें क्रूरता भरी थी । वह सदा अमर्षमें भरा रहनेवाला, पराक्रमी और असंतोषी था (इसीलिये उसकी दुर्गति हुई है) ॥ ३१ ॥

श्रुतवानसि मेधावी सत्यवांश्चैव नित्यदा ।
न मुह्यन्तीदृशाः सन्तो बुद्धिमन्तो भवादृशाः ॥ ३२ ॥

'आप तो शास्त्रोंके विद्वान्, मेधावी और सदा सत्यमें तत्पर रहनेवाले हैं । आप-जैसे बुद्धिमान् एवं साधु पुरुष मोहके वशीभूत नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

न धर्मः सत्कृतः कश्चित् तव पुत्रेण मारिष ।
क्षपिताः क्षत्रियाः सर्वे शत्रूणां वर्धितं यशः ॥ ३३ ॥

'मान्यवर नरेश ! आपके उस पुत्रने किसी भी धर्मका सत्कार नहीं किया । उसने सारे क्षत्रियोंका संहार करा डाला और शत्रुओंका यश बढ़ाया ॥ ३३ ॥

मध्यस्थो हि त्वमप्यासीर्न क्षमं किञ्चिदुक्तवान् ।
दुर्धरेण त्वया भारस्तुलया न समं धृतः ॥ ३४ ॥

'आप भी मध्यस्थ बनकर बैठे रहे, उसे कोई उचित सलाह नहीं दी । आप दुर्धर्ष वीर थे—आपकी बात कोई टाल नहीं सकता था, तो भी आपने दोनों ओरके बोझेको समभावसे तराजूपर रखकर नहीं तौला ॥ ३४ ॥

आदावेव मनुष्येण वर्तितव्यं यथाक्षमम् ।
यथा नातीतमर्थं वै पश्चात्तापेन युज्यते ॥ ३५ ॥

'मनुष्यको पहले ही यथायोग्य बर्ताव करना चाहिये, जिससे आगे चलकर उसे बीती हुई बातके लिये पश्चात्ताप न करना पड़े ॥ ३५ ॥

पुत्रगृद्ध्या त्वया राजन् प्रियं तस्य चिकीर्षितम् ।
पश्चात्तापमिमं प्राप्तो न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'राजन् ! आपने पुत्रके प्रति आसक्ति रखनेके कारण सदा उसीका प्रिय करना चाहा, इसीलिये इस समय आपको यह पश्चात्तापका अवसर प्राप्त हुआ है; अतः अब आप शोक न करें ॥ ३६ ॥

मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति ।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ॥ ३७ ॥

'जो केवल ऊँचे स्थानपर लगे हुए मधुको देखकर वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओरसे आँख बंद कर लेता है, वह उस मधुके लालचसे नीचे गिरकर इसी तरह शोक करता है, जैसे आप कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

अर्थान्न शोचन् प्राप्नोति न शोचन् विन्दते फलम् ।
न शोचञ्श्रियमाप्नोति न शोचन् विन्दते परम् ॥ ३८ ॥

'शोक करनेवाला मनुष्य अपने अभीष्ट पदार्थोंको नहीं पाता है, शोकपरायण पुरुष किसी फलको नहीं हस्तगत कर पाता है । शोक करनेवालेको न तो लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है और न उसे परमात्मा ही मिलता है ॥ ३८ ॥

स्वयमुत्पादयित्वाग्निं वस्त्रेण परिवेष्टयन् ।
दह्यमानो मनस्तापं भजते न स पण्डितः ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य स्वयं आग जलाकर उसे कपड़ेमें लपेट लेता है और जलनेपर मन-ही-मन संतापका अनुभव करता है, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता है ॥ ३९ ॥

त्वयैव ससुतेनायं वाक्यवायुसमीरितः ।
लोभाज्येन च संसिक्तो ज्वलितः पार्थपावकः ॥ ४० ॥

'पुत्रसहित आपने ही अपने लोभरूपी घीसे सींचकर और वचनरूपी वायुसे प्रेरित करके पार्थरूपी अग्निको प्रज्वलित किया था ॥ ४० ॥

तस्मिन् समिद्धे पतिताः शलभा इव ते सुताः ।
तान् वै शराग्निनिर्दग्धान्न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'उसी प्रज्वलित अग्निमें आपके सारे पुत्र पतङ्गोंके समान पड़ गये हैं । बाणोंकी आगमें जलकर भस्म हुए उन पुत्रोंके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

यच्चाश्रुपातात् कलिलं वदनं वहसे नृप ।
अशास्त्रदृष्टमेतद्धि न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ४२ ॥

'नरेश्वर ! आप जो आँसुओंकी धारासे भीगा हुआ मुँह लिये फिरते हैं, यह अशास्त्रीय कार्य है । विद्वान् पुरुष इसकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ४२ ॥

विस्फुलिङ्गा इव ह्येतान् दहन्ति किल मानवान् ।
जहीहि मन्युं बुद्ध्या वै धारयात्मानमात्मना ॥ ४३ ॥

'ये शोकके आँसू आगकी चिनगारियोंके समान इन मनुष्योंको निःसंदेह जलाया करते हैं; अतः आप शोक छोड़िये और बुद्धिके द्वारा अपने मनको स्वयं ही सुस्थिर कीजिये' ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन संजयेन महात्मना ।
विदुरो भूय एवाह बुद्धिपूर्वं परंतप ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय ! महात्मा संजयने जब इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रको आश्वासन दिया, तब विदुरजीने भी पुनः सान्त्वना देते हुए उनसे यह विचारपूर्ण वचन कहा ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

विदुरजीका राजा धृतराष्ट्रको समझाकर उनको शोकका त्याग करनेके लिये कहना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽमृतसमैर्वाक्यैर्ह्लादयन् पुरुषर्षभम् ।
वैचित्रवीर्यं विदुरो यदुवाच निबोध तत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विदुरजीने पुरुषप्रवर धृतराष्ट्रको अपने अमृतसमान मधुर वचनोंद्वारा आह्लाद प्रदान करते हुए वहाँ जो कुछ कहा, उसे सुनो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे धारयात्मानमात्मना ।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप धरतीपर क्यों पड़े हैं ? उठकर बैठ जाइये और बुद्धिके द्वारा अपने मनको स्थिर कीजिये । लोकेश्वर ! समस्त प्राणियोंकी यही अन्तिम गति है ॥ २ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ ३ ॥

सारे संग्रहोंका अन्त उनके क्षयमें ही है । भौतिक उन्नतियोंका अन्त पतनमें ही है । सारे संयोगोंका अन्त वियोगमें ही है । इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवनका अन्त मृत्युमें ही होनेवाला है ॥ ३ ॥

यदा शूरं च भीरुं च यमः कर्षति भारत ।
तत् किं न योत्स्यन्ति हि ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रियशिरोमणे ! जब शूरवीर और डरपोक दोनोंको ही यमराज खींच ले जाते हैं, तब वे क्षत्रिय-लोग युद्ध क्यों न करते ! ॥ ४ ॥

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति ।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥ ५ ॥

महाराज ! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मर जाता है और जो संग्राममें जूझता है, वह भी जीवित बच जाता है । कालको पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ६ ॥

जितने प्राणी हैं, वे जन्मसे पहले यहाँ व्यक्त नहीं थे । वे बीचमें ही व्यक्त होकर दिखायी देते हैं और अन्तमें पुनः उनका अभाव (अव्यक्तरूपसे अवस्थान) हो जायगा । ऐसी अवस्थामें उनके लिये रोने-धोनेकी क्या आवश्यकता है?॥

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥ ७ ॥

शोक करनेवाला मनुष्य न तो मरनेवालेके साथ जा सकता है और न मर ही सकता है । जब लोककी ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिये शोक कर रहे हैं? ॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥ ८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! काल नाना प्रकारके समस्त प्राणियोंको खींच लेता है । कालको न तो कोई प्रिय है और न उसके द्वेषका ही पात्र है ॥ ८ ॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे हवा तिनकोंको सब ओर उड़ाती और डालती रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी कालके अधीन होकर आते-जाते हैं ॥ ९ ॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥

जो एक साथ संसारकी यात्रामें आये हैं, उन सबको एक दिन वहीं (परलोकमें) जाना है । उनमेंसे जिसका काल पहले उपस्थित हो गया, वह आगे चला जाता है । ऐसी दशामें किसीके लिये शोक क्या करना है ? ॥ १० ॥

न चाप्येतान् हतान् युद्धे राजञ्शोचितुमर्हसि ।
प्रमाणं यदि शास्त्राणि गतास्ते परमां गतिम् ॥ ११ ॥

राजन् ! युद्धमें मारे गये इन वीरोंके लिये तो आपको शोक करना ही नहीं चाहिये । यदि आप शास्त्रोंका प्रमाण मानते हैं तो वे निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥११॥

सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रताः ।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥ १२ ॥

वे सभी वीर वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले थे । सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था तथा वे सभी युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए हैं; अतः उनके लिये शोक करनेकी क्या बात है ! ॥ १२ ॥

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥ १३ ॥

ये अदृश्य जगत्‌से आये थे और पुनः अदृश्य जगत्‌में ही चले गये हैं । ये न तो आपके थे और न आप ही इनके हैं । फिर यहाँ शोक करनेका क्या कारण है ? ॥ १३ ॥

हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः ।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे ॥ १४ ॥

युद्धमें जो मारा जाता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है और जो शत्रुको मारता है, उसे यशकी प्राप्ति होती है। ये दोनों ही अवस्थाएँ हमलोगोंके लिये बहुत लाभदायक हैं। युद्धमें निष्फलता तो है ही नहीं ॥ १४ ॥

तेषां कामदुघाँल्लोकानिन्द्रः संकल्पयिष्यति ।
इन्द्रस्यातिथयो ह्येते भवन्ति भरतर्षभ ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्द्र उन वीरोंके लिये इच्छानुसार भोग प्रदान करनेवाले लोकोंकी व्यवस्था करेंगे। वे सब-के-सब इन्द्रके अतिथि होंगे ॥ १५ ॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया ।
स्वर्गं यान्ति तथा मर्त्या यथा शूरा रणे हताः ॥ १६ ॥

युद्धमें मारे गये शूरवीर जितनी सुगमतासे स्वर्गलोकमें जाते हैं, उतनी सुविधासे मनुष्य प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ, तपस्या और विद्याद्वारा भी नहीं जा सकते ॥ १६ ॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः ।
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुस्तेजस्विनो मिथः ॥ १७ ॥

शूरवीरोंके शरीररूपी अग्नियोंमें उन्होंने बाणोंकी आहुतियाँ दी हैं और उन तेजस्वी वीरोंने एक दूसरेकी शरीराग्नियोंमें होम किये जानेवाले बाणोंको सहन किया है ॥१७॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम् ।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते ॥ १८ ॥

राजन् ! इसलिये मैं आपसे कहता हूँ कि क्षत्रियके लिये इस जगत्‌में धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्ग-प्राप्तिका उत्तम मार्ग नहीं है ॥ १८ ॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः ।
आशिषः परमाः प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि ॥ १९ ॥

वे महामनस्वी वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले थे; अतः उन्होंने अपनी कामनाओंके अनुरूप उत्तम लोक प्राप्त किये हैं। उन सबके लिये शोक करना तो किसी प्रकार उचित ही नहीं है ॥ १९ ॥

आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कायमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥ २० ॥

पुरुषप्रवर ! आप स्वयं ही अपने मनको सान्त्वना देकर शोकका परित्याग कीजिये। आज शोकसे व्याकुल होकर आपको अपने शरीरका त्याग नहीं करना चाहिये ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ २१ ॥

हमलोगोंने बारंबार संसारमें जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु आज वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं ?॥ २१ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २२ ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके भी सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पुरुषपर नहीं ॥ २२ ॥

न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति ॥ २३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कालका न किसीसे प्रेम है और न किसीसे द्वेष, उसका कहीं उदासीन भाव भी नहीं है। काल सभीको अपने पास खींच लेता है ॥ २३ ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २४ ॥

काल ही प्राणियोंको पकाता है, काल ही प्रजाओंका संहार करता है और काल ही सबके सो जानेपर भी जागता रहता है। कालका उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है ॥ २४ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डितः ॥ २५ ॥

रूप, जवानी, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनोंका एक साथ निवास—ये सभी अनित्य हैं, अतः विद्वान् पुरुष इनमें कभी आसक्त न हो ॥ २५ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ २६ ॥

जो दुःख सारे देशपर पड़ा है, उसके लिये अकेले आपको ही शोक करना उचित नहीं है। शोक करते-करते कोई मर जाय तो भी उसका वह शोक दूर नहीं होता है ॥ २६ ॥

अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् पराक्रमम् ।
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ॥ २७ ॥
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ।

यदि अपनेमें पराक्रम देखे तो शोक न करते हुए शोकके कारणका निवारण करनेकी चेष्टा करे। दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय, चिन्तन करनेसे दुःख कम नहीं होता बल्कि और भी बढ़ जाता है ॥ २७½ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ॥ २८ ॥
मानुषा मानसैर्दुःखैर्दह्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुका संयोग और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मानसिक दुःखोंसे दग्ध होने लगते हैं ॥ २८½ ॥

नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि ॥ २९ ॥
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव हीयते ।

जो आप यह शोक कर रहे हैं, यह न अर्थका साधक है, न धर्मका और न सुखका ही। इसके द्वारा मनुष्य अपने कर्तव्य-पथसे तो भ्रष्ट होता ही है, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गसे भी वञ्चित हो जाता है ॥ २९½ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः ॥ ३० ॥
असंतुष्टाः प्रमुह्यन्ति संतोषं यान्ति पण्डिताः ।

धनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाविशेषको पाकर असंतोषी मनुष्य तो मोहित हो जाते हैं; परंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट ही रहते हैं ॥ ३०½ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा और शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी शक्ति है। उसे बालकोंके समान अविवेकपूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहिये ॥ ३१ ॥

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति ।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ॥ ३२ ॥

मनुष्यका पूर्वकृत कर्म उसके सोनेपर साथ ही सोता है, उठनेपर साथ ही उठता है और दौड़नेपर भी साथ-ही-साथ दौड़ता है ॥ ३२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते ॥ ३३ ॥

मनुष्य जिस-जिस अवस्थामें जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी-उसी अवस्थामें उसका फल भी पा लेता है ॥

येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्फलं समुपाश्नुते ॥ ३४ ॥

जो जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, दूसरे जन्ममें वह उसी-उसी शरीरसे उसका फल भोगता है ॥ ३४ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्यापकृतस्य च ॥ ३५ ॥

मनुष्य आप ही अपना बन्धु है, आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपने शुभ या अशुभ कर्मका साक्षी है ॥ ३५ ॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

शुभ कर्मसे सुख मिलता है और पापकर्मसे दुःख, सर्वत्र किये हुए कर्मका ही फल प्राप्त होता है, कहीं भी बिना कियेका नहीं॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३७ ॥

आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष अनेक विनाशकारी दोषोंसे युक्त तथा मूलभूत शरीरका भी नाश करनेवाले बुद्धिविरुद्ध कर्मोंमें नहीं आसक्त होते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

विदुरजीका शरीरकी अनित्यता बताते हुए धृतराष्ट्रको शोक त्यागनेके लिये कहना

धृतराष्ट्र उवाच

सुभाषितैर्महाप्राज्ञ शोकोऽयं विगतो मम ।
भूय एव तु वाक्यानि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—परम बुद्धिमान् विदुर ! तुम्हारा उत्तम भाषण सुनकर मेरा यह शोक दूर हो गया, तथापि तुम्हारे इन तात्त्विक वचनोंको मैं अभी और सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

अनिष्टानां च संसर्गादिष्टानां च विसर्जनात् ।
कथं हि मानसैर्दुःखैः प्रमुच्यन्ते तु पण्डिताः ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष अनिष्टके संयोग और इष्टके वियोगसे होनेवाले मानसिक दुःखोंसे किस प्रकार छुटकारा पाते हैं ? ॥

विदुर उवाच

यतो यतो मनो दुःखात् सुखाद् वा विप्रमुच्यते।
ततस्ततो नियम्यैतच्छान्तिं विन्देत वै बुधः ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—महाराज ! विद्वान् पुरुषको चाहिये कि जिन-जिन साधनोंमें लगनेसे मन दुःख अथवा सुखसे मुक्त होता हो, उन्हींमें इसे नियमपूर्वक लगाकर शान्ति प्राप्त करे॥

अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ ।
कदलीसंनिभो लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! विचार करनेपर यह सारा जगत् अनित्य ही जान पड़ता है। सम्पूर्ण विश्व केलेके समान सारहीन है; इसमें सार कुछ भी नहीं है ॥ ४॥

यदा प्राज्ञाश्च मूढाश्च धनवन्तोऽथ निर्धनाः ।
सर्वे पितृवनं प्राप्य स्वपन्ति विगतज्वराः ॥ ५ ॥
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ।
किं विशेषं प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः ॥ ६ ॥
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति विप्रलब्धधियो नराः ॥ ७ ॥

जब विद्वान्-मूर्ख, धनवान् और निर्धन सभी श्मशान-भूमिमें जाकर निश्चिन्त सो जाते हैं, उस समय उनके मांस-रहित, नाड़ियोंसे बँधे हुए तथा अस्थिबहुल अङ्गोंको देखकर क्या दूसरे लोग वहाँ उनमें कोई ऐसा अन्तर देख पाते हैं, जिससे वे उनके कुल और रूपकी विशेषताको समझ सकें; फिर भी वे मनुष्य एक दूसरेको क्यों चाहते हैं ? इसलिये कि उनकी बुद्धि ठगी गयी है ॥ ५-७ ॥

गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः ।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥ ८ ॥

पण्डितलोग मरणधर्मा प्राणियोंके शरीरोंको घरके तुल्य बतलाते हैं; क्योंकि सारे शरीर समयपर नष्ट हो जाते हैं, किंतु उसके भीतर जो एकमात्र सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह नित्य है ॥ ८ ॥

यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः ।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

जैसे मनुष्य नये अथवा पुराने वस्त्रको उतारकर दूसरे नूतन वस्त्रको पहननेकी रुचि रखता है, उसी प्रकार देहधारियों-के शरीर उनके द्वारा समय-समयपर त्यागे और ग्रहण किये जाते हैं ॥ ९ ॥

वैचित्रवीर्य प्राप्यं हि दुःखं वा यदि वा सुखम् ।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि स्वकृतेनैव कर्मणा ॥ १० ॥

विचित्रवीर्यनन्दन ! यदि दुःख या सुख प्राप्त होनेवाला है तो प्राणी उसे अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही पाते हैं ॥

कर्मणा प्राप्यते स्वर्गः सुखं दुःखं च भारत ।
ततो वहति तं भारमवशः स्ववशोऽपि वा ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! कर्मके अनुसार ही परलोकमें स्वर्ग या नरक तथा इहलोकमें सुख और दुःख प्राप्त होते हैं; फिर मनुष्य सुख या दुःखके उस भारको स्वाधीन या पराधीन होकर ढोता रहता है ॥ ११ ॥

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते ।
किंचित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥ १२ ॥
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा ।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा ॥ १३ ॥
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत ।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

जैसे मिट्टीका बर्तन बनाये जानेके समय कभी चाकपर चढ़ाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बननेपर, कभी पूरा बन जानेपर, कभी सूतसे काट देनेपर, कभी चाकसे उतारते समय, कभी उतर जानेपर, कभी गीली या सूखी अवस्थामें, कभी पकाये जाते समय, कभी आवाँसे उतारते समय, कभी पाकस्थानसे उठाकर ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोगमें लाते समय फूट जाता है; ऐसी ही दशा देह-धारियोंके शरीरोंकी भी होती है ॥ १२–१४ ॥

गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तरः ।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा ॥ १५ ॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा ।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते ॥ १६ ॥

कोई गर्भमें रहते समय, कोई पैदा हो जानेपर, कोई कई दिनोंका होनेपर, कोई पंद्रह दिनका, कोई एक मासका तथा कोई एक या दो सालका होनेपर, कोई युवावस्थामें, कोई मध्यावस्थामें अथवा कोई वृद्धावस्थामें पहुँचनेपर मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे ॥ १७ ॥

प्राणी पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही इस जगत्में रहते और नहीं रहते हैं । जब लोककी ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिये शोक कर रहे हैं ? ॥ १७ ॥

यथा तु सलिलं राजन् क्रीडार्थमनुसंतरत् ।
उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च किंचित् सत्त्वं नराधिप ॥ १८ ॥
एवं संसारगहने उन्मज्जननिमज्जने ।
कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥ १९ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! जैसे क्रीडाके लिये पानीमें तैरता हुआ कोई प्राणी कभी डूबता है और कभी ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार इस अगाध संसार-समुद्रमें जीवोंका डूबना और उतराना (मरना और जन्म लेना) लगा रहता है, मन्दबुद्धि मनुष्य ही यहाँ कर्मभोगसे बँधते और कष्ट पाते हैं ॥ १८-१९ ॥

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः ।
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम् ॥ २० ॥

जो बुद्धिमान् मानव इस संसारमें सत्त्वगुणसे युक्त, सबका हित चाहनेवाले और प्राणियोंके समागमको कर्मानुसार समझनेवाले हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

दुःखमय संसारके गहन स्वरूपका वर्णन और उससे छूटनेका उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

कथं संसारगहनं विज्ञेयं वदतां वर ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ विदुर ! इस गहन संसारके स्वरूपका ज्ञान कैसे हो ? यह मैं सुनना चाहता हूँ । मेरे प्रश्नके अनुसार तुम इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन करो ॥

विदुर उवाच

जन्मप्रभृति भूतानां क्रिया सर्वोपलक्ष्यते ।
पूर्वमेवेह कलिले वसते किंचिदन्तरम् ॥ २ ॥
ततः स पञ्चमेऽतीते मासे वासमकल्पयत् ।
ततः सर्वाङ्गसम्पूर्णो गर्भो वै स तु जायते ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—महाराज ! जब गर्भाशयमें वीर्य और रजका संयोग होता है तभीसे जीवोंकी गर्भवृद्धिरूप सारी क्रिया शास्त्रके अनुसार देखी जाती है ।* आरम्भमें जीव

* 'एकरात्रोषितं कलिलं भवति पञ्चरात्राद् बुद्बुदः' एक रातमें रज और वीर्य मिलकर 'कलिल' रूप होते हैं और पाँच रातमें 'बुद्बुद' के आकारमें परिणत हो जाते हैं। इत्यादि शास्त्रवचनोंके अनुसार गर्भके बढ़ने आदिकी सारी क्रिया ज्ञात होती है।

कलिल (वीर्य और रजके संयोग) के रूपमें रहता है, फिर कुछ दिन बाद पाँचवाँ महीना बीतनेपर वह चैतन्यरूपसे प्रकट होकर पिण्डमें निवास करने लगता है। इसके बाद वह गर्भस्थ पिण्ड सर्वाङ्गपूर्ण हो जाता है ॥ २-३ ॥

अमेध्यमध्ये वसति मांसशोणितलेपने ।
ततस्तु वायुवेगेन ऊर्ध्वपादो ह्यधःशिराः ॥ ४ ॥

इस समय उसे मांस और रुधिरसे लिपे हुए अत्यन्त अपवित्र गर्भाशयमें रहना पड़ता है। फिर वायुके वेगसे उसके पैर ऊपरकी ओर हो जाते हैं और सिर नीचेकी ओर ॥ ४ ॥

योनिद्वारमुपागम्य बहून् क्लेशान् समृच्छति ।
योनिसम्पीडनाच्चैव पूर्वकर्मभिरन्वितः ॥ ५ ॥
तस्मान्मुक्तः स संसारादन्यान् पश्यत्युपद्रवान् ।
ग्रहास्तमनुगच्छन्ति सारमेया इवामिषम् ॥ ६ ॥

इस स्थितिमें योनिद्वारके समीप आ जानेसे उसे बड़े दुःख सहने पड़ते हैं। फिर पूर्वकर्मोंसे संयुक्त हुआ वह जीव योनिमार्गसे पीड़ित हो उससे छुटकारा पाकर बाहर आ जाता है और संसारमें आकर अन्यान्य प्रकारके उपद्रवोंका सामना करता है। जैसे कुत्ते मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार बालग्रह उस शिशुके पीछे लगे रहते हैं ॥ ५-६ ॥

ततः प्राप्तोत्तरे काले व्याधयश्चापि तं तथा ।
उपसर्पन्ति जीवन्तं बध्यमानं स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

तदनन्तर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों ही-त्यों अपने कर्मोंसे बँधे हुए उस जीवको जीवित अवस्थामें नयी-नयी व्याधियाँ प्राप्त होने लगती हैं ॥ ७ ॥

तं बद्धमिन्द्रियैः पाशैः संगस्वादुभिरावृतम् ।
व्यसनान्यपि वर्तन्ते विविधानि नराधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! फिर आसक्तिके कारण जिनमें रसकी प्रतीति होती है, उन विषयोंसे घिरे और इन्द्रियरूपी पाशोंसे बँधे हुए उस संसारी जीवको नाना प्रकारके सङ्कट घेर लेते हैं ॥ ८ ॥

बध्यमानश्च तैर्भूयो नैव तृप्तिमुपैति सः ।
तदा नावैति चैवायं प्रकुर्वन् साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥

उनसे बँध जानेपर पुनः इसे कभी तृप्ति ही नहीं होती है। उस अवस्थामें वह भले-बुरे कर्म करता हुआ भी उनके विषयमें कुछ समझ नहीं पाता ॥ ९ ॥

तथैव परिरक्षन्ति ये ध्यानपरिनिष्ठिताः ।
अयं न बुध्यते तावद् यमलोकमथागतम् ॥ १० ॥

जो लोग भगवान्के ध्यानमें लगे रहनेवाले हैं, वे ही शास्त्रके अनुसार चलकर अपनी रक्षा कर पाते हैं। साधारण जीव तो अपने सामने आये हुए यमलोकको भी नहीं समझ पाता है ॥ १० ॥

यमदूतैर्विकृष्यंश्च मृत्युं कालेन गच्छति ।
वाग्घीनस्य च यन्मात्रमिष्टानिष्टं कृतं मुखे ।
भूय एवात्मनाऽऽत्मानं बध्यमानमुपेक्षते ॥ ११ ॥

तदनन्तर कालसे प्रेरित हो यमदूत उसे शरीरसे बाहर खींच लेते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। उस समय उसमें बोलनेकी भी शक्ति नहीं रहती। उसके जितने भी शुभ या अशुभ कर्म हैं वे सामने प्रकट होते हैं। उनके अनुसार पुनः अपने आपको देहबन्धनमें बँधता हुआ देखकर भी वह उपेक्षा कर देता है—अपने उद्धारका प्रयत्न नहीं करता ११

अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृतः ।
लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते ॥ १२ ॥

अहो ! लोभके वशीभूत होकर यह सारा संसार ठगा जा रहा है। लोभ, क्रोध और भयसे यह इतना पागल हो गया है कि अपने आपको भी नहीं जानता ॥ १२ ॥

कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान् विकुत्सयन् ।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान् परिकुत्सयन् ॥ १३ ॥

जो लोग हीन कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी निन्दा करता हुआ कुलीन मनुष्य अपनी कुलीनतामें ही मस्त रहता है और धनी धनके घमंडसे चूर होकर दरिद्रोंके प्रति अपनी घृणा प्रकट करता है ॥ १३ ॥

मूर्खानिति परानाह नात्मानं समवेक्षते ।
दोषान् क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति॥१४॥

वह दूसरोंको तो मूर्ख बताता है, पर अपनी ओर कभी नहीं देखता। दूसरोंके दोषोंके लिये उनपर आक्षेप करता है, परंतु उन्हीं दोषोंसे स्वयंको बचानेके लिये अपने मनको काबूमें नहीं रखना चाहता ॥ १४ ॥

यदा प्राज्ञाश्च मूर्खाश्च धनवन्तश्च निर्धनाः ।
कुलीनाश्चाकुलीनाश्च मानिनोऽथाप्यमानिनः ॥ १५ ॥
सर्वे पितृवनं प्राप्ताः स्वपन्ति विगतत्वचः ।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ॥ १६ ॥
विशेषं न प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः ।
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ॥ १७ ॥

जब ज्ञानी और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, कुलीन और अकुलीन तथा मानी और मानरहित सभी मरघटमें जाकर सो जाते हैं, उनकी चमड़ी भी नष्ट हो जाती है और नाड़ियोंसे बँधे हुए मांसरहित हड्डियोंके ढेररूप उनके नग्न शरीर सामने आते हैं, तब वहाँ खड़े हुए दूसरे लोग उनमें कोई ऐसा अन्तर नहीं देख पाते हैं, जिससे एककी अपेक्षा दूसरेके कुल और रूपकी विशेषताको जान सकें ॥१५–१७॥

यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले ।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलब्धुमिह दुर्बुधाः ॥ १८ ॥

जब मरनेके बाद श्मशानमें डाल दिये जानेपर सभी लोग समानरूपसे पृथ्वीकी गोदमें सोते हैं, तब वे मूर्ख मानव इस संसारमें क्यों एक दूसरेको ठगनेकी इच्छा करते हैं ? ॥ १८॥

प्रत्यक्षं च परोक्षं च यो निशम्य श्रुतिं त्विमाम् ।
अध्रुवे जीवलोकेऽस्मिन् यो धर्ममनुपालयन् ।
जन्मप्रभृति वर्तेत प्राप्नुयात् परमां गतिम् ॥ १९ ॥

इस क्षणभङ्गुर जगत्में जो पुरुष इस वेदोक्त उपदेशको साक्षात् जानकर या किसीके द्वारा सुनकर जन्मसे ही निरन्तर

धर्मका पालन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

एवं सर्वं विदित्वा वै यस्तत्त्वमनुवर्तते ।
स प्रमोक्षाय लभते पन्थानं मनुजेश्वर ॥ २० ॥

नरेश्वर ! जो इस प्रकार सब कुछ जानकर तत्त्वका अनुसरण करता है, वह मोक्ष तक पहुँचनेके लिये मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

गहन वनके दृष्टान्तसे संसारके भयंकर स्वरूपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं धर्मगहनं बुद्ध्या समनुगम्यते ।
तद्धि विस्तरतः सर्वं बुद्धिमार्गं प्रशंस मे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यह जो धर्मका गूढ़ स्वरूप है, वह बुद्धिसे ही जाना जाता है; अतः तुम मुझसे सम्पूर्ण बुद्धिमार्गका विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ।
यथा संसारगहनं वदन्ति परमर्षयः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मैं भगवान् स्वयम्भूको नमस्कार करके संसाररूप गहन वनके उस स्वरूपका वर्णन करता हूँ, जिसका निरूपण बड़े-बड़े महर्षि करते हैं ॥ २ ॥

कश्चिन्महति कान्तारे वर्तमानो द्विजः किल ।
महद् दुर्गमनुप्राप्तो वनं क्रव्यादसंकुलम् ॥ ३ ॥

कहते हैं कि किसी विशाल दुर्गम वनमें कोई ब्राह्मण यात्रा कर रहा था । वह वनके अत्यन्त दुर्गम प्रदेशमें जा पहुँचा, जो हिंसक जन्तुओंसे भरा हुआ था ॥ ३ ॥

सिंहव्याघ्रगजर्क्षौघैरतिघोरं महास्वनैः ।
पिशितादैरतिभयैर्महोग्राकृतिभिस्तथा ॥ ४ ॥
समन्तात् संपरिक्षिप्तं यत् स दृष्ट्वा त्रसेद् यमः ।

जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले सिंह, व्याघ्र, हाथी और रीछोंके समुदायोंने उस स्थानको अत्यन्त भयानक बना दिया था । भीषण आकारवाले अत्यन्त भयंकर मांसभक्षी प्राणियोंने उस वनप्रान्तको चारों ओरसे घेरकर ऐसा बना दिया था, जिसे देखकर यमराज भी भयसे थर्रा उठे ॥ ४½ ॥

तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत् परम् ॥ ५ ॥
अभ्युच्छ्रयश्च रोम्णां वै विक्रियाश्च परंतप ।

शत्रुदमन नरेश ! वह स्थान देखकर ब्राह्मणका हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा । उसे रोमाञ्च हो आया और मनमें अन्य प्रकारके भी विकार उत्पन्न होने लगे ॥ ५½ ॥

स तद् वनं व्यनुसरन् सम्प्रधावन्नितस्ततः ॥ ६ ॥
वीक्षमाणो दिशः सर्वाः शरणं क्व भवेदिति ।

वह उस वनका अनुसरण करता इधर-उधर दौड़ता तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें ढूँढ़ता फिरता था कि कहीं मुझे शरण मिले ॥ ६½ ॥

स तेषां छिद्रमन्विच्छन् प्रद्रुतो भयपीडितः ॥ ७ ॥
न च निर्याति वै दूरं न वा तैर्विप्रमोच्यते ।

वह उन हिंसक जन्तुओंका छिद्र देखता हुआ भयसे पीड़ित हो भागने लगा; परंतु न तो वहाँसे दूर निकल पाता था और न वे ही उसका पीछा छोड़ते थे ॥ ७½ ॥

अथापश्यद् वनं घोरं समन्ताद् वागुरावृतम् ॥ ८ ॥
बाहुभ्यां सम्परिक्षिप्तं स्त्रिया परमघोरया ।

इतनेहीमें उसने देखा कि वह भयानक वन चारों ओरसे जालसे घिरा हुआ है और एक बड़ी भयानक स्त्रीने अपनी दोनों भुजाओंसे उसको आवेष्टित कर रक्खा है ॥ ८½ ॥

पञ्चशीर्षधरैर्नागैः शैलैरिव समुन्नतैः ॥ ९ ॥
नभःस्पृशैर्महावृक्षैः परिक्षिप्तं महावनम् ।

पर्वतोंके समान ऊँचे और पाँच सिरवाले नागों तथा बड़े-बड़े गगनचुम्बी वृक्षोंसे वह विशाल वन व्याप्त हो रहा है ॥ ९½ ॥

वनमध्ये च तत्राभूदुदपानः समावृतः ॥ १० ॥
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसंवृतः ।

उस वनके भीतर एक कुआँ था, जो घासोंसे ढकी हुई सुदृढ़ लताओंके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हो गया था १०½

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ॥ ११ ॥
विलग्नश्चाभवत् तस्मिन् लतासंतानसंकुले ।

वह ब्राह्मण उस छिपे हुए कुएँमें गिर पड़ा; परंतु लता-वेलोंसे व्याप्त होनेके कारण वह उसमें फँसकर नीचे नहीं गिरा, ऊपर ही लटका रह गया ॥ ११½ ॥

पनसस्य यथा जातं वृन्तबद्धं महाफलम् ॥ १२ ॥
स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यधःशिराः ।

जैसे कटहलका विशाल फल वृन्तमें बँधा हुआ लटकता रहता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण ऊपरको पैर और नीचेको सिर किये उस कुएँमें लटक गया ॥ १२½ ॥

अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रवः ॥ १३ ॥
कूपमध्ये महानागमपश्यत महाबलम् ।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम् ॥ १४ ॥
षड्वक्त्रं कृष्णशुक्लं च द्विषट्कपदचारिणम् ।

वहाँ भी उसके सामने पुनः दूसरा उपद्रव खड़ा हो गया। उसने कूपके भीतर एक महाबली महानाग बैठा हुआ देखा तथा कुएँके ऊपरी तटपर उसके मुखबन्धके पास एक विशाल हाथीको खड़ा देखा, जिसके छः मुँह थे । वह सफेद और काले रंगका था तथा बारह पैरोंसे चला करता था १३-१४½

क्रमेण परिसर्पन्तं वल्लीवृक्षसमावृतम् ॥ १५ ॥
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिनः ।
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहाः ॥ १६ ॥
आसते मधु संवृत्य पूर्वमेव निकेतजाः ।

वह लताओं तथा वृक्षोंसे घिरे हुए उस कूपमें क्रमशः बढ़ा आ रहा था । वह ब्राह्मण, जिस वृक्षकी शाखापर लटका था, उसकी छोटी-छोटी टहनियोंपर पहलेसे ही मधुके छत्तोंसे पैदा हुई अनेक रूपवाली, घोर एवं भयंकर मधुमक्खियाँ मधुको घेरकर बैठी हुई थीं ॥ १५-१६½ ॥

भूयो भूयः समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ ॥१७॥
स्वादनीयानि भूतानां यैर्बालो विप्रकृष्यते ।

भरतश्रेष्ठ ! समस्त प्राणियोंको स्वादिष्ट प्रतीत होनेवाले उस मधुको, जिसपर बालक आकृष्ट हो जाते हैं, वे मक्खियाँ बारंबार पीना चाहती थीं ॥ १७½ ॥

तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते तदा ॥ १८ ॥
आलम्बमानः स पुमान् धारां पिबति सर्वदा ।

उस समय उस मधुकी अनेक धाराएँ वहाँ झर रही थीं और वह लटका हुआ पुरुष निरन्तर उस मधुधाराको पी रहा था ॥ १८½॥

न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य संकटे ॥ १९ ॥
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्तः स पुनः पुनः ।

यद्यपि वह संकटमें था तो भी उस मधुको पीते-पीते उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी । वह सदा अतृप्त रहकर ही बारंबार उसे पीनेकी इच्छा रखता था ॥ १९½ ॥

न चास्य जीविते राजन् निर्वेदः समजायत ॥ २० ॥
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता ।

राजन् ! उसे अपने उस संकटपूर्ण जीवनसे वैराग्य नहीं हुआ है । उस मनुष्यके मनमें वहीं उसी दशासे जीवित रहकर मधु पीते रहनेकी आशा जड़ जमाये हुए है ॥ २०½ ॥

कृष्णाः श्वेताश्च तं वृक्षं कुट्टयन्ति च मूषिकाः ॥ २१ ॥
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया च परमोग्रया ।
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च ॥ २२ ॥
वृक्षप्रपाताच्च भयं मूषिकेभ्यश्च पञ्चमम् ।
मधुलोभान्मधुकरैः षष्ठमाहुर्महद् भयम् ॥ २३ ॥

जिस वृक्षके सहारे वह लटका हुआ है, उसे काले और सफेद चूहे निरन्तर काट रहे हैं । पहले तो उसे वनके दुर्गम प्रदेशके भीतर ही अनेक सर्पोंसे भय है, दूसरा भय सीमापर खड़ी हुई उस भयंकर स्त्रीसे है, तीसरा कुँएके नीचे बैठे हुए नागसे है, चौथा कुँएके मुखबन्धके पास खड़े हुए हाथीसे है और पाँचवाँ भय चूहोंके काट देनेपर उस वृक्षसे गिर जानेका है । इनके सिवा, मधुके लोभसे मधुमक्खियोंकी ओरसे जो उसको महान् भय प्राप्त होनेवाला है, वह छठा भय बताया गया है ॥ २१–२३ ॥

एवं स वसते तत्र क्षिप्तः संसारसागरे ।
न चैव जीविताशायां निर्वेदमुपगच्छति ॥ २४ ॥

इस प्रकार संसार-सागरमें गिरा हुआ वह मनुष्य इतने भयोंसे घिरकर वहाँ निवास करता है तो भी उसे जीवनकी आशा बनी हुई है और उसके मनमें वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

संसाररूपी वनके रूपकका स्पष्टीकरण

धृतराष्ट्र उवाच

अहो खलु महद् दुःखं कृच्छ्रवासश्च तस्य ह ।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ विदुर ! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ! उस ब्राह्मणको तो महान् दुःख प्राप्त हुआ था । वह बड़े कष्टसे वहाँ रह रहा था तो भी वहाँ कैसे उसका मन लगता था और कैसे उसे संतोष होता था ? ॥१॥

स देशः क नु यत्रासौ वसते धर्मसंकटे ।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात् ॥ २ ॥

कहाँ है वह देश, जहाँ बेचारा ब्राह्मण ऐसे धर्मसङ्कटमें रहता है ? उस महान् भयसे उसका छुटकारा किस प्रकार हो सकता है ? ॥ २ ॥

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तदा ।
कृपा मे महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन हि ॥ ३ ॥

यह सब मुझे बताओ; फिर हम सब लोग उसे वहाँसे निकालनेकी पूरी चेष्टा करेंगे । उसके उद्धारके लिये मुझे बड़ी दया आ रही है ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

उपमानमिदं राजन् मोक्षविद्भिरुदाहृतम् ।
सुकृतं विन्दते येन परलोकेषु मानवः ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मोक्षतत्त्वके विद्वानोंद्वारा बताया गया यह एक दृष्टान्त है, जिसे समझकर वैराग्य धारण करनेसे मनुष्य परलोकमें पुण्यका फल पाता है ॥ ४॥

उच्यते यत् तु कान्तारं महासंसार एव सः ।
वनं दुर्गं हि यच्चैतत् संसारगहनं हि तत् ॥ ५ ॥

जिसे दुर्गम स्थान बताया गया है, वह महासंसार ही है और जो यह दुर्गम वन कहा गया है, यह संसारका ही गहन स्वरूप है ॥ ५ ॥

ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः ।
या सा नारी बृहत्काया अध्यतिष्ठत तत्र वै ॥ ६ ॥

तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा रूपवर्णविनाशिनीम्।

जो सर्प कहे गये हैं, वे नाना प्रकारके रोग हैं। उस वनकी सीमापर जो विशालकाय नारी खड़ी थी, उसे विद्वान् पुरुष रूप और कान्तिका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था बताते हैं॥ ६½॥

यस्तत्र कूपो नृपते स तु देहः शरीरिणाम्॥ ७॥
यस्तत्र वसतेऽधस्तान्महाहिः काल एव सः।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ॥ ८॥

नरेश्वर! उस वनमें जो कुआँ कहा गया है, वह देहधारियोंका शरीर है। उसमें नीचे जो विशाल नाग रहता है, वह काल ही है। वही सम्पूर्ण प्राणियोंका अन्त करनेवाला और देहधारियोंका सर्वस्व हर लेनेवाला है॥ ७-८॥

कूपमध्ये च या जाता वल्ली यत्र स मानवः।
प्रताने लम्बते लग्नो जीविताशा शरीरिणाम्॥ ९॥

कुँएके मध्यभागमें जो लता उत्पन्न हुई बतायी गयी है, जिसको पकड़कर वह मनुष्य लटक रहा है, वह देहधारियोंके जीवनकी आशा ही है॥ ९॥

स यस्तु कूपवीनाहे तं वृक्षं परिसर्पति।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन् स तु संवत्सरः स्मृतः॥ १०॥

राजन्! जो कुएँके मुखबन्धके समीप छः मुखोंवाला हाथी उस वृक्षकी ओर बढ़ रहा है, उसे संवत्सर माना गया है॥ १०॥

मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादश कीर्तिताः।
ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषिकाः सततोत्थिताः॥ ११॥
रात्र्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः।

छः ऋतुएँ ही उसके छः मुख हैं और बारह महीने ही बारह पैर बताये गये हैं। जो चूहे सदा उद्यत रहकर उस वृक्षको काटते हैं, उन चूहोंको विचारशील विद्वान् प्राणियोंके दिन और रात बताते हैं॥ ११½॥

ये ते मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः॥ १२॥
यास्तु ता बहुशो धाराः स्रवन्ति मधुनिस्रवम्।
तांस्तु कामरसान् विद्याद् यत्र मज्जन्ति मानवाः॥ १३॥

और जो-जो वहाँ मधुमक्खियाँ कही गयी हैं, वे सब कामनाएँ हैं। जो बहुत-सी धाराएँ मधुके झरने झरती रहती हैं, उन्हें कामरस जानना चाहिये, जहाँ सभी मानव डूब जाते हैं॥ १२-१३॥

एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधाः।
येन संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधाः॥ १४॥

विद्वान् पुरुष इस प्रकार संसारचक्रकी गतिको जानते हैं; इसीलिये वे वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसके सारे बन्धनोंको काट देते हैं॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

संसारचक्रका वर्णन और रथके रूपकसे संयम और ज्ञान आदिको मुक्तिका उपाय बताना

धृतराष्ट्र उवाच

अहोऽभिहितमाख्यानं भवता तत्त्वदर्शिना।
भूय एव तु मे हर्षः श्रुत्वा वागमृतं तव॥ १॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुमने अद्भुत आख्यान सुनाया। वास्तवमें तुम तत्त्वदर्शी हो। पुनः तुम्हारी अमृतमयी वाणी सुनकर मुझे बड़ा हर्ष होगा॥ १॥

विदुर उवाच

शृणु भूयः प्रवक्ष्यामि मार्गस्यैतस्य विस्तरम्।
यच्छ्रुत्वा विप्रमुच्यन्ते संसारेभ्यो विचक्षणाः॥ २॥

विदुरजीने कहा—राजन्! सुनिये। मैं पुनः विस्तारपूर्वक इस मार्गका वर्णन करता हूँ, जिसे सुनकर बुद्धिमान् पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं॥ २॥

यथा तु पुरुषो राजन् दीर्घमध्वानमास्थितः।
क्वचित् क्वचिच्छ्रमाच्छ्रान्तः कुरुते वासमेव वा॥ ३॥
एवं संसारपर्याये गर्भवासेषु भारत।
कुर्वन्ति दुर्बुधा वासं मुच्यन्ते तत्र पण्डिताः॥ ४॥

नरेश्वर! जिस प्रकार किसी लंबे रास्तेपर चलनेवाला पुरुष परिश्रमसे थककर बीचमें कहीं-कहीं विश्रामके लिये ठहर जाता है, उसी प्रकार इस संसारयात्रामें चलते हुए अज्ञानी पुरुष विश्रामके लिये गर्भवास किया करते हैं। भारत! किंतु विद्वान् पुरुष इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं॥ ३-४॥

तस्मादध्वानमेवैतमाहुः शास्त्रविदो जनाः।
यत्तु संसारगहनं वनमाहुर्मनीषिणः॥ ५॥

इसीलिये शास्त्रज्ञ पुरुषोंने गर्भवासको मार्गका ही रूपक दिया है और गहन संसारको मनीषी पुरुष वन कहा करते हैं॥ ५॥

सोऽयं लोकसमावर्तो मर्त्यानां भरतर्षभ।
चराणां स्थावराणां च न गृध्येत् तत्र पण्डितः॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ! यही मनुष्यों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका संसारचक्र है। विवेकी पुरुषको इसमें आसक्त नहीं होना चाहिये॥ ६॥

शारीरा मानसाश्चैव मर्त्यानां ये तु व्याधयः।
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च ते व्यालाः कथिता बुधैः॥ ७॥

मनुष्योंकी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हैं, उन्हींको विद्वानोंने सर्प एवं हिंसक जीव बताया है॥ ७॥

क्लिश्यमानाश्च तैर्नित्यं वार्यमाणाश्च भारत।

स्वकर्मभिर्महाव्यालैर्नोद्विजन्त्यल्पबुद्धयः ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! अपने कर्मरूपी इन महान् हिंसक जन्तुओंसे सदा सताये तथा रोके जानेपर भी मन्दबुद्धि मानव संसारसे उद्विग्न या विरक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

अथापि तैर्विमुच्येत व्याधिभिः पुरुषो नृप।
आवृणोत्येव तं पश्चाज्जरा रूपविनाशिनी ॥ ९ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शैर्गन्धैश्च विविधैरपि।
मज्जमांसमहापङ्के निरालम्बे समन्ततः ॥ १० ॥

नरेश्वर ! यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और नाना प्रकारकी गन्धोंसे युक्त, मज्जा और मांसरूपी बड़ी भारी कीचड़से भरे हुए एवं सब ओरसे अवलम्बशून्य इस शरीररूपी कूपमें रहनेवाला मनुष्य इन व्याधियोंसे किसी तरह मुक्त हो जाय तो भी अन्तमें रूप-सौन्दर्यका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था तो उसे घेर ही लेती है ॥ ९-१० ॥

संवत्सराश्च मासाश्च पक्षाहोरात्रसंधयः।
क्रमेणास्योपयुञ्जन्ति रूपमायुस्तथैव च ॥ ११ ॥
एते कालस्य निधयो नैताञ्जानन्ति दुर्बुधाः।
धात्राभिलिखितान्याहुः सर्वभूतानि कर्मणा ॥ १२ ॥

वर्ष, मास, पक्ष, दिन-रात और संध्याएँ क्रमशः इसके रूप और आयुका शोषण करती ही रहती हैं। ये सब कालके प्रतिनिधि हैं। मूढ़ मनुष्य इन्हें इस रूपमें नहीं जानते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन है कि विधाताने सम्पूर्ण भूतोंके ललाटमें कर्मके अनुसार रेखा खींच दी है (प्रारब्धके अनुसार उनकी आयु और सुख-दुःखके भोग नियत कर दिये हैं) ११-१२

रथः शरीरं भूतानां सत्त्वमाहुस्तु सारथिम्।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्मबुद्धिस्तु रश्मयः ॥ १३ ॥
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि प्राणियोंका शरीर रथके समान है, सत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि) सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन लगाम है। जो पुरुष स्वेच्छापूर्वक दौड़ते हुए उन घोड़ोंके वेगका अनुसरण करता है, वह तो इस संसारचक्रमें पहियेके समान घूमता रहता है ॥ १३-१४ ॥

यस्तान् संयमते बुद्ध्या संयतो न निवर्तते।
ये तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तिते ॥ १५ ॥
भ्रममाणा न मुह्यन्ति संसारे न भ्रमन्ति ते।

किंतु जो संयमशील होकर बुद्धिके द्वारा उन इन्द्रियरूपी अश्वोंको काबूमें रखते हैं, वे फिर इस संसारमें नहीं लौटते। जो लोग चक्रकी भाँति घूमनेवाले इस संसारचक्रमें घूमते हुए भी मोहके वशीभूत नहीं होते हैं, उन्हें फिर संसारमें नहीं भटकना पड़ता ॥ १५½ ॥

संसारे भ्रमतां राजन् दुःखमेतद्धि जायते ॥ १६ ॥
तस्मादस्य निवृत्त्यर्थं यत्नमेवाचरेद् बुधः।
उपेक्षा नात्र कर्तव्या शतशाखः प्रवर्धते ॥ १७ ॥

राजन् ! संसारमें भटकनेवालोंको यह दुःख प्राप्त होता ही है; अतः विज्ञ पुरुषको इस संसारबन्धनकी निवृत्तिके लिये अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषयमें कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; नहीं तो यह संसार सैकड़ों शाखाओंमें फैलकर बहुत बड़ा हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः।
संतुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥ १८ ॥

राजन् ! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभसे शून्य, संतोषी तथा सत्यवादी होता है, उसे शान्ति प्राप्त होती है ॥

याम्यमाहू रथं ह्येनं मुह्यन्ते येन दुर्बुधाः।
स चैतत् प्राप्नुयाद् राजन् यत् त्वं प्राप्तो नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! इस संसारको याम्य (यमलोककी प्राप्ति करानेवाला) रथ कहते हैं, जिससे मूर्ख मनुष्य मोहित हो जाते हैं। राजन् ! जो दुःख आपको प्राप्त हुआ है, वही प्रत्येक अज्ञानी पुरुषको उपलब्ध होता है ॥ १९ ॥

अनुतर्षुलमेवैतद् दुःखं भवति मारिष।
राज्यनाशं सुहृन्नाशं सुतनाशं च भारत ॥ २० ॥

माननीय भारत ! जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, उसीको राज्य, सुहृद् और पुत्रोंका नाशरूपी यह महान् दुःख प्राप्त होता है ॥ २० ॥

साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत्।
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम्।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः ॥ २१ ॥

साधु पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनको वशमें करके ज्ञानरूपी महान् ओषधि प्राप्त करे, जो परम दुर्लभ है। उससे अपने बड़े-से-बड़े दुःखोंकी चिकित्सा करे। उस ज्ञानरूपी ओषधिसे दुःखरूपी महान् व्याधिका नाश कर डाले २१

न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः।
तथोन्मोचयते दुःखाद् यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः ॥

पराक्रम, धन, मित्र और सुहृद् भी उस तरह दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते, जैसा कि दृढ़तापूर्वक संयममें रहनेवाला अपना मन दिला सकता है ॥ २२ ॥

तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत।
दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः ॥ २३ ॥
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे।
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! इसलिये सर्वत्र मैत्रीभाव रखते हुए शील प्राप्त करना चाहिये। दम, त्याग और अप्रमाद—ये तीन परमात्माके धाममें ले जानेवाले घोड़े हैं। जो मनुष्य शीलरूपी लगामको पकड़कर इन तीनों घोड़ोंसे जुते हुए मनरूपी रथपर सवार होता है, वह मृत्युका भय छोड़कर ब्रह्मलोकमें चला जाता है ॥ २३-२४ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम् ॥ २५ ॥

भूपाल ! जो सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देता है, वह

भगवान् विष्णुके अविनाशी परमधाममें चला जाता है ॥ २५ ॥

न तत् क्रतुसहस्रेण नोपवासैश्च नित्यशः ।
अभयस्य च दानेन यत् फलं प्राप्नुयान्नरः ॥ २६ ॥

अभयदानसे मनुष्य जिस फलको पाता है, वह उसे सहस्रों यज्ञ और नित्यप्रति उपवास करनेसे भी नहीं मिल सकता है ॥ २६ ॥

न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिद् भूतेषु निश्चितम् ।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ॥ २७ ॥
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दया कार्या विपश्चिता ।

भारत ! यह बात निश्चितरूपसे कही जा सकती है कि प्राणियोंको अपने आत्मासे अधिक प्रिय कोई भी वस्तु नहीं है; इसीलिये मरना किसी भी प्राणीको अच्छा नहीं लगता; अतः विद्वान् पुरुषको सभी प्राणियोंपर दया करनी चाहिये ॥ २७½ ॥

नानामोहसमायुक्ता बुद्धिजालेन संवृताः ॥ २८ ॥
असूक्ष्मदृष्टयो मन्दा भ्राम्यन्ते तत्र तत्र ह ।

जो मूढ़ नाना प्रकारके मोहमें डूबे हुए हैं, जिन्हें बुद्धिके जालने बाँध रक्खा है और जिनकी दृष्टि स्थूल है, वे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकते रहते हैं ॥ २८½ ॥

सुसूक्ष्मदृष्टयो राजन् व्रजन्ति ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २९ ॥
(एवं ज्ञात्वा महाप्राज्ञ स तेषामौर्ध्वदैहिकम् ।
कर्तुमर्हति तेनैव फलं प्राप्स्यति वै भवान् ॥)

राजन् ! महाप्राज्ञ ! सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी पुरुष सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, ऐसा जानकर आप अपने मरे हुए सगे-सम्बन्धियोंका और्ध्वदैहिक संस्कार कीजिये । इसीसे आपको उत्तम फलकी प्राप्ति होगी ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका संहारको अवश्यम्भावी बताकर धृतराष्ट्रको समझाना

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य तु तद् वाक्यं निशम्य कुरुसत्तमः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुरजीके ये वचन सुनकर कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र पुत्रशोकसे संतप्त एवं मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तं तथा पतितं भूमौ निःसंज्ञं प्रेक्ष्य बान्धवाः ।
कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षत्ता च विदुरस्तथा ॥ २ ॥
संजयः सुहृदश्चान्ये द्वाःस्था ये चास्य सम्मताः ।
जलेन सुखशीतेन तालवृन्तैश्च भारत ॥ ३ ॥
पस्पृशुश्च करैर्गात्रं वीजमानाश्च यत्नतः ।
अन्वासन् सुचिरं कालं धृतराष्ट्रं तथागतम् ॥ ४ ॥

उन्हें इस प्रकार अचेत होकर भूमिपर गिरा देख सभी भाई-बन्धु, व्यासजी, विदुर, संजय, सुहृद्गण तथा जो विश्वसनीय द्वारपाल थे, वे सभी शीतल जलके छींटे देकर ताड़के पङ्खोंसे हवा करने और उनके शरीरपर हाथ फेरने लगे । उस बेहोशीकी अवस्थामें वे बड़े यत्नके साथ धृतराष्ट्रको होशमें लानेके लिये देरतक आवश्यक उपचार करते रहे ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य लब्धसंज्ञो महीपतिः ।
विललाप चिरं कालं पुत्राधिभिरभिप्लुतः ॥ ५ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् राजा धृतराष्ट्रको चेत हुआ और वे पुत्रोंकी चिन्तामें डूबकर बड़ी देरतक विलाप करते रहे ॥ ५ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं मानुषेषु परिग्रहे ।
यतो मूलानि दुःखानि सम्भवन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥

वे बोले—'इस मनुष्यजन्मको धिक्कार है ! इसमें भी विवाह आदि करके परिवार बढ़ाना तो और भी बुरा है; क्योंकि उसीके कारण बारंबार नाना प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

पुत्रनाशेऽर्थनाशे च ज्ञातिसम्बन्धिनामथ ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो ॥ ७ ॥

'प्रभो ! पुत्र, धन, कुटुम्ब और सम्बन्धियोंका नाश होनेपर तो विष पीने और आगमें जलनेके समान बड़ा भारी दुःख भोगना पड़ता है ॥ ७ ॥

येन दह्यन्ति गात्राणि येन प्रज्ञा विनश्यति ।
येनाभिभूतः पुरुषो मरणं बहु मन्यते ॥ ८ ॥

'उस दुःखसे सारा शरीर जलने लगता है, बुद्धि नष्ट हो जाती है और उस असह्य शोकसे पीड़ित हुआ पुरुष जीनेकी अपेक्षा मर जाना अधिक अच्छा समझता है ॥ ८ ॥

तदिदं व्यसनं प्राप्तं मया भाग्यविपर्ययात् ।
तस्यान्तं नाधिगच्छामि ऋते प्राणविमोक्षणात् ॥ ९ ॥

'आज भाग्यके फेरसे वही यह स्वजनोंके विनाशका महान् दुःख मुझे प्राप्त हुआ है । अब प्राण त्याग देनेके सिवा और किसी उपायद्वारा मैं इस दुःखसे पार नहीं पा सकता ॥ ९ ॥

तथैवाहं करिष्यामि अद्यैव द्विजसत्तम ।
इत्युक्त्वा तु महात्मानं पितरं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १० ॥
धृतराष्ट्रोऽभवन्मूढः स शोकं परमं गतः ।
अभूच्च तूष्णीं राजासौ ध्यायमानो महीपते ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इसलिये आज ही मैं अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ।' अपने ब्रह्मवेत्ता पिता महात्मा व्यासजीसे ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त शोकमें डूब गये और सुध-बुध खो बैठे । राजन् ! पुत्रोंका ही चिन्तन करते हुए वे बूढ़े नरेश वहाँ मौन होकर बैठे रह गये ॥ १०-११ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं पुत्रं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

उनकी बात सुनकर शक्तिशाली महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पुत्रशोकसे संतप्त हुए अपने बेटेसे इस प्रकार बोले—॥

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाबाहो यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ।
श्रुतवानसि मेधावी धर्मार्थकुशलः प्रभो ॥ १३ ॥

व्यासजीने कहा—महाबाहु धृतराष्ट्र ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । प्रभो ! तुम वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न, मेधावी तथा धर्म और अर्थके साधनमें कुशल हो ॥ १३ ॥

न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् वेदितव्यं परंतप ।
अनित्यतां हि मर्त्यानां विजानासि न संशयः ॥ १४ ॥

शत्रुसंतापी नरेश ! जानने योग्य जो कोई भी तत्त्व है, वह तुमसे अज्ञात नहीं है । तुम मानव-जीवनकी अनित्यताको अच्छी तरह जानते हो, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

अध्रुवे जीवलोके च स्थाने वा शाश्वते सति ।
जीविते मरणान्ते च कस्माच्छोचसि भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! जब जीव-जगत् अनित्य है, सनातन परम पद नित्य है और इस जीवनका अन्त मृत्युमें ही है, तब तुम इसके लिये शोक क्यों करते हो ? ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र वैरस्यास्य समुद्भवः ।
पुत्रं ते कारणं कृत्वा कालयोगेन कारितः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! तुम्हारे पुत्रको निमित्त बनाकर कालकी प्रेरणासे इस वैरकी उत्पत्ति तो तुम्हारे सामने ही हुई थी ॥ १६ ॥

अवश्यं भवितव्ये च कुरूणां वैशसे नृप ।
कस्माच्छोचसि ताञ्शूरान् गतान् परमिकां गतिम् ॥

नरेश्वर ! जब कौरवोंका यह विनाश अवश्यम्भावी था, तब परम गतिको प्राप्त हुए उन शूरवीरोंके लिये तुम क्यों शोक कर रहे हो ? ॥ १७ ॥

जानता च महाबाहो विदुरेण महात्मना ।
यतितं सर्वयत्नेन शमं प्रति जनेश्वर ॥ १८ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! महात्मा विदुर इस भावी परिणामको जानते थे, इसीलिये इन्होंने सारी शक्ति लगाकर संधिके लिये प्रयत्न किया था ॥ १८ ॥

न च दैवकृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित् ।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥ १९ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि दीर्घ कालतक प्रयत्न करके भी कोई प्राणी दैवके विधानको रोक नहीं सकता ॥ १९ ॥

देवतानां हि यत् कार्यं मया प्रत्यक्षतः श्रुतम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा स्थैर्यं भवेत् तव ॥ २० ॥

देवताओंका जो कार्य मैंने प्रत्यक्ष अपने कानोंसे सुना है, वह तुम्हें बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारा मन स्थिर हो सके॥

पुराहं त्वरितो यातः सभामैन्द्रीं जितक्लमः ।
अपश्यं तत्र च तदा समवेतान् दिवौकसः ॥ २१ ॥

पूर्वकालकी बात है, एक बार मैं यहाँसे शीघ्रतापूर्वक इन्द्रकी सभामें गया । वहाँ जानेपर भी मुझे कोई थकावट नहीं हुई; क्योंकि मैं इन सबपर विजय पा चुका हूँ । वहाँ उस समय मैंने देखा कि इन्द्रकी सभामें सम्पूर्ण देवता एकत्र हुए हैं ॥ २१ ॥

नारदप्रमुखाश्चापि सर्वे देवर्षयोऽनघ ।
तत्र चापि मया दृष्टा पृथिवी पृथिवीपते ॥ २२ ॥
कार्यार्थमुपसम्प्राप्ता देवतानां समीपतः ।

अनघ ! वहाँ नारद आदि समस्त देवर्षि भी उपस्थित थे । पृथ्वीनाथ ! मैंने वहीं इस पृथ्वीको भी देखा, जो किसी कार्यके लिये देवताओंके पास गयी थी ॥ २२½ ॥

उपगम्य तदा धात्री देवानाह समागतान् ॥ २३ ॥
यत् कार्यं मम युष्माभिर्ब्रह्मणः सदने तदा ।
प्रतिज्ञातं महाभागास्तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २४ ॥

उस समय विश्वधारिणी पृथ्वीने वहाँ एकत्र हुए देवताओंके पास जाकर कहा—'महाभाग देवताओ ! आपलोगोंने उस दिन ब्रह्माजीकी सभामें मेरे जिस कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे शीघ्र पूर्ण कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
उवाच वाक्यं प्रहसन् पृथिवीं देवसंसदि ॥ २५ ॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां यस्तु ज्येष्ठः शतस्य वै ।
दुर्योधन इति ख्यातः स ते कार्यं करिष्यति ॥ २६ ॥
तं च प्राप्य महीपालं कृतकृत्या भविष्यसि ।

उसकी बात सुनकर विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने देव-समामें पृथ्वीकी ओर देखकर हँसते हुए कहा—'शुभे ! धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंमें जो सबसे बड़ा और दुर्योधननामसे विख्यात है, वही तेरा कार्य सिद्ध करेगा । उसे राजाके रूपमें पाकर तू कृतार्थ हो जायगी ॥ २५-२६½ ॥

तस्यार्थे पृथिवीपालाः कुरुक्षेत्रं समागताः ॥ २७ ॥
अन्योन्यं घातयिष्यन्ति दृढैः शस्त्रैः प्रहारिणः ।

'उसके लिये सारे भूपाल कुरुक्षेत्रमें एकत्र होंगे और सुदृढ़ शस्त्रोंद्वारा परस्पर प्रहार करके एक दूसरेका वध कर डालेंगे ॥ २७½ ॥

ततस्ते भविता देवि भारस्य युधि नाशनम् ॥ २८ ॥
गच्छ शीघ्रं स्वकं स्थानं लोकान् धारय शोभने ।

'देवि ! इस प्रकार उस युद्धमें तेरे भारका नाश हो जायगा । शोभने ! अब तू शीघ्र अपने स्थानपर जा और समस्त लोकोंको पूर्ववत् धारण कर' ॥ २८½ ॥

य एष ते सुतो राजन् लोकसंहारकारणात् ॥ २९ ॥
कलेरंशः समुत्पन्नो गान्धार्या जठरे नृप ।
अमर्षी चपलश्चापि क्रोधनो दुष्प्रसाधनः ॥ ३० ॥

राजन् ! नरेश्वर ! यह जो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन था, वह सारे जगत्का संहार करनेके लिये कलिका मूर्तिमान् अंश ही गान्धारीके पेटसे पैदा हुआ था । वह अमर्षशील, क्रोधी, चञ्चल और कूटनीतिसे काम लेनेवाला था ॥ २९-३० ॥

दैवयोगात् समुत्पन्ना भ्रातरश्चास्य तादृशाः ।
शकुनिर्मातुलश्चैव कर्णश्च परमः सखा ॥ ३१ ॥

दैवयोगसे उसके भाई भी वैसे ही उत्पन्न हुए । मामा शकुनि और परम मित्र कर्ण भी उसी विचारके मिल गये ॥

समुत्पन्ना विनाशार्थं पृथिव्यां सहिता नृपाः ।
यादृशो जायते राजा तादृशोऽस्य जनो भवेत् ॥ ३२ ॥

ये सब नरेश शत्रुओंका विनाश करनेके लिये ही एक साथ इस भूमण्डलपर उत्पन्न हुए थे । जैसा राजा होता है, वैसे ही उसके स्वजन और सेवक भी होते हैं ॥ ३२ ॥

अधर्मो धर्मतां याति स्वामी चेद् धार्मिको भवेत् ।
स्वामिनो गुणदोषाभ्यां भृत्याः स्युर्नात्र संशयः॥ ३३ ॥

यदि स्वामी धार्मिक हो तो अधर्मी सेवक भी धार्मिक बन जाते हैं । सेवक स्वामीके ही गुण-दोषोंसे युक्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुष्टं राजानमासाद्य गतास्ते तनया नृप ।
एतमर्थं महाबाहो नारदो वेद तत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! दुष्ट राजाको पाकर तुम्हारे सभी पुत्र उसीके साथ नष्ट हो गये । इस बातको तत्त्ववेत्ता नारदजी जानते हैं ॥ ३४ ॥

आत्मापराधात् पुत्रास्ते विनष्टाः पृथिवीपते ।
मा ताञ्शोचस्व राजेन्द्र न हि शोकेऽस्ति कारणम् ॥

पृथ्वीनाथ ! आपके पुत्र अपने ही अपराधसे विनाशको प्राप्त हुए हैं । राजेन्द्र ! उनके लिये शोक न करो; क्योंकि शोकके लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है ॥ ३५ ॥

न हि ते पाण्डवाः स्वल्पमपराध्यन्ति भारत ।
पुत्रास्तव दुरात्मानो यैरियं घातिता मही ॥ ३६ ॥

भारत ! पाण्डवोंने तुम्हारा थोड़ा-सा भी अपराध नहीं किया है । तुम्हारे पुत्र ही दुष्ट थे, जिन्होंने इस भूमण्डलका नाश करा दिया ॥ ३६ ॥

नारदेन च भद्रं ते पूर्वमेव न संशयः ।
युधिष्ठिरस्य समितौ राजसूये निवेदितम् ॥ ३७ ॥
पाण्डवाः कौरवाः सर्वे समासाद्य परस्परम् ।
न भविष्यन्ति कौन्तेय यत् ते कृत्यं तदाचर ॥ ३८ ॥

राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । राजसूय यज्ञके समय देवर्षि नारदने राजा युधिष्ठिरकी सभामें निःसंदेह पहले ही यह बात बता दी थी कि कौरव और पाण्डव सभी आपसमें लड़कर नष्ट हो जायँगे; अतः कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे लिये जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे करो ॥ ३७-३८ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा तदाशोचन्त पाण्डवाः ।
एवं ते सर्वमाख्यातं देवगुह्यं सनातनम् ॥ ३९ ॥
कथं ते शोकनाशः स्यात् प्राणेषु च दया प्रभो ।
स्नेहश्च पाण्डुपुत्रेषु ज्ञात्वा दैवकृतं विधिम् ॥ ४० ॥

प्रभो ! नारदजीकी वह बात सुनकर उस समय पाण्डव बहुत चिन्तित हो गये थे । इस प्रकार मैंने तुमसे देवताओं-का यह सारा सनातन रहस्य बताया है, जिससे किसी तरह तुम्हारे शोकका नाश हो । तुम अपने प्राणोंपर दया कर सको और देवताओंका विधान समझकर पाण्डुके पुत्रोंपर भी तुम्हारा स्नेह बना रहे ॥ ३९-४० ॥

एष चार्थो महाबाहो पूर्वमेव मया श्रुतः ।
कथितो धर्मराजस्य राजसूये क्रतूत्तमे ॥ ४१ ॥

महाबाहो ! यह बात मैंने बहुत पहले ही सुन रक्खी थी और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयमें धर्मराज युधिष्ठिरको बता भी दी थी॥

यतितं धर्मपुत्रेण मया गुह्ये निवेदिते ।
अविग्रहे कौरवाणां दैवं तु बलवत्तरम् ॥ ४२ ॥

मेरेद्वारा उस गुप्त रहस्यके बता दिये जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने बहुत प्रयत्न किया कि कौरवोंमें परस्पर कलह न हो; परंतु दैवका विधान बड़ा प्रबल होता है ॥ ४२ ॥

अनतिक्रमणीयो हि विधी राजन् कथंचन ।
कृतान्तस्य तु भूतेन स्थावरेण चरेण च ॥ ४३ ॥

राजन् ! दैव अथवा कालके विधानको चराचर प्राणियोंमें-से कोई भी किसी तरह लाँघ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

भवान् धर्मपरो यत्र बुद्धिश्रेष्ठश्च भारत ।
मुह्यते प्राणिनां ज्ञात्वा गतिं चागतिमेव च ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन ! तुम धर्मपरायण और बुद्धिमें श्रेष्ठ हो । तुम्हें प्राणियोंके आवागमनका रहस्य भी ज्ञात है, तो भी क्यों मोहके वशीभूत हो रहे हो ? ॥ ४४ ॥

त्वां तु शोकेन संतप्तं मुह्यमानं मुहुर्मुहुः ।
ज्ञात्वा युधिष्ठिरो राजा प्राणानपि परित्यजेत् ॥ ४५ ॥

तुम्हें बारंबार शोकसे संतप्त और मोहित होते जानकर राजा युधिष्ठिर अपने प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ॥४५॥

कृपालुर्नित्यशो वीरस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
स कथं त्वयि राजेन्द्र कृपां नैव करिष्यति ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! वीर युधिष्ठिर पशु-पक्षी आदि योनिके प्राणियों-पर भी सदा दयाभाव बनाये रखते हैं; फिर तुमपर वे कैसे दया नहीं करेंगे ? ॥ ४६ ॥

मम चैव नियोगेन विधेश्चाप्यनिवर्तनात् ।
पाण्डवानां च कारुण्यात् प्राणान् धारय भारत ॥४७॥

अतः भारत ! मेरी आज्ञा मानकर, विधाताका विधान टल नहीं सकता, ऐसा समझकर तथा पाण्डवोंपर करुणा करके तुम अपने प्राण धारण करो ॥ ४७ ॥

एवं ते वर्तमानस्य लोके कीर्तिर्भविष्यति ।
धर्मार्थः सुमहांस्तात तप्तं स्याच्च तपश्चिरात् ॥ ४८ ॥

तात ! ऐसा बर्ताव करनेसे संसारमें तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी, महान् धर्म और अर्थकी सिद्धि होगी तथा दीर्घ कालतक तपस्या करनेका तुम्हें फल प्राप्त होगा ॥ ४८ ॥

पुत्रशोकं समुत्पन्नं हुताशं ज्वलितं यथा ।
प्रज्ञाम्भसा महाभाग निर्वापय सदा सदा ॥ ४९ ॥

महाभाग ! प्रज्वलित आगके समान जो तुम्हें यह पुत्र-शोक प्राप्त हुआ है, इसे विचाररूपी जलके द्वारा सदाके लिये बुझा दो ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तस्य वचनं व्यासस्यामिततेजसः ।
मुहूर्तं समनुध्यायन् धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अमिततेजस्वी व्यासजीका यह वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करते रहे; फिर इस प्रकार बोले—॥ ५० ॥

महता शोकजालेन प्रणुन्नोऽस्मि द्विजोत्तम ।
नात्मानमवबुध्यामि मुह्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ५१ ॥

'विप्रवर ! मुझे महान् शोकजालने सब ओरसे जकड़ रक्खा है । मैं अपने आपको ही नहीं समझ पा रहा हूँ । मुझे बारंबार मूर्छा आ जाती है ॥ ५१ ॥

इदं तु वचनं श्रुत्वा तव देवनियोगजम् ।
धारयिष्याम्यहं प्राणान् घटिष्ये न तु शोचितुम् ॥ ५२ ॥

'अब आपका यह वचन सुनकर कि सब कुछ देवताओंकी प्रेरणासे हुआ है, मैं अपने प्राण धारण करूँगा और यथाशक्ति इस बातके लिये भी प्रयत्न करूँगा कि मुझे शोक न हो' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
धृतराष्ट्रस्य राजेन्द्र तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! धृतराष्ट्रका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यास वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका शोकातुर हो जाना और विदुरजीका उन्हें पुनः शोकनिवारणके लिये उपदेश

जनमेजय उवाच

गते भगवति व्यासे धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
किमचेष्टत विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रर्षे ! भगवान् व्यासके चले जानेपर राजा धृतराष्ट्रने क्या किया ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ॥ २ ॥

इसी प्रकार कुरुवंशी राजा महामनस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तथा कृप आदि तीनों महारथियोंने क्या किया ? ॥ २ ॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापश्चान्योन्यकारितः ।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत संजयः ॥ ३ ॥

अश्वत्थामाका कर्म तो मैंने सुन लिया, परस्पर जो शाप दिये गये, उनका हाल भी मालूम हो गया । अब आगेका वृत्तान्त बताइये, जिसे संजयने धृतराष्ट्रको सुनाया हो ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः ।
संजयो विगतप्रज्ञो धृतराष्ट्रमुपस्थितः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! दुर्योधन तथा उसकी सारी सेनाओंके मारे जानेपर संजयकी दिव्य दृष्टि चली गयी और वह धृतराष्ट्रकी सभामें उपस्थित हुआ ॥ ४ ॥

संजय उवाच

आगम्य नानादेशेभ्यो नानाजनपदेश्वराः ।
पितृलोकं गता राजन् सर्वे तव सुतैः सह ॥ ५ ॥

संजय बोला—राजन् ! नाना जनपदोंके स्वामी विभिन्न देशोंसे आकर सब-के-सब आपके पुत्रोंके साथ पितृलोकके पथिक बन गये ॥ ५ ॥

याच्यमानेन सततं तव पुत्रेण भारत ।
घातिता पृथिवी सर्वा वैरस्यान्तं विधित्सता ॥ ६ ॥

भारत ! आपके पुत्रसे सब लोगोंने सदा शान्तिके लिये याचना की, तो भी उसने वैरका अन्त करनेकी इच्छासे सारे भूमण्डलका विनाश करा दिया ॥ ६ ॥

पुत्राणामथ पौत्राणां पितॄणां च महीपते ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां प्रेतकार्याणि कारय ॥ ७ ॥

महाराज ! अब आप क्रमशः अपने ताऊ, चाचा, पुत्र और पौत्रोंका मृतकसम्बन्धी कर्म करवाइये ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं संजयस्य महीपतिः ।
गतासुरिव निश्चेष्टो न्यपतत् पृथिवीतले ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! संजयका यह घोर वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र प्राणशून्यकी भाँति निश्चेष्ट हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८ ॥

तं शयानमुपागम्य पृथिव्यां पृथिवीपतिम् ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको पृथ्वीपर सोया देख सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी उनके पास आये और इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे मा शुचो भरतर्षभ ।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥ १० ॥

'राजन् ! उठिये, क्यों सो रहे हैं ? भरतश्रेष्ठ ! शोक न कीजिये । लोकनाथ ! समस्त प्राणियोंकी यही अन्तिम गति है ॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ११ ॥

'भरतनन्दन ! सभी प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे, बीचमें व्यक्त हुए और अन्तमें मृत्युके बाद फिर अव्यक्त ही हो जायँगे, ऐसी दशामें उनके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥ ११ ॥

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥ १२ ॥

'शोक करनेवाला मनुष्य न तो मरे हुएके साथ जाता है और न स्वयं ही मरता है। जब लोककी यही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किस लिये बारंबार शोक कर रहे हैं ?॥

अयुध्यमानो म्रियते युद्ध्यमानस्तु जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥ १३ ॥

'महाराज ! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मरता है और युद्ध करनेवाला भी जीवित बच जाता है। कालको पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधानि च।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥ १४ ॥

'काल सभी विविध प्राणियोंको खींचता है। कुरुश्रेष्ठ ! कालके लिये न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेषका पात्र ही ॥ १४ ॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वतः।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! जैसे वायु तिनकोंको सब ओर उड़ाती और गिराती रहती है, उसी प्रकार सारे प्राणी कालके अधीन होकर आते-जाते रहते हैं ॥ १५ ॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥ १६ ॥

'एक साथ आये हुए सभी प्राणियोंको एक दिन वहीं जाना है। जिसका काल आ गया, वह पहले चला जाता है; फिर उसके लिये व्यर्थ शोक क्यों ? ॥ १६ ॥

यांश्चापि निहतान् युद्धे राजंस्त्वमनुशोचसि।
न शोच्या हि महात्मानः सर्वे ते त्रिदिवं गताः ॥ १७ ॥

'राजन् ! जो लोग युद्धमें मारे गये हैं और जिनके लिये आप बारंबार शोक कर रहे हैं, वे महामनस्वी वीर शोक करनेके योग्य नहीं हैं, वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें चले गये ॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया।
तथा स्वर्गमुपायान्ति यथा शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

'अपने शरीरका त्याग करनेवाले शूरवीर जिस तरह स्वर्गमें जाते हैं, उस तरह दक्षिणावाले यज्ञों, तपस्याओं तथा विद्याने भी कोई नहीं जा सकता ॥ १८ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥ १९ ॥

'वे सभी वीर वेदवेत्ता और अच्छी तरह ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे। ये सब-के-सब शत्रुओंका सामना करते हुए मारे गये थे; अतः उनके लिये शोक करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ १९ ॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः।
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुरुत्तमपूरुषाः ॥ २० ॥

'उन श्रेष्ठ पुरुषोंने शूरवीरोंके शरीररूपी अग्नियोंमें बाणरूपी हविष्यकी आहुतियाँ दी थीं और अपने शरीरमें जिनका हवन किया गया था, उन बाणोंका आघात सहन किया था ॥ २० ॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते ॥ २१ ॥

'राजन् ! मैं तुम्हें स्वर्ग-प्राप्तिका सबसे उत्तम मार्ग बता रहा हूँ। इस जगत्‌में क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर स्वर्ग-साधक दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २१ ॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः।
आशिषं परमां प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि ॥ २२ ॥

'वे सभी महामनस्वी क्षत्रिय-वीर युद्धमें शोभा पानेवाले थे। वे उत्तम भोगोंसे सम्पन्न पुण्यलोकोंमें जा पहुँचे हैं, अतः उन सबके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमाश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कार्यमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥ २३ ॥

'पुरुषप्रवर ! आप स्वयं ही अपने मनको आश्वासन देकर शोकको त्याग दीजिये। आज शोकसे व्याकुल होकर आपको अपने कर्तव्य कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरवाक्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें विदुरजीका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

स्त्रियों और प्रजाके लोगोंके सहित राजा धृतराष्ट्रका रणभूमिमें जानेके लिये नगरसे बाहर निकलना

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तु पुरुषर्षभः।
युज्यतां यानमित्युक्त्वा पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विदुरकी यह बात सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने रथ जोतनेकी आज्ञा देकर पुनः इस प्रकार कहा ॥ १॥

धृतराष्ट्र उवाच

शीघ्रमानय गान्धारीं सर्वाश्च भरतस्त्रियः।
वधूं कुन्तीमुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—गान्धारीको तथा भरतवंशी अन्य सब स्त्रियोंको शीघ्र ले आओ तथा वधू कुन्तीको साथ लेकर वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ हों, उन्हें भी बुला लो ॥ २ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा विदुरं धर्मवित्तमम्।
शोकविप्रहतज्ञानो यानमेवान्वपद्यत ॥ ३ ॥

परम धर्मज्ञ विदुरजीसे ऐसा कहकर शोकसे जिनकी ज्ञानशक्ति नष्ट-सी हो गयी थी, वे धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्र रथपर सवार हुए ॥ ३ ॥

गान्धारी पुत्रशोकार्ता भर्तुर्वचननोदिता।
सह कुन्त्या यतो राजा सह स्त्रीभिरुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

गान्धारी पुत्रशोकसे पीड़ित हो रही थीं, पतिकी आज्ञा

पाकर वे कुन्ती तथा अन्य स्त्रियोंके साथ जहाँ राजा धृतराष्ट्र थे, वहाँ आयीं ॥ ४ ॥

ताः समासाद्य राजानं भृशं शोकसमन्विताः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमीयुः स्म भृशमुच्चुक्रुशुस्ततः ॥ ५ ॥

वहाँ राजाके पास पहुँचकर अत्यन्त शोकमें डूबी हुई वे सारी स्त्रियाँ एक दूसरीको पुकार-पुकारकर परस्पर गलेसे लग गयीं और जोर-जोरसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ५ ॥

ताः समाश्वासयत् क्षत्ता ताभ्यश्चार्ततरः स्वयम् ।
अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ पुरात् ॥ ६ ॥

विदुरजीने उन सब स्त्रियोंको आश्वासन दिया। वे स्वयं भी उनसे अधिक आर्त हो गये थे। आँसुओंसे गद्गद कण्ठ हुई उन सबको रथपर चढ़ाकर वे नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

ततः प्रणादः संजज्ञे सर्वेषु कुरुवेश्मसु ।
आकुमारं पुरं सर्वमभवच्छोककर्षितम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर कौरवोंके सभी घरोंमें बड़ा भारी आर्तनाद होने लगा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चोंतक सारा नगर शोकसे व्याकुल हो उठा ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि ।
पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः ॥ ८ ॥

जिन स्त्रियोंको पहले कभी देवताओंने भी नहीं देखा था, उन्हींको उस समय पतियोंके मारे जानेपर साधारण लोग देख रहे थे ॥ ८ ॥

प्रकीर्य केशान् सुशुभान् भूषणान्यवमुच्य च ।
एकवस्त्रधरा नार्यः परिपेतुरनाथवत् ॥ ९ ॥

वे नारियाँ अपने सुन्दर केश बिखराये सारे आभूषण उतारकर एक ही वस्त्र धारण किये अनाथकी भाँति रणभूमिकी ओर जा रही थीं ॥ ९ ॥

श्वेतपर्वतरूपेभ्यो गृहेभ्यस्तास्त्वपाक्रमन् ।
गुहाभ्य इव शैलानां पृषत्यो हतयूथपाः ॥ १० ॥

कौरवोंके घर श्वेत पर्वतके समान जान पड़ते थे। उनसे जब वे स्त्रियाँ बाहर निकलीं, उस समय जिनका यूथपति मारा गया हो, पर्वतोंकी गुफासे निकली हुई उन चितकबरी हरिणियोंके समान दिखायी देने लगीं ॥ १० ॥

तान्युदीर्णानि नारीणां तदा वृन्दान्यनेकशः ।
शोकार्तान्यद्रवन् राजन् किशोरीणामिवाङ्गने ॥ ११ ॥

राजन्! राजभवनके विशाल आँगनमें एकत्र हुई उन किशोरी स्त्रियोंके अनेक समुदाय शोकसे पीड़ित होकर रणभूमिकी ओर उसी प्रकार चले, जैसे बछेड़ियाँ शिक्षाभूमिपर लायी जाती हैं ॥

प्रगृह्य बाहून् क्रोशन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि ।
दर्शयन्तीव ता ह स्म युगान्ते लोकसंक्षयम् ॥ १२ ॥

एक दूसरीके हाथ पकड़कर पुत्रों, भाइयों और पिताओंके नाम ले-लेकर रोती हुई वे कुरुकुलकी नारियाँ प्रलयकालमें लोक-संहारका दृश्य दिखाती हुई-सी जान पड़ती थीं ॥ १२ ॥

विलपन्त्यो रुदत्यश्च धावमानास्ततस्ततः ।
शोकेनोपहतज्ञानाः कर्तव्यं न प्रजज्ञिरे ॥ १३ ॥

शोकसे उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त-सी हो गयी थी। वे रोती और विलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ रही थीं। उन्हें कोई कर्तव्य नहीं सूझ रहा था ॥ १३ ॥

व्रीडां जग्मुः पुरा याः स्म सखीनामपि योषितः ।
ता एकवस्त्रा निर्लज्जाः श्वश्रूणां पुरतोऽभवन् ॥ १४ ॥

जो युवतियाँ पहले सखियोंके सामने आनेमें भी लजाती थीं, वे ही उस दिन लाज छोड़कर एक वस्त्र धारण किये अपनी सासुओंके सामने उपस्थित हो गयी थीं ॥ १४ ॥

परस्परं सुसूक्ष्मेषु शोकेष्वाश्वासयंस्तदा ।
ताः शोकविह्वला राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ १५ ॥

राजन्! जो नारियाँ छोटे-से-छोटे शोकमें भी एक दूसरीके पास जाकर आश्वासन दिया करती थीं, वे ही शोकसे व्याकुल हो परस्पर दृष्टिपात मात्र कर रही थीं ॥ १५ ॥

ताभिः परिवृतो राजा रुदतीभिः सहस्रशः ।
निर्ययौ नगराद् दीनस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ १६ ॥

उन रोती हुई सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुखी राजा धृतराष्ट्र नगरसे युद्धस्थलमें जानेके लिये तुरंत निकल पड़े ॥

शिल्पिनो वणिजो वैश्याः सर्वकर्मोपजीविनः ।
ते पार्थिवं पुरस्कृत्य निर्ययुर्नगराद् बहिः ॥ १७ ॥

कारीगर, व्यापारी वैश्य तथा सब प्रकारके कर्मोंसे जीवन-निर्वाह करनेवाले लोग राजाको आगे करके नगरसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

तासां विक्रोशमानानामार्तानां कुरुसंक्षये ।
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दो व्यथयन् भुवनान्युत ॥ १८ ॥

कौरवोंका संहार हो जानेपर आर्तभावसे रोती और विलपती हुई उन नारियोंका महान् आर्तनाद सम्पूर्ण लोकोंको व्यथित करता हुआ प्रकट होने लगा ॥ १८ ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते भूतानां दह्यतामिव ।
अभावः स्यादयं प्राप्त इति भूतानि मेनिरे ॥ १९ ॥

प्रलयकाल आनेपर दग्ध होते हुए प्राणियोंके चीखने-चिल्लानेके समान उन स्त्रियोंके रोनेका वह महान् शब्द गूँज रहा था। सब प्राणी ऐसा समझने लगे कि यह संहारकाल आ पहुँचा है ॥ १९ ॥

भृशमुद्विग्नमनसस्ते पौराः कुरुसंक्षये ।
प्राक्रोशन्त महाराज स्वनुरक्तास्तदा भृशम् ॥ २० ॥

महाराज! कुरुकुलका संहार हो जानेसे अत्यन्त उद्विग्न-चित्त हुए पुरवासी जो राजवंशके साथ पूर्ण अनुराग रखते थे, जोर-जोरसे रोने लगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्गमने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रका नगरसे निकलनाविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रसे कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माकी भेंट और कृपाचार्यका कौरव-पाण्डवोंकी सेनाके विनाशकी सूचना देना

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं ततो गत्वा ददृशुस्तान् महारथान्।
शारद्वतं कृपं द्रौणिं कृतवर्माणमेव च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे सब लोग हस्तिनापुरसे एक ही कोसकी दूरीपर पहुँचे होंगे कि उन्हें शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, द्रोणकुमार अश्वत्थामा और कृतवर्मा—ये तीनों महारथी दिखायी दिये ॥ १ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
अश्रुकण्ठा विनिःश्वस्य रुदन्तमिदमब्रुवन् ॥ २ ॥

रोते हुए ऐश्वर्यशाली प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रको देखते ही आँसुओंसे उनका गला भर आया और वे इस प्रकार बोले—॥

पुत्रस्तव महाराज कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः सानुचरो राजञ्शक्रलोकं महीपते ॥ ३ ॥

'पृथ्वीनाथ महाराज! आपका पुत्र अत्यन्त दुष्कर कर्म करके अपने सेवकोंसहित इन्द्रलोकमें जा पहुँचा है ॥ ३ ॥

दुर्योधनबलान्मुक्ता वयमेव त्रयो रथाः।
सर्वमन्यत् परिक्षीणं सैन्यं ते भरतर्षभ ॥ ४ ॥

'भरतश्रेष्ठ! दुर्योधनकी सेनासे केवल हम तीन रथी ही जीवित बचे हैं। आपकी अन्य सारी सेना नष्ट हो गयी' ॥४॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृपः शारद्वतस्ततः।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य पुत्रशोकसे पीड़ित हुई गान्धारीसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

अभीता युद्ध्यमानास्ते घ्नन्तः शत्रुगणान् बहून्।
वीरकर्माणि कुर्वाणाः पुत्रास्ते निधनं गताः ॥ ६ ॥

'देवि! आपके सभी पुत्र निर्भय होकर जूझते और बहुसंख्यक शत्रुओंका संहार करते हुए वीरोचित कर्म करके वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ६ ॥

ध्रुवं सम्प्राप्य लोकांस्ते निर्मलाञ्शस्त्रनिर्जितान्।
भास्वरं देहमास्थाय विहरन्त्यमरा इव ॥ ७ ॥

'निश्चय ही वे शस्त्रोंद्वारा जीते हुए निर्मल लोकोंमें पहुँचकर तेजस्वी शरीर धारण करके वहाँ देवताओंके समान विहार करते होंगे ॥ ७ ॥

न हि कश्चिद्धि शूराणां युद्ध्यमानः पराङ्मुखः।
शस्त्रेण निधनं प्राप्तो न च कश्चित् कृताञ्जलिः॥ ८ ॥

'उन शूरवीरोंमेंसे कोई भी युद्ध करते समय पीठ नहीं दिखा सका है। किसीने भी शत्रुके सामने हाथ नहीं जोड़े हैं। सभी शस्त्रके द्वारा मारे गये हैं ॥ ८ ॥

एवं तां क्षत्रियस्याहुः पुराणाः परमां गतिम्।
शस्त्रेण निधनं संख्ये तन्न शोचितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'इस प्रकार युद्धमें जो शस्त्रद्वारा मृत्यु होती है, उसे प्राचीन महर्षि क्षत्रियके लिये उत्तम गति बताते हैं; अतः उनके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

न चापि शत्रवस्तेषामृद्ध्यन्ते राज्ञि पाण्डवाः।
शृणु यत् कृतमस्माभिरश्वत्थामपुरोगमैः ॥ १० ॥

'महारानी! उनके शत्रु पाण्डव भी विशेष लाभमें नहीं हैं। अश्वत्थामाको आगे करके हमने जो कुछ किया है, उसे सुनिये ॥ १० ॥

अधर्मेण हतं श्रुत्वा भीमसेनेन ते सुतम्।
सुप्तं शिबिरमासाद्य पाण्डूनां कदनं कृतम् ॥ ११ ॥

'भीमसेनने आपके पुत्रको अधर्मसे मारा है, यह सुनकर हमलोग भी पाण्डवोंके सोते हुए शिविरमें जा पहुँचे और पाण्डववीरोंका संहार कर डाला ॥ ११ ॥

पञ्चाला निहताः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रौपदेयाश्च पातिताः ॥ १२ ॥

'द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न आदि सारे पाञ्चाल मार डाले गये और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भी हमने मार गिराया ॥ १२ ॥

तथा विशसनं कृत्वा पुत्रशत्रुगणस्य ते।
प्राद्रवाम रणे स्थातुं न हि शक्यामहे त्रयः ॥ १३ ॥

'इस प्रकार आपके पुत्रके शत्रुओंका रणभूमिमें संहार करके हम तीनों भागे जा रहे हैं। अब यहाँ ठहर नहीं सकते ॥

ते हि शूरा महेष्वासाः क्षिप्रमेष्यन्ति पाण्डवाः।
अमर्षवशमापन्ना वैरं प्रतिजिहीर्षवः ॥ १४ ॥

'क्योंकि अमर्षमें भरे हुए वे महाधनुर्धर वीर पाण्डव वैरका बदला लेनेकी इच्छासे शीघ्र यहाँ आयेंगे ॥ १४ ॥

ते हतानात्मजाञ्श्रुत्वा प्रमत्ताः पुरुषर्षभाः।
निरीक्षन्तः पदं शूराः क्षिप्रमेव यशस्विनि ॥ १५ ॥

'यशस्विनि! अपने पुत्रोंके मारे जानेका समाचार सुनकर सदा सावधान रहनेवाले पुरुषप्रवर पाण्डव हमारा चरणचिह्न देखते हुए शीघ्र ही हमलोगोंका पीछा करेंगे ॥ १५ ॥

तेषां तु कदनं कृत्वा संस्थातुं नोत्सहामहे।
अनुजानीहि नो राज्ञि मा च शोके मनः कृथाः ॥ १६ ॥

'रानीजी! उनके पुत्रों और सम्बन्धियोंका विनाश करके हम यहाँ ठहर नहीं सकते; अतः हमें जानेकी आज्ञा दीजिये और आप भी अपने मनसे शोकको निकाल दीजिये ॥ १६ ॥

राजंस्त्वमनुजानीहि धैर्यमातिष्ठ चोत्तमम्।
दिष्टान्तं पश्य चापि त्वं क्षात्रं धर्मं च केवलम् ॥ १७ ॥

(फिर वे धृतराष्ट्रसे बोले—) 'राजन्! आप भी हमें जानेकी आज्ञा प्रदान करें और महान् धैर्यका आश्रय लें, केवल क्षात्रधर्मपर दृष्टि रखकर इतना ही देखें कि उनकी मृत्यु कैसे हुई है?' ॥ १७ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च भारत ॥ १८ ॥
अवेक्षमाणा राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।

गङ्गामनु महाराज तूर्णमश्वानचोदयन् ॥ १९ ॥

भारत ! राजासे ऐसा कहकर उनकी प्रदक्षिणा करके कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामाने मनीषी राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखते हुए तुरंत ही गङ्गातटकी ओर अपने घोड़े हाँक दिये ॥ १८-१९ ॥

अपक्रम्य तु ते राजन् सर्व एव महारथाः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमुद्विग्नास्त्रिधा ते प्रययुस्तदा ॥ २० ॥

राजन् ! वहाँसे हटकर वे सभी महारथी उद्विग्न हो एक दूसरेसे विदा ले तीन मार्गोंपर चल दिये ॥ २० ॥

जगाम हास्तिनपुरं कृपः शारद्वतस्तदा ।
स्वमेव राष्ट्रं हार्दिक्यो द्रौणिर्व्यासाश्रमं ययौ ॥ २१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य तो हस्तिनापुर चले गये, कृतवर्मा अपने ही देशकी ओर चल दिया और द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने व्यास-आश्रमकी राह ली ॥ २१ ॥

एवं ते प्रययुर्वीरा वीक्षमाणाः परस्परम् ।
भयार्ताः पाण्डुपुत्राणामागस्कृत्वा महात्मनाम् ॥ २२ ॥

महात्मा पाण्डवोंका अपराध करके भयसे पीडित हुए वे तीनों वीर इस प्रकार एक दूसरेकी ओर देखते हुए वहाँसे खिसक गये ॥ २२ ॥

समेत्य वीरा राजानं तदा त्वनुदिते रवौ ।
विप्रजग्मुर्महात्मानो यथेच्छकमरिंदमाः ॥ २३ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों महामनस्वी वीर सूर्योदयसे पहले ही अपने अभीष्ट स्थानोंकी ओर चल पड़े ॥ २३ ॥

समासाद्याथ वै द्रौणिं पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
व्यजयंस्ते रणे राजन् विक्रम्य तदनन्तरम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर महारथी पाण्डवोंने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके पास पहुँचकर उसे बलपूर्वक युद्धमें पराजित किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि कृपद्रौणिभोजदर्शने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माका दर्शनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

पाण्डवोंका धृतराष्ट्रसे मिलना, धृतराष्ट्रके द्वारा भीमकी लोहमयी प्रतिमाका भङ्ग होना और शोक करनेपर श्रीकृष्णका उन्हें समझाना

वैशम्पायन उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्रुवे पितरं वृद्धं निर्यान्तं गजसाह्वयात् ॥ १ ॥
सोऽभ्ययात् पुत्रशोकार्तः पुत्रशोकपरिप्लुतम् ।
शोचमानं महाराज भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! समस्त सेनाओंका संहार हो जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने जब सुना कि हमारे बूढ़े ताऊ संग्राममें मरे हुए वीरोंका अन्त्येष्टिकर्म करानेके लिये हस्तिनापुरसे चल दिये हैं, तब वे स्वयं पुत्रशोकसे आतुर हो पुत्रोंके ही शोकमें डूबकर चिन्तामग्न हुए राजा धृतराष्ट्रके पास अपने सब भाइयोंके साथ गये ॥ १-२ ॥

अन्वीयमानो वीरेण दाशार्हेण महात्मना ।
युयुधानेन च तथा तथैव च युयुत्सुना ॥ ३ ॥

उस समय दशार्हकुलनन्दन वीर महात्मा श्रीकृष्ण, सात्यकि और युयुत्सु भी उनके पीछे-पीछे गये ॥ ३ ॥

तमन्वगात् सुदुःखार्ता द्रौपदी शोककर्शिता ।
सह पाञ्चालयोषिद्भिर्यास्तत्रासन् समागताः ॥ ४ ॥

अत्यन्त दुःखसे आतुर और शोकसे दुबली हुई द्रौपदीने भी वहाँ आयी हुई पाञ्चाल-महिलाओंके साथ उनका अनुसरण किया ॥ ४ ॥

स गङ्गामनु वृन्दानि स्त्रीणां भरतसत्तम ।
कुररीणामिवार्तानां क्रोशन्तीनां ददर्श ह ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गङ्गातटपर पहुँचकर युधिष्ठिरने कुररीकी तरह आर्तस्वरसे विलाप करती हुई स्त्रियोंके कई दल देखे ॥ ५ ॥

ताभिः परिवृतो राजा क्रोशन्तीभिः सहस्रशः ।
ऊर्ध्वबाहुभिरार्ताभी रुदतीभिः प्रियाप्रियैः ॥ ६ ॥

वहाँ पाण्डवोंके प्रिय और अप्रिय जनोंके लिये हाथ उठाकर आर्तस्वरसे रोती और करुण क्रन्दन करती हुई सहस्रों महिलाओंने राजा युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ६ ॥

क्व नु धर्मज्ञता राज्ञः क्व नु साद्यानृशंसता ।
यच्चावधीत् पितॄन् भ्रातॄन् गुरुपुत्रान् सखीनपि ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'अहो ! राजाकी वह धर्मज्ञता और दयालुता कहाँ चली गयी कि इन्होंने ताऊ, चाचा, भाई, गुरुपुत्रों और मित्रोंका भी वध कर डाला ॥ ७ ॥

घातयित्वा कथं द्रोणं भीष्मं चापि पितामहम् ।
मनस्तेऽभून्महाबाहो हत्वा चापि जयद्रथम् ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म और जयद्रथका भी वध करके आपके मनकी कैसी अवस्था हुई ? ॥ ८ ॥

किं नु राज्येन ते कार्यं पितॄन् भ्रातॄनपश्यतः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रौपदेयांश्च भारत ॥ ९ ॥

'भरतवंशी नरेश ! अपने ताऊ, चाचा और भाइयोंको, दुर्जय वीर अभिमन्युको तथा द्रौपदीके सभी पुत्रोंको न देखनेपर इस राज्यसे आपका क्या प्रयोजन है ?' ॥ ९ ॥

अतीत्य ता महाबाहुः क्रोशन्तीः कुररीरिव ।
ववन्दे पितरं ज्येष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

धर्मराज महाबाहु युधिष्ठिरने कुररीकी भाँति क्रन्दन करती हुई उन स्त्रियोंके घेरेको लाँघकर अपने ताऊ धृतराष्ट्रको प्रणाम किया ॥ १० ॥

ततोऽभिवाद्य पितरं धर्मेणामित्रकर्षणाः ।
न्यवेदयन्त नामानि पाण्डवास्तेऽपि सर्वशः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् सभी शत्रुसूदन पाण्डवोंने धर्मानुसार ताऊको प्रणाम करके अपने नाम बताये ॥ ११ ॥

तमात्मजान्तकरणं पिता पुत्रवधार्दितः ।
अप्रीयमाणः शोकार्तः पाण्डवं परिषस्वजे ॥ १२ ॥

पुत्रवधसे पीड़ित हुए पिताने शोकसे व्याकुल हो अपने पुत्रोंका अन्त करनेवाले पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया; परंतु उस समय उनका मन प्रसन्न नहीं था ॥ १२ ॥

धर्मराजं परिष्वज्य सान्त्वयित्वा च भारत ।
दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद् दिधक्षुरिव पावकः ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराजको हृदयसे लगाकर उन्हें सान्त्वना दे धृतराष्ट्र भीमको इस प्रकार खोजने लगे, मानो आग बनकर उन्हें जला डालना चाहते हों । उस समय उनके मनमें दुर्भावना जाग उठी थी ॥ १३ ॥

स कोपपावकस्तस्य शोकवायुसमीरितः ।
भीमसेनमयं दावं दिधक्षुरिव दृश्यते ॥ १४ ॥

शोकरूपी वायुसे बढ़ी हुई उनकी क्रोधमयी अग्नि ऐसी दिखायी दे रही थी, मानो वह भीमसेनरूपी वनको जलाकर भस्म कर देना चाहती हो ॥ १४ ॥

तस्य संकल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः ।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम् ॥ १५ ॥

भीमसेनके प्रति उनके अशुभ संकल्पको जानकर श्रीकृष्णने भीमसेनको झटका देकर हटा दिया और दोनों हाथोंसे उनकी लोहमयी मूर्ति धृतराष्ट्रके सामने कर दी ॥ १५ ॥

प्रागेव तु महाबुद्धिर्बुद्ध्वा तस्येङ्गितं हरिः ।
संविधानं महाप्राज्ञस्तत्र चक्रे जनार्दनः ॥ १६ ॥

महाज्ञानी और परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णको पहलेसे ही उनका अभिप्राय ज्ञात हो गया था, इसलिये उन्होंने वहाँ यह व्यवस्था कर ली थी ॥ १६ ॥

तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां भीमसेनमयस्मयम् ।
बभञ्ज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरम् ॥ १७ ॥

बलवान् राजा धृतराष्ट्रने उस लोहमय भीमसेनको ही असली भीम समझा और उसे दोनों बाँहोंसे दबाकर तोड़ डाला ॥ १७ ॥

नागायुतबलप्राणः स राजा भीममायसम् ।
भङ्क्त्वा विमथितोरस्कः सुस्राव रुधिरं मुखात् ॥ १८ ॥

राजा धृतराष्ट्रमें दस हजार हाथियोंका बल था तो भी भीमकी लोहमयी प्रतिमाको तोड़कर उनकी छाती व्यथित हो गयी और मुँहसे खून निकलने लगा ॥ १८ ॥

ततः पपात मेदिन्यां तथैव रुधिरोक्षितः ।
प्रपुष्पिताग्रशिखरः पारिजात इव द्रुमः ॥ १९ ॥

वे उसी अवस्थामें खूनसे भीगकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो ऊपरकी डालीपर खिले हुए लाल फूलोंसे सुशोभित पारिजातका वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ १९ ॥

प्रत्यगृह्णाच्च तं विद्वान् सूतो गावल्गणिस्तदा ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं शमयन् सान्त्वयन्निव ॥ २० ॥

उस समय उनके विद्वान् सारथि गवल्गणपुत्र संजयने उन्हें पकड़कर उठाया और समझा-बुझाकर शान्त करते हुए कहा—'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये' ॥ २० ॥

स तु कोपं समुत्सृज्य गतमन्युर्महामनाः ।
हा हा भीमेति चुक्रोश नृपः शोकसमन्वितः ॥ २१ ॥

जब रोषका आवेश दूर हो गया, तब वे महामना नरेश क्रोध छोड़कर शोकमें डूब गये और 'हा भीम ! हा भीम !' कहते हुए विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तं विदित्वा गतक्रोधं भीमसेनवधार्दितम् ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उन्हें भीमसेनके वधकी आशङ्कासे पीड़ित और क्रोधशून्य हुआ जान पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—॥

मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः ।
आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिता विभो ॥ २३ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र ! आप शोक न करें । ये भीम आपके हाथसे नहीं मारे गये हैं । प्रभो ! यह तो लोहेकी एक प्रतिमा थी, जिसे आपने चूर-चूर कर डाला ॥ २३ ॥

त्वां क्रोधवशमापन्नं विदित्वा भरतर्षभ ।
मयापकृष्टः कौन्तेयो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतः ॥ २४ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! आपको क्रोधके वशीभूत हुआ जान मैंने मृत्युकी दाढ़ोंमें फँसे हुए कुन्तीकुमार भीमसेनको पीछे खींच लिया था ॥ २४ ॥

न हि ते राजशार्दूल बले तुल्योऽस्ति कश्चन ।
कः सहेत महाबाहो बाह्वोर्विग्रहणं नरः ॥ २५ ॥

'राजसिंह ! बलमें आपकी समानता करनेवाला कोई नहीं है । महाबाहो ! आपकी दोनों भुजाओंकी पकड़ कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥ २५ ॥

यथान्तकमनुप्राप्य जीवन् कश्चिन्न मुच्यते ।
एवं बाह्वन्तरं प्राप्य तव जीवेन्न कश्चन ॥ २६ ॥

'जैसे यमराजके पास पहुँचकर कोई भी जीवित नहीं छूट सकता, उसी प्रकार आपकी भुजाओंके बीचमें पड़ जानेपर किसीके प्राण नहीं बच सकते ॥ २६ ॥

तस्मात् पुत्रेण या तेऽसौ प्रतिमा कारिताऽऽयसी ।
भीमस्य सेयं कौरव्य तवैवोपहृता मया ॥ २७ ॥

'कुरुनन्दन ! इसलिये आपके पुत्रने जो भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमा बनवा रक्खी थी, वही मैंने आपको भेंट कर दी ॥ २७ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं धर्मादपकृतं मनः ।
तव राजेन्द्र तेन त्वं भीमसेनं जिघांससि ॥ २८ ॥

'राजेन्द्र ! आपका मन पुत्रशोकसे संतप्त हो धर्मसे विचलित हो गया है; इसीलिये आप भीमसेनको मार डालना चाहते हैं ॥ २८ ॥

न त्वेतत् ते क्षमं राजन् हन्यास्त्वं यद् वृकोदरम् ।

न हि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथंचन ॥ २९ ॥

'राजन् ! आपके लिये यह कदापि उचित न होगा कि आप भीमका वध करें । महाराज ! (भीमसेन न मारते तो भी) आपके पुत्र किसी तरह जीवित नहीं रह सकते थे (क्योंकि उनकी आयु पूरी हो चुकी थी) ॥ २९ ॥

तस्माद् यत् कृतमस्माभिर्मन्यमानैः शमं प्रति ।
अनुमन्यस्व तत् सर्वं मा च शोके मनः कृथाः ॥ ३० ॥

'अतः हमलोगोंने सर्वत्र शान्ति स्थापित करनेके उद्देश्यसे जो कुछ किया है, उन सब बातोंका आप भी अनुमोदन करें । मनको व्यर्थ शोकमें न डालें' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि आयसभीमभङ्गे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमाका भंग होनाविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रको फटकारकर उनका क्रोध शान्त करना और धृतराष्ट्रका पाण्डवोंको हृदयसे लगाना

वैशम्पायन उवाच

तत एनमुपातिष्ठञ्शौचार्थं परिचारकाः ।
कृतशौचं पुनश्चैनं प्रोवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सेवकगण शौच-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करानेके लिये राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुए । जब वे शौचकृत्य पूर्ण कर चुके, तब भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे कहा— ॥ १ ॥

राजन्नधीता वेदास्ते शास्त्राणि विविधानि च ।
श्रुतानि च पुराणानि राजधर्माश्च केवलाः ॥ २ ॥

'राजन् ! आपने वेदों और नाना प्रकारके शास्त्रोंका अध्ययन किया है । सभी पुराणों और केवल राजधर्मोंका भी श्रवण किया है ॥ २ ॥

एवं विद्वान् महाप्राज्ञः समर्थः सन् बलाबले ।
आत्मापराधात् कस्मात् त्वं कुरुषे कोपमीदृशम् ॥ ३ ॥

'ऐसे विद्वान्, परम बुद्धिमान् और बलाबलका निर्णय करनेमें समर्थ होकर भी अपने ही अपराधसे होनेवाले इस विनाशको देखकर आप ऐसा क्रोध क्यों कर रहे हैं ? ॥ ३ ॥

उक्तवांस्त्वां तदैवाहं भीष्मद्रोणौ च भारत ।
विदुरः संजयश्चैव वाक्यं राजन् न तत् कृथाः ॥ ४ ॥

'भरतनन्दन ! मैंने तो उसी समय आपसे यह बात कह दी थी, भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और संजयने भी आपको समझाया था । राजन् ! परंतु आपने किसीकी बात नहीं मानी ॥

स वार्यमाणो नास्माकमकार्षीर्वचनं तदा ।
पाण्डवानधिकाञ्जानन् बले शौर्ये च कौरव ॥ ५ ॥

'कुरुनन्दन ! हमलोगोंने आपको बहुत रोका; परंतु आपने बल और शौर्यमें पाण्डवोंको बढ़ा-चढ़ा जानकर भी हमारा कहना नहीं माना ॥ ५ ॥

राजा हि यः स्थिरप्रज्ञः स्वयं दोषानवेक्षते ।
देशकालविभागं च परं श्रेयः स विन्दति ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा जो राजा स्वयं दोषोंको देखता और देश-कालके विभागको समझता है, वह परम कल्याणका भागी होता है ॥ ६ ॥

उच्यमानस्तु यः श्रेयो गृह्णीते नो हिताहिते ।
आपदः समनुप्राप्य स शोचत्यनये स्थितः ॥ ७ ॥

'जो हितकी बात बतानेपर भी हिताहितकी बातको नहीं समझ पाता, वह अन्यायका आश्रय ले बड़ी भारी विपत्तिमें पड़कर शोक करता है ॥ ७ ॥

ततोऽन्यवृत्तमात्मानं समवेक्षस्व भारत ।
राजंस्त्वं ह्यविधेयात्मा दुर्योधनवशे स्थितः ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन ! आप अपनी ओर तो देखिये । आपका बर्ताव सदा ही न्यायके विपरीत रहा है । राजन् ! आप अपने मनको वशमें न करके सदा दुर्योधनके अधीन रहे हैं ॥

आत्मापराधादापन्नस्तत् किं भीमं जिघांससि ।
तस्मात् संयच्छ कोपं त्वं स्वमनुस्मर दुष्कृतम् ॥ ९ ॥

'अपने ही अपराधसे विपत्तिमें पड़कर आप भीमसेनको क्यों मार डालना चाहते हैं ? इसलिये क्रोधको रोकिये और अपने दुष्कर्मोंको याद कीजिये ॥ ९ ॥

यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः पाञ्चालीमानयत् सभाम् ।
स हतो भीमसेनेन वैरं प्रतिजिहीर्षता ॥ १० ॥

'जिस नीच दुर्योधनने मनमें जलन रखनेके कारण पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको भरी सभामें बुलाकर अपमानित किया, उसे वैरका बदला लेनेकी इच्छासे भीमसेनने मार डाला ॥१०॥

आत्मनोऽतिक्रमं पश्य पुत्रस्य च दुरात्मनः ।
यदनागसि पाण्डूनां परित्यागस्त्वया कृतः ॥ ११ ॥

'आप अपने और दुरात्मा पुत्र दुर्योधनके उस अत्याचारपर तो दृष्टि डालिये, जब कि बिना किसी अपराधके ही आपने पाण्डवोंका परित्याग कर दिया था' ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन सर्वं सत्यं जनाधिप ।
उवाच देवकीपुत्रं धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— नरेश्वर ! जब इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सब सच्ची-सच्ची बातें कह डालीं, तब पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने देवकीनन्दन श्रीकृष्णसे कहा— ॥ १२ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव ।
पुत्रस्नेहस्तु बलवान् धैर्यान्मां समचालयत् ॥ १३ ॥

'महाबाहु ! माधव ! आप जैसा कह रहे हैं, ठीक ऐसी ही बात है; परंतु पुत्रका स्नेह प्रबल होता है, जिसने मुझे धैर्यसे विचलित कर दिया था ॥ १३ ॥

दिष्ट्या तु पुरुषव्याघ्रो बलवान् सत्यविक्रमः ।
त्वद्गुप्तो नागमत् कृष्ण भीमो बाह्वन्तरं मम ॥ १४ ॥

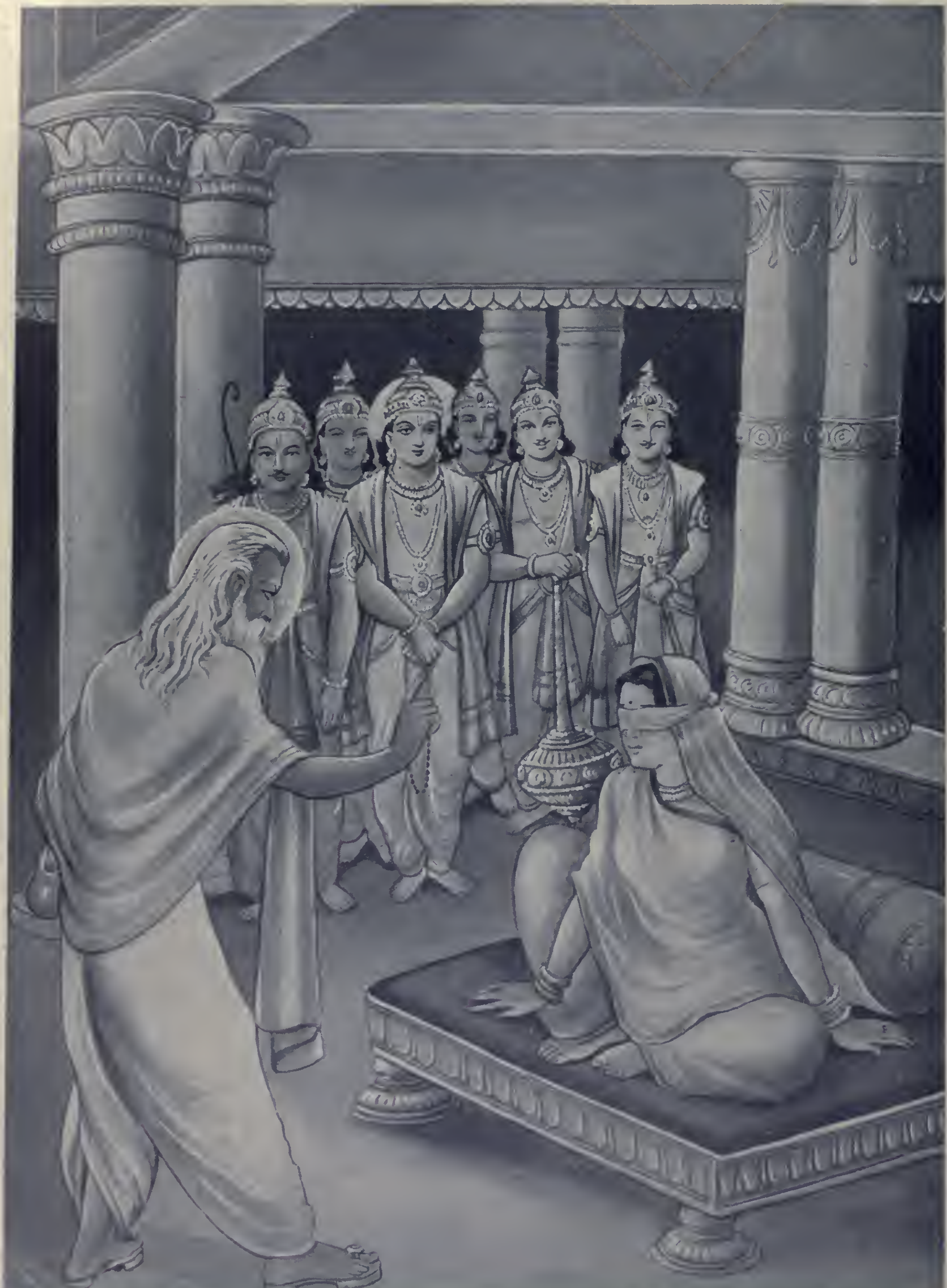

व्यासजी गान्धारीको समझा रहे हैं

'श्रीकृष्ण ! सौभाग्यकी बात है कि आपसे सुरक्षित होकर बलवान् सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह भीमसेन मेरी दोनों भुजाओं-के बीचमें नहीं आये॥ १४ ॥

इदानीं त्वहमव्यग्रो गतमन्युर्गतज्वरः ।
मध्यमं पाण्डवं वीरं द्रष्टुमिच्छामि माधव ॥ १५ ॥

'माधव ! अब इस समय मैं शान्त हूँ । मेरा क्रोध उतर गया है और चिन्ता भी दूर हो गयी है; अतः मैं मध्यम पाण्डव वीर अर्जुनको देखना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

हतेषु पार्थिवेन्द्रेषु पुत्रेषु निहतेषु च ।
पाण्डुपुत्रेषु वै शर्म प्रीतिश्चाप्यवतिष्ठते ॥ १६ ॥

'समस्त राजाओं तथा अपने पुत्रोंके मारे जानेपर अब मेरा प्रेम और हितचिन्तन पाण्डुके इन पुत्रोंपर ही आश्रित है'॥

ततः स भीमं च धनंजयं च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
पस्पर्श गात्रैः प्ररुदन् सुगात्रा-
नाश्वास्य कल्याणमुवाच चैतान्॥ १७ ॥

तदनन्तर रोते हुए धृतराष्ट्रने सुन्दर शरीरवाले भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीके दोनों पुत्र नरवीर नकुल-सहदेवको अपने अङ्गोंसे लगाया और उन्हें सान्त्वना देकर कहा—'तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रकोपविमोचने पाण्डवपरिष्वङ्गो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें 'धृतराष्ट्रका क्रोध छोड़कर पाण्डवोंको हृदयसे लगाना' नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

पाण्डवोंको शाप देनेके लिये उद्यत हुई गान्धारीको व्यासजीका समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातास्ततस्ते कुरुपाण्डवाः ।
अभ्ययुर्भ्रातरः सर्वे गान्धारीं सह केशवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर वे कुरुवंशी पाण्डव सभी भाई भगवान् श्रीकृष्णके साथ गान्धारीके पास गये ॥ १ ॥

ततो ज्ञात्वा हतामित्रं युधिष्ठिरमुपागतम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता शप्तुमैच्छदनिन्दिता ॥ २ ॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुई गान्धारीको जब यह मालूम हुआ कि युधिष्ठिर अपने शत्रुओंका संहार करके मेरे पास आये हैं, तब उन सती-साध्वी देवीने उन्हें शाप देनेकी इच्छा की ॥२॥

तस्याः पापमभिप्रायं विदित्वा पाण्डवान् प्रति ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रः प्रागेव समबुध्यत ॥ ३ ॥
स गङ्गायामुपस्पृश्य पुण्यगन्धि पयः शुचि ।
तं देशमुपसम्पेदे परमर्षिर्मनोजवः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंके प्रति गान्धारीके मनमें पापपूर्ण संकल्प है, इस बातको सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यास पहले ही जान गये थे । उनके उस अभिप्रायको जानकर वे मनके समान वेगशाली महर्षि गङ्गाजीके पवित्र एवं सुगन्धित जलसे आचमन करके शीघ्र ही उस स्थानपर आ पहुँचे ॥ ३-४ ॥

दिव्येन चक्षुषा पश्यन् मनसा तद्गतेन च ।
सर्वप्राणभृतां भावं स तत्र समबुध्यत ॥ ५ ॥

वे दिव्य दृष्टिसे तथा अपने मनको समस्त प्राणियोंके साथ एकाग्र करके उनके आन्तरिक भावको समझ लेते थे ॥ ५ ॥

स स्नुषामब्रवीत् काले कल्यवादी महातपाः ।
शापकालमवाक्षिप्य शमकालमुदीरयन् ॥ ६ ॥

अतः हितकी बात बतानेवाले वे महातपस्वी व्यास समयपर अपनी पुत्रवधूके पास जा पहुँचे और शापका अवसर हटाकर शान्तिका अवसर उपस्थित करते हुए इस प्रकार बोले—॥ ६ ॥

न कोपः पाण्डवे कार्यो गान्धारि शममाप्नुहि ।
वचो निगृह्यतामेतच्छृणु चेदं वचो मम ॥ ७ ॥

'गान्धारराजकुमारी ! शान्त हो जाओ । तुम्हें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरपर क्रोध नहीं करना चाहिये । अभी-अभी जो बात मुँहसे निकालना चाहती हो, उसे रोक लो और मेरी यह बात सुनो ॥ ७ ॥

उक्तास्यष्टादशाहानि पुत्रेण जयमिच्छता ।
शिवमाशास्व मे मातर्युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ८ ॥

'गत अठारह दिनोंमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाला तुम्हारा पुत्र प्रतिदिन तुमसे जाकर कहता था कि 'माँ ! मैं शत्रुओंके साथ युद्ध करने जा रहा हूँ । तुम मेरे कल्याणके लिये आशीर्वाद दो' ॥ ८ ॥

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा ।
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

'इस प्रकार जब विजयाभिलाषी दुर्योधन समय-समयपर तुमसे प्रार्थना करता था, तब तुम सदा यही उत्तर देती थीं कि 'जहाँ धर्म है, वहीं विजय है' ॥ ९ ॥

न चाप्यतीतां गान्धारि वाचं ते वितथामहम् ।
स्मरामि भाषमाणायास्तथा प्रणिहिता ह्यसि ॥ १० ॥

'गान्धारी ! तुमने बातचीतके प्रसङ्गमें भी पहले कभी झूठ कहा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है तथा तुम सदा प्राणियोंके हितमें तत्पर रहती आयी हो ॥ १० ॥

विग्रहे तुमुले राज्ञां गत्वा पारमसंशयम् ।
जितं पाण्डुसुतैर्युद्धे नूनं धर्मस्ततोऽधिकः ॥ ११ ॥

'राजाओंके इस घोर संग्रामसे पार होकर पाण्डवोंने जो युद्धमें विजय पायी है, इससे निःसंदेह यह बात सिद्ध हो गयी कि 'धर्मका बल सबसे अधिक है' ॥ ११ ॥

क्षमाशीला पुरा भूत्वा साद्य न क्षमसे कथम्।
अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञे ! तुम तो पहले बड़ी क्षमाशील थी। अब क्यों नहीं क्षमा करती हो ? अधर्म छोड़ो, क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ १२ ॥

स्वं च धर्मं परिस्मृत्य वाचं चोक्तां मनस्विनि।
कोपं संयच्छ गान्धारि मैवं भूः सत्यवादिनि ॥ १३ ॥

'मनस्विनी गान्धारी ! अपने धर्म तथा कही हुई बातका स्मरण करके क्रोधको रोको। सत्यवादिनि ! अब फिर तुम्हारा ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिये' ॥ १३ ॥

गान्धार्युवाच

भगवन्नाभ्यसूयामि नैतानिच्छामि नश्यतः।
पुत्रशोकेन तु बलान्मनो विह्वलतीव मे ॥ १४ ॥

गान्धारी बोली—भगवन् ! मैं पाण्डवोंके प्रति कोई दुर्भाव नहीं रखती और न इनका विनाश ही चाहती हूँ; परंतु क्या करूँ ? पुत्रोंके शोकसे मेरा मन हठात् व्याकुल-सा हो जाता है ॥ १४ ॥

यथैव कुन्त्या कौन्तेया रक्षितव्यास्तथा मया।
तथैव धृतराष्ट्रेण रक्षितव्या यथा त्वया ॥ १५ ॥

कुन्तीके ये बेटे जिस प्रकार कुन्तीके द्वारा रक्षणीय हैं, उसी प्रकार मुझे भी इनकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे आप इनकी रक्षा चाहते हैं, उसी प्रकार महाराज धृतराष्ट्रका भी कर्तव्य है कि इनकी रक्षा करें ॥ १५ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च।
कर्णदुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः ॥ १६ ॥

कुरुकुलका यह संहार तो दुर्योधन, मेरे भाई शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनके अपराधसे ही हुआ है ॥ १६ ॥

नापराध्यति बीभत्सुर्न च पार्थो वृकोदरः।
नकुलः सहदेवश्च नैव जातु युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

इसमें न तो अर्जुनका अपराध है और न कुन्तीपुत्र भीमसेनका। नकुल-सहदेव और युधिष्ठिरको भी कभी इसके लिये दोष नहीं दिया जा सकता ॥ १७ ॥

युध्यमाना हि कौरव्याः कृन्तमानाः परस्परम्।
निहताः सहिताश्चान्यैस्तत्र नास्त्यप्रियं मम ॥ १८ ॥

कौरव आपसमें ही जूझकर मारकाट मचाते हुए अपने दूसरे साथियोंके साथ मारे गये हैं; अतः इसमें मुझे अप्रिय लगनेवाली कोई बात नहीं है ॥ १८ ॥

किं तु कर्माकरोद् भीमो वासुदेवस्य पश्यतः।
दुर्योधनं समाहूय गदायुद्धे महामनाः ॥ १९ ॥
शिक्षयाभ्यधिकं ज्ञात्वा चरन्तं बहुधा रणे।
अधो नाभ्याः प्रहृतवांस्तन्मे कोपमवर्धयत् ॥ २० ॥

परंतु महामना भीमसेनने गदायुद्धके लिये दुर्योधनको बुलाकर श्रीकृष्णके देखते-देखते उसके प्रति जो बर्ताव किया है, वह मुझे अच्छा नहीं लगा। वह रणभूमिमें अनेक प्रकार-के पैंतरे दिखाता हुआ विचर रहा था; अतः शिक्षामें उसे अपनेसे अधिक जान भीमने जो उसकी नाभिसे नीचे प्रहार किया, इनके इसी बर्तावने मेरे क्रोधको बढ़ा दिया है १९-२०

कथं नु धर्मं धर्मज्ञैः समुद्दिष्टं महात्मभिः।
त्यजेयुराहवे शूराः प्राणहेतोः कथंचन ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ महात्माओंने गदायुद्धके लिये जिस धर्मका प्रति-पादन किया है, उसे शूरवीर योद्धा रणभूमिमें किसी तरह अपने प्राण बचानेके लिये कैसे त्याग सकते हैं ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि गान्धारीसान्त्वनायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें गान्धारीकी सान्त्वनाविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

भीमसेनका गान्धारीको अपनी सफाई देते हुए उनसे क्षमा माँगना, युधिष्ठिरका अपना अपराध स्वीकार करना, गान्धारीके दृष्टिपातसे युधिष्ठिरके पैरोंके नखोंका काला पड़ जाना, अर्जुनका भयभीत होकर श्रीकृष्णके पीछे छिप जाना, पाण्डवोंका अपनी मातासे मिलना, द्रौपदीका विलाप, कुन्तीका आश्वासन तथा गान्धारीका उन दोनोंको धीरज बँधाना

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भीमसेनोऽथ भीतवत्।
गान्धारीं प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारीकी यह बात सुनकर भीमसेनने डरे हुएकी भाँति विनयपूर्वक उनकी बातका उत्तर देते हुए कहा— ॥ १ ॥

अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात् तत्र मया कृतः।
आत्मानं त्रातुकामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'माताजी ! यह अधर्म हो या धर्म; मैंने दुर्योधनसे डर-कर अपने प्राण बचानेके लिये ही वहाँ ऐसा किया था; अतः आप मेरे उस अपराधको क्षमा कर दें ॥ २ ॥

न हि युद्धेन पुत्रस्ते धर्म्येण स महाबलः।
शक्यः केनचिदुद्यन्तुमतो विषममाचरम् ॥ ३ ॥

'आपके उस महाबली पुत्रको कोई भी धर्मानुकूल युद्ध करके मारनेका साहस नहीं कर सकता था; अतः मैंने विषमतापूर्ण बर्ताव किया ॥ ३ ॥

अधर्मेण जितः पूर्वं तेन चापि युधिष्ठिरः।
निकृताश्च सदैव स्म ततो विषममाचरम् ॥ ४ ॥

'पहले उसने भी अधर्मसे ही राजा युधिष्ठिरको जीता था और हमलोगोंके साथ सदा ही धोखा किया था, इसलिये मैंने भी उसके साथ विषम बर्ताव किया ॥ ४ ॥

सैन्यस्यैकोऽवशिष्टोऽयं गदायुद्धेन वीर्यवान् ।
मां हत्वा न हरेद् राज्यमिति वै तत् कृतं मया॥ ५ ॥

'कौरवसेनाका एकमात्र बचा हुआ यह पराक्रमी वीर गदायुद्धके द्वारा मुझे मारकर पुनः सारा राज्य हर न ले, इसी आशङ्कासे मैंने वह अयोग्य बर्ताव किया था ॥ ५ ॥

राजपुत्रीं च पाञ्चालीमेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
भवत्या विदितं सर्वमुक्तवान् यत् सुतस्तव ॥ ६ ॥

'राजकुमारी द्रौपदीसे, जो एक वस्त्र धारण किये रजस्वला-अवस्थामें थी, आपके पुत्रने जो कुछ कहा था, वह सब आप जानती हैं ॥ ६ ॥

सुयोधनमसंगृह्य न शक्या भूः ससागरा ।
केवला भोक्तुमस्माभिरतश्चैतत् कृतं मया ॥ ७ ॥

'दुर्योधनका संहार किये बिना हमलोग निष्कण्टक पृथ्वीका राज्य नहीं भोग सकते थे, इसलिये मैंने यह अयोग्य कार्य किया ॥ ७ ॥

तथाप्यप्रियमस्माकं पुत्रस्ते समुपाचरत् ।
द्रौपद्या यत् सभामध्ये सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ ८ ॥

'आपके पुत्रने तो हम सब लोगोंका इससे भी बढ़कर अप्रिय किया था कि उसने भरी सभामें द्रौपदीको अपनी बाँयीं जाँघ दिखायी ॥ ८ ॥

तदैव वध्यः सोऽस्माकं दुराचारश्च ते सुतः ।
धर्मराजाज्ञया चैव स्थिताः स्म समये तदा ॥ ९ ॥

'आपके उस दुराचारी पुत्रको तो हमें उसी समय मार डालना चाहिये था; परंतु धर्मराजकी आज्ञासे हमलोग समयके बन्धनमें बँधकर चुप रह गये ॥ ९ ॥

वैरमुद्दीपितं राज्ञि पुत्रेण तव तन्महत् ।
क्लेशिताश्च वने नित्यं तत एतत् कृतं मया ॥ १० ॥

'रानी ! आपके पुत्रने उस महान् वैरकी आगको और भी प्रज्वलित कर दिया और हमें वनमें भेजकर सदा क्लेश पहुँचाया; इसीलिये हमने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया है॥

वैरस्यास्य गताः पारं हत्वा दुर्योधनं रणे ।
राज्यं युधिष्ठिरः प्राप्तो वयं च गतमन्यवः ॥ ११ ॥

'रणभूमिमें दुर्योधनका वध करके हमलोग इस वैरसे पार हो गये । राजा युधिष्ठिरको राज्य मिल गया और हमलोगोंका क्रोध शान्त हो गया' ॥ ११ ॥

गान्धार्युवाच

न तस्यैष वधस्तात यत् प्रशंससि मे सुतम् ।
कृतवांश्चापि तत् सर्वं यदिदं भाषसे मयि ॥ १२ ॥

गान्धारी बोलीं—तात ! तुम मेरे पुत्रकी इतनी प्रशंसा कर रहे हो;इसलिये यह उसका वध नहीं हुआ(वह अपने यशोमय शरीरसे अमर है) और मेरे सामने तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सारा अपराध दुर्योधनने अवश्य कियाहै ॥१२॥

हताश्वे नकुले यत्तु वृषसेनेन भारत ।
अपिबः शोणितं संख्ये दुःशासनशरीरजम् ॥ १३ ॥
सद्भिर्विगर्हितं घोरमनार्यजनसेवितम् ।
क्रूरं कर्माकृथास्तस्मात्तदयुक्तं वृकोदर ॥ १४ ॥

भारत ! परंतु वृषसेनने जब नकुलके घोड़ोंको मारकर उसे रथहीन कर दिया था, उस समय तुमने युद्धमें दुःशासनको मारकर जो उसका खून पी लिया, वह सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित और नीच पुरुषोंद्वारा सेवित घोर क्रूरतापूर्ण कर्म है। वृकोदर ! तुमने वही क्रूर कार्य किया है, इसलिये तुम्हारे द्वारा अत्यन्त अयोग्य कर्म बन गया है ॥ १३-१४ ॥

भीमसेन उवाच

अन्यस्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकम् ।
यथैवात्मा तथा भ्राता विशेषो नास्ति कश्चन ॥ १५ ॥

भीमसेन बोले—माताजी ! दूसरेका भी खून नहीं पीना चाहिये; फिर अपना ही खून कोई कैसे पी सकता है ? जैसे अपना शरीर है, वैसे ही भाईका शरीर है। अपनेमें और भाईमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १५ ॥

रुधिरं न व्यतिक्रामद् दन्तोष्ठं मेऽम्ब मा शुचः ।
वैवस्वतस्तु तद् वेद हस्तौ मे रुधिरोक्षितौ ॥ १६ ॥

माँ ! आप शोक न करें। वह खून मेरे दाँतों और ओठोंको लाँघकर आगे नहीं जा सका था। इस बातको सूर्य-पुत्र यमराज जानते हैं कि केवल मेरे दोनों हाथ ही रक्तमें सने हुए थे ॥ १६ ॥

हताश्वं नकुलं दृष्ट्वा वृषसेनेन संयुगे ।
भ्रातॄणां सम्प्रहृष्टानां त्रासः संजनितो मया ॥ १७ ॥

युद्धमें वृषसेनके द्वारा नकुलके घोड़ोंको मारा गया देख जो दुःशासनके सभी भाई हर्षसे उल्लसित हो उठे थे, उनके मनमें वैसा करके मैंने केवल त्रास उत्पन्न किया था ॥

केशपक्षपरामर्शे द्रौपद्या द्यूतकारिते ।
क्रोधाद् यदब्रवं चाहं तच्च मे हृदि वर्तते ॥ १८ ॥

द्यूतक्रीडाके समय जब द्रौपदीका केश खींचा गया, उस समय क्रोधमें भरकर मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी याद हमारे हृदयमें बराबर बनी रहती थी ॥ १८ ॥

क्षत्रधर्माच्च्युतो राज्ञि भवेयं शाश्वतीः समाः ।
प्रतिज्ञां तामनिस्तीर्य ततस्तत् कृतवानहम् ॥ १९ ॥

रानीजी ! यदि मैं उस प्रतिज्ञाको पूर्ण न करता तो सदाके लिये क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता, इसलिये मैंने यह काम किया था ॥ १९ ॥

न मामर्हसि गान्धारि दोषेण परिशङ्कितुम् ।
अनिगृह्य पुरा पुत्रानस्मास्वनपकारिषु ।
अधुना किं नु दोषेण परिशङ्कितुमर्हसि ॥ २० ॥

माता गान्धारी ! आपको मुझमें दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। पहले जब हमलोगोंने कोई अपराध नहीं किया था, उस समय हमपर अत्याचार करनेवाले अपने पुत्रोंको तो आपने रोका नहीं; फिर इस समय आप क्यों मुझपर दोषारोपण करती हैं ? ॥ २० ॥

गान्धार्युवाच

वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान् निघ्नंस्त्वमपराजितः ।
कस्मान्नाशेषयः कंचिद् येनाल्पमपराधितम् ॥ २१ ॥

गान्धारी बोलीं—बेटा ! तुम अपराजित वीर हो। तुमने इन बूढ़े महाराजके सौ पुत्रोंको मारते समय किसी एकको भी, जिसने बहुत थोड़ा अपराध किया था, क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ? ॥ २१ ॥

संतानमावयोस्तात वृद्धयोर्हृतराज्ययोः।
कथमन्धद्वयस्यास्य यष्टिरेका न वर्जिता ॥ २२ ॥

तात ! हम दोनों बूढ़े हुए। हमारा राज्य भी तुमने छीन लिया। ऐसी दशामें हमारी एक ही संतानको—हम दो अन्धोंके लिये एक ही लाठीके सहारेको तुमने क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ? ॥ २२ ॥

शेषे ह्यवस्थिते तात पुत्राणामन्तके त्वयि।
न मे दुःखं भवेदेतद् यदि त्वं धर्ममाचरेः ॥ २३ ॥

तात ! तुम मेरे सारे पुत्रोंके लिये यमराज बन गये। यदि तुम धर्मका आचरण करते और मेरा एक पुत्र भी शेष रह जाता तो मुझे इतना दुःख नहीं होता ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु गान्धारी युधिष्ठिरमपृच्छत।
क स राजेति सक्रोधा पुत्रपौत्रवधार्दिता ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भीमसेनसे ऐसा कहकर अपने पुत्रों और पौत्रोंके वधसे पीड़ित हुई गान्धारीने कुपित होकर पूछा—'कहाँ है वह राजा युधिष्ठिर !' ॥ २४ ॥

तमभ्यगच्छद् राजेन्द्रो वेपमानः कृताञ्जलिः।
युधिष्ठिरस्त्विदं तत्र मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥
पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं तव देवि युधिष्ठिरः।
शापार्हः पृथिवीनाशे हेतुभूतः शपस्व माम् ॥ २६ ॥

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर काँपते हुए हाथ जोड़े उनके सामने आये और बड़ी मीठी वाणीमें बोले—'देवि ! आपके पुत्रोंका संहार करनेवाला क्रूरकर्मा युधिष्ठिर मैं हूँ। पृथ्वीभरके राजाओंका नाश करानेमें मैं ही हेतु हूँ, इसलिये शापके योग्य हूँ। आप मुझे शाप दे दीजिये ॥ २५-२६ ॥

न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा।
तादृशान् सुहृदो हत्वा मूढस्यास्य सुहृद्द्रुहः ॥ २७ ॥

'मैं अपने सुहृदोंका द्रोही और अविवेकी हूँ। वैसे-वैसे श्रेष्ठ सुहृदोंका वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धनसे कोई प्रयोजन नहीं है' ॥ २७ ॥

तमेवंवादिनं भीतं संनिकर्षगतं तदा।
नोवाच किंचिद् गान्धारी निःश्वासपरमा भृशम्॥२८॥

जब निकट आकर डरे हुए राजा युधिष्ठिरने, ऐसी बातें कहीं, तब गान्धारी देवी जोर-जोरसे साँस खींचती हुई सिसकने लगीं। वे मुँहसे कुछ बोल न सकीं ॥ २८ ॥

तस्यावनतदेहस्य पादयोर्निपतिष्यतः।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्धर्मज्ञा दीर्घदर्शिनी ॥ २९ ॥
अंगुल्यग्राणि ददृशे देवी पट्टान्तरेण सा।
ततः स कुनखीभूतो दर्शनीयनखो नृपः ॥ ३० ॥

राजा युधिष्ठिर शरीरको झुकाकर गान्धारीके चरणोंपर गिर जाना चाहते थे। इतनेहीमें धर्मको जाननेवाली दूरदर्शिनी देवी गान्धारीने पट्टीके भीतरसे ही राजा युधिष्ठिरके पैरोंकी अङ्गुलियोंके अग्रभाग देख लिये। इतनेहीसे राजाके नख काले पड़ गये। इसके पहले उनके नख बड़े ही सुन्दर और दर्शनीय थे ॥ २९-३० ॥

तं दृष्ट्वा चार्जुनोऽगच्छद् वासुदेवस्य पृष्ठतः।
एवं संचेष्टमानांस्तानितश्चेतश्च भारत ॥ ३१ ॥
गान्धारी विगतक्रोधा सान्त्वयामास मातृवत्।

उनकी यह अवस्था देख अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके पीछे जाकर छिप गये। भारत ! उन्हें इस प्रकार इधर-उधर छिपनेकी चेष्टा करते देख गान्धारीका क्रोध उतर गया और उन्होंने उन सबको स्नेहमयी माताके समान सान्त्वना दी॥

तया ते समनुज्ञाता मातरं वीरमातरम् ॥ ३२ ॥
अभ्यगच्छन्त सहिताः पृथां पृथुलवक्षसः।

फिर उनकी आज्ञा ले चौड़ी छातीवाले सभी पाण्डव एक साथ वीरजननी माता कुन्तीके पास गये ॥ ३२½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा पुत्रान् सा पुत्राधिभिरभिप्लुता ॥ ३३ ॥
बाष्पमाहारयद् देवी वस्त्रेणावृत्य वै मुखम्।

कुन्तीदेवी दीर्घकालके बाद अपने पुत्रोंको देखकर उनके कष्टोंका स्मरण करके करुणामें डूब गयीं और अञ्चलसे मुँह ढककर आँसू बहाने लगीं ॥ ३३½ ॥

ततो बाष्पं समुत्सृज्य सह पुत्रैस्तदा पृथा ॥ ३४ ॥
अपश्यदेतान्शस्त्रौघैर्बहुधा क्षतविक्षतान्।

पुत्रोंसहित आँसू बहाकर उन्होंने उनके शरीरोंपर बारंबार दृष्टिपात किया। वे सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी चोटसे घायल हो रहे थे ॥ ३४½ ॥

सा तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
अन्वशोचत दुःखार्ता द्रौपदीं च हतात्मजाम्।
रुदतीमथ पाञ्चालीं ददर्श पतितां भुवि ॥ ३६ ॥

बारी-बारीसे पुत्रोंके शरीरपर बारंबार हाथ फेरती हुई कुन्ती दुःखसे आतुर हो उस द्रौपदीके लिये शोक करने लगीं, जिसके सभी पुत्र मारे गये थे। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि द्रौपदी पास ही पृथ्वीपर गिरकर रो रही है ॥ ३५-३६ ॥

द्रौपद्युवाच

आर्ये पौत्राः क ते सर्वे सौभद्रसहिता गताः।
न त्वां तेऽद्याभिगच्छन्ति चिरं दृष्ट्वा तपस्विनीम्॥३७॥
किं नु राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम।

द्रौपदी बोली—आर्ये ! अभिमन्युसहित वे आपके सभी पौत्र कहाँ चले गये ? वे दीर्घकालके बाद आयी हुई आज आप तपस्विनी देवीको देखकर आपके निकट क्यों नहीं आ रहे हैं ? अपने पुत्रोंसे हीन होकर अब इस राज्यसे हमें क्या कार्य है ? ॥ ३७½ ॥

तां समाश्वासयामास पृथा पृथुललोचना ॥ ३८ ॥
उत्थाप्य याज्ञसेनीं तु रुदतीं शोककर्शिताम्।
तयैव सहिता चापि पुत्रैरनुगता नृप ॥ ३९ ॥
अभ्यगच्छत गान्धारीमार्तामार्ततरा स्वयम्।

नरेश्वर ! विशाल नेत्रोंवाली कुन्तीने शोकसे कातर हो रोती हुई द्रुपदकुमारीको उठाकर धीरज बँधाया और उसके साथ ही वे स्वयं भी अत्यन्त आर्त होकर शोकाकुल गान्धारीके पास गयीं। उस समय उनके पुत्र पाण्डव भी उनके पीछे-पीछे गये ॥ ३८-३९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामुवाचाथ गान्धारी सह वध्वा यशस्विनीम्॥ ४० ॥
मैवं पुत्रीति शोकार्ता पश्य मामपि दुःखिताम्।
मन्ये लोकविनाशोऽयं कालपर्यायनोदितः ॥ ४१ ॥
अवश्यभावी सम्प्राप्तः स्वभावाल्लोमहर्षणः।
इदं तत् समनुप्राप्तं विदुरस्य वचो महत् ॥ ४२ ॥
असिद्धानुनये कृष्णे यदुवाच महामतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारीने बहू द्रौपदी और यशस्विनी कुन्तीसे कहा—'बेटी ! इस प्रकार शोकसे व्याकुल न होओ। देखो, मैं भी तो दुःखमें डूबी हुई हूँ। मैं समझती हूँ, समयके उलट-फेरसे प्रेरित होकर यह सम्पूर्ण जगत्का विनाश हुआ है, जो स्वभावसे ही रोमाञ्चकारी है। यह काण्ड अवश्यम्भावी था, इसीलिये प्राप्त हुआ है। जब संधि करानेके विषयमें श्रीकृष्णकी अनुनय-विनय सफल नहीं हुई, उस समय परम बुद्धिमान् विदुरजीने जो महत्त्वपूर्ण बात कही थी, उसीके अनुसार यह सब कुछ सामने आया है ॥ ४०-४२½ ॥

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे व्यतीते च विशेषतः ॥ ४३ ॥
मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः।
यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति।
ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ॥ ४४ ॥

'जब यह विनाश किसी तरह टल नहीं सकता था, विशेषतः जब सब कुछ होकर समाप्त हो गया, तो अब तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। वे सभी वीर संग्राममें मारे गये हैं, अतः शोक करनेके योग्य नहीं हैं। आज जैसी मैं हूँ, वैसी ही तुम भी हो। हम दोनोंको कौन धीरज बँधायेगा ? मेरे ही अपराधसे इस श्रेष्ठ कुलका संहार हुआ है' ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि पृथापुत्रदर्शने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें कुन्तीको अपने पुत्रोंका दर्शनविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(स्त्रीविलापपर्व)

षोडशोऽध्यायः

वेदव्यासजीके वरदानसे दिव्य दृष्टिसम्पन्न हुई गान्धारीका युद्धस्थलमें मारे गये योद्धाओं तथा रोती हुई बहुओंको देखकर श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु गान्धारी कुरूणामवकर्तनम्।
अपश्यत्तत्र तिष्ठन्ती सर्वं दिव्येन चक्षुषा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर गान्धारी देवीने वहीं खड़ी रहकर अपनी दिव्य दृष्टिसे कौरवोंका वह सारा विनाशस्थल देखा ॥ १ ॥

पतिव्रता महाभागा समानव्रतचारिणी।
उग्रेण तपसा युक्ता सततं सत्यवादिनी ॥ २ ॥

गान्धारी बड़ी ही पतिव्रता, परम सौभाग्यवती, पतिके समान व्रतका पालन करनेवाली, उग्र तपस्यासे युक्त तथा सदा सत्य बोलनेवाली थीं ॥ २ ॥

वरदानेन कृष्णस्य महर्षेः पुण्यकर्मणः।
दिव्यज्ञानबलोपेता विविधं पर्यदेवयत् ॥ ३ ॥

पुण्यात्मा महर्षि व्यासके वरदानसे वे दिव्य-ज्ञान-बलसे सम्पन्न हो गयी थीं; अतः रणभूमिका दृश्य देखकर अनेक प्रकारसे विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

ददर्श सा बुद्धिमती दूरादपि यथान्तिके।
रणाजिरं नृवीराणामद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥

बुद्धिमती गान्धारीने नरवीरोंके उस अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी समराङ्गणको दूरसे भी उसी तरह देखा, जैसे निकटसे देखा जाता है ॥ ४ ॥

अस्थिकेशवसाकीर्णं शोणितौघपरिप्लुतम्।
शरीरैर्बहुसाहस्रैर्विनिकीर्णं समन्ततः ॥ ५ ॥

वह रणक्षेत्र हड्डियों, केशों और चर्बियोंसे भरा था, रक्तके प्रवाहसे आप्लावित हो रहा था, कई हजार लाशें वहाँ चारों ओर बिखरी हुई थीं ॥ ५ ॥

गजाश्वरथयोधानामावृतं रुधिराविलैः।
शरीरैरशिरस्कैश्च विदेहैश्च शिरोगणैः ॥ ६ ॥

हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी योद्धाओंके रक्तसे मलिन हुए बिना सिरके अगणित धड़ और बिना धड़के असंख्य मस्तक उस रणभूमिको ढँके हुए थे ॥ ६ ॥

गजाश्वनरनारीणां निःस्वनैरभिसंवृतम्।
शृगालबककाकोलकङ्ककाकनिषेवितम् ॥ ७ ॥

हाथियों, घोड़ों, मनुष्यों और स्त्रियोंके आर्तनादसे वह सारा युद्धस्थल गूँज रहा था। सियार, बगुले, काले कौए, कङ्क और काक उस भूमिका सेवन करते थे ॥ ७ ॥

रक्षसां पुरुषादानां मोदनं कुररकुलम्।
अशिवाभिः शिवाभिश्च नादितं गृध्रसेवितम् ॥ ८ ॥

वह स्थान नरभक्षी राक्षसोंको आनन्द दे रहा था। वहाँ सब ओर कुरर पक्षी छा रहे थे। अमङ्गलमयी गीदड़ियाँ अपनी बोली बोल रही थीं, गीध सब ओर बैठे हुए थे ॥८॥

ततो व्यासाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रो महीपतिः।

पाण्डुपुत्राश्च ते सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ९ ॥

उस समय भगवान् व्यासकी आज्ञा पाकर राजा धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डव रणभूमिकी ओर चले ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य हतबन्धुं च पार्थिवम् ।
कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति ॥ १० ॥

जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र तथा भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके कुरुकुलकी स्त्रियोंको साथ ले वे सब लोग युद्धस्थलमें गये ॥ १० ॥

समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः ।
अपश्यन्त हतांस्तत्र पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥ ११ ॥
क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान् वै गोमायुबलवायसैः ।
भूतैः पिशाचै रक्षोभिर्विविधैश्च निशाचरैः ॥ १२ ॥

कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर उन अनाथ स्त्रियोंने वहाँ मारे गये अपने पुत्रों, भाइयों, पिताओं तथा पतियोंके शरीरोंको देखा, जिन्हें मांस-भक्षी जीव-जन्तु, गीदड़समूह, कौए, भूत, पिशाच, राक्षस और नाना प्रकारके निशाचर नोच-नोचकर खा रहे थे॥

रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा तदा विशसनं स्त्रियः ।
महार्हेभ्योऽथ यानेभ्यो विक्रोशन्त्यो निपेतिरे ॥ १३ ॥

रुद्रकी क्रीडास्थलीके समान उस रणभूमिको देखकर वे स्त्रियाँ अपने बहुमूल्य रथोंसे क्रन्दन करती हुई नीचे गिर पड़ीं ॥ १३ ॥

अदृष्टपूर्वं पश्यन्त्यो दुःखार्ता भरतस्त्रियः ।
शरीरेष्वस्खलन्नन्याः पतन्त्यश्चापरा भुवि ॥ १४ ॥

जिसे कभी देखा नहीं था, उस अद्भुत रणक्षेत्रको देख-कर भरतकुलकी कुछ स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो लाशोंपर गिर पड़ीं और दूसरी बहुत-सी स्त्रियाँ धरतीपर गिर गयीं ॥

श्रान्तानां चाप्यनाथानां नासीत् काचन चेतना ।
पाञ्चालकुरुयोषाणां कृपणं तदभून्महत् ॥ १५ ॥

उन थकी-माँदी और अनाथ हुई पाञ्चालों तथा कौरवों-की स्त्रियोंको वहाँ चेत नहीं रह गया था । उन सबकी बड़ी दयनीय दशा हो गयी थी ॥ १५ ॥

दुःखोपहतचित्ताभिः समन्तादनुनादितम् ।
दृष्ट्वाऽऽयोधनमत्युग्रं धर्मज्ञा सुबलात्मजा ॥ १६ ॥
ततः सा पुण्डरीकाक्षमामन्त्र्य पुरुषोत्तमम् ।
कुरूणां वैशसं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

दुःखसे व्याकुलचित्त हुई युवतियोंके करुण-क्रन्दनसे वह अत्यन्त भयंकर युद्धस्थल सब ओरसे गूँज उठा । यह देखकर धर्मको जाननेवाली सुबलपुत्री गान्धारीने कमलनयन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कौरवोंके उस विनाशपर दृष्टिपात करते हुए कहा—॥ १६-१७ ॥

पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषा मे निहतेश्वराः ।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीरिव माधव ॥ १८ ॥

'कमलनयन माधव ! मेरी इन विधवा पुत्रवधुओंकी ओर देखो, जो केश बिखराये कुररीकी भाँति विलाप कर रही हैं ॥ १८ ॥

अमूस्त्वभिसमागम्य स्मरन्त्यो भर्तृजान् गुणान् ।
पृथगेवाभ्यधावन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥ १९ ॥

'वे अपने पतियोंके गुणोंका स्मरण करती हुई उनकी लाशोंके पास जा रही हैं और पतियों, भाइयों, पिताओं तथा पुत्रोंके शरीरोंकी ओर पृथक्-पृथक् दौड़ रही हैं ॥ १९ ॥

वीरसूभिर्महाराज हतपुत्राभिरावृतम् ।
क्वचिच्च वीरपत्नीभिर्हतवीराभिरावृतम् ॥ २० ॥

'महाराज ! कहीं तो जिनके पुत्र मारे गये हैं उन वीर-प्रसविनी माताओंसे और कहीं जिनके पति वीरगतिको प्राप्त हो गये हैं, उन वीरपत्नियोंसे यह युद्धस्थल घिर गया है ॥

शोभितं पुरुषव्याघ्रैः कर्णभीष्माभिमन्युभिः ।
द्रोणद्रुपदशल्यैश्च ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह कर्ण, भीष्म, अभिमन्यु, द्रोण, द्रुपद और शल्य-जैसे वीरोंसे, जो प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी थे, यह रणभूमि सुशोभित है ॥ २१ ॥

काञ्चनैः कवचैर्निष्कैर्मणिभिश्च महात्मनाम् ।
अङ्गदैर्हस्तकेयूरैः स्रग्भिश्च समलङ्कृतम् ॥ २२ ॥

'उन महामनस्वी वीरोंके सुवर्णमय कवचों, निष्कों, मणियों, अङ्गदों, केयूरों और हारोंसे समराङ्गण विभूषित दिखायी देता है ॥ २२ ॥

वीरबाहुविसृष्टाभिः शक्तिभिः परिघैरपि ।
खड्गैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सशरैश्च शरासनैः ॥ २३ ॥
क्रव्यादसंघैर्मुदितैस्तिष्ठद्भिः सहितैः क्वचित् ।
क्वचिदाक्रीडमानैश्च शयानैश्चापरैः क्वचित् ॥ २४ ॥
एतदेवंविधं वीर सम्पश्यायोधनं विभो ।
पश्यमाना हि दह्यामि शोकेनाहं जनार्दन ॥ २५ ॥

'कहीं वीरोंकी भुजाओंसे छोड़ी गयी शक्तियाँ पड़ी हैं, कहीं परिघ, नाना प्रकारके तीखे खड्ग और बाणसहित धनुष गिरे हुए हैं । कहीं झुंड-के-झुंड मांसभक्षी जीव-जन्तु आनन्दमग्न होकर एक साथ खड़े हैं, कहीं वे खेल रहे हैं और कहीं दूसरे-दूसरे जन्तु सोये पड़े हैं । वीर ! प्रभो ! इस प्रकार इन सबसे भरे हुए युद्धस्थलको देखो । जनार्दन ! मैं तो इसे देखकर शोकसे दग्ध हुई जाती हूँ ॥ २३–२५ ॥

पञ्चालानां कुरूणां च विनाशे मधुसूदन ।
पञ्चानामपि भूतानामहं वधमचिन्तयम् ॥ २६ ॥

'मधुसूदन ! इन पाञ्चाल और कौरव वीरोंके मारे जानेसे तो मेरे मनमें यह धारणा हो रही है कि पाँचों भूतोंका ही विनाश हो गया ॥ २६ ॥

तान् सुपर्णाश्च गृध्राश्च कर्षयन्त्यसृगुक्षिताः ।
विगृह्य चरणैर्गृध्रा भक्षयन्ति सहस्रशः ॥ २७ ॥

'उन वीरोंको खूनसे भीगे हुए गरुड़ और गीध इधर-उधर खींच रहे हैं । सहस्रों गीध उनके पैर पकड़-पकड़कर खा रहे हैं ॥ २७ ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथैव द्रोणभीष्मयोः ।
अभिमन्योर्विनाशं च कश्चिन्तयितुमर्हति ॥ २८ ॥

'इस युद्धमें जयद्रथ, कर्ण, द्रोणाचार्य, भीष्म और अभिमन्यु-जैसे वीरोंका विनाश हो जायगा, यह कौन सोच सकता था ? ॥ २८ ॥

अवध्यकल्पान् निहतान् गतसत्त्वानचेतसः ।
गृध्रकङ्कवटश्येनश्वश्रृगालादनीकृतान् ॥ २९ ॥

'जो अवध्य समझे जाते थे, वे भी मारे गये और अचेत एवं प्राणशून्य होकर यहाँ पड़े हैं । गीध, कंक, बटेर, बाज, कुत्ते और सियार उन्हें अपना आहार बना रहे हैं ॥ २९ ॥

अमर्षवशमापन्नान् दुर्योधनवशे स्थितान् ।
पश्येमान् पुरुषव्याघ्रान् संशान्तान् पावकानिव॥ ३० ॥

'दुर्योधनके अधीन रहकर अमर्षके वशीभूत हो ये पुरुष-सिंह वीरगण बुझी हुई आगके समान शान्त हो गये हैं । इनकी ओर दृष्टिपात तो करो ॥ ३० ॥

शयाना ये पुरा सर्वे मृदूनि शयनानि च ।
विपन्नास्तेऽद्य वसुधां विवृतामधिशेरते ॥ ३१ ॥

'जो लोग पहले कोमल बिछौनोंपर सोया करते थे, वे सभी आज मरकर नंगी भूमिपर सो रहे हैं ॥ ३१ ॥

बन्दिभिः सततं काले स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ।
शिवानामशिवा घोराः श्रृण्वन्ति विविधा गिरः॥ ३२ ॥

'जिन्हें सदा ही समय-समयपर स्तुति करनेवाले बन्दीजन अपने वचनोंद्वारा आनन्दित करते थे, वे ही अब सियारिनोंकी अमङ्गलसूचक भाँति-भाँतिकी बोलियाँ सुन रहे हैं ॥ ३२ ॥

ये पुरा शेरते वीराः शयनेषु यशस्विनः ।
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गास्तेऽद्य पांसुषु शेरते ॥ ३३ ॥

'जो यशस्वी वीर पहले अपने अङ्गोंमें चन्दन और अगुरु-चूर्णसे चर्चित हो सुखदायिनी शय्याओंपर सोते थे, वे ही आज धूलमें लोट रहे हैं ॥ ३३ ॥

तेषामाभरणान्येते गृध्रगोमायुवायसाः ।
आक्षिपन्ति शिवा घोरा विनदन्त्यः पुनः पुनः॥ ३४ ॥

'उनके आभूषणोंको ये गीध, गीदड़, कौए और भयानक गीदड़ियाँ बारंबार चिल्लाती हुई इधर-उधर फेंकती हैं॥३४॥

बाणान् विनिशितान् पीतान् निस्त्रिंशान् विमला गदाः।
युद्धाभिमानिनः सर्वे जीवन्त इव बिभ्रति ॥ ३५ ॥

'ये सभी युद्धाभिमानी वीर जीवित पुरुषोंकी भाँति इस समय भी तीखे बाण, पानीदार तलवार और चमकीली गदाएँ हाथोंमें लिये हुए हैं ॥ ३५ ॥

सुरूपवर्णा बहवः क्रव्यादैरवघट्टिताः ।
ऋषभप्रतिरूपाश्च शेरते हरितस्रजः ॥ ३६ ॥

'सुन्दर रूप और कान्तिवाले, साँड़ोंके समान हृष्ट-पुष्ट तथा हरे रंगके हार पहने हुए बहुत-से योद्धा यहाँ सोये पड़े हैं और मांसभक्षी जन्तु इन्हें उलट-पलट रहे हैं ॥ ३६ ॥

अपरे पुनरालिङ्ग्य गदाः परिघबाहवः ।
शेरतेऽभिमुखाः शूरा दयिता इव योषितः ॥ ३७ ॥

'परिघके समान मोटी बाँहोंवाले दूसरे शूरवीर प्रेयसी युवतियोंकी भाँति गदाओंका आलिङ्गन करके सम्मुख सो रहे हैं॥

बिभ्रतः कवचान्यन्ये विमलान्यायुधानि च ।
न धर्षयन्ति क्रव्यादा जीवन्तीति जनार्दन ॥ ३८ ॥

'जनार्दन ! बहुत-से योद्धा चमकीले कवच और आयुध धारण किये हुए हैं, जिससे उन्हें जीवित समझकर मांसभक्षी जन्तु उनपर आक्रमण नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥

क्रव्यादैः कृष्यमाणानामपरेषां महात्मनाम् ।
शातकौम्भ्यः स्रजश्चित्रा विप्रकीर्णाः समन्ततः॥ ३९ ॥

'दूसरे महामनस्वी वीरोंको मांसाहारी जीव इधर-उधर खींच रहे हैं, जिससे सोनेकी बनी हुई उनकी विचित्र मालाएँ सब ओर बिखर गयी हैं ॥ ३९ ॥

एते गोमायवो भीमा निहतानां यशस्विनाम् ।
कण्ठान्तरगतान् हारानाक्षिपन्ति सहस्रशः ॥ ४० ॥

'यहाँ मारे गये यशस्वी वीरोंके कण्ठमें पड़े हुए हारोंको ये सहस्रों भयानक गीदड़ खींचते और झटकते हैं ॥ ४० ॥

सर्वेष्वपररात्रेषु याननन्दन्त बन्दिनः ।
स्तुतिभिश्च परार्ध्याभिरुपचारैश्च शिक्षिताः ॥ ४१ ॥
तानिमाः परिदेवन्ति दुःखार्ताः परमाङ्गनाः ।
कृपणं वृष्णिशार्दूल दुःखशोकार्दिता भृशम् ॥ ४२ ॥

'वृष्णिसिंह ! प्रायः प्रत्येक रात्रिके पिछले पहरमें सुशिक्षित बन्दीजन उत्तम स्तुतियों और उपचारोंद्वारा जिन्हें आनन्दित करते थे, उन्हींके पास आज ये दुःख और शोकसे अत्यन्त पीड़ित हुई सुन्दरी युवतियाँ करुण विलाप कर रही हैं ॥

रक्तोत्पलवनानीव विभान्ति रुचिराणि च ।
मुखानि परमस्त्रीणां परिशुष्काणि केशव ॥ ४३ ॥

'केशव ! इन सुन्दरियोंके सूखे हुए सुन्दर मुख लाल कमलोंके समूहकी भाँति शोभा पा रहे हैं ॥ ४३ ॥

रुदिताद् विरता ह्येता ध्यायन्त्यः सपरिच्छदाः ।
कुरुस्त्रियोऽभिगच्छन्ति तेन तेनैव दुःखिताः ॥ ४४ ॥

'ये कुरुकुलकी स्त्रियाँ रोना बंद करके स्वजनोंका चिन्तन करती हुई परिजनोंसहित उन्हींकी खोजमें जाती और दुखी होकर उन-उन व्यक्तियोंसे मिल रही हैं ॥ ४४ ॥

एतान्यादित्यवर्णानि तपनीयनिभानि च ।
रोषरोदनताम्राणि वक्त्राणि कुरुयोषिताम् ॥ ४५ ॥

'कौरववंशकी युवतियोंके ये सूर्य और सुवर्णके समान कान्तिमान् मुख रोष और रोदनसे ताम्रवर्णके हो गये हैं॥४५॥

श्यामानां वरवर्णानां गौरीणामेकवाससाम् ।
दुर्योधनवरस्त्रीणां पश्य वृन्दानि केशव ॥ ४६ ॥

'केशव ! सुन्दर कान्तिसे सम्पन्न, एकवस्त्रधारिणी तथा श्याम गौरवर्णवाली दुर्योधनकी इन सुन्दरी स्त्रियोंकी टोलियों-को देखो ॥ ४६ ॥

आसामपरिपूर्णार्थं निशाम्य परिदेवितम् ।
इतरेतरसंक्रन्दान्न विजानन्ति योषितः ॥ ४७ ॥

'एक दूसरीकी रोदन-ध्वनिसे मिल जानेके कारण इनके विलापका अर्थ पूर्णरूपसे समझमें नहीं आता, उसे सुनकर अन्य स्त्रियाँ भी कुछ नहीं समझ पाती हैं ॥ ४७ ॥

एता दीर्घमिवोच्छ्‌वस्य विक्रुश्य च विलप्य च ।
विस्पन्दमाना दुःखेन वीरा जहति जीवितम् ॥ ४८ ॥

'ये वीर वनिताएँ लंबी साँस खींचकर स्वजनोंको पुकार-पुकारकर करुण विलाप करके दुःखसे छटपटाती हुई अपने प्राण त्याग देना चाहती हैं ॥ ४८ ॥

बह्व्यो दृष्ट्वा शरीराणि क्रोशन्ति विलपन्ति च ।
पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मृदुपाणयः ॥ ४९ ॥

'बहुत-सी स्त्रियाँ स्वजनोंकी लाशोंको देखकर रोती, चिल्लाती और विलाप करती हैं। कितनी ही कोमल हाथोंवाली कामिनियाँ अपने हाथोंसे सिर पीट रही हैं ॥ ४९ ॥

शिरोभिः पतितैर्हस्तैः सर्वाङ्गैर्यूथशः कृतैः ।
इतरेतरसम्पृक्तैराकीर्णा भाति मेदिनी ॥ ५० ॥

'कटकर गिरे हुए मस्तकों, हाथों और सम्पूर्ण अङ्गोंके ढेर लगे हैं। वे सभी एकके ऊपर एक करके पड़े हैं। उनसे यहाँकी सारी पृथ्वी ढँकी हुई जान पड़ती है ॥ ५० ॥

विशिरस्कानथो कायान् दृष्ट्वा ह्येताननिन्दितान् ।
मुह्यन्त्यनुगता नार्यो विदेहानि शिरांसि च ॥ ५१ ॥

'इन बिना मस्तकके सुन्दर धड़ों और बिना धड़के मस्तकोंको देख-देखकर ये अनुगामिनी स्त्रियाँ मूर्छित-सी हो रही हैं ॥ ५१ ॥

शिरः कायेन संधाय प्रेक्षमाणा विचेतसः ।
अपश्यन्त्योऽपरं तत्र नेदमस्येति दुःखिताः ॥ ५२ ॥

'कितनी ही अचेत-सी होकर स्वजनोंकी खोज करनेवाली स्त्रियाँ एक मस्तकको निकटवर्ती धड़के साथ जोड़ करके देखती हैं और जब वह मस्तक उससे नहीं जुड़ता तथा दूसरा कोई मस्तक वहाँ देखनेमें नहीं आता तो वे दुखी होकर कहने लगती हैं कि यह तो उनका सिर नहीं है ॥ ५२ ॥

बाहूरुचरणानन्यान् विशिखोन्मथितान् पृथक् ।
संदधत्योऽसुखाविष्टा मूर्च्छन्त्येताः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

'बाणोंसे कट-कटकर अलग हुई बाँहों, जाँघों और पैरोंको जोड़ती हुई ये दुखी अबलाएँ बारंबार मूर्छित हो जाती हैं॥

उत्कृत्तशिरसश्चान्यान् विजग्धान् मृगपक्षिभिः।
दृष्ट्वा काश्चिन्न जानन्ति भर्तॄन् भरतयोषितः ॥ ५४ ॥

'कितनी ही लाशोंके सिर कटकर गायब हो गये हैं, कितनोंको मांसभक्षी पशुओं और पक्षियोंने खा डाला है; अतः उनको देखकर भी ये हमारे ही पति हैं, इस रूपमें भरतकुलकी स्त्रियाँ पहचान नहीं पाती हैं ॥ ५४ ॥

पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मधुसूदन ।
प्रेक्ष्य भ्रातॄन् पितॄन् पुत्रान् पतींश्च निहतान् परैः ॥५५॥

'मधुसूदन ! देखो, बहुत-सी स्त्रियाँ शत्रुओंद्वारा मारे गये भाइयों, पिताओं, पुत्रों और पतियोंको देखकर अपने हाथों-से सिर पीट रही हैं ॥ ५५॥

बाहुभिश्च सखड्गैश्च शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
अगम्यकल्पा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ ५६ ॥

'खड्गयुक्त भुजाओं और कुण्डलोंसहित मस्तकोंसे ढँकी हुई इस पृथ्वीपर चलना-फिरना असम्भव हो गया है। यहाँ मांस और रक्तकी कीच जम गयी है ॥ ५६ ॥

न दुःखेषूचिताः पूर्वं दुःखं गाहन्त्यनिन्दिताः ।
भ्रातृभिः पतिभिः पुत्रैरुपाकीर्णा वसुंधरा ॥ ५७ ॥

'ये सती साध्वी सुन्दरी स्त्रियाँ पहले कभी ऐसे दुःखमें नहीं पड़ी थीं; किंतु आज दुःखके समुद्रमें डूब रही हैं। यह सारी पृथ्वी इनके भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे ढँक गयी है ॥ ५७ ॥

यूथानीव किशोरीणां सुकेशीनां जनार्दन ।
स्नुषाणां धृतराष्ट्रस्य पश्य वृन्दान्यनेकशः ॥ ५८ ॥

'जनार्दन ! देखो, महाराज धृतराष्ट्रकी सुन्दर केशोंवाली पुत्रवधुओंकी ये कई टोलियाँ बछेड़ियोंके झुंडके समान दिखायी दे रही हैं ॥ ५८ ॥

इतो दुःखतरं किं नु केशव प्रतिभाति मे ।
यदिमाः कुर्वते सर्वा रवमुच्चावचं स्त्रियः ॥ ५९ ॥

'केशव ! मेरे लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि ये सारी बहुएँ यहाँ आकर अनेक प्रकारसे आर्तनाद कर रही हैं ॥ ५९ ॥

नूनमाचरितं पापं मया पूर्वेषु जन्मसु ।
या पश्यामि हतान् पुत्रान् पौत्रान् भ्रातॄंश्च माधव॥६०॥

'माधव ! निश्चय ही मैंने पूर्वजन्मोंमें कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिससे आज अपने पुत्रों, पौत्रों और भाइयों-को यहाँ मारा गया देख रही हूँ' ॥ ६० ॥

एवमार्ता विलपती समाभाष्य जनार्दनम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता ददर्श निहतं सुतम् ॥ ६१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके पुत्रशोकसे व्याकुल हो इस प्रकार आर्तविलाप करती हुई गान्धारीने युद्ध-में मारे गये अपने पुत्र दुर्योधनको देखा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि आयोधनदर्शने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें युद्धदर्शनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

दुर्योधन तथा उसके पास रोती हुई पुत्रवधूको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गान्धारी शोककर्शिता ।
सहसा न्यपतद् भूमौ छिन्नेव कदली वने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनको मारा गया देखकर शोकसे पीड़ित हुई गान्धारी वनमें कटे हुए केलेके वृक्षकी तरह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ १ ॥

सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां विक्रुश्य च विलप्य च।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य शयानं रुधिरोक्षितम्॥ २ ॥
परिष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत्।
हा हा पुत्रेति शोकार्ता विललापाकुलेन्द्रिया॥ ३ ॥

पुनः होशमें आनेपर अपने पुत्रको पुकार-पुकारकर वे विलाप करने लगीं। दुर्योधनको खूनसे लथपथ होकर सोया देख उसे हृदयसे लगाकर गान्धारी दीन होकर रोने लगीं। उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं। वे शोकसे आतुर हो 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहकर विलाप करने लगीं ॥ २-३ ॥

सुगूढजत्रुविपुलं हारनिष्कविभूषितम्।
वारिणा नेत्रजेनोरः सिंचन्ती शोकतापिता॥ ४ ॥

दुर्योधनके गलेकी विशाल हड्डी मांससे छिपी हुई थी। उसने गलेमें हार और निष्क पहन रक्खे थे। उन आभूषणोंसे विभूषित बेटेके वक्षःस्थलको आँसुओंसे सींचती हुई गान्धारी शोकाग्निसे संतप्त हो रही थीं ॥ ४ ॥

समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत्।
उपस्थितेऽस्मिन् संग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो॥ ५ ॥
मामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः।
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे॥ ६ ॥

वे पास ही खड़े हुए श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहने लगीं—'वृष्णिनन्दन! प्रभो! भाई-बन्धुओंका विनाश करनेवाला जब यह भीषण संग्राम उपस्थित हुआ था, उस समय इस नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने मुझसे हाथ जोड़कर कहा—'माताजी! कुटुम्बीजनोंके इस संग्राममें आप मुझे मेरी विजयके लिये आशीर्वाद दें' ॥ ५-६ ॥

इत्युक्ते जानती सर्वमहं स्वव्यसनागमम्।
अब्रवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह श्रीकृष्ण! उसके ऐसा कहनेपर मैं यह सब जानती थी कि मुझपर बड़ा भारी संकट आनेवाला है, तथापि मैंने उससे यही कहा—'जहाँ धर्म है, वहीं विजय है'॥ ७ ॥

यथा च युध्यमानस्त्वं न वै मुह्यसि पुत्रक।
ध्रुवं शस्त्रजिताँल्लोकान् प्राप्स्यस्यमरवत् प्रभो॥ ८ ॥

''बेटा! शक्तिशाली पुत्र! यदि तुम युद्ध करते हुए धर्मसे मोहित न होओगे तो निश्चय ही देवताओंके समान शस्त्रोंद्वारा जीते हुए लोकोंको प्राप्त कर लोगे' ॥ ८ ॥

इत्येवमब्रवं पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो।
धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतबान्धवम्॥ ९ ॥

'प्रभो! यह बात मैंने पहले ही कह दी थी; इसलिये मुझे इस दुर्योधनके लिये शोक नहीं हो रहा है। मैं तो इन दीन राजा धृतराष्ट्रके लिये शोकमग्न हो रही हूँ, जिनके सारे भाई-बन्धु मार डाले गये ॥ ९ ॥

अमर्षणं युधां श्रेष्ठं कृतास्त्रं युद्धदुर्मदम्।
शयानं वीरशयने पश्य माधव मे सुतम्॥ १० ॥

'माधव! अमर्षशील, योद्धाओंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके ज्ञाता, रणदुर्मद तथा वीरशय्यापर सोये हुए मेरे इस पुत्रको देखो तो सही ॥ १० ॥

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे याति परंतपः।
सोऽयं पांसुषु शेतेऽद्य पश्य कालस्य पर्ययम्॥ ११ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाला जो दुर्योधन मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे-आगे चलता था, वही आज यह धूलमें लोट रहा है। कालके इस उलट-फेरको तो देखो ॥ ११ ॥

ध्रुवं दुर्योधनो वीरो गतिं न सुलभां गतः।
तथा ह्यभिमुखः शेते शयने वीरसेविते॥ १२ ॥

'निश्चय ही वीर दुर्योधन उस उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है, जो सबके लिये सुलभ नहीं है; क्योंकि यह वीरसेवित शय्यापर सामने मुहँ किये सो रहा है ॥ १२ ॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः।
तं वीरशयने सुप्तं रमयन्त्यशिवाः शिवाः॥ १३ ॥

'पूर्वकालमें जिसके पास बैठकर सुन्दरी स्त्रियाँ उसका मनोरंजन करती थीं, वीरशय्यापर सोये हुए आज उसी वीरका ये अमङ्गलकारिणी गीदड़ियाँ मन-बहलाव करती हैं ॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तं पर्युपासते॥ १४ ॥

'जिसके पास पहले राजा लोग बैठकर उसे आनन्द प्रदान करते थे, आज मरकर धरतीपर पड़े हुए उसी वीरके पास गीध बैठे हुए हैं ॥ १४ ॥

यं पुरा व्यजनैं रम्यैरुपवीजन्ति योषितः।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः॥ १५ ॥

'पहले जिसके पास खड़ी होकर युवतियाँ सुन्दर पंखे झला करती थीं, आज उसीको पक्षीगण अपनी पाँखोंसे हवा करते हैं ॥ १५ ॥

एष शेते महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः।
सिंहेनेव द्विपः संख्ये भीमसेनेन पातितः॥ १६ ॥

'यह महाबाहु सत्यपराक्रमी बलवान् वीर दुर्योधन भीमसेनके द्वारा गिराया जाकर युद्धस्थलमें सिंहके मारे हुए गजराजके समान सो रहा है ॥ १६ ॥

पश्य दुर्योधनं कृष्ण शयानं रुधिरोक्षितम्।
निहतं भीमसेनेन गदां सम्मृज्य भारतम्॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण! भीमसेनकी चोट खाकर खूनसे लथपथ हो गदा लिये धरतीपर सोये हुए दुर्योधनको अपनी आँखसे देख लो ॥ १७ ॥

अक्षौहिणीर्महाबाहुर्दश चैकां च केशव।
आनयद् यः पुरा संख्ये सोऽनयान्निधनं गतः॥ १८ ॥

'केशव! जिस महाबाहु वीरने पहले ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंको जुटा लिया था, वही अपनी अनीतिके कारण युद्धमें मार डाला गया ॥ १८ ॥

एष दुर्योधनः शेते महेष्वासो महाबलः।
शार्दूल इव सिंहेन भीमसेनेन पातितः॥ १९ ॥

'सिंहके मारे हुए दूसरे सिंहके समान भीमसेनके हाथों

मारा गया यह महाबली महाधनुर्धर दुर्योधन सो रहा है ॥ १९ ॥

विदुरं ह्यवमत्यैष पितरं चैव मन्दभाक्।
बालो वृद्धावमानेन मन्दो मृत्युवशं गतः ॥ २० ॥

'यह मूर्ख और अभागा बालक विदुर तथा अपने पिताका अपमान करके बड़े-बूढ़ोंकी अवहेलनाके पापसे ही कालके गालमें चला गया है ॥ २० ॥

निःसपत्ना मही यस्य त्रयोदश समाः स्थिता।
स शेते निहतो भूमौ पुत्रो मे पृथिवीपतिः ॥ २१ ॥

'यह सारी पृथ्वी तेरह वर्षोंतक निष्कण्टक भावसे जिसके अधिकारमें रही है, वही मेरा पुत्र पृथ्वीपति दुर्योधन आज मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥ २१ ॥

अपश्यं कृष्ण पृथिवीं धार्तराष्ट्रानुशासिताम्।
पूर्णां हस्तिगवाश्वैश्च वार्ष्णेय न तु तच्चिरम् ॥ २२ ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! मैंने दुर्योधनद्वारा शासित हुई इस पृथ्वीको हाथी, घोड़े और गौओंसे भरी-पूरी देखा था; किंतु वह राज्य चिरस्थायी न रह सका ॥ २२ ॥

तामेवाद्य महाबाहो पश्याम्यन्यानुशासिताम्।
हीनां हस्तिगवाश्वेन किं नु जीवामि माधव ॥ २३ ॥

'महाबाहु माधव! आज उसी पृथ्वीको मैं देखती हूँ कि वह दूसरेके शासनमें जाकर हाथी, घोड़े और गाय-बैलोंसे हीन हो गयी है; फिर मैं किस लिये जीवन धारण करूँ? २३

इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम।
यदिमाः पर्युपासन्ते हताञ्शूरान् रणे स्त्रियः ॥ २४ ॥

'मेरे लिये पुत्रके वधसे भी अधिक कष्ट देनेवाली बात यह है कि ये स्त्रियाँ रणभूमिमें मारे गये अपने शूरवीर पतियोंके पास बैठी रो रही हैं। इनकी दयनीय दशा तो देखो ॥

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम्।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण! सुवर्णकी वेदीके समान तेजस्विनी तथा सुन्दर कटि-प्रदेशवाली उस लक्ष्मणकी माताको तो देखो, जो दुर्योधनके शुभ-अङ्कमें स्थित हो केश खोले रो रही है ॥२५॥

नूनमेषा पुरा बाला जीवमाने महाभुजे।
भुजावाश्रित्य रमते सुभुजस्य मनस्विनी ॥ २६ ॥

'पहले जब राजा दुर्योधन जीवित था, तब निश्चय ही यह मनस्विनी बाला सुन्दर बाँहोंवाले अपने वीर पतिकी दोनों भुजाओंका आश्रय लेकर इसी तरह उसके साथ सानन्द क्रीड़ा करती रही होगी ॥ २६ ॥

कथं तु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पुत्रेण सहितं रणे ॥ २७ ॥

'रणभूमिमें वही मेरा पुत्र अपने पुत्रके साथ ही मार डाला गया है, इसे इस अवस्थामें देखकर मेरे इस हृदयके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? ॥ २७ ॥

पुत्रं रुधिरसंसिक्तमुपजिघ्रत्यनिन्दिता।
दुर्योधनं तु वामोरूः पाणिना परिमार्जती ॥ २८ ॥

'सुन्दर जाँघोंवाली मेरी सती साध्वी पुत्रवधू कभी खूनसे भीगे हुए अपने पुत्र लक्ष्मणका मुँह सूँघती है तो कभी पति दुर्योधनका शरीर अपने हाथसे पोंछती है ॥ २८ ॥

किं नु शोचति भर्तारं पुत्रं चैषा मनस्विनी।
तथा ह्यवस्थिता भाति पुत्रं चाप्यभिवीक्ष्य सा ॥ २९ ॥
स्वशिरः पञ्चशाखाभ्यामभिहत्यायतेक्षणा।
पतत्युरसि वीरस्य कुरुराजस्य माधव ॥ ३० ॥

'पता नहीं, यह मनस्विनी बहू पुत्रके लिये शोक करती है या पतिके लिये? कुछ ऐसी ही अवस्थामें वह जान पड़ती है। माधव! वह देखो, वह विशाललोचना वधू पुत्रकी ओर देखकर दोनों हाथोंसे सिर पीटती हुई अपने वीर पति कुरुराजकी छातीपर गिर पड़ी है ॥ २९-३० ॥

पुण्डरीकनिभा भाति पुण्डरीकान्तरप्रभा।
मुखं विमृज्य पुत्रस्य भर्तुश्चैव तपस्विनी ॥ ३१ ॥

'कमल-पुष्पके भीतरी भागकी-सी मनोहर कान्तिवाली मेरी तपस्विनी पुत्रवधू जो प्रफुल्ल कमलके समान सुशोभित हो रही है, कभी अपने पुत्रका मुँह पोंछती है तो कभी अपने पतिका ॥ ३१ ॥

यदि सत्यागमाः सन्ति यदि वै श्रुतयस्तथा।
ध्रुवं लोकानवाप्तोऽयं नृपो बाहुबलार्जितान् ॥ ३२ ॥

'श्रीकृष्ण! यदि वेद-शास्त्र सत्य हैं तो मेरा पुत्र यह राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने बाहुबलसे प्राप्त हुए पुण्यमय लोकोंमें गया है' ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि दुर्योधनदर्शने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें दुर्योधनका दर्शनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अपने अन्य पुत्रों तथा दुःशासनको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

पश्य माधव पुत्रान्मे शतसंख्याञ्जितक्लमान्।
गदया भीमसेनेन भूयिष्ठं निहतान् रणे ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव! जो परिश्रमको जीत चुके थे, उन मेरे सौ पुत्रोंको देखो, जिन्हें रणभूमिमें प्रायः भीमसेनने अपनी गदासे मार डाला है ॥ १ ॥

इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः ॥ २ ॥

सबसे अधिक दुःख मुझे आज यह देखकर हो रहा है कि ये मेरी बालवधुएँ, जिनके पुत्र भी मारे जा चुके हैं, रणभूमिमें केश खोले चारों ओर अपने स्वजनोंकी खोजमें दौड़ रही हैं ॥ २ ॥

प्रासादतलचारिण्यश्चरणैर्भूषणान्वितैः ।
आपन्ना यत् स्पृशन्तीमां रुधिरार्द्रां वसुन्धराम् ॥ ३ ॥

ये महलकी अट्टालिकाओंमें आभूषणभूषित चरणोंद्वारा विचरण करनेवाली थीं; परंतु आज विपत्तिकी मारी हुई ये इस खूनसे भीगी हुई वसुधाका स्पर्श कर रही हैं ॥ ३ ॥

कृच्छ्रादुत्सारयन्ति स्म गृध्रगोमायुवायसान् ।
दुःखेनार्ता विघूर्णन्त्यो मत्ता इव चरन्त्युत ॥ ४ ॥

ये दुःखसे आतुर हो पगली स्त्रियोंके समान झूमती हुई सब ओर विचरती हैं तथा बड़ी कठिनाईसे गीधों, गीदड़ों और कौओंको लाशोंके पाससे दूर हटा रही हैं ॥ ४ ॥

एषान्या त्वनवद्याङ्गी करसम्मितमध्यमा ।
घोरमायोधनं दृष्ट्वा निपतत्यतिदुःखिता ॥ ५ ॥

यह पतली कमरवाली सर्वाङ्गसुन्दरी दूसरी वधू युद्धस्थलका भयानक दृश्य देखकर अत्यन्त दुखी हो पृथ्वीपर गिर पड़ती है ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा मे पार्थिवसुतामेतां लक्ष्मणमातरम् ।
राजपुत्रीं महाबाहो मनो न ह्युपशाम्यति ॥ ६ ॥

महाबाहो ! यह लक्ष्मणकी माता एक भूमिपालकी बेटी है, इस राजकुमारीकी दशा देखकर मेरा मन किसी तरह शान्त नहीं होता है ॥ ६ ॥

भ्रातॄंश्चान्याः पितॄंश्चान्याः पुत्रांश्च निहतान् भुवि ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्येताः प्रगृह्य सुमहाभुजान् ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ रणभूमिमें मारे गये अपने भाइयोंको, कुछ पिताओंको और कुछ पुत्रोंको देखकर उन महाबाहु वीरोंको पकड़ लेती और वहीं गिर पड़ती हैं ॥ ७ ॥

मध्यमानां तु नारीणां वृद्धानां चापराजित ।
आक्रन्दं हतबन्धूनां दारुणे वैशसे शृणु ॥ ८ ॥

अपराजित वीर ! इस दारुण संग्राममें जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, उन अधेड़ और बूढ़ी स्त्रियोंका यह करुणाजनक क्रन्दन सुनो ॥ ८ ॥

रथनीडानि देहांश्च हतानां गजवाजिनाम् ।
आश्रित्य श्रममोहार्ताः स्थिताः पश्य महाभुज ॥ ९ ॥

महाबाहो ! देखो, ये स्त्रियाँ परिश्रम और मोहसे पीड़ित हो टूटे हुए रथोंकी बैठकों तथा मारे गये हाथी-घोड़ोंकी लाशोंका सहारा लेकर खड़ी हैं ॥ ९ ॥

अन्यां चापहृतं कायाच्चारुकुण्डलमुन्नसम् ।
स्वस्य बन्धोः शिरः कृष्ण गृहीत्वा पश्य तिष्ठतीम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, वह दूसरी स्त्री किसी आत्मीय जनके मनोहर कुण्डलोंसे सुशोभित और ऊँची नासिकावाले कटे हुए मस्तकको लेकर खड़ी है ॥ १० ॥

पूर्वजातिकृतं पापं मन्ये नाल्पमिवानघ ।
एताभिर्निरवद्याभिर्मया चैवाल्पमेधया ॥ ११ ॥
यदिदं धर्मराजेन पातितं नो जनार्दन ।
न हि नाशोऽस्ति वार्ष्णेय कर्मणोः शुभपापयोः ॥ १२ ॥

अनघ ! मैं समझती हूँ कि इन अनिन्द्य सुन्दरी अबलाओंने तथा मन्द बुद्धिवाली मैंने भी पूर्वजन्मोंमें कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिसके फलस्वरूप धर्मराजने हमलोगोंको बड़ी भारी विपत्तिमें डाल दिया है । जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! जान पड़ता है कि किये हुए पुण्य और पापकर्मोंका उनके फलका उपभोग किये बिना नाश नहीं होता है ॥ ११-१२ ॥

प्रत्यग्रवयसः पश्य दर्शनीयकुचाननाः ।
कुलेषु जाता ह्रीमत्यः कृष्णपक्ष्माक्षिमूर्धजाः ॥ १३ ॥
हंसगद्गदभाषिण्यो दुःखशोकप्रमोहिताः ।
सारस्य इव वाशन्त्यः पतिताः पश्य माधव ॥ १४ ॥

माधव ! देखो, इन महिलाओंकी नयी अवस्था है । इनके वक्षःस्थल और मुख दर्शनीय हैं । इनकी आँखोंकी बरौनियाँ और सिरके केश काले हैं । ये सब-की-सब कुलीन और सलज्ज हैं । ये हंसके समान गद्गद स्वरमें बोलती हैं; परंतु आज दुःख और शोकसे मोहित हो चहचहाती सारसियोंके समान रोती-बिलखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी हैं ॥ १३-१४ ॥

फुल्लपद्मप्रकाशानि पुण्डरीकाक्ष योषिताम् ।
अनवद्यानि वक्त्राणि तापयत्येष रश्मिवान् ॥ १५ ॥

कमलनयन ! खिले हुए कमलके समान प्रकाशित होनेवाले युवतियोंके इन सुन्दर मुखोंको ये सूर्यदेव संतप्त कर रहे हैं ॥ १५ ॥

ईर्षूणां मम पुत्राणां वासुदेवावरोधनम् ।
मत्तमातङ्गदर्पाणां पश्यन्त्यद्य पृथग्जनाः ॥ १६ ॥

वासुदेव ! मतवाले हाथीके समान घमंडमें चूर रहनेवाले मेरे ईर्ष्यालु पुत्रोंकी इन रानियोंको आज साधारण लोग देख रहे हैं ॥ १६ ॥

शतचन्द्राणि चर्माणि ध्वजांश्चादित्यवर्चसः ।
रौक्माणि चैव वर्माणि निष्कानपि च काञ्चनान् ॥ १७ ॥
शीर्षत्राणानि चैतानि पुत्राणां मे महीतले ।
पश्य दीप्तानि गोविन्द पावकान् सुहुतानिव ॥ १८ ॥

गोविन्द ! देखो, मेरे पुत्रोंकी ये सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित ढालें, सूर्यके समान तेजस्विनी ध्वजाएँ, सुवर्णमय कवच, सोनेके निष्क तथा शिरस्त्राण घीकी उत्तम आहुति पाकर प्रज्वलित हुई अग्नियोंके समान पृथ्वीपर देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ १७-१८ ॥

एष दुःशासनः शेते शूरेणामित्रघातिना ।
पीतशोणितसर्वाङ्गो युधि भीमेन पातितः ॥ १९ ॥

शत्रुघाती शूरवीर भीमसेनने युद्धमें जिसे मार गिराया तथा जिसके सारे अङ्गोंका रक्त पी लिया, वही यह दुःशासन यहाँ सो रहा है ॥ १९ ॥

गदया भीमसेनेन पश्य माधव मे सुतम् ।
द्यूतक्लेशाननुस्मृत्य द्रौपदीनोदितेन च ॥ २० ॥

माधव ! देखो, द्यूतक्रीडाके समय पाये हुए क्लेशोंको स्मरण करके द्रौपदीसे प्रेरित हुए भीमसेनने मेरे इस पुत्रको गदासे मार डाला है ॥ २० ॥

उक्ता ह्यनेन पाञ्चाली सभायां द्यूतनिर्जिता ।

प्रियं चिकीर्षता भ्रातुः कर्णस्य च जनार्दन ॥ २१ ॥
सहैव सहदेवेन नकुलेनार्जुनेन च ।
दासीभूतासि पाञ्चालि क्षिप्रं प्रविश नो गृहान्॥ २२ ॥

जनार्दन ! इसने अपने भाई और कर्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सभामें जूएसे जीती गयी द्रौपदीके प्रति कहा था कि 'पाञ्चालि ! तू नकुल-सहदेव तथा अर्जुनके साथ ही हमारी दासी हो गयी; अतः शीघ्र ही हमारे घरोंमें प्रवेश कर' २१-२२

ततोऽहमब्रवं कृष्ण तदा दुर्योधनं नृपम् ।
मृत्युपाशपरिक्षिप्तं शकुनिं पुत्र वर्जय ॥ २३ ॥
निबोधैनं सुदुर्बुद्धिं मातुलं कलहप्रियम् ।
क्षिप्रमेनं परित्यज्य पुत्र शाम्यस्व पाण्डवैः ॥ २४ ॥
न बुद्ध्यसे त्वं दुर्बुद्धे भीमसेनममर्षणम् ।
वाङ्नाराचैस्तुदंस्तीक्ष्णैरुल्काभिरिव कुञ्जरम्॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण ! उस समय मैं राजा दुर्योधनसे बोली—'बेटा ! शकुनि मौतके फँदेमें फँसा हुआ है । तुम इसका साथ छोड़ दो । पुत्र ! तुम अपने इस खोटी बुद्धिवाले मामाको कलहप्रिय समझो और शीघ्र ही इसका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । दुर्बुद्धे ! तुम नहीं जानते कि भीमसेन कितने अमर्षशील हैं । तभी जलती लकड़ीसे हाथीको मारनेके समान तुम अपने तीखे वाग्बाणोंसे उन्हें पीड़ा दे रहे हो' ॥ २३—२५ ॥

तानेवं रहसि क्रुद्धो वाक्शल्यानवधारयन् ।
उत्ससर्ज विषं तेषु सर्पो गोवृषभेष्विव ॥ २६ ॥

इस प्रकार एकान्तमें मैंने उन सबको डाँटा था । श्रीकृष्ण ! उन्हीं वाग्बाणोंको याद करके क्रोधी भीमसेनने मेरे पुत्रोंपर उसी प्रकार क्रोधरूपी विष छोड़ा है, जैसे सर्प गाय-बैलोंको डँसकर उनमें अपने विषका संचार कर देता है॥२६॥

एष दुःशासनः शेते विक्षिप्य विपुलौ भुजौ ।
निहतो भीमसेनेन सिंहेनेव महागजः ॥ २७ ॥

सिंहके मारे हुए विशाल हाथीके समान भीमसेनका मारा हुआ यह दुःशासन दोनों विशाल हाथ फैलाये रणभूमिमें पड़ा हुआ है ॥ २७ ॥

अत्यर्थमकरोद् रौद्रं भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
दुःशासनस्य यत् क्रुद्धोऽपिबच्छोणितमाहवे ॥ २८ ॥

अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेनने युद्धस्थलमें क्रुद्ध होकर जो दुःशासनका रक्त पी लिया, यह बड़ा भयानक कर्म किया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्येऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

विकर्ण, दुर्मुख, चित्रसेन, विविंशति तथा दुःसहको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

एष माधव पुत्रो मे विकर्णः प्राज्ञसम्मतः ।
भूमौ विनिहतः शेते भीमेन शतधा कृतः ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! यह मेरा पुत्र विकर्ण, जो विद्वानोंद्वारा सम्मानित होता था, भूमिपर मरा पड़ा है । भीमसेनने इसके भी सौ-सौ टुकड़े कर डाले हैं ॥ १ ॥

गजमध्ये हतः शेते विकर्णो मधुसूदन ।
नीलमेघपरिक्षिप्तः शरदीव निशाकरः ॥ २ ॥

मधुसूदन ! जैसे शरत्कालमें काले मेघोंकी घटासे घिरा हुआ चन्द्रमा शोभा पा रहा हो, उसी प्रकार भीमद्वारा मारा गया विकर्ण हाथियोंकी सेनाके बीचमें सो रहा है ॥२॥

अस्य चापग्रहेणैव पाणिः कृतकिणो महान् ।
कथञ्चिच्छिद्यते गृध्रैरत्तुकामैस्तलत्रवान् ॥ ३ ॥

बराबर धनुष लिये रहनेसे इसकी विशाल हथेलीमें घट्ठा पड़ गया है । इसके हाथमें इस समय भी दस्ताना बँधा हुआ है; इसलिये इसे खानेकी इच्छावाले गीध बड़ी कठिनाईसे किसी-किसी तरह काट पाते हैं ॥ ३ ॥

अस्य भार्याऽऽमिषप्रेप्सून् गृध्रकाकांस्तपस्विनी ।
वारयत्यनिशं बाला न च शक्नोति माधव ॥ ४ ॥

माधव ! उसकी तपस्विनी पत्नी जो अभी बालिका है, इसलोलुप गीधों और कौओंको हटानेकी निरन्तर चेष्टा करती है; परंतु सफल नहीं हो पाती है ॥ ४ ॥

युवा वृन्दारकः शूरो विकर्णः पुरुषर्षभ ।
सुखोषितः सुखार्हश्च शेते पांसुषु माधव ॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर माधव ! विकर्ण नवयुवक, देवताके समान कान्तिमान्, शूरवीर, सुखमें पला हुआ तथा सुख भोगनेके ही योग्य था; परंतु आज धूलमें लोट रहा है ॥ ५ ॥

कर्णिनालीकनाराचैर्भिन्नमर्माणमाहवे ।
अद्यापि न जहात्येनं लक्ष्मीर्भरतसत्तमम् ॥ ६ ॥

युद्धमें कर्णी, नालीक और नाराचोंके प्रहारसे इसके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये हैं तो भी इस भरतभूषण वीरको अभीतक लक्ष्मी (अङ्गकान्ति) छोड़ नहीं रही है ॥ ६ ॥

एष संग्रामशूरेण प्रतिज्ञां पालयिष्यता ।
दुर्मुखोऽभिमुखः शेते हतोऽरिगणहा रणे ॥ ७ ॥

जो शत्रुसमूहोंका संहार करनेवाला था, वह दुर्मुख प्रतिज्ञा पालन करनेवाले संग्राम-शूर भीमसेनके हाथों मारा जाकर समरमें सम्मुख सो रहा है ॥ ७ ॥

तस्यैतद् वदनं कृष्ण श्वापदैरर्धभक्षितम् ।
विभात्यभ्यधिकं तात सप्तम्यामिव चन्द्रमाः ॥ ८ ॥

तात श्रीकृष्ण ! इसका यह मुख हिंसक जन्तुओंद्वारा आधा खा लिया गया है, इसलिये सप्तमीके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥ ८ ॥

शूरस्य हि रणे कृष्ण पश्याननमथेदृशम् ।
स कथं निहतोऽमित्रैः पांसून् ग्रसति मे सुतः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, मेरे इस रणशूर पुत्रका मुख कैसा तेजस्वी है ? पता नहीं, मेरा यह वीर पुत्र किस तरह शत्रुओंके हाथसे मारा जाकर धूल फाँक रहा है ? ॥ ९ ॥

यस्याहवमुखे सौम्य स्थाता नैवोपपद्यते ।
स कथं दुर्मुखोऽमित्रैर्हतो विबुधलोकजित् ॥ १० ॥

सौम्य ! युद्धके मुहानेपर जिसके सामने कोई ठहर नहीं पाता था, उस देवलोकविजयी दुर्मुखको शत्रुओंने कैसे मार डाला ? ॥ १० ॥

चित्रसेनं हतं भूमौ शयानं मधुसूदन ।
धार्तराष्ट्रमिमं पश्य प्रतिमानं धनुष्मताम् ॥ ११ ॥

मधुसूदन ! देखो, जो धनुर्धरोंका आदर्श था, वही यह धृतराष्ट्रका पुत्र चित्रसेन मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा हुआ है॥

तं चित्रमाल्याभरणं युवत्यः शोककर्शिताः ।
क्रव्यादसंघैः सहिता रुदत्यः पर्युपासते ॥ १२ ॥

विचित्र माला और आभूषण धारण करनेवाले उस चित्रसेनको घेरकर शोकसे कातर हो रोती हुई युवतियाँ हिंसक जन्तुओंके साथ उसके पास बैठी हैं ॥ १२ ॥

स्त्रीणां रुदितनिर्घोषः श्वापदानां च गर्जितम् ।
चित्ररूपमिदं कृष्ण विचित्रं प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! एक ओर स्त्रियोंके रोनेकी आवाज है तो दूसरी ओर हिंसक जन्तुओंकी गर्जना हो रही है । यह अद्भुत दृश्य मुझे विचित्र प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

युवा वृन्दारको नित्यं प्रवरस्त्रीनिषेवितः ।
विविंशतिरसौ शेते ध्वस्तः पांसुषु माधव ॥ १४ ॥

माधव ! देखो, वह देवतुल्य नवयुवक विविंशति, जिसकी सुन्दरी स्त्रियाँ सदा सेवा किया करती थीं, आज विध्वस्त होकर धूलमें पड़ा है ॥ १४ ॥

शरसंकृत्तवर्माणं वीरं विशसने हतम् ।
परिवार्यासते गृध्राः पश्य कृष्ण विविंशतिम् ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, बाणोंसे इसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया है । युद्धमें मारे गये इस वीर विविंशतिको गीध चारों ओरसे घेरकर बैठे हैं ॥ १५ ॥

प्रविश्य समरे शूरः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
स वीरशयने शेते परः सत्पुरुषोचिते ॥ १६ ॥

जो शूरवीर समराङ्गणमें पाण्डवोंकी सेनाके भीतर घुसकर लोहा लेता था, वही आज सत्पुरुषोचित वीरशय्यापर शयन कर रहा है ॥ १६ ॥

स्मितोपपन्नं सुनसं सुभ्रु ताराधिपोपमम् ।
अतीव शुभ्रं वदनं कृष्ण पश्य विविंशतेः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, विविंशतिका मुख अत्यन्त उज्ज्वल है, इसके अधरोंपर मुस्कराहट खेल रही है, नासिका मनोहर और भौंहें सुन्दर हैं । यह मुख चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है ॥ १७ ॥

एनं हि पर्युपासन्ते बहुधा वरयोषितः ।
क्रीडन्तमिव गन्धर्वं देवकन्याः सहस्रशः ॥ १८ ॥

जैसे क्रीडा करते हुए गन्धर्वके साथ सहस्रों देवकन्याएँ होती हैं, उसी प्रकार इस विविंशतिकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ रहा करती थीं ॥ १८ ॥

हन्तारं परसैन्यानां शूरं समितिशोभनम् ।
निबर्हणममित्राणां दुःसहं विषहेत कः ॥ १९ ॥

शत्रुकी सेनाओंका संहार करनेमें समर्थ तथा युद्धमें शोभा पानेवाले शूरवीर शत्रुसूदन दुःसहका वेग कौन सह सकता था ? ॥ १९ ॥

दुःसहस्यैतदाभाति शरीरं संवृतं शरैः ।
गिरिरात्मगतैः फुल्लैः कर्णिकारैरिवाचितः ॥ २० ॥

उसी दुःसहका यह शरीर बाणोंसे खचाखच भरा हुआ है, जो अपने ऊपर खिले हुए कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतके समान सुशोभित होता है ॥ २० ॥

शातकौम्भ्या स्रजा भाति कवचेन च भास्वता ।
अग्निनेव गिरिः श्वेतो गतासुरपि दुःसहः ॥ २१ ॥

यद्यपि दुःसहके प्राण चले गये हैं तो भी वह सोनेकी माला और तेजस्वी कवचसे सुशोभित हो अग्नियुक्त श्वेत पर्वतके समान जान पड़ता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

गान्धारीद्वारा श्रीकृष्णके प्रति उत्तरा और विराटकुलकी स्त्रियोंके शोक एवं विलापका वर्णन

गान्धार्युवाच

अध्यर्धगुणमाहुर्यं बले शौर्ये च केशव ।
पित्रा त्वया च दाशार्ह दृप्तं सिंहमिवोत्कटम् ॥ १ ॥
यो बिभेद चमूमेको मम पुत्रस्य दुर्भिदाम् ।
स भूत्वा मृत्युरन्येषां स्वयं मृत्युवशं गतः ॥ २ ॥

गान्धारी बोलीं—दशार्हनन्दन केशव ! जिसे बल और शौर्यमें अपने पितासे तथा तुमसे भी डेढ़ गुना बताया जाता था, जो प्रचण्ड सिंहके समान अभिमानमें भरा रहता था, जिसने अकेले ही मेरे पुत्रके दुर्भेद्य व्यूहको तोड़ डाला था, वही अभिमन्यु दूसरोंकी मृत्यु बनकर स्वयं भी मृत्युके अधीन हो गया ॥ १-२ ॥

तस्योपलक्षये कृष्ण कार्ष्णेरमिततेजसः ।
अभिमन्योर्हतस्यापि प्रभा नैवोपशाम्यति ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं देख रही हूँ कि मारे जानेपर भी अमित

तेजस्वी अर्जुनपुत्र अभिमन्युकी कान्ति अभी बुझ नहीं पा रही है ॥ ३ ॥

एषा विराटदुहिता स्नुषा गाण्डीवधन्वनः ।
आर्ता बालं पतिं वीरं दृष्ट्वा शोचत्यनिन्दिता ॥ ४ ॥

यह राजा विराटकी पुत्री और गाण्डीवधारी अर्जुनकी पुत्रवधू सती साध्वी उत्तरा अपने बालक पति वीर अभिमन्युको मरा देख आर्त होकर शोक प्रकट कर रही है ॥ ४ ॥

तमेषा हि समागम्य भार्या भर्तारमन्तिके ।
विराटदुहिता कृष्ण पाणिना परिमार्जति ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! यह विराटकी पुत्री और अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा अपने पतिके निकट जा उसके शरीरपर हाथ फेर रही है॥

तस्य वक्त्रमुपाघ्राय सौभद्रस्य मनस्विनी ।
विबुद्धकमलाकारं कम्बुवृत्तशिरोधरम् ॥ ६ ॥
काम्यरूपवती चैषा परिष्वजति भामिनी ।
लज्जमाना पुरा चैनं माध्वीकमदमूर्च्छिता ॥ ७ ॥

सुभद्राकुमारका मुख प्रफुल्ल कमलके समान शोभा पाता है। उसकी ग्रीवा शङ्खके समान और गोल है। कमनीय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित माननीय एवं मनस्विनी उत्तरा पतिके मुखारविन्दको सूँघकर उसे गलेसे लगा रही है। पहले भी यह इसी प्रकार मधुके मदसे अचेत हो सलज्ज भावसे उसका आलिङ्गन करती रही होगी ॥ ६-७ ॥

तस्य क्षतजसंदिग्धं जातरूपपरिष्कृतम् ।
विमुच्य कवचं कृष्ण शरीरमभिवीक्षते ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! अभिमन्युका सुवर्ण-भूषित कवच खूनसे रँग गया है। बालिका उत्तरा उस कवचको खोलकर पतिके शरीरको देख रही है ॥ ८ ॥

अवेक्षमाणा तं बाला कृष्ण त्वामभिभाषते ।
अयं ते पुण्डरीकाक्ष सदृशाक्षो निपातितः ॥ ९ ॥

उसे देखती हुई वह बाला तुमसे पुकारकर कहती है, 'कमलनयन ! आपके भानजेके नेत्र भी आपके ही समान थे। ये रणभूमिमें मार गिराये गये हैं ॥ ९ ॥

बले वीर्ये च सदृशस्तेजसा चैव तेऽनघ ।
रूपेण च तथात्यर्थं शेते भुवि निपातितः ॥ १० ॥

'अनघ ! जो बल, वीर्य, तेज और रूपमें सर्वथा आपके समान थे, वे ही सुभद्राकुमार शत्रुओंद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर सो रहे हैं' ॥ १० ॥

अत्यन्तं सुकुमारस्य राङ्कवाजिनशायिनः ।
कच्चिदद्य शरीरं ते भूमौ न परितप्यते ॥ ११ ॥

(श्रीकृष्ण ! अब उत्तरा अपने पतिको सम्बोधित करके कहती है) 'प्रियतम ! आपका शरीर तो अत्यन्त सुकुमार है। आप रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए सुकोमल बिछौनेपर सोया करते थे। क्या आज इस तरह पृथ्वीपर पड़े रहनेसे आपके शरीरको कष्ट नहीं होता है ? ॥ ११ ॥

मातङ्गभुजवर्ष्माणौ ज्याक्षेपकठिनत्वचौ ।
काञ्चनाङ्गदिनौ शेते निक्षिप्य विपुलौ भुजौ ॥ १२ ॥

'जो हाथीकी सूँड़के समान बड़ी हैं, निरन्तर प्रत्यञ्चा खींचनेके कारण रगड़से जिनकी त्वचा कठोर हो गयी है तथा जो सोनेके बाजूबन्द धारण करते हैं, उन विशाल भुजाओंको फैलाकर आप सो रहे हैं ॥ १२ ॥

व्यायम्य बहुधा नूनं सुखसुप्तः श्रमादिव ।
एवं विलपतीमार्तां न हि मामभिभाषसे ॥ १३ ॥

'निश्चय ही बहुत परिश्रम करके मानो थक जानेके कारण आप सुखकी नींद ले रहे हों। मैं इस तरह आर्त होकर विलाप करती हूँ, किंतु आप मुझसे बोलतेतक नहीं हैं॥

न स्मराम्यपराधं ते किं मां न प्रतिभाषसे ।
ननु मां त्वं पुरा दूरादभिवीक्ष्याभिभाषसे ॥ १४ ॥

'मैंने कोई अपराध किया हो, ऐसा तो मुझे स्मरण नहीं है, फिर क्या कारण है कि आप मुझसे नहीं बोलते हैं। पहले तो आप मुझे दूरसे भी देख लेनेपर बोले बिना नहीं रहते थे॥

आर्यामार्य सुभद्रां त्वमिमांश्च त्रिदशोपमान् ।
पितॄन् मां चैव दुःखार्तां विहाय क्व गमिष्यसि ॥ १५ ॥

'आर्य ! आप माता सुभद्राको, इन देवताओंके समान ताऊ, पिता और चाचाओंको तथा मुझ दुःखातुरा पत्नीको छोड़कर कहाँ जायँगे ?' ॥ १५ ॥

तस्य शोणितदिग्धान् वै केशानुद्यम्य पाणिना ।
उत्सङ्गे वक्त्रमाधाय जीवन्तमिव पृच्छति ॥ १६ ॥

जनार्दन ! देखो, अभिमन्युके सिरको गोदीमें रखकर उत्तरा उसके खूनसे सने हुए केशोंको हाथसे उठा-उठाकर सुलझाती है और मानो वह जी रहा हो, इस प्रकार उससे पूछती है ॥ १६ ॥

स्वस्रीयं वासुदेवस्य पुत्रं गाण्डीवधन्वनः ।
कथं त्वां रणमध्यस्थं जघ्नुरेते महारथाः ॥ १७ ॥

'प्राणनाथ ! आप वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके भानजे और गाण्डीवधारी अर्जुनके पुत्र थे। रणभूमिके मध्यभागमें खड़े हुए आपको इन महारथियोंने कैसे मार डाला ? ॥ १७ ॥

धिगस्तु क्रूरकर्तॄंस्तान् कृपकर्णजयद्रथान् ।
द्रोणद्रौणायनी चोभौ यैरहं विधवा कृता ॥ १८ ॥

'उन क्रूरकर्मा कृपाचार्य, कर्ण और जयद्रथको धिक्कार है, द्रोणाचार्य और उनके पुत्रको भी धिक्कार है ! जिन्होंने मुझे इसी उम्रमें विधवा बना दिया ॥ १८ ॥

रथर्षभाणां सर्वेषां कथमासीत् तदा मनः ।
बालं त्वां परिवार्यैकं मम दुःखाय जघ्नुषाम् ॥ १९ ॥

'आप बालक थे और अकेले युद्ध कर रहे थे तो भी मुझे दुःख देनेके लिये जिन लोगोंने मिलकर आपको मारा था, उन समस्त श्रेष्ठ महारथियोंके मनकी उस समय क्या दशा हुई थी? ॥ १९ ॥

कथं नु पाण्डवानां च पञ्चालानां तु पश्यताम् ।
त्वं वीर निधनं प्राप्तो नाथवान् सन्ननाथवत् ॥ २० ॥

'वीर ! आप पाण्डवों और पाञ्चालोंके देखते-देखते सनाथ होते हुए भी अनाथकी भाँति कैसे मारे गये ? ॥ २० ॥

दृष्ट्वा बहुभिराक्रन्दे निहतं त्वां पिता तव।
वीरः पुरुषशार्दूलः कथं जीवति पाण्डवः ॥ २१ ॥

'आपको युद्धस्थलमें बहुत-से महारथियोंद्वारा मारा गया देख आपके पिता पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुन कैसे जी रहे हैं ? ॥ २१ ॥

न राज्यलाभो विपुलः शत्रूणां च पराभवः।
प्रीतिं धास्यति पार्थानां त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २२ ॥

'कमलनयन ! प्राणेश्वर ! पाण्डवोंको जो यह विशाल राज्य मिल गया है, उन्होंने शत्रुओंको जो पराजित कर दिया है, यह सब कुछ आपके बिना उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥

तव शस्त्रजितॉंल्लोकान् धर्मेण च दमेन च।
क्षिप्रमन्वागमिष्यामि तत्र मां प्रतिपालय ॥ २३ ॥

'आर्यपुत्र ! आपके शस्त्रोंद्वारा जीते हुए पुण्यलोकोंमें मैं भी धर्म और इन्द्रिय-संयमके बलसे शीघ्र ही आऊँगी। आप वहाँ मेरी राह देखिये ॥ २३ ॥

दुर्मरं पुनरप्राप्ते काले भवति केनचित्।
यदहं त्वां रणे दृष्ट्वा हतं जीवामि दुर्भगा ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है कि मृत्युकाल आये बिना किसीका भी मरना अत्यन्त कठिन है, तभी तो मैं अभागिनी आपको युद्धमें मारा गया देखकर भी अबतक जी रही हूँ ॥ २४ ॥

कामिदानीं नरव्याघ्र श्लक्ष्णया स्मितया गिरा।
पितृलोके समेत्यान्यां मामिवामन्त्रयिष्यसि ॥ २५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप पितृलोकमें जाकर इस समय मेरी ही तरह दूसरी किस स्त्रीको मन्द मुस्कानके साथ मीठी वाणीद्वारा बुलायेंगे ? ॥ २५ ॥

नूनमप्सरसां स्वर्गे मनांसि प्रमथिष्यसि।
परमेण च रूपेण गिरा च स्मितपूर्वया ॥ २६ ॥

'निश्चय ही स्वर्गमें जाकर आप अपने सुन्दर रूप और मन्द मुस्कानयुक्त मधुर वाणीके द्वारा वहाँकी अप्सराओंके मनको मथ डालेंगे ॥ २६ ॥

प्राप्य पुण्यकृतॉंल्लोकानप्सरोभिः समेयिवान्।
सौभद्र विहरन् काले स्मरेथाः सुकृतानि मे ॥ २७ ॥

'सुभद्रानन्दन ! आप पुण्यात्माओंके लोकोंमें जाकर अप्सराओंके साथ मिलकर विहार करते समय मेरे शुभ कर्मोंका भी स्मरण कीजियेगा ॥ २७ ॥

एतावानिह संवासो विहितस्ते मया सह।
षण्मासान् सप्तमे मासि त्वं वीर निधनं गतः ॥ २८ ॥

'वीर ! इस लोकमें तो मेरे साथ आपका कुल छः महीनोंतक ही सहवास रहा है। सातवें महीनेमें ही आप वीरगतिको प्राप्त हो गये' ॥ २८ ॥

इत्युक्तवचनामेतामपकर्षन्ति दुःखिताम्।
उत्तरां मोघसंकल्पां मत्स्यराजकुलस्त्रियः ॥ २९ ॥

इस तरहकी बातें कहकर दुःखमें डूबी हुई इस उत्तराको जिसका सारा संकल्प मिट्टीमें मिल गया है, मत्स्यराज विराटके कुलकी स्त्रियाँ खींचकर दूर ले जा रही हैं ॥ २९ ॥

उत्तरामपकृष्यैनामार्तामार्ततराः स्वयम्।
विराटं निहतं दृष्ट्वा क्रोशन्ति विलपन्ति च ॥ ३० ॥

शोकसे आतुर हुई उत्तराको खींचकर अत्यन्त आर्त हुई वे स्त्रियाँ राजा विराटको मारा गया देख स्वयं भी चीखने और विलाप करने लगी हैं ॥ ३० ॥

द्रोणास्त्रशरसंकृत्तं शयानं रुधिरोक्षितम्।
विराटं वितुदन्त्येते गृध्रगोमायुवायसाः ॥ ३१ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो खूनसे लथपथ होकर रणभूमिमें पड़े हुए राजा विराटको ये गीध, गीदड़ और कौए नोच रहे हैं ॥ ३१ ॥

वितुद्यमानं विहगैर्विराटमसितेक्षणाः।
न शक्नुवन्ति विहगान् निवारयितुमातुराः ॥ ३२ ॥

विराटको उन विहङ्गमोंद्वारा नोचे जाते देख कजरारी आँखोंवाली उनकी रानियाँ आतुर हो-होकर उन्हें हटानेकी चेष्टा करती हैं, पर हटा नहीं पाती हैं ॥ ३२ ॥

आसामातपतप्तानामायासेन च योषिताम्।
श्रमेण च विवर्णानां वक्त्राणां विप्लुतं वपुः ॥ ३३ ॥

इन युवतियोंके मुखारविन्द धूपसे तप गये हैं, आयास और परिश्रमसे उनके रंग फीके पड़ गये हैं ॥ ३३ ॥

उत्तरं चाभिमन्युं च काम्बोजं च सुदक्षिणम्।
शिशूनेतान् हतान् पश्य लक्ष्मणं च सुदर्शनम् ॥ ३४ ॥
आयोधनशिरोमध्ये शयानं पश्य माधव ॥ ३५ ॥

माधव ! उत्तर, अभिमन्यु, काम्बोजनिवासी सुदक्षिण और सुन्दर दिखायी देनेवाले लक्ष्मण—ये सभी बालक थे। इन मारे गये बालकोंको देखो। युद्धके मुहानेपर सोये हुए परम सुन्दर कुमार लक्ष्मणपर भी दृष्टिपात करो ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

गान्धारीके द्वारा कर्णको देखकर उसके शौर्य तथा उसकी स्त्रीके विलापका श्रीकृष्णके सम्मुख वर्णन

गान्धार्युवाच

एष वैकर्तनः शेते महेष्वासो महारथः।
ज्वलितानलवत् संख्ये संशान्तः पार्थतेजसा ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—श्रीकृष्ण ! देखो, यह महाधनुर्धर महारथी वैकर्तन कर्ण कुन्तीकुमार अर्जुनके तेजसे बुझी हुई प्रज्वलित आगके समान युद्धस्थलमें शान्त होकर सो रहा है ॥

पश्य वैकर्तनं कर्णं निहत्यातिरथान् बहून्।
शोणितौघपरीताङ्गं शयानं पतितं भुवि ॥ २ ॥

माधव ! देखो, वैकर्तन कर्ण बहुत-से अतिरथी वीरोंका संहार करके स्वयं भी खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर सोया पड़ा है ॥ २ ॥

अमर्षी दीर्घरोषश्च महेष्वासो महाबलः ।
रणे विनिहतः शेते शूरो गाण्डीवधन्वना ॥ ३ ॥

शूरवीर कर्ण महान् बलवान् और महाधनुर्धर था। यह दीर्घकालतक रोषमें भरा रहनेवाला और अमर्षशील था, परंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके हाथसे मारा जाकर यह वीर रणभूमिमें सो गया है ॥ ३ ॥

यं स्म पाण्डवसंत्रासान्मम पुत्रा महारथाः ।
प्रायुध्यन्त पुरस्कृत्य मातङ्गा इव यूथपम् ॥ ४ ॥
शार्दूलमिव सिंहेन समरे सव्यसाचिना ।
मातङ्गमिव मत्तेन मातङ्गेन निपातितम् ॥ ५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनके डरसे मेरे महारथी पुत्र जिसे आगे करके यूथपतिको आगे रखकर लड़नेवाले हाथियोंके समान पाण्डवसेनाके साथ युद्ध करते थे, उसी वीरको सव्यसाची अर्जुनने समराङ्गणमें उसी तरह मार डाला है, जैसे एक सिंहने दूसरे सिंहको तथा एक मतवाले हाथीने दूसरे मदोन्मत्त गजराजको मार गिराया हो ॥ ४-५ ॥

समेताः पुरुषव्याघ्र निहतं शूरमाहवे ।
प्रकीर्णमूर्धजाः पत्न्यो रुदत्यः पर्युपासते ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह ! रणभूमिमें मारे गये इस शूरवीरके पास आकर इसकी पत्नियाँ सिरके बाल बिखेरे बैठी हुई रो रही हैं॥

उद्विग्नः सततं यस्माद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
त्रयोदश समा निद्रां चिन्तयन् नाध्यगच्छत ॥ ७ ॥
अनाधृष्यः परैर्युद्धे शत्रुभिर्मघवानिव ।
युगान्ताग्निरिवार्चिष्मान् हिमवानिव निश्चलः ॥ ८ ॥
स भूत्वा शरणं वीरो धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
भूमौ विनिहतः शेते वातभग्न इव द्रुमः ॥ ९ ॥

माधव ! जिससे निरन्तर उद्विग्न रहनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिरको चिन्ताके मारे तेरह वर्षोंतक नींद नहीं आयी, जो युद्धस्थलमें इन्द्रके समान शत्रुओंके लिये अजेय था, प्रलयङ्कर अग्निके समान तेजस्वी और हिमालयके समान निश्चल था, वही वीर कर्ण धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके लिये शरणदाता हो मारा जाकर आँधीसे टूटकर पड़े हुए वृक्षके समान धराशायी हो गया है ॥ ७-९ ॥

पश्य कर्णस्य पत्नीं त्वं वृषसेनस्य मातरम् ।
लालप्यमानां करुणं रुदतीं पतितां भुवि ॥ १० ॥

देखो, कर्णकी पत्नी एवं वृषसेनकी माता पृथ्वीपर गिरकर रोती हुई कैसा करुणाजनक विलाप कर रही है ? ॥१०॥

आचार्यशापोऽनुगतो ध्रुवं त्वां
यदग्रसच्चक्रमिदं धरित्री ।
ततः शरेणापहृतं शिरस्ते
धनंजयेनाहवशोभिना युधि ॥ ११ ॥

'प्राणनाथ ! निश्चय ही तुमपर आचार्यका दिया हुआ शाप लागू हो गया, जिससे इस पृथ्वीने तुम्हारे रथके पहियेको ग्रस लिया, तभी युद्धमें शोभा पानेवाले अर्जुनने रणभूमिमें अपने बाणसे तुम्हारा सिर काट लिया' ॥ ११ ॥

हाहा धिगेषा पतिता विसंज्ञा
समीक्ष्य जाम्बूनदबद्धकक्षम् ।
कर्णं महाबाहुमदीनसत्त्वं
सुषेणमाता रुदती भृशार्ता ॥ १२ ॥

हाय ! हाय ! मुझे धिक्कार है । सुवर्ण-कवचधारी उदार हृदय महाबाहु कर्णको इस अवस्थामें देखकर अत्यन्त आतुर हो रोती हुई सुषेणकी माता मूर्छित होकर गिर पड़ी॥

अल्पावशेषोऽपि कृतो महात्मा
शरीरभक्षैः परिभक्षयद्भिः ।
द्रष्टुं न नः प्रीतिकरः शशीव
कृष्णस्य पक्षस्य चतुर्दशाहे ॥ १३ ॥

मानव-शरीरका भक्षण करनेवाले जन्तुओंने खा-खाकर महामना कर्णके शरीरको थोड़ा-सा ही शेष रहने दिया है । उसका यह अल्पावशेष शरीर कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके चन्द्रमाकी भाँति देखनेपर हमलोगोंको प्रसन्नता नहीं प्रदान करता है ॥ १३ ॥

सा वर्तमाना पतिता पृथिव्या-
मुत्थाय दीना पुनरेव चैषा ।
कर्णस्य वक्त्रं परिजिघ्रमाणा
रोरूयते पुत्रवधाभितप्ता ॥ १४ ॥

वह बेचारी कर्णकी पत्नी पृथ्वीपर गिरकर उठी और उठकर पुनः गिर पड़ी । कर्णका मुख सूँघती हुई यह नारी अपने पुत्रके वधसे संतप्त हो फूट-फूटकर रो रही है ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि कर्णदर्शनो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें कर्णका दर्शनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अपनी-अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए अवन्ती-नरेश और जयद्रथको देखकर तथा दुःशलापर दृष्टिपात करके गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

आवन्त्यं भीमसेनेन भक्षयन्ति निपातितम् ।
गृध्रगोमायवः शूरं बहुबन्धुमबन्धुवत् ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—भीमसेनने जिसे मार गिराया था,

वह शूरवीर अवन्तीनरेश बहुतेरे बन्धु-बान्धवोंसे सम्पन्न था; परंतु आज उसे बन्धुहीनकी भाँति गीध और गीदड़ नोच-नोचकर खा रहे हैं ॥ १ ॥

तं पश्य कदनं कृत्वा शूराणां मधुसूदन ।
शयानं वीरशयने रुधिरेण समुक्षितम् ॥ २ ॥

मधुसूदन ! देखो, अनेकों शूरवीरोंका संहार करके वह खूनसे लथपथ हो वीरशय्यापर सो रहा है ॥ २ ॥

तं शृगालाश्च कङ्काश्च क्रव्यादाश्च पृथग्विधाः ।
तेन तेन विकर्षन्ति पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ३ ॥

उसे सियार, कङ्क और नाना प्रकारके मांसभक्षी जीवजन्तु इधर-उधर खींच रहे हैं। यह समयका उलट-फेर तो देखो ॥

शयानं वीरशयने शूरमाक्रन्दकारिणम् ।
आवन्त्यमभितो नार्यो रुदत्यः पर्युपासते ॥ ४ ॥

भयानक मार-काट मचानेवाले इस शूरवीर अवन्तीनरेशको वीरशय्यापर सोया हुआ देख उसकी स्त्रियाँ रोती हुई उसे सब ओरसे घेरकर बैठी हैं ॥ ४ ॥

प्रातिपेयं महेष्वासं हतं भल्लेन बाह्लिकम् ।
प्रसुप्तमिव शार्दूलं पश्य कृष्ण मनस्विनम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, महाधनुर्धर प्रतीपनन्दन मनस्वी बाह्लिक भल्लसे मारे जाकर सोये हुए सिंहके समान पड़े हैं ॥ ५ ॥

अतीव मुखवर्णोऽस्य निहतस्यापि शोभते ।
सोमस्येवाभिपूर्णस्य पौर्णमास्यां समुद्यतः ॥ ६ ॥

रणभूमिमें मारे जानेपर भी पूर्णमासीको उगते हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति इनके मुखकी कान्ति अत्यन्त प्रकाशित हो रही है ॥

पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञां चाभिरक्षता ।
पाकशासनिना संख्ये वार्धक्षत्रिर्निपातितः ॥ ७ ॥
एकादश चमूर्भित्त्वा रक्ष्यमाणं महात्मना ।
सत्यं चिकीर्षता पश्य हतमेनं जयद्रथम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! पुत्रशोकसे संतप्त हो अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करते हुए इन्द्रकुमार अर्जुनने युद्धस्थलमें वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथको मार गिराया है। यद्यपि उसकी रक्षाकी पूरी व्यवस्था की गयी थी, तब भी अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाने की इच्छावाले महात्मा अर्जुनने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका भेदन करके जिसे मार डाला था, वही यह जयद्रथ यहाँ पड़ा है। इसे देखो ॥ ७–८ ॥

सिन्धुसौवीरभर्तारं दर्पपूर्णं मनस्विनम् ।
भक्षयन्ति शिवा गृध्रा जनार्दन जयद्रथम् ॥ ९ ॥

जनार्दन ! सिन्धु और सौवीर देशके स्वामी अभिमानी और मनस्वी जयद्रथको गीध और सियार नोच-नोचकर खा रहे हैं।

संरक्ष्यमाणं भार्याभिरनुरक्ताभिरच्युत ।
भीषयन्त्यो विकर्षन्ति गहनं निम्नमन्तिकात् ॥ १० ॥

अच्युत ! इसमें अनुराग रखनेवाली इसकी पत्नियाँ यद्यपि रक्षामें लगी हुई हैं, तथापि गीदड़ियाँ उन्हें डरवाकर जयद्रथकी लाशको उनके निकटसे गहरे गड्ढेकी ओर खींचे लिये जा रही हैं ॥ १० ॥

तमेताः पर्युपासन्ते रक्ष्यमाणं महाभुजम् ।
सिन्धुसौवीरभर्तारं काम्बोजयवनस्त्रियः ॥ ११ ॥

ये काम्बोज और यवनदेशकी स्त्रियाँ सिन्धु और सौवीर-देशके स्वामी महाबाहु जयद्रथको चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं और वह उन्हींके द्वारा सुरक्षित हो रहा है ॥ ११ ॥

यदा कृष्णामुपादाय प्राद्रवत् केकयैः सह ।
तदैव वध्यः पाण्डूनां जनार्दन जयद्रथः ॥ १२ ॥
दुःशलां मानयद्भिस्तु तदा मुक्तो जयद्रथः ।
कथमद्य न तां कृष्ण मानयन्ति स्म ते पुनः ॥ १३ ॥

जनार्दन ! जिस दिन जयद्रथ द्रौपदीको हरकर केकयोंके साथ भागा था, उसी दिन यह पाण्डवोंके द्वारा वध्य हो गया था; परंतु उस समय दुःशलाका सम्मान करते हुए उन्होंने जयद्रथको जीवित छोड़ दिया था ! श्रीकृष्ण ! उन्हीं पाण्डवोंने आज फिर क्यों नहीं उसका सम्मान किया ? ॥ १२-१३ ॥

सैषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिता ।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान् ॥ १४ ॥

देखो, वहीं मेरी यह बेटी दुःशला जो अभी बालिका है, किस तरह दुखी हो-होकर विलाप कर रही है ? और पाण्डवोंको कोसती हुई स्वयं ही अपनी छाती पीट रही है ! ॥ १४ ॥

किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति ।
यत् सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वराः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे लिये इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि यह छोटी अवस्थाकी मेरी बेटी विधवा हो गयी तथा मेरी सारी पुत्रवधुएँ भी अनाथा हो गयीं ॥ १५ ॥

हा हा धिग् दुःशलां पश्य वीतशोकभयामिव ।
शिरो भर्तुरनासाद्य धावमानामितस्ततः ॥ १६ ॥

हाय ! हाय, धिक्कार है ! देखो, देखो दुःशला शोक और भयसे रहित-सी होकर अपने पतिका मस्तक न पानेके कारण इधर-उधर दौड़ रही है ॥ १६ ॥

वारयामास यः सर्वान् पाण्डवान् पुत्रगृद्धिनः ।
स हत्वा विपुलाः सेनाः स्वयं मृत्युवशं गतः ॥ १७ ॥

जिस वीरने अपने पुत्रको बचानेकी इच्छावाले समस्त पाण्डवोंको अकेले रोक दिया था, वही कितनी ही सेनाओंका संहार करके स्वयं मृत्युके अधीन हो गया ॥ १७ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीरं परमदुर्जयम् ।
परिवार्य रुदन्त्येताः स्त्रियश्चन्द्रोपमाननाः ॥ १८ ॥

मतवाले हाथीके समान उस परम दुर्जय वीरको सब ओर-से घेरकर ये चन्द्रमुखी रमणियाँ रो रही हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीका वाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

शल्य, भगदत्त, भीष्म और द्रोणको देखकर श्रीकृष्णके सम्मुख गान्धारीका विलाप

गान्धार्युवाच

एष शल्यो हतः शेते साक्षान्नकुलमातुलः।
धर्मज्ञेन हतस्तात धर्मराजेन संयुगे॥ १॥

गान्धारी बोलीं--तात ! देखो, ये नकुलके सगे मामा शल्य मरे पड़े हैं। इन्हें धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरने युद्धमें मारा है॥ १॥

यस्त्वया स्पर्धते नित्यं सर्वत्र पुरुषर्षभ।
स एष निहतः शेते मद्रराजो महाबलः॥ २॥

पुरुषोत्तम ! जो सदा और सर्वत्र तुम्हारे साथ होड़ लगाये रहते थे, वे ही ये महाबली मद्रराज शल्य यहाँ मारे जाकर चिरनिद्रामें सो रहे हैं॥ २॥

येन संगृह्णता तात रथमाधिरथेर्युधि।
जयार्थं पाण्डुपुत्राणां तथा तेजोवधः कृतः॥ ३॥

तात ! ये वे ही शल्य हैं, जिन्होंने युद्धमें सूतपुत्र कर्णके रथकी बागडोर सँभालते समय पाण्डवोंकी विजयके लिये उसके तेज और उत्साहको नष्ट किया था॥ ३॥

अहो धिक्पश्य शल्यस्य पूर्णचन्द्रसुदर्शनम्।
मुखं पद्मपलाशाक्षं काकैरादष्टमव्रणम्॥ ४॥

अहो ! धिक्कार है। देखो न, शल्यके पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति दर्शनीय तथा कमलदलके सदृश नेत्रोंवाले व्रणरहित मुखको कौओंने कुछ-कुछ काट दिया है॥ ४॥

अस्य चामीकराभस्य तप्तकाञ्चनसप्रभा।
आस्याद् विनिःसृता जिह्वा भक्ष्यते कृष्ण पक्षिभिः॥ ५॥

श्रीकृष्ण ! सुवर्णके समान कान्तिमान् शल्यके मुखसे तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जीभ बाहर निकल आयी है और पक्षी उसे नोच-नोचकर खा रहे हैं॥ ५॥

युधिष्ठिरेण निहतं शल्यं समितिशोभनम्।
रुदत्यः पर्युपासन्ते मद्रराजं कुलाङ्गनाः॥ ६॥

युधिष्ठिरके द्वारा मारे गये तथा युद्धमें शोभा पानेवाले मद्रराज शल्यको ये कुलाङ्गनाएँ चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं और रो रही हैं॥ ६॥

एताः सुसूक्ष्मवसना मद्रराजं नरर्षभम्।
क्रोशन्त्योऽथ समासाद्य क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम्॥ ७॥

अत्यन्त महीन वस्त्र पहने हुए ये क्षत्राणियाँ क्षत्रिय-शिरोमणि नरश्रेष्ठ मद्रराजके पास आकर कैसा करुण क्रन्दन कर रही हैं॥ ७॥

शल्यं निपतितं नार्यः परिवार्याभितः स्थिताः।
वासिता गृष्टयः पङ्के परिमग्नमिव द्विपम्॥ ८॥

रणभूमिमें गिरे हुए राजा शल्यको उनकी स्त्रियाँ उसी तरह सब ओरसे घेरे हुए हैं, जैसे एक बारकी ब्यायी हुई हथिनियाँ कीचड़में फँसे हुए गजराजको घेरकर खड़ी हों॥ ८॥

शल्यं शरणदं शूरं पश्येमं वृष्णिनन्दन।
शयानं वीरशयने शरैर्विशकलीकृतम्॥ ९॥

वृष्णिनन्दन ! देखो, ये दूसरोंको शरण देनेवाले शूरवीर शल्य बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर वीरशय्यापर सो रहे हैं॥ ९॥

एष शैलालयो राजा भगदत्तः प्रतापवान्।
गजाङ्कुशधरः श्रीमाञ्शेते भुवि निपातितः॥ १०॥

ये पर्वतीय, तेजस्वी एवं प्रतापी राजा भगदत्त हाथमें हाथीका अङ्कुश लिये पृथ्वीपर सो रहे हैं। इन्हें अर्जुनने मार गिराया था॥ १०॥

यस्य रुक्ममयी माला शिरस्येषा विराजते।
श्वापदैर्भक्ष्यमाणस्य शोभयन्तीव मूर्धजान्॥ ११॥

इन्हें हिंसक जीव-जन्तु खा रहे हैं। इनके सिरपर यह सोनेकी माला विराज रही है, जो केशोंकी शोभा बढ़ाती-सी जान पड़ती है॥ ११॥

एतेन किल पार्थस्य युद्धमासीत् सुदारुणम्।
रोमहर्षणमत्युग्रं शक्रस्य त्वहिना यथा॥ १२॥

जैसे वृत्रासुरके साथ इन्द्रका अत्यन्त भयङ्कर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार इन भगदत्तके साथ कुन्तीकुमार अर्जुनका अत्यन्त दारुण एवं रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था॥ १२॥

योधयित्वा महाबाहुरेष पार्थं धनंजयम्।
संशयं गमयित्वा च कुन्तीपुत्रेण पातितः॥ १३॥

उन महाबाहुने कुन्तीकुमार धनंजयके साथ युद्ध करके उन्हें संशयमें डाल दिया था; परंतु अन्तमें ये उन कुन्तीकुमारके ही हाथसे मारे गये॥ १३॥

यस्य नास्ति समो लोके शौर्ये वीर्ये च कश्चन।
स एष निहतः शेते भीष्मो भीष्मकृताहवे॥ १४॥

संसारमें शौर्य और बलमें जिनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, वे ही ये युद्धमें भयङ्कर कर्म करनेवाले भीष्मजी घायल हो बाणशय्यापर सो रहे हैं॥ १४॥

पश्य शान्तनवं कृष्ण शयानं सूर्यवर्चसम्।
युगान्त इव कालेन पतितं सूर्यमम्बरात्॥ १५॥

श्रीकृष्ण ! देखो, ये सूर्यके समान तेजस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म कैसे सो रहे हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानो प्रलयकालमें कालसे प्रेरित हो सूर्यदेव आकाशसे भूमिपर गिर पड़े हैं॥ १५॥

एष तप्त्वा रणे शत्रूञ्शस्त्रतापेन वीर्यवान्।
नरसूर्योऽस्तमभ्येति सूर्योऽस्तमिव केशव॥ १६॥

केशव ! जैसे सूर्य सारे जगत्‌को ताप देकर अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी तरह ये पराक्रमी मानवसूर्य रणभूमिमें अपने शस्त्रोंके प्रतापसे शत्रुओंको संतप्त करके अस्त हो रहे हैं॥ १६॥

शरतल्पगतं भीष्ममूर्ध्वरेतसमच्युतम्।
शयानं वीरशयने पश्य शूरनिषेविते॥ १७॥

जो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहकर कभी मर्यादासे च्युत नहीं हुए हैं, उन भीष्मको शूरसेवित वीरोचित शयन बाणशय्यापर सोते हुए देख लो ॥ १७ ॥

कर्णिनालीकनाराचैरास्तीर्य शयनोत्तमम् ।
आविश्य शेते भगवान् स्कन्दः शरवणं यथा ॥ १८ ॥

जैसे भगवान् स्कन्द सरकण्डोंके समूहपर सोये थे, उसी प्रकार ये भीष्मजी कर्णी, नालीक और नाराच आदि बाणोंकी उत्तम शय्या बिछाकर उसीका आश्रय ले सो रहे हैं ॥ १८ ॥

अतूलपूर्णं गाङ्गेयस्त्रिभिर्बाणैः समन्वितम् ।
उपधायोपधानाग्र्यं दत्तं गाण्डीवधन्वना ॥ १९ ॥

इन गङ्गानन्दन भीष्मने रुई भरा हुआ तकिया नहीं लिया है। इन्होंने तो गाण्डीवधारी अर्जुनके दिये हुए तीन बाणोंद्वारा निर्मित श्रेष्ठ उपधान (तकिये) को ही स्वीकार किया है ॥ १९ ॥

पालयानः पितुः शास्त्रमूर्ध्वरेता महायशाः ।
एष शान्तनवः शेते माधवाप्रतिमो युधि ॥ २० ॥

माधव ! पिताकी आज्ञाका पालन करते हुए महायशस्वी नैष्ठिक ब्रह्मचारी ये शान्तनुनन्दन भीष्म जिनकी युद्धमें कहीं तुलना नहीं है, यहाँ सो रहे हैं ॥ २० ॥

धर्मात्मा तात सर्वज्ञः पारावर्येण निर्णये ।
अमर्त्य इव मर्त्यः सन्नेष प्राणानधारयत् ॥ २१ ॥

तात ! ये धर्मात्मा और सर्वज्ञ हैं। परलोक और इहलोकसम्बन्धी ज्ञानद्वारा सभी आध्यात्मिक प्रश्नोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं तथा मनुष्य होनेपर भी देवताके तुल्य हैं; इन्होंने अभीतक अपने प्राण धारण कर रक्खे हैं ॥ २१ ॥

नास्ति युद्धे कृती कश्चिन्न विद्वान् न पराक्रमी ।
यत्र शान्तनवो भीष्मः शेतेऽद्य निहतः शरैः ॥ २२ ॥

जब ये शान्तनुनन्दन भीष्म भी आज शत्रुओंके बाणोंसे मारे जाकर सो रहे हैं तो यही कहना पड़ता है कि 'युद्धमें न कोई कुशल है, न विद्वान् है और न पराक्रमी ही है' ॥ २२ ॥

स्वयमेतेन शूरेण पृच्छ्यमानेन पाण्डवैः ।
धर्मज्ञेनाहवे मृत्युरादिष्टः सत्यवादिना ॥ २३ ॥

पाण्डवोंके पूछनेपर इन धर्मज्ञ एवं सत्यवादी शूरवीरने स्वयं ही अपनी मृत्युका उपाय बता दिया था ॥ २३ ॥

प्रणष्टः कुरुवंशश्च पुनर्येन समुद्धृतः ।
स गतः कुरुभिः सार्धं महाबुद्धिः पराभवम् ॥ २४ ॥

जिन्होंने नष्ट हुए कुरुवंशका पुनः उद्धार किया था, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म इन कौरवोंके साथ परास्त हो गये ॥

धर्मेषु कुरवः कं नु परिप्रक्ष्यन्ति माधव ।
गते देवव्रते स्वर्गं देवकल्पे नरर्षभे ॥ २५ ॥

माधव ! इन देवतुल्य नरश्रेष्ठ देवव्रतके स्वर्गलोकमें चले जानेपर अब कौरव किसके पास जाकर धर्मविषयक प्रश्न करेंगे ॥ २५ ॥

अर्जुनस्य विनेतारमाचार्यं सात्यकेस्तथा ।
तं पश्य पतितं द्रोणं कुरूणां गुरुमुत्तमम् ॥ २६ ॥

जो अर्जुनके शिक्षक, सात्यकिके आचार्य तथा कौरवोंके श्रेष्ठ गुरु थे, वे द्रोणाचार्य रणभूमिमें गिरे हुए हैं, उन्हें भी देख लो ॥ २६ ॥

अस्त्रं चतुर्विधं वेद यथैव त्रिदशेश्वरः ।
भार्गवो वा महावीर्यस्तथा द्रोणोऽपि माधव ॥ २७ ॥

माधव ! जैसे देवराज इन्द्र अथवा महापराक्रमी परशुरामजी चार प्रकारकी अस्त्रविद्याको जानते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्य भी जानते थे ॥ २७ ॥

यस्य प्रसादाद् बीभत्सुः पाण्डवः कर्म दुष्करम् ।
चकार स हतः शेते नैनमस्त्राण्यपालयन् ॥ २८ ॥

जिनके प्रसादसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने दुष्कर कर्म किया है, वे ही आचार्य यहाँ मरे पड़े हैं। उन अस्त्रोंने इनकी रक्षा नहीं की ॥ २८ ॥

यं पुरोधाय कुरव आह्वयन्ति स्म पाण्डवान् ।
सोऽयं शस्त्रभृतां श्रेष्ठो द्रोणः शस्त्रैः परिक्षतः ॥ २९ ॥

जिनको आगे रखकर कौरव पाण्डवोंको ललकारा करते थे, वे ही शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य शस्त्रोंसे क्षत-विक्षत हो गये हैं ॥ २९ ॥

यस्य निर्दहतः सेनां गतिरग्नेरिवाभवत् ।
स भूमौ निहतः शेते शान्तार्चिरिव पावकः ॥ ३० ॥

शत्रुओंकी सेनाको दग्ध करते समय जिनकी गति अग्निके समान होती थी, वे ही बुझी हुई लपटोंवाली आगके समान मरकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ३० ॥

धनुर्मुष्टिरशीर्णश्च हस्तावापश्च माधव ।
द्रोणस्य निहतस्याजौ दृश्यते जीवतो यथा ॥ ३१ ॥

माधव ! युद्धमें मारे जानेपर भी द्रोणाचार्यके धनुषके साथ जुड़ी हुई मुट्ठी ढीली नहीं हुई है। दस्ताना भी ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है, मानो वह जीवित पुरुषके हाथमें हो ॥

वेदा यस्माच्च चत्वारः सर्वाण्यस्त्राणि केशव ।
अनपेतानि वै शूराद् यथैवादौ प्रजापतेः ॥ ३२ ॥
वन्दनार्हाविमौ तस्य बन्दिभिर्वन्दितौ शुभौ ।
गोमायवो विकर्षन्ति पादौ शिष्यशतार्चितौ ॥ ३३ ॥

केशव ! जैसे पूर्वकालसे ही प्रजापति ब्रह्मासे वेद कभी अलग नहीं हुए, उसी प्रकार जिन शूरवीर द्रोणसे चारों वेद और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र कभी दूर नहीं हुए, उन्हींके बन्दीजनोंद्वारा वन्दित इन दोनों सुन्दर एवं वन्दनीय चरणारविन्दोंको जिनकी सैकड़ों शिष्य पूजा कर चुके हैं, गीदड़ घसीट रहे हैं ॥ ३२-३३ ॥

द्रोणं द्रुपदपुत्रेण निहतं मधुसूदन ।
कृपी कृपणमन्वास्ते दुःखोपहतचेतना ॥ ३४ ॥

मधुसूदन ! द्रुपदपुत्रके द्वारा मारे गये द्रोणाचार्यके पास उनकी पत्नी कृपी बड़े दीनभावसे बैठी है। दुःखसे उसकी चेतना लुप्त-सी हो गयी है ॥ ३४ ॥

तां पश्य रुदतीमार्तां मुक्तकेशीमधोमुखीम् ।
हतं पतिमुपासन्तीं द्रोणं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ३५ ॥

देखो, कृपी केश खोले नीचे मुँह किये रोती हुई अपने मारे गये पति शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी उपासना कर रही है ॥ ३५ ॥

बाणैर्भिन्नतनुत्राणं धृष्टद्युम्नेन केशव ।
उपास्ते वै मृधे द्रोणं जटिला ब्रह्मचारिणी ॥ ३६ ॥

केशव ! धृष्टद्युम्नने अपने बाणोंसे जिन आचार्य द्रोणका कवच छिन्न-भिन्न कर दिया है, उन्हींके पास युद्धस्थलमें वह जटाधारिणी ब्रह्मचारिणी कृपी बैठी हुई है ॥ ३६ ॥

प्रेतकृत्यं च यतते कृपी कृपणमातुरा ।
हतस्य समरे भर्तुः सुकुमारी यशस्विनी ॥ ३७ ॥

शोकसे दीन और आतुर हुई यशस्विनी सुकुमारी कृपी समरमें मारे गये पतिदेवका प्रेतकर्म करनेकी चेष्टा कर रही है ॥

अग्नीनाधाय विधिवच्चितां प्रज्वाल्य सर्वतः ।
द्रोणमाधाय गायन्ति त्रीणि सामानि सामगाः ॥ ३८ ॥

विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके चिताको सब ओरसे प्रज्वलित कर दिया गया है और उसपर द्रोणाचार्यके शरीरको रखकर सामगान करनेवाले ब्राह्मण त्रिविध सामका गान करते हैं ॥ ३८ ॥

कुर्वन्ति च चितामेते जटिला ब्रह्मचारिणः ।
धनुर्भिः शक्तिभिश्चैव रथनीडैश्च माधव ॥ ३९ ॥
शरैश्च विविधैरन्यैर्धक्ष्यते भूरितेजसम् ।
इति द्रोणं समाधाय शंसन्ति च रुदन्ति च ॥ ४० ॥
सामभिस्त्रिभिरन्तस्थैरनुशंसन्ति चापरे ।

माधव ! इन जटाधारी ब्रह्मचारियोंने धनुष, शक्ति, रथकी बैठक और नाना प्रकारके बाण तथा अन्य आवश्यक वस्तुओंसे उस चिताका निर्माण किया है। वे उसीपर महातेजस्वी द्रोणको जलाना चाहते थे; इसलिये द्रोणको चितापर रखकर वे वेदमन्त्र पढ़ते और रोते हैं; कुछ लोग अन्त समयमें उपयोगी त्रिविध सामोंका गान करते हैं ॥ ३९-४०½ ॥

अग्नावग्निं समाधाय द्रोणं हुत्वा हुताशने ॥ ४१ ॥
गच्छन्त्यभिमुखा गङ्गां द्रोणशिष्या द्विजातयः ।
अपसव्यां चितिं कृत्वा पुरस्कृत्य कृपीं च ते ॥ ४२ ॥

चिताकी अग्निमें अग्निहोत्रसहित द्रोणाचार्यको रखकर उनकी आहुति दे उन्हींके शिष्य द्विजातिगण कृपीको आगे और चिताको दायें करके गङ्गाजीके तटकी ओर जा रहे हैं ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवचने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवचनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

भूरिश्रवाके पास उसकी पत्नियोंका विलाप, उन सबको तथा शकुनिको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख शोकोद्गार

गान्धार्युवाच

सोमदत्तसुतं पश्य युयुधानेन पातितम् ।
वितुद्यमानं विहगैर्बहुभिर्माधवान्तिके ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! देखो, सात्यकिने जिन्हें मार गिराया था, वे ही ये सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा पास ही दिखायी दे रहे हैं। इन्हें बहुत-से पक्षी चोंच मार-मारकर नोच रहे हैं ॥ १ ॥ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तः सोमदत्तो जनार्दन ।
युयुधानं महेष्वासं गर्हयन्निव दृश्यते ॥ २ ॥

जनार्दन ! उधर पुत्रशोकसे संतप्त होकर मरे हुए सोमदत्त महाधनुर्धर सात्यकिकी निन्दा करते हुए-से दिखायी दे रहे हैं ॥ २ ॥

असौ हि भूरिश्रवसो माता शोकपरिप्लुता ।
आश्वासयति भर्तारं सोमदत्तमनिन्दिता ॥ ३ ॥

उधर वे शोकमें डूबी हुई भूरिश्रवाकी सती साध्वी माता अपने पतिको मानो आश्वासन देती हुई कहती हैं—॥ ३ ॥

दिष्ट्या नैनं महाराज दारुणं भरतक्षयम् ।
कुरुसंक्रन्दनं घोरं युगान्तमनुपश्यसि ॥ ४ ॥

'महाराज ! सौभाग्यसे आपको यह भरतवंशियोंका दारुण विनाश, घोर प्रलयके समान कुरुकुलका महासंहार देखनेका अवसर नहीं मिला है ॥ ४ ॥

दिष्ट्या यूपध्वजं पुत्रं वीरं भूरिसहस्रदम् ।
अनेकक्रतुयज्वानं निहतं नानुपश्यसि ॥ ५ ॥

'जिसकी ध्वजामें यूपका चिह्न था, जो सहस्रों स्वर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणा दिया करता था और जिसने अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया था, उस वीर पुत्र भूरिश्रवाकी मृत्युका कष्ट सौभाग्यसे आप नहीं देख रहे हैं ॥

दिष्ट्या स्नुषाणामाक्रन्दे घोरं विलपितं बहु ।

न शृणोषि महाराज सारसीनामिवार्णवे ॥ ६ ॥

'महाराज ! समुद्रतटपर चीत्कार करनेवाली सारसियोंके समान इस युद्धस्थलमें आप अपने इन पुत्रवधुओंका अत्यन्त भयानक विलाप नहीं सुन रहे हैं, यह भाग्यकी ही बात है ॥

एकवस्त्रार्धसंवीताः प्रकीर्णासितमूर्धजाः ।
स्नुषास्ते परिधावन्ति हतापत्या हतेश्वराः ॥ ७ ॥

'आपकी पुत्रवधुएँ एक वस्त्र अथवा आधे वस्त्रसे ही शरीरको ढँककर अपनी काली-काली लटें छिटकाये इस युद्ध-भूमिमें चारों ओर दौड़ रही हैं। इन सबके पुत्र और पति भी मारे जा चुके हैं ॥ ७ ॥

श्वापदैर्भक्ष्यमाणं त्वमहो दिष्ट्या न पश्यसि ।
छिन्नबाहुं नरव्याघ्रमर्जुनेन निपातितम् ॥ ८ ॥
शलं विनिहतं संख्ये भूरिश्रवसमेव च ।
स्नुषाश्च विविधाः सर्वा दिष्ट्या नाद्येह पश्यसि ॥ ९ ॥

'अहो ! आपका बड़ा भाग्य है कि अर्जुनने जिसकी एक बाँह काट ली थी और सात्यकिने जिसे मार गिराया था, युद्धमें मारे गये उस भूरिश्रवा और शलको आप हिंसक-जन्तुओंका आहार बनते नहीं देखते हैं तथा इन सब अनेक प्रकारके रूप रंगवाली पुत्रवधुओंको भी आज यहाँ रणभूमिमें भटकती हुई नहीं देख रहे हैं ॥ ८-९ ॥

दिष्ट्या तत् काञ्चनं छत्रं यूपकेतोर्महात्मनः ।
विनिकीर्णं रथोपस्थे सौमदत्तेर्न पश्यसि ॥ १० ॥

'सौभाग्यसे अपने महामनस्वी पुत्र यूपध्वज भूरिश्रवाके रथ-पर खण्डित होकर गिरे हुए उसके सुवर्णमय छत्रको आप नहीं देख पा रहे हैं' ॥ १० ॥

अमूस्तु भूरिश्रवसो भार्याः सात्यकिना हतम् ।
परिवार्यानुशोचन्ति भर्तारमसितेक्षणाः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! भूरिश्रवाकी कजरारे नेत्रोंवाली वे पत्नियाँ सात्यकिद्वारा मारे गये अपने पतिको सब ओरसे घेरकर बार-बार शोकसे पीड़ित हो रही हैं ॥ ११ ॥

एता विलप्य करुणं भर्तृशोकेन कर्शिताः ।
पतन्त्यभिमुखा भूमौ कृपणं बत केशव ॥ १२ ॥

केशव ! पतिशोकसे पीड़ित हुई ये अबलाएँ करुणा-जनक विलाप करके पतिके सामने अत्यन्त दुःखसे पछाड़ खा-खाकर गिर रही हैं ॥ १२ ॥

बीभत्सुरतिबीभत्सं कर्मेदमकरोत् कथम् ।
प्रमत्तस्य यदच्छैत्सीद् बाहुं शूरस्य यज्वनः ॥ १३ ॥

वे कहती हैं—'अर्जुनने यह अत्यन्त घृणित कर्म कैसे किया ? कि दूसरेके साथ युद्धमें लगे रहकर उनकी ओरसे असावधान हुए आप-जैसे यज्ञपरायण शूरवीरकी बाँह काट डाली ॥ १३ ॥

ततः पापतरं कर्म कृतवानपि सात्यकिः ।
यस्मात् प्रायोपविष्टस्य प्राहार्षीत् संशितात्मनः ॥ १४ ॥

'उनसे भी बढ़कर घोर पापकर्म सात्यकिने किया है; क्योंकि उन्होंने आमरण अनशनके लिये बैठे हुए एक शुद्धात्मा साधुपुरुषके ऊपर खड्गका प्रहार किया है ॥ १४ ॥

एको द्वाभ्यां हतः शेषे त्वमधर्मेण धार्मिक ।
किं नु वक्ष्यति वै सत्सु गोष्ठीषु च सभासु च ॥ १५ ॥
अपुण्यमयशस्यं च कर्मेदं सात्यकिः स्वयम् ।
इति यूपध्वजस्यैताः स्त्रियः क्रोशन्ति माधव ॥ १६ ॥

'धर्मात्मा महापुरुष ! तुम अकेले दो महारथियोंद्वारा अधर्मपूर्वक मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हो। भला, सात्यकि साधु पुरुषोंकी सभाओं और बैठकोंमें अपने लिये कलङ्कका टीका लगानेवाले इस पापकर्मका वर्णन स्वयं अपने ही मुखसे किस प्रकार करेंगे ?' माधव ! इस प्रकार यूपध्वज-की ये स्त्रियाँ सात्यकिको कोस रही हैं ॥ १५-१६ ॥

भार्या यूपध्वजस्यैषा करसम्मितमध्यमा ।
कृत्वोत्सङ्गे भुजं भर्तुः कृपणं परिदेवति ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, यूपध्वजकी यह पतली कमरवाली भार्या पतिकी कटी हुई बाँहको गोदमें लेकर बड़े दीनभावसे विलाप कर रही है ॥ १७ ॥

अयं स हन्ता शूराणां मित्राणामभयप्रदः ।
प्रदाता गोसहस्राणां क्षत्रियान्तकरः करः ॥ १८ ॥

वह कहती है—'हाय ! यह वही हाथ है, जिसने युद्धमें अनेक शूरवीरोंका वध, मित्रोंको अभयदान, सहस्रों गोदान तथा क्षत्रियोंका संहार किया है ॥ १८ ॥

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ १९ ॥

'यह वही हाथ है, जो हमारी करधनीको खींच लेता, उभरे हुए स्तनोंका मर्दन करता, नाभि, ऊरु और जघन प्रदेशको छूता और नीवीका बन्धन सरका दिया करता था ॥

वासुदेवस्य सांनिध्ये पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
युध्यतः समरेऽन्येन प्रमत्तस्य निपातितः ॥ २० ॥

'जब मेरे पति समराङ्गणमें दूसरेके साथ युद्धमें संलग्न हो अर्जुनकी ओरसे असावधान थे, उस समय भगवान् श्री-कृष्णके निकट अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनने इस हाथको काट गिराया था ॥ २० ॥

किं नु वक्ष्यसि संसत्सु कथासु च जनार्दन ।
अर्जुनस्य महत् कर्म स्वयं वा स किरीटभृत् ॥ २१ ॥

'जनार्दन ! तुम सत्पुरुषोंकी सभाओंमें, बातचीतके प्रसङ्गमें अर्जुनके महान् कर्मका किस तरह वर्णन करोगे ?

अथवा स्वयं किरीटधारी अर्जुन ही कैसे इस जघन्य कार्यकी चर्चा करेंगे ?' ॥ २१ ॥

इत्येवं गर्हयित्वैषा तूष्णीमास्ते वराङ्गना ।
तामेतामनुशोचन्ति सपत्न्यः स्वामिव स्नुषाम् ॥ २२ ॥

इस तरह अर्जुनकी निन्दा करके यह सुन्दरी चुप हो गयी है । इसकी बड़ी सौतें इसके लिये उसी प्रकार शोक प्रकट कर रही हैं, जैसे सास अपनी बहूके लिये किया करती है २२

गान्धारराजः शकुनिर्बलवान् सत्यविक्रमः ।
निहतः सहदेवेन भागिनेयेन मातुलः ॥ २३ ॥

यह गान्धारदेशका राजा महाबली सत्यपराक्रमी शकुनि पड़ा हुआ है । इसे सहदेवने मारा है । भानजेने मामाके प्राण लिये हैं ॥ २३ ॥

यः पुरा हेमदण्डाभ्यां व्यजनाभ्यां स्म वीज्यते ।
स एष पक्षिभिः पक्षैः शयान उपवीज्यते ॥ २४ ॥

पहले सोनेके डंडोंसे विभूषित दो-दो व्यजनोंद्वारा जिसको हवा की जाती थी, वही शकुनि आज धरतीपर सो रहा है और पक्षी अपनी पाँखोंसे इसको हवा करते हैं ॥ २४ ॥

यः स्वरूपाणि कुरुते शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्य मायाविनो माया दग्धाः पाण्डवतेजसा ॥ २५ ॥

जो अपने सैकड़ों और हजारों रूप बना लिया करता था, उस मायावीकी सारी मायाएँ पाण्डुपुत्र सहदेवके तेजसे दग्ध हो गयीं ॥ २५ ॥

मायया निकृतिप्रज्ञो जितवान् यो युधिष्ठिरम् ।
सभायां विपुलं राज्यं स पुनर्जीवितं जितः ॥ २६ ॥

जो छलविद्याका पण्डित था, जिसने द्यूतसभामें मायाद्वारा युधिष्ठिर तथा उनके विशाल राज्यको जीत लिया था, वही फिर अपना जीवन भी हार गया ॥ २६ ॥

शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण समन्तात् पर्युपासते ।
कैतवं मम पुत्राणां विनाशायोपशिक्षितम् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! आज शकुनि (पक्षी) ही इस शकुनिकी चारों ओरसे उपासना करते हैं । इसने मेरे पुत्रोंके विनाशके लिये ही द्यूतविद्या अथवा धूर्तविद्या सीखी थी ॥ २७ ॥

एतेनैतन्महद् वैरं प्रसक्तं पाण्डवैः सह ।
वधाय मम पुत्राणामात्मनः सगणस्य च ॥ २८ ॥

इसीने सगे-सम्बन्धियोंसहित अपने और मेरे पुत्रोंके वधके लिये पाण्डवोंके साथ महान् वैरकी नींव डाली थी ॥२८॥

यथैव मम पुत्राणां लोकाः शस्त्रजिताः प्रभो ।
एवमस्यापि दुर्बुद्धेर्लोकाः शस्त्रेण वै जिताः ॥ २९ ॥

प्रभो ! जैसे मेरे पुत्रोंको शस्त्रोंद्वारा जीते हुए पुण्यलोक प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार इस दुर्बुद्धि शकुनिको भी शस्त्रद्वारा जीते हुए उत्तम लोक प्राप्त होंगे ॥ २९ ॥

कथं च नायं तत्रापि पुत्रान्मे भ्रातृभिः सह ।
विरोधयेदृजुप्रज्ञानृजुर्मधुसूदन ॥ ३० ॥

मधुसूदन ! मेरे पुत्र सरल बुद्धिके हैं । मुझे भय है कि उन पुण्यलोकोंमें पहुँचकर यह शकुनि फिर किसी प्रकार उन सब भाइयोंमें परस्पर विरोध न उत्पन्न कर दे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अन्यान्य वीरोंको मरा हुआ देखकर गान्धारीका शोकातुर होकर विलाप करना और क्रोधपूर्वक श्रीकृष्णको यदुवंशविनाशविषयक शाप देना

गान्धार्युवाच

काम्बोजं पश्य दुर्धर्षं काम्बोजास्तरणोचितम् ।
शयानमृषभस्कन्धं हतं पांसुषु माधव ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! जो काबुलके बने हुए मुलायम बिछौनोंपर सोनेके योग्य है, वह बैलके समान हृष्ट-पुष्ट कंधोंवाला दुर्जय वीर काम्बोजराज सुदक्षिण मरकर धूलमें पड़ा हुआ है ॥ १ ॥

यस्य क्षतजसंदिग्धौ बाहू चन्दनभूषितौ ।
अवेक्ष्य करुणं भार्या विलपत्यतिदुःखिता ॥ २ ॥

उसकी चन्दनचर्चित भुजाओंको रक्तमें सनी हुई देख उसकी पत्नी अत्यन्त दुखी हो करुणाजनक विलाप कर रही है ॥ २ ॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ बाहू शुभतलाङ्गुली ।
ययोर्विवरमापन्नां न रतिर्मां पुराजहात् ॥ ३ ॥
कां गतिं तु गमिष्यामि त्वया हीना जनेश्वर ।

वह कहती है—'प्राणनाथ ! सुन्दर हथेली और अङ्गुलियोंसे युक्त तथा परिघके समान मोटी ये वे ही दोनों भुजाएँ हैं, जिनके भीतर आप मुझे अङ्कमें भर लेते थे और उस अवस्थामें मुझे जो प्रसन्नता प्राप्त होती थी, उसने पहले कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा था । जनेश्वर ! अब आपके बिना मेरी क्या गति होगी ?' ॥ ३½ ॥

हतबन्धुरनाथा च वेपन्ती मधुरस्वरा ॥ ४ ॥
आतपे क्लाम्यमानानां विविधानामिव स्रजाम् ।
क्लान्तानामपि नारीणां श्रीर्जहाति न वै तनूः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनबन्धुके मारे जानेसे अनाथ हुई यह रानी काँपती हुई मधुरस्वरसे विलाप कर रही है । घामसे मुरझाती हुई नाना प्रकारकी पुष्पमालाओंके समान ये राजरानियाँ धूपसे तप गयी हैं, तो भी इनके शरीरोंको सौन्दर्य-श्री छोड़ नहीं रही है ॥ ४-५ ॥

शयानमभितः शूरं कालिङ्गं मधुसूदन ।
पश्य दीप्ताङ्गदयुगप्रतिनद्धमहाभुजम् ॥ ६ ॥

मधुसूदन ! देखो, पास ही वह शूरवीर कलिङ्गराज सो रहा है, जिसकी दोनों विशाल भुजाओंमें चमकीले अङ्गद (बाजूबन्द) बँधे हुए हैं ॥ ६ ॥

मागधानामधिपतिं जयत्सेनं जनार्दन ।
आवार्य सर्वतः पत्न्यः प्ररुदत्यः सुविह्वलाः ॥ ७ ॥

जनार्दन ! उधर मगधराज जयत्सेन पड़ा है, जिसे चारों ओरसे घेरकर उसकी पत्नियाँ अत्यन्त व्याकुल हो फूट-फूटकर रो रही हैं ॥ ७ ॥

आसामायतनेत्राणां सुस्वराणां जनार्दन ।
मनःश्रुतिहरो नादो मनो मोहयतीव मे ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! मधुर स्वरवाली इन विशाललोचना रानियोंका मन और कानोंको मोह लेनेवाला आर्तनाद मेरे मनको मूर्छित-सा किये देता है ॥ ८ ॥

प्रकीर्णवस्त्राभरणा रुदत्यः शोककर्शिताः ।
स्वास्तीर्णशयनोपेता मागध्यः शेरते भुवि ॥ ९ ॥

इनके वस्त्र और आभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे हैं । सुन्दर बिछौनोंसे युक्त शय्याओंपर शयन करनेके योग्य ये मगधदेशकी रानियाँ शोकसे व्याकुल हो रोती हुई भूमिपर लोट रही हैं॥

कोसलानामधिपतिं राजपुत्रं बृहद्बलम् ।
भर्तारं परिवार्यैताः पृथक् प्ररुदिताः स्त्रियः ॥ १० ॥

अपने पति कोसलनरेश राजकुमार बृहद्बलको भी चारों ओरसे घेरकर उनकी रानियाँ अलग-अलग रो रही हैं ॥१०॥

अस्य गात्रगतान् बाणान् कार्ष्णिबाहुबलार्पितान् ।
उद्धरन्त्यसुखाविष्टा मूर्छमानाः पुनः पुनः ॥ ११ ॥

अभिमन्युके बाहुबलसे प्रेरित होकर कोसलनरेशके अङ्गोंमें धँसे हुए बाणोंको ये रानियाँ अत्यन्त दुखी होकर निकालती हैं और बारंबार मूर्छित हो जाती हैं ॥ ११ ॥

आसां सर्वानवद्यानामातपेन परिश्रमात् ।
प्रम्लाननलिनाभानि भान्ति वक्त्राणि माधव ॥ १२ ॥

माधव ! इन सर्वाङ्गसुन्दरी राजमहिलाओंके सुन्दर मुख धूप और परिश्रमके कारण मुरझाये हुए कमलोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ १२ ॥

द्रोणेन निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
धृष्टद्युम्नसुताः सर्वे शिशवो हेममालिनः ॥ १३ ॥

ये द्रोणाचार्यके मारे हुए धृष्टद्युम्नके सभी छोटे-छोटे शूरवीर बालक सो रहे हैं । इनकी भुजाओंमें सुन्दर अङ्गद और गलेमें सोनेके हार शोभा पाते हैं ॥ १३ ॥

रथाग्न्यगारं चापार्चिःशरशक्तिगदेन्धनम् ।
द्रोणमासाद्य निर्दग्धाः शलभा इव पावकम् ॥ १४ ॥

द्रोणाचार्य प्रज्वलित अग्निके समान थे, उनका रथ ही अग्निशाला था, धनुष ही उस अग्निकी लपट था, बाण, शक्ति और गदाएँ समिधाका काम दे रही थीं, धृष्टद्युम्नके पुत्र पतङ्गोंके समान उस द्रोणरूपी अग्निमें जलकर भस्म हो गये ॥ १४ ॥

तथैव निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
द्रोणेनाभिमुखाः सर्वे भ्रातरः पञ्च केकयाः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार सुन्दर अङ्गदोंसे विभूषित पाँचों शूरवीर भाई केकय राजकुमार समराङ्गणमें सम्मुख होकर जूझ रहे थे । वे सब-के-सब आचार्य द्रोणके हाथसे मारे जाकर सो रहे हैं ॥

तप्तकाञ्चनवर्माणस्तालध्वजरथव्रजाः ।
भासयन्ति महीं भासा ज्वलिता इव पावकाः ॥ १६ ॥

इन सबके कवच तपाये हुए सुवर्णके बने हैं और इनके रथ-समूह तालचिह्नित ध्वजाओंसे सुशोभित हैं । ये राजकुमार अपनी प्रभासे प्रज्वलित अग्निके समान भूतलको प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १६ ॥

द्रोणेन द्रुपदं संख्ये पश्य माधव पातितम् ।
महाद्विपमिवारण्ये सिंहेन महता हतम् ॥ १७ ॥

माधव ! देखो, युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने जिन्हें मार गिराया था, वे राजा द्रुपद सो रहे हैं, मानो किसी वनमें विशाल सिंहके द्वारा कोई महान् गजराज मारा गया हो १७

पाञ्चालराज्ञो विमलं पुण्डरीकाक्ष पाण्डुरम् ।
आतपत्रं समाभाति शरदीव निशाकरः ॥ १८ ॥

कमलनयन ! पाञ्चालराजका वह निर्मल श्वेत छत्र शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

एतास्तु द्रुपदं वृद्धं स्नुषा भार्याश्च दुःखिताः ।
दग्ध्वा गच्छन्ति पाञ्चाल्यं राजानमपसव्यतः ॥ १९ ॥

इन बूढ़े पाञ्चालराज द्रुपदको इनकी दुखी रानियाँ और पुत्रवधुएँ चितामें जलाकर इनकी प्रदक्षिणा करके जा रही हैं ॥ १९ ॥

धृष्टकेतुं महात्मानं चेदिपुङ्गवमङ्गनाः ।
द्रोणेन निहतं शूरं हरन्ति हृतचेतसः ॥ २० ॥

चेदिराज महामना शूरवीर धृष्टकेतुको जो द्रोणाचार्यके हाथसे मारा गया है, उसकी रानियाँ अचेत-सी होकर दाह-संस्कारके लिये ले जा रही हैं ॥ २० ॥

द्रोणास्त्रमभिहत्यैष विमर्दे मधुसूदन ।
महेष्वासो हतः शेते नद्या हत इव द्रुमः ॥ २१ ॥

मधुसूदन ! यह महाधनुर्धर वीर संग्राममें द्रोणाचार्यके अस्त्र-शस्त्रोंका नाश करके नदीके वेगसे कटे हुए वृक्षके समान मरकर धराशायी हो गया ॥ २१ ॥

एष चेदिपतिः शूरो धृष्टकेतुर्महारथः ।
शेते विनिहतः संख्ये हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ २२ ॥

यह चेदिराज शूरवीर महारथी धृष्टकेतु सहस्रों शत्रुओंको मारकर मारा गया और रणशय्यापर सदाके लिये सो गया ॥ २२ ॥

वितुद्यमानं विहगैस्तं भार्याः पर्युपासिताः ।
चेदिराजं हृषीकेश हतं सबलबान्धवम् ॥ २३ ॥

हृषीकेश ! सेना और बन्धुओंसहित मारे गये इस चेदिराजको पक्षी चोंच मार रहे हैं और उसकी स्त्रियाँ उसे चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं ॥ २३ ॥

दाशार्हीपुत्रजं वीरं शयानं सत्यविक्रमम् ।
आरोप्याङ्के रुदन्त्येताश्चेदिराजवराङ्गनाः ॥ २४ ॥

दशार्हकुलकी कन्या (श्रुतश्रवा)के पुत्र शिशुपालका यह सत्यपराक्रमी वीर पुत्र रणभूमिमें सो रहा है और इसे अङ्कमें लेकर ये चेदिराजकी सुन्दरी रानियाँ रो रही हैं ॥ २४ ॥

अस्य पुत्रं हृषीकेश सुवक्त्रं चारुकुण्डलम् ।
द्रोणेन समरे पश्य निकृत्तं बहुधा शरैः ॥ २५ ॥

हृषीकेश ! देखो तो सही, इस धृष्टकेतुके सुन्दर मुख और मनोहर कुण्डलोंवाले पुत्रको द्रोणाचार्यने समराङ्गणमें अपने बाणोंद्वारा मारकर उसके अनेक टुकड़े कर डाले हैं ॥

पितरं नूनमाजिस्थं युद्ध्यमानं परैः सह ।
नाजहात् पितरं वीरमद्यापि मधुसूदन ॥ २६ ॥

मधुसूदन ! रणभूमिमें स्थित होकर शत्रुओंके साथ जूझनेवाले अपने पिताका साथ इसने कभी नहीं छोड़ा था, आज युद्धके बाद भी वह पिताको नहीं छोड़ सका है ॥ २६ ॥

एवं ममापि पुत्रस्य पुत्रः पितरमन्वगात् ।
दुर्योधनं महाबाहो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ २७ ॥

महाबाहो ! इसी प्रकार मेरे पुत्रके पुत्र शत्रुवीरहन्ता लक्ष्मणने भी अपने पिता दुर्योधनका अनुसरण किया है॥२७॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पतितौ पश्य माधव ।
हिमान्ते पुष्पितौ शालौ मरुता गलिताविव ॥ २८ ॥

माधव ! जैसे ग्रीष्म ऋतुमें हवाके वेगसे दो खिले हुए शाल वृक्ष गिर गये हों, उसी प्रकार अवन्तीदेशके दोनों वीर राजपुत्र विन्द और अनुविन्द धराशायी हो गये हैं, इनपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

काञ्चनाङ्गदवर्माणौ बाणखड्गधनुर्धरौ ।
ऋषभप्रतिरूपाक्षौ शयानौ विमलस्रजौ ॥ २९ ॥

इन दोनोंने सोनेके कवच धारण किये हैं, बाण, खड्ग और धनुष लिये हैं तथा बैलके समान बड़ी-बड़ी आँखोंवाले ये दोनों वीर चमकीले हार पहने हुए सो रहे हैं ॥ २९ ॥

अवध्याः पाण्डवाः कृष्ण सर्व एव त्वया सह ।
ये मुक्ता द्रोणभीष्माभ्यां कर्णाद् वैकर्तनात् कृपात्॥३०॥
दुर्योधनाद् द्रोणसुतात् सैन्धवाच्च जयद्रथात् ।
सोमदत्ताद् विकर्णाच्च शूराच्च कृतवर्मणः ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम्हारे साथ ही ये समस्त पाण्डव अवध्य जान पड़ते हैं, जो कि द्रोण, भीष्म, वैकर्तन कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सिंधुराज जयद्रथ, सोमदत्त, विकर्ण और शूरवीर कृतवर्माके हाथसे जीवित बच गये हैं ॥ ३०-३१ ॥

ये हन्युः शस्त्रवेगेन देवानपि नरर्षभाः ।
त इमे निहताः संख्ये पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ३२ ॥

जो नरश्रेष्ठ अपने शस्त्रके वेगसे देवताओंको भी नष्ट कर सकते थे, वे ही ये युद्धमें मार डाले गये हैं; यह कालका उलट-फेर तो देखो ॥ ३२ ॥

नातिभारोऽस्ति दैवस्य ध्रुवं माधव कश्चन ।
यदिमे निहताः शूराः क्षत्रियैः क्षत्रियर्षभाः ॥ ३३ ॥

माधव ! निश्चय ही दैवके लिये कोई भी कार्य अधिक कठिन नहीं है; क्योंकि उसने क्षत्रियोंद्वारा ही इन शूरवीर क्षत्रियशिरोमणियोंका संहार कर डाला है ॥ ३३ ॥

तदैव निहताः कृष्ण मम पुत्रास्तरस्विनः ।
यदैवाकृतकामस्त्वमुपप्लव्यं गतः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे वेगशाली पुत्र तो उसी दिन मार डाले गये, जब कि तुम अपूर्णमनोरथ होकर पुनः उपप्लव्यको लौट गये थे ॥ ३४ ॥

शान्तनोश्चैव पुत्रेण प्राज्ञेन विदुरेण च ।
तदैवोक्तास्मि मा स्नेहं कुरुष्वात्मसुतेष्विति ॥ ३५ ॥

मुझे तो शान्तनुनन्दन भीष्म तथा ज्ञानी विदुरने उसी दिन कह दिया था 'कि अब तुम अपने पुत्रोंपर स्नेह न करो' ॥ ३५ ॥

तयोर्हि दर्शनं नैतन्मिथ्या भवितुमर्हति ।
अचिरेणैव मे पुत्रा भस्मीभूता जनार्दन ॥ ३६ ॥

जनार्दन ! उन दोनोंकी यह दृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती थी; अतः थोड़े ही समयमें मेरे सारे पुत्र युद्धकी आगमें जलकर भस्म हो गये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा न्यपतद् भूमौ गान्धारी शोकमूर्छिता ।
दुःखोपहतविज्ञाना धैर्यमुत्सृज्य भारत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! ऐसा कहकर शोकसे मूर्छित हुई गान्धारी धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ीं, दुःखसे उनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी ॥ ३७ ॥

ततः कोपपरीताङ्गी पुत्रशोकपरिप्लुता ।
जगाम शौरिं दोषेण गान्धारी व्यथितेन्द्रिया ॥ ३८ ॥

तदनन्तर उनके सारे अङ्गोंमें क्रोध व्याप्त हो गया । पुत्रशोकमें डूब जानेके कारण उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं । उस समय गान्धारीने सारा दोष श्रीकृष्णके ही माथे मढ़ दिया ॥ ३८ ॥

गान्धार्युवाच

पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च दग्धाः कृष्ण परस्परम् ।
उपेक्षिता विनश्यन्तस्त्वया कस्माज्जनार्दन ॥ ३९ ॥

गान्धारीने कहा—श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! पाण्डव और धृतराष्ट्रके पुत्र आपसमें लड़कर भस्म हो गये । तुमने इन्हें नष्ट होते देखकर भी इनकी उपेक्षा कैसे कर दी ? ३९

शक्तेन बहुभृत्येन विपुले तिष्ठता बले ।
उभयत्र समर्थेन श्रुतवाक्येन चैव ह ॥ ४० ॥
इच्छतोपेक्षितो नाशः कुरूणां मधुसूदन ।
यस्मात् त्वया महाबाहो फलं तस्मादवाप्नुहि ॥ ४१ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! तुम शक्तिशाली थे । तुम्हारे पास बहुत-से सेवक और सैनिक थे । तुम महान् बलमें प्रतिष्ठित थे । दोनों पक्षोंसे अपनी बात मनवा लेनेकी सामर्थ्य तुममें मौजूद थी । तुमने वेद-शास्त्रों और महात्माओंकी बातें सुनी और जानी थीं । यह सब होते हुए भी तुमने स्वेच्छासे कुरु-कुलके नाशकी उपेक्षा की—जान-बूझकर इस वंशका विनाश होने दिया । यह तुम्हारा महान् दोष है, अतः तुम इसका फल प्राप्त करो ॥ ४०-४१ ॥

पतिशुश्रूषया यन्मे तपः किंचिदुपार्जितम् ।
तेन त्वां दुरवापेन शप्स्ये चक्रगदाधर ॥ ४२ ॥

चक्र और गदा धारण करनेवाले केशव ! मैंने पतिकी सेवासे जो कुछ भी तप प्राप्त किया है, उस दुर्लभ तपोबलसे तुम्हें शाप दे रही हूँ ॥ ४२ ॥

यस्मात् परस्परं घ्नन्तो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः ।
उपेक्षितास्ते गोविन्द तस्माज्ज्ञातीन् वधिष्यसि ॥ ४३ ॥

गोविन्द ! तुमने आपसमें मार-काट मचाते हुए कुटुम्बी कौरवों और पाण्डवोंकी उपेक्षा की है; इसलिये तुम अपने भाई-बन्धुओंका भी विनाश कर डालोगे ॥ ४३ ॥

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन ।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः ॥ ४४ ॥
अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः ।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि ॥ ४५ ॥

मधुसूदन ! आजसे छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होनेपर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र सभी आपसमें लड़कर मर जायँगे । तुम सबसे अपरिचित और लोगोंकी आँखोंसे ओझल होकर अनाथके समान वनमें विचरोगे और किसी निन्दित उपायसे मृत्युको प्राप्त होओगे ॥ ४४-४५ ॥

तवाप्येवं हतसुता निहतज्ञातिबान्धवाः ।
स्त्रियः परिपतिष्यन्ति यथैता भरतस्त्रियः ॥ ४६ ॥

इन भरतवंशकी स्त्रियोंके समान तुम्हारे कुलकी स्त्रियाँ भी पुत्रों तथा भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर इसी तरह सगे-सम्बन्धियोंकी लाशोंपर गिरेंगी ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं वासुदेवो महामनाः ।
उवाच देवीं गान्धारीमीषदभ्युत्स्मयन्निव ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वह घोर वचन सुनकर महामनस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने कुछ मुस्कराते हुए-से गान्धारीदेवीसे कहा—॥ ४७ ॥

जानेऽहमेतदप्येवं चीर्णं चरसि क्षत्रिये ।
दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः ॥ ४८ ॥

'क्षत्राणी ! मैं जानता हूँ, यह ऐसा ही होनेवाला है । तुम तो किये हुएको ही कर रही हो । इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिवंशके यादव दैवसे ही नष्ट होंगे ॥ ४८ ॥

संहर्ता वृष्णिचक्रस्य नान्यो मद् विद्यते शुभे ।
अवध्यास्ते नरैरन्यैरपि वा देवदानवैः ॥ ४९ ॥
परस्परकृतं नाशमतः प्राप्स्यन्ति यादवाः ।

'शुभे ! वृष्णिकुलका संहार करनेवाला मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है । यादव दूसरे मनुष्यों तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य हैं; अतः आपसमें ही लड़कर नष्ट होंगे' ॥ ४९½ ॥

इत्युक्तवति दाशार्हे पाण्डवास्त्रस्तचेतसः ।
बभूवुर्भृशसंविग्ना निराशाश्चापि जीविते ॥ ५० ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पाण्डव मन-ही-मन भयभीत हो उठे । उन्हें बड़ा उद्वेग हुआ । वे सब-के-सब अपने जीवनसे निराश हो गये ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीशापदाने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीका शापदानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

(श्राद्धपर्व)

षड्विंशोऽध्यायः

प्राप्त अनुस्मृति विद्या और दिव्य दृष्टिके प्रभावसे युधिष्ठिरका महाभारतयुद्धमें मारे गये लोगोंकी संख्या और गतिका वर्णन तथा युधिष्ठिरकी आज्ञासे सबका दाह-संस्कार

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारि मा च शोके मनः कृथाः ।
तवैव ह्यपराधेन कुरवो निधनं गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—गान्धारी ! उठो, उठो । शोकमें मनको न डुबाओ । तुम्हारे ही अपराधसे कौरवोंका विनाश हुआ है ॥ १ ॥

यत् त्वं पुत्रं दुरात्मानमीर्षुमत्यन्तमानिनम् ।
दुर्योधनं पुरस्कृत्य दुष्कृतं साधु मन्यसे ॥ २ ॥
निष्ठुरं वैरपुरुषं वृद्धानां शासनातिगम् ।
कथमात्मकृतं दोषं मय्याधातुमिहेच्छसि ॥ ३ ॥

तुम्हारा पुत्र दुर्योधन दुरात्मा, दूसरोंसे ईर्ष्या एवं जलन रखनेवाला और अत्यन्त अभिमानी था । दुष्कर्मपरायण, निष्ठुर, वैरका मूर्तिमान् स्वरूप और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला था । तुमने उसको अगुआ बनाकर जो अपराध किया है, उसे क्या तुम अच्छा समझती हो ? अपने ही किये हुए दोषको यहाँ मुझपर कैसे लादना चाहती हो ? ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ४ ॥

यदि कोई मनुष्य किसी मरे हुए सम्बन्धी, नष्ट हुई वस्तु अथवा बीती हुई बातके लिये शोक करता है तो वह एक दुःखसे दूसरे दुःखका भागी होता है, इस प्रकार वह दो अनर्थोंको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तपोऽर्थीयं ब्राह्मणी धत्त गर्भं
गौर्वोढारं धावितारं तुरङ्गी ।
शूद्रा दासं पशुपालं च वैश्या
वधार्थीयं त्वद्विधा राजपुत्री ॥ ५ ॥

ब्राह्मणी तपके लिये, गाय बोझ ढोनेके लिये, घोड़ी वेगसे दौड़नेके लिये, शूद्रा सेवाके लिये, वैश्यकन्या पशुपालन करनेके लिये और तुम-जैसी राजपुत्री युद्धमें लड़कर मरनेके लिये पुत्र पैदा करती है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पुनरुक्तं वचोऽप्रियम् ।
तूष्णीं बभूव गान्धारी शोकव्याकुललोचना ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका दुबारा कहा हुआ वह अप्रिय वचन सुनकर गान्धारी चुप हो गयी । उसके नेत्र शोकसे व्याकुल हो उठे थे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिर्निगृह्याबुद्धिजं तमः ।
पर्यपृच्छत धर्मज्ञो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

उस समय धर्मज्ञ राजर्षि धृतराष्ट्रने अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले शोक और मोहको रोककर धर्मराज युधिष्ठिरसे पूछा—॥

जीवतां परिमाणज्ञः सैन्यानामसि पाण्डव ।
हतानां यदि जानीषे परिमाणं वदस्व मे ॥ ८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम जीवित सैनिकोंकी संख्याके जानकार तो हो ही । यदि मरे हुओंकी संख्या जानते हो तो मुझे बताओ॥

युधिष्ठिर उवाच

दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः ।
कोटयः षष्टिश्च षट् चैव ह्यस्मिन् राजन् मृधे हताः॥९॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! इस युद्धमें एक अरब, छाछठ करोड़, बीस हजार योद्धा मारे गये हैं ॥ ९ ॥

अलक्षितानां वीराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
दश चान्यानि राजेन्द्र शतं षष्टिश्च पञ्च च ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! इनके अतिरिक्त चौबीस हजार एक सौ पैंसठ सैनिक लापता हैं ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर गतिं कां ते गताः पुरुषसत्तम ।
आचक्ष्व मे महाबाहो सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—पुरुषप्रवर ! महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम तो मुझे सर्वज्ञ जान पड़ते हो; अतः यह तो बताओ कि 'वे मरे हुए सैनिक किस गतिको प्राप्त हुए हैं ?' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यैर्हुतानि शरीराणि हृष्टैः परमसंयुगे ।
देवराजसमाँल्लोकान् गतास्ते सत्यविक्रमाः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जिन लोगोंने इस महासमरमें बड़े हर्ष और उत्साहके साथ अपने शरीरोंकी आहुति दी है, वे सत्यपराक्रमी वीर देवराज इन्द्रके समान लोकोंमें गये हैं ॥

ये त्वहृष्टेन मनसा मर्तव्यमिति भारत ।
युध्यमाना हताः संख्ये गन्धर्वैः सह संगताः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अप्रसन्न मनसे मरनेका निश्चय करके रणक्षेत्रमें जूझते हुए मारे गये हैं, वे गन्धर्वोंके साथ जा मिले हैं॥

ये च संग्रामभूमिष्ठा याचमानाः पराङ्मुखाः ।
शस्त्रेण निधनं प्राप्ता गतास्ते गुह्यकान् प्रति ॥ १४ ॥

जो संग्राम-भूमिमें खड़े हो प्राणोंकी भीख माँगते हुए

युद्धसे विमुख हो गये थे; उनमेंसे जो लोग शस्त्रद्वारा मारे गये हैं, वे गुह्यकलोकोंमें गये हैं ॥ १४ ॥

पात्यमानाः परैर्ये तु हीयमाना निरायुधाः ।
ह्रीनिषेवा महात्मानः परानभिमुखा रणे ॥ १५ ॥
छिद्यमानाः शितैः शस्त्रैः क्षत्रधर्मपरायणाः ।
गतास्ते ब्रह्मसदनं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १६ ॥

जिन महामनस्वी पुरुषोंको शत्रुओंने गिरा दिया था, जिनके पास युद्ध करनेका कोई साधन नहीं रह गया था, जो शस्त्रहीन हो गये थे और उस अवस्थामें भी लज्जाशील होनेके कारण जो रणभूमिमें निरन्तर शत्रुओंका सामना करते हुए ही तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे कट गये, वे क्षत्रियधर्मपरायण पुरुष ब्रह्मलोकमें गये हैं, इस विषयमें मेरा कोई दूसरा विचार नहीं है ॥ १५-१६ ॥

ये त्वत्र निहता राजन्नन्तरायोधनं प्रति ।
यथाकथंचित् पुरुषास्ते गतास्तूत्तरान् कुरून्॥ १७ ॥

राजन् ! इनके सिवा, जो लोग इस युद्धकी सीमाके भीतर रहकर जिस किसी भी प्रकारसे मार डाले गये हैं, वे उत्तर कुरुदेशमें जन्म धारण करेंगे ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

केन ज्ञानबलेनैवं पुत्र पश्यसि सिद्धवत् ।
तन्मे वद महाबाहो श्रोतव्यं यदि वै मया ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—बेटा ! किस ज्ञानबलसे तुम इस तरह सिद्ध पुरुषोंके समान सब कुछ प्रत्यक्ष देख रहे हो । महाबाहो ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो बताओ ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निदेशाद् भवतः पूर्वं वने विचरता मया ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन सम्प्राप्तोऽयमनुग्रहः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! पहले आपकी आज्ञासे जब मैं वनमें विचरता था, उन्हीं दिनों तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे मुझे एक महात्माका इस रूपमें अनुग्रह प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

देवर्षिर्लोमशो दृष्टस्ततः प्राप्तोऽस्म्यनुस्मृतिम् ।
दिव्यं चक्षुरपि प्राप्तं ज्ञानयोगेन वै पुरा ॥ २० ॥

तीर्थयात्राके समय देवर्षि लोमशका दर्शन हुआ था । उन्हींसे मैंने यह अनुस्मृतिविद्या प्राप्त की थी । इसके सिवा, पूर्वकालमें ज्ञानयोगके प्रभावसे मुझे दिव्यदृष्टि भी प्राप्त हो गयी थी ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनाथानां जनानां च सनाथानां च भारत ।
कच्चित् तेषां शरीराणि धक्ष्यसे विधिपूर्वकम्॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—भारत ! यहाँ जो अनाथ और सनाथ योद्धा मरे पड़े हैं, क्या तुम उनके शरीरोंका विधिपूर्वक दाह-संस्कार करा दोगे ? ॥ २१ ॥

न येषामस्ति संस्कर्ता न च येऽत्राहिताग्नयः ।
वयं च कस्य कुर्याम बहुत्वात् तात कर्मणाम् ॥ २२ ॥

जिनका कोई संस्कार करनेवाला नहीं है तथा जो अग्निहोत्री नहीं रहे हैं, उनका भी प्रेतकर्म तो करना ही होगा, तात ! यहाँ तो बहुतोंके अन्त्येष्टि-कर्म करने हैं, हम किस-किसका करें ? ॥ २२ ॥

यान् सुपर्णाश्च गृध्राश्च विकर्षन्ति यतस्ततः ।
तेषां तु कर्मणा लोका भविष्यन्ति युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर ! जिनकी लाशोंको गरुड़ और गीध इधर-उधर घसीट रहे हैं, उन्हें तो श्राद्धकर्मसे ही शुभलोक प्राप्त होंगे ? ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च संजयम् ॥ २४ ॥
विदुरं च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवम् ।
इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान् सूतांश्च सर्वशः ॥ २५ ॥
भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्यशेषतः ।
यथा चानाथवत् किंचिच्छरीरं न विनश्यति ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने सुधर्मा, धौम्य, सारथि संजय, परम बुद्धिमान् विदुर, कुरुवंशी युयुत्सु तथा इन्द्रसेन आदि सेवकों एवं सम्पूर्ण सूतोंको यह आज्ञा दी कि 'आपलोग इन सबके प्रेतकार्य सम्पन्न करावें । ऐसा न हो कि कोई भी लाश अनाथके समान नष्ट हो जाय' ॥ २४–२६ ॥

शासनाद् धर्मराजस्य क्षत्ता सूतश्च संजयः ।
सुधर्मा धौम्यसहित इन्द्रसेनादयस्तथा ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत ।
घृतं तैलं च गन्धांश्च क्षौमाणि वसनानि च ॥ २८ ॥
समाहृत्य महार्हाणि दारूणां चैव संचयान् ।
रथांश्च मृदितांस्तत्र नानाप्रहरणानि च ॥ २९ ॥
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथामुख्यान् नराधिपान् ।
दाहयामासुरव्यग्राः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

धर्मराजके आदेशसे विदुरजी, सारथि संजय, सुधर्मा, धौम्य तथा इन्द्रसेन आदिने चन्दन और अगरकी लकड़ी कालीयक, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र आदि वस्तुएँ एकत्र कीं, लकड़ियोंका संग्रह किया, टूटे हुए रथों तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको भी एकत्र कर लिया । फिर उन सबके द्वारा प्रयत्नपूर्वक कई चिताएँ बनाकर जेठे-छोटेके क्रमसे सभी राजाओंका शास्त्रीय विधिके अनुसार उन्होंने शान्तभावसे दाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ २७-३० ॥

दुर्योधनं च राजानं भ्रातृंश्चास्य महारथान् ।
शल्यं शलं च राजानं भूरिश्रवसमेव च ॥ ३१ ॥
जयद्रथं च राजानमभिमन्युं च भारत ।
दौःशासनिं लक्ष्मणं च धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ३२ ॥
बृहन्तं सोमदत्तं च सृंजयांश्च शताधिकान् ।
राजानं क्षेमधन्वानं विराटद्रुपदौ तथा ॥ ३३ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
युधामन्युं च विक्रान्तमुत्तमौजसमेव च ॥ ३४ ॥
कौसल्यं द्रौपदेयांश्च शकुनिं चापि सौबलम् ।
अचलं वृषकं चैव भगदत्तं च पार्थिवम् ॥ ३५ ॥
कर्णं वैकर्तनं चैव सहपुत्रममर्षणम् ।
केकयांश्च महेष्वासांस्त्रिगर्तांश्च महारथान् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचं राक्षसेन्द्रं बकभ्रातरमेव च ।
अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् पार्थिवांश्च सहस्रशः ।
घृतधाराहुतैर्दीप्तैः पावकैः समदाहयन् ॥ ३८ ॥

राजा दुर्योधन, उनके निन्यानबे महारथी भाई, राजा शल्य, शल, भूरिश्रवा, राजा जयद्रथ, अभिमन्यु, दुःशासन-पुत्र, लक्ष्मण, राजा धृष्टकेतु, बृहन्त, सोमदत्त, सौसे भी अधिक सृंजय वीर, राजा क्षेमधन्वा, विराट, द्रुपद, शिखण्डी, पाञ्चालदेशीय द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, युधामन्यु, पराक्रमी उत्त-मौजा, कोसलराज बृहद्बल, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सुबलपुत्र शकुनि, अचल, वृषक, राजा भगदत्त, पुत्रोंसहित अमर्ष-शील वैकर्तन कर्ण, महाधनुर्धर पाँचों केकयराजकुमार, महारथी त्रिगर्त, राक्षसराज घटोत्कच, बकके भाई राक्षस-प्रवर अलम्बुष और राजा जलसंध—इनका तथा अन्य बहुतेरे सहस्रों भूपालोंका घीकी धारासे प्रज्वलित हुई अग्नियोंद्वारा उन लोगोंने दाह-कर्म कराया ॥ ३१—३८ ॥

पितृमेधाश्च केषांचित् प्रावर्तन्त महात्मनाम् ।
सामभिश्चाप्यगायन्त तेऽन्वशोचन्त चापरैः ॥ ३९ ॥

किन्हीं महामनस्वी वीरोंके लिये पितृमेध (श्राद्धकर्म) भी आरम्भ कर दिये गये। कुछ लोगोंने वहाँ सामगान किया तथा कितने ही मनुष्योंने वहाँ मरे हुए विभिन्न जनोंके लिये महान् शोक प्रकट किया ॥ ३९ ॥

साम्नामृचां च नादेन स्त्रीणां च रुदितस्वनैः ।
कश्मलं सर्वभूतानां निशायां समपद्यत ॥ ४० ॥

सामवेदीय मन्त्रों तथा ऋचाओंके घोष और स्त्रियोंके रोनेकी आवाजसे वहाँ रातमें सभी प्राणियोंको बड़ा कष्ट हुआ॥

ते विधूमाः प्रदीप्ताश्च दीप्यमानाश्च पावकाः ।
नभसीवान्वदृश्यन्त ग्रहास्तन्वभ्रसंवृताः ॥ ४१ ॥

उस समय स्वल्प धूमयुक्त, प्रज्वलित तथा जलायी जाती हुई चिताकी अग्नियाँ आकाशमें सूक्ष्म बादलोंसे ढँके हुए ग्रहोंके समान दिखायी देती थीं ॥ ४१ ॥

ये चाप्यनाथास्तत्रासन् नानादेशसमागताः ।
तांश्च सर्वान् समानाय्य राशीन् कृत्वा सहस्रशः ॥४२॥
चित्वा दारुभिरव्यग्रैः प्रभूतैः स्नेहपाचितैः ।
दाहयामास तान् सर्वान् विदुरो राजशासनात्॥ ४३ ॥

इसके बाद वहाँ अनेक देशोंसे आये हुए जो अनाथ लोग मारे गये, उन सबकी लाशोंको मँगवाकर उनके सहस्रों ढेर लगाये। फिर घी-तेलमें भिगोयी हुई बहुत-सी लकड़ियों-द्वारा स्थिर चित्तवाले लोगोंसे चिता बनाकर उन सबको विदुरजीने राजाकी आज्ञाके अनुसार दग्ध करवा दिया ॥

कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गङ्गामभिमुखोऽगमत् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उन सबका दाहकर्म कराकर कुरुराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको आगे करके गङ्गाजीकी ओर चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि श्राद्धपर्वणि कुरूणामौर्ध्वदेहिके षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत श्राद्धपर्वमें कौरवोंका और्ध्वदैहिक संस्कारविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

सभी स्त्री-पुरुषोंका अपने मरे हुए सम्बन्धियोंको जलाञ्जलि देना, कुन्तीका अपने गर्भसे कर्णके जन्म होनेका रहस्य प्रकट करना तथा युधिष्ठिरका कर्णके लिये शोक प्रकट करते हुए उनका प्रेतकृत्य सम्पन्न करना और स्त्रियोंके मनमें रहस्यकी बात न छिपनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ते समासाद्य गङ्गां तु शिवां पुण्यजलोचिताम् ।
ह्रदिनीं च प्रसन्नां च महारूपां महावनाम् ॥ १ ॥
भूषणान्युत्तरीयाणि वेष्टनान्यवमुच्य च ।
ततः पितृणां भ्रातृणां पौत्राणां स्वजनस्य च ॥ २ ॥
पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः ।
उदकं चक्रिरे सर्वा रुदत्यो भृशदुःखिताः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे युधिष्ठिर आदि सब लोग कल्याणमयी, पुण्यसलिला, अनेक जलकुण्डोंसे सुशोभित, स्वच्छ, विशाल रूपधारिणी तथा तटप्रदेशमें

युद्धमें काम आये हुए वीरोंको उनके सम्बन्धियोंद्वारा जलदान

महान् वनवाली गङ्गाजीके तटपर आकर अपने सारे आभूषण, दुपट्टे तथा पगड़ी आदि उतार डाले और पिताओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, स्वजनों तथा आर्य वीरोंके लिये जलाञ्जलि प्रदान की। अत्यन्त दुःखसे रोती हुई कुरुकुलकी सभी स्त्रियोंने भी अपने पिता आदिके साथ-साथ पतियोंके लिये जल अर्पण किये॥

सुहृदां चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः।
उदके क्रियमाणे तु वीराणां वीरपत्निभिः॥ ४॥
सूपतीर्था भवद्गङ्गा भूयो विप्रससार च।

धर्मज्ञ पुरुषोंने अपने हितैषी सुहृदोंके लिये भी जलाञ्जलि देनेका कार्य सम्पन्न किया। वीरोंकी पत्नियोंद्वारा जब उन वीरोंके लिये जलाञ्जलि दी जा रही थी, उस समय गङ्गाजीके जलमें उतरनेके लिये बड़ा सुन्दर मार्ग बन गया और गङ्गाका पाट अधिक चौड़ा हो गया॥ ४½॥

तन्महोदधिसंकाशं निरानन्दमनुत्सवम्॥ ५॥
वीरपत्नीभिराकीर्णं गङ्गातीरमशोभत।

महासागरके समान विशाल वह गङ्गातट आनन्द और उत्सवसे शून्य होनेपर भी उन वीर-पत्नियोंसे व्याप्त होनेके कारण बड़ी शोभा पाने लगा॥ ५½॥

ततः कुन्ती महाराज सहसा शोककर्शिता॥ ६॥
रुदती मन्दया वाचा पुत्रान् वचनमब्रवीत्।

महाराज! तदनन्तर कुन्तीदेवी सहसा शोकसे कातर हो रोती हुई मन्द वाणीमें अपने पुत्रोंसे बोलीं—॥ ६½॥

यः स वीरो महेष्वासो रथयूथपयूथपः॥ ७॥
अर्जुनेन जितः संख्ये वीरलक्षणलक्षितः।
यं सूतपुत्रं मन्यध्वं राधेयमिति पाण्डवाः॥ ८॥
यो व्यराजच्च भूमध्ये दिवाकर इव प्रभुः।
प्रत्ययुध्यत वः सर्वान् पुरा यः सपदानुगान्॥ ९॥
दुर्योधनबलं सर्वं यः प्रकर्षन् व्यरोचत।
यस्य नास्ति समो वीर्ये पृथिव्यामपि पार्थिवः॥ १०॥
योऽवृणीत यशः शूरः प्राणैरपि सदा भुवि।
कर्णस्य सत्यसंधस्य संग्रामेष्वपलायिनः॥ ११॥
कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः।
स हि वः पूर्वजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत॥ १२॥
कुण्डली कवची शूरो दिवाकरसमप्रभः।

'पाण्डवो! जो महाधनुर्धर वीर रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति तथा वीरोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था, जिसे युद्धमें अर्जुनने परास्त किया है तथा जिसे तुमलोग सूतपुत्र एवं राधापुत्रके रूपमें मानते-जानते हो, जो सेनाके मध्यभागमें भगवान् सूर्यके समान प्रकाशित होता था, जिसने पहले सेवकोंसहित तुम सब लोगोंका अच्छी तरह सामना किया था, जो दुर्योधनकी सारी सेनाको अपने पीछे खींचता हुआ बड़ी शोभा पाता था, बल और पराक्रममें जिसकी समानता करनेवाला इस भूतलपर दूसरा कोई राजा नहीं है, जिस शूरवीरने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भूमण्डलमें सदा यशका ही उपार्जन किया है, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अपने उस सत्यप्रतिज्ञ भ्राता कर्णके लिये भी तुमलोग जल-दान करो। वह तुमलोगोंका बड़ा भाई था। भगवान् सूर्यके अंशसे वह वीर मेरे ही गर्भसे उत्पन्न हुआ था। जन्मके साथ ही उस शूरवीरके शरीरमें कवच और कुण्डल शोभा पाते थे। वह सूर्यदेवके समान ही तेजस्वी था॥ ७—१२½॥

श्रुत्वा तु पाण्डवाः सर्वे मातुर्वचनमप्रियम्॥ १३॥
कर्णमेवानुशोचन्तो भूयः क्लान्ततराभवन्।

माताका यह अप्रिय वचन सुनकर समस्त पाण्डव कर्णके लिये ही बारंबार शोक करते हुए अत्यन्त कष्टमें पड़ गये॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥ १४॥
उवाच मातरं वीरो निःश्वसन्निव पन्नगः।

तदनन्तर पुरुषसिंह वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सर्पके समान लंबी साँस खींचते हुए अपनी मातासे बोले—॥ १४½॥

यः शरोर्मिर्ध्वजावर्तो महाभुजमहाग्रहः॥ १५॥
तलशब्दानुनदितो महारथमहाह्रदः।
यस्येषुपातमासाद्य नान्यस्तिष्ठेद् धनंजयात्॥ १६॥
कथं पुत्रो भवत्याः स देवगर्भः पुराभवत्।

'माँ! जो बड़े-बड़े महारथियोंको डुबो देनेके लिये अत्यन्त गहरे जलाशयके समान थे, बाण ही जिनकी लहर, ध्वजा भँवर, बड़ी-बड़ी भुजाएँ महान् ग्राह और हथेलीका शब्द ही गम्भीर गर्जन था, जिनके बाणोंके गिरनेकी सीमामें आकर अर्जुनके सिवा दूसरा कोई वीर नहीं टिक सकता था, वे सूर्यकुमार तेजस्वी कर्ण पूर्वकालमें आपके पुत्र कैसे हुए?॥

यस्य बाहुप्रतापेन तापिताः सर्वतो वयम्॥ १७॥
तमग्निमिव वस्त्रेण कथं छादितवत्यसि।

'जिनकी भुजाओंके प्रतापसे हम सब ओरसे संतप्त रहते थे, कपड़ेमें ढकी हुई आगके समान उन्हें अबतक आपने कैसे छिपा रक्खा था?॥ १७½॥

यस्य बाहुबलं नित्यं धार्तराष्ट्रैरुपासितम्॥ १८॥
उपासितं यथास्माभिर्बलं गाण्डीवधन्वनः।

'धृतराष्ट्रके पुत्रोंने सदा उन्हींके बाहुबलका भरोसा कर रक्खा था, जैसे कि हमलोगोंने गाण्डीवधारी अर्जुनके बलका आश्रय लिया था॥ १८½॥

भूमिपानां च सर्वेषां बलं बलवतां वरः॥ १९॥
नान्यः कुन्तीसुतात् कर्णादगृह्णाद् रथिनां रथी।

'कुन्तीपुत्र कर्णके सिवा दूसरा कोई रथी ऐसा बड़ा बलवान् नहीं हुआ है, जिसने समस्त राजाओंकी सेनाको रोक दिया हो॥

स नः प्रथमजो भ्राता सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २० ॥
असूत तं भवत्यग्रे कथमद्भुतविक्रमम् ।

'वे समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण क्या सचमुच हमारे बड़े भाई थे ? आपने पहले उन अद्भुत पराक्रमी वीरको कैसे उत्पन्न किया था ? ॥ २०½ ॥

अहो भवत्या मन्त्रस्य गूहनेन वयं हताः ॥ २१ ॥
निधनेन हि कर्णस्य पीडितास्तु सबान्धवाः ।

'अहो ! आपने इस गूढ़ रहस्यको छिपाकर हमलोगोंको मार डाला । कर्णकी मृत्युसे भाइयोंसहित हमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ २१½ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन द्रौपदेयवधेन च ॥ २२ ॥
पञ्चालानां विनाशेन कुरूणां पतनेन च ।
ततः शतगुणं दुःखमिदं मामस्पृशद् भृशम् ॥ २३ ॥

'अभिमन्यु, द्रौपदीके पुत्र और पाञ्चालोंके विनाशसे तथा कुरुकुलके इस पतनसे हमें जितना दुःख हुआ था, उससे सौ गुना यह दुःख इस समय मुझे अत्यन्त व्यथित कर रहा है ॥ २२-२३ ॥

कर्णमेवानुशोचामि दह्याम्यग्नाविवाहितः ।
नेह स्म किंचिदप्राप्यं भवेदपि दिवि स्थितम् ॥ २४ ॥
न चेदं वैशसं घोरं कौरवान्तकरं भवेत् ।

'अब तो मैं केवल कर्णके ही शोकमें डूब गया हूँ और इस तरह जल रहा हूँ, मानो मुझे किसीने जलती आगमें रख दिया हो । यदि पहले ही यह बात मुझे मालूम हो गयी होती तो कर्णको पाकर हमारे लिये इस जगत्में कोई स्वर्गीय वस्तु भी अलभ्य नहीं होती तथा कुरुकुलका अन्त कर देनेवाला यह घोर संग्राम भी नहीं हुआ होता' ॥ २४½ ॥

एवं विलप्य बहुलं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
व्यरुदच्छनकै राजंश्चकारास्योदकं प्रभुः ।
ततो विनेदुः सहसा स्त्रियस्ताः खलु सर्वशः ॥ २६ ॥
अभितो याः स्थितास्तत्र तस्मिन्नुदककर्मणि ।

राजन् ! इस प्रकार बहुत विलाप करके धर्मराज युधिष्ठिर फूट-फूटकर रोने लगे । रोते-ही-रोते उन्होंने धीरे-धीरे कर्णके लिये जलदान किया । यह सब सुनकर वहाँ एकत्र हुई सारी स्त्रियाँ, जो वहाँ जलाञ्जलि देनेके लिये सब ओर खड़ी थीं, सहसा जोर-जोरसे रोने लगीं ॥ २५-२६½ ॥

तत आनाययामास कर्णस्य सपरिच्छदाः ॥ २७ ॥
स्त्रियः कुरुपतिर्धीमान् भ्रातुः प्रेम्णा युधिष्ठिरः ।
स ताभिः सह धर्मात्मा प्रेतकृत्यमनन्तरम् ॥ २८ ॥
चकार विधिवद् धीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

तदनन्तर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरने भाईके प्रेमसे कर्णकी स्त्रियोंको परिवारसहित बुलवा लिया और उन सबके साथ रहकर उन धर्मात्मा बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने विधिपूर्वक कर्णका प्रेतकृत्य सम्पन्न किया ॥ २७-२८½ ॥

पापेनासौ मया श्रेष्ठो भ्राता ज्ञातिर्निपातितः ।
अतो मनसि यद् गुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति ॥ २९ ॥

तदनन्तर वे बोले—'मुझ पापीने इस रहस्यको न जाननेके कारण अपने बड़े भाईको मरवा दिया; अतः आजसे स्त्रियोंके मनमें कोई गुप्त रहस्य नहीं छिपा रह सकेगा' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा स तु गङ्गाया उत्तताराकुलेन्द्रियः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्गङ्गातीरमुपेयिवान् ॥ ३० ॥

ऐसा कहकर व्याकुल इन्द्रियोंवाले राजा युधिष्ठिर गङ्गाजीके जलसे निकले और समस्त भाइयोंके साथ तटपर आये ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि श्राद्धपर्वणि कर्णगूढजत्वकथने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत श्राद्धपर्वमें कर्णके जन्मके गूढ़ रहस्यका कथनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

स्त्रीपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	८२२	(५)	६।॥=	८२८।॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१	...	....	१
		स्त्रीपर्वकी कुल श्लोकसंख्या		८२९।॥=

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(पञ्चम खण्ड)

[शान्तिपर्व]

(सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित)

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(पञ्चम खण्ड)

[शान्तिपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य ११॥) साढ़े ग्यारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

शान्तिपर्व

(आपद्धर्मपर्व)

(मोक्षधर्मपर्व)

चित्र-सूची

शोकाकुल युधिष्ठिरको देवर्षि नारदके द्वारा सान्त्वना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

शान्तिपर्व

(राजधर्मानुशासनपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास नारद आदि महर्षियोंका आगमन और युधिष्ठिरका कर्णके साथ अपना सम्बन्ध बताते हुए कर्णको शाप मिलनेका वृत्तान्त पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र तथा भरतवंशकी सम्पूर्ण स्त्रियाँ—इन सबने गङ्गाजीमें अपने समस्त सुहृदोंके लिये जलाञ्जलियाँ प्रदान कीं॥ १॥

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात्॥ २॥

तदनन्तर वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धिका सम्पादन करनेके लिये एक मासतक वहीं (गङ्गातटपर) नगरसे बाहर टिके रहे॥ २॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः॥ ३॥

मृतकोंके लिये जलाञ्जलि देकर बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास बहुत से श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि सिद्ध महात्मा पधारे॥

द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः॥ ४॥

द्वैपायन व्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व तथा उनके श्रेष्ठ शिष्य भी वहाँ आये थे॥ ४॥

अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम्॥ ५॥

इनके अतिरिक्त अनेक वेदवेत्ता एवं पवित्र बुद्धिवाले ब्राह्मण, गृहस्थ एवं स्नातक संत भी वहाँ आकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिले॥ ५॥

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः॥ ६॥

वे महात्मा महर्षि वहाँ पहुँचकर विधिपूर्वक पूजित हो राजाके दिये हुए बहुमूल्य आसनोंपर विराजमान हुए॥६॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा।
पर्युपासन् यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम्॥ ७॥
पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम्।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः॥ ८॥

उस समयके अनुरूप पूजा स्वीकार करके वे सैकड़ों, हजारों ब्रह्मर्षि भागीरथीके पावन तटपर शोकसे व्याकुलचित्त हुए राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर आश्वासन देते हुए यथोचितरूपसे उनके पास बैठे रहे॥७-८॥

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः॥ ९॥

उस समय श्रीकृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके साथ बातचीत करके सबसे पहले नारदजीने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥

भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर॥ १०॥

'महाराज युधिष्ठिर! आपने अपने बाहुबल, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा धर्मके प्रभावसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पायी है॥ १०॥

दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात्।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव॥ ११॥

'पाण्डुनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि आप सम्पूर्ण जगत्को भयमें डालनेवाले इस संग्रामसे छुटकारा पा गये। अब क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं न ? ॥

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥ १२ ॥

'नरेश्वर ! आपके शत्रु तो मारे जा चुके। अब आप अपने सुहृदोंको तो प्रसन्न रखते हैं न ? इस राज्य-लक्ष्मीको पाकर आपको कोई शोक तो नहीं सता रहा है ?' ॥ १२॥

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेनेसे, ब्राह्मणोंकी कृपा होनेसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे इस सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त हुई ॥ १३ ॥

इदं मम महद् दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥ १४ ॥

परंतु ! मेरे हृदयमें निरन्तर यह महान् दुःख बना रहता है कि मैंने लोभवश अपने बन्धु-बान्धवोंका महान् संहार करा डाला ॥ १४ ॥

सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥

भगवन् ! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदीके प्यारे पुत्रोंको मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी ही जान पड़ती है ॥ १५ ॥

किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम् ।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥

वृष्णिकुलकी कन्या मेरी बहू सुभद्रा, जो इस समय द्वारिकामें रहती है, जब मधुसूदन श्रीकृष्ण यहाँसे लौटकर द्वारिका जायँगे, तब इनसे क्या कहेगी ? ॥ १६ ॥

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा ।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥ १७ ॥

यह द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने पुत्रोंके मारे जानेसे अत्यन्त दीन हो गयी है। इस बेचारीके भाई-बन्धु भी मार डाले गये। यह हमलोगोंके प्रिय और हितमें सदा लगी रहती है। मैं जब-जब इसकी ओर देखता हूँ, तब-तब मेरे मनमें अधिक-से-अधिक पीड़ा होने लगती है ॥ १७ ॥

इदमन्यत् तु भगवन् यत् त्वां वक्ष्यामि नारद ।
मन्त्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥

भगवन् नारद ! यह दूसरी बात जो मैं आपसे बता रहा हूँ और भी दुःख देनेवाली है। मेरी माता कुन्तीने कर्णके जन्मका रहस्य छिपाकर मुझे बड़े भारी दुःखमें डाल दिया है ॥ १८ ॥

यः स नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे ।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥ १९ ॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः ।
अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे ॥ २० ॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः ।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥ २१ ॥

जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था, संसारमें जिनका सामना करनेवाला दूसरा कोई भी महारथी नहीं था, जो रणभूमिमें सिंहके समान खेलते हुए विचरते थे, जो बुद्धिमान्, दयालु, दाता, संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले और धृतराष्ट्र-पुत्रोंके आश्रय थे; अभिमानी, तीव्रपराक्रमी, अमर्षशील, नित्य रोषमें भरे रहनेवाले तथा प्रत्येक युद्धमें हमलोगोंपर अस्त्रों एवं वाग्बाणोंका प्रहार करनेवाले थे, जिनमें विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेकी कला थी, जो शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, धनुर्वेदके विद्वान् तथा अद्भुत पराक्रम कर दिखानेवाले थे, वे कर्ण गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए कुन्तीके पुत्र और हमलोगोंके बड़े भाई थे; यह बात हमारे सुननेमें आयी है॥१९–२१॥

तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम् ।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥ २२ ॥

जलदान करते समय स्वयं माता कुन्तीने यह रहस्य बताया था कि कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुआ मेरा ही सर्वगुणसम्पन्न पुत्र रहा है, जिसे मैंने पहले पानीमें बहा दिया था ॥ २२ ॥

मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत् ।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत ॥ २३ ॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः ।

नारदजी ! मेरी माता कुन्तीने कर्णको जन्मके पश्चात् एक पेटीमें रखकर गङ्गाजीकी धारामें बहाया था। जिन्हें यह सारा संसार अबतक अधिरथ सूत एवं राधाका पुत्र समझता था, वे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र और हमलोगोंके सहोदर भाई थे ॥ २३½ ॥

अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन घातितः ॥ २४ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।

मैंने अनजानमें राज्यके लोभमें आकर भाईके हाथसे ही भाईका वध करा दिया। इस बातकी चिन्ता मेरे अङ्गोंको उसी प्रकार जला रही है, जैसे आग रूईके ढेरको भस्म कर देती है ॥ २४½ ॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ॥ २५ ॥
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः ।

कुन्तीनन्दन श्वेतवाहन अर्जुन भी उन्हें भाईके रूपमें नहीं जानते थे। मुझको, भीमसेनको तथा नकुल-सहदेवको भी इस बातका पता नहीं था; किंतु उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कर्ण हमें अपने भाईके रूपमें जानते थे ॥ २५½ ॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम्॥ २६॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना॥ २७॥

सुननेमें आया है कि मेरी माता कुन्ती हमलोगोंमें संधि करानेकी इच्छासे उनके पास गयी थीं और उन्हें बताया था कि 'तुम मेरे पुत्र हो। 'परंतु महामनस्वी कर्णने माता कुन्तीकी यह इच्छा पूरी नहीं की॥ २६-२७॥

अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम्।
न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे॥ २८॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत्।

हमने यह भी सुना है कि उन्होंने पीछे माता कुन्तीको यह जवाब दिया कि 'मैं युद्धके समय राजा दुर्योधनका साथ नहीं छोड़ सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी नीचता, क्रूरता और कृतघ्नता सिद्ध होगी॥ २८½॥

युधिष्ठिरेण संधिं हि यदि कुर्यां मते तव॥ २९॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः।

'माताजी! यदि तुम्हारे मतके अनुसार मैं इस समय युधिष्ठिरके साथ संधि कर लूँ तो सब लोग यही समझेंगे कि 'कर्ण युद्धमें अर्जुनसे डर गया'॥ २९½॥

सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम्॥ ३०॥
संधास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत्।

'अतः मैं पहले समराङ्गणमें श्रीकृष्णसहित अर्जुनको परास्त करके पीछे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि करूँगा' ऐसी बात उन्होंने कही॥ ३०½॥

तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम्॥ ३१॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम्।

तब कुन्तीने चौड़ी छातीवाले कर्णसे फिर कहा— 'बेटा! तुम इच्छानुसार अर्जुनसे युद्ध करो; किंतु अन्य चार भाइयोंको अभय दे दो'॥ ३१½॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः॥ ३२॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान्।
पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः॥ ३३॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने।

इतना कहकर माता कुन्ती थर्थर काँपने लगीं। तब बुद्धिमान् कर्णने हाथ जोड़कर मातासे कहा—'देवि! तुम्हारे चार पुत्र मेरे वशमें आ जायँगे तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। तुम्हारे पाँच पुत्र निश्चितरूपसे बने रहेंगे। यदि कर्ण मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र होंगे और यदि अर्जुन मारे गये तो वे कर्णसहित पाँच होंगे'॥३२-३३½॥

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत्॥ ३४॥
भ्रातॄणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि।
एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान्॥ ३५॥

तब पुत्रोंका हित चाहनेवाली माताने पुनः अपने ज्येष्ठ पुत्रसे कहा—'बेटा! तुम जिन चारों भाइयोंका कल्याण करना चाहते हो, उनका अवश्य भला करना' ऐसा कहकर माता कर्णको छोड़कर घर लौट आयीं॥ ३४-३५॥

सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः।
न चैव विवृतो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा विभो॥ ३६॥

उस वीर सहोदर भाईको भाई अर्जुनने मार डाला। प्रभो! इस गुप्त रहस्यको न तो माता कुन्तीने प्रकट किया और न कर्णने ही॥ ३६॥

अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात् स्वसोदर्यं द्विजोत्तम॥ ३७॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात् प्रभो।
तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः॥ ३८॥

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर युद्धस्थलमें महाधनुर्धर शूरवीर कर्ण अर्जुनके हाथसे मारे गये। प्रभो! मुझे तो माता कुन्तीके ही कहनेसे बहुत पीछे यह बात मालूम हुई है कि 'कर्ण हमारे ज्येष्ठ एवं सहोदर भाई थे।' मैंने भाईकी हत्या करायी है; इसलिये मेरे हृदयको तीव्र वेदना हो रही है॥ ३७-३८॥

कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम्।
सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः॥ ३९॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति।

कर्ण और अर्जुनकी सहायता पाकर तो मैं देवराज इन्द्रको भी जीत सकता था। कौरवसभामें जब दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने मुझे बहुत क्लेश पहुँचाया, तब सहसा मेरे हृदयमें क्रोध प्रकट हो गया; परंतु कर्णको देखकर वह शान्त हो गया॥ ३९½॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः॥ ४०॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह॥ ४१॥

जब द्यूतसभामें दुर्योधनके हितकी इच्छासे वे बोलने लगते और मैं उनकी कड़वी एवं रूखी बातें सुनता, उस समय उनके पैरोंको देखकर मेरा बढ़ा हुआ रोष शान्त हो जाता था॥ ४०-४१॥

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह॥ ४२॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन्।

मेरा विश्वास है कि कर्णके दोनों पैर माता कुन्तीके चरणोंके सदृश थे। कुन्ती और कर्णके पैरोंमें इतनी समानता क्यों है? इसका कारण ढूँढ़ता हुआ मैं बहुत सोचता-विचारता; परंतु किसी तरह कोई कारण नहीं समझ पाता था ४२½

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत्॥ ४३॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि।

नारदजी! संग्राममें कर्णके पहियेको पृथ्वी क्यों निगल गयी और मेरे बड़े भाई कर्णको कैसे यह शाप प्राप्त हुआ? इसे आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें॥ ४३½॥

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम् ।
भवान् हि सर्वविद् विद्वान् लोके वेद कृताकृतम्॥ ४४ ॥

भगवन् ! मैं आपसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ विद्वान् हैं और लोकमें जो भूत और भविष्य कालकी घटनाएँ हैं, उन सबको जानते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णकी पहचानविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारदजीका कर्णको शाप प्राप्त होनेका प्रसङ्ग सुनाना

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः ।
कथयामास तत् सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारद मुनिने सूतपुत्र कर्णको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ था, वह सब प्रसङ्ग कह सुनाया ॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद् रणे ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—महाबाहु भरतनन्दन ! तुम जैसा कह रहे हो, ठीक ऐसी ही बात है । वास्तवमें कर्ण और अर्जुनके लिये युद्धमें कुछ भी असाध्य नहीं हो सकता था ॥ २ ॥

गुह्यमेतत् तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ ।
तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा ॥ ३ ॥

अनघ ! यह देवताओंकी गुप्त बात है, जिसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ । महाबाहो ! पूर्वकालके इस यथावत् वृत्तान्तको तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो ।
संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥ ४ ॥

प्रभो ! एक समय देवताओंने यह विचार किया कि कौन-सा ऐसा उपाय हो, जिससे भूमण्डलका सारा क्षत्रिय-समुदाय शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाय। यह सोचकर उन्होंने सूर्यद्वारा कुमारी कुन्तीके गर्भसे एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कराया, जो संघर्षका जनक हुआ ॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः ।
चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद् धनुर्वेदं गुरोस्तदा ॥ ५ ॥

वही तेजस्वी बालक सूतपुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुआ । उसने अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की ॥ ५ ॥

स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम् ।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा ॥ ६ ॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः ।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! वह भीमसेनका बल, अर्जुनकी फुर्ती, आपकी बुद्धि, नकुल और सहदेवकी विनय, गाण्डीव- धारी अर्जुनकी श्रीकृष्णके साथ बचपनमें ही मित्रता तथा पाण्डवोंपर प्रजाका अनुराग देखकर चिन्तामग्न हो जलता रहता था ॥६-७॥

स सख्यमकरोद् बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च ।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥ ८ ॥

इसीलिये उसने बाल्यावस्थामें ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता स्थापित कर ली और दैवकी प्रेरणासे तथा स्वभाववश भी वह आपलोगोंके साथ सदा द्वेष रखने लगा ॥ ८ ॥

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनंजयम् ।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

एक दिन अर्जुनको धनुर्वेदमें अधिक शक्तिशाली देख कर्णने एकान्तमें द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा—॥९॥

ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम् ।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः ॥ १० ॥
समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम् ।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ॥ ११ ॥

'गुरुदेव ! मैं ब्रह्मास्त्रको उसके छोड़ने और लौटानेके रहस्यसहित जानना चाहता हूँ । मेरी इच्छा है कि मैं अर्जुनके साथ युद्ध करूँ । निश्चय ही आपका सभी शिष्यों और पुत्रपर बराबर स्नेह है । आपकी कृपासे विद्वान् पुरुष यह न कहें कि यह सभी अस्त्रोंका ज्ञाता नहीं है'॥ १०-११ ॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति ।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥ १२ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनके प्रति पक्षपात रखनेवाले द्रोणाचार्य कर्णकी दुष्टताको समझकर उससे बोले—॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथंचन ॥ १३ ॥

'वत्स ! ब्रह्मास्त्रको ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा तपस्वी क्षत्रिय । दूसरा कोई किसी तरह इसे नहीं सीख सकता ' ॥ १३ ॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च ।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥ १४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी आज्ञा ले उनका यथोचित सम्मान करके कर्ण सहसा महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजीके पास चला गया ॥१४॥

स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य च ।

ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥ १५ ॥

परशुरामजीके पास जाकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहकर उसने गुरुभावसे उनकी शरण ली ॥ १५ ॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः ।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद् भृशम् ॥ १६ ॥

परशुरामजीने गोत्र आदि सारी बातें पूछकर उसे शिष्य-भावसे स्वीकार कर लिया और कहा—'वत्स ! तुम यहाँ रहो । तुम्हारा स्वागत है ।' ऐसा कहकर वे मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए॥ १६ ॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे स्वर्गसंनिभे ।
गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत् समागमः ॥ १७ ॥

स्वर्गलोकके सदृश मनोहर उस महेन्द्र पर्वतपर रहते हुए कर्णको गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों तथा देवताओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होता रहता था ॥ १७ ॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद् यथाविधि ।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतपर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे विधिपूर्वक धनुर्वेद सीखकर कर्ण उसका अभ्यास करने लगा । वह देवताओं, दानवों एवं राक्षसोंका अत्यन्त प्रिय हो गया ॥ १८ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके ।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः ॥ १९ ॥

एक दिनकी बात है, सूर्यपुत्र कर्ण हाथमें धनुष बाण और तलवार ले समुद्रके तटपर आश्रमके पास ही अकेला टहल रहा था ॥ १९ ॥

सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद् ब्रह्मवादिनः ।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥ २० ॥

पार्थ ! उस समय अग्निहोत्रमें लगे हुए किसी वेदपाठी ब्राह्मणकी होमधेनु उधर आ निकली। उसने अनजानमें उस धेनुको (हिंस्र जीव समझकर) अकस्मात् मार डाला * ॥२०॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ २१ ॥

अनजानमें यह अपराध बन गया है, ऐसा समझकर कर्णने ब्राह्मणको सारा हाल बता दिया और उसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव ।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मैंने अनजानमें आपकी गाय मार डाली है, अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करके मुझपर कृपा कीजिये,' कर्णने इस बातको बार-बार दुहराया ॥ २२ ॥

तं स विप्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥
येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उसकी बात सुनते ही कुपित हो उठा और कठोर वाणीद्वारा उसे डाँटता हुआ-सा बोला—'दुराचारी ! तू मार डालने योग्य है । दुर्मते ! तू अपने इस पापका फल प्राप्त

कर ले । पापी ! तू जिसके साथ सदा ईर्ष्या रखता है और जिसे परास्त करनेके लिये निरन्तर चेष्टा करता है, उसके साथ युद्ध करते हुए तेरे रथके पहियेको धरती निगल जायगी ॥ २३-२४ ॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥

'नराधम ! जब पृथ्वीमें तेरा पहिया फँस जायगा और तू अचेत-सा हो रहा होगा, उस समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरे मस्तकको काट गिरायेगा । अब तू चला जा ॥२५॥

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्य तथारातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥

'ओ मूढ़ ! जैसे असावधान होकर तूने इस गौका वध किया है, उसी प्रकार असावधान-अवस्थामें ही शत्रु तेरा सिर काट डालेगा' ॥ २६ ॥

शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार शाप प्राप्त होनेपर कर्णने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको बहुत-सी गौएँ, धन और रत्न देकर उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा की । तब उसने फिर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २७ ॥

---

* कर्णपर्वमें भी यह प्रसङ्ग आया है, वहाँ कर्णके द्वारा बछड़ेके मारे जानेका उल्लेख है; अतः यहाँ भी होमधेनुका बछड़ा ही समझना चाहिये ।

न हि मेऽव्याहृतं कुर्यात् सर्वलोकोऽपि केवलम्।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद् वा कार्यं ते तत् समाचर ॥ २८ ॥

'सारा संसार आ जाय तो भी कोई मेरी बातको झूठी नहीं कर सकता। तू यहाँसे जा या खड़ा रह अथवा तुझे जो कुछ करना हो, वह कर ले' ॥ २८ ॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः।
राममभ्यगमद् भीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर कर्णको बड़ा भय हुआ। उसने दीनतावश सिर झुका लिया। वह मन-ही-मन उस बातका चिन्तन करता हुआ परशुरामजीके पास लौट आया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको ब्राह्मणका शापनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति और परशुरामजीका शाप

नारद उवाच

कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! कर्णके बाहुबल, प्रेम, इन्द्रिय-संयम तथा गुरुसेवासे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी बहुत संतुष्ट हुए॥

तस्मै स विधिवत् कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम्।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत् तपस्विने ॥ २ ॥

तदनन्तर तपस्वी परशुरामने तपस्यामें लगे हुए कर्णको शान्तभावसे प्रयोग और उपसंहार विधिसहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रकी विधिपूर्वक शिक्षा दी ॥ २ ॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः ॥ ३ ॥

ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके कर्ण परशुरामजीके आश्रममें प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। उस अद्भुत पराक्रमी वीरने धनुर्वेदके अभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया ॥ ३ ॥

ततः कदाचिद् रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात्।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥ ४ ॥
सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रम्भोत्पन्नसौहृदः।
कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् एक समय बुद्धिमान् परशुरामजी कर्णके साथ अपने आश्रमके निकट ही घूम रहे थे। उपवास करनेके कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। कर्णके ऊपर उनका पूरा विश्वास होनेके कारण उसके प्रति सौहार्द हो गया था। वे मन-ही-मन थकावटका अनुभव करते थे, इसलिये गुरुवर जमदग्निनन्दन परशुरामजी कर्णकी गोदमें सिर रखकर सो गये ॥ ४-५ ॥

अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः ॥ ६ ॥

इसी समय लार, मेदा, मांस और रक्तका आहार करनेवाला एक भयानक कीड़ा, जिसका स्पर्श (डंक मारना) बड़ा भयंकर था, कर्णके पास आया ॥ ६ ॥

स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः।
न चैनमशकत् क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥ ७ ॥

उस रक्त पीनेवाले कीड़ेने कर्णकी जाँघके पास पहुँचकर उसे छेद दिया; परंतु गुरुजीके जागनेके भयसे कर्ण न तो उसे फेंक सका और न मार ही सका ॥ ७ ॥

संदश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशङ्की तमुपैक्षत सूर्यजः ॥ ८ ॥

भरतनन्दन! वह कीड़ा उसे बारंबार डँसता रहा तो भी सूर्यपुत्र कर्णने कहीं गुरुजी जाग न उठें, इस आशङ्कासे उसकी उपेक्षा कर दी ॥ ८ ॥

कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम् ॥ ९ ॥

यद्यपि कर्णको असह्य वेदना हो रही थी तो भी वह धैर्यपूर्वक उसे सहन करके कम्पित और व्यथित न होता हुआ परशुरामजीको गोदमें लिये रहा ॥ ९ ॥

यदास्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाबुद्ध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब उसका रक्त परशुरामजीके शरीरमें लग गया, तब वे तेजस्वी भार्गव जाग उठे और भयभीत होकर इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥ ११ ॥

'अरे! मैं तो अशुद्ध हो गया! तू यह क्या कर रहा है? भय छोड़कर मुझे इस विषयमें ठीक-ठीक बता' ॥ ११ ॥

तस्य कर्णस्तदाऽऽचष्ट कृमिणा परिभक्षणम्।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसंनिभम् ॥ १२ ॥

तब कर्णने उनसे कीड़ेके काटनेकी बात बतायी। परशुरामजीने भी उस कीड़ेको देखा, वह सूअरके समान जान पड़ता था ॥ १२ ॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम्।
रोमभिः संनिरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः ॥ १३ ॥

उसके आठ पैर थे और तीखी दाढ़ें। सुई-जैसी चुभनेवाली रोमावलियोंसे उसका सारा शरीर भरा तथा रुँधा हुआ था। वह 'अलर्क' नामसे प्रसिद्ध कीड़ा था ॥ १३ ॥

स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत्।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

परशुरामजीकी दृष्टि पड़ते ही उसी रक्तसे भीगे हुए उस कीड़ेने प्राण त्याग दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान्।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब तरहके रूप धारण करनेमें समर्थ एक विकराल राक्षस दिखायी दिया, उसकी ग्रीवा लाल थी और शरीरका रंग काला था। वह बादलोंपर आरूढ था ॥

स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम् ॥ १६ ॥
मोक्षितो नरकादस्माद् भवता मुनिसत्तम।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम् ॥ १७ ॥

उस राक्षसने पूर्णमनोरथ हो हाथ जोड़कर परशुरामजीसे कहा—'भृगुश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो। मैं जैसे आया था, वैसे लौट जाऊँगा। मुनिप्रवर ! आपने इस नरकसे मुझे छुटकारा दिला दिया। आपका भला हो। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया है' ॥ १६-१७ ॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान्।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८ ॥

तब महाबाहु प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामने उससे पूछा—'तू कौन है ? और किस कारणसे इस नरकमें पड़ा था ? बतलाओ' ॥ १८ ॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राग् दंशो नाम महासुरः।
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥ १९ ॥

उसने उत्तर दिया—'तात ! प्राचीनकालके सत्ययुगकी बात है। मैं दंश नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर था। महर्षि भृगुके बराबर ही मेरी भी अवस्था रही ॥ १९ ॥

सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात्।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि ॥ २० ॥

'एक दिन मैंने भृगुकी प्राणप्यारी पत्नीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इससे महर्षिने शाप दे दिया और मैं कीड़ा होकर इस पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥ २१ ॥

'आपके पूर्व पितामह भृगुजीने शाप देते समय कुपित होकर मुझसे इस प्रकार कहा—'ओ पापी ! तू मूत्र और लार आदि खानेवाला कीडा होकर नरकमें पड़ेगा' ॥ २१ ॥

शापस्यान्तो भवेद् ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रवम्।
भविता भार्गवाद् रामादिति मामब्रवीद् भृगुः ॥ २२ ॥

'तब मैंने उनसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस शापका अन्त भी होना चाहिये।' यह सुनकर भृगुजी बोले—'भृगुवंशी परशुरामसे इस शापका अन्त होगा' ॥ २२ ॥

सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा नकुशलं तथा।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥ २३ ॥

'वही मैं इस गतिको प्राप्त हुआ था, जहाँ कभी कुशल नहीं बीता। साधो ! आपका समागम होनेसे मेरा इस पाप-योनिसे उद्धार हो गया' ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

परशुरामजीसे ऐसा कहकर वह महान् असुर उन्हें प्रणाम करके चला गया। इसके बाद परशुरामजीने कर्णसे क्रोधपूर्वक कहा—

अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत्।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥

'ओ मूर्ख ! ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता। तेरा धैर्य तो क्षत्रियके समान है। तू स्वेच्छासे ही सत्य बता, कौन है ?' ॥ २५ ॥

तमुवाच ततः कर्णः शापाद् भीतः प्रसादयन्।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥

कर्ण परशुरामजीके शापके भयसे डर गया। अतः उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा—'भार्गव ! आप यह जान लें कि मैं ब्राह्मण और क्षत्रियसे भिन्न सूतजातिमें पैदा हुआ हूँ। भूमण्डलके मनुष्य मुझे राधापुत्र कर्ण कहते हैं। ब्रह्मन् ! भृगुनन्दन ! मैंने अस्त्रके लोभसे ऐसा किया है ! आप मुझपर कृपा करें ॥ २६-२७ ॥

पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः।

अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वेद और विद्याका दान करनेवाला शक्तिशाली गुरु पिताके ही तुल्य है; इसलिये मैंने आपके निकट अपना गोत्र भार्गव बताया है' ॥ २८ ॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रदहन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥

यह सुनकर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी इतने रोषमें भर गये, मानो वे उसे दग्ध कर डालेंगे। उधर कर्ण हाथ जोड़ दीन भावसे काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब वे उससे बोले—॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥
अन्यत्र वधकालात् ते सदृशेन समीयुषः ।

'मूढ़! तूने ब्रह्मास्त्रके लोभसे झूठ बोलकर यहाँ मेरे साथ मिथ्याचार (कपटपूर्ण व्यवहार) किया है, इसलिये जबतक तू संग्राममें अपने समान योद्धाके साथ नहीं भिड़ेगा और तेरी मृत्युका समय निकट नहीं आ जायगा, तभीतक तुझे इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण बना रहेगा ॥ ३०½ ॥

अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन ॥ ३१ ॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥ ३२ ॥

'जो ब्राह्मण नहीं है, उसके हृदयमें ब्रह्मास्त्र कभी स्थिर नहीं रह सकता। अब तू यहाँसे चला जा। तुझ मिथ्यावादीके लिये यहाँ स्थान नहीं है, परंतु मेरे आशीर्वादसे इस भूतलका कोई भी क्षत्रिय युद्धमें तेरी समानता नहीं करेगा'॥३१-३२॥

एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीके ऐसा कहनेपर कर्ण उन्हें न्यायपूर्वक प्रणाम करके वहाँसे लौट आया और दुर्योधनके पास पहुँचकर बोला—'मैंने सब अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया' ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको अस्त्रकी प्राप्तिनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

कर्णकी सहायतासे समागत राजाओंको पराजित करके दुर्योधनद्वारा स्वयंवरसे कलिङ्गराजकी कन्याका अपहरण

नारद उवाच

कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।
दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भार्गवनन्दन परशुरामसे ब्रह्मास्त्र पाकर कर्ण दुर्योधनके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १ ॥

ततः कदाचिद् राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।
कलिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥ २ ॥

राजन्! तदनन्तर किसी समय कलिङ्गदेशके राजा चित्राङ्गदके यहाँ स्वयंवरमहोत्सवमें देश-देशके राजा एकत्र हुए ॥ २ ॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थं समुपागमन् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! कलिङ्गराजकी राजधानी राजपुर नामक नगरमें थी, वह नगर बड़ा सुन्दर था। राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिये सैकड़ों नरेश वहाँ पधारे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥

दुर्योधनने जब सुना कि वहाँ सभी राजा एकत्र हो रहे हैं तो वह स्वयं भी सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कर्णके साथ गया॥

ततः स्वयंवरे तस्मिन् सम्प्रवृत्ते महोत्सवे ।
समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थे नृपसत्तम ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ! वह स्वयंवरमहोत्सव आरम्भ होनेपर राजकन्याको पानेके लिये जो बहुत-से नरेश वहाँ पधारे थे, उनके नाम इस प्रकार हैं ॥ ५ ॥

शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥
शृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥

शिशुपाल, जरासंध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, सुदृढ़ पराक्रमी रुक्मी, स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज शृगाल, अशोक, शतधन्वा, भोज और वीर ॥ ६-७॥

एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाश्चार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥८॥

ये तथा और भी बहुत-से नरेश दक्षिण दिशाकी उस राजधानीमें गये। उनमें म्लेच्छ, आर्य, पूर्व और उत्तर सभी देशोंके राजा थे ॥ ८ ॥

काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

उन सबने सोनेके बाजूबंद पहन रक्खे थे। सभीकी अङ्गकान्ति शुद्ध सुवर्णके समान दमक रही थी। सबके शरीर तेजस्वी थे और सभी व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली थे॥९॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता ॥ १० ॥

भारत ! जब सब राजा स्वयंवर-सभामें बैठ गये, तब उस राजकन्याने धाय और खोजोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद् धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् जब उसे राजाओंके नाम सुना-सुनाकर उनका परिचय दिया जाने लगा, उस समय वह सुन्दरी राजकुमारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके सामनेसे होकर आगे बढ़ने लगी ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥

कुरुवंशी दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ कि राजकन्या उसे लाँघकर अन्यत्र जाय । उसने समस्त नरेशोंका अपमान करके उसे वहीं रोक लिया ॥ १२ ॥

स वीर्यमदमत्तत्वाद् भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥ १३ ॥

राजा दुर्योधनको भीष्म और द्रोणाचार्यका सहारा प्राप्त था; इसलिये वह बलके मदसे उन्मत्त हो रहा था । उसने उस राजकन्याको रथपर बिठाकर उसका अपहरण कर लिया ॥

तमन्वगाद् रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

पुरुषोत्तम ! उस समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण रथपर आरूढ़ हो हाथमें दस्ताने बाँधे और तलवार लिये दुर्योधनके पीछे-पीछे चला ॥ १४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद् युयुत्सताम् ।
संनह्यतां तनुत्राणि रथान् योजयतामपि ॥ १५ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले राजाओंमेंसे कुछ लोग कवच बाँधने और कुछ रथ जोतने लगे । उन सब लोगोंमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया ॥ १५ ॥

तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

जैसे मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा बरसा रहे हों, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए वे नरेश कर्ण और दुर्योधन दोनोंपर टूट पड़े तथा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह ।
धनूंषि च शरव्रातान् पातयामास भूतले ॥ १७ ॥

कर्णने एक-एक बाणसे उन सभी आक्रमणकारी नरेशोंके धनुष और बाण-समूहोंको भूतलपर काट गिराया ॥ १७ ॥

ततो विधनुषः कांश्चित् कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् ।
कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा ॥ १८ ॥
लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः ।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ कर्णने जल्दी-जल्दी बाण मारकर उन सब राजाओंको व्याकुल कर दिया, कोई धनुषसे रहित हो गये, कोई अपने धनुषको ऊपर ही उठाये रह गये, कोई बाण, कोई रथशक्ति और कोई गदा लिये रह गये । जो जिस अवस्थामें थे, उसी अवस्थामें उन्हें व्याकुल करके कर्णने उनके सारथियोंको मार डाला और उन बहुसंख्यक नरेशोंको परास्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः ।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥ २० ॥

वे पराजित भूपाल भग्नमनोरथ हो स्वयं ही घोड़े हाँकते और 'बचाओ बचाओ,' की रट लगाते हुए युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ २० ॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात् तदा ।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥

दुर्योधन कर्णसे सुरक्षित हो राजकन्याको साथ लिये राजी-खुशी हस्तिनापुर वापस आ गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्योधनके द्वारा स्वयंवरमें राजकन्याका अपहरण नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णके बल और पराक्रमका वर्णन, उसके द्वारा जरासंधकी पराजय और जरासंधका कर्णको अंगदेशमें मालिनीनगरीका राज्य प्रदान करना

नारद उवाच

आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः ।
आह्वयद् द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कर्णके बलकी ख्याति सुनकर मगधदेशके राजा जरासंधने द्वैरथ युद्धके लिये उसे ललकारा ॥

तयोः समभवद् युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥ २ ॥

वे दोनों ही दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता थे । उन दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया । वे रणभूमिमें एक दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥ ३ ॥

दोनोंके ही बाण क्षीण हो गये, धनुष कट गये और तलवारोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये । तब वे दोनों बलशाली वीर

पृथ्वीपर खड़े हो भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।
बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥ ४ ॥

कर्णने बाहुकण्टक युद्धके द्वारा जरा नामक राक्षसीके जोड़े हुए युद्धपरायण जरासंधके शरीरकी संधिको चीरना आरम्भ किया* ॥ ४ ॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत् कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥ ५ ॥

राजा जरासंधने अपने शरीरके उस विकारको देखकर वैरभावको दूर हटा दिया और कर्णसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५ ॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत् सपत्नजित् ॥ ६ ॥
पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥ ७ ॥

साथ ही उसने प्रसन्नतापूर्वक कर्णको अङ्गदेशकी मालिनी नगरी दे दी । नरश्रेष्ठ ! शत्रुविजयी कर्ण तभीसे अङ्गदेशका राजा हो गया था । इसके बाद दुर्योधनकी अनुमतिसे शत्रु-सैन्यसंहारी कर्ण चम्पा नगरी—चम्पारनका भी पालन करने लगा । यह सब तो तुम्हें भी ज्ञात ही है ॥ ६-७ ॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत् क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥

इस प्रकार कर्ण अपने शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूमण्डलमें विख्यात हो गया । एक दिन देवराज इन्द्रने तुमलोगोंके हितके लिये कर्णसे उसके कवच और कुण्डल माँगे ॥ ८ ॥

स दिव्ये सहजे प्रादात् कुण्डले परमार्जिते ।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥

देवमायासे मोहित हुए कर्णने अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दोनों दिव्य कुण्डलों और कवचको भी इन्द्रके हाथमें दे दिया ॥ ९ ॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा ।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १० ॥

इस प्रकार जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलोंसे हीन हो जानेपर कर्णको अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते मारा था ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः ।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥ ११ ॥
भीष्मावमानात् संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात् ।
शल्यात् तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥ १२ ॥

एक तो उसे अग्निहोत्री ब्राह्मण तथा महात्मा परशुरामजीके शाप मिले थे । दूसरे, उसने स्वयं भी कुन्तीको अन्य चार भाइयोंकी रक्षाके लिये वरदान दिया था । तीसरे, इन्द्रने माया करके उसके कवच-कुण्डल ले लिये । चौथे, महारथियोंकी गणना करते समय भीष्मजीने अपमानपूर्वक उसे बार-बार अर्धरथी कहा था । पाँचवें, शल्यकी ओरसे उसके तेजको नष्ट करनेका प्रयास किया गया था और छठे, भगवान् श्रीकृष्णकी नीति भी कर्णके प्रतिकूल काम कर रही थी—इन सब कारणोंसे वह पराजित हुआ ॥ ११-१२ ॥

रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना ।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥ १४ ॥

इधर, गाण्डीवधारी अर्जुनने रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोणाचार्य तथा महात्मा कृपके दिये हुए दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये थे; इसीलिये युद्धमें उन्होंने सूर्यके समान तेजस्वी वैकर्तन कर्णका वध किया ॥ १३-१४ ॥

एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः ।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! इस प्रकार तुम्हारे भाई कर्णको शाप तो मिला ही था, बहुत लोगोंने उसे ठग भी लिया था, तथापि वह युद्धमें मारा गया है, इसलिये शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णके पराक्रमका कथन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, कुन्तीका उन्हें समझाना और स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शाप

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर देवर्षि नारद तो चुप हो गये, किंतु राजर्षि युधिष्ठिर शोकमग्न हो चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

---

* जहाँ बलवान् योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीको दुर्बल पा उसकी एक पिण्डलीको पैरसे दबाकर दूसरीको ऊपर उठा सारे शरीरको बीचसे चीर डालता है, वह बाहुकण्टक नामक युद्ध कहा गया है । जैसा कि निम्नाङ्कित वचनसे सूचित होता है—

'एकां जङ्घां पदाऽऽक्रम्य परामुद्यम्य पाट्यते । केतकीपत्रवच्छत्रोर्युद्धं तद् बाहुकण्टकम् ॥' इति

तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥ २ ॥
कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुराभाषा काले वचनमर्थवत् ॥ ३ ॥

उनका मन बहुत दुखी हो गया । वे शोकके मारे व्याकुल हो सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे । उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगा । वीर युधिष्ठिरकी ऐसी अवस्था देख कुन्तीके सारे अङ्गोंमें शोक व्याप्त हो गया । वे दुःखसे अचेत-सी हो गयीं और मधुर वाणीमें समयके अनुसार अर्थ-भरी बात कहने लगीं—॥ २-३ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥ ४ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें कर्णके लिये शोक नहीं करना चाहिये । महामते ! शोक छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥

यतितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वर ॥ ५ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने पहले कर्णको यह बतानेका प्रयत्न किया था कि पाण्डव तुम्हारे भाई हैं । उसके पिता भगवान् भास्करने भी ऐसी ही चेष्टा की ॥ ५ ॥

यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥

'हितकी इच्छा रखनेवाले एक हितैषी सुहृद्को जो कुछ कहना चाहिये, वही भगवान् सूर्यने उससे स्वप्नमें और मेरे सामने भी कहा ॥ ६ ॥

न चैनमशकद् भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्येकतां त्वया ॥ ७ ॥

'परंतु भगवान् सूर्य एवं मैं दोनों ही स्नेहके कारण दिखाकर अपने पक्षमें करने या तुमलोगोंसे एकता (मेल) करानेमें सफल न हो सके ॥ ७ ॥

ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः ।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥ ८ ॥

'तदनन्तर वह कालके वशीभूत हो वैरका बदला लेनेमें लग गया और तुमलोगोंके विपरीत ही सारे कार्य करने लगा; यह देखकर मैंने उसकी उपेक्षा कर दी' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः ।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ९ ॥
भवत्या गूढमन्त्रत्वात् पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ॥ १० ॥

माताके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके नेत्रोंमें आँसू भर आया, शोकसे उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे धर्मात्मा नरेश उनसे इस प्रकार बोले—'माँ ! आपने इस गोपनीय बातको गुप्त रखकर मुझे बड़ा कष्ट दिया' ॥ ९-१० ॥

शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः ॥ ११ ॥

फिर महातेजस्वी युधिष्ठिरने अत्यन्त दुखी होकर सारे संसारकी स्त्रियोंको यह शाप दे दिया कि 'आजसे स्त्रियाँ अपने मनमें कोई गोपनीय बात नहीं छिपा सकेंगी' ॥ ११ ॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा ।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिरका हृदय अपने पुत्रों, पौत्रों, सम्बन्धियों तथा सुहृदोंको याद करके उद्विग्न हो उठा । उनके मनमें व्याकुलता छा गयी ॥ १२ ॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः ।
निर्वेदमगमद् धीमान् राजा संतापपीडितः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् शोकसे व्याकुलचित्त हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर संतापसे पीड़ित हो धूमयुक्त अग्निके समान धीरे-धीरे जलने लगे तथा राज्य और जीवनसे विरक्त हो उठे ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनसे आन्तरिक खेद प्रकट करते हुए अपने लिये राज्य छोड़कर वनमें चले जानेका प्रस्ताव करना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः ।
शुशोच दुःखसंतप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका चित्त शोकसे व्याकुल हो उठा था । वे महारथी कर्णको याद करके दुःखसे संतप्त हो शोकमें डूब गये ॥ १ ॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥ २ ॥

दुःख और शोकसे आविष्ट हो वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे और अर्जुनको देखकर शोकसे पीड़ित हो इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन् निष्पुरुषान् कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन ! यदि हमलोग वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रियोंकी नगरी द्वारिकामें जाकर भीख

माँगते हुए अपना जीवन-निर्वाह कर लेते तो आज अपने कुटुम्बको निर्वंश करके हम इस दुर्दशाको प्राप्त नहीं होते ॥

अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥

हमारे शत्रुओंका मनोरथ पूर्ण हुआ (क्योंकि वे हमारे कुलका विनाश देखकर प्रसन्न होंगे)। कौरवोंका प्रयोजन तो उनके जीवनके साथ ही समाप्त हो गया। आत्मीय जनोंको मारकर स्वयं ही अपनी हत्या करके हम कौन-सा धर्मका फल प्राप्त करेंगे ? ॥ ४ ॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥ ५ ॥

क्षत्रियोंके आचार, बल, पुरुषार्थ और अमर्षको धिक्कार है ! जिनके कारण हम ऐसी विपत्तिमें पड़ गये ॥ ५ ॥

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥

क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैराग्य, ईर्ष्याका अभाव, अहिंसा और सत्यभाषण--ये वनवासियोंके नित्य धर्म ही श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥ ७ ॥

हमलोग तो लोभ और मोहके कारण राज्यलाभके सुखका अनुभव करनेकी इच्छासे दम्भ और अभिमानका आश्रय लेकर इस दुर्दशामें फँस गये हैं ॥ ७ ॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित् प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान् निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः॥ ८ ॥

जब हमने पृथ्वीपर विजयकी इच्छा रखनेवाले अपने बन्धु-बान्धवोंको मारा गया देख लिया, तब हमें इस समय तीनों लोकोंका राज्य देकर भी कोई प्रसन्न नहीं कर सकता ॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान् ।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ९ ॥

हाय ! हमलोगोंने इस तुच्छ पृथ्वीके लिये अवध्य राजाओंकी भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बन्धु-बान्धवोंसे हीन हो अर्थ-भ्रष्टकी भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं ॥ ९ ॥

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव ।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥ १० ॥

जैसे मांसके लोभी कुत्तोंको अशुभकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार राज्यमें आसक्त हुए हमलोगोंको भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिये मांस-तुल्य राज्यको पाना अभीष्ट नहीं है, उसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिये ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥

ये जो हमारे सगे-सम्बन्धी मारे गये हैं, इनका परित्याग तो हमें समस्त पृथ्वी, राशि-राशि सुवर्ण और समूचे गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिये था ॥ ११ ॥

काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥

वे काम और क्रोधके वशीभूत थे, हर्ष और रोषसे भरे हुए थे, अतः मृत्युरूपी रथपर सवार हो यमलोकमें चले गये ॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥ १३ ॥

सभी पिता तपस्या, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्यभाषण तथा तितिक्षा आदि साधनोंद्वारा अनेक कल्याणमय गुणोंसे युक्त बहुत-से पुत्र पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति ॥ १४ ॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥ १५ ॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः ।

इसी प्रकार सभी माताएँ उपवास, यज्ञ, व्रत, कौतुक और मङ्गलमय कृत्योंद्वारा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखकर दस महीनोंतक अपने गर्भोंका भरण-पोषण करती हैं। उन सबका यही उद्देश्य होता है कि यदि कुशलपूर्वक बच्चे पैदा होंगे, पैदा होनेपर यदि जीवित रहेंगे तथा बलवान् होकर यदि सम्भावित गुणोंसे सम्पन्न होंगे तो हमें इहलोक और परलोकमें सुख देंगे। इस प्रकार वे दीन माताएँ फलकी आकाङ्क्षा रखती हैं ॥ १४-१५½ ॥

तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः ॥ १६ ॥
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च ॥ १७ ॥
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

परंतु उनका यह उद्योग सर्वथा निष्फल हो गया; क्योंकि हमलोगोंने उन सब माताओंके नवयुवक पुत्रोंको, जो विशुद्ध सुवर्णमय कुण्डलोंसे अलंकृत थे, मार डाला है। वे इस भूलोकके भोगोंके उपभोगका अवसर न पाकर देवताओं और पितरोंका ऋण उतारे बिना ही यमलोकमें चले गये ॥ १६-१८ ॥

यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि ।
संजातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १९ ॥

माँ ! इन राजाओंके माता-पिता जब इनके द्वारा उपार्जित धन और रत्न आदिके उपभोगकी आशा करने लगे, तभी ये मारे गये ॥ १९ ॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमञ्जसाः ।
न ते जयफलं किंचिद् भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥ २० ॥

जो लोग कामना और खीझसे युक्त हो क्रोध और हर्षके कारण अपना संतुलन खो बैठते हैं, वे कभी कहीं किंचिन्मात्र भी विजयका फल नहीं भोग सकते ॥ २० ॥

पञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः।
न चेत् सर्वानयं लोकः पश्येत् स्वेनैव कर्मणा॥ २१॥

पाञ्चालों और कौरवोंके जो वीर मारे गये, वे तो मर ही गये; नहीं तो आज यह संसार देखता कि वे सब अपने ही पुरुषार्थसे कैसी ऊँची स्थितिमें पहुँच गये हैं॥ २१॥

वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत् सर्वं प्रतिपत्स्यति॥ २२॥

हमलोग ही इस जगत्के विनाशमें कारण माने गये हैं; परंतु इसका सारा उत्तरदायित्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर ही पड़ेगा॥

सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः।
मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु॥ २३॥

हमलोगोंने कभी कोई बुराई नहीं की थी तो भी राजा धृतराष्ट्र सदा हमसे द्वेष रखते थे। उनकी बुद्धि निरन्तर हमें ठगनेकी ही बात सोचा करती थी। वे मायाका आश्रय लेनेवाले थे और झूठे ही विनय अथवा नम्रता दिखाया करते थे॥ २३॥

न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम्।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम्॥ २४॥

इस युद्धसे न तो हमारी कामना सफल हुई और न वे कौरव ही सफलमनोरथ हुए। न हमारी जीत हुई, न उनकी। उन्होंने न तो इस पृथ्वीका उपभोग किया, न स्त्रियोंका सुख देखा और न गीतवाद्यका ही आनन्द लिया॥ २४॥

नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम्।
न रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः॥ २५॥

मन्त्रियों, सुहृदों तथा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वानोंकी भी बातें वे नहीं सुन सके। बहुमूल्य रत्न, पृथ्वीके राज्य तथा धनकी आयका भी सुख भोगनेका उन्हें अवसर नहीं मिला॥

अस्मद्द्वेषेण संतप्तः सुखं न स्मेह विन्दति।
ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः॥ २६॥

दुर्योधन हमसे द्वेष रखनेके कारण सदा संतप्त रहकर कभी यहाँ सुख नहीं पाता था। हमलोगोंके पास वैसी समृद्धि देखकर उसकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। वह चिन्तासे सूखकर पीला और दुर्बल हो गया था॥ २६॥

धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः।
तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः॥ २७॥
अनपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा।

सुबलपुत्र शकुनिने राजा धृतराष्ट्रको दुर्योधनकी यह अवस्था सूचित की। पुत्रके प्रति अधिक आसक्त होनेके कारण पिता धृतराष्ट्रने अन्यायमें स्थित हो उसकी इच्छाका अनुमोदन किया। इस विषयमें उन्होंने अपने पिता (ताऊ) गङ्गानन्दन भीष्म तथा भाई विदुरसे राय लेनेकी भी इच्छा नहीं की॥ २७½॥

असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः॥ २८॥

उनकी इसी दुर्नीतिके कारण निःसंदेह राजा धृतराष्ट्रको भी वैसा ही विनाश प्राप्त हुआ है, जैसा कि मुझे॥ २८॥

अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम्।
यशसः पतितो दीप्ताद् घातयित्वा सहोदरान्॥ २९॥

वे अपने अपवित्र आचार-विचारवाले, लोभी एवं कामासक्त पुत्रको काबूमें न रखनेके कारण उसका तथा उसके सहोदर भाइयोंका वध करवाकर स्वयं भी उज्ज्वल यशसे भ्रष्ट हो गये॥ २९॥

इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह॥ ३०॥

हमलोगोंके प्रति सदा द्वेष रखनेवाला पापबुद्धि दुर्योधन इन दोनों वृद्धोंको शोककी आगमें झोंककर चला गया॥३०॥

को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात् सुहृज्जने।
यथासाववदद् वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसंनिधौ॥ ३१॥

संधिके लिये गये हुए श्रीकृष्णके समीप युद्धकी इच्छावाले दुर्योधनने जैसी बात कही थी, वैसी कौन भाई-बन्धु कुलीन होकर भी अपने सुहृदोंके लिये कह सकता है?॥३१॥

आत्मनो हि वयं दोषाद् विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा॥ ३२॥

हमलोगोंने तेजसे प्रकाशित होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें मानो आग लगा दी और अपने ही दोषसे सदाके लिये नष्ट हो गये॥ ३२॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः।
दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम्॥ ३३॥

हमारे प्रति शत्रुताका मूर्तिमान् स्वरूप वह दुर्बुद्धि दुर्योधन पूर्णतः बन्धनमें बँध गया। दुर्योधनके कारण ही हमारे इस कुलका पतन हो गया॥ ३३॥

अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम्।
कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम्॥ ३४॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति।

हमलोग अवध्य नरेशोंका वध करके संसारमें निन्दाके पात्र हो गये। राजा धृतराष्ट्र इस कुलका विनाश करनेवाले दुर्बुद्धि एवं पापात्मा दुर्योधनको इस राष्ट्रका स्वामी बनाकर आज शोककी आगमें जल रहे हैं॥ ३४½॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः॥ ३५॥
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम्।

हमने शूरवीरोंको मारा, पाप किया और अपने ही देशका विनाश कर डाला। शत्रुओंको मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया, परंतु यह शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है॥३५½॥

धनंजय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते॥ ३६॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा।

धनंजय! किया हुआ पाप कहनेसे, शुभ कर्म करनेसे, पछतानेसे, दान करनेसे और तपस्यासे भी नष्ट होता है॥

निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥ ३७ ॥
त्यागवांश्च पुनः पापं नालंकर्तुमिति श्रुतिः ।
त्यागवाञ्जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥ ३८ ॥

निवृत्तिपरायण होने, तीर्थयात्रा करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं जप करनेसे भी पाप दूर होता है । श्रुतिका कथन है कि त्यागी पुरुष पाप नहीं कर सकता तथा वह जन्म और मरणके बन्धनमें भी नहीं पड़ता ॥ ३७-३८ ॥

प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स धनंजय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥ ३९ ॥

धनंजय ! उसे मोक्षका मार्ग मिल जाता है और वह ज्ञानी एवं स्थिर-बुद्धि मुनि द्वन्द्वरहित होकर तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३९ ॥

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप ।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥ ४० ॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।

शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन ! मैं तुम सब लोगोंसे विदा लेकर वनमें चला जाऊँगा । शत्रुसूदन ! श्रुति कहती है कि 'संग्रह-परिग्रहमें फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म (परमात्माका दर्शन) नहीं प्राप्त कर सकता ।' इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है ॥ ४०½ ॥

मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥ ४१ ॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः ।

मैंने परिग्रह (राज्य और धनके संग्रह) की इच्छा रखकर केवल पाप बटोरा है, जो जन्म और मृत्युका मुख्य कारण है । श्रुतिका कथन है कि 'परिग्रहसे पाप ही प्राप्त हो सकता है' ॥ ४१½ ॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥ ४२ ॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् ।

अतः मैं परिग्रह छोड़कर सारे राज्य और इसके सुखोंको लात मारकर बन्धनमुक्त हो शोक और ममतासे ऊपर उठकर, कहीं वनमें चला जाऊँगा ॥ ४२½ ॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥ ४३ ॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ।

कुरुनन्दन ! तुम इस निष्कण्टक एवं कुशल-क्षेमसे युक्त पृथ्वीका शासन करो । मुझे राज्य और भोगोंसे कोई मतलब नहीं है ॥ ४३½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥ ४४ ॥

इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये । तब कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने भाषण देना आरम्भ किया॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका खेदपूर्ण उद्गार नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरके मतका निराकरण करते हुए उन्हें धनकी महत्ता बताना और राजधर्मके पालनके लिये जोर देते हुए यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर अर्जुन इस प्रकार असहिष्णु हो उठे, मानो उनपर कोई आक्षेप किया गया हो । वे बातचीत करने या पराक्रम दिखानेमें किसीसे दबनेवाले नहीं थे । उनका पराक्रम बड़ा भयंकर था । वे महातेजस्वी इन्द्रकुमार अपने उग्ररूपका परिचय देते और दोनों गलफरोंको चाटते हुए मुसकराकर इस तरह गर्वयुक्त वचन बोलने लगे, जैसे नाटकके रङ्गमञ्चपर अभिनय कर रहे हों ॥ १-२ ॥

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत् कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! यह तो बड़े भारी दुःख और महान् कष्टकी बात है ! आपकी विह्वलता तो पराकाष्ठाको पहुँच गयी । आश्चर्य है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस उत्तम राजलक्ष्मीका परित्याग कर रहे हैं ॥

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥ ४ ॥

आपने शत्रुओंका संहार करके इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया है । यह राज्य-लक्ष्मी आपको अपने धर्मके अनुसार प्राप्त हुई है । इस प्रकार जो यह सब कुछ आपके हाथमें आया है, इसे आप अपनी अल्पबुद्धिके कारण क्यों छोड़ रहे हैं ? ॥ ४ ॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥

किसी कायर या आलसीको कैसे राज्य प्राप्त हो सकता है ? यदि आपको यही करना था तो किस लिये क्रोधसे विकल होकर इतने राजाओंका वध किया और कराया ? ॥ ५ ॥

यो ह्याजिजीविषेद् भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित् ।
समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः ।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥

जिसके कल्याणका साधन नष्ट हो गया है, जो निरा दरिद्र है, जिसकी संसारमें कोई ख्याति नहीं है, जो स्त्री-पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न नहीं है तथा जो असमर्थतावश अपने पराक्रमसे किसीके राज्य या धनको लेनेकी इच्छा नहीं कर सकता, उसी मनुष्यको भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः ।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! जब आप यह समृद्धिशाली राज्य छोड़कर हाथमें खपड़ा लिये घर-घर भीख माँगनेकी नीचातिनीच वृत्तिका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करने लगेंगे, तब लोग आपको क्या कहेंगे ? ॥ ७ ॥

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः ।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत् प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो ! आप सारे उद्योग छोड़कर कल्याणके साधनोंसे हीन और अकिंचन हुए साधारण पुरुषोंके समान भीख माँगनेकी इच्छा क्यों करते हैं ? ॥ ८ ॥

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुंधराम् ।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥

इस राजकुलमें जन्म लेकर सारे भूमण्डलपर विजय प्राप्त करके अब सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनोंको छोड़कर आप मोहके कारण ही वनमें जानेको उद्यत हुए हैं ॥ ९ ॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः ।
भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥

यदि आपके त्याग देनेपर यज्ञकी इन संचित सामग्रियोंको दुष्ट लोग नष्ट कर देंगे तो इसका पाप आपको ही लगेगा (अर्थात् आपने यज्ञ-याग छोड़ दिये हैं, अतः आपको आदर्श मानकर दूसरे लोग भी इस कर्मसे उदासीन हो जायँगे, उस दशामें इस धर्मकृत्यका उच्छेद हो जायगा और इसका दोष आपके सिर ही लगेगा) ॥ १० ॥

आकिंचन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥

राजा नहुषने निर्धनावस्थामें क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट किया था कि 'इस जगत्में निर्धनताको धिक्कार है ! सर्वस्व त्यागकर निर्धन या अकिंचन हो जाना यह मुनियोंका ही धर्म है, राजाओंका नहीं' ॥ ११ ॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥ १२ ॥

आप भी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि दूसरे दिनके लिये संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषि-मुनियोंका ही धर्म है । जिसे राजाओंका धर्म कहा गया है, वह तो धनसे ही सम्पन्न होता है ॥ १२ ॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥

राजन् ! जो मनुष्य जिसका धन हर लेता है, वह उसके धर्मका भी संहार कर देता है । यदि हमारे धनका अपहरण होने लगे तो हम किसको और कैसे क्षमा कर सकते हैं ? ॥

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥ १४ ॥

दरिद्र मनुष्य पासमें खड़ा हो तो लोग इस तरह उसकी ओर देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलङ्कित हो; अतः दरिद्रता इस जगत्में एक पातक है । आप मेरे आगे उसकी प्रशंसा न करें ॥ १४ ॥

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पतित मनुष्य शोचनीय होता है, वैसे ही निर्धन भी होता है; मुझे पतित और निर्धनमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता ॥ १५ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १६ ॥

जैसे पर्वतोंसे बहुत-सी नदियाँ बहती रहती हैं, उसी प्रकार बढ़े हुए संचित धनसे सब प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ १६ ॥

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! धनसे ही धर्म, काम और स्वर्गकी सिद्धि होती है । लोगोंके जीवनका निर्वाह भी बिना धनके नहीं होता ॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १८ ॥

जैसे गर्मीमें छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उसी प्रकार धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्यकी सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं ॥ १८ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ १९ ॥

जिसके पास धन होता है, उसीके बहुत-से मित्र होते हैं; जिसके पास धन है, उसीके भाई-बन्धु हैं; संसारमें जिसके पास धन है, वही पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही पण्डित माना जाता है ॥ १९ ॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥ २० ॥

निर्धन मनुष्य यदि धन चाहता है तो उसके लिये धनकी व्यवस्था असम्भव हो जाती है (परंतु धनीका धन बढ़ता रहता है), जैसे जङ्गलमें एक हाथीके पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं उसी प्रकार धनसे ही धन बँधा चला आता है ॥ २० ॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! धनसे धर्मका पालन, कामनाकी पूर्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, हर्षकी वृद्धि, क्रोधकी सफलता, शास्त्रोंका श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओंका दमन—ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥

धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

धनसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और धनसे ही धर्मकी वृद्धि होती है । पुरुषप्रवर ! निर्धनके लिये तो न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक ॥ २२ ॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा ॥ २३ ॥

निर्धन मनुष्य धार्मिक कृत्योंका अच्छी तरह अनुष्ठान नहीं कर सकता । जैसे पर्वतसे नदी झरती रहती है, उसी प्रकार धनसे ही धर्मका स्रोत बहता रहता है ॥ २३ ॥

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥

राजन् ! जिसके पास धनकी कमी है, गौएँ और सेवक भी कम हैं तथा जिसके यहाँ अतिथियोंका आना-जाना भी बहुत कम हो गया है, वास्तवमें वही कृश (दुर्बल) कहलाने योग्य है । जो केवल शरीरसे कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता ॥ २४ ॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन् किमन्यज्ज्ञातीनां वधाद् गृद्ध्यन्ति देवताः ॥ २५ ॥

आप न्यायके अनुसार विचार कीजिये और देवताओं तथा असुरोंके बर्तावपर दृष्टि डालिये । राजन् ! देवता अपने जाति-भाइयोंका वध करनेके सिवा और क्या चाहते हैं (एक पिताकी संतान होनेके कारण देवता और असुर परस्पर भाई-भाई ही तो हैं) ॥ २५ ॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥ २६ ॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥ २७ ॥

यदि राजाके लिये दूसरेके धनका अपहरण करना उचित नहीं है, तो वह धर्मका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? वेद-शास्त्रोंमें भी विद्वानोंने राजाके लिये यही निर्णय दिया है कि 'राजा प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करे, विद्वान् बने, सब प्रकारसे संग्रह करके धन ले आवे और यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करे'॥

द्रोहाद् देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
द्रोहात् किमन्यज्ज्ञातीनां गृद्ध्यन्ते येन देवताः ॥ २८ ॥

जाति-भाइयोंसे द्रोह करके ही देवताओंने स्वर्गलोकके सभी स्थानोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया है । देवता जिससे धन या राज्य पाना चाहते हैं, वह ज्ञातिद्रोहके सिवा और क्या है ? ॥ २८ ॥

इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ।
अधीयतेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥ २९ ॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः ।
न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित् क्वचिद् वयम् ॥ ३० ॥

यही देवताओंका निश्चय है और यही वेदोंका सनातन सिद्धान्त है । धनसे ही द्विज वेद-शास्त्रोंको पढ़ते और पढ़ाते हैं, धनके द्वारा ही यज्ञ करते और कराते हैं तथा राजा लोग दूसरोंको युद्धमें जीतकर जो उनका धन ले आते हैं, उसीसे वे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । किसी भी राजाके पास हम कोई भी ऐसा धन नहीं देखते हैं, जो दूसरोंका अपकार करके न लाया गया हो ॥ २९-३० ॥

एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार सभी राजा इस पृथ्वीको जीतते हैं और जीतकर कहने लगते हैं कि 'यह मेरी है' । ठीक वैसे ही जैसे पुत्र पिताके धनको अपना बताते हैं ॥ ३१ ॥

राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते ।
यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ॥ ३२ ॥
एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रति तिष्ठति ।

प्राचीनकालमें जो राजर्षि हो गये हैं, जो कि इस समय स्वर्गमें निवास करते हैं, उनके मतमें भी राज-धर्मकी ऐसी ही व्याख्या की गयी है । जैसे भरे हुए महासागरसे मेघके रूपमें उठा हुआ जल सम्पूर्ण दिशाओंमें बरस जाता है, उसी प्रकार धन राजाओंके यहाँसे निकलकर सम्पूर्ण पृथ्वीमें फैल जाता है ॥ ३२½ ॥

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ॥ ३३ ॥
अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता ।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥ ३४ ॥

पहले यह पृथ्वी बारी-बारीसे राजा दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष और मान्धाताके अधिकारमें रही है, वही इस समय आपके अधीन हो गयी है। अतः आपके समक्ष सर्वस्व-की दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञके अनुष्ठान करनेका अवसर प्राप्त हुआ है ॥ ३३-३४ ॥

तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् ।
येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ॥ ३५ ॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते ।

राजन्! यदि आप यज्ञ नहीं करेंगे तो आपको सारे राज्यका पाप लगेगा। जिन देशोंके राजा दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं, उनके यज्ञकी समाप्ति-पर उन देशोंके सभी लोग वहाँ आकर अवभृथस्नान करके पवित्र होते हैं ॥ ३५½ ॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ।
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन महादेवजीने सर्व-मेध नामक महायज्ञमें सम्पूर्ण भूतोंकी तथा स्वयं अपनी भी आहुति दे दी थी ॥ ३६ ॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ॥ ३७ ॥

यह क्षत्रियोंके लिये कल्याणका सनातन मार्ग है। इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है। राजन्! यह वह महान् मार्ग है, जिसपर दस रथ चलते हैं, आप किसी कुत्सित मार्ग-का आश्रय न लें ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका वानप्रस्थ एवं संन्यासीके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनःश्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचेत वचनं मम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! तुम अपने मन और कानोंको अन्तःकरणमें स्थापित करके दो घड़ीतक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम इसे पसंद करोगे ॥ १ ॥

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥ २ ॥

मैं ग्राम्य सुखोंका परित्याग करके साधु पुरुषोंके चले हुए मार्गपर तो चल सकता हूँ; परंतु तुम्हारे आग्रहके कारण कदापि राज्य नहीं स्वीकार करूँगा ॥ २ ॥

क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् ।
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥

एकाकी पुरुषके चलनेयोग्य कल्याणकारी मार्ग कौन-सा है? यह मुझसे पूछो अथवा यदि पूछना नहीं चाहते हो तो बिना पूछे भी मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥ ४ ॥

मैं गँवारोंके सुख और आचारपर लात मारकर वनमें रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा, फल-मूल खाकर मृगोंके साथ विचरूँगा ॥ ४ ॥

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥

दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित आहार करके शरीरको दुर्बल कर दूँगा। मृग-चर्म तथा वल्कल वस्त्र धारण करके सिरपर जटा रक्खूँगा ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥

सर्दी, गर्मी और हवाको सहूँगा, भूख, प्यास और परिश्रमको सहनेका अभ्यास डालूँगा, शास्त्रोक्त तपस्याद्वारा इस शरीरको सुखाता रहूँगा ॥ ६ ॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

वनमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करनेवाले पशु-पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोली, जो मन और कानोंको सुख देनेवाली होगी, नित्य सुनता रहूँगा ॥ ७ ॥

आजिघ्रन् पेशलान् गन्धान् फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान् वने पश्यन् रमणीयान् वनौकसः ॥ ८ ॥

वनमें खिले हुए वृक्षों और लताओंकी मनोहर सुगन्ध सूँघता हुआ अनेक रूपवाले सुन्दर वनवासियोंको देखा करूँगा ॥ ८ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किंपुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ९ ॥

वहाँ वानप्रस्थ महात्माओं तथा ऋषिकुलवासी ब्रह्मचारी ऋषि-मुनियोंका भी दर्शन होगा। मैं किसी वनवासीका भी अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है? ॥

एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ १० ॥

एकान्तमें रहकर आध्यात्मिक तत्त्वका विचार किया करूँगा और कच्चा-पक्का जैसा भी फल मिल जायगा, उसीको खाकर जीवन-निर्वाह करूँगा। जंगली फल-मूल, मधुर वाणी और जलके द्वारा देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करता रहूँगा॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम्।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम्॥ ११॥

इस प्रकार वनवासी मुनियोंके लिये शास्त्रमें बताये हुए कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करता हुआ इस शरीरकी आयु समाप्त होनेकी बाट देखता रहूँगा॥ ११॥

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥ १२॥

अथवा मैं मूँड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्षसे भिक्षा माँगकर अपने शरीरको सुखाता रहूँगा॥ १२॥

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥ १३॥

शरीरपर धूल पड़ी होगी और सूने घरोंमें मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रियका सारा विचार छोड़ दूँगा॥ १३॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ १४॥

किसीके लिये न शोक करूँगा न हर्ष। निन्दा और स्तुतिको समान समझूँगा। आशा और ममताको त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करूँगा॥ १४॥

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धवधिराकृतिः।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि॥ १५॥

आत्माके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करूँगा, मनको सदा प्रसन्न रक्खूँगा, कभी किसी दूसरेके साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा, गूँगों, अंधों और बहरोंके समान न किसीसे कुछ कहूँगा, न किसीको देखूँगा और न किसीकी सुनूँगा॥

जङ्गमाजङ्गमान् सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान्।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति॥ १६॥

चार प्रकारके समस्त चराचर प्राणियोंमेंसे किसीकी हिंसा नहीं करूँगा। अपने-अपने धर्ममें स्थित हुई समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खूँगा॥ १६॥

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित्।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥१७॥

न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न किसीके प्रति भौंहोंको ही टेढ़ी करूँगा। सदा मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी और मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको पूर्णतः संयममें रक्खूँगा॥

अपृच्छन् कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित्।
न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः॥ १८॥

किसी भी मार्गसे चलता रहूँगा और कभी किसीसे रास्ता नहीं पूछूँगा। किसी खास स्थान या दिशाकी ओर जानेकी इच्छा नहीं रखूँगा॥ १८॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन्।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः॥ १९॥

कहीं भी मेरे जानेका कोई विशेष उद्देश्य नहीं होगा। न आगे जानेकी उत्सुकता होगी, न पीछे फिरकर देखूँगा। सरल भावसे रहूँगा। मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी होगी। स्थावर-जङ्गम जीवोंको बचाता हुआ आगे चलता रहूँगा॥ १९॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २०॥

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी अपने-आप प्रकट हो जाते हैं, सर्दी-गर्मी आदि जो परस्पर विरोधी द्वन्द्व हैं वे सब आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा॥ २०॥

अल्पं वास्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन्॥ २१॥

भिक्षा थोड़ी मिली या स्वादहीन मिली, इसका विचार न करके उसे पा लूँगा। यदि कभी एक घरसे भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरोंमें भी जाऊँगा। मिल गया तो ठीक है, न मिलनेकी दशामें क्रमशः सात घरोंमें जाऊँगा, आठवेंमें नहीं जाऊँगा॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके॥ २२॥
एककालं चरन् भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम्॥ २३॥

जब घरोंमेंसे धुआँ निकलना बंद हो गया हो, मूसल रख दिया गया हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो, घरके सब लोग खा-पी चुके हों, परोसी हुई थालीको इधर-उधर ले जानेका काम समाप्त हो गया हो और भिखमंगे भिक्षा लेकर लौट गये हों, ऐसे समयमें मैं एक ही वक्त भिक्षाके लिये दो, तीन या पाँच घरोंतक जाया करूँगा। सब ओरसे स्नेहका बन्धन तोड़कर इस पृथ्वीपर विचरता रहूँगा॥ २२-२३॥

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्॥ २४॥

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थामें मेरी दृष्टि समान होगी। मैं महान् तपमें संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जिसे जीने या मरनेकी इच्छावाले लोग करते हैं॥ २४॥

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः॥ २५॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः।

न तो जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँहको बसूलेसे काटता हो और दूसरा दूसरी बाँहको चन्दनमिश्रित जलसे

सींचता हो तो न पहलेका अमङ्गल सोचूँगा और न दूसरेकी मङ्गलकामना करूँगा। उन दोनोंके प्रति समान भाव रक्खूँगा ॥ २५½ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥

जीवित पुरुषके द्वारा जो कोई भी अभ्युदयकारी कर्म किये जा सकते हैं, उन सबका परित्याग करके केवल शरीर-निर्वाहके लिये पलकोंके खोलने-मींचने या खाने-पीने आदिके कार्यमें ही प्रवृत्त हो सकूँगा ॥ २६ ॥

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सुपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ २७ ॥

इन सब कार्योंमें भी आसक्त नहीं होऊँगा। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारोंसे उपरत होकर मनको संकल्पशून्य करके अन्तःकरणका सारा मल धो डालूँगा ॥ २७ ॥

विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २८ ॥

सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त रहकर स्नेहके सारे बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके अधीन न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ॥ २८ ॥

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत् पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥

इस प्रकार वीतराग होकर विचरनेसे मुझे शाश्वत संतोष प्राप्त होगा। अज्ञानवश तृष्णाने मुझसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं ॥ २९ ॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य शुभाशुभ कर्म करके कार्य-कारणसे अपने साथ जुड़े हुए स्वजनोंका भरण-पोषण करते हैं ॥ ३० ॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् ।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥

फिर आयुके अन्तमें जीवात्मा इस प्राणशून्य शरीरको त्यागकर पहलेके किये हुए उस पापको ग्रहण करता है; क्योंकि कर्ताको ही उसके कर्मका वह फल प्राप्त होता है ॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत् ।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार रथके पहियेके समान निरन्तर घूमते हुए इस संसारचक्रमें आकर जीवोंका यह समुदाय कार्यवश अन्य प्राणियोंसे मिलता है ॥ ३२ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंका आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँका जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता। जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसार-को त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ३३ ॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु ।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत् कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

जब देवता भी स्वर्गसे नीचे गिरते हैं और महर्षि भी अपने-अपने स्थानसे भ्रष्ट हो जाते हैं, तब कारण-तत्त्वको जाननेवाला कौन मनुष्य इस जन्म-मरणरूप संसारसे कोई प्रयोजन रक्खेगा ॥ ३४ ॥

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद् विविधलक्षणम् ।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव बध्यते ॥ ३५ ॥

भाँति-भाँतिके भिन्न-भिन्न कर्म करके विख्यात हुआ राजा भी किन्हीं छोटे-मोटे कारणोंसे ही दूसरे राजाओंद्वारा मार डाला जाता है ॥ ३५ ॥

तस्मात् प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत् प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

आज दीर्घकालके पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है। इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी एवं सनातन पदको प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

एतया संततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३७ ॥

अतः इस पूर्वोक्त धारणाके द्वारा निरन्तर विचरता हुआ मैं निर्भय मार्गका आश्रय ले जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंसे आक्रान्त हुए इस शरीरको अलग रख दूँगा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भीमसेनका राजाके लिये संन्यासका विरोध करते हुए अपने कर्तव्यके ही पालनपर जोर देना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—राजन्! जैसे मन्द और अर्थज्ञानसे शून्य श्रोत्रियकी बुद्धि केवल मन्त्रपाठद्वारा मारी जाती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थको देखने या समझनेवाली नहीं है ॥ १ ॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि राजधर्मकी निन्दा करते हुए आपने

आलस्यपूर्ण जीवन बितानेका ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्रके पुत्रोंका विनाश करानेसे क्या फल मिला ? ॥ २ ॥

क्षमानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते ।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे ॥ ३ ॥

क्षत्रियोचित मार्गपर चलनेवाले पुरुषके हृदयमें अपने भाईपर भी क्षमा, दया, करुणा और कोमलताका भाव नहीं रह जाता; फिर आपके हृदयमें यह सब क्यों है ? ॥ ३ ॥

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन ॥ ४ ॥

यदि हम पहले ही जान लेते कि आपका विचार इस तरहका है तो हम हथियार नहीं उठाते और न किसीका वध ही करते ॥ ४ ॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥

हम भी आपकी ही तरह शरीर छूटनेतक भीख माँगकर ही जीवन-निर्वाह करते । फिर तो राजाओंमें यह भयंकर युद्ध होता ही नहीं ॥ ५ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि यह सब कुछ प्राणका अन्न है, स्थावर और जङ्गम सारा जगत् प्राणका भोजन है ॥ ६ ॥

आददानस्य चेद् राज्यं ये केचित् परिपन्थिनः ।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता विद्वान् पुरुष यह जानते और बताते हैं कि अपना राज्य ग्रहण करते समय जो कोई भी उसमें बाधक या विरोधी खड़े हों, उन्हें मार डालना चाहिये॥

ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः ।
तान् हत्वा भुङ्क्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम्॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो लोग हमारे राज्यके बाधक या लुटेरे थे, वे सभी अपराधी ही थे; अतः हमने उन्हें मार डाला । उन्हें मारकर धर्मतः प्राप्त हुई इस पृथ्वीका आप उपभोग कीजिये ॥ ८ ॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रम करके कुँआ खोदे और वहाँ जल न मिलनेपर देहमें कीचड़ लपेटे हुए वहाँसे निराश लौट आये, उसी प्रकार हमारा किया-कराया यह सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है ॥ ९ ॥

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥

जैसे कोई विशाल वृक्षपर आरूढ़ हो वहाँसे मधु उतार लाये; परंतु उसे खानेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाय; हमारा यह प्रयत्न भी वैसा ही हो रहा है ॥ १० ॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् ।
स निराशो निवर्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥

जैसे कोई मनुष्य मनमें कोई आशा लेकर बहुत बड़ा मार्ग ते करे और वहाँ पहुँचनेपर निराश लौटे, हमारा यह कार्य भी उसी तरह निष्फल हो रहा है ॥ ११ ॥

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन ।
आत्मानं घातयेत् पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओंका वध करनेके पश्चात् अपनी भी हत्या कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है ॥ १२ ॥

यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद् यदृच्छया।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १३ ॥

जैसे भूखा मनुष्य भोजन और कामी पुरुष कामिनीको पाकर दैववश उसका उपभोग न करे, हमारा यह कर्म भी वैसा ही निष्फल हो रहा है ॥ १३ ॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि यद् वयं मन्दचेतसम् ।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥

भरतवंशी नरेश ! हमलोग ही यहाँ निन्दाके पात्र हैं कि आप-जैसे अल्पबुद्धि पुरुषको बड़ा भाई समझकर आपके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ १४ ॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥ १५ ॥

हम बाहुबलसे सम्पन्न, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और मनस्वी हैं तो भी असमर्थ पुरुषोंके समान एक कायर भाईकी आज्ञामें रहते हैं ॥ १५ ॥

अगतीकगतीनस्मान् नष्टार्थानर्थसिद्धये ।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥ १६ ॥

हमलोग पहले अशरण मनुष्योंको शरण देनेवाले थे; किंतु अब हमारा ही अर्थ नष्ट हो गया है । ऐसी दशामें अर्थसिद्धिके लिये हमारा आश्रय लेनेवाले लोग हमारी इस दुर्बलतापर कैसे दृष्टि नहीं डालेंगे ? बन्धुओ ! मेरा कथन कैसा है ? इसपर विचार करो ॥ १६ ॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥ १७ ॥

शास्त्रका उपदेश यह है कि आपत्तिकालमें या बुढ़ापेसे जर्जर हो जानेपर अथवा शत्रुओंद्वारा धन-सम्पत्तिसे वञ्चित कर दिये जानेपर मनुष्यको संन्यास ग्रहण करना चाहिये ॥

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते ।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८ ॥

अतः (जब कि हमारे ऊपर पूर्वोक्त संकट नहीं आया है) विद्वान् पुरुष ऐसे अवसरमें त्याग या संन्यासकी प्रशंसा नहीं करते हैं । सूक्ष्मदर्शी पुरुष तो ऐसे समयमें क्षत्रियके लिये संन्यास लेना उलटे धर्मका उल्लङ्घन मानते हैं॥ १८ ॥

कथं तस्मात् समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः ।
तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ॥ १९ ॥

इसलिये जिनकी क्षात्रधर्मके लिये उत्पत्ति हुई है, जो क्षात्रधर्ममें ही तत्पर रहते हैं तथा क्षात्र-धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं ही उस क्षात्र-धर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं ? इसके लिये उस विधाता-की ही निन्दा क्यों न की जाय, जिन्होंने क्षत्रियोंके लिये युद्ध-धर्मका विधान किया है ॥ १९ ॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २० ॥

श्रीहीन, निर्धन एवं नास्तिकोंने वेदके अर्थवादवाक्यों-द्वारा प्रतिपादित विज्ञानका आश्रय ले सत्य-सा प्रतीत होनेवाले मिथ्या मतका प्रचार किया है (वैसे वचनोंद्वारा क्षत्रियका संन्यासमें अधिकार नहीं सिद्ध होता है) ॥ २० ॥

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥ २१ ॥

धर्मका बहाना लेकर अपने द्वारा केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जानेसे कर्तव्यसे भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवनको सार्थक बनाना नहीं ॥ २१ ॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन् ॥ २२ ॥

जो पुत्रों और पौत्रोंके पालनमें असमर्थ हो, देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको तृप्त न कर सकता हो और अतिथियों-को भोजन देनेकी भी शक्ति न रखता हो, ऐसा मनुष्य ही अकेला जंगलोंमें रहकर सुखसे जीवन बिता सकता है (आप-जैसे शक्तिशाली पुरुषोंका यह काम नहीं है) ॥ २२ ॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥ २३ ॥

सदा ही वनमें रहनेपर भी न तो ये मृग स्वर्गलोकपर अधिकार पा सके हैं, न सूअर और पक्षी ही । पुण्यकी प्राप्ति तो अन्य प्रकारसे ही बतलायी गयी है । श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवासको ही पुण्यकारक नहीं मानते ॥ २३ ॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥

यदि कोई राजा संन्याससे सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष बहुत जल्दी सिद्धि पा सकते हैं ॥ २४ ॥

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥ २५ ॥

क्योंकि ये नित्य संन्यासी, उपद्रवशून्य, परिग्रहरहित तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले देखे जाते हैं ॥२५॥

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥

यदि अपने भाग्यमें दूसरोंके कर्मोंसे प्राप्त हुई सिद्धि नहीं आती, तब तो सभीको कर्म ही करना चाहिये । अकर्मण्य पुरुषको कभी कोई सिद्धि नहीं मिलती ॥ २६ ॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः ।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥

(यदि अपने शरीरमात्रका भरण-पोषण करनेसे सिद्धि मिलती हो, तब तो) जलमें रहनेवाले जीवों तथा स्थावर प्राणियोंको भी सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये; क्योंकि उन्हें केवल अपना ही भरण-पोषण करना रहता है । उनके पास दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिसके भरण-पोषणका भार वे उठाते हों ॥ २७ ॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २८ ॥

देखिये और विचार कीजिये कि सारा संसार किस तरह अपने कर्मोंमें लगा हुआ है; अतः आपको भी क्षत्रियो-चित कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये । जो कर्मोंको छोड़ बैठता है, उसे कभी सिद्धि नहीं मिलती ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेनका वचनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका पक्षिरूपधारी इन्द्र और ऋषिबालकोंके संवादका उल्लेखपूर्वक गृहस्थ-धर्मके पालनपर जोर देना

अर्जुन उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इसी विषयमें जानकार लोग तापसोंके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥ २ ॥

एक समय कुछ मन्दबुद्धि कुलीन ब्राह्मणबालक घरको छोड़कर वनमें चले आये । अभी उन्हें मूँछ-दाढ़ीतक नहीं आयी थी, उसी अवस्थामें उन्होंने घर त्याग दिया ॥ २ ॥

धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत॥ ३ ॥

यद्यपि वे सब-के-सब धनी थे, तथापि भाई-बन्धु और माता-पिताको छोड़कर इसीको धर्म मानते हुए वनमें आकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। एक दिन इन्द्रदेवने उनपर कृपा की ॥ ३ ॥

तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः ।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत् कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥
पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम् ।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥ ५ ॥

भगवान् इन्द्र सुवर्णमय पक्षीका रूप धारण करके वहाँ आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—'यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंने जो कर्म किया है, वह दूसरोंसे होना अत्यन्त कठिन है। उनका यह कर्म बड़ा पवित्र और जीवन बहुत उत्तम है। वे धर्मपरायण पुरुष सफलमनोरथ हो श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुए हैं' ॥ ४-५ ॥

ऋषय ऊचुः

अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान् प्रशंसति ।
अस्मान् नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः॥ ६ ॥

ऋषि बोले—अहो ! यह पक्षी तो विघसाशी (यज्ञशेष अन्न भोजन करनेवाले) पुरुषोंकी प्रशंसा करता है। निश्चय ही यह हमलोगोंकी बड़ाई करता है; क्योंकि यहाँ हमलोग ही विघसाशी हैं ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

नाहं युष्मान् प्रशंसामि पङ्कदिग्धान् रजस्वलान्।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥ ७ ॥

उस पक्षीने कहा—अरे ! देहमें कीचड़ लपेटे और धूल पोते हुए जूठन खानेवाले तुम-जैसे मूर्खोंकी मैं प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। विघसाशी तो दूसरे ही होते हैं ॥ ७ ॥

ऋषय ऊचुः

इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे ।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे ॥ ८ ॥

ऋषि बोले—पक्षी ! यही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी साधन है, ऐसा समझकर ही हम इस मार्गपर चल रहे हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ धर्म हो, उसे तुम्हीं बताओ। हम तुम्हारी बातपर अधिक श्रद्धा करते हैं ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच

यदि मां नाभिशङ्कध्वं विभज्यात्मानमात्मना ।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥

पक्षीने कहा—यदि आपलोग मुझपर संदेह न करें तो मैं स्वयं ही अपने आपको वक्ताके रूपमें विभक्त करके आपलोगोंको यथावत्‌रूपसे हितकी बात बताऊँगा ॥ ९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव ।
नियोगे चैव धर्मात्मन् स्थातुमिच्छाम शाधि नः॥ १० ॥

ऋषि बोले—तात ! हम तुम्हारी बात सुनेंगे। तुम्हें सब मार्ग विदित हैं। धर्मात्मन् ! हम तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं। तुम हमें उपदेश दो ॥ १० ॥

शकुनिरुवाच

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम् ।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥

पक्षीने कहा—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, धातुओंमें सोना उत्तम है, शब्दोंमें मन्त्र उत्कृष्ट है और मनुष्योंमें ब्राह्मण प्रधान है ॥ ११ ॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंके लिये मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कारका विधान है। वह जबतक जीवित रहे, समय-समयपर उसके आवश्यक संस्कार होते रहने चाहिये, मरनेपर भी यथासमय श्मशानभूमिमें अन्त्येष्टिसंस्कार तथा घरपर श्राद्ध आदि वैदिक विधिके अनुसार सम्पन्न होने चाहिये ॥ १२ ॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः ।
अथ सर्वाणि कर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्षते ॥ १३ ॥
आम्नायदृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते ।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥ १४ ॥
ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्मसंज्ञितम् ।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥ १५ ॥

वैदिक कर्म ही ब्राह्मणके लिये स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाले उत्तम मार्ग हैं। इसके सिवा, मुनियोंने समस्त कर्मोंको वैदिक मन्त्रोंद्वारा ही सिद्ध होनेवाला बताया है। वेदमें इन कर्मोंका प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है; इसलिये उन कर्मोंके अनुष्ठानसे ही यहाँ अभीष्ट-सिद्धि होती है। मास, पक्ष, ऋतु, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंसे उपलक्षित जो यज्ञ होते हैं, उन्हें यथासम्भव सम्पन्न करनेकी चेष्टा प्रायः सभी प्राणी करते हैं। यज्ञोंका सम्पादन ही कर्म कहलाता है। जहाँ ये कर्म किये जाते हैं, वह गृहस्थ-आश्रम ही सिद्धिका पुण्यमय क्षेत्र है और यही सबसे महान् आश्रम है ॥ १३—१५ ॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः ।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते ॥ १६ ॥

जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करते हुए कुमार्गका आश्रय लेते हैं, उन पुरुषार्थहीन मूढ़ पुरुषोंको पाप लगता है ॥१६॥

देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥ १७ ॥

देवसमूह और पितृसमूहोंका यजन तथा ब्रह्मवंश (वेद-शास्त्र आदिके स्वाध्यायद्वारा ऋषि-मुनियों) की तृप्ति—ये तीन ही सनातन मार्ग हैं। जो मूर्ख इनका परित्याग करके और किसी मार्गसे चलते हैं, वे वेदविरुद्ध पथका आश्रय लेते हैं ॥ १७ ॥

सुवर्णमय पक्षीके रूपमें देवराज इन्द्रका संन्यासी बने हुए ब्राह्मण-बालकोंको उपदेश

एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम् ।
तस्मात् तत् तद् व्यवस्थानं तपस्वितप उच्यते॥ १८ ॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषिने एक मन्त्रमें कहा है कि 'यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानोंद्वारा सम्पादित हो, परंतु यह होना चाहिये तपस्यासे युक्त। तुम इसका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवाञ्छित फल प्रदान करूँगा।' अतः उन-उन वैदिक कर्मोंमें पूर्णतः संलग्न हो जाना ही तपस्वीका 'तप' कहलाता है॥

देववंशान् ब्रह्मवंशान् पितृवंशांश्च शाश्वतान् ।
संविभज्य गुरोश्चर्यां तद् वै दुष्करमुच्यते ॥ १९ ॥

हवन-कर्मके द्वारा देवताओंको, स्वाध्यायद्वारा ब्रह्मर्षियोंको तथा श्राद्धद्वारा सनातन पितरोंको उनका भाग समर्पित करके गुरुकी परिचर्या करना दुष्कर व्रत कहलाता है॥ १९॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः ।
तस्माद् गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः ॥ २० ॥

इस दुष्कर व्रतका अनुष्ठान करके देवताओंने उत्तम वैभव प्राप्त किया है। यह गृहस्थधर्मका पालन ही दुष्कर व्रत है। मैं तुमलोगोंसे इसी दुष्कर व्रतका भार उठानेके लिये कह रहा हूँ॥ २०॥

तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः ।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २१ ॥

तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमें संदेह नहीं कि यही प्रजावर्गका मूल कारण है। परंतु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्रके अनुसार इस गार्हस्थ्य-धर्ममें ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है॥ २१॥

एतद् विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तस्माद् व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते ॥ २२ ॥

जिनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे ब्राह्मण इसीको तप मानते हैं। यद्यपि लोकमें व्रतको भी तप कहा जाता है, किंतु वह पञ्चयज्ञके अनुष्ठानकी अपेक्षा मध्यम श्रेणीका है॥ २२॥

दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः ।
सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ॥ २३ ॥
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च ।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ २४ ॥

क्योंकि विघसाशी पुरुष प्रातः-सायंकाल विधि-विधानपूर्वक अपने कुटुम्बमें अन्नका विभाग करके दुर्जय अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं, पितरों, अतिथियों तथा अपने परिवारके अन्य सब लोगोंको अन्न देकर जो सबसे पीछे अवशिष्ट अन्न खाते हैं, उन्हें विघसाशी कहा गया है २३-२४

तस्मात् स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः ।
लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः ॥ २५ ॥

इसलिये अपने धर्मपर आरूढ़ हो उत्तम व्रतका पालन और सत्यभाषण करते हुए वे जगद्गुरु होकर सर्वथा संदेहरहित हो जाते हैं॥ २५॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः ।
वसन्ति शाश्वतान् वर्षाञ्जना दुष्करकारिणः ॥ २६ ॥

वे ईर्ष्यारहित दुष्कर व्रतका पालन करनेवाले पुण्यात्मा पुरुष इन्द्रके स्वर्गलोकमें पहुँचकर अनन्त वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं॥ २६॥

अर्जुन उवाच

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः॥ २७ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! वे ब्राह्मणकुमार पक्षिरूपधारी इन्द्रकी धर्म और अर्थयुक्त हितकर बातें सुनकर इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग जिस मार्गपर चल रहे हैं, वह हमारे लिये हितकर नहीं है; अतः वे उसे छोड़कर घर लौट गये और गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे॥ २७॥

तस्मात् त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥ २८ ॥

सर्वज्ञ नरश्रेष्ठ! अतः आप भी सदाके लिये धैर्य धारण करके शत्रुहीन हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कीजिये॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनके वचनके प्रसंगमें ऋषियों और पक्षिरूपधारी इन्द्रके संवादका वर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका गृहस्थ-धर्मकी प्रशंसा करते हुए राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत् ।
राजानमभिसम्प्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम् ॥ १ ॥
अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिंदम ।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर नकुलने भी सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरकी ओर देखकर कुछ कहनेको उद्यत हुए। शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! महाबाहु नकुल बड़े बुद्धिमान् थे। उनकी छाती चौड़ी, मुख ताम्रवर्णका था। वे बड़े मितभाषी थे। उन्होंने भाईके चित्तका अनुसरण करते हुए कहा॥ १-२॥

नकुल उवाच

विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः ।

तस्माद् विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ॥ ३ ॥

नकुल बोले—महाराज ! विशाखयूप नामक क्षेत्रमें सम्पूर्ण देवताओंद्वारा की हुई अग्निस्थापनाके चिह्न (ईंटोंकी बनी हुई वेदियाँ) मौजूद हैं। इससे आपको यह समझना चाहिये कि देवता भी वैदिक कर्मों और उनके फलोंपर विश्वास करते हैं ॥ ३ ॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये ।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं सम्प्रेक्ष्य पार्थिव ॥ ४ ॥

राजन् ! आस्तिकताकी बुद्धिसे रहित समस्त प्राणियोंके प्राणदाता पितर भी शास्त्रके विधिवाक्योंपर दृष्टि रखकर कर्म ही करते हैं ॥ ४ ॥

वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान् ।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत ।

भारत ! जो वेदोंकी आज्ञाके विरुद्ध चलते हैं, उन्हें बड़ा भारी नास्तिक समझिये। वेदकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी कोई ब्राह्मण देवयान मार्गके द्वारा स्वर्गलोककी पृष्ठभूमिमें पैर नहीं रख सकता ॥ ५½ ॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान् निबोध नराधिप ।

यह गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमोंसे ऊँचा है। यह बात वेदोंके सिद्धान्तको जाननेवाले श्रुतिसम्पन्न ब्राह्मण कहते हैं। नरेश्वर ! आप उनकी सेवामें उपस्थित होकर इस बातको समझिये ॥ ६½ ॥

वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ॥ ७ ॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ८ ॥

महाराज ! जो धर्मसे प्राप्त किये हुए धनका श्रेष्ठ यज्ञोंमें उपयोग करता है और अपने मनको वशमें रखता है, वह मनुष्य त्यागी माना गया है ॥ ७-८ ॥

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः ।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥ ९ ॥

महाराज ! जिसने गृहस्थ-आश्रमके सुखभोगोंको कभी नहीं देखा, फिर भी जो ऊपरवाले वानप्रस्थ आदि आश्रमोंमें प्रतिष्ठित होकर देहत्याग करता है, उसे तामस त्यागी माना गया है ॥ ९ ॥

अनिकेतः परिपतन् वृक्षमूलाश्रयो मुनिः ।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥ १० ॥

पार्थ ! जिसका कोई घरबार नहीं, जो इधर-उधर विचरता और चुपचाप किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़पर सो जाता है, जो अपने लिये कभी रसोई नहीं बनाता और सदा योग-परायण रहता है, ऐसे त्यागीको भिक्षुक कहते हैं ॥ १० ॥

क्रोधहर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः ।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते ॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और विशेषतः चुगलीकी अवहेलना करके सदा वेदोंके स्वाध्यायमें लगा रहता है, वह त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥ १२ ॥

राजन् ! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषोंने चारों आश्रमोंको (विवेकके) तराजूपर रखकर तौला था। एक ओर तो अन्य तीनों आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थ आश्रम था ॥ १२ ॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत ।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥ १३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पार्थ ! इस प्रकार विवेककी तुलापर रखकर जब देखा गया तो गृहस्थ-आश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ; क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे। तबसे उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियोंका मार्ग है और यही लोकवेत्ताओंकी गति है' ॥ १३ ॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ ।
न यः परित्यज्य गृहान् वनमेति विमूढवत् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ऐसा भाव रखता है, वही त्यागी है। जो मूर्खकी तरह घर छोड़कर वनमें चला जाता है, वह त्यागी नहीं है ॥ १४ ॥

यदा कामान् समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः ।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥ १५ ॥

वनमें रहकर भी यदि धर्मध्वजी मनुष्य काम-भोगोंपर दृष्टिपात (उनका स्मरण) करता है तो यमराज उसके गलेमें मौतका फंदा डाल देते हैं ॥ १५ ॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १६ ॥

महाराज ! यही कर्म यदि अभिमानपूर्वक किया जाय तो वह सफल नहीं होता और त्यागपूर्वक किया हुआ सारा कर्म ही महान् फलदायक होता है ॥ १६ ॥

शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १७ ॥

शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, धृति तथा धर्म—इन सबका ऋषियोंके लिये निरन्तर पालन करनेका विधान है ॥ १७ ॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते ।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १८ ॥

महाराज ! गृहस्थ-आश्रममें ही देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके लिये किये जानेवाले आयोजनकी प्रशंसा की जाती है। केवल यहीं धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों सिद्ध होते हैं १८

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ १९ ॥

यहाँ रहकर वेदविहित विधिका पालन करनेवाले निष्ठावान् त्यागीका कभी विनाश नहीं होता—वह पारलौकिक उन्नतिसे कभी वञ्चित नहीं रहता ॥ १९ ॥

असृजद्धि प्रजा राजन् प्रजापतिरकल्मषः ।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ २० ॥

राजन् ! पापरहित धर्मात्मा प्रजापतिने इस उद्देश्यसे प्रजाओंकी सृष्टि की कि 'ये नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करेंगी' ॥ २० ॥

वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः ।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २१ ॥

इसी उद्देश्यसे उन्होंने यज्ञसम्पादनके लिये नाना प्रकारकी लता-वेलों, वृक्षों, ओषधियों, मेध्य पशुओं तथा यज्ञार्थक हविष्योंकी भी सृष्टि की है ॥ २१ ॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् ।
तस्माद् गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २२ ॥

वह यज्ञकर्म गृहस्थाश्रमी पुरुषको एक मर्यादाके भीतर बाँध रखनेवाला है; इसलिये गार्हस्थ्यधर्म ही इस संसारमें दुष्कर और दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तत् सम्प्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः ।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥ २३ ॥

महाराज ! जो गृहस्थ उसे पाकर पशु और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हुए भी यज्ञ नहीं करते हैं, उन्हें सदा ही पापका भागी होना पड़ता है ॥ २३ ॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथा परे ।
अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥ २४ ॥

कुछ ऋषि वेद-शास्त्रोंका स्वाध्यायरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं, कुछ ज्ञानयज्ञमें तत्पर रहते हैं और कुछ लोग मनमें ही ध्यानरूपी महान् यज्ञोंका विस्तार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं मनःसमाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप ।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! चित्तको एकाग्र करना रूप जो साधन है, उसका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत हुए द्विजके दर्शनकी अभिलाषा देवता भी रखते हैं ॥ २५ ॥

स रत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः ।
मखेष्वनभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ॥ २६ ॥

इधर-उधरसे जो विचित्र रत्न संग्रह करके लाये गये हैं, उनका यज्ञोंमें वितरण न करके आप नास्तिकताकी बातें कर रहे हैं ॥ २६ ॥

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! जिसपर कुटुम्बका भार हो, उसके लिये त्यागका विधान नहीं देखनेमें आता है। उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञोंमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २७ ॥

ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः ।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २८ ॥

भूपाल ! इनके सिवा जो दूसरे भी ब्राह्मणोंद्वारा प्रशंसित यज्ञ हैं, उनके द्वारा देवराज इन्द्रके समान आप भी यज्ञपुरुषकी आराधना कीजिये ॥ २८ ॥

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥ २९ ॥

राजाके प्रमाददोषसे लुटेरे प्रबल होकर प्रजाको लूटने लगते हैं, उस अवस्थामें यदि राजाने प्रजाको शरण नहीं दी तो उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा जाता है ॥ २९ ॥

अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः ।
ग्रामाञ्जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥ ३० ॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः ।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! यदि हमलोग ईर्ष्यायुक्त मनवाले होकर ब्राह्मणोंको घोड़े, गाय, दासी, सजी-सजायी हथिनी, गाँव, जनपद, खेत और घर आदिका दान नहीं करते हैं तो राजाओंमें कलियुग समझे जायँगे ॥ ३०-३१ ॥

अदातारः शरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः ।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥ ३२ ॥

जो दान नहीं देते, शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते, वे राजाओंके पापके भागी होते हैं। उन्हें दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है, सुख तो कभी नहीं मिलता ॥ ३२ ॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् ।
तीर्थेष्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो ॥ ३३ ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम् ।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥ ३४ ॥

प्रभो ! बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान, पितरोंका श्राद्ध तथा तीर्थोंमें स्नान किये बिना ही आप संन्यास ले लेंगे तो हवाद्वारा छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान नष्ट हो जायँगे। लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर (त्रिशङ्कुके समान) बीचमें ही लटके रह जायँगे ॥ ३३-३४ ॥

अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासङ्गकारकम् ।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मनको फँसानेवाली चीजें हैं, उन सबको छोड़नेसे मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देनेसे त्यागकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३५ ॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

महाराज ! इस गृहस्थ-आश्रममें ही रहकर वेदविहित कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणका कभी उच्छेद (पतन) नहीं होता ॥ ३६ ॥

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान्
शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये ।
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे
पूर्वैः स्मृते पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! जैसे इन्द्र युद्धमें दैत्योंकी सेनाओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार जो वेगपूर्वक बढ़े-चढ़े शत्रुओंका वध करके विजय पा चुका हो और पूर्ववर्ती राजाओंद्वारा सेवित अपने धर्ममें तत्पर रहता हो, ऐसा (आपके सिवा) कौन राजा शोक करेगा ? ॥ ३७ ॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण
जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय ।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता
न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ ॥ ३८ ॥

नरेन्द्र ! कुन्तीकुमार ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार पराक्रमद्वारा इस पृथ्वीपर विजय पाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंको यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणाएँ देकर स्वर्गसे भी ऊपर चले जायँगे? अतः आज आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नकुलवाक्यविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सहदेवका युधिष्ठिरको ममता और आसक्तिसे रहित होकर राज्य करनेकी सलाह देना

सहदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

सहदेव बोले—भरतनन्दन ! केवल बाहरी द्रव्यका त्याग कर देनेसे सिद्धि नहीं मिलती, शरीरसम्बन्धी द्रव्यका त्याग करनेसे भी सिद्धि मिलती है या नहीं, इसमें संदेह है ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्याद् द्विषतां तत् तथास्तु नः ॥२॥

बाहरी द्रव्योंसे दूर होकर दैहिक सुख-भोगोंमें आसक्त रहनेवालेको जो धर्म अथवा जो सुख प्राप्त होता हो, वह उस रूपमें हमारे शत्रुओंको ही मिले ॥ २ ॥

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्यात् सुहृदां तत् तथास्तु नः॥३॥

परंतु शरीरके उपयोगमें आनेवाले द्रव्योंकी ममता त्यागकर अनासक्तभावसे पृथिवीका शासन करनेवाले राजाको जिस धर्म अथवा जिस सुखकी प्राप्ति होती हो, वह हमारे हितैषी सुहृदोंको मिले ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥

दो अक्षरोंका 'मम' (यह मेरा है, ऐसा भाव) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका 'न मम' (यह मेरा नहीं है ऐसा भाव) अमृत—सनातन ब्रह्म है ॥ ४ ॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ५ ॥

राजन् ! इससे सूचित होता है कि मृत्यु और अमृत ब्रह्म दोनों अपने ही भीतर स्थित हैं । वे ही अदृश्यभावसे रहकर प्राणियोंको एक दूसरेसे लड़ाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! यदि इस जीवात्माका अविनाशी होना निश्चित है, तब तो प्राणियोंके शरीरका वध करनेमात्रसे उनकी हिंसा नहीं हो सकेगी ॥ ६ ॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा ।
नष्टे शरीरे नष्टः स्याद् वृथा च स्यात् क्रियापथः॥ ७ ॥

इसके विपरीत यदि शरीरके साथ ही जीवकी उत्पत्ति तथा उसके नष्ट होनेके साथ ही जीवका नाश होना माना जाय तब तो शरीर नष्ट होनेपर जीव भी नष्ट ही हो जायगा; उस दशामें सारा वैदिक कर्ममार्ग ही व्यर्थ सिद्ध होगा ॥७॥

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥

इसलिये विज्ञ पुरुषको एकान्तमें रहनेका विचार छोड़कर पूर्ववर्ती तथा अत्यन्त पूर्ववर्ती श्रेष्ठ पुरुषोंने जिस मार्गका सेवन किया है, उसीका आश्रय लेना चाहिये ॥ ८ ॥

(स्वायम्भुवेन मनुना तथान्यैश्चक्रवर्तिभिः ।
यद्ययं ह्यधमः पन्थाः कस्मात् तैस्तैर्निषेवितः ॥

यदि आपकी दृष्टिमें गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए राज्यशासन करना अधम मार्ग है तो स्वायम्भुव मनु तथा उन-उन अन्य चक्रवर्ती नरेशोंने इसका सेवन क्यों किया था ? ॥

कृतत्रेतादियुक्तानि गुणवन्ति च भारत ।
युगानि बहुशस्तैश्च भुक्तेयमवनी नृप ॥)

भरतवंशी नरेश ! उन नरपतियोंने उत्तम गुणवाले सत्ययुग-त्रेता आदि अनेक युगोंतक इस पृथ्वीका उपभोग किया है ॥

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम्॥ ९ ॥

जो राजा चराचर प्राणियोंसे युक्त इस सारी पृथ्वीको पाकर इसका अच्छे ढंगसे उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है ॥ ९ ॥

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥

अथवा राजन् ! वनमें रहकर वनके ही फल-फूलोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस पुरुषकी द्रव्योंमें ममता बनी रहती है, वह मौतके ही मुखमें है ॥ १० ॥

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! प्राणियोंका बाह्य स्वभाव कुछ और होता है और आन्तरिक स्वभाव कुछ और । आप उसपर गौर कीजिये । जो सबके भीतर विराजमान परमात्माको देखते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

प्रभो ! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं । मैंने आर्त होकर दुःखमें जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें ॥ १२ ॥

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम् ।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतवंशभूषण भूपाल ! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह यथार्थ हो या अयथार्थ, आपके प्रति भक्ति होनेके कारण ही वे बातें मेरे मुँहसे निकली हैं, यह आप अच्छी तरह समझ लें ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सहदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरको राजदण्डधारणपूर्वक पृथ्वीका शासन करनेके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान्॥ १ ॥
महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥ २ ॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥
अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥ ४ ॥
आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाइयोंके मुखसे नाना प्रकारके वेदोंके सिद्धान्तोंको सुनकर भी जब कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले, तब महान् कुलमें उत्पन्न हुई, युवतियोंमें श्रेष्ठ, स्थूल नितम्ब और विशाल नेत्रोंवाली, पतियों एवं विशेषतः राजा युधिष्ठिरके प्रति अभिमान रखनेवाली, राजाकी सदा ही लाड़िली, धर्मपर दृष्टि रखनेवाली तथा धर्मको जाननेवाली श्रीमती महारानी द्रौपदी हाथियोंसे घिरे हुए यूथपति गजराजकी भाँति सिंह-शार्दूल-सदृश पराक्रमी भाइयोंसे घिरकर बैठे हुए पतिदेव नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरकी ओर देखकर उन्हें सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण परम मधुर वाणीमें इस प्रकार बोलीं ॥ १–५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार ! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं; पपीहोंके समान आपसे राज्य करनेकी रट लगा रहे हैं, फिर भी आप इनका अभिनन्दन नहीं करते ? ॥ ६ ॥

नन्दयैतान् महाराज मत्तानिव महाद्विपान् ।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥ ७ ॥

महाराज ! उन्मत्त गजराजोंके समान आपके ये बन्धु सदा आपके लिये दुःख-ही-दुःख उठाते आये हैं । अब तो इन्हें युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आनन्दित कीजिये ॥ ७ ॥

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
भ्रातॄनेतान् स सहिताञ्शीतवातातपार्दितान् ॥ ८ ॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ।
सम्पूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥ ९ ॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान् ।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिंदमाः ॥ १० ॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥ ११ ॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥ १२ ॥

राजन् ! द्वैतवनमें ये सभी भाई जब आपके साथ सर्दी-गर्मी और आँधी-पानीका कष्ट भोग रहे थे, उन दिनों आपने इन्हें धैर्य देते हुए कहा था 'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर बन्धुओ ! विजयकी इच्छावाले हमलोग युद्धमें दुर्योधनको मारकर रथियोंको रथहीन करके बड़े-बड़े हाथियोंका वध कर डालेंगे और घुड़सवारसहित रथोंसे इस पृथ्वीको पाट देंगे । तत्पश्चात् सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न वसुधाका उपभोग करेंगे । उस समय पर्याप्त दान-दक्षिणावाले नाना प्रकारके समृद्धिशाली यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधनामें लगे रहनेसे तुमलोगोंका यह वनवासजनित दुःख सुखरूपमें परिणत हो जायगा ।'. धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! वीर महाराज ! पहले द्वैतवनमें इन भाइयोंसे स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज क्यों आप फिर हमलोगोंका दिल तोड़ रहे हैं ॥ ८—१२ ॥

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते ।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते ॥ १३ ॥

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता । वह न तो धनका उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है । जैसे केवल कीचड़में मछलियाँ नहीं होतीं, उसी प्रकार नपुंसकके घरमें पुत्र नहीं होते ॥ १३ ॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत ॥ १४ ॥

जो दण्ड देनेकी शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रियकी शोभा नहीं होती, दण्ड न देनेवाला राजा इस पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता । भारत ! दण्डहीन राजाकी प्रजाओंको कभी सुख नहीं मिलता है ॥ १४ ॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव, दान लेना, देना, अध्ययन और तपस्या—यह ब्राह्मणका ही धर्म है, राजाका नहीं ॥ १५ ॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥ १६ ॥

राजाओंका परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टोंको दण्ड दें, सत्पुरुषोंका पालन करें और युद्धमें कभी पीठ न दिखावें ॥

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये ।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ १७ ॥

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओंको भय दिखाने और शरणागतोंको अभय देनेकी शक्ति है, जो दुष्टोंको दण्ड-देता और दीनोंपर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है ॥

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥ १८ ॥

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रोंके श्रवणसे मिली है, न दानमें प्राप्त हुई है, न किसीको समझाने-बुझानेसे उपलब्ध हुई है, न यज्ञ करानेसे और न कहीं भीख माँगनेसे ही प्राप्त हुई है ॥

यत् तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ॥ १९ ॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत् त्वया निहतं वीर तस्माद् भुङ्क्ष्व वसुन्धराम् ॥ २० ॥

वह जो शत्रुओंकी पराक्रम सम्पन्न एवं श्रेष्ठ सेना हाथी, घोड़े और रथ तीनों अङ्गोंसे सम्पन्न थी तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिसकी रक्षा करते थे, उसका आपने वध किया है, तब यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आयी है, अतः वीर ! आप इसका उपभोग करें ॥ १९-२० ॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः ।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥ २१ ॥

प्रभो ! महाराज ! पुरुषसिंह ! आपने अनेकों जनपदोंसे युक्त इस जम्बूद्वीपको अपने दण्डसे रौंद डाला है ॥ २१ ॥

जम्बूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप ।
अपरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! जम्बूद्वीपके समान ही क्रौञ्चद्वीपको जो महामेरु-से पश्चिम है, आपने दण्डसे कुचल दिया है ॥ २२ ॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप ।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २३ ॥

नरेन्द्र ! क्रौञ्चद्वीपके समान ही शाकद्वीपको जो महामेरुसे पूर्व है, आपने दण्ड देकर दबा दिया है ॥ २३ ॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन सम्मितः ।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २४ ॥

पुरुषसिंह ! महामेरुसे उत्तर शाकद्वीपके बराबर ही जो भद्राश्व वर्ष है, उसे भी आपके दण्डसे दबना पड़ा है ॥ २४ ॥

द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥

वीर ! इनके अतिरिक्त भी जो बहुत-से देशोंके आश्रयभूत द्वीप और अन्तर्द्वीप हैं, समुद्र लाँघकर उन्हें भी आपने दण्डद्वारा दबाकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ २५ ॥

एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! आप ऐसे-ऐसे अनुपम पराक्रम करके द्विजातियोंद्वारा सम्मानित होकर भी प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ! ॥ २६ ॥

स त्वं भ्रातृनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥

भारत ! मतवाले साँड़ों और बलशाली गजराजोंके समान अपने इन भाइयोंको देखकर आप इनका अभिनन्दन कीजिये ॥ २७ ॥

अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परंतपाः।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः ॥ २८ ॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥

पुरुषसिंह ! शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके ये सभी भाई शत्रु-सैनिकोंका वेग सहन करनेमें समर्थ हैं, देवताओंके समान तेजस्वी हैं, मेरा विश्वास है कि इनमेंसे एक वीर भी मुझे पूर्ण सुखी बना सकता है, फिर ये मेरे पाँचों नरश्रेष्ठ पति क्या नहीं कर सकते हैं ? शरीरको चेष्टाशील बनानेमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो स्थान है, वही मेरे जीवनको सुखी बनानेमें इन सबका है ॥ २८-२९ ॥

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः।
तद् व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात् तव जनाधिप ॥ ३१ ॥

महाराज ! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं। वे सर्वज्ञ हैं और सब कुछ देखनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था— 'पाञ्चालराजकुमारि ! युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाले हैं। ये कई सहस्र राजाओंका संहार करके तुम्हें सुखके सिंहासनपर प्रतिष्ठित करेंगे।' किंतु जनेश्वर ! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सासकी कही हुई बात भी व्यर्थ होती दिखायी देती है ॥ ३०-३१ ॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥ ३२ ॥

जिनका जेठा भाई उन्मत्त हो जाता है, वे सभी उसीका अनुकरण करने लगते हैं। महाराज ! आपके उन्मादसे सारे पाण्डव भी उन्मत्त हो गये हैं ॥ ३२ ॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम् ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! यदि ये आपके भाई उन्मत्त नहीं हुए होते तो नास्तिकोंके साथ आपको भी बाँधकर स्वयं इस वसुधाका शासन करते ॥ ३३ ॥

कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥ ३४ ॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद् य उन्मार्गेण गच्छति।

जो मूर्ख इस प्रकारका काम करता है, वह कभी कल्याणका भागी नहीं होता। जो उन्मादग्रस्त होकर उलटे मार्गसे चलने लगता है, उसके लिये धूपकी सुगंध देकर, आँखोंमें सिद्ध अञ्जन लगाकर, नाकमें सुँघनी सुँघाकर अथवा और कोई औषध खिलाकर उसके रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३४½ ॥

साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥ ३५ ॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम्।

भरतश्रेष्ठ ! मैं ही संसारकी सब स्त्रियोंमें अधम हूँ, जो कि पुत्रोंसे हीन हो जानेपर भी जीवित रहना चाहती हूँ ॥ ३५½ ॥

एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा ॥ ३६ ॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम्।

ये सब लोग आपको समझानेका प्रयत्न कर रहे हैं; फिर भी आप ध्यान नहीं देते। मैं इस समय जो कुछ कह रही हूँ मेरी यह बात झूठी नहीं है। आप सारी पृथ्वीका राज्य छोड़कर अपने लिये स्वयं ही विपत्ति खड़ी कर रहे हैं ॥ ३६½ ॥

यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम ॥ ३७ ॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे मान्धाता और अम्बरीष भूमण्डलके समस्त राजाओंमें सम्मानित थे, राजन् ! वैसे ही आप भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३७½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३८ ॥
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव।

नरेश्वर ! धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपोंसहित पृथ्वी देवीका शासन कीजिये। इस प्रकार उदासीन न होइये ॥ ३८½ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥ ३९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान और शत्रुओंके साथ युद्ध कीजिये। ब्राह्मणोंको धन, भोगसामग्री और वस्त्रोंका दान कीजिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा राजदण्डकी महत्ताका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रुपदकुमारीका यह वचन सुनकर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए अर्जुनने फिर इस प्रकार कहा॥ १॥

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! दण्ड समस्त प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओरसे रक्षा करता है, सबके सो जानेपर भी दण्ड जागता रहता है; इसलिये विद्वान् पुरुषोंने दण्डको राजाका धर्म माना है॥ २॥

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥ ३ ॥

जनेश्वर! दण्ड ही धर्म और अर्थकी रक्षा करता है, वही कामका भी रक्षक है, अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है॥ ३॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वानुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम्॥ ४ ॥

दण्डसे धान्यकी रक्षा होती है, उसीसे धनकी भी रक्षा होती है; ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिये और जगत्‌के व्यवहारपर दृष्टि डालिये॥ ४॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ ५ ॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ ६ ॥

कितने ही पापी राजदण्डके भयसे पाप नहीं करते हैं। कुछ लोग यमदण्डके भयसे, कोई परलोकके भयसे और कितने ही पापी आपसमें एक दूसरेके भयसे पाप नहीं करते हैं। जगत्‌की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है; इसलिये सब कुछ दण्डमें ही प्रतिष्ठित है॥ ५-६॥

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ७ ॥

बहुत-से मनुष्य दण्डके ही भयसे एक दूसरेको खा नहीं जाते हैं, यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग घोर अन्धकारमें डूब जायँ॥ ७॥

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥ ८ ॥

यह उद्दण्ड मनुष्योंका दमन करता और दुष्टोंको दण्ड देता है, अतः उस दमन और दण्डके कारण ही विद्वान् पुरुष इसे दण्ड कहते हैं॥ ८॥

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मण अपराध करे तो वाणीसे उसको अपमानित करना ही उसका दण्ड है, क्षत्रियको भोजनमात्रके लिये वेतन देकर उससे काम लेना उसका दण्ड है, वैश्योंसे जुर्मानाके रूपमें धन वसूल करना उनका दण्ड है, परंतु शूद्र दण्डरहित कहा गया है। उससे सेवा लेनेके सिवा और कोई दण्ड उसके लिये नहीं है॥ ९॥

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते॥ १० ॥

प्रजानाथ! मनुष्योंको प्रमादसे बचाने और उनके धनकी रक्षा करनेके लिये लोकमें जो मर्यादा स्थापित की गयी है, उसीका नाम दण्ड है॥ १०॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत् साधु पश्यति॥ ११ ॥

दण्डनीयपर ऐसी जोरकी मार पड़ती है कि उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा जाता है; इसलिये दण्डको काला कहा गया है, दण्ड देनेवालेकी आँखें क्रोधसे लाल रहती हैं; इसलिये उसे लोहिताक्ष कहते हैं। ऐसा दण्ड जहाँ सर्वथा शासनके लिये उद्यत होकर विचरता रहता है और नेता या शासक अच्छी तरह अपराधोंपर दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती॥ ११॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्डके ही भयसे अपने-अपने मार्गपर स्थिर रहते हैं॥ १२॥

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति॥ १३ ॥

राजन्! बिना भयके कोई यज्ञ नहीं करता है, बिना भयके कोई दान नहीं करना चाहता है और दण्डका भय न हो तो कोई पुरुष मर्यादा या प्रतिज्ञाके पालनपर भी स्थिर नहीं रहना चाहता है॥ १३॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ १४ ॥

मछली मारनेवाले मल्लाहोंकी तरह दूसरोंके मर्मस्थानोंका उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियोंको मारे बिना कोई बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता॥

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत॥ १५ ॥

जो दूसरोंका वध नहीं करता, उसे इस संसारमें न तो कीर्ति मिलती है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही उपलब्ध होती है। इन्द्र वृत्रासुरका वध करनेसे ही महेन्द्र हो गये ॥ १५ ॥

य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम्।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥ १६ ॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥ १७ ॥
एतान् देवान् नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः।

जो देवता दूसरोंका वध करनेवाले हैं, उन्हींकी संसार अधिक पूजा करता है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुद्गण, साध्य तथा विश्वेदेव—ये सब देवता दूसरोंका वध करते हैं; इनके प्रतापके सामने नतमस्तक होकर सब लोग इन्हें नमस्कार करते हैं ॥ १६-१७½ ॥

न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथंचन ॥ १८ ॥
मध्यस्थान् सर्वभूतेषु दान्ताञ्शमपरायणान्।
यजन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ॥ १९ ॥

परंतु ब्रह्मा, धाता और पूषाकी कोई किसी तरह भी पूजा अर्चा नहीं करते हैं; क्योंकि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेके कारण मध्यस्थ, जितेन्द्रिय एवं शान्तिपरायण हैं। जो शान्त स्वभावके मनुष्य हैं, वे ही समस्त कर्मोंमें इन धाता आदिकी पूजा करते हैं ॥ १८-१९ ॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥ २० ॥

संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको मैं नहीं देखता, जो अहिंसासे जीविका चलाता हो; क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवोंद्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २० ॥

नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजञ्श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥ २१ ॥

राजन्! नेवला चूहेको खा जाता है और नेवलेको बिलाव, बिलावको कुत्ता और कुत्तेको चीता चबा जाता है ॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान् पश्य कालो यथागतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत् ॥ २२ ॥

परंतु इन सबको मनुष्य मारकर खा जाता है। देखो, कैसा काल आ गया है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्राणका अन्न है ॥ २२ ॥

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

यह सब दैवका विधान है। इसमें विद्वान् पुरुषको मोह नहीं होता है। राजेन्द्र! आपको विधाताने जैसा बनाया है, (जिस जाति और कुलमें आपको जन्म दिया है) वैसा ही आपको होना चाहिये ॥ २३ ॥

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥ २४ ॥

जिनमें क्रोध और हर्ष दोनों ही नहीं रह गये हैं, वे मन्दबुद्धि क्षत्रिय वनमें जाकर तपस्वी बन जाते हैं, परंतु बिना हिंसा किये वे भी जीवन-निर्वाह नहीं कर पाते हैं ॥ २४ ॥

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात् ॥ २५ ॥

जलमें बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वीपर तथा वृक्षके फलोंमें भी बहुत-से कीड़े होते हैं। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो इनमेंसे किसीको कभी न मारता हो। यह सब जीवन-निर्वाहके सिवा और क्या है? ॥ २५ ॥

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥ २६ ॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनिके जीव हैं, जो अनुमानसे ही जाने जाते हैं। मनुष्यकी पलकोंके गिरनेमात्रसे जिनके कंधे टूट जाते हैं (ऐसे जीवोंकी हिंसासे कोई कहाँ तक बच सकता है?) ॥ २६ ॥

ग्रामान् निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥ २७ ॥

कितने ही मुनि क्रोध और ईर्ष्यासे रहित हो गाँवसे निकलकर वनमें चले जाते हैं और वहीं मोहवश गृहस्थधर्ममें अनुरक्त दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान् पशून्।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च ॥ २८ ॥

मनुष्य धरतीको खोदकर तथा ओषधियों, वृक्षों, लताओं, पक्षियों और पशुओंका उच्छेद करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और वे स्वर्गमें भी चले जाते हैं ॥ २८ ॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन! दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग होनेपर समस्त प्राणियोंके सभी कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ २९ ॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ ३० ॥

यदि संसारमें दण्ड न रहे तो यह सारी प्रजा नष्ट हो जाय और जैसे जलमें बड़े मत्स्य छोटी मछलियोंको खा जाते हैं, उसी प्रकार प्रबल जीव दुर्बल जीवोंको अपना आहार बना लें ॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं
दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः
संतर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने पहले ही इस सत्यको बता दिया है कि अच्छी तरह प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड प्रजाजनोंकी रक्षा करता है। देखो, जब आग बुझने लगती है, तब वह फूँककी फटकार

पड़नेपर डर जाती और दण्डके भयसे फिर प्रज्वलित हो उठती है ॥ ३१ ॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्राज्ञायत किंचन ।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३२ ॥

यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला दण्ड न हो तो सब जगह अंधेर मच जाय और किसीको कुछ सूझ न पड़े ॥ ३२ ॥

येऽपि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः ॥ ३३ ॥

जो धर्मकी मर्यादा नष्ट करके वेदोंकी निन्दा करनेवाले नास्तिक मनुष्य हैं, वे भी डंडे पड़नेपर उससे पीड़ित हो शीघ्र ही राहपर आ जाते हैं—मर्यादा-पालनके लिये तैयार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः ।
दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥ ३४ ॥

सारा जगत् दण्डसे विवश होकर ही रास्तेपर रहता है; क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्डके भयसे डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालनमें प्रवृत्त होता है ॥ ३४ ॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम्॥ ३५ ॥

विधाताने दण्डका विधान इस उद्देश्यसे किया है कि चारों वर्णोंके लोग आनन्दसे रहें, सबमें अच्छी नीतिका बर्ताव हो तथा पृथ्वीपर धर्म और अर्थकी रक्षा रहे ॥ ३५ ॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च ।
अद्युः पशून् मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥

यदि पक्षी और हिंसक जीव दण्डके भयसे डरते न होते तो वे पशुओं, मनुष्यों और यज्ञके लिये रक्खे हुए हविष्योंको खा जाते ॥ ३६ ॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते ।
न कन्योद्वहनं गच्छेद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥

यदि दण्ड मर्यादाकी रक्षा न करे तो ब्रह्मचारी वेदोंके अध्ययनमें न लगे, सीधी गौ भी दूध न दुहावे और कन्या ब्याह न करे ॥ ३७ ॥

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो चारों ओरसे धर्म-कर्मका लोप हो जाय, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और लोग यह भी न जानें कि कौन वस्तु मेरी है और कौन नहीं ?

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥

यदि दण्ड धर्मका पालन न करावे तो विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त संवत्सरयज्ञ भी बेखटके न होने पावे ॥

चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः ।
न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४० ॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो लोग आश्रमोंमें रहकर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धर्मका पालन न करें और कोई विद्या भी न पढ़ सके ॥ ४० ॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥

यदि दण्ड कर्तव्यका पालन न करावे तो ऊँट, बैल, घोड़े, खच्चर और गदहे रथोंमें जोत दिये जानेपर भी उन्हें ढोकर ले न जायँ ॥ ४१ ॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित् ।
न तिष्ठेद् युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४२ ॥

यदि दण्ड धर्म और कर्तव्यका पालन न करावे तो सेवक स्वामीकी बात न माने, बालक भी कभी माँ-बापकी आज्ञाका पालन न करें और युवती स्त्री भी अपने सतीधर्ममें स्थिर न रहे ॥ ४२ ॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ॥ ४३ ॥

दण्डपर ही सारी प्रजा टिकी हुई है, दण्डसे ही भय होता है, ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है । मनुष्योंका इहलोक और स्वर्गलोक दण्डपर ही प्रतिष्ठित है ॥ ४३ ॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि दृश्यते ।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥ ४४ ॥

जहाँ शत्रुओंका विनाश करनेवाला दण्ड सुन्दर ढंगसे संचालित हो रहा है, वहाँ छल, पाप और ठगी भी नहीं देखनेमें आती है ॥ ४४ ॥

हविः श्वा प्रलिहेद् दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् ।
हरेत् काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४५ ॥

यदि दण्ड रक्षाके लिये सदा उद्यत न रहे तो कुत्ता हविष्यको देखते ही चाट जाय और यदि दण्ड रक्षा न करे तो कौआ पुरोडाशको उठा ले जाय ॥ ४५ ॥

यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः ।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुङ्क्ष्व भोगान् यजस्व च॥ ४६ ॥

यह राज्य धर्मसे प्राप्त हुआ हो या अधर्मसे, इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये । आप भोग भोगिये और यज्ञ कीजिये ॥ ४६ ॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः ।
संवर्षन्तः फलैर्दानैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाले धनवान् पुरुष सुखपूर्वक धर्मका आचरण करते हैं और उत्तम अन्न भोजन करते हुए फलों और दानोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः ।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥ ४८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि सारे कार्य धनके अधीन हैं, परंतु धन दण्डके अधीन है। देखिये, दण्डकी कैसी महिमा है ? ॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।
अहिंसासाधुहिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥ ४९ ॥

लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। सर्वथा हिंसा न की जाय अथवा दुष्टकी हिंसा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होनेपर जिसमें धर्मकी रक्षा हो, वही कार्य श्रेष्ठ मानना चाहिये * ॥ ४९ ॥

नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम्।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥ ५० ॥

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें सर्वथा गुण-ही-गुण हो। ऐसी भी वस्तु नहीं है जो सर्वथा गुणोंसे वञ्चित ही हो। सभी कार्योंमें अच्छाई और बुराई दोनों ही देखनेमें आती हैं॥

पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति वहवो भारान् वध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥

बहुत-से मनुष्य पशुओं (बैलों) का अण्डकोश काटकर फिर उसके मस्तकपर उगे हुए दोनों सींगोंको भी विदीर्ण कर देते हैं, जिससे वे अधिक बढ़ने न पावें। फिर उनसे भार ढुलाते हैं, उन्हें घरमें बाँधे रखते हैं और नये बच्चेको गाड़ी आदिमें जोतकर उसका दमन करते हैं—उनकी उद्दण्डता दूर करके उनसे काम करनेका अभ्यास कराते हैं॥

एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥

महाराज ! इस प्रकार सारा जगत् मिथ्या व्यवहारोंसे आकुल और दण्डसे जर्जर हो गया है। आप भी उन्हीं-उन्हीं न्यायोंका अनुसरण करके प्राचीन धर्मका आचरण कीजिये ॥

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ ५३ ॥

यज्ञ कीजिये, दान दीजिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और धर्मका निरन्तर पालन करते रहिये। कुन्तीनन्दन ! आप शत्रुओंका वध और मित्रोंका पालन कीजिये ॥ ५३ ॥

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किंचित् कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

राजन् ! शत्रुओंका वध करते समय आपके मनमें दीनता नहीं आनी चाहिये। भारत ! शत्रुओंका वध करनेसे कर्ताको कोई पाप नहीं लगता ॥ ५४ ॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥ ५५ ॥

जो हाथमें हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायीको जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, उससे वह भ्रूण-हत्याका भागी नहीं होता; क्योंकि मारनेके लिये आये हुए उस मनुष्यका क्रोध ही उसका वध करनेवालेके मनमें भी क्रोध पैदा कर देता है ॥ ५५ ॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्यचित् ॥ ५६ ॥

समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा अवध्य है, इसमें संशय नहीं है। जब आत्माका वध हो ही नहीं सकता, तब वह किसीका वध्य कैसे होगा ? ॥ ५६ ॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

जैसे मनुष्य बारंबार नये घरोंमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न शरीरोंको ग्रहण करता है। पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंको अपना लेता है। इसीको तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्युका मुख बताते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

भीमसेनका राजाको भुक्त दुःखोंकी स्मृति कराते हुए मोह छोड़कर मनको काबूमें करके राज्यशासन और यज्ञके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनकी बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेनने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाईसे कहा—॥ १ ॥

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥ २ ॥

'राजन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हमलोग आपसे सदा ही सदाचारकी शिक्षा पाते हैं। हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते ॥ २ ॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।

* यदि गोशालामें बाघ आ जाय तो उसकी हिंसा ही उचित होगी, क्योंकि उसका वध न करनेसे कितनी ही गौओंकी हिंसा हो जायगी। अतः 'आर्त-रक्षा' रूप धर्मकी सिद्धिके लिये उस हिंसक प्राणीका वध ही वहाँ श्रेयस्कर होगा।

अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥

'जनेश्वर ! मैंने कई बार मनमें निश्चय किया कि 'अब नहीं बोलूँगा, नहीं बोलूँगा;' परंतु अधिक दुःख होनेके कारण बोलना ही पड़ता है। आप मेरी बात सुनें ॥ ३ ॥

भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम्।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥

'आपके इस मोहसे सब कुछ संशयमें पड़ गया है। हमारे तन-मनमें व्याकुलता और निर्बलता प्राप्त हो गयी है ॥

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः।
मोहमापद्यसे दैन्याद् यथा कापुरुषस्तथा ॥ ५ ॥

'आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और इस जगत्के राजा होकर क्यों कायर मनुष्यके समान दीनतावश मोहमें पड़े हुए हैं ॥ ५ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'आपको संसारकी गति और अगति दोनोंका ज्ञान है। प्रभो ! आपसे न तो वर्तमान छिपा है और न भविष्य ही ॥ ६ ॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥

'महाराज ! जनेश्वर ! ऐसी स्थितिमें आपको राज्यके प्रति आकृष्ट करनेका जो कारण है, उसे ही यहाँ बता रहा हूँ। आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ ७ ॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते ॥ ८ ॥

'मनुष्यको दो प्रकारकी व्याधियाँ होती हैं—एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। इन दोनोंकी उत्पत्ति एक दूसरेके आश्रित है। एकके बिना दूसरीका होना सम्भव नहीं है ॥

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥

'कभी शारीरिक व्याधिसे मानसिक व्याधि होती है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार कभी मानसिक व्याधिसे शारीरिक व्याधिका होना भी निश्चित ही है ॥ ९ ॥

शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति ॥ १० ॥

'जो मनुष्य बीते हुए मानसिक अथवा शारीरिक दुःखके लिये बारंबार शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥

'सर्दी, गर्मी और वायु (कफ, पित्त और वात) ये तीन शारीरिक गुण हैं। इन गुणोंका साम्यावस्थामें रहना ही स्वस्थताका लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥

'उन तीनोंमेंसे यदि किसी एककी वृद्धि हो जाय तो उसकी चिकित्सा बतायी जाती है। उष्ण द्रव्यसे सर्दी और शीत पदार्थसे गर्मीका निवारण होता है ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ १३ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन मानसिक गुण हैं। इन तीनों गुणोंका सम अवस्थामें रहना मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १४ ॥

'इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उपचार बताया जाता है। हर्ष (सत्त्व) के द्वारा शोक (रजोगुण) का निवारण होता है और शोकके द्वारा हर्षका ॥ १४ ॥

कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १५ ॥

'कोई सुखमें रहकर दुःखकी बातें याद करना चाहता है और कोई दुःखमें रहकर सुखका स्मरण करना चाहता है॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥ १६ ॥
स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम्।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे ॥ १७ ॥

'कुरुनन्दन ! परंतु आप न दुखी होकर दुःखकी, न सुखी होकर सुखकी, न दुःखकी अवस्थामें सुखकी और न सुखकी अवस्थामें दुःखकी ही बातें याद करना चाहते हैं; क्योंकि भाग्य बड़ा प्रबल होता है अथवा महाराज ! आपका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे आप क्लेश उठाकर रहते हैं ॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'कौरव-सभामें पाण्डुपुत्रोंके देखते-देखते जो एक वस्त्रधारिणी रजस्वला कृष्णाको लाया गया था, उसे आपने अपनी आँखों देखा था। क्या आपको उस घटनाका स्मरण नहीं होना चाहिये ? ॥ १८ ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'आप नगरसे निकाले गये, आपको मृगछाला पहनाकर वनवास दे दिया गया और बड़े-बड़े जङ्गलोंमें आपको रहना पड़ा। क्या इन सब बातोंको आप याद नहीं कर सकते ? ॥

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम्।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥ २० ॥

'जटासुरसे जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेनके साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिंधुराज जयद्रथके कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी बातें आप कैसे भूल गये ? ॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम्।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥ २१ ॥

'फिर अज्ञातवासके समय कीचकने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदीको लात मारी थी, उस घटनाको आपने सहसा कैसे भुला दिया ? ॥ २१ ॥

(बलिनो हि वयं राजन् देवैरपि सुदुर्जयाः।
कथं भृत्यत्वमापन्ना विराटनगरे स्मर ॥)

'राजन् ! हम बलवान् हैं, देवताओंके लिये भी हमें परास्त करना कठिन होगा तो भी विराटनगरमें हमें कैसे दासता करनी पड़ी थी, इसे याद कीजिये ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको एकमात्र अपने मनके साथ युद्ध करना है ॥ २२ ॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

'इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है, न मित्रों और बन्धुओंकी सहायताका। अकेले आपको ही लड़ना है। वह युद्ध आपके सामने उपस्थित है ॥ २३ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥ २४ ॥

'इस युद्धमें विजय पाये बिना यदि आप प्राणोंका परित्याग कर देंगे तो दूसरा देह धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओंके साथ आपको युद्ध करना पड़ेगा ॥ २४ ॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्धस्यस्व भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥ २५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले साकार शत्रुको छोड़कर अव्यक्त (सूक्ष्म) शत्रु मनके साथ युद्ध करनेके लिये आपको अभी चल देना चाहिये; विचार आदि अपनी बौद्धिक क्रियाओंद्वारा उसके साथ आप अवश्य युद्ध करें ॥ २५ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २६ ॥

'महाराज ! यदि युद्धमें आपने मनको परास्त नहीं किया तो पता नहीं, आप किस अवस्थाको पहुँच जायँगे ? और यदि मनको जीत लिया तो अवश्य कृतकृत्य हो जायँगे ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ २७ ॥

'प्राणियोंके आवागमनको देखते हुए इस विचारधाराको बुद्धिमें स्थिर करके आप पिता-पितामहोंके आचारमें प्रतिष्ठित हो यथोचित रूपसे राज्यका शासन कीजिये ॥ २७ ॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि।
द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥ २८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि पापी दुर्योधन सेवकोंसहित युद्धमें मारा गया और सौभाग्यसे ही आप दुःशासनके हाथसे मुक्त हुए द्रौपदीके केशपाशकी भाँति युद्धसे छुटकारा पा गये ॥ २८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करें। हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमवाक्यविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भीमकी बातका विरोध करते हुए मुनिवृत्तिकी और ज्ञानी महात्माओंकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

असंतोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥ १ ॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसे।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! असंतोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान तथा उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, इसीलिये तुम्हें राज्यकी इच्छा होती है। भाई ! सकाम कर्म और बन्धनसे* रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ ॥ १-२ ॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥

जो सम्राट् इस सारी पृथ्वीका अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी एक ही पेट होता है; अतः तुम किसलिये इस राज्यकी प्रशंसा करते हो ? ॥ ३ ॥

नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस इच्छाको एक दिनमें या कई महीनोंमें भी पूर्ण नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, सारी आयु प्रयत्न करनेपर भी इस अपूरणीय इच्छाकी पूर्ति होनी असम्भव है ॥ ४ ॥

* आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ॥ ५ ॥

जैसे आगमें जितना ही ईंधन डालो, वह प्रज्वलित होती जायगी और ईंधन न डाला जाय तो वह अपने-आप बुझ जाती है । इसी प्रकार तुम भी अपना आहार कम करके इस जगी हुई जठराग्निको शान्त करो ॥ ५ ॥

आत्मोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥ ६ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपने पेटके लिये ही बहुत हिंसा करता है; अतः तुम पहले अपने पेटको ही जीतो । फिर ऐसा समझा जायगा कि इस जीती हुई पृथ्वीके द्वारा तुमने कल्याणपर विजय पा ली है ॥ ६ ॥

मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

भीमसेन ! तुम मनुष्योंके कामभोग और ऐश्वर्यकी बड़ी प्रशंसा करते हो; परंतु जो भोगरहित हैं और तपस्या करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पदको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ ।
मुच्यस्व महतो भारात् त्यागमेवाभिसंश्रय ॥ ८ ॥

राष्ट्रके योग और क्षेम, धर्म तथा अधर्म सब तुममें ही स्थित हैं । तुम इस महान् भारसे मुक्त हो जाओ और त्यागका ही आश्रय लो ॥ ८ ॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु ।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः ॥ ९ ॥

बाघ एक ही पेटके लिये बहुत-से प्राणियोंकी हिंसा करता है, दूसरे लोभी और मूर्ख पशु भी उसीके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ९ ॥

विषयान् प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुरुते यतिः ।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ १० ॥

यत्नशील साधक विषयोंका परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, तो वह संतुष्ट हो जाता है; परंतु विषयभोगोंसे सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी संतुष्ट नहीं होते । देखो, इन दोनोंके विचारोंमें कितना अन्तर है ? ॥ १० ॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥ ११ ॥

जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं, जो पत्थरपर पीसकर अथवा दाँतोंसे ही चबाकर भोजन करनेवाले हैं (अर्थात् जो चक्कीका पीसा और ओखलीका कूटा नहीं खाते हैं) तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषोंने ही नरकपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः ।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥ १२ ॥

जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोनेको समान समझनेवाला है—इन दोनोंमेंसे वह त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं ।

संकल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १३ ॥

अपने मनोरथोंके पीछे बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करो, आशा तथा ममता न रक्खो और उस शोकरहित पदका आश्रय लो, जो इहलोक और परलोकमें भी अविनाशी है ॥

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम् ।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात् प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे तो कभी शोक नहीं करते हैं; फिर तुम क्यों भोगोंकी चिन्ता करते हो ? सारे भोगोंका परित्याग कर देनेपर तुम मिथ्यावादसे छूट जाओगे॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥ १५ ॥

देवयान और पितृयान—ये दो परलोकके प्रसिद्ध मार्ग हैं । जो सकाम यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं, वे पितृयानसे जाते हैं और मोक्षके अधिकारी देवयानमार्गसे ॥ १५ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १६ ॥

महर्षिगण तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्यायके बलसे देहत्यागके पश्चात् ऐसे लोकमें पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है ॥ १६ ॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम् ॥ १७ ॥

इस जगत्में ममता और आसक्तिके बन्धनको आमिष कहा गया है । सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है । इन दोनों आमिषस्वरूप पापोंसे जो मुक्त हो गया है, वही परमपदको प्राप्त होता है॥

अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १८ ॥

इस विषयमें पूर्वकालमें राजा जनककी कही हुई एक गाथाका लोग उल्लेख किया करते हैं । राजा जनक समस्त द्वन्द्वोंसे रहित और जीवन्मुक्त पुरुष थे । उन्होंने मोक्षस्वरूप परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया था ॥ १८ ॥

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ १९ ॥

(उनकी वह गाथा इस प्रकार है—) दूसरोंकी दृष्टिमें मेरे पास बहुत धन है; परंतु उसमेंसे कुछ भी मेरा नहीं है । सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा ॥ १९ ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यञ्शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥ २० ॥

जैसे पर्वतकी चोटीपर चढ़ा हुआ मनुष्य धरतीपर खड़े

हुए प्राणियोंको केवल देखता है, उनकी परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़ा हुआ मनुष्य उन शोक करनेवाले मन्दबुद्धि लोगोंको देखता है, किंतु स्वयं उनकी भाँति दुखी नहीं होता ॥ २० ॥

दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात् सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते ॥ २१ ॥

जो स्वयं द्रष्टारूपसे पृथक् रहकर इस दृश्यप्रपञ्चको देखता है, वही आँखवाला है और वही बुद्धिमान् है । अज्ञात तत्त्वोंका ज्ञान एवं सम्यग् बोध करानेके कारण अन्तःकरण-की एक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं ॥ २१ ॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै ।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २२ ॥

जो ब्रह्मभावको प्राप्त हुए शुद्धात्मा विद्वानोंका-सा बोलना जान लेता है, उसे अपने ज्ञानपर बड़ा अभिमान हो जाता है (जैसे कि तुम हो) ॥ २२ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २३ ॥

जब पुरुष प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको एकमात्र परमात्मामें ही स्थित देखता है और उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् और तपस्वी ही उस गतिको प्राप्त होते हैं । जो अज्ञानी, मन्दबुद्धि, शुद्धबुद्धिसे रहित और तपस्यासे शून्य हैं, वे नहीं; क्योंकि सब कुछ बुद्धिमें ही प्रतिष्ठित है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा जनक और उनकी रानीका दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिरको संन्यास ग्रहण करनेसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णीम्भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
संतप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्छल्यपीडितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा युधिष्ठिर ऐसा कहकर चुप हो गये, तब राजाके वाग्बाणोंसे पीड़ित हो शोक और दुःखसे संतप्त हुए अर्जुन फिर उनसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—भारत ! विज्ञ पुरुष विदेहराज जनक और उनकी रानीका संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम् ।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत ॥ ३ ॥

एक समय राजा जनकने भी राज्य छोड़कर भिक्षासे जीवन-निर्वाह कर लेनेका निश्चय कर लिया था । उस समय विदेहराजकी महारानीने दुखी होकर जो कुछ कहा था, वही आपको सुना रहा हूँ ॥ ३ ॥

धनान्यपत्यं दारांश्च रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः ॥ ४ ॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिंचनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः ॥ ६ ॥

कहते हैं, एक दिन राजा जनकपर मूढ़ता छा गयी और वे धन, संतान, स्त्री, नाना प्रकारके रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्रका भी त्याग करके अकिंचन हो गये । उन्होंने भिक्षु-वृत्ति अपना ली और वे मुट्ठीभर भुना हुआ जौ खाकर रहने लगे । उन्होंने सब प्रकारकी चेष्टाएँ छोड़ दीं । उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं रह गया था । इस प्रकार निर्भय स्थितिमें पहुँचे हुए अपने स्वामीको उनकी भार्याने देखा और उनके पास आकर कुपित हुई उस मनस्विनी एवं प्रिय रानीने एकान्तमें यह युक्तियुक्त बात कही—॥४–६॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपने धन-धान्यसे सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगनेका धंधा कैसे अपना लिया ? यह मुट्ठीभर जौ आपको शोभा नहीं दे रहा है ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है । भूपाल ! आपने विशाल राज्य छोड़कर थोड़ी-सी वस्तुमें संतोष कर लिया ॥ ८ ॥

नैतेनातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा ।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस मुट्ठीभर जौसे देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियोंका आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ है ॥ ९ ॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव ।

सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १० ॥

'पृथ्वीनाथ ! आप सम्पूर्ण देवताओं, अतिथियों और पितरोंसे परित्यक्त होकर अकर्मण्य हो घर छोड़ रहे हैं॥१०॥

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः ।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि॥ ११ ॥

'तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े सहस्रों ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत्‌का भरण-पोषण करनेवाले होकर भी आज आप उन्हींके द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं ॥ ११ ॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे ।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥

'इस जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर इस समय आप दर-दर भटकनेवाले कुत्तेके समान दिखायी देते हैं। आज आपके जीते-जी आपकी माता पुत्रहीन और यह अभागिनी कौशल्या पतिहीन हो गयी ॥ १२ ॥

अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते ।
त्वदाशामभिकाङ्क्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १३ ॥

'ये धर्मकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय जो सदा आपकी सेवामें बैठे रहते हैं, आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, इन बेचारोंको सेवाका फल चाहिये ॥ १३ ॥

तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥

'राजन् ! मोक्षकी प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं, ऐसी दशामें उन अर्थार्थी सेवकोंको यदि आप विफल-मनोरथ करते हैं तो पता नहीं, किस लोकमें जायँगे ?

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः ।
धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् १५

'आप अपनी धर्मपत्नीका परित्याग करके जो अकेला जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा, न परलोक ॥ १५ ॥

स्रजो गन्धानलंकारान् वासांसि विविधानि च।
किमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १६ ॥

'बताइये तो सही, इन सुन्दर-सुन्दर मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंको छोड़कर किसलिये कर्महीन होकर घरका परित्याग कर रहे हैं ? ॥१६॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत् ।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये पवित्र एवं विशाल प्याऊके समान थे—सभी आपके पास अपनी प्यास बुझाने आते थे। आप फलोंसे भरे हुए वृक्षके समान थे—कितने ही प्राणियोंकी भूख मिटाते थे, परंतु वे ही आप अब (भूख-प्यास मिटानेके लिये) दूसरोंका मुँह जोह रहे हैं ॥ १७ ॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत ।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम् ॥ १८ ॥

'यदि हाथी भी सारी चेष्टा छोड़कर एक जगह पड़ जाय तो मांसभक्षी जीव-जन्तु और कीड़े धीरे-धीरे उसे खा जाते हैं, फिर सब पुरुषार्थोंसे शून्य आप-जैसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत् तस्मिन् कथं ते मानसं भवेत्॥ १९ ॥

'यदि आपकी कोई यह कुण्डी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले जाय और ये वस्त्र भी चुरा ले जाय तो उस समय आपके मनकी कैसी अवस्था होगी ? ॥ १९ ॥

यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः ।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे ॥ २० ॥

'यदि सब कुछ छोड़कर भी आप मुट्ठीभर जौके लिये दूसरोंकी कृपा चाहते हैं तो राज्य आदि अन्य सब वस्तुएँ भी तो इसीके समान हैं, फिर उस राज्यके त्यागकी क्या विशेषता रही ? ॥ २० ॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति ।
का वाहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः ॥ २१ ॥

'यदि यहाँ मुट्ठीभर जौकी आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देनेकी जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जानेपर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं तथा आपका मुझपर अनुग्रह भी क्या है ? ॥ २१ ॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत् ।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वीका शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणोंको भी उपयोगमें लाइये ॥ २२ ॥

श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः ।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥२३॥

'श्रीहीन, निर्धन, मित्रोंद्वारा त्यागे हुए, अकिंचन एवं सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंकी भाँति सब प्रकारसे परिपूर्ण राजलक्ष्मीका जो परित्याग करता है उससे उसे क्या लाभ ? ॥ २३ ॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद् यश्च दद्यात् सदैव हि ।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते ॥ २४ ॥

'जो बराबर दूसरोंसे दान लेता (भिक्षा ग्रहण करता) तथा जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनोंमें क्या अन्तर है और उनमेंसे किसको श्रेष्ठ कहा जाता है ? यह आप समझिये॥ २४ ॥

सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च ।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २५ ॥

'सदा ही याचना करनेवालेको और दम्भीको दी हुई

दक्षिणा दावानलमें दी गयी आहुतिके समान व्यर्थ है॥ २५ ॥

जातवेदा यथा राजन् नादग्ध्वैवोपशाम्यति।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति न द्विजः॥ २६॥

'राजन्! जैसे आग लकड़ीको जलाये बिना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करनेवाला ब्राह्मण (याचनाका अन्त किये बिना) कभी शान्त नहीं हो सकता॥ २६॥

सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिर्ध्रुवा।
न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः॥२७॥

'इस संसारमें दाताका अन्न ही साधु-पुरुषोंकी जीविकाका निश्चित आधार है। यदि दान करनेवाला राजा न हो तो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले साधु-संन्यासी कैसे जी सकते हैं?॥ २७॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥ २८॥

'इस जगत्‌में अन्नसे गृहस्थ और गृहस्थोंसे भिक्षुओंका निर्वाह होता है। अन्नसे प्राणशक्ति प्रकट होती है; अतः अन्नदाता प्राणदाता होता है॥ २८॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥ २९॥

'जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ-आश्रमसे अलग होकर भी गृहस्थोंके ही सहारे जीवन धारण करते हैं। वहींसे वह प्रकट होते हैं और वहीं उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है॥ २९॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात्।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति नसुखं विद्धि भिक्षुकम्॥ ३०॥

'केवल त्यागसे, मूढ़तासे और याचना करनेसे किसीको भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरलभावसे स्वार्थका त्याग करता है और सुखमें आसक्त नहीं होता, उसे ही भिक्षु समझिये॥ ३०॥

असक्तः सक्तवद् गच्छन् निःसङ्गो मुक्तबन्धनः।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते॥ ३१॥

'पृथ्वीनाथ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्तकी भाँति विचरता है, जो संगरहित एवं सब प्रकारके बन्धनोंको तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्रमें जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है॥ ३१॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम्॥ ३२॥

'बहुत-से मनुष्य दान लेने (पेट पालने) के लिये मूड़ मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और घरसे निकल जाते हैं। वे नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधे होनेके कारण व्यर्थ भोगोंकी ही खोज करते रहते हैं *॥ ३२॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः॥ ३३॥

'बहुत-से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदोंके अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रोंका परित्याग करके चल देते हैं और त्रिदण्ड एवं भगवा वस्त्र धारण कर लेते हैं॥ ३३॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः॥ ३४॥

'यदि हृदयका कषाय (राग आदि दोष) दूर न हुआ हो तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधनकी चेष्टाके लिये ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्मका ढोंग रखनेवाले मथमुंडोंके लिये यह जीविका चलानेका एक धंधामात्र है॥ ३४॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान्।
बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः॥३५॥

'महाराज! आप तो जितेन्द्रिय होकर नंगे रहनेवाले, मूड़ मुड़ाने और जटा रखानेवाले साधुओंका गेरुआ वस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रोंके द्वारा भरण-पोषण करते हुए पुण्य-लोकोंपर विजय प्राप्त कीजिये॥ ३५॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान्।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः॥ ३६॥

'जो प्रतिदिन पहले गुरुके लिये अग्निहोत्रार्थ समिधा लाता है; फिर उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ एवं दान करता रहता है, उससे बढ़कर धर्मपरायण कौन होगा?'॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते।
सोऽप्यासीन्मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः॥ ३७॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! राजा जनकको इस जगत्‌में 'तत्त्वज्ञ' कहा जाता है; किंतु वे भी मोहमें पड़ गये थे। (रानीके इस तरह समझानेपर राजाने संन्यासका विचार छोड़ दिया। अतः) आप भी मोहके वशीभूत न होइये॥ ३७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः॥ ३८॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः।
इष्टाँल्लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः॥ ३९॥

यदि हमलोग सदा दान और तपस्यामें तत्पर हो इसी प्रकार धर्मका अनुसरण करेंगे, दया आदि गुणोंसे सम्पन्न रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोषोंको त्याग देंगे, उत्तम दान-धर्मका आश्रय ले प्रजापालनमें लगे रहेंगे तथा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहेंगे तो हम अपने अभीष्ट लोक प्राप्त कर लेंगे॥ ३८-३९॥

देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः॥ ४०॥

* इसी पर्वमें अध्याय १७ श्लोक १७ देखना चाहिये।

इसी प्रकार देवता, अतिथि और समस्त प्राणियोंको विधिपूर्वक उनका भाग अर्पण करते हुए यदि हम ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी बने रहेंगे तो हमें अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनका वाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने मतकी यथार्थताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च ।
उभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! मैं धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले अपर तथा पर दोनों प्रकारके शास्त्रोंको जानता हूँ । वेदमें दोनों प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं—'कर्म करो और कर्म छोड़ो'—इन दोनोंका ही मुझे ज्ञान है ॥ १ ॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च ।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥

परस्परविरोधी भावोंसे युक्त जो शास्त्र-वाक्य हैं, उनपर भी मैंने युक्तिपूर्वक विचार किया है । वेदमें उन दोनों प्रकारके वाक्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त है, उसे भी मैं विधिपूर्वक जानता हूँ ॥ २ ॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः ।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥

तुम तो केवल अस्त्रविद्याके पण्डित हो और वीरव्रतका पालन करनेवाले हो । शास्त्रोंके तात्पर्यको यथार्थरूपसे जाननेकी शक्ति तुममें किसी प्रकार नहीं है ॥ ३ ॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः ।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

जो लोग शास्त्रोंके सूक्ष्म रहस्यको समझनेवाले हैं और धर्मका निर्णय करनेमें कुशल हैं, वे भी मुझे इस प्रकार उपदेश नहीं दे सकते । यदि तुम धर्मपर दृष्टि रखते हो तो मेरे इस कथनकी यथार्थताका अनुभव करोगे ॥ ४ ॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया ।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥ ५ ॥

अर्जुन ! कुन्तीनन्दन ! तुमने भ्रातृस्नेहवश जो बात कही है, वह न्यायसङ्गत और उचित है। मैं उससे तुमपर प्रसन्न ही हुआ हूँ ॥ ५ ॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च ।
न त्वया सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण युद्धधर्मोंमें और संग्राम करनेकी कुशलतामें तुम्हारी समानता करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई नहीं है ॥ ६ ॥

धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया ।
धनंजय न मे बुद्धिमभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ७ ॥

धनंजय ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध कहा गया है । उसमें तुम्हारा प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है । मेरी बुद्धि भी उसे समझती है या नहीं, यह आशङ्का तुम्हें नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ ८ ॥

तुम युद्धशास्त्रके ही विद्वान् हो, तुमने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है, अतः संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मको जाननेवाले उन महापुरुषोंका क्या सिद्धान्त है, इसका तुम्हें पता नहीं है ॥ ८ ॥

तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम् ।
परं परं ज्याय एषां येषां नैःश्रेयसी मतिः ॥ ९ ॥

जिन महानुभावोंकी बुद्धि परम कल्याणमें लगी हुई है, उन बुद्धिमानोंका निर्णय इस प्रकार है । तपस्या, त्याग और विधिविधानसे अतीत (ब्रह्मज्ञान) इनमेंसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत् प्रधानतः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम जो यह मानते हो कि धनसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें ऐसी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारी समझमें आ जायगा कि धन प्रधान नहीं है ॥ १० ॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः ।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥

इस जगत्में बहुत-से तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए धर्मात्मा पुरुष देखे जाते हैं तथा ऋषि तो तपस्वी होते ही हैं। इन सबको सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

अजातशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः ।
अरण्ये बहवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ १२ ॥

कितने ही ऐसे धीर पुरुष हैं, जिनके शत्रु पैदा ही नहीं हुए । ये तथा और भी बहुत-से वनवासी हैं, जो वनमें स्वाध्याय करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात् ।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥

बहुत-से आर्य पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर

अविवेकजनित अज्ञानका त्याग करके उत्तरमार्ग (देवयान) के द्वारा त्यागी पुरुषोंके लोकोंमें चले गये ॥ १३ ॥

दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते ।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥

इसके सिवा जो दक्षिण मार्ग है, जिसे प्रकाशपूर्ण बताया गया है, वहाँ जो लोक हैं, वे सकाम कर्म करनेवाले उन गृहस्थोंके लिये हैं, जो श्मशानभूमिका सेवन करते हैं (जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं) ॥ १४ ॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्माद् योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥

परंतु मोक्ष-मार्गसे चलनेवाले पुरुष जिस गतिका साक्षात्कार करते हैं, वह अनिर्देश्य है; अतः ज्ञानयोग ही सब साधनोंमें प्रधान एवं अभीष्ट है, किंतु उसके स्वरूपको समझना बहुत कठिन है ॥ १५ ॥

अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीह स्यादपीह स्यात् सारासारदिदृक्षया ॥ १६ ॥

कहते हैं, किसी समय विद्वान् पुरुषोंने सार और असार वस्तुका निर्णय करनेकी इच्छासे इकट्ठे होकर समस्त शास्त्रोंका बार-बार स्मरण करते हुए यह विचार आरम्भ किया कि क्या इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कुछ सार है या इसके त्यागमें सार है ? ॥ १६ ॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते ॥ १७ ॥

उन्होंने वेदोंके सम्पूर्ण वाक्यों तथा शास्त्रों और बृहदारण्यक आदि वेदान्तग्रन्थोंको भी पढ़ लिया, परंतु जैसे केलेके खम्भेको फाड़नेसे कुछ सार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार उन्हें इस जगत्‌में सार वस्तु नहीं दिखायी दी ॥ १७ ॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥

कुछ लोग एकान्तभावका परित्याग करके इस पाञ्चभौतिक शरीरमें विभिन्न संकेतोंद्वारा इच्छा, द्वेष आदिमें आसक्त आत्माकी स्थिति बताते हैं ॥ १८ ॥

अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥ १९ ॥

परंतु आत्माका स्वरूप तो अत्यन्त सूक्ष्म है । उसे नेत्रोंद्वारा देखा नहीं जा सकता, वाणीद्वारा उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता । वह समस्त प्राणियोंमें कर्मकी हेतुभूत अविद्याको आगे रखकर—उसीके द्वारा अपने स्वरूपको छिपाकर विद्यमान है ॥ १९ ॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसंततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥

अतः (मनुष्यको चाहिये कि) मनको कल्याणके मार्गमें लगाकर तृष्णाको रोके और कर्मोंकी परम्पराका परित्याग करके धन-जन आदिके अवलम्बसे दूर हो सुखी हो जाय ॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिसे जाननेयोग्य एवं साधु पुरुषोंसे सेवित इस उत्तम मार्गके रहते हुए तुम अनर्थोंसे भरे हुए अर्थ (धन) की प्रशंसा कैसे करते हो ? ॥ २१ ॥

पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! दान, यज्ञ तथा अतिथिसेवा आदि अन्य कर्मोंमें नित्य लगे रहनेवाले प्राचीन शास्त्रज्ञ भी इस विषयमें ऐसी ही दृष्टि रखते हैं ॥ २२ ॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।
दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीतिवादिनः ॥ २३ ॥

कुछ तर्कवादी पण्डित भी अपने पूर्वजन्मके दृढ़ संस्कारोंसे प्रभावित होकर ऐसे मूढ़ हो जाते हैं कि उन्हें शास्त्रके सिद्धान्तको ग्रहण कराना अत्यन्त कठिन हो जाता है । वे आग्रहपूर्वक यही कहते रहते हैं कि 'यह (आत्मा, धर्म, परलोक, मर्यादा आदि) कुछ नहीं है' ॥ २३ ॥

अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥

किंतु बहुत-से ऐसे बहुश्रुत, बोलनेमें चतुर और विद्वान् भी हैं, जो जनताकी सभामें व्याख्यान देते और उपर्युक्त असत्य मतका खण्डन करते हुए सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ २४ ॥

पार्थ यान्न विजानीमः कस्ताञ्ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः ॥ २५ ॥

पार्थ ! जिन विद्वानोंको हम नहीं जान पाते हैं, उन्हें कोई साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है ? इस प्रकार शास्त्रोंके अच्छे-अच्छे ज्ञाता एवं महान् विद्वान् सुननेमें आये हैं (जिनको पहचानना बड़ा कठिन है) ॥ २५ ॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्त्ववेत्ता पुरुष तपस्याद्वारा महान् पदको प्राप्त कर लेता है, ज्ञानयोगसे उस परमतत्त्वको उपलब्ध कर लेता है और स्वार्थत्यागके द्वारा सदा नित्य सुखका अनुभव करता रहता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थानका राजा युधिष्ठिरको यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन् वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होनेपर प्रवचनकुशल महातपस्वी देवस्थानने युक्तियुक्त वाणीमें राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

देवस्थान उवाच

यद् वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥ २ ॥

देवस्थान बोले—राजन् ! अर्जुनने जो यह बात कही है कि 'धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है ।' इसके विषयमें मैं भी तुमसे कुछ कहूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! अजातशत्रो ! तुमने धर्मके अनुसार यह सारी पृथ्वी जीती है । इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ३ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ४ ॥

महाबाहु भूपाल ! ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्मको प्राप्त करानेकी चार सीढ़ियाँ हैं, जो वेदमें ही प्रतिष्ठित हैं । इन्हें क्रमशः यथोचितरूपसे पार करो ॥ ४ ॥

तस्मात् पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! अतः तुम बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करो । स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ तो ऋषिलोग किया करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव ।
वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥

राजन् ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि ऋषियोंमें कुछ लोग कर्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ भी होते हैं । कुन्तीनन्दन ! वैखानस महात्माओंका वचन इस प्रकार सुननेमें आता है—॥

ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान् दोषो हि वर्धेत यस्तं धनमुपाश्रयेत् ॥ ७ ॥

'जो धनके लिये विशेष चेष्टा करता है, वह वैसी चेष्टा न करे—यही सबसे अच्छा है; क्योंकि जो उस धनकी उपासना करने लगता है, उसके महान् दोषकी वृद्धि होती है॥७॥

कृच्छ्राच्च द्रव्यसंहारं कुर्वन्ति धनकारणात् ।
धनेन तृषितोऽबुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुद्ध्यते ॥ ८ ॥

'लोग धनके लिये बड़े कष्टसे नाना प्रकारके द्रव्योंका संग्रह करते हैं । परंतु धनके लिये प्यासा हुआ मनुष्य अज्ञानवश भ्रूणहत्या-जैसे पापका भागी हो जाता है, इस बातको वह नहीं समझता ॥ ८ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ९ ॥

'बहुधा मनुष्य अनधिकारीको धन दे देता है और योग्य अधिकारीको नहीं देता । योग्य-अयोग्य पात्रकी पहचान न होनेसे (भ्रूणहत्याके समान दोष लगता है, अतः) दानधर्म भी दुष्कर ही है ॥ ९ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ १० ॥

'ब्रह्माने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है तथा यज्ञके उद्देश्यसे ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उत्पन्न किया है, इसलिये यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग कर देना चाहिये । फिर शीघ्र ही (उस यज्ञसे ही) यजमानके सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है ॥ १० ॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधै रत्नवद्भि-
र्देवान् सर्वानभ्ययाद् भूरितेजाः ।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ
तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥

'महातेजस्वी इन्द्र धनरत्नोंसे सम्पन्न नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके सम्पूर्ण देवताओंसे अधिक उत्कर्षशाली हो गये; इसलिये इन्द्रका पद पाकर वे स्वर्गलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं, अतः यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग करना चाहिये ॥ ११ ॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा
हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव ।
विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या
विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥

'गजासुरके चर्मको वस्त्रकी भाँति धारण करनेवाले महात्मा महादेवजी सर्वस्वसमर्पणरूप यज्ञमें अपने आपको होमकर देवताओंके भी देवता हो गये । वे अपने उत्तम कीर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १२ ॥

आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो
वृद्ध्या शक्रं योऽजयद् देवराजम् ।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं संनिविष्टा
यस्मिन् भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥

'अविक्षित्के पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज मरुत्तने अपनी समृद्धिके द्वारा देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया था, उनके यज्ञमें लक्ष्मी देवी स्वयं ही पधारी थीं। उस यज्ञके उपयोगमें आये हुए सारे पात्र सोनेके बने हुए थे ॥ १३ ॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते
यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग् वीतशोकः।
ऋद्धया शक्रं योऽजयन्मानुषः सं-
स्तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम्॥ १४ ॥

'राजाधिराज हरिश्चन्द्रका नाम तुमने सुना होगा, जिन्हों-ने मनुष्य होकर भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रको भी परास्त कर दिया था, वे भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके पुण्यके भागी एवं शोकशून्य हो गये थे; अतः यज्ञमें ही सारा धन लगा देना चाहिये' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

देवस्थान मुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रति उत्तम धर्मका और यज्ञादि करनेका उपदेश

देवस्थान उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः॥ १ ॥

देवस्थान कहते हैं--राजन्! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। किसी समय इन्द्रके पूछनेपर बृहस्पतिने इस प्रकार कहा था— ॥ १ ॥

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति॥ २ ॥

'राजन्! मनुष्यके मनमें संतोष होना स्वर्गकी प्राप्तिसे भी बढ़कर है। संतोष ही सबसे बड़ा सुख है। संतोष यदि मनमें भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे बढ़कर संसारमें कुछ भी नहीं है ॥ २ ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥

'जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सब कामनाओंको सब ओरसे समेट लेता है, उस समय तुरंत ही ज्योतिःस्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरणमें प्रकाशित हो जाता है ॥ ३ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥ ४ ॥

'जब मनुष्य किसीसे भय नहीं मानता और जब उससे भी दूसरे प्राणी भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेषको जीत लेता है, तब अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ४ ॥

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

'जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे किसीके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीकी अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है' ॥५॥

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा।
तदाऽऽत्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुद्धयस्व भारत॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार सम्पूर्ण जीव उस-उस धर्मका उसी-उसी प्रकारसे जब ठीक-ठीक पालन करते हैं, तब स्वयं आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं; अतः भरत-नन्दन! इस समय तुम अपना कर्तव्य समझो ॥ ६ ॥

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः।
नैकं न चापरं केचिदुभयं च तथापरे ॥ ७ ॥

कुछ लोग साम (प्रेमपूर्ण बर्ताव) की प्रशंसा करते हैं और कोई व्यायाम (यत्न और परिश्रम) के गुण गाते हैं। कोई इन दोनोंमेंसे एक (साम)की प्रशंसा नहीं करते हैं तो कोई दूसरे (व्यायाम) की तथा कुछ लोग दोनोंकी ही बड़ी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम्॥ ८ ॥

कोई यज्ञको ही अच्छा बताते हैं तो दूसरे लोग संन्यासकी ही सराहना करते हैं। कोई दान देनेके प्रशंसक हैं तो कोई दान लेनेके ॥ ८ ॥

केचित् सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम्॥ ९ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः।

कोई सब छोड़कर चुपचाप भगवान्के ध्यानमें लगे रहते हैं और कुछ लोग मार-काट मचाकर शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करके राज्य पानेके अनन्तर प्रजापालनरूपी धर्मकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे लोग एकान्तमें रहकर आत्मचिन्तन करना अच्छा समझते हैं ॥ ९½ ॥

एतत् सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः॥ १० ॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।

इन सब बातोंपर विचार करके विद्वानोंने ऐसा निश्चय किया है कि किसी भी प्राणीसे द्रोह न करके जिस धर्मका पालन होता है, वही साधु पुरुषोंकी रायमें उत्तम धर्म है॥१०½॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः॥ ११ ॥

प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वाम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

किसीसे द्रोह न करना, सत्य बोलना, (बलिवैश्वदेव कर्मद्वारा) समस्त प्राणियोंको यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियोंका संयम करना, अपनी ही पत्नीसे संतान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा एवं अचञ्चलता आदि गुणोंको अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं, ऐसा स्वायम्भुव मनुका कथन है ॥ ११-१२ ॥

तस्मादेतत् प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय ।
यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्यप्रियाप्रियः॥ १३ ॥
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ॥ १४ ॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः ।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन् ॥ १५ ॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः ।
य एवं वर्तते राजन् स राजा धर्मनिश्चितः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम भी प्रयत्नपूर्वक इस धर्मका पालन करो। जो क्षत्रियनरेश राज्यसिंहासनपर स्थित हो अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखता है, प्रिय और अप्रियको समानदृष्टिसे देखता है, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन करता है, शास्त्रोंके यथार्थ रहस्यको जानता है, दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंका पालन करता है, समस्त प्रजाको धर्मके मार्गमें स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल बर्ताव करता है, वृद्धावस्थामें राजलक्ष्मीको पुत्रके अधीन करके वनमें जाकर जंगली फल-मूलोंका आहार करते हुए जीवन बिताता है तथा वहाँ भी शास्त्र-श्रवणसे ज्ञात हुए शास्त्रविहित कर्मोंका आलस्य छोड़कर पालन करता है, ऐसा बर्ताव करनेवाला वह राजा ही धर्मको निश्चितरूपसे जानने और माननेवाला है ॥

तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात् सफलोदयः ।
निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥ १७ ॥

उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं, मेरा यह विश्वास है कि संन्यासके द्वारा निर्वाण प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर एवं दुर्लभ है; क्योंकि उसमें बहुत-से विघ्न आते हैं ॥ १७ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ १८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः ।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार धर्मका अनुसरण करनेवाले, सत्य, दान और तपमें संलग्न रहनेवाले, दया आदि गुणोंसे युक्त, काम-क्रोध आदि दोषोंसे रहित, प्रजापालनपरायण, उत्तम धर्मसेवी तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये युद्ध करनेवाले नरेशोंने परम उत्तम गति प्राप्त की है ॥१८-१९॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परंतप ।
साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः ।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर! इसी प्रकार रुद्र, वसु, आदित्य, साध्यगण तथा राजर्षिसमूहोंने सावधान होकर इस धर्मका आश्रय लिया है। फिर उन्होंने अपने पुण्यकर्मोंद्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनका पुनः राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें देवस्थानका भाषण समाप्त होते ही अर्जुनने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा कभी धर्मसे च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् ।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥ २ ॥

'धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार इस परम दुर्लभ राज्यको पाकर और शत्रुओंको जीतकर इतने अधिक संतप्त क्यों हो रहे हैं? ॥ २ ॥

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥

'महाराज! आप क्षत्रियधर्मको स्मरण तो कीजिये, क्षत्रियोंके लिये संग्राममें मर जाना तो बहुसंख्यक यज्ञोंसे भी बढ़कर माना गया है ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ॥ ४ ॥

'प्रभो! तप और त्याग ब्राह्मणोंके धर्म हैं, जो मृत्युके पश्चात् परलोकमें धर्मजनित फल देनेवाले हैं; क्षत्रियोंके लिये संग्राममें प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ! क्षत्रियोंका धर्म बड़ा भयंकर है। उसमें

सदा शस्त्रसे ही काम पड़ता है और समय आनेपर युद्धमें शस्त्रद्वारा उनका वध भी हो जाता है (अतः उनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं है) ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्यापि चेद् राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः ।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ ६ ॥

'राजन्! ब्राह्मण भी यदि क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करता हो तो लोकमें उसका जीवन उत्तम ही माना गया है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है॥६॥

न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥

'नरेश्वर! क्षत्रियके लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरेके धनसे जीवन-निर्वाहका विधान नहीं है ॥ ७ ॥

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसारमें आगे-पीछेकी सब बातोंपर दृष्टि रखनेवाले हैं ॥ ८॥

त्यक्त्वा संतापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम् ॥ ९ ॥

'आप यह शोक-संताप छोड़कर क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये तैयार हो जाइये। क्षत्रियका हृदय तो विशेषरूपसे वज्रके तुल्य कठोर होता है ॥ ९ ॥

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥ १० ॥

'नरेन्द्र! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार शत्रुओंको जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है। अब अपने मनको वशमें करके यज्ञ और दानमें संलग्न हो जाइये ॥ १० ॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥

'देखिये, इन्द्र ब्राह्मणके पुत्र हैं, किंतु कर्मसे क्षत्रिय हो गये हैं। उन्होंने पापमें प्रवृत्त हुए अपने ही भाई-बन्धुओं (दैत्यों) मेंसे आठ सौ दस व्यक्तियोंको मार डाला ॥११॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते ।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

'प्रजानाथ! उनका वह कर्म पूजनीय एवं प्रशंसाके योग्य माना गया। उन्होंने उसी कर्मसे देवेन्द्रपद प्राप्त कर लिया, ऐसा हमने सुना है ॥ १२ ॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥ १३ ॥

'महाराज! नरेन्द्र! आप भी इन्द्रके समान ही चिन्ता और शोकसे रहित हो दीर्घ कालतक बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहिये ॥ १३ ॥

मा त्वमेवं गते किंचिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥

'क्षत्रियशिरोमणे! ऐसी अवस्थामें आप तनिक भी शोक न कीजिये। युद्धमें मारे गये वे सभी वीर क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे पवित्र होकर परम गतिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १४ ॥

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ! जो कुछ हुआ है, वह उसी रूपमें होनेवाला था। राजसिंह! दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

व्यासजीका शङ्ख और लिखितकी कथा सुनाते हुए राजा सुद्युम्नके दण्डधर्मपालनका महत्त्व सुनाकर युधिष्ठिरको राजधर्ममें ही दृढ़ रहनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किंचित् कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! निद्राविजयी अर्जुनके ऐसा कहनेपर भी कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब कुछ न बोले, तब द्वैपायन व्यासजीने इस प्रकार कहा॥

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—सौम्य युधिष्ठिर! अर्जुनने जो बात कही है, वह ठीक है। शास्त्रोक्त परम धर्म गृहस्थ-आश्रमका ही आश्रय लेकर टिका हुआ है ॥ २ ॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर! तुम शास्त्रके कथनानुसार विधिपूर्वक स्वधर्मका ही आचरण करो। तुम्हारे लिये गृहस्थ-आश्रमको छोड़कर वनमें जानेका विधान नहीं है ॥ ३ ॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।

भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः तुम उनका भरण-पोषण करो ॥ ४ ॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५ ॥

जनेश्वर ! पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थोंसे ही पालित होते हैं; अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः ।
तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! चारों आश्रमोंमें यह गृहस्थाश्रम ही ऐसा है, जिसका ठीक-ठीक पालन करना बहुत कठिन है । जिनकी इन्द्रियाँ दुर्बल हैं, उनके द्वारा गृहस्थ-धर्मका आचरण दुष्कर है । तुम अब उसी दुष्कर धर्मका पालन करो ॥ ६ ॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत् ।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद् वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

तुम्हें वेदका पूरा-पूरा ज्ञान है, तुमने बड़ी भारी तपस्या की है । इसलिये अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यका भार तुम्हें एक धुरन्धर पुरुषकी भाँति वहन करना चाहिये ॥ ७॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका ।

महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रियसंयम, ध्यान, एकान्त-वासका स्वभाव, संतोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये सब गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणोंके लिये सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं ॥ ८ ½ ॥

क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥
यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १० ॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! अब मैं पुनः क्षत्रियोंके धर्म बता रहा हूँ, यद्यपि वह तुम्हें भी ज्ञात है । यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओंपर चढ़ाई करना, राजलक्ष्मीकी प्राप्तिसे कभी संतुष्ट न होना, दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना, क्षत्रियतेजसे सम्पन्न रहना, प्रजाकी सब ओरसे रक्षा करना, समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त करना, तप, सदाचार, अधिक द्रव्योपार्जन और सत्पात्रको दान देना—ये सब राजाओंके कर्म हैं, जो सुन्दर ढंगसे किये जानेपर उनके इहलोक और परलोक दोनोंको सफल बनाते हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९-१२ ॥

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! इनमें भी दण्ड धारण करना राजाका प्रधान धर्म बताया जाता है; क्योंकि क्षत्रियमें बलकी नित्य स्थिति है और बलमें ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत ॥ १४ ॥

राजन् ! ये विद्याएँ (धार्मिक क्रियाएँ) क्षत्रियोंको सदा सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं । इस विषयमें बृहस्पतिजीने इस गाथाका भी गान किया है ॥ १४ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १५ ॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार विरोध न करनेवाले राजा और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियोंको भूमि निगल जाती है॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ १६ ॥

सुना जाता है कि राजर्षि सुद्युम्नने दण्डधारणके द्वारा ही प्रचेताकुमार दक्षके समान परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! पृथिवीपति सुद्युम्नने किस कर्मसे परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी । मैं उन नरेशका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥ १८ ॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं— शङ्ख और लिखित नामवाले दो भाई थे । दोनों ही कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ १८ ॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ १९ ॥

बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे, जो सदा फल-फूलोंसे लदे रहनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित थे ॥ १९ ॥

ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागतः ।
यदृच्छयाथ शङ्खोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥ २० ॥

एक दिन लिखित शङ्खके आश्रमपर आये । दैवेच्छासे शङ्ख भी उसी समय आश्रमसे बाहर निकल गये थे ॥ २० ॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
फलानि पातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥ २१ ॥
तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।

भाई शङ्खके आश्रममें जाकर लिखितने खूब पके हुए बहुत-से फल तोड़कर गिराये और उन सबको लेकर वे ब्रह्मर्षि बड़ी निश्चिन्तताके साथ खाने लगे ॥ २१½ ॥

तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागतः ॥ २२ ॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत्।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ २३ ॥

वे खा ही रहे थे कि शङ्ख भी आश्रमपर लौट आये। भाईको फल खाते देख शङ्खने उनसे पूछा—'तुमने ये फल कहाँसे प्राप्त किये हैं और किस लिये तुम इन्हें खा रहे हो?'॥

सोऽब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ २४ ॥

लिखितने निकट जाकर बड़े भाईको प्रणाम किया और हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—'भैया! मैंने ये फल यहींसे लिये हैं' ॥ २४ ॥

तमब्रवीत् तथा शङ्खस्तीव्ररोषसमन्वितः।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥ २५ ॥

तब शङ्खने तीव्र रोषमें भरकर कहा—'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है ॥ २५ ॥

गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥ २६ ॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २७ ॥

'अतः तुम राजाके पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें कह सुनाओ। उनसे कहना—"नृपश्रेष्ठ! मैंने इस प्रकार बिना दिये हुए फल ले लिये हैं, अतः मुझे चोर समझकर अपने धर्मका पालन कीजिये। नरेश्वर! चोरके लिये जो नियत दण्ड हो, वह शीघ्र मुझे प्रदान कीजिये" ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात् सुद्युम्नं स नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ २८ ॥

महाबाहो! बड़े भाईके ऐसा कहनेपर उनकी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले लिखित मुनि राजा सुद्युम्नके पास गये ॥ २८ ॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम्।
अभ्यगच्छत् सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २९ ॥

सुद्युम्नने द्वारपालोंसे जब यह सुना कि लिखित मुनि आये हैं तो वे नरेश अपने मन्त्रियोंके साथ पैदल ही उनके निकट गये ॥ २९ ॥

तमब्रवीत् समागम्य स राजा धर्मवित्तमम्।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत् ॥ ३० ॥

राजाने उन धर्मज्ञ मुनिसे मिलकर पूछा—'भगवन्! आपका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है? यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही समझिये' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत्।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत् कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

उनके इस तरह कहनेपर विप्रर्षि लिखितने सुद्युम्नसे यों कहा—'राजन्! पहले यह प्रतिज्ञा कर लो कि 'हम करेंगे' उसके बाद मेरा उद्देश्य सुनो और सुनकर उसे तत्काल पूरा करो ॥ ३१ ॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥ ३२ ॥

'नरश्रेष्ठ! मैंने बड़े भाईके दिये बिना ही उनके बगीचेसे फल लेकर खा लिये हैं; महाराज! इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये' ॥ ३२ ॥

सुद्युम्न उवाच

प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ ॥ ३३ ॥

सुद्युम्नने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जानेकी आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है ॥३३॥

स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः॥ ३४ ॥

आप पवित्र कर्म करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं। मैंने अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनाएँ आपके मनमें हों तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ३४ ॥

व्यास उवाच

संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना।
नान्यं स वरयामास तस्माद् दण्डादृते वरम् ॥ ३५ ॥

व्यासजीने कहा—महामना राजा सुद्युम्नके बारंबार आग्रह करनेपर भी ब्रह्मर्षि लिखितने उस दण्डके सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ३५ ॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ ३६ ॥

तब उन भूपालने महामना लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँसे चले गये ॥ ३६ ॥

स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम्।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत् क्षन्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

अपने भाई शङ्खके पास जाकर लिखितने आर्त होकर कहा—'भैया! मैंने दण्ड पा लिया। मुझ दुर्बुद्धिके उस अपराधको आप क्षमा कर दें' ॥ ३७ ॥

शङ्ख उवाच

न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम।
सुनिर्मलं कुलं ब्रह्मन्नसिञ्जगति विश्रुतम्।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता॥ ३८॥

शङ्ख बोले—धर्मज्ञ! मैं तुमपर कुपित नहीं हूँ। तुम मेरा कोई अपराध नहीं करते हो। ब्रह्मन्! हम दोनोंका कुल इस जगत्में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलङ्क रूपमें विख्यात

है । तुमने धर्मका उल्लङ्घन किया था, अतः उसीका प्रायश्चित्त किया है ॥ ३८ ॥

त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन् पितॄंश्चैवं मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ३९ ॥

अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें फिर कभी अधर्मकी ओर मन न ले जाना ॥ ३९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसंनिभौ ।

शङ्खकी वह बात सुनकर लिखितने उस समय पवित्र नदी बाहुदामें स्नान किया और पितरोंका तर्पण करनेके लिये चेष्टा आरम्भ की। इतनेहीमें उनके कमल-सदृश सुन्दर दो हाथ प्रकट हो गये ॥ ४०½ ॥

ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ ४१ ॥
ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया ।
मा च तेऽत्र विशङ्काभूद् दैवमत्र विधीयते ॥ ४२ ॥

तदनन्तर लिखितने चकित होकर अपने भाईको वे दोनों हाथ दिखाये। तब शङ्खने उनसे कहा—'भाई ! इस विषयमें तुम्हें शङ्का नहीं होनी चाहिये। मैंने तपस्यासे तुम्हारे हाथ उत्पन्न किये हैं। यहाँ दैवका विधान ही सफल हुआ है'॥

लिखित उवाच

किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ ४३ ॥

तब लिखितने पूछा—महातेजस्वी द्विजश्रेष्ठ ! जब आपकी तपस्याका ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया ? ॥ ४३ ॥

शङ्ख उवाच

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥ ४४ ॥

शङ्ख बोले—भाई ! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परंतु मुझे तुम्हें दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। दण्ड देनेका कार्य तो राजाका ही है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्डको स्वीकार करके तुम पितरोंसहित पवित्र हो गये ॥ ४४ ॥

व्यास उवाच

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ ४५ ॥

व्यासजी कहते हैं—पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उस दण्ड-प्रदानरूपी कर्मसे राजा सुद्युम्न उच्चतम पदको प्राप्त हुए। उन्होंने प्रचेताओंके पुत्र दक्षकी भाँति परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४५ ॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् ।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४६ ॥

महाराज ! प्रजाजनोंका पूर्णरूपसे पालन करना ही क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है। दूसरा काम उसके लिये कुमार्गके तुल्य है; अतः तुम मनको शोकमें न डुबाओ ॥ ४६ ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञ सत्तम ।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ४७ ॥

धर्मके ज्ञाता सत्पुरुष ! तुम अपने भाईकी हितकर बात सुनो। राजेन्द्र ! दण्ड-धारण ही क्षत्रिय-धर्मके अन्तर्गत है, मूँड़ मुड़ाकर संन्यासी बनना नहीं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको राजा हयग्रीवका चरित्र सुनाकर उन्हें राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये जोर देना

वैशम्पायन उवाच

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासजीने अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते मनस्विनाम् ।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन् युधिष्ठिर ॥ २ ॥
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ।

'तात ! महाराज युधिष्ठिर ! वनमें रहते समय तुम्हारे मनस्वी भाइयोंके मनमें जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, भरतश्रेष्ठ ! उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें ॥ २½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥ ३ ॥
अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम नहुषपुत्र ययातिके समान इस पृथिवीका पालन करो। तुम्हारे इन तपस्वी भाइयोंने वनवासके समय बड़े दुःख उठाये हैं। नरव्याघ्र ! अब ये उस दुःखके बाद सुखका अनुभव करें ॥ ३-४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते ॥ ५ ॥

'भरतनन्दन ! प्रजानाथ ! इस समय भाइयोंके साथ तुम धर्म, अर्थ और कामका उपभोग करो। पीछे वनमें चले जाना ॥ ५ ॥

अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत् सर्वं च करिष्यसि ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! पहले याचकों, पितरों और देवताओंके ऋणसे उऋण हो लो, फिर वह सब करना ॥ ६ ॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥

'कुरुनन्दन ! महाराज ! पहले सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो। उससे परम गतिको प्राप्त करोगे॥७॥

भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥

'पाण्डुपुत्र ! अपने समस्त भाइयोंको बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंमें लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

विद्मस्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम।
शृणुष्वैवं यथा कुर्वन् न धर्माच्च्यवसे नृप ॥ ९ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! पुरुषसिंह नरेश्वर ! मैं तो तुम्हारी बात समझता हूँ। अब तुम मेरा यह वचन सुनो, जिसके अनुसार कार्य करनेपर धर्मसे च्युत नहीं होओगे ॥ ९ ॥

आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥ १० ॥

'राजा युधिष्ठिर ! विषम भावसे रहित धर्ममें कुशल पुरुष विजय पानेकी इच्छावाले राजाके लिये संग्रामकी ही स्थापना करते हैं ॥ १० ॥

(प्रत्यक्षमनुमानं च उपमानं तथाऽऽगमः।
अर्थापत्तिस्तथैतिह्यं संशयो निर्णयस्तथा ॥
आकारो ह्यीङ्गितश्चैव गतिश्चेष्टा च भारत।
प्रतिज्ञा चैव हेतुश्च दृष्टान्तोपनयौ तथा ॥
उक्तं निगमनं तेषां प्रमेयं च प्रयोजनम्।
एतानि साधनान्याहुर्बहुवर्गप्रसिद्धये ॥

'भरतनन्दन ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संशय, निर्णय, आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन सबका प्रयोजन है प्रमेयकी सिद्धि। बहुत-से वर्गोंकी प्रसिद्धिके लिये इन सबको साधन बताया गया है ॥

प्रत्यक्षमनुमानं च सर्वेषां योनिरिष्यते।
प्रमाणज्ञो हि शक्नोति दण्डनीतौ विचक्षणः ॥
अप्रमाणवतां नीतो दण्डो हन्यान्महीपतिम्।)

'इनमेंसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो सभीके लिये निर्णयके आधार माने गये हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको जाननेवाला पुरुष दण्डनीतिमें कुशल हो सकता है। जो प्रमाणशून्य हैं, उनके द्वारा प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड राजाका विनाश कर सकता है ॥

देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून् मर्षयते नृपः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ ११ ॥

'देश और कालकी प्रतीक्षा करनेवाला जो राजा शास्त्रीय बुद्धिका आश्रय ले लुटेरोंके अपराधको धैर्यपूर्वक सहन करता है अर्थात् उनको दण्ड देनेमें जल्दी नहीं करता, समयकी प्रतीक्षा करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥ १२ ॥

'जो प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें लेकर भी राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता है, वह राजा उसके चौथाई पापको मानो ग्रहण कर लेता है ॥ १२ ॥

निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामनुरुद्ध्यन्नपेतभीः ॥ १३ ॥

'मेरी वह बात सुनो, जिसके अनुसार चलनेवाला राजा धर्मसे नीचे नहीं गिरता। धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे राजाका पतन हो जाता है और यदि धर्मशास्त्रका अनुसरण करता है तो वह निर्भय होता है ॥ १३ ॥

कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ १४॥

'जो काम और क्रोधकी अवहेलना करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले सर्वत्र पिताके समान समदृष्टि रखता है, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते।
न साधयति यत् कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥ १५ ॥

'महातेजस्वी युधिष्ठिर ! दैवका मारा हुआ राजा कार्य करनेके समय जिस कार्यको नहीं सिद्ध कर पाता, उसमें उसका कोई दोष या अपराध नहीं बताया जाता है ॥ १५ ॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः।
पापैः सह न संदध्याद् राज्यं पण्यं न कारयेत् ॥१६ ॥

'शत्रुओंको अपने बल और बुद्धिसे काबूमें कर ही लेना चाहिये। पापियोंके साथ कभी मेल नहीं करना चाहिये। अपने राज्यको बाजारका सौदा नहीं बनाना चाहिये ॥ १६ ॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर।
गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १७ ॥

'युधिष्ठिर ! शूरवीरों, श्रेष्ठ पुरुषों तथा विद्वानोंका सत्कार करना बहुत आवश्यक है। अधिक-से-अधिक गौएँ रखनेवाले धनी वैश्योंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः।
(प्रमाणज्ञा महीपाल न्यायशास्त्रावलम्बिनः।
वेदार्थतत्त्वविद् राजंस्तर्कशास्त्रबहुश्रुताः ॥
मन्त्रे च व्यवहारे च नियोक्तव्या विजानता।

'जो बहुज्ञ विद्वान् हों, उन्हींको धर्म तथा शासन-कार्योंमें लगाना चाहिये। भूपाल! जो प्रमाणोंके ज्ञाता, न्यायशास्त्रका अवलम्बन करनेवाले, वेदोंके तत्त्वज्ञ तथा तर्कशास्त्रके बहुश्रुत विद्वान् हों, उन्हींको विज्ञ पुरुष मन्त्रणा तथा शासन-कार्यमें लगाये ॥

तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या ॥
दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत्।

'तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दण्डनीतिसे प्रभावित हुई बुद्धि तीनों लोकोंकी भी सिद्धि कर सकती है ॥

नियोज्या वेदतत्त्वज्ञा यज्ञकर्मसु पार्थिव ॥
वेदज्ञा ये च शास्त्रज्ञास्ते च राजन् सुबुद्धयः।

'राजन्! भूपाल! जो वेदोंके तत्त्वज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ तथा उत्तम बुद्धिसे सम्पन्न हों, उन्हें यज्ञकर्मोंमें नियुक्त करना चाहिये ॥

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिषु पारगाः।
ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धेः परं गताः ॥)
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १८ ॥

'आन्वीक्षिकी (वेदान्त), वेदत्रयी, वार्ता तथा दण्डनीतिके जो पारंगत विद्वान् हों, उन्हें सभी कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि वे बुद्धिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं। एक व्यक्ति कितना ही गुणवान् क्यों न हो, विद्वान् पुरुषको उसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १९ ॥

'जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता, जो उद्दण्ड, मानी, अकड़ रखनेवाला और दूसरोंके दोष देखनेवाला है, वह पापसे संयुक्त होता है और लोग उसे दुर्दान्त कहते हैं ॥१९॥

येऽरक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद् राजकिल्बिषम् ॥२० ॥

'नरेश्वर! जो लोग राजाकी ओरसे सुरक्षित न होनेके कारण अनावृष्टि आदि दैवी आपत्तियोंसे तथा चोरोंके उपद्रवसे नष्ट हो जाते हैं, उनके इस विनाशका सारा पाप राजाको ही लगता है ॥ २० ॥

सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

'युधिष्ठिर! अच्छी तरह मन्त्रणा की गयी हो, सुन्दर नीतिसे काम लिया गया हो और सब ओरसे पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न किये गये हों (उस अवस्थामें यदि प्रजाको कोई कष्ट हो जाय) तो राजाको उसका पाप नहीं लगता ॥ २१ ॥

विच्छिद्यन्ते समारब्धाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवतः।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २२ ॥

'आरम्भ किये हुए कार्य दैवकी प्रतिकूलतासे नष्ट हो जाते हैं और उसके अनुकूल होनेपर सिद्ध भी हो जाते हैं; परंतु अपनी ओरसे (यथोचित) पुरुषार्थ कर देनेपर (यदि कार्यकी सिद्धि नहीं भी हुई तो) राजाको पापका स्पर्श नहीं प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम्।
यद् वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥ २३ ॥

'राजसिंह पाण्डुकुमार! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, जो पूर्वकालवर्ती राजर्षि हयग्रीवके जीवनका वृत्तान्त है ॥ २३ ॥

शत्रून् हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

'हयग्रीव बड़े शूरवीर और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले थे। युधिष्ठिर! उन्होंने युद्धमें शत्रुओंको मार गिराया था; परंतु पीछे असहाय हो जानेपर वे संग्राममें परास्त हुए और शत्रुओंके हाथसे मारे गये ॥ २४ ॥

यत् कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां
योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम्।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्
वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २५ ॥

'उन्होंने शत्रुओंको परास्त करनेमें जो पराक्रम दिखाया था, मानवीय प्रजाके पालनमें जिस श्रेष्ठ उद्योग एवं एकाग्रताका परिचय दिया था, वह अद्भुत था। उन्होंने पुरुषार्थ करके युद्धसे उत्तम कीर्ति पायी और इस समय वे राजा हयग्रीव स्वर्गलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ २५ ॥

संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी
शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा
संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥ २६ ॥

'वे अपने मनको वशमें करके समराङ्गणमें हथियार लेकर शत्रुओंका वध कर रहे थे; परंतु डाकुओंने उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न करके मार डाला। इस समय कर्मपरायण महामनस्वी हयग्रीव पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें आनन्द कर रहे हैं ॥ २६ ॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्
स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम्।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्नि-
श्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २७ ॥
हुत्वा तस्मिन् यज्ञवह्नावथारीन्
पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २८ ॥

'उनका धनुष ही यूप था, करधनी प्रत्यञ्चाके समान थी, बाण स्रुक् और तलवार स्रुवाका काम दे रही थी, रक्त ही घृतके तुल्य था, इच्छानुसार विचरनेवाला रथ ही वेदी था,

युद्ध अग्नि था और चारों प्रधान घोड़े ही ब्रह्मा आदि चारों ऋत्विज थे। इस प्रकार वे वेगशाली राजसिंह हयग्रीव उस यज्ञरूपी अग्निमें शत्रुओंकी आहुति देकर पापसे मुक्त हो गये तथा अपने प्राणोंको होमकर युद्धकी समाप्तिरूपी अवभृथस्नान करके वे इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं॥ २७-२८॥

राष्ट्रं रक्षन् बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ २९॥

'यज्ञ करना उन महामना नरेशका स्वभाव बन गया था। वे नीतिके द्वारा बुद्धिपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करते हुए शरीरका परित्याग करके मनस्वी हयग्रीव सम्पूर्ण जगत्‌में अपनी कीर्ति फैलाकर इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं॥ २९॥

दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं
योगन्यासैः पालयित्वा महीं च।
तस्माद् राजा धर्मशीलो महात्मा
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ ३०॥

'योग (कर्मविषयक उत्साह) और न्यास (अहंकार आदिके त्याग) सहित दैवी सिद्धि, मानुषी सिद्धि, दण्डनीति तथा पृथ्वीका पालन करके धर्मशील महात्मा राजा हयग्रीव उसीके पुण्यसे इस समय देवलोकमें सुख भोगते हैं॥ ३०॥

विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञ-
स्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा।
मेधाविनां विदुषां सम्मतानां
तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा॥ ३१॥

'वे विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु और कृतज्ञ राजा हयग्रीव अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्यलोकको त्यागकर मेधावी, सर्वसम्मानित, ज्ञानी एवं पुण्य-तीर्थोंमें शरीरका त्याग करनेवाले पुण्यात्माओंके लोकमें जाकर स्थित हुए हैं॥ ३१॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा महात्मा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके॥ ३२॥

'वेदोंका ज्ञान पाकर, शास्त्रोंका अध्ययन करके, राज्यका अच्छी तरह पालन करते हुए महामना राजा हयग्रीव चारों वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके इस समय देवलोकमें आनन्द भोग रहे हैं॥ ३२॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च
सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान्।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके॥ ३३॥

'राजा हयग्रीव अनेकों युद्ध जीतकर, प्रजाका पालन करके, यज्ञोंमें सोमरस पीकर, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दक्षिणा आदिसे तृप्त करके युक्तिसे प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दण्ड धारण करते हुए युद्धमें मारे गये और अब देवलोकमें सुख भोगते हैं ३३

वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः
सन्तो विद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम्।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य
सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा॥ ३४॥

'साधु एवं विद्वान् पुरुष उनके स्पृहणीय एवं आदरणीय चरित्रकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। पुण्यकीर्ति महामना हयग्रीवने स्वर्गलोक जीतकर वीरोंको मिलनेवाले लोकोंमें पहुँचकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली'॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९ श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

पञ्चविंशोऽध्यायः

सेनजित्‌के उपदेशयुक्त उद्गारोंका उल्लेख करके व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनंजये।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी बात सुनकर और अर्जुनके कुपित हो जानेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने व्यासजीको आमन्त्रित करके उत्तर देना आरम्भ किया॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम्॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—मुने! यह भूतलका राज्य और ये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोग आज मेरे मनको प्रसन्न नहीं कर रहे हैं। यह शोक मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है॥ २॥

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम्।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने॥ ३॥

महर्षे! पति और पुत्रोंसे हीन हुई युवतियोंका करुण विलाप सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है॥ ३॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः॥ ४॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और वेदोंके

पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ महाज्ञानी व्यासने उनसे फिर इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा
नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा
कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! न तो कोई कर्म करनेसे नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, न चिन्तासे ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो मनुष्यको उसकी विनष्ट वस्तु दे दे। बारी-बारीसे विधाताके विधानानुसार मनुष्य समयपर सब कुछ पा लेता है ॥ ५ ॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ॥ ६ ॥

बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययनसे भी मनुष्य असमयमें किसी विशेष वस्तुको नहीं पा सकता और समय आनेपर कभी-कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है; अतः काल ही कार्यकी सिद्धिमें सामान्य कारण है ॥ ६ ॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि
सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ॥ ७ ॥

अवनतिके समय शिल्पकलाएँ, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते हैं। वे ही जब उन्नतिके समय उपयोगमें लाये जाते हैं, तब कालकी प्रेरणासे सफल होते और वृद्धिमें सहायक बनते हैं ॥ ७ ॥

कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च
कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥ ८ ॥

समयसे ही तेज हवा चलती है, समयसे ही मेघ जल बरसाते हैं, समयसे ही पानीमें कमल तथा उत्पल उत्पन्न हो जाते हैं और समयसे ही वनमें वृक्ष पुष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः
कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां
नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥

समयसे ही अँधेरी और उजेली रातें होती हैं, समयसे ही चन्द्रमाका मण्डल परिपूर्ण होता है, असमयमें वृक्षोंमें फल और फूल भी नहीं लगते हैं और न असमयमें नदियाँ ही वेगसे बहती हैं ॥ ९ ॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च
मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा
नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः ॥ १० ॥

लोकमें पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमयमें स्त्रियोंके गर्भ नहीं रहते और बिना समयके सर्दी, गर्मी तथा वर्षा भी नहीं होती है ॥ १० ॥

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति
नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥

बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमयमें बोलता ही है। बिना समयके जवानी नहीं आती और बिना समयके बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है ॥ ११ ॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं
नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति।
नाकालतो वर्धते हीयते च
चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली ॥ १२ ॥

असमयमें सूर्य उदयाचलसे संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचलपर भी नहीं जाते हैं, असमयमें न तो चन्द्रमा घटते-बढ़ते हैं और न समुद्रमें ही ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। एक समय शोकसे आतुर हुए राजा सेनजित्ने जो उद्गार प्रकट किया था, वही तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १३ ॥

सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥

(राजा सेनजित्ने मन-ही-मन कहा कि) 'यह दुःसह कालचक्र सभी मनुष्योंपर अपना प्रभाव डालता है। एक दिन सभी भूपाल कालसे परिपक्व होकर मृत्युके अधीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन् न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥

'राजन्! मनुष्य दूसरोंको मारते हैं, फिर उन्हें भी दूसरे लोग मार देते हैं। नरेश्वर! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञा मात्र है। वास्तवमें न कोई मारता है और न मारा ही जाता है ॥ १५ ॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥

'एक मानता है कि 'आत्मा मारता है।' दूसरा ऐसा

मानता है कि 'नहीं मारता है।' पाञ्चभौतिक शरीरोंके जन्म और मरण स्वभावतः नियत हैं ॥ १६ ॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥ १७ ॥

'धनके नष्ट होनेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु होनेपर मनुष्य 'हाय ! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःखकी निवृत्तिकी चेष्टा करता है ॥ १७ ॥

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यान् किमनुशोचसि।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥ १८ ॥

'तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो ? उन मरे हुए शोचनीय व्यक्तियोंका बारंबार स्मरण ही क्यों करते हो ? देखो, शोक करनेसे दुःखमें दुःख तथा भयमें भयकी वृद्धि होगी ॥ १८ ॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति ॥ १९ ॥

'यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है। यह जिस तरहसे मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है। ऐसी दृष्टि रखनेवाला पुरुष कभी मोहमें नहीं फँसता है ।१९।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २० ॥

'शोकके सहस्रों स्थान हैं, हर्षके भी सैकड़ों अवसर हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्-पर नहीं ॥ २० ॥

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २१ ॥

'इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं ॥२१॥

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात् तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥ २२ ॥

'संसारमें केवल दुःख ही है, सुख नहीं; अतः दुःख ही उपलब्ध होता है। तृष्णाजनित पीड़ासे दुःख और दुःखकी पीड़ासे सुख होता है अर्थात् दुःखसे आर्त हुए मनुष्यको ही उसके न रहनेपर सुखकी प्रतीति होती है ॥ २२ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २३ ॥

'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद् दुःखतः सुखम् ।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥२४॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम् ।

'कभी दुःखके अन्तमें सुख और कभी सुखके अन्तमें दुःख भी आता है; अतः जो नित्य सुखकी इच्छा रखता हो, वह इन दोनोंका परित्याग कर दे; क्योंकि दुःख सुखके अन्तमें अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःखके अन्तमें अवश्यम्भावी है ॥ २४½ ॥

यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः ॥ २५ ॥
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत् ।

'जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप होता हो अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, वह अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो भी उसको त्याग देना चाहिये ॥ २५½॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६ ॥

'सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे सहर्ष अपनावे। अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकार करे (हिम्मत न हारे) ॥ २६ ॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम् ।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥ २७ ॥

'प्रिय मित्र ! स्त्री अथवा पुत्रोंका थोड़ा सा भी अप्रिय कर दो, फिर स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतुसे किस तरह किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है ? ॥ २७॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥ २८ ॥

'संसारमें जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही सुखी होते हैं; बीचवाले लोग कष्ट ही उठाते हैं' ॥

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित् ।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित् ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! लोकके भूत और भविष्य तथा सुख एवं दुःखको जाननेवाले धर्मवेत्ता महाज्ञानी सेनजित्ने ऐसा ही कहा है ॥२९॥

येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात् परम् ॥ ३० ॥

जिस किसी भी दुःखसे जो दुखी है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखोंका अन्त नहीं है। एक दुःखसे दूसरा दुःख होता ही रहता है ॥ ३० ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥ ३१ ॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं; इसलिये धीर पुरुष इनके लिये हर्ष और शोक न करे ॥ ३१ ॥

दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहु-
र्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक् ।

वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे
सम्यग् दानं पावनानीति विद्यात्॥ ३२ ॥

राजाके लिये संग्राममें जूझना ही यज्ञकी दीक्षा लेना बताया गया है। राज्यकी रक्षा करते हुए दण्डनीतिमें भलीभाँति प्रतिष्ठित होना ही उसके लिये योगसाधन है तथा यज्ञमें दक्षिणारूपसे धनका त्याग एवं उत्तम रीतिसे दान ही राजाके लिये त्याग है। ये तीनों कर्म राजाको पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझे ॥ ३२ ॥

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चा-
प्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

जो राजा अहंकार छोड़कर बुद्धिमानीसे नीतिके अनुसार राज्यकी रक्षा करता है, स्वभावसे ही यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता है और धर्मकी रक्षाको दृष्टिमें रखकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है, वह महामनस्वी नरेश देहत्यागके पश्चात् देवलोकमें आनन्द भोगता है ॥ ३३ ॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं
सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३४ ॥

जो संग्राममें विजय, राष्ट्रका पालन, यज्ञमें सोमरसका पान, प्रजाओंकी उन्नति तथा प्रजावर्गके हितके लिये युक्तिपूर्वक दण्डधारण करते हुए युद्धमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह देवलोकमें आनन्दका भागी होता है ॥ ३४ ॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
पूतात्मा वै मोदते देवलोके ॥ ३५ ॥

सम्यक् प्रकारसे वेदोंका ज्ञान, शास्त्रोंका अध्ययन, राज्यका ठीक-ठीक पालन तथा चारों वर्णोंका अपने-अपने धर्ममें स्थापन करके जो अपने मनको पवित्र कर चुका है, वह राजा देवलोकमें सुखी होता है ॥ ३५ ॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

स्वर्गलोकमें रहनेपर भी जिसके चरित्रको नगर और जनपदके मनुष्य एवं मन्त्री मस्तक झुकाते हैं, वही राजा समस्त नरपतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनजित्का उपाख्यानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा धनके त्यागकी ही महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनंजयमुदारधीः।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी प्रसंगमें उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने अर्जुनसे यह युक्तियुक्त बात कही—॥१॥

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥ २ ॥

'पार्थ! तुम जो यह समझते हो कि धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धनको स्वर्ग, सुख और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं है ॥ २ ॥

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥

'बहुत-से मनुष्य केवल स्वाध्याययज्ञ करके सिद्धिको प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तपस्यामें लगे हुए बहुतेरे मुनि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति हुई है ॥ ३ ॥

ऋषीणां समयं शश्वद् ये रक्षन्ति धनंजय।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान् ब्राह्मणान् विदुः॥ ४ ॥

'धनंजय! सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले जो लोग ब्रह्मचर्य-आश्रममें स्थित हो ऋषियोंकी स्वाध्याय-परम्पराकी सदैव रक्षा करते हैं, देवता उन्हें ही ब्राह्मण मानते हैं ॥ ४ ॥

स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथापरान्।
बुद्ध्येथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनंजय ॥ ५ ॥

'अर्जुन! तुम्हें सदा यह समझना चाहिये कि ऋषियोंमेंसे कुछ लोग वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते हैं, कुछ ज्ञानोपार्जनमें संलग्न होते हैं और कुछ लोग धर्म-पालनमें ही निष्ठा रखते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन! प्रभो! वानप्रस्थोंके वचनको जैसा हमने समझा है, उसके अनुसार ज्ञाननिष्ठ महात्माओंको ही राज्यके सारे कार्य सौंपने चाहिये ॥ ६ ॥

अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ ७ ॥

'भारत! अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु नामवाले ऋषिगणोंने तो स्वाध्यायके द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त कर लिया था॥

अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनंजय ।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः ॥ ८ ॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः ।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान् पूर्वमप्यहम् ॥ ९ ॥

'धनंजय ! दान, अध्ययन, यज्ञ और निग्रह—ये सभी कर्म बहुत कठिन हैं । इन वेदोक्त कर्मोंका (सकामभावसे) आश्रय लेकर लोग सूर्यके दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं । इन कर्ममार्गी पुरुषोंके लोकोंकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ ॥ ८-९ ॥

उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद् यं प्रपश्यसि ।
एते यागवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः ॥ १० ॥

'कुन्तीनन्दन ! सूर्यके उत्तरमें स्थित जो मार्ग है, जिसे तुम नियमके प्रभावसे देख रहे हो, वहाँ जो ये सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, वे निष्काम यज्ञ करनेवालोंको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः ।
संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम् ॥ ११ ॥

'पार्थ ! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले लोग इन दोनों मार्गोंमेंसे उत्तर मार्गकी प्रशंसा करते हैं । वास्तवमें संतोष ही सबसे बढ़कर स्वर्ग है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है ॥

तुष्टेर्न किञ्चित् परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ १२ ॥

'संतोषसे बढ़कर कुछ नहीं है । जिसने क्रोध और हर्षको जीत लिया है, उसीके हृदयमें उस परम वैराग्यरूप संतोष-की सम्यक् प्रतिष्ठा होती है और उसे ही सदा उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा गीता ययातिना ।
याभिः प्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ १३॥

'इस प्रसङ्गमें लोग राजा ययातिकी गायी हुई इन गाथाओंको उदाहरणके तौरपर कहा करते हैं । जिनके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको उसी प्रकार समेट लेता है, जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लिया करता है ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १४ ॥

'राजा ययातिने कहा था—'जब यह पुरुष किसीसे नहीं डरता, जब इससे भी किसीको भय नहीं रहता तथा जब यह न तो किसीको चाहता है और न उससे द्वेष ही रखता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १५ ॥

''जब यह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति पाप-बुद्धिका परित्याग कर देता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते ॥ १६ ॥

''जिसके मान और मोह दूर हो गये हैं, जो नाना प्रकार-की आसक्तियोंसे रहित है तथा जिसे आत्माका ज्ञान प्राप्त हो गया है, उस साधु पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है' ॥ १६ ॥

इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः ।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे ॥ १७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मैं जो बात कह रहा हूँ, उसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखकर सुनो ! कुछ लोग धर्मकी, कोई सदाचारकी और दूसरे कितने ही मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट रहते हैं ॥ १७ ॥

धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान् दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः ॥ १८ ॥

'जो धनके लिये चेष्टा करता है, उसका निश्चेष्ट होकर बैठ रहना ही ठीक है, क्योंकि धन और उसके आश्रित धर्ममें महान् दोष दिखायी देता है ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम् ॥ १९ ॥

'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और तुम भी देख सकते हो, जो लोग धनोपार्जनके प्रयत्नमें लगे हुए हैं, उनके लिये त्याज्य-कर्मोंको छोड़ना अत्यन्त कठिन हो रहा है ॥ १९ ॥

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥ २० ॥

'जो धनके पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है; क्योंकि जो लोग दूसरोंसे द्रोह करते हैं, उन्हींको धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है तथा वह मिला हुआ धन प्रकारान्तरसे प्रतिकूल ही होता है ॥ २० ॥

यस्तु सम्भिन्नवृत्तः स्याद् वीतशोकभयो नरः ।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ २१ ॥

'शोक और भयसे रहित होनेपर भी जो मनुष्य सदाचार-से भ्रष्ट है, उसे यदि धनकी थोड़ी-सी भी तृष्णा हो तो वह दूसरोंसे ऐसा द्रोह करता है कि भ्रूण-हत्या-जैसे पापका भी ध्यान नहीं रखता ॥ २१ ॥

दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव ।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्त्वानुतप्यते ॥ २२ ॥

'अपना वेतन यथासमय पाते हुए भी जब भृत्योंको संतोष नहीं होता, तब वे स्वामीसे अप्रसन्न रहते हैं और वह धनी दुर्लभ धनको पाकर यदि सेवकोंको अधिक देता है तो उसे उतना ही अधिक संताप होता है, जितना चोर-डाकुओंसे भयके कारण हुआ करता है ॥ २२ ॥

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी ।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

'निर्धनको कौन क्या कह सकता है ? वह सब प्रकारके

भयसे मुक्त हो सुखी रहता है। देवताओंकी सम्पत्ति लेकर भी कोई धनसे सुखी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

अत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥

'इस विषयमें यज्ञमें ऋत्विजोंद्वारा गायी हुई एक गाथा है जो तीनों वेदोंके आश्रित है, वह गाथा लोकमें यज्ञकी प्रतिष्ठा करनेवाली है। पुरानी बातोंको जाननेवाले लोग उसे ऐसे अवसरोंपर दुहराया करते हैं ॥ २४ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥ २५ ॥

'विधाताने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है और यज्ञके लिये उसकी रक्षा करनेके निमित्त पुरुषको उत्पन्न किया है; इसलिये सारे धनका यज्ञ-कार्यमें ही उपयोग करना चाहिये। भोगके लिये धनका उपयोग न तो हितकर है और न उत्तम ही ॥ २५ ॥

एतत् स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥ २६ ॥

'धनवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजय! विधाता मनुष्योंको स्वार्थके लिये भी जो धन देते हैं उसे यज्ञार्थ ही समझो ॥

तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत् कस्यचिद् ध्रुवम्।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥ २७ ॥

'इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि धन कभी किसी एकके पास स्थिर होकर नहीं रहता; अतः श्रद्धालु मनुष्यको चाहिये कि वह उस धनका दान करे और उसे यज्ञमें लगावे ॥ २७ ॥

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम्।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥

'प्राप्त किये हुए धनका दान करना ही उचित बताया गया है। उसे भोगमें लगाना या संग्रह करके रखना ठीक नहीं है। जिसके सामने बहुत बड़ा कार्य यज्ञ आदि मौजूद है, उसे धनको संग्रह करके रखनेकी क्या आवश्यकता है?॥

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥

'जो मन्दबुद्धि मानव अपने धर्मसे गिरे हुए मनुष्योंको धन देते हैं, वे मरनेके बाद सौ वर्षोंतक विष्ठा भोजन करते हैं ॥ २९ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ३० ॥

'लोग अधिकारीको धन नहीं देते और अनधिकारीको दे डालते हैं, योग्य-अयोग्य पात्रका ज्ञान न होनेसे दानधर्मका सम्पादन भी बहुत कठिन है ॥ ३० ॥

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ॥
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥

'प्राप्त हुए धनका उपयोग करनेमें दो प्रकारकी भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिये। पहली भूल है अपात्रको धन देना और दूसरी है सुपात्रको धन न देना' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरको शोकवश शरीर त्याग देनेके लिये उद्यत देख व्यासजीका उन्हें उससे निवारण करके समझाना

युधिष्ठिर उवाच

अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम्।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने व्यासजीसे कहा—मुनिश्रेष्ठ! इस युद्धमें बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, विराट, राजा द्रुपद, धर्मज्ञ वृषसेन, चेदिराज धृष्टकेतु तथा नाना देशोंके निवासी अन्यान्य नरेश भी वीरगतिको प्राप्त हुए हैं। मैं जाति-भाइयोंका घातक, राज्यका लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने वंशका विनाश करनेवाला निकला, यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त आतुर हो रहा हूँ ॥ १–३ ॥

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥ ४ ॥

जिनकी गोदीमें खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजीको मैंने राज्यके लोभसे मरवा डाला ॥ ४ ॥

यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥
जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम्।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥

जब मैंने देखा कि अर्जुनके वज्रोपम बाणोंसे आहत हो बूढ़े सिंहके समान मेरे उन्नतकाय पुरुषसिंह पितामह

कम्पित हो रहे हैं और उन्हें चक्कर-सा आने लगा है, शिखण्डी उनकी ओर देख रहा है और उनका सारा शरीर बाणोंसे खचाखच भर गया है तो यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ५-६ ॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम् ।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥

जो शत्रुदलके रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ थे, वे पूर्वकी ओर मुँह करके चुपचाप बैठे हुए बाणोंका आघात सह रहे थे और जैसे पर्वत हिल रहा हो, उसी प्रकार झूम रहे थे। उस समय उनकी यह अवस्था देखकर मुझे मूर्छा-सी आ गयी थी॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् ।
बह्वन्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः ।
कन्यार्थमाह्वयद् वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः ।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥

जिन कुरुकुलशिरोमणि वीरने कुरुक्षेत्रमें महायुद्ध ठानकर हाथमें धनुष-बाण लिये बहुत दिनोंतक परशुरामजीके साथ युद्ध किया था, जिन वीर गङ्गानन्दन भीष्मने वाराणसी पुरीमें काशिराजकी कन्याओंके लिये युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर एकमात्र रथके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त क्षत्रिय-नरेशोंको ललकारा था तथा जिन्होंने दुर्जय चक्रवर्ती राजा उग्रायुधको अपने अस्त्रोंके प्रतापसे दग्ध कर दिया था, उन्हींको मैंने युद्धमें मरवा डाला ॥ ८–१० ॥

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् ।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने अपने लिये मृत्यु बनकर आये हुए पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीकी स्वयं ही रक्षा की और उसे बाणोंसे धराशायी नहीं किया, उन्हीं पितामहको अर्जुनने मार गिराया॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् ।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! जब मैंने पितामहको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा, उसी समय मुझपर अत्यन्त भयंकर शोक-ज्वरका आवेश हो गया ॥ १२ ॥

येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः ।
स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १३ ॥
अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः ।

जिन्होंने हमें बचपनसे पाल-पोसकर बड़ा किया और सब प्रकारसे हमारी रक्षा की, उन्हींको मुझ पापी, राज्यलोभी, गुरुघाती एवं मूर्खने थोड़े समयतक रहनेवाले राज्यके लिये मरवा डाला ॥ १३½ ॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ॥ १४ ॥
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ।

सम्पूर्ण राजाओंसे पूजित, महाधनुर्धर आचार्यके पास जाकर मुझ पापीने उनके पुत्रके सम्बन्धमें झूठी बात कही ॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत ॥ १५ ॥
सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः ।
सत्यमामर्षयन् विप्रो मयि तत् परिपृष्टवान् ॥ १६ ॥

उस समय गुरुने मुझसे पूछा था—'राजन् ! सच बताओ, क्या मेरा पुत्र जीवित है ?' उन ब्राह्मणने सत्यका निर्णय करनेके लिये ही मुझसे यह बात पूछी थी। उनकी वह बात जब याद आती है तो मेरा सारा शरीर शोकाग्निसे दग्ध होने लगता है ॥ १५-१६ ॥

कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ।
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १७ ॥

परंतु राज्यके लोभमें अत्यन्त फँसे हुए मुझ पापी गुरुहत्यारेने मरे हुए हाथीकी आड़ लेकर उनसे झूठ बोल दिया और उनके साथ धोखा किया ॥ १७ ॥

सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे ।
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते ॥ १८ ॥

मैंने सत्यका चोला उतार फेंका और युद्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर गुरुदेवसे कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' (इससे उन्हें अपने पुत्रके मारे जानेका विश्वास हो गया) ॥ १८ ॥

काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
अघातयं च यत् कर्णं समरेष्वपलायिनम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः ।

यह अत्यन्त दुष्कर पापकर्म करके मैं किन लोकोंमें जाऊँगा ? युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले अत्यन्त उग्र पराक्रमी अपने बड़े भाई कर्णको भी मैंने मरवा दिया—मुझसे बढ़कर महान् पापाचारी दूसरा कौन होगा ? ॥१९½॥

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ॥ २० ॥
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ।
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥ २१ ॥
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ।

मैंने राज्यके लोभमें पड़कर जब पर्वतोंपर उत्पन्न हुए सिंहके समान पराक्रमी अभिमन्युको द्रोणाचार्यद्वारा सुरक्षित कौरवसेनामें झोंक दिया, तभीसे भ्रूण-हत्या करनेवाले पापीके समान मैं अर्जुन तथा कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाता हूँ ॥ २०-२१½ ॥

द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विनाकृताम् ॥ २२ ॥
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव ।

जैसे पृथ्वी पाँच पर्वतोंसे हीन हो जाय, उसी प्रकार अपने पाँचो पुत्रोंसे हीन होकर दुःखसे आतुर हुई द्रौपदीके लिये भी मुझे निरन्तर शोक बना रहता है ॥ २२½ ॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ॥ २३ ॥

आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ।

अतः मैं पापी, अपराधी तथा सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश करनेवाला हूँ; इसलिये यहीं इसी रूपमें बैठा हुआ अपने इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ २३½ ॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ॥ २४ ॥
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ।

आपलोग मुझ गुरुघातीको आमरण अनशनके लिये बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्मोंमें मैं फिर अपने कुलका विनाश करनेवाला न होऊँ ॥ २४½ ॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन ॥ २५ ॥
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ।

तपोधनो ! अब मैं किसी तरह न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा । यहीं रहकर अपने प्यारे प्राणोंको सुखा दूँगा ॥ २५½ ॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ।

मैं आपलोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओरसे चले जानेकी अनुमति देता हूँ । जिसकी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपनी रुचिके अनुसार चला जाय । आप सब लोग मुझे आज्ञा दें कि मैं इस शरीरको अनशन करके त्याग दूँ ॥ २६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ॥ २७ ॥
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने बन्धु-जनोंके शोकसे विह्वल होकर युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यासजीने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता' ॥ २७½ ॥

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ २८ ॥
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ।

व्यासजी बोले—महाराज ! तुम बहुत शोक न करो । प्रभो ! मैं पहलेकी कही हुई बात ही फिर दुहरा रहा हूँ । यह सब प्रारब्धका ही खेल है ॥ २८½ ॥

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ॥ २९ ॥
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ।

जैसे पानीमें बुलबुले होते और मिट जाते हैं, उसी प्रकार संसारमें उत्पन्न हुए प्राणियोंके जो आपसमें संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोगमें होता है ॥ २९½ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ३० ॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ।

सम्पूर्ण संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ ३०½ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥ ३१ ॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है, परंतु उसका अन्त दुःख है तथा कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है, परंतु उससे सुखका उदय होता है । इसके सिवा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुषमें ही निवास करती हैं, आलसीमें नहीं ॥ ३१ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रजालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥ ३२ ॥

न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें । इसी प्रकार न तो प्रजा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है ॥ ३२ ॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत् कुरु ।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३३ ॥

कुन्तीनन्दन ! नरेश्वर ! विधाताने जैसे कर्मोंके लिये तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हींका अनुष्ठान करो । उन्हींसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी । तुम कर्मोंके (फलके) स्वामी या नियन्ता नहीं हो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अश्मा ऋषि और जनकके संवादद्वारा प्रारब्धकी प्रबलता बतलाते हुए व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः ।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो अपने प्राणोंको त्याग देनेकी इच्छावाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके शोकको महर्षि व्यासने इस प्रकार दूर किया ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! इस प्रसङ्गमें जानकार लोग अश्मा ब्राह्मणके गीतसम्बन्धी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, इसे सुनो ॥ २ ॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः ।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, दुःख-शोकमें डूबे हुए विदेहराज जनकने ज्ञानी ब्राह्मण अश्मासे अपने मनका संदेह इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

जनक उवाच

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च ।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन् ! कुटुम्बीजन और धनकी उत्पत्ति या विनाश होनेपर कल्याण चाहनेवाले पुरुषको कैसा निश्चय करना चाहिये ? ॥ ४ ॥

अश्मोवाच

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः ।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ५ ॥

अश्माने कहा—राजन् ! मनुष्यका यह शरीर जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके साथ ही सुख और दुःख भी उसके पीछे लग जाते हैं ॥ ५ ॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद् यदेवोपपद्यते ।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥

इन दोनोंमेंसे एक-न-एककी प्राप्ति तो होती ही है; अतः जो भी सुख या दुःख उपस्थित होता है, वही मनुष्यके ज्ञानको उसी प्रकार हर लेता है, जैसे हवा बादलको उड़ा ले जाती है ॥ ६ ॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ॥ ७ ॥

इसीसे 'मैं कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ और कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ' ये अहंकारकी तीन धाराएँ मनुष्यके चित्तको सींचने लगती हैं ॥ ७ ॥

सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ ८ ॥

फिर वह मनुष्य भोगोंमें आसक्तचित्त होकर क्रमशः बाप-दादोंकी रक्खी हुई कमाईको उड़ाकर कंगाल हो जाता है और दूसरोंके धनको हड़प लेना अच्छा मानने लगता है ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम् ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ ९ ॥

जैसे व्याधे अपने बाणोंद्वारा मृगोंको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, उसी प्रकार मर्यादा लाँघकर अनुचितरूपसे दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाले उस मनुष्यको राजालोग दण्डद्वारा वैसे कुमार्गपर चलनेसे रोकते हैं ॥ ९ ॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥

राजन् ! जो बीस या तीस वर्षकी उम्रवाले मनुष्य चोरी आदि कुकर्मोंमें लग जाते हैं, वे सौ वर्षतक जीवित नहीं रह पाते ॥ १० ॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ ११ ॥

जहाँ-तहाँ समस्त प्राणियोंके दुःखद बर्तावसे उनपर जो कुछ बीतता है· उसे देखता हुआ मनुष्य दरिद्रतासे प्राप्त होनेवाले उन महान् दुःखोंका निवारण करनेके लिये बुद्धिके द्वारा औषध करे (अर्थात् विचारद्वारा अपने आपको कुमार्गपर जानेसे रोके) ॥ ११ ॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः ।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥ १२ ॥

मनुष्योंको बार-बार मानसिक दुःखोंकी प्राप्तिके कारण दो ही हैं—चित्तका भ्रम और अनिष्टकी प्राप्ति । तीसरा कोई कारण सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥ १३ ॥

इस प्रकार मनुष्यको इन्हीं दो कारणोंसे ये भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं । विषयोंकी आसक्तिसे भी ये दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥

बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियोंके समान हैं, जो बलवान्, दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियोंको खा जाते हैं॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः ।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौतको लाँघ नहीं सकता । भले ही वह समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीपर विजय पा चुका हो ॥ १५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् ।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥

प्राणियोंके निकट जो सुख या दुःख उपस्थित होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालनेका कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप ।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै कांक्षिता ये ततोऽन्यथा ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! पूर्वावस्था, मध्यावस्था अथवा उत्तरावस्थामें कभी-न-कभी वे क्लेश अनिवार्यरूपसे प्राप्त होते ही हैं, जिन्हें मनुष्य उनके विपरीतरूपमें चाहता है (अर्थात् सुख-ही-सुखकी इच्छा करता है; परंतु उसे कष्ट भी प्राप्त होते ही हैं) ॥

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥ १८ ॥

अप्रिय वस्तुओंके साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओंका वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्धके विधानके अनुसार होती है ॥ १८ ॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, देहावसान, लाभ[1] और हानि—ये सब प्रारब्धके ही आधारपर स्थित हैं ॥ १९ ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥

जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वभावतः आते-जाते रहते हैं; उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःखोंको प्रारब्धानुसार पाता रहता है ॥ २० ॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम्।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥ २१ ॥

सभी प्राणियोंके लिये बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समयके अनुसार ही नियत रूपसे होते रहते हैं ॥ २१ ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं, यह समयका उलटफेर बड़ा अद्भुत है॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप, सौभाग्य और उपभोग-सामग्री—ये सब होनहारके अनुसार ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम्।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ २४ ॥

जो दरिद्र हैं और संतानकी इच्छा नहीं रखते हैं, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमेंसे किसी-किसीको एक पुत्र भी नहीं प्राप्त होता। विधाताकी चेष्टा बड़ी विचित्र है ॥ २४ ॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्वापदो विषम्।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा ॥ २५ ॥
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं तेन गच्छति सेतुना।

रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थानसे गिरना—ये सब जीवकी मृत्युके निमित्त हैं। जन्मके समय जिसके लिये प्रारब्धवश जो निमित्त नियत कर दिया गया है, वही उसका सेतु है, अतः उसीके द्वारा वह जाता है अर्थात् परलोकमें गमन करता है ॥२५½॥

दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥ २६ ॥
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्ननिग्राह्योऽथवा पुनः।

कोई इस सेतुका उल्लङ्घन करता दिखायी नहीं देता अथवा पहले भी किसीने इसका उल्लङ्घन किया हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया। कोई-कोई पुरुष जो (तपस्या आदि प्रबल पुरुषार्थके द्वारा) दैवके नियन्त्रणमें रहने योग्य नहीं है, वह पूर्वोक्त सेतुका उल्लङ्घन करता भी दिखायी देता है॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥

इस जगत्में धनवान् मनुष्य भी जवानीमें ही नष्ट होता दिखायी देता है और क्लेशमें पड़ा हुआ दरिद्र भी सौ वर्षों-तक जीवित रहकर अत्यन्त वृद्धावस्थामें मरता देखा जाता है॥

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥ २८ ॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गोंके समान नष्ट होते रहते हैं ॥ २८ ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥ २९ ॥

जगत्में प्रायः धनवानोंको खाने और पचानेकी शक्ति ही नहीं रहती है और दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥२९॥

अहमेतत् करोमीति मन्यते कालनोदितः।
यद् यदिष्टमसंतोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत् ॥ ३० ॥

दुरात्मा मनुष्य कालसे प्रेरित होकर यह अभिमान करने लगता है कि मैं यह करूँगा। तत्पश्चात् असंतोषवश उसे जो-जो अभीष्ट होता है, उस पापपूर्ण कृत्यको भी वह करने लगता है ॥ ३० ॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥

विद्वान् पुरुष शिकार करने, जूआ खेलने, स्त्रियोंके संसर्गमें रहने और मदिरा पीनेके प्रसङ्गोंकी बड़ी निन्दा करते हैं, परंतु इन पाप-कर्मोंमें अनेक शास्त्रोंके श्रवण और अध्ययन-से सम्पन्न पुरुष भी संलग्न देखे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कालके प्रभावसे समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्त करते रहते हैं, इस इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिका अदृष्टके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ ३२ ॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षपे।
ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च ॥ ३३ ॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, नक्षत्र, नदी और पर्वतोंको कालके सिवा कौन बनाता और धारण करता है ? ॥ ३३ ॥

१. नीलकण्ठने 'प्राप्ति' का अर्थ 'लाभ' और 'व्यायाम' का अर्थ उसके विपरीत 'अलाभ' किया है।

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥

सर्दी, गर्मी और वर्षाका चक्र भी कालसे ही चलता है। नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मनुष्योंके सुख-दुःख भी कालसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ ३५ ॥

वृद्धावस्था और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्यको औषध, मन्त्र, होम और जप भी नहीं बचा पाते हैं ॥ ३५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ ३६ ॥

जैसे महासागरमें एक काठ एक ओरसे और दूसरा दूसरी ओरसे आकर दोनों थोड़ी देरके लिये मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर बिछुड़ भी जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियोंके संयोग-वियोग होते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥

जगत्‌में जिन धनवान् पुरुषोंकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्योंके साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरोंके अन्नपर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति कालकी समान चेष्टा होती है ॥ ३७ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥

हमने संसारमें अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ३८ ॥

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥

इस जीवका न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसीका सम्बन्धी है। जैसे मार्गमें चलनेवालोंको दूसरे राहगीरोंका साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदोंका समागम होता है ॥ ३९ ॥

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥ ४० ॥

अतः विवेकी पुरुषको अपने मनमें यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, यहाँ किस-लिये आया हूँ और किस लिये किसका शोक करूँ ?' ॥ ४० ॥

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा ॥ ४१ ॥

यह संसार चक्रके समान घूमता रहता है। इसमें प्रिय-जनोंका सहवास अनित्य है। यहाँ भ्राता, मित्र, पिता और माता आदिका साथ रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान ही है ॥४१॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४२ ॥

यद्यपि विद्वान् पुरुष कहते हैं कि परलोक न तो आँखोंके सामने है और न पहलेका ही देखा हुआ है, तथापि अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके उसकी बातोंपर विश्वास करना चाहिये ॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत् ।
यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥

विज्ञ पुरुष पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका यजन करे। धर्मानुकूल कार्योंका अनुष्ठान और यज्ञ करे तथा विधिपूर्वक धर्म, अर्थ और कामका भी सेवन करे ॥ ४३ ॥

संनिमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४४ ॥

जिसमें जरा और मृत्युरूपी बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसमुद्रमें यह सारा संसार डूब रहा है, किंतु कोई इस बातको समझ नहीं पाता है ॥ ४४ ॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥ ४५ ॥

केवल आयुर्वेदका अध्ययन करनेवाले बहुत-से वैद्य भी परिवारसहित रोगोंके शिकार हुए देखे जाते हैं ॥ ४५ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४६ ॥

वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकारके घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तट-भूमिसे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौतको लाँघ नहीं पाते हैं ॥ ४६ ॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥

रसायन जाननेवाले वैद्य अपने लिये रसायनोंका अच्छी तरह प्रयोग करके भी वृद्धावस्थाद्वारा वैसे ही जर्जर हुए दिखायी देते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियोंके आघातसे टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४७ ॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार शास्त्रोंके स्वाध्याय और अभ्यासमें लगे हुए विद्वान्, तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्युको पार नहीं कर पाते हैं ॥ ४८ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४९ ॥

संसारमें जन्म लेनेवाले सभी प्राणियोंके दिन-रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लौटते हैं ॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥

मृत्युके इस विशाल मार्गका सेवन सभी प्राणियोंको करना पड़ता है। इस अनित्य मानवको भी कालसे विवश होकर कभी

न टलनेवाले मृत्युके मार्गपर आना ही पड़ता है ॥ ५० ॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः ।
पथि सङ्गममभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥

(आस्तिक मतके अनुसार) जीव (चेतन) से शरीरकी उत्पत्ति हो या (नास्तिकोंकी मान्यताके अनुसार) शरीरसे जीवकी । सर्वथा स्त्री-पुत्र आदि या अन्य बन्धुओंके साथ जो समागम होता है, वह रास्तेमें मिलनेवाले राहगीरोंके समान ही है ॥ ५१ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

किसी भी पुरुषको कभी किसीके साथ भी सदा एक स्थानमें रहनेका सुयोग नहीं मिलता । जब अपने शरीरके साथ भी बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसीके साथ कैसे रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

क नु तेऽद्य पिता राजन् क नु तेऽद्य पितामहाः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ ॥ ५३ ॥

राजन् ! आज तुम्हारे पिता कहाँ हैं ? आज तुम्हारे पितामह कहाँ गये ? निष्पाप नरेश ! आज न तो तुम उन्हें देख रहे हो और न वे तुम्हें देखते हैं ॥ ५३ ॥

न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च ।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥

कोई भी मनुष्य यहींसे इन स्थूल नेत्रोंद्वारा स्वर्ग और नरकको नहीं देख सकता । उन्हें देखनेके लिये सत्पुरुषोंके पास शास्त्र ही एकमात्र नेत्र हैं, अतः नरेश्वर ! तुम यहाँ उस शास्त्रके अनुसार ही आचरण करो ॥ ५४ ॥

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च ।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपसे पालन करके गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करे और पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों (अतिथियों) के ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पादन तथा यज्ञ करे, किसीके प्रति दोषदृष्टि न रक्खे ॥ ५५ ॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः
प्राग् ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः ।
आराधयेत् स्वर्गमिमं च लोकं
परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥ ५६ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पालन करके संतानोत्पादनके लिये विवाह करे, नेत्र आदि इन्द्रियोंको पवित्र रक्खे और स्वर्गलोक तथा इहलोकके सुखकी आशा छोड़कर हृदयके शोक-संतापको दूर करके यज्ञ-परायण हो परमात्माकी आराधना करता रहे ॥ ५६ ॥

समं हि धर्मं चरतो नृपस्य
द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत् ।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते
सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५७ ॥

राजा यदि नियमपूर्वक प्रजाके निकटसे करके रूपमें द्रव्य ग्रहण करे और राग-द्वेषसे रहित हो राजधर्मका पालन करता रहे तो उस धर्मपरायण नरेशका सुयश सम्पूर्ण चराचर लोकोंमें फैल जाता है ॥ ५७ ॥

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो
वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः ।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धि-
र्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ॥ ५८ ॥

निर्मल बुद्धिवाले विदेहराज जनक अश्माका यह युक्तिपूर्ण सम्पूर्ण उपदेश सुनकर शोकरहित हो गये और उनकी आज्ञा ले अपने घरको लौट गये ॥ ५८ ॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोक-
मुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि ।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते
तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः ॥ ५९ ॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! तुम भी शोक छोड़कर उठो और हृदयमें हर्ष धारण करो । तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है; अतः इसे भोगो । इसकी अवहेलना न करो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा नारद-सृंजय-संवादके रूपमें सोलह राजाओंका उपाख्यान संक्षेपमें सुनाकर युधिष्ठिरके शोकनिवारणका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सबके समझाने-बुझानेपर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसंतप्तो धर्मपुत्रः परंतपः ।

स्वयं श्रीकृष्ण शोकमग्न युधिष्ठिरको समझा रहे हैं

एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—माधव ! शत्रुओंको संताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो शोकके समुद्रमें डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइये ॥ २ ॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

महाबाहु जनार्दन ! हम सब लोग पुनः महान् संशयमें पड़ गये हैं । आप इनके शोकका नाश कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महामना अर्जुनके ऐसा कहनेपर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले कमलनयन भगवान् गोविन्द राजा युधिष्ठिरकी ओर घूमे—उनके सम्मुख हुए ॥ ४ ॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात् प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात् ॥ ५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकते थे; क्योंकि श्रीकृष्ण बाल्यावस्थासे ही उन्हें अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे ॥ ५ ॥

सम्प्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥

महाबाहु गोविन्दने युधिष्ठिरकी पत्थरके बने हुए खम्भे-जैसी चन्दनचर्चित भुजाको हाथमें लेकर उनका मनोरञ्जन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते ॥ ७ ॥

उस समय सुन्दर दाँतों और मनोहर नेत्रोंसे युक्त उनका मुखारविन्द सूर्योदयके समय पूर्णतः विकसित हुए कमलके समान शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह ! तुम शोक न करो । शोक तो शरीरको सुखा देनेवाला होता है । इस समराङ्गणमें जो वीर मारे गये हैं, वे फिर सहज ही मिल सकें, यह सम्भव नहीं है ॥ ८ ॥

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥ ९ ॥

राजन् ! जैसे सपनेमें मिले हुए धन जगनेपर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय महासमरमें नष्ट हो गये हैं, उनका दर्शन अब दुर्लभ है ॥ ९ ॥

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः ।
नैषां कश्चित् पृष्ठतो वा पलायन् वापि पातितः ॥ १० ॥

संग्राममें शोभा पानेवाले वे सभी शूरवीर शत्रुका सामना करते हुए पराजित हुए हैं । उनमेंसे कोई भी पीठपर चोट खाकर या भागता हुआ नहीं मारा गया है ॥ १० ॥

सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान् युद्ध्वा वीरा महामृधे ।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥

सभी वीर महायुद्धमें जूझते हुए अपने प्राणोंका परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रोंसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये हैं, अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्षत्रधर्मरताः शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः ।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान् न शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ।

क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत वे शूरवीर नरेश पुण्यमयी वीर-गतिको प्राप्त हुए हैं । पहलेके मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका चरित्र सुनकर तुम्हें अपने उन बन्धुओंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२½ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ १३ ॥
सृंजयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् ।

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जैसा कि इन देवर्षि नारदजीने पुत्र-शोकसे पीड़ित हुए राजा सृंजयसे कहा था ॥ १३½ ॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृंजय ॥ १४ ॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ।

'सृंजय ! मैं, तुम और ये समस्त प्रजावर्गके लोग कोई भी सुख और दुःखोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हुए हैं तथा एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी । फिर इसके लिये शोक क्या करना है ? ॥ १४½ ॥

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥ १५ ॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ।

'नरेश्वर ! मैं पूर्ववर्ती राजाओंके महान् सौभाग्यका वर्णन करता हूँ । सुनो और सावधान हो जाओ । इससे तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥ १५½ ॥

मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥ १६ ॥
शममानय संतापं शृणु विस्तरशश्च मे ।

'मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका नाम सुनकर ही तुम अपने मानसिक संतापको शान्त कर लो और मुझसे विस्तार-पूर्वक उन सबका परिचय सुनो ॥ १६½ ॥

क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम् ।

'उन पूर्ववर्ती राजाओंका श्रवण करने योग्य मनोहर वृत्तान्त बहुत ही उत्तम, क्रूर ग्रहोंको शान्त करनेवाला और आयुको बढ़ानेवाला है ॥ १७½ ॥

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥

यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः ।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १९ ॥

'सृंजय ! हमने सुना है कि अविक्षित्‌के पुत्र वे राजा मरुत्त भी मर गये, जिन महात्मा नरेशके यज्ञमें इन्द्र तथा वरुणसहित सम्पूर्ण देवता और प्रजापतिगण बृहस्पतिको आगे करके पधारे थे ॥ १८-१९ ॥

यः स्पर्धयायजच्छक्रं देवराजं पुरंदरम् ।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान् प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥
संवर्तो याजयामास यवीयान् स बृहस्पतेः ।

'उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखनेके कारण अपने यज्ञ-वैभवद्वारा उन्हें पराजित कर दिया था। इन्द्रका प्रिय चाहनेवाले बृहस्पतिजीने जब उनका यज्ञ करानेसे इन्कार कर दिया, तब उन्हींके छोटे भाई संवर्तने मरुत्तका यज्ञ कराया था ॥ २०½ ॥

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम ।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! राजा मरुत्त जब इस पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी और समस्त भूमण्डलमें देवालयोंकी माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथ्वीकी बड़ी शोभा होती थी ॥ २१ ॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः ।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन् महात्मनः ॥ २२ ॥

'महामना मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेवगण सभासद थे और मरुद्गण तथा साध्यगण रसोई परोसनेका काम करते थे॥२२॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत् सोममपिबंस्ततः ।
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २३ ॥

'मरुद्गणोंने मरुत्तके यज्ञमें उस समय खूब सोमरसका पान किया था। राजाने जो दक्षिणाएँ दी थीं, वे देवताओं, मनुष्यों और गन्धर्वोंके सभी यज्ञोंसे बढ़कर थीं ॥ २३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २४ ॥

'सृंजय ! धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चारों बातोंमें राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥

सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यस्मिन् हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥ २५ ॥

'सृंजय ! अतिथिसत्कारके प्रेमी राजा सुहोत्र भी जीवित नहीं रहे, ऐसा सुननेमें आया है। उनके राज्यमें इन्द्रने एक वर्षतक सोनेकी वर्षा की थी ॥ २५ ॥

सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम् ।
हिरण्यमवहन् नद्यस्तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ २६ ॥

'राजा सुहोत्रको पाकर पृथ्वीका वसुमती नाम सार्थक हो गया था। जिस समय वे जनपदके स्वामी थे, उन दिनों वहाँकी नदियाँ अपने जलके साथ-साथ सुवर्ण बहाया करती थीं ॥

कूर्मान् कर्कटकान् नक्रान् मकराञ्छिशुकानपि ।
नदीष्वपातयद् राजन् मघवा लोकपूजितः ॥ २७ ॥

'राजन् ! लोकपूजित इन्द्रने सोनेके बने हुए बहुत से कछुए, केकड़े, नाके, मगर, सूँस और मत्स्य उन नदियोंमें गिराये थे ॥ २७ ॥

हिरण्यान् पातितान् दृष्ट्वा मत्स्यान् मकरकच्छपान् ।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः ॥ २८ ॥

'उन नदियोंमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें सुवर्णमय मत्स्यों, ग्राहों और कछुओंको गिराया गया देख अतिथिप्रिय राजा सुहोत्र आश्चर्यचकित हो उठे थे ॥ २८ ॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥ २९ ॥

'वह अनन्त सुवर्णराशि कुरुजाङ्गल देशमें छा गयी थी। राजा सुहोत्रने वहाँ यज्ञ किया और उसमें वह सारी धनराशि ब्राह्मणोंमें बाँट दी ॥ २९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३० ॥
अदक्षिणमयज्वानं श्वैत्य संशाम्य मा शुचः ।

'श्वेतपुत्र सृंजय ! वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। उसने न तो कोई यज्ञ किया था और न दक्षिणा ही बाँटी थी, अतः उसके लिये शोक न करो, शान्त हो जाओ ॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३१ ॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥ ३२ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'सृंजय ! अङ्गदेशके राजा बृहद्रथकी भी मृत्यु हुई थी, ऐसा हमने सुना है। उन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें दस लाख श्वेत घोड़े और सोनेके आभूषणोंसे भूषित दस लाख कन्याएँ दक्षिणारूपमें बाँटी थीं ॥ ३१-३२½ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां गजानां पद्ममालिनाम् ॥ ३३ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'इसी प्रकार यजमान बृहद्रथने उस विस्तृत यज्ञमें सुवर्णमय कमलोंकी मालाओंसे अलङ्कृत दस लाख हाथी भी दक्षिणामें बाँटे थे ॥ ३३½ ॥

शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम् ॥ ३४ ॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ।

'उन्होंने उस यज्ञमें एक करोड़ सुवर्णमालाधारी गाय, बैल और उनके सहस्रों सेवक दक्षिणारूपमें दिये थे ॥३४½॥

अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥ ३५ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।

'यजमान अङ्ग जब विष्णुपद पर्वतपर यज्ञ कर रहे थे, उस समय इन्द्र वहाँ सोमरस पीकर मतवाले हो उठे थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंपर भी आनन्दोन्माद छा गया था॥३५½॥

यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥ ३६ ॥
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ।

'राजेन्द्र ! प्राचीन कालमें अङ्गराजने ऐसे-ऐसे सौ यज्ञ किये थे और उन सबमें जो दक्षिणाएँ दी गयी थीं, वे देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंके यज्ञोंसे बढ़ गयी थीं ॥

न जातो जनिता नान्यः पुमान् यः सम्प्रदास्यति ॥३७॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ।

'अङ्गराजने सातों सोम-संस्थाओं[1]में जो धन दिया था, उतना जो दे सके, ऐसा दूसरा न तो कोई मनुष्य पैदा हुआ है और न पैदा होगा ॥ ३७½ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ३८ ॥
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

'सृंजय ! पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे बृहद्रथ तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये संतप्त न होओ ॥ ३८½ ॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३९ ॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ।

'सृंजय ! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वीको चमड़ेकी भाँति लपेट लिया था (सर्वथा अपने अधीन कर लिया था), वे उशीनरपुत्र राजा शिबि भी मरे थे, यह हमने सुना है॥३९½॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥ ४० ॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ।

'वे अपने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथके द्वारा इस भूमण्डलका एकछत्र शासन करते थे ॥ ४०½ ॥

यावदद्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ॥ ४१ ॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ।

'आज संसारमें जंगली पशुओंसहित जितने गाय-बैल और घोड़े हैं, उतनी संख्यामें उशीनरपुत्र शिबिने अपने यज्ञमें केवल गौओंका दान किया ॥ ४१½ ॥

न वोढारं धुरं तस्य कश्चिन्मेने प्रजापतिः ॥ ४२ ॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृंजय ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद् राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ४३ ॥

'सृंजय ! प्रजापति ब्रह्माने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उशीनर-पुत्र राजा शिबिके सिवा सम्पूर्ण राजाओंमें भूत या भविष्य-कालके दूसरे किसी राजाको ऐसा नहीं माना, जो शिबिका कार्यभार वहन कर सकता हो ॥ ४२-४३ ॥

अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४४ ॥

'सृंजय ! राजा शिबि पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे । तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब दूसरेकी क्या बात है, अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक मत करो । उसने न तो कोई यज्ञ किया था, न दक्षिणा ही दी थी; अतः उस पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥ ४५ ॥

'सृंजय ! दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र महाधनी महा-मनस्वी भरत भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमने सुना था॥

यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान् देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश ॥ ४६ ॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४७ ॥

'उन महातेजस्वी दुष्यन्त-कुमार भरतने पूर्वकालमें देवताओंकी प्रसन्नताके लिये यमुनाके तटपर तीन सौ, सरस्वती-के तटपर बीस और गङ्गाके तटपर चौदह घोड़े बाँधकर उतने-उतने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।* उन्होंने अपने जीवनमें एक सहस्र अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे ॥

भरतस्य महत् कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन्॥ ४८ ॥

'जैसे मनुष्य दोनों भुजाओंसे आकाशको तैर नहीं सकते, उसी प्रकार सम्पूर्ण राजाओंमें भरतका जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण न कर सके ॥ ४८ ॥

परं सहस्राद् यो बद्धान् हयान् वेदीर्वितत्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४९ ॥

'उन्होंने सहस्रसे भी अधिक घोड़े बाँधे और यज्ञ-वेदियों-का विस्तार करके अश्वमेध यज्ञ किये । उसमें भरतने आचार्य कण्वको एक हजार सुवर्णके बने हुए कमल भेंट किये॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५० ॥

'सृंजय ! वे साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार कल्याणमयी नीतियों अथवा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—

---

1. अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोमसंस्थाएँ हैं ।

* पहले द्रोणपर्वमें जो सोलह राजाओंके प्रसङ्ग आये हैं, उनमें और यहाँके प्रसङ्गमें पाठभेदोंके कारण बहुत अन्तर देखा जाता है । वहाँ भरतके द्वारा यमुनातटपर सौ, सरस्वतीतटपर तीन सौ और गङ्गातटपर चार सौ अश्वमेध यज्ञ किये गये थे—यह उल्लेख है ।

इन चार मङ्गलकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरा कौन जीवित रह सकता है। अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥५०॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥ ५१ ॥

'सृंजय! सुननेमें आया है कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामजी भी यहाँसे परम धामको चले गये थे, जो सदा अपनी प्रजापर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे—पिता अपने औरस पुत्रोंपर रखता है ॥ ५१ ॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात् ॥ ५२ ॥

'उनके राज्यमें कोई भी स्त्री अनाथ-विधवा नहीं हुई। श्रीरामचन्द्रजीने जबतक राज्यका शासन किया, तबतक वे अपनी प्रजाके लिये सदा ही पिताके समान कृपालु बने रहे ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५३ ॥

'मेघ समयपर वर्षा करके खेतीको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलनेका अवसर देता था। रामके राज्य-शासन-कालमें सदा सुकाल ही रहता था (कभी अकाल नहीं पड़ता था) ॥ ५३ ॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
रुजाभयं न तत्रासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५४ ॥

'रामके राज्यका शासन करते समय कभी कोई प्राणी जलमें नहीं डूबते थे, आग अनुचितरूपसे कभी किसीको नहीं जलाती थी तथा किसीको रोगका भय नहीं होता था ॥

आसन् वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्यका शासन करते थे' उन दिनों हजार वर्षतक जीनेवाली स्त्रियाँ और सहस्रों वर्षतक जीवित रहनेवाले पुरुष थे। किसीको कोई रोग नहीं सताता था, सभीके सारे मनोरथ सिद्ध होते थे ॥ ५५ ॥

नान्योऽन्येन विवादोऽभूत् स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५६ ॥

'स्त्रियोंमें भी परस्पर विवाद नहीं होता था; फिर पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? श्रीरामके राज्य-शासनकालमें समस्त प्रजा सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ५६ ॥

संतुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्य करते थे, उस समय सभी मनुष्य संतुष्ट, पूर्णकाम, निर्भय, स्वाधीन और सत्यव्रती थे॥

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५८ ॥

'श्रीरामके राज्यशासनकालमें सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधाके सदा फले-फूले रहते थे और समस्त गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ ५८ ॥

स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः।
दशाश्वमेधाञ् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥ ५९ ॥

'महातपस्वी श्रीरामने चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके राज्य पानेके अनन्तर दस ऐसे अश्वमेध यज्ञ किये, जो सर्वथा स्तुतिके योग्य थे तथा जहाँ किसी भी याचकके लिये दरवाजा बंद नहीं होता था ॥ ५९ ॥

युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ६० ॥

'श्रीरामचन्द्रजी नवयुवक और श्याम वर्णवाले थे। उनकी आँखोंमें कुछ-कुछ लालिमा शोभा देती थी। वे यूथपति गजराजके समान शक्तिशाली थे। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। उनका मुख सुन्दर और कंधे सिंहके समान थे ॥ ६० ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥ ६१ ॥

'श्रीरामने अयोध्याके अधिपति होकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था ॥ ६१ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६२ ॥

'सृंजय! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी यहाँ रह न सके, तब दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम्हें अपने पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

भगीरथं च राजानं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ६३ ॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः।
अजयद् बाहुवीर्येण भगवान् पाकशासनः ॥ ६४ ॥

'सृंजय! राजा भगीरथ भी कालके गालमें चले गये, ऐसा हमने सुना है। जिनके विस्तृत यज्ञमें सोम पीकर मदोन्मत्त हुए सुरश्रेष्ठ भगवान् पाकशासन इन्द्रने अपने बाहुबलसे कई सहस्र असुरोंको पराजित किया ॥ ६३-६४ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ६५ ॥

'जिन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित दस लाख कन्याओंका दक्षिणारूपमें दान किया था ॥ ६५ ॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ६६ ॥

'वे सभी कन्याएँ अलग-अलग रथमें बैठी हुई थीं। प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे। हर एक रथके

पीछे सोनेकी मालाओंसे विभूषित तथा मस्तकपर कमलके चिह्नोंसे अलंकृत सौ-सौ हाथी थे ॥ ६६ ॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६७ ॥

'प्रत्येक हाथीके पीछे एक-एक हजार घोड़े, हर एक घोड़ेके पीछे हजार-हजार गायें और एक-एक गायके साथ हजार-हजार भेड़-बकरियाँ चल रही थीं ॥ ६७ ॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह ।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत् पुरा ॥ ६८ ॥

'तटके निकट निवास करते समय गङ्गाजी राजा भगीरथकी गोदमें आ बैठी थीं। इसलिये वे पूर्वकालमें भागीरथी और उर्वशी नामसे प्रसिद्ध हुईं ॥ ६८ ॥

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम् ।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥ ६९ ॥

'त्रिपथगामिनी गङ्गाने पुत्रीभावको प्राप्त होकर पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशी यजमान भगीरथको अपना पिता माना ॥ ६९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७० ॥

सृंजय ! वे पूर्वोक्त चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब वे भी कालसे न बच सके तो दूसरोंके लिये क्या कहा जा सकता है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥ ७० ॥

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥ ७१ ॥

'सृंजय ! महामना राजा दिलीप भी मरे थे, यह सुननेमें आया है । उनके महान् कर्मोंका आज भी ब्राह्मणलोग वर्णन करते हैं ॥ ७१ ॥

य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।
ददौ तस्मिन् महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ७२ ॥

'एकाग्रचित्त हुए उन नरेशने अपने उस महायज्ञमें रत्न और धनसे परिपूर्ण इस सारी पृथ्वीका ब्राह्मणोंके लिये दान कर दिया था ॥ ७२ ॥

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः ।
सहस्रं वारणान् हैमान् दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ७३ ॥

'यजमान दिलीपके प्रत्येक यज्ञमें पुरोहितजी सोनेके बने हुए एक हजार हाथी दक्षिणारूपमें पाकर उन्हें अपने घर ले जाते थे ॥ ७३ ॥

यस्य यज्ञे महानासीद् यूपः श्रीमान् हिरण्मयः ।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ७४ ॥

'उनके यज्ञमें सोनेका बना हुआ कान्तियुक्त बहुत बड़ा यूप शोभा पाता था । यज्ञकर्म करते हुए इन्द्र आदि देवता सदा उसी यूपका आश्रय लेकर रहते थे ॥ ७४ ॥

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये ।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ॥ ७५ ॥
अवादयत् तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ७६ ॥

'उनके उस सुवर्णमय यूपमें जो सोनेका चषाल (घेरा) बना था, उसके ऊपर छः हजार देवगन्धर्व नृत्य किया करते थे । वहाँ साक्षात् विश्वावसु बीचमें बैठकर सात स्वरोंके अनुसार वीणा बजाया करते थे । उस समय सब प्राणी यही समझते थे कि ये मेरे ही आगे बाजा बजा रहे हैं ॥७५-७६॥

एतद् राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यस्येभा हेमसंछन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ ७७ ॥
राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ।
येऽपश्यन् सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥ ७८ ॥

'राजा दिलीपके इस महान् कर्मका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सके । उनके सुनहरे साज-बाज और सोनेके आभूषणोंसे सजे हुए मतवाले हाथी रास्तेपर सोये रहते थे । सत्यवादी शतधन्वा महामनस्वी राजा दिलीपका जिन लोगोंने दर्शन किया था, उन्होंने भी स्वर्गलोकको जीत लिया ॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने ।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥ ७९ ॥

'महाराज दिलीपके भवनमें वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष, शूरवीरोंके धनुषकी टंकार तथा 'दान दो' की पुकार–ये तीन प्रकारके शब्द कभी बंद नहीं होते थे ॥ ७९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ८० ॥

'सृंजय ! वे राजा दिलीप चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे । तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥८०॥

मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ८१ ॥

'सृंजय ! जिन्हें मरुत् नामक देवताओंने गर्भावस्थामें पिताके पार्श्वभागको फाड़कर निकाला था, वे युवनाश्वके पुत्र मान्धाता भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ८१ ॥

समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः ।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ८२ ॥

'त्रिलोकविजयी श्रीमान् राजा मान्धाता पृषदाज्य (दधिमिश्रित घी जो पुत्रोत्पत्तिके लिये तैयार करके रक्खा गया था) से उत्पन्न हुए थे । वे अपने पिता महामना युवनाश्वके पेटमें ही पले थे ॥ ८२ ॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम् ।
अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कमयं धास्यतीति वै ॥ ८३ ॥

'जब वे शिशु-अवस्थामें पिताके पेटसे पैदा हो उनकी गोदमें सो रहे थे, उस समय उनका रूप देवताओंके बालकोंके समान दिखायी देता था। उस अवस्थामें उन्हें देखकर देवता आपसमें बात करने लगे 'यह मातृहीन बालक किसका दूध पीयेगा'॥

मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत ।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः ॥ ८४ ॥

'यह सुनकर इन्द्र बोल उठे 'मां धाता—मेरा दूध पीयेगा।' जब इन्द्रने इस प्रकार उसे पिलाना स्वीकार कर लिया, तबसे उन्होंने ही उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया॥ ८४॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः ।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत् ॥ ८५ ॥

'तदनन्तर उस महामनस्वी बालक युवनाश्वकुमारकी पुष्टिके लिये उसके मुखमें इन्द्रके हाथसे दूधकी धारा झरने लगी॥ ८५॥

तं पिबन् पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्धत ।
स आसीद् द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः ॥ ८६ ॥

'इन्द्रके उस हाथको पीता हुआ वह बालक एक ही दिनमें सौ दिनके बराबर बढ़ गया। बारह दिनोंमें राजकुमार मान्धाता बारह वर्षकी अवस्थावाले बालकके समान हो गये॥

तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत ।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि ॥ ८७ ॥

'राजा मान्धाता बड़े धर्मात्मा और महामनस्वी थे। युद्धमें इन्द्रके समान शौर्य प्रकट करते थे। यह सारी पृथ्वी एक ही दिनमें उनके अधिकारमें आ गयी थी॥ ८७॥

यश्चाङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम् ।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत् ॥ ८८ ॥

'मान्धाताने समराङ्गणमें राजा अङ्गार, मरुत्त, असित, गय तथा अङ्गराज बृहद्रथको भी पराजित कर दिया था॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत ।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे ॥ ८९ ॥

'जिस समय युवनाश्वपुत्र मान्धाताने रणभूमिमें राजा अङ्गारके साथ युद्ध किया था, उस समय देवताओंने ऐसा समझा कि 'उनके धनुषकी टंकारसे सारा आकाश ही फट पड़ा है'॥ ८९॥

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ९० ॥

'जहाँ सूर्य उदय होते हैं वहाँसे लेकर जहाँ अस्त होते हैं वहाँतकका सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाताका ही राज्य कहलाता था॥ ९०॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च ।
अददाद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते ९१
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम् ।
अतिरिक्तान् द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः॥ ९२ ॥

'प्रजानाथ! उन्होंने सौ अश्वमेध तथा सौ राजसूय यज्ञ करके दस योजन लंबे तथा एक योजन ऊँचे बहुत-से सोनेके रोहित नामक मत्स्य बनवाकर ब्राह्मणोंको दान किये थे। ब्राह्मणोंके ले जानेसे जो बच गये, उन्हें दूसरे लोगोंने बाँट लिया॥ ९१-९२॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९३ ॥

'सृंजय! राजा मान्धाता चारों कल्याणमय गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मारे गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बिसात है? अतः तुम उसके लिये शोक न करो॥ ९३॥

ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ।
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सहसागराम् ॥ ९४ ॥
शम्यापातेनाभ्यतीयाद् वेदीभिश्चित्रयन् महीम् ।
ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद् वसुन्धराम् ॥ ९५ ॥

'सृंजय! नहुषपुत्र राजा ययाति भी जीवित न रह सके—यह हमने सुना है। उन्होंने समुद्रोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर शम्यापातके[१] द्वारा पृथ्वीको नाप-नापकर यज्ञकी वेदियाँ बनायीं, जिनसे भूतलकी विचित्र शोभा होने लगी। उन्हीं वेदियोंपर मुख्य-मुख्य यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए उन्होंने सारी भारतभूमिकी परिक्रमा कर डाली॥ ९४-९५॥

इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च ।
तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ ९६ ॥

'उन्होंने एक हजार श्रौतयज्ञों और सौ वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सोनेके तीन पर्वत दान करके पूर्णतः संतुष्ट किया॥ ९६॥

व्यूढेनासुरयुद्धेन हत्वा दैतेयदानवान् ।
व्यभजत् पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ९७ ॥

'नहुषपुत्र ययातिने व्यूह-रचनायुक्त आसुर युद्धके द्वारा दैत्यों और दानवोंका संहार करके यह सारी पृथ्वी अपने पुत्रोंको बाँट दी थी॥ ९७॥

अन्त्येषु पुत्रान् निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान् ।
पूरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद् वनम्॥ ९८ ॥

'उन्होंने किनारेके प्रदेशोंपर अपने तीन पुत्र यदु, द्रुह्यु तथा अनुको स्थापित करके मध्य भारतके राज्यपर पूरुको अभिषिक्त किया; फिर अपनी स्त्रियोंके साथ वे वनमें चले गये॥ ९८॥

---

१. 'शम्या' एक ऐसे काठके डंडेको कहते हैं, जिसका निचला भाग मोटा होता है। उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं। इस तरह एक-एक शम्यापातमें एक-एक यज्ञवेदी बनाते और यज्ञ करते हुए राजा ययाति आगे बढ़ते गये। इस प्रकार चलकर उन्होंने भारतभूमिकी परिक्रमा की थी।

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९९ ॥

'सृंजय! वे तुम्हारी अपेक्षा चारों कल्याणमय गुणोंमें बढ़े हुए थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारा पुत्र किस गिनतीमें है? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ९९ ॥

अम्बरीषं च नाभागं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥१००॥

'सृंजय! हमने सुना है कि नाभागके पुत्र अम्बरीष भी मृत्युके अधीन हो गये थे। उन नृपश्रेष्ठ अम्बरीषको सारी प्रजाने अपना पुण्यमय रक्षक माना था ॥ १०० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम्।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः सुसंहितः ॥१०१॥

'ब्राह्मणोंके प्रति अनुराग रखनेवाले राजा अम्बरीषने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमण्डपमें दस लाख ऐसे राजाओंको उन ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया था, जो स्वयं भी दस-दस हजार यज्ञ कर चुके थे ॥१०१॥

नैतत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥१०२॥

'उन यज्ञकुशल ब्राह्मणोंने नाभागपुत्र अम्बरीषकी सराहना करते हुए कहा था कि 'ऐसा यज्ञ न तो पहलेके राजाओंने किया है और न भविष्यमें होनेवाले ही करेंगे' ॥

शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥१०३॥

'उनके यज्ञमें एक लाख दस हजार राजा सेवाकार्य करते थे। वे सभी अश्वमेधयज्ञका फल पाकर दक्षिणायनके पश्चात् आनेवाले उत्तरायणमार्गसे ब्रह्मलोकमें चले गये थे ॥ १०३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१०४॥

'सृंजय! राजा अम्बरीष चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी जीवित न रह सके तो दूसरेके लिये क्या कहा जा सकता है? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १०४ ॥

शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यस्य भार्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ॥१०५॥
सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासञ्शाशबिन्दवाः।

'सृंजय! हम सुनते हैं कि चित्ररथके पुत्र शशबिन्दु भी मृत्युसे अपनी रक्षा न कर सके। उन महामना नरेशके एक लाख रानियाँ थीं और उनके गर्भसे राजाके दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १०५½ ॥

हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ॥१०६॥
शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयुः।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः॥१०७॥

'वे सभी राजकुमार सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले और उत्तम धनुर्धर थे। एक-एक राजकुमारको अलग-अलग सौ-सौ कन्याएँ ब्याही गयी थीं। प्रत्येक कन्याके साथ सौ-सौ हाथी प्राप्त हुए थे। हर एक हाथीके पीछे सौ-सौ रथ मिले थे॥ १०६-१०७ ॥

रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम् ॥ १०८॥

'प्रत्येक रथके साथ सुवर्णमालाधारी सौ-सौ देशीय घोड़े थे। हर एक अश्वके साथ सौ गायें और एक-एक गायके साथ सौ-सौ भेड़-बकरियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १०८ ॥

एतद् धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥१०९॥

'महाराज! राजा शशबिन्दुने यह अनन्त धनराशि अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दी थी ॥१०९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११०॥

'सृंजय! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मृत्युसे बच न सके, तब तुम्हारे पुत्रके लिये क्या कहा जाय? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

गयं चामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥१११॥

'सृंजय! सुननेमें आया है कि अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयकी भी मृत्यु हुई थी। उन्होंने सौ वर्षोंतक होमसे अवशिष्ट अन्नका ही भोजन किया ॥ १११ ॥

यस्मै वह्निर्वरं प्रादात् ततो वव्रे वरान् गयः।
ददतो योऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥११२॥
मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन।

'एक समय अग्निदेवने उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब राजा गयने ये वर माँगे, 'अग्निदेव! आपकी कृपासे दान करते हुए मेरे पास अक्षय धनका भंडार भरा रहे। धर्ममें मेरी श्रद्धा बढ़ती रहे और मेरा मन सदा सत्यमें ही अनुरक्त रहे'॥

लेभे च कामांस्तान् सर्वान् पावकादिति नः श्रुतम् ॥११३॥
दर्शैश्च पूर्णमासैश्च चातुर्मास्यैः पुनः पुनः।
अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥११४॥

'सुना है कि उन्हें अग्निदेवसे वे सभी मनोवाञ्छित फल प्राप्त हो गये थे। उन्होंने एक हजार वर्षोंतक बारंबार दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य तथा अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था॥

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात् सहस्रं परिवत्सरान् ॥११५॥

'वे हजार वर्षोंतक प्रतिदिन सबेरे उठ-उठकर एक-एक लाख गौओं और सौ-सौ खच्चरोंका दान करते थे ॥ ११५ ॥

तर्पयामास सोमेन देवान् वित्तैर्द्विजानपि ।
पितॄन् स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥११६॥

'पुरुषप्रवर ! इन्होंने सोमरसके द्वारा देवताओंको, धनके द्वारा ब्राह्मणोंको, श्राद्धकर्मसे पितरोंको और कामभोगद्वारा स्त्रियोंको तृप्त किया था ॥ ११६ ॥

सौवर्णीं पृथिवीं कृत्वा दशव्यामां द्विरायताम् ।
दक्षिणामददद् राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११७॥

'राजा गयने महायज्ञ अश्वमेधमें दस व्याम (पचास हाथ) चौड़ी और इससे दूनी लंबी सोनेकी पृथ्वी बनवाकर दक्षिणा-रूपसे दान की थी ॥ ११७ ॥

यावत्यः सिकता राजन् गङ्गायां पुरुषर्षभ ।
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः ॥११८॥

'पुरुषप्रवर नरेश ! गङ्गाजीमें जितने बालूके कण हैं, अमूर्तरयाके पुत्र गयने उतनी ही गौओंका दान किया था॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११९॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे । जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ११९ ॥

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं संजय शुश्रुम ।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥१२०॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कंचन ॥१२१॥

'सृंजय ! संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेव भी कालके गालमें चले गये, यह हमारे सुननेमें आया है । उन महातपस्वी नरेशने इन्द्रकी अच्छी तरह आराधना करके उनसे यह वर माँगा कि 'हमारे पास अन्न बहुत हो, हम सदा अतिथियों-की सेवाका अवसर प्राप्त करें, हमारी श्रद्धा दूर न हो और हम किसीसे कुछ भी न माँगें' ॥ १२०-१२१ ॥

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् ।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥१२२॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाले, यशस्वी महात्मा राजा रन्तिदेवके पास गाँवों और जंगलोंके पशु अपने-आप यज्ञके लिये उपस्थित हो जाते थे ॥ १२२ ॥

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् ससृजे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥१२३॥

'वहाँ भीगी चर्मराशिसे जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गयी, जो चर्मण्वती (चम्बल) के नामसे विख्यात हुई ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः ।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः॥१२४॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान् सम्प्रपद्यते ।

'राजा अपने विशाल यज्ञमें ब्राह्मणोंको सोनेके निष्क दिया करते थे । वहाँ द्विजलोग पुकार-पुकारकर कहते कि 'ब्राह्मणो! यह तुम्हारे लिये निष्क है, यह तुम्हारे लिये निष्क है' परंतु कोई लेनेवाला आगे नहीं बढ़ता था । फिर वे यह कहकर कि 'तुम्हारे लिये एक सहस्र निष्क है', लेनेवाले ब्राह्मणोंको उपलब्ध कर पाते थे ॥ १२४½ ॥

अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥१२५॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च ।
नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥१२६॥

'बुद्धिमान् राजा रन्तिदेवके उस यज्ञमें अन्वाहार्य अग्निमें आहुति देनेके लिये जो उपकरण थे तथा द्रव्य-संग्रहके लिये जो उपकरण—घड़े, पात्र, कड़ाहे, बटलोई और कठौते आदि सामान थे, उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो सोनेका बना हुआ न हो ॥ १२५-१२६ ॥

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः॥१२७॥

'संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरमें जिस रातको अतिथियोंका समुदाय निवास करता था, उस समय उन्हें बीस हजार एक सौ गौएँ छूकर दी जाती थीं ॥ १२७ ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य भोज्यं यथा पुरा ॥१२८॥

'वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये रसोइये पुकार-पुकारकर कहते थे कि 'आपलोग खूब दाल-भात खाइये । आजका भोजन पहले-जैसा नहीं है, अर्थात् पहलेकी अपेक्षा बहुत अच्छा है' ॥ १२८ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२९॥

'सृंजय ! रन्तिदेव तुमसे पूर्वोक्त चारों गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १२९ ॥

सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृंजय ।
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥१३०॥

'सृंजय ! इक्ष्वाकुवंशी पुरुषसिंह महामना सगर भी मरे थे, ऐसा सुननेमें आया है । उनका पराक्रम अलौकिक था ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे ।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥१३१॥

'जैसे वर्षाके अन्त (शरद्) में बादलोंसे रहित आकाशके भीतर तारे नक्षत्रराज चन्द्रमाका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार राजा सगर जब युद्ध आदिके लिये कहीं यात्रा करते थे, तब उनके साठ हजार पुत्र उन नरेशके पीछे-पीछे चलते थे ॥ १३१ ॥

एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत् पुरा ।

योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥१३२॥

'पूर्वकालमें राजाके प्रतापसे एकछत्र पृथ्वी उनके अधिकार-में आ गयी थी। उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था ॥ १३२ ॥

यः प्रादात् कनकस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥१३३॥
द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान् बहून्।
यस्यादेशेन तद् वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥१३४॥

'राजाने सोनेके खंभोंसे युक्त पूर्णतः सोनेका बना हुआ महल, जो कमलके समान नेत्रोंवाली सुन्दरी स्त्रियोंकी शय्याओं-से सुशोभित था, तैयार कराकर योग्य ब्राह्मणोंको दान किया। साथ ही नाना प्रकारकी भोगसामग्रियाँ भी प्रचुरमात्रामें उन्हें दी थीं। उनके आदेशसे ब्राह्मणोंने उनका सारा धन आपसमें बाँट लिया था ॥ १३३-१३४ ॥

खानयामास यः कोपात् पृथिवीं सागराङ्किताम्।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥१३५॥

'एक समय क्रोधमें आकर उन्होंने समुद्रसे चिह्नित सारी पृथ्वी खुदवा डाली थी। उन्हींके नामपर समुद्रकी 'सागर' संज्ञा हो गयी ॥ १३५ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१३६॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १३६ ॥

राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यमभ्यषिञ्चन् सम्भूय महारण्ये महर्षयः ॥१३७॥

'सृंजय ! वेनके पुत्र महाराज पृथुको भी अपने शरीरका त्याग करना पड़ा था, ऐसा हमने सुना है। महर्षियोंने महान् वनमें एकत्र होकर उनका राज्याभिषेक किया था ॥ १३७ ॥

प्रथयिष्यति वै लोकान् पृथुरित्येव शब्दितः।
क्षताद् यो वै त्रायतीति स तस्मात् क्षत्रियःस्मृतः॥ १३८॥

'ऋषियोंने यह सोचकर कि सब लोकोंमें धर्मकी मर्यादा प्रथित (स्थापित) करेंगे, उनका नाम पृथु रक्खा था। वे क्षत अर्थात् दुःखसे सबका त्राण करते थे, इसलिये क्षत्रिय कहलाये ॥ १३८ ॥

पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥१३९॥

'वेननन्दन पृथुको देखकर समस्त प्रजाओंने एक साथ कहा कि 'हम इनमें अनुरक्त हैं' इस प्रकार प्रजाका रञ्जन करनेके कारण ही उनका नाम 'राजा' हुआ ॥ १३९ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन् प्रशासतः॥१४०॥

'पृथुके शासनकालमें पृथ्वी बिना जोते ही धान्य उत्पन्न करती थी, वृक्षोंके पुट-पुटमें मधु (रस) भरा था और सारी गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ १४० ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः।
यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥१४१॥

'मनुष्य नीरोग थे। उनकी सारी कामनाएँ सर्वथा परिपूर्ण थीं और उन्हें कभी किसी चीजसे भय नहीं होता था। सब लोग इच्छानुसार घरों या खेतोंमें रह लेते थे ॥ १४१ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः।
सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१४२॥

'जब वे समुद्रकी ओर यात्रा करते, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था। नदियोंकी बाढ़ शान्त हो जाती थी। उनके रथकी ध्वजा कभी भग्न नहीं होती थी ॥१४२॥

हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान् पर्वतानेकविंशतिम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥१४३॥

'राजा पृथुने अश्वमेधनामक महायज्ञमें चार सौ हाथ ऊँचे इक्कीस सुवर्णमय पर्वत ब्राह्मणोंको दान किये थे ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१४४॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १४४ ॥

किं वा तूष्णीं ध्यायसे सृंजयत्वं
न मे राजन् वाचमिमां शृणोषि।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं
पथ्यं मुमूर्षोरिव सुप्रयुक्तम् ॥१४५॥

'सृंजय ! तुम चुपचाप क्या सोच रहे हो। राजन् ! मेरी इस बातको क्यों नहीं सुनते हो ? जैसे मरणासन्न पुरुषके ऊपर अच्छी तरह प्रयोगमें लायी हुई ओषधि व्यर्थ जाती है, उसी प्रकार मेरा यह सारा प्रवचन निष्फल तो नहीं हो गया ?'॥

सृंजय उवाच

शृणोमि ते नारद वाचमेनां
विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम्।
राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां
कीर्त्या युक्तानां शोकनिर्णाशनार्थाम्॥१४६॥

सृंजयने कहा—नारद ! पवित्र गन्धवाली मालाके समान विचित्र अर्थसे भरी हुई आपकी इस वाणीको मैं सुन रहा हूँ। पुण्यात्मा महामनस्वी और कीर्तिशाली राजर्षियोंके चरित्रसे युक्त आपका यह वचन सम्पूर्ण शोकोंका विनाश करनेवाला है ॥ १४६ ॥

न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे
दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः।

शुश्रूषे ते वचनं ब्रह्मवादिन्
न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥१४७॥

महर्षि नारद ! आपने जो कुछ कहा है, आपका वह उपदेश व्यर्थ नहीं गया है। आपका दर्शन करके ही मैं शोक-रहित हो गया हूँ। ब्रह्मवादी मुने ! मैं आपका यह प्रवचन सुनना चाहता हूँ और अमृतपानके समान उससे तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ १४७ ॥

अमोघदर्शिन् मम चेत् प्रसादं
संतापदग्धस्य विभो प्रकुर्याः।
सुतस्य सञ्जीवनमद्य मे स्यात्
तव प्रसादात् सुतसङ्गमश्च ॥१४८॥

प्रभो ! आपका दर्शन अमोघ है। मैं पुत्रशोकके संताप-से दग्ध हो रहा हूँ। यदि आप मुझपर कृपा करें तो मेरा पुत्र फिर जीवित हो सकता है और आपके प्रसादसे मुझे पुनः पुत्र-मिलनका सुख सुलभ हो जायगा ॥ १४८ ॥

नारद उवाच

यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः
स्वर्णष्ठीवी यमदात् पर्वतस्ते।
पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि
हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥१४९॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! तुम्हारे यहाँ जो यह सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे पर्वत मुनिने तुम्हें दिया था, वह तो चला गया। अब मैं पुनः हिरण्यनाभ नामक एक पुत्र दे रहा हूँ, जिसकी आयु एक हजार वर्षोंकी होगी ॥ १४९ ॥

इति **श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षोडशराजोपाख्याने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सोलह राजाओंका उपाख्यानविषयक* उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

महर्षि नारद और पर्वतका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

स कथं काञ्चनष्ठीवी सृंजयस्य सुतोऽभवत्।
पर्वतेन किमर्थं वा दत्तस्तेन ममार च ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! पर्वत मुनिने राजा सृंजयको सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र किस लिये दिया और वह क्यों मर गया ? ॥ १ ॥

यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः।
कथमप्राप्तकौमारः सृंजयस्य सुतो मृतः ॥ २ ॥

जब उस समय मनुष्यकी एक हजार वर्षकी आयु होती थी, तब सृंजयका पुत्र कुमारावस्था आनेसे पहले ही क्यों मर गया ? ॥ २ ॥

उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत्।
कथं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

उस बालकका नाममात्र ही सुवर्णष्ठीवी था या उसमें वैसा ही गुण भी था। सुवर्णष्ठीवी नाम पड़नेका कारण क्या था ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं जनेश्वर।
नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—जनेश्वर ! इस विषयमें जो बात है, वह यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनिये। नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि सम्पूर्ण लोकोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ।
विहर्तुकामौ सम्प्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो ॥ ५ ॥

ये दोनों परस्पर मामा और भानजे लगते हैं ! प्रभो ! पहलेकी बात है ये दोनों महर्षि मनुष्यलोकमें भ्रमण करनेके लिये प्रेमपूर्वक देवलोकसे यहाँ आये थे ॥ ५ ॥

हविःपवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ॥ ६ ॥

वे यहाँ पवित्र हविष्य तथा देवताओंके भोजन करने योग्य पदार्थ खाकर रहते थे। नारदजी मामा हैं और पर्वत इनके भानजे हैं ॥ ६ ॥

तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ।
भुञ्जानौ मानुषान् भोगान् यथावत् पर्यधावताम् ॥ ७ ॥

वे दोनों तपस्वी पृथ्वीतलपर विचरते और मानवीय भोगोंका उपभोग करते हुए यहाँ यथावत्‌रूपसे परिभ्रमण करने लगे ॥ ७ ॥

प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं चैव चक्रतुः।
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ॥ ८ ॥
अन्योन्यस्य स आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत्।

उन दोनोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रेमपूर्वक यह शर्त कर रक्खी थी कि हमलोगोंके मनमें शुभ या अशुभ जो भी संकल्प प्रकट हो, उसे हम एक दूसरेसे कह दें; अन्यथा झूठे ही शापका भागी होना पड़ेगा ॥ ८½ ॥

* यह षोडश राजाओंका उपाख्यान द्रोणपर्वके पचपनवें अध्यायसे लेकर इकहत्तरवें अध्यायतक पहले आ चुका है। उसीको कुछ संक्षिप्त करके पुनः यहाँ लिया गया है। पहलेका परशुरामचरित्र इसमें संगृहीत नहीं हुआ है और पहले जो राजा पौरवका चरित्र आया था, उसके स्थानमें यहाँ अङ्गराज बृहद्रथके चरित्रका वर्णन है। कथाओंके क्रममें भी उलटा-पलटी हो गयी है। श्लोकोंके पाठोंमें भी कई जगह भेद दिखायी देता है।

तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥ ९ ॥
सृंजयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ।

वे दोनों लोकपूजित महर्षि 'तथास्तु' कहकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् श्वेतपुत्र राजा सृंजयके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित् कालं हिताय ते ॥ १० ॥
यथावत् पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव ।

'भूपाल ! हम दोनों तुम्हारे हितके लिये कुछ कालतक तुम्हारे पास ठहरेंगे । तुम हमारे अनुकूल होकर रहो' ।१०½।

तथेति कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥ ११ ॥
ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ ।
अब्रवीत् परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥ १२ ॥
एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति ।
दर्शनीयानवद्याङ्गी शीलवृत्तसमाहिता ॥ १३ ॥
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिञ्जल्कसुप्रभा ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर राजाने उन दोनोंका सत्कार-पूर्वक पूजन किया । तदनन्तर एक दिन राजा सृंजयने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन दोनों तपस्वी महात्माओंसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी एक ही कन्या है, जो परम सुन्दरी, दर्शनीय, निर्दोष अङ्गों-वाली तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न है । कमल-केसरके समान कान्तिवाली यह सुकुमारी कुमारी आजसे आप दोनोंकी सेवा करेगी' ॥ ११–१३½ ॥

परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥ १४ ॥
कन्ये विप्रावुपचर देववत् पितृवच्च ह ।

तब उन दोनोंने कहा—'बहुत अच्छा ।' इसके बाद राजाने उस कन्याको आदेश दिया—'बेटी ! तुम इन दोनों महर्षियोंकी देवता और पितरोंके समान सेवा किया करो' १४½

सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥ १५ ॥
यथानिदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ।

धर्माचरणमें तत्पर रहनेवाली उस कन्याने पितासे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर राजाकी आज्ञाके अनुसार उन दोनोंकी सत्कारपूर्वक सेवा आरम्भ कर दी ॥ १५½ ॥

तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥ १६ ॥
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत ।

उसकी उस सेवा तथा अनुपम रूप-सौन्दर्यसे नारदके हृदयमें सहसा कामभावका संचार हो गया ॥ १६½ ॥

ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥ १७ ॥
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तौ चन्द्रमाः शनैः ।

उन महामनस्वी नारदके हृदयमें काम उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा, जैसे शुक्लपक्ष आरम्भ होनेपर शनैः-शनैः चन्द्रमाकी वृद्धि होती है ॥ १७½ ॥

न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥ १८ ॥
शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् ।

धर्मज्ञ नारदने लज्जावश भानजे महात्मा पर्वतको अपने बढ़े हुए दुःसह कामकी बात नहीं बतायी ॥ १८½ ॥

तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोऽथ बुबोध तम् ॥ १९ ॥
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् ।

परंतु पर्वतने अपनी तपस्या और नारदजीकी चेष्टाओंसे जान लिया कि नारद कामवेदनासे पीड़ित हैं; फिर तो उन्होंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप देते हुए कहा—॥ १९½ ॥

कृत्वा समयमव्यग्रो भवान् वै सहितो मया ॥ २० ॥
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ।
अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद् वै मृषा कृतम् ॥ २१ ॥
भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'आपने मेरे साथ स्वस्थचित्तसे यह शर्त की थी कि 'हम दोनोंके हृदयमें जो भी शुभ या अशुभ संकल्प हो, उसे हम दोनों एक दूसरेसे कह दें।' परंतु ब्रह्मन् ! आपने अपने उस वचनको मिथ्या कर दिया; इसलिये मैं शाप देनेको उद्यत हुआ हूँ ॥ २०-२१½ ॥

न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥ २२ ॥
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'जब आपके मनमें पहले इस सुकुमारी कुमारीके प्रति कामभावका उदय हुआ तो आपने मुझे नहीं बताया; इसलिये यह मैं आपको शाप दे रहा हूँ ॥ २२½ ॥

ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात् तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३ ॥
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः ।
शप्स्ये तस्मात् सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥ २४ ॥

'आप ब्रह्मचारी, मेरे गुरुजन, तपस्वी और ब्राह्मण हैं तो भी आपने हमलोगोंमें जो शर्त हुई थी, उसे तोड़ दिया है; इसलिये मैं अत्यन्त कुपित होकर आपको जो शाप दे रहा हूँ उसे सुनिये— ॥ २३-२४ ॥

सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः ।
वानरं चैव ते रूपं विवाहात् प्रभृति प्रभो ॥ २५ ॥
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाकृतम् ।

'प्रभो ! यह सुकुमारी आपकी भार्या होगी, इसमें संशय नहीं है, परंतु विवाहके बादसे ही कन्या तथा अन्य सब लोग आपका रूप (मुख) वानरके समान देखने लगेंगे । बंदर जैसा मुँह आपके स्वरूपको छिपा देगा' ॥ २५½ ॥

स तद् वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतं तथा ॥ २६ ॥
अशपत्तमपि क्रोधाद् भागिनेयं स मातुलः ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ २७ ॥
युक्तोऽपि नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि ।

उस बातको समझकर मामा नारदजी भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने भानजे पर्वतको शाप देते हुए कहा—'अरे ! तू तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमसे युक्त एवं नित्य धर्मपरायण होनेपर भी स्वर्गलोकमें नहीं जा सकेगा' ॥ २६-२७½ ॥

तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ॥ २८ ॥
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ।

इस प्रकार अत्यन्त कुपित हो एक दूसरेको शाप दे वे दोनों क्रोधमें भरे हुए दो हाथियोंके समान अमर्षपूर्वक प्रतिकूल दिशाओंमें चल दिये ॥ २८½ ॥

पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥ २९ ॥
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ।

भारत ! परम बुद्धिमान् पर्वत अपने तेजसे यथोचित सम्मान पाते हुए सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २९½ ॥

अथ तामलभत् कन्यां नारदः सृंजयात्मजाम् ॥ ३० ॥
धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ।

इधर विप्रवर नारदजीने उस अनिन्द्य सुन्दरी सृंजय-कुमारी सुकुमारीको धर्मके अनुसार पत्नीरूपमें प्राप्त किया ३०½

सा तु कन्या यथाशापं नारदं तं ददर्श ह ॥ ३१ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् ।

वैवाहिक मन्त्रोंका प्रयोग होते ही वह राजकन्या शापके अनुसार नारद मुनिको वानराकार मुखसे युक्त देखने लगी ॥ ३१½ ॥

सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥ ३२ ॥
नैवावामन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ।

देवर्षिका मुँह वानरके समान देखकर भी सुकुमारीने उनकी अवहेलना नहीं की । वह उनके प्रति अपना प्रेम बढ़ाती ही गयी ॥ ३२½ ॥

उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाप्यगात् ॥ ३३ ॥
देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला ।

पतिपर स्नेह रखनेवाली सुकुमारी अपने स्वामीकी सेवामें सदा उपस्थित रहती और दूसरे किसी पुरुषका, वह यक्ष, मुनि अथवा देवता ही क्यों न हो, मनके द्वारा भी पतिरूपसे चिन्तन नहीं करती थी ॥ ३३½ ॥

ततः कदाचिद् भगवान् पर्वतोऽनुचचार ह ॥ ३४ ॥
वनं विरहितं किंचित् तत्रापश्यत् स नारदम् ।

तदनन्तर किसी समय भगवान् पर्वत घूमते हुए किसी एकान्त वनमें आ गये । वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा ३४½

ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥ ३५ ॥
भवान् प्रसादं कुरुतात् स्वर्गादेशाय मे प्रभो ।

तब पर्वतने नारदजीको प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! आप मुझे स्वर्गमें जानेके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें' ।३५½।

तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तथा ॥ ३६ ॥
कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् ।

नारदजीने देखा, पर्वत दीनभावसे हाथ जोड़कर मेरे पास खड़ा है; फिर तो वे स्वयं भी अत्यन्त दीन होकर उनसे बोले—॥ ३६½ ॥

त्वयाहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥ ३७ ॥
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात् ।
अद्यप्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३८ ॥
तव नैतद्धि विसदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् ।

'वत्स ! पहले तुमने मुझे यह शाप दिया था कि 'तुम वानर हो जाओ ।' तुम्हारे ऐसा कहनेके बाद मैंने भी मत्सरता-वश तुम्हें शाप दे दिया, जिससे आजतक तुम स्वर्गमें नहीं जा सके । यह तुम्हारे योग्य कार्य नहीं था; क्योंकि तुम मेरे पुत्र-की जगहपर हो' ॥ ३७-३८½ ॥

न्यवर्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥ ३९ ॥
श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् ।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ४० ॥

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनों ऋषियोंने एक दूसरेके शापको निवृत्त कर दिया । तब नारदजीको देवताके समान तेजस्वी रूपमें देखकर सुकुमारी पराये पतिकी आशङ्का-से भाग चली ॥ ३९-४० ॥

तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् ।
अब्रवीत् तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥

उस सती साध्वी राजकन्याको भागती देख पर्वतने इससे कहा—'देवि ! ये तुम्हारे पति ही हैं । इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान् प्रभुः ।
तवैवाभेद्यहृदयो मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ४२ ॥

'ये तुम्हारे पति अभेद्य हृदयवाले परम धर्मात्मा प्रभु भगवान् नारद मुनि ही हैं । इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं होना चाहिये' ॥ ४२ ॥

सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
शापदोषं च तं भर्तुः श्रुत्वा प्रकृतिमागता ॥ ४३ ॥
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽभ्यगमद् गृहान् ।

महात्मा पर्वतके बहुत समझाने-बुझानेपर पतिके शाप-दोषकी बात सुनकर सुकुमारीका मन स्वस्थ हुआ । तत्पश्चात् पर्वतमुनि स्वर्गमें लौट गये और नारदजी सुकुमारीके घर आये ॥ ४३½ ॥

वासुदेव उवाच

प्रत्यक्षकर्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः ।
एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथावृत्तं नरोत्तम ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! भगवान् नारद ऋषि इन सब घटनाओंके प्रत्यक्षदर्शी हैं । तुम्हारे पूछनेपर ये सारी बातें बता देंगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नारद और पर्वतका उपाख्यानविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सुवर्णष्ठीवीके जन्म, मृत्यु और पुनर्जीवनका वृत्तान्त

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसम्भवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा—'भगवन् ! मैं सुवर्णष्ठीवीके जन्मका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः।
आचचक्षे यथावृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति ॥ २ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर नारदमुनिने सुवर्णष्ठीवीके जन्मका यथावत् वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ २ ॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथायं केशवोऽब्रवीत्।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत् ते वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ३ ॥

नारदजी बोले—महाबाहो ! भगवान् श्रीकृष्णने इस विषयमें जैसा कहा है, वह सब सत्य है। इस प्रसङ्गमें जो कुछ शेष है, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं बता रहा हूँ ॥३॥

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः।
वस्तुकामावभिगतौ सृंजयं जयतां वरम् ॥ ४ ॥

मैं और मेरे भानजे महामुनि पर्वत दोनों विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयके यहाँ निवास करनेके लिये गये ॥ ४ ॥

तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥ ५ ॥

वहाँ राजाने हम दोनोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजन किया और हमारे लिये सभी मनोवाञ्छित वस्तुओंके प्राप्त होनेकी सुव्यवस्था कर दी। हम दोनों उनके महलमें रहने लगे ॥ ५ ॥

व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥ ६ ॥

जब वर्षाके चार महीने बीत गये और हमलोगोंके वहाँसे चलनेका समय आया, तब पर्वतने मुझसे समयोचित एवं सार्थक वचन कहा—॥ ६ ॥

आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ।
उषितौ समये ब्रह्मंस्तद् विचिन्तय साम्प्रतम् ॥ ७ ॥

'मामा ! हमलोग राजा सृंजयके घरमें बड़े आदर-सत्कारके साथ रहे हैं, अतः ब्रह्मन् ! इस समय इनका कुछ उपकार करनेकी बात सोचिये' ॥ ७ ॥

ततोऽहमब्रवं राजन् पर्वतं शुभदर्शनम्।
सर्वमेतत् त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥ ८ ॥

राजन् ! तब मैंने शुभदर्शी पर्वत मुनिसे कहा—'भगिनीपुत्र ! यह सब तुम्हें ही शोभा देता है ॥ ८ ॥

वरेण च्छन्द्यतां राजा लभतां यद् यदिच्छति।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'राजाको मनोवाञ्छित वर देकर संतुष्ट करो। वे जो-जो चाहते हों, वह सब उन्हें मिले। तुम्हारी राय हो तो हम दोनोंकी तपस्यासे उनके मनोरथकी सिद्धि हो' ॥ ९ ॥

तत आहूय राजानं सृंजयं जयतां वरम्।
पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुपुङ्गव ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तब मेरी अनुमति ले पर्वतने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयको बुलाकर कहा—॥ १० ॥

प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैर्भवदार्जवसम्भृतैः।
आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥ ११ ॥

'नरेश्वर ! हम दोनों तुम्हारे द्वारा सरलतापूर्वक किये गये सत्कारसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम इच्छानुसार कोई वर सोचकर माँग लो ॥ ११ ॥

देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुषक्षयम्।
तद् गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान् ॥ १२ ॥

महाराज ! कोई ऐसा वर माँग लो, जिससे न तो देवताओंकी हिंसा हो और न मनुष्योंका संहार ही हो सके। तुम हमारी दृष्टिमें आदरके योग्य हो' ॥ १२ ॥

सृंजय उवाच

प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः ॥ १३ ॥

सृंजयने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप दोनों प्रसन्न हैं तो मैं इतनेसे ही कृतकृत्य हो गया। यही हमारे लिये महान् फलदायक परम लाभ सिद्ध हो गया ॥ १३ ॥

तमेवंवादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत।
वृणीष्व राजन् संकल्पं यत् ते हृदि चिरं स्थितम् ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसी बात कहनेवाले राजा सृंजयसे पर्वतमुनिने फिर कहा—'राजन् ! तुम्हारे हृदयमें जो चिरकालसे संकल्प हो, वही माँग लो' ॥ १४ ॥

सृंजय उवाच

अभीप्सामि सुतं वीरं वीरवन्तं दृढव्रतम्।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम् ॥ १५ ॥

सृंजय बोले—भगवन् ! मैं एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो वीर, बलवान्, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, आयुष्मान्, परम सौभाग्यशाली और देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हो ॥ १५ ॥

पर्वत उवाच

भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान् भविष्यति।
देवराजाभिभूत्यर्थं संकल्पो ह्येष ते हृदि ॥ १६ ॥

पर्वतने कहा—राजन् ! तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा, परंतु वह पुत्र दीर्घायु नहीं हो सकेगा; क्योंकि देवराज इन्द्रको पराजित करनेके लिये तुम्हारे हृदयमें यह संकल्प उठा है ॥ १६ ॥

ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति ।
रक्ष्यश्च देवराजात् स देवराजसमद्युतिः ॥ १७ ॥

तुम्हारा वह पुत्र सुवर्णष्ठीवीके नामसे विख्यात तथा देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी होगा । तुम्हें देवराजसे सदा उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा सृंजयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति ॥ १८ ॥
आयुष्मान् मे भवेत् पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया ॥ १९ ॥

महात्मा पर्वतका यह वचन सुनकर सृंजयने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा— 'ऐसा न हो। मुने ! आपकी तपस्यासे मेरा पुत्र दीर्घजीवी होना चाहिये ।' परंतु इन्द्रका ख्याल करके पर्वत मुनि कुछ नहीं बोले ॥ १८-१९ ॥

तमहं नृपतिं दीनमब्रवं पुनरेव च ।
स्मर्तव्योऽस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥ २० ॥
अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते ॥ २१ ॥

तब मैंने दीन हुए उस नरेशसे कहा—'महाराज ! संकटके समय मुझे याद करना । मैं तुम्हारे पुत्रको तुमसे मिला दूँगा । पृथ्वीनाथ ! चिन्ता न करो । यम राजके वशमें पड़े हुए तुम्हारे उस प्रिय पुत्रको मैं पुनः उस रूपमें लाकर तुम्हें दे दूँगा' ॥ २०-२१ ॥

एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृंजयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥ २२ ॥

राजासे ऐसा कहकर हम दोनों अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये और राजा सृंजयने अपने इच्छानुसार महलमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

सृंजयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित् कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २३ ॥

तदनन्तर किसी समय राजर्षि सृंजयके एक पुत्र हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। वह महान् बलशाली था ॥ २३ ॥

ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥ २४ ॥

जैसे सरोवरमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार वह राजकुमार यथासमय बढ़ने लगा । वह मुखसे स्वर्ण उगलनेके कारण सुवर्णष्ठीवी नामसे प्रसिद्ध हुआ । उसका वह नाम सार्थक था ॥ २४ ॥

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः ॥ २५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उसका वह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त सारे जगत्में फैल गया । देवराज इन्द्रको भी यह मालूम हो गया कि वह बालक महर्षि पर्वतके वरदानका फल है ॥ २५ ॥

ततः स्वाभिभवाद् भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥

तदनन्तर अपनी पराजयसे डरकर बृहस्पतिकी सम्मतिके अनुसार चलते हुए बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्र उस राजकुमारके वधका अवसर देखने लगे ॥ २६ ॥

चोदयामास तद् वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत् स्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥ २७ ॥
प्रवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृंजयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥ २८ ॥

प्रभो ! इन्द्रने मूर्तिमान् होकर सामने खड़े हुए अपने दिव्य अस्त्र वज्रसे कहा—'वज्र ! तुम बाघ बनकर इस राजकुमारको मार डालो । जैसा कि इसके विषयमें पर्वतने बताया है, बड़ा होनेपर सृंजयका यह पुत्र अपने पराक्रमसे मुझे परास्त कर देगा' ॥ २७-२८ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरञ्जयः ।
कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला वज्र मौका देखता हुआ सदा उस राजकुमारके आसपास ही रहने लगा ॥ २९ ॥

सृंजयोऽपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥ ३० ॥

सृंजय भी देवराजके समान पराक्रमी पुत्र पाकर रानीसहित बड़े प्रसन्न हुए और निरन्तर वनमें ही रहने लगे ३०

ततो भागीरथीतीरे कदाचिन्निर्जने वने ।
धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन निर्जन वनमें गङ्गाजीके तटपर वह बालक धायको साथ लेकर खेलनेके लिये गया और इधर-उधर दौड़ने लगा ॥ ३१ ॥

पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः ।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥ ३२ ॥

उस बालककी अवस्था अभी पाँच वर्षकी थी तो भी वह गजराजके समान पराक्रमी था । वह सहसा उछलकर आये हुए एक महाबली बाघके पास जा पहुँचा ॥ ३२ ॥

स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥

उस बाघने वहाँ काँपते हुए राजकुमारको गिराकर पीस डाला । वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । यह देखकर धाय चिल्ला उठी ॥ ३३ ॥

हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत ।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥

राजकुमारकी हत्या करके देवराज इन्द्रका भेजा हुआ वह वज्ररूपी बाघ मायासे वहीं अदृश्य हो गया ॥ ३४ ॥

धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्याः परमार्तवत् ।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥

रोती हुई धायका वह आर्तनाद सुनकर राजा सृंजय स्वयं ही उस स्थानपर दौड़े हुए आये ॥ ३५ ॥

स ददर्श शयानं तं गतासुं पीतशोणितम् ।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥ ३६ ॥

उन्होंने देखा, राजकुमार प्राणशून्य होकर आकाशसे गिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति पड़ा है । उसका सारा रक्त बाघके द्वारा पी लिया गया है और वह आनन्दहीन हो गया है ॥

स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितमानसः ।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥

खूनसे लथपथ हुए उस बालकको गोदमें लेकर व्यथित-चित्त हुए राजा सृंजय व्याकुल होकर विलाप करने लगे ॥

ततस्ता मातरस्तस्य रुदत्यः शोककर्शिताः ।
अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृंजयः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर शोकसे पड़ित हो उसकी माताएँ रोती हुई उस स्थानकी ओर दौड़ीं, जहाँ राजा सृंजय विलाप करते थे ॥

ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः ।
तदाहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥

उस समय अचेत-से होकर राजाने मेरा ही स्मरण किया । तब मैंने उनका चिन्तन जानकर उन्हें दर्शन दिया ॥

मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः ।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥

पृथ्वीनाथ ! यदुवीर श्रीकृष्णने जो बातें तुम्हारे सामने कही हैं, उन्हींको मैंने उस शोकाकुल राजाको सुनाया ॥४०॥

संजीवितश्चापि पुनर्वासवानुमते तदा ।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥

फिर इन्द्रकी अनुमतिसे उस बालकको जीवित भी कर दिया । उसकी वैसी ही होनहार थी । उसे कोई पलट नहीं सकता था ॥ ४१ ॥

तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः ।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर महायशस्वी और शक्तिशाली कुमार सुवर्णष्ठीवी-ने जीवित होकर पिता और माताके चित्तको प्रसन्न किया ॥

कारयामास राज्यं च पितरि स्वर्गते नृप ।
वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! उस भयानक पराक्रमी कुमारने पिताके स्वर्ग-वासी हो जानेपर ग्यारह सौ वर्षोंतक राज्य किया ॥ ४३ ॥

तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
तर्पयामास देवांश्च पितॄंश्चैव महाद्युतिः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर उस महातेजस्वी राजकुमारने बहुत-सी दक्षिणा-वाले अनेक महायज्ञोंका अनुष्ठान किया और उनके द्वारा देवताओं तथा पितरोंकी तृप्ति की ॥ ४४ ॥

उत्पाद्य च बहून् पुत्रान् कुलसंतानकारिणः ।
कालेन महता राजन् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥

राजन् ! इसके बाद उसने बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र उत्पन्न किये और दीर्घकालके पश्चात् वह काल-धर्मको प्राप्त हुआ ॥ ४५ ॥

स त्वं राजेन्द्र संजातं शोकमेनं निवर्तय ।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥
पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह ।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! तुम भी अपने हृदयमें उत्पन्न हुए इस शोक-को दूर करो तथा भगवान् श्रीकृष्ण और महातपस्वी व्यास-जी जैसा कह रहे हैं, उसके अनुसार अपने बाप-दादोंके राज्य-पर आरूढ़ हो इसका भार वहन करो; फिर पुण्यदायक महायज्ञोंका अनुष्ठान करके तुम अभीष्ट लोकमें चले जाओगे ॥ ४६-४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्वर्णष्ठीविसम्भवोपाख्याने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्वर्णष्ठीवीके जन्मका उपाख्यानविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका अनेक युक्तियोंसे राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपाय नोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरको चुपचाप शोकमें डूबा हुआ देख धर्मके तत्त्वको जाननेवाले तपोधन श्रीकृष्णद्वैपायनने कहा ॥ १ ॥

व्यास उवाच

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—कमलनयन युधिष्ठिर ! राजाओंका धर्म प्रजाजनोंका पालन करना ही है। धर्मका अनुसरण करनेवाले लोगोंके लिये सदा धर्म ही प्रमाण है ॥ २ ॥

अनुतिष्ठस्व तद् राजन् पितृपैतामहं पदम् ।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥ ३ ॥

अतः राजन् ! तुम अपने बाप-दादोंके राज्यको ग्रहण करके उसका धर्मानुसार पालन करो। तपस्या तो ब्राह्मणोंका नित्य धर्म है। यही वेदका निश्चय है ॥ ३ ॥

तत् प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ ।
तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह सनातन तप ब्राह्मणोंके लिये प्रमाणभूत धर्म है। क्षत्रिय तो उस सम्पूर्ण ब्राह्मण-धर्मकी रक्षा करनेवाला ही है ॥ ४ ॥

यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः ।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य विषयासक्त होकर स्वयं शासन-धर्मका उल्लङ्घन करता है, वह लोकमर्यादाका नाश करनेवाला है। क्षत्रियको चाहिये कि अपनी दोनों भुजाओंके बलसे उस धर्मद्रोहीका दमन करे ॥ ५ ॥

प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः ।
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वाथ कश्चन ॥ ६ ॥
पापान् सर्वैरुपायैस्तान् नियच्छेच्छातयीत वा ।

जो मोहके वशीभूत हो प्रमाणभूत धर्म और उसका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको अमान्य कर दें, वह सेवक हो या पुत्र, तपस्वी हो या और कोई; सभी उपायोंसे उन पापियोंका दमन करे अथवा उन्हें नष्ट कर डाले ॥ ६½ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ७ ॥
धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत् स धर्महा ।

इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा पापका भागी होता है, जो नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा नहीं करता, वह राजा धर्मका घात करनेवाला है ॥ ७½ ॥

ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद् दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुमने तो उन्हीं लोगोंका सेवकोंसहित वध किया है, जो धर्मका नाश करनेवाले थे। अपने धर्ममें स्थित रहते हुए भी तुम शोक क्यों कर रहे हो ? क्योंकि राजाका यह कर्तव्य ही है कि वह धर्मद्रोहियोंका वध करे, सुपात्रोंको दान दे और धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करे ॥ ८-९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न तेऽभिशंके वचनं यद् ब्रवीषि तपोधन ।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदां वर ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ तपोधन ! आपको धर्मके स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान है। आप जो बात कह रहे हैं, उसपर मुझे तनिक भी संदेह नहीं है ॥ १० ॥

मया त्ववध्या बहवो घातिता राज्यकारणात् ।
तानि कर्माणि मे ब्रह्मन् दहन्ति च पचन्ति च ॥ ११ ॥

परंतु ब्रह्मन् ! मैंने तो इस राज्यके लिये अनेक अवध्य पुरुषोंका भी वध करा डाला है। मेरे वे ही कर्म मुझे जलाते और पकाते हैं ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

ईश्वरो वा भवेत् कर्ता पुरुषो वापि भारत ।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम् ॥ १२ ॥

व्यासजीने कहा—भरतनन्दन ! जो लोग मारे गये हैं, उनके वधका उत्तरदायित्व किसपर है ? इस प्रश्नको लेकर चार विकल्प हो सकते हैं। (१) सबका प्रेरक ईश्वर कर्ता है ? या (२) वध करनेवाला पुरुष कर्ता है ? अथवा (३) मारे जानेवाले पुरुषका हठ (बिना विचारे किसी कामको कर डालनेका दुराग्रही स्वभाव) कर्ता है ? अथवा (४) उसके प्रारब्ध कर्मका फल इस रूपमें प्राप्त होनेके कारण प्रारब्ध ही कर्ता है ? ॥ १२ ॥

ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत ।
कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत् ॥ १३ ॥

(१) भारत ! यदि प्रेरक ईश्वरको कर्ता माना जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि ईश्वरसे प्रेरित होकर ही मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म करता है; अतः उसका फल भी ईश्वरको ही मिलना चाहिये ॥ १३ ॥

यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने ।
छेत्तुरेव भवेत् पापं परशोर्न कथञ्चन ॥ १४ ॥

जैसे कोई पुरुष वनमें कुल्हाड़ीद्वारा जब किसी वृक्षको काटता है, तब उसका पाप कुल्हाड़ी चलानेवाले पुरुषको ही लगता है। कुल्हाड़ीको किसी प्रकार नहीं लगता ॥ १४ ॥

अथवा तदुपादानात् प्राप्नुयात् कर्मणः फलम् ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १५ ॥

अथवा यदि कहें कि 'उस कुल्हाड़ीको ग्रहण करनेके कारण चेतन पुरुषको ही उस हिंसाकर्मका फल प्राप्त होगा (जड होनेके कारण कुल्हाड़ीको नहीं),' तब तो जिसने उस शस्त्रको बनाया और जिसने उसमें डंडा लगाया, वह पुरुष ही प्रधान प्रयोजक होनेके कारण उसीको उस कर्मका फल मिलना चाहिये । चलानेवाले पुरुषपर उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम् ।
प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥ १६ ॥

परंतु कुन्तीनन्दन ! यह अभीष्ट नहीं है कि दूसरेके द्वारा किये हुए कर्मका फल दूसरेको मिले (काटनेवालेका अपराध हथियार बनानेवालेपर थोपा जाय); इसलिये सर्वप्रेरक ईश्वरको ही सारे शुभाशुभ कर्मोंका कर्तृत्व और फल सौंप दो ॥

अथापि पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः ।
न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥ १७ ॥

(२) यदि कहो पुण्य और पापकर्मोंका कर्ता उसे करनेवाला पुरुष ही है, दूसरा कोई (ईश्वर) नहीं तो ऐसा माननेपर भी तुमने यह शुभ कर्म ही किया है; क्योंकि तुम्हारे द्वारा पापियों और उनके समर्थकोंका ही वध हुआ है, इसके सिवा, उनके प्रारब्धका फल ही उन्हें इस रूपमें मिला है तुम तो निमित्तमात्र हो ॥ १७ ॥

न हि कश्चित् क्वचिद् राजन् दिष्टं प्रतिनिवर्तते ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १८ ॥

राजन् ! कोई कहीं भी दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । अतः दण्ड अथवा शस्त्रद्वारा किया हुआ पाप किसी पुरुषको लागू नहीं हो सकता (क्योंकि वे दैवाधीन होकर ही दण्ड या शस्त्रद्वारा मारे गये हैं) ॥ १८ ॥

यदि वा मन्यसे राजन् हतमेकं प्रतिष्ठितम् ।
एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥ १९ ॥

(३) नरेश्वर ! यदि ऐसा मानते हो कि युद्ध करनेवाले दो व्यक्तियोंमेंसे एकका मरना निश्चित ही है अर्थात् वह स्वभाववश हठात् मारा गया है, तब तो स्वभाववादीके अनुसार भूत या भविष्य कालमें किसी अशुभ कर्मसे न तो तुम्हारा सम्पर्क था और न होगा ही ॥ १९ ॥

अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या पुण्यपापयोः ।
अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥ २० ॥

(४) यदि कहो, लोगोंको जो पुण्यफल (सुख) और पापफल (दुःख) प्राप्त होते हैं, उनकी संगति लगानी चाहिये; क्योंकि बिना कारणके तो कोई कार्य हो नहीं सकता; अतः प्रारब्ध ही कर्ता है तो उस कारणभूत प्रारब्धको धर्माधर्म रूप ही मानना होगा, धर्माधर्मका निर्णय शास्त्रसे होता है और शास्त्रके अनुसार जगत्‌में उद्दण्ड मनुष्योंको दण्ड देना राजाओंके लिये सर्वथा युक्तिसंगत है; अतः किसी भी दृष्टिसे तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत ।
शुभाशुभफलं चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥ २१ ॥
एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फलात्मकम् ।
त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! यदि कहो कि यह सब माननेपर भी लोकमें कर्मोंकी आवृत्ति होती ही है—लोग कर्म करते और उनके शुभाशुभ फलोंको पाते ही हैं, ऐसा मेरा मत है; तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि इस दशामें भी जिस कर्मके कारण उसके फल रूपसे अशुभकी प्राप्ति होती है, उस पापमूलक कर्मको ही तुम त्याग दो । अपने मनको शोकमें न डुबाओ ॥ २१-२२ ॥

स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन् न शोभनः ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! अपना धर्म दोषयुक्त हो तो भी उसमें स्थित रहनेवाले तुम-जैसे धर्मात्मा नरेशके लिये अपने शरीरका परित्याग करना शोभाकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि युद्ध आदिमें राग-द्वेषके कारण निन्द्यकर्म बन गये हों तो शास्त्रोंमें उन कर्मोंके लिये प्रायश्चित्तका भी विधान है । जो अपने शरीरको सुरक्षित रखता है, वह तो पापनिवारणके लिये प्रायश्चित्त कर सकता है; परंतु जिसका शरीर ही नहीं रहेगा, उसे तो प्रायश्चित्त न कर सकनेके कारण उन पापकर्मोंके फलस्वरूप पराभव (दुःख) ही प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

तद् राजञ्जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश ! यदि जीवित रहोगे तो उन कर्मोंका प्रायश्चित्त कर लोगे और यदि प्रायश्चित्तके बिना ही मर गये तो परलोकमें तुम्हें संतप्त होना पड़ेगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तविधिविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाते हुए कालकी प्रबलता बताकर देवासुरसंग्राममके उदाहरणसे धर्म-द्रोहियोंके दमनका औचित्य सिद्ध करना और प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता बताना

युधिष्ठिर उवाच

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः॥ १ ॥
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा।
वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह॥ २ ॥
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! अकेले मैंने ही राज्यके लोभमें आकर पुत्र, पौत्र, भाई, चाचा, ताऊ, श्वशुर, गुरु, मामा, बाबा, भानजे, सगे-सम्बन्धी, सुहृद्, मित्र तथा भाई-बन्धु आदि नाना देशोंसे आये हुए बहुसंख्यक क्षत्रिय-नरेशोंको मरवा डाला ॥ १–३ ॥

तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान् महीक्षितः।
असकृत् सोमपान् वीरान् किं प्राप्स्यामि तपोधन॥ ४॥

तपोधन ! जो अनेक बार सोमरसका पान कर चुके थे और सदा धर्ममें ही तत्पर रहते थे, वैसे वीर भूपालोंका वध करके मैं कौन-सा फल पाऊँगा ? ॥ ४ ॥

दह्याम्यनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम्॥ ५ ॥
दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान्।
कोटिशश्च नरानन्यान् परितप्ये पितामह॥ ६ ॥

पितामह ! बारंबार इसी चिन्तासे मैं आज भी निरन्तर जल रहा हूँ। उन श्रीसम्पन्न राजसिंहोंसे हीन हुई इस पृथ्वीको, भाई-बन्धुओंके भयंकर वधको तथा सैकड़ों अन्य लोगोंके विनाशको एवं करोड़ों अन्य मानवोंके संहारको देखकर मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ॥ ५-६ ॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति।
विहीनानां तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा॥ ७ ॥

जो अपने पुत्रों, पतियों तथा भाइयोंसे सदाके लिये बिछुड़ गयी हैं, उन सुन्दरी स्त्रियोंकी आज क्या दशा होगी ? ॥

अस्मानन्तकरान् घोरान् पाण्डवान् वृष्णिसंहतान्।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले॥ ८ ॥

हम घोर विनाशकारी पाण्डवों और वृष्णिवंशियोंको कोसती हुई वे दीन-दुर्बल अबलाएँ पृथ्वीपर पछाड़ खा-खाकर गिरेंगी ॥ ८ ॥

अपश्यन्त्यः पितॄन् भ्रातॄन् पतीन् पुत्रांश्च योषितः।
त्यक्त्वा प्राणान् स्त्रियः सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम्॥९॥

अपने पिता, भाई, पति और पुत्रोंको न देखकर वे सारी युवती स्त्रियाँ प्राण त्याग देंगी और यमलोकमें चली जायँगी ॥ ९ ॥

वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम्॥१०॥

द्विजश्रेष्ठ ! वे अपने सगे-सम्बन्धियोंके प्रति वात्सल्य रखनेके कारण अवश्य ऐसा ही करेंगी, इसमें मुझे संशय नहीं है। धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण निश्चय ही हमें नारीहत्याके पापका भागी होना पड़ेगा ॥ १० ॥

यद् वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम्।
नरके निपतिष्यामो ह्यधःशिरस एव ह॥ ११ ॥

हमने सुहृदोंका वध करके ऐसा पाप कर लिया है, जिसका प्रायश्चित्तसे अन्त नहीं हो सकता; अतः हमें नीचे सिर करके निस्संदेह नरकमें ही गिरना पड़ेगा ॥ ११ ॥

शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम।
आश्रमाणां विशेषं त्वमथाचक्ष्व पितामह॥ १२ ॥

संतोंमें श्रेष्ठ पितामह ! हम घोर तपस्या करके अपने शरीरका परित्याग कर देंगे। आप इसके लिये कोई विशेष आश्रम हो तो बताइये ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा।
निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम्॥१३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासने इस विषयमें अपनी बुद्धिद्वारा अच्छी तरह विचार करनेके पश्चात् उन पाण्डुकुमारसे कहा ॥ १३ ॥

व्यास उवाच

मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन्।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ॥ १४ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! क्षत्रियशिरोमणे ! तुम क्षत्रियधर्मका बारंबार स्मरण करते हुए विषाद न करो; क्योंकि ये सभी क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार मारे गये हैं ॥ १४ ॥

काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद् यशः।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः॥ १५ ॥

वे सम्पूर्ण राजलक्ष्मी और भूमण्डलव्यापी महान् यशको प्राप्त करना चाहते थे; परंतु यमराजके विधानसे प्रेरित हो कालके गालमें चले गये हैं ॥ १५ ॥

न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम्॥ १६ ॥

न तुम, न भीमसेन, न अर्जुन और न नकुल-सहदेव ही उनका वध करनेवाले हैं। कालने बारी-बारीसे आकर अपने नियमके अनुसार उन सभी देहधारियोंके प्राण लिये हैं ॥ १६ ॥

न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्यो हि कश्चन।
कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥ १७ ॥

कालके माता-पिता नहीं हैं। उसका किसीपर भी अनुग्रह नहीं होता। जो प्रजावर्गके कर्मका साक्षी है, उसी कालने तुम्हारे शत्रुओंका संहार किया है ॥ १७ ॥

हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं भरतर्षभ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ! कालने इस युद्धको निमित्तमात्र बनाया है। वह जो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध करता है, वही उसका ईश्वरीय रूप है ॥ १८ ॥

कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥ १९ ॥

राजन्! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि काल जीवके पाप और पुण्यकर्मोंका साक्षी है। वह कर्मकी डोरीका सहारा ले भविष्यमें होनेवाले सुख और दुःखका उत्पादक होता है। वही समयानुसार कर्मोंका फल देता है ॥ १९ ॥

तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय।
विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः ॥ २० ॥

महाबाहो! तुम युद्धमें मारे गये उन क्षत्रियोंके भी ऐसे कर्मोंका चिन्तन करो, जो उनके विनाशके कारण थे और जिनके होनेसे ही उन्हें कालके अधीन होना पड़ा ॥ २० ॥

आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम्।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाऽऽक्रम्य कारितः ॥ २१ ॥

तुम अपने आचार-व्यवहारपर भी ध्यान दो कि 'तुम सदा ही नियमपूर्वक उत्तम व्रतके पालनमें लगे रहते थे तो भी विधाताने बलपूर्वक तुम्हें अपने अधीन करके तुम्हारे द्वारा ऐसा निष्ठुर कर्म करवा लिया' ॥ २१ ॥

त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥ २२ ॥

जैसे लोहार या बढ़ईका बनाया हुआ यन्त्र सदा उसके चालकके अधीन रहता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् कालयुक्त कर्मकी प्रेरणासे ही सचेष्ट हो रहा है ॥ २२ ॥

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥ २३ ॥

प्राणी किसी व्यक्त कारणके बिना ही दैवात् उत्पन्न होता है और दैवेच्छासे ही अकस्मात् उसका विनाश हो जाता है। यह सब देखकर शोक और हर्ष करना व्यर्थ है ॥ २३ ॥

व्यलीकमपि यत् त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव।
तदर्थमिष्यते राजन् प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ २४ ॥

राजन्! तथापि तुम्हारे चित्तमें जो यहाँ उन सबको मरवानेके कारण झूठे ही चिन्ता और पीड़ा हो रही है, इसकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त कर देना उचित है, अतः तुम अवश्य प्रायश्चित्त करो ॥ २४ ॥

इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥ २५ ॥
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत् समुच्छ्रयः।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत् किल ॥ २६ ॥

पार्थ! यह बात सुनी जाती है कि पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर बड़े भाई असुर और छोटे भाई देवता आपसमें लड़ गये थे। उनमें भी राजलक्ष्मीके लिये ही बत्तीस हजार वर्षोंतक बड़ा भारी संग्राम हुआ था ॥ २५-२६ ॥

एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम्।
जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥ २७ ॥

देवताओंने खूनसे भीगी हुई इस पृथ्वीको एकार्णवमें निमग्न करके दैत्योंका संहार कर डाला और स्वर्गलोकपर अधिकार कर लिया ॥ २७ ॥

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥ २८ ॥
शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत।
अष्टाशीतिसहस्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥ २९ ॥

भारत! इसी प्रकार पृथ्वीको भी अपने अधीन करके देवताओंने तीनों लोकोंमें शालावृक नामसे विख्यात उन अट्ठासी हजार ब्राह्मणोंका भी वध कर डाला, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और अभिमानसे मोहित होकर दानवोंकी सहायताके लिये उनके पक्षमें जा मिले थे ॥ २८-२९ ॥

धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ ३० ॥

जो धर्मका विनाश चाहते हुए अधर्मके प्रवर्तक हो रहे हों, उन दुरात्माओंका वध करना ही उचित है। जैसे देवताओंने उद्दण्ड दैत्योंका विनाश कर डाला था ॥ ३० ॥

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम्।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम् ॥ ३१ ॥

यदि एक पुरुषको मार देनेसे कुटुम्बके शेष व्यक्तियोंका कष्ट दूर हो जाय और एक कुटुम्बका नाश कर देनेसे सारे राष्ट्रमें सुख और शान्ति छा जाय तो वैसा करना सदाचार या धर्मका नाशक नहीं है ॥ ३१ ॥

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ ३२ ॥

नरेश्वर! किसी समय धर्म ही अधर्मरूप हो जाता है और कहीं अधर्मरूप दीखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है; इसलिये विद्वान् पुरुषको धर्म और अधर्मका रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ३२ ॥

तस्मात् संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव।

देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ ३३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता हो, तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेश सुने हैं; इसलिये अपने हृदयको स्थिर करो, शोकसे विचलित न होने दो। भारत ! तुमने तो उसी मार्गका अनुसरण किया है, जिसपर देवतालोग पहलेसे चल चुके हैं ॥ ३३ ॥

न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ।
भ्रातॄनाश्वासयैतांस्त्वं सुहृदश्च परंतप ॥ ३४ ॥

पाण्डवशिरोमणे ! तुम्हारे-जैसे लोग नरकमें नहीं गिरेंगे। शत्रुसंतापी नरेश ! तुम इन भाइयों और सुहृदोंको आश्वासन दो ॥ ३४ ॥

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ॥ ३५ ॥
तस्मिंस्तत् कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम्।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥ ३६ ॥

जो पुरुष हृदयमें पापकी भावना रखकर किसी पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसे करते हुए भी उसी भावनासे भावित रहता है तथा पापकर्म करनेके पश्चात् भी लज्जित नहीं होता, उसमें वह सारा पाप पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है, ऐसा शास्त्रका कथन है। उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा प्रायश्चित्तसे भी उसके पापकर्मका नाश नहीं होता है ॥ ३५-३६ ॥

त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ ३७ ॥

तुम तो जन्मसे ही शुद्ध स्वभावके हो। तुम्हारे मनमें युद्धकी इच्छा बिल्कुल नहीं थी। शत्रुओंके अपराधसे ही तुम्हें इस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ा। तुम यह युद्धकर्म करके भी निरन्तर पश्चात्ताप ही कर रहे हो ॥ ३७ ॥

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥ ३८ ॥

इसके लिये महान् यज्ञ अश्वमेध ही प्रायश्चित्त बताया गया है। महाराज ! तुम इस यज्ञका अनुष्ठान करो। ऐसा करनेसे तुम पापरहित हो जाओगे ॥ ३८ ॥

मरुद्भिः सह जित्वारीन् भगवान् पाकशासनः।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥ ३९ ॥

मरुद्गणोंसहित भगवान् पाकशासन इन्द्रने शत्रुओंको जीतकर एक-एक करके सौ बार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। इससे वे 'शतक्रतु' नामसे विख्यात हो गये ॥ ३९ ॥

धूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान् प्राप्य सुखोदयान्।
मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन् दिशः ॥ ४० ॥

उनके सारे पाप धुल गये। उन्होंने स्वर्गपर विजय पायी और सुखदायक लोकोंमें पहुँचकर वे इन्द्र सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए मरुद्गणोंके साथ शोभा पाने लगे ॥

स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम्।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ ४१ ॥

स्वर्गलोकमें अप्सराओंद्वारा पूजित होनेवाले शचीपति देवराज इन्द्रकी सम्पूर्ण देवता और महर्षि भी उपासना करते हैं ॥ ४१ ॥

सेयं त्वामनुसम्प्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयानघ ॥ ४२ ॥

अनघ ! तुमने भी इस वसुन्धराको अपने पराक्रमसे प्राप्त किया है और भुजाओंके बलसे समस्त राजाओंको परास्त किया है ॥ ४२ ॥

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः।
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ ४३ ॥

राजन् ! अब तुम अपने सुहृदोंके साथ उनके देश और नगरोंमें जाकर उनके भाइयों, पुत्रों अथवा पौत्रोंको अपने-अपने राज्यपर अभिषिक्त करो ॥ ४३ ॥

बालानपि च गर्भस्थान् सान्त्वेन समुदाचरन्।
रञ्जयन् प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥ ४४ ॥

जिनके उत्तराधिकारी अभी बालक हों या गर्भमें हों, उनकी प्रजाको समझा-बुझाकर सान्त्वनाद्वारा शान्त करो और सारी प्रजाका मनोरञ्जन करते हुए इस पृथ्वीका पालन करो॥

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि ॥ ४५ ॥

जिन राजाओंके कोई पुत्र नहीं हो, उनकी कन्याओंको ही राज्यपर अभिषिक्त कर दो। ऐसा करनेसे उनकी स्त्रियोंकी मनःकामना पूर्ण होगी और वे शोक त्याग देंगी ॥ ४५ ॥

एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ४६ ॥

भारत ! इस प्रकार सारे राज्यमें शान्ति स्थापित करके तुम उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो, जैसे पूर्वकालमें विजयी इन्द्रने किया था ॥ ४६ ॥

अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ४७ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! वे महामनस्वी क्षत्रिय, जो युद्धमें मारे गये हैं, शोक करनेके योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे कालकी शक्तिसे मोहित होकर अपने ही कर्मोंसे नष्ट हुए हैं ॥ ४७ ॥

अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान् यः प्रेत्य भारत ॥ ४८ ॥

कुन्तीकुमार ! भरतनन्दन ! तुमने क्षत्रियधर्मका पालन किया है और इस समय तुम्हें यह निष्कण्टक राज्य मिला है; अतः अब तुम उस धर्मकी ही रक्षा करो, जो मृत्युके पश्चात् सबका कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तीयोपाख्यानविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

जिन कर्मोंके करने और न करनेसे कर्ता प्रायश्चित्तका भागी होता और नहीं होता—उनका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः।
किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किन-किन कर्मोंको करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है और उनके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त करके वह पापसे मुक्त होता है ? इस विषयमें यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अकुर्वन् विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन्।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्यानुवर्तयन् ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण न करके निषिद्ध कर्म कर बैठता है, वह उस विपरीत आचरणके कारण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ २ ॥

सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥

जो ब्रह्मचारी सूर्योदय अथवा सूर्यास्तके समयतक सोता रहे तथा जिसके नख और दाँत काले हों,* उन सबको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः।
दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रेदिधिषुरेव च ॥ ४ ॥
अवकीर्णी भवेद् यश्च द्विजातिवधकस्तथा।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः॥ ५ ॥
ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी।
यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥ ६ ॥
स्त्रीशूद्रवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः।
यथा पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः॥ ७ ॥
अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा।
एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसके सिवा परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई), परिवित्ति (परिवेत्ताका बड़ा भाई), ब्रह्महत्यारा और जो दूसरोंकी निन्दा करनेवाला है वह तथा छोटी बहिनके विवाहके बाद उसीकी बड़ी बहिनसे ब्याह करनेवाला, जेठी बहिनके अविवाहित रहते हुए ही उसकी छोटी बहिनसे विवाह करनेवाला, जिसका व्रत नष्ट हो गया हो वह ब्रह्मचारी, द्विजकी हत्या करनेवाला, अपात्रको दान देनेवाला, सुपात्र ब्राह्मणको दान न देनेवाला, ग्रामका नाश करनेवाला, मांस बेचनेवाला तथा जो आग लगानेवाला है, जो वेतन लेकर वेद पढ़ानेवाला एवं स्त्री और शूद्रका वध करनेवाला है, इनमें पीछेवालोंसे पहलेवाले अधिक पापी हैं तथा पशु-वध करनेवाला, दूसरोंके घरमें आग लगानेवाला, झूठ बोलकर पेट पालनेवाला, गुरुका अपमान और सदाचारकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला—ये सभी पापी माने गये हैं। इन्हें प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ४–८

अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥

इनके सिवा, जो लोक और वेदसे विरुद्ध न करने योग्य कर्म हैं, उन्हें भी बताता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और समझो ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया।
अयाज्ययाजनं चैव तथाभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ १० ॥
शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥
आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥ १२ ॥
दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम्।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ १३ ॥

भारत ! अपने धर्मको त्याग देना और दूसरेके धर्मका आचरण करना, यज्ञके अनधिकारीको यज्ञ कराना तथा अभक्ष्य भक्षण करना, शरणागतका त्याग करना और भरण करने योग्य व्यक्तियोंका भरण-पोषण न करना, एवं रसोंको बेचना, पशु-पक्षियोंको मारना और शक्ति रहते हुए भी अग्न्याधान आदि कर्मोंको न करना, नित्य देने योग्य गोग्रास आदिको न देना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा न देना और उनका सर्वस्व छीन लेना, धर्मतत्त्वके जाननेवालोंने ये सभी कर्म न करने योग्य बताये हैं ॥ १०–१३ ॥

पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद् गुरुतल्पगः।
अप्रजायन् नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥ १४ ॥

राजन् ! जो पुरुष पिताके साथ झगड़ा करता है, गुरुकी शय्यापर सोता है, ऋतुकालमें भी अपनी पत्नीके साथ समागम नहीं करता है, वह मनुष्य अधार्मिक होता है ॥ १४॥

उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च।
यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ १५ ॥

इस प्रकार संक्षेप और विस्तारसे जो ये कर्म बताये गये हैं, उनमेंसे कुछको करनेसे और कुछको न करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १५ ॥

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवाः।
येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ ताञ्शृणु ॥ १६ ॥

---

* क्योंकि 'स्वर्णहारी तु कुनखी सुरापः श्यावदन्तकः' (कर्मविपाक) इस स्मृतिके अनुसार वे पूर्व जन्ममें क्रमशः सुवर्णकी चोरी करनेवाले और शराबी होते हैं।

अब जिन-जिन कारणोंके होनेपर इन कर्मोंको करते रहनेपर भी मनुष्य पापसे लिप्त नहीं होते, उनका वर्णन सुनो॥

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥ १७॥

यदि युद्धस्थलमें वेदवेदान्तोंका पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भी हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आवे तो स्वयं भी उसको मार डालनेकी चेष्टा करे। इससे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता है॥ १७॥

इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते।
वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते॥ १८॥

कुन्तीनन्दन! इस विषयमें वेदका एक मन्त्र भी पढ़ा जाता है। मैं तुमसे उसी धर्मकी बात कहता हूँ, जो वैदिक प्रमाणसे विहित है॥ १८॥

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद् यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥१९॥

जो ब्राह्मणोचित आचारसे भ्रष्ट होकर आततायी बन गया हो—हाथमें हथियार लेकर मारने आ रहा हो, ऐसे ब्राह्मणको मारनेसे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता। क्रोध ही उसके क्रोधका सामना करता है॥ १९॥

प्राणात्यये तथाज्ञानादाचरन्मदिरामपि।
आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति॥ २०॥

अनजानमें अथवा प्राणसंकटके समय भी यदि मदिरापान कर ले तो बादमें धर्मात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार उसका पुनः संस्कार होना चाहिये॥ २०॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम्।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! यही बात अन्य सब अभक्ष्यभक्षणोंके विषयमें भी कही गयी है। प्रायश्चित्त कर लेनेसे सब शुद्ध हो जाता है॥ २१॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम्।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः॥ २२॥

गुरुकी आज्ञासे उन्हींके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये गुरुकी शय्यापर शयन करना मनुष्यको दूषित नहीं करता है। उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको शिष्यद्वारा उत्पन्न कराया था॥

स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते।
बहुशः कामकारेण न चेद् यः सम्प्रवर्तते॥ २३॥
अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते॥२४॥

(चोरी सर्वथा निषिद्ध है) किंतु आपत्तिकालमें कभी गुरुके लिये चोरी करनेवाला पुरुष दोषका भागी नहीं होता है। यदि मनमें कामना रखकर बारंबार उस चौर्य-कर्ममें वह प्रवृत्त न होता हो तो आपत्तिके समय ब्राह्मणके सिवा किसी दूसरेका धन लेनेवाला मनुष्य पापका भागी नहीं होता है। जो स्वयं उस चोरीका अन्न नहीं खाता, वह भी चौर्यदोषसे लिप्त नहीं होता है॥ २३-२४॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद् विवाहकरणेषु च॥ २५॥

अपने या दूसरेके प्राण बचानेके लिये, गुरुके लिये, एकान्तमें अपनी स्त्रीके पास विनोद करते समय अथवा विवाहके प्रसङ्गमें झूठ बोल दिया जाय तो पाप नहीं लगता है॥

नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथंचन।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते॥ २६॥

यदि किसी कारणसे स्वप्नमें वीर्य स्खलित हो जाय तो इससे ब्रह्मचारीके लिये दुबारा व्रत लेने—उपनयन-संस्कार करानेकी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये प्रज्वलित अग्निमें घीका हवन करना प्रायश्चित्त बताया गया है॥ २६॥

पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा।
भिक्षिते पारदार्यं च तद् धर्मस्य न दूषकम्॥ २७॥

यदि बड़ा भाई पतित हो जाय या संन्यास ले ले तो उसके अविवाहित रहते हुए भी छोटे भाईका विवाह कर लेना दोषकी बात नहीं है। संतान-प्राप्तिके लिये स्त्रीद्वारा प्रार्थना करनेपर यदि कभी परस्त्रीसंगम किया जाय तो वह धर्मका लोप करनेवाला नहीं होता है॥ २७॥

वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत्।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः॥ २८॥

मनुष्यको चाहिये कि वह व्यर्थ ही पशुओंका वध न तो करे और न करावे। विधिपूर्वक किया हुआ पशुओंका संस्कार उनपर अनुग्रह है॥ २८॥

अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात् तन्न दूषकम्।
सत्काराणां तथा तीर्थे नित्यं वाप्रतिपादनम्॥ २९॥

यदि अनजानमें किसी अयोग्य ब्राह्मणको दान दे दिया जाय अथवा योग्य ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दान न दिया जा सके तो वह दोषकारक नहीं होता॥ २९॥

स्त्रियास्तथापचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्ता प्रदुष्यति॥ ३०॥

यदि व्यभिचारिणी स्त्रीका तिरस्कार किया जाय तो वह दोषकी बात नहीं है। उस तिरस्कारसे स्त्रीकी तो शुद्धि होती है और पति भी दोषका भागी नहीं होता॥ ३०॥

तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान्।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान्।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः॥ ३१॥

सोमरसके तत्त्वको जानकर यदि उसका विक्रय किया जाय तो बेचनेवाला दोषका भागी नहीं होता। जो सेवक काम करनेमें असमर्थ हो जाय, उसे छोड़ देनेसे भी दोष नहीं लगता। गौओंकी सुविधाके लिये यदि जंगलमें आग लगायी जाय तो उससे पाप नहीं होता है॥ ३१॥

उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति।

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! ये सब तो मैंने वे कर्म बताये हैं, जिन्हें करनेवाला दोषका भागी नहीं होता है। अब मैं विस्तारपूर्वक प्रायश्चित्तोंका वर्णन करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तके प्रकरणमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

पापकर्मके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

व्यास उवाच

तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—भरतनन्दन ! मनुष्य तपसे यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे तथा दानके द्वारा पापको धो-बहाकर अपने आपको पवित्र कर लेता है, परंतु यह तभी सम्भव होता है, जब वह फिर पापमें प्रवृत्त न हो ॥ १ ॥

एककालं तु भुञ्जीत चरन् भैक्ष्यं स्वकर्मकृत्।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥ २ ॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन्।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यदि किसीने ब्रह्महत्या की हो तो वह भिक्षा माँगकर एक समय भोजन करे, अपना सब काम स्वयं ही करे, हाथमें खप्पर और खाटका पाया लिये रहे, सदा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे, उद्यमशील बना रहे, किसीके दोष न देखे, जमीनपर सोये और लोकमें अपना पापकर्म प्रकट करता रहे। इस प्रकार बारह वर्षतक करनेसे ब्रह्महत्यारा पापमुक्त हो जाता है ॥ २–३ ॥

लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्छिराः ॥ ४ ॥
जपन् वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ५ ॥
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

अथवा प्रायश्चित्त बतानेवाले विद्वानोंकी या अपनी इच्छासे शस्त्रधारी पुरुषोंके अस्त्र-शस्त्रोंका निशाना बन जाय अथवा अपनेको प्रज्वलित आगमें झोंक दे अथवा नीचे सिर किये किसी भी एक वेदका पाठ करते हुए तीन बार सौ-सौ योजनकी यात्रा करे अथवा किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको अपना सर्वस्व समर्पण कर दे या जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त धन अथवा सब सामानोंसे भरा हुआ घर ब्राह्मणको दान कर दे—इस प्रकार गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाला पुरुष ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ ४–६ ॥

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष कृच्छ्रव्रतके अनुसार भोजन करे तो छः वर्षोंमें वह शुद्ध हो जाता है और एक-एक मासमें एक-एक कृच्छ्रव्रतका निर्वाह करते हुए भोजन करे तो वह तीन ही वर्षोंमें पापमुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः।
तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥ ८ ॥

यदि एक-एक मासपर भोजनक्रम बदलते हुए अत्यन्त तीव्र कृच्छ्रव्रतके अनुसार अन्न ग्रहण करे तो एक वर्षमें ही ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल सकता है* इसमें संशय नहीं है। राजन् ! इसी प्रकार यदि केवल उपवास करनेवाला मनुष्य हो तो उसकी स्वल्प समयमें ही शुद्धि हो जाती है ॥

क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः।
ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवंविधा नराः ॥ ९ ॥
ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः।

अश्वमेध यज्ञ करनेसे भी ब्रह्महत्याका पाप शुद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। जो इस प्रकारके लोग महायज्ञोंमें अवभृथ-स्नान करते हैं, वे सभी पापमुक्त हो जाते हैं—ऐसा श्रुतिका† कथन है ॥ ९½ ॥

ब्राह्मणार्थे हतो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १० ॥
गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत्।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ११ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणके लिये युद्धमें प्राण दे देता है, वह भी ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। ब्रह्महत्यारा होनेपर भी जो सुपात्र

* तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगे जो मिल जाय वह खा लेना तथा तीन दिन उपवास करना—इस प्रकार बारह दिनका कृच्छ्रव्रत होता है। इसी क्रमसे छः वर्षतक रहनेसे ब्रह्महत्या छूट सकती है। यही क्रम यदि तीन-तीन दिनमें परिवर्तित न होकर सम मासोंमें एक-एक सप्ताहमें और विषम मासोंमें आठ-आठ दिनोंमें बदलते हुए एक-एक मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो तीन वर्षोंमें शुद्धि हो जायगी और यदि एक मास प्रातःकाल, एक मास सायंकाल और एक मास अयाचित भोजन तथा एक मास उपवास—इस प्रकार चार-चार मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो एक ही वर्षमें ब्रह्महत्याका पाप छूट सकता है।

† श्रुति इस प्रकार है 'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति श्रुतिः।

ब्राह्मणोंको एक लाख गौओंका दान करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०-११ ॥

कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात् पञ्चविंशतिम् ।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥ १२ ॥

जो दूध देनेवाली पचीस हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १२ ॥

गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये ।
साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ १३ ॥

जब मृत्युकाल निकट हो, उस समय सदाचारी दरिद्र ब्राह्मणोंको दूध देनेवाली एक हजार सवत्सा गौओंका दान करके भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १३ ॥

शतं वै यस्तु काम्बोजान् ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥

भूपाल ! जो संयम-नियमसे रहनेवाले ब्राह्मणोंको सौ काबुली घोड़ोंका दान करता है, उसे भी पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ १४ ॥

मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत ।
न कीर्तयेत दत्त्वा यः स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! जो एक ब्राह्मणको भी उसकी मनोवाञ्छित वस्तु दे देता है और देकर फिर उसकी कहीं चर्चा नहीं करता, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

सुरापानं सकृत् कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥ १६ ॥

जो एक बार मदिरा-पान करके फिर आगके समान गर्म की हुई मदिरा पी लेता है, वह इहलोक और परलोकमें भी अपनेको पवित्र कर लेता है ॥ १६ ॥

मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा समाविशन् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठन् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७ ॥

जलहीन देशमें पर्वतसे गिरकर अथवा अग्निमें प्रवेश करके या महाप्रस्थानकी विधिसे हिमालयमें गलकर प्राण दे देनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १७ ॥

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः ॥ १८ ॥

मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञ करके शुद्ध होनेपर ब्रह्माजीकी सभामें जा सकता है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १८ ॥

भूमिप्रदानं कुर्याद् यः सुरां पीत्वा विमत्सरः ।
पुनर्न च पिबेद् राजन् संस्कृतः स च शुद्ध्यति ॥ १९ ॥

राजन् ! जो मदिरा पी लेनेपर ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो भूमिदान करे और फिर कभी उसे न पीये, वह संस्कार करनेके पश्चात् शुद्ध होता है ॥ १९ ॥

गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत् ।
अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥ २० ॥
शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।

गुरुपत्नीगमन करनेवाला मनुष्य तपायी हुई लोहेकी शिलापर सो जाय अथवा अपनी मूत्रेन्द्रिय काटकर ऊपरकी ओर देखता हुआ आगे बढ़ता चला जाय । इस प्रकार शरीर छूट जानेपर वह उस पापकर्मसे मुक्त हो जाता है ॥ २०½ ॥

कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥ २१ ॥
महाव्रतं चरेद् यस्तु दद्यात् सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत् कर्मणोऽशुभात् ॥ २२ ॥

स्त्रियाँ भी एक वर्षतक मिताहार एवं संयमपूर्वक रहनेपर उक्त पापकर्मोंसे मुक्त हो जाती हैं । जो महाव्रतका (एक महीनेतक जल न पीनेके नियमका) पालन करता है, ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है अथवा गुरुके लिये युद्धमें मारा जाता है, वह अशुभ कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

अनृतेनोपवर्ती चेत् प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।
उपाहृत्य प्रियं तस्मै तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

झूठ बोलकर जीविका चलानेवाला तथा गुरुका अपमान करनेवाला पुरुष गुरुजीको मनचाही वस्तु देकर प्रसन्न कर ले तो उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २४ ॥

जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित हो गया हो, वह ब्रह्मचारी उस दोषकी निवृत्तिके उद्देश्यसे ब्रह्महत्याके लिये बताये हुए व्रतका आचरण करे तथा छः महीनोंतक गोचर्म ओढ़कर रहे; ऐसा करनेपर वह पापसे मुक्त हो सकता है ॥ २४ ॥

परदारापहारी तु परस्यापहरन् वसु ।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २५ ॥

परायी स्त्री तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला पुरुष एक वर्षतक कठोर व्रतका पालन करनेपर उस पापसे मुक्त होता है ॥ २५ ॥

धनं तु यस्यापहरेत् तस्मै दद्यात् समं वसु ।
विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २६ ॥

जिसके धनका अपहरण करे, उसे अनेक उपाय करके उतना ही धन लौटा दे तो उस पापसे छुटकारा मिल सकता है ॥ २६ ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः ।
परिवेत्ता भवेत् पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥ २७ ॥

बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई और उसका वह बड़ा भाई—ये दोनों मनको संयममें रखते हुए बारह राततक कृच्छ्रव्रतका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध हो जाते हैं ॥ २७ ॥

निवेश्यं तु पुनस्तेन सदा तारयता पितॄन् ।
न तु स्त्रिया भवेद् दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥ २८ ॥

इसके सिवा, बड़े भाईका विवाह होनेके बाद पहलेका व्याहा हुआ छोटा भाई पितरोंके उद्धारके निमित्त पुनः विवाह-संस्कार करे; ऐसा करनेसे उस स्त्रीके कारण उसे दोष नहीं प्राप्त होता और न वह स्त्री ही उसके दोषसे लिप्त होती है ॥ २८ ॥

भोजनं ह्यन्तराशुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते ।
स्त्रियस्तेन प्रशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥ २९ ॥

चौमासेमें एक दिनका अन्तर देकर भोजन करनेका विधान है। उसके पालनसे स्त्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ २९ ॥

स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता ।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ ३० ॥

यदि अपनी स्त्रीके विषयमें पापाचारकी आशङ्का हो तो विज्ञपुरुषको रजस्वला होनेतक उनके साथ समागम नहीं करना चाहिये। रजस्वला होनेपर वे उसी प्रकार शुद्ध हो जाती हैं, जैसे राखसे माँजा हुआ बर्तन ॥ ३० ॥

पादजोच्छिष्टकांस्यं यद् गवा घ्रातमथापि वा ।
गण्डूषोच्छिष्टमपिवा विशुध्येद् दशभिस्तु तत् ॥ ३१ ॥

यदि काँसेका बर्तन शूद्रके द्वारा जूठा कर दिया जाय अथवा उसे गाय सूँघ ले अथवा किसीके भी कुल्ला करनेसे वह जूठा हो जाय तो वह दस वस्तुओंसे शोधन करनेपर शुद्ध होता है ॥ ३१ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥ ३२ ॥
तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते ।

ब्राह्मणके लिये चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मके पालनका विधान है। तात्पर्य यह कि वह शौचाचार या आत्मशुद्धिके लिये किये जानेवाले प्रायश्चित्तका पूरा-पूरा पालन करे। क्षत्रियके लिये एक पाद कमका विधान है। इसी तरह वैश्यके लिये उसके दो पाद और शूद्रके लिये एक पादके पालनकी विधि है। (उदाहरणके तौरपर जहाँ ब्राह्मणके लिये चार दिन उपवासका विधान हो, वहाँ क्षत्रियके लिये तीन दिन, वैश्यके लिये दो दिन और शूद्रके लिये एक दिनके उपवासका विधान समझना चाहिये) ॥ ३२½ ॥

विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान् बहून् ।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात् कर्म च प्रथयन्नरः ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार इन पापोंके गौरव और लाघवका निश्चय करना चाहिये। पशु-पक्षियोंका वध और दूसरे-दूसरे बहुत-से वृक्षोंका उच्छेद करके पापयुक्त हुआ पुरुष अपनी शुद्धिके लिये तीन दिन, तीन रात केवल हवा पीकर रहे और अपना पापकर्म लोगोंपर प्रकट करता रहे ॥ ३३-३४ ॥

अगम्यागमने राजन् प्रायश्चित्तं विधीयते ।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान् विहार्यं भस्मशायिना ॥ ३५ ॥

राजन्! जो स्त्री समागम करनेके योग्य नहीं है, उसके साथ समागम कर लेनेपर प्रायश्चित्तका विधान है। उसे छः महीनेतक गीला वस्त्र पहनकर घूमना और राखके ढेरपर सोना चाहिये ॥ ३५ ॥

एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत् ।
ब्राह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥ ३६ ॥

जितने न करने योग्य पापकर्म हैं, उन सबके लिये यही विधि हो। ब्राह्मणग्रन्थोंमें बतायी हुई विधिसे दृष्टान्त बतानेवाले शास्त्रोंकी युक्तियोंसे इसी तरह पापशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३६ ॥

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः ।
अहिंस्रो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ३७ ॥

जो पवित्र स्थानमें मिताहारी हो हिंसाका सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदिसे शून्य हो मौनभावसे गायत्रीमन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन् ।
त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ॥ ३८ ॥
स्त्रीशूद्रं पतितं चापि नाभिभाषेद् व्रतान्वितः ।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवंव्रतो द्विजः ॥ ३९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह दिनमें खड़ा रहे, रातमें खुले मैदानमें सोये, तीन बार दिनमें और तीन बार रातमें वस्त्रोंसहित जलमें घुसकर स्नान करे और इस व्रतका पालन करते समय स्त्री-शूद्र और पतितसे बातचीत न करे, ऐसा नियम लेनेवाला द्विज अज्ञानवश किये हुए सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३८-३९ ॥

शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥ ४० ॥

मनुष्य शुभ और अशुभ जो कर्म करता है, उसके पाँच महाभूत साक्षी होते हैं। उन शुभ और अशुभ कर्मोंका फल मृत्युके पश्चात् उसे प्राप्त होता है। उन दोनों प्रकारके कर्मोंमें जो अधिक होता है। उसीका फल कर्ताको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

तस्माद् दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ४१ ॥

इसलिये यदि मनुष्यसे अशुभ कर्म बन जाय तो वह दान, तपस्या और सत्कर्मके द्वारा शुभ फलकी वृद्धि करे, जिससे उसके पास अशुभको दबाकर शुभका ही संग्रह अधिक हो जाय ॥ ४१ ॥

१. गायके दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर—इन पाँच गव्य पदार्थोंसे तथा मिट्टी, जल, राख, खटाई और आग—इन पाँच वस्तुओंसे पात्रको शुद्ध किया जाता है—यही उसका दस वस्तुओंसे शोधन है।

कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्तेत् पापकर्मणः ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात्॥ ४२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ कर्मोंका ही अनुष्ठान करे, पापकर्मसे सर्वथा दूर रहे तथा प्रतिदिन (निष्कामभावसे) धनका दान करे; ऐसा करनेसे वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४३ ॥

मैंने तुम्हारे सामने पापके अनुरूप प्रायश्चित्त बतलाया है, परंतु महापातकोंसे भिन्न पापोंके लिये ही ऐसा प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ ४३ ॥

भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥ ४४ ॥

राजन्! भक्ष्य, अभक्ष्य, वाच्य और अवाच्य तथा जान-बूझकर और बिना जाने किये हुए पापोंके लिये ये प्रायश्चित्त कहे गये हैं । विज्ञ पुरुषको समझकर इनका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४४ ॥

जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात् स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४५ ॥

जान-बूझकर किया हुआ सारा पाप भारी होता है और अनजानमें वैसा पाप बन जानेपर कम दोष लगता है । इस प्रकार भारी और हल्के पापके अनुसार ही उसके प्रायश्चित्त-का विधान है ॥ ४५ ॥

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥ ४६ ॥

शास्त्रोक्त विधिसे प्रायश्चित्त करके सारा पाप दूर किया जा सकता है । परंतु यह विधि आस्तिक और श्रद्धालु पुरुषके लिये ही कही गयी है ॥ ४६ ॥

नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥ ४७ ॥

जिनमें दम्भ और द्वेषकी प्रधानता है, उन नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषोंके लिये कभी ऐसे प्रायश्चित्तका विधान नहीं देखा जाता है ॥ ४७ ॥

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥ ४८ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह! जो इहलोक और परलोक-में सुख चाहता हो, उसे श्रेष्ठ पुरुषोंके आचार तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मका सदा ही सेवन करना चाहिये ॥४८॥

स राजन् मोक्ष्यसे पापात् तेन पूर्वेन हेतुना ।
प्राणार्थं वा धनेनैषामथवा नृपकर्मणा ॥ ४९ ॥

नरेश्वर! तुमने तो अपने प्राणोंकी रक्षा, धनकी प्राप्ति अथवा राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही शत्रुओंका वध किया है; अतः इतना ही पर्याप्त कारण है, जिससे तुम पापमुक्त हो जाओगे ॥ ४९ ॥

अथवा ते घृणा काचित् प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥ ५० ॥

अथवा यदि तुम्हारे मनमें उन अतीत घटनाओंके कारण कोई घृणा या ग्लानि हो तो उनके लिये प्रायश्चित्त कर लेना। परंतु इस प्रकार अनार्य पुरुषोंद्वारा सेवित खेद या रोषके वशीभूत होकर आत्महत्या न करो ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यास-के ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके तपोधन व्यासजीसे इस प्रकार कहा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तवर्णनके प्रसङ्गमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुके कथनानुसार धर्मका स्वरूप, पापसे शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओंका वर्णन तथा दानके अधिकारी एवं अनधिकारीका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य? किस वस्तुका दान उत्तम माना जाता है? कौन दानका पात्र है अथवा कौन अपात्र? यह सब मुझे बताइये ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! इस विषयमें लोग प्रजापति मनु और सिद्ध पुरुषोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है एक समय बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी ऋषि एकत्र हो प्रजापति राजा मनुके पास गये और उन बैठे हुए नरेशसे धर्मकी बात पूछते हुए बोले—॥ ३ ॥

कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः ।

कार्याकार्यं च यत् सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ४ ॥

'प्रजापते ! अन्न क्या है ? पात्र कैसा होना चाहिये ? दान, अध्ययन और तपका क्या स्वरूप है ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? यह सब हमें बताइये' ॥ ४ ॥

तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् स्वायम्भुव मनुने कहा—'महर्षियो ! मैं संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मका यथार्थ स्वरूप बताता हूँ, आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च ।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्पराः ॥ ६ ॥
अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः ।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥ ७ ॥
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च ।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥ ८ ॥

'जिनके दोषोंका विशेषरूपसे उल्लेख नहीं हुआ है, ऐसे कर्म बन जानेपर उनके दोषके निवारणके लिये जप, होम, उपवास, आत्मज्ञान, पवित्र नदियोंमें स्नान तथा जहाँ जप-होम आदिमें तत्पर रहनेवाले बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों, उस स्थानका सेवन—ये सामान्य प्रायश्चित्त हैं । ये सारे कर्म पुण्यदायक हैं । पर्वत, सुवर्णप्राशन (सोनेसे स्पर्श कराये हुए जलका पान), रत्न आदिसे मिश्रित जलमें स्नान, देवस्थानोंकी यात्रा और घृतपान—ये सब मनुष्यको शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६—८ ॥

न गर्वेण भवेत् प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः ।
दीर्घमायुरथेच्छन् हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥ ९ ॥

'विद्वान् पुरुष कभी गर्व न करे और यदि दीर्घायुकी इच्छा हो तो तीन रात तप्तकृच्छ्रव्रतकी विधिसे गरम-गरम दूध, घृत और जल पीये ॥ ९ ॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

'बिना दी हुई वस्तुको न लेना, दान, अध्ययन और तपमें तत्पर रहना, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना—ये सब धर्मके लक्षण हैं ॥ १० ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ११ ॥

'एक ही क्रिया देश और कालके भेदसे धर्म या अधर्म हो जाती है ! चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्थाविशेषमें धर्म माने गये हैं ॥ ११ ॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥ १२ ॥

'इस प्रकार विज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिमें धर्म और अधर्म दोनों ही देश-कालके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं । धर्माधर्ममें जो अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति होती हैं, ये भी लोक और वेदके भेदसे दो प्रकारकी हैं (अर्थात् लौकिकी अप्रवृत्ति और लौकिकी प्रवृत्ति, वैदिकी अप्रवृत्ति और वैदिकी प्रवृत्ति) ॥ १२ ॥

अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् ।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ॥ १३ ॥

'वैदिकी अप्रवृत्ति (निवृत्ति-धर्म) का फल है अमृतत्व (मोक्ष) और वैदिकी प्रवृत्ति अर्थात् सकाम कर्मका फल है जन्म-मरणरूप संसार । लौकिकी अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति—ये दोनों यदि अशुभ हों तो उनका फल भी अशुभ समझे तथा शुभ हों तो उनका फल भी शुभ जानना चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही शुभ और अशुभरूप होती हैं ॥ १३ ॥

दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह ।
अपेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥ १४ ॥

'देवताओंके निमित्त, दैवयुक्त (शास्त्रीय कर्म), प्राण और प्राणदाता—इन चारोंकी अपेक्षापूर्वक जो कुछ किया जाता है, उससे अशुभका भी शुभ ही फल होता है ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वं भवति संदेहादिह दृष्टार्थमेव च ।
अपेक्षापूर्वकरणात् प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १५ ॥

'प्राणोंपर संशय न होनेकी स्थितिमें अथवा किसी प्रत्यक्ष लाभके लिये जो यहाँ अशुभ कर्म बन जाता है, उसे इच्छापूर्वक करनेके कारण उसके दोषकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्तका विधान है ॥ १५ ॥

क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये ।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥ १६ ॥

'यदि क्रोध और मोहके वशीभूत होकर मनको प्रिय या अप्रिय लगनेवाले अशुभ कार्य हो जाते हैं तो उनके निवारणके लिये दृष्टान्तप्रतिपादक शास्त्रकी दृष्टियोंसे उपवास आदिके द्वारा शरीरको सुखाना ही करने योग्य प्रायश्चित्त माना गया है । इसके सिवा, हविष्यान्न-भोजन, मन्त्रोंके जप तथा अन्यान्य प्रायश्चित्तोंसे भी क्रोध आदिके कारण किये गये पापकी शान्ति होती है ॥ १६ ॥

उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः ।
विशुद्ध्येयदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः ॥ १७ ॥

'यदि राजा दण्डनीय पुरुषको दण्ड न दे तो उसे अपनी शुद्धिके लिये एक दिन-रातका उपवास करना चाहिये । यदि पुरोहित राजाको ऐसे अवसरपर कर्तव्यका उपदेश न दे तो उसे तीन रात उपवास करना चाहिये ॥ १७ ॥

क्षयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः ।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥ १८ ॥

'यदि पुत्र आदिकी मृत्युके कारण शोक करनेवाला

पुरुष आमरण उपवास करनेके लिये बैठ जाय अथवा शस्त्र आदिसे आत्मघातकी चेष्टा करे; परंतु उसकी मृत्यु न हो, उस दशामें भी उस निन्धकर्मके लिये जो चेष्टा की गयी थी, उसके दोषकी निवृत्तिके लिये उसे तीन रातका उपवास बताना चाहिये ॥ १८ ॥

जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः ।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥

'परंतु जो पुरुष अपनी जाति, आश्रम तथा कुलके धर्मोंका सर्वथा परित्याग कर देते हैं और जो लोग धर्ममात्रको छोड़ बैठते हैं, उनके लिये कोई धर्म (प्रायश्चित्त) नहीं है अर्थात् किसी भी प्रायश्चित्तसे उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है ॥ १९ ॥

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः ।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥ २० ॥

'यदि प्रायश्चित्तकी आवश्यकता पड़ जाय और धर्मके निर्णयमें संदेह उपस्थित हो जाय तो वेद और धर्म-शास्त्रको जाननेवाले दस अथवा निरन्तर धर्मका विचार करनेवाले तीन ब्राह्मण उस प्रश्नपर विचार करके जो कुछ कहें, उसे ही धर्म मानना चाहिये ॥ २० ॥

अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥ २१ ॥

'बैल, मिट्टी, छोटी-छोटी चींटियाँ, श्लेष्मातक[1] (लसोड़ा) और विष—ये सब ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं ॥ २१ ॥

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः ।
चतुष्पात् कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ २२ ॥

'काँटोंसे रहित जो मत्स्य हैं, वे भी ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं । कच्छप और उसके सिवा अन्य चार पैरवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं । मेढक और जलमें उत्पन्न होनेवाले अन्य जीव भी अभक्ष्य ही हैं॥ २२ ॥

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः ।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥ २३ ॥
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये ।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥

'भास, हंस, गरुड़, चक्रवाक, बतख, बगुले, कौए, मेद्गु[2], गीध, बाज, उल्लू, कच्चे मांस खानेवाले दाढ़ोंसे युक्त सभी हिंसक पशु, चार पैरवाले जीव और पक्षी तथा दोनों ओर दाँत और चार दाढ़ोंवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं २३-२४

एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि ।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद् ब्राह्मणः पयः ॥ २५ ॥

'भेड़, घोड़ी, गदही, ऊँटनी, दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई गाय, मानवी स्त्री और हिरनियोंका दूध ब्राह्मण न पीये ॥ २५ ॥

प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किंचिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥ २६ ॥

'यदि किसीके यहाँ मरणाशौच या जननाशौच हो गया हो तो उसके यहाँ दस दिनोंतक कोई अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार ब्यायी हुई गायका दूध भी यदि दस दिनके भीतरका हो तो उसे नहीं पीना चाहिये ॥ २६ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥ २७ ॥

'राजाका अन्न तेज हर लेता है, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको नष्ट कर देता है, सुनारका तथा पति और पुत्रसे हीन युवतीका अन्न आयुका नाश करता है ॥ २७ ॥

विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः ॥ २८ ॥

'ब्याजखोरका अन्न विष्ठाके समान है और वेश्याका अन्न वीर्यके समान । जो अपनी स्त्रीके पास किसी उपपतिका आना सह लेते हैं, उन कायरोंका तथा सदा स्त्रीके वशीभूत रहनेवाले पुरुषोंका अन्न भी वीर्यके ही तुल्य है ॥ २८ ॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च ।
तक्षणश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ॥ २९ ॥
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ।

'जिसने यज्ञकी दीक्षा ली हो, उसका अन्न अग्निषोमीय होमविशेषके पहले अग्राह्य है । कंजूस, यज्ञ बेचनेवाले, बढ़ई, चमार या मोची, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, वैद्य तथा चौकीदारका अन्न भी खाने योग्य नहीं है ॥ २९½ ॥

गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ ३० ॥
परिवित्तीनां पुंसां च बन्दिद्यूतविदां तथा ।

'जिन्हें किसी समाज या गाँवने दोषी ठहराया हो, जो नर्तकीके द्वारा अपनी जीविका चलाते हों, छोटे भाईका ब्याह हो जानेपर भी कुँवारे रह गये हों, बंदी (चारण या भाट) का काम करते हों या जुआरी हों, ऐसे लोगोंका अन्न भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ३०½ ॥

वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत् ॥ ३१ ॥
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ।

'बायें हाथसे लाया अथवा परोसा गया अन्न, बासी भात, शराब मिला हुआ, जूठा और घरवालोंको न देकर अपने लिये बचाया हुआ अन्न भी अखाद्य ही है ॥ ३१½॥

पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥ ३२ ॥
सक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः ।

'इसी प्रकार जो पदार्थ आटे, ईखके रस, साग या दूधको बिगाड़कर या सड़ाकर बनाये गये हों, सत्तू, भूने हुए

---

१. श्लेष्मातकके वैद्यकमें अनेक नाम आये हैं, उनमेंसे एक नाम 'द्विजकुत्सित' भी है । इससे सिद्ध होता है कि वह द्विजाति मात्रके लिये अभक्ष्य है ।

२. मद्गु एक प्रकारके जलचर पक्षीका नाम है ।

जौ और दहीमिश्रित सत्तू इन्हें विकृत करके बनाये हुए पदार्थ यदि बहुत देरके बने हों तो उन्हें नहीं खाना चाहिये॥

पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥ ३३ ॥
अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः ।

'खीर, खिचड़ी, फलका गूदा और पूए यदि देवताके उद्देश्यसे न बनाये गये हों तो गृहस्थ ब्राह्मणोंके लिये खाने-पीने योग्य नहीं हैं ॥ ३३½ ॥

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः॥ ३४ ॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।

'गृहस्थको चाहिये कि वह पहले देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों), पितरों और घरके देवताओंका पूजन करके पीछे अपने भोजन करे ॥ ३४½ ॥

यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥ ३५ ॥
एवंवृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात् ।

'जैसे गृहत्यागी संन्यासी घरके प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थको भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घरमें रहना चाहिये । जो इस प्रकार सदाचारका पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नीके साथ घरमें निवास करता है, वह धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है ॥ ३५½ ॥

न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ॥ ३६ ॥
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके ॥ ३७ ॥
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने ।
न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः ।
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ॥ ३८ ॥

'धर्मात्मा पुरुषको चाहिये कि वह यशके लोभसे, भयके कारण अथवा अपना उपकार करनेवालेको दान न दे अर्थात् उसे जो दिया जाय वह दान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । जो नाचने-गानेवाले, हँसी-मजाक करनेवाले (भाँड़ आदि), मदमत्त, उन्मत्त, चोर, निन्दक, गूँगे, कान्तिहीन, अङ्गहीन, बौने, दुष्ट, दूषित कुलमें उत्पन्न तथा व्रत एवं संस्कारसे शून्य हों, उन्हें भी दान न दे । श्रोत्रियके सिवा वेदज्ञानशून्य ब्राह्मणको दान नहीं देना चाहिये ॥ ३६—३८ ॥

असम्यक् चैव यद् दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः ।
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३९ ॥

'जो उत्तम विधिसे दिया न गया हो तथा जिसे उत्तम विधिके साथ ग्रहण न किया गया हो, वे देना और लेना दोनों ही देने और लेनेवालेके लिये अनर्थकारी होते हैं ॥ ३९ ॥

यथा खदिरमालम्ब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन् ।
मज्जेत मज्जतस्तद्वद् दाता यश्च प्रतिग्रही ॥ ४० ॥

'जैसे खैरकी लकड़ी या पत्थरकी शिलाका सहारा लेकर समुद्र पार करनेवाला मनुष्य बीचमें ही डूब जाता है, उसी प्रकार अविधिपूर्वक दान देने और लेनेवाले यजमान और पुरोहित दोनों डूब जाते हैं ॥ ४० ॥

काष्ठैरार्द्रैर्यथा वह्निरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपःस्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥ ४१ ॥

'जैसे गीली लकड़ीसे ढकी हुई आग प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार तपस्या, स्वाध्याय तथा सदाचारसे हीन ब्राह्मण यदि दान ग्रहण कर ले तो वह उसे पचा नहीं सकता ॥

कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः ।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥ ४२ ॥

'जैसे मनुष्यकी खोपड़ीमें भरा हुआ जल और कुत्तेकी खालमें रक्खा हुआ दूध आश्रयदोषसे अपवित्र होता है, उसी प्रकार सदाचारहीन ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान भी आश्रय-स्थानके दोषसे दूषित हो जाता है ॥ ४२ ॥

निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनुक्रोशात् प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च ॥ ४३ ॥

'जो ब्राह्मण वेदज्ञानसे शून्य और शास्त्रज्ञानसे रहित होता हुआ भी दूसरोंमें दोष नहीं देखता तथा संतुष्ट रहता है, उसे तथा व्रतशून्य दीन-हीनको भी दया करके दान देना चाहिये ॥ ४३ ॥

न वै देयमनुक्रोशाद् दीनायाप्यपकारिणे ।
आप्ताचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ४४ ॥

'पर जो दूसरोंका बुरा करनेवाला हो वह यदि दीन हो तो भी उसे दया करके नहीं देना चाहिये । यह शिष्टों-का आचार है और यही धर्म है ॥ ४४ ॥

निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥ ४५ ॥

'वेदविहीन ब्राह्मणको दिया हुआ दान अपात्रदोषसे निरर्थक हो जाता है, इसमें कोई विचार करनेकी बात नहीं है॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ४६ ॥

'जैसे लकड़ीका हाथी और चामका बना हुआ मृग हो, उसी प्रकार वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे शून्य ब्राह्मण है । ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं (परंतु नामके अनुसार काम नहीं देते) ॥ ४६ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४७ ॥

'जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियोंके पास जाकर निष्फल होता है, गाय गायसे ही संयुक्त होनेपर कोई फल नहीं दे सकती और जैसे बिना पंखका पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ ही होता है ॥ ४७ ॥

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥ ४८ ॥

'जिस प्रकार अन्नहीन ग्राम, जलरहित कुँआ और राखमें की हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार मूर्ख

ब्राह्मणको दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही है ॥ ४८ ॥

देवतानां पितॄणां च हव्यकव्यविनाशकः ।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान् प्राप्तुमर्हति ॥ ४९ ॥

'मूर्ख ब्राह्मण देवताओंके यज्ञ और पितरोंके श्राद्धका नाश करनेवाला होता है। वह धनका अपहरण करनेवाला शत्रु है। वह दान देनेवालोंको उत्तम लोकमें नहीं पहुँचा सकता' ॥ ४९ ॥

एतत् ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतभूषण युधिष्ठिर ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् रूपसे थोड़ेमें बताया गया। यह महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग सबको सुनना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजी तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाराज युधिष्ठिरका नगरमें प्रवेश

युधिष्ठिर उवाच

श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! महामुने ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं चारों वर्णोंके सम्पूर्ण धर्मोंका तथा राजधर्मका भी विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपत्तिकालमें मुझे कैसी नीतिसे काम लेना चाहिये ? धर्मके अनुकूल मार्गपर दृष्टि रखते हुए मैं किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय पा सकता हूँ ? ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता ।
कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे ॥ ३ ॥

भक्ष्य और अभक्ष्यसे रहित, उपवासस्वरूप प्रायश्चित्तकी यह चर्चा बड़ी उत्सुकता पैदा करनेवाली है। यह मेरे हृदयमें हर्ष-सा उत्पन्न कर रही है ॥ ३ ॥

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

एक ओर धर्मका आचरण और दूसरी ओर राज्यका पालन—ये दोनों सदा एक दूसरेके विरुद्ध हैं। यह सोचकर मुझे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है और मेरे चित्तपर मोह छा रहा है॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदां वरः ।
नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तब वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजीने सर्वज्ञ महात्माओंमें सबसे प्राचीन नारदजीकी ओर देखकर युधिष्ठिरसे कहा— ॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छसि चेद् धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ६ ॥

'महाबाहु नरेश्वर ! यदि तुम धर्मका पूर्णरूपसे विवेचन सुनना चाहते हो तो कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मके पास जाओ ॥ ६ ॥

स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ ७ ॥

'गङ्गापुत्र भीष्म सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ हैं। वे धर्मरहस्यके विषयमें तुम्हारे मनमें स्थित हुए सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करेंगे ॥ ७ ॥

जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी ।
साक्षाद् ददर्श यो देवान् सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ८ ॥
बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत् प्रभुः ।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥ ९ ॥

'जिन्हें दिव्य नदी त्रिपथगा गङ्गादेवीने जन्म दिया है, जिन्होंने इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका साक्षात् दर्शन किया है तथा जिन शक्तिशाली भीष्मने बृहस्पति आदि देवर्षियोंको बारंबार अपनी सेवाद्वारा संतुष्ट करके राजनीतिका अध्ययन किया है, उनके पास चलो ॥ ८-९ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः ।
तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः ॥ १० ॥

'शुक्राचार्य जिस शास्त्रको जानते हैं तथा देवगुरु विप्रवर बृहस्पतिको जिस शास्त्रका ज्ञान है, वह सम्पूर्ण शास्त्र कुरुश्रेष्ठ भीष्मने व्याख्यासहित प्राप्त किया है ॥ १० ॥

भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरितव्रतः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके महाबाहु भीष्मने भृगुवंशी च्यवन तथा महर्षि वसिष्ठसे वेदाङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन किया है ॥ ११ ॥

पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥ १२ ॥

'इन्होंने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके ज्येष्ठ पुत्र उद्दीप्त तेजस्वी सनत्कुमारजीसे, जो अध्यात्मगतिके तत्त्वको जाननेवाले हैं, अध्यात्मज्ञानकी शिक्षा पायी थी ॥ १२ ॥

मार्कण्डेयमुखात् कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान् पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

'पुरुषप्रवर भीष्मने मार्कण्डेयजीके मुखसे सम्पूर्ण यतिधर्म-

का ज्ञान प्राप्त किया है और परशुराम तथा इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी है ॥ १३ ॥

मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथानपत्यस्य सतः पुण्यलोका दिवि श्रुताः ॥ १४ ॥

'मनुष्योंमें उत्पन्न होकर भी इन्होंने मृत्युको अपनी इच्छाके अधीन कर लिया है । संतानहीन होनेपर भी उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य लोक देवलोकमें विख्यात हैं ॥ १४ ॥

यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन् सभासदः ।
यस्य नाविदितं किंचिज्ज्ञानयज्ञेषु विद्यते ॥ १५ ॥

'पुण्यात्मा ब्रह्मर्षि सदा उनके सभासद रहे हैं । ज्ञानयज्ञमें कोई भी ऐसी बात नहीं है, जिसका उन्हें ज्ञान न हो ॥१५॥

स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित् ।
तमभ्येहि पुरा प्राणान् स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ १६ ॥

'सूक्ष्म धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वे धर्मवेत्ता भीष्म तुम्हें धर्मका उपदेश देंगे । वे धर्मज्ञ महात्मा अपने प्राणोंका परित्याग करें, इसके पहले ही तुम इनके पास चलो'॥

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् दूरदर्शी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने वक्ताओंमें श्रेष्ठ सत्यवतीनन्दन व्यासजीसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

वैशसं सुमहत् कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम् ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥ १८ ॥
घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! मैं अपने भाई-बन्धुओंका यह महान् एवं रोमाञ्चकारी संहार करके सम्पूर्ण लोकोंका अपराधी बन गया हूँ । मैंने इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश किया है । भीष्मजी सरलतापूर्वक युद्ध करनेवाले थे तो भी मैंने युद्धमें उन्हें छलसे मरवा डाला । अब फिर उन्हींसे मैं अपनी शङ्काओंको पूछूँ, क्या इसके योग्य मैं रह गया हूँ ? अब मैं किस हेतुसे उन्हें मुँह दिखा सकता हूँ ? ॥१८-१९॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब परम बुद्धिमान् महाबाहु यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने चारों वर्णोंके हितकी इच्छासे नृपतिशिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥

वासुदेव उवाच

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ ! अब आप अत्यन्त हठपूर्वक शोकको ही पकड़े न रहें । भगवान् व्यास जो आज्ञा देते हैं, वही करें ॥ २१ ॥

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जैसे वर्षाकालमें लोग मेघकी ओर टकटकी लगाये देखते हैं—उससे जलकी याचना करते हैं, उसी प्रकार ये सारे ब्राह्मण और आपके ये महातेजस्वी भाई आपसे धैर्य धारण करनेकी प्रार्थना करते हुए आपके पास बैठे हैं ॥२२॥

हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥ २३ ॥

महाराज ! मरनेसे बचे हुए राजालोग और चारों वर्णोंकी प्रजाओंसे युक्त यह सारा कुरुजाङ्गल देश इस समय आपकी सेवामें उपस्थित है ॥ २३ ॥

प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः॥ २४ ॥
सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परंतप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ २५ ॥

शत्रुओंको मारने और संताप देनेवाले नरेश ! इन महामना ब्राह्मणोंका प्रिय करनेके लिये भी आपको इनकी बात मान लेनी चाहिये । आप अमित तेजस्वी गुरुदेव व्यासकी आज्ञासे हम सुहृदोंका और द्रौपदीका प्रिय कीजिये तथा सम्पूर्ण जगत्के हितसाधनमें लग जाइये ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः ।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कमलनयन महामनस्वी राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये उठ खड़े हुए ॥ २६ ॥

सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।
व्यजहान्मानसं दुःखं संतापं च महायशाः ॥२८ ॥

पुरुषसिंह ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, द्वैपायन व्यास, देवस्थान, अर्जुन तथा अन्य बहुत-से लोगोंके समझाने-बुझानेपर महायशस्वी युधिष्ठिरने मानसिक दुःख और संतापको त्याग दिया ॥ २७-२८ ॥

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः ।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥ २९ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेशको सुना था । वेद-शास्त्रोंके ज्ञानकी तो वे निधि ही थे । सुने हुए शास्त्रों तथा सुनने योग्य नीतिग्रन्थोंके विचारमें भी वे कुशल थे । उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय करके मनमें पूर्ण शान्ति पा ली थी ॥ २९ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ३० ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान राजा युधिष्ठिर वहाँ आये हुए सब लोगोंसे घिरकर धृतराष्ट्रको आगे करके अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चल दिये ॥ ३० ॥

प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥
ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम्।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ ३२ ॥
मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च बन्दिभिः।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥ ३३ ॥

नगरमें प्रवेश करते समय धर्मज्ञ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने देवताओं तथा सहस्रों ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर कम्बल और मृगचर्मसे ढके हुए एक नूतन उज्ज्वल रथपर जिसकी पवित्र मन्त्रोंद्वारा पूजा की गयी थी तथा जिसमें शुभ लक्षणसम्पन्न सोलह सफेद बैल जुते हुए थे, वे वन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उसी प्रकार सवार हुए, जैसे चन्द्रदेव अपने अमृतमय रथपर आरूढ़ होते हैं॥ ३१–३३॥

जग्राह रश्मीन् कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥ ३४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र भीमसेनने उन बैलोंकी रास सँभाली। अर्जुनने तेजस्वी श्वेत छत्र धारण किया ॥ ३४॥

ध्रियमाणं च तच्छत्रं पाण्डुरं रथमूर्धनि।
शुशुभे तारकाकीर्णे सितमभ्रमिवाम्बरे ॥ ३५॥

रथके ऊपर तना हुआ वह श्वेत छत्र आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त श्वेत बादलके समान शोभा पाता था ॥

चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ ३६ ॥

उस समय माद्रीके वीर पुत्र नकुल और सहदेवने चन्द्रमाकी किरणोंके समान चमकीले रत्नभूषित श्वेत चँवर और व्यजन हाथोंमें ले लिये ॥ ३६ ॥

ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः।
भूतानीव समस्तानि राजन् ददृशिरे तदा ॥ ३७ ॥

राजन्! वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुए वे पाँचों भाई रथपर बैठकर मूर्तिमान् पाँच महाभूतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३७ ॥

आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः।
अन्वयात् पृष्ठतो राजन् युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम्॥ ३८ ॥

नरेश्वर! मनके समान वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए शुभ्र रथपर आरूढ़ हो युयुत्सु ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चले ॥ ३८ ॥

रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितम्।
सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात् कुरून्॥ ३९॥

शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए सुन्दर सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो सात्यकिसहित श्रीकृष्ण भी कौरवोंके पीछे-पीछे गये ॥ ३९ ॥

नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत।
अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरके ज्येष्ठ पिता (ताऊ) गान्धारीसहित पालकीमें बैठकर उनके आगे-आगे जा रहे थे ॥ ४० ॥

कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च।
यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥ ४१ ॥

इन सबके पीछे कुन्ती और द्रौपदी आदि कुरुकुलकी वे सभी स्त्रियाँ यथायोग्य भिन्न-भिन्न सवारियोंपर चढ़कर चल रही थीं। इनके पीछे विदुरजी थे, जो इन सबकी देख-भाल करते थे ॥ ४१ ॥

ततो रथाश्च बहुला नागाश्वसमलंकृताः।
पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर इन सबके पीछे हाथी और घोड़ोंसे विभूषित बहुत-से रथी, पैदल और घुड़सवार सैनिक चल रहे थे ॥

ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः।
स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वैतालिकों, सूतों और मागधोंद्वारा सुन्दर वाणीमें अपनी स्तुति सुनते हुए राजा युधिष्ठिरने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥

तत् प्रयाणं महाबाहोर्बभूवाप्रतिमं भुवि।
आकुलाकुलमुत्कृष्टं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४४ ॥

महाबाहु युधिष्ठिरकी यह सामूहिक यात्रा (जुलूस) इस भूतलपर अनुपम थी। उसमें हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भरे हुए थे। भीड़-पर-भीड़ बढ़ती चली जाती थी और बड़े जोरसे जयघोष एवं कोलाहल हो रहा था ॥ ४४ ॥

अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः।
नगरं राजमार्गाश्च यथावत्समलङ्कृताः ॥ ४५ ॥

राजा युधिष्ठिरकी इस यात्राके समय नगरनिवासी मनुष्योंने समूचे नगर तथा वहाँकी सड़कोंको अच्छी तरहसे सजा दिया था ॥ ४५ ॥

पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी।
संस्कृतो राजमार्गोऽभूद्धूपनैश्च प्रधूपितः ॥ ४६ ॥

सफेद मालाओं तथा पताकाओंसे नगरभूमिकी अद्भुत शोभा हो रही थी। राजमार्गको झाड़-बुहारकर वहाँ छिड़काव किया गया था और धूपोंकी सुगन्ध फैलायी गयी थी ॥४६॥

अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पप्रियङ्गुभिः।
माल्यदामभिरासक्तै राजवेश्माभिसंवृतम् ॥ ४७ ॥

राजमहलके आस-पास चारों ओर सुगन्धित चूर्ण बिखेरे गये थे, नाना प्रकारके फूलों, बेलों और पुष्पहारोंकी वन्दनवारोंसे उसे अच्छी तरह सुसज्जित किया गया था ॥

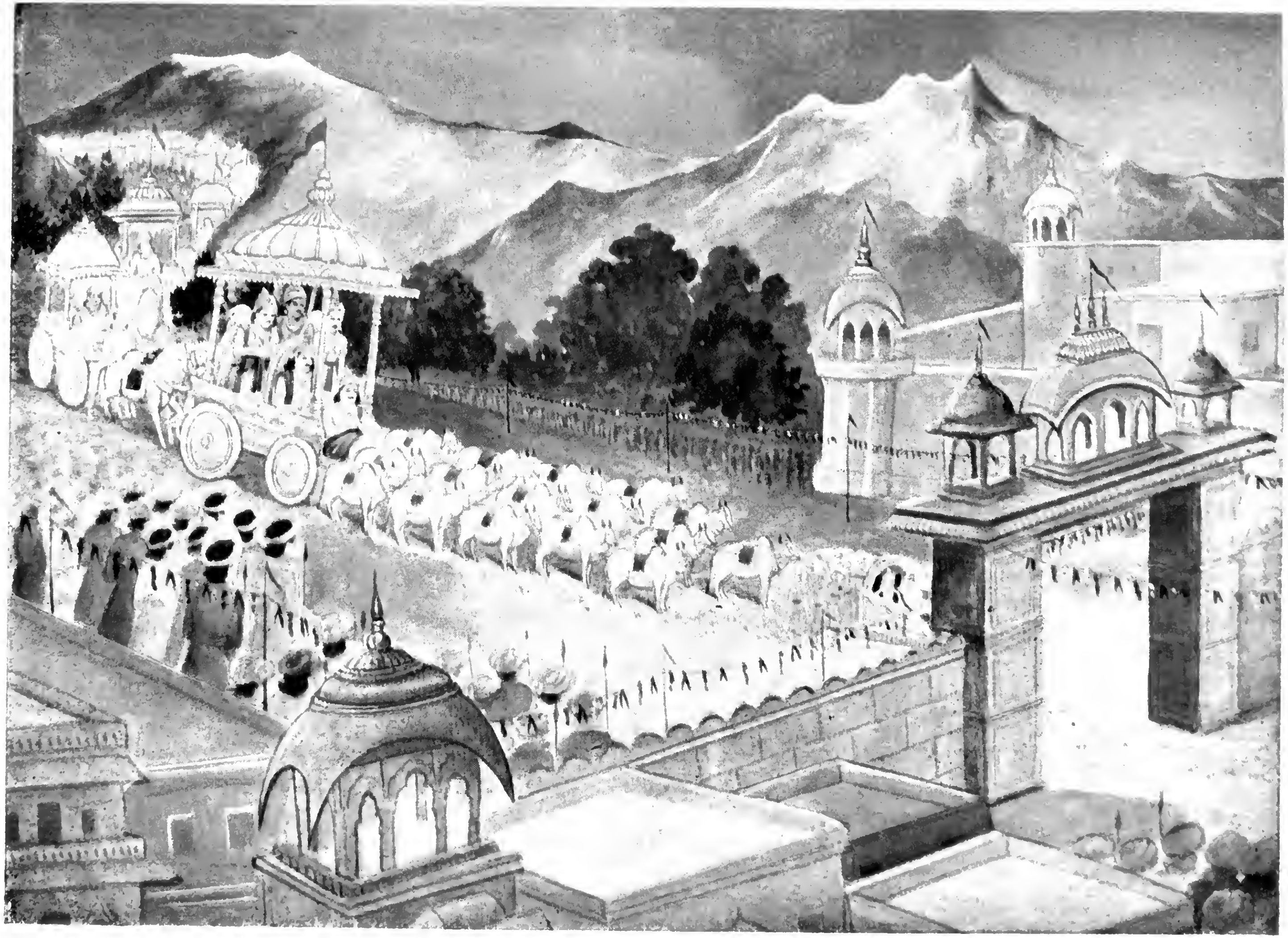

महाभारतकी समाप्तिपर महाराज युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें प्रवेश

कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः।
सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥ ४८ ॥

नगरके द्वारपर जलसे भरे हुए नूतन एवं सुदृढ़ कलश रक्खे गये थे और जगह-जगह सफेद फूलोंके गुच्छे रख दिये गये थे ॥ ४८ ॥

तथा स्वलंकृतद्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ४९ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरे हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार सजे सजाये द्वारवाले नगर-हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। उस समय सुन्दर वचनोंद्वारा उनकी स्तुति की जा रही थी ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें युधिष्ठिरका नगरप्रवेशविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

नगर-प्रवेशके समय पुरवासियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरका सत्कार और उनपर आक्षेप करनेवाले चार्वाकका ब्राह्मणोंद्वारा वध

वैशम्पायन उवाच

प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीपुत्रोंके हस्तिनापुरमें प्रवेश करते समय उन्हें देखनेके लिये दस लाख नगरनिवासी सड़कोंपर एकत्र हो गये ॥ १ ॥

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः।
यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥ २ ॥

राजन्! जैसे चन्द्रोदय होनेपर महासागर उमड़ने लगता है, उसी प्रकार जिसके चौराहे खूब सजाये गये थे, वह राजमार्ग मनुष्योंकी उमड़ती हुई भीड़से बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २ ॥

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! सड़कोंके आस-पास जो रत्नविभूषित विशाल भवन थे, वे स्त्रियोंसे भरे होनेके कारण उनके भारी भारसे काँपते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

वे नारियाँ लजाती हुई-सी धीरे-धीरे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेवकी प्रशंसा करने लगीं ॥ ४ ॥

धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान्।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५ ॥
तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनि।

वे बोलीं—'कल्याणि! पाञ्चालराजकुमारी! तुम धन्य हो, जो इन पाँच महान् पुरुषोंकी सेवामें उसी प्रकार उपस्थित रहती हो, जैसे गौतमवंशमें उत्पन्न हुई जटिला अनेक महर्षियोंकी सेवा करती हैं। भाविनि! तुम्हारे सभी पुण्यकर्म अमोघ हैं और समस्त व्रतचर्या सफल है' ॥ ५½ ॥

इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥ ६ ॥
प्रशंसावचनैस्तासां मिथःशब्दैश्च भारत।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत् समाकुलम् ॥ ७ ॥

महाराज! इस प्रकार उस समय सारी स्त्रियाँ द्रुपदकुमारी कृष्णाकी प्रशंसा करती थीं। भारत! एक दूसरीके प्रति कहे जानेवाले उनके प्रशंसा-वचनों और प्रीतिजनित शब्दोंसे उस समय सारा नगर व्याप्त हो रहा था ॥ ६-७ ॥

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद् राजवेश्म ह ॥ ८ ॥

राजन्! उस सजे-सजाये शोभासम्पन्न राजमार्गको यथोचित रूपसे लाँघकर राजा युधिष्ठिर राजभवनके समीप जा पहुँचे ॥ ८ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥ ९ ॥

तदनन्तर मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतिवर्गके सभी लोग, नगरवासी और जनपदनिवासी मनुष्य इधर-उधरसे आकर कानोंको सुख देनेवाली बातें कहने लगे— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १० ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले राजेन्द्र! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप विजयी हो रहे हैं, आपने धर्मके प्रभाव तथा बलसे अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया—यह बड़े हर्षका विषय है ॥ १० ॥

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम्।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥ ११ ॥

'महाराज! आप सैकड़ों वर्षोंतक हमारे राजा बने रहें। जैसे इन्द्र स्वर्गलोकका पालन करते हैं, उसी प्रकार आप भी धर्मपूर्वक अपनी प्रजाकी रक्षा करें' ॥ ११ ॥

एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः।
आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान् प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥
प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम्।
श्रद्धाविजयसंयुक्तं रथात् पश्चादवातरत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार राजकुलके द्वारपर माङ्गलिक द्रव्योंद्वारा पूजित हो ब्राह्मणोंके दिये हुए आशीर्वाद सब ओरसे ग्रहण करके

राजा युधिष्ठिर देवराज इन्द्रके महलके समान राजभवनमें प्रविष्ट हुए, जो श्रद्धा और विजयसे सम्पन्न था। वहाँ पहुँचकर वे रथसे नीचे उतरे ॥ १२-१३ ॥

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान् दैवतान्यभिगम्य च।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥

राजमहलके भीतर प्रवेश करके श्रीमान् नरेशने कुल-देवताओंका दर्शन किया और रत्न, चन्दन तथा माला आदिसे सर्वथा उनकी पूजा की ॥ १४ ॥

निश्चक्राम ततः श्रीमान् पुनरेव महायशाः।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानवस्थितान् ॥ १५ ॥

इसके बाद महायशस्वी श्रीमान् राजा युधिष्ठिर महलसे बाहर निकले। वहाँ उन्हें बहुत-से ब्राह्मण खड़े दिखायी दिये, जो हाथमें मङ्गलद्रव्य लिये खड़े थे ॥ १५ ॥

स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥

जैसे तारोंसे घिरे हुए निर्मल चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार आशीर्वाद देनेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद् द्विजान्।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने गुरु धौम्य तथा ताऊ धृतराष्ट्रको आगे करके उन सभी ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया ॥

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! इन्होंने फूल, मिठाई, रत्न, बहुत-से सुवर्ण, गौओं, वस्त्रों तथा उनकी इच्छा पूछ-पूछ कर मँगाये हुए नाना प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंद्वारा उन सबका यथोचित सत्कार किया ॥ १८ ॥

ततः पुण्याहघोषोऽभूद् दिवं स्तब्ध्वेव भारत।
सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥ १९ ॥

भारत ! इसके बाद पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष होने लगा, जो आकाशको स्तब्ध-सा किये देता था। वह पवित्र शब्द कानोंको सुख देनेवाला तथा सुहृदोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला था ॥ १९ ॥

हंसवद् विदुषां राजन् द्विजानां तत्र भारती।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षरा ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मणोंने हंसके समान हर्ष-गद्गद स्वरसे जो प्रचुर अर्थ, पद एवं अक्षरोंसे युक्त वाणी कही थी, वह वहाँ सबको स्पष्ट सुनायी दे रही थी ॥ २० ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर दुन्दुभियों और शङ्खोंकी मनोरम ध्वनि होने लगी, जय-जयकार करनेवालोंका गम्भीर घोष वहाँ प्रकट होने लगा ॥ २१ ॥

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

जब सब ब्राह्मण चुपचाप खड़े हो गये, तब ब्राह्मणका वेष बनाकर आया हुआ चार्वाक नामक राक्षस राजा युधिष्ठिरसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ २२ ॥

तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥ २३ ॥

वह दुर्योधनका मित्र था। उसने संन्यासी ब्राह्मणके वेषमें अपने असली रूपको छिपा रक्खा था। उसके हाथमें अक्षमाला थी और मस्तकपर शिखा। उसने त्रिदण्ड धारण कर रक्खा था। वह बड़ा ढीठ और निर्भय था ॥ २३ ॥

वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परःसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥ २४ ॥
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम्।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥ २५ ॥

राजेन्द्र ! तपस्या और नियममें लगे रहनेवाले और आशीर्वाद देनेके इच्छुक उन समस्त ब्राह्मणोंसे, जिनकी संख्या हजारसे भी अधिक थी, घिरा हुआ वह दुष्ट राक्षस महात्मा पाण्डवोंका विनाश चाहता था। उसने उन सब ब्राह्मणोंसे अनुमति लिये बिना ही राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ २४-२५ ॥

चार्वाक उवाच

इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि।
धिग् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम्।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥ २७ ॥

चार्वाक बोला—राजन् ! ये सब ब्राह्मण मुझपर अपनी बात कहनेका भार रखकर मेरेद्वारा ही तुमसे कह रहे हैं— 'कुन्तीनन्दन ! तुम अपने भाई-बन्धुओंका वध करनेवाले एक दुष्ट राजा हो। तुम्हें धिक्कार है ! ऐसे पुरुषके जीवनसे क्या लाभ ? इस प्रकार यह बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके गुरु-जनोंकी हत्या करवाकर तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है, जीवित रहना नहीं' ॥ २६-२७ ॥

इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥

वे ब्राह्मण उस दुष्ट राक्षसकी यह बात सुनकर उसके वचनोंसे तिरस्कृत हो व्यथित हो उठे और मन-ही-मन उसके कथनकी निन्दा करने लगे ॥ २८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशाम्पते ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसके बाद वे सभी ब्राह्मण तथा राजा युधिष्ठिर

अत्यन्त उद्विग्न और लज्जित हो गये। प्रतिवादके रूपमें उनके मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकला। वे सभी कुछ देरतक चुप रहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः।
प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने कहा—ब्राह्मणो! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके विनीतभावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग मुझपर प्रसन्न हों। इस समय मुझपर सब ओरसे बड़ी भारी विपत्ति आ गयी है; अतः आपलोग मुझे धिक्कार न दें ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशाम्पते।
ऊचुर्नैतद् वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! प्रजानाथ! उनकी यह बात सुनकर सब ब्राह्मण बोल उठे—'महाराज! यह हमारी बात नहीं कह रहा है। हम तो यह आशीर्वाद देते हैं कि 'आपकी राजलक्ष्मी सदा बनी रहे'' ॥ ३१ ॥

जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥

उन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंका अन्तःकरण तपस्यासे निर्मल हो गया था। उन महात्माओंने ज्ञानदृष्टिसे उस राक्षसको पहचान लिया ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥
वयं ब्रूमो न धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम्।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण बोले—धर्मात्मन्! यह दुर्योधनका मित्र चार्वाक नामक राक्षस है, जो संन्यासीके रूपमें यहाँ आकर उसका हित करना चाहता है। हमलोग आपसे कुछ नहीं कहते हैं। आपका इस तरहका भय दूर हो जाना चाहिये। हम आशीर्वाद देते हैं कि 'भाइयोंसहित आपको कल्याणकी प्राप्ति हो' ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्छिताः।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर क्रोधसे आतुर हुए उन सभी शुद्धात्मा ब्राह्मणोंने उस पापात्मा राक्षसको बहुत फटकारा और अपने हुङ्कारोंसे उसे नष्ट कर दिया ॥ ३५ ॥

स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम्।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवादी महात्माओंके तेजसे दग्ध होकर वह राक्षस गिर पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रसे जलकर कोई अङ्कुरयुक्त वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ ३६ ॥

पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम्।
राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् राजाद्वारा पूजित हुए वे ब्राह्मण उनका अभिनन्दन करके चले गये और पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सुहृदोंसहित बड़े हर्षको प्राप्त हुए ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकका वधविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

चार्वाकको प्राप्त हुए वर आदिका श्रीकृष्णद्वारा वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह।
उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सर्वदर्शी देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ भाइयोंसहित खड़े हुए राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले—तात! इस संसारमें ब्राह्मण मेरे लिये सदा ही पूजनीय हैं। ये पृथ्वीपर विचरनेवाले देवता हैं। कुपित होनेपर इनकी वाणीमें विषका-सा प्रभाव होता है। ये सहज ही प्रसन्न होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते हैं ॥ २ ॥

पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥ ३ ॥

राजन्! महाबाहो! पहले सत्ययुगकी बात है, चार्वाक राक्षसने बहुत वर्षोंतक बदरिकाश्रममें तपस्या की ॥ ३ ॥

वरेण च्छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन! जब ब्रह्माजीने उससे बारंबार वर माँगनेका अनुरोध किया, तब उसने यही वर माँगा कि मुझे किसी भी प्राणीसे भय न हो ॥ ४ ॥

द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद् वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥ ५ ॥

जगदीश्वर ब्रह्माजीने उसे यह परम उत्तम वर देते हुए कहा कि 'तुम्हें ब्राह्मणका अपमान करनेके सिवा और कहीं किसीसे भय नहीं है' इस तरह उन्होंने उसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी ओरसे अभयदान दे दिया ॥ ५ ॥

स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ६ ॥

वर पाकर वह अमित पराक्रमी महाबली और दुःसह कर्म करनेवाला पापात्मा राक्षस देवताओंको संताप देने लगा ॥

ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ७ ॥

तब उसके बलसे तिरस्कृत हुए सब देवताओंने एकत्र हो ब्रह्माजीसे उसके वधके लिये प्रार्थना की ॥ ७ ॥

तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया।
यथास्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'मैंने ऐसा विधान कर दिया है, जिससे शीघ्र ही उस राक्षसकी मृत्यु हो जायगी ॥ ८ ॥

राजा दुर्योधनो नाम सखास्य भविता नृषु।
तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ९ ॥

'मनुष्योंमें राजा दुर्योधन उसका मित्र होगा और उसीके स्नेहसे बँधकर वह राक्षस ब्राह्मणोंका अपमान कर बैठेगा ॥

तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः।
धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥ १० ॥

'उसके विरुद्धाचरणसे तिरस्कृत हो रोषमें भरे हुए वाक्‌शक्तिसे सम्पन्न ब्राह्मण वहीं उस पापीको जला देंगे, इससे उसका नाश हो जायगा' ॥ १० ॥

स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! अब आप शोक न करें। यह वही राक्षस चार्वाक ब्रह्मदण्डसे मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥

हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

राजन् ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार भाई-बन्धुओंका वध किया है। वे महामनस्वी क्षत्रियशिरोमणि वीर स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद् ग्लानिरच्युत।
शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥ १३ ॥

अच्युत ! अब आप अपने कर्तव्यका पालन करें। आपके मनमें ग्लानि न हो। आप शत्रुओंको मारिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करते रहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकको प्राप्त हुए वरदान आदिका वर्णनविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत् परमासने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर खेद और चिन्तासे रहित हो पूर्वकी ओर मुँह करके प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णके सुन्दर सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ १ ॥

तमेवाभिमुखो पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिंदमौ ॥ २ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका दमन करनेवाले सात्यकि और भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके जगमगाते हुए सुन्दर आसनपर उन्हींकी ओर मुँह करके बैठे ॥ २ ॥

मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरको बीचमें करके महामनस्वी भीमसेन और अर्जुन दो मणिमय मनोहर पीठोंपर विराजमान हुए ॥ ३ ॥

दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥

एक ओर हाथी दाँतके बने हुए स्वर्णविभूषित शुभ्र सिंहासनपर नकुल और सहदेवके साथ माता कुन्ती भी बैठ गयीं ॥ ४ ॥

सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

इसी प्रकार सुधर्मा, विदुर, धौम्य और कुरुराज धृतराष्ट्र अग्निके समान तेजस्वी पृथक्-पृथक् सिंहासनोंपर विराजमान हुए ॥ ५ ॥

युयुत्सुः संजयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी।
धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥ ६ ॥

युयुत्सु, संजय और यशस्विनी गान्धारी—ये सब लोग उधर ही बैठे, जिस ओर राजा धृतराष्ट्र थे ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत्।
स्वस्तिकानक्षतान् भूमिं सुवर्णं रजतं मणिम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने सिंहासनपर बैठकर श्वेत पुष्प, स्वस्तिक, अक्षत, भूमि, सुवर्ण, रजत एवं मणिका स्पर्श किया॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम्।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहुमङ्गलम्॥ ८॥

इसके बाद मन्त्री, सेनापति आदि सभी प्रकृतियोंने पुरोहितको आगे करके बहुत-सी माङ्गलिक सामग्री साथ लिये धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया॥ ८॥

पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसम्भारसम्भृतम्॥ ९॥
काञ्चनोदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम्॥ १०॥
शमीपिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी।
स्रुव औदुम्बरः शङ्खस्तथा हेमविभूषितः॥ ११॥

मिट्टी, सुवर्ण, तरह-तरहके रत्न, राज्याभिषेककी सामग्री, सब प्रकारके आवश्यक सामान, सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी-के बने हुए जलपूर्ण कलश, फूल, लाजा (खील), कुशा, गोरस, शमी, पीपल और पलाशकी समिधाएँ, मधु, घृत, गूलरकी लकड़ीका स्रुवा तथा स्वर्णजटित शङ्ख—ये सब वस्तुएँ वे संग्रह करके लाये थे॥ ९-११॥

दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः।
प्रागुदक्प्रवणां वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च॥ १२॥
व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि॥ १३॥
उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम्।
जुहाव पावकं धीमान् विधिमन्त्रपुरस्कृतम्॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे पुरोहित धौम्यजीने एक वेदी बनायी जो पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर नीची थी। उसे गोबरसे लीपकर कुशके द्वारा उसपर रेखा की। इस प्रकार वेदीका संस्कार करके सर्वतोभद्र नामक एक चौकी-पर बाघम्बर एवं श्वेत वस्त्र बिछाकर उसके ऊपर महात्मा युधिष्ठिर तथा द्रुपदकुमारी कृष्णाको बिठाया। उस चौकीके पाये और बैठनेके आधार बहुत मजबूत थे। सुवर्णजटित होनेके कारण वह आसन प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। बुद्धिमान् पुरोहितने वेदीपर अग्निको स्थापित करके उसमें विधि और मन्त्रके साथ आहुति दी॥ १२-१४॥

तत उत्थाय दाशार्हः शङ्खमादाय पूजितम्।
अभ्यषिञ्चत् पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ १५॥
धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा।

तत्पश्चात् दशार्हवंशी श्रीकृष्णने उठकर जिसकी पूजा की गयी थी, वह पाञ्चजन्य शङ्ख हाथमें ले उसके जलसे पृथ्वीपति कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका अभिषेक किया। फिर राजा धृतराष्ट्र तथा प्रकृतिवर्गके अन्य सब लोगोंने भी अभिषेकका कार्य सम्पन्न किया॥ १५½॥

अनुज्ञातोऽथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः॥ १६॥
पाञ्चजन्याभिषिक्तश्च राजामृतमुखोऽभवत्।

श्रीकृष्णकी आज्ञासे पाञ्चजन्य शङ्खद्वारा अभिषेक हो जानेपर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरका मुख इतना सुन्दर दिखायी देने लगा, मानो नेत्रोंसे अमृतकी वर्षा कर रहा हो॥ १६½॥

ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन्॥ १७॥
धर्मराजोऽपि तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः।

तदनन्तर वहाँ बाजा बजानेवाले लोग पणव, आनक तथा दुन्दुभिकी ध्वनि करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरने भी धर्मा-नुसार वह सारा स्वागत-सत्कार स्वीकार किया॥ १७½॥

पूजयामास तांश्चापि विधिवद् भूरिदक्षिणः॥ १८॥
ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयन्।
वेदाध्ययनसम्पन्नान् धृतिशीलसमन्वितान्॥ १९॥

बहुत दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिरने वेदाध्ययनसे सम्पन्न तथा धैर्य और शीलसे संयुक्त ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्ति-वाचन कराकर उनका विधिपूर्वक पूजन किया और उन्हें एक हजार अशर्फियाँ दान कीं॥ १८-१९॥

ते प्रीता ब्राह्मणा राजन् स्वस्त्यूचुर्जयमेव च।
हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्॥ २०॥

राजन्! इससे प्रसन्न होकर उन ब्राह्मणोंने उनके कल्याणका आशीर्वाद दिया और जय-जयकार की। वे सभी ब्राह्मण हंसके समान गम्भीर स्वरमें बोलते हुए राजा युधिष्ठिर-की इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—॥ २०॥

युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव।
दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते॥ २१॥

'पाण्डुनन्दन महाबाहु युधिष्ठिर! तुम्हारी विजय हुई, यह बड़े भाग्यकी बात है। महातेजस्वी नरेश! तुमने पराक्रमसे अपना धर्मानुकूल राज्य प्राप्त कर लिया, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है॥ २१॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ २२॥
मुक्ता वीरक्षयात् तस्मात् संग्रामाद् विजितद्विषः।
क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत॥ २३॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डुपुत्र भीमसेन, तुम और माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव—ये सभी शत्रुओंपर विजय पाकर इस वीरविनाशक संग्रामसे कुशलपूर्वक बच गये, इसे भी महान् सौभाग्यकी ही बात समझनी चाहिये। भारत! अब आगे जो कार्य करने हैं, उन सबको शीघ्र पूर्ण कीजिये'॥ २२-२३॥

ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः।

प्रतिपेदे महद् राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् समागत सज्जनोंने धर्मराज युधिष्ठिरका पुनः सत्कार किया । फिर उन्होंने सुहृदोंके साथ अपने विशाल राज्यका भार हाथोंमें ले लिया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराभिषेके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेकविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रके अधीन रहकर राज्यकी व्यवस्थाके लिये भाइयों तथा अन्य लोगोंको विभिन्न कार्योंपर नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

प्रकृतीनां च तद् वाक्यं देशकालोपबृंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा चोत्तरं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्त्री, प्रजा आदिके उस देशकालोचित वचनको सुनकर राजा युधिष्ठिरने उसका उत्तर देते हुए कहा—॥ १ ॥

धन्याः पाण्डुसुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
तथ्यान् वाप्यथवातथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥ २ ॥

'निश्चय ही हम सभी पाण्डव धन्य हैं, जिनके गुणोंका बखान यहाँ पधारे हुए सभी ब्राह्मण कर रहे हैं । हममें वास्तवमें वे गुण हों या न हों, आपलोग हमें गुणवान् बता रहे हैं ॥ २ ॥

अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान् ब्रूथ विमत्सराः ॥ ३ ॥

'हमारा विश्वास है कि आपलोग निश्चय ही हमें अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं, तभी तो ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर हमें इस प्रकार गुणसम्पन्न बता रहे हैं ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र मेरे पिता (ताऊ) और श्रेष्ठ देवता हैं । जो लोग मेरा प्रिय करना चाहते हों, उन्हें सदा उनकी आज्ञाके पालन तथा हित-साधनमें लगे रहना चाहिये ॥४॥

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥ ५ ॥

'अपने भाई-बन्धुओंका इतना बड़ा संहार करके मैं इन्हीं महाराजके लिये जी रहा हूँ । मुझे नित्य-निरन्तर आलस्य छोड़कर इनकी सेवा-शुश्रूषामें संलग्न रहना है ॥ ५ ॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥

'यदि आप सब सुहृदोंका मुझपर अनुग्रह हो तो आपलोग महाराज धृतराष्ट्रके प्रति वैसा ही भाव और बर्ताव बनाये रक्खें, जैसा पहले रखते थे ॥ ६ ॥

एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥
एतन्मनसि कर्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ।

'ये ही सम्पूर्ण जगत्के, आपलोगोंके और मेरे भी स्वामी हैं । यह सारी पृथ्वी और ये समस्त पाण्डव इन्हींके अधिकारमें हैं । आप सब लोग मेरी इस प्रार्थनाको अपने हृदयमें स्थान दें' ॥ ७½ ॥

अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥ ८ ॥
पौरजानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥ ९ ॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिरने नगर और जनपदके निवासियोंको यह आज्ञा दी कि आपलोग इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको पधारें । इस प्रकार उन सबको बिदा करके कुरुनन्दन युधिष्ठिरने कुन्तीकुमार भीमसेनको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ८-९ ॥

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥ १० ॥

फिर उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ बुद्धिमान् विदुरजीको मन्त्रणा[1], कर्तव्यनिश्चय तथा छहों[2] गुणोंके चिन्तनके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।
संजयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥ ११ ॥

कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इसकी जाँच करने तथा आय और व्ययपर विचार करनेके कार्यमें उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न वयोवृद्ध संजयको लगाया ॥ ११ ॥

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥ १२ ॥

सेनाकी गणना करना, उसे भोजन और वेतन देना तथा उसके कामकी देखभाल करना—इन सब कार्योंका भार राजा युधिष्ठिरने नकुलको सौंप दिया ॥ १२ ॥

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १३ ॥

महाराज ! शत्रुओंके देशपर चढ़ाई करने और दुष्टोंका दमन करनेके कार्यमें युधिष्ठिरने अर्जुनको नियुक्त किया ॥ १३ ॥

---

१. राज-काजके सम्बन्धमें गुप्त सलाह देना—'मन्त्रणा' है।

२. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय—ये छः राजाके नीतिसम्बन्धी गुण हैं ।

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणों और देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंपर तथा अन्यान्य ब्राह्मणोचित कर्तव्योंपर सदाके लिये पुरोहितोंमें श्रेष्ठ धौम्यजीकी नियुक्ति की गयी ॥ १४ ॥

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! सहदेवको राजा युधिष्ठिरने सदा ही अपने पास रहनेका आदेश दिया । उन्हें सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षाका काम सौंपा गया था ॥ १५ ॥

यान् यानमन्यद् योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥ १६ ॥

प्रसन्न हुए महाराज युधिष्ठिरने जिन-जिन लोगोंको जिन-जिन कार्योंके योग्य समझा, उन-उनको उन्हीं-उन्हीं कार्योंपर नियुक्त किया ॥ १६ ॥

विदुरं संजयं चैव युयुत्सुं च महामतिम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥
उत्थायोत्थाय तत् कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम ।
सर्वं भवद्भिः कर्तव्यमप्रमत्तैर्यथायथम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धर्मवत्सल धर्मात्मा युधिष्ठिरने विदुर, संजय तथा परम बुद्धिमान् युयुत्सुसे कहा—'आपलोगोंको सदा सावधान रहकर प्रतिदिन उठ-उठकर मेरे ताऊ महाराज धृतराष्ट्रकी सेवाका सारा आवश्यक कार्य यथोचितरूपसे सम्पन्न करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि सर्वशः ।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः ॥ १९ ॥

'पुरवासियों और जनपदनिवासियोंके भी जो-जो कार्य हों, उन्हें इन्हीं महाराजकी आज्ञा लेकर पृथक्-पृथक् पूर्ण करना चाहिये' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमादिकर्मनियोगे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेन आदिकी भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्तिविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्रका युद्धमें मारे गये सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य राजाओंके लिये श्राद्धकर्म करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता युधि ।
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने जाति, भाई और कुटुम्बीजनोंमेंसे जो लोग युद्धमें मारे गये थे, उन सबके अलग-अलग श्राद्ध करवाये॥

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥ २ ॥
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ।

महायशस्वी राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंके श्राद्धमें समस्त कमनीय गुणोंसे युक्त अन्न, गो, धन और बहुमूल्य विचित्र रत्न प्रदान किये ॥ २½ ॥

युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः ।
विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥ ४ ॥
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ ।

युधिष्ठिरने द्रौपदीको साथ लेकर आचार्य द्रोण, महामना कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, विराट आदि उपकारी सुहृद्, द्रुपद तथा द्रौपदीकुमारोंका श्राद्ध किया ३-४½

ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥ ५ ॥
धनै रत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् ।

उन्होंने प्रत्येकके उद्देश्यसे हजारों ब्राह्मणोंको अलग-अलग धन, रत्न, गौ और वस्त्र देकर संतुष्ट किया ॥ ५½ ॥

ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥ ६ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदेहिकम् ।

इनके सिवा जो दूसरे भूपाल थे, जिनके सुहृद् या सम्बन्धी जीवित नहीं थे, उन सबके उद्देश्यसे राजा युधिष्ठिरने श्राद्ध-कर्म किया ॥ ६½ ॥

सभाः प्रपाश्च विविधास्तडाकानि च पाण्डवः ॥ ७ ॥
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदेहिकम् ।

साथ ही उनके निमित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने धर्मशालाएँ, प्याऊ-घर और पोखरे बनवाये । इस प्रकार उन्होंने सभी सुहृदोंके श्राद्ध-कर्म सम्पन्न कराये ॥ ७½ ॥

स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥ ८ ॥
कृतकृत्योऽभवद् राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ।

उन सबके ऋणसे मुक्त हो वे लोकमें किसीकी निन्दा या आक्षेपके पात्र नहीं रह गये । राजा युधिष्ठिर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए कृतकृत्यताका अनुभव करने लगे ॥८½॥

धृतराष्ट्रं यथापूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ॥ ९ ॥
सर्वांश्च कौरवान् मान्यान् भृत्यांश्च समपूजयत् ।

धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर तथा अन्य आदरणीय कौरवोंकी वे पहलेकी ही भाँति सेवा करते और भृत्यजनोंका भी आदर-सत्कार करते थे ॥ ९½ ॥

याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥ १० ॥
सर्वास्ताः कौरवो राजा सम्पूज्यापालयद् घृणी ।

वहाँ जो कोई भी स्त्रियाँ थीं, जिनके पति और पुत्र मारे गये थे, उन सबका कृपालु कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर बड़े आदर-के साथ पालन-पोषण करते थे ॥ १०½ ॥

दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ॥ ११ ॥
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ।

दीन, दुखियों और अन्धोंके लिये घर एवं भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था करके सबके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाले सामर्थ्यशाली राजा युधिष्ठिर उनपर बड़ी कृपा रखते थे ॥ ११½ ॥

स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

इस सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे उऋण हो शत्रुहीन राजा युधिष्ठिर सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्राद्धक्रियायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्राद्धकर्मविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः ।
दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! राज्याभिषेकके पश्चात् राज्य पाकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पवित्रभावसे हाथ जोड़कर कमलनयन दशार्हवंशी श्रीकृष्णसे कहा— ॥ १ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च ।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥ २ ॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया ।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम ॥ ३ ॥

'यदुसिंह श्रीकृष्ण ! आपकी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रमसे मुझे पुनः अपने बाप-दादोंका यह राज्य प्राप्त हुआ है। शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २-३ ॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम् ।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥ ४ ॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले द्विज एकमात्र आपको ही अन्तर्यामी पुरुष एवं उपासना करनेवाले भक्तोंका प्रतिपालक बताते हैं। साथ ही वे नाना प्रकारके नामोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

'यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्वके आत्मा हैं। आपहीसे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है। आप ही व्यापक होनेके कारण 'विष्णु', विजयी होनेसे 'जिष्णु', दुःख और पाप हर लेनेसे 'हरि', अपनी ओर आकृष्ट करनेके कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धामके अधिपति होनेसे 'वैकुण्ठ' तथा क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ५ ॥

अदित्याः सप्तधा त्वं तु पुराणो गर्भतां गतः ।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥ ६ ॥

'आप पुराणपुरुष परमात्माने ही सात प्रकारसे अदितिके गर्भमें अवतार लिया है। आप ही पृश्निगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं। विद्वान्लोग तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण आपको 'त्रियुग' कहते हैं ॥ ६ ॥

शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते ।
त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥ ७ ॥

'आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। घृत ही जिसकी ज्वाला है, वह यज्ञपुरुष आप ही हैं। आप ही हंस (विशुद्ध परमात्मा) कहे जाते हैं। त्रिनेत्र-धारी भगवान् शङ्कर और आप एक ही हैं। आप सर्वव्यापी होनेके साथ ही दामोदर (यशोदा मैयाके द्वारा बँध जाने-वाले नटवरनागर) भी हैं ॥ ७ ॥

वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः ।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥ ८ ॥

'वराह, अग्नि, बृहद्भानु (सूर्य), वृषभ (धर्म), गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रुसेनाका वेग सह सकनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), शिपिविष्ट (सबके शरीरमें आत्मारूपसे प्रविष्ट) और उरुक्रम (वामन)—ये सभी आपके ही नाम और रूप हैं ॥ ८ ॥

वरिष्ठ उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः ।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संस्कृतो विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥

'सबसे श्रेष्ठ, भयंकर सेनापति, सत्यस्वरूप, अन्नदाता तथा स्वामी कार्तिकेय भी आप ही हैं। आप स्वयं कभी युद्धसे विचलित न होकर शत्रुओंको पीछे हटा देते हैं। संस्कार-सम्पन्न द्विज और संस्कारशून्य वर्णसंकर भी आपके ही स्वरूप हैं। आप कामनाओंकी वर्षा करनेवाले वृष (धर्म) हैं ॥ ९ ॥

कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः ।
सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्युतः ॥ १० ॥

'कृष्णधर्म (यज्ञस्वरूप) और सबके आदिकारण आप ही हैं। वृषदर्भ (इन्द्रके दर्पका दलन करनेवाले) और वृषाकपि (हरिहर) भी आप ही हैं। आप ही सिन्धु (समुद्र),

विधर्म (निर्गुण परमात्मा), त्रिककुप् (ऊपर-नीचे और मध्य—ये तीन दिशाएँ), त्रिधामा (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये त्रिविध तेज) तथा वैकुण्ठधामसे नीचे अवतीर्ण होनेवाले भी हैं ॥ १० ॥

सम्राड् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः।
विभुर्भूरतिभूः कृष्णः कृष्णवर्मा त्वमेव च ॥ ११ ॥

'आप सम्राट्, विराट्, स्वराट् और देवराज इन्द्र हैं। यह संसार आपहीसे प्रकट हुआ है ? आप सर्वत्र व्यापक, नित्य सत्तारूप और निराकार परमात्मा हैं। आप ही कृष्ण (सबको अपनी ओर खींचनेवाले) और कृष्णवर्मा (अग्नि) हैं ॥ ११ ॥

स्विष्टकृद् भिषगावर्तः कपिलस्त्वं च वामनः।
यज्ञो ध्रुवः पतङ्गश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥

'आपहीको लोग अभीष्टसाधक, अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य, कपिल मुनि, वामन, यज्ञ, ध्रुव, गरुड़ तथा यज्ञसेन कहते हैं ॥ १२ ॥

शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवःस्पृक् त्वं पुनर्वसुः।
सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥

'आप अपने मस्तकपर मोरका पङ्ख धारण करते हैं। आप ही पूर्वकालमें राजा नहुष होकर प्रकट हुए थे। आप सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करनेवाले महेश्वर तथा एक ही पैर-में आकाशको नाप लेनेवाले विराट् हैं। आप ही पुनर्वसु नक्षत्रके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। सुबभ्रु (अत्यन्त पिङ्गल वर्ण), रुक्मयज्ञ (सुवर्णकी दक्षिणासे भरपूर यज्ञ), सुषेण (सुन्दर सेनासे सम्पन्न) तथा दुन्दुभिस्वरूप हैं ॥ १३ ॥

गभस्तिनेमिः श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मश्चारित्रं चैव पठ्यसे ॥ १४ ॥

'आप ही गभस्तिनेमि (कालचक्र), श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारी, ऋभु, विभु, सर्वथा सूक्ष्म और सदाचार-स्वरूप कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित्।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥ १५ ॥

'आप ही जलनिधि समुद्र, आप ही ब्रह्मा तथा आप ही पवित्र धाम एवं धामके ज्ञाता हैं। केशव ! विद्वान् पुरुष आपको ही हिरण्यगर्भ, स्वधा और स्वाहा आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ १५ ॥

योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण
त्वमेवेदं सृजसे विश्वमग्रे।
विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने
नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप ही इस जगत्के आदि कारण हैं और आप ही इसके प्रलयस्थान। कल्पके आरम्भमें आप ही इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। विश्वके कारण ! यह सम्पूर्ण विश्व आपके ही अधीन है। हाथोंमें धनुष, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले परमात्मन् ! आपको नमस्कार है' ॥ १६ ॥

एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः
सभामध्ये प्रीतिमान् पुष्कराक्षः।
तमभ्यनन्दद् भारतं पुष्कलाभि-
र्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें यदुकुलशिरोमणि कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर भरतभूषण ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरका उत्तम वचनोंद्वारा अभिनन्दन किया ॥ १७ ॥

(एतन्नामशतं विष्णोर्धर्मराजेन कीर्तितम्।
यः पठेच्छृणुयाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥)

जो धर्मराज युधिष्ठिरद्वारा वर्णित भगवान् श्रीकृष्णके इन सौ नामोंका पाठ या श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

महाराज युधिष्ठिरके दिये हुए विभिन्न भवनोंमें भीमसेन आदि सब भाइयोंका प्रवेश और विश्राम

वैशम्पायन उवाच

ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथास्वानि गृहाणि ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने मन्त्री, प्रजा आदि सारी प्रकृतियोंको विदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर सब लोग अपने-अपने घरको चले गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम्।
सान्त्वयन्नब्रवीच्छ्रीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥ २ ॥

इसके बाद श्रीमान् महाराज युधिष्ठिरने भयानक पराक्रमी भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २ ॥

शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ॥ ३ ॥

'बन्धुओ ! इस महासमरमें शत्रुओंने नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा तुम्हारे शरीरको घायल कर दिया है। तुम सब लोग अत्यन्त थक गये हो और शोक तथा क्रोधने तुम्हें संतप्त कर दिया है ॥ ३ ॥

अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः।

भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषैस्तथा ॥ ४ ॥

'भरतश्रेष्ठ वीरो ! तुमने मेरे लिये वनमें रहकर जैसे कोई भाग्यहीन मनुष्य दुःख भोगता है, उसी प्रकार दुःख और कष्ट भोगे हैं ॥ ४ ॥

यथासुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम् ।
विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानाञ्श्वः समेतास्मि वः पुनः ॥५॥

'अब इस समय तुमलोग सुखपूर्वक जी भरकर इस विजयजनित आनन्दका अनुभव करो । अच्छी तरह विश्राम करके जब तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जाय, तब फिर कल तुम लोगोंसे मिलूँगा' ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥ ७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भाई युधिष्ठिरने दुर्योधन-का महल भीमसेनको अर्पित किया । वह बहुत-सी अट्टा-लिकाओंसे सुशोभित था । वहाँ अनेक प्रकारके रत्नोंका भण्डार पड़ा था और बहुत-सी दास-दासियाँ सेवाके लिये प्रस्तुत थीं । जैसे इन्द्र अपने भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार महाबाहु भीमसेन उस महलमें चले गये ॥ ६-७ ॥

यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥
दासीदाससुसम्पूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥ ९ ॥

जैसा दुर्योधनका भवन सजा हुआ था, वैसा ही दुःशासन-का भी था । उसमें भी प्रासादमालाएँ शोभा दे रही थीं । वह सोनेकी बंदनवारोंसे सजाया गया था । प्रचुर धन-धान्य तथा दास-दासियोंसे भरा-पूरा था । राजाकी आज्ञासे वह भवन महाबाहु अर्जुनको मिला ॥ ८-९ ॥

दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद् वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥ १० ॥

दुर्मर्षणका महल तो दुःशासनके घरसे भी सुन्दर था । उसे सोने और मणियोंसे सजाया गया था; अतः वह कुबेरके राजभवनकी भाँति प्रकाशित होता था ॥ १० ॥

नकुलाय वरार्हाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

महाराज ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर महान् वनमें कष्ट उठाये हुए, वर पानेके अधिकारी नकुलको दुर्मर्षणका वह सुन्दर भवन प्रदान किया ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत् कनकभूषणम् ।
पूर्णपद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥
प्रददौ सहदेवाय संततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वासौ कैलासं धनदो यथा ॥ १३ ॥

दुर्मुखका श्रेष्ठ भवन तो और भी सुन्दर था । उसे सुवर्णसे सुसज्जित किया गया था । खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाली सुन्दर स्त्रियोंकी शय्याओंसे भरा हुआ वह भवन युधिष्ठिरने सदा अपना प्रिय करनेवाले सहदेव-को दिया । जैसे कुबेर कैलासको पाकर संतुष्ट हुए थे, उसी प्रकार उस सुन्दर महलको पाकर सहदेवको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १२-१३ ॥

युयुत्सुर्विदुरश्चैव संजयश्च विशाम्पते ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथास्वान् जग्मुरालयान् ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! युयुत्सु, विदुर, संजय, सुधर्मा और धौम्य मुनि भी अपने-अपने पहलेके ही घरोंमें गये ॥ १४ ॥

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव ॥ १५ ॥

जैसे व्याघ्र पर्वतकी कन्दरामें प्रवेश करता है, उसी प्रकार सात्यकिसहित पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अर्जुनके महलमें पदार्पण किया ॥ १५ ॥

तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

वहाँ अपने-अपने स्थानोंपर खान-पानसे संतुष्ट हो वे सब लोग रातभर बड़े सुखसे सोये और सबेरे उठकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हो गये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गृहोंका विभाजनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा ब्राह्मणों तथा आश्रितोंका सत्कार एवं दान और श्रीकृष्णके पास जाकर उनकी स्तुति करते हुए कृतज्ञता-प्रकाशन

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! राज्य पानेके पश्चात् धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिरने और कौन-कौन-सा कार्य किया था ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भगवान् वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

महर्षे ! तीनों लोकोंके परम गुरु वीरवर भगवान् श्रीकृष्णने भी क्या-क्या किया था ? यह भी विस्तारपूर्वक बतावें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—निष्पाप नरेश! भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके पाण्डवोंने जो कुछ किया था, उसे ठीक-ठीक बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥ ३॥

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत्॥ ४॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने राज्य प्राप्त करनेके बाद सबसे पहले चारों वर्णोंको योग्यतानुसार अपने-अपने स्थान (कर्तव्यपालन) में स्थिर किया॥ ४॥

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम्।
सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः॥ ५॥

तत्पश्चात् सहस्रों महामना स्नातक ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवायीं॥

तथाऽनुजीविनो भृत्यान् संश्रितानतिथीनपि।
कामैः संतर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि॥ ६॥

इसी तरह जिनकी जीविकाका भार उन्हींके ऊपर था, उन भृत्यों, शरणागतों तथा अतिथियोंको उन्होंने इच्छानुसार भोग्यपदार्थ देकर संतुष्ट किया। दीन-दुखियों तथा पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देनेवाले ज्योतिषियोंको भी संतुष्ट किया॥६॥

पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः।
धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि॥ ७॥

अपने पुरोहित धौम्यजीको उन्होंने दस हजार गौएँ, धन, सोना, चाँदी तथा नाना प्रकारके वस्त्र दिये॥ ७॥

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत।
विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः॥ ८॥

महाराज! राजाने कृपाचार्यके साथ वही बर्ताव किया, जो एक शिष्यको अपने गुरुके साथ करना चाहिये। नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले युधिष्ठिरजीने विदुरजीका भी पूजनीय पुरुषकी भाँति सम्मान किया॥ ८॥

भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनासनैः।
सर्वान् संतोषयामास संश्रितान् ददतां वरः॥ ९॥

दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने समस्त आश्रित जनोंको खाने-पीनेकी वस्तुएँ, भाँति-भाँतिके कपड़े, शय्या तथा आसन देकर संतुष्ट किया॥ ९॥

लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तम।
युयुत्सोर्धार्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः॥ १०॥
धृतराष्ट्राय तद् राज्यं गान्धार्यै विदुराय च।
निवेद्य सुस्थवद् राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः॥ ११॥

नृपश्रेष्ठ! महायशस्वी राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार प्राप्त हुए धनका यथोचित विभाग करके उसकी शान्ति की तथा युयुत्सु एवं धृतराष्ट्रका विशेष सत्कार किया। धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा विदुरजीकी सेवामें अपना सारा राज्य समर्पित करके राजा युधिष्ठिर स्वस्थ एवं सुखी हो गये॥ १०-११॥

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत् कृताञ्जलिः॥ १२॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार सम्पूर्ण नगरकी प्रजाको प्रसन्न करके वे हाथ जोड़कर महात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके पास गये॥ १२॥

ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम्॥ १३॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम्।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम्॥ १४॥

उन्होंने देखा, भगवान् श्रीकृष्ण मणियों तथा सुवर्णसे भूषित एक बड़े पलंगपर बैठे हैं, उनकी श्याम सुन्दर छवि नील मेघके समान सुशोभित हो रही है। उनका श्रीविग्रह दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहा है। एक-एक अङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विभूषित है। श्याम शरीरपर रेशमी पीताम्बर धारण किये भगवान् सुवर्णजटित नीलमके समान जान पड़ते हैं॥

कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम्।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम्॥ १५॥

उनके वक्षःस्थलपर स्थित हुई कौस्तुभ मणि अपना प्रकाश बिखेरती हुई उसी प्रकार उनकी शोभा बढ़ाती है, मानो उगते हुए सूर्य उदयाचलको प्रकाशित कर रहे हों॥

नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किंचन।
सोऽभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम्॥ १६॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा।

भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीकी तीनों लोकोंमें कहीं उपमा नहीं थी। राजा युधिष्ठिर मानवविग्रहधारी उन परमात्मा विष्णुके समीप जाकर मुस्कराते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ १६½॥

सुखेन ते निशा कच्चिद् व्युष्टा बुद्धिमतां वर॥ १७॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अच्युत! आपकी रात सुखसे बीती है न? सारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न तो हैं न?॥ १७½॥

तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर॥ १८॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता।
तव प्रसादाद् भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम॥ १९॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम्।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! बुद्धिदेवीने आपका आश्रय लिया है न? प्रभो! हमने आपकी ही कृपासे राज्य पाया है और यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें आयी है। भगवन्! आप ही तीनों लोकोंके आश्रय और पराक्रम हैं। आपकी ही दयासे हमने विजय तथा उत्तम यश प्राप्त किये हैं और

धर्मसे भ्रष्ट नहीं हुए हैं' ॥ १८-१९½ ॥

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजमरिंदमम् ।
नोवाच भगवान् किंचिद् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ २० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार कहते चले जा रहे थे; परंतु भगवान्‌ने उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया । वे उस समय ध्यानमें मग्न थे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णके प्रति युधिष्ठिरका वचनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवाद, श्रीकृष्णद्वारा भीष्मकी प्रशंसा और युधिष्ठिरको उनके पास चलनेका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यमितविक्रम ।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥
चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ ।
अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी, जगत्के आश्रयदाता पुरुषोत्तम ! आप यह किसका ध्यान कर रहे हैं ? यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ! इस त्रिलोकीका कुशल तो है न ? आप तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय ध्यानमार्गका आश्रय लेकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे ऊपर उठ गये हैं । इससे मेरे मनको बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १-२ ॥

निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः ।
इन्द्रियाणि प्रसन्नानि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥

आपके शरीरमें रहनेवाली और श्वास-प्रश्वास आदि पाँच कर्म करनेवाली प्राणवायु अवरुद्ध हो गयी है । आपने अपनी प्रसन्न इन्द्रियोंको मनमें स्थापित कर दिया है ॥ ३ ॥

वाक् च सत्त्वं च गोविन्द बुद्धौ संवेशितानि ते ।
सर्वे चैव गुणा देवाः क्षेत्रज्ञे ते निवेशिताः ॥ ४ ॥

गोविन्द ! मन तथा वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आपके द्वारा बुद्धिमें लीन कर दी गयी हैं । समस्त गुणोंको और इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंको आपने क्षेत्रज्ञ आत्मामें स्थापित कर दिया है ॥ ४ ॥

नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥

आपके रोंगटे खड़े हो गये हैं । जरा भी हिलते नहीं हैं । बुद्धि तथा मन भी स्थिर हैं । माधव ! आप काठ, दीवार और पत्थरकी तरह निश्चेष्ट हो गये हैं ॥ ५ ॥

यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलते पुनः ।
तथासि भगवन् देव पाषाण इव निश्चलः ॥ ६ ॥

भगवन् ! देवदेव ! जैसे वायुशून्य स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौ काँपती नहीं, एकतार जलती रहती है, उसी तरह आप भी स्थिर हैं मानो पाषाणकी मूर्ति हों ॥ ६ ॥

यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि ।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥ ७ ॥

देव ! यदि मैं सुननेका अधिकारी होऊँ और यदि यह आपका कोई गोपनीय रहस्य न हो तो मेरे इस संशयका निवारण कीजिये; इसके लिये मैं आपकी शरणमें आकर बारंबार याचना करता हूँ ॥ ७ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि ।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥

पुरुषोत्तम ! आप ही इस जगत्‌को बनाने और विलीन करनेवाले हैं । आप ही क्षर और अक्षर पुरुष हैं । आपका न आदि है और न अन्त । आप ही सबके आदि कारण हैं ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च ।
ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ भक्त हूँ और माथा टेककर आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रभो ! इस ध्यानका यथार्थ तत्त्व मुझे बता दीजिये ॥ ९ ॥

ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः ।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान् वासवानुजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरकी यह प्रार्थना सुनकर मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको अपने स्थानमें स्थापित करके इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! बाण-शय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं; इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है ॥ ११ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥

ध्यानमग्न श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहे हैं

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान जिनके धनुषकी टंकारको देवराज इन्द्र भी नहीं सह सके थे, उन्हीं भीष्मके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ है ॥ १२ ॥

येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥ १३॥

जिन्होंने काशीपुरीमें समस्त राजाओंके समुदायको वेगपूर्वक परास्त करके काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था, उन्हीं भीष्मके पास मेरा मन चला गया है ॥१३॥

त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥

जो लगातार तेईस दिनोंतक भृगुनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करते रहे, तो भी परशुरामजी जिन्हें परास्त न कर सके, उन्हीं भीष्मके पास मैं मनके द्वारा पहुँच गया था॥

एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।
शरणं मामुपागच्छत् ततो मे तद्गतं मनः ॥ १५ ॥

वे भीष्मजी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको एकाग्र कर बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके मेरी शरणमें आ गये थे; इसीलिये मेरा मन भी उन्हींमें जा लगा था ॥ १५ ॥

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥

तात ! भूपाल ! जिन्हें गङ्गादेवीने विधिपूर्वक अपने गर्भमें धारण किया था और जिन्हें महर्षि वसिष्ठके द्वारा वेदोंकी शिक्षा प्राप्त हुई थी, उन्हीं भीष्मजीके पास मैं मन-ही-मन पहुँच गया था ॥ १६ ॥

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥

जो महातेजस्वी बुद्धिमान् भीष्म दिव्यास्त्रों तथा अङ्गोंसहित चारों वेदोंको धारण करते हैं, उन्हींके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ था || १७ ||

रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १८ ॥

पाण्डुकुमार ! जो जमदग्निनन्दन परशुरामजीके प्रिय शिष्य तथा सम्पूर्ण विद्याओंके आधार हैं, उन्हीं भीष्मजीका मैं मन-ही-मन चिन्तन करता था ॥ १८ ॥

स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानते हैं । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ उन्हीं भीष्मका मैं मन-ही-मन चिन्तन करने लगा था ॥ १९ ॥

तस्मिन् हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥

पार्थ ! जब पुरुषसिंह भीष्म अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्गलोकमें चले जायँगे, उस समय यह पृथ्वी अमावास्याकी रात्रिके समान श्रीहीन हो जायगी ॥ २० ॥

तद् युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत् ते मनोगतम् ॥ २१ ॥

अतः महाराज युधिष्ठिर ! आप भयानक पराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके पास चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम कीजिये और आपके मनमें जो संदेह हो उसे पूछिये ॥ २१ ॥

चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥ २२ ॥

पृथ्वीनाथ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों विद्याओंको, होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्युसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञादि कर्मोंको, चारों आश्रमोंके धर्मोंको तथा सम्पूर्ण राजधर्मोंको उनसे पूछिये ॥ २२ ॥

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥२३॥

कौरववंशका भार सँभालनेवाले भीष्मरूपी सूर्य जब अस्त हो जायँगे, उस समय सब प्रकारके ज्ञानोंका प्रकाश नष्ट हो जायगा; इसलिये मैं आपको वहाँ चलनेके लिये कहता हूँ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥ २४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वह उत्तम और यथार्थ वचन सुनकर धर्मज्ञ युधिष्ठिरका गला भर आया और वे आँसू बहाते हुए वहाँ श्रीकृष्णसे कहने लगे— ॥ २४ ॥

यद् भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम माधव ॥ २५ ॥

'माधव ! भीष्मजीके प्रभावके विषयमें आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें मुझे भी संदेह नहीं है ॥ २५ ॥

महाभाग्यं च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युते ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

'महातेजस्वी केशव ! मैंने महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे भी भीष्मजीके महान् सौभाग्य और प्रभावका वर्णन सुना है ॥

भवांश्च कर्ता लोकानां यद् ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन ! यादवनन्दन ! आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं । आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें भी सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥ २८ ॥

'माधव ! यदि आपका विचार मेरे ऊपर अनुग्रह करनेका है तो हमलोग आपको ही आगे करके भीष्मजीके पास चलेंगे ॥ २८ ॥

आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥

'महाबाहो ! सूर्यके उत्तरायण होते ही कुरुकुलभूषण

भीष्म देवलोकको चले जायँगे; अतः उन्हें आपका दर्शन अवश्य प्राप्त होना चाहिये ॥ २९ ॥

तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।
दर्शनं त्वस्य लाभः स्यात् त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥३०॥

'आप आदिदेव तथा क्षर-अक्षर पुरुष हैं। आपका दर्शन उनके लिये महान् लाभकारी होगा; क्योंकि आप ब्रह्ममयी निधि हैं' ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मराजका यह वचन सुनकर मधुसूदन श्रीकृष्णने पास ही खड़े हुए सात्यकिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय' ॥ ३१ ॥

सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः ।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाते ही सात्यकि श्रीकृष्णके पाससे तुरंत बाहर निकल गये और दारुकसे बोले—'भगवान् श्रीकृष्णका रथ तैयार करो' ॥

स सात्यकेराशु वचो निशम्य
रथोत्तमं काञ्चनभूषिताङ्गम् ।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गै-
र्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ॥ ३३ ॥
दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं
विचित्रनानामणिभूषितान्तरम् ।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं
विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥ ३४ ॥
सुग्रीवशैब्यप्रमुखैर्वराश्वै-
र्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः ।
संयुक्तमावेदयदच्युताय
कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥

राजसिंह! सात्यकिका यह वचन सुनकर दारुकने मरकत, चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त मणियोंकी ज्योतिर्मयी तरङ्गोंसे विभूषित उस उत्तम रथको, जिसका एक-एक अङ्ग सुनहरे साजोंसे सजाया गया था तथा जिसके पहियोंपर सोनेके पत्र जड़े गये थे, जोतकर तैयार किया और हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णको इसकी सूचना दी। वह शीघ्रगामी रथ सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे उद्भासित हो तुरंतके उगे हुए सूर्यके समान प्रकाशित होता था, उसके भीतरी भागको नाना प्रकारकी विचित्र मणियोंसे विभूषित किया गया था। वह प्रतापी रथ विचित्र गरुड़चिह्नित ध्वजा और पताकासे सुशोभित था। उसमें सोनेके साजबाजसे सजे हुए अङ्गोंवाले, मनके समान वेगशाली, सुग्रीव और शैब्य आदि सुन्दर घोड़े जुते हुए थे॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें महापुरुषस्तुतिविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति—भीष्मस्तवराज

जनमेजय उवाच

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः ।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—बाणशय्यापर सोये हुए भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीने किस प्रकार अपने शरीरका त्याग किया और उस समय उन्होंने किस योगकी धारणा की ?॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ! तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर महात्मा भीष्मके देहत्यागका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

(शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव ।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥)
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे ।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥

राजन्! जब दक्षिणायन समाप्त हुआ और सूर्य उत्तरायणमें आ गये, तब माघमासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको रोहिणीनक्षत्रमें मध्याह्नके समय भीष्मजीने ध्यानमग्न होकर अपने मनको परमात्मामें लगा दिया ॥ ३ ॥

विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः ।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥

चारों ओर अपनी किरणें बिखेरनेवाले सूर्यके समान सैकड़ों बाणोंसे छिदे हुए भीष्म उत्तम शोभासे सुशोभित होने लगे, अनेकानेक श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे थे ॥ ४ ॥

व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा ।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥
तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना ।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ६ ॥
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना ।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता ॥ ७ ॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः ।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः ॥ ८ ॥
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।

पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥ ९ ॥
काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः ।
मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः ॥ १० ॥
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ११ ॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः ।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥ १२ ॥
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।

वेदोंके ज्ञाता व्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय, असित, वसिष्ठ, महात्मा कौशिक (विश्वामित्र), हारीत, लोमश, बुद्धिमान् दत्तात्रेय, बृहस्पति, शुक्र, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, कपिल, वाल्मीकि, तुम्बुरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुवंशी परशुराम, महामुनि तृणबिन्दु, पिप्पलाद, वायु, संवर्त, पुलह, कच, कश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, गालव मुनि, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्र, कृष्णानुभौतिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण और परम-धार्मिक सूत—ये तथा और भी बहुत-से सौभाग्यशाली महात्मा मुनि, जो श्रद्धा, शम, दम आदि गुणोंसे सम्पन्न थे, भीष्म-जीको घेरे हुए थे। इन ऋषियोंके बीचमें भीष्मजी ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५—१२½ ॥

भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३ ॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः ।

पुरुषसिंह भीष्म शरशय्यापर ही पड़े-पड़े हाथ जोड़ पवित्र भावसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करने लगे ॥ १३½ ॥

स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ १४ ॥
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ॥ १५ ॥
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ।

ध्यान करते-करते वे हृष्ट-पुष्ट स्वरसे भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे। वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली, परम धर्मात्मा भीष्मने हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर वासुदेवकी इस प्रकार स्तुति आरम्भ की॥

भीष्म उवाच

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ॥ १६ ॥
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ।

भीष्मजी बोले—मैं श्रीकृष्णके आराधनकी इच्छा मनमें लेकर जिस वाणीका प्रयोग करना चाहता हूँ, वह विस्तृत हो या संक्षिप्त, उसके द्वारा वे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥ १६½ ॥

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ॥ १७ ॥
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ।

जो स्वयं शुद्ध हैं, जिनकी प्राप्तिका मार्ग भी शुद्ध है, जो हंसस्वरूप, तत् पदके लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक परमेष्ठी हैं, मैं सब ओरसे सम्बन्ध तोड़ केवल उन्हींसे नाता जोड़कर सब प्रकारसे उन्हीं सर्वात्मा श्रीकृष्णकी शरण लेता हूँ ॥ १७½ ॥

अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ॥ १८ ॥
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः ।

उनका न आदि है न अन्त। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि। एकमात्र सबका धारण-पोषण करनेवाले ये भगवान् श्रीनारायण हरि ही उन्हें जानते हैं ॥१८½ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः ॥ १९ ॥
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम् ।

नारायणसे ही ऋषिगण, सिद्ध, बड़े-बड़े नाग, देवता तथा देवर्षि भी उन्हें अविनाशी परमात्माके रूपमें जानने लगे हैं॥ १९½ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ २० ॥
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति ।

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग भी जिनके विषयमें यह नहीं जानते हैं कि 'ये भगवान् कौन हैं? तथा कहाँसे आये हैं?' ॥ २०½ ॥

यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥ २१ ॥
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ।

उन्हींमें सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हींमें उनका लय होता है। जैसे डोरेमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मामें समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुए हैं ॥

यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ॥ २२ ॥
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ।

भगवान् सदा नित्य विद्यमान (कभी नष्ट न होनेवाले) और तने हुए एक सुदृढ सूतके समान हैं। उनमें यह कार्य-कारणरूप जगत् उसी प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे सूतमें फूलकी माला। यह सम्पूर्ण विश्व उनके ही श्रीअङ्गमें स्थित है; उन्होंने ही इस विश्वकी सृष्टि की है ॥ २२½ ॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ॥ २३ ॥
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ।

उन श्रीहरिके सहस्रों सिर, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं, वे सहस्रों भुजाओं, सहस्रों मुकुटों तथा सहस्रों मुखोंसे देदीप्यमान रहते हैं ॥ २३½ ॥

प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ २४ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ २५ ॥

वे ही इस विश्वके परम आधार हैं। इन्हींको नारायणदेव कहते हैं। वे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और स्थूलसे भी स्थूल हैं। वे

भारीसे भारी और उत्तमसे भी उत्तम हैं ॥ २४-२५ ॥

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ २६ ॥

वाकों[1] और अनुवाकोंमें[2], निषदों[3] और उपनिषदोंमें[4] तथा सच्ची बात बतानेवाले साममन्त्रोंमें उन्हींको सत्य और सत्यकर्मा कहते हैं ॥ २६ ॥

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम् ।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २७ ॥

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार दिव्य गोपनीय और उत्तम नामोंद्वारा ब्रह्म, जीव, मन और अहङ्कार—इन चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए उन्हीं भक्तप्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की जाती है, जो सबके अन्तःकरणमें विद्यमान हैं ॥ २७ ॥

यस्मिन् नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति ।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ २८ ॥

भगवान् वासुदेवकी प्रसन्नताके लिये ही नित्य तपका अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि वे सबके हृदयोंमें विराजमान हैं । वे सबके आत्मा, सबको जाननेवाले, सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ २९ ॥

जैसे अरणि प्रज्वलित अग्निको प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकीदेवीने इस भूतलपर रहनेवाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंकी रक्षाके लिये उन भगवान्‌को वसुदेवजीके तेजसे प्रकट किया था ॥ २९ ॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
दृष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ३० ॥
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम् ।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके अनन्यभावसे स्थित रहनेवाला साधक मोक्षके उद्देश्यसे अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें जिन पापरहित शुद्ध बुद्ध परमात्मा गोविन्दका ज्ञानदृष्टिसे साक्षात्कार करता है, जिनका पराक्रम वायु और इन्द्रसे बहुत बढ़कर है, जो अपने तेजसे सूर्यको भी तिरस्कृत कर देते हैं तथा जिनके स्वरूपतक इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं हो पाती, उन प्रजापालक परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु ।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ॥ ३२ ॥

पुराणोंमें जिनका 'पुरुष' नामसे वर्णन किया गया है, जो युगोंके आरम्भमें 'ब्रह्म' और युगान्तमें 'सङ्कर्षण' कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वरकी हम उपासना करते हैं ॥ ३२ ॥

यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् ।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥ ३३ ॥
यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन् संनिहिताः प्रजाः ।
यस्मिँल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥ ३४ ॥
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत् तत् सदसतोः परम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ॥ ३५ ॥
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ।
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम् ॥ ३६ ॥
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ।
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३७ ॥

जो एक होकर भी अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जो इन्द्रियों और उनके विषयोंसे ऊपर उठे होनेके कारण 'अधोक्षज' कहलाते हैं, उपासकोंके समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, यज्ञादि कर्म और पूजनमें लगे हुए अनन्य भक्त जिनका यजन करते हैं, जिन्हें जगत्‌का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सम्पूर्ण प्रजाएँ स्थित हैं, पानीके ऊपर तैरनेवाले जलपक्षियोंकी तरह जिनके ही ऊपर इस सम्पूर्ण जगत्‌की चेष्टाएँ हो रही हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव) हैं, सत् और असत्‌से विलक्षण हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जिन्हें न देवता ठीक-ठीक जानते हैं और न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सम्पूर्ण देवता, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि, बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा पूजा किया करते हैं, जो दुःखरूपी रोगकी सबसे बड़ी ओषधि हैं, जन्म-मरणसे रहित, स्वयम्भू एवं सनातन देवता हैं, जिन्हें इन चर्म-चक्षुओंसे देखना और बुद्धिके द्वारा सम्पूर्णरूपसे जानना असम्भव है, उन भगवान् श्रीहरि नारायण देवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३८ ॥

जो इस विश्वके विधाता और चराचर जगत्‌के स्वामी हैं, जिन्हें संसारका साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, उन परमात्माकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ ॥

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ३९ ॥

जो सुवर्णके समान कान्तिमान्, अदितिके गर्भसे उत्पन्न,

---

1. सामान्यतः कर्ममात्रको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रोंको 'वाक' कहते हैं ।
2. मन्त्रोंके अर्थको खोलकर बतानेवाले ब्राह्मणग्रन्थोंके जो वाक्य हैं, उनका नाम 'अनुवाक' है ।
3. कर्मके अङ्ग आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले देवता आदिका ज्ञान करानेवाले वचन 'निषद्' कहलाते हैं ।
4. विशुद्ध आत्मा एवं परमात्माका ज्ञान करानेवाले वचनोंकी 'उपनिषद्' संज्ञा है ।

दैत्योंके नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपोंमें प्रकट हुए हैं, उन सूर्यस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ४० ॥

जो अपनी अमृतमयी कलाओंसे शुक्लपक्षमें देवताओंको और कृष्णपक्षमें पितरोंको तृप्त करते हैं तथा जो सम्पूर्ण द्विजोंके राजा हैं, उन सोमस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

(हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत्।
हविःप्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः ॥)

अग्नि जिनके मुख हैं, वे देवता सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं, जो हविष्यके सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्र-स्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ ४१ ॥

जो अज्ञानमय महान् अन्धकारसे परे और ज्ञानालोकसे अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे सदाके लिये छूट जाता है, उन ज्ञेयरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४१ ॥

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ ४२ ॥

उक्थनामक बृहत् यज्ञके समय, अग्न्याधानकालमें तथा महायागमें ब्राह्मणवृन्द जिनका ब्रह्मके रूपमें स्तवन करते हैं, उन वेदस्वरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम्।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ ४३ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसके आश्रय हैं, पाँच प्रकारका हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञके रूपमें प्रकट हुए परमात्माको प्रणाम है ॥ ४३ ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥ ४४ ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] और दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंसे जिन्हें हविष्य अर्पण किया जाता है, उन होमस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

यः सुपर्णो यजुर्नाम च्छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥ ४५ ॥

जो 'यजुः' नाम धारण करनेवाले वेदरूपी पुरुष हैं, गायत्री आदि छन्द जिनके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, यज्ञ ही जिनका मस्तक है तथा 'रथन्तर' और 'बृहत्' नामक साम ही जिनकी सान्त्वनाभरी वाणी है, उन स्तोत्ररूपी भगवान्को प्रणाम है ॥ ४५ ॥

यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥ ४६ ॥

जो ऋषि हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले प्रजापतियोंके यज्ञमें सोनेकी पाँखवाले पक्षीके रूपमें प्रकट हुए थे, उन हंसरूप-धारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ४६ ॥

पादाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४७ ॥

पदोंके समूह जिनके अङ्ग हैं, सन्धि जिनके शरीरकी जोड़ है, स्वर और व्यञ्जन जिनके लिये आभूषणका काम देते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहते हैं, उन परमेश्वरको वाणीके रूपमें नमस्कार है ॥ ४७ ॥

यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ४८ ॥

जिन्होंने तीनों लोकोंका हित करनेके लिये यज्ञमय वराहका स्वरूप धारण करके इस पृथ्वीको रसातलसे ऊपर उठाया था, उन वीर्यस्वरूप भगवान्को प्रणाम है ॥ ४८ ॥

यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ४९ ॥

जो अपनी योगमायाका आश्रय लेकर शेषनागके हजार फनोंसे बने हुए पलंगपर शयन करते हैं, उन निद्रास्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ४९ ॥

(विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादित्याश्विनावपि।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः ॥

विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, सिद्ध और साध्य—ये सब जिनकी विभूतियाँ हैं, उन देवस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

अव्यक्तबुद्ध्यहंकारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और उनका कार्य—ये सब जिनके ही स्वरूप हैं, उन तत्त्वमय परमात्माको नमस्कार है ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः ॥

जो भूत, वर्तमान और भविष्य—कालरूप हैं, जो भूत आदिकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण प्राणियोंका अग्रज बताया गया है, उन भूतात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

यं हि सूक्ष्मं विचिन्वन्ति परं सूक्ष्मविदो जनाः।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मं च यद् ब्रह्म तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥

सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष जिस परम सूक्ष्म तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, वह ब्रह्म जिनका स्वरूप है, उन सूक्ष्मात्माको नमस्कार है ॥

१. आश्रावय। २. अस्तु श्रौषट्। ३. यज। ४. ये यजामहे। ५. वषट्।

मत्स्यो भूत्वा विरिञ्चाय येन वेदाः समाहृताः ।
रसातलगतः शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने मत्स्य-शरीर धारण करके रसातलमें जाकर नष्ट हुए सम्पूर्ण वेदोंको ब्रह्माजीके लिये शीघ्र ला दिया था, उन मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

मन्दराद्रिर्धृतो येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने ।
अतिकर्कशदेहाय तस्मै कूर्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अमृतके लिये समुद्रमन्थनके समय अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया था, उन अत्यन्त कठोर देह-धारी कच्छपरूप भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वाराहं रूपमास्थाय महीं सवनपर्वताम् ।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः ॥

जिन्होंने वाराहरूप धारण करके अपने एक दाँतसे वन और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीका उद्धार किया था, उन वाराहरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है ॥

नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयंकरम् ।
हिरण्यकशिपुं जघ्ने तस्मै सिंहात्मने नमः ॥

जिन्होंने नृसिंहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्‌के लिये भयंकर हिरण्यकशिपु नामक राक्षसका वध किया था, उन नृसिंहस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य मायया ।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः॥

जिन्होंने वामनरूप धारण करके मायाद्वारा बलिको बाँध-कर सारी त्रिलोकीको अपने पैरोंसे नाप लिया था, उन क्रान्तिकारी वामनरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है ॥

जमदग्निसुतो भूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः ।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः ॥

जिन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निकुमार परशुरामका रूप धारण करके इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया, उन परशुराम-स्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यश्चैको धर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान् ।
जघान क्षत्रियान् संख्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः ॥

जिन्होंने अकेले ही धर्मके प्रति गौरवका उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रियोंका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, उन क्रोधात्मा परशुरामको नमस्कार है ॥

रामो दाशरथिर्भूत्वा पुलस्त्यकुलनन्दनम् ।
जघान रावणं संख्ये तस्मै क्षत्रात्मने नमः ॥

जिन्होंने दशरथनन्दन श्रीरामका रूप धारण करके युद्धमें पुलस्त्यकुलनन्दन रावणका वध किया था, उन क्षत्रियात्मा श्रीरामस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यो हली मुसली श्रीमान् नीलाम्बरधरः स्थितः ।
रामाय रौहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः ॥

जो सदा हल, मूसल धारण किये अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गोंपर नील वस्त्र शोभा पाता है, उन शेषावतार रोहिणीनन्दन रामको नमस्कार है ॥

शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शार्ङ्गिणे पीतवाससे ।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जो शङ्ख, चक्र, शार्ङ्ग धनुष, पीताम्बर और वनमाला धारण करते हैं, उन श्रीकृष्णस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रीडितो नन्दगोकुले ।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः ॥

जो कंसवधके लिये वसुदेवके शोभाशाली पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और नन्दके गोकुलमें भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते रहे, उन लीलामय श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वासुदेवत्वमागम्य यदोर्वंशसमुद्भवः ।
भूभारहरणं चक्रे तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट हो वासुदेवके रूपमें आकर पृथ्वीका भार उतारा है, उन श्रीकृष्णात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अर्जुनका सारथित्व करते समय तीनों लोकोंके उपकारके लिये गीता-ज्ञानमय अमृत प्रदान किया था, उन ब्रह्मात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

दानवांस्तु वशे कृत्वा पुनर्बुद्धत्वमागतः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै बुद्धात्मने नमः ॥

जो सृष्टिकी रक्षाके लिये दानवोंको अपने अधीन करके पुनः बुद्धभावको प्राप्त हो गये, उन बुद्धस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

हनिष्यति कलौ प्राप्ते म्लेच्छांस्तुरगवाहनः ।
धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः ॥

जो कलियुग आनेपर घोड़ेपर सवार हो धर्मकी स्थापनाके लिये म्लेच्छोंका वध करेंगे, उन कल्किरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

तारामये कालनेमिं हत्वा दानवपुङ्गवम् ।
ददौ राज्यं महेन्द्राय तस्मै मुख्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने तारामय संग्राममें दानवराज कालनेमिका वध करके देवराज इन्द्रको सारा राज्य दे दिया था, उन मुख्यात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यः सर्वप्राणिनां देहे साक्षिभूतो ह्यवस्थितः ।
अक्षरः क्षरमाणानां तस्मै साक्ष्यात्मने नमः ॥

जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें साक्षीरूपसे स्थित हैं तथा सम्पूर्ण क्षर (नाशवान्) भूतोंमें अक्षर (अविनाशी) स्वरूपसे विराजमान हैं, उन साक्षी परमात्माको नमस्कार है ॥

नमोऽस्तु ते महादेव नमस्ते भक्तवत्सल ।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु प्रसीद परमेश्वर ॥
अव्यक्तव्यक्तरूपेण व्याप्तं सर्वं त्वया विभो ।

महादेव ! आपको नमस्कार है । भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है । सुब्रह्मण्य (विष्णु) ! आपको नमस्कार है । परमेश्वर ! आप मुझपर प्रसन्न हों । प्रभो ! आपने अव्यक्त और व्यक्तरूपसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है ॥

नारायणं सहस्राक्षं सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
हिरण्यनाभं यज्ञाङ्गममृतं विश्वतोमुखम् ।
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम् ॥

मैं सहस्रों नेत्र धारण करनेवाले, सर्वलोकमहेश्वर, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्गस्वरूप, अमृतमय, सब ओर मुखवाले और कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीनारायणदेवकी शरण लेता हूँ ॥

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो देवेशो मङ्गलायतनं हरिः ॥

जिनके हृदयमें मङ्गलभवन देवेश्वर श्रीहरि विराजमान हैं, उनका सभी कार्योंमें सदा मङ्गल ही होता है—कभी किसी भी कार्यमें अमङ्गल नहीं होता ॥

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं मधुसूदनः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलं गरुडध्वजः ॥)

भगवान् विष्णु मङ्गलमय हैं, मधुसूदन मङ्गलमय हैं, कमलनयन मङ्गलमय हैं और गरुडध्वज मङ्गलमय हैं ॥

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना ।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ५० ॥

जिनका सारा व्यवहार केवल धर्मके ही लिये है, उन वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा जो मोक्षके साधनभूत वैदिक उपायोंसे काम लेकर संतोंकी धर्म-मर्यादाका प्रसार करते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५० ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ५१ ॥

जो भिन्न-भिन्न धर्मोंका आचरण करके अलग-अलग उनके फलोंकी इच्छा रखते हैं, ऐसे पुरुष पृथक् धर्मोंके द्वारा जिनकी पूजा करते हैं, उन धर्मस्वरूप भगवान्‌को प्रणाम है ॥

यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः ।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥ ५२ ॥

जिस अनङ्गकी प्रेरणासे सम्पूर्ण अङ्गधारी प्राणियोंका जन्म होता है, जिससे समस्त जीव उन्मत्त हो उठते हैं, उस कामके रूपमें प्रकट हुए परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः ।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ५३ ॥

जो स्थूल जगत्‌में अव्यक्त रूपसे विराजमान है, बड़े-बड़े महर्षि जिसके तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें बैठा हुआ है, उस क्षेत्ररूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५३ ॥

यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥ ५४ ॥

जो सत्, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदसे त्रिविध प्रतीत होते हैं, गुणोंके कार्यभूत सोलह विकारोंसे आवृत होनेपर भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं, सांख्यमतके अनुयायी जिन्हें सत्रहवाँ तत्त्व (पुरुष) मानते हैं, उन सांख्यरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५४ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ ५५ ॥

जो नींदको जीतकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको अपने वशमें करके शुद्ध सत्त्वमें स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाभ्यासमें लगे हुए योगिजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन योगरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥ ५६ ॥

पाप और पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनर्जन्मके भयसे मुक्त हुए शान्तचित्त संन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन मोक्षरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५६ ॥

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः ।
सम्भक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ५७ ॥

सृष्टिके एक हजार युग बीतनेपर प्रचण्ड ज्वालाओंसे युक्त प्रलयकालीन अग्निका रूप धारण कर जो सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार करते हैं, उन घोररूपधारी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५७ ॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत् ।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका भक्षण करके जो इस जगत्‌को जलमय कर देते हैं और स्वयं बालकका रूप धारण कर अक्षयवटके पत्तेपर शयन करते हैं, उन मायामय बालमुकुन्दको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

तद् यस्य नाभ्यां सम्भूतं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ५९ ॥

जिसपर यह विश्व टिका हुआ है, वह ब्रह्माण्ड-कमल जिन पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌की नाभिसे प्रकट हुआ है, उन कमलरूपधारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने ।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः ॥ ६० ॥

जिनके हजारों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामीरूपसे सबके भीतर विराजमान हैं, जिनका स्वरूप किसी सीमामें आबद्ध

नहीं है, जो चारों समुद्रोंके मिलनेसे एकार्णव हो जानेपर योग-निद्राका आश्रय लेकर शयन करते हैं, उन योगनिद्रारूप भगवान्‌को नमस्कार है ॥ ६० ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु ।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६१ ॥

जिनके मस्तकके बालोंकी जगह मेघ हैं, शरीरकी सन्धियोंमें नदियाँ हैं और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलरूपी परमात्मा-को प्रणाम है ॥ ६१ ॥

यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥ ६२॥

सृष्टि और प्रलयरूप समस्त विकार जिनसे उत्पन्न होते हैं और जिनमें ही सबका लय होता है, उन कारणरूप परमेश्वर-को नमस्कार है ॥ ६२ ॥

यो निषण्णो भवेद् रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः ।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः ॥ ६३ ॥

जो रातमें भी जागते रहते हैं और दिनके समय साक्षी-रूपमें स्थित रहते हैं तथा जो सदा ही सबके भले-बुरेको देखते रहते हैं, उन द्रष्टारूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ६३ ॥

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य च तद् रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥ ६४ ॥

जिन्हें कोई भी काम करनेमें रुकावट नहीं होती, जो धर्मका काम करनेको सर्वदा उद्यत रहते हैं तथा जो वैकुण्ठ-धामके स्वरूप हैं, उन कार्यरूप भगवान्‌को नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम् ।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥ ६५ ॥

जिन्होंने धर्मात्मा होकर भी क्रोधमें भरकर धर्मके गौरव-का उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रिय-समाजका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, कठोरताका अभिनय करनेवाले उन भगवान् परशुरामको प्रणाम है ॥ ६५ ॥

विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६६ ॥

जो प्रत्येक शरीरके भीतर वायुरूपमें स्थित हो अपनेको प्राण-अपान आदि पाँच स्वरूपोंमें विभक्त करके सम्पूर्ण प्राणियोंको क्रियाशील बनाते हैं, उन वायुरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६६ ॥

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः ।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६७ ॥

जो प्रत्येक युगमें योगमायाके बलसे अवतार धारण करते हैं और मास, ऋतु, अयन तथा वर्षोंके द्वारा सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं, उन कालरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण जिनके मुख हैं, सम्पूर्ण क्षत्रिय-जाति भुजा है, वैश्य जङ्घा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणोंके आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्यरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६८ ॥

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ ६९ ॥

अग्नि जिनका मुख है, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र हैं और दिशाएँ कान हैं, उन लोकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ६९ ॥

परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ७० ॥

जो कालसे परे हैं, यज्ञसे भी परे हैं और परेसे भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्वके आदि हैं; किंतु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

(वैद्युतो जाठरश्चैव पावकः शुचिरेव च ।
दहनः सर्वभक्षाणां तस्मै वह्न्यात्मने नमः ॥)

जो मेघमें विद्युत् और उदरमें जठरानलके रूपमें स्थित हैं, जो सबको पवित्र करनेके कारण पावक तथा स्वरूपतः शुद्ध होनेसे 'शुचि' कहलाते हैं, समस्त भक्ष्य पदार्थोंको दग्ध करनेवाले वे अग्निदेव जिनके ही स्वरूप हैं, उन अग्नि-मय परमात्माको नमस्कार है ॥

विषये वर्तमानानां यं ते वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः ॥ ७१ ॥

वैशेषिक दर्शनमें बताये हुए रूप, रस आदि गुणोंके द्वारा आकृष्ट हो जो लोग विषयोंके सेवनमें प्रवृत्त हो रहे हैं, उनकी उन विषयोंकी आसक्तिसे जो रक्षा करनेवाले हैं, उन रक्षकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ७१ ॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७२ ॥

जो अन्न-जलरूपी ईंधनको पाकर शरीरके भीतर रस और प्राणशक्तिको बढ़ाते तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करते हैं, उन प्राणात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७२ ॥

प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम् ।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥ ७३ ॥

प्राणोंकी रक्षाके लिये जो भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य—चार प्रकारके अन्नोंका भोग लगाते हैं और स्वयं ही पेटके भीतर अग्निरूपमें स्थित भोजनको पचाते हैं, उन पाकरूप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७३ ॥

पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।
दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥ ७४ ॥

जिनका नरसिंहरूप दानवराज हिरण्यकशिपुका अन्त करनेवाला था, उस समय जिनके नेत्र और कंधेके बाल पीले दिखायी पड़ते थे, बड़ी-बड़ी दाढ़ें और नख ही जिनके आयुध थे, उन दर्परूपधारी भगवान् नरसिंहको प्रणाम है ॥

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।

तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः॥ ७५ ॥

जिन्हें न देवता, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, उन सूक्ष्मस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ७५ ॥

रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः ।
जगद् धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७६ ॥

जो सर्वव्यापक भगवान् श्रीमान् अनन्त नामक शेषनागके रूपमें रसातलमें रहकर सम्पूर्ण जगत्को अपने मस्तकपर धारण करते हैं, उन वीर्यरूप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७६ ॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ७७ ॥

जो इस सृष्टि-परम्पराकी रक्षाके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंको स्नेहपाशमें बाँधकर मोहमें डाले रखते हैं, उन मोहरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ७७ ॥

आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ७८ ॥

अन्नमयादि पाँच कोषोंमें स्थित आन्तरतम आत्माका ज्ञान होनेके पश्चात् विशुद्ध बोधके द्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन ज्ञानस्वरूप परब्रह्मको प्रणाम है ॥ ७८ ॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतोबुद्धिचक्षुषे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥ ७९ ॥

जिनका स्वरूप किसी प्रमाणका विषय नहीं है, जिनके बुद्धिरूपी नेत्र सब ओर व्याप्त हो रहे हैं तथा जिनके भीतर अनन्त विषयोंका समावेश है, उन दिव्यात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ८० ॥

जो जटा और दण्ड धारण करते हैं, लम्बोदर शरीरवाले हैं तथा जिनका कमण्डलु ही तूणीरका काम देता है, उन ब्रह्माजीके रूपमें भगवान्को प्रणाम है ॥ ८० ॥

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने ।
भस्मदिग्धाङ्गलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ८१ ॥

जो त्रिशूल धारण करनेवाले और देवताओंके स्वामी हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो महात्मा हैं तथा जिन्होंने अपने शरीरपर विभूति रमा रक्खी है, उन रुद्ररूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने ।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मा उग्रात्मने नमः ॥ ८२ ॥

जिनके मस्तकपर अर्धचन्द्रका मुकुट और शरीरपर सर्पका यज्ञोपवीत शोभा दे रहा है, जो अपने हाथमें पिनाक और त्रिशूल धारण करते हैं, उन उग्ररूपधारी भगवान् शङ्करको प्रणाम है ॥ ८२ ॥

सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च ।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥ ८३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा और उनकी जन्म-मृत्युके कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोहका सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८३ ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ८४ ॥

जिनके भीतर सब कुछ रहता है, जिनसे सब उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वस्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्माको प्रणाम है ॥८४॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ८५ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको प्रणाम है । विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप पाँचों भूतोंसे परे हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके मोक्षस्वरूप ब्रह्म हैं ॥ ८५ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥ ८६ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है, त्रिभुवनसे परे रहनेवाले आपको प्रणाम है, सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यापक आप प्रभुको नमस्कार है; क्योंकि आप सब पदार्थोंसे पूर्ण भण्डार हैं ॥ ८६ ॥

नमस्ते भगवन् विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ८७ ॥

संसारकी उत्पत्ति करनेवाले अविनाशी भगवान् विष्णु ! आपको नमस्कार है । हृषीकेश ! आप सबके जन्मदाता और संहारकर्ता हैं । आप किसीसे पराजित नहीं होते ॥८७॥

न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु ।
त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत् ते रूपं सनातनम्॥ ८८ ॥

मैं तीनों लोकोंमें आपके दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य नहीं जान पाता; मैं तो तत्त्वदृष्टिसे आपका जो सनातन रूप है, उसीकी ओर लक्ष्य रखता हूँ ॥ ८८ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८९ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे, पृथ्वीदेवी आपके पैरोंसे और तीनों लोक आपके तीन पगोंसे व्याप्त हैं, आप सनातन पुरुष हैं ॥ ८९ ॥

दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ९० ॥

दिशाएँ आपकी भुजाएँ, सूर्य आपके नेत्र और प्रजापति शुक्राचार्य आपके वीर्य हैं । आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुके रूपमें ऊपरके सातों मार्गोंको रोक रक्खा है ॥ ९० ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ९१ ॥

जिनकी कान्ति अलसीके फूलकी तरह साँवली है, शरीर-पर पीताम्बर शोभा देता है, जो अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते, उन भगवान् गोविन्दको जो लोग नमस्कार करते हैं, उन्हें कभी भय नहीं होता ॥ ९१ ॥

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥ ९२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल देनेवाला होता है। इसके सिवा प्रणाममें एक विशेषता है—दस अश्वमेध करनेवालेका तो पुनः इस संसारमें जन्म होता है, किंतु श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला मनुष्य फिर भव-बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ ९२ ॥

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥ ९३ ॥

जिन्होंने श्रीकृष्ण-भजनका ही व्रत ले रक्खा है, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करते हुए ही रातको सोते हैं और उन्हींका स्मरण करते हुए सबेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्निमें मिल जाता है ॥ ९३ ॥

नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥ ९४ ॥

जो नरकके भयसे बचानेके लिये रक्षामण्डलका निर्माण करनेवाले और संसाररूपी सरिताकी भँवरसे पार उतारनेके लिये काठकी नावके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ ९४ ॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ९५ ॥

जो ब्राह्मणोंके प्रेमी तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, जिनसे समस्त विश्वका कल्याण होता है, उन सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् गोविन्दको प्रणाम है ॥ ९५ ॥

प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥ ९६ ॥

'हरि' ये दो अक्षर दुर्गम पथमें संकटके समय प्राणोंके लिये राह-खर्चके समान हैं, संसाररूपी रोगसे छुटकारा दिलानेके लिये औषधके तुल्य हैं तथा सब प्रकारके दुःख-शोकसे उद्धार करनेवाले हैं ॥ ९६ ॥

यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं जगत्।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥ ९७ ॥

जैसे सत्य विष्णुमय है, जैसे सारा संसार विष्णुमय है, जिस प्रकार सब कुछ विष्णुमय है, उस प्रकार इस सत्यके प्रभावसे मेरे सारे पाप नष्ट हो जायँ ॥ ९७ ॥

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९८ ॥

देवताओंमें श्रेष्ठ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण ! मैं आपका शरणागत भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ; जिसमें मेरा कल्याण हो, वह आप ही सोचिये ॥

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥ ९९ ॥

जो विद्या और तपके जन्मस्थान हैं, जिनको दूसरा कोई जन्म देनेवाला नहीं है, उन भगवान् विष्णुका मैंने इस प्रकार वाणीरूप यज्ञसे पूजन किया है। इससे वे भगवान् जनार्दन मुझपर प्रसन्न हों ॥ ९९ ॥

नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा ॥१००॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तप हैं। नारायण ही सबसे बड़े देवता हैं और भगवान् नारायण ही सदा सब कुछ हैं ॥ १०० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत् तदा ॥१०१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भीष्मजीका मन भगवान् श्रीकृष्णमें लगा हुआ था, उन्होंने ऊपर बतायी हुई स्तुति करनेके पश्चात् 'नमः श्रीकृष्णाय' कहकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १०१ ॥

अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः ॥१०२॥

भगवान् भी अपने योगबलसे भीष्मजीकी भक्तिको जान-कर उनके निकट गये और उन्हें तीनों लोकोंकी बातोंका बोध करानेवाला दिव्य ज्ञान देकर लौट आये ॥ १०२ ॥

(यं योगिनः प्राणवियोगकाले
यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति।
स तं पुरस्ताद्धरिमीक्षमाणः
प्राणाञ्जहौ प्राप्तफलो हि भीष्मः ॥)

योगी पुरुष प्राणत्यागके समय जिन्हें बड़े यत्नसे अपने हृदयमें स्थापित करते हैं, उन्हीं श्रीहरिको अपने सामने देखते हुए भीष्मजीने जीवनका फल प्राप्त करके अपने प्राणोंका परित्याग किया था ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥१०३॥

जब भीष्मजीका बोलना बंद हो गया, तब वहाँ बैठे हुए ब्रह्मवादी महर्षियोंने आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे परम बुद्धिमान् भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १०३ ॥

ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम्।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥१०४॥

वे ब्राह्मणशिरोमणि सभी महर्षि पुरुषोत्तम भगवान् केशवकी स्तुति करते हुए धीरे-धीरे भीष्मजीकी बारंबार सराहना करने लगे ॥ १०४ ॥

विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥१०५॥

इधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भीष्मजीके भक्तियोगको जानकर सहसा उठे और बड़े हर्षके साथ रथपर जा बैठे ॥ १०५ ॥

केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनंजयौ ॥१०६॥

एक रथसे सात्यकि और श्रीकृष्ण चले तथा दूसरे रथसे महामना युधिष्ठिर और अर्जुन ॥ १०६ ॥

भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च संजयश्च परंतपः ॥१०७॥

भीमसेन और नकुल-सहदेव तीसरे रथपर सवार हुए। चौथे रथसे कृपाचार्य, युयुत्सु और शत्रुओंको तपानेवाला सारथि संजय—ये तीनों चल दिये ॥ १०७ ॥

ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥१०८॥

वे पुरुषप्रवर पाण्डव और श्रीकृष्ण नगराकार रथोंद्वारा उनके पहियोंके गम्भीर घोषसे पृथ्वीको कँपाते हुए बड़े वेगसे गये ॥ १०८ ॥

ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता
द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं
स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत॥१०९॥

उस समय बहुत-से ब्राह्मण मार्गमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी स्तुति करते और भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमनसे उसे सुनते थे। दूसरे बहुत-से लोग हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम करते और केशिहन्ता केशव मन-ही-मन आनन्दित हो उन लोगोंका अभिनन्दन करते थे ॥ १०९ ॥

(इति स्मरन् पठति च शार्ङ्गधन्वनः
शृणोति वा यदुकुलनन्दनस्तवम्।
स चक्रभृत्प्रतिहतसर्वकिल्बिषो
जनार्दनं प्रविशति देहसंक्षये ॥

जो मनुष्य शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले यदुकुलनन्दन श्रीकृष्णकी इस स्तुतिको याद करते, पढ़ते अथवा सुनते हैं, वे इस शरीरका अन्त होनेपर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवेश कर जाते हैं। चक्रधारी श्रीहरि उनके सारे पापोंका नाश कर डालते हैं ॥

स्तवराजः समाप्तोऽयं विष्णोरद्भुतकर्मणः।
गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशनः ॥

गङ्गानन्दन भीष्मने पूर्वकालमें जिसका गान किया था, अद्भुतकर्मा विष्णुका वही यह स्तवराज पूरा हुआ है, यह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है ॥

इमं नरः स्तवराजं मुमुक्षुः
पठञ्शुचिः कलुषितकल्मषापहम्।
अतीत्य लोकानमलान् सनातनान्
पदं स गच्छत्यमृतं महात्मनः ॥)

यह स्तोत्रराज पापियोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छावाला जो मनुष्य इसका पवित्रभावसे पाठ करता है, वह निर्मल सनातन लोकोंको भी लाँघकर परमात्मा श्रीकृष्णके अमृतमय धामको चला जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीष्मस्तवराजविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल १४२ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

परशुरामजीद्वारा होनेवाले क्षत्रियसंहारके विषयमें राजा युधिष्ठिरका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १ ॥
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि सब लोग तथा शेष चारों पाण्डव ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित एवं शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा संचालित नगराकार विशाल रथोंसे शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्रकी ओर बढ़े ॥ १-२ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम्।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

वे सब लोग केश, मज्जा और हड्डियोंसे भरे हुए कुरुक्षेत्रमें उतरे, जहाँ महामनस्वी क्षत्रियवीरोंने अपने शरीरका त्याग किया था ॥ ३ ॥

गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम्।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव च सर्वशः ॥ ४ ॥

वहाँ हाथियों और घोड़ोंके शरीरों तथा हड्डियोंके अनेकानेक पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे। सब ओर शङ्खके समान सफेद नरमुण्डोंकी खोपड़ियाँ फैली हुई थीं ॥ ४ ॥

चितासहस्रप्रचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम् ।
आपानभूमिं कालस्य तथा भुक्तोज्झितामिव ॥ ५ ॥

उस भूमिमें सहस्रों चिताएँ जली थीं, कवच और अस्त्र-शस्त्रोंसे वह स्थान ढका हुआ था। देखनेपर ऐसा जान पड़ता था, मानो वह कालके खान-पानकी भूमि हो और कालने वहाँ खान-पान करके उसे उच्छिष्ट करके छोड़ दिया हो॥

भूतसंघानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम् ।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥ ६ ॥

जहाँ झुंड-के-झुंड भूत विचर रहे थे और राक्षसगण निवास करते थे, उस कुरुक्षेत्रको देखते हुए वे सभी महारथी शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुः स वै यादवनन्दनः ।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥ ७ ॥

रास्तेमें चलते-चलते ही महाबाहु भगवान् यादवनन्दन श्रीकृष्ण युधिष्ठिरको जमदग्निकुमार परशुरामजीका पराक्रम सुनाने लगे—॥ ७ ॥

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः ।
तेषु संतर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः ॥ ८ ॥

'कुन्तीनन्दन ! ये जो पाँच सरोवर कुछ दूरसे दिखायी देते हैं, 'राम-ह्रद' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हींमें उन्होंने क्षत्रियोंके रक्तसे अपने पितरोंका तर्पण किया था ॥ ८ ॥

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥ ९ ॥

'शक्तिशाली परशुरामजी इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य करके यहीं आनेके पश्चात् अब उस कर्मसे विरत हो गये हैं' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।
रामेणेति तथाऽऽत्थ त्वमत्र मे संशयो महान्॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रभो ! आपने यह बताया है कि पहले परशुरामजीने इक्कीस बार यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी थी, इस विषयमें मुझे बहुत बड़ा संदेह हो गया है ॥१०॥

क्षत्रबीजं यथा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव ।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥ ११ ॥

अमित पराक्रमी यदुनाथ ! जब परशुरामजीने क्षत्रियोंका बीजतक दग्ध कर दिया, तब फिर क्षत्रिय-जातिकी उत्पत्ति कैसे हुई ? ॥ ११ ॥

महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव ।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम् ॥ १२ ॥

यदुपुङ्गव ! महात्मा भगवान् परशुरामने क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया और उसके बाद इस जातिकी वृद्धि कैसे हुई ? ॥ १२ ॥

महता रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर ॥ १३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! महारथयुद्धके द्वारा जब करोड़ों क्षत्रिय मारे गये होंगे, उस समय उनकी लाशोंसे यह सारी पृथ्वी ढक गयी होगी ॥ १३ ॥

किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा ।
रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना ॥ १४ ॥

यदुसिंह ! भृगुवंशी महात्मा परशुरामने पूर्वकालमें कुरुक्षेत्रमें यह क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया ? ॥ १४ ॥

एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन ।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज ॥ १५ ॥

गरुडध्वज श्रीकृष्ण ! इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्र ! आप मेरे संदेहका निवारण कीजिये; क्योंकि कोई भी शास्त्र आपसे बढ़कर नहीं है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो यथावत् स गदाग्रजः प्रभुः
शशंस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः ।
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा
यथाभवत् क्षत्रियसंकुला मही ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने अप्रतिम तेजस्वी युधिष्ठिरसे वह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया कि किस प्रकार यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंकी लाशोंसे ढक गयी थी ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्यानेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामके उपाख्यानका आरम्भविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

परशुरामजीके उपाख्यानमें क्षत्रियोंके विनाश और पुनः उत्पन्न होनेकी कथा

वासुदेव उवाच

शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः ।
महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! मैंने महर्षियोंके मुखसे परशुरामजीके प्रभाव, पराक्रम तथा जन्मकी कथा जिस प्रकार सुनी है, वह सब आपको बताता हूँ, सुनिये ॥

यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥ २ ॥

जिस प्रकार जमदग्निनन्दन परशुरामने करोड़ों क्षत्रियोंका संहार किया था, पुनः जो क्षत्रिय राजवंशोंमें उत्पन्न हुए, वे अब फिर भारतयुद्धमें मारे गये ॥ २ ॥

जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः ।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते ॥ ३ ॥

प्राचीनकालमें जह्नुनामक एक राजा हो गये हैं, उनके पुत्रका नाम था अज । पृथ्वीनाथ ! अजसे बलाकाश्व नामक पुत्रका जन्म हुआ । बलाकाश्वके कुशिक नामक पुत्र हुआ । कुशिक बड़े धर्मज्ञ थे ॥ ३ ॥

अग्र्यं तपः समातिष्ठत् सहस्राक्षसमो भुवि ।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥ ४ ॥

वे इस भूतलपर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी थे । उन्होंने यह सोचकर कि मैं एक ऐसा पुत्र प्राप्त करूँ, जो तीनों लोकोंका शासक होनेके साथ ही किसीसे पराजित न हो, उत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ४ ॥

तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरंदरः ।
समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥ ५ ॥
पुत्रत्वमगमद् राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः ।
गाधिर्नामाभवत् पुत्रः कौशिकः पाकशासनः॥ ६ ॥

उनकी भयंकर तपस्या देखकर और उन्हें शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ जानकर लोकपालोंके स्वामी सहस्र नेत्रोंवाले पाकशासन इन्द्र स्वयं ही उनके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए । राजन् ! कुशिकका वह पुत्र गाधिनामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्य कन्याभवद् राजन् नाम्ना सत्यवती प्रभो ।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय सर्चीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥

प्रभो ! गाधिके एक कन्या थी, जिसका नाम था सत्यवती । राजा गाधिने अपनी इस कन्याका विवाह भृगुपुत्र ऋचीकके साथ कर दिया ॥ ७ ॥

तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन ।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! सत्यवती बड़े शुद्ध आचार-विचारसे रहती थी । उसकी शुद्धतासे प्रसन्न हो ऋचीक मुनिने उसे तथा राजा गाधिको भी पुत्र देनेके लिये चरु तैयार किया ॥ ८ ॥

आहूयोवाच तां भार्यां सर्चीको भार्गवस्तदा ।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राप्ययं तव ॥ ९ ॥

भृगुवंशी ऋचीकने उस समय अपनी पत्नी सत्यवतीको बुलाकर कहा—'यह चरु तो तुम खा लेना और यह दूसरा अपनी माँको खिला देना ॥ ९ ॥

तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान् क्षत्रियर्षभः ।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ १० ॥

'तुम्हारी माताके जो पुत्र होगा, वह अत्यन्त तेजस्वी एवं क्षत्रियशिरोमणि होगा । इस जगत्के क्षत्रिय उसे जीत नहीं सकेंगे । वह बड़े-बड़े क्षत्रियोंका संहार करने वाला होगा ॥ १० ॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम् ।
तपोऽन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ ११ ॥

'कल्याणि ! तुम्हारे लिये जो यह चरु तैयार किया है, यह तुम्हें धैर्यवान्, शान्त एवं तपस्यापरायण श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र प्रदान करेगा' ॥ ११ ॥

इत्येवमुक्त्वा तां भार्यां सर्चीको भृगुनन्दनः ।
तपस्यभिरतः श्रीमाञ्जगामारण्यमेव हि ॥ १२ ॥

अपनी पत्नीसे ऐसा कहकर भृगुनन्दन श्रीमान् ऋचीक मुनि तपस्यामें तत्पर हो जंगलमें चले गये ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः ।
गाधिः सदारः सम्प्राप्तः सर्चीकस्याश्रमं प्रति ॥ १३ ॥

इसी समय तीर्थयात्रा करते हुए राजा गाधि अपनी पत्नीके साथ ऋचीक मुनिके आश्रमपर आये ॥ १३ ॥

चरुद्वयं गृहीत्वा च राजन् सत्यवती तदा ।
भर्तुर्वाक्यं तदाव्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

राजन् ! उस समय सत्यवती वह दोनों चरु लेकर शान्त-भावसे माताके पास गयी और बड़े हर्षके साथ पतिकी कही हुई बातको उससे निवेदित किया ॥ १४ ॥

माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥ १५ ॥

कुन्तीकुमार ! सत्यवतीकी माताने अज्ञानवश अपना चरु तो पुत्रीको दे दिया और उसका चरु लेकर भोजनद्वारा अपनेमें स्थित कर लिया ॥ १५ ॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा ।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सत्यवतीने अपने तेजस्वी शरीरसे एक ऐसा गर्भ धारण किया, जो क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला था और देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ १६ ॥

तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्या गर्भगतं द्विजम् ।
अब्रवीद् भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम्॥ १७ ॥
मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना ।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्मात्यमर्षणः ॥ १८ ॥

सत्यवतीके गर्भगत बालकको देखकर भृगुश्रेष्ठ ऋचीकने अपनी उस देवरूपिणी पत्नीसे कहा—'भद्रे ! तुम्हारी माताने चरु बदलकर तुम्हें ठग लिया । तुम्हारा पुत्र अत्यन्त क्रोधी और क्रूरकर्म करनेवाला होगा ॥ १७-१८ ॥

उत्पत्स्यति च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः ।
विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥ १९ ॥
क्षत्रवीर्यं च सकलं तव मात्रे समर्पितम् ।
विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥ २० ॥

मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात् तव च क्षत्रियः सुतः ।

'परंतु तुम्हारा भाई ब्राह्मणस्वरूप एवं तपस्यापरायण होगा । तुम्हारे चरुमें मैंने सम्पूर्ण महान् तेज ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की थी और तुम्हारी माताके लिये जो चरु था, उसमें सम्पूर्ण क्षत्रियोचित बल-पराक्रमका समावेश किया गया था; परंतु कल्याणि! चरुके बदल देनेसे अब ऐसा नहीं होगा । तुम्हारी माताका पुत्र तो ब्राह्मण होगा और तुम्हारा क्षत्रिय' ॥ १९-२०½ ॥

सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥ २१ ॥
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् ।
नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः ।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो ॥ २२ ॥

पतिके ऐसा कहनेपर महाभागा सत्यवती उनके चरणोंमें सिर रखकर गिर पड़ी और काँपती हुई बोली—'प्रभो ! भगवन् ! आज आप मुझसे ऐसी बात न कहें कि तुम ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न करोगी' ॥ २१-२२ ॥

ऋचीक उवाच

नैष संकल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि ।
उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥ २३ ॥

ऋचीक बोले—कल्याणि ! मैंने यह संकल्प नहीं किया था कि तुम्हारे गर्भसे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो । परंतु चरु बदल जानेके कारण तुम्हें भयंकर कर्म करनेवाले पुत्रको जन्म देना पड़ रहा है ॥ २३ ॥

सत्यवत्युवाच

इच्छँल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम् ।
शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥ २४ ॥

सत्यवती बोली—मुने ! आप चाहें तो सम्पूर्ण लोकोंकी नयी सृष्टि कर सकते हैं; फिर इच्छानुसार पुत्र उत्पन्न करनेकी तो बात ही क्या है ? अतः प्रभो ! मुझे तो शान्त एवं सरल स्वभाववाला पुत्र ही प्रदान कीजिये ॥ २४ ॥

ऋचीक उवाच

नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन ।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २५ ॥

ऋचीक बोले—भद्रे ! मैंने कभी हास-परिहासमें भी झूठी बात नहीं कही है; फिर अग्निकी स्थापना करके मन्त्रयुक्त चरु तैयार करते समय मैंने जो संकल्प किया है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? ॥ २५ ॥

दृष्टमेतत् पुरा भद्रे ज्ञातं च तपसा मया ।
ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥ २६ ॥

कल्याणि ! मैंने तपस्याद्वारा पहले ही यह बात देख और जान ली है कि तुम्हारे पिताका समस्त कुल ब्राह्मण होगा ॥

सत्यवत्युवाच

काममेवं भवेत् पौत्रो ममेह तव च प्रभो ।
शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जपतां वर ॥ २७ ॥

सत्यवती बोली—प्रभो ! आप जप करनेवाले ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, आपका और मेरा पौत्र भले ही उग्र स्वभावका हो जाय; परंतु पुत्र तो मुझे शान्तस्वभावका ही मिलना चाहिये ॥ २७ ॥

ऋचीक उवाच

पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि ।
यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥ २८ ॥

ऋचीक बोले—सुन्दरी ! मेरे लिये पुत्र और पौत्रमें कोई अन्तर नहीं है । भद्रे ! तुमने जैसा कहा है, वैसा ही होगा ॥ २८ ॥

वासुदेव उवाच

ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् ।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्निं यतव्रतम् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! तदनन्तर सत्यवतीने शान्त, संयमपरायण और तपस्वी भृगुवंशी जमदग्निको पुत्रके रूपमें उत्पन्न किया ॥ २९ ॥

विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ।
यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥ ३० ॥

कुशिकनन्दन गाधिने विश्वामित्र नामक पुत्र प्राप्त किया, जो सम्पूर्ण ब्राह्मणोचित गुणोंसे सम्पन्न थे और ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त हुए ॥ ३० ॥

ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम् ।
सोऽपि पुत्रं ह्यजनयज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥ ३१ ॥
सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३२ ॥

ऋचीकने तपस्याके भंडार जमदग्निको जन्म दिया और जमदग्निने अत्यन्त उग्र स्वभाववाले जिस पुत्रको उत्पन्न किया, वही ये सम्पूर्ण विद्याओं तथा धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी क्षत्रियहन्ता परशुरामजी हैं ॥ ३१-३२ ॥

तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने ।
अस्त्राणि वरयामास परशुं चातितेजसम् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीने गन्धमादन पर्वतपर महादेवजीको संतुष्ट करके उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र और अत्यन्त तेजस्वी कुठार प्राप्त किये ॥ ३३ ॥

स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा ।
कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥ ३४ ॥

उस कुठारकी धार कभी कुण्ठित नहीं होती थी । वह जलती हुई आगके समान उद्दीप्त दिखायी देता था । उस अप्रमेय शक्तिशाली कुठारके कारण परशुरामजी सम्पूर्ण लोकोंमें अप्रतिम वीर हो गये ॥ ३४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली ।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥ ३५ ॥

इसी समय राजा कृतवीर्यका बलवान् पुत्र अर्जुन हैहय-वंशका राजा हुआ, जो एक तेजस्वी क्षत्रिय था ॥ ३५ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् ।
चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥ ३६ ॥
ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् ।
स्वबाहस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्मवित् ॥ ३७ ॥

दत्तात्रेयजीकी कृपासे राजा अर्जुनने एक हजार भुजाएँ प्राप्त की थीं। वह महातेजस्वी चक्रवर्ती नरेश था। उस परम धर्मज्ञ नरेशने अपने बाहुबलसे पर्वतों और द्वीपोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको युद्धमें जीतकर अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दिया था ॥ ३६-३७ ॥

तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद् भिक्षामथाग्नये ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन ! एक समय भूखे-प्यासे हुए अग्निदेवने पराक्रमी सहस्रबाहु अर्जुनसे भिक्षा माँगी और अर्जुनने अग्निको वह भिक्षा दे दी ॥ ३८ ॥

ग्रामान् पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान्।
जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् बलशाली अग्निदेव कार्तवीर्य अर्जुनके बाणोंके अग्रभागसे गाँवों, गोष्ठों, नगरों और राष्ट्रोंको भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३९ ॥

स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः ।
ददाह कार्तवीर्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥ ४० ॥

उन्होंने उस महापराक्रमी नरेश कार्तवीर्यके प्रभावसे पर्वतों और वनस्पतियोंको जलाना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

स शून्यमाश्रमं रम्यमापवस्य महात्मनः ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ४१ ॥

हवाका सहारा पाकर उत्तरोत्तर प्रज्वलित होते हुए अग्निदेवने हैहयराजको साथ लेकर महात्मा आपवके सूने एवं सुरम्य आश्रमको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ४१ ॥

आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाबाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

महाबाहु अच्युत ! कार्तवीर्यके द्वारा अपने आश्रमके जला दिये जानेपर शक्तिशाली आपव मुनिको बड़ा रोष हुआ। उन्होंने कृतवीर्यपुत्र अर्जुनको शाप देते हुए कहा—॥

त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद् वनम् ।
दग्धं तस्माद् रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन॥ ४३ ॥

'अर्जुन ! तुमने मेरे इस विशाल वनको भी जलाये बिना नहीं छोड़ा, इसलिये संग्राममें तुम्हारी इन भुजाओंको परशुरामजी काट डालेंगे' ॥ ४३ ॥

अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥ ४४ ॥

भारत ! अर्जुन महातेजस्वी, बलवान्, नित्य शान्ति-परायण, ब्राह्मण-भक्त शरणागतोंको शरण देनेवाला, दानी और शूरवीर था ॥ ४४ ॥

नाचिन्तयत् तदा शापं तेन दत्तं महात्मना ।
तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन् पितुर्वधे ॥ ४५ ॥

अतः उसने उस समय उन महात्माके दिये हुए शापपर कोई ध्यान नहीं दिया। शापवश उसके बलवान् पुत्र ही पिताके वधमें कारण बन गये ॥ ४५ ॥

निमित्तादवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा ।
जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानिन्युर्भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस शापके ही कारण सदा क्रूरकर्म करनेवाले वे घमंडी राजकुमार एक दिन जमदग्नि मुनिकी होमधेनुके बछड़ेको चुरा ले आये ॥ ४६ ॥

अज्ञातं कार्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता ।
तन्निमित्तमभूद् युद्धं जामदग्नेर्महात्मनः ॥ ४७ ॥

उस बछड़ेके लाये जानेकी बात बुद्धिमान् हैहयराज कार्तवीर्यको मालूम नहीं थी, तथापि उसीके लिये महात्मा परशुरामका उसके साथ घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ४७ ॥

ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तांश्छित्त्वा रामो रुषान्वितः ।
तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥ ४८ ॥
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात् प्रभुः ।

राजेन्द्र ! तब रोषमें भरे हुए प्रभावशाली जमदग्निनन्दन परशुरामने अर्जुनकी उन भुजाओंको काट डाला और इधर-उधर घूमते हुए उस बछड़ेको वे हैहयोंके अन्तःपुरसे निकालकर अपने आश्रममें ले आये ॥ ४८½ ॥

अर्जुनस्य सुतास्ते तु सम्भूयाबुद्धयस्तदा ॥ ४९ ॥
गत्वाऽऽश्रममसम्बुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः ।
अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ॥ ५० ॥
समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः ।

नरेश्वर ! अर्जुनके पुत्र बुद्धिहीन और मूर्ख थे। उन्होंने संगठित हो महात्मा जमदग्निके आश्रमपर जाकर भल्लोंके अग्रभागसे उनके मस्तकको धड़से काट गिराया। उस समय यशस्वी परशुरामजी समिधा और कुशा लानेके लिये आश्रमसे दूर चले गये थे ॥ ४९-५०½ ॥

ततः पितृवधामर्षाद् रामः परममन्युमान् ॥ ५१ ॥
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत ।

पिताके इस प्रकार मारे जानेसे परशुरामके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर देनेकी भीषण प्रतिज्ञा करके हथियार उठाया ॥ ५१½ ॥

ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान् पौत्रांश्च सर्वशः ।

भृगुकुलके सिंह पराक्रमी परशुरामने पराक्रम प्रकट करके कार्तवीर्यके सभी पुत्रों तथा पौत्रोंका शीघ्र ही संहार कर डाला ॥ ५२½ ॥

स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ॥ ५३ ॥
चकार भार्गवो राजन् महीं शोणितकर्दमाम् ।

राजन् ! परम क्रोधी परशुरामने सहस्रों हैहयोंका वध करके इस पृथ्वीपर रक्तकी कीच मचा दी ॥ ५३½ ॥

स तथाऽऽशु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो वनमेव जगाम ह ।

इस प्रकार शीघ्र ही पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन करके महातेजस्वी परशुराम अत्यन्त दयासे द्रवित हो वनमें ही चले गये ॥ ५४½ ॥

ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ॥ ५५ ॥
क्षेपं सम्प्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः ।

तदनन्तर कई हजार वर्ष बीत जानेपर एक दिन वहाँ स्वभावतः क्रोधी परशुरामपर आक्षेप किया गया ॥ ५५½ ॥

विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ॥ ५६ ॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाऽऽह जनसंसदि ।
ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः ॥ ५७ ॥
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते ।
मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि ॥ ५८ ॥
भयात् क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ।
सा पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवी सर्वतः स्तृता ॥ ५९ ॥

महाराज ! विश्वामित्रके पौत्र तथा रैभ्यके पुत्र महातेजस्वी परावसुने भरी सभामें आक्षेप करते हुए कहा—'राम ! राजा ययातिके स्वर्गसे गिरनेके समय जो प्रतर्दन आदि सज्जन पुरुष यज्ञमें एकत्र हुए थे, क्या वे क्षत्रिय नहीं थे ? तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी है । तुम व्यर्थ ही जनताकी सभामें डींग हाँका करते हो कि मैंने क्षत्रियोंका अन्त कर दिया । मैं तो समझता हूँ कि तुमने क्षत्रिय वीरोंके भयसे ही पर्वतकी शरण ली है । इस समय पृथ्वीपर सब ओर पुनः सैकड़ों क्षत्रिय भर गये हैं' ॥ ५६–५९ ॥

परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः ।
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः ॥ ६० ॥
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन् ।

राजन् ! परावसुकी बात सुनकर भृगुवंशी परशुरामने पुनः शस्त्र उठा लिया । पहले उन्होंने जिन सैकड़ों क्षत्रियोंको छोड़ दिया था, वे ही बढ़कर महापराक्रमी भूपाल बन बैठे थे ॥ ६०½ ॥

स पुनस्तााञ्जघानाशु बालानपि नराधिप ॥ ६१ ॥
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत् तदा ।
जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह ॥ ६२ ॥
अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित् तदा क्षत्रिययोषितः ।

नरेश्वर ! उन्होंने पुनः उन सबके छोटे-छोटे बचोंतकको शीघ्र ही मार डाला । जो बच्चे गर्भमें रह गये थे, उन्हींसे पुनः यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी । परशुरामजी एक-एक गर्भके उत्पन्न होनेपर पुनः उसका वध कर डालते थे। उस समय क्षत्राणियाँ कुछ ही पुत्रोंको बचा सकी थीं ६१-६२½

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ॥ ६३ ॥
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत् ततः ।

इस प्रकार शक्तिशाली परशुरामजीने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे हीन करके अश्वमेध यज्ञ किया और उसकी समाप्ति होनेपर दक्षिणाके रूपमें यह सारी पृथ्वी उन्होंने कश्यपजीको दे दी ॥ ६३½ ॥

स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः ॥ ६४ ॥
स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत् ।
गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने ॥ ६५ ॥
न ते मद् विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ।

राजन् ! तदनन्तर कुछ क्षत्रियोंको बचाये रखनेकी इच्छासे कश्यपजीने स्रुक् लिये हुए हाथसे संकेत करते हुए यह बात कही—'महामुने ! अब तुम दक्षिण समुद्रके तटपर चले जाओ । अब कभी मेरे राज्यमें निवास न करना' ६४-६५½

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे ॥ ६६ ॥
सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तमहीतलम् ।

(यह सुनकर परशुरामजी चले गये) समुद्रने सहसा जमदग्निकुमार परशुरामजीके लिये जगह खाली करके शूर्पारक देशका निर्माण किया; जिसे अपरान्तभूमि भी कहते हैं ॥

कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम् ॥ ६७ ॥
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद् वनम् ।

महाराज ! कश्यपने पृथ्वीको दानमें लेकर उसे ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया और वे स्वयं विशाल वनके भीतर चले गये ॥

ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथा स्वैरप्रचारिणः ॥ ६८ ॥
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! फिर तो स्वेच्छाचारी वैश्य और शूद्र श्रेष्ठ द्विजोंकी स्त्रियोंके साथ अनाचार करने लगे ॥ ६८½ ॥

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः ॥ ६९ ॥
पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित् तदा ।

सारे जीवजगत्में अराजकता फैल गयी । बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको पीड़ा देने लगे । उस समय ब्राह्मणोंमेंसे किसीकी प्रभुता कायम न रही ॥ ६९½ ॥

ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः ॥ ७० ॥
विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम् ।
अरक्ष्यमाणा विधिवत् क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः ॥ ७१ ॥

कालक्रमसे दुरात्मा मनुष्य अपने अत्याचारोंसे पृथ्वीको पीड़ित करने लगे । इस उलट-फेरसे पृथ्वी शीघ्र ही रसातलमें प्रवेश करने लगी; क्योंकि उस समय धर्मरक्षक क्षत्रियोंद्वारा विधिपूर्वक पृथिवीकी रक्षा नहीं की जा रही थी ॥७०-७१॥

तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र संत्रासात् स महामनाः ।
ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः ॥ ७२ ॥

भयके मारे पृथ्वीको रसातलकी ओर भागती देख महामनस्वी कश्यपने अपने ऊरुओंका सहारा देकर उसे रोक दिया ॥ ७२ ॥

धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ।
रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवी तदा ॥ ७३ ॥
प्रसाद्य कश्यपं देवी वरयामास भूमिपम् ।

कश्यपजीने ऊरुसे इस पृथ्वीको धारण किया था; इसलिये यह उर्वी नामसे प्रसिद्ध हुई । उस समय पृथ्वीदेवीने कश्यपजीको प्रसन्न करके अपनी रक्षाके लिये यह वर माँगा कि मुझे भूपाल दीजिये ॥

पृथिव्युवाच

सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ ७४ ॥
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ।

पृथ्वी बोली—ब्रह्मन् ! मैंने स्त्रियोंमें कई क्षत्रिय-शिरोमणियोंको छिपा रक्खा है । मुने ! वे सब हैहयकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जो मेरी रक्षा कर सकते हैं ॥ ७४½ ॥

अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ॥ ७५ ॥
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ।

प्रभो ! उनके सिवा पुरुवंशी विदूरथका भी एक पुत्र जीवित है, जिसे ऋक्षवान् पर्वतपर रीछोंने पालकर बड़ा किया है ॥ ७५½ ॥

तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा ॥ ७६ ॥
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ।
सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत् तस्य स द्विजः ॥ ७७ ॥
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ।

इसी प्रकार अमित शक्तिशाली यज्ञपरायण महर्षि पराशरने दयावश सौदासके पुत्रकी जान बचायी है, वह राजकुमार द्विज होकर भी शूद्रोंके समान सब कर्म करता है; इसलिये 'सर्वकर्मा' नामसे विख्यात है । वह राजा होकर मेरी रक्षा करे ॥ ७६-७७½ ॥

शिबिपुत्रो महातेजा गोपतिर्नाम नामतः ॥ ७८ ॥
वने संवर्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ।

राजा शिबिका एक महातेजस्वी पुत्र बचा हुआ है, जिसका नाम है गोपति । उसे वनमें गौओंने पाल-पोसकर बड़ा किया है । मुने ! आपकी आज्ञा हो तो वही मेरी रक्षा करे ॥

प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः ॥ ७९ ॥
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ।

प्रतर्दनका महाबली पुत्र वत्स भी राजा होकर मेरी रक्षा कर सकता है । उसे गोशालामें बछड़ोंने पाला था, इसलिये उसका नाम 'वत्स' हुआ है ॥ ७९½ ॥

दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च ॥ ८० ॥
गुप्तः स गौतमेनासीद् गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ।

दधिवाहनका पौत्र और दिविरथका पुत्र भी गङ्गातटपर महर्षि गौतमके द्वारा सुरक्षित है ॥ ८०½ ॥

बृहद्रथो महातेजा भूरिभूतिपरिष्कृतः ॥ ८१ ॥
गोलाङ्गूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ।

महातेजस्वी महाभाग बृहद्रथ महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न है । उसे गृध्रकूट पर्वतपर लङ्गूरोंने बचाया था ॥ ८१½ ॥

मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः ॥ ८२ ॥
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ।

राजा मरुत्तके वंशमें भी कई क्षत्रिय बालक सुरक्षित हैं, जिनकी रक्षा समुद्रने की है । उन सबका पराक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य है ॥ ८२½ ॥

एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः ॥ ८३ ॥
द्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ।

ये सभी क्षत्रिय बालक जहाँ-तहाँ विख्यात हैं । वे सदा शिल्पी और सुनार आदि जातियोंके आश्रित होकर रहते हैं ॥

यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला ॥ ८४ ॥
एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ।
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ८५ ॥

यदि वे क्षत्रिय मेरी रक्षा करें तो मैं अविचल भावसे स्थिर हो सकूँगी । इन बेचारोंके बाप-दादे मेरे ही लिये युद्धमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुरामजीके द्वारा मारे गये हैं ॥ ८४-८५ ॥

तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महामुने ।
न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् ।
वर्तमानेन वर्तेयं तत् क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ ८६ ॥

महामुने ! मुझे उन राजाओंसे उऋण होनेके लिये उनके इन वंशजोंका सत्कार करना चाहिये । मैं धर्मकी मर्यादाको लाँघनेवाले क्षत्रियके द्वारा कदापि अपनी रक्षा नहीं चाहती । जो अपने धर्ममें स्थित हो, उसीके संरक्षणमें रहूँ, यही मेरी इच्छा है; अतः आप इसकी शीघ्र व्यवस्था करें ॥ ८६ ॥

वासुदेव उवाच

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान् समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्मतान् ॥८७॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पृथ्वीके बताये हुए उन सब पराक्रमी क्षत्रिय भूपालोंको बुलाकर कश्यपजीने उनका भिन्न-भिन्न राज्योंपर अभिषेक कर दिया ॥ ८७ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत् पुरावृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥ ८८ ॥

उन्हींके पुत्र-पौत्र बढ़े, जिनके वंश इस समय प्रतिष्ठित हैं । पाण्डुनन्दन ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह पुरातन वृत्तान्त ऐसा ही है ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवंस्तं च यदुप्रवीरो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
रथेन तेनाशु ययौ महात्मा
दिशः प्रकाशन् भगवानिवार्कः ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे इस प्रकार वार्तालाप करते हुए यदुकुलतिलक महात्मा श्रीकृष्ण उस रथके द्वारा भगवान् सूर्यके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ते चले गये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामोपाख्यानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा भीष्मजीके गुण-प्रभावका सविस्तर वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो रामस्य तत् कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परशुरामजीका वह अलौकिक कर्म सुनकर राजा युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ १ ॥

अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः।
विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता॥ २ ॥

'वृष्णिनन्दन ! महात्मा परशुरामका पराक्रम तो इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत है, जिन्होंने क्रोध करके यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी ॥ २ ॥

गोभिः समुद्रेण तथा गोलाङ्गूलर्क्षवानरैः।
गुप्ता रामभयोद्विग्नाः क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः॥ ३ ॥

'क्षत्रियोंके कुलका भार वहन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष परशुरामजीके भयसे उद्विग्न हो छिपे हुए थे और गाय, समुद्र लंगूर, रीछ तथा वानरोंद्वारा उनकी रक्षा हुई थी॥ ३ ॥

अहो धन्यो नृलोकोऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत॥ ४ ॥

'अहो! यह मनुष्यलोक धन्य है और इस भूतलके मनुष्य बड़े भाग्यवान् हैं, जहाँ द्विजवर परशुरामजीने ऐसा धर्मसङ्गत कार्य किया' ॥ ४ ॥

तथावृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः॥ ५ ॥

तात ! युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण इस प्रकार बातचीत करते हुए उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ प्रभावशाली गङ्गानन्दन भीष्म बाणशय्यापर सोये हुए थे ॥ ५ ॥

ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम्।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यसमप्रभम्॥ ६ ॥

उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्यापर सो रहे हैं और अपनी किरणोंसे घिरे हुए सायंकालिक सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ६ ॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम्।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु॥ ७ ॥

जैसे देवता इन्द्रकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से महर्षि ओघवती नदीके तटपर परम धर्ममय स्थानमें उनके पास बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः॥ ८ ॥
अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन्॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, अन्य चारों पाण्डव तथा कृपाचार्य आदि सब लोग दूरसे ही उन्हें देखकर अपने-अपने रथसे उतर गये और चञ्चल मनको काबूमें करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियोंकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ८-९ ॥

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे॥ १० ॥

श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा अन्य राजाओंने व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्मको मस्तक झुकाया ॥ १० ॥

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः॥ ११ ॥

तदनन्तर वे सभी यदुवंशी और कौरव नरश्रेष्ठ बूढ़े गङ्गानन्दन भीष्मजीका दर्शन करके उन्हें चारों ओरसे घेर-कर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम्।
किंचिद् दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः॥ १२ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन कुछ दुखी हो बुझती हुई आगके समान दिखायी देनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर॥ १३ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्मजी ! क्या आपकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ पहलेकी ही भाँति प्रसन्न हैं ? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है ? ॥ १३ ॥

शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम्॥ १४ ॥

'आपको बाणोंकी चोट सहनेका जो कष्ट उठाना पड़ा है उससे आपके शरीरमें विशेष पीड़ा तो नहीं हो रही है ? क्योंकि मानसिक दुःखसे शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहना कठिन हो जाता है ॥ १४ ॥

वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम् ॥ १५ ॥

'प्रभो! आपने निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले पिता शान्तनुके वरदानसे मृत्युको अपने अधीन कर लिया है। जब आपकी इच्छा हो तभी मृत्यु हो सकती है अन्यथा नहीं। यह आपके पिताके वरदानका ही प्रभाव है, मेरा नहीं॥१५॥

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन्! यदि शरीरमें कोई महीन-से-महीन भी काँटा गड़ जाय तो वह भारी वेदना पैदा करता है। फिर जो बाणोंके समूहसे चुन दिया गया है, उस आपके शरीरकी पीड़ाके विषयमें तो कहना ही क्या है? ॥ १६ ॥

कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत ॥ १७ ॥

'भरतनन्दन! अवश्य ही आपके सामने यह कहना उचित न होगा कि 'सभी प्राणियोंके जन्म और मरण प्रारब्धके अनुसार नियत हैं। अतः आपको दैवका विधान समझकर अपने मनमें कोई दुःख नहीं मानना चाहिये।' आपको कोई क्या उपदेश देगा? आप तो देवताओंको भी उपदेश देनेमें समर्थ हैं॥ १७ ॥

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

'पुरुषप्रवर भीष्म! आप ज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपकी बुद्धिमें भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्रतिष्ठित है॥ १८ ॥

संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः ॥ १९ ॥

'महामते! प्राणियोंका संहार कब होता है? धर्मका क्या फल है? और उसका उदय कब होता है? ये सारी बातें आपको ज्ञात हैं; क्योंकि आप धर्मके प्रचुर भण्डार हैं॥

त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम्।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम्॥ २० ॥

'आप एक समृद्धिशाली राज्यके अधिकारी थे, आपके सपूर्ण अङ्ग ठीक थे, किसी अङ्गमें कोई न्यूनता नहीं थी; आपको कोई रोग भी नहीं था और आप हजारों स्त्रियोंके बीचमें रहते थे, तो भी मैं आपको ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) ही देखता हूँ॥ २० ॥

ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्यधर्मान्महावीर्याच्छूराद् धर्मैकतत्परात् ॥ २१ ॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः।
निसर्गप्रभवं किंचिन्न च तातानुशुश्रुम ॥ २२ ॥

'तात! पृथ्वीनाथ! मैंने तीनों लोकोंमें सत्यवादी, एकमात्र धर्ममें तत्पर, शूरवीर, महापराक्रमी तथा बाणशय्यापर शयन करनेवाले आप शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा दूसरे किसी ऐसे प्राणीको ऐसा नहीं सुना है, जिसने शरीरके लिये स्वभावसिद्ध मृत्युको अपनी तपस्यासे रोक दिया हो॥२१-२२॥

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥ २३ ॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम्।
महारथं त्वत्सदृशं न कंचिदनुशुश्रुम ॥ २४ ॥

'सत्य, तप, दान और यज्ञके अनुष्ठानमें, वेद, धनुर्वेद तथा नीतिशास्त्रके ज्ञानमें, प्रजाके पालनमें, कोमलतापूर्ण बर्ताव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मन और इन्द्रियोंके संयम तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसाधनमें आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथीको नहीं सुना है॥ २३-२४ ॥

त्वं हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान्।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥ २५ ॥

आप सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसोंको एकमात्र रथके द्वारा ही जीत सकते थे, इसमें संशय नहीं है॥

स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥ २६ ॥

'महाबाहो भीष्म! आप वसुओंमें वासव (इन्द्र) के समान हैं। ब्राह्मणोंने सदा आपको आठ वसुओंके अंशसे उत्पन्न नवाँ वसु बताया है। आपके समान गुणोंमें कोई नहीं है॥ २६ ॥

अहं च त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर! आप कैसे हैं और क्या हैं, यह मैं जानता हूँ। आप पुरुषोंमें उत्तम और अपनी शक्तिके लिये देवताओंमें भी विख्यात हैं॥ २७ ॥

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥

'नरेन्द्र! मनुष्योंमें आपके समान गुणोंसे युक्त पुरुष इस पृथ्वीपर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है॥२८॥

त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान्॥ २९ ॥

'राजन्! आप अपने सम्पूर्ण गुणोंके द्वारा तो देवताओंसे भी बढ़कर हैं तथा तपस्याके द्वारा चराचर लोकोंकी भी सृष्टि कर सकते हैं॥ २९ ॥

किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः।
तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ॥ ३० ॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद।

'फिर अपने लिये उत्तम गुणसम्पन्न लोकोंकी सृष्टि करना आपके लिये कौन बड़ी बात है? अतः भीष्म! आपसे यह निवेदन है कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनोंके वधसे बहुत संतप्त हो रहे हैं। आप इनका शोक दूर करें॥३०½॥

ये हि धर्माः समाख्याताश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥ ३१ ॥
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।
चातुर्विद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥ ३२ ॥

'भारत ! शास्त्रोंमें चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये जो-जो धर्म बताये गये हैं, वे सब आपको विदित हैं। चारों विद्याओंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है तथा चारों होताओंके जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी आपको ज्ञात हैं॥

योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।
चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते ॥ ३३ ॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।

'गङ्गानन्दन ! योग और सांख्यमें जो सनातन धर्म नियत हैं तथा चारों वर्णोंके लिये जो अविरोधी धर्म बताया गया है, जिसका सभी लोग सेवन करते हैं, वह सब आपको व्याख्यासहित ज्ञात है ॥ ३३½ ॥

प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥ ३४ ॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥ ३५ ॥

'विलोम क्रमसे उत्पन्न हुए वर्णसङ्करोंका जो धर्म है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। देश, जाति और कुलके धर्मोंका क्या लक्षण है, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। वेदोंमें प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा कथित धर्मोंको भी आप सदासे ही जानते हैं ॥ ३४-३५ ॥

इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥ ३६ ॥

'इतिहास और पुराणोंके अर्थ आपको पूर्णरूपसे ज्ञात हैं। सारा धर्मशास्त्र सदा आपके मनमें स्थित है ॥ ३६ ॥

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३७ ॥

'पुरुषप्रवर ! संसारमें जो कोई संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है॥

स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं
नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा
विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥ ३८ ॥

'नरेन्द्र ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके हृदयमें जो शोक उमड़ आया है, उसे आप अपनी बुद्धिके द्वारा दूर कीजिये। आप-जैसे उत्तम बुद्धिके विस्तारवाले पुरुष ही मोहग्रस्त मनुष्यके शोक-संतापको दूर करके उसे शान्ति दे सकते हैं' ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा श्रीकृष्णका भीष्मकी प्रशंसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः ।
किंचिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर भीष्मजीने अपना मुँह कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर कहा ॥

भीष्म उवाच

नमस्ते भगवन् कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है। हृषीकेश ! आप ही इस जगत्‌की सृष्टि और संहार करनेवाले हैं। आपकी कभी पराजय नहीं होती ॥ २ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है। आप पाँचों भूतोंसे परे और सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये मोक्षस्वरूप हैं ॥ ३ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है। तीनों गुणोंसे अतीत आपको प्रणाम है। योगेश्वर ! आपको नमस्कार है। आप ही सबके परम आधार हैं ॥ ४ ॥

मत्संश्रितं यदाऽऽत्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम ।
तेन पश्यामि ते दिव्यान् भावान् हि त्रिषु वर्त्मसु॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो बात कही है, उससे मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपके दिव्य भावोंका साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

तच्च पश्यामि गोविन्द यत् ते रूपं सनातनम् ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६ ॥

गोविन्द ! आपका जो सनातन रूप है, उसे भी मैं देख रहा हूँ। आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुका रूप धारण करके ऊपरके सातों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है ॥ ६ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और वसुन्धरा देवी आपके पैरोंसे व्याप्त हैं। दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं। सूर्य नेत्र हैं और शुक्राचार्य आपके वीर्यमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥ ८ ॥

आपका श्रीविग्रह तीसीके फूलकी भाँति श्याम है। उसपर पीताम्बर शोभा दे रहा है, वह कभी अपनी महिमासे च्युत नहीं होता। उसे देखकर हम अनुमान करते हैं कि बिजलीसहित मेघ शोभा पा रहा है ॥ ८ ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ आपका भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ। कमलनयन! सुरश्रेष्ठ! मेरे लिये जो कल्याणकारी उपाय हो उसीका संकल्प कीजिये ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच

यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन् प्रदर्शितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन्! पुरुषप्रवर! मुझमें आपकी पराभक्ति है। इसीलिये मैंने आपको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ १० ॥

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न च ।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥ ११ ॥

भारत! राजेन्द्र! जो मेरा भक्त नहीं है अथवा भक्त होनेपर भी सरल स्वभावका नहीं है। जिसके मनमें शान्ति नहीं है, उसे मैं अपने स्वरूपका दर्शन नहीं कराता ॥ ११ ॥

भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः ।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥

आप मेरे भक्त तो हैं ही। आपका स्वभाव भी सरल है। आप इन्द्रिय-संयम, तपस्या, सत्य और दानमें तत्पर रहनेवाले तथा परम पवित्र हैं ॥ १२ ॥

अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव ।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥ १३ ॥

भूपाल! आप अपने तपोबलसे ही मेरा दर्शन करनेके योग्य हैं। आपके लिये वे दिव्य लोक प्रस्तुत हैं, जहाँसे फिर इस लोकमें नहीं आना पड़ता ॥ १३ ॥

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर
शेषं दिनानां तव जीवितस्य ।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं
समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥ १४ ॥

कुरुवीर भीष्म! अब आपके जीवनके कुल छप्पन दिन शेष हैं। तदनन्तर आप इस शरीरका त्याग करके अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंमें जायँगे ॥ १४ ॥

एते हि देवा वसवो विमाना-
न्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः ।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति
काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम् ॥ १५ ॥

देखिये, ये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी देवता और वसु विमानोंमें बैठकर आकाशमें अदृश्यरूपसे रहते हुए सूर्य उत्तरायण होने और आपके आनेकी बाट जोहते हैं ॥ १५ ॥

व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं
सूर्ये दिशं कालवशात् प्रपन्ने ।
गन्तासि लोकान् पुरुषप्रवीर
नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥ १६ ॥

पुरुषोंमें प्रमुख वीर! जब भगवान् सूर्य कालवश दक्षिणायनसे लौटते हुए उत्तर दिशाके मार्गपर लौटेंगे, उस समय आप उन्हीं लोकोंमें जाइयेगा, जहाँ जाकर ज्ञानी पुरुष फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं ॥ १६ ॥

अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते
ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर ।
अतस्तु सर्वे त्वयि संनिकर्षं
समागता धर्मविवेचनाय ॥ १७ ॥

वीर भीष्म! जब आप परलोकमें चले जाइयेगा, उस समय सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; अतः ये सब लोग आपके पास धर्मका विवेचन करानेके लिये आये हैं ॥ १७ ॥

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय
सत्याभिसंधाय युधिष्ठिराय ।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं
सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम् ॥ १८ ॥

ये सत्यपरायण युधिष्ठिर बन्धुजनोंके शोकसे अपना सारा शास्त्रज्ञान खो बैठे हैं; अतः आप इन्हें धर्म, अर्थ और योगसे युक्त यथार्थ बातें सुनाकर शीघ्र ही इनका शोक दूर कीजिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका अपनी असमर्थता प्रकट करना, भगवान्‌का उन्हें वर देना तथा ऋषियों एवं पाण्डवोंका दूसरे दिन आनेका संकेत करके वहाँसे विदा होकर अपने-अपने स्थानोंको जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णस्य तद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णका यह धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने दोनों हाथ जोड़कर कहा—॥ १॥

लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत।
तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः॥ २॥

'लोकनाथ! महाबाहो! शिव! नारायण! अच्युत! आपका यह वचन सुनकर मैं आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया हूँ॥ २॥

किं चाहमभिधास्यामि वाक्यं ते तव संनिधौ।
यदा वाचोगतं सर्वं तव वाचि समाहितम्॥ ३॥

'भला' मैं आपके समीप क्या कह सकूँगा? जब कि वाणीका सारा विषय आपकी वेदमयी वाणीमें प्रतिष्ठित है॥ ३॥

यच्च किंचित् क्वचिल्लोके कर्तव्यं क्रियते च यत्।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते॥ ४॥

'देव! लोकमें कहीं भी जो कुछ कर्तव्य किया जाता है, वह सब आप बुद्धिमान् परमेश्वरसे ही प्रकट हुआ है॥ ४॥

कथयेद् देवलोकं यो देवराजसमीपतः।
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात् तवाग्रतः॥ ५॥

'जो मनुष्य देवराज इन्द्रके निकट देवलोकका वृत्तान्त बतानेका साहस कर सके, वही आपके सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी बात कह सकता है॥ ५॥

शराभितापाद् व्यथितं मनो मे मधुसूदन।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति॥ ६॥

'मधुसूदन! इन बाणोंके गड़नेसे जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ी व्यथा है। सारा शरीर पीड़ाके मारे शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है॥

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित् प्रभाषितुम्।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः॥ ७॥

'गोविन्द! ये बाण विष और अग्निके समान मुझे निरन्तर पीड़ा दे रहे हैं; अतः मुझमें कुछ भी कहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है॥ ७॥

बलं मे प्रजहातीव प्राणाः संत्वरयन्ति च।
मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम्॥ ८॥

'मेरा बल शरीरको छोड़ता-सा जान पड़ता है। ये प्राण निकलनेको उतावले हो रहे हैं। मेरे मर्मस्थानोंमें बड़ी पीड़ा हो रही है; अतः मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है॥ ८॥

दौर्बल्यात् सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलवर्धन॥ ९॥

'दुर्बलताके कारण मेरी जीभ तालूमें सट जाती है, ऐसी दशामें मैं कैसे बोल सकता हूँ? दशार्हकुलकी वृद्धि करनेवाले प्रभो! आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हो जाइये॥ ९॥

तत् क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किंचिदच्युत।
त्वत्संनिधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन्॥ १०॥

'महाबाहो! क्षमा कीजिये। मैं बोल नहीं सकता। आपके निकट प्रवचन करनेमें बृहस्पतिजी भी शिथिल हो सकते हैं; फिर मेरी क्या बिसात है?॥ १०॥

न दिशः सम्प्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम्।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन॥ ११॥

'मधुसूदन! मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान है और न आकाश एवं पृथ्वीका ही भान हो रहा है। केवल आपके प्रभावसे ही जी रहा हूँ॥ ११॥

स्वयमेव भवांस्तस्माद् धर्मराजस्य यद्धितम्।
तद् ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः॥ १२॥

'इसलिये आप स्वयं ही जिसमें धर्मराजका हित हो, वह बात शीघ्र बताइये; क्योंकि आप शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं॥

कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद् गुरौ शिष्य इव स्थिते॥ १३॥

'श्रीकृष्ण! आप जगत्‌के कर्ता और सनातन पुरुष हैं। आपके रहते हुए मेरे-जैसा कोई भी मनुष्य कैसे उपदेश कर सकता है? क्या गुरुके रहते हुए शिष्य उपदेश देनेका अधिकारी है?'॥ १३॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे।
महावीर्ये महासत्त्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भीष्मजी! आप कुरुकुलका भार वहन करनेवाले, महापराक्रमी, परम धैर्यवान्, स्थिर तथा सर्वार्थदर्शी हैं; आपका यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है॥

यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो॥ १५॥

गङ्गानन्दन भीष्म! प्रभो! बाणोंके आघातसे होनेवाली पीड़ाके विषयमें जो आपने कहा है, उसके लिये आप मेरी प्रसन्नतासे दिये हुए इस 'वर' को ग्रहण करें॥ १५॥

न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत॥ १६॥

गङ्गाकुमार! अब आपको न ग्लानि होगी न मूर्छा; न

दाह होगा न रोग, भूख और प्यासका कष्ट भी नहीं रहेगा ॥

ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥

अनघ ! आपके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठेंगे। आपकी बुद्धि किसी भी विषयमें कुण्ठित नहीं होगी ॥ १७ ॥

सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति ।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥ १८ ॥

भीष्म ! आपका मन मेघके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सदा सत्त्वगुणमें स्थित रहेगा ॥१८ ॥

यद् यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च ।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ १९ ॥

आप जिस-जिस धर्मयुक्त या अर्थयुक्त विषयका चिन्तन करेंगे, उसमें आपकी बुद्धि सफलतापूर्वक आगे बढ़ती जायगी ॥ १९ ॥

इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥ २० ॥

अमितपराक्रमी नृपश्रेष्ठ ! आप दिव्य दृष्टि पाकर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज–इन चारों प्रकारके प्राणियोंको देख सकेंगे ॥ २०॥

संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा ।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥ २१ ॥

भीष्म ! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न होकर आप संसारबन्धनमें पड़नेवाले सम्पूर्ण जीवसमुदायको उसी तरह यथार्थ रूपसे देख सकेंगे, जैसे मत्स्य निर्मल जलमें सब कुछ देखता रहता है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः ।
ऋग्यजुःसामसहितैर्वचोभिः कृष्णमार्चयन् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर व्याससहित सम्पूर्ण महर्षियोंने ऋक्, यजु तथा सामवेदके मन्त्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया ॥ २२ ॥

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात् ।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् जहाँ गङ्गापुत्र भीष्म और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ वृष्णिवंशी भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे, वहाँ आकाशसे सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ २३ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि जगुश्चाप्सरसां गणाः ।
न चाहितमनिष्टं च किञ्चित्तत्र प्रदृश्यते ॥ २४ ॥

सब प्रकारके बाजे बजने लगे, अप्सराओंके समुदाय गीत गाने लगे। वहाँ कुछ भी ऐसा नहीं देखा जाता था, जो अहितकर और अनिष्टकारक हो ॥ २४ ॥

ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ।
शान्तायां दिशि शान्ताश्च प्रावदन् मृगपक्षिणः ॥ २५ ॥

शीतल, सुखद, मन्द, पवित्र एवं सर्वथा सुगन्धयुक्त वायु चल रही थी, सम्पूर्ण दिशाएँ शान्त थीं और उनमें रहनेवाले पशु एवं पक्षी शान्तभावसे मनोहर वचन बोल रहे थे ॥ २५ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
दहन् वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥

इसी समय दो ही घड़ीमें भगवान् सहस्रकिरणमाली दिवाकर पश्चिम दिशाके एकान्त प्रदेशमें वहाँके वनप्रान्तको दग्ध करते हुए-से दिखायी दिये ॥ २६ ॥

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम् ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥

तब सभी महर्षियोंने उठकर भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्म तथा राजा युधिष्ठिरसे विदा माँगी ॥ २७ ॥

ततः प्रणाममकरोत् केशवः सहपाण्डवः ।
सात्यकिः संजयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥

इसके बाद पाण्डवोंसहित श्रीकृष्ण, सात्यकि, संजय तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उन सबको प्रणाम किया ॥२८ ॥

ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः ।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे धर्मपरायण महर्षि, 'हमलोग फिर कल सबेरे यहाँ आयँगे' ऐसा कहकर तुरंत ही अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ २९ ॥

तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३० ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण और पाण्डव भी गङ्गानन्दन भीष्मजीसे जानेकी आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके अपने मङ्गलमय रथोंपर जा बैठे ॥ ३० ॥

ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरै-
र्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः ।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः
पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः ॥ ३१ ॥
ययौ रथानां पुरतो हि सा चमू-
स्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी ।
पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी
तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ॥ ३२ ॥

सुवर्णनिर्मित विचित्र कूबरोंवाले रथों, पर्वताकार मतवाले हाथियों, गरुड़के समान तीव्रगतिसे चलनेवाले घोड़ों तथा हाथमें धनुष-बाण आदि लिये हुए पैदल सैनिकोंसे युक्त वह विशाल सेना रथोंके आगे और पीछे भी बहुत दूरतक फैलकर

वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे ऋक्षवान् पर्वतके पास पहुँचकर पूर्व और पश्चिम दिशामें भी प्रवाहित होनेवाली महानदी नर्मदा सुशोभित होती है ॥ ३१-३२ ॥

ततः पुरस्ताद् भगवान् निशाकरः
समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसा महौषधीः
पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन् ॥ ३३ ॥

इसके बाद पूर्व दिशाके आकाशमें भगवान् चन्द्रदेवका उदय हुआ, जो उस सेनाका हर्ष बढ़ा रहे थे और सूर्यने जिन बड़ी-बड़ी ओषधियोंका रस पी लिया था, उन सबको अपनी सुधावर्षी किरणोंद्वारा पुनः उनके स्वाभाविक गुणोंसे सम्पन्न कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ततः पुरं सुरपुरसम्मितद्युति
प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा ।
यथोचितान् भवनवरान् समाविशञ्
श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे यदुकुलके श्रेष्ठ वीर तथा पाण्डव सुरपुरके समान शोभा पानेवाले हस्तिनापुरमें प्रवेश करके यथायोग्य श्रेष्ठ महलोंके भीतर चले गये। ठीक उसी तरह, जैसे थके-मादे सिंह विश्रामके लिये पर्वतकी कन्दराओंमें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका आगमनविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातश्चर्या, सात्यकिद्वारा उनका संदेश पाकर भाइयोंसहित युधिष्ठिरका उन्हींके साथ कुरुक्षेत्रमें पधारना

वैशम्पायन उवाच

ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्ध्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण एक सुन्दर शय्याका आश्रय लेकर सो गये। जब आधा पहर रात बीतनेको बाकी रह गयी, तब वे जागकर उठ बैठे ॥ १ ॥

स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद् दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् ध्यानमार्गमें स्थित हो माधव सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे ॥

ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
अस्तुवन् विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

इसी समय स्तुति और पुराणोंके ज्ञाता, मधुरकण्ठवाले, सुशिक्षित सूत-मागध और वन्दीजन विश्वनिर्माता, प्रजापालक उन भगवान् वासुदेवकी स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायनाः ।
शङ्खानथ मृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रशः ॥ ४ ॥

हाथसे वीणा आदि बजानेवाले पुरुष स्तुतिपाठ करने लगे, गायक गीत गाने लगे और सहस्रों मनुष्य शङ्ख एवं मृदङ्ग बजाने लगे ॥ ४ ॥

वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः ।
प्रहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥ ५ ॥

वीणा, पणव तथा मुरलीका अत्यन्त मनोरम स्वर इस तरह सुनायी देने लगा, मानो उस महलका अट्टहास सब ओर फैल रहा हो ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः ।
उच्चेरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरके भवनसे भी मधुर, मङ्गलमयी वाणी तथा गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट होने लगी ॥ ६ ॥

तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु ! भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, फिर गूढ़ गायत्री-मन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए अग्निके समीप जा बैठे ॥ ७ ॥

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥ ८ ॥

वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेदमन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन कराया ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

इसके बाद माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया और सात्यकिसे कहा— ॥ ९ ॥

गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'शिनिनन्दन ! जाओ, राजमहलमें जाकर पता लगाओ कि महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर भीष्मजीके दर्शनार्थ चलनेके लिये तैयार हो गये क्या ?' ॥ १० ॥

ततः कृष्णस्य वचनात् सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर सात्यकि तुरंत वहाँसे चल दिये और राजा युधिष्ठिरके पास जाकर बोले—॥ ११॥

युक्तो रथवरो राजन् वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥

'राजन् ! परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवका श्रेष्ठ रथ जुतकर तैयार हो गया है। श्रीजनार्दन शीघ्र ही गङ्गानन्दन भीष्मके समीप जानेवाले हैं ॥ १२ ॥

भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

'महातेजस्वी धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब आप जो उचित समझें, वह कार्य कर सकते हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

सात्यकिके इस प्रकार कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अर्जुनको यह आदेश दिया ॥ १३½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनाप्रतिमद्युते ॥ १४ ॥
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥ १५ ॥
अतः पुरःसराश्चापि निवर्तन्तु धनंजय ।

युधिष्ठिर बोले—अनुपम तेजस्वी अर्जुन ! मेरा श्रेष्ठ रथ जोतकर तैयार कराओ। आज सैनिकोंको हमारे साथ नहीं जाना चाहिये। केवल हमलोगोंको ही चलना है। धनंजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको अधिक भीड़ बढ़ाकर कष्ट देना उचित नहीं है। अतः आगे चलनेवाले सैनिकोंको भी जानेके लिये मना कर देना चाहिये ॥ १४-१५½ ॥

अद्यप्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ॥ १६ ॥
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम् ।

कुन्तीनन्दन ! आजसे गङ्गाकुमार भीष्मजी धर्मके अत्यन्त गूढ़ रहस्यका उपदेश करेंगे। अतः मैं भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले साधारण जनसमाजको वहाँ नहीं जुटाना चाहता॥

वैशम्पायन उवाच

स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥
युक्तं रथवरं तस्मा आचचक्षे नरर्षभः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य करके कुन्तीकुमार नरश्रेष्ठ अर्जुनने वैसा ही किया। फिर आकर उन्हें सूचना दी कि महाराजका श्रेष्ठ रथ तैयार है ॥ १७½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥ १८ ॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम् ।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव सब एक रथपर आरूढ हो श्रीकृष्णके निवासस्थानपर गये, मानो समस्त महाभूत मूर्तिमान् होकर पधारे हों ॥१८½॥

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १९ ॥
शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत ।

महात्मा पाण्डवोंके पदार्पण करनेपर सात्यकिसहित बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण भी एक ही रथपर आरूढ़ हो गये॥

रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम् ॥ २०॥
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः ।

रथपर बैठे-बैठे ही उन सबने बातचीत की और एक दूसरेसे रात्रिके सुखपूर्वक व्यतीत होनेका कुशल-समाचार पूछा। फिर वे नरश्रेष्ठ मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रेष्ठ रथोंद्वारा वहाँसे चल पड़े ॥ २०½ ॥

बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥ २१ ॥
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः ।

दारुकने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंको हाँका ॥२१½॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
गां खुराग्रैस्तथा राजल्लिँखन्तः प्रययुस्तदा ।

राजन् ! उस समय दारुकद्वारा हाँके गये श्रीकृष्णके वे घोड़े अपनी टापोंके अग्रभागसे पृथ्वीपर चिह्न बनाते हुए बड़े वेगसे दौड़े ॥ २२½ ॥

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः ॥ २३ ॥
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन् ।

उन अश्वोंका बल और वेग महान् था। वे आकाशको पीते हुए-से उड़ चले और बात-की-बातमें सम्पूर्ण धर्मके क्षेत्रभूत कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २३½ ॥

ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ २४ ॥
आस्ते महर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा ।

तदनन्तर वे सब लोग उस स्थानपर गये, जहाँपर प्रभावशाली भीष्मजी बाणशय्यापर सो रहे थे। जैसे देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजी शोभा पाते हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके साथ भीष्मजी सुशोभित हो रहे थे ॥ २४½ ॥

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात् स च युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् रथसे उतरकर भगवान् श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सात्यकिने अपने-अपने दाहिने हाथोंको उठाकर ऋषियोंके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित किया ॥ २५-२६ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥ २७ ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति भाइयोंसे घिरे हुए

राजा युधिष्ठिर गङ्गानन्दन भीष्मके समीप गये, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीके निकट पधारे हों ॥ २७ ॥

शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा।
स ददर्श महाबाहुं भयाच्चागतसाध्वसः ॥ २८ ॥

शर-शय्यापर सोये हुए महाबाहु भीष्मजी वैसे ही दिखायी दे रहे थे, मानो सूर्यदेव आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हों। युधिष्ठिरने उसी अवस्थामें उनका दर्शन किया। उस समय वे भयसे काँप उठे थे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्माभिगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका भीष्मके समीप गमनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मजीकी बातचीत

जनमेजय उवाच

धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसंधे जितात्मनि।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥ १ ॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शान्तनुनन्दने।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते ॥ २ ॥
काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन् वीरसमागमे।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुने! धर्मात्मा, महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महाभाग शान्तनुनन्दन गङ्गाकुमार पुरुषसिंह देवव्रत भीष्म जब वीर-शय्यापर सो रहे थे और पाण्डव उनकी सेवामें आकर उपस्थित हो गये थे, उस समय वीर पुरुषोंके उस समागमके अवसरपर, जब कि उभयपक्षकी सम्पूर्ण सेनाएँ मारी जा चुकी थीं, कौन-कौन-सी बातें हुईं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर! कौरवकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजी जब बाणशय्यापर सो रहे थे, उस समय वहाँ नारद आदि सिद्ध महर्षि भी पधारे थे ॥ ४ ॥

हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥ ५ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम्।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥

महाभारत-युद्धमें जो लोग मरनेसे बच गये थे, वे युधिष्ठिर आदि राजा तथा धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये सभी महामनस्वी पुरुष पृथ्वीपर गिरे हुए सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले, भरतवंशियोंके पितामह, गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर बारंबार शोक प्रकट करने लगे ॥ ५-६ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः।
उवाच पाण्डवान् सर्वान् हतशिष्टांश्च पार्थिवान् ॥ ७ ॥

तब दिव्य दृष्टि रखनेवाले देवर्षि नारदने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर समस्त पाण्डवों तथा मरनेसे बचे हुए अन्य नरेशोंको सम्बोधित करके कहा— ॥ ७ ॥

प्राप्तकालं समाचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम्।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन युधिष्ठिर तथा अन्य भूपालगण! मैं आपलोगोंको समयोचित कर्तव्य बता रहा हूँ। आपलोग गङ्गानन्दन भीष्मजीसे धर्म और ब्रह्मके विषयमें प्रश्न कीजिये, क्योंकि अब ये भगवान् सूर्यके समान अस्त होनेवाले हैं ॥८॥

अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत।
कृत्स्नान् हि विविधान् धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम् ॥ ९ ॥

'भीष्मजी अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हैं, अतः आप सब लोग इनसे अपने मनकी बातें पूछ लें; क्योंकि ये चारों वर्णोंके सम्पूर्ण एवं विभिन्न धर्मोंको जानते हैं॥

एष वृद्धः परांल्लोकान् सम्प्राप्नोति तनुं त्यजन्।
तं शीघ्रमनुयुञ्जीध्वं संशयान् मनसि स्थितान् ॥ १० ॥

'भीष्मजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और अपने शरीरका त्याग करके उत्तम लोकोंमें पदार्पण करनेवाले हैं; अतः आपलोग शीघ्र ही इनसे अपने मनके संदेह पूछ लें' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नारदजीके ऐसा कहनेपर सब नरेश भीष्मजीके निकट आ गये; परंतु उन्हें उनसे कुछ पूछनेका साहस नहीं हुआ। वे सभी एक दूसरेका मुँह ताकने लगे ॥ ११ ॥

अथोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
नान्यस्तु देवकीपुत्राच्छक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥

तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने हृषीकेशकी ओर लक्ष्य करके कहा—'दिव्यज्ञानसम्पन्न देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो पितामहसे प्रश्न कर सके' ॥ १२ ॥

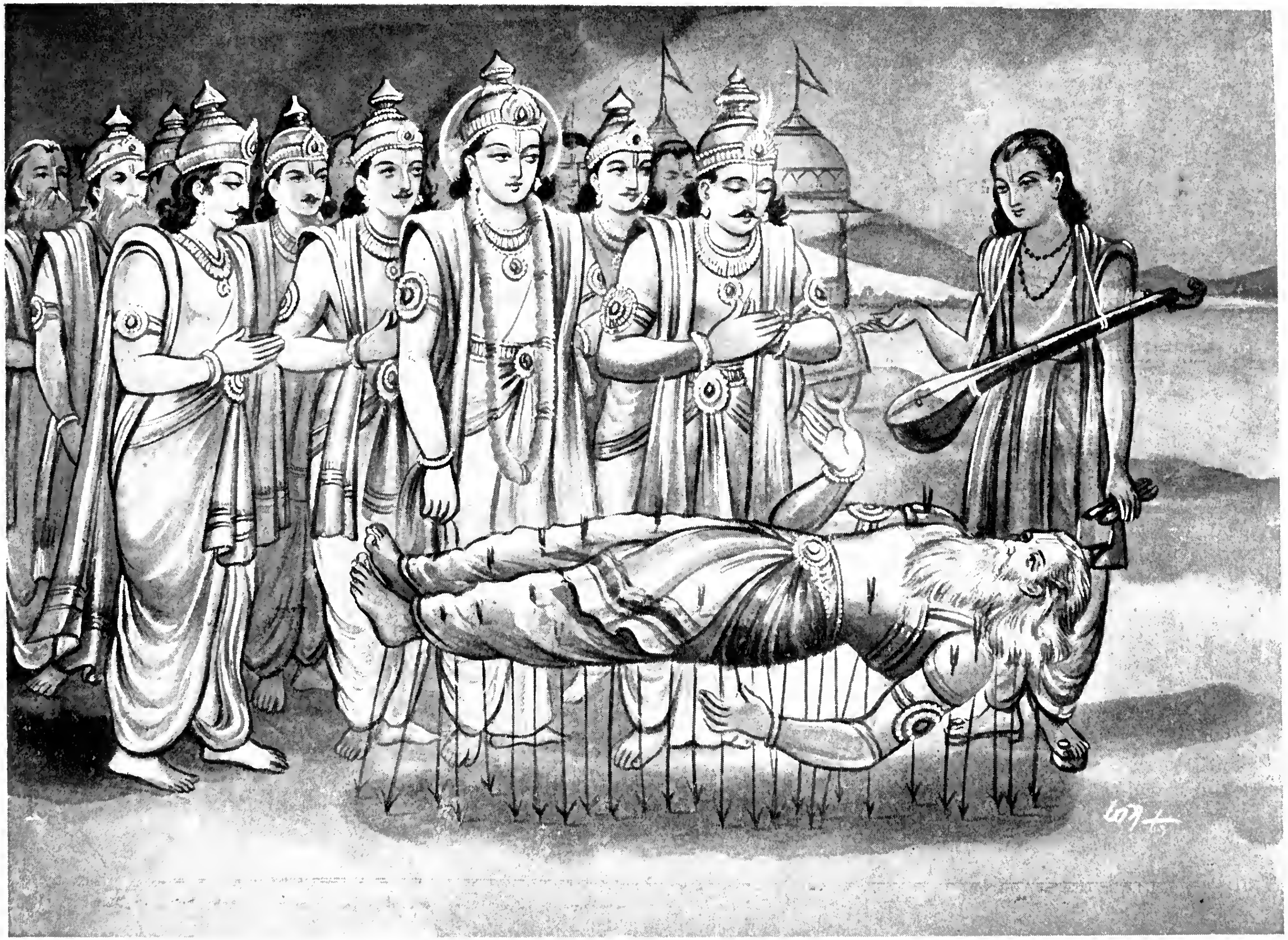

भगवान् श्रीकृष्णका देवर्षि नारद एवं पाण्डवोंको लेकर शरशय्यास्थित भीष्मके निकट गमन

प्रव्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥

(फिर श्रीकृष्णसे कहने लगे—) 'मधुसूदन ! यदुश्रेष्ठ ! आप ही पहले वार्तालाप आरम्भ कीजिये । तात ! आप ही हम सब लोगोंमें सम्पूर्ण धर्मोंके श्रेष्ठ ज्ञाता हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान् केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं प्रव्याहारयदच्युतः ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने दुर्जय भीष्मजीके निकट जाकर इस प्रकार बातचीत की ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

कच्चित् सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ भीष्मजी ! आपकी रात सुखसे बीती है न ? क्या आपको सभी ज्ञातव्य विषयोंका सुस्पष्टरूपसे दर्शन करानेवाली निर्मल बुद्धि प्राप्त हो गयी ? ॥ १५ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥

निष्पाप भीष्म ! क्या आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञान प्रकाशित हो रहे हैं ? आपके हृदयमें ग्लानि तो नहीं है ? आपका मन व्याकुल तो नहीं हो रहा है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा ।
तव प्रसादाद् वार्ष्णेय सद्यः प्रतिगतानि मे ॥ १७ ॥

भीष्मजी बोले—वृष्णिनन्दन ! आपकी कृपासे मेरे शरीरकी जलन, मनका मोह, थकावट, विकलता, ग्लानि तथा रोग—ये सब तत्काल दूर हो गये थे ॥ १७ ॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते ।
तत् सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥ १८ ॥

परम तेजस्वी पुरुषोत्तम ! अब मैं हाथपर रक्खे हुए फलकी भाँति भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सभी बातें सुस्पष्टरूपसे देख रहा हूँ ॥ १८ ॥

वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये ।
तान् सर्वान् सम्प्रपश्यामि वरदानात् तवाच्युत॥ १९ ॥

अच्युत ! वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं तथा वेदान्तों (उपनिषदों) द्वारा जिनको जाना गया है, उन सब धर्मोंको मैं आपके वरदानके प्रभावसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते ।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥ २० ॥

जनार्दन ! शिष्ट पुरुषोंने जिस धर्मका उपदेश किया है, वह भी मेरे हृदयमें स्फुरित हो रहा है । देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी इस समय मुझे पूर्ण ज्ञान है ॥ २० ॥

चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः ।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥ २१ ॥

चारों आश्रमोंके धर्मोंमें जो सारभूत तत्त्व है, वह भी मेरे हृदयमें प्रकाशित हो रहा है । केशव ! इस समय मैं सम्पूर्ण राजधर्मोंको भी भलीभाँति जानता हूँ ॥ २१ ॥

यच्च यत्र च वक्तव्यं तद् वक्ष्यामि जनार्दन ।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥ २२ ॥

जनार्दन ! जिस विषयमें जो कुछ भी कहने योग्य बात है, वह सब मैं कहूँगा । आपकी कृपासे मेरे हृदयमें निर्मल मन और कल्याणमयी बुद्धिका आवेश हुआ है ॥ २२ ॥

युवेवास्मि समावृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः ।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन॥ २३ ॥

जनार्दन ! आपके निरन्तर चिन्तनसे मेरी शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि मैं जवान-सा हो गया हूँ । आपके प्रसादसे अब मैं कल्याणकारी उपदेश देनेमें समर्थ हूँ ॥ २३ ॥

स्वयं किमर्थं तु भवाञ्छ्रेयो न प्राह पाण्डवम् ।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥ २४ ॥

माधव ! तो भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप स्वयं ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कल्याणकारी उपदेश क्यों नहीं देते हैं ? इस विषयमें आप क्या कहना चाहते हैं ? यह शीघ्र बताइये ॥ २४ ॥

वासुदेव उवाच

यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव ।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुनन्दन ! आप मुझे ही यश और श्रेयका मूल समझें । संसारमें जो भी सत् और असत् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति ।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥ २६ ॥

'चन्द्रमा शीतल किरणोंसे सम्पन्न हैं' यह बात कहनेपर जगत्में किसको आश्चर्य होगा ? अर्थात् किसीको नहीं होगा । उसी प्रकार सम्पूर्ण यशसे सम्पन्न मुझ परमेश्वरके द्वारा कोई उत्तम उपदेश प्राप्त हो तो उसे सुनकर कौन आश्चर्य करेगा ? ॥ २६ ॥

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भीष्म ! मुझे इस जगत्में आपके महान् यशकी प्रतिष्ठा करनी है, अतः मैंने अपनी विशाल बुद्धि तुझे समर्पित की है ॥ २७ ॥

यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ॥ २८ ॥

भूपाल ! जबतक यह अचला पृथ्वी स्थिर रहेगी, तबतक सम्पूर्ण जगत्में आपकी अक्षय कीर्ति विख्यात होती रहेगी॥

यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले ॥ २९ ॥

भीष्म ! आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर उसके उत्तरमें जो कुछ कहेंगे, वह वेदके सिद्धान्तकी भाँति इस भूतलपर मान्य होगा ॥ २९ ॥

यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना ।
स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥ ३० ॥

जो मनुष्य आपके इस उपदेशको प्रमाण मानकर उसे अपने जीवनमें उतारेगा, वह मृत्युके बाद सब प्रकारके पुण्यों-का फल प्राप्त करेगा ॥ ३० ॥

एतस्मात् कारणाद् भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
दत्ता यशो विप्रथयेत् कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥

भीष्म ! इसीलिये मैंने आपको दिव्य बुद्धि प्रदान की है कि जिस किसी प्रकारसे भी आपके महान् यशका इस भूतल-पर विस्तार हो ॥ ३१ ॥

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत् तस्याक्षयं स्थानं भवतीति विनिश्चिता ॥ ३२ ॥

जगत्‌में जबतक भूतलपर मनुष्यके यशका विस्तार होता रहता है, तबतक उसकी परलोकमें अचल स्थिति बनी रहती है, यह निश्चय है ॥ ३२ ॥

राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! नरेश्वर ! मरनेसे बचे हुए ये भूपाल आपके पास धर्मकी जिज्ञासासे बैठे हैं । आप इन सबको धर्मका उपदेश करें ॥ ३३ ॥

भवान् हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥

आपकी अवस्था सबसे बड़ी है । आप शास्त्रज्ञान तथा सदाचारसे सम्पन्न हैं । साथ ही समस्त राजधर्मों तथा अन्य धर्मोंके ज्ञानमें भी आप कुशल हैं ॥ ३४ ॥

जन्मप्रभृति ते कश्चिद् वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥ ३५ ॥

जन्मसे लेकर आजतक किसीने भी आपमें कोई भी दोष (पाप) नहीं देखा है । सब राजा इस बातको स्वीकार करते हैं कि आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं ॥ ३५ ॥

तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन् ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥
तस्माद् वक्तव्यमेवेदं त्वयावश्यमशेषतः ।

राजन् ! आप इन राजाओंको उसी प्रकार उत्तम नीति-का उपदेश करें, जैसे पिता अपने पुत्रको सद्धर्मकी शिक्षा देता है । आपने देवताओं और ऋषियोंकी सदा उपासना की है; इसलिये आपको अवश्य ही सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश करना चाहिये ॥ ३६½ ॥

धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥
वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।

मनीषी पुरुषोंने यह धर्म बताया है कि 'श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषसे जब कुछ पूछा जाय तो उसे उचित है कि वह सुनने-की इच्छावाले लोगोंको धर्मका उपदेश दे' ॥ ३७½ ॥

अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥ ३८ ॥
तस्मात् पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान् पृष्टान् सनातनान् ।
विद्वाञ्जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

प्रभो ! जो मनुष्य जानते हुए भी श्रद्धापूर्वक प्रश्न करनेवालेको उपदेश नहीं देता, उसे अत्यन्त दुःखदायक दोषकी प्राप्ति होती है; अतः भरतश्रेष्ठ ! धर्मको जाननेकी इच्छावाले अपने पुत्रों और पौत्रोंके पूछनेपर उन्हें सनातन धर्मका उपदेश करें; क्योंकि आप धर्मशास्त्रोंके विद्वान् हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-वाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका युधिष्ठिरके गुणकथनपूर्वक उनको प्रश्न करनेका आदेश देना, श्रीकृष्णका उनके लज्जित और भयभीत होनेका कारण बताना और भीष्मका आश्वासन पाकर युधिष्ठिरका उनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महातेजा वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ॥ १ ॥
तव प्रसादाद् गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णकी बात सुनकर कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी भीष्मजीने कहा—'गोविन्द ! आप सम्पूर्ण भूतोंके सनातन आत्मा हैं । आपके प्रसादसे मेरी वाक्शक्ति सुदृढ़ है और मन भी स्थिर हो गया है; अतः मैं समस्त धर्मोंका प्रवचन करूँगा ॥ १½ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान् वक्ष्यामि चाखिलान् ॥ २ ॥

'धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे एक-एक करके धर्मोंके विषय-में प्रश्न करें, इससे मुझे प्रसन्नता होगी और मैं सम्पूर्ण धर्मों-का उपदेश कर सकूँगा ॥ २ ॥

यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन्नृषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥

'जिन राजर्षिशिरोमणि धर्मपरायण महात्मा युधिष्ठिरका जन्म होनेपर सभी महर्षि हर्षसे खिल उठे थे, वे ही पाण्डुपुत्र मुझसे प्रश्न करें ॥ ३ ॥

सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम् ।
यस्य नास्ति समः कश्चित् स मां पृच्छतु पाण्डवः॥ ४ ॥

'जिनके यशका प्रताप सर्वत्र छा रहा है, उन समस्त धर्माचारी कौरवोंमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ४ ॥

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा ।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥

'जिनमें धैर्य, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, ओज और तेज सदा विद्यमान रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ५ ॥

सम्बन्धिनोऽतिथीन् भृत्यान् संश्रितांश्चैव यो भृशम् ।
सम्मानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ६ ॥

'जो सम्बन्धियों, अतिथियों, भृत्यों तथा शरणागतोंका सदा सत्कारपूर्वक विशेष सम्मान करते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ६ ॥

सत्यं दानं तपः शौर्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसम्भ्रमः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥

'जिनमें सत्य, दान, तप, शूरता, शान्ति, दक्षता तथा असम्भ्रम (स्थिरचित्तता)—ये समस्त सद्गुण सदा मौजूद रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ७ ॥

यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात् ।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥

'जो न तो कामनासे, न क्रोधसे, न भयसे और न किसी स्वार्थके ही लोभसे अधर्म करते हैं, वे धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ८ ॥

सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः ।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ९ ॥

'जिनमें सदा ही सत्य, सदा ही क्षमा और सदा ही ज्ञानकी स्थिति है, जो निरन्तर अतिथिसत्कारके प्रेमी हैं और सत्पुरुषोंको सदा दान देते रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ९ ॥

इज्याध्ययननित्यस्य धर्मे च निरतः सदा ।
क्षान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥

'जिन्होंने शास्त्रोंके रहस्यका श्रवण किया है, जो सदा ही यज्ञ, स्वाध्याय और धर्ममें लगे रहनेवाले तथा क्षमाशील हैं, वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें' ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—प्रजानाथ! धर्मराज युधिष्ठिर बहुत लज्जित हैं, वे शापके भयसे डरे होनेके कारण आपके निकट नहीं आ रहे हैं ॥ ११ ॥

लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशाम्पते ।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ १२ ॥

प्रजापालक भीष्म! ये लोकनाथ युधिष्ठिर जगत्‌का संहार करके शापके भयसे त्रस्त हो उठे हैं; इसीलिये आपके निकट नहीं आते हैं ॥ १२ ॥

पूज्यान् मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् ।
अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥ १३ ॥

पूजनीय, माननीय गुरुजनों, भक्तों तथा अर्घ्य आदिके द्वारा सत्कार करने योग्य सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंका बाणोंद्वारा भेदन करके भयके मारे ये आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—श्रीकृष्ण! जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणोंका धर्म है, उसी प्रकार समरभूमिमें शत्रुओंके शरीरको मार गिराना क्षत्रियोंका धर्म है ॥ १४ ॥

पितॄन् पितामहान् भ्रातॄन् गुरून् सम्बन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद् धर्म एव सः ॥ १५ ॥

जो असत्यके मार्गपर चलनेवाले पिता (ताऊ-चाचा), बाबा, भाई, गुरुजन, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको संग्राममें मार डालता है, उसका वह कार्य धर्म ही है ॥ १५ ॥

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १६ ॥

केशव ! जो क्षत्रिय लोभवश धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले पापाचारी गुरुजनोंका भी समराङ्गणमें वध कर डालता है, वह अवश्य ही धर्मका ज्ञाता है ॥ १६ ॥

यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम् ।
निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥ १७ ॥

जो लोभवश सनातन धर्ममर्यादाकी ओर दृष्टिपात नहीं करता, उसे जो क्षत्रिय समरभूमिमें मार गिराता है, वह निश्चय ही धर्मज्ञ है ॥ १७ ॥

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम् ।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १८ ॥

जो क्षत्रिय युद्धभूमिमें रक्तरूपी जल, केशरूपी तृण, हाथीरूपी पर्वत और ध्वजरूपी वृक्षोंसे युक्त खूनकी नदी बहा देता है, वह धर्मका ज्ञाता है ॥ १८ ॥

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

संग्राममें शत्रुके ललकारनेपर क्षत्रिय-बन्धुको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये। मनुजीने कहा है कि युद्ध

क्षत्रियके लिये धर्मका पोषक, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और लोकमें यश फैलानेवाला है ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भीष्मजीके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उनके पास जाकर एक विनीत पुरुषके समान उनकी दृष्टिके सामने खड़े हो गये ॥ २० ॥

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥ २१ ॥

फिर उन्होंने भीष्मजीके दोनों चरण पकड़ लिये । तब भीष्मजीने उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—'बेटा ! बैठ जाओ' ॥ २१ ॥

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् ।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात ! मैं इस समय स्वस्थ हूँ, तुम मुझसे निर्भय होकर प्रश्न करो । कुरुश्रेष्ठ ! तुम भय न मानो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा राजधर्मका वर्णन, राजाके लिये पुरुषार्थ और सत्यकी आवश्यकता, ब्राह्मणोंकी अदण्डनीयता तथा राजाकी परिहासशीलता और मृदुतासे प्रकट होनेवाले दोष

वैशम्पायन उवाच

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम् ।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मको प्रणाम करके युधिष्ठिरने समस्त गुरुजनोंकी अनुमति ले इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! धर्मज्ञ विद्वानोंकी यह मान्यता है कि राजाओंका धर्म श्रेष्ठ है । मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल ! आप मुझे राजधर्मका उपदेश कीजिये ॥ २ ॥

राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥ ३ ॥

पितामह ! राजधर्म सम्पूर्ण जीवजगत्‌का परम आश्रय है; अतः आप राजधर्मोंका ही विशेषरूपसे वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन ! राजाके धर्मोंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समावेश है और यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मोक्षधर्म भी राजधर्ममें निहित है ॥४॥

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

जैसे घोड़ोंको काबूमें रखनेके लिये लगाम और हाथीको वशमें करनेके लिये अङ्कुश है, उसी प्रकार समस्त संसारको मर्यादाके भीतर रखनेके लिये राजधर्म आवश्यक है; वह उसके लिये प्रग्रह अर्थात् उसको नियन्त्रित करनेमें समर्थ माना गया है ॥ ५ ॥

तत्र चेत् सम्प्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलीभवेत् ॥ ६ ॥

प्राचीन राजर्षियोंद्वारा सेवित उस राजधर्ममें यदि राजा मोहवश प्रमाद कर बैठे तो संसारकी व्यवस्था ही बिगड़ जाय और सब लोग दुखी हो जायँ ॥ ६ ॥

उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः ।
राजधर्मास्तथालोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यदेव उदय होते ही घोर अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार राजधर्म मनुष्योंके अशुभ आचरणोंका, जो उन्हें पुण्य लोकोंसे वञ्चित कर देते हैं, निवारण करता है ॥७॥

तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थे त्वं पितामह ।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ८ ॥

अतः भरतश्रेष्ठ पितामह ! आप सबसे पहले मेरे लिये राजधर्मोंका ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परंतप ।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥ ९ ॥

परंतप पितामह ! हम सब लोगोंको आपसे ही शास्त्रोंके उत्तम सिद्धान्तका ज्ञान हो सकता है । भगवान् श्रीकृष्ण भी आपको ही बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है । विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है । अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मोंका वर्णन आरम्भ करूँगा ॥ १० ॥

शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! अब तुम नियमपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्णरूपसे राजधर्मोंका वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो ॥ ११ ॥

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाको सबसे पहले प्रजाका रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखनेकी इच्छासे देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये (अर्थात् वह देवताओंका विधिपूर्वक पूजन तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करे)॥

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥ १३ ॥

कुरुकुलभूषण ! देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन करके राजा धर्मके ऋणसे मुक्त होता है और सारा जगत् उसका सम्मान करता है ॥ १३ ॥

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसादयेत् ॥ १४ ॥

बेटा युधिष्ठिर ! तुम सदा पुरुषार्थके लिये प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थके बिना केवल प्रारब्ध राजाओंका प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता ॥ १४ ॥

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ॥ १५ ॥

यद्यपि कार्यकी सिद्धिमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थको ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहलेसे ही निश्चित बताया गया है ॥ १५॥

विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १६ ॥

अतः यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा न हो सके अथवा उसमें बाधा पड़ जाय तो इसके लिये तुम्हें अपने मनमें दुःख नहीं मानना चाहिये। तुम सदा अपने आपको पुरुषार्थमें ही लगाये रक्खो। यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १६ ॥

न हि सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥

सत्यके सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओंके लिये सिद्धिकारक नहीं है। सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोकमें भी सुख पाता है ॥ १७ ॥

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम्॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! ऋषियोंके लिये भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओंके लिये सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजावर्गमें उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके॥

गुणवाञ्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥

जो राजा गुणवान्, शीलवान्, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, कोमलस्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, देखनेमें प्रसन्नमुख और बहुत देनेवाला उदारचित्त है, वह कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! तुम सभी कार्योंमें सरलता एवं कोमलताका अवलम्बन करना, परंतु नीतिशास्त्रकी आलोचनासे यह ज्ञात होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा तथा अपने कार्य-कौशल—इन तीन बातोंको गुप्त रखनेमें सरलताका अवलम्बन करना उचित नहीं है ॥ २० ॥

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ २१ ॥

जो राजा सदा सब प्रकारसे कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला ही होता है, उसकी आज्ञाका लोग उल्लङ्घन कर जाते हैं और केवल कठोर बर्ताव करनेसे भी सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम आवश्यकतानुसार कठोरता और कोमलता दोनोंका अवलम्बन करो ॥ २१ ॥

अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर।
भूतमेतत् परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥ २२ ॥

दाताओंमें श्रेष्ठ बेटा पाण्डुकुमार युधिष्ठिर ! तुम्हें ब्राह्मणोंको कभी दण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि संसारमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है ॥ २२ ॥

मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुनन्दन ! महात्मा मनुने अपने धर्मशास्त्रोंमें दो श्लोकोंका गान किया है, तुम उन दोनोंको अपने हृदयमें धारण करो॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥

'अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे प्रकट हुआ है। इनका तेज अन्य सब स्थानोंपर तो अपना प्रभाव दिखाता है; परंतु अपनेको उत्पन्न करनेवाले कारणसे टक्कर लेनेपर स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥

'जब लोहा पत्थरपर चोट करता है, आग जलको नष्ट करने लगती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों ही दुःख उठाते हैं अर्थात् ये दुर्बल हो जाते हैं ॥ २५ ॥

एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥ २६ ॥

महाराज ! ऐसा सोचकर तुम्हें ब्राह्मणोंको सदा नमस्कार ही करना चाहिये; क्योंकि वे श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजित होनेपर भूतलके ब्रह्मको अर्थात् वेदको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥

पुरुषसिंह ! यद्यपि ऐसी बात है, तथापि यदि ब्राह्मण भी तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो जायँ तो ऐसे लोगोंको अपने बाहु-बलसे परास्त करके सदा नियन्त्रणमें ही रखना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥

तात ! नरेश्वर ! इस विषयमें दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पूर्वकालमें महर्षि शुक्राचार्यने गाया था । महाराज ! तुम एकाग्रचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको सुनो ॥ २८ ॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ २९ ॥

'वेदान्तका पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो ? यदि वह शस्त्र उठाकर युद्धमें सामना करनेके लिये आ रहा हो तो धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले राजाको अपने धर्मके अनुसार ही युद्ध करके उसे कैद कर लेना चाहिये ॥ २९ ॥

विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित् ।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ ३० ॥

'जो राजा उसके द्वारा नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है । अतः उसे मारनेसे वह धर्मका नाशक नहीं माना जाता । वास्तवमें क्रोध ही उनके क्रोधसे टक्कर लेता है' ॥

एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः ।
सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! यह सब होनेपर भी ब्राह्मणोंकी तो सदा रक्षा ही करनी चाहिये; यदि उनके द्वारा अपराध बन गये हों तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्यकी सीमासे बाहर करके छोड़ देना चाहिये ॥ ३१ ॥

अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते ।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इनमें कोई कलङ्कित हो तो उसपर भी कृपा ही करनी चाहिये । ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन, भ्रूणहत्या तथा राजद्रोहका अपराध होनेपर भी ब्राह्मणको देशसे निकाल देनेका ही विधान है—उसे शारीरिक दण्ड कभी नहीं देना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये ।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसंचयात् ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखते हैं, वे सबके प्रिय होते हैं । राजाओंके लिये ब्राह्मणके भक्तोंका संग्रह करनेसे बढ़कर दूसरा कोई कोश नहीं है ॥ ३४ ॥

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः ।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥

महाराज ! मरु (जलरहित भूमि), जल, पृथ्वी, वन, पर्वत और मनुष्य—इन छःप्रकारके दुर्गोंमें मानवदुर्ग ही प्रधान है । शास्त्रोंके सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् उक्त सभी दुर्गोंमें मानव दुर्गको ही अत्यन्त दुर्लङ्घ्य मानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ ३६ ॥

अतः विद्वान् राजाको चारों वर्णोंपर सदा दया करनी चाहिये, धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजाको प्रसन्न रख पाता है ॥ ३६ ॥

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥ ३७ ॥

बेटा ! तुम्हें सदा और सब ओर क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिये; क्योंकि क्षमाशील हाथीके समान कोमल स्वभाववाला राजा दूसरोंको भयभीत न कर सकनेके कारण अधर्मके प्रसारमें ही सहायक होता है ॥ ३७ ॥

बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा ।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३८ ॥

महाराज ! इसी बातके समर्थनमें बार्हस्पत्यशास्त्रका एक प्राचीन श्लोक पढ़ा जाता है । मैं उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्यैव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥

'नीच मनुष्य क्षमाशील राजाका सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथीका महावत उसके सिरपर ही चढ़े रहना चाहता है' ॥ ३९ ॥

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त ऋतुका तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठंडक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही करता है, उसी प्रकार राजाको भी न तो बहुत कोमल होना चाहिये और न अधिक कठोर ही ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥ ४१ ॥

महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणोंके द्वारा सदा अपने-परायेकी पहचान करते रहना चाहिये ॥ ४१ ॥

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्गं तु परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले नरेश्वर ! तुम्हें सभी प्रकारके

व्यसनोंको त्याग देना चाहिये; परंतु साहस आदिका भी सर्वथा प्रयोग न किया जाय, ऐसी बात नहीं है (क्योंकि शत्रुविजय आदिके लिये उसकी आवश्यकता है); अतः सभी प्रकारके व्यसनोंकी आसक्तिका परित्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥ ४३ ॥

व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा सदा सब लोगोंके अनादरका पात्र होता है और जो भूपाल सबके प्रति अत्यन्त द्वेष रखता है, वह सब लोगोंको उद्वेगयुक्त कर देता है ॥ ४३ ॥

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥

महाराज ! राजाका प्रजाके साथ गर्भिणी स्त्रीका-सा बर्ताव होना चाहिये । किस कारणसे ऐसा होना उचित है, यह बताता हूँ, सुनो ॥ ४४ ॥

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥

जैसे गर्भवती स्त्री अपने मनको अच्छे लगनेवाले प्रिय भोजन आदिका भी परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालकके हितका ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजाको भी चाहिये कि निःसंदेह वैसा ही बर्ताव करे । कुरुश्रेष्ठ ! राजा अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयका परित्याग करके जिसमें सब लोगोंका हित हो वही कार्य करे ॥४५-४६॥

न संत्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ ४७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हें कभी भी धैर्यका त्याग नहीं करना चाहिये । जो अपराधियोंको दण्ड देनेमें संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजाको कभी भय नहीं होता ॥

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥ ४८ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजसिंह ! तुम्हें सेवकोंके साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये; इसमें जो दोष है, वह मुझसे सुनो ॥ ४८ ॥

अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥ ४९ ॥

राजासे जीविका चलानेवाले सेवक अधिक मुँहलगे हो जानेपर मालिकका अपमान कर बैठते हैं । वे अपनी मर्यादामें स्थिर नहीं रहते और स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करने लगते हैं ॥ ४९ ॥

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥ ५० ॥

वे जब किसी कार्यके लिये भेजे जाते हैं तो उसकी सिद्धिमें संदेह उत्पन्न कर देते हैं । राजाकी गोपनीय त्रुटियोंको भी सबके सामने ला देते हैं । जो वस्तु नहीं माँगनी चाहिये उसे भी माँग बैठते हैं तथा राजाके लिये रक्खे हुए भोज्य पदार्थोंको स्वयं खा लेते हैं ॥ ५० ॥

क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥

राज्यके अधिपति भूपालको कोसते हैं, उनके प्रति क्रोधसे तमतमा उठते हैं; घूस लेकर और धोखा देकर राजाके कार्योंमें विघ्न डालते हैं ॥ ५१ ॥

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥ ५२ ॥

वे जाली आज्ञापत्र जारी करके राजाके राज्यको जर्जर कर देते हैं । रनवासके रक्षकोंसे मिल जाते हैं अथवा उनके समान ही वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते फिरते हैं ॥ ५२ ॥

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य संनिधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥ ५३ ॥

राजाके पास ही मुँह बाकर जँभाई लेते और थूकते हैं, नृपश्रेष्ठ ! वे मुँहलगे नौकर लाज छोड़कर मनमानी बातें बोलते हैं ॥ ५३ ॥

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥ ५४ ॥

नृपशिरोमणे ! परिहासशील कोमलस्वभाववाले राजाको पाकर सेवकगण उसकी अवहेलना करते हुए उसके घोड़े, हाथी अथवा रथको अपनी सवारीके काममें लाते हैं ॥

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम् ।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिषद्गताः ॥ ५५ ॥

आम दरबारमें बैठकर दोस्तोंकी तरह बराबरीका बर्ताव करते हुए कहते हैं कि 'राजन् ! आपसे इस कामका होना कठिन है, आपका यह बर्ताव बहुत बुरा है' ॥ ५५ ॥

क्रुद्धे चास्मिन् हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः ।
संघर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥ ५६ ॥

इस बातसे यदि राजा कुपित हुए तो वे उन्हें देखकर हँस देते हैं और उनके द्वारा सम्मानित होनेपर भी वे धृष्ट सेवक प्रसन्न नहीं होते । इतना ही नहीं, वे सेवक परस्पर स्वार्थ-साधनके निमित्त राजसभामें ही राजाके साथ विवाद करने लगते हैं ॥ ५६ ॥

---

१. व्यसन अठारह प्रकारके बताये गये हैं । इनमें दस तो कामज है और आठ क्रोधज । शिकार, जूआ, दिनमें सोना, परनिन्दा, स्त्रीसेवन, मद, वाद्य, गीत, नृत्य और मदिरापान—ये दस कामज व्यसन बताये गये हैं, चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये आठ क्रोधज व्यसन कहे गये हैं ।

विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् ।
लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥ ५७ ॥

राजकीय गुप्त बातों तथा राजाके दोषोंको भी दूसरोंपर प्रकट कर देते हैं । राजाके आदेशकी अवहेलना करके खिलवाड़ करते हुए उसका पालन करते हैं ॥ ५७ ॥

अलंकारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने ।
हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥ ५८ ॥

पुरुषसिंह ! राजा पास ही खड़ा-खड़ा सुनता रहता है निर्भय होकर उसके आभूषण पहनने, खाने, नहाने और चन्दन लगाने आदिका मजाक उड़ाया करते हैं ॥ ५८ ॥

निन्दन्ते स्वानधीकारान् संत्यजन्ते च भारत ।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ॥ ५९ ॥

भारत ! उनके अधिकारमें जो काम सौंपा जाता है, उसको वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं । उन्हें जो वेतन दिया जाता है, उससे वे संतुष्ट नहीं होते हैं और राजकीय धनको हड़पते रहते हैं ॥ ५९ ॥

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत ॥ ६० ॥

जैसे लोग डोरेमें बँधी हुई चिड़ियाके साथ खेलते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाके साथ खेलना चाहते हैं और साधारण लोगोंसे कहा करते हैं कि 'राजा तो हमारा गुलाम है' ॥ ६० ॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर ! राजा जब परिहासशील और कोमलस्वभावका हो जाता है, तब ये ऊपर बताये हुए तथा दूसरे दोष भी प्रकट होते हैं ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाके धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्तावका वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजाको सदा ही उद्योगशील होना चाहिये । जो उद्योग छोड़कर स्त्रीकी भाँति बेकार बैठा रहता है, उस राजाकी प्रशंसा नहीं होती है ॥ १ ॥

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते ।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे ॥ २ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें भगवान् शुक्राचार्यने एक श्लोक कहा है, उसे मैं बता रहा हूँ । तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर मुझसे उस श्लोकको सुनो ॥ २ ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ३ ॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहोंको निगल जाता है, उसी प्रकार दूसरोंसे लड़ाई न करनेवाले राजा तथा विद्याध्ययन आदिके लिये घर छोड़कर अन्यत्र न जानेवाले ब्राह्मणको पृथ्वी निगल जाती है (अर्थात् वे पुरुषार्थ-साधन किये बिना ही मर जाते हैं)' ॥ ३ ॥

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
संधेयानभिसंधत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥ ४ ॥

अतः नरश्रेष्ठ ! तुम इस बातको अपने हृदयमें धारण कर लो, जो संधि करनेके योग्य हों, उनसे संधि करो और जो विरोधके पात्र हों, उनका डटकर विरोध करो ॥ ४ ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥ ५ ॥

राज्यके सात अङ्ग हैं—राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना । जो इन सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालनेके ही योग्य है ॥ ५ ॥

मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः ।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें राजा मरुत्तने एक प्राचीन श्लोकका गान किया था, जो बृहस्पतिके मतानुसार राजाके अधिकारके विषयमें प्रकाश डालता है ॥ ६ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥ ७ ॥

'घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रखनेवाला तथा कुमार्गपर चलनेवाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो तो उसे भी दण्ड देनेका सनातन विधान है' ॥ ७ ॥

बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता ।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥ ८ ॥

बाहुके पुत्र बुद्धिमान् राजा सगरने तो पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने ज्येष्ठ पुत्र असमंजाका भी त्याग कर दिया था ॥

असमंजाः सरय्वां स पौराणां बालकान् नृप ।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! असमंजा पुरवासियोंके बालकोंको पकड़कर

सरयूनदीमें डुबा दिया करता था; अतः उसके पिताने उसे दुत्कारकर घरसे बाहर निकाल दिया ॥ ९ ॥

ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्रानुपचरन् संत्यक्तो दयितः सुतः ॥ १० ॥

उद्दालक ऋषिने अपने प्रिय पुत्र महातपस्वी श्वेतकेतुको केवल इस अपराधसे त्याग दिया कि वह ब्राह्मणोंके साथ मिथ्या एवं कपटपूर्ण व्यवहार करता था ॥ १० ॥

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥

अतः इस लोकमें प्रजावर्गको प्रसन्न रखना ही राजाओंका सनातन धर्म है, सत्यकी रक्षा और व्यवहारकी सरलता ही राजोचित कर्तव्य हैं ॥ ११ ॥

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥

दूसरोंके धनका नाश न करे । जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समयपर दिलानेकी व्यवस्था करे । पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे—ऐसा करनेवाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता ॥ १२ ॥

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ॥ १४ ॥

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, क्रोधको जीत लिया है तथा शास्त्रोंके सिद्धान्तका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रयत्नमें निरन्तर लगा रहता है, जिसे तीनों वेदोंका ज्ञान है तथा जो अपने गुप्त विचारोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं होने देता है, वही राजा होने योग्य है, प्रजाकी रक्षा न करनेसे बढ़कर राजाओंके लिये दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ १३-१४ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥

राजाको चारों वर्णोंके धर्मोंकी रक्षा करनी चाहिये, प्रजाको धर्मसंकरतासे बचाना राजाओंका सनातन धर्म है ॥ १५ ॥

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥

राजा किसीपर भी विश्वास न करे । विश्वसनीय व्यक्तिका भी अत्यन्त विश्वास न करे । राजनीतिके छः गुण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय * । इन सबके गुण-दोषोंका अपनी बुद्धिद्वारा सदा निरीक्षण करे ॥

द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते ।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥

शत्रुओंके छिद्र देखनेवाले राजाकी सदा ही प्रशंसा की जाती है । जिसे धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वका ज्ञान है तथा जिसने शत्रुओंकी गुप्त बातोंको जानने और उनके मन्त्री आदिको फोड़नेके लिये गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसाके ही योग्य है ॥ १७ ॥

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः ।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥

राजाको उचित है कि वह सदा अपने कोषागारको भरा-पूरा रखनेका प्रयत्न करता रहे, उसे न्याय करनेमें यमराज और धन-संग्रह करनेमें कुबेरके समान होना चाहिये । वह स्थान, वृद्धि तथा क्षयके हेतुभूत दस¹ वर्गोंका सदा ज्ञान रक्खे ॥ १८ ॥

अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः ।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥ १९ ॥

जिनके भरण-पोषणका प्रबन्ध न हो, उनका पोषण राजा स्वयं करे और उसके द्वारा जिनका भरण-पोषण चल रहा हो, उन सबकी देखभाल रखे । राजाको सदा प्रसन्नमुख रहना और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना चाहिये ॥ १९ ॥

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः संतोष्यश्चारुदर्शनः ॥ २० ॥

राजाको वृद्ध पुरुषोंकी उपासना (सेवा या सङ्ग) करनी चाहिये, वह आलस्यको जीते और लोलुपताका परित्याग करे । सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मन लगावे । संतुष्ट होने योग्य स्वभाव

---

* यदि शत्रुपर चढ़ाई की जाय और वह अपनेसे बलवान् सिद्ध हो तो उससे मेल कर लेना 'सन्धि' नामक गुण है । यदि दोनोंमें समान बल हो तो लड़ाई जारी रखना 'विग्रह' है । यदि शत्रु दुर्बल हो तो उस अवस्थामें उसके दुर्ग आदिपर जो आक्रमण किया जाता है, उसे 'यान' कहते हैं । यदि अपने ऊपर शत्रुकी ओरसे आक्रमण हो और शत्रुका पक्ष प्रबल जान पड़े तो उस समय अपनेको दुर्ग आदिमें छिपाये रखकर जो आत्मरक्षा की जाती है, वह 'आसन' कहलाता है । यदि चढ़ाई करनेवाला शत्रु मध्यम श्रेणीका हो तो 'द्वैधीभाव' का सहारा लिया जाता है । उसमें ऊपरसे दूसरा भाव दिखाया जाता है और भीतर दूसरा ही भाव रक्खा जाता है । जैसे आधी सेना दुर्गमें रखकर आत्मरक्षा करना और आधीको भेजकर शत्रुओंके अन्न आदि सामग्रीपर कब्जा करना आदि कार्य 'द्वैधीभाव' नीतिके अन्तर्गत हैं । आक्रमणकारीसे पीड़ित होनेपर किसी मित्र राजाका सहारा लेकर उसके साथ लड़ाई छेड़ना 'समाश्रय' कहलाता है ।

१. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), खजाना और दण्ड—ये पाँच 'प्रकृति' कहे गये हैं । ये ही अपने और शत्रुपक्षके मिलाकर 'दशवर्ग' कहलाते हैं, यदि दोनोंके मन्त्री आदि समान हों तो ये स्थानके हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्षकी स्थिति कायम रहती है, अगर अपने पक्षमें इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धिके साधक होते हैं और कमी हो तो क्षयके कारण बनते हैं ।

बनाये रक्खे। वेश-भूषा ऐसी रक्खे, जिससे वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर जान पड़े ॥ २० ॥

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन ।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥

साधुपुरुषोंके हाथसे कभी धन न छीने। असाधु पुरुषोंसे दण्डके रूपमें धन लेना चाहिये; साधु पुरुषोंको तो धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः ।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥ २२ ॥

स्वयं दुष्टोंपर प्रहार करे, दानशील बने, मनको वशमें रखे, सुरम्य साधनसे युक्त रहे, समय-समयपर धनका दान और उपभोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे ॥ २२ ॥

शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः ।
शिष्टाञ्शिष्टाभिसम्बन्धान्मानिनोऽनवमानिनः ॥ २३ ॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ।
धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव ॥ २४ ॥
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरस्कृतः ।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥

जो शूरवीर एवं भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग एवं शिष्ट हों तथा शिष्ट पुरुषोंसे सम्बन्ध रखते हों, जो आत्मसम्मानकी रक्षा करते हुए दूसरोंका कभी अपमान न करते हों, धर्मपरायण, विद्वान्, लोकव्यवहारके ज्ञाता और शत्रुओंकी गतिविधिपर दृष्टि रखनेवाले हों, जिनमें साधुता भरी हो तथा जो पर्वतोंके समान अटल रहनेवाले हों, ऐसे लोगोंको ही राजा सदा अपना सहायक बनावे और उन्हें ऐश्वर्यका पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोगकी सुविधा प्रदान करे, केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातोंमें ही वह उन सहायकोंकी अपेक्षा अधिक रहे ॥ २३—२५ ॥

प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत् समा ।
एवं कुर्वन् नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्षमें भी उनके साथ राजाका एक-सा ही बर्ताव होना चाहिये। ऐसा करनेवाला नरेश इस जगत्में कभी कष्ट नहीं उठाता ॥ २६ ॥

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् ।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव वध्यते ॥ २७ ॥

जो राजा सबपर संदेह करता और सबका सर्वस्व हर लेता है, वह लोभी और कुटिल राजा एक दिन अपने ही लोगोंके हाथसे शीघ्र मारा जाता है ॥ २७ ॥

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः ।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ २८ ॥

जो भूपाल बाहर-भीतरसे शुद्ध रहकर प्रजाके हृदयको अपनानेका प्रयत्न करता है, वह शत्रुओंका आक्रमण होनेपर भी उनके वशमें नहीं पड़ता, यदि उसका पतन हुआ भी तो वह सहायकोंको पाकर शीघ्र ही उठ खड़ा होता है ॥ २८ ॥

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥

जिसमें क्रोधका अभाव होता है, जो दुर्व्यसनोंसे दूर रहता है, जिसका दण्ड भी कठोर नहीं होता तथा जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है, वह राजा हिमालयके समान सम्पूर्ण प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है ॥ २९ ॥

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः ।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा ॥ ३० ॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः ।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥ ३१ ॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च ।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३२ ॥

जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओंकी दुर्बलता जाननेके प्रयत्नमें तत्पर, देखनेमें सुन्दर, सभी वर्णोंके न्याय और अन्यायको समझनेवाला, शीघ्र कार्य करनेमें समर्थ, क्रोधपर विजय पानेवाला, आश्रितोंपर कृपा करनेवाला, महामनस्वी, कोमल स्वभावसे युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मप्रशंसासे दूर रहनेवाला है, जिस राजाके आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूपसे समाप्त होते दिखायी देते हैं, वह समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३०—३२ ॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥

जैसे पुत्र अपने पिताके घरमें निर्भीक होकर रहते हैं, उसी प्रकार जिस राजाके राज्यमें मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ३४ ॥

जिसके राज्य अथवा नगरमें निवास करनेवाले लोग (चोरोंसे भय न होनेके कारण) अपने धनको छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्यायको समझते हों, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः ।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥ ३५ ॥
वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः ।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥

जिसके राज्यमें निवास करनेवाले लोग विधिपूर्वक सुरक्षित एवं पालित होकर अपने-अपने कर्ममें संलग्न, शरीरमें आसक्ति न रखनेवाले और जितेन्द्रिय हों, अपने वशमें रहते हों, शिक्षा देने और ग्रहण करने योग्य हों, आज्ञा पालन करते हों,

कलह और विवादसे दूर रहते हों और दान देनेकी रुचि रखते हों, वह राजा श्रेष्ठ है ॥ ३५-३६ ॥

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥

जिस भूपालके राज्यमें कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो उसीके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है ॥ ३७ ॥

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः ।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥

जो ज्ञान एवं ज्ञानियोंका सत्कार करता है, शास्त्रके ज्ञातव्य विषयको समझने तथा परहित-साधन करनेमें संलग्न रहता है, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलनेवाला और स्वार्थत्यागी है, वही राजा राज्य चलानेके योग्य समझा जाता है ॥ ३८ ॥

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किए हुए करने योग्य कर्म और किये हुए कर्म शत्रुओंद्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पानेका अधिकारी है ॥ ३९ ॥

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।
आख्याते राजचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥

भारत ! महात्मा भार्गवने पूर्वकालमें किसी राजाके प्रति राजोचित कर्तव्यका वर्णन करते समय इस श्लोकका गान किया था ॥ ४० ॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥ ४१ ॥

'मनुष्य पहले राजाको प्राप्त करे । उसके बाद पत्नीका परिग्रह और धनका संग्रह करे । लोकरक्षक राजाके न होनेपर कैसे भार्या सुरक्षित रहेगी और किस तरह धनकी रक्षा हो सकेगी ?' ॥ ४१ ॥

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥ ४२ ॥

राज्य चाहनेवाले राजाओंके लिये राज्यमें प्रजाओंकी भलीभाँति रक्षाको छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है, रक्षा ही जगत्‌को धारण करनेवाली है ॥ ४२ ॥

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र ! प्राचेतस मनुने राजधर्मके विषयमें ये दो श्लोक कहे हैं । तुम एकचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको यहाँ सुनो ॥

षडेतान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ४५ ॥

'जैसे समुद्रकी यात्रामें टूटी हुई नौकाका त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह उपदेश न देनेवाले आचार्य, वेदमन्त्रोंका उच्चारण न करनेवाले ऋत्विज, रक्षा न कर सकनेवाले राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, गाँवमें रहनेकी इच्छा रखनेवाले ग्वाले और जंगलमें रहनेकी कामना करनेवाले नाई—इन छः व्यक्तियोंका त्याग कर दे' ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा राज्यरक्षाके साधनोंका वर्णन तथा संध्याके समय युधिष्ठिर आदिका विदा होना और रास्तेमें स्नान-संध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर हस्तिनापुरमें प्रवेश

भीष्म उवाच

एतत् ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, राजधर्मरूपी दूधका माखन है । भगवान् बृहस्पति इस न्यायानुकूल धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥ २ ॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥
रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर ।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र मे शृणु ॥ ४ ॥

इनके सिवा भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य, सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र, प्राचेतस मनु, भगवान् भरद्वाज और मुनिवर गौरशिरा—ये सभी ब्राह्मणभक्त और ब्रह्मवादी लोग राजशास्त्रके प्रणेता हैं, ये सब राजाके लिये प्रजापालनरूप धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कमलनयन युधिष्ठिर ! इस रक्षात्मक धर्मके साधनोंका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २-४ ॥

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥ ६ ॥

केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ ७ ॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥ ८ ॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥ ९ ॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम् ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥ १० ॥
उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम् ।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! गुप्तचर (जासूस) रखना, दूसरे राष्ट्रोंमें अपना प्रतिनिधि (राजदूत) नियुक्त करना, सेवकोंको उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समयपर वेतन और भत्ता देना, युक्तिसे कर लेना, अन्यायसे प्रजाके धनको न हड़पना, सत्पुरुषोंका संग्रह करना, शूरता, कार्यदक्षता, सत्यभाषण, प्रजाका हित-चिन्तन, सरल या कुटिल उपायोंसे भी शत्रुपक्षमें फूट डालना, पुराने घरोंकी मरम्मत एवं मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराना, दीन-दुखियोंकी देखभाल करना, समयानुसार शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकारके दण्डका प्रयोग करना, साधु पुरुषोंका त्याग न करना, कुलीन मनुष्योंको अपने पास रखना, संग्रह-योग्य वस्तुओंका संग्रह करना, बुद्धिमान् पुरुषोंका सेवन करना, पुरस्कार आदिके द्वारा सेनाका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, नित्य-निरन्तर प्रजाकी देख-भाल करना, कार्य करनेमें कष्टका अनुभव न करना, कोषको बढ़ाना, नगरकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध करना, इस विषयमें दूसरोंके विश्वासपर न रहना, पुरवासियोंने अपने विरुद्ध कोई गुटबंदी की हो तो उसमें फूट डलवा देना, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंपर यथोचित दृष्टि रखना, दूसरोंके द्वारा अपने सेवकोंमें भी गुटबंदी न होने देना, स्वयं ही अपने नगरका निरीक्षण करना, स्वयं किसीपर भी पूरा विश्वास न करना, दूसरोंको आश्वासन देना, नीतिधर्मका अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बने रहना, शत्रुओंकी ओरसे सावधान रहना और नीच कर्मों तथा दुष्ट पुरुषोंको सदाके लिये त्याग देना—ये सभी राज्यकी रक्षाके साधन हैं ॥ ५—१२ ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥

बृहस्पतिने राजाओंके लिये उद्योगके महत्त्वका प्रतिपादन किया है । उद्योग ही राजधर्मका मूल है । इस विषयमें जो श्लोक हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ १३ ॥

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥

'देवराज इन्द्रने उद्योगसे ही अमृत प्राप्त किया, उद्योगसे ही असुरोंका संहार किया तथा उद्योगसे ही देवलोक और इहलोकमें श्रेष्ठता प्राप्त की ॥ १४ ॥

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ १५ ॥

'जो उद्योगमें वीर है, वह पुरुष केवल वाग्वीर पुरुषोंपर अपना आधिपत्य जमा लेता है । वाग्वीर विद्वान् उद्योगवीर पुरुषोंका मनोरञ्जन करते हुए उनकी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः ।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ १६ ॥

'जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होनेपर भी विषहीन सर्पके समान सदैव शत्रुओंके द्वारा परास्त होता रहता है ॥ १६ ॥

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७ ॥

'बलवान् पुरुष कभी दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना न करे अर्थात् उसे छोटा समझकर उसकी ओरसे लापरवाही न दिखावे ; क्योंकि आग थोड़ी-सी हो तो भी जला डालती है और विष कम मात्रामें हो तो भी मार डालता है ॥ १७ ॥

एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः ।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥

'चतुरङ्गिणी सेनाके एक अङ्गसे भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्गका आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजाके समूचे देशको भी संतप्त कर डालता है' ॥ १८ ॥

राज्ञो रहस्यं यद् वाक्यं जयार्थं लोकसंग्रहः ।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणेन च यद् भवेत् ॥ १९ ॥
यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनैव धारयेत् ।
दम्भनार्थं च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत् क्रियाम् ॥ २० ॥

राजाके लिये जो गोपनीय रहस्यकी बात हो, शत्रुओंपर विजय पानेके लिये वह जो लोगोंका संग्रह करता हो, विजयके ही उद्देश्यसे उसके हृदयमें जो कार्य छिपा हो अथवा उसे जो न करने योग्य असत्कार्य करना हो, वह सब कुछ उसे सरलभावसे ही छिपाये रखना चाहिये । वह लोगोंमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये सदा धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान करे ॥ १९-२० ॥

राज्यं हि सुमहत् तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः ।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

राज्य एक बहुत बड़ा तन्त्र है । जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे क्रूर-स्वभाववाले राजा उस विशाल तन्त्रको सँभाल नहीं सकते । इसी प्रकार जो बहुत कोमल प्रकृतिके होते हैं, वे भी इसका भार वहन नहीं कर सकते । उनके लिये राज्य बड़ा भारी जंजाल हो जाता है ॥ २१ ॥

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते ।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! राज्य सबके उपभोगकी वस्तु है; अतः सदा सरल भावसे ही उसकी सँभाल की जा सकती है। इसलिये राजामें क्रूरता और कोमलता दोनों भावोंका सम्मिश्रण होना चाहिये ॥ २२ ॥

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः ।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥

प्रजाकी रक्षा करते हुए राजाके प्राण चले जायँ तो भी वह उसके लिये महान् धर्म है। राजाओंके व्यवहार और बर्ताव ऐसे ही होने चाहिये ॥ २३ ॥

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः ।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे सामने राजधर्मोंका लेशमात्र वर्णन किया है। अब तुम्हें जिस बातमें संदेह हो, वह पूछो ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासश्च भगवान् देवस्थानोऽश्म एव च।
वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः संजयस्तथा ॥ २५ ॥
साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्प्यमाणैरिवाननैः ।
अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! भीष्मजीका यह वक्तव्य सुनकर भगवान् व्यास, देवस्थान, अश्म, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और संजय बड़े प्रसन्न हुए और हर्षसे खिले हुए मुखोंद्वारा साधुवाद देते हुए धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २५-२६ ॥

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥ २७ ॥
श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने मन-ही-मन दुखी हो दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर धीरेसे भीष्मजीके चरण छूए और कहा— 'पितामह ! इस समय भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीके रसका शोषण करके अस्ताचलको जा रहे हैं; इसलिये अब मैं कल आपसे अपना संदेह पूछूँगा' ॥ २७-२८ ॥

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः
कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं
ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥ २९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंको प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा युधिष्ठिर आदिने महानदी गङ्गाके पुत्र भीष्मजीकी परिक्रमा की। फिर वे प्रसन्नतापूर्वक अपने रथोंपर आरूढ़ हो गये ॥ २९ ॥

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः
कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः ।
उपास्य संध्यां विधिवत् परंतपा-
स्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥ ३० ॥

फिर दृषद्वती नदीमें स्नान करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे शत्रुसंतापी वीर विधिपूर्वक संध्या, तर्पण और जप आदि मङ्गलकारी कर्मोंका अनुष्ठान करके वहाँसे हस्तिनापुरमें चले आये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशानपर्वणि युधिष्ठिरादिस्वस्थानगमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका अपने निवास-स्थानको प्रस्थानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रका तथा राजा पृथुके चरित्रका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दूसरे दिन सबेरे उठकर पाण्डव और यदुवंशी वीर पूर्वाह्णकालके नित्य-कर्म पूर्ण करनेके अनन्तर नगराकार विशाल रथोंपर सवार हो हस्तिनापुरसे चल दिये ॥ १ ॥

प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गाङ्गेयं रथिनां वरम् ॥ २ ॥
व्यासादीनभिवाद्यर्षीन् सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! कुरुक्षेत्रमें जा रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास पहुँचकर उनसे सुखपूर्वक रात बीतनेका समाचार पूछकर व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके उन सबके द्वारा अभिनन्दित हो वे पाण्डव और श्रीकृष्ण भीष्मजीको सब ओरसे घेरकर उनके पास ही बैठ गये ॥ २-३ ॥

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ॥ ४ ॥

तब महातेजस्वी राजा धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मजीका विधिपूर्वक पूजन करके उनसे दोनों हाथ जोड़कर कहा ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत ।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परंतप ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतवंशी नरेश ! लोकमें जो यह राजा शब्द चल रहा है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः ।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥ ६ ॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च ।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥ ७ ॥
समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम् ।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥ ८ ॥

जिसे हम राजा कहते हैं, वह सभी गुणोंमें दूसरोंके समान ही है । उसके हाथ, बाँह और गर्दन भी औरोंकी ही भाँति हैं। बुद्धि और इन्द्रियाँ भी दूसरे लोगोंके ही तुल्य हैं। उसके मनमें भी दूसरे मनुष्योंके समान ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। मुँह, पेट, पीठ, वीर्य, हड्डी, मज्जा, मांस, रक्त, उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, शरीर, जन्म और मरण आदि सभी बातें राजामें भी दूसरोंके समान ही हैं । फिर वह विशिष्ट बुद्धि रखनेवाले अनेक शूरवीरोंपर अकेला ही कैसे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है ? ॥ ६–८ ॥

कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् ।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति ॥ ९ ॥

अकेला होनेपर भी वह शूरवीर एवं सत्पुरुषोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका कैसे पालन करता है और कैसे सम्पूर्ण जगत्‌की प्रसन्नता चाहता है ? ॥ ९ ॥

एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥ १० ॥

यह निश्चित रूपसे देखा जाता है कि एकमात्र राजाकी प्रसन्नतासे ही सारा जगत् प्रसन्न होता है और उस एकके ही व्याकुल होनेपर सब लोग व्याकुल हो जाते हैं ॥ १० ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसका क्या कारण है ? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! यह सारा रहस्य मुझे यथावत् रूपसे बताइये ॥ ११ ॥

नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते ।
यदेकस्मिन् जगत् सर्वं देववद् याति संनतिम् ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! यह सारा जगत् जो एक ही व्यक्तिको देवताके समान मानकर उसके सामने नतमस्तक हो जाता है, इसका कोई स्वल्प कारण नहीं हो सकता ॥१२ ॥

भीष्म उवाच

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—पुरुषसिंह! आदि सत्ययुगमें जिस प्रकार राजा और राज्यकी उत्पत्ति हुई, वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो ॥ १३ ॥

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ १४ ॥

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, समस्त प्रजा धर्मके द्वारा ही एक दूसरेकी रक्षा करती थी ॥ १४ ॥

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥ १५ ॥

भारत ! सब मनुष्य धर्मके द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ दिनोंके बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षणके कार्यमें महान् कष्टका अनुभव करने लगे; फिर उन सबपर मोह छा गया ॥ १५ ॥

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ ! जब सारे मनुष्य मोहके वशीभूत हो गये, तब कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण उनके धर्मका नाश हो गया ॥ १६ ॥

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ १७ ॥

भरतभूषण ! कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जानेपर मोहके वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभके अधीन हो गये ॥ १७ ॥

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥ १८ ॥

फिर जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पानेका वे प्रयत्न करने लगे । प्रभो ! इतनेहीमें वहाँ काम नामक दूसरे दोषने उन्हें घेर लिया ॥ १८ ॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत् ।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! कामके अधीन हुए उन मनुष्योंपर राग नामक शत्रुने आक्रमण किया । रागके वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? ॥

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष कुछ भी नहीं छोड़ा ॥ २० ॥

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनुष्यलोकमें धर्मका विप्लव हो जानेपर वेदोंके स्वाध्यायका भी लोप हो गया । राजन् ! वैदिक ज्ञान-का लोप होनेसे यज्ञ आदि कर्मोंका भी नाश हो गया ॥२१॥

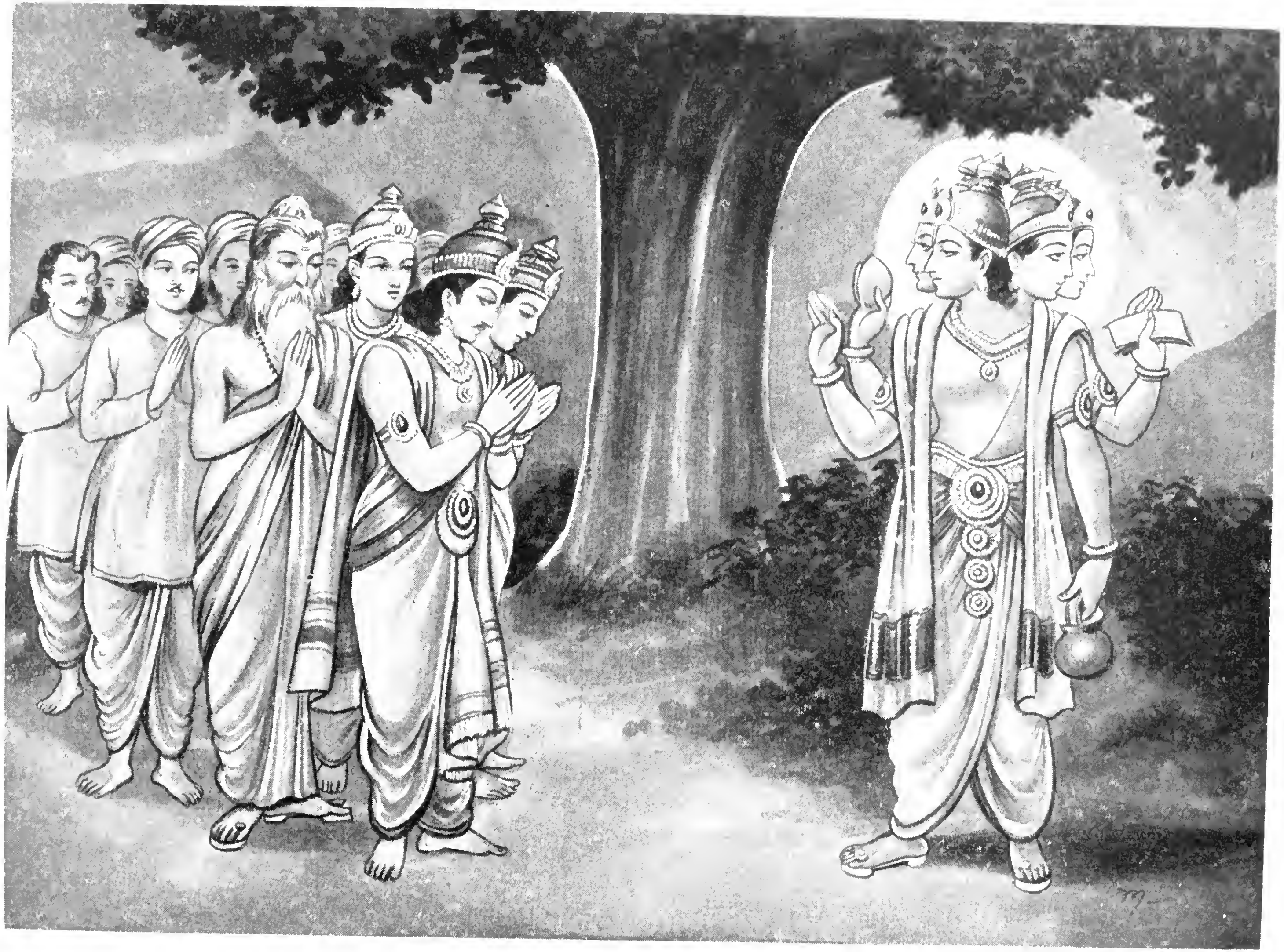

राजासे हीन प्रजाकी ब्रह्माजीसे राजाके लिये प्रार्थना

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ २२ ॥

इस प्रकार जब वेद और धर्मका नाश होने लगा, तब देवताओंके मनमें भय समा गया। पुरुषसिंह! वे भयभीत होकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ २२ ॥

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ २३ ॥

लोकपितामह भगवान् ब्रह्माको प्रसन्न करके दुःखके वेगसे पीड़ित हुए समस्त देवता उनसे हाथ जोड़कर बोले—॥

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥

'भगवन्! मनुष्यलोकमें लोभ, मोह आदि दूषित भावोंने सनातन वैदिक ज्ञानको विलुप्त कर डाला है; इसलिये हमें बड़ा भय हो रहा है ॥ २४ ॥

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥२५॥

'ईश्वर! तीनों लोकोंके स्वामी परमेश्वर! वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ-धर्म नष्ट हो गया। इससे हम सब देवता मनुष्योंके समान हो गये हैं ॥ २५ ॥

अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः।
क्रियाव्युपरमात् तेषां ततो गच्छाम संशयम् ॥२६॥

'मनुष्य यज्ञ आदिमें घीकी आहुति देकर हमारे लिये ऊपरकी ओर वर्षा करते थे और हम उनके लिये नीचेकी ओर पानी बरसाते थे; परंतु अब उनके यज्ञकर्मका लोप हो जानेसे हमारा जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ २६ ॥

अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद् ध्यायस्व पितामह।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥ २७॥

'पितामह! अब जिस उपायसे हमारा कल्याण हो सके, वह सोचिये। आपके प्रभावसे हमें जो दैवस्वभाव प्राप्त हुआ था, वह नष्ट हो रहा है' ॥ २७ ॥

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥ २८ ॥

तब भगवान् ब्रह्माने उन सब देवताओंसे कहा—'सुरश्रेष्ठगण! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। मैं तुम्हारे कल्याणका उपाय सोचूँगा' ॥ २८ ॥

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ २९ ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायोंका एक ऐसा नीति-शास्त्र रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और कामका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जिसमें इन वर्गोंका वर्णन हुआ है, वह प्रकरण 'त्रिवर्ग'नामसे विख्यात है ॥ २९½ ॥

चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ ३० ॥

चौथा वर्ग मोक्ष है; उसके प्रयोजन और गुण इन तीनों वर्गोंसे भिन्न हैं ॥ ३० ॥

मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥

मोक्षका त्रिवर्ग दूसरा बताया गया है। उसमें सत्त्व, रज और तमकी गणना है। दण्डजनित त्रिवर्ग उससे भिन्न है। स्थान, वृद्धि और क्षय—ये ही उसके भेद हैं (अर्थात् दण्डसे धनियोंकी स्थिति, धर्मात्माओंकी वृद्धि और दुष्टोंका विनाश होता है) ॥ ३१ ॥

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीके नीति-शास्त्रमें आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक—इन छः वर्गोंका वर्णन है। ये छहों नीतिद्वारा संचालित होनेपर उन्नतिके कारण होते हैं ॥३२॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस ग्रन्थमें वेदत्रयी (कर्मकाण्ड), आन्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्ड), वार्ता (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) और दण्डनीति—इन विपुल विद्याओंका निरूपण किया गया है ॥ ३३ ॥

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम्।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ ३४ ॥
साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीके उस नीतिशास्त्रमें मन्त्रियोंकी रक्षा (उन्हें कोई फोड़ न ले, इसके लिये सतर्कता), प्रणिधि (राजदूत), राजपुत्रके लक्षण, गुप्तचरोंके विचरणके विविध उपाय, विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न प्रकारके गुप्तचरोंकी नियुक्ति, साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन पाँचों उपायोंका पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है ॥ ३४-३५ ॥

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च।
विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्ध्योश्च यत् फलम्॥३६॥

सब प्रकारकी मन्त्रणा, भेद-नीतिके प्रयोगके प्रयोजन, मन्त्रणामें होनेवाले भ्रम या उसके फूटनेके भय तथा मन्त्रणाकी सिद्धि और असिद्धिके फलका भी इस शास्त्रमें वर्णन है ॥ ३६ ॥

संधिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः।
भयसत्कारवित्ताख्यं कार्त्स्न्येन परिवर्णितम् ॥ ३७ ॥

संधिके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इनकी क्रमशः वित्तसंधि, सत्कारसंधि और भयसंधि—ये तीन संज्ञाएँ हैं। धन लेकर जो संधि की जाती है, वह वित्तसंधि उत्तम है। सत्कार पाकर की हुई दूसरी संधि मध्यम

है और भयके कारण की जानेवाली तीसरी संधि अधम मानी गयी है। इन सबका उस ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः।
विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥
आसुरश्चैव विजयस्तथा कार्त्स्न्येन वर्णितः।
लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥ ३९ ॥

शत्रुओंपर चढ़ाई करनेके चार[1] अवसर, त्रिवर्गके विस्तार, धर्म-विजय, अर्थ-विजय तथा आसुर विजयका भी उक्त ग्रन्थमें पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष—इन पाँच वर्गोंके उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारके लक्षणोंका भी प्रतिपादन किया गया है ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥ ४० ॥

प्रकट और गुप्त दो प्रकारकी सेनाओंका भी वर्णन किया गया है। उनमें प्रकट सेना आठ प्रकारकी बतायी गयी है और गुप्त सेनाका विस्तार बहुत अधिक कहा गया है ॥४०॥

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ ४१ ॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु।

कुरुवंशी पाण्डुनन्दन! हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, बेगारमें पकड़े गये बोझ ढोनेवाले लोग, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्यका उपदेश करनेवाले गुरु—ये सेनाके प्रकट आठ अङ्ग हैं ॥ ४१½ ॥

जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ ४२ ॥

सेनाके गुप्त अङ्ग हैं जङ्गम (सर्पादिजनित) और अजङ्गम (पेड़-पौधोंसे उत्पन्न) विष आदि चूर्णयोग अर्थात् विनाशकारक ओषधियाँ ॥ ४२ ॥

स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः।
अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥ ४३ ॥

यह गोपनीय दण्डसाधन (विष आदि) शत्रुपक्षके लोगोंके वस्त्र आदिके साथ स्पर्श कराने अथवा उनके भोजनमें मिला देनेके उपयोगमें आता है। विभिन्न मन्त्रोंके जपका प्रयोग भी पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें बताया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें शत्रु, मित्र और उदासीनका भी बारंबार वर्णन किया गया है ॥ ४३ ॥

कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह।
आत्मरक्षणमाश्वासः स्पशानां चान्ववेक्षणम् ॥ ४४ ॥

तथा मार्गके समस्त गुण, भूमिके गुण, आत्मरक्षाके उपाय, आश्वासन तथा रथ आदिके निर्माण और निरीक्षण आदिका भी वर्णन है ॥ ४४ ॥

कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम्।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥४५ ॥
उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम्।
शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

सेनाको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकारके योग, हाथी, घोड़ा रथ और मनुष्य-सेनाकी भाँति-भाँतिकी व्यूह-रचना, नाना प्रकारके युद्धकौशल, जैसे ऊपर उछल जाना, नीचे झुककर अपनेको बचा लेना, सावधान होकर भलीभाँति युद्ध करना, कुशलतापूर्वक वहाँसे निकल भागना—इन सब उपायोंका भी इस ग्रन्थमें वर्णन है। भरतश्रेष्ठ! शस्त्रोंके संरक्षण और प्रयोगके ज्ञानका भी उसमें उल्लेख है ॥ ४५-४६ ॥

बलव्यसनमुक्तं च तथैव बलहर्षणम्।
पीडा चापदकालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥ ४७ ॥

पाण्डुकुमार! विपत्तिसे सेनाओंका उद्धार करना, सैनिकोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, पीड़ा और आपत्तिके समय पैदल सैनिकोंकी स्वामिभक्तिकी परीक्षा करना—इन सब बातोंका उस शास्त्रमें वर्णन किया गया है ॥ ४७ ॥

तथा खातविधानं च योगः संचार एव च।
चौरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥
अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ ४९ ॥
दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च।
आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥ ५० ॥

दुर्गके चारों ओर खाईं खुदवाना, सेनाका युद्धके लिये सुसज्जित होना तथा रणयात्रा करना, चोरों और भयानक जंगली लुटेरोंद्वारा शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देना, आग लगानेवाले, जहर देनेवाले, छद्मवेशधारी लोगोंद्वारा भी शत्रुको हानि पहुँचाना तथा एक-एक शत्रुदलके प्रधान-प्रधान लोगोंमें भेद उत्पन्न करना, फसल और पौधोंको काट लेना, हाथियोंको भड़काना, लोगोंमें आतङ्क उत्पन्न करना, शत्रुओंमें अनुरक्त पुरुषको अनुनय आदिके द्वारा फोड़ लेना और शत्रुपक्षके लोगोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराना आदि उपायोंसे शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देनेकी कलाका भी ब्रह्माजीके उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है ॥ ४८—५० ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्जसम्।
दूतसामर्थ्यसंयोगात् सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥ ५१ ॥
अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक् चोक्तं प्रपञ्चनम्।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके ह्रास, वृद्धि और समान भावसे स्थिति, दूतके सामर्थ्यसे होनेवाली अपनी और अपने राष्ट्रकी वृद्धि, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंका विस्तारपूर्वक सम्यक्

---

1. शत्रुपर चढ़ाई करनेके चार अवसर ये हैं—(१) अपने मित्रोंकी वृद्धि। (२) अपने कोशका भरपूर संग्रह। (३) शत्रुके मित्रोंका नाश। (४) शत्रुके कोशकी हानि।

विवेचन, बलवान् शत्रुओंको कुचल डालने तथा उनसे टक्कर लेनेकी विधि आदिका उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है ॥

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥ ५३ ॥

शासनसम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म व्यवहार, कण्टक-शोधन (राज्यकार्यमें विघ्न डालनेवालेको उखाड़ फेंकना), परिश्रम, व्यायाम-योग तथा धनके त्याग और संग्रहका भी उसमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ५३ ॥

अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥ ५४ ॥

जिनके भरण-पोषणका कोई उपाय न हो, उनके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना, जिनके भरण-पोषणकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे की गयी हो उनकी देखभाल करना, समय-पर धनका दान करना, दुर्व्यसनमें आसक्त न होना आदि विविध विषयोंका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५४ ॥

तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।
कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥

राजाके गुण, सेनापतिके गुण, अर्थ, धर्म और कामके साधन तथा उनके गुण-दोषका भी उसमें निरूपण किया गया है ॥ ५५ ॥

दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥ ५६ ॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥ ५७ ॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहेतुकमुच्यते ।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥ ५८ ॥

भाँति-भाँतिकी दुश्चेष्टा, अपने सेवकोंकी जीविकाका विचार, सबके प्रति सशङ्क रहना, प्रमादका परित्याग करना, अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना, प्राप्त हुई वस्तुको सुरक्षित रखते हुए उसे बढ़ाना और बढ़ी हुई वस्तुका सुपात्रोंको विधिपूर्वक दान देना—यह धनका पहला उपयोग है । धर्मके लिये धनका त्याग उसका दूसरा उपयोग है, कामभोगके लिये उसका व्यय करना तीसरा और संकट-निवारणके लिये उसे खर्च करना उसका चौथा उपयोग है । इन सब बातोंका उस ग्रन्थमें भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ५६–५८ ॥

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥ ५९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! क्रोध और कामसे उत्पन्न होनेवाले जो यहाँ दस प्रकारके भयंकर व्यसन हैं, उनका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५९ ॥

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ ! नीतिशास्त्रके आचार्योंने जो मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्रीप्रसङ्ग—ये चार प्रकारके कामजनित व्यसन बताये हैं, उन सबका इस ग्रन्थमें ब्रह्माजीने प्रतिपादन किया है ॥ ६० ॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥

वाणीकी कटुता, उग्रता, दण्डकी कठोरता, शरीरको कैद कर लेना, किसीको सदाके लिये त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना—ये छः प्रकारके क्रोधजनित व्यसन उक्त ग्रन्थमें बताये गये हैं ॥ ६१ ॥

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥ ६२ ॥

नाना प्रकारके यन्त्रों और उनकी क्रियाओंका भी वर्णन किया गया है । शत्रुके राष्ट्रको कुचल देना, उसकी सेनाओंपर चोट करना और उनके निवास-स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देना—इन सब बातोंका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् ।
अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥ ६३ ॥

शत्रुकी राजधानीके चैत्य वृक्षोंका विध्वंस करा देना, उसके निवास-स्थान और नगरपर चारों ओरसे घेरा डालना आदि उपायोंका तथा कृषि एवं शिल्प आदि कर्मोंका उपदेश, रथके विभिन्न अवयवोंका निर्माण, ग्राम और नगर आदिमें निवास करनेकी विधि तथा जीवननिर्वाहके अनेक उपायोंका भी उक्त ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६३ ॥

पणवानकशङ्खानां भेरीणां च युधिष्ठिर ।
उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर ! ढोल, नगारे, शङ्ख, भेरी आदि रणवाद्योंको बजाने, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण—इन छः प्रकारके द्रव्योंका अपने लिये उपार्जन करने तथा शत्रु-पक्षकी इन वस्तुओंका विनाश कर देनेका भी इस शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६४ ॥

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् ।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥ ६५ ॥
मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥ ६६ ॥

अपने अधिकारमें आये हुए देशोंमें शान्ति स्थापित करना, सत्पुरुषोंका सत्कार करना, विद्वानोंके साथ एकता (मेल-जोल) बढ़ाना, दान और होमकी विधिको जानना, माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना, शरीरको वस्त्र और आभूषणोंसे सजाना, भोजनकी व्यवस्था करना और सर्वदा आस्तिक बुद्धि रखना—इन सब बातोंका भी उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६५-६६ ॥

एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः ।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥

मनुष्य अकेला होकर भी किस प्रकार उत्थान (उन्नति) करे ? इसका विचार, सत्यता, उत्सवों और समाजोंमें मधुर वाणीका प्रयोग तथा गृहसम्बन्धी क्रियाएँ—इन सबका वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ ।
वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥

भरतवंशके सिंह युधिष्ठिर ! समस्त न्यायालयोंमें जो प्रत्यक्ष और परोक्ष विचार होते हैं तथा वहाँ जो राजकीय पुरुषोंके व्यवहार होते हैं, उन सबका प्रतिदिन निरीक्षण करना चाहिये । इसका भी उक्त शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६८ ॥

अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् ।
अनुजीविस्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥ ६९ ॥

ब्राह्मणोंको दण्ड न देनेका, अपराधियोंको युक्तिपूर्वक दण्ड देनेका, अपने पीछे जिनकी जीविका चलती हो उनकी, अपने जाति-भाइयोंकी तथा गुणवान् पुरुषोंकी भी उन्नति करनेका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६९ ॥

रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।
मण्डलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका ॥ ७० ॥

राजन् ! पुरवासियोंकी रक्षा, राज्यकी वृद्धि तथा द्वादश[1] राजमण्डलोंके विषयमें जो चिन्तन किया जाता है, उसका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख हुआ है ॥ ७० ॥

द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥

वैद्यक शास्त्रके अनुसार बहत्तर प्रकारकी शारीरिक चिकित्सा तथा देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ७१ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥ ७२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर! इस ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका,इनकी प्राप्तिके उपायोंका तथा नाना प्रकारकी धन-लिप्साका भी वर्णन है ॥ ७२ ॥

मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिराम्भसाम् ॥ ७३ ॥

इस ग्रन्थमें कोशकी वृद्धि करनेवाले जो कृषि, वाणिज्य आदि मूल कर्म हैं, उनके करनेका प्रकार बताया गया है । मायाके प्रयोगकी विधि समझायी गयी है । स्रोतजल और अस्थिरजलके दोषोंका वर्णन किया गया है ॥ ७३ ॥

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत् सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥ ७४ ॥

राजसिंह ! जिन-जिन उपायोंद्वारा यह जगत् सन्मार्गसे विचलित न हो, उन सबका इस नीति-शास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ७४ ॥

एतत् कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥

इस शुभ शास्त्रका निर्माण करके जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार बोले—॥ ७५ ॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥

'देवगण ! सम्पूर्ण जगत्के उपकार तथा धर्म, अर्थ एवं कामकी स्थापनाके लिये वाणीका सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया ॥ ७६ ॥

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥ ७७ ॥

'दण्ड-विधानके साथ रहनेवाली यह नीति सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाली है । यह दुष्टोंके निग्रह और साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रहमें तत्पर रहकर सम्पूर्ण जगत्में प्रचलित होगी ॥ ७७ ॥

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते ॥ ७८ ॥

'इस शास्त्रके अनुसार दण्डके द्वारा जगत्का सन्मार्गपर स्थापन किया जाता है अथवा राजा इसके अनुसार प्रजावर्गमें दण्डकी स्थापना करता है; इसलिये यह विद्या दण्डनीतिके नामसे विख्यात है । इसका तीनों लोकोंमें विस्तार होगा ॥ ७८ ॥

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥ ७९ ॥

'यह विद्या संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंका सारभूत है । महात्माओंमें इसका स्थान सबसे आगे होगा । इस शास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है' ॥ ७९ ॥

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८० ॥

तदनन्तर सबसे पहले भगवान् शङ्करने इस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया । वे बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ८० ॥

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ८१ ॥

---

१. पहला शत्रु राजा, दूसरा मित्र राजा, तीसरा शत्रुका मित्र राजा,चौथा मित्रका मित्र राजा; पाँचवाँ शत्रुके मित्रका मित्र राजा, छठा अपने पृष्ठभागकी रक्षाके लिये स्वयं उपस्थित हुआ राजा, सातवाँ शत्रुकी सहायता एवं पृष्ठपोषणके लिये स्वयं उपस्थित राजा, आठवाँ अपने पक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, नवाँ शत्रुपक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, दसवाँ स्वयं विजयाभिलाषी नरेश, ग्यारहवाँ अपने और शत्रु दोनोंकी ओरसे मध्यस्थ राजा, बारहवाँ सबसे अधिक शक्तिशाली एवं उदासीन राजा—ये द्वादश राजमण्डल कहे गये हैं ।

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।

विशालाक्ष भगवान् शिवने प्रजावर्गकी आयुका ह्रास होता जानकर ब्रह्माजीके रचे हुए इस महान् अर्थसे भरे हुए शास्त्रको संक्षिप्त किया था; इसलिये इसका नाम 'वैशालाक्ष' हो गया । फिर इसे इन्द्रने ग्रहण किया ॥ ८१½ ॥

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८२ ॥
भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः ।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥ ८३ ॥

महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दरने जब इसका अध्ययन किया, उस समय इसमें दस हजार अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका संक्षेप किया, जिससे यह पाँच हजार अध्यायोंका ग्रन्थ हो गया । तात ! वही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक'-नामक नीतिशास्त्रके रूपमें विख्यात हुआ ॥ ८२-८३ ॥

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

इसके बाद सामर्थ्यशाली बृहस्पतिने अपनी बुद्धिसे इसका संक्षेप किया, तबसे इसमें तीन हजार अध्याय रह गये । यही 'बार्हस्पत्य' नामक नीतिशास्त्र कहलाता है ॥ ८४ ॥

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥ ८५ ॥

फिर महायशस्वी, योगशास्त्रके आचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें उस शास्त्रका संक्षेप किया ॥ ८५ ॥

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥ ८६ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी आयुका ह्रास होता जानकर जगत्के हितके लिये महर्षियोंने इस शास्त्रका संक्षेप किया है ॥ ८६ ॥

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश॥ ८७॥

तदनन्तर देवताओंने प्रजापति भगवान् विष्णुके पास जाकर कहा—'भगवन् ! मनुष्योंमें जो एक पुरुष सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करनेका अधिकारी हो, उसका नाम बताइये' ॥ ८७ ॥

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ८८ ॥

तब प्रभावशाली भगवान् नारायणदेवने भलीभाँति सोच-विचारकर अपने तेजसे एक मानस पुत्रकी सृष्टि की, जो विरजाके नामसे विख्यात हुआ ॥ ८८ ॥

विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥ ८९ ॥

पाण्डुनन्दन ! महाभाग विरजाने पृथ्वीपर राजा होनेकी इच्छा नहीं की । उनकी बुद्धिने संन्यास लेनेका ही निश्चय किया ॥ ८९ ॥

कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत् सोऽपि पञ्चातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत् तपः ॥ ९० ॥

विरजाके कीर्तिमान् नामक एक पुत्र हुआ । वह भी पाँचों विषयोंसे ऊपर उठकर मोक्षमार्गका ही अवलम्बन करने लगा । कीर्तिमान्के पुत्र हुए कर्दम । वे भी बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ९० ॥

प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनङ्गो नाम वै सुतः ।
प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९१ ॥

प्रजापति कर्दमके पुत्रका नाम अनङ्ग था, जो कालक्रमसे प्रजाका संरक्षण करनेमें समर्थ, साधु तथा दण्डनीतिविद्यामें निपुण हुआ ॥ ९१ ॥

अनङ्गपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै ।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥ ९२ ॥

अनङ्गके पुत्रका नाम था अतिबल । वह भी नीतिशास्त्र-का ज्ञाता था, उसने विशाल राज्य प्राप्त किया । राज्य पाकर वह इन्द्रियोंका गुलाम हो गया ॥ ९२ ॥

मृत्योस्तु दुहिता राजन् सुनीथा नाम मानसी ।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु यासौ वेनमजीजनत् ॥ ९३ ॥

राजन् ! मृत्युकी एक मानसिक कन्या थी, जिसका नाम था सुनीथा । जो अपने रूप और गुणके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात थी । उसीने वेनको जन्म दिया था ॥ ९३ ॥

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥

वेन राग-द्वेषके वशीभूत हो प्रजाओंपर अत्याचार करने लगा । तब वेदवादी ऋषियोंने मन्त्रपूत कुशोंद्वारा उसे मार डाला ॥ ९४ ॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः ।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ॥ ९५ ॥

फिर वे ही ऋषि मन्त्रोच्चारणपूर्वक वेनकी दाहिनी जङ्घाका मन्थन करने लगे । उससे इस पृथ्वीपर एक नाटे कदका मनुष्य उत्पन्न हुआ, जिसकी आकृति बेडौल थी ॥ ९५ ॥

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥

वह जले हुए खम्भेके समान जान पड़ता था । उसकी आँखें लाल और काले बाल थे । वेदवादी महर्षियोंने उसे देखकर कहा—'निषीद' बैठ जाओ ॥ ९६ ॥

तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥ ९७ ॥

उसीसे पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले क्रूर निषादोंकी उत्पत्ति हुई तथा दूसरे जो विन्ध्यगिरिके निवासी लाखों म्लेच्छ थे, उनका भी प्रादुर्भाव हुआ ॥ ९७ ॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥

इसके बाद फिर महर्षियोंने वेनके दाहिने हाथका मन्थन

किया। उससे एक दूसरे पुरुषका प्राकट्य हुआ, जो रूपमें देवराज इन्द्रके समान थे ॥ ९८ ॥

कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ ९९ ॥

वे कवच धारण किये, कमरमें तलवार बाँधे तथा धनुष और बाण लिये प्रकट हुए थे। उन्हें वेदों और वेदान्तोंका पूर्ण ज्ञान था। वे धनुर्वेदके भी पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ९९ ॥

तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन् नरोत्तमम्।
ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥१००॥

राजन्! नरश्रेष्ठ वेनकुमारको सारी दण्डनीतिका स्वतः ज्ञान हो गया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन महर्षियोंसे कहा— ॥ १०० ॥

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥

'महात्माओ! धर्म और अर्थका दर्शन करानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि मुझे स्वतः प्राप्त हो गयी है। मुझे इस बुद्धिके द्वारा आपलोगोंकी कौन-सी सेवा करनी है, यह मुझे यथार्थ रूपसे बताइये ॥ १०१ ॥

यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०२॥

'आपलोग मुझे जिस किसी भी प्रयोजनपूर्ण कार्यके लिये आज्ञा देंगे, उसे मैं अवश्य पूरा करूँगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १०२ ॥

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥१०३॥

तब वहाँ देवताओं और उन महर्षियोंने उनसे कहा— 'वेननन्दन! जिस कार्यमें नियमपूर्वक धर्मकी सिद्धि होती हो, उसे निर्भय होकर करो ॥ १०३ ॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥१०४॥

'प्रिय और अप्रियका विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ और मानको दूर हटाकर समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खो ॥ १०४ ॥

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥१०५॥

'लोकमें जो कोई भी मनुष्य धर्मसे विचलित हो, उसे सनातन धर्मपर दृष्टि रखते हुए अपने बाहुबलसे परास्त करके दण्ड दो ॥ १०५ ॥

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०६॥

'साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'मैं मन, वाणी और क्रिया-द्वारा भूतलवर्ती ब्रह्म (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा ॥१०६॥

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०७॥

''वेदमें दण्डनीतिसे सम्बन्ध रखनेवाला जो नित्य धर्म बताया गया है, उसका मैं निःशङ्क होकर पालन करूँगा। कभी स्वच्छन्द नहीं होऊँगा' ॥ १०७ ॥

अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥१०८॥

''परंतप'प्रभो! साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'ब्राह्मण मेरे लिये अदण्डनीय होंगे तथा मैं सम्पूर्ण जगत्‌को वर्णसंकरता और धर्मसंकरतासे बचाऊँगा'' ॥ १०८ ॥

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥ १०९॥

तब वेनकुमारने उन देवताओं तथा उन अग्रवर्ती ऋषियोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ महात्माओ! महाभाग ब्राह्मण मेरे लिये सदा वन्दनीय होंगे' ॥ १०९ ॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥११०॥

उनके ऐसा कहनेपर उन वेदवादी महर्षियोंने उनसे इस प्रकार कहा 'एवमस्तु'। फिर शुक्राचार्य उनके पुरोहित हुए, जो वैदिक ज्ञानके भण्डार हैं ॥ ११० ॥

मन्त्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा।
महर्षिर्भगवान् गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥१११॥

वालखिल्यगण तथा सरस्वतीतटवर्ती महर्षियोंके समुदायने उनके मन्त्रीका कार्य सँभाला। महर्षि भगवान् गर्ग उनके दरबारके ज्योतिषी हुए ॥ १११ ॥

आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु।
उत्पन्नौ बन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥११२॥

मनुष्योंमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि स्वयं राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें थे *। उनके जन्मसे पहले ही सूत और मागध नामक दो बन्दी (स्तुतिपाठक) उत्पन्न हुए थे ॥ ११२ ॥

तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥११३॥

वेनके पुत्र प्रतापी राजा पृथुने उन दोनोंको प्रसन्न होकर पुरस्कार दिया। सूतको अनूप देश (सागरतटवर्ती प्रान्त) और मागधको मगध देश प्रदान किया ॥ ११३ ॥

समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११४॥

सुना जाता है कि पृथुके समय यह पृथ्वी बहुत ऊँची-नीची थी। उन्होंने ही इसे भलीभाँति समतल बनाया था॥ ११४॥

* १ विष्णु २ विरजा ३ कीर्तिमान् ४ कर्दम ५ अनङ्ग ६ अतिबल ७ वेन ८ पृथु। इस प्रकार गणना करनेपर राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें ज्ञात होते हैं।

राजा वेनके बाहु-मन्थनसे महाराज पृथुका प्राकट्य

मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान् समन्ततः ॥११५॥
धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः।

महाराज! सभी मन्वन्तरोंमें यह पृथ्वी ऊँची-नीची हो जाती है; उस समय वेनकुमार पृथुने धनुषकी कोटिद्वारा चारों ओरसे शिलासमूहोंको उखाड़ डाला और उन्हें एक स्थानपर संचित कर दिया; इसीलिये पर्वतोंकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बढ़ गयी ॥ ११५½ ॥

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ॥११६॥
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः।

भगवान् विष्णु, देवताओंसहित इन्द्र, ऋषिसमूह, प्रजापतिगण तथा ब्राह्मणोंने पृथुका राजाके पदपर अभिषेक किया ॥ ११६½ ॥

तं साक्षात् पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ॥११७॥
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः।
शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात् तस्मै युधिष्ठिर ॥११८॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! उस समय साक्षात् पृथ्वी देवी रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुई थी। सरिताओंके स्वामी समुद्र, पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमवान् तथा देवराज इन्द्रने अक्षय धन समर्पित किया ॥ ११७-११८ ॥

रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः।
यक्षराक्षसभर्ता च भगवान् नरवाहनः ॥११९॥
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम्।

सुवर्णमय पर्वत महामेरुने स्वयं आकर उन्हें सुवर्णकी राशि भेंट की। मनुष्योंपर सवारी करनेवाले यक्षराक्षसराज भगवान् कुबेरने भी उन्हें इतना धन दिया, जो उनके धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह करनेके लिये पर्याप्त हो ॥११९½॥

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ॥१२०॥
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव।

पाण्डुनन्दन! वेनपुत्र पृथुके चिन्तन करते ही उनकी सेवामें घोड़े, रथ, हाथी और करोड़ों मनुष्य प्रकट हो गये॥

न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥१२१॥
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात् कदाचन।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥१२२॥

उनके राज्यमें किसीको बुढ़ापा, दुर्भिक्ष तथा आधि-व्याधिका कष्ट नहीं था। राजाकी ओरसे रक्षाकी समुचित व्यवस्था होनेके कारण वहाँ कभी किसीको सर्पों, चोरों तथा आपसके लोगोंसे भय नहीं प्राप्त होता था ॥ १२१-१२२ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१२३॥

जिस समय वे समुद्रमें होकर चलते थे, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था। पर्वत उन्हें रास्ता दे देते थे, उनके रथकी ध्वजा कभी टूटी नहीं ॥ १२३ ॥

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥१२४॥

उन्होंने इस पृथ्वीसे सत्रह प्रकारके धान्योंका दोहन किया था, यक्षों, राक्षसों और नागोंमेंसे जिसको जो वस्तु अभीष्ट थी, वह उन्होंने पृथ्वीसे दुह ली थी ॥ १२४ ॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥१२५॥

उन महात्माने सम्पूर्ण जगत्में धर्मकी प्रधानता स्थापित कर दी थी। उन्होंने समस्त प्रजाओंका रंजन किया था; इसलिये वे 'राजा' कहलाते थे ॥ १२५ ॥

ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥१२६॥

ब्राह्मणोंको क्षतिसे बचानेके कारण वे क्षत्रिय कहे जाने लगे। उन्होंने धर्मके द्वारा इस भूमिको प्रथित किया—इसकी ख्याति बढ़ायी; इसलिये बहुसंख्यक मनुष्योंद्वारा यह 'पृथ्वी' कहलायी ॥ १२६ ॥

स्थापनं चाकरोद् विष्णुः स्वयमेव सनातनः।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद् राजंस्त्वामिति भारत ॥१२७॥

भरतनन्दन! स्वयं सनातन भगवान् विष्णुने उनके लिये यह मर्यादा स्थापित की कि 'राजन्! कोई भी तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकेगा' ॥ १२७ ॥

तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥१२८॥

राजा पृथुकी तपस्यासे प्रसन्न हो भगवान् विष्णुने स्वयं उनके भीतर प्रवेश किया था। समस्त नरेशोंमेंसे राजा पृथुको ही यह सारा जगत् देवताके समान मस्तक झुकाता था ॥

दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर।
नाधर्षयेत् तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥१२९॥

नरेश्वर! इसलिये तुम्हें गुप्तचर नियुक्त करके राज्यकी अवस्थापर दृष्टिपात करते हुए सदा दण्डनीतिके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये, जिससे कोई इसपर आक्रमण करनेका साहस न कर सके ॥ १२९ ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥१३०॥
को हेतुर्यद् वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात्।

राजेन्द्र! चित्त और क्रियाद्वारा समभाव रखनेवाले राजाका किया हुआ शुभ कर्म प्रजाके भलेके लिये ही होता है। उसके दैवी गुणके सिवा और क्या कारण हो सकता है, जिससे सारा देश उस एक ही व्यक्तिके अधीन रहे? ॥ १३०½ ॥

विष्णोर्ललाटात् कमलं सौवर्णमभवत् तदा ॥१३१॥
श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः।

उस समय भगवान् विष्णुके ललाटसे एक सुवर्णमय कमल प्रकट हुआ, जिससे बुद्धिमान् धर्मकी पत्नी श्रीदेवीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १३१½ ॥

श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥१३२॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता।

पाण्डुनन्दन! धर्मके द्वारा श्रीदेवीसे अर्थकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर धर्म, अर्थ और श्री—तीनों ही राज्यमें प्रतिष्ठित हुए॥

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१३३॥
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारदः ।

तात ! पुण्यका क्षय होनेपर मनुष्य स्वर्गलोकसे पृथिवीपर आता और दण्डनीतिविशारद राजाके रूपमें जन्म लेता है ॥

महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ॥१३४॥
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति।

वह मनुष्य इस भूतलपर भगवान् विष्णुकी महत्तासे युक्त तथा बुद्धिसम्पन्न हो विशेष माहात्म्य प्राप्त कर लेता है ॥ १३४½ ॥

स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते ।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥१३५॥

तदनन्तर उसे देवताओंद्वारा राजाके पदपर स्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता। यह सारा जगत् उस एक ही व्यक्तिके वशमें स्थित रहता है, उसके ऊपर यह जगत् अपना शासन नहीं चला सकता ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३६॥

राजेन्द्र ! शुभ कर्मका परिणाम शुभ ही होता है, कभी तो अन्य मनुष्योंके समान होनेपर भी एकमात्र राजाकी आज्ञामें यह सारा जगत् स्थित रहता है ॥ १३६ ॥

योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत् सौम्यं सोऽस्य वशानुगः।
सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥१३७॥

जिसने राजाका सौम्य मुख देख लिया, वह उसके अधीन हो गया । प्रत्येक मनुष्य राजाको सौभाग्यशाली, धनवान् और रूपवान् देखता है ॥ १३७ ॥

महत्त्वात् तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ।
नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥१३८॥

पूर्वोक्त दण्डकी महत्तासे ही स्पष्ट लक्षणोंवाली नीति तथा न्यायोचित आचारका अधिक प्रचार होता है, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है ॥ १३८ ॥

आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः ।
तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥१३९॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ।
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥१४०॥

युधिष्ठिर ! पुराणशास्त्र, महर्षियोंकी उत्पत्ति, तीर्थसमूह, नक्षत्रसमुदाय, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम, होता आदि चार प्रकारके ऋत्विजोंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्म, चारों वर्ण और चारों विद्याओंका पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ १३९-१४० ॥

इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ।
तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्येन यः परः ॥१४१॥
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१४२॥

इतिहास, वेद, न्याय—इन सबका उसमें पूरा-पूरा वर्णन है । तप, ज्ञान, अहिंसाका तथा जो सत्य, असत्यसे परे है उसका और वृद्धजनोंकी सेवा, दान, शौच, उत्थान तथा समस्त प्राणियोंपर दया आदि सभी विषयोंका उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥

भुवि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ।
तस्मिन् पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न संशयः ॥१४३॥

पाण्डुनन्दन ! अधिक क्या कहा जाय ? जो कुछ इस पृथ्वीपर है और जो इसके नीचे है, उस सबका ब्रह्माजीके पूर्वोक्त शास्त्रमें समावेश किया गया है, इसमें संशय नहीं है ॥

ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥१४४॥

राजेन्द्र ! प्रजानाथ ! तबसे जगत्में विद्वानोंने सदाके लिये यह घोषणा कर दी है कि 'देव और नरदेव (राजा) दोनों समान हैं' ॥ १४४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रति राजसु ।
कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तते ॥१४५॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार राजाओंका जो कुछ महत्त्व है, वह सब मैंने सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें बता दिया ! अब इस विषयमें तुम्हारे लिये और क्या जानना शेष रह गया है ? ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सूत्राध्यायविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

वर्णधर्मका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मनको वशमें करके गङ्गानन्दन पितामह भीष्मको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—॥ १ ॥

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥

'पितामह ! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णोंके लिये उपयोगी हो सकते हैं । चारों वर्णोंके पृथक्-पृथक् धर्म कौन-से हैं ? चारों वर्णोंके साथ ही चारों आश्रमोंके भी धर्म कौन हैं तथा राजाके द्वारा पालन करने योग्य कौन-कौनसे धर्म माने गये हैं ? ॥ २ ॥

केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते ।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥

'राष्ट्रकी वृद्धि कैसे होती है, राजाका अभ्युदय किस उपायसे होता है ? भरतश्रेष्ठ ! पुरवासियों और भरण-पोषण करने योग्य सेवकोंकी उन्नति भी किस उपायसे होती है ? ॥

कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान् मन्त्रिणस्तथा।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् कीदृशान् वर्जयेन्नृपः॥ ४ ॥

'राजाको किस प्रकारके कोश, दण्ड, दुर्ग, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्योंका त्याग कर देना चाहिये?॥

केषु विश्वसितव्यं स्याद् राज्ञा कस्यांचिदापदि।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ५ ॥

'पितामह! किसी आपत्तिके आनेपर राजाको किन लोगोंपर विश्वास करना चाहिये और किन लोगोंसे अपने शरीरकी दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिये? यह मुझे बताइये'॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है, विश्व-विधाता श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं उपस्थित ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मका वर्णन आरम्भ करता हूँ॥६॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥ ७ ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम्॥ ८ ॥

किसीपर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धनको बाँटकर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नीके गर्भसे संतान पैदा करना, बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरलभाव रखना और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये नौ सभी वर्णोंके लिये उपयोगी धर्म हैं। अब मैं केवल ब्राह्मणका जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ॥७-८॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते॥ ९ ॥

महाराज! इन्द्रिय-संयमको ब्राह्मणोंका प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके सिवा, उन्हें सदा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि इसीसे उनके सब कर्मोंकी पूर्ति हो जाती है॥

तं चेद् द्विजमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम्॥ १० ॥
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद् यजेत च।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते॥ ११ ॥

यदि अपने वर्णोचित कर्ममें स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त ब्राह्मणको किसी प्रकारके असत् कर्मका आश्रय लिये बिना ही धन प्राप्त हो जाय तो वह उस धनसे विवाह करके संतानकी उत्पत्ति करे अथवा उस धनको दान और यज्ञमें लगा दे। धनको बाँटकर ही भोगना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंका कथन है॥ १०-११॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ १२ ॥

ब्राह्मण केवल वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह दूसरा कर्म करे या न करे। सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखनेके कारण वह मैत्र कहलाता है॥ १२॥

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥ १३ ॥

भरतनन्दन! क्षत्रियका भी जो धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। राजन्! क्षत्रिय दान तो करे, किंतु किसीसे याचना न करे; स्वयं यज्ञ करे, किंतु पुरोहित बनकर दूसरोंका यज्ञ न करावे॥ १३॥

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्॥ १४ ॥

वह अध्ययन करे, किंतु अध्यापक न बने, प्रजाजनोंका सब प्रकारसे पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओंका वध करनेके लिये सदा तैयार रहे। रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करे॥

ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः॥ १५ ॥

इन राजाओंमें जो भूपाल बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले तथा वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं और जो युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले हैं, वे ही पुण्यलोकोंपर विजय प्राप्त करनेवालोंमें उत्तम हैं॥ १५॥

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥ १६ ॥

जो क्षत्रिय शरीरपर घाव हुए बिना ही समरभूमिसे लौट आता है, उसके इस कर्मकी पुरातन धर्मको जाननेवाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते हैं॥ १६॥

एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद् दस्युनिबर्हणात्॥ १७॥
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता॥ १८ ॥

इस प्रकार युद्धको ही क्षत्रियोंके लिये प्रधान मार्ग बताया गया है, उसके लिये लुटेरोंके संहारसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है। यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठानसे भी राजाओंका कल्याण होता है, तथापि युद्ध उनके लिये सबसे बढ़कर है; अतः विशेषरूपसे धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये॥

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥ १९ ॥

राजा समस्त प्रजाओंको अपने-अपने धर्मोंमें स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मोंका धर्मके अनुसार अनुष्ठान करावे॥ १९॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते॥ २० ॥

राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजाकी रक्षा करनेमात्रसे वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र देवतासम्बन्धी बलकी प्रधानता होनेसे राजा 'ऐन्द्र' कहलाता है॥ २०॥

वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥ २१ ॥

अब वैश्यका जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ ! दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धनका संग्रह—ये वैश्यके कर्म हैं ॥ २१ ॥

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥ २२॥

वैश्य सदा उद्योगशील रहकर पुत्रोंकी रक्षा करनेवाले पिताके समान सब प्रकारके पशुओंका पालन करे। इन कर्मोंके सिवा वह और जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिये विपरीत कर्म होगा ॥ २२ ॥

रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २३ ॥

पशुओंके पालनसे वैश्यको महान् सुखकी प्राप्ति हो सकती है। प्रजापतिने पशुओंकी सृष्टि करके उनके पालनका भार वैश्यको सौंप दिया था ॥ २३ ॥

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥

ब्राह्मण और राजाको उन्होंने सारी प्रजाके पोषणका भार सौंपा था। अब मैं वैश्यकी उस वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसका जीवन-निर्वाह हो ॥ २४ ॥

षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलां खुरे ॥ २५ ॥

वैश्य यदि राजा या किसी दूसरेकी छः दुधारू गौओंका एक वर्षतक पालन करे तो उनमेंसे एक गौका दूध वह स्वयं पीये (यही उसके लिये वेतन है)। यदि दूसरेकी एक सौ गौओंका वह पालन करे तो सालभरमें एक गाय और एक बैल मालिकसे वेतनके रूपमें ले ले। यदि उन पशुओंके दूध आदि बेचनेसे धन प्राप्त हो तो उसमें सातवाँ भाग वह अपने वेतनके रूपमें ग्रहण करे। सींग बेचनेसे जो धन मिले, उसमेंसे भी वह सातवाँ भाग ही ले; परंतु पशुविशेषका बहुमूल्य खुर बेचनेसे जो धन प्राप्त हो, उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिये ॥ २५ ॥

सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥ २६ ॥

दूसरेके अनाजकी फसलों तथा सब प्रकारके बीजोंकी रक्षा करनेपर वैश्यको उपजका सातवाँ भाग वेतनके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। यह उसके लिये वार्षिक वेतन है। वैश्यके मनमें कभी यह संकल्प नहीं उठना चाहिये कि 'मैं पशुओंका पालन नहीं करूँगा' ॥ २६ ॥

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ।
शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ॥ २७ ॥

जबतक वैश्य पशुपालनका कार्य करना चाहे, तबतक मालिकको दूसरे किसीके द्वारा किसी तरह भी वह कार्य नहीं कराना चाहिये, भारत ! अब मैं शूद्रका भी धर्म तुम्हें बता रहा हूँ ॥

प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥ २८ ॥

प्रजापतिने अन्य तीनों वर्णोंके सेवकके रूपमें शूद्रकी सृष्टि की है; अतः शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही शास्त्र-विहित कर्म है ॥ २८॥

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात् ।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥ २९ ॥

वह उन तीनों वर्णोंकी सेवासे ही महान् सुखका भागी हो सकता है। अतः शूद्र इन तीनों वर्णोंकी क्रमशः सेवा करे॥

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन ।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः ॥३०॥

शूद्रको कभी किसी प्रकार भी धनका संग्रह नहीं करना चाहिये; क्योंकि धन पाकर वह महान् पापमें प्रवृत्त हो जाता है और अपनेसे श्रेष्ठतम पुरुषोंको भी अपने अधीन रखने लगता है ॥ ३० ॥

राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा शूद्र राजाकी आज्ञा लेकर अपनी इच्छाके अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है। अब मैं उसकी वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसकी आजीविका चल सकती है ॥ ३१ ॥

अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च ॥ ३२ ॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ।

तीनों वर्णोंको शूद्रका भरण-पोषण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि वह भरण-पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवामें रहनेवाले शूद्रको उपभोगमें लाये हुए छाते, पगड़ी, अनुलेपन, जूते और पंखे देने चाहिये ॥

अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ॥ ३३ ॥
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ।

फटे-पुराने कपड़े, जो अपने धारण करने योग्य न रहें, वे द्विजातियोंद्वारा शूद्रको ही दे देने योग्य हैं; क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएँ शूद्रकी ही सम्पत्ति हैं ॥ ३३½ ॥

यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥ ३४ ॥
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः ।

द्विजातियोंमेंसे जिस किसीकी सेवा करनेके लिये कोई शूद्र आवे, उसीको उसकी जीविकाकी व्यवस्था करनी चाहिये; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ ३४½ ॥

देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥ ३५ ॥
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि ।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥ ३६ ॥

यदि स्वामी संतानहीन हो तो सेवा करनेवाले शूद्रको ही उसके लिये पिण्डदान करना चाहिये। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकारसे भरण-पोषण करना चाहिये। किसी आपत्तिमें भी शूद्रको अपने स्वामीका परित्याग

नहीं करना चाहिये। यदि स्वामीके धनका नाश हो जाय तो शूद्रको अपने कुटुम्बके पालनसे बचे हुए धनके द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥ ३७ ॥

शूद्रका अपना कोई धन नहीं होता। उसके सारे धनपर उसके स्वामीका ही अधिकार होता है। भरतनन्दन! यज्ञका अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्रके लिये भी आवश्यक बताया गया है। शूद्रके यज्ञमें स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग नहीं होता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३८ ॥

अतः शूद्र स्वयं वैदिक व्रतोंकी दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलिवैश्वदेव आदि) द्वारा यजन करे। पाकयज्ञकी दक्षिणा पूर्णपात्रमयी[1] बतायी गयी है ॥ ३८ ॥

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥

हमने सुना है कि पैजवन नामक शूद्रने ऐन्द्राग्न यज्ञकी विधिसे मन्त्रहीन यज्ञका अनुष्ठान करके उसकी दक्षिणाके रूपमें एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे ॥ ३९ ॥

यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका जो यज्ञ है वह सब सेवाकार्य करनेके कारण शूद्रका भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञोंमें पहले श्रद्धारूप यज्ञका ही विधान है ॥ ४० ॥

दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि श्रद्धा सबसे बड़ा देवता है। वही यज्ञ करनेवालोंको पवित्र करती है। ब्राह्मण साक्षात् यज्ञ करानेके कारण परम देवता माने गये हैं। सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मद्वारा एक दूसरेके यज्ञोंमें सहायक होते हैं ॥ ४१ ॥

अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४२ ॥

सभी वर्णके लोगोंने यहाँ यज्ञोंका अनुष्ठान किया है और उनके द्वारा वे मनोवाञ्छित फलोंसे सम्पन्न हुए हैं। ब्राह्मणोंने ही तीनों वर्णोंकी संतानोंकी सृष्टि की है ॥ ४२ ॥

देवानामपि ये देवा यद् ब्रूयुस्ते परं हितम्।
तस्माद् वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४३ ॥

जो देवताओंके भी देवता हैं, वे ब्राह्मण जो कुछ कहें, वही सबके लिये परम हितकारक है; अतः अन्य वर्णोंके लोग ब्राह्मणोंके बताये अनुसार ही सब यज्ञोंका अनुष्ठान करें, अपनी इच्छासे न करें ॥ ४३ ॥

ऋग्यजुःसामवित् पूज्यो नित्यं स्याद् देववद् द्विजः।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदका ज्ञाता ब्राह्मण सदा देवताके समान पूजनीय है। दास या शूद्र ऋक्, यजु और सामके ज्ञानसे शून्य होता है; तो भी वह 'प्राजापत्य' (प्रजापतिका भक्त) कहा गया है। तात! भरतनन्दन! मानसिक संकल्पद्वारा जो भावनात्मक यज्ञ होता है, उसमें सभी वर्णोंका अधिकार है ॥ ४४ ॥

नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४५ ॥

इस मानसिक यज्ञ करनेवाले यजमानके यज्ञमें देवता और मनुष्य सभी भाग ग्रहण करनेकी अभिलाषा रखते हैं; क्योंकि उसका यज्ञ श्रद्धाके कारण परम पवित्र होता है; अतः श्रद्धाप्रधान यज्ञ करनेका अधिकार सभी वर्णोंको प्राप्त है ॥

स्वं दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं
परान् वर्णानयजन्नैवमासीत्।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो
ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण अपने कर्मोंद्वारा ही सदा दूसरे वर्णोंके लिये अपने-अपने देवताके समान है; अतः वह दूसरे वर्णोंका यज्ञ न करता हो, ऐसी बात नहीं है। जिस यज्ञमें वैश्य आचार्य आदिके रूपमें कार्य कर रहा हो, वह निकृष्ट माना गया है। विधाताने केवल ब्राह्मणको ही तीनों वर्णोंका यज्ञ करानेके लिये उत्पन्न किया है ॥ ४६ ॥

तस्माद् वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः
संसृज्यन्ते तस्य विकार एव।
एकं साम यजुरेकमृगेका
विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥ ४७ ॥

विधाता एकमात्र ब्राह्मणसे ही अन्य तीन वर्णोंकी सृष्टि करते हैं, अतः शेष तीन वर्ण भी ब्राह्मणके समान ही सरल तथा उनके जाति-भाई या कुटुम्बी हैं। क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणकी संतान ही हैं। जैसे ऋक्, यजुः और साम एकमात्र अकारसे ही प्रकट होनेके कारण परस्पर अभिन्न हैं, उसी प्रकार उन सभी वर्णोंमें तत्त्वका निश्चय किया जाय तो एकमात्र ब्राह्मण ही उन सबके रूपमें प्रकट हुआ है, अतः ब्राह्मणके साथ सबकी अभिन्नता है ॥ ४७ ॥

अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र! प्राचीन बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें यज्ञकी अभिलाषा रखनेवाले वैखानस मुनियोंकी कही हुई

---

१. पूर्णपात्रका परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्नको 'किञ्चित्' कहते हैं, आठ किञ्चित्का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कलका एक 'पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठीका एक पूर्णपात्र होता है।

एक गाथाका उल्लेख किया करते हैं, जो यज्ञके सम्बन्धमें गायी गयी है ॥ ४८ ॥

उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥४९॥

'सूर्यके उदय होनेपर अथवा सूर्योदयसे पहले ही श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय मनुष्य जो धर्मके अनुसार अग्निमें आहुति देता है, उसमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है ॥ ४९ ॥

यत् स्कन्नमस्य तत् पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥ ५० ॥

(बह्वृच ब्राह्मणमें सोलह प्रकारके अग्निहोत्र बताये गये हैं) होताका किया हुआ जो हवन वायुदेवताके उद्देश्यसे होता है, वह स्कन्नसंज्ञक होम प्रथम है और उससे भिन्न जो स्कन्नसंज्ञक होम है, वह अन्तिम या सबसे उत्कृष्ट है। इसी प्रकार रौद्र आदि बहुतसे यज्ञ हैं, जो नाना प्रकारके कर्मफल देनेवाले हैं ॥ ५० ॥

तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ५१ ॥

उन षोडश प्रकारके अग्निहोत्रोंको जो जानता है, वही यज्ञ-सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञानसे सम्पन्न है। ऐसा ज्ञानी एवं श्रद्धालु द्विज ही यज्ञ करनेका अधिकारी है ॥ ५१ ॥

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः ।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५२ ॥

यदि कोई चोर हो, पापी हो अथवा पापाचारियोंमें भी सबसे महान् हो तो भी जो यज्ञ करना चाहता है, उसे सभी लोग 'साधु' ही कहते हैं ॥ ५२ ॥

ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् ।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः ॥ ५३ ॥

ऋषि भी उसकी प्रशंसा करते हैं। यह यज्ञकर्म श्रेष्ठ है, इसमें कोई संदेह नहीं है; अतः सभी वर्णके लोगोंको सदा सब प्रकारसे यज्ञ करना चाहिये, यही शास्त्रोंका निर्णय है ॥

न हि यज्ञसमं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तस्माद् यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता ।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंमें यज्ञके समान कुछ भी नहीं है; इसलिये मनुष्यको दोषदृष्टिका परित्याग करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार उत्तम श्रद्धापूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

आश्रमधर्मका वर्णन

भीष्म उवाच

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम ।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रमोंके नाम और कर्म सुनो ॥ १ ॥

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भैक्ष्यचर्य (संन्यास)—ये चार आश्रम हैं। चौथे आश्रम संन्यासका अवलम्बन केवल ब्राह्मणोंने किया है ॥ २ ॥

जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचर्य-आश्रममें) चूड़ाकरणसंस्कार और उपनयनके अनन्तर द्विजत्वको प्राप्त हो वेदाध्ययन पूर्ण करके (समावर्तनके पश्चात् विवाह करे, फिर) गार्हस्थ्य-आश्रममें अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मनस्वी पुरुष स्त्रीको साथ लेकर अथवा बिना स्त्रीके ही गृहस्थाश्रमसे कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करे ॥३-४॥

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥

वहाँ धर्मज्ञ पुरुष आरण्यकशास्त्रोंका अध्ययन करके वानप्रस्थ-धर्मका पालन करे। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक उस आश्रमसे निकल जाय और विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले। इस प्रकार संन्यास लेनेवाला पुरुष अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥

राजन्! विद्वान् ब्राह्मणको ऊर्ध्वरेता मुनियोंद्वारा आचरणमें लाये हुए इन्हीं साधनोंका सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिये ॥ ६ ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! जिसने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके मनमें यदि मोक्षकी अभिलाषा जाग उठे तो उसे ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करनेका उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः ।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

संन्यासीको चाहिये कि वह मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मुनिवृत्तिसे रहे। किसी वस्तुकी कामना न करे।

अपने लिये मठ या कुटी न बनवावे। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाय। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ८ ॥

निराशीः स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ९ ॥

आशा-तृष्णाका सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समान भाव रक्खे। भोगोंसे दूर रहे और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मोंके कारण इस आश्रमको 'क्षेमाश्रम' (कल्याणप्राप्तिका स्थान) कहते हैं। इस आश्रममें आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्मके साथ एकता प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः
संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो
गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥ १० ॥

अब गृहस्थाश्रमके धर्म सुनो—जो वेदोंका अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नीके गर्भसे संतान उत्पन्न कर उस आश्रमके न्यायोचित भोगोंको भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्मसे युक्त दुष्कर गार्हस्थ्यधर्मका पालन करता है, वह उत्तम है ॥ १० ॥

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी
नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः
सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥

गृहस्थको चाहिये कि वह अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करे। शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करता रहे। शठता और कुटिलतासे दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओंकी आराधनामें तत्पर रहे। उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रक्खे। किसीके प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमाभाव रक्खे ॥ ११ ॥

दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो
ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता
वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥ १२ ॥

गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियोंका संयम करे, गुरुजनों एवं शास्त्रोंकी आज्ञा माने, देवताओं और पितरोंकी तृप्तिके लिये हव्य और कव्य समर्पित करनेमें कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणोंको निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या-द्वेषसे दूर रहे, अन्य सब आश्रमोंको भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ-यागादिमें लगा रहे ॥ १२ ॥

अथात्र नारायणगीतमाहु-
र्महर्षयस्तात महानुभावाः।
महार्थमत्यन्ततपःप्रयुक्तं
तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥

तात! इस विषयमें महानुभाव महर्षिगण नारायणगीतका उल्लेख किया करते हैं जो महान् अर्थसे युक्त और अत्यन्त तपस्याद्वारा प्रेरित होकर कहा गया है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ १३ ॥

सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके
ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत् ॥ १४ ॥

'गृहस्थ पुरुष इस लोकमें सत्य, सरलता, अतिथिसत्कार, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नीके प्रति अनुराग तथा सुखका सेवन करे। ऐसा होनेपर ही उसे परलोकमें भी सुख प्राप्त होते हैं, यह मेरा मत है' ॥ १४ ॥

भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्यमें निवास करनेवाले द्विजोंके लिये महर्षिगण यह कर्तव्य बताते हैं कि वह स्त्री और पुत्रोंका भरण-पोषण तथा वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय करे ॥ १५ ॥

एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो
गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत्।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्
स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार स्वभावतः यज्ञपरायण हो, गृहस्थ-धर्मका यथावत् रूपसे पालन करता है, वह गृहस्थ-वृत्तिका अच्छी तरह शोधन करके स्वर्गलोकमें विशुद्ध फलका भागी होता है ॥ १६ ॥

तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः ॥ १७ ॥

उस गृहस्थको देह-त्यागके पश्चात् उसके अभीष्ट मनोरथ अक्षयरूपसे प्राप्त होते हैं। वे उस पुरुषका संकल्प जानकर इस प्रकार अनन्तकालतकके लिये उसकी सेवामें उपस्थित हो जाते हैं, मानो उनके नेत्र, मस्तक और मुख सभी दिशाओंकी ओर हों ॥ १७ ॥

स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह अकेला ही वेदमन्त्रोंका चिन्तन और अभीष्ट मन्त्रोंका जप करते हुए सारे कार्य सम्पन्न करे, अपने शरीरमें मैल और कीचड़ लगी हो तो भी वह सेवाके लिये उद्यत हो एकमात्र आचार्यकी ही परिचर्यामें संलग्न रहे ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा ॥ १९ ॥

ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए व्रत एवं दीक्षाके पालनमें तत्पर रहे। वेदोंका स्वाध्याय करते हुए सदा कर्तव्य कर्मोंके पालनपूर्वक गुरुगृहमें निवास करे ॥ १९ ॥

शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च ।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥

निरन्तर गुरुकी सेवामें संलग्न रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे किये जानेवाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंसे अलग रहे और किसी भी असत् कर्ममें वह कभी प्रवृत्त न हो ॥ २० ॥

न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च ।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥

अपने अधिकारका प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे; द्वेष रखनेवालोंका सङ्ग न करे। वत्स युधिष्ठिर! ब्रह्मचारीके लिये यही आश्रम-धर्म अभीष्ट है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चतुराश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मोंका वर्णनविषयक एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणधर्म और कर्तव्यपालनका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

शिवान् सुखान् महोदर्कानहिंस्राल्लोँकसम्मतान् ।
ब्रूहि धर्मान् सुखोपायान् मद्विधानां सुखावहान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! अब आप ऐसे धर्मोंका वर्णन कीजिये, जो कल्याणमय, सुखमय, भविष्यमें अभ्युदयकारी, हिंसारहित, लोकसम्मानित, सुखसाधक तथा मुझ-जैसे लोगोंके लिये सुखपूर्वक आचरणमें लाये जा सकते हों ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो! भरतवंशावतंस युधिष्ठिर! चारों आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही विहित हैं। अन्य तीनों वर्णोंके लोग उन सभी आश्रमोंका अनुसरण नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन्
स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि ।
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि
क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत् ॥ ३ ॥

राजन्! क्षत्रियके लिये शास्त्रमें बहुत-से ऐसे स्वर्गसाधक कर्म बताये गये हैं, जो हिंसाप्रधान हैं, जैसे युद्ध! परंतु ये कर्म ब्राह्मणके लिये आदर्श नहीं हो सकते; क्योंकि क्षत्रियके लिये सभी प्रकारके कर्मोंका यथोचित विधान है ॥ ३ ॥

क्षात्राणि वैश्यानि च सेवमानः
शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन् ।
अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः
परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥

जो ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका सेवन करता है, वह मन्दबुद्धि पुरुष इस लोकमें निन्दित और परलोकमें नरकगामी होता है ॥ ४ ॥

या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥ ५ ॥

पाण्डुनन्दन! लोकमें दास, कुत्ते, भेड़िये तथा अन्य पशुओंके लिये जो निन्दासूचक संज्ञा दी गयी है, अपने वर्णधर्मके विपरीत कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणके लिये भी वही संज्ञा दी जाती है ॥ ५ ॥

षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसम्मिताः ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना तथा दान लेना और देना—इन छः कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, चारों आश्रमोंमें स्थित हो उनके सम्पूर्ण धर्मोंका पालन करता है, धर्ममय कवचसे सुरक्षित होता है और मनको वशमें किये रहता है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं होती, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध, तपस्यापरायण और उदार होता है, उसे अविनाशी लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६-७ ॥

यो यस्मिन् कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च ।
तादृशं तादृशेनैव स गुणं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

जो पुरुष जिस अवस्थामें, जिस देश अथवा कालमें, जिस उद्देश्यसे जैसा कर्म करता है, वह (उसी अवस्थामें वैसे ही देश अथवा कालमें) वैसे भावसे उस कर्मका वैसा ही फल पाता है ॥ ८ ॥

वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसंजीवनेन च ।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र! वैश्यकी व्याज लेनेवाली वृत्ति, खेती और वाणिज्यके समान तथा क्षत्रियके प्रजापालनरूप कर्मके समान ब्राह्मणोंके लिये वेदाभ्यासरूपी कर्म ही महान् है—ऐसा तुम्हें समझना चाहिये ॥ ९ ॥

कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ॥ १० ॥

कालके उलट-फेरसे प्रभावित तथा स्वभावसे प्रेरित हुआ मनुष्य विवश-सा होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता है ॥ १० ॥

अन्तवन्ति प्रधानानि पुरा श्रेयस्कराणि च ।
स्वकर्मनिरतो लोके ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥

पहलेके जो कल्याणकारी और अमङ्गलकारी शुभाशुभ

कर्म हैं, वे ही प्रधान होकर इस शरीरका निर्माण करते हैं। इस शरीरके साथ ही उनका भी अन्त हो जाता है; परंतु जगत्‌में अपने वर्णाश्रमोचित कर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष तो हर अवस्थामें सर्वव्यापी और अविनाशी ही है ॥११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्मका वर्णन तथा राजधर्मकी श्रेष्ठता

भीष्म उवाच

ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणं च
कृषिर्वणिज्या पशुपालनं च ।
शुश्रूषणं चापि तथार्थहेतो-
रकार्यमेतत् परमं द्विजस्य ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! धनुषकी डोरी खींचना, शत्रुओंको उखाड़ फेंकना, खेती, व्यापार और पशुपालन करना अथवा धनके उद्देश्यसे दूसरोंकी सेवा करना—ये ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध कर्म हैं ॥ १ ॥

सेव्यं तु ब्रह्म षट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा ।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥

मनीषी ब्राह्मण यदि गृहस्थ हो तो उसके लिये वेदोंका अभ्यास और यजन-याजन आदि छः कर्म ही सेवन करने योग्य हैं। गृहस्थ-आश्रमका उद्देश्य पूर्ण कर लेनेपर ब्राह्मणके लिये (वानप्रस्थी होकर) वनमें निवास करना उत्तम माना गया है ॥२॥

राजप्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा ।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण राजाकी दासता, खेतीके द्वारा धनका उपार्जन, व्यापारसे जीवन-निर्वाह, कुटिलता, व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ व्यभिचारकर्म तथा सूदखोरी छोड़ दे ॥ ३ ॥

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धु-
र्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च
राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ॥ ४ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला, चुगलखोर, नाचनेवाला, राजसेवक तथा दूसरे-दूसरे विपरीत कर्म करनेवाला होता है, वह ब्राह्मणत्वसे गिरकर शूद्र हो जाता है ॥ ४ ॥

जपन् वेदानजपंश्चापि राजन्
समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति
राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ॥ ५ ॥

नरेश्वर! उपर्युक्त दुर्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करता हो या न करता हो, शूद्रोंके ही समान है। उसे दासकी भाँति पंक्तिसे बाहर भोजन कराना चाहिये। ये राज-सेवक आदि सभी अधम ब्राह्मण शूद्रोंके ही तुल्य हैं। राजन्! देवकार्यमें इनका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ
हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते ।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्
देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै ॥ ६ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण मर्यादाशून्य, अपवित्र, क्रूर स्वभाववाला, हिंसापरायण तथा अपने धर्म और सदाचारका परित्याग करनेवाला है, उसे हव्य-कव्य तथा दूसरे दान देना न देनेके ही बराबर है ॥ ६ ॥

तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य
दमः शौचमार्जवं चापि राजन् ।
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव
पुरा राजन् ब्राह्मणा वै निसृष्टाः ॥ ७ ॥

अतः नरेश्वर! ब्राह्मणके लिये इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि और सरलताके साथ-साथ धर्माचरणका ही विधान है। राजन्! सभी आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही हैं क्योंकि सबसे पहले ब्राह्मणोंकी ही सृष्टि हुई है ॥ ७ ॥

यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, सोमयाग करके सोमरस पीनेवाला, सदाचारी, दयालु, सब कुछ सहन करनेवाला, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरतारहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है। उससे भिन्न जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये ॥ ८ ॥

शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राज-
ल्ँलोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः ।
तस्माद् वर्णाञ्शान्तिधर्मेष्वसक्तान्
मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ॥ ९ ॥

राजन्! पाण्डुनन्दन! धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले सभी लोग, सहायताके लिये शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियकी शरण लेते हैं। अतः जो वर्ण शान्तिधर्म (मोक्ष-साधन) में असमर्थ माने गये हैं, उनको भगवान् विष्णु शान्तिपरकधर्मका उपदेश करना नहीं चाहते ॥ ९ ॥

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्या-
च्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः ।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च
सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः ॥ १० ॥

यदि भगवान् विष्णु यथायोग्य विधान न करें तो लोकमें जो सब लोगोंको यह सुख आदि उपलब्ध है, वह न रह जाय।

चारों वर्ण तथा वेदोंके सिद्धान्त टिक न सकें। सम्पूर्ण यज्ञ तथा समस्त लोककी क्रियाएँ बंद हो जायँ तथा आश्रमोंमें रहनेवाले सब लोग तत्काल विनष्ट हो जायँ ॥ १० ॥

यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम् ।
चातुराश्रम्यदृष्टांश्च धर्मांस्ताञ्शृणु पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! जो राजा अपने राज्यमें तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के द्वारा शास्त्रोक्त रूपसे आश्रमधर्मका सेवन कराना चाहता हो, उसके लिये जानने योग्य जो चारों आश्रमोंके लिये उपयोगी धर्म हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥

शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः ।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥ १३ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है, शौच और सदाचारकी दृष्टिसे जिसमें अन्य त्रैवर्णिकोंकी अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त दस धर्मोंके पालनमें तत्पर रहा है*, वह शूद्र यदि राजाकी अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिये संन्यासको छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं ॥

भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वोक्त धर्मोंका आचरण करनेवाले शूद्रके लिये तथा वैश्य और क्षत्रियके लिये भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करनेका विधान है ॥ १४ ॥

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥ १५ ॥

अपने वर्णधर्मका परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जानेपर राजाकी आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रमोंका ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।
संतानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥ १६ ॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर ।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान् यज्ञैर्ऋषीन् वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥ २० ॥
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् २१

निष्पाप नरेश ! राजाको चाहिये कि पहले धर्माचरणपूर्वक वेदों तथा राजशास्त्रोंका अध्ययन करे। फिर संतानोत्पादन आदि कर्म करके यज्ञमें सोमरसका सेवन करे । समस्त प्रजाओंका धर्मके अनुसार पालन करके राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञोंका अनुष्ठान करे । शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार सब सामग्री एकत्र करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे । संग्राममें अल्प या महान् विजय पाकर राज्यपर प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पुत्रको स्थापित कर दे । पुत्र न हो तो दूसरे गोत्रके किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको राज्यसिंहासनपर अभिषिक्त कर दे । वक्ताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय-शिरोमणि पाण्डुनन्दन ! पितृयज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक पितरोंका, देवयज्ञोंद्वारा देवताओंका तथा वेदोंके स्वाध्यायद्वारा ऋषियोंका यत्नपूर्वक भलीभाँति पूजन करके अन्तकाल आनेपर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमोंको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, वह क्रमशः आश्रमोंको अपनाकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १६–२१ ॥

राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्यां न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥ २२ ॥

गृहस्थ-धर्मोंका त्याग कर देनेपर भी क्षत्रियको ऋषि-भावसे वेदान्तश्रवण आदि संन्यासधर्मका पालन करते हुए जीवन-रक्षाके लिये ही भिक्षाका आश्रय लेना चाहिये, सेवा करानेके लिये नहीं ॥ २२ ॥

न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥

पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले राजसिंह ! यह भैक्ष्यचर्या क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये नित्य या अनिवार्य कर्म नहीं है। चारों आश्रमवासियोंका कर्म उनके लिये ऐच्छिक ही बताया गया है ॥ २३ ॥

बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां
लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः ।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां
राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि ॥ २४ ॥

राजन् ! राजधर्म बाहुबलके अधीन होता है। वह क्षत्रियके लिये जगत्‌का श्रेष्ठतम धर्म है, उसका सेवन करनेवाले क्षत्रिय मानवमात्रकी रक्षा करते हैं । अतः तीनों वर्णोंके उपधर्मों-सहित जो अन्यान्य समस्त धर्म हैं । वे राजधर्मसे ही सुरक्षित रह सकते हैं, यह मैंने वेद-शास्त्रसे सुना है ॥ २४ ॥

यथा राजन् हस्तिपदे पदानि
संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान् निबोध ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! जैसे हाथीके पदचिह्नमें सभी प्राणियोंके पदचिह्न विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सब धर्मोंको सभी अवस्थाओंमें राजधर्मके भीतर ही समाविष्ट हुआ समझो ॥ २५ ॥

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति
धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः ।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं
क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥

* धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका त्याग, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान सत्यभाषण और क्रोधका अभाव—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

धर्मके ज्ञाता आर्य पुरुषोंका कथन है कि अन्य समस्त धर्मोंका आश्रय तो अल्प है ही, फल भी अल्प ही है। परंतु क्षात्रधर्मका आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परमकल्याणरूप हैं, अतः इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है॥

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः
सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजं-
स्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥ २७॥

सभी धर्मोंमें राजधर्म ही प्रधान है; क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णोंका पालन होता है। राजन्! राजधर्मोंमें सभी प्रकारके त्यागका समावेश है और ऋषिगण त्यागको सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते हैं॥ २७॥

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः
क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥ २८॥

यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातलको चले जायँ और वेदोंके नष्ट होनेसे समाजमें प्रचलित हुए सारे धर्मोंका नाश हो जाय। पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं, यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमोंके सम्पूर्ण धर्मोंका ही लोप हो जायगा॥ २८॥

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः
सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥ २९॥

राजाके धर्मोंमें सारे त्यागोंका दर्शन होता है, राजधर्मोंमें सारी दीक्षाओंका प्रतिपादन हो जाता है, राजधर्ममें सम्पूर्ण विद्याओंका संयोग सुलभ है तथा राजधर्ममें सम्पूर्ण लोकोंका समावेश हो जाता है॥ २९॥

यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना
धर्मश्रुतानामुपपीडनाय।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः
संचिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम्॥ ३०॥

व्याध आदि नीच प्रकृतिके मनुष्योंद्वारा मारे जाते हुए पशु-पक्षी आदि जीव जिस प्रकार घातकके धर्मका विनाश करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष यदि राजधर्मसे रहित हो जायँ तो धर्मका अनुसंधान करते हुए भी वे चोर-डाकुओंके उत्पातसे स्वधर्मके प्रति आदरका भाव नहीं रख पाते हैं और इस प्रकार जगत्की हानिमें कारण बन जाते हैं (अतः राजधर्म सबसे श्रेष्ठ है)॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन और इस विषयमें इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

वैशम्पायन उवाच

चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव।
लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—पाण्डुनन्दन! चारों आश्रमोंके धर्म, यतिधर्म तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्रधर्ममें प्रतिष्ठित हैं॥ १॥

सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम।
निराशिषो जीवलोकाः क्षत्रधर्मेऽव्यवस्थिते॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! ये सारे कर्म क्षात्रधर्मपर अवलम्बित हैं। यदि क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित न हो तो जगत्के सभी जीव अपनी मनोवाञ्छित वस्तु पानेसे निराश हो जायँ॥ २॥

अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम्।
प्ररूपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम्॥ ३॥

आश्रमवासियोंका सनातन धर्म अनेक द्वारवाला और अप्रत्यक्ष है, विद्वान् पुरुष शास्त्रोंद्वारा ही उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं॥ ३॥

अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम्।
अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः॥ ४॥

अतः दूसरे वक्तालोग जो धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, वे सुन्दर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा लोगोंके विश्वासको नष्ट कर तब वे श्रोतागण प्रत्यक्ष उदाहरण न पाकर परलोकमें नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ४॥

प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम्।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्॥ ५॥

जो धर्म प्रत्यक्ष है, अधिक सुखमय है आत्माके साक्षित्वसे युक्त है, छलरहित है तथा सर्वलोकहितकारी है, वह धर्म क्षत्रियोंमें प्रतिष्ठित है॥ ५॥

धर्माश्रमेऽध्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा॥ ६॥

युधिष्ठिर! जैसे तीनों वर्णोंके धर्मोंका पहले क्षत्रियधर्ममें अन्तर्भाव बताया गया है, उसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यति—इन तीनों आश्रमोंमें स्थित ब्राह्मणोंके धर्मोंका गार्हस्थ्याश्रममें समावेश होता है॥ ६॥

राजधर्मेष्वनुमता लोकाः सुचरितैः सह।
उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम्॥ ७॥
सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा।
जग्मुः सुबहुशः शूरा राजानो दण्डनीतये॥ ८॥

राजेन्द्र! उत्तम चरित्रों (धर्मों) सहित सम्पूर्ण लोक राजधर्ममें अन्तर्भूत हैं। यह बात मैं तुमसे कह चुका हूँ। किसी समय बहुतसे शूरवीर नरेश दण्डनीतिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण

भूतोंके स्वामी महातेजस्वी सर्वव्यापी भगवान् नारायण देवकी शरणमें गये थे ॥ ७-८ ॥

एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाऽऽश्रमं पुरा ।
राजानः पर्युपासन्त दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ९ ॥

वे पूर्वकालमें आश्रमसम्बन्धी एक-एक कर्मकी दण्डनीतिके साथ तुलना करके संशयमें पड़ गये कि इनमें कौन श्रेष्ठ है? अतः सिद्धान्त जाननेके लिये उन राजाओंने भगवान्‌की उपासना की थी ॥ ९ ॥

साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च
रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
सृष्टाः पुरा ह्यादिदेवेन देवाः
क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः ॥ १० ॥

साध्यदेव, वसुगण, अश्विनीकुमार, रुद्रगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण—ये देवता और सिद्धगण पूर्वकालमें आदिदेव भगवान् विष्णुके द्वारा रचे गये हैं, जो क्षात्रधर्ममें ही स्थित रहते हैं ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम् ।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥ ११ ॥

मैं इस विषयमें तात्त्विक अर्थका निश्चय करनेवाला एक धर्ममय इतिहास सुनाऊँगा । पहलेकी बात है, यह सारा जगत् दानवताके समुद्रमें निमग्न होकर उच्छृङ्खल हो चला था ॥ ११ ॥

बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान् ।
पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ॥ १२ ॥
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजेन्द्र ! उन्हीं दिनों मान्धाता नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी पृथ्वीपालक नरेश हुए थे, जिन्होंने आदि, मध्य और अन्तसे रहित भगवान् नारायणदेवका दर्शन पानेकी इच्छासे एक यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १२½ ॥

स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥ १३ ॥
जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः ।
दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥ १४ ॥

राजसिंह ! राजा मान्धाताने उस यज्ञमें परमात्मा भगवान् विष्णुके चरणोंकी भावनासे पृथ्वीपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया । उस समय श्रीहरिने देवराज इन्द्रका रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १३-१४ ॥

स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम् ।
तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः ।
संवादोऽयं महानासीद् विष्णुं प्रति महाद्युतिम् ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ भूपालोंसे घिरे हुए मान्धाताने उन इन्द्ररूपधारी भगवान्‌का पूजन किया । फिर उन राजसिंह और महात्मा इन्द्रमें महातेजस्वी भगवान् विष्णुके विषयमें यह महान् संवाद हुआ ॥ १५ ॥

इन्द्र उवाच

किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ
यद् द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम् ।
अनन्तमायामितमन्त्रवीर्यं
नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥ १६ ॥

इन्द्र बोले—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश ! आदिदेव पुराण-

पुरुष भगवान् नारायण अप्रमेय हैं । वे अपनी अनन्त माया-शक्ति, असीम धैर्य तथा अमित बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं, तुम जो उनका दर्शन करना चाहते हो, उसका क्या कारण है? तुम्हें उनसे कौन-सी वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छा है ? ॥ १६ ॥

नासौ देवो विश्वरूपो मयापि
शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात् ।
येऽन्ये कामास्तव राजन् हृदिस्था
दास्ये चैतांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥ १७ ॥

उन विश्वरूप भगवान्‌को मैं और साक्षात् ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते । राजन् ! तुम्हारे हृदयमें जो दूसरी कामनाएँ हों, उन्हें मैं पूर्ण कर दूँगा; क्योंकि तुम मनुष्योंके राजा हो ॥

सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः
शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम् ।
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमश्रद्धया च
ततस्तेऽहं दद्मि वरान् यथेष्टम् ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! तुम सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय और शूरवीर हो, देवताओंके प्रति अविचल प्रेमभाव रखते हो, तुम्हारी बुद्धि, भक्ति और उत्तम श्रद्धासे संतुष्ट होकर मैं तुम्हें इच्छानुसार वर दे रहा हूँ ॥ १८ ॥

मान्धातोवाच

असंशयं भगवन्नादिदेवं
द्रक्ष्याम्यहं शिरसा सम्प्रसाद्य ।
त्यक्त्वा कामान् धर्मकामो ह्यरण्य-
मिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम् ॥ १९ ॥

मान्धाताने कहा—भगवन् ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करके आपकी ही दयासे आदि-

देव भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है। इस समय मैं समस्त कामनाओंका परित्याग करके केवल धर्मसम्पादनकी इच्छा रखकर वनमें जाना चाहता हूँ; क्योंकि लोकमें सभी सत्पुरुष अन्तमें इसी सन्मार्गका दिग्दर्शन करा गये हैं ॥ १९ ॥

क्षात्राद् धर्माद् विपुलादप्रमेया-
ल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च।
धर्मो योऽसावादिदेवात् प्रवृत्तो
लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुम् ॥ २० ॥

विशाल एवं अप्रमेय क्षात्रधर्मके प्रभावसे मैंने उत्तम लोक प्राप्त किये और सर्वत्र अपने यशका प्रचार एवं प्रसार कर दिया; परंतु आदिदेव भगवान् विष्णुसे जिस धर्मकी प्रवृत्ति हुई है, उस लोकश्रेष्ठ धर्मका आचरण करना मैं नहीं जानता॥ २० ॥

इन्द्र उवाच

असैनिका धर्मपराश्च धर्मे
परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम्।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ २१ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! आदिदेव भगवान् विष्णुसे तो पहले राजधर्म ही प्रवृत्त हुआ है। अन्य सभी धर्म उसीके अङ्ग हैं और उसके बाद प्रकट हुए हैं। जो सैनिक शक्तिसे सम्पन्न राजा नहीं हैं, वे धर्मपरायण होनेपर भी दूसरोंको अनायास ही धर्मविषयक परम गतिकी प्राप्ति नहीं करा सकते ॥

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः
सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टा-
स्तस्माद् धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥ २२ ॥

क्षात्र-धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। शेष धर्म असंख्य हैं और उनका फल भी विनाशशील है। इस क्षात्रधर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है, इसलिये इसी धर्मको श्रेष्ठ कहते हैं ॥

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन् क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने क्षात्रधर्मके द्वारा ही शत्रुओंका दमन करके देवताओं तथा अमिततेजस्वी समस्त ऋषियोंकी रक्षा की थी ॥ २३ ॥

यदि ह्यसौ भगवान् नाहनिष्यद्
रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः ।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता
नायं धर्मो नादिधर्मोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥

यदि वे अप्रमेय भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूप असुरोंका संहार नहीं करते तो न कहीं ब्राह्मणोंका पता लगता, न जगत्‌के आदिस्रष्टा ब्रह्माजी ही दिखायी देते। न यह धर्म रहता और न आदि धर्मका ही पता लग सकता था ॥ २४॥

इमामुर्वीं नाजयद् विक्रमेण
देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः
सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥ २५ ॥

देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ आदिदेव भगवान् विष्णु असुरों-सहित इस पृथ्वीको अपने बल और पराक्रमसे जीत नहीं लेते तो ब्राह्मणोंका नाश हो जानेसे चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके सभी धर्मोंका लोप हो जाता ॥ २५ ॥

नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते
क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः ।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता
लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥ २६ ॥

वे सदासे चले आनेवाले धर्म सैकड़ों बार नष्ट हो चुके हैं, परंतु क्षात्रधर्मने उनका पुनः उद्धार एवं प्रसार किया है। युग-युगमें आदिधर्म (क्षात्रधर्म) की प्रवृत्ति हुई है; इसलिये इस क्षात्रधर्मको लोकमें सबसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥२६॥

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा
लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च ।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां
क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥ २७ ॥

युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देना, समस्त प्राणियोंपर दया करना, लोकव्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना, प्रजाकी रक्षा करना, विषादग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्योंको दुःख और कष्टसे छुड़ाना—ये सब बातें राजाओंके क्षात्रधर्ममें ही विद्यमान हैं॥

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता
भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम्।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः
साध्वाचाराः साधु धर्मं वदन्ति ॥ २८ ॥

जो लोग-काम, क्रोधमें फँसकर उच्छृङ्खल हो गये हैं, वे भी राजाके भयसे ही पाप नहीं कर पाते हैं तथा जो सब प्रकारके धर्मोंका पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे राजासे सुरक्षित हो सदाचारका सेवन करते हुए धर्मका सदुपदेश करते हैं॥

पुत्रवत् पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः ।
लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः ॥ २९ ॥

राजाओंसे राजधर्मके द्वारा पुत्रकी भाँति पालित होनेवाले जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणी निर्भय विचरते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें क्षात्रधर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ, सनातन, नित्य, अविनाशी, मोक्षतक पहुँचानेवाला सर्वतो-मुखी है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

इन्द्र उवाच

एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः
क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः ।
पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारै-
र्विपर्यये स्यादभवः प्रजानाम् ॥ १ ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन्! इस प्रकार क्षात्रधर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और शक्तिशाली है। यह सभी धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है। तुम-जैसे लोकहितैषी उदार पुरुषोंको सदा इस क्षात्रधर्मका ही पालन करना चाहिये। यदि इसका पालन नहीं किया जायगा तो प्रजाका नाश हो जायगा ॥ १ ॥

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोग-
मभैक्ष्यचर्या पालनं च प्रजानाम्।
विद्याद् राजा सर्वभूतानुकम्पी
देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम् ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले राजाको उचित है कि वह नीचे लिखे हुए कार्योंको ही श्रेष्ठ धर्म समझे। वह पृथ्वीका संस्कार करावे, राजसूय-अश्वमेधादि यज्ञोंमें अवभृथस्नान करे, भिक्षाका आश्रय न ले, प्रजाका पालन करे और संग्रामभूमिमें शरीरको त्याग दे ॥ २ ॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति
सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे
प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥ ३ ॥

ऋषि-मुनि त्यागको ही श्रेष्ठ बताते हैं। उसमें भी युद्धमें राजालोग जो अपने शरीरका त्याग करते हैं, वह सबसे श्रेष्ठ त्याग है। सदा राजधर्ममें संलग्न रहनेवाले समस्त भूमिपालोंने जिस प्रकार युद्धमें प्राण-त्याग किया है, वह सब तुम्हारी आँखोंके सामने है ॥ ३ ॥

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च
परस्परं संहननाद् वदन्ति।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी
चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः ॥ ४ ॥

क्षत्रिय ब्रह्मचारी धर्मपालनकी इच्छा रखकर अनेक शास्त्रोंके ज्ञानका उपार्जन तथा गुरुशुश्रूषा करते हुए अकेला ही नित्य ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्मका आचरण करे। यह बात ऋषिलोग परस्पर मिलकर कहते हैं ॥ ४ ॥

सामान्यार्थे व्यवहारे प्रवृत्ते
प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात्।
चातुर्वर्ण्यस्थापनात् पालनाच्च
तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥ ५ ॥
सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः
क्षात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम्।
स्वं स्वं धर्मं येन चरन्ति वर्णा-
स्तांस्तान् धर्मानन्यथार्थान् वदन्ति॥६॥

जनसाधारणके लिये व्यवहार आरम्भ होनेपर राजा प्रिय और अप्रियकी भावनाका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे। भिन्न-भिन्न उपायों, नियमों, पुरुषार्थों तथा सम्पूर्ण उद्योगोंके द्वारा चारों वर्णोंकी स्थापना एवं रक्षा करनेके कारण क्षात्र-धर्म एवं गृहस्थ-आश्रमको ही सबसे श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है; क्योंकि सभी वर्णोंके लोग उस क्षात्र-धर्मके सहयोगसे ही अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं। क्षत्रियधर्मके न होनेसे उन सब धर्मोंका प्रयोजन विपरीत होता है; ऐसा कहते हैं ॥ ५-६ ॥

निर्मर्यादान् नित्यमर्थे निविष्टा-
नाहुस्तांस्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान्।
यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगा-
च्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात् क्षत्रधर्मः ॥ ७ ॥

जो लोग सदा अर्थसाधनमें ही आसक्त होकर मर्यादा छोड़ बैठते हैं, उन मनुष्योंको पशु कहा गया है। क्षत्रिय-धर्म अर्थकी प्राप्ति करानेके साथ-साथ उत्तम नीतिका ज्ञान प्रदान करता है; इसलिये वह आश्रम-धर्मोंसे भी श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां
ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम्।
एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्य-
मन्यत् कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥ ८ ॥

तीनों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मणोंके लिये जो यज्ञादि कार्य विहित हैं तथा उनके लिये जो चारों आश्रम बताये गये हैं—उन्हींको ब्राह्मणका सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। इसके विपरीत आचरण करनेवाला ब्राह्मण शूद्रके समान ही शस्त्रोंद्वारा वधके योग्य है ॥ ८ ॥

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात् कदाचन ॥ ९ ॥

राजन्! चारों आश्रमोंके जो धर्म हैं तथा वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं, उन सबका अनुसरण ब्राह्मणको ही करना चाहिये। दूसरा कोई शूद्र आदि कभी किसी तरह भी उन धर्मोंको नहीं जान सकता ॥ ९ ॥

अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते।
कर्मणा वर्धते धर्मो यथाधर्मस्तथैव सः ॥ १० ॥

जो ब्राह्मण इसके विपरीत आचरण करता है, उसके लिये ब्राह्मणोचित वृत्तिकी व्यवस्था नहीं की जाती। कर्मसे ही धर्मकी वृद्धि होती है। जो जिस प्रकारके धर्मको अपनाता है, वह वैसा ही हो जाता है ॥ १० ॥

यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सम्मानमर्हति।
कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण विपरीत कर्ममें स्थित होता है, वह सम्मान पाने-

का अधिकारी नहीं है। अपने कर्मका आचरण न करनेवाले ब्राह्मणको विश्वास न करने योग्य माना गया है ॥ ११ ॥

एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना
उत्क्रष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये
वीर्यज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥ १२ ॥

समस्त वर्णोंमें स्थित हुए जो ये धर्म हैं, उन्हें क्षत्रियोंको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाना चाहिये। यही क्षत्रियधर्म है, इसीलिये राजधर्म श्रेष्ठ हैं। दूसरे धर्म इस प्रकार श्रेष्ठ नहीं हैं। मेरे मतमें वीर क्षत्रियोंके धर्मोंमें बल और पराक्रमकी प्रधानता है॥

मान्धातोवाच

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥ १५ ॥

मान्धाता बोले—भगवन्! मेरे राज्यमें यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौंड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज देशोंके निवासी म्लेच्छगण सब ओर निवास करते हैं, कुछ ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी भी संतानें हैं; कुछ वैश्य और शूद्र भी हैं, जो धर्मसे गिर गये हैं। ये सब-के-सब चोरी और डकैतीसे जीविका चलाते हैं। ऐसे लोग किस प्रकार धर्मोंका आचरण करेंगे? मेरे-जैसे राजाओंको इन्हें किस तरह मर्यादाके भीतर स्थापित करना चाहिये?॥ १३-१५॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद् ब्रवीहि मे।
त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥

भगवन्! सुरेश्वर! यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे यह सब बताइये; क्योंकि आप ही हम क्षत्रियोंके बन्धु हैं॥१६॥

इन्द्र उवाच

मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥ १७ ॥

इन्द्रने कहा—राजन्! जो लोग दस्यु-वृत्तिसे जीवन निर्वाह करते हैं, उन सबको अपने माता-पिता, आचार्य, गुरु तथा आश्रमवासी मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥ १८ ॥

भूमिपालोंकी सेवा करना भी समस्त दस्युओंका कर्त्तव्य है। वेदोक्त धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान भी उनके लिये शास्त्रविहित धर्म है ॥ १८ ॥

पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा ॥ १९ ॥

पितरोंका श्राद्ध करना, कुआँ खुदवाना, जलक्षेत्र चलाना और लोगोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाएँ बनवाना भी उनका कर्तव्य है। उन्हें यथासमय ब्राह्मणोंको दान देते रहना चाहिये॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम्।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥ २० ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधशून्य बर्ताव, दूसरोंकी आजीविका तथा बँटवारेमें मिली हुई पैतृक सम्पत्तिकी रक्षा, स्त्री-पुत्रोंका भरण-पोषण, बाहर भीतरकी शुद्धि रखना तथा द्रोहभावका त्याग करना— यह उन सबका धर्म है ॥ २० ॥

दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥

कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सब प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको भरपूर दक्षिणा देनी चाहिये। सभी दस्युओंको अधिक खर्चवाला पाकयज्ञ करना और उसके लिये धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतान्येवंप्रकाराणि विहितानि पुरानघ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश! इस प्रकार प्रजापति ब्रह्माने सब मनुष्योंके कर्तव्य पहले ही निर्दिष्ट कर दिये हैं। उन दस्युओंको भी इनका यथावत् रूपसे पालन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मान्धातोवाच

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥

मान्धाता बोले—भगवन्! मनुष्य-लोकमें सभी वर्णों तथा चारों आश्रमोंमें भी डाकू और लुटेरे देखे जाते हैं, जो विभिन्न वेशभूषाओंमें अपनेको छिपाये रखते हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते।
सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले—निष्पाप नरेश! जब राजाकी दुष्टताके कारण दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है, तब सभी प्राणी मोहवश कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक खो बैठते हैं॥ २४ ॥

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन् कृते युगे॥ २५॥

इस सत्ययुगके समाप्त हो जानेपर नानावेषधारी असंख्य भिक्षुक प्रकट हो जायँगे और लोग आश्रमोंके स्वरूपकी विभिन्न मनमानी कल्पना करने लगेंगे ॥ २५ ॥

अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥

लोग काम और क्रोधसे प्रेरित होकर कुमार्गपर चलने लगेंगे। वे पुराणप्रोक्त प्राचीन धर्मोंके पालनका जो उत्तम फल है, उस विषयकी बात नहीं सुनेंगे ॥ २६ ॥

यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥

जब महामनस्वी राजालोग दण्डनीतिके द्वारा पापीको पाप करनेसे रोकते रहते हैं, तब सत्स्वरूप परमोत्कृष्ट सनातन धर्मका ह्रास नहीं होता है ॥ २७ ॥

सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते ।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके गुरुस्वरूप राजाका अपमान करता है, उसके किये दान, होम और श्राद्ध कभी सफल नहीं होते हैं ॥ २८ ॥

मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम् ।
देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥

राजा मनुष्योंका अधिपति, सनातन देवस्वरूप तथा धर्मकी इच्छा रखनेवाला होता है । देवता भी उसका अपमान नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्हि भगवान् सर्वं चैवासृजज्जगत् ।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥ ३० ॥

भगवान् प्रजापतिने जब इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की थी, उस समय लोगोंको सत्कर्ममें लगाने और दुष्कर्मसे निवृत्त करनेके लिये उन्होंने धर्मरक्षाके हेतु क्षात्रबलको प्रतिष्ठित करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम् ।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष प्रवृत्त धर्मकी गतिका अपनी बुद्धिसे विचार करता है, वही मेरे लिये माननीय और पूजनीय है; क्योंकि उसीमें क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् मरुद्गणवृतः प्रभुः ।
जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मान्धाताको इस प्रकार उपदेश देकर इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु मरुद्गणोंके साथ अविनाशी एवं सनातन परमपद विष्णुधामको चले गये ॥ ३२ ॥

एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान् बहुश्रुतः ॥ ३३ ॥

निष्पाप नरेश्वर ! इस प्रकार प्राचीन कालमें भगवान् विष्णुने ही राजधर्मको प्रचलित किया और सत्पुरुषोंद्वारा वह भलीभाँति आचरणमें लाया गया । ऐसी दशामें कौन ऐसा सचेत और बहुश्रुत विद्वान् होगा, जो क्षात्रधर्मकी अवहेलना करेगा ? ॥ ३३ ॥

अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च ।
अन्तरा विलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥

अन्यायपूर्वक क्षत्रिय-धर्मकी अवहेलना करनेसे प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म भी उसी प्रकार बीचमें ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अन्धा मनुष्य रास्तेमें नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे ।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! निष्पाप युधिष्ठिर ! विधाताका यह आज्ञाचक्र (राजधर्म) आदि कालमें प्रचलित हुआ और पूर्ववर्ती महापुरुषोंका परम आश्रय बना रहा । तुम भी उसीपर चलो । मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम इस क्षात्रधर्मके मार्गपर चलनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रमान्धातृसंवादे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और मान्धाताका संवादविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मके पालनसे चारों आश्रमोंके धर्मका फल मिलनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुता मे कथिताः पूर्वं चत्वारो मानवाश्रमाः ।
व्याख्यानयित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपने मानवमात्रके लिये जो चार आश्रम पहले बताये थे, वे सब मैंने सुन लिये । अब विस्तारपूर्वक इनकी व्याख्या कीजिये । मेरे प्रश्नके अनुसार इनका स्पष्टीकरण कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर ।
यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर ! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित समस्त धर्मोंका जैसा मुझे ज्ञान है, वैसा ही तुमको भी है ॥ २ ॥

यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर ।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ! तथापि जो तुम विभिन्न लिङ्गों (हेतुओं) से रूपान्तरको प्राप्त हुए सूक्ष्म धर्मके विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, उसके विषयमें कुछ निवेदन कर रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥ ४ ॥
अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर ।
समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! चारों आश्रमोंके धर्मोंका पालन करनेवाले सदाचारपरायण पुरुषोंको जिन फलोंकी प्राप्ति होती है, वे ही सब राग-द्वेष छोड़कर दण्डनीतिके अनुसार बर्ताव करनेवाले राजाको भी प्राप्त होते हैं । युधिष्ठिर ! यदि राजा सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखनेवाला है तो उसे संन्यासियोंको प्राप्त होनेवाली गति प्राप्त होती है ॥ ४-५ ॥

वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा ।
यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥

जो तत्त्वज्ञान, सर्वत्याग, इन्द्रियसंयम तथा प्राणियोंपर अनुग्रह करना जानता है तथा जिसका पहले कहे अनुसार उत्तम आचार-विचार है, उस धीर पुरुषको कल्याणमय गृहस्थाश्रमसे

मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! इसी प्रकार जो पूजनीय पुरुषोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर सदा सम्मानित करता है, उसे ब्रह्मचारियोंको प्राप्त होनेवाली गति मिलती है ॥ ७ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो संकटमें पड़े हुए अपने सजातियों, सम्बन्धियों और सुहृदोंका उद्धार करता है, उसे वानप्रस्थ आश्रममें मिलनेवाले पदकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत् ।
कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो जगत्के श्रेष्ठ पुरुषों और आश्रमियोंका निरन्तर सत्कार करता है, उसे भी वानप्रस्थ-आश्रमद्वारा मिलनेवाले फलोंकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

आह्निकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान् समानुषान् ।
कुर्वतः पार्थ विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! जो नित्यप्रति संध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म, पितृ श्राद्ध, भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सेवा)—इन सबका अनुष्ठान प्रचुर मात्रामें करता रहता है, उसे वानप्रस्थाश्रमके सेवनसे मिलनेवाले पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

संविभागेन भूतानामतिथीनां तथार्चनात् ।
देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! बलिवैश्वदेवके द्वारा प्राणियोंको उनका भाग समर्पित करनेसे, अतिथियोंके पूजनसे तथा देवयज्ञोंके अनुष्ठानसे भी वानप्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम ।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥

सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! शिष्टपुरुषोंकी रक्षाके लिये अपने शत्रुके राष्ट्रोंको कुचल डालनेवाले राजाको भी वान-प्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पालनात् सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राजन् सत्याश्रमपदं भवेत् ॥ १३ ॥

समस्त प्राणियोंके पालन तथा अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेसे राजाको नाना प्रकारके यज्ञोंकी दीक्षा लेनेका पुण्य प्राप्त होता है। राजन् ! इससे वह संन्यासाश्रमके सेवनका फल प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्यपूजनम् ।
अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १४ ॥

जो प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करता है, क्षमाभाव रखता है, आचार्यकी पूजा करता है और गुरुकी सेवामें संलग्न रहता है, उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) द्वारा मिलनेवाला फल प्राप्त होता है ॥

आह्निकं जपमानस्य देवान् पूजयतः सदा ।
धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह ! जो प्रतिदिन इष्ट मन्त्रका जप और देवताओंका सदा पूजन करता है, उसे उस धर्मके प्रभावसे धर्माश्रमके पालनका अर्थात् गार्हस्थ्य धर्मके पालनका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः ।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १६ ॥

जो राजा युद्धमें प्राणोंकी बाजी लगाकर इस निश्चयके साथ शत्रुओंका सामना करता है कि 'या तो मैं मर जाऊँगा या देशकी रक्षा करके ही रहूँगा' उसे भी ब्रह्माश्रम अर्थात् संन्यास-आश्रमके पालनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत ।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो सदा समस्त प्राणियोंके प्रति माया और कुटिलतासे रहित यथार्थ व्यवहार करता है, उसे भी ब्रह्माश्रम-सेवनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत ।
प्रयच्छतोऽर्थान् विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥

भारत ! जो वानप्रस्थ, ब्राह्मणों तथा तीनों वेदके विद्वानोंको प्रचुर धन-दान करता है, उसे वानप्रस्थ-आश्रमके सेवनका फल मिलता है ॥ १८ ॥

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत ।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! जो समस्त प्राणियोंपर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, उसे सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! जो बालकों और बूढ़ोंके प्रति दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसे भी सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २० ॥

बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह ।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिन प्राणियोंपर बलात्कार हुआ हो और वे शरणमें आये हों, उनका संकटसे उद्धार करनेवाला पुरुष गार्हस्थ्य-धर्मके पालनसे मिलनेवाले पुण्यफलका भागी होता है॥

चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः ।
यथार्हपूजां च तथा कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २२ ॥

चराचर प्राणियोंकी सब प्रकारसे रक्षा तथा उनकी यथायोग्य पूजा करनेवाले पुरुषको गार्हस्थ्य-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणां पुत्रनप्तॄणाम् ।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत् तपः ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! बड़ी-छोटी पत्नियों, भाइयों, पुत्रों और नातियोंको भी जो राजा अपराध करनेपर दण्ड और अच्छे कार्य करनेपर अनुग्रहरूप पुरस्कार देता है, यही उसके द्वारा

गार्हस्थ्य-धर्मका पालन है और यही उसकी तपस्या है ॥ २३ ॥

साधूनामर्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम् ।
पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ २४ ॥

पुरुषसिंह ! पूजनके योग्य सुप्रसिद्ध आत्मज्ञानी साधुओंकी पूजा तथा रक्षा गृहस्थाश्रमके पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ २४ ॥

आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत ।
आददीतेह भोज्येन तद् गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! जो किसी भी आश्रममें रहनेवाले प्राणियोंको अपने घरमें ठहराकर उनका भोजन आदिसे सत्कार करता है, उस राजाके लिये वही गार्हस्थ्य-धर्मका पालन है ॥

यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथार्थवत् ।
आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥ २६ ॥

जो पुरुष विधाताद्वारा विहित धर्ममें स्थित होकर यथार्थ रूपसे उसका पालन करता है, वह सभी आश्रमोंके निर्दोष फलको प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा ।
आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! जिस पुरुषमें स्थित हुए सद्गुणोंका कभी नाश नहीं होता, उस नरश्रेष्ठको सभी आश्रमोंके पालनमें स्थित बताया गया है ॥ २७ ॥

स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च ।
कुर्वन् वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! जो राजा स्थान, कुल और अवस्थाका मान रखते हुए कार्य करता है, वह सभी आश्रमोंमें निवास करनेका फल पाता है ॥ २८ ॥

देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च ।
पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २९ ॥

कुन्तीकुमार ! पुरुषसिंह ! देश-धर्म और कुलधर्मका पालन करनेवाला राजा सभी आश्रमोंके पुण्यफलका भागी होता है ॥ २९ ॥

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च ।
अर्हयन् पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥ ३० ॥

नरव्याघ्र नरेश ! जो समय-समयपर सम्पत्ति और उपहार देकर समस्त प्राणियोंका सम्मान करता रहता है, वह साधु पुरुषोंके आश्रममें निवासका पुण्यफल पा लेता है ॥ ३० ॥

दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते ।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो राजा मनुप्रोक्त दस धर्मोंमें स्थित होकर भी सम्पूर्ण जगत्के धर्मपर दृष्टि रखता है, वह सभी आश्रमोंके पुण्य-फलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत ।
पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपतेः ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! जो धर्मकुशल मनुष्य लोकमें धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे जिस राजाके राज्यमें पालित होते हैं, उस राजाको उनके धर्मका छठा अंश प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

धर्मारामान् धर्मपरान् ये न रक्षन्ति मानवान् ।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ ३३ ॥

पुरुषसिंह ! जो राजा धर्ममें ही रमण करनेवाले धर्मपरायण मानवोंकी रक्षा नहीं करते हैं, वे उनके पाप बटोर लेते हैं ॥ ३३ ॥

ये चाप्यत्र सहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर ।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! जो लोग इस जगत्में राजाओंके सहायक होते हैं, वे सभी उस राज्यमें दूसरोंद्वारा किये गये धर्मका अंश प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! शास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं कि हमलोग जिस गार्हस्थ्य-धर्मका सेवन कर रहे हैं, वह सभी आश्रमोंमें श्रेष्ठ एवं पावन है । उसके विषयमें शास्त्रोंका यह निर्णय सबको विदित है ॥ ३५ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥ ३६ ॥

जो मानव समस्त प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखता है, दण्डका त्याग कर देता है, क्रोधको जीत लेता है, वह इस लोकमें और मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी सुख पाता है ॥

धर्मे स्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥ ३७ ॥

राजधर्म एक नौकाके समान है । वह नौका धर्मरूपी समुद्रमें स्थित है । सत्त्वगुण ही उस नौकाका संचालन करनेवाला बल (कर्णधार) है, धर्मशास्त्र ही उसे बाँधनेवाली रस्सी है, त्यागरूपी वायुका सहारा पाकर वह मार्गपर शीघ्रतापूर्वक चलती है, वह नाव ही राजाको संसारसमुद्रसे पार कर देगी ॥ ३७ ॥

यदा निवृत्तः सर्वस्मात् कामो योऽस्य हृदि स्थितः ।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥ ३८ ॥

मनुष्यके हृदयमें जो-जो कामनाएँ स्थित हैं, उन सबसे जब वह निवृत्त हो जाता है, तब उसकी विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थिति होती है और इसी समय उसे परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है ॥ ३८ ॥

सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगसे और समभावसे जब अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध एवं प्रसन्न हो जाता है, तब प्रजापालनपरायण राजा उत्तम धर्मके फलका भागी होता है ॥ ३९ ॥

वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम् ।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! तुम वेदाध्ययनमें संलग्न रहनेवाले, सत्कर्म-

परायण ब्राह्मणों तथा अन्य सब लोगोंके पालन-पोषणका प्रयत्न करो ॥ ४० ॥

वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत।
रक्षणात् तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन! वनमें और विभिन्न आश्रमोंमें रहकर जो लोग जितना धर्म करते हैं, उनकी रक्षा करनेसे राजा उनसे सौगुने धर्मका भागी होता है ॥ ४१ ॥

एष ते विविधो धर्मः पाण्डवश्रेष्ठ कीर्तितः।
अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ! यह तुम्हारे लिये नाना प्रकारका धर्म बताया गया है। पूर्वजोंद्वारा आचरित इस सनातनधर्मका तुम पालन करो ॥ ४२ ॥

चातुराश्रम्यमैकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ४३ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन! यदि तुम प्रजाके पालनमें तत्पर रहोगे तो चारों आश्रमोंके, चारों वर्णोंके तथा एकाग्रताके धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा और उन्नतिके लिये राजाकी आवश्यकताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइये कि समूचे राष्ट्रका—उस राष्ट्रमें निवास करनेवाले प्रत्येक नागरिकका मुख्य कार्य क्या है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! राष्ट्र अथवा राष्ट्रवासी प्रजावर्गका सबसे प्रधान कार्य यह है कि वह किसी योग्य राजाका अभिषेक करे, क्योंकि बिना राजाका राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते तथा सताते हैं ॥ २ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥

जिन देशोंमें कोई राजा नहीं होता, वहाँ धर्मकी भी स्थिति नहीं रहती है; अतः वहाँके लोग एक दूसरेको हड़पने लगते हैं; इसलिये जहाँ अराजकता हो, उस देशको सर्वथा धिक्कार है! ॥ ३ ॥

इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा सम्पूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥

श्रुति कहती है, 'प्रजा जो राजाका वरण करती है, वह मानो इन्द्रका ही वरण करती है,' अतः लोकका कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इन्द्रके समान ही राजाका पूजन करना चाहिये ॥ ४ ॥

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥ ५ ॥

मेरी रुचि तो यह है कि जहाँ कोई राजा न हो, उन देशोंमें निवास ही नहीं करना चाहिये। बिना राजाके राज्यमें दिये हुए हविष्यको अग्निदेव वहन नहीं करते ॥ ५ ॥

अथ चेदाभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥ ६ ॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम्।
न हि पापात् पापतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥ ७ ॥

यदि कोई प्रबल राजा राज्यके लोभसे उन बिना राजाके दुर्बल देशोंपर आक्रमण करे तो वहाँके निवासियोंको चाहिये कि वे आगे बढ़कर उसका स्वागत-सत्कार करें। यही वहाँके लिये सबसे अच्छी सलाह हो सकती है; क्योंकि पापपूर्ण अराजकतासे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ ६-७ ॥

स चेत् समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत्।
बलवान् हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥ ८ ॥

वह बलवान् आक्रमणकारी नरेश यदि शान्त दृष्टिसे देखे तो राज्यकी पूर्णतः भलाई होती है और यदि वह कुपित हो गया तो उस राज्यका सर्वनाश कर सकता है ॥ ८ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ९ ॥

राजन्! जो गाय कठिनाईसे दुही जाती है, उसे बड़े-बड़े क्लेश उठाने पड़ते हैं, परंतु जो सुगमतापूर्वक दूध दुह लेने देती है, उसे लोग पीड़ा नहीं देते हैं, आरामसे रखते हैं ॥

यदतप्तं प्रणमते नैतत् संतापमर्हति।
यत् स्वयं नमते दारु न तत् संनामयन्त्यपि ॥ १० ॥

जो राष्ट्र बिना कष्ट पाये ही नतमस्तक हो जाता है, वह अधिक संतापका भागी नहीं होता। जो लकड़ी स्वयं ही झुक जाती है, उसे लोग झुकानेका प्रयत्न नहीं करते हैं ॥ १० ॥

एतयोपमया वीर संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥

वीर! इस उपमाको ध्यानमें रखते हुए दुर्बलको बलवान्‌के सामने नतमस्तक हो जाना चाहिये। जो बलवान्‌को प्रणाम करता है, वह मानो इन्द्रको ही नमस्कार करता है ॥ ११ ॥

तस्माद् राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥

अतः सदा उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले देशको अपनी

रक्षाके लिये किसीको राजा अवश्य बना लेना चाहिये। जिनके देशमें अराजकता है, उनके धन और स्त्रियोंपर उन्हींका अधिकार बना रहे, यह सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥

अराजकताकी स्थितिमें दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है, परंतु जब दूसरे लुटेरे उसका भी सारा धन हड़प लेते हैं, तब वह राजाकी आवश्यकताका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ १४ ॥

अराजक देशमें पापी मनुष्य भी कभी कुशलपूर्वक नहीं रह सकते। एकका धन दो मिलकर उठा ले जाते हैं और उन दोनोंका धन दूसरे बहुसंख्यक लुटेरे लूट लेते हैं ॥ १४ ॥

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात् कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

अराजकताकी स्थितिमें जो दास नहीं है, उसे दास बना लिया जाता है और स्त्रियोंका बलपूर्वक अपहरण किया जाता है। इसी कारणसे देवताओंने प्रजापालक नरेशोंकी सृष्टि की है ॥

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥ १६ ॥

यदि इस जगत्में भूतलपर दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, उसी प्रकार प्रबल मनुष्य दुर्बलोंको लूट खायँ ॥ १६ ॥

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥

हमने सुन रखा है कि जैसे पानीमें बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्योंको अपना आहार बना लेते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें राजाके न रहनेपर प्रजावर्गके लोग परस्पर एक दूसरेको लूटते हुए नष्ट हो गये थे ॥ १७ ॥

समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥ १८ ॥
यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥ १९ ॥

तब उन सबने मिलकर आपसमें नियम बनाया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वह नियम इस प्रकार है—'हम लोगोंमेंसे जो भी निष्ठुर बोलनेवाला, भयानक दण्ड देनेवाला, परस्त्रीगामी तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला हो, ऐसे सब लोगोंको हमें समाजसे बहिष्कृत कर देना चाहिये।' सभी वर्णके लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये सामान्यतः ऐसा नियम बनाकर उसका पालन करते हुए वे सब लोग सुखसे रहने लगे ॥ १८-१९ ॥

सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।

(कुछ समयतक इस प्रकार काम चलता रहा; किंतु आगे चलकर पुनः दुर्व्यवस्था फैल गयी) तब दुःखसे पीड़ित हुई सारी प्रजाएँ एक साथ मिलकर ब्रह्माजीके पास गयीं और उनसे कहने लगीं—'भगवन्! राजाके बिना तो हमलोग नष्ट हो रहे हैं। आप हमें कोई ऐसा राजा दीजिये, जो शासन करनेमें समर्थ हो, हम सब लोग मिलकर जिसकी पूजा करें और जो निरन्तर हमारा पालन करता रहे' ॥ २०½ ॥

ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ २१ ॥

तब ब्रह्माजीने मनुको राजा होनेकी आज्ञा दी; परंतु मनुने उन प्रजाओंको स्वीकार नहीं किया' ॥ २१ ॥

मनुरुवाच

बिभेमि कर्मणः पापाद् राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥ २२ ॥

मनु बोले—भगवन्! मैं पापकर्मसे बहुत डरता हूँ। राज्य करना बड़ा कठिन काम है—विशेषतः सदा मिथ्याचारमें प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्योंपर शासन करना तो और भी दुष्कर है ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब समस्त प्रजाओंने मनुसे कहा—'महाराज! आप डरें मत। पाप तो उन्हींको लगेगा, जो उसे करेंगे। हमलोग आपके कोशकी वृद्धिके लिये प्रति पचास पशुओंपर एक पशु आपको दिया करेंगे। इसी प्रकार सुवर्णका भी पचासवाँ भाग देते रहेंगे। अनाजकी उपजका दसवाँ भाग करके रूपमें देंगे। जब हमारी बहुत-सी कन्याएँ विवाहके लिये उद्यत होंगी, उस समय उनमें जो सबसे सुन्दरी कन्या होगी, उसे हम शुल्कके रूपमें आपको भेंट कर देंगे ॥ २३-२४ ॥

मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २५ ॥

'जैसे देवता देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार प्रधान-प्रधान मनुष्य अपने प्रमुख शस्त्रों और वाहनोंके साथ आपके पीछे-पीछे चलेंगे ॥ २५ ॥

स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥ २६ ॥

'प्रजाका सहयोग पाकर आप एक प्रबल, दुर्जय और प्रतापी राजा होंगे। जैसे कुबेर यक्षों तथा राक्षसोंकी रक्षा करके उन्हें सुखी बनाते हैं, उसी प्रकार आप हमें सुरक्षित एवं सुखसे रक्खेंगे ॥ २६ ॥

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७ ॥

'आप-जैसे राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजाएँ जो-जो धर्म

करेंगी, उसका चतुर्थ भाग आपको मिलता रहेगा ॥ २७ ॥

तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥ २८ ॥

'राजन् ! सुखपूर्वक प्राप्त हुए उस महान् धर्मसे सम्पन्न हो आप उसी प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा कीजिये, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥ २९ ॥

'महाराज ! आप तपते हुए अंशुमाली सूर्यके समान विजयके लिये यात्रा कीजिये, शत्रुओंका घमंड धूलमें मिला दीजिये और सर्वदा आपकी जय हो' ॥ २९ ॥

स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः ।
महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३० ॥

तब महान् सैन्यबलसे घिरे हुए महाकुलीन, महातेजस्वी राजा मनु अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए-से निकले ॥ ३० ॥

तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः ।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥ ३१ ॥

जैसे देवता देवराज इन्द्रका प्रभाव देखकर प्रभावित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब लोग महाराज मनुका महत्त्व देखकर आतङ्कित हो उठे और अपने-अपने धर्ममें मन लगाने लगे ॥ ३१ ॥

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर वर्षा करनेवाले मेघके समान मनु पापाचारियोंको शान्त करते और उन्हें अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें लगाते हुए भूमण्डलपर चारों ओर घूमने लगे ॥ ३२ ॥

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य वैभव-वृद्धिकी कामना रखते हों, उन्हें सबसे पहले इस भूमण्डलमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये कोई राजा अवश्य बना लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा ।
देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके ॥ ३४ ॥

फिर जैसे शिष्य भक्तिभावसे गुरुको नमस्कार करते हैं तथा जैसे देवता देवराज इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजाजनोंको अपने राजाके निकट नमस्कार करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥

इस लोकमें आत्मीय जन जिसका आदर करते हैं, उसे दूसरे लोग भी बहुत मानते हैं और जो स्वजनोंद्वारा तिरस्कृत होता है, उसका दूसरे भी अनादर करते हैं ॥ ३५ ॥

राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः ।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥ ३६ ॥
भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च ।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३७ ॥

राजाका यदि दूसरोंके द्वारा पराभव हुआ तो वह समस्त प्रजाके लिये दुःखदायी होता है; इसलिये प्रजाको चाहिये कि वह राजाके लिये छत्र, वाहन, वस्त्र, आभूषण, भोजन, पान, गृह, आसन और शय्या आदि सभी प्रकार-की सामग्री भेंट करे ॥ ३६-३७ ॥

गोप्ता तस्माद् दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत मानवान् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रजाकी सहायता पाकर राजा दुर्धर्ष एवं प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है। राजाको चाहिये कि वह मुस्कराकर बात-चीत करे। यदि प्रजावर्गके लोग उससे कोई बात पूछें तो वह मधुर वाणीमें उन्हें उत्तर दे ॥ ३८ ॥

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥ ३९ ॥

राजा उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञ और अपने भक्तों-पर सुदृढ़ स्नेह रखनेवाला हो। उपभोगमें आनेवाली वस्तुओंको यथायोग्य विभाजन करके उन्हें काममें ले। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। जो उसकी ओर देखे, उसे वह भी देखे एवं स्वभावसे ही मृदु, मधुर और सरल हो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रके लिये राजाको नियुक्त करनेकी आवश्यकताका कथनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

वसुमना और बृहस्पतिके संवादमें राजाके न होनेसे प्रजाकी हानि और होनेसे लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह ! जो मनुष्योंका अधिपति है, उस राजाको ब्राह्मणलोग देवस्वरूप क्यों बताते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमनाने बृहस्पतिजीसे यही बात पूछी थी ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥

कहते हैं, प्राचीन कालमें बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश राजा वसुमनाने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पतिसे कुछ प्रश्न किया ॥ ३ ॥

सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम् ।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः ।
प्रजानां सुखमन्विच्छन् धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

राजा वसुमना सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे। वे विनय प्रकट करनेकी कलाको जानते थे। बृहस्पतिजीके आनेपर उन्होंने उठकर उनका अभिवादन किया और चरण-प्रक्षालन आदि सारा विनयसम्बन्धी बर्ताव पूर्ण करके महर्षिकी परिक्रमा करनेके अनन्तर उन्होंने विधिपूर्वक उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। फिर प्रजाके सुखकी इच्छा रखते हुए राजाने धर्मशील बृहस्पतिसे राज्यसंचालनकी विधिके विषयमें इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया ॥ ४-५ ॥

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

वसुमना बोले—महामते! राज्यमें रहनेवाले प्राणियोंकी वृद्धि कैसे होती है? उनका ह्रास कैसे हो सकता है? किस देवताकी पूजा करनेवाले लोगोंको अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है? ॥ ६ ॥

एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा ।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

अमित तेजस्वी कोसलनरेशके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महाज्ञानी बृहस्पतिजीने शान्तभावसे राजाके सत्कारकी आवश्यकता बताते हुए इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—महाप्राज्ञ! लोकमें जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजाके भयसे ही प्रजा एक दूसरेको हड़प नहीं लेती है ॥ ८ ॥

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥ ९ ॥

राजा ही मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तथा अनुचित भोगोंमें आसक्त हो उनकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले सारे जगत्के लोगोंको धर्मानुकूल शासनद्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेजसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ १० ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥

राजन्! जैसे सूर्य और चन्द्रमाका उदय न होनेपर समस्त प्राणी घोर अन्धकारमें डूब जाते हैं और एक दूसरेको देख नहीं पाते हैं, जैसे थोड़े जलवाले तालाबमें मत्स्यगण तथा रक्षकरहित उपवनमें पक्षियोंके झुंड परस्पर एक दूसरेपर बारंबार चोट करते हुए इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहारसे दूसरोंको कुचलते और मथते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी स्वयं दूसरेकी चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपसमें लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनोंमें नष्टप्राय हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है। इसी तरह राजाके बिना वे सारी प्रजाएँ आपसमें लड़-झगड़कर बात-की-बातमें नष्ट हो जायँगी और बिना चरवाहेके पशुओंकी भाँति दुःखके घोर अन्धकारमें डूब जायँगी ॥ १०—१३ ॥

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलोंकी बहू-बेटियोंको हर ले जायँ और अपने घर-बारकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेवालोंको मार डालें ॥ १४ ॥

ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः ।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत्में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार कोई भी ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता, जिसके लिये कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सारी सम्पत्तिका लोप हो जाय ॥ १५ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकारके रत्न लूट ले जायँ ॥ १६ ॥

पतेद् बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरुषोंपर बारंबार नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी मार पड़े और विवश होकर लोगोंको अधर्मका मार्ग ग्रहण करना पड़े ॥ १७ ॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥

यदि राजा पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुको क्लेश पहुँचावें अथवा मार डालें ॥ १८ ॥

वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ १९ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानोंको प्रतिदिन वध या बन्धनका क्लेश उठाना पड़े और किसी भी वस्तुको वे अपनी न कह सकें ॥ १९ ॥

अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद् भवेत्।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ २० ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो अकालमें ही लोगोंकी मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओंके अधीन हो जाय और (पापके कारण) घोर नरकमें गिर जाय ॥ २० ॥

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः।
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥ २१ ॥

यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचारसे किसीको घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाय, व्यापार चौपट हो जाय, धर्म डूब जाय और तीनों वेदोंका कहीं पता न चले ॥ २१ ॥

न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत् ॥२२॥

यदि राजा जगत्की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान बंद हो जाय, विवाह न हो और सामाजिक कार्य रुक जायँ ॥ २२ ॥

न वृषाः सम्प्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ २३ ॥

यदि राजा पशुओंका पालन न करे तो साँड गायोंमें गर्भाधान न करें, दूध-दहीसे भरे हुए घड़े या मटके कभी मथे न जायँ और गोशाले नष्ट हो जायँ ॥ २३ ॥

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २४ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्न-चित्त, हाहाकारपरायण तथा अचेत हो क्षणभरमें नष्ट हो जाय ॥ २४ ॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत् ॥ २५ ॥

यदि राजा पालन न करे तो उनमें विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त वार्षिक यज्ञ बेखटके न चल सकें ॥ २५ ॥

ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान् नाधीयीरंस्तपस्विनः।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत्॥ २६ ॥

यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदोंका अध्ययन छोड़ दें ॥ २६ ॥

न लभेद् धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद् यदि राजा न पालयेत् ॥२७॥

यदि राजा पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्मका सम्पर्क छोड़ दें और चोर घरका मालमता लेकर अपने शरीर और इन्द्रियोंपर आँच आये बिना ही सकुशल लौट जायँ ॥ २७ ॥

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २८ ॥

यदि राजा पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथमें रक्खी हुई वस्तुको भी हाथसे छीन ले जायँ, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और सब लोग भयसे पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें ॥ २८ ॥

अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥ २९ ॥

यदि राजा पालन न करे तो सब ओर अन्याय एवं अत्याचार फैल जाय, वर्णसंकर संतानें पैदा होने लगें और समूचे देशमें अकाल पड़ जाय ॥ २९ ॥

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥ ३० ॥

राजासे रक्षित हुए मनुष्य सब ओरसे निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार घरके दरवाजे खोलकर सोते हैं॥

नाक्रुष्टं सहते कश्चित् कुतो वा हस्तलाघवम्।
यदि राजा न सम्यग् गां रक्षयत्यपि धार्मिकः ॥ ३१ ॥

यदि धर्मात्मा राजा भलीभाँति पृथ्वीकी रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य गाली-गलौज अथवा हाथसे पीटे जानेका अपमान कैसे सहन करे ॥ ३१ ॥

स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ॥ ३२ ॥

यदि पृथ्वीका पालन करनेवाला राजा अपने राज्यकी रक्षा करता है तो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुषको साथ लिये बिना भी निर्भय होकर मार्गसे आती-जाती हैं ॥ ३२ ॥

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३३ ॥

जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्मका ही पालन करते हैं, कोई किसीकी हिंसा नहीं करते और सभी एक दूसरेपर अनुग्रह रखते हैं ॥ ३३ ॥

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३४ ॥

जब राजा रक्षा करता है, तब तीनों वर्णोंके लोग नाना प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययनमें लगे रहते हैं ॥ ३४ ॥

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत् सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३५ ॥

खेती आदि समुचित जीविकाकी व्यवस्था ही इस जगत्के जीवनका मूल है तथा वृष्टि आदिकी हेतुभूत त्रयी विद्यासे ही सदा जगत्का धारण-पोषण होता है। जब राजा प्रजाकी रक्षा करता है, तभी वह सब कुछ ठीक ढंगसे चलता रहता है॥

यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥ ३६ ॥

जब राजा विशाल सैनिक-शक्तिके सहयोगसे भारी भार

उठाकर प्रजाकी रक्षाका भार वहन करता है, तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होता है ॥ ३६ ॥

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७॥

जिसके न रहनेपर सब ओरसे समस्त प्राणियोंका अभाव होने लगता है और जिसके रहनेपर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजाका पूजन (आदर-सत्कार) कौन नहीं करेगा ? ॥ ३७ ॥

तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम् ।
तिष्ठन् प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥ ३८ ॥

जो उस राजाके प्रिय एवं हितसाधनमें संलग्न रहकर उसके सर्वलोकभयंकर शासन-भारको वहन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है ॥ ३८ ॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

जो पुरुष मनसे भी राजाके अनिष्टका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही इह लोकमें कष्ट भोगता है और मरनेके बाद भी नरकमें पड़ता है ॥ ३९ ॥

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥

'यह भी एक मनुष्य है' ऐसा समझकर कभी भी पृथ्वी-पालक नरेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि राजा मनुष्यरूपमें एक महान् देवता है ॥ ४० ॥

कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥

राजा ही सदा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज बन जाता है ॥ ४१ ॥

यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥

जब पापात्मा मनुष्य राजाके साथ मिथ्या बर्ताव करकेउसे ठगते हैं, तब वह अग्निस्वरूप हो जाता है और अपने उग्र तेजसे समीप आये हुए उन पापियोंको जलाकर भस्म कर देता है ।४२।

यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥

जब राजा गुप्तचरोंद्वारा समस्त प्रजाओंकी देख-भाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है, तब वह सूर्यरूप होता है ॥ ४३ ॥

अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः॥ ४४॥

जब राजा कुपित होकर अशुद्धाचारी सैकड़ों मनुष्योंका उनके पुत्र, पौत्र और मन्त्रियोंसहित संहार कर डालता है, तब वह मृत्युरूप होता है ॥ ४४ ॥

यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५॥

जब वह कठोर दण्डके द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषोंको काबूमें करके सन्मार्गपर लाता है और धर्मात्माओंपर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज माना जाता है ॥ ४५ ॥

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति ।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४७ ॥

जब राजा उपकारी पुरुषोंको धनरूपी जलकी धाराओंसे तृप्त करता है और अपकार करनेवाले दुष्टोंके नाना प्रकारके रत्नोंको छीन लेता है, किसी राज्यहितैषीको धन देता है तो किसी (राज्यविद्रोही)के धनका अपहरण कर लेता है, उस समय वह पृथिवीपालक नरेश इस संसारमें कुबेर समझा जाता है॥

नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा ।
धर्म्यमाकाङ्क्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥

जो समस्त कार्योंमें निपुण, अनायास ही कार्य-साधन करनेमें समर्थ, धर्ममय लोकोंमें जानेकी इच्छा रखनेवाला तथा दोषदृष्टिसे रहित हो, उस पुरुषको अपने देशके शासक नरेशकी निन्दाके काममें नहीं पड़ना चाहिये ॥ ४८ ॥

न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात् ।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ॥ ४९ ॥

राजाके विपरीत आचरण करनेवाला मनुष्य उसका पुत्र, भाई, मित्र अथवा आत्माके तुल्य ही क्यों न हो, कभी सुख नहीं पा सकता ॥ ४९ ॥

कुर्यात् कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः ।
न तु राजाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥ ५० ॥

वायुकी सहायतासे प्रज्वलित हुई आग जब किसी गाँव या जंगलको जलाने लगे तो सम्भव है कि वहाँका कुछ भाग जलाये बिना शेष छोड़ दे; परंतु राजा जिसपर आक्रमण करता है, उसकी कहीं कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती ॥५०॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥ ५१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि राजाकी सारी रक्षणीय वस्तुओंको दूरसे ही त्याग दे और मृत्युकी ही भाँति राजधनके अपहरणसे घृणा करके उससे अपनेको बचानेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

नश्येदभिमृशन् सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन् ।
आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

जैसे मृग मारण-मन्त्रका स्पर्श करते ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार राजाके धनपर हाथ लगाने-वाला मनुष्य तत्काल मारा जाता है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने ही धनके समान इस जगत्में राजाके धनकी भी रक्षा करे ॥ ५२ ॥

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम् ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥

राजाके धनका अपहरण करनेवाले मनुष्य दीर्घकालके लिये विशाल, भयंकर, अस्थिर और चेतनाशक्तिको लुप्त कर देनेवाले नरकमें गिरते हैं ॥ ५३ ॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ ५४ ॥

भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप–इन शब्दोंद्वारा जिस राजाकी स्तुति की जाती है, उस प्रजापालक नरेशकी पूजा कौन नहीं करेगा ? ॥ ५४ ॥

तस्माद् बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥५५॥

इसलिये अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाला, मेधावी, स्मरण-शक्तिसे सम्पन्न एवं कार्यदक्ष मनुष्य नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए राजाका आश्रय ग्रहण करे ॥ ५५ ॥

कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम्।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः ॥ ५६ ॥

राजाको उचित है कि वह कृतज्ञ, विद्वान्, महामना, राजाके प्रति दृढ़ भक्ति रखनेवाले, जितेन्द्रिय, नित्य धर्मपरायण और नीतिज्ञ मन्त्रीका आदर करे ॥ ५६ ॥

दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम्।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार राजा अपने प्रति दृढ़ भक्तिसे सम्पन्न, युद्धकी शिक्षा पाये हुए, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर और श्रेष्ठ कर्म करनेवाले ऐसे वीर पुरुषको सेनापति बनावे, जो अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय लेनेवाला न हो ॥

राजा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं
राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम्।
राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि
राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥ ५८ ॥

राजा मनुष्यको धृष्ट एवं सबल बनाता है और राजा ही उसे दुर्बल कर देता है। राजाके रोषका शिकार बने हुए मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है ? राजा अपने शरणागतको सुखी बना देता है ॥ ५८ ॥

(राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥)

राजा प्रजाओंका प्रथम अथवा प्रधान शरीर है । प्रजा भी राजाका अनुपम शरीर है। राजाके विना देश और वहाँके निवासी नहीं रह सकते और देशों तथा देशवासियोंके विना राजा भी नहीं रह सकते हैं ॥

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च।
समाश्रिता लोकमिमं परं च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

राजा प्रजाका गुरुतर हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है। नरेन्द्र ! राजाका आश्रय लेनेवाले मनुष्य इस लोक और परलोकपर भी पूर्णतः विजय पा लेते हैं ॥ ५९ ॥

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशा-
स्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम्॥ ६० ॥

राजा भी इन्द्रिय-संयम, सत्य और सौहार्दके साथ इस पृथ्वीका भलीभाँति शासन करके बड़े-बड़े यज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा महान् यशका भागी हो स्वर्गलोकमें सनातन स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ६० ॥

स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः।
प्रयत्नात् कृतवान् वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! बृहस्पतिजीके ऐसा कहनेपर राजाओंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश वीर वसुमना अपनी प्रजाओंका प्रयत्नपूर्वक पालन करने लगे ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि आङ्गिरसवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बृहस्पतिजीका उपदेशविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके प्रधान कर्तव्योंका तथा दण्डनीतिके द्वारा युगोंके निर्माणका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके द्वारा विशेषरूपसे पालन करने योग्य और कौन-सा कार्य शेष है ? उसे गाँवोंकी रक्षा कैसे करनी चाहिये और शत्रुओंको किस प्रकार जीतना चाहिये ? ॥ १ ॥

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत् कथम्।
कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ॥ २ ॥

राजा गुप्तचरकी नियुक्ति कैसे करे ? सब वर्णोंके मनमें किस प्रकार विश्वास उत्पन्न करे ? भारत ! वह भृत्यों, स्त्रियों और पुत्रोंको भी कैसे कार्यमें लगावे ? तथा उनके मनमें भी किस तरह विश्वास पैदा करे ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम्।
यत् कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! क्षत्रिय राजा अथवा राजकार्य करनेवाले अन्य पुरुषको सबसे पहले जो कार्य करना चाहिये, वह सारा राजकीय आचार-व्यवहार सावधान होकर सुनो ॥ ३ ॥

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥

राजाको सबसे पहले सदा अपने मनपर विजय प्राप्त करनी चाहिये, उसके बाद शत्रुओंको जीतनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस राजाने अपने मनको नहीं जीता, वह शत्रुपर विजय कैसे पा सकता है ? ॥ ४ ॥

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखना यही मनपर विजय पाना है। जितेन्द्रिय नरेश ही अपने शत्रुओंका दमन कर सकता है॥ ५ ॥

न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! राजाको किलोंमें, राज्यकी सीमापर तथा नगर और गाँवके बगीचोंमें सेना रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ ७ ॥

नरसिंह ! इसी प्रकार सभी पड़ावोंपर, बड़े-बड़े गाँवों और नगरोंमें, अन्तःपुरमें तथा राजमहलके आसपास भी रक्षक सैनिकोंकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ७ ॥

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥

तदनन्तर जिन लोगोंकी अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी हो, जो बुद्धिमान् होनेपर भी देखनेमें गूँगे, अंधे और बहरे-से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और परिश्रम सहनेकी शक्ति रखते हों, ऐसे लोगोंको ही गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥८॥

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥ ९ ॥

महाराज! राजा एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकारके मित्रों तथा पुत्रोंपर भी गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ९ ॥

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥

नगर, जनपद तथा मल्ललोग जहाँ व्यायाम करते हों उन स्थानोंमें ऐसी युक्तिसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये, जिससे वे आपसमें भी एक दूसरेको पहचान न सकें ॥ १० ॥

चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥ ११ ॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजाको अपने गुप्तचरोंद्वारा बाजारों, लोगोंके घूमने-फिरनेके स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुकोंके समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानोंकी सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओंमें शत्रुओंके भेजे हुए गुप्तचरोंका पता लगाते रहना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

एवं विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षणः।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा शत्रुके गुप्तचरका टोह लेता रहे। यदि उसने शत्रुके जासूसका पहले ही पता लगा लिया तो इससे उसका बड़ा हित होता है ॥ १३ ॥

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना।
अमात्यैः सह सम्मन्त्र्य कुर्यात् संधिं बलीयसा ॥१४॥

यदि राजाको अपना पक्ष स्वयं ही निर्बल जान पड़े तो मन्त्रियोंसे सलाह लेकर बलवान् शत्रुके साथ संधि कर ले॥१४॥

(विद्वांसः क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
दण्डनीतौ तु निष्पन्ना मन्त्रिणः पृथिवीपते ॥
प्रष्टव्यो ब्राह्मणः पूर्वं नीतिशास्त्रस्य तत्त्ववित्।
पश्चात् पृच्छेत भूपालः क्षत्रियं नीतिकोविदम् ॥
वैश्यशूद्रौ तथा भूयः शास्त्रज्ञौ हितकारिणौ।)

पृथ्वीपते ! विद्वान् क्षत्रिय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीतिके ज्ञानमें निपुण हों तो इन्हें मन्त्री बनाना चाहिये। पहले नीतिशास्त्रका तत्त्व जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणसे किसी कार्यके लिये सलाह पूछनी चाहिये। इसके बाद पृथ्वीपालक नरेशको चाहिये कि वह नीतिज्ञ क्षत्रियसे अभीष्ट कार्यके विषयमें पूछे। तदनन्तर अपने हितमें लगे रहनेवाले शास्त्रज्ञ वैश्य और शूद्रोंसे सलाह ले ॥

अज्ञायमाने हीनत्वे संधिं कुर्यात् परेण वै।
लिप्सुर्वा कंचिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥

अपनी हीनता या निर्बलताका पता शत्रुको लगनेसे पहले ही शत्रुके साथ संधि कर लेनी चाहिये। यदि इस संधिके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छा हो तो विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजाको इस कार्यमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥१५॥

गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १६ ॥

जो गुणवान्, महान् उत्साही, धर्मज्ञ और साधु पुरुष हों, उन्हें सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला नरेश बलवान् राजाओंके साथ संधि स्थापित करे ॥ १६ ॥

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥

यदि यह पता लग जाय कि कोई हमारा उच्छेद कर रहा है, तो परम बुद्धिमान् राजा पहलेके अपकारियोंको तथा जनताके साथ द्वेष रखनेवालोंको भी सर्वथा नष्ट कर दे ॥१७ ॥

यो नोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः।
न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥ १८ ॥

जो राजा न तो उपकार कर सकता हो और न अपकार कर सकता हो तथा जिसका सर्वथा उच्छेद कर डालना भी उचित नहीं प्रतीत होता हो, उस राजाकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १८ ॥

यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम्।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥ १९ ॥
यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥ २० ॥

यदि शत्रुपर चढ़ाई करनेकी इच्छा हो तो पहले उसके बलाबलके बारेमें अच्छी तरह पता लगा लेना चाहिये । यदि वह मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओंसे रहित, दूसरोंके साथ युद्धमें लगा हुआ, प्रमादमें पड़ा हुआ तथा दुर्बल जान पड़े और इधर अपनी सैनिक शक्ति प्रबल हो तो युद्धनिपुण, सुखके साधनोंसे सम्पन्न एवं वीर राजाको उचित है कि अपनी सेनाको यात्राके लिये आज्ञा दे दे। पहले अपनी राजधानीकी रक्षाका प्रबन्ध करके शत्रुपर आक्रमण करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान् ।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥ २१ ॥

बल और पराक्रमसे हीन राजा भी जो अपनेसे अत्यन्त शक्तिशाली नरेश हो उसके अधीन न रहे । उसे चाहिये कि गुप्तरूपसे प्रबल शत्रुको क्षीण करनेका प्रयत्न करता रहे ॥ २१ ॥

राष्ट्रं च पीडयेत् तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥ २२ ॥

वह शस्त्रोंके प्रहारसे घायल करके, आग लगाकर तथा विषके प्रयोगद्वारा मूर्छित करके शत्रुके राष्ट्रमें रहनेवाले लोगोंको पीड़ा दे । मन्त्रियों तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंमें कलह प्रारम्भ करा दे ॥ २२ ॥

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥ २३ ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यदर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥ २४ ॥

जो बुद्धिमान् राजा राज्यका हित चाहे, उसे सदा युद्धको टालनेका ही प्रयत्न करना चाहिये । नरेश्वर ! बृहस्पतिजीने साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे ही राजाके लिये धनकी आय बतायी है । इन उपायोंसे जो धन प्राप्त किया जा सके, उसीसे विद्वान् राजाको संतुष्ट होना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन ! बुद्धिमान् नरेश प्रजाजनोंसे उन्हींकी रक्षाके लिये उनकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे ॥ २५ ॥

दशधर्मगतेभ्यो यद् वसु बह्वल्पमेव च ।
तदाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥ २६ ॥

मत्त, उन्मत्त आदि जो दस[1] प्रकारके दण्डनीय मनुष्य हैं, उनसे थोड़ा या बहुत जो धन दण्डके रूपमें प्राप्त हो, उसे पुरवासियोंकी रक्षाके लिये ही सहसा ग्रहण कर ले ॥ २६ ॥

यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ २७ ॥

निःसंदेह राजाको चाहिये कि वह अपनी प्रजाको पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति स्नेहदृष्टिसे देखे; परंतु जब न्याय करनेका अवसर प्राप्त हो, तब उसे स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिये॥

श्रोतुं चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

राजा न्याय करते समय सदा वादी-प्रतिवादीकी बातोंको सुननेके लिये अपने पास सर्वार्थदर्शी विद्वान् पुरुषोंको बिठाये रक्खे; क्योंकि विशुद्ध न्यायपर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है॥

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥ २९ ॥

सोने आदिकी खान, नमक, अनाज आदिकी मंडी, नावके घाट तथा हाथियोंके यूथ—इन सब स्थानोंपर होनेवाली आयके निरीक्षणके लिये मन्त्रियोंको अथवा अपना हित चाहनेवाले विश्वसनीय पुरुषोंको राजा नियुक्त करे ॥ २९ ॥

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग् धर्मः प्रशस्यते ॥ ३० ॥

भलीभाँति दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्मका भागी होता है । निरन्तर दण्ड धारण किये रहना राजाके लिये उत्तम धर्म मानकर उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ३० ॥

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! राजाको वेदों और वेदाङ्गोंका विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, सदा दानशील और यज्ञपरायण होना चाहिये ॥ ३१ ॥

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३२ ॥

ये सारे गुण राजामें सदा स्थिरभावसे रहने चाहिये । यदि राजाका न्यायोचित व्यवहार ही लुप्त हो गया, तो उसे कैसे स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और कैसे यश ? ॥ ३२ ॥

यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा ।
तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् पृथिवीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान् राजासे पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्गका आश्रय लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

विधायाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् ।
सामभेदान् विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

उस समय प्राप्त कर्तव्यपर विचार करनेके लिये मित्रोंका आश्रय लेकर उनकी सलाहसे पहले तो अपनी रक्षाके लिये उचित व्यवस्था करे; फिर साम, भेद अथवा युद्धमेंसे क्या करना है ? इसपर विचार करके उसके उपयुक्त कार्य करे ॥ ३४ ॥

घोषान् न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान् सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥ ३५ ॥

यदि युद्धका ही निश्चय हो तो पशुशालाओंको वनमेंसे उठाकर सड़कोंपर ले आवे, छोटे-छोटे गाँवोंको उठा दे और उन सबको शाखानगरों (कस्बों) में मिला दे ॥ ३५ ॥

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

---

[1] मत्त, उन्मत्त आदि दस प्रकारके अपराधियोंके नाम इस प्रकार हैं—१ मत्त, २ उन्मत्त, ३ दस्यु, ४ तस्कर, ५ प्रतारक, ६ शठ, ७ लम्पट, ८ जुआरी, ९ कृत्रिम लेखक (जालिया), और १० घूसखोर।

राज्यमें जो धनी और सेनाके प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो मुख्य-मुख्य सेनाएँ हों, उन सबको बारंबार सान्त्वना देकर ऐसे स्थानोंमें रख दे, जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हो ॥ ३६ ॥

शस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असम्भवे प्रवेशस्य दहेद् दावाग्निना भृशम् ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतोंमें तैयार हुई अनाजकी फसलको कटवाकर किलेके भीतर रखवा ले । यदि किलेमें लाना सम्भव न हो तो उन फसलोंको आग लगाकर जला दे ॥ ३७ ॥

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् ।
विनाशयेद् वा तत् सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥ ३८ ॥

शत्रुके खेतोंमें जो अनाज हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये वहींके लोगोंमें फूट डाले अथवा अपनी ही सेनाके द्वारा वह सब नष्ट करा दे, जिससे शत्रुके पास खाद्यसामग्रीका अभाव हो जाय ॥ ३८ ॥

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३९ ॥

नदीके मार्गोंपर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रुके मार्गमें जो जलाशय हों, उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे । जो जल बहाया न जा सके, उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य न रह जाय ॥ ३९ ॥

तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद् भूम्यनन्तरम् ।
प्रतीघातं परस्याजौ मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥ ४० ॥

वर्तमान अथवा भविष्यमें सदा किसी मित्रका कार्य उपस्थित हो तो उसे भी छोड़कर अपने शत्रुके उस शत्रुका आश्रय लेकर रहे जो राज्यकी भूमिके निकटका निवासी हो तथा युद्धमें शत्रुपर आघात करनेके लिये तैयार रहता हो ॥ ४० ॥

दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत् ।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान् विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

जो छोटे-छोटे दुर्ग हों (जिनमें शत्रुओंके छिपनेकी सम्भावना हो), उन सबका राजा मूलोच्छेद करा डाले और चैत्य (देवालय-सम्बन्धी) वृक्षोंको छोड़कर अन्य सभी छोटे-छोटे वृक्षोंको कटवा दे ॥ ४१ ॥

प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत् तथा ।
चैत्यानां सर्वथा त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४२ ॥

जो वृक्ष बढ़कर बहुत फैल गये हों, उनकी डालियाँ कटवा दे; परंतु देवसम्बन्धी वृक्षोंको सर्वथा सुरक्षित रहने दे। उनका एक पत्ता भी न गिरावे ॥ ४२ ॥

प्रगण्डीः कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तदा ।
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥ ४३ ॥

नगर एवं दुर्गके परकोटोंपर शूरवीर रक्षा-सैनिकोंके बैठनेके लिये स्थान बनावे, ऐसे स्थानोंको 'प्रगण्डी' कहते हैं, इन्हीं प्रगण्डियोंकी एक पाखवाली दीवारोंमें बाहरकी वस्तुओंको देखनेके लिये छोटे-छोटे छिद्र बनवावे, इन छिद्रोंको 'आकाशजननी' कहते हैं (इनके द्वारा तोपोंसे गोलियाँ छोड़ी जाती हैं), इन सबका अच्छी तरहसे निर्माण करावे । परकोटोंके बाहर बनी हुई खाईमें जल भरवा दे और उसमें त्रिशूलयुक्त खंभे गड़वा दे तथा मगरमच्छ और बड़े-बड़े मत्स्य भी डलवा दे ॥ ४३ ॥

संकटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च ।
तेषां च द्वारवद् गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४४ ॥

नगरमें हवा आने-जानेके लिये परकोटोंमें सँकरे दरवाजे बनावे और बड़े दरवाजोंकी भाँति उनकी भी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४४ ॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत् सदा ।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४५ ॥

सभी दरवाजोंपर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाये रक्खे और उन सबको अपने अधिकारमें रक्खे ॥ ४५ ॥

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत् ।
संशोधयेत् तथा कूपान् कृतपूर्वान् पयोऽर्थिभिः ॥४६॥

किलेके भीतर बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर ले और कुएँ खुदवाये । जल पीनेकी इच्छावाले लोगोंने पहले जो कुएँ बना रक्खे हों, उनको भी झरवाकर शुद्ध करा दे ॥ ४६ ॥

तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत् ।
निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात् तथा ॥ ४७ ॥

घास-फूँससे छाये हुए घरोंको गीली मिट्टीसे लिपवा दे और चैतका महीना आते ही आग लगनेके भयसे नगरके भीतरसे घास-फूँस हटवा दे । खेतोंसे भी तृण आदिको हटा दे ॥४७॥

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः ।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽऽग्निहोत्रिकम्॥४८॥

राजाको चाहिये कि वह युद्धके अवसरोंपर नगरके लोगोंको रातमें ही भोजन बनानेकी आज्ञा दे । दिनमें अग्निहोत्रको छोड़कर और किसी कामके लिये कोई आग न जलावे ॥४८॥

कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः ।
गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥ ४९ ॥

लोहार आदिकी भट्ठियोंमें और सूतिकागृहोंमें भी अत्यन्त सुरक्षित रूपसे आग जलानी चाहिये, आगको घरके भीतर ले जाकर ढककर रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

महादण्डश्च तस्य स्याद् यस्याग्निर्वै दिवा भवेत् ।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥ ५० ॥

नगरकी रक्षाके लिये यह घोषणा करा दे कि 'जिसके यहाँ दिनमें आग जलायी जाती होगी उसे बड़ा भारी दण्ड दिया जायगा'॥ ५० ॥

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान् कुशीलवान् ।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा॥५१॥

नरश्रेष्ठ ! जब युद्ध छिड़ा हो, तब राजाको चाहिये कि वह नगरसे भिखमंगों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करनेवालोंको बाहर निकाल दे; अन्यथा वे बड़ी भारी विपत्ति ला सकते हैं ॥ ५१ ॥

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात् सर्वस्य पार्थिवः ॥ ५२ ॥

राजाको चाहिये कि वह चौराहोंपर, तीर्थोंमें, सभाओंमें और धर्मशालाओंमें सबकी मनोवृत्तिको जाननेके लिये किसी शुद्ध वर्णवाले पुरुषको (जो वर्णसंकर न हो) गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ५२ ॥

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः ।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥ ५३ ॥

प्रत्येक नरेशको बड़ी-बड़ी सड़कें बनवानी चाहिये और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार जलक्षेत्र और बाजारों-की व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

भाण्डागारायुधागारान् योधागारांश्च सर्वशः ।
अश्वागारान् गजागारान् बलाधिकरणानि च ॥ ५४ ॥
परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च ।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! अन्नके भण्डार, शस्त्रागार, योद्धाओंके निवासस्थान, अश्वशालाएँ, गजशालाएँ, सैनिक शिविर, खाई, गलियाँ तथा राजमहलके उद्यान—इन सब स्थानोंको गुप्तरीतिसे बनवाना चाहिये, जिससे कभी दूसरा कोई देख न सके ॥५४-५५॥

अर्थसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः ।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥ ५६ ॥
अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम् ।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयीत च संचयान् ॥ ५७ ॥

शत्रुओंकी सेनासे पीड़ित हुआ राजा धन-संचय तथा आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके रखे । घायलोंकी चिकित्साके लिये तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकारके औषध, अङ्गारे, कुश, मूँज, ढाक, बाण, लेखक, घास और विषमें बुझाये हुए बाणोंका भी संग्रह करावे ॥ ५६-५७ ॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार राजाको चाहिये कि शक्ति, ऋष्टि और प्रास आदि सब प्रकारके आयुधों, कवचों तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करावे ॥ ५८ ॥

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च ।
चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः ॥ ५९ ॥

सब प्रकारके औषध, मूल, फूल तथा विषका नाश करनेवाले, घावपर पट्टी करनेवाले, रोगोंको निवारण करनेवाले और कृत्याका नाश करनेवाले—इन चार प्रकारके वैद्योंका विशेष रूपसे संग्रह करे ॥ ५९ ॥

नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ६० ॥

साधारण स्थितिमें राजाको नटों, नर्तकों, पहलवानों तथा इन्द्रजाल दिखानेवालोंको भी अपने यहाँ आश्रय देना चाहिये; क्योंकि ये राजधानीकी शोभा बढ़ाते हैं और सबको अपने खेलोंसे आनन्द प्रदान करते हैं ॥ ६० ॥

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥ ६१ ॥

यदि राजाको अपने किसी नौकरसे, मन्त्रीसे, पुरवासियोंसे अथवा किसी पड़ोसी राजासे भी कोई संदेह हो जाय तो समयोचित उपायोंद्वारा उन सबको अपने वशमें कर ले ॥

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसंचयैः ।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! जब कोई अभीष्ट कार्य पूरा हो जाय तो उसमें सहयोग करनेवालोंका बहुत-से धन, यथायोग्य पुरस्कार तथा नाना प्रकारके सान्त्वनापूर्ण मधुर वचनके द्वारा सत्कार करना चाहिये ॥ ६२ ॥

निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन ।
ततोऽनृणो भवेद् राजा यथा शास्त्रे निदर्शितम् ॥ ६३ ॥

कुरुनन्दन ! राजा शत्रुको ताड़ना आदिके द्वारा खिन्न करके अथवा उसका वध करके फिर उसवंशमें हुए राजाका जैसा शास्त्रोंमें बताया गया है, उसके अनुसार दान-मानादिद्वारा सत्कार करके उससे उऋण हो जाय ॥ ६३ ॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे ।
आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ६५ ॥

कुरुनन्दन ! राजाको उचित है कि सात वस्तुओंकी अवश्य रक्षा करे । वे सात कौन हैं ? यह मुझसे सुनो । राजाका अपना शरीर, मन्त्री, कोश, दण्ड (सेना), मित्र, राष्ट्र और नगर—ये राज्यके सात अङ्ग हैं, राजाको इन सबका प्रयत्न-पूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुङ्क्ते पृथिवीमिमाम् ॥६६॥

पुरुषसिंह ! जो राजा छः गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग—इन सबको अच्छी तरह जानता है, वही इस पृथ्वी-का उपभोग कर सकता है ॥ ६६ ॥

षाड्गुण्यमिति यत् प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
संधानासनमित्येव यात्रासंधानमेव च ॥ ६७ ॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां सम्परिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर ! इनमेंसे जो छः गुण कहे गये हैं, उनका परिचय सुनो, शत्रुसे संधि करके शान्तिसे बैठ जाना, शत्रुपर चढ़ाई करना, वैर करके बैठ रहना, शत्रुको डरानेके लिये आक्रमणका प्रदर्शनमात्र करके बैठ जाना, शत्रुओंमें भेद डलवा देना तथा किसी दुर्ग या दुर्जय राजाका आश्रय लेना॥

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥ ६९ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७० ॥

जिन वस्तुओंको त्रिवर्गके अन्तर्गत बताया गया है, उनको

भी यहाँ एकचित्त होकर सुनो। क्षय, स्थान और वृद्धि—ये ही त्रिवर्ग हैं तथा धर्म, अर्थ और काम—इनको परम त्रिवर्ग कहा गया है। इन सबका समयानुसार सेवन करना चाहिये। राजा धर्मके अनुसार चले तो वह पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन कर सकता है ॥ ६९-७० ॥

अस्मिन्नर्थे च श्लोकौ द्वौ गीतावङ्गिरसा स्वयम्।
यादवीपुत्र भद्रं ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥ ७१ ॥

पृथापुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो। इस विषयमें साक्षात् बृहस्पतिजीने जो दो श्लोक कहे हैं, उन्हें भी तुम सुनो ॥

कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम्।
पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते ॥ ७२ ॥

'सारे कर्तव्योंको पूरा करके पृथ्वीका अच्छी तरह पालन तथा नगर एवं राष्ट्रकी प्रजाका संरक्षण करनेसे राजा परलोकमें सुख पाता है ॥ ७२ ॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ ७३ ॥

'जिस राजाने अपनी प्रजाका अच्छी तरह पालन किया है, उसे तपस्यासे क्या लेना है? उसे यज्ञोंका भी अनुष्ठान करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता है'॥

(श्लोकाश्चोशनसा गीतास्तान् निबोध युधिष्ठिर।
दण्डनीतेश्च यन्मूलं त्रिवर्गस्य च भूपते ॥
भार्गवाङ्गिरसं कर्म षोडशाङ्गं च यद् बलम्।
विषं माया च दैवं च पौरुषं चार्थसिद्धये ॥
प्रागुदक्प्रवणं दुर्गं समासाद्य महीपतिः।
त्रिवर्गत्रयसम्पूर्णमुपादाय तमुद्वहेत् ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें शुक्राचार्यके कहे हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें सुनो। राजन् ! उन श्लोकोंमें जो भाव है, वह दण्डनीति तथा त्रिवर्गका मूल है। भार्गवाङ्गिरस-कर्म, षोडशाङ्ग बल, विष, माया, दैव और पुरुषार्थ—ये सभी वस्तुएँ राजाकी अर्थसिद्धिके कारण हैं। राजाको चाहिये, जिसमें पूर्व और उत्तर दिशाकी भूमि नीची हो तथा जो तीनों प्रकारके त्रिवर्गोंसे परिपूर्ण हो उस दुर्गका आश्रय ले राज्यकार्यका भार वहन करे॥

षट् पञ्च च विनिर्जित्य दश चाष्टौ च भूपतिः।
त्रिवर्गैर्दशभिर्युक्तः सुरैरपि न जीयते ॥

षड्वर्ग[1] पञ्चवर्ग[2], दस[3] दोष और आठ दोष[4]—इन सबको जीतकर त्रिवर्ग[5]युक्त एवं दस[6] वर्गोंके ज्ञानसे सम्पन्न हुआ राजा देवताओंद्वारा भी जीता नहीं जा सकता॥

न बुद्धिं परिगृह्णीत स्त्रीणां मूर्खजनस्य च।
दैवोपहतबुद्धीनां ये च वेदैर्विवर्जिताः ॥
न तेषां शृणुयाद् राजा बुद्धिस्तेषां पराङ्मुखी।

राजा कभी स्त्रियों और मूर्खोंसे सलाह न ले। जिनकी बुद्धि दैवसे मारी गयी है तथा जो वेदोंके ज्ञानसे शून्य हैं, उनकी बात राजा कभी न सुने; क्योंकि उन लोगोंकी बुद्धि नीतिसे विमुख होती है ॥

स्त्रीप्रधानानि राज्यानि विद्वद्भिर्वर्जितानि च ॥
मूर्खामात्यप्रतप्तानि शुष्यन्ते जलबिन्दुवत्।

जिन राज्योंमें स्त्रियोंकी प्रधानता हो और जिन्हें विद्वानोंने छोड़ रक्खा हो; वे राज्य मूर्ख मन्त्रियोंसे संतप्त होकर पानीकी बूँदके समान सूख जाते हैं ॥

विद्वांसः प्रथिता ये च ये चाप्ताः सर्वकर्मसु ॥
युद्धेषु दृष्टकर्माणस्तेषां च शृणुयान्नृपः।

जो अपनी विद्वत्ताके लिये विख्यात हों, सभी कार्योंमें विश्वासके योग्य हों तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके कार्य देखे गये हों, ऐसे मन्त्रियोंकी ही बात राजाको सुननी चाहिये ॥

दैवं पुरुषकारं च त्रिवर्गं च समाश्रितः ॥
दैवतानि च विप्रांश्च प्रणम्य विजयी भवेत्।)

दैव, पुरुषार्थ और त्रिवर्गका आश्रय ले देवताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके युद्धकी यात्रा करनेवाला राजा विजयी होता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७४॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! दण्डनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं। इनमेंसे किसके क्या करनेसे कार्य-सिद्धि होती है ? यह मुझे बताइये ॥ ७४ ॥

भीष्म उवाच

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः।
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥ ७५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! भरतनन्दन ! दण्डनीतिसे राजा और प्रजाके जिस महान् सौभाग्यका उदय होता है, उसका

---

१. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः आन्तरिक शत्रुओंके समुदायको षड्वर्ग कहते हैं, इनको पूर्णरूपसे जीत लेनेवाला नरेश ही सर्वत्र विजयी होता है।

२. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंके समूहको ही पञ्चवर्ग कहते हैं। इन सबको क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंमें आसक्त न होने देना ही इनपर विजय पाना है।

३. आखेट, जूआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रियोंमें आसक्त होना, मद्य पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना—ये कामजनित दस दोष हैं, जिनपर राजाको विजय पाना चाहिये। इनको सर्वथा त्याग देना ही इनपर विजय पाना है।

४. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष राजाके लिये त्याज्य हैं।

५. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं।

६. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड-ये पाँच ही अपने और शत्रुवर्गके मिलाकर दस वर्ग कहलाते हैं। इनकी पूरी जानकारी रखनेपर राजाको अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका पूर्ण ज्ञान होता है।

मैं लोकप्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त शब्दोंद्वारा वर्णन करता हूँ, तुम यथावत् रूपसे यहाँ उसे सुनो ॥ ७५ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ ७६ ॥

यदि राजा दण्डनीतिका उत्तम रीतिसे प्रयोग करे तो वह चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें बलपूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्मकी ओर जानेसे रोक देती है ॥ ७६ ॥

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ७७ ॥
साम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि ।
तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार दण्डनीतिके प्रभावसे जब चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मोंमें संलग्न रहते हैं, धर्ममर्यादामें संकीर्णता नहीं आने पाती और प्रजा सब ओरसे निर्भय एवं कुशलपूर्वक रहने लगती है, तब तीनों वर्णोंके लोग विधिपूर्वक स्वाथ्य-रक्षाका प्रयत्न करते हैं । युधिष्ठिर ! इसीमें मनुष्योंका सुख निहित है, यह तुम्हें ज्ञात होना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ ७९ ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका, ऐसा संशय तुम्हें नहीं होना चाहिये ।यह निश्चित है कि राजा ही कालका कारण होता है ॥ ७९ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥ ८० ॥

जिस समय राजा दण्डनीतिका पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथ्वीपर पूर्णरूपसे सत्ययुगका आरम्भ हो जाता है । राजासे प्रभावित हुआ समय ही सत्ययुगकी सृष्टि कर देता है ॥ ८० ॥

ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥ ८१ ॥

उस सत्ययुगमें धर्म-ही-धर्म रहता है, अधर्मका कहीं नाम-निशान भी नहीं दिखायी देता तथा किसी भी वर्णकी अधर्ममें रुचि नहीं होती ॥ ८१ ॥

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ ८२ ॥

उस समय प्रजाके योगक्षेम स्वतः सिद्ध होते रहते हैं तथा सर्वत्र वैदिक गुणोंका विस्तार हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है ॥८२॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥

सभी ऋतुएँ सुखदायिनी और आरोग्य बढ़ानेवाली होती हैं । मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन स्वच्छ एवं प्रसन्न होते हैं ॥ ८३ ॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥

इस जगत्में उस समय रोग नहीं होते, कोई भी मनुष्य अल्पायु नहीं दिखायी देता, स्त्रियाँ विधवा नहीं होती हैं तथा कोई भी मनुष्य दीन-दुखी नहीं होता है ॥ ८४ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥

पृथ्वीपर विना जोते-बोये ही अन्न पैदा होता है, ओषधियाँ भी स्वतः उत्पन्न होती हैं; उनकी छाल, पत्ते, फल और मूल सभी शक्तिशाली होते हैं ॥ ८५ ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६॥

सत्ययुगमें अधर्मका सर्वथा अभाव हो जाता है । उस समय केवल धर्म-ही-धर्म रहता है। युधिष्ठिर ! इन सबको सत्ययुगके धर्म समझो ॥ ८६ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥ ८७ ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥

जब राजा दण्डनीतिके एक चौथाई अंशको छोड़कर केवल तीन अंशोंका अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग प्रारम्भ हो जाता है । उस समय अशुभका चौथा अंश पुण्यके तीन अंशोंके पीछे लगा रहता है । उस अवस्थामें पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अन्न पैदा होता है । ओषधियाँ भी उसी तरह पैदा होती हैं ॥ ८७-८८ ॥

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

जब राजा दण्डनीतिके आधे भागको त्यागकर आधेका अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युगका आरम्भ हो जाता है ॥ ८९ ॥

अशुभस्य यदा त्वर्धे द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥ ९० ॥

उस समय पापके दो भाग, पुण्यके दो भागोंका अनुसरण करते हैं। पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अनाज पैदा होता है; परंतु आधी फसलमें ही फल लगते हैं, आधी मारी जाती है ॥ ९० ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥

जब राजा समूची दण्डनीतिका परित्याग करके अयोग्य उपायोंद्वारा प्रजाको कष्ट देने लगता है, तब कलियुगका आरम्भ हो जाता है ॥ ९१ ॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ ९२ ॥

कलियुगमें अधर्म तो अधिक होता है; परंतु धर्मका पालन कहीं नहीं देखा जाता । सभी वर्णोंका मन अपने धर्मसे च्युत हो जाता है ॥ ९२ ॥

शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसंकरः ॥ ९३ ॥

शूद्र भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करते हैं और ब्राह्मण सेवा

वृत्तिसे । प्रजाके योगक्षेमका नाश हो जाता है और सब ओर वर्णसंकरता फैल जाती है ॥ ९३ ॥

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ ९४ ॥

वैदिक कर्म विधिपूर्वक सम्पन्न न होनेके कारण गुणहीन हो जाते हैं। प्रायः सभी ऋतुएँ सुखरहित तथा रोग प्रदान करनेवाली हो जाती हैं ॥ ९४ ॥

ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥

मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन मलिन हो जाते हैं । सबको रोग-व्याधि सताने लगती है और लोग अल्पायु होकर छोटी अवस्थामें ही मरने लगते हैं ॥ ९५ ॥

विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् सस्यं प्ररोहति ॥ ९६ ॥

इस युगमें स्त्रियाँ प्रायः विधवा होती हैं, प्रजा क्रूर हो जाती है, बादल कहीं-कहीं पानी बरसाते हैं और कहीं-कहीं ही धान उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ॥ ९७ ॥

जब राजा दण्डनीतिमें प्रतिष्ठित होकर प्रजाकी भली-भाँति रक्षा करना नहीं चाहता है, उस समय इस पृथ्वीके सारे रस ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ ९८ ॥

राजा ही सत्ययुगकी सृष्टि करनेवाला होता है और राजा ही त्रेता, द्वापर तथा चौथे युग कलिकी भी सृष्टिका कारण है ॥९८॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते॥ ९९ ॥

सत्ययुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी सृष्टि करनेसे राजाको स्वर्ग तो मिलता है; परंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ ९९ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥१००॥

द्वापरका प्रसार करनेसे वह अपने पुण्यके अनुसार कुछ कालतक स्वर्गका सुख भोगता है; परंतु कलियुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अत्यन्त पापका भागी होना पड़ता है॥१००॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति ॥१०१॥

तदनन्तर वह दुराचारी राजा उस पापके कारण बहुत वर्षोंतक नरकमें निवास करता है । प्रजाके पापमें डूबकर वह अपयश और पापके फलस्वरूप दुःखका ही भागी होता है१०१

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा ।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥१०२॥

अतः विज्ञ क्षत्रियनरेशको चाहिये कि वह सदा दण्डनीतिको सामने रखकर उसके द्वारा अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करे । इसके द्वारा प्रजाके योगक्षेम सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १०२ ॥

(योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।)
लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी ।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥१०३॥

यदि दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय तो वह बालककी रक्षा करनेवाले माता-पिताके समान लोककी सुन्दर व्यवस्था करनेवाली और धर्ममर्यादा तथा जगत्की रक्षामें समर्थ होती है ॥ १०३ ॥

यस्यां भवन्ति भूतानि तद् विद्धि मनुजर्षभ ।
एष एव परो धर्मो यद् राजा दण्डनीतिमान् ॥१०४॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि समस्त प्राणी दण्डनीतिके आधारपर ही टिके हुए हैं । राजा दण्डनीतिसे युक्त हो उसीके अनुसार चले—यही उसका सबसे बड़ा धर्म है॥१०४॥

तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् ।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥१०५॥

अतः कुरुनन्दन ! तुम दण्डनीतिका आश्रय ले धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो । यदि नीतियुक्त व्यवहारसे रहकर प्रजाकी रक्षा करोगे तो दुर्जय स्वर्गको जीत लोगे ॥ १०५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल ११६½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

राजाको इहलोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान् सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—आचारके ज्ञाता पितामह ! किस प्रकारका आचरण करनेसे राजा इहलोक और परलोकमें भी भविष्यमें सुख देनेवाले पदार्थोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान् गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दया और उदारता आदि गुणोंसे युक्त राजा जिन गुणोंको आचरणमें लाकर उत्कर्ष लाभ कर सकता है, वे छत्तीस प्रकारके गुण हैं । राजाको चाहिये कि वह इन छत्तीस गुणोंसे सम्पन्न होनेकी चेष्टा करे ॥ २ ॥

चरेद् धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिकः।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ॥ ३ ॥

(अब मैं क्रमशः उन गुणोंका वर्णन करता हूँ) १—धर्मका आचरण करे, किंतु कटुता न आने दे। २—आस्तिक रहते हुए दूसरोंके साथ प्रेमका बर्ताव न छोड़े। ३—क्रूरताका आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। ४—मर्यादाका अतिक्रमण न करते हुए ही विषयोंको भोगे ॥ ३ ॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥ ४ ॥

५—दीनता न लाते हुए ही प्रिय भाषण करे। ६-शूर-वीर बने, किंतु बढ़-बढ़कर बातें न बनावे। ७-दान दे, परंतु अपात्रको नहीं। ८—साहसी हो, किंतु निष्ठुर न हो ॥ ४ ॥

संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया ॥ ५ ॥

९—दुष्टोंके साथ मेल न करे। १०-बन्धुओंके साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। ११—जो राजभक्त न हो,ऐसे गुप्तचरसे काम न ले। १२—किसीको कष्ट पहुँचाये बिना ही अपना कार्य करे॥५॥

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥

१३— दुष्टोंसे अपना अभीष्ट कार्य न कहे। १४—अपने गुणोंका स्वयं ही वर्णन न करे। १५—श्रेष्ठ पुरुषोंसे उनका धन न छीने। १६—नीच पुरुषोंका आश्रय न ले ॥ ६ ॥

नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ ७ ॥

१७—अपराधकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना ही किसीको दण्ड न दे। १८—गुप्त मन्त्रणाको प्रकट न करे। १९—लोभियोंको धन न दे। २०—जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उनपर विश्वास न करे ॥ ७ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥ ८ ॥

२१—ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्रीकी रक्षा करे। २२-राजा शुद्ध रहे; किंतु किसीसे घृणा न करे। २३-स्त्रियोंका अधिक सेवन न करे। २४—शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे, परंतु अहितकर भोजन न करे ॥ ८ ॥

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया।
अर्चेद् देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥

२५—उद्दण्डता छोड़कर विनीतभावसे माननीय पुरुषोंका आदर-सत्कार करे। २६-निष्कपटभावसे गुरुजनोंकी सेवा करे। २७-दम्भहीन होकर देवताओंकी पूजा करे। २८—अनिन्दित उपायसे धन-सम्पत्ति पानेकी इच्छा करे ॥ ९ ॥

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥

२९—हठ छोड़कर प्रीतिका पालन करे। ३०—कार्य-कुशल हो, किंतु अवसरके ज्ञानसे शून्य न हो। ३१—केवल पिण्ड छुड़ानेके लिये किसीको सान्त्वना या भरोसा न दे। ३२—किसीपर कृपा करते समय आक्षेप न करे ॥ १० ॥

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून् न शोचयेत्।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥

३३—बिना जाने किसीपर प्रहार न करे। ३४—शत्रुओंको मारकर शोक न करे। ३५—अकस्मात् किसीपर क्रोध न करे तथा ३६—कोमल हो, परंतु अपकार करनेवालोंके लिये नहीं ॥

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर! यदि इस लोकमें कल्याण चाहते हो तो राज्यपर स्थित रहकर ऐसा ही बर्ताव करो; क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा बड़ी भारी विपत्ति या भयमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥

जो राजा यथार्थरूपसे बताये गये इन सभी गुणोंका अनुवर्तन करता है, वह इस जगत्में कल्याणका अनुभव करके मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इदं वचः शान्तनवस्य शुश्रुवान्
युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः।
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो
यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मका यह उपदेश सुनकर पाण्डवोंसे और प्रधान राजाओंसे घिरे हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने जैसा बताया था, वैसा ही किया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धर्मपूर्वक प्रजाका पालन ही राजाका महान् धर्म है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते।
धर्मेण नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! किस प्रकार प्रजाका पालन करनेवाला राजा चिन्तामें नहीं पड़ता और धर्मके विषयमें अपराधी नहीं होता, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

समासेनैव ते राजन् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! मैं संक्षेपसे ही तुम्हारे लिये सनातन राजधर्मोंका वर्णन करूँगा। विस्तारसे वर्णन आरम्भ करूँ तो उन धर्मोंका कभी अन्त ही नहीं हो सकता ॥ २ ॥

धर्मनिष्ठाञ्छ्रुतवतो वेदव्रतसमाहितान् ।
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥ ३ ॥
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।
अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥

जब घरपर वेदव्रतपरायण, शास्त्रज्ञ एवं धर्मिष्ठ गुणवान् ब्राह्मण पधारें, उस समय उन्हें देखते ही खड़े हो उनका स्वागत करो। उनके चरण पकड़कर प्रणाम करो और उनकी विधिपूर्वक अर्चन करके पूजा करो। तदनन्तर पुरोहितको साथ लेकर समस्त आवश्यक कार्य सम्पन्न करो ॥ ३-४ ॥

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च ।
ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥

पहले संध्या-वन्दन आदि धार्मिक कृत्य पूर्ण करके माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थसिद्धि एवं विजयके लिये उनके आशीर्वाद ग्रहण करो ॥ ५ ॥

आर्जवेन च सम्पन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत ।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

भरतनन्दन! राजाको चाहिये कि वह सरल स्वभावसे सम्पन्न हो, धैर्य तथा बुद्धिके बलसे सत्यको ही ग्रहण करे और काम-क्रोधका परित्याग कर दे ॥ ६ ॥

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति ।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥ ७ ॥

जो राजा काम और क्रोधका आश्रय लेकर धन पैदा करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्मको पाता है और न धन ही उसके हाथ लगता है ॥ ७ ॥

मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः ।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

तुम लोभी और मूर्ख मनुष्योंको काम और अर्थके साधनमें न लगाओ। जो लोभरहित और बुद्धिमान् हों, उन्हींको समस्त कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥ ९ ॥

जो कार्यसाधनमें कुशल नहीं है और काम तथा क्रोधके वशमें पड़ा हुआ है, ऐसे मूर्ख मनुष्यको यदि अर्थसंग्रहका अधिकारी बना दिया जाय तो वह अनुचित उपायसे प्रजाओंको क्लेश पहुँचाता है ॥ ९ ॥

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥

प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करके, उचित शुल्क या टैक्स लेकर, अपराधियोंको आर्थिक दण्ड देकर तथा शास्त्रके अनुसार व्यापारियोंकी रक्षा आदि करनेके कारण उनके दिये हुए वेतन लेकर इन्हीं उपायों तथा मार्गोंसे राजाको धन-संग्रहकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ १० ॥

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि ।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ ११ ॥

प्रजासे धर्मानुकूल कर ग्रहण करके राज्यका नीतिके अनुसार विधिपूर्वक पालन करते हुए राजाको आलस्य छोड़कर प्रजावर्गके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ११ ॥

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् ।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥

जो राजा आलस्य छोड़कर राग-द्वेषसे रहित हो सदा प्रजाकी रक्षा करता है, दान देता है तथा निरन्तर धर्म एवं न्यायमें तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजावर्गके सभी लोग अनुरक्त होते हैं ॥ १२ ॥

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥

राजन्! तुम लोभवश अधर्ममार्गसे धन पानेकी कभी इच्छा न करना; क्योंकि जो लोग शास्त्रके अनुसार नहीं चलते हैं, उनके धर्म और अर्थ दोनों ही अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं ॥ १३ ॥

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थौ नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥

शास्त्रसे विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्मकी सिद्धि कर पाता है और न अर्थकी ही। यदि उसे धन मिल भी जाय तो वह सारा ही बुरे कामोंमें नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः ॥ १५ ॥

जो धनका लोभी राजा मोहवश प्रजासे शास्त्रविरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है ॥ १५ ॥

ऊधश्छिन्द्यात् तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ १६ ॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य यदि गायका थन काट ले तो इससे वह दूध नहीं पा सकता, उसी प्रकार राज्यमें रहनेवाली प्रजाका अनुचित उपायसे शोषण किया जाय तो उससे राष्ट्रकी उन्नति नहीं होती ॥ १६ ॥

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥

जो दूध देनेवाली गायकी प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है; इसी प्रकार उचित उपायसे राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठाता है ॥ १७ ॥

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! न्यायसङ्गत उपायसे राष्ट्रको सुरक्षित रखते हुए

उसका उपभोग किया जाय अर्थात् करके रूपमें उससे धन लिया जाय तो वह सदा राजाके कोशकी अनुपम वृद्धि करता है ॥ १८ ॥

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥ १९ ॥

जैसे माता स्वयं तृप्त रहनेपर ही बालकको यथेष्ट दूध पिलाती है, उसी प्रकार राजासे सुरक्षित होनेपर ही यह दुधारू गायके समान पृथ्वी राजाके स्वजनों तथा दूसरे लोगोंको सदा अन्न एवं सुवर्ण देती है ॥ १९ ॥

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! तुम मालीके समान बनो। कोयला बनानेवालेके समान न बनो (माली वृक्षकी जड़को सींचता और उसकी रक्षा करता है, तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परंतु कोयला बनानेवाला वृक्षको समूल नष्ट कर देता है; उसी प्रकार तुम भी माली बनकर राज्यरूपी उद्यानको सींचकर सुरक्षित रक्खो और फल-फूलकी तरह प्रजासे न्यायोचित कर लेते रहो, कोयला बनानेवालेकी तरह सारे राज्यको जलाकर भस्म न करो), ऐसा करके प्रजापालनमें तत्पर रहकर तुम दीर्घकालतक राज्यका उपभोग कर सकोगे ॥ २० ॥

परचक्राभियानेन यदि ते स्याद् धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ ॥

यदि शत्रुओंके आक्रमणसे तुम्हारे धनका नाश हो जाय तो भी सान्त्वनापूर्ण मधुर वाणीद्वारा ही ब्राह्मणेतर प्रजासे धन लेनेकी इच्छा रक्खो ॥ २१ ॥

मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! धनसम्पन्न अवस्थाकी तो बात ही क्या है ? तुम अत्यन्त निर्धन अवस्थामें पड़ जाओ तो भी ब्राह्मणको धनी देखकर उसका धन लेनेके लिये तुम्हारा मन चञ्चल नहीं होना चाहिये ॥२२॥

धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन् परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥ २३ ॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंको सान्त्वना देते और उनकी रक्षा करते हुए उन्हें यथाशक्ति यथायोग्य धन देते रहना, इससे तुम्हें दुर्जय स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ २३ ॥

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय ।
स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! इस प्रकार तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाजनोंका पालन करो । इससे परिणाममें सुखद पुण्य तथा चिरस्थायी यश प्राप्त कर लोगे ॥ २४ ॥

धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर यथा युक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाका पालन करते रहो, जिससे युक्त रहकर तुम्हें कभी भी चिन्ता या पश्चात्ताप न हो ॥ २५ ॥

एष एव परो धर्मो यद् राजा रक्षति प्रजाः ।
भूतानां हि यथा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ २६ ॥

राजा जो प्रजाकी रक्षा करता है, यही उसका सबसे बड़ा धर्म है । समस्त प्राणियोंकी रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही महान् धर्म है ॥ २६ ॥

तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः ।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥

इसलिये जो राजा प्रजापालनमें तत्पर रहकर प्राणियोंपर दया करता है, उसके इस बर्तावको धर्मज्ञ पुरुष परम धर्म मानते हैं ॥ २७ ॥

यदह्ना कुरुते पापमरक्षन् भयतः प्रजाः ।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥

राजा प्रजाकी भयसे रक्षा न करनेके कारण एक दिनमें जिस पापका भागी होता है, उसका परिणाम उसे एक हजार वर्षोंतक भोगना पड़ता है ॥ २८ ॥

यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दशवर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥ २९ ॥

और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेके कारण राजा एक दिनमें जिस धर्मका भागी होता है, उसका फल वह दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें रहकर भोगता है ॥ २९ ॥

स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकाञ्जयति यावतः ।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

उत्तम यज्ञके द्वारा गृहस्थ-धर्मका, उत्तम स्वाध्यायके द्वारा ब्रह्मचर्यका तथा श्रेष्ठ तपके द्वारा वानप्रस्थ-धर्मका पालन करनेवाला पुरुष जितने पुण्यलोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है, धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाला राजा उन्हें क्षणभरमें पा लेता है ॥ ३० ॥

एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय ।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक धर्मका पालन करो। इससे पुण्यका फल पाकर तुम कभी चिन्तामें नहीं पड़ोगे ॥

स्वर्गलोके सुमहतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव ।
असम्भवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! धर्म-पालन करनेसे स्वर्गलोकमें तुम्हें बड़ी भारी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होगी । जो राजा नहीं हैं, उन्हें ऐसे धर्मोंका लाभ मिलना असम्भव है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात् ।
स राज्यं धृतिमान् प्राप्य धर्मेण परिपालय ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥

इसलिये धर्मात्मा राजा ही ऐसे धर्मका फल पाता है,

दूसरा नहीं। तुम धैर्यवान् तो हो ही। यह राज्य पाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यज्ञमें सोमरसद्वारा इन्द्रको तृप्त करो और मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करके सुहृदोंको संतुष्ट करो॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके लिये सदाचारी विद्वान् पुरोहितकी आवश्यकता तथा प्रजापालनका महत्त्व

भीष्म उवाच

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राज्ञः कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः॥ १॥

भीष्मजीने कहा--राजन्! राजाको चाहिये कि वह एक ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको अपना पुरोहित बनावे, जो उसके सत्कर्मोंकी रक्षा करे और उसे असत् कर्मसे दूर रक्खे (तथा जो उसके शुभकी रक्षा और अशुभका निवारण करे)॥ १॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुरूरवस ऐलस्य संवादं मातरिश्वनः॥ २॥

इस विषयमें विद्वान् लोग इला-कुमार पुरूरवा तथा वायुके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ २॥

पुरूरवा उवाच

कुतःस्विद् ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः।
कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! ब्राह्मणकी उत्पत्ति किससे हुई है? अन्य तीनों वर्ण भी किससे उत्पन्न हुए हैं तथा ब्राह्मण उन सबसे श्रेष्ठ क्यों है? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें॥ ३॥

मातरिश्वोवाच

ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च॥ ४॥

वायुने कहा—नृपश्रेष्ठ! ब्रह्माजीके मुखसे ब्राह्मणकी, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियकी तथा दोनों ऊरुओंसे वैश्यकी सृष्टि हुई है॥ ४॥

वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः पश्चात् तु पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद इन तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये ब्रह्माजीके दोनों पैरोंसे चौथे वर्ण शूद्रकी रचना हुई॥ ५॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥ ६॥

ब्राह्मण जन्मकालसे ही भूतलपर धर्मकोषकी रक्षाके लिये अन्य सब वर्णोंका नियन्ता होता है॥ ६॥

अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारिणम्।
द्वितीयं वर्णमकरोत् प्रजानामनुगुप्तये॥ ७॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने पृथ्वीपर शासन करनेवाले और दण्ड-धारणमें समर्थ दूसरे वर्ण क्षत्रियको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किया॥ ७॥

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयादिमान्।
शूद्रो ह्येतान् परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम्॥ ८॥

वैश्य धन-धान्यके द्वारा इन तीनों वर्णोंका पोषण करे और शूद्र शेष तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहे, यह ब्रह्माजीका आदेश है॥ ८॥

ऐल उवाच

द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत्।
धर्मतः सह वित्तेन सम्यग् वायो प्रचक्ष्व मे॥ ९॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! धन-धान्यसहित यह पृथ्वी धर्मतः किसकी है? ब्राह्मणकी या क्षत्रियकी? यह मुझे ठीक-ठीक बताइये॥ ९॥

वायुरुवाच

विप्रस्य सर्वमेवैतद् यत् किंचिज्जगतीगतम्।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्मकुशला विदुः॥ १०॥

वायुदेवने कहा—राजन्! धर्मनिपुण विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तम स्थानसे उत्पन्न और ज्येष्ठ होनेके कारण इस पृथ्वीपर जो कुछ है, वह सब ब्राह्मणका ही है॥ १०॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः॥ ११॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है। निश्चय ही ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है॥ ११॥

पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।
आनन्तर्यात् तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्।
एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेत् ततः॥ १२॥

जैसे वाग्दानके अनन्तर पतिके मर जानेपर स्त्री देवरको पति बनाती है*, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके बाद ही क्षत्रियका पतिरूपमें वरण करती है, यह तुम्हें मैंने अनादि कालसे प्रचलित प्रथम श्रेणीका नियम बताया है। आपत्तिकालमें इसमें फेर-फार भी हो सकता है॥ १२॥

यदि स्वर्गे परं स्थानं स्वधर्मं परिमार्गसि।
यत् किंचिज्जयसे भूमिं ब्राह्मणाय निवेदय॥ १३॥
श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्मज्ञाय तपस्विने।
स्वधर्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत्॥ १४॥

यदि तुम स्वधर्म-पालनके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें उत्तम स्थानकी खोज कर रहे हो (चाहते हो) तो जितनी

* यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
(मनु० ९।६९)

भूमिपर तुम विजय प्राप्त करो, वह सब शास्त्र और सदाचारसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, तपस्वी तथा स्वधर्मसे संतुष्ट ब्राह्मणको पुरोहित बनाकर सौंप दो, जो कि धनोपार्जनमें आसक्त न हो ॥ १३-१४॥

यो राजानं नयेद् बुद्ध्या सर्वतः परिपूर्णया ।
ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवान् ॥ १५ ॥
श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् ।
राजा चरति यद् धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम् ॥ १६ ॥

तथा जो सर्वतोभावसे परिपूर्ण अपनी बुद्धिके द्वारा राजाको सन्मार्गपर ले जा सके; क्योंकि जो ब्राह्मण उत्तम कुलमें उत्पन्न, विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और विनयशील होता है, वह विचित्र वाणी बोलकर राजाको कल्याणके पथपर ले जाता है। जो ब्राह्मणका बताया हुआ धर्म है, उसीको राजा आचरणमें लाता है ॥ १५-१६ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ।
तावता सत्कृतः प्राज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ १७ ॥
तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः ।

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला, अहंकारशून्य तथा पुरोहितकी बात सुननेके लिये उत्सुक उतनेसे ही सम्मानको प्राप्त हुआ विद्वान् नरेश चिरकालतक यशस्वी बना रहता है तथा राजपुरोहित उसके सम्पूर्ण धर्मका भागीदार होता है ॥ १७½ ॥

एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः ॥ १८ ॥
सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद् भयान्विताः ।

इस प्रकार राजाके आश्रयमें रहकर सारी प्रजा सदाचार-परायण, अपने-अपने धर्ममें तत्पर और सब ओरसे निर्भय हो जाती है ॥ १८½ ॥

राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः ॥ १९ ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागं तु विन्दति ।

राजाके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित हुए मनुष्य राज्यमें जिस धर्मका आचरण करते हैं, उसका एक चौथाई भाग राजा भी प्राप्त कर लेता है ॥ १९½ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ २० ॥
यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके ।

देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सबके सब यज्ञका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; परंतु जहाँ कोई राजा नहीं है, उस राज्यमें यज्ञ नहीं होता है ॥ २०½ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ॥ २१ ॥
राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः ।

देवता और पितर भी इस मर्त्यलोकसे ही दिये गये यज्ञ और श्राद्धसे जीवन यापन करते हैं। अतः इस धर्मका योगक्षेम राजापर ही अवलम्बित है ॥ २१½ ॥

छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति॥ २२ ॥
अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति ।

जब गर्मी पड़ती है, उस समय मनुष्य छायामें, जलमें और वायुमें सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार सर्दी पड़नेपर अग्नि और सूर्यके तापसे तथा कपड़ा ओढ़नेसे उसे सुख मिलता है (परंतु अराजकताका भय उपस्थित होनेपर मनुष्यको कहीं किसी वस्तुसे भी सुख प्राप्त नहीं होता है) ॥ २२½ ॥

शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः ॥ २३ ॥
तेषु भोगेषु सर्वेषु न भीतो लभते सुखम् ।
अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत् फलम् ।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २४ ॥

साधारण अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका मन शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्धमें आनन्दका अनुभव करता है; परंतु भयभीत मनुष्यको उन सभी भोगोंमें कोई सुख नहीं मिलता है, इसलिये जो अभयदान करनेवाला है, उसीको महान् फलकी प्राप्ति होती है; क्योंकि तीनों लोकोंमें प्राण-दानके समान दूसरा कोई दान नहीं है ॥ २३-२४ ॥

इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च ।
राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥ २५ ॥

राजा इन्द्र है, राजा यमराज है तथा राजा ही धर्मराज है। राजा अनेक रूप धारण करता है और राजाने ही इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रक्खा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विद्वान् सदाचारी पुरोहितकी आवश्यकता तथा ब्राह्मण और क्षत्रियमें मेल रहनेसे लाभविषयक राजा पुरूरवाका उपाख्यान

भीष्म उवाच

राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद् विद्वान् बहुश्रुतः ।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! राजाको चाहिये कि धर्म और अर्थकी गतिको अत्यन्त गहन समझकर अविलम्ब किसी ऐसे ब्राह्मणको पुरोहित बना ले, जो विद्वान् और बहुश्रुत हो ॥ १ ॥

धर्मात्मा मन्त्रविद् येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः ।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥ २ ॥

राजन्! जिन राजाओंका पुरोहित धर्मात्मा एवं सलाह देनेमें कुशल होता है और जिनका राजा भी ऐसे ही गुणोंसे सम्पन्न (धर्मपरायण एवं गुप्त बातोंका जाननेवाला) होता है, उन राजा और प्रजाओंका सब प्रकारसे भला होता है ॥ २ ॥

(तेषामर्थश्च कामश्च धर्मश्चेति विनिश्चयः ।
श्लोकांश्चोशनसा गीतांस्तान् निबोध युधिष्ठिर॥

उच्छिष्टः स भवेद् राजा यस्य नास्ति पुरोहितः।

उनके धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी निश्चय ही सिद्धि होती है। युधिष्ठिर! इस विषयमें शुक्राचार्यके गाये हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें तुम सुनो। जिस राजाके पास पुरोहित नहीं है, वह उच्छिष्ट (अपवित्र) हो जाता है॥

रक्षसामसुराणां च पिशाचोरगपक्षिणाम्।
शत्रूणां च भवेद् वध्यो यस्य नास्ति पुरोहितः॥

जिसके पास पुरोहित नहीं है, वह राजा राक्षसों, असुरों, पिशाचों, नागों, पक्षियोंका तथा शत्रुओंका वध्य होता है॥

ब्रूयात् कार्याणि सततं महोत्पातानि यानि च।
इष्टमङ्गलयुक्तानि तथाऽऽन्तःपुरिकाणि च॥

पुरोहितको चाहिये कि राजाके लिये जो सदा आवश्यक कर्तव्य हों, जो-जो बड़े-बड़े उत्पात होनेवाले हों, जो अभीष्ट तथा माङ्गलिक कृत्य हों तथा जो अन्तःपुरसे सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्त हों, वे सब राजाको बतावे॥

गीतनृत्ताधिकारेषु सम्मतेषु महीपतेः।
कर्तव्यं करणीयं वै वैश्वदेवबलिस्तथा॥

राजाको प्रिय लगनेवाले जो गीत और नृत्यसम्बन्धी कार्य हों, उनमें करने योग्य कर्तव्यका पुरोहित निर्देश करे, बलिवैश्वदेवकर्मका सम्पादन करे॥

नक्षत्रस्यानुकूल्येन यः संजातो नरेश्वरः।
राजशास्त्रविनीतश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः॥

जो राजा अनुकूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है तथा राजशास्त्रकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुका है, उससे भी श्रेष्ठ उसका पुरोहित होना चाहिये॥

अथान्यानां निमित्तानामुत्पातानामथार्थवित्॥
शत्रुपक्षक्षयज्ञश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः।)

जो भिन्न-भिन्न प्रकारके निमित्तों और उत्पातोंका रहस्य जानता हो तथा शत्रुपक्षके विनाशकी प्रणालीका भी जानकार हो, ऐसा श्रेष्ठतम पुरुष राजाका पुरोहित होना चाहिये॥

उभौ प्रजा वर्धयतो देवान् सर्वान् सुतान् पितॄन्।
भवेयातां स्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ॥ ३॥
परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ।
ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात्॥ ४॥

यदि राजा और पुरोहित धर्मनिष्ठ, श्रद्धेय तथा तपस्वी हों, एक दूसरेके प्रति सौहार्द रखते हों और समान हृदयवाले हों तो वे दोनों मिलकर प्रजाकी वृद्धि करते हैं तथा सम्पूर्ण देवताओं एवं पितरोंको तृप्त करके पुत्र और प्रजावर्गको भी अभ्युदयशील बनाते हैं। ऐसे ब्राह्मण (पुरोहित) और क्षत्रिय (राजा) का सम्मान करनेसे प्रजाको सुखकी प्राप्ति होती है॥ ३-४॥

विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते॥ ५॥

उन दोनोंका अनादर करनेसे प्रजाका विनाश ही होता है, क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सभी वर्णोंके मूल कहे जाते हैं॥ ५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऐलकश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ६॥

इस विषयमें राजा पुरूरवा और महर्षि कश्यपके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। युधिष्ठिर! तुम उसे सुनो॥ ६॥

ऐल उवाच

यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं
क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म।
अन्वग्बलं कतमेऽस्मिन् भजन्ते
तथा वर्णाः कतमेऽस्मिन् ध्रियन्ते॥७॥

पुरूरवाने पूछा—महर्षे! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों साथ रहकर ही सबल होते हैं; परंतु जब ब्राह्मण (पुरोहित) किसी कारणसे क्षत्रियको छोड़ देता है अथवा जब राजा ब्राह्मणका परित्याग कर देता है, तब अन्य वर्णके लोग इन दोनोंमेंसे किसका आश्रय ग्रहण करते हैं? तथा दोनोंमेंसे कौन सबको आश्रय देता है?॥ ७॥

कश्यप उवाच

विद्धं राष्ट्रं क्षत्रियस्य भवति
ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुद्ध्यतीह।
अन्वग्बलं दस्यवस्तद् भजन्ते
तथा वर्णं तत्र विदन्ति सन्तः॥ ८॥

कश्यपने कहा—राजन्! श्रेष्ठ पुरुष इस बातको जानते हैं कि संसारमें जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियसे विरोध करता है, वहाँ क्षत्रियका राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और लुटेरे दल-बलके साथ आकर उसपर अधिकार जमा लेते हैं तथा वहाँ निवास करनेवाले सभी वर्णके लोगोंको अपने अधीन कर लेते हैं॥८॥

नैषां ब्रह्म च वर्धते नोत पुत्रा
न गर्गरो मथ्यते नो यजन्ते।
नैषां पुत्रा वेदमधीयते च
यदा ब्रह्म क्षत्रियाः संत्यजन्ति॥ ९॥

जब क्षत्रिय ब्राह्मणको त्याग देते हैं, तब उनका वेदाध्ययन आगे नहीं बढ़ता, उनके पुत्रोंकी भी वृद्धि नहीं होती, उनके यहाँ दही-दूधका मटका नहीं महा जाता और न वे यज्ञ ही कर पाते हैं। इतना ही नहीं, उन ब्राह्मणोंके पुत्रोंका वेदाध्ययन भी नहीं हो पाता॥ ९॥

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे
नाधीयते सुप्रजा नो यजन्ते।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः संत्यजन्ति॥ १०॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणोंको त्याग देते हैं, उनके घरमें कभी धनकी वृद्धि नहीं होती। उनकी संतानें न तो पढ़ती हैं और न यज्ञ ही करती हैं। वे पदभ्रष्ट होकर डाकुओंकी भाँति लूटपाट करने लगते हैं॥१०॥

एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतरधारणे ।
क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ११ ॥

वे दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय सदा एक दूसरेसे मिलकर रहें, तभी वे एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। ब्राह्मणकी उन्नतिका आधार क्षत्रिय होता है और क्षत्रियकी उन्नतिका आधार ब्राह्मण ॥ ११ ॥

उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ
सम्प्रापतुर्महतीं सम्प्रतिष्ठाम् ।
तयोः संधिर्भिद्यते चेत् पुराण-
स्ततः सर्वं भवति हि सम्प्रमूढम् ॥ १२ ॥

ये दोनों जातियाँ जब सदा एक दूसरेके आश्रित होकर रहती हैं, तब बड़ी भारी प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं और यदि इनकी प्राचीन कालसे चली आती हुई मैत्री टूट जाती है, तो सारा जगत् मोहग्रस्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। १२।

नात्र पारं लभते पारगामी
महागाधे नौरिव सम्प्रपन्ना ।
चातुर्वर्ण्यं भवति हि सम्प्रमूढं
प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥

जैसे महान् एवं अगाध समुद्रमें टूटी हुई नौका पार नहीं पहुँच पाती, उसी प्रकार उस अवस्थामें मनुष्य अपनी जीवनयात्राको कुशलपूर्वक पूर्ण नहीं कर पाते हैं। चारों वर्णोंकी प्रजापर मोह छा जाता है और वह नष्ट होने लगती है ॥ १३ ॥

ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति ।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापं च वर्षति ॥ १४ ॥

ब्राह्मणरूपी वृक्षकी यदि रक्षा की जाती है तो वह मधुर सुख और सुवर्णकी वर्षा करता है और यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो उससे निरन्तर दुःखके आँसुओं और पापकी वृष्टि होती है ॥ १४ ॥

न ब्रह्मचारी चरणादपेतो
यदा ब्रह्म ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत् ।
आश्चर्यतो वर्षति तत्र देव-
स्तत्राभीक्ष्णं दुःसहाश्चाविशन्ति ॥ १५ ॥

जहाँ ब्रह्मचारी ब्राह्मण लुटेरोंके उपद्रवसे विवश हो वेदकी शाखाके स्वाध्यायसे वञ्चित होता है और उसके लिये अपनी रक्षा चाहता है, वहाँ इन्द्रदेव यदि पानी बरसावें तो आश्चर्यकी ही बात है (वहाँ प्रायः वर्षा नहीं होती है) तथा महामारी और दुर्भिक्ष आदि दुःसह उपद्रव आ पहुँचते हैं ॥ १५ ॥

स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वापि पापः
सभायां यत्र लभतेऽनुवादम् ।
राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि
ततो भयं विद्यते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥

जब पापात्मा मनुष्य किसी स्त्री अथवा ब्राह्मणकी हत्या करके लोगोंकी सभामें साधुवाद या प्रशंसा पाता है तथा राजाके निकट भी पापसे भय नहीं मानता, उस समय क्षत्रिय राजाके लिये बड़ा भारी भय उपस्थित होता है ॥ १६ ॥

पापैः पापे क्रियमाणे हि चैल
ततो रुद्रो जायते देव एषः ।
पापैः पापाः संजनयन्ति रुद्रं
ततः सर्वान् साध्वसाधून् हिनस्ति ॥ १७ ॥

इलानन्दन ! जब बहुत-से पापी पापाचार करने लगते हैं, तब ये संहारकारी रुद्रदेव प्रकट हो जाते हैं। पापात्मा पुरुष अपने पापोंद्वारा ही रुद्रको प्रकट करते हैं; फिर वे रुद्रदेव साधु और असाधु सब लोगोंका संहार कर डालते हैं ॥ १७ ॥

ऐल उवाच

कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः
सत्त्वैः सत्त्वं दृश्यते वध्यमानम् ।
एतत् सर्वं कश्यप मे प्रचक्ष्व
कुतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥

पुरूरवाने पूछा—कश्यपजी ! ये रुद्रदेव कहाँसे आते हैं और कैसे हैं ? इस जगत्में तो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध होता देखा जाता है; फिर ये रुद्रदेव किससे उत्पन्न होते हैं ? ये सब बातें मुझे बताइये ॥ १८ ॥

कश्यप उवाच

आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां
स्वं स्वं देहं परदेहं च हन्ति ।
वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहु-
र्दैवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य ॥ १९ ॥

कश्यपने कहा—राजन् ! ये रुद्रदेव मनुष्योंके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं और समय आनेपर अपने तथा दूसरेके शरीरोंका नाश करते हैं। विद्वान् पुरुष रुद्रको उत्पात-वायु (तूफानी हवा) के समान वेगवान् कहते हैं और उनका रूप बादलोंके समान बताते हैं ॥ १९ ॥

ऐल उवाच

न वै वातः परिवृणोति कश्चि-
न्न जीमूतो वर्षति नापि देवः ।
तथायुक्तो दृश्यते मानुषेषु
कामद्वेषाद् बध्यते मुह्यते च ॥ २० ॥

पुरूरवाने कहा—कोई भी हवा किसीको आवृत नहीं करती है, न अकेले मेघ ही पानी बरसाता है, रुद्रदेव भी वर्षा नहीं करते हैं। जैसे वायु और बादलको आकाशमें संयुक्त देखा जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंमें आत्मा मन, इन्द्रिय आदिसे संयुक्त ही देखा जाता है और वह राग-द्वेषके कारण मोहग्रस्त होता है तथा मारा जाता है ॥ २० ॥

कश्यप उवाच

यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः
कृत्स्नं ग्रामं दहते चत्वरं वा ।
विमोहनं कुरुते देव एष
ततः सर्वं स्पृश्यते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥

कश्यपने कहा—जैसे एक घरमें लगी हुई आग प्रज्वलित हो आँगन तथा सारे गाँवको जला देती है, उसी प्रकार ये रुद्रदेव किसी एक प्राणीके भीतर विशेषरूपसे प्रकट हो दूसरोंके मनमें भी मोह उत्पन्न करते हैं; फिर सारे जगत्‌का पुण्य और पापसे सम्बन्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

ऐल उवाच

यदि दण्डः स्पृशतेऽपुण्यपापं
पापैः पापे क्रियमाणे विशेषात्।
कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद्
दुष्कृतं वा कस्य हेतोर्न कुर्यात्॥ २२ ॥

पुरूरवाने पूछा—यदि पापियोंद्वारा विशेषरूपसे पाप और पुण्यात्माओंद्वारा विशेषरूपसे पुण्य किये जानेपर पुण्य-पापसे रहित आत्माको भी दण्ड भोगना पड़ता है, तब किस लिये कोई पुण्य करे और किस लिये पाप न करे ? ॥२२॥

कश्यप उवाच

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
न्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥२३॥

कश्यपने कहा—पापाचारियोंके संसर्गका त्याग न करनेसे पापहीन–धर्मात्मा पुरुषोंको भी उनसे मेल-जोल रखनेके कारण उनके समान ही दण्ड भोगना पड़ता है। ठीक उसी तरह, जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है। अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंके साथ किसी तरह भी सम्पर्क न स्थापित करे ॥२३॥

ऐल उवाच

साध्वसाधून् धारयतीह भूमिः
साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः।
साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायु-
रापस्तथा साध्वसाधून् पुनन्ति ॥२४॥

पुरूरवा बोले—इस जगत्‌में पृथ्वी तो पापियों और पुण्यात्माओंको समान रूपसे धारण करती है। सूर्य भी भले-बुरोंको एक-सा ही संताप देते हैं। वायु साधु और दुष्ट दोनोंका स्पर्श करती है और जल पापी एवं पुण्यात्मा दोनोंको पवित्र करता है ॥ २४ ॥

कश्यप उवाच

एवमस्मिन् वर्तते लोक एव
नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र।
प्रेत्यैतयोरन्तरावान् विशेषो
यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम्॥ २५ ॥

कश्यपने कहा—राजकुमार ! इस लोकमें ही ऐसी बात देखी जाती है, परलोकमें इस प्रकारका बर्ताव नहीं है। जो पुण्य करता है वह और जो पाप करता है वह–दोनों जब मृत्युके पश्चात् परलोकमें जाते हैं तो वहाँ उन दोनोंकी स्थितिमें बड़ा भारी अन्तर हो जाता है ॥ २५ ॥

पुण्यस्य लोको मधुमान् घृतार्चि-
र्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी
न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥ २६ ॥

पुण्यात्माका लोक मधुरतम सुखसे भरा होता है। वहाँ घीके चिराग जलते हैं। उसमें सुवर्णके समान प्रकाश फैला रहता है। वहाँ अमृतका केन्द्र होता है। उस लोकमें न तो मृत्यु है, न बुढ़ापा है और न दूसरा ही कोई दुःख है। ब्रह्मचारी पुरुष मृत्युके पश्चात् उसी स्वर्गादि लोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करता है ॥ २६ ॥

पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो
नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा
बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः॥ २७ ॥

पापीका लोक नरक है, जहाँ सदा अँधेरा छाया रहता है। वहाँ प्रतिदिन दुःख तथा अधिक-से-अधिक शोक होता है। पापात्मा पुरुष वहाँ बहुत वर्षोंतक कष्ट भोगता हुआ कभी एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता और निरन्तर अपने लिये शोक करता रहता है ॥ २७ ॥

मिथोभेदाद् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह नित्यं
पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण॥ २८ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें परस्पर फूट होनेसे प्रजाको दुःसह दुःख उठाना पड़ता है। इन सब बातोंको समझ-बूझकर राजाको चाहिये कि वह सदाके लिये एक सदाचारी बहुज्ञ पुरोहित बना ही ले ॥ २८ ॥

तं चैवान्वभिषिच्येत तथा धर्मो विधीयते।
अग्र्यो हि ब्राह्मणः प्रोक्तः सर्वस्यैवेह धर्मतः॥ २९ ॥

राजा पहले पुरोहितका वरण कर ले। उसके बाद अपना अभिषेक करावे। ऐसा करनेसे ही धर्मका पालन होता है; क्योंकि धर्मके अनुसार ब्राह्मण यहाँ सबसे श्रेष्ठ बताया गया है॥

पूर्वं हि ब्रह्मणः सृष्टिरिति ब्रह्मविदो विदुः।
ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं पूर्वं यदुत्तरम्॥ ३० ॥

वेदवेत्ता विद्वानोंका यह मत है कि सबसे पहले ब्राह्मणकी ही सृष्टि हुई है; अतः ज्येष्ठ तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेके कारण प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तुपर सबसे पहले ब्राह्मणका ही अधिकार होता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्।
सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टं च निवेद्यं तस्य धर्मतः॥ ३१ ॥
अवश्यमेव कर्तव्यं राज्ञा बलवतापि हि।

इसलिये ब्राह्मण सब वर्णोंका सम्माननीय और पूजनीय है। वही भोजनके लिये प्रस्तुत की हुई सब वस्तुओंको सबसे पहले भोगनेका अधिकारी है। सभी श्रेष्ठ और उत्तम पदार्थोंको धर्मके अनुसार पहले ब्राह्मणकी सेवामें ही

निवेदित करना चाहिये। बलवान् राजाको भी अवश्य ऐसा ही करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ॥ ३२ ॥

(राज्ञः सर्वस्य चान्यस्य स्वामी राजपुरोहितः।)

ब्राह्मण क्षत्रियको बढ़ाता है और क्षत्रियसे ब्राह्मणकी उन्नति होती है। अतः राजाको विशेषरूपसे सदा ही ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि राजपुरोहित राजाका तथा अन्य सब लोगोंका भी स्वामी है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऐलकश्यपसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पुरूरवा और कश्यपका संवादविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे लाभका प्रतिपादन करनेवाला मुचुकुन्दका उपाख्यान

भीष्म उवाच

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राष्ट्रका योगक्षेम राजाके अधीन बताया जाता है; परंतु राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है ॥ १ ॥

यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद् राज्यं सुखमेधते ॥ २ ॥

जहाँ ब्राह्मण अपने तेजसे प्रजाके अदृष्ट भयका निवारण करता है और राजा अपने बाहुबलसे दृष्ट भयको दूर करता है, वह राज्य सुखसे उत्तरोत्तर उन्नति करता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष मुचुकुन्द और राजा कुबेरके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥

मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं पृथिवीपतिः।
जिज्ञासमानः स्वबलमभ्ययादलकाधिपम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, पृथ्वीपति राजा मुचुकुन्दने इस पृथ्वीको जीतकर अपने बलकी परीक्षा लेनेके लिये अलकापति कुबेरपर चढ़ाई की॥

ततो वैश्रवणो राजा राक्षसानसृजत् तदा।
ते बलान्यवमृद्नन्त मुचुकुन्दस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥

तब राजा कुबेरने उनका सामना करनेके लिये राक्षसोंकी सेना भेजी। उन राक्षसोंने मुचुकुन्दकी सेनाओंको कुचलना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः।
गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिंदमः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी सेनाको मारी जाती देखकर शत्रुदमन राजा मुचुकुन्दने अपने विद्वान् पुरोहित वसिष्ठजीको इसके लिये उलाहना दिया ॥ ६ ॥

तत उग्रं तपस्तप्त्वा वसिष्ठो धर्मवित्तमः।
रक्षांस्युपावधीत् तस्य पन्थानं चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठजीने घोर तपस्या करके उन राक्षसोंका विनाश कर डाला और राजाके लिये विजय पानेका मार्ग प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत्।
वध्यमानेषु सैन्येषु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इसके बाद राजा कुबेरने, अपनी सेनाको मरते देखकर राजा मुचुकुन्दको दर्शन दिया और इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

धनद उवाच

बलवन्तस्त्वया पूर्वे राजानः सपुरोहिताः।
न चैवं समवर्तन्त यथा त्वमिह वर्तसे ॥ ९ ॥

कुबेर बोले—राजन्! पहले भी तुम्हारे समान बलवान् राजा हो चुके हैं और उन्हें भी पुरोहितोंकी सहायता प्राप्त थी, परंतु मेरे साथ यहाँ तुम जैसा बर्ताव कर रहे हो, वैसा किसीने नहीं किया था ॥ ९ ॥

ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः।
आगम्य पर्युपासन्ते मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥

वे भूपाल भी अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा बलवान् थे और मुझे सुख एवं दुःख देनेमें समर्थ ईश्वर मानकर मेरे पास आते और मेरी उपासना करते थे ॥ १० ॥

यद्यस्ति बाहुवीर्यं ते तद् दर्शयितुमर्हसि।
किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्तसे ॥ ११ ॥

महाराज! यदि तुम्हारी भुजाओंमें कुछ बल है तो उसे दिखाओ। ब्राह्मणके बलपर इतना घमंड क्यों कर रहे हो? ॥ ११ ॥

मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम्।
न्यायपूर्वमसंरब्धमसम्भ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥

यह सुनकर मुचुकुन्द कुपित हो उठे और धनाध्यक्ष कुबेरसे यह न्याययुक्त, रोषरहित तथा सम्भ्रमशून्य वचन बोले— ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयम्भुवा।
पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥ १३ ॥

'राजराज! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही है। दोनोंको स्वयम्भू ब्रह्माजीने ही पैदा किया है। यदि उनका बल और प्रयत्न अलग-अलग हो जाय तो वे संसारकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

'ब्राह्मणोंमें सदा तप और मन्त्रका बल उपस्थित होता

है और क्षत्रियोंमें अस्त्र तथा भुजाओंका ॥ १४ ॥

ताभ्यां सम्भूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम्।
तथा च मां प्रवर्तन्तं किं गर्हस्यलकाधिप ॥ १५ ॥

'अलकापते ! अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको एक साथ मिलकर ही प्रजाका पालन करना चाहिये। मैं भी इसी नीतिके अनुसार कार्य कर रहा हूँ; फिर आप मेरी निन्दा क्यों करते हैं ?' ॥ १५ ॥

ततोऽब्रवीद् वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम्।
नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचिद् विदधाम्युत ॥ १६ ॥
नाच्छिन्दे चाप्यनिर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां मद्दत्तामखिलामिमाम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मुचुकुन्दो महीपतिः ॥ १७ ॥

तब कुबेरने पुरोहितसहित राजा मुचुकुन्दसे कहा— 'पृथ्वीपते ! मैं ईश्वरकी आज्ञाके बिना न तो किसीको राज्य देता हूँ और न भगवान्‌की अनुमतिके बिना दूसरेका राज्य छीनता ही हूँ। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यद्यपि ऐसी ही बात है तो भी आज मैं तुम्हें इस सारी पृथ्वी-का राज्य दे रहा हूँ। तुम मेरी दी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करो'। उनके ऐसा कहनेपर राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १६-१७ ॥

मुचुकुन्द उवाच

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ १८ ॥

मुचुकुन्द बोले—राजाधिराज ! मैं आपके दिये हुए राज्यको नहीं भोगना चाहता। मेरी तो यही इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ।
क्षत्रधर्मे स्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसम्भ्रमम् ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा मुचुकुन्दको बिना किसी घबराहटके इस प्रकार क्षत्रियधर्ममें स्थित हुआ देख कुबेरको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १९ ॥

ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद् वसुन्धराम्।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ २० ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस वसुधाका शासन किया ॥ २० ॥

एवं यो धर्मविद् राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो धर्मज्ञ राजा पहले ब्राह्मणका आश्रय लेकर उसकी सहायतासे राज्यकार्यमें प्रवृत्त होता है, वह बिना जीती हुई पृथ्वीको भी जीतकर महान् यशका भागी होता है ॥ २१ ॥

नित्योदकी ब्राह्मणःस्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः।
तयोर्हि सर्वमायत्तं यत् किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥

ब्राह्मणको प्रतिदिन स्नान करके जलसम्बन्धी कृत्य—संध्या-वन्दन, तर्पण आदि कर्म करने चाहिये और क्षत्रियको सदा शस्त्रविद्याका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इस भूतलपर जो कोई भी वस्तु है, वह सब इन्हीं दोनोंके अधीन है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मुचुकुन्दोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मुचुकुन्दका उपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन, युधिष्ठिरका राज्यसे विरक्त होना एवं भीष्मजीका पुनः राज्यकी महिमा सुनाना

युधिष्ठिर उवाच

यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान्।
पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा जिस वृत्तिसे रहनेपर अपने प्रजाजनोंकी उन्नति करता है और स्वयं भी विशुद्ध लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दानशीलो भवेद् राजा यज्ञशीलश्च भारत।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! राजाको सदा ही दानशील, यज्ञशील, उपवास और तपस्यामें तत्पर एवं प्रजा-पालनमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २ ॥

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन्।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥ ३ ॥

समस्त प्रजाओंका सदा धर्मपूर्वक पालन करनेवाले राजाको घरपर आये हुए धर्मात्मा पुरुषोंका खड़ा होकर स्वागत करना चाहिये और उत्तम वस्तुएँ देकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ३ ॥

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानां स्म रोचते ॥ ४ ॥

राजाद्वारा जब जिस धर्मका आदर किया जाता है उसका फिर सर्वत्र आदर होने लगता है; क्योंकि राजा जो-जो कार्य करता है, प्रजावर्गको वही करना अच्छा लगता है ॥ ४ ॥

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु।
निहन्यात् सर्वतो दस्यून् न कामात् कस्यचित् क्षमेत् ॥

राजाको चाहिये कि वह शत्रुओंको यमराजकी भाँति सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे। वह डाकुओं और लुटेरोंको सब ओरसे पकड़कर मार डाले। स्वार्थवश किसी दुष्टके अपराधको क्षमा न करे ॥ ५ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥

भारत ! राजाद्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका

आचरण करती है, उसका चौथा भाग राजाको भी मिल जाता है ॥ ६ ॥

यदधीते यद् ददाति यज्जुहोति यदर्चति ।
राजा चतुर्थभाक् तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥

प्रजा जो स्वाध्याय, जो दान, जो होम और जो पूजन करती है, उन पुण्य कर्मोंका एक चौथाई भाग उस प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेवाला नरेश प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! यदि राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता तो उसके राज्यमें प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पापकर्मका एक चौथाई भाग राजाको भोगना पड़ता है ॥८॥

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥ ९ ॥

पृथ्वीपते ! कुछ लोगोंका मत है कि उपर्युक्त अवस्थामें राजाको पूरे पापका भागी होना पड़ता है और कुछ लोगोंका यह निश्चय है कि उसको आधा पाप लगता है। ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझा जाता है ॥ ९ ॥

तादृशात् किल्बिषाद् राजा शृणु येन प्रमुच्यते ।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद् धनं चोरैर्हृतं यदि ।
तत् स्वकोशात् प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः ॥ १० ॥

ऐसे पापसे राजाको किस उपायसे छुटकारा मिलता है, वह बताता हूँ, सुनो। चोरों या लुटेरोंने यदि किसीके धनका अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धनको लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेशको चाहिये कि वह अपने आश्रयमें रहनेवाले उस मनुष्यको उतना ही धन राजकीय खजानेसे दे दे ॥ १० ॥

सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणा यथा ।
न स्थेयं विषये तेन योऽपकुर्याद् द्विजातिषु ॥ ११ ॥

सभी वर्णके लोगोंको ब्राह्मणोंके धनकी भी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार स्वयं ब्राह्मणोंकी। जो ब्राह्मणोंको कष्ट पहुँचाता हो, उसे राजाको अपने राज्यमें नहीं रहने देना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे तु सर्वं भवति रक्षितम् ।
तस्मात् तेषां प्रसादेन कृतकृत्यो भवेन्नृपः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणके धनकी रक्षा की जानेपर ही सब कुछ रक्षित हो जाता है; क्योंकि उन ब्राह्मणोंकी कृपासे राजा कृतार्थ हो जाता है ॥ १२ ॥

पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥

जैसे सब प्राणी मेघोंके और पक्षी वृक्षोंके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले राजाके आश्रित होकर जीवन-यापन करते हैं ॥ १३ ॥

न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥ १४ ॥

जो राजा कामासक्त हो सदा कामका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और अत्यन्त लोभी होता है, वह प्रजाका पालन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! मैं राज्यसे सुख मिलनेकी आशा रखकर कभी एक क्षणके लिये भी राज्य करनेकी इच्छा नहीं करता। मैं तो धर्मके लिये ही राज्यको पसंद करता था; परंतु मालूम होता है कि इसमें धर्म नहीं है ॥

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद् धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥

जिसमें धर्म ही नहीं है, उस राज्यसे मुझे क्या लेना है ? अतः अब मैं धर्म करनेकी इच्छासे वनमें ही चला जाऊँगा ॥

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १७ ॥

वहाँ वनके पावन प्रदेशोंमें हिंसाका सर्वथा त्याग कर दूँगा और जितेन्द्रिय हो मुनिवृत्तिसे रहकर फल-मूलका आहार करते हुए धर्मकी आराधना करूँगा ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा ।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम् ॥ १८ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धिमें दया और कोमलतारूपी गुण ही भरा है; परंतु केवल दया एवं कोमलतासे ही राज्यका शासन नहीं किया जा सकता ॥ १८ ॥

अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम् ।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १९ ॥

तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त कोमल है। तुम बड़े सज्जन और बड़े धर्मात्मा हो। धर्मके प्रति तुम्हारा महान् अनुग्रह है। यह सब होनेपर भी संसारके लोग तुम्हें कायर समझकर अधिक आदर नहीं देंगे ॥ १९ ॥

वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम् ।
नैव राज्ञां तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥

तुम्हारे बाप-दादोंने जिस आचार-व्यवहारको अपनाया था, उसे ही प्राप्त करनेकी तुम भी इच्छा रक्खो। तुम जिस तरह रहना चाहते हो, वह राजाओंका आचरण नहीं है ॥ २० ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतमाप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥

इस प्रकार व्याकुलताजनित कोमलताका आश्रय लेकर तुम यहाँ प्रजापालनमें सुलभ होनेवाले धर्मके फलको नहीं पा सकोगे ॥ २१ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्ती त्वयाचत ।
तथैतत् प्रज्ञया तात यथाऽऽचरसि मेधया ॥ २२ ॥

तात ! तुम अपनी बुद्धि और विचारसे जैसा आचरण

करते हो, तुम्हारे विषयमें ऐसी आशा न तो पाण्डुने की थी और न कुन्तीने ही ऐसी आशा की थी ॥ २२ ॥

शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाब्रवीत्।
माहात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥ २३ ॥

तुम्हारे पिता पाण्डु तुम्हारे लिये सदा कहा करते थे कि मेरे पुत्रमें शूरता, बल और सत्यकी वृद्धि हो। तुम्हारी माता कुन्ती भी यही इच्छा किया करती थी कि तुम्हारी महत्ता और उदारता बढ़े ॥ २३ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं चोभे मानुषदैवते।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥

प्रतिदिन यज्ञ और श्राद्ध—ये दोनों कर्म क्रमशः देवताओं तथा मानव-पितरोंको आनन्दित करनेवाले हैं। देवता और पितर अपनी संतानोंसे सदा इन्हीं कर्मोंकी आशा रखते हैं ॥

दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्।
धर्ममेतदधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ॥ २५ ॥

दान, वेदाध्ययन, यज्ञ तथा प्रजाका पालन—ये धर्मरूप हों या अधर्मरूप। तुम्हारा जन्म इन्हीं कर्मोंको करनेके लिये हुआ है ॥ २५ ॥

काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितम्।
सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन! यथासमय भार वहन करनेमें लगाये गये पुरुषोंपर जो राज्य आदिका भार रख दिया जाता है, उसे वहन करते समय यद्यपि कष्ट उठाना पड़ता है तथापि उससे उन पुरुषोंकी कीर्ति चिरस्थायी होती है, उसका कभी क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हि यः।
निर्दोषः कर्मवचनात् सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥

जो मनुष्य सब ओरसे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर अपने ऊपर रक्खे हुए कार्यभारको पूर्णरूपसे वहन करता है और कभी लड़खड़ाता नहीं है, उसे कोई दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि शास्त्रमें कर्म करनेका कथन है; अतः राजाको कर्म करनेसे ही वह सिद्धि प्राप्त हो जाती है (जिसे तुम वनवास और तपस्यासे पाना चाहते हो) ॥ २७ ॥

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः ॥ २८ ॥

कोई धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो या राजा हो, पूर्णतया धर्मका आचरण नहीं कर सकता (कुछ-न-कुछ अधर्मका मिश्रण हो ही जाता है) ॥ २८ ॥

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥

कोई काम देखनेमें छोटा होनेपर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करनेकी अपेक्षा कुछ करना ही अच्छा है; क्योंकि कर्तव्य कर्म न करनेवालेसे बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है ॥ २९ ॥

यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम्।
योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्पते ॥ ३० ॥

जब धर्मज्ञ एवं कुलीन मनुष्य राजाके यहाँ उत्तम ईश्वरभावको अर्थात् मन्त्री आदिके उच्च अधिकारको पाता है, तभी राजाका योग और क्षेम सिद्ध होता है, जो उसके कुशल-मङ्गलका साधक है ॥ ३० ॥

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा राजा राज्य पानेके अनन्तर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा सब ओरसे अपने वशमें कर ले ॥ ३१ ॥

यं हि वैद्याः कुले जाता ह्यवृत्तिभयपीडिताः।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३२ ॥

जीवननिर्वाहका कोई उपाय न होनेके कारण जो भयसे पीड़ित रहते हैं, ऐसे कुलीन एवं विद्वान् पुरुष जिस राजाका आश्रय लेकर संतुष्ट हो प्रतिष्ठापूर्वक रहने लगते हैं, उस राजाके लिये इससे बढ़कर धर्मकी बात और क्या होगी? ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! स्वर्ग-प्राप्तिका उत्तम साधन क्या है? उससे कौन-सी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है? तथा उसकी अपेक्षा महान् ऐश्वर्य क्या है? यदि आप इन बातोंको जानते हैं तो मुझे बताइये ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम्।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भयसे डरा हुआ मनुष्य जिसके पास जाकर एक क्षणके लिये भी भलीभाँति शान्ति पा लेता है, वही हमलोगोंमें स्वर्गलोककी प्राप्तिका सबसे बड़ा अधिकारी है, यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥ ३५ ॥

इसलिये कुरुश्रेष्ठ! तुम्हीं प्रसन्नतापूर्वक कुरुदेशकी प्रजाके राजा बनो। सत्पुरुषोंकी रक्षा तथा दुष्टोंका संहार करो और इस प्रकार अपने कर्तव्यका पालन करके स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लो ॥ ३५ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥ ३६ ॥

तात! जैसे सब प्राणी मेघके और पक्षी स्वादिष्ठ फलवाले वृक्षके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार साधु पुरुषों-सहित समस्त सुहृद्गण तुम्हारे आश्रयमें रहकर अपनी जीविका चलावें ॥ ३६ ॥

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम्।

वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥ ३७ ॥

जो राजा निर्भय, शूरवीर, प्रहार करनेमें कुशल, दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और दानी होता है, उसीका आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

उत्तम-अधम ब्राह्मणोंके साथ राजाका बर्ताव

युधिष्ठिर उवाच

स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि ।
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कुछ ब्राह्मण अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण अपने वर्णके विपरीत कर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं । उन सभी ब्राह्मणोंमें क्या अन्तर है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो विद्वान् उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले हैं, ऐसे ब्राह्मण ब्रह्माजीके समान कहे गये हैं ॥ २ ॥

ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः ।
एते देवसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! जो ऋग्, यजुः और सामवेदका अध्ययन करके अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे हुए हैं, वे ब्राह्मणोंमें देवताके समान समझे जाते हैं ॥ ३ ॥

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः ।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥

राजन् ! जो अपने जातीय कर्मसे हीन हो कुत्सित कर्मोंमें लगकर ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुके हैं, ऐसे लोग ब्राह्मणोंमें शूद्रके तुल्य होते हैं ॥ ४ ॥

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः ।
तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥ ५ ॥

जो ब्राह्मण वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य हैं तथा जो अग्निहोत्र नहीं करते हैं, वे सभी शूद्रतुल्य हैं । धर्मात्मा राजाको चाहिये कि इन सब लोगोंसे कर ले और बेगार करावे ॥ ५ ॥

आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः ।
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ६ ॥

न्यायालयमें या कहीं भी लोगोंको बुलाकर लानेका काम करनेवाले, वेतन लेकर देवमन्दिरमें पूजा करनेवाले, नक्षत्र-विद्याद्वारा जीविका चलानेवाले, ग्रामपुरोहित तथा पाँचवें महापथिक (दूर देशके यात्री या समुद्र—यात्रा करनेवाले) ब्राह्मण चाण्डालके तुल्य माने जाते हैं ॥ ६ ॥

(म्लेच्छदेशास्तु ये केचित् पापैरध्युषिता नरैः ।
गत्वा तु ब्राह्मणस्तांश्च चाण्डालः प्रेत्य चेह च ॥

जो कोई म्लेच्छ देश हैं और जहाँ पापी मनुष्य निवास करते हैं, वहाँ जाकर ब्राह्मण इहलोकमें चाण्डालके तुल्य हो जाता है और मृत्युके बाद अधोगतिको प्राप्त होता है ॥

व्रात्यान् म्लेच्छांश्च शूद्रांश्च याजयित्वा द्विजाधमः ।
अकीर्तिमिह सम्प्राप्य नरकं प्रतिपद्यते ॥

संस्कारभ्रष्ट, म्लेच्छ तथा शूद्रोंका यज्ञ कराकर पतित हुआ अधम ब्राह्मण इस संसारमें अपयश पाता और मरनेके बाद नरकमें गिरता है ॥

ब्राह्मणो ऋग्यजुःसाम्नां मूढः कृत्वा तु विप्लवम् ।
कल्पमेकं कृमिः सोऽथ नानाविष्ठासु जायते) ॥

जो मूर्ख ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंका विप्लव करता है, वह एक कल्पतक नाना प्राणियोंकी विष्ठाओंका कीड़ा होता है ॥

ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः ।
एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंमेंसे जो ऋत्विज्, राजपुरोहित, मन्त्री, राजदूत अथवा संदेशवाहक हों, वे क्षत्रियके समान माने जाते हैं ॥ ७ ॥

अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः ।
एते वैश्यसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! घुड़सवार, हाथीसवार, रथी और पैदल सिपाहीका काम करनेवाले ब्राह्मणोंको वैश्यके समान समझा जाता है ॥ ८ ॥

एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः ।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ ९ ॥

यदि राजाके खजानेमें कमी हो तो वह इन ब्राह्मणोंसे कर ले सकता है । केवल उन ब्राह्मणोंसे, जो ब्रह्माजी तथा देवताओंके समान बताये गये हैं, कर नहीं लेना चाहिये ॥ ९ ॥

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ १० ॥

राजा ब्राह्मणके सिवा अन्य सब वर्णोंके धनका स्वामी होता है, यही वैदिक सिद्धान्त है । ब्राह्मणोंमेंसे जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करनेवाले हैं, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ १० ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन ।
नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात् ॥ ११ ॥

राजाको कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणोंकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । बल्कि धर्मपर अनुग्रह करनेके लिये उन्हें दण्ड देना और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये ॥

यस्य स्म विषये राजन् स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥

राजन् ! जिस किसी भी राजाके राज्यमें यदि ब्राह्मण चोर बन जाता है तो उसकी इस परिस्थितिके लिये जानकार लोग उस राजाका ही अपराध ठहराते हैं ॥ १२ ॥

अवृत्त्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ।
राजन् स राज्ञा भर्तव्य इति वेदविदो विदुः ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! यदि कोई वेदवेत्ता अथवा स्नातक ब्राह्मण जीविकाके अभावमें चोरी करता हो तो राजाको उचित है कि उसके भरण-पोषणकी व्यवस्था करे; यह वेदवेत्ताओंका मत है ॥

स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात् तस्माद् देशात् सबान्धवः ॥

परंतप ! यदि जीविकाका प्रबन्ध कर देनेपर भी उस ब्राह्मणमें कोई परिवर्तन न हो—वह पूर्ववत् चोरी करता ही रह जाय तो उसे बन्धु-बान्धवोंसहित उस देशसे निर्वासित कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

(यज्ञः श्रुतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम् ।
दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥)

यज्ञ, वेदोंका अध्ययन, किसीकी चुगली न करना, किसी भी प्राणीको मन, वाणी और क्रियाद्वारा क्लेश न पहुँचाना, अतिथियोंका पूजन करना, इन्द्रियोंको संयममें रखना, सच बोलना, तप करना और दान देना, यह सब ब्राह्मणका लक्षण है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

केकयराज तथा राक्षसका उपाख्यान और केकयराज्यकी श्रेष्ठताका विस्तृत वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतकुलभूषण पितामह ! किन-किन मनुष्योंके धनपर राजाका अधिकार होता है ? तथा राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मणके सिवा अन्य सभी वर्णोंके धनका स्वामी राजा होता है, यह वैदिक मत है । ब्राह्मणोंमें भी जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करते हों, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ २ ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः ॥ ३ ॥

अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मणोंकी राजाको किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये (क्योंकि उन्हें दण्ड देकर भी राहपर लाना राजाका कर्तव्य है) । साधुपुरुष इसीको राजाओंका प्राचीनकालसे चला आता हुआ बर्ताव या धर्म कहते हैं ॥ ३ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिस राजाके राज्यमें कोई ब्राह्मण चोरी करने लग जाता है, वह राजा अपराधी माना जाता है । विचारवान् पुरुष इसे राजाका ही अपराध और पाप समझते हैं ॥ ४ ॥

अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते येन कर्मणा ।
तस्माद् राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणमें उक्त दोष आ जाय तो उससे राजा अपने आपको कलङ्कित मानते हैं; इसीलिये सभी राजर्षियोंने ब्राह्मणोंकी सदा ही रक्षा की है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं कैकेयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ॥ ६ ॥

इस विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । जिसमें राक्षसके द्वारा अपहृत होते समय केकयराजके प्रकट किये हुए उद्गारका वर्णन है ॥ ६ ॥

केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम् ।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केकयराज वनमें रहकर कठोर व्रतका पालन (तप) और स्वाध्याय किया करते थे । एक दिन उन्हें एक भयंकर राक्षसने पकड़ लिया ॥ ७ ॥

राजोवाच

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥

यह देख राजाने उस राक्षससे कहा—मेरे राज्यमें एक भी चोर, कंजूस, शराबी अथवा अग्निहोत्र और यज्ञका त्याग करनेवाला नहीं है तो भी तुम्हारा मेरे शरीरमें प्रवेश कैसे हो गया ? ॥ ८ ॥

न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥

मेरे राज्यमें एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो विद्वान्, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, यज्ञमें सोमरस पीनेवाला, अग्निहोत्री और यज्ञकर्ता न हो तो भी तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया ? ॥ ९ ॥

नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
नाधीते नाव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ १० ॥

मेरे राज्यमें समस्त द्विज नाना प्रकारकी उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं । कोई भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना वेदोंका अध्ययन नहीं

करता। फिर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ ?॥

अधीयतेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः॥ ११॥

मेरे राज्यके ब्राह्मण पढ़ते-पढ़ाते, यज्ञ करते-कराते, दान देते और लेते हैं। इस प्रकार वे ब्राह्मणोचित छः कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं॥ ११॥

पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥ १२॥

मेरे राज्यके सभी ब्राह्मण अपने-अपने कर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं। कोमल स्वभाववाले तथा सत्यवादी हैं। उन सबको मेरे राज्यसे वृत्ति मिलती है तथा वे मेरे द्वारा पूजित होते रहते हैं तो भी तुम्हारा मेरे शरीरके भीतर प्रवेश कैसे सम्भव हुआ?॥ १२॥

न याचन्ते प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न॥ १३॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥ १४॥

मेरे राज्यमें जो क्षत्रिय हैं, वे अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे वेदोंका अध्ययन तो करते हैं, परंतु अध्यापन नहीं करते; यज्ञ करते हैं, परंतु कराते नहीं हैं तथा दान देते हैं, किंतु स्वयं लेते नहीं हैं। मेरे राज्यके क्षत्रिय याचना नहीं करते; स्वयं ही याचकोंको मुँहमाँगी वस्तुएँ देते हैं। सत्यभाषी तथा धर्मसम्पादनमें कुशल हैं। वे ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे प्रविष्ट हो गये?॥ १३-१४॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः॥ १५॥
संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥ १६॥

मेरे राज्यके वैश्य भी अपने कर्मोंमें ही लगे रहते हैं। वे छल-कपट छोड़कर खेती, गोरक्षा और व्यापारसे जीविका चलाते हैं। प्रमादमें न पड़कर सदा सत्कर्मोंमें संलग्न रहते हैं। उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले और सत्यवादी हैं। अतिथियोंको देकर खाते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं, शौचाचारका पालन करते और सबके प्रति सौहार्द बनाये रखते हैं तो भी मेरे भीतर तुम कैसे घुस आये?॥१५-१६॥

त्रीन् वर्णाननुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥ १७॥

मेरे यहाँके शूद्र भी तीनों वर्णोंकी यथावत् सेवासे जीवन-निर्वाह करते हैं तथा परदोषदर्शनसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार वे भी अपने कर्मोंमें ही स्थित हैं, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये?॥ १७॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥ १८॥

दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्री—इन सबको मैं अन्न-वस्त्र तथा औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ देता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरमें कैसे प्रविष्ट हो गये?॥

कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥ १९॥

मैं अपने सुविख्यात कुल-धर्म, देश-धर्म तथा जाति-धर्मकी परम्पराका विधिपूर्वक पालन करता हुआ इन सब धर्मोंमेंसे किसीका भी लोप नहीं होने देता, तो भी तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये?॥

तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः॥ २०॥

अपने राज्यके तपस्वी मुनियोंकी मैंने सदा ही पूजा और रक्षा की है तथा उन्हें सत्कारपूर्वक आवश्यक वस्तुएँ दी हैं। इतनेपर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे सम्भव हुआ है?॥ २०॥

नासंविभज्य भोक्तास्मि नाविशामि परस्त्रियम्।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः॥ २१॥

मैं देवता, पितर तथा अतिथि आदिको उनका भाग अर्पण किये बिना कभी नहीं भोजन करता। परायी स्त्रीसे कभी सम्पर्क नहीं रखता तथा कभी स्वच्छन्द होकर क्रीडा नहीं करता तो भी तुमने मेरे शरीरमें कैसे प्रवेश किया!॥ २१॥

नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान्।
अनृत्विजा हुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः॥ २२॥

मेरे राज्यमें कोई भी ब्रह्मचर्यका पालन न करनेवाला भिक्षा नहीं माँगता अथवा भिक्षु या संन्यासी ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना नहीं रहता। बिना ऋत्विजके मेरे यहाँ होम नहीं होता; फिर तुम कैसे मेरे भीतर घुस आये?॥ २२॥

(कृतं राज्यं मया सर्वं राज्यस्थेनापि कार्यवत्।
नाहं व्युत्क्रामितः सत्यान्मामकान्तरमाविशः॥)

राज्यसिंहासनपर स्थित होकर भी मैंने सारा राज्यकार्य कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है और कभी सत्यसे मैं विचलित नहीं हुआ हूँ तो भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ है?॥

नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः॥ २३॥

मैं विद्वानों, वृद्धों तथा तपस्वी जनोंका कभी तिरस्कार नहीं करता हूँ। जब सारा राष्ट्र सोता है, उस समय भी मैं उसकी रक्षाके लिये जागता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे चले आये?॥ २३॥

(शुक्लकर्मास्मि सर्वत्र न दुर्गतिभयं मम।
धर्मचारी गृहस्थश्च मामकान्तरमाविशः॥)
आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित्।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः॥ २४॥

मैं सब जगह निर्दोष एवं विशुद्ध कर्म करनेवाला हूँ, मुझे कहीं भी दुर्गतिका भय नहीं है। मैं धर्मका आचरण करनेवाला गृहस्थ हूँ। तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे आ गये?

मेरे बुद्धिमान् पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी तथा सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। वे सम्पूर्ण राष्ट्रके स्वामी हैं ॥ २४ ॥

दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि
सत्येनार्थं ब्राह्मणानां च गुप्त्या।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २५ ॥

मैं धन देकर विद्या पानेकी इच्छा रखता हूँ। सत्यके पालन तथा ब्राह्मणोंके संरक्षणद्वारा अभीष्ट अर्थ (पुण्यलोकोंपर अधिकार) पाना चाहता हूँ तथा सेवा-शुश्रूषाद्वारा गुरुजनोंको संतुष्ट करनेके लिये उनके पास जाता हूँ; अतः मुझे राक्षसोंसे कभी भय नहीं है ॥ २५ ॥

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धु-
र्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २६ ॥

मेरे राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं है तथा कोई भी ब्राह्मण अधम, धूर्त, चोर, अनधिकारियोंका यज्ञ करानेवाला और पापाचारी नहीं है; इसलिये मुझे राक्षसोंसे तनिक भी भय नहीं है ॥ २६ ॥

न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे ह्यङ्गुलमन्तरम्।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः ॥ २७ ॥

मेरे शरीरमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं है, जो धर्मके लिये युद्ध करते समय अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल न हुआ हो, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २७ ॥

गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥

मेरे राज्यमें रहनेवाले लोग गौओं, ब्राह्मणों तथा यज्ञोंके लिये सदा मङ्गल-कामना करते रहते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २८ ॥

राक्षस उवाच

(नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम् ॥

राक्षसने कहा—स्त्रियोंके व्यभिचारसे, राजाओंके अन्यायसे तथा ब्राह्मणोंके कर्मदोषसे प्रजाको भय प्राप्त होता है।

अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः ॥

जिस देशमें उक्त दोष होते हैं, वहाँ वर्षा नहीं होती, महामारी फैल जाती है, सदा भूखका भय बना रहता है और बड़ा भयानक संग्राम छिड़ जाता है ॥

यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो नासुरेभ्यः कथञ्चन।
भयमुत्पद्यते तत्र यत्र विप्राः सुसंयताः ॥)

जहाँ ब्राह्मण संयमपूर्ण जीवन बिता रहे हों, वहाँ यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा असुरोंसे किसी प्रकार भय नहीं प्राप्त होता ॥

यस्मात् सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय गृहं स्वस्ति व्रजाम्यहम् ॥ २९ ॥

केकयनरेश ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मपर ही दृष्टि रखते हो, इसलिये कुशलपूर्वक घरको जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाता हूँ ॥ २९ ॥

येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजा रक्ष्याश्च केकय।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥ ३० ॥

केकयराज ! जो राजा गौओं तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और प्रजाका पालन करना अपना धर्म समझते हैं, उन्हें राक्षसोंसे भय नहीं है; फिर अग्निसे तो हो ही कैसे सकता है ! ॥

येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः॥ ३१॥

जिनके आगे-आगे ब्राह्मण चलते हैं, जिनका सबसे बड़ा बल ब्राह्मण ही हैं तथा जिनके राज्यके नागरिक अतिथि-सत्कारके प्रेमी हैं, वे नरेश निश्चय ही स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच

तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः।
आशीरेषां भवेद् राजन् राज्ञां सम्यक्प्रवर्तताम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसलिये ब्राह्मणोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। सुरक्षित रहनेपर वे राजाओंकी रक्षा करते हैं। ठीक-ठीक बर्ताव करनेवाले राजाओंको ब्राह्मणोंका आशीर्वाद प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः।
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

अतः राजाओंको चाहिये कि वे विपरीत कर्म करनेवाले ब्राह्मणोंको उनपर अनुग्रह करनेके लिये ही नियन्त्रणमें रक्खें और उनकी आवश्यकताकी वस्तुएँ उन्हें देते रहें ॥ ३३ ॥

एवं यो वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ३४ ॥

जो राजा अपने नगर और राष्ट्रकी प्रजाके साथ ऐसा धर्मपूर्ण बर्ताव करता है, वह इस लोकमें सुख भोगकर अन्तमें इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें केकयराजका उपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

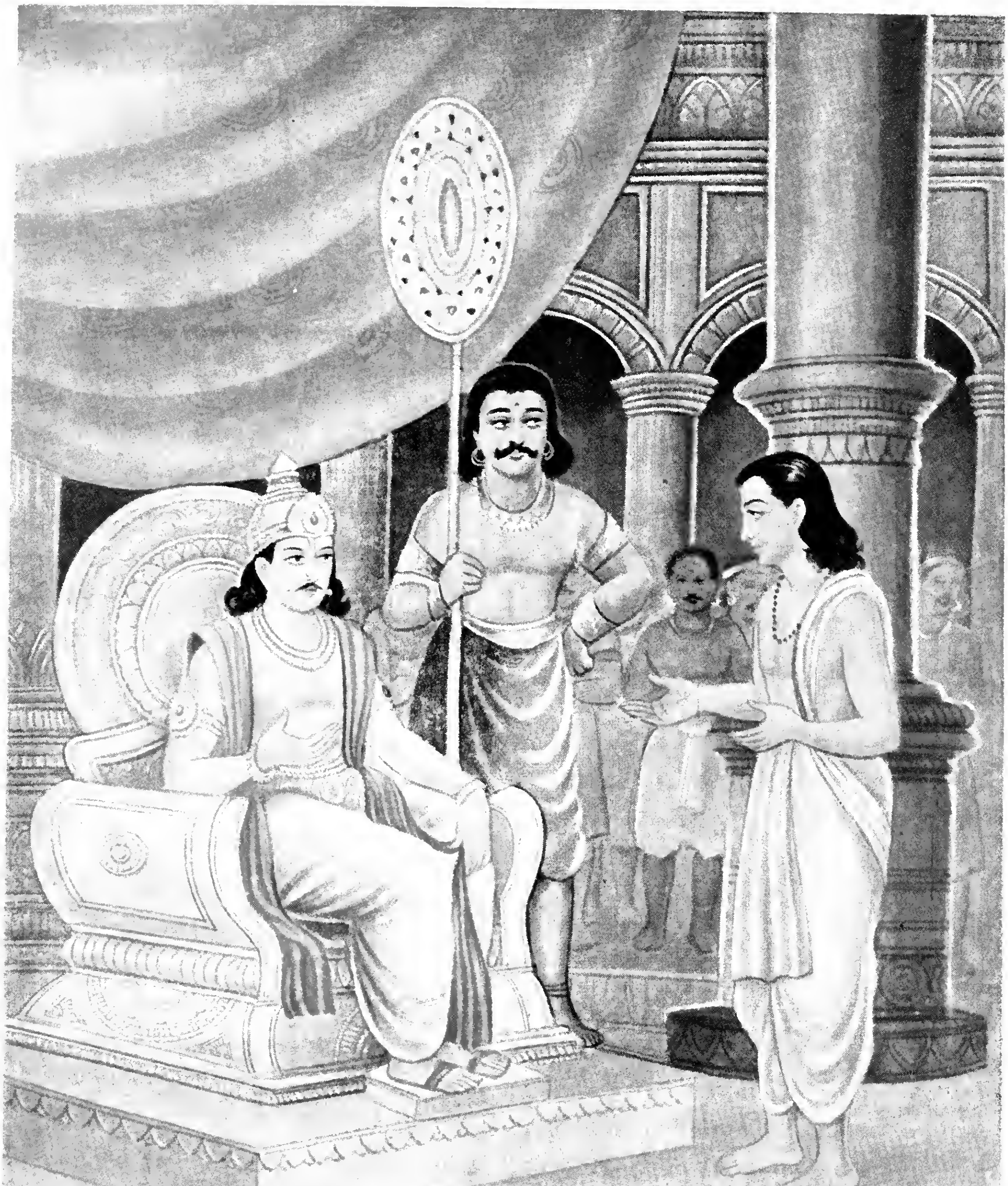

इन्द्रकी ब्राह्मणवेषमें दैत्यराज प्रह्लादसे भेंट

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

आपत्तिकालमें ब्राह्मणके लिये वैश्यवृत्तिसे निर्वाह करनेकी छूट तथा लुटेरोंसे अपनी और दूसरोंकी रक्षा करनेके लिये सभी जातियोंको शस्त्र धारण करनेका अधिकार एवं रक्षकको सम्मानका पात्र स्वीकार करना

युधिष्ठिर उवाच

व्याख्याता राजधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत।
कथं स्विद् वैश्यधर्मेण संजीवेद् ब्राह्मणो न वा॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! आपने ब्राह्मणके लिये आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे जीविका चलानेकी बात पहले बतायी है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ब्राह्मण किसी तरह वैश्य-धर्मसे भी जीवननिर्वाह कर सकता है या नहीं? ॥ १॥

भीष्म उवाच

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत्।
कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! यदि ब्राह्मण अपनी जीविका नष्ट होनेपर आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे भी जीवननिर्वाह न कर सके तो वैश्यधर्मके अनुसार खेती और गोरक्षाका आश्रय लेकर वह अपनी जीविका चलावे॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

कानि पण्यानि विक्रीय स्वर्गलोकान्न हीयते।
ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन् भरतर्षभ॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यह तो बताइये कि यदि ब्राह्मण वैश्यधर्मसे जीविका चलाते समय व्यापार भी करे तो किन-किन वस्तुओंका क्रय-विक्रय करनेसे वह स्वर्गलोककी प्राप्तिके अधिकारसे वञ्चित नहीं होगा॥ ३॥

भीष्म उवाच

सुरा लवणमित्येव तिलान् केसरिणः पशून्।
वृषभान् मधुमांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर॥ ४॥
सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत्।
एतेषां विक्रयात् तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर! ब्राह्मणको मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल, बनायी हुई रसोई, घोड़ा तथा बैल, गाय, बकरा, भेड़ और भैंस आदि पशु—इन वस्तुओंका विक्रय तो सभी अवस्थाओंमें त्याग देना चाहिये; क्योंकि इनको बेचनेसे ब्राह्मण नरकमें पड़ता है॥ ४-५॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट्।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथंचन॥ ६॥
पक्वेनामस्य निमयं न प्रशंसन्ति साधवः।
निमयेत् पक्वमामेन भोजनार्थाय भारत॥ ७॥

बकरा अग्निस्वरूप, भेड़ वरुणस्वरूप, घोड़ा सूर्यस्वरूप पृथ्वी विराट्स्वरूप तथा गौ यज्ञ और सोमका स्वरूप है; अतः इनका विक्रय कभी किसी तरह नहीं करना चाहिये। भरतनन्दन! ब्राह्मणके लिये बनी-बनायी रसोई देकर बदलेमें कच्चा अन्न लेनेकी साधु पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं; किंतु केवल भोजनके लिये कच्चा अन्न देकर उसके बदले पकापकाया अन्न ले सकते हैं॥ ६-७॥

वयं सिद्धमशिष्यामो भवान् साधयतामिदम्।
एवं संवीक्ष्य निमयेन्नाधर्मोऽस्ति कथंचन॥ ८॥

'हमलोग बनी-बनायी रसोई पाकर भोजन कर लेंगे। आप यह कच्चा अन्न लेकर इसे पकाइये' इस भावसे अच्छी तरह विचार करके यदि कच्चे अन्नसे पके-पकाये अन्नको बदल लिया जाय तो इसमें किसी प्रकार भी अधर्म नहीं होता॥८॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मः सनातनः।
व्यवहारप्रवृत्तानां तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ९॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें व्यवहारपरायण मनुष्योंके लिये सनातन कालसे चला आता हुआ धर्म जैसा है, वैसा मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो॥ ९॥

भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत् प्रयच्छतु।
रुचितो वर्तते धर्मो न बलात् सम्प्रवर्तते॥ १०॥

मैं आपको यह वस्तु देता हूँ, इसके बदलेमें आप मुझे वह वस्तु दे दीजिये, ऐसा कहकर दोनोंकी रुचिसे जो वस्तुओंकी अदला-बदली की जाती है, उसे धर्म माना जाता है। यदि बलात्कारपूर्वक अदला-बदली की जाय तो वह धर्म नहीं है॥

इत्येवं सम्प्रवर्तन्ते व्यवहाराः पुरातनाः।
ऋषीणामितरेषां च साधु चैतदसंशयम्॥ ११॥

प्राचीन कालसे ऋषियों तथा अन्य सत्पुरुषोंके सारे व्यवहार ऐसे ही चले आ रहे हैं। यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।
व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम्॥ १२॥
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात् परायणम्।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप॥ १३॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! नरेश्वर! यदि सारी प्रजा शस्त्र धारण कर ले और अपने धर्मसे गिर जाय, उस समय क्षत्रियकी शक्ति तो क्षीण हो जायगी। फिर राजा राष्ट्रकी रक्षा कैसे कर सकता है और वह सब लोगोंको किस तरह शरण

दे सकता है। मेरे इस संदेहका आप विस्तारपूर्वक समाधान करें ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंको दान, तप, यज्ञ, प्राणियोंके प्रति द्रोहका अभाव तथा इन्द्रिय-संयमके द्वारा अपने कल्याणकी इच्छा रखनी चाहिये ॥१४॥

तेषां ये वेदबलिनस्तेऽभ्युत्थाय समन्ततः।
राज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥

उनमेंसे जिन ब्राह्मणोंमें वेद-शास्त्रोंका बल हो, वे सब ओरसे उठकर राजाका उसी प्रकार बल बढ़ावें, जैसे देवता इन्द्रका बल बढ़ाते हैं ॥ १५ ॥

राज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम्।
तस्माद् ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥

जिसकी शक्ति क्षीण हो रही हो, उस राजाके लिये ब्राह्मणको ही सबसे बड़ा सहायक बताया गया है; अतः बुद्धिमान् नरेशको ब्राह्मणके बलका आश्रय लेकर ही अपनी उन्नति करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यदा भुवि जयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसंदधेत्।
तदा वर्णा यथाधर्मं निविशेयुः कथंचन ॥ १७ ॥

जब भूतलपर विजयी राजा अपने राष्ट्रमें कल्याणमय शासन स्थापित करना चाहता हो, तब उसे चाहिये कि जिस किसी प्रकारसे सभी वर्णके लोगोंको अपने-अपने धर्मका पालन करनेमें लगाये रखे ॥ १७ ॥

उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! जब डाकू और लुटेरे धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हुए हों और प्रजामें वर्णसंकरता फैला रहे हों, उस समय इस अत्याचारको रोकनेके लिये यदि सभी वर्णोंके लोग हथियार उठा लें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद् ब्राह्मणं प्रति।
कस्तस्य ब्राह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि क्षत्रिय जाति ही सब ओरसे ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करने लगे, उस समय उस ब्राह्मणकुलकी रक्षा कौन ब्राह्मण कर सकता है? उनके लिये कौन-सा धर्म (कर्तव्य) है तथा कौन-सा महान् आश्रय? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! उस समय ब्राह्मण अपने तपसे, ब्रह्मचर्यसे, शस्त्रसे, बलसे, निष्कपट व्यवहारसे अथवा भेदनीतिसे—जैसे भी सम्भव हो, उसी तरह क्षत्रिय जातिको दबानेका प्रयत्न करे ॥ २० ॥

क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ २१ ॥

जब क्षत्रिय ही प्रजाके ऊपर, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मणों-पर अत्याचार करने लगे तो उस समय उसे ब्राह्मण ही दबा सकता है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है॥२१॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥

अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे पैदा हुआ है। इनका तेज या प्रभाव सर्वत्र काम करता है; परंतु अपनी उत्पत्तिके मूल कारणोंसे मुकाबला पड़नेपर शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

यदा छिनत्त्ययोऽश्मानमग्निश्चापोऽभिगच्छति।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥

जब लोहा पत्थर काटता है, अग्नि जलके पास जाती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! यद्यपि क्षत्रियोंके तेज और बल प्रचण्ड और अजेय होते हैं, तथापि ब्राह्मणसे टक्कर लेनेपर शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मवीर्ये मृदुभूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥
ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते।
ब्राह्मणार्थे हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥

जब ब्राह्मणकी शक्ति मन्द पड़ जाय, क्षत्रियका पराक्रम भी दुर्बल हो जाय और सभी वर्णोंके लोग सर्वथा ब्राह्मणोंसे दुर्भाव रखने लगें, उस समय जो लोग ब्राह्मणोंकी, धर्मकी तथा अपने आपकी रक्षाके लिये प्राणोंकी परवा न करके दुष्टोंके साथ क्रोध-पूर्वक युद्ध करते हैं, उन मनस्वी पुरुषोंका पवित्र यश सब ओर फैल जाता है; क्योंकि ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये सबको शस्त्र ग्रहण करनेका अधिकार है ॥ २५–२७ ॥

अतिस्विष्टमधीतानां लोकानतितपस्विनाम्।
अनाशनाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम्॥ २८ ॥

अतिमात्रामें यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या और उपवासव्रत करनेवालोंको तथा आत्मशुद्धिके लिये अग्निप्रवेश करनेवाले लोगोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उनसे भी उत्तम लोक ब्राह्मणके लिये प्राण देनेवाले शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २९ ॥

ब्राह्मण भी यदि तीनों वर्णोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता। विद्वान् पुरुष इस प्रकार युद्धमें अपने शरीरके त्यागसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं मानते हैं ॥ २९ ॥

तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ।
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान् वीरांस्तान् मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥

जो लोग ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले दुराचारियोंको दबानेके लिये युद्धकी ज्वालामें अपने शरीरकी आहुति दे डालते हैं, उन वीरोंको नमस्कार है, उनका कल्याण हो। हमलोगोंको उन्हींके समान लोक प्राप्त हो। मनुजीने कहा है कि 'वे स्वर्गीय शूरवीर ब्रह्मलोकपर विजय पा जाते हैं' ॥ ३० ॥

यथाश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत ।
दुष्कृतस्य प्रणाशेन ततः शस्त्रहता रणे ॥ ३१ ॥

जैसे अश्वमेध यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करनेवाले मनुष्य पापरहित एवं पवित्र हो जाते हैं, उसी प्रकार युद्धमें शस्त्रोंद्वारा मारे गये वीर अपने पाप नष्ट हो जानेके कारण पवित्र हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद् देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३२ ॥

देश-कालकी परिस्थितिके कारण कभी अधर्म तो धर्म हो जाता है और धर्म अधर्मरूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि वह वैसा ही देश-काल है ॥ ३२ ॥

मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् ।
धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ ३३ ॥

सबके प्रति मैत्रीका भाव रखनेवाले मनुष्य भी (दूसरोंकी रक्षाके लिये किसी दुष्टके प्रति) क्रूरतापूर्ण बर्ताव करके उत्तम स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तथा धर्मात्मा पुरुष किसीकी रक्षाके लिये पाप (हिंसा आदि) करते हुए भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च ॥ ३४ ॥

अपनी रक्षाके लिये, अन्य वर्णोंमें यदि कोई बुराई आ रही हो तो उसे रोकनेके लिये तथा दुर्दान्त दुष्टोंका दमन करनेके लिये—इन तीन अवसरोंपर ब्राह्मण भी शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसंकरे ।
सम्प्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽभिभवेद् बली ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन् ॥ ३६ ॥
कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात् संवार्यो वा भवेन्न वा ।
तस्माच्छस्त्रं ग्रहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! नृपश्रेष्ठ! यदि डाकुओंका दल उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो, समाजमें वर्णसंकरता फैल रही हो और क्षत्रियके प्रजापालनरूपी कार्यके लिये समस्त वर्णोंके लोग कोई उपाय न ढूँढ़ पाते हों, उस अवस्थामें यदि कोई बलवान् ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र धर्मकी रक्षाके निमित्त दण्ड धारण करके लुटेरोंके हाथसे प्रजाको बचा ले तो वह राजशासनका कार्य कर सकता है या नहीं अथवा उसे इस कार्यसे रोकना चाहिये या नहीं? मेरा तो मत है कि क्षत्रियसे भिन्न वर्णके लोगोंको भी ऐसे अवसरोंपर अवश्य शस्त्र उठाना चाहिये ॥ ३५—३७ ॥

भीष्म उवाच

अपारे यो भवेत् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३८ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! जो अपार संकटसे पार लगा दे, नौकाके अभावमें डूबते हुएको जो नाव बनकर सहारा दे, वह शूद्र हो या कोई अन्य, सर्वथा सम्मानके योग्य है ॥ ३८ ॥

यमाश्रित्य नरा राजन् वर्तयेयुर्यथासुखम् ।
अनाथास्तप्यमानाश्च दस्युभिः परिपीडिताः ॥ ३९ ॥
तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम् ।
अभीरभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सन्मानमर्हति ॥ ४० ॥

डाकुओंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते हुए अनाथ मनुष्यगण जिसकी शरणमें जाकर सुखपूर्वक रह सकें, उसीको अपने बन्धु-बान्धवके समान मानकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उसका आदर-सत्कार करना उनके लिये उचित है; क्योंकि कुरुनन्दन! जो निर्भय होकर बारंबार दूसरोंका संकट निवारण कर सके, वही राजोचित सम्मान पानेके योग्य है ॥ ३९-४० ॥

किं तैर्येऽनडुहो नोह्याः किं धेन्वा वाप्यदुग्धया ।
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षता ॥ ४१ ॥

जो बोझ न ढो सकें, ऐसे बैलोंसे क्या लाभ? जो दूध न दे, ऐसी गाय किस कामकी? जो बाँझ हो, ऐसी स्त्रीसे क्या प्रयोजन है? और जो रक्षा न कर सके, ऐसे राजासे क्या लाभ है? ॥ ४१ ॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४२ ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता ।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ ४३ ॥

कुन्तीनन्दन! जैसे काठका हाथी, चमड़ेका हिरन, हिजड़ा मनुष्य, ऊसर खेत तथा वर्षा न करनेवाला बादल—ये सब-के-सब व्यर्थ हैं, उसी प्रकार अपढ़ ब्राह्मण तथा रक्षा न करनेवाला राजा भी सर्वथा निरर्थक हैं ॥ ४२-४३ ॥

नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत् ।

स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४४ ॥

जो सदा सत्पुरुषोंकी रक्षा करे तथा दुष्टोंको दण्ड देकर दुष्कर्म करनेसे रोके, उसे ही राजा बनाना चाहिये; क्योंकि उसीके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् सुरक्षित होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

ऋत्विजोंके लक्षण, यज्ञ और दक्षिणाका महत्त्व तथा तपकी श्रेष्ठता

युधिष्ठिर उवाच

क्वसमुत्थाः कथंशीला ऋत्विजः स्युः पितामह ।
कथंविधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! ऋत्विजोंकी उत्पत्ति किस निमित्तसे हुई है ? उनके स्वभाव कैसे होने चाहिये ? तथा वे किस-किस प्रकारके होते हैं ? मुझे ये सब बातें बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते ।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो ब्राह्मण छन्दःशास्त्र, 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः' नामक तीनों वेद तथा ऋषियोंके रचे हुए स्मृति और दर्शनशास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे ही 'ऋत्विज' होने योग्य हैं, उन ऋत्विजोंका मुख्य आचार है—राजाके लिये 'शान्ति' 'पौष्टिक' आदि कर्मोंका अनुष्ठान ॥

ये त्वेकरतयो नित्यं धीराश्च प्रियवादिनः ।
परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः ॥ ३ ॥

जो सदा एकमात्र यजमानके ही हित-साधनमें तत्पर रहनेवाले, धीर, प्रियवादी, एक दूसरेके सुहृद् तथा सब ओर समान दृष्टि रखनेवाले हैं, वे ही ऋत्विज होनेके योग्य हैं॥३॥

अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते ।

जिनमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है, जो सत्यभाषण करनेवाले और सरल हैं, जो व्याज नहीं लेते तथा जिनमें द्रोह और अभिमानका अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह आदि गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं ॥ ४½ ॥

धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः ।
अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ॥ ५ ॥
अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।
एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथार्हतः ॥ ६ ॥

इसी तरह जो बुद्धिमान्, सत्यको धारण करनेवाला, इन्द्रिय-संयमी, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेवाला तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूर रहनेवाला है, जिसके शास्त्रज्ञान; सदाचार और कुल—ये तीनों अत्यन्त शुद्ध एवं निर्दोष हैं; जो अहिंसक और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, वही ब्रह्माके आसनपर बैठनेका अधिकारी है । तात ! ये सभी महान् ऋत्विज यथायोग्य सम्मानके पात्र हैं ॥ ५-६॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते ।
इदं देयमिदं देयं न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! यह जो यज्ञसम्बन्धी दक्षिणाके विषयमें वेदवाक्य उपलब्ध होता है कि 'यह भी देना चाहिये, यह भी देना चाहिये' यह वाक्य किसी सीमित वस्तुपर अवलम्बित नहीं है ॥ ७ ॥

नेदं प्रतिधनं शास्त्रमापद्धर्मानुशास्त्रतः ।
आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥ ८ ॥

अतः दक्षिणामें दिये जानेवाले धनके विषयमें जो यह शास्त्र-वचन है, यह आपत्कालिक धर्मशास्त्रके अनुसार नहीं है । मेरी समझमें तो यह शास्त्रकी आज्ञा भयंकर है; क्योंकि यह इस बातकी ओर नहीं देखती कि दातामें कितने दानकी शक्ति है ॥ ८ ॥

श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥ ९ ॥

दूसरी ओर वेदकी यह आज्ञा भी सुनी जाती है कि प्रत्येक श्रद्धालु पुरुषको यज्ञ करना चाहिये । यदि दरिद्र श्रद्धाके बलपर यज्ञमें प्रवृत्त हो और उचित दक्षिणा न दे सके तो वह यज्ञ मिथ्या भावसे युक्त होगा; उस दशामें उसकी न्यूनताकी पूर्ति श्रद्धा कैसे कर सकेगी ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! वेदोंकी निन्दा करनेसे, शठतापूर्ण बर्तावसे तथा छल-कपटसे कोई भी महान् पद नहीं पाता है; अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी न हो ॥ १० ॥

यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथंचन ॥ ११ ॥

तात ! दक्षिणा यज्ञोंका अङ्ग है । वही वेदोक्त यज्ञोंका विस्तार एवं उनमें न्यूनताकी पूर्ति करनेवाली है । दक्षिणाहीन यज्ञ किसी प्रकार भी यजमानका उद्धार नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत् ।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥

जहाँ धनी और दरिद्रकी शक्तिका प्रश्न है, उधर भी शास्त्रकी दृष्टि है ही। दोनोंके लिये समान दक्षिणा नहीं रक्खी गयी है। (दरिद्रकी) शक्तिको पूर्णपात्रसे मापा गया है अर्थात् जहाँ धनीके लिये बहुत धन देनेका विधान है, वहाँ दरिद्रके लिये एक पूर्णपात्र ही दक्षिणामें देनेका विधान कर दिया है; अतः तात ! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके लोगोंको अवश्य ही विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी स्थितिः ।
तं च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथा वृत्तिरिष्यते ॥ १३ ॥

वेदोंका यह सिद्धान्त है कि सोम ब्राह्मणोंका राजा है; परंतु यज्ञके लिये ब्राह्मणलोग उसे भी बेच देनेकी इच्छा रखते हैं। जहाँ यज्ञ आदि कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो, वहाँ व्यर्थ ही उदरपूर्तिके लिये सोमरसका विक्रय अभीष्ट नहीं है ॥ १३ ॥

तेन क्रीतेन यज्ञेन ततो यज्ञः प्रतायते ।
इत्येवं धर्मतो ध्यातमृषिभिर्धर्मचारिभिः ॥ १४ ॥

दक्षिणाद्वारा उस सोमरसके साथ खरीद किये हुए यज्ञ-साधनोंसे यजमानके यज्ञका विस्तार होता है। धर्मका आचरण करनेवाले ऋषियोंने इस विषयमें धर्मके अनुसार ऐसा ही विचार व्यक्त किया है ॥ १४ ॥

पुमान् यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यदा भवेत् ।
अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १५ ॥

यज्ञकर्ता पुरुष, यज्ञ और सोमरस—ये तीनों जब न्याय-सम्पन्न होते हैं, तब यज्ञका यथार्थरूपसे सम्पादन होता है। अन्यायपरायण पुरुष न दूसरेका भला कर सकता है, न अपना ही ॥ १५ ॥

शरीरवृत्तमास्थाय इत्येषा श्रूयते श्रुतिः ।
नातिसम्यक् प्रणीतानि ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

शरीर-निर्वाहमात्रके लिये धन प्राप्त करके यज्ञमें प्रवृत्त हुए महामनस्वी ब्राह्मणोंद्वारा जो यज्ञ सम्पादित होते हैं, वे भी हिंसा आदि दोषोंसे युक्त होनेपर उत्तम फल नहीं देते हैं, ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त सुननेमें आता है ॥ १६ ॥

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ।
तत् ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

अतः यज्ञकी अपेक्षा भी तप श्रेष्ठ है, यह वेदका परम उत्तम वचन है। विद्वान् युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें तपका स्वरूप बताता हूँ, तुम मुझसे उसके विषयमें सुनो ॥ १७ ॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरताको त्याग देना, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हींको धीर पुरुषोंने तप माना है। केवल शरीरको सुखाना ही तप नहीं है ॥ १८ ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मनः ॥ १९ ॥

वेदको अप्रामाणिक बताना, शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था पैदा करना—ये सब दुर्गुण अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

निबोध देवहोतॄणां विधानं पार्थ यादृशम् ।
चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन ! दैवी सम्पदायुक्त होताओंके यज्ञसम्बन्धी उपकरण जिस प्रकारके होते हैं, उन्हें सुनो। उनके सहायक चित्ति ही स्रुक् है, चित्त ही आज्य (घी) है और उत्तम ज्ञान ही पवित्री है ॥ २० ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ २१ ॥

सारी कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता परब्रह्मकी प्राप्तिका स्थान है। इतना ही ज्ञानका विषय है और सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आयेगा ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

राजाके लिये मित्र और अमित्रकी पहचान तथा उन सबके साथ नीतिपूर्ण बर्तावका और मन्त्रीके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो छोटे-से-छोटा काम है, उसे भी बिना किसीकी सहायताके अकेले मनुष्यके द्वारा किया जाना कठिन हो जाता है। फिर राजा दूसरेकी सहायताके बिना महान् राज्यका संचालन कैसे कर सकता है ? ॥ १ ॥

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत् ।
कीदृशे विश्वसेद् राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥ २ ॥

अतः राजाकी सहायताके लिये जो सचिव (मन्त्री) हो, उसका स्वभाव और आचरण कैसा होना चाहिये ? राजा कैसे मन्त्रीपर विश्वास करे और कैसेपर न करे ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत ।

सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! राजाके सहायक या मित्र चार प्रकारके होते हैं—१-सहार्थ, २-भजमान, ३-सहज और ४-कृत्रिम * ॥ ३ ॥

धर्मात्मा पञ्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः ।
यतो धर्मस्ततो वा स्याद् धर्मस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥
यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत् ।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ ५ ॥

इनके सिवा, राजाका एक पाँचवाँ मित्र धर्मात्मा पुरुष होता है, वह किसी एकका पक्षपाती नहीं होता और न दोनों पक्षोंसे वेतन लेकर कपटपूर्वक दोनोंका ही मित्र बना रहता है। जिस पक्षमें धर्म होता है, उसी ओर वह भी हो जाता है अथवा जो धर्मपरायण राजा है, वही उसका आश्रय ग्रहण कर लेता है। ऐसे धर्मात्मा पुरुषको जो कार्य न रुचे, वह उसके सामने नहीं प्रकाशित करना चाहिये; क्योंकि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजा कभी धर्ममार्गसे चलते हैं और कभी अधर्ममार्गसे ॥ ४-५ ॥

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त चार प्रकारके मित्रोंमेंसे भजमान और सहज—ये बीचवाले दो मित्र श्रेष्ठ समझे जाते हैं, किंतु शेष दोकी ओरसे सदा सशङ्क रहना चाहिये। वास्तवमें तो अपने कार्यको ही दृष्टिमें रखकर सभी प्रकारके मित्रोंसे सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ६ ॥

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजाको अपने मित्रोंकी रक्षामें कभी असावधानी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि असावधान राजाका सभी लोग तिरस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत् कार्यं प्रत्यक्षं तत् समाचरेत् ॥ ९ ॥

बुरा मनुष्य भला और भला मनुष्य बुरा हो जाया करता है। शत्रु भी मित्र बन जाता है और मित्र भी बिगड़ जाता है; क्योंकि मनुष्यका चित्त सदैव एक-सा नहीं रहता। अतः उसपर किसी भी समय कोई कैसे विश्वास करेगा? इसलिये जो प्रधान कार्य हो, उसे अपनी आँखोंके सामने पूरा कर देना चाहिये ॥ ८-९ ॥

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥

किसीपर भी किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म और अर्थ दोनोंका नाश करनेवाला होता है और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्युसे बढ़कर है ॥ १० ॥

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥११॥

दूसरोंपर किया हुआ पूरा-पूरा विश्वास अकालमृत्युके समान है; क्योंकि अधिक विश्वास करनेवाला मनुष्य भारी विपत्तिमें पड़ जाता है। वह जिसपर विश्वास करता है, उसीकी इच्छापर उसका जीवन निर्भर होता है ॥ ११ ॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥१२॥

इसलिये राजाको कुछ चुने हुए लोगोंपर विश्वास तो करना चाहिये, पर उनकी ओरसे सशङ्क भी रहना चाहिये। तात! यही सनातन नीतिकी गति है। इसे सदा दृष्टिमें रखना चाहिये॥

यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमं स्पृशेत् ।
नित्यं तस्माच्छङ्कितव्यममित्रं तद् विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

'अमुक व्यक्ति मेरे मरनेके बाद राजा हो सकता है और धनकी यह सारी आय अपने हाथमें ले सकता है' ऐसी मान्यता जिसके विषयमें हो (वह भाई, पड़ोसी या पुत्र ही क्यों न हो) उससे सदा सतर्क ही रहना चाहिये; क्योंकि विद्वान् पुरुष उसे शत्रु ही समझते हैं ॥ १३ ॥

यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति ।
न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन् सर्वसेतवः ॥ १४ ॥

वर्षा आदिका जल जिसके खेतसे होकर दूसरेके खेतमें जाता है, उसकी इच्छाके बिना उसके खेतकी आड़ या मेड़को नहीं तोड़ना चाहिये ॥ १४ ॥

तथैवात्युदकाद् भीतस्तस्य भेदनमिच्छति ।
यमेवंलक्षणं विद्यात् तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार आड़ न टूटनेसे जिसके खेतमें अधिक जल भर जाता है, वह भयभीत हो उस जलको निकालनेके लिये खेतकी आड़को तोड़ डालना चाहता है। जिसमें ऐसे लक्षण जान पड़ें, उसीको शत्रु समझो, अर्थात् जो अपने राज्यकी सीमाका रक्षक है, वह यदि सीमा तोड़ दे तो अपने राज्यपर भय आ सकता है; अतः उसे भी शत्रु ही समझना चाहिये ॥

यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥ १६ ॥

जो राजाकी उन्नतिसे कभी तृप्त न हो, उत्तरोत्तर उसकी अधिक उन्नति ही चाहता रहे और अवनति होनेपर बहुत

* सहार्थ मित्र उनको कहते हैं, जो किसी शर्तपर एक दूसरेकी सहायताके लिये मित्रता करते हैं। 'अमुक शत्रुपर हम दोनों मिलकर चढ़ाई करें, विजय होनेपर दोनों उसके राज्यको आधा-आधा बाँट लेंगे'—इत्यादि शर्तें सहार्थ मित्रोंमें होती हैं। जिनके साथ परम्परागत वंशसम्बन्धसे मित्रता हो, वे 'भजमान' कहलाते हैं। जन्मसे ही साथ रहनेसे अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जिनमें परस्पर स्वाभाविक मैत्री हो जाती है वे 'सहज' मित्र कहे गये हैं; और धन आदि देकर अपनाये हुए लोग 'कृत्रिम' मित्र कहलाते हैं।

दुखी हो जाय, यही उत्तम मित्रकी पहचान बतायी गयी है॥

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा॥ १७॥

जिसके विषयमें ऐसी मान्यता हो कि मेरे न रहनेपर यह भी नहीं रहेगा, उसपर पिताके समान विश्वास करना चाहिये॥ १७॥

तं शक्त्या वर्धमानश्च सर्वतः परिबृंहयेत्।
नित्यं क्षताद् वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु॥ १८॥
क्षताद् भीतं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम्।
ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः॥ १९॥

और जब अपनी वृद्धि हो तो यथाशक्ति उसे भी सब ओरसे समृद्धिशाली बनावे। जो धर्मके कार्योंमें भी राजाको सदा हानिसे बचानेका प्रयत्न करता है तथा उसकी हानिसे भयभीत हो उठता है, उसके इस स्वभावको ही उत्तम मित्र-का लक्षण समझना चाहिये। जो राजाकी हानि और विनाश-की इच्छा रखते हैं, वे उसके शत्रु माने गये हैं॥ १८-१९॥

व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न दुष्यति।
यत् स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते॥ २०॥

जो मित्रपर विपत्ति आनेकी सम्भावनासे सदा डरता रहता है और उसकी उन्नति देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या नहीं करता है, ऐसे मित्रको अपने आत्माके समान बताया गया है॥

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः।
कुलीनः शीलसम्पन्नः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः॥ २१॥

जिसका रूप-रंग सुन्दर और स्वर मीठा हो, जो क्षमा-शील हो, निन्दक न हो तथा कुलीन और शीलवान् हो, वह तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिये॥ २१॥

मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृशंस्यवान्।
यो मानितोऽमानितो वा न च दुष्येत् कदाचन॥२२॥
ऋत्विग्वा यदि वाऽऽचार्यः सखा वात्यन्तसंस्तुतः।
गृहे वसेदमात्यस्ते स स्यात् परमपूजितः॥ २३॥

जिसकी बुद्धि अच्छी और स्मरणशक्ति तीव्र हो, जो कार्य-साधनमें कुशल और स्वभावतः दयालु हो तथा कभी मान या अपमान हो जानेपर जिसके हृदयमें द्वेष या दुर्भाव नहीं पैदा होता हो, ऐसा मनुष्य यदि ऋत्विज, आचार्य अथवा अत्यन्त प्रशंसित मित्र हो तो वह मन्त्री बनकर तुम्हारे घरमें रहे तथा तुम्हें उसका विशेष आदर-सम्मान करना चाहिये॥

स ते विद्यात् परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः।
विश्वासस्ते भवेत् तत्र यथा पितरि वै तथा॥ २४॥

वह तुम्हारे उत्तम-से-उत्तम गोपनीय मन्त्र तथा धर्म और अर्थकी प्रकृति* को भी जाननेका अधिकारी है। उसपर तुम्हारा वैसा ही विश्वास होना चाहिये, जैसा कि एक पुत्रका पितापर होता है॥ २४॥

नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन् परस्परम्।
एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा॥ २५॥

एक कामपर एक ही व्यक्तिको नियुक्त करना चाहिये, दो या तीनको नहीं; क्योंकि वे आपसमें एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते; एक कार्यपर नियुक्त हुए अनेक व्यक्तियोंमें प्रायः सदा मतभेद हो ही जाता है॥ २५॥

कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद् यश्च स्यात् समये स्थितः।
समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः॥ २६॥
यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद् वा धर्ममुत्सृजेत्।
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः॥ २७॥

जो कीर्तिको प्रधानता देता है और मर्यादाके भीतर स्थित रहता है, जो सामर्थ्यशाली पुरुषोंसे द्वेष और अनर्थ नहीं करता है, जो कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा क्रोधसे भी धर्मका त्याग नहीं करता, जिसमें कार्यकुशलता तथा आवश्यकता-के अनुरूप बातचीत करनेकी पूरी योग्यता हो, वही पुरुष तुम्हारा प्रधान मन्त्री होना चाहिये॥ २६-२७॥

कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः।
शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः॥ २८॥
एते ह्यमात्याः कर्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः।
पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः॥ २९॥

जो कुलीन, शीलसम्पन्न, सहनशील, झूठी आत्मप्रशंसा न करनेवाले, शूरवीर, श्रेष्ठ, विद्वान् तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको समझनेमें कुशल हों, उन्हें तुम्हें मन्त्रिपदपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। वे तुम्हारे सभी कार्योंमें नियुक्त होने योग्य हैं। उन्हें तुम सत्कारपूर्वक सुख और सुविधाकी वस्तुएँ देना। इस प्रकार आदरपूर्वक अपनाये जानेपर वे तुम्हारे अच्छे सहायक सिद्ध होंगे॥ २८-२९॥

कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु।
युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत॥ ३०॥

इन्हें इनकी योग्यताके अनुरूप कर्मोंमें पूरा अधिकार देकर लगा दिया जाय तो ये बड़े-बड़े कार्योंके साधनमें तत्पर हो राजाके लिये कल्याणकी वृद्धि कर सकते हैं॥ ३०॥

एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा।
अनुतिष्ठन्ति चैवार्थमाचक्षाणाः परस्परम्॥ ३१॥

क्योंकि ये सदा परस्पर होड़ लगाकर कार्य करते हैं और एक दूसरेसे सलाह लेकर अर्थकी सिद्धिके विषयमें विचार करते रहते हैं॥ ३१॥

* प्रकृतियाँ तीन प्रकारकी बतायी गयी हैं—अर्थप्रकृति, धर्म-प्रकृति तथा अर्थ-धर्मप्रकृति। इनमें अर्थ-प्रकृतिके अन्तर्गत आठ वस्तुएँ हैं—खेती, वाणिज्य, दुर्ग, सेतु (पुल), जंगलमें हाथी बाँधनेके स्थान, सोने-चाँदी आदि धातुओंकी खान, कर-ग्रहण और सूने स्थानोंको बसाना। इनके अतिरिक्त जो दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्मा-ध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्यौतिषी—ये सात प्रकृतियाँ हैं, इनमेंसे 'धर्माध्यक्ष' तो धर्मप्रकृति हैं और शेष छः 'अर्थ-धर्म-प्रकृति' के अन्तर्गत हैं।

ज्ञातिभ्यश्चैव बुद्ध्येथा मृत्योरिव भयं सदा ।
उपराजेव राजर्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम अपने कुटुम्बीजनोंसे सदा उसी प्रकार भय मानना, जैसे लोग मृत्युसे डरते रहते हैं। जिस प्रकार पड़ोसी राजा अपने पासके राजाकी उन्नति देख नहीं सकता, उसी प्रकार एक कुटुम्बी दूसरे कुटुम्बीका अभ्युदय कभी नहीं सह सकता ॥ ३२ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥

महाबाहो ! जो सरल, कोमल स्वभाववाला, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी है ऐसे राजाके विनाशका समर्थन कुटुम्बीके सिवा दूसरा नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञेयास्ततः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥

जिसके कुटुम्बी या सगे-सम्बन्धी नहीं हैं, वह भी सुखी नहीं होता; इसलिये कुटुम्बी जनोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। भाई-बन्धु या कुटुम्बी जनोंसे रहित पुरुषको दूसरे लोग दबाते रहते हैं ॥ ३४ ॥

निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् ।
नान्यैर्निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ ३५ ॥

दूसरोंके दबानेपर उस मनुष्यको उसके सगे भाई-बन्धु ही सहारा देते हैं। दूसरे लोग किसी सजातीय बन्धुका अपमान करें तो जाति-भाई उसको किसी तरह सहन नहीं कर सकते हैं॥

आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि ।
तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं चैव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

यदि सगे-सम्बन्धी भी किसी पुरुषका अपमान करें तो उसकी जातिके लोग उसे अपना ही अपमान समझते हैं। इस प्रकार कुटुम्बीजनोंमें गुण भी हैं और अवगुण भी दिखायी देते हैं ॥ ३६ ॥

नाज्ञातिरनुगृह्णाति न चाज्ञातिर्नमस्यति ।
उभयं ज्ञातिवर्गेषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ३७ ॥

दूसरी जातिका मनुष्य न अनुग्रह करता है, न नमस्कार। इस प्रकार जाति-भाइयोंमें भलाई और बुराई दोनों देखनेमें आती हैं॥

सम्मानयेत् पूजयेच्च वाचा नित्यं च कर्मणा ।
कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ३८ ॥

राजाका कर्तव्य है कि वह सदा अपने जातीय बन्धुओंका वाणी और क्रियाद्वारा आदर-सत्कार करे। वह प्रतिदिन उनका प्रिय ही करता रहे। कभी कोई अप्रिय कार्य न करे ॥

विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्तेत सर्वदा ।
न हि दोषो गुणो वेति निरूप्यस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥

उनपर विश्वास तो न करे; परंतु विश्वास करनेवालेकी ही भाँति सदा उनके साथ बर्ताव करे। उनमें दोष है या गुण—इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती है ॥

अस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ ४० ॥

जो पुरुष सदा सावधान रहकर ऐसा बर्ताव करता है, उसके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मित्रताका बर्ताव करने लगते हैं ॥ ४० ॥

य एवं वर्तते नित्यं ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रे मध्यस्थे चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ४१ ॥

जो कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी, मित्र, शत्रु तथा मध्यस्थ व्यक्तियोंकी मण्डलीमें सदा इसी नीतिसे व्यवहार करता है, वह चिरकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

कुटुम्बीजनोंमें दलबंदी होनेपर उस कुलके प्रधान पुरुषको क्या करना चाहिये ? इसके विषयमें श्रीकृष्ण और नारदजीका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

एवमग्राह्यके तस्मिञ्ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि सजातीय बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंके समुदायको पारस्परिक स्पर्धाके कारण वशमें करना असम्भव हो जाय, कुटुम्बीजनोंमें ही यदि दो दल हों तो एकका आदर करनेसे दूसरा दल रुष्ट हो ही जाता है। ऐसी परिस्थितिके कारण यदि मित्र भी शत्रु बन जायँ, तब उन सबके चित्तको किस प्रकार वशमें किया जा सकता है ?॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मनीषी पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके भूतपूर्व संवादरूप इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् ।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥

एक समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षे ! जो व्यक्ति सुहृद् न हो, जो सुहृद् तो हो किंतु पण्डित न हो तथा जो सुहृद् और पण्डित तो हो किंतु अपने मनको वशमें न कर सका हो—ये तीनों ही परम गोपनीय मन्त्रणाको सुनने या जाननेके अधिकारी नहीं हैं ॥ ३ ॥

स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद् वक्ष्यामि नारद ।
कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य सम्पृच्छेस्त्रिदिवंगम ॥ ४ ॥

स्वर्गमें विचरनेवाले नारदजी ! मैं आपके सौहार्दपर भरोसा रखकर आपसे कुछ निवेदन करूँगा । मनुष्य किसी व्यक्तिमें बुद्धि-बलकी पूर्णता देखकर ही उससे कुछ पूछता या जिज्ञासा प्रकट करता है ॥ ४ ॥

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् ।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥

मैं अपनी प्रभुता प्रकाशित करके जाति-भाइयों, कुटुम्बी-जनोंको अपना दास बनाना नहीं चाहता । मुझे जो भोग प्राप्त होते हैं, उनका आधा भाग ही अपने उपभोगमें लाता हूँ, शेष आधा भाग कुटुम्बीजनोंके लिये ही छोड़ देता हूँ और उनकी कड़वी बातोंको सुनकर भी क्षमा कर देता हूँ ॥ ५ ॥

अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥ ६ ॥

देवर्षे ! जैसे अग्निको प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है, उसी प्रकार इन कुटुम्बी-जनोंका कटुवचन मेरे हृदयको सदा मथता और जलाता रहता है ॥ ६ ॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥

नारदजी ! बड़े भाई बलराममें सदा ही असीम बल है; वे उसीमें मस्त रहते हैं । छोटे भाई गदमें अत्यन्त सुकुमारता है (अतः वह परिश्रमसे दूर भागता है); रह गया बेटा प्रद्युम्न, सो वह अपने रूप-सौन्दर्यके अभिमानसे ही मतवाला बना रहता है । इस प्रकार इन सहायकोंके होते हुए भी मैं असहाय हूँ ॥ ७ ॥

अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः ।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८ ॥

नारदजी ! अन्धक तथा वृष्णिवंशमें और भी बहुत-से वीर पुरुष हैं, जो महान् सौभाग्यशाली, बलवान् एवं दुःसह पराक्रमी हैं, वे सब-के-सब सदा उद्योगशील बने रहते हैं ॥८॥

यस्य न स्युर्न वै स स्याद् यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत् ।
द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥

ये वीर जिसके पक्षमें न हों, उसका जीवित रहना असम्भव है और जिसके पक्षमें ये चले जायँ, वह सारा-का-सारा समुदाय ही विजयी हो जाय । परंतु आहुक और अक्रूरने आपसमें वैमनस्य रखकर मुझे इस तरह अवरुद्ध कर दिया है कि मैं इनमेंसे किसी एकका पक्ष नहीं ले सकता ॥ ९ ॥

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥

आपसमें लड़नेवाले आहुक और अक्रूर दोनों ही जिसके स्वजन हों, उसके लिये इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ? और वे दोनों ही जिसके सुहृद् न हों, उसके लिये भी इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है ? (क्योंकि ऐसे मित्रोंका न रहना भी महान् दुःखदायी होता है) ॥१०॥

सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते ।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ ११ ॥

महामते ! जैसे दो जुआरियोंकी एक ही माता एककी जीत चाहती है तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहती, उसी प्रकार मैं भी इन दोनों सुहृदोंमेंसे एककी विजयकामना करता हूँ तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहता ॥ ११ ॥

ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥

नारदजी ! इस प्रकार मैं सदा उभय पक्षका हित चाहनेके कारण दोनों ओरसे कष्ट पाता रहता हूँ । ऐसी दशामें मेरा अपना तथा इन जाति-भाइयोंका भी जिस प्रकार भला हो, वह उपाय आप बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

नारद उवाच

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वान्यतः ॥ १३ ॥

नारदजीने कहा—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! आपत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर । वे दोनों ही स्वकृत[1] और परकृत[2]-भेदसे दो-दो प्रकारकी होती हैं ॥ १३ ॥

सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते त्वदन्वयाः ॥ १४ ॥

अक्रूर और आहुकसे उत्पन्न हुई यह कष्टदायिनी आपत्ति जो आपको प्राप्त हुई है, आभ्यन्तर है और अपनी ही करतूतोंसे प्रकट हुई है । ये सभी जिनके नाम आपने गिनाये हैं, आपके ही वंशके हैं ॥ १४ ॥

अर्थहेतोर्हि कामाद् वा वाचा बीभत्सयापि वा ।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥

आपने स्वयं जिस ऐश्वर्यको प्राप्त किया था, उसे किसी प्रयोजनवश या स्वेच्छासे अथवा कटुवचनसे डरकर दूसरेको दे दिया ॥ १५ ॥

कृतमूलमिदानीं तज्ज्ञातिवृन्दं सहायवत् ।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥ १६ ॥

सहायशाली श्रीकृष्ण ! इस समय उग्रसेनको दिया हुआ वह ऐश्वर्य दृढ़मूल हो चुका है । उग्रसेनके साथ जातिके लोग भी सहायक हैं; अतः उगले हुए अन्नकी भाँति आप उस दिये हुए ऐश्वर्यको वापस नहीं ले सकते ॥ १६ ॥

१. जो आपत्तियाँ स्वतः अपनी ही करतूतोंसे आती हैं, उन्हें स्वकृत कहते हैं ।

२. जिन्हें लानेमें दूसरे लोग निमित्त बनते हैं, वे विपत्तियाँ परकृत कहलाती हैं ।

बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन ।
ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण ! अक्रूर और उग्रसेनके अधिकारमें गये हुए राज्यको भाई-बन्धुओंमें फूट पड़नेके भयसे अन्यकी तो कौन कहे इतने शक्तिशाली होकर स्वयं भी आप किसी तरह वापस नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

तच्च सिध्येत् प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
महाक्षयं व्ययो वा स्याद् विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥ १८ ॥

बड़े प्रयत्नसे अत्यन्त दुष्कर कर्म महान् संहाररूप युद्ध करनेपर राज्यको वापस लेनेका कार्य सिद्ध हो सकता है, परंतु इसमें धनका बहुत व्यय और असंख्य मनुष्योंका पुनः विनाश होगा ॥ १८ ॥

अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा ।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १९ ॥

अतः श्रीकृष्ण ! आप एक ऐसे कोमल शस्त्रसे, जो लोहेका बना हुआ न होनेपर भी हृदयको छेद डालनेमें समर्थ है, परिमार्जन और अनुमार्जन करके उन सबकी जीभ उखाड़ लें—उन्हें मूक बना दें (जिससे फिर कलहका आरम्भ न हो) ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम् ।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मुने ! बिना लोहेके बने हुए उस कोमल शस्त्रको मैं कैसे जानूँ, जिसके द्वारा परिमार्जन और अनुमार्जन करके इन सबकी जिह्वाको उखाड़ लूँ ॥ २० ॥

नारद उवाच

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥ २१ ॥

नारदजीने कहा—श्रीकृष्ण ! अपनी शक्तिके अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता तथा यथायोग्य पूजन (आदर-सत्कार) करना—यही बिना लोहेका बना हुआ शस्त्र है ॥ २१ ॥

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥ २२ ॥

जब सजातीय बन्धु आपके प्रति कड़वी तथा ओछी बातें कहना चाहें, उस समय आप मधुर वचन बोलकर उनके हृदय, वाणी तथा मनको शान्त कर दें ॥ २२ ॥

नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ २३ ॥

जो महापुरुष नहीं है, जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है तथा जो सहायकोंसे सम्पन्न नहीं है, वह कोई भारी भार नहीं उठा सकता । अतः आप ही इस गुरुतर भारको हृदयसे उठाकर वहन करें ॥ २३ ॥

सर्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे ।
दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥

समतल भूमिपर सभी बैल भारी भार वहन कर लेते हैं; परंतु दुर्गम भूमिपर कठिनाईसे वहन करने योग्य गुरुतर भारको अच्छे बैल ही ढोते हैं ॥ २४ ॥

भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु ॥ २५ ॥

केशव ! आप इस यादवसंघके मुखिया हैं । यदि इसमें फूट हो गयी तो इस समूचे संघका विनाश हो जायगा; अतः आप ऐसा करें जिससे आपको पाकर इस संघका—इस यादवगणतन्त्र राज्यका मूलोच्छेद न हो जाय ॥ २५ ॥

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥

बुद्धि, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रहके बिना तथा धन-वैभवका त्याग किये बिना कोई गण अथवा संघ किसी बुद्धिमान् पुरुषकी आज्ञाके अधीन नहीं रहता है ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद् यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! सदा अपने पक्षकी ऐसी उन्नति होनी चाहिये जो धन, यश तथा आयुकी वृद्धि करनेवाली हो और कुटुम्बीजनोंमेंसे किसीका विनाश न हो । यह सब जैसे भी सम्भव हो, वैसा ही कीजिये ॥ २७ ॥

आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा ॥ २८ ॥

प्रभो ! संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छहों गुणोंके यथासमय प्रयोगसे तथा शत्रुपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा करनेपर वर्तमान या भविष्यमें क्या परिणाम निकलेगा ? यह सब आपसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये ॥ २९ ॥
उपासते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि माधव ।

महाबाहु माधव ! कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशके सभी यादव आपमें प्रेम रखते हैं । दूसरे लोग और लोकेश्वर भी आपमें अनुराग रखते हैं । औरोंकी तो बात ही क्या है ? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी आपकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं ॥ २९½ ॥

त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम् ।
त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते यादवाः सुखम् ॥ ३० ॥

---

१. क्षमा, सरलता और कोमलताके द्वारा दोषोंको दूर करना 'परिमार्जन' कहलाता है ।

२. यथायोग्य सेवा-सत्कारके द्वारा हृदयमें प्रीति उत्पन्न करना 'अनुमार्जन' कहा गया है ।

आप समस्त प्राणियोंके गुरु हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यको जानते हैं। आप-जैसे यदुकुलतिलक महापुरुषका आश्रय लेकर ही समस्त यादव सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवनारदसंवादो नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवाद नामक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मन्त्रियोंकी परीक्षाके विषयमें तथा राजा और राजकीय मनुष्योंसे सतर्क रहनेके विषयमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यान

भीष्म उवाच

एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत।
यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! यह राजा अथवा राजनीतिकी पहली वृत्ति है, अब दूसरी सुनो। जो कोई मनुष्य राजाके धनकी वृद्धि करे, उसकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

ह्रियमाणममात्येन भृत्यो वा यदि वा भृतः।
यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर ॥ २ ॥
श्रोतव्यमस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत्।
अमात्या ह्यपहर्तारो भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत ॥ ३ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! यदि मन्त्री राजाके खजानेसे धनका अपहरण करता हो और कोई सेवक अथवा राजाके द्वारा पालित हुआ दूसरा कोई मनुष्य राजकीय कोषके नष्ट होनेका समाचार राजाको बतावे, तब राजाको उसकी बात एकान्तमें सुननी चाहिये और मन्त्रीसे उसके जीवनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि चोरी करनेवाले मन्त्री अपना भंडाफोड़ करनेवाले मनुष्यको प्रायः मार डाला करते हैं ॥ २-३ ॥

राजकोशस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः।
समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः ॥ ४ ॥

जो राजाके खजानेकी रक्षा करनेवाला है, उस पुरुषको राजकीय कोष लूटनेवाले सब लोग एकमत होकर सताने लगते हैं। यदि राजाके द्वारा उसकी रक्षा नहीं की जाय तो वह बेचारा बेमौत मारा जाता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुनिः कालकवृक्षीयः कौसल्यं यदुवाच ह ॥ ५ ॥

इस विषयमें जानकार लोग, कालकवृक्षीय मुनिने कोसलराजको जो उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ५ ॥

कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेमदर्शिनम्।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि राजा क्षेमदर्शी जब कोसल प्रदेशके राजसिंहासनपर आसीन थे, उन्हीं दिनों कालकवृक्षीय मुनि उस राज्यमें पधारे थे ॥ ६ ॥

स काकं पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः।
सर्वं पर्यचरद् युक्तः प्रवृत्त्यर्थी पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उन्होंने क्षेमदर्शीके सारे देशमें, उस राज्यका समाचार जाननेके लिये एक कौएको पिंजड़ेमें बाँधकर साथ ले बड़ी सावधानीके साथ बारंबार चक्कर लगाया ॥ ७ ॥

अधीध्वं वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः।
अनागतमतीतं च यच्च सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

घूमते समय वे लोगोंसे कहते थे, 'सज्जनो ! तुमलोग मुझसे वायसी विद्या (कौओंकी बोली समझनेकी कला) सीखो। मैंने सीखी है, इसलिये कौए मुझसे भूत, भविष्य तथा इस समय जो वर्तमान है, वह सब बता देते हैं' ॥ ८ ॥

इति राष्ट्रे परिपतन् बहुभिः पुरुषैः सह।
सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्करं परिदृष्टवान् ॥ ९ ॥

यही कहते हुए वे बहुतेरे मनुष्योंके साथ उस राष्ट्रमें सब ओर घूमते फिरे। उन्होंने राजकार्यमें लगे हुए समस्त कर्मचारियोंका दुष्कर्म अपनी आँखों देखा ॥ ९ ॥

स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः।
राजयुक्तापहारांश्च सर्वान् बुद्ध्वा ततस्ततः ॥ १० ॥
ततः स काकमादाय राजानं द्रष्टुमागमत्।
सर्वज्ञोऽस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः ॥ ११ ॥

उस राष्ट्रके सारे व्यवसायोंको जानकर तथा राजकीय कर्मचारियोंद्वारा राजाकी सम्पत्तिके अपहरण होनेकी सारी घटनाओंका जहाँ-तहाँसे पता लगाकर वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अपनेको सर्वज्ञ घोषित करते हुए उस कौएको साथ ले राजासे मिलनेके लिये आये ॥ १०-११ ॥

स स्म कौसल्यमागम्य राजामात्यमलंकृतम्।
प्राह काकस्य वचनादमुत्रेदं त्वया कृतम् ॥ १२ ॥
असौ चासौ च जानीते राजकोशस्त्वया हृतः।
एवमाख्याति काकोऽयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम् ॥ १३ ॥

कोसलनरेशके निकट उपस्थित हो मुनिने सज-धजकर बैठे हुए राजमन्त्रीसे कौएके कथनका हवाला देते हुए कहा—'तुमने अमुक स्थानपर राजाके अमुक धनकी चोरी की है। अमुक-अमुक व्यक्ति इस बातको जानते हैं, जो इसके साक्षी हैं'। हमारा यह कौआ कहता है कि 'तुमने राजकीय कोषका अपहरण किया है; अतः तुम अपने इस अपराधको शीघ्र स्वीकार करो' ॥ १२-१३ ॥

तथान्यानपि स प्राह राजकोशहरांस्तदा।
न चास्य वचनं किंचिदनृतं श्रूयते क्वचित् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार मुनिने राजाके खजानेसे चोरी करनेवाले अन्य कर्मचारियोंसे भी कहा—'तुमने चोरी की है। मेरे इस कौएकी कही हुई कोई भी बात कभी और कहीं भी झूठी नहीं सुनी गयी है' ॥ १४ ॥

तेन विप्रकृताः सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह ।
तमस्यभिप्रसुप्तस्य निशि काकमवेधयन् ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुनिके द्वारा तिरस्कृत हुए सभी राजकर्मचारियोंने अँधेरी रातमें सोये हुए मुनिके उस कौएको बाणसे बींधकर मार डाला ॥ १५ ॥

वायसं तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे ।
पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अपने कौएको पिंजड़ेमें बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर ब्राह्मणने पूर्वाह्णमें राजा क्षेमदर्शीसे इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम् ।
अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं भवतो हितम् ॥ १७ ॥

'राजन् ! आप प्रजाके प्राण और धनके स्वामी हैं। मैं आपसे अभयकी याचना करता हूँ। यदि आज्ञा हो तो मैं आपके हितकी बात कहूँ ॥ १७ ॥

मित्रार्थमभिसंतप्तो भक्त्या सर्वात्मनाऽऽगतः ।

'आप मेरे मित्र हैं। मैं आपके ही हितके लिये आपके प्रति सम्पूर्ण हृदयसे भक्तिभाव रखकर यहाँ आया हूँ। आपकी जो हानि हो रही है, उसे देखकर मैं बहुत संतप्त हूँ ॥१७½॥

अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमान्वितः ॥ १८ ॥
सम्बुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः ।
अतिमन्युप्रसक्तो हि प्रसह्य हितकारणात् ॥ १९ ॥
तथाविधस्य सुहृदा क्षन्तव्यं स्वं विजानता ।
ऐश्वर्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥

'जैसे सारथि अच्छे घोड़ेको सचेत करता है, उसी प्रकार यदि कोई मित्र मित्रको समझानेके लिये आया हो, मित्रकी हानि देखकर जो अत्यन्त दुखी हो और उसे सहन न कर सकनेके कारण जो हठपूर्वक अपने सुहृद् राजाका हित-साधन करनेके लिये उसके पास आकर कहे कि 'राजन् ! तुम्हारे इस धनका अपहरण हो रहा है' तो सदा ऐश्वर्य और उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले विज्ञ एवं सुहृद् पुरुषको अपने उस हितकारी मित्रकी बात सुननी चाहिये और उसके अपराध-को क्षमा कर देना चाहिये' ॥ १८—२० ॥

तं राजा प्रत्युवाचेदं यत् किंचिन्मां भवान् वदेत् ।
कस्मादहं न क्षमेयमाकाङ्क्षन्नात्मनो हितम् ॥२१॥
ब्राह्मण प्रतिजाने ते प्रब्रूहि यदिहेच्छसि ।
करिष्यामि हि ते वाक्यं यदस्मान्विप्र वक्ष्यसि ॥ २२ ॥

तब राजाने मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—'ब्राह्मण ! आप जो कुछ कहना चाहें, मुझसे निर्भय होकर कहें। अपने हितकी इच्छा रखनेवाला मैं आपको क्षमा क्यों नहीं करूँगा ? विप्रवर ! आप जो चाहें, कहिये। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप मुझसे जो कोई भी बात कहेंगे, आपकी उस आज्ञाका मैं पालन करूँगा' ॥ २१-२२ ॥

मुनिरुवाच

ज्ञात्वा पापानपापांश्च भृत्यतस्ते भयानि च ।
भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोऽन्तिकमागमम् ॥२३॥

मुनि बोले—महाराज ! आपके कर्मचारियोंमेंसे कौन अपराधी है और कौन निरपराध ? इस बातका पता लगाकर तथा आपपर आपके सेवकोंकी ओरसे ही अनेक भय आनेवाले हैं, यह जानकर प्रेमपूर्वक राज्यका सारा समाचार बतानेके लिये मैं आपके पास आया था ॥ २३ ॥

प्रागेवोक्तस्तु दोषोऽयमाचार्यैर्नृपसेविनाम् ।
अगतीकगतिर्ह्येषा पापा राजोपसेविनाम् ॥ २४ ॥

नीतिशास्त्रके आचार्योंने राजसेवकोंके इस दोषका पहलेसे ही वर्णन कर रक्खा है कि जो राजाकी सेवा करनेवाले लोग हैं, उनके लिये यह पापमयी जीविका अगतिक गति है अर्थात् जिन्हें कहीं भी सहारा नहीं मिलता, वे राजाके सेवक होते हैं ॥ २४ ॥

आशीविषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः ।
बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च ॥ २५ ॥
तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपजीविनाम् ।
तथैषां राजतो राजन् मुहूर्तादेव भीर्भवेत् ॥ २६ ॥

जिसका राजाओंके साथ मेल-जोल हो गया, उसकी विषधर सर्पोंके साथ सङ्गति हो गयी, ऐसा नीतिज्ञोंका कथन है। राजाके जहाँ बहुत-से मित्र होते हैं, वहीं उनके अनेक शत्रु भी हुआ करते हैं। राजाके आश्रित होकर जीविका चलानेवालोंको उन सभीसे भय बताया गया है। राजन् ! स्वयं राजासे भी उन्हें घड़ी-घड़ीमें खतरा रहता है ॥२५-२६॥

नैकान्तेन प्रमादो हि शक्यः कर्तुं महीपतौ ।
न तु प्रमादः कर्तव्यः कथंचिद् भूतिमिच्छता ॥ २७ ॥

राजाके पास रहनेवालोंसे कभी कोई प्रमाद हो ही नहीं, यह तो असम्भव है, परंतु जो अपना भला चाहता हो उसे किसी तरह उसके पास जान-बूझकर प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्रमादाद्धि स्खलेद् राजा स्खलिते नास्ति जीवितम् ।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद् राजानमुपशिक्षितः ॥ २८ ॥

यदि सेवकके द्वारा असावधानीके कारण कोई अपराध बन गया तो राजा पहलेके उपकारको भुलाकर कुपित हो उससे द्वेष करने लगता है और जब राजा अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो जाय तो उस सेवकके जीवनकी आशा नहीं रह जाती। जैसे जलती हुई आगके पास मनुष्य सचेत होकर जाता है, उसी प्रकार शिक्षित पुरुषको राजाके पास सावधानीसे रहना चाहिये ॥ २८ ॥

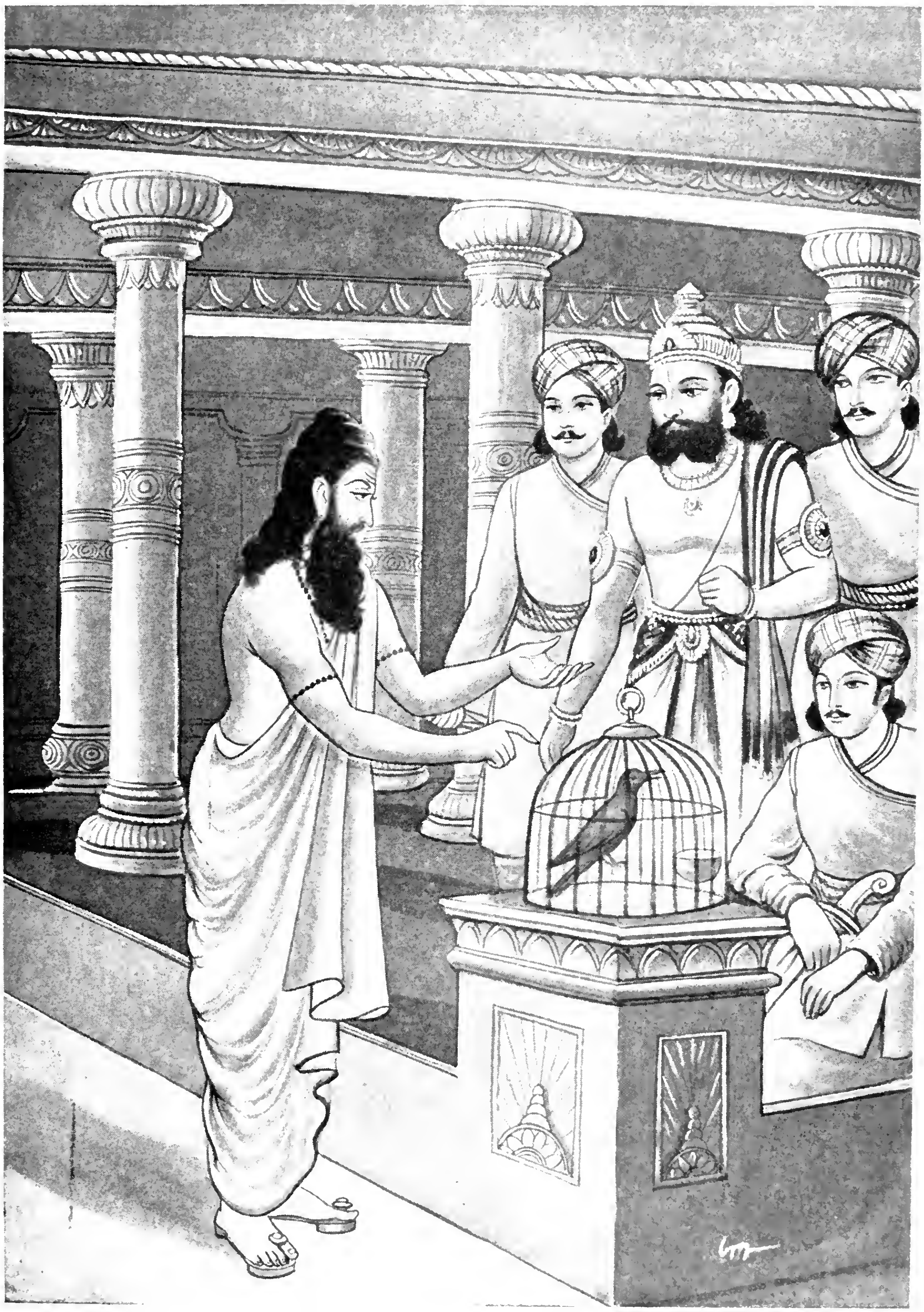

राजा क्षेमदर्शी और कालकवृक्षीय मुनि

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥ २९ ॥

राजा प्राण और धन दोनोंका स्वामी है। जब वह कुपित होता है तो विषधर सर्पके समान भयंकर हो जाता है; अतः मनुष्यको चाहिये कि 'मैं जीवित नहीं हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् अपनी जानको हथेलीपर लेकर सदा बड़े यत्नसे राजाकी सेवा करे ॥ २९ ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमानो दुष्कृताद् दुरधिष्ठितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गितादङ्गचेष्टितात् ॥ ३० ॥

मुँहसे कोई बुरी बात न निकल जाय, कोई बुरा काम न बन जाय, खड़ा होते, किसी आसनपर बैठते, चलते, संकेत करते तथा किसी अङ्गके द्वारा कोई चेष्टा करते समय असभ्यता अथवा बेअदबी, न हो जाय, इसके लिये सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ३० ॥

देवतेव हि सर्वार्थान् कुर्याद् राजा प्रसादितः।
वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ॥ ३१ ॥

यदि राजाको प्रसन्न कर लिया जाय तो वह देवताकी भाँति सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध कर देता है और यदि कुपित हो जाय तो जलती हुई आगकी भाँति जड़मूलसहित भस्म कर डालता है ॥ ३१ ॥

इति राजन् यमः प्राह वर्तते च तथैव तत्।
अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

राजन्! यमराजने जो यह बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों ठीक है; फिर भी मैं तो बारंबार आपके महान् अर्थका साधन करूँगा ही ॥ ३२ ॥

ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि।
वायसस्त्वेष मे राजन् ननु कार्याभिसंहितः ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा मन्त्री आपत्तिकालमें बुद्धिद्वारा सहायता देता है। राजन्! मेरा यह कौआ भी आपके कार्यसाधनमें संलग्न था; किंतु मारा गया (सम्भव है मेरी भी वही दशा हो)॥

न च मेऽत्र भवान् गर्ह्यो न च येषां भवान् प्रियः।
हिताहितांस्तु बुद्ध्येथा मा परोक्षमतिर्भवेः ॥ ३४ ॥

परंतु इसके लिये मैं आपकी और आपके प्रेमियोंकी निन्दा नहीं करता। मेरा कहना तो इतना ही है कि आप स्वयं अपने हित और अनहितको पहचानिये। प्रत्येक कार्यको अपनी आँखोंसे देखिये। दूसरोंकी देख-भालपर विश्वास न कीजिये ॥ ३४ ॥

ये त्वादानपरा एव वसन्ति भवतो गृहे।
अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३५ ॥

जो लोग आपका खजाना लूट रहे हैं और आपके ही घरमें रहते हैं, वे प्रजाकी भलाई चाहनेवाले नहीं है। वैसे लोगोंने मेरे साथ वैर बाँध लिया है ॥ ३५ ॥

यो वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छत्यनन्तरम्।
आन्तरैरभिसंधाय राजन् सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ३६ ॥

राजन्! जो आपका विनाश करके आपके बाद इस राज्यको अपने हाथमें लेना चाहता है, उसका वह कर्म अन्तःपुरके सेवकोंसे मिलकर कोई षड्यन्त्र करनेसे ही सफल हो सकता है; अन्यथा नहीं (अतः आपको सावधान हो जाना चाहिये) ॥ ३६ ॥

तेषामहं भयाद् राजन् गमिष्याम्यन्यमाश्रमम्।
तैर्हि मे संधितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! मैं उन विरोधियोंके भयसे दूसरे आश्रममें चला जाऊँगा। प्रभो! उन्होंने मेरे लिये ही बाणका संधान किया था; किंतु वह उस कौएपर जा गिरा ॥ ३७ ॥

छद्मकामैरकामस्य गमितो यमसादनम्।
दृष्टं ह्येतन्मया राजंस्तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥ ३८ ॥

मैं कोई कामना लेकर यहाँ नहीं आया था तो भी छल-कपटकी इच्छा रखनेवाले षड्यन्त्रकारियोंने मेरे कौएको मारकर यमलोक पहुँचा दिया। राजन्! तपस्याके द्वारा प्राप्त हुई दूरदर्शिनी दृष्टिसे मैंने यह सब देखा है ॥ ३८॥

बहुनक्रझषग्राहां तिमिङ्गिलगणैर्युताम् ।
काकेन बालिशेनेमां यामतार्षमहं नदीम् ॥ ३९ ॥

यह राजनीति एक नदीके समान है। राजकीय पुरुष उसमें मगर, मत्स्य, तिमिङ्गल-समूहों और ग्राहोंके समान हैं। बेचारे कौएके द्वारा मैं किसी तरह इस नदीसे पार हो सका हूँ ॥ ३९ ॥

स्थाण्वश्मकण्टकवतीं सिंहव्याघ्रसमाकुलाम्।
दुरासदां दुष्प्रसहां गुहां हैमवतीमिव ॥ ४० ॥

जैसे हिमालयकी कन्दरामें ठूँठ, पत्थर और काँटें होते हैं, उसके भीतर सिंह और व्याघ्रोंका भी निवास होता है तथा इन्हीं सब कारणोंसे उसमें प्रवेश पाना या रहना अत्यन्त कठिन एवं दुःसह हो जाता है, उसी प्रकार दुष्ट अधिकारियोंके कारण इस राज्यमें किसी भले मनुष्यका रहना मुश्किल है ॥ ४० ॥

अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यं च गम्यते।
राजदुर्गावतरणे नोपायं पण्डिता विदुः ॥ ४१ ॥

अन्धकारमय दुर्गको अग्निके प्रकाशसे तथा जल-दुर्गको नौकाओंद्वारा पार किया जा सकता है; परंतु राजारूपी दुर्गसे पार होनेके लिये विद्वान् पुरुष भी कोई उपाय नहीं जानते हैं ॥

गहनं भवतो राज्यमन्धकारं तमोऽन्वितम्।
नेह विश्वसितुं शक्यं भवतापि कुतो मया ॥ ४२ ॥

आपका यह राज्य गहन अन्धकारसे आच्छन्न और दुःखसे परिपूर्ण है। आप स्वयं भी इस राज्यपर विश्वास नहीं कर सकते; फिर मैं कैसे करूँगा? ॥ ४२ ॥

अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह।
वधो ह्येवात्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४३ ॥

अतः यहाँ रहनेमें किसीका कल्याण नहीं है। यहाँ भले-बुरे सब एक समान हैं। इस राज्यमें बुराई करनेवाले और

भलाई करनेवालेका भी वध हो सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४३॥

न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते न कथंचन ।
नेह युक्तं स्थिरं स्थातुं जवेनैवाव्रजेद् बुधः ॥४४॥

न्यायकी बात तो यह है कि बुराई करनेवालेको ही मारा जाय और पुण्य—श्रेष्ठ कर्म करनेवालेको किसी तरह भी कोई कष्ट न होने पावे, परंतु यहाँ ऐसा नहीं होता; अतः इस राज्यमें स्थिरभावसे निवास करना किसीके लिये भी उचित नहीं है। विद्वान् पुरुषको यहाँसे अति शीघ्र हट जाना चाहिये ॥ ४४ ॥

सीता नाम नदी राजन् प्लवो यस्यां निमज्जति ।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४५ ॥

राजन् ! सीता नामसे प्रसिद्ध एक नदी है, जिसमें नाव भी डूब जाती है, वैसी ही यहाँकी राजनीति भी है (इसमें मेरे-जैसे सहायकोंके भी डूब जानेकी आशङ्का है)। मैं तो इसे समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाली फाँसी ही समझता हूँ ॥ ४५ ॥

मधुप्रपातो हि भवान् भोजनं विषसंयुतम् ।
असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ॥ ४६ ॥

आप शहदके छत्तेसे युक्त पेड़की उस ऊँची डालीके समान हैं, जहाँसे नीचे गिरनेका ही भय है। आप विष मिलाये हुए भोजनके तुल्य हैं, आपका भाव असज्जनोंके समान है, सज्जनोंके तुल्य नहीं है ॥ ४६ ॥

आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव ।
दुर्गतीर्था बृहत्कूला कारीरा वेत्रसंयुता ॥ ४७ ॥
नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान् ।

भूपाल ! आप विषैले सर्पोंसे घिरे हुए कुएँके समान हैं, राजन् ! आपकी अवस्था उस मीठे जलवाली नदीके समान हो गयी है, जिसके घाटतक पहुँचना कठिन है, जिसके दोनों किनारे बहुत ऊँचे हों और वहाँ करीलके झाड़ तथा बेंतकी वल्लरियाँ सब ओर छा रही हों ॥ ४७½ ॥

श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि॥ ४८ ॥
यथाऽऽश्रित्य महावृक्षं कक्षः संवर्धते महान् ।
ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्धते ॥ ४९ ॥
तेनैवोग्रेन्धनेनैनं दावो दहति दारुणः ।
तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान् परिशोधय ॥ ५० ॥

जैसे कुत्तों, गीधों और गीदड़ोंसे घिरा हुआ राजहंस बैठा हो, उसी तरह दुष्ट कर्मचारियोंसे आप घिरे हुए हैं। जैसे लताओंका विशाल समूह किसी महान् वृक्षका आश्रय लेकर बढ़ता है, फिर धीरे-धीरे उस वृक्षको लपेट लेता है और उसका अतिक्रमण करके उससे भी ऊँचेतक फैल जाता है, फिर वही सूखकर भयानक ईंधन बन जाता है, तब दारुण दावानल उसी ईंधनके सहारे उस विशाल वृक्षको भी जला डालता है, राजन् ! आपके मन्त्री भी उन्हीं सूखी लताओंके समान हो गये हैं अर्थात् आपके ही आश्रयसे बढ़कर आपहीके विनाशका कारण बन रहे हैं। अतः आप उनका शोधन कीजिये ॥ ४८—५० ॥

त्वया चैव कृता राजन् भवता परिपालिताः ।
भवन्तमभिसंधाय जिघांसन्ति भवत्प्रियम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! आपने ही जिन्हें मन्त्री बनाया और आपने जिनका पालन किया, वे आपसे ही कपटभाव रखकर आपके ही हितका विनाश करना चाहते हैं ॥ ५१ ॥

उषितं शङ्कमानेन प्रमादं परिरक्षता ।
अन्तःसर्पं इवागारे वीरपत्न्या इवालये ॥ ५२ ॥
शीलं जिज्ञासमानेन राज्ञश्च सहजीविनः ।

मैं राजाके साथ रहनेवाले अधिकारियोंका शील-स्वभाव जानना चाहता था, इसलिये सदा सशङ्क रहकर बड़ी सावधानीके साथ यहाँ रहा हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई साँपवाले मकानमें रहता हो अथवा किसी शूर-वीरकी पत्नीके घरमें घुस गया हो ॥ ५२½ ॥

कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा कच्चिदस्यान्तरा जिताः ॥ ५३ ॥
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद् राज्ञः प्रियाः प्रजाः ।
विजिज्ञासुरिह प्राप्तस्तवाहं राजसत्तम ॥ ५४ ॥

क्या इस देशके राजा जितेन्द्रिय हैं ? क्या इनके अंदर रहनेवाले सेवक इनके वशमें हैं ? क्या यहाँकी प्रजाओंका राजापर प्रेम है ? और राजा भी क्या अपनी प्रजाओंपर प्रेम रखते हैं ? नृपश्रेष्ठ ! इन्हीं सब बातोंको जाननेकी इच्छासे मैं आपके यहाँ आया था ॥ ५३-५४ ॥

तस्य मे रोचते राजन् क्षुधितस्येव भोजनम् ।
अमात्या मे न रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् ॥ ५५ ॥

जैसे भूखेको भोजन अच्छा लगता है, उसी प्रकार आपका दर्शन मुझे बड़ा प्रिय लगता है; परंतु जैसे प्यास न रहनेपर पानी अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार आपके ये मन्त्री मुझे अच्छे नहीं जान पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

भवतोऽर्थकृदित्येवं मयि दोषो हि तैः कृतः ।
विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्र संशयः ॥ ५६ ॥

मैं आपकी भलाई करनेवाला हूँ, यही इन मन्त्रियोंने मुझमें बड़ा भारी दोष पाया है और इसीलिये ये मुझसे द्वेष रखने लगे हैं। इसके सिवा दूसरा कोई इनके रोषका कारण नहीं है। मुझे अपने इस कथनकी सत्यतामें कोई संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषदर्शनम् ।
अरेर्हि दुर्हृदाद् भेयं भग्नपुच्छादिवोरगात् ॥ ५७ ॥

यद्यपि मैं इन लोगोंसे द्रोह नहीं करता तो भी मेरे प्रति इन लोगोंकी दोष-दृष्टि हो गयी है। जिसकी पूँछ दबा दी गयी हो, उस सर्पके समान दुष्ट हृदयवाले शत्रुसे सदा डरते रहना चाहिये (इसलिये अब मैं यहाँ रहना नहीं चाहता)॥५७॥

राजोवाच

भूयसा परिहारेण सत्कारेण च भूयसा ।
पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५८ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! आपपर आनेवाले भय अथवा संकटका विशेषरूपसे निवारण करते हुए मैं आपको बड़े आदर-सत्कारके साथ अपने यहाँ रक्खूँगा । आप मेरेद्वारा सम्मानित हो बहुत कालतक मेरे महलमें निवास कीजिये ॥ ५८ ॥

ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति ते न वत्स्यन्ति मे गृहे ।
भवतैव हि तज्ज्ञेयं यत्तदेषामनन्तरम् ॥ ५९ ॥

ब्रह्मन् ! जो आपको मेरे यहाँ नहीं रहने देना चाहते हैं, वे स्वयं ही मेरे घरमें नहीं रहने पायेंगे अब इन विरोधियोंका दमन करनेके लिये जो आवश्यक कर्त्तव्य हो, उसे आप स्वयं ही सोचिये और समझिये ॥ ५९ ॥

यथा स्यात् सुधृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम् ।
तथा समीक्ष्य भगवञ्श्रेयसे विनियुङ्क्ष्व माम् ॥ ६० ॥

भगवन् ! जिस तरह राजदण्डको मैं अच्छी तरह धारण कर सकूँ और मेरेद्वारा अच्छे ही कार्य होते रहें, वह सब सोचकर आप मुझे कल्याणके मार्गपर लगाइये ॥ ६० ॥

मुनिरुवाच

अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलीकुरु ।
ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥ ६१ ॥

मुनिने कहा—राजन् ! पहले तो कौएको मारनेका जो अपराध है, इसे प्रकट किये बिना ही एक-एक मन्त्रीको उसका अधिकार छीनकर दुर्बल कर दीजिये । उसके बाद अपराधके कारणका पूरा-पूरा पता लगाकर क्रमशः एक-एक व्यक्तिका वध कर डालिये ॥ ६१ ॥

एकदोषा हि बहवो मृद्नीयुरपि कण्टकान् ।
मन्त्रभेदभयाद् राजंस्तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! जब बहुत-से लोगोंपर एक ही तरहका दोष लगाया जाता है तो वे सब मिलकर एक हो जाते हैं और उस दशामें वे बड़े-बड़े कण्टकोंको भी मसल डालते हैं, अतः यह गुप्त विचार दूसरोंपर प्रकट न हो जाय, इसी भयसे मैं तुम्हें इस प्रकार एक-एक करके विरोधियोंके वधकी सलाह दे रहा हूँ ॥ ६२ ॥

वयं तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः ।
स्वस्ति चेच्छाम भवतः परेषां च यथाऽऽत्मनः ॥ ६३ ॥

महाराज ! हमलोग ब्राह्मण हैं । हमारा दण्ड भी बहुत कोमल होता है । हम स्वभावसे ही दयालु होते हैं; अतः अपने ही समान आपका और दूसरोंका भी भला चाहते हैं ॥

राजन्नात्मानमाचक्षे सम्बन्धी भवतो ह्यहम् ।
मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६४ ॥

राजन् ! अब मैं आपको अपना परिचय देता हूँ । मैं आपका सम्बन्धी हूँ । मेरा नाम है कालकवृक्षीय मुनि ॥६४॥

पितुः सखा च भवतः सम्मतः सत्यसङ्गरः ।
व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन् पितरि संस्थिते ॥ ६५ ॥
सर्वकामान् परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया ।
स्नेहात् त्वां तु ब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥६६॥

मैं आपके पिताका आदरणीय एवं सत्यप्रतिज्ञ मित्र हूँ । नरेश्वर ! आपके पिताके स्वर्गवास हो जानेके पश्चात् जब आपके राज्यपर भारी संकट आ गया था, तब अपनी समस्त कामनाओंका परित्याग करके मैंने (आपके हितके लिये) तपस्या की थी । आपके प्रति स्नेह होनेके कारण मैं फिर यहाँ आया हूँ और आपको ये सब बातें इसलिये बता रहा हूँ कि आप फिर किसीके चक्करमें न पड़ जायँ ॥ ६५-६६ ॥

उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया ।
राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन् प्रमाद्यसि ॥ ६७ ॥

महाराज ! आपने सुख और दुःख दोनों देखे हैं । यह राज्य आपको दैवेच्छासे प्राप्त हुआ है तो भी आप इसे केवल मन्त्रियोंपर छोड़कर क्यों भूल कर रहे हैं ? ॥ ६७ ॥

ततो राजकुले नान्दी संजज्ञे भूयसा पुनः ।
पुरोहितकुले चैव सम्प्राप्ते ब्राह्मणर्षभे ॥ ६८ ॥

तदनन्तर पुरोहितके कुलमें उत्पन्न विप्रवर कालकवृक्षीय मुनिके पुनः आ जानेसे राजपरिवारमें मङ्गलपाठ एवं आनन्दोत्सव होने लगा ॥ ६८ ॥

एकच्छत्रां महीं कृत्वा कौसल्याय यशस्विने ।
मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ ६९ ॥

कालकवृक्षीय मुनिने अपने बुद्धिबलसे यशस्वी कोसल-नरेशको भूमण्डलका एकच्छत्र सम्राट् बनाकर अनेक उत्तम यज्ञोंद्वारा यजन किया ॥ ६९ ॥

हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौसल्योऽप्यजयन्महीम् ।
तथा च कृतवान् राजा यथोक्तं तेन भारत ॥ ७० ॥

भारत ! कोसलराजने भी पुरोहितका हितकारी वचन सुना और उन्होंने जैसा कहा, वैसा ही किया । इससे उन्होंने समस्त भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यपरीक्षायां कालकवृक्षीयोपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रियोंकी परीक्षाके प्रसङ्गमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

सभासद् आदिके लक्षण, गुप्त सलाह सुननेके अधिकारी और अनधिकारी तथा गुप्त-मन्त्रणाकी विधि एवं स्थानका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते।
परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजापालक पितामह! राजाके सभासद्, सहायक, सुहृद्, परिच्छद (सेनापति आदि) तथा मन्त्री कैसे होने चाहिये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषयपर अच्छी तरह प्रवचन करनेमें समर्थ हों, ऐसे ही लोग तुम्हारे सभासद् होने चाहिये॥

अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान्।
सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु॥ ३॥
एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत।

भरतनन्दन युधिष्ठिर! मन्त्रियोंको, अत्यन्त शूरवीर पुरुषोंको, विद्वान् ब्राह्मणोंको, पूर्णतया संतुष्ट रहनेवालोंको और सभी कार्योंके लिये उत्साह रखनेवालोंको—इन सब लोगोंको तुम सभी आपत्तियोंके समय सहायक बनानेकी इच्छा करना॥ ३½ ॥

कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति॥ ४॥
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हतमेव वा।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम्॥ ५॥

जो कुलीन हो, जिसका सदा सम्मान किया जाय, जो अपनी शक्तिको छिपावे नहीं तथा राजा प्रसन्न हो या अप्रसन्न हो, पीडित हो अथवा हताहत हो, प्रत्येक अवस्थामें जो बारंबार उसका अनुसरण करता हो, वही सुहृद् होने योग्य है॥ ४-५॥

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः॥ ६॥

जो उत्तम कुल और अपने ही देशमें उत्पन्न हुए हों, बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुज्ञ, निर्भय और अनुरक्त हों, वे ही तुम्हारे परिच्छद (सेनापति आदि) होने चाहिये॥ ६॥

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः॥ ७॥

तात! जो निन्दित कुलमें उत्पन्न, लोभी, क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे तभीतक तुम्हारी सेवा करेंगे, जबतक उनके हाथ गीले रहेंगे॥ ७॥

कुलीनाञ्शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान्।
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः॥ ८॥
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, शीलवान्, इशारे समझनेवाले, निष्ठुरतारहित (दयालु), देश-कालके विधानको समझनेवाले और स्वामीके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि तथा हित चाहनेवाले मनुष्योंको राजा सदा सभी कार्योंके लिये अपना मन्त्री बनावे॥ ८½ ॥

अर्थमानार्घ्यसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियान्॥ ९॥
यानर्थभाजो मन्येथास्ते ते स्युः सुखभागिनः।

तुम जिन्हें अपना प्रिय मानते हो, उन्हें धन, सम्मान, अर्घ्य, सत्कार तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके भोगोंद्वारा संतुष्ट करो, जिससे वे तुम्हारे प्रियजन धन और सुखके भागी हों॥

अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः।
न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः॥ १०॥

जिनका सदाचार नष्ट नहीं हुआ है, जो विद्वान्, सदाचारी और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं; जिन्हें सदा तुमसे अभीष्ट वस्तुके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता पड़ती है तथा जो श्रेष्ठ और सत्यवादी हैं, वे कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकते॥ १०॥

अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः।
तेभ्यः परिजुगुप्सेथा ये चापि समयच्युताः॥ ११॥

जो अनार्य और मन्दबुद्धि हैं, जिन्हें की हुई प्रतिज्ञाके पालनका ध्यान नहीं रहता तथा जो कई बार अपनी प्रतिज्ञासे गिर चुके हैं, उनसे अपनेको सुरक्षित रखनेके लिये तुम्हें सदा सावधान रहना चाहिये॥ ११॥

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत्॥ १२॥

एक ओर एक व्यक्ति हो और दूसरी ओर एक समूह हो तो समूहको छोड़कर एक व्यक्तिको ग्रहण करनेकी इच्छा न करे। परंतु जो एक मनुष्य बहुत मनुष्योंकी अपेक्षा गुणोंमें श्रेष्ठ हो और इन दोनोंमेंसे एकको ही ग्रहण करना पड़े तो ऐसी परिस्थितिमें कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उस एकके लिये समूहको त्याग देना चाहिये॥ १२॥

श्रेयसो लक्षणं चैतद् विक्रमो यस्य दृश्यते।
कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात् समये यश्च तिष्ठति॥ १३॥
समर्थान् पूजयेद् यश्च नास्पर्धैः स्पर्धते च यः।
न च कामाद् भयात् क्रोधाल्लोभाद् वा धर्ममुत्सृजेत्॥ १४॥
अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः।
स ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः॥ १५॥

श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण इस प्रकार है—जिसका पराक्रम देखा जाता हो, जिसके जीवनमें कीर्तिकी प्रधानता हो, जो अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहता हो, सामर्थ्यशाली पुरुषोंका सम्मान करता हो, जो स्पर्धाके अयोग्य पुरुषोंसे ईर्ष्या न रखता हो, कामना, भय, क्रोध अथवा लोभसे भी धर्मका

उल्लङ्घन न करता हो, जिसमें अभिमानका अभाव हो, जो सत्यवान्, क्षमाशील, जितात्मा तथा सम्मानित हो और जिसकी सभी अवस्थाओंमें परीक्षा कर ली गयी हो, ऐसा पुरुष ही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणामें सहायक होना चाहिये ॥

कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान्।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन ! उत्तम कुलमें जन्म होना, सदा श्रेष्ठ कुलके सम्पर्कमें रहना, सहनशीलता, कार्यदक्षता, मनस्विता, शूरता, कृतज्ञता और सत्यभाषण—ये ही श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः ।
अमित्राः सम्प्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ १७ ॥

ऐसा बर्ताव करनेवाले विज्ञ पुरुषके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मैत्री स्थापित कर लेते हैं ॥ १७ ॥

अत ऊर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणम् ।
संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः ॥ १८ ॥

इसके बाद मनको वशमें रखनेवाला शुद्धबुद्धि और ऐश्वर्यकामी भूपाल अपने मन्त्रियोंके गुण और अवगुणकी परीक्षा करे ॥ १८ ॥

सम्बन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः ।
अहार्यैरव्यभीचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ १९ ॥
यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यनहंकृताः ।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥

जिनके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध हो, जो अच्छे कुलमें उत्पन्न, विश्वासपात्र, स्वदेशीय, घूस न खानेवाले तथा व्यभिचार दोषसे रहित हों, जिनकी सब प्रकारसे भलीभाँति परीक्षा ले ली गयी हो, जो उत्तम जातिवाले, वेदके मार्गपर चलनेवाले, कई पीढ़ियोंसे राजकीय सेवा करनेवाले तथा अहङ्कारशून्य हों, ऐसे ही लोगोंको अपनी उन्नति चाहनेवाला ऐश्वर्यकामी पुरुष मन्त्री बनावे ॥ १९-२० ॥

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना ।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥ २१ ॥
परीक्ष्य च गुणान् नित्यं प्रौढभावान् धुरंधरान् ।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थकारिणः ॥ २२ ॥

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धृति और स्थिरता हो, उनके इन गुणोंकी परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्य-भारको सँभालनेमें प्रौढ़ तथा निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमेंसे पाँच व्यक्तियोंको चुनकर अर्थमन्त्री बनावे ॥ २१-२२ ॥

पर्याप्तवचनान् वीरान् प्रतिपत्तिविशारदान् ।
कुलीनान् सत्त्वसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ॥ २३ ॥
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः ।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजन् कुर्वीत मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो बोलनेमें कुशल, शौर्यसम्पन्न, प्रत्येक बातको ठीक-ठीक समझनेमें निपुण, कुलीन, सत्त्वयुक्त, संकेत समझनेवाले, निष्ठुरतासे रहित (दयालु), देश और कालके विधानको जाननेवाले तथा स्वामीके कार्य एवं हितकी सिद्धि चाहनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको सदा सभी प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये मन्त्री बनाना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

हीनतेजोऽभिसंसृष्टो नैव जातु व्यवस्यति ।
अवश्यं जनयत्येव सर्वकर्मसु संशयम् ॥ २५ ॥

तेजोहीन मन्त्रीके सम्पर्कमें रहनेवाला राजा कभी कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकता। वैसा मन्त्री सभी कार्योंमें अवश्य ही संशय उत्पन्न कर देता है ॥ २५ ॥

एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत ।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २६॥

इसी प्रकार जो मन्त्री उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी शास्त्रोंका बहुत कम ज्ञान रखता हो, वह धर्म, अर्थ और कामसे संयुक्त होकर भी गुप्त मन्त्रणाकी परीक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः ।
अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यणुषु कर्मसु ॥ २७ ॥

वैसे ही जो अच्छे कुलमें उत्पन्न नहीं है, वह भले ही अनेक शास्त्रोंका विद्वान् हो, किंतु नायकरहित सैनिक तथा नेत्रहीन मनुष्यकी भाँति वह छोटे-छोटे कार्योंमें भी मोहित हो जाता है—कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं कर पाता ॥ २७ ॥

यो वाप्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः ।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्म प्रापयितुं चिरम् ॥ २८ ॥

जिसका संकल्प स्थिर नहीं है, वह बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ और उपायोंका जानकार होनेपर भी किसी कार्यको दीर्घकालमें भी पूरा नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

केवलात् पुनरादानात् कर्मणो नोपपद्यते ।
परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मतेः ॥२९ ॥

जिसकी बुद्धि खोटी है तथा जिसे शास्त्रोंका बिल्कुल ज्ञान नहीं है, वह केवल मन्त्रीका कार्य हाथमें ले लेनेमात्रसे सफल नहीं हो सकता। विशेष कार्योंके विषयमें उसका दिया हुआ परामर्श युक्तिसंगत नहीं होता है ॥ २९ ॥

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते ।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

जिस मन्त्रीका राजाके प्रति अनुराग न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है; अतः अनुरागरहित मन्त्रीके सामने अपने गुप्त विचारको प्रकट न करे ॥ ३० ॥

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः ।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ॥ ३१ ॥

वह कपटी मन्त्री यदि गुप्त विचारोंको जान ले तो अन्य मन्त्रियोंके साथ मिलकर राजाको उसी प्रकार पीड़ा देता है, जैसे आग हवासे भरे हुए छेदोंमें घुसकर समूचे वृक्षको भस्म कर डालती है ॥ ३१ ॥

संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति ।

वाचा क्षिपति संरब्धः पुनः पश्चात् प्रसीदति ॥ ३२ ॥

राजा एक बार कुपित होकर मन्त्रीको उसके स्थानसे हटा देता है और रोषमें भरकर वाणीद्वारा उसपर आक्षेप भी करता है; परंतु फिर अन्तमें प्रसन्न हो जाता है ॥ ३२ ॥

तानि तान्यनुरक्तेन शक्यानि हि तितिक्षितुम्।
मन्त्रिणां च भवेत् क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ ३३ ॥

राजाके इन सब बर्तावोंको वही मन्त्री सह सकता है, जिसका उसके प्रति अनुराग हो। अनुरागशून्य मन्त्रियोंका क्रोध वज्रपातके समान भयंकर होता है ॥ ३३ ॥

यस्तु संसहते तानि भर्तुः प्रियचिकीर्षया।
समानसुखदुःखं तं पृच्छेदर्थेषु मानवम् ॥ ३४॥

जो मन्त्री स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके उन सभी बर्तावोंको सह लेता है, वही अनुरक्त है। वह राजाके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानता है। ऐसे ही मनुष्यसे राजाको सभी कार्योंमें सलाह पूछनी चाहिये ॥३४॥

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥

जो अनुरक्त हो, अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न हो और बुद्धिमान् हो, वह भी यदि सरल स्वभावका न हो तो राजाकी गुप्त सलाहको सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३५ ॥

योऽमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते।
असुहृत् तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥

जिसका शत्रुओंके साथ सम्बन्ध हो तथा अपने राज्यके नागरिकोंके प्रति जिसकी अधिक आदरबुद्धि न हो, ऐसे मनुष्यको सुहृद् नहीं मानना चाहिये। वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३६ ॥

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३७ ॥

जो मूर्ख, अपवित्र, जड, शत्रुसेवी, बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला, क्रोधी और लोभी है तथा सुहृद् नहीं है, उसको भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकार नहीं है ॥ ३७ ॥

आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
सत्कृतः संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥

जो कोई अनुरक्त, अनेक शास्त्रोंका विद्वान् और सबके द्वारा सम्मानित हो तथा जिसको भलीभाँति भेंट दी गयी हो, वह भी यदि नया आया हुआ हो तो गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है ॥

विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत् पुरा।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके पिताको अधर्माचरणके कारण पहले अपमानपूर्वक निकाल दिया गया हो और उसका वह पुत्र सम्मानपूर्वक पिताके पदपर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो, तो वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३९ ॥

यः स्वल्पेनापि कार्येण सुहृदाक्षारितो भवेत्।
पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४० ॥

जो थोड़े-से भी अनुचित कार्यके कारण दण्डित करके निर्धन कर दिया गया हो, वह सुहृद् एवं अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है॥४०॥

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४१ ॥

जिसकी बुद्धि तीव्र और धारणाशक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देशमें उत्पन्न, शुद्ध आचरणवाला और विद्वान् हो तथा सब तरहके कार्योंमें परीक्षा करनेपर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४१ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४२ ॥

जो ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, अपने और शत्रुओंके पक्षके लोगोंकी प्रकृतिको परखनेवाला तथा राजाका अपने आत्माके समान अभिन्न सुहृद् हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है॥

सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः।
पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४३ ॥

जो सत्यवादी, शीलवान्, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाववाला तथा बाप-दादोंके समयसे ही राजाकी सेवा करता आया है, वह भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है॥

संतुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः।
मन्त्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४४ ॥

जो संतोषी, सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूरवीर, पापसे घृणा करनेवाला, राजकीय मन्त्रणाको समझनेवाला, समयकी पहचान रखनेवाला तथा शौर्यसम्पन्न है, वह भी गुप्त मन्त्रणाको सुननेकी योग्यता रखता है ॥ ४४ ॥

सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे।
तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! जो राजा चिरकालतक दण्ड धारण करनेकी इच्छा रखता हो, उसे अपनी गुप्त सलाह उसी व्यक्तिको बतानी चाहिये, जो शक्तिशाली हो और सारे जगत्को समझा-बुझाकर अपने वशमें कर सकता हो ॥ ४५ ॥

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४६ ॥

नगर और जनपदके लोग जिसपर धर्मतः विश्वास करते हों तथा जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्रका विद्वान् हो, वही गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४६ ॥

तस्मात् सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४७ ॥

इसलिये जो उपर्युक्त सभी गुणोंसे सम्पन्न, सबके द्वारा सम्मानित, प्रकृतिको परखनेवाले तथा महान् पदकी इच्छा रखनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको ही मन्त्रीके पदपर नियुक्त करना चाहिये। राजाके मन्त्रियोंकी संख्या कम-से-कम तीन होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

स्वासु प्रकृतिषुच्छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च ।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ ४८ ॥

अपनी तथा शत्रुकी प्रकृतियोंमें जो दोष या दुर्बलता हो, उनपर मन्त्रियोंको दृष्टि रखनी चाहिये; क्योंकि मन्त्रियोंकी मन्त्रणा (उनकी दी हुई नेक सलाह) ही राजाके राष्ट्रकी जड़ है। उसीके आधारपर राज्यकी उन्नति होती है ॥ ४८ ॥

नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ४९ ॥

राजा ऐसा प्रयत्न करे कि उसका छिद्र शत्रु न देख सके; परंतु वह शत्रुकी सारी दुर्बलताओंको जान ले। जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटे रहता है, उसी तरह राजाको भी अपने गुप्त विचारों तथा छिद्रोंको छिपाये रखना चाहिये ॥

मन्त्रगूढा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः ।
मन्त्रसंहननो राजा मन्त्राङ्गानीतरे जनाः ॥ ५० ॥

जो बुद्धिमान् मन्त्री हैं, वे राज्यके गुप्त मन्त्रको छिपाये रखते हैं; क्योंकि मन्त्र ही राजाका कवच है और सदस्य आदि दूसरे लोग मन्त्रणाके अङ्ग हैं ॥ ५० ॥

राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते ।
स्वामिनं त्वनुवर्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः ॥ ५१ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि राज्यका मूल है गुप्तचर और उसका सार है गुप्त मन्त्रणा। मन्त्रीलोग तो यहाँ अपनी जीविकाके लिये ही राजाका अनुसरण करते हैं ॥ ५१ ॥

संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृताः ।
नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥ ५२ ॥

जो मद और क्रोधको जीतकर मान और ईर्ष्यासे रहित हो गये हैं तथा जो कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्मकृत और संकेतजनित—इन पाँचों प्रकारके छलोंको लाँघकर ऊपर उठे हुए हैं, ऐसे मन्त्रियोंके साथ ही राजाको सदा गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं
विबुद्ध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र ।
स्वनिश्चयं तं परनिश्चयं च
निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले ॥ ५३ ॥

राजा पहले सदा तीनों मन्त्रियोंकी पृथक्-पृथक् सलाह जानकर उसपर मनोयोगपूर्वक विचार करे। तत्पश्चात् बादमें होनेवाली मन्त्रणाके समय अपने तथा दूसरोंके निश्चयको राजगुरुकी सेवामें निवेदन करे ॥ ५३ ॥

धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्
युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम् ।
निष्ठा कृता तेन यदा सहः स्यात्
तं मन्त्रमार्गं प्रणयेदसक्तः ॥ ५४ ॥

राजा सावधान होकर धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता ब्राह्मणगुरुके समीप जा उनका उत्तर जाननेके लिये उनकी राय पूछे। जब वे कोई निर्णय दे दें और वह सब लोगोंको एक मतसे स्वीकार हो जाय, तब राजा दूसरे किसी विचारमें न पड़कर उसी मन्त्रमार्ग (विचारपद्धति) को कार्यरूपमें परिणत करे ॥ ५४ ॥

एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहु-
र्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्चयज्ञाः ।
तस्मात् तमेवं प्रणयेत् सदैव
मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थम् ॥ ५५ ॥

मन्त्रतत्त्वके अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सदा इसी तरह मन्त्रणा करे और जो विचार प्रजाको अपने अनुकूल बनानेमें अधिक प्रबल जान पड़े, सर्वदा उसे ही काममें ले ॥ ५५ ॥

न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा
नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकं च ।
न चात्र तिर्यक् च पुरो न पश्चा-
न्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत् कथंचित् ॥ ५६ ॥

जहाँ गुप्त विचार किया जाता हो, वहाँ या उसके अगल-बगल, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे भी किसी तरह बौने, कुबड़े, दुबले, लँगड़े, अन्धे, गूँगे, स्त्री और हीजड़े—ये न आने पावें ॥ ५६ ॥

आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं
स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनम् ।
वागङ्गदोषान् परिहृत्य सर्वान्
सम्मन्त्रयेत् कार्यमहीनकालम् ॥ ५७ ॥

महलके ऊपरी मंजिलपर चढ़कर अथवा सूने एवं खुले हुए समतल मैदानमें जहाँ कुश-कास—घास-पात बढ़े हुए न हों, ऐसी जगह बैठकर वाणी और शरीरके सारे दोषोंका परित्याग करके उपयुक्त समयमें भावी कार्यके सम्बन्धमें गुप्त विचार करना चाहिये ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सभ्यादिलक्षणकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सभासद् आदिके लक्षणोंका कथनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

इन्द्र और बृहस्पतिके संवादमें सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन बोलनेका महत्त्व

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादं शक्रस्य च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मनस्वी पुरुष इन्द्र और बृहस्पतिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं, वह सुनो ॥ १ ॥

शक्र उवाच

किं स्विदेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ २ ॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन्! वह कौन-सी ऐसी एक वस्तु है, जिसका नाम एक ही पदका है और जिसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ २॥

बृहस्पतिरुवाच

सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ ३ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—इन्द्र! जिसका नाम एक ही पदका है, वह एकमात्र वस्तु है सान्त्वना (मधुर वचन बोलना)। उसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम्।
आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा॥ ४ ॥

शक्र! यही एक वस्तु सम्पूर्ण जगत्के लिये सुखदायक है। इसको आचरणमें लानेवाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियोंका प्रिय होता है॥ ४॥

यो हि नाभाषते किंचित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः।
द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन्॥ ५ ॥

जो मनुष्य सदा भौंहें टेढ़ी किये रहता है, किसीसे कुछ बातचीत नहीं करता, वह शान्त भाव (मृदुभाषी होनेके गुण) को न अपनानेके कारण सब लोगोंके द्वेषका पात्र हो जाता है॥

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति॥ ६ ॥

जो सभीको देखकर पहले ही बात करता है और सबसे मुसकराकर ही बोलता है, उसपर सब लोग प्रसन्न रहते हैं॥

दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितम्।
न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम्॥ ७ ॥

जैसे बिना व्यञ्जन (साग-दाल आदि) का भोजन मनुष्यको संतुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार मधुर वचन बोले बिना दिया हुआ दान भी प्राणियोंको प्रसन्न नहीं कर पाता है॥ ७॥

आदानादपि भूतानां मधुरामीरयन् गिरम्।
सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे॥ ८ ॥

शक्र! मधुर वचन बोलनेवाला मनुष्य लोगोंकी कोई वस्तु लेकर भी अपनी मधुर वाणीद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को वशमें कर लेता है॥ ८॥

तस्मात् सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सतोऽपि हि।
फलं च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः॥ ९ ॥

अतः किसीको दण्ड देनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको भी उससे सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोलना चाहिये। ऐसा करके वह अपना प्रयोजन तो सिद्ध कर ही लेता है और उससे कोई मनुष्य उद्विग्न भी नहीं होता है॥ ९॥

सुकृतस्य हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च।
सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते॥ १० ॥

यदि अच्छी तरहसे सान्त्वनापूर्ण, मधुर एवं स्नेहयुक्त वचन बोला जाय और सदा सब प्रकारसे उसीका सेवन किया जाय तो उसके समान वशीकरणका साधन इस जगत्में निःसंदेह दूसरा कोई नहीं है॥ १०॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः कृतवान् सर्वं यथा शक्रः पुरोधसा।
तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत् समाचर॥ ११ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! अपने पुरोहित बृहस्पतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सब कुछ उसी तरह किया। इसी प्रकार तुम भी इस सान्त्वनापूर्ण वचनको भलीभाँति आचरणमें लाओ॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजाकी व्यावहारिक नीति, मन्त्रिमण्डलका संघटन, दण्डका औचित्य तथा दूत, द्वारपाल, शिरोरक्षक, मन्त्री और सेनापतिके गुण

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम्॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र! इस जगत्में राजा किस प्रकार धर्मविशेषके द्वारा प्रजाका पालन करे, जिससे वह लोगोंका प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके?॥ १॥

भीष्म उवाच

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकावाप्नोत्युभौ शुचिः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो राजा बाहर-भीतरसे पवित्र रहकर शुद्ध व्यवहारसे प्रजापालनमें तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके इहलोक और परलोक दोनोंको

सुधार लेता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशैर्व्यवहारैस्तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः ।
एतत्पृष्टो महाप्राज्ञ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामते ! राजाको किस-किस प्रकारके लोगोंसे किस-किस प्रकारका बर्ताव काममें लाना चाहिये ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत्‌रूपसे समाधान करें॥

ये चैव पूर्वं कथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति ।
नैकस्मिन् पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

मेरी तो ऐसी मान्यता है कि पहले आपने पुरुषके लिये जिन गुणोंका वर्णन किया है, वे सब किसी एक पुरुषमें नहीं मिल सकते ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमन् ।
दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ ! परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर ! तुम जैसा कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है । वस्तुतः इन सभी शुभ गुणोंसे सम्पन्न किसी एक पुरुषका मिलना कठिन है ॥ ५ ॥

किंतु संक्षेपतः शीलं प्रयत्नेनेह दुर्लभम् ।
वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि । ६ ।

इसलिये तुम जिस भावसे जैसे मन्त्रियोंको संगठित करोगे अर्थात् करना चाहते हो, उनका दुर्लभ शील-स्वभाव जैसा होना चाहिये—इस बातको मैं प्रयत्नपूर्वक संक्षेपसे बताऊँगा॥६॥

चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकाञ्शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥ ७ ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥ ८ ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ १० ॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि जो वेदविद्याके विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतरसे शुद्ध एवं स्नातक हों, ऐसे चार ब्राह्मण, शरीरसे बलवान् तथा शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धन-धान्यसे सम्पन्न इक्कीस वैश्य, पवित्र आचार-विचारवाले तीन विनयशील शूद्र तथा आठ गुणोंसे युक्त[1] एवं पुराणविद्याको जाननेवाला एक सूत जातिका मनुष्य—इन सब लोगोंका एक मन्त्रिमण्डल बनावे । उस सूतकी अवस्था लगभग पचास वर्षकी हो और वह निर्भीक, दोषदृष्टिसे रहित, श्रुतियों और स्मृतियोंके ज्ञानसे सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादीके मामलोंका निपटारा करनेमें समर्थ, लोभरहित और अत्यन्त भयंकर सात प्रकारके दुर्व्यसनोंसे[2] बहुत दूर रहनेवाला हो । ऐसे आठ मन्त्रियोंके बीचमें राजा गुप्त मन्त्रणा करे ॥ ७–११ ॥

ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ १२ ॥

इन सबकी रायसे जो बात निश्चित हो, उसको देशमें प्रचारित करे और राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकको इसका ज्ञान करा दे । युधिष्ठिर ! इस प्रकारके व्यवहारसे तुम्हें सदा प्रजावर्गकी देख-रेख करनी चाहिये ॥ १२ ॥

न चापि गूढं द्रव्यं ते ग्राह्यं कार्योपघातकम् ।
कार्ये खलु विपन्ने त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत् ॥ १३ ॥

राजन् ! तुमको किसीका कोई गुप्त धन ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह तुम्हारे कर्तव्य—न्यायधर्मका नाश करनेवाला होगा । यदि कहीं वास्तवमें तुम्हारे न्यायधर्मका नाश हुआ तो वह अधर्म तुम्हें और तुम्हारे मन्त्रियोंको बड़े कष्टमें डाल देगा ॥ १३ ॥

विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात् पक्षिगणा इव ।
परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १४ ॥

फिर तो तुम्हें अन्यायी मानकर राष्ट्रकी सारी प्रजा तुमसे उसी प्रकार दूर भागेगी, जैसे बाज पक्षीके डरसे दूसरे पक्षी भागते हैं तथा जैसे टूटी हुई नाव समुद्रमें कहाँकी कहाँ बह जाती है, उसी प्रकार प्रजा धीरे-धीरे तुम्हारा राज्य छोड़कर अन्यत्र चली जायगी ॥ १४ ॥

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं सम्भवति स्वर्गश्चास्य विरुद्ध्यते ॥ १५ ॥

जो राजा अन्याय एवं अधर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसके हृदयमें भय बना रहता है तथा उसका परलोक भी बिगड़ जाता है ॥ १५ ॥

अथ योऽधर्मतः पाति राजामात्योऽथ वाऽऽत्मजः ।
धर्मासने संनियुक्तो धर्ममूले नरर्षभ ॥ १६ ॥
कार्येष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः ।
आत्मानं पुरतः कृत्वा यान्त्यधः सहपार्थिवाः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! धर्म ही जिसकी जड़ है, उस धर्मासन अथवा न्यायासनपर बैठकर जो राजा, मन्त्री अथवा राजकुमार धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा नहीं करता तथा राजाका अनुसरण

---

१. सेवा करनेको सदा तैयार रहना, कही हुई बातको ध्यानसे सुनना, उसे ठीक-ठीक समझना, याद रखना, किस कार्यका कैसा परिणाम होगा–इसपर तर्क करना, यदि अमुक प्रकारसे कार्य सिद्ध न हुआ तो क्या करना चाहिये ?—इस तरह वितर्क करना, शिल्प और व्यवहारकी जानकारी रखना और तत्त्वका बोध होना–ये आठ गुण पौराणिक सूतमें होने चाहिये ।

२. शिकार, जूआ, परस्त्रीप्रसंग और मदिरापान–ये चार कामजनित दोष और मारना, गाली बकना तथा दूसरेकी चीज खराब कर देना– ये तीन क्रोधजनित दोष मिलकर सात दुर्व्यसन माने गये हैं ।

करनेवाले राज्यके दूसरे अधिकारी भी यदि अपनेको सामने रखकर प्रजाके साथ उचित बर्ताव नहीं करते हैं तो वे राजाके साथ ही स्वयं भी नरकमें गिर जाते हैं ॥ १६-१७ ॥

बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं बहु जल्पताम् ।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् ॥ १८ ॥

बलवानोंके बलात्कार (अत्याचार) से पीड़ित हो अत्यन्त दीनभावसे पुकार मचाते हुए अनाथ मनुष्योंको आश्रय देनेवाला उनका संरक्षक या स्वामी राजा ही होता है ॥१८॥

ततः साक्षिबलं साधु द्वैधवादकृतं भवेत् ।
असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद् विशेषतः ॥ १९ ॥

जब कोई अभियोग उपस्थित हो और उसमें उभय पक्षद्वारा दो प्रकारकी बातें कही जायँ, तब उसमें यथार्थताका निर्णय करनेके लिये साक्षीका बल श्रेष्ठ माना गया है (अर्थात् मौकेका गवाह बुलाकर उससे सच्ची बात जाननेका प्रयत्न करना चाहिये)। यदि कोई गवाह न हो तथा उस मामलेकी पैरवी करनेवाला कोई मालिक-मुख्तार न दिखायी दे तो राजाको स्वयं ही विशेष प्रयत्न करके उसकी छानबीन करनी चाहिये ॥ १९ ॥

अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु धारयेत् ।
वियोजयेद् धनैर्ऋद्धानधनानथ बन्धनैः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् अपराधियोंको अपराधके अनुरूप दण्ड देना चाहिये । अपराधी धनी हो तो उसको उसकी सम्पत्तिसे वञ्चित कर दे और निर्धन हो तो उसे बन्दी बनाकर कारागारमें डाल दे ॥ २० ॥

विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥ २१ ॥

जो अत्यन्त दुराचारी हों, उन्हें मार-पीटकर भी राजा राह-पर लानेका प्रयत्न करे तथा जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें मीठी वाणीसे सान्त्वना देते हुए सुख-सुविधाकी वस्तुएँ अर्पित करके उनका पालन करे ॥ २१ ॥

राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत्।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरिकस्य च ॥ २२ ॥

जो राजाका वध करनेकी इच्छा करे, जो गाँव या घरमें आग लगावे, चोरी करे अथवा व्यभिचारद्वारा वर्ण-संकरता फैलानेका प्रयत्न करे, ऐसे अपराधीका वध अनेक प्रकारसे करना चाहिये ॥ २२ ॥

सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते ।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! जो भलीभाँति विचार करके अपराधीको उचित दण्ड देता है और अपने कर्त्तव्यपालनके लिये सदा उद्यत रहता है, उस राजाको वध और बन्धनका पाप नहीं लगता, अपितु उसे सनातन धर्मकी ही प्राप्ति होती है॥२३॥

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः ।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥ २४ ॥

जो अज्ञानी नरेश बिना विचारे स्वेच्छापूर्वक दण्ड देता है, वह इस लोकमें तो अपयशका भागी होता है और मरनेपर नरकमें पड़ता है ॥ २४ ॥

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥ २५ ॥

राजा दूसरेके अपराधपर दूसरोंको दण्ड न दे, बल्कि शास्त्रके अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होता हो तो अपराधीको कैद करे और सिद्ध न होता हो तो उसे मुक्त कर दे ॥ २५ ॥

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह ॥ २६ ॥

राजा कभी किसी आपत्तिमें भी किसीके दूतकी हत्या न करे । दूतका वध करनेवाला नरेश अपने मन्त्रियोंसहित नरकमें गिरता है ॥ २६ ॥

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
यो हन्यात् पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २७ ॥

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला जो राजा अपने स्वामीके कथनानुसार यथार्थ बातें कहनेवाले दूतको मार डालता है, उसके पितरोंको भ्रूणहत्याके फलका भोग करना पड़ता है ॥ २७ ॥

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः॥२८ ॥

राजाके दूतको कुलीन, शीलवान्, वाचाल, चतुर, प्रिय वचन बोलनेवाला, संदेशको ज्यों-का-त्यों कह देनेवाला तथा स्मरणशक्तिसे सम्पन्न—इस प्रकार सात गुणोंसे युक्त होना चाहिये ॥ २८ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतिहारोऽस्य रक्षिता ।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥ २९ ॥

राजाके द्वारकी रक्षा करनेवाले प्रतीहारी (द्वारपाल) में भी ये ही गुण होने चाहिये । उसका शिरोरक्षक (अथवा अङ्गरक्षक) भी इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ २९ ॥

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सांधिविग्रहिको भवेत् ।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥ ३० ॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते ।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥

सन्धि-विग्रहके अवसरको जाननेवाला, धर्मशास्त्रका तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान्, धीर, लज्जावान्, रहस्यको गुप्त रखनेवाला, कुलीन, साहसी तथा शुद्ध हृदयवाला मन्त्री ही उत्तम माना जाता है । सेनापति भी इन्हीं गुणोंसे युक्त होना चाहिये॥ ३०-३१॥

व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥ ३२ ॥

इनके सिवा वह व्यूहरचना (मोर्चाबंदी), यन्त्रोंके प्रयोग तथा नाना प्रकारके अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलाका तत्त्वज्ञ—विशेष जानकार हो, पराक्रमी हो, सर्दी,

गर्मी, आँधी और वर्षाके कष्टको धैर्यपूर्वक सहनेवाला तथा शत्रुओंके छिद्रको समझनेवाला हो ॥ ३२ ॥

विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

राजा दूसरोंके मनमें अपने ऊपर विश्वास पैदा करे; परंतु स्वयं किसीका भी विश्वास न करे। राजेन्द्र ! अपने पुत्रोंपर भी पूरा-पूरा विश्वास करना अच्छा नहीं माना गया है ॥ ३३ ॥

एतच्छास्त्रार्थतत्त्वं तु मयाऽऽख्यातं तवानघ।
अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परममुच्यते ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! यह नीतिशास्त्रका तत्त्व है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है। किसीपर भी पूरा विश्वास न करना नरेशोंका परम गोपनीय गुण बताया जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यविभागे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रीविभागविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजाके निवासयोग्य नगर एवं दुर्गका वर्णन, उसके लिये प्रजापालनसम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वीजनोंके समादरका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाको स्वयं कैसे नगरमें निवास करना चाहिये ? वह पहलेसे बनी हुई राजधानीमें रहे या नये नगरका निर्माण कराकर उसमें निवास करे, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! कुन्तीनन्दन ! पुत्र, कुटुम्बीजन तथा बन्धुवर्गके साथ राजा जिस नगरमें निवास करे, उसमें जीवन-निर्वाह तथा रक्षाकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें तुम्हारा प्रश्न करना न्यायसङ्गत है ॥ २ ॥

तस्मात् ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥ ३ ॥

इसलिये मैं तुम्हारे समक्ष दुर्गनिर्माणकी क्रियाका विशेषरूपसे वर्णन करूँगा। तुम इस विषयको सुनकर वैसा ही करना और प्रयत्नपूर्वक दुर्गका निर्माण कराना ॥ ३ ॥

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।
सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत् ॥ ४ ॥

जहाँ सब प्रकारकी सम्पत्ति प्रचुरमात्रामें भरी हुई हो तथा जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छः प्रकारके दुर्गोंका आश्रय लेकर राजाको नये नगर बसाने चाहिये ॥ ४ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥

उन छहों दुर्गोंके नाम इस प्रकार हैं—धन्वदुर्ग[1], मही[2]दुर्ग, गि[3]रिदुर्ग, मनु[4]ष्यदुर्ग, जल[5]दुर्ग तथा वन[6]दुर्ग ॥ ५ ॥

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ६ ॥
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः ॥ ७ ॥
ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम्।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥ ९ ॥
समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजितदैवतम्।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ॥ १० ॥

जिस नगरमें इनमेंसे कोई-न-कोई दुर्ग हो, जहाँ अन्न और अस्त्र-शस्त्रोंकी अधिकता हो, जिसके चारों ओर मजबूत चहारदीवारी और गहरी एवं चौड़ी खाई बनी हो, जहाँ हाथी, घोड़े और रथोंकी बहुतायत हो, जहाँ विद्वान् और कारीगर बसे हों, जिस नगरमें आवश्यक वस्तुओंके संग्रहसे भरे हुए कई भंडार हों, जहाँ धार्मिक तथा कार्यकुशल मनुष्योंका निवास हो, जो बलवान् मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे सम्पन्न हो, चौराहे तथा बाजार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हों, जहाँका न्याय-विचार एवं न्यायालय सुप्रसिद्ध हो,

---

१. धन्वदुर्गका दूसरा नाम मरुदुर्ग भी है। जिसके चारों ओर बालूका घेरा हो, उस किलेको धन्वदुर्ग कहते हैं।

२. समतल जमीनके अंदर बना हुआ किला या तहखाना महीदुर्ग कहलाता है।

३. पर्वतशिखरपर बना हुआ वह किला जो चारों ओरसे उत्तुंग पर्वतमालाओंद्वारा घिरा हुआ हो, गिरिदुर्ग कहलाता है।

४. फौजी किलेका ही नाम मनुष्यदुर्ग है।

५. जिसके चारों ओर जलका घेरा हो, वह जल-दुर्ग कहलाता है।

६. जो स्थान कटवाँसी आदिके घने जंगलोंसे घिरा हुआ हो, उसे वनदुर्ग कहा गया है।

जो सब प्रकारसे शान्तिपूर्ण हो, जहाँ कहींसे कोई भय या उपद्रव न हो, जिसमें रोशनीका अच्छा प्रबन्ध हो, संगीत और वाद्योंकी ध्वनि होती रहती हो, जहाँका प्रत्येक घर सुन्दर और सुप्रशस्त हो, जिसमें बड़े-बड़े शूरवीर और धनाढ्य लोग निवास करते हों, वेदमन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती हो तथा जहाँ सदा ही सामाजिक उत्सव और देवपूजनका क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगरके भीतर अपने वशमें रहनेवाले मन्त्रियों तथा सेनाके साथ राजाको स्वयं निवास करना चाहिये ॥ ९—१० ॥

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि वह उस नगरमें कोष, सेना, मित्रोंकी संख्या तथा व्यवहारको बढ़ावे। नगर तथा बाहरके ग्रामोंमें सभी प्रकारके दोषोंको दूर करे ॥ ११ ॥

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत् ।
निचयान् वर्धयेत् सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥ १२ ॥

अन्नभण्डार तथा अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहालयको प्रयत्नपूर्वक बढ़ावे, सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहालयोंकी भी वृद्धि करे, यन्त्रों तथा अस्त्र-शस्त्रोंके कारखानोंकी उन्नति करे ॥ १२ ॥

काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान् ।
मज्जा स्नेहवसा क्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥
शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा ।
चर्म स्नायुं तथा वेत्रं मुञ्जबल्वजबन्धनान् ॥ १४ ॥

काठ, लोहा, धानकी भूसी, कोयला, बाँस, लकड़ी, सींग, हड्डी, मज्जा, तेल, घी, चरबी, शहद, औषधसमूह, सन, राल, धान्य, अस्त्र-शस्त्र, बाण, चमड़ा, ताँत, बेंत तथा मूँज और बल्वजकी रस्सी आदि सामग्रियोंका संग्रह रक्खे ॥ १३—१४ ॥

आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिलाकराः ।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥ १५ ॥

जलाशय (तालाब, पोखरे आदि), उदपान (कुँए बावड़ी आदि), प्रचुर जलराशिसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब तथा दूधवाले वृक्ष—इन सबकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विक्पुरोहिताः ।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ॥ १६ ॥

आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित और महान् धनुर्धरोंका तथा घर बनानेवालोंका, वर्षफल बतानेवाले ज्यौतिषियोंका और वैद्योंका यत्नपूर्वक सत्कार करे ॥ १६ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः ।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥

विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कार्यकुशल, शूर, बहुज्ञ, कुलीन तथा साहस और धैर्यसे सम्पन्न पुरुषोंको यथा-योग्य समस्त कर्मोंमें लगावे ॥ १७ ॥

पूजयेद् धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान् ।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥ १८ ॥

राजाको चाहिये कि धार्मिक पुरुषोंका सत्कार करे और पापियोंको दण्ड दे। वह सभी वर्णोंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मोंमें लगावे ॥ १८ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा ।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

गुप्तचरोंद्वारा नगर तथा छोटे ग्रामोंके बाहरी और भीतरी समाचारोंको अच्छी तरह जानकर फिर उसके अनुसार कार्य करे ॥ १९ ॥

चरान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

गुप्तचरोंसे मिलने, गुप्त सलाह करने, खजानेकी जाँच-पड़ताल करने तथा विशेषतः अपराधियोंको दण्ड देनेका कार्य राजा स्वयं करे; क्योंकि इन्हींपर सारा राज्य प्रतिष्ठित है ॥ २० ॥

उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम् ।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥

राजाको गुप्तचररूपी नेत्रोंके द्वारा देखकर सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये कि मेरे शत्रु, मित्र तथा तटस्थ व्यक्ति नगर और छोटे ग्रामोंमें कब क्या करना चाहते हैं ? ॥ २१ ॥

ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः ।
भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥ २२ ॥

उनकी चेष्टाएँ जान लेनेके पश्चात् उनके प्रतीकारके लिये सारा कार्य बड़ी सावधानीके साथ करना चाहिये। राजाको उचित है कि वह अपने भक्तोंका सदा आदर करे और द्वेष रखनेवालोंको कैद कर ले ॥ २२ ॥

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया ।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥ २३ ॥

उसे प्रतिदिन नाना प्रकारके यज्ञ करना तथा दूसरोंको कष्ट न पहुँचाते हुए दान देना चाहिये। वह प्रजाजनोंकी रक्षा करे और कोई भी कार्य ऐसा न करे, जिससे धर्ममें बाधा आती हो ॥ २३ ॥

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥

दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेम एवं जीविकाका सदा ही प्रबन्ध करे ॥ २४ ॥

आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपहरेद् राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥ २५ ॥

राजा आश्रमोंमें यथासमय वस्त्र, बर्तन और भोजन आदि सामग्री सदा ही भेजा करे तथा सबको सत्कार, पूजन एवं सम्मानपूर्वक वे वस्तुएँ अर्पित करे ॥ २५ ॥

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥ २६ ॥

अपने राज्यमें जो तपस्वी हों, उन्हें अपने शरीरसम्बन्धी, सम्पूर्ण कार्यसम्बन्धी तथा राष्ट्रसम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे और उनके सामने सदा विनीतभावसे रहे ॥ २६ ॥

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥ २७ ॥

जिसने सम्पूर्ण स्वार्थोंका परित्याग कर दिया है, ऐसे कुलीन एवं बहुश्रुत विद्वान् तपस्वीको देखकर राजा शय्या, आसन और भोजन देकर उसका सम्मान करे ॥ २७ ॥

तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्यांश्चिदापदि ।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥ २८ ॥

कैसी भी आपत्तिका समय क्यों न हो ? राजाको तो तपस्वीपर विश्वास करना ही चाहिये; क्योंकि चोर और डाकू भी तपस्वी महात्माओंपर विश्वास करते हैं ॥ २८ ॥

तस्मिन् निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च ।
न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥

राजा उस तपस्वीके निकट अपने धनकी निधियोंको रखे और उससे सलाह भी लिया करे; परंतु बार-बार उसके पास जाना-आना और उसका सङ्ग न करे तथा उसका अधिक सम्मान भी न करे (अर्थात् गुप्तरूपसे ही उसकी सेवा और सम्मान करे। लोगोंपर इस बातको प्रकट न होने दे) ॥ २९ ॥

अन्यः कार्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः ।
अटवीषु परः कार्यः सामन्तनगरेष्वपि ॥ ३० ॥

राजा अपने राज्यमें, दूसरोंके राज्योंमें, जंगलोंमें तथा अपने अधीन राजाओंके नगरोंमें भी एक-एक भिन्न-भिन्न तपस्वीको अपना सुहृद् बनाये रक्खे ॥ ३० ॥

तेषु सत्कारमानाभ्यां संविभागांश्च कारयेत् ।
परराष्ट्राटवीस्थेषु यथा स्वविषये तथा ॥ ३१ ॥

उन सबको सत्कार और सम्मानके साथ आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे। जैसे अपने राज्यके तपस्वीका आदर करे, वैसे ही दूसरे राज्यों तथा जंगलोंमें रहनेवाले तापसोंका भी सम्मान करना चाहिये ॥ ३१ ॥

ते कस्यांश्चिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने ।
राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ॥ ३२ ॥

वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शरणार्थी राजाको किसी भी अवस्थामें इच्छानुसार शरण दे सकते हैं ॥

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः ।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार राजाको स्वयं जैसे नगरमें निवास करना चाहिये, उसका लक्षण मैंने यहाँ संक्षेपसे बताया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गपरीक्षायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गपरीक्षाविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिके उपाय

युधिष्ठिर उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! अब मैं यह अच्छी तरह जानना चाहता हूँ कि राष्ट्रकी रक्षा तथा उसकी वृद्धि किस प्रकार हो सकती है, अतः आप इसी विषयका वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! अब मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिका सारा रहस्य बता रहा हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथा परः ।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥

एक गाँवका, दस गाँवोंका, बीस गाँवोंका, सौ गाँवोंका तथा हजार गाँवोंका अलग-अलग एक-एक अधिपति बनाना चाहिये ॥ ३ ॥

ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥ ४ ॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने ।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥ ५ ॥

गाँवके स्वामीका यह कर्त्तव्य है कि वह गाँववालोंके मामलोंका तथा गाँवमें जो-जो अपराध होते हों, उन सबका वहीं रहकर पता लगावे और उनका पूरा विवरण दस गाँवके अधिपतिके पास भेजे। इसी तरह दस गाँवोंवाला बीस गाँव-वालेके पास और बीस गाँवोंवाला अपने अधीनस्थ जनपदके लोगोंका सारा वृत्तान्त सौ गाँववाले अधिकारीको सूचित करे। (फिर सौ गाँवोंका अधिकारी हजार गाँवोंके अधिपतिको अपने अधिकृत क्षेत्रोंकी सूचना भेजे। इसके बाद हजार

गाँवोंका अधिपति स्वयं राजाके पास जाकर अपने यहाँ आये हुए सभी विवरणोंको उसके सामने प्रस्तुत करे)॥ ४-५ ॥

यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात् ।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥ ६ ॥

गाँवोंमें जो आय अथवा उपज हो, वह सब गाँवका अधिपति अपने ही पास रखे (तथा उसमेंसे नियत अंशका वेतनके रूपमें उपभोग करे) । उसीमेंसे नियत वेतन देकर उसे दस गाँवोंके अधिपतिका भी भरण पोषण करना चाहिये, इसी तरह दस गाँवके अधिपतिको भी बीस गाँवोंके पालकका भरण-पोषण करना उचित है ॥ ६ ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥ ७ ॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत ।

जो सत्कारप्राप्त व्यक्ति सौ गाँवोंका अध्यक्ष हो, वह एक गाँवकी आमदनीको उपभोगमें ला सकता है । भरतश्रेष्ठ ! वह गाँव बहुत बड़ी बस्तीवाला, मनुष्योंसे भरपूर और धन-धान्यसे सम्पन्न हो । भरतनन्दन ! उसका प्रबन्ध राजाके अधीनस्थ अनेक अधिपतियोंके अधिकारमें रहना चाहिये ॥ ७½ ॥

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ॥ ८ ॥
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसङ्गतः ।

सहस्र गाँवका श्रेष्ठ अधिपति एक शाखानगर (कस्बे) की आय पानेका अधिकारी है । उस कस्बेमें जो अन्न और सुवर्णकी आय हो, उसके द्वारा वह इच्छानुसार उपभोग कर सकता है । उसे राष्ट्रवासियोंके साथ मिलकर रहना चाहिये ॥ ८½ ॥

तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्॥ ९ ॥
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् तत्पश्येदतन्द्रितः ।

इन अधिपतियोंके अधिकारमें जो युद्धसम्बन्धी तथा गाँवोंके प्रबन्धसम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों, उनकी देखभाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करे ॥ ९½ ॥

नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥ १० ॥
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः ।
भवेत् स तान् परिक्रामेत् सर्वानेव सभासदः ॥११ ॥

अथवा प्रत्येक नगरमें एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये, जो सभी कार्योंका चिन्तन और निरीक्षण कर सके । जैसे कोई भयंकर ग्रह आकाशमें नक्षत्रोंके ऊपर स्थित हो परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार वह अधिकारी उच्चतम स्थानपर प्रतिष्ठित होकर उन सभी सभासद् आदिके निकट परिभ्रमण करे और उनके कार्योंकी जाँच-पड़ताल करता रहे ॥१०-११॥

तेषां वृत्तिं परिणयेत् कश्चिद् राष्ट्रेषु तच्चरः ।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ॥ १२ ॥
रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ।

उस निरीक्षकका कोई गुप्तचर राष्ट्रमें घूमता रहे और सभासद् आदिके कार्य एवं मनोभावको जानकर उसके पास सारा समाचार पहुँचाता रहे । रक्षाके कार्यमें नियुक्त हुए अधिकारी लोग प्रायः हिंसक स्वभावके हो जाते हैं । वे दूसरोंकी बुराई चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराये धनका अपहरण कर लेते हैं । ऐसे लोगोंसे वह सर्वार्थचिन्तक अधिकारी इस सारी प्रजाकी रक्षा करे ॥ १२½ ॥

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ॥ १३ ॥
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ।

राजाको मालकी खरीद—बिक्री, उसके मँगानेका खर्च, उसमें काम करनेवाले नौकरोंके वेतन, बचत और योग-क्षेमके निर्वाहकी ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियोंपर कर लगाना चाहिये ॥ १३½ ॥

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्॥ १४ ॥
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ।

इसी तरह मालकी तैयारी, उसकी खपत तथा शिल्पकी उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियोंका बार-बार निरीक्षण करके शिल्प एवं शिल्पकारोंपर कर लगावे ॥ १४½ ॥

उच्चावचकरा दाप्या महाराज युधिष्ठिर ॥ १५ ॥
यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ।
फलं कर्म च सम्प्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! महाराजको चाहिये कि वह लोगोंकी हैसियतके अनुसार भारी और हल्का कर लगावे । भूपालको उतना ही कर लेना चाहिये, जितनेसे प्रजा संकटमें न पड़ जाय । उनका कार्य और लाभ देखकर ही सब कुछ करना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित् सम्प्रवर्तते ।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ॥ १७ ॥
संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः ।

लाभ और कर्म दोनों ही यदि निष्प्रयोजन हुए तो कोई भी काम करनेमें प्रवृत्त नहीं होगा । अतः जिस उपायसे राजा और कार्यकर्ता दोनोंको कृषि, वाणिज्य आदि कर्मके लाभका भाग प्राप्त हो, उसपर विचार करके राजाको सदैव करोंका निर्णय करना चाहिये ॥ १७½ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया॥ १८ ॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः ।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥ १९ ॥

अधिक तृष्णाके कारण अपने जीवनके मूल आधार प्रजाओंके जीवनभूत खेती-बारी आदिका उच्छेद न कर डाले । राजा लोभके दरवाजोंको बंद करके ऐसा बने कि उसका दर्शन प्रजामात्रको प्रिय लगे । यदि राजा अधिक शोषण करनेवाला विख्यात हो जाय तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है ॥ १८-१९ ॥

प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम् ।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥ २० ॥

जिससे सब लोग द्वेष करते हों, उसका कल्याण कैसे

हो सकता है ? जो प्रजावर्गका प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उस राजाको चाहिये कि वह गायसे बछड़ेकी तरह राष्ट्रसे धीरे-धीरे अपने उदरकी पूर्ति करे॥ २०॥

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर॥ २१॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर! जिस गायका दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक कालतक उसके दूधसे पुष्ट एवं बलवान् हो भारी भार ढोनेका कष्ट सहन कर लेता है; परंतु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया हो, उसका बछड़ा कमजोर होनेके कारण वैसा काम नहीं कर पाता॥

राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः॥ २२॥
संजातमुपजीवन् स लभते सुमहत् फलम्।

इसी प्रकार राष्ट्रका भी अधिक दोहन करनेसे वह दरिद्र हो जाता है; इस कारण वह कोई महान् कर्म नहीं कर पाता। जो राजा स्वयं रक्षामें तत्पर होकर समूचे राष्ट्रपर अनुग्रह करता है और उसकी प्राप्त हुई आयसे अपनी जीविका चलाता है, वह महान् फलका भागी होता है॥ २२½॥

आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत्॥ २३॥
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा।

राजाको चाहिये कि वह अपने देशमें लोगोंके पास इकट्ठे हुए धनको आपत्तिके समय काम आनेके लिये बढ़ावे और अपने राष्ट्रको घरमें रक्खा हुआ खजाना समझे॥ २३½॥

पौरजानपदान् सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनानपि॥ २४॥

नगर और ग्रामके लोग यदि साक्षात् शरणमें आये हों या किसीको मध्यस्थ बनाकर उसके द्वारा शरणागत हुए हों, राजा उन सब स्वल्प धनवालोंपर भी अपनी शक्तिके अनुसार कृपा करे॥ २४॥

बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम्।
एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः॥ २५॥

जंगली लुटेरोंको बाह्यजन कहते हैं, उनमें भेद डालकर राजा मध्यमवर्गके ग्रामीण मनुष्योंका सुखपूर्वक उपभोग करे—उनसे राष्ट्रके हितके लिये धन ले, ऐसा करनेसे सुखी और दुःखी दोनों प्रकारके मनुष्य उसपर क्रोध नहीं करते॥

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
संनिपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत्॥ २६॥

राजा पहले ही धन लेनेकी आवश्यकता बताकर फिर अपने राज्यमें सर्वत्र दौरा करे और राष्ट्रपर आनेवाले भयकी ओर सबका ध्यान आकर्षित करे॥ २६॥

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः॥ २७॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम्॥ २८॥

वह लोगोंसे कहे—'सज्जनो! अपने देशपर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रुदलके आक्रमणका महान् भय उपस्थित है। जैसे बाँसमें फलका लगना बाँसके विनाशका ही कारण होता है, उसी प्रकार मेरे शत्रु बहुत-से लुटेरोंको साथ लेकर अपने ही विनाशके लिये उठकर मेरे इस राष्ट्रको सताना चाहते हैं॥ २७-२८॥

अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥ २९॥

'इस घोर आपत्ति और दारुण भयके समय मैं आपलोगोंकी रक्षाके लिये (ऋणके रूपमें) धन माँग रहा हूँ॥ २९॥

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः॥ ३०॥

'जब यह भय दूर हो जायगा, उस समय सारा धन मैं आपलोगोंको लौटा दूँगा। शत्रु आकर यहाँसे बलपूर्वक जो धन लूट ले जायँगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे॥ ३०॥

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसंचय इष्यते॥ ३१॥

'शत्रुओंका आक्रमण होनेपर आपकी स्त्रियोंपर पहले संकट आयगा। उनके साथ ही आपका सारा धन नष्ट हो जायगा। स्त्री और पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही धनसंग्रहकी आवश्यकता होती है॥ ३१॥

नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः॥ ३२॥

'जैसे पुत्रोंके अभ्युदयसे पिताको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार मैं आपके प्रभावसे—आपलोगोंकी बढ़ती हुई समृद्धि-शक्तिसे आनन्दित होता हूँ। इस समय राष्ट्रपर आये हुए संकटको टालनेके लिये मैं आपलोगोंसे आपकी शक्तिके अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्रवासियोंको किसी प्रकारका कष्ट न हो॥ ३२॥

आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः पुङ्गवैरिव।
न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्याञ्चिदापदि॥ ३३॥

'जैसे बलवान् बैल दुर्गम स्थानोंमें भी बोझ ढोकर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार आपलोगोंको भी देशपर आयी हुई इस आपत्तिके समय कुछ भार उठाना ही चाहिये। किसी विपत्तिके समय धनको अधिक प्रिय मानकर छिपाये रखना आपके लिये उचित न होगा'॥ ३३॥

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद् योगमाधाय कालवित्॥ ३४॥

समयकी गति-विधिको पहचाननेवाले राजाको चाहिये कि वह इसी प्रकार स्नेहयुक्त और अनुनयपूर्ण मधुर वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर उपयुक्त उपायका आश्रय ले अपने पैदल सैनिकों या सेवकोंको प्रजाजनोंके घरपर धनसंग्रहके लिये भेजे॥ ३४॥

प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत् करम्॥ ३५॥

नगरकी रक्षाके लिये चहारदिवारी बनवानी है, सेवकों और सैनिकोंका भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय करने हैं, युद्धके भयको टालना है तथा सबके योग-क्षेमकी चिन्ता करनी है, इन सब बातोंकी आवश्यकता दिखाकर राजा धनवान् वैश्योंसे कर वसूल करे॥ ३५॥

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः।
तस्मात् तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत्॥ ३६॥

यदि राजा वैश्योंके हानि-लाभकी परवा न करके उन्हें करभारसे विशेष कष्ट पहुँचाता है तो वे राज्य छोड़कर भाग जाते और वनमें जाकर रहने लगते हैं; अतः उनके प्रति विशेष कोमलताका बर्ताव करना चाहिये॥ ३६॥

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च॥ ३७॥

कुन्तीनन्दन! वैश्योंको सान्त्वना दे, उनकी रक्षा करे, उन्हें धनकी सहायता दे, उनकी स्थितिको सुदृढ़ रखनेका बारंबार प्रयत्न करे, उन्हें आवश्यक वस्तुएँ अर्पित करे और सदा उनके प्रिय कार्य करता रहे॥ ३७॥

अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा॥ ३८॥

भारत! व्यापारियोंको उनके परिश्रमका फल सदा देते रहना चाहिये; क्योंकि वे ही राष्ट्रके वाणिज्य, व्यवसाय तथा खेतीकी उन्नति करते हैं॥ ३८॥

तस्माद् गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद् विचक्षणः।
दयावानप्रमत्तश्च करान् सम्प्रणयन् मृदून्॥ ३९॥

अतः बुद्धिमान् राजा सदा उन वैश्योंपर यत्नपूर्वक प्रेम-भाव बनाये रखे। सावधानी रखकर उनके साथ दयालुताका बर्ताव करे और उनपर हलके कर लगावे॥ ३९॥

सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं नाम गोमिषु।
न ह्यतः सदृशं किंचिद् वरमस्ति युधिष्ठिर॥ ४०॥

युधिष्ठिर! राजाको वैश्योंके लिये ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वे देशमें सब ओर कुशलपूर्वक विचरण कर सकें। राजाके लिये इससे बढ़कर हितकर काम दूसरा नहीं है॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्त्यादिकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षा आदिका वर्णनविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

प्रजासे कर लेने तथा कोश संग्रह करनेका प्रकार

युधिष्ठिर उवाच

यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते।
कथं प्रवर्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! जब राजा पूर्णतः समर्थ हो—उसपर कोई संकट न आया हो, तो भी यदि वह अपना कोष बढ़ाना चाहे तो उसे किस तरहका उपाय काममें लाना चाहिये, यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

यथादेशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम्।
अनुशिष्यात् प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालकी परिस्थितिका ध्यान रखते हुए अपनी बुद्धि और बलके अनुसार प्रजाके हितसाधनमें संलग्न रहकर उसे अपने अनुशासनमें रखना चाहिये॥ २॥

यथा तासां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च।
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्तयेत्॥ ३॥

जिस प्रकारसे काम करनेपर प्रजाओंकी तथा अपनी भी भलाई समझमें आवे, वैसे ही समस्त कार्योंका राजा अपने राष्ट्रमें प्रचार करे॥ ३॥

मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्॥ ४॥

जैसे भौंरा धीरे-धीरे फूल एवं वृक्षका रस लेता है, वृक्षको काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़ेको कष्ट न देकर धीरे-धीरे गायको दुहता है, उसके थनोंको कुचल नहीं डालता है, उसी प्रकार राजा कोमलताके साथ ही राष्ट्ररूपी गौका दोहन करे, उसे कुचले नहीं॥ ४॥

जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत्॥ ५॥

जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीरका रक्त चूसती है, उसी प्रकार राजा भी कोमलताके साथ ही राष्ट्रसे कर वसूल करे। जैसे बाघिन अपने बच्चेको दाँतसे पकड़कर इधर-उधर ले जाती है; परंतु न तो उसे काटती है और न उसके शरीरमें पीड़ा ही पहुँचने देती है, उसी तरह राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रका दोहन करे॥ ५॥

यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्॥ ६॥

जैसे तीखे दाँतोंवाला चूहा सोये हुए मनुष्यके पैरके मांस-को ऐसी कोमलतासे काटता है कि वह मनुष्य केवल पैरको कम्पित करता है, उसे पीड़ाका ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रसे कर ले, जिससे प्रजा दुखी न हो॥ ६॥

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥ ७॥

वह पहले थोड़ा-थोड़ा कर लेकर फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ावे और उस बढ़े हुए करको वसूल करे। उसके बाद

समयानुसार फिर उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे (ताकि किसीको विशेष भार न जान पड़े) ॥७॥

दमयन्निव दम्यानि शश्वद् भारं विवर्धयेत्।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत्॥ ८ ॥

जैसे बछड़ोंको पहले-पहल बोझ ढोनेका अभ्यास करानेवाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है और धीरे-धीरे उनपर अधिक भार लादता ही रहता है, उसी प्रकार प्रजापर भी करका भार पहले कम रक्खे; फिर उसे धीरे-धीरे बढ़ावे ॥८॥

सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः॥ ९ ॥

यदि उनको एक साथ नाथकर उनपर भारी भार लादना चाहे तो उन्हें काबूमें लाना कठिन हो जायगा; अतः उचित ढंगसे प्रयत्नपूर्वक एक-एकको नाथकर उन्हें भार ढोनेके उपयोगमें लाना चाहिये। ऐसा करनेसे वे पूरा भार वहन करनेके योग्य हो जायँगे ॥ ९ ॥

तस्मात् सर्वसमारम्भो दुर्लभः पुरुषं प्रति।
यथामुख्यान् सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः॥१०॥

अतः राजाके लिये भी सभी पुरुषोंको एक साथ वशमें करनेका प्रयत्न दुष्कर है, इसलिये उसे चाहिये कि प्रधान-प्रधान मनुष्योंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर वशमें कर ले; फिर अन्य साधारण मनुष्योंको यथेष्ट उपयोगमें लाता रहे ॥

ततस्तान् भेदयित्वा तु परस्परविवक्षितान्।
भुञ्जीत सान्त्वयंश्चैव यथासुखमयत्नतः॥ ११ ॥

तदनन्तर उन परस्पर विचार करनेवाले मनुष्योंमें भेद डलवाकर राजा सबको सान्त्वना प्रदान करता हुआ बिना किसी प्रयत्नके सुखपूर्वक सबका उपभोग करे ॥ ११ ॥

न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि परिस्थिति और समयके प्रतिकूल प्रजापर करका बोझ न डाले। समयके अनुसार प्रजाको समझा-बुझाकर उचित रीतिसे क्रमशः कर वसूल करे ॥ १२ ॥

उपायान् प्रब्रवीम्येतान् न मे माया विवक्षिता।
अनुपायेन दमयन् प्रकोपयति वाजिनः॥१३॥

राजन्! मैं ये उत्तम उपाय बतला रहा हूँ। मुझे छल-कपट या कूटनीतिकी बात बताना यहाँ अभीष्ट नहीं है। जो लोग उचित उपायका आश्रय न लेकर मनमाने तौरपर घोड़ोंका दमन करना चाहते हैं, वे उन्हें कुपित कर देते हैं (इसी तरह जो अयोग्य उपायसे प्रजाको दबाते हैं, वे उनके मनमें रोष उत्पन्न कर देते हैं)॥ १३ ॥

पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः॥१४॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥१५॥

शराबखाना खोलनेवाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओंके दलाल, जुआरी तथा ऐसे ही बुरे पेशे करनेवाले और भी जितने लोग हों, वे समूचे राष्ट्रको हानि पहुँचानेवाले हैं; अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिये। यदि ये राज्यमें टिके रहते हैं तो कल्याणमार्गपर चलनेवाली प्रजाको बड़ी बाधाएँ पहुँचाते हैं ॥ १४-१५ ॥

न केनचिद् याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता॥ १६ ॥

मनुजीने बहुत पहलेसे समस्त प्राणियोंके लिये यह नियम बना दिया है कि आपत्तिकालको छोड़कर अन्य समयमें कोई किसीसे कुछ न माँगे ॥ १६ ॥

सर्वे तथानुजीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह।
सर्व एव इमे लोका न भवेयुरसंशयम्॥ १७ ॥

यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो सब लोग भीख माँगकर ही गुजारा करते, कोई भी यहाँ कर्म नहीं करता। ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण जगत्‌के लोग निःसंदेह नष्ट हो जाते ॥१७॥

प्रभुर्नियमने राजा य एतान् न नियच्छति।
भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः॥ १८ ॥

जो राजा इन सबको नियमके अंदर रखनेमें समर्थ होकर भी इन्हें काबूमें नहीं रखता, वह इनके किये हुए पापका चौथाई भाग स्वयं भोगता है, ऐसा श्रुतिका कथन है॥१८॥

भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथा तथा।
नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप॥ १९ ॥

नरेश्वर! राजा जैसे प्रजाके पापका चतुर्थांश भोगता है उसी प्रकार पुण्यका भी चतुर्थांश उसे प्राप्त होता है; अतः राजाको चाहिये कि वह सदा पापियोंको दण्ड देकर उन्हें दबाये रक्खे ॥ १९ ॥

कृतपापस्त्वसौ राजा य एतान् न नियच्छति।
तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते॥ २० ॥

जो राजा इन पापियोंको नियन्त्रणमें नहीं रखता, वह स्वयं भी पापाचारी माना जाता है तथा जो पापियोंका दमन करता है, वह प्रजाके किये हुए धर्मका चौथाई भाग स्वयं प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

स्थानान्येतानि संयम्य प्रसंगो भूतिनाशनः।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत्॥ २१ ॥

ऊपर जो मदिरालय तथा वेश्यालय आदि स्थान बताये गये हैं, उनपर रोक लगा देनी चाहिये; क्योंकि इससे काम-विषयक आसक्ति बढ़ती है। जो धन-वैभव तथा कल्याणका नाश करनेवाली है। काममें आसक्त हुआ पुरुष कौन-सा ऐसा न करनेयोग्य काम है, जिसे छोड़ दे? ॥ २१ ॥

मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत्॥ २२ ॥

आसक्तिके वशीभूत हुआ मानव मांस खाता, मदिरा पीता और परधन तथा परस्त्रीका अपहरण करता है। साथ ही दूसरोंको भी यही सब करनेका उपदेश देता है ॥ २२ ॥

आपद्येव तु याचन्ते येषां नास्ति परिग्रहः ।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद् भयान्न तु ॥ २३ ॥

जिन लोगोंके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, वे यदि आपत्तिके समय ही याचना करें तो उन्हें धर्म समझकर और दया करके ही देना चाहिये; किसी भय या दबावमें पड़कर नहीं ॥ २३ ॥

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः ।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २४ ॥

तुम्हारे राज्यमें भिखमंगे और लुटेरे न हों; क्योंकि ये प्रजाके धनको केवल छीननेवाले हैं, उनके ऐश्वर्यको बढ़ानेवाले नहीं हैं ॥ २४ ॥

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः ।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २५ ॥

जो सब प्राणियोंपर दया करते और प्रजाकी उन्नतिमें योग देते हैं, वे तुम्हारे राष्ट्रमें निवास करें । जो लोग प्राणियोंका विनाश करनेवाले हैं, वे न रहें ॥ २५ ॥

दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजकाः ।
प्रयोगं कारयेयुस्तान् यथाबलिकरांस्तथा ॥ २६ ॥

महाराज ! जो राजकर्मचारी उचितसे अधिक कर वसूल करते या कराते हों, वे तुम्हारे हाथसे दण्ड पानेके योग्य हैं । दूसरे अधिकारी आकर उन्हें ठीक-ठीक भेंट या कर लेनेका अभ्यास करावें ॥ २६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम् ।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः ॥ २७ ॥

खेती, गोरक्षा, वाणिज्य तथा इस तरहके अन्य व्यवसायोंको जो जिस कर्मको करनेमें कुशल हो, तदनुसार अधिक आदमियोंके द्वारा सम्पन्न कराना चाहिये ॥ २७ ॥

नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः ।
संशयं लभते किंचित् तेन राजा विगर्ह्यते ॥ २८ ॥

मनुष्य यदि कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आरम्भ कर दे तथा चोरों और लुटेरोंके आक्रमणसे कुछ-कुछ प्राण-संशयकी-सी स्थितिमें पहुँच जाय तो इससे राजाकी बड़ी निन्दा होती है ॥ २८ ॥

धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः ।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह देशके धनी व्यक्तियोंका सदा भोजन-वस्त्र और अन्नपान आदिके द्वारा आदर-सत्कार करे और उनसे विनयपूर्वक कहे, 'आपलोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओंपर कृपादृष्टि रक्खें' ॥ २९ ॥

अङ्गमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत ।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! धनी लोग राष्ट्रके मुख्य अङ्ग हैं । धनवान् पुरुष समस्त प्राणियोंमें प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है॥३०॥

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च ।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ ३१ ॥

विद्वान्, शूरवीर, धनी, धर्मनिष्ठ, स्वामी, तपस्वी, सत्यवादी तथा बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजाकी रक्षा करते हैं॥३१॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव ।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥ ३२ ॥

अतः भूपाल ! तुम समस्त प्राणियोंसे प्रेम रक्खो तथा सत्य, सरलता, क्रोधहीनता और दयालुता आदि सद्धर्मोंका पालन करो ॥ ३२ ॥

एवं दण्डं च कोशं च मित्रं भूमिं च लप्स्यसि ।
सत्यार्जवपरो राजन् मित्रकोशबलान्वितः ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे तुम्हें दण्डधारणकी शक्ति, खजाना, मित्र तथा राज्यकी भी प्राप्ति होगी । तुम सत्य और सरलतामें तत्पर रहकर मित्र, कोष और बलसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कोशसंचयप्रकारकथने अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कोशसंग्रहके प्रकारका वर्णनविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८८॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन

भीष्म उवाच

वनस्पतीन् भक्ष्यफलान् न च्छिन्द्युर्विषये तव ।
ब्राह्मणानां मूलफलं धर्म्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! जिन वृक्षोंके फल खानेके काम आते हैं, उनको तुम्हारे राज्यमें कोई काटने न पावे, इसका ध्यान रखना चाहिये । मनीषी पुरुष मूल और फलको धर्मतः ब्राह्मणोंका धन बताते हैं । इसलिये भी उनको काटना ठीक नहीं है ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तं च भुञ्जीरन्नितरे जनाः ।
न ब्राह्मणापराधेन हरेदन्यः कथंचन ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंसे जो बच जाय, उसीको दूसरे लोग अपने उपभोगमें लावें । ब्राह्मणका अपराध करके अर्थात् उसे भोग्य वस्तु न देकर दूसरा कोई किसी प्रकार भी उसका अपहरण न करे ॥ २ ॥

विप्रश्चेत् त्यागमातिष्ठेदात्मार्थे वृत्तिकर्शितः ।
परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात् सदारस्य नराधिप॥ ३ ॥

राजन् ! यदि ब्राह्मण अपने लिये जीविकाका प्रबन्ध न होनेसे दुर्बल हो जाय और उस राज्यको छोड़कर अन्यत्र जाने लगे तो राजाका कर्तव्य है कि परिवारसहित उस ब्राह्मणके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे ॥ ३ ॥

स चेन्नोपनिवर्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि।
कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति॥ ४॥

इतनेपर भी यदि वह ब्राह्मण न लौटे तो ब्राह्मणोंके समाजमें जाकर राजा उससे यों कहे—'ब्रह्मन्! यदि आप यहाँसे चले जायँगे तो ये प्रजावर्गके लोग किसके आश्रयमें रहकर धर्ममर्यादाका पालन करेंगे?' ॥ ४॥

असंशयं निवर्तेत न चेद् वक्ष्यत्यतः परम्।
पूर्वं परोक्षं कर्तव्यमेतत् कौन्तेय शाश्वतम्॥ ५॥

इतना सुनकर वह निश्चय ही लौट आयेगा। यदि इतनेपर भी वह कुछ न बोले तो राजाको इस प्रकार कहना चाहिये—'भगवन्! मेरे द्वारा जो पहले अपराध बन गये हों, उन्हें आप भूल जायँ' कुन्तीनन्दन! इस प्रकार विनयपूर्वक ब्राह्मणको प्रसन्न करना राजाका सनातन कर्तव्य है॥ ५॥

आहुरेतज्जना नित्यं न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम्।
निमन्त्र्यश्च भवेद् भोगैरवृत्त्या च तदाचरेत्॥ ६॥

लोग कहते हैं कि ब्राह्मणको भोग-सामग्रीका अभाव हो तो उसे भोग अर्पित करनेके लिये निमन्त्रित करे और यदि उसके पास जीविकाका अभाव हो तो उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे, परंतु मैं इस बातपर विश्वास नहीं करता; (क्योंकि ब्राह्मणमें भोगेच्छाका होना सम्भव नहीं है)॥ ६॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान् भावयत्युत॥ ७॥

खेती, पशुपालन और वाणिज्य—ये तो इसी लोकमें लोगोंकी जीविकाके साधन हैं; परंतु तीनों वेद ऊपरके लोकोंमें भी रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें हेतु हैं॥ ७॥

तस्यां प्रवर्तमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत्॥ ८॥

जो लोग उस वेदविद्याके अध्ययनाध्यापनमें अथवा वेदोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें बाधा पहुँचाते हैं, वे डकैत हैं। उन डाकुओंका वध करनेके लिये ही ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है॥ ८॥

शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन॥ ९॥

नरेश्वर! कौरवनन्दन! तुम शत्रुओंको जीतो, प्रजाकी रक्षा करो, नाना प्रकारके यज्ञ करते रहो और समरभूमिमें वीरतापूर्वक लड़ो॥ ९॥

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित् तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन॥ १०॥

जो रक्षा करनेके योग्य पुरुषोंकी रक्षा करता है, वही राजा समस्त राजाओंमें शिरोमणि है। जो रक्षाके पात्र मनुष्योंकी रक्षा नहीं करते, उन राजाओंकी जगत्को कोई आवश्यकता नहीं है॥ १०॥

सदैव राज्ञा योद्धव्यं सर्वलोकाद् युधिष्ठिर।
तस्माद्धेतोर्हि युञ्जीत मनुष्यानेव मानवः॥ ११॥

युधिष्ठिर! राजाको सब लोगोंकी भलाईके लिये सदा ही युद्ध करना अथवा उसके लिये उद्यत रहना चाहिये। अतः वह मानवशिरोमणि नरेश शत्रुओंकी गतिविधिको जाननेके लिये मनुष्योंको ही गुप्तचर नियत कर दे॥ ११॥

आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालय नित्यदा १२

युधिष्ठिर! जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों, उनसे बाहरी लोगोंकी रक्षा करो और बाहरी लोगोंसे सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियोंको बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियोंकी बाहरके लोगोंसे और समस्त आत्मीयजनोंकी आत्मीयोंसे सदा रक्षा करते रहो॥ १२॥

आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम्।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विदुषो जनाः॥ १३॥

राजन्! तुम सब ओरसे अपनी रक्षा करते हुए ही इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करो; क्योंकि विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि इन सबका मूल अपना सुरक्षित शरीर ही है॥ १३॥

किं छिद्रं को नु सङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम्।
कुतो मामाश्रयेद् दोष इति नित्यं विचिन्तयेत्॥ १४॥

मुझमें कौन-सी दुर्बलता है, किस तरहकी आसक्ति है और कौन-सी ऐसी बुराई है, जो अबतक दूर नहीं हुई है और किस कारणसे मुझपर दोष आता है? इन सब बातोंका राजाको सदा विचार करते रहना चाहिये॥ १४॥

अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत्॥ १५॥

कलतक मेरा जैसा बर्ताव रहा है, उसकी लोग प्रशंसा करते हैं या नहीं? इस बातका पता लगानेके लिये अपने विश्वासपात्र गुप्तचरोंको पृथ्वीपर सब ओर घुमाते रहना चाहिये॥ १५॥

जानीयुर्यदि ते वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद् रोचेज्जनपदे कच्चिद् राष्ट्रे च मे यशः॥ १६॥

उनके द्वारा यह भी पता लगाना चाहिये कि यदि अबसे लोग मेरे बर्तावको जान लें तो उसकी प्रशंसा करेंगे या नहीं। क्या बाहरके गाँवोंमें और समूचे राष्ट्रमें मेरा यश लोगोंको अच्छा लगता है?॥ १६॥

धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम्।
राष्ट्रे तु येऽनुजीवन्ति ये तु राज्ञोऽनुजीविनः॥ १७॥
अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानां च सर्वशः।
ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथवा पुनः॥ १८॥
सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर! जो धर्मज्ञ, धैर्यवान् और संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर हैं, जो राज्यमें रहकर जीविका चलाते हैं अथवा राजाके आश्रित रहकर जीते हैं तथा जो मन्त्रिगण और तटस्थवर्गके लोग हैं, वे सब तुम्हारी प्रशंसा करें या

निन्दा, तुम्हें सबका सत्कार ही करना चाहिये ॥ १७-१८½ ॥

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम्।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥ १९ ॥

तात ! किसीका कोई भी काम सबको सर्वथा अच्छा ही लगे, ऐसा सम्भव नहीं है। भरतनन्दन ! सभी प्राणियोंके शत्रु, मित्र और मध्यस्थ होते हैं ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानां च गुणैरपि।
कथं स्यादधिकः कश्चित् स च भुञ्जीत मानवान्॥२०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो बाहुबलमें एक समान हैं और गुणोंमें भी एक समान हैं, उनमेंसे कोई एक मनुष्य सबसे अधिक कैसे हो जाता है, जो अन्य सब मनुष्योंपर शासन करने लगता है ? ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

यच्चरा ह्यचरानद्युरदंष्ट्रान् दंष्ट्रिणस्तथा।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजङ्गान् भुजगा इव ॥ २१ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जैसे क्रोधमें भरे हुए बड़े-बड़े विषधर सर्प दूसरे छोटे सर्पोंको खा जाते हैं, जिस प्रकार पैरोंसे चलनेवाले प्राणी न चलनेवाले प्राणियोंको अपने उपभोगमें लाते हैं और दाढ़वाले जन्तु बिना दाढ़वाले जीवोंको अपना आहार बना लेते हैं (उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्योंपर एक सबल मनुष्य शासन करने लगता है) ॥ २१ ॥

एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात् सदा शत्रोर्युधिष्ठिर।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इन सभी हिंसक जन्तुओं तथा शत्रुकी ओरसे राजाको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि असावधान होनेपर ये गिद्ध पक्षियोंके समान सहसा टूट पड़ते हैं ॥ २२ ॥

कच्चित् ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥ २३ ॥

ऊँचे या नीचे भावसे माल खरीदनेवाले और व्यापारके लिये दुर्गम प्रदेशोंमें विचरनेवाले वैश्य तुम्हारे राज्यमें करके भारी भारसे पीड़ित हो उद्विग्न तो नहीं होते हैं ? ॥ २३ ॥

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि ॥ २४ ॥

किसानलोग अधिक लगान लिये जानेके कारण अत्यन्त कष्ट पाकर तुम्हारा राज्य छोड़कर तो नहीं जा रहे हैं। क्योंकि किसान ही राजाओंका भार ढोते हैं और वे ही दूसरे लोगोंका भी भरण-पोषण करते हैं ॥ २४ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २५ ॥

इन्हींके दिये हुए अन्नसे देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस और पशु-पक्षी-सबकी जीविका चलती है ॥ २५ ॥

एषा ते राष्ट्रवृत्तिश्च राज्ञां गुप्तिश्च भारत।
एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! यह मैंने राजाके राष्ट्रके साथ किये जानेवाले बर्तावका वर्णन किया। इसीसे राजाओंकी रक्षा होती है। पाण्डुकुमार ! इसी विषयको लेकर मैं आगेकी भी बात कहूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षाविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

उतथ्यका मान्धाताको उपदेश—राजाके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता

भीष्म उवाच

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अङ्गिरापुत्र उतथ्यने युवनाश्वके पुत्र मान्धातासे प्रसन्नतापूर्वक जिन क्षत्रिय-धर्मोंका वर्णन किया था, उन्हें सुनो ॥ १ ॥

स यथानुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! ब्रह्मज्ञानियोंमें शिरोमणि उतथ्यने जिस प्रकार उन्हें उपदेश दिया था, वह सब प्रसङ्ग पूरा-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, श्रवण करो ॥ २ ॥

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥

उतथ्य बोले—मान्धाता ! राजा धर्मका पालन और प्रचार करनेके लिये ही होता है, विषय-सुखोंका उपभोग करनेके लिये नहीं। तुम्हें यह जानना चाहिये कि राजा सम्पूर्ण जगत्का रक्षक है ॥ ३ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥

यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है, और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरकमें ही गिरता है॥

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥५॥

सम्पूर्ण प्राणी धर्मके ही आधारपर स्थित हैं और धर्म राजाके ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्मका पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल-तक इस पृथ्वीका स्वामी बना रहता है ॥ ५ ॥

राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते॥६॥

परम धर्मात्मा और श्रीसम्पन्न राजा धर्मका साक्षात् स्वरूप कहलाता है। यदि वह धर्मका पालन नहीं करता तो लोग देवताओंकी भी निन्दा करते हैं और वह धर्मात्मा नहीं, पापात्मा कहलाता है॥ ६॥

स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते॥ ७॥

जो अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन्हींसे अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि होती देखी जाती है। सारा संसार उसी मङ्गलमय धर्मका अनुसरण करता है॥ ७॥

उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान्।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते॥ ८॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब जगत्में धार्मिक बर्तावका उच्छेद हो जाता है और सब ओर महान् अधर्म फैल जाता है, जिससे प्रजाको दिन-रात भय बना रहता है॥

ममेदमिति नैवैतत् साधूनां तात धर्मतः।
न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते॥ ९॥

तात! यदि पापकी प्रवृत्तिका निवारण न किया जाय तो यह मेरी वस्तु है, ऐसा कहना श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये असम्भव हो जाता है और उस समय कोई भी धार्मिक व्यवस्था टिकने नहीं पाती है॥

नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम्।
संदृश्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत्॥ १०॥

जब जगत्में पापका बल बढ़ जाता है, तब मनुष्योंके लिये अपनी स्त्री, अपने पशु और अपने खेत या घरका भी कुछ ठिकाना दिखायी नहीं देता॥ १०॥

देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा।
न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते॥ ११॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब देवता पूजाको नहीं जानते हैं, पितरोंको स्वधा (श्राद्ध) का अनुभव नहीं होता है तथा अतिथियोंकी कहीं पूजा नहीं होती है॥ ११॥

न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः।
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते॥ १२॥

जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले द्विज वेदोंका अध्ययन छोड़ देते हैं और ब्राह्मण यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर पाते हैं॥ १२॥

वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम्।
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते॥ १३॥

महाराज! जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब बूढ़े जन्तुओंकी भाँति मनुष्योंका मन घबराहटमें पड़ा रहता है॥ १३॥

उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम्।
असृजन् सुमहद् भूतमयं धर्मो भविष्यति॥ १४॥

लोक और परलोक दोनोंको दृष्टिमें रखकर महर्षियोंने स्वयं ही राजा नामक महान् शक्तिशाली मनुष्यकी सृष्टि की। उन्होंने सोचा था कि 'यह साक्षात् धर्मस्वरूप होगा'॥१४॥

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः॥ १५॥

अतः जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसीको राजा कहते हैं और जिसमें धर्म (वृष) का लय हो गया हो, उसे देवतालोग 'वृषल' मानते हैं॥ १५॥

वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत्॥ १६॥

वृष नाम है भगवान् धर्मका। जो धर्मके विषयमें 'अलम्' (बस) कह देता है, उसे देवता 'वृषल' समझते हैं; अतः धर्मकी सदा ही वृद्धि करनी चाहिये॥ १६॥

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥१७॥

धर्मकी वृद्धि होनेपर सदा समस्त प्राणियोंका अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होनेपर सबका ह्रास हो जाता है; अतः धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये॥ १७॥

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥ १८॥

नरेन्द्र! धनसे धर्मकी उत्पत्ति होती है सबको धारण करनेके कारण वह निश्चितरूपसे धर्म कहा गया है। वह धर्म अकर्तव्य (पाप) की सीमाका अन्त करनेवाला माना गया है॥१८॥

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात्॥ १९॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके कल्याणार्थ ही धर्मकी सृष्टि की है, इसलिये राजाको चाहिये कि अपने देशमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका प्रचार करे॥ १९॥

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ॥ २०॥

राजसिंह! इसी कारणसे धर्मको सबसे श्रेष्ठ माना गया है। पुरुषप्रवर! जो सद्धर्मके पालनपूर्वक प्रजाका शासन करता है, वही राजा है॥ २०॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम॥ २१॥

भरतभूषण! तुम भी काम और क्रोधकी अवहेलना करके निरन्तर धर्मका ही पालन करो। धर्म ही राजाओंके लिये सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला है॥ २१॥

धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत् सदा।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी॥ २२॥

मान्धाता! धर्मका मूल है ब्राह्मण; इसलिये ब्राह्मणोंका सदा सम्मान करना चाहिये, ब्राह्मणोंकी प्रत्येक कामनाको ईर्ष्यारहित होकर पूर्ण करना उचित है॥ २२॥

तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः संजायते भयम्।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथामित्रीभवन्त्यपि॥ २३॥

उनकी इच्छा पूर्ण न करनेसे राजाओंके ऊपर भय आता है। राजाके मित्रोंकी वृद्धि नहीं होती, उलटे शत्रु बनते जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्राह्मणानां सदासूयाद् बाल्याद् वैरोचनो बलिः ।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद् यास्मिन्नासीत् प्रतापिनी ।२४।

विरोचनकुमार बलि बाल्यकालसे ही सदा ब्राह्मणोंपर दोषारोपण करते थे; इसलिये उनकी राजलक्ष्मी, जो शत्रुओंको संताप देनेवाली थी, उनके पाससे हट गयी ॥ २४ ॥

ततस्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम्।
अथ सोऽन्वतपत् पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥ २५ ॥

बलिसे हटकर वह राजलक्ष्मी देवराज इन्द्रके पास चली गयी। फिर इन्द्रके पास उस लक्ष्मीको देखकर राजा बलिको बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २५ ॥

एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो ।
तस्माद् बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात् प्रतापिनी ॥२६॥

प्रभो ! यह अभिमान और असूयाका फल है, अतः मान्धाता ! तुम सचेत हो जाओ, कहीं तुम्हारी भी शत्रुतापिनी लक्ष्मी तुमको छोड़ न दे ॥ २६ ॥

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम् ॥ २७ ॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २८ ॥

राजन् ! सम्पत्तिका पुत्र है दर्प, जो अधर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ है, यह श्रुतिका कथन है। उस दर्पने बहुत-से देवताओं, असुरों और राजर्षियोंका विनाश कर डाला है। अतः भूपाल ! अब भी चेतो। जो दर्पको जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है ॥ २७-२८ ॥

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छसि ॥ २९ ॥

मान्धाता ! यदि तुम चिरकालतक राजसिंहासनपर विराजमान रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्मका सेवन न हो ॥ २९ ॥

मत्तात्प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।
तदभ्यासादुपावर्तं संहितानां च सेवनात् ॥ ३० ॥

मतवाले, प्रमादी, बालक तथा विशेषतः पागलोंसे बचो। उनके निकट सम्पर्कसे भी दूर रहो और यदि वे एक साथ रहकर सेवा करना चाहें तो उनकी उस सेवासे भी सर्वथा बचे रहो ॥ ३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ।३१।
एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तंचर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

इसी तरह जिसको एक बार कैद किया हो उस मन्त्रीसे, विशेषतः परायी स्त्रियोंसे, ऊँचे-नीचे और दुर्गम पर्वतसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पोंसे राजाको बचकर रहना चाहिये। इनकी ओरसे सदा सावधान रहे और रातमें घूमना-फिरना छोड़ दे। कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोधका भी सर्वथा परित्याग कर दे ॥

अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च ।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः ॥ ३३ ॥

अपरिचित स्त्रियों, बाँझ स्त्रियों, वेश्याओं, परायी स्त्रियों तथा कुमारी कन्याओंके साथ राजा मैथुन न करे ॥ ३३ ॥

कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥ ३४ ॥
एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३५ ॥

जब राजा धर्मकी ओरसे प्रमाद करता है, तब वर्णसंकरताके कारण उत्तम कुलोंमें पापी और राक्षस जन्म लेते हैं। नपुंसक, काने, लँगड़े, लूले, गूँगे तथा बुद्धिहीन बालकोंकी उत्पत्ति होती है। ये तथा और भी बहुत-सी कुत्सित संतानें जन्म लेती हैं। इसलिये राजाको विशेषरूपसे धर्मपरायण एवं सावधान होकर प्रजाके हितसाधनमें तत्पर रहना चाहिये ॥

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान् ।
अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासंकरकारकाः ॥ ३६ ॥

क्षत्रियके प्रमादसे बड़े-बड़े दोष प्रकट होते हैं। वर्णसंकरोंको जन्म देनेवाले पापकर्मोंकी वृद्धि होती है ॥ ३६ ॥

अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते ।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत् प्रजाः ॥ ३७ ॥

गर्मीके मौसममें सर्दी और सर्दीके मौसममें गर्मी पड़ने लगती है। कभी सूखा पड़ जाता है, कभी अधिक वर्षा होती है तथा प्रजामें नाना प्रकारके रोग फैल जाते हैं ॥ ३७ ॥

नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते ।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३८ ॥

आकाशमें भयानक ग्रह और धूमकेतु आदि तारे उगते हैं तथा राष्ट्रके विनाशकी सूचना देनेवाले बहुत-से उत्पात दिखायी देने लगते हैं ॥ ३८ ॥

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति ।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥ ३९ ॥

जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता, वह प्रजाकी भी रक्षा नहीं कर सकता। पहले उसकी प्रजाएँ क्षीण होती हैं; फिर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे ।
कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ४० ॥

जब दो मनुष्य मिलकर एकको वस्तु छीन लेते हैं, बहुत-से मिलकर दोको लूटते हैं तथा कुमारी कन्याओंपर बलात्कार होने लगता है, उस समय इन सारे अपराधोंका कारण राजाको ही बताया जाता है ॥ ४० ॥

ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति ।

त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति ॥ ४१ ॥

जब राजा धर्म छोड़कर प्रमादमें पड़ जाता है, तब मनुष्योंमेंसे एक भी अपने धनको 'यह मेरा है' ऐसा समझकर स्थिर नहीं रह सकता ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

उतथ्यके उपदेशमें धर्माचरणका महत्त्व और राजाके धर्मका वर्णन

उतथ्य उवाच

कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः ।
सम्पद् यदैषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः ॥ १ ॥

उतथ्य कहते हैं—राजन् ! राजा धर्मका आचरण करे और मेघ समयपर वर्षा करता रहे। इस प्रकार जो सम्पत्ति बढ़ती है, वह प्रजावर्गका सुखपूर्वक भरण-पोषण करती है ॥ १ ॥

यो न जानाति हर्तुं वा वस्त्राणां रजको मलम् ।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥ २ ॥

यदि धोबी कपड़ोंकी मैल उतारना नहीं जानता अथवा रँगे हुए वस्त्रोंको धोकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनानेकी कला उसे नहीं ज्ञात है तो उसका होना न होना बराबर है ॥

एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा ।
शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चौथे शूद्र वर्णके मनुष्य यदि अपने-अपने पृथक्-पृथक् कर्मोंको जानकर उनमें संलग्न नहीं रहते हैं तो उनका होना न होना एक-सा ही है ॥ ३ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥ ४ ॥

शूद्रमें द्विजोंकी सेवा, वैश्यमें कृषि, राजा या क्षत्रियमें दण्डनीति तथा ब्राह्मणोंमें ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदमन्त्र और सत्यकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् ।
शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥

इनमें जो क्षत्रिय वस्त्रोंकी मैल दूर करनेवाले धोबीके समान चरित्रदोषको दूर करना जानता है, वही प्रजावर्गका पिता और वही प्रजाका अधिपति है ॥ ५ ॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सबके सब राजाके आचरणोंमें स्थित हैं। राजा ही युगोंका प्रवर्तक होनेके कारण युग कहलाता है ॥ ६ ॥

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥

जब राजा प्रमाद करता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः ।
सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ८ ॥

जब राजा प्रमादी हो जाता है, तब गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—ये तीन अग्नि; ऋक्, साम और यजु—ये तीन वेद एवं दक्षिणाओंके साथ सम्पूर्ण यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥ ९ ॥

राजा ही प्राणियोंका कर्ता (जीवनदाता) और राजा ही उनका विनाश करनेवाला है। जो धर्मात्मा है, वह प्रजा-का जीवनदाता है और जो पापात्मा है, वह उसका विनाश करनेवाला है ॥ ९ ॥

राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ १० ॥

जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव तथा सुहृद् सब मिलकर शोक करते हैं ॥१०॥

हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः ।
अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥ ११ ॥

राजाके पापपरायण हो जानेपर उसके हाथी, घोड़े, गौ, ऊँट, खच्चर और गदहे आदि सभी पशु दुःख पाते हैं ॥

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते ।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥

मान्धाता ! कहते हैं कि विधाताने दुर्बल प्राणियोंकी रक्षाके लिये ही बलसम्पन्न राजाकी सृष्टि की है। निर्बल प्राणियोंका महान् समुदाय राजाके बलपर टिका हुआ है ॥

यच्च भूतं सम्भजते ये च भूतास्तदन्वयाः ।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥ १३ ॥

भूपाल ! राजा जिन प्राणियोंको अन्न आदि देकर उनकी सेवा करता है और जो प्राणी राजासे सम्बन्ध रखते हैं, वे सबके सब उस राजाके अधर्मपरायण होनेपर शोक प्रकट करने लगते हैं ॥ १३ ॥

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १४ ॥

दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इन सबकी दृष्टिको मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ; इसलिये तुम किसी दुर्बल प्राणीको न सताना ॥ १४ ॥

दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान् ।

मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥ १५ ॥

तात ! तुम दुर्बल प्राणियोंको सदा ही अपमानका पात्र न समझना, दुर्बलोंकी आँखें तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित जलाकर भस्म न कर डालें, इसके लिये सदा सावधान रहना ॥

न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किंचित् प्ररोहति ।
आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १६ ॥

दुर्बल मनुष्य जिसको अपनी क्रोधाग्निसे जला डालते हैं, उसके कुलमें फिर कोई अङ्कुर नहीं जमता । वे जड़मूलसहित दग्ध कर देते हैं; अतः तुम दुर्बलोंको कभी न सताना॥

अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
बलस्याबलदग्धस्य न किंचिदवशिष्यते ॥ १७ ॥

निर्बल प्राणी बलवान्‌से श्रेष्ठ है, क्योंकि जो अत्यन्त बलवान् है, उसके बलसे भी निर्बलका बल अधिक है। निर्बलके द्वारा दग्ध किये गये बलवान्‌का कुछ भी शेष नहीं रह जाता ॥ १७ ॥

विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति ।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥ १८ ॥

यदि अपमानित, हताहत तथा गाली-गलौजसे तिरस्कृत होनेवाला दुर्बल मनुष्य राजाको अपने रक्षकके रूपमें नहीं उपलब्ध कर पाता तो वहाँ दैवका दिया हुआ दण्ड राजाको मार डालता है ॥ १८ ॥

मा स्म तात रणे स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम् ॥ १९ ॥

तात ! तुम युद्धमें संलग्न होकर दुर्बल मनुष्यको कर लेनेके द्वारा अपने उपभोगका विषय न बनाना । जैसे आग अपने आश्रयभूत काष्ठको जला देती है, उसी प्रकार दुर्बलोंकी दृष्टि तुम्हें दग्ध न कर डाले ॥ १९ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ।२०।

झूठे अपराध लगाये जानेपर रोते हुए दीन-दुर्बल मनुष्योंके नेत्रोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलङ्क लगानेके कारण उन अपराधियोंके पुत्रों और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ २० ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २१ ॥

यदि पापका फल अपनेको नहीं मिला तो वह पुत्रों तथा नाती-पोतोंको अवश्य मिलता है । जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ बीज तुरंत फल नहीं देता, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी तत्काल फल नहीं देता (समय आनेपर ही उसका फल मिलता है) ॥ २१ ॥

यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति ।
महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २२ ॥

सताया जानेवाला दुर्बल मनुष्य जहाँ अपने लिये कोई रक्षक नहीं पाता है, वहाँ सतानेवाले पापीको दैवकी ओरसे भयंकर दण्ड प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव ।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २३ ॥

जब बाहर गाँवोंके लोग एक समूह बनाकर भिक्षुकरूपसे ब्राह्मणोंके समान भिक्षा माँगने लगते हैं, तब वैसे लोग एक दिन राजाका विनाश कर डालते हैं ॥ २३ ॥

राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
अनयेनोपवर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत् ॥ २४ ॥

जब राजाके बहुत-से कर्मचारी देशमें अन्यायपूर्ण बर्ताव करने लगते हैं, तब वह महान् पाप राजाको ही लगता है॥२४॥

यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा ।
कृपणं याचमानानां तद् राज्ञो वैशसं महत् ॥ २५ ॥

यदि कोई राजा या राजकीय कर्मचारी दीनतापूर्ण याचना करती हुई प्रजाओंकी उस प्रार्थनाको ठुकराकर स्वेच्छासे अथवा धनके लोभवश कोई-न-कोई युक्ति करके उनके धनका अपहरण कर ले तो वह राजाके महान् विनाशका सूचक है ॥ २५ ॥

महान् वृक्षो जायते वर्धते च
तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च
तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २६ ॥

जब कोई महान् वृक्ष पैदा होता और क्रमशः बढ़ता है, तब बहुत-से प्राणी (पक्षी) आकर उसपर बसेरे लेते हैं और जब उस वृक्षको काटा या जला दिया जाता है, तब उसपर रहनेवाले सभी जीव निराश्रय हो जाते हैं ॥ २६ ॥

यदा राष्ट्रे धर्ममग्र्यं चरन्ति
संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्
तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतं च ॥ २७ ॥

जब राज्यमें रहनेवाले लोग राजाके गुणोंका बखान करते हुए वैदिक संस्कारोंके साथ उत्तम धर्मका आचरण करते हैं, उस समय राजा पापमुक्त हो जाता है तथा जब वे ही लोग धर्मके विषयमें मोहित हो जानेके कारण अधर्माचरण करने लगते हैं, उस समय राजा शीघ्र ही पुण्यसे हीन हो जाता है॥

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति
सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः ।
यदा राजा शास्ति नरानशिष्टां-
स्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य ॥ २८ ॥

जहाँ पापी मनुष्य प्रकटरूपसे निर्भय विचरते हैं, वहाँ सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें समझा जाता है कि राजाको कलियुगने घेर लिया है; किंतु जब राजा दुष्ट मनुष्योंको दण्ड देता है, तब उसका राज्य सब ओरसे उन्नत होने लगता है ॥ २८ ॥

यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थे
मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात् ।
विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य
भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलां चिराय ॥ २९ ॥

जो राजा अपने मन्त्रियोंका यथार्थरूपसे सम्मान करके उन्हें मन्त्रणा अथवा युद्धके काममें नियुक्त करता है, उसका राज्य दिनोंदिन बढ़ता है, और वह चिरकालतक समूची पृथ्वीका राज्य भोगता है ॥ २९ ॥

यच्चापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम्।
समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३० ॥

जो राजा अपने कर्मचारी अथवा प्रजाका पुण्यकर्म देखकर तथा उनकी सुन्दर वाणी सुनकर उन सबका यथायोग्य सम्मान करता है, वह परम उत्तम धर्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है, मन्त्रियोंका अनादर नहीं करता है और बलके घमंडमें चूर रहनेवाले दुष्ट पुरुष या शत्रुको मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है ॥ ३१ ॥

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥

जब वह मन, वाणी और शरीरके द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्रके भी अपराधको क्षमा नहीं करता, तब उसका वह बर्ताव भी 'राजाका धर्म' कहा जाता है ॥ ३२ ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥

जब राजा दुर्बल मनुष्योंको यथावश्यक वस्तुएँ देकर पीछे स्वयं भोजन करता है, तब वे दुर्बल मनुष्य बलवान् हो जाते हैं। वह त्याग राजाका धर्म कहा गया है ॥ ३३ ॥

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥

जब राजा समूचे राष्ट्रकी रक्षा करता है, डाकू और लुटेरोंको मार भगाता है तथा संग्राममें विजयी होता है, तब वह सब राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३४ ॥

पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥

प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणीद्वारा पाप करे तो राजाको चाहिये कि उसे भी क्षमा न करे अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा बर्ताव है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३५ ॥

यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥

जब राजा व्यापारियोंकी पुत्रके समान रक्षा करता है और धर्मकी मर्यादाको भङ्ग नहीं करता, तब वह भी राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३६ ॥

यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३७ ॥

जब वह राग और द्वेषका अनादर करके पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करता है, तब वह राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३८ ॥

जब वह दीन, अनाथ और वृद्धोंके आँसू पोंछता है और इस बर्तावद्वारा सब लोगोंके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका वह सद्भाव राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३८ ॥

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चापि कर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३९ ॥

वह जो मित्रोंकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश और साधु पुरुषोंका समादर करता है, उसे राजाका धर्म कहते हैं ॥ ३९ ॥

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४० ॥

राजा जो प्रेमपूर्वक सत्यका पालन करता है, प्रतिदिन भूदान देता है और अतिथियों तथा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका सत्कार करता है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिन् लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम् ॥ ४१ ॥

जिसमें निग्रह[1] और अनुग्रह[2] दोनों प्रतिष्ठित हों, वह राजा इहलोक और परलोकमें मनोवाञ्छित फल पाता है ॥

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः ॥ ४२ ॥

मान्धाता ! राजा दुष्टोंको दण्ड देनेके कारण यम तथा धार्मिकोंपर अनुग्रह करनेके कारण उनके लिये परमेश्वरके समान है। जब वह अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखता है, तब शासनमें समर्थ होता है और जब संयममें नहीं रखता, तब मर्यादासे नीचे गिर जाता है ॥ ४२ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च।
यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४३ ॥

जब राजा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यका बिना अवहेलनाके सत्कार करके उनको उचित बर्तावके साथ अपनाता है, तब वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ४३ ॥

यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः ॥ ४४ ॥

जैसे यमराज सभी प्राणियोंपर समानरूपसे शासन करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी बिना किसी भेदभावके समस्त प्रजाओंपर विधिपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ४४ ॥

सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥

पुरुषप्रवर ! राजाकी उपमा सब प्रकारसे हजार नेत्रों-

---

१. दुष्टोंको दण्ड देनेका स्वभाव। २. दीन-दुखियों तथा साधु पुरुषोंके प्रति दया एवं सहानुभूति।

वाले इन्द्रसे दी जाती है; अतः राजा जिस धर्मको भलीभाँति समझकर निश्चित कर देता है वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है॥

अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४६ ॥

राजन् ! तुम सावधान होकर क्षमा, विवेक, धृति और बुद्धिकी शिक्षा ग्रहण करो। समस्त प्राणियोंकी शक्ति तथा भलाई-बुराईको भी सदा जाननेकी इच्छा करो ॥ ४६ ॥

संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥ ४७ ॥

समस्त प्राणियोंको अपने अनुकूल बनाये रखना, दान देना और मीठे वचन बोलना सीखो। नगर और बाहर गाँववाले लोगोंकी तुम्हें इस प्रकार रक्षा करनी चाहिये, जिससे उन्हें सुख मिले ॥ ४७ ॥

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४८ ॥

तात ! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजाकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि यह राज्यका संचालनरूप अत्यन्त दुष्कर कार्य बहुत बड़ा भार है ॥ ४८ ॥

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥ ४९ ॥

राज्यकी रक्षा तो वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान् और शूरवीर होनेके साथ ही दण्ड देनेकी नीतिको भी जानता हो। जो दण्ड देनेसे हिचकता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन नरेश कदापि राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता॥४९॥

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ॥ ५० ॥

तुम्हें रूपवान्, कुलीन, कार्यदक्ष, राजभक्त एवं बहुज्ञ मन्त्रियोंके साथ रहकर तापसों और आश्रम-वासियोंकी भी सम्पूर्ण बुद्धियों (सारे विचारों) की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५० ॥

अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम्।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनङ्क्ष्यति ॥ ५१ ॥

ऐसा करनेसे तुमको सम्पूर्ण भूतोंके परम धर्मका ज्ञान हो जायगा; फिर स्वदेशमें रहो या परदेशमें, कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं होगा ॥ ५१ ॥

तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥ ५२ ॥

इस तरह विचार करनेसे अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। धर्मात्मा पुरुष इहलोकमें और परलोकमें भी सुख भोगता है ॥ ५२ ॥

त्यजन्ति दारान् पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ ५३ ॥
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत्।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥ ५४ ॥

यदि मनुष्योंका सम्मान किया जाय तो वे सम्मानदाताके हितके लिये अपने पुत्रों और स्त्रियोंको भी छोड़ देते हैं। समस्त प्राणियोंको अपने पक्षमें मिलाये रखना, दान देना, मीठे वचन बोलना, प्रमादका त्याग करना तथा बाहर और भीतरसे पवित्र रहना—ये राजाका ऐश्वर्य बढ़ानेवाले बहुत बड़े साधन हैं। मान्धाता ! तुम इन सब बातोंकी ओरसे कभी प्रमाद न करना ॥ ५३-५४ ॥

अप्रमत्तो भवेद् राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः।
नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५५ ॥

राजाको सदा सावधान रहना चाहिये । वह शत्रुका तथा अपना भी छिद्र देखे और यह प्रयत्न करे कि शत्रु मेरा छिद्र अच्छी तरह न देखने पाये; परंतु यदि शत्रुके छिद्रों (दुर्बलताओं) का पता लग जाय तो वह उसपर चढ़ाई कर दे ॥ ५५ ॥

एतद् वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च ।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत् त्वमप्यनुपालय ॥ ५६ ॥

इन्द्र, यम, वरुण तथा सम्पूर्ण राजर्षियोंका यही बर्ताव है, तुम भी इसका निरन्तर पालन करो ॥ ५६ ॥

तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम् ।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय पुरुषर्षभ ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रवर महाराज ! राजर्षियोंद्वारा सेवित उस आचारका तुम पालन करो और शीघ्र ही प्रकाशयुक्त दिव्य मार्गका आश्रय लो ॥ ५७ ॥

धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्ति महौजसः ॥ ५८ ॥

भारत ! * महातेजस्वी देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व इहलोक और परलोकमें भी धर्मपरायण राजाके यशका गान करते रहते हैं ॥ ५८ ॥

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत ।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! उतथ्यके इस प्रकार उपदेश देनेपर मान्धाताने निःशङ्क होकर उनकी आज्ञाका पालन किया और सारी पृथ्वीका एकछत्र राज्य पा लिया ॥ ५९ ॥

भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपते ।

* उतथ्यने राजा मान्धाताको उपदेश दिया है और मान्धाता सूर्यवंशी नरेश थे, इसलिये उनके उद्देश्यसे 'भारत' सम्बोधन पद यद्यपि उचित नहीं है तथापि यह प्रसंग भीष्मजी युधिष्ठिरको सुनाते हैं; अतः यह समझना चाहिये कि युधिष्ठिरके उद्देश्यसे उन्होंने यहाँ 'भारत' विशेषणका प्रयोग किया है।

धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥ ६० ॥

पृथ्वीनाथ ! मान्धाताकी ही भाँति तुम भी अच्छी तरह धर्मका पालन करते हुए इस पृथ्वीकी रक्षा करो; फिर तुम भी स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लोगे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

राजाके धर्मपूर्वक आचारके विषयमें वामदेवजीका वसुमनाको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुश्रेष्ठ पितामह ! धर्मात्मा राजा यदि धर्ममें स्थित रहना चाहे तो उसे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये ? यह मैं आपसे पूछता हूँ; आप मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें लोग तत्त्वज्ञानी महात्मा वामदेवजीद्वारा दिये हुए उपदेशरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम ज्ञानवान् धृतिमाञ्शुचिः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम् ॥ ३ ॥

वसुमना नामक एक प्रसिद्ध राजा हो गये हैं, जो ज्ञानवान्, धैर्यवान् और पवित्र आचार-विचारवाले थे । उन्होंने एक दिन तपस्वी महर्षि वामदेवजीसे पूछा—॥ ३ ॥

धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि माम् ।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन् न हीयेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥

'भगवन् ! मैं किस बर्तावका पालन करता रहूँ, जिससे अपने धर्मसे कभी न गिरूँ । आप अपने अर्थ और धर्मयुक्त वचनोंद्वारा मुझे इसी बातका उपदेश दीजिये' ॥ ४ ॥

तमब्रवीद् वामदेवस्तेजस्वी तपतां वरः ।
हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥

तब तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी महर्षि वामदेवने नहुषपुत्र ययातिके समान सुखपूर्वक बैठे हुए सुवर्णकी-सी कान्तिवाले राजा वसुमनासे कहा ॥ ५ ॥

वामदेव उवाच

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥

वामदेवजी बोले—राजन् ! तुम धर्मका ही अनुसरण करो । धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि धर्ममें स्थित रहनेवाले राजा इस सारी पृथ्वीको जीत लेते हैं ॥

अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः ।
वृद्ध्यां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥ ७ ॥

जो भूपाल धर्मको अर्थ-सिद्धिकी अपेक्षा भी बड़ा मानता है और उसीको बढ़ानेमें अपने मन और बुद्धिका उपयोग करता है, वह धर्मके कारण बड़ी शोभा पाता है ॥ ७ ॥

अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते ।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥ ८ ॥

इसके विपरीत जो राजा अधर्मपर ही दृष्टि रखकर बलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चल देते हैं ॥ ८ ॥

असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥ ९ ॥

जो दुष्ट एवं पापिष्ठ मन्त्रियोंकी सहायतासे धर्मको हानि पहुँचाता है, वह सब लोगोंका वध्य हो जाता है और अपने परिवारके साथ ही शीघ्र संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः ।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥

जो राजा अर्थ-सिद्धिकी चेष्टा नहीं करता और स्वेच्छाचारी हो बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, वह सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥

परंतु जो कल्याणकारी गुणोंको ग्रहण करनेवाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धिको प्राप्त होता है, जैसे नदियोंके प्रवाहसे समुद्र ॥

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि वह सदा धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी कभी अपनेको पूर्ण न माने—सदा उन सबके संग्रहको बढ़ानेकी ही चेष्टा करे ॥ १२ ॥

एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ।
एतानि शृण्वँल्लभते यशः कीर्तिं श्रियं प्रजाः ॥ १३ ॥

राजाकी जीवनयात्रा इन्हीं सबोंपर अवलम्बित है । इन सबको सुनने और ग्रहण करनेसे राजाको यश, कीर्ति, लक्ष्मी और प्रजाकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः ।
अर्थान् समीक्ष्य भजते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥

जो इस प्रकार धर्मके प्रति आग्रह रखनेवाला एवं धर्म और अर्थका चिन्तन करनेवाला है तथा अर्थपर भलीभाँति विचार करके उसका सेवन करता है, वह निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥ १४ ॥

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः ।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १५ ॥

जो दुःसाहसी, दान न देनेवाला और स्नेहशून्य तथा दण्डके द्वारा प्रजाको बार-बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अथ पापकृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान् ।
अकीर्त्याभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो बुद्धिहीन राजा पाप करके भी अपनी बुद्धिके द्वारा अपनेको पापी नहीं समझता, वह इस लोकमें अपकीर्तिसे कलङ्कित हो परलोकमें नरकका भागी होता है ॥ १६ ॥

अथ मानयितुर्दातुः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

जो सबका मान करनेवाला, दानी, स्नेहयुक्त तथा दूसरोंके वशवर्ती होकर रहता है, उसपर यदि कोई संकट आ जाय तो सब लोग उसे अपना ही संकट मानकर उसको मिटानेकी चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति ।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते ॥ १८ ॥

जिसको धर्मके विषयमें शिक्षा देनेवाला कोई गुरु नहीं है और जो दूसरोंसे भी कुछ नहीं पूछता है तथा धन मिल जानेपर सुखभोगमें आसक्त हो जाता है, वह दीर्घकालतक सुख नहीं भोग पाता है ॥ १८ ॥

गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थान्वेक्षिता ।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥ १९ ॥

जो धर्मके विषयमें गुरुको प्रधान मानकर उनके उपदेशके अनुसार चलता है, जो स्वयं ही अर्थ-सम्बन्धी सारे कार्योंको देखता है तथा सब प्रकारके लाभोंमें धर्मको ही प्रधान लाभ समझता है, वह चिरकालतक सुखका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवजीकी गीताविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

वामदेवजीके द्वारा राजोचित बर्तावका वर्णन

वामदेव उवाच

यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः ।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—राजन् ! जिस राज्यमें अत्यन्त बलवान् राजा दुर्बल प्रजापर अधर्म या अत्याचार करने लगता है, वहाँ उसके अनुचर भी उसी बर्तावको अपनी जीविकाका साधन बना लेते हैं ॥ १ ॥

राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम् ।
अविनीतमनुष्यं तत् क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति ॥ २ ॥

वे उस पापप्रवर्तक राजाका ही अनुसरण करते हैं; अतः उद्दण्ड मनुष्योंसे भरा हुआ वह राष्ट्र शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

यद् वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः ।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥ ३ ॥

अच्छी अवस्थामें रहनेपर मनुष्यके जिस बर्तावका दूसरे लोग भी आश्रय लेते हैं, संकटमें पड़ जानेपर उसी मनुष्यके उसी बर्तावको उसके स्वजन भी नहीं सहन करते हैं ॥ ३ ॥

साहसप्रकृतिर्यत्र किंचिदुल्बणमाचरेत् ।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ४ ॥

दुःसाहसी प्रकृतिवाला जो राजा जहाँ कुछ उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करता है, वहाँ शास्त्रोक्त मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥

जो क्षत्रिय राज्यमें रहनेवाले विजित या अविजित मनुष्योंकी अत्यन्त आचरणमें लायी हुई वृत्तिका अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् उनलोगोंको अपने परम्परागत आचार-विचारका पालन नहीं करने देता) वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ ५ ॥

द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे ।
यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥

यदि कोई राजा पहलेका उपकारी हो और किसी कारणवश वर्तमानकालमें द्वेष करने लगा हो तो उस समय जो भूपाल उसे युद्धमें बंदी बनाकर द्वेषवश उसका सम्मान नहीं करता, वह भी क्षत्रियधर्मसे गिर जाता है ॥ ६ ॥

शक्तः स्यात् सुसुखो राजा कुर्यात् करणमापदि ।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥

राजा यदि समर्थ हो तो उत्तम सुखका अनुभव करे और करावे तथा आपत्तिमें पड़ जाय तो उसके निवारणका प्रयत्न करे । ऐसा करनेसे वह सब प्राणियोंका प्रिय होता है और कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत् ।
नचिरेण प्रियः स स्याद् योऽप्रियः प्रियमाचरेत् ॥ ८ ॥

राजाको चाहिये कि यदि किसीका अप्रिय किया हो तो फिर उसका प्रिय भी करे । इस प्रकार यदि अप्रिय पुरुष भी प्रिय करने लगता है तो थोड़े ही समयमें वह प्रिय हो जाता है ॥ ८ ॥

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥

मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना याचना या प्रार्थना किये ही दूसरोंका प्रिय करे। किसी कामनासे, क्रोधसे तथा द्वेषसे भी धर्मका त्याग न करे ॥ ९ ॥

(अमाययैव वर्तेत न च सत्यं त्यजेद् बुधः ॥
दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम् ॥)
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत् ।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥

विद्वान् राजा छल-कपट छोड़कर ही बर्ताव करे। सत्यको कभी न छोड़े। इन्द्रिय-संयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय-धर्म तथा प्रजाके हितका कभी परित्याग न करे। यदि कोई कुछ पूछे तो उसका उत्तर देनेमें संकोच न करे, बिना विचारे कोई बात मुँहसे न निकाले, किसी काममें जल्दबाजी न करे और किसीकी निन्दा न करे, ऐसा बर्ताव करनेसे शत्रु भी अपने वशमें हो जाता है ॥ १० ॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

यदि अपना प्रिय हो जाय तो बहुत प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाय तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि आर्थिक संकट आ पड़े तो प्रजाके हितका चिन्तन करते हुए तनिक भी संतप्त न हो ॥ ११ ॥

यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः ।
तस्य कर्माणि सिद्ध्यन्ति न च संत्यज्यते श्रिया॥ १२ ॥

जो भूपाल अपने गुणोंसे सदा सबका प्रिय करता है, उसके सभी कर्म सफल होते हैं और सम्पत्ति कभी उसका साथ नहीं छोड़ती ॥ १२ ॥

निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्तमानमनुप्रिये ।
भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः ॥ १३ ॥

राजा सदा सावधान रहकर अपने उस सेवकको हर तरहसे अपनावे, जो प्रतिकूल कार्योंसे अलग रहता हो और राजाका निरन्तर प्रिय करनेमें ही संलग्न हो ॥ १३ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम् ।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥

जो बड़े-बड़े काम हों, उनपर जितेन्द्रिय, अत्यन्त अनुगत, पवित्र आचार-विचारवाले, शक्तिशाली और अनुरक्त पुरुषको नियुक्त करे ॥ १४ ॥

एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरज्यति भूमिपम् ।
भर्तुरर्थेष्वप्रमत्तं नियुञ्ज्यादर्थकर्मणि ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जिसमें वे सब गुण मौजूद हों, जो राजाको प्रसन्न भी रख सकता हो तथा स्वामीका कार्य सिद्ध करनेके लिये सतत सावधान रहता हो, उसको धनकी व्यवस्थाके कार्यमें लगावे ॥ १५ ॥

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम् ।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥ १६ ॥

त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम् ।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ १७ ॥

मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य, उच्चभावनासे रहित, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट और मृगयासक्त पुरुषको जो राजा महत्त्वपूर्ण कार्योंपर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मीसे हीन हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति ।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते ॥ १८ ॥

जो नरेश अपने शरीरकी रक्षा करके रक्षणीय पुरुषोंकी भी सदा रक्षा करता है, उसकी प्रजा अभ्युदयशील होती है और वह राजा भी निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥

ये केचिद् भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत् ।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजातिरिच्यते ॥ १९ ॥

जो राजा अपने अप्रसिद्ध सुहृदोंके द्वारा गुप्तरूपसे समस्त भूपतियोंकी अवस्थाका निरीक्षण कराता है, वह अपने इस बर्तावके द्वारा सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १९ ॥

अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ २० ॥

किसी बलवान् शत्रुका अपकार करके हम दूर जाकर रहेंगे, ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि जैसे बाज पक्षी झपट्टा मारता है, उसी प्रकार ये दूरस्थ शत्रु भी असावधानीकी अवस्थामें टूट पड़ते हैं ॥ २० ॥

दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः ।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥ २१ ॥

राजा अपनेको दृढ़मूल (अपनी राजधानीको सुरक्षित) करके विरोधी लोगोंको दूर रखकर अपनी शक्तिको समझ ले; फिर अपनेसे दुर्बल शत्रुपर ही आक्रमण करे। जो अपने-से प्रबल हों, उनपर आक्रमण न करे ॥ २१ ॥

विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयेत् ।
आहवे निधनं कुर्याद् राजा धर्मपरायणः ॥ २२ ॥

पराक्रमसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करे तथा युद्धमें शत्रुओंका संहार कर डाले ॥ २२ ॥

मरणान्तमिदं सर्वं नेह किञ्चिदनामयम् ।
तस्माद् धर्मे स्थितो राजा प्रजा धर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥

राजन्! इस जगत्‌के सभी पदार्थ अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं; यहाँ कोई भी वस्तु नीरोग या अविनाशी नहीं है। इसलिये राजाको धर्मपर स्थित रहकर प्रजाका धर्मके अनुसार ही पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥ २४ ॥

रक्षाके स्थान दुर्ग आदि, युद्ध, धर्मके अनुसार राज्यका शासन, मन्त्रचिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान

करना—इन पाँचोंके द्वारा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तमः ।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा धत्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥

जिसकी ये सब बातें गुप्त या सुरक्षित रहती हैं, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ माना जाता है। इनके पालनमें सदा संलग्न रहनेवाला नरेश ही इस पृथ्वीकी रक्षा कर सकता है ॥

नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम् ।
तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुङ्क्ते चिरं महीम् ॥ २६ ॥

एक ही पुरुष इन सभी बातोंपर सदा ध्यान नहीं रख सकता, इसलिये इन सबका भार सुयोग्य अधिकारियोंको सौंपकर राजा चिरकालतक इस भूतलका राज्य भोग सकता है ॥

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥ २७ ॥

जो पुरुष दानशील, सबके लिये सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओंका वितरण करनेवाला, मृदुलस्वभाव, शुद्ध आचार-विचारवाला तथा मनुष्योंका त्याग न करनेवाला होता है, उसीको लोग राजा बनाते हैं ॥ २७ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत् प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥

जो कल्याणकारी उपदेश सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़ उस ज्ञानको ग्रहण कर लेता है, उसके पीछे यह सारा जगत् चलता है ॥ २८ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि सर्वदा विमना इव ॥ २९ ॥
अग्राम्यचरितां वृत्तिं यो न सेवेत नित्यदा ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ३० ॥

जो मनके प्रतिकूल होनेके कारण अपने ही प्रयोजनकी सिद्धि चाहनेवाले सुहृद्‌की बात नहीं सहन करता और अपनी अर्थसिद्धिके विरोधी वचनोंको भी सुनता है, सदा अनमना-सा रहता है, जो बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए बर्तावका सदा सेवन नहीं करता एवं पराजित या अपराजित व्यक्तियोंको उनके परम्परागत आचारका पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ २९-३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ।
एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु ॥ ३१ ॥

जिसको कभी कैद किया गया हो ऐसे मन्त्रीसे, विशेषतः स्त्रियोंसे, विषम पर्वतसे, दुर्गम स्थानसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पसे सदा सावधान रहकर राजा अपनी रक्षा करे ॥ ३१ ॥

मुख्यानमात्यान् यो हित्वा निहीनान् कुरुते प्रियान् ।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति ॥ ३२ ॥

जो प्रधान मन्त्रियोंका त्याग करके निम्न श्रेणीके मनुष्योंको अपना प्रिय बनाता है, वह संकटके घोर समुद्रमें पड़कर पीड़ित हो कहीं आश्रय नहीं पाता है ॥ ३२ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् प्रद्वेषान्नो बुभूषति ।
अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेऽन्तिके ॥ ३३ ॥

जो द्वेषवश कल्याणकारी गुणोंवाले अपने सजातीय बन्धुओं एवं कुटुम्बीजनोंका सम्मान नहीं करता, जिसका चित्त चञ्चल है तथा जो क्रोधको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेवाला है, वह सदा मृत्युके समीप निवास करता है ॥ ३३ ॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३४ ॥

जो राजा हृदयको प्रिय लगनेवाले न होनेपर भी गुणवान् पुरुषोंको प्रीतिजनक बर्तावद्वारा अपने वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ३४ ॥

नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ।
प्रिये नातिभृशं तुष्येद् युज्येतारोग्यकर्मणि ॥ ३५ ॥

राजाको चाहिये कि वह असमयमें कर लगाकर धन-संग्रहकी चेष्टा न करे। कोई अप्रिय कार्य हो जानेपर कभी चिन्ताकी आगमें न जले और प्रिय कार्य बन जानेपर अत्यन्त हर्षसे फूल न उठे और अपने शरीरको नीरोग बनाये रखनेके कार्यमें तत्पर रहे ॥ ३५ ॥

के वानुरक्ता राजानः के भयात् समुपाश्रिताः ।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

इस बातका ध्यान रक्खे कि कौन राजा मुझसे प्रेम रखते हैं ? कौन भयके कारण मेरा आश्रय लिये हुए हैं ? इनमेंसे कौन मध्यस्थ हैं और कौन-कौन नरेश मेरे शत्रु बने हुए हैं ? ॥ ३६ ॥

न जातु बलवान् भूत्वा दुर्बले विश्वसेत् क्वचित् ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं बलवान् होकर भी कभी अपने दुर्बल शत्रुका विश्वास न करे; क्योंकि ये असावधानीकी दशामें बाज पक्षीकी तरह झपट्टा मारते हैं ॥ ३७ ॥

अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् ।
अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद् विश्वसेज्जनात् ॥ ३८ ॥

जो पापात्मा मनुष्य अपने सर्वगुणसम्पन्न और सर्वदा प्रिय वचन बोलनेवाले स्वामीसे भी अकारण द्रोह करता है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः ।
मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३९ ॥

नहुषपुत्र राजा ययातिने मानवमात्रके हितमें तत्पर हो इस राजोपनिषद्‌का वर्णन किया है। जो इसमें निष्ठा रखकर इसके अनुसार चलता है, वह बड़े-बड़े शत्रुओंका विनाश कर डालता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

वामदेवके उपदेशमें राजा और राज्यके लिये हितकर बर्ताव

वामदेव उवाच

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा युद्धके सिवा किसी और ही उपायसे पहले अपनी विजय-वृद्धिकी चेष्टा करे; युद्धसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे निम्न श्रेणीकी बताया गया है ॥ १ ॥

न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥ २ ॥

यदि राज्यकी जड़ मजबूत न हो तो राजाको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति—अनधिकृत देशोंपर अधिकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिसके मूलमें ही दुर्बलता है, उस राजाको वैसा लाभ होना सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धनधान्यसे सम्पन्न, राजाको प्रिय माननेवाले मनुष्योंसे परिपूर्ण और हृष्ट-पुष्ट मन्त्रियोंसे सुशोभित है, उसीकी जड़ मजबूत समझनी चाहिये ॥

यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥ ४ ॥

जिसके सैनिक संतुष्ट, राजाके द्वारा सान्त्वनाप्राप्त और शत्रुओंको धोखा देनेमें चतुर हों, वह भूपाल थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी पृथ्वीपर विजय पा लेता है ॥ ४ ॥

(दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वं च भेदमूलं प्रशस्यते ॥

जिस स्थानपर शत्रुपक्षकी सेना अधिक प्रबल हो, वहाँ पहले सामनीतिका ही प्रयोग करना उचित है। यदि उससे काम न चले तो धन या उपहार देनेकी नीतिको अपनाना चाहिये। इस दाननीतिके मूलमें भी यदि भेदनीतिका समावेश हो अर्थात् शत्रुओंमें फूट डालनेकी चेष्टा की जा रही हो तो उसे उत्तम माना गया है ॥

त्रयाणां विफलं कर्म यदा पश्येत भूमिपः।
रन्ध्रं ज्ञात्वा ततो दण्डं प्रयुञ्जीताविचारयन् ॥)

जब राजा साम, दान और भेद—तीनोंका प्रयोग निष्फल देखे, तब शत्रुकी दुर्बलताका पता लगाकर दूसरा कोई विचार मनमें न लाते हुए दण्डनीतिका ही प्रयोग करे—शत्रुके साथ युद्ध छेड़ दे ॥

पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥

जिसके नगर और जनपदमें रहनेवाले लोग समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥ ५ ॥

(राष्ट्रकर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः।
दुर्विनीता विनीताश्च सर्वे साध्याः प्रयत्नतः ॥

ये नगर और जनपदके लोग राष्ट्रके कार्यकी सिद्धि करनेवाले और उसके विरोधी भी होते हैं। उद्दण्ड और विनयशील भी होते हैं। उन सबको प्रयत्नपूर्वक अपने वशमें करना चाहिये ॥

चाण्डालम्लेच्छजात्याश्च पाषण्डाश्च विकर्मिणः।
बलिनश्चाश्रमाश्चैव तथा गायकनर्तकाः ॥
यस्य राष्ट्रे वसन्त्येते धान्योपचयकारिणः।
आयवृद्धौ सहायाश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥)

चाण्डाल, म्लेच्छ, पाखण्डी, शास्त्र-विरुद्ध कर्म करनेवाले, बलवान्, सभी आश्रमोंके निवासी तथा गायक और नर्तक—इन सबको प्रयत्नपूर्वक वशमें करना चाहिये। जिसके राज्यमें ये सब लोग धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले और आय बढ़नेमें सहायक होकर रहते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥

प्रतापकालमधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् राजा जब अपने प्रतापको प्रकाशित करनेका उपयुक्त अवसर समझे, तभी दूसरेका राज्य और धन लेनेकी चेष्टा करे ॥ ६ ॥

भोगेषूदयमानस्य भूतेषु च दयावतः।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ ॥

जिसके वैभव-भोग दिनोंदिन बढ़ रहे हों, जो सब प्राणियोंपर दया रखता हो, काम करनेमें फुर्तीला हो और अपने शरीरकी रक्षाका ध्यान रखता हो, उस राजाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग् वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो अच्छा बर्ताव करनेवाले स्वजनोंके प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, वह इस बर्तावद्वारा कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति अपने आपका ही उच्छेद कर डालता है ॥ ८ ॥

नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः।
क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥

यदि राजा कभी किसी द्वेष करनेवालेको दण्ड न दे तो उससे द्वेष करनेवालोंकी कमी नहीं होती है; परंतु जो क्रोधको मारनेकी कला जानता है, उसका कोई द्वेषी नहीं रहता है ॥ ९ ॥

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥

जिसे श्रेष्ठ पुरुष बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कर्म कभी न करे। जिस कार्यको सबके लिये कल्याणकारी समझे, उसीमें अपने आपको लगावे ॥ १० ॥

नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते ।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति ॥ ११ ॥

जो राजा अपना कर्तव्य पूर्ण करके ही सुखका अनुभव करना चाहता है, उसका न तो दूसरे लोग अनादर करते हैं और न वह स्वयं ही संतप्त होता है ॥ ११ ॥

इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः ।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये सम्प्रतिष्ठते ॥ १२ ॥

जो राजा प्रजाके प्रति ऐसा बर्ताव करता है, वह इहलोक और परलोक दोनोंको जीतकर विजयमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत् कृतवान् नृपः ।
तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर राजा वसुमना सब कार्य उसी प्रकार करने लगे । यदि तुम भी ऐसा ही आचरण करोगे तो निःसंदेह लोक और परलोक दोनों सुधार लोगे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

विजयाभिलाषी राजाके धर्मानुकूल बर्ताव तथा युद्धनीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि ।
कस्तस्य विजये धर्मो ह्येतं पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय नरेशपर युद्धमें विजय पाना चाहे तो उसे अपनी जीतके लिये किस धर्मका पालन करना चाहिये ? इस समय यही मेरा आपसे प्रश्न है, आप मुझे इसका उत्तर दीजिये ॥

भीष्म उवाच

ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः ।
ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥
मम धर्मबलिं दत्त किं वा मां प्रतिपत्स्यथ ।
ते चेत् तमागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहले राजा सहायकोंके साथ अथवा बिना सहायकोंके ही जिसपर विजय पाना चाहता हो, उस राज्यमें जाकर वहाँके लोगोंसे कहे कि मैं तुम्हारा राजा हूँ और सदा तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा, मुझे धर्मके अनुसार कर दो अथवा मेरे साथ युद्ध करो । उसके ऐसा कहनेपर यदि वे उस समागत नरेशका अपने राजाके रूपमें वरण कर लें तो सबकी कुशल हो ॥ २-३ ॥

ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुध्येरन् कथंचन ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! यदि वे क्षत्रिय न होकर भी किसी प्रकार विरोध करें तो वर्ण-विपरीत कर्ममें लगे हुए उन सब मनुष्योंका सभी उपायोंसे दमन करना चाहिये ॥ ४ ॥

अशस्त्रं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णाद् यथापरः ।
त्राणायाप्यसमर्थं तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥

यदि उस देशका क्षत्रिय शस्त्रहीन हो और अपनी रक्षा करनेमें भी अपनेको अत्यन्त असमर्थ मानता हो तो वहाँका क्षत्रियेतर मनुष्य भी देशकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण कर सकता है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् ।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय राजापर चढ़ाई कर दे तो उस समय उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो कवच बाँधे हुए न हो, उस क्षत्रियके साथ रणभूमिमें युद्ध नहीं करना चाहिये । एक योद्धा दूसरे एकाकी योद्धासे कहे 'तुम मुझपर शस्त्र छोड़ो । मैं भी तुमपर प्रहार करता हूँ' ॥ ७ ॥

स चेत् सन्नद्ध आगच्छेत् सन्नद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत् ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥

यदि वह कवच बाँधकर सामने आ जाय तो स्वयं भी कवच धारण कर ले । यदि विपक्षी सेनाके साथ आवे तो स्वयं भी सेनाके साथ आकर शत्रुको ललकारे ॥ ८ ॥

स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद् धर्मतो युद्ध्येद् धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ९ ॥

यदि वह छलसे युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीतिसे उसका सामना करे और यदि वह धर्मसे युद्ध आरम्भ करे तो धर्मसे ही उसका सामना करना चाहिये ॥ ९ ॥

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥ १० ॥

घोड़ेके द्वारा रथीपर आक्रमण न करे । रथीका सामना रथीको ही करना चाहिये । यदि शत्रु किसी संकटमें पड़ जाय तो उसपर प्रहार न करे । डरे और पराजित हुए शत्रुपर भी कभी प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥ ११ ॥

युद्धमें विषलिप्त और कर्णी बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ये दुष्टोंके अस्त्र हैं। यथार्थ रीतिसे ही युद्ध करना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति युद्धमें किसीका वध करना चाहता हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये (किंतु यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिये)॥ ११॥

साधूनां तु मिथो भेदात् साधुश्चेद् व्यसनी भवेत्।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन ॥ १२॥

जब श्रेष्ठ पुरुषोंमें परस्पर भेद होनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष संकटमें पड़ जाय, तब उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये। जो बलहीन और संतानहीन हो, उसपर तो किसी प्रकार भी आघात न करे॥ १२॥

भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।
चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् १३

जिसके शस्त्र टूट गये हों, जो विपत्तिमें पड़ गया हो, जिसके धनुषकी डोरी कट गयी हो तथा जिसके वाहन मार डाले गये हों, ऐसे मनुष्यपर भी प्रहार न करे। ऐसा पुरुष यदि अपने राज्यमें या अधिकारमें आ जाय तो उसके घावोंकी चिकित्सा करानी चाहिये अथवा उसे उसके घर पहुँचा देना चाहिये॥ १३॥

निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः।
तस्माद् धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥१४॥

किंतु जिसके कोई घाव न हो, उसे न छोड़े। यह सनातनधर्म है। अतः धर्मके अनुसार युद्ध करना चाहिये, यह स्वायम्भुव मनुका कथन है॥ १४॥

सत्सु नित्यः सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत्।
यो वै जयत्यधर्मेण क्षत्रियो धर्मसंगरः॥ १५॥
आत्मानमात्मना हन्ति पापो निकृतिजीवनः।

सज्जनोंका धर्म सदा सत्पुरुषोंमें ही रहा है। अतः उसका आश्रय लेकर उसे नष्ट न करे। धर्मयुद्धमें तत्पर हुआ जो क्षत्रिय अधर्मसे विजय पाता है, छल-कपटको जीविकाका साधन बनानेवाला वह पापी स्वयं ही अपना नाश करता है॥

कर्म चैतदसाधूनामसाधून् साधुना जयेत्॥ १६॥
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

यह तो दुष्टोंका काम है। श्रेष्ठ पुरुषको तो दुष्टोंपर भी धर्मसे ही विजय पानी चाहिये। धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मर जाना भी अच्छा है; परंतु पापकर्मके द्वारा विजय पाना अच्छा नहीं है॥ १६½॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव॥ १७॥
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति।

राजन्! जैसे पृथ्वीमें बोये हुए बीजका फल तत्काल नहीं मिलता, उसी प्रकार किये हुए पापका भी फल तुरंत नहीं मिलता है; परंतु जब वह फल प्राप्त होता है, तब मूल और शाखा दोनोंको जलाकर भस्म कर देता है॥ १७½॥

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति॥ १८॥
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव॥ १९॥
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति।
सम्बद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते॥ २०॥

पापी मनुष्य पापकर्मके द्वारा धन पाकर हर्षसे खिल उठता है। वह पापी चोरीसे ही बढ़ता हुआ पापमें आसक्त हो जाता है और यह समझकर कि धर्म है ही नहीं, पवित्रात्मा पुरुषोंकी हँसी उड़ाता है। धर्ममें उसकी तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती और पापके ही द्वारा वह विनाशके मुखमें जा पड़ता है। वह अपनेको देवताओं-सा अजर-अमर मानता है; परंतु उसे वरुणके पाशोंमें बँधना पड़ता है॥ १८–२०॥

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते।
ततः समूलो ह्रियते नदीं कूलादिव द्रुमः॥ २१॥

जैसे चमड़ेकी थैली हवा भरनेसे फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पापसे फूल उठता है। वह पुण्यकर्ममें कभी प्रवृत्त ही नहीं होता है, तदनन्तर जैसे नदीके तटपर खड़ा हुआ वृक्ष वहाँसे जड़सहित उखड़कर नदीमें बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है॥ २१॥

अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि।
तस्माद् धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः॥ २२॥

पत्थरपर पटके हुए घड़ेके समान उसके टूक-टूक हो जाते हैं और सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं; अतः राजाको चाहिये कि वह धर्मपूर्वक ही धन और विजय प्राप्त करनेकी इच्छा करे॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते पञ्चनवतितमोऽध्यायः॥ ९५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९५॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

राजाके छलरहित धर्मयुक्त बर्तावकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! किसी भी भूपालको अधर्मके द्वारा पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। अधर्मसे विजय पाकर कौन राजा सम्मानित हो सकता है?॥ १॥

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।

सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥ २ ॥

अधर्मसे पायी हुई विजय स्वर्गसे गिरानेवाली और अस्थायी होती है। भरतश्रेष्ठ ! ऐसी विजय राजा और राज्य दोनोंका पतन कर देती है ॥ २ ॥

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम्।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत्॥ ३ ॥

जिसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया हो, जो 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहा हो और हाथ जोड़े खड़ा हो अथवा जिसने हथियार रख दिये हों, ऐसे विपक्षी योद्धाको कैद करके मारे नहीं ॥ ३ ॥

बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः।
संवत्सरं विप्रणयेत् तस्माज्जातः पुनर्भवेत्॥ ४ ॥

जो बलके द्वारा पराजित कर दिया गया हो, उसके साथ राजा कदापि युद्ध न करे। उसे कैद करके एक सालतक अनुकूल रहनेकी शिक्षा दे; फिर उसका नया जन्म होता है। वह विजयी राजाके लिये पुत्रके समान हो जाता है (इसलिये एक साल बाद उसे छोड़ देना चाहिये) ॥ ४ ॥

नार्वाक्संवत्सरात् कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत्सहसाऽऽहृतम्॥ ५ ॥

यदि राजा किसी कन्याको अपने पराक्रमसे हरकर ले आवे तो एक सालतक उससे कोई प्रश्न न करे (एक सालके बाद पूछनेपर यदि वह कन्या किसी दूसरेको वरण करना चाहे तो उसे लौटा देना चाहिये)। इसी प्रकार सहसा छलसे अपहरण करके लाये हुए सम्पूर्ण धनके विषयमें भी समझना चाहिये (उसे भी एक सालके बाद उसके स्वामीको लौटा देना चाहिये) ॥ ५ ॥

न तु वध्यधनं तिष्ठेत् पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः।
युञ्जीरन्नप्यनडुहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत्॥ ६ ॥

चोर आदि अपराधियोंका धन लाया गया हो तो उसे अपने पास न रक्खे (सार्वजनिक कार्योंमें लगा दे) और यदि गौ छीनकर लायी गयी हो तो उसका दूध स्वयं न पीकर ब्राह्मणोंको पिलावे। बैल हों तो उन्हें ब्राह्मणलोग ही गाड़ी आदिमें जोतें अथवा उन सब अपहृत वस्तुओं या धनका स्वामी आकर क्षमा-प्रार्थना करे तो उसे क्षमा करके उसका धन उसे लौटा देना चाहिये ॥ ६ ॥

राज्ञा राजैव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते।
नान्यो राजानमभ्यस्येदराजन्यः कथञ्चन॥ ७ ॥

राजाको राजाके साथ ही युद्ध करना चाहिये। उसके लिये यही धर्म विहित है। जो राजा या राजकुमार नहीं है, उसे किसी प्रकार भी राजापर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरा।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत्॥ ८ ॥

दोनों ओरकी सेनाओंके भिड़ जानेपर यदि उनके बीचमें संधि करानेकी इच्छासे ब्राह्मण आ जाय तो दोनों पक्षवालोंको तत्काल युद्ध बंद कर देना चाहिये ॥ ८ ॥

मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद् ब्राह्मणं योऽभिलङ्घयेत्।
अथ चेल्लङ्घयेदेव मर्यादां क्षत्रियब्रुवः॥ ९ ॥
असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि।

इन दोनोंमेंसे जो कोई भी पक्ष ब्राह्मणका तिरस्कार करता है, वह सनातनकालसे चली आयी हुई मर्यादाको तोड़ता है। यदि अपनेको क्षत्रिय कहनेवाला अधम योद्धा उस मर्यादाका उल्लङ्घन कर ही डाले तो उसके बादसे उसे क्षत्रियजातिके अंदर नहीं गिनना चाहिये और क्षत्रियोंकी सभामें उसे स्थान भी नहीं देना चाहिये ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च॥ १० ॥
तां वृत्तिं नानुवर्तेत विजिगीषुर्महीपतिः।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत्॥ ११॥

जो कोई धर्मका लोप और मर्यादाको भङ्ग करके विजय पाता है, उसके इस बर्तावका विजयाभिलाषी नरेशको अनुसरण नहीं करना चाहिये। धर्मके द्वारा प्राप्त हुई विजयसे बढ़कर दूसरा कौन-सा लाभ हो सकता है ? ॥ १०-११ ॥

सहसानार्यभूतानि क्षिप्रमेव प्रसादयेत्।
सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः॥ १२ ॥

विजयी राजाको चाहिये कि वह मधुर वचन बोलकर और उपभोगकी वस्तुएँ देकर अनार्य (म्लेच्छ आदि) प्रजाको शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न कर ले। यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १२ ॥

भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिताः।
अमित्रास्तमुपासीरन् व्यसनौघप्रतीक्षिणः॥ १३ ॥

यदि ऐसा न करके अनुचित कठोरताके द्वारा उनपर शासन किया जाता है तो वे दुखी होकर अपने देशसे चले जाते हैं और शत्रु बनकर विजयी राजाकी विपत्तिके समयकी बाट देखते हुए कहीं पड़े रहते हैं ॥ १३ ॥

अमित्रोपग्रहं चास्य ते कुर्युः क्षिप्रमापदि।
संतुष्टाः सर्वतो राजन् राजव्यसनकाङ्क्षिणः॥ १४॥

राजन् ! जब विजयी राजापर कोई विपत्ति आ जाती है, तब वे राजापर संकट पड़नेकी इच्छा रखनेवाले लोग विपक्षियोंद्वारा सब प्रकारसे संतुष्ट हो राजाके शत्रुओंका पक्ष ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजेच्च कदाचन॥ १५॥

शत्रुके साथ छल नहीं करना चाहिये। उसे किसी प्रकार भी अत्यन्त उच्छिन्न करना उचित नहीं है। अत्यन्त क्षत-विक्षत कर देनेपर वह कभी अपने जीवनका त्याग भी कर सकता है ॥ १५ ॥

अल्पेनापि च संयुक्तस्तुष्यत्येव नराधिपः।
शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते॥ १६ ॥

राजा थोड़े-से लाभसे भी संयुक्त होनेपर संतुष्ट हो जाता है। वैसा नरेश निर्दोष जीवनको ही बहुत अधिक महत्त्व देता है ॥ १६ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १७ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धन-धान्यसे सम्पन्न तथा राजभक्त होता है और जिसके सेवक एवं मन्त्री संतुष्ट रहते हैं, उसीकी जड़ मजबूत मानी जाती है ॥ १७ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसत्तमाः।
पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकविदुच्यते ॥ १८ ॥

जो राजा ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य तथा अन्यान्य पूजाके पात्र शास्त्रज्ञोंका सत्कार करता है, वही लोकगतिको जाननेवाला कहा जाता है ॥ १८ ॥

एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः।
अनेन चेन्द्रविषयं विजिगीषन्ति पार्थिवाः ॥ १९ ॥

इसी बर्तावसे देवराज इन्द्रने राज्य पाया था और इसी बर्तावके द्वारा भूपालगण स्वर्गलोकपर विजय पाना चाहते हैं ॥

भूमिवर्जं धनं राजा जित्वा राजन् महाहवे।
अपि चान्नौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥ २० ॥

राजन्! पूर्वकालमें राजा प्रतर्दन महासमरमें विजय प्राप्त करके पराजित राजाकी भूमिको छोड़कर शेष सारा धन, अन्न एवं औषध अपनी राजधानीमें ले आये ॥ २० ॥

अग्निहोत्राग्निशेषं च हविर्भोजनमेव च।
आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोऽभवत् ॥ २१ ॥

राजा दिवोदास अग्निहोत्र, यज्ञका अङ्गभूत हविष्य तथा भोजन भी हर लाये थे। इसीसे वे तिरस्कृत हुए ॥२१॥

सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ।
अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसार्थाच्च भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन! राजा नाभागने श्रोत्रिय और तापसके धनको छोड़कर शेष सारा राष्ट्र दक्षिणारूपमें ब्राह्मणोंको दे दिया ॥ २२ ॥

उच्चावचानि वित्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर।
आसन् राज्ञां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! प्राचीन धर्मज्ञ राजाओंके पास जो नाना प्रकारके धन थे, वे सब मुझे भी अच्छे लगते हैं ॥ २३ ॥

सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः।
न मायया न दम्भेन य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २४ ॥

जिस राजाको अपना वैभव बढ़ानेकी इच्छा हो, वह सम्पूर्ण विद्याओंके उत्कर्षद्वारा विजय पानेकी इच्छा करे; दम्भ या पाखण्डद्वारा नहीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

शूरवीर क्षत्रियोंके कर्तव्यका तथा उनकी आत्मशुद्धि और सद्गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षत्रधर्मान्न पापीयान् धर्मोऽस्ति नराधिप।
अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर! क्षत्रियधर्मसे बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है; क्योंकि राजा किसी देशपर चढ़ाई करने और युद्ध छेड़नेके द्वारा महान् जन-संहार कर डालता है ॥ १ ॥

अथ स कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

विद्वन्! भरतश्रेष्ठ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि राजाको किस कर्मसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है; अतः यही मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! पापियोंको दण्ड देने और सत्पुरुषोंको आदरपूर्वक अपनानेसे तथा यज्ञोंका अनुष्ठान और दान करनेसे राजालोग सब प्रकारके दोषोंसे छूटकर निर्मल एवं शुद्ध हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥

जो राजा विजयकी कामना रखकर युद्धके समय प्राणियोंको कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही विजय प्राप्त कर लेनेके बाद पुनः सारी प्रजाकी उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञतपोबलैः।
अनुग्रहाय भूतानां पुण्यमेषां विवर्धते ॥ ५ ॥

वे दान, यज्ञ और तपके प्रभावसे अपने सारे पाप नष्ट कर डालते हैं; फिर तो प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये उनके पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

यथैव क्षेत्रनिर्याता निर्यातं क्षेत्रमेव च।
हिनस्ति धान्यं कक्षं च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥
एवं शस्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्याननेकधा।
तस्यैषां निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः ॥७॥

जैसे खेतको निरानेवाला किसान जिस खेतकी निराई करता है, उसकी घास आदिके साथ-साथ कितने ही धानके

पौधोंको भी काट डालता है तो भी धान नष्ट नहीं होता है (बल्कि निराई करनेके पश्चात् उसकी उपज और बढ़ती है) । इसी प्रकार जो युद्धमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके राजसैनिक वध करने योग्य शत्रुओंका अनेक प्रकारसे वध करते हैं, राजाके उस कर्मका यही पूरा-पूरा प्रायश्चित्त है कि उस युद्धके पश्चात् उस राज्यके प्राणियोंकी पुनः सब प्रकारसे उन्नति करे ॥ ६-७ ॥

यो भूतानि धनाक्रान्त्या वधात् क्लेशाच्च रक्षति।
दस्युभ्यः प्राणदानात् स धनदः सुखदो विराट् ॥८॥

जो राजा समस्त प्रजाको धनक्षय, प्राणनाश और दुःखोंसे बचाता है, लुटेरोंसे रक्षा करके जीवन-दान देता है, वह प्रजाके लिये धन और सुख देनेवाला परमेश्वर माना गया है॥

स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथाभयदक्षिणैः ।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ९ ॥

वह राजा सम्पूर्ण यज्ञोंद्वारा भगवान्की आराधना करके प्राणियोंको अभय-दान देकर इहलोकमें सुख भोगता है और परलोकमें भी इन्द्रके समान स्वर्गलोकका अधिकारी होता है ॥

ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽरिभिः सृत्य युध्यति ।
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ १० ॥

ब्राह्मणकी रक्षाका अवसर आनेपर जो आगे बढ़कर शत्रुओंके साथ युद्ध छेड़ देता है और अपने शरीरको यूपकी भाँति निछावर कर देता है, उसका वह त्याग अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञके ही तुल्य है ॥ १० ॥

अभीतो विकिरञ्शत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा ।
न तस्मात्त्रिदशाःश्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ॥ ११ ॥

जो निर्भय हो शत्रुओंपर बाणोंकी वर्षा करता और स्वयं भी बाणोंका आघात सहता है, उस क्षत्रियके लिये उस कर्मसे बढ़कर देवतालोग इस भूतलपर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

तस्य शस्त्राणि यावन्ति त्वचं भिन्दन्ति संयुगे ।
तावतः सोऽश्नुते लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान्॥१२॥

युद्धस्थलमें उस वीर योद्धाकी त्वचाको जितने शस्त्र विदीर्ण करते हैं, उतने ही सर्वकामनापूरक अक्षय लोक उसे प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

यदस्य रुधिरं गात्रादाहवे सम्प्रवर्तते ।
सह तेनैव रक्तेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

समरभूमिमें उसके शरीरसे जो रक्त बहता है, उस रक्तके साथ ही वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

यानि दुःखानि सहते क्षत्रियो युधि तापितः ।
तेन तेन तपो भूय इति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

युद्धमें बाणोंसे पीड़ित हुआ क्षत्रिय जो-जो दुःख सहता है, उस-उस कष्टके द्वारा उसके तपकी ही उत्तरोत्तर वृद्धि होती है; ऐसी धर्मज्ञ पुरुषोंकी मान्यता है ॥ १४ ॥

पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तन्तेऽधर्मपूरुषाः ।
शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम् ॥ १५ ॥

जैसे समस्त प्राणी बादलसे जीवनदायक जलकी इच्छा रखते हैं, उसी प्रकार शूरवीरसे अपनी रक्षा चाहते हुए डरपोक एवं नीच श्रेणीके मनुष्य युद्धमें वीर योद्धाओंके पीछे खड़े रहते हैं ॥ १५ ॥

यदि शूरस्तथा क्षेमं प्रतिरक्षेद् यथाभये ।
प्रतिरूपं जनं कुर्यान्न चेत् तद्वर्तते तथा ॥ १६ ॥

अभयकालके समान ही उस भयके समय भी यदि कोई शूरवीर उस भीरु पुरुषकी सकुशल रक्षा कर लेता है तो उसके प्रति वह अपने अनुरूप उपकार एवं पुण्य करता है । यदि पृष्ठवर्ती पुरुषको वह अपने-जैसा न बना सके तो भी पूर्वकथित पुण्यका भागी तो होता ही है ॥ १६ ॥

यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैवतम् ।
युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद् वर्तते तथा ॥ १७ ॥

यदि वे रक्षा पाये हुए मनुष्य कृतज्ञ होकर सदैव उस शूरवीरके सामने नतमस्तक होते रहें, तभी उसके प्रति उचित एवं न्यायसङ्गत कर्तव्यका पालन कर पाते हैं; अन्यथा उनकी स्थिति इसके विपरीत होती है ॥ १७ ॥

पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम् ।
संग्रामेऽनीकवेलायामुत्कृष्टेऽभिपतन्त्युत ॥ १८ ॥

सभी पुरुष देखनेमें समान होते हैं; परंतु युद्धस्थलमें जब सैनिकोंके परस्पर भिड़नेका समय आता है और चारों ओरसे वीरोंकी पुकार होने लगती है, उस समय उनमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है । एक श्रेणीके वीर तो निर्भय होकर शत्रुओंपर टूट पड़ते हैं और दूसरी श्रेणीके लोग प्राण बचानेकी चिन्तामें पड़ जाते हैं ॥ १८ ॥

पतत्यभिमुखः शूरः परान् भीरुः पलायते ।
आस्थाय स्वर्ग्यमध्वानं सहायान् विषमे त्यजेत् ॥ १९ ॥

शूरवीर शत्रुके सम्मुख वेगसे आगे बढ़ता है और भीरु पुरुष पीठ दिखाकर भागने लगता है । वह स्वर्गलोकके मार्गपर पहुँचकर भी अपने सहायकोंको उस संकटके समय अकेला छोड़ देता है ॥ १९ ॥

मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान् ।
ये सहायान् रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान् ययुः ॥२०॥

तात ! जो लोग रणभूमिमें अपने सहायकोंको छोड़कर कुशलपूर्वक अपने घर लौट जाते हैं, वैसे नराधमोंको तुम कभी पैदा मत करना ॥ २० ॥

अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
त्यागेन यः सहायानां स्वान् प्राणांस्त्रातुमिच्छति ॥२१॥
तं हन्युः काष्ठलोष्टैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना ।
पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥

उनके लिये इन्द्र आदि देवता अमङ्गल मनाते हैं । जो सहायकोंको छोड़कर अपने प्राण बचानेकी इच्छा रखता है, ऐसे कायरको उसके साथी क्षत्रिय लाठी या ढेलोंसे पीटें अथवा घासके ढेरकी आगमें जला दें या उसे पशुकी भाँति गला घोटकर मार डालें ॥ २१-२२ ॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥ २३ ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥

खाटपर सोकर मरना क्षत्रियके लिये अधर्म है । जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र छोड़ता तथा दुखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीरसे मृत्युको प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्मकी प्राचीन धर्मको जाननेवाले विद्वान् पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २३-२४ ॥

न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौटीराणामशौटीर्यमधर्मं कृपणं च तत् ॥ २५ ॥

क्योंकि तात ! वीर क्षत्रियोंका घरमें मरण हो, यह उनके लिये प्रशंसाकी बात नहीं है । वीरोंके लिये यह कायरता और दीनता अधर्मकी बात है ॥ २५ ॥

इदं दुःखं महत् कष्टं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥ २६ ॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥ २७ ॥

'यह बड़ा दुःख है । बड़ी पीड़ा हो रही है ! यह मेरे किसी महान् पापका सूचक है ।' इस प्रकार आर्तनाद करना, विकृत-मुख हो जाना, दुर्गन्धित शरीरसे मन्त्रियोंके लिये निरन्तर शोक करना, नीरोग मनुष्योंकी-सी स्थिति प्राप्त करनेकी कामना करना और वर्तमान रुग्णावस्थामें बारंबारमृत्युकी इच्छा रखना—ऐसी मौत किसी स्वाभिमानी वीरके योग्य नहीं है ॥

रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ २८ ॥

क्षत्रियको तो चाहिये कि अपने सजातीय बन्धुओंसे घिरकर समराङ्गणमें महान् संहार मचाता हुआ तीखे शस्त्रोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर प्राणोंका परित्याग करे—वह ऐसी ही मृत्युके योग्य है ॥ २८ ॥

शूरो हि काममन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् ।
हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥

शूरवीर क्षत्रिय विजयकी कामना और शत्रुके प्रति रोषसे युक्त हो बड़े वेगसे युद्ध करता है । शत्रुओंद्वारा क्षत-विक्षत किये जानेवाले अपने अङ्गोंकी उसे सुध-बुध नहीं रहती है ॥ २९ ॥

स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्येति सलोकताम् ॥ ३० ॥

वह युद्धमें लोकपूजित सर्वश्रेष्ठ मृत्यु एवं महान् धर्मको पाकर इन्द्रलोकमें चला जाता है ॥ ३० ॥

सर्वोपायै रणमुखमातिष्ठंस्त्यक्तजीवितः ।
प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥

शूरवीर प्राणोंका मोह छोड़कर युद्धके मुहानेपर खड़ा होकर सभी उपायोंसे जूझता है और शत्रुको कभी पीठ नहीं दिखाता है; ऐसा शूरवीर इन्द्रके समान लोकका अधिकारी होता है ॥ ३१ ॥

यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि दैन्यं न सेवते ॥ ३२ ॥

शत्रुओंसे घिरा हुआ शूरवीर यदि मनमें दीनता न लावे तो वह जहाँ कहीं भी मारा जाय, अक्षय लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

इन्द्र और अम्बरीषके संवादमें नदी और यज्ञके रूपकोंका वर्णन तथा समरभूमिमें जूझते हुए मारे जानेवाले शूरवीरोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो शूरवीर शत्रुके साथ डटकर युद्ध करते हैं और कभी पीठ नहीं दिखाते, वे समराङ्गणमें मृत्युको प्राप्त होकर किन लोकोंमें जाते हैं, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें अम्बरीष और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अम्बरीषो हि नाभागिः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् ।
ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥ ३ ॥

नाभागपुत्र अम्बरीषने अत्यन्त दुर्लभ स्वर्गलोकमें जाकर देखा कि उनका सेनापति देवलोकमें इन्द्रके साथ विराजमान है ॥

सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम् ।
उपर्युपरि गच्छन्तं स्वं वै सेनापतिं प्रभुम् ॥ ४ ॥
स दृष्ट्वोपरि गच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः ।
ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितः प्राह वासवम् ॥ ५ ॥

वह सम्पूर्णतः तेजस्वी, दिव्य एवं श्रेष्ठ विमानपर बैठकर ऊपर-ऊपर चला जा रहा था । अपने शक्तिशाली सेनापतिको अपनेसे भी ऊपर होकर जाते देख सुदेवकी उस समृद्धिका

प्रत्यक्ष दर्शन करके उदारबुद्धि राजा अम्बरीष आश्चर्यसे चकित हो उठे और इन्द्रदेवसे बोले ॥ ४-५ ॥

अम्बरीष उवाच

सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशास्य यथाविधि ।
चातुर्वर्ण्ये यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥ ६ ॥

अम्बरीषने पूछा—देवराज ! मैं समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका विधिपूर्वक शासन और संरक्षण करता था । शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार धर्मकी कामनासे चारों वर्णोंके पालनमें तत्पर रहता था ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण घोरेण गुर्वाचारेण सेवया ।
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रं च केवलम् ॥ ७ ॥

मैंने घोर ब्रह्मचर्यका पालन करके गुरुके बताये हुए आचार और गुरुकी सेवाके द्वारा धर्मपूर्वक वेदोंका अध्ययन किया तथा राजशास्त्रकी विशेष शिक्षा प्राप्त की ॥ ७ ॥

अतिथीनन्नपानेन पितृंश्च स्वधया तथा ।
ऋषीन् स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान् यज्ञैरनुत्तमैः ॥ ८ ॥

सदा ही अन्न-पान देकर अतिथियोंका, श्राद्धकर्म करके पितरोंका, स्वाध्यायकी दीक्षा लेकर ऋषियोंका तथा उत्तमोत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका पूजन किया ॥ ८ ॥

क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि ।
उदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥ ९ ॥

देवेन्द्र ! मैं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्षत्रिय-धर्ममें स्थित होकर सेनाकी देख-भाल करता और युद्धमें शत्रुओंपर विजय पाता था ॥ ९ ॥

देवराज सुदेवोऽयं मम सेनापतिः पुरा ।
आसीद् योधः प्रशान्तात्मा सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ १० ॥

देवराज ! यह सुदेव पहले मेरा सेनापति था । शान्त-स्वभावका एक सैनिक था; फिर यह मुझे लाँघकर कैसे जा रहा है ? ॥ १० ॥

अनेन क्रतुभिर्मुख्यैर्नेष्टं नापि द्विजातयः ।
तर्पिता विधिवच्छक्र सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ ११ ॥
(ऐश्वर्यमीदृशं प्राप्तः सर्वदेवैः सुदुर्लभम् ।

इन्द्रदेव ! इसने न तो बड़े-बड़े यज्ञ किये और न विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको ही तृप्त किया । वही यह सुदेव आज मुझको लाँघकर ऊपर-ऊपरसे कैसे जा रहा है ? इसे ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे प्राप्त हो गया, जो सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ? ॥ ११ ॥

शक्र उवाच

यदनेन कृतं कर्म प्रत्यक्षं ते महीपते ॥
पुरा पालयतः सम्यक् पृथिवीं धर्मतो नृप ।

इन्द्रने कहा—पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! पूर्वकालमें जब आप धर्मके अनुसार भलीभाँति इस पृथ्वीका पालन कर रहे थे, उस समय सुदेवने जो पराक्रम किया था, उसे आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥

शत्रवो निर्जिताः सर्वे ये तवाहितकारिणः ॥
संयमो वियमश्चैव सुयमश्च महाबलः ।
राक्षसा दुर्जया लोके त्रयस्ते युद्धदुर्मदाः ॥
पुत्रास्ते शतशृङ्गस्य राक्षसस्य महीपते ॥

महीपाल ! उन दिनों आपके तीन शत्रु थे—संयम, वियम और महाबली सुयम । वे सब-के-सब आपका अहित करनेवाले थे । वे शतशृङ्ग नामक राक्षसके पुत्र थे । लोकमें किसीके लिये भी उन तीनों रणदुर्मद राक्षसोंपर विजय पाना कठिन था । सुदेवने उन सबको परास्त कर दिया था ॥

अथ तस्मिञ्शुभे काले तव यज्ञं वितन्वतः ।
अश्वमेधं महायागं देवानां हितकाम्यया ।
तस्य ते खलु विघ्नार्थं आगता राक्षसास्त्रयः ।

एक समय जब आप देवताओंके हितकी इच्छासे शुभ मुहूर्तमें अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, उन्हीं दिनों आपके उस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये वे तीनों राक्षस वहाँ आ पहुँचे ॥

कोटीशतपरीवारां राक्षसानां महाचमूम् ।
परिगृह्य ततः सर्वाः प्रजा बन्दीकृतास्तव ॥
विह्वलाश्च प्रजाः सर्वाः सर्वे च तव सैनिकाः ।

उन्होंने सौ करोड़ राक्षसोंकी विशाल सेना साथ लेकर आक्रमण किया और आपकी समस्त प्रजाओंको पकड़कर बंदी बना लिया । उस समय आपकी समस्त प्रजा और सारे सैनिक व्याकुल हो उठे थे ॥

निराकृतस्त्वया चासीत् सुदेवः सैन्यनायकः॥
तत्रामात्यवचः श्रुत्वा निरस्तः सर्वकर्मसु ॥

उन दिनों सेनापतिके विरुद्ध मन्त्रीकी बात सुनकर आपने सेनापति सुदेवको अधिकारसे वञ्चित करके सब कार्योंसे अलग कर दिया था ॥

श्रुत्वा तेषां वचो भूयः सोपधं वसुधाधिप ।
सर्वसैन्यसमायुक्तः सुदेवः प्रेरितस्त्वया ॥
राक्षसानां वधार्थाय दुर्जयानां नराधिप ।

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! फिर उन्हीं मन्त्रियोंकी कपटपूर्ण बात सुनकर आपने उन दुर्जय राक्षसोंके वधके लिये सेनासहित सुदेवको युद्धमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥

नाजित्वा राक्षसीं सेनां पुनरागमनं तव ॥
बन्दीमोक्षमकृत्वा च न चागमनमिष्यते ।

और जाते समय यह कहा—'राक्षसोंकी सेनाको पराजित करके उनके कैदमें पड़ी हुई प्रजा और सैनिकोंका उद्धार किये बिना तुम यहाँ लौटकर मत आना' ॥

सुदेवस्तद्वचः श्रुत्वा प्रस्थानमकरोन्नृप ॥
सम्प्राप्तश्च स तं देशं यत्र बन्दीकृताः प्रजाः ।
पश्यति स्म महाघोरां राक्षसानां महाचमूम् ॥

नरेश्वर ! आपकी वह बात सुनकर सुदेवने तुरंत ही प्रस्थान

किया और वह उस स्थानपर गया, जहाँ आपकी प्रजा बंदी बना ली गयी थी। उसने वहाँ राक्षसोंकी महाभयंकर विशाल सेना देखी ॥

दृष्ट्वा संचिन्तयामास सुदेवो वाहिनीपतिः।
नेयं शक्या चमूर्जेतुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥
नाम्बरीषः कलामेकामेषां क्षपयितुं क्षमः।
दिव्यास्त्रबलभूयिष्ठः किमहं पुनरीदृशः ॥

उसे देखकर सेनापति सुदेवने सोचा कि यह विशाल वाहिनी तो इन्द्र आदि देवताओं तथा असुरोंसे भी नहीं जीती जा सकती। महाराज अम्बरीष दिव्य अस्त्र एवं दिव्य बलसे सम्पन्न हैं, परंतु वे इस सेनाके सोलहवें भागका भी संहार करनेमें समर्थ नहीं हैं। जब उनकी यह दशा है, तब मेरे-जैसा साधारण सैनिक इस सेनापर कैसे विजय पा सकता है! ॥

ततः सेनां पुनः सर्वां प्रेषयामास पार्थिव।
यत्र त्वं सहितः सर्वैर्मन्त्रिभिः सोपधैर्नृप ॥

राजन्! यह सोचकर सुदेवने फिर सारी सेनाको वहीं वापस भेज दिया, जहाँ आप उन समस्त कपटी मन्त्रियोंके साथ विराजमान थे ॥

ततो रुद्रं महादेवं प्रपन्नो जगतः पतिम्।
श्मशाननिलयं देवं तुष्टाव वृषभध्वजम् ॥

तदनन्तर सुदेवने श्मशानवासी महादेव जगदीश्वर रुद्रदेवकी शरण ली और उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥

स्तुत्वा शस्त्रं समादाय स्वशिरश्छेत्तुमुद्यतः।
कारुण्याद् देवदेवेन गृहीतस्तस्य दक्षिणः ॥
सपाणिः सह शस्त्रेण दृष्ट्वा चेदमुवाच ह।

स्तुति करके वह खड्ग हाथमें लेकर अपना सिर काटनेको उद्यत हो गया। तब देवाधिदेव महादेवने करुणावश सुदेवका वह खड्गसहित दाहिना हाथ पकड़ लिया और उसकी ओर स्नेहपूर्वक देखकर इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

किमिदं साहसं पुत्र कर्तुकामो वदस्व मे।

रुद्र बोले—पुत्र! तुम ऐसा साहस क्यों करना चाहते हो? मुझसे कहो ॥

इन्द्र उवाच

स उवाच महादेवं शिरसा त्ववनीं गतः ॥
भगवन् वाहिनीमेनां राक्षसानां सुरेश्वर।
अशक्तोऽहं रणे जेतुं तस्मात् त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥
गतिर्भव महादेव ममार्तस्य जगत्पते।
नागन्तव्यमजित्वा च मामाह जगतीपतिः ॥
अम्बरीषो महादेव क्षारितः सचिवैः सह।
तमुवाच महादेवः सुदेवं पतितं क्षितौ।
अधोमुखं महात्मानं सत्त्वानां हितकाम्यया ॥
धनुर्वेदं समाहूय सगुणं सहविग्रहम्।
रथनागाश्वकलिलं दिव्यास्त्रसमलंकृतम् ॥
रथं च सुमहाभागं येन तत् त्रिपुरं हतम्।
धनुः पिनाकं खड्गं च रौद्रमस्त्रं च शङ्करः ॥
निजघानासुरान् सर्वान् येन देवस्त्र्यम्बकः।
उवाच च महादेवः सुदेवं वाहिनीपतिम् ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन्! तब सुदेवने महादेवजीको पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'भगवन्! सुरेश्वर! मैं इस राक्षससेनाको युद्धमें नहीं जीत सकता; इसलिये इस जीवनको त्याग देना चाहता हूँ। महादेव! जगत्पते! आप मुझ आर्तको शरण दें। मन्त्रियोंसहित महाराज अम्बरीष मुझपर कुपित हुए बैठे हैं। उन्होंने स्पष्टरूपसे आज्ञा दी है कि इस सेनाको पराजित किये बिना तुम लौटकर न आना।' तब महादेवजीने पृथ्वीपर नीचे मुख किये पड़े हुए महामना सुदेवसे समस्त प्राणियोंके हितकी कामनासे कुछ कहनेकी इच्छा की। पहले उन्होंने गुण और शरीरसहित धनुर्वेदको बुलाकर रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई सेनाका आवाहन किया, जो दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे विभूषित थी। इसके बाद उन्होंने उस महान् भाग्यशाली रथको भी वहाँ उपस्थित कर दिया, जिससे उन्होंने त्रिपुरका नाश किया था। फिर पिनाकनामक धनुष, अपना खड्ग तथा अस्त्र भी भगवान् शंकरने दे दिया, जिसके द्वारा उन भगवान् त्रिलोचनने समस्त असुरोंका संहार किया था। तदनन्तर महादेवजीने सेनापति सुदेवसे इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

रथादस्मात् सुदेव त्वं दुर्जयस्तु सुरासुरैः।
मायया मोहितो भूमौ न पदं कर्तुमर्हसि ॥
अत्रस्थस्त्रिदशान् सर्वाञ्जेष्यसे सर्वदानवान्।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च न शक्ता द्रष्टुमीदृशम् ॥
रथं सूर्यसहस्राभं किमु योद्धुं त्वया सह।

रुद्र बोले—सुदेव! तुम इस रथके कारण देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय हो गये हो, परंतु किसी मायासे मोहित होकर अपना पैर पृथ्वीपर न रख देना। इसपर बैठे रहोगे, तो समस्त देवताओं और दानवोंको जीत लोगे। यह रथ सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी है। राक्षस और पिशाच ऐसे तेजस्वी रथकी ओर देख भी नहीं सकते; फिर तुम्हारे साथ युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है? ॥

इन्द्र उवाच

स जित्वा राक्षसान् सर्वान् कृत्वा बन्दीविमोक्षणम्।
घातयित्वा च तान् सर्वान् बाहुयुद्धे त्वयं हतः ॥
वियमं प्राप्य भूपाल वियमश्च निपातितः ॥)

इन्द्र कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् सुदेवने उस रथके द्वारा समस्त राक्षसोंको जीतकर बंदी प्रजाओंको बन्धनसे छुड़ा दिया और समस्त शत्रुओंका संहार करके वियमके साथ बाहुयुद्ध करते समय स्वयं भी मारा गया, साथ ही इसने उस युद्धमें वियमको भी मार डाला ॥

इन्द्र उवाच

एतस्य विततस्तात सुदेवस्य बभूव ह।
संग्रामयज्ञः सुमहान् यश्चान्यो युद्ध्यते नरः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले—तात! इस सुदेवने बड़े विस्तारके साथ महान् रणयज्ञ सम्पन्न किया था। दूसरा भी जो मनुष्य युद्ध करता है, उसके द्वारा इसी तरह संग्राम-यज्ञ सम्पादित होता है ॥ १२ ॥

संनद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम्।
युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥

कवच धारण करके युद्धकी दीक्षा लेनेवाला प्रत्येक योद्धा सेनाके मुहानेपर जाकर इसी प्रकार संग्रामयज्ञका अधिकारी होता है। यह मेरा निश्चित मत है ॥ १३ ॥

अम्बरीष उवाच

कानि यज्ञे हवींष्यस्मिन् किमाज्यं का च दक्षिणा।
ऋत्विजश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो ॥ १४ ॥

अम्बरीषने पूछा—शतक्रतो! इस रणयज्ञमें कौन-सा हविष्य है? क्या घृत है? कौन-सी दक्षिणा है और इसमें कौन-कौन-से ऋत्विज बताये गये हैं? यह मुझसे कहिये ॥

इन्द्र उवाच

ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा।
हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमुच्यते ॥ १५ ॥

इन्द्रने कहा—राजन्! इस युद्धयज्ञमें हाथी ही ऋत्विज हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रुओंका मांस ही हविष्य है और उनके रक्तको ही घृत कहा जाता है ॥ १५ ॥

शृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र पत्रिणः।
आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे ॥ १६ ॥

सियार, गीध, कौए तथा अन्य मांसभक्षी पक्षी उस यज्ञशालाके सदस्य हैं, जो यज्ञावशिष्ट घृत (रक्त) को पीते और उस यज्ञमें अर्पित हविष्य (मांस) को खाते हैं ॥ १६ ॥

प्रासतोमरसंघाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः।
ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः॥ १७ ॥

प्रास, तोमरसमूह, खड्ग, शक्ति, फरसे आदि चमचमाते हुए तीखे और पानीदार शस्त्र यज्ञकर्ताके लिये स्रुक्का काम देते हैं ॥ १७ ॥

चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावभेदनः।
ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकश्च स्रुवो महान् ॥ १८ ॥

धनुषके वेगसे दूरतक जानेके कारण जो विशाल आकार धारण करता है, वह शत्रुके शरीरको विदीर्ण करनेवाला, तीखा, सीधा, पैना और पानीदार बाण ही यजमानके हाथमें स्थित महान् स्रुव है ॥ १८ ॥

द्वीपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः।
हस्तिहस्तहरः खड्गः स्फ्यो भवेत् तस्य संयुगे ॥ १९ ॥

जो व्याघ्रचर्मकी म्यानमें बँधा रहता है, जिसकी मूँठ हाथीके दाँतकी बनी होती है तथा जो गजराजोंके शुण्डदण्डको काट लेता है, वह खड्ग उस युद्धमें स्फ्यका काम देता है ॥

ज्वलितैर्निशितैः प्रासशक्त्यृष्टिसपरश्वधैः।
शैक्यायसमयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद् वसु ॥ २० ॥
संख्यासमयविस्तीर्णमभिजातोद्भवं बहु।

उज्ज्वल और तेज धारवाले, सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए तथा तीखे प्रास, शक्ति, ऋष्टि और परशु आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा जो आघात किया जाता है, वही उस युद्धयज्ञका बहुसंख्यक, अधिक समयसाध्य और कुलीन पुरुषद्वारा संगृहीत नाना प्रकारका द्रव्य है ॥ २०½ ॥

आवेगाद् यच्च रुधिरं संग्रामे स्रवते भुवि ॥ २१ ॥
सास्य पूर्णाहुतिर्होमे समृद्धा सर्वकामधुक्।

वीरोंके शरीरसे संग्रामभूमिमें बड़े वेगसे जो रक्तकी धारा बहती है, वही उस युद्धयज्ञके होममें समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली समृद्धिशालिनी पूर्णाहुति है ॥ २१½ ॥

छिन्धि भिन्धीति यः शब्दः श्रूयते वाहिनीमुखे ॥ २२ ॥
सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने।
हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीमुखम् ॥ २३ ॥

सेनाके मुहानेपर जो 'काट डालो, फाड़ डालो' आदिका भयंकर शब्द सुना जाता है, वही सामगान है। सैनिकरूपी सामगायक शत्रुओंको यमलोकमें भेजनेके लिये मानो सामगान करते हैं। शत्रुओंकी सेनाका प्रमुख भाग उस वीर यजमानके लिये हविर्धान (हविष्य रखनेका पात्र) बताया गया है ॥ २२-२३ ॥

कुञ्जराणां हयानां च वर्मिणां च समुच्चयः।
अग्निः श्येनचितो नाम स च यज्ञे विधीयते ॥ २४ ॥

हाथी, घोड़े और कवचधारी वीर पुरुषोंके समूह ही उस युद्धयज्ञके श्येनचित नामक अग्नि हैं ॥ २४ ॥

उत्तिष्ठते कबन्धोऽत्र सहस्रे निहते तु यः।
स यूपस्तस्य शूरस्य खादिरोऽष्टास्रिरुच्यते ॥ २५ ॥

सहस्रों वीरोंके मारे जानेपर जो कबन्ध खड़े दिखायी देते हैं, वे ही मानो उस शूरवीरके यज्ञमें खदिरकाष्ठके बने हुए आठ कोणवाले यूप कहे गये हैं ॥ २५ ॥

इडोपहूताः क्रोशन्ति कुञ्जरास्त्वंकुशेरिताः।
व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव ॥ २६ ॥
उद्गाता तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिर्नृप।

राजन्! वाणीद्वारा ललकारने और महावतोंके अंकुशोंकी मार खानेपर हाथी जो चिग्घाड़ते हैं, कोलाहल और करतलध्वनिके साथ होनेवाली वह चिग्घाड़नेकी आवाज उस यज्ञमें वषट्कार है। नरेश्वर! संग्राममें जिस दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनि होती है, वही सामवेदके तीन मन्त्रोंका पाठ करनेवाला उद्गाता है ॥ २६½ ॥

ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे तु त्यक्त्वा युद्धे प्रियां तनुम् ॥२७॥
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः।

जब लुटेरे ब्राह्मणके धनका अपहरण करते हों, उस

समय वीर पुरुष उनके साथ किये जानेवाले युद्धमें अपने प्रिय शरीरके त्यागके लिये जो उद्यम करता है अथवा जो देहरूपी यूपका उत्सर्ग करके प्रहार ही कर बैठता है, उसका वह युद्ध ही अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है ॥

भर्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद् वाहिनीमुखे ॥ २८ ॥
न भयाद् विनिवर्तेत तस्य लोका यथा मम ।

जो शूरवीर अपने स्वामीके लिये सेनाके मुहानेपर खड़ा होकर पराक्रम प्रकट करता है और भयसे कभी पीठ नहीं दिखाता, उसको मेरे समान लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥२८½॥

नीलचर्मावृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ॥ २९ ॥
यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी नीले चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रखी जानेवाली तलवारों तथा परिघके समान मोटी-मोटी भुजाओंसे बिछ जाती है, उसे वैसे ही लोक प्राप्त होते हैं, जैसे मुझे मिले हैं ॥ २९½ ॥

यस्तु नापेक्षते कंचित् सहायं विजये स्थितः ॥ ३० ॥
विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम ।

जो विजयके लिये युद्धमें डटा रहकर शत्रुकी सेनामें घुस जाता है और दूसरे किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं रखता, उसे मेरे समान ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३०½ ॥

यस्य शोणितसंघाता भेरीमण्डूककच्छपा ॥ ३१ ॥
वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा ।
असिचर्मप्लवा घोरा केशशैवलशाद्वला ॥ ३२ ॥
अश्वनागरथैश्चैव संच्छिन्नैः कृतसंक्रमा ।
पताकाध्वजवानीरा हतवारणवाहिनी ॥ ३३ ॥
शोणितोदा सुसम्पूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः ।
हतनागमहानक्रा परलोकवहाशिवा ॥ ३४ ॥
ऋष्टिखड्गमहानौका गृध्रकङ्कबलप्लवा ।
पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ॥ ३५ ॥
नदी योधस्य संग्रामे तदस्यावभृथं स्मृतम् ।

जिस योद्धाके युद्धरूपी यज्ञमें रक्तकी नदी प्रवाहित होती है, उसके लिये वह अवभृथस्नानके समान पुण्यजनक है । रक्त ही उस नदीकी जलराशि है, नगाड़े ही मेढक और कछुओंके समान हैं, वीरोंकी हड्डियाँ ही छोटे-छोटे कंकड़ और बालूके समान हैं, उसमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है, मांस और रक्त ही उस नदीकी कीच हैं, ढाल और तलवार ही उसमें नौकाके समान हैं, वह भयानक नदी केशरूपी सेवार और घाससे ढकी हुई है । कटे हुए घोड़े, हाथी और रथ ही उसमें उतरनेके लिये सीढ़ी हैं, ध्वजा-पताका तटवर्ती बेंतकी लताके समान हैं, मारे गये हाथियोंको भी वह बहा ले जानेवाली है, रक्तरूपी जलसे वह लबालब भरी है, पार जानेकी इच्छावाले मनुष्योंके लिये वह अत्यन्त दुस्तर है, मरे हुए हाथी बड़े-बड़े मगरमच्छके समान हैं, वह परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली नदी अमङ्गलमयी प्रतीत होती है, ऋष्टि और खड्ग—ये उससे पार होनेके लिये विशाल नौकाके समान हैं । गीध, कङ्क और काक छोटी-छोटी नौकाओंके समान हैं, उसके आस-पास राक्षस विचरते हैं तथा वह भीरु पुरुषोंको मोहमें डालनेवाली है ॥ ३१—३५½ ॥

वेदिर्यस्य त्वमित्राणां शिरोभ्यश्च प्रकीर्यते ॥ ३६ ॥
अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी शत्रुओंके मस्तकों, घोड़ोंकी गर्दनों और हाथियोंके कंधोंसे बिछ जाती है, उस वीरको मेरे-जैसे ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३६½ ॥

पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ॥ ३७ ॥
हविर्धानं स्ववाहिन्यास्तदस्याहुर्मनीषिणः ।

जो वीर शत्रुसेनाके मुहानेको पत्नीशाला बना लेता है, मनीषी पुरुष उसके लिये अपनी सेनाके प्रमुख भागको युद्ध-यज्ञके हवनीय पदार्थोंके रखनेका पात्र बताते हैं ॥ ३७½ ॥

सदस्या दक्षिणा योधा आग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ॥३८॥
शत्रुसेनाकलत्रस्य सर्वलोका न दूरतः ।

जिस वीरके लिये दक्षिणदिशामें स्थित योद्धा सदस्य हैं, उत्तरदिशावर्ती योद्धा आग्नीध्र (ऋत्विक्) हैं एवं शत्रुसेना पत्नीस्वरूप है, उसके लिये समस्त पुण्यलोक दूर नहीं हैं ॥

यदा तूभयतो व्यूहे भवत्याकाशमग्रतः ॥ ३९ ॥
सास्य वेदिस्तदा यज्ञैर्नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः ।

जब अपनी सेना तथा शत्रुसेना एक दूसरेके सामने व्यूह बनाकर उपस्थित होती है, उस समय दोनोंमेंसे जिसके सम्मुख केवल जनशून्य आकाश रह जाता है, वह निर्जन आकाश ही उस वीरके लिये युद्ध-यज्ञकी वेदी है । उस स्थानपर मानो सदा यज्ञ होता है तथा तीनों वेद और त्रिविध अग्नि सदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ३९½ ॥

यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते परैः ॥ ४० ॥
अप्रतिष्ठः स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः ।

जो योद्धा भयभीत हो पीठ दिखाकर भागता है और उसी अवस्थामें शत्रुओंद्वारा मारा जाता है, वह कहीं भी न ठहरकर सीधा नरकमें गिरता है, इसमें संशय नहीं है ॥४०½॥

यस्य शोणितवेगेन वेदिः स्यात् सम्परिप्लुता ॥ ४१ ॥
केशमांसास्थिसम्पूर्णा स गच्छेत् परमां गतिम्।

जिसके रक्तके वेगसे केश, मांस और हड्डियोंसे भरी हुई रणयज्ञकी वेदी आप्लावित हो उठती है, वह वीर योद्धा परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४१½ ॥

यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यानमधिरोहति ॥ ४२ ॥
स विष्णुविक्रमक्रामी बृहस्पतिसमः प्रभुः ।

जो योद्धा शत्रुके सेनापतिका वध करके उसके रथपर आरूढ़ हो जाता है, वह भगवान् विष्णुके समान पराक्रमशाली, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली वीर समझा जाता है ॥ ४२½ ॥

नायकं तत्कुमारं वा यो वा स्याद् यत्र पूजितः ॥ ४३ ॥
जीवग्राहं प्रगृह्णाति तस्य लोका यथा मम ।

जो शत्रुपक्षके सेनापति, उसके पुत्र अथवा उस पक्षके किसी भी सम्मानित वीरको जीते-जी पकड़ लेता है, उसको मेरे-जैसे लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४३½ ॥

आहवे तु हतं शूरं न शोचेत कथंचन ॥ ४४ ॥
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ।

युद्धस्थलमें मारे गये शूरवीरके लिये किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिये । वह मारा गया शूरवीर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है, अतः कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ४४½ ॥

न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ॥ ४५ ॥
हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकाञ्छृणुष्व मे ।

युद्धमें मारे गये वीरके लिये उसके आत्मीयजन न तो स्नान करना चाहते हैं, न अशौचसम्बन्धी कृत्यका पालन, न अन्नदान (श्राद्ध) करनेकी इच्छा करते हैं, और न जलदान (तर्पण) करनेकी । उसे जो लोक प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो ॥ ४५½ ॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ४६ ॥
त्वरमाणाभिधावन्ति मम भर्ता भवेदिति ।

युद्धस्थलमें मारे गये शूरवीरकी ओर सहस्रों सुन्दरी अप्सराएँ यह आशा लेकर बड़ी उतावलीके साथ दौड़ी जाती हैं कि यह मेरा पति हो जाय ॥ ४६½ ॥

एतत् तपश्च पुण्यं च धर्मश्चैव सनातनः ॥ ४७ ॥
चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धमनुपालयेत् ।

जो युद्धधर्मका निरन्तर पालन करता है, उसके लिये यही तपस्या, पुण्य, सनातनधर्म तथा चारों आश्रमोंके नियमोंका पालन है ॥ ४७½ ॥

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ॥ ४८ ॥
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ।

युद्धमें वृद्ध, बालक और स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये, किसी भागते हुएकी पीठमें आघात नहीं करना चाहिये, जो मुँहमें तिनका लिये शरणमें आ जाय और कहने लगे कि मैं आपका ही हूँ, उसका भी वध नहीं करना चाहिये ॥

जम्भं वृत्रं बलं पाकं शतमायं विरोचनम् ॥ ४९ ॥
दुर्वार्यं चैव नमुचिं नैकमायं च शम्बरम् ।
विप्रचित्तिं च दैतेयं दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ।
प्रह्लादं च निहत्याजौ ततो देवाधिपोऽभवम् ॥ ५० ॥

जम्भ, वृत्रासुर, बलासुर, पाकासुर, सैकड़ों माया जानने वाले विरोचन, दुर्जय वीर नमुचि, विविधमायाविशारद शम्बरासुर, दैत्यवंशी विप्रचित्ति, सम्पूर्ण दानवदल तथा प्रह्लादको भी युद्धमें मारकर मैं देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोऽभिपन्नवान् ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रका यह वचन सुनकर राजा अम्बरीषने मन-ही-मन इसे स्वीकार किया और वे यह मान गये कि योद्धाओंको स्वतः सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्राम्बरीषसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और अम्बरीषका संवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ७४½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

शूरवीरोंको स्वर्ग और कायरोंको नरककी प्राप्तिके विषयमें मिथिलेश्वर जनकका इतिहास

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे यह पता चलता है कि किसी समय राजा प्रतर्दन तथा मिथिलेश्वर जनकने परस्पर संग्राम किया था ॥ १ ॥

यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा ।
योधानुद्धर्षयामास तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! यज्ञोपवीतधारी मिथिलापति जनकने रणभूमिमें अपने योद्धाओंको जिस प्रकार उत्साहित किया था, वह सुनो ॥ २ ॥

जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित् ।
योधान् स्वान् दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥ ३ ॥

मिथिलाके राजा जनक बड़े महात्मा और सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञाता थे । उन्होंने अपने योद्धाओंको योगबलसे स्वर्ग और नरकका प्रत्यक्ष दर्शन कराया और इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

अभीरूणामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत ।
पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोऽक्षयाः ॥ ४ ॥

'वीरो ! देखो, ये जो तेजस्वी लोक दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये निर्भय होकर युद्ध करनेवाले वीरोंको प्राप्त होते हैं । ये अविनाशी लोक असंख्य गन्धर्वकन्याओं (अप्सराओं) से भरे हुए हैं और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं ॥

इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः ।
अकीर्तिः शाश्वती चैव पतितव्यमनन्तरम् ॥ ५ ॥

'और देखो, ये जो तुम्हारे सामने नरक उपस्थित हुए हैं, युद्धमें पीठ दिखाकर भागनेवालोंको मिलते हैं । साथ ही इस जगत्में उनकी सदा रहनेवाली अपकीर्ति फैल जाती है; अतः अब तुमलोगोंको विजयके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

तान् दृष्ट्वारीन् विजयत भूत्वा संत्यागबुद्धयः ।

राजर्षि जनक अपने सैनिकोंको स्वर्ग और नरककी बात कह रहे हैं

नरकस्याप्रतिष्ठस्य मा भूत वशवर्तिनः ॥ ६ ॥

'उन स्वर्ग और नरक दोनों प्रकारके लोकोंका दर्शन करके तुमलोग युद्धमें प्राण-विसर्जनके लिये दृढ़ निश्चयके साथ डट जाओ और शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो। जिसकी कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है, उस नरकके अधीन न होओ ॥६॥

त्यागमूलं हि शूराणां स्वर्गद्वारमनुत्तमम्।
इत्युक्तास्ते नृपतिना योधाः परपुरंजय ॥ ७ ॥
अजयन्त रणे शत्रून् हर्षयन्तो नरेश्वरम्।
तस्मादात्मवता नित्यं स्थातव्यं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

'शूरवीरोंको जो सर्वोत्तम स्वर्गलोकका द्वार प्राप्त होता है, उसमें उनका त्याग ही मूल कारण है'। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले युधिष्ठिर ! राजा जनकके ऐसा कहनेपर उन योद्धाओंने रणभूमिमें अपने महाराजका हर्ष बढ़ाते हुए उनके शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली; अतः मनस्वी वीरको सदा युद्धके मुहानेपर डटे रहना चाहिये ॥ ७-८ ॥

गजानां रथिनो मध्ये रथानामनु सादिनः।
सादिनामन्तरे स्थाप्यं पादातमपि दंशितम् ॥ ९ ॥

गजारोहियोंके बीचमें रथियोंको खड़ा करे। रथियोंके पीछे घुड़सवारोंकी सेना रक्खे और उनके बीचमें कवच एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित पैदलोंकी सेना खड़ी करे ॥ ९ ॥

य एवं व्यूहते राजा स नित्यं जयति द्विषः।
तस्मादेवं विधातव्यं नित्यमेव युधिष्ठिर ॥१०॥

जो राजा अपनी सेनाका इस प्रकार व्यूह बनाता है, वह सदा शत्रुओंपर विजय पाता है; अतः युधिष्ठिर ! तुम्हें भी सदा इसी प्रकार व्यूहरचना करनी चाहिये ॥ १० ॥

सर्वे स्वर्गतिमिच्छन्ति सुयुद्धेनातिमन्यवः।
क्षोभयेयुरनीकानि सागरं मकरा यथा ॥ ११ ॥

सभी क्षत्रिय उत्तम युद्धके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं; अतः जैसे मकर समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार वे अत्यन्त कुपित हो शत्रुओंकी सेनाओंमें हलचल मचा देते हैं ॥ ११ ॥

हर्षयेयुर्विषण्णांश्च व्यवस्थाप्य परस्परम्।
जितां च भूमिं रक्षेत भग्नान् नात्यनुसारयेत् ॥ १२ ॥

यदि अपने सैनिक विषादग्रस्त या शिथिल हो रहे हों तो उनका पूर्ववत् व्यूह बनाकर उन्हें परस्पर स्थापित करे और उन समस्त योद्धाओंका हर्ष एवं उत्साह बढ़ावे। जो भूमि जीत ली गयी हो, उसकी रक्षा करे; परंतु शत्रुओंके जो सैनिक पराजित होकर भाग रहे हों, उनका बहुत दूरतक पीछा नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

पुनरावर्तमानानां निराशानां च जीविते।
वेगः सुदुःसहो राजंस्तस्मान्नात्यनुसारयेत् ॥ १३ ॥

राजन् ! जो जीवनसे निराश होकर पुनः युद्धके लिये लौट पड़ते हैं, उनका वेग अत्यन्त दुःसह होता है; अतः भागते हुओंके पीछे अधिक नहीं पड़ना चाहिये ॥ १३ ॥

न हि प्रहर्तुमिच्छन्ति शूराः प्रद्रवतो भृशम्।
तस्मात् पलायमानानां कुर्यान्नात्यनुसारणम् ॥ १४ ॥

शूरवीर जोर-जोरसे भागते हुए योद्धाओंपर प्रहार करना नहीं चाहते हैं; अतः पलायन करनेवाले सैनिकोंका अधिक दूरतक पीछा नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

चराणामचरा ह्यन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि।
आपः पिपासतामन्नमन्नं शूरस्य कातराः ॥ १५ ॥

चलनेवाले प्राणियोंके अन्न हैं स्थावर, दाँतवाले जीवोंके अन्न हैं बिना दाँतके प्राणी, प्यासोंका अन्न है पानी और शूरवीरोंके अन्न हैं कायर ॥ १५ ॥

समानपृष्ठोदरपाणिपादाः
पराभवं भीरवो वै व्रजन्ति।
अतो भयार्ताः प्रणिपत्य भूयः
कृत्वाञ्जलीनुपतिष्ठन्ति शूरान् ॥ १६ ॥

वीरों और कायरोंके पेट, पीठ, हाथ और पैर समान ही होते हैं; तो भी कायर पुरुष जगत्में अपमानको प्राप्त होते हैं। अतः भयसे आतुर हुए वे मनुष्य हाथ जोड़कर बारंबार प्रणाम करते हुए सदा शूरवीरोंकी शरणमें आते हैं॥

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत् सदा।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ॥ १७ ॥

जैसे पुत्र सदा पितापर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् शूरवीरकी भुजाओंपर ही टिका हुआ है; इसलिये सभी अवस्थाओंमें वीर पुरुष सम्मान पानेके योग्य है ॥

न हि शौर्यात् परं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

तीनों लोकोंमें शूरवीरतासे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। शूरवीर सबका पालन करता है और सारा जगत् उसीके आधारपर टिका हुआ है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

सैन्यसंचालनकी रीति-नीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यथा जयार्थिनः सेनां नयन्ति भरतर्षभ।
ईषद् धर्मं प्रपीड्यापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह ! विजयाभिलाषी राजालोग जिस प्रकार धर्मका थोड़ा-सा उल्लङ्घन करके भी अपनी सेनाको आगे ले जाते हैं, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सत्येन हि स्थितो धर्म उपपत्त्या तथा परे ।
साध्वाचारतया केचित् तथैवौपयिकादपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! किन्हींका मत है कि धर्म सत्यसे ही स्थिर रहता है। दूसरे लोग युक्तिवादसे ही धर्मकी प्रतिष्ठा मानते हैं। किसी-किसीके मतमें श्रेष्ठ आचरणसे ही धर्मकी स्थिति है और कितने ही लोग यथासम्भव साम-दान आदि उपायोंके अवलम्बनसे भी धर्मकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं ॥

उपायधर्मान् वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः ।
निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ॥ ३ ॥
तेषां प्रतिविघातार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् ।
कार्याणां सर्वसिद्ध्यर्थं तानुपायान् निबोध मे ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं अर्थसिद्धिके साधनभूत धर्मोंका वर्णन करूँगा। यदि डाकू और लुटेरे अर्थ और धर्मकी मर्यादा तोड़ने लगें, तब उनके विनाशके लिये वेदोंमें जो साधन बताया गया है, उसका वर्णन आरम्भ करता हूँ। तुम समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये उन उपायोंको मुझसे सुनो ॥ ३-४ ॥

उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत ।
जानन् वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! बुद्धि दो प्रकारकी होती है। एक सरल, दूसरी कुटिल। राजाको उन दोनोंका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, जान-बूझकर कुटिल बुद्धिका सेवन न करे। यदि वैसी बुद्धि स्वतः आ जाय तो भी उसे हटानेका ही प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत ।
तां राजा निकृतिं जानन् यथामित्रान् प्रबाधते ॥ ६ ॥

जो वास्तवमें मित्र नहीं हैं, वे ही भीतरसे राजाके अन्तरङ्ग व्यक्तियोंमें फूट डालनेका प्रयत्न करते हुए ऊपरसे उसकी सेवामें लगे रहते हैं। राजा उनकी इस शठताको समझे और शत्रुओंकी भाँति उनको भी मिटानेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

गजानां पार्थ वर्माणि गोवृषाजगराणि च ।
शल्यकण्टकलोहानि तनुत्रचमराणि च ॥ ७ ॥
सितपीतानि शस्त्राणि संनाहाः पीतलोहिताः ।
नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताकाः केतवश्च ह ॥ ८ ॥
ऋष्टयस्तोमराः खड्गा निशिताश्च परश्वधाः ।
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजाको चाहिये कि वह गाय, बैल तथा अजगरके चमड़ोंसे हाथियोंकी रक्षाके लिये कवच बनवावे। इसके सिवा लोहेकी कीलें, लोहे, कवच, चँवर, चमकीले और पानीदार शस्त्र, पीले और लाल रंगके कवच, बहुरंगी ध्वजा-पताकाएँ, ऋष्टि, तोमर, खड्ग, तीखे फरसे, फलक और ढाल—इन्हें भारी संख्यामें तैयार कराकर सदा अपने पास रक्खे ॥ ७–९ ॥

अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्चयाः ।
चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते ॥ १० ॥

यदि शस्त्र तैयार हों और योद्धा भी शत्रुओंसे भिड़नेका दृढ़ निश्चय कर चुके हों, तो चैत्र या मार्गशीर्ष मासकी पूर्णिमाको सेनाका युद्धके लिये उद्यत होकर प्रस्थान करना उत्तम माना गया है ॥ १० ॥

पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बुमती तदा ।
नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ॥ ११ ॥

क्योंकि उस समय खेती पक जाती है और भूतलपर जलकी प्रचुरता रहती है। भरतनन्दन ! उस समय मौसम भी न तो अधिक ठंड रहती है और न अधिक गरम ॥११॥

तस्मात् तदा योजयेत परेषां व्यसनेऽथवा ।
एते हि योगाः सेनायाः प्रशस्ताः परबाधने ॥ १२ ॥

इसलिये उसी समय चढ़ाई करे अथवा जिस समय शत्रु संकटमें हो, उसी अवसरपर उसपर आक्रमण कर दे। शत्रुओंको सेनाद्वारा बाधा पहुँचानेके लिये ये ही अवसर अच्छे माने गये हैं ॥ १२ ॥

जलवांस्तृणवान् मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते ।
चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ १३ ॥

युद्धके लिये यात्रा करते समय मार्ग समतल और सुगम हो तथा वहाँ जल और घास आदि सुलभ हों तो अच्छा समझा जाता है। वनमें विचरनेवाले कुशल गुप्तचरोंको मार्गके विषयमें विशेष जानकारी रहा करती है ॥ १३ ॥

न ह्यरण्येन शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव ।
तस्मात् सेनासु तानेव योजयन्ति जयार्थिनः ॥ १४ ॥

वन्य पशुओंकी भाँति मनुष्य जङ्गलमें आसानीसे नहीं चल सकते; इसलिये विजयाभिलाषी राजा सेनाओंमें मार्ग-दर्शन करानेके लिये उन्हीं गुप्तचरोंको नियुक्त करते हैं॥१४॥

अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलोद्भवम् ।
आवासस्तोयवान् दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते ॥ १५ ॥

सेनामें सबसे आगे कुलीन एवं शक्तिशाली पैदल सिपाहियोंको रखना चाहिये। शत्रुसे बचावके लिये सैनिकोंके रहनेका स्थान या किला ऐसा होना चाहिये, जहाँ पहुँचना कठिन हो, जिसके चारों ओर जलसे भरी हुई खाईं और ऊँचा परकोटा हो। साथ ही उसके चारों ओर खुला आकाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत् ।
आकाशात् तु वनाभ्याशं मन्यन्ते गुणवत्तरम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्गुणजातैश्च ये युद्धकुशला जनाः ।
उपन्यासो भवेत् तत्र बलानां नातिदूरतः ॥ १७ ॥

उस स्थानपर शत्रुओंके आक्रमणको रोकनेके लिये सुविधा होनी चाहिये। युद्धकुशल पुरुष सेनाकी छावनी डालनेके लिये खुले मैदानकी अपेक्षा अनेक गुणोंके कारण जंगलके

निकटवर्ती स्थानको अधिक लाभदायक मानते हैं। उस वनके समीप ही सेनाका पड़ाव डालना चाहिये ॥ १६-१७॥

उपन्यासावतरणं पदातीनां च गूहनम्।
अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थे परायणम् ॥ १८ ॥

वहाँ व्यूह निर्माण करनेके लिये रथ और वाहनोंसे उतरना तथा पैदल सैनिकोंको छिपाकर रखना सम्भव है। वहाँ रहकर शत्रुओंके प्रहारका जवाब दिया जा सकता है और आपत्तिके समय छिप जानेका भी सुभीता रहता है ॥ १८॥

सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव।
अनेन विधिना शत्रून् जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १९ ॥

योद्धाओंको चाहिये कि वे सप्तर्षियोंको पीछे रखकर पर्वतकी तरह अविचलभावसे युद्ध करें। इस विधिसे आक्रमण करनेवाला राजा दुर्जय शत्रुओंको भी जीतनेकी आशा कर सकता है ॥ १९ ॥

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः।
पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां संनिपाते युधिष्ठिर ॥ २० ॥

जिस ओर वायु, जिस ओर सूर्य और जिस ओर शुक्र हों, उसी ओर पृष्ठभाग रखकर युद्ध करनेसे विजय प्राप्त होती है। युधिष्ठिर! यदि ये तीनों भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हों तो इनमें पहला-पहला श्रेष्ठ है अर्थात् वायुको पीछे रखकर शेष दोको सामने रखते हुए भी युद्ध किया जा सकता है ॥

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम् ।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥ २१ ॥

घुड़सवार सेनाके लिये युद्धकुशल पुरुष उसी भूमिकी प्रशंसा करते हैं, जिसमें कीचड़, पानी, बाँध और ढेले न हों ॥ २१ ॥

अपङ्का गर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥ २२ ॥

रथसेनाके लिये वह भूमि अच्छी मानी गयी है, जहाँ कीचड़ और गड्ढे न हों। जिस भूमिमें नाटे वृक्ष, बहुत-से घास-फूस और जलाशय हों, वह गजारोही योद्धाओंके लिये अच्छी मानी गयी है ॥ २२ ॥

बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥ २३ ॥

जो भूमि अत्यन्त दुर्गम, अधिक घास-फूसवाली, बाँस और बेंतोंसे भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनोंसे युक्त हो, वह पैदल सेनाओंके योग्य होती है ॥ २३ ॥

पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥

भरतनन्दन! जिस सेनामें पैदलोंकी संख्या बहुत अधिक हो, वह मजबूत होती है। जिसमें रथों और घोड़ोंकी संख्या बढ़ी हुई हो, वह सेना अच्छे दिनोंमें (जब कि वर्षा न होती हो) अच्छी मानी जाती है ॥ २४ ॥

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतान् प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

बरसातमें वही सेना श्रेष्ठ समझी जाती है, जिसमें पैदलों और हाथीसवारोंकी संख्या अधिक हो। इन गुणोंका विचार करके देश और कालको दृष्टिमें रखते हुए सेनाका संचालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः।
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन्।
प्रसुप्तांस्तृषितान्श्रान्तान् प्रकीर्णान् नाभिघातयेत्॥२६॥

जो इन सब बातोंपर विचार करके शुभ तिथि और श्रेष्ठ नक्षत्रसे युक्त होकर शत्रुपर चढ़ाई करता है, वह सेनाका ठीक ढंगसे संचालन करके सदा ही विजयलाभ करता है। जो लोग सो रहे हों, प्यासे हों, थक गये हों अथवा इधर-उधर भाग रहे हों, उनपर आघात न करे ॥ २६ ॥

मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः।
अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान् प्रतनूकृतान्॥२७॥
सुविश्रब्धान् कृतारम्भानुपन्यासान् प्रतापितान्।
बहिश्चरानुपन्यासान् कृतवेश्मानुसारिणः ॥ २८ ॥

शस्त्र और कवच उतार देनेके बाद, युद्धस्थलसे प्रस्थान करते समय, घूमते-फिरते समय और खाने-पीनेके अवसरपर किसीको न मारे। इसी प्रकार जो बहुत घबराये हुए हों, पागल हो गये हों, घायल हों, दुर्बल हो गये हों, निश्चिन्त होकर बैठे हों, दूसरे किसी काममें लगे हों, लेखनका कार्य करते हों, पीड़ासे संतप्त हों, बाहर घूम रहे हों, दूरसे सामान लाकर लोगोंके निकट पहुँचानेका काम करते हों अथवा छावनीकी ओर भागे जा रहे हों, उनपर भी प्रहार न करे ॥ २७-२८॥

पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः।
परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः॥ २९ ॥

जो परम्परासे प्राप्त हुए राजद्वारपर रक्षा आदि सेवाका कार्य करते हों अथवा जो राजसेवक मन्त्री आदिके द्वारपर पहरा देते हों तथा किसी यूथके अधिपति हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये ॥ २९ ॥

अनीकं ये विभिन्दन्ति भिन्नं संस्थापयन्ति च।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥ ३० ॥

जो शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और अपनी तितर-बितर हुई सेनाको संगठित करके दृढ़तापूर्वक स्थापित करनेकी शक्ति रखते हैं, ऐसे लोगोंको राजा अपने समान ही भोजन-पानकी सुविधा देकर सम्मानित करे और उन्हें दुगुना वेतन दे ॥ ३० ॥

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ ३१ ॥

सेनामें कुछ लोगोंको दस-दस सैनिकोंका नायक बनावे,

कुछको सौका तथा किसी प्रमुख और आलस्यरहित वीरको एक हजार योद्धाओंका अध्यक्ष नियुक्त करे ॥ ३१ ॥

यथामुख्यान् संनिपात्य वक्तव्याः संशपामहे ।
विजयार्थं हि संग्रामे न त्यक्ष्यामः परस्परम् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वीरोंको एकत्र करके यह प्रतिज्ञा करावे कि हम संग्राममें विजय प्राप्त करनेके लिये प्राण रहते एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ेंगे ॥ ३२ ॥

इहैव ते निवर्तन्तां ये च केचन भीरवः ।
ये घातयेयुः प्रवरं कुर्वाणास्तुमुलं प्रति ॥ ३३ ॥

जो लोग डरपोक हों, वे यहींसे लौट जायँ और जो लोग भयानक संग्राम करते हुए शत्रुपक्षके प्रधान वीरका वध कर सकें, वे ही यहाँ ठहरें ॥ ३३ ॥

न संनिपाते प्रदरं वधं वा कुर्युरीदृशाः ।
आत्मानं च स्वपक्षं च पालयन् हन्ति संयुगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि ऐसे डरपोक मनुष्य घमासान युद्धमें शत्रुओंको न तो तितर-बितर करके भगा सकते हैं और न उनका वध ही कर सकते हैं। शूरवीर पुरुष ही युद्धमें अपनी और अपने पक्षके सैनिकोंकी रक्षा करता हुआ शत्रुओंका संहार कर सकता है ॥ ३४ ॥

अर्थनाशो वधोऽकीर्तिरयशश्च पलायने ।
अमनोज्ञासुखा वाचः पुरुषस्य पलायने ॥ ३५ ॥

सैनिकोंको यह भी समझा देना चाहिये कि युद्धके मैदानसे भागनेमें कई प्रकारके दोष हैं, एक तो अपने प्रयोजन और धनका नाश होता है। दूसरे भागते समय शत्रुके हाथसे मारे जानेका भय रहता है, तीसरे भागनेवालेकी निन्दा होती है और सब ओर उसका अपयश फैल जाता है। इसके सिवा युद्धमे भागनेपर लोगोंके मुखसे मनुष्यको तरह-तरहकी अप्रिय और दुःखदायिनी बातें भी सुननी पड़ती हैं ॥ ३५ ॥

प्रतिध्वस्तोष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च ।
अमित्रैरवरुद्धस्य द्विषतामस्तु नः सदा ॥ ३६ ॥

जिसके ओठ और दाँत टूट गये हों, जिसने सारे अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल दिया हो तथा जिसे शत्रुगण सब ओरसे घेरकर खड़े हों; ऐसा योद्धा सदा हमारे शत्रुओंकी सेनामें ही रहे ॥ ३६ ॥

मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः ।
राशिवर्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह ॥ ३७ ॥

जो लोग युद्धमें पीठ दिखाते हैं, वे मनुष्योंमें अधम हैं; केवल योद्धाओंकी संख्या बढ़ानेवाले हैं। उन्हें इहलोक या परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिलता ॥ ३७ ॥

अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम् ।
जयिनस्तु नरास्तात चन्दनैर्मण्डनेन च ॥ ३८ ॥

शत्रु प्रसन्नचित्त होकर भागनेवाले योद्धाका पीछा करते हैं तथा तात ! विजयी मनुष्य चन्दन और आभूषणोंद्वारा पूजित होते हैं ॥ ३८ ॥

यस्य स्म संग्रामगता यशो वै घ्नन्ति शत्रवः ।
तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३९ ॥

संग्रामभूमिमें आये हुए शत्रु जिसके यशका नाश कर देते हैं, उसके लिये उस दुःखको मैं मरणसे भी बढ़कर असह्य मानता हूँ ॥ ३९ ॥

जयं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च ।
या भीरूणां परा ग्लानिः शूरस्तामधिगच्छति ॥ ४० ॥

वीरो ! तुमलोग युद्धमें विजयको ही धर्म एवं सम्पूर्ण सुखोंका मूल समझो। कायरों या डरपोक मनुष्योंको जिससे भारी ग्लानि होती है, वीर पुरुष उसी प्रहार और मृत्युको सहर्ष स्वीकार करता है ॥ ४० ॥

ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे त्यक्तजीविताः ।
जयन्तो वध्यमाना वा प्राप्नुयाम च सद्गतिम् ॥ ४१ ॥

अतः तुमलोग यह निश्चय कर लो कि हम स्वर्गकी इच्छा रखकर संग्राममें अपने प्राणोंका मोह छोड़कर लड़ेंगे। या तो विजय प्राप्त करेंगे या युद्धमें मारे जाकर सद्गति पायेंगे ॥

एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः ।
अमित्रवाहिनीं वीराः प्रतिगाहन्त्यभीरवः ॥ ४२ ॥

जो इस प्रकार शपथ लेकर जीवनका मोह छोड़ देते हैं, वे वीर पुरुष निर्भय होकर शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं ॥

अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां भवेत् ।
पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४३ ॥

सेनाके कूच करते समय सबसे आगे ढाल-तलवार धारण करनेवाले पुरुषोंकी टुकड़ी रक्खे। पीछेकी ओर रथियोंकी सेना खड़ी करे और बीचमें राज-स्त्रियोंको रखे ॥ ४३ ॥

परेषां प्रतिघातार्थं पदातीनां च बृंहणम् ।
अपि तस्मिन् पुरे वृद्धा भवेयुर्ये पुरोगमाः ॥ ४४ ॥

उस नगरमें जो वृद्ध पुरुष अगुआ हों, वे शत्रुओंका सामना और विनाश करनेके लिये पैदल सैनिकोंको प्रोत्साहन एवं बढ़ावा दें ॥ ४४ ॥

ये पुरस्तादभिमताः सत्त्ववन्तो मनस्विनः ।
ते पूर्वमभिवर्तेरंश्चैतानेवेतरे जनाः ॥ ४५ ॥

जो पहलेसे ही अपने शौर्यके लिये सम्मानित, धैर्यवान् और मनस्वी हैं, वे आगे रहें और दूसरे लोग उन्हींके पीछे-पीछे चलें ॥ ४५ ॥

अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः ।
स्कन्धदर्शनमात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४६ ॥

जो डरनेवाले सैनिक हों, उनका भी प्रयत्नपूर्वक उत्साह बढ़ाना चाहिये अथवा वे सेनाका विशेष समुदाय दिखानेके लिये ही आसपास खड़े रहें ॥ ४६ ॥

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥ ४७ ॥

यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उन्हें एक साथ

संघबद्ध रखकर युद्ध करनेका आदेश देना चाहिये और यदि बहुत-से योद्धा हों तो उन्हें बहुत दूरतक इच्छानुसार फैलाकर रखना चाहिये। थोड़े-से सैनिकोंको बहुतोंके साथ युद्ध करना हो तो उनके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी होता है॥

सम्प्रयुक्ते निकृष्टे वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
प्रगृह्य बाहून् क्रोशेत भग्ना भग्नाः परे इति॥ ४८॥
आगतं मे मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत्।

अपनी सेना उत्कृष्ट अवस्थामें हो या निकृष्ट अवस्थामें, बात सची हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर हल्ला मचाते हुए कहे, 'वह देखो, शत्रु भाग रहे हैं, भाग रहे हैं, हमारी मित्रसेना आ गयी। अब निर्भय होकर प्रहार करो'॥ ४८½॥

सत्त्ववन्तोऽभिधावेयुः कुर्वन्तो भैरवान् रवान्॥ ४९॥

इतनी बात सुनते ही धैर्यवान् और शक्तिशाली वीर भयंकर सिंहनाद करते हुए शत्रुओंपर टूट पड़ें॥ ४९॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयेयुः पुरश्चरान्॥ ५०॥

जो लोग सेनाके आगे हों, उन्हें गर्जन-तर्जन करते और किल्कारियाँ भरते हुए क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजे बजाने चाहिये॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने शततमोऽध्यायः॥ १००॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न देशके योद्धाओंके स्वभाव, रूप, बल, आचरण और लक्षणोंका वणन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलाः किंसमाचाराः कथंरूपाश्च भारत।
किंसन्नाहाः कथंशस्त्रा जनाः स्युः संगरे क्षमाः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! युद्धस्थलमें कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण और कैसे रूपवाले योद्धा ठीक समझे जाते हैं? उनके कवच और अस्त्र-शस्त्र भी कैसे होने चाहिये?॥ १॥

भीष्म उवाच

यथाऽऽचरितमेवात्र शस्त्रं पत्रं विधीयते।
आचाराद् वीरपुरुषस्तथा कर्मसु वर्तते॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन्! अस्त्र-शस्त्र और वाहन तो योद्धाओंके देश और कुलके आचारके अनुरूप ही होने चाहिये। वीर पुरुष अपने परम्परागत आचारके अनुसार ही सभी कार्योंमें प्रवृत्त होता है॥ २॥

गान्धाराः सिन्धुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः।
अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम्॥ ३॥

गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशके योद्धा नखर (बघनखे) और प्राससे युद्ध करनेवाले हैं। वे बड़े बलवान् और निडर होते हैं। उनकी सेना सबको लाँघ जानेवाली होती है॥

सर्वशस्त्रेषु कुशलाः सत्त्ववन्तो ह्युशीनराः।
प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः॥ ४॥

उशीनरदेशके वीर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंमें कुशल और बड़े बलशाली होते हैं। पूर्वदेशके योद्धा हाथीपर सवार होकर युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं। वे कपटयुद्धके भी ज्ञाता हैं॥ ४॥

तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये।
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिपाणयः॥ ५॥

यवन, काम्बोज और मथुराके आसपासके रहनेवाले योद्धा मल्लयुद्धमें निपुण होते हैं तथा दक्षिण देशोंके निवासी हाथोंमें तलवार लिये रहते हैं। (वे तलवार चलाना अच्छा जानते हैं)॥ ५॥

सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्त्वा महाबलाः।
प्राय एव समुद्दिष्टा लक्षणानि तु मे शृणु॥ ६॥

प्रायः सभी देशोंमें महान् धैर्यशाली, महाबली एवं शूरवीर पैदा होते हैं। उन सबका उल्लेख अधिकतर किया जा चुका है। अब तुम मुझसे उनके लक्षण सुनो॥ ६॥

सिंहशार्दूलवाङ्नेत्राः सिंहशार्दूलगामिनः।
पारावतकुलिङ्गाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः॥ ७॥

जिनकी वाणी, नेत्र तथा चाल-ढाल सिंहों या बाघोंके समान होती है और जिनकी आँखें कबूतर या गौरैयेके समान होती हैं, वे सभी शूरवीर एवं शत्रुसेनाको मथ डालनेवाले होते हैं॥ ७॥

मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरस्विनः।
प्रमादिनश्च मन्दाश्च क्रोधनाः किङ्किणीस्वनाः॥ ८॥

जिनका कण्ठस्वर मृगोंके समान और नेत्र बाघ एवं बैलोंके तुल्य होते हैं, वे वीर वेगशाली, असावधान और मूर्ख हुआ करते हैं। जिनका कण्ठनाद किङ्किणीके समान मधुर हो, वे स्वभावके बड़े क्रोधी होते हैं॥ ८॥

मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित् करभसंनिभाः।
जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगा दूरपातिनः॥ ९॥

जिनकी गर्जना मेघके समान, मुख क्रोधयुक्त, शरीर ऊँटकी तरह तथा नाक और जीभ टेढ़ी हो, वे बहुत दूरतक दौड़नेवाले तथा सुदूरवर्ती लक्ष्यको भी मार गिरानेवाले होते हैं॥

बिडालकुब्जतनवस्तनुकेशास्तनुत्वचः।
शीघ्राश्चपलवृत्ताश्च ते भवन्ति दुरासदाः॥ १०॥

जिनका शरीर बिलावके समान कुबड़ा तथा सिरके बाल

और देहकी खाल पतले होते हैं, वे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, चञ्चल और दुर्जय होते हैं ॥ १० ॥

गोधानिमीलिताः केचिन्मृदुप्रकृतयस्तथा ।
तरङ्गगतिनिर्घोषास्ते नराः पारयिष्णवः ॥ ११ ॥

जो गोहटीके समान आँखें बंद किये रहते हैं, जिनका स्वभाव कोमल होता है तथा जिनके चलनेपर घोड़ेकी टाप पड़ने जैसी आवाज होती है, वे मनुष्य युद्धके पार पहुँच जाते हैं ॥ ११ ॥

सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ।
प्रवादितेषु कुप्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥

जिनके शरीर गठीले, छाती चौड़ी और अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल होते हैं, जो युद्धमें डटकर खड़े होनेवाले हैं, वे वीर पुरुष युद्धका धौंसा सुनते ही कुपित हो उठते हैं । उन्हें लड़ने-भिड़नेमें ही आनन्द आता है ॥ १२ ॥

गम्भीराक्षा निःसृताक्षाः पिङ्गाक्षा भ्रुकुटीमुखाः ।
नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥

जिनकी आँखें गहरी हैं अथवा बड़ी होनेके कारण निकली हुई-सी प्रतीत होती हैं या जिनके नेत्र पिङ्गलवर्णके हैं अथवा जिनकी आँखें नेवलेके समान भूरी-भूरी हैं और जिनके मुखपर भौंहें तनी रहती हैं, ऐसे लक्षणोंवाले सभी मनुष्य शूरवीर तथा रणभूमिमें शरीरका त्याग करनेवाले होते हैं ॥

जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च ।
वज्रबाह्वंगुलीचक्राः कृशा धमनिसंतताः ॥ १४ ॥
प्रविशन्ति च वेगेन साम्पराये ह्युपस्थिते ।
वारणा इव सम्मत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥

जिनकी आँखें तिरछी, ललाट ऊँचे और ठोड़ी मांसहीन एवं दुबली-पतली है, जिनकी भुजाओंपर वज्रका और अंगुलियोंपर चक्रका चिह्न होता है तथा जिनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हैं, वे युद्ध उपस्थित होते ही बड़े वेगसे शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं और मतवाले हाथियोंके समान शत्रुओंके लिये दुर्जय होते हैं ॥ १४-१५ ॥

दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ।
उन्नतांसाः पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डिकाः ॥१६ ॥
उद्वृत्ता इव सुग्रीवा विनताविहगा इव ॥
पिण्डशीर्षातिवक्त्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥ १७ ॥
उग्रस्वरा मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः ।
अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शनाः ॥ १८ ॥

जिनके केशोंके अग्रभाग पीले और छितराये हुए हैं, पसलियाँ, ठोड़ी और मुँह लंबे एवं मोटे हैं, कंधे ऊँचे, गर्दन मोटी और पिण्डली भारी हैं, जो देखनेमें विकट जान पड़ते हैं, सुग्रीव जातिवाले अश्वोंके समान तथा गरुड़ पक्षीकी भाँति उद्धत स्वभावके हैं, जिनके सिर गोल और मुख विशाल हैं, जो बिलाव-जैसा मुख धारण करते हैं तथा जिनके स्वरमें कठोरता है, वे बड़े क्रोधी होते हैं और युद्धमें गर्जना करते हुए विचरते हैं । उन्हें धर्मका ज्ञान नहीं होता । वे घमंडमें भरे हुए घोर आकृतिवाले दिखायी देते हैं । उनका दर्शन ही बड़ा भयंकर है ॥ १६–१८ ॥

त्यक्तात्मानः सर्व एते अन्त्यजा ह्यनिवर्तिनः ।
पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चापि ये ॥ १९ ॥

ये सबके सब अन्त्यज (कोल-भील आदि) हैं, जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते और शरीरका मोह छोड़कर लड़ते हैं । सेनामें ऐसे लोगोंको सदा पुरस्कार देना चाहिये और इन्हें सदा आगे आगे रखना चाहिये । ये धैर्यपूर्वक शत्रुओंकी मार सहते और उन्हें भी मारते हैं ॥ १९ ॥

अधार्मिका भिन्नवृत्ताः सान्त्वेनैषां पराभवः ।
एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोऽप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥ २० ॥

ये अधर्मी होते हैं, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर देते हैं । इसी तरह ये बारंबार राजापर भी कुपित हो उठते हैं; अतः इन्हें मीठी-मीठी बातोंसे समझा-बुझाकर ही काबूमें करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

विजयसूचक शुभाशुभ लक्षणोंका तथा उत्साही और बलवान् सैनिकोंका वर्णन एवं राजाको युद्धसम्बन्धी नीतिका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

जयित्र्याः कानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि चेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! विजय पानेवाली सेनाके कौन-कौन-से शुभ लक्षण होते हैं ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

जयित्र्या यानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतभूषण ! विजय पानेवाली सेनाके समक्ष जो-जो शुभ लक्षण प्रकट होते हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते ।
तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदिव्येन चक्षुषा ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्तविधिं चात्र जपहोमांश्च तद्विदः ।

मङ्गलानि च कुर्वन्ति शमयन्त्यहितानि च ॥ ४ ॥

कालसे प्रेरित हुए मनुष्यपर पहले दैवका कोप होता है। उसे विद्वान् पुरुष जब ज्ञानमयी दिव्यदृष्टिसे देख लेते हैं, तब उसके प्रतीकारको जाननेवाले वे पुरुष उसके प्रायश्चित्तका विधान—जप, होम आदि माङ्गलिक कृत्य करते हैं और उस अहितकारक दैवी उपद्रवको शान्त कर देते हैं ॥ ३-४ ॥

उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत।
यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां परो जयः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिस सेनाके योद्धा और वाहन मनमें प्रसन्न एवं उत्साहयुक्त होते हैं, उसकी उत्तम विजय अवश्य होती है॥

अन्वेतान् वायवो यान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च।
अनुप्लवन्तो मेघाश्च तथाऽऽदित्यस्य रश्मयः ॥ ६ ॥
गोमायवश्चानुकूला बलगृध्राश्च सर्वशः।
अर्हयेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥

यदि सेनाकी रणयात्राके समय सैनिकोंके पीछेसे मन्द-मन्द वायु प्रवाहित हो, सामने इन्द्रधनुषका उदय हो, बार-बार बादलोंकी छाया होती रहे और सूर्यकी किरणोंका भी प्रकाश फैलता रहे तथा गीदड़, गीध और कौए भी अनुकूल दिशामें आ जायँ तो निश्चय ही उस सेनाको परम उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६-७ ॥

प्रसन्नभाः पावकश्चोर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ८ ॥

यदि बिना धुएँकी आग प्रज्वलित हो, उसकी ज्वाला निर्मल हो और लपटें ऊपरकी ओर उठ रही हों अथवा उस अग्निकी शिखाएँ दाहिनी ओर जाती दिखायी देती हों तथा आहुतियोंकी पवित्र गन्ध प्रकट हो रही हो तो इन सबको भावी विजयका शुभ चिह्न बताया गया है ॥ ८ ॥

गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च
शङ्खाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र।
युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥

जहाँ शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनि और रणभेरीकी ऊँची आवाज फैल रही हो, युद्धकी इच्छा रखनेवाले सैनिक सर्वथा अनुकूल हों तो वहाँके लिये इसे भी भावी विजयका सूचक शुभ लक्षण कहा गया है ॥ ९ ॥

इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च।
जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहु-
र्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ १० ॥

सेनाके प्रस्थान करते समय अथवा जानेके लिये तैयारी करते समय यदि इष्ट मृग पीछे और बायें आ जायँ तो इच्छित फल प्रदान करते हैं। तथा युद्ध करते समय दाहिने हो जायँ तो वे सिद्धिकी सूचना देते हैं; किंतु यदि सामने आ जायँ तो उस युद्धकी यात्राका निषेध करते हैं ॥ १० ॥

माङ्गल्यशब्दाञ्शकुना वदन्ति
हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः।
हृष्टा योधाः सत्त्ववन्तो भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ११ ॥

जब हंस, क्रौञ्च, शतपत्र और नीलकण्ठ आदि पक्षी मङ्गल-सूचक शब्द करते हों और सैनिक हर्ष तथा उत्साहसे सम्पन्न दिखायी देते हों तो यह भी भावी विजयका शुभ लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

शस्त्रैर्यन्त्रैः कवचैः केतुभिश्च
सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम्।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥१२॥

जिनकी सेना भाँति-भाँतिके शस्त्र, कवच, यन्त्र तथा ध्वजाओंसे सुशोभित हो, जिनके नौजवान सैनिकोंके मुखकी सुन्दर प्रभामयी कान्तिसे प्रकाशित होती हुई सेनाकी ओर शत्रुओंको देखनेका भी साहस न होता हो, वे निश्चय ही शत्रुदलको परास्त कर सकते हैं ॥ १२ ॥

शुश्रूषवश्चानभिमानिनश्च
परस्परं सौहृदमास्थिताश्च।
येषां योधाः शौचमनुष्ठिताश्च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥

जिनके योद्धा स्वामीकी सेवामें उत्साह रखनेवाले, अहंकाररहित, आपसमें एक दूसरेका हित चाहनेवाले तथा शौचाचारका पालन करनेवाले हों, उनकी होनेवाली विजयका यही शुभ लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः।
धैर्यं चाविशते योधान् विजयस्य मुखं च तत् ॥१४॥

जब योद्धाओंके मनको प्रिय लगनेवाले शब्द, स्पर्श और गन्ध सब ओर फैल रहे हों तथा उनके भीतर धैर्यका संचार हो रहा हो तो वह विजयका द्वार माना जाता है ॥ १४ ॥

इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः।
पश्चात्संसाधयत्यर्थं पुरस्ताच्च निषेधति ॥ १५ ॥

यदि कौआ युद्धमें प्रवेश करते समय दाहिने भागमें और प्रविष्ट हो जानेके बाद बायें भागमें आ जाय तो शुभ है। पीछेकी ओर होनेसे भी वह कार्यकी सिद्धि करता है; परंतु सामने होनेपर विजयमें बाधा डालता है ॥ १५ ॥

सम्भृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां युधिष्ठिर।
साम्नैव वर्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! विशाल चतुरङ्गिणी सेना एकत्र कर लेनेके बाद भी तुम्हें पहले सामनीतिके द्वारा शत्रुसे सन्धि करनेका ही प्रयास करना चाहिये। यदि वह सफल न हो तो युद्धके लिये प्रयत्न करना उचित है ॥ १६ ॥

जघन्य एष विजयो यद् युद्धं नाम भारत।
यादृच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! युद्ध करके जो विजय प्राप्त होती है, उसे निकृष्ट ही माना गया है । युद्धसम्बन्धी विजय अचानक प्राप्त होती है या दैवेच्छासे; यह बात विचारणीय ही होती है। इसका पहलेसे कोई निश्चय नहीं रहता ॥ १७ ॥

अपामिव महावेगस्त्रस्ता इव महामृगाः।
दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥

यदि विशाल सेनामें भगदड़ मच जाती है तो उसे जलके महान् वेगके समान तथा भयभीत हुए महामृगोंके समान रोकना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १८ ॥

भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोऽपि न कारणम्।
उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥ १९ ॥

विशाल सेना मृगोंके झुंडके समान होती है। उसमें कितने ही बलवान् वीर क्यों न भरे हों, कुछ लोग भाग रहे हैं—इतना ही देखकर सब भागने लगते हैं, यद्यपि उन्हें भागनेका कारण नहीं मालूम रहता है ॥ १९ ॥

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः।
अपि पञ्चाशतं शूरा निघ्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥

एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण, प्राणोंका मोह छोड़ देनेवाले तथा मरने-मारनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त पचास शूरवीर भी सारी शत्रु-सेनाका संहार कर सकते हैं ॥

अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग् विजयन्तीह शात्रवान् ॥ २१ ॥

अच्छे कुलमें उत्पन्न, परस्पर संगठित तथा राजाद्वारा सम्मानित पाँच, छः या सात वीर भी यदि दृढ़ निश्चयके साथ युद्धस्थलमें डटे रहें तो युद्धमें शत्रुओंपर भलीभाँति विजय पा सकते हैं ॥ २१ ॥

संनिपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथंचन।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥ २२ ॥

जबतक किसी तरह सन्धि हो सकती हो, तबतक युद्धको स्वीकार नहीं करना चाहिये । पहले सामनीतिसे समझावे। इससे काम न चले तो भेदनीतिके अनुसार शत्रुओंमें फूट डाले। इसमें भी सफलता न मिले तो दाननीतिका प्रयोग करे—धन देकर शत्रुके सहायकोंको वशमें करनेकी चेष्टा करे। इन तीनों उपायोंके सफल न होनेपर अन्तमें युद्धका आश्रय लेना उचित बताया गया है ॥ २२ ॥

संदर्शनेव सेनाया भयं भीरून् प्रबाधते।
वज्रादिव प्रज्वलितादियं क्व नु पतिष्यति ॥ २३ ॥

शत्रुकी सेनाको देखते ही कायरोंको भय सताने लगता है, मानो उनके ऊपर प्रज्वलित वज्र गिरनेवाला हो। वे सोचते हैं, न जाने यह सेना किसके ऊपर पड़ेगी ? ॥ २३ ॥

अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्यथ।
तेषां स्यन्दन्ति गात्राणि योधानां विजयस्य च ॥ २४ ॥

जो युद्धको उपस्थित हुआ जानकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, उन वीरोंके शरीरमें विजयकी आशासे आनन्द-जनित पसीनेके बिन्दु प्रकट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

विषयो व्यथते राजन् सर्वः सस्थाणुजङ्गमः।
अस्त्रप्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहिनाम् ॥ २५ ॥

राजन् ! युद्ध उपस्थित होनेपर स्थावर-जङ्गम प्राणियों-सहित समस्त देश ही व्यथित हो उठता है और अस्त्रोंके प्रताप-से संतप्त हुए देहधारियोंकी मज्जा भी सूखने लगती है ॥२५॥

तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः।
सम्पीड्यमाना हि परैर्योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥

उन देशवासियोंके प्रति कठोरताके साथ-साथ सान्त्वना-पूर्ण मधुर वचनोंका बारंबार प्रयोग करना चाहिये; अन्यथा केवल कठोर वचनोंसे पीड़ित हो वे सब ओरसे जाकर शत्रुओंके साथ मिल जाते हैं ॥ २६ ॥

आन्तराणां च भेदार्थं चरानभ्यवचारयेत्।
यश्च तस्मात् परो राजा तेन सन्धिः प्रशस्यते ॥२७॥

शत्रुके मित्रोंमें फूट डालनेके लिये गुप्तचरोंको भेजना चाहिये और जो शत्रुसे भी बलवान् राजा हो, उसके साथ सन्धि करना श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथाविधा।
यथा सार्धममित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥

अन्यथा उसको वैसी पीड़ा नहीं दी जा सकती, जैसी कि उसके शत्रुके साथ सन्धि करके दी जा सकती है। युद्ध इस प्रकार करना चाहिये, जिससे शत्रुपक्ष सब ओरसे संकटमें पड़ जाय ॥ २८ ॥

क्षमा वै साधुमायाति न ह्यसाधून्क्षमा सदा।
क्षमायाश्चाक्षमायाश्च पार्थ विद्धि प्रयोजनम् ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्पुरुषोंको ही सदा क्षमा करना आता है, दुष्टोंको नहीं। क्षमा करने और न करनेका प्रयोजन बताता हूँ; इसे सुनो और समझो ॥ २९ ॥

विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्धते।
महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शात्रवः ॥ ३० ॥

जो राजा शत्रुओंको जीत लेनेके बाद उनके अपराध क्षमा कर देता है, उसका यश बढ़ता है। उसके प्रति महान् अपराध करनेपर भी शत्रु उसपर विश्वास करते हैं ॥ ३० ॥

मन्यते कर्शयित्वा तु क्षमा साध्वीति शम्बरः।
असंतप्तं तु यद् दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥ ३१ ॥

शम्बरासुरका मत है कि पहले शत्रुको पीड़ाद्वारा अत्यन्त दुर्बल करके फिर उसके प्रति क्षमाका प्रयोग करना ठीक है; क्योंकि यदि टेढ़ी लकड़ीको बिना गर्म किये ही सीधी किया जाय तो वह फिर ज्योंकी त्यों हो जाती है ॥ ३१ ॥

नैतत् प्रशंसन्त्याचार्या न च साधुनिदर्शनम्।
अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥ ३२ ॥

परंतु आचार्यगण इस बातकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि यह साधु पुरुषोंका दृष्टान्त नहीं है। राजाको चाहिये कि वह पुत्रकी ही भाँति अपने शत्रुको भी बिना क्रोध किये ही वशमें करे; उसका विनाश न करे ॥ ३२ ॥

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! राजा यदि उग्रस्वभावका हो जाय तो वह समस्त प्राणियोंके द्वेषका पात्र बन जाता है और यदि सर्वथा कोमल हो जाय तो सभी उसकी अवहेलना करने लगते हैं; इसलिये उसे आवश्यकतानुसार उग्रता और कोमलता दोनोंसे काम लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचन्निव रुदन्निव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! राजा शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे प्रिय वचन ही बोले। प्रहारके बाद भी शोक प्रकट करते और रोते हुए-से उसके प्रति दया दिखावे ॥ ३४ ॥

न मे प्रियं यन्निहताः संग्रामे मामकैर्नरैः।
न च कुर्वन्ति मे वाक्यमुच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

वह शत्रुको सुनाकर इस प्रकार कहे—'ओह ! इस युद्धमें मेरे सिपाहियोंने जो इतने वीरोंको मार डाला है, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है; परंतु क्या करूँ ? बारंबार कहनेपर भी ये मेरी बात नहीं मानते हैं ॥ ३५ ॥

अहो जीवितमाकाङ्क्षेन्नेदृशो वधमर्हति।
सुदुर्लभाः सुपुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ ३६ ॥
कृतं ममाप्रियं तेन येनायं निहतो मृधे।
इति वाचा वदन् हन्तॄन् पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥

'अहो ! सभी लोग अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं; अतः ऐसे पुरुषका वध करना उचित नहीं है। संग्राममें पीठ न दिखानेवाले सत्पुरुष इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। मेरे जिन सैनिकोंने युद्धमें इस श्रेष्ठ वीरका वध किया है, उनके द्वारा मेरा बड़ा अप्रिय कार्य हुआ है। शत्रुपक्षके सामने वाणीद्वारा इस प्रकार खेद प्रकट करके राजा एकान्तमें जानेपर अपने उन बहादुर सिपाहियोंकी प्रशंसा करे, जिन्होंने शत्रुपक्षके प्रमुख वीरोंका वध किया हो ॥ ३६-३७ ॥

हन्तॄणामाहतानां च यत् कुर्युरपराधिनः।
क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥

इसी तरह शत्रुओंको मारनेवाले अपने पक्षके वीरोंमेंसे जो हताहत हुए हों, उनकी हानिके लिये इस प्रकार दुःख प्रकट करे, जैसे अपराधी किया करते हैं। जनमतको अपने अनुकूल करनेकी इच्छासे जिसकी हानि हुई हो, उसकी बाँह पकड़कर सहानुभूति प्रकट करते हुए जोर-जोरसे रोवे और विलाप करे ॥ ३८ ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरेत्।
प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें जो सान्त्वनापूर्ण बर्ताव करता है, वह धर्मज्ञ राजा सब लोगोंका प्रिय एवं निर्भय हो जाता है ॥ ३९ ॥

विश्वासं चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत।
विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! उसके ऊपर सब प्राणी विश्वास करने लगते हैं। विश्वासपात्र हो जानेपर वह सबके निकट रहकर इच्छानुसार सारे राष्ट्रका उपभोग कर सकता है ॥ ४० ॥

तस्माद् विश्वासयेद् राजा सर्वभूतान्यमायया।
सर्वतः परिरक्षेच्च यो महीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४१ ॥

अतः जो राजा इस पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है, उसे चाहिये कि छल-कपट छोड़कर अपने ऊपर समस्त प्राणियोंका विश्वास उत्पन्न करे और इस भूमण्डलकी सब ओरसे पूर्णरूपसे रक्षा करे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुको वशमें करनेके लिये राजाको किस नीतिसे काम लेना चाहिये और दुष्टोंको कैसे पहचानना चाहिये—इसके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव।
आदौ वर्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पृथ्वीपते ! जिसका पक्ष प्रबल और महान् हो, वह शत्रु यदि कोमल स्वभावका हो तो उसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और यदि वह तीक्ष्ण स्वभावका हो तो उसके साथ पहले किस तरहका बर्ताव करना राजाके लिये उचित है, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान्

पुरुष बृहस्पति और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देवराज इन्द्रने बृहस्पतिजीके पास जा उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

अहितेषु कथं ब्रह्मन् प्रवर्तेयमतन्द्रितः ।
असमुच्छिद्य चैवैतान् नियच्छेयमुपायतः ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मन् ! मैं आलस्यरहित हो अपने शत्रुओंके प्रति कैसा बर्ताव करूँ ? उन सबका समूलोच्छेद किये बिना ही उन्हें किस उपायसे वशमें करूँ ? ॥ ४ ॥

सेनयोर्व्यतिषङ्गेण जयः साधारणो भवेत् ।
किंकुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीः प्रतापिनी ॥ ५ ॥

दो सेनाओंमें परस्पर भिड़न्त हो जानेपर विजय दोनों पक्षोंके लिये साधारण-सी वस्तु हो जाती है (अमुक पक्षकी ही जीत होगी, यह नियम नहीं रह जाता)। अतः मुझे क्या करना चाहिये, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाली यह समुज्ज्वल राज्यलक्ष्मी मुझे कभी न छोड़े ॥ ५ ॥

ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान् ।
राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरंदरम् ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर धर्म, अर्थ और कामके प्रतिपादनमें कुशल, प्रतिभाशाली तथा राजधर्मके विधानको जाननेवाले बृहस्पतिने इन्द्रको इस प्रकार उत्तर दिया॥ ६ ॥

बृहस्पतिरुवाच

न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः ।
बालैरासेवितं ह्येतद् यदमर्षो यदक्षमा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिजी बोले—राजन् ! कोई भी राजा कभी कलह या युद्धके द्वारा शत्रुओंको वशमें करनेकी इच्छा न करे । असहनशीलता अथवा क्षमाको छोड़ना, यह बालकों या मूर्खोंद्वारा सेवित मार्ग है ॥ ७ ॥

न शत्रुर्विवृतः कार्यो वधमस्याभिकाङ्क्षता ।
क्रोधं भयं च हर्षं च नियम्य स्वयमात्मनि ॥ ८ ॥

शत्रुके वधकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह क्रोध, भय और हर्षको अपने मनमें ही रोक ले तथा शत्रुको सावधान न करे ॥ ८॥

अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन् ।
प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किंचिदाचरेत् ॥ ९ ॥

भीतरसे विश्वास न करते हुए भी बाहरसे विश्वस्त पुरुषकी भाँति अपना भाव प्रदर्शित करते हुए शत्रुकी सेवा करे। सदा उससे प्रिय वचन ही बोले, कभी कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ९ ॥

विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत् ।
यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ॥ १० ॥
तान् द्विजान् कुरुते वश्यांस्तथा युक्तो महीपतिः ।
वशं चोपनयेच्छत्रून् निहन्याच्च पुरंदर ॥ ११ ॥

पुरंदर ! सूखे वैरसे अलग रहे, कण्ठको पीड़ा देनेवाले वादविवादको त्याग दे । जैसे व्याध अपने कार्यमें सावधानीके साथ संलग्न हो पक्षियोंको फँसानेके लिये उन्हींके समान बोली बोलता है और मौका पाकर उन पक्षियोंको वशमें कर लेता है, उसी प्रकार उद्योगशील राजा धीरे-धीरे शत्रुओंको वशमें कर ले । तत्पश्चात् उन्हें मार डाले ॥ १०-११ ॥

न नित्यं परिभूयारीन् सुखं स्वपिति वासव ।
जागर्त्येव हि दुष्टात्मा संकरेऽग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

इन्द्र ! जो सदा शत्रुओंका तिरस्कार ही करता है, वह सुखसे सोने नहीं पाता । वह दुष्टात्मा नरेश बाँस और घास-फूसमें प्रज्वलित हो चटचट शब्द करनेवाली आगके समान सदा जागता ही रहता है ॥ १२ ॥

न संनिपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति ।
विश्वास्यैवोपसन्नार्थो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १३ ॥

प्रभो ! जब युद्धमें विजय एक सामान्य वस्तु है (किसीको भी वह मिल सकती है), तब उसके लिये पहले ही युद्ध नहीं करना चाहिये, अपितु शत्रुको अच्छी तरह विश्वास दिलाकर वशमें कर लेनेके पश्चात् अवसर देखकर उसके सारे मनसूबेको नष्ट कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

सम्प्रधार्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः ।
उपेक्ष्यमाणोऽवज्ञातो हृदयेनापराजितः ॥ १४ ॥
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद्विचलिते पदे ।
दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥

शत्रुके द्वारा उपेक्षा अथवा अवहेलना की जानेपर भी राजा अपने मनमें हिम्मत न हारे । वह मन्त्रियोंसहित मन्त्रवेत्ता महापुरुषोंके साथ कर्त्तव्यका निश्चय करके समय आनेपर जब शत्रुकी स्थिति कुछ डाँवाडोल हो जाय, तब उसपर प्रहार करे और विश्वासपात्र पुरुषोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुकी सेनामें फूट डलवा दे ॥ १४-१५ ॥

आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नं च विधारयेत् ।
बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः ॥ १६ ॥

राजा शत्रुके राज्यकी आदि, मध्य और अन्तिम सीमाको जानकर गुप्तरूपसे मन्त्रियोंके साथ बैठकर अपने कर्त्तव्यका निश्चय कर तथा शत्रुकी सेनाकी संख्या कितनी है, इसको अच्छी तरह जानते हुए ही उसमें फूट डलवानेकी चेष्टा करे ॥ १६ ॥

भेदेनोपप्रदानेन संसृजेदौषधैस्तथा ।
न त्वेवं खलु संसर्गं रोचयेदरिभिः सह ॥ १७ ॥

राजाको चाहिये कि वह दूर रहकर गुप्तचरोंद्वारा शत्रुकी सेनामें मतभेद पैदा करे । घूस देकर लोगोंको अपने पक्षमें

करनेकी चेष्टा करे अथवा उनके ऊपर विभिन्न औषधोंका प्रयोग करे; परंतु किसी तरह भी शत्रुओंके साथ प्रकटरूपसे साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा न करे ॥ १७ ॥

दीर्घकालमपीक्षेत निहन्यादेव शात्रवान् ।
कालाकाङ्क्षी हि क्षपयेद् यथा विश्रम्भमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

अनुकूल अवसर पानेके लिये कालक्षेप ही करता रहे। उसके लिये दीर्घ कालतक भी प्रतीक्षा करनी पड़े तो करे,जिससे शत्रुओंको भलीभाँति विश्वास हो जाय । तदनन्तर मौका पाकर उन्हें मार ही डाले ॥ १८ ॥

न सद्योऽरीन् विहन्याच्च द्रष्टव्यो विजयो ध्रुवः ।
न शल्यं वा घटयति न वाचा कुरुते व्रणम् ॥ १९ ॥

राजा शत्रुओंपर तत्काल आक्रमण न करे । अवश्यम्भावी विजयके उपायपर विचार करे । न तो उसपर विषका प्रयोग करे और न उसे कठोर वचनोंद्वारा ही घायल करे ॥ १९ ॥

प्राप्ते च प्रहरेत् काले न च संवर्तते पुनः ।
हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपून् प्रति ॥ २० ॥

देवेन्द्र ! जो शत्रुको मारना चाहता है, उस पुरुषके लिये बारंबार मौका हाथमें नहीं लगता; अतः जब कभी अवसर मिल जाय, उस समय उसपर अवश्य प्रहार करे ॥

यो हि कालो व्यतिक्रामेत् पुरुषं कालकाङ्क्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा ॥ २१ ॥

समयकी प्रतीक्षा करनेवाले पुरुषके लिये जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य करनेकी इच्छावाले उस पुरुषके लिये फिर दुर्लभ हो जाता है ॥२१॥

ओजश्च जनयेदेव संगृह्णन् साधुसम्मतम् ।
अकाले साधयेन्मित्रं न च प्राप्ते प्रपीडयेत् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर अपने बलको सदा बढ़ाता रहे । जबतक अनुकूल अवसर न आये, तबतक अपने मित्रोंकी संख्या बढ़ावे और शत्रुको भी पीड़ा न दे; परंतु अवसर आ जाय तो शत्रुपर प्रहार करनेसे न चूके ॥

विहाय कामं क्रोधं च तथाहंकारमेव च ।
युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुनः पुनः ॥ २३ ॥

काम, क्रोध तथा अहंकारको त्यागकर सावधानीके साथ बारंबार शत्रुओंके छिद्रोंको देखता रहे ॥ २३ ॥

मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम ।
मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्यविचक्षणम् ॥ २४ ॥

सुरश्रेष्ठ इन्द्र ! कोमलता, दण्ड, आलस्य, असावधानी और शत्रुओंद्वारा अच्छी तरह प्रयोग की हुई माया—ये अनभिज्ञ राजाको बड़े कष्टमें डाल देते हैं ॥ २४ ॥

निहत्यैतानि चत्वारि मायां प्रति विधाय च ।
ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥ २५ ॥

कोमलता, दण्ड, आलस्य और प्रमाद—इन चारोंको नष्ट करके शत्रुकी मायाका भी प्रतीकार करे । तत्पश्चात् वह बिना विचारे शत्रुओंपर प्रहार कर सकता है ॥ २५ ॥

यदैवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत् ।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विश्रावयन्त्यपि॥ २६ ॥

राजा अकेला ही जिस गुप्त कार्यको कर सके, उसे अवश्य कर डाले; क्योंकि मन्त्रीलोग कभी-कभी गुप्त विषयको प्रकाशित कर देते हैं और नहीं तो आपसमें ही एक दूसरेको सुना देते हैं ॥ २६ ॥

अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत् ।
ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरङ्गिणीम् ॥ २७ ॥

जो कार्य अकेले करना असम्भव हो जाय, उसीके लिये दूसरोंके साथ बैठकर विचार-विमर्श करे । यदि शत्रु दूरस्थ होनेके कारण दृष्टिगोचर न हो तो उसपर ब्रह्मदण्डका प्रयोग करे और यदि शत्रु निकटवर्ती होनेके कारण दृष्टिगोचर हो तो उसपर चतुरङ्गिणी सेना भेजकर आक्रमण करे ॥ २७ ॥

भेदं च प्रथमं युञ्ज्यात् तूष्णीं दण्डं तथैव च ।
काले प्रयोजयेद् राजा तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ २८ ॥

राजा शत्रुके प्रति पहले भेदनीतिका प्रयोग करे। तत्पश्चात् वह उपयुक्त अवसर आनेपर भिन्न-भिन्न शत्रुके प्रति भिन्न-भिन्न समयमें चुपचाप दण्डनीतिका प्रयोग करे ॥ २८॥

प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः ।
युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥ २९ ॥

यदि बलवान् शत्रुसे पाला पड़ जाय और समय उसीके अनुकूल हो तो राजा उसके सामने नतमस्तक हो जाय और जब वह शत्रु असावधान हो, तब स्वयं सावधान और उद्योगशील होकर उसके वधके उपायका अन्वेषण करे ॥ २९ ॥

प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन् ।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ॥ ३० ॥

राजाको चाहिये कि वह मस्तक झुकाकर, दान देकर तथा मीठे वचन बोलकर शत्रुका भी मित्रके समान ही सेवन करे । उसके मनमें कभी संदेह न उत्पन्न होने दे ॥ ३० ॥

स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विवर्जयेत् ।
न च तेष्वाश्वसेद् राजा जाग्रतीह निराकृताः ॥ ३१ ॥

जिन शत्रुओंके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया हो, उनके निकटवर्ती स्थानोंमें रहना या आना-जाना सदाके लिये त्याग दे । राजा उनपर कभी विश्वास न करे; क्योंकि इस जगत्में उसके द्वारा तिरस्कृत या क्षतिग्रस्त हुए शत्रुगण सदा बदला लेनेके लिये सजग रहते हैं ॥ ३१ ॥

न ह्यतो दुष्करं कर्म किंचिदस्ति सुरोत्तम ।
यथा विविधवृत्तानामैश्वर्यममराधिप ॥ ३२ ॥

देवेश्वर ! सुरश्रेष्ठ ! नाना प्रकारके व्यवहारचतुर लोगोंके ऐश्वर्यपर शासन करना जितना कठिन काम है, उससे बढ़कर दुष्कर कर्म दूसरा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

तथा विविधवृत्तानामपि सम्भव उच्यते ।
यतते योगमास्थाय मित्रामित्रं विचारयेत् ॥ ३३ ॥

वैसे भिन्न-भिन्न व्यवहारचतुर लोगोंके ऐश्वर्यपर भी शासन करना तभी सम्भव बताया गया है, जब कि राजा मनोयोगका आश्रय ले सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहे और कौन मित्र है तथा कौन शत्रु; इसका विचार करता रहे ॥ ३३ ॥

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥ ३४ ॥

मनुष्य कोमल स्वभाववाले राजाका अपमान करते हैं और अत्यन्त कठोर स्वभाववालेसे भी उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम न कठोर बनो, न कोमल । समय-समयपर कठोरता भी धारण करो और कोमल भी हो जाओ ॥ ३४ ॥

यथा वप्रे वेगवति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
नित्यं विवरणाद् बाधस्तथा राज्यं प्रमाद्यतः ॥ ३५ ॥

जैसे जलका प्रवाह बड़े वेगसे बह रहा हो और सब ओर जल-ही-जल फैल रहा हो, उस समय नदीतटके विदीर्ण होकर गिर जानेका सदा ही भय रहता है । उसी प्रकार यदि राजा सावधान न रहे तो उसके राज्यके नष्ट होनेका खतरा बना रहता है ॥ ३५ ॥

न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान् ।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरंदर ॥ ३६ ॥
एकैकमेषां निष्पिष्य शिष्टेषु निपुणं चरेत् ।
न तु शक्तोऽपि मेधावी सर्वानेवारभेन्नृपः ॥ ३७ ॥

पुरंदर ! बहुत-से शत्रुओंपर एक ही साथ आक्रमण नहीं करना चाहिये । साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा इन शत्रुओंमेंसे एक-एकको बारी-बारीसे कुचलकर शेष बचे हुए शत्रुको पीस डालनेके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न आरम्भ करे । बुद्धिमान् राजा शक्तिशाली होनेपर भी सब शत्रुओंको कुचलनेका कार्य एक ही साथ आरम्भ न करे ॥ ३६-३७ ॥

यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला ।
पदातियन्त्रबहुला अनुरक्ता षडङ्गिनी ॥ ३८ ॥
यदा बहुविधां वृद्धिं मन्येत प्रतिलोमतः ।
तदा विवृत्य प्रहरेद् दस्यूनामविचारयन् ॥ ३९ ॥

जब हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई और बहुत-से पैदलों तथा यन्त्रोंसे सम्पन्न, छः[1] अङ्गोंवाली विशाल सेना स्वामीके प्रति अनुरक्त हो, जब शत्रुकी अपेक्षा अपनी अनेक प्रकारसे उन्नति होती जान पड़े, उस समय राजा दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर प्रकटरूपसे डाकू और लुटेरोंपर प्रहार आरम्भ कर दे ॥ ३८-३९ ॥

न सामदण्डोपनिषत् प्रशस्यते
न मार्दवं शत्रुषु यात्रिकं सदा ।
न सस्यघातो न च संकरक्रिया
न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥ ४० ॥

शत्रुके प्रति सामनीतिका प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता, बल्कि गुप्तरूपसे दण्डनीतिका प्रयोग ही श्रेष्ठ समझा जाता है । शत्रुओंके प्रति न तो कोमलता और न उनपर आक्रमण करना ही सदा ठीक माना जाता है । उनकी खेतीको चौपट करना तथा वहाँके जल आदिमें विष मिला देना भी अच्छा नहीं है । इसके सिवा, सात प्रकृतियोंपर विचार करना भी उपयोगी नहीं है (उसके लिये तो गुप्त दण्डका प्रयोग ही श्रेष्ठ है) ॥ ४० ॥

मायाविभेदानुपसर्जनानि
तथैव पापं न यशःप्रयोगात् ।
आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत
पुरेषु राष्ट्रेषु च सम्प्रयुक्तान् ॥ ४१ ॥

राजा विश्वस्त मनुष्योंद्वारा शत्रुके नगर और राज्यमें नाना प्रकारके छल और परस्पर वैर-विरोधकी सृष्टि कर दे । इसी तरह छद्मवेषमें वहाँ अपने गुप्तचर नियुक्त कर दे; परंतु अपने यशकी रक्षाके लिये वहाँ अपनी ओरसे चोरी या गुप्त हत्या आदि कोई पापकर्म न होने दे ॥ ४१ ॥

पुरापि चैषामनुसृत्य भूमिपाः
पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति ।
पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि
प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४२ ॥

बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्र ! पृथ्वीका पालन करनेवाले राजालोग पहले इन शत्रुओंके नगरोंमें विधिपूर्वक व्यवहारमें लायी हुई नीतिका प्रयोग करके दिखावें । इस प्रकार उनके अनुकूल व्यवहार करके वे उनकी राजधानीमें सारे भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४२ ॥

प्रदाय गूढानि वसूनि राजन्
प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान् ।
दुष्टान् स्वदोषैरिति कीर्तयित्वा
पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४३ ॥

देवराज ! राजा अपने ही आदमियोंके विषयमें यह प्रचार कर देते हैं कि 'ये लोग दोषसे दूषित हो गये हैं; अतः मैंने इन दुष्टोंको राज्यसे बाहर निकाल दिया है । ये दूसरे देशमें चले गये हैं । ऐसा करके उन्हें वह शत्रुओंके राज्यों और नगरोंका भेद लेनेके कार्यमें नियुक्त कर देते हैं । ऊपरसे तो वे उनकी सारी भोग-सामग्री छीन लेते हैं; परंतु गुप्तरूपसे उन्हें प्रचुर धन अर्पित करके उनके साथ कुछ अन्य आत्मीय जनोंको भी लगा देते हैं ॥ ४३ ॥

तथैव चान्यैरपि शास्त्रवेदिभिः
स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः ।
सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः
परेषु कृत्यामुपधारयेच्च ॥ ४४ ॥

[1] हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, कोष और धनी वैश्य—ये सेनाके छः अङ्ग हैं ।

इसी तरह अन्यान्य शास्त्रज्ञ शास्त्रीय विधिके ज्ञाता सुशिक्षित तथा भाष्यकथाविशारद विद्वानोंको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उनके द्वारा शत्रुओंपर कृत्याका प्रयोग करावे ॥ ४४ ॥

इन्द्र उवाच

कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम ।
कथं दुष्टं विजानीयामेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ४५ ॥

इन्द्रने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! दुष्टके कौन-कौन-से लक्षण हैं ? मैं दुष्टको कैसे पहचानूँ ? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ४६ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज ! जो परोक्षमें किसी व्यक्तिके दोष-ही-दोष बताता है, उसके सद्गुणोंमें भी दोषारोपण करता रहता है और यदि दूसरे लोग उसके गुणोंका वर्णन करते हैं तो जो मुँह फेरकर चुप बैठ जाता है, वही दुष्ट माना जाता है ॥ ४६ ॥

तूर्ष्णीम्भावेऽपि विज्ञेयं न चेद् भवति कारणम् ।
निःश्वासं चोष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४७ ॥

चुप बैठनेपर भी उस व्यक्तिकी दुष्टताको इस प्रकार जाना जा सकता है । निःश्वास छोड़नेका कोई कारण न होनेपर भी जो किसीके गुणोंका वर्णन होते समय लंबी-लंबी साँस छोड़े, ओठ चबाये और सिर हिलाये, वह दुष्ट है ॥

करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते ।
अदृष्टितो न कुरुते दृष्टो नैवाभिभाषते ॥ ४८ ॥

जो बारंबार आकर संसर्ग स्थापित करता है, दूर जानेपर दोष बताता है, कोई कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके भी आँखसे ओझल होनेपर उस कार्यको नहीं करता है और आँखके सामने होनेपर भी कोई बातचीत नहीं करता, उसके मनमें भी दुष्टता भरी है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि ।
आसने शयने याने भावा लक्ष्या विशेषतः ॥ ४९ ॥

जो कहींसे आकर साथ नहीं, अलग बैठकर खाता है और कहता है, आजका जैसा भोजन चाहिये, वैसा नहीं बना है (वह भी दुष्ट है) । इस प्रकार बैठने, सोने और चलने-फिरने आदिमें दुष्ट व्यक्तिके दुष्टतापूर्ण भाव विशेषरूपसे देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ५० ॥

यदि मित्रके पीड़ित होनेपर किसीको स्वयं भी पीड़ा होती हो और मित्रके प्रसन्न रहनेपर उसके मनमें भी प्रसन्नता छायी रहती हो तो यही मित्रके लक्षण हैं । इसके विपरीत जो किसीको पीड़ित देखकर प्रसन्न होता और प्रसन्न देखकर पीड़ाका अनुभव करता है तो समझना चाहिये कि यह शत्रुके लक्षण हैं ॥ ५० ॥

एतान्येव यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप ।
पुरुषाणां प्रदुष्टानां स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५१ ॥

देवेश्वर ! इस प्रकार जो मनुष्योंके लक्षण बताये गये हैं, उनको समझना चाहिये । दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव अत्यन्त प्रबल होता है ॥ ५१ ॥

इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुरसत्तम ।
निशम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५२ ॥

सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! शास्त्रके सिद्धान्तका यथावत् रूपसे विचार करके ये मैंने तुमसे दुष्ट पुरुषकी पहचान करानेवाले लक्षण बताये हैं ॥ ५२ ॥

भीष्म उवाच

स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रत-
स्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः ।
चचार काले विजयाय चारिहा
वशं च शत्रूननयत् पुरंदरः ॥ ५३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शत्रुओंके संहारमें तत्पर रहनेवाले शत्रुनाशक इन्द्रने बृहस्पतिजीका वह यथार्थ वचन सुनकर वैसा ही किया । उन्होंने उपयुक्त समयपर विजयके लिये यात्रा की और समस्त शत्रुओंको अपने अधीन कर लिया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

राज्य, खजाना और सेना आदिसे वञ्चित हुए असहाय क्षेमदर्शी राजाके प्रति कालकवृक्षीय मुनिका वैराग्यपूर्ण उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धार्मिकोऽर्थानसम्प्राप्य राजामात्यैः प्रबाधितः ।
च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन् कथं चरेत् ।१।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजा धर्मात्मा हो और उद्योग करते रहनेपर भी धन न पा सके, उस अवस्थामें यदि मन्त्री उसे कष्ट देने लगें और उसके पास खजाना तथा

सेना भी न रह जाय तो सुख चाहनेवाले उस राजाको कैसे काम चलाना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्रायं क्षेमदर्शीय इतिहासोऽनुगीयते ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें यह क्षेमदर्शीका इतिहास जगत्‌में बार-बार कहा जाता है । उसीको मैं तुमसे कहूँगा । तुम ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

क्षेमदर्शी नृपसुतो यत्र क्षीणबलः पुरा ।
मुनिं कालकवृक्षीयमाजगामेति नः श्रुतम् ।
तं पप्रच्छानुसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि प्राचीनकालमें एक बार कोसलराजकुमार क्षेमदर्शीको बड़ी कठिन विपत्तिका सामना करना पड़ा । उसकी सारी सैनिक-शक्ति नष्ट हो गयी । उस समय वह कालकवृक्षीय मुनिके पास गया और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उसने उस विपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय पूछा ॥३॥

राजोवाच

अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः ।
अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन् किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

राजाने इस प्रकार प्रश्न किया—ब्रह्मन् ! मनुष्य धनका भागीदार समझा जाता है; किंतु मेरे-जैसा पुरुष बार-बार उद्योग करनेपर भी यदि राज्य न पा सके तो उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ४ ॥

अन्यत्र मरणाद् दैन्यादन्यत्र परसंश्रयात् ।
क्षुद्रादन्यत्र चाचारात् तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥ ५ ॥

साधुशिरोमणे ! आत्मघात करने, दीनता दिखाने, दूसरोंकी शरणमें जाने तथा इसी तरहके और भी नीच कर्म करनेकी बात छोड़कर दूसरा कोई उपाय हो तो वह मुझे बताइये ॥

व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥

जो मानसिक अथवा शारीरिक रोगसे पीड़ित है, ऐसे मनुष्यको आप-जैसे धर्मज्ञ और कृतज्ञ महात्मा ही शरण देनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते ।
त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु॥ ७ ॥

मनुष्यको जब कभी विषय-भोगोंसे वैराग्य होता है, तब विरक्त होनेपर वह हर्ष और शोकको त्याग देता तथा ज्ञानमय धन पाकर नित्य सुखका अनुभव करने लगता है ॥ ७ ॥

सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् ।
मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८ ॥

जिनके सुखका आधार धन है अर्थात् जो धनसे ही सुख मानते हैं, उन मनुष्योंके लिये मैं निरन्तर शोक करता हूँ; क्योंकि मेरे पास धन बहुत था, परंतु वह सब सपनेमें मिली हुई सम्पत्तिकी तरह नष्ट हो गया ॥ ८ ॥

दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये ।
वयं त्वेतान् परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९ ॥

मेरी समझमें जो अपनी विशाल सम्पत्तिको त्याग देते हैं, वे अत्यन्त दुष्कर कार्य करते हैं । मेरे पास तो अब धनके नामपर कुछ नहीं है, तो भी मैं उसका मोह नहीं छोड़ पाता हूँ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तं दीनमार्तं श्रिया च्युतम् ।
यदन्यत् सुखमस्तीह तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! मैं राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट, दीन और आर्त होकर इस शोचनीय अवस्थामें आ पड़ा हूँ । इस जगत्‌में धनके अतिरिक्त जो सुख हो, उसीका मुझे उपदेश कीजिये ॥१०॥

कौसल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता ।
मुनिः कालकवृक्षीयः प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् कोसलराजकुमारके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी कालकवृक्षीय मुनिने इस तरह उत्तर दिया ॥ ११ ॥

मुनिरुवाच

पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानता ।
अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥ १२ ॥

मुनि बोले—राजकुमार ! तुम समझदार हो; अतः तुम्हें पहलेसे ही अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा ही निश्चय कर लेना उचित था । इस जगत्‌में 'मैं' और 'मेरा' कहकर जो कुछ भी समझा या ग्रहण किया जाता है, वह सब अनित्य ही है ॥ १२ ॥

यत् किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३ ॥

तुम जिस किसी वस्तुको ऐसा मानते हो कि 'यह है' वह सब पहलेसे ही समझ लो कि 'नहीं है' ऐसा समझनेवाला विद्वान् पुरुष कठिन-से-कठिन विपत्तिमें पड़नेपर भी व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति ।
एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जो वस्तु पहले थी और होगी, वह सब न तो थी और न होगी ही । इस प्रकार जानने योग्य तत्त्वको जान लेनेपर तुम सम्पूर्ण अधर्मोंसे छुटकारा पा जाओगे ॥ १४ ॥

यच्च पूर्वं समाहारे यच्च पूर्वं परे परे ।
सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥ १५॥

जो वस्तु पहले बहुत बड़े समुदायके अधीन (गणतन्त्र) रह चुकी है तथा जो एकके बाद दूसरेकी होती आयी है, वह सबकी सब तुम्हारी भी नहीं है; इस बातको भलीभाँति समझ लेनेपर किसको बारंबार चिन्ता होगी ॥ १५ ॥

भूत्वा च न भवत्येतदभूत्वा च भविष्यति ।
शोके न ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात् कथंचन ॥१६॥

यह राजलक्ष्मी होकर भी नहीं रहती और जिनके पास नहीं होती, उनके पास आ आती है; परंतु शोककी सामर्थ्य

नहीं है कि वह गयी हुई सम्पत्तिको लौटा लावे; अतः किसी तरह भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च ।१७।

राजन्! बताओ तो सही, तुम्हारे पिता आज कहाँ हैं? तुम्हारे पितामह अब कहाँ चले गये? आज न तो तुम उन्हें देखते हो और न वे तुम्हें देख पाते हैं ॥ १७ ॥

आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि ।
बुद्ध्या चैवानुबुद्ध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥

यह शरीर अनित्य है, इस बातको तुम देखते और समझते हो, फिर उन पूर्वजोंके लिये क्यों निरन्तर शोक करते हो? जरा बुद्धि लगाकर विचार तो करो, निश्चय ही एक दिन तुम भी नहीं रहोगे ॥ १८ ॥

अहं च त्वं च नृपते सुहृदः शत्रवश्च ते ।
अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति ॥ १९ ॥

नरेश्वर! मैं, तुम, तुम्हारे मित्र और शत्रु—ये हम सब लोग एक दिन नहीं रहेंगे। यह सब कुछ नष्ट हो जायगा॥

ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥ २० ॥

इस समय जो बीस या तीस वर्षकी अवस्थावाले मनुष्य हैं, ये सभी सौ वर्षके पहले ही मर जायँगे ॥ २० ॥

अपि चेन्महतो वित्तान्न प्रमुच्येत पूरुषः ।
नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें यदि मनुष्य बहुत बड़ी सम्पत्तिसे न बिछुड़ जाय तो भी उसे 'यह मेरा नहीं है' ऐसा समझकर अपना कल्याण अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

अनागतं यन्न ममेति विद्या-
दतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात् ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमाना-
स्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः ॥ २२ ॥

जो वस्तु भविष्यमें मिलनेवाली है, उसे यही माने कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो चुकी हो, उसके विषयमें भी यही भाव रखे कि 'वह मेरी नहीं थी।' जो ऐसा मानते हैं कि 'प्रारब्ध ही सबसे प्रबल है,' वे ही विद्वान् हैं और उन्हें सत्पुरुषोंका आश्रय कहा गया है ॥ २२ ॥

अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यं चाप्यनुशासति ।
बुद्धिपौरुषसम्पन्नास्त्वया तुल्याधिका जनाः ॥ २३ ॥
न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात् त्वमपि मा शुचः ।
किं न त्वं तैर्नरैः श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः ॥ २४ ॥

जो धनाढ्य नहीं हैं, वे भी जीते हैं और कोई राज्यका शासन भी करते हैं। उनमेंसे कुछ तुम्हारे समान ही बुद्धि और पौरुषसे सम्पन्न हैं तथा कुछ तुमसे बढ़कर भी हो सकते हैं। परंतु वे भी तुम्हारी तरह शोक नहीं करते; अतः तुम भी शोक न करो। क्या तुम बुद्धि और पुरुषार्थमें उन मनुष्योंसे श्रेष्ठ या उनके समान नहीं हो? ॥ २३-२४ ॥

राजोवाच

यादृच्छिकं सर्वमासीत् तद् राज्यमिति चिन्तये ।
ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो यही समझता हूँ कि वह सारा राज्य मुझे स्वतः अनायास ही प्राप्त हो गया था और अब महान् शक्तिशाली कालने यह सब कुछ छीन लिया है ॥ २५ ॥

तस्यैव ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन ।
फलमेतत् प्रपश्यामि यथालब्धेन वर्तयन् ॥ २६ ॥

तपोधन! जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहा ले जाता है, उसी प्रकार कालके वेगसे मेरे राज्यका अपहरण हो गया। उसीके फलस्वरूप मैं इस शोकका अनुभव करता हूँ और जैसे तैसे जो कुछ मिल जाता है, उसीसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ २६ ॥

मुनिरुवाच

अनागतमतीतं च याथातथ्यविनिश्चयात् ।
नानुशोचेत कौसल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥

मुनिने कहा—कोसलराजकुमार! यथार्थ तत्त्वका निश्चय हो जानेपर मनुष्य भविष्य और भूतकालकी किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता। इसलिये तुम भी सभी पदार्थोंके विषयमें उसी तरह शोकरहित हो जाओ ॥ २७ ॥

अवाप्यान् कामयन्नर्थान् नानवाप्यान् कदाचन ।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन् मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥

मनुष्य पाने योग्य पदार्थोंकी ही कामना करता है। अप्राप्य वस्तुओंकी कदापि नहीं। अतः तुम्हें भी जो कुछ प्राप्त है, उसीका उपभोग करते हुए अप्राप्त वस्तुके लिये कभी चिन्तन नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

यथालब्धोपपन्नार्थैस्तथा कौसल्य रंस्यसे ।
कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रिया हीनो न शोचसि ॥ २९ ॥

कोसलनरेश! क्या तुम दैववश जो कुछ मिल जाय, उसीसे उतने ही आनन्दके साथ रह सकोगे, जैसे पहले रहते थे। आज राजलक्ष्मीसे वञ्चित होनेपर भी क्या तुम शुद्ध हृदयसे शोकको छोड़ चुके हो? ॥ २९ ॥

पुरस्ताद् भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः ।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थश्च न मृष्यते ॥ ३० ॥

जब पहले सम्पत्ति प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है, तब उसीके कारण अपनेको भाग्यहीन माननेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य सदा विधाताकी निन्दा करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए पदार्थोंसे उसे संतोष नहीं होता है ॥ ३० ॥

अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान् ।
एतस्मात् कारणादेतद् दुःखं भूयोऽनुवर्तते ॥ ३१ ॥

वह दूसरे धनी मनुष्योंको धनके अयोग्य मानता है। इसी कारण उसका यह ईर्ष्याजनक दुःख सदा उसके पीछे लगा रहता है ॥ ३१ ॥

ईर्ष्याभिमानसम्पन्ना राजन् पुरुषमानिनः।
कच्चित् त्वं न तथा राजन् मत्सरी कोसलाधिप॥ ३२ ॥

राजन्! अपनेको पुरुष माननेवाले बहुत-से मनुष्य ईर्ष्या और अहंकारसे भरे होते हैं। कोसलनरेश! क्या तुम ऐसे ईर्ष्यालु तो नहीं हो? ॥ ३२ ॥

सहस्व श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा।
अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ॥ ३३ ॥
अभिनिष्यन्दते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनम्।

यद्यपि तुम्हारे पास लक्ष्मी नहीं है तो भी तुम दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर सहन करो; क्योंकि चतुर मनुष्य दूसरोंके यहाँ रहनेवाली सम्पत्तिका भी सदा उपभोग करते हैं और जो लोगोंसे द्वेष रखता है, उसके पास सम्पत्ति हो तो भी वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ ३३½ ॥

श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः।
योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥ ३४ ॥

योगधर्मको जाननेवाले धर्मात्मा धीर मनुष्य अपनी सम्पत्ति तथा पुत्र-पौत्रोंका भी स्वयं ही त्याग कर देते हैं ॥३४॥

(त्यक्तं स्वायम्भुवे वंशे शुभेन भरतेन च।
नानारत्नसमाकीर्णं राज्यं स्फीतमिति श्रुतम् ॥
तथान्यैर्भूमिपालैश्च त्यक्तं राज्यं महोदयम्।
त्यक्त्वा राज्यानि सर्वे च वने वन्यफलाशनाः॥
गताश्च तपसः पारं दुःखस्यान्तं च भूमिपाः।)
बहुसंकुसुकं दृष्ट्वा विधित्सासाधनेन च।
तथान्ये संत्यजन्त्येव मत्वा परमदुर्लभम् ॥ ३५ ॥

स्वायम्भुव मनुके वंशमें उत्पन्न हुए शुभ आचार-विचारवाले राजा भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अपने समृद्धिशाली राज्यको त्याग दिया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है इसी प्रकार अन्य भूमिपालोंने भी महान् अभ्युदयशाली राज्यका परित्याग किया है। राज्य छोड़कर वे सब-के-सब भूपाल वनमें जंगली फल-मूल खाकर रहते थे। वहीं वे तपस्या और दुःखके पार पहुँच गये। धनकी प्राप्ति निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहनेसे होती है, फिर भी वह अत्यन्त अस्थिर है, यह देखकर तथा इसे परम दुर्लभ मानकर भी दूसरे लोग उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन् कृपणं परितप्यसे।
अकाम्यान् कामयानोऽर्थान् पराधीनानुपद्रवान् ॥३६॥

परंतु तुम तो समझदार हो, तुम्हें मालूम है, भोग प्रारब्धके अधीन और अस्थिर हैं, तो भी नहीं चाहनेयोग्य विषयोंको चाहते हो और उनके लिये दीनता दिखाते हुए शोक कर रहे हो ॥ ३६ ॥

तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैतान् परित्यज।
अनर्थाश्चार्थरूपेण ह्यर्थाश्चानर्थरूपिणः ॥ ३७ ॥

तुम पूर्वोक्त बुद्धिको समझनेकी चेष्टा करो और इन भोगोंको छोड़ो, जो तुम्हें अर्थके रूपमें प्रतीत होनेवाले अनर्थ हैं; क्योंकि वास्तवमें समस्त भोग अनर्थस्वरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

अर्थायैव हि केषांचिद् धननाशो भवत्युत।
आनन्त्यं तत्सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीप्सति ॥ ३८ ॥

इस अर्थ या भोगके लिये ही कितने ही लोगोंके धनका नाश हो जाता है। दूसरे लोग सम्पत्तिको अक्षय सुख मानकर उसे पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ३८ ॥

रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥ ३९ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो धन-सम्पत्तिमें इस तरह रम जाता है कि उसे उससे बढ़कर सुखका साधन और कुछ जान ही नहीं पड़ता है। अतः वह धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहता है। परंतु दैववश उस मनुष्यका वह सारा उद्योग सहसा नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

कृच्छ्राल्लब्धमभिप्रेतं यदि कौसल्य नश्यति।
तदा निर्विद्यते सोऽर्थात् परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥
(अनित्यां तां श्रियं मत्वा श्रियं वा कः परीप्सति।)

कोसलनरेश! बड़े कष्टसे प्राप्त किया हुआ वह अभीष्ट धन यदि नष्ट हो जाता है तो उसके उद्योगका सिलसिला टूट जाता है और वह धनसे विरक्त हो जाता है। इस प्रकार उस सम्पत्तिको अनित्य समझकर भी भला कौन उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करेगा? ॥ ४० ॥

धर्ममेकेऽभिपद्यन्ते कल्याणाभिजना नराः।
परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए कुछ ही मनुष्य ऐसे हैं, जो धर्मकी शरण लेते हैं और परलोकमें सुखकी इच्छा रखकर समस्त लौकिक व्यापारसे उपरत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

जीवितं संत्यजन्त्येके धनलोभपरा जनाः।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥

कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो धनके लोभमें पड़कर अपने प्राणतक गँवा देते हैं। ऐसे मनुष्य धनके सिवा जीवनका दूसरा कोई प्रयोजन ही नहीं समझते हैं ॥ ४२ ॥

पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम्।
अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ॥ ४३ ॥

देखो, उनकी दीनता और देख लो उनकी मूर्खता, जो इस अनित्य जीवनके लिये मोहवश धनमें ही दृष्टि गड़ाये रहते हैं ॥ ४३ ॥

संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते।
संयोगे च वियोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ॥ ४४ ॥

जब संग्रहका अन्त विनाश ही है, जब जीवनका अन्त

मृत्यु ही है और जब संयोगका अन्त वियोग ही है, तब इनकी ओर कौन अपना मन लगायेगा ? ॥ ४४ ॥

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येव तद् विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत् ॥ ४५ ॥

राजन् ! चाहे मनुष्य धनको छोड़ता है, चाहे धन ही मनुष्यको छोड़ देता है । एक दिन अवश्य ऐसा होता है । इस बातको जाननेवाला कौन मनुष्य धनके लिये चिन्ता करेगा ? ॥

(अन्यत्रोपनता ह्यापत् पुरुषं तोषयत्युत ।
तेन शान्तिं न लभते नाहमेवेति कारणात् ॥)

दूसरोंपर पड़ी हुई आपत्ति मूर्ख मनुष्यको संतोष प्रदान करती है । वह समझता है कि मैं उस संकटमें नहीं पड़ा हूँ । इस भेददृष्टिके कारण ही उसे कभी शान्ति नहीं मिलती ॥

अन्येषामपि नश्यन्ति सुहृदश्च धनानि च ।
पश्य बुद्ध्या मनुष्याणां राजन्नापदमात्मनः ॥ ४६ ॥

राजन् ! दूसरोंके भी धन और सुहृद् नष्ट होते हैं; अतः तुम बुद्धिसे विचारकर देखो कि दूसरे मनुष्योंके समान ही तुम्हारी अपनी आपत्ति भी है ॥ ४६ ॥

नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरम् ।
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि ॥ ४७ ॥

इन्द्रियोंको संयममें रक्खो, मनको वशमें करो और वाणी-का संयम करके मौन रहा करो । ये मन, वाणी और इन्द्रियाँ दुर्बल हों या अहितकारक, इन्हें विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेवाला अपने सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ४७ ॥

प्रातिसृष्टेषु भावेषु व्यपकृष्टेष्वसम्भवे ।
प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥ ४८ ॥

सारे पदार्थ जब संसर्गमें आते हैं, तभी दृष्टिगोचर होते हैं । दूर हो जानेपर उनका दर्शन सम्भव नहीं हो पाता । ऐसी स्थितिमें ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त तथा पराक्रमसे सम्पन्न तुम्हारे-जैसा पुरुष शोक नहीं करता है ॥ ४८ ॥

अल्पमिच्छन्नचपलो मृदुर्दान्तः सुनिश्चितः ।
ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव शोचति ॥ ४९ ॥

तुम्हारी इच्छा तो बहुत थोड़ी है । तुममें चपलताका दोष भी नहीं है । तुम्हारा हृदय कोमल और बुद्धि एक निश्चयपर डटी रहनेवाली है तथा तुम जितेन्द्रिय होनेके साथ ही ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न भी हो; अतः तुम्हारे-जैसे पुरुषको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४९ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ।
नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुष्टां कापुरुषोचिताम् ॥ ५० ॥

तुमको हाथमें कपाल लेकर भीख माँगनेवालोंकी तथा निर्दय पुरुषोंकी उस कपटभरी वृत्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो अत्यन्त पापपूर्ण, अनेक दोषोंसे दूषित तथा कायरोंके ही योग्य है ॥ ५० ॥

अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने ।
वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूतदयान्वितः ॥ ५१ ॥

तुम मूल-फलसे जीवन-निर्वाह करते हुए विशाल वनमें अकेले ही विचरण करो । वाणीको संयममें रखकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो और सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयाभाव बनाये रक्खो ॥ ५१ ॥

सदृशं पण्डितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिना ।
यदेको रमतेऽरण्येष्वारण्ये नैव तुष्यति ॥ ५२ ॥

तुम-जैसे विद्वान् पुरुषके योग्य कार्य तो यह है कि वनमें ईषाके समान बड़े-बड़े दाँतवाले जंगली हाथीके साथ अकेला विचरे और जंगलके ही पत्र, पुष्प तथा फल मूल खाकर संतुष्ट रहे ॥ ५२ ॥

महाह्रदः संक्षुभित आत्मनैव प्रसीदति ।
(इत्थं नरोऽप्यात्मनैव कृतप्रज्ञः प्रसीदति ।)
एतदेवंगतस्याहं सुखं पश्यामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

जैसे क्षुब्ध हुआ महान् सरोवर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धिवाला मनुष्य क्षुब्ध होनेपर भी निर्मल हो जाता है । अतः राजकुमार ! इस अवस्थामें तुम्हारा इस रूपमें आ जाना अर्थात् तुम्हारे मनमें ऐसे विशुद्ध भावका उदय होना शुभ है । इस प्रकारके जीवनको ही मैं सुखमय समझता हूँ ॥

असम्भवे श्रियो राजन् हीनस्य सचिवादिभिः ।
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान् ॥ ५४ ॥

राजन् ! तुम्हारे लिये अब धन-सम्पत्तिकी कोई सम्भावना नहीं है । तुम मन्त्री आदिसे भी रहित हो गये हो तथा दैव भी तुम्हारे प्रतिकूल ही है, ऐसी अवस्थामें तुम अपने लिये किस मार्गका अवलम्बन अच्छा समझते हो ? ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिके द्वारा गये हुए राज्यकी प्राप्तिके लिये विभिन्न उपायोंका वर्णन

मुनिरुवाच

अथ चेत् पौरुषं किंचित् क्षत्रियात्मनि पश्यसि ।
ब्रवीमि तां तु ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥ १ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! यदि तुम अपनेमें कुछ पुरुषार्थ देखते हो तो मैं तुम्हें राज्यकी प्राप्तिके लिये एक नीति बता रहा हूँ ॥ १ ॥

तां चेच्छक्नोषि निर्मातुं कर्म चैव करिष्यसि ।
शृणु सर्वमशेषेण यत् त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

यदि तुम उसे कार्यरूपमें परिणत कर सको, उसके अनुसार ही सारा कार्य करो तो मैं उस नीतिका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ । तुम वह सब पूर्णरूपसे सुनो ॥ २ ॥

आचरिष्यसि चेत् कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।
राज्यं राज्यस्य मन्त्रं वा महतीं वा पुनः श्रियम् ॥ ३ ॥
अथैतद् रोचते राजन् पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते ।

यदि तुम मेरी बतायी हुई नीतिके अनुसार कार्य करोगे तो तुम्हें पुनः महान् वैभव, राज्य, राज्यकी मन्त्रणा और विशाल सम्पत्तिकी प्राप्ति होगी । राजन् ! यदि मेरी यह बात तुम्हें रुचती हो तो फिरसे कहो, क्या मैं तुमसे इस विषयका वर्णन करूँ ? ॥ ३½ ॥

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नोऽस्म्यहं प्रभो ॥ ४ ॥
अमोघोऽयं भवत्वद्य त्वया सह समागमः ।

राजाने कहा—प्रभो ! आप अवश्य उस नीतिका वर्णन करें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आपके साथ जो समागम प्राप्त हुआ है, यह आज व्यर्थ न हो ॥ ४½ ॥

मुनिरुवाच

हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा ॥ ५ ॥
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।

मुनिने कहा—राजन् ! तुम दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भयको त्यागकर हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर शत्रुओंकी भी सेवा करो ॥ ५½ ॥

तमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिधारय ॥ ६ ॥
दातुमर्हति ते वित्तं वैदेहः सत्यसंगरः ।
प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च भविष्यसि ॥ ७ ॥

तुम पवित्र व्यवहार और उत्तम कर्मद्वारा अपने प्रति विदेहराजका विश्वास उत्पन्न करो । विदेहराज सत्यप्रतिज्ञ हैं; अतः वे तुम्हें अवश्य धन प्रदान करेंगे । यदि ऐसा हुआ तो तुम समस्त प्राणियोंके लिये प्रमाणभूत (विश्वासपात्र) तथा राजाकी दाहिनी बाँह हो जाओगे ॥ ६-७ ॥

ततः सहायान् सोत्साहाँल्लप्स्यसेऽव्यसनाञ्शुचीन् ।
वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ।

फिर तो तुम्हें बहुत-से शुद्ध हृदयवाले, दुर्व्यसनोंसे रहित तथा उत्साही सहायक मिल जायँगे । जो मनुष्य शास्त्रके अनुकूल आचरण करता हुआ अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह अपना तो उद्धार करता ही है, प्रजाको भी प्रसन्न कर लेता है ॥ ८½ ॥

तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ॥ ९ ॥
प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा च ग्रहणं महत् ।
ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रिभिः ॥ १० ॥
आन्तरैर्भेदयित्वारीन् बिल्वं बिल्वेन भेदय ।

राजा जनक बड़े धीर और श्रीसम्पन्न हैं । जब वे तुम्हारा सत्कार करेंगे, तब सभी लोगोंके विश्वासपात्र होकर तुम अत्यन्त गौरवान्वित हो जाओगे । उस अवस्थामें तुम मित्रोंकी सेना इकट्ठी करके अच्छे मन्त्रियोंके साथ सलाह लेकर अन्तरङ्ग व्यक्तियोंद्वारा शत्रुदलमें फूट डलवाकर बेलको बेलसे ही फोड़ो (शत्रुके सहयोगसे ही शत्रुका विध्वंस कर डालना) ॥ ९-१०½ ॥

परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥ ११ ॥
अलभ्या ये शुभा भावाः स्त्रियश्चाच्छादनानि च ।
शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ १२ ॥
पक्षिणो मृगजातानि रसगन्धाः फलानि च ।
तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्यत्वयं परः ॥ १३ ॥

अथवा दूसरोंसे मेल करके उन्हींके द्वारा शत्रुके बलका भी नाश कराओ । राजकुमार ! जो शुभ पदार्थ अलभ्य हैं, उनमें तथा स्त्री, ओढ़ने-बिछानेके सुन्दर वस्त्र, अच्छे-अच्छे पलंग, आसन, वाहन, बहुमूल्य गृह, तरह-तरहके रस, गन्ध और फल—इन्हीं वस्तुओंमें शत्रुको आसक्त करो । भाँति-भाँतिके पक्षियों और विभिन्न जातिके पशुओंके पालनकी भी आसक्ति शत्रुके मनमें पैदा करो, जिससे यह शत्रु धीरे-धीरे धनहीन होकर स्वतः नष्ट हो जाय ॥ ११—१३ ॥

यद्येवं प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति ।
न जातु विवृतः कार्यः शत्रुः सुनयमिच्छता ॥ १४ ॥

यदि ऐसा करते समय कभी शत्रुको उस व्यसनकी ओर जानेसे रोकने या मना करनेकी आवश्यकता पड़े तो वह भी करना चाहिये अथवा वह उपेक्षाके योग्य हो तो उपेक्षा ही कर देनी चाहिये; किंतु उत्तम नीतिका फल चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह किसी भी दशामें शत्रुपर अपना गुप्त मनोभाव प्रकट न होने दे ॥ १४ ॥

रमस्व परमामित्रे विषये प्राज्ञसम्मतः ।
भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्रधर्ममनर्थकैः ॥ १५ ॥

तुम बुद्धिमानोंके विश्वासभाजन बनकर अपने महाशत्रुके राज्यमें सानन्द विचरण करो और कुत्ते, हिरन तथा कौओंकी तरह* चौकन्ने रहकर निरर्थक बर्तावोंद्वारा विदेहराजके प्रति

* जैसे कुत्ते बहुत जागते हैं, उसी तरह शत्रुकी गति-विधिको देखनेके लिये बराबर जागता रहे । जिस प्रकार हिरन बहुत चौकन्ने होते हैं, जरा भी भयकी आशङ्का होते ही भाग जाते हैं, उसी तरह हर समय सावधान रहे । भय आनेके पहले ही वहाँसे खिसक जाय । जैसे कौए प्रत्येक मनुष्यकी चेष्टा देखते रहते हैं, किसीको हाथ उठाते देख तुरंत उड़ जाते हैं; इसी प्रकार शत्रुकी चेष्टापर सदा दृष्टि रक्खे ।

मित्रधर्मका पालन करो ॥ १५ ॥

आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय ।
नदीवच्च विरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १६ ॥

शत्रुको इतने बड़े-बड़े कार्य करनेकी प्रेरणा दो, जिनका पूरा होना अत्यन्त कठिन हो और बलवान् राजाओंके साथ शत्रुका ऐसा विरोध करा दो, जो किसी विशाल नदीके समान अत्यन्त दुस्तर हो ॥ १६ ॥

उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिभोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े बगीचे लगवाकर, बहुमूल्य पलंग-बिछौने तथा भोग-विलासके अन्य साधनोंमें खर्च कराकर उसका सारा खजाना खाली करा दो ॥ १७ ॥

यज्ञदाने प्रशाध्यस्मै ब्राह्मणाननुवर्ण्य तान् ।
ते त्वां प्रतिकरिष्यन्ति तं भोक्ष्यन्ति वृका इव ॥ १८ ॥

तुम मिथिलाके प्रसिद्ध ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करके उनके द्वारा विदेहराजको बड़े-बड़े यज्ञ और दान करनेका उपदेश दिलाओ । नित्य ही वे ब्राह्मण तुम्हारा उपकार करेंगे और विदेहराजको भेड़ियोंके समान नोच खायेंगे ॥ १८ ॥

असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति मानवः ॥ १९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि पुण्यशील मानव परम गतिको प्राप्त होता है । उसे स्वर्गलोकमें परम पवित्र स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति ।
उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मेणाधर्म एव च ॥ २० ॥

कोसलराज! धर्म अथवा अधर्म या उन दोनोंमें ही प्रवृत्त रहनेवाले राजाका कोष निश्चय ही खाली हो जाता है । खजाना खाली होते ही राजा अपने शत्रुओंके वशमें आ जाता है ॥ २० ॥

फलार्थमूलं व्युच्छिद्येत् तेन नन्दन्ति शात्रवः ।
न चास्मै मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ॥ २१ ॥

शत्रुके राज्यमें जो फल-मूल और खेती आदि हो, उसे गुप्तरूपसे नष्ट करा दे । इससे उसके शत्रु प्रसन्न होते हैं । यह कार्य किसी मनुष्यका किया हुआ न बतावे । दैवी घटना कहकर इसका वर्णन करे ॥ २१ ॥

असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति ।
याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्य तम् ॥ २२ ॥

इसमें संदेह नहीं कि दैवका मारा हुआ मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । हो सके तो शत्रुको विश्वजित् नामक यज्ञमें लगा दो और उसके द्वारा दक्षिणारूपमें सर्वस्वदान कराकर उसे निर्धन बना दो ॥ २२ ॥

ततो गच्छसि सिद्धार्थः पीड्यमानं महाजनम् ।
योगधर्मविदं पुण्यं कंचिदस्योपवर्णयेत् ॥ २३ ॥
अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिद् गच्छेदनामयम् ।
सिद्धेनौषधियोगेन सर्वशत्रुविनाशिना ।
नागानश्वान् मनुष्यांश्च कृतकैरुपघातयेत् ॥ २४ ॥

इससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा । तदनन्तर तुम्हें कष्ट पाते हुए किसी श्रेष्ठपुरुषकी दुरवस्थाका और किसी योगधर्मके ज्ञाता पुण्यात्मा पुरुषकी महिमाका राजाके सामने वर्णन करना चाहिये, जिससे शत्रु राजा अपने राज्यको त्याग देनेकी इच्छा करने लगे । यदि कदाचित् वह प्रकृतिस्थ ही रह जाय, उसके ऊपर वैराग्यका प्रभाव न पड़े, तब अपने नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा सर्वशत्रुविनाशक सिद्ध औषधके प्रयोगसे शत्रुके हाथी, घोड़े और मनुष्योंको मरवा डालना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

एते चान्ये च बहवो दम्भयोगाः सुचिन्तिताः ।
शक्या विषहता कर्तुं पुरुषेण कृतात्मना ॥ २५ ॥

राजकुमार ! अपने मनको वशमें रखनेवाला पुरुष यदि धर्म-विरुद्ध आचरण करना सह सके तो ये तथा और भी बहुत-से भलीभाँति सोचे हुए कपटपूर्ण प्रयोग हैं, जो उसके द्वारा किये जा सकते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिका विदेहराज तथा कोसलराजकुमारमें मेल कराना और विदेहराजका कोसलराजको अपना जामाता बना लेना

राजोवाच

न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान् सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं कपट और दम्भका आश्रय लेकर जीवित रहना नहीं चाहता । अधर्मके सहयोगसे मुझे बहुत बड़ी सम्पत्ति मिलती हो तो भी मैं उसकी इच्छा नहीं करता ॥ १ ॥

पुरस्तादेव भगवन् मयैतदपवर्जितम् ।
येन मां नाभिशङ्केत येन कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥

भगवन् ! मैंने तो पहलेसे ही इन सब दुर्गुणोंका परित्याग कर दिया है, जिससे किसीका मुझपर संदेह न हो और सबका सम्पूर्णरूपसे हित हो ॥ २ ॥

आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतत् त्वय्युपपद्यते ॥ ३ ॥

मैं दया-धर्मका आश्रय लेकर ही इस जगत्‌में जीना चाहता हूँ । मुझसे यह अधर्माचरण कदापि नहीं हो सकता और ऐसा उपदेश देना आपको भी शोभा नहीं देता ॥ ३ ॥

मुनिरुवाच

उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे ।
प्रकृत्या ह्युपपन्नोऽसि बुद्ध्या वा बहुदर्शनः ॥ ४ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसे ही गुणोंसे सम्पन्न भी हो । तुम धार्मिक स्वभावसे युक्त हो और अपनी बुद्धिके द्वारा बहुत कुछ देखने तथा समझनेकी शक्ति रखते हो ॥ ४ ॥

उभयोरेव वामर्थे यतिष्ये तव तस्य च ।
संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनपायिनम् ॥ ५ ॥

मैं तुम्हारे और राजा जनक—दोनोंके ही हितके लिये अब स्वयं ही प्रयत्न करूँगा और तुम दोनोंमें ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करा दूँगा, जो अमिट और चिरस्थायी हो ॥

त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतम् ।
अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥

तुम्हारा जन्म उच्चकुलमें हुआ है । तुम दयालु, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा राज्यसंचालनकी कलामें कुशल हो । तुम्हारे-जैसे योग्य पुरुषको कौन अपना मन्त्री नहीं बनायेगा ? ॥ ६ ॥

यस्त्वं प्रच्यावितो राज्याद् व्यसनं चोत्तमं गतः ।
आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥

राजकुमार ! तुम्हें राज्यसे भ्रष्ट कर दिया गया है । तुम बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये हो तथापि तुमने क्रूरताको नहीं अपनाया, तुम दयायुक्त बर्तावसे ही जीवन बिताना चाहते हो ॥ ७ ॥

आगन्ता मद्गृहं तात वैदेहः सत्यसंगरः ।
अथाहं तं नियोक्ष्यामि तत् करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥

तात ! सत्यप्रतिज्ञ विदेहराज जनक जब मेरे आश्रमपर पधारेंगे, उस समय मैं उन्हें जो भी आज्ञा दूँगा, उसे वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे ॥ ८ ॥

तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत् ।
अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुनिने विदेहराज जनकको बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! यह राजकुमार राजवंशमें उत्पन्न हुआ है, इसकी आन्तरिक बातोंको भी मैं जानता हूँ ॥ ९ ॥

आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा यथा ।
नास्मिन् पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥

'इसका हृदय दर्पणके समान शुद्ध और शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल है । मैंने इसकी सब प्रकारसे परीक्षा कर ली है । इसमें मैं कोई पाप या दोष नहीं देख रहा हूँ ॥

तेन ते संधिरेवास्तु विश्वसास्मिन् यथा मयि ।
न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम् ॥ ११ ॥

'अतः इसके साथ अवश्य ही तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये । तुम जैसा मुझपर विश्वास करते हो, वैसा ही इसपर भी करो । कोई भी राज्य बिना मन्त्रीके तीन दिन भी नहीं चलाया जा सकता ॥ ११ ॥

अमात्यः शूर एव स्याद् बुद्धिसम्पन्न एव वा ।
ताभ्यां चैवोभयं राजन् पश्य राज्यप्रयोजनम् ॥ १२ ॥

'मन्त्री वही हो सकता है, जो शूरवीर अथवा बुद्धिमान् हो । शौर्य और बुद्धिसे ही लोक और परलोक दोनोंका सुधार होता है । राजन् ! उभयलोककी सिद्धि ही राज्यका प्रयोजन है । इसे अच्छी तरह देखो और समझो ॥ १२ ॥

धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी ।
महात्मा राजपुत्रोऽयं सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ १३ ॥

'जगत्‌में धर्मात्मा राजाओंके लिये अच्छे मन्त्रीके समान दूसरी कोई गति नहीं है । यह राजकुमार महामना है । इसने सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय लिया है ॥ १३ ॥

सुसंगृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः ।
संसेव्यमानः शत्रूंस्ते गृह्णीयान्महतो गणान् ॥ १४ ॥

'यदि तुमने धर्मको सामने रखकर इसे सम्मानपूर्वक अपनाया तो तुमसे सेवित होकर यह तुम्हारे शत्रुओंके भारी-से भारी समुदायोंको काबूमें कर सकता है ॥ १४ ॥

यद्ययं प्रतियुद्ध्येत् त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत् ।
जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे ॥ १५ ॥

'यदि यह अपने बाप-दादोंके राज्यके लिये युद्धमें तुम्हें जीतनेकी इच्छा रखकर तुम्हारे साथ संग्राम छेड़ दे तो क्षत्रियके लिये यह स्वधर्मका पालन ही होगा ॥ १५ ॥

त्वं चापि प्रतियुद्ध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः ।
अयुद्ध्वैव नियोगान्मे वशे कुरु हिते स्थितः ॥ १६ ॥

उस समय तुम भी विजयाभिलाषी राजाके व्रतमें स्थित हो इसके साथ युद्ध करोगे ही । अतः मेरी आज्ञा मानकर इसके हित-साधनमें तत्पर हो जाओ और युद्ध किये बिना ही इसे वशमें कर लो ॥ १६ ॥

स त्वं धर्ममवेक्षस्व हित्वा लोभमसाम्प्रतम् ।
न च कामान्न च द्रोहात् स्वधर्मं हातुमर्हसि ॥ १७ ॥

'अनुचित लोभका परित्याग करके तुम धर्मपर ही दृष्टि रक्खो, कामना अथवा द्रोहसे भी अपने धर्मका परित्याग न करो ॥ १७ ॥

कालकवृक्षीय मुनि राजा जनकका राजकुमार क्षेमदर्शीके साथ मेल करा रहे हैं

नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः।
तस्माद् भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः ॥ १८ ॥

'तात ! किसीकी भी न तो सदा जय होती है और न नित्य पराजय ही होती है । जैसे राजा दूसरे मनुष्योंको जीतकर उसका तथा उसकी सम्पत्तिका उपभोग करता है, वैसे ही दूसरोंको भी उसे अपनी सम्पत्ति भोगनेका अवसर देना चाहिये ॥ १८ ॥

आत्मन्यपि च संदृश्यावुभौ जयपराजयौ ।
निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद् भयम् ॥ १९ ॥

'वत्स ! अपनेमें भी जय और पराजय दोनोंको देखना चाहिये । जो दूसरोंकी सम्पत्ति छीनकर उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहने देते, उन्हें उस सर्वस्वापहरणरूपी पापसे अपने लिये भी सदा भय बना रहता है' ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम् ।
प्रतिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य च ॥ २० ॥

मुनिके इस प्रकार कहनेपर राजाने उन पूजनीय ब्राह्मण-शिरोमणि महर्षिका पूजन और आदर-सत्कार करके उनकी बातका अनुमोदन करते हुए इस तरह उत्तर दिया—॥ २० ॥

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महाश्रुतः ।
श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोरेव तत् क्षमम् ॥ २१ ॥

'कोई महाबुद्धिमान् जैसी बात कह सकता है, कोई महाविद्वान् जैसी वाणी बोल सकता है तथा दूसरोंका कल्याण चाहनेवाला महापुरुष जैसा उपदेश दे सकता है, वैसी ही बात आपने कही है । यह हम दोनोंके लिये ही शिरोधार्य करने योग्य है ॥ २१ ॥

यद् यद् वचनमुक्तोऽस्मि करिष्यामि च तत् तथा ।
एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २२ ॥

'भगवन् ! आपने मेरे लिये जो-जो आदेश दिया है, उसका मैं उसी रूपमें पालन करूँगा । यह मेरे लिये परम कल्याणकी बात है । इसके सम्बन्धमें मुझे दूसरा कोई विचार नहीं करना है' ॥ २२ ॥

ततः कौसल्यमाहूय मैथिलो वाक्यमब्रवीत् ।
धर्मतो नीतितश्चैव लोकश्च विजितो मया ॥ २३ ॥
अहं त्वया चात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम ।
आत्मानमनवज्ञाय जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २४ ॥

तदनन्तर मिथिलानरेशने कोसल-राजकुमारको अपने निकट बुलाकर कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मैंने धर्म और नीतिका सहारा लेकर सम्पूर्ण जगत्पर विजय पायी है, परंतु आज तुमने अपने गुणोंसे मुझे भी जीत लिया । अतः तुम अपनी अवज्ञा न करके एक विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २३-२४ ॥

नावमन्यामि ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम् ।
नावमन्ये जयामीति जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हारी बुद्धिका अनादर नहीं करता, तुम्हारे पुरुषार्थकी अवहेलना नहीं करता और विजयी हूँ, यह सोचकर तुम्हारा तिरस्कार भी नहीं करता; अतः तुम विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २५ ॥

यथावत् पूजितो राजन् गृहं गन्तासि मे भृशम् ।
ततः सम्पूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥ २६ ॥

'राजन् ! तुम मेरेद्वारा भलीभाँति सम्मानित होकर मेरे घर पधारो ।' इतना कहकर वे दोनों परस्पर विश्वस्त हो उन ब्रह्मर्षिकी पूजा करके घरकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा ।
पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं प्रत्यपूजयत् ॥ २७ ॥

विदेहराजने कोसलराजकुमारको आदरपूर्वक अपने महलके भीतर ले जाकर अपने उस पूजनीय अतिथिका पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्कके द्वारा पूजन किया ॥२७॥

ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च ।
एष राज्ञां परो धर्मोऽनित्यौ जयपराजयौ ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और दहेजमें नाना प्रकारके रत्न भेंट किये । यही राजाओंका परम धर्म है, जय और पराजय तो अनित्य हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गणतन्त्र राज्यका वर्णन और उसकी नीति

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
धर्मवृत्तं च वित्तं च वृत्त्युपायाः फलानि च ॥ १ ॥
राज्ञां वित्तं च कोशं च कोशसंचयनं जयः ।
अमात्यगुणवृत्तिश्च प्रकृतीनां च वर्धनम् ॥ २ ॥
षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनावृत्तिस्तथैव च ।
परिज्ञानं च दुष्टस्य लक्षणं च सतामपि ॥ ३ ॥
समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणं च यत् ।
मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विवर्धता ॥ ४ ॥
क्षीणग्रहणवृत्तिश्च यथाधर्मं प्रकीर्तितम् ।

लघुना देशरूपेण ग्रन्थयोगेन भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परंतप भरतनन्दन ! आपने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्ममय आचार, धन, जीविकाके उपाय तथा धर्म आदिके फल बताये हैं। राजाओंके धन, कोश, कोश-संग्रह, शत्रुविजय, मन्त्रीके गुण और व्यवहार, प्रजावर्गकी उन्नति, संधि-विग्रह आदि छः गुणोंके प्रयोग, सेनाके बर्ताव, दुष्टोंकी पहचान, सत्पुरुषोंके लक्षण, जो अपने समान, अपनेसे हीन तथा अपनेसे उत्कृष्ट हैं—उन सब लोगोंके यथावत् लक्षण, मध्यम वर्गको संतुष्ट रखनेके लिये उन्नतिशील राजाको कैसे रहना चाहिये—इसका निर्देश, दुर्बल पुरुषको अपनाने और उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकता—इन सब विषयोंका आपने देशाचार और शास्त्रके अनुसार संक्षेपसे धर्मके अनुकूल प्रतिपादन किया है ॥ १–५ ॥

विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते ।
गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपने विजयाभिलाषी राजाके बर्तावका भी वर्णन कर दिया है। अब मैं गणों (गणतन्त्र राज्यों)का बर्ताव एवं वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ॥

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

भारत ! गणतन्त्र-राज्योंकी जनता जिस प्रकार अपनी उन्नति करती है, जिस प्रकार आपसमें मतभेद या फूट नहीं होने देती, जिस तरह शत्रुओंपर विजय पाना चाहती है और जिस उपायसे उसे सुहृदोंकी प्राप्ति होती है—ये सारी बातें सुननेके लिये मेरी बड़ी इच्छा है ॥ ७ ॥

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥

मैं देखता हूँ, संघबद्ध राज्योंके विनाशका मूल कारण है आपसकी फूट। मेरा विश्वास है कि बहुत-से मनुष्योंके जो समुदाय हैं, उनके लिये किसी गुप्त मन्त्रणा या विचारको छिपाये रखना बहुत ही कठिन है ॥ ८ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परंतप ।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ९ ॥

परंतप राजन् ! इन सारी बातोंको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ। किस प्रकार वे सङ्घ या गण आपसमें फूटते नहीं हैं, यह मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! गणोंमें, कुलोंमें तथा राजाओंमें वैरकी आग प्रज्वलित करनेवाले ये दो ही दोष हैं—लोभ और अमर्ष ॥ १० ॥

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥ ११ ॥

पहले एक मनुष्य लोभका वरण करता है (लोभवश दूसरेका धन लेना चाहता है), तदनन्तर दूसरेके मनमें अमर्ष पैदा होता है; फिर वे दोनों लोभ और अमर्षसे प्रभावित हुए व्यक्ति समुदाय, धन और जनकी बड़ी भारी हानि उठाकर एक दूसरेके विनाशक बन जाते हैं ॥ ११ ॥

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः ।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥

वे भेद लेनेके लिये गुप्तचरोंको भेजते, गुप्त मन्त्रणाएँ करते तथा सेना एकत्र करनेमें लग जाते हैं। साम, दान और भेदनीतिके प्रयोग करते हैं तथा जनसंहार, अपार धन-राशिके व्यय एवं अनेक प्रकारके भय उपस्थित करनेवाले विविध उपायोंद्वारा एक दूसरेको दुर्बल कर देते हैं ॥ १२ ॥

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥

सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले गणराज्यके सैनिकोंको भी यदि समयपर भोजन और वेतन न मिले तो भी वे फूट जाते हैं। फूट जानेपर सबके मन एक दूसरेके विपरीत हो जाते हैं और वे सबके सब भयके कारण शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं ॥ १३ ॥

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४ ॥

आपसमें फूट होनेसे ही सङ्घ या गणराज्य नष्ट हुए हैं। फूट होनेपर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं; अतः गणोंको चाहिये कि वे सदा सङ्घबद्ध—एकमत होकर ही विजयके लिये प्रयत्न करें ॥ १४ ॥

अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥

जो सामूहिक बल और पुरुषार्थसे सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाती है। सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले लोगोंके साथ सङ्घसे बाहरके लोग भी मैत्री स्थापित करते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष गणराज्यके नागरिकोंकी प्रशंसा करते हैं। सङ्घबद्ध लोगोंके मनमें आपसमें एक दूसरेको ठगनेकी दुर्भावना नहीं होती। वे सभी एक दूसरेकी सेवा करते हुए सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ १६ ॥

धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ नागरिक शास्त्रके अनुसार धर्मानुकूल व्यवहारोंकी स्थापना करते हैं। वे यथोचित दृष्टिसे सबको देखते हुए उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ते जाते हैं ॥ १७ ॥

पुत्रान् भ्रातॄन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ पुरुष पुत्रों और भाइयोंको भी यदि वे कुमार्गपर चलें तो दण्ड देते हैं । सदा उन्हें उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित हो जानेपर उन सबको बड़े आदरसे अपनाते हैं । इसलिये वे विशेष उन्नति करते हैं ॥

चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! गणराज्यके नागरिक गुप्तचर या दूतका काम करने, राज्यके हितके लिये गुप्त मन्त्रणा करने, विधान बनाने तथा राज्यके लिये कोश-संग्रह करने आदिके लिये सदा उद्यत रहते हैं, इसीलिये सब ओरसे उनकी उन्नति होती है ॥ १९ ॥

प्राज्ञाञ्शूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! सङ्घराज्यके सदस्य सदा बुद्धिमान्, शूरवीर, महान् उत्साही और सभी कार्योंमें दृढ़ पुरुषार्थका परिचय देनेवाले लोगोंका सदा सम्मान करते हुए राज्यकी उन्नतिके लिये उद्योगशील बने रहते हैं । इसीलिये वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं ॥ २० ॥

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु सम्मूढान् गणाः संतारयन्ति ते ॥ २१ ॥

गणराज्यके सभी नागरिक धनवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् होते हैं । वे कठिन विपत्तिमें पड़कर मोहित हुए लोगोंका उद्धार करते रहते हैं ॥

क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सङ्घराज्यके लोगोंमें यदि क्रोध, भेद (फूट), भय, दण्डप्रहार, दूसरोंको दुर्बल बनाने, बन्धनमें डालने या मार डालनेकी प्रवृत्ति पैदा हो जाय तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओंके वशमें डाल देती है ॥ २२ ॥

तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें गणराज्यके जो प्रधान-प्रधान अधिकारी हैं, उन सबका सम्मान करना चाहिये; क्योंकि लोकयात्राका महान् भार उनके ऊपर अवलम्बित है ॥ २३ ॥

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन ! भारत ! गण या सङ्घके सभी लोग गुप्त-मन्त्रणा सुननेके अधिकारी नहीं हैं । मन्त्रणाको गुप्त रखने तथा गुप्तचरोंकी नियुक्तिका कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके ही अधीन होता है ॥ २४ ॥

गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च ।

गणके मुख्य-मुख्य व्यक्तियोंको परस्पर मिलकर समस्त गणराज्यके हितका साधन करना चाहिये अन्यथा यदि सङ्घमें फूट होकर पृथक्-पृथक् कई दलोंका विस्तार हो जाय तो उसके सभी कार्य बिगड़ जाते और बहुत-से अनर्थ पैदा हो जाते हैं ॥ २५½ ॥

तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥ २६ ॥
निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।

परस्पर फूटकर पृथक्-पृथक् अपनी शक्तिका प्रयोग करनेवाले लोगोंमें जो मुख्य-मुख्य नेता हों, उनका सङ्घराज्यके विद्वान् अधिकारियोंको शीघ्र ही दमन करना चाहिये ॥ २६½ ॥

कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ॥ २७ ॥
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।

कुलोंमें जो कलह होते हैं, उनकी यदि कुलके वृद्ध पुरुषोंने उपेक्षा कर दी तो वे कलह गणोंमें फूट डालकर समस्त कुलका नाश कर डालते हैं ॥ २७½ ॥

आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥ २८ ॥
आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ।

भीतरी भय दूर करके सङ्घकी रक्षा करनी चाहिये । यदि सङ्घमें एकता बनी रहे तो बाहरका भय उसके लिये निःसार है (वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता) । राजन् ! भीतरका भय तत्काल ही सङ्घराज्यकी जड़ काट डालता है ॥

अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद् वापि स्वभावजात् ॥ २९ ॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ।

अकस्मात् पैदा हुए क्रोध और मोहसे अथवा स्वाभाविक लोभसे भी जब सङ्घके लोग आपसमें बातचीत करना बंद कर दें, तब यह उनकी पराजयका लक्षण है ॥ २९½ ॥

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥

जाति और कुलमें सभी एक समान हो सकते हैं; परंतु उद्योग, बुद्धि और रूप-सम्पत्तिमें सबका एक-सा होना सम्भव नहीं है । शत्रुलोग गणराज्यके लोगोंमें भेदबुद्धि पैदा करके तथा उनमेंसे कुछ लोगोंको धन देकर भी समूचे सङ्घमें फूट डाल देते हैं; अतः सङ्घबद्ध रहना ही गणराज्यके नागरिकोंका महान् आश्रय है ॥ ३०—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गणवृत्ते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गणराज्यका बर्तावविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

माता-पिता तथा गुरुकी सेवाका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है तथा इसकी बहुत-सी शाखाएँ हैं। इन धर्मोंमेंसे किसको आप विशेषरूपसे आचरणमें लाने योग्य समझते हैं ? ॥१॥

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम् ।
यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सब धर्मोंमें कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोकमें भी परम धर्मका फल प्राप्त कर सकूँ ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम ।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इसलोकमें इस पुण्य कार्यमें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक पाता है ॥ ३ ॥

यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः ।
धर्मो धर्मविरुद्धं वा तत् कर्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर ! भलीभाँति पूजित हुए वे माता-पिता और गुरुजन जिस कामके लिये आज्ञा दें, वह धर्मके अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन करना ही चाहिये ॥४॥

न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।
यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥ ५ ॥

जो उनकी आज्ञाके पालनमें संलग्न है, उसके लिये दूसरे किसी धर्मके आचरणकी आवश्यकता नहीं है। जिस कार्यके लिये वे आज्ञा दें, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ६ ॥

ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं ॥ ६ ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ ७ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि हैं, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है और गुरु आहवनीय अग्निका स्वरूप है। लौकिक अग्नियोंसे माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियोंका गौरव अधिक है ॥७॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ।

यदि तुम इन तीनोंकी सेवामें कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकोंको जीत लोगे। पिताकी सेवासे इस लोकको, माताकी सेवासे परलोकको तथा नियमपूर्वक गुरुकी सेवासे ब्रह्मलोकको भी लाँघ जाओगे ॥ ८½ ॥

सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ९ ॥
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मं च सुमहत्फलम् ।

भरतनन्दन ! इसलिये तुम त्रिविध लोकस्वरूप इन तीनोंके प्रति उत्तम बर्ताव करो। तुम्हारा कल्याण हो। ऐसा करनेसे तुम्हें यश और महान् फल देनेवाले धर्मकी प्राप्ति होगी ॥

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥ १० ॥
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥ ११ ॥

इन तीनोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे, इनको भोजन करानेके पहले स्वयं भोजन न करे, इनपर कोई दोषारोपण न करे और सदा इनकी सेवामें संलग्न रहे। यही सबसे उत्तम पुण्यकर्म है। नृपश्रेष्ठ ! इनकी सेवासे तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥१०-११॥

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ १२ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका आदर हो गया और जिसने इनका अनादर कर दिया, उसके सम्पूर्ण शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं ॥१२॥

न चायं न परो लोकस्तस्य चैव परंतप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! जिसने इन तीनों गुरुजनोंका सदा अपमान ही किया है, उसके लिये न तो यह लोक सुखद है और न परलोक ॥ १३ ॥

न चास्मिन्नपरे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥ १४ ॥

न इस लोकमें और न परलोकमें ही उसका यश प्रकाशित होता है। परलोकमें जो अन्य कल्याणमय सुखकी प्राप्ति बतायी गयी है, वह भी उसे सुलभ नहीं होती है ॥ १४ ॥

तेभ्य एव हि यत् सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ॥ १५ ॥
तस्मान्मे सम्प्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ।

मैं तो सारा शुभ कर्म करके इन तीनों गुरुजनोंको ही समर्पित कर देता था। इससे मेरे उन सभी शुभ कर्मोंका पुण्य सौगुना और हजारगुना बढ़ गया है। युधिष्ठिर ! इसीसे तीनों लोक मेरी दृष्टिके सामने प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

दशैव तु सदाऽऽचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ॥ १६ ॥
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ।
पितॄन् दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि ॥ १७ ॥

गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।

आचार्य सदा दस श्रोत्रियोंसे बढ़कर है । उपाध्याय (विद्यागुरु) दस आचार्योंसे अधिक महत्त्व रखता है, पिता दस उपाध्यायोंसे बढ़कर है और माताका महत्त्व दस पिताओंसे भी अधिक है । वह अकेली ही अपने गौरवके द्वारा सारी पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है । अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १६-१७½ ॥

गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ॥ १८ ॥
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः ।

परंतु मेरा विश्वास यह है कि गुरुका पद पिता और मातासे भी बढ़कर है; क्योंकि माता-पिता तो केवल इस शरीरको जन्म देनेके ही उपयोगमें आते हैं ॥ १८½ ॥

शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत ॥ १९ ॥
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ।

भारत ! पिता और माता केवल शरीरको ही जन्म देते हैं; परंतु आचार्यका उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है ॥ १९½ ॥

अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ ॥ २० ॥
न संदुष्यति तत् कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम् ।
धर्माय यतमानानां विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २१ ॥

पिता-माता यदि कोई अपराध करें तो भी वे सदा अवध्य ही हैं; क्योंकि पुत्र या शिष्य पिता-माता और गुरुका अपराध करके भी उनकी दृष्टिमें दूषित नहीं होते हैं । वे गुरुजन पुत्र या शिष्यपर स्नेहवश दोषारोपण नहीं करते हैं; बल्कि सदा उसे धर्मके मार्गपर ही ले जानेका प्रयत्न करते हैं । ऐसे पिता-माता आदि गुरुजनोंका महत्त्व महर्षियोंसहित देवता ही जानते हैं ॥ २०-२१ ॥

यश्चावृणोत्यवितथेन कर्मणा
ऋतं ब्रुवन्ननृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं वै मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ २२ ॥

जो सत्य कर्म(के द्वारा और यथार्थ उपदेश)के द्वारा पुत्र या शिष्यको कवचकी भाँति ढक लेता है, सत्यस्वरूप वेदका उपदेश देता और असत्यकी रोक-थाम करता है, उस गुरुको ही पिता और माता समझे और उसके उपकारको जानकर कभी उससे द्रोह न करे ॥ २२ ॥

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते
प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ।
यथैव ते गुरुभिर्भावनीया-
स्तथा तेषां गुरवोऽभ्यर्चनीयाः ॥ २३ ॥

जो लोग विद्या पढ़कर गुरुका आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वाणी और क्रियाद्वारा गुरुकी सेवा नहीं करते हैं, उन्हें गर्भके बालककी हत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है । संसारमें उनसे बड़ा पापी दूसरा कोई नहीं है । जैसे गुरुओंका कर्त्तव्य है, शिष्यको आत्मोन्नतिके पथपर पहुँचाना, उसी तरह शिष्योंका धर्म है गुरुओंका पूजन करना ॥ २३ ॥

तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ २४ ॥

अतः जो पुरातन धर्मका फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे गुरुओंकी पूजा-अर्चा करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥

मनुष्य जिस कर्मसे पिताको प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा प्रजापति ब्रह्माजी भी प्रसन्न होते हैं तथा जिस बर्तावसे वह माताको प्रसन्न कर लेता है, उसीके द्वारा समूची पृथ्वीकी भी पूजा हो जाती है ॥ २५ ॥

येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २६ ॥

जिस कर्मसे शिष्य उपाध्याय (विद्यागुरु) को प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है; अतः गुरु माता पितासे भी अधिक पूजनीय है ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह ।
पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २७ ॥

गुरुओंके पूजित होनेपर पितरोंसहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं; इसलिये गुरु परम पूजनीय है ॥ २७ ॥

केनचिन्न च वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् ।
न च माता न च पिता मन्यते यादृशो गुरुः ॥ २८ ॥

किसी भी बर्तावके कारण गुरु अपमानके योग्य नहीं होता । इसी तरह माता और पिता भी अनादरके योग्य नहीं हैं । जैसे गुरु माननीय हैं, वैसे ही माता-पिता भी हैं ॥२८॥

न तेऽवमानमर्हन्ति न तेषां दूषयेत् कृतम् ।
गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे तीनों कदापि अपमानके योग्य नहीं हैं । उनके किये हुए किसी भी कार्यकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । गुरुजनोंके इस सत्कारको देवता और महर्षि भी अपना सत्कार मानते हैं ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३० ॥

अध्यापक, पिता और माताके प्रति जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा द्रोह करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी महान् पाप लगता है । संसारमें उससे बढ़कर दूसरा कोई पापाचारी नहीं है ॥ ३० ॥

भृतो वृद्धो यो न बिभर्ति पुत्रः
स्वयोनिजः पितरं मातरं च ।
तद् वै पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३१ ॥

जो पिता-माताका औरस पुत्र है और पाल-पोसकर बड़ा कर दिया गया है, वह यदि अपने माता-पिताका भरण-पोषण नहीं करता है तो उसे भ्रूणहत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है और जगत्में उससे बड़ा पापात्मा दूसरा कोई नहीं है ॥ ३१ ॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुम ॥ ३२ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीहत्यारे और गुरुघाती—इन चारोंके पापका प्रायश्चित्त हमारे सुननेमें नहीं आया है ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वमनिर्देशेनैवमुक्तं
यत् कर्तव्यं पुरुषेणेह लोके ।
एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद् विशिष्टं
सर्वान् धर्माननुसृत्यैतदुक्तम् ॥ ३३ ॥

ये सारी बातें जो इस जगत्में पुरुषके द्वारा पालनीय हैं, यहाँ विस्तारके साथ बतायी गयी हैं । यही कल्याणकारी मार्ग है । इससे बढ़कर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है । सम्पूर्ण धर्मोंका अनुसरण करके यहाँ सबका सार बताया गया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मातृपितृगुरुमाहात्म्ये अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें माता-पिता और गुरुका माहात्म्यविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

सत्य-असत्यका विवेचन, धर्मका लक्षण तथा व्यावहारिक नीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् नरो वर्तेत भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! धर्ममें स्थित रहनेकी इच्छावाला मनुष्य कैसा बर्ताव करे ? विद्वन् ! मैं इस बातको जानना चाहता हूँ । भरतश्रेष्ठ ! आप मुझसे इसका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः ।
तयोः किमाचरेद् राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥ २ ॥

राजन् ! सत्य और असत्य—ये दोनों सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं; किंतु धर्मपर विश्वास करनेवाला मनुष्य इन दोनोंमेंसे किसका आचरण करे ? ॥ २ ॥

किंस्वित् सत्यं किमनृतं किंस्विद् धर्म्यं सनातनम् ।
कस्मिन् काले वदेत् सत्यं कस्मिन् कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥

क्या सत्य है और क्या झूठ ? तथा कौन-सा कार्य सनातन धर्मके अनुकूल है ? किस समय सत्य बोलना चाहिये और किस समय झूठ ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत् प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सत्य बोलना अच्छा है । सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है; परंतु लोकमें जिसे जानना अत्यन्त कठिन है, उसीको मैं बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥ ५ ॥

जहाँ झूठ ही सत्यका काम करे (किसी प्राणीको संकटसे बचावे) अथवा सत्य ही झूठ बन जाय (किसीके जीवनको संकटमें डाल दे); ऐसे अवसरोंपर सत्य नहीं बोलना चाहिये । वहाँ झूठ बोलना ही उचित है ॥ ५ ॥

तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम् ।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ६ ॥

जिसमें सत्य स्थिर न हो, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही मारा जाता है । सत्य और असत्यका निर्णय करके सत्यका पालन करनेवाला पुरुष ही धर्मज्ञ माना जाता है ॥ ६ ॥

अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः ।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥

जो नीच है, जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है तथा जो अत्यन्त कठोर स्वभावका है, वह मनुष्य भी कभी अंधे पशुको मारनेवाले बलाक नामक व्याधकी भाँति महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है* ॥ ७ ॥

किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित् ।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः[१] ॥ ८ ॥

---

* देखिये कर्णपर्व अध्याय ६९ श्लोक ३८ से ४५ तक ।

१. गङ्गाके तटपर किसी सर्पिणीने सहस्रों अंडे देकर रख दिये थे । उन अंडोंको एक उल्लूने रातमें फोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया । इससे वह महान् पुण्यका भागी हुआ; अन्यथा उन अंडोंसे हजारों विषैले सर्प पैदा होकर कितने ही लोगोंका विनाश कर डालते ।

कैसा आश्चर्य है कि धर्मकी इच्छा रखनेवाला मूर्ख (तपस्वी) (सत्य बोलकर भी) अधर्मके फलको प्राप्त हो जाता है (कर्णपर्व अध्याय ६९) और गङ्गाके तटपर रहनेवाले एक उल्लूकी भाँति कोई (हिंसा करके भी) महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत् केनात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह पिछला प्रश्न भी ऐसा ही है। इसके अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन करना या समझना बहुत कठिन है; इसीलिये उसका प्रतिपादन करना भी दुष्कर ही है; अतः धर्मके विषयमें कोई किस प्रकार निश्चय करे ? ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥

प्राणियोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही धर्मका प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्यसे युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओंका निश्चय है ॥ १० ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥

धर्मका नाम 'धर्म' इसलिये पड़ा है कि वह सबको धारण करता है—अधोगतिमें जानेसे बचाता और जीवनकी रक्षा करता है। धर्मने ही सारी प्रजाको धारण कर रक्खा है; अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है; ऐसा धर्मवेत्ताओंका निश्चय है ॥ ११ ॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥

प्राणियोंकी हिंसा न हो, इसके लिये धर्मका उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसासे युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥ १२ ॥

(अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ॥
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना।
ब्रह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः ॥
अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति।)

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियोंका संयम, विशुद्ध बुद्धि, किसीके दोष न देखना, किसीसे डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शीलस्वभावका परिचय देना—ये धर्म हैं, देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने इन्हींको सनातन धर्म बताया है। जो मनुष्य इस सनातन धर्ममें स्थित है, उसे ही कल्याणका दर्शन होता है ॥

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १३ ॥

वेदमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही धर्म है, यह एक श्रेणीके विद्वानोंका मत है; किंतु दूसरे लोग धर्मका यह लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं। हम किसी भी मतपर दोषारोपण नहीं करते। इतना अवश्य है कि वेदमें सभी बातोंका विधान नहीं है ॥ १३ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १४ ॥

जो अन्यायसे अपहरण करनेकी इच्छा रखकर किसी धनीके धनका पता लगाना चाहते हों, उन लुटेरोंसे उसका पता न बतावे और यही धर्म है, ऐसा निश्चय रक्खे ॥ १४ ॥

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथंचन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात् ॥ १५ ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।

यदि न बतानेसे उस धनीका बचाव हो जाता हो तो किसी तरह वहाँ कुछ बोले ही नहीं; परंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय और न बोलनेसे लुटेरोंके मनमें संदेह पैदा होने लगे तो वहाँ सत्य बोलनेकी अपेक्षा झूठ बोलनेमें ही कल्याण है; यही इस विषयमें विचारपूर्वक निर्णय किया गया है ॥ १५½ ॥

यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि ॥ १६ ॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथंचन।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १७ ॥

यदि शपथ खा लेनेसे भी पापियोंके हाथसे छुटकारा मिल जाय तो वैसा ही करे। जहाँतक वश चले, किसी तरह भी पापियोंके हाथमें धन न जाने दे; क्योंकि पापाचारियोंको दिया हुआ धन दाताको भी पीड़ित कर देता है ॥ १६-१७ ॥

स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः।
सत्यसम्प्रतिपत्त्यर्थं यद् ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥ १८ ॥
अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः।

जो कर्जदारको अपने अधीन करके उससे शारीरिक सेवा कराकर धन वसूल करना चाहता है, उसके दावेको सही साबित करनेके लिये यदि कुछ लोगोंको गवाही देनी पड़े और वे गवाह अपनी गवाहीमें कहने योग्य सत्य बातको न कहें तो वे सब-के-सब मिथ्यावादी होते हैं ॥ १८½ ॥

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥ १९ ॥
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात्।

परंतु प्राण-संकटके समय, विवाहके अवसरपर, दूसरेके धनकी रक्षाके लिये तथा धर्मकी रक्षाके लिये असत्य बोला जा सकता है ॥ १९½ ॥

परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन् नीचः स्याद् धर्मभिक्षुकः ॥ २० ॥
प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वकार्यस्तु बलात्कृतः।

कोई नीच मनुष्य भी यदि दूसरोंकी कार्यसिद्धिकी इच्छासे धर्मके लिये भीख माँगने आवे तो उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर अवश्य ही धनका दान देना चाहिये। इस प्रकार धनोपार्जन करनेवाला यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है तो वह दण्डका पात्र होता है ॥ २०½ ॥

यः कश्चिद् धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मसाधनः ॥ २१ ॥
दण्डेनैव स हन्तव्यस्तं पन्थानं समाश्रितः ।

जो कोई धर्मसाधक मनुष्य धार्मिक आचारसे भ्रष्ट हो पापमार्गका आश्रय ले, उसे अवश्य दण्डके द्वारा मारना चाहिये ॥ २१½ ॥

च्युतः सदैव धर्मेभ्योऽमानवं धर्ममास्थितः ॥ २२ ॥
शठः स्वधर्ममुत्सृज्य तमिच्छेदुपजीवितुम् ।
सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापो निकृतिजीवनः ॥ २३ ॥
धनमित्येव पापानां सर्वेषामिह निश्चयः ।

जो दुष्ट धर्ममार्गसे भ्रष्ट होकर आसुरी प्रवृत्तिमें लगा रहता है और स्वधर्मका परित्याग करके पापसे जीविका चलाना चाहता है, कपटसे जीवन-निर्वाह करनेवाले उस पापात्माको सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये; क्योंकि सभी पापात्माओंका यही विचार रहता है कि जैसे बने, वैसे धनको लूट-खसोटकर रख लिया जाय ॥ २२-२३½ ॥

अविषह्या ह्यसम्भोज्या निकृत्या पतनं गताः ॥ २४ ॥
च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते ।
निर्यज्ञास्तपसा हीना मा स्म तैः सह सङ्गमः ॥ २५ ॥

ऐसे लोग दूसरोंके लिये असह्य हो उठते हैं। इनका अन्न न तो स्वयं भोजन करे और न इन्हें ही अपना अन्न दे; क्योंकि ये छल-कपटके द्वारा पतनके गर्तमें गिर चुके हैं और देवलोक तथा मनुष्यलोक दोनोंसे वञ्चित हो प्रेतोंके समान अवस्थाको पहुँच गये हैं। इतना ही नहीं, वे यज्ञ और तपस्यासे भी हीन हैं; अतः तुम कभी उनका संग न करो २४-२५

धननाशाद् दुःखतरं जीविताद् विप्रयोजनम् ।
अयं ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ॥ २६ ॥

'किसीके धनका नाश करनेसे भी अधिक दुःखदायक कर्म है जीवनका नाश; अतः तुम्हें धर्मकी ही रुचि रखनी चाहिये' यह बात तुम्हें दुष्टोंको यत्नपूर्वक बतानी और समझानी चाहिये ॥ २६ ॥

न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ।
तथागतं च यो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ॥ २७ ॥

पापियोंका तो यही निश्चय होता है कि धर्म कोई वस्तु नहीं है; ऐसे लोगोंको जो मार डाले, उसे पाप नहीं लगता ॥

स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २८ ॥

पापी मनुष्य अपने कर्मसे ही मरा हुआ है; अतः उसको जो मारता है, वह मरे हुएको ही मारता है। उसके मारनेका पाप नहीं लगता; अतः जो कोई भी मनुष्य इन हतबुद्धि पापियोंके वधका नियम ले सकता है ॥ २८ ॥

यथा काकाश्च गृध्राश्च तथैवोपधिजीविनः ।
ऊर्ध्वं देहविमोक्षात् ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २९ ॥

जैसे कौए और गीध होते हैं, वैसे ही कपटसे जीविका चलानेवाले लोग भी होते हैं। वे मरनेके बाद इन्हीं योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २९ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही बर्ताव करना चाहिये; यह धर्म (न्याय) है। कपटपूर्ण आचरण करनेवालेको वैसे ही आचरणके द्वारा दबाना उचित है और सदाचारीको सद्व्यवहारके द्वारा ही अपनाना चाहिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सत्यानृतकविभागे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्यासत्यविभागविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

सदाचार और ईश्वरभक्ति आदिको दुःखोंसे छूटनेका उपाय बताना

युधिष्ठिर उवाच

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद् येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जगत्के जीव भिन्न-भिन्न भावोंके द्वारा जहाँ-तहाँ नाना प्रकारके कष्ट उठा रहे हैं; अतः जिस उपायसे मनुष्य इन दुःखोंसे छुटकारा पा सके, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः ।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो द्विज अपने मनको वशमें करके शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंमें रहते हुए उनके अनुसार ठीक-ठीक बर्ताव करते हैं, वे दुःखोंके पार हो जाते हैं ॥

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता ।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥

जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयोंके लिये बढ़ती हुई इच्छाको रोकते हैं, वे दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥

जो दूसरोंके कटु वचन सुनाने या निन्दा करनेपर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसीको मारते नहीं तथा स्वयं देते हैं, परंतु दूसरोंसे माँगते नहीं; वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहराते हैं, कभी किसीके दोष नहीं देखते हैं तथा नित्य नियमपूर्वक वेदादि सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते रहते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ ५ ॥

मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिताकी सेवामें लगे रहते हैं और दिनमें कभी सोते नहीं हैं, वे सभी दुःखोंसे छूट जाते हैं॥

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी पाप नहीं करते हैं और किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ये न लोभान्नयन्त्यर्थान् राजानो रजसान्विताः।
विषयान् परिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥

जो रजोगुणसम्पन्न राजा लोभवश प्रजाके धनका अपहरण नहीं करते हैं और अपने राज्यकी सब ओरसे रक्षा करते हैं, वे भी दुर्गम दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ८ ॥

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते और ऋतुकालमें अपनी ही स्त्रीके साथ धर्मानुकूल समागम करते हैं, वे दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥ ९ ॥

आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम्।
धर्मेण जयमिच्छन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥

जो शूरवीर युद्धस्थलमें मृत्युका भय छोड़कर धर्मपूर्वक विजय पाना चाहते हैं, वे सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं १०

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११ ॥

जो लोग प्राण जानेका अवसर उपस्थित होनेपर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥

जिनके शुभ कर्म दिखावेके लिये नहीं होते, जो सदा मीठे वचन बोलते और जिनका धन सत्कर्मोंके लिये बँधा हुआ है, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १२ ॥

अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नेह कुर्वते।
तपोनिष्ठाः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥

जो अनध्यायके अवसरोंपर वेदोंका स्वाध्याय नहीं करते और तपस्यामें ही लगे रहते हैं, वे उत्तम तपस्वी ब्राह्मण दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १३ ॥

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥

जो तपस्या करते, कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यके पालनमें तत्पर रहते और विद्या एवं वेदोंके अध्ययनसम्बन्धी व्रतको पूर्ण करके स्नातक हो चुके हैं, वे दुस्तर दुःखोंको तर जाते हैं॥

ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये।
सत्त्वे स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥

जिनके रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं तथा जो विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं, वे महात्मा दुर्लङ्घ्य संकटोंको भी लाँघ जाते हैं ॥ १५ ॥

येषां न कश्चित् त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित्।
येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥

जिनसे कोई भयभीत नहीं होता, जो स्वयं भी किसीसे भय नहीं मानते तथा जिनकी दृष्टिमें यह सारा जगत् अपने आत्माके ही तुल्य है, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं ॥ १६ ॥

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १७ ॥

जो दूसरोंकी सम्पत्तिसे ईर्ष्यावश जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगसे निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति सर्वधर्मांश्च शृण्वते।
ये श्रद्दधानाः शान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १८ ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते और सभी धर्मोंको सुनते हैं, जिनमें श्रद्धा और शान्ति विद्यमान है, वे सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ १८ ॥

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १९ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरोंको सम्मान देते हैं और सम्माननीय पुरुषोंको नमस्कार करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥

जो संतानकी इच्छा रखकर प्रत्येक तिथिपर विशुद्ध हृदयसे पितरोंका श्राद्ध करते हैं, वे दुर्गम विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ २० ॥

ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च ।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २१ ॥

जो क्रोधको काबूमें रखते, क्रोधी मनुष्योंको शान्त करते और स्वयं किसी भी प्राणीपर कुपित नहीं होते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २१ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥

जो मानव जन्मसे ही सदाके लिये मधु, मांस और मदिराका त्याग कर देते हैं, वे भी दुस्तर दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥ २२ ॥

यात्रार्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २३ ॥

जिनका भोजन स्वादके लिये नहीं, जीवनयात्राका निर्वाह करनेके लिये होता है, जो विषयवासनाकी तृप्तिके लिये नहीं, संतानकी इच्छासे मैथुनमें प्रवृत्त होते हैं तथा जिनकी वाणी केवल सत्य बोलनेके लिये है, वे समस्त संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २४ ॥

जो समस्त प्राणियोंके स्वामी तथा जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके हेतुभूत भगवान् नारायणमें भक्तिभाव रखते हैं, वे दुस्तर दुःखोंसे तर जाते हैं ॥ २४ ॥

य एष पद्मरक्ताक्षः पीतवासा महाभुजः ।
सुहृद् भ्राता च मित्रं च सम्बन्धी च तथाच्युतः॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ये जो कमलपुष्पके समान कुछ-कुछ लाल रङ्गके नेत्रोंसे सुशोभित पीताम्बरधारी महाबाहु श्रीकृष्ण हैं, जो तुम्हारे सुहृद्, भाई, मित्र और सम्बन्धी भी हैं, यही साक्षात् नारायण हैं ॥ २५ ॥

य इमान् सकलाँल्लोकांश्चर्मवत् परिवेष्टयेत् ।
इच्छन् प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥ २६ ॥

इनका स्वरूप अचिन्त्य है । ये पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द इन सम्पूर्ण लोकोंको इच्छापूर्वक चमड़ेकी भाँति आच्छादित किये हुए हैं ॥ २६ ॥

स्थितः प्रियहिते जिष्णोः स एष पुरुषोत्तमः ।
राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! वे ही ये दुर्धर्ष वीर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण साक्षात् वैकुण्ठधामके निवासी श्रीविष्णु हैं । राजन् ! ये इस समय तुम्हारे और अर्जुनके प्रिय तथा हित-साधनमें संलग्न हैं ॥ २७ ॥

य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् ।
ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ॥ २८ ॥

जो भक्त पुरुष यहाँ इन भगवान् श्रीहरि—नारायणदेवकी शरण लेते हैं, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं । इस विषयमें कोई संशय नहीं है ॥ २८ ॥

(अस्मिन्नर्पितकर्माणः सर्वभावेन भारत ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

भारत ! जो इन कमलनयन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भक्ति-भावसे अपने सारे कर्म समर्पित कर देते हैं, वे दुर्गम संकटोंको लाँघ जाते हैं ॥

ब्रह्माणं लोककर्तारं ये नमस्यन्ति सत्पतिम् ।
यष्टव्यं क्रतुभिर्देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो यज्ञोंद्वारा आराधनाके योग्य हैं, उन साधुप्रतिपालक विश्वविधाता भगवान् ब्रह्माको जो नमस्कार करते हैं, वे समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥

यं विष्णुरिन्द्रः शम्भुश्च ब्रह्मा लोकपितामहः।
स्तुवन्ति विविधैः स्तोत्रैर्देवदेवं महेश्वरम् ॥
तमर्चयन्ति ये शश्वद् दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥)

विष्णु, इन्द्र, शिव तथा लोकपितामह ब्रह्मा नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, उन देवाधिदेव परमेश्वरकी जो सदा आराधना करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥

दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च ।
कथयन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो लोग इस दुर्गातितरण नामक अध्यायको पढ़ते और सुनते हैं तथा ब्राह्मणोंके सामने इसकी चर्चा करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इति कृत्यसमुद्देशः कीर्तितस्ते मयानघ ।
तरन्ते येन दुर्गाणि परत्रेह च मानवाः ॥ ३० ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने यहाँ संक्षेपसे उस कर्तव्यका प्रतिपादन किया है, जिसका पालन करनेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गातितरणं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गातितरण नामक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

मनुष्यके स्वभावकी पहचान बतानेवाली बाघ और सियारकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

असौम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शनाः।
ईदृशान् पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! बहुत-से कठोर स्वभाववाले मनुष्य ऊपरसे कोमल और शान्त बने रहते हैं तथा कोमल स्वभावके लोग कठोर दिखायी देते हैं, ऐसे मनुष्योंकी मुझे ठीक-ठीक पहचान कैसे हो ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
व्याघ्रगोमायुसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग एक बाघ और सियारके संवादरूप प्राचीन आख्यानका उदाहरण दिया करते हैं, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः ।
परहिंसारतिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥

पूर्वकालकी बात है, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न पुरिका नामकी नगरीमें पौरिक नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करता था। वह बड़ा ही क्रूर और नराधम था, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें ही उसका मन लगता था ॥ ३ ॥

स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम् ।
गोमायुत्वं च सम्प्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥ ४ ॥

धीरे-धीरे उसकी आयु समाप्त हो गयी और वह ऐसी गतिको प्राप्त हुआ, जो किसी भी प्राणीको अभीष्ट नहीं है। वह अपने पूर्वकर्मसे दूषित होकर दूसरे जन्ममें गीदड़ हो गया ॥ ४ ॥

संस्मृत्य पूर्वभूतिं च निर्वेदं परमं गतः ।
न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥

उस समय अपने पूर्वजन्मके वैभवका स्मरण करके उस सियारको बड़ा खेद और वैराग्य हुआ। अतः वह दूसरोंके द्वारा दिये हुए मांसको भी नहीं खाता था ॥ ५ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः ।
स चकार यथाकालमाहारं पतितैः फलैः ॥ ६ ॥

अब उसने जीवोंकी हिंसा करनी छोड़ दी, सत्य बोलनेका नियम ले लिया और दृढ़तापूर्वक अपने व्रतका पालन करने लगा। वह नियत समयपर वृक्षोंसे अपने आप गिरे हुए फलोंका आहार करता था ॥ ६ ॥

(पर्णाहारः कदाचिच्च नियमव्रतवानपि ।
कदाचिदुदकेनापि वर्तयन्ननुयन्त्रितः ॥)

व्रत और नियमोंके पालनमें तत्पर हो कभी पत्ता चबा लेता और कभी पानी पीकर ही रह जाता था। उसका जीवन संयममें बँध गया था ॥

श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः सम्मतोऽभवत् ।
जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यवासमरोचयत् ॥ ७ ॥

वह श्मशानभूमिमें ही रहता था। वहीं उसका जन्म हुआ था, इसलिये वही स्थान उसे पसंद था। उसे और कहीं जाकर रहनेकी रुचि नहीं होती थी ॥ ७ ॥

तस्य शौचममृष्यन्तस्ते सर्वे सहजातयः ।
चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥

सियारका इस तरह पवित्र आचार-विचारसे रहना उसके सभी जाति-भाइयोंको अच्छा न लगा। यह सब उनके लिये असह्य हो उठा; इसलिये वे प्रेम और विनयभरी बातें कहकर उसकी बुद्धिको विचलित करने लगे ॥ ८ ॥

वसन् पितृवने रौद्रे शौचे वर्तितुमिच्छसि ।
इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥

उन्होंने कहा—'भाई सियार ! तू तो मांसाहारी जीव है और भयंकर श्मशानभूमिमें निवास करता है, फिर भी पवित्र आचार-विचारसे रहना चाहता है—यह विपरीत निश्चय है ॥ ९ ॥

तत्समानो भवास्माभिर्भोज्यं दास्यामहे वयम् ।
भुङ्क्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं सदास्तु ते ॥ १० ॥

'भैया ! अतः तू हमारे ही समान होकर रह। तेरेलिये भोजन तो हमलोग ला दिया करेंगे। तू इस शौचाचारका नियम छोड़कर चुपचाप खा लिया करना। तेरी जातिका जो सदासे भोजन रहा है, वही तेरा भी होना चाहिये' ॥ १० ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः ।
मधुरैः प्रसृतैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥

उनकी ऐसी बात सुनकर सियार एकाग्रचित्त हो मधुर, विस्तृत, युक्तियुक्त तथा कोमल वचनोंद्वारा इस प्रकार बोला—॥ ११ ॥

अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम् ।
प्रार्थयामि च तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥

'बन्धुओ ! अपने बुरे आचरणोंसे ही हमारी जातिका कोई विश्वास नहीं करता। अच्छे स्वभाव और आचरणसे ही कुलकी प्रतिष्ठा होती है; अतः मैं भी वही कर्म करना चाहता हूँ, जिससे अपने वंशका यश बढ़े ॥ १२ ॥

श्मशाने यदि मे वासः समाधिर्मे निशाम्यताम् ।
आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम् ॥ १३ ॥

'यदि मेरा निवास श्मशानभूमिमें है तो इसके लिये मैं जो समाधान देता हूँ, उसको सुनो। आत्मा ही शुभ कर्मोंके

लिये प्रेरणा करता है। कोई आश्रम ही धर्मका कारण नहीं हुआ करता ॥ १३ ॥

आश्रमे यो द्विजं हन्याद् गां वा दद्यादनाश्रमे ।
किं नु तत्पातकं न स्यात् तद्वा दत्तं वृथा भवेत् ॥ १४ ॥

'क्या यदि कोई आश्रममें रहकर ब्राह्मणकी हत्या करे तो उसे उसका पातक नहीं लगेगा और यदि कोई बिना आश्रमके स्थानमें गोदान करे तो क्या वह व्यर्थ हो जायगा ? ॥ १४ ॥

भवन्तः स्वार्थलोभेन केवलं भक्षणे रताः ।
अनुबन्धे त्रयो दोषास्तान् न पश्यन्ति मोहिताः ॥ १५ ॥

'तुमलोग केवल स्वार्थके लोभसे मांसभक्षणमें रचे-पचे रहते हो। उसके परिणामस्वरूप जो तीन दोष प्राप्त होते हैं, उनकी ओर मोहवश तुम्हारी दृष्टि नहीं जाती ॥ १५ ॥

अप्रत्ययकृतां गर्ह्यामर्थापनयदूषिताम् ।
इह चामुत्र चानिष्टां तस्माद् वृत्तिं न रोचये ॥ १६ ॥

'तुमलोगोंकी जीविका असंतोषसे पूर्ण, निन्दनीय, धर्मकी हानिके कारण दूषित तथा इहलोक और परलोकमें भी अनिष्ट फल देनेवाली है; इसलिये मैं उसे पसंद नहीं करता हूँ ॥ १६ ॥

तं शुचिं पण्डितं मत्वा शार्दूलः ख्यातविक्रमः ।
कृत्वाऽऽत्मसदृशीं पूजां साचिव्येऽवरयत् स्वयम् ॥

सियारके इस पवित्र आचार-विचारकी चर्चा चारों ओर फैल जानेके कारण एक प्रख्यातपराक्रमी व्याघ्रने उसे विद्वान् और विशुद्ध स्वभावका मानकर उसके निकट पदार्पण किया और उसकी अपने अनुरूप पूजा करके स्वयं ही मन्त्री बनानेके लिये उसका वरण किया ॥ १७ ॥

शार्दूल उवाच

सौम्य विज्ञातरूपस्त्वं गच्छ यात्रां मया सह ।
व्रियन्तामीप्सिता भोगाः परिहार्याश्च पुष्कलाः ॥ १८ ॥

व्याघ्र बोला—सौम्य ! मैं तुम्हारे स्वरूपसे परिचित हूँ। तुम मेरे साथ चलो और अपनी रुचिके अनुसार अधिक-से अधिक भोगोंका उपभोग करो। जो वस्तुएँ प्रिय न हों, उन्हें त्याग देना ॥ १८ ॥

तीक्ष्णा इति वयं ख्याता भवन्तं ज्ञापयामहे ।
मृदुपूर्वं हितं चैव श्रेयश्चाधिगमिष्यसि ॥ १९ ॥

परंतु एक बात मैं तुम्हें सूचित कर देता हूँ। सारे संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि हमारी जातिका स्वभाव कठोर होता है; अतः यदि तुम कोमलतापूर्वक व्यवहार करते हुए मेरे हित-साधनमें लगे रहोगे तो अवश्य ही कल्याणके भागी होओगे ॥ १९ ॥

अथ सम्पूज्य तद् वाक्यं मृगेन्द्रस्य महात्मनः ।
गोमायुः संश्रितं वाक्यं बभाषे किंचिदानतः ॥ २० ॥

महामनस्वी मृगराजके उस कथनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके सियारने कुछ नतमस्तक होकर विनययुक्त वाणीमें कहा ॥ २० ॥

गोमायुरुवाच

सदृशं मृगराजैतत् तव वाक्यं मदन्तरे ।
यत् सहायान् मृगयसे धर्मार्थकुशलाञ्शुचीन् ॥ २१ ॥

सियार बोला—मृगराज ! आपने मेरे लिये जो बात कही है, वह सर्वथा आपके योग्य ही है तथा आप जो धर्म और अर्थसाधनमें कुशल एवं शुद्ध स्वभाववाले सहायकों (मन्त्रियों) की खोज कर रहे हैं, यह भी उचित ही है ॥

न शक्यं ह्यनमात्येन महत्त्वमनुशासितुम् ।
दुष्टामात्येन वा वीर शरीरपरिपन्थिना ॥ २२ ॥

वीर ! मन्त्रीके बिना एकाकी राजा विशाल राज्यका शासन नहीं कर सकता। यदि शरीरको सुखा देनेवाला कोई दुष्ट मन्त्री मिल गया तो उसके द्वारा भी शासन नहीं चलाया जा सकता ॥ २२ ॥

सहायाननुरक्तांश्च नयज्ञानुपसंहितान् ।
परस्परमसंसृष्टान् विजिगीषूनलोलुपान् ॥ २३ ॥
अनतीतोपधान् प्राज्ञान् हिते युक्तान् मनस्विनः ।
पूजयेथा महाभाग यथाऽऽचार्यान् यथा पितॄन् ॥ २४ ॥

महाभाग ! इसके लिये आपको चाहिये कि जिनका आपके प्रति अनुराग हो, जो नीतिके जानकार, सद्भाव-सम्पन्न, परस्पर गुटबंदीसे रहित, विजयकी अभिलाषासे युक्त, लोभरहित, कपटनीतिमें कुशल, बुद्धिमान्, स्वामीके हितसाधनमें तत्पर और मनस्वी हों, ऐसे व्यक्तियोंको सहायक या सचिव बनाकर आप पिता और गुरुके समान उनका सम्मान करें ॥ २३-२४ ॥

न त्वेव मम संतोषाद् रोचतेऽन्यन्मृगाधिप ।
न कामये सुखान् भोगानैश्वर्यं च तदाश्रयम् ॥ २५ ॥

मृगराज ! मुझे तो संतोषके सिवा और कोई वस्तु रुचती ही नहीं है। मैं सुख, भोग और उनके आधारभूत ऐश्वर्यको नहीं चाहता ॥ २५ ॥

न योक्ष्यति हि मे शीलं तव भृत्यैः पुरातनैः ।
ते त्वां विभेदयिष्यन्ति दुःशीलाश्च मदन्तरे ॥ २६ ॥

आपके पुराने सेवकोंके साथ मेरे शीलस्वभावका मेल नहीं खायेगा। वे दुष्ट स्वभावके जीव हैं। अतः मेरे निमित्त वे लोग आपके कान भरते रहेंगे ॥ २६ ॥

संश्रयः श्लाघनीयस्त्वमन्येषामपि भास्वताम् ।
कृतात्मा सुमहाभागः पापकेष्वप्यदारुणः ॥ २७ ॥

आप अन्यान्य तेजस्वी प्राणियोंके भी स्पृहणीय आश्रय हैं। आपकी बुद्धि सुशिक्षित है। आप महान् भाग्यशाली तथा अपराधियोंके प्रति भी दयालु हैं ॥ २७ ॥

दीर्घदर्शी महोत्साहः स्थूललक्ष्यो महाबलः ।
कृती चामोघकर्तासि भाग्यैश्च समलंकृतः ॥ २८ ॥

आप दूरदर्शी, महान् उत्साही, स्थूललक्ष्य (जिसका उद्देश्य बहुत स्पष्ट हो वह), महाबली, कृतार्थ, सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले तथा भाग्यसे अलंकृत हैं ॥ २८ ॥

किं तु स्वेनास्मि संतुष्टो दुःखवृत्तिरनुष्ठिता।
सेवायां चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः॥ २९॥

इधर मैं अपने आपमें ही संतुष्ट रहनेवाला हूँ। मैंने ऐसी जीविका अपनायी है, जो अत्यन्त दुःखमयी है। मैं राजसेवाके कार्यसे अनभिज्ञ और वनमें स्वच्छन्दतापूर्वक घूमनेवाला हूँ॥ २९॥

राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम्।
व्रतचर्या तु निःसंगा निर्भया वनवासिनाम्॥ ३०॥

जो राजाके आश्रयमें रहते हैं, उन्हें राजाकी निन्दासे सम्बन्ध रखनेवाले सभी दोष प्राप्त होते हैं। इधर मेरे-जैसे वनवासियोंकी व्रतचर्या सर्वथा असङ्ग और भयसे रहित होती है॥ ३०॥

नृपेणाहूयमानस्य यत् तिष्ठति भयं हृदि।
न तत् तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम्॥ ३१॥

राजा जिसे अपने सामने बुलाता है, उसके हृदयमें जो भय खड़ा होता है, वह वनमें फल-मूल खाकर संतुष्ट रहनेवाले लोगोंके मनमें नहीं होता॥ ३१॥

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः॥ ३२॥

एक जगह बिना किसी भयके केवल जल मिलता है और दूसरी जगह अन्तमें भय देनेवाला स्वादिष्ट अन्न प्राप्त होता है—इन दोनोंको यदि विचार करके मैं देखता हूँ तो मुझे वहाँ ही सुख जान पड़ता है, जहाँ कोई भय नहीं है॥ ३२॥

अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः।
उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः॥ ३३॥

राजाओंने किन्हीं वास्तविक अपराधोंके कारण उतने सेवकोंको दण्ड नहीं दिया होगा, जितने कि लोगोंके झूठे लगाये गये दोषोंसे कलङ्कित होकर राजाके हाथसे मारे गये हैं॥ ३३॥

यदि त्वेतन्मया कार्यं मृगेन्द्र यदि मन्यसे।
समयं कृतमिच्छामि वर्तितव्यं यथा मयि॥ ३४॥

मृगराज! यदि आप मुझसे मन्त्रित्वका कार्य लेना ही ठीक समझते हैं तो मैं आपसे एक शर्त कराना चाहता हूँ, उसीके अनुसार आपको मेरे साथ बर्ताव करना उचित होगा॥ ३४॥

मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यं च हितं वचः।
कल्पिता या च मे वृत्तिः सा भवेत् त्वयि सुस्थिरा॥ ३५॥

मेरे आत्मीयजनोंका आपको सम्मान करना होगा। मेरी कही हुई हितकर बातें आपको सुननी होंगी। मेरे लिये जो जीविकाकी व्यवस्था आपने की है, वह आपहीके पास सुस्थिर एवं सुरक्षित रहे॥ ३५॥

न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित्।
नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि॥ ३६॥

मैं आपके दूसरे मन्त्रियोंके साथ बैठकर कभी कोई परामर्श नहीं करूँगा; क्योंकि दूसरे नीतिज्ञ मन्त्री मुझसे ईर्ष्या करते हुए मेरे प्रति व्यर्थकी बातें कहने लगेंगे॥ ३६॥

एक एकेन संगम्य रहो ब्रूयां हितं वचः।
न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहिते॥ ३७॥

मैं अकेला एकान्तमें अकेले आपसे मिलकर आपको हितकी बातें बताया करूँगा। आप भी अपने जाति-भाइयोंके कार्योंमें मुझसे हिताहितकी बात न पूछियेगा॥ ३७॥

मया सम्मन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया।
मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातयेः॥ ३८॥

मुझसे सलाह लेनेके बाद यदि आपके पहलेके मन्त्रियोंकी भूल प्रमाणित हो तो भी उन्हें प्राणदण्ड न दीजियेगा तथा कभी क्रोधमें आकर मेरे आत्मीयजनोंपर भी प्रहार न कीजियेगा॥ ३८॥

एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः।
प्राप्तवान् मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः॥ ३९॥

'अच्छा, ऐसा ही होगा' यह कहकर शेरने उसका बड़ा सम्मान किया। सियार बाघराजाके बुद्धिदायक सचिवके पदपर प्रतिष्ठित हो गया॥ ३९॥

तं तथा सुकृतं दृष्ट्वा पूज्यमानं स्वकर्मसु।
प्राद्विषन् कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः॥ ४०॥

सियार बहुत अच्छा कार्य करने लगा और उसको अपने सभी कार्योंमें बड़ी प्रशंसा प्राप्त होने लगी। इस प्रकार उसे सम्मानित होता देख पहलेके राजसेवक संगठित हो बारंबार उससे द्वेष करने लगे॥ ४०॥

मित्रबुद्ध्या च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रसाद्य च।
दोषैस्तु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः॥ ४१॥

उनके मनमें दुष्टता भरी थी। वे सियारके पास मित्रभावसे आते और उसे समझा-बुझाकर प्रसन्न करके अपने ही समान दोषके पथपर चलानेकी चेष्टा करते थे॥ ४१॥

अन्यथा ह्युषिताः पूर्वं परद्रव्याभिहारिणः।
अशक्ताः किंचिदादातुं द्रव्यं गोमायुयन्त्रिताः॥ ४२॥

उसके आनेके पहले वे और ही प्रकारसे रहा करते थे। दूसरोंका धन हड़प लिया करते थे, परंतु अब वैसा नहीं कर सकते थे। सियारने उन सबपर ऐसी कड़ी पाबंदी लगा दी थी कि वे किसीकी कोई भी वस्तु लेनेमें असमर्थ हो गये थे॥ ४२॥

व्युत्थानं च विकाङ्क्षद्भिः कथाभिः प्रतिलोभ्यते।
धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते॥ ४३॥

उनकी यही इच्छा थी कि सियार भी डिग जाय; इसलिये वे तरह-तरहकी बातोंमें उसे फुसलाते और बहुत-सा धन देनेका लोभ देकर उसकी बुद्धिको प्रलोभनमें फँसाना चाहते थे॥ ४३॥

न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद् धैर्याच्चचाल ह।
अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय तथा परे॥ ४४॥

परंतु सियार बड़ा बुद्धिमान् था। अतः वह उनके प्रलोभनमें आकर धैर्यसे विचलित नहीं हुआ। तब दूसरे-दूसरे सभी सेवकोंने मिलकर उसके विनाशके लिये प्रतिज्ञा की और तदनुसार प्रयत्न आरम्भ कर दिया ॥ ४४ ॥

ईप्सितं तु मृगेन्द्रस्य मांसं यत् यत्र संस्कृतम्।
अपनीय स्वयं तद्धि तैर्न्यस्तं तस्य वेश्मनि ॥४५॥

एक दिन उन सेवकोंने शेरके खानेके लिये जो मांस तैयार करके रक्खा गया था, उसके स्थानसे हटाकर सियारके घरमें रख दिया ॥ ४५ ॥

यदर्थं चाप्यपहृतं येन तच्चैव मन्त्रितम्।
तस्य तद् विदितं सर्वं कारणार्थं च मर्षितम् ॥ ४६ ॥

जिसने जिस उद्देश्यसे उस मांसको चुराया और जिसने ऐसा करनेकी सलाह दी, वह सब कुछ सियारको मालूम हो गया तो भी किसी कारणवश उसने चुपचाप सह लिया ॥४६॥

समयोऽयं कृतस्तेन साचिव्यमुपगच्छता।
नोपघातस्त्वया कार्यो राजन् मैत्रीमिहेच्छता॥ ४७ ॥

मन्त्रीपदपर आते समय सियारने यह शर्त करा ली थी कि राजन्! यदि आप मुझसे मैत्री चाहते हैं तो किसीके बहकावेमें आकर मेरा विनाश न कर डालियेगा ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

क्षुधितस्य मृगेन्द्रस्य भोक्तुमभ्युत्थितस्य च।
भोजनायोपहर्तव्यं तन्मांसं नोपदृश्यते ॥ ४८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उधर शेरको जब भूख लगी और वह भोजनके लिये उठा, तब उसके खानेके लिये जो परोसा जानेवाला था, वह मांस उसे नहीं दिखायी दिया ॥ ४८ ॥

मृगराजेन चाज्ञप्तं दृश्यतां चोर इत्युत।
कृतकैश्चापि तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ॥ ४९ ॥
सचिवेनापनीतं ते विदुषा प्राज्ञमानिना।

तब मृगराजने सेवकोंको आज्ञा दी कि चोरका पता लगाओ। तब जिनकी यह करतूत थी, उन्हीं लोगोंने उस मांसके बारेमें शेरको बताया—'महाराज! अपनेको अत्यन्त बुद्धिमान् और पण्डित माननेवाले आपके मन्त्री महोदयने ही इस मांसका अपहरण किया है' ॥ ४९½ ॥

सरोषस्त्वथ शार्दूलः श्रुत्वा गोमायुचापलम् ॥ ५० ॥
बभूवामर्षितो राजा वधं चास्य व्यरोचयत्।

सियारकी यह चपलता सुनकर शेर गुस्सेसे भर गया। उससे यह बात सही नहीं गयी; अतः मृगराजने उसका वध करनेका ही विचार कर लिया ॥ ५०½ ॥

छिद्रं तु तस्य तद् दृष्ट्वा प्रोचुस्ते पूर्वमन्त्रिणः ॥ ५१ ॥
सर्वेषामेव सोऽस्माकं वृत्तिभङ्गे प्रवर्तते।
निश्चित्यैव पुनस्तस्य ते कर्माण्यपि वर्णयन् ॥ ५२ ॥

उसका यह छिद्र देखकर पहलेके मन्त्री आपसमें कहने लगे, वह हम सब लोगोंकी जीविका नष्ट करनेपर तुला हुआ है; अतः हम भी उससे बदला लें, ऐसा निश्चय करके वे उसके अपराधोंका वर्णन करने लगे—॥ ५१-५२ ॥

इदं तस्येदृशं कर्म किं तेन न कृतं भवेत्।
श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५३ ॥

'महाराज! जब उसके द्वारा ऐसा कर्म किया जा सकता है, तब वह और क्या नहीं कर सकता? स्वामीने पहले उसके बारेमें जैसा सुन रक्खा है, वह वैसा नहीं है ॥ ५३ ॥

वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः।
धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः ॥ ५४ ॥

'वह बातोंसे ही धर्मात्मा बना हुआ है। स्वभावसे तो बड़ा क्रूर है। भीतरसे यह बड़ा पापी है; परंतु ऊपरसे धर्मात्मापनका ढोंग बनाये हुए है। उसका सारा आचार-विचार व्यर्थ दिखावेके लिये है ॥ ५४ ॥

कार्यार्थं भोजनार्थेषु व्रतेषु कृतवाञ्श्रमम्।
यदि विप्रत्ययो ह्येष तदिदं दर्शयाम ते ॥ ५५ ॥

'उसने तो अपना काम बनाने और पेट भरनेके लिये ही व्रत करनेमें परिश्रम किया है। यदि आपको विश्वास न हो तो यह लीजिये, हम अभी उसके यहाँसे मांस ले आकर दिखाते हैं' ॥ ५५ ॥

तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणादाशु ढौकितम्।
मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रः श्रुत्वा च तद्वचः ॥ ५६ ॥
आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति।

ऐसा कहकर वे क्षणभरमें ही सियारके घरसे उस मांसको उठा लाये। मांसके अपहरणकी बात जानकर और उन सेवकोंकी बातें सुनकर शेरने उस समय यह आज्ञा दे दी कि सियारको प्राणदण्ड दे दिया जाय ॥ ५६½ ॥

शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः ॥ ५७ ॥
मृगराजं हितैर्वाक्यैः सम्बोधयितुमागमत्।
पुत्र नैतत् त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंयुतम् ॥ ५८ ॥

शेरकी यह बात सुनकर उसकी माता हितकर वचनोंद्वारा उसे समझानेके लिये वहाँ आयी और बोली—'बेटा! इसमें कुछ कपटपूर्ण षड्यन्त्र हुआ मालूम पड़ता है; अतः तुम्हें इसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दुष्येताशुचिभिः शुचिः।
नोच्छ्रितं सहते कश्चित् प्रक्रिया वैरकारिका ॥ ५९ ॥

'काममें लाग-डाँट हो जानेसे जिनके मनमें शुद्धभाव नहीं हैं, वे लोग निर्दोषपर ही दोषारोपण करते हैं। किसीको अपनेसे ऊँची अवस्थामें देखकर कोई-कोई ईर्ष्यावश सहन नहीं कर पाते हैं। यही वैरभाव उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया है ॥ ५९ ॥

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ॥ ६० ॥
उत्पाद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः।

'कोई कितना ही शुद्ध और उद्योगी क्यों न हो, लोग उसपर दोषारोपण कर ही देते हैं। अपने धार्मिक कर्मोंमें लगे हुए वनवासी मुनिके भी शत्रु, मित्र और उदासीन—ये तीन पक्ष पैदा हो जाते हैं ॥ ६०½ ॥

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ॥ ६१ ॥
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः ।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥ ६२ ॥

'लोभी लोग निर्लोभीसे, कायर बलवानोंसे, मूर्ख विद्वानोंसे, दरिद्र बड़े-बड़े धनियोंसे, पापाचारी धर्मात्माओंसे और कुरूप सुन्दर रूपवालोंसे द्वेष करते हैं ॥ ६१-६२ ॥

बहवः पण्डिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः ।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ६३ ॥

'विद्वानोंमें भी बहुत-से ऐसे अविवेकी, लोभी और कपटी होते हैं, जो बृहस्पतिके समान बुद्धि रखनेवाले निर्दोष व्यक्तिमें भी दोष ढूँढ निकालते हैं ॥ ६३ ॥

शून्यात् तच्च गृहान्मांसं यद्यप्यपहृतं तव ।
नेच्छते दीयमानं च साधु तावद् विमृश्यताम् ॥ ६४ ॥

'एक ओर तो तुम्हारे सूने घरसे मांसकी चोरी हुई है और दूसरी ओर एक व्यक्ति ऐसा है, जो देनेपर भी मांस लेना नहीं चाहता—इन दोनों बातोंपर पहले अच्छी तरह विचार करो ॥ ६४ ॥

असभ्याः सभ्यसंकाशाः सभ्याश्चासभ्यदर्शनाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६५ ॥

'संसारमें बहुत-से असभ्य प्राणी सभ्यकी तरह और सभ्य-लोग असभ्यके समान देखे जाते हैं। इस तरह अनेक प्रकारके भाव दृष्टिगोचर होते हैं; अतः उनकी परीक्षा कर लेनी उचित है ॥ ६५ ॥

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥ ६६ ॥

'आकाश औंधी की हुई कड़ाहीके तले (भीतरी भागों) के समान दिखायी देता है और जुगनू अग्निके सदृश दृष्टिगोचर होता है; परंतु न तो आकाशमें तल है और न जुगनूमें अग्नि ही है ॥ ६६ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात् परितप्यते ॥ ६७ ॥

'इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुकी भी परीक्षा करनी उचित है। जो परीक्षा लेकर भले-बुरेकी जाँच करके किसी कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता ॥ ६७ ॥

न दुष्करमिदं पुत्र यत् प्रभुर्घातयेत् परम् ।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६८ ॥

'बेटा ! यदि शक्तिशाली राजा दूसरेको मरवा डाले तो यह उसके लिये कोई कठिन काम नहीं है; परंतु शक्तिशाली पुरुषोंमें यदि क्षमाका भाव हो तो संसारमें उसीकी बड़ाई की जाती है और उसीसे राजाओंका यश बढ़ता है ॥ ६८ ॥

स्थापितोऽयं त्वया पुत्र सामन्तेष्वपि विश्रुतः ।
दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्यतामेष ते सुहृत् ॥ ६९ ॥

'बेटा ! तुमने ही इस सियारको मन्त्रीके पदपर बिठाया है और तुम्हारे सामन्तोंमें भी इसकी ख्याति बढ़ गयी है। कोई सुपात्र व्यक्ति बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। यह सियार तुम्हारा हितैषी सुहृद् है; इसलिये तुम इसकी रक्षा करो ॥ ६९ ॥

दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ७० ॥

'जो दूसरोंके मिथ्या कलंक लगानेपर किसी निर्दोषको भी दण्ड देता है, वह दुष्ट मन्त्रियोंवाला राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है' ॥ ७० ॥

तस्मादप्यरिसंघाताद् गोमायोः कश्चिदागतः ।
धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत् कपटं कृतम् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर उन्हीं शत्रुओंके समूहमेंसे किसी धर्मात्मा सियारने (जो शेरका गुप्तचर बना था,) आकर गीदड़के साथ जो यह छल-कपट किया गया था, वह सब सिंहको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

ततो विज्ञातचरितः सत्कृत्य स विमोक्षितः ।
परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

इससे शेरको सियारकी सच्चरित्रताका पता चल गया और उसने उसका सत्कार करके उसे इस अभियोगसे मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, मृगराजने स्नेहपूर्वक बारंबार अपने सचिवको गलेसे लगाया ॥ ७२ ॥

अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीतिशास्त्रवित् ।
तेनामर्षेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् नीतिशास्त्रके ज्ञाता सियारने मृगराजकी आज्ञा लेकर अमर्षसे संतप्त हो उपवास करके प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ ७३ ॥

शार्दूलस्तं तु गोमायुं स्नेहात् प्रोत्फुल्ललोचनः ।
अवारयत् स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७४ ॥

शेरने धर्मात्मा गीदड़का भलीभाँति आदर-सत्कार करके उसे उपवाससे रोक दिया। उस समय उसके नेत्र स्नेहसे खिल उठे थे ॥ ७४ ॥

तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसम्भ्रमम् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७५ ॥

सियारने देखा, मालिकका हृदय स्नेहसे आकुल हो रहा है, तब उसने उसे प्रणाम करके अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ७५ ॥

पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः ।
परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नार्हाम्यहं त्वयि ॥ ७६ ॥

'महाराज ! पहले तो आपने मुझे सम्मान दिया और पीछे अपमानित कर दिया, शत्रुओंकी-सी अवस्थामें डाल दिया; अतः अब मैं आपके पास रहनेके योग्य नहीं हूँ ॥ ७६ ॥

असंतुष्टाश्च्युताः स्थानान्मानात् प्रत्यवरोपिताः ।
स्वयं चोपहृता भृत्या ये चाप्युपहिताः परैः ॥ ७७ ॥
परिक्षीणाश्च लुब्धाश्च क्रुद्धा भीताः प्रतारिताः ।
हृतस्वा मानिनो ये च त्यक्तादाना महेप्सवः ॥ ७८ ॥
संतापिताश्च ये केचिद् व्यसनौघप्रतीक्षिणः ।
अन्तर्हिताः सोपहितास्ते सर्वे परसाधनाः ॥ ७९ ॥

'जो अपने पदसे गिरा दिये जानेके कारण असंतुष्ट हों, अपमानित किये गये हों, जो स्वयं राजासे पुरस्कृत होकर दूसरोंके द्वारा कलंक लगाये जानेके कारण उस आदरसे वञ्चित कर दिये गये हों, जो क्षीण, लोभी, क्रोधी, भयभीत और धोखेमें डाले गये हों, जिनका सर्वस्व छीन लिया गया हो, जो मानी हों, जिनकी आय छिन गयी हो, जो महत्त्वपूर्ण पद पाना चाहते हों, जिन्हें सताया गया हो, जो किसी राजापर आनेवाले संकट-समूहकी प्रतीक्षा कर रहे हों, छिपे रहते हों और मनमें कपटभाव रखते हों, वे सभी सेवक शत्रुओंका काम बनानेवाले होते हैं ॥ ७७—७९ ॥

अवमानेन युक्तस्य स्थानभ्रष्टस्य वा पुनः ।
कथं यास्यसि विश्वासमहं तिष्ठामि वा कथम् ॥ ८० ॥

'जब मैं एक बार अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित हो गया, तब पुनः आप मुझपर कैसे विश्वास कर सकेंगे? अथवा मैं ही कैसे आपके पास रह सकूँगा ? ॥ ८० ॥

समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्षितः ।
कृतं च समयं भित्त्वा त्वयाहमवमानितः ॥ ८१ ॥

'आपने योग्य समझकर मुझे अपनाया और मन्त्रीके पदपर बिठाकर मेरी परीक्षा ली। इसके बाद अपनी की हुई प्रतिज्ञाको तोड़कर मेरा अपमान किया ॥ ८१ ॥

प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि ।
न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ८२ ॥

'पहले भरी सभामें शीलवान् कहकर जिसका परिचय दिया गया हो, प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उसका दोष नहीं बताना चाहिये ॥ ८२ ॥

एवं चावमतस्येह विश्वासं मे न यास्यसि ।
त्वयि चापेतविश्वासे ममोद्वेगो भविष्यति ॥ ८३ ॥

'जब मैं इस प्रकार यहाँ अपमानित हो गया तो अब आपपर मेरा विश्वास न होगा और आप भी मुझपर विश्वास नहीं कर सकेंगे। ऐसी दशामें आपसे मुझे सदा भय बना रहेगा ॥ ८३ ॥

शंकितस्त्वमहं भीतः परच्छिद्रानुदर्शिनः ।
अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद् बहुच्छलम् ॥ ८४ ॥

'आप मुझपर संदेह करेंगे और मैं आपसे डरता रहूँगा, इधर पराये दोष ढूँढ़नेवाले आपके भृत्यलोग मौजूद ही हैं। इनका मुझपर तनिक भी स्नेह नहीं है तथा इन्हें संतुष्ट रखना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। साथ ही यह मन्त्रीका कर्म भी अनेक प्रकारके छल-कपटसे भरा हुआ है ॥

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ॥ ८५ ॥

'प्रेमका बन्धन बड़ी कठिनाईसे टूटता है, पर जब वह एक बार टूट जाता है, तब बड़ी कठिनाईसे जुट पाता है। जो प्रेम बारंबार टूटता और जुड़ता रहता है, उसमें स्नेह नहीं होता ॥ ८५ ॥

कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः ।
कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ॥ ८६ ॥

'ऐसा मनुष्य कोई एक ही होता है, जो अपने या दूसरेके हितमें रत न रहकर स्वामीके ही हितमें संलग्न दिखायी देता हो; क्योंकि अपने कार्यकी अपेक्षा रखकर स्वार्थसाधनका उद्देश्य लेकर प्रेम करनेवाले तो बहुत होते हैं, परंतु शुद्धभावसे स्नेह रखनेवाले मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ८६ ॥

सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम् ।
समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८७ ॥

'योग्य मनुष्यको पहचानना राजाओंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि उनका चित्त चञ्चल होता है। सैकड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा मिलता है, जो सब प्रकारसे सुयोग्य होता हुआ भी संदेहसे परे हो ॥ ८७ ॥

अकस्मात् प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् ।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥ ८८ ॥

'मनुष्यके उत्कर्ष और अपकर्ष (उन्नति और अवनति) अकस्मात् होते हैं, किसीका भला करके बुरा करना और उसे महत्त्व देकर नीचे गिराना, यह सब ओछी बुद्धिका परिणाम है' ॥

एवंविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मकामार्थहेतुमत् ।
प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और युक्तियोंसे युक्त सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर सियारने बाघराजाको प्रसन्न कर लिया और उसकी अनुमति लेकर वह वनमें चला गया ॥ ८९ ॥

अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य च बुद्धिमान् ।
गोमायुः प्रायमास्थाय त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ ॥ ९० ॥

वह बड़ा बुद्धिमान् था; अतः शेरकी अनुनय-विनय न मानकर मृत्युपर्यन्त निराहार रहनेका व्रत ले एक स्थानपर बैठ गया और अन्तमें शरीर त्यागकर स्वर्गधाममें जा पहुँचा ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्याघ्रगोमायुसंवादे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्याघ्र और गीदड़का संवादविषयक एकसौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ९१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

एक तपस्वी ऊँटके आलस्यका कुपरिणाम और राजाका कर्तव्य

युधिष्ठिर उवाच

किं पार्थिवेन कर्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत् ।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह ! राजाको क्या करना चाहिये ? क्या करनेसे वह सुखी हो सकता है ? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये ! ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम् ।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! राजाका जो कर्त्तव्य है और जो कुछ करके वह सुखी हो सकता है, उस कार्यका निश्चय करके अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ उसे सुनो ॥ २ ॥

न चैवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम ।
उष्ट्रस्य तु महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ! हमने एक ऊँटका जो महान् वृत्तान्त सुन रखा है, उसे तुम सुनो। राजाको वैसा बर्ताव नहीं करना चाहिये॥ ३ ॥

जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत् ।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥

प्राजापत्ययुग (सत्ययुग) में एक महान् ऊँट था। उसको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था। उसने कठोर व्रतके पालनका नियम लेकर वनमें बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की॥

तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद् विभुः ।
वरेण च्छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥

उस तपस्याके अन्तमें पितामह भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे वर माँगनेके लिये कहा ॥ ५ ॥

उष्ट्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् ।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो॥ ६ ॥

ऊँट बोला—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरी यह गर्दन बहुत बड़ी हो जाय, जिससे जब मैं चरनेके लिये जाऊँ तो सौ योजनसे अधिक दूरतककी खाद्य वस्तुएँ ग्रहण कर सकूँ ॥ ६ ॥

एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना ।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥

वरदायक महात्मा ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहकर उसे मुँहमाँगा वर दे दिया। वह उत्तम वर पाकर ऊँट अपने वनमें चला गया ॥ ७ ॥

स चकार तदाऽऽलस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले ऊँटने वरदान पाकर कहीं आने-जानेमें आलस्य कर लिया। वह दुरात्मा कालसे मोहित होकर चरनेके लिये कहीं जाना ही नहीं चाहता था ॥ ८ ॥

स कदाचित् प्रसार्यैव तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात् ततो महान् ॥ ९ ॥

एक समयकी बात है, वह अपनी सौ योजन लंबी गर्दन फैलाकर चर रहा था, उसका मन चरनेसे कभी थकता ही नहीं था। इतनेमें ही बड़े जोरसे हवा चलने लगी ॥ ९ ॥

स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः ।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत् प्लावयज्जगत् ॥ १० ॥

वह पशु किसी गुफामें अपनी गर्दन डालकर चर रहा था, इसी समय सारे जगत्‌को जलसे आप्लावित करती हुई बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ १० ॥

अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥ ११ ॥

वर्षा आरम्भ होनेपर भूख और थकावटसे कष्ट पाता हुआ एक गीदड़ अपनी स्त्रीके साथ शीघ्र ही उस गुहामें आ घुसा। वह जलसे पीडित था, सर्दीसे उसके सारे अङ्ग अकड़ गये थे ॥ ११ ॥

स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
अभक्षयत् ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी गीदड़ अत्यन्त भूखके कारण कष्ट पा रहा था, अतः उसने ऊँटकी गर्दनका मांस काट-काटकर खाना आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः ।
तदा संकोचने यत्नमकरोद् भृशदुःखितः ॥ १३ ॥

जब उस पशुको यह मालूम हुआ कि उसकी गर्दन खायी जा रही है, तब वह अत्यन्त दुखी हो उसे समेटनेका प्रयत्न करने लगा ॥ १३ ॥

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः ।
तावत् तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥

वह पशु जबतक अपनी गर्दनको ऊपर-नीचे समेटनेका यत्न करता रहा, तबतक ही स्त्रीसहित सियारने उसे काटकर खा लिया ॥ १४ ॥

स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा ।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऊँटको मारकर खा जानेके पश्चात् जब आँधी और वर्षा बंद हो गयी, तब वह गीदड़ गुफाके मुहानेसे निकल गया ॥ १५ ॥

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा ।
आलस्यस्य क्रमात् पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥ १६ ॥

इस तरह उस मूर्ख ऊँटकी मृत्यु हो गयी । देखो, उसके आलस्यके क्रमसे कितना महान् दोष प्राप्त हो गया ॥ १६ ॥

त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः ।
वर्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

इसलिये तुम्हें भी ऐसे आलस्यको त्याग करके इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए बुद्धिपूर्वक बर्ताव करना उचित है । मनुजीका कथन है कि 'विजयका मूल बुद्धि ही है' ॥ १७ ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ १८ ॥

भारत ! बुद्धिबलसे किये गये कार्य श्रेष्ठ हैं । बाहुबलसे किये जानेवाले कार्य मध्यम हैं । जाँघ अर्थात् पैरके बलसे किये गये कार्य जघन्य (अधम कोटिके) हैं तथा मस्तकसे भार ढोनेका कार्य सबसे निम्न श्रेणीका है ॥ १८ ॥

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च ।
आर्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

जो जितेन्द्रिय और कार्यदक्ष है, उसीका राज्य स्थिर रहता है । मनुजीका कथन है कि संकटमें पड़े हुए राजाकी विजयका मूल बुद्धि-बल ही है ॥ १९ ॥

गुह्यं मन्त्रं श्रुतवतः सुसहायस्य चानघ ।
परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥ २० ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! जो गुप्त मन्त्रणा सुनता है, जिसके सहायक अच्छे हैं तथा जो भलीभाँति जाँच-बूझकर कोई कार्य करता है, उसके पास ही धन स्थिर रहता है । सहायकोंसे सम्पन्न नरेश ही समूची पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ २० ॥

इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः
पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव ।
मयापि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या
यथैव बुद्ध्वा प्रचरस्व राजन् ॥ २१ ॥

महेन्द्रके समान प्रभावशाली नरेश ! पूर्वकालमें राज्य-संचालनकी विधिको जाननेवाले सत्पुरुषोंने यह बात कही थी । मैंने भी शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार तुम्हें यह बात बतायी है । राजन् ! इसे अच्छी तरह समझकर इसीके अनुसार चलो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उष्ट्रग्रीवोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऊँटकी गर्दनकी कथाविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिशाली शत्रुके सामने बेंतकी भाँति नतमस्तक होनेका उपदेश—सरिताओं और समुद्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! राजा एक दुर्लभ राज्यको पाकर भी सेना और खजाना आदि साधनोंसे रहित हो तो सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त बढ़े-चढ़े हुए शत्रुके सामने कैसे टिक सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष सरिताओं तथा समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन उपाख्यानका दृष्टान्त दिया करते हैं ॥ २ ॥

सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरितांपतिः ।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, दैत्योंके निवासस्थान और सरिताओंके स्वामी समुद्रने सम्पूर्ण नदियोंसे अपने मनका एक संदेह पूछा ॥ ३ ॥

सागर उवाच

समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान् ।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नयस्तत्र न वेतसम् ॥ ४ ॥

समुद्रने कहा—नदियो ! मैं देखता हूँ कि जब बाढ़ आनेके कारण तुमलोग लबालब भर जाती हो, तब विशालकाय वृक्षोंको जड़-मूल और शाखाओंसहित उखाड़कर अपने प्रवाहमें बहा लाती हो; परंतु उनमें बेंतका कोई पेड़ नहीं दिखायी देता ॥ ४ ॥

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः ।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥ ५ ॥

बेंतका शरीर तो नहींके बराबर बहुत पतला है । उसमें कुछ दम नहीं होता है और वह तुम्हारे खास किनारेपर जमता है; फिर भी तुम उसे न ला सकीं, क्या कारण है ? क्या तुम अवहेलनावश उसे कभी नहीं लायीं अथवा उसने तुम्हारा कोई उपकार किया है ? ॥ ५ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥ ६ ॥

इस विषयमें तुम सब लोगोंका विचार मैं सुनना चाहता हूँ, क्या कारण है कि बेंतका वृक्ष तुम्हारे इन तटोंको छोड़कर नहीं आता है ? ॥ ६ ॥

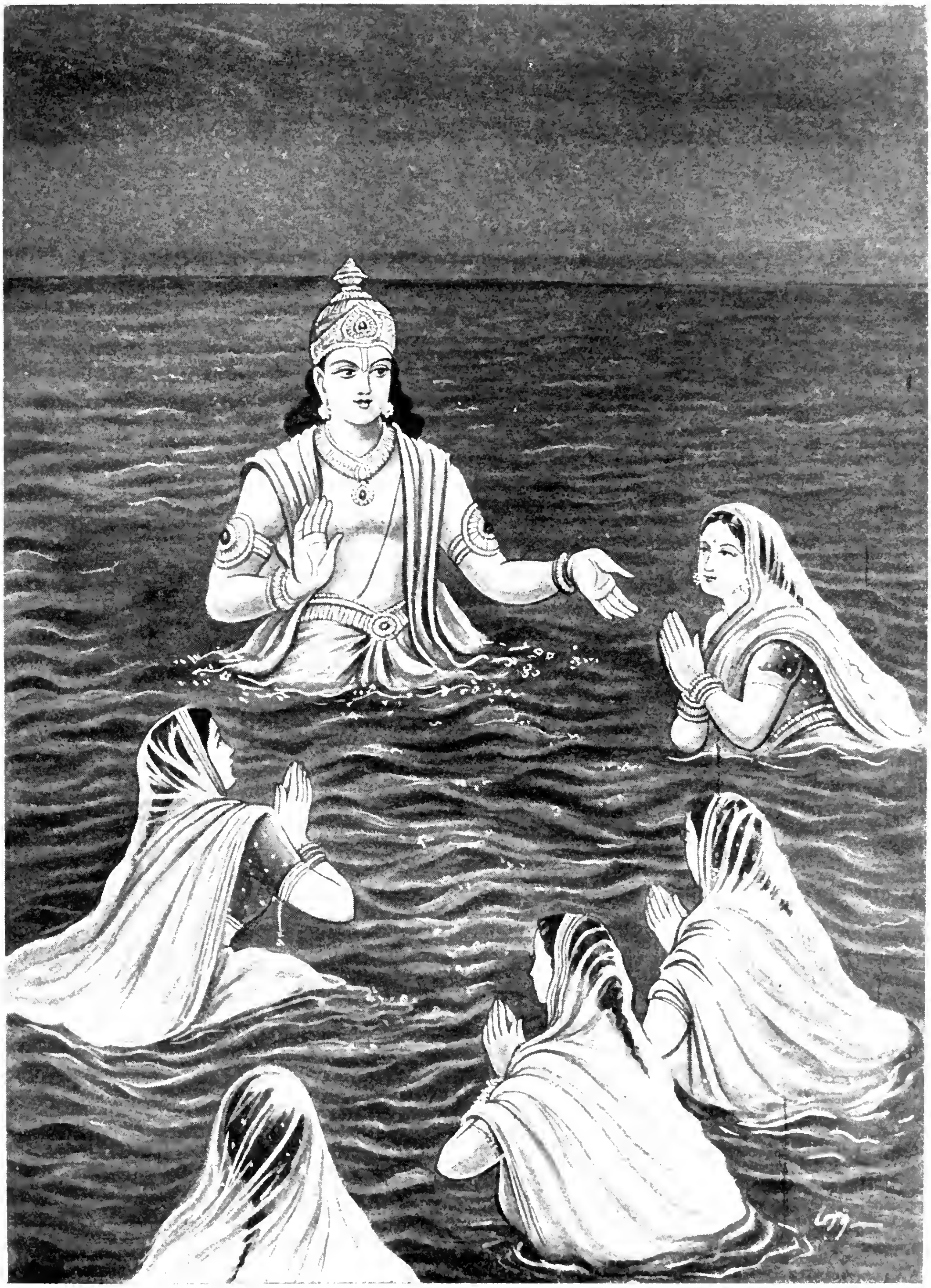

समुद्र देवताका मूर्तिमती नदियोंके साथ संवाद

तत्र प्राह नदी गङ्गा वाक्यमुत्तममर्थवत् ।
हेतुमद् ग्राहकं चैव सागरं सरिताम्पतिम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रश्न होनेपर गङ्गानदीने सरिताओंके स्वामी समुद्रसे यह उत्तम अर्थपूर्ण, युक्तियुक्त तथा मनको ग्रहण करनेवाली बात कही ॥ ७ ॥

गङ्गोवाच

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः ।
ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥ ८ ॥

गङ्गा बोली—नदीश्वर ! ये वृक्ष अपने-अपने स्थानपर अकड़कर खड़े रहते हैं, हमारे प्रवाहके सामने मस्तक नहीं झुकाते । इस प्रतिकूल बर्तावके कारण ही उन्हें नष्ट होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ता है; परंतु बेंत ऐसा नहीं है ॥८॥

वेतसो वेगमायातं दृष्ट्वा नमति नापरे ।
सरिद्वेगेऽव्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

बेंत नदीके वेगको आते देख झुक जाता है, पर दूसरे वृक्ष ऐसा नहीं करते; अतः वह सरिताओंका वेग शान्त होनेपर पुनः अपने स्थानमें ही स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः ।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥ १० ॥

बेंत समयको पहचानता है, उसके अनुसार बर्ताव करना जानता है, सदा हमारे वशमें रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता और अनुकूल बना रहता है । उसमें कभी अकड़ नहीं आती है; इसीलिये उसे स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना पड़ता है ॥ १० ॥

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च ।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥ ११ ॥

जो पौधे, वृक्ष या लता-गुल्म हवा और पानीके वेगसे झुक जाते तथा वेग शान्त होनेपर सिर उठाते हैं, उनका कभी पराभव नहीं होता ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्बन्धविनाशने ।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी प्रकार जो राजा बलमें बढ़े-चढ़े तथा बन्धनमें डालने और विनाश करनेमें समर्थ शत्रुके प्रथम वेगको सिर झुकाकर नहीं सह लेता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः ।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥ १३ ॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने तथा शत्रुके सार-असार, बल तथा पराक्रमको जानकर उसके अनुसार बर्ताव करता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती है ॥ १३ ॥

एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद् वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार विद्वान् राजा जब शत्रुके बलको अपनेसे अधिक समझे, तब बेंतका ही ढंग अपना ले अर्थात् उसके सामने नतमस्तक हो जाय । यही बुद्धिमानीका लक्षण है ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सरित्सागरसंवादे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सरिताओं और समुद्रका संवादविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

दुष्ट मनुष्यद्वारा की हुई निन्दाको सह लेनेसे लाभ

युधिष्ठिर उवाच

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—शत्रुदमन भारत ! यदि कोई ढीठ मूर्ख मधुर या तीखे शब्दोंमें भरी सभाके बीच किसी विद्वान् पुरुषकी निन्दा करने लगे, तो वह उसके साथ कैसा बर्ताव करे ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते ।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भूपाल ! सुनो, इस विषयमें सदासे जैसी बात कही जाती है, उसे बता रहा हूँ । विशुद्ध चित्तवाला पुरुष इस जगत्में सदा ही मूर्ख मनुष्यके कठोर वचनोंको सहन करता है ॥ २ ॥

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति ।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै ॥ ३ ॥

जो निन्दा करनेवाले पुरुषके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्यको प्राप्त कर लेता है । वह सहनशील मनुष्य अपना सारा पाप उस क्रोधी पुरुषपर ही धो डालता है ॥३॥

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम् ।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

अच्छे पुरुषको चाहिये कि वह टिटिहरी या रोगीकी तरह टाँय-टाँय करते हुए उस निन्दाकारी पुरुषकी उपेक्षा कर दे । इससे वह सब लोगोंके द्वेषका पात्र बन जायगा और उसके सारे सत्कर्म निष्फल हो जायँगे ॥ ४ ॥

इति संश्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा ।
इदमुक्तो मया कश्चित् सम्मतो जनसंसदि ॥ ५ ॥
स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोऽवतिष्ठते ।
श्लाघन्नश्लाघनीयेन कर्मणा निरपत्रपः ॥ ६ ॥

वह मूर्ख तो उस पापकर्मके द्वारा सदा अपनी प्रशंसा करते हुए कहता है कि मैंने अमुक सम्मानित पुरुषको भरी सभामें ऐसी-ऐसी बातें सुनायीं कि वह लाजसे गड़ गया, उसका मुख सूख गया और वह अधमरा-सा हो गया, इस प्रकार निन्दनीय कर्म करके वह अपनी प्रशंसा करता है और तनिक भी लजाता नहीं है ॥ ५-६ ॥

उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः ।
यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद्बुधः ॥ ७ ॥

ऐसे नराधमकी यत्नपूर्वक उपेक्षा कर देनी चाहिये । मूर्ख मनुष्य जो कुछ भी कह दे, विद्वान् पुरुषको वह सब सह लेना चाहिये ॥ ७ ॥

प्राकृतो हि प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति ।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ॥ ८ ॥

जैसे वनमें कौआ व्यर्थ ही काँव-काँव किया करता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अकारण ही निन्दा करता है । वह प्रशंसा करे या निन्दा, किसीका क्या भला या बुरा करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकेगा ॥ ८ ॥

यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात् प्रयोगे पापकर्मणः ।
वागेवार्थो भवेत् तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ९ ॥

यदि पापाचारी पुरुषके कटुवचन बोलनेपर बदलेमें वैसे ही वचनोंका प्रयोग किया जाय तो उससे केवल वाणीद्वारा कलहमात्र होगा । जो हिंसा करना चाहता है, उसका गाली देनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ॥ ९ ॥

निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया ।
मयूर इव कौपीनं नृत्यं संदर्शयन्निव ॥ १० ॥

मयूर जब नाच दिखाता है, उस समय वह अपने गुप्त अङ्गोंको भी उघाड़ देता है । इसी प्रकार जो मूर्ख अनुचित आचरण करता है, वह उस कुचेष्टाद्वारा अपने छिपे हुए दोषोंको प्रकट करता है ॥ १० ॥

यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किंचन ।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संश्लिष्टकर्मणा ॥ ११ ॥

संसारमें जिसके लिये कुछ भी कह देना या कर डालना असम्भव नहीं है, ऐसे मनुष्यसे उस भले मनुष्यको बात भी नहीं करनी चाहिये, जो अपने सत्कर्मके द्वारा विशुद्ध समझा जाता है ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥ १२ ॥

जो सामने आकर गुण गाता है और परोक्षमें निन्दा करता है, वह मनुष्य संसारमें कुत्तेके समान है । उसके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादी यस्तं नाशयति तत्क्षणात् ॥ १३ ॥

परोक्षमें परनिन्दा करनेवाला मनुष्य सैकड़ों मनुष्योंको जो कुछ दान देता है और होम करता है, उन सब अपने कर्मोंको तत्काल नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तस्मात् प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।
वर्जयेत् साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १४ ॥

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह वैसे पापपूर्ण विचारवाले पुरुषको तत्काल त्याग दे । वह कुत्तेके मांसके समान साधु पुरुषोंके लिये सदा ही त्याज्य है ॥ १४ ॥

परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महाजने ।
प्रकाशयति दोषांस्तु सर्पः फणमिवोच्छ्रितम् ॥ १५ ॥

जैसे साँप अपने फनको ऊँचा उठाकर प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जनसमुदायमें किसी महापुरुषकी निन्दा करनेवाला दुरात्मा अपने ही दोषोंको प्रकट करता है ॥ १५ ॥

तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति ।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि सज्जति ॥ १६ ॥

जो परनिन्दारूप अपना कार्य करनेवाले दुष्ट पुरुषसे बदला लेना चाहता है, वह राखमें लोटनेवाले मूर्ख गदहेके समान केवल दुःखमें निमग्न होता है ॥ १६ ॥

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं
जनापवादे सततं निविष्टम् ।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं
त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १७ ॥

जो सदा लोगोंकी निन्दामें ही तत्पर रहता है, वह मनुष्यके शरीररूप घरमें रहनेवाला भेड़िया है । वह सदा अशान्त बना रहता है । मतवाले हाथीके समान चीत्कार करता है और अत्यन्त भयंकर कुत्तेके समान काटनेको दौड़ता है । श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि उसे सदाके लिये त्याग दें ॥ १७ ॥

अधीरजुष्टे पथि वर्तमानं
दमादपेतं विनयाच्च पापम् ।
अरिव्रतं नित्यमभूतिकामं
धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १८ ॥

वह मूर्खोंद्वारा सेवित पथपर चलनेवाला है । इन्द्रियसंयम और विनयसे कोसों दूर है । उसने शत्रुताका व्रत ले रक्खा है । वह सदा सबकी अवनति चाहता है । उस पापात्मा एवं पापबुद्धि मनुष्यको धिक्कार है ॥ १८ ॥

प्रत्युच्यमानस्त्वभिभूय एभि-
र्निशाम्य मा भूस्त्वमथार्तरूपः ।
उच्चस्य नीचेन हि सम्प्रयोगं
विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १९ ॥

यदि ऐसे दुष्ट मनुष्य किसीपर आक्रमण करके उसकी निन्दा करने लगें और उसे सुनकर भला मनुष्य उसका उत्तर

देनेके लिये उद्यत हो तो उसे रोककर कहे कि तुम दुखी न होओ; क्योंकि स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य उच्च पुरुषका नीच-के साथ होनेवाले संयोगकी अर्थात् बराबरीकी निन्दा करते हैं ॥

क्रुद्धो दशार्धेन हि ताडयेद् वा
स पांसुभिर्वा विकिरेत् तुषैर्वा ।
विवृत्य दन्तांश्च विभीषयेद् वा
सिद्धं हि मूढे कुपिते नृशंसे ॥ २० ॥

यदि क्रूर स्वभावका मूर्ख मनुष्य कुपित हो जाय तो वह थप्पड़ मार सकता है, मुँहपर धूल अथवा भूसी झोंक सकता है और दाँत निकालकर डरा सकता है। उसके द्वारा सारी कुचेष्टाएँ सम्भव हैं ॥ २० ॥

विगर्हणां परमदुरात्मना कृतां
सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः ।
पठेदिदं चापि निदर्शनं सदा
न वाङ्मयं स लभति किंचिदप्रियम् ॥२१॥

जो इस दृष्टान्तको सदा पढ़ता या सुनता रहता है और जो मनुष्य सभामें किसी अत्यन्त दुष्टात्माद्वारा की हुई निन्दा-को सह लेता है, वह दुर्जन मनुष्यसे कभी वाणीद्वारा होने-वाले निन्दाजनित किंचिन्मात्र दुःखका भी भागी नहीं होता ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि (टिट्टिभकं नाम) चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा तथा राजसेवकोंके आवश्यक गुण

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम् ।
संछेत्तव्यस्त्वया राजन् भवान् कुलकरो हि नः॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—परमबुद्धिमान् पितामह ! मेरे मनमें यह एक महान् संशय बना हुआ है। राजन् ! आप मेरे उस संदेहका निवारण करें; क्योंकि आप हमारे वंशके प्रवर्तक हैं ॥

पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम् ।
कथितो वाक्यसंचारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥

तात ! आपने दुरात्मा और दुराचारी पुरुषोंके बोल-चालकी चर्चा की है; इसीलिये मैं आपसे कुछ निवेदन कर रहा हूँ ॥ २ ॥

यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरं च यत्॥ ३ ॥
पुत्रपौत्राभिरामं च राष्ट्रवृद्धिकरं च यत् ।
अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये, जो हमारे इस राज्य-तन्त्रके लिये हितकारक, कुलके लिये सुखदायक, वर्तमान और भविष्यमें भी कल्याणकी वृद्धि करनेवाला, पुत्र और पौत्रोंकी परम्पराके लिये हितकर, राष्ट्रकी उन्नति करनेवाला तथा अन्न, जल और शरीरके लिये भी लाभकारी हो ॥३-४॥

अभिषिक्तो हि यो राजा राष्ट्रस्थो मित्रसंवृतः ।
ससुहृत्समुपेतो वा स कथं रञ्जयेत् प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अपने राज्यपर अभिषिक्त हो देशमें मित्रोंसे घिरा हुआ रहता है तथा जो हितैषी सुहृदोंसे भी सम्पन्न है, वह किस प्रकार अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खे ? ॥ ५ ॥

यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥
तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः ।
न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा सम्प्रयुज्यते ॥ ७ ॥

जो असद् वस्तुओंके संग्रहमें अनुरक्त है, स्नेह और रागके वशीभूत हो गया है और इन्द्रियोंपर वश न चलनेके कारण सज्जन बननेकी चेष्टा नहीं करता, उस राजाके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए समस्त सेवक भी विपरीत गुणवाले हो जाते हैं। ऐसी दशामें सेवकोंके रखनेका जो फल धनकी वृद्धि आदि है, उससे वह राजा सर्वथा वञ्चित रह जाता है ॥

एतन्मे संशयस्यास्य राजधर्मान् सुदुर्विदान् ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवान् शंसितुमर्हति ॥ ८ ॥

मेरे इस संशयका निवारण करके आप दुर्बोध राजधर्मों-का वर्णन कीजिये; क्योंकि आप बुद्धिमें साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं ॥ ८ ॥

शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वन्नः कुलहिते रतः ।
क्षत्ता चैको महाप्राज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह ! हमारे कुलके हितमें तत्पर रहनेवाले आप ही हमें ऐसा उपदेश दे सकते हैं। दूसरे हमारे हितैषी महा-ज्ञानी विदुरजी हैं, जो हमें सर्वदा सदुपदेश दिया करते हैं ॥

त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम्।
अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् ॥ १० ॥

आपके मुखसे कुलके लिये हितकारी तथा राज्यके लिये कल्याणकारी उपदेश सुनकर मैं अक्षय अमृतसे तृप्त होनेके समान सुखसे सोऊँगा ॥ १० ॥

कीदृशाः संनिकर्षस्था भृत्याः सर्वगुणान्विताः।
कीदृशैः किं कुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥ ११ ॥

कैसे सर्वगुणसम्पन्न सेवक राजाके निकट रहने चाहिये और किस कुलमें उत्पन्न हुए कैसे सैनिकोंके साथ राजाको युद्धकी यात्रा करनी चाहिये ?॥ ११ ॥

न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता ।
राज्यं चेदं जनः सर्वस्तत्कुलीनोऽभिकाङ्क्षति॥ १२ ॥

सेवकोंके बिना अकेला राजा राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि उत्तम कुलमें उत्पन्न सभी लोग इस राज्यकी अभिलाषा करते हैं ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥ १३ ॥
लब्धुं लब्धा ह्यपि सदा रक्षितुं भरतर्षभ ।
यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः ॥ १४ ॥
हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात भरतनन्दन ! कोई भी सहायकोंके बिना अकेले राज्य नहीं चला सकता । राज्य ही क्या ? सहायकोंके बिना किसी भी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती । यदि प्राप्ति हो भी गयी तो सदा उसकी रक्षा असम्भव हो जाती है (अतः सेवकों या सहायकोंका होना आवश्यक है) । जिसके सभी सेवक ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, हितैषी, कुलीन और स्नेही हों, वही राजा राज्यका फल भोग सकता है ॥

मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः ।
नृपतेर्मतिदाः सन्तः सम्बन्धज्ञानकोविदाः ॥ १६ ॥
अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः ।
अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते ॥ १७ ॥

जिसके मन्त्री कुलीन, धनके लोभसे फोड़े न जा सकनेवाले, सदा राजाके साथ रहनेवाले, उन्हें अच्छी बुद्धि देनेवाले, सत्पुरुष, सम्बन्ध-ज्ञानकुशल, भविष्यका भलीभाँति प्रबन्ध करनेवाले, समयके ज्ञानमें निपुण तथा बीती हुई बातके लिये शोक न करनेवाले हों, वही राजा राज्यके फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

समदुःखसुखा यस्य सहायाः प्रियकारिणः ।
अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्यफलमश्नुते ॥ १८ ॥

जिसके सहायक राजाके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख मानते हों, सदा उसका प्रिय करनेवाले हों और राजकीय धन कैसे बढ़े—इसकी चिन्तामें तत्पर तथा सत्यवादी हों, वह राजा राज्यका फल पाता है ॥ १८ ॥

यस्य नार्तो जनपदः संनिकर्षगतः सदा ।
अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राजा राज्यभाग्भवेत् ॥ १९ ॥

जिसका देश दुखी न हो तथा सदा समीपवर्ती बना रहे, जो स्वयं भी छोटे विचारका न होकर सदा सन्मार्गका अवलम्बन करनेवाला हो, वही राजा राज्यका भागी होता है ॥

कोशाख्यपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः ।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः ॥ २० ॥

विश्वासपात्र, संतोषी तथा खजाना बढ़ानेका सतत प्रयत्न करनेवाले, खजांचियोंके द्वारा जिसके कोषकी सदा वृद्धि हो रही हो, वही राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

कोष्ठागारमसंहार्यैराप्तैः संचयतत्परैः ।
पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणी भवेत् ॥ २१ ॥

यदि लोभवश फूट न सकनेवाले, विश्वासपात्र, संग्रही, सुपात्र एवं निर्लोभ मनुष्य अन्नादि भण्डारकी रक्षामें तत्पर हों तो उसकी विशेष उन्नति होती है ॥ २१ ॥

व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्मफलोदयः ।
दृश्यते शंखलिखितः स धर्मफलभाङ् नृपः ॥ २२ ॥

जिसके नगरमें कर्मके अनुसार फलकी प्राप्तिका प्रतिपादन करनेवाले शङ्खलिखित मुनिके बनाये हुए न्याय-व्यवहारका पालन होता देखा जाता है, वह राजा धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित् ।
षड्वर्गं प्रतिगृह्णाति स धर्मफलमश्नुते ॥ २३ ॥

जो राजा राजधर्मको जानता और अपने यहाँ अच्छे लोगोंको जुटाकर रखता है तथा अवसरके अनुसार संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाश्रय नामक छः गुणोंका उपयोग करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

सज्जनोंके चरित्रके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक महर्षि और कुत्तेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

(न सन्ति कुलजा यत्र सहायाः पार्थिवस्य तु ।
अकुलीनाश्च कर्तव्या न वा भरतसत्तम ॥)

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जहाँ राजाके पास अच्छे कुलमें उत्पन्न सहायक नहीं हैं, वहाँ वह नीच कुलके मनुष्योंको सहायक बना सकता है या नहीं ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निदर्शनं परं लोके सज्जनाचरिते सदा ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार

लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो लोकमें सत्पुरुषोंके आचरणके सम्बन्धमें सदा उत्तम आदर्श माना जाता है ॥ १ ॥

अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने ।
जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः ॥ २ ॥

मैंने तपोवनमें इस विषयके अनुरूप बातें सुनी हैं, जिन्हें श्रेष्ठ महर्षियोंने जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे कहा था ॥ २ ॥

वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते ।
ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥

किसी महान् निर्जन वनमें फल-मूलका आहार करके रहनेवाले एक नियमपरायण, जितेन्द्रिय महर्षि रहते थे ॥ ३ ॥

दीक्षादमपरः शान्तः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्त्वमास्थितः ॥ ४ ॥

वे उत्तम व्रतकी दीक्षा लेकर इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह करते हुए प्रतिदिन पवित्रभावसे वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगे रहते थे । उपवाससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था । वे सदा सत्त्वगुणमें स्थित थे ॥ ४ ॥

तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः ।
सर्वे सत्त्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥

एक जगह बैठे हुए उन बुद्धिमान् महर्षिके सद्भावको देखकर सभी वनचारी जीव-जन्तु उनके निकट आया करते थे ॥ ५ ॥

सिंहव्याघ्रगणाः क्रूरा मत्ताश्चैव महागजाः ।
द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥

क्रूर स्वभाववाले सिंह और व्याघ्र, बड़े-बड़े मतवाले हाथी, चीते, गैंड़े, भालू तथा और भी जो भयानक दिखायी देनेवाले जानवर थे, वे सब उनके पास आते थे ॥ ६ ॥

ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः ।
तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूताः प्रियकारिणः ॥ ७ ॥

यद्यपि वे सारेके सारे मांसाहारी हिंसक जानवर थे, तो भी उस ऋषिके शिष्यकी भाँति नीचे सिर किये उनके पास बैठते थे, उनके सुख और स्वास्थ्यकी बात पूछते थे और सदा उनका प्रिय करते थे ॥ ७ ॥

दत्त्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम् ।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्रनाजहात् स महामुनिम् ॥ ८ ॥

वे सब जानवर ऋषिसे उनका कुशल-समाचार पूछकर जैसे आते, वैसे लौट जाते थे; परंतु एक ग्रामीण कुत्ता वहाँ उन महामुनिको छोड़कर कहीं नहीं जाता था ॥ ८ ॥

भक्तोऽनुरक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः ।
फलमूलोदकाहारः शान्तः शिष्टाकृतिर्यथा ॥ ९ ॥

वह उन महामुनिका भक्त और उनमें अनुरक्त था ; उपवास करनेके कारण दुर्बल एवं निर्बल हो गया था । वह भी फल-मूल और जलका आहार करके रहता, मनको वशमें रखता और साधु-पुरुषोंके समान जीवन बिताता था ॥ ९ ॥

तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामते ।
मनुष्यवद्गतो भावो स्नेहबद्धोऽभवद् भृशम् ॥ १० ॥

महामते ! उन महर्षिके चरणप्रान्तमें बैठे हुए उस कुत्तेके मनमें मनुष्यके समान भाव (स्नेह) हो गया । वह उनके प्रति अत्यन्त स्नेहसे बँध गया ॥ १० ॥

ततोऽभ्ययान्महावीर्यो द्वीपी क्षतजभोजनः ।
स्वार्थमत्यन्तसंतुष्टः क्रूरकाल इवान्तकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर एक दिन कोई महाबली रक्तभोजी चीता अत्यन्त प्रसन्न होकर उस कुत्तेको पकड़नेके लिये क्रूर काल एवं यमराजके समान उधर आ निकला ॥ ११ ॥

लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः ।
व्यादितास्यः क्षुधाभुग्नः प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥

वह बारंबार अपने दोनों जबड़े चाटता और पूँछ फटकारता था, उसे प्यास सता रही थी। उसने मुँह फैला रक्खा था । भूखसे उसकी व्याकुलता बढ़ गयी थी और वह उस कुत्तेका मांस प्राप्त करना चाहता था ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तं क्रूरमायान्तं जीवितार्थी नराधिप ।
प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! नरेश्वर ! उस क्रूर चीतेको आते देख अपनी प्राणरक्षा चाहते हुए वहाँ कुत्तेने मुनिसे जो कुछ कहा, वह सुनो— ॥ १३ ॥

श्वशत्रुर्भगवन्नेष द्वीपी मां हन्तुमिच्छति ।
त्वत्प्रसादाद् भयं न स्यादस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥
तथा कुरु महाबाहो सर्वज्ञस्त्वं न संशयः ।

'भगवन् ! यह चीता कुत्तोंका शत्रु है और मुझे मार डालना चाहता है । महामुने ! महाबाहो ! आप ऐसा करें, जिससे आपकी कृपासे मुझे इस चीतेसे भय न हो। आप सर्वज्ञ हैं, इसमें संशय नहीं है ।(अतः मेरी प्रार्थना सुनकर उसको अवश्य पूर्ण करें)' ॥ १४½ ॥

स मुनिस्तस्य विज्ञाय भावज्ञो भयकारणम् ।
रुतज्ञः सर्वसत्त्वानां तमैश्वर्यसमन्वितः ॥ १५ ॥

वे सिद्धिके ऐश्वर्यसे सम्पन्न मुनि सबके मनोभावको जाननेवाले और समस्त प्राणियोंकी बोली समझनेवाले थे । उन्होंने उस कुत्तेके भयका कारण जानकर उससे कहा ॥ १५ ॥

मुनिरुवाच

न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथंचन ।
एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १६ ॥

मुनिने कहा—बेटा ! अपने लिये मृत्युस्वरूप इस चीतेसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये । यह लो, तुम अभी कुत्तेके रूपसे रहित चीता हुए जाते हो ॥ १६ ॥

ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः ।
चित्राङ्गो विस्फुरद्दंष्ट्रो वने वसति निर्भयः ॥ १७ ॥

तदनन्तर मुनिने कुत्तेको चीता बना दिया । उसकी आकृति सुवर्णके समान चमकने लगी । उसका सारा शरीर

चितकबरा हो गया और बड़ी-बड़ी दाढ़ें चमक उठीं । अब वह निर्भय होकर वनमें रहने लगा ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा सम्मुखे द्वीपी आत्मनः सदृशं पशुम् ।
अविरुद्धस्ततस्तस्य क्षणेन समपद्यत ॥ १८ ॥

चीतेने अपने सामने जब अपने ही समान एक पशुको देखा, तब उसका विरोधी भाव क्षणभरमें दूर हो गया ॥

ततोऽभ्ययान्महारौद्रो व्यादितास्यः क्षुधान्वितः ।
द्वीपिनं लेलिहद्वक्रो व्याघ्रो रुधिरलालसः ॥ १९ ॥

तदनन्तर एक दिन एक महाभयंकर भूखे बाघने उसका रक्त पीनेकी इच्छासे मुँह फैलाकर दोनों जबड़ोंको चाटते हुए उस चीतेका पीछा किया ॥ १९ ॥

व्याघ्रं दृष्ट्वा क्षुधाभुग्नं दंष्ट्रिणं वनगोचरम् ।
द्वीपी जीवितरक्षार्थमृषिं शरणमेयिवान् ॥ २० ॥

बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे युक्त वनचारी बाघको भूखसे कुटिल भाव धारण किये देख वह चीता अपने जीवनकी रक्षाके लिये पुनः ऋषिकी शरणमें आया ॥२० ॥

संवासजं परं स्नेहमृषिणा कुर्वता तदा ।
स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपूणां बलवत्तरः ॥ २१ ॥

तब सहवासजनित उत्तम स्नेहका निर्वाह करते हुए महर्षिने चीतेको बाघ बना दिया । अब वह अपने शत्रुओंके लिये अत्यन्त प्रबल हो उठा ॥ २१ ॥

ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाहनत् तं विशाम्पते ।
स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान् पिशिताशनः॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर वह बाघ उसे अपने समान रूपमें देखकर मार न सका । उधर वह कुत्ता बलवान् बाघ होकर मांसका आहार करने लगा ॥ २२ ॥

न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत् तदा ।
यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकाङ्क्षति वनौकसः ।
तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत् तदा ॥ २३ ॥

महाराज ! अब तो उसे फल-मूल खानेकी कभी इच्छा ही नहीं होती थी । जैसे वनराज सिंह प्रतिदिन जन्तुओंका मांस खाना चाहता है, उसी प्रकार वह बाघ भी उस समय मांसभोजी हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

कुत्तेका शरभकी योनिमें जाकर महर्षिके शापसे पुनः कुत्ता हो जाना

भीष्म उवाच

व्याघ्रश्चोटजमूलस्थस्तृप्तः सुप्तो हतैर्मृगैः ।
नागश्चागात् तमुद्देशं मत्तो मेघ इवोद्धतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वह बाघ अपने मारे हुए मृगोंके मांस खाकर तृप्त हो महर्षिकी कुटीके पास ही सो रहा था । इतनेमें ही वहाँ ऊँचे उठे हुए मेघके समान काला एक मदोन्मत्त हाथी आ पहुँचा ॥ १ ॥

प्रभिन्नकरटः प्रांशुः पद्मी विततकुम्भकः ।
सुविषाणो महाकायो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ २ ॥

उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा चू रही थी । उसका कुम्भस्थल बहुत विस्तृत था । उसके ऊपर कमलका चिह्न बना हुआ था, उसके दाँत बड़े सुन्दर थे । वह विशालकाय ऊँचा हाथी मेघके समान गम्भीर गर्जना करता था ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा कुञ्जरं मत्तमायान्तं बलगर्वितम् ।
व्याघ्रो हस्तिभयात् त्रस्तस्तमृषिं शरणं ययौ ॥ ३ ॥

उस बलाभिमानी मदोन्मत्त गजराजको आते देख वह बाघ भयभीत हो पुनः ऋषिकी शरणमें गया ॥ ३ ॥

ततोऽनयत् कुञ्जरत्वं व्याघ्रं तमृषिसत्तमः ।
महामेघनिभं दृष्ट्वा स भीतो ह्यभवद् गजः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिश्रेष्ठने उस बाघको हाथी बना दिया । उस महामेघके समान हाथीको देखकर वह जंगली हाथी भयभीत होकर भाग गया ॥ ४ ॥

ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च ।
व्यचरत् स मुदायुक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर वह हाथी कमलोंके परागसे विभूषित और आनन्दित हो कमलसमूहों तथा शल्लकी लताकी झाड़ियोंमें विचरने लगा॥ ५॥

कदाचिद् भ्रममाणस्य हस्तिनः सम्मुखं तदा ।
ऋषेस्तस्योटजस्थस्य कालोऽगच्छन्निशानिशम् ॥ ६ ॥

कभी-कभी वह हाथी आश्रमवासी ऋषिके सामने भी घूमा करता था । इस तरह उसका कितनी ही रातोंका समय व्यतीत हो गया ॥ ६ ॥

अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः ।
गिरिकन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उस प्रदेशमें एक केसरी सिंह आया, जो अपनी केसरके कारण कुछ लाल-सा जान पड़ता था। पर्वतकी कन्दरामें पैदा हुआ वह भयानक सिंह गजवंशका विनाश करनेवाला काल था ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयार्दितः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः ॥ ८ ॥

उस सिंहको आते देख वह हाथी उसके भयसे पीड़ित एवं आतुर हो थरथर काँपने लगा और ऋषिकी शरणमें गया ॥ ८ ॥

स ततः सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा ।
वन्यं नागणयत् सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् ॥ ९ ॥

तब मुनिने उस गजराजको सिंह बना दिया । अब वह समान जातिके सम्बन्धसे जंगली सिंहको कुछ भी नहीं गिनता था ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च सोऽभवत् सिंहो वन्यो भयसमन्वितः ।
स चाश्रमेऽवसत् सिंहस्तस्मिन्नेव महावने ॥ १० ॥

उसे देखकर जंगली सिंह स्वयं ही डर गया । वह सिंह बना हुआ कुत्ता महावनमें उसी आश्रममें रहने लगा ॥१०॥

तद्भयात् पशवो नान्ये तपोवनसमीपतः ।
व्यदृश्यन्त तदा त्रस्ता जीविताकाङ्क्षिणस्तथा ॥११॥

उसके भयसे जंगलके दूसरे पशु डर गये और अपनी जान बचानेकी इच्छासे तपोवनके समीप कभी नहीं दिखायी दिये ॥ ११ ॥

कदाचित् कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः ।
बलवान् क्षतजाहारो नानासत्त्वभयंकरः ॥ १२ ॥
अष्टपादूर्ध्वनयनः शरभो वनगोचरः ।
तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर कालयोगसे वहाँ एक बलवान् वनवासी समस्त प्राणियोंका हिंसक शरभ आ पहुँचा, जिसके आठ पैर और ऊपरकी ओर नेत्र थे । वह रक्त पीनेवाला जानवर नाना प्रकारके वन-जन्तुओंके मनमें भय उत्पन्न कर रहा था । वह उस सिंहको मारनेके लिये मुनिके आश्रमपर आया॥१२-१३॥

(तं दृष्ट्वा शरभं यान्तं सिंहः परभयातुरः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानः कृताञ्जलिः ॥)

शरभको आते देख सिंह अत्यन्त भयसे व्याकुल हो काँपता हुआ हाथ जोड़कर मुनिकी शरणमें आया ॥

तं मुनिः शरभं चक्रे बलोत्कटमरिंदम ।
ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं सम्प्राद्रवद् वनात् ।

शत्रुदमन युधिष्ठिर ! तब मुनिने उसे बलोन्मत्त शरभ बना दिया । जंगली शरभ उस मुनिनिर्मित अत्यन्त भयंकर एवं बलवान् शरभको सामने देखकर भयभीत हो तुरंत ही उस वनसे भाग गया ॥ १४½ ॥

स एवं शरभस्थाने संन्यस्तो मुनिना तदा ॥ १५ ॥
मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शरभः सुखमाप्तवान् ।

इस प्रकार मुनिने उस कुत्तेको उस समय शरभके स्थान-में प्रतिष्ठित कर दिया । वह शरभ प्रतिदिन मुनिके पास सुखसे रहने लगा ॥ १५½ ॥

ततः शरभसंत्रस्ताः सर्वे मृगगणास्तदा ॥ १६ ॥
दिशः सम्प्राद्रवन् राजन् भयाज्जीवितकाङ्क्षिणः ।

राजन् ! उस शरभसे भयभीत हो जंगलके सभी पशु अपनी जान बचानेके लिये डरके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ १६½ ॥

शरभोऽप्यतिसंहृष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ॥ १७ ॥
फलमूलाशनं कर्तुं नैच्छत् स पिशिताशनः ।

शरभ भी अत्यन्त प्रसन्न हो सदा प्राणियोंके वधमें तत्पर रहता था । वह मांसभोजी जीव फल-मूल खानेकी कभी इच्छा नहीं करता था ॥ १७½ ॥

ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोऽन्वितः ॥ १८ ॥
इयेष तं मुनिं हन्तुमकृतज्ञः श्वयोनिजः ।

तदनन्तर एक दिन रक्तकी प्रबल प्याससे पीड़ित वह शरभ, जो कुत्तेकी जातिसे पैदा होनेके कारण कृतघ्न बन गया था, मुनिको ही मार डालनेकी इच्छा करने लगा॥१८½॥

(चिन्तयामास च तदा शरभः श्वानपूर्वकः ।
अस्य प्रभावात् सम्प्राप्तो वाङ्मात्रेण तु केवलम् ॥
शरभत्वं सुदुष्प्रापं सर्वभूतभयङ्करम् ।

उस पहलेके कुत्ते और वर्तमानकालके शरभने सोचा कि इन महर्षिके प्रभावसे—इनके वाणीद्वारा केवल कह देने-मात्रसे मैंने परम दुर्लभ शरभका शरीर पा लिया, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर है ॥

अन्येऽप्यत्र भयत्रस्ताः सन्ति हस्तिभयार्दिताः ॥
मुनिमाश्रित्य जीवन्तो मृगाः पक्षिगणास्तथा ।
तेषामपि कदाचिच्च शरभत्वं प्रयच्छति ॥
सर्वसत्त्वोत्तमं लोके बलं यत्र प्रतिष्ठितम् ।

इन मुनीश्वरकी शरण लेकर जीवन धारण करनेवाले दूसरे भी बहुत-से मृग और पक्षी हैं, जो हाथी तथा दूसरे भयानक जन्तुओंसे भयभीत रहते हैं । सम्भव है, ये उन्हें भी कदाचित् शरभका शरीर प्रदान कर दें, जहाँ संसारके सभी प्राणियोंसे श्रेष्ठ बल प्रतिष्ठित है ॥

पक्षिणामप्ययं दद्यात् कदाचिद् गारुडं बलम् ॥
यावदन्यस्य सम्प्रीतः कारुण्यं च समाश्रितः ।
न ददाति बलं तुष्टः सत्त्वस्यान्यस्य कस्यचित् ॥
तावदेनमहं विप्रं वधिष्यामि च शीघ्रतः ।
स्थातुं मया शक्यमिह मुनिघातान्न संशयः ॥)

ये चाहें तो कभी पक्षियोंको भी गरुड़का बल दे सकते हैं । अतः दयाके वशीभूत हो जबतक किसी दूसरे जीवपर संतुष्ट या प्रसन्न हो ये उसे ऐसा ही बल नहीं दे देते, तबतक ही इन ब्रह्मर्षिका मैं शीघ्र वध कर डालूँगा । मुनिका वध हो जानेके पश्चात् मैं यहाँ बेखटके रह सकूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥

ततस्तेन तपःशक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा ॥ १९ ॥

विज्ञाय स महाप्राज्ञो मुनिः श्वानं तमुक्तवान् ।

ज्ञाननेत्रोंसे युक्त उन मुनीश्वरने अपनी तपःशक्तिसे शरभके उस मनोभावको जान लिया । जानकर उन महाज्ञानी मुनिने उस कुत्तेसे कहा— ॥ १९½ ॥

श्वा त्वं द्वीपित्वमापन्नो द्वीपी व्याघ्रत्वमागतः ॥ २० ॥
व्याघ्रान्नागो मदपटुर्नागः सिंहत्वमागतः ।
सिंहस्त्वं बलमापन्नो भूयः शरभतां गतः ॥ २१ ॥

'अरे ! तू पहले कुत्ता था, फिर चीता बना, चीतेसे बाघकी योनिमें आया, बाघसे मदोन्मत्त हाथी हुआ, हाथीसे सिंहकी योनिमें आ गया, बलवान् सिंह रहकर फिर शरभका शरीर पा गया ॥ २०-२१ ॥

मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो न कुलान्वयः ।
यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि ।
तस्मात् स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि ॥ २२ ॥

'यद्यपि तू नीच कुलमें पैदा हुआ था, तो भी मैंने स्नेहवश तेरा परित्याग नहीं किया । पापी ! तेरे प्रति मेरे मनमें कभी पापभाव नहीं हुआ था, तो भी इस प्रकार तू मेरी हत्या करना चाहता है; अतः तू फिर अपनी पूर्वयोनिमें ही आकर कुत्ता हो जा' ॥ २२ ॥

ततो मुनिजनद्वेष्टा दुष्टात्मा प्राकृतोऽबुधः ।
ऋषिणा शरभः शप्तस्तद्रूपं पुनराप्तवान् ॥ २३ ॥

महर्षिके इस प्रकार शाप देते ही वह मुनिजनद्रोही दुष्टात्मा नीच और मूर्ख शरभ फिर कुत्तेके रूपमें परिणत हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता तथा ऋषिका संवादविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

राजाके सेवक, सचिव तथा सेनापति आदि और राजाके उत्तम गुणोंका वर्णन एवं उनसे लाभ

भीष्म उवाच

स श्वा प्रकृतिमापन्नः परं दैन्यमुपागतः ।
ऋषिणा हुङ्कृतः पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपनी योनिमें आकर वह कुत्ता अत्यन्त दीनदशाको पहुँच गया । ऋषिने हुङ्कार करके उस पापीको तपोवनसे बाहर निकाल दिया ॥ १ ॥

एवं राज्ञा मतिमता विदित्वा सत्यशौचताम् ।
आर्जवं प्रकृतिं सत्त्वं श्रुतं वृत्तं कुलं दमम् ॥ २ ॥
अनुक्रोशं बलं वीर्यं प्रभावं प्रश्रयं क्षमाम् ।
भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुरक्षिताः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह पहले अपने सेवकोंकी सचाई, शुद्धता, सरलता, स्वभाव, शास्त्रज्ञान, सदाचार, कुलीनता, जितेन्द्रियता, दया, बल, पराक्रम, प्रभाव, विनय तथा क्षमा आदिका पता लगाकर जो सेवक जिस कार्यके योग्य जान पड़ें, उन्हें उसीमें लगावे और उनकी रक्षाका पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दे ॥ २-३ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्तुमर्हति ।
अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥

राजा परीक्षा लिये बिना किसीको भी अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि नीच कुलके मनुष्यका साथ पाकर राजाको न तो सुख मिलता है और न उसकी उन्नति ही होती है ॥ ४ ॥

कुलजः प्राकृतो राज्ञा स्वकुलीनतया सदा ।
न पापे कुरुते बुद्धिं भिद्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥

कुलीन पुरुष यदि कभी राजाके द्वारा बिना अपराधके ही तिरस्कृत हो जाय और लोग उसे फोड़ें या उभाड़ें तो भी वह अपनी कुलीनताके कारण राजाका अनिष्ट करनेकी बात कभी मनमें नहीं लाता है ॥ ५ ॥

अकुलीनस्तु पुरुषः प्राकृतः साधुसंश्रयात् ।
दुर्लभैश्वर्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

किंतु नीच कुलका मनुष्य साधुस्वभावके राजाका आश्रय पाकर यद्यपि दुर्लभ ऐश्वर्यका भोग करता है तथापि यदि राजाने एक बार भी उसकी निन्दा कर दी तो वह उसका शत्रु बन जाता है ॥ ६ ॥

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्त्वसंग्रहणे रतम् ।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥ ९ ॥
युक्तचारं स्वविषये संधिविग्रहकोविदम् ।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥

खातकव्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम्।
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम् ॥ ११ ॥
हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम्।
प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिनं युक्तकारिणम् ॥ १२ ॥
चौक्षं चौक्षजनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम्।
नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासमन्वितम् ॥ १३ ॥
अस्तब्धं प्रश्रितं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च।
धीरं शूरं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम् ॥ १४ ॥

अतः राजा उसीको मन्त्री बनावे, जो कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञानमें पारङ्गत, सब शास्त्रोंका तत्त्व जाननेवाला, सहनशील, अपने देशका निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मनका दमन करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाय उसीसे संतोष करनेवाला, स्वामी और उसके मित्रकी उन्नति चाहनेवाला देश-कालका ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओंके संग्रहमें तत्पर, सदा मनको वशमें रखनेवाला, स्वामीका हितैषी, आलस्यरहित, अपने राज्यमें गुप्तचर लगाये रखनेवाला, संधि और विग्रहके अवसरको समझनेमें कुशल, राजाके धर्म, अर्थ और कामकी उन्नतिका उपाय जाननेवाला, नगर और ग्रामवासी लोगोंका प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह निर्माण करानेकी कलामें कुशल, अपनी सेनाका उत्साह बढ़ानेमें प्रवीण, शकल-सूरत और चेष्टा देखकर ही मनके यथार्थ भावको समझ लेनेवाला, शत्रुओंपर चढ़ाई करनेके अवसरको समझनेमें विशेष चतुर, हाथीकी शिक्षाके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला, अहंकाररहित, निर्भीक, उदार, संयमी, बलवान्, उचित कार्य करनेवाला, शुद्ध, शुद्ध पुरुषोंसे युक्त, प्रसन्नमुख, प्रियदर्शन, नेता, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओंसे सम्पन्न, उद्दण्डतारहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न तथा देश और कालके अनुसार कार्य करनेवाला हो ॥ ७—१४ ॥

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥ १५ ॥

जो राजा ऐसे योग्य पुरुषको सचिव (मन्त्री) बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता है, उसका राज्य चन्द्रमाकी चाँदनीके समान चारों ओर फैल जाता है ॥ १५॥

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥ १६ ॥

राजाको भी ऐसे ही गुणोंसे युक्त होना चाहिये। साथ ही उसमें शास्त्रज्ञान, धर्मपरायणता तथा प्रजापालनकी लगन भी होनी चाहिये; ऐसा ही राजा प्रजाजनोंके लिये वाञ्छनीय होता है ॥ १६ ॥

धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकारवित्।
शुश्रूषुः श्रुतवाञ्श्रोता ऊहापोहविशारदः ॥ १७ ॥

राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समयपर तीक्ष्ण, पुरुषार्थको जाननेवाला, सुननेके लिये उत्सुक, वेदज्ञ, श्रवण-परायण तथा तर्क-वितर्कमें कुशल हो ॥ १७ ॥

मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः।
दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥ १८ ॥

मेधावी, धारणाशक्तिसे सम्पन्न, यथोचित कार्य करनेवाला, इन्द्रियसंयमी, प्रिय वचन बोलनेवाला तथा शत्रुको भी क्षमा प्रदान करनेवाला हो ॥ १८ ॥

दानाच्छेदे स्वयंकारी श्रद्धालुः सुखदर्शनः।
आर्तहस्तप्रदो नित्यमाप्तामात्यो नये रतः ॥ १९ ॥

राजाको दानकी परम्पराका कभी उच्छेद न करनेवाला, श्रद्धालु, दर्शनमात्रसे सुख देनेवाला, दीन-दुखियोंको सदा हाथका सहारा देनेवाला, विश्वसनीय मन्त्रियोंसे युक्त तथा नीतिपरायण होना चाहिये ॥ १९ ॥

नाहंवादी न निर्द्वन्द्वो न यत्किंचनकारकः।
कृते कर्मण्यमात्यानां कर्ता भृत्यजनप्रियः ॥ २० ॥

वह अहङ्कार छोड़ दे, द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, जो ही मनमें आवे वही न करने लगे, मन्त्रियोंके किये हुए कर्मका अनुमोदन करे और सेवकोंपर प्रेम रक्खे ॥ २० ॥

संगृहीतजनोऽस्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा।
सदा भृत्यजनापेक्षी न क्रोधी सुमहामनाः ॥ २१ ॥

अच्छे मनुष्योंका संग्रह करे, जडताको त्याग दे, सदा प्रसन्नमुख रहे, सेवकोंका सदा ख्याल रक्खे, किसीपर क्रोध न करे, अपना हृदय विशाल बनाये रक्खे ॥ २१ ॥

युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासनः।
चारनेत्रः प्रजावेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा ॥ २२ ॥

न्यायोचित दण्ड दे, दण्डका कभी त्याग न करे, धर्मकार्यका उपदेश दे, गुप्तचररूपी नेत्रोंद्वारा राज्यकी देखभाल करे, प्रजापर कृपादृष्टि रक्खे तथा सदा ही धर्म और अर्थके उपार्जनमें कुशलतापूर्वक लगा रहे ॥ २२ ॥

राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत्।
योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वे गुणगणैर्वृताः ॥ २३ ॥
अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणे।
न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता ॥ २४ ॥

ऐसे सैकड़ों गुणोंसे सम्पन्न राजा ही प्रजाके लिये वाञ्छनीय होता है। नरेन्द्र! राज्यकी रक्षामें सहायता देनेवाले समस्त सैनिक भी इसी प्रकार श्रेष्ठ गुण-समूहोंसे सम्पन्न होने चाहिये, इस कार्यके लिये अच्छे पुरुषोंकी ही खोज करनी चाहिये तथा अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले राजाको कभी अपने सैनिकोंका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः।
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंवृताः ॥ २५ ॥
अभया गजपृष्ठस्था रथचर्याविशारदाः।
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २६ ॥

जिसके योद्धा युद्धमें वीरता दिखानेवाले, कृतज्ञ, शस्त्र चलानेकी कलामें कुशल, धर्मशास्त्रके ज्ञानसे सम्पन्न, पैदल सैनिकोंसे घिरे हुए, निर्भय, हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें समर्थ, रथचर्यामें निपुण, तथा धनुर्विद्यामें प्रवीण होते हैं, उसी राजाके अधीन इस भूमण्डलका राज्य होता है ॥ २५-२६ ॥

(ज्ञातीनामनवज्ञानं भृत्येष्वशठता सदा ।
नैपुण्यं चार्थचर्यासु यस्यैते तस्य सा मही ॥

जो जातिभाइयोंका अपमान तथा सेवकोंके प्रति शठता कभी नहीं करता और कार्यसाधनमें कुशल है, उसी राजाके अधिकारमें यह पृथ्वी रहती है ॥

आलस्यं चैव निद्रा च व्यसनान्यतिहास्यता ।
यस्यैतानि न विद्यन्ते तस्यैव सुचिरं मही ॥

जिस राजामें आलस्य, निद्रा, दुर्व्यसन तथा अत्यन्त हास्यप्रियता—ये दुर्गुण नहीं हैं, उसीके अधिकारमें यह पृथ्वी दीर्घकालतक रहती है ॥

वृद्धसेवी महोत्साहो वर्णानां चैव रक्षिता ।
धर्मचर्याः सदा यस्य तस्येयं सुचिरं मही ॥

जो बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाला, महान् उत्साही, चारों वर्णोंका रक्षक तथा सदा धर्माचरणमें तत्पर रहता है, उसीके पास यह पृथ्वी चिरकालतक स्थिर रहती है ॥

नीतिमार्गानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं तस्येयं सुचिरं मही ॥

जो राजा नीतिमार्गका अनुसरण करता, सदा ही उद्योगमें तत्पर रहता और शत्रुओंकी अवहेलना नहीं करता, उसके अधिकारमें दीर्घकालतक इस पृथ्वीका राज्य बना रहता है ॥

उत्थानं चैव दैवं च तयोर्नानात्वमेव च ।
मनुना वर्णितं पूर्वं वक्ष्ये शृणु तदेव हि ॥

पूर्वकालमें मनुजीने पुरुषार्थ, दैव तथा उन दोनोंके अनेक भेदोंका वर्णन किया था । वह बताता हूँ, सुनो ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
नयानयविधानज्ञः सदा भव कुरूद्वह ॥

कुरुश्रेष्ठ ! बृहस्पतिजीने नरेशोंके लिये सदा ही उद्योगशील बने रहनेका उपदेश दिया है । तुम सदा नीति और अनीतिके विधानको जानो ॥

दुर्हृदां छिद्रदर्शी यः सुहृदामुपकारवान् ।
विशेषविच्च भृत्यानां स राज्यफलमश्नुते ॥)

जो शत्रुओंके छिद्र देखे, सुहृदोंका उपकार करे और सेवकोंकी विशेषताको समझे, वह राज्यके फलका भागी होता है॥

सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा ।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥

जो राजा सदा सबके संग्रहमें संलग्न, उद्योगशील और मित्रोंसे सम्पन्न होता है, वही सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत ।
संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ ॥ २८ ॥

भारत ! जो उपर्युक्त मनुष्योंका संग्रह करता है, वह केवल एक सहस्र अश्वारोही वीरोंके द्वारा सारी पृथ्वीको जीत सकता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेवकोंको उनके योग्य स्थानपर नियुक्त करने, कुलीन और सत्पुरुषोंका संग्रह करने, कोष बढ़ाने तथा सबकी देखभाल करनेके लिये राजाको प्रेरणा

भीष्म उवाच

एवं गुणयुतान् भृत्यान् स्वे स्वे स्थाने नराधिपः ।
नियोजयति कृत्येषु स राज्यफलमश्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार जो राजा गुणवान् भृत्योंको अपने-अपने स्थानपर रखते हुए कार्योंमें लगाता है, वह राज्यके यथार्थ फलका भागी होता है ॥ १ ॥

न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः ।
आरोप्यः श्वा स्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत् प्रमाद्यति ।२।

पहले कहे हुए इतिहाससे यह सिद्ध होता है कि कुत्ता अपने स्थानको छोड़कर ऊँचे चढ़ जाय तो न वह विश्वासके योग्य रह जाता है और न कभी उसका सत्कार ही होता है । कुत्तेको उसकी जगहसे उठाकर ऊँचे कदापि न बिठावे; क्योंकि वह दूसरे किसी ऊँचे स्थानपर चढ़कर प्रमाद करने लगता है (इसी प्रकार किसी हीन कुलके मनुष्यको उसकी योग्यता और मर्यादासे ऊँचा स्थान मिल जाय तो वह अहंकारवश उच्छृङ्खल हो जाता है) ॥ २ ॥

स्वजातिगुणसम्पन्नाः स्वेषु कर्मसु संस्थिताः ।
प्रकर्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रिया क्षमा ॥ ३ ॥

जो अपनी जातिके गुणसे सम्पन्न हो अपने वर्णोचित कर्मोंमें ही लगे रहते हों, उन्हें मन्त्री बनाना चाहिये; किंतु

किसीको भी उसकी योग्यतासे बाहरके कार्यमें नियुक्त करना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति ।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

जो राजा अपने सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुरूप कार्य सौंपता है, वह भृत्यके गुणोंसे सम्पन्न हो उत्तम फलका भागी होता है ॥ ४ ॥

शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः ।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥ ५ ॥

शरभको शरभकी जगह, बलवान् सिंहको सिंहके स्थानमें, बाघको बाघकी जगह तथा चीतेको चीतेके स्थानपर नियुक्त करना चाहिये (तात्पर्य यह कि चारों वर्णोंके लोगोंको उनकी मर्यादाके अनुसार कार्य देना उचित है) ॥ ५ ॥

कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि ।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ ६ ॥

सब सेवकोंको उनके योग्य कार्यमें ही लगाना चाहिये । कर्मफलकी इच्छा करनेवाले राजाको चाहिये कि वह अपने सेवकोंको ऐसे कार्योंमें न नियुक्त करे, जो उनकी योग्यता और मर्यादाके प्रतिकूल पड़ते हों ॥ ६ ॥

यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः ।
भृत्यान् स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः ॥ ७ ॥

जो बुद्धिहीन नरेश मर्यादाका उल्लङ्घन करके अपने भृत्योंको प्रतिकूल कार्योंमें लगाता है, वह प्रजाको प्रसन्न नहीं रख सकता ॥ ७ ॥

न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा॥ ८ ॥

उत्तम गुणोंकी इच्छा रखनेवाले नरेशको चाहिये कि वह उन सभी मनुष्योंको काममें न लगावे, जो मूर्ख, नीच, बुद्धिहीन, अजितेन्द्रिय और निन्दित कुलमें उत्पन्न हुए हों ॥

साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः ॥ ९ ॥

साधु, कुलीन, शूरवीर, ज्ञानवान्, अदोषदर्शी, अच्छे स्वभाववाले, पवित्र और कार्यदक्ष मनुष्योंको ही राजा अपना पार्श्ववर्ती सेवक बनावे ॥ ९ ॥

न्यग्भूतास्तत्पराः शान्ताश्चौक्षाः प्रकृतिजैः शुभाः ।
स्वस्थानानपकुष्टा ये ते स्यू राज्ञां बहिश्चराः ॥ १०॥

जो विनीत, कार्यपरायण, शान्तस्वभाव, चतुर, स्वाभाविक शुभ गुणोंसे सम्पन्न तथा अपने-अपने पदपर निन्दासे रहित हों, वे ही राजाओंके बाह्य सेवक होने योग्य हैं ॥ १० ॥

सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एवानुगो भवेत् ।
असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥

सिंहके पास सदा सिंह ही सेवक रहे । यदि सिंहके साथ सिंहसे भिन्न प्राणी रहने लगता है तो वह सिंहके तुल्य ही फल भोगने लगता है ॥ ११ ॥

यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः ।
न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः ॥ १२ ॥

किंतु जो सिंह कुत्तोंसे घिरा रहकर सिंहोचित कर्म एवं फलमें अनुरक्त रहता है, वह कुत्तोंसे उपासित होनेके कारण सिंहोचित कर्मफलका उपभोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

एवमेतन्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः ।
कुलीनैः सह शक्येत कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! इसी प्रकार शूरवीर, विद्वान्, बहुश्रुत और कुलीन पुरुषोंके साथ रहकर ही सारी पृथ्वीपर विजय पायी जा सकती है ॥ १३ ॥

नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥ १४ ॥

भृत्यवानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भूपालोंको चाहिये कि अपने पास ऐसे किसी भृत्यका संग्रह न करें, जो विद्याहीन, सरलतासे रहित, मूर्ख और दरिद्र हो ॥ १४ ॥

बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा नराः ।
ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

जो मनुष्य स्वामीके कार्यमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे धनुषसे छूटे हुए बाणके समान लक्ष्यसिद्धिके लिये आगे बढ़ते हैं । जो सेवक राजाके हित-साधनमें संलग्न रहते हों, राजा मधुर बचन बोलकर उन्हें प्रोत्साहन देता रहे ॥ १५ ॥

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ॥ १६ ॥

राजाओंको पूरा प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि कोष ही उनकी जड़ है, कोष ही उन्हें आगे बढ़ानेवाला होता है ॥ १६ ॥

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैःसुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा अन्न-भण्डार सदा पुष्टिकारक अनाजोंसे भरा रहना चाहिये और उसकी रक्षाका भार श्रेष्ठ पुरुषोंको सौंप देना चाहिये । तुम सदा धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले बनो ॥ १७ ॥

नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या भवन्तु रणकोविदाः ।
वाजिनां च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते ॥ १८ ॥

तुम्हारे सभी सेवक सदा उद्योगशील तथा युद्धकी कलामें कुशल हों । घोड़ोंकी सवारी करने अथवा उन्हें हाँकनेमें भी उनको विशेष चतुर होना चाहिये ॥ १८ ॥

ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसम्बन्धिसंवृतः ।
पौरकार्यहितान्वेषी भव कौरवनन्दन ॥ १९ ॥

कौरवनन्दन ! तुम जातिभाइयोंपर ख्याल रक्खो,

मित्रों और सम्बन्धियोंसे घिरे रहो तथा पुरवासियोंके कार्य और हितकी सिद्धिका उपाय ढूँढ़ा करो ॥ १९ ॥

एषा ते नैष्ठिकी बुद्धिः प्रजास्वभिहिता मया ।
शुनो निदर्शनं तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

तात ! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रजापालनविषयक स्थिर बुद्धिका प्रतिपादन किया है और कुत्तेका दृष्टान्त सामने रक्खा है, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मका साररूपमें वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

राजवृत्तान्यनेकानि त्वया प्रोक्तानि भारत ।
पूर्वैः पूर्वनियुक्तानि राजधर्मार्थवेदिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भारत ! राजधर्मके तत्त्वको जाननेवाले पूर्ववर्ती राजाओंने पूर्वकालमें जिनका अनुष्ठान किया है, उन अनेक प्रकारके राजोचित बर्तावोंका आपने वर्णन किया ॥ १ ॥

तदेव विस्तरेणोक्तं पूर्वदृष्टं सतां मतम् ।
प्रणेयं राजधर्माणां प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपने पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित तथा सज्जन-सम्मत जिन श्रेष्ठ राजधर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उन्हींको इस प्रकार संक्षिप्त करके बताइये, जिससे उनका विशेषरूपसे पालन हो सके ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् ।
तद् यथा रक्षणं कुर्यात् तथा शृणु महीपते ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—भूपाल ! क्षत्रियके लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है समस्त प्राणियोंकी रक्षा करना; परंतु यह रक्षाका कार्य कैसे किया जाय, उसको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

यथा बर्हाणि चित्राणि बिभर्ति भुजगाशनः ।
तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत धर्मवित् ॥ ४ ॥

जैसे साँप खानेवाला मोर विचित्र पंख धारण करता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ राजाको समय-समयपर अपना अनेक प्रकारका रूप प्रकट करना चाहिये ॥ ४ ॥

तैक्ष्ण्यं जिह्मत्वमादाल्भ्यं सत्यमार्जवमेव च ।
मध्यस्थः सत्त्वमातिष्ठंस्तथा वै सुखमृच्छति ॥ ५ ॥

राजा मध्यस्थ-भावसे रहकर तीक्ष्णता, कुटिल नीति, अभय-दान, सत्य, सरलता तथा श्रेष्ठभावका अवलम्बन करे। ऐसा करनेसे ही वह सुखका भागी होता है ॥ ५ ॥

यस्मिन्नर्थे हितं यत् स्यात् तद्वर्णं रूपमादिशेत् ।
बहुरूपस्य राज्ञो हि सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥ ६ ॥

जिस कार्यके लिये जो हितकर हो, उसमें वैसा ही रूप प्रकट करे (उदाहरणके लिये अपराधीको दण्ड देते समय उग्र रूप और दीनोंपर अनुग्रह करते समय शान्त एवं दयालु रूप प्रकट करे) । इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाले राजाका छोटा-सा कार्य भी बिगड़ने नहीं पाता है ॥ ६ ॥

नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद् यथा मूकः शरच्छिखी ।
श्लक्ष्णाक्षरतनुः श्रीमान् भवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुका मोर बोलता नहीं, उसी प्रकार राजाको भी मौन रहकर सदा राजकीय गुप्त विचारोंको सुरक्षित रखना चाहिये । वह मधुर वचन बोले, सौम्य-स्वरूपसे रहे, शोभा-सम्पन्न होवे और शास्त्रोंका विशेष ज्ञान प्राप्त करे ॥ ७ ॥

आपद्द्वारेषु युक्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव ।
शैलवर्षोदकानीव द्विजान् सिद्धान् समाश्रयेत् ।
अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ॥ ८ ॥

बाढ़के समय जिस ओरसे जल बहकर गाँवोंको डुबा देनेका संकट उपस्थित कर दे, उस स्थानपर जैसे लोग मजबूत बाँध बाँध देते हैं, उसी प्रकार जिन द्वारोंसे संकट आनेकी सम्भावना हो, उन्हें सुदृढ़ बनाने और बंद करनेके लिये राजाको सतत सावधान रहना चाहिये । जैसे पर्वतोंपर वर्षा होनेसे जो पानी एकत्र होकर नदी या तालाबके रूपमें रहता है, उसका उपयोग करनेके लिये लोग उसका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार राजाको सिद्ध ब्राह्मणोंका आश्रय लेना चाहिये तथा जिस प्रकार धर्मका ढोंगी सिरपर जटा धारण करता है, उसी तरह राजाको भी अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छासे उच्च लक्षणोंको धारण करना चाहिये ॥ ८ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः ।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥ ९ ॥

वह सदा अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानीके साथ करे, लोगोंके आय-व्यय देखकर ताड़के वृक्षसे रस निकालनेकी भाँति उनसे धनरूपी रस ले (अर्थात् जैसे उस रसके लिये पेड़को काट नहीं दिया जाता, उसी प्रकार प्रजाका उच्छेद न करे) ॥ ९ ॥

मृजावान् स्यात् स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत् प्रेक्षेद् वैकल्यमात्मनः ॥ १० ॥

राजा अपने दलके लोगोंके प्रति विशुद्ध व्यवहार करे। शत्रुके राज्यमें जो खेतीकी फसल हो, उसे अपने दलके घोड़ों और बैलोंके पैरोंसे कुचलवा दे। अपना पक्ष बलवान् होनेपर ही शत्रुओंपर आक्रमण करे और अपनेमें कहाँ कैसी दुर्बलता है, इसका भलीभाँति निरीक्षण करता रहे॥ १०॥

दोषान् विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान् विधूनयेत्।
काननेष्विव पुष्पाणि बहिरर्थान् समाचरन्॥ ११॥

शत्रुके दोषोंको प्रकाशित करे और उसके पक्षके लोगोंको अपने पक्षमें आनेके लिये विचलित कर दे। जैसे लोग जंगलसे फूल चुनते हैं, उसी प्रकार राजा बाहरसे धनका संग्रह करे॥ ११॥

उच्छ्रितान् नाशयेत् स्फीतान् नरेन्द्रानचलोपमान्।
श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं रणमुपाश्रयेत्॥ १२॥

पर्वतके समान ऊँचा सिर करके अविचलभावसे बैठे हुए धनी नरेशोंको नष्ट करे। उनको जताये बिना ही उनकी छायाका आश्रय ले अर्थात् उनके सरदारोंसे मिलकर उनमें फूट डाल दे और गुप्तरूपसे अवसर देखकर उनके साथ युद्ध छेड़ दे॥

प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्जने।
मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चालक्षितश्चरेत्॥ १३॥

जैसे मोर आधी रातके समय एकान्त स्थानमें छिपा रहता है, उसी प्रकार राजा वर्षाकालमें शत्रुओंपर चढ़ाई न करके अदृश्यभावसे ही महलमें रहे। मोरके ही गुणको अपनाकर स्त्रियोंसे अलक्षित रहकर विचरे॥ १३॥

न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना।
चारभूमिष्वभिगतान् पाशांश्च परिवर्जयेत्॥ १४॥

अपने कवचको कभी न उतारे। स्वयं ही शरीरकी रक्षा करे। घूमने-फिरनेके स्थानोंपर शत्रुओंद्वारा जो जाल बिछाये गये हों, उनका निवारण करे॥ १४॥

प्रणयेद् वापि तां भूमिं प्रणश्येद् गहने पुनः।
हन्यात्क्रुद्धानतिविषांस्तान् जिह्मगतयोऽहितान्॥ १५॥

राजा सुयोग समझे तो जहाँ शत्रुओंका जाल बिछा हो, वहाँ भी अपने आपको ले जाय। यदि संकटकी सम्भावना हो तो गहन वनमें छिप जाय तथा जो कुटिल चाल चलनेवाले हों उन क्रोधमें भरे हुए शत्रुओंको अत्यन्त विषैले सर्पोंके समान समझकर मार डाले॥ १५॥

नाशयेद् बलबर्हाणि संनिवासान् निवासयेत्।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत्।
सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव॥ १६॥

शत्रुकी सेनाकी पाँख काट डाले—उसे दुर्बल कर दे, श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने निकट बसावे। मोरके समान स्वेच्छानुसार उत्तम कार्य करे—जैसे मोर अपने पंख फैलाता है, उसी प्रकार अपने पक्ष (सेना और सहायकों) का विस्तार करे। सबसे बुद्धि—सद्विचार ग्रहण करे और जैसे टिड्डियोंका दल जंगलमें जहाँ गिरता है, वहाँ वृक्षोंपर पत्तेतक नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुओंपर आक्रमण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर दे॥ १६॥

एवं मयूरवद् राजा स्वराज्यं परिपालयेत्।
आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः॥ १७॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजा अपने स्थानकी रक्षा करनेवाले मोरके समान अपने राज्यका भलीभाँति पालन करे तथा उसी नीतिका आश्रय ले, जो अपनी उन्नतिमें सहायक हो॥ १७॥

आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्यावधारणम्।
बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्तिरेतच्छास्त्रनिदर्शनम्॥ १८॥

केवल अपनी बुद्धिसे मनको वशमें किया जाता है। मन्त्री आदि दूसरोंकी बुद्धिके सहयोगसे कर्तव्यका निश्चय किया जाता है और शास्त्रीय बुद्धिसे आत्मगुणकी प्राप्ति होती है। यही शास्त्रका प्रयोजन है॥ १८॥

परं विश्वासयेत् साम्ना स्वशक्तिं चोपलक्षयेत्।
आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत्॥ १९॥

राजा मधुर वाणीद्वारा समझा-बुझाकर अपने प्रति दूसरेका विश्वास उत्पन्न करे। अपनी शक्तिका भी प्रदर्शन करे तथा अपने विचार और बुद्धिसे कर्तव्यका निश्चय करे॥ १९॥

सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यप्रयोजकः।
निगूढबुद्धेर्धीरस्य वक्तव्ये वा कृतं तथा॥ २०॥

राजामें सबको समझा-बुझाकर युक्तिसे काम निकालनेकी बुद्धि होनी चाहिये। वह विद्वान् होनेके साथ ही लोगोंको कर्तव्यकी प्रेरणा दे और अकर्तव्यकी ओर जानेसे रोके अथवा जिसकी बुद्धि गूढ़ या गम्भीर है, उस धीर पुरुषको उपदेश देनेकी आवश्यकता ही क्या है?॥ २०॥

स निकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्ध्या बृहस्पतिः।
स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके॥ २१॥

वह बुद्धिमान् राजा बुद्धिमें बृहस्पतिके समान होकर भी किसी कारणवश यदि निम्न श्रेणीकी बात कह डाले तो उसे चाहिये कि जैसे तपाया हुआ लोहा पानीमें डालनेसे शान्त हो जाता है, उसी तरह अपने शान्त स्वभावको स्वीकार कर ले॥ २१॥

अनुयुञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः।
आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य चैव परस्य च॥ २२॥

राजा अपने तथा दूसरेको भी शास्त्रमें बताये हुए समस्त कर्मोंमें ही लगावे॥ २२॥

मृदुशीलं तथा प्राज्ञं शूरं चार्थविधानवित्।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये च बलाधिकाः॥ २३॥

कार्य-साधनके उपायको जाननेवाला राजा अपने कार्योंमें कोमल-स्वभाव, विद्वान् तथा शूरवीर मनुष्यको तथा अन्य जो अधिक बलशाली व्यक्ति हों, उनको नियुक्त करे॥ २३॥

अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्मसु।
सर्वांस्ताननुवर्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता॥ २४॥

जैसे वीणाके विस्तृत तार सातों स्वरोंका अनुसरण करते

हैं, उसी प्रकार राजा अपने कर्मचारियोंको योग्यतानुसार कर्मोंमें संलग्न देख उन सबके अनुकूल व्यवहार करे ॥ २४ ॥

धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रियमाचरेत् ।
ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः ॥ २५ ॥

राजाको चाहिये कि सबका प्रिय करे, किंतु धर्ममें बाधा न आने दे। प्रजागणको 'यह मेरा ही प्रियगण है' ऐसा समझनेवाला राजा पर्वतके समान अविचल बना रहता है ॥ २५ ॥

व्यवसायं समाधाय सूर्यो रश्मीनिवायतान् ।
धर्ममेवाभिरक्षेत कृत्वा तुल्ये प्रियाप्रिये ॥ २६ ॥

जैसे सूर्य अपनी विस्तृत किरणोंका आश्रय ले सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा प्रिय और अप्रियको समान समझकर सुदृढ़ उद्योगका अवलम्बन करके धर्मकी ही रक्षा करे ॥

कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान् मृदुभाषिणः ।
मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान् ॥ २७ ॥
अलुब्धाञ्शिक्षितान् दान्तान् धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत् सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥ २८ ॥

जो लोग कुल, स्वभाव और देशके धर्मको जानते हों, मधुरभाषी हों, युवावस्थामें जिनका जीवन निष्कलङ्क रहा हो, जो हितसाधनमें तत्पर और घबराहटसे रहित हों, जिनमें लोभका अभाव हो, जो शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म एवं अर्थकी रक्षा करनेवाले हों, उन्हींको राजा अपने समस्त कार्योंमें लगावे ॥ २७-२८ ॥

एतेन च प्रकारेण कृत्यानामागतिं गतिम् ।
युक्तः समनुतिष्ठेत तुष्टश्चारैरुपस्कृतः ॥ २९ ॥

इस प्रकार राजा सदा सावधान रहकर राज्यके प्रत्येक कार्यका आरम्भ और समाप्ति करे। मनमें संतोष रखे और गुप्तचरोंकी सहायतासे राष्ट्रकी सारी बातें जानता रहे ॥ २९ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ ३० ॥

जिसका हर्ष और क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, जो स्वयं ही सारे कार्योंकी देखभाल करता है तथा आत्मविश्वास ही जिसका खजाना है, उस राजाके लिये यह वसुन्धरा (पृथ्वी) ही धन देनेवाली बन जाती है ॥ ३० ॥

व्यक्तश्चानुग्रहो यस्य यथार्थश्चापि निग्रहः ।
गुप्तात्मा गुप्तराष्ट्रश्च स राजा राजधर्मवित् ॥ ३१ ॥

जिसका अनुग्रह सबपर प्रकट है तथा जिसका निग्रह (दण्ड देना) भी यथार्थ कारणसे होता है, जो अपनी और अपने राज्यकी सुरक्षा करता है, वही राजा राजधर्मका ज्ञाता है ॥

नित्यं राष्ट्रमवेक्षेत गोभिः सूर्य इवोदितः ।
चरान् स्वनुचरान् विद्यात् तथा बुद्ध्या स्वयं चरेत् ॥ ३२ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर प्रतिदिन अपनी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते (या देखते) हैं, उसी प्रकार राजा सदा अपनी दृष्टिसे सम्पूर्ण राष्ट्रका निरीक्षण करे। गुप्तचरोंको बारंबार भेजकर राज्यके समाचार जाने तथा स्वयं अपनी बुद्धिके द्वारा भी सोच-विचारकर कार्य करे ॥ ३२ ॥

कालं प्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत् ।
अहन्यहनि संदुह्यान्महीं गामिव बुद्धिमान् ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् राजा समय पड़नेपर ही प्रजासे धन ले। अपनी अर्थ-संग्रहकी नीति किसीके सम्मुख प्रकट न करे। जैसे बुद्धिमान् मनुष्य गायकी रक्षा करते हुए ही उससे दूध दुहता है, उसी प्रकार राजा सदा पृथ्वीका पालन करते हुए ही उससे धनका दोहन करे ॥ ३३ ॥

यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः ।
तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत संचयम् ॥ ३४ ॥

जैसे मधुमक्खी क्रमशः अनेक फूलोंसे रसका संचय करके शहद तैयार करती है, उसी प्रकार राजा समस्त प्रजाजनोंसे थोड़ा-थोड़ा द्रव्य लेकर उसका संचय करे ॥ ३४ ॥

यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात् तद्वित्तं धर्मकामयोः ।
संचयान्न विसर्गी स्याद् राजा शास्त्रविदात्मवान् ॥ ३५ ॥

जो धन राज्यकी सुरक्षा करनेसे बचे, उसीको धर्म और उपभोगके कार्यमें खर्च करना चाहिये। शास्त्रज्ञ और मनस्वी राजाको कोषागारके संचित धनसे द्रव्य लेकर भी खर्च नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत शात्रवान् ।
बुद्ध्या तु बुद्ध्येदात्मानं न चाबुद्धिषु विश्वसेत् ॥ ३६ ॥

थोड़ा-सा भी धन मिलता हो तो उसका तिरस्कार न करे। शत्रु शक्तिहीन हो तो भी उसकी अवहेलना न करे। बुद्धिसे अपने स्वरूप और अवस्थाको समझे तथा बुद्धिहीनोंपर कभी विश्वास न करे ॥ ३६ ॥

धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा
धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः ।
अल्पस्य वा बहुनो वा विवृद्धौ
धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥ ३७ ॥

धारणाशक्ति, चतुरता, संयम, बुद्धि, शरीर, धैर्य, शौर्य तथा देश-कालकी परिस्थितिसे असावधान न रहना—ये आठ गुण थोड़े या अधिक धनको बढ़ानेके मुख्य साधन हैं अर्थात् धनरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये ईंधन हैं ॥ ३७ ॥

अग्निः स्तोको वर्धतेऽप्याज्यसिक्तो
बीजं चैकं रोहसहस्रमेति ।
आयव्ययौ विपुलौ संनिशाम्य
तस्मादल्पं नावमन्येत वित्तम् ॥ ३८ ॥

थोड़ी-सी भी आग यदि घीसे सिंच जाय तो बढ़कर बहुत बड़ी हो जाती है। एक ही छोटे-से बीजको बो देनेपर उससे सहस्रों बीज पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार महान् आय-व्ययके विषयमें विचार करके थोड़े-से भी धनका अनादर न करे ॥ ३८ ॥

बालोऽप्यबालः स्थविरो रिपुर्यः
सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात्।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत
कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३९ ॥

शत्रु बालक, जवान अथवा बूढ़ा ही क्यों न हो, सदा सावधान न रहनेवाले मनुष्यका नाश कर डालता है। दूसरा कोई धनसम्पन्न शत्रु अनुकूल समयका सहयोग पाकर राजाकी जड़ उखाड़ सकता है। इसलिये जो समयको जानता है, वही समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥

हरेत् कीर्तिं धर्ममस्योपरुन्ध्या-
दर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात्।
रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा
तस्माच्छत्रोर्नैव हीयेद् यतात्मा ॥ ४० ॥

द्वेष रखनेवाला शत्रु दुर्बल हो या बलवान्, राजाकी कीर्ति नष्ट कर देता है, उसके धर्ममें बाधा पहुँचाता है तथा अर्थोपार्जनमें उसकी बढ़ी हुई शक्तिका विनाश कर डालता है; इसलिये मनको वशमें रखनेवाला राजा शत्रुकी ओरसे लापरवाह न रहे ॥ ४० ॥

क्षयं वृद्धिं पालनं संचयं वा
बुद्ध्वाप्युभौ संहतौ सर्वकामौ।
ततश्चान्यन्मतिमान् संदधीत
तस्माद् राजा बुद्धिमत्तां श्रयेत ॥ ४१ ॥

हानि, लाभ, रक्षा और संग्रहको जानकर तथा सदा परस्पर सम्बन्धित ऐश्वर्य और भोगको भी भलीभाँति समझकर बुद्धिमान् राजाको शत्रुके साथ संधि या विग्रह करना चाहिये; इस विषयपर विचार करनेके लिये बुद्धिमानोंका सहारा लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

बुद्धिर्दीप्ता बलवन्तं हिनस्ति
बलं बुद्ध्या पाल्यते वर्धमानम्।
शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो
बुद्धेः पश्चात् कर्म यत्तत् प्रशस्तम् ॥ ४२ ॥

प्रतिभाशालिनी बुद्धि बलवान्को भी पछाड़ देती है। बुद्धिके द्वारा नष्ट होते हुए बलकी भी रक्षा होती है। बढ़ता हुआ शत्रु भी बुद्धिके द्वारा परास्त होकर कष्ट उठाने लगता है। बुद्धिसे सोचकर पीछे जो कर्म किया जाता है, वह सर्वोत्तम होता है ॥ ४२ ॥

सर्वान् कामान् कामयानो हि धीरः
सत्त्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदोषः।
यश्चात्मानं प्रार्थयतेऽर्थ्यमानैः
श्रेयःपात्रं पूरयते च नाल्पम् ॥ ४३ ॥

जिसने सब प्रकारके दोषोंका त्याग कर दिया है, वह धीर राजा यदि किसी वस्तुकी कामना करे तो वह थोड़ा-सा बल लगानेपर भी अपने सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होनेपर भी अपने लिये कुछ चाहता है अर्थात् दूसरोंसे अपनी इच्छा पूरी करानेकी आशा रखता है, वह लोभी और अहङ्कारी नरेश अपने श्रेयका छोटा-सा पात्र भी नहीं भर सकता ॥ ४३ ॥

तस्माद् राजा प्रगृहीतः प्रजासु
मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत।
दीर्घं कालं ह्यपि सम्पीड्यमानो
विद्युत्सम्पातमपि वा नोर्जितः स्यात् ॥ ४४ ॥

इसलिये राजाको चाहिये कि वह सारी प्रजापर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर (धन) वसूल करे। वह दीर्घकालतक प्रजाको सताकर उसपर बिजलीके समान गिरकर अपना प्रभाव न दिखाये ॥ ४४ ॥

विद्या तपो वा विपुलं धनं वा
सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम्।
बुद्ध्यायत्तं तन्निवसेद् देहवत्सु
तस्माद् विद्याद् व्यवसायं प्रभूतम् ॥ ४५ ॥

विद्या, तप तथा प्रचुर धन—ये सब उद्योगसे प्राप्त हो सकते हैं। वह उद्योग प्राणियोंमें बुद्धिके अधीन होकर रहता है; अतः उद्योगको ही समस्त कार्योंकी सिद्धिका पर्याप्त साधन समझे ॥ ४५ ॥

यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनः
शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च।
वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं
तस्माद् विद्वान् नावमन्येत देहम् ॥ ४६ ॥

अतः जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंमें बुद्धिमान् एवं मनस्वी महर्षि निवास करते हैं,* जिसमें इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें इन्द्र, विष्णु एवं सरस्वतीका निवास है तथा जिसके भीतर सदा सम्पूर्ण प्राणी वास करते हैं अर्थात् जो शरीर समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आधार है, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि उस मानव-देहकी अवहेलना न करे ॥ ४६ ॥

लुब्धं हन्यात् सम्प्रदानेन नित्यं
लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति।
सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे
योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ॥ ४७ ॥

राजा लोभी मनुष्यको सदा ही कुछ देकर दबाये रक्खे; क्योंकि लोभी पुरुष दूसरेके धनसे कभी तृप्त नहीं होता। सत्कर्मोंके फलस्वरूप सुखका उपभोग करनेके लिये तो सभी लालायित रहते हैं; परंतु जो लोभी धनहीन है, वह धर्म और काम दोनोंको त्याग देता है ॥ ४७ ॥

धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं
सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम्।

* 'इमावेव गौतमभरद्वाजौ' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका गौतम, भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि महर्षियोंसे सम्बन्ध सूचित होता है।

लुब्धे दोषाः सम्भवन्तीह सर्वे
तस्माद् राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम्॥४८॥

लोभी मनुष्य दूसरोंके धन, भोग-सामग्री, स्त्री-पुत्र और समृद्धि सबको प्राप्त करना चाहता है। लोभीमें सब प्रकारके दोष प्रकट होते हैं; अतः राजा उसे अपने यहाँ किसी पदपर स्थान न दे ॥ ४८ ॥

संदर्शनेन पुरुषं जघन्यमपि चोदयेत्।
आरम्भान् द्विषतां प्राज्ञः सर्वार्थांश्च प्रसूदयेत् ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् राजा नीच मनुष्यको देखते ही अपने यहाँसे दूर हटा दे और यदि उसका वश चले तो वह शत्रुओंके सारे उद्योगों तथा कार्योंका विध्वंस कर डाले ॥ ४९ ॥

धर्मान्वितेषु विज्ञाता मन्त्री गुप्तश्च पाण्डव।
आप्तो राजा कुलीनश्च पर्याप्तो राजसंग्रहे ॥ ५० ॥

पाण्डुनन्दन ! धर्मात्मा पुरुषोंमें जो विशेषरूपसे सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता हो, उसीको मन्त्री बनावे और उसकी सुरक्षाका विशेष प्रबन्ध करे। प्रजाका विश्वासपात्र और कुलीन राजा नरेशोंको वशमें करनेमें समर्थ होता है ॥ ५० ॥

विधिप्रयुक्तान् नरदेवधर्मा-
नुक्तान् समासेन निबोध बुद्ध्या।
इमान् विदध्याद् व्यतिसृत्य यो वै
राजा महीं पालयितुं स शक्तः ॥ ५१ ॥

राजाके जो शास्त्रोक्त धर्म हैं, उन्हें संक्षेपसे मैंने यहाँ बताया है। तुम अपनी बुद्धिसे विचार करके उन्हें हृदयमें धारण करो। जो उन्हें गुरुसे सीखकर हृदयमें धारण करता और आचरणमें लाता है, वही राजा अपने राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है ॥ ५१ ॥

अनीतिजं यस्य विधानजं सुखं
हठप्रणीतं विधिवत्प्रदृश्यते।
न विद्यते तस्य गतिर्महीपते-
र्न विद्यते राज्यसुखं ह्यनुत्तमम् ॥ ५२ ॥

जिन्हें अन्यायसे उपार्जित, हठसे प्राप्त तथा दैवके विधानके अनुसार उपलब्ध हुआ सुख विधिके अनुरूप प्राप्त हुआ-सा दिखायी देता है, राजधर्मको न जाननेवाले उस राजाकी कहीं गति नहीं है तथा उसका परम उत्तम राज्यसुख चिरस्थायी नहीं होता ॥ ५२ ॥

धनैर्विशिष्टान् मतिशीलपूजितान्
गुणोपपन्नान् युधि दृष्टविक्रमान्।
गुणेषु दृष्ट्वा न चिरादिवात्मवान्
यतोऽभिसंधाय निहन्ति शात्रवान् ।५३।

उक्त राजधर्मके अनुसार संधि-विग्रह आदि गुणोंके प्रयोगमें सतत सावधान रहनेवाला नरेश धनसम्पन्न, बुद्धि और शीलके द्वारा सम्मानित, गुणवान् तथा युद्धमें जिनका पराक्रम देखा गया है, उन वीर शत्रुओंको भी कूटकौशलपूर्वक नष्ट कर सकता है ॥ ५३ ॥

पश्येदुपायान् विविधैः क्रियापथै-
र्न चानुपायेन मतिं निवेशयेत्।
श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो धनं
न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते ॥ ५४ ॥

राजा नाना प्रकारकी कार्यपद्धतियोंद्वारा शत्रु-विजयके बहुत-से उपाय ढूँढ़ निकाले। अयोग्य उपायसे काम लेनेका विचार न करे, जो निर्दोष व्यक्तियोंके भी दोष देखता है, वह मनुष्य विशिष्ट सम्पत्ति, महान् यश और प्रचुर धन नहीं पा सकता ॥ ५४ ॥

प्रीतिप्रवृत्तौ विनिवर्तितौ यथा
सुहृत्सु विज्ञाय निवृत्य चोभयोः।
यदेव मित्रं गुरुभारमावहेत्
तदेव सुस्निग्धमुदाहरेद् बुधः ॥ ५५ ॥

सुहृदोंमेंसे जो दो मित्र प्रेमपूर्वक साथ-साथ एक कार्यमें प्रवृत्त होते हों और साथ-ही-साथ उससे निवृत्त होते हों, उन्हें अच्छी तरह जानकर उन दोनोंमेंसे जो मित्र लौटकर मित्रका गुरुतर भार वहन कर सके, उसीको विद्वान् पुरुष अत्यन्त स्नेही मित्र मानकर दूसरोंके सामने उसका उदाहरण दें॥

एतान् मयोक्तांश्चर राजधर्मान्
नृणां च गुप्तौ मतिमादधत्स्व।
अवाप्स्यसे पुण्यफलं सुखेन
सर्वो हि लोको नृप धर्ममूलः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! मेरे बताये हुए इन राजधर्मोंका आचरण करो और प्रजाके पालनमें मन लगाओ। इससे तुम सुखपूर्वक पुण्यफल प्राप्त करोगे; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्का मूल धर्म ही है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राजधर्मकथने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राजधर्मका वर्णनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

दण्डके स्वरूप, नाम, लक्षण, प्रभाव और प्रयोगका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अयं पितामहेनोक्तो राजधर्मः सनातनः।
ईश्वरश्च महादण्डो दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने यह सनातन राजधर्मका वर्णन किया। इसके अनुसार महान् दण्ड ही सबका ईश्वर है, दण्डके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥ १ ॥

देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
यक्षरक्षःपिशाचानां साध्यानां च विशेषतः ॥ २ ॥
सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यग्योनिनिवासिनाम् ।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो ॥ ३ ॥

प्रभो ! देवता, ऋषि, पितर, महात्मा, यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा साध्यगण एवं पशु-पक्षियोंकी योनिमें निवास करनेवाले जगत्‌के समस्त प्राणियोंके लिये भी सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड ही कल्याणका साधन है ॥ २-३ ॥

इत्येवमुक्तं भवता दण्डे वै सचराचरम्।
पश्यता लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम् ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ४ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित इस सम्पूर्ण विश्वको अपने समीप देखते हुए आपने कहा है कि दण्डपर ही चराचर जगत् प्रतिष्ठित है। भरतश्रेष्ठ ! मैं यथार्थरूपसे यह सब जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः ।
किमात्मकः कथंभूतः कथंमूर्तिः कथं प्रभो ॥ ५ ॥

दण्ड क्या है ? कैसा है ? उसका स्वरूप किस तरहका है ? और किसके आधारपर उसकी स्थिति है ? प्रभो ! उसका उपादान क्या है ? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है ? उसका आकार कैसा है ? ॥ ५ ॥

जागर्ति च कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः ।
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन् ॥ ६ ॥

वह किस प्रकार सावधान रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करनेके लिये जागता रहता है ? कौन इस पूर्वापर जगत्‌का प्रतिपालन करता हुआ जागता है ? ॥ ६ ॥

कश्च विज्ञायते पूर्वं को वरो दण्डसंज्ञितः ।
किंसंस्थश्च भवेद् दण्डः का वास्य गतिरुच्यते ॥ ७ ॥

पहले इसे किस नामसे जाना जाता था ? कौन दण्ड प्रसिद्ध है ? दण्डका आधार क्या है ? तथा उसकी गति क्या बतायी गयी है ? ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहारो यथा च सः ।
यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! दण्डका जो स्वरूप है तथा जिस प्रकार उसको 'व्यवहार' कहा जाता है, वह सब तुम्हें बताता हूँ; सुनो। इस संसारमें सब कुछ जिसके अधीन है, वही अद्वितीय पदार्थ यहाँ 'दण्ड' कहलाता है ॥ ८ ॥

धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते ।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्ववहितात्मनः ॥ ९ ॥
इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते ।

महाराज ! धर्मका ही दूसरा नाम व्यवहार है। लोकमें सतत सावधान रहनेवाले पुरुषके धर्मका किसी तरह लोप न हो, इसीलिये दण्डकी आवश्यकता है और यही उस व्यवहारका व्यवहारत्व[1] है ॥ ९½ ॥

अपि चैतत् पुरा राजन् मनुना प्रोक्तमादितः ॥ १० ॥
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः ॥ ११ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें मनुने यह उपदेश दिया है कि जो राजा प्रिय और अप्रियके प्रति समान भाव रखकर—किसीके प्रति पक्षपात न करके दण्डका ठीक-ठीक उपयोग करते हुए प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, उसका वह कार्य केवल धर्म है ॥

यथोक्तमेतद् वचनं प्रागेव मनुना पुरा ।
यन्मयोक्तं मनुष्येन्द्र ब्रह्मणो वचनं महत् ॥ १२ ॥
प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः ।
व्यवहारस्य चाख्यानाद् व्यवहार इहोच्यते ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! उपर्युक्त सारी बातें मनुजीने पहले ही कह दी हैं और मैंने जो बात कही है, वह ब्रह्माजीका महान् वचन है। यही वचन मनुजीके द्वारा पहले कहा गया है; इसलिये इसको 'प्राग्वचन' के नामसे भी जानते हैं। इसमें व्यवहारका प्रतिपादन होनेसे यहाँ व्यवहार नाम दिया गया है ॥ १२-१३ ॥

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते ।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १४ ॥

दण्डका ठीक-ठीक उपयोग होनेपर राजाके धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि सदा होती रहती है। इसलिये दण्ड महान् देवता है, यह अग्निके समान तेजस्वी रूपसे प्रकट हुआ है ॥

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ १५ ॥

इसके शरीरकी कान्ति नील कमलदलके समान श्याम है, इसके चार दाढ़ें और चार भुजाएँ हैं। आठ पैर और अनेक नेत्र हैं। इसके कान खूँटेके समान हैं और रोएँ ऊपरकी ओर उठे हुए हैं ॥ १५ ॥

जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
एतद् रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः ॥ १६ ॥

इसके सिरपर जटा है, मुखमें दो जिह्वाएँ हैं, मुखका रंग ताँबेके समान है, शरीरको ढकनेके लिये उसने व्याघ्रचर्म धारण कर रक्खा है, इस प्रकार दुर्धर्ष दण्ड सदा यह भयंकर रूप धारण किये रहता है* ॥ १६ ॥

असिर्धनुर्गदा शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः ।
मुसलं परशुश्चक्रं पाशो दण्डर्ष्टितोमराः ॥ १७ ॥

---

१. विगतः अवहारः धर्मस्य येन सः व्यवहारः। दूर हो गया है धर्मका अवहार (लोप) जिसके द्वारा, वह व्यवहार है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार धर्मको लुप्त होनेसे बचाना ही व्यवहारका व्यवहारत्व है।

* यहाँ पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें आये हुए पदोंकी नीलकण्ठने व्यावहारिक दण्डके विशेषणरूपसे भी संगति लगायी है। इन विशेषणोंको रूपक मानकर अर्थ किया है।

सर्वप्रहरणीयानि सन्ति यानीह कानिचित्।
दण्ड एव स सर्वात्मा लोके चरति मूर्तिमान् ॥ १८ ॥

खड्ग, धनुष, गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुद्गर, बाण, मुसल, फरसा, चक्र, पाश, दण्ड, ऋष्टि, तोमर तथा दूसरे-दूसरे जो कोई प्रहार करने योग्य अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबके रूपमें सर्वात्मा दण्ड ही मूर्तिमान् होकर जगत्‌में विचरता है ॥

भिन्दंश्छिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पाटयंस्तथा।
घातयन्नभिधावंश्च दण्ड एव चरत्युत ॥ १९ ॥

वही अपराधियोंको भेदता, छेदता, पीड़ा देता, काटता, चीरता, फाड़ता तथा मरवाता है। इस प्रकार दण्ड ही सब ओर दौड़ता-फिरता है ॥ १९ ॥

असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुराधरः।
श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः सनातनः ॥ २० ॥
शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्राश्च शास्ता प्राग्वदतां वरः।
धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगोऽग्रजः ॥ २१ ॥
असंगो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवंकरः।
नामान्येतानि दण्डस्य कीर्तितानि युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर! असि, विशसन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मन्त्र, शास्ता, प्राग्वदतांवर, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असङ्ग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर—ये दण्डके नाम कहे गये हैं ॥ २०-२२ ॥

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।
शश्वद् रूपं महद् बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥ २३ ॥

दण्ड सर्वत्र व्यापक होनेके कारण भगवान् विष्णु है और नरों (मनुष्यों) का अयन (आश्रय) होनेसे नारायण कहलाता है। वह प्रभावशाली होनेसे प्रभु और सदा महत् रूप धारण करता है, इसलिये महान् पुरुष कहलाता है॥२३॥

तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः ॥ २४ ॥

इसी प्रकार दण्डनीति भी ब्रह्माजीकी कन्या कही गयी है। लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती तथा जगद्धात्री भी उसीके नाम हैं। इस प्रकार दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥ २४॥

अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले।
दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २५ ॥
कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः।
अप्रमादः प्रमादश्च हर्षक्रोधौ शमो दमः ॥ २६ ॥
दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये।
हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २७ ॥
अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥ २८ ॥
अशक्तिः शक्तिरित्येवं मानस्तम्भौ व्ययाव्ययौ।
विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २९ ॥
अनृतं ज्ञानिता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव च।
क्लीवता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ ३० ॥
तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा।
विरोधश्चाविरोधश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३१ ॥
असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च।
अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च सम्पद्विपत्पदम् ॥ ३२ ॥
तेजः कर्माणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता।
एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन् बहुरूपता ॥ ३३ ॥

अर्थ-अनर्थ, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, बल-अबल, दौर्भाग्य-सौभाग्य, पुण्य-पाप, गुण-अवगुण, काम-अकाम, ऋतु-मास, दिन-रात, क्षण, प्रमाद-अप्रमाद, हर्ष-क्रोध, शम-दम, दैव-पुरुषार्थ, बन्ध-मोक्ष, भय-अभय, हिंसा-अहिंसा, तप-यज्ञ, संयम, विष-अविष, आदि, अन्त, मध्य, कार्यविस्तार, मद, असावधानता, दर्प, दम्भ, धैर्य, नीति-अनीति, शक्ति-अशक्ति, मान, स्तब्धता, व्यय-अव्यय, विनय 'दान, काल-अकाल, सत्य-असत्य, ज्ञान, श्रद्धा-अश्रद्धा, अकर्मण्यता, उद्योग, लाभ-हानि, जय-पराजय, तीक्ष्णता-मृदुता, मृत्यु, आना-जाना, विरोध-अविरोध, कर्तव्य-अकर्तव्य, सबलता-निर्बलता, असूया-अनसूया, धर्म-अधर्म, लज्जा-अलज्जा, सम्पत्ति-विपत्ति, स्थान, तेज, कर्म, पाण्डित्य, वाक्शक्ति तथा तत्त्व-बोध—ये सब दण्डके ही अनेक नाम और रूप हैं। कुरुनन्दन! इस प्रकार इस जगत्‌में दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥२५—३३॥

न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद् दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर! यदि संसारमें दण्डकी व्यवस्था न होती तो सब लोग एक दूसरेको नष्टकर डालते। दण्डके ही भयसे मनुष्य आपसमें मार-काट नहीं मचाते हैं ॥ ३४ ॥

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद् दण्डः परायणम् ॥ ३५ ॥

राजन्! दण्डसे सुरक्षित रहती हुई प्रजा ही इस जगत्‌में अपने राजाको प्रतिदिन धन-धान्यसे सम्पन्न करती रहती है। इसलिये दण्ड ही सबको आश्रय देनेवाला है ॥ ३५ ॥

व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर।
सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥ ३६ ॥

नरेश्वर! दण्ड ही इस लोकको शीघ्र ही सत्यमें स्थापित करता है। सत्यमें ही धर्मकी स्थिति है और धर्म ब्राह्मणोंमें स्थित है ॥ ३६ ॥

धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा वेदयुक्ता भवन्ति च।
बभूव यज्ञो वेदेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः ॥ ३७ ॥
प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिवदन्त्यपि।
अन्नं ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः ॥ ३८ ॥
प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः।
तस्मात् प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दण्डो जागर्ति तासु च ॥ ३९ ॥

धर्मयुक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करते हैं। वेदोंसे ही यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ देवताओंको तृप्त करता है। तृप्त हुए देवता इन्द्रसे प्रजाके लिये प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं, इससे इन्द्र प्रजाजनोंपर अनुग्रह करके (समयपर वर्षाके द्वारा खेती उपजाकर) उन्हें अन्न देता है, समस्त प्राणियोंके प्राण सदा अन्नपर ही टिके हुए हैं; इसलिये दण्डसे ही प्रजाओंकी स्थिति बनी हुई है। वही उनकी रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहता है॥

एवंप्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः ।
रक्षन् प्रजाः स जागर्ति नित्यं स्ववहितोऽक्षरः ॥४०॥

इस प्रकार रक्षारूपी प्रयोजन सिद्ध करनेवाला दण्ड क्षत्रियभावको प्राप्त हुआ है। वह अविनाशी होनेके कारण सदा सावधान होकर प्रजाकी रक्षाके लिये जागता रहता है॥

ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः ।
भूतात्मा जीव इत्येवं नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः ॥ ४१ ॥

ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव–इन आठ नामोंसे दण्डका ही प्रतिपादन किया जाता है ॥ ४१ ॥

अददद् दण्डमेवास्मै धृतमैश्वर्यमेव च ।
बलेन यश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः ॥ ४२ ॥

जो सर्वदा सैनिक-बलसे सम्पन्न है तथा जो धर्म, व्यवहार, दण्ड, ईश्वर और जीवरूपसे पाँच[1] प्रकारके स्वरूप धारण करता है, उस राजाको ईश्वरने ही दण्डनीति तथा अपना ऐश्वर्य प्रदान किया है ॥ ४२ ॥

कुलं बहुधनामात्याः प्रज्ञा प्रोक्ता बलानि तु ।
आहार्यमष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद् युधिष्ठिर ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर! राजाका बल दो तरहका होता है–एक प्राकृत और दूसरा आहार्य। उनमेंसे कुल, प्रचुर धन, मन्त्री तथा बुद्धि–ये चार प्राकृतिक बल कहे गये हैं, आहार्य बल उससे भिन्न है। वह निम्नाङ्कित आठ वस्तुओंके द्वारा आठ प्रकारका माना गया है ॥ ४३ ॥

हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टिस्तथैव च ।
दैशिकाश्चाविकाश्चैव तदष्टाङ्गं बलं स्मृतम् ॥ ४४ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, नौका, बेगार, देशकी प्रजा तथा भेड़ आदि पशु—ये आठ अङ्गोंवाला बल आहार्य माना गया है ॥ ४४ ॥

अथवाङ्गस्य युक्तस्य रथिनो हस्तियायिनः ।
अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥ ४५ ॥
भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः ।
कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ॥ ४६ ॥
सप्तप्रकृति चाष्टाङ्गं शरीरमिह यद् विदुः ।
राज्यस्य दण्डमेवाङ्गं दण्डः प्रभव एव च ॥ ४७ ॥

अथवा संयुक्त अङ्गके रथी, हाथीसवार, घुड़सवार, पैदल, मन्त्री, वैद्य, भिक्षुक, वकील, ज्यौतिषी, दैवज्ञ, कोश, मित्र, धान्य तथा अन्य सब सामग्री, राज्यकी सात प्रकृतियाँ (स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना) और उपर्युक्त आठ अङ्गोंसे युक्त बल—इन सबको राज्यका शरीर माना गया है। इन सबमें दण्ड ही प्रधान अङ्ग है, क्योंकि दण्ड ही सबकी उत्पत्तिका कारण है ॥ ४५—४७ ॥

ईश्वरेण प्रयत्नेन कारणात् क्षत्रियस्य च ।
दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ॥ ४८ ॥

ईश्वरने यत्नपूर्वक धर्मरक्षाके लिये क्षत्रियके हाथमें उसके समान जातिवाला दण्ड समर्पित किया है; इसलिये दण्ड ही इस सनातन व्यवहारका कारण है ॥ ४८ ॥

राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथा धर्मः प्रदर्शितः ।
ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च ॥ ४९ ॥

ब्रह्माजीने लोकरक्षा तथा स्वधर्मकी स्थापनाके निमित्त जिस धर्मका प्रदर्शन (उपदेश) किया था, वह दण्ड ही है। राजाओंके लिये उससे बढ़कर परम पूजनीय दूसरा धर्म नहीं है ॥ ४९ ॥

भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथापरः ।
तस्माद् यः स हितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ५० ॥

स्वामी अथवा विचारकके विश्वासके अनुसार जो व्यवहार उत्पन्न होता है, वह (वादी-प्रतिवादीद्वारा उठाये हुए विवादसे उत्पन्न व्यवहारकी अपेक्षा) भिन्न है। उससे जो दण्ड दिया जाता है, उसका नाम है 'भर्तृप्रत्ययलक्षण' वह सम्पूर्ण जगत्के लिये हितकर देखा गया है (यह पहला भेद है) ॥ ५० ॥

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते ।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथा परः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! वेदप्रतिपादित दोषोंका आचरण करनेवाले अपराधीके लिये जो व्यवहार या विचार होता है, वह वेदप्रत्यय कहलाता है (यह दूसरा भेद है) और कुलाचार भङ्ग करनेके अपराधपर किये जानेवाले विचार या व्यवहारको मौल कहते हैं (यह तीसरा भेद है)। इसमें भी शास्त्रोक्त दण्डका ही विधान किया जाता है ॥ ५१ ॥

उक्तो यश्चापि दण्डोऽसौ भर्तृप्रत्ययलक्षणः ।
ज्ञेयो नः स नरेन्द्रस्थो दण्डः प्रत्यय एव च ॥ ५२ ॥

पहले जो भर्तृप्रत्ययलक्षण दण्ड बताया गया है, वह हमें राजामें ही स्थित जानना चाहिये; क्योंकि वह विश्वास और दण्ड राजापर ही अवलम्बित है ॥ ५२ ॥

दण्डः प्रत्ययदृष्टोऽपि व्यवहारात्मकः स्मृतः ।
व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः ॥ ५३ ॥

---

[1] किन्हीं-किन्हींके मतमें प्रजाके जीवन, धन, मान, स्वास्थ्य और न्यायकी रक्षा करनेके कारण राजाका स्वरूप पाँच प्रकारका बताया गया है।

यद्यपि स्वामीके विश्वासके आधारपर ही वह दण्ड देखा गया है; तथापि उसे भी व्यवहारस्वरूप ही माना गया है। जिसे व्यवहार माना गया है, वह भी वेदोक्त विषयसे भिन्न नहीं है ॥ ५३ ॥

यश्च वेदप्रसूतात्मा स धर्मो गुणदर्शनः ।
धर्मप्रत्यय उद्दिष्टो यथाधर्मं कृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

जिसका स्वरूप वेदसे प्रकट हुआ है, वह धर्म ही है। जो धर्म है, वह अपना गुण (लाभ) दिखाता ही है। पुण्यात्मा पुरुषोंने धर्मके अनुसार ही धर्मविश्वासमूलक दण्डका प्रतिपादन किया है ॥ ५४ ॥

व्यवहारः प्रजागोप्ता ब्रह्मदिष्टो युधिष्ठिर ।
त्रीन् धारयति लोकान् वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीका बताया हुआ जो प्रजारक्षक व्यवहार है, वह सत्यस्वरूप होनेके साथ ही ऐश्वर्यकी वृद्धि करनेवाला है, वही तीनों लोकोंको धारण करता है ॥

यश्च दण्डः स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः ।
व्यवहारश्च दृष्टो यः स वेद इति निश्चितम् ॥ ५६ ॥

जो दण्ड है, वही हमारी दृष्टिमें सनातन व्यवहार है। जो व्यवहार देखा गया है, वही वेद है, यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है ॥ ५६ ॥

यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः ।
ब्रह्मा पितामहः पूर्वं बभूवाथ प्रजापतिः ॥ ५७ ॥

जो वेद है, वही धर्म है और जो धर्म है, वही सत्पुरुषोंका सन्मार्ग है। सत्पुरुष हैं लोकपितामह प्रजापति ब्रह्माजी, जो सबसे पहले प्रकट हुए थे ॥ ५७ ॥

लोकानां स हि सर्वेषां ससुरासुररक्षसाम् ।
समनुष्योरगवतां कर्ता चैव स भूतकृत् ॥ ५८ ॥

वे ही देवता, मनुष्य, नाग, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके कर्ता तथा समस्त प्राणियोंके स्रष्टा हैं ॥ ५८ ॥

ततोऽन्यो व्यवहारोऽयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः ।
तस्मादिदमथोवाच व्यवहारनिदर्शनम् ॥ ५९ ॥

उन्हींसे भर्तृप्रत्यय नामक इस अन्य प्रकारके दण्डकी प्रवृत्ति हुई; फिर उन्होंने ही इस व्यवहारके लिये यह आदर्श वाक्य कहा—॥ ५९ ॥

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ६० ॥

'माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्ममें स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजाके लिये कोई भी अदण्डनीय नहीं है' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डस्वरूपाभिकथने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डके स्वरूपका वर्णनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

दण्डकी उत्पत्ति तथा उसके क्षत्रियोंके हाथमें आनेकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अङ्गेषु राजा द्युतिमान् वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस दण्डकी उत्पत्तिके विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। उसे भी तुम सुन लो। अङ्गदेशमें वसुहोम नामसे प्रसिद्ध एक तेजस्वी राजा राज्य करते थे ॥ १ ॥

स राजा धर्मविन्नित्यं सह पत्न्या महातपाः ।
मुञ्जपृष्ठं जगामाथ पितृदेवर्षिपूजितम् ॥ २ ॥

'एक समयकी बात है, वे महातपस्वी धर्मज्ञ नरेश अपनी पत्नीके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे पूजित मुञ्जपृष्ठ नामक तीर्थस्थानमें आये ॥ २ ॥

तत्र शृङ्गे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते ।
यत्र मुञ्जावटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः संशितव्रतैः ।
मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! वह स्थान सुवर्णमय पर्वत सुमेरुके समीपवर्ती हिमालयके शिखरपर है, जहाँ मुञ्जावटमें परशुरामजीने अपनी जटाएँ बाँधनेका आदेश दिया था। तभीसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ऋषियोंने उस रुद्रसेवित प्रदेशको मुञ्जपृष्ठ नाम दे दिया ॥ ३-४ ॥

स तत्र बहुभिर्युक्तस्तदा श्रुतिमयैर्गुणैः ।
ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षिसदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥

वे वहाँ बहुतेरे वेदोक्त गुणोंसे सम्पन्न हो तपस्या करने लगे। उस तपके प्रभावसे वे देवर्षियोंके तुल्य हो गये। ब्राह्मणोंमें उनका बड़ा सम्मान होने लगा ॥ ५ ॥

तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानितः ।
अभ्यगच्छन्महीपालो मान्धाता शत्रुकर्शनः ॥ ६ ॥

एक दिन इन्द्रके सम्मानित सखा उदारचेता शत्रुसूदन राजा मान्धाता उनके दर्शनके लिये आये ॥ ६ ॥

सोपसृत्य तु मान्धाता वसुहोमं नराधिपम् ।
दृष्ट्वा प्रकृष्टतपसं विनतोऽग्रेऽभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥

राजा मान्धाता उत्तम तपस्वी अङ्गनरेश वसुहोमके पास पहुँचकर दर्शन करके उनके सामने विनीतभावसे खड़े हो गये ॥ ७ ॥

वसुहोमोऽपि राज्ञो वै पाद्यमर्घ्यं न्यवेदयत्।
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य पप्रच्छ कुशलाव्यये ॥ ८ ॥

वसुहोमने भी राजाको पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया तथा सातों अङ्गोंसे युक्त उनके राज्यका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनम् ।
अपृच्छद् वसुहोमस्तं राजन् किं करवाणि ते॥ ९ ॥

पूर्वकालमें साधु पुरुषोंने जिस पथका अनुसरण किया था, उसीपर यथावत् रूपसे निरन्तर चलनेवाले मान्धातासे वसुहोमने पूछा—'राजन्! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥

सोऽब्रवीत्परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम्।
वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥

कुरुनन्दन! तब परम प्रसन्न हुए मान्धाताने वहाँ बैठे हुए महाज्ञानी नृपश्रेष्ठ वसुहोमसे पूछा ॥१० ॥

मान्धातोवाच

बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया।
तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नरोत्तम ॥ ११ ॥

मान्धाता बोले—राजन्! नरश्रेष्ठ! आपने बृहस्पतिके सम्पूर्ण मतका अध्ययन किया है। साथ ही शुक्राचार्यके नीति-शास्त्रका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ ११ ॥

तदहं ज्ञातुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम्।
किं चास्य पूर्वं जागर्ति किं वा परममुच्यते ॥ १२ ॥

अतः मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि दण्डकी उत्पत्ति कैसे हुई? इसके पहले कौन-सी वस्तु जागरूक थी? तथा इस दण्डको सबसे उत्कृष्ट क्यों कहा जाता है ? ॥१२ ॥

कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः सम्प्रत्यवस्थितः।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥

इस समय यह दण्ड क्षत्रियोंके हाथमें कैसे आया है! महामते! यह सब मुझे बताइये। मैं आपको गुरुदक्षिणा प्रदान करूँगा ॥ १३॥

वसुहोम उवाच

शृणु राजन् यथा दण्डः सम्भूतो लोकसंग्रहः।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४ ॥

वसुहोम बोले—राजन्! दण्ड सम्पूर्ण जगत्को नियमके अंदर रखनेवाला है। यह धर्मका सनातन स्वरूप है। इसका उद्देश्य है प्रजाको उद्दण्डतासे बचाना। इसकी उत्पत्ति जिस तरह हुई है, सो बता रहा हूँ; सुनो ॥ १४ ॥

ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान् सर्वलोकपितामहः।
ऋत्विजं नात्मनस्तुल्यं ददर्शेति हि नः श्रुतम् ॥ १५ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्मा किसी समय यज्ञ करना चाहते थे; किंतु उन्हें अपने योग्य कोई ऋत्विज नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

स गर्भं शिरसा देवो बहुवर्षाण्यधारयत्।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु स गर्भः क्षुवतोऽपतत् ॥ १६ ॥

तब उन्होंने बहुत वर्षोंतक अपने मस्तकपर एक गर्भ धारण किया। जब एक हजार वर्ष बीत गये, तब ब्रह्माजीको छींक आयी और वह गर्भ नीचे गिर पड़ा ॥ १६ ॥

स क्षुपो नाम सम्भूतः प्रजापतिररिंदम।
ऋत्विगासीन्महाराज यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

शत्रुदमन नरेश! उससे जो बालक प्रकट हुआ, उसका नाम 'क्षुप' रक्खा गया। महाराज! महात्मा ब्रह्माजीके उस यज्ञमें प्रजापति क्षुप ही ऋत्विज हुए ॥ १७ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ।
दृष्टरूपप्रधानत्वाद् दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ! ब्रह्माजीका वह यज्ञ आरम्भ होते ही वहाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाले यज्ञकी प्रधानता होनेसे ब्रह्माका वह दण्ड अन्तर्धान हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत्।
नैव कार्यं न वाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥

दण्ड लुप्त होते ही प्रजामें वर्णसंकरता फैलने लगी। कर्तव्याकर्तव्य तथा भक्ष्याभक्ष्यका विचार सर्वथा उठ गया॥१९॥

पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम्।
गम्यागम्यं तदा नासीत् स्वं परस्वं च वै समम् ॥ २० ॥

फिर पेयापेयका ही विचार कैसे रह सकता था! सब लोग एक दूसरेकी हिंसा करने लगे। उस समय गम्यागम्यका विचार भी नहीं रह गया था। अपना और पराया धन एक-सा समझा जाने लगा ॥ २० ॥

परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम्।
अबलान् बलिनो घ्नन्ति निर्मर्यादमवर्तत ॥ २१ ॥

जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये आपसमें छीना-झपटी और नोच-खसोट करते हैं, उसी तरह मनुष्य भी परस्पर लूट-पाट करने लगे। बलवान् पुरुष दुर्बलोंकी हत्या करने लगे। सर्वत्र उच्छृङ्खलता फैल गयी ॥ २१ ॥

ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम्।
सम्पूज्य वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
अत्र त्वमनुकम्पां वै कर्तुमर्हसि शंकर।
संकरो न भवेदत्र यथा तद् वै विधीयताम् ॥ २३ ॥

ऐसी अवस्था हो जानेपर पितामह ब्रह्माने सनातन भगवान् विष्णुका पूजन करके वरदायक देवता महादेवजीसे कहा 'शंकर! इस परिस्थितिमें आपको कृपा करनी चाहिये। जिस प्रकार संसारमें वर्णसंकरता न फैले, वह उपाय आप करें' ॥ २२-२३॥

ततः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः।
आत्मानमात्मना दण्डं ससृजे देवसत्तमः ॥ २४ ॥

तब शूलनामक श्रेष्ठ शस्त्र धारण करनेवाले सुरश्रेष्ठ महादेवजीने देरतक विचार करके स्वयं अपने-आपको ही दण्डके रूपमें प्रकट किया ॥ २४ ॥

तस्माच्च धर्मचरणान्नीतिर्देवी सरस्वती ।
ससृजे दण्डनीतिं सा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २५ ॥

उससे धर्माचरण होता देख नीतिस्वरूपा देवी सरस्वतीने दण्डनीतिकी रचना की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है॥२५॥

भूयः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
तस्य तस्य निकायस्य चकारैकैकमीश्वरम् ॥ २६ ॥

भगवान् शूलपाणिने पुनः चिरकालतक चिन्तन करके भिन्न-भिन्न समूहका एक-एक राजा बनाया ॥ २६ ॥

देवानामीश्वरं चक्रे देवं दशशतेक्षणम् ।
यमं वैवस्वतं चापि पितॄणामकरोत् प्रभुम् ॥ २७ ॥

उन्होंने सहस्रनेत्रधारी इन्द्रदेवको देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित किया और सूर्यपुत्र यमको पितरोंका राजा बनाया ॥

धनानां राक्षसानां च कुबेरमपि चेश्वरम् ।
पर्वतानां पतिं मेरुं सरितां च महोदधिम् ॥ २८ ॥

कुबेरको धन और राक्षसोंका, सुमेरुको पर्वतोंका और महासागरको सरिताओंका स्वामी बना दिया ॥ २८ ॥

अपां राज्येऽसुराणां च विदधे वरुणं प्रभुम् ।
मृत्युं प्राणेश्वरमथो तेजसां च हुताशनम् ॥ २९ ॥

शक्तिशाली भगवान् वरुणको जल और असुरोंके राज्यपर प्रतिष्ठित किया । मृत्युको प्राणोंका तथा अग्निदेवको तेजका आधिपत्य प्रदान किया ॥ २९ ॥

रुद्राणामपि चेशानं गोप्तारं विदधे प्रभुम् ।
महात्मानं महादेवं विशालाक्षं सनातनम् ॥ ३० ॥

विशाल नेत्रोंवाले सनातन महात्मा महादेवजीने अपने आपको रुद्रोंका अधीश्वर तथा शक्तिशाली संरक्षक बनाया ॥ ३० ॥

वसिष्ठमीशं विप्राणां वसूनां जातवेदसम् ।
तेजसां भास्करं चक्रे नक्षत्राणां निशाकरम् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठको ब्राह्मणोंका, जातवेदा अग्निको वसुओंका, सूर्यको तेजस्वी ग्रहोंका और चन्द्रमाको नक्षत्रोंका अधिपति बनाया ॥

वीरुधामंशुमन्तं च भूतानां च प्रभुं वरम् ।
कुमारं द्वादशभुजं स्कन्दं राजानमादिशत् ॥ ३२ ॥

अंशुमान्‌को लताओंका तथा बारह भुजाओंसे विभूषित शक्तिशाली कुमार स्कन्दको भूतोंका श्रेष्ठ राजा नियुक्त किया । ३२।

कालं सर्वेशमकरोत् संहारविनयात्मकम् ।
मृत्योश्चतुर्विभागस्य दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ३३ ॥

संहार और विनय (उत्पादन) जिसका स्वरूप है, उस सर्वेश्वर कालको चार प्रकारकी मृत्युका, सुखका और दुःखका भी स्वामी बनाया ॥ ३३ ॥

ईश्वरः सर्वदेवस्तु राजराजो नराधिपः ।
सर्वेषामेव रुद्राणां शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

सबके देवता, राजाओंके राजा और मनुष्योंके अधिपति शूलपाणि भगवान् शिव स्वयं समस्त रुद्रोंके अधीश्वर हुए । ऐसा सुना जाता है ॥ ३४ ॥

तमेनं ब्रह्मणः पुत्रमनुजातं क्षुपं ददौ ।
प्रजानामधिपं श्रेष्ठं सर्वधर्मभृतामपि ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीके छोटे पुत्र क्षुपको उन्होंने समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण धर्मधारियोंका श्रेष्ठ अधिपति बना दिया ॥ ३५ ॥

महादेवस्ततस्तस्मिन् वृत्ते यज्ञे यथाविधि ।
दण्डं धर्मस्य गोप्तारं विष्णवे सत्कृतं ददौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीका वह यज्ञ जब विधिपूर्वक सम्पन्न हो गया, तब महादेवजीने धर्मरक्षक भगवान् विष्णुका सत्कार करके उन्हें वह दण्ड समर्पित किया ॥ ३६ ॥

विष्णुरङ्गिरसे प्रादादङ्गिरा मुनिसत्तमः ।
प्रादादिन्द्रमरीचिभ्यां मरीचिर्भृगवे ददौ ॥ ३७ ॥

भगवान् विष्णुने उसे अङ्गिराको दे दिया । मुनिवर अङ्गिराने इन्द्र और मरीचिको दिया और मरीचिने भृगुको सौंप दिया ॥ ३७ ॥

भृगुर्ददावृषिभ्यस्तु दण्डं धर्मसमाहितम् ।
ऋषयो लोकपालेभ्यो लोकपालाः क्षुपाय च ॥ ३८ ॥
क्षुपस्तु मनवे प्रादादादित्यतनयाय च ।
पुत्रेभ्यः श्राद्धदेवस्तु सूक्ष्मधर्मार्थकारणात् ॥ ३९ ॥

भृगुने वह धर्मसमाहित दण्ड ऋषियोंको दिया । ऋषियोंने लोकपालोंको, लोकपालोंने क्षुपको, क्षुपने सूर्यपुत्र मनु (श्राद्धदेव) को और श्राद्धदेवने सूक्ष्म धर्म तथा अर्थकी रक्षाके लिये उसे अपने पुत्रोंको सौंप दिया ॥ ३८-३९ ॥

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया ।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥ ४० ॥

अतः धर्मके अनुसार न्याय-अन्यायका विचार करके ही दण्डका विधान करना चाहिये, मनमानी नहीं करनी चाहिये । दुष्टोंका दमन करना ही दण्डका मुख्य उद्देश्य है । स्वर्णमुद्राएँ लेकर खजाना भरना नहीं । दण्डके तौरपर सुवर्ण (धन) लेना तो बाह्यङ्ग—गौण कर्म है ॥ ४० ॥

व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात् ।
शरीरपीडास्तास्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥ ४१ ॥

किसी छोटे-से अपराधपर प्रजाका अङ्ग-भंग करना, उसे मार डालना, उसे तरह-तरहकी यातनाएँ देना तथा उसको देहत्यागके लिये विवश करना अथवा देशसे निकाल देना कदापि उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

तं ददौ सूर्यपुत्रस्तु मनुर्वै रक्षणार्थकम् ।
आनुपूर्व्याच्च दण्डोऽयं प्रजा जागर्ति पालयन् ॥ ४२ ॥

सूर्यपुत्र मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये ही अपने पुत्रोंके हाथोंमें दण्ड सौंपा था, वही क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकारियोंके हाथमें आकर प्रजाका पालन करता हुआ जागता रहता है ॥ ४२ ॥

इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः ।
अग्नेर्जागर्ति वरुणो वरुणाच्च प्रजापतिः ॥ ४३ ॥

भगवान् इन्द्र दण्ड-विधान करनेमें सदा जागरूक रहते हैं। इन्द्रसे प्रकाशमान अग्नि, अग्निसे वरुण और वरुणसे प्रजापति उस दण्डको प्राप्त करके उसके यथोचित प्रयोगके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं ॥ ४३ ॥

प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विनयात्मकः ।
धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः ॥ ४४ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्‌को शिक्षा देनेवाले हैं, वे धर्म प्रजापतिसे दण्डको ग्रहण करके प्रजाकी रक्षाके लिये सदा जागरूक रहते हैं। ब्रह्मपुत्र सनातन व्यवसाय वह दण्ड धर्मसे लेकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं ॥ ४४ ॥

व्यवसायात् ततस्तेजो जागर्ति परिपालयत् ।
ओषध्यस्तेजसस्तस्मादोषधीभ्यश्च पर्वताः ॥ ४५ ॥
पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रसगुणात् तथा ।
जागर्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि ॥ ४६ ॥

व्यवसायसे दण्ड लेकर तेज जगत्‌की रक्षा करता हुआ सजग रहता है। तेजसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे पर्वत, पर्वतोंसे रस, रससे निर्ऋति और निर्ऋतिसे ज्योतियाँ क्रमशः उस दण्डको हस्तगत करके लोक-रक्षाके लिये जागरूक बनी रहती हैं॥४५-४६॥

वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः ।
ब्रह्मा पितामहस्तस्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः ॥ ४७ ॥

ज्योतियोंसे दण्ड ग्रहण करके वेद प्रतिष्ठित हुए हैं। वेदोंसे भगवान् हयग्रीव और हयग्रीवसे अविनाशी प्रभु ब्रह्मा वह दण्ड पाकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं ॥ ४७ ॥

पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवाञ्शिवः ।
विश्वेदेवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः ॥ ४८ ॥
ऋषिभ्यो भगवान् सोमः सोमाद् देवाः सनातनाः ।
देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय ॥ ४९ ॥

पितामह ब्रह्मासे दण्ड और रक्षाका अधिकार पाकर महान् देव भगवान् शिव जागते हैं। शिवसे विश्वेदेव, विश्वेदेवोंसे ऋषि, ऋषियोंसे भगवान् सोम, सोमसे सनातन देवगण और देवताओंसे ब्राह्मण वह अधिकार लेकर लोक-रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥४८-४९॥

ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान् रक्षन्ति धर्मतः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे दण्डधारणका अधिकार पाकर क्षत्रिय धर्मानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करते हैं। क्षत्रियोंसे ही यह सनातन चराचर जगत् सुरक्षित होता रहा है ॥ ५० ॥

प्रजा जागर्ति लोकेऽस्मिन् दण्डो जागर्ति तासु च ।
सर्वं संक्षिपते दण्डः पितामहसमप्रभः ॥ ५१ ॥

इस लोकमें प्रजा जागती है और प्रजाओंमें दण्ड जागता है। वह ब्रह्माजीके समान तेजस्वी दण्ड सबको मर्यादाके भीतर रखता है ॥ ५१ ॥

जागर्ति कालः पूर्वं च मध्ये चान्ते च भारत ।
ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

भारत ! यह कालरूप दण्ड सृष्टिके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें भी जागता रहता है। यह सर्वलोकेश्वर महादेवका स्वरूप है। यही समस्त प्रजाओंका पालक है ॥ ५२ ॥

देवदेवः शिवः सर्वो जागर्ति सततं प्रभुः ।
कपर्दी शङ्करो रुद्रः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ५३ ॥

इस दण्डके रूपमें देवाधिदेव कल्याणस्वरूप सर्वात्मा प्रभु जटाजूटधारी उमावल्लभ दुःखहारी स्थाणुस्वरूप एवं लोक-मङ्गलकारी भगवान् शिव ही सदा जाग्रत् रहते हैं ॥ ५३ ॥

इत्येष दण्डो विख्यात आदौ मध्ये तथावरे ।
भूमिपालो यथान्यायं वर्ततानेन धर्मवित् ॥ ५४ ॥

इस तरह यह दण्ड आदि, मध्य और अन्तमें विख्यात है। धर्मज्ञ राजाको चाहिये कि इसके द्वारा न्यायोचित बर्ताव करे ॥

भीष्म उवाच

इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद् यो मतं नरः ।
श्रुत्वा सम्यक् प्रवर्तेत सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो नरेश इस प्रकार बताये हुए वसुहोमके इस मतको सुनता और सुनकर यथोचित बर्ताव करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

इति ते सर्वमाख्यातं यो दण्डो मनुजर्षभ ।
नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत ॥ ५६ ॥

नरश्रेष्ठ ! भरतनन्दन ! जो दण्ड सम्पूर्ण धार्मिक जगत्‌को नियमके भीतर रखनेवाला है, उसके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें मैंने तुम्हें बता दीं ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डोत्पत्त्युपाख्याने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डकी उत्पत्तिकी कथाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२२॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्रिवर्गका विचार तथा पापके कारण पदच्युत हुए राजाके पुनरुत्थानके विषयमें आङ्गरिष्ठ और कामन्दकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम् ।
लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! मैं धर्म, अर्थ और कामके सम्बन्धमें आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किनपर अवलम्बित होनेपर लोकयात्राका पूर्णरूपसे निर्वाह होता है ? ॥

धर्मार्थकामाः किंमूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः ।
अन्योन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

धर्म, अर्थ और कामका मूल क्या है ? इन तीनोंकी उत्पत्तिका कारण क्या है ? ये कहीं एक साथ मिले हुए और कहीं पृथक्-पृथक् क्यों रहते हैं ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये ।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! संसारमें जब मनुष्योंका चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी अर्थकी प्राप्तिका निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण तथा कर्मानुष्ठानवश धर्म, अर्थ और काम तीनों एक साथ मिले हुए प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥ ४ ॥

इनमें धर्म सदा ही अर्थकी प्राप्तिका कारण है और काम अर्थका फल कहलाता है, परंतु इन तीनोंका मूल कारण है संकल्प और संकल्प है विषयरूप ॥ ४ ॥

विषयाश्चैव कात्स्न्र्येन सर्व आहारसिद्धये ।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विषय पूर्णतः इन्द्रियोंके उपभोगमें आनेके लिये हैं । यही धर्म, अर्थ और कामका मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहा जाता है ॥ ५ ॥

धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते ।
कामो रतिफलश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥ ६ ॥

धर्मसे शरीरकी रक्षा होती है, धर्मका उपार्जन करनेके लिये ही अर्थकी आवश्यकता बतायी जाती है तथा कामका फल है रति । वे सभी रजोगुणमय हैं ॥ ६ ॥

संनिकृष्टांश्चरेदेतान् न चैतान् मनसा त्यजेत् ।
विमुक्तस्तपसा सर्वान् धर्मादीन् कामनैष्ठिकान् ॥ ७ ॥

ये धर्म आदि जिस प्रकार संनिकृष्ट अर्थात् अपना वास्तविक हित करनेवाले हों, उसी रूपमें इनका सेवन करे अर्थात् इनको कल्याणसाधन बनाकर ही उपयोगमें लावे । मनद्वारा भी इनका त्याग न करे, फिर स्वरूपसे शरीरद्वारा त्याग करना तो दूरकी बात है । केवल तप अथवा विचारके द्वारा ही उनसे अपनेको मुक्त रखे अर्थात् आसक्ति और फलका त्याग करके ही इन सब धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिये ॥ ७ ॥

श्रेष्ठे बुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयान्नरः ।
कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्यर्थो न वा पुनः ॥ ८ ॥

आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर त्रिवर्गका सेवन किया जाय तो उसका पर्यवसान कल्याणमें ही होता है । यदि मनुष्य उसे प्राप्त कर सके तो बड़े सौभाग्यकी बात है । अर्थसिद्धिके लिये समझ-बूझकर धर्मानुष्ठान करनेपर भी कभी अर्थकी सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है ॥ ८ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमवाप्यार्थमन्यत्राद्योपकारकम् ।
बुद्ध्याबुद्धिरिहार्थे न तदज्ञाननिकृष्टया ॥ ९ ॥

इसके सिवा, कभी दूसरे-दूसरे उपाय भी अर्थके साधक हो जाते हैं और कभी अर्थसाधक कर्म भी विपरीत फल देनेवाला हो जाता है । कभी धन पाकर भी मनुष्य अनर्थकारी कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है और धनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे साधन हैं, वे धर्ममें सहायक हो जाते हैं । अतः धर्मसे धन होता है और धनसे धर्म, इस मान्यताके विषयमें अज्ञानमयी निकृष्ट बुद्धिसे मोहित हुआ मूढ मानव विश्वास नहीं रखता, इसलिये उसे दोनोंका फल सुलभ नहीं होता ॥ ९ ॥

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥ १० ॥

फलकी इच्छा धर्मका मल है, संगृहीत करके रखना अर्थका मल है और आमोद-प्रमोद कामका मल है, परंतु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषोंसे रहित हो तो कल्याणकारक होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कामन्दकस्य संवादमाङ्गरिष्ठस्य चोभयोः ॥ ११ ॥

इस विषयमें जानकार लोग राजा आङ्गरिष्ठ और कामन्दक मुनिका संवादरूप प्राचीन इतिहास सुनाया करते हैं ॥ ११ ॥

कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नराधिपः ।
आङ्गरिष्ठोऽथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्ययम् ॥ १२ ॥

एक समयकी बात है, कामन्दक ऋषि अपने आश्रममें बैठे थे । उन्हें प्रणाम करके राजा आङ्गरिष्ठने प्रश्नके उपयुक्त समय देखकर पूछा—॥ १२ ॥

यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः ।
प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात् पापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥

'महर्षे ! यदि कोई राजा काम और मोहके वशीभूत होकर पाप कर बैठे, किंतु फिर उसे पश्चात्ताप होने लगे तो उसके उस पापको दूर करनेके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त है ? ॥

अधर्मं धर्म इति च योऽज्ञानादाचरेन्नरः ।
तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्तयेत् ॥ १४ ॥

'जो अज्ञानवश अधर्मको ही धर्म मानकर उसका आचरण कर रहा हो, उस लोकविख्यात सम्मानित पुरुषको राजा किस प्रकार उस अधर्मसे दूर हटावे ?' ॥ १४ ॥

कामन्दक उवाच

यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते ।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥ १५ ॥

कामन्दकने कहा—राजन् ! जो धर्म और अर्थका परित्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, उन दोनोंके त्यागसे उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः ।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १६ ॥

बुद्धिका नाश ही मोह है । वह धर्म और अर्थ दोनोंका विनाश करनेवाला है । इससे मनुष्यमें नास्तिकता आती है और वह दुराचारी हो जाता है ॥ १६ ॥

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान् न नियच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १७ ॥

जब राजा दुष्टों और दुराचारियोंको दण्ड देकर काबूमें नहीं करता है, तब सारी प्रजा घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उस राजासे उद्विग्न हो उठती है ॥ १७ ॥

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः ।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥ १८ ॥

उस दशामें प्रजा उसका साथ नहीं देती । साधु और ब्राह्मण भी उसका अनुसरण नहीं करते हैं । फिर तो उसका जीवन खतरेमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा वह प्रजाके ही हाथसे मारा भी जाता है ॥ १८ ॥

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति ।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १९ ॥

वह अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित होकर दुःखमय जीवन बिताता है । यदि पदभ्रष्ट होकर भी वह जीता है तो वह जीवन भी स्पष्टरूपमें मरण ही है ॥ १९ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम् ।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥

इस अवस्थामें आचार्यगण उसके लिये यह कर्तव्य बतलाते हैं कि वह अपने पापोंकी निन्दा करे, वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय करे और ब्राह्मणोंका सत्कार करे ॥ २० ॥

महामना भवेद् धर्मे विवहेच्च महाकुले ।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥ २१ ॥

धर्माचरणमें विशेष मन लगावे । उत्तम कुलमें विवाह करे । उदार एवं क्षमाशील ब्राह्मणोंकी सेवामें रहे ॥ २१ ॥

जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः ।
धर्मान्वितान् सम्प्रविशेद् बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥ २२ ॥

वह जलमें खड़ा होकर गायत्रीका जप करे । सदा प्रसन्न रहे । पापियोंको राज्यसे बाहर निकालकर धर्मात्मा पुरुषोंका संग करे ॥ २२ ॥

प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा ।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन् गुणान् ॥ २३ ॥

मीठी वाणी तथा उत्तम कर्मके द्वारा सबको प्रसन्न रखे, दूसरोंके गुणोंका बखान करे और सबसे यही कहे—मैं आपका ही हूँ—आप मुझे अपना ही समझें ॥ २३ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २४ ॥

जो राजा इस प्रकार अपना आचरण बना लेता है, वह शीघ्र ही निष्पाप होकर सबके सम्मानका पात्र बन जाता है । वह अपने कठिन-से-कठिन पापोंको भी शान्त (नष्ट) कर देता है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्तं तथा कुरु ।
गुरूणां हि प्रसादाद् वै श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

राजन् ! गुरुजन तुम्हारे लिये जिस उत्तम धर्मका उपदेश करें, उसका उसी रूपमें पालन करो । गुरुजनोंकी कृपासे तुम परम कल्याणके भागी होओगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कामन्दकाङ्गरिष्ठसंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कामन्दक और आङ्गरिष्ठका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और प्रह्लादकी कथा—शीलका प्रभाव, शीलके अभावमें धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीके न रहनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि ।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरश्रेष्ठ ! पितामह ! भूमण्डलके ये सभी मनुष्य सर्वप्रथम धर्मके अनुरूप शीलकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं; अतः इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो गया है ॥ १ ॥

यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! यदि मैं उसे जान सकूँ तो जिस प्रकार शीलकी उपलब्धि होती है, वह सब सुनना चाहता हूँ ॥

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ३ ॥

भारत ! वह शील कैसे प्राप्त होता है ? यह सुननेकी मेरी बड़ी इच्छा है । वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! उसका क्या लक्षण बताया गया है ? यह मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।

आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागताम् ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महाराज तव सभ्रातृकस्य ह ।
सभायां चाह वचनं तत् सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥
भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिं चाप्यनुत्तमाम् ।
दुर्योधनस्तदाऽऽसीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले महाराज ! भरतनन्दन ! पहले इन्द्रप्रस्थमें (राजसूययज्ञके समय) भाइयोंसहित तुम्हारी वैसी अद्भुत श्री-सम्पत्ति, वह परम उत्तम सभा और समृद्धि देखकर संतप्त हुए दुर्योधनने कौरवसभामें बैठकर पिता धृतराष्ट्रसे अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की–सारी मनोव्यथा कह सुनायी। उसने सभामें जो बातें कही थीं, वह सब सुनो ॥ ४–६ ॥

श्रुत्वा हि धृतराष्ट्रश्च दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत् कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने दुर्योधनकी बात सुनकर कर्णसहित उससे इस प्रकार कहा ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किमर्थं तप्यसे पुत्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग् भविष्यति ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! तुम किसलिये संतप्त हो रहे हो ? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ, सुनकर यदि उचित होगा तो तुम्हें समझानेका प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

त्वया च महदैश्वर्यं प्राप्तं परपुरञ्जय ।
किंकरा भ्रातरः सर्वे मित्रसम्बन्धिनः सदा ॥ ९ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले वीर ! तुमने भी तो महान् ऐश्वर्य प्राप्त किया है ? तुम्हारे समस्त भाई, मित्र और सम्बन्धी सदा तुम्हारी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥ ९ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥

तुम अच्छे-अच्छे वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, पिशितौदन खाते हो और 'आजानेय' अश्व (अरबी घोड़े) तुम्हारा रथ खींचते हैं, फिर तुम क्यों सफेद और दुबले हुए जाते हो ? ॥ १० ॥

दुर्योधन उवाच

दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ११ ॥

दुर्योधनने कहा—पिताजी ! युधिष्ठिरके महलमें दस हजार महामनस्वी स्नातक ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम् ।
अश्वांस्तित्तिरकल्माषान् वस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानामृद्धिं वैश्रवणीं शुभाम् ।
अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि भारत ॥ १३ ॥

भारत ! दिव्य फल-फूलोंसे सुशोभित वह दिव्य सभा, वे तीतरके समान रंगवाले चितकबरे घोड़े और वे भाँति-भाँतिके दिव्य वस्त्र (अपने पास कहाँ हैं ? वह सब) देखकर अपने शत्रु पाण्डवोंके उस कुबेरके समान शुभ एवं विशाल ऐश्वर्यका अवलोकन करके मैं निरन्तर शोकमें डूबा जा रहा हूँ ॥ १२-१३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात ! पुरुषसिंह ! बेटा ! युधिष्ठिरके पास जैसी सम्पत्ति है, वैसी या उससे भी बढ़कर राजलक्ष्मीको यदि तुम पाना चाहते हो तो शीलवान् बनो ॥ १४ ॥

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥ १५ ॥

इसमें संशय नहीं है कि शीलके द्वारा तीनों लोकोंपर विजय पायी जा सकती है । शीलवानोंके लिये संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १५ ॥

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः ।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥ १६ ॥

मान्धाताने एक ही दिनमें, जनमेजयने तीन ही दिनोंमें और नाभागने सात दिनोंमें ही इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया था ॥ १६ ॥

एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः ।
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥ १७ ॥

ये सभी राजा शीलवान् और दयालु थे । अतः उनके द्वारा गुणोंके मोल खरीदी हुई यह पृथ्वी स्वयं ही उनके पास आयी थी ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
येन शीलेन तैः प्राप्ता क्षिप्रमेव वसुन्धरा ॥ १८ ॥

दुर्योधनने पूछा—भारत ! जिसके द्वारा उन राजाओंने शीघ्र ही भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लिया, वह शील कैसे प्राप्त होता है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भरतनन्दन ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जिसे नारदजीने पहले शीलके प्रसंगमें कहा था ॥ १९ ॥

प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशे कृतम् ॥ २० ॥

दैत्यराज प्रह्लादने शीलका ही आश्रय लेकर महामना महेन्द्रका राज्य हर लिया और तीनों लोकोंको भी अपने वशमें कर लिया ॥ २० ॥

ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः।
तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम्॥ २१॥

तब महाबुद्धिमान् इन्द्र हाथ जोड़कर बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हुए और उनसे बोले—'भगवन्! मैं अपने कल्याणका उपाय जानना चाहता हूँ' ॥ २१॥

ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम्।
कथयामास भगवान् देवेन्द्राय कुरूद्वह॥ २२॥

कुरुश्रेष्ठ! तब भगवान् बृहस्पतिने उन देवेन्द्रको कल्याणकारी परम ज्ञानका उपदेश दिया॥ २२॥

एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत।
इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति॥ २३॥

तत्पश्चात् इतना ही श्रेय (कल्याणका उपाय) है, ऐसा बृहस्पतिने कहा। तब इन्द्रने फिर पूछा—'इससे विशेष वस्तु क्या है?' ॥ २३॥

बृहस्पतिरुवाच

विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः।
अत्रागमय भद्रं ते भूय एव सुरर्षभ॥ २४॥

बृहस्पतिने कहा—तात! सुरश्रेष्ठ! इससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तुका ज्ञान महात्मा शुक्राचार्यको है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन्हींके पास जाकर पुनः उस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करो॥ २४॥

आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात् सुमहातपाः।
ज्ञानमागमयत् प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः॥ २५॥

तब परम तेजस्वी महातपस्वी इन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक शुक्राचार्यसे पुनः अपने लिये श्रेयका ज्ञान प्राप्त किया॥ २५॥

तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः॥ २६॥

महात्मा भार्गवने जब उन्हें उपदेश दे दिया, तब इन्द्रने पुनः शुक्राचार्यसे पूछा—'क्या इससे भी विशेष श्रेय है'? ॥

भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः।
ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत्॥ २७॥

तब सर्वज्ञ शुक्राचार्यने कहा—'महात्मा प्रह्लादको इससे विशेष श्रेयका ज्ञान है।' यह सुनकर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए॥

स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः।
गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम्॥ २८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रह्लादके पास गये और बोले—'राजन्! मैं श्रेय जानना चाहता हूँ' ॥ २८॥

प्रह्लादस्त्वब्रवीद् विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ।
त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते॥ २९॥

प्रह्लादने ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! त्रिलोकीके राज्यकी व्यवस्थामें व्यस्त रहनेके कारण मेरे पास समय नहीं है, अतः मैं आपको उपदेश नहीं दे सकूँगा' ॥ २९॥

ब्राह्मणस्त्वब्रवीद् राजन् यस्मिन् काले क्षणो भवेत्।
तदोपादेष्टुमिच्छामि यदाचर्यमनुत्तमम्॥ ३०॥

यह सुनकर ब्राह्मणने कहा—'राजन्! जब आपको अवसर मिले, उसी समय मैं आपसे सर्वोत्तम आचरणीय धर्मका उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ३०॥

ततः प्रीतोऽभवद् राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा॥ ३१॥

ब्राह्मणकी इस बातसे राजा प्रह्लादको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली और शुभ समयमें उसे ज्ञानका तत्त्व प्रदान किया॥ ३१॥

ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम्।
चकार सर्वभावेन यदस्य मनसेप्सितम्॥ ३२॥

ब्राह्मणने भी उनके प्रति यथायोग्य परम उत्तम गुरुभक्तिपूर्ण बर्ताव किया और उनके मनकी रुचिके अनुसार सब प्रकारसे उनकी सेवा की॥ ३२॥

पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमनुत्तमम्।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद् ब्रवीहि मे।
प्रह्लादोऽपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्॥ ३३॥

ब्राह्मणने प्रह्लादसे बारंबार पूछा—'धर्मज्ञ! आपको यह त्रिलोकीका उत्तम राज्य कैसे प्राप्त हुआ? इसका कारण मुझे बताइये। महाराज! तब प्रह्लाद भी ब्राह्मणसे इस प्रकार बोले—॥

प्रह्लाद उवाच

नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च॥ ३४॥

प्रह्लादने कहा—विप्रवर! 'मैं राजा हूँ' इस अभिमानमें आकर कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता; बल्कि जब वे मुझे शुक्रनीतिका उपदेश करते हैं, तब मैं संयमपूर्वक उनकी बातें सुनता हूँ और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ॥

ते विस्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा।
ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम्॥ ३५॥
धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥ ३६॥

वे ब्राह्मण विश्वस्त होकर मुझे नीतिका उपदेश देते और सदा संयममें रखते हैं। मैं सदा ही यथाशक्ति शुक्राचार्यके बताये हुए नीतिमार्गपर चलता, ब्राह्मणोंकी सेवा करता, किसीके दोष नहीं देखता और धर्ममें मन लगाता हूँ। क्रोधको जीतकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें किये रहता हूँ। अतः जैसे मधुकी मक्खियाँ शहदके छत्तेको फूलोंके रससे सींचती रहती हैं, उसी प्रकार उपदेश देनेवाले ब्राह्मण मुझे शास्त्रके अमृतमय वचनोंसे सींचा करते हैं॥ ३५-३६॥

सोऽहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः॥ ३७॥

मैं उनकी नीति-विद्याओंके रसका आस्वादन करता हूँ

और जैसे चन्द्रमा नक्षत्रोंपर शासन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनी जातिवालोंपर राज्य करता हूँ ॥ ३७ ॥

एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद् ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके मुखमें जो शुक्राचार्यका नीतिवाक्य है, यही इस भूतलपर अमृत है, यही सर्वोत्तम नेत्र है। राजा इसे सुनकर इसीके अनुसार बर्ताव करे ॥ ३८ ॥

एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

इतना ही श्रेय है, यह बात प्रह्लादने उस ब्रह्मवादी ब्राह्मणसे कहा। इसके बाद भी उसके सेवा-शुश्रूषा करनेपर दैत्यराजने उससे यह बात कही—॥ ३९ ॥

यथावद् गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदातास्मि न संशयः ॥ ४० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे द्वारा की हुई यथोचित गुरुसेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। मैं उसे दूँगा। इसमें संशय नहीं है' ॥ ४० ॥

कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत् प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४१ ॥

तब उस ब्राह्मणने दैत्यराजसे कहा—'आपने मेरी सारी अभिलाषा पूर्ण कर दी'। यह सुनकर प्रह्लाद और भी प्रसन्न हुए और बोले—'कोई वर अवश्य माँगो' ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण उवाच

यदि राजन् प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण बोला—राजन् ! यदि आप प्रसन्न हैं और मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका ही शील प्राप्त करनेकी इच्छा है, यही मेरा वर है ॥ ४२ ॥

ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याभवन्महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजायमित्युत ॥ ४३ ॥

यह सुनकर दैत्यराज प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए; परंतु उनके मनमें बड़ा भारी भय समा गया। ब्राह्मणके वर माँगनेपर वे सोचने लगे कि यह कोई साधारण तेजवाला पुरुष नहीं है ॥

एवमस्त्विति स प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४४ ॥

फिर भी 'एवमस्तु' कहकर प्रह्लादने वह वर दे दिया। उस समय उन्हें बड़ा विस्मय हो रहा था। ब्राह्मणको वह वर देकर वे बहुत दुखी हो गये ॥ ४४ ॥

दत्ते वरे गते विप्रे चिन्ताऽऽसीन्महती तदा ।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥

महाराज ! वर देनेके पश्चात् जब ब्राह्मण चला गया, तब प्रह्लादको बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—क्या करना चाहिये ? परंतु किसी निश्चयपर पहुँच न सके ॥ ४५ ॥

तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति ।
तेजो विग्रहवत् तात शरीरमजहात् तदा ॥ ४६ ॥

तात ! वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके शरीरसे परम कान्तिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसने उनके शरीरको त्याग दिया था ॥ ४६ ॥

तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति ।
प्रत्याह तं तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥ ४७ ॥

प्रह्लादने उस विशालकाय पुरुषसे पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'मैं शील हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया है, इसलिये मैं जा रहा हूँ' ॥ ४७ ॥

तस्मिन् द्विजोत्तमे राजन् वत्स्याम्यहमनिन्दिते ।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः ॥ ४८ ॥

'राजन् ! अब मैं उस अनिन्दित श्रेष्ठ ब्राह्मणके शरीरमें निवास करूँगा, जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहाँ बड़ी सावधानीके साथ रहता था' ॥ ४८ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितं तद् वै शक्रं चान्वाविशत् प्रभो ।
तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत् ।
धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥ ५० ॥
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ।

प्रभो ! ऐसा कहकर शील अदृश्य हो गया और इन्द्रके शरीरमें समा गया। उस तेजके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ। प्रह्लादने पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'प्रह्लाद ! मुझे धर्म समझो। जहाँ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है, वहीं जाऊँगा। दैत्यराज ! जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ' ॥ ४९-५०½ ॥

ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ५१ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ।

महाराज ! तदनन्तर महात्मा प्रह्लादके शरीरसे एक तीसरा पुरुष प्रकट हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ॥ ५१½ ॥

को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ॥ ५२ ॥
सत्यं विद्ध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम् ।

'आप कौन हैं ?' यह प्रश्न होनेपर उस महातेजस्वीने उन्हें उत्तर दिया—'असुरेन्द्र ! मुझे सत्य समझो ! मैं अब धर्मके पीछे-पीछे जाऊँगा' ॥ ५२½ ॥

तस्मिन्ननुगते सत्ये महान् वै पुरुषोऽपरः ॥ ५३ ॥
निश्चक्राम ततस्तस्मात् पृष्टश्चाह महाबलः ।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५४ ॥

सत्यके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा महापुरुष प्रकट हुआ। परिचय पूछनेपर उस महाबलीने उत्तर दिया—

प्रह्लाद ! मुझे सदाचार समझो । जहाँ सत्य होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ ॥ ५३-५४ ॥

तस्मिन् गते महाशब्दः शरीरात् तस्य निर्ययौ ।
पृष्टश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥ ५५ ॥

उसके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे महान् शब्द करता हुआ पुनः एक पुरुष प्रकट हुआ । उसने पूछनेपर बताया—'मुझे बल समझो । जहाँ सदाचार होता है, वहीं मेरा भी स्थान है' ॥ ५५ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप ।
ततः प्रभामयी देवी शरीरात् तस्य निर्ययौ ॥ ५६ ॥
तामपृच्छत् स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत् ।
उषितास्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ५७ ॥
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम् ।

नरेश्वर ! ऐसा कहकर बल सदाचारके पीछे चला गया । तत्पश्चात् प्रह्लादके शरीरसे एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई । दैत्यराजने उससे पूछा—'आप कौन हैं ?' वह बोली—'मैं लक्ष्मी हूँ । सत्यपराक्रमी वीर ! मैं स्वयं ही आकर तुम्हारे शरीरमें निवास करती थी, परंतु अब तुमने मुझे त्याग दिया; इसलिये चली जाऊँगी; क्योंकि मैं बलकी अनुगामिनी हूँ' ॥५६-५७½॥

ततो भयं प्रादुरासीत् प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ५८ ॥
अपृच्छत् स ततो भूयः क्व यासि कमलालये ।
त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी ।
कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५९ ॥

तब महात्मा प्रह्लादको बड़ा भय हुआ । उन्होंने पुनः पूछा—'कमलालये ! तुम कहाँ जा रही हो, तुम तो सत्यव्रता देवी और सम्पूर्ण जगत्‌की परमेश्वरी हो । वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था ? यह मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ' ॥ ५८-५९ ॥

श्रीरुवाच

स शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः ।
त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्यं तत् तेनापहृतं प्रभो ॥ ६० ॥

लक्ष्मीने कहा—प्रभो ! तुमने जिसे उपदेश दिया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् इन्द्र थे । तीनों लोकोंमें जो तुम्हारा ऐश्वर्य फैला हुआ था, वह उन्होंने हर लिया ॥ ६० ॥

शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः ।
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ६१ ॥

धर्मज्ञ ! तुमने शीलके द्वारा ही तीनों लोकोंपर विजय पायी थी । प्रभो ! यह जानकर ही सुरेन्द्रने तुम्हारे शीलका अपहरण कर लिया है ॥ ६१ ॥

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६२ ॥

महाप्राज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी)—ये सब सदा शीलके ही आधारपर रहते हैं—शील ही इन सबकी जड़ है । इसमें संशय नहीं है ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा गता श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर ।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद् वचः ॥ ६३ ॥
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन ।
प्राप्यते च यथा शीलं तं चोपायं वदस्व मे ॥ ६४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यों कहकर लक्ष्मी तथा वे शील आदि समस्त सद्गुण इन्द्रके पास चले गये । इस कथाको सुनकर दुर्योधनने पुनः अपने पितासे कहा—'कौरवनन्दन ! मैं शीलका तत्त्व जानना चाहता हूँ । शील जिस तरह प्राप्त हो सके, वह उपाय भी मुझे बताइये' ॥६३-६४॥

धृतराष्ट्र उवाच

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना ।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ॥ ६५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—नरेश्वर ! शीलका स्वरूप और उसे पानेका उपाय—ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लादने पहले ही बतायी हैं । मैं संक्षेपसे शीलकी प्राप्तिका उपायमात्र बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ६५ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥ ६६ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दया करना और यथाशक्ति दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं ॥ ६६ ॥

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥ ६७ ॥

अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके लिये हितकर न हो अथवा जिसे करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये ॥ ६७ ॥

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥ ६८ ॥

जो कर्म जिस प्रकार करनेसे भरी सभामें मनुष्यकी प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिये । कुरुश्रेष्ठ ! यह तुम्हें थोड़ेमें शीलका स्वरूप बताया गया है ॥ ६८ ॥

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥ ६९ ॥

तात ! नरेश्वर ! यद्यपि कहीं-कहीं शीलहीन मनुष्य भी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूलसहित नष्ट हो जाते हैं ॥

एतद् विदित्वा तत्त्वेन शीलवान् भव पुत्रक ।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥ ७० ॥

बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिरसे भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त करना चाहो तो इस उपदेशको यथार्थरूपसे समझकर शीलवान् बनो ॥ ७० ॥

भीष्म उवाच

एतत् कथितवान् पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
एतत् कुरुष्व कौन्तेय ततः प्राप्स्यसि तत् फलम् ॥ ७१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको यह उपदेश दिया था। तुम भी इसका आचरण करो, इससे तुम्हें भी वही फल प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि शीलवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें शीलवर्णन विषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका आशाविषयक प्रश्न—उत्तरमें राजा सुमित्र और ऋषभ नामक ऋषिके इतिहासका आरम्भ, उसमें राजा सुमित्रका एक मृगके पीछे दौड़ना

युधिष्ठिर उवाच

शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह ।
कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तद् वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने पुरुषमें शीलको ही प्रधान बताया है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आशाकी उत्पत्ति कैसे हुई ? आशा क्या है ? यह भी मुझे बताइये ॥ १ ॥

संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह ।
छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरञ्जय ॥ २ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले पितामह ! मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है। इसका निवारण करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने ।
प्राप्ते युद्धे तु तद् युक्तं तत् कर्तायमिति प्रभो ॥ ३ ॥

पितामह ! दुर्योधनपर मेरी बड़ी भारी आशा थी कि युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर वह उचित कार्य करेगा। प्रभो ! मैं समझता था कि वह युद्ध किये बिना ही मुझे आधा राज्य लौटा देगा ॥ ३ ॥

सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते ।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः ॥ ४ ॥

प्रायः सभी मनुष्योंके हृदयमें कोई-न-कोई बड़ी आशा पैदा होती ही है। उसके भङ्ग होनेपर महान् दुःख होता है। किसी-किसीकी मृत्युतक हो जाती है, इसमें संशय नहीं है ॥

सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना ।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उस दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रने मुझ दुर्बुद्धिको हताश कर दिया। देखिये, मैं कैसा मन्दभाग्य हूँ ॥ ५ ॥

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात् ।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥ ६ ॥

राजन् ! मैं आशाको वृक्षसहित पर्वतसे भी बहुत बड़ी मानता हूँ अथवा वह आकाशसे भी बढ़कर अप्रमेय है ॥ ६ ॥

एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा ।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद् दुर्लभं ततः ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वह अचिन्त्य और परम दुर्लभ है—उसे जीतना कठिन है। उसके दुर्लभ या दुर्जय होनेके कारण ही मैं उसे इतनी बड़ी देखता और समझता हूँ। भला, आशासे बढ़कर दुर्लभ और क्या है ? ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत् ।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं राजा सुमित्र तथा ऋषभ मुनिका पूर्वघटित इतिहास तुम्हें बताऊँगा। उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ८ ॥

सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः ।
ससार स मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ॥ ९ ॥

राजर्षि सुमित्र हैहयवंशी राजा थे। एक दिन वे शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक मृगको घायल करके उसका पीछा करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः ।
स च राजा बलात् तूर्णं ससार मृगयूथपम् ॥ १० ॥

वह मृग बहुत तेज दौड़नेवाला था। वह राजाका बाण लिये-दिये भाग निकला। राजाने भी बलपूर्वक मृगोंके उस यूथपतिका तुरंत पीछा किया ॥ १० ॥

ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः ।
मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथागमत् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक भागनेवाला वह मृग वहाँसे नीची भूमिकी ओर दौड़ा। फिर दो ही घड़ीमें वह समतल मार्गसे भागने लगा ॥ ११ ॥

ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च ।
ससार बाणासनभृत् सखड्गोऽसौ तनुत्रवान् ॥ १२ ॥

राजा भी नौजवान और हार्दिक बलसे सम्पन्न थे, उन्होंने कवच बाँध रक्खा था। वे धनुष-बाण और तलवार लिये उसका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

ततो नदान् नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च ।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः ॥ १३ ॥

उधर वह वनमें विचरनेवाला मृग अकेला ही अनेकों नदों, नदियों, गड्ढों और जङ्गलोंको बारंबार लाँघता हुआ आगे-आगे भागता जा रहा था ॥ १३ ॥

स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम्।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥ १४ ॥

राजन्! वह वेगशाली मृग अपनी इच्छासे ही राजाके निकट आ-आकर पुनः बड़े वेगसे आगे भागता था ॥ १४ ॥

स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र! यद्यपि राजाके बहुत-से बाण उसके शरीरमें धँस गये थे, तथापि वह वनचारी मृग खेल करता हुआ-सा बारंबार उनके निकट आ जाता था ॥ १५ ॥

पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! वह मृग-समूहोंका सरदार था। उसका वेग बड़ा तीव्र था। वह बारंबार बड़े वेगसे छलाँग मारता और दूरतककी भूमि लाँघ-लाँघकर पुनः निकट आ जाता था ॥ १६ ॥

तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णं चामित्रकर्शनः।
समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथासृजत् ॥ १७ ॥

तब शत्रुसूदन नरेशने एक बड़ा भयंकर तीखा बाण हाथमें लिया, जो मर्मस्थलोंको विदीर्ण कर देनेवाला था। उस श्रेष्ठ बाणको उन्होंने धनुषपर रक्खा ॥ १७ ॥

ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः।
तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान् प्रहसन्निव ॥ १८ ॥

यह देख मृगोंका वह यूथपति राजाके बाणका मार्ग छोड़कर दो कोस दूर जा पहुँचा और हँसता हुआ-सा खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥

जब राजाका वह तेजस्वी बाण पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब मृग एक महान् वनमें घुस गया, राजाने उस समय भी उसका पीछा नहीं छोड़ा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा सुमित्रका मृगकी खोज करते हुए तपस्वी मुनियोंके आश्रमपर पहुँचना और उनसे आशाके विषयमें प्रश्न करना

भीष्म उवाच

प्रविश्य स महारण्यं तापसानामथाश्रमम्।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत् तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस महान् वनमें प्रवेश करके राजा सुमित्र तापसोंके आश्रमपर जा पहुँचे और वहाँ थककर बैठ गये ॥ १ ॥

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ २ ॥

वे परिश्रमसे पीड़ित और भूखसे व्याकुल हो रहे थे। उस अवस्थामें धनुष धारण किये राजा सुमित्रको देखकर बहुत-से ऋषि उनके पास आये और सबने मिलकर उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ २ ॥

स पूजामृषिभिर्दत्तां सम्प्रगृह्य नराधिपः।
अपृच्छत् तापसान् सर्वांस्तपसो वृद्धिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

ऋषियोंद्वारा किये गये उस स्वागत-सत्कारको ग्रहण करके राजाने भी उन सब तापसोंसे उनकी तपस्याकी भलीभाँति वृद्धि होनेका समाचार पूछा ॥ ३ ॥

ते तस्य राज्ञो वचनं सम्प्रगृह्य तपोधनाः।
ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन् प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन तपस्याके धनी महर्षियोंने राजाके वचनोंको सादर ग्रहण करके उन नृपश्रेष्ठसे वहाँ आनेका प्रयोजन पूछा ॥ ४ ॥

केन भद्र सुखार्थेन सम्प्राप्तोऽसि तपोवनम्।
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर ॥ ५ ॥

'कल्याणस्वरूप नरेश्वर! किस सुखके लिये आप इस तपोवनमें तलवार बाँधे धनुष और बाण लिये पैदल ही चले आये हैं? ॥ ५ ॥

एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद।
कस्मिन् कुले तु जातस्त्वं किंनामा चासि ब्रूहि नः ॥ ६ ॥

'मानद! हम यह सब सुनना चाहते हैं, आप कहाँसे पधारे हैं? किस कुलमें आपका जन्म हुआ है? तथा आपका नाम क्या है? ये सारी बातें हमें बताइये' ॥ ६ ॥

ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ।
आचचक्षे यथान्यायं परिचर्यां च भारत ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर भरतनन्दन! तदनन्तर राजा सुमित्रने उन समस्त ब्राह्मणोंसे यथोचित बात कही और अपना कार्यक्रम बताया— ॥ ७ ॥

हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः।
चरामि मृगयूथानि निघ्नन् बाणैः सहस्रशः ॥ ८ ॥

'तपोधनो! मेरा जन्म हैहय-कुलमें हुआ है। मैं मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाला राजा सुमित्र हूँ और सहस्रों बाणोंके

आघातसे मृग-समूहोंका विनाश करता हुआ विचर रहा हूँ ॥

बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः ।
मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान् ॥ ९ ॥

'मेरे साथ बहुत बड़ी सेना थी। उसके द्वारा सुरक्षित हो मैं मन्त्री और अन्तःपुरके साथ आया था, परंतु मेरे बाणोंसे घायल हुआ एक मृग बाणसहित इधर ही भाग निकला ॥

तं द्रवन्तमनुप्राप्तो वनमेतद् यदृच्छया ।
भवत्सकाशं नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः ॥ १० ॥

'उस भागते हुए मृगके पीछे मैं अकस्मात् इस वनमें आपलोगोंके समीप आ पहुँचा हूँ। मेरी सारी शोभा नष्ट हो गयी है। मैं हताश होकर भारी परिश्रमसे कष्ट पा रहा हूँ ॥ १० ॥

किं नु दुःखमतोऽन्यद् वै यदहं श्रमकर्शितः ।
भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो भ्रष्टलक्षणः ॥ ११ ॥

'मैंने परिश्रमके कारण जो इतना कष्ट पाया है और अपने राजचिह्नोंसे भ्रष्ट होकर एक हताशकी भाँति आपके आश्रममें पैर रक्खा है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?॥

न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः ।
दुःखं करोति तत् तीव्रं यथाऽऽशा विहता मम ॥ १२ ॥

'तपोधनो ! नगर तथा राजचिह्नोंका परित्याग मुझे वैसा तीव्र कष्ट नहीं दे रहा है, जैसा कि मेरी भग्न हुई आशा दे रही है ॥ १२ ॥

हिमवान् वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः ।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा ॥ १३ ॥
आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः ।
भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः ॥ १४ ॥

'महान् पर्वत हिमालय अथवा अगाध जलराशि समुद्र अपनी विशालताके द्वारा आशाकी समानता नहीं कर सकते। तपस्यामें श्रेष्ठ तपोधनो ! जैसे आकाशका कहीं अन्त नहीं है, उसी प्रकार मैं आशाका अन्त नहीं पा सका हूँ। आपको तो सब कुछ मालूम ही है; क्योंकि तपोधन मुनि सर्वज्ञ होते हैं ॥

भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात् पृच्छामि संशयम् ।
आशावान् पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा ॥ १५ ॥
किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात् प्रतिभाति वः ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम् ॥ १६ ॥

'आप महान् सौभाग्यशाली तपस्वी हैं; इसलिये मैं आपसे अपने मनका संदेह पूछता हूँ। एक ओर आशावान् पुरुष हो और दूसरी ओर अनन्त आकाश हो तो जगत्में महत्ताकी दृष्टिसे आपलोगोंको कौन बड़ा जान पड़ता है ? मैं इस बातको तत्त्वसे सुनना चाहता हूँ। भला, यहाँ आकर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रहेगी ? ॥ १५-१६ ॥

यदि गुह्यं न वो नित्यं तदा प्रब्रूत मा चिरम् ।
न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्भ्यो द्विजसत्तमाः ॥ १७ ॥

'यदि आपके लिये सदा यह कोई गोपनीय रहस्य न हो तो शीघ्र इसका वर्णन कीजिये। विप्रवरो ! मैं आपलोगोंसे ऐसी कोई बात नहीं सुनना चाहता, जो गोपनीय रहस्य हो ॥

भवत् तपोविघातो वा यदि स्याद् विरमे ततः।
यदि वास्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः ॥ १८ ॥
एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
भवन्तोऽपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत् समन्विताः ॥ १९ ॥

'यदि मेरे इस प्रश्नसे आपलोगोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ रहा हो तो मैं इससे विराम लेता हूँ और यदि आपके पास बातचीतका समय हो तो जो प्रश्न मैंने उपस्थित किया है, इसका आप समाधान करें। मैं इस आशाके कारण और सामर्थ्यके विषयमें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। आपलोग भी सदा तपमें संलग्न रहनेवाले हैं; अतः एकत्र होकर इस प्रश्नका विवेचन करें' ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२६॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभका राजा सुमित्रको वीरद्युम्न और तनु मुनिका वृत्तान्त सुनाना

भीष्म उवाच

ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः ।
ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उन समस्त ऋषियोंमेंसे मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि ऋषभने विस्मित होकर इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

पुराहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन् प्रभो ।
समासादितवान् दिव्यं नरनारायणाश्रमम् ॥ २ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! पहलेकी बात है, मैं सब तीर्थोंमें विचरण करता हुआ भगवान् नरनारायणके दिव्य आश्रममें जा पहुँचा ॥ २ ॥

यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा ।
यत्र चाश्वशिरा राजन् वेदान् पठति शाश्वतान् ॥ ३ ॥

'राजन् ! जहाँ वह रमणीय बदरीका वृक्ष है, जहाँ वैहायस[1] कुण्ड है तथा जहाँ अश्वशिरा (हयग्रीव) सनातन वेदोंका

१. विहायसा गच्छन्त्या मन्दाकिन्या वैहायस्वा अयं वैहायसः अर्थात् आकाशमार्गसे गमन करनेवाली मन्दाकिनी या आकाश गङ्गाका नाम वैहायसी है। वहींके जलसे भरा होनेके कारण वह कुण्ड वैहायस कहलाता है। बदरिकाश्रममें गङ्गाका नाम अलकनन्दा है।

पाठ करते हैं (वहीं नरनारायणाश्रम है) ॥ ३ ॥

तस्मिन् सरसि कृत्वाहं विधिवत् तर्पणं पुरा ।
पितृणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा ॥ ४ ॥
रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी ।

उस वैहायस कुण्डमें स्नान करके मैंने विधिपूर्वक देवताओं और पितरोंका तर्पण किया । उसके बाद उस आश्रममें प्रवेश किया, जहाँ मुनिवर नर और नारायण नित्य सानन्द निवास करते हैं ॥ ४½ ॥

अदूरादाश्रमं कञ्चिद् वासार्थमगमं तदा ॥ ५ ॥
तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च ।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम् ॥ ६ ॥

उसके बाद वहाँसे निकट ही एक दूसरे आश्रममें मैं ठहरनेके लिये गया । वहाँ मुझे तनु नामवाले एक तपोधन ऋषि आते दिखायी दिये, जो चीर और मृगचर्म धारण किये हुए थे । उनका शरीर बहुत ऊँचा और अत्यन्त दुर्बल था ॥

अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम् ।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥ ७ ॥

महाबाहो ! उन महर्षिका शरीर दूसरे मनुष्योंसे आठ गुना लंबा था । राजर्षे ! मैंने उनकी-जैसी दुर्बलता कहीं भी नहीं देखी है ॥ ७ ॥

शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम् ।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! उनका शरीर भी कनिष्ठिका अङ्गुलीके समान पतला था । उनकी गर्दन, दोनों भुजाएँ, दोनों पैर और सिरके बाल भी अद्भुत दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च ।
तस्य वाक्चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥

शरीरके अनुरूप ही उनके मस्तक, कान और नेत्र भी थे । नृपश्रेष्ठ ! उनकी वाणी और चेष्टा साधारण थी ॥ ९ ॥

दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः ।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥ १० ॥

मैं उन दुबले-पतले ब्राह्मणको देखकर डर गया और मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया; फिर उनके चरणोंमें प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया ॥ १० ॥

निवेद्य नामगोत्रे च पितरं च नरर्षभ ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! उनके सामने नाम, गोत्र और पिताका परिचय देकर उन्हींके दिये हुए आसनपर धीरेसे बैठ गया ॥ ११ ॥

ततः स कथयामास कथां धर्मार्थसंहिताम् ।
ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु ऋषियोंके बीचमें बैठकर धर्म और अर्थसे युक्त कथा कहने लगे ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः ।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः ॥ १३ ॥

उनके कथा कहते समय ही कमलके समान नेत्रोंवाले एक नरेश वेगशाली घोड़ोंद्वारा अपनी सेना और अन्तःपुरके साथ वहाँ आ पहुँचे ॥ १३ ॥

स्मरन् पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः ।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान् वीरद्युम्नो महायशाः ॥ १४ ॥

उनका पुत्र जंगलमें खो गया था । उसकी याद करके वे बहुत दुखी हो रहे थे । उनके पुत्रका नाम था भूरिद्युम्न और वे उसके महायशस्वी पिता श्रीमान् वीरद्युम्न थे ॥ १४ ॥

इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः ।
एवमाशाहृतो राजा चरन् वनमिदं पुरा ॥ १५ ॥

यहाँ उस पुत्रको अवश्य देखूँगा । यहाँ वह निश्चय ही दिखायी देगा । इसी आशासे बँधे हुए पृथ्वीपति राजा वीरद्युम्न उन दिनों उस वनमें विचर रहे थे ॥ १५ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः ।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत् तदा ॥ १६ ॥

'वह बड़ा धर्मात्मा था । अब उसका दर्शन होना अवश्य ही मेरे लिये दुर्लभ है । एक ही बेटा था, वह भी इस विशाल वनमें खो गया' इन्हीं बातोंको वे बार-बार दुहराते थे ॥ १६ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम ।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

'मेरे लिये उसका दर्शन दुर्लभ है तो भी मेरे मनमें उसके मिलनेकी बड़ी भारी आशा लगी हुई है । उस आशाने मेरे सम्पूर्ण शरीरपर अधिकार कर लिया है । इसमें संदेह नहीं कि मैं उसके लिये मौतको भी स्वीकार कर लेना चाहता हूँ' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः ।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥

राजाकी यह बात सुनकर मुनियोंमें श्रेष्ठ भगवान् तनु नीचे सिर किये ध्यानमग्न हो दो घड़ीतक चुपचाप बैठे रह गये ॥ १८ ॥

तमनुध्यान्तमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः ।
उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दं मन्दमिवासकृत् ॥ १९ ॥

उनको चिन्तन करते देख परम दुखी हुए नरेश दीन-हृदय हो मन्द-मन्द वाणीमें बारंबार इस प्रकार कहने लगे— ॥ १९ ॥

दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत् ।
ब्रवीतु भगवानेतद् यदि गुह्यं न ते मयि ॥ २० ॥

'देवर्षे ! कौन वस्तु दुर्लभ है ? और आशासे भी बड़ा क्या है ? यदि आपकी दृष्टिमें यह बात मुझसे छिपाने योग्य न हो तो आप इसे अवश्य बतावें' ॥ २० ॥

मुनिरुवाच

महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद् विमानितः ।

बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयाऽऽत्मनः ॥ २१ ॥

तब मुनिने कहा—राजन् ! आपके उस पुत्रने पहले कभी मूढ़ बुद्धिका आश्रय लेकर अपने दुर्भाग्यके कारण एक पूजनीय महर्षिका अपमान कर दिया था ॥ २१ ॥

अर्थयन् कलशं राजन् काञ्चनं वल्कलानि च ।
अवज्ञापूर्वकेनापि न सम्पादितवांस्ततः ।
निर्विण्णः स तु विप्रर्षिर्निराशः समपद्यत ॥ २२ ॥

राजन् ! वे उससे एक सुवर्णमय कलश और वल्कल माँग रहे थे । आपके पुत्रने अवहेलना करके भी महर्षिकी वह इच्छा पूरी नहीं की; इससे वे विप्र ऋषि अत्यन्त खिन्न और निराश हो गये थे ॥ २२ ॥

एवमुक्तोऽभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम् ।
श्रान्तोऽवसीदद् धर्मात्मा यथा त्वं नरसत्तम ॥ २३ ॥

(ऋषभ कहते हैं-) नरश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर उन लोकपूजित महर्षिको प्रणाम करके धर्मात्मा राजा वीरद्युम्न तुम्हारे ही समान थककर शिथिल हो गये ॥ २३ ॥

अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महानृषिः ।
आरण्यकेनैव विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षिने तपोवनमें प्रचलित शिष्टाचारकी विधिसे राजाको पाद्य और अर्घ्य आदि सब वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ २४ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम् ।
उपाविशन् नरव्याघ्र सप्तर्षय इव ध्रुवम् ॥ २५ ॥

पुरुषसिंह ! तब वे सभी मुनि नरश्रेष्ठ वीरद्युम्नको सब ओरसे घेरकर उनके पास बैठ गये, मानो सप्तर्षि ध्रुवको चारों ओरसे घेरकर शोभा पा रहे हों ॥ २५ ॥

अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम् ।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य निवेशने ॥ २६ ॥

उन सबने वहाँ उन अपराजित नरेशसे उस आश्रमपर पधारनेका सारा प्रयोजन पूछा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

तनुमुनिका राजा वीरद्युम्नको आशाके स्वरूपका परिचय देना और ऋषभके उपदेशसे सुमित्रका आशाको त्याग देना

राजोवाच

वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाहं दिक्षु विश्रुतः ।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः ॥ १ ॥

राजाने कहा—मुने ! मैं सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात वीरद्युम्न नामक राजा हूँ और खोये हुए अपने पुत्र भूरिद्युम्नकी खोज करनेके लिये वनमें आया हूँ ॥ १ ॥

एकः पुत्रः स विप्राग्र्य बाल एव च मेऽनघ ।
न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चराम्यहम् ॥ २ ॥

निष्पाप विप्रवर ! मेरे एक ही वह पुत्र था । वह भी बालक ही था । इस वनमें आनेपर वह कहीं दिखायी नहीं दे रहा है, उसीको खोजनेके लिये मैं चारों ओर विचर रहा हूँ ॥ २ ॥

ऋषभ उवाच

इत्येवमुक्ते वचने राज्ञा मुनिरधोमुखः ।
तूष्णीमेवाभवत् तत्र न च प्रत्युक्तवान् नृपम् ॥ ३ ॥

ऋषभ कहते हैं—राजन् ! राजाके ऐसा कहनेपर वे मुनि नीचे मुँह किये चुपचाप बैठे ही रह गये । राजाको कुछ उत्तर न दे सके ॥ ३ ॥

स हि तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः ।
आशाकृतश्च राजेन्द्र तपो दीर्घं समाश्रितः ॥ ४ ॥
प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथञ्चन ।
अन्येषां चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें कभी उसी राजाने उन्हीं ऋषिका विशेष आदर नहीं किया था । उनकी आशा भंग कर दी थी । इससे वे मुनि 'मैं किसी प्रकार भी किसी राजा या दूसरे वर्णके लोगोंका दिया हुआ दान नहीं ग्रहण करूँगा' ऐसा निश्चय करके दीर्घकालीन तपस्यामें लग गये थे ॥ ४-५ ॥

आशा हि पुरुषं बालमुत्थापयति तस्थुषी ।
तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः ।
वीरद्युम्नस्तु तं भूयः पप्रच्छ मुनिसत्तमम् ॥ ६ ॥

बहुत कालतक रहनेवाली आशा मूर्ख मनुष्यको ही उद्यमशील बनाती है । मैं उसे दूर कर दूँगा । ऐसा निश्चय करके वे तपस्यामें स्थिर हो गये थे । इधर वीरद्युम्नने उन मुनिश्रेष्ठसे पुनः प्रश्न किया ॥ ६ ॥

राजोवाच

आशायाः किं कृशत्वं च किं चेह भुवि दुर्लभम् ।
ब्रवीतु भगवानेतत् त्वं हि धर्मार्थदर्शिवान् ॥ ७ ॥

राजा बोले—विप्रवर ! आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं, अतः यह बतानेकी कृपा करें कि आशासे बढ़कर दुर्बलता क्या है ? और इस पृथ्वीपर सबसे दुर्लभ क्या है ? ॥ ७ ॥

ततः संस्मृत्य तत् सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत् ।
राजानं भगवान् विप्रस्ततः कृशतनुस्तदा ॥ ८ ॥

तब उन दुर्बल शरीरवाले पूज्यपाद ऋषिने पहलेकी सारी बातोंको याद करके राजाको भी उनका स्मरण दिलाते हुए-से इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

ऋषिरुवाच

कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया ॥ ९ ॥

ऋषि बोले—नरेश्वर! आशा या आशावान्‌की दुर्बलताके समान और किसीकी दुर्बलता नहीं है। जिस वस्तुकी आशा की जाती है, उसकी दुर्लभताके कारण ही मैंने बहुत-से राजाओंके यहाँ याचना की है ॥ ९ ॥

राजोवाच

कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात् तव।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ १० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैंने आपके कहनेसे यह अच्छी तरह समझ लिया कि जो आशासे बँधा हुआ है, वह दुर्बल है और जिसने आशाको जीत लिया है, वह पुष्ट है। द्विजश्रेष्ठ! आपकी इस बातको भी मैंने वेदवाक्यकी भाँति ग्रहण किया कि जिस वस्तुकी आशा की जाती है, वह अत्यन्त दुर्लभ होती है ॥ १० ॥

संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम।
तन्मुने मम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ११ ॥

महाप्राज्ञ! मुने! किंतु मेरे मनमें एक संशय है, जिसे पूछ रहा हूँ। आप उसे यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ११ ॥

त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम्।
यदि गुह्यं न ते किञ्चिद् विद्यते मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ! यदि कोई वस्तु आपके लिये गोपनीय या छिपाने योग्य न हो तो आप यह बतावें कि आपसे भी बढ़कर अत्यन्त दुर्बल वस्तु क्या है? ॥ १२ ॥

कृश उवाच

दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात्।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते ॥ १३ ॥

दुर्बल शरीरवाले मुनिने कहा—तात! जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तुकी आवश्यकता होनेपर भी उसके लिये किसीसे याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करनेवाले याचककी अवहेलना न करे—आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १३ ॥

सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १४ ॥

जब मनुष्य सत्कार करके याचकको आशा दिलाकर भी उसका शक्तिके अनुसार यथायोग्य उपकार नहीं करता, उस स्थितिमें सम्पूर्ण भूतोंके मनमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १४ ॥

कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च।
अपकारिषु चासक्ता साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १५ ॥

कृतघ्न, नृशंस, आलसी तथा दूसरोंका अपकार करनेवाले पुरुषोंमें जो आशा होती है, वह (कभी पूर्ण न होनेके कारण चिन्तासे दुर्बल बना देती है; इसलिये वह) मुझसे भी अत्यन्त कृश है ॥ १५ ॥

एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा।
प्रवृत्तिं यो न जानाति साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १६ ॥

इकलौते बेटेका बाप जब अपने पुत्रके खो जाने या परदेशमें चले जानेपर उसका कोई समाचार नहीं जान पाता, तब उसके मनमें जो आशा रहती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १६ ॥

प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १७ ॥

नरेन्द्र! वृद्ध अवस्थावाली नारियोंके हृदयमें जो पुत्र पैदा होनेके लिये आशा बनी रहती है तथा धनियोंके मनमें जो अधिकाधिक धन-लाभकी आशा रहती है, वह मुझसे अत्यन्त कृश है ॥ १७ ॥

प्रदानकाङ्क्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते।
श्रुत्वा कथास्तथायुक्ताः साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १८ ॥

तरुण अवस्था आनेपर विवाहकी चर्चा सुनकर ब्याहकी इच्छा रखनेवाली कन्याओंके हृदयमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है* ॥ १८ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् स राजा सावरोधनः।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम् ॥ १९ ॥

राजन्! ब्राह्मणश्रेष्ठ उस ऋषिकी वह बात सुनकर राजा अपनी रानीके साथ उनके चरणोंका मस्तकसे स्पर्श करके वहीं गिर पड़े ॥

राजोवाच

प्रसादये त्वां भगवन् पुत्रेणेच्छामि संगमम्।
यदेतदुक्तं भवता सम्प्रति द्विजसत्तम ॥ २० ॥
सत्यमेतन्न संदेहो यदेतद् व्याहृतं त्वया।

राजा बोले—भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझे अपने पुत्रसे मिलनेकी बड़ी इच्छा है। द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझसे इस समय जो कुछ कहा है, आपका यह सारा कथन सत्य है, इसमें संदेह नहीं ॥ २०½ ॥

ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥
पुत्रमस्यानयत् क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् तनुने हँसकर अपनी तपस्या और शास्त्रज्ञानके प्रभावसे राजकुमारको शीघ्र वहाँ बुला दिया ॥ २१½ ॥

स समानीय तत्पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम् ॥ २२ ॥
आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतां वरः।

इस प्रकार उनके पुत्रको वहाँ बुलाकर तथा राजाको

* आशाको अत्यन्त कृश कहनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्यको अत्यन्त कृश बना देती है।

उलाहना देकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु मुनिने उन्हें अपने साक्षात् धर्मस्वरूपका दर्शन कराया ॥ २२½ ॥

स दर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।
विपाप्मा विगतक्रोधश्चचार वनमन्तिकात् ॥ २३ ॥

दिव्य और अद्भुत दिखायी देनेवाले अपने स्वरूपका उन्हें दर्शन कराकर क्रोध और पापसे रहित तनु मुनि निकटवर्ती वनमें चले गये ॥ २३ ॥

एतद् दृष्टं मया राजंस्तथा च वचनं श्रुतम् ।
आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम् ॥ २४ ॥

ऋषभ मुनि कहते हैं—राजन् ! मैंने यह सब कुछ अपनी आँखों देखा है और मुनिका वह कथन भी अपने कानों सुना है। ऐसे ही तुम भी शरीरको अत्यन्त कृश बना देनेवाली इस मृगविषयक दुराशाको शीघ्र ही त्याग दो ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

स तथोक्तस्तदा राजन् ऋषभेण महात्मना ।
सुमित्रोऽपनयत् क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ऋषभके ऐसा कहनेपर सुमित्रने शरीरको अत्यन्त दुर्बल बनानेवाली वह आशा तुरंत ही त्याग दी ॥ २५ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम ।
स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः ॥ २६ ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार ! तुम भी मेरा यह कथन सुनकर आशाको त्याग दो और हिमालय पर्वतके समान स्थिर हो जाओ ॥

त्वं हि प्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेष्विह ।
श्रुत्वा मम महाराज न संतप्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

महाराज ! ऐसे सङ्कट उपस्थित होनेपर भी तुम यहाँ उपयुक्त प्रश्न करते और उनका योग्य उत्तर सुनते हो; इसलिये दुर्योधनके साथ जो संधि न हो सकी, उसको लेकर तुम्हें संतप्त नहीं होना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यम और गौतमका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

नामृतस्येव पर्याप्तिर्ममास्ति ब्रुवति त्वयि ।
यथा हि स्वात्मवृत्तिस्थस्तथा तृप्तोऽस्मि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतनन्दन ! जैसे अमृतको पीनेसे इच्छा पूर्ण नहीं होती, और भी पीनेकी इच्छा बढ़ती जाती है, उसी प्रकार जब आप उपदेश करने लगते हैं, उस समय उसे सुननेसे मेरा मन नहीं भरता है । जैसे परमात्माके ध्यानमें निमग्न हुआ योगी परमानन्दसे तृप्त हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी अत्यन्त तृप्तिका अनुभव करता हूँ ॥ १ ॥

तस्मात् कथय भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह ।
न हि तृप्तिमहं यामि पिबन् धर्मामृतं हि ते ॥ २ ॥

अतः पितामह ! आप पुनः धर्मकी ही बात बताइये । आपके धर्मोपदेशरूपी अमृतका पान करते समय मुझे यह नहीं अनुभव होता है कि बस, अब पूरा हो गया, बल्कि सुननेकी प्यास और बढ़ती ही जाती है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य च संवादं यमस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस धर्मके विषयमें भी विज्ञ पुरुष गौतम तथा महात्मा यमके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

पारियात्रं गिरिं प्राप्य गौतमस्याश्रमो महान् ।
उवास गौतमो यं च कालं तमपि मे शृणु ॥ ४ ॥

पारियात्रनामक पर्वतपर महर्षि गौतमका महान् आश्रम है। उसमें गौतम जितने समयतक रहे, वह भी मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि सोऽतप्यद् गौतमस्तपः ।
तमुग्रतपसा युक्तं भावितं सुमहामुनिम् ॥ ५ ॥
उपयातो नरव्याघ्र लोकपालो यमस्तदा ।
तमपश्यत् सुतपसमृषिं वै गौतमं तदा ॥ ६ ॥

गौतमने उस आश्रममें साठ हजार वर्षोंतक तपस्या की । नरश्रेष्ठ ! एक दिन उग्र तपस्यामें लगे हुए पवित्र महात्मा महामुनि गौतमके पास लोकपाल यम स्वयं आये। उन्होंने वहाँ आकर उत्तम तपस्वी गौतम ऋषिको देखा ॥ ५-६ ॥

स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यममागतमोजसा ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपविष्टस्तपोधनः ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षि गौतमने वहाँ आये हुए यमराजको उनके तेजसे ही जान लिया । फिर वे तपोधन मुनि हाथ जोड़ संयतचित्त हो उनके पास जा बैठे ॥ ७ ॥

तं धर्मराजो दृष्ट्वैव सत्कृत्यैव द्विजर्षभम् ।
न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥

धर्मराजने विप्रवर गौतमको देखते ही उनका सत्कार किया और मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ऐसा कहते हुए उन्हें धर्मचर्चा सुननेके लिये सम्मति प्रदान की ॥ ८ ॥

गौतम उवाच

मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात् ।
कथं च लोकानाप्नोति पुरुषो दुर्लभाञ्शुचीन् ॥ ९ ॥

तब गौतमने कहा—भगवन् ! मनुष्य कौन-सा कर्म करके माता-पिताके ऋणसे उऋण हो सकता है ? और किस प्रकार उसे दुर्लभ एवं पवित्र लोकोंकी प्राप्ति होती है ? ॥९॥

यम उवाच

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च ।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ १० ॥

यमराजने कहा—ब्रह्मन् ! मनुष्य तप करे, बाहर-भीतरसे पवित्र रहे और सदा सत्यभाषणरूप धर्मके पालनमें तत्पर रहे । यह सब करते हुए ही उसे नित्यप्रति माता-पिताकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १० ॥

अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
तेन लोकानवाप्नोति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान् ॥ ११ ॥

राजाको तो पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान भी करना चाहिये । ऐसा करनेसे पुरुष अद्भुत दृश्योंसे सम्पन्न पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि यमगौतमसंवादे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें यम और गौतमका संवादविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२९॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिके समय राजाका धर्म

युधिष्ठिर उवाच

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः ।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! यदि राजाके शत्रु अधिक हो जायँ, मित्र उसका साथ छोड़ने लगें और सेना तथा खजाना भी नष्ट हो जाय तो उसके लिये कौन-सा मार्ग हितकर है ? ॥१॥

दुष्टामात्यसहायस्य च्युतमन्त्रस्य सर्वतः ।
राज्यात् प्रच्यवमानस्य गतिमग्र्यामपश्यतः ॥ २ ॥

दुष्ट मन्त्री ही जिसका सहायक हो, इसीलिये जो श्रेष्ठ परा-मर्शसे भ्रष्ट हो गया हो एवं राज्यसे जिसके भ्रष्ट हो जानेकी सम्भावना हो और जिसे अपनी उन्नतिका कोई श्रेष्ठ उपाय न दिखायी देता हो, उसके लिये क्या कर्तव्य है ? ॥ २ ॥

परचक्राभियातस्य परराष्ट्राणि मृद्नतः ।
विग्रहे वर्तमानस्य दुर्बलस्य बलीयसा ॥ ३ ॥

जो शत्रुसेनापर आक्रमण करके शत्रुके राज्यको रौंद रहा हो; इतनेहीमें कोई बलवान् राजा उसपर भी चढ़ाई कर दे तो उसके साथ युद्धमें लगे हुए उस दुर्बल राजाके लिये क्या आश्रय है ? ॥ ३ ॥

असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः ।
अप्राप्यं च भवेत् सान्त्वं भेदो वाप्यतिपीडनात् ।
जीवितं त्वर्थहेतुर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥

जिसने अपने राज्यकी रक्षा नहीं की हो, जिसे देश और कालका ज्ञान नहीं हो, अत्यन्त पीड़ा देनेके कारण जिसके लिये साम अथवा भेदनीतिका प्रयोग असम्भव हो जाय, उसके लिये क्या करना उचित है ? वह जीवनकी रक्षा करे या धनके साधनकी ? उसके लिये क्या करनेमें भलाई है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मनन्दन ! भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यह तो तुमने मुझसे बड़ा गोपनीय विषय पूछा है । यदि तुम्हारे द्वारा प्रश्न न किया गया होता तो मैं इस समय इस संकटकालिक धर्मके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकता था ॥ ५ ॥

धर्मो ह्यणीयान् वचनाद् बुद्धिश्च भरतर्षभ ।
श्रुत्वोपास्य सदाचारैः साधुर्भवति स क्वचित् ॥ ६ ॥

भरतभूषण ! धर्मका विषय बड़ा सूक्ष्म है, शास्त्रवचनोंके अनुशीलनसे उसका बोध होता है । शास्त्रश्रवण करनेके पश्चात् अपने सदाचरणोंद्वारा उसका सेवन करके साधु जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष कहीं कोई बिरला ही होता है ॥६॥

कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुनः ।
तादृशोऽयमनुप्रश्नः संव्यवस्यः स्वया धिया ॥ ७ ॥

बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म (प्रयत्न) से मनुष्य धनाढ्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है । तुम्हें ऐसे प्रश्न-पर स्वयं अपनी ही बुद्धिसे विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचना चाहिये ॥ ७ ॥

उपायं धर्मबहुलं यात्रार्थं शृणु भारत ।
नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणात् ॥ ८ ॥

भारत ! उपर्युक्त संकटके समय राजाओंके जीवनकी रक्षाके लिये मैं ऐसा उपाय बताता हूँ, जिसमें धर्मकी अधिकता है । उसे ध्यान देकर सुनो । परंतु मैं धर्माचरणके उद्देश्यसे ऐसे धर्मको नहीं अपनाना चाहता ॥ ८ ॥

दुःखादान इह ह्येष स्यात् तु पश्चात् क्षयोपमः ।
अभिगम्यमतीनां हि सर्वासामेव निश्चयः ॥ ९ ॥

आपत्तिके समय भी यदि प्रजाको दुःख देकर धन वसूल किया जाता है तो पीछे वह राजाके लिये विनाशके तुल्य सिद्ध होता है । आश्रय लेने योग्य जितनी बुद्धियाँ हैं, उन सबका यही निश्चय है ॥ ९ ॥

यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते ॥ १० ॥

पुरुष प्रतिदिन जैसे-जैसे शास्त्रका स्वाध्याय करता है,

वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता जाता है, फिर तो विशेष ज्ञान प्राप्त करनेमें ही उसकी रुचि हो जाती है ॥ १० ॥

अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते ।
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः ॥ ११ ॥

ज्ञान न होनेसे मनुष्यको संकटकालमें उससे बचनेके लिये कोई योग्य उपाय नहीं सूझता; परंतु ज्ञानसे वह उपाय ज्ञात हो जाता है। उचित उपाय ही ऐश्वर्यकी वृद्धि करनेका श्रेष्ठ साधन है ॥ ११ ॥

अशङ्कमानो वचनमनसूयुरिदं शृणु ।
राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥ १२ ॥

तुम मेरी बातपर संदेह न करते हुए दोष-दृष्टिका परित्याग करके यह उपदेश सुनो। खजानेके नष्ट होनेसे ही राजाके बलका नाश होता है ॥ १२ ॥

कोशं च जनयेद् राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ।
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः ।
उपायधर्मं प्राप्येमं पूर्वैराचरितं जनैः ॥ १३ ॥

जैसे मनुष्य निर्जल स्थानोंसे भी खोदकर जल निकाल लेता है, उसी प्रकार राजा संकटकालमें निर्धन प्रजासे भी यथासाध्य धन लेकर अपना खजाना बढ़ावे; फिर अच्छा समय आनेपर उस धनके द्वारा प्रजापर अनुग्रह करे, यही सनातनकालसे चला आनेवाला धर्म है। पूर्ववर्ती राजाओंने भी आपत्तिकालमें इस उपायधर्मको पाकर इसका आचरण किया है ॥ १३ ॥

अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यश्च भारत ।
प्राक्कोशात्प्राप्यते धर्मो वृत्तिर्धर्माद् गरीयसी॥१४॥

भारत! सामर्थ्यशाली पुरुषोंका धर्म दूसरा है और आपत्ति-ग्रस्त मनुष्योंका दूसरा। अतः पहले कोशसंग्रह कर लेनेपर राजाके लिये धर्मपालनका अवसर प्राप्त होता है; क्योंकि जीवन-निर्वाहका साधन प्राप्त करना धर्मसे भी बड़ा है ॥ १४ ॥

धर्मं प्राप्य न्यायवृत्तिं न बलीयान् न विन्दति ।
यस्माद् बलस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते ॥ १५ ॥
तस्मादापत्स्वधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः ।
अधर्मो जायते तस्मिन्निति वै कवयो विदुः ॥ १६ ॥

दुर्बल मनुष्य धर्मको पाकर भी न्यायोचित जीविका नहीं उपलब्ध कर पाता है। धर्माचरण करनेसे बलकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता; इसलिये आपत्तिकालमें अधर्म भी धर्मरूप सुना जाता है। परंतु विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि आपत्तिकालमें भी धर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे अधर्म होता ही है ॥ १५-१६ ॥

अनन्तरं क्षत्रियस्य तत्र किं विचिकित्स्यते ।
यथास्य धर्मो न ग्लायेन्नेयाच्छत्रुवशं यथा ।
तत् कर्तव्यमिहेत्याहुर्नात्मानमवसादयेत् ॥ १७ ॥

आपत्ति दूर होनेके बाद क्षत्रियको क्या करना चाहिये ? वह प्रायश्चित्त करे या प्रजासे कर लेना छोड़ दे; यह संशय उपस्थित होता है। इसका समाधान यह है कि वह ऐसा बर्ताव करे, जिससे उसके धर्मको हानि न पहुँचे तथा उसे शत्रुके अधीन न होना पड़े। विद्वानोंने उसके लिये यही कर्तव्य बतलाया है, वह किसी तरह अपने आपको संकटमें न डाले॥

सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः ।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥ १८ ॥

संकटकालमें मनुष्य अपने या दूसरेके धर्मकी ओर न देखे; अपितु सम्पूर्ण हृदयसे सभी उपायोंद्वारा अपने आपके ही उद्धारकी अभिलाषा करे, यही सबका निश्चय है ॥ १८ ॥

तत्र धर्मविदां तात निश्चयो धर्मनैपुणम् ।
उद्यमो नैपुणं क्षात्रे बाहुवीर्यादिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

तात ! धर्मज्ञ पुरुषोंका निश्चय जैसे उनकी धर्मविषयक निपुणताको सूचित करता है, उसी प्रकार बाहुबलसे अपनी उन्नतिके लिये उद्योग करना क्षत्रियकी निपुणताका सूचक है; यह श्रुतिका निर्णय है ॥ १९ ॥

क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति ।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रिय यदि आजीविकासे रहित हो जाय तो वह तपस्वी और ब्राह्मणका धन छोड़कर और किसका धन नहीं ले सकता है ? (अर्थात् सभीका ले सकता है) ॥

यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत् ।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात् तथेदं नात्र संशयः॥ २१ ॥

जैसे ब्राह्मण यदि जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहा हो तो वह यज्ञके अनधिकारीसे भी यज्ञ करा सकता है तथा प्राण बचानेके लिये न खाने योग्य अन्नको भी खा सकता है, उसी प्रकार यह (पूर्वश्लोकमें) क्षत्रियके लिये भी कर्तव्यका निर्देश किया गया है। इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

पीडितस्य किमद्वारमुत्पथो विधृतस्य च ।
अद्वारतः प्रद्रवति यदा भवति पीडितः ॥ २२ ॥

आपद्ग्रस्त मनुष्यके लिये कौन-सा द्वार नहीं है। (वह जिस ओरसे निकल भागे, वही उसके लिये द्वार है)। कैदीके लिये कौन-सा बुरा मार्ग है (वह बिना मार्गके भी भागकर आत्मरक्षा कर सके तो ऐसा प्रयत्न कर सकता है)। मनुष्य जब आपत्तिमें घिरा होता है, तब वह बिना दरवाजेके भी भाग निकलता है ॥ २२ ॥

यस्य कोशबलग्लान्या सर्वलोकपराभवः ।
भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ॥ २३ ॥

खजाना और सेना न रहनेसे जिस क्षत्रियको सब लोगोंकी ओरसे पराभव प्राप्त होनेकी सम्भावना हो, उसीके लिये उपर्युक्त बातें बतायी गयी हैं। भीख माँगने और वैश्य या शूद्रकी जीविका अपनानेका क्षत्रियके लिये विधान नहीं है ॥

स्वधर्मानन्तरा वृत्तिर्जात्यानन्नुपजीवतः ।
जहतः प्रथमं कल्पमनुकल्पेन जीवनम् ॥ २४ ॥

परंतु जब अपनी जातिके लिये प्रतिपादित धर्मका अव-

लम्बन करके जीवन-निर्वाह न कर सके, तब उसके लिये स्वधर्मसे विपरीत वृत्ति भी बतायी गयी है; क्योंकि आपत्तिकालमें प्रथम कल्प अर्थात् स्वधर्मानुकूल वृत्तिका त्याग करनेवाले पुरुषके लिये अपनेसे नीचे वर्णकी वृत्तिसे जीविका चलानेका विधान है ॥ २४ ॥

आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम्।
अपि ह्येतद् ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥

जो आपत्तिमें पड़ा हो, वह धर्मके विपरीत आचरणद्वारा जीवन-निर्वाह कर सकता है। जीविका क्षीण होनेपर ब्राह्मणोंमें ऐसा व्यवहार देखा गया है ॥ २५ ॥

क्षत्रिये संशयः कस्मादित्येवं निश्चितं सदा।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथंचन ॥ २६ ॥

फिर क्षत्रियके लिये कैसे संदेह किया जा सकता है? उसके लिये भी सदा यही निश्चित है कि वह आपत्तिकालमें विशिष्ट अर्थात् धनवान् पुरुषोंसे बलपूर्वक धन ग्रहण करे। धनके अभावमें वह किसी तरह कष्ट न भोगे ॥ २६ ॥

हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः।
तस्मात् संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥

विद्वान् पुरुष क्षत्रियको प्रजाका रक्षक और विनाशक भी मानते हैं। अतः क्षत्रियबन्धुको प्रजाकी रक्षा करते हुए ही धन ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित्।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥

राजन्! इस संसारमें किसीकी भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो हिंसासे शून्य हो। औरोंकी तो बात ही क्या है, वनमें रहकर एकाकी विचरनेवाले तपस्वी मुनिकी भी वृत्ति सर्वथा हिंसारहित नहीं है ॥ २८ ॥

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम्।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कोई भी ललाटमें लिखी हुई वृत्तिका ही भरोसा करके जीवननिर्वाह नहीं कर सकता; अतः प्रजापालनकी इच्छा रखनेवाले राजाका भाग्यके भरोसे निर्वाह चलाना तो सर्वथा अशक्य है ॥ २९ ॥

परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥

इसलिये आपत्तिकालमें राजा और राज्यकी प्रजा दोनोंको निरन्तर एक दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये, यही सदाका धर्म है॥

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥

जैसे राजा प्रजापर संकट आ जाय तो राशि-राशि धन लुटाकर भी उसकी रक्षा करता है, उसी तरह राजाके ऊपर संकट पड़नेपर राष्ट्रकी प्रजाको भी उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम्।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ॥ ३२ ॥

राजा भूखसे पीड़ित होने—जीविकाके लिये कष्ट पानेपर भी खजाना, राजदण्ड, सेना, मित्र तथा अन्य संचित साधनोंको कभी राज्यसे दूर न करे ॥ ३२ ॥

बीजं भक्तेन सम्पाद्यमिति धर्मविदो विदुः।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोंका कहना है कि मनुष्यको अपने भोजनके लिये संचित अन्नमेंसे भी बीजको बचाकर रखना चाहिये। इस विषयमें महामायावी शम्बरासुरका विचार भी ऐसा ही बताया गया है ॥ ३३ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यावसीदति।
अवृत्त्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥ ३४ ॥

जिसके राज्यकी प्रजा तथा वहाँ आये हुए परदेशी मनुष्य भी जीविकाके बिना कष्ट पा रहे हों, उस राजाके जीवनको धिक्कार है ॥ ३४ ॥

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥

राजाकी जड़ है सेना और खजाना। इनमें भी खजाना ही सेनाकी जड़ है। सेना सम्पूर्ण धर्मोंकी रक्षाका मूल कारण है और धर्म प्रजाकी जड़ है ॥ ३५ ॥

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम्।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥ ३६ ॥

दूसरोंको पीड़ा दिये बिना धनका संग्रह नहीं किया जा सकता और धन-संग्रहके बिना सेनाका संग्रह कैसे हो सकता है? अतः आपत्तिकालमें कोश या धन-संग्रहके लिये प्रजाको पीड़ा देकर भी राजा दोषका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु।
एतस्मात् कारणाद् राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति॥ ३७ ॥

जैसे यज्ञकर्मोंमें यज्ञके लिये वह कार्य भी किया जाता है, जो करने योग्य नहीं है (किंतु वह दोषयुक्त नहीं माना जाता), उसी प्रकार आपत्तिकालमें प्रजापीडनसे राजाको दोष नहीं लगता है ॥ ३७ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम्।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत् तत् सर्वं ह्यर्थकारणम्।
एवं बुद्ध्या सम्प्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम्॥ ३८ ॥

आपत्तिकालमें प्रजापीडन अर्थसंग्रहरूप प्रयोजनका साधक होनेके कारण अर्थकारक होता है, इसके विपरीत उसे पीडा न देना ही अनर्थकारक हो जाता है। इसी प्रकार जो दूसरे अनर्थकारी (व्यय बढ़ानेवाले सैन्य-संग्रह आदि) कार्य हैं, वे भी युद्धका संकट उपस्थित होनेपर अर्थकारी (विजय-साधक) सिद्ध होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार बुद्धिसे विचार करके कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थमन्यद् भवति यज्ञोऽन्यार्थस्तथा परः।
यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत् तत् सर्वं यज्ञसाधनम् ॥ ३९ ॥

जैसे अन्यान्य सामग्रियाँ यज्ञकी सिद्धिके लिये होती हैं, उत्तम यज्ञ किसी और ही प्रयोजनके लिये होता है, यज्ञ-सम्बन्धी अन्यान्य बातें भी किसी-न-किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होती हैं तथा यह सब कुछ यज्ञका साधन ही है॥

उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम्।
यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः॥ ४०॥
द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि।
ते चापि निपतन्तोऽन्यान् निघ्नन्त्येव वनस्पतीन्॥४१॥

अब मैं यहाँ धर्मके तत्त्वको प्रकाशित करनेवाली एक उपमा बता रहा हूँ। ब्राह्मणलोग यज्ञके लिये यूप निर्माण करनेके उद्देश्यसे वृक्षका छेदन करते हैं। उस वृक्षको काटकर बाहर निकालनेमें जो-जो पार्श्ववर्ती वृक्ष बाधक होते हैं, उन्हें भी निश्चय ही वे काट डालते हैं। वे वृक्ष भी गिरते समय दूसरे-दूसरे वनस्पतियोंको भी प्रायः तोड़ ही डालते हैं॥४०-४१॥

एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः।
तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परंतप॥ ४२॥

परंतप! इस प्रकार जो मनुष्य (प्रजारक्षाके लिये किये जानेवाले) महान् कोशके संग्रहमें बाधा उपस्थित करते हैं, उनका वध किये बिना इस कार्यमें मुझे सफलता होती नहीं दिखायी देती॥ ४२॥

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा॥ ४३॥

धनसे मनुष्य इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है तथा सत्य और धर्मका भी सम्पादन कर लेता है, परंतु निर्धनको इस कार्यमें वैसी सफलता नहीं मिलती। उसका अस्तित्व नहींके बराबर होता है॥ ४३॥

सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम्।
न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्याकार्येषु भारत॥ ४४॥

भरतनन्दन! यज्ञ करनेके उद्देश्यको लेकर सभी उपायोंसे धनका संग्रह करे; इस प्रकार करने और न करने योग्य कर्म बन जानेपर भी कर्ताको अन्य अवसरोंके समान दोष नहीं लगता॥ ४४॥

नैतौ सम्भवतो राजन् कथंचिदपि पार्थिव।
न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित्॥ ४५॥

राजन्! पृथ्वीनाथ! धनका संग्रह और उसका त्याग— ये दोनों एक व्यक्तिमें एक ही साथ किसी तरह नहीं रह सकते; क्योंकि मैं वनमें रहनेवाले त्यागी महात्माओंको कहीं भी धनमें बढ़ा-चढ़ा नहीं देखता॥ ४५॥

यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किंचन।
ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्येवं काङ्क्षते जनः॥ ४६॥

यहाँ इस पृथ्वीपर यह जो कुछ भी धन देखा जाता है, 'यह मेरा हो जाय, यह मेरा हो जाय' ऐसी ही अभिलाषा सभी लोगोंको रहती है॥ ४६॥

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा॥ ४७॥

परंतप! राजाके लिये राज्यकी रक्षाके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस धर्मकी चर्चा की गयी है, वह केवल राजाओंके लिये आपत्तिकालमें ही आचरणमें लाने योग्य है, अन्यथा नहीं॥ ४७॥

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसंचयान्॥ ४८॥

कुछ लोग दानसे, कुछ लोग यज्ञकर्म करनेसे, कुछ तपस्वी तपस्या करनेसे, कुछ लोग बुद्धिसे और अन्य बहुत-से मनुष्य कार्य-कौशलसे धनराशि प्राप्त कर लेते हैं॥ ४८॥

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान्॥ ४९॥

निर्धनको दुर्बल कहा जाता है। धनसे मनुष्य बलवान् होता है। धनवान्‌को सब कुछ सुलभ है। जिसके पास खजाना है, वह सारे संकटोंसे पार हो जाता है॥ ४९॥

कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम्।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन॥ ५०॥

धन-संचयसे ही धर्म, काम, लोक तथा परलोककी सिद्धि होती है। उस धनको धर्मसे ही पानेकी इच्छा करे, अधर्मसे कभी नहीं॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

(आपद्धर्मपर्व)

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिग्रस्त राजाके कर्त्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु।
परिशङ्कितवृत्तस्य श्रुतमन्त्रस्य भारत॥ १॥
विभक्तपुरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च।
असम्भावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः॥ २॥
परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! जिसकी सेना और धन-सम्पत्ति क्षीण हो गयी है, जो आलसी है, बन्धु-बान्धवों-पर अधिक दया रखनेके कारण उनके नाशकी आशङ्कासे जो उन्हें साथ लेकर शत्रुके साथ युद्ध नहीं कर सकता, जो मन्त्री आदिके चरित्रपर संदेह रखता है अथवा जिसका चरित्र स्वयं भी शङ्कास्पद है, जिसकी मन्त्रणा गुप्त नहीं रह सकी है, उसे दूसरे लोगोंने सुन लिया है, जिसके नगर और राष्ट्रको कई भागोंमें बाँटकर शत्रुओंने अपने अधीन कर लिया है, इसीलिये जिसके पास द्रव्यका भी संग्रह नहीं रह गया है, द्रव्याभावके कारण ही समादर न पानेसे जिसके मित्र साथ छोड़ चुके हैं, मन्त्री भी शत्रुओंद्वारा फोड़ लिये गये हैं, जिसपर शत्रुदलका आक्रमण हो गया हो, जो दुर्बल होकर बलवान् शत्रुके द्वारा पीड़ित हो और विपत्तिमें पड़कर जिसका चित्त घबरा उठा हो, उसके लिये कौन-सा कार्य शेष रह जाता है ?—उसे इस संकटसे मुक्त होनेके लिये क्या करना चाहिये ? ॥ १—३ ॥

भीष्म उवाच

बाह्यश्चेद् विजिगीषुः स्याद् धर्मार्थकुशलः शुचिः ।
जवेन संधिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! यदि विजयकी इच्छासे आक्रमण करनेवाला राजा बाहरका हो, उसका आचार-विचार शुद्ध हो तथा वह धर्म और अर्थके साधनमें कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ संधि कर लेनी चाहिये और जो ग्राम तथा नगर अपने पूर्वजोंके अधिकारमें रहे हों, वे यदि आक्रमणकारीके हाथमें चले गये हों तो उसे मधुर वचनों-द्वारा समझा-बुझाकर उसके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा करे ॥४॥

योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान् पापनिश्चयः ।
आत्मनः संनिरोधेन संधिं तेनापि रोचयेत् ॥ ५ ॥

जो विजय चाहनेवाला शत्रु अधर्मपरायण हो तथा बलवान् होनेके साथ ही पापपूर्ण विचार रखता हो, उसके साथ अपना कुछ खोकर भी संधि कर लेनेकी ही इच्छा रक्खे ॥ ५ ॥

अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम् ।
तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपार्जयेत् ॥ ६ ॥

अथवा आवश्यकता हो तो अपनी राजधानीको भी छोड़-कर बहुत-सा द्रव्य देकर उस विपत्तिसे पार हो जाय। यदि वह जीवित रहे तो राजोचित गुणसे युक्त होनेपर पुनः धनका उपार्जन कर सकता है ॥ ६ ॥

यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ७ ॥

खजाना और सेनाका त्याग कर देनेसे ही जहाँ विपत्तियों-को पार किया जा सके, ऐसी परिस्थितिमें कौन अर्थ और धर्मका ज्ञाता पुरुष अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु शरीरका त्याग करेगा ? ॥ ७ ॥

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथंचन ॥ ८ ॥

शत्रुका आक्रमण हो जानेपर राजाको सबसे पहले अपने अन्तःपुरकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिये। यदि वहाँ शत्रुका अधिकार हो जाय, तब उधरसे अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिये; क्योंकि शत्रुके अधिकारमें गये हुए धन और परिवारपर दया दिखाना किस कामका ? जहाँतक सम्भव हो, अपने आपको किसी तरह भी शत्रुके हाथमें नहीं फँसने देना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि बाहर राष्ट्र और दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों और भीतर मन्त्री आदि भी कुपित हों, खजाना खाली हो गया हो और राजाका गुप्त रहस्य सबके कानोंमें पड़ गया हो, तब उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

क्षिप्रं वा संधिकामः स्यात् क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! उस अवस्थामें राजा या तो शीघ्र ही संधिका विचार कर ले अथवा जल्दी-से-जल्दी दुःसह पराक्रम प्रकट करके शत्रुको राज्यसे निकाल बाहर करे, ऐसा उद्योग करते समय यदि कदाचित् मृत्यु भी हो जाय तो वह परलोकमें मङ्गलकारी होती है ॥ १० ॥

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥ ११ ॥

यदि सेना स्वामीके प्रति अनुराग रखनेवाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो तो उस थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी राजा पृथ्वीपर विजय पा सकता है ॥ ११ ॥

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि संत्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१२॥

यदि वह युद्धमें मारा जाय तो स्वर्गलोकके शिखरपर आरूढ़ हो सकता है अथवा यदि उसीने शत्रुको मार लिया तो वह पृथ्वीका राज्य भोग सकता है। जो युद्धमें प्राणोंका परित्याग करता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद् विनयं कुर्याद् विश्वसेच्चाप्युपायतः॥ १३ ॥

अथवा दुर्बल राजा शत्रुमें कोमलता लानेके लिये विपक्ष-

के सभी लोगोंको संतुष्ट करके उनके मनमें विश्वास जमाकर उनसे युद्ध बंद करनेके लिये अनुनय-विनय करे और स्वयं भी उपायपूर्वक उनके ऊपर विश्वास करे ॥ १३ ॥

अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
विलङ्घयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

अथवा वह मधुर वचनोंद्वारा विरोधी दलके मन्त्री आदिको प्रसन्न करके दुर्गसे पलायन करनेका प्रयत्न करे। तदनन्तर कुछ काल व्यतीत करके श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति ले अपनी खोयी हुई सम्पत्ति अथवा राज्यको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न आरम्भ करे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणों और श्रेष्ठ राजाओंके धर्मका वर्णन तथा धर्मकी गतिको सूक्ष्म बताना

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिसंहिते ।
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥ १ ॥
केन स्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ।
असंत्यजन् पुत्रपौत्राननुक्रोशात् पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजाका सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षापर अवलम्बित परम धर्म न निभ सके और भूमण्डलमें आजीविकाके सारे साधनोंपर लुटेरोंका अधिकार हो जाय, तब ऐसा जघन्य संकटकाल उपस्थित होनेपर यदि ब्राह्मण दयावश अपने पुत्रों तथा पौत्रोंका परित्याग न कर सके तो वह किस वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते ।
सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किंचन ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ऐसी परिस्थितिमें ब्राह्मणको तो अपने विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये। इस जगत्‌में यह जो कुछ भी धन आदि दिखायी देता है, वह सब कुछ श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये ही है, दुष्टोंके लिये कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृच्छ्रधर्मविदेव सः ॥ ४ ॥

जो अपनेको सेतु बनाकर दुष्ट पुरुषोंसे धन लेकर श्रेष्ठ पुरुषोंको देता है, वह आपद्धर्मका ज्ञाता है ॥ ४ ॥

आकाङ्क्षन्नात्मनो राज्यं राज्ये स्थितिमकोपयन् ।
अदत्तमेवाददीत दातुर्वित्तं ममेति च ॥ ५ ॥

जो अपने राज्यको बनाये रखना चाहे, उस राजाको उचित है कि वह राज्यकी व्यवस्थाका बिगाड़ न करते हुए ब्राह्मण आदि प्रजाकी रक्षाके उद्देश्यसे ही राज्यके धनियोंका धन मेरा ही है, ऐसा समझकर उनके दिये बिना भी बलपूर्वक ले ले ॥ ५ ॥

विज्ञानबलपूतो यो वर्तते निन्दितेष्वपि ।
वृत्तिविज्ञानवान् धीरः कस्तं वा वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

जो तत्त्वज्ञानके प्रभावसे पवित्र है और किस वृत्तिसे किसका निर्वाह हो सकता है, इस बातको अच्छी तरह समझता है, वह धीर नरेश यदि राज्यको संकटसे बचानेके लिये निन्दित कर्मोंमें भी प्रवृत्त होता है ? तो कौन उसकी निन्दा कर सकता है ? ॥ ६ ॥

येषां बलकृता वृत्तिस्तेषामन्या न रोचते ।
तेजसाभिप्रवर्तन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो बल और पराक्रमसे ही जीविका चलानेवाले हैं, उन्हें दूसरी वृत्ति अच्छी नहीं लगती। बलवान् पुरुष अपने तेजसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ७ ॥

यदैव प्राकृतं शास्त्रमविशेषेण वर्तते ।
तदैवमभ्यसेदेवं मेधावी वाप्यथोत्तरम् ॥ ८ ॥

जब आपद्धर्मोपयोगी प्राकृत शास्त्र ही सामान्यरूपसे चल रहा हो, उस आपत्तिकालमें 'अपने या दूसरेके राज्यसे जैसे भी सम्भव हो, धन लेकर अपना खजाना भरना चाहिये' इत्यादि वचनोंके अनुसार राजा जीवन-निर्वाह करे। परंतु जो मेधावी हो, वह इससे भी आगे बढ़कर 'जो दो राज्योंमें रहनेवाले धनीलोग कंजूसी अथवा असदाचरणके द्वारा दण्ड पाने योग्य हों, उनसे ही धन लेना चाहिये।' इत्यादि विशेष शास्त्रोंका अवलम्बन करे ॥ ८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान् ।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषान् प्राप्नोति घातयन् ॥ ९ ॥

कितनी ही आपत्ति क्यों न हो, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा सत्कृत या असत्कृत ब्राह्मणोंसे, वे धनी हों तो भी धन लेकर उन्हें पीड़ा न दे। यदि राजा उन्हें धनापहरणके द्वारा कष्ट देता है तो पापका भागी होता है ॥ ९ ॥

एतत् प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत् सनातनम् ।
तत् प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत् साध्वसाधु वा ॥ १० ॥

यह मैंने तुम्हें सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत बात बतायी है। यही सनातन दृष्टि है। राजा इसीको प्रमाण मानकर व्यवहारक्षेत्रमें प्रवेश करे तथा इसीके अनुसार आपत्तिकालमें उसे भले या बुरे कार्यका निर्णय करना चाहिये ॥ १० ॥

बहवो ग्रामवास्तव्या रोषाद् ब्रूयुः परस्परम् ।
न तेषां वचनाद् राजा सत्कुर्याद् घातयीत वा ॥ ११ ॥

यदि बहुत-से ग्रामवासी मनुष्य परस्पर रोषवश राजाके

पास आकर एक दूसरेकी निन्दा-स्तुति करें तो राजा केवल उनके कहनेसे ही किसीको न तो दण्ड दे और न किसीका सत्कार ही करे ॥ ११ ॥

न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥ १२ ॥

किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये और न उसे किसी प्रकार सुनना ही चाहिये । यदि कोई दूसरेकी निन्दा करता हो तो वहाँ अपने कान बंद कर ले अथवा वहाँसे उठकर अन्यत्र चला जाय ॥ १२ ॥

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! दूसरोंकी निन्दा करना या चुगली खाना यह दुष्टोंका स्वभाव ही होता है । श्रेष्ठ पुरुष तो सज्जनोंके समीप दूसरोंके गुण ही गाया करते हैं ॥ १३ ॥

यथा सुमधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ॥ १४ ॥

जैसे मनोहर आकृतिवाले, सुशिक्षित तथा अच्छी तरहसे बोझ ढोनेमें समर्थ नयी अवस्थाके दो बैल कंधोंपर भार उठाकर उसे सुन्दर ढंगसे ढोते हैं, उसी प्रकार राजाको भी अपने राज्यका भार अच्छी तरह सँभालना चाहिये ॥ १४॥

यथा यथास्य बहवः सहायाः स्युस्तथा परे ।
आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

जैसे-जैसे आचरणोंसे राजाके बहुत-से दूसरे लोग सहायक हों, वैसे ही आचरण उसे अपनाने चाहिये । धर्मज्ञ पुरुष आचारको ही धर्मका प्रधान लक्षण मानते हैं ॥ १५ ॥

अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः ।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥ १६ ॥

किंतु जो शङ्ख और लिखित मुनिके प्रेमी हैं—उन्हींके मतका अनुसरण करनेवाले हैं, वे दूसरे-दूसरे लोग इस उपर्युक्त मत (ऋत्विक् आदिको दण्ड न देने आदि)को नहीं स्वीकार करते हैं । वे लोग ईर्ष्या अथवा लोभसे ऐसी बात नहीं कहते हैं (धर्म मानकर ही कहते हैं) ॥ १६ ॥

आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम् ।
न तादृक्सदृशं किञ्चित् प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥ १७ ॥

शास्त्र-विपरीत कर्म करनेवालेको दण्ड देनेकी जो बात आती है, उसमें वे आर्षप्रमाण भी देखते हैं* । ऋषियोंके वचनोंके समान दूसरा कोई प्रमाण कहीं भी दिखायी नहीं देता ॥ १७ ॥

देवताश्च विकर्मस्थं पातयन्ति नराधमम् ।
व्याजेन विन्दन् वित्तं हि धर्मात् स परिहीयते ॥ १८ ॥

देवता भी विपरीत कर्ममें लगे हुए अधम मनुष्यको नरकोंमें गिराते हैं; अतः जो छलसे धन प्राप्त करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रवरकारणैः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥ १९ ॥

ऐश्वर्यकी प्राप्तिके जो प्रधान कारण हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जिसका सब प्रकारसे सत्कार करते हैं तथा हृदयसे भी जिसका अनुमोदन होता है, राजा उसी धर्मका अनुष्ठान करे ॥ १९॥

यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात् स धर्मवित् ।
अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ २० ॥

जो वेदविहित, स्मृतिद्वारा अनुमोदित, सज्जनोंद्वारा सेवित तथा अपनेको प्रिय लगनेवाला धर्म है, उसे चतुर्गुणसम्पन्न माना गया है । जो वैसे धर्मका उपदेश करता है, वही धर्मज्ञ है । सर्पके पदचिह्नकी भाँति धर्मके यथार्थ स्वरूपको ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

यथा मृगस्य विद्धस्य पदमेकं पदं नयेत् ।
लक्षेद् रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ २१ ॥

जैसे बाणसे बिंधे हुए मृगका एक पैर पृथ्वीपर रक्तका लेप कर देनेके कारण व्याधको उस मृगके रहनेके स्थानको लक्षित कराकर वहाँ पहुँचा देता है, उसी प्रकार उक्त चतुर्गुणसम्पन्न धर्म भी धर्मके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है ॥

एवं सद्भिर्विनीतेन पथा गन्तव्यमित्युत ।
राजर्षीणां वृत्तमेतदवगच्छ युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम्हें भी चलना चाहिये । इसीको तुम राजर्षियोंका सदाचार समझो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि राजर्षिवृत्तं नाम द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें राजर्षियोंका चरित्रनामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३२॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजाके लिये कोशसंग्रहकी आवश्यकता, मर्यादाकी स्थापना और अमर्यादित दस्युवृत्तिकी निन्दा

भीष्म उवाच

स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राच्च कोशं संजनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजाको चाहिये कि वह अपने तथा शत्रुके राज्यसे धन लेकर खजानेको भरे। कोशसे ही धर्मकी वृद्धि होती है और राज्यकी जड़ें बढ़ती

* यथा—गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥
अर्थात् घमंडमें आकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विचार न करते हुए कुमार्गपर चलनेवाले गुरुको भी दण्ड देना आवश्यक है।

अर्थात् सुदृढ़ होती हैं ॥ १ ॥

तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ॥ २ ॥

इसलिये राजा कोशका संग्रह करे, संग्रह करके सादर उसकी रक्षा करे और रक्षा करके निरन्तर उसको बढ़ाता रहे; यही राजाका सदासे चला आनेवाला धर्म है ॥ २ ॥

न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् ।
मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ३ ॥

जो विशुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाला है, उसके द्वारा कभी कोशका संग्रह नहीं हो सकता । जो अत्यन्त क्रूर है, वह भी कदापि इसमें सफल नहीं हो सकता; अतः मध्यम मार्गका आश्रय लेकर कोश संग्रह करना चाहिये ॥ ३ ॥

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥ ४ ॥

यदि राजा बलहीन हो तो उसके पास कोश कैसे रह सकता है ? कोशहीनके पास सेना कैसे रह सकती है ? जिसके पास सेना ही नहीं है, उसका राज्य कैसे टिक सकता है और राज्यहीनके पास लक्ष्मी कैसे रह सकती है ? ॥ ४ ॥

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥ ५ ॥

जो धनके कारण ऊँचे तथा महत्त्वपूर्ण पदपर पहुँचा हुआ है, उसके धनकी हानि हो जाय तो उसे मृत्युके तुल्य कष्ट होता है, अतः राजाको कोश, सेना तथा मित्रकी संख्या बढ़ानी चाहिये ॥ ५ ॥

हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥ ६ ॥

जिस राजाके पास धनका भण्डार नहीं है, उसकी साधारण मनुष्य भी अवहेलना करते हैं । उससे थोड़ा लेकर लोग संतुष्ट नहीं होते हैं और न उसका कार्य करनेमें ही उत्साह दिखाते हैं ॥ ६ ॥

श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ॥ ७ ॥

लक्ष्मीके कारण ही राजा सर्वत्र बड़ा भारी आदर-सत्कार पाता है । जैसे कपड़ा नारीके गुप्त अङ्गोंको छिपाये रखता है, उसी प्रकार लक्ष्मी राजाके सारे दोषोंको ढक लेती है ॥ ७ ॥

ऋद्धिमस्यानु तप्यन्ते पुरा विप्रकृता नराः ।
शालावृका इवाजस्रं जिघांसुमेव विन्दति ॥ ८ ॥

पहलेके तिरस्कृत हुए मनुष्य इस राजाकी बढ़ती हुई समृद्धिको देखकर जलते रहते हैं और अपने वधकी इच्छा रखनेवाले उस राजाका ही कपटपूर्वक आश्रय ले उसी तरह उसकी सेवा करते हैं, जैसे कुत्ते अपने घातक चाण्डालकी सेवामें रहते हैं ॥ ८ ॥

ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भवति भारत ।
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ॥ ९ ॥
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ।

भारत ! ऐसे नरेशको कैसे सुख मिलेगा ? अतः राजाको सदा उद्यम ही करना चाहिये, किसीके सामने झुकना नहीं चाहिये; क्योंकि उद्यम ही पुरुषत्व है । जैसे सूखी लकड़ी बिना गाँठके ही टूट जाती है, परंतु झुकती नहीं है, उसी प्रकार राजा नष्ट भले ही हो जाय, परंतु उसे कभी दबना नहीं चाहिये ॥ ९½ ॥

अप्यरण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह ॥ १० ॥
न त्वेवोज्झितमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत् ।

वह वनकी शरण लेकर मृगोंके साथ भले ही विचरे, किंतु मर्यादा भंग करनेवाले डाकुओंके साथ कदापि न रहे ॥

दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ ११ ॥
एकान्ततो ह्यमर्यादात् सर्वोऽप्युद्विजते जनः ।
दस्यवोऽप्यभिशङ्कन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥ १२ ॥

भारत ! डाकुओंको लूट-पाट या हिंसा आदि भयानक कर्मोंके लिये अनायास ही सेना सुलभ हो जाती है । सर्वथा मर्यादाशून्य मनुष्यसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं । केवल निर्दयतापूर्ण कर्म करनेवाले पुरुषकी ओरसे डाकू भी शङ्कित रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनीम् ।
अल्पेऽप्यर्थे च मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥ १३ ॥

राजाको ऐसी ही मर्यादा स्थापित करनी चाहिये, जो सब लोगोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली हो । लोकमें छोटे-से काममें भी मर्यादाका ही मान होता है ॥ १३ ॥

नायं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः ।
नालं गन्तुं हि विश्वासं नास्तिके भयशङ्किते ॥ १४ ॥

संसारमें ऐसे भी मनुष्य हैं, जो यह निश्चय किये बैठे हैं कि 'यह लोक और परलोक हैं ही नहीं ।' ऐसा नास्तिक मानव भयकी शङ्काका स्थान है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा सद्भिः परादानमहिंसा दस्युभिः कृता ।
अनुरज्यन्ति भूतानि समर्यादेषु दस्युषु ॥ १५ ॥

दस्युओंमें भी मर्यादा होती है, जैसे अच्छे डाकू दूसरोंका धन तो लूटते हैं, परंतु हिंसा नहीं करते (किसीकी इज्जत नहीं लेते) । जो मर्यादाका ध्यान रखते हैं, उन लुटेरोंमें बहुत-से प्राणी स्नेह भी करते हैं (क्योंकि उनके द्वारा बहुतोंकी रक्षा भी होती है) ॥ १५ ॥

अयुद्ध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता ।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा ॥ १६ ॥
स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद् विगर्हितम् ।
संश्लेषं च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत् ॥ १७ ॥

युद्ध न करनेवालेको मारना, परायी स्त्रीपर बलात्कार करना, कृतघ्नता, ब्राह्मणके धनका अपहरण, किसीका सर्वस्व छीन लेना, कुमारी कन्याका अपहरण करना तथा किसी ग्राम आदिपर आक्रमण करके स्वयं उसका स्वामी बन बैठना—ये सब बातें डाकुओंमें भी निन्दित मानी गयी

हैं। दस्युको भी परस्त्रीका स्पर्श और उपर्युक्त सभी पाप त्याग देने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अभिसंदधते ये च विश्वासायास्य मानवाः ।
अशेषमेवोपलभ्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥ १८ ॥

जिनका सर्वस्व लूट लिया जाता है, वे मनुष्य उन डाकुओंके साथ मेलजोल और विश्वास बढ़ानेकी चेष्टा करते हैं और उनके स्थान आदिका पता लगाकर फिर उनका सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, यह निश्चित बात है ॥ १८ ॥

तस्मात् सशेषं कर्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः ।
न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् ॥ १९ ॥

इसलिये दस्युओंको उचित है कि वे दूसरोंके धनको अपने अधिकारमें पाकर भी कुछ शेष छोड़ दें, साराका सारा न लूट लें। 'मैं बलवान् हूँ' ऐसा समझकर क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करे ॥ १९ ॥

स शेषकारिणस्तत्र शेषं पश्यन्ति सर्वशः ।
निःशेषकारिणो नित्यं निःशेषकरणाद् भयम् ॥ २० ॥

जो डाकू दूसरोंके धनको शेष छोड़ देते हैं, वे सब ओर अपने धनका भी अवशेष देख पाते हैं तथा जो दूसरोंके धनमेंसे कुछ भी शेष नहीं छोड़ते, उन्हें सदा अपने धनके भी निःशेष हो जानेका भय बना रहता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बलकी महत्ता और पापसे छूटनेका प्रायश्चित्त

भीष्म उवाच

अत्र धर्मानुवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः ।
प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! प्राचीनकालकी बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें जो धर्मका प्रवचन करते हैं, वह इस प्रकार है—विज्ञ क्षत्रियके लिये धर्म और अर्थ—ये दो ही प्रत्यक्ष हैं ॥ १ ॥

तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षा धर्मयापना ।
अधर्मो धर्म इत्येतद् यथा वृकपदं तथा ॥ २ ॥

धर्म और अधर्मकी समस्या रखकर किसीके कर्तव्यमें व्यवधान नहीं डालना चाहिये; क्योंकि धर्मका फल प्रत्यक्ष नहीं है। जैसे भेड़ियेका पदचिह्न देखकर किसीको यह निश्चय नहीं होता कि यह व्याघ्रका पदचिह्न है या कुत्तेका? उसी प्रकार धर्म और अधर्मके विषयमें निर्णय करना कठिन है ॥ २ ॥

धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन ।
बुभूषेद् बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्मका फल किसीने कभी यहाँ प्रत्यक्ष नहीं देखा है। अतः राजा बलप्राप्तिके लिये प्रयत्न करे; क्योंकि यह सब जगत् बलवान्‌के वशमें होता है ॥ ३ ॥

श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति ।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥ ४ ॥

बलवान् पुरुष इस जगत्‌में सम्पत्ति, सेना और मन्त्री सब कुछ पा लेता है। जो दरिद्र है, वह पतित समझा जाता है और किसीके पास जो बहुत थोड़ा धन है, वह उच्छिष्ट या जूठन समझा जाता है ॥ ४ ॥

बह्वपथ्यं बलवति न किंचित् क्रियते भयात् ।
उभौ सत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो भयात् ॥ ५ ॥

बलवान् पुरुषमें बहुत-सी बुराई होती है तो भी भयके मारे उसके विषयमें कोई मुँहसे कुछ बात नहीं निकालता है। यदि बल और धर्म दोनों सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हों तो वे मनुष्यकी महान् भयसे रक्षा करते हैं ॥ ५ ॥

अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद् धर्मः प्रवर्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥ ६ ॥

मैं अधिक धर्मसे भी बलको ही श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि बलसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है। जैसे चलने-फिरनेवाले सभी प्राणी पृथ्वीपर ही स्थित हैं, उसी प्रकार धर्म बलपर ही प्रतिष्ठित है ॥

धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते ।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता ॥ ७ ॥

जैसे धूआँ वायुके अधीन होकर चलता है, उसी प्रकार धर्म भी बलका अनुसरण करता है; अतः जैसे लता किसी वृक्षके सहारे फैलती है, उसी प्रकार निर्बल धर्म बलके ही आधारपर सदा स्थिर रहता है ॥ ७ ॥

वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥ ८ ॥

जैसे भोग-सामग्रीसे सम्पन्न पुरुषोंके अधीन सुख-भोग होता है, उसी प्रकार धर्म बलवानोंके वशमें रहता है। बलवानोंके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। बलवानोंकी सारी वस्तु ही शुद्ध एवं निर्दोष होती है ॥ ८ ॥

दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति ।
अथ तस्मादुद्विजते सर्वो लोको वृकादिव ॥ ९ ॥

जिसका बल नष्ट हो गया है, जो दुराचारी है, उसको भय उपस्थित होनेपर कोई रक्षक नहीं मिलता है। दुर्बलसे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न हो उठते हैं, जैसे भेड़ियेसे ॥ ९ ॥

अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।

जीवितं यदपकृष्टं यथैव मरणं तथा ॥ १० ॥

दुर्बल अपनी सम्पत्तिसे वञ्चित हो जाता है, सबके अपमान और उपेक्षाका पात्र बनता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। जो जीवन निन्दित हो जाता है, वह मृत्युके ही तुल्य है ॥ १० ॥

यदेवमाहुः पापेन चारित्रेण विवर्जितः।
सुभृशं तप्यते तेन वाक्शल्येन परिक्षतः ॥ ११ ॥

दुर्बल मनुष्यके विषयमें लोग इस प्रकार कहने लगते हैं—'अरे ! यह तो अपने पापाचारके कारण बन्धु-बान्धवों-द्वारा त्याग दिया गया है।' उनके उस वाग्बाणसे घायल होकर वह अत्यन्त संतप्त हो उठता है ॥ ११ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिमोक्षणे।
त्रयीं विद्यामवेक्षेत तथोपासीत वै द्विजान् ॥ १२ ॥
प्रसादयेन्मधुरया वाचा चाप्यथ कर्मणा।
महामनाश्चापि भवेद् विवहेच्च महाकुले ॥ १३ ॥
इत्यस्मीति वदेदेवं परेषां कीर्तयेद् गुणान्।
जपेदुदकशीलः स्यात् पेशलो नातिजल्पकः ॥ १४ ॥
ब्रह्मक्षत्रं सम्प्रविशेद् बहु कृत्वा सुदुष्करम्।
उच्यमानो हि लोकेन बहुकृत् तदचिन्तयन् ॥ १५ ॥

यहाँ अधर्मपूर्वक धनका उपार्जन करनेपर जो पाप होता है, उससे छूटनेके लिये आचार्योंने यह उपाय बताया है—उक्त पापसे लिप्त हुआ राजा तीनों वेदोंका स्वाध्याय करे, ब्राह्मणोंकी सेवामें उपस्थित रहे, मधुर वाणी तथा सत्कर्मोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करे, अपने मनको उदार बनावे और उच्चकुलमें विवाह करे। मैं अमुक नामवाला आपका सेवक हूँ, इस प्रकार अपना परिचय दे, दूसरोंके गुणोंका बखान करे, प्रतिदिन स्नान करके इष्ट-मन्त्रका जप करे, अच्छे स्वभावका बने, अधिक न बोले, लोग उसे बहुत पापाचारी बताकर उसकी निन्दा करें तो भी उसकी परवा न करे और अत्यन्त दुष्कर तथा बहुत-से पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके समाजमें प्रवेश करे ॥ १२—१५ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत्।
सुखं च चित्रं भुञ्जीत कृतेनैकेन गोपयेत् ॥ १६ ॥
लोके च लभते पूजां परत्रेह महत् फलम् ॥ १७ ॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष पापहीन हो शीघ्र ही बहुसंख्यक मनुष्योंके आदरका पात्र हो जाता है, नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है और अपने किये हुए एक सत्कर्मके प्रभावसे अपनी रक्षा कर लेता है। लोकमें सर्वत्र उसका आदर होने लगता है तथा वह इहलोक और परलोकमें भी महान् फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मर्यादाका पालन करने-करानेवाले कायव्यनामक दस्युकी सद्गतिका वर्णन

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावे न नश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो दस्यु (डाकू) मर्यादाका पालन करता है, वह मरनेके बाद दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इस विषयमें विद्वान् पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

प्रहर्ता मतिमाञ्शूरः श्रुतवाननृशंसवान्।
रक्षन्नाश्रमिणां धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥ २ ॥
निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः।
कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात् सिद्धिमाप्तवान् ॥ ३ ॥

कायव्यनामसे प्रसिद्ध एक निषादपुत्रने दस्यु होनेपर भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वह प्रहारकुशल, शूरवीर, बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ, क्रूरतारहित, आश्रमवासियोंके धर्मकी रक्षा करनेवाला, ब्राह्मणभक्त और गुरुपूजक था। वह क्षत्रिय पितासे एक निषादजातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था; अतः क्षत्रिय-धर्मका निरन्तर पालन करता था ॥ २-३ ॥

अरण्ये सायं पूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता।
विधिज्ञो मृगजातीनां नैषादानां च कोविदः ॥ ४ ॥

कायव्य प्रतिदिन प्रातःकाल औ सायङ्कालके समय वनमें जाकर मृगोंकी टोलियोंको उत्तेजित कर देता था। वह मृगोंकी विभिन्न जातियोंके स्वभावसे परिचित तथा उन्हें काबूमें करनेकी कलाको जाननेवाला था। निषादोंमें वह सबसे निपुण था ॥ ४ ॥

सर्वकाननदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा।
धर्मज्ञः सर्वभूतानाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥

उसे वनके सम्पूर्ण प्रदेशोंका ज्ञान था। वह सदा पारियात्र पर्वतपर विचरनेवाला तथा समस्त प्राणियोंके धर्मोंका ज्ञाता था। उसका बाण लक्ष्य बेधनेमें अचूक था। उसके सारे अस्त्र-शस्त्र सुदृढ़ थे ॥ ५ ॥

अप्यनेकशतां सेनामेक एव जिगाय सः।
स वृद्धावन्धबधिरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ॥ ६ ॥

वह सैकड़ों मनुष्योंकी सेनाको अकेले ही जीत लेता था और उस महान् वनमें रहकर अपने अन्धे और बहरे माता-पिताकी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ६ ॥

मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि ।
सत्कृत्य भोजयामास मान्यान् परिचचार च ॥ ७ ॥

वह निषाद मधु, मांस, फल, मूल तथा नाना प्रकारके अन्नोंद्वारा माता-पिताको सत्कारपूर्वक भोजन कराता था तथा दूसरे-दूसरे माननीय पुरुषोंकी भी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ७ ॥

आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान् परिपूजयन् ।
अपि तेभ्यो गृहान् गत्वा निनाय सततं वने ॥ ८ ॥

वह वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ और संन्यासी ब्राह्मणोंकी पूजा करता और प्रतिदिन उनके घरमें जाकर उनके लिये अन्न आदि वस्तुएँ पहुँचा देता था ॥ ८ ॥

येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया ।
तेषामासज्य गेहेषु कल्य एव स गच्छति ॥ ९ ॥

जो लोग लुटेरेके घरका भोजन होनेकी आशङ्कासे उसके हाथसे अन्न नहीं ग्रहण करते थे, उनके घरोंमें वह बड़े सबेरे ही अन्न और फल-मूल आदि भोजनसामग्री रख जाता था ॥९॥

बहूनि च सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे ।
निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्तिनाम् ॥ १० ॥

एक दिन मर्यादाका अतिक्रमण और भाँति-भाँतिके क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले कई हजार डाकुओंने उससे अपना सरदार बननेके लिये प्रार्थना की ॥ १० ॥

दस्यव ऊचुः

मुहूर्तदेशकालज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव सम्मतः ॥ ११ ॥

डाकू बोले—तुम देश, काल और मुहूर्तके ज्ञाता, विद्वान्, शूरवीर और दृढप्रतिज्ञ हो; इसलिये हम सब लोगोंकी सम्मतिसे तुम हमारे सरदार हो जाओ ॥ ११ ॥

यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ।
पालयास्मान् यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ १२ ॥

तुम हमें जैसी-जैसी आज्ञा दोगे, वैसा-ही-वैसा हम करेंगे। तुम माता-पिताके समान हमारी यथोचित रीतिसे रक्षा करो।१२।

कायव्य उवाच

मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम् ।
नायुद्ध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात् स्त्रियः॥१३॥

कायव्यने कहा—प्रिय बन्धुओ ! तुम कभी स्त्री, डरपोक, बालक और तपस्वीकी हत्या न करना। जो तुमसे युद्ध न कर रहा हो, उसका भी वध न करना। स्त्रियोंको कभी बलपूर्वक न पकड़ना ॥ १३ ॥

सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित् ।
नित्यं तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः ॥ १४ ॥

तुममेंसे कोई भी सभी प्राणियोंके स्त्रीवर्गकी किसी तरह भी हत्या न करे। ब्राह्मणोंके हितका सदा ध्यान रखना। आवश्यकता हो तो उनकी रक्षाके लिये युद्ध भी करना ॥ १४ ॥

शस्यं च नापि हर्तव्यं सारविघ्नं च मा कृथाः ।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा ॥ १५ ॥

खेतकी फसल न उखाड़ लाना, विवाह आदि उत्सवोंमें विघ्न न डालना, जहाँ देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा होती हो, वहाँ कोई उपद्रव न खड़ा करना ॥ १५ ॥

सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति ।
कार्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें ब्राह्मण विशेषरूपसे डाकुओंके हाथसे छुटकारा पानेका अधिकारी है। अपना सर्वस्व लगाकर भी तुम्हें उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यस्य ह्येते सम्प्ररुष्टा मन्त्रयन्ति पराभवम् ।
न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥

देखो, ब्राह्मणलोग कुपित होकर जिसके पराभवका चिन्तन करने लगते हैं, उसका तीनों लोकोंमें कोई रक्षक नहीं होता ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणान् परिवदेद् विनाशं चापि रोचयेत् ।
सूर्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता और उनका विनाश चाहता है, उसका जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी प्रकार अवश्य ही पतन हो जाता है ॥ १८ ॥

इहैव फलमासीनः प्रत्याकाङ्क्षेत सर्वशः ।
ये ये नो न प्रदास्यन्ति तांस्तांस्तेनाभियास्यसि ॥ १९ ॥

तुमलोग यहीं बैठे-बैठे लुटेरेपनका जो फल है, उसे पानेकी अभिलाषा रक्खो। जो-जो व्यापारी हमें स्वेच्छासे धन नहीं देंगे, उन्हीं-उन्हींपर तुम दल बाँधकर आक्रमण करोगे ॥१९॥

शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृद्ध्यर्थं विनिश्चयः ।
ये च शिष्टान् प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः॥ २० ॥

दण्डका विधान दुष्टोंके दमनके लिये है, अपना धन बढ़ानेके लिये नहीं। जो शिष्ट पुरुषोंको सताते हैं, उनका वध ही उनके लिये दण्ड माना गया है ॥ २० ॥

ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केचन ।
तदैव तेऽनुमार्यन्ते कुणपे क्रमयो यथा ॥ २१ ॥

जो लोग राष्ट्रको हानि पहुँचाकर अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे मुर्दोंमें पड़े हुए कीड़ोंके समान उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्तेरन्निह दस्यवः ।
अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥

जो दस्यु-जातिमें उत्पन्न होकर भी धर्मशास्त्रके अनुसार आचरण करते हैं, वे लुटेरे होनेपर भी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं (ये सब बातें तुम्हें स्वीकार हों तो मैं तुम्हारा सरदार बन सकता हूँ) ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

ते सर्वमेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनम् ।
वृद्धिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर उन दस्युओंने कायव्य-

की सारी आज्ञा मान ली और सदा उसका अनुसरण किया। इससे उन सभीकी उन्नति हुई और वे पाप-कर्मोंसे हट गये॥ २३॥

कायव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान्।
साधूनामाचरन् क्षेमं दस्यून् पापान्निवर्तयन्॥ २४॥

कायव्यने उस पुण्यकर्मसे बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त कर ली; क्योंकि उसने साधु पुरुषोंका कल्याण करते हुए डाकुओं-को पापसे बचा लिया था॥ २४॥

इदं कायव्यचरितं यो नित्यमनुचिन्तयेत्।
नारण्येभ्यो हि भूतेभ्यो भयं प्राप्नोति किंचन॥ २५॥

जो प्रतिदिन कायव्यके इस चरित्रका चिन्तन करता है, उसे वनवासी प्राणियोंसे किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं प्राप्त होता॥२५॥

न भयं तस्य भूतेभ्यः सर्वेभ्यश्चैव भारत।
नासतो विद्यते राजन् स ह्यरण्येषु गोपतिः॥ २६॥

भारत! उसे सम्पूर्ण भूतोंसे भी भय नहीं होता। राजन्! किसी दुष्टात्मासे भी उसको डर नहीं लगता। वह तो वनका अधिपति हो जाता है॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कायव्यचरिते पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कायव्यका चरित्रविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३५॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा किसका धन ले और किसका न ले तथा किसके साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार

भीष्म उवाच

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
येन मार्गेण राजा वै कोशं संजनयत्युत॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिस मार्ग या उपायसे राजा अपना खजाना भरता है, उसके विषयमें प्राचीन इतिहासके जानकारलोग ब्रह्माजीकी कही हुई कुछ गाथाएँ कहा करते हैं॥ १॥

न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति॥ २॥

राजाको यज्ञानुष्ठान करनेवाले द्विजोंका धन नहीं लेना चाहिये। इसी प्रकार उसे देवसम्पत्तिमें भी हाथ नहीं लगाना चाहिये। वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्योंके धनका अपहरण कर सकता है॥ २॥

इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते॥ ३॥
तदस्य स्याद् बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।

भरतनन्दन! ये समस्त प्रजाएँ क्षत्रियोंकी हैं। राज्यभोग भी क्षत्रियोंके ही हैं और सारा धन भी उन्हींका है, दूसरेका नहीं है; किंतु वह धन उसकी सेनाके लिये है या यज्ञानुष्ठानके लिये॥ ३½॥

अभोग्याश्चौषधीश्छित्त्वा भोग्या एव पचन्त्युत॥ ४॥
यो वै न देवान् न पितॄन् न मर्त्यान् हविषार्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥ ५॥
हरेत् तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः॥ ६॥

राजन्! जो खाने योग्य नहीं हैं, उन ओषधियों या वृक्षोंको काटकर मनुष्य उनके द्वारा खाने योग्य ओषधियोंको पकाते हैं। इसी प्रकार जो देवताओं, पितरों और मनुष्योंका हविष्यके द्वारा पूजन नहीं करता है, उसके धनको धर्मज्ञ पुरुषोंने व्यर्थ बताया है। अतः धर्मात्मा राजा ऐसे धनको छीन ले और उसके द्वारा प्रजाका पालन करे, किंतु वैसे धनसे राजा अपना कोश न भरे॥ ४—६॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ ७॥

जो राजा दुष्टोंसे धन छीनकर उसे श्रेष्ठ पुरुषोंको बाँट देता है, वह अपने आपको सेतु बनाकर उन सबको पार कर देता है। उसे सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता ही मानना चाहिये॥७॥

तथा तथा जयेल्लोकाञ्शक्त्या चैव यथा यथा।
उद्भिज्जा जन्तवो यद्वच्छुक्लजीवा यथा यथा॥ ८॥
अनिमित्तात् सम्भवन्ति तथायज्ञः प्रजायते॥ ९॥
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥ १०॥

धर्मज्ञ राजा अपनी शक्तिके अनुसार उसी-उसी तरह लोकोंपर विजय प्राप्त करे, जैसे उद्भिज्ज जन्तु (वृक्ष आदि) अपनी शक्तिके अनुसार आगे बढ़ते हैं तथा जैसे वज्रकीट आदि क्षुद्र जीव बिना ही निमित्तके उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही बिना ही कारणके यज्ञहीन कर्तव्यविरोधी मनुष्य भी राज्यमें उत्पन्न हो जाते हैं। अतः राजाको चाहिये कि मच्छर, डाँस और चींटी आदि कीटोंके साथ जैसा बर्ताव किया जाता है, वही बर्ताव उन सत्कर्मविरोधियोंके साथ करे, जिससे धर्मका प्रचार हो॥८—१०॥

यथा ह्यकस्माद् भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः।
तथैवेह भवेद् धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा॥ ११॥

जिस प्रकार अकस्मात् पृथ्वीकी धूलको लेकर सिलपर पीसा जाय तो वह और भी महीन ही होती है, उसी प्रकार विचार करनेसे धर्मका स्वरूप उत्तरोत्तर सूक्ष्म जान पड़ता है॥११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्म पर्वमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३६॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आनेवाले संकटसे सावधान रहनेके लिये दूरदर्शी, तत्कालज्ञ और दीर्घसूत्री—इन तीन मत्स्योंका दृष्टान्त

भीष्म उवाच

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, उसे अनागतविधाता कहते हैं तथा जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति' कहलाता है। ये दो ही प्रकारके लोग सुखसे अपनी उन्नति करते हैं; परंतु जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला होता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अत्रैव चेदमव्यग्रं शृणुष्वाख्यानमुत्तमम्।
दीर्घसूत्रमुपाश्रित्य कार्याकार्यविनिश्चये ॥ २ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करनेमें जो दीर्घसूत्री होता है, उसको लेकर मैं एक सुन्दर उपाख्यान सुना रहा हूँ। तुम स्वस्थचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

नातिगाधे जलाधारे सुहृदः कुशलास्त्रयः।
प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभूवुः सहचारिणः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन! कहते हैं, एक तालाबमें जो अधिक गहरा नहीं था, बहुत सी मछलियाँ रहती थीं, उसी जलाशयमें तीन कार्यकुशल मत्स्य भी रहते थे, जो सदा साथ-साथ विचरनेवाले और एक दूसरेके सुहृद् थे ॥ ३ ॥

तत्रैको दीर्घकालज्ञ उत्पन्नप्रतिभोऽपरः।
दीर्घसूत्रश्च तत्रैकस्त्रयाणां सहचारिणाम् ॥ ४ ॥

वहाँ उन तीनों सहचारियोंमेंसे एक तो (अनागतविधाता था, जो) आनेवाले दीर्घकालतककी बात सोच लेता था। दूसरा प्रत्युत्पन्नमति था, जिसकी प्रतिभा ठीक समयपर ही काम दे देती थी और तीसरा दीर्घसूत्री था (जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करता था) ॥ ४ ॥

कदाचित् तं जलस्थायं मत्स्यबन्धाः समन्ततः।
निस्स्रावयामासुरथो निम्नेषु विविधैर्मुखैः ॥ ५ ॥

एक दिन कुछ मछलीमारोंने उस जलाशयमें चारों ओरसे नालियाँ बनाकर अनेक द्वारोंसे उसका पानी आसपासकी नीची भूमिमें निकालना आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥

प्रक्षीयमाणं तं दृष्ट्वा जलस्थायं भयागमे।
अब्रवीद् दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥ ६ ॥

जलाशयका पानी घटता देख भय आनेकी सम्भावना समझकर दूरतककी बातें सोचनेवाले उस मत्स्यने अपने उन दोनों सुहृदोंसे कहा— ॥ ६ ॥

इयमापत् समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम्।
शीघ्रमन्यत्र गच्छामः पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ७ ॥

'बन्धुओ! जान पड़ता है कि इस जलाशयमें रहनेवाले सभी मत्स्योंपर संकट आ पहुँचा है; इसलिये जबतक हमारे निकलनेका मार्ग दूषित न हो जाय, तबतक शीघ्र ही हमें यहाँसे अन्यत्र चले जाना चाहिये ॥ ७ ॥

अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधयेत्।
स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे ॥ ८ ॥

'जो आनेवाले संकटको उसके आनेसे पहले ही अपनी अच्छी नीतिद्वारा मिटा देता है, वह कभी प्राण जानेके संशयमें नहीं पड़ता। यदि आपलोगोंको मेरी बात ठीक जान पड़े, तो चलिये, दूसरे जलाशयको चलें' ॥ ८ ॥

दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत् सम्यगुच्यते।
न तु कार्या त्वरा तावदिति मे निश्चिता मतिः॥ ९ ॥

इसपर वहाँ जो दीर्घसूत्री था, उसने कहा—मित्र! तुम बात तो ठीक कहते हो; परंतु मेरा यह दृढ़ विचार है कि अभी हमें जल्दी नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

अथ सम्प्रतिपत्तिज्ञः प्राब्रवीद् दीर्घदर्शिनम्।
प्राप्ते काले न मे किंचिन्न्यायतः परिहास्यते ॥ १० ॥

तदनन्तर प्रत्युत्पन्नमतिने दूरदर्शीसे कहा 'मित्र! जब समय आ जाता है, तब मेरी बुद्धि न्यायतः कोई युक्ति ढूँढ़ निकालनेमें कभी नहीं चूकती है' ॥ १० ॥

एवं श्रुत्वा निराक्रम्य दीर्घदर्शी महामतिः।
जगाम स्रोतसा तेन गम्भीरं सलिलाशयम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर परम बुद्धिमान् दीर्घदर्शी (अनागतविधाता) वहाँसे निकलकर एक नालीके रास्तेसे दूसरे गहरे जलाशयमें चला गया ॥ ११ ॥

ततः प्रसृततोयं तं प्रसमीक्ष्य जलाशयम्।
बबन्धुर्विविधैर्योगैर्मत्स्यान् मत्स्योपजीविनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर मछलियोंसे ही जीविका चलानेवाले मछलीमारोंने जब यह देखा कि जलाशयका जल प्रायः बाहर निकल चुका है, तब उन्होंने अनेक उपायोंद्वारा वहाँकी सब मछलियोंको फँसा लिया ॥ १२ ॥

विलोड्यमाने तस्मिंस्तु स्रुततोये जलाशये।
अगच्छद् बन्धनं तत्र दीर्घसूत्रः सहापरैः ॥ १३ ॥

जिसका पानी बाहर निकल चुका था, वह जलाशय जब मथा जाने लगा, तब दीर्घसूत्री भी दूसरे मत्स्योंके साथ जालमें फँस गया ॥ १३ ॥

उद्दाने क्रियमाणे तु मत्स्यानां तत्र रज्जुभिः।
प्रविश्यान्तरमेतेषां स्थितः सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १४ ॥

जब मछलीमार रस्सी खींचकर मछलियोंसे भरे हुए उस जालको उठाने लगे, तब प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य भी उन्हीं मत्स्योंके भीतर घुसकर जालमें बँध-सा गया ॥ १४ ॥

गृह्यमेव तदुद्दानं गृहीत्वा तं तथैव सः।

सर्वानेव च तांस्तत्र ते विदुर्ग्रथितानिति ॥ १५ ॥

वह जाल मुखसे पकड़ने योग्य था; अतः उसकी ताँतको मुँहमें लेकर वह भी अन्य मछलियोंकी तरह बँधा हुआ प्रतीत होने लगा। मछलीमारोंने उन सब मछलियोंको वहाँ बँधा हुआ ही समझा ॥ १५ ॥

ततः प्रक्षाल्यमानेषु मत्स्येषु विपुले जले।
मुक्त्वा रज्जुं प्रमुक्तोऽसौ शीघ्रं सम्प्रतिपत्तिमान् ॥

तदनन्तर उस जालको लेकर वे मछलीमार जब दूसरे अगाध जलवाले जलाशयके समीप गये और उन मछलियोंको धोने लगे, उसी समय प्रत्युत्पन्नमति मुखमें ली हुई जालकी रस्सीको छोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो गया और जलमें समा गया ॥ १६ ॥

दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः।
मरणं प्राप्तवान् मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥ १७ ॥

परंतु बुद्धिहीन और आलसी मूर्ख दीर्घसूत्री अचेत होकर मृत्युको प्राप्त हुआ, जैसे कोई इन्द्रियोंके नष्ट होनेसे नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्राप्ततमं कालं यो मोहान्नावबुद्ध्यते।
स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घसूत्रो यथा झषः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो पुरुष मोहवश अपने सिरपर आये हुए कालको नहीं समझ पाता, वह उस दीर्घसूत्री मत्स्यके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान्।
स संशयमवाप्नोति यथा सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १९ ॥

जो पुरुष यह समझकर कि मैं बड़ा कार्यकुशल हूँ, पहलेसे ही अपने कल्याणका उपाय नहीं करता, वह प्रत्युत्पन्नमति मत्स्यके समान प्राणसंशयकी स्थितिमें पड़ जाता है ॥

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥ २० ॥

जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, वह 'अनागतविधाता' और जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका कोई उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति'—ये दो ही सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं; परंतु प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला 'दीर्घसूत्री' नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

काष्ठाः कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवाः।
मासाः पक्षाः षड् ऋतवः कल्पः संवत्सरास्तथा॥ २१ ॥
पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं ध्यायते यच्च तत्तथा ॥ २२ ॥

काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, लव, मास, पक्ष, छः ऋतु,, संवत्सर और कल्प—इन्हें 'काल' कहते हैं तथा पृथ्वीको 'देश' कहा जाता है। इनमेंसे देशका तो दर्शन होता है, किंतु काल दिखायी नहीं देता है। अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये जिस देश और कालको उपयोगी मानकर उसका विचार किया जाता है, उसको ठीक-ठीक ग्रहण करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः।
प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामे चाभिमतौ नृणाम् ॥ २३ ॥

ऋषियोंने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रमें इन देश और कालको ही कार्य-सिद्धिका प्रधान उपाय बताया है। मनुष्योंकी कामना-सिद्धिमें भी ये देश और काल ही प्रधान माने गये हैं॥ २३ ॥

परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत्।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पुरुष सोच-समझकर या जान-बूझकर काम करनेवाला तथा सतत सावधान रहनेवाला है, वह अभीष्ट देश और कालका ठीक-ठीक उपयोग करता और उनके सहयोगसे इच्छानुसार फल प्राप्त कर लेता है ॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि शाकुलोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें शाकुलोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुओंसे घिरे हुए राजाके कर्त्तव्यके विषयमें बिडाल और चूहेका आख्यान

युधिष्ठिर उवाच

सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ।
अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतश्रेष्ठ! आपने सर्वत्र अनागत (संकट आनेसे पहले ही आत्मरक्षाकी व्यवस्था करनेवाली) तथा प्रत्युत्पन्न (समयपर बचावका उपाय सोच लेनेवाली) बुद्धिको ही श्रेष्ठ बताया है और प्रत्येक कार्यमें आलस्यके कारण विलम्ब करनेवाली बुद्धिको विनाशकारी बताया है ॥ १ ॥

तदिच्छामि परां श्रोतुं बुद्धिं ते भरतर्षभ।
यथा राजा न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥
धर्मार्थकुशलो राजा धर्मशास्त्रविशारदः।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

भरतभूषण! अतः अब मैं उस श्रेष्ठ बुद्धिके विषयमें आपसे सुनना चाहता हूँ, जिसका आश्रय लेनेसे धर्म और अर्थमें कुशल तथा धर्मशास्त्रविशारद राजा शत्रुओंद्वारा घिरा रहनेपर भी मोहमें नहीं पड़ता। कुरुश्रेष्ठ! उसी बुद्धिके विषयमें मैं आपसे प्रश्न करता हूँ; अतः आप मेरे लिये उसकी व्याख्या करें ॥ २-३ ॥

शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्तेत पार्थिवः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथाविधि ॥ ४ ॥

बहुत-से शत्रुओंका आक्रमण हो जानेपर राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये ? यह सब कुछ मैं विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः ।
बहवोऽप्येकमुद्धर्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः ॥ ५ ॥

पहलेके सताये हुए डाकू आदि शत्रु जब राजाको संकटमें पड़ा हुआ देखते हैं, तब वे बहुत-से मिलकर उस असहाय राजाको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ५ ॥

सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः ।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम् ॥ ६ ॥

जब अनेक महाबली शत्रु किसी दुर्बल राजाको सब ओरसे हड़प जानेके लिये तैयार हो जायँ, तब उस एकमात्र असहाय नरेशके द्वारा उस परिस्थितिका कैसे सामना किया जा सकता है ? ॥ ६ ॥

कथं मित्रमरिं चापि विन्दते भरतर्षभ ।
चेष्टितव्यं कथं चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे ॥ ७ ॥

राजा किस प्रकार मित्र और शत्रुको अपने वशमें करता है तथा उसे शत्रु और मित्रके बीचमें रहकर कैसी चेष्टा करनी चाहिये ? ॥ ७ ॥

प्रज्ञातलक्षणे मित्रे तथैवामित्रतां गते ।
कथं तु पुरुषः कुर्यात् कृत्वा किं वा सुखी भवेत्॥ ८ ॥

पहले लक्षणोंद्वारा जिसे मित्र समझा गया है, वही मनुष्य यदि शत्रु हो जाय, तब उसके साथ कोई पुरुष कैसा बर्ताव करे ? अथवा क्या करके वह सुखी हो ? ॥ ८ ॥

विग्रहं केन वा कुर्यात् संधिं वा केन योजयेत् ।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि ॥ ९ ॥

किसके साथ विग्रह करे ? अथवा किसके साथ संधि जोड़े और बलवान् पुरुष भी यदि शत्रुओंके बीचमें मिल जाय तो उसके साथ कैसा बर्ताव करे ? ॥ ९ ॥

एतद् वै सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परंतप ।
नैतस्य कश्चिद् वक्तास्ति श्रोता वापि सुदुर्लभः ॥ १० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् सत्यसंधाज्जितेन्द्रियात् ।
तदन्विष्य महाभाग सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ११ ॥

परंतप पितामह ! यह कार्य समस्त कार्योंमें श्रेष्ठ है । सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, दूसरा कोई इस विषयको बतानेवाला नहीं है । इसको सुननेवाला भी दुर्लभ ही है । अतः महाभाग ! आप उसका अनुसंधान करके यह सारा विषय मुझसे कहिये ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः ।
शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन बेटा युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह विस्तारपूर्वक पूछना बहुत ठीक है । यह सुखकी प्राप्ति करानेवाला है । आपत्तिके समय क्या करना चाहिये ? यह विषय गोपनीय होनेसे सबको मालूम नहीं है । तुम यह सब रहस्य मुझसे सुनो ॥ १२ ॥

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वै सदा गतिः॥ १३ ॥

भिन्न-भिन्न कार्योंका ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्रका मन भी द्वेषभावसे दूषित हो जाता है । वास्तवमें शत्रु-मित्रकी परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती है ॥ १३ ॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ॥ १४ ॥

अतः देश-कालको समझकर कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके किसीपर विश्वास और किसीके साथ युद्ध करना चाहिये ॥ १४ ॥

संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि संधेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ॥ १५ ॥

भारत ! कर्तव्यका विचार करके सदा हित चाहनेवाले विद्वान् मित्रोंके साथ संधि करनी चाहिये और आवश्यकता पड़नेपर शत्रुओंसे भी संधि कर लेनी चाहिये; क्योंकि प्राणोंकी रक्षा सदा ही कर्तव्य है ॥ १५ ॥

यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः ।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात् किंचित् फलान्यपि च भारत॥ १६॥

भारत ! जो मूर्ख मानव शत्रुओंके साथ कभी किसी भी दशामें संधि ही नहीं करता, वह अपने किसी भी उद्देश्यको सिद्ध नहीं कर सकता और न कोई फल ही पा सकता है ॥

यस्त्वमित्रेण संदध्यान्मित्रेण च विरुद्ध्यते ।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद् विन्दते फलम् ॥ १७ ॥

जो स्वार्थसिद्धिका अवसर देखकर शत्रुसे तो संधि कर लेता है और मित्रोंके साथ विरोध बढ़ा लेता है, वह महान् फल प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषिकस्य च ॥ १८ ॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष वटवृक्षके आश्रयमें रहनेवाले एक बिलाव और चूहेके संवादरूप एक प्राचीन कथानकका दृष्टान्त दिया करते हैं ॥ १८ ॥

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत् ।
लताजालपरिच्छिन्नो नानाद्विजगणान्वितः ॥ १९ ॥

किसी महान् वनमें एक विशाल बरगदका वृक्ष था, जो लतासमूहोंसे आच्छादित तथा भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सुशोभित था ॥ १९ ॥

स्कन्धवान् मेघसङ्काशः शीतच्छायो मनोरमः ।
अरण्यमभितो जातः स तु व्यालमृगाकुलः ॥ २० ॥

वह अपनी मोटी-मोटी डालियोंसे हरा-भरा होनेके

कारण मेघके समान दिखायी देता था । उसकी छाया शीतल थी । वह मनोरम वृक्ष वनके समीप होनेके कारण बहुत-से सर्पों तथा पशुओंका आश्रय बना हुआ था ॥ २० ॥

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम् ।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषिकः ॥ २१ ॥

उसीकी जड़में सौ दरवाजोंका बिल बनाकर पलित नामक एक परम बुद्धिमान् चूहा निवास करता था । ॥ २१ ॥

शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा ।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातखादकः ॥ २२ ॥

उसी बरगदकी डालीपर पहले लोमश नामका एक बिलाव भी बड़े सुखसे रहता था । पक्षियोंका समूह ही उसका भोजन था ॥ २२ ॥

तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः ।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तंगते रवौ ॥ २३ ॥
तत्र स्नायुमयान् पाशान् यथावत् संविधाय सः ।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ॥ २४ ॥

उसी वनमें एक चाण्डाल भी घर बनाकर रहता था । वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर वहाँ आकर जाल फैला देता और उसकी ताँतकी डोरियोंको यथास्थान लगा घर जाकर मौजसे सोता था; फिर सबेरा होनेपर वहाँ आया करता था ॥ २३-२४ ॥

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः ।
कदाचित्तत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत ॥ २५ ॥

रातको उस जालमें प्रतिदिन नाना प्रकारके पशु फँस जाते थे (उन्हींको लेनेके लिये वह सबेरे आता था) । एक दिन अपनी असावधानीके कारण पूर्वोक्त बिलाव भी उस जालमें फँस गया ॥ २५ ॥

तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि ।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः ॥ २६ ॥

उस महान् शक्तिशाली और नित्य आततायी शत्रुके फँस जानेपर जब पलितको यह समाचार मालूम हुआ, तब वह उस समय बिलसे बाहर निकलकर सब ओर निर्भय विचरने लगा ॥ २६ ॥

तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा ।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम् ॥ २७ ॥
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत् ॥ २८ ॥

उस वनमें विश्वस्त होकर विचरते तथा आहारकी खोज करते हुए उस चूहेने बहुत देरके बाद वह मांस देखा, जो जालपर बिखेरा गया था । चूहा उस जालपर चढ़कर उस मांसको खाने लगा ॥ २७-२८ ॥

तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन् ।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन् ॥ २९ ॥

जालके ऊपर मांस खानेमें लगा हुआ वह चूहा अपने शत्रुके ऊपर मन-ही-मन हँस रहा था । इतनेहीमें कभी उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गयी ॥ २९ ॥

अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम् ।
शरप्रसूनसङ्काशं महीविवरशायिनम् ॥ ३० ॥

फिर तो उसने एक दूसरे भयंकर शत्रुको वहाँ आया हुआ देखा, जो सरकण्डेके फूलके समान भूरे रङ्गका था । वह धरतीमें विवर बनाकर उसके भीतर सोया करता था ॥

नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम् ।
तेन मूषिकगन्धेन त्वरमाणमुपागतम् ॥ ३१ ॥

वह जातिका न्यौला था । उसकी आँखें ताँबेके समान दिखायी देती थीं । वह चपल नेवला हरिणके नामसे प्रसिद्ध था और उसी चूहेकी गन्ध पाकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आ पहुँचा था ॥ ३१ ॥

भक्ष्यार्थं संलिहानं तं भूमावूर्ध्वमुखं स्थितम् ।
शाखागतमरिं चान्यमपश्यत् कोटरालयम् ॥ ३२ ॥
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ।

इधर तो वह नेवला अपना आहार ग्रहण करनेके लिये जीभ लपलपाता हुआ ऊपर मुँह किये पृथ्वीपर खड़ा था और दूसरी ओर बरगदकी शाखापर बैठा हुआ दूसरा ही शत्रु दिखायी दिया, जो वृक्षके खोखलेमें निवास करता था । वह चन्द्रक नामसे प्रसिद्ध उल्लू था । उसकी चोंच बड़ी तीखी थी । वह रातमें विचरनेवाला पक्षी था ॥ ३२½ ॥

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा ॥ ३३ ॥
अथास्यासीदियं चिन्ता तत् प्राप्य सुमहद् भयम् ।

न्यौले और उल्लू-दोनोंका लक्ष्य बने हुए उस चूहेको बड़ा भय हुआ । अब उसे इस प्रकार चिन्ता होने लगी—॥

आपद्यस्यां सुकष्टायां मरणे प्रत्युपस्थिते ॥ ३४ ॥
समन्ताद् भय उत्पन्ने कथं कार्यं हितैषिणा ।

'अहो ! इस कष्टदायिनी विपत्तिमें मृत्यु निकट आकर खड़ी है । चारों ओरसे भय उत्पन्न हो गया है । ऐसी अवस्थामें अपना हित चाहनेवाले प्राणीको किस उपायका अवलम्बन करना चाहिये ?' ॥ ३४½ ॥

स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र भयदर्शनः ॥ ३५ ॥
अभवद् भयसंतप्तश्चक्रे च परमां मतिम् ।

इस प्रकार सब ओरसे उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया था । सर्वत्र उसे भय-ही-भय दिखायी देता था । उस भयसे वह संतप्त हो उठा । इसके बाद उसने पुनः श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले सोचना आरम्भ किया—॥ ३५½ ॥

आपद्विनाशभूयिष्ठं गतैः कार्यं हि जीवितम् ॥ ३६ ॥
समन्तात् संशयात् सैषा तस्मादापदुपस्थिता ।

'आपत्तिमें पड़कर विनाशके समीप पहुँचे हुए प्राणियोंको भी अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न तो करना ही चाहिये । आज सब ओरसे प्राणोंका संशय उपस्थित है; अतः यह मुझपर बड़ी भारी आपत्ति आ गयी है ॥ ३६½ ॥

गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति ॥ ३७ ॥

उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात्।

'यदि मैं पृथ्वीपर उतरकर भागता हूँ तो सहसा नेवला मुझे पकड़कर खा जायगा। यदि यहीं ठहर जाता हूँ तो उल्लू मुझे चोंचसे मार डालेगा और यदि जाल काटकर भीतर घुसता हूँ तो बिलाव जीवित नहीं छोड़ेगा ॥ ३७½ ॥

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः सम्मोहं गन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
करिष्ये जीविते यत्नं यावद् युक्त्या प्रतिग्रहात्।

'तथापि मुझ-जैसे बुद्धिमान्‌को घबराना नहीं चाहिये। अतः जहाँतक युक्ति काम देगी, परस्पर सहयोगका आदान-प्रदान करके मैं जीवन-रक्षाके लिये प्रयत्न करूँगा ॥ ३८½ ॥

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३९ ॥
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥ ४० ॥

'बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्रमें निपुण पुरुष भारी और भयंकर विपत्तिमें पड़नेपर भी उसमें डूब नहीं जाता है—उससे छूटनेकी चेष्टा करता है ॥ ३९-४० ॥

न त्वन्यामिह मार्जाराद् गतिं पश्यामि साम्प्रतम्।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥ ४१ ॥

'मैं इस समय इस बिलावका सहारा लेनेके सिवा, अपने लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं देखता। यद्यपि यह मेरा कट्टर शत्रु है, तथापि इस समय स्वयं ही भारी संकटमें पड़ा हुआ है। मेरेद्वारा इसका भी बड़ा भारी काम निकल सकता है ॥

जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥ ४२ ॥

'इधर, मैं भी जीवनकी रक्षा चाहता हूँ, तीन-तीन शत्रु मुझपर घात लगाये बैठे हैं; अतः क्यों न आज मैं अपने शत्रु इस बिलावका ही आश्रय लूँ? ॥ ४२ ॥

नीतिशास्त्रं समाश्रित्य हितमस्योपवर्णये।
येनेमं शत्रुसंघातं मतिपूर्वेण वञ्चये ॥ ४३ ॥

'आज नीतिशास्त्रका सहारा लेकर इसके हितका वर्णन करूँगा; जिससे बुद्धिके द्वारा इस शत्रुसमुदायको धोखा देकर बच जाऊँगा ॥ ४३ ॥

अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः।
मूढो ग्राहयितुं स्वार्थं सङ्गत्या यदि शक्यते ॥ ४४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि बिलाव मेरा महान् दुश्मन है, तथापि इस समय महान् संकटमें है। यदि सम्भव हो तो इस मूर्खको संगतिके द्वारा स्वार्थ सिद्ध करनेकी बातपर राजी करूँ॥

कदाचिद् व्यसनं प्राप्य संधिं कुर्यान्मया सह।
बलिना संनिकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ॥ ४५ ॥
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना।

'हो सकता है कि विपत्तिमें पड़ा होनेके कारण यह मेरे साथ संधि कर ले। आचार्योंका कथन है कि संकट आ पड़नेपर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले बलवान् पुरुषको भी अपने निकटवर्ती शत्रुसे मेल कर लेना चाहिये ॥ ४५½ ॥

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ॥ ४६ ॥
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम्।

'विद्वान् शत्रु भी अच्छा होता है, किंतु मूर्ख मित्र भी अच्छा नहीं है। मेरा जीवन तो आज मेरे शत्रु बिलावके ही अधीन है॥

हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ॥ ४७ ॥
अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत्।

'अच्छा, अब मैं इसे आत्मरक्षाके लिये एक युक्ति बता रहा हूँ। सम्भव है, यह शत्रु इस समय मेरी संगतिसे विद्वान् हो जाय—विवेकसे काम ले' ॥ ४७½ ॥

एवं विचिन्तयामास मूषिकः शत्रुचेष्टितम् ॥ ४८ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः संधिविग्रहकालवित्।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषिकोऽब्रवीत् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार चूहेने शत्रुकी चेष्टापर विचार किया। वह अर्थसिद्धिके उपायको यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा संधि और विग्रहके अवसरको समझनेवाला था। उसने बिलावको सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें कहा—॥ ४८-४९ ॥

सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५० ॥

'भैया बिलाव! मैं तुम्हारे प्रति मैत्रीका भाव रखकर बातचीत कर रहा हूँ। तुम अभी जीवित तो हो न? मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रहे; क्योंकि इसमें मेरी और तुम्हारी दोनोंकी एक-सी भलाई है ॥ ५० ॥

न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम्।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ॥ ५१ ॥

'सौम्य! तुम्हें डरना नहीं चाहिये। तुम आनन्दपूर्वक जीवित रह सकोगे। यदि मुझे मार डालनेकी इच्छा त्याग दो तो मैं इस संकटसे तुम्हारा उद्धार कर दूँगा ॥ ५१ ॥

अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र दुष्करः प्रतिभाति मे।
येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेयस्तथा मया ॥ ५२ ॥

'एक उपाय है जिससे तुम इस संकटसे छुटकारा पा सकते हो और मैं भी कल्याणका भागी हो सकता हूँ। यद्यपि वह उपाय मुझे दुष्कर प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

मयाप्युपायो दृष्टोऽयं विचार्य मतिमात्मनः।
आत्मार्थं च त्वदर्थं च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५३ ॥

'मैंने अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह सोच-विचार करके अपने और तुम्हारे लिये एक उपाय ढूँढ़ निकाला है, जिससे हम दोनोंकी समानरूपसे भलाई होगी ॥ ५३ ॥

इदं हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्याभिसंस्थितम्।
न धर्षयति मार्जार तेन मे स्वस्ति साम्प्रतम् ॥ ५४ ॥

'मार्जार! देखो, ये नेवला और उल्लू दोनों पापबुद्धिसे यहाँ ठहरे हुए हैं। मेरी ओर घात लगाये बैठे हैं। जबतक वे मुझपर आक्रमण नहीं करते, तभीतक मैं कुशलसे हूँ ॥५४॥

कूजंश्चपलनेत्रोऽयं कौशिको मां निरीक्षते।
नगशाखाग्रगः पापस्तस्याहं भृशमुद्विजे ॥ ५५ ॥

'यह चञ्चल नेत्रोंवाला पापी उल्लू वृक्षकी डालीपर बैठकर 'हू हू' करता मेरी ही ओर घूर रहा है। उससे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ ५५ ॥

सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि पण्डितः।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ॥ ५६ ॥

'साधु पुरुषोंमें तो सात पग साथ-साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है। हम और तुम तो यहाँ सदासे ही साथ रहते हैं; अतः तुम मेरे विद्वान् मित्र हो। मैं इतने दिन साथ रहनेका अपना मित्रोचित धर्म अवश्य निभाऊँगा, इसलिये अब तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना।
अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥ ५७ ॥

'मार्जार! तुम मेरी सहायताके बिना अपना यह बन्धन नहीं काट सकते। यदि तुम मेरी हिंसा न करो तो मैं तुम्हारे ये सारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ५७ ॥

त्वमाश्रितो द्रुमस्याग्रं मूलं त्वहमुपाश्रितः।
चिरोषितावुभावावां वृक्षेऽस्मिन् विदितं च ते ॥ ५८ ॥

'तुम इस पेड़के ऊपर रहते हो और मैं इसकी जड़में रहता हूँ। इस प्रकार हम दोनों चिरकालसे इस वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, यह बात तो तुम्हें ज्ञात ही है ॥ ५८॥

यस्मिन्नाश्वसते कश्चिद् यश्च नाश्वसिति क्वचित्।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ ॥ ५९ ॥

'जिसपर कोई भरोसा नहीं करता तथा जो दूसरे किसी-पर स्वयं भी भरोसा नहीं करता, उन दोनोंकी धीर पुरुष कोई प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि उनके मनमें सदा उद्वेग भरा रहता है ॥ ५९ ॥

तस्माद् विवर्धतां प्रीतिर्नित्यं संगतमस्तु नौ।
कालातीतमिहार्थं तु न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ६० ॥

'अतः हमलोगोंमें सदा प्रेम बढ़े तथा नित्य प्रति हमारी संगति बनी रहे। जब कार्यका समय बीत जाता है, उसके बाद विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ६० ॥

अर्थयुक्तिमिमां तत्र यथाभूतां निशामय।
तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम्॥ ६१ ॥

'बिलाव! हम दोनोंके प्रयोजनका जो यह संयोग आ बना है, उसे यथार्थरूपसे सुनो। मैं तुम्हारे जीवनकी रक्षा चाहता हूँ और तुम मेरे जीवनकी रक्षा चाहते हो ॥ ६१ ॥

कश्चित् तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम्।
स तारयति तत् काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ॥ ६२ ॥

'कोई पुरुष जब लकड़ीके सहारे किसी गहरी एवं विशाल नदीको पार करता है, तब उस लकड़ीको भी किनारे लगा देता है तथा वह लकड़ी भी उसे तारनेमें सहायक होती है ॥ ६२ ॥

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ॥ ६३ ॥

'इसी प्रकार हम दोनोंका यह संयोग चिरस्थायी होगा। मैं तुम्हें विपत्तिसे पार कर दूँगा और तुम मुझे आपत्तिसे बचा लोगे' ॥ ६३ ॥

एवमुक्त्वा तु पलितस्तमर्थमुभयोर्हितम्।
हेतुमद् ग्रहणीयं च कालापेक्षी न्यवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥

इस प्रकार पलित दोनोंके लिये हितकर, युक्तियुक्त और मानने योग्य बात कहकर उत्तर मिलनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ बिलावकी ओर देखने लगा ॥ ६४ ॥

अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥

अपने उस शत्रुका यह युक्तियुक्त और मान लेने योग्य सुन्दर भाषण सुनकर बुद्धिमान् बिलाव कुछ बोलनेको उद्यत हुआ ॥ ६५ ॥

बुद्धिमान् वाक्यसम्पन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन्।
स्वामवस्थां समीक्ष्याथ साम्नैव प्रत्यपूजयत् ॥ ६६ ॥

उसकी बुद्धि अच्छी थी। वह बोलनेकी कलामें कुशल था। पहले तो उसने चूहेकी बातको मन-ही-मन दुहराया; फिर अपनी दशापर दृष्टिपात करके उसने सामनीतिसे ही उस चूहेकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६६ ॥

ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो मणिवैदूर्यलोचनः।
मूषिकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशोऽब्रवीत् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर जिसके आगेके दाँत बड़े तीखे थे और दोनों नेत्र नीलमके समान चमक रहे थे, उस लोमश नामक बिलावने चूहेकी ओर किञ्चिद् दृष्टिपात करके इस प्रकार कहा—॥ ६७ ॥

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥ ६८ ॥

'सौम्य! मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, जो कि तुम मुझे जीवन प्रदान करना चाहते हो। यदि हमारे कल्याणका उपाय जानते हो तो इसे अवश्य करो, कोई अन्यथा विचार मनमें न लाओ ॥ ६८ ॥

अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मम।
द्वयोरापन्नयोः संधिः क्रियतां मा चिराय च ॥ ६९ ॥

'मैं भारी विपत्तिमें फँसा हूँ और तुम भी महान् संकटमें पड़े हुए हो। इस प्रकार आपत्तिमें पड़े हुए हम दोनोंको संधि कर लेनी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो॥ ६९ ॥

विधास्ये प्राप्तकालं यत् कार्यं सिद्धिकरं विभो।
मयि कृच्छ्राद् विनिर्मुक्ते न विनङ्क्ष्यति ते कृतम्॥ ७०॥

'प्रभो! समय आनेपर तुम्हारे अभीष्टकी सिद्धि करने-वाला जो भी कार्य होगा, उसे अवश्य करूँगा। इस संकटसे मेरे मुक्त हो जानेपर तुम्हारा किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होगा। मैं इसका बदला अवश्य चुकाऊँगा ॥ ७० ॥

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत् तथा।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥ ७१ ॥

'इस समय मेरा मान भंग हो चुका है। मैं तुम्हारा भक्त और शिष्य हो गया हूँ। तुम्हारे हितका साधन करूँगा और सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहूँगा। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी शरणमें आ गया हूँ' ॥ ७१ ॥

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम्।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवित् ॥ ७२ ॥

बिलावके ऐसा कहनेपर अपने प्रयोजनको समझनेवाले पलितने वशमें आये हुए उस बिलावसे यह अभिप्रायपूर्ण हितकर बात कही—॥ ७२ ॥

उदारं यद् भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥ ७३ ॥

'भैया बिलाव! आपने जो उदारतापूर्ण वचन कहा है, यह आप-जैसे बुद्धिमान्के लिये आश्चर्यकी बात नहीं है। मैंने दोनोंके हितके लिये जो बात निर्धारित की है, वह मुझसे सुनो ॥ ७३ ॥

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद् भयम्।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽस्मि तव रक्षणे ॥ ७४ ॥

'भैया! इस नेवलेसे मुझे बड़ा डर लग रहा है। इसलिये मैं तुम्हारे पीछे इस जालमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु दादा! तुम मुझे मार न डालना, बचा लेना; क्योंकि जीवित रहनेपर ही मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ ॥ ७४ ॥

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम्।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ॥ ७५ ॥

'इधर यह नीच उल्लू भी मेरे प्राणका ग्राहक बना हुआ है। इससे भी तुम मुझे बचा लो। सखे! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मैं तुम्हारे बन्धन काट दूँगा' ॥ ७५ ॥

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत्।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ७६ ॥

चूहेकी यह युक्तियुक्त, सुसंगत और अभिप्रायपूर्ण बात सुनकर लोमशने उसकी ओर हर्षभरी दृष्टिसे देखा तथा स्वागतपूर्वक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७६ ॥

तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः।
स विचिन्त्याब्रवीद् धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ॥ ७७ ॥

इस प्रकार पलितकी प्रशंसा एवं पूजा करके सौहार्दमें प्रतिष्ठित हुए धीरबुद्धि मार्जारने भलीभाँति सोच-विचारकर तुरंत ही प्रसन्नतापूर्वक कहा— ॥ ७७ ॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् ॥ ७८ ॥

'भैया! शीघ्र आओ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम तो हमारे प्राणोंके समान प्रिय सखा हो। विद्वन्! इस समय मुझे प्रायः तुम्हारी ही कृपासे जीवन प्राप्त होगा ॥ ७८ ॥

यद् यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव।
तदाज्ञापय कर्तास्मि संधिरेवास्तु नौ सखे ॥ ७९ ॥

'सखे! इस दशामें पड़े हुए मुझ सेवकके द्वारा तुम्हारा जो-जो कार्य किया जा सकता हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दो, मैं अवश्य करूँगा। हम दोनोंमें संधि रहनी चाहिये ॥ ७९ ॥

अस्मात् तु संकटान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः।
सर्वकार्याणि कर्ताहं प्रियाणि च हितानि च ॥ ८० ॥

'इस संकटसे मुक्त होनेपर मैं अपने सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ तुम्हारे सभी प्रिय एवं हितकर कार्य करता रहूँगा ॥ ८० ॥

मुक्तश्च व्यसनादस्मात् सौम्याहमपि नाम ते।
प्रीतिमुत्पादयेयं च प्रीतिकर्तुश्च सत्क्रियाम् ॥ ८१ ॥

'सौम्य! इस विपत्तिसे छुटकारा पानेपर मैं भी तुम्हारे हृदयमें प्रीति उत्पन्न करूँगा। तुम मेरा प्रिय करनेवाले हो, अतः तुम्हारा भलीभाँति आदर-सत्कार करूँगा ॥ ८१ ॥

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति
पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकः करोति हि कृते
निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥ ८२ ॥

'कोई किसीके उपकारका कितना ही अधिक बदला क्यों न चुका दे, वह प्रथम उपकार करनेवालेके समान नहीं शोभा पाता है; क्योंकि एक तो किसीके उपकार करनेपर बदलेमें उसका उपकार करता है; परंतु दूसरेने बिना किसी कारणके ही उसकी भलाई की है' ॥ ८२ ॥

भीष्म उवाच

ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्जारं मूषिकस्तथा।
प्रविवेश तु विश्रभ्य क्रोडमस्य कृतागसः ॥ ८३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार चूहेने बिलावसे अपने मतलबकी बात स्वीकार कराकर और स्वयं भी उसका विश्वास करके उस अपराधी शत्रुकी भी गोदमें जा बैठा ॥ ८३ ॥

एवमाश्वासितो विद्वान् मार्जारेण स मूषिकः।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥ ८४ ॥

बिलावने जब उस विद्वान् चूहेको पूर्वोक्तरूपसे आश्वासन दिया, तब वह माता-पिताकी गोदके समान उस बिलावकी छातीपर निर्भय होकर सो गया ॥ ८४ ॥

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषिकम्।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ॥ ८५ ॥

चूहेको बिलावके अङ्गोंमें छिपा हुआ देख नेवला और उल्लू दोनों निराश हो गये ॥ ८५ ॥

तथैव तौ सुसंत्रस्तौ दृढमागततन्द्रितौ।
दृष्ट्वा तयोः परां प्रीतिं विस्मयं परमं गतौ ॥ ८६ ॥

उन दोनोंको बड़े जोरसे औंघाई आ रही थी और वे अत्यन्त भयभीत भी हो गये थे। उस समय चूहे और बिलावका वह विशेष प्रेम देखकर नेवला और उल्लू दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८६ ॥

बलिनौ मतिमन्तौ च सुवृत्तौ चाप्युपासितौ।
अशक्तौ तु नयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात् ॥ ८७ ॥

यद्यपि वे बड़े बलवान्, बुद्धिमान्, सुन्दर बर्ताव करने

वाले, कार्यकुशल तथा निकटवर्ती थे तो भी उस संधिकी नीतिसे काम लेनेके कारण उन चूहे और बिलावपर वे बलपूर्वक आक्रमण करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ८७ ॥

कार्यार्थं कृतसंधी तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ।
उलूकनकुलौ तूर्णं जग्मतुस्तौ स्वमालयम् ॥ ८८ ॥

अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये चूहे और बिलावने आपसमें संधि कर ली है, यह देखकर उल्लू और नेवला दोनों तत्काल अपने निवासस्थानको लौट गये ॥ ८८ ॥

लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान् नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ॥ ८९ ॥

नरेश्वर ! चूहा देश-कालकी गतिको अच्छी तरह जानता था; इसलिये वह बिलावके अङ्गोंमें ही छिपा रहकर चाण्डालके आनेके समयकी प्रतीक्षा करता हुआ धीरे-धीरे जालको काटने लगा ॥ ८९ ॥

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषिकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ॥ ९० ॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तथा ।
संचोदयितुमारेभे मार्जारो मूषिकं तदा ॥ ९१ ॥

बिलाव उस बन्धनसे तंग आ गया था । उसने देखा, चूहा जाल तो काट रहा है; किंतु इस कार्यमें फुर्ती नहीं दिखा रहा है, तब वह उतावला होकर बन्धन काटनेमें जल्दी न करनेवाले पलित नामक चूहेको उकसाता हुआ बोला— ॥ ९०-९१ ॥

किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे ।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥ ९२ ॥

'सौम्य ! तुम जल्दी क्यों नहीं करते हो ? क्या तुम्हारा काम बन गया, इसलिये मेरी अवहेलना करते हो ? शत्रुसूदन ! देखो, अब चाण्डाल आ रहा होगा । उसके आनेसे पहले ही मेरे बन्धनोंको काट दो' ॥ ९२ ॥

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत् ।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥ ९३ ॥

उतावले हुए बिलावके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् पलितने अपवित्र विचार रखनेवाले उस मार्जारसे अपने लिये हितकर और लाभदायक बात कही—॥ ९३ ॥

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न सम्भ्रमः ।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ९४ ॥

'सौम्य ! चुप रहो, तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिये, घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । मैं समयको खूब पहचानता हूँ, ठीक अवसर आनेपर मैं कभी नहीं चूकूँगा ॥

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥ ९५ ॥

'बेमौके शुरू किया हुआ काम करनेवालेके लिये लाभदायक नहीं होता है और वही उपयुक्त समयपर आरम्भ किया जाय तो महान् अर्थका साधक हो जाता है ॥ ९५ ॥

अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत् ।
तस्मात् कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ९६ ॥

'यदि असमयमें ही तुम छूट गये तो मुझे तुम्हींसे भय प्राप्त हो सकता है, इसलिये मेरे मित्र ! थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो; क्यों इतनी जल्दी मचा रहे हो ? ॥ ९६ ॥

यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम् ।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥ ९७ ॥

'जब मैं देख लूँगा कि चाण्डाल हाथमें हथियार लिये आ रहा है, तब तुम्हारे ऊपर साधारण-सा भय उपस्थित होनेपर मैं शीघ्र ही तुम्हारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ९७ ॥

तस्मिन् काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोक्ष्यसे ।
न हि ते जीवितादन्यत् किंचित् कृत्यं भविष्यति ॥ ९८ ॥

'उस समय छूटते ही तुम पहले पेड़पर ही चढ़ोगे । अपने जीवनकी रक्षाके सिवा दूसरा कोई कार्य तुम्हें आवश्यक नहीं प्रतीत होगा ॥ ९८ ॥

ततो भवत्यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश ।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान् शाखां भजिष्यति ॥ ९९ ॥

'लोमशजी ! जब आप त्रास और भयसे आक्रान्त हो भाग खड़े होंगे, उस समय मैं बिलमें घुस जाऊँगा और आप वृक्षकी शाखापर जा बैठेंगे' ॥ ९९ ॥

एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषिकेणात्मनो हितम् ।
वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महामतिः ॥ १०० ॥

चूहेके ऐसा कहनेपर वाणीके मर्मको समझनेवाला और अपने जीवनकी रक्षा चाहनेवाला परम बुद्धिमान् बिलाव अपने हितकी बात बताता हुआ बोला ॥ १०० ॥

अथात्मकृत्ये त्वरितः सम्यक् प्रश्रितमाचरन् ।
उवाच लोमशो वाक्यं मूषिकं चिरकारिणम् ॥ १०१ ॥

लोमशको अपना काम बनानेकी जल्दी लगी हुई थी; अतः वह भलीभाँति विनयपूर्ण बर्ताव करता हुआ विलम्ब करनेवाले चूहेसे इस प्रकार कहने लगा—॥ १०१ ॥

न ह्येवं मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः ।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात् त्वरमाणेन वै मया ॥ १०२ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष मित्रोंके कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नताके साथ किया करते हैं; तुम्हारी तरह नहीं । जैसे मैंने तुरंत ही तुम्हें संकटसे छुड़ा लिया था ॥ १०२ ॥

तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम ।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥ १०३ ॥

'इसी प्रकार तुम्हें भी जल्दी ही मेरे हितका कार्य करना चाहिये । महाप्राज्ञ ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे हम दोनोंकी रक्षा हो सके ॥ १०३ ॥

अथवा पूर्ववैरं त्वं स्मरन् कालं जिहीर्षसि ।
पश्य दुष्कृतकर्मंस्त्वं व्यक्तमायुःक्षयं तव ॥ १०४ ॥

'अथवा यदि पहलेके वैरका स्मरण करके तुम यहाँ व्यर्थ समय काटना चाहते हो तो पापी ! देख लेना, इसका

क्या फल होगा? निश्चय ही तुम्हारी आयु क्षीण हो चली है ॥ १०४॥

यदि किंचिन्मयाज्ञानात् पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥१०५॥

'यदि मैंने अज्ञानवश पहले कभी तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो तुम्हें उसको मनमें नहीं लाना चाहिये, मैं क्षमा माँगता हूँ। तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ' ॥ १०५ ॥

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषिकस्तदा ॥१०६॥

चूहा बड़ा विद्वान् तथा नीतिशास्त्रको जाननेवाली बुद्धिसे सम्पन्न था। उसने उस समय इस प्रकार कहनेवाले बिलावसे यह उत्तम बात कही—॥ १०६ ॥

श्रुतं मे तव मार्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः।
ममापि त्वं विजानासि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥१०७॥

'भैया बिलाव! तुमने अपनी स्वार्थसिद्धिपर ही ध्यान रखकर जो कुछ कहा है, वह सब मैंने सुन लिया तथा मैंने भी अपने प्रयोजनको सामने रखते हुए जो कुछ कहा है, उसे तुम भी अच्छी तरह समझते हो ॥ १०७ ॥

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम्।
सुरक्षितव्यं तत् कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥१०८॥

'जो किसी डरे हुए प्राणीद्वारा मित्र बनाया गया हो तथा जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उसका मित्र बना हो—इन दोनों प्रकारके मित्रोंकी ही रक्षा होनी चाहिये और जैसे बाजीगर सर्पके मुखसे हाथ बचाकर ही उसे खेलाता है, उसी प्रकार अपनी रक्षा करते हुए ही उन्हें एक दूसरेका कार्य करना चाहिये ॥ १०८ ॥

कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद् भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥१०९॥

'जो व्यक्ति बलवान्से संधि करके अपनी रक्षाका ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्नके समान हितकर नहीं होता ॥ १०९ ॥

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥११०॥
अर्थैरर्था निबद्ध्यन्ते गजैर्वनगजा इव।

'न तो कोई किसीका मित्र है और न कोई किसीका शत्रु। स्वार्थको ही लेकर मित्र और शत्रु एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। जैसे पालतू हाथियोंद्वारा जङ्गली हाथी बाँध लिये जाते हैं, उसी प्रकार अर्थोंद्वारा ही अर्थ बँधते हैं॥ ११०½ ॥

न च कश्चित् कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ॥ १११ ॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्।

'काम पूरा हो जानेपर कोई भी उसके करनेवालेको नहीं देखता—उसके हितपर नहीं ध्यान देता; अतः सभी कार्योंको अधूरे ही रखना चाहिये ॥ १११½ ॥

तस्मिन् कालेऽपि च भवान् दिवाकीर्तिभयार्दितः॥ ११२॥
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः।

'जब चाण्डाल आ जायगा, उस समय तुम उसीके भयसे पीड़ित हो भागने लग जाओगे; फिर मुझे पकड़ न सकोगे॥ ११२½॥

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः ॥११३ ॥
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृतो भव लोमश।

'मैंने बहुत-से तंतु काट डाले हैं, केवल एक ही डोरी बाकी रख छोड़ी है। उसे भी मैं शीघ्र ही काट डालूँगा; अतः लोमश! तुम शान्त रहो, घबराओ न' ॥ ११३½ ॥

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ॥११४॥
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद् भयम्।

इस प्रकार संकटमें पड़े हुए उन दोनोंके वार्तालाप करते-करते ही वह रात बीत गयी। अब लोमशके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ११४½ ॥

ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ॥११५॥
स्थूलस्फिग् विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः।
शंकुकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोरदर्शनः ॥११६॥
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत।

तदनन्तर प्रातःकाल परिघ नामक चाण्डाल हाथमें हथियार लेकर आता दिखायी दिया। उसकी आकृति बड़ी विकराल थी। शरीरका रंग काला और पीला था। उसका नितम्बभाग बहुत स्थूल था। कितने ही अङ्ग विकृत हो गये थे। वह स्वभावका रूखा जान पड़ता था। कुत्तोंसे घिरा हुआ वह मलिनवेषधारी चाण्डाल बड़ा भयंकर दिखायी दे रहा था, उसका मुँह विशाल था और कान दीवारमें गड़ी हुई खूँटियोंके समान जान पड़ते थे ॥ ११५-११६½ ॥

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ॥११७॥
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि।

यमदूतके समान चाण्डालको आते देख बिलावका चित्त भयसे व्याकुल हो गया। उसने डरते-डरते यही कहा—'भैया चूहा! अब क्या करोगे?' ॥ ११७½ ॥

अथ तावपि संत्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ॥११८॥
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः।

एक ओर वे दोनों भयभीत थे। दूसरी ओर भयानक प्राणियोंसे घिरा हुआ चाण्डाल आ रहा था। उन सबको देखकर नेवला और उल्लू क्षणभरमें ही निराश हो गये॥ ११८½॥

बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ॥११९॥
अशक्तौ सुनयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात्।

वे दोनों बलवान् और बुद्धिमान् तो थे ही। चूहेके घातमें पासहीमें बैठे हुए थे; परंतु अच्छी नीतिसे संगठित हो जानेके कारण चूहे और बिलावपर वे बलपूर्वक आक्रमण न कर सके ॥ ११९½ ॥

कार्यार्थे कृतसंधानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ॥१२०॥
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम्।

चूहे और बिल्लीको कार्यवश संधिसूत्रमें बँधे देख उल्लू

और नेवला दोनों अपने-अपने निवासस्थानको चले गये। १२०½।

ततश्चिच्छेद तं पाशं मार्जारस्य च मूषिकः ॥१२१॥
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम्।
स तस्मात् सम्भ्रमावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ॥१२२॥
बिलं विवेश पलितः शाखां लेभे स लोमशः।

तदनन्तर चूहेने बिलावका बन्धन काट दिया। जालसे छूटते ही बिलाव उसी पेड़पर चढ़ गया। उस घोर शत्रु तथा उस भारी घबराहटसे छुटकारा पाकर पलित अपने बिलमें घुस गया और लोमश वृक्षकी शाखापर जा बैठा। १२१-१२२½।

उन्माथमप्यथादाय चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ॥१२३॥
विहताशः क्षणेनास्ते तस्माद् देशादपाक्रमत्।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥१२४॥

भरतश्रेष्ठ ! चाण्डालने उस जालको लेकर उसे सब ओरसे उलट-पलटकर देखा और निराश होकर क्षणभरमें उस स्थानसे हट गया और अन्तमें अपने घरको चला गया॥ १२३-१२४॥

ततस्तस्माद् भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम्।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥१२५॥

उस भारी भयसे मुक्त हो दुर्लभ जीवन पाकर वृक्षकी शाखापर बैठे हुए लोमशने बिलके भीतर बैठे हुए चूहेसे कहा—॥ १२५ ॥

अकृत्वा संविदं काञ्चित् सहसा समवप्लुतः।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशंकसे ॥१२६॥

'भैया ! तुम मुझसे कोई बातचीत किये बिना ही इस प्रकार सहसा बिलमें क्यों घुस गये ? मैं तो तुम्हारा बड़ा ही कृतज्ञ हूँ। मैंने तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करके तुम्हारा भी बड़ा भारी काम किया है। तुम्हें मेरी ओरसे कुछ शङ्का तो नहीं है ? ॥

गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम्।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥१२७॥

'मित्र ! तुमने विपत्तिके समय मेरा विश्वास किया और मुझे जीवनदान दिया। अब तो मैत्रीके सुखका उपभोग करनेका समय है, ऐसे समय तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो ? ॥ १२७ ॥

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥१२८॥

'जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य पहले बहुत-से मित्र बनाकर पीछे उस मित्रभावमें स्थिर नहीं रहता है, वह कष्टदायिनी विपत्तिमें पड़नेपर उन मित्रोंको नहीं पाता है अर्थात् उनसे उसको सहायता नहीं मिलती ॥ १२८ ॥

सत्कृतोऽहं त्वया मित्र सामर्थ्यादात्मनः सखे।
स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥१२९॥

'सखे ! मित्र ! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार मेरा पूरा सत्कार किया है और मैं भी तुम्हारा मित्र हो गया हूँ; अतः तुम्हें मेरे साथ रहकर इस मित्रताका सुख भोगना चाहिये॥१२९॥

यानि मे सन्ति मित्राणि ये च सम्बन्धिबान्धवाः।
सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम् ॥१३०॥

'मेरे जो भी मित्र, सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव हैं, वे सब तुम्हारी उसी प्रकार सेवा-पूजा करेंगे, जैसे शिष्य अपने श्रद्धेय गुरुकी करते हैं ॥ १३० ॥

अहं च पूजयिष्ये त्वां समित्रगणबान्धवम्।
जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् ॥१३१॥

'मैं भी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा सदा ही आदर-सत्कार करूँगा। संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने जीवनदाताकी पूजा न करे ? ॥ १३१ ॥

ईश्वरो मे भवानस्तु स्वशरीरगृहस्य च।
अर्थानां चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥१३२॥

'तुम मेरे शरीरके और मेरे घरके भी स्वामी हो जाओ। मेरी जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सारीकी सारी तुम्हारी है। तुम उसके शासक और व्यवस्थापक बनो ॥ १३२ ॥

अमात्यो मे भव प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम्।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥१३३॥

'विद्वन् ! तुम मेरे मन्त्री हो जाओ और पिताकी भाँति मुझे कर्तव्यका उपदेश दो। मैं अपने जीवनकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें हमलोगोंकी ओरसे कोई भय नहीं है॥१३३॥

बुद्ध्या त्वमुशना साक्षाद् बलेनाधिकृता वयम्।
त्वं मन्त्रबलयुक्तो हि दत्त्वा जीवितमद्य मे ॥१३४॥

'तुम साक्षात् शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् हो। तुममें मन्त्रणाका बल है। आज तुमने मुझे जीवनदान देकर अपने मन्त्रणाबलसे हम सब लोगोंके हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है' ॥ १३४ ॥

एवमुक्तः परां शान्तिं मार्जारेण स मूषिकः।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥१३५॥

बिलावकी ऐसी परम शान्तिपूर्ण बातें सुनकर उत्तम मन्त्रणाके ज्ञाता चूहेने मधुर वाणीमें अपने लिये हितकर वचन कहा—॥ १३५ ॥

यद् भवानाह तत् सर्वं मया ते लोमश श्रुतम्।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥ १३६॥

'लोमश ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब मैंने ध्यान देकर सुना। अब मेरी बुद्धिमें जो विचार स्फुरित हो रहा है उसे बतलाता हूँ, अतः मेरे इस कथनको भी सुन लो ॥१३६॥

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः।
एतत् सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम्॥१३७॥

'मित्रोंको जानना चाहिये, शत्रुओंको भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये—इस जगत्‌में मित्र और शत्रुकी यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म तथा विज्ञजनोंको अभिमत है ॥ १३७ ॥

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः।
संधितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गताः ॥१३८॥

'अवसर आनेपर कितने ही मित्र शत्रुरूप हो जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं। परस्पर संधि कर

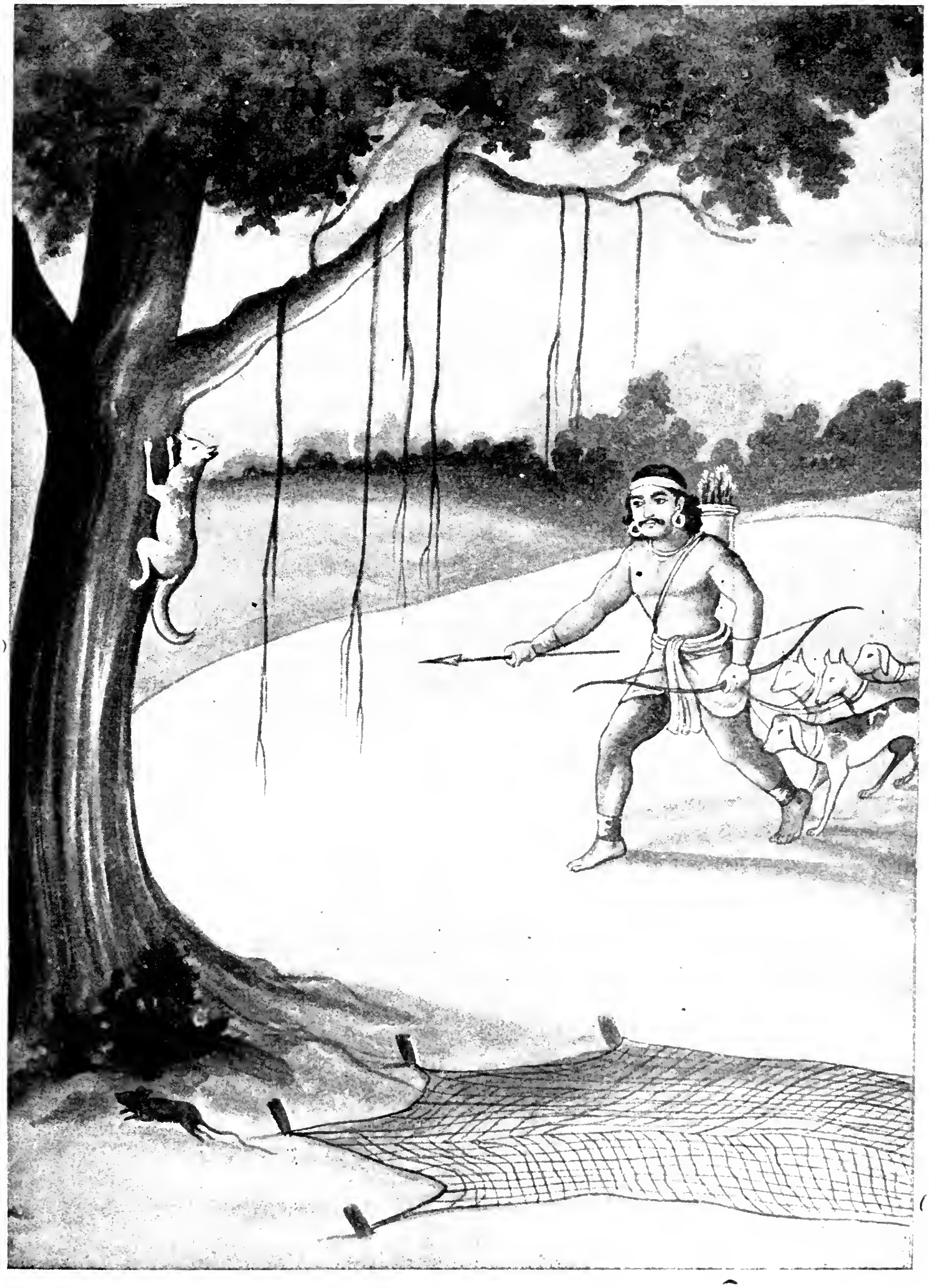

चूहेकी सहायताके फलस्वरूप चाण्डालके जालसे बिलावकी मुक्ति

लेनेके पश्चात् जब वे काम और क्रोधके अधीन हो जाते हैं, तब यह समझना असम्भव हो जाता है कि वे मित्रभावसे युक्त हैं या शत्रुभावसे ? ॥ १३८ ॥

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१३९॥

'न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है। आवश्यक शक्तिके सम्बन्धसे लोग एक दूसरेके मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ॥ १३९ ॥

यो यस्मिन् जीवति स्वार्थं पश्येत् पीडां न जीवति।
स तस्य मित्रं तावत् स्याद् यावन्न स्याद् विपर्ययः॥१४०॥

'जो जिसके जीते-जी अपना स्वार्थ सधता देखता है और जिसके मर जानेपर अपनी हानि मानता है, वह तबतक उसका मित्र बना रहता है, जबतक कि इस स्थितिमें कोई उलट-फेर नहीं होता ॥ १४० ॥

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम्।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१४१॥

'मैत्री कोई स्थिर वस्तु नहीं है और शत्रुता भी सदा स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है। स्वार्थके सम्बन्धसे मित्र और शत्रु होते रहते हैं ॥ १४१ ॥

मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित् कालपर्यये।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥१४२॥

'कभी-कभी समयके फेरसे मित्र शत्रु बन जाता है और शत्रु भी मित्र हो जाता है; क्योंकि स्वार्थ बड़ा बलवान् होता है ॥ १४२ ॥

यो विश्वसिति मित्रेषु न विश्वसिति शत्रुषु।
अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः प्रीतौ कुरुते मनः ॥१४३॥
मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः।

'जो मनुष्य स्वार्थके सम्बन्धका विचार किये बिना ही मित्रोंपर केवल विश्वास और शत्रुओंपर केवल अविश्वास करता जाता है तथा जो शत्रु हो या मित्र, जो सबके प्रति प्रेमभाव ही स्थापित करने लगता है, उसकी बुद्धि भी चञ्चल ही समझनी चाहिये ॥ १४३½ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥१४४॥
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति।

'जो विश्वासपात्र न हो, उसपर कभी विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मनुष्यका मूलोच्छेद कर डालता है ॥ १४४½ ॥

अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ॥१४५॥
मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः।

'माता-पिता, पुत्र, मामा, भांजे, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव—इन सबमें स्वार्थके सम्बन्धसे ही स्नेह होता है॥१४५½॥

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ॥१४६॥
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम्।

'अपना प्यारा पुत्र भी यदि पतित हो जाता है तो माँ-बाप उसे त्याग देते हैं और सब लोग सदा अपनी ही रक्षा करना चाहते हैं। अतः देख लो, इस जगत्में स्वार्थ ही सार है ॥ १४६½ ॥

सामान्या निष्कृतिः प्राज्ञ यो मोक्षात् प्रत्यनन्तरम्॥१४७॥
कृतं मृगयसे शत्रुं सुखोपायमसंशयम्।

'बुद्धिमान् लोमश ! जो तुम आज जालके बन्धनसे छूटनेके बाद ही कृतज्ञतावश मुझ अपने शत्रुको सुख पहुँचानेका असंदिग्ध उपाय ढूँढ़ने लगे हो, इसका क्या कारण है ? जहाँतक उपकारका बदला चुकानेका प्रश्न है, वहाँतक तो हमारी-तुम्हारी समान स्थिति है। यदि मैंने तुम्हें संकटसे छुड़ाया है, तो तुमने भी तो मुझे वैसी ही विपत्तिसे बचाया है; फिर मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं क्यों उपकारका बदला देनेके लिये उतावले हो उठे हो ? ॥ १४७½ ॥

अस्मिन् निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ॥१४८॥
पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान्।

'तुम इसी स्थानपर बरगदसे उतरे थे और पहलेसे ही यहाँ जाल बिछा हुआ था; परंतु तुमने चपलताके कारण उधर ध्यान नहीं दिया और फँस गये ॥ १४८½ ॥

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति॥१४९॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम्।

'चपल प्राणी जब अपने ही लिये कल्याणकारी नहीं होता तो वह दूसरेकी भलाई क्या करेगा ? अतः यह निश्चित है कि चपल पुरुष सब काम चौपट कर देता है ॥ १४९½ ॥

ब्रवीषि मधुरं यच्च प्रियो मेऽद्य भवानिति ॥१५०॥
तन्मित्र कारणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु।
कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ॥१५१॥

'इसके सिवा तुम जो यह मीठी-मीठी बात कह रहे हो कि 'आज तुम मुझे बड़े प्रिय लगते हो' इसका भी कारण है, मेरे मित्र ! वह सब मैं विस्तारके साथ बताता हूँ, सुनो। मनुष्य कारणसे ही प्रेमपात्र और कारणसे ही द्वेषका पात्र बनता है ॥ १५०-१५१ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ॥१५२॥
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह।

'यह जीव-जगत् स्वार्थका ही साथी है। कोई किसीका प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों तथा पति और पत्नीमें भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है। इस जगत्में किसीके भी प्रेमको मैं निष्कारण (स्वार्थरहित) नहीं समझता ॥ १५२½ ॥

यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्या वा कारणान्तरे ॥१५३॥
स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः।

'कभी-कभी किसी स्वार्थको लेकर भाई भी कुपित हो जाते हैं अथवा पत्नी भी रूठ जाती है। यद्यपि वे स्वभावतः एक

दूसरेसे जैसा प्रेम करते हैं, ऐसा प्रेम दूसरे लोग नहीं करते हैं ॥ १५३½ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ॥१५४॥
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थे प्रीयते जनः ।

'कोई दान देनेसे प्रिय होता है, कोई प्रिय वचन बोलनेसे प्रीतिपात्र बनता है और कोई कार्यसिद्धिके लिये मन्त्र, होम एवं जप करनेसे प्रेमका भाजन बन जाता है ॥ १५४½ ॥

उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ॥१५५॥
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ।

'किसी कारण (स्वार्थ) को लेकर उत्पन्न होनेवाली प्रीति जबतक वह कारण रहता है, तबतक बनी रहती है। उस कारणका स्थान नष्ट हो जानेपर उसको लेकर की हुई प्रीति भी स्वतः निवृत्त हो जाती है ॥ १५५½ ॥

किं नु तत् कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ॥१५६॥
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम् ।

'अब मेरे शरीरको खा जानेके सिवा दूसरा कौन-सा ऐसा कारण रह गया है, जिससे मैं यह मान लूँ कि वास्तवमें तुम्हारा मुझपर प्रेम है। इस समय जो तुम्हारा स्वार्थ है, उसे मैं अच्छी तरह समझता हूँ ॥१५६½ ॥

कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्तते ॥१५७॥
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तते ।
न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते ॥१५८॥

'समय कारणके स्वरूपको बदल देता है; और स्वार्थ उस समयका अनुसरण करता रहता है। विद्वान् पुरुष उस स्वार्थको समझता है और साधारण लोग विद्वान् पुरुषके ही पीछे चलते हैं। तात्पर्य यह है कि मैं विद्वान् हूँ; इसलिये तुम्हारे स्वार्थको अच्छी तरह समझता हूँ; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ १५७-१५८ ॥

अकाले हि समर्थस्य स्नेहहेतुरयं तव ।
तस्मान्नाहं चले स्वार्थात् सुस्थिरः संधिविग्रहे ॥१५९॥

'तुम शक्तिशाली हो तो भी जो बेसमय मुझपर इतना स्नेह दिखा रहे हो, इसका यह स्वार्थ ही कारण है; अतः मैं भी अपने स्वार्थसे विचलित नहीं हो सकता। संधि और विग्रहके विषयमें मेरा विचार सुनिश्चित है ॥१५९॥

अभ्राणामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे ।
अद्यैव हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृत् ॥१६०॥
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तीनां पश्य चापलम् ।

'मित्रता और शत्रुताके रूप तो बादलोंके समान क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं। आज ही तुम मेरे शत्रु होकर फिर आज ही मेरे मित्र हो सकते हो और उसके बाद आज ही पुनः शत्रु भी बन सकते हो। देखो, यह स्वार्थका सम्बन्ध कितना चञ्चल है ! ॥ १६०½ ॥

आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ॥१६१॥
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ।

'पहले जब उपयुक्त कारण था, तब हम दोनोंमें मैत्री हो गयी थी, किंतु कालने जिसे उपस्थित कर दिया था उस कारणके निवृत्त होनेके साथ ही वह मैत्री भी चली गयी ॥

त्वं हि मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ॥१६२॥
तत् कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता ।

'तुम जातिसे ही मेरे शत्रु हो, किंतु विशेष प्रयोजनसे मित्र बन गये थे। वह प्रयोजन सिद्ध कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी प्रकृति फिर सहज शत्रुभावको प्राप्त हो गयी ॥ १६२½ ॥

सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्त्वतः ॥१६३॥
प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृते तद् वदस्व मे ।

'मैं इस प्रकार शुक्र आदि आचार्योंके बनाये हुए नीति-शास्त्रकी बातोंको ठीक-ठीक जानकर भी तुम्हारे लिये उस जालके भीतर कैसे प्रवेश कर सकता था ? यह तुम्हीं मुझे बताओ ॥ १६३½ ॥

त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ॥१६४॥
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ।

'तुम्हारे पराक्रमसे मैं प्राण-संकटसे मुक्त हुआ और मेरी शक्तिसे तुम। जब एक दूसरेपर अनुग्रह करनेका काम पूरा हो गया, तब फिर हमें परस्पर मिलनेकी आवश्यकता नहीं ॥

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्थास्तथा वयम् ॥१६५॥
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किंचिदन्यत्र भक्षणात् ।

'सौम्य ! अब तुम्हारा काम बन गया और मेरा प्रयोजन भी सिद्ध हो गया; अतः अब मुझे खा लेनेके सिवा मेरेद्वारा तुम्हारा दूसरा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है ॥१६५½॥

अहमन्नं भवान् भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ॥१६६॥
नावयोर्विद्यते संधिर्वियुक्ते विषमे बले ।

'मैं अन्न हूँ और तुम मुझे खानेवाले हो। मैं दुर्बल हूँ और तुम बलवान् हो। इस प्रकार मेरे और तुम्हारे बलमें कोई समानता नहीं है। दोनोंमें बहुत अन्तर है। अतः हम दोनोंमें संधि नहीं हो सकती ॥ १६६½ ॥

स मन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् ॥१६७॥
भक्ष्यं मृगयसे नूनं सुखोपायेन कर्मणा ।

'मैं तुम्हारा विचार जान गया हूँ, निश्चय ही तुम जालसे छूटनेके बादसे ही सहज उपाय तथा प्रयत्नद्वारा आहार ढूँढ़ रहे हो ॥ १६७½ ॥

भक्ष्यार्थं ह्यवबद्धस्त्वं स मुक्तः पीडितः क्षुधा ॥१६८॥
शास्त्रजां मतिमास्थाय नूनं भक्षयिताद्य माम् ।
जानामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ॥१६९॥
स त्वं मामभिसंधाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ।

'आहारकी खोजके लिये ही निकलनेपर तुम इस जालमें फँसे थे और अब इससे छूटकर भूखसे पीड़ित हो रहे हो। निश्चय ही शास्त्रीय बुद्धिका सहारा लेकर अब तुम मुझे खा जाओगे। मैं जानता हूँ कि तुम भूखे हो और यह तुम्हारे भोजनका समय है; अतः तुम पुनः मुझसे संधि करके अपने

लिये भोजनकी तलाश करते हो ॥ १६८-१६९½ ॥

त्वं चापि पुत्रदारस्थो यत् संधिं सृजसे मयि ॥१७०॥
शुश्रूषां यतसे कर्तुं सखे मम न तत् क्षमम् ।

'सखे ! तुम जो बाल-बच्चोंके बीचमें बैठकर मुझपर संधि-का भाव दिखा रहे हो तथा मेरी सेवा करनेका यत्न करते हो, वह सब मेरे योग्य नहीं है ॥ १७०½ ॥

त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्या सुताश्च ते ॥१७१॥
कस्मात् ते मां न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयिनस्त्वयि ।

'तुम्हारे साथ मुझे देखकर तुम्हारी प्यारी पत्नी और पुत्र जो तुमसे बड़ा प्रेम रखते हैं, हर्षसे उल्लसित हो मुझे कैसे नहीं खा जायँगे ? ॥ १७१½ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ॥१७२॥
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ।

'अब मैं तुमसे नहीं मिलूँगा । हम दोनोंके मिलनका जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। यदि तुम्हें मेरे शुभ कर्म (उपकार) का स्मरण है तो स्वयं स्वस्थ रहकर मेरे भी कल्याणका चिन्तन करो ॥ १७२½ ॥

शत्रोरनार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ॥१७३॥
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ।

'जो अपना शत्रु हो, दुष्ट हो, कष्टमें पड़ा हुआ हो, भूखा हो और अपने लिये भोजनकी तलाश कर रहा हो, उसके सामने कोई भी बुद्धिमान् (जो उसका भोज्य है) कैसे जा सकता है ? ॥ १७३½ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ॥१७४॥
विश्वस्तं वा प्रमत्तं वा एतदेव कृतं भवेत् ।
बलवत्संनिकर्षो हि न कदाचित् प्रशस्यते ॥१७५॥

'तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं चला जाऊँगा । मुझे दूरसे भी तुमसे डर लगता है। मेरा यह पलायन विश्वासपूर्वक हो रहा हो या प्रमादके कारण; इस समय यही मेरा कर्तव्य है। बलवानोंके निकट रहना दुर्बल प्राणीके लिये कभी अच्छा नहीं माना जाता ॥ १७४-१७५ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि निवृत्तो भव लोमश ।
यदि त्वं सुकृतं वेत्सि तत् सख्यमनुसारय ॥१७६॥

'लोमश ! अब मैं तुमसे कभी नहीं मिलूँगा। तुम लौट जाओ। यदि तुम समझते हो कि मैंने तुम्हारा कोई उपकार किया है तो तुम मेरे प्रति सदा मैत्रीभाव बनाये रखना ॥१७६॥

प्रशान्तादपि मे पापाद् भेतव्यं बलिनः सदा ।
यदि स्वार्थं न ते कार्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१७७॥

'जो बलवान् और पापी हो, वह शान्तभावसे रहता हो तो भी मुझे सदा उससे डरना चाहिये । यदि तुम्हें मुझसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है तो बताओ मैं तुम्हारा (इसके अतिरिक्त) कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ १७७ ॥

कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे संततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१७८॥
अपि सर्वस्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना ।

'मैं तुम्हें इच्छानुसार सब कुछ दे सकता हूँ; परंतु अपने आपको कभी नहीं दूँगा । अपनी रक्षा करनेके लिये तो संतति, राज्य, रत्न और धन—सबका त्याग किया जा सकता है । अपना सर्वस्व त्यागकर भी स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्तताम् ॥१७९॥
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ।

'हमने सुना है कि यदि प्राणी जीवित रहे तो वह शत्रुओं-द्वारा अपने अधिकारमें किये हुए ऐश्वर्य, धन और रत्नोंको पुनः वापस ला सकता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गयी है ॥

न त्वात्मनः सम्प्रदानं धनरत्नवदिष्यते ॥१८०॥
आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि ।

'धन और रत्नोंकी भाँति अपने आपको शत्रुके हाथमें दे देना अभीष्ट नहीं है। धन और स्त्रीके द्वारा अर्थात् उनका त्याग करके भी सर्वदा अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥ १८०½ ॥

आत्मरक्षणतन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ॥१८१॥
आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः ।

'जो आत्मरक्षामें तत्पर हैं और भलीभाँति परीक्षापूर्वक निर्णय करके काम करते हैं, ऐसे पुरुषोंको अपने ही दोषसे उत्पन्न होनेवाली आपत्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं ॥ १८१½ ॥

शत्रून् सम्यग् विजानन्ति दुर्बला ये बलीयसः ॥१८२॥
न तेषां चाल्यते बुद्धिः शास्त्रार्थकृतनिश्चया ।

'जो दुर्बल प्राणी अपने बलवान् शत्रुओंको अच्छी तरह जानते हैं, उनकी शास्त्रके अर्थज्ञानद्वारा स्थिर हुई बुद्धि कभी विचलित नहीं होती' ॥ १८२½ ॥

इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ॥१८३॥
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषिकं वाक्यमब्रवीत् ॥१८४॥

पलितने जब इस प्रकार स्पष्टरूपसे कड़ी फटकार सुनायी, तब बिलावने लज्जित होकर पुनः उस चूहेसे इस प्रकार कहा ॥

लोमश उवाच

सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१८५॥

लोमश बोला—भाई ! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मित्रसे द्रोह करना तो बड़ी घृणित बात है। तुम जो सदा मेरे हितमें तत्पर रहते हो, इसे मैं तुम्हारी उत्तम बुद्धिका ही परिणाम समझता हूँ ॥ १८५ ॥

उक्तवानर्थतत्त्वेन मयासम्भिन्नदर्शनः ।
न तु मामन्यथा साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥१८६॥

श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने तो यथार्थरूपसे नीति-शास्त्रका सार ही बता दिया । मुझसे तुम्हारा विचार पूरा-पूरा मिलता है। मित्रवर ! किंतु तुम मुझे गलत न समझो। मेरा भाव तुमसे विपरीत नहीं है ॥ १८६ ॥

प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम् ।
धर्मज्ञोऽसि गुणज्ञोऽसि कृतज्ञोऽसि विशेषतः ॥१८७॥

मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः ।
तस्मादेवं पुनः साधो मय्याचरितुमर्हसि ॥१८८॥

तुमने मुझे प्राणदान दिया है। इसीसे मुझपर तुम्हारे सौहार्दका प्रभाव पड़ा । मैं धर्मको जानता हूँ, गुणोंका मूल्य समझता हूँ, विशेषतः तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ, मित्रवत्सल हूँ और सबसे बड़ी बात यह है कि मैं तुम्हारा भक्त हो गया हूँ; अतः मेरे अच्छे मित्र ! तुम फिर मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव करो—मेल-जोल बढ़ाकर मेरे साथ घूमो-फिरो ॥ १८७-१८८॥

त्वया हि वाच्यमानोऽहं जह्यां प्राणान् सबान्धवः ।
विश्रम्भो हि बुधैर्दृष्टो मद्विधेषु मनस्विषु ॥१८९॥

यदि तुम कह दो तो मैं बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे लिये अपने प्राण भी त्याग दे सकता हूँ । विद्वानोंने मुझ-जैसे मनस्वी पुरुषोंपर सदा विश्वास ही किया और देखा है ॥१८९॥

तदेतद् धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शङ्कितुमर्हसि ।

अतः धर्मके तत्त्वको जाननेवाले पलित ! तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १८९½ ॥

इति संस्तूयमानोऽपि मार्जारेण स मूषिकः ॥१९०॥
मनसा भावगम्भीरो मार्जारं वाक्यमब्रवीत् ।

बिलावके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर भी चूहा अपने मनसे गम्भीर भाव ही धारण किये रहा। उसने मार्जारसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १९०½ ॥

साधुर्भवाञ्श्रुतार्थोऽस्मि प्रीये च न च विश्वसे॥१९१॥
संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ।
न ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ॥१९२॥

'भैया ! तुम वास्तवमें बड़े साधु हो । यह बात मैंने तुम्हारे विषयमें सुन रक्खी है । उससे मुझे प्रसन्नता भी है; परंतु मैं तुमपर विश्वास नहीं कर सकता । तुम मेरी कितनी ही स्तुति क्यों न करो । मेरे लिये कितनी ही धनराशि क्यों न लुटा दो; परंतु अब मैं तुम्हारे साथ मिल नहीं सकता। सखे ! बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष बिना किसी विशेष कारणके अपने शत्रुके वशमें नहीं जाते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥१९३॥
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।

'इस विषयमें शुक्राचार्यने दो गाथाएँ कही हैं। उन्हें ध्यान देकर सुनो ।जब अपने और शत्रुपर एक-सी विपत्ति आयी हो, तब निर्बलको सबल शत्रुके साथ मेल करके बड़ी सावधानी और युक्तिसे अपना काम निकालना चाहिये और जब काम हो जाय, तब फिर उस शत्रुपर विश्वास नहीं करना चाहिये (यह पहली गाथा है) ॥ १९३½ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥१९४॥
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत् ।

'(दूसरी गाथा यों है) जो विश्वासपात्र न हो, उसपर विश्वास न करे तथा जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे । अपने प्रति सदा दूसरोंका विश्वास उत्पन्न करे; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे ॥ १९४½ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ॥१९५॥
द्रव्याणि संततिश्चैव सर्वं भवति जीवितः ।

'इसलिये सभी अवस्थाओंमें अपने जीवनकी रक्षा करे; क्योंकि जीवित रहनेपर पुरुषको धन और संतान—सभी मिल जाते हैं ॥ १९५½ ॥

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ॥१९६॥
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ।

'संक्षेपमें नीतिशास्त्रका सार यह है कि किसीका भी विश्वास न करना ही उत्तम माना गया है; इसलिये दूसरे लोगोंपर विश्वास न करनेमें ही अपना विशेष हित है ॥१९६½॥

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ॥१९७॥
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ।

'जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं, वे दुर्बल होनेपर भी शत्रुओंद्वारा मारे नहीं जाते । परंतु जो उनपर विश्वास करते हैं, वे बलवान् होनेपर भी दुर्बल शत्रुओंद्वारा मार डाले जाते हैं ॥ १९७½ ॥

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा ॥१९८॥
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात् ।

'बिलाव ! तुम-जैसे लोगोंसे मुझे सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये और तुम भी अपने जन्मजात शत्रु चाण्डालसे अपनेको बचाये रक्खो' ॥ १९८½ ॥

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं संत्रासाज्जातसाध्वसः ॥१९९॥
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः ।

चूहेके इस प्रकार कहते समय चाण्डालका नाम सुनते ही बिलाव बहुत डर गया और वह डाली छोड़कर बड़े वेगसे तुरंत दूसरी ओर चला गया ॥ १९९½ ॥

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ॥२००॥
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह ।

तदनन्तर नीतिशास्त्रके अर्थ और तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पलित अपने बौद्धिक शक्तिका परिचय दे दूसरे बिलमें चला गया ॥ २००½ ॥

एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः ॥२०१॥
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसंधिताः ।
अरिणापि समर्थेन संधिं कुर्वीत पण्डितः ॥२०२॥
मूषिकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात् ।

इस प्रकार दुर्बल और अकेला होनेपर भी बुद्धिमान् पलित चूहेने अपने बुद्धि-बलसे बहुतेरे प्रबल शत्रुओंको परास्त कर दिया; अतः आपत्तिके समय विद्वान् पुरुष बलवान् शत्रुके साथ भी संधि कर ले । देखो, चूहे और बिलाव दोनों एक दूसरेका आश्रय लेकर विपत्तिसे छुटकारा पा गये थे ॥

इत्येवं क्षत्रधर्मस्य मया मार्गो निदर्शितः ॥२०३॥
विस्तरेण महाराज संक्षेपमपि मे शृणु ।

महाराज ! इस दृष्टान्तसे मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक क्षात्र-धर्मका मार्ग दिखाया है । अब संक्षेपसे कुछ मेरी बात सुनो ॥

अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम् ॥२०४॥
अन्योन्यमभिसंधातुं सम्बभूव तयोर्मतिः ।

चूहे और बिलाव एक दूसरेसे वैर रखनेवाले प्राणी हैं तो भी उन्होंने संकटके समय एक दूसरेसे उत्तम प्रीति कर ली । उनमें परस्पर संधि कर लेनेका विचार पैदा हो गया ॥

तत्र प्राज्ञोऽभिसंधत्ते सम्यग् बुद्धिसमाश्रयात् ॥२०५॥
अभिसंधीयते प्राज्ञः प्रमादादपि वा बुधैः ।

ऐसे अवसरोंपर बुद्धिमान् पुरुष उत्तम बुद्धिका आश्रय ले संधि करके शत्रुको परास्त कर देता है। इसी तरह विद्वान् पुरुष भी यदि असावधान रहे तो उसे दूसरे बुद्धिमान् पुरुष परास्त कर देते हैं ॥ २०५½ ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२०६॥
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति ।

इसलिये मनुष्य भयभीत होकर भी निडरके समान और किसीपर विश्वास न करते हुए भी विश्वास करनेवालेके समान बर्ताव करे, उसे कभी असावधान होकर नहीं चलना चाहिये । यदि चलता है तो नष्ट हो जाता है ॥ २०६½ ॥

कालेन रिपुणा संधिः काले मित्रेण विग्रहः ॥२०७॥
कार्य इत्येव संधिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप ।

नरेश्वर ! समयानुसार शत्रुके साथ भी संधि और मित्रके साथ भी युद्ध करना उचित है । संधिके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् पुरुष इसी बातको सदा कहते हैं ॥ २०७½ ॥

एतज्ज्ञात्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ॥२०८॥
अभियुक्तोऽप्रमत्तश्च प्राग्भयाद् भीतवच्चरेत् ।

महाराज ! ऐसा जानकर नीति-शास्त्रके तात्पर्यको हृदयङ्गम करके उद्योगशील एवं सावधान रहकर भय आनेसे पहले भयभीतके समान आचरण करना चाहिये ॥ २०८½ ॥

भीतवत् संनिधिः कार्यः प्रतिसंधिस्तथैव च ॥२०९॥
भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगजा ।

बलवान् शत्रुके समीप डरे हुएके समान उपस्थित होना चाहिये । उसी तरह उसके साथ संधि भी कर लेनी चाहिये । सावधान पुरुषके उद्योगशील बने रहनेसे स्वयं ही संकटसे बचानेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ २०९½ ॥

न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये ॥२१०॥
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम् ।

राजन् ! जो पुरुष भय आनेके पहलेसे ही उसकी ओरसे सशङ्क रहता है, उसके सामने प्रायः भयका अवसर ही नहीं आता है; परंतु जो निःशङ्क होकर दूसरोंपर विश्वास कर लेता है, उसे सहसा बड़े भारी भयका सामना करना पड़ता है ॥

अभीरुरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेयः कथंचन ॥२११॥
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु ।

जो मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानकर निर्भय विचरता है, उसे कभी कोई सलाह नहीं देनी चाहिये; क्योंकि वह दूसरेकी सलाह सुनता ही नहीं है । भयको न जाननेकी अपेक्षा उसे जाननेवाला ठीक है; क्योंकि वह उससे बचनेके लिये उपाय जाननेकी इच्छासे परिणामदर्शी पुरुषोंके पास जाता है ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२१२॥
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किंचिदाचरेत् ।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको डरते हुए भी निर्भयके समान रहना चाहिये तथा भीतरसे विश्वास न करते हुए भी ऊपरसे विश्वासी पुरुषकी भाँति बर्ताव करना चाहिये । कार्योंकी कठिनता देखकर कभी कोई मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये ॥ २१२½ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तमितिहासं युधिष्ठिर ॥२१३॥
श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत् समुपाचर ।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह मैंने तुम्हारे सामने नीतिकी बात बतानेके लिये चूहे तथा बिलावके इस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया है । इसे सुनकर तुम अपने सुहृदोंके बीचमें यथायोग्य बर्ताव करो ॥ २१३½ ॥

उपलभ्य मतिं चाग्र्यामरिमित्रान्तरं तथा ॥२१४॥
संधिविग्रहकालौ च मोक्षोपायस्तथैव च ।

श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर शत्रु और मित्रके भेद, संधि और विग्रहके अवसरका तथा विपत्तिसे छूटनेके उपायका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २१४½ ॥

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥२१५॥
समागतश्चरेद् युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत् ।

अपने और शत्रुके प्रयोजन यदि समान हों तो बलवान् शत्रुके साथ संधि करके उससे मिलकर युक्तिपूर्वक अपना काम बनावे और कार्य पूरा हो जानेपर फिर कभी उसका विश्वास न करे ॥ २१५½ ॥

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते ॥२१६॥
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद् भूयः संरक्षयन् प्रजाः ।

पृथ्वीनाथ ! यह नीति धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल है । तुम इसका आश्रय लो । मुझसे सुने हुए इस उपदेशके अनुसार कर्तव्यपालनमें तत्पर हो सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हुए अपनी उन्नतिके लिये उठकर खड़े हो जाओ ॥२१६½॥

ब्राह्मणैश्चापि ते सार्धं यात्रा भवतु पाण्डव ॥२१७॥
ब्राह्मणा वै परं श्रेयो दिवि चेह च भारत ।

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी जीवनयात्रा ब्राह्मणोंके साथ होनी चाहिये । भरतनन्दन ! ब्राह्मणलोग इहलोक और परलोकमें भी परम कल्याणकारी होते हैं ॥ २१७½ ॥

एते धर्मस्य वेत्तारः कृतज्ञाः सततं प्रभो ॥२१८॥
पूजिताः शुभकर्तारः पूजयेत् तान् नराधिप ।

प्रभो ! नरेश्वर ! ये ब्राह्मण धर्मज्ञ होनेके साथ ही सदा कृतज्ञ होते हैं । सम्मानित होनेपर शुभकारक एवं शुभचिन्तक होते हैं; अतः इनका सदा आदर-सम्मान करना चाहिये ॥

राज्यं श्रेयः परं राजन् यशः कीर्तिं च लप्स्यसे ॥२१९॥
कुलस्य संततिं चैव यथान्यायं यथाक्रमम् ॥२२०॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंके यथोचित सत्कारसे क्रमशः राज्य, परम कल्याण, यश, कीर्ति तथा वंशपरम्पराको बनाये रखनेवाली संतति सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥ २१९-२२० ॥

द्वयोरिमं भारत संधिविग्रहं
सुभाषितं बुद्धिविशेषकारकम् ।
यथा त्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा
निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डले ॥२२१॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! चूहे और बिलावका जो यह सुन्दर उपाख्यान कहा गया है, यह संधि और विग्रहका ज्ञान तथा विशेष बुद्धि उत्पन्न करनेवाला है । भूपालको सदा इसीके अनुसार दृष्टि रखकर शत्रुमण्डलके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये ॥ २२१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि मार्जारमूषिकसंवादे अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें चूहे और बिलावका संवादविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुसे सदा सावधान रहनेके विषयमें राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़ियाका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु ।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाबाहो ! आपने यह सलाह दी है कि शत्रुओंपर विश्वास नहीं करना चाहिये । साथ ही यह कहा है कि कहीं भी विश्वास करना उचित नहीं है, परंतु यदि राजा सर्वत्र अविश्वास ही करे तो किस प्रकार वह राज्यसम्बन्धी व्यवहार चला सकता है ? ॥ १ ॥

विश्वासाद्धि परं राजन् राज्ञामुत्पद्यते भयम् ।
कथं हि नाश्वसन् राजा शत्रून् जयति पार्थिवः ॥ २ ॥

राजन् ! यदि विश्वाससे राजाओंपर महान् भय आता है तो सर्वत्र अविश्वास करनेवाला भूपाल अपने शत्रुओंपर विजय कैसे पा सकता है ? ॥ २ ॥

एतन्मे संशयं छिन्धि मतिर्मे सम्प्रमुह्यति ।
अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! आपकी यह अविश्वास-कथा सुनकर तो मेरी बुद्धिपर मोह छा गया । कृपया आप मेरे इस संशयका निवारण कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्व राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने ।
पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥

भीष्मने कहा—राजन् ! राजा ब्रह्मदत्तके घरमें पूजनी चिड़ियाके साथ जो उनका संवाद हुआ था, उसे ही तुम्हारे समाधानके लिये उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी ।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ॥ ५ ॥

काम्पिल्य नगरमें ब्रह्मदत्त नामके एक राजा राज्य करते थे । उनके अन्तःपुरमें पूजनी नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया निवास करती थी । वह दीर्घकालतक उनके साथ रही थी ॥ ५ ॥

रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः ।
सर्वज्ञा सर्वतत्त्वज्ञा तिर्यग्योनिं गतापि सा ॥ ६ ॥

वह चिड़िया 'जीवजीवक' नामक विशेष पक्षीके समान समस्त प्राणियोंकी बोली समझती थी तथा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होनेपर भी सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली थी ॥

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम् ।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥ ७ ॥

एक दिन उसने रनिवासमें ही एक बच्चा दिया, जो बड़ा तेजस्वी था; उसी दिन उसके साथ ही राजाकी रानीके गर्भसे भी एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा ।
समुद्रतीरं सा गत्वा आजहार फलद्वयम् ॥ ८ ॥

आकाशमें विचरनेवाली वह कृतज्ञ पूजनी चिड़िया प्रतिदिन समुद्रतटपर जाकर वहाँसे उन दोनों बच्चोंके लिये दो फल ले आया करती थी ॥ ८ ॥

पुष्ट्यर्थं च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह ।
फलमेकं सुतायादाद् राजपुत्राय चापरम् ॥ ९ ॥

वह अपने बच्चेकी पुष्टिके लिये एक फल उसे देती तथा राजाके बेटेकी पुष्टिके लिये दूसरा फल उस राजकुमारको अर्पित कर देती थी ॥ ९ ॥

अमृतास्वादसदृशं बलतेजोऽभिवर्धनम् ।
आदायादाय सैवाशु तयोः प्रादात् पुनः पुनः ॥ १० ॥

पूजनीका लाया हुआ वह फल अमृतके समान स्वादिष्ट और बल तथा तेजकी वृद्धि करनेवाला होता था । वह बारंबार उस फलको ला-लाकर शीघ्रतापूर्वक उन दोनोंको दिया करती थी ॥ १० ॥

ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् ।
ततः स धात्र्या कक्षेण उह्यमानो नृपात्मजः ॥ ११ ॥
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः ।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥ १२ ॥

राजकुमार उस फलको खा-खाकर बड़ा हृष्ट-पुष्ट हो गया। एक दिन धाय उस राजपुत्रको गोदमें लिये घूम रही थी। वह बालक ही तो ठहरा, बाल-स्वभाववश आकर उसने उस चिड़ियाके बच्चेको देखा और उसके साथ यत्नपूर्वक वह खेलने लगा ॥ ११-१२ ॥

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम्।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! अपने साथ ही पैदा हुए उस पक्षीको सूने स्थानमें ले जाकर राजकुमारने मार डाला और मारकर वह धायकी गोदमें जा बैठा ॥ १३ ॥

अथ सा पूजनी राजन्नागमत् फलहारिणी।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥ १४ ॥

राजन्! तदनन्तर जब पूजनी फल लेकर लौटी तो उसने देखा कि राजकुमारने उसके बच्चेको मार डाला है और वह धरतीपर पड़ा है ॥ १४ ॥

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम्।
पूजनी दुःखसंतप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपने बच्चेकी ऐसी दुर्गति देखकर पूजनीके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह दुःखसे संतप्त हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी— ॥ १५ ॥

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम्।
कारणात् सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः संत्यजन्ति च ॥ १६ ॥

'क्षत्रियमें संगति निभानेकी भावना नहीं होती। उसमें न प्रेम होता है, न सौहार्द। ये किसी हेतु या स्वार्थसे ही दूसरोंको सान्त्वना देते हैं। जब इनका काम निकल जाता है, तब ये आश्रित व्यक्तिको त्याग देते हैं ॥ १६ ॥

क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापकारिषु।
अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥ १७ ॥

'क्षत्रिय सबकी बुराई ही करते हैं। इनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ये दूसरोंका अपकार करके भी सदा उसे व्यर्थ सान्त्वना दिया करते हैं ॥ १७ ॥

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम्।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १८ ॥

'देखो तो सही, यह राजकुमार कैसा कृतघ्न, अत्यन्त क्रूर और विश्वासघाती है! अच्छा, आज मैं इससे इस वैरका बदला लेकर ही रहूँगी ॥ १८ ॥

सहसंजातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः।
शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्येव पातकम् ॥ १९ ॥

'जो साथ ही पैदा हुआ और पाला-पोसा गया हो, साथ ही भोजन करता हो और शरणमें आकर रहता हो, ऐसे व्यक्तिका वध करनेसे उपर्युक्त तीन प्रकारका पातक लगता है' ॥

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर पूजनीने अपने दोनों पञ्जोंसे राजकुमारकी दोनों आँखें फोड़ डालीं। फोड़कर वह आकाशमें स्थिर हो गयी और इस प्रकार बोली— ॥ २० ॥

इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ २१ ॥

'इस जगत्‌में स्वेच्छासे जो पाप किया जाता है, उसका फल तत्काल ही कर्ताको मिल जाता है। जिनके पापका बदला मिल जाता है, उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म नष्ट नहीं होते हैं ॥

पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥ २२ ॥

'राजन्! यदि यहाँ किये हुए पापकर्मका कोई फल कर्ताको मिलता न दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि उसके पुत्रों, पोतों और नातियोंको उसका फल भोगना पड़ेगा' ॥

ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्याहृतलोचनम्।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

राजा ब्रह्मदत्तने देखा कि पूजनीने मेरे पुत्रकी आँखें ले लीं, तब उन्होंने यह समझ लिया कि राजकुमारको उसके कुकर्मका ही बदला मिला है। यह सोचकर राजाने रोष त्याग दिया और पूजनीसे इस प्रकार कहा ॥ २३ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया।
उभयं तत् समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥ २४ ॥

ब्रह्मदत्त बोले—पूजनी! हमने तेरा अपराध किया

था और तूने उसका बदला चुका लिया। अब हम दोनोंका कार्य बराबर हो गया। इसलिये अब यहीं रह। किसी दूसरी जगह न जा ॥ २४ ॥

पूजन्युवाच

सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः।

न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥ २५ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! एक बार किसीका अपराध करके फिर वहीं आश्रय लेकर रहे तो विद्वान् पुरुष उसके इस कार्यकी प्रशंसा नहीं करते हैं। वहाँसे भाग जानेमें ही उसका कल्याण है ॥ २५ ॥

सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत्।
क्षिप्रं स बध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति ॥ २६ ॥

जब किसीसे वैर बँध जाय तो उसकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आकर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वैरकी आग तो बुझती नहीं, वह विश्वास करनेवाला मूर्ख शीघ्र ही मारा जाता है ॥ २६ ॥

अन्योन्यकृतवैराणां पुत्रपौत्रं नियच्छति।
पुत्रपौत्रविनाशे च परलोकं नियच्छति ॥ २७ ॥

जो लोग आपसमें वैर बाँध लेते हैं, उनका वह वैरभाव पुत्रों और पौत्रोंतकको पीड़ा देता है। पुत्रों-पौत्रोंका विनाश हो जानेपर परलोकमें भी वह साथ नहीं छोड़ता है ॥ २७ ॥

सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकैः ॥ २८ ॥

जो लोग आपसमें वैर रखनेवाले हैं, उन सबके लिये सुखकी प्राप्तिका उपाय यही है कि परस्पर विश्वास न करे। विश्वासघाती मनुष्योंका सर्वथा विश्वास तो करना ही नहीं चाहिये ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति।
कामं विश्वासयेदन्यान् परेषां च न विश्वसेत् ॥ २९ ॥

जो विश्वासपात्र न हो, उसपर विश्वास न करे। जो विश्वासका पात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न होनेवाला भय विश्वास करनेवालेका मूलोच्छेद कर डालता है। अपने प्रति दूसरोंका विश्वास भले ही उत्पन्न कर ले; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे॥

माता पिता बान्धवानां वरिष्ठौ
भार्या जरा बीजमात्रं तु पुत्रः।
भ्राता शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य
आत्मा ह्येकः सुखदुःखस्य भोक्ता॥ ३० ॥

माता और पिता स्वाभाविक स्नेह होनेके कारण बान्धवगणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, पत्नी वीर्यकी नाशक (होनेसे) वृद्धावस्थाका मूर्तिमान् रूप है, पुत्र अपना ही अंश है, भाई (धनमें हिस्सा बँटानेके कारण) शत्रु समझा जाता है और मित्र तभीतक मित्र है, जबतक उसका हाथ गीला रहता है। अर्थात् जबतक उसका स्वार्थ सिद्ध होता रहता है; केवल आत्मा ही सुख और दुःखका भोग करनेवाला कहा गया है ॥

अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते।
स च हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥ ३१ ॥

जब आपसमें वैर हो जाय, तब संधि करना ठीक नहीं होता। मैं अबतक जिस उद्देश्यसे यहाँ रही हूँ, वह तो समाप्त हो गया ॥ ३१ ॥

पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः।
मनो भवत्यविश्वस्तं कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ३२ ॥

जो पहलेका अपकार करनेवाला प्राणी है, वह दान और मानसे पूजित हो तो भी उसका मन विश्वस्त नहीं होता। अपना किया हुआ अनुचित कर्म ही दुर्बल प्राणियोंको डराता रहता है ॥ ३२ ॥

पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात् तत् सत्त्ववान् स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन्॥

जहाँ पहले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली पुरुषको पुनः सम्मान मिलनेपर भी उस स्थानका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ३३ ॥

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! मैं आपके घरमें बहुत दिनोंतक बड़े आदरके साथ रही हूँ; परंतु अब यह वैर उत्पन्न हो गया; इसलिये मैं बहुत जल्दी यहाँसे सुखपूर्वक चली जाऊँगी॥३४॥

ब्रह्मदत्त उवाच

यः कृते प्रतिकुर्याद् वै न स तत्रापराध्नुयात्।
अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! जो एक व्यक्तिके अपराध करनेपर बदलेमें स्वयं भी कुछ करे, वह कोई अपराध नहीं करता—अपराधी नहीं माना जाता। इससे तो पहलेका अपराधी ऋणमुक्त हो जाता है; इसलिये तू यहीं रह। कहीं मत जा ॥ ३५ ॥

पूजन्युवाच

न कृतस्य तु कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
हृदयं तत्र जानाति कर्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३६ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! जिसका अपकार किया जाता है और जो अपकार करता है, उन दोनोंमें फिर मेल नहीं हो सकता। जो अपराध करता है और जिसपर किया जाता है, उन दोनोंके ही हृदयोंमें वह बात खटकती रहती है ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
वैरस्योपशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! बदला ले लेनेपर तो वैर शान्त हो जाता है और अपकार करनेवालेको उस पापका फल भी नहीं भोगना पड़ता; अतः अपराध करने और सहनेवालेका मेल पुनः हो सकता है ॥ ३७ ॥

पूजन्युवाच

नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत्।
विश्वासाद् बध्यते लोके तस्माच्छ्रेयोऽप्यदर्शनम् ॥

पूजनी बोली—राजन् ! इस प्रकार कभी वैर शान्त नहीं होता है। 'शत्रुने मुझे सान्त्वना दी है' ऐसा समझकर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसी अवस्थामें

विश्वास करनेसे जगत्‌में अपने प्राणोंसे भी (कभी-न-कभी) हाथ धोना पड़ता है, इसलिये वहाँ मुँह न दिखाना ही अच्छा है ॥

तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि।
साम्ना तेऽपि निगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥ ३९ ॥

जो लोग बलपूर्वक तीखे शस्त्रोंसे भी वशमें नहीं किये जा सकते, उन्हें भी मीठी वाणीद्वारा बंदी बना लिया जाता है। जैसे हथिनियोंकी सहायतासे हाथी कैद कर लिये जाते हैं ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥ ४० ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! प्राणोंका नाश करनेवाले भी यदि एक साथ रहने लगें तो उनमें परस्पर स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वे एक-दूसरेका विश्वास भी करने लगते हैं; जैसे श्वपच (चाण्डाल) के साथ रहनेसे कुत्तेका उसके प्रति स्नेह और विश्वास हो जाता है ॥ ४० ॥

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम्।
नैव तिष्ठति तद् वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

आपसमें जिनका वैर हो गया है, उनका वह वैर भी एक साथ रहनेसे मृदु हो जाता है, अतः कमलके पत्तेपर जैसे जल नहीं ठहरता है, उसी प्रकार वह वैर भी टिक नहीं पाता है ॥ ४१ ॥

पूजन्युवाच

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥ ४२ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! वैर पाँच कारणोंसे हुआ करता है; इस बातको विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते हैं । १. स्त्रीके लिये, २. घर और जमीनके लिये, ३. कठोर वाणीके कारण, ४. जातिगत द्वेषके कारण और ५. किसी समय किये हुए अपराधके कारण ॥ ४२ ॥

तत्र दाता न हन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ॥ ४३ ॥

इन कारणोंसे भी ऐसे व्यक्तिका वध नहीं करना चाहिये जो दाता हो अर्थात् परोपकारी हो, विशेषतः क्षत्रियनरेशको छिपकर या प्रकटरूपमें ऐसे व्यक्तिपर हाथ नहीं उठाना चाहिये। पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि उसका दोष हल्का है या भारी। उसके बाद कोई कदम उठाना चाहिये ॥

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि।
छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४४ ॥

जिसने वैर बाँध लिया हो, ऐसे सुहृद्पर भी इस जगत्‌में विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे लकड़ीके भीतर आग छिपी रहती है, उसी प्रकार उसके हृदयमें वैरभाव छिपा रहता है ॥ ४४ ॥

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥ ४५ ॥

राजन् ! जिस प्रकार बड़वानल समुद्रमें किसी तरह शान्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी न धनसे, न कठोरता दिखानेसे, न मीठे वचनोंद्वारा समझाने-बुझानेसे और न शास्त्रज्ञानसे ही शान्त होती है ॥ ४५ ॥

न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म चाप्यपराधजम्।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! प्रज्वलित हुई वैरकी आग एक पक्षको दग्ध किये बिना नहीं बुझती है और अपराधजनित कर्म भी एक पक्षका संहार किये बिना नहीं शान्त होता है ॥ ४६ ॥

सत्कृतस्यार्थमानाभ्यां तत्र पूर्वापकारिणः।
नादेयोऽमित्रविश्वासः कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ४७ ॥

जिसने पहले अपकार किया है, उसका यदि अपकृत व्यक्तिके द्वारा धन और मानसे सत्कार किया जाय तो भी उसे उस शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपना किया हुआ पापकर्म ही दुर्बलोंको डराता रहता है ॥ ४७ ॥

नैवापकारे कस्मिंश्चिदहं त्वयि तथा भवान्।
उषितास्मि गृहेऽहं ते नेदानीं विश्वसाम्यहम् ॥ ४८ ॥

अबतक तो न मैंने कोई आपका अपकार किया था और न आपने ही मेरी कोई हानि की थी; इसलिये मैं आपके महलमें रहती थी, किंतु अब मैं आपका विश्वास नहीं कर सकती ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

कालेन क्रियते कार्यं तथैव विविधाः क्रियाः।
कालेनैते प्रवर्तन्ते कः कस्येहापराध्यति ॥ ४९ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! काल ही समस्त कार्य करता है तथा कालके ही प्रभावसे भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ आरम्भ होती हैं। इसमें कौन किसका अपराध करता है ?

तुल्यं चोभे प्रवर्तेते मरणं जन्म चैव ह।
कार्यते चैव कालेन तन्निमित्तं न जीवति ॥ ५० ॥

जन्म और मृत्यु—ये दोनों क्रियाएँ समानरूपसे चलती रहती हैं और काल ही इन्हें कराता है। इसीलिये प्राणी जीवित नहीं रह पाता ॥ ५० ॥

वध्यन्ते युगपत् केचिदेकैकस्य न चापरे।
कालो दहति भूतानि सम्प्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥ ५१ ॥

कुछ लोग एक साथ ही मारे जाते हैं; कुछ एक-एक करके मरते हैं और बहुत-से लोग दीर्घकालतक मरते ही नहीं हैं। जैसे आग ईंधनको पाकर उसे जला देती है, उसी प्रकार काल ही समस्त प्राणियोंको दग्ध कर देता है ॥ ५१ ॥

नाहं प्रमाणं नैव त्वमन्योन्यं कारणं शुभे।
कालो नित्यमुपादत्ते सुखं दुःखं च देहिनाम् ॥ ५२ ॥

शुभे ! एक दूसरेके प्रति किये गये अपराधमें न तो तुम यथार्थ कारण हो और न मैं ही वास्तविक हेतु हूँ। काल ही सदा समस्त देहधारियोंके सुख-दुःखको ग्रहण या उत्पन्न करता है ॥ ५२ ॥

एवं वसेह सस्नेहा यथाकाममहिंसिता।

यत् कृतं तत् तु मे क्षान्तं त्वं च वै क्षम पूजनि॥ ५३ ॥

पूजनी ! मैं तेरी किसी प्रकार हिंसा नहीं करूँगा। तू यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार स्नेहपूर्वक निवास कर। तूने जो कुछ किया है, उसे मैंने क्षमा कर दिया और मैंने जो कुछ किया हो, उसे तू भी क्षमा कर दे ॥ ५३ ॥

पूजन्युवाच

यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।
कस्मात् त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः॥ ५४ ॥

पूजनी बोली—राजन्! यदि आप कालको ही सब क्रियाओंका कारण मानते हैं, तब तो किसीका किसीके साथ वैर नहीं होना चाहिये; फिर अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर उनके सगे-सम्बन्धी बदला क्यों लेते हैं? ॥ ५४ ॥

कस्माद् देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ५५ ॥

यदि कालसे ही मृत्यु, दुःख-सुख और उन्नति-अवनति आदिका सम्पादन होता है, तब पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंने क्यों आपसमें युद्ध करके एक दूसरेका वध किया ? ॥

भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५६ ॥

वैद्यलोग रोगियोंकी दवा करनेकी अभिलाषा क्यों करते हैं ? यदि काल ही सबको पका रहा है तो दवाओंका क्या प्रयोजन है ? ॥ ५६ ॥

प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तृषु॥ ५७ ॥

यदि आप कालको ही प्रमाण मानते हैं तो शोकसे मूर्छित हुए प्राणी क्यों महान् प्रलाप एवं हाहाकार करते हैं ? फिर कर्म करनेवालोंके लिये विधि-निषेधरूपी धर्मके पालनका नियम क्यों रखा गया है ? ॥ ५७ ॥

तव पुत्रो ममापत्यं हतवान् स हतो मया।
अनन्तरं त्वयाहं च हन्तव्या हि नराधिप ॥ ५८ ॥

नरेश्वर ! आपके बेटेने मेरे बच्चेको मार डाला और मैंने भी उसकी आँखोंको नष्ट कर दिया। इसके बाद अब आप मेरा वध कर डालेंगे ॥ ५८ ॥

अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे।
यथा त्वया प्रहर्तव्यं तथा तत्त्वं च मे शृणु॥ ५९ ॥

जैसे मैं पुत्रशोकसे संतप्त होकर आपके पुत्रके प्रति पापपूर्ण बर्ताव कर बैठी, उसी प्रकार आप भी मुझपर प्रहार कर सकते हैं। यहाँ जो यथार्थ बात है, वह मुझसे सुनिये ॥

भक्ष्यार्थं क्रीडनार्थं च नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः ॥ ६० ॥

मनुष्य खाने और खेलनेके लिये ही पक्षियोंकी कामना करते हैं। वध करने या बन्धनमें डालनेके सिवा तीसरे प्रकारका कोई सम्पर्क पक्षियोंके साथ उनका नहीं देखा जाता है ॥

वधबन्धभयादेते मोक्षतन्त्रमुपाश्रिताः।
जनीमरणजं दुःखं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६१ ॥

इस वध और बन्धनके भयसे ही मुमुक्षुलोग मोक्षशास्त्रका आश्रय लेकर रहते हैं; क्योंकि वेदवेत्ता पुरुषोंका कहना है कि जन्म और मरणका दुःख असह्य होता है ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ६२ ॥

सबको अपने प्राण प्रिय होते हैं, सभीको अपने पुत्र प्यारे लगते हैं; सब लोग दुःखसे उद्विग्न हो उठते हैं और सभीको सुखकी प्राप्ति अभीष्ट होती है ॥ ६२ ॥

दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्ययः।
दुःखं चानिष्टसंवासो दुःखमिष्टवियोजनम् ॥ ६३ ॥

महाराज ब्रह्मदत्त ! दुःखके अनेक रूप हैं। बुढ़ापा दुःख है, धनका नाश दुःख है, अप्रियजनोंके साथ रहना दुःख है और प्रियजनोंसे बिछुड़ना दुःख है ॥ ६३ ॥

वधबन्धकृतं दुःखं स्त्रीकृतं सहजं तथा।
दुःखं सुतेन सततं जनान् विपरिवर्तते ॥ ६४ ॥

वध और बन्धनसे भी सबको दुःख होता है। स्त्रीके कारण और स्वाभाविक रूपसे भी दुःख हुआ करता है तथा पुत्र यदि नष्ट हो जाय या दुष्ट निकल जाय तो उससे भी लोगोंको सदा दुःख प्राप्त होता रहता है ॥ ६४ ॥

न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६५ ॥

कुछ मूढ़ मनुष्य कहा करते हैं कि पराये दुःखमें दुःख नहीं होता; परंतु वही ऐसी बात श्रेष्ठ पुरुषोंके निकट कहा करता है, जो दुःखके तत्त्वको नहीं जानता ॥ ६५ ॥

यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत्।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ ६६ ॥

जो दुःखसे पीड़ित होकर शोक करता है तथा जो अपने और पराये सभीके दुःखका रस जानता है, वह ऐसी बात कैसे कह सकता है ? ॥ ६६ ॥

यत् कृतं ते मया राजंस्त्वया च मम यत् कृतम्।
न तद् वर्षशतैः शक्यं व्यपोहितुमरिंदम ॥ ६७ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपने जो मेरा अपकार किया है तथा मैंने बदलेमें जो कुछ किया है, उसे सैकड़ों वर्षोंमें भी भुलाया नहीं जा सकता ॥ ६७ ॥

आवयोः कृतमन्योन्यं पुनः संधिर्न विद्यते।
स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति ॥ ६८ ॥

इस प्रकार आपसमें एक दूसरेका अपकार करनेके कारण अब हमारा फिर मेल नहीं हो सकता। अपने पुत्रको याद कर-करके आपका वैर ताजा होता रहेगा ॥ ६८ ॥

वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति।
मृन्मयस्येव भग्नस्य यथा संधिर्न विद्यते ॥ ६९ ॥

इस प्रकार मरणान्त वैर ठन जानेपर जो प्रेम करना चाहता है, उसका वह प्रेम उसी प्रकार असम्भव है, जैसे

मिट्टीका बर्तन एक बार फूट जानेपर फिर नहीं जुटता है ॥

निश्चयः स्वार्थशास्त्रेषु विश्वासश्चासुखोदयः ।
उशना चैव गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत् पुरा ॥ ७० ॥

विश्वास दुःख देनेवाला है, यही नीतिशास्त्रोंका निश्चय है। प्राचीनकालमें शुक्राचार्यने भी प्रह्लादसे दो गाथाएँ कही थीं, जो इस प्रकार हैं ॥ ७० ॥

ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा ।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा ॥ ७१ ॥

जैसे सूखे तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेके ऊपर रक्खे हुए मधुको लेने जानेवाले मनुष्य मारे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग वैरीकी झूठी या सच्ची बातपर विश्वास करते हैं, वे भी बेमौत मरते हैं ॥ ७१ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै म्रियते पुमान् ॥ ७२ ॥

जब किसी कुलमें दुःखदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता। उसे याद दिलानेवाले बने ही रहते हैं, इसलिये जबतक कुलमें एक भी पुरुष जीवित रहता है, तबतक वह वैर नहीं मिटता है ॥ ७२ ॥

उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! दुष्ट प्रकृतिके लोग मनमें वैर रखकर ऊपरसे शत्रुको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देते रहते हैं। तदनन्तर अवसर पाकर उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं, जैसे कोई पानीसे भरे हुए घड़ेको पत्थरपर पटककर चूर-चूर कर दे ॥ ७३ ॥

सदा न विश्वसेद् राजन् पापं कृत्वेह कस्यचित् ।
अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद् दुःखमश्नुते ॥ ७४ ॥

राजन् ! किसीका अपराध करके फिर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। जो दूसरोंका अपकार करके भी उनपर विश्वास करता है, उसे दुःख भोगना पड़ता है ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

नाविश्वासाद् विन्दतेऽर्थानीहते चापि किंचन ।
भयात् त्वेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ॥ ७५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! अविश्वास करनेसे तो मनुष्य संसारमें अपने अभीष्ट पदार्थोंको कभी नहीं प्राप्त कर सकता और न किसी कार्यके लिये कोई चेष्टा ही कर सकता है, यदि मनमें एक पक्षसे सदा भय बना रहे तो मनुष्य मृतकतुल्य हो जायँगे—उनका जीवन ही मिट्टी हो जायगा ॥ ७५ ॥

पूजन्युवाच

यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति ।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः ॥ ७६ ॥

पूजनीने कहा—राजन् ! जिसके दोनों पैरोंमें घाव हो गया हो; फिर भी वह उन पैरोंसे ही चलता रहे तो कितना ही बचा-बचाकर क्यों न चले, यहाँ दौड़ते हुए उन पैरोंमें पुनः घाव होते ही रहेंगे ॥ ७६ ॥

नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते ।
तस्य वायुरुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य अपने रोगी नेत्रोंसे हवाकी ओर रुख करके देखता है, उसके उन नेत्रोंमें वायुके कारण अवश्य ही बहुत पीड़ा बढ़ जाती है ॥ ७७ ॥

दुष्टं पन्थानमासाद्य यो मोहादुपपद्यते ।
आत्मनो बलमज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७८ ॥

जो अपनी शक्तिको न समझकर मोहवश दुर्गम मार्गपर चल देता है, उसका जीवन वहीं समाप्त हो जाता है ॥ ७८ ॥

यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति कर्षकः ।
हीनः पुरुषकारेण सस्यं नैवाश्नुते ततः ॥ ७९ ॥

जो किसान वर्षाके समयका विचार न करके खेत जोतता है, उसका पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है और उस जुताईसे उसको अनाज नहीं मिल पाता ॥ ७९ ॥

यस्तु तिक्तं कषायं वा स्वादु वा मधुरं हितम् ।
आहारं कुरुते नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥

जो प्रतिदिन तीता, कसैला, स्वादिष्ट अथवा मधुर, जैसा भी हो, हितकर भोजन करता है, वही अन्न उसके लिये अमृतके समान लाभकारी होता है ॥ ८० ॥

पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद् दुष्टमश्नाति भोजनम् ।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ८१ ॥

परंतु जो परिणामके विचार किये बिना ही मोहवश पथ्य छोड़कर अपथ्य भोजन करता है, उसके जीवनका वहीं अन्त हो जाता है ॥ ८१ ॥

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् ।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ॥ ८२ ॥

दैव और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरेके सहारे रहते हैं, परंतु उदार विचारवाले पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते हैं और नपुंसक दैवके भरोसे पड़े रहते हैं ॥ ८२ ॥

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः ॥ ८३ ॥

कठोर अथवा कोमल, जो अपने लिये हितकर हो, वह कर्म करते रहना चाहिये। जो कर्मको छोड़ बैठता है, वह निर्धन होकर सदा अनर्थोंका शिकार बना रहता है ॥ ८३ ॥

तस्मात् सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्य एव पराक्रमः ।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥

अतः काल, दैव और स्वभाव आदि सारे पदार्थोंका भरोसा छोड़कर पराक्रम ही करना चाहिये। मनुष्यको सर्वस्वकी बाजी लगाकर भी अपने हितका साधन ही करना चाहिये ॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ॥ ८५ ॥

विद्या, शूरवीरता, दक्षता, बल और पाँचवाँ धैर्य—ये पाँच मनुष्यके स्वाभाविक मित्र बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा ही इस जगत्में सारे कार्य करते हैं ॥ ८५ ॥

निवेशनं च कुप्यं च क्षेत्रं भार्या सुहृज्जनः ।
एतान्युपहितान्याहुः सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८६ ॥

घर, ताँबा आदि धातु, खेत, स्त्री और सुहृद्जन—ये उपमित्र बताये गये हैं । इन्हें मनुष्य सर्वत्र पा सकता है ॥·

सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते ।
न विभीषयते कश्चिद् भीषितो न बिभेति च ॥ ८७ ॥

विद्वान् पुरुष सर्वत्र आनन्दमें रहता है और सर्वत्र उसकी शोभा होती है । उसे कोई डराता नहीं है और किसीके डरानेपर भी वह डरता नहीं है ॥ ८७ ॥

नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।
दाक्ष्येण कुर्वतः कर्म संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ८८ ॥

बुद्धिमान्‌के पास थोड़ा-सा धन हो तो वह भी सदा बढ़ता रहता है । वह दक्षतापूर्वक काम करते हुए संयमके द्वारा प्रतिष्ठित होता है ॥ ८८ ॥

गृहस्नेहावबद्धानां नराणामल्पमेधसाम् ।
कुस्त्री खादति मांसानि माघमांसेगवा इव ॥ ८९ ॥

घरकी आसक्तिमें बँधे हुए मन्दबुद्धि मनुष्योंके मांसोंको कुटिल स्त्री खा जाती है अर्थात् उसे सुखा डालती है, जैसे केंकड़ेकी मादाको उसकी संतानें ही नष्ट कर देती हैं ॥

गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्वदेश इति चापरे ।
इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविपर्यये ॥ ९० ॥

बुद्धि विपरीत हो जानेसे दूसरे-दूसरे बहुतेरे मनुष्य घर, खेत, मित्र और अपने देश आदिकी चिन्तासे ग्रस्त होकर सदा दुखी बने रहते हैं ॥ ९० ॥

उत्पतेत् सहजाद् देशाद् व्याधिदुर्भिक्षपीडितात् ।
अन्यत्र वस्तुं गच्छेद् वा वसेद् वा नित्यमानितः॥९१॥

अपना जन्मस्थान भी यदि रोग और दुर्भिक्षसे पीड़ित हो तो आत्मरक्षाके लिये वहाँसे हट जाना या अन्यत्र निवासके लिये चले जाना चाहिये । यदि वहाँ रहना ही हो तो सदा सम्मानित होकर रहे ॥ ९१ ॥

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥ ९२ ॥

भूपाल ! मैंने तुम्हारे पुत्रके साथ दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया है, इसलिये मैं अब यहाँ रहनेका साहस नहीं कर सकती, दूसरी जगह चली जाऊँगी ॥ ९२ ॥

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९३ ॥

दुष्ट भार्या, दुष्ट पुत्र, कुटिल राजा, दुष्ट मित्र, दूषित सम्बन्ध और दुष्ट देशको दूरसे ही त्याग देना चाहिये॥९३॥

कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥ ९४ ॥

कुपुत्रपर कभी विश्वास नहीं हो सकता । दुष्टा भार्यापर प्रेम कैसे हो सकता है ? कुटिल राजाके राज्यमें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और दुष्ट देशमें जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता ॥ ९४ ॥

कुमित्रे संगतिर्नास्ति नित्यमस्थिरसौहृदे ।
अवमानः कुसम्बन्धे भवत्यर्थविपर्यये ॥ ९५ ॥

कुमित्रका स्नेह कभी स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये उसके साथ सदा मेल बना रहे—यह असम्भव है और जहाँ दूषित सम्बन्ध हो, वहाँ स्वार्थमें अन्तर आनेपर अपमान होने लगता है ॥ ९५ ॥

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥ ९६ ॥

पत्नी वही अच्छी है, जो प्रिय वचन बोले । पुत्र वही अच्छा है, जिससे सुख मिले । मित्र वही श्रेष्ठ है, जिसपर विश्वास बना रहे और देश भी वही उत्तम है, जहाँ जीविका चलसके ॥९६॥

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः ।
भीरेव नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥ ९७ ॥

उग्र शासनवाला राजा वही श्रेष्ठ है, जिसके राज्यमें बलात्कार न हो, किसी प्रकारका भय न रहे, जो दरिद्रका पालन करना चाहता हो तथा प्रजाके साथ जिसका पाल्य-पालक सम्बन्ध सदा बना रहे ॥ ९७ ॥

भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसम्बन्धिबान्धवाः ।
एते सर्वे गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९८ ॥

जिस देशका राजा गुणवान् और धर्मपरायण होता है, वहाँ स्त्री, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी तथा देश सभी उत्तम गुणसे सम्पन्न होते हैं ॥ ९८ ॥

अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजा गच्छन्ति निग्रहात् ।
राजा मूलं त्रिवर्गस्य स्वप्रमत्तोऽनुपालयेत् ॥ ९९ ॥

जो राजा धर्मको नहीं जानता, उसके अत्याचारसे प्रजाका नाश हो जाता है । राजा ही धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका मूल है । अतः उसे पूर्ण सावधान रहकर निरन्तर अपनी प्रजाका पालन करना चाहिये ॥ ९९ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः॥१००॥

जो प्रजाकी आयका छठा भाग कररूपसे ग्रहण करके उसका उपभोग करता है और प्रजाका भलीभाँति पालन नहीं करता, वह तो राजाओंमें चोर है ॥ १०० ॥

दत्त्वाभयं यः स्वयमेव राजा
न तत् प्रमाणं कुरुतेऽर्थलोभात् ।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापं
सोऽधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥१०१॥

जो प्रजाको अभयदान देकर धनके लोभसे स्वयं ही उसका पालन नहीं करता, वह पापबुद्धि राजा सारे जगत्‌का पाप बटोरकर नरकमें जाता है ॥ १०१ ॥

दत्त्वाभयं स्वयं राजा प्रमाणं कुरुते यदि ।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥१०२॥

जो अभयदान देकर प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए

स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञाको सत्य प्रमाणित कर देता है, वह राजा सबको सुख देनेवाला समझा जाता है ॥ १०२ ॥

माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् मनुराह प्रजापतिः ॥१०३॥

प्रजापति मनुने राजाके सात गुण बताये हैं और उन्हींके अनुसार उसे माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यमकी उपमा दी है ॥ १०३ ॥

पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः।
तस्मिन् मिथ्याविनीतो हि तिर्यग् गच्छति मानवः॥१०४॥

जो राजा प्रजापर सदा कृपा रखता है, वह अपने राष्ट्रके लिये पिताके समान है। उसके प्रति जो मिथ्याभाव प्रदर्शित करता है, वह मनुष्य दूसरे जन्ममें पशु-पक्षीकी योनिमें जाता है ॥ १०४ ॥

सम्भावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते।
दहत्यग्निरिवानिष्टान् यमयन्नसतो यमः ॥१०५॥

राजा दीन-दुखियोंकी भी सुधि लेता और सबका पालन करता है, इसलिये वह माताके समान है। अपने और प्रजाके अप्रियजनोंको वह जलाता रहता है; अतः अग्निके समान है और दुष्टोंका दमन करके उन्हें संयममें रखता है; इसलिये यम कहा गया है ॥ १०५ ॥

इष्टेषु विसृजन्नर्थान् कुबेर इव कामदः।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन् ॥१०६॥

प्रियजनोंको खुले हाथ धन लुटाता है और उनकी कामना पूरी करता है, इसलिये कुबेरके समान है। धर्मका उपदेश करनेके कारण गुरु और सबका संरक्षण करनेके कारण रक्षक है ॥ १०६ ॥

यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः।
न तस्य भ्रमते राज्यं स्वयं धर्मानुपालनात् ॥१०७॥

जो राजा अपने गुणोंसे नगर और जनपदके लोगोंको प्रसन्न रखता है, उसका राज्य कभी डावाँडोल नहीं होता; क्योंकि वह स्वयं धर्मका निरन्तर पालन करता रहता है ॥

स्वयं समुपजानन् हि पौरजानपदार्चनम्।
स सुखं प्रेक्षते राजा इह लोके परत्र च ॥१०८॥

जो स्वयं नगर और गाँवोंके लोगोंका सम्मान करना जानता है, वह राजा इहलोक और परलोकमें सर्वत्र सुख-ही-सुख देखता है ॥ १०८ ॥

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥१०९॥

जिसकी प्रजा सर्वदा करके भारसे पीड़ित हो नित्य उद्विग्न रहती है और नाना प्रकारके अनर्थ उसे सताते रहते हैं, वह राजा पराभवको प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

प्रजा यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम्।
स सर्वफलभाग् राजा स्वर्गलोके महीयते ॥११०॥

इसके विपरीत जिसकी प्रजा सरोवरमें कमलोंके समान विकास एवं वृद्धिको प्राप्त होती रहती है, वह सब प्रकारके पुण्यफलोंका भागी होता है और स्वर्गलोकमें भी सम्मान पाता है ॥

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्॥१११॥

राजन्! बलवान्‌के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। जिसने बलवान्‌के साथ झगड़ा मोल ले लिया, उसके लिये कहाँ राज्य है और कहाँ सुख? ॥ १११ ॥

भीष्म उवाच

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिप।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम् ॥११२॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा कहकर वह पूजनी चिड़िया उनसे विदा ले अभीष्ट दिशाको चली गयी ॥ ११२ ॥

एतत् ते ब्रह्मदत्तस्य पूजन्या सह भाषितम्।
मयोक्तं नृपतिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥११३॥

नृपश्रेष्ठ! राजा ब्रह्मदत्तका पूजनी चिड़ियाके साथ जो संवाद हुआ था, यह मैंने तुम्हें सुना दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि ब्रह्मदत्तपूजन्योः संवाद एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें ब्रह्मदत्त और पूजनीका संवादविषयक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भारद्वाज कणिकका सौराष्ट्रदेशके राजाको कूटनीतिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! पितामह! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—ये तीनों युग प्रायः समाप्त हो रहे हैं, इसलिये जगत्‌में धर्मका क्षय हो चला है। डाकू और लुटेरे इस धर्ममें और भी बाधा डाल रहे हैं; ऐसे समयमें किस तरह रहना चाहिये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन! ऐसे समयमें मैं

तुम्हें आपत्तिकालकी वह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार भूमिपालको दयाका परित्याग करके भी समयोचित बर्ताव करना चाहिये ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुंजयस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भारद्वाज कणिक तथा राजा शत्रुञ्जयके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

राजा शत्रुंजयो नाम सौवीरेषु महारथः ।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

सौवीरदेशमें शत्रुञ्जय नामसे प्रसिद्ध एक महारथी राजा थे । उन्होंने भारद्वाज कणिकके पास जाकर अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—॥

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ॥ ५ ॥

'अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कैसे होती है ? प्राप्त द्रव्यकी वृद्धि किस तरह हो सकती है ? बढ़े हुए द्रव्यकी रक्षा किससे की जाती है ? और उस सुरक्षित द्रव्यका सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिये ?' ॥ ५ ॥

तस्मै विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम् ।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तमम् ॥ ६ ॥

राजा शत्रुञ्जयको शास्त्रका तात्पर्य निश्चितरूपसे ज्ञात था । उन्होंने जब कर्तव्य-निश्चयके लिये प्रश्न उपस्थित किया, तब ब्राह्मण भारद्वाज कणिकने यह युक्तियुक्त उत्तम वचन बोलना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥ ७ ॥

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये । राजा अपनेमें छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे । शत्रुपक्षके छिद्र या दुर्बलता-पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओंकी दुर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ॥ ७ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ८ ॥

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजा-जन बहुत डरते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंको दण्डके द्वारा ही काबूमें करे ॥ ८ ॥

एवं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन् प्रधानो दण्ड उच्यते ॥ ९ ॥

'इस प्रकार तत्त्वदर्शी विद्वान् दण्डकी प्रशंसा करते हैं; अतः साम, दान आदि चारों उपायोंमें दण्डको ही प्रधान बताया जाता है ॥ ९ ॥

छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हतम् ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १० ॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले सभी शत्रुओंका जीवन नष्ट हो जाता है । यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं ? ॥ १० ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः ।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ॥ ११ ॥

'विद्वान् पुरुष पहले शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले । तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियोंको भी उस मूलके पथका ही अनुसरण करावे ॥ ११ ॥

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥

'संकटकाल उपस्थित होनेपर राजा सुन्दर मन्त्रणा, उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंगसे पलायन भी करे । आपत्कालके समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिये, पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

'राजा केवल बातचीतमें ही अत्यन्त विनयशील हो, हृदयको छुरेके समान तीखा बनाये रखे; पहले मुसकराकर मीठे वचन बोले तथा काम-क्रोधको त्याग दे ॥ १३ ॥

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत् ।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥

'शत्रुके साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्यमें संधि करके भी उसपर विश्वास न करे । अपना काम बना लेनेपर बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही वहाँसे हट जाय ॥ १४ ॥

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
नित्यशश्चोद्विजेत् तस्माद् गृहात् सर्पयुतादिव ॥ १५ ॥

'शत्रुको उसका मित्र बनकर मीठे वचनोंसे ही सान्त्वना देता रहे; परंतु जैसे सर्पयुक्त गृहसे मनुष्य डरता है, उसी प्रकार उस शत्रुसे भी सदा उद्विग्न रहे ॥ १५ ॥

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ १६ ॥

'जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा भगवान् श्रीराम आदिके जीवन-वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे, जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ॥ १६ ॥

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥

'ऐश्वर्य चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह अवसर देखकर शत्रुके सामने हाथ जोड़े, शपथ खाय, आश्वासन दे और चरणोंमें सिर झुकाकर बातचीत करे । इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसूतक पोंछे ॥ १७ ॥

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।

प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥ १८ ॥

'जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे; परंतु जब अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ दिया जाता है ॥

मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत् ।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः ॥ १९ ॥

'राजेन्द्र ! दो ही घड़ी सही, मनुष्य तिन्दुककी लकड़ीकी मशालके समान जोर-जोरसे प्रज्वलित हो उठे (शत्रुके सामने घोर पराक्रम प्रकट करे), दीर्घकालतक भूसीकी आगके समान बिना ज्वालाके ही धूआँ न उठावे (मन्द पराक्रमका परिचय न दे) ॥ १९ ॥

नानार्थिकोऽर्थसम्बन्धं कृतघ्नेन समाचरेत् ।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥ २० ॥

'अनेक प्रकारके प्रयोजन रखनेवाला मनुष्य कृतघ्नके साथ आर्थिक सम्बन्ध न जोड़े, किसीका भी काम पूरा न करे, क्योंकि जो अर्थी (प्रयोजन-सिद्धिकी इच्छावाला) होता है, उससे तो बारंबार काम लिया जा सकता है; परंतु जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह अपने उपकारी पुरुषकी उपेक्षा कर देता है; इसलिये दूसरोंके सारे कार्य (जो अपने द्वारा होनेवाले हों) अधूरे ही रखने चाहिये ॥ २० ॥

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ॥ २१ ॥

'कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्यगृह, नट तथा अनुरक्त सुहृद्—इनमें जो श्रेष्ठ गुण या विशेषताएँ हैं, उन्हें राजा काममें लावे* ॥ २१ ॥

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ॥ २२ ॥

'राजाको चाहिये कि वह प्रतिदिन उठ-उठकर पूर्ण सावधान हो शत्रुके घर जाय और उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे और मङ्गल-कामना करे ॥२२॥

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः॥ २३ ॥

'जो आलसी हैं, कायर हैं, अभिमानी हैं, लोकचर्चासे डरनेवाले और सदा समयकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थको नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ २४ ॥

'राजा इस तरह सतर्क रहे कि उसके छिद्रका शत्रुको पता न चले, परंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले । जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रोंको छिपाये रखे ॥ २४ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥ २५ ॥

'राजा बगुलेके समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्यविषयका चिन्तन करे । सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे । भेड़ियेकी भाँति सहसा आक्रमण करके शत्रुका धन लूट ले तथा बाणकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ २५ ॥

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ २६ ॥

'पान, जूआ, स्त्री, शिकार तथा गाना-बजाना—इन सबका संयमपूर्वक अनासक्तभावसे सेवन करे; क्योंकि इनमें आसक्ति होना अनिष्टकारक है ॥ २६ ॥

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥

'राजा बाँसका धनुष बनावे, हिरनके समान चौकन्ना होकर सोये, अंधा बने रहनेयोग्य समय हो तो अंधेका भाव किये रहे और अवसरके अनुसार बहरेका भाव भी स्वीकार कर ले ॥ २७ ॥

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥ २८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुष देश और कालको अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे । देश-कालकी अनुकूलता न होनेपर किया गया पराक्रम निष्फल होता है ॥ २८ ॥

कालाकालौ सम्प्रधार्य बलाबलमथात्मनः ।
परस्य च बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ २९ ॥

'अपने लिये समय अच्छा है या खराब ? अपना पक्ष प्रबल है या निर्बल ? इन सब बातोंका निश्चय करके तथा शत्रुके भी बलको समझकर युद्ध या संधिके कार्यमें अपने आपको लगावे ॥ २९ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३० ॥

'जो राजा दण्डसे नतमस्तक हुए शत्रुको पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्युको आमन्त्रित करता है । ठीक उसी तरह, जैसे खच्चरी मौतके लिये ही गर्भ धारण करती है ॥ ३० ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित्॥ ३१ ॥

'नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों, परंतु फल न हो । फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके

* कोयलका श्रेष्ठ गुण है कण्ठकी मधुरता, सूअरके आक्रमणको रोकना कठिन है, यही उसकी विशेषता है; मेरुका गुण है सबसे अधिक उन्नत होना, सूने घरकी विशेषता है अनेकको आश्रय देना, नटका गुण है, दूसरोंको अपने क्रिया-कौशलद्वारा संतुष्ट करना तथा अनुरक्त सुहृद्की विशेषता है हितपरायणता । ये सारे गुण राजाको अपनाने चाहिये ।

समान तथा स्वयं कभी जीर्ण-शीर्ण न हो ॥ ३१ ॥

आशां कालवतीं कुर्यात् तां च विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ॥ ३२ ॥

'राजा शत्रुकी आशा पूर्ण होनेमें विलम्ब पैदा करे, उसमें विघ्न डाल दे। उस विघ्नका कुछ कारण बता दे और उस कारणको युक्तिसङ्गत सिद्ध कर दे॥ ३२ ॥

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ३३ ॥

'जबतक अपने ऊपर भय न आया हो, तबतक डरे हुएकी भाँति उसे टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब भयको सामने आया हुआ देखे तो निडर होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥

'जहाँ प्राणोंका संशय हो, ऐसे कष्टको स्वीकार किये बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं कर पाता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है ॥ ३४ ॥

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम् ।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत् ॥ ३५ ॥

'भविष्यमें जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहलेसे ही जाननेका प्रयत्न करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाय, उसे दबानेकी चेष्टा करे। दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, इस डरसे यही समझे कि अभी वह निवृत्त ही नहीं हुआ है (और ऐसा समझकर सतत सावधान रहे) ॥ ३५ ॥

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम् ।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ॥ ३६ ॥

'जिसके सुलभ होनेका समय आ गया हो, उस सुखको त्याग देना और भविष्यमें मिलनेवाले सुखकी आशा करना— यह बुद्धिमानोंकी नीति नहीं है ॥ ३६ ॥

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३७ ॥

'जो शत्रुके साथ संधि करके विश्वासपूर्वक सुखसे सोता है, वह उसी मनुष्यके समान है, जो वृक्षकी शाखापर गाढ़ी नींदमें सो गया हो। ऐसा पुरुष नीचे गिरने (शत्रुद्वारा संकटमें पड़ने) पर ही सजग या सचेत होता है ॥ ३७ ॥

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८ ॥

'मनुष्य कोमल या कठोर, जिस किसी भी उपायसे सम्भव हो, दीनदशासे अपना उद्धार करे। इसके बाद शक्तिशाली हो पुनः धर्माचरण करे ॥ ३८ ॥

ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानुपसेवयेत् ।
आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चारा विनिहिताः परैः ॥ ३९ ॥

'जो लोग शत्रुके शत्रु हों, उन सबका सेवन करना चाहिये। अपने ऊपर शत्रुओंद्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये गये हों, उनको भी पहचाननेका प्रयत्न करे ॥ ३९ ॥

चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च ।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥

'अपने तथा शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे, जिसको कोई जानता-पहचानता न हो। शत्रुके राज्योंमें पाखण्डवेषधारी और तपस्वी आदिको ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिये ॥ ४० ॥

उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च ।
पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च ॥ ४१ ॥

'वे गुप्तचर बागीचा, घूमने-फिरनेके स्थान, पौंसला, धर्मशाला, मदबिक्रीके स्थान, नगरके प्रवेशद्वार, तीर्थस्थान और सभाभवन—इन सब स्थलोंमें विचरें ॥ ४१ ॥

धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कण्टकाः ।
समागच्छन्ति तान् बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥ ४२ ॥

'कपटपूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले, पापात्मा, चोर तथा जगत्के लिये कण्टकरूप मनुष्य वहाँ छद्मवेष धारण करके आते रहते हैं, उन सबका पता लगाकर उन्हें कैद कर ले अथवा भय दिखाकर उनकी पापवृत्ति शान्त कर दे ॥ ४२ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेद् ॥ ४३ ॥

'जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे, परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि अधिक विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, अतः बिना जाँचे-बूझे किसीपर भी विश्वास न करे ॥ ४३ ॥

विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद् विचलिते पदे ॥ ४४ ॥

'किसी यथार्थ कारणसे शत्रुके मनमें विश्वास उत्पन्न करके जब कभी उसका पैर लड़खड़ाता देखे अर्थात् उसे कमजोर समझे तभी उसपर प्रहार कर दे ॥ ४४ ॥

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ ४५ ॥

'जो संदेह करने योग्य न हो, ऐसे व्यक्तिपर भी संदेह करे—उसकी ओरसे चौकन्ना रहे और जिससे भयकी आशङ्का हो, उसकी ओरसे तो सदा सब प्रकारसे सावधान रहे ही; क्योंकि जिसकी ओरसे भयकी आशङ्का नहीं है, उसकी ओरसे यदि भय उत्पन्न होता है तो वह जड़मूलसहित नष्ट कर देता है ॥ ४५ ॥

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः ।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः ॥ ४६ ॥

'शत्रुके हितके प्रति मनोयोग दिखाकर, मौनव्रत लेकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर तथा जटा और मृगचर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाय तो मौका देखकर भूखे भेड़ियेकी तरह शत्रुपर टूट पड़े ॥ ४६ ॥

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ४७ ॥

'पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो भी अर्थप्राप्तिमें विघ्न डालनेवाले हों, उन्हें ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ॥ ४७ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥ ४८ ॥

'यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको नहीं समझ रहा हो और बुरे मार्गपर चलता हो तो उसके लिये भी दण्ड देना उचित है; दण्ड उसे राहपर लाता है ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९ ॥

'शत्रुके आनेपर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे और कोई अपूर्व उपहार दे। इन सब बर्तावोंके द्वारा पहले उसे वशमें करे। इसके बाद ठीक वैसे ही जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्षके प्रत्येक फूल और फलपर चोंच मारता है, उसी प्रकार उसके साधन और साध्यपर आघात करे ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ५० ॥

'राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पा सकता है ॥ ५० ॥

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ५१ ॥

'कोई जन्मसे ही मित्र अथवा शत्रु नहीं होता है। सामर्थ्य-योगसे ही शत्रु और मित्र उत्पन्न होते रहते हैं ॥ ५१ ॥

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात् पूर्वापकारिणम् ॥ ५२ ॥

'शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो तो भी उसे मारे बिना न छोड़े। जिसने पहले अपना अपकार किया हो, उसको अवश्य मार डाले और उसमें दुःख न माने ॥ ५२ ॥

संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाला राजा दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा लोगोंको अपने पक्षमें मिलाये रखने तथा दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये यत्नशील बना रहे और शत्रुओंका दमन भी प्रयत्नपूर्वक करे ॥ ५३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥ ५४ ॥

'प्रहार करनेके लिये उद्यत होकर भी प्रिय वचन बोले, प्रहार करनेके पश्चात् भी प्रिय वाणी ही बोले, तलवारसे शत्रुका मस्तक काटकर भी उसके लिये शोक करे और रोये ॥ ५४ ॥

निमन्त्रयीत सान्त्वेन सम्मानेन तितिक्षया।
लोकाराधनमित्येतत् कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ५५ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको मधुर वचन बोलकर दूसरोंका सम्मान करके और सहनशील होकर लोगोंको अपने पास आनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये, यही लोककी आराधना अथवा साधारण जनताका सम्मान है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत्।
अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम्।
दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते ॥ ५६ ॥

'सूखा वैर न करे तथा दोनों बाँहोंसे तैरकर नदीके पार न जाय। यह निरर्थक और आयुनाशक कर्म है। यह कुत्तेके द्वारा गायका सींग चबाने-जैसा कार्य है, जिससे उसके दाँत भी रगड़ उठते हैं और रस भी नहीं मिलता है ॥ ५६ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडानुबन्धास्त्रय एव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडाश्च परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें लोभ, मूर्खता और दुर्बलता—यह तीन प्रकारकी 'बाधा-अड़चन उपस्थित होती है। उसी प्रकार उनके शान्ति, सर्वहित-कारी कर्म और उपभोग—ये तीन ही प्रकारके फल होते हैं। इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये॥

ऋणशेषमाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ ५८ ॥

'ऋण, अग्नि और शत्रुमेंसे कुछ बाकी रह जाय तो वह बारंबार बढ़ता रहता है; इसलिये इनमेंसे किसीको शेष नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ५८ ॥

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

'यदि बढ़ता हुआ ऋण रह जाय, तिरस्कृत शत्रु जीवित रहें और उपेक्षित रोग शेष रह जायँ तो ये सब तीव्र भय उत्पन्न करते हैं ॥ ५९ ॥

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥ ६० ॥

'किसी कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न किये बिना न छोड़े और सदा सावधान रहे। शरीरमें गड़ा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूपसे निकाल न दिया जाय—उसका कुछ भाग शरीरमें ही टूटकर रह जाय तो वह चिरकालतक विकार उत्पन्न करता है ॥ ६० ॥

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
अगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥

'मनुष्योंका वध करके, सड़कें तोड़-फोड़कर और घरोंको नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रुके राष्ट्रका विध्वंस करना चाहिये॥ ६१ ॥

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।

अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥ ६२ ॥

'राजा गीधके समान दूरतक दृष्टि डाले, बगुलेके समान लक्ष्यपर दृष्टि जमाये, कुत्तेके समान चौकन्ना रहे और सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे, मनमें उद्वेगको स्थान न दे, कौएकी भाँति सशङ्क रहकर दूसरोंकी चेष्टापर ध्यान रक्खे और दूसरेके बिलमें प्रवेश करनेवाले सर्पके समान शत्रुका छिद्र देखकर उसपर आक्रमण करे ॥ ६२ ॥

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥ ६३ ॥

'जो अपनेसे शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे, जो डरपोक हो, उसे भय दिखाकर फोड़ ले, लोभीको धन देकर काबूमें कर ले तथा जो बराबर हो उसके साथ युद्ध छेड़ दे ॥ ६३ ॥

श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च ।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६४ ॥

अनेक जातिके लोग जो एक कार्यके लिये संगठित होकर अपना दल बना लेते हैं, उस दलको श्रेणी कहते हैं। ऐसी श्रेणियोंके जो प्रधान हैं, उनमें जब भेद डाला जा रहा हो और अपने मित्रोंको अनुनय-विनयके द्वारा जब दूसरे लोग अपनी ओर खींच रहे हों तथा जब सब ओर भेदनीति और दलबंदीके जाल बिछाये जा रहे हों, ऐसे अवसरोंपर अपने मन्त्रियोंकी पूर्णरूपसे रक्षा करनी चाहिये (न तो वे फूटने पावें और न स्वयं ही कोई दल बनाकर अपने विरुद्ध कार्य करने पावें । इसके लिये सतत सावधान रहना चाहिये) ॥

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत् तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥ ६५ ॥

'राजा सदा कोमल रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठोर बना रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अतः जब वह कठोरता दिखानेका समय हो तो कठोर बने और जब कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेका अवसर हो तो कोमल बन जाय ॥ ६५ ॥

मृदुनैव मृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ६६ ॥

'बुद्धिमान् राजा कोमल उपायसे कोमल शत्रुका नाश करता है और कोमल उपायसे ही दारुण शत्रुका भी संहार कर डालता है । कोमल उपायसे कुछ भी असाध्य नहीं है; अतः कोमल ही अत्यन्त तीक्ष्ण है ॥ ६६ ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥ ६७ ॥

'जो समयपर कोमल होता है और समयपर कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है और शत्रुपर भी उसका अधिकार हो जाता है ॥ ६७ ॥

पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ६८ ॥

'विद्वान् पुरुषसे विरोध करके 'मैं दूर हूँ' ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि बुद्धिमान्‌की बाँहें बहुत बड़ी होती हैं (उसके द्वारा किये गये प्रतीकारके उपाय दूरतक प्रभाव डालते हैं), अतः यदि बुद्धिमान् पुरुषपर चोट की गयी तो वह अपनी उन विशाल भुजाओंद्वारा दूरसे भी शत्रुका विनाश कर सकता है ॥ ६८ ॥

न तत् तरेद् यस्य न पारमुत्तरे-
न्न तद्धरेद् यत् पुनराहरेत् परः ।
न तत् खनेद् यस्य न मूलमुद्धरे-
न्न तं हन्याद् यस्य शिरो न पातयेत् ॥ ६९ ॥

'जिसके पार न उतर सके, उस नदीको तैरनेका साहस न करे । जिसको शत्रु पुनः बलपूर्वक वापस ले सके ऐसे धनका अपहरण ही न करे । ऐसे वृक्ष या शत्रुको खोदने या नष्ट करनेकी चेष्टा न करे जिसकी जड़को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो सके तथा उस वीरपर आघात न करे, जिसका मस्तक काटकर धरतीपर गिरा न सके ॥ ६९ ॥

इतीदमुक्तं वृजिनाभिसंहितं
न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्ते न कथं विभावये-
दतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ॥ ७० ॥

'यह जो मैंने शत्रुके प्रति पापपूर्ण बर्तावका उपदेश किया है, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्तिके समय कदापि आचरणमें न लावे । परंतु जब शत्रु ऐसे ही बर्तावोंद्वारा अपने ऊपर संकट उपस्थित कर दे, तब उसके प्रतीकारके लिये वह इन्हीं उपायोंको काममें लानेका विचार क्यों न करे, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैंने यह सब कुछ बताया है' ॥ ७० ॥

यथावदुक्तं वचनं हितार्थिना
निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रपः ।
तथाकरोद् वाक्यमदीनचेतनः
श्रियं च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः ॥ ७१ ॥

हितार्थी ब्राह्मण भारद्वाज कणिककी कही हुई उन यथार्थ बातोंको सुनकर सौवीरदेशके राजाने उनका यथोचितरूपसे पालन किया, जिससे वे बन्धु-बान्धवोंसहित समुज्ज्वल राजलक्ष्मीका उपभोग करने लगे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कणिकोपदेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कणिकका उपदेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

'ब्राह्मण भयंकर संकटकालमें किस तरह जीवन निर्वाह करे' इस विषयमें विश्वामित्र मुनि और चाण्डालका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलङ्घिते ।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥
मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशाम्पते ॥ २ ॥
सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च ।
कामाल्लोभाच्च मोहाच्च भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥
अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव ।
निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥ ४ ॥
सम्प्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपीडिते ।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते ॥ ५ ॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद् भूते पृथिव्यामुपजीवने ।
केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! भूपाल-शिरोमणे ! जब सब लोगोंके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन होनेके कारण श्रेष्ठ धर्म क्षीण हो चले, अधर्मको धर्म मान लिया जाय और धर्मको अधर्म समझा जाने लगे, सारी मार्यादाएँ नष्ट हो जायँ, धर्मका निश्चय डावाँडोल हो जाय, राजा अथवा शत्रु प्रजाको पीड़ा देने लगें, सभी आश्रम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायँ, धर्म कर्म नष्ट हो जायँ, काम, लोभ तथा मोहके कारण सबको सर्वत्र भय दिखायी देने लगे, किसीका किसीपर विश्वास न रह जाय, सभी सदा डरते रहें, लोग धोखेसे एक दूसरेको मारने लगें, सभी आपसमें ठगी करने लगें, देशमें सब ओर आग लगायी जाने लगे, ब्राह्मण अत्यन्त पीडित हो जायँ, वृष्टि न हो, परस्पर वैर-विरोध और फूट बढ़ जाय और पृथ्वीपर जीविकाके सारे साधन लुटेरोंके अधीन हो जायँ, तब ऐसा अधम समय उपस्थित होनेपर ब्राह्मण किस उपायसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १–६ ॥

अतितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ।
कथमापत्सु वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पितामह ! यदि ब्राह्मण ऐसी आपत्तिके समय दयावश अपने पुत्र-पौत्रोंका परित्याग करना न चाहे तो वह कैसे जीविका चलावे, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषतां गते ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परंतप ॥ ८ ॥

परंतप ! जब लोग पापपरायण हो जायँ, उस अवस्थामें राजा कैसा बर्ताव करे, जिससे वह धर्म और अर्थसे भी भ्रष्ट न हो ? ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! प्रजाके योग, क्षेम, उत्तम वृष्टि, व्याधि, मृत्यु और भय–इन सबका मूल कारण राजा ही है ॥ ९ ॥

कृतं त्रेतां द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन सबका मूल कारण राजा ही है, ऐसा मेरा विचार है । इसकी सत्यतामें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है ॥ १० ॥

तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत् तदा ॥ ११ ॥

प्रजाओंके लिये दोष उत्पन्न करनेवाले ऐसे भयानक समयके आनेपर ब्राह्मणको विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये ॥ ११ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विश्वामित्रस्य संवादं चाण्डालस्य च पक्कणे ॥ १२ ॥

इस विषयमें चाण्डालके घरमें चाण्डाल और विश्वामित्र-का जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण लोग दिया करते हैं ॥ १२ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥ १३ ॥

त्रेता और द्वापरके संधिकी बात है, दैववश संसारमें बारह वर्षोंतक भयंकर अनावृष्टि हो गयी (वर्षा हुई ही नहीं) ॥

प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ॥ १४ ॥

त्रेतायुग प्रायः बीत गया था, द्वापरका आरम्भ हो रहा था, प्रजाएँ बहुत बढ़ गयी थीं, जिनके लिये वर्षा बंद हो जानेसे प्रलयकाल-सा उपस्थित हो गया ॥ १४ ॥

न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥

इन्द्रने वर्षा बंद कर दी थी, बृहस्पति प्रतिलोम (वक्री) हो गया था, चन्द्रमा विकृत हो गया था और वह दक्षिण मार्गपर चला गया था ॥ १५ ॥

नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः ।
नद्यः संक्षिप्ततोयौघाः किंचिदन्तर्गतास्ततः ॥ १६ ॥

उन दिनों कुहासा भी नहीं होता था, फिर बादल कहाँ-से उत्पन्न होते । नदियोंका जलप्रवाह अत्यन्त क्षीण हो गया और कितनी ही नदियाँ अदृश्य हो गयीं ॥ १६ ॥

सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च ।
हतत्विषो न लक्ष्यन्ते निसर्गाद् दैवकारितात् ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े सरोवर, सरिताएँ, कूप और झरने भी उस दैवविहित अथवा स्वाभाविक अनावृष्टिसे श्रीहीन होकर दिखायी ही नहीं देते थे ॥ १७ ॥

उपशुष्कजलस्थाया विनिवृत्तसभाप्रपा ।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया निर्वषट्कारमङ्गला ॥ १८ ॥
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तयूपसम्भारा विप्रणष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥

छोटे-छोटे जलाशय सर्वथा सूख गये । जलाभावके कारण पौंसले बंद हो गये । भूतलपर यज्ञ और स्वाध्यायका लोप हो गया । वषट्कार और माङ्गलिक उत्सवोंका कहीं नाम भी नहीं रह गया । खेती और गोरक्षा चौपट हो गयी, बाजार-हाट बंद हो गये । यूप और यज्ञोंका आयोजन समाप्त हो गया तथा बड़े-बड़े उत्सव नष्ट हो गये ॥ १८-१९ ॥

अस्थिसंचयसंकीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥ २० ॥

सब ओर हड्डियोंके ढेर लग गये । प्राणियोंके महान् आर्तनाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे । नगरके अधिकांश भाग उजाड़ हो गये थे तथा गाँव और घर जल गये थे ॥ २० ॥

क्वचिच्चोरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद् राजभिरातुरैः ।
परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्जना ॥ २१ ॥

कहीं चोरोंसे, कहीं अस्त्र-शस्त्रोंसे, कहीं राजाओंसे और कहीं क्षुधातुर मनुष्योंद्वारा उपद्रव खड़ा होनेके कारण तथा पारस्परिक भयसे भी वसुधाका बहुत बड़ा भाग उजाड़ होकर निर्जन बन गया था ॥ २१ ॥

गतदैवतसंस्थाना वृद्धबालविनाकृता ।
गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहता ॥ २२ ॥

देवालय तथा मठ-मन्दिर आदि संस्थाएँ उठ गयी थीं, बालक और बूढ़े मर गये थे, गाय, भेड़, बकरी और भैंसें प्रायः समाप्त हो गयी थीं, क्षुधातुर प्राणी एक दूसरेपर आघात करते थे ॥ २२ ॥

हतविप्रा हतारक्षा प्रणष्टौषधिसंचया ।
सर्वभूतरुतप्राया बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥

ब्राह्मण नष्ट हो गये थे, रक्षकवृन्दका भी विनाश हो गया था, ओषधियोंके समूह (अनाज और फल आदि) भी नष्ट हो गये थे, वसुधापर सब ओर समस्त प्राणियोंका हाहाकार व्याप्त हो रहा था ॥ २३ ॥

तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! ऐसे भयंकर समयमें धर्मका नाश हो जानेके कारण भूखसे पीड़ित हुए मनुष्य एक दूसरेको खाने लगे ॥ २४ ॥

ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यज्याग्निदेवताः ।
आश्रमान् सम्परित्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥

अग्निके उपासक ऋषिगण नियम और अग्निहोत्र त्यागकर अपने आश्रमोंको भी छोड़कर भोजनके लिये इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ २५ ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥ २६ ॥

इन्हीं दिनों बुद्धिमान् महर्षि भगवान् विश्वामित्र भूखसे पीड़ित हो घर छोड़कर चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ २६ ॥

त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च कस्मिंश्च जनसंसदि ।
भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा निरग्निरनिकेतनः ॥ २७ ॥

उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रोंको किसी जनसमुदायमें छोड़ दिया और स्वयं अग्निहोत्र तथा आश्रम त्यागकर भक्ष्य और अभक्ष्यमें समान भाव रखते हुए विचरने लगे ॥ २७ ॥

स कदाचित् परिपतञ्श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥ २८ ॥

एक दिन वे किसी वनके भीतर प्राणियोंका वध करनेवाले हिंसक चाण्डालोंकी बस्तीमें गिरते-पड़ते जा पहुँचे ॥ २८ ॥

विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्मच्छेदनायुतम् ।
वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २९ ॥

वहाँ चारों ओर टूटे-फूटे घरोंके खपरे और ठीकरे बिखरे पड़े थे, कुत्तोंके चमड़े छेदनेवाले हथियार रक्खे हुए थे, सूअरों और गदहोंकी टूटी हड्डियाँ, खपड़े और घड़े वहाँ सब ओर भरे दिखायी दे रहे थे ॥ २९ ॥

मृतचैलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् ।
सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नकुटीमठम् ॥ ३० ॥

मुर्दोंके ऊपरसे उतारे गये कपड़े चारों ओर फैलाये गये थे और वहींसे उतारे हुए फूलकी मालाओंसे उन चाण्डालोंके घर सजे हुए थे । चाण्डालोंकी कुटियों और मठोंको सर्पकी केंचुलोंकी मालाओंसे विभूषित एवं चिह्नित किया गया था ॥

कुक्कुटारावबहुलं गर्दभध्वनिनादितम् ।
उद्घोषद्भिः खरैर्वाक्यैः कलहद्भिः परस्परम् ॥ ३१ ॥

उस पल्लीमें सब ओर मुर्गोंकी 'कुकुहूकू' की आवाज गूँज रही थी । गदहोंके रेंकनेकी ध्वनि भी प्रतिध्वनित हो रही थी । वे चाण्डाल आपसमें झगड़ा-फसाद करके कठोर वचनोंद्वारा एक दूसरेको कोसते हुए कोलाहल मचा रहे थे ॥ ३१ ॥

उलूकपक्षिध्वनिभिर्देवतायतनैर्वृतम् ।
लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३२ ॥

वहाँ कई देवालय थे, जिनके भीतर उल्लू पक्षीकी आवाज गूँजती रहती थी । वहाँके घरोंको लोहेकी घंटियोंसे सजाया गया था और झुंड-के-झुंड कुत्ते उन घरोंको घेरे हुए थे ॥ ३२ ॥

तत् प्रविश्य क्षुधाविष्टो विश्वामित्रो महानृषिः ।
आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥ ३३ ॥

उस बस्तीमें घुसकर भूखसे पीड़ित हुए महर्षि विश्वामित्र आहारकी खोजमें लगकर उसके लिये महान् प्रयत्न करने लगे ॥

न च क्वचिदविन्दत् स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः।
मांसमन्नं फलं मूलमन्यद् वा तत्र किञ्चन ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र वहाँ घर-घर घूम-घूमकर भीख माँगते फिरे, परंतु कहीं भी उन्हें मांस, अन्न, फल, मूल या दूसरी कोई वस्तु प्राप्त न हो सकी ॥ ३४ ॥

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः।
पपात भूमौ दौर्बल्यात् तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे ॥ ३५ ॥

'अहो ! यह तो मुझपर बड़ा भारी संकट आ गया।' ऐसा सोचते-सोचते विश्वामित्र अत्यन्त दुर्बलताके कारण वहीं एक चाण्डालके घरमें पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३५ ॥

स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत्।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब वे मुनि यह विचार करने लगे कि किस तरह मेरा भला होगा ? क्या उपाय किया जाय, जिससे अन्नके बिना मेरी व्यर्थ मृत्यु न हो सके ? ॥ ३६ ॥

स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥ ३७ ॥

राजन् ! इतनेहीमें उन्होंने देखा कि चाण्डालके घरमें तुरंतके शस्त्रद्वारा मारे हुए कुत्तेकी जाँघके मांसका एक बड़ा-सा टुकड़ा पड़ा है ॥ ३७ ॥

स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥ ३८ ॥

तब मुनिने सोचा कि 'मुझे यहाँसे इस मांसकी चोरी करनी चाहिये; क्योंकि इस समय मेरे लिये अपने प्राणोंकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३८ ॥

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ३९ ॥

'आपत्तिकालमें प्राणरक्षाके लिये ब्राह्मणको श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्यके घरसे चोरी कर लेना उचित है, यह शास्त्रका निश्चित विधान है ॥ ३९ ॥

हीनादादेयमादौ स्यात् समानात् तदनन्तरम्।
असम्भवे वाऽऽददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ ४० ॥

'पहले हीनपुरुषके घरसे उसे भक्ष्य पदार्थकी चोरी करना चाहिये। वहाँ काम न चले तो अपने समान व्यक्तिके घरसे खानेकी वस्तु लेनी चाहिये, यदि वहाँ भी अभीष्टसिद्धि न हो सके तो अपनेसे विशिष्ट धर्मात्मा पुरुषके यहाँसे वह खाद्य वस्तुका अपहरण कर ले ॥ ४० ॥

सोऽहमन्त्यावसायानां हराम्येनां प्रतिग्रहात्।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४१ ॥

'अतः इन चाण्डालोंके घरसे मैं यह कुत्तेकी जाँघ चुराये लेता हूँ। किसीके यहाँ दान लेनेसे अधिक दोष मुझे इस चोरीमें नहीं दिखायी देता है; अतः अवश्य इसका अपहरण करूँगा' ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः।
तस्मिन् देशे स सुष्वाप श्वपचो यत्र भारत ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! ऐसा निश्चय करके महामुनि विश्वामित्र उसी स्थानपर सो गये, जहाँ चाण्डाल रहा करते थे ॥ ४२ ॥

स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चाण्डालपक्कणे।
शनैरुत्थाय भगवान् प्रविवेश कुटीमठम् ॥ ४३ ॥

जब प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त आधी रात हो गयी और चाण्डालके घरके सभी लोग सो गये, तब भगवान् विश्वामित्र धीरेसे उठकर उस चाण्डालकी कुटियामें घुस गये ॥ ४३ ॥

स सुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः।
परिभिन्नस्वरो रूक्षः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥ ४४ ॥

वह चाण्डाल सोया हुआ जान पड़ता था। उसकी आँखें कीचड़से बंद-सी हो गयी थीं; परंतु वह जागता था। वह देखनेमें बड़ा भयानक था। स्वभावका रूखा भी प्रतीत होता था। मुनिको आया देख वह फटे हुए स्वरमें बोल उठा ॥

श्वपच उवाच

कः कुतन्त्रीं घटयति सुप्ते चाण्डालपक्कणे।
जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोऽसीति च दारुणः ॥ ४५ ॥
विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह।
तत्र व्रीडाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

चाण्डालने कहा—अरे ! चाण्डालोंके घरोंमें तो सब लोग सो गये हैं। फिर कौन यहाँ आकर कुत्तेकी जाँघ लेनेकी चेष्टा कर रहा है ? मैं जागता हूँ, सोया नहीं हूँ। मैं देखता हूँ, तू मारा गया। उस क्रूर स्वभाववाले चाण्डालने जब ऐसी बात कही, तब विश्वामित्र उससे डर गये। उनके मुखपर लज्जा घिर आयी। वे उस नीच कर्मसे उद्विग्न हो सहसा बोल उठे—॥ ४५-४६ ॥

विश्वामित्रोऽहमायुष्मन्नागतोऽहं बुभुक्षितः।
मा वधीर्मम सद्बुद्धे यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ४७ ॥

'आयुष्मन् ! मैं विश्वामित्र हूँ। भूखसे पीड़ित होकर यहाँ आया हूँ। उत्तम बुद्धिवाले चाण्डाल ! यदि तू ठीक-ठीक देखता और समझता है तो मेरा वध न कर' ॥ ४७ ॥

चाण्डालस्तद् वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः।
शयनादुपसम्भ्रान्त उद्ययौ प्रति तं ततः ॥ ४८ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले उस महर्षिका वह वचन सुनकर चाण्डाल घबराकर अपनी शय्यासे उठा और उनके पास चला गया ॥ ४८ ॥

स विसृज्याश्रु नेत्राभ्यां बहुमानात् कृताञ्जलिः।
उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् किं ते चिकीर्षितम् ॥ ४९ ॥

उसने बड़े आदरके साथ हाथ जोड़कर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ विश्वामित्रजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस रातके समय आपकी यह कैसी चेष्टा है ?—आप क्या करना चाहते हैं ?' ॥ ४९ ॥

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५० ॥

विश्वामित्रने चाण्डालको सान्त्वना देते हुए कहा—'भाई! मैं बहुत भूखा हूँ । मेरे प्राण जा रहे हैं; अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५० ॥

क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५१ ॥

'भूखके मारे यह पापकर्म करनेपर उतर आया हूँ । भोजनकी इच्छावाले भूखे मनुष्यको कुछ भी करनेमें लज्जा नहीं आती । भूख ही मुझे कलङ्कित कर रही है, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५१ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः ॥ ५२ ॥

'मेरे प्राण शिथिल हो रहे हैं । क्षुधासे मेरी श्रवणशक्ति नष्ट होती जा रही है । मैं दुबला हो गया हूँ । मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है; अतः अब मुझमें भक्ष्य और अभक्ष्यका विचार नहीं रह गया है ॥ ५२ ॥

सोऽधर्मं बुद्ध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥ ५३ ॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।

'मैं जानता हूँ कि यह अधर्म है तो भी यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा । मैं तुमलोगोंके घरोंपर घूम-घूमकर माँगनेपर भी जब भीख नहीं पा सका हूँ, तब मैंने यह पापकर्म करनेका विचार किया है; अतः कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥५३½॥

अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड् विभुः ॥ ५४ ॥
यथावत् सर्वभुग् ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।

'अग्निदेव देवताओंके मुख हैं, पुरोहित हैं, पवित्र द्रव्य ही ग्रहण करते हैं और महान् प्रभावशाली हैं तथापि वे जैसे अवस्थाके अनुसार सर्वभक्षी हो गये हैं, उसी प्रकार मैं ब्राह्मण होकर भी सर्वभक्षी बनूँगा; अतः तुम धर्मतः मुझे ब्राह्मण ही समझो' ॥ ५४½ ॥

तमुवाच स चाण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ॥ ५५ ॥
श्रुत्वा तत् त्वं तथाऽऽतिष्ठ यथा धर्मो न हीयते ।

तब चाण्डालने उनसे कहा—'महर्षे ! मेरी बात सुनिये और उसे सुनकर ऐसा काम कीजिये, जिससे आपका धर्म नष्ट न हो ५५½ ॥

धर्मं चापि विप्रर्षे शृणु यत् ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५६ ॥
शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी ॥ ५७ ॥

'ब्रह्मर्षे ! मैं आपके लिये भी जो धर्मकी ही बात बता रहा हूँ, उसे सुनिये । मनीषी पुरुष कहते हैं कि कुत्ता सियारसे भी अधम होता है । कुत्तेके शरीरमें भी उसकी जाँघका भाग सबसे अधम होता है ॥ ५६-५७ ॥

नेदं सम्यग् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम् ।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥ ५८ ॥

'महर्षे ! आपने जो निश्चय किया है, यह ठीक नहीं है, चाण्डालके धनका, उसमें भी विशेषरूपसे अभक्ष्य पदार्थका अपहरण धर्मकी दृष्टिसे अत्यन्त निन्दित है ॥ ५८ ॥

साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे ।
न मांसलोभात् तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥ ५९ ॥

'महामुने ! अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कोई दूसरा अच्छा-सा उपाय सोचिये । मांसके लोभसे आपकी तपस्याका नाश नहीं होना चाहिये ॥ ५९ ॥

जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ६० ॥

'आप शास्त्रविहित धर्मको जानते हैं, अतः आपके द्वारा धर्मसंकरताका प्रचार नहीं होना चाहिये । धर्मका त्याग न कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं' ॥६०॥

विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्षभ ।
क्षुधार्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! चाण्डालके ऐसा कहनेपर क्षुधासे पीड़ित हुए महामुनि विश्वामित्रने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६१ ॥

निराहारस्य सुमहान् मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥ ६२ ॥

'मैं भोजन न मिलनेके कारण उसकी प्राप्तिके लिये इधर-उधर दौड़ रहा हूँ । इसी प्रयत्नमें एक लंबा समय व्यतीत हो गया, किंतु मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिये अबतक कोई उपाय हाथ नहीं आया ॥ ६२ ॥

येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ६३ ॥

'जो भूखों मर रहा हो, वह जिस-जिस उपायसे अथवा जिस किसी भी कर्मसे सम्भव हो, अपने जीवनकी रक्षा करे, फिर समर्थ होनेपर वह धर्मका आचरण कर सकता है ॥६३॥

ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥ ६४ ॥

'इन्द्रदेवताका जो पालनरूप धर्म है, वही क्षत्रियोंका भी है और अग्निदेवका जो सर्वभक्षित्व नामक गुण है, वह ब्राह्मणोंका है । मेरा बल वेदरूपी अग्नि है; अतः मैं क्षुधाकी शान्तिके लिये सब कुछ भक्षण करूँगा ॥ ६४ ॥

यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'जैसे-जैसे ही जीवन सुरक्षित रहे, उसे बिना अवहेलनाके करना चाहिये । मरनेसे जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्मका आचरण कर सकता है ॥ ६५ ॥

सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।

व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ६६ ॥

'इसलिये मैंने जीवनकी आकाङ्क्षा रखकर इस अभक्ष्य पदार्थका भी भक्षण कर लेनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय किया है। इसका तुम अनुमोदन करो ॥ ६६ ॥

बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥ ६७ ॥

'जैसे सूर्य आदि ज्योतिर्मय ग्रह महान् अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार मैं पुनः तप और विद्याद्वारा जब अपने आपको सबल कर लूँगा, तब सारे अशुभ कर्मोंका नाश कर डालूँगा' ॥ ६७ ॥

श्वपच उवाच

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
र्नैव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥ ६८॥

चाण्डालने कहा—मुने! इसे खाकर कोई बहुत बड़ी आयु नहीं प्राप्त कर सकता। न तो इससे प्राणशक्ति प्राप्त होती है और न अमृतके समान तृप्ति ही होती है; अतः आप कोई दूसरी भिक्षा माँगिये। कुत्तेका मांस खानेकी ओर आपका मन नहीं जाना चाहिये। कुत्ता द्विजोंके लिये अभक्ष्य है॥

विश्वामित्र उवाच

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्य-
च्छ्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम्।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये॥

विश्वामित्र बोले—श्वपाक! सारे देशमें अकाल पड़ा है; अतः दूसरा कोई मांस सुलभ नहीं होगा, यह मेरी दृढ़ मान्यता है। मेरे पास धन नहीं है कि मैं भोज्य पदार्थ खरीद सकूँ, इधर भूखसे मेरा बुरा हाल है। मैं निराश्रय तथा निराश हूँ। मैं समझता हूँ कि मुझे इस कुत्तेके मांसमें ही षड्रस भोजनका आनन्द भलीभाँति प्राप्त होगा ॥ ६९ ॥

श्वपच उवाच

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः।
यथा शास्त्रं प्रमाणं ते माभक्ष्ये मानसं कृथाः॥ ७० ॥

चाण्डालने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये पाँच नखोंवाले पाँच प्रकारके प्राणी आपत्कालमें भक्ष्य बताये गये है। यदि आप शास्त्रको प्रमाण मानते हैं तो अभक्ष्य पदार्थकी ओर मन न ले जाइये ॥ ७० ॥

विश्वामित्र उवाच

अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः क्षुधितेन वै।
अहमापद्गतः क्षुत्तो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७१ ॥

विश्वामित्र बोले—भूखे हुए महर्षि अगस्त्यने वातापि नामक असुरको खा लिया था। मैं तो क्षुधाके कारण भारी आपत्तिमें पड़ गया हूँ; अतः यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७१ ॥

श्वपच उवाच

भिक्षामन्यामाहरेति न च कर्तुमिहार्हसि।
न नूनं कार्यमेतद् वै हर कामं श्वजाघनीम् ॥ ७२ ॥

चाण्डालने कहा—मुने! आप दूसरी भिक्षा ले आइये। इसे ग्रहण करना आपके लिये उचित नहीं है। आपकी इच्छा हो तो यह कुत्तेकी जाँघ ले जाइये; परंतु मैं निश्चितरूपसे कहता हूँ कि आपको इसका भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

विश्वामित्र उवाच

शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्तये।
परां मेध्याशनामेनां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम्॥ ७३ ॥

विश्वामित्र बोले—शिष्टपुरुष ही धर्मकी प्रवृत्तिके कारण हैं। मैं उन्हींके आचारका अनुसरण करता हूँ; अतः इस कुत्तेकी जाँघको मैं पवित्र भोजनके समान ही भक्षणीय मानता हूँ॥ ७३ ॥

श्वपच उवाच

असता यत् समाचीर्णं न च धर्मः सनातनः।
नाकार्यमिह कार्यं वै मा छलेनाशुभं कृथाः ॥ ७४ ॥

चाण्डालने कहा—किसी असाधु पुरुषने यदि कोई अनुचित कार्य किया हो तो वह सनातन धर्म नहीं माना जायगा; अतः आप यहाँ न करने योग्य कर्म न कीजिये। कोई बहाना लेकर पाप करनेपर उतारू न हो जाइये॥ ७४ ॥

विश्वामित्र उवाच

न पातकं नावमतमृषिः सन् कर्तुमर्हति।
समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद् भोक्ष्ये श्वजाघनीम्॥ ७५॥

विश्वामित्र बोले—कोई श्रेष्ठ ऋषि ऐसा कर्म नहीं कर सकता, जो पातक हो अथवा जिसकी निन्दा की गयी हो। कुत्ते और मृग दोनों ही पशु होनेके कारण मेरे मतमें समान हैं, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७५ ॥

श्वपच उवाच

यद् ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन
तेनर्षिणा तदवस्थाधिकारे।
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति
सर्वैरुपायैर्गुरवो हि रक्ष्याः ॥ ७६ ॥

चाण्डालने कहा—महर्षि अगस्त्यने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना की जानेपर वैसी अवस्थामें वातापिका भक्षणरूप कार्य किया था (उनके वैसा करनेसे बहुत-से ब्राह्मणोंकी रक्षा हो गयी; अन्यथा वह राक्षस उन सबको खा जाता; अतः महर्षिका वह कार्य धर्म ही था)। धर्म वही है, जिसमें लेशमात्र भी पाप न हो। ब्राह्मण गुरुजन हैं; अतः सभी उपायोंसे उनकी एवं उनके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ॥७६॥

विश्वामित्र उवाच

मित्रं च मे ब्राह्मणस्यायमात्मा
प्रियश्च मे पूज्यतमश्च लोके।
तं धर्तुकामोऽहमिमां जिहीर्षे
नृशंसानामीदृशानां न बिभ्ये ॥ ७७ ॥

विश्वामित्र बोले—(यदि अगस्त्यने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये वह कार्य किया था तो मैं भी मित्रकी रक्षाके लिये उसे करूँगा)यह ब्राह्मणका शरीर मेरा मित्र ही है। यही जगत्में मेरे लिये परम प्रिय और आदरणीय है। इसीको जीवित रखनेके लिये मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाना चाहता हूँ, अतः ऐसे नृशंस कर्मोंसे मुझे तनिक भी भय नहीं होता है ॥७७॥

श्वपच उवाच

कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित् कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥ ७८ ॥

चाण्डालने कहा—विद्वन्! अच्छे पुरुष अपने प्राणोंका परित्याग भले ही कर दें, परंतु वे कभी अभक्ष्य-भक्षणका विचार नहीं करते हैं। इसीसे वे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेते हैं; अतः आप भी भूखके साथ ही—उपवासद्वारा ही अपनी मनःकामनाकी पूर्ति कीजिये ॥ ७८ ॥

विश्वामित्र उवाच

स्थाने भवेत् संशयः प्रेत्यभावे
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूलं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम्॥ ७९ ॥

विश्वामित्र बोले—यदि उपवास करके प्राण दे दिया जाय तो मरनेके बाद क्या होगा? यह संशययुक्त बात है; परंतु ऐसा करनेसे पुण्यकर्मोंका विनाश होगा, इसमें संशय नहीं है, (क्योंकि शरीर ही धर्माचरणका मूल है) अतः मैं जीवनरक्षाके पश्चात् फिर प्रतिदिन व्रत एवं शम, दम आदिमें तत्पर रहकर पापकर्मोंका प्रायश्चित्त कर लूँगा। इस समय तो धर्मके मूलभूत शरीरकी ही रक्षा करना आवश्यक है; अतः मैं इस अभक्ष्य पदार्थका भक्षण करूँगा ॥ ७९ ॥

बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यं
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।
यद्यप्येतत् संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥ ८० ॥

यह कुत्तेका मांस-भक्षण दो प्रकारसे हो सकता है—एक बुद्धि और विचारपूर्वक तथा दूसरा अज्ञान एवं आसक्तिपूर्वक। बुद्धि एवं विचारद्वारा सोचकर धर्मके मूल तथा ज्ञानप्राप्तिके साधनभूत शरीरकी रक्षामें पुण्य है, यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह मोह एवं आसक्तिपूर्वक उस कार्यमें प्रवृत्त होनेसे दोषका होना भी स्पष्ट ही है। यद्यपि मैं मनमें संशय लेकर यह कार्य करने जा रहा हूँ तथापि मेरा विश्वास है कि मैं इस मांसको खाकर तुम्हारे-जैसा चाण्डाल नहीं बन जाऊँगा (तपस्याद्वारा इसके दोषका मार्जन कर दूँगा) ॥ ८० ॥

श्वपच उवाच

गोपनीयमिदं दुःखमिति मे निश्चिता मतिः।
दुष्कृतोऽब्राह्मणः सत्रं यस्त्वामहमुपालभे ॥ ८१ ॥

चाण्डालने कहा—यह कुत्तेका मांस खाना आपके लिये अत्यन्त दुःखदायक पाप है। इससे आपको बचना चाहिये। यह मेरा निश्चित विचार है, इसीलिये मैं महान् पापी और ब्राह्मणेतर होनेपर भी आपको बारंबार उलाहना दे रहा हूँ। अवश्य ही यह धर्मका उपदेश करना मेरे लिये धूर्ततापूर्ण चेष्टा ही है ॥ ८१ ॥

विश्वामित्र उवाच

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥ ८२ ॥

विश्वामित्र बोले—मेढकोंके टर्र-टर्र करते रहनेपर भी गौएँ जलाशयोंमें जल पीती ही हैं (वैसे ही तुम्हारे मना करनेपर भी मैं तो यह अभक्ष्य-भक्षण करूँगा ही)। तुम्हें धर्मोपदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है; अतः तुम अपनी प्रशंसा करनेवाले न बनो ॥ ८२ ॥

श्वपच उवाच

सुहृद् भूत्वानुशासे त्वां कृपा हि त्वयि मे द्विज।
यदिदं श्रेय आधत्स्व मा लोभात् पातकं कृथाः॥ ८३ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो आपका हितैषी सुहृद् बनकर ही यह धर्माचरणकी सलाह दे रहा हूँ; क्योंकि आपपर मुझे दया आ रही है। यह जो कल्याणकी बात बता रहा हूँ, इसे आप ग्रहण करें। लोभवश पाप न करें ॥ ८३ ॥

विश्वामित्र उवाच

सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां समुद्धर।
जानेऽहं धर्मतोऽऽत्मानं शौनीमुत्सृज जाघनीम्॥८४॥

विश्वामित्र बोले—भैया! यदि तुम मेरे हितैषी सुहृद् हो और मुझे सुख देना चाहते हो तो इस विपत्तिसे मेरा उद्धार करो। मैं अपने धर्मको जानता हूँ। तुम तो यह कुत्तेकी जाँघ मुझे दे दो ॥ ८४ ॥

श्वपच उवाच

नैवोत्सहे भवतो दातुमेतां
नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम्।
उभौ स्यावः पापलोकावलिप्तौ
दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन्॥ ८५ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं यह अभक्ष्य वस्तु आपको नहीं दे सकता और मेरे इस अन्नका आपके द्वारा

अपहरण हो, इसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकता । इसे देनेवाला मैं और लेनेवाले आप ब्राह्मण दोनों ही पापलिप्त होकर नरकमें पड़ेंगे ॥ ८५ ॥

विश्वामित्र उवाच

अद्याहमेतद् वृजिनं कर्म कृत्वा
जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम् ।
स पूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये
यदेतयोर्गुरु तद् वै ब्रवीहि ॥ ८६ ॥

विश्वामित्र बोले—आज यह पापकर्म करके भी यदि मैं जीवित रहा तो परम पवित्र धर्मका अनुष्ठान करूँगा । इससे मेरे तन, मन पवित्र हो जायँगे और मैं धर्मका ही फल प्राप्त करूँगा । जीवित रहकर धर्माचरण करना और उपवास करके प्राण देना—इन दोनोंमें कौन बड़ा है, यह मुझे बताओ ॥ ८६ ॥

श्वपच उवाच

आत्मैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये
त्वमेव जानासि यदत्र दुष्कृतम् ।
यो ह्याद्रियाद् भक्ष्यमिति श्वमांसं
मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम् ॥ ८७ ॥

चाण्डालने कहा—किस कुलके लिये कौन-सा कार्य धर्म है, इस विषयमें यह आत्मा ही साक्षी है । इस अभक्ष्य-भक्षणमें जो पाप है, उसे आप भी जानते हैं । मेरी समझमें जो कुत्तेके मांसको भक्षणीय बताकर उसका आदर करे, उसके लिये इस संसारमें कुछ भी त्याज्य नहीं है ॥ ८७ ॥

विश्वामित्र उवाच

उपादाने खादने चास्ति दोषः
कार्यात्यये नित्यमत्रापवादः ।
यस्मिन् हिंसा नानृतं वाच्यलेशो-
ऽभक्ष्यक्रिया यत्र न तद्गरीयः ॥ ८८ ॥

विश्वामित्र बोले—चाण्डाल ! मैं इसे मानता हूँ कि तुमसे दान लेने और इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें दोष है, फिर भी जहाँ न खानेसे प्राण जानेकी सम्भावना हो, वहाँके लिये शास्त्रोंमें सदा ही अपवाद वचन मिलते हैं । जिसमें हिंसा और असत्यका तो दोष है ही नहीं, लेशमात्र निन्दारूप दोष है । प्राण जानेके अवसरोंपर भी जो अभक्ष्य-भक्षणका निषेध ही करनेवाले वचन हैं, वे गुरुतर अथवा आदरणीय नहीं हैं ॥ ८८ ॥

श्वपच उवाच

यद्येष हेतुस्तव खादने स्या-
न्न ते वेदः कारणं नार्यधर्मः ।
तस्माद् भक्ष्येऽभक्षणे वा द्विजेन्द्र
दोषं न पश्यामि यथेदमत्र ॥ ८९ ॥

चाण्डालने कहा—द्विजेन्द्र ! यदि इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें आपके लिये यह प्राणरक्षारूपी हेतु ही प्रधान है तब तो आपके मतमें न वेद प्रमाण है और न श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार-धर्म ही । अतः मैं आपके लिये भक्ष्य वस्तुके अभक्षण-में अथवा अभक्ष्य वस्तुके भक्षणमें कोई दोष नहीं देख रहा हूँ, जैसा कि यहाँ आपका इस मांसके लिये यह महान् आग्रह देखा जाता है ॥ ८९ ॥

विश्वामित्र उवाच

नैवातिपापं भक्ष्यमाणस्य दृष्टं
सुरां तु पीत्वा पततीति शब्दः ।
अन्योन्यकार्याणि यथा तथैव
न पापमात्रेण कृतं हिनस्ति ॥ ९० ॥

विश्वामित्र बोले—अखाद्य वस्तु खानेवालेको ब्रह्महत्या आदिके समान महान् पातक लगता हो, ऐसा कोई शास्त्रीय वचन देखनेमें नहीं आता । हाँ, शराब पीकर ब्राह्मण पतित हो जाता है, ऐसा शास्त्रवाक्य स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है; अतः वह सुरापान अवश्य त्याज्य है । जैसे दूसरे-दूसरे कर्म निषिद्ध हैं, वैसा ही अभक्ष्य-भक्षण भी है । आपत्तिके समय एक बार किये हुए किसी सामान्य पापसे किसीके आजीवन किये हुए पुण्यकर्मका नाश नहीं होता ॥ ९० ॥

श्वपच उवाच

अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद् वा
तद् विद्वांसं बाधते साधुवृत्तम् ।
श्वानं पुनर्यो लभतेऽभिषङ्गात्
तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥ ९१ ॥

चाण्डालने कहा—जो अयोग्य स्थानसे, अनुचित कर्मसे तथा निन्दित पुरुषसे कोई निषिद्ध वस्तु लेना चाहता है, उस विद्वान्‌को उसका सदाचार ही वैसा करनेसे रोकता है (अतः आपको तो ज्ञानी और धर्मात्मा होनेके कारण स्वयं ही ऐसे निन्द्य कर्मसे दूर रहना चाहिये); परंतु जो बारंबार अत्यन्त आग्रह करके कुत्तेका मांस ग्रहण कर रहा है, उसीको इसका दण्ड भी सहन करना चाहिये (मेरा इसमें कोई दोष नहीं है) ॥ ९१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा निववृते मातङ्गः कौशिकं तदा ।
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥ ९२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर चाण्डाल मुनिको मना करनेके कार्यसे निवृत्त हो गया । विश्वामित्र तो उसे लेनेका निश्चय कर चुके थे; अतः कुत्तेकी जाँघ ले ही गये ॥ ९२ ॥

ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः ।
सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेष सः ॥ ९३ ॥

जीवित रहनेकी इच्छावाले उन महामुनिने कुत्तेके शरीरके उस एक भागको ग्रहण कर लिया और उसे वनमें ले

जाकर पत्नीसहित खानेका विचार किया ॥ ९३ ॥

अथास्य बुद्धिरभवद् विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं संतर्प्य देवताः ॥ ९४ ॥

इतनेहीमें उनके मनमें यह विचार उठा कि मैं कुत्तेकी जाँघके इस मांसको विधिपूर्वक पहले देवताओंको अर्पण करूँगा और उन्हें संतुष्ट करके फिर अपनी इच्छाके अनुसार उसे खाऊँगा ॥ ९४ ॥

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम् ॥ ९५ ॥

ऐसा सोचकर मुनिने वेदोक्त विधिसे अग्निकी स्थापना करके इन्द्र और अग्नि देवताके उद्देश्यसे स्वयं ही चरु पकाकर तैयार किया ॥ ९५ ॥

ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यं च भारत ।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! फिर उन्होंने देवकर्म और पितृकर्म आरम्भ किया। इन्द्र आदि देवताओंका आवाहन करके उनके लिये क्रमशः विधिपूर्वक पृथक्-पृथक् भाग अर्पित किया॥९६॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
संजीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९७ ॥

इसी समय इन्द्रने समस्त प्रजाको जीवनदान देते हुए बड़ी भारी वर्षा की और अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया॥९७॥

विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥ ९८ ॥

भगवान् विश्वामित्र भी दीर्घकालतक निराहार व्रत एवं तपस्या करके अपने सारे पाप दग्ध कर चुके थे; अतः उन्हें अत्यन्त अद्भुत सिद्धि प्राप्त हुई ॥ ९८ ॥

स संहृत्य च तत् कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।
तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः ॥ ९९ ॥

उन द्विजश्रेष्ठ मुनिने वह कर्म समाप्त करके उस हविष्यका आस्वादन किये बिना ही देवताओं और पितरोंको संतुष्ट कर दिया और उन्हींकी कृपासे पवित्र भोजन प्राप्त करके उसके द्वारा जीवनकी रक्षा की ॥ ९९ ॥

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥१००॥

राजन् ! इस प्रकार संकटमें पड़कर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको दीनचित्त न होकर कोई उपाय ढूँढ़ निकालनी चाहिये और सभी उपायोंसे अपने आपका आपत्कालमें परिस्थितिसे उद्धार करना चाहिये ॥ १०० ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥१०१॥

इस बुद्धिका सहारा लेकर सदा जीवित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि जीवित रहनेवाला पुरुष पुण्य करनेका अवसर पाता और कल्याणका भागी होता है ॥ १०१ ॥

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ॥१०२॥

अतः कुन्तीनन्दन ! अपने मनको वशमें रखनेवाले विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इस जगत्में धर्म और अधर्मका निर्णय करनेके लिये अपनी ही विशुद्ध बुद्धिका आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे ॥ १०२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि विश्वामित्रश्वपचसंवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें विश्वामित्र और चाण्डालका संवादविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्कालमें राजाके धर्मका निश्चय तथा उत्तम ब्राह्मणोंके सेवनका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

यदि घोरं समुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम् ।
अस्ति स्विद् दस्युमर्यादा यामहं परिवर्जये ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—यदि महापुरुषोंके लिये भी ऐसा भयंकर कर्म (संकटकालमें) कर्तव्यरूपसे बता दिया गया तो दुराचारी डाकुओं और लुटेरोंके दुष्कर्मोंकी कौन-सी ऐसी सीमा रह गयी है, जिसका मुझे सदा ही परित्याग करना चाहिये ? (इससे अधिक घोर कर्म तो दस्यु भी नहीं कर सकते) ॥ १ ॥

सम्मुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः ।
उद्यमं नाधिगच्छामि कदाचित् परिसान्त्वयन्॥ २ ॥

आपके मुँहसे यह उपाख्यान सुनकर मैं मोहित एवं विषादग्रस्त हो रहा हूँ। आपने मेरा धर्मविषयक उत्साह शिथिल कर दिया। मैं अपने मनको बारंबार समझा रहा हूँ तो भी अब कदापि इसमें धर्मविषयक उद्यमके लिये उत्साह नहीं पाता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

नैतच्छ्रुत्वाऽऽगमादेव तव धर्मानुशासनम् ।
प्रज्ञासमवहारोऽयं कविभिः सम्भृतं मधु ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! मैंने केवल शास्त्रसे ही सुनकर तुम्हारे लिये यह धर्मोपदेश नहीं किया है। जैसे अनेक स्थानसे अनेक प्रकारके फूलोंका रस लाकर मक्खियाँ

मधुका संचय करती हैं, उसी प्रकार विद्वानोंने यह नाना प्रकारकी बुद्धियों (विचारों) का संकलन किया है (ऐसी बुद्धियोंका कदाचित् संकटकालमें उपयोग किया जा सकता है। ये सदा काममें लेनेके लिये नहीं कही गयी हैं; अतः तुम्हारे मनमें मोह या विषाद नहीं होना चाहिये) ॥ ३ ॥

बहुभ्यः प्रतिविधातव्याः प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः ।
नैकशाखेन धर्मेण यत्रैषा सम्प्रवर्तते ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! राजाको इधर-उधरसे नाना प्रकारके मनुष्योंके निकटसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धियाँ सीखनी चाहिये । उसे एक ही शाखावाले धर्मको लेकर नहीं बैठे रहना चाहिये । जिस राजामें संकटके समय यह बुद्धि स्फुरित होती है, वह आत्मरक्षाका कोई उपाय निकाल लेता है ॥ ४ ॥

बुद्धिसंजननो धर्म आचारश्च सतां सदा ।
ज्ञेयो भवति कौरव्य सदा तद् विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! धर्म और सत्पुरुषोंका आचार—ये बुद्धिसे ही प्रकट होते हैं और सदा उसीके द्वारा जाने जाते हैं। तुम मेरी इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानश्चरन्ति विजयैषिणः ।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः ॥ ६ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले एवं बुद्धिमें श्रेष्ठ सभी राजा धर्मका आचरण करते हैं । अतः राजाको इधर-उधरसे बुद्धिके द्वारा शिक्षा लेकर धर्मका भलीभाँति आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते ।
दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता ॥ ७ ॥

एक शाखावाले (एकदेशीय) धर्मसे राजाका धर्म-निर्वाह नहीं होता । जिसने पहले अध्ययनकालमें एकदेशीय धर्मविषयक बुद्धिकी शिक्षा ली, उस दुर्बल राजाको पूर्ण प्रज्ञा कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ ७ ॥

अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति ।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत ॥ ८ ॥

एक ही धर्म या कर्म किसी समय धर्म माना जाता है और किसी समय अधर्म । उसकी जो यह दो प्रकारकी स्थिति है, उसीका नाम द्वैध है। जो इस द्विविधतत्त्वको नहीं जानता, वह द्वैधमार्गपर पहुँचकर संशयमें पड़ जाता है । भरतनन्दन ! बुद्धिके द्वैधको पहले ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥

पार्श्वतः करणं प्राज्ञो विष्टम्भित्वा प्रकारयेत् ।
जनस्तच्चरितं धर्मं विजानात्यन्यथान्यथा ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विचार करते समय पहले अपने प्रत्येक कार्यको गुप्त रखकर उसे प्रारम्भ करे; फिर उसे सर्वत्र प्रकाशित करे; अन्यथा उसके द्वारा आचरणमें लाये हुए धर्मको लोग किसी और ही रूपमें समझने लगते हैं ॥ ९ ॥

अमिथ्याज्ञानिनः केचिन्मिथ्याविज्ञानिनः परे ।
तद्वै यथायथं बुद्ध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥ १० ॥

कुछ लोग यथार्थ ज्ञानी होते हैं और कुछ लोग मिथ्या ज्ञानी, इस बातको ठीक-ठीक समझकर राजा सत्यज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषोंके ही ज्ञानको ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः ।
वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥

धर्मद्रोही मनुष्य शास्त्रोंकी प्रामाणिकतापर डाका डालते हैं, उन्हें अग्राह्य और अमान्य बताते हैं । वे अर्थज्ञानसे शून्य मनुष्य अर्थशास्त्रकी विषमताका मिथ्या प्रचार करते हैं ।११।

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! जो जीविकाकी इच्छासे विद्याका उपार्जन करते हैं, सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी विद्याके बलसे यश पानेकी इच्छा और मनोवाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं, वे सभी पापात्मा और धर्मद्रोही हैं ॥ १२ ॥

अपक्वमतयो मन्दा न जानन्ति यथातथम् ।
यथा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रायुक्तिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥

जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है, वे मन्दमति मानव यथार्थ तत्त्वको नहीं जानते हैं । शास्त्रज्ञानमें निपुण न होकर सर्वत्र असंगत युक्तिपर ही अवलम्बित रहते हैं ॥ १३ ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः ।
विज्ञानमर्थविद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥ १४ ॥

निरन्तर शास्त्रके दोष देखनेवाले लोग शास्त्रोंकी मर्यादा लूटते हैं और यह कहा करते हैं कि अर्थशास्त्रका ज्ञान समीचीन नहीं है ॥ १४ ॥

निन्दया परविद्यानां स्वविद्यां ख्यापयन्ति च ।
वागस्त्रा वाक्छुरीभूता दुग्धविद्याफला इव ॥ १५ ॥

वाणी ही जिनका अस्त्र है तथा जिनकी बोली ही बाणके समान लगती है, वे मानो विद्याके फल तत्त्वज्ञानसे ही विद्रोह करते हैं । ऐसे लोग दूसरोंकी विद्याकी निन्दा करके अपनी विद्याकी अच्छाईका मिथ्या प्रचार करते हैं ॥ १५ ॥

तान् विद्यावणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत ।
व्याजेन सद्भिर्विहितो धर्मस्ते परिहास्यति ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! ऐसे लोगोंको तुम विद्याका व्यापार करनेवाले तथा राक्षसोंके समान परद्रोही समझो । उनकी बहानेबाजीसे तुम्हारा सत्पुरुषोंद्वारा प्रतिपादित एवं आचरित धर्म नष्ट हो जायगा ॥ १६ ॥

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥ १७ ॥

हमने सुना है कि केवल वचनद्वारा अथवा केवल बुद्धि (तर्क)के द्वारा ही धर्मका निश्चय नहीं होता है, अपितु शास्त्र-वचन और तर्क दोनोंके समुच्चयद्वारा उसका निर्णय होता है—यही बृहस्पतिका मत है, जिसे स्वयं इन्द्रने बताया है ॥

न त्वेव वचनं किंचिदनिमित्तादिहोच्यते ।
सुविनीतेन शास्त्रेण न व्यवस्यन्त्यथापरे ॥ १८ ॥

विद्वान् पुरुष अकारण कोई बात नहीं कहते हैं और दूसरे बहुत-से मनुष्य भलीभाँति सीखे हुए शास्त्रके अनुसार कार्य करनेकी चेष्टा नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
समुद्दिष्टं सतां धर्मं स्वयमूहेत पण्डितः ॥ १९ ॥

इस जगत्‌में कोई-कोई मनीषी पुरुष शिष्ट पुरुषोंद्वारा परिचालित लोकाचारको ही धर्म कहते हैं, परंतु विद्वान् पुरुष स्वयं ही ऊहापोह करके सत्पुरुषोंके शास्त्रविहित धर्मका निश्चय कर ले ॥ १९ ॥

अमर्षाच्छास्त्रसम्मोहादविज्ञानाच्च भारत ।
शास्त्रं प्राज्ञस्य वदतः समूहे यात्यदर्शनम् ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! जो बुद्धिमान् होकर शास्त्रको ठीक-ठीक न समझते हुए मोहमें आबद्ध होकर बड़े जोशके साथ शास्त्रका प्रवचन करता है, उसके उस कथनका लोकसमाजमें कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ॥ २० ॥

आगतागमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते ।
अज्ञानाज्ज्ञानहेतुत्वाद् वचनं साधु मन्यते ॥ २१ ॥

वेद-शास्त्रोंके द्वारा अनुमोदित, तर्कयुक्त बुद्धिके द्वारा जो बात कही जाती है, उसीसे शास्त्रकी प्रशंसा होती है अर्थात् शास्त्रकी वही बात लोगोंके मनमें बैठती है। दूसरे लोग अज्ञात विषयका ज्ञान करानेके लिये केवल तर्कको ही श्रेष्ठ मानते हैं, परंतु यह उनकी नासमझी ही है ॥ २१ ॥

अनया हतमेवेदमिति शास्त्रमपार्थकम् ।
दैतेयानुशना प्राह संशयच्छेदनं पुरा ॥ २२ ॥

वे लोग केवल तर्कको प्रधानता देकर अमुक युक्तिसे शास्त्रकी यह बात कट जाती है; इसलिये यह व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं; किंतु यह कथन भी अज्ञानके ही कारण है (अतः तर्कसे शास्त्रका और शास्त्रसे तर्कका बोध न करके दोनोंके सहयोगसे जो कर्तव्य निश्चित हो, उसीका पालन करना चाहिये)। पूर्वकालमें यह संशयनाशक बात स्वयं शुक्राचार्यने दैत्योंसे कही थी ॥ २२ ॥

ज्ञानमप्यपदिश्यं हि यथा नास्ति तथैव तत् ।
तं तथा छिन्नमूलेन सन्नोदयितुमर्हसि ॥ २३ ॥

जो संशयात्मक ज्ञान है, उसका होना और न होना बराबर है; अतः तुम उस संशयका मूलोच्छेद करके उसे दूर हटा दो (संशयरहित ज्ञानका आश्रय लो) ॥ २३ ॥

अनव्यवहितं यो वा नेदं वाक्यमुपाश्नुते ।
उग्रायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे न त्वमीक्षसे ॥ २४ ॥

यदि तुम मेरे इस नीतियुक्त कथनको नहीं स्वीकार करते हो तो तुम्हारा यह व्यवहार उचित नहीं है; क्योंकि तुम (क्षत्रिय होनेके कारण) उग्र (हिंसापूर्ण) कर्मके लिये ही विधाताद्वारा रचे गये हो। इस बातकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है ॥ २४ ॥

अङ्ग मामन्ववेक्षस्व राजन्याय बुभूषते ।
यथा प्रमुच्यते त्वन्यो यदर्थं न प्रमोदते ॥ २५ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! मेरी ओर तो देखो, मैंने क्या किया है। भूमण्डलका राज्य पानेकी इच्छावाले क्षत्रिय राजाओंके साथ मैंने वही बर्ताव किया है, जिससे वे संसारबन्धनसे मुक्त हो जायँ (अर्थात् उन सबको मैंने युद्धमें मारकर स्वर्गलोक भेज दिया)। यद्यपि मेरे इस कार्यका दूसरे लोग अनुमोदन नहीं करते थे—मुझे क्रूर और हिंसक कहकर मेरी निन्दा करते थे (तो भी मैंने किसीकी परवा न करके अपने कर्तव्यका पालन किया, इसी प्रकार तुम अपने कर्तव्यपथपर दृढ़तापूर्वक डटे रहो) ॥ २५ ॥

अजोऽश्वः क्षत्रमित्येतत् सदृशं ब्रह्मणा कृतम् ।
तस्मादभीक्ष्णं भूतानां यात्रा काचित् प्रसिद्ध्यति ॥ २६ ॥

बकरा, घोड़ा और क्षत्रिय—इन तीनोंको ब्रह्माजीने एक-सा बनाया है। इनके द्वारा समस्त प्राणियोंकी बारंबार कोई-न-कोई जीवनयात्रा सिद्ध होती रहती है ॥ २६ ॥

यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः ।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥

अवध्य मनुष्यका वध करनेमें जो दोष माना गया है, वही वध्यका वध न करनेमें भी है। वह दोष ही अकर्तव्यकी वह मर्यादा (सीमा) है, जिसका क्षत्रिय राजाको परित्याग करना चाहिये ॥ २७ ॥

तस्मात् तीक्ष्णः प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत् ततः ।
अन्योन्यं भक्षयन्तो हि प्रचरेयुर्वृका इव ॥ २८ ॥

अतः तीक्ष्ण स्वभाववाला राजा ही प्रजाको अपने-अपने धर्ममें स्थापित कर सकता है; अन्यथा प्रजावर्गके सब लोग भेड़ियोंके समान एक दूसरेको लूट-खसोटकर खाते हुए स्वच्छन्द विचरने लगें ॥ २८ ॥

यस्य दस्युगणा राष्ट्रे ध्वांक्षा मत्स्याञ्जलादिव ।
विहरन्ति परस्वानि स वै क्षत्रियपांसनः ॥ २९ ॥

जिसके राज्यमें डाकुओंके दल जलसे मछलियोंको पकड़नेवाले बगुलेके समान पराये धनका अपहरण करते हैं, वह राजा निश्चय ही क्षत्रियकुलका कलङ्क है ॥ २९ ॥

कुलीनान् सचिवान् कृत्वा वेदविद्यासमन्वितान् ।
प्रशाधि पृथिवीं राजन् प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा वेदविद्यासे सम्पन्न पुरुषोंको मन्त्री बनाकर प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए तुम इस पृथ्वीका शासन करो ॥ ३० ॥

विहीनजं कर्मणान्यायं यः प्रगृह्णाति भूमिपः ।
उपायस्याविशेषज्ञं तद् वै क्षत्रं नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

जो राजा सत्कर्मसे रहित, न्यायशून्य तथा कार्यसाधनके उपायोंसे अनभिज्ञ पुरुषको सचिवके रूपमें अपनाता है, वह नपुंसक क्षत्रिय है ॥ ३१ ॥

नैवोग्रं नैव चानुग्रं धर्मेणेह प्रशस्यते ।
उभयं न व्यतिक्रामेदुग्रो भूत्वा मृदुर्भव ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! राजधर्मके अनुसार केवल उग्रभाव अथवा केवल मृदुभावकी प्रशंसा नहीं की जाती है। उन दोनोंमेंसे

किसीका भी परित्याग नहीं करना चाहिये। इसलिये तुम पहले उग्र होकर फिर मृदु होओ ॥ ३२ ॥

कष्टः क्षत्रियधर्मोऽयं सौहृदं त्वयि मे स्थितम्।
उग्रकर्मणि सृष्टोऽसि तस्माद् राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३३ ॥

वत्स! यह क्षत्रियधर्म कष्टसाध्य है। तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह है, इसलिये कहता हूँ। विधाताने तुम्हें उग्र कर्मके लिये ही उत्पन्न किया है; इसलिये तुम अपने धर्ममें स्थित होकर राज्यका शासन करो ॥ ३३ ॥

अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोऽब्रवीद् धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! आपत्तिकालमें भी सदा दुष्टोंका दमन और शिष्ट पुरुषोंका पालन करना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान् शुक्राचार्य-का कथन है ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति चेदिह मर्यादा यामन्यो नाभिलङ्घयेत्।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! इस जगत्में यदि कोई ऐसी मर्यादा है, जिसका दूसरा कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता तो मैं उसके विषयमें आपसे पूछता हूँ। आप वही मुझे बताइये ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः।
श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान् पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! विद्यामें बढ़े-चढ़े तपस्वी तथा शास्त्रज्ञान, उत्तम चरित्र एवं सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मणोंका ही सेवन करे, यह परम उत्तम एवं पवित्र कार्य है ॥ ३६ ॥

या देवतासु वृत्तिस्ते सास्तु विप्रेषु नित्यदा।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! देवताओंके प्रति जो तुम्हारा बर्ताव है, वही भाव और बर्ताव ब्राह्मणोंके प्रति भी सदैव होना चाहिये; क्योंकि क्रोधमें भरे हुए ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके अद्भुत कर्म कर डाले हैं ॥ ३७ ॥

प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम्।
प्रीत्या ह्यमृतवद् विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतासे श्रेष्ठ यशका विस्तार होता है। उनकी अप्रसन्नतासे महान् भयकी प्राप्ति होती है। प्रसन्न होनेपर ब्राह्मण अमृतके समान जीवनदायक होते हैं और कुपित होनेपर विषके तुल्य भयंकर हो उठते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शरणागतकी रक्षा करनेके विषयमें एक बहेलिये और कपोत-कपोतीका प्रसङ्ग, सर्दीसे पीड़ित हुए बहेलियेका एक वृक्षके नीचे जाकर सोना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं; अतः मुझे यह बताइये कि शरणागतकी रक्षा करनेवाले प्राणीको किस धर्मकी प्राप्ति होती है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

महान् धर्मो महाराज शरणागतपालने।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! शरणागतकी रक्षा करने-में महान् धर्म है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हीं ऐसा प्रश्न पूछनेके अधिकारी हो ॥ २ ॥

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान्।
परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ३ ॥

राजन्! शिबि आदि महात्मा राजाओंने तो शरणागतों-की रक्षा करके ही परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी ॥ ३ ॥

श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ ४ ॥

यह भी सुना जाता है कि एक कबूतरने शरणमें आये हुए शत्रुका यथायोग्य सत्कार किया था और अपना मांस खानेके लिये उसको निमन्त्रित किया था ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः।
स्वमांसं भोजितः कां च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! प्राचीनकालमें कबूतरने शरणागत शत्रुको किस प्रकार अपना मांस खिलाया और ऐसा करनेसे उसे कौन-सी सद्गति प्राप्त हुई ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम्।
नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेण वै ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! वह दिव्य कथा सुनो, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है। परशुरामजीने राजा मुचुकुन्द-को यह कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

इममर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः।
भार्गवं परिपप्रच्छ प्रणतः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर कुन्तीनन्दन! पहिलेकी बात है, राजा मुचु-कुन्दने परशुरामजीको प्रणाम करके उनसे यही प्रश्न किया था ॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय भार्गवोऽकथयत् कथाम् ।
इमां यथा कपोतेन सिद्धिः प्राप्ता नराधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! तब परशुरामजीने सुननेके लिये उत्सुक हुए मुचुकुन्दको, कबूतरने जिस प्रकार सिद्धि प्राप्ति की थी, वह कथा कह सुनायी ॥ ८ ॥

मुनिरुवाच

धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थसहितां कथाम् ।
शृणुष्वावहितो राजन् गदतो मे महाभुज ॥ ९ ॥

मुनि बोले—महाबाहो ! यह कथा धर्मके निर्णयसे युक्त तथा अर्थ और कामसे सम्पन्न है । राजन् ! तुम सावधान होकर मेरे मुखसे इस कथाको सुनो ॥ ९ ॥

कश्चित् क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसम्मितः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १० ॥

एक समयकी बात है किसी महान् वनमें कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था । वह बड़े खोटे आचार-विचारका था । पृथ्वीपर वह कालके समान जान पड़ता था ॥

काकोल इव कृष्णाङ्गो रूक्षाक्षः कालसम्मितः ।
दीर्घजङ्घो ह्रस्वपादो महावक्त्रो महाहनुः ॥ ११ ॥

उसका सारा शरीर 'काकोल' जातिके कौओंके समान काला था । आँखें लाल-लाल थीं । वह देखनेपर काल-सा प्रतीत होता था । बड़ी-बड़ी पिंडलियाँ, छोटे-छोटे पैर, विशाल मुख और लंबी-सी ठोढ़ी—यही उसकी हुलिया थी ॥ ११ ॥

नैव तस्य सुहृत् कश्चिन्न सम्बन्धी न बान्धवाः ।
स हि तैः सम्परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

उसके न कोई सुहृद्, न सम्बन्धी और न भाई-बन्धु ही थे । उसके भयानक क्रूर-कर्मके कारण सबने उसे त्याग दिया था ॥

नरः पापसमाचारस्त्यक्तव्यो दूरतो बुधैः ।
आत्मानं योऽभिसंधत्ते सोऽन्यस्य स्यात् कथं हितः ॥

वास्तवमें जो पापाचारी हो, उसे विज्ञ पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये । जो अपने आपको धोखा देता है, वह दूसरेका हितैषी कैसे हो सकता है ? ॥ १३ ॥

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिप्राणहरा नराः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४ ॥

जो मनुष्य क्रूर, दुरात्मा तथा दूसरे प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले होते हैं, उन्हें सर्पोंके समान सभी जीवोंकी ओरसे उद्वेग प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

स वै क्षारकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! वह प्रतिदिन जाल लेकर वनमें जाता और बहुत-से पक्षियोंको मारकर उन्हें बाजारमें बेंच दिया करता था ॥

एवं तु वर्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः ।
अगमत् सुमहान् कालो न चाधर्ममबुध्यत ॥ १६ ॥

यही उसका नित्यका काम था । इसी वृत्तिसे रहते हुए उस दुरात्माको वहाँ दीर्घ काल व्यतीत हो गया, किंतु उसे अपने इस अधर्मका बोध नहीं हुआ ॥ १६ ॥

तस्य भार्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् ।
दैवयोगविमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १७ ॥

सदा अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ वह बहेलिया दैवयोगसे ऐसा मूढ़ हो गया था कि उसे दूसरी कोई वृत्ति अच्छी ही नहीं लगती थी ॥ १७ ॥

ततः कदाचित् तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षांस्तान् सुमहान् वातसम्भ्रमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन वह वनमें ही घूम रहा था कि चारों ओरसे बड़े जोरकी आँधी उठी । वायुका प्रचण्ड वेग वहाँके समस्त वृक्षोंको धराशायी करता हुआ-सा जान पड़ा ॥

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
संछन्नस्तु मुहूर्तेन नौसार्थैरिव सागरः ॥ १९ ॥
वारिधारासमूहेन सम्प्रविष्टः शतक्रतुः ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुन्धराम् ॥ २० ॥

आकाशमें मेघोंकी घटाएँ घिर आयीं, विद्युन्मण्डलसे उसकी अपूर्व शोभा होने लगी । जैसे समुद्र नौकारोहियोंके समुदायसे ढक जाता है, उसी प्रकार दो ही घड़ीमें जल-धाराओंके समूहसे आच्छादित हुए इन्द्रदेवने व्योममण्डलमें प्रवेश किया और क्षणभरमें इस पृथ्वीको जलराशिसे भर दिया ॥ १९–२० ॥

ततो धाराकुले काले सम्भ्रमन् नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद् वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

उस समय मूसलाधार पानी बरस रहा था । बहेलिया शीतसे पीड़ित हो अचेत-सा हो गया और व्याकुल हृदयसे सारे वनमें भटकने लगा ॥ २१ ॥

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य च ॥ २२ ॥

वनका मार्ग जिसपर वह चलता था, जलके प्रवाहमें डूब गया था । उस बहेलियेको नीची-ऊँची भूमिका कुछ पता नहीं चलता था ॥ २२ ॥

पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ॥ २३ ॥

वर्षाके वेगसे बहुतेरे पक्षी मरकर धरतीपर लोट गये थे । कितने ही अपने घोंसलोंमें छिपे बैठे थे । मृग, सिंह और सूअर स्थल-भूमिका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ २३ ॥

महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौकसः ।
भयार्ताश्च क्षुधार्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥ २४ ॥

भारी आँधी और वर्षासे आतङ्कित हुए वनवासी जीव-जन्तु भय और भूखसे पीड़ित हो झुंड-के-झुंड एक साथ घूम रहे थे ॥ २४ ॥

स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥ २५ ॥

बहेलियेके सारे अङ्ग सर्दीसे ठिठुर गये थे । इसलिये न तो वह चल पाता था और न खड़ा ही हो पाता था । इसी अवस्थामें उसने धरतीपर गिरी हुई एक कबूतरी देखी, जो सर्दीके कष्टसे व्याकुल हो रही थी ॥ २५ ॥

दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत्।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत् परे ॥ २६ ॥
पापात्मा पापकारित्वात् पापमेव चकार सः ।

वह पापात्मा व्याध यद्यपि स्वयं भी बड़े कष्टमें था तो भी उसने उस कबूतरीको उठाकर पिंजड़ेमें डाल लिया। स्वयं दुःखसे पीड़ित होनेपर भी उसने दूसरे प्राणीको दुःख ही पहुँचाया। सदा पापमें ही प्रवृत्त रहनेके कारण उस पापात्माने उस समय भी पाप ही किया ॥ २६½ ॥

सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ॥ २७ ॥
सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः ।
धात्रा परोपकाराय स साधुरिव निर्मितः ॥ २८ ॥

इतनेहीमें उसे वृक्षोंके समूहमें एक मेघके समान सघन एवं नील विशाल वनस्पति दिखायी दिया, जिसपर बहुत-से विहंगम छाया, निवास और फलकी इच्छासे बसेरे लेते थे, मानो विधाताने परोपकारके लिये ही उस साधुतुल्य महान् वृक्षका निर्माण किया था ॥ २७-२८ ॥

अथाभवत् क्षणेनैव वियद् विमलतारकम् ।
महत्सर इवोत्फुल्लं कुमुदच्छुरितोदकम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें आकाशके बादल फट गये, निर्मल तारे चमक उठे, मानो खिले हुए कुमुद-पुष्पोंसे सुशोभित जलवाला कोई विशाल सरोवर प्रकाशित हो रहा हो ॥

ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्मलं बहु ।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥ ३० ॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम् ।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद् देशादिति प्रभो ॥ ३१ ॥

प्रभो ! ताराओंसे भरा हुआ अत्यन्त निर्मल आकाश विकसित कुमुद-कुसुमोंसे सुशोभित सरोवर-सा प्रतीत होता था। आकाशको मेघोंसे मुक्त हुआ देख सर्दीसे काँपते हुए उस व्याधने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात किया और गाढ़े अन्धकारसे भरी हुई रात्रि देखकर मन-ही-मन विचार किया कि मेरा निवासस्थान तो यहाँसे बहुत दूर है ॥ ३०-३१ ॥

कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः ।
साञ्जलिः प्रणतिं कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम् ॥ ३२ ॥
शरणं यामि यान्यस्मिन् दैवतानि वनस्पतौ ।

इसके बाद उसने उस वृक्षके नीचे ही रातभर रहनेका निश्चय किया। फिर हाथ जोड़ प्रणाम करके उस वनस्पतिसे कहा—'इस वृक्षपर जो-जो देवता हों, उन सबकी मैं शरण लेता हूँ'॥

स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
दुःखेन महताऽऽविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर उसने पृथ्वीपर पत्ते बिछा दिये और एक शिलापर सिर रखकर महान् दुःखसे घिरा हुआ वह बहेलिया वहाँ सो गया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादोपक्रमे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कपोत और व्याधके संवादका उपक्रमविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरद्वारा अपनी भार्याका गुणगान तथा पतिव्रता स्त्रीकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससुहृज्जनः ।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस वृक्षकी शाखापर बहुत दिनोंसे एक कबूतर अपने सुहृदोंके साथ निवास करता था। उसके शरीरके रोएँ चितकबरे थे ॥ १ ॥

तस्य कल्यगता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत ।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥ २ ॥

उसकी पत्नी सबेरेसे ही चारा चुगनेके लिये गयी थी, जो लौटकर नहीं आयी। अब रात हुई देख वह कबूतर उसके लिये बहुत संतप्त होने लगा ॥ २ ॥

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
किं नु तत् कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥ ३ ॥

कबूतर दुखी होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—'अहो! आज बड़ी भारी आँधी और वर्षा हुई है; किंतु अब तक मेरी प्यारी भार्या लौटकर नहीं आयी। ऐसा कौन-सा कारण हो गया, जिससे वह अभीतक नहीं लौट सकी है ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तस्याः प्रियाया मम कानने ।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥ ४ ॥

'क्या इस वनमें मेरी प्रिया कुशलसे होगी ? उसके बिना आज मेरा यह घर—यह घोंसला सूना लग रहा है ॥ ४ ॥

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः ।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥ ५ ॥

'पुत्र, पौत्र, पतोहू तथा अन्य भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंसे भरा होनेपर भी गृहस्थका घर उसकी पत्नीके बिना सूना ही रहता है ॥ ५ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ ६ ॥

'वास्तवमें घरको घर नहीं कहते, घरवालीका ही नाम घर है। घरवालीके बिना जो घर होता है, उसे जंगलके समान ही माना गया है ॥ ६ ॥

यदि सा रक्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा ।
अद्य नायाति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे ॥ ७ ॥

'जिसके नेत्रोंके प्रान्तभाग कुछ-कुछ लाल हैं, अङ्ग चितकबरे हैं और स्वरमें अद्भुत मिठास भरा है, वह मेरी प्राण-वल्लभा यदि आज नहीं आ रही है तो मुझे इस जीवनसे

क्या प्रयोजन है ? ॥ ७ ॥

न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता ।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि ॥ ८ ॥

'वह उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिव्रता थी, इसलिये मुझे भोजन कराये बिना भोजन नहीं करती, नहलाये बिना स्नान नहीं करती, मुझे बैठाये बिना बैठती नहीं तथा मेरे सो जानेपर ही शयन करती थी ॥ ८ ॥

हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता ।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ॥ ९ ॥

'मेरे प्रसन्न रहनेपर वह हर्षसे खिल उठती थी और मेरे दुखी होनेपर वह स्वयं भी दुखमें डूब जाती थी। जब मैं बाहर जाने लगता तो उसके मुखपर दीनता छा जाती थी और जब कभी मुझे क्रोध आता, तब मीठी-मीठी बातें करके शान्त कर देती थी ॥ ९ ॥

पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता ।
यस्य स्यात् तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १० ॥

'वह बड़ी पतिव्रता थी। पतिके सिवा दूसरी कोई उसकी गति नहीं थी। वह सदा ही पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहती थी। जिसको ऐसी पत्नी प्राप्त हुई हो, वह पुरुष इस पृथ्वीपर धन्य है ॥ १० ॥

सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी ।
अनुरक्ता स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी ॥ ११ ॥

'वह तपस्विनी यह जानती है कि मैं थका, माँदा और भूखसे पीड़ित हूँ, सो भी न जाने क्यों नहीं आ रही है ? मेरे प्रति उसका अत्यन्त अनुराग है, उसकी बुद्धि स्थिर है, वह यशस्विनी भार्या मेरे प्रति स्नेह रखनेवाली तथा मेरी परम भक्त है॥

वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम् ।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥ १२ ॥

'वृक्षके नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिये वही घर है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि स्त्रीसे रहित है तो वह निश्चय ही दुर्गम गहन वनके समान है ॥ १२ ॥

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी ।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥ १३ ॥

'पुरुषके धर्म, अर्थ और कामके अवसरोंपर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है। परदेश जानेपर भी वही उसके लिये विश्वसनीय मित्रका काम करती है ॥ १३ ॥

भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते ।
असहायस्य लोकेऽस्मिँल्लोकयात्रासहायिनी ॥ १४ ॥

'पुरुषकी प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही कही जाती है। इस लोकमें जो असहाय है, उसे भी लोक-यात्रामें सहायता देनेवाली उसकी पत्नी ही है ॥ १४ ॥

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च ।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ १५ ॥

'जो पुरुष रोगसे पीड़ित हो और बहुत दिनोंसे विपत्तिमें फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्यके लिये भी स्त्रीके समान दूसरी कोई ओषधि नहीं है ॥ १५ ॥

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥ १६ ॥

'संसारमें स्त्रीके समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्रीके समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्रीके समान धर्मसंग्रहमें सहायक भी दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥ १७ ॥

'जिसके घरमें साध्वी और प्रिय वचन बोलनेवाली भार्या नहीं है, उसे तो वनमें चला जाना चाहिये; क्योंकि उसके लिये जैसा घर है, वैसा ही वन' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि भार्याप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पत्नीकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका कबूतरसे शरणागत व्याधकी सेवाके लिये प्रार्थना

भीष्म उवाच

एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः ।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस तरह विलाप करते हुए कबूतरका वह करुणायुक्त वचन सुनकर बहेलियेके कैदमें पड़ी हुई कबूतरीने कहा ॥ १ ॥

कपोत्युवाच

अहोऽतीव सुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः ।
असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ॥ २ ॥

कबूतरी बोली—अहो ! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरे प्रियतम पतिदेव इस प्रकार मेरे गुणोंका, वे मुझमें हों या न हों, गान कर रहे हैं ॥ २ ॥

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३ ॥

उस स्त्रीको स्त्री ही नहीं समझना चाहिये, जिसका पति उससे संतुष्ट नहीं रहता है। पतिके संतुष्ट रहनेसे स्त्रियोंपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट रहते हैं ॥ ३ ॥

अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम् ।
दावाग्निनेव निर्दग्धा सपुष्पस्तबका लता ॥ ४ ॥
भस्मीभवति सा नारी यस्या भर्ता न तुष्यति ।

अग्निको साक्षी बनाकर स्त्रीका जिसके साथ विवाह हो गया, वही उसका पति है और वही उसके लिये परम देवता है। जिसका पति संतुष्ट नहीं रहता, वह नारी दावानलसे दग्ध हुई पुष्पगुच्छोंसहित लताके समान भस्म हो जाती है ॥ ४½ ॥

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ॥ ५ ॥
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत् ।

ऐसा सोचकर दुःखसे पीड़ित हो व्याधके कैदमें पड़ी हुई कबूतरीने अपने दुःखित पतिसे उस समय इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत् तथा ॥ ६ ॥
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः ।

'प्राणनाथ ! मैं आपके कल्याणकी बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिये । इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणीकी रक्षा कीजिये ॥ ६½ ॥

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ॥ ७ ॥
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ।

'यह व्याध आपके निवास-स्थानपर आकर सर्दी और भूखसे पीड़ित होकर सो रहा है । आप इसकी यथोचित सेवा कीजिये ॥ ७½ ॥

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद् गां च लोकस्य मातरम् ॥ ८ ॥
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम् ।

'जो कोई पुरुष ब्राह्मणकी, लोकमाता गायकी तथा शरणागतकी हत्या करता है, उन तीनोंको समानरूपसे पातक लगता है ॥ ८½ ॥

अस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती जातिधर्मतः ॥ ९ ॥
सा न्याय्याऽऽत्मवता नित्यं त्वद्विधेनानुवर्तितुम् ।

'भगवान्‌ने जातिधर्मके अनुसार हमारी कापोतीवृत्ति बना दी है । आप-जैसे मनस्वी पुरुषको सदा ही उस वृत्तिका पालन करना उचित है ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ॥ १० ॥
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ।

'जो गृहस्थ यथाशक्ति अपने धर्मका पालन करता है, वह मरनेके पश्चात् अक्षय लोकोंमें जाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ १०½ ॥

स त्वं संतानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज ॥ ११ ॥
तत् स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ।
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १२ ॥

'पक्षिप्रवर ! आप अब संतानवान् और पुत्रवान् हो चुके हैं । अतः आप अपनी देहपर दया न करके धर्म और अर्थपर ही दृष्टि रखते हुए इस बहेलियेका ऐसा सत्कार करें, जिससे इसका मन प्रसन्न हो जाय ॥ ११-१२ ॥

मत्कृते मा च संतापं कुर्वीथास्त्वं विहङ्गम ।
शरीरयात्राकृत्यर्थमन्यान् दारानुपैष्यसि ॥ १३ ॥

'विहंगम ! आप मेरे लिये संताप न करें । आपको अपनी शरीरयात्राका निर्वाह करनेके लिये दूसरी स्त्री मिल जायगी ॥

इति सा शकुनी वाक्यं पञ्जरस्था तपस्विनी ।
अतिदुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ॥ १४ ॥

इस प्रकार पिंजड़ेमें पड़ी हुई वह तपस्विनी कबूतरी पतिसे यह बात कहकर अत्यन्त दुखी हो पतिके मुँहकी ओर देखने लगी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतं प्रति कपोतीवाक्ये पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरके प्रति कबूतरीका वाक्यविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरके द्वारा अतिथि-सत्कार और अपने शरीरका बहेलियेके लिये परित्याग

भीष्म उवाच

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पत्नीकी वह धर्मके अनुकूल और युक्तियुक्त बात सुनकर कबूतरको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये ॥ १ ॥

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात् तं पक्षिजीविनम् ॥ २ ॥

उस पक्षीने पक्षियोंकी हिंसासे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले उस बहेलियेकी ओर देखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार यत्नपूर्वक उसका पूजन किया ॥ २ ॥

उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
संतापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ ३ ॥

और बोला—'आज आपका स्वागत है । बोलिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको संताप नहीं करना चाहिये, आप इस समय अपने ही घरमें हैं ॥ ३ ॥

तद् ब्रवीतु भवान् क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि ।
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ॥ ४ ॥

'अतः शीघ्र बताइये, आप क्या चाहते हैं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़े प्रेमसे पूछ रहा हूँ; क्योंकि आप हमारे घर पधारे हैं ॥ ४ ॥

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५ ॥

'यदि शत्रु भी घरपर आ जाय तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिये । जो काटनेके लिये आया हो, उसके ऊपरसे भी वृक्ष अपनी छाया नहीं हटाता ॥ ५ ॥

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥ ६ ॥

'यों तो घरपर आये हुए अतिथिका सभीको यत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिये; परंतु पञ्चयज्ञके अधिकारी गृहस्थका यह प्रधान धर्म है ॥ ६ ॥

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।

तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥ ७ ॥

'जो मोहवश गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करता, उसके लिये धर्मके अनुसार न तो यह लोक प्राप्त होता है और न परलोक ही ॥ ७ ॥

तद् ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत् त्वं वाचा वदिष्यसि।
तत् करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः॥ ८ ॥

'अतः तुम पूर्ण विश्वास रखकर मुझसे अपनी बात बताओ, तुम अपने मुँहसे जो कुछ कहोगे, वह सब मैं करूँगा; अतः तुम मनमें शोक न करो' ॥ ८ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत्।
बाधते खलु मे शीतं संत्राणं हि विधीयताम् ॥ ९ ॥

कबूतरकी यह बात सुनकर व्याधने कहा—'इस समय मुझे सर्दीका कष्ट है; अतः इससे बचानेका कोई उपाय करो' ॥९॥

एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले।
यथाशक्त्या हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥ १० ॥

उसके ऐसा कहनेपर पक्षीने पृथ्वीपर बहुत-से पत्ते लाकर रख दिये और आग लानेके लिये अपने पंखोंद्वारा यथाशक्ति बड़ी तेजीसे उड़ान लगायी ॥ १० ॥

स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत्।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ॥ ११ ॥

वह लुहारके घर जाकर आग ले आया और सूखे पत्तोंपर रखकर उसने वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर दी ॥ ११ ॥

स संदीप्तं महत् कृत्वा तमाह शरणागतम्।
प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोभयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार आगको बहुत प्रज्वलित करके कबूतरने शरणागत अतिथिसे कहा—'भाई ! अब तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम निश्चिन्त होकर अपने सारे अङ्गोंको आगसे तपाओ' ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत्।
अग्नि प्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहङ्गमम् ॥ १३ ॥

तब उस व्याधने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने सारे अङ्गोंको तपाया। अग्निका सेवन करके उसकी जानमें जान आयी। तब वह कबूतरसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥१३॥

हर्षेण महताऽऽविष्टो वाक्यं व्याकुललोचनः।
तथेमं शकुनिं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥

शास्त्रीय विधिसे सत्कार पा उसने बड़े हर्षमें भरकर डबडबायी हुई आँखोंसे कबूतरकी ओर देखकर कहा—॥ १४ ॥

दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद् बाधते हि माम्।
स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः ॥ १५ ॥
न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधां तव।
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ॥ १६ ॥
संचयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने।

'भाई ! अब मुझे भूख सता रही है; इसलिये तुम्हारा दिया हुआ कुछ भोजन करना चाहता हूँ।' उसकी बात सुनकर कबूतर बोला—'भैया ! मेरे पास सम्पत्ति तो नहीं है, जिससे मैं तुम्हारी भूख मिटा सकूँ। हमलोग वनवासी पक्षी हैं। प्रतिदिन चुगे हुए चारेसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। मुनियोंके समान हमारे पास कोई भोजनका संग्रह नहीं रहता है' ॥

इत्युक्त्वा तं तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत् ॥ १७ ॥
कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरस्तदा।
बभूव भरतश्रेष्ठ गर्हयन् वृत्तिमात्मनः ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर कबूतरका मुख कुछ उदास हो गया। वह इस चिन्तामें पड़ गया कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? भरतश्रेष्ठ ! वह अपनी कापोती वृत्तिकी निन्दा करने लगा ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातिनम्।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १९ ॥

थोड़ी देरमें उसे कुछ याद आया और उस पक्षीने बहेलियेसे कहा—'अच्छा, थोड़ी देरतक ठहरिये। मैं आपकी तृप्ति करूँगा' ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु समुज्ज्वाल्य हुताशनम्।
हर्षेण महताऽऽविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर उसने सूखे पत्तोंसे पुनः आग प्रज्वलित की और बड़े हर्षमें भरकर व्याधसे कहा—॥ २० ॥

ऋषीणां देवतानां च पितॄणां च महात्मनाम्।
श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥ २१ ॥

'मैंने ऋषियों, देवताओं, पितरों तथा महात्माओंके मुखसे पहले सुना है कि अतिथिकी पूजा करनेमें महान् धर्म है॥

कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥ २२ ॥

'सौम्य ! अतः मैंने भी आज अतिथिकी उत्तम पूजा करनेका निश्चय कर लिया है। आप मुझे ही ग्रहण करके मुझपर कृपा कीजिये। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥

ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव।
तमग्निं त्रिःपरिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर अतिथि-पूजनकी प्रतिज्ञा करके उस परम बुद्धिमान् पक्षीने तीन बार अग्निदेवकी परिक्रमा की और हँसते हुए-से आगमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

अग्निमध्ये प्रविष्टं तु लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम्।
चिन्तयामास मनसा किमिदं वै मया कृतम् ॥ २४ ॥

पक्षीको आगके भीतर घुसा हुआ देख व्याध मन-ही-मन चिन्ता करने लगा कि मैंने यह क्या कर डाला ? ॥ २४ ॥

अहो मम नृशंसस्य गर्हितस्य स्वकर्मणा।
अधर्मः सुमहान् घोरो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥

अहो ! अपने कर्मसे निन्दित हुए मुझ क्रूरकर्मा व्याधके जीवनमें यह सबसे भयंकर और महान् पाप होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

एवं बहुविधं भूरि विललाप स लुब्धकः।

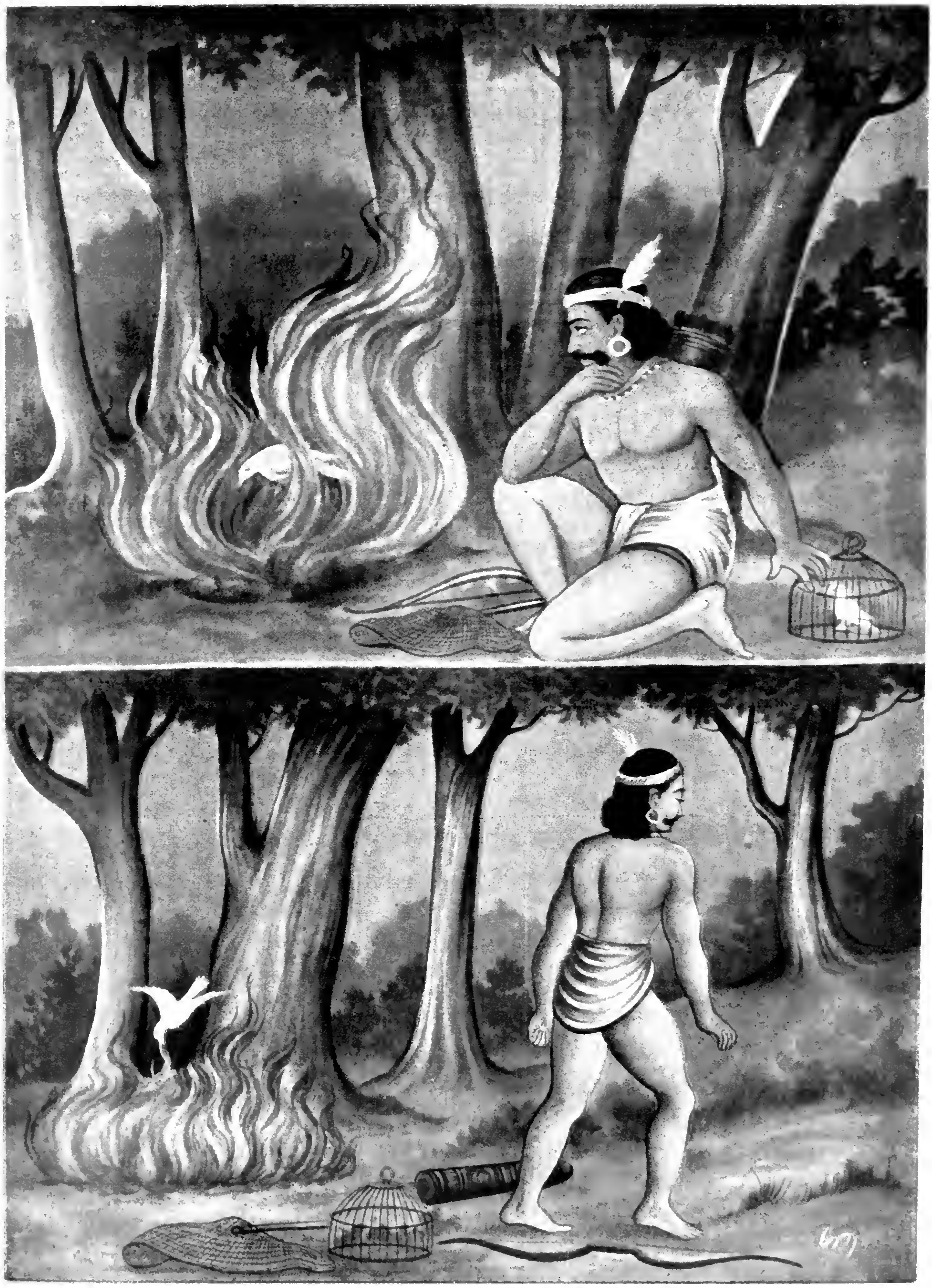

कपोतके द्वारा व्याधका आतिथ्य-सत्कार

गर्हयन् स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार कबूतरकी वैसी अवस्था देखकर अपने कर्मोंकी निन्दा करते हुए उस व्याधने अनेक प्रकारकी बातें कहकर बहुत विलाप किया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतर और व्याधका संवादविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेका वैराग्य

भीष्म उवाच

ततः स लुब्धकः पश्यन् क्षुधयापि परिप्लुतः ।
कपोतमग्निपतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूखसे व्याकुल होनेपर भी बहेलियेने जब देखा कि कबूतर आगमें कूद पड़ा, तब वह दुखी होकर इस प्रकार कहने लगा—॥ १ ॥

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं कृतजीविनः ॥ २ ॥

'हाय ! मुझ क्रूर और बुद्धिहीनने कैसा पाप कर डाला ? मैंने अपना जीवन ही ऐसा बना रक्खा है कि मुझसे नित्य पाप बनता ही रहेगा' ॥ २ ॥

स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह ।
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बारंबार अपनी निन्दा करता हुआ वह फिर बोला—'मैं बड़ा दुष्ट बुद्धिका मनुष्य हूँ, मुझपर किसीको विश्वास नहीं करना चाहिये । शठता और क्रूरता ही मेरे जीवनका सिद्धान्त बन गया है ॥ ३ ॥

शुभं कर्म परित्यज्य सोऽहं शकुनिलुब्धकः ।
नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः ॥ ४ ॥
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ।

'अच्छे-अच्छे कर्मोंको छोड़कर मैंने पक्षियोंको मारने और फँसानेका धंधा अपना लिया है । मुझ क्रूर और कुकर्मीको महात्मा कबूतरने अपने शरीरकी आहुति दे अपना मांस अर्पित किया है । इसमें संदेह नहीं कि इस अपूर्व त्यागके द्वारा उसने मुझे धिक्कारते हुए धर्माचरण करनेका आदेश दिया ॥ ४½ ॥

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान् प्राणान् पुत्रान् दारांस्तथैव च ५
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ।

'अब मैं पापसे मुँह मोड़कर स्त्री, पुत्र तथा अपने प्यारे प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा । महात्मा कबूतरने मुझे विशुद्ध धर्मका उपदेश दिया है ॥ ५½ ॥

अद्यप्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम् ॥ ६ ॥
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ।

'आजसे मैं अपने शरीरको सम्पूर्ण भोगोंसे वञ्चित करके उसी प्रकार सुखा डालूँगा, जैसे गर्मीमें छोटा-सा तालाब सूख जाता है ॥ ६½ ॥

क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः ॥ ७ ॥
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये पारलौकिकम् ।

'भूख, प्यास और धूपका कष्ट सहन करते हुए शरीरको इतना दुर्बल बना दूँगा कि सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देंगी । मैं बारंबार अनेक प्रकारसे उपवास-व्रत करके परलोक सुधारनेवाला पुण्य कर्म करूँगा ॥ ७½ ॥

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजना ॥ ८ ॥
तस्माद् धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ।
दृष्टो धर्मो हि धर्मिष्ठे यादृशो विहगोत्तमे ॥ ९ ॥

'अहो ! महात्मा कबूतरने अपने शरीरका दान करके मेरे सामने अतिथि-सत्कारका उज्ज्वल आदर्श रक्खा है, अतः मैं भी अब धर्मका ही आचरण करूँगा; क्योंकि धर्म ही परम गति है । उस धर्मात्मा श्रेष्ठ पक्षीमें जैसा धर्म देखा गया है, वैसा ही मुझे भी अभीष्ट है' ॥ ८-९ ॥

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ॥ १० ॥

ऐसा कहकर धर्माचरणका ही निश्चय करके वह भयानक कर्म करनेवाला व्याध कठोर व्रतका आश्रय ले महाप्रस्थानके पथपर चल दिया ॥ १० ॥

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथा ।
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह ॥ ११ ॥

उस समय उसने उस बन्दी की हुई कबूतरीको पींजरेसे मुक्त करके अपनी लाठी, शलाका, जाल, पिंजड़ा सब कुछ छोड़ दिया ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकोपरतौ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें बहेलियेकी उपरतिविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका विलाप और अग्निमें प्रवेश तथा उन दोनोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता ।
संस्मृत्य सा च भर्तारं रुदती शोककर्शिता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस बहेलियेके चले

जानेपर कबूतरी अपने पतिका स्मरण करके शोकसे कातर हो उठी और दुःख-मग्न हो रोती हुई विलाप करने लगी—॥

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे ।
सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते ॥ २ ॥

'प्रियतम ! आपने कभी मेरा अप्रिय किया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। सारी स्त्रियाँ अनेक पुत्रोंसे युक्त होनेपर भी पतिहीन होनेपर शोकमें डूब जाती हैं ॥ २ ॥

शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना तपस्विनी ।
लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ॥ ३ ॥

'पतिहीन तपस्विनी नारी अपने भाई-बन्धुओंके लिये भी शोचनीय बन जाती है। आपने सदा ही मेरा लाड-प्यार किया और बड़े सम्मानके साथ मुझे आदरपूर्वक रक्खा ॥३॥

वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसंक्लिष्टमनोहरैः ।
कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ॥ ४ ॥
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह ।
आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ॥ ५ ॥

'आपने स्नेहसिक्त, सुखद, मनोहर तथा मधुर वचनोंद्वारा मुझे आनन्दित किया। मैंने आपके साथ पर्वतोंकी गुफाओंमें, नदियोंके तटोंपर, झरनोंके आस-पास तथा वृक्षोंकी सुरम्य शिखाओंपर रमण किया है। आकाशयात्रामें भी मैं सदा आपके साथ सुखपूर्वक विचरण करती रही हूँ ॥ ४-५ ॥

रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किञ्चन ।
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ॥ ६ ॥
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।

'प्राणनाथ ! पहले मैं जिस प्रकार आपके साथ आनन्दपूर्वक रमण करती थी, अब उन सब सुखोंमेंसे कुछ भी मेरे लिये शेष नहीं रह गया है। पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब लोग नारीको परिमित सुख देते हैं, केवल पति ही उसे अपरिमित या असीम सुख प्रदान करता है। ऐसे पतिकी कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी ? ॥ ६½ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥ ७ ॥
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।

'स्त्रीके लिये पतिके समान कोई रक्षक नहीं है और पतिके तुल्य कोई सुख नहीं है। उसके लिये तो धन और सर्वस्वको त्यागकर पति ही एकमात्र गति है ॥ ७½ ॥

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ ८ ॥
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।

'नाथ ! अब तुम्हारे बिना यहाँ इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ऐसी कौन-सी पतिव्रता स्त्री होगी, जो पतिके बिना जीवित रह सकेगी ?' ॥८½ ॥

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ॥ ९ ॥
पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।

इस तरह अनेक प्रकारसे करुणाजनक विलाप करके अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई वह पतिव्रता कबूतरी उसी प्रज्वलित अग्निमें समा गयी ॥ ९½ ॥

ततश्चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपश्यत ॥ १० ॥
विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।

तदनन्तर उसने अपने पतिको देखा। वह विचित्र अङ्गद धारण किये विमानपर बैठा था और बहुत-से पुण्यात्मा महात्मा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे ॥ १०½ ॥

चित्रमाल्याम्बरधरं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११ ॥
विमानशतकोटीभिरावृतं पुण्यकर्मभिः ।

उसने विचित्र हार और वस्त्र धारण कर रक्खे थे और वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित था। अरबों पुण्यकर्मी पुरुषोंसे युक्त विमानोंने उसे घेर रक्खा था ॥ ११½ ॥

ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमानवरमास्थितः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्यया ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विमानपर बैठा हुआ वह पक्षी अपने स्त्रीके सहित स्वर्गलोकको चला गया और अपने सत्कर्मसे पूजित हो वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतस्वर्गगमने अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरका स्वर्गगमनविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४८॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

विमानस्थौ तु तौ राजँल्लुब्धकः खे ददर्श ह ।
दृष्ट्वा तौ दम्पती राजन् व्यचिन्तयत तां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्याधने उन दोनों पक्षियोंको दिव्य रूप धारण करके विमानपर बैठे और आकाशमार्गसे जाते देखा। उन दिव्य दम्पतिको देखकर व्याध उनकी उस सद्गतिके विषयमें विचार करने लगा ॥ १ ॥

ईदृशेनैव तपसा गच्छेयं परमां गतिम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे ॥ २ ॥
महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवकः ।
निश्चेष्टो मरुदाहारो निर्ममः स्वर्गकाङ्क्षया ॥ ३ ॥

मैं भी इसी प्रकार तपस्या करके परम गतिको प्राप्त होऊँगा, ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके पक्षियोंद्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाला वह बहेलिया वहाँसे महाप्रस्थानके पथका आश्रय लेकर चल दिया। उसने सब प्रकारकी चेष्टा त्याग दी। वायु पीकर रहने लगा। स्वर्गकी अभिलाषासे अन्य सब वस्तुओंकी ओरसे उसने ममता हटा ली ॥ २-३ ॥

ततोऽपश्यत् सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्माभिभूषितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं सरः शीतजलं शिवम् ॥ ४ ॥

आगे जाकर उसने एक विस्तृत एवं मनोरम सरोवर

देखा, जो कमल-समूहोंसे सुशोभित हो रहा था। नाना प्रकारके जलपक्षी उसमें कलरव कर रहे थे। वह तालाब शीतल जलसे भरा था और अत्यन्त सुखद जान पड़ता था ॥ ४ ॥

पिपासार्तोऽपि तद् दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः।
उपवासकृशोऽत्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः ॥ ५ ॥
अनवेक्ष्यैव संहृष्टः श्वापदाध्युषितं वनम्।
महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः प्रविवेश ह ॥ ६ ॥
प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः सकण्टकैः।
स कण्टकैर्विभिन्नाङ्गो लोहितार्द्रीकृतच्छविः ॥ ७ ॥

राजन्! कोई मनुष्य कितनी ही प्याससे पीड़ित क्यों न हो, निःसंदेह उस सरोवरके दर्शनमात्रसे वह तृप्त हो सकता था। इधर यह व्याध उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गया था, तो भी उधर दृष्टिपात किये बिना ही बड़े हर्षके साथ हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें प्रवेश कर गया। महान् लक्ष्यपर पहुँचनेका निश्चय करके बहेलिया उस वनमें घुसा। घुसते ही कटीली झाड़ियोंमें फँस गया। काँटोंसे उसका सारा शरीर छिदकर लहूलुहान हो गया ॥ ५—७ ॥

बभ्राम तस्मिन् विजने नानामृगसमाकुले।
ततो द्रुमाणां महता पवनेन वने तदा ॥ ८ ॥
उदतिष्ठत संघर्षात् सुमहान् हव्यवाहनः।
तद् वनं वृक्षसम्पूर्णं लताविटपसंकुलम् ॥ ९ ॥
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः।

नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे भरे हुए उस निर्जन वनमें वह इधर-उधर भटकने लगा। इतनेहीमें प्रचण्ड पवनके वेगसे वृक्षोंमें परस्पर रगड़ होनेके कारण उस वनमें बड़ी भारी आग लग गयी। आगकी बड़ी-बड़ी लपटें ऊपरको उठने लगीं। प्रलयकालकी संवर्तक अग्निके समान प्रज्वलित एवं कुपित हुए अग्निदेव लता, डालियों और वृक्षोंसे व्याप्त हुए उस वनको दग्ध करने लगे ॥ ८-९½ ॥

स ज्वालैः पवनोद्धतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः ॥ १० ॥
ददाह तद् वनं घोरं मृगपक्षिसमाकुलम्।

हवासे उड़ी हुई चिनगारियों तथा ज्वालाओंद्वारा चारों ओर फैलकर उस दावानलने पशु-पक्षियोंसे भरे हुए भयंकर वनको जलाना आरम्भ किया ॥ १०½ ॥

ततः स देहमोक्षार्थं सम्प्रहृष्टेन चेतसा ॥ ११ ॥
अभ्यधावत वर्धन्तं पावकं लुब्धकस्तदा।

बहेलिया अपने शरीरका परित्याग करनेके लिये मनमें हर्ष और उल्लास भरकर उस बढ़ती हुई आगकी ओर दौड़ पड़ा ॥

ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकल्मषः।
जगाम परमां सिद्धिं ततो भरतसत्तम ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उस आगमें जल जानेसे बहेलियेके सारे पाप नष्ट हो गये और उसने परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥

ततः स्वर्गस्थमात्मानमपश्यद् विगतज्वरः।
यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत् ॥ १३ ॥

थोड़ी ही देरमें अपने आपको उसने देखा कि वह बड़े आनन्दसे स्वर्गलोकमें विराजमान है तथा अनेक यक्ष, सिद्ध और गन्धर्वोंके बीचमें इन्द्रके समान शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता।
लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा ॥ १४ ॥

इस प्रकार वह धर्मात्मा कबूतर, पतिव्रता कपोती और बहेलिया—तीनों साथ-साथ अपने पुण्यकर्मके बलसे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १४ ॥

यापि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिका अनुसरण करती है, वह कपोतीके समान शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थित हो अपने तेजसे प्रकाशित होती है ॥ १५ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः।
कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा ॥ १६ ॥

यह प्राचीन वृत्तान्त (परशुरामजीने मुचुकुन्दको सुनाया था) यह ठीक ऐसा ही है। बहेलिये और महात्मा कबूतरको उनके पुण्य कर्मके प्रभावसे धर्मात्माओंकी गति प्राप्त हुई ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्तयेत्।
नाशुभं विद्यते तस्य मनसापि प्रमादतः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य इस प्रसङ्गको प्रतिदिन सुनता और जो इसका वर्णन करता है, उन दोनोंको मनसे भी प्रमादजनित अशुभकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृतां वर।
गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन्निष्कृतिः पापकर्मणः ॥ १८ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! यह शरणागतका पालन महान् धर्म है। ऐसा करनेसे गोवध करनेवाले पुरुषोंके पापका भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १८ ॥

न निष्कृतिर्भवेत् तस्य यो हन्याच्छरणागतम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुण्यं पापप्रणाशनम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १९ ॥

जो शरणागतका वध करता है, उसको कभी इस पापसे छुटकारा नहीं मिलता। इस पापनाशक पुण्यमय इतिहासको सुन लेनेपर मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकस्वर्गगमने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें व्याधका स्वर्गलोकमें गमनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोत मुनिका राजा जनमेजयको फटकारना

युधिष्ठिर उवाच

अबुद्धिपूर्वं यत् पापं कुर्याद् भरतसत्तम।
मुच्यते स कथं तस्मादेतत् सर्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यदि कोई पुरुष

अनजानमें किसी तरहका पापकर्म कर बैठे तो वह उससे किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम् ।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें ऋषियोंद्वारा प्रशंसित एक प्राचीन प्रसङ्ग एवं उपदेश तुम्हें सुनाऊँगा, जिसे शुनकवंशी विप्रवर इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे कहा था ॥

आसीद् राजा महावीर्यः परिक्षिज्जनमेजयः ।
अबुद्धिपूर्वामागच्छद् ब्रह्महत्यां महीपतिः ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें परिक्षित्[1]के पुत्र राजा जनमेजय बड़े पराक्रमी थे; परंतु उन्हें विना जाने ही ब्रह्महत्याका पाप लग गया था ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्व एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः ।
स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ४ ॥

इस बातको जानकर पुरोहितसहित सभी ब्राह्मणोंने जनमेजयको त्याग दिया । राजा चिन्तासे दिन-रात जलते हुए वनमें चले गये ॥ ४ ॥

प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत् ।
अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥ ५ ॥

प्रजाने भी उन्हें गद्दीसे उतार दिया था; अतः वे वनमें रहकर महान् पुण्य कर्म करने लगे । दुःखसे दग्ध होते हुए वे दीर्घकालतक तपस्यामें लगे रहे ॥ ५ ॥

ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद् ब्राह्मणान् बहून् ।
पर्यटन् पृथिवीं कृत्स्नां देशे देशे नराधिपः ॥ ६ ॥

राजाने सारी पृथ्वीके प्रत्येक देशमें घूम-घूमकर बहुतेरे ब्राह्मणोंसे ब्रह्महत्या-निवारणके लिये उपाय पूछा ॥ ६ ॥

तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम् ।
दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ७ ॥
चरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम् ।

राजन् ! यहाँ मैं जो इतिहास बता रहा हूँ, वह धर्मकी वृद्धि करनेवाला है । राजा जनमेजय अपने पाप-कर्मसे दग्ध होते और वनमें विचरते हुए कठोर व्रतका पालन करनेवाले शुनकवंशी इन्द्रोत मुनिके पास जा पहुँचे ॥ ७½ ॥

समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ८ ॥
ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा ।
कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥ ९ ॥
किं त्वयास्मासु कर्तव्यं मा मां स्प्राक्षीः कथंचन ।
गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मानिति ब्रुवन् ॥ १० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने मुनिके दोनों पैर पकड़ लिये और उन्हें धीरे-धीरे दबाने लगे । ऋषिने वहाँ राजाको देखकर उस समय उनकी बड़ी निन्दा की । वे कहने लगे—अरे ! तू तो महान् पापाचारी और ब्रह्महत्यारा है । यहाँ कैसे आया ? हमलोगोंसे तेरा क्या काम है ? मुझे किसी तरह छूना मत । जा-जा, तेरा यहाँ ठहरना हमलोगोंको अच्छा नहीं लगता ॥ ८—१० ॥

रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम् ।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥ ११ ॥

'तुमसे रुधिरकी-सी गन्ध निकलती है । तेरा दर्शन वैसा ही है, जैसा मुर्देका दीखना । तू देखनेमें मङ्गलमय है; परंतु है अमङ्गलरूप । वास्तवमें तू मर चुका; परंतु जीवितकी भाँति घूम रहा है ॥ ११ ॥

ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन् ।
प्रबुद्ध्यसे प्रस्वपिषि वर्तसे परमे सुखे ॥ १२ ॥

'तू ब्राह्मणकी मृत्युका कारण है । तेरा अन्तःकरण नितान्त अशुद्ध है । तू पापकी ही बात सोचता हुआ जागता और सोता है और इसीसे अपनेको परम सुखी मानता है ॥

मोघं ते जीवितं राजन् परिक्लिष्टं च जीवसि ।
पापायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे हि यवीयसे ॥ १३ ॥

'राजन् ! तेरा जीवन व्यर्थ और अत्यन्त क्लेशमय है । तू पापके लिये ही पैदा हुआ है । खोटे कर्मके ही लिये तेरा जन्म हुआ है ॥ १३ ॥

बहुकल्याणमिच्छन्ति ईहन्ते पितरः सुतान् ।
तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥ १४ ॥

'माता-पिता तपस्या, देवपूजा, नमस्कार और सहनशीलता या क्षमा आदिके द्वारा पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त हुए पुत्रोंसे परम कल्याण पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ १४ ॥

पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम् ।
निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥ १५ ॥

'परंतु तेरे कारण तेरे पितरोंका यह समुदाय नरकमें पड़ गया है । तू आँख उठाकर उनकी दशा देख ले । उन्होंने तुझसे जो-जो आशाएँ बाँध रक्खी थीं, उनकी वे सभी आशाएँ आज व्यर्थ हो गयीं ॥ १५ ॥

यान् पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः प्रजाः ।
तेषु त्वं सततं द्वेष्टा ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १६ ॥

'जिनकी पूजा करनेवाले लोग स्वर्ग, आयु, यश और संतान प्राप्त करते हैं । उन्हीं ब्राह्मणोंसे तू सदा द्वेष रखता है । तेरा जीवन व्यर्थ है ॥ १६ ॥

इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्धा पतिष्यसि ।
अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १७ ॥

'इस लोकको छोड़नेके बाद तू अपने पापकर्मके फल-स्वरूप अनन्त वर्षोंतक नीचा सिर किये नरकमें पड़ा रहेगा ॥

अर्द्यमानो यत्र गृध्रैः शितिकण्ठैरयोमुखैः ।
ततश्च पुनरावृत्तः पापयोनिं गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'वहाँ लोहेके समान चोंचवाले गीध और मोर तुझे नोच-नोचकर पीड़ा देंगे और उसके बाद भी नरकसे लौटनेपर तुझे किसी पापयोनिमें ही जन्म लेना पड़ेगा ॥ १८ ॥

यदिदं मन्यसे राजन् नायमस्ति कुतः परः ।
प्रतिस्मारयितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १९ ॥

[1] ये परिक्षित् और जनमेजय अर्जुनके पौत्र और प्रपौत्र नहीं हैं ।

'राजन्! तू जो यह समझता है कि जब इसी लोकमें पापका फल नहीं मिल रहा है, तब परलोकका तो अस्तित्व ही कहाँ है? सो इस धारणाके विपरीत यमलोकमें जानेपर यमराजके दूत तुझे इन सारी बातोंकी याद दिला देंगे' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीयसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके अपराधी जनमेजयका इन्द्रोत मुनिकी शरणमें जाना और इन्द्रोत मुनिका उससे ब्राह्मणद्रोह न करनेकी प्रतिज्ञा कराकर उसे शरण देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमेजयः ।
गर्ह्यं भवान् गर्हयते निन्द्यं निन्दति मां पुनः ॥ १ ॥
धिक्कार्यं मां धिक्कुरुते तस्मात् त्वाहं प्रसादये ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मुनिवर इन्द्रोतके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'मुने! मैं घृणा और तिरस्कारके योग्य हूँ, इसीलिये आप मेरा तिरस्कार करते हैं। मैं निन्दाका पात्र हूँ; इसीलिये बार-बार मेरी निन्दा करते हैं। मैं धिक्कारने और दुतकारनेके ही योग्य हूँ; इसीलिये आपकी ओरसे मुझे धिक्कार मिल रहा है और इसीलिये मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ १½ ॥

सर्वं हीदं दुष्कृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥
स्वकर्माण्यभिसंधाय नाभिनन्दति मे मनः ।

'यह सारा पाप मुझमें मौजूद है; अतः मैं चिन्तासे उसी प्रकार जल रहा हूँ, मानो किसीने मुझे आगके भीतर रख दिया हो। अपने कुकर्मोंको याद करके मेरा मन स्वतः प्रसन्न नहीं हो रहा है ॥ २½ ॥

प्राप्यं घोरं भयं नूनं मया वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥
तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् ।
सर्वं मन्युं विनीय त्वमभि मां वद शौनक ॥ ४ ॥

'निश्चय ही मुझे यमराजसे भी घोर भय प्राप्त होनेवाली है, यह बात मेरे हृदयमें काँटेकी भाँति चुभ रही है। अपने हृदयसे इसको निकाले बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगा? अतः शौनकजी! आप समस्त क्रोधका त्याग करके मुझे उद्धारका कोई उपाय बताइये ॥ ३-४ ॥

महानासं ब्राह्मणानां भूयो वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥

'मैं ब्राह्मणोंका महान् भक्त रहा हूँ; इसीलिये इस समय पुनः आपसे निवेदन करता हूँ कि मेरे इस कुलका कुछ भाग अवश्य शेष रहना चाहिये। समूचे कुलका पराभव या विनाश नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

न हि नो ब्रह्मशप्तानां शेषं भवितुमर्हति ।
स्तुतीरलभमानानां संविदं वेदनिश्चितान् ॥ ६ ॥
निर्विद्यमानः सुभृशं भूयो वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
भूयश्चैवाभिरक्षन्तु निर्धनान् निर्जना इव ॥ ७ ॥

'ब्राह्मणोंके शाप दे देनेपर हमारे कुलका कुछ भी शेष नहीं रह जायगा। हम अपने पापके कारण न तो समाजमें प्रशंसा पा रहे हैं न सजातीय बन्धुओंके साथ एकमत ही हो रहे हैं; अतः अत्यन्त खेद और विरक्तिको प्राप्त होकर हम पुनः वेदोंका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले आप-जैसे ब्राह्मणोंसे सदा यही कहेंगे कि जैसे निर्जन स्थानमें रहनेवाले योगीजन पापी पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपलोग अपनी दयासे ही हम-जैसे दुखी मनुष्योंकी रक्षा करें ॥ ६-७ ॥

न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथञ्चन ।
आपातान् प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशबरा इव ॥ ८ ॥

'जो क्षत्रिय अपने पापके कारण यज्ञके अधिकारसे वञ्चित हो जाते हैं, वे पुलिन्दों और शबरोंके समान नरकोंमें ही पड़े रहते हैं। किसी प्रकार परलोकमें उत्तम गतिको नहीं पाते ॥

अविज्ञायैव मे प्रज्ञां बालस्येव स पण्डितः ।
ब्रह्मन् पितेव पुत्रस्य प्रीतिमान् भव शौनक ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन्! शौनक! आप विद्वान् हैं और मैं मूर्ख। आप मेरी बालबुद्धिपर ध्यान न देकर जैसे पिता पुत्रपर स्वभावतः संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मुझपर भी प्रसन्न होइये' ॥

शौनक उवाच

किमाश्चर्यं यदप्राज्ञो बहु कुर्यादसाम्प्रतम् ।
इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नानुकुप्यते ॥ १० ॥

शौनकने कहा—यदि अज्ञानी मनुष्य अयुक्त कार्य भी कर बैठे तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है; अतः इस रहस्यको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्राणियोंपर क्रोध न करे ॥ १० ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति ॥ ११ ॥

जो विशुद्ध बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़कर स्वयं शोकसे रहित हो दूसरे दुखी मनुष्योंके लिये शोक करता है, वह अपने ज्ञानबलसे सब कुछ उसी प्रकार जान लेता है, जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य उस पर्वतके आस-पासकी भूमिपर रहनेवाले सब लोगोंको देखता रहता है ॥ ११ ॥

न चोपलभ्यते तेन न चाश्चर्याणि कुर्वते ।
निर्विण्णात्मा परोक्षो वा धिक्कृतः पूर्वसाधुषु ॥ १२ ॥

जो प्राचीन श्रेष्ठ पुरुषोंसे विरक्त हो उनके दृष्टिपथसे दूर रहता है तथा उनके द्वारा धिक्कारको प्राप्त होता रहता है, उसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है और ऐसे पुरुषके लिये दूसरे लोग आश्चर्य भी नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

विदितं भवतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे ।

कुरुष्वेह यथाशान्ति ब्रह्म शरणमस्तु ते ॥ १३ ॥

तुम्हें ब्राह्मणोंकी शक्तिका ज्ञान है। वेदों और शास्त्रोंमें जो उनकी महिमा उपलब्ध होती है, उसका भी पता है; अतः तुम शान्तिपूर्वक ऐसा प्रयत्न करो, जिससे ब्राह्मण-जाति तुम्हें शरण दे सके ॥ १३ ॥

तद् वै पारत्रिकं तात ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।
अथवा तप्यसे पापे धर्ममेवानुपश्य वै ॥ १४ ॥

तात! क्रोधरहित ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये जो कुछ किया जाता है, वह पारलौकिक लाभका ही हेतु होता है अथवा यदि तुम्हें पापके लिये पश्चात्ताप होता है तो तुम निरन्तर धर्मपर ही दृष्टि रक्खो ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच

अनुतप्ये च पापेन न च धर्मं विलोपये ।
बुभूषुं भजमानं च प्रीतिमान् भव शौनक ॥ १५ ॥

जनमेजयने कहा—शौनक! मुझे अपने पापके कारण बड़ा पश्चात्ताप होता है, अब मैं धर्मका कभी लोप नहीं करूँगा। मुझे कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा है; अतः आप मुझ भक्तपर प्रसन्न होइये ॥ १५ ॥

शौनक उवाच

छित्त्वा दम्भं च मानं च प्रीतिमिच्छामि ते नृप ।
सर्वभूतहितं तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मरन् ॥ १६ ॥

शौनक बोले—नरेश्वर! मैं तुम्हें तुम्हारे दम्भ और अभिमानका नाश करके तुम्हारा प्रिय करना चाहता हूँ। तुम धर्मका निरन्तर स्मरण रखते हुए समस्त प्राणियोंके हितका साधन करो ॥ १६ ॥

न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभात् त्वामुपाह्वये ।
तां मे दैवीं गिरं सत्यां शृणु त्वं ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥

राजन्! मैं भयसे, दीनतासे और लोभसे भी तुम्हें अपने पास नहीं बुलाता हूँ। तुम इन ब्राह्मणोंके सहित दैवी वाणीके समान मेरी यह सच्ची बात कान खोलकर सुन लो ॥

सोऽहं न केनचिच्चार्थी त्वां च धर्मादुपाह्वये ।
क्रोशतां सर्वभूतानां हाहा धिगिति जल्पताम् ॥ १८ ॥

मैं तुमसे कोई वस्तु लेनेकी इच्छा नहीं रखता। यदि समस्त प्राणी मुझे खोटी-खरी सुनाते रहें, हाय-हाय मचाते रहें और धिक्कार देते रहें तो भी उनकी अवहेलना करके मैं तुम्हें केवल धर्मके कारण निकट आनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ॥

वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञं त्यक्ष्यन्ति सुहृदो जनाः ।
ता वाचः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९॥

मुझे लोग अधर्मज्ञ कहेंगे। मेरे हितैषी सुहृद् मुझे त्याग देंगे तथा तुम्हें धर्मोपदेश देनेकी बात सुनकर मेरे सुहृद् मुझपर अत्यन्त रोषसे जल उठेंगे ॥ १९ ॥

केचिदेव महाप्राज्ञाः प्रतिज्ञास्यन्ति तत्त्वतः ।
जानीहि मत्कृतं तात ब्राह्मणान् प्रति भारत ॥ २० ॥

तात! भारत! कोई-कोई महाज्ञानी पुरुष ही मेरे अभिप्रायको यथार्थरूपसे समझ सकेंगे। ब्राह्मणोंके प्रति भलाई करनेके लिये ही मेरी यह सारी चेष्टा है। यह तुम अच्छी तरह जान लो ॥ २० ॥

यथा ते मत्कृते क्षेमं लभन्ते ते तथा कुरु ।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २१ ॥

ब्राह्मणलोग मेरे कारण जैसे भी सकुशल रहें, वैसा ही प्रयत्न तुम करो। नरेश्वर! तुम मेरे सामने यह प्रतिज्ञा करो कि अब मैं ब्राह्मणोंसे कभी द्रोह नहीं करूँगा ॥ २१ ॥

जनमेजय उवाच

नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा ।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥ २२ ॥

जनमेजयने कहा—विप्रवर! मैं आपके दोनों चरण छूकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी ब्राह्मणोंसे द्रोह नहीं करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोतका जनमेजयको धर्मोपदेश करके उनसे अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराना तथा निष्पाप राजाका पुनः अपने राज्यमें प्रवेश

शौनक उवाच

तस्मात् तेऽहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृतचेतसे ।
श्रीमान् महाबलस्तुष्टः स्वयं धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥

शौनकने कहा—राजन्! तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की है, इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा मन पापकी ओरसे निवृत्त हो गया है; इसलिये मैं तुम्हें धर्मका उपदेश करूँगा; क्योंकि तुम श्रीसम्पन्न, महाबलवान् और संतुष्टचित्त हो। साथ ही स्वयं धर्मपर दृष्टि रखते हो ॥ १ ॥

पुरस्ताद् दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत् ।
अनुगृह्णाति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिवः ॥ २ ॥

राजा पहले कठोर स्वभावका होकर पीछे कोमल भावका अवलम्बन करके जो अपने सद्व्यवहारसे समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करता है, वह अत्यन्त आश्चर्यकी ही बात है ॥ २ ॥

कृत्स्नं नूनं स दहति इति लोको व्यवस्यति ।
यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्ममेवानुपश्यसि ॥ ३ ॥

चिरकालतक तीक्ष्ण स्वभावका आश्रय लेनेवाला राजा निश्चय ही अपना सब कुछ जलाकर भस्म कर डालता है, ऐसी लोगोंकी धारणा है; परंतु तुम वैसे होकर भी जो धर्मपर

ही दृष्टि रख रहे हो, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३ ॥

हित्वा तु सुचिरं भक्ष्यं भोज्यांश्च तप आस्थितः।
इत्येतदभिभूतानामद्भुतं जनमेजय ॥ ४ ॥

जनमेजय ! तुम जो दीर्घकालसे भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका परित्याग करके तपस्यामें लगे हुए हो, यह पापसे अभिभूत हुए मनुष्योंके लिये अद्भुत बात है ॥ ४ ॥

योऽदुर्लभो भवेद् दाता कृपणो वा तपोधनः।
अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नातिदूरेण वर्तते ॥ ५ ॥

यदि धन-सम्पन्न पुरुष दानी हो एवं कृपण या दरिद्र मनुष्य तपस्याका धनी हो जाय तो इसे आश्चर्यकी बात नहीं मानते हैं; क्योंकि ऐसे पुरुषोंका दान और तपसे सम्पन्न होना अधिक कठिन नहीं है ॥ ५ ॥

एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमीक्षितम्।
यच्चेत् समीक्षयैव स्याद् भवेत् तस्मिंस्ततो गुणः॥ ६ ॥

यदि सारी बातोंपर पूर्वापर विचार न करके कोई कार्य आरम्भ किया जाय तो यही कायरतापूर्ण दोष है और यदि भलीभाँति आलोचना करके कोई कार्य हो तो यही उसमें गुण माना जाता है ॥ ६ ॥

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! यज्ञ, दान, दया, वेद और सत्य—ये पाँचों पवित्र बताये गये हैं। इनके साथ अच्छी तरह आचरणमें लाया हुआ तप भी छठा पवित्र कर्म माना गया है॥

तदेव राज्ञां परमं पवित्रं जनमेजय।
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥ ८ ॥

जनमेजय ! राजाओंके लिये ये छहों वस्तुएँ परम पवित्र हैं। इन्हें भलीभाँति आचरणमें लानेपर तुम श्रेष्ठतम धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम्।
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ॥ ९ ॥

पुण्य तीर्थोंकी यात्रा करना भी परम पवित्र माना गया है। इस विषयमें विज्ञ पुरुष राजा ययातिकी गायी हुई इस गाथाका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ९ ॥

यो मर्त्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः।
यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत् संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ १० ॥

जो मनुष्य अपने लिये दीर्घ जीवनकी इच्छा रखता है, वह यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करके फिर उसे त्यागकर तपस्यामें लग जाय ॥ १० ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वतीम्।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ ११ ॥

कुरुक्षेत्रको पवित्र तीर्थ बताया गया । कुरुक्षेत्र से अधिक पवित्र सरस्वती नदी है, उससे भी अधिक पवित्र उसके भिन्न-भिन्न तीर्थ हैं। उन तीर्थोंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा पृथूदक तीर्थको श्रेष्ठ कहा गया है॥ ११ ॥

यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वोमरणं तपेत्।
महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥
कालोदकं च गन्तासि लब्धायुर्जीविते पुनः।
सरस्वतीदृषद्वत्योः संगमो मानसः सरः ॥ १३ ॥

उसमें स्नान करने और उसका जल पीनेसे मनुष्यको कल ही होनेवाली मृत्युका भय नहीं सताता अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है। इस कारण मरनेसे नहीं डरता। यदि तुम महासरोवर पुष्कर, प्रभास, उत्तर मानस, कालोदक, दृषद्वती और सरस्वतीके सङ्गम तथा मानसरोवर आदि तीर्थोंमें जाकर स्नान करोगे तो तुम्हें पुनः अपने जीवनके लिये दीर्घायु प्राप्त होगी ॥ १२–१३ ॥

स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेषु समुपस्पृशेत्।
त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥

सभी तीर्थस्थानोंमें स्वाध्यायशील होकर स्नान करे। मनुने कहा है कि सर्वत्यागरूप संन्यास सम्पूर्ण पवित्र धर्मोंमें श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः।
यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् ॥ १५ ॥

इस विषयमें भी सत्यवान्‌द्वारा निर्मित हुई इन गाथाओंका उदाहरण दिया जाता है। जैसे बालक राग-द्वेषसे शून्य होनेके कारण सदा सत्यपरायण ही रहता है। न तो वह पुण्य करता है और न पाप ही। इसी प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुषको भी होना चाहिये ॥ १५ ॥

न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन् कुतः सुखम्।
एवं प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥ १६ ॥
त्यजतां जीवितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके।

इस संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंमें जब दुःख ही नहीं है, तब सुख कहाँसे हो सकता है ? यह सुख और दुःख दोनों ही प्रकृतिस्थ प्राणियोंके धर्म हैं, जो कि सब प्रकारके संसर्गदोषको स्वीकार करके उनके अनुसार चलते हैं। जिन्होंने ममता और अहङ्कार आदिके साथ सब कुछ त्याग दिया है, जिनके पुण्य और पाप सभी निवृत्त हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका जीवन ही कल्याणमय है ॥ १६½ ॥

यत्त्वेव राज्ञो ज्यायिष्ठं कार्याणां तद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
बलेन संविभागैश्च जय स्वर्गं जनेश्वर।
यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ॥ १८ ॥

अब मैं राजाके कार्योंमें जो सबसे श्रेष्ठ है, उसका वर्णन करता हूँ। जनेश्वर ! तुम धैर्ययुक्त बल और दानके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त करो। जिसके पास बल और ओज है, वही मनुष्य धर्माचरणमें समर्थ होता है ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां सुखार्थं हि त्वं पाहि वसुधां नृप।
यथैवैतान् पुराऽऽक्षैप्सीस्तथैवैतान् प्रसादय ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! तुम ब्राह्मणोंको सुख पहुँचानेके लिये ही सारी पृथ्वीका पालन करो। जैसे पहले इन ब्राह्मणोंपर आक्षेप किया था, वैसे इन सबको अपने सद्बर्तावसे प्रसन्न करो ॥

अपि धिक्क्रियमाणोऽपि त्यज्यमानोऽप्यनेकधा।

आत्मनो दर्शनाद् विप्रान्न हन्तास्मीति मार्गय।
घटमानः स्वकार्येषु कुरु निःश्रेयसं परम् ॥ २० ॥

वे बार-बार तुम्हें धिक्कारें और फटकारकर दूर हटा दें तो भी उनमें आत्मदृष्टि रखकर तुम यही निश्चय करो कि अब मैं ब्राह्मणोंको नहीं मारूँगा। अपने कर्तव्यपालनके लिये पूरी चेष्टा करते हुए परम कल्याणका साधन करो ॥ २० ॥

हिमाग्निघोरसदृशो राजा भवति कश्चन।
लांगलाशनिकल्पो वा भवेदन्यः परंतप ॥ २१ ॥

परंतप! कोई राजा बर्फके समान शीतल होता है, कोई अग्निके समान ताप देनेवाला होता है, कोई यमराजके समान भयानक जान पड़ता है, कोई घास-फूसका मूलोच्छेद करनेवाले हलके समान दुष्टोंका समूल उन्मूलन करनेवाला होता है तथा कोई पापाचारियोंपर अकस्मात् वज्रके समान टूट पड़ता है॥

न विशेषेण गन्तव्यमविच्छिन्नेन वा पुनः।
न जातु नाहमस्मीति सुप्रसक्तमसाधुषु ॥ २२ ॥

कभी मेरा अभाव नहीं हो जाय, ऐसा समझकर राजाको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग कभी न करे। न तो उनके किसी विशेष गुणपर आकृष्ट हो, न उनके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करे और न उनमें अत्यन्त आसक्त ही हो॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
नैतत् कार्यं पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥

यदि कोई शास्त्रविरुद्ध कर्म बन जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करनेवाला पुरुष पापसे मुक्त हो जाता है। यदि दूसरी बार पाप बन जाय तो 'अब फिर ऐसा काम नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे वह पापमुक्त हो सकता है॥

करिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात् परिमुच्यते।
शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात्परिमुच्यते ॥ २४ ॥

'आजसे केवल धर्मका ही आचरण करूँगा' ऐसा नियम लेनेसे वह तीसरी बारके पापसे छुटकारा पा जाता है और पवित्र तीर्थोंमें विचरण करनेवाला पुरुष अनेक बारके किये हुए बहुसंख्यक पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता।
ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ॥ २५ ॥
ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते।
तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद् विपरिमुच्यते ॥ २६ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको कल्याणकारी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो सुगन्धित पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनके शरीरसे सुगन्ध निकलती है और जो सदा दुर्गन्धका सेवन करते हैं, वे अपने शरीरसे दुर्गन्ध ही फैलाते हैं। जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर होता है, वह तत्काल सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

संवत्सरमुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते।
त्रीणि वर्षाण्युपास्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥

लगातार एक वर्षतक अग्निहोत्र करनेसे कलङ्कित पुरुष अपने ऊपर लगे हुए कलङ्कसे छूट जाता है। तीन वर्षोंतक अग्निकी उपासना करनेसे भ्रूणहत्यारा भी पापमुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे।
अभ्येत्य योजनशतं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २८ ॥

महासरोवर पुष्कर, प्रभास तीर्थ तथा उत्तर मानसरोवर आदि तीर्थोंमें सौ योजनतककी पैदल यात्रा करनेसे भी भ्रूणहत्याके पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ २८ ॥

यावतः प्राणिनो हन्यात् तज्जातीयांस्तु तावतः।
प्रमीयमानानुन्मोच्य प्राणिहा विप्रमुच्यते ॥ २९ ॥

प्राणियोंकी हत्या करनेवाला मनुष्य जितने प्राणियोंका वध करता है, उसी जातिके उतने ही प्राणियोंको मृत्युसे छुटकारा दिला दे अर्थात् उनको मरनेके संकटसे छुड़ा दे तो वह उनकी हत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम्।
यथाश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥

यदि मनुष्य तीन बार अघमर्षणका जप करते हुए जलमें गोता लगावे तो उसे अश्वमेध यज्ञमें अवभृथस्नान करनेका फल मिलता है, ऐसा मनुजीने कहा है ॥ ३० ॥

तत् क्षिप्रं नुदते पापं सत्कारं लभते तथा।
अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जडमूकवत् ॥ ३१ ॥

वह अघमर्षण मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही अपने सारे पापोंको दूर कर देता है और उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है। सब प्राणी जड एवं मूकके समान उसपर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः
सर्वे समेत्याभ्यनुयुज्य राजन्।
धर्म्यं फलं वेत्थ फलं महर्षे
तथैव तस्मिन्नरके पारलोक्ये ॥ ३२ ॥
उभे तु यस्य सदृशे भवेतां
किंस्वित् तयोस्तत्र जयोऽथ न स्यात्।
आचक्ष्व नः पुण्यफलं महर्षे
कथं पापं नुदते धर्मशीलः ॥ ३३ ॥

राजन्! एक समय सब देवताओं और असुरोंने बड़े आदरके साथ देवगुरु बृहस्पतिके निकट जाकर पूछा—'महर्षे! आप धर्मका फल जानते हैं। इसी प्रकार परलोकमें जो पापोंके फलस्वरूप नरकका कष्ट भोगना पड़ता है, वह भी आपसे अज्ञात नहीं है, परंतु जिस योगीके लिये सुख और दुःख दोनों समान हैं, वह उन दोनोंके कारणरूप पुण्य और पापको जीत लेता है या नहीं। महर्षे! आप हमारे समक्ष पुण्यके फलका वर्णन करें और यह भी बतावें कि धर्मात्मा पुरुष अपने पापोंका नाश कैसे करता है?' ॥ ३२-३३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं
पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम्।
स तत् पापं नुदते कर्मशीलो
वासो यथा मलिनं क्षारयुक्तम् ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—यदि मनुष्य पहले बिना जाने पाप करके फिर जान-बूझकर पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सत्कर्मपरायण पुरुष अपने पापको उसी प्रकार दूर कर देता है, जैसे क्षार (सोडा, साबुन आदि) लगानेसे कपड़ेका मैल छूट जाता है ॥ ३४ ॥

पापं कृत्वाभिमन्येत नाहमस्मीति पूरुषः।
तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ३५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पाप करके अहङ्कार न प्रकट करे—हेकड़ी न दिखावे, अपितु श्रद्धापूर्वक दोषदृष्टिका परित्याग करके कल्याणमय धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे ॥

छिद्राणि विवृतान्येव साधूनां चावृणोति यः।
यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके खुले हुए छिद्रोंको ढकता है अर्थात् उनके प्रकट हुए दोषोंको भी छिपानेकी चेष्टा करता है तथा जो पाप करके उससे विरत हो कल्याणमय कर्ममें लग जाता है, वे दोनों ही पापरहित हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

यथाऽऽदित्यः प्रातरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति।
कल्याणमाचरन्नेवं सर्वपापं व्यपोहति ॥ ३७ ॥

जैसे सूर्य प्रातःकाल उदित होकर सारे अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शुभकर्मका आचरण करनेवाला पुरुष अपने सभी पापोंका अन्त कर देता है ॥ ३७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम्।
याजयामास विधिवद् वाजिमेधेन शौनकः ॥ ३८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर शौनक इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ ३८ ॥

ततः स राजा व्यपनीतकल्मषः
श्रेयोवृतः प्रज्वलिताग्निरूपवान्।
विवेश राज्यं स्वममित्रकर्षणो
यथा दिवं पूर्णवपुर्निशाकरः ॥ ३९ ॥

इससे राजा जनमेजयका सारा पाप नष्ट हो गया और वे प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान होने लगे। उन्हें सब प्रकारके श्रेय प्राप्त हो गये। जैसे पूर्ण चन्द्रमा आकाशमण्डलमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन जनमेजयने पुनः अपने राज्यमें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

मृतककी पुनर्जीवन-प्राप्तिके विषयमें एक ब्राह्मण बालकके जीवित होनेकी कथा; उसमें गीध और सियारकी बुद्धिमत्ता

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित् पितामहेनासीच्छ्रुतं वा दृष्टमेव च।
कच्चिन्मर्त्यो मृतो राजन् पुनरुज्जीवितोऽभवत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! क्या आपने कभी यह भी देखा या सुना है कि कोई मनुष्य मरकर फिर जी उठा हो! ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु पार्थ यथावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
गृध्रजम्बुकसंवादं यो वृत्तो नैमिषे पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन! प्राचीनकालमें नैमिषारण्यक्षेत्रमें गीध और गीदड़का जो संवाद हुआ था, उसे सुनो, वह पूर्वघटित यथार्थ इतिहास है ॥ २ ॥

कस्यचिद् ब्राह्मणस्यासीद् दुःखलब्धः सुतो मृतः।
बाल एव विशालाक्षो बालग्रहनिपीडितः ॥ ३ ॥

किसी ब्राह्मणको बड़े कष्टसे एक पुत्र प्राप्त हुआ था। वह बड़े-बड़े नेत्रोंवाला सुन्दर बालक बाल ग्रहसे पीड़ित हो बाल्यावस्थामें ही चल बसा ॥ ३ ॥

दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम्।
कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ ४ ॥

जिसने युवावस्थामें अभी प्रवेश ही नहीं किया था तथा जो अपने कुलका सर्वस्व था, उस मरे हुए बालकको लेकर उसके कुछ दुखी बान्धव शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४ ॥

बालं मृतं गृहीत्वाथ श्मशानाभिमुखाः स्थिताः।
अङ्केनैव च संक्रम्य रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ ५ ॥

उस मृत बालकको गोदमें लेकर वे श्मशानकी ओर चले। वहाँ पहुँचकर खड़े हो गये और अत्यन्त दुखी होकर रोने लगे ॥ ५ ॥

शोचन्तस्तस्य पूर्वोक्तान् भाषितांश्चासकृत् पुनः।
तं बालं भूतले क्षिप्य प्रतिगन्तुं न शक्नुयुः ॥ ६ ॥

वे उसकी पहलेकी बातोंको बारंबार याद करके शोकमग्न हो जाते थे; इसलिये उसे श्मशानभूमिमें डालकर लौट जानेमें असमर्थ हो रहे थे ॥ ६ ॥

तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
एकात्मजमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत मा चिरम् ॥ ७ ॥
इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव ह।

समानीतानि कालेन हित्वा वै यान्ति बान्धवाः ॥ ८ ॥

उनके रोनेके शब्दसे आकृष्ट होकर एक गीध वहाँ आया और इस प्रकार कहने लगा—'मनुष्यो ! इस जगत्‌में अपने इस इकलौते पुत्रको यहाँ छोड़कर लौट जाओ, देर मत करो। यहाँ हजारों स्त्री-पुरुष कालके द्वारा लाये जा चुके हैं और उन सबको उनके भाई-बन्धु छोड़कर चले जाते हैं ॥ ७–८ ॥

सम्पश्यत जगत् सर्वं सुखदुःखैरधिष्ठितम्।
संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ॥ ९ ॥

'देखो, यह सम्पूर्ण जगत् ही सुख और दुःखसे व्याप्त है, यहाँ सबको बारी-बारीसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं ॥

गृहीत्वा ये च गच्छन्ति ये न यान्ति च तान् मृतान्।
तेऽप्यायुषः प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ १० ॥

'जो लोग अपने मृतक सम्बन्धियोंको लेकर श्मशानमें जाते हैं और जो नहीं जाते हैं, वे सभी जीव-जन्तु अपनी आयु पूरी होनेपर इस संसारसे चल बसते हैं ॥ १० ॥

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ११ ॥

'गीधों और गीदड़ोंसे भरे हुए इस भयंकर श्मशानमें सब ओर असंख्य नरकंकाल पड़े हैं। यह स्थान सभी प्राणियोंके लिये भयदायक है। यहाँ तुम्हें नहीं ठहरना चाहिये; ठहरनेसे कोई लाभ भी नहीं है ॥ ११ ॥

न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ १२ ॥

'अपना प्रिय हो या द्वेषपात्र। कोई भी कालधर्ममें (मृत्यु) को पाकर कभी पुनः जीवित नहीं हुआ है। समस्त प्राणियोंकी ऐसी ही गति है ॥ १२ ॥

सर्वेण खलु मर्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति ॥ १३ ॥

'जिसने इस मर्त्यलोकमें जन्म लिया है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा। कालद्वारा निर्मित पथपर मरकर गये हुए प्राणीको कौन जीवित कर सकेगा ॥ १३ ॥

कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे।
गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥ १४ ॥

'सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं, जगत्‌के सब लोग दैनिक कार्य समाप्त करके अब उससे विरत हो रहे हैं। तुमलोग भी अब अपने पुत्रका स्नेह छोड़कर घर लौट जाओ' ॥ १४ ॥

ततो गृध्रवचः श्रुत्वा प्राक्रोशन्तस्तदा नृप।
बान्धवास्तेऽभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! तब गीधकी बात सुनकर वे बन्धु-बान्धव जोर-जोरसे रोते हुए अपने पुत्रको भूतलपर छोड़कर घरकी ओर लौटने लगे ॥ १५ ॥

विनिश्चित्याथ च तदा विक्रोशन्तस्ततस्ततः।
मृतमित्येव गच्छन्तो निराशास्तस्य दर्शने ॥ १६ ॥

वे इधर-उधर रो-गाकर इसी निश्चयपर पहुँचे कि अब तो यह बालक मर ही गया; अतः उसके दर्शनसे निराश हो वहाँसे जानेके लिये तैयार हो गये ॥ १६ ॥

निश्चितार्थाश्च ते सर्वे संत्यजन्तः स्वमात्मजम्।
निराशा जीविते तस्य मार्गमावृत्य धिष्ठिताः ॥ १७ ॥

जब उन्हें यह निश्चित हो गया कि अब यह नहीं जी सकेगा, तो उसके जीवनसे निराश हो वे सब लोग अपने बच्चेको छोड़कर जानेके लिये रास्तेपर आकर खड़े हुए ॥

ध्वांक्षपक्षसवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः।
गच्छमानान् स्म तानाह निर्घृणाः खलु मानुषाः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें कौएकी पाँखके समान काले रंगका एक गीदड़ अपनी माँद (घूरी) से निकलकर उन लौटते हुए बान्धवोंसे कहा—'मनुष्यो ! तुम बड़े निर्दय हो ! ॥ १८ ॥

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम्।
बहुरूपो मुहूर्तश्च जीवेदपि कदाचन ॥ १९ ॥

'अरे मूर्खो ! अभी तो सूर्यास्त भी नहीं हुआ है; अतः डरो मत। बच्चेको लाड़-प्यार कर लो। अनेक प्रकारका मुहूर्त आता रहता है। सम्भव है किसी शुभ घड़ीमें यह बालक जी उठे ॥ १९ ॥

यूयं भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद् गच्छत निर्घृणाः॥ २० ॥

'तुमलोग कैसे निर्दयी हो ? पुत्रस्नेहका त्याग करके इस नन्हे-से बालकको श्मशान–भूमिमें लाकर डाल दिया। अरे ! अपने बेटेको इस मरघटमें छोड़कर क्यों जा रहे हो ? ॥ २० ॥

न वोऽस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है' इस मधुरभाषी छोटे-से बालकपर तुम्हारा तनिक भी स्नेह नहीं है। यह वही बालक है, जिसकी मीठी-मीठी बातें सुनते ही तुम्हारा हृदय हर्षसे खिल उठता था ॥

ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम्।
न तेषां धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः ॥ २२ ॥
चतुष्पात्पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम्।
परलोकगतिस्थानां मुनियज्ञक्रिया इव ॥ २३ ॥

'पशु और पक्षियोंका भी अपने बच्चेपर जैसा स्नेह होता है, उसे तुम देखो। यद्यपि स्नेहमें आसक्त उन पशु-पक्षी-कीट आदि प्राणियोंको अपने बच्चोंके पालन-पोषण करनेपर भी परलोकमें उनसे उस प्रकार कोई फल नहीं मिलता जैसे कि परलोककी गतिमें स्थित हुए मुनियोंको यज्ञादि क्रियासे मिलता है ॥ २२-२३ ॥

तेषां पुत्राभिरामाणामिहलोके परत्र च।
न गुणो दृश्यते कश्चित् प्रजाः संधारयन्ति च ॥ २४ ॥

'क्योंकि उनके पुत्रोंमें स्नेह रखनेवाले पशु आदिके लिये इहलोक और परलोकमें संतानोंके लालन-पालनसे कोई लाभ नहीं दिखायी देता तो भी वे अपने-अपने बच्चोंकी रक्षा करते रहते हैं ॥ २४ ॥

अपश्यतां प्रियान् पुत्रांस्तेषां शोको न तिष्ठति ।
न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ क्वचित् ॥ २५ ॥

'यद्यपि उनके बच्चे बड़े हो जानेपर अपने माँ-बापका पालन-पोषण नहीं करते हैं तो भी अपने प्यारे बच्चोंको न देखनेपर उनका शोक काबूमें नहीं रहता ॥ २५ ॥

मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भविष्यति ।
इमं कुलकरं पुत्रं त्यक्त्वा क नु गमिष्यथ ॥ २६ ॥

'परंतु मनुष्योंमें इतना स्नेह ही कहाँ है, जो उन्हें अपने बच्चोंके लिये शोक होगा । अरे ! यह तुम्हारा वंशधर बालक है । इसे छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ॥ २६ ॥

चिरं मुञ्चत बाष्पं च चिरं स्नेहेन पश्यत ।
एवंविधानि हीष्टानि दुस्त्यजानि विशेषतः ॥ २७ ॥

'इस अपने लाड़लेके लिये देरतक आँसू बहाओ और दीर्घकालतक स्नेहभरी दृष्टिसे इसकी ओर देखो, क्योंकि ऐसी प्यारी-प्यारी संतानोंको छोड़कर जाना अत्यन्त कठिन है ॥

क्षीणस्यार्थाभियुक्तस्य श्मशानाभिमुखस्य च ।
बान्धवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नाधितिष्ठति ॥ २८ ॥

'जो शरीरसे क्षीण हुआ हो, जिसपर कोई आर्थिक अभियोग लगाया गया हो तथा जो श्मशानकी ओर जा रहा हो, ऐसे अवसरोंपर उसके भाई-बन्धु ही उसके साथ खड़े होते हैं । दूसरा कोई वहाँ साथ नहीं देता ॥ २८ ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥ २९ ॥

'सबको अपने-अपने प्राण प्यारे होते हैं और सभी दूसरोंसे स्नेह पाते हैं । पशु-पक्षीकी योनिमें भी जो प्राणी रहते हैं, उनका अपनी संतानोंपर कैसा प्रेम है, इसे देखो ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा कथं गच्छथेमं पद्मलोलायताक्षिकम् ।
यथा नवोद्वाहकृतं स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ ३० ॥

'इस बालककी कमल-जैसी चञ्चल एवं विशाल आँखें कितनी सुन्दर हैं । इसका शरीर स्नान एवं पुष्पमाला आदिसे विभूषित नया-नया विवाह करके आये दुल्हे-जैसा है । ऐसे मनोहर बालकको छोड़कर जानेके लिये तुम्हारे पैर कैसे उठ रहे हैं ?' ॥ ३० ॥

जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा कृपणं परिदेवतः ।
न्यवर्तन्त तदा सर्वे शवार्थं ते स्म मानुषाः ॥ ३१ ॥

करुणाजनक विलाप करते हुए उस सियारकी यह बात सुनकर वे सभी मनुष्य उस मृत बालकके शरीरकी देखरेखके लिये पुनः लौट आये ॥ ३१ ॥

गृध्र उवाच

अहो बत नृशंसेन जम्बुकेनाल्पमेधसा ।
क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्त्वा मानुषाः किं निवर्तथ ॥ ३२ ॥

तब गीधने कहा—अहो ! उस मन्दबुद्धि एवं क्रूर स्वभाववाले क्षुद्र गीदड़की बातोंमें आकर तुम लौटे कैसे आते हो ? मनुष्यो ! तुम बड़े धैर्यहीन हो ॥ ३२ ॥

पञ्चेन्द्रियपरित्यक्तं शुष्कं काष्ठत्वमागतम् ।
कस्माच्छोचथ तिष्ठन्तमात्मानं किं न शोचथ ॥ ३३ ॥

इस बच्चेका शरीर पाँचों इन्द्रियोंसे परित्यक्त होकर सूखे काठके समान तुम्हारे सामने पड़ा है । तुम इसके लिये क्यों शोक करते हो ? एक दिन तुम्हारी भी यही दशा होगी, फिर अपने लिये क्यों नहीं शोक करते ? ॥ ३३ ॥

तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्बिषात् ।
तपसा लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥ ३४ ॥

अब तुमलोग तीव्र तपस्या करो, जिससे समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाओगे । तपस्यासे सब कुछ मिल सकता है । तुम्हारा यह विलाप क्या करेगा ? ॥ ३४ ॥

अनिष्टानि च भाग्यानि जातानि सह मूर्तिना ।
येन गच्छति बालोऽयं दत्त्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३५ ॥

भाग्य शरीरके साथ ही प्रकट होता है और उसका अनिष्ट फल भी सामने आता ही है, जिससे यह बालक तुम्हें अनन्त शोक देकर जा रहा है ॥ ३५ ॥

धनं गावः सुवर्णं च मणिरत्नमथापि च ।
अपत्यं च तपोमूलं तपोयोगाच्च लभ्यते ॥ ३६ ॥

धन, गाय, सोना, मणि, रत्न और पुत्र—इन सबका मूल कारण तप ही है । तपस्याके योगसे ही इनकी उपलब्धि होती है ॥ ३६ ॥

यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखिता ।
गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥ ३७ ॥

जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार दुःख-सुखको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है । सभी प्राणियोंमें सुख और दुःखका भोग कर्मानुसार ही प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥ ३८ ॥

पिताके कर्मसे पुत्रका और पुत्रके कर्मसे पिताका कोई सम्बन्ध नहीं है । अपने-अपने पाप-पुण्यके बन्धनमें बँधे हुए जीव कर्मानुसार विभिन्न मार्गसे जाते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मं चरत यत्नेन न चाधर्मे मनः कृथाः ।
वर्तध्वं च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३९ ॥

तुमलोग यत्नपूर्वक धर्मका आचरण करो और अधर्ममें कभी मन न लगाओ । देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें यथासमय तत्पर रहो ॥ ३९ ॥

शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्तत ।
त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्तत ॥ ४० ॥

शोक और दीनता छोड़ो तथा पुत्रस्नेहसे मनको हटा लो । इस बालकको इसी सूने स्थानमें छोड़ दो और शीघ्र लौट जाओ ॥ ४० ॥

यत् करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम् ।
तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥ ४१ ॥

प्राणी जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल भी करनेवाला ही भोगता है । इसमें भाई-बन्धुओंका क्या है ?॥

इह त्यक्त्वा न तिष्ठन्ति बान्धवा बान्धवं प्रियम्।
स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णाविलेक्षणाः ॥ ४२ ॥

बन्धु-बान्धव लोग यहाँ अपने प्रिय बन्धुओंका परित्याग करके ठहरते नहीं हैं । सारा स्नेह छोड़कर आँखोंमें आँसू भरे यहाँसे चल देते हैं ॥ ४२ ॥

प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोऽपि वा।
सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥ ४३ ॥

विद्वान् हो या मूर्ख, धनवान् हो या निर्धन, सभी अपने शुभ या अशुभ कर्मोंके साथ कालके अधीन हो जाते हैं ।४३।

किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ ।
सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥ ४४ ॥

अच्छा, यह तो बताओ, तुम शोक करके क्या कर लोगे ? क्या इसे जिला दोगे ? फिर इस मृतकके लिये क्यों शोक करते हो ? काल ही सबका शासक और स्वामी है, जो धर्मतः सबके ऊपर समान दृष्टि रखता है ॥ ४४ ॥

यौवनस्थांश्च बालांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥

यह कराल काल युवा, बालक, वृद्ध और गर्भस्थ शिशु—सबमें प्रवेश करता है । इस संसारकी ऐसी ही दशा है ॥४५॥

जम्बुक उवाच

अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पबुद्धिना ।
पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम् ॥ ४६ ॥

इसपर गीदड़ने कहा—अहो ! क्या इस मन्दबुद्धि गीधने तुम्हारे स्नेहको शिथिल कर दिया ? तुम तो पुत्रस्नेहसे अभिभूत होकर उसके लिये बड़ा शोक कर रहे थे ॥४६॥

समैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रत्ययोत्तरैः ।
यद् गच्छति जनश्चायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४७ ॥

गीधके अच्छी युक्तियोंसे युक्त न्यायसङ्गत और विश्वासोत्पादक प्रतीत होनेवाले वचनोंसे प्रभावित हो ये सब लोग जो दुस्त्यज स्नेहका परित्याग करके चले जा रहे हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥ ४७ ॥

अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात् ।
क्रोशतां सुभृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४८ ॥
अद्य शोकं विजानामि मानुषाणां महीतले ।
स्नेहं हि कारणं कृत्वा ममाप्यश्रूण्यथापतन् ॥ ४९ ॥

अहो ! पुत्रके वियोगसे पीड़ित हो मृतकोंके इस शून्य स्थानमें आकर अत्यन्त दुःखसे रोने-बिलखनेवाले इन भूतलवासी मनुष्योंके हृदयमें बछड़ोंसे रहित हुई गायोंकी भाँति कितना शोक होता है ? इसका अनुभव मुझे आज हुआ है; क्योंकि इनके स्नेहको निमित्त बनाकर मेरी आँखोंसे भी आँसू बहने लगे हैं ॥ ४८-४९ ॥

यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिद्ध्यति ।
दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ॥ ५० ॥

अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये, तब दैवयोगसे उसकी सिद्धि होती है । दैव और पुरुषार्थ—दोनों कालसे ही सम्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात् प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद् गच्छथ निर्दयम्॥५१॥

खेद और शिथिलताको कभी अपने मनमें स्थान नहीं देना चाहिये । खेद होनेपर कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है । प्रयत्नसे ही अभिलषित अर्थकी प्राप्ति होती है; अतः तुमलोग इस बालककी रक्षाका प्रयत्न छोड़कर निर्दयतापूर्वक कहाँ चले जा रहे हो ? ॥ ५१ ॥

आत्ममांसोपवृत्तं च शरीरार्धमयीं तनुम् ।
पितॄणां वंशकर्तारं वने त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥ ५२ ॥

यह बालक तुम्हारे अपने ही रक्त-मांसका बना हुआ है, आधे शरीरके समान है और पितरोंके वंशकी वृद्धि करनेवाला है, इसे वनमें छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ५२ ॥

अथवास्तंगते सूर्ये संध्याकाल उपस्थिते ।
ततो नेष्यथ वा पुत्रमिहस्था वा भविष्यथ ॥ ५३ ॥

अच्छा, इतना ही करो कि जबतक सूर्य अस्त न हो और संध्याकाल उपस्थित न हो जाय, तबतक यहाँ रुके रहो; फिर अपने इस पुत्रको साथ ले जाना अथवा यहीं बैठे रहना ॥

गृध्र उवाच

अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः ।
न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ५४ ॥

गीधने कहा—मनुष्यो ! मुझे जन्म लिये आज एक हजार वर्षसे अधिक हो गये; परंतु मैंने कभी किसी स्त्री-पुरुष या नपुंसकको मरनेके बाद फिर जीवित होते नहीं देखा ।५४।

मृता गर्भेषु जायन्ते जातमात्रा म्रियन्ति च ।
चङ्क्रमन्तो म्रियन्ते च यौवनस्थास्तथा परे ॥ ५५ ॥

कुछ लोग गर्भोंमें ही मरकर जन्म लेते हैं, कुछ जन्म लेते ही मर जाते हैं, कुछ चलने-फिरने लायक होकर मरते हैं और कुछ लोग भरी जवानीमें ही चल बसते हैं ॥ ५५ ॥

अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि ।
जङ्गमानां नगानां चाप्यायुरग्रेऽवतिष्ठते ॥ ५६ ॥

इस संसारमें पशुओं और पक्षियोंके भी भाग्यफल अनित्य हैं । स्थावरों और जङ्गमोंके जीवनमें भी आयुकी ही प्रधानता है ॥ ५६ ॥

इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्रशोकान्वितास्तथा ।
दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यशः ॥ ५७ ॥

प्रिय पत्नीके वियोग और पुत्रशोकसे संतप्त हो कितने ही प्राणी प्रतिदिन शोककी आगमें जलते हुए इस मरघटसे अपने घरको लौटते हैं ॥ ५७ ॥

अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च ।
उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥ ५८ ॥

कितने ही भाई-बन्धु अत्यन्त दुखी हो यहाँ हजारों अप्रिय तथा सैकड़ों प्रिय व्यक्तियोंको छोड़कर चले गये हैं ॥ ५८ ॥

त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः।
अन्यदेहविषक्तं हि शावं काष्ठत्वमागतम् ॥ ५९ ॥
त्यक्तजीवस्य चैवास्य कस्माद्धित्वा न गच्छत।
निरर्थको ह्ययं स्नेहो निष्फलश्च परिश्रमः ॥ ६० ॥

यह मृत बालक तेजोहीन होकर थोथे काठके समान हो गया है। इसे छोड़ दो। इसका जीव दूसरे शरीरमें आसक्त है। इस निष्प्राण बालकका यह शव काठके समान हो गया है। तुमलोग इसे छोड़कर चले क्यों नहीं जाते? तुम्हारा यह स्नेह निरर्थक है और इस परिश्रमका भी कोई फल नहीं है ॥ ५९-६० ॥

चक्षुर्भ्यां न च कर्णाभ्यां संशृणोति समीक्षते।
कस्मादेनं समुत्सृज्य न गृहान् गच्छताशु वै ॥ ६१ ॥

यह न तो आँखोंसे देखता है और न कानोंसे कुछ सुनता ही है। फिर इसे त्यागकर तुमलोग जल्दी अपने घर क्यों नहीं चले जाते ॥ ६१ ॥

मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिः सुनिष्ठुरैः।
मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ॥ ६२ ॥

मेरी ये बातें बड़ी निष्ठुर जान पड़ती हैं; परंतु हेतुगर्भित और मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं; अतः इन्हें मानकर मेरे कहनेसे तुमलोग शीघ्र अपने-अपने घर पधारो ॥ ६२ ॥

प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना।
वचनं श्राविता नूनं मानुषाः संनिवर्तत।
शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम् ॥ ६३ ॥

मनुष्यो! मैं बुद्धि और विज्ञानसे युक्त तथा दूसरोंको भी ज्ञान प्रदान करनेवाला हूँ। मैंने तुम्हें विवेक उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी बातें सुनायी हैं। अब तुमलोग लौट जाओ। अपने मरे हुए स्वजनका शव देखकर तथा उसकी चेष्टाओंको स्मरण करके दूना शोक होता है ॥ ६३ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा संनिवृत्तास्तु मानुषाः।
अपश्यत् तं तदा सुप्तं द्रुतमागत्य जम्बुकः ॥ ६४ ॥

गीधकी यह बात सुनकर वे सब मनुष्य घरकी ओर लौट पड़े। तब सियारने तुरंत आकर उस सोते हुए बालकको देखा ॥ ६४ ॥

जम्बुक उवाच

इमं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम्।
गृध्रवाक्यात् कथं पुत्रं त्यजध्वं पितृपिण्डदम् ॥ ६५ ॥

सियार बोला—बन्धुओ! देखो तो सही, इस बालकका रंग कैसा सोनेके समान चमक रहा है। आभूषणोंसे भूषित होकर यह कैसी शोभा पाता है। पितरोंको पिण्ड प्रदान करनेवाले अपने इस पुत्रको तुम गीधकी बातोंमें आकर कैसे छोड़ रहे हो? ॥ ६५ ॥

न स्नेहस्य च विच्छेदो विलापरुदितस्य च।
मृतस्यास्य परित्यागात् तापो वै भविता ध्रुवम् ॥ ६६ ॥

इस मृत बालकको छोड़कर जानेसे न तो तुम्हारे स्नेहमें कमी आयेगी और न तुम्हारा रोना-धोना एवं विलाप ही बंद होगा। उलटे तुम्हारा संताप और बढ़ जायगा, यह निश्चित है ॥ ६६ ॥

श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात् सत्यपराक्रमात् ॥ ६७ ॥

सुना जाता है कि सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे शम्बूक नामक शूद्रके मारे जानेपर उस धर्मके प्रभावसे एक मरा हुआ ब्राह्मणबालक जीवित हो उठा था ॥ ६७ ॥

तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दृष्टान्तमागतः।
श्वेतेन धर्मनिष्ठेन मृतः संजीवितः पुनः ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार राजर्षि श्वेतका भी बालक मर गया था, परंतु धर्मनिष्ठ श्वेतने उसे पुनः जीवित कर दिया था ॥ ६८ ॥

तथा कश्चिल्लभेत् सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा।
कृपणानामनुक्रोशं कुर्याद् वो रुदतामिह ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार सम्भव है कोई सिद्ध मुनि या देवता मिल जायँ और यहाँ रोते हुए तुम दीन-दुखियोंपर दया कर दें ॥

इत्युक्तास्ते न्यवर्तन्त शोकार्ताः पुत्रवत्सलाः।
अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम्।
तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ७० ॥

सियारके ऐसा कहनेपर वे पुत्रवत्सल बान्धव शोकसे पीड़ित हो लौट पड़े और बालकका मस्तक अपनी गोदमें रखकर जोर-जोरसे रोने लगे। उनके रोनेकी आवाज सुनकर गीध पास आ गया और इस प्रकार बोला ॥ ७० ॥

गृध्र उवाच

अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शप्रपीडितः।
धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ७१ ॥

गीधने कहा—तुमलोगोंके आँसू बहानेसे जिसका शरीर गीला हो गया है और जो तुम्हारे हाथोंसे बार-बार दबाया गया है, ऐसा यह बालक धर्मराजकी आज्ञासे चिरनिद्रामें प्रविष्ट हो गया है ॥ ७१ ॥

तपसापि हि संयुक्ता धनवन्तो महाधियः।
सर्वे मृत्युवशं यान्ति तदिदं प्रेतपत्तनम् ॥ ७२ ॥

बड़े-बड़े तपस्वी, धनवान् और महाबुद्धिमान् सभी यहाँ मृत्युके अधीन हो जाते हैं। यह प्रेतोंका नगर है ॥ ७२ ॥

बालवृद्धसहस्राणि सदा संत्यज्य बान्धवाः।
दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ७३ ॥

यहाँ लोगोंके भाई-बन्धु सदा सहस्रों बालकों और वृद्धोंको त्यागकर दिन-रात दुखी रहते हैं ॥ ७३ ॥

अलं निर्बन्धमागत्य शोकस्य परिधारणे।
अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ७४ ॥

दुराग्रहवश बारंबार लौटकर शोकका बोझ धारण करनेसे कोई लाभ नहीं है। अब इसके जीनेका कोई भरोसा नहीं

है ! भला, आज यहाँ इसका पुनर्जीवन कैसे हो सकता है ? ॥

मृतस्योत्सृष्टदेहस्य पुनर्देहो न विद्यते ।
नैव मूर्तिप्रदानेन जम्बुकस्य शतैरपि ॥ ७५ ॥
शक्यं जीवयितुं ह्येष बालो वर्षशतैरपि ।

जो व्यक्ति एक बार इस देहसे नाता तोड़कर मर जाता है, उसके लिये फिर इस शरीरमें लौटना सम्भव नहीं है। सैकड़ों सियार अपना शरीर बलिदान कर दें तो भी सैकड़ों वर्षोंमें इस बालकको जिलाया नहीं जा सकता ॥ ७५½ ॥

अथ रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव च ॥ ७६ ॥
वरमस्मै प्रयच्छेयुस्ततो जीवेदयं शिशुः ।

यदि भगवान् शिव, कुमार कार्तिकेय, ब्रह्माजी और भगवान् विष्णु इसे वर दें तो यह बालक जी सकता है ॥

नैव बाष्पविमोक्षेण न वा श्वासकृते न च ॥ ७७ ॥
न दीर्घरुदितेनायं पुनर्जीवं गमिष्यति ।

न तो आँसू बहानेसे, न लंबी-लंबी साँस खींचनेसे और न दीर्घकालतक रोनेसे ही यह फिर जी सकेगा ॥ ७७½ ॥

अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं ये चास्य बान्धवाः ॥ ७८ ॥
धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि ।

मैं, यह सियार और तुम सब लोग जो इसके भाई-बन्धु हो—ये सभी धर्म और अधर्मको लेकर यहाँ अपनी-अपनी राहपर चल रहे हैं ॥ ७८½ ॥

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ॥ ७९ ॥
अधर्ममनृतं चैव दूरात् प्राज्ञो विवर्जयेत् ।

बुद्धिमान् पुरुषको अप्रिय आचरण, कठोर वचन, दूसरोंके साथ द्रोह, परायी स्त्री, अधर्म और असत्य-भाषणका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये ॥ ७९½ ॥

धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ॥ ८० ॥
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ।

तुम सब लोग धर्म, सत्य, शास्त्रज्ञान, न्यायपूर्ण बर्ताव, समस्त प्राणियोंपर बड़ी भारी दया, कुटिलताका अभाव तथा शठताका त्याग—इन्हीं सद्‌गुणोंका यत्नपूर्वक अनुसरण करो ॥ ८०½ ॥

मातरं पितरं वापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ॥ ८१ ॥
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ।

जो लोग जीवित माता-पिता, सुहृदों और भाई-बन्धुओंकी देखभाल नहीं करते हैं, उनके धर्मकी हानि होती है ॥८१½॥

यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथञ्चन ॥ ८२ ॥
तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ ।

जो न आँखोंसे देखता है, न शरीरसे कोई चेष्टा ही करता है, उसके जीवनका अन्त हो जानेपर अब तुमलोग रोकर क्या करोगे ॥ ८२½ ॥

इत्युक्तास्ते सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः ।
दह्यमानाः सुतस्नेहात् प्रययुर्बान्धवा गृहम् ॥ ८३ ॥

गीधके ऐसा कहनेपर वे शोकमें डूबे हुए भाई-बन्धु अपने उस पुत्रको धरतीपर सुलाकर उसके स्नेहसे दग्ध होते हुए अपने घरकी ओर लौटे ॥ ८३ ॥

जम्बुक उवाच

दारुणो मर्त्यलोकोऽयं सर्वप्राणिविनाशनः ।
इष्टबन्धुवियोगश्च तथेहाल्पं च जीवितम् ॥ ८४ ॥

तब सियारने कहा—यह मर्त्यलोक अत्यन्त दुःखद है। यहाँ समस्त प्राणियोंका नाश ही होता है। प्रिय बन्धुजनोंके वियोगका कष्ट भी प्राप्त होता रहता है। यहाँका जीवन बहुत थोड़ा है ॥ ८४ ॥

बह्वलीकमसत्यं चाप्यतिवादाप्रियंवदम् ।
इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं दुःखशोकविवर्धनम् ॥ ८५ ॥
न मे मानुषलोकोऽयं मुहूर्तमपि रोचते ।

इस संसारमें सब कुछ असत्य एवं बहुत अरुचिकर है। यहाँ अनाप-शनाप बकनेवाले तो बहुत हैं, परंतु प्रिय वचन बोलनेवाले विरले ही हैं। यहाँका भाव दुःख और शोककी वृद्धि करनेवाला है। इसे देखकर मुझे यह मनुष्य-लोक दो घड़ी भी अच्छा नहीं लगता ॥ ८५½ ॥

अहो धिग् गृध्रवाक्येन यथैवाबुद्धयस्तथा ॥ ८६ ॥
कथं गच्छत निःस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च ।

अहो ! धिक्कार है। तुमलोग गीधकी बातोंमें आकर मूर्खोंके समान पुत्रस्नेहसे रहित हुए प्रेमशून्य होकर कैसे घरको लौटे जा रहे हो ? ॥ ८६½ ॥

प्रदीप्ताः पुत्रशोकेन संनिवर्तत मानुषाः ॥ ८७ ॥
श्रुत्वा गृध्रस्य वचनं पापस्येहाकृतात्मनः ।

मनुष्यो ! यह गीध तो बड़ा पापी और अपवित्र हृदय-वाला है। इसकी बात सुनकर तुमलोग पुत्रशोकसे जलते हुए भी क्यों लौटे जा रहे हो ? ॥ ८७½ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥ ८८ ॥
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ।

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। सुख और दुःखसे घिरे हुए इस जगत्‌में निरन्तर (सुख या दुःख) अकेला नहीं बना रहता है ॥ ८८½ ॥

इमं क्षितितले त्यक्त्वा बालं रूपसमन्वितम् ॥ ८९ ॥
कुलशोभाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क्व यास्यथ ।
रूपयौवनसम्पन्नं द्योतमानमिव श्रिया ॥ ९० ॥

यह सुन्दर बालक तुम्हारे कुलकी शोभा बढ़ानेवाला है। यह रूप और यौवनसे सम्पन्न है तथा अपनी कान्तिसे प्रकाशित हो रहा है। मूर्खो ! इस पुत्रको पृथ्वीपर डालकर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ८९-९० ॥

जीवन्तमेव पश्यामि मनसा नात्र संशयः ।
विनाशो नास्य न हि वै सुखं प्राप्स्यथ मानुषाः ॥ ९१ ॥

मनुष्यो ! मैं तो अपने मनसे इस बालकको जीवित ही देख रहा हूँ, इसमें संशय नहीं है। इसका नाश नहीं होगा, तुम्हें अवश्य ही सुख मिलेगा ॥ ९१ ॥

पुत्रशोकाभितप्तानां मृतानामद्य वः क्षमम् ।
सुखसम्भावनं कृत्वा धारयित्वा सुखं स्वयम् ।
त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत् ॥

पुत्रशोकसे संतप्त होकर तुमलोग स्वयं ही मृतक-तुल्य हो रहे हो; अतः तुम्हारे लिये इस तरह लौट जाना उचित नहीं है। इस बालकसे सुखकी सम्भावना करके सुख पानेकी सुदृढ़ आशा धारण कर तुम सब लोग अल्पबुद्धि मनुष्यके समान स्वयं ही इसे त्यागकर अब कहाँ जाओगे ? ॥ ९२ ॥

भीष्म उवाच

तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिधायिना ।
श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता नृप ॥ ९३ ॥
ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः ।
जम्बुकेन स्वकार्यार्थं बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वह सियार सदा श्मशानभूमिमें ही निवास करता था और अपना काम बनानेके लिये रात्रिकालकी प्रतीक्षा कर रहा था; अतः उसने धर्मविरोधी, मिथ्या तथा अमृततुल्य वचन कहकर उस बालकके बन्धु-बान्धवोंको बीचमें ही अटका दिया। वे न जा पाते थे और न रह पाते थे, अन्तमें उन्हें ठहर जाना पड़ा ९३-९४

गृध्र उवाच

अयं प्रेतसमाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः ।
दारुणः काननोद्देशः कौशिकैरभिनादितः ॥ ९५ ॥

तब गीधने कहा—मनुष्यो ! यह वन्य प्रदेश प्रेतोंसे भरा हुआ है। इसमें बहुत-से यक्ष और राक्षस निवास करते हैं तथा कितने ही उल्लू हू-हूकी आवाज कर रहे हैं; अतः यह स्थान बड़ा भयंकर है ॥ ९५ ॥

भीमः सुघोरश्च तथा नीलमेघसमप्रभः ।
अस्मिञ्छवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९६ ॥

यह अत्यन्त घोर, भयानक तथा नीलमेघके समान काला अन्धकारपूर्ण है । इस मुर्देको यहीं छोड़कर तुमलोग प्रेतकर्म करो ॥ ९६ ॥

भानुर्यावत् प्रयात्यस्तं यावच्च विमला दिशः ।
तावदेनं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत ॥ ९७ ॥

जबतक सूर्य डूब नहीं जाते हैं और जबतक दिशाएँ निर्मल हैं, तभीतक इसे यहाँ छोड़कर तुमलोग इसके प्रेतकर्ममें लग जाओ ॥९७ ॥

नदन्ति परुषं श्येनाः शिवाः क्रोशन्ति दारुणम् ।
मृगेन्द्राः प्रतिनन्दन्ति रविरस्तं च गच्छति ॥ ९८ ॥

इस वनमें बाज अपनी कठोर बोली बोलते हैं, सियार भयंकर आवाजमें हुआँ-हुआँ कर रहे हैं, सिंह दहाड़ रहे हैं और सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं ॥ ९८ ॥

चिताधूमेन नीलेन संरज्यन्ते च पादपाः ।
श्मशाने च निराहाराः प्रतिनर्दन्ति देहिनः ॥ ९९ ॥

चिताके काले धुएँसे यहाँके सारे वृक्ष उसी रंगमें रँग गये हैं। श्मशानभूमिमें यहाँके निराहार प्राणी (प्रेत-पिशाच आदि) गरज रहे हैं ॥ ९९ ॥

सर्वे विकृतदेहाश्चाप्यस्मिन् देशे सुदारुणे ।
युष्मान् प्रधर्षयिष्यन्ति विकृता मांसभोजिनः ॥१००॥

इस भयंकर प्रदेशमें रहनेवाले सभी प्राणी विकराल शरीरके हैं। ये सबके सब मांस खानेवाले और विकृत अङ्गवाले हैं। वे तुमलोगोंको धर दबायेंगे ॥ १०० ॥

क्रूरश्चायं वनोद्देशो भयमद्य भविष्यति ।
त्यज्यतां काष्ठभूतोऽयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः॥१०१॥

जंगलका यह भाग क्रूर प्राणियोंसे भरा हुआ है। अब तुम्हें यहाँ बहुत बड़े भयका सामना करना पड़ेगा । यह बालक तो अब काठके समान निष्प्राण हो गया है। इसे छोड़ो और सियारकी बातोंके लोभमें न पड़ो ॥ १०१ ॥

यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च ।
श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ १०२ ॥

यदि तुमलोग विवेकभ्रष्ट होकर सियारकी झूठी और निष्फल बातें सुनते रहोगे तो सबके सब नष्ट हो जाओगे॥१०२॥

जम्बुक उवाच

स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत् तपति भास्करः ।
तावदस्मिन् सुते स्नेहादनिर्वेदेन वर्तत ॥१०३॥
स्वैरं रुदन्तो विश्रब्धाश्चिरं स्नेहेन पश्यत ।
(दारुणेऽस्मिन् वनोद्देशे भयं वो न भविष्यति ।
अयं सौम्यो वनोद्देशः पितॄणां निधनाकरः ॥)
स्थीयतां यावदादित्यः किं च क्रव्यादभाषितैः ॥ १०४ ॥

सियार बोला—ठहरो, ठहरो। जबतक यहाँ सूर्यका प्रकाश है, तबतक तुम्हें बिल्कुल नहीं डरना चाहिये। उस समयतक इस बालकपर स्नेह करके इसके प्रति ममतापूर्ण बर्ताव करो। निर्भय होकर दीर्घकालतक इसे स्नेहदृष्टिसे देखो और जी भरकर रो लो। यद्यपि यह वन्यप्रदेश भयंकर है तो भी यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं होगा; क्योंकि यह भू-भाग पितरोंका निवास-स्थान होनेके कारण श्मशान होता हुआ भी सौम्य है। जबतक सूर्य दिखायी देते हैं, तबतक यहीं ठहरो। इस मांसभक्षी गीधके कहनेसे क्या होगा ?॥ १०३-१०४ ॥

यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च ।
गृह्णीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति ॥१०५॥

यदि तुम मोहितचित्त होकर इस गीधकी घोर एवं घबराहटमें डालनेवाली बातोंमें आ जाओगे तो इस बालकसे हाथ धो बैठोगे ॥ १०५ ॥

भीष्म उवाच

गृध्रोऽस्तमित्याह गतो गतो नेति च जम्बुकः ।
मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ ॥१०६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वे गीध और गीदड़ दोनों ही भूखे थे और अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मृतकके बन्धु-बान्धवोंसे बातें करते थे। गीध कहता था कि सूर्य अस्त हो गये और सियार कहता था नहीं ॥ १०६ ॥

स्वकार्यबद्धकक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुकः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पतः ॥१०७॥

राजन्! गीध और गीदड़ अपना-अपना काम बनानेके लिये कमर कसे हुए थे। दोनोंको ही भूख और प्यास सता रही थी और दोनों ही शास्त्रका आधार लेकर बात करते थे॥ १०७॥

तयोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोर्मृगपतत्रिणोः ।
वाक्यैरमृतकल्पैस्तैः प्रतिष्ठन्ति व्रजन्ति च ॥ १०८॥

उनमेंसे एक पशु था और दूसरा पक्षी। दोनों ही ज्ञानकी बातें जानते थे। उन दोनोंके अमृतरूपी वचनोंसे प्रभावित हो वे मृतकके सम्बन्धी कभी ठहर जाते और कभी आगे बढ़ते थे॥ १०८॥

शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा ।
स्वकार्यकुशलाभ्यां ते सम्भ्राम्यन्ते ह नैपुणात्॥ १०९॥

शोक और दीनतासे आविष्ट होकर वे उस समय रोते हुए वहाँ खड़े ही रह गये। अपना-अपना कार्य सिद्ध करनेमें कुशल गीध और गीदड़ने चालाकीसे उन्हें चक्करमें डाल रक्खा था॥ १०९॥

तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः ।
बान्धवानां स्थितानां चाप्युपातिष्ठत शङ्करः ॥११०॥
देव्या प्रणोदितो देवः कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः ।
ततस्तानाह मनुजान् वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥१११॥

ज्ञान-विज्ञानकी बातें जाननेवाले उन दोनों जन्तुओंमें इस प्रकार वाद-विवाद चल रहा था और मृतकके भाई-बन्धु वहीं खड़े थे। इतनेहीमें भगवती श्रीपार्वती देवीकी प्रेरणासे भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हो गये। उस समय उनके नेत्र करुणारससे आर्द्र हो रहे थे। वरदायक भगवान् शिवने उन मनुष्योंसे कहा—'मैं तुम्हें वर दे रहा हूँ'॥ ११०-१११॥

ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः ।
एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीवितार्थिनाम् ॥११२॥
पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि ।

तब वे दुखी मनुष्य भगवान्को प्रणाम करके खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—'प्रभो! इस इकलौते पुत्रसे हीन होकर हम मृतकतुल्य हो रहे हैं। आप हमारे इस पुत्रको जीवित करके हम समस्त जीवनार्थियोंको जीवन-दान देनेकी कृपा करें' ॥११२½॥

एवमुक्तः स भगवान् वारिपूर्णेन चक्षुषा ॥११३॥
जीवितं स्म कुमाराय प्रादाद् वर्षशतानि वै ।

उन्होंने जब नेत्रोंमें आँसू भरकर भगवान् शङ्करसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने उस बालकको जीवित कर दिया और उसे सौ वर्षोंकी आयु प्रदान की॥ ११३½॥

तथा गोमायुगृध्राभ्यां प्राददत् क्षुद्विनाशनम्॥ ११४॥
वरं पिनाकी भगवान् सर्वभूतहिते रतः ।

इतना ही नहीं, सर्वभूतहितकारी पिनाकपाणि भगवान् शिवने गीध और गीदड़को भी उनकी भूख मिट जानेका वरदान दे दिया॥ ११४½॥

ततः प्रणम्य ते देवं प्रायो हर्षसमन्विताः ॥११५॥
कृतकृत्याः सुखं हृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो ।

राजन्! तब वे सब लोग हर्षसे उल्लसित एवं कृतकार्य हो महादेवजीको प्रणाम करके सुख और प्रसन्नताके साथ वहाँसे चले गये॥ ११५½॥

अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च ॥ ११६॥
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते ।

यदि मनुष्य उकताहटमें न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चयके साथ प्रयत्न करता रहे तो देवाधिदेव भगवान् शिवके प्रसादसे शीघ्र ही मनोवाञ्छित फल पा लेता है॥ ११६½॥

पश्य दैवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्चयम् ॥११७॥
कृपणानां तु रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम् ।
पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च ॥११८॥

देखो, दैवका संयोग और उन बन्धु-बान्धवोंका दृढ़ निश्चय; जिससे दीनतापूर्वक रोते हुए उन मनुष्योंका आँसू थोड़े ही समयमें पोंछा गया। यह उनके निश्चयपूर्वक किये हुए अनुसंधान एवं प्रयत्नका फल है॥ ११७-११८॥

प्रसादं शङ्करात् प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् ।
ते विस्मिताः प्रहृष्टाश्च पुत्रसंजीवनात् पुनः ॥११९॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे उन दुखी मनुष्योंने सुख प्राप्त कर लिया। पुत्रके पुनर्जीवनसे वे आश्चर्यचकित एवं प्रसन्न हो उठे॥ ११९॥

बभूवुर्भरतश्रेष्ठ प्रसादाच्छङ्करस्य वै ।
ततस्ते त्वरिता राजंस्त्यक्त्वा शोकं शिशूद्भवम्॥ १२०॥
विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्टमानसाः ।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! भगवान् शङ्करकी कृपासे वे सब लोग तुरंत ही पुत्रशोक त्यागकर प्रसन्नचित्त हो पुत्रको साथ ले अपने नगरको चले गये॥ १२०½॥

एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्ये निदर्शिता ॥१२१॥
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शुभम् ।
श्रुत्वा मनुष्यः सततमिहामुत्र च मोदते ॥१२२॥

चारों वर्णोंमें उत्पन्न हुए सभी लोगोंके लिये यह बुद्धि प्रदर्शित की गयी है। धर्म, अर्थ और मोक्षसे युक्त इस शुभ इतिहासको सदा सुननेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें आनन्दका अनुभव करता है॥ १२१-१२२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि गृध्रगोमायुसंवादे कुमारसंजीवने त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें गीदड़-गोमायुका संवाद एवं मरे हुए बालकका पुनर्जीवनविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १२३ श्लोक हैं)

मरे हुए ब्राह्मण-बालकपर तथा गीध एवं गीदड़पर शङ्करजीकी कृपा

भगवान नारायणके नाभि-कमलसे लोकपितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षसे प्रशंसापूर्वक प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

बलिनः प्रत्यमित्रस्य नित्यमासन्नवर्तिनः।
उपकारापकाराभ्यां समर्थस्योद्यतस्य च॥ १॥
मोहाद् विकत्थनामात्रैरसारोऽल्पबलो लघुः।
वाग्भिरप्रतिरूपाभिरभिद्रुह्य पितामह॥ २॥
आत्मनो बलमास्थाय कथं वर्तेत मानवः।
आगच्छतोऽतिक्रुद्धस्य तस्योद्धरणकाम्यया॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो बलवान्, नित्य निकटवर्ती, उपकार और अपकार करनेमें समर्थ तथा नित्य उद्योगशील है, ऐसे शत्रुके साथ यदि कोई अल्प बलवान्, असार एवं सभी बातोंमें छोटी हैसियत रखनेवाला मनुष्य मोहवश शेखी बघारते हुए अयोग्य बातें कहकर वैर बाँध ले और वह बलवान् शत्रु अत्यन्त कुपित हो उस दुर्बल मनुष्यको उखाड़ फेंकनेके लिये आक्रमण कर दे, तब वह आक्रान्त मनुष्य अपने ही बलका भरोसा करके उस आक्रमणकारीके साथ कैसा बर्ताव करे? (जिससे उसकी रक्षा हो सके)॥१-३॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष वायु और सेमलवृक्षके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥४॥

हिमवन्तं समासाद्य महानासीद् वनस्पतिः।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान्॥ ५॥

हिमालय पर्वतपर एक बहुत बड़ा वनस्पति था, जो बहुत वर्षोंसे बढ़कर प्रबल हो गया था। वह स्कन्ध, शाखा और पत्तोंसे खूब हरा-भरा था॥५॥

तत्र स्म मत्तमातङ्गा घर्मार्ताः श्रमकर्शिताः।
विश्राम्यन्ति महाबाहो तथान्या मृगजातयः॥ ६॥

महाबाहो! उसके नीचे बहुत-से मतवाले हाथी तथा दूसरे-दूसरे पशु धूपसे पीड़ित और परिश्रमसे थकित होकर विश्राम करते थे॥६॥

नल्वमात्रपरीणाहो घनच्छायो वनस्पतिः।
सारिकाशुकसंजुष्टः पुष्पवान् फलवानपि॥ ७॥

उस वृक्षकी लंबाई चार सौ हाथकी थी। छाया बड़ी सघन थी। उसपर तोते और मैनाओंके समूह बसेरा लेते थे। वह वृक्ष फल और फूल दोनोंसे ही भरा था॥७॥

सार्थिका वणिजश्चापि तापसाश्च वनौकसः।
वसन्ति तत्र मार्गस्थाः सुरम्ये नगसत्तमे॥ ८॥

दल बाँधकर यात्रा करनेवाले वणिक्, वनवासी तपस्वी तथा दूसरे राहगीर भी उस रमणीय एवं श्रेष्ठ वृक्षके नीचे निवास किया करते थे॥८॥

तस्य ता विपुलाः शाखा दृष्ट्वा स्कन्धं च सर्वशः।
अभिगम्याब्रवीदेनं नारदो भरतर्षभ॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ! उस वृक्षकी बड़ी-बड़ी शाखाओं तथा मोटे तनोंको देखकर देवर्षि नारद उसके पास गये और इस प्रकार बोले—॥९॥

अहो नु रमणीयस्त्वमहो चासि मनोहरः।
प्रीयामहे त्वया नित्यं तरुप्रवर शाल्मले॥ १०॥

'अहो! शाल्मले! तुम बड़े रमणीय और मनोहर हो। तरुप्रवर! तुमसे हमें सदा प्रसन्नता प्राप्त होती है॥१०॥

सदैव शकुनास्तात मृगाश्चाथ तथा गजाः।
वसन्ति तव संहृष्टा मनोहर मनोहराः॥ ११॥

'तात! मनोहर वृक्षराज! तुम्हारी शाखाओंपर सदा ही बहुत-से पक्षी तथा नीचे अनेकानेक मृग एवं हाथी प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं॥११॥

तव शाखा महाशाख स्कन्धांश्च विपुलांस्तथा।
न वै प्रभग्नान् पश्यामि मारुतेन कथंचन॥ १२॥

'महान् शाखाओंसे सुशोभित वनस्पते! मैं देखता हूँ कि तुम्हारी शाखाओं और मोटे तनोंको वायुदेव भी किसी तरह तोड़ नहीं सके हैं॥१२॥

किं नु ते पवनस्तात प्रीतिमानथवा सुहृत्।
त्वां रक्षति सदा येन वनेऽत्र पवनो ध्रुवम्॥ १३॥

'तात! क्या पवनदेव तुमसे किसी कारणवश विशेष प्रसन्न रहते हैं अथवा वे तुम्हारे सुहृद् हैं, जिससे इस वनमें सदा तुम्हारी निश्चितरूपसे रक्षा करते हैं॥१३॥

भगवान् पवनः स्थानाद् वृक्षानुच्चावचानपि।
पर्वतानां च शिखराण्याचालयति वेगवान्॥ १४॥

'भगवान् वायु इतने वेगशाली हैं कि छोटे-बड़े वृक्षोंको कौन कहे, पर्वतोंके शिखरोंको भी अपने स्थानसे हिला देते हैं॥१४॥

शोषयत्येव पातालं वहन् गन्धवहः शुचिः।
सरांसि सरितश्चैव सागरांश्च तथैव च॥ १५॥

'गन्धवाही पवित्र पवन पाताल, सरोवर, सरिताओं और समुद्रोंको भी सुखा सकता है॥१५॥

संरक्षति त्वां पवनः सखित्वेन न संशयः।
तस्मात् त्वं बहुशाखोऽपि पर्णवान् पुष्पवानपि॥ १६॥

'इसमें संदेह नहीं कि वायुदेव तुम्हें अपना मित्र माननेके कारण ही तुम्हारी रक्षा करते हैं; इसीलिये तुम अनेक शाखाओंसे सम्पन्न तथा पत्ते और पुष्पोंसे हरे-भरे हो॥१६॥

इदं च रमणीयं ते प्रतिभाति वनस्पते।
यदिमे विहगास्तात रमन्ते मुदितास्त्वयि॥ १७॥

'तात वनस्पते! तुम्हारे पास यह बड़ा ही रमणीय दृश्य जान

पड़ता है कि ये पक्षी तुम्हारी शाखाओंपर बड़े प्रसन्न रहकर रमण कर रहे हैं ॥ १७ ॥

एषां पृथक् समस्तानां श्रूयते मधुरस्वरः ।
पुष्पसम्मोदने काले वाशतां सुमनोहरम् ॥ १८ ॥

'वसन्त ऋतुमें अत्यन्त मनोरम बोली बोलनेवाले इन पक्षियोंका अलग-अलग तथा सबका एक साथ बड़ा मधुर स्वर सुनायी पड़ता है ॥ १८ ॥

तथेमे गर्जिता नागाः स्वयूथकुलशोभिताः ।
घर्मार्तास्त्वां समासाद्य सुखं विन्दन्ति शाल्मले ॥ १९ ॥

'शाल्मले ! अपने यूथकुलसे सुशोभित ये गर्जना करते हुए गजराज धूपसे पीड़ित हो तुम्हारे पास आकर सुख पाते हैं ॥

तथैव मृगजातीभिरन्याभिरभिशोभसे ।
तथा सर्वाधिवासैश्च शोभसे मेरुवद्द्रुम ॥ २० ॥

'वृक्षप्रवर ! इसी प्रकार दूसरी-दूसरी जातिके पशु भी तुम्हारी शोभा बढ़ा रहे हैं । तुम सबके निवासस्थान होनेके कारण मेरुपर्वतके समान सुशोभित होते हो ॥ २० ॥

ब्राह्मणैश्च तपःसिद्धैस्तापसैः श्रमणैस्तथा ।
त्रिविष्टपसमं मन्ये तवायतनमेव हि ॥ २१ ॥

'तपस्यासे शुद्ध हुए तापसों, ब्राह्मणों तथा श्रमणोंसे संयुक्त हो तुम्हारा यह स्थान मुझे स्वर्गके समान जान पड़ता है' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें वायु और शाल्मलिसंवादके प्रसङ्गमें एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका सेमल-वृक्षको उसका अहंकार देखकर फटकारना

नारद उवाच

बन्धुत्वादथवा सख्याच्छाल्मले नात्र संशयः ।
पालयत्येव सततं भीमः सर्वत्रगोऽनिलः ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इसमें संशय नहीं कि तुम्हें अपना बन्धु अथवा मित्र माननेके कारण ही सर्वत्रगामी भयानक वायुदेव सदा तुम्हारी रक्षा करते हैं ॥ १ ॥

न्यग्भावं परमं वायोः शाल्मले त्वमुपागतः ।
तवाहमस्मीति सदा येन रक्षति मारुतः ॥ २ ॥

शाल्मले ! मालूम होता है, तुम वायुके सामने अत्यन्त विनम्र होकर कहते हो कि 'मैं तो आपका ही हूँ' इसीसे वह सदा तुम्हारी रक्षा करता है ॥ २ ॥

न तं पश्याम्यहं वृक्षं पर्वतं वेश्म चेदृशम् ।
यं न वायुबलाद् भग्नं पृथिव्यामिति मे मतिः ॥ ३ ॥

मैं इस भूतलपर ऐसे किसी वृक्ष, पर्वत या घरको नहीं देखता, जो वायुके बलसे भग्न न हो जाय । मेरा यही विश्वास है कि वायुदेव सबको तोड़कर गिरा सकते हैं ॥ ३ ॥

त्वं पुनः कारणैर्नूनं रक्ष्यसे शाल्मले यथा ।
वायुना सपरीवारस्तेन तिष्ठस्यसंशयम् ॥ ४ ॥

शाल्मले ! कुछ ऐसे कारण अवश्य हैं, जिनसे प्रेरित होकर वायुदेव निश्चित रूपसे सपरिवार तुम्हारी रक्षा करते हैं । निस्संदेह इसीसे यों ही खड़े रहते हो ॥ ४ ॥

शाल्मलिरुवाच

न मे वायुः सखा ब्रह्मन् न बन्धुर्न च मे सुहृत् ।
परमेष्ठी तथा नैव येन रक्षति वानिलः ॥ ५ ॥

सेमलने कहा—ब्रह्मन् ! वायु न तो मेरा मित्र है, न बन्धु है, न सुहृद् ही है । वह ब्रह्मा भी नहीं है, जो मेरी रक्षा करेगा ॥ ५ ॥

मम तेजो बलं भीमं वायोरपि हि नारद ।
कलामष्टादशीं प्राणैर्न मे प्राप्नोति मारुतः ॥ ६ ॥

नारद ! मेरा तेज और बल वायुसे भी भयंकर है । वायु अपनी प्राणशक्तिके द्वारा मेरी अठारहवीं कलाको भी नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

आगच्छन् परुषो वायुर्मया विष्टम्भितो बलात् ।
भञ्जन् द्रुमान् पर्वतांश्च यच्चान्यदपि किंचन ॥ ७ ॥

जिस समय वायु देवता वृक्ष, पर्वत तथा दूसरी वस्तुओंको तोड़ता-फोड़ता हुआ मेरे पास पहुँचता है, उस समय मैं बलसे उसकी गतिको रोक देता हूँ ॥ ७ ॥

स मया बहुशो भग्नः प्रभञ्जन् वै प्रभञ्जनः ।
तस्मान्न बिभ्ये देवर्षे क्रुद्धादपि समीरणात् ॥ ८ ॥

देवर्षे ! इस प्रकार मैंने तोड़-फोड़ करनेवाले वायुकी गतिको अनेक बार रोक दिया है; अतः वह कुपित हो जाय तो भी मुझे उससे भय नहीं है ॥ ८ ॥

नारद उवाच

शाल्मले विपरीतं ते दर्शनं नात्र संशयः ।
न हि वायोर्बलेनास्ति भूतं तुल्यबलं क्वचित् ॥ ९ ॥

नारदजीने कहा—शाल्मले ! इस विषयमें तुम्हारी दृष्टि विपरीत है—समझ उलटी हो गयी है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वायुके बलके समान किसी भी प्राणीका बल नहीं है ॥

इन्द्रो यमो वैश्रवणो वरुणश्च जलेश्वरः ।
नैतेऽपि तुल्या मरुतः किं पुनस्त्वं वनस्पते ॥ १० ॥

वनस्पते ! इन्द्र, यम, कुबेर तथा जलके स्वामी वरुण—ये भी वायुके तुल्य बलशाली नहीं हैं; फिर तुम-जैसे साधारण वृक्षकी तो बात ही क्या है ? ॥ १० ॥

यच्च किंचिदिह प्राणी चेष्टते शाल्मले भुवि ।
सर्वत्र भगवान् वायुश्चेष्टाप्राणकरः प्रभुः ॥ ११ ॥

शाल्मले ! प्राणी इस पृथ्वीपर जो कुछ भी चेष्टा करता है, उस चेष्टाकी शक्ति तथा जीवन देनेवाले सर्वत्र सामर्थ्यशाली भगवान् वायु ही हैं ॥ ११ ॥

एष चेष्टयते सम्यक् प्राणिनः सम्यगायतः ।
असम्यगायतो भूयश्चेष्टते विकृतं नृषु ॥ १२ ॥

ये जब शरीरमें ठीक ढंगसे प्राण आदिके रूपमें विस्तारको प्राप्त होते हैं, तब समस्त प्राणियोंको चेष्टाशील बनाते हैं और जब ये ठीक ढंगसे काम नहीं करते हैं, तब प्राणियोंके शरीरमें विकृति आने लगती है ॥ १२ ॥

स त्वमेवंविधं वायुं सर्वसत्त्वभृतां वरम् ।
न पूजयसि पूज्यं तं किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं पूजनीय वायुदेवकी जो तुम पूजा नहीं करते हो, यह तुम्हारी बुद्धिकी लघुताके सिवा और क्या है ॥ १३ ॥

असारश्चापि दुर्मेधाः केवलं बहु भाषसे ।
क्रोधादिभिरवच्छन्नो मिथ्या वदसि शाल्मले ॥ १४ ॥

शाल्मले ! तुम सारहीन और दुर्बुद्धि हो, केवल बहुत बातें बनाते हो तथा क्रोध आदि दुर्गुणोंसे प्रेरित होकर झूठ बोलते हो ॥ १४ ॥

मम रोषः समुत्पन्नस्त्वय्येवं सम्प्रभाषति ।
ब्रवीम्येष स्वयं वायोस्तव दुर्भाषितं बहु ॥ १५ ॥

तुम्हारे इस तरह बातचीत करनेसे मेरे मनमें रोष उत्पन्न हुआ है; अतः मैं स्वयं वायुके सामने तुम्हारे इन दुर्वचनोंको सुनाऊँगा ॥ १५ ॥

चन्दनैः स्यन्दनैः शालैः सरलैर्देवदारुभिः ।
वेतसैर्धन्वनैश्चापि ये चान्ये बलवत्तराः ॥ १६ ॥
तैश्चापि नैवं दुर्बुद्धे क्षिप्तो वायुः कृतात्मभिः ।
तेऽपि जानन्ति वायोश्च बलमात्मन एव च ॥ १७ ॥
तस्मात् तं वै नमस्यन्ति श्वसनं तरुसत्तमाः ।

चन्दन, स्यन्दन (तिनिश), शाल, सरल, देवदारु, वेतस (बेत), धामिन तथा अन्य जो बलवान् वृक्ष हैं, उन जितात्मा वृक्षोंने भी कभी इस प्रकार वायुदेवपर आक्षेप नहीं किया है । दुर्बुद्धे ! वे भी अपने और वायुके बलको अच्छी तरह जानते हैं; इसीलिये वे श्रेष्ठ वृक्ष वायुदेवके सामने मस्तक झुका देते हैं ॥ १६-१७½ ॥

त्वं तु मोहान्न जानीषे वायोर्बलमनन्तकम् ।
एवं तस्माद् गमिष्यामि सकाशं मातरिश्वनः ॥ १८ ॥

तुम तो मोहवश वायुके अनन्त बलको कुछ समझते ही नहीं हो; अतः अब मैं यहाँसे सीधे वायुदेवके ही पास जाऊँगा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५५॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीकी बात सुनकर वायुका सेमलको धमकाना और सेमलका वायुको तिरस्कृत करके विचारमग्न होना

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजेन्द्र शाल्मलिं ब्रह्मवित्तमः ।
नारदः पवने सर्वं शाल्मलेर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! सेमलसे ऐसा कहकर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने वायुदेवके पास आकर उसकी सब बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

नारद उवाच

हिमवत्पृष्ठजः कश्चिच्छाल्मलिः परिवारवान् ।
बृहन्मूलो बृहच्छायः स त्वां वायोऽवमन्यते ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—वायुदेव ! हिमालयके पृष्ठभागपर एक सेमलका वृक्ष है, जो बहुत बड़े परिवारके साथ है । उसकी छाया विशाल और घनी है और जड़ें बहुत दूरतक फैली हैं । वह तुम्हारा अपमान करता है ॥ २ ॥

बहुव्याक्षेपयुक्तानि त्वामाह वचनानि सः ।
न युक्तानि मया वायो तानि वक्तुं तवाग्रतः ॥ ३ ॥

उसने तुम्हारे प्रति बहुत-से ऐसे आक्षेपयुक्त वचन कहे हैं, जिन्हें तुम्हारे सामने मुझे कहना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

जानामि त्वामहं वायो सर्वप्राणभृतां वरम् ।
वरिष्ठं च गरिष्ठं च क्रोधे वैवस्वतं यथा ॥ ४ ॥

पवनदेव ! मैं तुम्हें जानता हूँ । तुम समस्त प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ, महान् एवं गौरवशाली हो तथा क्रोधमें वैवस्वत यमके समान हो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एतत् तु वचनं श्रुत्वा नारदस्य समीरणः ।
शाल्मलिं तमुपागम्य क्रुद्धो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीकी यह बात सुनकर वायुदेवने शाल्मलिके पास जा कुपित होकर कहा ॥ ५ ॥

वायुरुवाच

शाल्मले नारदो गच्छंस्त्वयोक्तो मद्विगर्हणम् ।
अहं वायुः प्रभावं ते दर्शयाम्यात्मनो बलम् ॥ ६ ॥

वायु बोले—सेमल ! तुमने इधरसे जाते हुए नारदजीसे मेरी निन्दा की है । मैं वायु हूँ । तुम्हें अपना बल और प्रभाव दिखाता हूँ ॥ ६ ॥

अहं त्वामभिजानामि विदितश्चासि मे द्रुम ।
पितामहः प्रजासर्गे त्वयि विश्रान्तवान् प्रभुः ॥ ७ ॥

वृक्ष ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारे विषयमें मुझे सब कुछ ज्ञात है । भगवान् ब्रह्माजीने प्रजाकी सृष्टि करते समय तुम्हारी छायामें विश्राम किया था ॥ ७ ॥

तस्य विश्रमणादेष प्रसादो मत्कृतस्तव ।
रक्ष्यसे तेन दुर्बुद्धे नात्मवीर्याद् द्रुमाधम ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धे ! उनके विश्राम करनेसे ही मैंने तुमपर यह कृपा की थी, इसीसे तुम्हारी रक्षा हो रही है। द्रुमाधम ! तुम अपने बलसे नहीं बचे हुए हो ॥ ८ ॥

यन्मां त्वमवजानीषे यथान्यं प्राकृतं तथा ।
दर्शयाम्येष चात्मानं यथा मां नावमन्यसे ॥ ९ ॥

परंतु तुम अन्य प्राकृतिक मनुष्यकी भाँति जो मेरा अपमान कर रहे हो, इससे कुपित होकर मैं अपना वह स्वरूप दिखाऊँगा, जिससे तुम फिर मेरा अपमान नहीं करोगे ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततः प्राह शाल्मलिः प्रहसन्निव ।
पवन त्वं च मे क्रुद्धो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पवनदेवके ऐसा कहनेपर सेमलने हँसते हुए-से कहा-'पवन ! तुम कुपित होकर स्वयं ही अपनी सारी शक्ति दिखाओ ॥ १० ॥

मयि वै त्यज्यतां क्रोधः किं मे क्रुद्धः करिष्यसि ।
न ते बिभेमि पवन यद्यपि त्वं स्वयं प्रभुः ॥ ११ ॥

'मेरे ऊपर अपना क्रोध उतारो। तुम कुपित होकर मेरा क्या कर लोगे। पवन ! यद्यपि तुम स्वयं बड़े प्रभावशाली हो; फिर भी मैं तुमसे डरता नहीं हूँ ॥ ११ ॥

बलाधिकोऽहं त्वत्तश्च न भीः कार्या मया तव ।
ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ॥ १२ ॥
प्राणमात्रबला ये वै नैव ते बलिनो मताः ।

'मैं बलमें तुमसे बहुत बढ़-चढ़कर हूँ; अतः मुझे तुमसे भय नहीं मानना चाहिये। जो बुद्धिके बली होते हैं, वे ही बलिष्ठ माने जाते हैं। जिनमें केवल शारीरिक बल होता है, वे वास्तवमें बलवान् नहीं समझे जाते' ॥ १२½ ॥

इत्येवमुक्तः पवनः श्व इत्येवाब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥
दर्शयिष्यामि ते तेजस्ततो रात्रिरुपागमत् ।

सेमलके ऐसा कहनेपर वायुने कहा—'अच्छा, कल मैं तुम्हें अपना पराक्रम दिखाऊँगा'। इतनेहीमें रात आ गयी ॥

अथ निश्चित्य मनसा शाल्मलिर्वातकारितम् ॥ १४ ॥
पश्यमानस्तदाऽऽत्मानमसमं मातरिश्वना ।

उस समय सेमलने वायुके द्वारा जो कुछ किया जानेवाला था, उसपर मन-ही-मन विचार करके तथा अपने आपको वायुके समान बलवान् न देखकर सोचा—॥ १४½ ॥

नारदे यन्मया प्रोक्तं वचनं प्रति तन्मृषा ॥ १५ ॥
असमर्थो ह्यहं वायोर्बलेन बलवान् हि सः ।

'अहो ! मैंने नारदजीसे जो बातें कही थीं, वे सब झूठी थीं। मैं वायुका सामना करनेमें असमर्थ हूँ; क्योंकि वे बलमें मुझसे बढ़े हुए हैं ॥ १५½ ॥

मारुतो बलवान् नित्यं यथा वै नारदोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥
अहं तु दुर्बलोऽन्येभ्यो वृक्षेभ्यो नात्र संशयः ।
किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मया कश्चिद् वनस्पतिः ॥ १७ ॥

'जैसा कि नारदजीने कहा था, वायुदेव नित्य बलवान् हैं। मैं तो दूसरे वृक्षोंसे भी दुर्बल हूँ, इसमें संशय नहीं है; परंतु बुद्धिमें कोई भी वृक्ष मेरे समान नहीं है ॥ १६-१७ ॥

तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात् ।
यदि तां बुद्धिमास्थाय तिष्ठेयुः पर्णिनो वने ॥ १८ ॥
अरिष्टाः स्युः सदा क्रुद्धात् पवनान्नात्र संशयः ।

'मैं बुद्धिका आश्रय लेकर वायुके भयसे छुटकारा पाऊँगा। यदि वनमें रहनेवाले दूसरे वृक्ष भी उसी बुद्धिका सहारा लेकर रहे तो निःसंदेह कुपित वायुसे उनका कोई अनिष्ट नहीं होगा ॥

ते तु बाला न जानन्ति यथा वै तान् समीरणः ।
समीरयति संक्रुद्धो यथा जानाम्यहं तथा ॥ १९ ॥

'परंतु वे मूर्ख हैं; अतः वायुदेव जिस प्रकार कुपित होकर उन्हें दबाते हैं, उसका उन्हें ज्ञान नहीं है। मैं यह सब अच्छी तरह जानता हूँ' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलि-संवादविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५६॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सेमलका हार स्वीकार करना तथा बलवान्‌के साथ वैर न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

ततो निश्चित्य मनसा शाल्मलिः क्षुभितस्तदा ।
शाखाः स्कन्धान् प्रशाखाश्च स्वयमेव व्यशातयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मन-ही-मन ऐसा विचारकर सेमलने क्षुभित हो अपनी शाखाओं, डालियों तथा टहनियोंको स्वयं ही नीचे गिरा दिया ॥ १ ॥

स परित्यज्य शाखाश्च पत्राणि कुसुमानि च ।
प्रभाते वायुमायान्तं प्रत्यैक्षत वनस्पतिः ॥ २ ॥

वह वनस्पति अपनी शाखाओं, पत्तों और फूलोंको त्याग-कर प्रातःकाल वायुके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २ ॥

ततः क्रुद्धः श्वसन् वायुः पातयन् वै महाद्रुमान् ।
आजगामाथ तं देशमास्ते यत्र स शाल्मलिः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सबेरा होनेपर वायुदेव कुपित हो बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करते हुए उस स्थानपर आये, जहाँ वह सेमलका वृक्ष था ॥ ३ ॥

तं हीनपर्णं पतिताग्रशाखं
विशीर्णपुष्पं प्रसमीक्ष्य वायुः ।
उवाच वाक्यं स्मयमान एवं
मुदा युतः शाल्मलिमुग्रशाखम् ॥ ४ ॥

वायुने देखा कि सेमलके पत्ते गिर गये हैं और उसकी श्रेष्ठ शाखाएँ धराशायी हो गयी हैं। यह फूलोंसे भी हीन हो चुका है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जिसकी शाखाएँ पहले बड़ी भयंकर थीं, उस सेमलसे मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥

वायुरुवाच

अहमप्येवमेव त्वां कुर्वाणः शाल्मले रुषा।
आत्मना यत्कृतं कृच्छ्रं शाखानामपकर्षणम् ॥ ५ ॥
हीनपुष्पाग्रशाखस्त्वं शीर्णाङ्कुरपलाशकः।
आत्मदुर्मन्त्रितेनेह मद्वीर्यवशगः कृतः ॥ ६ ॥

वायुने कहा—शाल्मले ! मैं भी रोषमें भरकर तुम्हें ऐसा ही बना देना चाहता था। तुमने स्वयं ही यह कष्ट स्वीकार कर लिया है, तुम्हारी शाखाएँ गिर गयीं। फूल, पत्ते, डालियाँ और अङ्कुर सभी नष्ट हो गये। तुमने अपनी ही कुमतिसे यह विपत्ति मोल ली है। तुम्हें मेरे बल और पराक्रमका शिकार बनना पड़ा है ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो वायोः शाल्मलिर्व्रीडितस्तदा।
अतप्यत वचः स्मृत्वा नारदो यत् तदाब्रवीत्॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वायुका यह वचन सुनकर सेमल उस समय लज्जित हो गया और नारदजीने जो कुछ कहा था, उसे याद करके वह बहुत पछताने लगा ॥ ७ ॥

एवं हि राजशार्दूल दुर्बलः सन् बलीयसा।
वैरमारभते बालस्तप्यते शाल्मलिर्यथा ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार जो मूर्ख मनुष्य स्वयं दुर्बल होकर किसी बलवान्‌के साथ वैर बाँध लेता है, वह सेमलके समान ही संतापका भागी होता है ॥ ८ ॥

तस्माद् वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः।
शोचेद्धि वैरं कुर्वाणो यथा वै शाल्मलिस्तथा ॥ ९ ॥

अतः दुर्बल मनुष्य बलवानोंके साथ वैर न करे। यदि वह करता है तो सेमलके समान ही शोचनीय दशाको पहुँचकर शोकमग्न होता है ॥ ९ ॥

न हि वैरं महात्मानो विवृण्वन्त्यपकारिषु।
शनैः शनैर्महाराज दर्शयन्ति स्म ते बलम् ॥ १० ॥

महाराज ! महामनस्वी पुरुष अपनी बुराई करनेवालोंपर वैरभाव नहीं प्रकट करते हैं। वे धीरे-धीरे ही अपना बल दिखाते हैं ॥ १० ॥

वैरं न कुर्वीत नरो दुर्बुद्धिर्बुद्धिजीविना।
बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः ॥ ११ ॥

खोटी बुद्धिवाला मनुष्य किसी बुद्धिजीवी पुरुषसे वैर न बाँधे; क्योंकि घास-फूँसपर फैलनेवाली आगके समान बुद्धिमानोंकी बुद्धि सर्वत्र पहुँच जाती है ॥ ११ ॥

न हि बुद्ध्या समं किंचिद् विद्यते पुरुषे नृप।
तथा बलेन राजेन्द्र न समोऽस्तीह कश्चन ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! राजेन्द्र ! पुरुषमें बुद्धिके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। संसारमें जो बुद्धि-बलसे युक्त है, उसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मात् क्षमेत बालाय जडान्धबधिराय च।
बलाधिकाय राजेन्द्र तद् दृष्टं त्वयि शत्रुहन् ॥ १३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले राजेन्द्र ! इसलिये जो बालक, जड, अन्ध, बधिर तथा बलमें अपनेसे बढ़ा-चढ़ा हो, उसके द्वारा किये गये प्रतिकूल बर्तावको भी क्षमा कर देना चाहिये; यह क्षमाभाव तुम्हारे भीतर विद्यमान है ॥ १३ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च सप्त चैव महाद्युते।
बलेन न समा राजन्नर्जुनस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

महातेजस्वी नरेश ! अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ भी बलमें महात्मा अर्जुनके समान नहीं हैं ॥ १४ ॥

निहताश्चैव भग्नाश्च पाण्डवेन यशस्विना।
चरता बलमास्थाय पाकशासनिना मृधे ॥ १५ ॥

इन्द्र और पाण्डुके यशस्वी पुत्र अर्जुनने अपने बलका भरोसा करते हुए युद्धमें विचरते हुए यहाँ उन समस्त सेनाओंको मार डाला और भगा दिया ॥ १५ ॥

उक्ताश्च ते राजधर्मा आपद्धर्माश्च भारत।
विस्तरेण महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! मैंने तुमसे राजधर्म और आपद्धर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हो ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि पवनशाल्मलिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पवन-शाल्मलिसंवादविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

समस्त अनर्थोंका कारण लोभको बताकर उससे होनेवाले विभिन्न पापोंका वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषोंके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि पापका अधिष्ठान क्या है और किससे उसकी प्रवृत्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! पापका जो अधिष्ठान है, उसे सुनो । एकमात्र लोभ ही पापका अधिष्ठान है । वह मनुष्यको निगल जानेके लिये एक बड़ा ग्राह है । लोभसे ही पापकी प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥ ३ ॥

लोभसे ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःखकी उत्पत्ति होती है । शठता तथा छल-कपटका भी मूल कारण लोभ ही है । इसीके कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥ ४ ॥

लोभसे ही क्रोध प्रकट होता है, लोभसे ही कामकी प्रवृत्ति होती है और लोभसे ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता तथा पराधीनता आदि दोष प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते ॥ ५ ॥

असहनशीलता, निर्लज्जता, सम्पत्तिनाश, धर्मक्षय, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभसे ही सम्भव होते हैं ॥ ५ ॥

अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च याः क्रियाः ।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा ॥ ६ ॥
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः ।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम् ॥ ७ ॥

लोभसे ही कृपणता, अत्यन्त तृष्णा, शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति, कुल और विद्याविषयक अभिमान, रूप और ऐश्वर्यका मद, समस्त प्राणियोंके प्रति द्रोह, सबका तिरस्कार, सबके प्रति अविश्वास तथा कुटिलतापूर्ण बर्ताव होते हैं ॥ ६-७ ॥

हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम् ।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च ॥ ८ ॥
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः ।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः ॥ ९ ॥
रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः ।
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता ॥ १० ॥
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा ।

पराये धनका अपहरण, परायी स्त्रियोंके प्रति बलात्कार, वाणीका वेग, मनका वेग, निन्दा करनेकी विशेष प्रवृत्ति, जननेन्द्रियका वेग, उदरका वेग, मृत्युका भयंकर वेग अर्थात् आत्महत्या, ईर्ष्याका प्रबल वेग, मिथ्याका दुर्जय वेग, अनिवार्य रसनेन्द्रियका वेग, दुःसह श्रोत्रेन्द्रियका वेग, घृणा, अपनी प्रशंसाके लिये बढ़-बढ़कर बातें बनाना, मत्सरता, पाप, दुष्कर कर्मोंमें प्रवृत्ति, न करने योग्य कार्य कर बैठना—इन सबका कारण भी लोभ ही है ॥ ८—१०½ ॥

जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः ॥ ११ ॥
न संत्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः ।
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह ॥१२॥
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः ।

कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्य जन्मकालमें, बाल्यावस्थामें तथा कौमार और यौवनावस्थामें जिसके कारण अपने बुरे कर्मोंको छोड़ नहीं पाते हैं, जो मनुष्यके वृद्ध होनेपर भी जीर्ण नहीं होता, वह लोभ ही है । जिस प्रकार गहरे जलवाली बहुत-सी नदियोंके मिल जानेसे भी समुद्र नहीं भरता है, उसी प्रकार कितने ही पदार्थोंका लाभ क्यों न हो जाय, लोभका पेट कभी नहीं भरता है ॥ ११-१२½ ॥

न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति ॥ १३ ॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः ।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा ॥ १४ ॥

लोभी मनुष्य बहुत-सा लाभ पाकर भी संतुष्ट नहीं होता । भोगोंसे वह कभी तृप्त नहीं होता । नरेश्वर ! न देवताओं, न गन्धर्वों, न असुरों, न बड़े-बड़े नागों और न सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा ही लोभका स्वरूप यथार्थरूपसे जाना जाता है ॥

स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना ।
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ।

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया है, उस पुरुषको चाहिये कि वह मोहसहित लोभको जीते । कुरुनन्दन ! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुषोंमें ही होते हैं ॥ १५½ ॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः ॥ १६ ॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ।

बहुश्रुत विद्वान् बड़े-बड़े शास्त्रोंको कण्ठस्थ कर लेते हैं । सबकी शङ्काओंका निवारण कर देते हैं; परंतु इस लोभमें फँसकर उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे निरन्तर क्लेश उठाते रहते हैं ॥ १६½ ॥

द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥ १७ ॥
अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव ।
धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ॥ १८ ॥

वे दोष और क्रोधमें फँसकर शिष्टाचारको छोड़ देते हैं और ऊपरसे मीठे वचन बोलते हुए भी भीतरसे अत्यन्त कठोर हो जाते हैं । उनकी स्थिति घास-फूँससे ढके हुए कुएँके समान होती है । वे धर्मके नामपर संसारको धोखा देनेवाले, क्षुद्र मनुष्य धर्मध्वजी होकर (धर्मका ढोंग फैलाकर) जगत्को लूटते हैं ॥ १७-१८ ॥

कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः ।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिताः ॥१९॥

युक्तिबलका आश्रय लेकर बहुत-से असत् मार्ग खड़े कर

देते हैं तथा लोभ और अज्ञानमें स्थित हो सत्पुरुषोंके स्थापित किये हुए मार्गों (धर्ममर्यादाओं) का नाश करने लगते हैं ॥

धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते ॥ २० ॥

लोभग्रस्त दुरात्मा पुरुषोंद्वारा अपहृत (विकृत) होनेवाले धर्मकी जो-जो स्थिति बिगड़ जाती या बदल जाती है, वह उसी रूपमें प्रचलित हो जाती है ॥ २० ॥

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिनकी बुद्धि लोभमें फँसी हुई है, उन मनुष्योंमें दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक तथा अत्यन्त अभिमान—ये ही दोष दिखायी देते हैं ॥ २१ ॥

एतानशिष्टान् बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान् ।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान् वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥२२॥

जो सदा लोभमें डूबे रहते हैं, ऐसे ही मनुष्योंको तुम अशिष्ट समझो । तुम्हें शिष्ट पुरुषोंसे ही अपनी शंकाएँ पूछनी चाहिये । पवित्र नियमोंका पालन करनेवाले उन शिष्ट पुरुषोंका मैं परिचय दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ।
नामिषेषु प्रसंगोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च ॥ २३ ॥

जिन्हें फिर संसारमें जन्म लेनेका भय नहीं है, परलोकसे भी भय नहीं है, जिनकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है तथा प्रिय और अप्रियमें भी जिनका राग-द्वेष नहीं है ॥ २३ ॥

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥ २४ ॥

जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है । जिनमें इन्द्रिय-संयम प्रतिष्ठित है । जिनके लिये सुख और दुःख समान हैं । सत्य ही जिनका परम आश्रय है ॥ २४ ॥

दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च ।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥ २५ ॥

वे देते हैं, लेते नहीं। उनमें स्वभावसे ही दया भरी रहती है । वे देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके सेवक होते हैं और सत्कर्म करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः ।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! वे वीर पुरुष सबका उपकार करनेवाले, सम्पूर्ण धर्मोंके रक्षक तथा समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। वे परहितके लिये सर्वस्व निछावर कर देते हैं ॥ २६ ॥

न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः ।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ॥ २७ ॥

उन्हें सत्कर्मसे विचलित नहीं किया जा सकता । वे केवल धर्मके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं । पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने जिसका पालन किया है, उसी सदाचारका वे भी पालन करते हैं । उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता ॥ २७ ॥

न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ॥ २८ ॥

वे किसीको भय नहीं दिखाते, चपलता नहीं करते, उनका स्वभाव किसीके लिये भयंकर नहीं होता है, वे सदा सन्मार्गमें ही स्थित रहते हैं, उनमें अहिंसा नित्य प्रतिष्ठित होती है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंका ही सदा सेवन करना चाहिये ॥ २८ ॥

कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्व च पृच्छ च ॥ २९ ॥

जो काम और क्रोधसे रहित, ममता और अहङ्कारसे शून्य, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्ममर्यादाको स्थिर रखनेवाले हैं, उन्हीं महापुरुषोंका संग करो और उनसे अपना संदेह पूछो ॥ २९ ॥

न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर ।
अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! उनका धर्मपालन धन बटोरने या यश कमानेके लिये नहीं होता । वे धर्म तथा शारीरिक क्रियाओंको अवश्यकर्तव्य समझकर ही करते हैं॥ ३० ॥

न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते ।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं कश्चिदास्थिताः ॥ ३१ ॥

उनमें भय, क्रोध, चपलता तथा शोक नहीं होता । वे धर्मध्वजी (पाखण्डी) नहीं होते, किसी गोपनीय पाखण्डपूर्ण धर्मका आश्रय नहीं लेते हैं ॥ ३१ ॥

येष्वलोभस्तथामोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः ।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः ॥ ३२ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिनमें लोभ और मोहका अभाव है, जो सत्य और सरलतामें स्थित हैं तथा कभी सदाचारसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, ऐसे पुरुषोंमें तुम्हें प्रेम रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च ।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ३३ ॥

लाभालाभौ सुखदुःखे च तात
प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च ।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां
बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम् ॥ ३४ ॥

धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान्
दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः ।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति
शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये ॥ ३५ ॥

तात ! जो लाभमें हर्षसे फूल नहीं उठते, हानिमें व्यथित नहीं होते, ममता और अहङ्कारसे शून्य हैं, जो सर्वदा सत्त्वगुणमें स्थित और समदर्शी होते हैं, जिनकी दृष्टिमें लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण समान हैं, जो सुदृढ़ पराक्रमी, आध्यात्मिक उन्नतिके इच्छुक और सत्त्वमय मार्गमें स्थित हैं, उन धर्मप्रेमी महानुभावोंकी तुम सावधान

और जितेन्द्रिय रहकर सेवा-सत्कार करो। ये सब महापुरुष स्वभावसे ही बड़े गुणवान् होते हैं। शुभ और अशुभके विषयमें उनकी वाणी यथार्थ होती है। दूसरे लोग तो केवल बातें बनानेवाले होते हैं॥ ३३—३५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि आपन्मूलभूतदोषकथने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें आपत्तिके मूलभूत दोषका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५८॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अज्ञान और लोभको एक दूसरेका कारण बताकर दोनोंकी एकता करना और दोनोंको ही समस्त दोषोंका कारण सिद्ध करना

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने सब अनर्थोंके आधारभूत लोभका वर्णन तो किया, अब अज्ञानका भी यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; मैं उसके परिणामको भी सुनना चाहता हूँ॥ १॥

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम्।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम्॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो मनुष्य अज्ञान-वश पाप करता है और उससे होनेवाली अपनी ही हानिको नहीं समझता तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे द्वेष करता है, उसकी संसार-में बड़ी निन्दा होती है॥ २॥

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम्।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति॥ ३॥

अज्ञानसे ही जीव नरकमें पड़ता है। अज्ञानसे ही उसकी दुर्गति होती है, अज्ञानसे वह कष्ट उठाता तथा विपत्तियोंके समुद्रमें डूब जाता है॥ ३॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिक्षयोदयौ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च॥ ४॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल! अज्ञानकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उद्गम, मूल, योग, गति, काल, कारण और हेतु क्या हैं?॥ ४॥

श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव।
अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते॥ ५॥

पृथ्वीनाथ! मैं इस विषयको यथावत्‌रूपसे तत्त्वके विवेचनपूर्वक सुनना चाहता हूँ; क्योंकि यह जो दुःख उपलब्ध होता है, उसकी उत्पत्तिका कारण अज्ञान ही है॥

भीष्म उवाच

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च॥ ६॥
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः॥ ७॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ताप, दूसरोंकी उन्नति देखकर जलना और पापाचार करना—इन सबको (अज्ञानका कार्य होनेसे) अज्ञान बताया गया है॥

एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्यांश्च पृच्छसि।
विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः॥ ८॥

महाराज! इस अज्ञानकी उत्पत्ति और वृद्धि आदिके विषयमें जो प्रश्न कर रहे हो, उसके विषयमें विशेष विस्तारके साथ किया हुआ मेरा वर्णन सुनो॥ ८॥

उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव॥ ९॥

भारत! पृथ्वीनाथ! अज्ञान और अत्यन्त लोभ—इन दोनोंको एक समझो, क्योंकि इनके परिणाम और दोष समान ही हैं॥ ९॥

लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्धते।
स्थाने स्थानं क्षये क्षैण्यमुपैति विविधां गतिम्॥ १०॥

लोभसे ही अज्ञान प्रकट होता है और लोभके बढ़नेपर वह अज्ञान और भी बढ़ता है। जबतक लोभ रहता है, तब-तक अज्ञान भी बना रहता है और जब लोभका क्षय होता है, तब अज्ञान भी क्षीण हो जाता है। अज्ञान और लोभके कारण ही जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है॥ १०॥

मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च॥ ११॥

मोह ही निःसंदेह लोभका मूलकारण है। यह कालस्वरूप मोहात्मक अज्ञान ही मनुष्यकी बुरी गतिका कारण है। लोभ-के छिन्न-भिन्न होनेमें भी काल ही कारण है॥ ११॥

तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च।
सर्वदोषास्तथा लोभात् तस्माल्लोभं विवर्जयेत्॥ १२॥

मूढ़ मनुष्यको अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान होता है। लोभसे ही सारे दोष पैदा होते हैं; इसलिये लोभको त्याग देना चाहिये॥ १२॥

जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित् ।
लोभक्षयाद् दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः ॥ १३ ॥

जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा अन्य नरेश लोभका नाश करके ही दिव्यलोकमें गये हैं ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना ।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तुम स्वयं प्रयत्न करके इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोभका परित्याग करो । लोभका त्याग कर इस लोकमें सुख तथा मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी आनन्द प्राप्त करके सुखपूर्वक विचरोगे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें अज्ञानका माहात्म्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मन और इन्द्रियोंके संयमरूप दमका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह ।
धर्मकामस्य धर्मात्मन् किं नु श्रेय इहोच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्मा पितामह ! जो स्वाध्यायके लिये यत्नशील है और धर्मपालनकी इच्छा रखता है, उस मनुष्यके लिये इस संसारमें श्रेय क्या बताया जाता है ? ॥ १ ॥

बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे ।
अस्मिँल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! जगत्में श्रेयका प्रतिपादन करनेवाले अनेक प्रकारके दर्शन (मत) हैं; परंतु आप जिसे श्रेय मानते हों, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो, उसे मुझे बताइये ॥ २ ॥

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ ३ ॥

भारत ! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है । इससे बहुत-सी शाखाएँ निकली हुई हैं । इन धर्मोंमेंसे कौन-सा धर्म सर्वोत्तम, अवश्य पालन करनेयोग्य माना गया है? ॥ ३ ॥

धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वतः ।
यन्मूलं परमं तात तत् सर्वं ब्रूह्यशेषतः ॥ ४ ॥

राजन् ! बहुत-सी शाखाओंसे युक्त इस महान् धर्मका वास्तवमें परम मूल क्या है ? तात ! ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम कल्याण प्राप्त कर लोगे । जैसे अमृतको पीकर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञान-सुधासे पूर्णतः तृप्त हो जाओगे ॥ ५ ॥

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ ६ ॥

महर्षियोंने अपने-अपने ज्ञानके अनुसार धर्मकी एक नहीं, अनेक विधियाँ बतायी हैं, परंतु उन सबका आधार दम (मन और इन्द्रियोंका संयम) ही है ॥ ६ ॥

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाले वृद्ध पुरुष दमको निःश्रेयस (परम कल्याण)का साधन बताते हैं । विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन धर्म है ॥ ७ ॥

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥

दमसे ही उसे अपने शुभ कर्मोंकी यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है । दम उसके लिये दान, यज्ञ और स्वाध्यायसे भी बढ़कर है ॥ ८ ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ९ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन है, दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥ १० ॥

हमने संसारमें दमके समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना । जगत्में सभी धर्मवालोंके यहाँ दमको उत्कृष्ट बताया गया है । सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १० ॥

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् ।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! दमसे अर्थात् इन्द्रिय और मनके संयमसे युक्त पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति होती है । वह इहलोक और परलोकमें भी परम सुख पाता है ॥ ११ ॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥ १२ ॥

जिसने अपने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, वह सुखसे सोता, सुखसे ही जागता और सुखपूर्वक ही लोकोंमें विचरता है । उसका मन सदा प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥ १३ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं हैं, वह पुरुष निरन्तर क्लेश उठाता है । साथ ही वह अपने ही दोषोंसे

बहुत-से दूसरे-दूसरे अनर्थोंकी भी सृष्टि कर लेता है ॥ १३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १४ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। अब मैं इन्द्रिय-दमन एवं मनोनिग्रहके उन लक्षणोंको बताऊँगा, जिनका उदय होना ही दम कहा गया है ॥ १४॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, संतोष, प्रिय वचन बोलनेका स्वभाव, किसी भी प्राणीको कष्ट न देना और दूसरोंके दोष न देखना—इन सद्गुणोंका उदय होना ही दम कहलाता है ॥ १५-१६ ॥

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥

कुरुनन्दन ! जिसने मन और इन्द्रियोंका दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनोंके प्रति आदरका भाव, समस्त प्राणियोंके प्रति दया और किसीकी भी चुगली न खानेकी प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा-स्तुतिकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जडता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरोंका अपमान—इन दुर्गुणोंका कभी सेवन नहीं करता ॥ १७-१८ ॥

अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥

इन्द्रिय और मनको वशमें रखनेवाले पुरुषकी कभी निन्दा नहीं होती। उसके मनमें कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओंके लिये किसीके सामने हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय-सुखोंकी अभिलाषा नहीं रखता, दूसरोंके दोष नहीं देखता। वह मनुष्य समुद्रके समान अगाध गाम्भीर्य धारण करता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, उसी प्रकार वह भी निरन्तर धर्मसंचयसे कभी तृप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

अहं त्वयि मयि त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम् ।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगं नैतद् दान्तो निषेवते ॥ २० ॥

'मैं तुमपर स्नेह रखता हूँ और तुम मुझपर। वे मुझमें अनुराग रखते हैं और मैं उनमें' इस प्रकार पहलेके सम्बन्धियोंके सम्बन्धका जितेन्द्रिय पुरुष चिन्तन नहीं करता॥

सर्वा ग्राम्यास्तथाऽऽरण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते ॥ २१ ॥

जगत्में ग्रामीणों और वनवासियोंकी जो-जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबका जो सेवन नहीं करता तथा दूसरोंकी निन्दा और प्रशंसासे भी दूर रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है ॥

मैत्रोऽथ शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्च यः ।
मुक्तस्य विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य फलं महत् ॥ २२ ॥

जो सबके प्रति मित्रताका भाव रखनेवाला और सुशील है, जिसका मन प्रसन्न है, जो नाना प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त तथा आत्मज्ञानी है, उसे मृत्युके पश्चात् मोक्षरूप महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जो सदाचारी, शीलसम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्म-तत्त्वको जाननेवाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोकमें सत्कार पाकर परलोकमें परम गति पाता है ॥ २३ ॥

कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्वर्त्म न हीयते ॥ २४ ॥

इस जगत्में जो केवल शुभ (कल्याणकारी) कर्म है तथा सत्पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, वही ज्ञानवान् मुनिका मार्ग है। वह स्वभावतः उसका आचरण करता है। उससे कभी च्युत नहीं होता ॥ २४ ॥

निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २५ ॥

ज्ञानसम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष घरसे निकलकर वनका आश्रय ले वहाँ मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता रहता है। इस प्रकार वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ २५ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २६ ॥

जिसको दूसरे प्राणियोंसे भय नहीं है तथा जिससे दूसरे प्राणी भी भय नहीं मानते, उस देहाभिमानसे रहित महात्मा पुरुषको कहींसे भी भय नहीं प्राप्त होता ॥ २६ ॥

अवाचिनोति कर्माणि न च सम्प्रचिनोति ह ।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत् ॥ २७ ॥

वह उपभोगद्वारा प्रारब्ध कर्मोंको क्षीण करता है और कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्तिसे शून्य होनेके कारण नूतन कर्मोंका संचय नहीं करता है। सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सबको मित्रकी भाँति अभयदान देता हुआ विचरता है ॥ २७ ॥

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंका और जलमें जलचर जन्तुओंका पदचिह्न नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार ज्ञानीकी गति भी जाननेमें नहीं आती है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥

गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः॥ २९ ॥

राजन्! जो घर-बारको छोड़कर मोक्षमार्गका ही आश्रय लेता है, उसे अनन्त वर्षोंके लिये दिव्य तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विधिवत्तपः।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव ह ॥ ३० ॥
कामे शुचिरनावृत्तः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः।
प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते ॥ ३१ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल है, जिसकी कामनाएँ शुद्ध हैं तथा जो भोगोंसे पराङ्मुख हो चुका है, वह आत्मज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका, तपस्याका तथा नाना प्रकारकी विद्याओंका विधिवत् संन्यास (त्याग) करके सर्वत्यागी संन्यासी होकर इहलोकमें सम्मानित हो परलोकमें अक्षय स्वर्ग (ब्रह्मधाम) को प्राप्त होता है।३०-३१।

यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम्।
गुहायां पिहितं नित्यं तद् दमेनाभिगम्यते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मराशिसे उत्पन्न हुआ जो पितामह ब्रह्माजीका उत्तम धाम है, वह हृदयगुहामें छिपा हुआ है। उसकी प्राप्ति सदा दम (इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह) से ही होती है ॥ ३२॥

ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ ३३ ॥

जिसका किसी भी प्राणीके साथ विरोध नहीं है, जो ज्ञानस्वरूप आत्मामें रमता रहता है, ऐसे ज्ञानीको इस लोकमें पुनः जन्म लेनेका भय ही नहीं रहता, फिर उसे परलोकका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥

दम अर्थात् संयममें एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होनेके कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं ॥ ३४ ॥

एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात् सुमहान् गुणः।
क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करनेसे उसको बहुत-से पुण्यलोक सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमासे सहिष्णुता भी आ जाती है ॥ ३५ ॥

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥ ३६ ॥

भारत! संयमी पुरुषको वनमें जानेकी क्या आवश्यकता है! और जो असंयमी है, उसको वनमें रहनेसे भी क्या लाभ है ? संयमी पुरुष जहाँ रहे, वहीं उसके लिये वन और आश्रम है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गये हों ॥ ३७ ॥

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
तपः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीसे पुनः तपस्याके विषयमें प्रश्न किया। तब भीष्मजीने उन्हें उसके विषयमें सब कुछ बताना आरम्भ किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें दमका वर्णनविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

तपकी महिमा

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है ॥ १ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

भगवान् प्रजापतिने तपसे ही इस समस्त संसारकी सृष्टि की है तथा ऋषियोंने तपसे ही वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है ॥

तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रीँल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः॥ ३ ॥

जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाताने तपसे ही उत्पन्न किया है। तपस्यासे सिद्ध हुए एकाग्रचित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ३ ॥

औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥

औषध, आरोग्य आदिकी प्राप्ति तथा नाना प्रकारकी क्रियाएँ तपस्यासे ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधनकी जड़ तपस्या ही है ॥ ४ ॥

यद् दुरापं भवेत् किंचित् तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥ ५ ॥

संसारमें जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्यासे सुलभ हो सकती है। ऋषियोंने तपस्यासे ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यको प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

शराबी, किसीकी सम्मतिके बिना ही उसकी वस्तु उठा लेनेवाला (चोर), गर्भहत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्याद्वारा ही पापसे छुटकारा पाता है ॥ ६ ॥

तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः ।
निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम् ॥ ७ ॥

तपस्याके अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायोंद्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परंतु जो निवृत्ति-मार्गसे चल रहा है, उसके लिये उपवाससे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ७ ॥

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम् ॥ ८ ॥

महाराज ! अहिंसा, सत्यभाषण, दान और इन्द्रिय-संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवाससे बड़ी कोई तपस्या नहीं है ॥ ८ ॥

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः ।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥ ९ ॥

दानसे बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, माताकी सेवासे बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, तीनों वेदोंके विद्वानोंसे श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास सबसे बड़ा तप है ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये ।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात् परम् ॥ १० ॥

इस संसारमें धार्मिक पुरुष स्वर्गके साधनभूत धर्मकी रक्षाके लिये इन्द्रियोंको सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं । परंतु धर्म और अर्थ दोनोंकी सिद्धिके लिये तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ॥१०॥

ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥ ११ ॥
तपःपरायणाः सर्वे सिद्ध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्यामें ही तत्पर रहते हैं । तपस्यासे ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार देवताओंने भी तपस्यासे ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया है ॥ ११-१२ ॥

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥ १३ ॥

ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्यासे ही सुलभ होते हैं । तपस्यासे निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि तपःप्रशंसायामेकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें तपस्याकी प्रशंसाविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यके लक्षण, स्वरूप और महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सब सत्यभाषणरूप धर्मकी प्रशंसा करते हैं; अतः अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है ? उसे मुझे बताइये ॥ १ ॥

सत्यं किंलक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत् किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥ २ ॥

राजन् ! सत्यका लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? सत्यका पालन करनेसे क्या लाभ होता है ? और कैसे होता है ? यह बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते ।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके जो धर्म हैं, उनका परस्पर सम्मिश्रण अच्छा नहीं माना जाता है । निर्विकार सत्य सभी वर्णोंमें प्रतिष्ठित है ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥

सत्पुरुषोंमें सदा सत्यरूप धर्मका ही पालन हुआ है । सत्य ही सनातन धर्म है । सत्यको ही सदा सिर झुकाना चाहिये; क्योंकि सत्य ही जीवकी परम गति है ॥ ४ ॥

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्यको ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है ॥ ५ ॥

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः ।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

अब मैं तुम्हें क्रमशः सत्यके आचार और लक्षण ठीक-ठीक बताऊँगा ॥ ६ ॥

प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि ।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥

साथ ही यह भी बता देना चाहता हूँ कि उस सत्य-

की प्राप्ति कैसे होती है ? तुम ध्यान देकर सुनो। भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें सत्यके तेरह भेद माने गये हैं ॥ ७ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरताका अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनसूया, त्याग, परमात्माका ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहनेवाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा—ये तेरह सत्यके ही स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ८-९ ॥

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥ १० ॥

नित्य एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्यका लक्षण है। समस्त धर्मोंके अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योगके द्वारा इस सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥

अपने प्रिय मित्रमें तथा अप्रिय शत्रुमें भी समानभाव रखना 'समता' है। इच्छा (राग), द्वेष, काम और क्रोधको मिटा देना ही समताकी प्राप्तिका उपाय है ॥ ११ ॥

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥

किसी दूसरेकी वस्तुको लेनेकी इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भयको त्याग देना तथा मनके रोगोंको शान्त कर देना—यह 'दम' (मन और इन्द्रियोंके संयम) का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है ॥ १२ ॥

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥

दान और धर्म करते समय मनपर संयम रखना अर्थात् इस विषयमें दूसरोंसे ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरताका अभाव' कहते हैं। सदा सत्यका पालन करनेसे ही मनुष्य मत्सरतासे रहित हो सकता है ॥ १३ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥ १४ ॥

जो सहने और न सहनेयोग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनोंको भी समानरूपसे सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुषको ही उत्तम रीतिसे क्षमाभावकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

कल्याणं कुरुते वाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥ १५ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति दूसरोंका कल्याण करता है और मनमें कभी खेद नहीं मानता, जिसकी मन-वाणी सदा शान्त रहती हैं, वह लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जानामक गुण धर्मके आचरणसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥ १६ ॥

धर्म और अर्थके लिये मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करनेके लिये उसका अवश्य पालन करना चाहिये। तितिक्षाकी प्राप्ति धैर्यसे होती है। (दूसरोंके दोष न देखना 'अनसूया' है) ॥ १६ ॥

त्यागः स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

विषयोंकी आसक्तिका जो त्याग है, वही वास्तविक त्याग है। राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही त्यागकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं (परमात्मचिन्तनका नाम ही 'ध्यान' है)॥

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥

जो मनुष्य अपनेको प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियोंकी भलाईका काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरणका नाम ही 'आर्यता' है। यह आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ १९ ॥

सुख या दुःख प्राप्त होनेपर मनमें विकार न होना 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान् पुरुषको सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिये ॥ १९ ॥

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥ २० ॥

मनुष्यको सदा क्षमाशील होना तथा सत्यमें तत्पर रहना चाहिये। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनोंको त्याग दिया है, उस विद्वान् पुरुषको ही 'धैर्य' की प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥

एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥

ये पृथक्-पृथक् तेरह रूपोंमें बताये हुए धर्म एकमात्र सत्यको ही लक्षित करानेवाले हैं। ये सत्यका ही आश्रय लेते और उसीकी वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं ॥ २२ ॥

नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव ।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः ॥ २३॥

पृथ्वीनाथ ! सत्यके गुणोंकी सीमा नहीं बतायी जा

सकती। इसीलिये पितर और देवताओंके सहित ब्राह्मण सत्यकी प्रशंसा करते हैं ॥ २३ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥ २४ ॥

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठसे बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्मकी आधारशिला है; अतः सत्यका लोप न करे ॥ २४ ॥

उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः॥ २५ ॥

दानका, दक्षिणाओंसहित यज्ञका, त्रिविध अग्नियोंमें हवनका, वेदोंके स्वाध्यायका तथा अन्य जो धर्मका निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययनका फल मनुष्य सत्यसे प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ २६ ॥

यदि एक ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंको और दूसरी ओर एकमात्र सत्यको तराजूपर रक्खा जाय तो एक हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही पलड़ा भारी होगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६२ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें सत्यकी प्रशंसाविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

काम, क्रोध आदि तेरह दोषोंका निरूपण और उनके नाशका उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः॥ १ ॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! परम बुद्धिमान् पितामह ! क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा (शास्त्रविरुद्ध काम करनेकी इच्छा), परासुता (दूसरोंके मारनेकी इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कंजूसी (दैन्यभाव)—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं ? यह ठीक-ठीक बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे कहे हुए ये तेरह दोष प्राणियोंके अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं, जो यहाँ मनुष्योंको सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ ३ ॥

एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात्॥ ४ ॥

ये सदा सावधान रहकर प्रमादमें पड़े हुए पुरुषको अत्यन्त पीड़ा देते हैं। मनुष्यको देखते ही भेड़ियोंकी तरह बलपूर्वक उसपर टूट पड़ते हैं ॥ ४ ॥

एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते।
इति मर्त्यो विजानीयात् सततं पुरुषर्षभ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ ! इन्हींसे सबको दुःख प्राप्त होता है, इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्यकी पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पुरुषको सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः॥ ६ ॥
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु।

पृथ्वीनाथ ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि इनकी उत्पत्ति किससे होती है ? ये किस तरह स्थिर रहते हैं ? और कैसे इनका विनाश होता है ? राजन् ! सबसे पहले क्रोधकी उत्पत्तिका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषयको सुनो ॥ ६½ ॥

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते॥ ७ ॥
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।

राजन् ! क्रोध लोभसे उत्पन्न होता, दूसरोंके दोष देखनेसे बढ़ता, क्षमा करनेसे थम जाता और क्षमासे ही निवृत्त हो जाता है ॥ ७½ ॥

संकल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते॥ ८ ॥
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।

काम संकल्पसे उत्पन्न होता है। उसका सेवन किया जाय तो बढ़ता है और जब बुद्धिमान् पुरुष उससे विरक्त हो जाता है, तब वह (काम) तत्काल नष्ट हो जाता है॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते॥ ९ ॥
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते।
अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम्॥ १० ॥

क्रोध और लोभसे तथा अभ्याससे परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयासे और वैराग्यसे वह निवृत्त होती है। परदोष-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती और बुद्धिमानोंके तत्त्वज्ञानसे वह नष्ट हो जाती है ॥ ९-१० ॥

अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति॥ ११ ॥

मोह अज्ञानसे उत्पन्न होता है और पापकी आवृत्ति करनेसे बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानोंमें अनुराग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह।

विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जो लोग धर्मके विरोधी शास्त्रोंका अवलोकन करते हैं, उनके मनमें अनुचित कर्म करनेकी इच्छारूप विधित्सा उत्पन्न होती है। यह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होती है ॥

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ १३ ॥

जिसपर प्रेम हो, उस प्राणीके वियोगसे शोक प्रकट होता है। परंतु जब मनुष्य यह समझ ले कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरंत ही उस शोककी शान्ति हो जाती है ॥ १३ ॥

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते ।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते ॥ १४ ॥

क्रोध, लोभ और अभ्यासके कारण परासुता अर्थात् दूसरोंको मारनेकी इच्छा होती है। समस्त प्राणियोंके प्रति दया और वैराग्य होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया ।
एतत् तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥ १५ ॥

सत्यका त्याग और दुष्टोंका साथ करनेसे मात्सर्यदोषकी उत्पत्ति होती है। तात ! श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा और संगति करनेसे उसका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥ १६ ॥

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्यका अभिमान होनेसे देहाभिमानी मनुष्योंपर मद सवार हो जाता है; परंतु इनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर वह मद तत्काल उतर जाता है ॥ १६ ॥

ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते ।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ १७ ॥

मनमें कामना होनेसे तथा दूसरे प्राणियोंकी हँसी-खुशी देखनेसे ईर्ष्याकी उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धिके द्वारा उसका नाश होता है ॥ १७ ॥

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः ।
कुत्सा संजायते राजँल्लोकान् प्रेक्ष्याभिशाम्यति ॥

राजन् ! समाजसे बहिष्कृत हुए नीच मनुष्योंके द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनोंको सुनकर भ्रममें पड़ जानेसे निन्दा करनेकी आदत होती है; परंतु श्रेष्ठ पुरुषोंको देखनेसे वह शान्त हो जाती है ॥ १८ ॥

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे ।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते ॥ १९ ॥

जो लोग अपनी बुराई करनेवाले बलवान् मनुष्यसे बदला लेनेमें असमर्थ होते हैं, उनके हृदयमें तीव्र असूया (दोषदर्शन-की प्रवृत्ति) पैदा होती है, परंतु दयाका भाव जाग्रत् होनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा ।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥ २० ॥

सदा कृपण मनुष्योंको देखनेसे अपनेमें भी दैन्यभाव—कंजूसीका भाव पैदा होता है; धर्मनिष्ठ पुरुषोंके उदार भावको जान लेनेपर वह कंजूसीका भाव नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा ।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥ २१ ॥

प्राणियोंका भोगोंके प्रति जो लोभ देखा जाता है, वह अज्ञानके ही कारण है। भोगोंकी क्षणभङ्गुरताको देखने और जाननेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश ।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश ॥ २२ ॥
त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात् ॥ २३ ॥

कहते हैं, ये तेरहों दोष शान्ति धारण करनेसे जीत लिये जाते हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये सभी दोष मौजूद थे और तुम सत्यको ग्रहण करना चाहते हो; इसलिये तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवनसे इन सबपर विजय प्राप्त कर ली ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभनिरूपणे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें लोभनिरूपणविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुषके लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा ।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! सदा श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवन और दर्शनसे मैं इस बातको तो जानता हूँ कि कोमलतापूर्ण बर्ताव कैसे किया जाता है ? परंतु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मोंका मुझे विशेष ज्ञान नहीं है ॥ १ ॥

कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः ।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥ २ ॥

जैसे मनुष्य रास्तेमें मिले हुए काँटों, कुओं और आगको बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस कर्म करनेवाले पुरुषको भी दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ २ ॥

नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत ।
तस्मात् त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥ ३ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! नृशंस मनुष्य इस लोक और पर-लोकमें भी सदा ही शोककी आगसे जलता रहता है; अतः

आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्मका यथार्थ परिचय दीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम् ।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते स च ॥ ४ ॥
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः ।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥ ५ ॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा ।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥ ६ ॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः ।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जिसके मनमें बड़ी घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसाप्रधान कुत्सित कर्मोंको आरम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरोंकी निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपनेको दैवसे वञ्चित समझता और पापमें प्रवृत्त होता है, दिये हुए दानका बारंबार बखान करता है, जिसके मनमें विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करनेवाला, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला और शठ है, भोग्य वस्तुओंको दूसरोंको दिये बिना ही अकेले भोगता है, जिसके भीतर अभिमान भरा हुआ है, जो विषयोंमें आसक्त और अपनी प्रशंसाके लिये व्यर्थ ही बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला है, जिसके मनमें सबके प्रति संदेह बना रहता है, जो कौएकी तरह वञ्चक दृष्टि रखनेवाला है, जिसमें कृपणता कूट-कूटकर भरी है, जो अपने ही वर्गके लोगोंकी प्रशंसा करता, सदा आश्रमोंसे द्वेष रखता और वर्णसंकरता फैलाता है, सदा हिंसाके लिये ही जिसका घूमना-फिरना होता है, जो गुणको भी अवगुणके समान समझता और बहुत झूठ बोलता है, जिसके मनमें उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करनेवाला कहा गया है ॥ ४–७ ॥

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति ।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुषको ही पापी मानता है और अपने स्वभावको आदर्श मानकर किसीपर विश्वास नहीं करता है ॥ ८ ॥

परेषां यत्र दोषः स्यात् तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत् ।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥ ९ ॥

जहाँ दूसरोंकी बदनामी होती हो, वहाँ उनके गुप्त दोषोंको भी प्रकट कर देता है और अपने तथा दूसरेके अपराध बराबर होनेपर भी वह आजीविकाके लिये दूसरेका ही सर्वनाश करता है ॥ ९ ॥

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम् ।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥ १० ॥

जो उसका उपकार करता है, उसको वह अपने जालमें फँसा हुआ समझता है और उपकारीको भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिये बहुत समयतक पश्चात्ताप करता रहता है ॥ १० ॥

भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत् साधु भोजनम् ।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य दूसरोंके देखते रहनेपर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य तथा दूसरे-दूसरे भोज्य पदार्थोंको अकेला ही खा जाता है, उसको भी नृशंस ही कहना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते ।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥ १२ ॥

जो पहले ब्राह्मणको देकर पीछे अपने सुहृदोंके साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोकमें अनन्त सुख भोगता है और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः ।
सदा विवर्जनीयो हि पुरुषेण विजानता ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्यका परिचय दिया गया है । विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह सदा उससे बचकर रहे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें नृशंसका वर्णनविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके पापों और उनके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

भीष्म उवाच

हृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः ।
आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च ॥ १ ॥
एते वै साधवो दृष्टा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदोंका पारंगत विद्वान् ब्राह्मण यदि यज्ञ करनेवाला हो तथा उसका धन चोर चुरा ले गये हों तो राजाका कर्तव्य है कि वह उसे आचार्यकी दक्षिणा देने, पितरोंका श्राद्ध करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेके लिये धन दे । भरतनन्दन ! ये श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रायः धर्मके लिये धनकी भिक्षा माँगते देखे गये हैं । इन्हें दान और विद्याध्ययनके लिये धन देना चाहिये ॥ १-२ ॥

अन्यत्र दक्षिणादानं देयं भरतसत्तम ।

अन्येभ्योऽपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं विधीयते ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे भिन्न परिस्थितिमें ब्राह्मणको केवल दक्षिणा देनी चाहिये और ब्राह्मणेतर मनुष्योंको भी यज्ञ-वेदीसे बाहर कच्चा अन्न देनेका विधान है ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
अन्योन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा ॥ ४ ॥

राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंको उनकी योग्यताके अनुसार सब प्रकारके रत्नोंका दान करे; क्योंकि ब्राह्मण ही वेद एवं बहुसंख्यक दक्षिणावाले यज्ञरूप हैं। अपनी सम्पत्तिके अनुसार समस्त कार्योंका आयोजन करनेवाले वे ब्राह्मण सदा आपसमें मिलकर गुणयुक्त यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ ४ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ५ ॥

जिस ब्राह्मणके पास अपने पालनीय कुटुम्बीजनोंके भरण-पोषणके लिये तीन वर्षतक उपभोगमें आने लायक पर्याप्त धन हो अथवा उससे भी अधिक वैभव विद्यमान हो, वही सोमपानका अधिकारी है—उसे ही सोमयागका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ॥ ५ ॥

यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादंशेनैकेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ६ ॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात् तस्य तद् वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥ ७ ॥

यदि धर्मात्मा राजाके रहते हुए किसी यज्ञकर्ताका, विशेषतः ब्राह्मणका यज्ञ धनके बिना अधूरा रह जाय—उसके एक अंशकी पूर्ति शेष रह जाय तो राजाको चाहिये कि उसके राज्यमें जो बहुत पशुओं तथा वैभवसे सम्पन्न वैश्य हो, यदि वह यज्ञ तथा सोमयागसे रहित हो तो उसके कुटुम्बसे उस धनको यज्ञके लिये ले ले ॥ ६-७ ॥

आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किञ्चिदस्ति परिग्रहः ॥ ८ ॥

किंतु राजा अपनी इच्छाके अनुसार शूद्रके घरसे थोड़ा-सा भी धन न ले आवे; क्योंकि यज्ञोंमें शूद्रका किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ९ ॥

जिस वैश्यके पास एक सौ गौएँ हों और वह अग्निहोत्र न करता हो तथा जिसके पास एक हजार गौएँ हों और वह यज्ञ न करता हो, उन दोनोंके कुटुम्बोंसे राजा बिना विचारे ही धन उठा लावे ॥ ९ ॥

अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा ।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः ॥ १० ॥

जो धन रहते हुए उसका दान न करते हों, ऐसे लोगोंके इस दोषको विख्यात करके राजा सदा धर्मके लिये उनका धन ले ले, ऐसा आचरण करनेवाले राजाको सम्पूर्ण धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नतः ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रकार मैं अन्नके विषयमें जो बातें बता रहा हूँ, उसे सुनो । यदि ब्राह्मण अन्नाभावके कारण लगातार छः समयतक उपवास कर जाय तो उस अवस्थामें वह किसी निकृष्ट कर्म करनेवाले मनुष्यके घरसे उतने धनका अपहरण कर सकता है, जिससे उसके एक दिनका भोजन चल जाय और दूसरे दिनके लिये कुछ बाकी न रहे ॥ ११ ॥

खलात् क्षेत्रात् तथा रामाद् यतो वाप्युपपद्यते ।
आख्यातव्यं नृपस्यैतत् पृच्छतेऽपृच्छतेऽपि वा ॥ १२ ॥

खलिहानसे, खेतसे, बगीचेसे अथवा जहाँसे भी अन्न मिल सके, वहींसे वह भोजनमात्रके लिये अन्न उठा लावे और उसके बाद राजा पूछे या न पूछे, उसके पास जाकर अपनी वह बात उसे कह दे ॥ १२ ॥

न तस्मै धारयेद् दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित् ।
क्षत्रियस्य तु बालिश्याद् ब्राह्मणः क्लिश्यते क्षुधा ॥ १३ ॥

उस दशामें धर्मज्ञ राजा धर्मके अनुसार उसे दण्ड न दे; क्योंकि क्षत्रिय राजाकी नादानीसे ही ब्राह्मणको भूखका कष्ट उठाना पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत् ।
अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४ ॥

राजा उसके शास्त्रज्ञान और स्वभावका परिचय प्राप्त करके उसके लिये उचित आजीविकाकी व्यवस्था करे और जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह उस ब्राह्मणकी रक्षा करे ॥ १४ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् ॥ १५ ॥

प्रतिवर्ष किये जानेवाले आग्रयण आदि यज्ञ यदि न किये जा सके हों तो उनके बदले प्रतिदिन वैश्वानरी इष्टि समर्पित करे । मुख्य कर्मके स्थानमें जो गौण कार्य किया जाता है, उसका नाम अनुकल्प है, धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा बताया गया अनुकल्प भी परम धर्म ही है ॥ १५ ॥

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः ॥ १६ ॥

क्योंकि विश्वेदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षि—इन सब लोगोंने मृत्युसे डरकर आपत्कालके विषयमें प्रत्येक विधिका प्रतिनिधि नियत कर दिया है ॥ १६ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पे न वर्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १७ ॥

जो मुख्य विधिके अनुसार कर्म करनेमें समर्थ होकर भी गौण विधिसे काम चलाता है, उस दुर्बुद्धि मनुष्यको पारलौकिक फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

न ब्राह्मणो निवेदेत किंचिद् राजनि वेदवित् ।
स्ववीर्याद् राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मणको चाहिये कि वह राजाके निकट अपनी आवश्यकता निवेदन न करे; क्योंकि ब्राह्मणकी अपनी शक्ति तथा राजाकी शक्तिमेंसे उसकी अपनी ही शक्ति प्रबल है ॥

तस्माद् राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम् ।
कर्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते ॥ १९ ॥

अतः ब्रह्मवादियोंका तेज राजाके लिये सदा दुःसह है । ब्राह्मण इस जगत्‌का कर्ता, शासक, धारण-पोषण करनेवाला और देवता कहलाता है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद् गिरम् ।
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ २० ॥
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः ।

अतः उसके प्रति अमङ्गलसूचक बात न कहे । रूखे वचन न बोले । क्षत्रिय अपने बाहुबलसे, वैश्य और शूद्र धनके बलसे तथा ब्राह्मण मन्त्र एवं हवनकी शक्तिसे अपनी विपत्तिसे पार हो सकता है ॥ २०½ ॥

नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः ॥ २१ ॥
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा ।

न कन्या, न युवती, न मन्त्र न जाननेवाला, न मूर्ख और न संस्कारहीन पुरुष ही अग्निमें हवन करनेका अधिकारी है ॥ २१½ ॥

नरकं निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत् ।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥ २२ ॥

यदि ये हवन करते हैं तो स्वयं तो नरकमें पड़ते ही हैं, जिसका वह यज्ञ है, वह भी नरकमें गिरता है। अतः जो यज्ञ-कर्ममें कुशल और वेदोंका पारङ्गत विद्वान् हो, वही होता हो सकता है ॥ २२ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः ॥ २३ ॥

जो अग्निहोत्र आरम्भ करके प्रजापति देवताके लिये अश्वरूप दक्षिणाका दान नहीं करता, धर्मदर्शी पुरुष उसे अनाहिताग्नि[1] कहते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन ॥ २४ ॥

मनुष्य जो भी पुण्यकर्म करे, उसे श्रद्धापूर्वक और जितेन्द्रिय भावसे करे । पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी तरह यज्ञ न करे ॥ २४ ॥

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः ।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ॥ २५ ॥

बिना दक्षिणाका यज्ञ प्रजा और पशुका नाश करता है और स्वर्गकी प्राप्तिमें भी विघ्न डाल देता है । इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय, यश, कीर्ति तथा आयुको भी क्षीण करता है ॥

उदक्यामासते ये च द्विजाः केचिदनग्नयः ।
होमं चाश्रोत्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिणः ॥ २६ ॥

जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्रीके साथ समागम करते हैं, जिन्होंने घरमें अग्निकी स्थापना नहीं की है तथा जो अवैदिक रीतिसे हवन करते हैं, वे सभी पापाचारी हैं ॥ २६ ॥

उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
उषित्वा द्वादश समाः शूद्रकर्मैव गच्छति ॥ २७ ॥

जिस गाँवमें एक ही कुएँका पानी सब लोग पीते हैं, वहाँ बारह वर्षोंतक निवास करनेसे तथा शूद्रजातिकी स्त्रीके साथ विवाह कर लेनेसे ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है ॥ २७ ॥

अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विजः ।
अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठतः ।
तथा संशुध्यते राजञ्शृणु चात्र वचो मम ॥ २८ ॥

यदि ब्राह्मण अपनी पत्नीके सिवा दूसरी स्त्रीको शय्यापर बिठा ले अथवा बड़े-बूढ़े शूद्रको या ब्राह्मणेतर—क्षत्रिय या वैश्यको सम्मान देता हुआ ऊँचे आसनपर बैठाकर स्वयं चटाईपर बैठे तो वह ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है । राजन् ! उसकी शुद्धि जिस प्रकार होती है, वह मुझसे सुनो ॥ २८ ॥

यदेकरात्रेण करोति पापं
निकृष्टवर्णं ब्राह्मणः सेवमानः ।
स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स
त्रिभिर्वर्षैः शमयेदात्मपापम् ॥ २९ ॥

यदि ब्राह्मण एक रात भी किसी नीच वर्णके मनुष्यकी सेवा करे अथवा उसके साथ एक जगह रहे या एक आसनपर बैठे तो इससे जो पाप लगता है, उसको वह तीन वर्षोंतक व्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरनेसे दूर कर सकता है ॥ २९ ॥

न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ ३० ॥

राजन् ! परिहासमें, स्त्रीके पास, विवाहके अवसरपर, गुरुके हितके लिये अथवा अपने प्राण बचानेके उद्देश्यसे बोला गया असत्य हानिकारक नहीं होता । इन पाँच अवसरोंपर असत्य बोलना पाप नहीं बताया गया है॥ ३० ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात् ।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥ ३१ ॥

नीच वर्णके पुरुषके पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये और सोना अपवित्र स्थानमें भी पड़ा हो तो उसे बिना हिचकिचाहटके उठा लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

[1] जिसने अग्निकी स्थापना नहीं की है, उसे 'अनाहिताग्नि' कहा जाता है । तात्पर्य यह कि उक्त दक्षिणा दिये बिना उसके द्वारा की हुई अग्निस्थापना व्यर्थ हो जाती है ।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् ।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥ ३२ ॥

नीच कुलसे भी उत्तम स्त्रीको ग्रहण कर ले, विषके स्थानसे भी अमृत मिले तो उसे पी ले; क्योंकि स्त्रियाँ, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषणीय नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां संकरेषु च ।
वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः ॥ ३३ ॥

गौ और ब्राह्मणोंका हित, वर्णसंकरताका निवारण तथा अपनी रक्षा करनेके लिये वैश्य भी हथियार उठा सकता है ॥

सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा ।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा ॥ ३४ ॥

मदिरापान, ब्रह्महत्या तथा गुरुपत्नीगमन—इन महापापोंसे छूटनेके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है । किसी भी उपायसे अपने प्राणोंका अन्त कर देना ही उन पापोंका प्रायश्चित्त होगा, ऐसी विद्वानोंकी धारणा है ॥ ३४ ॥

सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वं चेति पातकम् ।
विहरन् मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि ॥ ३५ ॥
पतितैः सम्प्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा ।
अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत ॥ ३६ ॥

सुवर्णकी चोरी, अन्य वस्तुओंकी चोरी तथा ब्राह्मणका धन छीन लेना—यह महान् पाप है । महाराज ! मदिरापान और अगम्या स्त्रीके साथ गमन करनेसे, पतितोंके साथ सम्पर्क रखनेसे तथा ब्राह्मणेतर होकर ब्राह्मणीके साथ समागम करनेसे स्वेच्छाचारी पुरुष शीघ्र ही पतित हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद् यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ३७ ॥

पतितके साथ रहनेसे, उसका यज्ञ करानेसे और उसे पढ़ानेसे मनुष्य एक वर्षमें पतित हो जाता है; परंतु उसकी संतानके साथ अपनी संतानका विवाह करनेसे, एक सवारी या एक आसन-पर बैठनेसे तथा उसके साथमें भोजन करनेसे वह एक वर्षमें नहीं, किंतु तत्काल पतित हो जाता है ॥ ३७ ॥

एतानि हित्वातोऽन्यानि निर्देश्यानीति भारत ।
निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत् ॥ ३८ ॥

भरतनन्दन ! उपर्युक्त पाप अनिर्देश्य (प्रायश्चित्तरहित) कहे गये हैं । इन्हें छोड़कर और जितने पाप हैं, वे निर्देश्य हैं—शास्त्रमें उनका प्रायश्चित्त बताया गया है । उसके अनुसार प्रायश्चित्त करके पापका व्यसन छोड़ देना चाहिये ॥ ३८ ॥

अन्नं वीर्यं ग्रहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते ।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणाम् ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त (शराबी, ब्रह्महत्यारा और गुरुपत्नीगामी) तीन पापियोंके मरनेपर उनकी दाहादिक क्रिया किये बिना ही कुटुम्बी-जनोंको उनके अन्न और धनपर अधिकार कर लेना चाहिये । इसमें कुछ अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

अमात्यान् वा गुरून् वापि जह्याद् धर्मेण धार्मिकः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणैर्नैतैरर्हति संविदम् ॥ ४० ॥

धार्मिक राजा अपने मन्त्री और गुरुजनोंको भी पतित हो जानेपर धर्मानुसार त्याग दे और जबतक ये अपने पापोंका प्रायश्चित्त न कर लें, तबतक इनके साथ बातचीत न करे ॥ ४० ॥

अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम् ।
ब्रुवन् स्तेन इति स्तेनं तावत् प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ ४१ ॥

पापाचारी मनुष्य यदि धर्माचरण और तपस्या करे तो अपने पापको नष्ट कर देता है । चोरको 'यह चोर है' ऐसा कह देनेमात्रसे चोरके बराबर पापका भागी होना पड़ता है ॥

अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात् ।
त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती ॥ ४२ ॥

जो चोर नहीं है, उसको चोर कह देनेसे मनुष्यको चोरसे दूना पाप लगता है । कुमारी कन्या यदि अपनी इच्छासे चरित्रभ्रष्ट हो जाय तो उसे ब्रह्महत्याका तीन चौथाई पाप भोगना पड़ता है ॥ ४२ ॥

यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः ।
ब्राह्मणानवगर्ह्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत् ॥ ४३ ॥

और जो उसे कलंकित करनेवाला पुरुष है, वह शेष एक चौथाई पापका भागी होता है । इस जगत्में ब्राह्मणोंको गाली देकर या उन्हें तिरस्कारपूर्वक धक्के देकर हटानेसे मनुष्यको बड़ा भारी पाप लगता है ॥ ४३ ॥

वर्षाणां हि शतं तावत् प्रतिष्ठां नाधिगच्छति ।
सहस्रं चैव वर्षाणां निपत्य नरकं वसेत् ॥ ४४ ॥

सौ वर्षोंतक तो उसे प्रेतकी भाँति भटकना पड़ता है, कहीं भी ठहरनेके लिये ठौर नहीं मिलता । फिर एक हजार वर्षोंतक उसे नरकमें गिरकर रहना पड़ता है ॥ ४४ ॥

तस्मान्नैवावगर्ह्येत नैव जातु निपातयेत् ।
शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णीयाद् द्विजक्षतात् ॥ ४५ ॥
तावतीः स समा राजन् नरके प्रतिपद्यते ।

अतः न ब्राह्मणको गाली दे और न उसे कभी धरतीपर गिरावे । राजन् ! ब्राह्मणके शरीरमें घाव हो जानेपर उससे निकला हुआ रक्त धूलके जितने कणोंको भिगोता है, उसे चोट पहुँचानेवाला मनुष्य उतने ही वर्षोंतक नरकमें पड़ा रहता है ॥ ४५½ ॥

भ्रूणहाऽऽहवमध्ये तु शुद्ध्यते शस्त्रपाततः ॥ ४६ ॥
आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते ।

गर्भके बच्चेकी हत्या करनेवाला यदि युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे मर जाय तो उसकी शुद्धि हो जाती है अथवा प्रज्वलित अग्निमें कूदकर अपने आपको होम दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४६½ ॥

सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद् विमुच्यते॥ ४७ ॥
तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः ॥ ४८ ॥

मदिरा पीनेवाला पुरुष यदि मदिराको खूब गरम करके पी ले तो पापसे छुटकारा पा जाता है, अथवा उससे शरीर जल जानेके कारण उसकी मृत्यु हो जाय तो वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर ही वह ब्राह्मण शुद्ध लोकोंको प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७-४८ ॥

गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः।
स्त्र्याकारां प्रतिमां लिंग्य मृत्युना सोऽभिशुद्ध्यति ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाला दुरात्मा पुरुष यदि गुरुपत्नी-गमनका पाप कर बैठे तो वह लोहेकी गरम की हुई नारी-प्रतिमाका आलिङ्गन करके प्राण दे देनेपर ही उस पापसे शुद्ध होता है ॥ ४९ ॥

अथवा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम् ॥५०॥
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत् स त्वजिह्मगः।
ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान् संत्यजेत् तेन शुद्ध्यति॥५१॥

अथवा अपने शिश्न और अण्डकोषको स्वयं ही काटकर अञ्जलिमें ले सीधे नैर्ऋत्यदिशाकी ओर जाता हुआ गिर पड़े या ब्राह्मणके लिये प्राणोंका परित्याग कर दे तो शुद्ध हो जाता है॥

अश्वमेधेन वापीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते ॥ ५२ ॥

अथवा अश्वमेधयज्ञ, गोसव नामक यज्ञ या अग्निष्टोम यज्ञके द्वारा भलीभाँति यजन करके वह इहलोक तथा परलोकमें पूजित होता है ॥ ५२ ॥

तथैव द्वादशसमाः कपाली ब्रह्महा भवेत्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन् मुनिः ॥ ५३ ॥
एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत्।

ब्रह्महत्या करनेवाला मनुष्य उस मरे हुए ब्राह्मणकी खोपड़ी लेकर अपना पापकर्म लोगोंको सुनाता रहे और बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सबेरे, शाम तथा दोपहर तीनों समय स्नान करे। इस प्रकार वह तपस्यामें संलग्न रहे। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है ॥ ५३½ ॥

एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत् ॥ ५४ ॥
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत्।

इसी तरह जो जान-बूझकर गर्भिणी स्त्रीकी हत्या करता है, उसे उस गर्भिणी-वधके कारण दो ब्रह्महत्याओंका पाप लगता है॥

सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम्।
ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्त्वा शौचमाप्नुयात् ॥ ५६ ॥

मदिरा पीनेवाला मनुष्य मिताहारी और ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करे। इस तरह तीन वर्षोंतक रहनेके बाद 'अग्निष्टोम' यज्ञ करे। तत्पश्चात् एक हजार बैल या इतनी ही गौएँ ब्राह्मणोंको दान दे तो वह शुद्ध हो जाता है ॥५५-५६॥

वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशतं च गाः।
शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः ॥ ५७ ॥

यदि वैश्यकी हत्या कर दे तो दो वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमसे रहनेके बाद एक सौ बैल और एक सौ गौओंका दान करे तथा शूद्रकी हत्या कर देनेपर हत्यारेको एक वर्षतक पूर्वोक्त नियमसे रहकर एक बैल और सौ गौओंका दान करना चाहिये ॥ ५७ ॥

श्ववराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत्।
मार्जारचाषमण्डूकान् काकं व्यालं च मूषिकम्॥ ५८ ॥
उक्तः पशुसमो दोषो राजन् प्राणिनिपातनात्।

कुत्ते, सूअर और गदहोंकी हत्या करके मनुष्य शूद्रवध-सम्बन्धी व्रतका ही आचरण करे। राजन्! बिल्ली, नीलकण्ठ, मेढक, कौआ, साँप और चूहा आदि प्राणियोंको मारनेसे भी उक्त पशुवधके ही समान पाप बताया गया है ॥ ५८½ ॥

प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५९ ॥
अल्पे वाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत्।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते ॥ ६० ॥
काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
एवमेव निराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति ॥ ६१ ॥

अब दूसरे प्रायश्चित्तोंका भी क्रमशः वर्णन करता हूँ। अनजानमें कीड़ों-मकोड़ोंका वध आदि छोटा पाप हो जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करे। इतनेहीसे उसकी शुद्धि हो जाती है। गोवधके सिवा अन्य जितने उपपातक हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिये एक-एक वर्षतक व्रतका आचरण करे। श्रोत्रियकी पत्नीसे व्यभिचार करनेपर तीन वर्षतक और अन्य परस्त्रियोंसे समागम करनेपर दो वर्षोंतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे। अपने लिये पृथक् स्थान और आसनकी व्यवस्था रखते हुए घूमता रहे। दिनमें तीन बार जलसे स्नान करे। ऐसा करनेसे ही वह अपने उपर्युक्त पापोंका निवारण कर सकता है। जो अग्निको भ्रष्ट करता है, उसके लिये भी यही प्रायश्चित्त है ॥ ५९-६१ ॥

त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्।
पतितः स्यात्स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः ॥ ६२ ॥
ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम्।
(ब्रह्मचारी द्विजेभ्यश्च दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते।)

कुरुनन्दन! जो अकारण ही पिता, माता और गुरुका परित्याग करता है, वह पतित हो जाता है। उसे केवल अन्न और वस्त्र दे और पैतृकसम्पत्तिसे वञ्चित कर दे। वह ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए ब्राह्मणोंको दान दे (और पिता-माता आदिका पूर्ववत् आदर करने लगे) तो उस पापसे मुक्त हो जाता है, यही धर्मशास्त्रोंका निर्णय है ॥ ६२½ ॥

भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः ।
यत् पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम् ॥ ६३ ॥

यदि पत्नीने व्यभिचार किया हो और विशेषतः इस कार्यमें पकड़ ली गयी हो तो परायी स्त्रीसे व्यभिचार करनेवाले पुरुषके लिये जो प्रायश्चित्तरूप व्रत बताया गया है, वही उससे भी करावे ॥ ६३ ॥

श्रेयांसं शयनं हित्वा यान्यं पापं निगच्छति ।
श्वभिस्तामर्दयेद् राजा संस्थाने बहुविस्तरे ॥ ६४ ॥

जो अपने श्रेष्ठ पतिको छोड़कर अन्य पापीकी शय्यापर जाती है, उस कुलटाको अत्यन्त विस्तृत मैदानमें खड़ी करके राजा कुत्तोंसे नोचवा डाले ॥ ६४ ॥

पुमांसमुन्नयेत् प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ६५ ॥
एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृव्यतिक्रमात् ।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत् ॥ ६६ ॥
द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनि ।
कुचरः पञ्चवर्षाणि चरेद् भैक्ष्यं मुनिव्रतः ॥ ६७ ॥

इसी तरह व्यभिचारी पुरुषको बुद्धिमान् राजा लोहेकी तपायी हुई खाटपर सुलाकर ऊपरसे लकड़ी रख दे और आग लगा दे, जिससे वह पापी उसीमें जलकर भस्म हो जाय। महाराज ! पतिकी अवहेलना करके परपुरुषोंसे व्यभिचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये भी यही दण्ड है, उपर्युक्त कहे हुएमें जिन दुष्टोंके लिये प्रायश्चित्त बताया है, उनके लिये यह भी विधान है कि एक वर्षके भीतर प्रायश्चित्त न करनेपर दुष्ट पुरुषको दूना दण्ड प्राप्त होना चाहिये। जो मनुष्य दो, तीन, चार या पाँच वर्षोंतक उस पतित पुरुषके संसर्गमें रहे, वह मुनिजनोचित व्रत धारण करके उतने ही वर्षोंतक पृथ्वीपर घूमता हुआ भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ६५–६७ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते ।
पाणिग्रहास्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः॥ ६८ ॥

ज्येष्ठ भाईका विवाह होनेसे पहले ही यदि छोटा भाई अधर्मपूर्वक विवाह कर ले तो ज्येष्ठको 'परिवित्ति' कहते हैं। छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं और उसकी पत्नीको जिसका परिवेदन (ग्रहण) किया जाता है, परिवेदनीया कहते हैं, ये सबके सब पतित माने गये हैं ॥ ६८ ॥

चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत् ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये ॥ ६९ ॥

इन तीनोंको पृथक्-पृथक् अपनी शुद्धिके लिये उसी व्रतका आचरण करना चाहिये, जो यज्ञहीन ब्राह्मणके लिये बताया गया है अथवा एक मासतक चान्द्रायण या कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत करे ॥ ६९ ॥

परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये ।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनन्तरम् ।
एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च सा चैव धर्मतः ॥ ७० ॥

परिवेत्ता पुरुष उस नववधूको पतोहूके रूपमें ज्येष्ठ भाईको सौंप दे और ज्येष्ठ भाईकी आज्ञा मिलनेपर छोटा भाई उसे पत्नीरूपमें ग्रहण करे। ऐसा करनेपर वे तीनों धर्मके अनुसार पापसे छुटकारा पाते हैं ॥ ७० ॥

अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति ।
अधिष्ठातारमन्तारं पशूनां पुरुषं विदुः ॥ ७१ ॥

पशु जातियोंमें गौओंको छोड़कर अन्य किसीकी अनजानमें हिंसा हो जाय तो वह दोषावह नहीं मानी जाती; क्योंकि मनुष्यको पशुओंका अधिष्ठाता एवं पालक माना गया है ॥ ७१ ॥

परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम् ।
चरेत् सप्तगृहान्नित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ७२ ॥
तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात्स शुद्ध्यति।
चरेत् संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति ॥ ७३ ॥

गोवध करनेवाला पापी उस गायकी पूँछको इस प्रकार धारण करे कि उसका बाल ऊपरकी ओर रहे। फिर मिट्टीका पात्र हाथमें लेकर प्रतिदिन सात घरोंमें भिक्षा माँगे और अपने पापकर्मकी बात कहकर लोगोंको सुनाता रहे। उन्हीं सात घरोंकी भिक्षामें जो अन्न मिल जाय, वही खाकर रहे। ऐसा करनेसे वह बारह दिनोंमें शुद्ध हो जाता है। यदि पाप अधिक हो तो एक वर्षतक उस व्रतका अनुष्ठान करे, जिससे वह अपने पापको नष्ट कर देता है ॥ ७२-७३ ॥

भवेत्तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ।
दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत् प्रकल्पयेत् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके लिये परम उत्तम प्रायश्चित्तका विधान है। उनमें जो दान करनेमें समर्थ हों, उनके लिये दानकी भी विधि है। यह सब प्रायश्चित्त विचारपूर्वक करना चाहिये ॥ ७४ ॥

अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते ।
श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च ॥ ७५ ॥
मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति ।

अनास्तिक पुरुषोंके लिये एक गोदानमात्र ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है। कुत्ते, सूअर, मनुष्य, मुर्गे और गदहेके मांस और मल-मूत्र खा लेनेपर द्विजका पुनः संस्कार होना चाहिये ॥ ७५½ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमादाय सोमपः ॥ ७६ ॥
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ७७॥

सोमपान करनेवाला ब्राह्मण यदि किसी शराबीकी गन्ध भी सूँघ ले तो वह तीन दिनोंतक गरम जल पीकर रहे, फिर तीन दिन गरम दूध पीये। तीन दिन गरम दूध पीनेके बाद तीन दिनतक केवल वायु पीकर रहे। इससे वह शुद्ध हो जाता है ॥ ७६-७७ ॥

एवमेतत् समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम् ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन सम्भवेत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार यह सनातन प्रायश्चित्त सबके लिये बताया गया है। ब्राह्मणके लिये इसका विशेषरूपसे विधान है। अनजानमें जो पाप बन जाय, उसीके लिये प्रायश्चित्त है॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पापोंके प्रायश्चित्तकी विधिविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७८½ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

खड्गकी उत्पत्ति और प्राप्तिकी परम्पराकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कथाप्रसङ्गकी समाप्तिके समय अवसर पाकर खड्गयुद्धविशारद नकुलने बाणशय्यापर सोये हुए पितामह भीष्मसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

नकुल उवाच

धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवात्र पितामह।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः ॥ २ ॥

नकुल बोले—धर्मज्ञ पितामह! यद्यपि इस जगत्में धनुष अत्यन्त श्रेष्ठ अस्त्र समझा जाता है, तथापि मुझे तो अत्यन्त तीखा खड्ग ही अच्छा जान पड़ता है ॥ २ ॥

विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

राजन्! जब धनुष टूट जाय और घोड़े भी नष्ट हो जायँ तब भी युद्धस्थलमें खड्गके द्वारा अपने शरीरकी भलीभाँति रक्षा की जा सकती है ॥ ३ ॥

शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम् ॥ ४ ॥

एक ही खड्गधारी वीर धनुष, गदा और शक्ति धारण करनेवाले बहुत-से योद्धाओंको बाधा देनेमें समर्थ है ॥ ४ ॥

अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च।
किंस्वित् प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ! इस विषयमें मेरे मनमें संशय और अत्यन्त कौतूहल भी हो रहा है कि सम्पूर्ण युद्धोंमें कौन-सा आयुध श्रेष्ठ है?॥ ५ ॥

कथं चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च।
पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह ॥ ६ ॥

पितामह! खड्गकी उत्पत्ति कैसे और किस प्रयोजनके लिये हुई? किसने इसे उत्पन्न किया? खड्गयुद्धका प्रथम आचार्य कौन था? यह सब मुझे बताइये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः।
स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसम्मतम् ॥ ७ ॥
ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम्।
शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत ॥ ८ ॥
उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! जनमेजय! बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलकी वह बात कौशलयुक्त तो थी ही, सूक्ष्म तथा विचित्र अर्थसे भी सम्पन्न थी। उसे सुनकर बाणशय्यापर सोये हुए धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ भीष्मने शिक्षाप्राप्त महामनस्वी द्रोणशिष्य नकुलको सुन्दर स्वर एवं वर्णोंसे युक्त वाणीमें इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७–९ ॥

भीष्म उवाच

तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत् परिपृच्छसि।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—माद्रीनन्दन! तुम जो यह प्रश्न कर रहे हो, इसका तत्त्व सुनो। मैं तो खूनसे लथपथ हो गेरूधातुसे रँगे हुए पर्वतके समान पड़ा हुआ था। तुमने यह प्रश्न करके मुझे जगा दिया ॥ १० ॥

सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम्।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम् ॥ ११ ॥

तात! पूर्वकालमें यह सम्पूर्ण जगत् जलके एकमात्र महासागरके रूपमें था। उस समय इसमें कम्पन नहीं था। आकाशका पता नहीं था। भूतलका कहीं नाम भी नहीं था॥११॥

तमसाऽऽवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम्।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः ॥ १२ ॥

सब कुछ अन्धकारसे आवृत था। शब्द और स्पर्शका भी अनुभव नहीं होता था। वह एकार्णव देखनेमें बड़ा गम्भीर था। उसकी कहीं सीमा नहीं थी, उसीमें पितामह ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १२ ॥

सोऽसृजद् वातमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान्।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतीम् ॥ १३॥

उन शक्तिशाली पितामहने वायु, अग्नि और सूर्यकी सृष्टि की। आकाश, ऊपर, नीचे, भूमि तथा राक्षससमूहकी भी रचना की ॥ १३ ॥

नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
संवत्सरानृतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ।१४।

चन्द्रमा तथा तारोंसहित आकाश, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर,

ऋतु, मास, पक्ष, लव और क्षणोंकी सृष्टि भी उन्होंने ही की ॥ १४ ॥

ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः ।
जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः ॥ १५ ॥
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर भगवान् ब्रह्माने लौकिक शरीर धारण करके मुनिवर मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अङ्गिरा तथा स्वभाव एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न रुद्र—इन तेजस्वी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १५-१६ ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याषष्टिमजीजनत् ।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे ॥ १७ ॥

प्रचेताओंके पुत्र दक्षने साठ कन्याओंको जन्म दिया । उन सबको प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्मर्षियोंने पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च ॥ १८ ॥
पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च महोरगाः ।
तथा पक्षिगणाः सर्वे जलस्थलविचारिणः ॥ १९ ॥
उद्भिदः स्वेदजाश्चैव साण्डजाश्च जरायुजाः ।
जज्ञे तात जगत् सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

उन्हीं कन्याओंसे समस्त प्राणी, देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, नाना प्रकारके राक्षस, पशु, पक्षी, मत्स्य, वानर, बड़े-बड़े नाग, जल और स्थलमें विचरनेवाले सब प्रकारके पक्षिगण, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज प्राणी उत्पन्न हुए । तात ! इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ॥ १८–२० ॥

भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयुयुजे ततः ॥ २१ ॥

सर्वलोकपितामह ब्रह्माने इन समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करके उनके ऊपर वेदोक्त सनातनधर्मके पालनका भार रक्खा ॥ २१ ॥

तस्मिन् धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः ।
आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुदश्विनः ॥२२॥

आचार्य और पुरोहितगणोंसहित देवता, आदित्य, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण तथा अश्विनीकुमार— ये सभी उस सनातन धर्ममें प्रतिष्ठित हुए ॥ २२ ॥

भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपोधनाः ।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ ॥ २३ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा ।
घृतपाः सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः ॥ २४ ॥
अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयो वाग्नियोनयः ।
वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने ॥ २५ ॥

भृगु, अत्रि और अङ्गिरा—ये सिद्ध मुनि, तपस्याके धनी काश्यपगण, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, देवर्षि नारद, पर्वत, वालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतप (घी पीकर रहनेवाले), सोमप (सोमपान करनेवाले), वायव्य (वायु पीकर रहनेवाले), मरीचिप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) और वैश्वानर तथा अकृष्ट (बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए अन्नसे जीविका चलानेवाले), हंसमुनि (संन्यासी), अग्निसे उत्पन्न होनेवाले ऋषिगण, वानप्रस्थ और पृश्निगण—ये सभी महात्मा ब्रह्माजीकी आज्ञाके अधीन रहकर सनातनधर्मका पालन करने लगे ॥ २३–२५ ॥

दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत् पितामहशासनम् ।
धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः ॥ २६ ॥

परंतु दानवेश्वरोंने क्रोध और लोभसे युक्त हो ब्रह्माजीकी उस आज्ञाका उल्लङ्घन करके धर्मको हानि पहुँचाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः ।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च विराधो नमुचिर्बलिः ॥ २७ ॥
एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः ।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः ॥ २८ ॥

हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, विराध, नमुचि और बलि—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य और दानव अपने दलके साथ धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्म करनेका ही दृढ़ निश्चय लेकर आमोद-प्रमोदमें जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २७-२८ ॥

सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा वयम् ।
इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे सभी दैत्य कहते थे कि 'हम और देवता एक ही जातिके हैं; अतः जैसे देवता हैं, वैसे हम हैं ।' इस प्रकार जातीय धर्मका आश्रय लेकर दैत्यगण देवर्षियोंके साथ स्पर्धा रखने लगे ॥ २९ ॥

न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन ! वे न तो प्राणियोंका प्रिय करते थे और न उनपर दयाभाव ही रखते थे । वे साम, दाम और भेद— इन तीनों उपायोंको लाँघकर केवल दण्डके द्वारा समस्त प्रजाओंको पीड़ा देने लगे ॥ ३० ॥

न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः ।
अथ वै भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके ।
शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते ॥ ३२ ॥

वे असुरश्रेष्ठ घमण्डमें भरकर उन प्रजाओंके साथ बातचीत भी नहीं करते थे । तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसहित भगवान् ब्रह्मा हिमालयके सुरम्य शिखरपर उपस्थित हुए । वह इतना ऊँचा था कि आकाशके तारे उसपर विकसित कमलके समान जान पड़ते थे । उसका विस्तार सौ योजनका

था ! वह मणियों तथा रत्नसमूहोंसे व्याप्त था ॥ ३१-३२ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने ।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये ॥ ३३ ॥

बेटा नकुल ! जहाँके वृक्ष और वन फूलोंसे भरे हुए थे, उस श्रेष्ठ पर्वतशिखरपर सुरश्रेष्ठ ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत्का कार्य सिद्ध करनेके लिये ठहर गये ॥ ३३ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत् प्रभुः ।
विधिना कल्पदृष्टेन यथावच्चोपपादितम् ॥ ३४ ॥
ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत् कर्मकर्तृभिः ।
समिद्भिः परिसंकीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः ॥ ३५ ॥
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलंकृतम् ।
वृतं देवगणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम् ॥ ३६ ॥
तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम् ।

तदनन्तर कई सहस्र वर्ष व्यतीत होनेपर भगवान् ब्रह्माने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार वहाँ एक यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञकुशल महर्षियों तथा अन्य कार्यकर्ताओंने यथावत् विधिके अनुसार उस यज्ञका सम्पादन किया। वहाँ यज्ञवेदियोंपर समिधाएँ फैली हुई थीं। जगह-जगह अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे थे। चमचमाते हुए सुवर्णनिर्मित यज्ञपात्र यज्ञमण्डपकी शोभा बढ़ाते थे। वह यज्ञमण्डल श्रेष्ठ देवताओं तथा सभासद् बने हुए महर्षियोंसे सुशोभित होता था ॥ ३४–३६½ ॥

तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम् ॥ ३७ ॥
चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम् ।
विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ एक अत्यन्त भयंकर घटना घटित हुई, जिसे मैंने ऋषियोंके मुँहसे सुना था। जैसे ताराओंके उगनेपर निर्मल आकाशमें चन्द्रमाका उदय हो, उसी प्रकार उस यज्ञ-मण्डपमें अग्निको इधर-उधर बिखेरकर एक भयंकर भूत प्रकट हुआ, ऐसा सुना जाता है ॥ ३७-३८ ॥

नीलोत्पलसवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम् ।
प्रांशुं सुदुर्धर्षतरं तथैव ह्यमितौजसम् ॥ ३९ ॥

उसके शरीरका रंग नीलकमलके समान श्याम था, दाढ़ें अत्यन्त तीखी दिखायी देती थीं और उसका पेट अत्यन्त कृश था। वह बहुत ऊँचा, परम दुर्धर्ष और अमित तेजस्वी जान पड़ता था ॥ ३९ ॥

तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुन्धरा ।
महोर्मिकलितावर्तश्चुक्षुभे स महोदधिः ॥ ४० ॥

उसके उत्पन्न होते ही धरती डोलने लगी, समुद्र क्षुब्ध हो उठा और उसमें उत्ताल तरंगोंके साथ भँवरें उठने लगीं॥

पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः ।
अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ ॥ ४१॥

आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, बड़े-बड़े उत्पात प्रकट होने लगे, वृक्ष स्वयं ही अपनी शाखाओंको गिराने लगे, सम्पूर्ण दिशाएँ अशान्त हो गयीं और अमङ्गलकारी वायु प्रचण्ड वेगसे बहने लगी ॥ ४१ ॥

मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात् तथा ।
ततः स तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम् ॥ ४२ ॥
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः ।

सभी प्राणी भयके मारे बारंबार व्यथित हो उठते थे। उस भयानक भूतको उपस्थित हुआ देख पितामह ब्रह्माने महर्षियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंसे कहा—॥ ४२½ ॥

मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान् ॥ ४३ ॥
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम् ।

'मैंने ही इस भूतका चिन्तन किया था। यह असि नामधारी प्रबल आयुध है। इसे मैंने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा तथा देव-द्रोही असुरोंके वधके लिये प्रकट किया है' ॥४३½॥

ततस्तद् रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः ॥ ४४ ॥
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः ।

तत्पश्चात् वह भूत उस रूपको त्यागकर तीस अङ्गुलसे कुछ बड़े खड्गके रूपमें प्रकाशित होने लगा। उसकी धार बड़ी तीखी थी। वह चमचमाता हुआ खड्ग काल और अन्तकके समान उद्यत प्रतीत होता था ॥ ४४½ ॥

ततः स शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे ॥ ४५ ॥
ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्णमधर्मप्रतिवारणम् ।

इसके बाद ब्रह्माजीने अधर्मका निवारण करनेमें समर्थ वह तीखी तलवार वृषभचिह्नित ध्वजावाले नीलकण्ठ भगवान् रुद्रको दे दी ॥ ४५½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसंस्तुतः ॥ ४६ ॥
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह ।
चतुर्बाहुः स्पृशन् मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि दिवाकरम् ४७

उस समय महर्षिगण रुद्रदेवकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तब अप्रमेयस्वरूप भगवान् रुद्रने वह तलवार लेकर एक दूसरा चतुर्भुज रूप धारण किया, जो भूतलपर खड़ा होकर भी अपने मस्तकसे सूर्यदेवका स्पर्श कर रहा था॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन् ।
विकुर्वन् बहुधा वर्णान् नीलपाण्डुरलोहितान् ॥ ४८ ॥

उसकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी, वह महान् चिह्न धारण किये हुए था। मुखसे आगकी लपटें छोड़ रहा था और अपने अङ्गोंसे नील, श्वेत तथा लोहित (लाल) अनेक प्रकारके रंग प्रकट कर रहा था ॥ ४८ ॥

बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम् ।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन् ॥ ४९ ॥
शुशुभातेऽतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले ।

उसने काले मृगचर्मको वस्त्रके रूपमें धारण कर रक्खा था, जिसमें सुवर्णनिर्मित तारे जड़े हुए थे। वह अपने ललाटमें सूर्यके समान एक तेजस्वी नेत्र धारण करता था। उसके सिवा काले और पिङ्गलवर्णके दो अत्यन्त निर्मल नेत्र और शोभा पा रहे थे ॥ ४९½ ॥

ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा ॥ ५० ॥
सम्प्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम् ।
त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम् ।
चचार विविधान् मार्गान् महाबलपराक्रमः ॥ ५१ ॥
विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया ।

तदनन्तर भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शूलपाणि भगवान् महादेव काल और अग्निके तुल्य तेजस्वी खड्गको तथा बिजलीसहित मेघके समान चमकीली तीन कोनोंवाली ढालको हाथमें लेकर भाँति-भाँतिके मार्गोंमें विचरने लगे और युद्ध करनेकी इच्छासे वह तलवार आकाशमें घुमाने लगे ॥ ५०-५१½ ॥

तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः ॥ ५२ ॥
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उस समय जोर-जोरसे गर्जते और महान् अट्टहास करते हुए रुद्रदेवका स्वरूप बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ५२½ ॥

तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया ॥ ५३ ॥
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः ।

भयानक कर्म करनेकी इच्छासे वैसा ही रूप धारण करनेवाले रुद्रदेवको देखकर समस्त दानव हर्ष और उत्साहमें भरकर उनके ऊपर टूट पड़े ॥ ५३½ ॥

अश्मभिश्चाभ्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः ॥ ५४ ॥
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः ।

कुछ लोग पत्थर बरसाने लगे, कुछ जलते लुआठे चलाने लगे, दूसरे भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे काम लेने लगे और कितने ही लोहनिर्मित छुरोंकी तीखी धारोंसे चोट करने लगे ॥ ५४½ ॥

ततस्तु दानवानीकं सम्प्रणेतारमच्युतम् ॥ ५५ ॥
रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च ।

तत्पश्चात् दानवदलने देखा कि देवसेनापतिका कार्य सँभालनेवाले उत्कट बलशाली रुद्रदेव युद्धसे पीछे नहीं हट रहे हैं, तब वे मोहित और विचलित हो उठे ॥ ५५½ ॥

चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम् ॥ ५६ ॥
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे ।

शीघ्रतापूर्वक पैर उठानेके कारण विचित्र गतिसे विचरण करनेवाले एकमात्र खड्गधारी रुद्रदेवको वे सब असुर सहस्रोंके समान समझने लगे ॥ ५६½ ॥

छिन्दन् भिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पोथयन्नपि॥५७॥
अचरद् वैरिसङ्घेषु दावाग्निरिव कक्षगः ।

जैसे सूखी लकड़ी और घास-फूँसमें लगा हुआ दावानल वनके समस्त वृक्षोंको जला देता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्र शत्रुसमुदायमें दैत्योंको मारते-काटते, चीरते-फाड़ते, घायल करते, छेदते तथा विदीर्ण और धराशायी करते हुए विचरने लगे ॥

असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः ॥ ५८ ॥
सम्प्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः ।

तलवारके वेगसे उन सबमें भगदड़ मच गयी। कितनोंकी भुजाएँ और जाँघें कट गयीं। बहुतोंके वक्षःस्थल विदीर्ण हो गये और कितनोंके शरीरोंसे आँतें बाहर निकल आयीं। इस प्रकार वे महाबली दैत्य मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥

अपरे दानवा भग्नाः खड्गपातावपीडिताः ॥ ५९ ॥
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः सम्प्रतिपेदिरे ।

दूसरे दानव तलवारकी चोटसे पीड़ित हो भाग खड़े हुए और एक दूसरेको डाँट बताते हुए उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण ली ॥ ५९½ ॥

भूमिं केचित् प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा ॥ ६० ॥
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन् ।

कितने ही धरतीमें घुस गये, बहुत-से पर्वतोंमें छिप गये, कुछ आकाशमें उड़ चले और दूसरे बहुत-से दानव पानीमें समा गये ॥ ६०½ ॥

तस्मिन् महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे ॥ ६१ ॥
बभूव भूः प्रतिभया मांसशोणितकर्दमा ।

वह अत्यन्त दारुण महान् युद्ध आरम्भ होनेपर पृथ्वीपर रक्त और मांसकी कीच जम गयी। जिससे वह अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः ॥ ६२ ॥
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः ।

महाबाहो ! खूनसे लथपथ होकर गिरी हुई दानवोंकी लाशोंसे ढकी हुई यह भूमि पलाशके फूलोंसे युक्त पर्वत-शिखरोंद्वारा आच्छादित-सी जान पड़ती थी ॥ ६२½ ॥

स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत् ॥ ६३ ॥
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः ।

दानवोंका वध करके जगत्‌में धर्मकी प्रधानता स्थापित करनेके पश्चात् भगवान् रुद्रदेवने उस रौद्र रूपको त्याग दिया। फिर वे कल्याणकारी शिव अपने मङ्गलमय रूपसे सुशोभित होने लगे ॥ ६३½ ॥

ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा ॥ ६४ ॥
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथार्चयन् ।

तत्पश्चात् सम्पूर्ण महर्षियों और देवताओंने उस अद्भुत विजयसे संतुष्ट हो देवाधिदेव महादेवकी पूजा की ॥ ६४½ ॥

ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम् ॥ ६५ ॥
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे ।

तदनन्तर भगवान् रुद्रने दानवोंके खूनसे रँगे हुए उस धर्मरक्षक खड्गको बड़े सत्कारके साथ भगवान् विष्णुके हाथमें दे दिया ॥ ६५½ ॥

विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवानपि ॥ ६६ ॥
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च ।

भगवान् विष्णुने मरीचिको, मरीचिने महर्षियोंको और महर्षियोंने इन्द्रको वह खड्ग प्रदान किया ॥ ६६½ ॥

महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥ ६७ ॥
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम् ।

बेटा ! फिर महेन्द्रने लोकपालोंको और लोकपालोंने सूर्य-पुत्र मनुको वह विशाल खड्ग दे दिया ॥ ६७½ ॥

ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ॥ ६८ ॥
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति ।

तलवार देकर उन्होंने मनुसे कहा—'तुम मनुष्योंके शासक हो; अतः इस धर्मगर्भित खड्गसे प्रजाका पालन करो ॥

धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात् ॥ ६९ ॥
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया ।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥ ७० ॥
व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात् ।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वादीनि निर्दिशेत् ॥ ७१ ॥

'जो लोग स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको सुख देनेके लिये धर्मकी मर्यादाका उल्लङ्घन करें, उन्हें न्यायपूर्वक पृथक्-पृथक् दण्ड देना । धर्मपूर्वक समस्त प्रजाकी रक्षा करना किसीके प्रति स्वेच्छाचार न करना । कटुवचनसे अपराधीका दमन करना 'वाग्दण्ड' कहलाता है। जिसमें अपराधीसे बहुत-सा सुवर्ण वसूल किया जाय, वह 'अर्थदण्ड' कहलाता है । शरीरके किसी अङ्गविशेषका छेदन करना 'काय-दण्ड' कहा गया है । किसी महान् अपराधके कारण अपराधीका जो वध किया जाता है, वह 'प्राणदण्ड' के रूपमें प्रसिद्ध है । ये चारों दण्ड तलवारके दुर्निवार या दुर्धर्षरूप हैं । यह बात समस्त प्रजाको बता देनी चाहिये ॥ ६९–७१ ॥

असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात् ।
स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः ॥ ७२ ॥
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम् ।
क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः ॥ ७३ ॥

'जब प्रजाके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन हो जाय तो खड्गके द्वारा प्रमाणित (साधित) होनेवाले इन दण्डोंका यथा-योग्य प्रयोग करके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ।' ऐसा कहकर लोकपालोंने अपने पुत्र प्रजापालक मनुको विदा कर दिया । तत्पश्चात् मनुने प्रजाकी रक्षाके लिये वह खड्ग क्षुपको दे दिया । क्षुपसे इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकुसे पुरूरवाने उस तलवार-को ग्रहण किया ॥ ७२–७३ ॥

आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि ।
ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान् ॥ ७४ ॥

पुरूरवासे आयुने, आयुसे नहुषने, नहुषसे ययातिने और ययातिसे पूरुने इस भूतलपर वह खड्ग प्राप्त किया ॥७४॥

अमूर्तरयसस्तस्मात्ततो भूमिशयो नृपः ।
भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम् ॥ ७५ ॥

पूरुसे अमूर्तरया, अमूर्तरयासे राजा भूमिशयने और भूमिशयसे दुष्यन्तकुमार भरतने उस खड्गको ग्रहण किया ॥

तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा ।
ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुन्धुमारो नरेश्वरः ॥ ७६ ॥

राजन् ! उनसे धर्मज्ञ ऐलविलने वह तलवार प्राप्त की । ऐलविलसे वह महाराज धुन्धुमारको मिली ॥ ७६ ॥

धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत् ।
मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः ॥ ७७ ॥
रैवताद् युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः ।
इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि ।
उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद् भोजः स यादवः ॥ ७९ ॥
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः ।
प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोऽष्टकादपि ॥ ८० ॥

धुन्धुमारसे काम्बोजने, काम्बोजसे मुचुकुन्दने, मुचुकुन्दसे मरुत्तने, मरुत्तसे रैवतने, रैवतसे युवनाश्वने, युवनाश्वसे इक्ष्वाकुवंशी रघुने, रघुसे प्रतापी हरिणाश्वने, हरिणाश्वसे शुनकने, शुनकसे धर्मात्मा उशीनरने, उशीनरसे यदुवंशी भोजने, यदुवंशियोंसे शिबिने, शिबिसे प्रतर्दनने, प्रतर्दनसे अष्टकने तथा अष्टकसे पृषदश्वने वह तलवार प्राप्त की ॥

पृषदश्वाद् भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात् कृपस्ततः ।
ततस्त्वं भ्रातृभिः सार्धं परमासिमवाप्तवान् ॥ ८१ ॥

पृषदश्वसे भरद्वाजवंशी द्रोणाचार्यने और द्रोणाचार्यसे कृपाचार्यने खड्गविद्या प्राप्त की । फिर कृपाचार्यसे भाइयों-सहित तुमने उस उत्तम खड्गका उपदेश प्राप्त किया है ॥८१॥

कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम् ।
रोहिणी गोत्रमस्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तमः ॥ ८२ ॥

उस 'असि' का नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि है, गोत्र रोहिणी है तथा उत्तम गुरु रुद्रदेव हैं ॥ ८२ ॥

असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे ।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम् ॥ ८३ ॥

पाण्डुनन्दन ! असिके आठ गोपनीय नाम हैं । उन्हें मेरे मुँहसे सुनो । उन नामोंका कीर्तन करनेवाला पुरुष युद्धमें विजय प्राप्त करता है ॥ ८३ ॥

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च ॥ ८४ ॥

१. असि, २. विशसन, ३. खड्ग, ४. तीक्ष्णधार, ५. दुरासद, ६. श्रीगर्भ, ७. विजय और ८. धर्मपाल—ये ही वे आठ नाम हैं ॥ ८४ ॥

अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत ।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गतः ॥ ८५ ॥
(एतानि चैव नामानि पुराणे निश्चितानि वै ।)

माद्रीनन्दन ! खड्ग सब आयुधोंमें श्रेष्ठ है । भगवान् रुद्रने सबसे पहले इसका संचालन किया था । पुराणमें इसकी श्रेष्ठताका निश्चय किया गया है । उपर्युक्त सारे नाम पुराणोंमें निश्चितरूपसे कहे गये हैं ॥ ८५ ॥

पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिंदमः ।

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि ।
धर्मेण च यथापूर्वं वैन्येन परिरक्षिता ॥ ८६ ॥

शत्रुदमन पृथुने सबसे पहले धनुषका उत्पादन किया था और उन्होंने ही इस पृथ्वीसे नाना प्रकारके शस्यों (अन्नके बीजों) का दोहन किया था। उन वेनकुमार पृथुने पहलेके ही समान धर्मपूर्वक इस पृथ्वीकी रक्षा की थी ॥

तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि ।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदैः ॥ ८७ ॥

माद्रीनन्दन ! यह ऋषियोंका बताया हुआ मत है। तुम्हें इसे प्रमाण मानकर इसपर विश्वास करना चाहिये। युद्धविशारद पुरुषोंको सदा ही खड्गकी पूजा करनी चाहिये ॥

इत्येष प्रथमः कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरात् ।
असेरुत्पत्तिसंसर्गो यथावद् भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने असि (खड्ग) की उत्पत्तिका प्रसङ्ग तुम्हें विस्तारपूर्वक और यथावत्‌रूपसे बताया है ! इससे यह सिद्ध हुआ कि खड्ग ही आयुधोंमें सबसे प्रथम प्रकट हुआ है ॥ ८८ ॥

सर्वथैतदिदं श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम् ।
लभते पुरुषः कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ८९ ॥

खड्गप्राप्तिका यह उत्तम प्रसङ्ग सब प्रकारसे सुनकर पुरुष इस संसारमें कीर्ति पाता है और देहत्यागके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गोत्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें खड्गकी उत्पत्तिका कथनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८९½ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्म, अर्थ और कामके विषयमें विदुर तथा पाण्डवोंके पृथक्-पृथक् विचार तथा अन्तमें युधिष्ठिरका निर्णय

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिरने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजीसे प्रश्न किया— ॥ १ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता ।
तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः ॥ २ ॥

'लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ और कामकी ओर होती है। इन तीनोंमें कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है ? ॥ २ ॥

कस्मिंश्चात्मा नियन्तव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै ।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥

'इन तीनोंपर विजय पानेके लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिये। आप सब लोग हर्ष और उत्साहके साथ इस प्रश्नका यथावत्‌रूपसे उत्तर दें और वही बात कहें, जिसपर आपकी पूरी आस्था हो' ॥ ३ ॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान् ।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

तब अर्थकी गति और तत्त्वको जाननेवाले प्रतिभाशाली विदुरजीने धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा ।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! बहुत-से शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्माकी सम्पत्ति हैं ॥ ५ ॥

एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मनः ।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! तुम इन्हींको प्राप्त करो। इनकी ओरसे तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थकी जड़ ये ही हैं। मेरे मतमें ये ही परम पद हैं ॥ ६ ॥

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥ ७ ॥

धर्मसे ही ऋषियोंने संसार-समुद्रको पार किया है। धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई है और धर्ममें ही अर्थकी भी स्थिति है ॥ ७ ॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

राजन् ! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थको मध्यम बताया जाता है और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ॥ ९ ॥

अतः मनको वशमें करके धर्मको अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः ।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीकी बात समाप्त होनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले अर्थशास्त्रविशारद अर्जुनने युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर कहा ॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।

कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्म-भूमि है। यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँतिके शिल्प—ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं॥ ११॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः॥ १२॥

अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है। अर्थके बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुतिका कथन है॥ १२॥

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः॥ १३॥

धनवान् मनुष्य धनके द्वारा उत्तम धर्मका पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये दुर्लभ कामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥ १४॥

श्रुतिका कथन है कि धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं। अर्थकी सिद्धिसे उन दोनोंकी भी सिद्धि हो जायगी॥ १४॥

तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते॥ १५॥

जैसे सब प्राणी सदा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जातिके मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुषकी उपासना किया करते हैं॥ १५॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक्॥ १६॥

जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीरमें पङ्क धारण किये मुण्डितमस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थकी अभिलाषा रखकर पृथक्-पृथक् निवास करते हैं॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः॥ १७॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः॥ १८॥

सब प्रकारके संग्रहसे रहित, संकोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धनकी अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पानेकी इच्छा रखते हैं और कुलपरम्परागत नियमोंका पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान कर रहे हैं; किंतु वे भी धनकी इच्छा रखते हैं॥ १७-१८॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता॥ १९॥

दूसरे बहुत-से आस्तिक-नास्तिक संयम-नियम-परायण पुरुष हैं, जो अर्थके इच्छुक होते हैं। अर्थकी प्रधानताको न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थकी प्रधानताका ज्ञान प्रकाशमय है॥ १९॥

भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः॥ २०॥

धनवान् वही है, जो अपने भृत्योंको उत्तम भोग और शत्रुओंको दण्ड देकर उनको वशमें रखता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जँचता है। अब आप इन दोनोंकी बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठतक आ गयी है अर्थात् ये दोनों भाई बोलनेके लिये उतावले हो रहे हैं॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम्।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम्॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की॥ २१॥

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि॥ २२॥

नकुल-सहदेव बोले—महाराज! मनुष्यको बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरहके उपायोंसे धनकी आयको सुदृढ़ बनाना चाहिये॥२२॥

अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः॥ २३॥

धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जानेपर मनुष्य संसारमें अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभीको प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है॥ २३॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह॥ २४॥

जो धन धर्मसे युक्त हो और जो धर्म धनसे सम्पन्न हो, वह निश्चितरूपसे आपके लिये अमृतके समान होगा, यह हम दोनोंका मत है॥ २४॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः॥ २५॥

निर्धन मनुष्यकी कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्यको धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थसे वञ्चित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं॥ २५॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि॥ २६॥

इसलिये मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धनका साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास

करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम् ।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥ २७ ॥

अतः सबसे पहले धर्मका आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धनका संग्रह करे । इसके बाद दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद् वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये । तब भीमसेनने इस तरह कहना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते ॥ २९ ॥

भीमसेन बोले—धर्मराज ! जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही । कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्गमें काम ही सबसे बढ़कर है ॥ २९ ॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः ।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥ ३० ॥

किसी-न-किसी कामनासे संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्यामें मन लगाते हैं । फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं । वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं ॥ ३० ॥

वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः ।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥ ३१ ॥

कामनासे ही लोग वेद और उपवेदोंका स्वाध्याय करते तथा उसमें पारङ्गत विद्वान् हो जाते हैं । कामनासे ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म, दान और प्रतिग्रहमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३१ ॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा ।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु ॥ ३२ ॥

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव-सम्बन्धी कार्य करनेवाले लोग भी कामनासे ही अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३२ ॥

समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः ।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन संततम् ॥ ३३ ॥

कामनासे युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्रमें भी घुस जाते हैं । कामनाके विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामनासे व्याप्त है ॥ ३३ ॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम् ।
एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ ॥ ३४ ॥

सभी प्राणी कामना रखते हैं । उससे भिन्न कामनारहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्यमें होगा ही; अतः यह काम ही त्रिवर्गका सार है । महाराज ! धर्म और अर्थ भी इसीमें स्थित हैं ॥ ३४ ॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः ।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः ॥ ३५ ॥

जैसे दहीका सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार काम है। जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घी है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनोंसे श्रेष्ठ काम है ॥ ३५ ॥

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः ।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः ॥ ३६ ॥

जैसे फूलसे उसका मधु-तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थसे काम श्रेष्ठ माना गया है । काम धर्म और अर्थका कारण है, अतः वह धर्म और अर्थरूप है ॥ ३६ ॥

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्था-
न्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः ।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा
तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥ ३७ ॥

बिना किसी कामनाके ब्राह्मण अच्छे अन्नका भी भोजन नहीं करते और बिना कामनाके कोई ब्राह्मणोंको धनका दान नहीं करते हैं । जगत्के प्राणियोंको जो नाना प्रकारकी चेष्टा होती है, वह बिना कामनाके नहीं होती; अतः त्रिवर्गमें कामका ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है ॥ ३७ ॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभि-
र्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः ।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं
कामो हि राजन् परमो भवेन्नः ॥ ३८ ॥

अतः राजन् ! आप कामका अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे विभूषित तथा देखनेमें मनोहर एवं मदमत्त युवतियोंके साथ विहार कीजिये । हमलोगोंको इस जगत्में कामको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य
मा भूद् विचारस्तव धर्मपुत्र ।
स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं
समेति वाक्यं परमानृशंसम् ॥ ३९ ॥

धर्मपुत्र ! मैंने गहराईमें पैठकर ऐसा निश्चय किया है । मेरे इस कथनमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये । मेरा यह वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छतारहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥ ४० ॥

मेरे विचारसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंका एक साथ ही सेवन करना चाहिये। जो इनमेंसे एकका ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दोके सेवनमें निपुण है, उसे मध्यम श्रेणीका बताया गया है और जो त्रिवर्गमें समानरूपसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है ॥ ४० ॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो
विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः।
ततो वचः संग्रहविस्तरेण
प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दनसारसे चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित भीमसेन उन वीर बन्धुओंसे संक्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो
वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक्।
उवाच वाचावितथं स्मयन् वै
लब्धश्रुतो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥

जिन्होंने महात्माओंके मुखसे धर्मका उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक पूर्व वक्ताओंके वचनोंपर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः
सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्य-
मुक्तं यद् वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि
वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! इसमें संदेह नहीं कि आपलोग धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निश्चयपर पहुँच चुके हैं। आपलोगोंको प्रमाणोंका भी ज्ञान प्राप्त है। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिये मेरे सामने यहाँ आपलोगोंने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यानसे सुना है। अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बातको भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये ॥ ४३ ॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो
विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥ ४४ ॥

जो न पापमें लगा हो और न पुण्यमें, न तो अर्थोपार्जनमें तत्पर हो न धर्ममें, न काममें ही। वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित मनुष्य दुःख और सुखको देनेवाली सिद्धियोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टीके ढेले और सोनेमें उसका समान भाव हो जाता है ॥ ४४ ॥

भूतानि जातिस्मरणात्मकानि
जराविकारैश्च समन्वितानि।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि
मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः ॥ ४५ ॥

जो पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाले तथा वृद्धावस्थाके विकारसे युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंके उपभोगसे निरन्तर पीड़ित हो मुक्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, परंतु हमलोग उस मोक्षके विषयमें जानते ही नहीं हैं ॥ ४५ ॥

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च ॥ ४६ ॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीका कथन है कि जिसके मनमें आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं; अतः मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे ॥ ४६ ॥

एतत् प्रधानं च न कामकारो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते
विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे ॥ ४७ ॥

इस प्रकार विचार करना ही मोक्षका प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं। विधाताने मुझे जिस कार्यमें लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ। विधाता सभी प्राणियोंको विभिन्न कार्योंके लिये प्रेरित करता है। अतः आप सब लोगोंको ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है ॥ ४७ ॥

न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं
यद् भावि तद् वै भवतीति वित्त।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम् ॥ ४८ ॥

मनुष्य कर्मद्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है, वही होती है; इस बातको तुम सब लोग जान लो। मनुष्य त्रिवर्गसे रहित होनेपर भी आवश्यक पदार्थको प्राप्त कर लेता है; अतः मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत्का वास्तविक कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोऽनुगं
समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत्।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते
कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम् ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मनमें बैठनेवाली हुई। उसे पूर्णरूपसे समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे। उन सबने कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरको अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया ॥ ४९ ॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां
मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम्।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां
गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते ॥ ५० ॥

जनमेजय ! युधिष्ठिरकी उस वाणीमें किसी प्रकारका दोष नहीं था। वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यञ्जनके संनिवेशसे विभूषित तथा मनके अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओंने युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५० ॥

स चापि तान् धर्मसुतो महामना-
स्तदा प्रतीतान् प्रशशंस वीर्यवान्।
पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं
ततः परं धर्ममहीनचेतसम् ॥ ५१ ॥

पराक्रमी धर्मपुत्र महामना युधिष्ठिरने भी उन समस्त विश्वासपात्र नरेशों एवं बन्धुजनोंकी प्रशंसा की और पुनः उदारचेता गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास आकर उनसे उत्तम धर्मके विषयमें प्रश्न किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें षड्जगीताविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषोंके लक्षण तथा कृतघ्न गौतमकी कथाका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन।
प्रश्नं कञ्चित् प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कौरवकुलकी प्रीति बढ़ानेवाले महाज्ञानी पितामह ! मैं कुछ और प्रश्न आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ। मेरे उन प्रश्नोंका विवेचन कीजिये ॥

कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत्।
आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान् वदस्व मे ॥ २ ॥

सौम्य स्वभावके मनुष्य कैसे होते हैं ? किनके साथ प्रेम करना उत्तम होता है ? वर्तमान और भविष्यमें कौन-से मनुष्य उपकार करनेमें समर्थ होते हैं ? उन सबका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

न हि तत्र धनं स्फीतं न च सम्बन्धिबान्धवाः।
तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम ॥ ३ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि जिस स्थानपर सुहृद् खड़े होते हैं, वहाँ न तो प्रचुर धन काम दे सकता है और न सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव ही ठहर सकते हैं ॥ ३ ॥

दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
एतद् धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

हितकी बात सुननेवाला सुहृद् दुर्लभ है तथा हितकारी सुहृद् भी दुर्लभ ही है। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! इन सब प्रश्नोंका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

संधेयान् पुरुषान् राजन्नसंधेयांश्च तत्त्वतः।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर ! किनके साथ संधि (मित्रता) करनी चाहिये और किनके साथ नहीं ? यह बात मैं तुम्हें ठीक-ठीक बता रहा हूँ। तुम सब कुछ ध्यान देकर सुनो ॥ ५ ॥

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः ॥ ६ ॥
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ॥ ७ ॥
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ॥ ८ ॥
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ॥ ९ ॥
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः ॥ १० ॥
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः।
अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ॥ ११ ॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुध्यते।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी ॥ १२ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ॥ १३ ॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम् ॥ १४ ॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ॥ १५ ॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कदाचन।
छिद्रान्वेषी ह्यसंधेयः संधेयानपि मे शृणु ॥ १६ ॥

जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सबपर संदेह करनेवाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरुपत्नीगामी, संकटके समय साथ छोड़कर चल

देनेवाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पापपूर्ण दृष्टि डालनेवाला, नास्तिक, वेदोंकी निन्दा करनेवाला, इन्द्रियोंको खुला छोड़कर जगत्में इच्छानुसार विचरनेवाला, झूठा, सबके द्वेषका पात्र, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर न रहनेवाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धिवाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखनेवाला, दुष्ट स्वभाववाला, मनको वशमें न रखनेवाला, नृशंस, धूर्त, मित्रोंकी बुराई करनेवाला, सदा दूसरोंका धन लेनेकी इच्छा रखनेवाला, यथाशक्ति देनेवालेपर भी संतुष्ट न रहनेवाला, मन्दबुद्धि, मित्रको भी सदा धैर्यसे विचलित करनेवाला, असावधान, बेमौके क्रोध करनेवाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदोंको भी शीघ्र ही त्याग देनेवाला, अनजानमें थोड़ा-सा भी अपराध बन जानेपर मित्रका अनिष्ट करनेवाला, पापी, अपना काम बनानेके लिये ही मित्रोंसे मेल रखनेवाला, वास्तवमें मित्रद्वेषी, मुखसे मित्रताकी बातें करके भीतरसे शत्रुभाव रखनेवाला, कुटिल दृष्टिसे देखनेवाला, विपरीतदर्शी, भलाईसे कभी पीछे न हटनेवाले मित्रको भी त्याग देनेवाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरोंको सतानेवाला, मित्रद्रोही, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसारमें ऐसे मनुष्यके साथ कभी संधि नहीं करनी चाहिये। जो दूसरोंका छिद्र खोजता हो, वह भी संधि करनेके योग्य नहीं है। अब संधि करनेके योग्य पुरुषोंको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ६–१६ ॥

कुलीना वाक्यसम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः ॥ १७ ॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः।
माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥
व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बोलनेमें समर्थ, ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, रूपवान्, गुणवान्, लोभहीन, काम करनेसे कभी न थकनेवाले, अच्छे मित्रोंसे सम्पन्न, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभसे दूर रहनेवाले, मधुरस्वभाववाले, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सदा व्यायामशील, उत्तम कुलकी संतान, अपने कुलका भार वहन करनेमें समर्थ, दोषशून्य तथा लोकमें विख्यात हों, ऐसे मनुष्योंको राजा अपना मित्र बनावे ॥ १७–१९ ॥

यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद् विरागिणः।
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः ॥ २० ॥
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम् ॥ २१ ॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थे युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः ॥ २२ ॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः ॥ २३ ॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः संधिं कुरुते नृपः ॥ २४ ॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।

प्रभो ! जो अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करते और संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें बेमौके क्रोध नहीं आता, जो अकस्मात् स्नेहका त्याग नहीं करते, जो उदासीन हो जानेपर भी मनसे कभी बुराई नहीं चाहते, अर्थके तत्त्वको समझते हैं और अपनेको कष्टमें डालकर भी हितैषी पुरुषोंका कार्य सिद्ध करते हैं। जैसे रँगा हुआ ऊनी कपड़ा अपना रंग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जो मित्रकी ओरसे विरक्त नहीं होते हैं, जो क्रोधवश मित्रका अनर्थ करनेमें प्रवृत्त नहीं होते हैं तथा लोभ और मोहके वशीभूत हो मित्रकी युवतियोंपर अपनी आसक्ति नहीं दिखाते, जो मित्रके विश्वासपात्र और धर्मके प्रति अनुरक्त हैं, जिनकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला और सोना दोनों एक-से हैं, जो सदा सुहृदोंके प्रति सुस्थिर बुद्धि रखनेवाले हैं, सबके लिये प्रमाणभूत शास्त्रोंके अनुसार चलते हैं और प्रारब्धवश प्राप्त हुए धनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जो कुटुम्बका संग्रह रखते हुए सदा अपने सुहृद् एवं स्वामीके कार्य-साधनमें तत्पर रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ जो राजा संधि (मेल) करता है, उसका राज्य उसी तरह बढ़ता है, जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी २०-२४½

शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा ॥ २५ ॥
जन्मशीलगुणोपेताः संधेयाः पुरुषोत्तमाः।

जो प्रतिदिन शास्त्रोंका स्वाध्याय करते हैं, क्रोधको काबूमें रखते हैं और युद्धमें सदा प्रबल रहते हैं, जिनका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है, जो शीलवान् और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष ही मित्र बनानेके योग्य होते हैं ॥ २५½ ॥

ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ ॥ २६ ॥
तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः ॥ २७ ॥

निष्पाप नरेश ! मैंने जो दोषयुक्त मनुष्य बताये हैं, उन सबमें अधम होते हैं कृतघ्न ! वे मित्रोंकी हत्यातक कर डालते हैं। ऐसे दुराचारी नराधमोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये। यह सबका निश्चय है ॥ २६-२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाथ सम्बन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यः प्रोक्तस्तद् वदस्व मे ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने जिसे मित्रद्रोही और कृतघ्न कहा है, उसका यथार्थ इतिहास क्या है ? यह मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे बताइये ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप ॥ २९ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें एक पुराना इतिहास बता रहा हूँ। यह घटना उत्तरदिशामें म्लेच्छोंके देशमें घटित हुई थी ॥ २९ ॥

ब्राह्मणो मध्यदेशीयः कश्चिद् वै ब्रह्मवर्जितः।
ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष्यकाङ्क्षया ॥ ३० ॥

मध्यदेशका एक ब्राह्मण, जिसने वेद बिल्कुल नहीं पढ़ा था, कोई सम्पन्न गाँव देखकर उसमें भीख माँगनेके लिये गया ॥ ३० ॥

तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित्।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

उस गाँवमें एक धनी डाकू रहता था, जो समस्त वर्णोंकी विशेषताका जानकार था। उसके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति थी। वह सत्यप्रतिज्ञ और दानी था ॥ ३१ ॥

तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥ ३२ ॥
प्रादात् तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदशं नवम्।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने उसीके घर जाकर भिक्षाके लिये याचना की। दस्युने ब्राह्मणको रहनेके लिये एक घर देकर वर्षभर निर्वाह करनेके योग्य अन्नकी भिक्षाका प्रबन्ध कर दिया, उपयुक्त नया वस्त्र दिया और उसकी सेवामें एक युवती दासी भी दे दी, जो उस समय पतिसे रहित थी ॥ ३२-३३ ॥

एतत् सम्प्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा।
तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतमः ॥ ३४ ॥

राजन् ! दस्युसे ये सारी वस्तुएँ पाकर ब्राह्मण मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सुन्दर गृहमें दासीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ ३४ ॥

कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत्।
तत्रावसत् स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये ॥ ३५ ॥

वह दासीके कुटुम्बके लिये कुछ सहायता भी करने लगा। ब्राह्मणने भीलके उस समृद्धिशाली भवनमें अनेक वर्षों-तक निवास किया ॥ ३५ ॥

बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः।
चक्राङ्गान् स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान् ॥ ३६ ॥
जघान गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा।
हिंसापटुर्घृणाहीनः सदा प्राणिवधे रतः ॥ ३७ ॥

उसका नाम गौतम था। उसने बाण चलाकर लक्ष्य बेधनेका वहाँ बड़े यत्नके साथ अभ्यास किया। राजन् ! गौतम भी दस्युओंकी तरह प्रतिदिन जंगलमें सब ओर घूम-फिरकर हंसोंका शिकार करने लगा। वह हिंसामें बड़ा प्रवीण था। उसमें दया नहीं थी। वह सदा प्राणियोंको मारनेकी ही ताकमें लगा रहता था ॥ ३६-३७ ॥

गौतमः संनिकर्षेण दस्युभिः समतामियात्।
तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ॥ ३८ ॥
अगमन् बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून्।

डाकुओंके सम्पर्कमें रहनेसे गौतम भी उनके ही समान पूरा डाकू बन गया। डाकुओंके गाँवमें सुखपूर्वक रहकर प्रतिदिन बहुत-से पक्षियोंका शिकार करते हुए उसके कई महीने बीत गये ॥ ३८½ ॥

ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥ ३९ ॥
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः।
विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः ॥ ४० ॥

तदनन्तर एक दिन कोई दूसरा ब्राह्मण उस गाँवमें आया, जो जटा, वल्कल और मृगचर्म धारण किये हुए था। वह स्वाध्यायपरायण, पवित्र, विनयी, नियमके अनुकूल भोजन करनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ३९-४० ॥

स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः।
तं दस्युग्राममगमद् यत्रासौ गौतमोऽवसत् ॥ ४१ ॥

वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण गौतमके ही गाँवका निवासी तथा उसका परम प्रिय मित्र था और घूमता हुआ डाकुओंके उसी गाँवमें जा पहुँचा था, जहाँ गौतम निवास करता था ॥ ४१ ॥

स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः।
ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत् सर्वतोदिशम् ॥ ४२ ॥

वह शूद्रका अन्न नहीं खाता था; इसलिये दस्युओंसे भरे हुए उस गाँवमें ब्राह्मणके घरकी तलाश करता हुआ सब ओर घूमने लगा ॥ ४२ ॥

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः।
गौतमश्चापि सम्प्राप्तस्तावन्योन्येन संगतौ ॥ ४३ ॥

घूमता-घामता वह श्रेष्ठ ब्राह्मण गौतमके घरपर गया, इतनेहीमें गौतम भी शिकारसे लौटकर वहाँ आ पहुँचा। उन दोनोंकी एक दूसरेसे भेंट हुई ॥ ४३ ॥

चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम्।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ॥ ४४ ॥
तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम्।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने देखा, गौतमके कंधेपर मारे गये हंसकी लाश है, हाथमें धनुष और बाण है, सारा शरीर रक्तसे सींच उठा है, घरके दरवाजेपर आया हुआ गौतम नरभक्षी राक्षसके समान जान पड़ता है और ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुका है। उसे इस अवस्थामें घरपर आया देख ब्राह्मणने पहचान लिया। पहचानकर वे बड़े लज्जित हुए और उससे इस प्रकार बोले— ॥ ४४-४५ ॥

किमिदं कुरुषे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ॥ ४६ ॥

'अरे ! तू मोहवश यह क्या कर रहा है ? तू तो मध्यदेश-का विख्यात एवं कुलीन ब्राह्मण था। यहाँ डाकू कैसे बन गया ? ॥ ४६ ॥

पूर्वान् स्मर द्विज ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान्।
तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्मन् ! अपने पूर्वजोंको तो याद कर । उनकी कितनी ख्याति थी। वे कैसे वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और तू उन्हींके वंशमें पैदा होकर ऐसा कुलकलङ्क निकला ॥ ४७ ॥

अवबुध्यात्मनाऽऽत्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम् ।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ॥ ४८ ॥

'अब भी तो अपने-आपको पहचान ! तू द्विज है; अतः द्विजोचित सत्त्व, शील, शास्त्रज्ञान, संयम और दयाभावको याद करके अपने इस निवासस्थानको त्याग दे' ॥ ४८ ॥

स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा ।
प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्तवत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! अपने उस हितैषी सुहृद्के इस प्रकार कहनेपर गौतम मन-ही-मन कुछ निश्चय करके आर्त-सा होकर बोला—॥ ४९ ॥

निर्धनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम् ।
वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ ५० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं निर्धन हूँ और वेदको भी नहीं जानता; अतः द्विजप्रवर ! मुझे धन कमानेके लिये इधर आया हुआ समझें ॥ ५० ॥

त्वद्दर्शनात् तु विप्रेन्द्र कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज।
आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम् ॥ ५१ ॥

'विप्रेन्द्र ! आज आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया । ब्रह्मन् ! अब रातभर यहीं रहिये, कल सवेरे हम दोनों साथ ही चलेंगे' ॥ ५१ ॥

स तत्र न्यवसद् विप्रो घृणी किञ्चिदसंस्पृशन् ।
क्षुधितश्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत ॥ ५२ ॥

वह ब्राह्मण दयालु था। गौतमके अनुरोधसे उसके यहाँ ठहर गया, किंतु वहाँकी किसी भी वस्तुको हाथसे छुआ भी नहीं । यद्यपि वह भूखा था और भोजन करनेके लिये गौतमद्वारा उससे बड़ी अनुनय-विनय की गयी, तो भी किसी तरह वहाँका अन्न ग्रहण करना उसने स्वीकार नहीं किया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका समुद्रकी ओर प्रस्थान और संध्याके समय एक दिव्य बकपक्षीके घरपर अतिथि होना

भीष्म उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन् द्विजोत्तमे ।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत् समुद्रं प्रति भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! जब रात बीती, सवेरा हुआ और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँसे चला गया, तब गौतम भी घर छोड़कर समुद्रकी ओर चल दिया ॥ १ ॥

सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि ।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति ॥ २ ॥

रास्तेमें उसने देखा कि समुद्रके आसपास रहनेवाले कुछ व्यापारी वैश्य ठहरे हुए हैं । वह उन्हींके दलके साथ हो लिया और समुद्रकी ओर जाने लगा ॥ २ ॥

स तु सार्थो महान् राजन् कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत् ॥ ३ ॥

राजन् ! वैश्योंका वह महान् दल किसी पर्वतकी गुफामें डेरा डाले हुए था । इतनेहीमें एक मतवाले हाथीने उस-पर आक्रमण कर दिया । उस दलके अधिकांश मनुष्य उसके द्वारा मारे गये ॥ ३ ॥

स कथंचिद् भयात् तस्माद् विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा ।
कांदिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम् ॥ ४ ॥

गौतम ब्राह्मण किसी तरह उस भयसे छूट तो गया; परंतु उस घबराहटमें वह यह निर्णय न कर सका कि मुझे किस दिशामें जाना है ? अपने प्राण बचानेके लिये वह उत्तर दिशाकी ओर भाग चला ॥ ४ ॥

स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद् देशात् तथा च्युतः ।
एकाकी व्यचरत् तत्र वने किंपुरुषो यथा ॥ ५ ॥

व्यापारियोंके दलका साथ छूट गया, अतः उस देशसे भी भ्रष्ट होकर वह अकेला ही उस वनमें विचरने लगा; मानो कोई किंपुरुष घूम रहा हो ॥ ५ ॥

स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा ।
आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

उस समय समुद्रकी ओर जानेवाला एक मार्ग उसे मिल गया और उसीको पकड़कर वह दिव्य एवं रमणीय वनमें जा पहुँचा । वहाँके सभी वृक्ष सुन्दर फूलोंसे सुशोभित थे ॥ ६ ॥

सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम् ।
नन्दनोद्देशसदृशं यक्षकिन्नरसेवितम् ॥ ७ ॥

सभी ऋतुओंमें फूलने-फलनेवाली आम्रवृक्षोंकी पंक्तियाँ उस वनकी शोभा बढ़ा रही थीं । यक्षों और किन्नरोंसे सेवित वह प्रदेश नन्दनवनके समान मनोरम जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शालैस्तालैस्तमालैश्च कालागुरुवनैस्तथा ।
चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपैरुपशोभितम् ।
गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु ॥ ८ ॥
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा ।

शाल, ताल, तमाल, काले अगुरुके वन तथा श्रेष्ठ चन्दन-के वृक्ष उस वनको सुशोभित करते थे । वहाँके रमणीय और सुगन्धित पर्वतीय समतल प्रदेशोंमें चारों ओर उत्तमोत्तम पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ८½ ॥

मनुष्यवदनाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः ॥ ९ ॥
भूलिङ्गशकुनाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः ।

कहीं मनुष्योंके समान मुखवाले 'भारुण्ड' नामक पक्षी बोलते थे। कहीं समुद्रतट और पर्वतोंपर रहनेवाले भूलिङ्ग पक्षी तथा अन्य विहंगम चहचहा रहे थे ॥ ९½ ॥

स तान्यतिमनोज्ञानि विहगानां रुतानि वै ॥ १० ॥
शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रोऽगच्छत गौतमः ।

पक्षियोंके उन मधुर मनोहर एवं रमणीय कलरवोंको सुनता हुआ गौतम ब्राह्मण आगे बढ़ता चला गया ॥ १०½ ॥

ततोऽपश्यत् सुरम्येषु सुवर्णसिकताचिते ॥ ११ ॥
देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे नृप ।
श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधं च सुमण्डलम् ॥ १२ ॥
शाखाभिरनुरूपाभिर्भूयिष्ठं छत्रसंनिभम् ।
तस्य मूलं च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा ॥ १३ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर उन रमणीय प्रदेशोंमेंसे एक ऐसे स्थानपर जो सुवर्णमयी बालुकाराशिसे व्याप्त, समतल, सुखद, विचित्र तथा स्वर्गीय भूमिके समान मनोहर था, गौतमने एक अत्यन्त शोभायमान बरगदका विशाल वृक्ष देखा, जो चारों ओर मण्डलाकार फैला हुआ था। अपनी बहुत-सी सुन्दर शाखाओंके कारण वह वृक्ष एक महान् छत्रके समान जान पड़ता था। उसकी जड़ चन्दनमिश्रित जलसे सींची गयी थी ॥ ११—१३ ॥

दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत् पितामहसभोपमम् ।
तं दृष्ट्वा गौतमः प्रीतो मनःकान्तमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीकी सभाके समान शोभा पानेवाला वह वृक्ष दिव्य पुष्पोंसे सुशोभित था। उस परम उत्तम मनोरम वटवृक्षको देखकर गौतमको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १४ ॥

मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितैः पादपैर्वृतम् ।
तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत् ॥ १५ ॥

वह पवित्र, देवगृहके समान सुन्दर और खिले हुए वृक्षोंसे घिरा हुआ था। उस वृक्षके पास जाकर वह बड़े हर्षके साथ उसके नीचे छायामें बैठा ॥ १५ ॥

तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुखः शिवः ।
पुष्पाणि समुपस्पृश्य प्रववावनिलः शुभः ।
ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन! गौतमके वहाँ बैठते ही फूलोंका स्पर्श करके सुन्दर मन्द सुगन्ध वायु चलने लगी, जो बड़ी ही सुखद और कल्याणप्रद जान पड़ती थी। नरेश्वर! वह गौतमके सम्पूर्ण अङ्गोंको आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ १६ ॥

स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना ।
सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्ययात् ॥ १७ ॥

उस पवित्र वायुका स्पर्श पाकर गौतमको बड़ी शान्ति मिली। वह सुखका अनुभव करता हुआ वहीं लेट गया। उधर सूर्य भी डूब गया ॥ १७ ॥

ततोऽस्तं भास्करे याते संध्याकाल उपस्थिते ।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात् खगोत्तमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर, सूर्यके अस्ताचलको चले जानेके पश्चात् संध्याकाल उपस्थित होनेपर ब्रह्मलोकसे वहाँ एक श्रेष्ठ पक्षी आया। वह वृक्ष ही उसका घर या वासस्थान था ॥ १८ ॥

नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा ।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसम्भवः ॥ १९ ॥

वह महर्षि कश्यपका पुत्र और ब्रह्माजीका प्रिय सखा था। उसका नाम था नाडीजङ्घ। वह बगुलोंका राजा और महाबुद्धिमान था ॥ १९ ॥

राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि ।
देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान् देवसमप्रभः ॥ २० ॥

वह अनुपम पक्षी इस भूतलपर राजधर्माके नामसे विख्यात था। देवकन्यासे उत्पन्न होनेके कारण उसके शरीरकी कान्ति देवताके समान थी। वह बड़ा विद्वान् था और दिव्य तेजसे सम्पन्न दिखायी देता था ॥ २० ॥

मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसंनिभैः ।
भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन् ॥ २१ ॥

उसके अङ्गोंमें सूर्यदेवकी किरणोंके समान चमकीले आभूषण शोभा देते थे। वह देवकुमार अपने सभी अङ्गोंमें विशुद्ध एवं दिव्य आभरणोंसे विभूषित हो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान होता था ॥ २१ ॥

तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत ॥ २२ ॥

उस पक्षीको आया देख गौतम आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस समय वह भूखा-प्यासा तो था ही, रास्ता चलनेकी थकावटसे भी चूर-चूर हो रहा था। अतः राजधर्माको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर देखा ॥ २२ ॥

राजधर्मोवाच

स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम् ।
अस्तं च सविता यातः संध्येयं समुपस्थिता ॥ २३ ॥

राजधर्मा (पास आकर) बोला—विप्रवर! आपका स्वागत है। यह मेरा घर है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। यह संध्याकाल उपस्थित है ॥ २३ ॥

मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः ।
पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २४ ॥

आप मेरे घर आये हुए प्रिय एवं उत्तम अतिथि हैं। मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार आज आपकी पूजा करूँगा। रातमें मेरा आतिथ्य स्वीकार करके कल प्रातःकाल यहाँसे जाइयेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्ति पर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राजधर्माद्वारा आतिथ्यसत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्षके भवनमें प्रवेश

भीष्म उवाच

गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा ।
कौतूहलान्वितो राजन् राजधर्माणमैक्षत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पक्षीकी वह मधुर वाणी सुनकर गौतमको बड़ा आश्चर्य हुआ । वह कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे राजधर्माकी ओर देखने लगा ॥ १ ॥

राजधर्मोवाच

भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे ।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

राजधर्मा बोला—द्विजश्रेष्ठ ! मैं महर्षि कश्यपका पुत्र हूँ । मेरी माता दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं । आप गुणवान् अतिथि हैं, मैं आपका स्वागत करता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं वै समकल्पयत् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर राजधर्माने शास्त्रीय विधिके अनुसार गौतमका सत्कार किया । शालके फूलोंका आसन बनाकर उसे बैठनेके लिये दिया ॥ ३ ॥

भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान् ।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत् ॥ ४ ॥

राजा भगीरथके रथसे आक्रान्त हुए जिन भूभागोंमें श्रीगङ्गाजी प्रवाहित होती हैं, वहाँ गङ्गाजीके जलमें जो बड़े-बड़े मत्स्य विचरते हैं, उन्हींमेंसे कुछ मत्स्योंको लाकर राजधर्माने गौतमके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥ ४ ॥

वह्निं चापि सुसंदीप्तं मीनांश्चापि सुपीवरान् ।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः ॥ ५ ॥

कश्यपके उस पुत्रने अग्नि प्रज्वलित कर दी और मोटे-मोटे मत्स्य लाकर अपने अतिथि गौतमको अर्पित कर दिये ॥ ५ ॥

भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः ।
क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत् ॥ ६ ॥

वह ब्राह्मण उन मत्स्योंको पकाकर जब खा चुका और उसकी अन्तरात्मा तृप्त हो गयी, तब वह महातपस्वी पक्षी उसकी थकावट दूर करनेके लिये अपने पंखोंसे हवा करने लगा ॥६॥

ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत ।
सोऽब्रवीद् गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत् ॥ ७ ॥

विश्रामके पश्चात् जब वह बैठा, तब राजधर्माने उससे गोत्र पूछा । गौतमने कहा—'मेरा नाम गौतम है और मैं जातिसे ब्राह्मण हूँ ।' इससे अधिक कोई बात वह बता न सका ॥७॥

तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम् ।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात् स शिश्ये तत्र वै सुखम् ॥ ८ ॥

तब पक्षीने उसके लिये पत्तोंका दिव्य बिछावन तैयार किया, जो फूलोंसे अधिवासित होनेके कारण सुगन्धसे मँह-मँह महक रहा था । वह बिछावन उसे दिया और गौतम उसपर सुखपूर्वक सोया ॥ ८ ॥

अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तदा ।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम् ॥ ९ ॥

धर्मराज ! जब गौतम उस बिछौनेपर बैठा, तब बातचीतमें कुशल कश्यपकुमारने पूछा—'ब्रह्मन् ! आप इधर किसलिये आये हैं ?' ॥ ९ ॥

ततोऽब्रवीद् गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते ।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत ॥ १० ॥

भारत ! तब गौतमने उससे कहा—'महामते ! मैं दरिद्र हूँ और धनके लिये समुद्रतटपर जानेकी इच्छा लेकर घरसे चला हूँ' ॥ १० ॥

तं काश्यपोऽब्रवीत् प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्द्रव्यो यास्यसे गृहान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर राजधर्माने प्रसन्न होकर कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! अब आप वहाँतक जानेके लिये उत्सुक न हों, यहीं आपका काम हो जायगा । आप यहींसे धन लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ११ ॥

चतुर्विधा ह्यर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा ।
पारम्पर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो ॥ १२ ॥

'प्रभो ! बृहस्पतिजीके मतके अनुसार अर्थकी सिद्धि चार

प्रकारसे होती है—वंशपरम्परासे, प्रारब्धकी अनुकूलतासे, धनके लिये किये गये सकामकर्मसे और मित्रके सहयोगसे ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि ।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथार्थवान् ॥ १३ ॥

'मैं आपका मित्र हो गया हूँ, आपके प्रति मेरा सौहार्द बढ़ गया है; अतः मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे आपको अर्थकी प्राप्ति हो जायगी' ॥ १३ ॥

ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाब्रवीदिदम् ।
गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १४ ॥
इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान् ।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः ॥ १५ ॥

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब राजधर्माने ब्राह्मणके सुखका उपाय सोचकर इस प्रकार कहा—'सौम्य ! इस मार्गसे जाइये, आपका कार्य सिद्ध हो जायगा । यहाँसे तीन योजन दूर जानेपर जो नगर मिलेगा, वहाँ महाबली राक्षसराज विरूपाक्ष रहते हैं, वे मेरे महान् मित्र हैं ॥ १४-१५ ॥

तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः ।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः ॥ १६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आप उनके पास जाइये । वे मेरे कहनेसे आपको यथेष्ट धन देंगे और आपकी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण करेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ १६ ॥

इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो विगतक्लमः ।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः ॥ १७ ॥
चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च ।
तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ ॥ १८ ॥

राजन् ! उसके ऐसा कहनेपर गौतम वहाँसे चल दिया । उसकी सारी थकावट दूर हो चुकी थी । महाराज ! मार्गमें तेजपातोंके वनमें, जहाँ चन्दन और अगुरुके वृक्षोंकी प्रधानता थी, विश्राम करता और इच्छानुसार अमृतके समान मधुर फल खाता हुआ वह बड़ी तेजीसे आगे बढ़ता चला गया ॥

ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम् ।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्राकुलं तथा ॥ १९ ॥

चलते-चलते वह मेरुव्रज नामक नगरमें जा पहुँचा, जिसके चारों ओर पर्वतोंके टीले और पर्वतोंकी ही चहारदिवारी थी । उसका सदर फाटक भी एक पर्वत ही था । नगरकी रक्षाके लिये सब ओर शिलाकी बड़ी-बड़ी चट्टानें और मशीनें थीं ॥ १९ ॥

विदितश्चाभवत् तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ।
प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणः प्रियातिथिः ॥ २० ॥

परम बुद्धिमान् राक्षसराज विरूपाक्षको सेवकोंद्वारा यह सूचना दी गयी कि राजन् ! आपके मित्रने अपने एक प्रिय अतिथिको आपके पास भेजा है, वह बहुत प्रसन्न है ॥ २० ॥

ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान् प्रेष्यानाह युधिष्ठिर ।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! यह समाचार पाते ही राक्षसराजने अपने सेवकोंसे कहा—'गौतमको नगरद्वारसे शीघ्र यहाँ लाया जाय' ॥

ततः पुरवरात् तस्मात् पुरुषाः श्येनचेष्टनाः ।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन् ॥ २२ ॥

यह आदेश प्राप्त होते ही राजसेवक गौतमको पुकारते हुए बाजकी तरह झपटकर उस श्रेष्ठ नगरके फाटकपर आये ॥

ते तमूचुर्महाराज राजप्रेष्यास्तदा द्विजम् ।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ २३ ॥

महाराज ! राजाके उन सेवकोंने उस समय उस ब्राह्मणसे कहा—'ब्रह्मन् ! जल्दी कीजिये । शीघ्र आइये । महाराज आपसे मिलना चाहते हैं ॥ २३ ॥

राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः ।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत् क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ २४ ॥

'विरूपाक्ष नामसे प्रसिद्ध वीर राक्षसराज आपको देखनेके लिये उतावले हो रहे हैं; अतः आप शीघ्रता कीजिये' ॥ २४ ॥

ततः स प्राद्रवद् विप्रो विस्मयाद् विगतक्लमः ।
गौतमः परमर्द्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः ॥ २५ ॥

बुलावा सुनते ही गौतमकी थकावट दूर हो गयी । वह विस्मित होकर दौड़ पड़ा । राक्षसराजकी उस महासमृद्धिको देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था ॥ २५ ॥

तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत् ।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा ॥ २६ ॥

राक्षसराजके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये वह ब्राह्मण उन सेवकोंके साथ शीघ्र ही राजमहलमें जा पहुँचा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गौतमका राक्षसराजके यहाँसे सुवर्णराशि लेकर लौटना और अपने मित्र बकके वधका घृणित विचार मनमें लाना

भीष्म उवाच

ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम् ।
पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजाको उसके आगमनकी सूचना दी गयी और वह उनके उत्तम भवनमें प्रविष्ट हुआ । वहाँ राक्षसराजने उसका विधिवत् पूजन किया ।

तत्पश्चात् वह एक उत्तम आसनपर विराजमान हुआ ॥ १ ॥

पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम्।
न तत्र व्याजहारान्यद् गोत्रमात्रादृते द्विजः ॥ २ ॥

विरूपाक्षने गौतमसे उसके गोत्र, शाखा और ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक किये गये स्वाध्यायके विषयमें प्रश्न किया; परंतु उसने गोत्र (जाति) के सिवा और कुछ नहीं बताया ॥ २ ॥

ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत ॥ ३ ॥

तब ब्राह्मणोचित तेजसे हीन, स्वाध्यायसे उपरत, केवल गोत्र अथवा जातिका नाम जाननेवाले उस ब्राह्मणसे राजाने उसका निवासस्थान पूछा ॥ ३ ॥

राक्षस उवाच

क्व ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्वसस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

राक्षसराज बोले—भद्र ! तुम्हारा निवास कहाँ है ? तुम्हारी पत्नी किस गोत्रकी कन्या है ? यह सब ठीक-ठीक बताओ। भय न करो। मुझपर विश्वास करो और सुखसे रहो॥

गौतम उवाच

मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

गौतमने कहा—राक्षसराज ! मेरा जन्म तो हुआ है मध्यदेशमें, किंतु मैं एक भीलके घरमें रहता हूँ। मेरी स्त्री शूद्र जातिकी है और मुझसे पहले दूसरेकी पत्नी रह चुकी है। यह बात मैं आपसे सत्य ही कहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत्।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह सुनकर राक्षसराज मन-ही-मन विचार करने लगे कि अब किस तरह काम करना चाहिये ? कैसे मुझे पुण्य प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार उन्होंने बारंबार बुद्धि लगाकर सोचा और विचारा ॥ ६ ॥

अयं वै जन्मना विप्रः सुहृत् तस्य महात्मनः।
सम्प्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम् ॥ ७ ॥
तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः ॥ ८ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे, 'यह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण है; परंतु महात्मा राजधर्माका सुहृद् है। उन कश्यपकुमारने ही इसे यहाँ मेरे पास भेजा है; अतः उनका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। वह सदा मुझपर भरोसा रखता है और मेरा भाई, बान्धव तथा हार्दिक मित्र भी है ॥ ७-८ ॥

कार्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः।
तत्रायमपि भोक्ता च देयमस्मै च मे धनम् ॥ ९ ॥
स चाद्य दिवसः पुण्यो ह्यतिथिश्चायमागतः।
संकल्पितं चैव धनं किं विचार्यमतः परम् ॥ १० ॥

'आज कार्तिककी पूर्णिमा है। आजके दिन सहस्रों श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे यहाँ भोजन करेंगे। उन्हींमें यह भी भोजन कर लेगा, उन्हींके साथ इसे भी धन देना चाहिये। आज पुण्य दिवस है, यह ब्राह्मण अतिथिरूपसे यहाँ आया है और मैंने धन दान करनेका संकल्प कर ही रक्खा है। अब इसके बाद क्या विचार करना है ?' ॥ ९-१० ॥

ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलंकृतम्।
स्नातानामनुसम्प्राप्तं सुमहत् क्षौमवाससाम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भोजनके समय हजारों विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके रेशमी वस्त्र और अलंकार धारण किये वहाँ आ पहुँचे ॥११॥

तानागतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशाम्पते।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! विरूपाक्षने वहाँ पधारे हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया॥

बृस्यस्तेषां तु संन्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्।
भूमौ वरकुशाः स्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षसराजकी आज्ञासे सेवकोंने जमीनपर उनके लिये कुशके सुन्दर आसन बिछा दिये ॥ १३ ॥

तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः।
तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद् द्विजाः ॥ १४ ॥

राजाके द्वारा सम्मानित वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जब उन आसनोंपर विराजमान हो गये, तब विरूपाक्षने तिल, कुश और जल लेकर उनका विधिवत् पूजन किया ॥ १४ ॥

विश्वेदेवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः।
विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः।
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा ॥ १५ ॥

उनमें विश्वेदेवों, पितरों तथा अग्निदेवकी भावना करके उन सबको चन्दन लगाया, फूलोंकी मालाएँ पहनायीं और सुन्दर रीतिसे उनकी पूजा की। महाराज ! उन आसनोंपर बैठकर वे ब्राह्मण चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगे॥

ततो जाम्बूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः।
वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् उसने हीरोंसे जड़ी हुई सोनेकी स्वच्छ सुन्दर थालियोंमें घीसे बने हुए मीठे पकवान परोसकर उन ब्राह्मणोंके आगे रख दिये ॥ १६ ॥

तस्य नित्यं सदाऽऽषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः।
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा ॥ १७ ॥

उसके यहाँ आषाढ़ और माघकी पूर्णिमाको सदा बहुत-से ब्राह्मण सत्कारपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम भोजन पाते थे ॥ १७ ॥

विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः सम्प्रयच्छति।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः ॥ १८ ॥

विशेषतः कार्तिककी पूर्णिमाको, जब कि शरद्ऋतुकी

समाप्ति होती है, वह ब्राह्मणोंको रत्नोंका दान करता था; ऐसा सुननेमें आया है ॥ १८ ॥

सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ १९ ॥
वज्रान् महाधनांश्चैव वैदूर्याजिनराङ्कवान् ।
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत ॥ २० ॥
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः ।
गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः ॥ २१ ॥
येषु येषु च भाण्डेषु भुक्तं वो द्विजसत्तमाः ।
तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानीति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भोजनके पश्चात् ब्राह्मणोंके समक्ष बहुत-से सोने, चाँदी, मणि, मोती, बहुमूल्य हीरे, वैदूर्यमणि, रंकु-मृगके चर्म तथा रत्नोंके कई ढेर लगाकर महाबली विरूपाक्षने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा—'द्विजवरो ! आपलोग अपनी इच्छा और उत्साहके अनुसार इन रत्नोंको उठा ले जायँ और जिनमें आपलोगोंने भोजन किया है, उन पात्रोंको भी अपने घर लेते जायँ' ॥

इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि ।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः ॥ २३ ॥

उन महात्मा राक्षसराजके ऐसा कहनेपर उन ब्राह्मणोंने इच्छानुसार उन-सब रत्नोंको ले लिया ॥ २३ ॥

ततो महार्हैस्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः ।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म ततोऽभवन् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् उन सुन्दर एवं महामूल्यवान् रत्नोंद्वारा पूजित हुए वे सभी उज्ज्वल वस्त्रधारी ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः ।
नानादेशगतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य वै ॥ २५ ॥
अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित् ।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात माचिरम् ॥ २६ ॥

राजन् ! इसके बाद राक्षसराज विरूपाक्षने नाना देशोंसे आये हुए राक्षसोंको हिंसा करनेसे रोककर उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण ! आज एक दिनके लिये आपलोगोंको राक्षसोंकी ओरसे कहीं कोई भय नहीं है; अतः आनन्द कीजिये और शीघ्र ही अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइये ! विलम्ब न कीजिये' ॥ २५-२६ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः ।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः ॥ २७ ॥
कृच्छ्रात् समुद्वहन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत् ।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः ॥ २८ ॥

यह सुनकर सब ब्राह्मणसमुदाय चारों ओर भाग चले । गौतम भी सुवर्णका भारी भार लेकर बड़ी कठिनाईसे ढोता हुआ जल्दी-जल्दी चलकर बरगदके पास आया । वहाँ पहुँचते ही थककर बैठ गया । वह भूखसे पीड़ित और क्लान्त हो रहा था ॥

ततस्तमभ्यगाद् राजन् राजधर्मा खगोत्तमः ।
स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः ॥ २९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पक्षियोंमें श्रेष्ठ मित्रवत्सल राजधर्मा गौतमके पास आया और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ॥

तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत् खगः ।
पूजां चाप्यकरोद् धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत् ॥ ३० ॥

उस बुद्धिमान् पक्षीने अपने पंखोंके अग्रभागका संचालन करके उसे हवा की और उसकी सारी थकावट दूर कर दी; फिर उसका पूजन किया तथा उसके लिये भोजनकी व्यवस्था की ॥

स भुक्तवान् सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत् तदा ।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान् मया ॥ ३१ ॥
गृहीतो लोभमोहाभ्यां दूरं च गमनं मम ।
न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसंधारणं मम ॥ ३२ ॥

भोजन करके विश्राम कर लेनेपर गौतम इस प्रकार चिन्ता करने लगा—'अहो ! मैंने लोभ और मोहसे प्रेरित होकर सुन्दर सुवर्णका यह महान् भार ले लिया है । अभी मुझे बहुत दूर जाना है । रास्तेमें खानेके लिये कुछ भी नहीं है, जिससे मेरे प्राणोंकी रक्षा हो सके ॥ ३१-३२ ॥

किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत् ।
ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किंचन ॥ ३३ ॥
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत् ।
अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान् ॥ ३४ ॥
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम् ॥ ३५ ॥

'अब मैं कौन-सा उपाय करके अपने प्राणोंको धारण कर सकूँगा ?' इस प्रकारकी चिन्तामें वह मग्न हो गया । पुरुषसिंह ! तदनन्तर मार्गमें भोजनके लिये कुछ भी न देखकर उस कृतघ्नने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'यह बगुलोंका राजा राजधर्मा मेरे पास ही तो है । यह मांसका एक बहुत बड़ा ढेर है । इसीको मारकर ले लूँ और शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दूँ' ॥ ३३-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कृतघ्न गौतमद्वारा मित्र राजधर्माका वध तथा राक्षसोंद्वारा उसकी हत्या और कृतघ्नके मांसको अभक्ष्य बताना

भीष्म उवाच

अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः ।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पक्षिराज राजधर्माने अपने मित्र

गौतमकी रक्षाके लिये उससे थोड़ी दूरपर आग प्रज्वलित कर-दी थी, जिससे हवाका सहारा पाकर बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं ॥ १ ॥

स चापि पार्श्वे सुष्वाप विश्वस्तो बकराट् तदा।
कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः ॥ २ ॥
ततोऽलातेन दीप्तेन विश्वस्तं निजघान तम्।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान् ॥ ३ ॥

बकराजको भी मित्रपर विश्वास था; इसलिये उस समय उसके पास ही सो गया। इधर वह दुष्टात्मा कृतघ्न उसका वध करनेकी इच्छासे उठा और विश्वासपूर्वक सोये हुए राजधर्माको सामनेसे जलती हुई लकड़ी लेकर उसके द्वारा मार डाला। उसे मारकर वह बहुत प्रसन्न हुआ, मित्रके वधसे जो पाप लगता है, उसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी॥

स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत् तदा।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः ॥ ४ ॥

उसने मरे हुए पक्षीके पंख और बाल नोचकर उसे आगमें पकाया और उसे साथमें ले सुवर्णका बोझ सिरपर उठाकर वह ब्राह्मण बड़ी तेजीके साथ वहाँसे चल दिया ॥४॥

(ततो दाक्षायणीपुत्रं नागतं तं तु भारत।
विरूपाक्षश्चिन्तयन् वै हृदयेन विदूयता) ॥

भारत! उस दिन दक्षकन्याका पुत्र राजधर्मा अपने मित्र विरूपाक्षके यहाँ न जा सका; इससे विरूपाक्ष व्याकुल हृदयसे उसके लिये चिन्ता करने लगा ॥

ततोऽन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत् सुतम्।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर दूसरा दिन भी व्यतीत हो जानेपर विरूपाक्षने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! मैं आज पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजधर्माको नहीं देख रहा हूँ ॥ ५ ॥

स पूर्वसंध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां वा दृष्ट्वा कदाचित् स न गच्छति गृहं खगः ॥६ ॥

'वे पक्षिप्रवर प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माजीकी वन्दना करनेके लिये जाया करते थे और वहाँसे लौटनेपर मुझसे मिले बिना कभी अपने घर नहीं जाते थे ॥ ६ ॥

उभे द्विरात्रिसंध्ये वै नाभ्यगात् स ममालयम्।
तस्मान्न शुद्ध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत् ॥ ७ ॥

'आज दो संध्याएँ व्यतीत हो गयीं, किंतु वह मेरे घर-पर नहीं पधारे; अतः मेरे मनमें संदेह पैदा हो गया है। तुम मेरे मित्रका पता लगाओ ॥ ७ ॥

स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तद्गतस्तत्र मे शंका हन्यात् तं स द्विजाधमः ॥ ८ ॥

'वह अधम ब्राह्मण गौतम स्वाध्यायरहित और ब्रह्मतेजसे शून्य था तथा हिंसक जान पड़ता था। उसीपर मेरा संदेह है। कहीं वह मेरे मित्रको मार न डाले ॥ ८ ॥

दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः ॥ ९ ॥

'उसकी चेष्टाओंसे मैंने लक्षित किया तो वह मुझे दुर्बुद्धि एवं दुराचारी तथा दयाहीन प्रतीत होता था। वह आकारसे ही बड़ा भयानक और दुष्ट दस्युके समान अधम जान पड़ता था ॥ ९ ॥

गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम् ॥ १० ॥
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम्।

'नीच गौतम यहाँसे लौटकर फिर उन्हींके निवासस्थान-पर गया था; इसलिये मेरे मनमें उद्वेग हो रहा है। बेटा! तुम शीघ्र यहाँसे राजधर्माके घरपर जाओ और पता लगाओ कि वे शुद्धात्मा पक्षिराज जीवित हैं या नहीं। इस कार्यमें विलम्ब न करो' ॥ १०½ ॥

स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ ॥ ११ ॥
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत् कङ्कालं राजधर्मणः।

पिताकी ऐसी आज्ञा पाकर वह तुरंत ही राक्षसोंके साथ उस वटवृक्षके पास गया। वहाँ उसे राजधर्माका कंकाल अर्थात् उसके पंख, हड्डियों और पैरोंका समूह दिखायी दिया ॥

स रुदन्नगमत् पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ १२ ॥
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै।

बुद्धिमान् राक्षसराजका पुत्र राजधर्माकी यह दशा देखकर रो पड़ा और उसने पूरी शक्ति लगाकर गौतमको शीघ्र पकड़नेकी चेष्टा की ॥ १२½ ॥

ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा ॥ १३ ॥
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम्।

तदनन्तर कुछ ही दूर जानेपर राक्षसोंने गौतमको पकड़ लिया। साथ ही उन्हें पंख, पैर और हड्डियोंसे रहित राज-धर्माकी लाश भी मिल गयी ॥ १३½ ॥

तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः ॥ १४ ॥
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः।
कृतघ्नं पुरुषं तं च गौतमं पापकारिणम् ॥ १५ ॥

गौतमको लेकर वे राक्षस शीघ्र ही मेरुव्रजमें गये। वहाँ उन्होंने राजाको राजधर्माका मृत शरीर दिखाया और पापाचारी कृतघ्न गौतमको भी सामने खड़ा कर दिया ॥१४-१५॥

रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः।
आर्तनादश्च सुमहानभूत् तस्य निवेशने ॥ १६ ॥
सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम्।

अपने मित्रको इस दशामें देखकर मन्त्री और पुरोहितोंके साथ राजा विरूपाक्ष फूट-फूटकर रोने लगे। उनके महलमें महान् आर्तनाद गूँजने लगा। स्त्री और बच्चोंसहित सारे नगरमें शोक छा गया। किसीका भी मन स्वस्थ न रहा।१६½।

अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति ॥ १७ ॥
अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः ।

तब राजाने अपने पुत्रको आज्ञा दी—'बेटा! इस पापीको मार डालो। ये समस्त राक्षस इसके मांसका यथेष्ट उपयोग करें ॥

पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः ॥ १८ ॥
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः ।

'राक्षसो! यह पापाचारी, पापकर्मा और पापात्मा है। इसके सारे साधन पापमय हैं; अतः तुम्हें इसका वध कर देना चाहिये, यही मेरा मत है' ॥ १८½ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः ॥ १९ ॥
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत ।

राक्षसराजके इस प्रकार आदेश देनेपर भी भयानक पराक्रमी राक्षसोंने गौतमको खानेकी इच्छा नहीं की; क्योंकि वह घोर पापाचारी था ॥ १९½ ॥

दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः ॥ २० ॥
इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः ।
शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम् ॥ २१ ॥
न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम् ।

महाराज! उन निशाचरोंने राक्षसराजसे कहा—'प्रभो! इस नराधमका मांस दस्युओंको दे दिया जाय। आप हमें इसका पाप खानेके लिये न दें' इस प्रकार समस्त राक्षसोंने राक्षसराजके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की ॥ २०-२१½ ॥

एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान् ॥ २२ ॥
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः ।

यह सुनकर राक्षसराजने उन निशाचरोंसे कहा—'राक्षसो! ऐसा ही सही, इस कृतघ्नको आज ही डाकुओंके हवाले कर दो' ॥

इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः ॥ २३ ॥
कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा ।

राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर हाथमें शूल और पट्टिश धारण किये राक्षसोंने पापी गौतमके टुकड़े-टुकड़े करके उसे दस्युओंको सौंप दिया ॥ २३½ ॥

दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम् ।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥ २४ ॥

राजेन्द्र! उन दस्युओंने भी उस पापाचारीका मांस खानेकी इच्छा नहीं की। मांसाहारी जीव-जन्तु भी कृतघ्नका मांस काममें नहीं लेते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २५ ॥

राजन्! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभङ्ग करनेवालोंके लिये शास्त्रमें प्रायश्चित्तका विधान है; परंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं बताया गया है ॥ २५ ॥

मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः ।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥ २६ ॥

मित्रद्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न—ऐसे मनुष्योंका मांस मांसभक्षी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यान-विषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २७ श्लोक हैं)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मा और गौतमका पुनः जीवित होना

भीष्म उवाच

ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः ।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलंकृताम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विरूपाक्षने बकराजके लिये एक चिता तैयार करायी। उसे बहुत-से रत्नों, सुगन्धित चन्दनों तथा वस्त्रोंसे खूब सजाया गया था ॥

ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान् ।
प्रेतकार्याणि विधिवद् राक्षसेन्द्रश्चकार ह ॥ २ ॥

तत्पश्चात् बकराजके शवको उसके ऊपर रखकर प्रतापी राक्षसराजने उसमें आग लगायी और विधिपूर्वक मित्रका दाह-कर्म सम्पन्न किया ॥ २ ॥

तस्मिन् काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा ।
उपरिष्टात् ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी ॥ ३ ॥

उसी समय दिव्य धेनु दक्षकन्या सुरभिदेवी वहाँ आकर आकाशमें ठीक चिताके ऊपर खड़ी हो गयीं ॥

तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमिश्रस्तदानघ ।
सोऽपतद् वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः ॥ ४ ॥

अनघ! उनके मुखसे जो दूधमिश्रित फेन झरकर गिरा, वह राजधर्माकी उस चितापर पड़ा ॥ ४ ॥

ततः संजीवितस्तेन बकराजस्तदानघ ।
उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः ॥ ५ ॥

निष्पाप नरेश! उससे उस समय बकराज जी उठा और वह उड़कर विरूपाक्षसे जा मिला ॥ ५ ॥

ततोऽभ्ययाद् देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा ।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या संजीवितस्त्वया ॥ ६ ॥

उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्षके नगरमें आये और विरूपाक्षसे इस प्रकार बोले—'बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारेद्वारा बकराजको जीवन मिला' ॥ ६ ॥

श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम् ।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः ॥ ७ ॥

इन्द्रने विरूपाक्षको एक प्राचीन घटना सुनायी, जिसके अनुसार ब्रह्माजीने पहले राजधर्माको शाप दिया था ॥ ७ ॥

यदा बकपती राजन् ब्रह्माणं नोपसर्पति ।
ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः ॥ ८ ॥

राजन् ! एक समय जब बकराज ब्रह्माजीकी सभामें नहीं पहुँच सके, तब पितामहने बड़े रोषमें भरकर इन पक्षि-राजको शाप देते हुए कहा—॥ ८ ॥

यस्मान्मूढो मम सभां नागतोऽसौ बकाधमः ।
तस्माद् वधं स दुष्टात्मा नचिरात् समवाप्स्यति॥ ९ ॥

'वह मूर्ख और नीच बगला मेरी सभामें नहीं आया है; इसलिये शीघ्र ही उस दुष्टात्माको वधका कष्ट भोगना पड़ेगा'॥

तदयं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै ।
तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः संजीवितो बकः ॥ १० ॥

ब्रह्माजीके उस वचनसे ही गौतमने इनका वध किया और ब्रह्माजीने ही पुनः अमृत छिड़ककर राजधर्माको जीवन-दान दिया है ॥ १० ॥

राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर ॥ ११ ॥
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत ।

तदनन्तर राजधर्मा बकने इन्द्रको प्रणाम करके कहा—'सुरेश्वर ! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मेरे प्रिय मित्र गौतमको भी जीवित कर दीजिये' ॥ ११½ ॥

तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥
सिक्त्वामृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत् तदा ।

'पुरुषप्रवर ! उसके अनुरोधको स्वीकार करके इन्द्रदेवने गौतम ब्राह्मणको भी अमृत छिड़ककर जिला दिया ॥१२½॥

सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः ॥ १३ ॥
सम्परिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः ।

राजन् ! बर्तन और सुवर्ण आदि सब सामग्रीसहित प्रिय सुहृद् गौतमको पाकर बकराजने बड़े प्रेमसे उसको हृदयसे लगा लिया ॥

अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः ॥ १४ ॥
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम् ।

फिर बकराज राजधर्माने उस पापाचारीको धनसहित विदा करके अपने घरमें प्रवेश किया ॥ १४½ ॥

यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा ॥ १५ ॥
ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत् ।

तदनन्तर बकराज यथोचित रीतिसे ब्रह्माजीकी सभामें गया और ब्रह्माजीने उस महात्माका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

गौतमश्चापि सम्प्राप्य पुनस्तं शबरालयम् ।
शूद्रायां जनयामास पुत्रान् दुष्कृतकारिणः ॥ १६ ॥

गौतम भी पुनः भीलोंके ही गाँवमें जाकर रहने लगा। वहाँ उसने उस शूद्रजातिकी स्त्रीके पेटसे ही अनेक पापाचारी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा ।
कुक्षौ पुनर्भ्वाः पापोऽयं जनयित्वा चिरात् सुतान्॥१७॥
निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो ।

तब देवताओंने गौतमको महान् शाप देते हुए कहा—'यह पापी कृतघ्न है और दूसरा पति स्वीकार करनेवाली शूद्रजातीय स्त्रीके पेटसे बहुत दिनोंसे संतान पैदा करता आ रहा है। इस पापके कारण यह घोर नरकमें पड़ेगा' ॥

एतत् प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत ॥ १८ ॥
संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ ।
मयापि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ १९ ॥

भारत ! यह सारा प्रसङ्ग पूर्वकालमें मुझसे महर्षि नारदने कहा था। भरतश्रेष्ठ ! इस महान् आख्यानको याद करके मैंने तुम्हारे समक्ष सब यथार्थरूपसे कहा है ॥१८-१९॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ २० ॥

कृतघ्नको कैसे यश प्राप्त हो सकता है ? उसे कैसे स्थान और सुखकी उपलब्धि हो सकती है ? कृतघ्न विश्वासके योग्य नहीं होता। कृतघ्नके उद्धारके लिये शास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है ॥ २० ॥

मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः ।
मित्रध्रुङ्नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्यको विशेष ध्यान देकर मित्रद्रोहके पापसे बचना चाहिये। मित्रद्रोही मनुष्य अनन्तकालके लिये घोर नरकमें पड़ता है ॥ २१ ॥

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह ।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च ॥ २२ ॥

प्रत्येक मनुष्यको सदा कृतज्ञ होना चाहिये और मित्रकी इच्छा रखनी चाहिये; क्योंकि मित्रसे सब कुछ प्राप्त होता है। मित्रके सहयोगसे सदा सम्मानकी प्राप्ति होती है ॥

मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते ।
सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ २३ ॥

मित्रकी सहायतासे भोगोंकी भी उपलब्धि होती है और मित्रद्वारा मनुष्य आपत्तियोंसे छुटकारा पा जाता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारोंद्वारा मित्रका पूजन करे ॥

परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः ।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः ॥ २४ ॥

जो पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार और पापाचारी हो, ऐसे अधम मनुष्यका विद्वान् पुरुष सदा त्याग करे ॥ २४ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव ।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ २५ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह मैंने तुम्हें पापी, मित्रद्रोही और कृतघ्न पुरुषका परिचय दिया है। अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥२५॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भीष्मका यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(मोक्षधर्मपर्व)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शोकाकुल चित्तकी शान्तिके लिये राजा सेनजित् और ब्राह्मणके संवादका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः ।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यहाँतक आपने राजधर्मसम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मोंका उपदेश दिया । पृथ्वीनाथ ! अब आप आश्रमियोंके उत्तम धर्मका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः ।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! वेदोंमें सर्वत्र सभी आश्रमोंके लिये स्वर्गसाधक यथार्थ फलकी प्राप्ति करानेवाली तपस्याका उल्लेख है । धर्मके बहुत-से द्वार हैं । संसारमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषयमें पूर्ण निश्चयको पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है), उसीको वह कर्तव्य समझता है । दूसरे विषयको नहीं ॥ ३ ॥

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

मनुष्य जैसे-जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर ।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान् नरः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षके लिये प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! धनके नष्ट हो जानेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताके मर जानेपर किस बुद्धिसे मनुष्य अपने शोकका निवारण करे ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तब 'ओह ! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोकको दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान करे ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत् ॥ ८ ॥

इस विषयमें किसी हितैषी ब्राह्मणने राजा सेनजित्के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किया करते हैं ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानं शोकविह्वलम् ।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

राजा सेनजित्के पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी । वे उसीके शोककी आगसे जल रहे थे । उनका मन विषादमें डूबा हुआ था । उन शोकविह्वल नरेशको देखकर ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि ।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम मूढ मनुष्यकी भाँति क्यों मोहित हो रहे हो ? शोकके योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरोंके लिये क्यों शोक करते हो ? अजी ! एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिये भी शोक करते हुए उसी गतिको प्राप्त होंगे ॥ १० ॥

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव ।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जायँगे, जहाँसे हम आये हैं' ॥ ११ ॥

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन ।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि ॥ १२ ॥

सेनजित्‌ने पूछा—तपस्याके धनी ब्राह्मणदेव ! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन तप, कौन समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकारका विषाद नहीं है ॥ १२ ॥

(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये ।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः ॥)

सुख और दुःखका चक्र घूमता रहता है। मैं सुखमें हर्षसे फूल उठता हूँ और दुःखमें खिन्न हो जाता हूँ। ऐसी अवस्थामें पड़े हुए अपने आपके लिये मुझे निरन्तर शोक होता है। यह शोक मेरे हृदयमें डेरा डाले बैठा है॥

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! देखो, इस संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें आसक्त हो दुःखसे ग्रस्त हो रहे हैं ॥ १३ ॥

(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥)

मैं तो अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरेका हूँ। मैं उस पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझपर किसीकी ममता है, न मेरा ही किसीपर ममत्व है)॥

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा ।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १४ ॥

यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरोंकी भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिये मेरे मनमें कोई व्यथा नहीं होती। इसी बुद्धिको पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक ॥ १४ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार समुद्रमें बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है ॥ १५ ॥

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥ १६ ॥

इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि १७

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थितिसे आया था और अब अज्ञात स्थितिमें ही चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किस लिये शोक करते हो ? ॥ १७ ॥

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात् संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥ १८ ॥

संसारमें विषयोंकी तृष्णासे जो व्याकुलता होती है, उसीका नाम दुःख है और उस दुःखका विनाश ही सुख है। उस सुखके बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है। इस प्रकार बारंबार दुःख ही होता रहता है ॥ १८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥ १९ ॥

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं॥१९॥

सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २० ॥

इस समय तुम सुखसे दुःखमें आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही ॥ २० ॥

शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म
तेनैव देही समुपाश्नुते तत् ॥ २१ ॥

यह शरीर ही सुखका आधार है और यही दुःखका भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसीके अनुसार वह सुख एवं दुःखरूप फल भोगता है॥२१॥

जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः ॥ २२ ॥

यह जीवन स्वभावतः शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपोंमें रहते हैं और साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥ २३ ॥

मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं; इसीलिये जैसे बालूद्वारा बनाये हुए पुल जलके वेगसे बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्योंकी विषयकामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥ २४ ॥

तेलीलोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेहके कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टि-चक्रमें पिस रहे हैं ॥ २४ ॥

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २५ ॥

मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बके लिये चोरी आदि पाप-कर्मोंका संग्रह करता है; किंतु इस लोक और परलोकमें उसे अकेले ही उन समस्त कर्मोंका क्लेशमय फल भोगना पड़ता है ॥ २५ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः ।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ २६ ॥

स्त्री, पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोकके समुद्रमें डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जंगली हाथी दलदलमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो ।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ २७ ॥

प्रभो! यहाँ सब लोगोंको पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियों-का नाश होनेपर दावानलके समान दाह उत्पन्न करनेवाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परंतु सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्धके ही अधीन है ॥ २७ ॥

असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि ।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥ २८ ॥

मनुष्य हितैषी सुहृदोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुके साथ हो या मित्रके, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पाता है ॥ २८ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥ २९ ॥

अन्यथा न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देनेकी शक्ति रखती है और न धन ही सुख देनेमें समर्थ होता है ॥ २९ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३० ॥

न तो बुद्धि धनकी प्राप्तिमें कारण है, न मूर्खता निर्धनतामें, वास्तवमें संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं ॥ ३० ॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम् ।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ़, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान् होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्नके ही सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च ।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥ ३२ ॥

दूध देनेवाली गौ बछड़ेकी है या उसे दुहने अथवा चरानेवाले ग्वालेकी है या रखनेवाले मालिककी है अथवा उसे चुराकर ले जानेवाले चोरकी है? वास्तवमें जो उसका दूध पीता है, उसीकी वह गाय है; ऐसा विद्वानोंका निश्चय है ॥ ३२ ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जो अत्यन्त मूढ़ हैं और जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं। बीचके सभी लोग कष्ट भोगते हैं ॥ ३३ ॥

अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥ ३४ ॥

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियोंमें रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थितिमें नहीं। अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बतायी जाती है और उन दोनोंके मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है ॥ ३४ ॥

(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन् ।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः ॥)

खोटी बुद्धिवाला मूर्ख मनुष्य अपने कर्मोंके शुभाशुभ परिणामकी कोई परवा न करके सुखसे सोता है; क्योंकि वह कम्बलसे ढके हुए पुरुषकी भाँति महान् अज्ञानसे आवृत रहता है ॥

ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥ ३५ ॥

किंतु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वोंसे अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरताका भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं ॥ ३५ ॥

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् ।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति संतापमुपयान्ति च ॥ ३६ ॥

जो मूढताको तो लाँघ चुके हैं, परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुखकी परिस्थिति आनेपर अत्यन्त हर्षसे फूल उठते हैं और दुःखकी परिस्थितिमें अतिशय संतापका अनुभव करने लगते हैं ॥ ३६ ॥

नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव ।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः ॥ ३७ ॥

मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें देवताओंकी भाँति सदा विषयसुखमें मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्तिके कीचड़में लथपथ होकर मोहित हो जाता है ॥ ३७ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे ॥ ३८ ॥

आरम्भमें आलस्य सुख-सा जान पड़ता है, परंतु वह अन्तमें दुःखदायी होता है और कार्यकौशल दुःख-सा लगता है, परंतु वह सुखका उत्पादक है। कार्यकुशल पुरुषमें ही लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसीमें नहीं ॥ ३८ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ३९ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाय, उसका हृदयसे स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे ॥ ३९ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४० ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों स्थान हैं; किंतु वे प्रतिदिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानोंपर नहीं ॥ ४० ॥

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥ ४१ ॥

जो बुद्धिमान्, ऊहापोहमें कुशल एवं शिक्षित बुद्धिवाला, अध्यात्मशास्त्रके श्रवणकी इच्छा रखनेवाला, किसीके दोष न देखनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्यको शोक कभी छू भी नहीं सकता ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इसी विचारका आश्रय लेकर मनको काम, क्रोध आदि शत्रुओंसे सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे। जो उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत् ॥ ४३ ॥

जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके कारण अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःखका मूल कारण अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिये ॥ ४३ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥ ४४ ॥

मनुष्य जब किसी भी पदार्थमें ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःखके कारण बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

यद् यत् यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति ॥ ४५ ॥

वह कामनाओंमेंसे जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुखकी पूर्ति करनेवाली हो जाती है। जो पुरुष कामनाओंका अनुसरण करता है, वह उन्हींके पीछे नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४६ ॥

संसारमें जो कुछ इस लोकके भोगोंका सुख है और जो स्वर्गका महान् सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ॥ ४६ ॥

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥ ४७ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्ममें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ४७ ॥

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४८ ॥

इस प्रकार जीवोंको प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति बार-बार क्रमसे होती ही रहती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४८ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः ।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः ॥ ४९ ॥

ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त हुआ मनुष्य सुखसे रहता है; इसलिये सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर उन्हें पीठ-पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाय ॥ ४९ ॥

वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः ।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः ॥ ५० ॥

हृदयसे उत्पन्न होनेवाला यह काम हृदयमें ही पुष्ट होता है, फिर यही मृत्युका रूप धारण कर लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धिमें कोई बाधा आती है, तब) विद्वानोंद्वारा यही प्राणियोंके शरीरके भीतर क्रोधके नामसे पुकारा जाता है ॥ ५० ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥ ५१ ॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओंका संकोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें ही स्वयं प्रकाश-स्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ५१ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥

जब यह किसीसे भय नहीं मानता और इससे भी किसीको भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तुको न तो चाहता है और न उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥ ५३ ॥

जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत्के व्यक्त और अव्यक्त पदार्थोंका, शोक और हर्षका, भय और अभयका तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वोंका परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५४ ॥

जब धैर्यसम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणीके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण (वृद्ध) हो जानेपर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाला रोग

बनकर रहती है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ५५ ॥

अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव ।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! इस विषयमें पिङ्गलाकी गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर संकटकालमें भी उसने सनातन धर्मको प्राप्त कर लिया था ॥ ५६ ॥

संकेते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता ।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा ॥ ५७ ॥

एक बार पिङ्गला वेश्या बहुत देरतक संकेत-स्थानपर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्टमें पड़ गयी, तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी ॥ ५७ ॥

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम् ।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा ॥ ५८ ॥

पिङ्गला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकालसे मेरे निकट ही रहते हैं। मैं सदासे उनके साथ ही रहती आयी हूँ। वे कभी उन्मत्त नहीं होते; परंतु मैं ऐसी मतवाली हो गयी थी कि आजसे पहले उन्हें पहचान ही न सकी ॥ ५८ ॥

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम् ।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते ॥ ५९ ॥

जिसमें एक ही खंभा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घरको आजसे मैं दूसरोंके लिये बंद कर दूँगी। यहाँ आनेवाले उस सच्चे प्रियतमको जानकर भी कौन नारी किसी हाड़-मांसके पुतलेको अपना प्राणवल्लभ मानेगी ? ॥ ५९ ॥

अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः ।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि ॥ ६० ॥

अब मैं मोहनिद्रासे जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओंका भी त्याग कर चुकी हूँ। अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य कामका रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे ॥ ६० ॥

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६१ ॥

भाग्यसे अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ ॥ ६१ ॥

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ६२ ॥

वास्तवमें जिसे किसी प्रकारकी आशा नहीं है, वही सुखसे सोता है। आशाका न होना ही परम सुख है। देखो, आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला सुखकी नींद सोने लगी ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥ ६३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मणके कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनोंसे राजा सेनजित्का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक छोड़कर सुखी हो गये और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्राह्मण और सेनजित्के संवादका कथनविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका क्या कर्तव्य है, इस विषयमें पिताके प्रति पुत्रद्वारा ज्ञानका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! समस्त भूतोंका संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करनेसे कल्याणका भागी हो सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवादको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार ! प्राचीन कालमें एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेदशास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जो गुणसे तो मेधावी था ही नामसे भी मेधावी था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थमें कुशल तथा लोकतत्त्वका अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्रने अपने स्वाध्याय-परायण पितासे कहा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्योंकी आयु तीव्र गतिसे बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुषको क्या करना चाहिये? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपायका उपदेश कीजिये, जिसके अनुसार मैं धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पितरोंकी सद्गतिके लिये पुत्र पैदा करनेकी इच्छा करे। विधिपूर्वक त्रिविध अग्नियोंकी स्थापना करके यज्ञोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उसके बाद मौनभावसे रहते हुए संन्यासी होनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकारसे मृत्युद्वारा मारा जा रहा है, जरा-अवस्थाद्वारा चारों ओरसे घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक आयुक्षयरूप काम करके बीत रहे हैं ऐसी दशामें भी आप धीरकी भाँति कैसी बात कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिताने पूछा—बेटा! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो। बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रक्खा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! देखिये, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्युके द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापेने इसे चारों ओरसे घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियोंकी आयुका अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बातको आप समझते क्यों नहीं हैं? ॥ ९ ॥

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बातको जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभरके लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जालमें फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब-जब एक-एक रात बीतनेके साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है? ॥ ११ ॥

(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किंचिच्छुभमाचरेत्।)
तदेव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जिस रातके बीतनेपर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिनको विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे। मनुष्यकी कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उसके पास आ पहुँचती है ॥ १२ ॥

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १३ ॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़के पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥ १४ ॥

इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी ॥ १४ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥ १५ ॥

कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं ॥ १५ ॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
(न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः।

अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा ॥)

कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा ? सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहलेसे निमन्त्रण नहीं भेजती है। जैसे मछेरे चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है॥

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥ १६ ॥

अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निःसंदेह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है ॥ १६ ॥

मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥ १७ ॥

जो मनुष्य मोहमें डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्रीके लिये उद्योग करने लगता है और करने तथा न करने योग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है ॥ १७ ॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १८ ॥

जैसे सोये हुए मृगको बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओंसे सम्पन्न एवं उन्हींमें मनको फँसाये रखनेवाले मनुष्यको एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है।१८।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥ १९ ॥

जबतक मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभीतक ही उसे मौत आकर ले जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशुको ले जाता है ॥ १९ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥ २० ॥

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है; इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानवको काल अपने वशमें कर लेता है ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम्।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति ॥ २१ ॥

मनुष्य अपने खेत, दूकान और घरमें ही फँसा रहता है, उसके किये हुए उन कर्मोंका फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है।२१।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम्।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥ २२ ॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या डरपोक तथा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २२ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥ २३ ॥

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं ? ॥ २३ ॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम्।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ २४ ॥

देहधारी जीवके जन्म लेते ही अन्त करनेके लिये मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥ २५ ॥

ग्राम या नगरमें रहकर जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्ति बढ़ायी जाती है, यह मृत्युका मुख ही है और जो वनका आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओंको बाँधनेके लिये गोशालाके समान है, यह श्रुतिका कथन है ॥ २५ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ २६ ॥

ग्राममें रहनेपर वहाँके स्त्री-पुत्र आदि विषयोंमें जो आसक्ति होती है, यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ २६ ॥

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥ २७ ॥

जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनोंद्वारा प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थका नाश करनेवाले हिंसक प्राणी हिंसा नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥ २८ ॥

सत्यके बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्युकी सेनाका कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिये असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यमें ही स्थित है।२८।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ २९ ॥

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्ययोगमें तत्पर रहना और शास्त्रकी बातोंको सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये। इस प्रकार सत्यके द्वारा ही मनुष्य मृत्युपर विजय पा सकता है॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥ ३० ॥

अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीरमें ही स्थित हैं। मनुष्य मोहसे मृत्युको और सत्यसे अमृतको प्राप्त होता है ॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥ ३१ ॥

अतः अब मैं हिंसासे दूर रहकर सत्यकी खोज करूँगा,

काम और क्रोधको हृदयसे निकालकर दुःख और सुखमें समान भाव रक्खूँगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओंके समान मृत्युके भयसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३१ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥ ३२ ॥

मैं निवृत्तिपरायण होकर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर रहूँगा, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय) में लग जाऊँगा और मुनिवृत्तिसे रहूँगा । उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३२ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचोंके समान अपने शरीरके ही रक्त-मांसद्वारा किये जानेवाले तामस यज्ञोंका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्यसे सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३५ ॥

संसारमें विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५ ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा ।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा ॥ ३६ ॥

मैं संतानरहित होनेपर भी परमात्मामें ही परमात्माद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मामें ही स्थित हूँ । आगे भी आत्मामें ही लीन होऊँगा । संतान मुझे पार नहीं उतारेगी ॥ ३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

परमात्माके साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्डका परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे उपरति—इनके समान ब्राह्मणके लिये दूसरा कोई धन नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव पिताजी ! जब आप एक दिन मर ही जायँगे तो आपको इस धनसे क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओंसे आपका क्या काम है तथा स्त्री आदिसे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है । आप अपने हृदयरूपी गुफामें स्थित हुए परमात्माको खोजिये । सोचिये तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप ।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने जैसे सत्य-धर्मका अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्ममें तत्पर रहकर यथायोग्य बर्ताव करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादकथने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रके संवादका कथनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्यागकी महिमाके विषयमें शम्पाक ब्राह्मणका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः ।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूपमें और कैसे सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाकने यहाँ कहा था ॥ २ ॥

अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, फटे-पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्रीके और भूखके कारण अत्यन्त कष्ट पानेवाले एक त्यागी ब्राह्मणने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४ ॥

'इस संसारमें जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्मसे ही नाना प्रकारके सुख-दुःख प्राप्त होने लगते हैं ॥ ४ ॥

तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य संज्वरेत्॥ ५ ॥

'विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे किसी एकके मार्गपर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःखमें पड़कर परितप्त हो ॥ ५ ॥

न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह ॥ ६ ॥

'तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याणका साधन नहीं कर रहे हो और मनको वशमें नहीं कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्यका बोझा अपनेपर उठा रखा है॥ ६ ॥

अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ॥ ७ ॥

'यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तुका संग्रह नहीं रक्खोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखका ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुखसे सोता और जागता है ॥ ७ ॥

आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ॥ ८ ॥

'संसारमें अकिंचनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्गमें किसी प्रकारके शत्रुका भी खटका नहीं है। यह दुर्लभ होनेपर भी सुलभ है ॥८॥

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः।
अवेक्षमाणस्त्रीँल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये ॥ ९ ॥

'मैं तीनों लोकोंपर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिंचन, शुद्ध एवं सब ओरसे वैराग्यसम्पन्न पुरुषके समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है ॥ ९ ॥

आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥ १० ॥

'मैंने अकिंचनता तथा राज्यको बुद्धिकी तराजूपर रखकर तौला तो गुणोंमें अधिक होनेके कारण राज्यसे भी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी निकला ॥ १० ॥

आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा॥ ११ ॥

'अकिंचनता तथा राज्यमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौतके मुखमें पड़ा हुआ हो ॥ ११ ॥

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥ १२ ॥

'परंतु जो मनुष्य धनको त्यागकर उसकी आसक्तिसे मुक्त हो गया है और मनमें किसी तरहकी कामना नहीं रखता, उसपर न अग्निका जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहोंका, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही ॥ १२ ॥

तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥ १३ ॥

'वह सदा दैव-इच्छाके अनुसार विचरता है। बिना बिछौनेके भूतलपर सोता है। बाँहोंकी ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है। देवतालोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥ १४ ॥

'जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभके आवेशमें आकर अपनी विचारशक्तिको खो बैठता है, टेढ़ी आँखोंसे देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और वह पापमें ही मग्न रहा करता है ॥ १४ ॥

निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥१५॥

'क्रोधके कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वीका राज्य ही दे देना चाहता हो, तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा ? ॥ १५ ॥

श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः ॥१६॥

'सदा धन-सम्पत्तिका सहवास मूर्ख मनुष्यके चित्तको लुभाकर उसे मोहमें ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद् ऋतुके बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्यके मनको हर लेती है ॥ १६ ॥

अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः॥१७॥

'फिर उसके ऊपर रूपका अहंकार और धनका मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ ॥ १७ ॥

इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ १८ ॥

'रूप, धन और कुल—इन तीनोंके अभिमानके कारण उसके चित्तमें प्रमाद भर जाता है, वह भोगोंमें आसक्त होकर

बाप-दादोंके जोड़े हुए पैसोंको खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरोंके धनको हड़प लाना अच्छा मानने लगता है ॥ १८ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ १९ ॥

'इस तरह मर्यादाका उल्लङ्घन करके जब वह इधर-उधरसे लूट-खसोटकर धन ले आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणोंसे मारकर मृगोंकी गति रोक देते हैं ॥ १९ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥

'इस प्रकार मनको तप्त करनेवाले और शरीरके स्पर्शसे होनेवाले ये नाना प्रकारके दुःख मनुष्यको प्राप्त होते हैं।२०।

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह ॥ २१ ॥

'अतः अनित्य शरीरोंके साथ सदैव लगे रहनेवाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मोंकी अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त महान् दुःखोंकी विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥२२॥

'कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्माको नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ' ॥ २२ ॥

इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें शम्पाक नामक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें मुझसे त्यागकी महिमाका वर्णन किया था । अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शम्पाकगीताविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

मङ्किगीता—धनकी तृष्णासे दुःख और उसकी कामनाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! यदि कोई मनुष्य धनकी तृष्णासे ग्रस्त होकर तरह-तरहके उद्योग करनेपर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुखकी प्राप्ति हो सके ?॥

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सबमें समताका भाव, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्यभाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्यमें होते हैं, वह सुखी होता है ॥ २ ॥

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥ ३ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओंको शान्तिका कारण बताते हैं । यही स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनिने भोगोंसे विरक्त होकर जो उद्गार प्रकट किया था, वही इस इतिहासमें वर्णित है । उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥ ५ ॥

मङ्कि धनके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते थे; परंतु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था । अन्तमें जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे ॥ ५ ॥

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥ ६ ॥

एक दिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर वे हल चलानेकी शिक्षा देनेके लिये ले जा रहे थे । जब वे दोनों बछड़े गाँवसे बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े ॥ ६ ॥

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥ ७ ॥

जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे तो ऊँटके लिये यह असह्य हो उठा । वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ोंको ऊपर लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा ॥७॥

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँटके द्वारा उन

दोनों बछड़ोंको अपहृत होते और मरते देख मङ्किने इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥ ९ ॥

'मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्यमें नहीं है, उस धनको वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता ॥ ९ ॥

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः।
इमं पश्यत संगत्या मम दैवमुपप्लवम् ॥ १० ॥

'पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकारके अनर्थ खड़े हो गये थे। उन अनर्थोंसे युक्त होनेपर भी मैं धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहा; परंतु देखो, आज इन बछड़ोंकी सङ्गतिसे मुझपर कैसा दैवी उपद्रव आ गया ! ॥

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥

'यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर विषम मार्गसे ही जा रहा है। काकतालीयन्यायसे (अर्थात् दैवसंयोगसे) इन्हें गर्दनपर उठाकर बुरे मार्गसे ही दौड़ रहा है। इस ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं। यह केवल दैवकी ही लीला है। हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थसे क्या होता है ? ॥ ११-१२ ॥

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥

'यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करनेपर दैवका ही सहयोग सिद्ध होता है॥

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥

'अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको धन आदिकी ओरसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये। धनोपार्जनकी चेष्टासे निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुखकी नींद सोता है ॥ १४ ॥

अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥ १५ ॥

'अहा ! शुकदेव मुनिने जनकके राजमहलसे विशाल वनकी ओर जाते समय सब ओरसे बन्धनमुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था ! ॥ १५ ॥

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ १६ ॥

''जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनोंके कार्योंमें समस्त कामनाओंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥ १७ ॥

'कोई भी पहले कभी धन आदिके लिये होनेवाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका अन्त नहीं पा सका है। शरीर और जीवनके प्रति मूर्ख मनुष्यकी ही तृष्णा बढ़ती है ॥ १७ ॥

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ॥ १८ ॥

'ओ कामनाओंके दास मन ! तू सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर। तू धनकी चेष्टा करके बारंबार ठगा गया है तो भी उसकी ओरसे वैराग्य नहीं होता है ॥ १८ ॥

यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥ १९ ॥

'ओ धनकी कामनावाले मन ! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है। यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभमें न फँसा ॥ १९ ॥

संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक ॥ २० ॥

'तूने बार-बार द्रव्यका संचय किया और वह बारंबार नष्ट होता चला गया। धनकी इच्छा रखनेवाले मूढ ! क्या कभी तू धनकी इस तृष्णा और चेष्टाका त्याग भी करेगा ? ॥

अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात् ॥ २१ ॥

'अहो ! यह मेरी कैसी नादानी है ? जो मैं तेरे हाथका खिलौना बना हुआ हूँ। यदि ऐसी बात न होती तो क्या कोई समझदार पुरुष कभी दूसरोंकी दासता स्वीकार कर सकता है ? ॥ २१ ॥

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ।२२।

'पूर्वकालके तथा पीछेके मनुष्य भी कभी कामनाओंका अन्त नहीं पा सके हैं, अतः मैं समस्त कर्मोंका आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ और मैं पूर्णतः जग गया हूँ॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते ॥ २३ ॥

१. एक ताड़के वृक्षके नीचे एक बटोही बैठा था। उसी वृक्षके ऊपर एक काक भी आ बैठा। काकके आते ही ताड़का एक पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आपसे आप ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातोंको साथ होते देख, यही समझ गया कि कौवेके आनेसे ही ताड़का फल गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश अचानक कोई घटना घटित हो जाय, वहाँ उसे काकतालीयन्यायसे घटित हुई बताया जाता है। यहाँ बछड़ोंका आना और ऊँटका रास्तेमें बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गयी थीं।

'काम ! निश्चय ही तेरा हृदय फौलादका बना हुआ है: अतएव अत्यन्त सुदृढ़ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त होनेपर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ २३ ॥

जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम् ॥ २४ ॥

'काम ! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता चला आ रहा हूँ; परंतु कभी मेरे मनमें सुखका अनुभव नहीं हुआ ॥ २४॥

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥ २५ ॥

'काम ! मैं तेरी जड़को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥ २६ ॥

''धनकी इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय तो उसकी रक्षा आदिके लिये बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह नष्ट हो जाय, तब तो मृत्युके समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करनेपर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता ॥ २६ ॥

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥ २७ ॥

'शरीरको निछावर कर देनेपर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है तो उसके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? यदि धनकी उपलब्धि हो भी जाय तो उतनेसे ही वह संतुष्ट नहीं होता है अपितु अधिक धनकी तलाश करने लग जाता है ॥ २७ ॥

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥ २८ ॥

'काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजलके समान यह धन तृष्णाकी ही वृद्धि करनेवाला है मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह तृष्णाकी वृद्धि मेरे विनाशका कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे ॥ २८ ॥

य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम् ॥ २९ ॥

'मेरे इस शरीरका आश्रय लेकर जो पाँचों भूतोंका समुदाय स्थित है, वह इसमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक चला जाय या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है ॥२९॥

न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम्॥३० ॥

'पञ्चभूतगण ! अहंकार आदिके साथ तुम सब लोग काम और लोभके पीछे लगे रहनेवाले हो। अतः तुमपर यहाँ मेरा रत्तीभर भी स्नेह नहीं है। इसलिये मैं समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल अब सत्त्वगुणका आश्रय ले रहा हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यथा मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥

'मैं अपने शरीरमें मनके अंदर सम्पूर्ण भूतोंको देखता हुआ बुद्धिको योगमें, एकाग्रचित्तको श्रवण-मनन आदि साधनोंमें और मनको परब्रह्म परमात्मामें लगाकर रोग-शोकसे रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरूँगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखोंमें न डाल सकेगा ॥ ३१-३२ ॥

त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा ॥ ३३ ॥

'काम ! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्तिस्थान सदा तू ही है। जबतक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तबतक मेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥ ३४ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि धनका नाश होनेपर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जो धनसे वञ्चित हो जाता है, उसे अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥

'दरिद्रको सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्थामें बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धनमें जो सुखका लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखोंसे ही सम्पादित होता है ॥ ३५ ॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥ ३६ ॥

'जिस पुरुषके पास धन होनेका संदेह होता है, उसे उसका धन लूटनेके लिये लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेगमें डाले रहते हैं ॥ ३६ ॥

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥ ३७ ॥

'धनलोलुपता दुःखका कारण है, यह बात बहुत देरके बाद मेरी समझमें आयी है। काम ! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी उसीके पीछे पड़ जाता है ॥ ३७ ॥

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।

नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥ ३८ ॥

'तू तत्त्वज्ञानसे रहित और बालकके समान मूढ है, तुझे संतोष देना कठिन है। आगके समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि ।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥ ३९ ॥

'काम! पातालके समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है; किंतु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया ।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये ॥ ४० ॥

'अकस्मात् धनका नाश हो जानेसे वैराग्यको प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगोंका चिन्तन नहीं करूँगा ॥ ४० ॥

अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान् ।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४१ ॥

'पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परंतु ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धनकी कामनामें कष्ट है,' इस बातको समझ ही नहीं पाता था। परंतु अब धनका नाश होनेसे उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्लेश और चिन्ताओंसे मुक्त होकर सुखसे सोता हूँ ॥ ४१ ॥

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः ।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ॥ ४२ ॥

'काम! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा ॥ ४२ ॥

क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः ।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥ ४३ ॥

'अब जो लोग मुझपर आक्षेप या मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके उस बर्तावको मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारे-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदलेमें वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेषके योग्य पुरुषका भी यदि साथ हो जाय और वह मुझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उसपर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा ॥ ४३ ॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन् ।
न सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः ॥ ४४ ॥

'मैं सदा संतुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियोंसे सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करता रहूँगा; परंतु तुझे कभी सफल न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है ॥ ४४ ॥

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम् ।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥ ४५ ॥

'तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च ।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम् ॥ ४६ ॥

'अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मोक्षकी ओर प्रस्थान करनेवाले मुझ साधकको छोड़कर चले जायँ। अब मैं सत्त्वगुणमें स्थित हो गया हूँ ॥ ४६ ॥

प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम् ।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥ ४७ ॥

'इस समय काम और लोभका त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुषकी भाँति अब लोभमें फँसकर दुःख नहीं उठाऊँगा ॥ ४७ ॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४८ ॥

'मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है, उस-उसकी ओरसे सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है ॥ ४८ ॥

कामानुबन्धं नुदते यत् किंचित् पुरुषो रजः ।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च ॥ ४९ ॥

'मनुष्य कामसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असंतोष—ये काम और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम् ॥ ५० ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें लोग शीतल जलवाले सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब मैं परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो गया हूँ, अतः शान्त हूँ, सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख-ही-सुख मिल रहा है ॥ ५० ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ५१ ॥

'इस लोकमें जो विषयोंका सुख है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं महान् सुख है, ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं ॥ ५१ ॥

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५२ ॥

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु कामका नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुरमें स्थित हो राजाके समान सुखी होऊँगा' ॥ ५२ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥ ५३ ॥

राजन्! इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगोंसे विरक्त हो गये और समस्त कामनाओंका परित्याग

करके उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लिया ॥

दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत् ।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम् ॥ ५४ ॥

बछड़ोंके नाशको निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्वको प्राप्त हो गये । उन्होंने कामकी जड़ काट डाली; इसीलिये महान् सुख प्राप्त कर लिया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि **मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायां** सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मङ्किगीताविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

जनककी उक्ति तथा राजा नहुषके प्रश्नोंके उत्तरमें बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें शान्तभावको प्राप्त हुए विदेहराज जनकने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ २ ॥

[जनक बोले—]मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है । इस मिथिलापुरीमें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता ॥ २ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसंचयम् ।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रसंगमें वैराग्यको लक्ष्य करके बोध्य मुनिने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत ।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययातिने वैराग्यसे शान्तभावको प्राप्त हुए शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानसे परितृप्त परम शान्त बोध्य ऋषिसे पूछा— ॥ ४ ॥

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे ।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मुझे शान्ति मिले । कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और संतोषके साथ विचरते हैं ?' ॥५॥

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन ।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत् स्वयं परिमृश्यताम् ॥ ६ ॥

बोध्यने कहा—राजन् ! मैं किसीको उपदेश नहीं देता, बल्कि स्वयं दूसरोंसे प्राप्त हुए उपदेशके अनुसार आचरण करता हूँ । मैं अपनेको मिले हुए उपदेशका लक्षण बता रहा हूँ (जिनसे उपदेश मिला है, उन गुरुओंका संकेतमात्र कर रहा हूँ), उसपर तुम स्वयं विचार करो ॥ ६ ॥

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने ।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥ ७ ॥

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वनमें सारङ्गका अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छः मेरे गुरु हैं ॥

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! बोध्यको अपने गुरुओंसे जो उपदेश प्राप्त हुआ था, वह इस प्रकार समझना चाहिये—आशा बड़ी प्रबल है । वही सबको दुःख देती है । निराशा ही परम सुख है । आशाको निराशके रूपमें परिणत करके पिङ्गला वेश्या सुखसे सो गयी । (पिङ्गला आशाके त्यागका उपदेश देनेके कारण गुरु हुई) ॥ ८ ॥

सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः ।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥ ९ ॥

चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर(क्रौञ्च)पक्षीको देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे । तब उसने उस मांसके टुकड़ेको त्याग दिया । अतः पक्षियोंने उसका पीछा करना छोड़ दिया । इस प्रकार आमिषके त्यागसे क्रौञ्चपक्षी सुखी हो गया । भोगोंके परित्यागका उपदेश देनेके कारण कुरर (क्रौञ्च) पक्षी गुरु हुआ ॥ ९ ॥

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १० ॥

घर बनानेका खटपट करना दुःखका ही कारण है । उससे कभी सुख नहीं मिलता । देखो, साँप दूसरोंके बनाये हुए घर (बिल) में प्रवेश करके सुखसे रहता है । (अतः अनिकेत रहने—घर-द्वारके चक्करमें न पड़नेका उपदेश देनेके कारण सर्प गुरु हुआ) ॥ १० ॥

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः ।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणीसे वैर न करके याचनावृत्तिसे अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्तिका आश्रय लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं (अद्रोहका उपदेश देनेके कारण पपीहा गुरु हुआ) ॥ ११॥

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२ ॥

एक बार एक बाण बनानेवालेको देखा गया, वह अपने

काममें ऐसा दत्तचित्त था कि उसके पाससे निकली हुई राजाकी सवारीका भी उसे कुछ पता नहीं चला (उसके द्वारा एकाग्रचित्तताका उपदेश प्राप्त हुआ; इसलिये वह गुरु हो गया) ॥ १२ ॥

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशंखको यथा ॥ १३ ॥

बहुत मनुष्य एक साथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है; अतः मैं कुमारी कन्याके हाथमें धारण की हुई शङ्खकी एक-एक चूड़ीके समान अकेला ही विचरूँगा* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बोध्यगीताविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७८॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रह्लाद और अवधूतका संवाद—आजगर वृत्तिकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किंच कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप सदाचारके स्वरूपको जाननेवाले हैं । कृपया यह बताइये, किस तरहके आचारको अपनाकर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वीपर विचरण कर सकता है ? और इस जगत्‌में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें भी प्रह्लाद तथा अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है ॥ २ ॥

चरन्तं ब्राह्मणं कंचित् कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम् ॥ ३ ॥

एक सुदृढ़चित्त, दुःख-शोकसे रहित तथा बुद्धिसम्मत ब्राह्मणको पृथ्वीपर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने उससे इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक् प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥ ४ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वस्थ, शक्तिमान्, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भसे दूर रहनेवाले, दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि न डालनेवाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलनेवाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकोंके समान विचर रहे हैं ॥ ४ ॥

नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे ॥ ५ ॥

न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होनेपर उसके लिये ही शोक करते हैं । ब्रह्मन् ! आप नित्यतृप्त-से रहते हुए न किसी वस्तुको प्रिय मानते हैं और न अप्रिय ॥ ५ ॥

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव ।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे ॥ ६ ॥

सारी प्रजा काम-क्रोध आदिके प्रवाहमें पड़कर बही जा रही है; परंतु आप उधरसे उदासीन-जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कार्योंके प्रति भी निश्चेष्ट-से दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत् ॥ ७ ॥

धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काममें भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है । आप इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके साक्षीके समान मुक्तरूपसे विचरते हैं ॥७॥

का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने ।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे ॥ ८ ॥

मुने ! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्रज्ञान अथवा कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है ? ब्रह्मन् ! आपके मतसे इस जगत्‌में मेरे लिये जो श्रेयका साधन हो, उसे शीघ्र बतावें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! प्रह्लादके इस प्रकार पूछनेपर लोक-धर्मके विधानको जाननेवाले उन मेधावी मुनिने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

---

* एक गृहस्थके घरपर कुछ अतिथि आ गये । घरके सब लोग कहीं बाहर चले गये थे । भीतर केवल एक कुमारी कन्या थी, जिसपर उन अतिथियोंके भोजन आदिका भार आ पड़ा । वह उनके निमित्त रसोई बनानेके लिये धान कूटने लगी । उसके हाथोंमें शङ्खकी बनी हुई कई चूड़ियाँ थीं, जो धान कूटते समय खनखना उठीं । अतिथियोंको इस बातका पता न चल जाय; इसलिये एक-एक करके उसने चूड़ियाँ निकाल लीं, दोनों हाथोंमें केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गयी; फिर उनका बजना बंद हो गया । इस तरह एकाकी रहनेका उपदेश देनेके कारण वह कुमारी गुरु हुई ।

पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १० ॥

'प्रह्लाद ! देखो, इस जगत्के प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारणरहित सत्स्वरूप परमात्मासे ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिये न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ ॥ १० ॥

स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः ।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित् ॥ ११ ॥

'ऐसा समझना चाहिये, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभावसे ही प्राणियोंकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभावमें ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥

पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान् ।
संचयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे मनः ॥१२॥

'प्रह्लाद ! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोगमें ही होता है और जितने संचय हैं, उनकी समाप्ति विनाशमें ही होती है । यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता हूँ ॥ १२ ॥

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः ।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ १३ ॥

'जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतोंको नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको जानता है, उसके लिये यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है ?॥ १३ ॥

जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये ।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ ॥ १४ ॥

'महासागरके जलमें पैदा होनेवाले विशाल शरीरवाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ोंका भी बारी-बारी-से विनाश होता देखता हूँ ॥ १४ ॥

जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप ।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः ॥ १५ ॥

'असुरराज ! पृथ्वीपर भी जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे स्पष्ट दिखायी दे रही है ॥

अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम् ।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि ॥ १६ ॥

'दानवश्रेष्ठ ! आकाशमें विचरनेवाले बलवान् पक्षियों-के समक्ष भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है ॥ १६ ॥

दिवि संचरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च ।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये ॥ १७ ॥

'आकाशमें जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचर रहे हैं, उन्हें भी मैं यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ ॥१७॥

इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना ।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ १८ ॥

'इस प्रकार सारे प्राणियोंको मैं मृत्युके पाशमें बद्ध देखता हूँ; इसलिये तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता हुआ सुखसे सोता हूँ ॥ १८ ॥

सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया ।
शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ १९ ॥

'यदि दैवेच्छासे अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रासमात्र मिले तो उसीमें संतुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनोंतक बिना खाये-पीये भी सो रहता हूँ ॥ १९ ॥

आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु ।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ २० ॥

'फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणोंसे सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं । पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़ेसे भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता ॥ २० ॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे ।
भक्षये शालिमांसानि भक्ष्यांश्चोच्चावचान् पुनः ॥ २१ ॥

'कभी चावलकी कनी खाता हूँ, कभी तिलकी खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनीके चावलका भात भरपेट खाता हूँ । इस प्रकार मुझे बढ़िया-घटिया सभी तरहके भोजन बारंबार प्राप्त होते रहते हैं ॥ २१ ॥

शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये ।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥

'कभी पलंगपर सोता हूँ, कभी पृथ्वीपर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महलके भीतर बिछी हुई बहु-मूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है ॥ २२ ॥

धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च ।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ २३ ॥

'मैं कभी तो चिथड़े अथवा वल्कल पहनकर रहता हूँ, कभी सनके, कभी रेशमके और कभी मृगचर्मके वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी एक कालमें बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रोंको भी पहन लेता हूँ ॥ २३ ॥

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया ।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥ २४ ॥

'यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होनेपर किसी दुर्लभ भोगकी भी कभी इच्छा नहीं करता ॥ २४ ॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं
शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम् ।
अनभिमतमसेवितं विमूढै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २५ ॥

मैं सदा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरवृत्तिका अनु-सरण करता हूँ । यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्युसे दूर रखनेवाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतके

अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं ॥ २५ ॥

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्
परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २६ ॥

'मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्मसे च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधमका ज्ञान है, मेरे हृदयसे भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गये हैं तथा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरोचित व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २६ ॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २७ ॥

'यह अजगरसम्बन्धी व्रत मेरे हृदयको सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदिके मिलनेकी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती--अनियतरूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करना होता है। इस व्रतमें प्रारब्धके परिणामके अनुसार देश और कालका विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्रभावसे इसी व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २७ ॥

इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं
जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २८ ॥

'जो यह मिले, वह मिले, इस प्रकार तृष्णासे दबे रहते हैं और धन न मिलनेके कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगोंकी दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न हुआ मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ २८ ॥

बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः
कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम्।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २९ ॥

'मैं बारंबार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धनके लिये दीनभावसे नीच पुरुषका आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गयी है। अतः मैं अपने स्वरूपको प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्रभावसे इस आजगर व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २९ ॥

सुखमसुखमलाभमर्थलाभं
रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३० ॥

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैवके अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे जानकर मैं शुद्धभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

अपगतभयरागमोहदर्पो
धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशाम्य
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३१ ॥

'मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गये हैं। मैं धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ। और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तुका ही उपभोग करनेवालोंको देखकर मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३१ ॥

अनियतशयनासनः प्रकृत्या
दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३२ ॥

'मेरे सोने-बैठनेका कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारसे सम्पन्न हूँ। मेरे कर्मफलसंचयका नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-
रुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३३ ॥

'जिनका परिणाम दुःख है, उन इच्छाके विषयभूत समस्त पदार्थोंसे जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अतः मैं तृष्णासे व्याकुल असंयत मनको वशमें करनेके लिये पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३३ ॥

न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा
प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३४ ॥

'मन, वाणी और बुद्धिकी उपेक्षा करके इनको प्रिय लगनेवाले विषय-सुखोंकी दुर्लभता तथा अनित्यता—इन दोनोंको देखनेवालेकी भाँति मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३४ ॥

बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः
कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त
स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः ॥ ३५ ॥

'अपनी कीर्तिका विस्तार करनेवाले विद्वानों और बुद्धि-

मानोंने अपने और दूसरोंके मतसे गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे करना चाहिये' इत्यादि कह-कर इस व्रतकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की है ॥ ३५ ॥

तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं
पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं
नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः ॥ ३६॥

'मूर्खलोग इस अजगरवृत्तिको सुनकर इसे पहाड़की चोटीसे गिरनेकी भाँति भयंकर समझते हैं। परंतु उनकी वह मान्यता भिन्न है। मैं इस अजगरवृत्तिको अज्ञानका नाशक और समस्त दोषोंसे रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णाका त्याग करके मनुष्योंमें विचरता हूँ' ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा
य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः ।
अपगतभयलोभमोहमन्युः
स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगर व्रतका पालन करता है, वह इस लोकमें सानन्द विचरण करता है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरप्रह्लादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अजगरवृत्तिसे रहनेवाले मुनि और प्रह्लादका संवादविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सद्बुद्धिका आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्मसे निवृत्त होनेके सम्बन्धमें काश्यप ब्राह्मण और इन्द्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! अब मेरे प्रश्नके अनुसार मुझे यह बताइये कि मनुष्यको बन्धुजन, कर्म, धन अथवा बुद्धि—इनमेंसे किसका आश्रय लेना चाहिये? ॥ १॥

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राणियोंका प्रधान आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसारमें बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। सत्पुरुषोंके मतमें बुद्धि ही स्वर्ग है ॥ २॥

प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये ।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥ ३ ॥

राजा बलिने अपना ऐश्वर्य क्षीण हो जानेपर पुनः उसे बुद्धिबलसे ही पाया था। प्रह्लाद, नमुचि और मङ्किने भी बुद्धिबलसे ही अपना-अपना अर्थ सिद्ध किया था। संसारमें बुद्धिसे बढ़कर और क्या है? ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और काश्यप-के संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ ४ ॥

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम् ।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें धनके अभिमानसे मतवाले हुए किसी धनी वैश्यने कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यपको अपने रथसे धक्के देकर गिरा दिया ॥

आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत् ।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥ ६ ॥

वे पीड़ासे कराहकर गिर पड़े और कुपित होकर आत्म-हत्याके लिये उद्यत हो इस प्रकार बोले—'अब मैं प्राण दे दूँगा; क्योंकि इस संसारमें निर्धन मनुष्यका जीवन व्यर्थ है' ॥

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥ ७ ॥

उन्हें इस प्रकार मरनेकी इच्छा लेकर बैठे मूर्छासे अचेत हो कुछ न बोलते और मन-ही-मन धनके लिये ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियारका रूप धारण करके आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ ७ ॥

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः ।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ॥ ८ ॥

'मुने! सभी प्राणी सब प्रकारसे मनुष्ययोनि पानेकी इच्छा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्वकी प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं ॥ ८ ॥

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप ।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'काश्यप! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोष-दृष्टि करके स्वयं ही मरनेके लिये उद्यत होना उचित नहीं है ॥

काश्यप ब्राह्मणके प्रति गीदड़के रूपमें इन्द्रका उपदेश

इन्द्रको पहचाननेपर काश्यपद्वारा उनकी पूजा

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः ।
संतोषणीयरूपोऽसि लोभाद् यदभिमन्यसे ॥ १० ॥

'संसारमें जितने लाभ हैं, वे सभी अभिमानपूर्ण हैं, ऐसा सत्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका कथन है (अर्थात् मैंने यह लाभ अपने पुरुषार्थसे किया है, ऐसा अहंकार प्रायः सभी मनुष्य कर लेते हैं)। आपका स्वरूप तो संतोष रखनेके योग्य है । आप लोभवश ही उसकी अवहेलना करते हैं ॥

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥ ११ ॥

'अहो ! जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए हाथ हैं, उनको तो मैं कृतार्थ मानता हूँ । इस जगत्‌में जिनके पास एकसे अधिक हाथ हैं, उनके-जैसा सौभाग्य पानेकी इच्छा मुझे बारंबार होती है ॥ ११ ॥

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥ १२ ॥

'जैसे आपके मनमें धनकी लालसा है, उसी प्रकार हम पशुओंको हाथवाले मनुष्योंसे हाथ पानेकी अभिलाषा रहती है । हमारी दृष्टिमें हाथ मिलनेसे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं ॥ १२ ॥

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकं नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ॥ १३ ॥

'ब्रह्मन् ! हमारे शरीरमें काँटे गड़ जाते हैं; परंतु हाथ न होनेसे हम उन्हें निकाल नहीं पाते हैं । जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीरमें डँसते हैं, उनको भी हम हटा नहीं सकते ॥

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ॥ १४ ॥

'परंतु जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए दस अंगुलियों-से युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गोंसे उन कीड़ोंको हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ॥ १४ ॥

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥ १५ ॥

'वे वर्षा, सर्दी और धूपसे अपनी रक्षा कर लेते हैं, कपड़ा पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछा-कर सोते हैं तथा एकान्त स्थानका उपभोग करते हैं ॥ १५ ॥

अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥

'हाथवाले मनुष्य बैलोंसे जुती हुई गाड़ीपर चढ़कर उन्हें हाँकते हैं और जगत्‌में उनका यथेष्ट उपभोग करते हैं तथा हाथसे ही अनेक प्रकारके उपाय करके लोगोंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ १६ ॥

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने ॥ १७ ॥

'मुने ! जो दुःख बिना हाथके दीन, दुर्बल और बेजबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते हैं॥

दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥ १८ ॥

'आपका बड़ा भाग्य है कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप, मेढक या किसी दूसरी पापयोनिमें नहीं उत्पन्न हुए ॥

एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप ।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः॥ १९ ॥

'काश्यप ! आपको इतने ही लाभसे संतुष्ट रहना चाहिये । इससे अधिक लाभ क्या होगा कि आप सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं ॥ १९ ॥

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ॥ २० ॥

'मुझे ये कीड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । हाथ न होनेके कारण होनेवाली मेरी इस दुर्दशाको आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ २० ॥

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं संत्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥

'आत्महत्या करना पाप है; यह सोचकर ही मैं अपने इस शरीरका परित्याग नहीं करता हूँ । मुझे भय है कि मैं इससे भी बढ़कर किसी दूसरी पापयोनिमें न गिर जाऊँ ॥

मध्ये वै पापयोनीनां शार्गालीं यामहं गतः ।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः ॥ २२ ॥

'यद्यपि मैं इस समय जिस शृगालयोनिमें हूँ, इसकी गणना भी पापयोनियोंमें ही है, तथापि दूसरी बहुत-सी पाप-योनियाँ इससे भी नीची श्रेणीकी हैं ॥ २२ ॥

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥ २३ ॥

'कुछ देवता आदि जातिसे ही सुखी हैं, दूसरे पशु आदि जातिसे ही अत्यन्त दुखी हैं; परंतु मैं कहीं किसीको ऐसा नहीं देखता, जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ॥ २३ ॥

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम्।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥ २४ ॥

'मनुष्य धनी हो जानेपर राज्य पाना चाहते हैं, राज्यसे देवत्वकी इच्छा करते हैं और देवत्वसे फिर इन्द्रपद प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २४ ॥

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥ २५ ॥

'यदि आप धनी हो जायँ तो भी ब्राह्मण होनेके कारण राजा नहीं हो सकते । यदि कदाचित् राजा हो जायँ तो देवता नहीं हो सकते । देवता और इन्द्रका पद भी पा जायँ तो भी आप उतनेसे संतुष्ट नहीं रह सकेंगे ॥ २५ ॥

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥ २६ ॥

'प्रिय वस्तुओंका लाभ होनेसे कभी तृप्ति नहीं होती ।

बढ़ती हुई तृष्णा जलसे नहीं बुझती। ईंधन पाकर जलनेवाली आगके समान वह और भी प्रज्वलित होती जाती है ॥

अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना ॥ २७ ॥

'तुम्हारे भीतर शोक भी है और हर्ष भी। साथ ही सुख और दुःख दोनों हैं; फिर शोक करना किस कामका? ॥ २७ ॥

परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम्।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे ॥ २८ ॥

'बुद्धि और इन्द्रियाँ ही समस्त कामनाओं और कर्मोंकी मूल हैं। उन्हें पिंजड़ेमें बंद पक्षियोंकी तरह अपने काबूमें रखा जाय तो कोई भय नहीं है ॥ २८ ॥

न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित्।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम् ॥ २९ ॥

'मनुष्यको दूसरे सिर और तीसरे हाथके कटनेका कभी भय नहीं होता है। जो वास्तवमें है ही नहीं, उसके कारण भय भी नहीं होता है ॥ २९ ॥

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते।
संस्पर्शाद् दर्शनाद् वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥ ३० ॥

'जो किसी विषयका रस नहीं जानता, उसके मनमें कभी उसकी कामना भी नहीं होती। स्पर्शसे, दर्शनसे अथवा श्रवणसे भी कामनाका उदय होता है ॥ ३० ॥

न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम्।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित् ३१

'वारुणी मदिरा तथा चिड़िया—इन दोनोंका आप कभी स्मरण नहीं करते होंगे; क्योंकि इनको आपने नहीं खाया है; परंतु (जो तामसी मनुष्य इनको खाते हैं उनके लिये) कहीं और कोई भी भक्ष्य पदार्थ उन दोनोंसे बढ़कर नहीं है ॥ ३१ ॥

यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित्।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते ॥ ३२ ॥

'प्राणियोंमें किसीके भी जो अन्यान्य भक्ष्य पदार्थ हैं, जिनका तुमने पहले उपभोग नहीं किया है, उन भोजनोंकी स्मृति तुमको कभी नहीं होगी ॥ ३२ ॥

अप्राशनमसंस्पर्शमसंदर्शनमेव च।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः ॥ ३३ ॥

'मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी वस्तुको न खाने, न छूने और न देखनेका नियम लेना ही पुरुषके लिये कल्याणकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ३३ ॥

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ ३४ ॥

'जिनके दोनों हाथ बने हुए हैं, निस्संदेह वे ही बलवान् और धनवान् हैं। मनुष्योंको तो मनुष्योंने ही दास बना रक्खा है ॥

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

'कितने ही मनुष्य बारंबार बध और बन्धनके क्लेश भोगते रहते हैं, परंतु वे भी (आत्महत्या करके प्राण नहीं देते, बल्कि) आपसमें क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं ॥

अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते ॥ ३६ ॥

'दूसरे बहुत-से बाहुबलसे सम्पन्न विद्वान् और मनस्वी मनुष्य दीन, निन्दित एवं पापपूर्ण वृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥

उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम्।
स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं तु तत् तथा ॥ ३७ ॥

'वे दूसरी वृत्तिका सेवन करनेके लिये भी उत्साह रखते हैं; परंतु अपने कर्मके अनुसार जो नियत है, वैसा ही भविष्यमें होता है ॥ ३७ ॥

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम् ॥ ३८ ॥

'भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीरको त्यागना नहीं चाहता है, वह अपनी उसी योनिसे संतुष्ट रहता है। देखिये, भगवान्‌की कैसी माया है ! ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ३९

'काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लँगड़े हैं, कुछ लोगोंको लकवा मार गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं। उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनिके अनुसार नीरोग और परिपूर्ण अङ्गवाले हैं। आपको मानवशरीरका लाभ मिल चुका है ॥ ३९ ॥

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ॥ ४० ॥

'ब्राह्मणदेव ! यदि आपका शरीर निर्भय और नीरोग है, आपके सारे अङ्ग ठीक हैं, किसीमें कोई विकार नहीं आया है तो लोकमें कोई भी आपको धिक्कार नहीं सकता—आप धिक्कारके पात्र नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'यदि आपपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलङ्क लगा हो तो भी आपको प्राणत्यागका विचार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मर्षे ! आप धर्मपालनके लिये उठ खड़े होइये ॥

यदि ब्रह्मञ्शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि आप मेरी बात सुनेंगे और उसपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्मके पालनका ही मुख्य फल प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ॥ ४३ ॥

'आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सत्य,

इन्द्रियसंयम तथा दानधर्मका पालन कीजिये। किसीके साथ स्पर्धा न कीजिये ॥ ४३ ॥

ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम्।
कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः ॥ ४४ ॥

'जो ब्राह्मण स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा यज्ञ करते और कराते हैं, वे किसी प्रकारकी चिन्ता क्यों करेंगे और कोई आत्महत्या आदि बुरी बात भी क्यों सोचेंगे? वे यदि चाहें तो यज्ञादिके द्वारा विहार करते हुए महान् सुख पा सकते हैं ॥

उत जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

'जो उत्तम नक्षत्र, उत्तम तिथि और उत्तम मुहूर्तमें पैदा हुए हैं, वे अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ एवं दान करते और न्यायानुकूल संतानोत्पादनकी चेष्टा भी करते हैं ॥ ४५ ॥

नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः।
सम्पतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥

'दूसरे जो लोग आसुर नक्षत्र, दूषित तिथि तथा अशुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं, वे यज्ञ तथा संतानसे रहित होकर आसुरी योनिमें पड़ते हैं ॥ ४६ ॥

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥

'पूर्वजन्ममें मैं एक पण्डित था और कुतर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता था। प्रत्यक्षके आधारपर अनुमानको प्रधानता देनेवाली थोथी तर्कविद्यापर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था ॥ ४७ ॥

हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ४८

'मैं सभाओंमें जाकर तर्क और युक्तिकी बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेदवाक्योंपर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी सुना देता और स्वयं ही अपना तर्कवाद बका करता था ॥ ४८ ॥

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥ ४९ ॥

'मैं नास्तिक, सबपर संदेह करनेवाला तथा मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाला था। विप्रवर! यह शृगालयोनि मेरे उसी कुकर्मका फल है ॥ ४९ ॥

अपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥ ५० ॥

अब मैं सैकड़ों दिन-रातोंतक साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ, जिससे आज सियारकी योनिमें पड़ा हुआ मैं पुनः वह मनुष्ययोनि पा सकूँ ॥ ५० ॥

संतुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥ ५१ ॥

'जिस मनुष्ययोनिमें मैं संतुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तपस्यामें लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जाननेयोग्य वस्तुको जान लूँ और त्यागनेयोग्य वस्तुका त्याग कर दूँ' ॥ ५१ ॥

ततः स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः ॥ ५२ ॥

यह सुनकर काश्यप मुनि आश्चर्यसे चकित होकर खड़े हो गये और बोले—'अहो! तुम तो बड़े कुशल और बुद्धिमान् हो' ॥ ५२ ॥

समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम् ॥ ५३ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्मर्षिने उसकी ओर ज्ञानदृष्टिसे देखा। तब उसके रूपमें इन्हें देवदेव शचीपति इन्द्र दिखायी दिये ॥ ५३ ॥

ततः सम्पूजयामास काश्यपो हरिवाहनम्।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर काश्यपने इन्द्रदेवका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे पुनः अपने घरको लौट गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गीदड़ और काश्यपका संवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरुशुश्रूषा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम, क्रोध आदि दोषोंसे युक्त बुद्धिकी प्रेरणासे मन पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कार्योंद्वारा पाप करके दुःखमय लोक

(नरक) में गिराया जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥ ३ ॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्षसे दुर्भिक्ष, क्लेशसे क्लेश और भयसे भय पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथिसत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होनेयोग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानवसमाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानमें थोथा पौधा और पङ्खवाले जीवोंमें मच्छर ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, जो कर्मजनित अदृष्टके द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस कर्मफलको प्राणिसमुदायके पास खींच लाता है ॥ ११ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्वशरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे पहलेसे क्षार आदिमें भिगोया हुआ कपड़ा पीछे धोनेसे साफ हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने।
धर्मनिर्धूतपापानां सम्पद्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

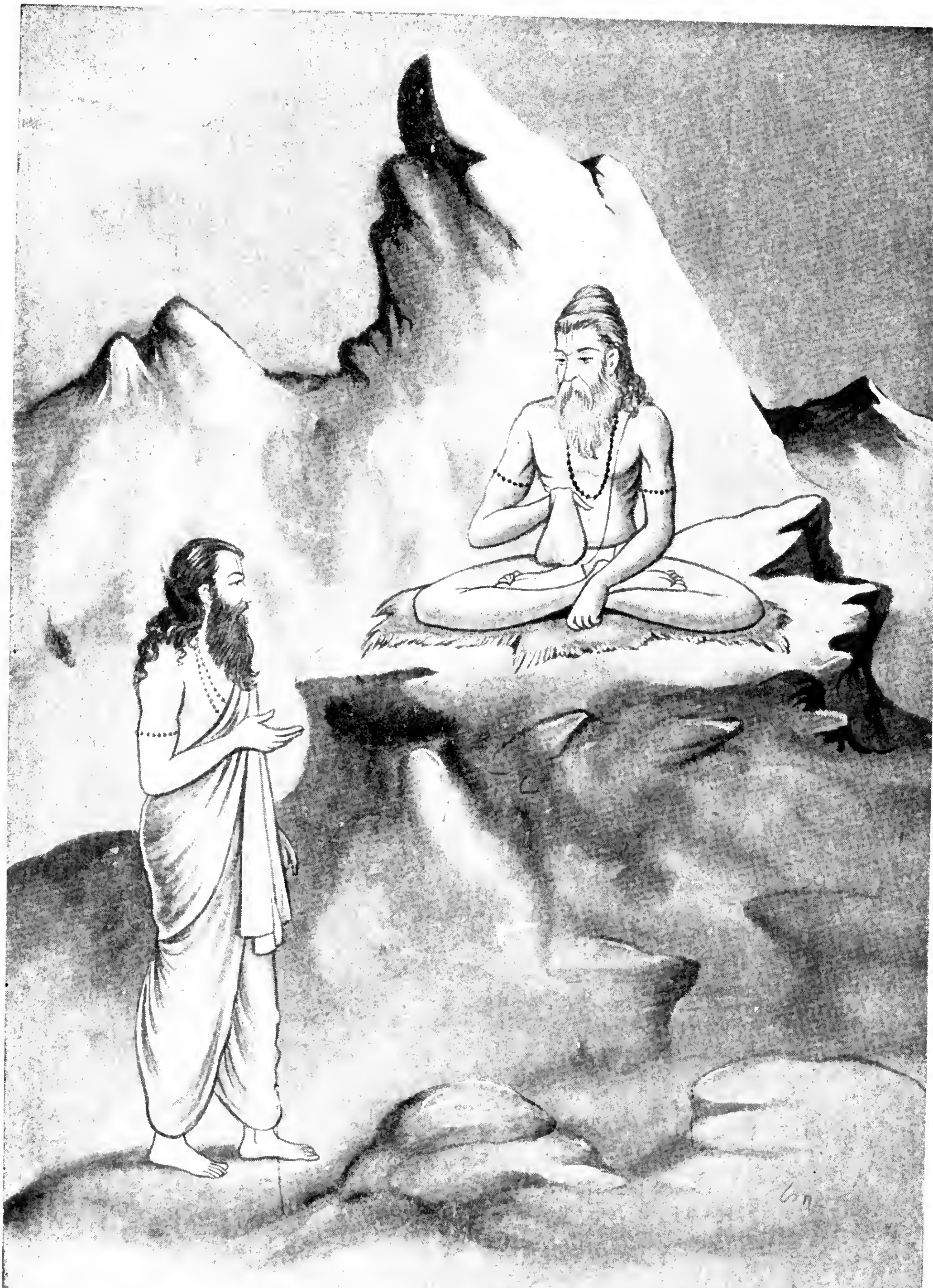

महर्षि भृगुके साथ भरद्वाज मुनिका प्रश्नोत्तर

तपोवनमें रहकर की हुई दीर्घकालतककी तपस्यासे तथा धर्मसे जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधोंकी चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाज और भृगुके संवादमें जगत्‌की उत्पत्तिका और विभिन्न तत्त्वोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! इस सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्‌की उत्पत्ति कहाँसे हुई है? प्रलयकालमें यह किसमें लीन होता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ २ ॥

समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है?॥ २ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ३ ॥

प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया? ॥ ३ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥ ४ ॥

जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? इस लोकसे उस लोकमें जानेका क्रम क्या है? ये सब बातें आप हमें बतावें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥ ५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! विज्ञ पुरुष इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें भरद्वाजके प्रश्न करनेपर भृगुके उपदेशका उल्लेख हुआ है ॥ ५ ॥

कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम्।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥ ६ ॥

कैलास पर्वतके शिखरपर अपने तेजसे देदीप्यमान होते हुए महातेजस्वी महर्षि भृगुको बैठा देख भरद्वाज मुनिने पूछा—॥ ६ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ ७ ॥

'समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है? ॥ ७॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ८ ॥

'प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया? ॥ ८ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? तथा यह लोक और परलोक कैसा है? यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ ९ ॥

एवं स भगवान् पृष्टो भरद्वाजेन संशयम्।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसंकाशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

भरद्वाज मुनिके इस प्रकार अपना संशय पूछनेपर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगुने उन्हें सब कुछ बताया ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

(नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः।
कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः ॥
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः।)
मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः ॥ ११ ॥

भृगु बोले—ब्रह्मन्! भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्-स्वरूप हैं। वे ही सबके अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे

ही कूटस्थ, अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृतिसे परे और इन्द्रियातीत हैं। उन भगवान् नारायणके हृदयमें जब सृष्टिविषयक संकल्पका उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंशसे एक पुरुषको उत्पन्न किया, महर्षियोंने सर्वप्रथम जिसको इसी नामसे सुना था, जो मानसपुरुषके नामसे प्रसिद्ध है। पूर्वकालमें उत्पन्न वह मानसदेव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है ॥ ११ ॥

अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ १२ ॥

उसीकी अव्यक्त नामसे प्रसिद्धि है। वही शाश्वत, अक्षय और अविनाशी है। उससे उत्पन्न सब प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं ॥ १२ ॥

सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।
महान् ससर्जाहंकारं स चापि भगवानथ ॥ १३ ॥

उस स्वयम्भू देवने पहले महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की रचना की। फिर उस महत्तत्त्वस्वरूप भगवान्ने अहङ्कार (समष्टि अहङ्कार) की सृष्टि की ॥ १३ ॥

आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।
आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाले अहङ्कारस्वरूप भगवान्ने शब्दतन्मात्रा रूप आकाशको उत्पन्न किया। आकाशसे जल और जलसे अग्नि एवं वायुकी उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायुके संयोगसे इस पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ* ॥ १४ ॥

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः ॥ १५ ॥

उसके बाद उस स्वयम्भू मानसदेवने पहले एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमलसे वेदमय निधिरूप ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ १५ ॥

अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः ॥ १६ ॥

वे अहङ्कार नामसे भी विख्यात हैं और समस्त भूतोंके आत्मा तथा उन भूतोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। ये जो पाँच महाभूत हैं, इनके रूपमें महातेजस्वी ब्रह्मा ही प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा ॥ १७ ॥

पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, पृथ्वी उनका मेद और मांस है। समुद्र उनका रुधिर है और आकाश उदर है ॥ १७ ॥

पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः।
अग्नीषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते ॥ १८ ॥

वायु निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिन्हें अग्नि और सोम भी कहते हैं, ब्रह्माजीके नेत्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं ॥ १८ ॥

नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः ॥ १९ ॥

आकाशका ऊपरी भाग उनका सिर है, पृथ्वी पैर है और दिशाएँ भुजाएँ हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप ब्रह्मा सिद्ध पुरुषोंके लिये भी दुर्विज्ञेय हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ २० ॥

वह स्वयम्भू ही भगवान् विष्णु हैं, जो अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विद्यमान हैं। जिनका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिये इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

अहंकारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै।
यतः समभवद् विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया ॥ २१ ॥

वे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके लिये प्राकृत अहङ्कारकी सृष्टि करनेवाले हैं। तुमने मुझसे जो पूछा था कि इस विश्वकी उत्पत्ति किससे हुई है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच

गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा।
कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वतः ॥ २२ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आकाश, दिशा, पृथ्वी और वायुका कितना-कितना परिमाण है? यह ठीक-ठीक बताकर मेरा संशय दूर कीजिये ॥ २२ ॥

भृगुरुवाच

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम्।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते ॥ २३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकानेक सिद्ध और देवता निवास करते हैं। इसमें उनके भिन्न-भिन्न लोक भी स्थित हैं। यह बड़ा ही रमणीय है और इतना महान् है कि कहीं इसका अन्त नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः।
तत्र देवाः स्वयं दीप्ता भास्कराभाग्निवर्चसः ॥ २४ ॥

ऊपर तथा नीचे जानेसे जहाँ सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखायी देते, वहाँ सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं ॥ २४ ॥

ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद ॥ २५ ॥

मानद! परंतु वे तेजस्वी नक्षत्रस्वरूप देवता भी इस आकाशका अन्त नहीं देख पाते; क्योंकि यह दुर्गम और अनन्त है, यह बात तुम्हें मेरे मुखसे सुनकर अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये ॥ २५ ॥

---

* यहाँ जो सृष्टिका क्रम बताया गया है, वह श्रुतिसम्मत क्रमसे भिन्न है। श्रुतिने आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्तिका क्रम बताया है।

उपरिष्टोपरिष्टात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः ।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥ २६ ॥

ऊपर-ऊपर प्रकाशित होनेवाले स्वयंप्रकाश देवताओंसे यह अप्रमेय आकाश भी भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ २६ ॥

पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥ २७ ॥

पृथ्वीके अन्तमें समुद्र हैं। समुद्रके अन्तमें घोर अन्धकार है। अन्धकारके अन्तमें जल है और जलके अन्तमें अग्निकी स्थिति बतायी गयी है ॥ २७ ॥

रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः ।
तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥ २८ ॥

रसातलके अन्तमें जल है। जलके अन्तमें नागराज शेष हैं। उनके अन्तमें पुनः आकाश और आकाशके ही अन्त-भागमें पुनः जल है ॥ २८ ॥

एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान्‌का, आकाशका, जलका तथा अग्नि और वायुका भी अन्त और परिमाण जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २९ ॥

अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात् ॥ ३० ॥

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी– इनके रंग-रूप आकाशसे ही गृहीत होते हैं; अतः उससे भिन्न नहीं हैं । तत्त्वज्ञान न होनेसे ही उनमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।
त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥ ३१ ॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः ॥ ३२ ॥

ऋषियोंने विविध शास्त्रोंमें तीनों लोकों और समुद्रोंके विषयमें तो कुछ निश्चित प्रमाण बताया भी है; परंतु जो दृष्टिसे परे हैं और जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है, उस परमात्माका परिमाण कोई कैसे बतायेगा ? आखिर इन सिद्धों और देवताओंका ज्ञान भी तो परिमित ही है ॥ ३१-३२ ॥

तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

अतः परमात्मा मानसदेव अपने नामके अनुरूप ही अनन्त हैं। उनका सुप्रसिद्ध अनन्त नाम उनके गुणके अनुसार ही है ॥ ३३ ॥

यदा तु दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तो योऽपि स्यात् तद्विधोऽपरः ॥ ३४ ॥

जब उन परमात्माका वह दिव्यरूप उनकी मायासे कभी बहुत छोटा हो जाता है और कभी बहुत बढ़ जाता है, तब कोई उनसे भिन्न दूसरा उन्हींके समान प्रतिभाशाली कौन है, जो कि उस स्वरूपका यथार्थ परिमाण जान सके अर्थात् ऐसा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।
ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त कमलसे सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभावशाली, परम उत्तम तथा प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३५ ॥

भरद्वाज उवाच

पुष्कराद् यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे ॥ ३६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि ब्रह्माजी कमलसे प्रकट हुए तब तो कमल ही ज्येष्ठ प्रतीत होता है; परंतु आपने ब्रह्माजीको पूर्वज बताया है; अतः यह संदेह मेरे मनमें बना ही रह गया ॥ ३६ ॥

भृगुरुवाच

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३७ ॥

भृगुने कहा—मुने ! मानसदेवका जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्मरूपमें प्रकट है । उन्हीं ब्रह्माजीके आसनके लिये इस पृथ्वीको ही पद्म (कमल) कहते हैं ॥ ३७ ॥

कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः ।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः ॥ ३८ ॥

इस कमलकी कर्णिका मेरुपर्वत है, जो आकाशमें बहुत ऊँचेतक गया है । उसी पर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर जगदीश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजका संवादविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

आकाशसे अन्य चार स्थूल भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः ।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! मेरुपर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर ब्रह्माजी नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि कैसे करते हैं, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत् ।

संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥ २ ॥

भृगुने कहा—उन मानसदेवने अपने मानसिक संकल्पसे ही नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि की है। उन्होंने प्राणियोंकी रक्षाके लिये सबसे पहले जलकी सृष्टि की ॥ २ ॥

यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः ।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥ ३ ॥

वह जल समस्त प्राणियोंका जीवन है। उसीसे प्रजाकी वृद्धि होती है। जलके न मिलनेसे प्राणी नष्ट हो जाते हैं। उसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥ ३ ॥

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे ।
सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥ ४ ॥

पृथ्वी, पर्वत, मेघ तथा अन्य जो मूर्तिमान् वस्तुएँ हैं, उन सबको जलमय समझना चाहिये; क्योंकि जलने ही उन सबको स्थिर कर रक्खा है ॥ ४ ॥

भरद्वाज उवाच

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! जलकी उत्पत्ति कैसे हुई? अग्नि और वायुकी सृष्टि किस प्रकार हुई तथा पृथ्वीकी भी रचना कैसे की गयी, इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे ।
लोकसम्भवसंदेहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ ६ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब ब्रह्मकल्प चल रहा था, उस समय ब्रह्मर्षियोंका परस्पर समागम हुआ। उन महात्माओंकी उस सभामें लोकसृष्टिविषयक संदेह उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः ।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ७ ॥

वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षोंतक ध्यान लगाकर मौनका आश्रय ले निश्चलभावसे बैठे रह गये ॥ ७ ॥

तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत् ।
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥ ८ ॥

उस ध्यानावस्थामें उन सबके कानोंमें ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी। उस समय वहाँ आकाशसे दिव्य सरस्वती प्रकट हुई थी ॥ ८ ॥

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम् ।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥ ९ ॥

वह आकाशवाणी इस प्रकार है—'पूर्वकालमें अनन्त आकाश पर्वतके समान निश्चल था। उसमें चन्द्रमा, सूर्य अथवा वायु किसीके दर्शन नहीं होते थे। वह सोया हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ९ ॥

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥ १० ॥

'तदनन्तर आकाशसे जलकी उत्पत्ति हुई; मानो अन्धकारमें ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो। उस जलप्रवाहसे वायुका उत्थान हुआ ॥ १० ॥

यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥ ११ ॥

'जैसे कोई छिद्ररहित पात्र निःशब्द-सा लक्षित होता है; परंतु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, तब वायु उसमें आवाज प्रकट कर देती है ॥ ११ ॥

तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार जलसे आकाशका सारा प्रान्त ऐसा अवरुद्ध हो गया था कि उसमें कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं था। तब उस एकार्णवके तलप्रदेशका भेदन करके बड़ी भारी आवाजके साथ वायुका प्राकट्य हुआ ॥ १२ ॥

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥ १३ ॥

'इस प्रकार समुद्रके जलसमुदायसे प्रकट हुई यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाशके किसी भी स्थानमें पहुँचकर वह शान्त नहीं हुई ॥ १३ ॥

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥ १४ ॥

'वायु और जलके उस संघर्षसे अत्यन्त तेजोमय महाबली अग्निदेवका प्राकट्य हुआ, जिनकी लपटें ऊपरकी ओर उठ रही थीं। वह आग आकाशके सारे अन्धकारको नष्ट करके प्रकट हुई थी ॥ १४ ॥

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम् ।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥

'वायुका संयोग पाकर अग्नि जलको आकाशमें उछालने लगी; फिर वही जल अग्नि और वायुके संयोगसे घनीभूत हो गया ॥ १५ ॥

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः ।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

'उसका जो वह गीलापन आकाशमें गिरा, वही घनीभूत होकर पृथ्वीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १६ ॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ।
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥ १७ ॥

'इस पृथ्वीको सम्पूर्ण रसों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियोंका कारण समझना चाहिये । इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें मानसभूतोंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन

भरद्वाज उवाच

त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा ।
आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिताः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! लोकमें ये पाँच धातु ही 'महाभूत' कहलाते हैं, जिन्हें ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें रचा था। ये ही इन समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं ॥ १ ॥

यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः ।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते ॥ २ ॥

परंतु जब महाबुद्धिमान् ब्रह्माजीने और भी हजारों भूतोंकी रचना की है, तब इन पाँचको ही 'भूत' कहना कहाँतक युक्तिसंगत है ? ॥ २ ॥

भृगुरुवाच

अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम् ।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! ये पाँच भूत ही असीम हैं, इसलिये इन्हींके साथ 'महा'शब्द जोड़ा जाता है । इन्हींसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है; अतः इन्हींके लिये 'महाभूत' शब्दका प्रयोग सुसंगत है ॥ ३ ॥

चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः।
पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥

प्राणियोंका शरीर इन पाँच महाभूतोंका ही संघात है । इसमें जो चेष्टा या गति है, वह वायुका भाग है । जो खोखलापन है, वह आकाशका अंश है । ऊष्मा (गर्मी) अग्निका अंश है । लोहू आदि तरल पदार्थ जलके अंश हैं और हड्डी मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वीके अंश हैं ॥ ४ ॥

इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम् ।
श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सारा स्थावर-जङ्गम जगत् इन पाँच भूतोंसे युक्त है । इन्हींके सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र—इन पाँच इन्द्रियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥

भरद्वाज उवाच

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः ।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! आपके कथनानुसार यदि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थ इन पाँच महाभूतोंसे ही संयुक्त हैं तो स्थावरोंके शरीरोंमें तो पाँच भूत नहीं दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः ।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ७ ॥

वृक्षोंके शरीरमें गर्मी नहीं है, कोई चेष्टा भी नहीं है तथा वास्तवमें वे घन हैं; अतः उनके शरीरमें पाँचों भूतोंकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥

न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः ।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥ ८ ॥

वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न गन्ध और रसका ही अनुभव करते हैं और न उन्हें स्पर्शका ही ज्ञान होता है; फिर वे पाञ्चभौतिक कैसे कहे जाते हैं ? ॥ ८ ॥

अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः ।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥ ९ ॥

उनमें न तो द्रवत्व देखा जाता है, न अग्निका अंश, न पृथ्वी और वायुका ही भाग उपलब्ध होता है । आकाश तो अप्रमेय है; अतः वह भी वृक्षोंमें नहीं है, इसलिये वृक्षोंकी पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः ।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है । इसीसे उनमें नित्यप्रति फल-फूल आदिकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ॥

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ ११ ॥

वृक्षोंके भीतर जो ऊष्मा या गर्मी है, उसीसे उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं; इससे उनमें स्पर्शका होना भी सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ १२ ॥

यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि और बिजलीकी कड़क आदि भीषण शब्द होनेपर वृक्षोंके फल-फूल झड़कर गिर जाते हैं । शब्दका ग्रहण तो श्रवणेन्द्रियसे ही होता है;

इससे यह सिद्ध हुआ कि वृक्ष भी सुनते हैं ॥ १२ ॥

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥ १३ ॥

लता वृक्षको चारों ओरसे लपेट लेती है और उसके ऊपरी भागतक चढ़ जाती है। बिना देखे किसीको अपने जानेका मार्ग नहीं मिल सकता; इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं ॥ १३ ॥

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥ १४ ॥

पवित्र और अपवित्र गन्धसे तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं; इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष भी सूँघते हैं ॥ १४ ॥

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ १५ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जल पीते हैं और कोई रोग होनेपर जड़में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है; इससे सिद्ध है कि वृक्षमें रसनेन्द्रिय भी है ॥ १५ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य कमलकी नाल मुँहमें लगाकर उसके द्वारा ऊपरको जल खींचता है, उसी तरह वायुकी सहायतासे युक्त वृक्ष अपनी जड़ोंद्वारा ऊपरकी ओर पानी खींचता है ॥१६॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

वृक्ष कट जानेपर उनमें नया अंकुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूँ कि वृक्षोंमें जीव भी हैं। वे अचेतन नहीं हैं ॥ १७ ॥

तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते ॥ १८ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जो जल खींचता है, उसे उसके अंदर रहनेवाली वायु और अग्नि पचाती है। आहारका परिपाक होनेसे वृक्षमें स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं ॥

जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः ।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते ॥ १९ ॥

समस्त जङ्गमोंके शरीरोंमें भी पाँच भूत रहते हैं; परंतु वहाँ उनके स्वरूपमें भेद होता है। उन पाँच भूतोंके सहयोगसे ही शरीर चेष्टाशील होता है ॥ १९ ॥

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् ।
इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥ २० ॥

शरीरमें त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु—इन पाँच वस्तुओंका समुदाय पृथ्वीमय है ॥ २० ॥

तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च ।
अग्निर्जरयते यश्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥ २१ ॥

तेज, क्रोध, नेत्र, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच वस्तुएँ देहधारियोंके शरीरमें अग्निमय हैं ॥ २१ ॥

श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च ।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ २२ ॥

कान, नासिका, मुख, हृदय और उदर प्राणियोंके शरीरमें ये पाँच धातुमय खोखलापन आकाशसे उत्पन्न हुए हैं—॥ २२ ॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च ।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥ २३ ॥

कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—ये प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाली पाँच गीली वस्तुएँ जलरूप हैं ॥ २३ ॥

प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा ।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ २४ ॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते ।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ २५ ॥

प्राणसे प्राणी चलने-फिरनेका काम करता है, व्यानसे व्यायाम (बलसाध्य उद्यम) करता है, अपान वायु ऊपरसे नीचेकी ओर जाती है, समान वायु हृदयमें स्थित होती है, उदानसे पुरुष उच्छ्वास लेता है और कण्ठ, तालु आदि स्थानोंके भेदसे शब्दों एवं अक्षरोंका उच्चारण करता है। इस प्रकार ये पाँच वायुके परिणाम हैं, जो शरीरधारीको चेष्टाशील बनाते हैं ॥ २४-२५ ॥

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान् ।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वाहिना ॥ २६ ॥

जीव भूमिसे ही (अर्थात् घ्राणेन्द्रियद्वारा) गन्ध गुणका अनुभव करता है, जलसम्बन्धी इन्द्रिय रसनासे शरीरधारी पुरुष रसका आस्वादन करता है, तेजोमय नेत्रके द्वारा रूपका तथा वायुसम्बन्धी त्वगिन्द्रियके द्वारा उसे स्पर्शका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान् ।२७।

गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—ये पृथ्वीके गुण माने गये हैं। इनमेंसे प्रधान गन्धके गुणोंका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ २७ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ २८ ॥
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ।

अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी अर्थात् दूरसे आनेवाली, तेज गन्धमिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये गन्धके नौ भेद जानने चाहिये। इस प्रकार पार्थिव गन्धका विस्तार बताया गया ॥ २८½ ॥

ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना ।२९।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः ।

रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

मनुष्य दोनों नेत्रोंसे रूपको देखता है और त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये जलके गुण माने गये हैं। उनमें प्रधान गुण रस है, उसकी जानकारीके लिये अब मैं उसके भेदोंका वर्णन करता हूँ। तुम उसे मेरे मुँहसे सुनो॥ २९-३०॥

रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः।
मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा॥ ३१॥

उदारचेता महर्षियोंने रसके अनेक भेद बताये हैं—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु। इन छः रूपोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ रस जलमय माना गया है॥ ३१॥

एष षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते॥ ३२॥
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये अग्निके तीन गुण बताये जाते हैं। ज्योतिर्मय नेत्र रूपको देखते हैं। अग्निके प्रधान गुण रूपको भी अनेक प्रकारका माना गया है॥ ३२½॥

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान्॥ ३३॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः॥ ३४॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर और सब ओरसे गोल, सफेद, काला, लाल, पीला और आकाशकी भाँति नीला, कठिन, चिक्कण, अल्प, पिच्छिल, मृदु और दारुण—इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपनामक गुण सोलह भेदोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ है॥ ३३-३४½॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत॥ ३५॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।

वायुके दो गुण जानने चाहिये—शब्द और स्पर्श। वायुका प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जिसके अनेक भेद माने गये हैं—॥ ३५½॥

उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च॥ ३६॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते॥ ३७॥

उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूक्ष, हलका, भारी और अधिक भारी—इस प्रकार वायुसम्बन्धी स्पर्श गुणके बारह भेद कहे जाते हैं॥ ३६-३७॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम्॥ ३८॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्॥ ३९॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।

आकाशका एकमात्र गुण शब्द ही माना गया है। उस शब्दगुणका अनेक भेदोंमें जो विस्तार हुआ है, उसका वर्णन करता हूँ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये आकाशजनित शब्दगुणके सात भेद बताये गये हैं, जिन्हें जानना चाहिये॥ ३८-३९½॥

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु॥ ४०॥
मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा।
एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः॥ ४१॥

अपने व्यापक स्वरूपसे तो शब्द सर्वत्र है, किंतु पटह (नगाड़े) आदिमें इसकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है। मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघ तथा रथकी घर्घराहट आदिमें जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड या चेतनका जो कुछ भी शब्द श्रवणगोचर होता है, वह सब इन सात भेदोंके ही अन्तर्गत बताया गया है॥ ४०-४१॥

एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह॥ ४२॥

इस प्रकार आकाशजनित शब्दके अनेक भेद हैं। वायुसम्बन्धी गुणोंके साथ ही आकाशजनित शब्द होता है; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं॥ ४२॥

अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः।
आप्यायन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः॥ ४३॥

जब वायुसम्बन्धी गुण बाधित न होकर शब्दके साथ रहता है, तब मनुष्य शब्दको सुनता और समझता है; किंतु जब वायुसम्बन्धी गुण दीवार अथवा प्रतिकूल वायुसे बाधित होकर विषम अवस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब शब्दका ग्रहण नहीं होता है। वे शब्द आदिके उत्पादक धातु (इन्द्रिय-गोलक) धातुओं (इन पाँचों भूतों) द्वारा ही पोषित होते हैं॥

आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः॥ ४४॥

जल, अग्नि और वायु—ये तीन तत्त्व सदा देहधारियोंमें जाग्रत् रहते हैं। ये ही शरीरके मूल हैं और प्राणोंमें ओतप्रोत होकर शरीरमें स्थित रहते हैं॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभारद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८४॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शरीरके भीतर जठरानल तथा प्राण-अपान आदि वायुओंकी स्थिति आदिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः॥ १॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! शरीरके भीतर रहनेवाली अग्नि पार्थिव धातु (पाञ्चभौतिक देह) का आश्रय लेकर कैसे रहती है और वायु भी उसी पार्थिव धातुका आश्रय लेकर अवकाश विशेषके द्वारा देहको कैसे चेष्टाशील बनाती है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ।
प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बली॥ २॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! निष्पाप महर्षे! मैं तुमसे वायुकी गतिका वर्णन करता हूँ। प्रबल वायु प्राणियोंके शरीरोंको किस प्रकार चेष्टाशील बनाती है ? यह बताता हूँ॥

श्रितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन्।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते॥ ३॥

आत्मा मस्तकके रन्ध्रस्थानमें स्थित होकर सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा करता है और प्राण मस्तक तथा अग्नि दोनोंमें स्थित होकर शरीरको चेष्टाशील बनाता है॥ ३॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः॥ ४॥

वह प्राणसे संयुक्त आत्मा ही जीव है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है। वही मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों भूत और विषयरूप हो रहा है॥ ४॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः॥ ५॥

इस प्रकार (जीवात्मासे संयुक्त हुए) प्राणके द्वारा शरीरके भीतरके समस्त विभाग तथा इन्द्रिय आदि सारे बाह्य अङ्ग परिचालित होते हैं। तत्पश्चात् समान वायुके रूपमें परिणत हो प्राण ही अपनी-अपनी गतिके आश्रित शरीरका संचालक होता है॥ ५॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते॥ ६॥

अपान वायु जठरानल, मूत्राशय और गुदाका आश्रय ले मल एवं मूत्रको निकालता हुआ ऊपरसे नीचेको घूमता रहता है॥ ६॥

प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः॥ ७॥

जिस एक ही वायुकी प्रयत्न, कर्म और बल तीनोंमें प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंने उदान कहा है॥ ७॥

संधिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथानिलः।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते॥ ८॥

जो मनुष्योंके शरीरोंमें और उनकी समस्त संधियोंमें भी व्याप्त है, उस वायुको 'व्यान' कहते हैं॥ ८॥

धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते॥ ९॥

शरीरके समस्त धातुओंमें व्याप्त जो अग्नि है, वह समान वायुद्वारा संचालित होती है। वह समान वायु ही शरीरगत रसों, धातुओं (इन्द्रियों) और दोषों (कफ आदि) का संचालन करती हुई सम्पूर्ण शरीरमें स्थित है॥ ९॥

अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः॥ १०॥

अपान और प्राणके मध्यभाग (नाभि) में प्राण और अपान दोनोंका आश्रय लेकर स्थित हुआ जठरानल खाये हुए अन्नको भलीभाँति पचाता है॥ १०॥

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसंज्ञितम्।
स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम्॥ ११॥

मुखसे लेकर पायु (गुदा) तक जो महान् स्रोत (प्राणके प्रवाहित होनेका मार्ग) है, वही अन्तिम छोरमें गुदाके नामसे प्रसिद्ध है। उसी महान् स्रोतसे देहधारियोंके अन्य सभी छोटे-छोटे स्रोत (प्राणोंके संचरणके मार्ग अथवा नाडीसमुदाय) प्रकट होते हैं॥ ११॥

प्राणानां संनिपाताच्च संनिपातः प्रजायते।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम्॥ १२॥

उन स्रोतोंद्वारा सारे अङ्गोंमें प्राणोंका सम्बन्ध या प्रसार होनेसे उसके साथ रहनेवाले जठरानलका भी सम्बन्ध या प्रसार हो जाता है। प्राणियोंके शरीरमें जो गर्मीका अनुभव होता है, उसे उस जठरानलका ही ताप समझना चाहिये। वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है॥ १२॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम्॥ १३॥

अग्निके वेगसे बहता हुआ प्राण गुदाके निकट जाकर प्रतिहत हो जाता है; फिर ऊपरकी ओर लौटकर समीपवर्ती अग्निको भी ऊपर उठा देता है॥ १३॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः॥ १४॥

नाभिसे नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय स्थित है तथा नाभिके मध्यभागमें शरीरसम्बन्धी सभी प्राण स्थित हैं॥

प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः॥ १५॥

वे समस्त प्राण हृदयसे इधर-उधर और ऊपर-नीचे

प्रस्थान करते हैं; इसलिये दस[1] प्राणोंसे परिचालित होकर सारी नाड़ियाँ अन्नका रस वहन करती हैं ॥ १५ ॥

एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥ १६ ॥

यह मुखसे लेकर गुदातकका जो महान् स्रोत है, वह योगियोंका मार्ग है। उससे वे योगी परमपदको प्राप्त होते हैं, जिन्होंने सारे क्लेशोंको जीत लिया है, जो सर्वत्र समदर्शी और धीर हैं तथा जिन महात्माओंने सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मस्तकमें पहुँचकर वहीं अपने आपको स्थित कर दिया है ॥

एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम्।
तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥१७॥

प्राणियोंके प्राण, अपान आदि सभी वायुओंमें स्थापित हुई जठराग्नि शरीरमें ही रहकर सदा अग्निकुण्डमें रखी हुई अग्निकी भाँति प्रज्वलित होती रहती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्तापर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शंका उपस्थित करना

भरद्वाज उवाच

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! यदि वायु ही प्राणीको जीवित रखती है, वायु ही शरीरको चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस शरीरमें जीव-की सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

यद्यूष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ २ ॥

यदि शरीरमें गर्मी अग्निका अंश है, यदि अग्निसे ही खाये हुए अन्नका परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ ही है ॥

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥ ३ ॥

जब किसी प्राणीकी मृत्यु होती है; तब वहाँ जीवकी उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणीका परित्याग करती है और शरीरकी गर्मी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना।
वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणैः ॥ ४ ॥

यदि जीव वायुमय है, यदि वायुसे उसका घनिष्ठ सम्पर्क है, तब तो वायुमण्डलके समान उसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आना चाहिये। वह मृत्युके पश्चात् वायुके साथ ही जाता हुआ दिखायी देना चाहिये ॥ ४ ॥

संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति।
महार्णवविमुक्तत्वादन्यत् सलिलभाजनम् ॥ ५ ॥

यदि वायुके साथ जीवका दृढ़ संयोग है और उसीके कारण वह वायुके साथ ही नष्ट हो जाता है, तब तो जैसे जलपात्रमें पत्थर भरकर उसे कोई समुद्रमें डाल दे और वह डूब जाय, उसी प्रकार वायुके सम्पर्कसे ही जीवका विनाश मानना पड़ेगा। उस दशामें जैसे प्रस्तरसे पृथक् जलपात्रकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्राणवायुसे पृथक् जीवकी उपलब्धि होनी चाहिये ॥ ५ ॥

कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं वा हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥ ६ ॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥ ७ ॥

अथवा जैसे कुआँमें जल गिराया जाय या जलती आग-में जला हुआ दीपक डाल दिया जाय, तो वे दोनों शीघ्र ही उनमें प्रविष्ट होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं। उसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीरका नाश होनेपर जीव भी पाँचों तत्त्वमें विलीन होकर अपने पृथक् अस्तित्वसे रहित हो जाना चाहिये, ऐसा मान लेनेपर तो पाँच भूतोंसे धारण किये हुए इस शरीरमें जीव है ही कहाँ ? अतः यह सिद्ध हुआ कि पाञ्चभौतिक संघातसे भिन्न जीव नहीं है; उन पाँच तत्त्वों-मेंसे किसी एकका अभाव होनेपर शेष चारोंका भी अभाव हो जाता है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥ ८ ॥

जलका सर्वथा त्याग करनेसे शरीरके जलीय अंशका नाश हो जाता है, श्वास रुक जानेसे वायुका नाश होता है। उदरका भेदन होनेसे आकाशतत्त्व नष्ट होता है और भोजन बंद कर देनेसे शरीरके अग्नितत्त्वका नाश हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां संघातो याति पञ्चधा ॥ ९ ॥

ज्वर आदि रोग, घाव तथा अन्यान्य प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका पृथ्वीतत्त्व बिखर जाता है। इन पाँचों तत्त्वोंमेंसे एक

१. प्राणवायुके दस भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

तत्त्वको भी यदि हानि पहुँची तो इनका सारा संघात ही पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति ।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च ॥ १० ॥

पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होनेपर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है ? क्या अनुभव करता है ? क्या सुनता है और क्या बोलता है ? ॥ १० ॥

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति ।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति ॥ ११ ॥

मृत्युके समय लोग इस आशासे गोदान करते हैं कि यह गौ परलोकमें जानेपर मुझे तार देगी; परंतु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी ? ॥

गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा ।
इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥ १२ ॥

गौ, गोदान करनेवाला मनुष्य तथा उसको लेनेवाला ब्राह्मण—ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोकमें उनका कैसे समागम होता है ? ॥ १२ ॥

विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च ।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥ १३ ॥

इनमेंसे जो मरता है, उसे या तो पक्षी खा जाते हैं या वह पर्वतके शिखरसे गिरकर चूर-चूर हो जाता है अथवा आगमें जलकर भस्म हो जाता है । ऐसी दशामें उनका पुनः जीवित होना कैसे सम्भव है ? ॥ १३ ॥

छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क्व पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

यदि जड़से कटे हुए वृक्षका मूल फिर अंकुरित नहीं होता है, केवल उसके बीज ही जमते हैं, तब मरा हुआ मनुष्य फिर कहाँसे आ जायगा ? ॥ १४ ॥

बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते ।
मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें बीजमात्रकी सृष्टि हुई थी, जिससे यह जगत् चलता आ रहा है । जो लोग मर जाते हैं, वे तो नष्ट हो जाते हैं और बीजसे बीज पैदा होता रहता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जीवके स्वरूपपर आक्षेपविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्ता तथा नित्यताको युक्तियोंसे सिद्ध करना

भृगुरुवाच

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते ॥ १ ॥

भृगुजीने कहा—ब्रह्मन् ! जीवका तथा उसके दिये हुए दान एवं किये हुए कर्मका कभी नाश नहीं होता है । जीव तो दूसरे शरीरमें चला जाता है, केवल उसका छोड़ा हुआ शरीर ही यहाँ नष्ट होता है ॥ १ ॥

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥ २ ॥

शरीरके आश्रयसे रहनेवाला जीव उसके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है । जैसे समिधाओंके आश्रित हुई आग उनके जल जानेपर भी देखी जाती है, उसी प्रकार जीवकी सत्ताका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है ॥ २ ॥

भरद्वाज उवाच

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥ ३ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! यदि अग्निके समान जीवका नाश नहीं होता तो ईंधनके जल जानेपर वह भी तो बुझ ही जाती है; फिर उसकी तो उपलब्धि नहीं होती है ॥ ३ ॥

नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।
गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥ ४ ॥

अतः मैं ईंधनरहित बुझी हुई आगको यही समझता हूँ कि वह नष्ट हो गयी; क्योंकि जिसकी गति, प्रमाण अथवा स्थिति नहीं है, उसका नाश भी मानना पड़ता है । यही दशा जीवकी भी है ॥ ४ ॥

भृगुरुवाच

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥ ५ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! समिधाओंके जल जानेपर अग्निका नाश नहीं होता । वह आकाशमें अव्यक्तरूपसे स्थित हो जाती है, इसलिये उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि बिना किसी आश्रयके अग्निका ग्रहण होना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः ॥ ६ ॥

उसी प्रकार शरीरको त्याग देनेपर जीव आकाशकी भाँति स्थित होता है । वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण बुझी हुई आगके समान अनुभवमें नहीं आता, परंतु रहता अवश्य है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम् ।

वायुसंधारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात्॥ ७ ॥

अग्नि प्राणोंको धारण करती है। जीवको उस अग्निके समान ही ज्योतिर्मय समझो। उस अग्निको वायु देहके भीतर धारण किये रहती है। श्वास रुक जानेपर वायुके साथ-साथ अग्नि भी नष्ट हो जाती है ॥ ७ ॥

तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः ॥ ८ ॥
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

उस शरीराग्निके नष्ट होनेपर अचेतन शरीर पृथ्वीपर गिरकर पार्थिवभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पृथ्वी ही उसका आधार है। समस्त स्थावरों और जङ्गमोंकी प्राणवायु आकाशको प्राप्त होती है और अग्नि भी उस वायुका ही अनुसरण करती है। इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि—ये तीन तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और जल तथा पृथ्वी—दो तत्त्व भूमिपर ही रह जाते हैं ॥ ८-९ ॥

यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम् ॥ १० ॥

जहाँ आकाश होता है, वहीं वायुकी स्थिति होती है और जहाँ वायु होती है, वहीं अग्नि भी रहती है। ये तीनों तत्त्व यद्यपि निराकार हैं तथापि देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित होकर मूर्तिमान् समझे जाते हैं ॥ १० ॥

भरद्वाज उवाच

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ ॥ ११ ॥

भरद्वाजने पूछा—निष्पाप मुनिवर! यदि देहधारियोंके शरीरोंमें केवल अग्नि, वायु, भूमि, आकाश और जल-तत्त्व ही विद्यमान है तो उनमें रहनेवाले जीवके क्या लक्षण हैं? यह मुझे बताइये ॥ ११ ॥

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम् ॥ १२ ॥

प्राणियोंका शरीर पाञ्चभौतिक है। पाँच विषयोंमें इसकी रति है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चित्त उपलब्ध होते हैं। इसमें रहनेवाले जीवका स्वरूप कैसा है; इस बातको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते ॥ १३ ॥

रक्त और मांसके समूह, चर्बी, नाड़ी और हड्डियोंके संग्रहरूपी इस शरीरको चीरने-फाड़नेपर इसके भीतर कोई जीव नहीं उपलब्ध होता ॥ १३ ॥

यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम्।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम् ॥ १४ ॥

यदि इस पाञ्चभौतिक शरीरको जीवरहित मान लिया जाय, तब प्रश्न यह होता है कि शरीर अथवा मनमें पीड़ा होनेपर उसके कष्टका अनुभव कौन करता है? ॥ १४ ॥

शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत्।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १५ ॥

महर्षे! जीव किसीकी कही हुई बातको पहले दोनों कानोंसे सुनता है; परंतु यदि मनमें व्यग्रता रही तो वह सुनकर भी नहीं सुनता; इसलिये मनके अतिरिक्त किसी जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ है ॥ १५ ॥

सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १६ ॥

जो भी दृश्य पदार्थ है, उसे प्राणी तभी देख पाता है जब कि उसकी दृष्टिके साथ मनका संयोग हो। यदि मन व्याकुल हो तो उसकी आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती है ॥ १६ ॥

न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः ॥ १७ ॥

निद्राके वशमें पड़ा हुआ पुरुष (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके होते हुए भी) न देखता है, न सूँघता है, न सुनता है, न बोलता है और न स्पर्श तथा रसका ही अनुभव करता है ॥

हृष्यति क्रुद्ध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः ॥ १८ ॥

अतः यह जिज्ञासा होती है कि इस शरीरके अंदर कौन हर्ष और कौन क्रोध करता है? किसे शोक और उद्वेग होता है? इच्छा, ध्यान, द्वेष और बातचीत कौन करता है? ॥

भृगुरुवाच

न पञ्चसाधारणमत्र किंचि-
च्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा।
स वेत्ति गन्धांश्च रसाञ्छ्रुतींश्च
स्पर्शं च रूपं च गुणाश्च येऽन्ये ॥ १९ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! मन भी पाञ्चभौतिक ही है; अतः वह पाँचों भूतोंसे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। एकमात्र अन्तरात्मा ही इस शरीरका भार वहन करता है, वही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दका और दूसरे भी जो गुण हैं, उनका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी
स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र
तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः ॥ २० ॥

वह अन्तरात्मा पाँचों इन्द्रियोंके गुणोंको धारण करनेवाले मनका द्रष्टा है और वही इस पाञ्चभौतिक शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। जब उसका शरीरके साथ सम्बन्ध छूट जाता है, तब इस शरीरको सुख-

दुःखका भान नहीं होता है (इससे मनके अतिरिक्त उसके साक्षी आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ २० ॥

यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥ २१ ॥

जब पाञ्चभौतिक शरीरमें रूप, स्पर्श और गर्मीका भान नहीं होता, उस अवस्थामें शरीरस्थित अग्निके शान्त हो जानेपर जीवात्मा इस शरीरको त्यागकर भी नष्ट नहीं होता ॥ २१ ॥

आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम्।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥ २२ ॥

यह सब प्रपञ्च जलमय है, प्राणियोंका यह शरीर भी प्रायः जलमय ही है। उसमें मनमें रहनेवाला आत्मा विद्यमान है। वही सम्पूर्ण भूतोंमें लोकस्रष्टा ब्रह्माके नामसे विख्यात है; क्योंकि समस्त जीवोंके संघातका ही नाम ब्रह्मा है ॥ २२ ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ २३ ॥

आत्मा जब प्राकृत गुणोंसे युक्त होता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं और उन्हीं गुणोंसे जब वह मुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है ॥ २३ ॥

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥ २४ ॥

तुम क्षेत्रज्ञको आत्मा ही समझो। वह सर्वलोकहितकारी है। इस शरीरमें रहकर भी वह कमल-पत्रपर पड़े हुए जल-बिन्दुकी तरह वास्तवमें इससे पृथक् ही है ॥ २४ ॥

क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥ २५ ॥

उस क्षेत्रज्ञको सदा आत्मा ही जानो। वह सम्पूर्ण जगत्का हितस्वरूप है। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनों प्राकृत गुणोंको प्रकृति-स्थित होनेके कारण जीवके गुण समझो ॥ २५ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २६ ॥

चेतन जीवके सम्बन्धसे उपर्युक्त जीवके गुणोंको चेतनायुक्त कहते हैं*। वह जीव स्वयं चेष्टा करता है और सबसे चेष्टा करवाता है। शरीरके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष इस क्षेत्रज्ञ आत्मासे उस परमात्माको श्रेष्ठ बताते हैं, जिसने भूः भुवः आदि सातों लोकोंको उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥

देहका नाश होनेपर भी जीवका नाश नहीं होता। जो जीवकी मृत्यु बताते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मृत देहका त्याग करके दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँच तत्त्वोंका अलग-अलग हो जाना ही शरीरका नाश है ॥ २७ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः ॥२८॥

इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें गूढ़भावसे छिपा रहता है। वह तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धिसे साक्षात् किया जाता है ॥ २८ ॥

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ २९॥

जो विद्वान् परिमित आहार करके रातके पहले और पिछले पहरमें सदा ध्यानयोगका अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने हृदयमें ही उस आत्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥३०॥

चित्त शुद्ध होनेपर वह शुभाशुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध हटाकर प्रसन्नचित्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है और अनन्त आनन्दका अनुभव करने लगता है ॥ ३० ॥

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ ३१ ॥

समस्त शरीरोंमें मनके भीतर रहनेवाला जो अग्निके समान प्रकाशस्वरूप चैतन्य है, उसीको समष्टि जीवस्वरूप प्रजापति कहते हैं। उसी प्रजापतिसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह बात अध्यात्मतत्त्वका निश्चय करके कही गयी है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके संवादके प्रसङ्गमें जीवके स्वरूपका निरूपणविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

---

* जैसे लोहा दाहक एवं दीप्तिमान् हो उठता है, उसी प्रकार चेतन जीवके संसर्गसे उसके सत्त्वादि गुणको भी चैतन्ययुक्त कहते हैं।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्णविभागपूर्वक मनुष्योंकी और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भृगुरुवाच

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भमें अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियोंको ही उत्पन्न किया ॥१॥

ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम् ।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥ २ ॥

उसके बाद भगवान् ब्रह्माने स्वर्ग-प्राप्तिके साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार और शौचके नियम बनाये ॥ २ ॥

देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः ।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥ ३ ॥

तदनन्तर देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्योंको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे ॥ ४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी रचना की और प्राणिसमूहोंमें जो अन्य समुदाय हैं, उनकी भी सृष्टि की ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंका रंग श्वेत, क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला तथा शूद्रोंका काला बनाया ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि चारों वर्णोंमेंसे एक वर्णके साथ दूसरे वर्णका रंग-भेद है, तब तो सभी वर्णोंमें विभिन्न रंगके मनुष्य होनेके कारण वर्णसंकरता ही दिखायी देती है ॥ ६ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥ ७ ॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और थकावटका प्रभाव हम सब लोगोंपर समानरूपसे ही पड़ता है; फिर वर्णोंका भेद कैसे सिद्ध होता है ? ॥ ७ ॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते ॥ ८ ॥

हम सब लोगोंके शरीरसे पसीना, मल, मूत्र, कफ, पित्त और रक्त निकलते हैं। ऐसी दशामें रंगके द्वारा वर्णोंका विभाग कैसे किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः ।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः ॥ ९ ॥

पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणियों तथा वृक्ष आदि स्थावर जीवोंकी असंख्य जातियाँ हैं। उनके रंग भी नाना प्रकारके हैं, अतः उनके वर्णोंका निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! पहले वर्णोंमें कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उनमें वर्णभेद हो गया ॥ १० ॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ११ ॥

जो अपने ब्राह्मणोचित धर्मका परित्याग करके विषय-भोगके प्रेमी, तीखे स्वभाववाले, क्रोधी और साहसका काम पसंद करनेवाले हो गये और इन्हीं कारणोंसे जिनके शरीरका रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भावको प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे ॥ ११ ॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥

जिन्होंने गौओंसे तथा कृषिकर्मके द्वारा जीविका चलानेकी वृत्ति अपना ली और उसीके कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्मको छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्यभावको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥ १३ ॥

जो शौच और सदाचारसे भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्यके प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधोंके समान सभी तरहके निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिये जिनके शरीरका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्रभावको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥

इन्हीं कर्मोंके कारण ब्राह्मणत्वसे अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्णके हो गये, किंतु उनके लिये नित्य-धर्मानुष्ठान और यज्ञकर्मका कभी निषेध नहीं किया गया है ॥ १४ ॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात् त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिये ब्रह्माजीने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की। परंतु लोभ-विशेषके कारण शूद्र अज्ञानभावको प्राप्त हुए—वेदाध्ययनके अनधिकारी हो गये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण वेदकी आज्ञाके अधीन रहकर सारा कार्य करते, वेदमन्त्रोंको स्मरण रखते और सदा व्रत एवं नियमोंका पालन करते हैं, उनकी तपस्या कभी नष्ट नहीं होती ॥ १६ ॥

ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥ १७ ॥

जो इस सारी सृष्टिको परब्रह्म परमात्माका रूप नहीं जानते हैं, वे द्विज कहलानेके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगोंको नाना प्रकारकी दूसरी-दूसरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है ॥

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥ १८ ॥

वे ज्ञान-विज्ञानसे हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, राक्षस, प्रेत तथा नाना प्रकारकी म्लेच्छ-जातिके होते हैं ॥१८॥

प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः ।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥ १९ ॥

पीछेसे ऋषियोंने अपनी तपस्याके बलसे कुछ ऐसी प्रजा उत्पन्न की, जो वैदिक संस्कारोंसे सम्पन्न तथा अपने धर्म-कर्ममें दृढ़तापूर्वक डटी रहनेवाली थी । इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंद्वारा अर्वाचीन ऋषियोंकी सृष्टि होने लगी ॥ १९ ॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥ २० ॥

किंतु जो सृष्टि आदिदेव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुई है, जिसके जड़-मूल केवल ब्रह्माजी ही हैं तथा जो अक्षय, अविकारी एवं धर्ममें तत्पर रहनेवाली है, वह सृष्टि मानसी कहलाती है ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथनेऽष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके प्रसङ्गमें वर्णोंके विभागका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका और सदाचारका वर्णन तथा वैराग्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम ।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! द्विजोत्तम ! अब मुझे यह बताइये कि मनुष्य कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ २ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—जो जाति, कर्म आदि संस्कारोंसे सम्पन्न, पवित्र तथा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न है, (यजन-याजन, अध्ययनाध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन) छः कर्मोंमें स्थित रहता है, शौच एवं सदाचारका पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता है, गुरुके प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रतका पालन करता तथा सत्यमें तत्पर रहता है, वही ब्राह्मण कहलाता है ॥ २-३ ॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ४ ॥

जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करनेका भाव, क्रूरताका अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है ॥ ४ ॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥

जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्मका सेवन करता है, वेदोंके अध्ययनमें लगा रहता है, ब्राह्मणोंको दान देता है और प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है ॥५॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेतीका काम करके अन्न संग्रह करनेकी रुचि रखता है और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है ॥ ६ ॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥ ७ ॥

किंतु जो वेद और सदाचारका परित्याग करके सदा सब कुछ खानेमें अनुरक्त रहता है और सब तरहके काम करता है, साथ ही बाहर-भीतरसे अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है ॥ ७ ॥

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ८ ॥

उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण यदि शूद्रमें दिखायी दें और ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ८ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९ ॥

सभी उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना चाहिये । यही ज्ञानोंमें पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम है ॥ ९ ॥

वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ।
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात् ॥१०॥
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।

क्रोध और लोभ मनुष्यके कल्याणमें बाधा डालनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; अतः पूरी शक्ति लगाकर इन दोनोंका निवारण करना चाहिये । धन-सम्पत्तिको क्रोधके आघातसे बचाना चाहिये, तपको मात्सर्यके आघातसे बचाना चाहिये, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादके आक्रमणसे बचाना चाहिये ॥ १०½ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ॥ ११ ॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ।

ब्रह्मन् ! जिसके सभी कार्य कामनाओंके बन्धनसे रहित होते हैं तथा जिसने त्यागकी आगमें सब कुछ होम दिया है, वही त्यागी और वही बुद्धिमान् है ॥ ११½ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ॥ १२ ॥
परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥ १३ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, सबके साथ मैत्रीपूर्ण बर्ताव करे । स्त्री-पुत्र आदिकी ममता एवं आसक्तिको त्यागकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करे और उस स्थितिको प्राप्त करे, जो इहलोक और परलोकमें भी निर्भय एवं शोक-रहित है ॥ १२-१३ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ १४ ॥

नित्य तप करे, मननशील होकर इन्द्रियोंका दमन और मनका संयम करे । आसक्तिके आश्रयभूत देह-गेह आदिमें आसक्त न होकर अजित (परमात्मा) को जीतने (प्राप्त करने) की इच्छा रक्खे ॥ १४ ॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत्तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त कहलाता है । जो इन्द्रियातीत होनेके कारण अनुमानसे ही जाना जाय, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ १५ ॥

अविस्रम्भे न गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः ।
मनः प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत् ॥ १६ ॥

जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस मार्गपर न चले और जो विश्वास करनेयोग्य है, उसमें मन लगावे । मनको प्राणमें और प्राणको ब्रह्ममें स्थापित करे ॥ १६ ॥

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत् ।
सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति ॥ १७ ॥

वैराग्यसे ही निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त होता है । उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्मपदार्थका चिन्तन नहीं करता है । ब्राह्मण संसारसे वैराग्य होनेपर सुखस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥ १८ ॥

सर्वदा शौच और सदाचारका पालन करे और समस्त प्राणियोंपर दयाभाव बनाये रक्खे; यह ब्राह्मणका प्रधान लक्षण है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें वर्णोंके स्वरूपका कथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यकी महिमा, असत्यके दोष तथा लोक और परलोकके सुख-दुःखका विवेचन

भृगुरुवाच

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है, सत्यके ही आधारपर संसार टिका हुआ है और सत्यके ही प्रभावसे मनुष्य स्वर्गमें जाता है ॥ १ ॥

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥ २ ॥

असत्य अन्धकारका रूप है । वह मनुष्यको नीचे गिराता है । अज्ञानान्धकारसे घिरे हुए मनुष्य तमोगुणसे ग्रस्त होकर ज्ञानके प्रकाशको नहीं देख पाते हैं ॥ २ ॥

स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ।
सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥ ३ ॥

स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है, ऐसा कहते हैं। सत्य और अनृतसे युक्त जो मानव-योनि है, वह ज्ञान और अज्ञान दोनोंके सम्मिश्रणसे जगत्के जीवोंको प्राप्त होती है ॥३॥

तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत् ।

धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥ ४ ॥

उसमें भी लोकमें ऐसी वृत्ति जाननी चाहिये, जो सत्य और अनृत हैं, वे ही धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार तथा दुःख और सुख हैं ॥ ४ ॥

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति । तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥ ५ ॥

वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है । इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः ।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥ ६ ॥

इस विषयमें ऐसा कहा जाता है—संसारकी सृष्टि शारीरिक और मानसिक क्लेशोंसे युक्त है । इसमें जो सुख हैं, वे भी अन्तमें दुःख ही उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसी दृष्टि रखनेवाले विद्वान् पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः ।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च ॥ ७ ॥

अतः विज्ञ एवं बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सदा दुःखसे छूटनेके लिये प्रयत्न करे । इहलोक और परलोकमें भी प्राणियोंको जो सुख मिलता है, वह अनित्य है ॥ ७ ॥

राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते ।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥ ८ ॥

जैसे राहुसे ग्रस्त होनेपर चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाशमें नहीं आती, उसी प्रकार तम (अज्ञान एवं दुःख) से पीड़ित हुए प्राणियोंका सुख नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च । इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते । न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थ आरम्भः ॥ ९ ॥

सुख दो प्रकारका बताया जाता है–शारीरिक और मानसिक । इहलोक और परलोकमें जो वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्तियाँ हैं, वे सुखके लिये ही बतायी जाती हैं । इस सुखसे बढ़कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का और कोई अत्यन्त विशिष्ट फल नहीं है । वह सुख ही प्राणीका वाञ्छनीय गुणविशेष है । धर्म और अर्थ जिसके अङ्ग हैं, उस सुखके लिये ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि सुखकी उत्पत्तिमें उद्यम ही हेतु है; अतः सुखके उद्देश्यसे ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति । ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति । अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत् । तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति । नैतद् भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति ॥ १० ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! आपने जो यह बताया है कि सुखोंका ही सबसे ऊँचा स्थान है—सुखसे बढ़कर त्रिवर्गका और कोई फल नहीं है, आपकी यह बात हमारे मनमें ठीक नहीं जँचती है; क्योंकि जो महान् तपमें स्थित ऋषिगण हैं, उनके लिये यह वाञ्छनीय गुणविशेष सुख यद्यपि प्राप्त हो सकता है, तो भी वे इसे नहीं चाहते हैं । सुना जाता है कि तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा अकेले ही रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और कामसुखमें कभी मन नहीं लगाते हैं । भगवती उमाके प्राणवल्लभ भगवान् विश्वनाथने भी अपने सामने आये हुए कामको जलाकर शान्त कर दिया और उसे अनङ्ग बना दिया; इसलिये हम कहते हैं कि महात्मा पुरुषोंने कभी इसे स्वीकार नहीं किया है । उनके लिये यह कामसुख अर्थात् सांसारिक भोगोंका सुख सबसे बढ़कर सुखविशेष नहीं है; परंतु आपकी बातोंसे मुझे ऐसी प्रतीति नहीं होती है । आपने तो यह कहा है कि इस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई फल नहीं है । लोकमें ऐसा कहा जाता है कि फलकी उत्पत्ति दो प्रकारकी होती है । पुण्यकर्मसे सुख प्राप्त होता है और पापकर्मसे दुःख ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

अत्रोच्यते–अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति । विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते । वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते । वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते । बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति ॥ ११ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! असत्यसे अज्ञानकी उत्पत्ति हुई है; अतः तमोग्रस्त मनुष्य अधर्मके ही पीछे चलते हैं; धर्मका अनुसरण नहीं करते हैं । जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदिसे आच्छादित हैं, वे न तो इस लोकमें सुखी होते हैं और न परलोकमें ही । वे नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे संतप्त होते रहते हैं । वध और बन्धन आदिके क्लेशोंसे तथा भूख, प्यास और थकावटके कारण होनेवाले

संतापोंसे भी पीड़ित होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें आँधी, पानी, अत्यन्त गर्मी और अधिक सर्दीसे उत्पन्न हुए भयङ्कर शारीरिक कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोक भी उन्हें सताते रहते हैं। बुढ़ापा और मृत्युके कारण भी बहुत-से दूसरे-दूसरे क्लेश भी उन्हें पीड़ा देते रहते हैं॥११॥

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद। न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति। तत्र खलु भवन्ति ॥ १२ ॥

जो इन शारीरिक और मानसिक दुःखोंके सम्बन्धसे रहित है, उसीको सुखका अनुभव होता है। स्वर्गलोकमें ये पूर्वोक्त दुःखरूप दोष नहीं उत्पन्न होते हैं। वहाँ निम्नाङ्कित बातें होती हैं ॥ १२ ॥

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्॥ १३ ॥

स्वर्गमें अत्यन्त सुखदायिनी हवा चलती है। मनोहर सुगन्ध छायी रहती है। भूख, प्यास, परिश्रम, बुढ़ापा और पापके फलका कष्ट वहाँ कभी नहीं भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम् ॥ १४ ॥

स्वर्गमें सदा सुख ही होता है। इस मर्त्यलोकमें सुख और दुःख दोनों होते हैं। नरकमें केवल दुःख-ही-दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥ १५ ॥

पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंकी जननी है। संसारकी स्त्रियाँ भी पृथ्वीके समान ही संतानकी जननी होती हैं। पुरुष ही वहाँ प्रजापतिके समान है। पुरुषका जो वीर्य है, उसे तेजःस्वरूप समझा जाता है ॥ १५ ॥

इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस स्त्री-पुरुषस्वरूप जगत्‌की सृष्टि की थी। यहाँ समस्त प्रजा अपने-अपने कर्मोंसे आवृत होकर सुख-दुःखका अनुभव करती है ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंके धर्मका वर्णन

भरद्वाज उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! आचरणमें लाये हुए दानरूप धर्मका, भलीभाँति की हुई तपस्याका तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्रका क्या फल बताया गया है? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! अग्निहोत्रसे पापका निवारण किया जाता है, स्वाध्यायसे उत्तम शान्ति मिलती है, दानसे भोगोंकी प्राप्ति बतायी गयी है और तपस्यासे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद् दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥ ३ ॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥ ४ ॥

दान दो प्रकारका बताया जाता है—एक परलोकके लिये है और दूसरा इहलोकके लिये। सत्पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोकमें अपना फल देनेके लिये उपस्थित होता है और असत्पुरुषोंको जो दान दिया जाता है, उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगनेमें आता है ॥ ३-४ ॥

भरद्वाज उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम्।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्मका लक्षण क्या है? या धर्मके कितने भेद हैं? यह सब आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ॥ ६ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! जो मनीषी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके आचरणमें सावधानीके साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्मका आचरण करता है, वह मोहके वशीभूत होता है* ॥ ६ ॥

* इस श्लोकमें पूर्वोक्त तीनों प्रश्नोंका एक साथ ही सामान्य उत्तर दे दिया गया है। जो जिस वर्ण अथवा आश्रमका है,

भरद्वाज उवाच

यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा ।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान् मे वक्तुमिहार्हसि॥ ७ ॥

भरद्वाज ऋषिने पूछा—भगवन् ! ब्रह्मर्षियोंने पूर्वकालमें जो चार आश्रमोंका विभाग किया है, उनके अपने-अपने धर्म क्या हैं ? उन्हें बतानेकी कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः । तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति।सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! जगत्‌का कल्याण करनेवाले भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें ही धर्मकी रक्षाके लिये चार आश्रमोंका निर्देश किया था । उनमेंसे ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासको ही पहला आश्रम कहते हैं । उसमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत-नियमोंका पालन करते हुए अपने मनको वशमें रखना चाहिये । सुबह और शाम दोनों संध्याओंके समय संध्योपासना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवकी आराधना करनी चाहिये। तन्द्रा और आलस्यको त्यागकर प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे और वेदोंके अभ्यास तथा श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे । सबेरे, शाम और दोपहर तीनों समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे । प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये । भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरुको अर्पण कर दे । अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे । गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा दें, उसके विपरीत आचरण न करे । गुरुके कृपाप्रसादसे मिले हुए स्वाध्यायमें तत्पर होवे ॥ ८ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात् ।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति ।९।

इस विषयमें यह श्लोक है—

जो द्विज गुरुकी आराधना करके वेदाध्ययन करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और उसका मानसिक संकल्प सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति । तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः। समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिना गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा । हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

गार्हस्थ्यको दूसरा आश्रम कहते हैं । अब हम उसमें पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरणोंकी व्याख्या करेंगे । जो सदाचारका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुलसे स्नातक होकर लौटते हैं, उन्हें यदि सहधर्मिणीके साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका फल पानेकी इच्छा हो तो उनके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी विधि है । इस आश्रममें धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी प्राप्ति होती है; इसलिये त्रिवर्गसाधनकी इच्छा रखकर गृहस्थको उत्तम कर्मके द्वारा धन संग्रह करना चाहिये, अर्थात् वह स्वाध्यायसे प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यतासे, ब्रह्मर्षियोंद्वारा धर्मशास्त्रोंमें निश्चित किये हुए मार्गसे अथवा पर्वतसे उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणि-रत्न, दिव्यौषधि एवं स्वर्ण आदिसे धनका संचय करे । अथवा हव्य (यज्ञ), कव्य (श्राद्ध), नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओंकी प्रसन्नतासे प्राप्त धनके द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थीका निर्वाह करे; क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रमको सब आश्रमोंका मूल कहते हैं । गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, वनमें रहकर संकल्पके अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मोंका पालन करनेवाले अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्यागकर सर्वत्र विचरनेवाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रमसे ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्मके पालनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति, तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुखशक्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥ ११ ॥

वानप्रस्थोंके लिये धनका संग्रह करना निषिद्ध है । ये

उसका धर्माचरण भी वैसा ही है । धर्मका लक्षण है—स्वर्गप्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार । वर्ण और आश्रमके जितने भेद हैं, उतने ही उनके धर्मके भी हैं ।

श्रेष्ठ लोग प्रायः शुद्ध एवं हितकर अन्नमात्रके इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थयात्रा एवं देश-दर्शनके निमित्त सारी पृथ्वीपर घूमते-फिरते हैं। ये घरपर पधारें तो उठकर, आगे बढ़कर इनका स्वागत करे। इनके चरणोंमें मस्तक झुकावे, दोषदृष्टि न रखकर उनसे उत्तम वचन बोले। यथाशक्ति सुखद आसन दे, सुखद शय्यापर उन्हें सुलावे और उत्तम भोजन करावे। इस प्रकार उनका पूर्ण सत्कार करे। यही उन श्रेष्ठ पुरुषके प्रति गृहस्थका कर्तव्य है ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ १२ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जिस गृहस्थके दरवाजेसे कोई अतिथि भिक्षा न पानेके कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थको अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १२ ॥

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते। निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥ १३ ॥

इसके सिवा गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञ करनेसे देवता, श्राद्ध-तर्पण करनेसे पितर, वेद-शास्त्रोंके श्रवण, अभ्यास और धारणसे ऋषि तथा संतानोत्पादनसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानोंको सुखद जान पड़े। दूसरोंको पीड़ा देना, मारना और कटु वचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं ॥ १४ ॥

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ १५ ॥

किसीका अनादर करना, अहंकार दिखाना और ढोंग करना—इन दुर्गुणोंकी भी विशेष निन्दा की गयी है। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना और मनमें क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमवालोंके लिये उपयोगी तप है॥

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः। स्वविहारसंतोषः कामसुखावाप्तिरिति ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस गृहस्थ-आश्रममें फूलोंकी माला, नाना प्रकारके आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग (तेल-उबटन), नित्य उपभोगकी वस्तु, नृत्य, गीत, वाद्य, श्रवणसुखद शब्द और नयनाभिराम रूपके दर्शनकी भी प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्यरूप नानाप्रकारके भोजनसम्बन्धी पदार्थ खाने-पीनेको भी मिलते हैं। अपने उद्यानमें घूमने-फिरनेका आनन्द प्राप्त होता है और कामसुखकी भी उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

जिस पुरुषको गृहस्थाश्रममें सदा धर्म, अर्थ और कामके गुणोंकी सिद्धि होती रहती है, वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके अन्तमें शिष्ट पुरुषोंकी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणमें तत्पर हो उञ्छवृत्तिसे (खेत या बाजारमें बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर) जीविका चलाता है तथा कामसुखका परित्याग कर देता है, उसके लिये स्वर्ग कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९१॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंका वर्णन तथा हिमालयके उत्तर पार्श्वमें स्थित उत्कृष्ट लोककी विलक्षणता एवं महत्ताका प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज-संवादका उपसंहार

भृगुरुवाच

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहा-

रसम्मार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमोपयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! तीसरे आश्रम वानप्रस्थका पालन करनेवाले मनुष्य धर्मका अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थोंमें, नदियोंके किनारे, झरनोंके आसपास तथा मृग, भैंसे, सूअर, सिंह एवं जंगली हाथियोंसे भरे हुए एकान्त वनोंमें तप करते हुए विचरते रहते हैं। गृहस्थोंके उपभोगमें आनेवाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषयभोगोंका परित्याग करके वे जंगलमें अपने-आप होनेवाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तोंका परिमित, विचित्र एवं नियत आहार करते हैं। भूमिपर ही बैठते हैं। जमीन, पत्थर, रेत, कँकरीली मिट्टी, बालू अथवा राखपर ही सोते हैं। काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षोंकी छालसे बने वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकते हैं। सिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किये रहते हैं। नियत समयपर स्नान करके निश्चित कालका उल्लङ्घन न करते हुए बलिवैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। सबेरे हवन-पूजनके लिये समिधा, कुशा और फूल आदिका संग्रह करके आश्रमको झाड़-बुहार लेनेके पश्चात् उन्हें कुछ विश्राम मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवाका वेग सहते-सहते उनके शरीरके चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकारके नियमोंका पालन और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीरकी जगह चामसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह जाता है; फिर भी धैर्य रखकर साहसपूर्वक शरीरका भार ढोते रहते हैं ॥ १ ॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् स
दहेदग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च दुर्जयान् ॥ २ ॥

जो पुरुष नियमके साथ रहकर ब्रह्मर्षियोंद्वारा आचरणमें लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्मकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह अग्निकी भाँति अपने दोषोंको भस्म करके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

परिव्राजकानां पुनराचारः—तद् यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूल देवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥ ३ ॥

अब संन्यासियोंका आचरण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—इसमें प्रवेश करनेवाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घरकी सारी सामग्रीका परित्याग करके भोगों और सङ्गोंके प्रति अपनी आसक्तिके बन्धनोंको तोड़कर सदाके लिये घरसे बाहर निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रवृत्तियोंमें उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीन—सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उदभिज्ज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं, कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रिमें ठहरनेके लिये पर्वतकी गुफा, नदीका किनारा, वृक्षकी जड़, देवमन्दिर, नगर अथवा गाँवमें चले जाया करें। नगरमें पाँच रात्रि और गाँवमें एक रातसे अधिक न ठहरें। प्राणधारणके लिये अपने विशुद्ध धर्मोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजातियोंके ऐसे घरोंपर जाकर खड़े हो जायँ, जहाँ संकीर्णता न हो। बिना माँगे ही पात्रमें जितनी भिक्षा आ जाय, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसासे सर्वथा दूर रहें ॥ ३ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जो मुनि सब प्राणियोंको अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं
शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भि-
श्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥ ५॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रको अपने शरीरमें आरोपित करके शरीरस्थ अग्निके उद्देश्यसे अपने मुखमें प्राप्त भिक्षारूप हविष्यका होम करता है, वह अग्नि-चयन करनेवाले अग्निहोत्रियोंके लोकमें जाता है ॥ ५ ॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं
शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं
स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥ ६ ॥

जो बुद्धिको संकल्परहित करके पवित्र हो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मोक्ष-आश्रम (संन्यास) के नियमोंका

पालन करता है, वह मनुष्य बिना ईंधनकी आगके समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन् ! इस लोकसे कोई श्रेष्ठ लोक सुना जाता है; किंतु वह देखनेमें नहीं आता । मैं उसे जानना चाहता हूँ, आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! उत्तरदिशामें हिमालयके पार्श्वभागमें, जो सर्वगुणसम्पन्न एवं पुण्यमय प्रदेश है, वहाँके भू-भागपर श्रेष्ठ लोक बताया जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कमनीय लोक है ॥ ८ ॥

तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ९ ॥

वहाँ पापकर्मसे रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ और मोहसे शून्य तथा सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित मानव निवास करते हैं ॥ ९ ॥

स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥ १० ॥

वह देश स्वर्गके तुल्य है । वहाँ सभी शुभ गुणोंकी स्थिति बतायी गयी है । वहाँ समयपर ही मृत्यु होती है। रोग-व्याधि किसीका स्पर्श नहीं करते हैं ॥ १० ॥

न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
नान्योन्यं वध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति संदेहो नापि जायते ॥ ११ ॥

वहाँ किसीके मनमें परायी स्त्रियोंके प्रति लोभ नहीं होता । सब लोग अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं । वहाँके निवासी धनके लिये एक दूसरेका वध नहीं करते । किसीको बन्धनमें नहीं डालते । उन्हें कभी महान् विस्मय नहीं होता । अधर्मका तो वहाँ नाम भी नहीं है । वहाँ किसीके मनमें संदेह नहीं पैदा होता है ॥ ११ ॥

कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥ १२ ॥
सर्वकामैर्वृताः केचिद्धेमाभरणभूषिताः ।
प्राणधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ।
श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणधारणम् ॥ १३ ॥

वहाँ किये हुए कर्मका फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है । उस लोकमें कुछ लोग बड़े-बड़े महलोंमें रहते, अच्छे आसनोंपर बैठते और उत्तमोत्तम वस्तुएँ खाते-पीते हैं । समस्त कामनाओंसे सम्पन्न और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित होते हैं तथा कुछ लोगोंको प्राणधारणमात्रके लिये भोजन प्राप्त होता है, कुछ लोग बड़े परिश्रमसे तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं (इस प्रकार वह लोक इस लोकसे सर्वथा उत्कृष्ट है) * ॥ १२-१३ ॥

इह धर्मपराः केचित् केचिन्नैकृतिका नराः ।
सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥ १४ ॥

इस मनुष्यलोकमें कुछ मनुष्य धर्मपरायण होते हैं तो कुछ बड़े भारी ठग निकलते हैं । इसीलिये कोई सुखी और कोई दुखी होते हैं । कुछ धनवान् और कुछ लोग निर्धन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥ १५ ॥

इहलोकमें श्रम, भय, मोह और तीव्र भूखका कष्ट होता है । मनुष्योंमें धनका लोभ विशेष होता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १५ ॥

इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।
यस्तद्वेदोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते ॥ १६ ॥

इस देशमें धर्म और अधर्म करनेवाले मनुष्योंके विषयमें नाना प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं । जो धर्म और अधर्म दोनोंके परिणामको जानता है, वह विद्वान् पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥ १७ ॥
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।
यस्त्वेतान् नाचरेद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥ १८ ॥

कपट, शठता, चोरी, निन्दा, दूसरोंके दोष देखना, दूसरोंको हानि पहुँचाना, प्राणियोंकी हिंसा करना, चुगली खाना और झूठ बोलना—जो इन दुर्गुणोंका सेवन करता है, उसकी तपस्या क्षीण होती है और जो विद्वान् इन दोषोंको कभी अपने आचरणमें नहीं लाता, उसकी तपस्या निरन्तर बढ़ती रहती है ॥ १७-१८ ॥

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।
कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम् ।
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा ॥ १९ ॥

इस लोकमें पुण्य और पापकर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके विचार होते रहते हैं । यह कर्मभूमि है । इस जगत्में शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मोंका शुभ फल पाता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल भोगता है ॥ १९ ॥

---

* आचार्य नीलकण्ठने 'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे' इत्यादिसे लेकर इस अध्यायके अन्ततकके श्लोकोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है । वे परलोक या उत्कृष्ट लोकका अर्थ परमात्मा मानते हैं और इसी दृष्टिसे उन्होंने श्रुति और युक्तिका आश्रय ले पूरे प्रकरणकी संगति लगायी है ।

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा ।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पूर्वकालमें यहीं प्रजापति, देवता तथा ऋषियोंने यज्ञ और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया ॥

उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः ।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥ २१ ॥

पृथ्वीका उत्तरभाग सबसे अधिक पवित्र और मङ्गलमय है । इस लोकमें जो पुण्यात्मा मनुष्य हैं, वे ही मृत्युके पश्चात् उस भूभागमें जन्म लेते हैं ॥ २१ ॥

असत्कर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे ।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ २२ ॥

दूसरे लोग जो यहाँ पापकर्म करते हैं, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और दूसरे कितने ही आयुक्षय होनेपर नष्ट हो जाते हैं और पातालमें चले जाते हैं ॥ २२ ॥

अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः ।
इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥

जो लोभ और मोहसे युक्त हो एक दूसरेको खा जानेके लिये उद्यत रहते हैं, वे भी इसी लोकमें आवागमन करते रहते हैं, उत्तरदिशाके उत्कृष्ट लोकमें नहीं जाने पाते हैं ॥

ये गुरून् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः ।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनोंकी उपासना करते हैं, वे मनीषी पुरुष सभी लोकोंके मार्गको जानते हैं ॥ २४ ॥

इत्युक्तोऽयं मया धर्मः संक्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः ।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान् ॥२५॥

इस प्रकार मैंने यहाँ ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित इस धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया है । जो लोकमें करने और न करने योग्य धर्म और अधर्मको जानता है, वही बुद्धिमान् है ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान् ।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भृगुजीके इस प्रकार कहनेपर परम धर्मात्मा प्रतापी भरद्वाजने आश्चर्यचकित होकर उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

एष ते प्रसवो राजन् जगतः सम्प्रकीर्तितः ।
निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २७ ॥

परम बुद्धिमान् नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे जगत्की उत्पत्तिके सम्बन्धमें ये सारी बातें बतायी हैं । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिष्टाचारका फलसहित वर्णन, पापको छिपानेसे हानि और धर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं आपके मुखसे सदाचारकी विधि सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः ।
असंतस्त्विति विख्याताः संतश्चाचारलक्षणाः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले, दुर्बुद्धि और दुःसाहसको प्रिय माननेवाले हैं, वे दुष्टात्माके नामसे विख्यात होते हैं । श्रेष्ठ पुरुष तो वही हैं, जिनमें सदाचार देखा जाय—सदाचार ही उनका लक्षण है ॥ २ ॥

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः ।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सड़कपर, गौओंके बीचमें और अनाजमें मल या मूत्रका त्याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥

शौचमावश्यकं कृत्वा देवतानां च तर्पणम् ।
धर्ममाहुर्मनुष्याणामुपस्पृश्य नदीं तरेत् ॥ ४ ॥

प्रतिदिन आवश्यक शौचका सम्पादन करके आचमन करे; फिर नदीमें नहाये और अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासनाके अनन्तर देवता आदिका तर्पण करे । इसे विद्वान् पुरुष मानवमात्रका धर्म बताते हैं ॥ ४ ॥

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत् ।
सायं प्रातर्जपेत् संध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम् ॥ ५ ॥

नित्यप्रति सूर्योपस्थान करे । सूर्योदयके समय कभी न सोये । सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय संध्योपासना करके गायत्रीमन्त्रका जप करे ॥ ५ ॥

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थितः ।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥ ६ ॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँच अङ्गोंको धोकर[1]

---

१. तात्पर्य यह कि भोजनके लिये जाते समय तत्काल हाथ, पैर और मुँह धोने चाहिये । बहुत पहलेके धोये हों, तो भी उस समय धो लेना आवश्यक है ।

पूर्वाभिमुख हो भोजन करे। भोजनके समय मौन रहे। परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। वह स्वादिष्ट हो या न हो, प्रेमसे भोजन कर ले ॥ ६ ॥

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥ ७ ॥

भोजनके बाद हाथ धोकर उठे। रातको भीगे पैर न सोये। देवर्षि नारद इसीको सदाचारका लक्षण कहते हैं ॥ ७ ॥

शुचि देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥ ८ ॥
अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥ ९ ॥

यज्ञशाला आदि पवित्र स्थान, बैल, देवालय, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मात्मा मनुष्य तथा चैत्य (देवसम्बन्धी वृक्ष)—इनको सदा दाहिने करके चले। गृहस्थ पुरुषको घरमें अतिथियों, सेवकों और स्वजनोंके लिये भी एक-सा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है ॥ ८-९ ॥

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥ १० ॥

शास्त्रमें मनुष्योंके लिये सायंकाल और प्रातःकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान है। बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी गयी है। जो इस नियमका पालन करता है, उसे उपवास करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

होमकाले तथा जुह्वन्नृतुकाले तथा व्रजन्।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ॥ ११ ॥

जो होमके समय प्रतिदिन हवन करता, ऋतुकालमें स्त्रीके पास जाता और परायी स्त्रीपर कभी दृष्टि नहीं डालता, वह बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचारीके समान माना जाता है ॥ ११ ॥

अमृतं ब्राह्मणोच्छिष्टं जनन्या हृदयं कृतम्।
तज्जनाः पर्युपासन्ते सत्यं सन्तः समासते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको भोजन करानेके बाद बचा हुआ अन्न अमृत है। वह माताके स्तन्यकी भाँति हितकर है। उसका जो लोग सेवन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः।
नित्योच्छिष्टः शंकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटीमें बँधे हुए तोतेके समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस जगत्‌में बड़ी आयु नहीं मिलती ॥ १३ ॥

यजुषा संस्कृतं मांसं निवृत्तो मांसभक्षणात्।
न भक्षयेद् वृथामांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥

जो मांस-भक्षण न करता हो, वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कार किया हुआ मांस भी न खाय। व्यर्थ मांस और श्राद्ध-शेष मांस भी वह त्याग दे ॥ १४ ॥

स्वदेशे परदेशे वा अतिथिं नोपवासयेत्।
काम्यकर्मफलं लब्ध्वा गुरूणामुपपादयेत् ॥ १५ ॥

मनुष्य स्वदेशमें हो या परदेशमें—अपने पास आये हुए अतिथिको भूखा न रहने दे। सकाम कर्तव्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त पदार्थ अपने गुरुजनोंको निवेदित कर दे ॥ १५ ॥

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम्।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १६ ॥

गुरुजन पधारें तो उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, प्रणाम करे, गुरुओंकी पूजा करनेसे मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं न च नग्नां परस्त्रियम्।
मैथुनं सततं धर्म्यं गुह्ये चैव समाचरेत् ॥ १७ ॥

उगते हुए सूर्यकी ओर न देखे, नंगी हुई परायी स्त्रीकी ओर दृष्टि न डाले और सदा धर्मानुसार ऋतुकालके समय अपनी ही पत्नीके साथ एकान्त स्थानमें समागम करे ॥ १७ ॥

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥ १८ ॥

तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है, पवित्र वस्तुओंमें अतिपवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है। शिष्ट पुरुष जिसे आचरणमें लाते हैं, वह आचरण सर्वश्रेष्ठ है। चँवर आदिमें लगे हुए गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श भी शिष्टाचारानुमोदित होनेके कारण शुद्ध है ॥ १८ ॥

दर्शने दर्शने नित्यं सुखप्रश्नमुदाहरेत्।
सायं प्रातश्च विप्राणां प्रदिष्टमभिवादनम् ॥ १९ ॥

परिचित मनुष्यसे जब-जब भेंट हो, सदा उसका कुशल-समाचार पूछे। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करे, यह शास्त्रकी आज्ञा है ॥ १९ ॥

देवागारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां क्रियापथे।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ २० ॥

देवमन्दिरमें, गौओंके बीचमें, ब्राह्मण के यज्ञादि कर्मोंमें, शास्त्रोंके स्वाध्यायकालमें और भोजन करते समय दाहिने हाथसे काम ले ॥ २० ॥

सायं प्रातश्च विप्राणां पूजनं च यथाविधि।
पण्यानां शोभते पण्यं कृषीणां बाध्यते कृषिः ॥ २१ ॥
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाहो गवां तथा।

सबेरे और शाम दोनों समय विधिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन (सेवा-सत्कार) करना चाहिये। यही व्यापारोंमें उत्तम व्यापारकी भाँति शोभा पाता है और यही खेतीमें सबसे अच्छी खेतीके समान प्रत्यक्ष फलदायक है। ब्राह्मण-पूजक पुरुषके विविध अन्नोंकी वृद्धि होती है और उसे वाहनोंमें गोजातिके श्रेष्ठ वाहन सुलभ होते हैं ॥ २१½ ॥

सम्पन्नं भोजने नित्यं पानीये तर्पणं तथा ॥ २२ ॥
सुश्टतं पायसे ब्रूयाद् यवाग्वां कृसरे तथा ।

भोजन करानेके पश्चात् दाता पूछे कि क्या भोजन सम्पन्न हो गया ? ब्राह्मण उत्तर दे कि सम्पन्न हो गया। इसी प्रकार जल पिलानेके बाद दाता पूछे तृप्ति हुई क्या ? ब्राह्मण उत्तर दे कि अच्छी तरह तृप्ति हो गयी। खीर खिलानेके बाद जब यजमान पूछे कि अच्छा बना था न ? तब ब्राह्मण उत्तर दे बहुत अच्छा बना था। इसी प्रकार जौका हलुआ और खिचड़ी खिलानेके बाद भी प्रश्न और उत्तर होना चाहिये ॥ २२½ ॥

श्मश्रुकर्मणि सम्प्राप्ते क्षुते स्नानेऽथ भोजने ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुष्यमभिनन्दनम् ॥ २३ ॥

हजामत बनाने, छींकने, स्नान और भोजन करनेके बाद हरेक मनुष्यको तथा सभी अवस्थाओंमें सम्पूर्ण रोगियोंका कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणोंको प्रणाम आदिसे प्रसन्न करें। इससे उनकी आयु बढ़ती है ॥ २३ ॥

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सह भोज्यं च वर्जयेत् ॥ २४ ॥

सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे। अपनी विष्ठापर दृष्टि न डाले। स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोना और एक थालीमें भोजन करना छोड़ दे ॥ २४ ॥

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥ २५ ॥

अपनेसे बड़ोंका नाम लेकर या तू कहकर न पुकारे, जो अपनेसे छोटे या समवयस्क हों, उनके लिये वैसा करना दोषकी बात नहीं है ॥ २५ ॥

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २६ ॥

पापियोंका हृदय तथा उनके नेत्र और मुख आदिका विकार ही उनके पापोंको बता देता है। जो लोग जान-बूझकर किये हुए पापको महापुरुषोंसे छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ॥

ज्ञानपूर्वकृतं पापं छादयत्यबहुश्रुतः ।
नैनं मनुष्याः पश्यन्ति पश्यन्त्येव दिवौकसः ॥ २७ ॥

मूर्ख मनुष्य ही जान-बूझकर किये हुए पापको छिपाता है। यद्यपि उस पापको मनुष्य नहीं देखते हैं, तो भी देवता-लोग तो देखते ही हैं ॥ २७ ॥

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥ २८ ॥

पापी मनुष्यका पापके द्वारा छिपाया हुआ पाप पुनः उसे पापमें ही लगाता है और धर्मात्माका धर्मतः गुप्त रक्खा हुआ धर्म उसे पुनः धर्ममें ही प्रवृत्त करता है ॥ २८ ॥

पापं कृतं न स्मरतीह मूढो
विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि
तथाबुधं पापमुपैति कर्म ॥ २९ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापको याद नहीं रखता; परंतु पापमें प्रवृत्त हुए कर्ताका पाप स्वयं ही उसके पीछे लगा रहता है, जैसे राहु चन्द्रमाके पास स्वतः पहुँच जाता है, उसी प्रकार उस मूढ़ मनुष्यके पास उसका पाप स्वयं चला जाता है ॥ २९ ॥

आशया संचितं द्रव्यं दुःखेनैवोपभुज्यते ।
तद् बुधा न प्रशंसन्ति मरणं न प्रतीक्षते ॥ ३० ॥

किसी विशेष कामनाकी पूर्तिकी आशासे जो धन संचित करके रखा गया है, उसका उपभोग दुःखपूर्वक ही किया जाता है; अतः विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि मृत्यु किसीकी कामना-पूर्तिके अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करती है ॥ ३० ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ ३१ ॥

मनीषी पुरुषोंका कथन है कि समस्त प्राणियोंके लिये मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है; अतः मनसे सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण सोचता रहे ॥ ३१ ॥

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ॥ ३२ ॥

केवल वेदविधिका सहारा लेकर अकेले ही धर्मका आचरण करना चाहिये। उसमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है। कोई दूसरा सहायक आकर क्या करेगा ? ॥ ३२ ॥

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥ ३३ ॥

धर्म ही मनुष्योंकी योनि है। वही स्वर्गमें देवताओंका अमृत है। धर्मात्मा मनुष्य मरनेके पश्चात् धर्मके ही बलसे सदा सुख भोगते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे आचारविधौ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें आचारविधिविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह चिन्त्यते ।
यदध्यात्मं यथा चैतत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अध्यात्मके नामसे जिसका विचार किया जाता है, वह अध्यात्म-ज्ञान क्या है और कैसा है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये कथमभ्येति तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इस चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है और प्रलयकालमें इसका लय किस प्रकार होता है; इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अध्यात्ममिति मां पार्थ यदेतदनुपृच्छसि ।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात श्रेयस्करतमं सुखम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! तुम जिस अध्यात्मज्ञानके विषयमें पूछ रहे हो, उसकी व्याख्या मैं तुम्हारे लिये करता हूँ; वह परम कल्याणकारी और सुख-स्वरूप है ॥ ३ ॥

सृष्टिप्रलयसंयुक्तमाचार्यैः परिदर्शितम् ।
यज्ज्ञात्वा पुरुषो लोके प्रीतिं सौख्यं च विन्दति ।
फललाभश्च तस्य स्यात् सर्वभूतहितं च तत् ॥ ४ ॥

आचार्योंने सृष्टि और प्रलयकी व्याख्याके साथ अध्यात्म-ज्ञानका विवेचन किया है, जिसे जानकर मनुष्य इस संसारमें सुख और प्रसन्नताका भागी होता है । उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति भी होती है । वह अध्यात्मज्ञान समस्त प्राणियोंके लिये हितकर है ॥ ४ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ५ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच महा-भूत सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥५॥

यतः सृष्टानि तत्रैव तानि यान्ति पुनः पुनः ।
महाभूतानि भूतेभ्यः सागरस्योर्मयो यथा ॥ ६ ॥

जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ये पाँच महाभूत भी जिस परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें सब प्राणियोंके सहित बारंबार लीन होते हैं ॥ ६ ॥

प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वद् भूतानि भूतात्मा सृष्टानि हरते पुनः ॥ ७ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर पुनः समेट लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परब्रह्म परमेश्वर अपने रचे हुए सम्पूर्ण भूतोंको फैलाकर फिर अपने भीतर ही समेट लेते हैं ॥ ७ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्माने सब प्राणियोंके शरीरोंमें पाँच ही महाभूतोंको स्थापित किया है; परंतु उनमें विषमता कर दी है—किसी महाभूतके अंशको अधिक और किसीके अंशको कम करके रक्खा है । उस वैषम्यको साधारण जीव नहीं देख पाता ॥ ८ ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
वायोः स्पर्शस्तथा चेष्टा त्वक् चैव त्रितयं स्मृतम् ॥ ९ ॥

शब्दगुण, श्रोत्र इन्द्रिय और शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । स्पर्श, चेष्टा और त्वगिन्द्रिय—ये तीन वायुके कार्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते ।
रसः क्लेदश्च जिह्वा च त्रयो जलगुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—ये तीन तेजके कार्य बताये जाते हैं । रस, जिह्वा तथा क्लेद (गीलापन)—ये तीन जलके गुण अर्थात् कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणास्त्रयः ।
महाभूतानि पञ्चैव षष्ठं च मन उच्यते ॥ ११ ॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये तीन भूमिके गुण अर्थात् कार्य हैं । इस प्रकार इस शरीरमें पाँच महाभूत और छठा मन है; ऐसा बताया जाता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।
सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ और मन—ये जीवात्माको विषयोंका ज्ञान करानेवाले हैं । शरीरमें इन छःके अतिरिक्त सातवीं बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ है ॥ १२ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण कराती हैं । मन संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि निश्चय करानेवाली है और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षीकी भाँति स्थित रहता है ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं पादतलाभ्यां यदर्वाक्चोर्ध्वं च पश्यति ।
एतेन सर्वमेवेदं विद्ध्यभिव्याप्तमन्तरम् ॥ १४ ॥

दोनों पैरोंके तलोंसे लेकर ऊपरतक जो शरीर स्थित है, उसे जो साक्षीभूत चेतन ऊपर-नीचे सब ओरसे देखता है, वह इस सारे शरीरके भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १४ ॥

पुरुषैरिन्द्रियाणीह वेदितव्यानि कृत्स्नशः ।
तमो रजश्च सत्त्वं च तेऽपि भावास्तदाश्रिताः॥ १५ ॥

सभी मनुष्योंको अपनी इन्द्रियों (और मन-बुद्धि) की देख-भाल करके उनके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उन्हींका आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १५ ॥

एतां बुद्ध्वा नरो बुद्ध्या भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य शनैश्चैव लभते शममुत्तमम् ॥ १६ ॥

मनुष्य अपनी बुद्धिके बलसे इन सबको और जीवोंके आवागमनकी अवस्थाको जानकर शनैः-शनैः उसपर विचार करनेसे उत्तम शान्ति पा जाता है ॥ १६ ॥

गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि तदभावे कुतो गुणाः ॥ १७ ॥

तम आदि गुण बुद्धिको बारंबार विषयोंकी ओर ले जाते हैं; तथा बुद्धिके साथ-साथ मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको और उनकी समस्त वृत्तियोंको भी ले जाते हैं। उस बुद्धिके अभावमें गुण कैसे रह सकते हैं ? ॥ १७ ॥

इति तन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलीयते चोद्भवति तस्मान्निर्दिश्यते तथा ॥ १८ ॥

यह चराचर जगत् बुद्धिके उदय होनेपर ही उत्पन्न होता है और उसके लयके साथ ही लीन हो जाता है; इसलिये यह सारा प्रपञ्च बुद्धिमय ही है; अतएव श्रुतिने सबकी बुद्धिरूपता-का ही निर्देश किया है ॥ १८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रति घ्राणमित्याहू रसं जानाति जिह्वया ॥ १९ ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उसे नेत्र और जिसके द्वारा सुनती है, उसे श्रोत्र कहते हैं। इसी प्रकार जिससे वह सूँघती है, उसे घ्राण कहा गया है, वही जिह्वाके द्वारा रसका अनुभव करती है ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शयते स्पर्शं बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत् ।
येन प्रार्थयते किञ्चित् तदा भवति तन्मनः ॥ २० ॥

बुद्धि त्वचासे स्पर्शका बोध प्राप्त करती है। इस प्रकार वह बारंबार विकारको प्राप्त होती रहती है। वह जिस करणके द्वारा जिसका अनुभव करना चाहती है, मन उसीका रूप धारण कर लेता है ॥ २० ॥

अधिष्ठानानि बुद्धेर्हि पृथगर्थानि पञ्चधा ।
इन्द्रियाणीति यान्याहुस्तान्यदृश्योऽधितिष्ठति॥ २१ ॥

भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये जो बुद्धिके पाँच अधिष्ठान हैं, उन्हींको पाँच इन्द्रियाँ कहते हैं। अदृश्य जीवात्मा उन सबका अधिष्ठाता (प्रेरक) है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदनुशोचति ॥ २२ ॥
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते ।

जीवात्माके आश्रित रहकर बुद्धि (सुख, दुःख और मोह) तीन भावोंमें स्थित होती है। वह कभी तो प्रसन्नताका अनुभव करती है, कभी शोकमें डूबी रहती है और कभी सुख और दुःख दोनोंके अनुभवसे रहित मोहाच्छन्न हो जाती है ॥ २२½ ॥

एवं नराणां मनसि त्रिषु भावेष्ववस्थिता ॥ २३ ॥
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ २४ ॥

इस प्रकार वह मनुष्योंके मनके भीतर तीन भावोंमें अवस्थित है, यह भावात्मिका बुद्धि (समाधि-अवस्थामें) सुख, दुःख और मोह—इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है। ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे संयुक्त हो अपनी विशाल तटभूमिको भी कभी-कभी लाँघ जाता है ॥ २३-२४ ॥

अतिभावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ।
प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावमनुवर्तते ॥ २५ ॥

उपर्युक्त भावोंको लाँघ जानेपर भी बुद्धि भावात्मक मनमें सूक्ष्मरूपसे स्थित रहती है। तत्पश्चात् समाधिसे उत्थानके समय प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण बुद्धिभावका अनुसरण करता है॥

इन्द्रियाणि हि सर्वाणि प्रवर्तयति सा तदा ।
ततः सत्त्वं तमोभावः प्रीतियोगात् प्रवर्तते ॥ २६ ॥

उस समय रजोगुणसे युक्त हुई बुद्धि सारी इन्द्रियोंको प्रवृत्तिमें लगा देती है। तदनन्तर विषयोंके सम्बन्धसे प्रीति-रूप सत्त्वगुण प्रकट होता है। उसके बाद पुरुषके आसक्ति आदि दोषोंसे तमोमय भावका उदय होता है ॥ २६ ॥

प्रीतिः सत्त्वं रजः शोकस्तमो मोहस्तु ते त्रयः ।
ये ये च भावा लोकेऽस्मिन् सर्वेष्वेतेषु वै त्रिषु।२७।

प्रसन्नता या हर्ष सत्त्वगुणका कार्य है, शोक रजोगुणरूप है और मोह तमोगुणरूप। इस संसारमें जो-जो भाव हैं, वे सब इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत हैं ॥ २७ ॥

इति बुद्धिगतिः सर्वा व्याख्याता तव भारत ।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि विजेतव्यानि धीमता ॥ २८ ॥

भारत ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष बुद्धिकी सम्पूर्ण गतिका विशद विवेचन किया है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे ॥ २८ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्राणिनां संश्रिताः सदा ।
त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते ॥ २९ ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत ।

भारत ! सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सदा ही प्राणियोंमें स्थित रहते हैं और इनके कारण उन सब जीवोंमें सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यह तीन प्रकारकी अनुभूति देखी जाती है ॥ २९½ ॥

सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः ।

तमोगुणेन संयुक्तौ भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ ३० ॥

सत्त्वगुण सुखकी अनुभूति करानेवाला है, रजोगुण दुःखकी प्राप्ति कराता है और जब वे दोनों तमोगुण (मोह) से संयुक्त होते हैं, तब व्यवहारके विषय नहीं रह जाते ॥३०॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्याचक्षीत तत् तथा ॥ ३१ ॥

जब शरीर या मनमें किसी प्रकारसे भी प्रसन्नताका भाव हो, तब यह कहना चाहिये कि सात्त्विकभावका उदय हुआ है ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येव तन्न संरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

जब अपने मनमें दुःखसे युक्त अप्रसन्नताका भाव जाग्रत् हो, तब यह समझना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है । अतः उस दुःखको पाकर मनमें चिन्ता न करे (क्योंकि चिन्तासे दुःख और बढ़ता है) ॥ ३२ ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३३ ॥

जब मनमें कोई मोहयुक्तभाव पैदा हो और किसी भी इन्द्रियका विषय स्पष्ट जान न पड़े, उसके विषयमें कोई तर्क भी काम न करे और वह किसी तरह समझमें न आवे, तब यही निश्चय करना चाहिये कि तमोगुणकी वृद्धि हुई है ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
कथंचिदभिवर्तन्त इत्येते सात्त्विका गुणाः ॥ ३४ ॥

जब मनमें किसी प्रकार भी अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, सुख और शान्तिका अनुभव हो रहा हो, तब इन गुणोंको सात्त्विक समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ३५ ॥

जिस समय किसी कारणसे या बिना कारण ही असंतोष, शोक, संताप, लोभ और असहनशीलताके भाव दिखायी दें तो उन्हें रजोगुणका चिह्न जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

अवमानस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार जब अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष किसी तरह भी घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप समझे ॥ ३६ ॥

दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ।
मनः सुनियतं यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥ ३७ ॥

जिसका दूरतक दौड़ लगानेवाला और अनेक विषयोंकी ओर जानेवाला कामनायुक्त संशयात्मक मन अच्छी तरह वशमें हो जाता है, वह मनुष्य इहलोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी सुखी होता है ॥ ३७ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः ।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३८॥

बुद्धि और आत्मा—ये दोनों ही सूक्ष्म तत्त्व हैं तथापि इनमें बड़ा भारी अन्तर है । तुम इस अन्तरपर दृष्टिपात करो । इनमें बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा गुणोंकी सृष्टिसे अलग रहता है ॥ ३८ ॥

मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सदा ।
अन्योन्यमेतौ स्यातां च सम्प्रयोगस्तथा तयोः॥ ३९॥

जैसे गूलरका फल और उसके भीतर रहनेवाले कीड़े एक साथ रहते हुए भी एक दूसरेसे अलग हैं, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा दोनोंका एक साथ रहना और भिन्न-भिन्न होना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ।
यथा मत्स्यो जलं चैव सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ॥ ४० ॥

ये दोनों स्वभावसे ही अलग-अलग हैं तो भी सदा एक दूसरेसे मिले रहते हैं । ठीक वैसे ही, जैसे मछली और जल एक दूसरेसे पृथक् होकर भी परस्पर संयुक्त रहते हैं । यही स्थिति बुद्धि और आत्माकी भी है ॥ ४० ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेत्ति सर्वशः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संसृष्टान्मन्यते तथा ॥ ४१ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते; किंतु आत्मा चेतन है, इसलिये वह गुणोंको सब प्रकारसे जानता है । यद्यपि आत्मा गुणोंका साक्षी है, अतः उनसे सर्वथा भिन्न है तो भी वह अपनेको उन गुणोंसे संयुक्त मानता है ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः ।
निर्विचेष्टैरजानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत् ॥ ४२ ॥

जैसे घड़ेमें रक्खा हुआ दीपक घड़ेके छेदोंसे अपना प्रकाश फैलाकर वस्तुओंका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार परमात्मा शरीरके भीतर स्थित होकर चेष्टा और ज्ञानसे शून्य इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि इन सातोंके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुभव कराता है ॥ ४२ ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ४३ ॥

बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा साक्षी बनकर देखता रहता है । उन बुद्धि और आत्माका यह संयोग अनादि है ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य क्षेत्रज्ञस्य च कश्चन ।
सत्त्वं मनः संसृजते न गुणान् वै कदाचन ॥ ४४ ॥

बुद्धिका परमात्माके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं है और क्षेत्रज्ञका भी कोई दूसरा आश्रय नहीं है बुद्धि । मनसे ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है । गुणोंके साथ उसका साक्षात् सम्पर्क कदापि नहीं होता ॥ ४४ ॥

रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ॥ ४५ ॥

जब जीव बुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी बागडोरद्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी लगाम अच्छी तरह काबूमें रखता है,

तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्वलित दीपकके समान अपने भीतर ही उसका आत्मा प्रकाशित होने लगता है ॥ ४५ ॥

त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्तस्मात् स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥ ४६ ॥

जो सांसारिक कर्मोंका परित्याग करके सदा अपने-आपमें ही अनुरक्त रहता है, वह मननशील मुनि सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होकर परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥ ४७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष निर्लिप्त रहकर ही सम्पूर्ण भूतोंमें विचरता है ॥ ४७ ॥

एवं स्वभावमेवैतत् स्वबुद्ध्या विहरेन्नरः ।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च समो विगतमत्सरः ॥ ४८ ॥

यह आत्मतत्त्व ऐसा ही निर्लिप्त एवं शुद्ध-बुद्धिस्वरूप है; ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष हर्ष, शोक और मात्सर्य-दोषसे रहित हो सर्वत्र समानभाव रखते हुए विचरे ॥ ४८ ॥

स्वभावयुक्त्या युक्तस्तु स नित्यं सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४९ ॥

आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर ही सदा गुणोंकी सृष्टि करता है। ठीक उसी तरह, जैसे मकड़ी अपने स्वरूपमें स्थित रहती हुई ही जाला बनाती है। मकड़ीके जालेके ही समान समस्त गुणोंकी सत्ता समझनी चाहिये ॥ ४९ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते निवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिध्यति ॥ ५० ॥
एवमेकेऽध्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ।
उभयं सम्प्रधार्यैतद् व्यवस्येत यथामति ॥ ५१ ॥

आत्मसाक्षात् हो जानेपर गुण नष्ट हो जाते हैं तो भी सर्वथा निवृत्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी निवृत्ति प्रत्यक्ष नहीं देखी जाती है। जो परोक्ष वस्तु है, उसकी सिद्धि अनुमानसे होती है। एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है। दूसरे लोग यह मानते हैं कि गुणोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। इन दोनों मतोंपर भलीभाँति विचार करके अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ वस्तुका निश्चय करना चाहिये ॥

इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम् ।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः ॥ ५२ ॥

बुद्धिके द्वारा कल्पित हुआ जो भेद है, वही हृदयकी सुदृढ़ गाँठ है। उसे खोलकर संशयरहित हो ज्ञानवान् पुरुष सुखसे रहे, कदापि शोक न करे ॥ ५२ ॥

मलिनाः प्राप्नुयुः शुद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाह्य सुविद्वांसो विद्धि ज्ञानमिदं तथा ॥ ५३ ॥

जैसे मैले शरीरवाले मनुष्य जलसे भरी हुई नदीमें नहा-धोकर साफ-सुथरे हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानमयी नदीमें अवगाहन करके मलिन-चित्त मनुष्य भी शुद्ध एवं ज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं; ऐसा जानो ॥ ५३ ॥

महानद्या हि पारज्ञस्तप्यते न तदन्यथा ।
न तु तप्यति तत्त्वज्ञः फले ज्ञाते तरत्युत ॥ ५४ ॥

किसी महानदीके पारको जाननेवाला पुरुष केवल जानने-मात्रसे कृतकृत्य नहीं होता। जबतक वह नौका आदिके द्वारा वहाँ पहुँच न जाय, तबतक वह चिन्तासे संतप्त ही रहता है; परंतु तत्त्वज्ञ पुरुष ज्ञानमात्रसे ही संसार-सागरसे पार हो जाता है, उसे संताप नहीं होता; क्योंकि यह ज्ञान स्वयं ही पुलस्वरूप है ॥ ५४ ॥

एवं ये विदुराध्यात्मं केवलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम् ।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनं ततः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य बुद्धिसे जीवोंके इस आवागमनपर शनैः-शनैः विचार करके उस विशुद्ध एवं उत्तम आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, वह परम शान्ति पाता है ॥ ५५-५६ ॥

त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति ।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ ५७ ॥

जिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका ठीक-ठीक ज्ञान है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मनके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुसंधान करके योगयुक्त हो, आत्मासे भिन्न वस्तुके लिये उत्सुकताका त्याग-कर दिया है, वही तत्त्वदर्शी है ॥ ५७ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः ।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः ॥ ५८ ॥

जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वे भिन्न-भिन्न विषयोंकी ओर प्रेरित हुई दुर्निवार्य इन्द्रियोंद्वारा आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते ॥ ५८ ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ५९ ॥

यह जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण है? क्योंकि मनीषी पुरुष उस परमात्म-तत्त्वको जानकर ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५९ ॥

न भवति विदुषां ततो भयं
यदविदुषां सुमहद् भयं भवेत् ।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ॥ ६० ॥

अज्ञानियोंके लिये जो महान् भयका स्थान है, उसी संसारसे ज्ञानी पुरुषोंको भय नहीं होता। ज्ञान होनेपर सबको एक-सी ही गति (मुक्ति) प्राप्त होती है। किसीको उत्कृष्ट या निकृष्ट गति नहीं मिलती; क्योंकि गुणोंका सम्बन्ध रहनेपर ही उनके तारतम्यके अनुसार प्राप्त होनेवाली गतिमें

भी असमानता बतायी जाती है (ज्ञानीका गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता) ॥ ६० ॥

यः करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति यत्पुराकृतम्।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं
तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६१ ॥

जो निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किये हुए समस्त कर्म-संस्कारोंका नाश कर देता है। पूर्वजन्म और इस जन्मके किये हुए वे दोनों प्रकारके कर्म उस पुरुषके लिये न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न तो प्रिय फलके ही जनक होते हैं (क्योंकि कर्तापनके अभिमान और फलकी आसक्तिसे शून्य होनेके कारण उनका उन कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रह जाता) ॥ ६१ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६२ ॥

जो काम, क्रोध आदि दुर्व्यसनोंसे आतुर रहता है, उसे विचारवान् पुरुष धिक्कारते हैं। उसके निन्दनीय कर्म उस आतुर मानवको सभी योनियों (पशु-पक्षी आदिके शरीरों) में जन्म दिलाता है ॥ ६२ ॥

लोक आतुरजनान् विराविण-
स्तत्तदेव बहु पश्य शोचतः।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं पदं सताम् ॥ ६३ ॥

लोकमें भोगासक्तिके कारण आतुर रहनेवाले लोग स्त्री, पुत्र आदिके नाश होनेपर उनके लिये बहुत शोक करते और फूट-फूटकर रोते हैं। तुम उनकी इस दुर्दशाको देख लो। साथ ही, जो सारासार-विवेकमें कुशल हैं और सत्पुरुषों-को प्राप्त होनेवाले दो प्रकारके पदको अर्थात् सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाके फलको जानते हैं, वे कभी शोक नहीं करते हैं। उनकी अवस्थापर भी दृष्टिपात कर लो (फिर तुम्हें अपने लिये जो हितकर दिखायी दे, उसी पथका आश्रय लो) ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अध्यात्मकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ध्यानयोगका वर्णन

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते पार्थ ध्यानयोगं चतुर्विधम्।
यं ज्ञात्वा शाश्वतीं सिद्धिं गच्छन्तीह महर्षयः॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुमसे ध्यानयोगका वर्णन करूँगा, जो आलम्बनके भेदसे चार प्रकार-का होता है। जिसे जानकर महर्षिगण यहीं सनातन सिद्धि-को प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः ॥ २ ॥

निर्वाणस्वरूप मोक्षमें मन लगानेवाले ज्ञानतृप्त योगयुक्त महर्षिगण उसी उपायका अवलम्बन करते हैं, जिससे ध्यानका भलीभाँति अनुष्ठान हो सके ॥ २ ॥

नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ताः संसारदोषतः।
जन्मदोषपरिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! वे संसारके काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त तथा जन्मसम्बन्धी दोषसे शून्य होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, इसलिये पुनः इस संसारमें उन्हें नहीं लौटना पड़ता ॥ ३ ॥

निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नियमस्थिताः।
असङ्गान्यविवादीनि मनःशान्तिकराणि च ॥ ४ ॥
तत्र ध्यानेन संश्लिष्टमेकाग्रं धारयेन्मनः।
पिण्डीकृत्येन्द्रियग्राममासीनः काष्ठवन्मुनिः ॥ ५ ॥

ध्यानयोगके साधकोंको चाहिये कि सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित और शौच-संतोषादि नियमोंमें तत्पर रहें। जो स्थान असङ्ग (सब प्रकारके भोगोंके सङ्गसे शून्य), ध्यानविरोधी वस्तुओंसे रहित तथा मनको शान्ति देनेवाले हों, वहीं इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर काठकी भाँति स्थिरभावसे बैठ जाय और मनको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें लगा दे ॥४-५॥

शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण स्पर्शं त्वचा न वेदयेत्।
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया न रसांस्तथा ॥ ६ ॥
घ्रेयाण्यपि च सर्वाणि जह्याद् ध्यानेन योगवित्।
पञ्चवर्गप्रमाथीनि नेच्छेच्चैतानि वीर्यवान् ॥ ७ ॥

योगको जाननेवाले समर्थ पुरुषको चाहिये कि कानोंके द्वारा शब्द न सुने, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, आँखसे रूपको न देखे और जिह्वासे रसोंको ग्रहण न करे एवं ध्यानके द्वारा समस्त सूँघने योग्य वस्तुओंको भी त्याग दे तथा पाँचों इन्द्रियोंको मथ डालनेवाले इन विषयोंकी कभी मनसे भी इच्छा न करे ॥ ६-७ ॥

ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः।

समादध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। उसके बाद पाँचों इन्द्रियोंसहित चञ्चल मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र करे ॥ ८ ॥

विसंचारि निरालम्बं पञ्चद्वारं चलाचलम्।
पूर्वे ध्यानपथे धीरः समादध्यान्मनोऽन्तरा ॥ ९ ॥

मन नाना प्रकारके विषयोंमें विचरण करनेवाला है। उसका कोई स्थिर आलम्बन नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके इधर-उधर निकलनेके द्वार हैं तथा वह अत्यन्त चञ्चल है। ऐसे मनको धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदयके भीतर ध्यानमार्गमें एकाग्र करे ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्।
एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥ १० ॥

जब यह योगी इन्द्रियोंसहित मनको एकाग्र कर लेता है, तभी उसके प्रारम्भिक ध्यानमार्गका आरम्भ होता है। युधिष्ठिर! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रथम ध्यानमार्गका वर्णन किया है ॥ १० ॥

तस्य तत् पूर्वसंरुद्धमात्मनः षष्ठमान्तरम्।
स्फुरिष्यति समुद्भ्रान्ता विद्युदम्बुधरे यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे जो इन्द्रियोंसहित मन कुछ देरके लिये स्थिर हो जाता है, वही फिर अवसर पाकर जैसे बादलोंमें बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार पुनः बारंबार विषयोंकी ओर जानेके लिये चञ्चल हो उठता है ॥ ११ ॥

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥ १२ ॥

जैसे पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँद सब ओरसे हिलती रहती है, उसी प्रकार ध्यानमार्गमें स्थित साधकका मन भी प्रारम्भमें चञ्चल होता रहता है ॥ १२ ॥

समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥ १३ ॥

एकाग्र करनेपर कुछ देर तो वह ध्यानमें स्थित रहता है; परंतु फिर नाड़ी मार्गमें पहुँचकर भ्रान्त-सा होकर वायुके समान चञ्चल हो उठता है ॥ १३ ॥

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥ १४ ॥

ध्यानयोगको जाननेवाला साधक ऐसे विक्षेपके समय खेद या क्लेशका अनुभव न करे; अपितु आलस्य और मात्सर्यका त्याग करके ध्यानके द्वारा मनको पुनः एकाग्र करनेका प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥ १५ ॥

योगी जब ध्यानका आरम्भ करता है, तब पहले उसके मनमें ध्यानविषयक विचार, विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं ॥ १५ ॥

मनसा क्लिश्यमानस्तु समाधानं च कारयेत्।
न निर्वेदं मुनिर्गच्छेत् कुर्यादेवात्मनो हितम् ॥ १६ ॥

ध्यानके समय मनमें कितना ही क्लेश क्यों न हो, साधकको उससे ऊबना नहीं चाहिये; बल्कि और भी तत्परताके साथ मनको एकाग्र करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ध्यानयोगी मुनिको सर्वथा अपने कल्याणका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १६ ॥

पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः।
सहसा वारिणा सिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥ १७ ॥
किञ्चित् स्निग्धं यथा च स्याच्छुष्कचूर्णमभावितम्।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत् सर्वं तत्परिभावनम् ॥ १८ ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।
संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ १९ ॥

जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबरके चूर्णकी अलग-अलग इकट्ठी की हुई ढेरियोंपर जल छिड़का जाय तो वे सहसा जलसे भीगकर इतनी तरल नहीं हो सकतीं कि उनके द्वारा कोई आवश्यक कार्य किया जा सके; क्योंकि बार-बार भिगोये बिना वह सूखा चूर्ण थोड़ा-सा भीगता है, पूरा नहीं भीगता; परंतु उसको यदि बार-बार जल देकर क्रमसे भिगोया जाय तो धीरे-धीरे वह सब गीला हो जाता है, उसी प्रकार योगी विषयोंकी ओर बिखरी हुई इन्द्रियोंको धीरे-धीरे विषयोंकी ओरसे समेटे और चित्तको ध्यानके अभ्याससे क्रमशः स्नेहयुक्त बनावे। ऐसा करनेपर वह चित्त भलीभाँति शान्त हो जाता है ॥ १७–१९ ॥

स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ २० ॥

भरतनन्दन! ध्यानयोगी पुरुष स्वयं ही मन और पाँचों इन्द्रियोंको पहले ध्यानमार्गमें स्थापित करके नित्य किये हुए योगाभ्यासके बलसे शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

न तत्पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित्।
सुखमेष्यति तत् तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनोनिग्रहपूर्वक ध्यान करनेवाले योगीको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है, वह मनुष्यको किसी दूसरे पुरुषार्थसे या दैवयोगसे भी नहीं मिल सकता ॥ २१ ॥

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम् ॥ २२ ॥

उस ध्यानजनित सुखसे सम्पन्न होकर योगी उस ध्यानयोगमें अधिकाधिक अनुरक्त होता जाता है। इस प्रकार योगीलोग दुःख-शोकसे रहित निर्वाण (मोक्ष) पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ध्यानयोगकथने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ध्यानयोगका वर्णनविषयक एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जपयज्ञके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न, उसके उत्तरमें जप और ध्यानकी महिमा और उसका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते राजधर्मास्तथैव च।
नानाश्रयाश्च बहव इतिहासाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने चार आश्रमों तथा राजधर्मोंका वर्णन किया एवं अनेकानेक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से भिन्न-भिन्न इतिहास भी सुनाये ॥ १ ॥

श्रुतास्त्वत्तः कथाश्चैव धर्मयुक्ता महामते।
संदेहोऽस्ति तु कश्चिन्मे तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ २ ॥

महामते! मैंने आपके मुखसे अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुनी हैं; फिर भी मेरे मनमें एक संदेह रह गया है, उसे आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

जापकानां फलावाप्तिं श्रोतुमिच्छामि भारत।
किं फलं जपतामुक्तं क्व वा तिष्ठन्ति जापकाः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जप करनेवालोंको फलकी प्राप्ति कैसे होती है? जापकोंके जपका फल क्या बताया गया है अथवा जप करनेवाले पुरुष किन लोकोंमें स्थान पाते हैं? ॥ ३॥

जप्यस्य च विधिं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि मेऽनघ।
जापका इति किं चैतत् सांख्ययोगक्रियाविधिः ॥ ४ ॥

अनघ! आप मुझे जपकी सम्पूर्ण विधि भी बताइये। 'जापक' इस पदसे क्या तात्पर्य है? क्या यह सांख्ययोग, ध्यानयोग अथवा क्रियायोगका अनुष्ठान है?॥ ४ ॥

किं यज्ञविधिरेवैष किमेतज्जप्यमुच्यते।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ५ ॥

अथवा यह जप भी कोई यज्ञकी ही विधि है? जिसका जप किया जाता है, वह क्या वस्तु है? आप यह सारी बातें मुझे बताइये; क्योंकि आप मेरी मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ हैं ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यमस्य यत् पुरावृत्तं कालस्य ब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें विद्वान् पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पूर्वकालमें यम, काल और ब्राह्मणके बीचमें घटित हुआ था ॥ ६ ॥

सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः।
संन्यास एव वेदान्ते वर्तते जपनं प्रति ॥ ७ ॥

मोक्षदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योगका वर्णन किया है, उनमेंसे वेदान्त (सांख्य) में तो जपका संन्यास (त्याग) ही बताया गया है ॥ ७ ॥

वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ता ब्रह्मण्यवस्थिताः।
सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिः समदर्शिभिः॥ ८ ॥
मार्गौ तावप्युभावेतौ संश्रितौ न च संश्रितौ।

उपनिषदोंके वाक्य निर्वृत्ति (परमानन्द), शान्ति तथा ब्रह्मनिष्ठताका बोध करानेवाले हैं (अतः वहाँ जपकी अपेक्षा नहीं है)। समदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योग बताये हैं, वे दोनों मार्ग चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें उपकारक होनेसे जपका आश्रय लेते हैं, नहीं भी लेते हैं ॥ ८½ ॥

यथा संश्रूयते राजन् कारणं चात्र वक्ष्यते ॥ ९ ॥
मनःसमाधिरत्रापि तथेन्द्रियजयः स्मृतः।

राजन्! यहाँ जैसा कारण सुना जाता है, वैसा आगे बताया जायगा। सांख्य और योग—इन दोनों मार्गोंमें भी मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयम आवश्यक माने गये हैं ॥९½॥

सत्यमग्निपरीचारो विविक्तानां च सेवनम् ॥ १० ॥
ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम्।
विषयप्रतिसंहारो मितजल्पस्तथा शमः ॥ ११ ॥
एष प्रवर्तको यज्ञो निवर्तकमथो शृणु।
यथा निवर्तते कर्म जपतो ब्रह्मचारिणः ॥ १२ ॥

सत्य, अग्निहोत्र, एकान्तसेवन, ध्यान, तपस्या, दम, क्षमा, अनसूया, मिताहार, विषयोंका संकोच, मितभाषण तथा शम–यह प्रवर्तक यज्ञ है। अब निवर्तक यज्ञका वर्णन सुनो; जिसके अनुसार जप करनेवाले ब्रह्मचारी साधकके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं (अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ १०–१२ ॥

एतत् सर्वमशेषेण यथोक्तं परिवर्तयेत्।
निवृत्तं मार्गमासाद्य व्यक्ताव्यक्तमनाश्रयम् ॥ १३ ॥

इन मनोनिग्रह आदि पूर्वोक्त सभी साधनोंका निष्काम-भावसे अनुष्ठान करके उन्हें प्रवृत्तिके विपरीत निवृत्तिमार्गमें बदल डाले। निवृत्तिमार्ग तीन तरहका है—व्यक्त, अव्यक्त और अनाश्रय, उस मार्गका आश्रय लेकर स्थिरचित्त हो जाय ॥ १३ ॥

कुशोच्चयनिषण्णः सन् कुशहस्तः कुशैः शिखी।
कुशैः परिवृतस्तस्मिन् मध्ये छन्नः कुशैस्तथा ॥ १४॥

निवृत्तिमार्गपर पहुँचनेकी विधि यह है—जपकर्ताको कुशासनपर बैठना चाहिये। उसे अपने हाथमें भी कुश रखना चाहिये। शिखामें भी कुश बाँध लेना चाहिये, वह कुशोंसे घिरकर बैठे और मध्यभागमें भी कुशोंसे आच्छादित रहे ॥

विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च भावयेत्।
साम्यमुत्पाद्य मनसा मनस्येव मनो दधत् ॥ १५ ॥

विषयोंको दूरसे ही नमस्कार करे और कभी उनका अपने मनमें चिन्तन न करे। मनसे समताकी भावना करके मनका मनमें ही लय करे ॥ १५ ॥

तद् धिया ध्यायति ब्रह्म जपन् वै संहिताम् हिताम्।
संन्यस्यत्यथवा तां वै समाधौ पर्यवस्थितः ॥ १६ ॥

फिर बुद्धिके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ध्यान करे तथा सर्व-हितकारिणी वेदसंहिताका एवं प्रणव और गायत्री मन्त्रका जप करे। फिर समाधिमें स्थित होनेपर उस संहिता एवं गायत्री मन्त्र आदिके जपको भी त्याग दे ॥ १६ ॥

ध्यानमुत्पादयत्यत्र संहिताबलसंश्रयात्।
शुद्धात्मा तपसा दान्तो निवृत्तद्वेषकामवान् ॥ १७ ॥
अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते।
न कर्ता कारणानां च न कार्याणामिति स्थितिः ॥ १८ ॥

संहिताके जपसे जो बल प्राप्त होता है, उसका आश्रय लेकर साधक अपने ध्यानको सिद्ध कर लेता है। वह शुद्धचित्त होकर तपके द्वारा मन और इन्द्रियोंको जीत लेता है तथा द्वेष और कामनासे रहित एवं आसक्ति और मोहसे रहित हुआ शीत और उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंसे अतीत हो जाता है। अतः वह न तो कभी शोक करता है और न कहीं भी आसक्त होता है। वह कर्मोंका कारण और कार्यका कर्ता नहीं होता (अर्थात् अपनेमें कर्तापनका अभिमान नहीं लाता है) ॥ १७-१८ ॥

न चाहङ्कारयोगेन मनः प्रस्थापयेत् क्वचित्।
न चार्थग्रहणे युक्तो नावमानी न चाक्रियः ॥ १९ ॥

वह अहंकारसे युक्त होकर कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता है। वह न तो स्वार्थ-साधनमें संलग्न होता है, न किसीका अपमान करता है और न अकर्मण्य होकर ही बैठता है ॥ १९ ॥

ध्यानक्रियापरो युक्तो ध्यानवान् ध्याननिश्चयः।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य तदपि त्यजति क्रमात् ॥ २० ॥

वह ध्यानरूप क्रियामें ही नित्य तत्पर रहता है, ध्यान-निष्ठ हो ध्यानके द्वारा ही तत्त्वका निश्चय कर लेता है, ध्यानमें समाधिस्थ होकर क्रमशः ध्यानरूप क्रियाका भी त्याग कर देता है ॥ २० ॥

स वै तस्यामवस्थायां सर्वत्यागकृतः सुखम्।
निरिच्छस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मीं संविशते तनुम् २१

वह उस अवस्थामें स्थित हुआ योगी निस्संदेह सर्वत्याग-रूप निर्वीज समाधिसे प्राप्त होनेवाले दिव्य परमानन्दका अनुभव करता है। वह योगजनित अणिमा आदि सिद्धियों-की भी इच्छा न रखकर सर्वथा निष्काम हो प्राणोंका परित्याग कर देता है और विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है ॥ २१ ॥

अथवा नेच्छते तत्र ब्रह्मकायनिषेवणम्।
उत्क्रामति च मार्गस्थो नैव क्वचन जायते ॥ २२ ॥

अथवा यदि वह परब्रह्मका सायुज्य नहीं प्राप्त करना चाहता तो देवयानमार्गपर स्थित हो ऊपरके लोकोंमें गमन करता है अर्थात् परब्रह्म परमात्माके परम धाममें चला जाता है। पुनः इस संसारमें कहीं जन्म नहीं लेता ॥ २२ ॥

आत्मबुद्ध्या समास्थाय शान्तीभूतो निरामयः।
अमृतं विरजः शुद्धमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेसे वह रजोगुणसे रहित निर्मल शान्तस्वरूप योगी अमृतस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकमें दोष आनेके कारण उसे नरककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

गतीनामुत्तमा प्राप्तिः कथिता जापकेष्विह।
एकैवैषा गतिस्तेषामुत यान्त्यपरामपि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने यहाँ जापकोंके लिये गतियोंमें उत्तम गतिकी प्राप्ति बतायी है। क्या उनके लिये एकमात्र यही गति है ? या वे किसी दूसरी गतिको भी प्राप्त होते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् जापकानां गतिं विभो।
यथा गच्छन्ति निरयाननेकान् पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम सावधान होकर जापकोंकी गतिका वर्णन सुनो। प्रभो! पुरुषप्रवर! अब मैं यह बता रहा हूँ कि वे किस तरह नाना प्रकारके नरकोंमें पड़ते हैं* ॥ २ ॥

यथोक्तपूर्वं पूर्वं यो नानुतिष्ठति जापकः।
एकदेशक्रियश्चात्र निरयं स च गच्छति ॥ ३ ॥

जो जापक जैसा पहले बताया गया है, उसी तरह नियमोंका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, एकदेशका ही अनुष्ठान करता है अर्थात् किसी एक ही नियमका पालन करता है, वह नरकमें पड़ता है ॥ ३ ॥

अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो अवहेलनापूर्वक जप करता है, उसके प्रति प्रेम या प्रसन्नता नहीं प्रकट करता है, ऐसा जापक भी निःसंदेह नरकमें ही पड़ता है ॥ ४ ॥

अहङ्कारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥ ५ ॥

जपके कारण अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करनेवाले सभी जापक नरकगामी होते हैं। दूसरोंका अपमान करनेवाला जापक भी नरकमें ही पड़ता है ॥ ५ ॥

अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्राभिध्यां स कुरुते तं वै निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो मोहित हो फलकी इच्छा रखकर जप करता है, वह जिस फलका चिन्तन करता है, उसीके उपयुक्त नरकमें पड़ता है ॥ ६ ॥

अथैश्वर्यप्रवृत्तेषु जापकस्तत्र रज्यते।
स एव निरयस्तस्य नासौ तस्मात् प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि जप करनेवाले साधकको अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हों और वह उनमें अनुरक्त हो जाय तो वह ही उसके लिये नरक है, वह उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ७ ॥

रागेण जापको जप्यं कुरुते तत्र मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ८ ॥

जो जापक मोहके वशीभूत हो विषयासक्तिपूर्वक जप करता है, वह जिस फलमें उसकी आसक्ति होती है, उसीके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसका पतन हो जाता है ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धिरकृतप्रज्ञश्चले मनसि तिष्ठति।
चलामेव गतिं याति निरयं वा नियच्छति ॥ ९ ॥

जिसकी बुद्धि भोगोंमें आसक्तिके कारण दूषित है तथा जो विवेकशील नहीं है, वह जापक यदि मनके चञ्चल रहते हुए ही जप करता है तो विनाशशील गतिको प्राप्त होता है अथवा नरकमें गिरता है अर्थात् विनाशशील या स्वर्गादि विचलित स्वभाववाले लोकोंको प्राप्त होता है या तिर्यक्-योनियोंमें जाता है ॥ ९ ॥

अकृतप्रज्ञको बालो मोहं गच्छति जापकः।
स मोहान्निरयं याति तत्र गत्वानुशोचति ॥ १० ॥

जो विवेकशून्य मूढ़ जापक मोहग्रस्त हो जाता है, वह उस मोहके कारण नरकमें गिरता है और उसमें गिरकर निरन्तर शोकमग्न रहता है ॥ १० ॥

दृढग्राही करोमीति जाप्यं जपति जापकः।
न सम्पूर्णो न संयुक्तो निरयं सोऽनुगच्छति ॥ ११ ॥

'मैं निश्चय ही जपका अनुष्ठान पूरा करूँगा,' ऐसा दृढ़ आग्रह रखकर जो जापक जपमें प्रवृत्त होता है, परंतु न तो उसमें अच्छी तरह संलग्न होता है और न उसे पूरा ही कर पाता है, वह नरकमें गिरता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिवृत्तं परं यत्तदव्यक्तं ब्रह्मणि स्थितम्।
तद्भूतो जापकः कस्मात् स शरीरमिहाविशेत् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो कभी निवृत्त न होनेवाला सनातन अव्यक्त ब्रह्म है, उस गायत्रीके जपमें स्थित रहनेवाला एवं उससे भावित हुआ जापक किस कारणसे यहाँ शरीरमें प्रवेश करता है अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करता है? ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

दुष्प्रज्ञानेन निरया बहवः समुदाहृताः।
प्रशस्तं जापकत्वं च दोषाश्चैते तदात्मकाः ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम आदिसे बुद्धि दूषित होनेके कारण ही उसके लिये बहुत-से नरकोंकी प्राप्ति अर्थात् नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेकी बात कही गयी है। जापक होना तो बहुत उत्तम है। वे उपर्युक्त राग आदि दोष तो उसमें दूषित बुद्धिके कारण ही आते हैं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

* इस प्रकरणमें पुनर्जन्मको ही नरकके नामसे कहा गया है। यह बात छठे और सातवें श्लोकके वर्णनसे स्पष्ट हो जाती है।

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

परमधामके अधिकारी जापकके लिये देवलोक भी नरक-तुल्य हैं—इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशं निरयं याति जापको वर्णयस्व मे ।
कौतूहलं हि राजन् मे तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! जप करनेवालेको उसके दोषोंके कारण किस तरहके नरककी प्राप्ति होती है ? उसका मुझसे वर्णन कीजिये । राजन् ! उसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है; अतः आप अवश्य बतावें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्यांशप्रसूतोऽसि धर्मिष्ठोऽसि स्वभावतः ।
धर्ममूलाश्रयं वाक्यं शृणुष्वावहितोऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—अनघ ! तुम धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हो और स्वभावसे ही धर्मनिष्ठ हो; अतः सावधान होकर धर्मके मूलभूत वेद और परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली मेरी बात सुनो ॥ २ ॥

अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम् ।
नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि च ॥ ३ ॥
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा ।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः ॥ ४ ॥

परम बुद्धिमान् देवताओंके ये जो स्थान बताये जाते हैं, उनके रूप-रङ्ग अनेक प्रकारके हैं। फल भी नाना प्रकारके हैं। देवताओंके यहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले दिव्य विमान तथा दिव्य सभाएँ होती हैं। राजन्! उनके यहाँ नाना प्रकारके क्रीडा-स्थल तथा सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित बावलियाँ होती हैं ॥ ३-४ ॥

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः ।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥ ५ ॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम् ।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥ ६ ॥

तात! वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमराज—इन चारों लोकपालों, शुक्र, बृहस्पति, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु तथा अन्य देवताओंके जो ऐसे ही लोक हैं, वे सब परमात्माके परमधामके सामने नरक ही हैं ॥ ५-६ ॥

अभयं चानिमित्तं च न तत् क्लेशसमावृतम् ।
द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च ॥ ७ ॥

परमात्माका परमधाम विनाशके भयसे रहित है; क्योंकि वह कारणरहित नित्य-सिद्ध है। वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशोंसे घिरा हुआ नहीं है। उसमें प्रिय और अप्रिय ये दो भाव नहीं हैं*। प्रिय और अप्रियके हेतुभूत तीन गुण—सत्त्व, रज और तम भी नहीं हैं तथा वह परमधाम भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, उपासना, कर्म, प्राण और अविद्या—इन आठ पुरियों † से भी मुक्त है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीका भी अभाव है ॥ ७ ॥

चतुर्लक्षणवर्जं तु चतुष्कारणवर्जितम् ।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ ८ ॥

इतना ही नहीं, वह दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञाति—इन चार लक्षणोंसे रहित है‡। ज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारोंसे वह परे है। वहाँ इष्टविषयकी प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष और उसके भोगजनित आनन्दका भी अभाव है। वह शोक और श्रमसे भी सर्वथा रहित है ॥ ८ ॥

कालः सम्पच्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः ।
स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्यापि तथेश्वरः ॥ ९ ॥

राजन्! कालकी उत्पत्ति भी वहींसे होती है। उस धाम-पर कालकी प्रभुता नहीं चलती। वह परमात्मा कालका भी स्वामी और स्वर्गका भी ईश्वर है ॥ ९ ॥

आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति ।
ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ १० ॥

जो आत्मकैवल्यको प्राप्त हो चुका है, वही मनुष्य वहाँ जाकर शोकसे रहित हो जाता है। उस परमधामका स्वरूप ऐसा ही है और पहले जो नाना प्रकारके सुखभोगोंसे सम्पन्न लोक बताये गये हैं, वे सभी उसकी तुलनामें नरक हैं ॥ १० ॥

एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम् ।
तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥ ११ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे ये सभी नरक बताये हैं। उस परमपदके सामने वस्तुतः वे सभी लोक 'नरक' ही कहलाने योग्य हैं ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

---

* श्रुति भी कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।'

† आठ पुरियोंका बोधक वचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः । अविद्या चेत्यमुं वर्गमाहुः पुर्यष्टकं बुधाः ॥

‡ इन लक्षणोंका नाम-निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।

कौशिक ब्राह्मणको सावित्रीदेवीका प्रत्यक्ष दर्शन

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकको सावित्रीका वरदान, उसके पास धर्म, यम और काल आदिका आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मणका संवाद, सत्यकी महिमा तथा जापककी परम गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च ।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने काल, मृत्यु, यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मणके विवादकी पहले चर्चा की थी; अतः उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद् वृत्तं ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥
कालस्य मृत्योश्च तथा यद् वृत्तं तन्निबोध मे ।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन् स्थानेऽपि चाभवत् ।३।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसी प्रसङ्गमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम, ब्राह्मण, काल और मृत्युके वृत्तान्तका उल्लेख है। जिस स्थानपर और जिस रूपमें उनका वह संवाद हुआ था, उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणो जापकः कश्चिद् धर्मवृत्तो महायशाः ।
षडङ्गविन्महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः ॥ ४ ॥
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह ।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः ॥ ५ ॥

कहते हैं कि हिमालय पर्वतके निकटवर्ती पहाड़ियोंपर एक महायशस्वी धर्मात्मा ब्राह्मण रहता था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, परम बुद्धिमान् तथा जपमें तत्पर रहनेवाला था। वह पिप्पलादका पुत्र था और कौशिक वंशमें उसका जन्म हुआ था। वेदके छहों अङ्गोंका विज्ञान उसे प्रत्यक्ष हो गया था, अतः वह वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ४-५ ॥

सोऽयं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन् ।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम् ॥ ६ ॥

वह अर्थज्ञानपूर्वक संहिताका जप करता हुआ इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मणोचित तपस्या करने लगा। नियमपूर्वक जप-तप करते हुए उसके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥६॥

स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीतास्मीति तदा किल ।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ७ ॥

कहते हैं, उसके उस जपसे प्रसन्न होकर देवी सावित्रीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण अपने जपनीय वेद-संहिताके गायत्रीमन्त्रकी आवृत्ति कर रहा था; इसलिये सावित्रीदेवीके आनेपर भी चुपचाप बैठा ही रह गया। उनसे कुछ न बोला ॥ ७ ॥

तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत् तदा ।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत् ॥ ८ ॥

देवी सावित्रीकी उसपर कृपा हो गयी थी; अतः वे उसके उस समयके व्यवहारसे भी प्रसन्न ही हुईं। वेदमाताने ब्राह्मणके उस नियमानुकूल जपकी मन-ही-मन प्रशंसा की ॥ ८ ॥

समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा ।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

जब जप समाप्त हो गया, तब धर्मात्मा ब्राह्मणने उठकर देवी सावित्रीके चरणोंमें मस्तक रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता मम ।
यदि चापि प्रसन्नासि जप्ये मे रमतां मनः ॥ १० ॥

'देवि ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया। यदि वास्तवमें आप मुझपर संतुष्ट हैं तो ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा मन जपमें लगा रहे' ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते ।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत् ते भविष्यति ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—ब्रह्मर्षे ! तुम क्या चाहते हो ? कौन-सी वस्तु तुम्हें अभीष्ट है ? बताओ। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी। जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! तुम अपनी अभिलाषा बताओ। तुम्हारी वह सारी इच्छा पूर्ण हो जायगी। ११।

इत्युक्तः स तदा देव्या विप्रः प्रोवाच धर्मवित् ।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मनसश्च समाधिर्मे वर्धेताहरहः शुभे ।

सावित्रीदेवीके ऐसा कहनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण बोला—'शुभे ! इस मन्त्रके जपमें मेरी यह इच्छा बराबर बढ़ती रहे और मेरे मनकी एकाग्रता भी प्रतिदिन बढ़े' ॥ १२½ ॥

तत् तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया ।
निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभाः ॥ १४ ॥
यास्यसि ब्रह्मणः स्थानमनिमित्तमनिन्दितम् ।
साधये भविता चैतद् यत्त्वयाहमिहार्थिता ॥ १५ ॥
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति ।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम् ॥१६॥
भविता च विवादोऽत्र तव तेषां च धर्मतः ।

तब सावित्रीदेवीने मधुर वाणीमें 'तथास्तु' कहा। इसके बाद देवीने ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे यह दूसरा वचन और कहा--'विप्रवर! जहाँ दूसरे श्रेष्ठ ब्राह्मण गये हैं, उन स्वर्गादि निम्नश्रेणीके लोकोंमें तुम नहीं जाओगे। तुम्हें स्वभावसिद्ध एवं निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी। तुमने मुझसे जो यहाँ प्रार्थना की है, वह पूरी होगी। मैं उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करूँगी। तुम नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर जप करो। धर्म स्वयं तुम्हारी सेवामें उपस्थित होगा। काल, मृत्यु और यम भी तुम्हारे निकट पधारेंगे, तुम्हारा उन सबके साथ यहाँ धर्मानुकूल वाद-विवाद भी होगा ॥ १३—१६½ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवती सावित्री देवी अपने धामको चली गयीं और ब्राह्मण भी दिव्य सौ वर्षोंतक पूर्ववत् जपमें संलग्न रहा ॥ १७½ ॥

सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसंधोऽनसूयकः॥ १८ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः ।
साक्षात् प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्॥ १९ ॥

वह सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता था, क्रोधको जीत चुका था। अपनी की हुई प्रतिज्ञाका सचाईके साथ पालन करता था और किसीके दोष नहीं देखता था। बुद्धिमान् ब्राह्मणका वह नियम पूर्ण होनेपर साक्षात् भगवान् धर्म उस समय उसपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया १८-१९

धर्म उवाच

द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः ।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत् सम्प्राप्तं तच्च मे शृणु ॥२०॥

धर्म बोले—विप्रवर! तुम मेरी ओर देखो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा दर्शन करनेके लिये आया हूँ। तुम्हें इस जपका जो फल प्राप्त हुआ है, वह सब मुझसे सुन लो ॥ २० ॥

जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः ।
देवानां निलयान् साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि॥२१॥

तुमने दिव्य और मानुष सभी लोकोंपर विजय प्राप्त की है। साधो! तुम सम्पूर्ण देवताओंके लोकोंको लाँघकर उनसे भी ऊपर जाओगे ॥ २१ ॥

प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान् यथेप्सितान् ।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि२२

मुने! अब तुम अपने प्राणोंका परित्याग करो और अभीष्ट लोकोंमें जाओ। अपने शरीरका परित्याग करनेके पश्चात् ही तुम उन पुण्यलोकोंमें जाओगे ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच

किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम् ।
बहुदुःखसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो ॥ २३ ॥

ब्राह्मणने कहा—धर्म! मुझे उन लोकोंको लेकर क्या करना है? आप सुखपूर्वक यहाँसे अपने स्थानको पधारिये। प्रभो! मैंने इस शरीरके साथ बहुत दुःख और सुख उठाया है; अतः इसका त्याग नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

धर्म उवाच

अवश्यं भोः शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव ।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ ॥ २४ ॥

धर्म बोले—निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! शरीर तो तुम्हें अवश्य त्यागना पड़ेगा। विप्रवर! अब स्वर्गलोकपर आरूढ़ हो जाओ अथवा तुम्हारी क्या रुचि है? बताओ ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो ।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना।२५।

ब्राह्मणने कहा—प्रभो! मैं इस शरीरके बिना स्वर्गलोकमें निवास करना नहीं चाहता; अतः धर्मदेव! आप यहाँसे जाइये। इस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकमें जानेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ २५ ॥

धर्म उवाच

अलं देहे मनः कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव ।
गच्छ लोकानरजसो यत्र गत्वा न शोचसि ॥ २६ ॥

धर्म बोले—मुने! शरीरमें मनको आसक्त रखना ठीक नहीं है। तुम देह त्यागकर सुखी हो जाओ। उन रजोगुणरहित निर्मल लोकोंमें जाओ, जहाँ जाकर फिर तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच

रमे जपन् महाभाग किं नु लोकैः सनातनैः ।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! मैं तो जपमें ही सुख मानता हूँ। मुझे सनातन लोकोंको लेकर क्या करना है? भगवन्! यह बताइये, मैं सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकता हूँ या नहीं? ॥ २७ ॥

धर्म उवाच

यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज ।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागताः ॥ २८ ॥

धर्म बोले—ब्रह्मन्! यदि तुम शरीर छोड़ना नहीं चाहते हो तो देखो, ये काल, मृत्यु और यम तुम्हारे पास आये हैं ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो ।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन् ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं--राजन्! तदनन्तर वैवस्वत यम, काल और मृत्यु—तीनों उस महाभाग ब्राह्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

यम उवाच

तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च ।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा. यमोऽहं त्वामुपब्रुवे ॥ ३० ॥

यमराज बोले—ब्रह्मन् ! तुम्हारेद्वारा भलीभाँति की हुई इस तपस्याका तथा शुभ आचरणोंका भी तुम्हें उत्तम फल प्राप्त हुआ है । मैं यमराज हूँ और स्वयं तुमसे यह बात कहता हूँ ॥ ३० ॥

काल उवाच

यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम् ।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः ॥ ३१ ॥

कालने कहा—विप्रवर ! तुम्हारे इस जपका यथायोग्य सर्वोत्तम फल प्राप्त हुआ है । अतः अब तुम्हारे लिये स्वर्गलोकमें जानेका समय आया है । यही सूचित करनेके लिये मैं साक्षात् काल तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ३१ ॥

मृत्युरुवाच

मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम् ।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै ॥ ३२ ॥

मृत्युने कहा—धर्मज्ञ ब्राह्मण ! मुझे मृत्यु समझो । मैं स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ । विप्रवर ! मैं कालसे प्रेरित होकर आज तुम्हें यहाँसे ले जानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय च महात्मने ।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने कहा—सूर्यपुत्र यम, महामना काल, मृत्यु तथा धर्म—इन सबका स्वागत है । बताइये, मैं आपलोगोंका कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे ।
अब्रवीत् परमप्रीतः स्वशक्त्या किं करोमि वः॥ ३४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वहाँ उन सबका समागम होनेपर ब्राह्मणने उनके लिये अर्घ्य और पाद्य देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा—'देवताओ ! मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३४ ॥

तस्मिन्नेवाथ काले तु तीर्थयात्रामुपागतः ।
इक्ष्वाकुरगमत् तत्र समेता यत्र ते विभो ॥ ३५ ॥

इसी समय तीर्थयात्राके लिये आये हुए राजा इक्ष्वाकु भी उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ वे सब लोग एकत्र हुए थे ॥ ३५ ॥

सर्वानेव तु राजर्षिः सम्पूज्याथ प्रणम्य च ।
कुशलप्रश्नमकरोत् सर्वेषां राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि इक्ष्वाकुने उन सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उन सबका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३६ ॥

तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम्॥ ३७॥

ब्राह्मणने भी राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछनेके बाद इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥

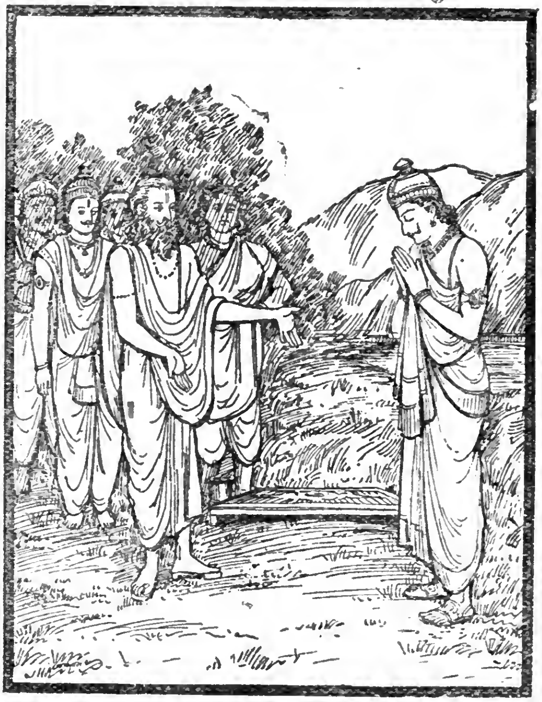

स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद् यदिहेच्छसि ।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद् भवान् प्रब्रवीतु माम्॥ ३८॥

'महाराज ! आपका स्वागत है ! आपकी जो-जो इच्छा हो, उसे यहाँ बताइये । मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ ? यह आप मुझे बतावें' ॥ ३८ ॥

राजोवाच

राजाहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः ।
ददानि वसु किंचित्ते प्रथितं तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप छः कर्मोंमें स्थित रहनेवाले ब्राह्मण । अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ । आप प्रसिद्ध धनरत्न मुझसे माँगिये ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण उवाच

द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः ।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥४०॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं और धर्म भी दो प्रकारका माना गया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति । मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ ॥ ४० ॥

तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप ।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते ।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! आप उन ब्राह्मणोंको दान दीजिये, जो प्रवृत्ति-मार्गमें हों । मैं आपसे दान नहीं लूँगा । नृपश्रेष्ठ ! इस समय आपको क्या अभीष्ट है ? मैं आपको क्या दूँ ? बताइये, मैं अपनी तपस्याद्वारा आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ४१ ॥

राजोवाच

क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित् ।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम ॥ ४२ ॥

राजा बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं क्षत्रिय हूँ । 'दीजिये' ऐसा कहकर याचना करनेकी बातको मैं कभी नहीं जानता । माँगनेके नामपर तो हमलोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो' ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

तुष्यसि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप ।
अन्योन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत् समाचर ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर ! जैसे आप अपने धर्मसे संतुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे संतुष्ट हैं । हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है । अतः आपको जो अच्छा लगे, वह कीजिये ॥ ४३ ॥

राजोवाच

स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम् ।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज ॥ ४४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! आपने मुझसे पहले कहा है कि 'मैं अपनी शक्तिके अनुसार दान दूँगा' तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अपने जपका फल मुझे दे दीजिये ॥

ब्राह्मण उवाच

युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे ।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आप तो बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहे थे कि मेरी वाणी सदा युद्धकी ही याचना करती है, तब आप मेरे साथ भी युद्धकी ही याचना क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥ ४५ ॥

राजोवाच

वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः ।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह ॥ ४६ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! ब्राह्मणोंकी वाणी ही वज्रके समान प्रभाव डालनेवाली होती है और क्षत्रिय बाहुबलसे जीवन-निर्वाह करनेवाले होते हैं; अतः आपके साथ मेरा यह तीव्र वाग्युद्ध उपस्थित हुआ है ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण उवाच

सैवाद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम् ।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम् ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजेन्द्र ! मेरी वही प्रतिज्ञा इस समय भी है । मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपको क्या दूँ ? बोलिये, विलम्ब न कीजिये । मैं शक्ति रहते आपको मुँहमाँगी वस्तु अवश्य प्रदान करूँगा ॥ ४७ ॥

राजोवाच

यत्तद् वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया ।
फलं प्राप्तं तत् प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि ॥ ४८ ॥

राजाने कहा—मुने ! यदि आप देना ही चाहते हैं तो पूरे सौ वर्षोंतक जप करके आपने जिस फलको प्राप्त किया है, वही मुझे दे दीजिये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण उवाच

परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया ।
अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि ॥ ४९ ॥
अथवा सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम् ।
राजन् प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि ॥ ५० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने जो जप किया है, उसका उत्तम फल आप ग्रहण करें । मेरे जपका आधा फल तो आप बिना विचारे ही प्राप्त करें अथवा यदि आप मेरेद्वारा किये हुए जपका सारा ही फल लेना चाहते हों तो अवश्य अपनी इच्छाके अनुसार वह सब प्राप्त कर लें ॥ ४९-५० ॥

राजोवाच

कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद् याचितं मया ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किञ्च तस्य फलं वद ॥ ५१ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने जो जपका फल माँगा है, उन सबकी पूर्ति हो गयी । आपका भला हो, कल्याण हो । मैं चला जाऊँगा; किंतु यह तो बता दीजिये कि उसका फल क्या है ? ॥ ५१ ॥

ब्राह्मण उवाच

फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया ।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! इस जपका फल क्या मिलेगा ? इसको मैं नहीं जानता; परंतु मैंने जो कुछ जप किया था, वह सब आपको दे दिया । ये धर्म, यम, मृत्यु और काल इस बातके साक्षी हैं ॥ ५२ ॥

राजोवाच

अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं किं मे करिष्यति ।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम् ।
प्राप्नोतु तत् फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम् ॥ ५३ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे अपने जप-जनित धर्मका फल नहीं बता रहे हैं तो इस धर्मका अज्ञात फल मेरे किस काम आयेगा ? वह सारा फल आपहीके पास रहे। मैं संदिग्ध फल नहीं चाहता ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाददेऽपरवक्तव्यं दत्तं चास्य फलं मया।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य तव चैव हि ॥ ५४ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजर्षे ! अब तो मैं अपने जपका फल दे चुका; अतः दूसरी कोई बात नहीं स्वीकार करूँगा। इस विषयमें आज मेरी और आपकी बातें ही प्रमाण-स्वरूप हैं (हम दोनोंको अपनी-अपनी बातोंपर दृढ़ रहना चाहिये) ॥ ५४ ॥

नाभिसंधिर्मया जप्ये कृतपूर्वः कदाचन।
जप्यस्य राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम् ॥ ५५ ॥

राजसिंह ! मैंने जप करते समय कभी फलकी कामना नहीं की थी; अतः इस जपका क्या फल होगा, यह कैसे जान सकूँगा ? ॥ ५५ ॥

ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति मया तथा।
न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव ॥ ५६ ॥

आपने कहा था कि 'दीजिये' और मैंने कहा था कि 'दूँगा'—ऐसी दशामें मैं अपनी बात झूठी नहीं करूँगा। आप सत्यकी रक्षा कीजिये और इसके लिये सुस्थिर हो जाइये ॥ ५६ ॥

अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता तव राजन् मृषा कृतः ॥ ५७ ॥

राजन् ! यदि इस तरह स्पष्ट बात करनेपर भी आप आज मेरे वचनका पालन नहीं करेंगे तो आपको असत्यका महान् पाप लगेगा ॥ ५७ ॥

न युक्तं तु मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिंदम।
तथा मयाप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते ॥ ५८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपके लिये भी झूठ बोलना उचित नहीं है और मैं भी अपनी कही हुई बातको मिथ्या नहीं कर सकता ॥ ५८ ॥

संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद् गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान् ॥ ५९ ॥

मैंने बिना कुछ सोच-विचार किये ही पहले देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः आप भी बिना विचारे मेरा दिया हुआ जप ग्रहण करें। यदि आप सत्यपर दृढ़ हैं तो आपको ऐसा अवश्य करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च ॥ ६० ॥

राजन् ! आपने स्वयं यहाँ आकर मुझसे जपके फलकी याचना की है और मैंने उसे आपके लिये दे दिया है; अतः आप उसे ग्रहण करें और सत्यपर डटे रहें ॥ ६० ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः ॥ ६१ ॥

जो झूठ बोलनेवाला है, उस मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। वह अपने पूर्वजोंको भी नहीं तार सकता; फिर भविष्यमें होनेवाली संततिका उद्धार तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ ६१ ॥

न यज्ञाध्ययने दानं नियमास्तारयन्ति हि।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ ६२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! परलोकमें सत्य जिस प्रकार जीवोंका उद्धार करता है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नहीं तार सकते हैं ॥ ६२ ॥

तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत् तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ ६३ ॥

लोगोंने अबतक जितनी तपस्याएँ की हैं और भविष्यमें भी जितनी करेंगे, उन सबको सौगुना या लाखगुना करके एकत्र किया जाय तो भी उनका महत्त्व सत्यसे बढ़कर नहीं सिद्ध होगा ॥ ६३ ॥

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ ६४ ॥

सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एकमात्र अक्षय तप है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है ॥ ६४ ॥

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

वेदोंमें सत्य ही जागता है—उसीकी महिमा बतायी गयी है। सत्यका ही सबसे श्रेष्ठ फल माना गया है। धर्म और इन्द्रिय-संयमकी सिद्धि भी सत्यसे ही होती है। सत्यके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥ ६५ ॥

सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥ ६६ ॥

सत्य ही वेद और वेदाङ्ग है। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओङ्कार है ॥ ६६ ॥

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥ ६७ ॥

सत्य प्राणियोंको जन्म देनेवाला (पिता) है, सत्य ही संतति है, सत्यसे ही वायु चलती है और सत्यसे ही सूर्य तपता है ॥ ६७ ॥

सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती ॥ ६८ ॥

सत्यसे ही आग जलती है तथा सत्यपर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती—सब सत्यके ही स्वरूप हैं ॥ ६८ ॥

तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम् ।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम् ॥ ६९ ॥

मैंने सुना है कि किसी समय धर्म और सत्यको तराजूपर, जिसके दोनों पलड़े बराबर थे, रक्खा और तौला गया; उस समय जिस ओर सत्य था, उधरका ही पलड़ा भारी हुआ ॥

यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते ।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि ॥ ७० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है । सत्यसे ही सबकी वृद्धि होती है । राजन् ! आप क्यों असत्यपूर्ण बर्ताव करना चाहते हैं ? ॥ ७० ॥

सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः ।
कस्मात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम् ॥ ७१ ॥

महाराज ! आप सत्यमें ही अपने मनको स्थिर कीजिये । मिथ्यापूर्ण बर्ताव न कीजिये । यदि लेना ही नहीं था तो आपने 'दीजिये' यह झूठा और अशुभ वचन क्यों मुँहसे निकाला था ॥ ७१ ॥

यदि जप्यफलं दत्तं मया नैषिष्यसे नृप ।
धर्मेभ्यः सम्परिभ्रष्टो लोकाननुचरिष्यसि ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! यदि आप मेरे दिये हुए इस जपके फलको नहीं स्वीकार करेंगे तो धर्मभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भटकते फिरेंगे ॥ ७२ ॥

संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा यश्च नेच्छति ।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

जो पहले देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर देना नहीं चाहता तथा जो याचना तो करता है, किंतु मिलनेपर उसे लेना नहीं चाहता, वे दोनों ही मिथ्यावादी होते हैं; अतः आप अपनी और मेरी भी बात मिथ्या न कीजिये ॥ ७३ ॥

राजोवाच

योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज ।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम् ॥ ७४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! क्षत्रियका धर्म तो प्रजाकी रक्षा और युद्ध करना है । क्षत्रियोंको दाता कहा गया है; फिर मैं उल्टे ही आपसे दान कैसे ले सकता हूँ ? ॥ ७४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम् ।
इहागम्य तु याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम् ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! दान लेनेके लिये मैंने आपसे अनुरोध या आग्रह नहीं किया था और न मैं देनेके लिये आपके घर ही गया था । आपने स्वयं यहाँ आकर याचना की है; फिर लेनेसे कैसे इन्कार करते हैं ? ॥ ७५ ॥

धर्म उवाच

अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्त मां धर्ममागतम् ।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च ॥ ७६ ॥

धर्म बोले—आप दोनोंमें विवाद न हो । आपको विदित होना चाहिये कि मैं साक्षात् धर्म यहाँ आया हूँ । ब्राह्मण-देवता दानके फलसे युक्त हो जायँ और राजा भी सत्यके फलसे सम्पन्न हों ॥ ७६ ॥

स्वर्ग उवाच

स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम् ।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम् ॥ ७७ ॥

स्वर्ग बोला—राजेन्द्र ! आपको विदित हो कि मैं स्वर्ग हूँ और स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ । आप दोनोंमें विवाद न हो । आप दोनों समान फलके भागी हों ॥

राजोवाच

कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम् ।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम् ॥ ७८ ॥

राजाने कहा—मुझे स्वर्गकी कोई आवश्यकता नहीं है । स्वर्ग ! तुम जैसे आये थे, वैसे ही लौट जाओ । यदि ये ब्राह्मणदेवता स्वर्गमें जाना चाहते हों तो मेरे किये हुए पुण्य-फलको ग्रहण करें ॥ ७८ ॥

ब्राह्मण उवाच

बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः ।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन् ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणने कहा—यदि बाल्यावस्थामें अज्ञानवश मैंने कभी किसीके सामने हाथ फैलाया हो तो उसका मुझे स्मरण नहीं है; परंतु अब तो संहिता—गायत्रीमन्त्रका जप करता हुआ निवृत्तिधर्मकी उपासना करता हूँ ॥ ७९ ॥

निवृत्तं मां चिराद्राजन् विप्रलोभयसे कथम् ।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप ।
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ॥ ८० ॥

राजन् ! मैं निवृत्तिमार्गका पथिक हूँ, आप बहुत देरसे मुझे लुभानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? नरेश्वर ! मैं स्वयं ही अपना कर्तव्य करूँगा, आपसे कोई फल नहीं लेना चाहता । मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त होकर तप और स्वाध्यायमें लगा हुआ हूँ ॥

राजोवाच

यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम् ।
आवयोर्यत् फलं किञ्चित् सहितं नौ तदस्त्विह ॥ ८१ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि आपने अपने जपका उत्तम फल दे ही दिया है तो ऐसा कीजिये कि हम दोनोंके जो भी पुण्यफल हों, उन्हें एकत्र करके हम दोनों साथ ही भोगें—हम दोनोंका उनपर समान अधिकार रहे ॥ ८१ ॥

द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः ।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ ॥ ८२ ॥

ब्राह्मणोंको दान लेनेका अधिकार है और क्षत्रिय केवल दान देते हैं, लेते नहीं; यह धर्म आपने भी सुना होगा; अतः

विप्रवर ! हम दोनोंके कार्यका फल साथ ही हम दोनोंके उपयोगमें आवे ॥ ८२ ॥

मा वा भूत् सहभोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि ।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ ८३ ॥

अथवा यदि आपकी इच्छा न हो तो हमें साथ रहकर कर्मफल भोगनेकी आवश्यकता नहीं है । उस अवस्थामें मैं यही प्रार्थना करूँगा कि यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो आप ही मेरे शुभकर्मोंका पूरा-पूरा फल ग्रहण कर लें । मैंने जो कुछ भी धर्म किया है, वह सब आप स्वीकार कर लें ॥

भीष्म उवाच

ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ ।
गृहीत्वान्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः ॥ ८४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय वहाँ विकराल वेषधारी दो पुरुष उपस्थित हुए । दोनोंने एक दूसरेको पकड़-कर अपने हाथोंसे आवेष्टित कर रक्खा था । दोनोंके शरीरपर मैले वस्त्र थे (उनमेंसे एकका नाम विकृत था और दूसरेका नाम विरूप) । वे दोनों बारंबार इस प्रकार कह रहे थे ॥८४॥

न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः ।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजानुशासकः ॥ ८५ ॥

एकने कहा—भाई ! तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । दूसरा कहता–नहीं, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ । पहलेने कहा–यहाँ जो हम दोनोंका विवाद है, इसका निर्णय ये सबका शासन करनेवाले राजा करेंगे ॥ ८५ ॥

सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान् ।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम् ॥ ८६ ॥

दूसरा बोला—मैं सच कहता हूँ कि तुमपर मेरा कोई ऋण नहीं है । पहलेने कहा–तुम झूठ बोलते हो । मुझपर तुम्हारा ऋण है ॥ ८६ ॥

तावुभौ सुभृशं तप्तौ राजानमिदमूचतुः ।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ ॥ ८७ ॥

तब वे दोनों अत्यन्त संतप्त होकर राजासे इस प्रकार बोले–आप हमारे मामलेकी जाँच-पड़ताल करके फैसला कर दें, जिससे हम दोनों यहाँ दोषके भागी और निन्दाके पात्र न हों ॥ ८७ ॥

विरूप उवाच

धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम् ।
ददतश्च न गृह्णाति विकृतो मे महीपते ॥ ८८ ॥

विरूप बोला—पुरुषसिंह ! मैं विकृतके एक गोदानका फल ऋणके तौरपर अपने यहाँ रखता हूँ । पृथ्वीनाथ ! उस ऋणको आज मैं दे रहा हूँ; परंतु यह विकृत ले नहीं रहा है ॥

विकृत उवाच

न मे धारयते किञ्चिद् विरूपोऽयं नराधिप ।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हि त्वां सत्याभासं नराधिप ॥ ८९ ॥

विकृतने कहा—नरेश्वर ! इस विरूपपर मेरा कोई ऋण नहीं है । यह आपसे झूठ बोलता है । इसकी बातमें सत्यका आभासमात्र है ॥ ८९ ॥

राजोवाच

विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे ।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः ॥ ९० ॥

राजा बोले—विरूप ! तुम्हारे ऊपर विकृतका कौन-सा ऋण है । बताओ, मैं उसे सुनकर कोई निर्णय करूँगा । मेरे मनका ऐसा ही निश्चय है ॥ ९० ॥

विरूप उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद् धारयाम्यहम् ।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप ॥ ९१ ॥

विरूप बोला—राजन् ! नरेश्वर ! आप सावधान होकर सुनें, राजर्षे ! इस विकृतका ऋण जिस प्रकार मैं धारण करता हूँ, वह सब पूर्णरूपसे बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुरानघ ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने ॥ ९२ ॥

निष्पाप राजर्षे ! इसने धर्मकी प्राप्तिके लिये एक तपस्वी और स्वाध्यायशील ब्राह्मणको एक दूध देनेवाली उत्तम गाय दी थी ॥ ९२ ॥

तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः ।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ९३ ॥

राजन् ! मैंने इसके घर जाकर इससे उसी गोदानका फल माँगा था और विकृतने शुद्ध हृदयसे मुझे वह दे दिया था ॥ ९३ ॥

ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये ।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने ॥ ९४ ॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन् मया समपवर्जिते ।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैंने भी अपनी शुद्धिके लिये पुण्यकर्म किया । राजन् ! दो अधिक दूध देनेवाली कपिला गौएँ, जिनके साथ उनके बछड़े भी थे, खरीदकर उन्हें मैंने एक उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको विधि और श्रद्धापूर्वक दे दिया । प्रभो ! उसी गोदानका फल मैं पुनः इसे वापस करना चाहता हूँ ॥९४-९५॥

इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम् ।
एवं स्यात् पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान् ९६

पुरुषसिंह ! इससे एक गोदानका फल लेकर आज मैं इसे दूना फल लौटा रहा हूँ । ऐसी परिस्थितिमें आप स्वयं निर्णय कीजिये कि हम दोनोंमेंसे कौन शुद्ध है और कौन दोषी ? ॥ ९६ ॥

एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाभ्यागतौ नृप ।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध ॥ ९७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए हम दोनों

यहाँ आपके समीप आये हैं । आप निर्णय कीजिये । अब आप चाहे न्याय करें या अन्याय । इस झगड़ेका निपटारा कर दें । हम दोनोंको विशिष्ट न्यायके मार्गपर लगा दें ॥९७॥

यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै ।
भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताद्य नौ ॥ ९८॥

इसने जिस तरह मुझे दान दिया है, उसी तरह यदि स्वयं भी मुझसे लेना नहीं चाहता है तो आप स्वयं सुस्थिर होकर हम दोनोंको धर्मके मार्गपर स्थापित कर दें ॥ ९८ ॥

राजोवाच

दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात् त्वमद्य वै ।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम् ॥ ९९ ॥

राजाने कहा—विकृत ! जब विरूप तुम्हें तुम्हारा दिया हुआ ऋण लौटा रहा है, तब तुम उसे आज ग्रहण क्यों नहीं करते ? जैसे इसने तुम्हारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार तुम भी इसकी दी हुई वस्तुको ले लो । बिलम्ब न करो ॥ ९९ ॥

विकृत उवाच

धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया ।
नायं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति ॥१००॥

विकृत बोला—राजन् ! विरूपने अभी आपसे कहा है कि मैं ऋण धारण करता हूँ; परंतु मैंने उस समय 'दान' कह करके वह वस्तु इसे दी थी; इसलिये इसके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । अब यह जहाँ जाना चाहे, जा सकता है ॥ १०० ॥

राजोवाच

ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे ।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः १०१

राजाने कहा—विकृत ! यह तुम्हें तुम्हारी वस्तु दे रहा है और तुम लेते नहीं हो । यह मुझे अनुचित जान पड़ता है; अतः मेरे मतमें तुम दण्डनीय हो; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

विकृत उवाच

मयास्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत् कथं पुनः ।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो ॥ १०२ ॥

विकृत बोला—राजर्षे ! मैंने इसे दान दिया था; फिर वह दान इससे वापस कैसे ले लूँ । भले, इसमें मेरा अपराध समझा जाय; परंतु मैं दिया हुआ दान वापस नहीं ले सकता । प्रभो ! मुझे दण्ड भोगनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ १०२ ॥

विरूप उवाच

दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथञ्चन ।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः ॥ १०३ ॥

विरूपने कहा—विकृत ! यदि तुम मेरी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करोगे तो ये धर्मपूर्ण शासन करनेवाले नरेश तुम्हें कैद कर लेंगे ॥ १०३ ॥

विकृत उवाच

स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत् ।
गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते ॥ १०४ ॥

विकृत बोला—तुम्हारे माँगनेपर मैंने अपना धन दानके रूपमें दिया था; फिर आज उसे वापस कैसे ले सकता हूँ ? तुम्हारे ऊपर मेरा कुछ भी पावना नहीं है । मैं तुम्हें जानेके लिये आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुतमेतत्त्वया राजन्ननयोः कथितं द्वयोः ।
प्रतिज्ञातं मया यत्ते तद् गृहाणाविचारितम् ॥ १०५ ॥

इसी बीचमें जापक ब्राह्मण बोल उठा—राजन् ! आपने इन दोनोंकी बातें सुन लीं । मैंने आपको देनेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप मेरा दान बिना विचारे ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

राजोवाच

प्रस्तुतं सुमहत् कार्यमनयोर्गह्वरं यथा ।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद् भविष्यति ॥१०६॥

राजाने मन-ही-मन कहा—इन दोनोंका बड़ा भारी और गहन कार्य सामने आ गया है । इधर जापक ब्राह्मणका सुदृढ़ आग्रह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है । इससे निपटारा कैसे होगा ॥ १०६ ॥

यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम् ।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताद्य वै ॥१०७॥

यदि मैं आज ब्राह्मणकी दी हुई वस्तु ग्रहण न करूँ तो किस प्रकार महान् पापसे निर्लिप्त रह सकूँगा ॥ १०७ ॥

तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः ।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा ॥१०८॥

इसके बाद राजर्षि इक्ष्वाकुने उन दोनोंसे कहा—'तुम दोनों अपने विवादका निपटारा हो जानेपर ही यहाँसे जाना । इस समय मेरे पास आकर अपना कार्य पूर्ण हुए बिना न जाना । मुझे भय है कि राजधर्म मिथ्या अथवा कलङ्कित न हो जाय ॥

स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः ।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत् ॥१०९॥

राजाओंको अपने धर्मका पालन करना चाहिये, यही शास्त्रका सिद्धान्त है । इधर मुझ अजितात्माके भीतर गहन ब्राह्मणधर्मने प्रवेश किया है ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण उवाच

गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं मया ।
न चेद् ग्रहीष्यसे राजञ्शपिष्ये त्वां न संशयः॥११०॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आपने जो वस्तु माँगी थी

और जिसे देनेकी मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे मैं आपकी धरोहरके रूपमें अपने पास रखता हूँ; अतः शीघ्र उसे ले लें। यदि नहीं लेंगे तो निस्संदेह मैं आपको शाप दे दूँगा ॥ ११० ॥

राजोवाच

धिग्राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति ॥ १११ ॥

राजाने कहा—धिक्कार है राजधर्मको, जिसके कार्यका यहाँ यह परिणाम निकला। ब्राह्मणको और मुझको समान फलकी प्राप्ति कैसे हो, इसी उद्देश्यसे मुझे यह दान ग्रहण करना है ॥ १११ ॥

एष पाणिरपूर्वं मे निक्षेपार्थं प्रसारितः।
यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम् ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन्! यह मेरा हाथ जो आजसे पहले किसीके सामने नहीं फैलाया गया था, आज आपसे धरोहर लेनेके लिये आपके सामने फैला है। आप मेरा जो कुछ भी धरोहर धारण करते हैं, उसे इस समय मुझे दे दीजिये ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण उवाच

संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित् कृतो मया।
तत् सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किंचिदिहास्ति मे ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! मैंने संहिताका जप करते हुए कहींसे जितना भी पुण्य अथवा सद्गुण संग्रह किया है, वह सब आप ले लें। इसके सिवा भी मेरे पास जो कुछ पुण्य हो, उसे ग्रहण करें ॥ ११३ ॥

राजोवाच

जलमेतन्निपतितं मम पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान् ॥ ११४ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे हाथपर यह संकल्पका जल पड़ा हुआ है। मेरा और आपका सारा पुण्य हम दोनोंके लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें; इस उद्देश्यसे आप मेरा दिया हुआ दान भी ग्रहण करें ॥

विरूप उवाच

कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमावाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च ॥ ११५ ॥

विरूपने कहा—राजन्! आपको विदित हो कि हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही आपको इस कार्यमें लगाया है। आपने जो साथ-साथ फल भोगनेकी बात कही है, इससे आपको और इस ब्राह्मणको एक समान लोक प्राप्त होंगे ॥ ११५ ॥

नायं धारयते किंचिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम् ॥ ११६ ॥
सर्वमन्योन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्र वाञ्छसि ॥ ११७ ॥

यह मेरा साथी कुछ भी धारण नहीं करता अथवा मुझपर भी इसका कोई ऋण नहीं है। यह सब खेल तो हमलोगोंने आपकी परीक्षा लेनेके लिये किया था। काल, धर्म, मृत्यु, काम, क्रोध और आप दोनों—ये सब-के-सब एक दूसरेकी कसौटीपर आपके देखते-देखते कसे गये हैं। अब जहाँ आपकी इच्छा हो, अपने कर्मसे जीते हुए उन लोकोंमें जाइये ॥

जापकानां फलावाप्तिर्मया ते सम्प्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन यथा जिताः ॥ ११८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जापकोंको किस प्रकार फलकी प्राप्ति होती है? इस बातका दिग्दर्शन मैंने तुम्हें करा दिया। जापक ब्राह्मणने कौन-सी गति प्राप्त की? किस स्थानपर अधिकार किया? कौन-कौन-से लोक उसके लिये सुलभ हुए? और यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ? ये बातें आगे बतायी जायँगी ॥ ११८ ॥

प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
अथवाग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि वा ॥ ११९ ॥

संहिताका स्वाध्याय करनेवाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्माको प्राप्त होता है अथवा अग्निमें समा जाता है अथवा सूर्यमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११९ ॥

स तैजसेन भावेन यदि तत्र रमत्युत।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः ॥ १२० ॥

यदि वह जापक तैजस शरीरसे उन लोकोंमें रमण करता है तो रागसे मोहित होकर उनके गुणोंको अपने भीतर धारण कर लेता है ॥ १२० ॥

एवं सोमे तथा वायौ भूम्याकाशशरीरगः।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन् ॥ १२१ ॥

इसी प्रकार संहिताका जप करनेवाला पुरुष रागयुक्त होनेपर चन्द्रलोक, वायुलोक, भूमिलोक तथा अन्तरिक्षलोकके योग्य शरीर धारण करके वहाँ निवास करता है और उन लोकोंमें रहनेवाले पुरुषोंके गुणोंका आचरण करता रहता है ॥

अथ तत्र विरागी स गच्छति त्वथ संशयम्।
परमव्ययमिच्छन् स तमेवाविशते पुनः ॥ १२२ ॥

यदि उन लोकोंकी उत्कृष्टतामें संदेह हो जाय और इस कारण वह जापक वहाँसे विरक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट एवं अविनाशी मोक्षकी इच्छा रखता हुआ फिर उसी परमेष्ठी ब्रह्मामें प्रवेश कर जाता है ॥ १२२ ॥

अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः ॥ १२३ ॥

अन्य लोकोंकी अपेक्षा परमेष्ठिभावकी प्राप्ति अमृतरूप है। उससे भी उत्कृष्ट कैवल्यरूपी अमृतको प्राप्त होकर वह शान्त (निष्काम), अहङ्कारशून्य, निर्द्वन्द्व, सुखी,

शान्तिपरायण तथा रोग-शोकसे रहित ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥

ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते ॥१२४॥

ब्रह्मपद पुनरावृत्तिरहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख-शून्य, अजर और शान्त आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है ॥ १२४ ॥

चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः ।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते ॥१२५॥

जापक पूर्वोक्त परमेष्ठी पुरुष (सगुण ब्रह्म) से भी ऊपर उठकर आकाशस्वरूप निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों प्रमाणों और लक्षणोंकी पहुँच नहीं है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह तथा जरा और मृत्यु—ये छः तरङ्गें वहाँ नहीं हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण तथा मन—इन सोलह उपकरणोंसे भी वह रहित है ॥ १२५ ॥

अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति ।
यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते ॥१२६॥

यदि उसके मनमें भोगोंके प्रति राग है और वह निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होना नहीं चाहता है तो वह सभी पुण्यलोकोंका अधिष्ठाता बन जाता है और मनसे जिस वस्तुको पाना चाहता है, उसे तुरंत प्राप्त कर लेता है ॥ १२६ ॥

अथवा चेक्षते लोकान् सर्वान् निरयसंज्ञितान् ।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम् ॥१२७॥

अथवा वह सम्पूर्ण उत्तम लोकोंको भी नरकके तुल्य देखता है और सब ओरसे निःस्पृह एवं मुक्त होकर उसी निर्गुण ब्रह्ममें सुखपूर्वक रमण करता है ॥ १२७ ॥

एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥१२८॥

महाराज ! इस प्रकार यह जापककी गति बतायी गयी है। यह सारा प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकुकी उत्तम गतिका वर्णन तथा जापकको मिलनेवाले फलकी उत्कृष्टता

युधिष्ठिर उवाच

किमुत्तरं तदा तौ स्म चक्रतुस्तस्य भाषिते ।
ब्राह्मणो वाथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उस समय विरूपके पूर्वोक्त वचन कहनेपर ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु उन दोनोंने उसे क्या उत्तर दिया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अथवा तौ गतौ तत्र यदेतत् कीर्तितं त्वया ।
संवादो वा तयोः कोऽभूत् किं वा तौ तत्र चक्रतुः ॥२॥

तथा आपने जो यह सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तरकी प्राप्तिरूप तीन प्रकारकी गति बतायी है, उनमेंसे वे दोनों किस गतिको प्राप्त हुए ? उस समय उन दोनोंमें क्या बातचीत हुई और उन्होंने क्या किया ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं सम्पूज्य च प्रभो ।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं सम्पूज्य चार्हतः ॥ ३ ॥
पूर्वं ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः ।
सर्वान् सम्पूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः॥४॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणने धर्म, यम, काल, मृत्यु और स्वर्ग—इन सभी पूजनीय देवताओंका पूजन किया। वहाँ पहलेसे जो ब्राह्मण मौजूद थे और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबके चरणोंमें सिर झुकाकर सबकी यथोचित पूजा करके ब्राह्मणने राजासे कहा—॥ ३-४ ॥

फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम् ।
भवता चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह ॥ ५ ॥

'राजर्षे ! इस फलसे संयुक्त होकर आप श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कीजिये और आपकी आज्ञा लेकर मैं फिर जपमें लग जाऊँगा ॥ ५ ॥

वरश्च मम पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल ।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशाम्पते ॥ ६ ॥

'महाबली प्रजानाथ ! मुझे देवी सावित्रीने वर दिया है कि जपमें तुम्हारी नित्य श्रद्धा बनी रहेगी' ॥ ६ ॥

राजोवाच

यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं तव ।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि ॥ ७ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि इस प्रकार मुझे फल समर्पण करनेके कारण आपको फलकी प्राप्ति नहीं हो रही है और पुनः जप करनेमें ही आपकी श्रद्धा होती है तो आप मेरे साथ ही चलें और जप-दानजनित फलको प्राप्त करें ॥७॥

ब्राह्मण उवाच

कृतः प्रयत्नः सुमहान् सर्वेषां संनिधाविह ।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने यहाँ सबके समीप आपको अपने जपका फल देनेके लिये महान् प्रयत्न किया है; फिर भी आपका आग्रह साथ-साथ फलका उपभोग करनेका रहा है; अतः हम दोनों समान फलके ही भागी हों। चलिये,

जापक ब्राह्मण एवं महाराज इक्ष्वाकुकी ऊर्ध्वगति

जहाँतक हम दोनोंकी गति हो सके, साथ-साथ चलें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः।
सह देवैरुपययौ लोकपालैस्तथैव च ॥ ९ ॥
साध्याश्च विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च ॥१०॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदाः स्तोभाः सरस्वती।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहुः ॥११॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः।
नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत्।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उन दोनोंका वहाँ ऐसा निश्चय जानकर सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्र उस स्थानपर आये। उनके साथ साध्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण भी थे। बड़े-बड़े वाद्य बज रहे थे। नदियाँ, पर्वत, समुद्र, नाना प्रकारके तीर्थ, तपस्या, संयोग-विधि, वेद, स्तोभ (साम-गानकी पूर्तिके लिये बोले जानेवाले अक्षर हाई हावु इत्यादि), सरस्वती, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, परिवारसहित चित्रसेन गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवाधिदेव प्रजापति ब्रह्मा, सहस्रों मस्तकवाले शेषनाग तथा अचिन्त्य देव भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे। प्रभो! उस समय आकाशमें भेरियाँ और तुरही आदि बाजे बज रहे थे ॥ ९—१३ ॥

पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम्।
ननृतुश्चाप्सरःसंघास्तत्र तत्र समन्ततः ॥ १४ ॥

वहाँ उन महात्माओंपर दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी। झुंडकी झुंड अप्सराएँ सब ओर नृत्य करने लगीं ॥ १४ ॥

अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्।
संसिद्धस्त्वं महाभाग त्वं च सिद्धस्तथा नृप ॥ १५ ॥

तदनन्तर मूर्तिमान् स्वर्गने ब्राह्मणसे कहा—'महाभाग! तुम सिद्ध हो गये।' फिर राजासे कहा—'नरेश्वर! तुम भी सिद्ध हो गये' ॥ १५ ॥

अथ तौ सहितौ राजन्नन्योन्यविधिना ततः।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः ॥ १६ ॥

राजन्! तदनन्तर वे दोनों एक दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ अपने मनको विषयोंकी ओरसे हटा लिया ॥ १६ ॥

प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः ॥ १७ ॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राण-वायुओंको हृदयमें स्थापित किया; इस प्रकार स्थित हुए उन दोनोंने मनको प्राण और अपानके साथ मिला दिया। भौंहोंके नीचे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए मनसहित प्राण-अपानको उन्होंने दोनों भौंहोंके बीच स्थिर किया ॥ १७-१८ ॥

निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च ॥१९॥

इस प्रकार मनको जीतकर दृष्टिको एकाग्र करके उन दोनोंने प्राणसहित मनको सुषुम्णा मार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित कर दिया। फिर वे दोनों समाधिमें स्थित हो गये। उस समय उन दोनोंके शरीर जडकी भाँति चेष्टाहीन हो गये ॥

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा ॥ २० ॥

इसी समय महात्मा ब्राह्मणके तालुदेश (ब्रह्म-रन्ध्र) का भेदन करके एक ज्योतिर्मयी विशाल ज्वाला निकली और स्वर्गकी ओर चल दी ॥ २० ॥

हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत्।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत्तदा ॥ २१ ॥
ततः स्वागतमित्याह तत् तेजः प्रपितामहः।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशाम्पते ॥ २२ ॥

फिर तो सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् कोलाहल मच गया। उस ज्योतिकी सभी लोग स्तुति करने लगे। प्रजानाथ! प्रादेशके बराबर लंबे पुरुषका आकार धारण किये वह तेजःपुञ्ज ब्रह्माजीके पास पहुँचा, तब ब्रह्माजीने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया ॥ २१-२२ ॥

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने उस तेजोमय पुरुषका स्वागत करनेके पश्चात् पुनः उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—'विप्रवर! योगियोंको जो फल मिलता है, निस्संदेह वही फल जप करनेवालोंको भी प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २४ ॥

'योगियोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह इन सभासदोंने प्रत्यक्ष देखा है; किंतु जापकोंको उनसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, यह सूचित करनेके लिये ही मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है ॥ २४ ॥

उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाचेतयत् सततं पुनः।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः ॥ २५ ॥

'अब तुम मेरे भीतर सुखपूर्वक निवास करो।' इतना कहकर ब्रह्माजीने उसे पुनः तत्त्वज्ञान प्रदान किया। आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण-तेज रोग-शोकसे मुक्त हो ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गया ॥ २५ ॥

राजाप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम् ।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत् तदा ॥ २६ ॥

राजा इक्ष्वाकु भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी ही भाँति विधिपूर्वक भगवान् ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये ॥ २६ ॥

स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन् ।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर देवताओंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके कहा— 'भगवन् ! आपने जो आगे बढ़कर इस ब्राह्मणका स्वागत किया है, इससे सिद्ध हो गया कि जापकोंको योगियोंसे भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः ।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ ॥ २८ ॥

'इस जापक ब्राह्मणको सद्गति देनेके लिये ही आपने ऐसा उद्योग किया था । इसीको देखनेके लिये हमलोग भी आये थे । आपने इन दोनोंका समानरूपसे आदर किया और ये दोनों ही एक-सी स्थितिमें पहुँचकर आपके समान फलके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै ।
सर्वाँल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम् ॥ २९ ॥

'आज हमलोगोंने योगी और जापकके महान् फलको प्रत्यक्ष देख लिया । वे सम्पूर्ण लोकोंको लाँघकर जहाँ उनकी इच्छा हो, जा सकते हैं' ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम् ।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम् ॥ ३० ॥

यश्च योगे भवेद् भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः ।
विधिनानेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात् ।
साधये गम्यतां चैव यथास्थानानि सिद्धये ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! जो महास्मृति तथा कल्याणमयी अनुस्मृतिका पाठ करता है, वह भी इसी विधिसे मेरा सालोक्य प्राप्त कर लेता है । जो योगका भक्त है, वह भी देहत्यागके पश्चात् इसी विधिसे मेरे लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है । अब तुम सब लोग अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये अपने-अपने स्थानको जाओ । मैं तुम लोगोंका अभीष्ट साधन करता रहूँगा ॥ ३०-३१ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये । देवता भी उनकी आज्ञा पाकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३२ ॥

ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै ।
पृष्ठतोऽनुययू राजन् सर्वे सुप्रीतचेतसः ॥ ३३ ॥

राजन् ! फिर वे सभी महात्मा धर्मको सत्कारपूर्वक आगे करके प्रसन्नचित्त हो पीछे-पीछे चल दिये ॥ ३३ ॥

एतत् फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता ।
यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥

महाराज ! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार जापकोंको मिलनेवाले इस उत्तम फल और गतिका वर्णन किया । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिके प्रश्नके उत्तरमें मनुद्वारा कामनाओंके त्यागकी एवं ज्ञानकी प्रशंसा तथा परमात्मतत्त्वका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च ।
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ज्ञानयोगका, वेदोंका तथा वेदोक्त नियम (अग्निहोत्र आदि) का क्या फल है? समस्त प्राणियोंके भीतर रहनेवाले परमात्माका ज्ञान कैसे हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें प्रजापति मनु तथा महर्षि बृहस्पतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां
देवर्षिसंघप्रवरो महर्षिः ।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं
पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवता और ऋषियोंकी मण्डलीमें प्रधान महर्षि बृहस्पतिने प्रजाओंके श्रेष्ठतम प्रजापति गुरु मनुको शिष्यभावसे प्रणाम करके यह प्राचीन प्रश्न पूछा— ॥

यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो
ज्ञाने फलं यत्प्रवदन्ति विप्राः ।

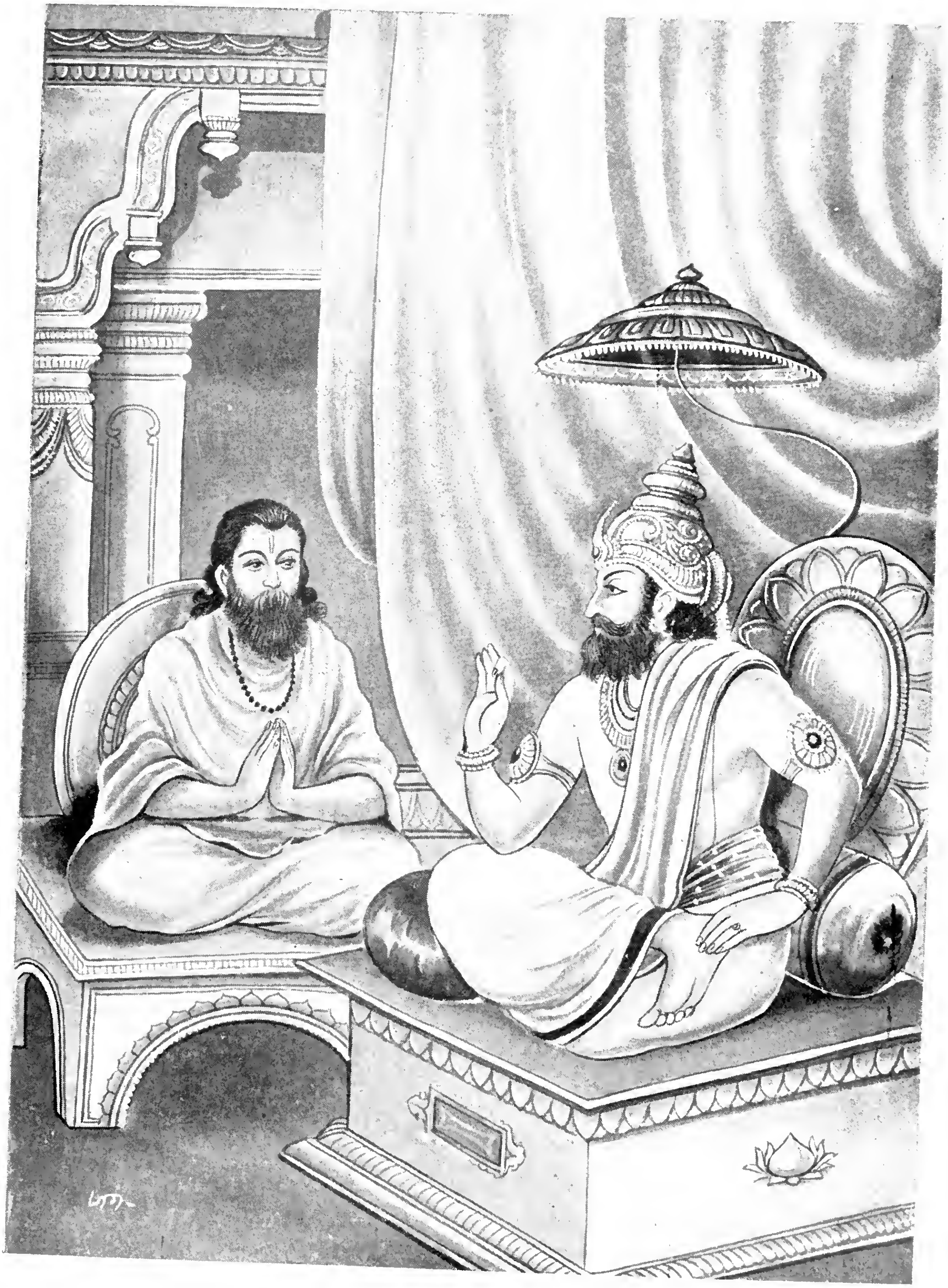

प्रजापति मनु एवं महर्षि बृहस्पतिका संवाद

यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यतां मे भगवन् यथावत् ॥ ४ ॥

भगवन्! जो इस जगत्का कारण है, जिसके लिये वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ही ज्ञान होनेपर प्राप्त होनेवाला फल (परब्रह्म परमात्मा) बताते हैं तथा वेदके मन्त्र-वाक्योंद्वारा जिसका तत्त्व पूर्णरूपसे प्रकाशमें नहीं आता, उस नित्य वस्तुका आप मेरे लिये यथावद्रूपसे वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

यच्चार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भि-
र्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः ।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते च
किं तत्कथं वा भविता क वा तत् ॥ ५ ॥

अर्थशास्त्र, आगम (वेद) और मन्त्रको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अनेकानेक महान् यज्ञों और गोदानोंद्वारा जिस सुखमय फलकी उपासना करते हैं, वह क्या है, किस प्रकार प्राप्त होता है और कहाँ उसकी स्थिति है ? ॥ ५ ॥

मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं
जलौकसश्चैव जलं दिवं च ।
दिवौकसश्चापि यतः प्रसूता-
स्तदुच्यतां मे भगवन् पुराणम् ॥ ६ ॥

भगवन्! पृथ्वी, पार्थिव पदार्थ, वायु, आकाश, जलजन्तु, जल, द्युलोक और देवता जिससे उत्पन्न होते हैं, वह पुरातन वस्तु क्या है ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै
ततस्तदर्थो भवति प्रवृत्तिः ।
न चाप्यहं वेद परं पुराणं
मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम् ॥ ७ ॥

मनुष्यको जिस वस्तुका ज्ञान होता है, उसीको वह पाना चाहता है और पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसके लिये वह प्रयत्न आरम्भ करता है; परंतु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तुके विषयमें कुछ जानता ही नहीं हूँ; फिर उसे पानेके लिये झूठा प्रयत्न कैसे करूँ ? ॥ ७ ॥

ऋक्सामसंघांश्च यजूंषि चापि
च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम् ।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं
शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि ॥ ८ ॥

मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेदका तथा छन्दका अर्थात् अथर्ववेदका एवं नक्षत्रोंकी गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षाका भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतोंके उपादान कारणको न जान सका ॥ ८ ॥

स मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्
सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च ।
स मे भवान् शंसतु तावदेत-
ज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति ॥ ९ ॥

यथा च देहाच्च्यवते शरीरी
पुनः शरीरं च यथाभ्युपैति ।

अतः आप सामान्य और विशेष शब्दोंद्वारा इस सम्पूर्ण विषयका मेरे निकट वर्णन कीजिये । तत्त्वज्ञान होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है ? कर्म करनेपर किस फलकी उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देहसे किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ?—ये सारी बातें भी आप मुझे बताइये ॥ ९½ ॥

मनुरुवाच

यद् यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहु-
स्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम् ॥ १० ॥
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्या-
देतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेते-
त्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः ॥ ११ ॥

मनुने कहा—जिसको जो-जो विषय प्रिय होता है, वही उसके लिये सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है, उसे ही दुःखरूप कहा गया है । मुझे इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति हो और अनिष्टका निवारण हो जाय, इसीके लिये कर्मोंका अनुष्ठान आरम्भ किया गया है तथा इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञानयोगका उपदेश किया गया है ॥ १०-११ ॥

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा
एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत ।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी
नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति ॥ १२ ॥

वेदमें जो कर्मोंके प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकामभावसे युक्त हैं । जो इन कामनाओंसे मुक्त होता है, वही परमात्माको पा सकता है । नाना प्रकारके कर्ममार्गमें सुखकी इच्छा रखकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च
साशीस्त्ववच्छन्दति कर्मभिश्च ।

बृहस्पतिने कहा—भगवन् ! सुख सबको अभीष्ट होता है और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं होता । इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके निवारणके लिये जो कामना होती है, वही मनुष्योंसे कर्म करवाती है और उन कर्मोंद्वारा उनका मनोरथ पूर्ण करती है; अतः कामनाको आप त्याज्य कैसे बताते हैं ? ॥ १२½ ॥

मनुरुवाच

एभिर्विमुक्तः परमाविवेश
एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।

कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग
एभिर्विमुक्तः परमाददीत ॥ १३ ॥

मनुने कहा—मनुष्य इन कामनाओंसे मुक्त हो निष्काम भावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करे, इसी उद्देश्यसे कर्मोंका विधान किया है, वेदमें स्वर्ग आदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। वास्तवमें इन कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे (भगवत्प्राप्तिके लिये ही कर्म करे, क्षुद्रभोगोंके लिये नहीं) ॥ १३ ॥

आत्मादिभिः कर्मभिरिन्ध्यमानो
धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी।
परं हि तत् कर्मपथादपेतं
निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति ॥ १४ ॥

जब मन नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे राग आदि दोषोंको दूर करके दर्पणकी भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् (सदसद्-विवेकके प्रकाशसे युक्त) और नित्य सुखका अभिलाषी (मुमुक्षु) होकर निर्वाणभावसे धर्ममें प्रवृत्त होता है एवं कर्ममार्गसे अतीत तथा कामनाओंसे रहित परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १४ ॥

प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा च
द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च
मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने मन और कर्म—इन दोनोंके सहित प्रजाकी सृष्टि की है; अतः ये दोनों लोकसेवित सन्मार्गरूप हैं। कर्म दो प्रकारका देखा गया है—एक सनातन और दूसरा विनाशशील, (मोक्षका हेतुभूत कर्म सनातन है और नश्वर भोगोंकी प्राप्ति करानेवाला नाशवान् है) मनके द्वारा किये जानेवाले फलकी इच्छाका त्याग ही कर्मोंको सनातन बनाने और उनके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें कारण है, दूसरा कुछ नहीं ॥

स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता
निशात्यये तमसा संवृतात्मा।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं
कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥ १६ ॥

जब रात बीत जाती है और अन्धकारका आवरण हट जाता है, उस समय जैसे चलनेमें प्रवृत्त करनेवाला नेत्र अपने तैजस स्वरूपसे युक्त हो रास्तेमें पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदिको देखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि भी मोहका पर्दा हट जानेपर ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हो त्यागने योग्य अशुभ कर्मको देखती है ॥ १६ ॥

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं
ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचि-
ज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥ १७ ॥

मनुष्य जब जान लेते हैं कि रास्तेमें सर्प है, कुशोंके काँटे हैं और कुएँ हैं, तब उनसे बचकर निकलते हैं। जो नहीं जानते हैं, ऐसे कितने ही पुरुष उन्हींपर गिर पड़ते हैं। अतः ज्ञानका जो विशिष्ट फल है, उसे तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ १७ ॥

कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत् प्रयुक्तो
यथा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः
पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति ॥ १८ ॥

विधिपूर्वक सम्पूर्ण मन्त्रोंका उच्चारण, वेदोक्त विधानके अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठान, यथायोग्य दक्षिणा, अन्नका दान और मनकी एकाग्रता—इन पाँच अङ्गोंसे सम्पन्न होनेपर ही यज्ञ-कर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ १८ ॥

गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदा-
स्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः
फलस्य भोक्ता तु तथा शरीरी ॥ १९ ॥

वेदोंका कहना है कि कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके होते हैं; इसीलिये मन्त्र भी सात्त्विक आदि भेदसे तीन प्रकारके ही होते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही कर्मका अनुष्ठान किया जाता है। इसी तरह उन कर्मोंकी विधि, विधेय (उनके लिये किया जानेवाला कार्य), मनके द्वारा अभीष्ट फलकी सिद्धि और उसका भोक्ता देहाभिमानी जीव—ये सभी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ॥ १९ ॥

शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः
स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्या-
देतत् फलं सिद्ध्यति कर्मलोके ॥ २० ॥

शब्द, रूप, पवित्र रस, सुखद स्पर्श और सुन्दर गन्ध—ये ही कर्मोंके फल हैं; किंतु इस शरीरमें स्थित हुआ मनुष्य इन फलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। कर्मोंके फलकी प्राप्ति जो उनका फल भोगनेके लिये प्राप्त शरीरमें होती है, वह दैवाधीन है ॥ २० ॥

यद् यच्छरीरेण करोति कर्म
शरीरयुक्तः समुपाश्नुते तत्।
शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ॥ २१ ॥

जीव शरीरसे जो-जो अशुभ या शुभ कर्म करता है, शरीरसे युक्त हुआ ही उसके फलोंको भोगता है; क्योंकि शरीर ही सुख और दुःख भोगनेका स्थान है ॥ २१ ॥

वाचा तु यत् कर्म करोति किंचिद्
वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत्।
मनस्तु यत् कर्म करोति किञ्चि-
न्मनःस्थ एवायमुपाश्नुते तत् ॥ २२ ॥

मनुष्य वाणीद्वारा जो कोई कर्म करता है, उसका सारा फल वह वाणीद्वारा ही भोगता है और मनसे जो कुछ कर्म करता है, उसका फल यह जीवात्मा मनके साथ हुआ मनसे ही भोगता है ॥ २२ ॥

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी
करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः
शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ २३ ॥

फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कर्मके फलमें आसक्त हो जैसे-जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे-ही-वैसे गुणोंसे प्रेरित होकर इसे उस कर्मका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती
तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु
न तुष्यते वै परमः शरीरी ॥ २४ ॥

जैसे मछली जलके बहावके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिलेके किये हुए कर्मका अनुसरण करता है। उसे उस कर्मप्रवाहमें बहना पड़ता है; परंतु उस दशामें वह श्रेष्ठ देहधारी जीव शुभ फल मिलनेपर तो संतुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होनेपर दुखी हो जाता है (यह उसकी मूढ़ता ही तो है) ॥ २४ ॥

यतो जगत् सर्वमिदं प्रसूतं
ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत्तत्।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यमानं शृणु मे परं यत् ॥ २५ ॥

जिससे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिसे जानकर मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष इस संसारको लाँघकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं तथा वेदके मन्त्रवाक्योंद्वारा जिसका तात्त्विक स्वरूप पूर्णतः प्रकाशमें नहीं आता, उस सर्वोत्कृष्ट वस्तुका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धै-
रशब्दमस्पर्शमरूपवच्च।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं
पञ्चप्रकारान् ससृजे प्रजानाम् ॥ २६ ॥

वह अनिर्वचनीय वस्तु नाना प्रकारके रस और भाँति-भाँतिके गन्धोंसे रहित है। शब्द, स्पर्श एवं रूपसे भी शून्य है। मन, बुद्धि और वाणीद्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय तथा रूप-रंगसे रहित है तथापि उसीने प्रजाओंके लिये रूप, रस आदि पाँचों विषयोंकी सृष्टि की है ॥

न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च
न सन्न चासत् सदसच्च तन्न।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्या-
स्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि ॥ २७ ॥

वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मतत्त्वका और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंका विवेचन तथा उसके साक्षात्कारका उपाय

मनुरुवाच

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत् ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते ! अविनाशी परमात्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वीमें ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा
जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम्।
खाद् वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते
मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

इन पूर्वोक्त शरीरोंके साथ (पार्थिव शरीरके बाद) प्राणियोंका जलमें लय होता है; फिर वे जलसे अग्निमें, अग्निसे वायुमें और वायुसे आकाशमें लीन होते हैं। आकाशसे सृष्टिकालमें फिर वे पूर्वोक्त क्रमसे उत्पन्न होते हैं; परंतु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्षस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ २ ॥

नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं
नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।

न शब्दवन्नापि च गन्धवत्त-
न्न रूपवत्तत् परमस्वभावम् ॥ ३ ॥

वह परमात्मतत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता। शब्द, गन्ध और रूपसे भी वह रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है ॥ ३ ॥

स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा
घ्राणं च गन्धान् श्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद्
गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः ॥ ४ ॥

त्वचा स्पर्शका, जिह्वा रसका, घ्राणेन्द्रिय गन्धका, कान शब्दका और नेत्र रूपका ही अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। अध्यात्मज्ञानसे हीन मनुष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो
घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षु-
स्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ॥५॥

अतः जो जिह्वाको रससे, नासिकाको गन्धसे, कानोंको शब्दसे, त्वचाको स्पर्शसे और नेत्रोंको रूपसे हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है, वही अपने मूलस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ ५ ॥

यतो गृहीत्वा हि करोति यच्च
यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।
यस्मिंश्च यद् येन च यश्च कर्ता
यत् कारणं ते समुदायमाहुः ॥ ६ ॥

महर्षिगण कहते हैं जो कर्ता जिस कारणसे, जिस फलके उद्देश्यसे, जिस देश या कालमें, जिस प्रिय या अप्रियके निमित्त, जिस राग या द्वेषसे प्रभावित हो प्रवृत्तिमार्गका आश्रय ले जिस कर्मको करता है, इन सबके समुदायका जो कारण है, वही सबका स्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा है ॥ ६ ॥

यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च
यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी
तत् कारणं कार्यमतो यदन्यत् ॥ ७ ॥

श्रुतिके कथनानुसार जो व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है, जो सम्पूर्ण लोकमें सदा ही स्थित रहनेवाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही सब कुछ करनेवाला है, वही परम कारण है। उसके सिवा जो कुछ है, सब कार्यमात्र है ॥ ७ ॥

यथा हि कश्चित् सुकृतैर्मनुष्यः
शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात्।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु
स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम् ॥ ८ ॥

जैसे कोई मनुष्य भलीभाँति किये हुए कर्मोंद्वारा बिना किसी प्रतीकारके विभिन्न देश और कालमें उनका शुभाशुभ फल पाता है, उसी प्रकार अपने कर्मानुसार प्राप्त उत्तम और अधम शरीरोंमें यह चिन्मय ज्ञान बिना किसी विरोधके स्थित रहता है ॥ ८ ॥

यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः
प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन्।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा
ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अग्निसे प्रज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित होता हुआ पासमें स्थित अन्य वस्तुओंको भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार इस शरीररूप वृक्षमें स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैतन्यरूपी ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयोंको प्रकाशित करती हैं (उनका प्रकाश चिन्मय प्रकाशके ही अधीन होनेके कारण वे पराधीन हैं। स्वतः प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं)॥

यथा च राज्ञा बहवो ह्यमात्याः
पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च
ज्ञानैकदेशाः परमः स तेभ्यः ॥ १० ॥

जैसे किसी राजाके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त किये गये बहुत-से मन्त्री अपने पृथक्-पृथक् कार्योंकी जानकारी राजाको कराते हैं। उसी प्रकार शरीरोंमें स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने एकदेशीय विषयका परिचय राजस्थानीय बुद्धिको देती हैं। जैसे मन्त्रियोंसे राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँचों इन्द्रियोंसे उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो
मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः।
गच्छन्ति चायान्ति च संचरन्त्य-
स्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु ॥ ११ ॥

जैसे अग्निकी शिखाएँ, वायुका वेग, सूर्यकी किरणें और नदियोंका बहता हुआ जल—ये सदा आते-जाते रहते हैं, इसी प्रकार देहधारियोंके शरीर भी आवागमनके प्रवाहमें पड़े हुए हैं ॥ ११ ॥

यथा च कश्चित् परशुं गृहीत्वा
धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं
छित्त्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत् ॥१२॥

जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर लकड़ीको चीरे तो उसमें उसे न तो आग दिखायी देगी और न धुआँ ही प्रकट होगा, उसी प्रकार इस शरीरका पेट फाड़ने या हाथ-पैर काटनेसे कोई उसे नहीं देख पाता, जो अन्तर्यामी आत्मा शरीरसे भिन्न है ॥ १२ ॥

तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य
धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।

तद्वत् सबुद्धिः सममिन्द्रियात्मा
बुधः परं पश्यति तं स्वभावम् ॥ १३ ॥

परंतु उन्हीं काठोंका युक्तिपूर्वक मन्थन करनेपर जैसे अग्नि और धूम दोनों ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार योगके द्वारा मन और इन्द्रियोंको बुद्धिके सहित समाहित कर लेनेवाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष इन सबसे परम श्रेष्ठ उस ज्ञानको और आत्माको साक्षात् कर लेता है ॥ १३ ॥

यथात्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां
स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत्।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धि-
र्लिङ्गात्तथा गच्छति लिङ्गमन्यत्॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें मनुष्य अपने शरीरके कटे हुए अङ्गको अपनेसे अलग और पृथ्वीपर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धिवाला मनुष्य शरीरको अपनेसे पृथक् जाने। जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म लेता रहता है ॥ १४ ॥

उत्पत्तिवृद्धिव्ययसंनिपातै-
र्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी।
अनेन लिङ्गेन तु लिङ्गमन्यद्
गच्छत्यदृष्टः फलसंनियोगात् ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है। वह इसके उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और मृत्यु आदि दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता। किंतु अज्ञानी मनुष्य पूर्वकृत कर्मोंके फलके सम्बन्धसे इस ऊपर बताये हुए सूक्ष्म शरीरके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ १५ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न चापि संस्पर्शमुपैति किंचित्।
न चापि तैः साधयते तु कार्यं
ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान् ॥१६॥

कोई भी इन चर्मचक्षुओंके द्वारा आत्माके स्वरूपको नहीं देख सकता। अपनी त्वचासे उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। भाव यह कि इन्द्रियोंद्वारा आत्माको जाननेका कोई कार्य नहीं किया जा सकता। वे इन्द्रियाँ उसे नहीं देखतीं; पर वह आत्मा उन सबको देखता है ॥ १६ ॥

यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य
संतापजं रूपमुपैति कश्चित्।
न चान्तरं रूपगुणं बिभर्ति
तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य ॥ १७ ॥

जैसे कोई लोहा आदि पदार्थ समीप जलती हुई आगकी गर्मीसे लाल रंगका हो जाता है और उसमें दाहकताका गुण भी थोड़ी मात्रामें आ जाता है; परंतु वह उसके वास्तविक आन्तरिक रूप और गुणको धारण नहीं करता, उसी प्रकार आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र इन्द्रियादिके समूह शरीरमें दिखायी देता है, किंतु उनका समुदायभूत शरीर वास्तवमें चेतन नहीं होता। एवं समीपस्थ वस्तुका जैसा रूप होता है वैसा ही रूप उस अग्निका भी प्रतीत होने लगता है ॥ १७ ॥

तथा मनुष्यः परिमुच्य काय-
मदृश्यमन्यद् विशते शरीरम्।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं
तदाश्रयं चैव बिभर्ति रूपम् ॥ १८ ॥

इसी तरह मनुष्य अपने दृश्य शरीरका त्याग करके जब दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है, तब पहलेके स्थूल शरीरको पञ्च महाभूतोंमें मिलनेके लिये छोड़कर दूसरे शरीरका आश्रय ले उसीको अपना स्वरूप मानकर धारण करता है ॥

खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं
समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः
श्रोत्रादयः पञ्च गुणाञ्श्रयन्ते ॥ १९ ॥

देहाभिमानी जीव जब शरीर छोड़ता है, तब उस शरीरमें जो आकाशका अंश होता है, वह सब प्रकारसे आकाशमें, वायुका अंश वायुमें, अग्निका अंश अग्निमें, जलका अंश जलमें तथा पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें विलीन हो जाता है। किंतु इन नाना भूतोंके आश्रित जो श्रोत्र आदि तत्त्व हैं, वे विलीन न होकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं और दूसरे शरीरमें जाकर पाँचों भूतोंका आश्रय ले लेते हैं ॥ १९ ॥

श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्या-
स्तेजोमयं रूपमथो विपाकः।
जलाश्रयं स्वेदमुक्तं रसं च
वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च ॥ २० ॥

आकाशसे श्रोत्रेन्द्रिय (और उसका विषय शब्द), पृथ्वीसे घ्राणेन्द्रिय (और उसका विषय गन्ध) होता है तथा रूप और विपाक वे दोनों (एवं नेत्र-इन्द्रिय)—ये सब तेजोमय हैं। स्वेद एवं रस (और रसना-) इन्द्रिय—ये जलके आश्रित हैं। एवं स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श यह वायुस्वरूप है ॥ २० ॥

महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च
पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि
बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम् ॥२१॥

पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषय तथा पाँचों इन्द्रियाँ भी पञ्च सूक्ष्म महाभूतोंमें निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय, आकाश आदि भूत तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ सब-के-सब मनके अनुगामी हैं। मन बुद्धिका अनुसरण करता है और बुद्धि आत्माका आश्रय लेकर रहती है ॥ २१ ॥

शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत्
तदेव प्रत्याददते स्वदेहे ।
मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि
जलौकसः स्रोत इवानुकूलम् ॥ २२ ॥

जब जीवात्मा अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित नवीन शरीरमें स्थित होता है, उस समय वह पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हुए है उन्हींका फल प्राप्त करता है। जैसे जल-जन्तु जलके अनुकूल प्रवाहका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्म मनका अनुगमन करते हैं अर्थात् मनके द्वारा फल प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

चलं यथा दृष्टिपथं परैति
सूक्ष्मं महद् रूपमिवाभिभाति ।
स्वरूपमालोचयते च रूपं
परं तथा बुद्धिपथं परैति ॥ २३ ॥

जैसे शीघ्रगामी नौकापर बैठे हुए पुरुषकी दृष्टिमें पार्श्ववर्ती वृक्ष पीछेकी ओर वेगसे भागते हुए दिखायी देते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ निर्विकारी आत्मा बुद्धिके विकारसे विकारवान्-सा प्रतीत होता है एवं जैसे चश्मे या दूरबीनसे महीन अक्षर मोटा दीखता है और छोटी आकृति बहुत बड़ी दिखायी देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्मतत्त्व भी बुद्धि, विवेक-समूह शरीरसे संयुक्त होनेके कारण शरीरके रूपमें प्रतीत होने लगता है। तथा जैसे स्वच्छ दर्पण अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखा देता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिमें आत्माके स्वरूपकी झाँकी उपलब्ध हो जाती है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु-बृहस्पति-संवादविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

मनुरुवाच

यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात्
प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय ।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्
स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जो जीव नामक चेतनतत्त्व है, वह इन्द्रियोंद्वारा दीर्घकालतक पहलेके भोगे हुए विषयोंका कालान्तरमें स्मरण करता है। यद्यपि उस समय उन विषयोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं है, उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है तो भी वे बुद्धिमें संस्काररूपसे अङ्कित हैं; इसलिये उनका स्मरण होता है। (इससे बुद्धिके अतिरिक्त उसके प्रकाशक चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ १ ॥

यथेन्द्रियार्थान् युगपत् समस्ता-
न्नोपेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम् ।
तथाचलं संचरते स विद्वां-
स्तस्मात् स एकः परमः शरीरी ॥ २ ॥

वह एक समय अथवा अनेक समयोंमें भूत और भविष्यके सम्पूर्ण पदार्थोंकी, जो इस जन्ममें या दूसरे जन्मोंमें देखे गये हैं, सामान्य रूपसे उपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन्हें प्रकाशित ही करता है तथा परस्पर विलग न होनेवाली तीनों अवस्थाओंमें विचरता रहता है; अतः वह सबको जाननेवाला साक्षी सर्वोत्कृष्ट देहका स्वामी आत्मा एक है ॥ २ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं
गच्छत्यसौ स्थानगुणान् विरूपान् ।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ ३ ॥

बुद्धिके जो स्थान—जागरित आदि अवस्थाएँ हैं, वे सभी सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे विभक्त हैं। इन अवस्थाओंसे सम्बन्धित जो सुख-दुःख आदि गुण हैं, वे परस्पर विलक्षण हैं। उन सबको वह आत्मा बुद्धिके सम्बन्धसे अनुभव करता है। इन्द्रियोंमें भी उस जीवात्माका आवेश उसी प्रकार होता है जैसे काठमें लगी हुई आगमें वायुका अर्थात् वायु जैसे अग्निमें प्रविष्ट होकर अग्निको उद्दीप्त कर देती है, इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियोंको चेतना प्रदान करता है ॥ ३ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम् ।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं
तथा कृतं पश्यति तद् विनश्यति ॥४॥

मनुष्य नेत्रोंद्वारा आत्माके रूपका दर्शन नहीं कर सकता। त्वचा नामक इन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती; क्योंकि वह इन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय अर्थात् उनका प्रकाशक है। उस आत्माके स्वरूपका श्रवणेन्द्रियके द्वारा श्रवण नहीं हो सकता; क्योंकि वह शब्दरहित है। ज्ञानविषयक विचारसे जब आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, तब उसके साधनोंका बाध हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं अपनेद्वारा आपको नहीं जान सकतीं। आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है। सर्वज्ञ होनेके कारण ही वह उन सबको जानता है ॥ ५ ॥

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा ।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ ६ ॥
तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता ॥ ७ ॥

जैसे मनुष्योंद्वारा हिमालय पर्वतका दूसरा पार्श्व तथा चन्द्रमाका पृष्ठ-भाग देखा हुआ नहीं है तो भी इसके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पार्श्व और पृष्ठ भागका अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके भीतर रहनेवाला उनका अन्तर्यामी ज्ञानस्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण कभी नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया है; अतः उतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा है ही नहीं ॥ ६-७ ॥

पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत् सोमे न विन्दति ।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च तन्न परायणम् ॥ ८ ॥

जैसे चन्द्रमामें जो कलङ्क है, वह जगत्‌का अर्थात् तद्गत पृथ्वीका ही चिह्न है; परंतु उसको देखकर भी मनुष्य ऐसा नहीं समझता कि वह जगत्‌का अर्थात् पृथ्वीका चिह्न है। इसी प्रकार सबको 'मैं हूँ' इस रूपमें आत्माका ज्ञान है; परंतु यथार्थ ज्ञान नहीं है; इस कारण मनुष्य उसके परायण—आश्रित नहीं है ॥ ८ ॥

रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः ।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम् ॥ ९ ॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः ।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम् ॥ १० ॥

रूपवान् पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व और नष्ट हो जानेके बाद रूपहीन ही रहते हैं, इस नियमसे जैसे बुद्धिमान् लोग उनकी अरूपताका निश्चय करते हैं तथा सूर्यके उदय और अस्तके द्वारा विद्वान् पुरुष बुद्धिसे जिस प्रकार न दिखायी देनेवाली सूर्यकी गतिका अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य बुद्धिरूप दीपकके द्वारा इन्द्रियातीत ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं और इस निकटवर्ती दृश्य-प्रपञ्चको उस ज्ञानस्वरूप परमात्मामें विलीन कर देना चाहते हैं॥ ९–१०॥

न हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः ॥ ११ ॥
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा ।
गजानां च गजैरेव ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते ॥ १२ ॥

उचित उपाय किये बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाले प्राणियोंसे जीविका चलानेवाले सूतके जाल बनाकर उनके द्वारा मछलियोंको बाँध लेते हैं, जैसे मृगोंके द्वारा मृगोंको, पक्षियोंद्वारा पक्षियोंको और हाथियोंद्वारा हाथियोंको पकड़ा जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तुका ज्ञानके द्वारा ग्रहण होता है ॥ ११-१२ ॥

अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम् ।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ १३ ॥

हमने सुना है कि सर्पके पैरोंको सर्प ही पहचानता है, उसी प्रकार मनुष्य समस्त शरीरोंमें शरीरस्थ ज्ञेयस्वरूप आत्माको ज्ञानके द्वारा ही जान सकता है ॥ १३ ॥

नोत्सहन्ते यथा वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि ।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति ॥ १४ ॥

जैसे इन्द्रियाँ भी इन्द्रियोंद्वारा किसी ज्ञेयको नहीं जान सकतीं, उसी प्रकार यहाँ परा बुद्धि भी उस परम बोध्य तत्त्वको स्वयं नहीं देख पाती है; किंतु ज्ञाता पुरुष ही बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात् करता है ॥ १४ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते ।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम्॥ १५ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको प्रकाशहीन हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है; किंतु उस समय उसका नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीरधारी आत्माके विषयमें भी समझना चाहिये अर्थात् आत्मा अदृश्य होनेपर भी उसका अभाव नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते ।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते ॥ १६ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको अपने प्रकाश्य स्थानसे वियुक्त हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा शरीरसे वियुक्त होनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता है॥१६॥

यथाऽऽकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः ।
तद्वल्लिङ्गान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः ॥ १७ ॥

फिर वही चन्द्रमा जैसे अन्यत्र आकाशमें स्थान पाकर पुनः प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करके पुनः प्रकट हो जाता है ॥ १७ ॥

जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः ॥ १८ ॥

जन्म, वृद्धि और क्षयका जो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वह चन्द्रमण्डलमें प्रतीत होनेवाली वृत्ति चन्द्रमाकी नहीं है। उसी प्रकार शरीरका ही जन्म आदि होता है, उस शरीरधारी आत्माका नहीं ॥ १८ ॥

उत्पत्तिवृद्धिवयसा यथा स इति गृह्यते ।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान् ॥ १९ ॥

जैसे किसी व्यक्तिका जन्म होता है, वह बढ़ता है और किशोर, यौवन आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पहुँच जाता है तो भी यही समझा जाता है कि यह वही व्यक्ति है तथा अमावास्याके बाद जब चन्द्रमा पुनः मूर्तिमान् होकर प्रकट होता है तो यही माना जाता है कि यह वही चन्द्रमा है (उसी प्रकार दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर भी वह देहधारी आत्मा वही है—ऐसा समझना चाहिये) ॥ १९ ॥

नोपसर्पद् विमुञ्चद् वा शशिनं दृश्यते तमः ।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत् पश्य शरीरिणम् ॥ २० ॥

जैसे अन्धकाररूप राहु चन्द्रमाकी ओर आता और

उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दिखायी देता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीरमें आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है। ऐसा समझो ॥ २० ॥

यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यग्रहणकालमें चन्द्रमा सूर्यसे संयुक्त होनेपर सूर्यमें छायारूपी राहुका दर्शन होता है, उसी प्रकार शरीरसे संयुक्त होनेपर शरीरधारी आत्माकी उपलब्धि होती है ॥ २१ ॥

यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ २२ ॥

जैसे चन्द्रमा-सूर्यसे अलग होनेपर सूर्यमें राहुकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार शरीरसे विलग होनेपर शरीरधारी आत्माका दर्शन नहीं होता ॥ २२ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः ॥ २३ ॥

जैसे अमावास्याका अतिक्रमण करनेपर चन्द्रमा नक्षत्रोंसे संयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीरका त्याग करनेपर कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे शरीरसे युक्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मा एवं परमात्माके साक्षात्कारका उपाय तथा महत्त्व

मनुरुवाच

यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्।
ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत् प्रेत्य भवाभवौ ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते! जैसे स्वप्नावस्थामें यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर विचरण करता रहता है, उसी प्रकार इस शरीरको छोड़नेपर यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियोंके सहित पुनः शरीर ग्रहण कर लेता है या सुषुप्तिकी भाँति मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत्प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ २ ॥

जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जलमें नेत्रोंद्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मनसहित इन्द्रियोंके शुद्ध एवं स्थिर हो जानेपर वह ज्ञानदृष्टिसे ज्ञेयस्वरूप आत्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २ ॥

स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥ ३ ॥

वही मनुष्य हिलते हुए जलमें जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मनसहित इन्द्रियोंके चञ्चल होनेपर वह बुद्धिमें ज्ञेयस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्या कृष्यते मनः।
दुष्टस्य मनसः पञ्च सम्प्रदुष्यन्ति मानसाः ॥ ४ ॥

अविवेकसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस भ्रष्ट बुद्धिसे मन राग आदि दोषोंमें फँस जाता है। इस प्रकार मनके दूषित होनेसे उसके अधीन रहनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं ॥ ४ ॥

अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते ॥ ५ ॥

जिसको अज्ञानसे ही तृप्ति प्राप्त हो रही है, वह मनुष्य विषयोंके अगाध जलमें सदा डूबा रहकर भी कभी तृप्त नहीं होता। वह जीवात्मा प्रारब्धाधीन हुआ विषय-भोगोंकी इच्छाके कारण बारंबार इस संसारमें आता और जन्म ग्रहण करता है ॥ ५ ॥

तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात्।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा ॥ ६ ॥

पापके कारण ही संसारमें पुरुषकी तृष्णाका अन्त नहीं होता। जब पापोंकी समाप्ति हो जाती है, तभी उसकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है ॥ ६ ॥

विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात्।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

विषयोंके संसर्गसे, सदा उन्हींमें रचे-पचे रहनेसे तथा मनके द्वारा साधनके विपरीत भोगोंकी इच्छा रखनेसे पुरुषको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ८ ॥

पाप-कर्मोंका क्षय होनेसे ही मनुष्योंके अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय होता है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही मानव अपने प्रतिबिम्बको अच्छी तरह देख पाता है ॥ ८ ॥

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥ ९ ॥

विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दुखी होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता है; इसलिये इन्द्रियोंके विषयोंसे बुद्धिके द्वारा अपने मनको रोकना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत् ॥ १० ॥

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अव्यक्तात् प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति॥ ११ ॥

अव्यक्त परमात्मासे ज्ञान प्रसारित हुआ है। ज्ञानसे बुद्धि और बुद्धिसे मन प्रकट हुआ है। वह मन ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे युक्त होकर शब्द आदि विषयोंका भलीभाँति अनुभव करता है ॥ ११ ॥

यस्तांस्त्यजति शब्दादीन् सर्वाश्च व्यक्तयस्तथा।
विमुञ्चेत् प्राकृतान्ग्रामांस्तान् मुक्त्वामृतमश्नुते॥ १२॥

जो पुरुष शब्द आदि विषयोंको, उनके आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्वोंको, स्थूलभूतों और प्राकृत गुण-समुदायोंको त्याग देता है अर्थात् उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लेता है, वह उन्हें त्याग कर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १२॥

उद्यन् हि सविता यद्वत्सृजते रश्मिमण्डलम्।
स एवास्तमपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १३ ॥
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः।
प्राप्येन्द्रियगुणान् पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति॥ १४ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अपनी किरणोंको सब ओर फैला देता है और अस्त होते समय उन समस्त किरणोंको अपने भीतर ही समेट लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा देहमें प्रविष्ट होकर फैली हुई इन्द्रियोंकी वृत्तिरूपी किरणोंद्वारा पाँचों विषयोंको ग्रहण करता है और शरीरको छोड़ते समय उन सबको समेटकर अपने साथ लेकर चल देता है॥ १३-१४ ॥

प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान् ॥ १५ ॥

जिसने प्रवृत्तिप्रधान पुण्य-पापमय कर्मका आश्रय लिया है, वह जीवात्मा कर्मोंद्वारा कर्म-मार्गपर बारंबार लाया जाकर अर्थात् संसार-चक्रमें भ्रमाया जाकर सुख-दुःखरूप कर्म-फलको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ १६ ॥

इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेसे पुरुषके वे विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें उनकी आसक्ति बनी रहती है। परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर पुरुषकी वह आसक्ति भी दूर हो जाती है ॥ १६ ॥

बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते।
तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम् ॥ १७ ॥

जिस समय बुद्धि कर्मजनित गुणोंसे छूटकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

अस्पर्शनमशृण्वानमनास्वादमदर्शनम् ।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम् ॥ १८ ॥

परब्रह्म परमात्मा स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, घ्राण और संकल्प-विकल्पसे भी रहित है; इसलिये केवल विशुद्ध बुद्धि ही उसमें प्रवेश कर पाती है ॥ १८ ॥

मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम्।
मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम् ॥ १९ ॥

मनमें शब्दादि विषयरूप समस्त आकृतियोंका लय होता है। मनका बुद्धिमें, बुद्धिका ज्ञानमें और ज्ञानका परमात्मामें लय होता है ॥ १९ ॥

नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः।
न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति ॥ २० ॥

इन्द्रियोंद्वारा मनकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मनको नहीं जानती हैं। मन बुद्धिको नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्माको नहीं जानती है; किंतु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

मनुरुवाच

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत्॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जब मनुष्यपर कोई ऐसा शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े, जिसके रहते हुए साधन करना अशक्य हो जाय, तब उस दुःखका चिन्तन करना छोड़ दे ॥ १ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ २ ॥

दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय; क्योंकि चिन्तन करनेसे वह सामने आता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है ॥ २॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३ ॥

अतः मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा तथा शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी

सामर्थ्य है, जिससे मनुष्य दुःखमें पड़नेपर बच्चोंके समान बैठकर रोये नहीं ॥ ३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४ ॥

यौवन, रूप, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका समागम—ये सब अनित्य हैं । विवेकशील पुरुषोंको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ ५ ॥

जो दुःख सारे देशपर है, उसके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक नहीं करना चाहिये । यदि उसे टालनेका कोई उपाय दिखायी दे तो शोक न करके उस दुःखके निवारणका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है । जो पुरुष विषयोंमें अधिक आसक्त होता है, वह मोहवश मरणरूप अप्रिय कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालनेन च ते सुखम् ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

विषयोंके उपार्जनमें दुःख है । उनकी रक्षामें भी तुम्हें सुख नहीं मिल सकता । दुःखसे ही उनकी उपलब्धि होती है; अतः उनका नाश हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥

ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः ।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

बृहस्पते ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि ज्ञेयरूपमें परमात्मासे ज्ञान प्रकट होता है और मन ज्ञानका गुण (कार्य) है । जब वह ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त होता है, तब बुद्धि कर्मोंमें प्रवृत्त होती है ॥ ९ ॥

यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना ॥ १० ॥

जिस समय बुद्धि कर्म-संस्कारोंसे रहित होकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यानयोगजनित समाधिके द्वारा ब्रह्मका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ॥ १० ॥

सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते ।
अपरादभिनिःसृत्य गिरेः शृङ्गादिवोदकम् ॥ ११ ॥

अन्यथा जैसे जलकी धारा पर्वतके शिखरसे निकलकर ढालकी ओर बहती है, उसी प्रकार यह गुणवती बुद्धि अज्ञानके कारण परमात्मासे नियुक्त होकर रूप आदि गुणोंकी ओर बहने लग जाती है ॥ ११ ॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम् ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२ ॥

परंतु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येयतत्त्वको ध्यानद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है, तब कसौटीपर कसे हुए सुवर्णके समान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम् ।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३ ॥

परंतु इन्द्रियोंके विषयोंको दिखानेवाला मन जब पहलेसे ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषयरूप गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्त्वका दर्शन करानेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः ।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थित हो उन सबको हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये ।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते ॥ १५ ॥

जिस प्रकार गुणोंका क्षय होनेपर पञ्चमहाभूत निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियोंको लेकर हृदयमें स्थित हो जाती है ॥ १५ ॥

यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी ।
व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः ॥ १६ ॥

जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदयमें स्थित होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है ॥१६॥

गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः ।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

शब्दादि गुणोंसे युक्त इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उन गुणोंसे घिरा हुआ मन जब ध्यानजनित गुणोंसे सम्पन्न होता है, तब उन समस्त गुणोंको त्यागकर निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम् ।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अव्यक्त ब्रह्मका बोध करानेके लिये इस संसारमें कोई योग्य दृष्टान्त नहीं है । जहाँ वाणीका व्यापार ही नहीं है, उस वस्तुको कौन वर्णनका विषय बना सकता है ॥

तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च ।
निनीषेत् परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

इसलिये तपसे, अनुमानसे, शम आदि गुणोंसे, जातिगत धर्मोंके पालनसे तथा शास्त्रोंके स्वाध्यायसे अन्तःकरणको विशुद्ध करके उसके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥

गुणहीनो हि तं मार्गं बहिः समनुवर्तते ।
गुणाभावात् प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसम्मितम् ॥ २० ॥

उक्त तपस्या आदि गुणोंसे रहित मनुष्य बाहर रहकर बाह्य मार्गका ही अनुसरण करता है। वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा गुणोंसे अतीत होनेके कारण स्वभावसे ही तर्कका विषय नहीं है ॥ २० ॥

नैर्गुण्याद् ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते ।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने ॥ २१ ॥

जैसे अग्नि सूखे काठमें विचरण करती है, उसी प्रकार बुद्धि भी शब्द, स्पर्श आदि गुणोंमें विचरती रहती है। जब वह उन गुणोंका सम्बन्ध छोड़ देती है, तब निर्गुण होनेके कारण ब्रह्मको प्राप्त होती है और जबतक गुणोंमें आसक्त रहती है, तबतक गुणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण ब्रह्मको न पाकर लौट आती है ॥ २१ ॥

यथा पञ्च विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः ।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम् ॥ २२ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्यरूप शब्द आदि गुणोंसे भिन्न हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकृतिसे सर्वथा परे है ॥ २२ ॥

एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः ।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और यथासमय उसीमें लयको प्राप्त होते हैं। उस लय अथवा मृत्युके पश्चात् वे पुण्य और पापके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ॥ २४ ॥

पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन और पञ्च महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका समूह ही प्राणी नामसे कहा जाता है ॥ २४ ॥

एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात् सम्प्रवर्तते ।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति ॥ २५ ॥

बुद्धि आदि तत्त्वसमूहकी प्रथम सृष्टि प्रकृतिसे ही हुई है। तदनन्तर दूसरी बारसे उनकी सामान्यतः मैथुन-धर्मसे नियमपूर्वक अभिव्यक्ति होने लगी है ॥ २५ ॥

धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥ २६ ॥

धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है और अधर्म करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है। विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्मतत्त्वका निरूपण—मनु-बृहस्पति-संवादकी समाप्ति

मनुरुवाच

यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह ।
अथ तद् द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयोंसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको काबूमें कर लेता है, उस समय वह मणियोंमें ओतप्रोत तागेके समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १ ॥

तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा ॥ २ ॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत् कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

जैसे वही तागा सोनेकी लड़ियोंमें, मोतियोंमें, मूँगोंमें और मिट्टीकी मालाके दानोंमें ओतप्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गौ, अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट-पतङ्ग आदि समस्त शरीरोंमें व्याप्त है! विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है ॥ २-३ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

यह मनुष्य जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीरसे उसी-उसी कर्मका फल भोगता है ॥ ४ ॥

यथा ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी ।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी ॥ ५ ॥

जैसे भूमिमें एक ही रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार वह उसमें रस उत्पन्न करती है, उसी तरह अन्तरात्मासे ही प्रकाशित बुद्धि पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होती है॥

ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाभिसंधिता ।
अभिसंधिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् ॥ ६ ॥

मनुष्यको पहले तो विषयका ज्ञान होता है; फिर उसके मनमें उसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। उसके बाद 'इस कार्यको सिद्ध करूँ' यह निश्चय और प्रयत्न आरम्भ होता है। फिर कर्म सम्पन्न होता और उसका फल मिलता है ॥६॥

फलं कर्मात्मकं विद्यात् कर्म ज्ञेयात्मकं तथा ।

ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार फलको कर्मस्वरूप समझे । कर्मको जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका रूप समझे और ज्ञेयको ज्ञानरूप समझे तथा ज्ञानका स्वरूप कार्य और कारण जाने ॥ ७ ॥

ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा ।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होनेपर जो प्राप्तव्य फलरूपसे शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेयमात्र(-में व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप परमात्मा समझो ॥८॥

महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः ।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥

उस परम महान् तत्त्वको योगिजन ही देख पाते हैं। विषयोंमें आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्माको नहीं देख सकते हैं ॥ ९ ॥

पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम् ।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान् ॥ १० ॥
पवनाच्च महद् व्योम तस्मात् परतरं मनः ।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान् स्मृतः ॥ ११ ॥
कालात् स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत् ।
नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते ॥ १२ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके रूपसे जलका ही रूप महान् है। जलसे तेज अतिमहान् है, तेजसे पवन महान् है, पवनसे आकाश महान् है, आकाशसे मन परतर है अर्थात् सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् है। मनसे बुद्धि महान् है, बुद्धिसे काल अर्थात् प्रकृति महान् है और कालसे भगवान् विष्णु अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान हैं। यह सारा जगत् उन्हींकी सृष्टि है। उन भगवान् विष्णुका न कोई आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है ॥ १०–१२ ॥

अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः ।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते ॥ १३ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित होनेके कारण ही अविनाशी हैं;अतएव सम्पूर्ण दुःखोंसे परे हैं, क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःखरूप हुआ करती है ॥ १३ ॥

तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम् ।
तद् गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः॥ १४॥

अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेनेपर जीव कालके राज्यसे मुक्त हो मोक्षधाममें स्थित हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम् ।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥

ये बध्य जीव गुणोंमें अर्थात् गुणोंके कार्यरूप शरीर आदिके सम्बन्धसे व्यक्त हो रहे हैं; परंतु परमात्मा निर्गुण होनेके कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्तिरूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति करानेमें समर्थ है ॥ १५॥

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥ १६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययनकालमें शरीरके आश्रित रहते हैं और जिह्वाके अग्रभागपर प्रकट होते हैं; इसीलिये वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अर्थात् इनका लुप्त होना स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥

किंतु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययनकी भाँति यत्नसाध्य नहीं हैं; क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥

वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका आदि कहलाता है। जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थोंका अन्त होता देखा गया है। ब्रह्मका कोई भी आदि नहीं बताया गया है ॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥

वह अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय और अविनाशी है। अविनाशी होनेसे ही दुःखरहित है। उसमें हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वोंका अभाव है; अतएव वह सबसे परे है ॥ १९ ॥

अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसंधेश्च कर्मणः ।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम् ॥ २० ॥

परंतु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्मफलविषयक आसक्तिके कारण जिससे परमात्माकी प्राप्ति होती है, मनुष्य उस मार्गका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ २० ॥

विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात् ।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति है; क्योंकि विषयसुख सदा रहनेवाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मनसे सांसारिक पदार्थोंको पानेकी इच्छा रखते हैं; इसीलिये उन्हें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः ।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः ॥ २२ ॥

संसारी मनुष्य इस संसारमें जिन-जिन विषयोंको देखते हैं, उन्हींको पाना चाहते हैं। सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें पानेके लिये उनके मनमें इच्छा नहीं होती है; क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं ॥ २२ ॥

गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात् परान् गुणान् ।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम् ॥ २३ ॥

भला, जो इन तुच्छ विषयोंमें फँसा हुआ है, वह परम-दिव्य गुणोंको कैसे जान सकता है ? जैसे धूमसे अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूपभूत दिव्य गुणोंद्वारा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका दिग्दर्शन हो सकता है ॥ २३ ॥

सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥

हम ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो कर सकते हैं, किंतु वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मनके द्वारा ही मानसिक विषय-का ग्रहण हो सकता है और ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना जा सकता है ॥ २४ ॥

ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये ज्ञानके द्वारा बुद्धिको, बुद्धिके द्वारा मनको तथा मनके द्वारा इन्द्रिय-समुदायको निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है ॥ २५ ॥

बुद्धिप्रवीणो मनसा समृद्धो
निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति ।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ २६ ॥

बुद्धिमें प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे सम्पन्न एवं मानसिक बलसे युक्त हुआ पुरुष, समस्त इच्छासे अतीत निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जैसे वायु काठमें रहनेवाले अदृश्य अग्निको बिना प्रज्वलित किये ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओंसे विकल हुए पुरुष भी अपने शरीरके भीतर स्थित परमात्माका त्याग कर देते हैं अर्थात् उसे जानने और पानेकी चेष्टा नहीं करते ॥ २६ ॥

गुणादाने विप्रयोगे च तेषां
मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम् ।
अनेनैव विधिना सम्प्रवृत्तो
गुणापाये ब्रह्म शरीर मेति ॥ २७ ॥

जब साधक साधनरूप गुणोंको धारण कर लेता है और उन सांसारिक पदार्थोंसे मनको हटा लेता है, तब उसका मन बुद्धिजन्य अच्छे-बुरे भावोंसे रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधनमें लगा हुआ साधक जब गुणोंसे अतीत हो जाता है, तब ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात् कर लेता है ॥

अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा
सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले ।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानै-
र्ग्लायद्भिर्वाऽऽवर्ततेऽकामरूपः ॥२८ ॥

पुरुषका आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है और उसके कर्म शरीररूपमें व्यक्त हैं। अतः वह अन्तकालमें अव्यक्तभावको प्राप्त हो जाता है। परंतु कामनाओंसे तद्रूप हुआ वह जीव उन बढ़ी हुई विषयप्रबल इन्द्रियोंसे युक्त होकर पुनः संसारमें आ जाता है अर्थात् पुनः शरीरको धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

सर्वैरयं चेन्द्रियैः सम्प्रयुक्तो
देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात् ।
नासामर्थ्याद् गच्छति कर्मणेह
हीनस्तेन परमेणाव्ययेन ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर यह देहधारी जीव पञ्च-भूतस्वरूप शरीरके आश्रित हो जाता है। ज्ञान और उपासना आदिकी शक्तिके बिना वह केवल कर्मोंद्वारा परमात्माको नहीं पाता। अतः वह उस अविनाशी परमेश्वरसे वञ्चित रह जाता है ॥ २९ ॥

पृथ्व्यां नरः पश्यति नान्तमस्या
ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि ।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं
यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम् ॥ ३० ॥

इस भूतलपर रहनेवाला मनुष्य यद्यपि इस पृथ्वीका अन्त नहीं देखता है तो भी कहीं-न-कहीं इसका अन्त अवश्य है, ऐसा समझो। जैसे समुद्रमें लहरोंद्वारा ऊपर-नीचे होते हुए जहाजको प्रवाहके अनुकूल बहती हुई हवा तटपर लगा देती है, उसी प्रकार संसारसमुद्रमें गोता लगाते हुए मनुष्यको अनुकूल वातावरण संसारसागरसे पार कर देता है ॥ ३० ॥

दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो
यथा भवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान्
स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक सूर्य प्रकाशरूपी गुणको पाकर भी अस्ताचलको जाते समय अपने किरणसमूहको समेटकर जैसे निर्गुण हो जाता है, उसी प्रकार भेदभावसे रहित हुआ मुनि यहाँ अविनाशी निर्गुण ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥ ३१ ॥

अनागतं सुकृतवतां परां गतिं
स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं
निचाय्य तत् परममृतत्वमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो कहींसे आया हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्य-वानोंकी परमगति है, स्वयम्भू (अजन्मा) है, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है, अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं अचल है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परममोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका तथा उनकी महिमाका कथन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम्।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम्॥ १॥
नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम्॥ २॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ! महाप्राज्ञ पितामह! कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबके कर्ता, अकृत (नित्य सिद्ध), सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये कभी किसीसे पराजित नहीं होते। ये ही नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव—इन नामोंसे भी विख्यात हैं। मैं इनके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

भीष्म उवाच

श्रुतोऽयमर्थो रामस्य जामदग्न्यस्य जल्पतः।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च॥ ३॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! मैंने इस विषयका विवेचन जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीके मुँहसे सुना है॥ ३॥

असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः।
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयन्त्यद्भुतं महत्॥ ४॥

तात! असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और महर्षि मार्कण्डेयजी भी इन भगवान् गोविन्दके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कहा करते हैं॥ ४॥

केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः।
पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं। श्रुतिमें 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्'* इत्यादि वचनोंद्वारा इन्हीं सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी महिमाका नाना प्रकारसे निरूपण किया गया है।

किं तु यानि विदुर्लोके ब्राह्मणाः शार्ङ्गधन्वनि।
माहात्म्यानि महाबाहो शृणु तानि युधिष्ठिर॥ ६॥

महाबाहु युधिष्ठिर! जगत्में ब्राह्मणोंने शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णके जिन माहात्म्योंको जानते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो॥ ६॥

यानि चाहुर्मनुष्येन्द्र ये पुराणविदो जनाः।
कर्माणि त्विह गोविन्दे कीर्तयिष्यामि तान्यहम्॥ ७॥

नरेन्द्र! पुराणवेत्ता पुरुष गोविन्दकी जिन-जिन लीलाओं तथा चरित्रोंका वर्णन करते हैं, उनका मैं यहाँ वर्णन करूँगा॥ ७॥

महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः।
वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत्॥ ८॥

* पुरुष (श्रीकृष्ण) ही यह सब कुछ है।

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महात्मा पुरुषोत्तमने आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी रचना की है॥ ८॥

स सृष्ट्वा पृथिवीं चैव सर्वभूतेश्वरः प्रभुः।
अप्स्वेव भवनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः॥ ९॥

सर्वभूतेश्वर, प्रभु, महात्मा पुरुषोत्तमने इस पृथ्वीकी सृष्टि करके जलमें ही अपना निवासस्थान बनाया॥ ९॥

सर्वतेजोमयस्तस्मिञ्शयानः पुरुषोत्तमः।
सोऽग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत्॥ १०॥
आश्रयं सर्वभूतानां मनसेतीह शुश्रुम।

उसमें शयन करते हुए सर्वतेजोमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने मनसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अग्रज तथा आश्रय संकर्षणको उत्पन्न किया, यह हमने सुना है॥ १०½॥

स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती॥ ११॥
ततस्तस्मिन् महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्ममजायत॥ १२॥

वे संकर्षण ही समस्त भूतोंको धारण करते हैं तथा वे ही भूत और भविष्यके भी आधार हैं। उन महाबाहु महात्मा संकर्षणका प्रादुर्भाव होनेके पश्चात् श्रीहरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था॥ ११-१२॥

स तत्र भगवान् देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः।
ब्रह्मा समभवत् तात सर्वभूतपितामहः॥ १३॥

तात! उस कमलसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए समस्त प्राणियोंके पितामह देवस्वरूप भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए॥ १३॥

तस्मिन्नपि महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि।
तमसा पूर्वजो जज्ञे मधुर्नाम महासुरः॥ १४॥

उन महाबाहु महात्मा ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति हो जानेपर वहाँ तमोगुणसे मधुनामक महान् असुर प्रकट हुआ, जो असुरोंका पूर्वज था॥ १४॥

तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रं कर्म समास्थितम्।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः॥ १५॥

उसका स्वभाव बड़ा ही उग्र था। वह सदा ही भयानक कर्म करनेवाला था। भयंकर कर्म करनेका निश्चय लेकर आये हुए उस असुरको पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीका हित करनेके लिये मार डाला॥ १५॥

तस्य तात वधात् सर्वे देवदानवमानवाः।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषभं सर्वसात्वताम्॥ १६॥

तात! उस मधुका वध करनेके कारण ही सम्पूर्ण देवता, दानव और मानव—इन सर्वसात्वतशिरोमणि श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं॥ १६॥

ब्रह्मानुसस्रजे पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान् ।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ १७ ॥

ब्रह्माजीने सात मानस पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनमें दक्ष प्रजापति सातवें थे (ये ही सबसे प्रथम उत्पन्न हुए थे) । शेष छः पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १७ ॥

मरीचिः कश्यपं तात पुत्रमग्रजमग्रजः ।
मानसं जनयामास तैजसं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १८ ॥

तात ! इन छः पुत्रोंमें सबसे बड़े थे मरीचि । उन्होंने अपने मनसे ही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कश्यप नामक श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दिया, जो बड़े ही तेजस्वी हैं ॥ १८॥

अङ्गुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम् ।
सोऽभवद् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने दक्षको अपने अँगूठेसे उत्पन्न किया था । वे मरीचिसे भी बड़े थे । इसीलिये प्रजापतिके पदपर दक्ष प्रतिष्ठित हुए ॥ १९ ॥

तस्य पूर्वमजायन्त दश तिस्रश्च भारत ।
प्रजापतेर्दुहितरस्तासां ज्येष्ठाभवद् दितिः ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! प्रजापति दक्षके पहले तेरह कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें दिति सबसे बड़ी थी ॥ २० ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञः पुण्यकीर्तिर्महायशाः ।
मारीचः कश्यपस्तात सर्वासामभवत् पतिः ॥ २१ ॥

तात ! सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ, पुण्यकीर्ति, महायशस्वी मरीचिनन्दन कश्यप उन सब कन्याओंके पति हुए ॥ २१ ॥

उत्पाद्य तु महाभागस्तासामवरजा दश ।
ददौ धर्माय धर्मज्ञो दक्ष एव प्रजापतिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर धर्मके ज्ञाता महाभाग प्रजापति दक्षने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं, जो पूर्वोक्त तेरह कन्याओंसे छोटी थीं । उन सबका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया ॥

धर्मस्य वसवः पुत्रा रुद्राश्चामिततेजसः ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च मरुत्वन्तश्च भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! धर्मके वसु, अमित तेजस्वी रुद्र, विश्वेदेव, साध्य तथा मरुद्गण-ये बहुत-से पुत्र हुए ॥ २३ ॥

अपराश्च यवीयस्यस्ताभ्योऽन्याः सप्तविंशतिः ।
सोमस्तासां महाभागः सर्वासामभवत् पतिः ॥ २४ ॥

इतरास्तु व्यजायन्त गन्धर्वांस्तुरगान् द्विजान् ।
गाश्च किंपुरुषान्मत्स्यानुद्भिज्जांश्च वनस्पतीन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् दक्षके अन्य सत्ताईस कन्याएँ हुईं, जो पूर्वोक्त कन्याओंसे छोटी थीं । महाभाग सोम उन सबके पति हुए । इन सबके अतिरिक्त भी दक्षके बहुत-सी कन्याएँ हुईं, जिन्होंने गन्धर्वों, अश्वों, पक्षियों, गौओं, किम्पुरुषों, मत्स्यों, उद्भिज्जों और वनस्पतियोंको जन्म दिया ॥ २४-२५ ॥

आदित्यानदितिर्जज्ञे देवश्रेष्ठान् महाबलान् ।
तेषां विष्णुर्वामनोऽभूद् गोविन्दश्चाभवत् प्रभुः ॥ २६ ॥

अदितिने देवताओंमें श्रेष्ठ महाबली आदित्योंको उत्पन्न किया । उन आदित्योंमें सर्वव्यापी भगवान् गोविन्द भी वामनरूपसे प्रकट हुए ॥ २६ ॥

तस्य विक्रमणाच्चापि देवानां श्रीर्व्यवर्धत ।
दानवाश्च पराभूता दैतेयी चासुरी प्रजा ॥ २७ ॥

उनके विक्रमसे अर्थात् विराट्रूप धारणकर तीन पैडमें त्रिलोकीको नाप लेनेके कारण देवताओंकी श्रीवृद्धि हुई । दानव पराजित हुए तथा दैत्यों और असुरोंकी प्रजा भी पराभवको प्राप्त हुई ॥ २७ ॥

विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद् दनुः ।
दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वानजीजनत् ॥ २८ ॥

दनुने दानवोंको जन्म दिया, जिनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रमुख थे । दिति समस्त असुरों—महान् शक्तिशाली दैत्योंकी जननी हुई ॥ २८ ॥

अहोरात्रं च कालं च यथर्तु मधुसूदनः ।
पूर्वाह्णं चापराह्णं च सर्वमेवानुकल्पयत् ॥ २९ ॥

इन्हीं श्रीमधुसूदनने दिन-रात, ऋतुके अनुसार काल, पूर्वाह्न तथा अपराह्न आदि समस्त कालविभागकी व्यवस्था की ॥ २९ ॥

प्रध्याय सोऽसृजन्मेघांस्तथा स्थावरजङ्गमान् ।
पृथिवीं सोऽसृजद् विश्वां सहितां भूरितेजसा ॥ ३० ॥

उन्होंने ही अपने मनके संकल्पसे मेघों, स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा समस्त पदार्थोंसहित महान् तेजसे संयुक्त समूची पृथ्वीकी सृष्टि की ॥ ३० ॥

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने पुनः सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मुखसे ही उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन केशवने सैकड़ों क्षत्रियोंको अपनी दोनों भुजाओंसे, सैकड़ों वैश्योंको अपनी जाँघोंसे तथा सैकड़ों शूद्रोंको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः ।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन महातपस्वी श्रीहरिने चारों वर्णोंको उत्पन्न करके स्वयं ही धाताको सम्पूर्ण भूतोंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३३ ॥

वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।
भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥ ३४ ॥

वे ही वेदविद्याको धारण करनेवाले अमित तेजस्वी ब्रह्मा हुए । फिर श्रीहरिने भूतों और मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्ष (रुद्र) की रचना की ॥ ३४ ॥

शासितारं च पापानां पितॄणां समवर्तिनम् ।
असृजत् सर्वभूतात्मा निधिपं च धनेश्वरम् ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिने पापियोंको दण्ड देनेवाले तथा पितरोंके समवर्ती यमराजको और सम्पूर्ण निधियोंके पालक धनाध्यक्ष कुबेरको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥

यादसामसृजन्नाथं वरुणं च जलेश्वरम्।
वासवं सर्वदेवानामध्यक्षमकरोत् प्रभुः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार उन्होंने जल-जन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणकी सृष्टि की। उन्हीं भगवान्‌ने इन्द्रको सम्पूर्ण देवताओंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३६ ॥

यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम्।
तावत् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ॥ ३७ ॥

पहले मनुष्योंको जितने दिनोंतक शरीर धारण करनेकी इच्छा होती, उतने दिनोंतक वे जीवित रहते थे। उन्हें यमराजका कोई भय नहीं होता था ॥ ३७ ॥

न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! पहलेके लोगोंमें मैथुनधर्मकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी। इन सबको संकल्पसे ही संतान पैदा होती थी ॥ ३८ ॥

ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ३९ ॥

तदनन्तर त्रेतायुगका समय आनेपर स्पर्श करनेमात्रसे संतानकी उत्पत्ति होने लगी। नरेश्वर! उस समयके लोगोंमें भी मैथुन-धर्मका प्रचार नहीं हुआ था ॥ ३९ ॥

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ॥ ४० ॥

नरेश्वर! द्वापरयुगमें प्रजाके मनमें मैथुनधर्मका सूत्रपात हुआ। राजन्! उसी तरह कलियुगमें भी लोग मैथुनधर्मको प्राप्त होने लगे ॥ ४० ॥

एष भूतपतिस्तात स्वध्यक्षश्च तथोच्यते।
निरपेक्षांश्च कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ४१ ॥

तात कुन्तीनन्दन! ये भगवान् श्रीकृष्ण ही भूतनाथ एवं सबके अध्यक्ष कहे जाते हैं। अब जो नरकका दर्शन करनेवाले हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चूचुका मद्रकैः सह ॥ ४२ ॥

नरेश्वर! दक्षिण भारतमें जन्म लेनेवाले सभी आन्ध्र, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रक—ये सब-के-सब म्लेच्छ हैं ॥ ४२ ॥

उत्तरापथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि।
यौनकाम्बोजगान्धाराः किराता बर्बरैः सह ॥ ४३ ॥
एते पापकृतस्तात चरन्ति पृथिवीमिमाम्।

तात! अब उत्तर भारतमें जन्म लेनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन करूँगा; यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर—ये सब-के-सब पापाचारी होकर इस सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४३½ ॥

श्वपाकबलगृध्राणां सधर्माणो नराधिप ॥ ४४ ॥
नैते कृतयुगे तात चरन्ति पृथिवीमिमाम्।

नरेश्वर! ये सब-के-सब चाण्डाल, कौए और गीधोंके समान आचार-विचारवाले हैं। ये सत्ययुगमें इस पृथ्वीपर नहीं विचरण करते हैं ॥ ४४½ ॥

त्रेताप्रभृति वर्धन्ते ते जना भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ततस्तस्मिन् महाघोरे संध्याकाल उपस्थिते।
राजानः समसज्जन्त समासाद्येतरेतरम् ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ! त्रेतासे वे लोग बढ़ने लगे थे। तदनन्तर त्रेता और द्वापरका महाघोर संध्याकाल उपस्थित होनेपर राजालोग एक दूसरेसे टक्कर लेकर युद्धमें आसक्त हुए ४५-४६

एवमेष कुरुश्रेष्ठ प्रादुर्भूतो महात्मना।

कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने इस लोकको उत्पन्न किया है ॥ ४६½ ॥

(तपःस्वरूपो महादेवः कृष्णो देवकिनन्दनः।
तस्य प्रसादाद् दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद ॥
एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमा गतिः।

सबको मान देनेवाले नरेश! महान् देवता भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण तपस्यारूप ही हैं। उन्हींकी कृपासे तुम्हारे सारे दुःखोंका नाश हो जायगा। एकमात्र जगत्स्रष्टा श्रीकृष्ण ज्ञानियोंकी परमगति हैं ॥

इदमाश्रित्य देवेन्द्रो देवा रुद्रास्तथाश्विनौ ॥
स्वे स्वे पदे विविशिरे भुक्तिमुक्तिविदो जनाः ॥

तपस्यारूप इन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर देवराज इन्द्र अन्यान्य देवता, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा भोग और मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले महर्षि अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित रहते हैं ॥

श्रूयतामस्य सद्भावः सम्यग्ज्ञानं यथा तव।
भूतानामन्तरात्मासौ स नित्यपदसंवृतः ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा नित्य वैकुण्ठधाममें अपनी योगमायासे आवृत होकर निवास करते हैं। उनकी सत्ता और महत्ताको तुम श्रवण करो, जिससे तुम्हें श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान हो जाय ॥

पुरा देवऋषिः श्रीमान् नारदः परमार्थवान्।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां तीर्थान्यनुचरन् प्रभुः ॥

पहलेकी बात है परमार्थसे सम्पन्न देवर्षि श्रीनारदजी भूमण्डलके सम्पूर्ण तीर्थोंमें विचरण करते हुए घूम रहे थे ॥

हिमवत्पादमाश्रित्य विचार्य च पुनः पुनः।
स ददर्श ह्रदं तत्र पद्मोत्पलसमाकुलम् ॥

वे हिमालयके समीपवर्ती पर्वतपर बारंबार विचरण करके एक ऐसे स्थानपर गये, जहाँ उन्हें कमल और उत्पलसे भरा हुआ एक सरोवर दिखायी दिया ॥

ततः स्नात्वा महातेजा वाग्यतो नियतेन्द्रियः।
तुष्टाव पुरुषव्याघ्रो जिज्ञासुश्च तदद्भुतम् ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी पुरुषप्रवर नारदने उस सरोवरमें मौनभावसे स्नान करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर उस भगवान्-

के स्वरूपका अद्भुत रहस्य जाननेके लिये भगवान्‌की स्तुतिकी ॥

ततो वर्षशते पूर्णे भगवाँल्लोकभावनः ।
प्रादुश्चकार विश्वात्मा ऋषेः परमसौहृदात् ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर लोकस्रष्टा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि ऋषिके प्रति परम सौहार्दवश उनके सामने प्रकट हुए ॥

तमागतं जगन्नाथं सर्वकारणकारणम् ।
अखिलामरमौल्यङ्गरुक्मारुणपदद्वयम् ॥
वैनतेयपदस्पर्शकिणशोभितजानुकम् ।
पीताम्बरलसत्काञ्चीदामबद्धकटीतटम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं चारुमणिकौस्तुभकन्धरम् ।
मन्दस्मितमुखाम्भोजं चलदायतलोचनम् ॥
नम्रचापानुकरणनम्रभ्रूयुगशोभितम् ।
नानारत्नमणिवज्रस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
इन्द्रनीलनिभाभं तं केयूरमुकुटोज्ज्वलम् ।
देवैरिन्द्रपुरोगैश्च ऋषिसङ्घैरभिष्टुतम् ॥
नारदो जयशब्देन ववन्दे शिरसा हरिम् ।

नारदजीने देखा, समस्त कारणोंके भी कारण भगवान् जगन्नाथ पधारे हैं । उनके युगल चरणारविन्द सम्पूर्ण देवताओंके सुवर्णमय मुकुटोंके कुङ्कुमसे रक्तवर्ण हो रहे हैं । गरुड़जीके ऊपर सवारी करनेसे उनके दोनों घुटनोंमें रगड़ पड़नेके कारण चिह्न बन गये हैं; जो उन घुटनोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं । उनके श्यामसुन्दर अङ्गपर पीताम्बर शोभा पा रहा है और कटिप्रदेशमें किङ्किणीकी लड़ें बँधी हुई हैं । वक्षःस्थलमें श्रीवत्सकी सुनहरी रेखा शोभा पाती है । गलेमें मनोहर कौस्तुभमणि अपना प्रकाश बिखेर रही है । मुखारविन्दपर मन्द-मन्द मुसकानकी मनोहर छटा छा रही है । विशाल नेत्र चञ्चल गतिसे इधर-उधर देख रहे हैं । झुके हुए दो धनुषोंकी भाँति बाँकी भौंहें उनके मुखमण्डलकी शोभा बढ़ा रही हैं । नाना प्रकारके रत्न, मणि और हीरोंसे जटित मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं । उनकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है । बाँहोंमें केयूर तथा मस्तकपर मुकुटकी उज्ज्वल आभा छिटक रही है एवं इन्द्र आदि देवता और महर्षियोंके समुदाय उनकी स्तुति करते हैं । भगवान्‌की यह झाँकी देखकर जय-जयकार करते हुए नारदजीने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥

ततः स भगवाञ्श्रीमान् मेघगम्भीरया गिरः।
प्राहेशः सर्वभूतानां नारदं पतितं क्षितौ ॥

तदनन्तर नारदजीको पृथ्वीपर पड़ा देख सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीमान् भगवान् नारायणने मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

भद्रमस्तु ऋषे तुभ्यं वरं वरय सुव्रत ।
यत्ते मनसि सुव्यक्तमस्ति च प्रददामि तत् ॥

श्रीभगवान् बोले—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हुई हो, उसे स्पष्ट बताओ । मैं उसे पूर्ण करूँगा ॥

भीष्म उवाच

स चेमं जयशब्देन प्रसीदेत्यातुरो मुनिः ।
प्रोवाच हृदि संरूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
विवक्षितं जगन्नाथ मया ज्ञातं त्वयाच्युत ।
तत् प्रसीद हृषीकेश श्रोतुमिच्छामि तद्धरे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्रेमसे आतुर हुए मुनिवर नारदने जय-जयकार करते हुए अपने हृदयमें नित्य विराजमान रहनेवाले शङ्ख, चक्र और गदाधारी भगवान्‌से कहा—'प्रभो ! प्रसन्न होइये । जगन्नाथ ! अच्युत ! हृषीकेश ! हरे ! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह आपको पहलेसे ही ज्ञात है । मैं उसीको सुनना चाहता हूँ । आप मुझपर कृपा करें' ॥

ततः स्मयन् महाविष्णुरभ्यभाषत नारदम् ।
निर्द्वन्द्वा निरहङ्काराः शुचयः शुद्धलोचनाः ॥
ते मां पश्यन्ति सततं तान् पृच्छ यदिहेच्छसि ।

तब मुसकराते हुए भगवान् महाविष्णुने नारदजीसे कहा—'जो लोग शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, अहंकारशून्य, पवित्र तथा निर्दोष दृष्टिवाले महात्मा हैं, वे निरन्तर मेरे उस स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं; अतः तुम यहाँ जो कुछ चाहते हो, उसके विषयमें उन्हीं महात्माओंके पास जाकर प्रश्न करो ॥

ये योगिनो महाप्राज्ञा मदंशा ये व्यवस्थिताः ।
तेषां प्रसादं देवर्षे मत्प्रसादमवेहि तत् ॥

'देवर्षे ! जो लोग योगी और महाज्ञानी हैं तथा जो मेरे अंशरूपसे स्थित हैं, उनके प्रसादको तुम मेरा ही कृपाप्रसाद समझो' ॥

इत्युक्त्वा स जगामाथ भगवान् भूतभावनः ।
तस्माद् व्रज हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥

ऐसा कहकर भूतभावन भगवान् विष्णु वहाँसे चले गये; अतः युधिष्ठिर ! तुम भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी शरणमें जाओ ॥

एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः ।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम् ॥

इन भगवान् गोविन्दकी आराधना करके कितने ही महर्षि मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं । ये ही जगत्‌के सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और समस्त कारणोंके भी कारण हैं ॥

मयाप्येतच्छ्रुतं राजन् नारदात्तु निबोध तत् ।
स्वयमेव समाचष्ट नारदो भगवान् मुनिः ॥

राजन् ! मैंने भी यह बात नारदजीसे ही सुनी है। तुम भी उनके मुखसे सुन सकते हो। भगवान् नारदमुनिने स्वयं ही यह बात मुझसे कही थी ॥

समस्तसंसारविघातकारणं
भजन्ति ये विष्णुमनन्यमानसाः।
ते यान्ति सायुज्यमतीव दुर्लभं
इतीव नित्यं हृदि वर्णयन्ति ॥)

जो समस्त संसार-बन्धनकी निवृत्तिके कारणभूत भगवान् विष्णुकी अनन्य चित्तसे आराधना करते हैं, वे अत्यन्त दुर्लभ सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह बात सदा मेरे हृदयमें बनी रहती है तथा ऋषिलोग भी इसका वर्णन करते हैं ॥

देवं देवर्षिराचष्ट नारदः सर्वलोकदृक् ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेवाले देवर्षि नारदने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन किया था ॥ ४७ ॥

नारदोऽप्यथ कृष्णस्य परं मेने नराधिप।
शाश्वतत्वं महाबाहो यथावद् भरतर्षभ ॥ ४८ ॥

महाबाहु भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! नारदजीने श्रीकृष्णके परम सनातन परमात्मभावको यथावत्‌रूपसे जाना और माना है ॥

एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः।
अचिन्त्यः पुण्डरीकाक्षो नैष केवलमानुषः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार ये सत्यपराक्रमी कमलनयन महाबाहु केशव अचिन्त्य परमेश्वर हैं। इन्हें केवल मनुष्य नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सर्वभूतोत्पत्तिकथने सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंके वंशका तथा प्रत्येक दिशामें निवास करनेवाले महर्षियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूर्वमासन् पतयः प्रजानां भरतर्षभ।
के चर्षयो महाभागा दिक्षु प्रत्येकशः स्मृताः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें कौन-कौन-से लोग प्रजापति थे और प्रत्येक दिशामें किन-किन महाभाग महर्षियोंकी स्थिति मानी गयी है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
प्रजानां पतयो येऽस्मिन् दिक्षु ये चर्षयः स्मृताः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्‌में जो प्रजापति रहे हैं तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें जिन-जिन ऋषियोंकी स्थिति मानी गयी है, उन सबको जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछते हो; मैं बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

एकः स्वयम्भूर्भगवानाद्यो ब्रह्मा सनातनः।
ब्रह्मणः सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुवः ॥ ३ ॥

एकमात्र सनातन भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा सबके आदि हैं। स्वयम्भू ब्रह्माके सात महात्मा पुत्र बताये गये हैं ॥ ३ ॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठश्च महाभागः सदृशो वै स्वयम्भुवा ॥ ४ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा महाभाग वसिष्ठ। ये सभी स्वयम्भू ब्रह्माके समान ही शक्तिशाली हैं ॥ ४ ॥

सप्तब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सर्वानेव प्रजापतीन् ॥ ५ ॥

पुराणमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। अब मैं समस्त प्रजापतियोंका वर्णन आरम्भ करता हूँ ॥ ५ ॥

अत्रिवंशसमुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात् प्राचेतसो दश ॥ ६ ॥

अत्रिकुलमें उत्पन्न जो सनातन ब्रह्मयोनि भगवान् प्राचीनबर्हि हैं, उनसे प्राचेतस नामवाले दस प्रजापति उत्पन्न हुए ॥

दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते ॥ ७ ॥

उन दसोंके एकमात्र पुत्र दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापति हैं। उनके दो नाम बताये जाते हैं—'दक्ष' और 'क' ॥ ७ ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी स्मृते।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः ॥ ८ ॥

मरीचिके पुत्र जो कश्यप हैं, उनके भी दो नाम माने गये हैं। कुछ लोग उन्हें अरिष्टनेमि कहते हैं और दूसरे लोग उन्हें कश्यपके नामसे जानते हैं ॥ ८ ॥

अत्रेश्चैवौरसः श्रीमान् राजा सोमश्च वीर्यवान्।
सहस्रं यश्च दिव्यानां युगानां पर्युपासिता ॥ ९ ॥

अत्रिके औरस पुत्र श्रीमान् और बलवान् राजा सोम हुए, जिन्होंने सहस्र दिव्य युगोंतक भगवान्‌की उपासना की थी ॥

अर्यमा चैव भगवान् ये चास्य तनया विभो।
एते प्रदेशाः कथिता भुवनानां प्रभावनाः ॥ १० ॥

प्रभो ! भगवान् अर्यमा और उनके सभी पुत्र—ये प्रदेश (आदेश देनेवाले शासक) तथा प्रभावन (उत्तम स्रष्टा) कहे गये हैं ॥ १० ॥

शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाच्युत।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत् तदा ॥ ११ ॥

एवं शतसहस्राणां शतं तस्य महात्मनः।
पुत्राणां च न ते कंचिदिच्छन्त्यन्यं प्रजापतिम्॥ १२॥

धर्मसे विचलित न होनेवाले युधिष्ठिर! शशबिन्दुके दस हजार स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे एक-एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन महात्माके एक करोड़ पुत्र थे। वे उनके सिवा किसी दूसरे प्रजापतिकी इच्छा नहीं करते थे॥ ११-१२॥

प्रजामाचक्षते विप्राः पुराणाः शाशबिन्दवीम्।
स वृष्णिवंशप्रभवो महावंशः प्रजापतेः॥ १३॥

प्राचीनकालके ब्राह्मण अधिकांश प्रजाकी उत्पत्ति शशबिन्दुसे ही बताते हैं। प्रजापतिका वह महान् वंश ही वृष्णिवंशका उत्पादक हुआ॥ १३॥

एते प्रजानां पतयः समुद्दिष्टा यशस्विनः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि देवांस्त्रिभुवनेश्वरान्॥ १४॥

युधिष्ठिर! ये सब यशस्वी प्रजापति बताये गये हैं। अब मैं तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले देवताओंका परिचय दूँगा॥

भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥ १५॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥ १६॥

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, महाबली विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु कहे गये हैं। ये बारह आदित्य हैं, जो कश्यप और अदितिके पुत्र हैं॥ १५-१६॥

नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि।
मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य महात्मनः॥ १७॥

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमार बताये गये हैं। ये दोनों अष्टम आदित्य महात्मा सूर्यके पुत्र हैं॥ १७॥

ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः॥ १८॥

ये तथा पूर्वोक्त देवता—दो प्रकारके पितर माने गये हैं। त्वष्टाके पुत्र महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप हुए॥ १८॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः॥ १९॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
पूर्वमेव महाभागा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥ २०॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सुरेश्वर, सावित्र, जयन्त, पिनाकी और अपराजित—ये ग्यारह रुद्र हैं। महाभाग आठ वसुओंके नाम पहले ही बताये गये हैं॥ १९-२०॥

एत एवंविधा देवा मनोरेव प्रजापतेः।
ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः॥ २१॥

इस प्रकार ये देवता प्रजापति मनुकी ही संतान हैं। वे तथा पूर्वोक्त देवता—ये दो प्रकारके पितर माने गये हैं॥२१॥

शीलयौवनतस्त्वन्यस्तथान्यः सिद्धसाध्ययोः।
ऋभवो मरुतश्चैव देवानां चोदितो गणः॥ २२॥

देवताओंमें एक वर्ग ऐसा है, जो सुन्दर शील-स्वभाव और अक्षय यौवनसे सम्पन्न है। दूसरा वर्ग सिद्धों और साध्योंका है। ऋभु और मरुत्—ये देवताओंके समुदायोंके नाम हैं॥

एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा॥ २३॥

इसी प्रकार ये विश्वेदेव और अश्विनीकुमार भी देवताओंके गण माने गये हैं। इन देवताओंमें आदित्यगण क्षत्रिय और मरुद्गण वैश्य माने जाते हैं॥ २३॥

अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४॥

उग्र तपस्यामें लगे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंको शूद्र कहा जाता है। अङ्गिरा गोत्रवाले सम्पूर्ण देवता ब्राह्मण माने गये हैं। यही विद्वानोंका निश्चय है॥ २४॥

इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।
एतान् वै प्रातरुत्थाय देवान् यस्तु प्रकीर्तयेत्॥ २५॥
स्वजादन्यकृताच्चैव सर्वपापात् प्रमुच्यते।

इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें जो चार वर्ण हैं, उनका वर्णन किया गया। जो सबेरे उठकर इन देवताओंका कीर्तन करता है, वह स्वयं किये हुए तथा दूसरोंके संसर्गसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापसमूहसे मुक्त हो जाता है॥ २५½॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू॥ २६॥
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुताः।

यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशिज, कक्षीवान् और बल—ये अङ्गिराके पुत्र हैं॥ २६½॥

ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा॥ २७॥
त्रैलोक्यभावनास्तात प्राच्यां सप्तर्षयस्तथा।

तात! मेधातिथिके पुत्र कण्वमुनि, बर्हिषद तथा त्रिलोकीको उत्पन्न करनेमें समर्थ सप्तर्षिगण हैं, जो पूर्व दिशामें स्थित होते हैं॥

उन्मुचो विमुचश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्॥ २८॥
प्रमुचश्चेध्मवाहश्च भगवांश्च दृढव्रतः।
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्॥ २९॥
एते ब्रह्मर्षयो नित्यमाश्रिता दक्षिणां दिशम्।

उन्मुच, विमुच, बलवान् स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, इध्मवाह, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मित्रावरुणके प्रतापी पुत्र भगवान् अगस्त्य—ये ब्रह्मर्षि सदा दक्षिणदिशामें रहते हैं॥ २८-२९½॥

उषङ्गुः कवषो धौम्यः परिव्याधश्च वीर्यवान्॥ ३०॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
अत्रेः पुत्रश्च भगवांस्तथा सारस्वतः प्रभुः॥ ३१॥
एते चैव महात्मनः पश्चिमामाश्रिता दिशम्।

उषङ्गु, कवष, धौम्य, शक्तिशाली परिव्याध, एकत,

द्वित, त्रित तथा अत्रिके प्रभावशाली पुत्र भगवान् सारस्वत—ये महात्मा महर्षि पश्चिम दिशामें निवास करते हैं ॥ ३०-३१½ ॥

आत्रेयश्च वसिष्ठश्च कश्यपश्च महानृषिः ॥ ३२ ॥
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
जमदग्निश्च सप्तैते उदीचीमाश्रिता दिशम् ।

आत्रेय, वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र तथा महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहते हैं ॥ ३२-३३½ ॥

एते प्रतिदिशं सर्वे कीर्तितास्तिग्मतेजसः ॥ ३४ ॥
साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ।
एवमेते महात्मानः स्थिताः प्रत्येकशो दिशम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार प्रत्येक दिशामें रहनेवाले सम्पूर्ण तेजस्वी महर्षियोंका वर्णन किया गया । ये महात्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ एवं सबके साक्षी हैं। इनका हृदय बड़ा विशाल है। इस तरह ये प्रत्येक दिशामें निवास करते हैं ॥

एतेषां कीर्तनं कृत्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तां दिशं शरणं गतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥ ३६ ॥

इन सबका गुणगान करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । जिस-जिस दिशामें ये महर्षि रहते हैं, उस-उस दिशामें जानेपर जो मनुष्य इनकी शरण लेता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता और कुशलपूर्वक अपने घरको पहुँच जाता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दिशास्वस्तिकं नाम अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दिशास्वस्तिक नामक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुका वराहरूपमें प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा और दानवोंका विनाश कर देना तथा नारदको अनुस्मृतिस्तोत्रका उपदेश और नारदद्वारा भगवान्‌की स्तुति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ युधि सत्यपराक्रम ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कृष्णमव्ययमीश्वरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—युद्धमें सच्चा पराक्रम प्रकट करनेवाले महाप्राज्ञ पितामह ! भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी ईश्वर हैं; मैं पूर्णरूपसे इनके महत्त्वका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यच्चास्य तेजः सुमहद् यच्च कर्म पुरा कृतम् ।
तन्मे सर्वं यथातत्त्वं ब्रूहि त्वं पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर ! इनका जो महान् तेज है, इन्होंने पूर्वकालमें जो महान् कर्म किया है, वह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २ ॥

तिर्यग्योनिगतं रूपं कथं धारितवान् प्रभुः ।
केन कार्यनिसर्गेण तमाख्याहि महाबल ॥ ३ ॥

महाबली पितामह ! सम्पूर्ण जगत्के प्रभु होकर भी इन्होंने किस निमित्तसे तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण किया; यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुराहं मृगयां यातो मार्कण्डेयाश्रमे स्थितः ।
तत्रापश्यं मुनिगणान् समासीनान् सहस्रशः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहलेकी बात है, मैं शिकार खेलनेके लिये वनमें गया और मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर ठहरा । वहाँ मैंने सहस्रों मुनियोंको बैठे देखा ॥ ४ ॥

ततस्ते मधुपर्केण पूजां चक्रुरथो मयि ।
प्रतिगृह्य च तां पूजां प्रत्यनन्दमृषीनहम् ॥ ५ ॥

मेरे जानेपर उन महर्षियोंने मधुपर्क समर्पित करके मेरा आतिथ्य-सत्कार किया । मैंने भी उनका सत्कार ग्रहण करके उन सभी महर्षियोंका अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

कथैषा कथिता तत्र कश्यपेन महर्षिणा ।
मनःप्रह्लादिनीं दिव्यां तामिहैकमनाः शृणु ॥ ६ ॥

फिर महर्षि कश्यपने मनको आनन्द प्रदान करनेवाली यह दिव्य कथा मुझे सुनायी । मैं उसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

पुरा दानवमुख्या हि क्रोधलोभसमन्विताः ।
बलेन मत्ताः शतशो नरकाद्या महासुराः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें नरकासुर आदि सैकड़ों मुख्य-मुख्य दानव क्रोध और लोभके वशीभूत हो बलके मदसे मतवाले हो गये थे ॥ ७ ॥

तथैव चान्ये बहवो दानवा युद्धदुर्मदाः ।
न सहन्ते स्म देवानां समृद्धिं तामनुत्तमाम् ॥ ८ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से रणदुर्मद दानव थे, जो देवताओंकी उत्तम समृद्धिको सहन नहीं कर पाते थे ॥ ८ ॥

दानवैरर्द्यमानास्तु देवा देवर्षयस्तथा ।
न शर्म लेभिरे राजन् विशमानास्ततस्ततः ॥ ९ ॥

राजन् ! उन दानवोंसे पीड़ित हो देवता और देवर्षि कहीं चैन नहीं पाते थे। वे इधर-उधर लुकते-छिपते फिरते थे ॥ ९ ॥

पृथिवीमार्तरूपां ते समपश्यन् दिवौकसः ।
दानवैरभिसंस्तीर्णां घोररूपैर्महाबलैः ॥ १० ॥

समूचे भूमण्डलमें भयानक रूपधारी महाबली दानव

फैल गये थे। देवताओंने देखा, यह पृथ्वी दानवोंके पाप-भारसे पीड़ित एवं आर्त हो उठी है ॥ १० ॥

भारार्तामप्रहृष्टां च दुःखितां संनिमज्जतीम्।
अथादितेयाः संत्रस्ता ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥ ११ ॥

यह भारसे व्याकुल, हर्ष और उल्लाससे शून्य तथा दुखी हो रसातलमें डूब रही है। यह देखकर अदितिके सभी पुत्र भयसे थर्रा उठे और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

कथं शक्ष्यामहे ब्रह्मन् दानवैरभिमर्दनम्।
स्वयम्भूस्तानुवाचेदं निसृष्टोऽत्र विधिर्मया ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन्! दानवलोग जो हमें इस प्रकार रौंद रहे हैं, इसे हम किस प्रकार सह सकेंगे?' तब स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे इस प्रकार कहा—'देवताओ! इस विपत्तिको दूर करनेके लिये मैंने उपाय कर दिया है ॥ १२ ॥

ते वरेणाभिसम्पन्ना बलेन च मदेन च।
नावबुध्यन्ति सम्मूढा विष्णुमव्यक्तदर्शनम् ॥ १३ ॥
वराहरूपिणं देवमधृष्यममरैरपि ।

'वे दानव वर पाकर बल और अभिमानसे मत्त हो उठे हैं। वे मूढ़ दैत्य अव्यक्तस्वरूप भगवान् विष्णुको नहीं जानते, जो देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष हैं। उन्होंने वाराह रूप धारण कर रखा है ॥ १३½ ॥

एष वेगेन गत्वा हि यत्र ते दानवाधमाः ॥ १४ ॥
अन्तर्भूमिगता घोरा निवसन्ति सहस्रशः।
शमयिष्यति तच्छ्रुत्वा जहृषुः सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

'वे सहस्रों घोर दैत्य और दानवाधम भूमिके भीतर पाताललोकमें निवास करते हैं; भगवान् वाराह वेगपूर्वक वहीं जाकर उन सबका विनाश कर देंगे। यह सुनकर सभी श्रेष्ठ देवता हर्षसे खिल उठे ॥ १४-१५ ॥

ततो विष्णुर्महातेजा वाराहं रूपमास्थितः।
अन्तर्भूमिं सम्प्रविश्य जगाम दितिजान् प्रति ॥ १६ ॥

उधर महातेजस्वी भगवान् विष्णु वाराहरूप धारण कर बड़े वेगसे भूमिके भीतर प्रविष्ट हुए और दैत्योंके पास जा पहुँचे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा च सहिताः सर्वे दैत्याः सत्त्वममानुषम्।
प्रसह्य तरसा सर्वे संतस्थुः कालमोहिताः ॥ १७ ॥

उस अलौकिक जन्तुको देखकर सब दैत्य एक साथ हो वेगपूर्वक उसका सामना करनेके लिये हठात् खड़े हो गये; क्योंकि वे कालसे मोहित हो रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ते समभिद्रुत्य वराहं जगृहुः समम्।
संक्रुद्धाश्च वराहं तं व्यकर्षन्त समन्ततः ॥ १८ ॥

उन सबने कुपित होकर भगवान् वाराहपर एक साथ धावा बोल दिया और उन्हें हाथोंहाथ पकड़ लिया। पकड़कर वे वाराहदेवको चारों ओरसे खींचने लगे ॥ १८ ॥

दानवेन्द्रा महाकाया महावीर्यबलोच्छ्रिताः।
नाशक्नुवंश्च किंचित् ते तस्य कर्तुं तदा विभो ॥ १९ ॥

प्रभो! यद्यपि वे विशालकाय दानवराज महान् बल और वीर्यसे सम्पन्न थे, तो भी उन भगवान्का कुछ बिगाड़ न सके ॥ १९ ॥

ततोऽगच्छत् विस्मयं ते दानवेन्द्रा भयं तथा।
संशयं गतमात्मानं मेनिरे च सहस्रशः ॥ २० ॥

इससे उन दानवेन्द्रोंको बड़ा विस्मय और भय प्राप्त हुआ। वे सहस्रों दैत्य अपने आपको जीवनके संशयमें पड़ा हुआ मानने लगे ॥ २० ॥

ततो देवाधिदेवः स योगात्मा योगसारथिः।
योगमास्थाय भगवांस्तदा भरतसत्तम ॥ २१ ॥
विननाद महानादं क्षोभयन् दैत्यदानवान्।
संनादिता येन लोकाः सर्वाश्चैव दिशो दश ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद योगस्वरूप योगके नियन्ता देवाधिदेव भगवान् वाराह दैत्यों और दानवोंको क्षोभमें डालनेके लिये योगका आश्रय ले बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। उस भीषण गर्जनासे तीनों लोक और ये सारी दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २१-२२ ॥

तेन संनादशब्देन लोकानां क्षोभ आगमत्।
संत्रस्ताश्च भृशं लोके देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ २३ ॥

उस भीषण गर्जनासे समस्त लोकोंमें हलचल मच गयी। स्वर्गलोकमें इन्द्र आदि देवता भी अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥२३॥

निर्विचेष्टं जगच्चापि बभूवातिभृशं तदा।
स्थावरं जङ्गमं चैव तेन नादेन मोहितम् ॥ २४ ॥

उस सिंहनादसे मोहित होकर समस्त चराचर जगत् अत्यन्त चेष्टारहित हो गया ॥ २४॥

ततस्ते दानवाः सर्वे तेन नादेन भीषिताः।
पेतुर्गतासवश्चैव विष्णुतेजःप्रमोहिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वे सब दानव भगवान्की उस गर्जनासे भयभीत हो प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। वे सब-के-सब भगवान् विष्णुके तेजसे मोहित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे थे ॥ २५ ॥

रसातलगतश्चापि वराहस्त्रिदशद्विषाम्।
खुरैर्विदारयामास मांसमेदोऽस्थिसंचयान् ॥ २६ ॥

रसातलमें जाकर भी भगवान् वाराहने देवद्रोही असुरोंको अपने खुरोंसे विदीर्ण कर दिया। उनके मांस, मेदा और हड्डियोंके ढेर लग गये थे ॥ २६ ॥

नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः।
पद्मनाभो महायोगी भूताचार्यः स भूतराट् ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आचार्य और स्वामी महायोगी वे भगवान् पद्मनाभ अपने महान् सिंहनादके कारण 'सनातन'[1] माने गये हैं ॥ २७ ॥

---

१. इस श्लोकमें वर्णित भावके अनुसार सनातन शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—नादनेन सहितः सनादनः। दकारस्थाने

ततो देवगणाः सर्वे पितामहमुपाद्रवन् ।
तत्र गत्वा महात्मानमूचुश्चैव जगत्पतिम् ॥ २८ ॥
नादोऽयं कीदृशो देव नैतं विद्म वयं प्रभो ।
कोऽसौ हि कस्य वा नादो येन विह्वलितं जगत् ॥ २९ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव मोहितास्तस्य तेजसा ।

उनके उस सिंहनादको सुनकर सब देवता जगदीश्वर भगवान् ब्रह्माजीके पास गये । वहाँ पहुँचकर वे इस प्रकार बोले—'देव ! प्रभो ! यह कैसा सिंहनाद है ! इसे हमलोग नहीं जानते । वह कौन वीर है ? अथवा किसकी गर्जना है ? जिसने इस जगत्‌को व्याकुल कर दिया है । देवता और दानव सभी उसके तेजसे मोहित हो रहे हैं' ॥ २८-२९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः ।
उदतिष्ठन्महाबाहो स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ३० ॥

महाबाहो ! इसी बीचमें वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु जलसे ऊपर उठे । उस समय महर्षिगण उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३० ॥

पितामह उवाच

निहत्य दानवपतीन् महावर्ष्मा महाबलः ।
एष देवो महायोगी भूतात्मा भूतभावनः ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! ये महाकाय महाबली महायोगी भूतभावन भूतात्मा भगवान् विष्णु हैं, जो दानवराजोंका वध करके आ रहे हैं ॥ ३१ ॥

सर्वभूतेश्वरो योगी मुनिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।
स्थिरीभवत कृष्णोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ॥ ३२ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर, योगी, मुनि तथा आत्माके भी आत्मा हैं, ये ही समस्त विघ्नोंका विनाश करनेवाले श्रीकृष्ण हैं; अतः तुमलोग धैर्य धारण करो ॥ ३२ ॥

कृत्वा कर्मातिसाध्वेतदशक्यममितप्रभः ।
समायातः स्वमात्मानं महाभागो महाद्युतिः ॥ ३३ ॥

अनन्त प्रभासे परिपूर्ण, महातेजस्वी एवं महान् सौभाग्यके आश्रयभूत ये भगवान् अत्यन्त उत्तम और दूसरोंके लिये असम्भव कार्य करके आ रहे हैं ॥ ३३ ॥

पद्मनाभो महायोगी महात्मा भूतभावनः ।
न संतापो न भीः कार्या शोको वा सुरसत्तमाः ॥ ३४ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! ये महायोगी भूतभावन महात्मा पद्मनाभ हैं; अतः तुम्हें अपने मनसे संताप, भय एवं शोकको दूर कर देना चाहिये ॥ ३४ ॥

विधिरेष प्रभावश्च कालः संक्षयकारकः ।
लोकान् धारयता तेन नादो मुक्तो महात्मना ॥ ३५ ॥

ये ही विधि हैं, ये ही प्रभाव हैं और ये ही संहारकारी काल हैं, इन्हीं परमात्माने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हुए यह भीषण सिंहनाद किया है ॥ ३५ ॥

स एष हि महाबाहुः सर्वलोकनमस्कृतः ।
अच्युतः पुण्डरीकाक्षः सर्वभूतादिरीश्वरः ॥ ३६ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण, सर्वलोकवन्दित ईश्वर महाबाहु कमलनयन अच्युत हैं ॥ ३६ ॥

(युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
प्रयाणकाले किं जप्यं मोक्षिभिस्तत्त्वचिन्तकैः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले तत्त्व-चिन्तकोंको मृत्युकालमें किस मन्त्रका जप करना चाहिये ॥

किमनुस्मरन् कुरुश्रेष्ठ मरणे पर्युपस्थिते ।
प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मृत्युका समय उपस्थित होनेपर किसका चिन्तन करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है ? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

सद्युक्तिसहितः सूक्ष्म उक्तः प्रश्नस्त्वयानघ ।
शृणुष्वावहितो राजन् नारदेन पुरा श्रुतम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! निष्पाप नरेश ! तुमने जो प्रश्न उपस्थित किया है, वह उत्तम युक्तियुक्त और सूक्ष्म है । उसे सावधान होकर सुनो । जो पूर्वकालमें मैंने नारदजीसे सुना था, वही मैं तुमसे कहता हूँ ॥

श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजमनन्तं लोकसाक्षिणम् ।
पुरा नारायणं देवं नारदः परिपृष्टवान् ॥

जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित है, जो इस जगत्‌के बीज (मूल कारण) हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है तथा जो इस जगत्‌के साक्षी हैं, उन्हीं भगवान् नारायणसे पूर्वकालमें नारदजीने इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

त्वामक्षरं परं ब्रह्म निर्गुणं तमसः परम् ।
आहुर्वेद्यं परं धाम ब्रह्मादिकमलोद्भवम् ॥
भगवन् भूतभव्येश श्रद्दधानैर्जितेन्द्रियैः ।
कथं भक्तैर्विचिन्त्योऽसि योगिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

नारदजीने पूछा—भगवन् ! महर्षिगण कहते हैं, आप अविनाशी (नित्य), परब्रह्म, निर्गुण, अज्ञानान्धकार एवं तमोगुणसे अतीत, विद्याके अधिपति, परम धामस्वरूप, ब्रह्मा तथा उनकी प्राकट्यभूमि—आदिकमलके उत्पत्ति-स्थान हैं, भूत और भविष्यके स्वामी परमेश्वर ! श्रद्धालु और जितेन्द्रिय भक्तों तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले योगियोंको आपके स्वरूपका किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये ? ॥

तकारो छान्दसः । जो नादके साथ हो, वह 'सनादन' कहलाता है । सनादनके दकारके स्थानमें तकार हो जानेसे 'सनातन' बनता है ।

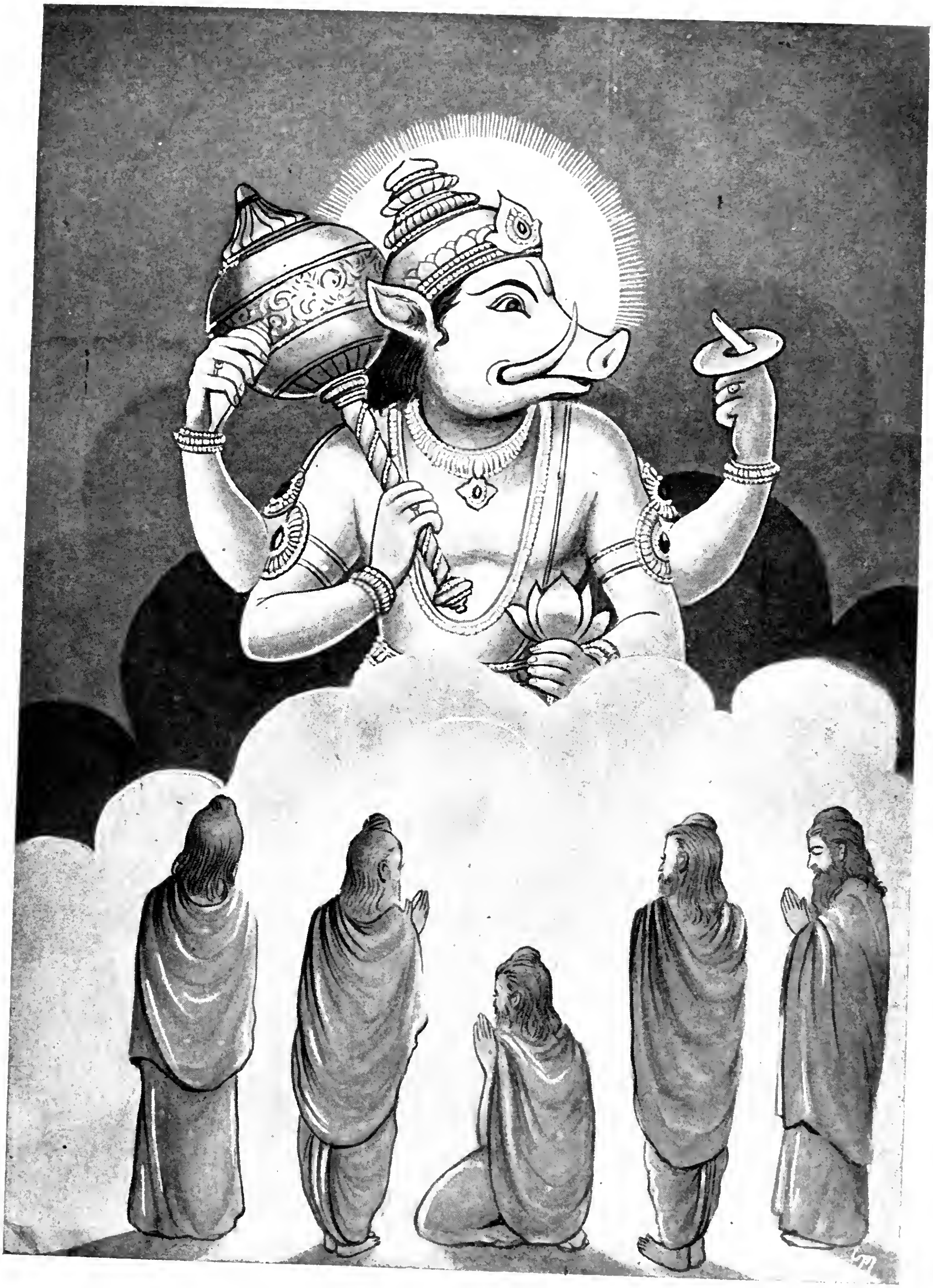

भगवान् वराहकी ऋषियोंद्वारा स्तुति

किं च जप्यं जपेन्नित्यं कल्यमुत्थाय मानवः ।
कथं युञ्जन् सदा ध्यायेद् ब्रूहि तत्त्वं सनातनम् ॥

मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर किस जपनीय मन्त्रका जप करे और योगी पुरुष किस प्रकार निरन्तर ध्यान करे ? आप इस सनातन तत्त्वका वर्णन कीजिये ॥

श्रुत्वा तस्य तु देवर्षेर्वाक्यं वाचस्पतिः स्वयम् ।
प्रोवाच भगवान् विष्णुर्नारदं वरदः प्रभुः ॥

देवर्षि नारदका यह वचन सुनकर वाणीके अधिपति वरदायक भगवान् विष्णुने नारदजीसे इस प्रकार कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि इमां दिव्यामनुस्मृतिम् ।
यामधीत्य प्रयाणे तु मद्भावायोपपद्यते ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! मैं हर्षपूर्वक तुम्हारे सामने इस दिव्य अनुस्मृतिका वर्णन करता हूँ । मृत्युकालमें जिसका अध्ययन और श्रवण करके मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥

ओङ्कारमग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य नारद ।
एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥
ओं नमो भगवते वासुदेवायेति ।

नारद ! आदिमें ओंकारका उच्चारण करके मुझे नमस्कार करे । अर्थात् एकाग्र एवं पवित्रचित्त होकर इस मन्त्रका उच्चारण करे—'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति ॥

इत्युक्तो नारदः प्राह प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥
सर्वदेवेश्वरं विष्णुं सर्वात्मानं हरिं प्रभुम् ।

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर नारदजी हाथ जोड़ प्रणाम करके खड़े हो गये और उन सर्वदेवेश्वर सर्वात्मा एवं पापहारी प्रभु श्रीविष्णुसे बोले ॥

नारद उवाच

अव्यक्तं शाश्वतं देवं प्रभवं पुरुषोत्तमम् ॥
प्रपद्ये प्राञ्जलिर्विष्णुमक्षरं परमं पदम् ।

नारदजीने कहा—प्रभो ! जो अव्यक्त सनातन देवता, सबकी उत्पत्तिके कारण, पुरुषोत्तम, अविनाशी और परम पदस्वरूप हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं हाथ जोड़कर शरण लेता हूँ ॥

पुराणं प्रभवं नित्यमक्षयं लोकसाक्षिणम् ॥
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षमीशं भक्तानुकम्पिनम् ।

जो पुराणपुरुष, सबकी उत्पत्तिके कारण, नित्य, अक्षय और सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी हैं, जिनके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, उन भक्तवत्सल भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ ॥

लोकनाथं सहस्राक्षमद्भुतं परमं पदम् ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽस्मि भूतभव्यभवत्प्रभुम् ।

जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी तथा संरक्षक हैं, जिनके सहस्रों नेत्र हैं तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, उन अद्भुत परमपदरूप भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ ॥

स्रष्टारं सर्वलोकानामनन्तं विश्वतोमुखम् ॥
पद्मनाभं हृषीकेशं प्रपद्ये सत्यमच्युतम् ।

समस्त लोकोंके स्रष्टा और सब ओर मुखवाले, अनन्त, सत्य, अच्युत एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् पद्मनाभकी मैं शरण लेता हूँ ॥

हिरण्यगर्भममृतं भूगर्भं परतः परम् ॥
प्रभोः प्रभुमनाद्यन्तं प्रपद्ये तं रविप्रभम् ।

जो हिरण्यगर्भ, अमृतस्वरूप, पृथ्वीको गर्भमें धारण करनेवाले, परात्पर तथा प्रभुओंके भी प्रभु हैं, उन अनादि, अनन्त तथा सूर्यके समान कान्तिवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥

सहस्रशीर्षं पुरुषं महर्षिं तत्त्वभावनम् ॥
प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम् ।

जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामी आत्मा हैं, तत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले महर्षि कपिलस्वरूप हैं, उन सूक्ष्म, अचल, वरेण्य और अभयप्रद भगवान् श्रीहरिकी शरण लेता हूँ ॥

नारायणं पुराणर्षिं योगात्मानं सनातनम् ॥
संस्थानं सर्वतत्त्वानां प्रपद्ये ध्रुवमीश्वरम् ।

जो पुरातन ऋषि नारायण हैं, योगात्मा हैं, सनातन पुरुष हैं, सम्पूर्ण तत्त्वोंके अधिष्ठान एवं अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ ॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
चराचरगुरुर्विष्णुः स मे देवः प्रसीदतु ।

जो सम्पूर्ण भूतोंके प्रभु हैं, जिन्होंने इस समस्त संसारको व्याप्त कर रक्खा है तथा जो चर और अचर प्राणियोंके गुरु हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

यस्मादुत्पद्यते ब्रह्मा पद्मयोनिः पितामहः ॥
ब्रह्मयोनिर्हि विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु ।

जिनसे पद्मयोनि पितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है तथा जो वेद और ब्राह्मणोंकी योनि हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

यः पुरा प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके परावरे ॥
आभूतसम्प्लवे चैव प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

प्राचीन कालमें महाप्रलय प्राप्त होनेपर जब सभी चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंका भी लय हो जाता है और संसारकी छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंका क्रमशः लय होकर जब प्रकृतिमें महत्तत्त्व भी विलीन हो जाता है, उस समय जो एकमात्र

शेष रह जाते हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] तथा दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंद्वारा जिन्हें आहुति दी जाती है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

पर्जन्यः पृथिवी सस्यं कालो धर्मः क्रियाक्रिये ।
गुणाकरः स मे बभ्रुर्वासुदेवः प्रसीदतु ॥

मेघ, पृथ्वी, सस्य, काल, धर्म, कर्म और कर्मका अभाव—ये सब जिनके स्वरूप हैं, गुणोंके भण्डाररूप वे श्यामवर्ण भगवान् वासुदेव मुझपर प्रसन्न हों ॥

अग्नीषोमार्कताराणां ब्रह्मरुद्रेन्द्रयोगिनाम् ।
यस्तेजयति तेजांसि स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

जो अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, तारागण, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा योगियोंके भी तेजको जीत लेते हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

योगावास नमस्तुभ्यं सर्वावास वरप्रद ।
यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग पञ्चयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥

योगके आवासस्थान ! आपको नमस्कार है । सबके निवासस्थान, वरदायक, यज्ञगर्भ, सुनहरे रंगोंवाले पञ्चयज्ञमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते परं धाम लक्ष्म्यावास परार्चित ।
सर्वावास नमस्तेऽस्तु वासुदेव प्रधानकृत् ॥

आप श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंवाले, परमधामस्वरूप, लक्ष्मीनिवास, परमपूजित, सबके आवासस्थान और प्रकृतिके भी प्रवर्तक हैं । वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥

अजस्त्वमगमः पन्था ह्यमूर्तिर्विश्वमूर्तिधृक् ।
विकर्तः पञ्चकालज्ञ नमस्ते ज्ञानसागर ॥

आप अजन्मा हैं, अगम्य मार्ग हैं, निराकार हैं अथवा जगत्के सम्पूर्ण आकार आप ही धारण करते हैं, आप ही संहारकारी रुद्र हैं । आप प्रातः, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्न—इन पाँच कालोंको जाननेवाले हैं । ज्ञानसागर ! आपको नमस्कार है ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं व्यक्ताद् यस्तु परोऽक्षरः ।
यस्मात् परतरं नास्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

जिन अव्यक्त परमात्मासे इस व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो व्यक्तसे परे और अविनाशी हैं, जिनसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरणमें आया हूँ ॥

न प्रधानो न च महान् पुरुषश्चेतनो ह्यजः ।
अनयोर्यः परतरः तमस्मि शरणं गतः ॥

प्रकृति और महत्तत्त्व—ये दोनों जड हैं । पुरुष चेतन और अजन्मा है । इन दोनों क्षर और अक्षर पुरुषोंसे जो उत्कृष्ट और विलक्षण हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमकी मैं शरण लेता हूँ ॥

चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयः प्रभुम् ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

ब्रह्मा और शिव आदि देवता जिन भगवान्का सदा चिन्तन करते रहनेपर भी उनके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाते, उन परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥

जितेन्द्रिया महात्मानो ज्ञानध्यानपरायणाः ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तमस्मि शरणं गतः ॥

ज्ञानी और ध्यानपरायण जितेन्द्रिय महात्मा जिन्हें पाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥

एकांशेन जगत् सर्वमवष्टभ्य विभुः स्थितः ।
अग्राह्यो निर्गुणो नित्यस्तमस्मि शरणं गतः ॥

जो सर्वव्यापी परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हैं, जो किसी इन्द्रियविशेषके द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते तथा जो निर्गुण एवं नित्य हैं, उन परमात्माकी मैं शरणमें जाता हूँ ॥

सोमार्काग्निमयं तेजो या च तारामयी द्युतिः ।
दिवि संजायते योऽयं स महात्मा प्रसीदतु ॥

आकाशमें जो सूर्य और चन्द्रमाका तेज प्रकाशित होता है तथा तारागणोंकी जो ज्योति जगमगाती रहती है, वह सब जिनका ही स्वरूप है, वे परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों ॥

गुणादिर्निर्गुणश्चाद्यो लक्ष्मीवांश्चेतनो ह्यजः ।
सूक्ष्मः सर्वगतो योगी स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो समस्त गुणोंके आदि कारण और स्वयं निर्गुण हैं, आदि पुरुष, लक्ष्मीवान्, चेतन, अजन्मा, सूक्ष्म, सर्वव्यापी तथा योगी हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सांख्ययोगाश्च ये चान्ये सिद्धाश्च परमर्षयः ।
यं विदित्वा विमुच्यन्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी तथा जो दूसरे-दूसरे सिद्ध और महर्षि हैं, वे जिन्हें जानकर इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

अव्यक्तः समधिष्ठाता ह्यचिन्त्यः सदसत्परः ।
आस्थितिः प्रकृतिश्रेष्ठः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो अव्यक्त, सबके अधिष्ठाता, अचिन्त्य और सत्-असत्से विलक्षण हैं, आधाररहित एवं प्रकृतिसे श्रेष्ठ हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

क्षेत्रज्ञः पञ्चधा भुङ्क्ते प्रकृतिं पञ्चभिर्मुखैः ।
महान् गुणांश्च यो भुङ्क्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो जीवात्मारूपसे पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी मुखोंद्वारा शब्द आदि पाँच विषयोंका उपभोग करते हैं तथा स्वयं महान्

१. आश्रावय, २. अस्तु श्रौषट्, ३. यज, ४. ये यजामहे, ५. वषट् ।

होकर भी जो गुणोंका अनुभव करते हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सूर्यमध्ये स्थितः सोमस्तस्य मध्ये च या स्थिता ।
भूतबाह्या च या दीप्तिः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो सूर्यमण्डलमें सोमरूपसे स्थित होते हैं, उस सोमके भीतर जो अलौकिक दीप्ति है, वह जिनका स्वरूप है, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

नमस्ते सर्वतः सर्व सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ।
निर्विकार नमस्तेऽस्तु साक्षी क्षेत्रे व्यवस्थितः ॥

सर्वस्वरूप परमेश्वर ! आपको सब ओरसे नमस्कार है, आपके सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख है । निर्विकार परमात्मन् ! आपको नमस्कार है । आप प्रत्येक क्षेत्र (शरीर) में साक्षीरूपसे स्थित हैं ॥

अतीन्द्रिय नमस्तुभ्यं लिङ्गैर्व्यक्तैर्न मीयसे ।
ये च त्वां नाभिजानन्ति संसारे संसरन्ति ते ॥

इन्द्रियातीत परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । व्यक्त लिङ्गोंद्वारा आपका ज्ञान होना असम्भव है । संसारमें जो आपको नहीं जानते हैं, वे जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥

कामक्रोधविनिर्मुक्ता रागद्वेषविवर्जिताः ।
नान्यभक्ता विजानन्ति न पुनर्नारका द्विजाः ॥

जो काम और क्रोधसे मुक्त, राग-द्वेषसे रहित तथा आपके अनन्य भक्त हैं, वे ही आपको जान पाते हैं । जो विषयोंके नरकमें पड़े हुए द्विज हैं, वे आपको नहीं जानते हैं ॥

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशीःकर्मकारिणः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणस्त्वां विशन्ति विनिश्चिताः ॥

जो आपके अनन्य भक्त, द्वन्द्वोंसे रहित तथा निष्काम कर्म करनेवाले हैं, जिन्होंने ज्ञानमयी अग्निसे अपने समस्त कर्मोंको दग्ध कर दिया है, वे आपके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाले पुरुष आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु ।
पुण्यपापविनिर्मुक्ता भक्तास्त्वां प्रविशन्त्युत ॥

आप शरीरमें रहते हुए भी उससे रहित हैं तथा सम्पूर्ण देहधारियोंमें समभावसे स्थित हैं । जो पुण्य और पापसे मुक्त हैं, वे भक्तजन आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारमनोभूतेन्द्रियाणि च ।
त्वयि तानि च तेषु त्वं न तेषु त्वं न ते त्वयि ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहङ्कार, मन, पञ्च महाभूत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सभी आपमें हैं और उन सबमें आप हैं, किंतु वास्तवमें न उनमें आप हैं, न आपमें वे हैं ॥

एकत्वान्यत्वनानात्वं ये विदुर्यान्ति ते परम् ।
समोऽसि सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
समत्वमभिकाङ्क्षेऽहं भक्त्या वै नान्यचेतसा ।

एकत्व, अन्यत्व और नानात्वका रहस्य जो लोग अच्छी तरह जानते हैं, वे आप परमात्माको प्राप्त होते हैं । आप सम्पूर्ण भूतोंमें सम हैं । आपका न कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय । मैं अनन्य चित्तसे आपकी भक्तिके द्वारा समत्व पाना चाहता हूँ ॥

चराचरमिदं सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
त्वया त्वय्येव तत् प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

चार प्रकारका जो यह चराचर प्राणिसमुदाय है, वह सब आपसे व्याप्त है । जैसे सूतमें मणियाँ पिरोये होते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आपमें ही ओतप्रोत है ॥

स्रष्टा भोक्तासि कूटस्थो ह्यतत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ॥
अकर्महेतुरचलः पृथगात्मन्यवस्थितः ।

आप जगत्के स्रष्टा, भोक्ता और कूटस्थ हैं । तत्त्वरूप होकर भी उससे सर्वथा विलक्षण हैं । आप कर्मके हेतु नहीं हैं । अविचल परमात्मा हैं । प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक जीवात्मारूपसे आप ही विद्यमान हैं ॥

न ते भूतेषु संयोगो भूततत्त्वगुणातिगः ॥
अहङ्कारेण बुद्ध्या वा न ते योगस्त्रिभिर्गुणैः ।

वास्तवमें प्राणियोंसे आपका संयोग नहीं है । आप भूत, तत्त्व और गुणोंसे परे हैं । अहंकार, बुद्धि और तीनों गुणोंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

न ते धर्मोऽस्त्यधर्मो वा नारम्भो जन्म वा पुनः ॥
जरामरणमोक्षार्थं त्वां प्रपन्नोऽस्मि सर्वशः ।

न आपका कोई धर्म है और न कोई अधर्म । न कोई आरम्भ है न जन्म । मैं जरा-मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये सब प्रकारसे आपकी शरणमें आया हूँ ॥

ईश्वरोऽसि जगन्नाथ ततः परम उच्यसे ॥
भक्तानां यद्धितं देव तद्ध्याहि त्रिदशेश्वर ।

जगन्नाथ ! आप ईश्वर हैं, इसीलिये परमात्मा कहलाते हैं । देव ! सुरेश्वर ! भक्तोंके लिये जो हितकी बात हो, उसका मेरे लिये चिन्तन कीजिये ॥

विषयैरिन्द्रियैर्वापि न मे भूयः समागमः ॥
पृथिवीं यातु मे घ्राणं यातु मे रसना जलम् ।
रूपं हुताशनं यातु स्पर्शो यातु च मारुतम् ॥
श्रोत्रमाकाशमप्येतु मनो वैकारिकं पुनः ।

विषयों और इन्द्रियोंके साथ फिर मेरा कभी समागम न हो । मेरी घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी-तत्त्वमें मिल जाय और रसना जलमें, रूप (नेत्र) अग्निमें, स्पर्श (त्वचा) वायुमें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें और मन वैकारिक अहंकारमें मिल जाय ॥

इन्द्रियाण्यपि संयान्तु स्वासु स्वासु च योनिषु ॥
पृथिवी यातु सलिलमापोऽग्निमनलोऽनिलम् ।
वायुराकाशमप्येतु मनश्चाकाश एव च ॥
अहङ्कारं मनो यातु मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

अहङ्कारस्ततो बुद्धिं बुद्धिरव्यक्तमच्युत ॥

अच्युत ! इन्द्रियाँ अपनी-अपनी योनियोंमें मिल जायँ, पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन समस्त प्राणियोंको मोहनेवाले अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (महत्तत्त्व) में और बुद्धि अव्यक्त प्रकृतिमें मिल जाय ॥

प्रधाने प्रकृतिं याते गुणसाम्ये व्यवस्थिते ।
वियोगः सर्वकरणैर्गुणभूतैश्च मे भवेत् ॥

जब प्रधान प्रकृतिको प्राप्त हो जाय और गुणोंकी साम्यावस्थारूप महाप्रलय उपस्थित हो जाय, तब मेरा समस्त इन्द्रियों और उनके विषयोंसे वियोग हो जाय ॥

निष्कैवल्यपदं तात काङ्क्षेऽहं परमं तव ।
एकीभावस्त्वया मेऽस्तु न मे जन्म भवेत् पुनः ॥

तात ! मैं तुम्हारे लिये परम मोक्षकी आकाङ्क्षा रखता हूँ । आपके साथ मेरा एकीभाव हो जाय । इस संसारमें फिर मेरा जन्म न हो ॥

त्वद्बुद्धिस्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः ।
त्वामेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते ॥

मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मेरी बुद्धि आपमें ही लगी रहे । मेरे प्राण आपमें ही लीन रहें । मेरा आपमें ही भक्ति-भाव बना रहे और मैं सदा आपकी ही शरणमें पड़ा रहूँ । इस प्रकार मैं निरन्तर आपका ही स्मरण करता रहूँ ॥

पूर्वदेहकृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम् ।
अर्दयन्तु च दुःखानि ऋणं मे प्रतिमुञ्चतु ॥

पूर्वशरीरमें मैंने जो दुष्कर्म किये हों, उनके फलस्वरूप रोग-व्याधि मेरे शरीरमें प्रवेश करें और नाना प्रकारके दुःख मुझे आकर सतावें । इन सबका जो मेरे ऊपर ऋण है, वह उतर जाय ॥

अनुध्यातोऽसि देवेश न मे जन्म भवेत् पुनः ।
तस्माद् ब्रवीमि कर्माणि ऋणं मे न भवेदिति ॥

देवेश्वर ! मैंने इसलिये आपका स्मरण किया है कि फिर मेरा जन्म न हो; अतः फिर कहता हूँ कि मेरे कर्म नष्ट हो जायँ और मुझपर किसीका ऋण बाकी न रह जाय ॥

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसंचिताः ।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

पूर्व जन्ममें जिन कर्मोंका मेरे द्वारा संचय किया गया है, वे सभी रोग मेरे शरीरमें उपस्थित हो जायँ । मैं सबसे उऋण होकर भगवान् विष्णुके परम धामको जाना चाहता हूँ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

श्रीभगवान् बोले--नारद ! मैं उस सौभाग्यशाली भक्तका हूँ और वह भक्त भी मेरा सनातन सखा है । मैं उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और न वही कभी मेरी दृष्टिसे ओझल होता है ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
दशेन्द्रियाणि मनसि अहङ्कारे तथा मनः ॥
अहङ्कारं तथा बुद्धौ बुद्धिमात्मनि योजयेत् ।

साधक पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर उन दसों इन्द्रियोंको मनमें विलीन करे । मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें लगावे॥

यतबुद्धीन्द्रियः पश्यन् बुद्ध्या बुद्ध्येत् परात्परम् ॥
ममायमिति यस्याहं येन सर्वमिदं ततम् ।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर बुद्धिके द्वारा परात्पर परमात्माका अनुभव करे कि यह परमेश्वर मेरा है और मैं इसका हूँ तथा इसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संयोज्य परमात्मन्यनुस्मरेत् ॥
ततो बुद्धेः परं बुद्ध्वा लभते न पुनर्भवम् ।
मरणे समनुप्राप्ते यश्चैवं मामनुस्मरेत् ॥
अपि पापसमाचारः स याति परमां गतिम् ।

स्वयं ही अपने-आपको परमात्माके ध्यानमें लगाकर निरन्तर उनका स्मरण करे, तदनन्तर बुद्धिसे भी परे परमात्मा-को जानकर मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता । जो मृत्युकाल आनेपर इस प्रकार मेरा स्मरण करता है, वह पुरुष पहलेका पापाचारी रहा हो तो भी परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ओं नमो भगवते तस्मै देहिनां परमात्मने ॥
नारायणाय भक्तानामेकनिष्ठाय शाश्वते ।

समस्त देहधारियोंके परमात्मा तथा भक्तोंके प्रति एकमात्र निष्ठा रखनेवाले उन सनातन भगवान् नारायणको नमस्कार है॥

इमामनुस्मृतिं दिव्यां वैष्णवीं सुसमाहितः ॥
स्वपन् विबुध्यंश्च पठन् यत्र तत्र समभ्यसेत् ।

यह दिव्य वैष्णवी-अनुस्मृति विद्या है । मनुष्य एकाग्र-चित्त होकर सोते, जागते और स्वाध्याय करते समय जहाँ कहीं भी इसका जप करता रहे ॥

पौर्णमास्याममायां च द्वादश्यां च विशेषतः ॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानांश्च मद्भक्तांश्च विशेषतः ।

पूर्णिमा, अमावास्या तथा विशेषतः द्वादशी तिथिको मेरे श्रद्धालु भक्तोंको इसका श्रवण करावे ॥

यद्यहङ्कारमाश्रित्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
कुर्वंस्तत्फलमाप्नोति पुनरावर्तनं तु तत् ।

यदि कोई अहंकारका आश्रय लेकर यज्ञ, दान और तपरूप कर्म करे तो उसका फल उसे मिलता है । परंतु वह आवागमनके चक्करमें डालनेवाला होता है ॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

अभ्यर्चयन् पितॄन् देवान् पठञ्जुह्वन् बलिं ददत् ॥
ज्वलन्नग्निं स्मरेद् यो मां स याति परमां गतिम्।

जो देवताओं और पितरोंकी पूजा, पाठ, होम और बलिवैश्वदेव करते तथा अग्निमें आहुति देते समय मेरा स्मरण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
यज्ञं दानं तपस्तस्मात् कुर्यादाशीर्विवर्जितः ।

यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं; अतः यज्ञ, दान और तपका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः॥
तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद ।

नारद ! जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे लिये केवल नमस्कारमात्र बोल देता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां साधका विधिपूर्वकम् ॥
श्रद्धावन्तो यतात्मानस्ते मां यान्ति मदाश्रिताः ।

फिर जो साधक मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर मेरे आश्रित हो श्रद्धा और विधिके साथ मेरी आराधना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥

कर्माण्याद्यन्तवन्तीह मद्भक्तो नान्तमश्नुते ॥
मामेव तस्माद् देवर्षे ध्याहि नित्यमतन्द्रितः ।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव पदं मम ॥

देवर्षे ! सारे कर्म और उनके फल आदि-अन्तवाले हैं; परंतु मेरा भक्त अन्तवान् (विनाशशील) फलका उपभोग नहीं करता; अतः तुम सदा आलस्यरहित होकर मेरा ही ध्यान करो । इससे तुम्हें परम सिद्धि प्राप्त होगी और तुम मेरे परमधामका दर्शन कर लोगे ॥

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद् धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात् तेन तुल्यं च तत्फलम् ॥

जो धर्मोपदेशके द्वारा अज्ञानी पुरुषको ज्ञान प्रदान करता है अथवा जो किसीको समूची पृथ्वीका दान कर देता है तो उस ज्ञानदानका फल इस पृथ्वीदानके बराबर ही माना जाता है ॥

तस्मात् प्रदेयं साधुभ्यो जन्मबन्धभयापहम् ।
एवं दत्त्वा नरश्रेष्ठ श्रेयो वीर्यं च विन्दति ॥

नरश्रेष्ठ नारद ! इसलिये साधु पुरुषोंको जन्म और बन्धनके भयको दूर करनेवाला ज्ञान ही देना चाहिये । इस प्रकार ज्ञान देकर मनुष्य कल्याण और बल प्राप्त करता है॥

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् ।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

जो दस लाख अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान कर ले, वह भी उस पदको नहीं पा सकता, जो मेरे भक्तोंको प्राप्त हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

एवं पृष्टः पुरा तेन नारदेन सुरर्षिणा ।
यदुवाच तदा शम्भुस्तदुक्तं तव सुव्रत ॥

भीष्मजी कहते हैं—सुव्रत ! इस प्रकार पूर्वकालमें देवर्षि नारदके पूछनेपर कल्याणमय भगवान् विष्णुने उस समय जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें बता दिया ॥

त्वमप्येकमना भूत्वा ध्याहि ध्येयं गुणातिगम् ।
भजस्व सर्वभावेन परमात्मानमव्ययम् ॥

तुम भी एकचित्त होकर उन गुणातीत परमात्माका ध्यान करो और सम्पूर्ण भक्तिभावसे उन्हीं अविनाशी परमात्माका भजन करो ॥

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणेरितम् ।
अत्यन्तभक्तिमान् देव एकान्तत्वमुपेयिवान् ॥

भगवान् नारायणका कहा हुआ यह दिव्य वचन सुनकर अत्यन्त भक्तिमान् देवर्षि नारद भगवान्‌के प्रति एकाग्रचित्त हो गये ॥

नारायणमृषिं देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक् ।
इदं जपन् वै प्राप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

जो पुरुष अनन्यभावसे दस वर्षोंतक ऋषिप्रवर नारायणदेवका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥

जिसकी भगवान् जनार्दनमें भक्ति है, उसे बहुत-से मन्त्रोंद्वारा क्या लेना है ? 'ॐ नमो नारायणाय' यह एकमात्र मन्त्र ही सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥

इमां रहस्यां परमामनुस्मृति-
मधीत्य बुद्धिं लभते च नैष्ठिकीम् ।
विहाय दुःखान्यवमुच्य सङ्कटात्
स वीतरागो विचरेन्महीमिमाम् ॥

इस परम गोपनीय अनुस्मृति विद्याका स्वाध्याय करके मनुष्य भगवान्‌के प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाली बुद्धि प्राप्त कर लेता है । वह सारे दुःखोंको दूर करके संकटसे मुक्त एवं वीतराग हो इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अन्तर्भूमिविक्रीडनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भूमिके भीतर भगवान् वाराहकी क्रीड़ानामक दो सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८६½ श्लोक मिलाकर कुल १२२½ श्लोक हैं)

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

योगं मे परमं तात मोक्षस्य वद भारत।
तमहं तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि वदतां वर॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ तात भरतनन्दन ! आप मुझे मोक्षके साधनभूत परम योगका उपदेश कीजिये। मैं उसे यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! इस विषयमें एक शिष्यका गुरुके साथ जो मोक्षसम्बन्धी संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यमृषिसत्तमम्।
तेजोराशिं महात्मानं सत्यसंधं जितेन्द्रियम्॥ ३॥
शिष्यः परममेधावी श्रेयोऽर्थी सुसमाहितः।
चरणावुपसंगृह्य स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

किसी समयकी बात है, एक विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ आसन-पर विराजमान थे। वे आचार्यकोटिके पण्डित और श्रेष्ठतम महर्षि थे। देखनेमें महान् तेजकी राशि जान पड़ते थे। बड़े महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। एक दिन उनकी सेवामें कोई परम मेधावी कल्याणकामी एवं समाहितचित्त शिष्य आया (जो चिरकालतक उनकी शुश्रूषा कर चुका था), वह उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़ सामने खड़ा हो इस प्रकार बोला—॥ ३-४॥

उपासनात् प्रसन्नोऽसि यदि वै भगवन् मम।
संशयो मे महान् कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत् सम्यग्ब्रूहि यत्परम्॥ ५॥

'भगवन् ! यदि आप मेरी सेवासे प्रसन्न हैं तो मेरे मनमें जो एक बड़ा भारी संदेह है, उसे दूर करनेकी कृपा करें—मेरे प्रश्नकी विशद व्याख्या करें। मैं इस संसारमें कहाँसे आया हूँ और आप भी कहाँसे आये हैं ? यह भलीभाँति समझाकर बताइये। इसके सिवा जो परम तत्त्व है, उसका भी विवेचन कीजिये॥ ५॥

कथं च सर्वभूतेषु समेषु द्विजसत्तम।
सम्यग्वृत्ता निवर्तन्ते विपरीताः क्षयोदयाः॥ ६॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पृथ्वी आदि सम्पूर्ण महाभूत सर्वत्र समान हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर उन्हींसे निर्मित हुए हैं तो भी उनमें क्षय और वृद्धि—ये दोनों विपरीतभाव क्यों होते हैं ?॥ ६॥

वेदेषु चापि यद् वाक्यं लौकिकं व्यापकं च यत्।
एतद् विद्वन् यथातत्त्वं सर्वं व्याख्यातुमर्हसि॥ ७॥

'वेदों और स्मृतियोंमें भी जो लौकिक और व्यापक धर्मोंका वर्णन है, उनमें भी विषमता है। अतः विद्वन् ! इन सबकी आप यथार्थरूपसे व्याख्या करें'॥ ७॥

गुरुरुवाच

शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु॥ ८॥

गुरुने कहा—वत्स ! सुनो। महामते ! तुमने जो बात पूछी है, वह वेदोंका उत्तम एवं गूढ़ रहस्य है। यही अध्यात्म-तत्त्व है तथा यही समस्त विद्याओं और शास्त्रोंका सर्वस्व है॥

वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥ ९॥

सम्पूर्ण वेदका मुख जो प्रणव है वह तथा सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परम तत्त्व—यह सब कुछ वासुदेव ही है॥ ९॥

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
स्वर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥ १०॥

वेदज्ञजन उसीको सनातन पुरुष और विष्णु भी मानते हैं। वही संसारकी सृष्टि और प्रलय करनेवाला अव्यक्त एवं सनातन ब्रह्म है॥ १०॥

तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा॥ ११॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः॥ १२॥

वही ब्रह्म वृष्णिकुलमें श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुआ, इस कथाको तुम मुझसे सुनो। ब्राह्मण ब्राह्मणको, क्षत्रिय क्षत्रियको, वैश्य वैश्यको तथा शूद्र महामनस्वी शूद्रको, अमित तेजस्वी देवाधिदेव विष्णुका माहात्म्य सुनावे॥ ११-१२॥

अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम्॥ १३॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशे चक्रवत्परिवर्तते।

तुम भी यह सब सुननेके योग्य अधिकारी हो; अतः भगवान् श्रीकृष्णका जो कल्याणमय उत्कृष्ट माहात्म्य है, उसे सुनो। यह जो सृष्टि-प्रलयरूप अनादि, अनन्त कालचक्र है, वह श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। सर्वभूतेश्वर श्रीकृष्णमें ये तीनों लोक चक्रकी भाँति घूम रहे हैं॥ १३½॥

यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्।
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम्॥ १४॥

पुरुषसिंह ! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको ही अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सनातन परब्रह्म कहते हैं॥ १४॥

पितॄन् देवानृषींश्चैव तथा वै यक्षराक्षसान्।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः॥ १५॥

ये अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्ण ही पितर, देवता,

ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, असुर और मनुष्य आदिकी रचना करते हैं ॥ १५ ॥

तथैव वेदशास्त्राणि लोकधर्मांश्च शाश्वतान् ।
प्रलयं प्रकृतिं प्राप्य युगादौ सृजते पुनः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार प्रलयकाल बीतनेपर कल्पके आरम्भमें प्रकृतिका आश्रय ले भगवान् श्रीकृष्ण ही ये वेद-शास्त्र और सनातन लोक-धर्मोंको पुनः प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ १७ ॥

जैसे ऋतु-परिवर्तनके साथ ही भिन्न-भिन्न ऋतुओंके नाना प्रकारके वे-ही-वे लक्षण प्रकट होते रहते हैं, वैसे ही प्रत्येक कल्पके आरम्भमें पूर्व कल्पोंके अनुसार तदनुरूप भावोंकी अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ १७ ॥

अथ यद्यद् यदा भाति कालयोगाद् युगादिषु ।
तत् तदुत्पद्यते ज्ञानं लोकयात्राविधानजम् ॥ १८ ॥

काल-क्रमसे युगादिमें जब-जब जो-जो वस्तु भासित होती है, लोक-व्यवहारवश तब-तब उसी-उसी विषयका ज्ञान प्रकट होता रहता है ॥ १८ ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ १९ ॥

कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माके आदेशसे महर्षियोंने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥ १९ ॥

वेदविद् वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।
भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥ २० ॥

उस समय स्वयं भगवान् ब्रह्माको वेदोंका, बृहस्पतिजीको वेदाङ्गोंका और शुक्राचार्यको नीतिशास्त्रका ज्ञान हुआ तथा उन लोगोंने जगत्के हितके लिये उन सब विषयोंका उपदेश किया ॥ २० ॥

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् ।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥ २१ ॥

नारदजीको गान्धर्व वेदका, भरद्वाजको धनुर्वेदका, महर्षि गार्ग्यको देवर्षियोंके चरित्रका तथा कृष्णात्रेयको चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञान हुआ ॥ २१ ॥

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ॥ २२ ॥

तर्कशील विद्वानोंने तर्कशास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया । उन महर्षियोंने युक्तियुक्त शास्त्र और सदाचारके द्वारा जिस ब्रह्मका उपदेश किया है, उसीकी तुम भी उपासना करो ॥ २२ ॥

अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः ॥ २३ ॥

वह परब्रह्म अनादि और सबसे परे है । उसे न देवता जानते हैं न ऋषि । उसे तो एकमात्र जगत्पालक नारायण ही जानते हैं ॥ २३ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा मुख्याः सुरासुराः ।
राजर्षयः पुराणाश्च परमं दुःखभेषजम् ॥ २४ ॥

नारायणसे ही ऋषियों, मुख्य-मुख्य देवताओं, असुरों तथा प्राचीन राजर्षियोंने उस ब्रह्मको जाना है; वह ब्रह्म-ज्ञान ही समस्त दुःखोंका परम औषध है ॥ २४ ॥

पुरुषाधिष्ठितान् भावान् प्रकृतिः सूयते यदा ।
हेतुयुक्तमतः पूर्वं जगत् सम्परिवर्तते ॥ २५ ॥

पुरुषद्वारा संकल्पमें लाये गये विविध पदार्थोंकी रचना प्रकृति ही करती है । इस प्रकृतिसे सर्वप्रथम कारणसहित जगत् उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः ।
प्रकृतिः सूयते तद्वदानन्त्यान्नापचीयते ॥ २६ ॥

जैसे एक दीपकसे दूसरे सहस्रों दीप जला लिये जाते हैं और पहले दीपकको कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक प्रकृति ही असंख्य पदार्थोंको उत्पन्न करती है और अनन्त होनेके कारण उसका क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

अव्यक्तकर्मजा बुद्धिरहंकारं प्रसूयते ।
आकाशं चाप्यहंकाराद् वायुराकाशसम्भवः ॥ २७ ॥

अव्यक्त प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर जिस बुद्धि (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, वह बुद्धि अहंकारको जन्म देती है । अहंकारसे आकाश और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥

वायोस्तेजस्ततश्चाप अद्भ्योऽथ वसुधोद्गता ।
मूलप्रकृतयो ह्यष्टौ जगदेतास्ववस्थितम् ॥ २८ ॥

वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार ये आठ मूल-प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं । इन्हींमें सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २८ ॥

ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
विषयाः पञ्च चैकं च विकारे षोडशं मनः ॥ २९ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और एक मन—ये सोलह विकार कहे गये हैं। (इनमें मन तो अहं-कारका विकार है और अन्य पन्द्रह अपने-अपने कारणरूप सूक्ष्म महाभूतोंके विकार हैं) ॥ २९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाक्कर्मणी अपि ॥ ३० ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ हैं । हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ (लिङ्ग) और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ३० ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
विज्ञेयं व्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः ॥ ३१ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं तथा इनमें व्यापक जो चित्त है, उसीको मन समझना चाहिये । मन सर्वगत कहा गया है ॥ ३१ ॥

रसज्ञाने तु जिह्वेयं व्याहृते वाक् तथोच्यते ।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यक्तं मनस्तथा ॥ ३२ ॥

रस-ज्ञानके समय मन ही यह रसना (जिह्वा) रूप हो जाता है तथा बोलनेके समय वह मन ही वागिन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके साथ मिलकर उन सबके रूपमें मन ही व्यक्त होता है ॥ ३२ ॥

विद्यात् तु षोडशैतानि दैवतानि विभागशः ।
देहेषु ज्ञानकर्तारमुपासीनमुपासते ॥ ३३ ॥

दस इन्द्रिय, पञ्च महाभूत और एक मन—ये सोलह तत्त्व इस शरीरमें विभागपूर्वक रहते हैं। इनको देवतारूप जानना चाहिये। शरीरके भीतर जो ज्ञान प्रकट करनेवाला परमात्मा-के निकटस्थ जीवात्मा है, उसकी ये सोलहों देवता उपासना करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्वत् सोमगुणा जिह्वा गन्धस्तु पृथिवीगुणः ।
श्रोत्रं नभोगुणं चैव चक्षुरग्नेर्गुणस्तथा ।
स्पर्शं वायुगुणं विद्यात् सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

जिह्वा जलका कार्य है, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीका कार्य है, श्रवणेन्द्रिय आकाशका और नेत्रेन्द्रिय अग्निका कार्य है तथा सम्पूर्ण भूतोंमें त्वचा नामकी इन्द्रियको सदा वायुका कार्य समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

मनः सत्त्वगुणं प्राहुः सत्त्वमव्यक्तजं तथा ।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तस्माद् बुद्ध्येत बुद्धिमान् ॥ ३५ ॥

मनको महत्तत्त्वका कार्य कहा है और महत्तत्त्वको अव्यक्त प्रकृतिका कार्य कहा है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह समस्त भूतोंके आत्मारूप परमेश्वरको समस्त प्राणियों-में स्थित जाने ॥ ३५ ॥

एते भावा जगत् सर्वं वहन्ति सचराचरम् ।
श्रिता विरजसं देवं यमाहुः प्रकृतेः परम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ये सम्पूर्ण पदार्थ समस्त चराचर जगत्का भार वहन करते हैं। ये सब जो प्रकृतिसे अतीत रजोगुण-रहित हैं, उस परमदेव परमात्माके आश्रित हैं ॥ ३६ ॥

नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम् ।
व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३७ ॥

इन्हीं चौबीस पदार्थोंसे सम्पन्न इस नौ द्वारोंवाले पवित्र पुर (शरीर) को व्याप्त करके इसमें इन सबसे जो महान् है वह आत्मा शयन करता है; इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अजरः सोऽमरश्चैव व्यक्ताव्यक्तोपदेशवान् ।
व्यापकः सगुणः सूक्ष्मः सर्वभूतगुणाश्रयः ॥ ३८ ॥

वह पुरुष जरा-मरणसे रहित, व्यापक, (समस्त स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंका प्रेरक, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त, सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण भूतों और उनके गुणोंका आश्रय है ॥ ३८ ॥

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान् ।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥ ३९ ॥

जैसे दीपक छोटा हो या बड़ा, प्रकाश-स्वरूप ही है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें स्थित जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा समझे ॥ ३९ ॥

श्रोत्रं वेदयते वेद्यं स शृणोति स पश्यति ।
कारणं तस्य देहोऽयं स कर्ता सर्वकर्मणाम् ॥ ४० ॥

वही श्रवणेन्द्रियको उसके ज्ञेयभूत शब्दका बोध कराता है। तात्पर्य यह कि श्रवण और नेत्रोंद्वारा वही सुनता और देखता है। यह शरीर उसके शब्द आदि विषयोंके अनुभवमें निमित्त है। वह जीवात्मा ही समस्त कर्मोंका कर्ता है ॥ ४० ॥

अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते ।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवानुदृश्यते ॥ ४१ ॥
अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते ।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहनेपर भी काष्ठके चीरनेपर भी उसमें दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा शरीरमें रहता है, परंतु दिखायी नहीं देता—योगसे ही उसका दर्शन होता है। जैसे मन्थन आदि उपायोंद्वारा काष्ठको मथकर उनमें अग्निको प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार योगके द्वारा शरीरस्थ आत्माका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४१-४२ ॥

नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः ।
संततत्वाद् यथा यान्ति तथा देहाः शरीरिणाम् ॥ ४३ ॥

जैसे नदियोंमें जल रहता ही है और सूर्यमें किरणें भी रहती ही हैं तथा वे जल और किरणें नदी और सूर्यसे नित्य सम्बद्ध होनेके कारण उनके साथ-साथ जाती हैं, उसी प्रकार देहधारियोंके सूक्ष्म शरीर भी जीवात्माके साथ ही रहते हैं और उसे साथ लेकर ही आते-जाते हैं ॥ ४३ ॥

स्वप्नयोगे यथैवात्मा पञ्चेन्द्रियसमायुतः ।
देहमुत्सृज्य वै याति तथैवात्मोपलभ्यते ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित जीवात्मा इस शरीर-को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, वैसे ही मृत्युके बाद भी वह इस शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा बाध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते ।
कर्मणा नीयतेऽन्यत्र स्वकृतेन बलीयसा ॥ ४५ ॥

कर्मके द्वारा ही इस देहका बाध होता है; कर्मसे ही अन्य देहकी उपलब्धि होती है तथा अपने किये हुए प्रबल कर्मके द्वारा ही वह अन्य शरीरमें ले जाया जाता है ॥ ४५ ॥

स तु देहाद् यथा देहं त्यक्त्वान्यं प्रतिपद्यते ।
तथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि भूतग्रामं स्वकर्मजम् ॥ ४६ ॥

वह जीवात्मा जिस प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है तथा अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुआ प्राणि-समुदाय जिस प्रकार अन्य देह धारण करता है, वह सब मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका निरूपणविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

संसारचक्र और जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

गुरुरुवाच

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
अव्यक्तप्रभवान्याहुरव्यक्तनिधनानि च ।
अव्यक्तलक्षणं विद्यादव्यक्तात्मात्मकं मनः ॥ १ ॥

गुरुजी कहते हैं—वत्स ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके जो स्थावर और जङ्गम प्राणी हैं, वे सब अव्यक्तसे उत्पन्न हुए बताये गये हैं और अव्यक्तमें ही उन सबका लय होता है । जिसका कोई लक्षण व्यक्त न हो उसे अव्यक्त समझना चाहिये । मन अव्यक्त प्रकृतिके समान ही त्रिगुणात्मक है ॥ १ ॥

यथाश्वत्थकणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात् सम्भवस्तथा ॥ २ ॥

जैसे पीपलके छोटे-से बीजमें एक विशाल वृक्ष अव्यक्त रूपसे समाया हुआ है, जो बीजके उगनेपर वृक्षरूपमें परिणत हो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसी प्रकार अव्यक्तसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा ।
स्वभावहेतुजा भावा यद्वदन्यदपीदृशम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार लोहा अचेतन होनेपर भी चुम्बककी ओर खिंच जाता है, वैसे ही शरीरके उत्पन्न होनेपर प्राणीके स्वाभाविक संस्कार तथा अविद्या, काम, कर्म आदि दूसरे गुण उसकी ओर खिंच आते हैं ॥ ३ ॥

तद्वदव्यक्तजा भावाः कर्तुः कारणलक्षणाः ।
अचेतनाश्चेतयितुः कारणादभिसंहताः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उस अव्यक्तसे उत्पन्न हुए उपर्युक्त कारण-स्वरूप भाव अचेतन होनेपर भी चेतनकर्ताके सम्बन्धसे चेतन-से होकर जानना आदि क्रियाके हेतु बन जाते हैं ॥ ४ ॥

न भूर्न खं द्यौर्भूतानि नर्षयो न सुरासुराः ।
नान्यदासीदृते जीवमासेदुर्न तु संहतम् ॥ ५ ॥

पहले पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, भूतगण, ऋषिगण तथा देवता और असुरगण इनमेंसे कोई नहीं था । चेतनके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं थी । जड-चेतनका संयोग भी नहीं था ॥ ५ ॥

पूर्वं नित्यं सर्वगतं मनोहेतुमलक्षणम् ।
अज्ञानकर्म निर्दिष्टमेतत् कारणलक्षणम् ॥ ६ ॥

आत्मा सबके पहले विद्यमान था । वह नित्य, सर्वगत, मनका भी हेतु और लक्षणरहित है । यह कारणस्वरूप समस्त जगत् अज्ञानका कार्य बताया गया है ॥ ६ ॥

तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम् ।
येनैतद् वर्तते चक्रमनादिनिधनं महत् ॥ ७ ॥

इन कारणोंसे युक्त होकर जीव कर्मोंका संग्रह करता है । कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं । इस प्रकार यह अनादि, अनन्त महान् संसार-चक्र चलता रहता है ॥ ७ ॥

अव्यक्तनाभं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यह जन्म-मरणका प्रवाहरूप संसार चक्रके समान घूम रहा है । अव्यक्त उसकी नाभि है । व्यक्त (देह और इन्द्रिय आदि) उसके अरे हैं । सुख-दुःख, इच्छा आदि विकार इसकी नेमि हैं । आसक्ति धुरा है । यह चक्र निश्चितरूपसे घूमता रहता है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस चक्रपर चालक बनकर बैठा हुआ है ॥ ८ ॥

स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ ९ ॥

जैसे तेली लोग तेलसे युक्त होनेके कारण तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होनेके कारण अज्ञानजनित भोगोंद्वारा दबा-दबाकर इस संसारचक्रमें पेरा जा रहा है ॥ ९ ॥

कर्म तत् कुरुते तर्षादहंकारपरिग्रहात् ।
कार्यकारणसंयोगे स हेतुरुपपादितः ॥ १० ॥

जीव अहङ्कारके अधीन होकर तृष्णाके कारण कर्म करता है और वह कर्म आगामी कार्य-कारण-संयोगमें हेतु बन जाता है ॥ १० ॥

नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा ।
कार्याणां तूपकरणे कालो भवति हेतुमान् ॥ ११ ॥

न तो कारण कार्यमें प्रवेश करता है और न कार्य कारणमें । कार्य करते समय काल ही उनकी सिद्धि और असिद्धिमें हेतु होता है ॥ ११ ॥

हेतुयुक्ताः प्रकृतयो विकाराश्च परस्परम् ।
अन्योन्यमभिवर्तन्ते पुरुषाधिष्ठिताः सदा ॥ १२ ॥

हेतुमहित आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकार—ये पुरुषसे अधिष्ठित हो सदा एक दूसरेसे मिलते और सृष्टिका विस्तार करते हैं ॥ १२ ॥

राजसैस्तामसैर्भावैर्युतो हेतुबलान्वितः ।
क्षेत्रज्ञमेवानुयाति पांसुर्वातेरितो यथा ॥ १३ ॥

राजस और तामसभावोंसे युक्त हेतुबलसे प्रेरित सूक्ष्म-शरीर क्षेत्रज्ञ जीवात्माके साथ-साथ ठीक उसी तरह दूसरे स्थूल शरीरमें चला जाता है, जैसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल उसीके साथ-साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती है ॥ १३ ॥

न च तैः स्पृश्यते भावैर्न ते तेन महात्मना ।
सरजस्कोऽरजस्कश्च नैव वायुर्भवेद् यथा ॥ १४ ॥

जैसे धूलके उड़नेसे वायु न तो धूलसे लिप्त होती है और न अलिप्त ही रहती है । उसी प्रकार न तो उन राजस, तामस आदि भावोंसे जीवात्मा लिप्त होता है और न अलिप्त ही रहता है ॥ १४ ॥

तथैतदन्तरं विद्यात् सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्बुधः ।
अभ्यासात् स तथा युक्तो न गच्छेत् प्रकृतिं पुनः ॥

अतः विवेकी पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह अन्तर जान लेना चाहिये। इन दोनोंके तादात्म्यका-सा अभ्यास हो जानेसे जीव ऐसा हो गया है कि उसे अपने शुद्ध स्वरूपका पता ही नहीं लगता ॥ १५ ॥

संदेहमेतमुत्पन्नमच्छिनद् भगवानृषिः ।
तथा वार्तां समीक्षेत कृतलक्षणसम्मिताम् ॥ १६ ॥

(भीष्मजी कहते हैं—) इस प्रकार उन महर्षि भगवान् गुरुदेवने शिष्यके उत्पन्न हुए इस संदेहको काट डाला। अतः विद्वान् पुरुष ऐसे उपायोंपर दृष्टि रक्खे, जो क्रिया-द्वारा उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक हों ॥ १६ ॥

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥ १७ ॥

जैसे आगमें भूने हुए बीज नहीं उगते, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यादि सब क्लेशोंके दग्ध हो जानेपर जीवात्माको फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दोसौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

निषिद्ध आचरणके त्याग, सत्त्व, रज और तमके कार्य एवं परिणामका तथा सत्त्वगुणके सेवनका उपदेश

भीष्म उवाच

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो यथा समुपलभ्यते ।
तेषां विज्ञाननिष्ठानामन्यत्तत्त्वं न रोचते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कर्मनिष्ठ पुरुषोंको जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मकी उपलब्धि होती है—वही उन्हें अच्छा लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले हैं, उन्हें ज्ञानके सिवा दूसरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती ॥ १ ॥

दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ।
प्रयोजनं महत्त्वात्तु मार्गमिच्छन्ति संस्तुतम् ॥ २ ॥

वेदोंके विद्वान् और वेदोक्त कर्मोंमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष प्रायः दुर्लभ हैं । जो अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, वे पुरुष वेदोक्त दोनों मार्गोंमेंसे जो अधिक महत्त्वपूर्ण होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित है, उस मोक्षमार्गको ही चाहते हैं ॥ २ ॥

सद्भिराचरितत्वात्तु वृत्तमेतदगर्हितम् ।
इयं सा बुद्धिरभ्येत्य यया याति परां गतिम् ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंने सदा इसी मार्गको ग्रहण किया है; अतः यही अनिन्द्य एवं निर्दोष है। यह वह बुद्धि है जिसके द्वारा चलकर मनुष्य परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

शरीरवानुपादत्ते मोहात् सर्वान् परिग्रहान् ।
क्रोधलोभादिभिर्भावैर्युक्तो राजसतामसैः ॥ ४ ॥

जो देहाभिमानी है, वह मोहवश क्रोध, लोभ आदि राजस, तामस-भावोंसे युक्त होकर सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहमें लग जाता है ॥ ४ ॥

नाशुद्धमाचरेत् तस्मादभीप्सन् देहयापनम् ।
कर्मणा विवरं कुर्वन्न लोकानाप्नुयाच्छुभान् ॥ ५ ॥

अतः जो देह-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कभी अशुद्ध (अवैध) आचरण नहीं करना चाहिये। वह निष्काम कर्मद्वारा मोक्षका द्वार खोले और स्वर्ग आदि पुण्यलोक पानेकी कदापि इच्छा न करे ॥ ५ ॥

लोहयुक्तं यथा हेम विपक्वं न विराजते ।
तथापक्वकषायाख्यं विज्ञानं न प्रकाशते ॥ ६ ॥

जैसे लोहयुक्त सुवर्ण आगमें पकाकर शुद्ध किये बिना अपने स्वरूपसे प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चित्तके राग आदि दोषोंका नाश हुए बिना उसमें ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता है ॥ ६ ॥

यश्चाधर्मं चरेल्लोभात् कामक्रोधावनुप्लवन् ।
धर्म्यं पन्थानमाक्रम्य सानुबन्धो विनश्यति ॥ ७ ॥

जो लोभवश काम-क्रोधका अनुसरण करते हुए धर्म-मार्गका उल्लङ्घन करके अधर्मका आचरण करने लगता है, वह सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

शब्दादीन् विषयांस्तस्मान्न संरागादयं व्रजेत्।
क्रोधो हर्षो विषादश्च जायन्तेह परस्परात् ॥ ८ ॥

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको कभी रागके वशमें होकर शब्द आदि विषयोंका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर हर्ष, क्रोध और विषाद—इन सात्त्विक, राजस और तामस-भावोंकी एक दूसरेसे उत्पत्ति होती है ॥

पञ्चभूतात्मके देहे सत्त्वे राजसतामसे।
कमभिष्टुवते चायं कं वाऽऽक्रोशति किं वदन्॥ ९ ॥

यह शरीर पाँच भूतोंका विकार है और सत्त्व, रज एवं तम—तीन गुणोंसे युक्त है। इसमें रहकर यह निर्विकार आत्मा क्या कहकर किसकी निन्दा और किसकी स्तुति करे ॥ ९ ॥

स्पर्शरूपरसाद्येषु सङ्गं गच्छन्ति बालिशाः।
नावगच्छन्त्यविज्ञानादात्मानं पार्थिवं गुणम् ॥ १० ॥

अज्ञानी पुरुष स्पर्श, रूप और रस आदि विषयोंमें आसक्त होते हैं। वे विशिष्ट ज्ञानसे रहित होनेके कारण यह नहीं जानते हैं कि यह शरीर पृथ्वीका विकार है ॥ १० ॥

मृन्मयं शरणं यद्वन्मृदैव परिलिप्यते।
पार्थिवोऽयं तथा देहो मृद्विकारान्न नश्यति ॥ ११ ॥

जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे ही लीपा जाता है तो सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पृथ्वीके ही विकार-भूत अन्न और जलके सेवनसे ही नष्ट नहीं होता है ॥ ११ ॥

मधु तैलं पयः सर्पिर्मांसानि लवणं गुडः।
धान्यानि फलमूलानि मृद्विकाराः सहाम्भसा ॥१२॥

मधु, तेल, दूध, घी, मांस, लवण, गुड़, धान्य, फल-मूल और जल—ये सभी पृथ्वीके ही विकार हैं ॥ १२ ॥

यद्वत् कान्तारमातिष्ठन्नौत्सुक्यं समनुव्रजेत्।
ग्राम्यमाहारमादद्यादस्वाद्वपि हि यापनम् ॥ १३ ॥
तद्वत् संसारकान्तारमातिष्ठञ्श्रमतत्परः।
यात्रार्थमद्यादाहारं व्याधितो भेषजं यथा ॥ १४ ॥

जैसे वनमें रहनेवाला संन्यासी स्वादिष्ट अन्न (मिठाई आदि) के लिये उत्सुक नहीं होता। वह शरीर-निर्वाहके लिये स्वाधीन रूखा सूखा ग्रामीण आहार भी ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संसाररूपी वनमें रहनेवाला गृहस्थ परिश्रममें संलग्न हो जीवन निर्वाहमात्रके लिये शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करे। ठीक उसी तरह, जैसे रोगी जीवनरक्षाके लिये औषध सेवन करता है ॥ १३-१४ ॥

सत्यशौचार्जवत्यागैर्वर्चसा विक्रमेण च।
क्षान्त्या धृत्या च बुद्ध्या च मनसा तपसैव च ॥१५॥
भावान् सर्वानुपावृत्तान् समीक्ष्य विषयात्मकान्।
शान्तिमिच्छन्नदीनात्मा संयच्छेदिन्द्रियाणि च ॥१६॥

उदारचित्त पुरुष सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तेज, पराक्रम, क्षमा, धैर्य, बुद्धि, मन और तपके प्रभावसे समस्त विषयात्मक भावोंपर आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए शान्तिकी इच्छासे अपनी इन्द्रियोंको संयममें रक्खे ॥ १५-१६ ॥

सत्त्वेन रजसा चैव तमसा चैव मोहिताः।
चक्रवत् परिवर्तन्ते ह्यज्ञानाज्जन्तवो भृशम् ॥ १७ ॥

अजितेन्द्रिय जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज और तमसे मोहित हो निरन्तर चक्रकी तरह घूमते रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मात् सम्यक् परीक्षेत दोषानज्ञानसम्भवान्।
अज्ञानप्रभवं दुःखमहंकारं परित्यजेत् ॥ १८ ॥

अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अज्ञानजनित दोषोंकी भलीभाँति परीक्षा करे तथा उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए दुःख और अहंकारको त्याग दे ॥ १८ ॥

महाभूतानीन्द्रियाणि गुणाः सत्त्वं रजस्तमः।
त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, शब्द आदि गुण, सत्त्व, रज और तम तथा लोकपालोंसहित तीनों लोक—यह सब कुछ अहंकारमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १९ ॥

यथेह नियतः कालो दर्शयत्यार्तवान् गुणान्।
तद्वद्भूतेष्वहंकारं विद्यात् कर्मप्रवर्तकम् ॥ २० ॥

जैसे इस जगत्में नियत काल यथासमय ऋतु-सम्बन्धी गुणोंको प्रकट कर दिखाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें अहंकारको ही उनके कर्मोंका प्रवर्तक जानना चाहिये ॥

सम्मोहकं तमो विद्यात् कृष्णमज्ञानसम्भवम्।
प्रीतिदुःखनिबद्धांश्च समस्तांस्त्रीनथो गुणान् ॥ २१ ॥

अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारका होता है। तमोगुण मोहमें डालनेवाला तथा अन्धकारके समान काला है। उसे अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। प्रीति उत्पन्न करनेवाले भाव सात्त्विक हैं और दुःख देनेवाले राजस। इस प्रकार इन समस्त त्रिविध गुणोंका स्वरूप जानना चाहिये ॥ २१ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च निबोध तान्।
प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसंदेहो धृतिः स्मृतिः।
एतान् सत्त्वगुणान् विद्यादिमान् राजसतामसान् २२
कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः।
विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता ॥ २३ ॥

अब मैं तुम्हें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके कार्य बताता हूँ, सुनो। प्रसन्नता, हर्षजनित प्रीति, संदेहका अभाव, धैर्य और स्मृति—इन सबको सत्त्वगुणके कार्य समझो। काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लान्ति, विषाद, शोक, अप्रसन्नता, मान, दर्प और अनार्यता—इन्हें रजोगुण और तमोगुणके कार्य समझना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

दोषाणामेवमादीनां परीक्ष्य गुरुलाघवम्।
विमृशेदात्मसंस्थानमेकैकमनुसंततम् ॥ २४ ॥

इनके तथा ऐसे ही दूसरे दोषोंके बड़े-छोटेका विचार करके फिर इस बातकी परीक्षा करे कि इनमेंसे एक-एक दोष मुझमें है या नहीं। यदि है तो कितनी मात्रामें है (इस तरह विचार करते हुए सभी दोषोंसे छूटनेका प्रयत्न करे) ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के दोषा मनसा त्यक्ताः के बुद्ध्या शिथिलीकृताः ।
के पुनः पुनरायान्ति के मोहादफला इव ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालके मुमुक्षुओंने किन-किन दोषोंका मनके द्वारा त्याग किया है और किन्हें बुद्धिके द्वारा शिथिल किया है ? कौन दोष बारंबार आते हैं और कौन मोहवश फल देनेमें असमर्थ-से प्रतीत होते हैं ? ॥

केषां बलाबलं बुद्ध्या हेतुभिर्विमृशेद् बुधः ।
एष मे संशयस्तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धि तथा युक्तियोंद्वारा किन दोषोंके बलाबलका विचार करे । तात ! पितामह ! यह मेरा संशय है । आप मुझसे इसका विवेचन कीजिये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

दोषैर्मूलादवच्छिन्नैर्विशुद्धात्मा विमुच्यते ।
विनाशयति सम्भूतमयस्मयमयो यथा ।
तथा कृतात्मा सहजैर्दोषैर्नश्यति तामसैः ॥ २७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इन दोषोंका मूल कारण है अज्ञान । अतः मूलसहित इन दोषोंका नाश हो जानेपर मनुष्यका अन्तःकरण विशुद्ध होता है और वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । जैसे लोहेकी बनी हुई छेनीकी धार लोहमयी साँकलको काटकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शुद्ध हुई बुद्धि तमोगुणजनित सहज दोषोंको नष्ट करके उनके साथ ही स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ २७ ॥

राजसं तामसं चैव शुद्धात्मकमकल्मषम् ।
तत् सर्वं देहिनां बीजं सत्त्वमात्मवतः समम् ॥ २८ ॥

यद्यपि रजोगुण, तमोगुण तथा काम, मोह आदि दोषोंसे रहित शुद्ध सत्त्वगुण—ये तीनों ही देहधारियोंकी देहकी उत्पत्तिके मूल कारण हैं, तथापि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, उस पुरुषके लिये सत्त्वगुण ही समताका साधन है ॥२८॥

तस्मादात्मवता वर्ज्यं रजश्च तम एव च ।
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तं सत्त्वं निर्मलतामियात् ॥ २९ ॥

अतः जितात्मा पुरुषको रजोगुण और तमोगुणका त्याग ही करना चाहिये । इन दोनोंसे छूट जानेपर बुद्धि निर्मल हो जाती है ॥ २९ ॥

अथवा मन्त्रवद् ब्रूयुरात्मादानाय दुष्कृतम् ।
स वै हेतुरनादाने शुद्धधर्मानुपालने ॥ ३० ॥

अथवा बुद्धिको वशमें करनेके लिये शास्त्रविहित मन्त्रयुक्त यज्ञादि कर्मको कुछ लोग दोषयुक्त बताते हैं; परंतु वह मन्त्रयुक्त यज्ञादि धर्म भी निष्कामभावसे किये जानेपर वैराग्यका हेतु है तथा शुद्ध धर्म—शम, दम आदिके निरन्तर पालनमें भी वही निमित्त बनता है ॥ ३० ॥

रजसाधर्मयुक्तानि कार्याण्यपि समाप्नुते ।
अर्थयुक्तानि चात्यर्थं कामान् सर्वांश्च सेवते ॥ ३१ ॥

मनुष्य रजोगुणके अधीन होनेपर उसके द्वारा भाँति-भाँतिके अधर्मयुक्त एवं अर्थयुक्त कर्म करने लगता है तथा वह सम्पूर्ण भोगोंका अत्यन्त आसक्तिपूर्वक सेवन करता है ॥३१॥

तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते ।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः ॥ ३२ ॥

तमोगुणद्वारा मनुष्य लोभ और क्रोधजनित कर्मोंका सेवन करता है, हिंसात्मक कर्मोंमें उसकी विशेष आसक्ति हो जाती है तथा वह हर समय निद्रा-तन्द्रासे घिरा रहता है ॥३२॥

सत्त्वस्थः सात्त्विकान् भावाञ्छुद्धान् पश्यति संश्रितः ।
स देही विमलः श्रीमाञ्श्रद्धाविद्यासमन्वितः ॥ ३३ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित हुआ पुरुष शुद्ध सात्त्विक भावोंको ही देखता और उन्हींका आश्रय लेता है । वह अत्यन्त निर्मल और कान्तिमान् होता है । उसमें श्रद्धा और विद्याकी प्रधानता होती है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवोत्पत्तिका वर्णन करते हुए दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये विषयासक्तिके त्यागका उपदेश

भीष्म उवाच

रजसा साध्यते मोहस्तमसा भरतर्षभ ।
क्रोधलोभौ भयं दर्प एतेषां सादनाच्छुचिः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण और तमोगुणसे मोहकी उत्पत्ति होती है तथा उससे क्रोध, लोभ, भय एवं दर्प उत्पन्न होते हैं; इन सबका नाश करनेसे ही मनुष्य शुद्ध होता है ॥ १ ॥

परमं परमात्मानं देवमक्षयमव्ययम् ।
विष्णुमव्यक्तसंस्थानं विदुस्तं देवसत्तमम् ॥ २ ॥

ऐसे शुद्धात्मा पुरुष ही उस अक्षय, अविनाशी, परमदेव, अव्यक्तस्वरूप, देवप्रवर परमात्मा विष्णुका तत्त्व जान पाते हैं ॥ २ ॥

तस्य मायापिनद्धाङ्गा नष्टज्ञाना विचेतसः ।
मानवा ज्ञानसम्मोहात् ततः क्रोधं प्रयान्ति वै ॥ ३ ॥

उसी ईश्वरकी मायासे आवृत हो जानेपर मनुष्योंके ज्ञान और विवेकका नाश हो जाता है तथा वे बुद्धिके व्यामोहसे क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

क्रोधात् काममवाप्याथ लोभमोहौ च मानवाः ।
मानदर्पावहङ्कारमहङ्कारात् ततः क्रियाः ॥ ४ ॥

क्रोधसे काम उत्पन्न होता है और फिर कामसे मनुष्य लोभ, मोह, मान, दर्प एवं अहङ्कारको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् अहङ्कारसे प्रेरित होकर ही उनकी सारी क्रियाएँ होने लगती हैं ॥ ४ ॥

क्रियाभिः स्नेहसम्बन्धात्स्नेहाच्छोकमनन्तरम् ।
सुखदुःखक्रियारम्भाज्जन्माजन्मकृतक्षणाः ॥ ५ ॥

ऐसी क्रियाओंद्वारा मनुष्य आसक्तिसे युक्त हो जाता है। आसक्तिसे शोक होता है। फिर सुख-दुःखयुक्त कार्य आरम्भ करनेसे मनुष्यको जन्म और मृत्युके कष्ट स्वीकार करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

जन्मतो गर्भवासं तु शुक्रशोणितसम्भवम् ।
पुरीषमूत्रविक्लेदं शोणितप्रभवाविलम् ॥ ६ ॥

जन्मके निमित्तसे गर्भवासका कष्ट भोगना पड़ता है। रज और वीर्यके परस्पर संयुक्त होनेपर गर्भवासका अवसर आता है, जहाँ मल और मूत्रसे भीगे तथा रक्तके विकारसे मलिन स्थानमें रहना पड़ता है ॥ ६ ॥

तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥ ७ ॥

तृष्णासे अभिभूत तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे बद्ध होकर उन्हींका अनुसरण करता हुआ मनुष्य (महान् दुःख उठाता रहता है। यदि उनसे छूटनेकी इच्छा हो तो) स्त्रियोंको संसाररूपी वस्त्रको बुननेवाली तन्तुवाहिनी समझे और उनसे दूर रहे ॥ ७ ॥

प्रकृत्या क्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणाः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽतीयाद् विशेषतः ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ प्रकृतिके तुल्य हैं; अतः क्षेत्रस्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञरूप हैं (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुषको बाँधती है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ पुरुषोंको अपने मोहजालमें बाँध लेती हैं), इसलिये सामान्यतः प्रत्येक पुरुषको विशेष प्रयत्नपूर्वक स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥ ९ ॥

ये स्त्रियाँ भयानक कृत्याके समान हैं; अतः अज्ञानी मनुष्योंको मोहमें डाल देती हैं। इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न करनेवाली यह सनातन नारीमूर्ति रजोगुणसे तिरोहित है ॥ ९ ॥

तस्मात् तदात्मकाद् रागाद् बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वदेहजानस्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात् कृमींस्त्यजेत् ।
स्वसंज्ञानस्वकांस्तद्वत् सुतसंज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥ १० ॥

अतः स्त्रीसम्बन्धी अनुरागके कारण पुरुषके वीर्यसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जैसे मनुष्य अपनी ही देहसे उत्पन्न हुए जूँ और लीख आदि स्वेदज कीटोंको अपना न मानकर त्याग देता है, उसी प्रकार अपने कहलानेवाले जो अनात्मा पुत्रनामधारी कीट हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वभावात् कर्मयोगाद् वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ११ ॥

इस शरीरसे वीर्यद्वारा अथवा पसीनोंद्वारा स्वभावसे अथवा प्रारब्धके अनुसार जन्तुओंका जन्म होता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

रजस्तमसि पर्यस्तं सत्त्वं च रजसि स्थितम् ।
ज्ञानाधिष्ठानमव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारलक्षणम् ॥ १२ ॥

तमोगुणमें स्थित रजोगुण तथा रजोगुणमें स्थित सत्त्वगुण जब रजोगुण-तमोगुणमें स्थित हो जाता है और सत्त्वगुण रजोगुणमें स्थित हो जाता है, तब ज्ञानका अधिष्ठानभूत अव्यक्त आत्मा बुद्धि और अहङ्कारसे युक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

तद् बीजं देहिनामाहुस्तद् बीजं जीवसंज्ञितम् ।
कर्मणा कालयुक्तेन संसारपरिवर्तनम् ॥ १३ ॥

वह अव्यक्त आत्मा ही देहधारी प्राणियोंका बीज है और वह बीजभूत आत्मा ही गुणोंके सङ्गके कारण जीव कहलाता है। वही कालसे युक्त कर्मसे प्रेरित हो संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ १३ ॥

रमत्ययं यथा स्वप्ने मनसा देहवानिव ।
कर्मगर्भैर्गुणैर्देही गर्भे तदुपलभ्यते ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें यह जीव मनके द्वारा ही दूसरा शरीर धारण करके क्रीडा करता है, उसी प्रकार वह कर्मगर्भित गुणोंद्वारा गर्भमें उपलब्ध होता है ॥ १४ ॥

कर्मणा बीजभूतेन चोद्यते यद् यदिन्द्रियम् ।
जायते तदहङ्काराद् रागयुक्तेन चेतसा ॥ १५ ॥

बीजभूत कर्मसे जिस-जिस इन्द्रियको उत्पत्तिके लिये प्रेरणा प्राप्त होती है, रागयुक्त चित्त एवं अहङ्कारसे वही-वही इन्द्रिय प्रकट हो जाती है ॥ १५ ॥

शब्दरागाच्छ्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धचिकीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दके प्रति राग होनेसे उस भावितात्मा पुरुषकी श्रवणेन्द्रिय प्रकट होती है। रूपके प्रति राग होनेसे नेत्र और गन्ध ग्रहण करनेकी इच्छा होनेसे नासिकाका प्राकट्य होता है ॥ १६ ॥

स्पर्शने त्वक् तथा वायुः प्राणापानव्यपाश्रयः ।
व्यानोदानौ समानश्च पञ्चधा देहयापनम् ॥ १७ ॥

स्पर्शके प्रति राग होनेसे त्वगिन्द्रिय और वायुका प्राकट्य होता है। वायु प्राण और अपानका आश्रय है। वही उदान, व्यान तथा समान है। इस प्रकार वह पाँच रूपोंमें प्रकट हो शरीर-यात्राका निर्वाह करती है ॥ १७ ॥

संजातैर्जायते गात्रैः कर्मजैर्ब्रह्मणा वृतः ।
दुःखाद्यन्तैर्दुःखमध्यैर्नरः शारीरमानसैः ॥ १८ ॥

मनुष्य जन्मकालमें पूर्णतः उत्पन्न हुए कर्मजनित अङ्गों और सम्पूर्ण शरीरसे युक्त होकर जन्म ग्रहण करता है। वह मनुष्य आदि, मध्य और अन्तमें भी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित रहता है ॥ १८ ॥

दुःखं विद्यादुपादानादभिमानाच्च वर्धते ।
त्यागात् तेभ्यो निरोधः स्यान्निरोधज्ञो विमुच्यते ॥ १९ ॥

शरीरके ग्रहणमात्रसे दुःखकी प्राप्ति निश्चित समझनी चाहिये। शरीरमें अभिमान करनेसे उस दुःखकी वृद्धि होती है। अभिमानके त्यागसे उन दुःखोंका अन्त होता है। जो दुःखोंके अन्त होनेकी इस कलाको जानता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणां रजस्येव प्रलयप्रभवावुभौ ।
परीक्ष्य संचरेद् विद्वान् यथावच्छास्त्रचक्षुषा ॥ २० ॥

इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और लय—ये दोनों कार्य रजोगुणमें ही होते हैं। विद्वान् पुरुष शास्त्रदृष्टिसे इन बातोंकी भली-भाँति परीक्षा करके यथोचित आचरण करे ॥ २० ॥

ज्ञानेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान्नोपसर्पन्त्यतर्षुलम् ।
हीनैश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति ॥ २१ ॥

जिसमें तृष्णाका अभाव है, उस पुरुषको ये ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंकी प्राप्ति नहीं करातीं। इन्द्रियोंके विषयासक्तिसे रहित हो जानेपर देही पुनः शरीरको धारण नहीं करता ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा वैराग्यसे मुक्ति

भीष्म उवाच

अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा ।
तत्त्वज्ञानाच्चरन् राजन् प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अब मैं तुम्हें शास्त्र-दृष्टिसे मोक्षका यथावत् उपाय बताता हूँ। शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानसे परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते ।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है। मनुष्योंमें द्विजोंको और द्विजोंमें भी मन्त्रद्रष्टा (वेदज्ञ) ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ बताया गया है ॥ २ ॥

सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयाः ॥ ३ ॥

वेद-शास्त्रोंके यथार्थ ज्ञाता ब्राह्मण समस्त भूतोंके आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उन्हें परमार्थतत्त्वका पूर्ण निश्चय होता है ॥ ३ ॥

नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि ।
ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥ ४ ॥

जैसे नेत्रहीन पुरुष मार्गमें अकेला होनेपर तरह-तरहके दुःख पाता है, उसी प्रकार संसारमें ज्ञानहीन मनुष्यको भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं; इसलिये ज्ञानी पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

तांस्तानुपासते धर्मान् धर्मकामा यथागमम् ।
न त्वेषामर्थसामान्यमन्तरेण गुणानिमान् ॥ ५ ॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य शास्त्रके अनुसार उन-उन यज्ञादि सकाम धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं; किंतु आगे बताये जानेवाले गुणोंके बिना इन्हें सबके लिये समानरूपसे अभीष्ट मोक्ष नामक पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः ।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥ ६ ॥

वाणी, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—इन गुणोंको प्रायः सभी धर्मोंके धर्मज्ञ पुरुष कल्याणकारी बताते हैं ॥ ६ ॥

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ॥ ७ ॥

यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे तो शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है। यह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ ८ ॥
वाक्सम्भाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनःपरिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ ९ ॥

वह परमपद पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दसों इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरके संयोगसे शून्य है, शब्द और स्पर्शसे रहित है। जो कानसे सुनता नहीं, आँखसे देखता नहीं और वाणी-द्वारा कुछ बोलता नहीं है तथा जो मनसे भी रहित है, वही वह परमपद या ब्रह्म है। मनुष्य बुद्धिके द्वारा उसका निश्चय करे और उसकी प्राप्तिके लिये निष्कलङ्क ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ ८-९ ॥

सम्यग्वृत्तिर्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्।
द्विजाग्र्यो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः॥ १०॥

जो मनुष्य इस व्रतका अच्छी तरह पालन करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। मध्यम श्रेणीके ब्रह्मचारीको देवताओंका लोक प्राप्त होता है और कनिष्ठ श्रेणीका विद्वान् ब्रह्मचारी श्रेष्ठ ब्राह्मणके रूपमें जन्म लेता है॥ १०॥

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः॥ ११॥

ब्रह्मचर्यका पालन अत्यन्त कठिन है। उसके लिये जो उपाय है, वह मुझसे सुनो। ब्राह्मणको चाहिये कि जब रजोगुणकी वृत्ति प्रकट होने और बढ़ने लगे तो उसे रोक दे॥

योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः॥ १२॥

स्त्रियोंकी चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्थामें न देखे; क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओंमें उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बल हृदयवाले पुरुषोंके मनमें रजोगुण—राग या कामभावका प्रवेश हो जाता है॥ १२॥

रागोत्पन्नश्चरेत् कृच्छ्रं महार्तिः प्रविशेदपः।
मग्नः स्वप्ने च मनसा त्रिर्जपेदघमर्षणम्॥ १३॥

ब्रह्मचारीके मनमें यदि राग या काम-विकार उत्पन्न हो जाय तो वह आत्मशुद्धिके लिये कृच्छ्र[1]व्रतका आचरण करे। यदि वीर्यकी वृद्धि होनेसे उसे कामवेदना अधिक सता रही हो तो वह नदी या सरोवरके जलमें प्रवेश करके स्नान करे। यदि स्वप्नावस्थामें वीर्यपात हो जाय तो जलमें गोता लगाकर मन-ही-मन तीन बार अघमर्षण[2] सूक्तका जप करे॥

पाप्मानं निर्दहेदेवमन्तर्भूतरजोमयम्।
ज्ञानयुक्तेन मनसा संततेन विचक्षणः॥ १४॥

विवेकी पुरुषको इस प्रकार ज्ञानयुक्त एवं संयमशील मनके द्वारा अपने अन्तःकरणमें प्रकट हुए पापमय काम-विकारको दग्ध कर देना चाहिये॥ १४॥

कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनम्।
तद्वद् देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनम्॥ १५॥

मुर्देके समान अपवित्र एवं मलयुक्त नाड़ियाँ जिस प्रकार देहके भीतर दृढ़तापूर्वक बँधी हुई हैं, उसी प्रकार (अज्ञानसे) उसके भीतर जीवात्मा भी दृढ़ बन्धनमें बँधा हुआ है, ऐसा जानना चाहिये॥ १५॥

वातपित्तकफाद् रक्तं त्वङ्मांसं स्नायुमस्थि च।
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम्॥ १६॥

भोजनसे प्राप्त हुए रस नाड़ीसमूहोंद्वारा संचरित होकर मनुष्योंके वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, चर्बी एवं सम्पूर्ण शरीरको तृप्त एवं पुष्ट करते हैं॥

दश विद्याद् धमन्योऽत्र पञ्चेन्द्रियगुणावहाः।
याभिः सूक्ष्माः प्रतायन्ते धमन्योऽन्याः सहस्रशः॥ १७॥

इस शरीरके भीतर उपर्युक्त वात, पित्त आदि दस वस्तुओंको वहन करनेवाली दस ऐसी नाड़ियाँ हैं, जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्द आदि गुणोंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करानेवाली हैं। उन्हींके साथ अन्य सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियाँ सारे शरीरमें फैली हुई हैं॥ १७॥

एवमेताः शिरा नद्यो रसोदा देहसागरम्।
तर्पयन्ति यथाकालमापगा इव सागरम्॥ १८॥

जैसे नदियाँ अपने जलसे यथासमय समुद्रको तृप्त करती रहती हैं, उसी प्रकार रसको बहानेवाली ये नाड़ीरूप नदियाँ इस देह-सागरको तृप्त किया करती हैं॥ १८॥

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति॥ १९॥

हृदयके मध्यभागमें एक मनोवहा नामकी नाड़ी है, जो पुरुषोंके कामविषयक संकल्पके द्वारा सारे शरीरसे वीर्यको खींचकर बाहर निकाल देती है॥ १९॥

सर्वगात्रप्रतायिन्यस्तस्या ह्यनुगताः शिराः।
नेत्रयोः प्रतिपद्यन्ते वहन्त्यस्तैजसं गुणम्॥ २०॥

उस नाड़ीके पीछे चलनेवाली और सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई अन्य नाड़ियाँ तैजस-गुणरूप ग्रहणकी शक्तिको वहन करती हुई नेत्रोंतक पहुँचती हैं॥ २०॥

पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद् देहसंकल्पजैः खजैः॥ २१॥

जिस प्रकार दूधमें छिपे हुए घीको मथानीसे मथकर अलग किया जाता है, उसी प्रकार देहस्थ संकल्प और इन्द्रियोंसे होनेवाले स्त्रियोंके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे मथित होकर पुरुषका वीर्य बाहर निकल जाता है॥ २१॥

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनःसंकल्पजं रजः।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा॥ २२॥

जैसे स्वप्नमें संसर्ग न होनेपर भी मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ स्त्रीविषयक राग उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार

---

१. 'कृच्छ्र' शब्दसे प्राजापत्यकृच्छ्रका ग्रहण किया जाता है। प्राजापत्यकृच्छ्रका विधान इस प्रकार है—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्योऽयमुच्यते॥
(मनुस्मृति ११। २१२)

तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल तथा तीन दिनतक केवल अयाचित अन्नका भोजन करे। फिर तीन दिनतक उपवास रक्खे। इसे प्राजापत्यकृच्छ्र कहा जाता है।

२. अघमर्षणसूक्त निम्नलिखित है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

मनोवहा नाड़ी पुरुषके शरीरसे संकल्पजनित वीर्यका निःसारण कर देती है ॥ २२ ॥

महर्षिर्भगवानत्रिर्वेद तच्छुक्रसम्भवम् ।
त्रिबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ॥ २३ ॥

भगवान् महर्षि अत्रि वीर्यकी उत्पत्ति और गतिको जानते हैं तथा ऐसा कहते हैं कि मनोवहा नाड़ी, संकल्प और अन्न— ये तीन ही वीर्यके कारण हैं । इस वीर्यका देवता इन्द्र है; इसलिये इसे इन्द्रिय कहते हैं ॥ २३ ॥

ये वै शुक्रगतिं विद्युर्भूतसंकरकारिकाम् ।
विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नुयुर्देहसम्भवम् ॥ २४ ॥

जो यह जानते हैं कि वीर्यकी गति ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाली है, वे विरक्त हो अपने सारे दोषोंको भस्म कर डालते हैं; इसलिये वे पुनः देहके बन्धनमें नहीं पड़ते ॥ २४ ॥

गुणानां साम्यमागम्य मनसैव मनोवहम् ।
देहकर्मा नुदन् प्राणानन्तकाले विमुच्यते ॥ २५ ॥

जो केवल शरीरकी रक्षाके लिये भोजन आदि कर्म करता है, वह अभ्यासके बलसे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके मनके द्वारा मनोवहा नाड़ीको संयममें रखते हुए अन्तकालमें प्राणोंको सुषुम्णा मार्गसे ले जाकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

भविता मनसो ज्ञानं मन एव प्रजायते ।
ज्योतिष्मद्विरजो नित्यं मन्त्रसिद्धं महात्मनाम् ॥ २६ ॥

उन महात्माओंके मनमें तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है; क्योंकि प्रणवोपासनासे परिशुद्ध हुआ उनका मन नित्य प्रकाशमय और निर्मल हो जाता है ॥ २६ ॥

तस्मात् तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
रजस्तमश्च हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ २७ ॥

अतः मनको वशमें करनेके लिये मनुष्यको निर्दोष एवं निष्काम कर्म करने चाहिये । ऐसा करनेसे वह रजोगुण और तमोगुणसे छूटकर इच्छानुसार गति प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

तरुणाधिगतं ज्ञानं जरादुर्बलतां गतम् ।
विपक्वबुद्धिः कालेन आदत्ते मानसं बलम् ॥ २८ ॥

युवावस्थामें प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रायः बुढ़ापेमें क्षीण हो जाता है, परंतु परिपक्वबुद्धि मनुष्य समयानुसार ऐसा मानसिक बल प्राप्त कर लेता है, जिससे उसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता ॥ २८ ॥

सुदुर्गमिव पन्थानमतीत्य गुणबन्धनम् ।
यथा पश्येत् तथा दोषानतीत्यामृतमश्नुते ॥ २९ ॥

वह परिपक्व बुद्धिवाला मनुष्य अत्यन्त दुर्गम मार्गके समान गुणोंके बन्धनको पार करके जैसे-जैसे अपने दोष देखता है, वैसे ही वैसे उन्हें लाँघकर अमृतमय परमात्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

आसक्ति छोड़कर सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंके विषयोंका पार पाना बहुत कठिन है । जो प्राणी उनमें आसक्त होते हैं, वे दुःख भोगते रहते हैं और जो महात्मा उनमें आसक्त नहीं होते, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वैव संततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥ २ ॥

यह जगत् जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखों, नाना प्रकारके रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त है; ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुषको मोक्षके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

वाङ्मनोभ्यां शरीरेण शुचिः स्यादनहंकृतः ।
प्रशान्तो ज्ञानवान् भिक्षुर्निरपेक्षश्चरेत् सुखम् ॥ ३ ॥

वह मन, वाणी और शरीरसे पवित्र रहकर अहङ्कार-शून्य, शान्तचित्त, ज्ञानवान् एवं निःस्पृह होकर भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करता हुआ सुखपूर्वक विचरे ॥ ३ ॥

अथवा मनसः सङ्गं पश्येद् भूतानुकम्पया ।
तत्राप्युपेक्षां कुर्वीत ज्ञात्वा कर्मफलं जगत् ॥ ४ ॥

अथवा प्राणियोंपर दया करते रहनेसे भी मोहवश उनके प्रति मनमें आसक्ति हो जाती है । इस बातपर दृष्टिपात करे और यह समझकर कि सारा जगत् अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहा है, सबके प्रति उपेक्षाभाव रखे ॥ ४ ॥

यत् कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा यदि वाश्नुते ।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वा बुद्धिकर्मभिः ॥ ५ ॥

मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है; इसलिये मन, बुद्धि और

क्रियाके द्वारा सदा शुभ कर्मोंका ही आचरण करे ॥ ५ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, समस्त प्राणियोंके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव, क्षमा तथा प्रमादशून्यता—ये गुण जिस पुरुषमें विद्यमान हों, वही सुखी होता है ॥ ६ ॥

यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम् ।
दुःखान्निःसरणं वेद सर्वज्ञः स सुखी भवेत् ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस अहिंसा आदि परम धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सुखद और दुःखनिवारक जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सुखी होता है ॥ ७ ॥

तस्मात् समाहितं बुद्ध्या मनो भूतेषु धारयेत् ।
नापध्यायेन्न स्पृहयेन्नाबद्धं चिन्तयेदसत् ॥ ८ ॥
अथामोघप्रयत्नेन मनो ज्ञाने निवेशयेत् ।
वाचामोघप्रयासेन मनोज्ञं तत् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको समाहित करके समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्मामें लगावे । किसीका अहित न सोचे, असम्भव वस्तुकी कामना न करे, मिथ्या पदार्थोंकी चिन्ता न करे और सफल प्रयत्न करके मनको ज्ञानके साधनमें लगा दे। वेदान्त-वाक्योंके श्रवण तथा सुदृढ़ प्रयत्नसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ८-९ ॥

विवक्षता च सद्वाक्यं धर्मं सूक्ष्ममवेक्षता ।
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम् ॥ १० ॥
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ।
ईदृगल्पं च वक्तव्यमविक्षिप्तेन चेतसा ॥ ११ ॥

जो सूक्ष्म धर्मको देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो, उसको ऐसी बात कहनी चाहिये जो सत्य होनेके साथ ही हिंसा और परनिन्दासे रहित हो। जिसमें शठता, कठोरता, क्रूरता और चुगली आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो, ऐसी वाणी भी बहुत थोड़ी मात्रामें और सुस्थिर चित्तसे बोलनी चाहिये ॥ १०–११ ॥

वाक्प्रबद्धो हि संसारो विरागाद् व्याहरेद् यदि ।
बुद्ध्याप्यनुगृहीतेन मनसा कर्म तामसम् ॥ १२ ॥

संसारका सारा व्यवहार वाणीसे ही बँधा हुआ है, अतः सदा उत्तम वाणी ही बोले और यदि वैराग्य हो तो बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके अपने किये हुए हिंसादि तामस कर्मोंको भी लोगोंसे कह दे (क्योंकि प्रकाशित कर देनेसे पापकी मात्रा घट जाती है) ॥ १२ ॥

रजोभूतैर्हि करणैः कर्मणि प्रतिपद्यते ।
स दुःखं प्राप्य लोकेऽस्मिन् नरकायोपपद्यते ।
तस्मान्मनोवाक्शरीरैराचरेद् धैर्यमात्मनः ॥ १३ ॥

रजोगुणसे प्रभावित हुई इन्द्रियोंकी प्रेरणासे मनुष्य विषयभोगरूप कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और इस लोकमें दुःख भोगकर अन्तमें नरकगामी होता है; अतः मन, वाणी और शरीरद्वारा ऐसा कार्य करे, जिससे अपनेको धैर्य प्राप्त हो ॥ १३ ॥

प्रकीर्णमेषभारं हि यद्वद् धार्येत दस्युभिः ।
प्रतिलोमां दिशं बुद्ध्वा संसारमबुधास्तथा ॥ १४ ॥

जैसे चोर या लुटेरे किसीकी भेड़को मारकर उसे कंधेपर उठाये हुए जबतक भागते हैं, तबतक उन्हें सारी दिशाओंमें पकड़े जानेका भय बना रहता है और जब मार्गको प्रतिकूल समझकर उस भेड़के बोझको अपने कंधेसे उतार फेंकते हैं, तब अपनी अभीष्ट दिशाको सुखपूर्वक चले जाते हैं । उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य जबतक सांसारिक कर्मरूप बोझको ढोते हैं, तबतक उन्हें सर्वत्र भय बना रहता है और जब उसे त्याग देते हैं, तब शान्तिके भागी हो जाते हैं ॥ १४ ॥

तमेव च यथा दस्युः क्षिप्त्वा गच्छेच्छिवां दिशम् ।
तथा रजस्तमःकर्माण्युत्सृज्य प्राप्नुयाच्छुभम् ॥ १५ ॥

जैसे चोर या डाकू जब उस चोरीके मालका बोझ उतार फेंकता है, तब जहाँ उसे सुख मिलनेकी आशा होती है, उस दिशामें अनायास चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्य राजस और तामस कर्मोंको त्यागकर शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

निःसंदिग्धमनीहो वै मुक्तः सर्वपरिग्रहैः ।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १६ ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान् ।
निष्प्रचारेण मनसा परं तदधिगच्छति ॥ १७ ॥

जो सब प्रकारके संग्रहसे रहित, निरीह, एकान्तवासी, अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय है, जिसके सम्पूर्ण क्लेश ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गये हैं तथा जो योगानुष्ठानका प्रेमी और मनको वशमें रखनेवाला है, वह अपने निश्चल चित्तके द्वारा उस परब्रह्म परमात्माको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

धृतिमानात्मवान् बुद्धिं निगृह्णीयादसंशयम् ।
मनो बुद्ध्या निगृह्णीयाद् विषयान्मनसाऽऽत्मनः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् एवं धीर पुरुषको चाहिये कि वह बुद्धिको निश्चय ही अपने वशमें करे; फिर बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोककर अपने अधीन करे ॥ १८ ॥

निगृहीतेन्द्रियस्यास्य कुर्वाणस्य मनो वशे ।
देवतास्तत् प्रकाशन्ते हृष्टा यान्ति तमीश्वरम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जिसने इन्द्रियोंको वशमें करके मनको अपने अधीन कर लिया है, उस अवस्थामें उसकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता प्रसन्नतासे प्रकाशित होने लगते हैं और ईश्वरकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ताभिः संयुक्तमनसो ब्रह्म तत् सम्प्रकाशते ।
शनैश्चोपगते सत्त्वे ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २० ॥

उन इन्द्रियदेवताओंसे जिसका मन संयुक्त हो गया है, उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म परमात्मा प्रकाशित हो उठता है;

फिर धीरे-धीरे सत्त्वगुण प्राप्त होनेपर वह मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अथवा न प्रवर्तेत योगतन्त्रैरुपक्रमेत् ।
येन तन्त्रयतस्तन्त्रं वृत्तिः स्यात् तत् तदाचरेत्॥२१॥

अथवा यदि पूर्वोक्तरूपसे उसके भीतर ब्रह्म प्रकाशित न हो तो वह योगी योगप्रधान उपायोंद्वारा अभ्यास आरम्भ करे । जिस हेतुसे योगाभ्यास करते हुए योगीकी ब्रह्ममें ही स्थिति हो, वह उसी-उसीका अनुष्ठान करे ॥ २१ ॥

कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं पर्यायेणोपयोजयेत् ॥ २२ ॥

अन्नके दाने, उड़द, तिलकी खली, साग, जौकी लप्सी, सत्तू, मूल और फल जो कुछ भी भिक्षामें मिल जाय, क्रमशः उसी अन्नसे योगी अपने जीवनका निर्वाह करे ॥ २२ ॥

आहारनियमं चैव देशे काले च सात्त्विकम् ।
तत् परीक्ष्यानुवर्तेत तत्प्रवृत्त्यनुपूर्वकम् ॥ २३ ॥

देश और कालके अनुसार सात्त्विक आहार ग्रहण करनेका नियम रक्खे । उस आहारके दोष-गुणकी परीक्षा करके यदि वह योगसिद्धिके अनुकूल हो तो उसे उपयोगमें ले ॥ २३ ॥

प्रवृत्तं नोपरुन्धेत शनैरग्निमिवेन्धयेत् ।
ज्ञानान्वितं तथा ज्ञानमर्कवत् सम्प्रकाशते ॥ २४ ॥

साधन आरम्भ कर देनेपर उसे बीचमें न रोके । जैसे आग धीरे-धीरे तेज की जाती है, उसी प्रकार ज्ञानके साधनको शनैः-शनैः उद्दीपित करे । ऐसा करनेसे ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होने लगता है ॥ २४ ॥

ज्ञानाधिष्ठानमज्ञानं त्रीँल्लोकानधितिष्ठति ।
विज्ञानानुगतं ज्ञानमज्ञानेनापकृष्यते ॥ २५ ॥

अज्ञानका अधिष्ठान भी ज्ञान ही है, जो तीनों लोकोंमें व्याप्त है । अज्ञानके द्वारा विज्ञानयुक्त ज्ञानका ह्रास होता है ॥ २५ ॥

पृथक्त्वात् सम्प्रयोगाच्च नासूयुर्वेद शाश्वतम् ।
स तयोरपवर्गज्ञो वीतरागो विमुच्यते ॥ २६ ॥

शास्त्रोंमें कहीं जीवात्मा और परमात्माकी पृथक्ताका प्रतिपादन करनेवाले वचन उपलब्ध होते हैं और कहीं उनकी एकताका । यह परस्पर विरोध देखकर दोषदृष्टि न करते हुए सनातन ज्ञानको प्राप्त करे । जो उन दोनों प्रकारके वचनोंका तात्पर्य समझकर मोक्षके तत्त्वको जान लेता है, वह वीतराग पुरुष संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

ततो वीतजरामृत्युर्ज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम् ।
अमृतं तदवाप्नोति यत् तदक्षरमव्ययम् ॥ २७ ॥

ऐसा पुरुष जरा और मृत्युका उल्लङ्घनकर सनातन ब्रह्मको जानकर उस अक्षर, अविकारी एवं अमृत ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें मनकी स्थिति तथा गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

भीष्म उवाच

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा ।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सदा निष्कलंक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको स्वप्नके दोषोंपर दृष्टि रखते हुए सब प्रकारसे निद्राका परित्याग कर देना चाहिये ॥ १ ॥

स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते ।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्युपगतस्पृहः ॥ २ ॥

स्वप्नमें जीवको प्रायः रजोगुण और तमोगुण दबा लेते हैं । वह कामनायुक्त होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हुएकी भाँति विचरता है ॥ २ ॥

ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम् ।
विज्ञानाभिनिवेशात्तु स जागर्त्यनिशं सदा ॥ ३ ॥

मनुष्यमें पहले तो ज्ञानका अभ्यास करनेसे जागनेकी आदत होती है, तत्पश्चात् विचार करनेके लिये जागना अनिवार्य हो जाता है तथा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह तो ब्रह्ममें निरन्तर जागता ही रहता है ॥ ३ ॥

अत्राह को न्वयं भावः स्वप्ने विषयवानिव ।
प्रलीनैरिन्द्रियैर्देही वर्तते देहवानिव ॥ ४ ॥

यहाँ पूर्व पक्ष यह प्रश्न उठाता है कि स्वप्नमें जो यह देहादि पदार्थ दिखायी देता है, क्या है ? (सत्य है या असत्य ? यदि कहें कि सत्य है तो ठीक नहीं; क्योंकि) स्वप्नावस्थामें सब कुछ विषयोंसे सम्पन्न-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें वहाँ कोई विषय नहीं होता, सारी इन्द्रियाँ उस समय मनमें विलीन हो जाती हैं । उन्हीं इन्द्रियोंसे देहाभिमानी जीव देहधारी-जैसा बर्ताव करता है । और यदि कहें कि स्वप्नके पदार्थ असत्य हैं तो यह भी ठीक नहीं;

क्योंकि जो सर्वथा असत् है, (जैसे आकाशका पुष्प) उसकी प्रतीति ही नहीं होती ॥ ४ ॥

अत्रोच्यते यथा ह्येतद् वेद योगेश्वरो हरिः ।
तथैतदुपपन्नार्थं वर्णयन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

अब यहाँ सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है । यह स्वप्न-जगत् जैसा है, उसे ठीक-ठीक योगेश्वर श्रीहरि ही जानते हैं; पर जैसा श्रीहरि जानते हैं, वैसा ही महर्षि भी उसका वर्णन करते हैं, उनका वह वर्णन युक्तिसंगत भी है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां श्रमात् स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः ।
मनसस्त्वप्रलीनत्वात् तत् तदाहुर्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् महर्षियोंका कहना है कि जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करते-करते श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब थक जाती हैं, तब सभी प्राणियोंके अनुभवमें आनेवाला स्वप्न दिखायी देने लगता है । उस समय इन्द्रियोंके लय होनेपर भी मनका लय नहीं होता है; इसलिये वह समस्त विषयोंका जो मनसे अनुभव करता है, वही स्वप्न कहलाता है । इस विषयमें प्रसिद्ध दृष्टान्त बताया जाता है ॥ ६ ॥

कार्ये व्यासक्तमनसः संकल्पो जाग्रतो ह्यपि ।
यद्वन्मनोरथैश्वर्यं स्वप्ने तद्वन्मनोगतम् ॥ ७ ॥

जैसे जाग्रत्-अवस्थामें विभिन्न कार्योंमें आसक्त-चित्त हुए मनुष्यके संकल्प मनोराज्यकी ही विभूति हैं, उसी प्रकार स्वप्नके भाव भी मनसे ही सम्बन्ध रखते हैं ॥ ७ ॥

संस्काराणामसंख्यानां कामात्मा तदवाप्नुयात् ।
मनस्यन्तर्हितं सर्वं स वेदोत्तमपूरुषः ॥ ८ ॥

कामनाओंमें जिसका मन आसक्त है, वह पुरुष स्वप्नमें असंख्य संस्कारोंके अनुसार अनेक दृश्योंको देखता है । वे समस्त संस्कार उसके मनमें ही छिपे रहते हैं, जिन्हें वह सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा जानता है ॥ ८ ॥

गुणानामपि यद्येतत् कर्मणा चाप्युपस्थितम् ।
तत् तच्छंसन्ति भूतानि मनो यद्भावितं यथा॥ ९ ॥

कर्मोंके अनुसार सत्त्वादि गुणोंमेंसे यदि यह सत्त्व, रज या तम जो कोई भी गुण प्राप्त होता है, उससे मनपर जब जैसे संस्कार पड़ते हैं अथवा जब जिस कर्मसे मन भावित होता है, उस समय सूक्ष्मभूत स्वप्नमें वैसे ही आकार प्रकट कर देते हैं ॥ ९ ॥

ततस्तमुपसर्पन्ति गुणा राजसतामसाः ।
सात्त्विका वा यथायोगमानन्तर्यफलोदयम् ॥ १० ॥

उस स्वप्नका दर्शन होते ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस गुण यथायोग्य सुख-दुःखरूप फलका अनुभव कराने-के लिये उसके पास आ पहुँचते हैं ॥ १० ॥

ततः पश्यन्त्यसम्बुद्धया वातपित्तकफोत्तरान् ।
रजस्तमोगतैर्भावैस्तदप्याहुर्दुरत्ययम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मनुष्य स्वप्नमें अज्ञानवश वात, पित्त या कफकी प्रधानतासे युक्त तथा काम, मोह आदि राजस, तामस भावोंसे व्याप्त नाना प्रकारके शरीरोंका दर्शन करते हैं । तत्त्वज्ञान हुए बिना उस स्वप्नदर्शनको लाँघना अत्यन्त कठिन बताया गया है ॥ ११ ॥

प्रसन्नैरिन्द्रियैर्यद् यत् संकल्पयति मानसम् ।
तत् तत् स्वप्नेऽप्युपगते मनो हृष्यन्निरीक्षते॥ १२ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें प्रसन्न इन्द्रियोंके द्वारा मनुष्य अपने मनमें जो-जो संकल्प करता है, स्वप्नावस्था आनेपर भी उसका वह मन हर्षपूर्वक उसी-उसी संकल्पको पूर्ण होता देखा करता है ॥ १२ ॥

व्यापकं सर्वभूतेषु वर्ततेऽप्रतिघं मनः ।
आत्मप्रभावात् विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः॥ १३ ॥

मनकी सर्वत्र अबाध गति है । वह अपने अधिष्ठान-भूत आत्माके ही प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त है; अतः आत्मा-को अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सभी देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १३ ॥

मनस्यन्तर्हितं द्वारं देहमास्थाय मानुषम् ।
यद् यत् सदसदव्यक्तं स्वपित्यस्मिन्निदर्शनम् ।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तमध्यात्मगुणं विदुः ॥ १४ ॥

स्वप्न-दर्शनका द्वारभूत जो स्थूल मानव देह है, वह सुषुप्ति-अवस्थामें मनमें लीन हो जाता है । उसी देहका आश्रय ले मन अव्यक्त सदसत्स्वरूप एवं साक्षीभूत आत्माको प्राप्त होता है । वह आत्मा सम्पूर्ण भूतोंके आत्मभूत है । ज्ञानी पुरुष उसे अध्यात्मगुणसे युक्त मानते हैं ॥ १४ ॥

लिप्सेत मनसा यश्च संकल्पादैश्वरं गुणम् ।
आत्मप्रसादं तं विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः॥१५॥

जो योगी मनके द्वारा संकल्पसे ही ईश्वरीय गुणको पाना चाहता है, वह उस आत्मप्रसादको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि सम्पूर्ण देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

एवं हि तरसा युक्तमर्कवत् तमसः परम् ।
त्रैलोक्यप्रकृतिर्देही तमसोऽन्ते महेश्वरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार तपस्यासे युक्त हुआ मन अज्ञानान्धकारसे ऊपर उठकर सूर्यके समान ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होने लगता है । जीवात्मा तीनों लोकोंका कारणभूत ब्रह्म ही है । वह अज्ञान निवृत्तिके पश्चात् महेश्वर (विशुद्ध परमात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होता है ॥ १६ ॥

तपो ह्यधिष्ठितं देवैस्तपोघ्नमसुरैस्तमः ।
एतद् देवासुरैर्गुप्तं तदाहुर्ज्ञानलक्षणम् ॥ १७ ॥

देवताओंने तपका आश्रय लिया है और असुरोंने तपस्यामें विघ्न डालनेवाले दम्भ, दर्प आदि तमको अपनाया है; परंतु ब्रह्मतत्त्व देवताओं और असुरोंसे छिपा हुआ है; तत्त्वज्ञ पुरुष इसे ज्ञानस्वरूप बताते हैं ॥ १७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति देवासुरगुणान् विदुः ।
सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ ॥ १८ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन्हें देवताओं और असुरोंका गुण माना गया है । इनमें सत्त्व तो देवताओंका गुण और शेष दोनों असुरोंके गुण हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्म तत् परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम् ।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १९ ॥

ब्रह्म इन सभी गुणोंसे अतीत, अक्षर, अमृत, स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है । जो शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा उसे जानते हैं, वे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

हेतुमच्छक्यमाख्यातुमेतावज्ज्ञानचक्षुषा ।
प्रत्याहारेण वा शक्यमक्षरं ब्रह्म वेदितुम् ॥ २० ॥

ज्ञानमयी दृष्टि रखनेवाले महापुरुष ही ब्रह्मके विषयमें युक्तिसंगत बात कह सकते हैं अथवा मन और इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर एकाग्रचित्त हो चिन्तन करनेसे भी ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) उन चारोंके ज्ञानसे मुक्तिका कथन तथा परमात्मप्राप्तिके अन्य साधनोंका भी वर्णन

भीष्म उवाच

न स वेद परं ब्रह्म यो न वेद चतुष्टयम् ।
व्यक्ताव्यक्तं च यत् तत्त्वं सम्प्रोक्तं परमर्षिणा ॥ १ ॥
व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम् ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
तत्रैवावस्थितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
निवृत्तिलक्षणं धर्ममव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जो मनुष्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग तथा प्रकृति और पुरुष—इन चारोंको नहीं जानता है, वह परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है । परम ऋषि नारायणने जिस व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वका प्रतिपादन किया है, उसमें व्यक्त (दृश्यवर्ग) को मृत्युके मुखमें पड़नेवाला जाने और अव्यक्तको अमृतपद समझे तथा नारायण ऋषिने जिस प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है, उसीपर चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी प्रतिष्ठित है । निवृत्तिरूप जो धर्म है, वह अव्यक्त सनातन ब्रह्मस्वरूप है ॥ १–३ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः ॥ ४ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने प्रवृत्तिरूप धर्मका उपदेश दिया है; परंतु प्रवृत्तिरूप धर्म पुनरावृत्तिका कारण है । उसके आचरणसे संसारमें बारंबार जन्म लेना पड़ता है और निवृत्तिरूप धर्म परमगतिकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ४ ॥

तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः ।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाशुभनिदर्शकः ॥ ५ ॥

जो सदा ज्ञानतत्त्वके चिन्तनमें संलग्न रहनेवाला, शुभ और अशुभको (ज्ञाननेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे) देखनेवाला तथा निवृत्तिपरायण मुनि है, वही उस परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्तपुरुषावुभौ ।
अव्यक्तपुरुषाभ्यां तु यत् स्यादन्यन्महत्तरम् ॥ ६ ॥
तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः ।

इस प्रकार विचारशील पुरुषको चाहिये कि वह पहले अव्यक्त[1] (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा)—इन दोनोंका ज्ञान प्राप्त करे; फिर इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो परम महान् पुरुषोत्तम तत्त्व है, उसका विशेषरूपसे ज्ञान प्राप्त करे ॥ ६½ ॥

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ॥ ७ ॥
उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ ।
सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम् ॥ ८ ॥

ये प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों ही अनादि और अनन्त हैं*। दोनों ही अलिङ्ग निराकार हैं तथा दोनों ही नित्य, अविचल और महान्‌से भी महान् हैं । ये सब बातें इन दोनोंमें समानरूपसे पायी जाती हैं; परंतु इनमें जो अन्तर या वैलक्षण्य है, वह दूसरा ही है, जिसे बताया जाता है ॥ ७-८ ॥

प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया ।
विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ॥ ९ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है । ब्रह्मके सकाशसे सृष्टि करना उसका सहज धर्म है, किंतु क्षेत्रज्ञ अथवा पुरुषके स्वरूपको प्रकृतिसे सर्वथा विपरीत (विलक्षण) जानना चाहिये ॥ ९ ॥

---

१. इससे पूर्व पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें अव्यक्त शब्द परमात्माका वाचक है और यहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिका वाचक समझना चाहिये ।

* प्रकृति प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त हैं तथा पुरुष (जीवात्मा) स्वरूपसे ।

प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम् ।
अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिङ्गत्वादसंहतौ ॥ १० ॥

वह स्वयं गुणोंसे रहित तथा प्रकृतिके विकारों (कार्यों) का द्रष्टा है। ये दोनों प्रकृति और पुरुष सम्पूर्णतः इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। दोनों ही आकाररहित तथा एक दूसरेसे विलक्षण हैं ॥ १० ॥

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कर्मणा गृह्यते यथा ।
करणैः कर्मनिर्वृत्तिः कर्ता यद् यद् विचेष्टते ।
कीर्त्यते शब्दसंज्ञाभिः कोऽहमेषोऽप्यसाविति॥ ११ ॥

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है, जो कर्मसे ही जानी जाती है। जीव मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म करता है। वह जिस-जिस कर्मको करता है, उस-उसका कर्ता कहलाता है। 'कौन' 'मैं' 'यह' और 'वह'—इन शब्दों एवं संज्ञाओंद्वारा उसीका वर्णन किया जाता है॥ ११ ॥

उष्णीषवान् यथा वस्त्रैस्त्रिभिर्भवति संवृतः ।
संवृतोऽयं तथा देही सत्त्वराजसतामसैः ॥ १२ ॥

जैसे पगड़ी बाँधनेवाला पुरुष तीन वस्त्रों (पगड़ी, ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र) से परिवेष्टित होता है, उसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव सत्त्व, रज और तम—तीन गुणोंसे आवृत होता है ॥ १२ ॥

तस्माच्चतुष्टयं वेद्यमेतैर्हेतुभिरावृतम् ।
यथासंज्ञो ह्ययं सम्यगन्तकाले न मुह्यति ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं हेतुओंसे आवृत हुई इन चार वस्तुओं (सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष) को जानना चाहिये। इन्हें भलीभाँति तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य मृत्युके समय मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान् मनसा शुचिः ।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः ॥ १४ ॥

जो दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहे, उस देहधारी पुरुषको अपना मन शुद्ध रखना चाहिये और शरीरसे कठोर नियमोंका पालन करते हुए निर्दोष तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यं तपसा व्याप्तमन्तर्भूतेन भास्वता ।
सूर्यश्च चन्द्रमाश्चैव भासतस्तपसा दिवि ॥ १५ ॥

आन्तरिक तप चैतन्यमय प्रकाशसे युक्त है। उसके द्वारा तीनों लोक व्याप्त हैं। आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा भी तपसे ही प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः ।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् ॥ १६ ॥

लोकमें तप शब्द विख्यात है। उस तपका फल है, ज्ञानस्वरूप प्रकाश। रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाला जो निष्काम कर्म है, वही तपस्याका स्वरूपबोधक लक्षण है ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।
वाङ्मनोनियमः सम्यङ्मानसं तप उच्यते ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीरिक तप कहते हैं। मन और वाणीका भलीभाँति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

विधिज्ञेभ्यो द्विजातिभ्यो ग्राह्यमन्नं विशिष्यते ।
आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः ॥ १८ ॥

वैदिक विधिको जानने और उनके अनुसार चलनेवाले द्विजातियोंसे ही अन्न ग्रहण करना उत्तम माना गया है। ऐसे अन्नका नियमपूर्वक भोजन करनेमें रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला पाप शान्त हो जाता है ॥ १८ ॥

वैमनस्यं च विषये यान्त्यस्य करणानि च ।
तस्मात् तन्मात्रमादद्याद् यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

उससे साधकको इन्द्रियाँ भी विषयोंकी ओरसे विरक्त हो जाती हैं। इसलिये उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, जितना जीवन-रक्षाके लिये वाञ्छनीय हो ॥ १९ ॥

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः ।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥ २० ॥

इस प्रकार योगयुक्त मनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे जीवनके अन्त समयतक पूरी शक्ति लगाकर धीरे-धीरे प्राप्त ही कर लेना चाहिये। इस कार्यमें धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २० ॥

रजोवर्ज्योऽप्ययं देही देहवाञ्छब्दवच्चरेत् ।
कार्यैरव्याहतमतिर्वैराग्यात् प्रकृतौ स्थितः ॥ २१ ॥

योगपरायण योगीकी बुद्धि कार्योंद्वारा व्याहत नहीं होती। वह वैराग्यवश अपने स्वाभावमें स्थित रहता है, रजोगुणसे रहित होता है तथा देहधारी होकर भी शब्दकी भाँति अबाध गतिसे सर्वत्र विचरण करता है ॥ २१ ॥

आ देहादप्रमादाच्च देहान्ताद् विप्रमुच्यते ।
हेतुयुक्तः सदा सर्गो भूतानां प्रलयस्तथा ॥ २२ ॥

देह-त्यागपर्यन्त प्रमाद न होनेपर योगी देहावसानके पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो बन्धनके कारणभूत अज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्राणियोंके सदा जन्म और मरण होते रहते हैं ॥ २२ ॥

परप्रत्ययसर्गे तु नियतिर्नानुवर्तते ।
भावान्तप्रभवप्रज्ञा आसते ये विपर्ययम् ॥ २३ ॥

जिनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उनका प्रारब्ध अनुसरण नहीं करता है अर्थात् वे प्रारब्धके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो इसके विपरीत स्थितिमें हैं अर्थात् जिनका अज्ञान दूर नहीं हुआ है, वे प्रारब्धवश जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥ २३ ॥

धृत्या देहान् धारयन्तो बुद्धिसंक्षिप्तचेतसः ।
स्थानेभ्यो ध्वंसमानाश्च सूक्ष्मत्वात् तदुपासते ॥२४॥

कुछ योगीजन बुद्धिके द्वारा अपने चित्तको विषयोंकी

ओरसे हटाकर आसनकी दृढ़तासे स्थिरतापूर्वक देहको धारण करते हुए इन्द्रिय-गोलकोंसे सम्बन्ध त्यागकर सूक्ष्म बुद्धि होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करते हैं * ॥ २४ ॥

यथागमं च गत्वा वै बुद्ध्या तत्रैव बुद्ध्यते ।
देहान्तं कश्चिदन्वास्ते भावितात्मा निराश्रयम्॥ २५ ॥

कोई-कोई शास्त्रमें बताये हुए क्रमसे (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करते हुए पराकाष्ठातक पहुँचकर वहीं) बुद्धिके द्वारा ब्रह्मका अनुभव करते हैं । जिसने योगके द्वारा अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लिया है, ऐसा कोई-कोई योगी ही देहस्थितिपर्यन्त आश्रयरहित—अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित ब्रह्ममें स्थित रहता है ॥ २५ ॥

युक्तं धारणया सम्यक् सतः केचिदुपासते ।
अभ्यस्यन्ति परं देवं विद्युत्संशब्दिताक्षरम् ॥ २६ ॥

इसी तरह कोई तो योगधारणाके द्वारा सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं और कोई उस परम देवका चिन्तन करते हैं, जो विद्युत्के समान ज्योतिर्मय और अविनाशी कहा गया है ॥ २६ ॥

अन्तकाले ह्युपासन्ते तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
सर्व एते महात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ २७ ॥

कुछ लोग तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध करके अन्तकालमें ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं । इन सभी महात्माओंको उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं विशेषणं तेषामवेक्षेच्छास्त्रचक्षुषा ।
देहान्तं परमं विद्याद् विमुक्तमपरिग्रहम् ।
अन्तरिक्षादन्यतरं धारणासक्तमानसम् ॥ २८ ॥

शास्त्रीय दृष्टिसे उन महात्माओंकी सूक्ष्म विशेषताको देखे । देहत्यागपर्यन्त नित्यमुक्त, अपरिग्रह, आकाशसे भी विलक्षण उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करे, जिसमें योगधारणाद्वारा मनको स्थापित किया जाता है ॥ २८ ॥

मर्त्यलोकाद् विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः ।
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥ २९ ॥

जिनका मन ज्ञानके साधनमें लगा हुआ है, वे मर्त्यलोकके बन्धनसे छूट जाते हैं और रजोगुणसे रहित एवं ब्रह्मस्वरूप हो परम गतिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥

एवमेकायनं धर्ममाहुर्वेदविदो जनाः ।
यथाज्ञानमुपासन्तः सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ ३० ॥

वेदके ज्ञाता विद्वान् पुरुषोंने इस प्रकार एकमात्र ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले साधनरूप धर्मका वर्णन किया है । अपने-अपने ज्ञानके अनुसार उपासना करनेवाले सभी साधक परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

कषायवर्जितं ज्ञानं येषामुत्पद्यते चलम् ।
यान्ति तेऽपि पराँल्लोकान् विमुच्यन्ते यथाबलम्॥ ३१॥

जिन्हें राग आदि दोषोंसे रहित अस्थायी ज्ञान प्राप्त होता है, वे भी उत्तम लोकोंको प्राप्त होते हैं । तदनन्तर साधन-बलसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥३१॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ३२ ॥

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे युक्त, अजन्मा, दिव्य एवं अव्यक्त नामवाले भगवान् विष्णुकी भक्तिभावसे शरण लेते हैं, वे ज्ञानानन्दसे तृप्त, विशुद्ध और कामनारहित हो जाते हैं ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत् परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ ३३ ॥

वे अपने अन्तःकरणमें श्रीहरिको स्थित जानकर अव्यय-स्वरूप हो जाते हैं । उन्हें फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता । वे उस अविनाशी और अविकारी परमपदको पाकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

एतावदेतद् विज्ञानमेतदस्ति च नास्ति च ।
तृष्णाबद्धं जगत् सर्वं चक्रवत् परिवर्तते ॥ ३४ ॥

इतना ही यह विज्ञान है—यह जगत् है भी और नहीं भी है (अर्थात् व्यावहारिक अवस्थामें यह जगत् है और पारमार्थिक अवस्थामें नहीं है) । सम्पूर्ण जगत् तृष्णामें बँधकर चक्रके समान घूम रहा है ॥ ३४ ॥

बिसतन्तुर्यथैवायमन्तःस्थः सर्वतो बिसे ।
तृष्णातन्तुरनाद्यन्तस्तथा देहगतः सदा ॥ ३५ ॥

जैसे कमलकी नालमें रहनेवाला तन्तु उसके सभी अंशोंमें फैला रहता है, उसी प्रकार अनादि एवं अनन्त तृष्णातन्तु सदा देहधारीके चित्तमें स्थित रहता है ॥ ३५ ॥

सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः ।
तद्वत् संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबद्ध्यते ॥ ३६ ॥

जैसे कपड़ा बुननेवाला जुलाहा सूईसे वस्त्रमें सूतको पिरो देता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्र ग्रथित होता है ॥ ३६ ॥

विकारं प्रकृतिं चैव पुरुषं च सनातनम् ।
यो यथावद् विजानाति स वितृष्णो विमुच्यते ॥ ३७ ॥

जो प्रकृतिको, उसके कार्यको, पुरुष (जीवात्मा) को और सनातन परमात्माको यथार्थ रूपसे जानता है, वह तृष्णासे रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

प्रकाशं भगवानेतदृषिर्नारायणोऽमृतम् ।

---

* पुराणान्तरमें बताया गया है कि इन्द्रियोंका आत्मभावसे चिन्तन करनेवाले योगी दस मन्वन्तरोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं । यथा—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भूतानामनुकम्पार्थं जगाद जगतो गतिः ॥ ३८ ॥

संसारको शरण देनेवाले ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नारायणने जीवोंपर दया करनेके लिये ही इस अमृतमय ज्ञानको प्रकाशित किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका वर्णनविषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा जनकके दरबारमें पञ्चशिखका आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतोंके निराकरणपूर्वक शरीरसे भिन्न आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः ।
जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सदाचारके ज्ञाता पितामह ! मोक्ष-धर्मको जाननेवाले मिथिलानरेश जनकने मानवभोगोंका परित्याग करके किस प्रकारके आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके आचरणसे धर्मज्ञ राजा जनक महान् सुख (मोक्ष) को प्राप्त हुए थे ॥ २ ॥

जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः ।
और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद् युक्तो विचिन्तने ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है मिथिलामें जनकवंशी राजा जन-देव राज्य करते थे । वे सदा देह-त्यागके पश्चात् आत्माके अस्तित्वरूप धर्मोंके ही चिन्तनमें लगे रहते थे ॥ ३ ॥

तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे ।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः ॥ ४ ॥

उनके दरबारमें सौ आचार्य बराबर रहा करते थे, जो विभिन्न आश्रमोंके निवासी थे और उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मोंका उपदेश देते रहते थे ॥ ४ ॥

स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये ।
आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥ ५ ॥

'इस शरीरको त्याग देनेके पश्चात् जीवकी सत्ता रहती है या नहीं, अथवा देह-त्यागके बाद उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं' इस विषयमें उन आचार्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त था, वे लोग आत्मतत्त्वके विषयमें जैसा विचार उपस्थित करते थे, उससे शास्त्रानुयायी राजा जनदेवको विशेष संतोष नहीं होता था ॥ ५ ॥

तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ।
परिधावन् महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥ ६ ॥

एक बार कपिलाके पुत्र महामुनि पञ्चशिख सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करते हुए मिथिलामें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये ।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ॥ ७ ॥

वे सम्पूर्ण संन्यास-धर्मोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानके निर्णयमें एक सुनिश्चित सिद्धान्तके पोषक थे । उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे ॥

ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु ।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय बताया जाता है । वे कामनासे सर्वथा शून्य थे । वे मनुष्योंके हृदयमें अपने उपदेशद्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुखकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे ॥८॥

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥ ९ ॥

सांख्यके विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिल-का ही स्वरूप बताते हैं । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्च-शिखके रूपमें आकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं ॥ ९ ॥

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥ १० ॥

उन्हें आसुरि मुनिका प्रथम शिष्य और चिरंजीवी बताया जाता है । उन्होंने एक हजार वर्षोंतक मानस यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १० ॥

तं समासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत् ।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥ ११ ॥
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ १२ ॥

एक समय आसुरि मुनि अपने आश्रममें बैठे हुए थे । इसी समय कपिलमतावलम्बी मुनियोंका महान् समुदाय वहाँ आया और प्रत्येक पुरुषके भीतर स्थित, अव्यक्त एवं परमार्थ-तत्त्वके विषयमें उनसे कुछ कहनेका अनुरोध करने लगा ।

उन्हींमें पञ्चशिख भी थे, जो पाँच स्रोतों (इन्द्रियों) वाले मनके व्यापार (ऊहापोह) में कुशल थे, पञ्चरात्र आगमके विशेषज्ञ थे, पाँच कोशोंके ज्ञाता और तद्विषयक पाँच प्रकारकी उपासनाओंके जानकार थे। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान—इन पाँच गुणोंसे भी युक्त थे। उन पाँचों कोशोंसे भिन्न होनेके कारण उनके शिखास्थानीय जो ब्रह्म है, वह पञ्चशिख कहा गया है। उसके ज्ञाता होनेसे ऋषिको भी 'पञ्चशिख' माना गया है ॥ ११-१२ ॥

इष्टसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥१३॥

आसुरि तपोबलसे दिव्य दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। ज्ञानयज्ञके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको स्पष्टरूपसे समझ लिया था ॥ १३॥

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥१४॥

जो एकमात्र अक्षर और अविनाशी ब्रह्म नाना रूपोंमें दिखायी देता है, उसका ज्ञान आसुरिने उस मुनिमण्डलीमें प्रतिपादित किया ॥ १४ ॥

तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी॥१५॥
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १६ ॥

उन्हींके शिष्य पञ्चशिख थे, जो मानवी स्त्रीके दूधसे पले थे। कपिला नामवाली कोई कुटुम्बिनी ब्राह्मणी थी। उसी स्त्रीके पुत्रभावको प्राप्त होकर वे उसके स्तनोंका दूध पीते थे; अतः कपिलाका पुत्र कहलानेके कारण कापिलेय नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। उन्होंने नैष्ठिक (ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाली) बुद्धि प्राप्त की थी ॥ १५-१६ ॥

एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम्।
तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥१७॥

कापिलेयके जन्मका यह वृत्तान्त मुझे भगवान्ने बताया था। उनके कपिलापुत्र कहलाने और सर्वज्ञ होनेका यही परम उत्तम वृत्तान्त है ॥ १७ ॥

सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम्।
उपेत्य शतमाचार्यान् मोहयामास हेतुभिः ॥ १८ ॥

धर्मज्ञ पञ्चशिखने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। वे राजा जनकको सौ आचार्योंपर समानभावसे अनुरक्त जान उनके दरबारमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने युक्तियुक्त वचनोंद्वारा उन सब आचार्योंको मोहित कर दिया ॥ १८ ॥

जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात्।
उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥१९॥

उस समय महाराज जनक कपिलानन्दन पञ्चशिखका ज्ञान देखकर उनके प्रति आकृष्ट हो गये और अपने सौ आचार्योंको छोड़कर उन्हींके पीछे चलने लगे ॥ १९ ॥

तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः।
अब्रवीत् परमं मोक्षं यत् तत् सांख्येऽभिधीयते॥२०॥

तब मुनिवर पञ्चशिखने राजाको धर्मानुसार चरणोंमें पड़ा देख उन्हें योग्य अधिकारी मानकर परम मोक्षका उपदेश दिया, जिसका सांख्यशास्त्रमें वर्णन है ॥ २० ॥

जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत्।
कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उन्होंने 'जातिनिर्वेद'[1] का वर्णन करके 'कर्मनिर्वेद'[2] का उपदेश किया। तत्पश्चात् 'सर्वनिर्वेद'[3] की बात बतायी ॥२१॥

यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः।
तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥ २२ ॥

उन्होंने कहा— 'जिसके लिये धर्मका आचरण किया जाता है, जो कर्मोंके फलका उदय होनेपर प्राप्त होता है, वह इहलोक या परलोकका भोग नश्वर है। उसपर आस्था करना उचित नहीं। वह मोहरूप, चञ्चल और अस्थिर है' ॥ २२ ॥

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके।
आगमात् परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः ॥ २३ ॥

कुछ नास्तिक ऐसा कहा करते हैं कि देहरूपी आत्माका विनाश प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है। फिर भी यदि कोई शास्त्रप्रमाणकी ओट लेकर देहसे भिन्न आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन करता है तो वह परास्त है; क्योंकि उसका कथन लोकानुभवके विरुद्ध है ॥ २३ ॥

अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः।
आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परं मतम् ॥ २४ ॥

आत्माके स्वरूपभूत शरीरका अभाव होना ही उसकी मृत्यु है। इस दृष्टिसे दुःख, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकारके रोग—ये सभी आत्माकी मृत्यु ही है (क्योंकि इनके द्वारा शरीरका आंशिक विनाश होता रहता है)। फिर भी जो लोग आत्माको देहसे भिन्न मानते हैं, उनकी यह मान्यता बहुत ही असङ्गत है ॥ २४ ॥

अथ चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते।
अजरोऽयममृत्युश्च राजासौ मन्यते यथा ॥ २५ ॥

यदि ऐसी वस्तुका भी अस्तित्व मान लिया जाय, जो लोकमें सम्भव नहीं है अर्थात् यदि शास्त्रके आधारपर यह स्वीकार कर लिया जाय कि शरीरसे भिन्न कोई अजर-अमर आत्मा है, जो स्वर्गादि लोकोंमें दिव्य सुख भोगता है, तब तो

१- जन्मके समय गर्भवास आदिके कारण जो कष्ट होता है, उसपर विचार करके शरीरसे वैराग्य होना 'जातिनिर्वेद' है।

२- कर्मजनित क्लेश—नाना योनियोंकी प्राप्ति एवं नरकादि यातनाका विचार करके पाप तथा काम्य कर्मोंसे विरत होना 'कर्मनिर्वेद' है।

३- इस जगत्की छोटी-से-छोटी वस्तुओंसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका विचार करके सब ओरसे विरक्त होना 'सर्वनिर्वेद' कहलाता है।

महर्षि पञ्चशिखका महाराज जनकको उपदेश

बन्दीजन जो राजाको अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी ठीक माननी पड़ेगी (सारांश यह है कि जैसे बन्दीजन आशीर्वादमें उपचारतः राजाको अजर-अमर कहते हैं, उसी प्रकार यह शास्त्रका वचन भी औपचारिक ही है । नीरोग शरीरको ही अजर-अमर और यहाँके प्रत्यक्ष सुख-भोगको ही स्वर्गीय सुख कहा गया है) ॥ २५ ॥

अस्ति नास्तीति चाप्येतत् तस्मिन्नसति लक्षणे ।
किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्राविनिश्चयम् ॥ २६ ॥

यदि आत्मा है या नहीं—यह संशय उपस्थित होनेपर अनुमानसे उसके अस्तित्वका साधन किया जाय तो इसके लिये कोई ऐसा ज्ञापक हेतु नहीं उपलब्ध होता, जो कहीं दोषयुक्त न होता हो; फिर किस अनुमानका आश्रय लेकर लोकव्यवहार-का निश्चय किया जा सकता है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षं ह्येतयोर्मूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि ।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन ॥ २७ ॥

अनुमान और आगम—इन दोनों प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है । आगम या अनुमान यदि प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है तो वह कुछ भी नहीं है—उसकी प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती ॥ २७ ॥

यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च ।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥ २८ ॥

जहाँ-कहीं भी ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्माकी सिद्धिके लिये अनुमान किया जाता है, वहाँ साध्य-साधनके लिये की हुई भावना भी व्यर्थ है, अतः नास्तिकोंके मतमें जीवात्माकी शरीरसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है—यह बात स्थिर हुई ॥ २८ ॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥ २९ ॥

जैसे वटवृक्षके बीजमें पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वचा आदि छिपे होते हैं, जैसे गायके द्वारा खायी हुई घासमेंसे घी, दूध आदि प्रकट होते हैं तथा जिस प्रकार अनेक औषध द्रव्योंका पाक एवं अधिवासन करनेसे उसमें नशा पैदा करने-वाली शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार वीर्यसे ही शरीर आदिके साथ चेतनता भी प्रकट होती है । इसके सिवा जाति, स्मृति, अयस्कान्तमणि, सूर्यकान्तमणि और बड़वानलके द्वारा समुद्रके जलका पान आदि दृष्टान्तोंसे भी देहातिरिक्त चैतन्यकी सिद्धि नहीं होती * ॥ २९ ॥

प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपयाचनम् ।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥ ३० ॥

(इस नास्तिक मतका खण्डन इस प्रकार समझना चाहिये) मरे हुए शरीरमें जो चेतनताका अभाव देखा जाता है, वही देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है (यदि चेतनता देहका ही धर्म हो तो मृतक शरीरमें भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; परंतु मृत्युके पश्चात् कुछ कालतक शरीर तो रहता है, पर उसमें चेतनता नहीं रहती; अतः यह सिद्ध हो जाता है कि चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न है)। नास्तिक भी रोग आदिकी निवृत्तिके लिये मन्त्र, जप तथा तान्त्रिक पद्धतिसे देवता आदिकी आराधना करते हैं । (वह देवता क्या है ? यदि पाञ्चभौतिक है तो घट आदिकी भाँति उसका दर्शन होना चाहिये और यदि वह भौतिक पदार्थोंसे भिन्न है तो चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो गयी; अतः देहसे भिन्न आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाता है और देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध जान पड़ता है)। यदि शरीरकी मृत्युके साथ आत्माकी भी मृत्यु मान ली जाय, तब तो उसके किये हुए कर्मोंका भी नाश मानना पड़ेगा; फिर तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेवाला कोई नहीं रह जायगा और देहकी उत्पत्तिमें अकृताभ्यागम (बिना किये हुए कर्मका ही भोग प्राप्त हुआ ऐसा) मानने-का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ये सब प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि देहातिरिक्त चेतन आत्माकी सत्ता अवश्य है ॥ ३० ॥

नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।
अमूर्तस्य हि मूर्तेन सामान्यं नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

नास्तिकोंकी ओरसे जो कोई हेतुभूत दृष्टान्त दिये गये हैं, वे सब मूर्त पदार्थ हैं । मूर्त जड पदार्थसे मूर्त जड पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है । यही उन दृष्टान्तोंद्वारा सिद्ध होता है । जैसे काष्ठसे अग्निकी उत्पत्ति (यदि पञ्चभूतोंसे आत्माकी अथवा मूर्तसे अमूर्तकी उत्पत्ति स्वीकार की जाय तब तो पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो असम्भव है)। आत्मा अमूर्त पदार्थ है और देह मूर्त; अतः अमूर्तकी मूर्तके साथ समानता अथवा मूर्त भूतों-के संयोगसे अमूर्त चेतन आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

अविद्या कर्म तृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे ।
कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥ ३२ ॥

---

* जाति कहते हैं जन्मको । जैसे गुड़ या महुवे आदिसे अनेक द्रव्योंके संयोगद्वारा जो मद्य तैयार किया जाता है, उसमें उपा-दानकी अपेक्षा विलक्षण मादकताशक्तिका जन्म हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार द्रव्योंके संयोगसे इस शरीरमें ही जीव चैतन्य प्रकट हो जाता है । जैसे जड मनसे अजड स्मृति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड शरीरसे चेतन जीवकी उत्पत्ति हो जाती है । जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) जड होकर भी लोहको खींच लेती है, उसी प्रकार जड शरीर भी इन्द्रियोंका संचालन और नियन्त्रण कर लेता है; अतः आत्मा उससे भिन्न नहीं है । जैसे सूर्यकान्तमणि शीतल होकर भी सूर्यकी किरणोंके संयोगसे आग प्रकट करने लगती है, उसी प्रकार वीर्य शीतल होकर भी रस और रक्तके संयोगसे जठरानलका आविष्कार करता है और जैसे जलसे उत्पन्न हुआ बडवानल जलको ही भक्षण करता है, उसी प्रकार वीर्यसे उत्पन्न हुआ यह शरीर स्वयं भी वीर्यका आधान एवं धारण करता है । अतः शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

कुछ लोग अविद्या, कर्म, तृष्णा, लोभ, मोह तथा दोषोंके सेवनको पुनर्जन्ममें कारण बताते हैं ॥ ३२ ॥

अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्म बीजं तथा कृतम्।
तृष्णा संजननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥ ३३ ॥

अविद्याको वे क्षेत्र कहते हैं। पूर्व-जन्मोंका किया हुआ कर्म बीज है और तृष्णा अङ्कुरकी उत्पत्ति करानेवाला स्नेह या जल है। यही उनके मतमें पुनर्जन्मका प्रकार है ॥ ३३ ॥

तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि।
अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्त्वसंक्षयम् ॥ ३४ ॥

वे अविद्या आदि कारणसमूह सुषुप्ति और प्रलयमें भी संस्काररूपमें गूढ़भावसे स्थित रहते हैं। उनके रहते हुए जब एक मरणधर्मा शरीर नष्ट हो जाता है, तब उसीसे पूर्वोक्त अविद्या आदिके कारण दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है। जब ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि निमित्त दग्ध हो जाते हैं, तब शरीर-नाशके पश्चात् सत्त्व (बुद्धि) का क्षयरूप मोक्ष होता है, ऐसा उनका कथन है ॥ ३४ ॥

यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः।
कथमस्मिन् स इत्येवं सर्वं वा स्यादसंहितम् ॥ ३५ ॥

(उपर्युक्त नास्तिक मतमें आस्तिकलोग इस प्रकार दोष देते हैं—) क्षणिक विज्ञानवादीकी मान्यताके अनुसार शरीर और जीव जब क्षणिक हैं, तब पूर्वक्षणवर्ती शरीरसे परक्षण-वर्ती शरीर रूप, जाति, धर्म और प्रयोजन सभी दृष्टियोंसे भिन्न हैं। ऐसी अवस्थामें यह वही है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) नहीं हो सकती। अथवा भोग, मोक्ष आदि सब कुछ बिना इच्छा किये ही अकस्मात् प्राप्त हो जाता है, ऐसा मानना पड़ेगा (उस दशामें यह भी कहा जा सकता है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाला दूसरा है, साधन करनेवाला दूसरा है और उससे मुक्त होनेवाला भी दूसरा ही है) ॥ ३५ ॥

एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः।
यदस्याचरितं कर्म सर्वमन्यत् प्रपद्यते ॥ ३६ ॥

यदि ऐसी ही बात है, तब दान, विद्या, तपस्या और बलसे किसीको क्या प्रसन्नता होगी ? क्योंकि उसका किया हुआ सारा कर्म दूसरेको ही अपना फल प्रदान करेगा (अर्थात् दान करते समय जो दाता है, वह क्षणिक विज्ञानवादके अनुसार फल-भोगकालमें नहीं रह जाता, अतः पुण्य या पाप एक करता है और उसका फल दूसरा भोगता है) ॥ ३६ ॥

अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राकृतैर्दुःखितो भवेत्।
सुखितो दुःखितो वापि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥ ३७ ॥

(यदि कहें, यह आपत्ति तो अभीष्ट ही है कि कर्म करते समय जो कर्ता है, वह फल-भोग-कालमें नहीं है। एक विज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञान ही फल भोगता है, तब तो) इस जगत्में यह देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त आदि दूसरोंके किये हुए अशुभ कर्मोंसे दुखी एवं परकृत शुभ कर्मोंसे सुखी हो सकता है (क्योंकि जब कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा है, तब तो किसीका भी कर्म किसीको भी सुख-दुःख दे सकता है)। उस दशामें दृश्य और अदृश्यका निर्णय भी यही होगा कि जो पूर्वक्षणमें दृश्य था, वह वर्तमान क्षणमें अदृश्य हो गया तथा जो पहले अदृश्य था, वही इस समय दृश्य हो रहा है ॥ ३७ ॥

तथा हि मुसलैर्हन्युः शरीरं तत् पुनर्भवेत्।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥ ३८ ॥

यदि कहें, देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तका ज्ञान पृथक् एवं विजातीय है, सजातीय विज्ञानधारामें ही कर्म और उसके फलका भोग प्राप्त होता है; अतः देवदत्तके किये हुए कर्मका भोग यज्ञदत्तको नहीं प्राप्त हो सकता, उस कारण पूर्वोक्त दोषका आपत्ति सम्भव नहीं है, तब हम यह पूछते हैं कि आपके मतमें जो यह सादृश्य या सजातीय विज्ञान उत्पन्न होता है, उसका उपादान क्या है ? यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञान-को ही उपादान बताया जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह विज्ञान नष्ट हो चुका और यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञानका नाश ही उत्तरक्षणवर्ती सजातीय विज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, तब तो यदि कुछ लोग किसीके शरीरको मूसलोंसे मार डालें तो उस मरे हुए शरीरसे भी दूसरे शरीरकी पुनः उत्पत्ति हो सकती है (अतः यह मत ठीक नहीं है) ॥३८॥

ऋतुसंवत्सरौ तिष्यः शीतोष्णेऽथ प्रियाप्रिये।
यथातीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ३९ ॥

ऋतु, संवत्सर, युग, सर्दी, गर्मी तथा प्रिय और अप्रिय—ये सब वस्तुएँ आकर चली जाती हैं और जाकर फिर आ जाती हैं, यह सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। उसी प्रकार सत्त्व-संक्षयरूप मोक्ष भी फिर आकर निवृत्त हो सकता है (क्योंकि विज्ञानधाराका कहीं अन्त नहीं है) ॥ ३९ ॥

जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥ ४० ॥

जैसे मकानके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग पहले नष्ट होने लगते हैं और फिर क्रमशः सारा मकान ही गिर जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था और विनाशकारी मृत्युसे आक्रान्त हुए शरीरके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग क्षीण होते-होते एक दिन सम्पूर्ण शरीरका नाश हो जाता है ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥ ४१ ॥

इन्द्रिय, मन, प्राण, रक्त, मांस और हड्डी—ये सब क्रमशः नष्ट होते और अपने कारणमें मिल जाते हैं ॥ ४१ ॥

लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ॥ ४२ ॥

यदि आत्माकी सत्ता न मानी जाय तो लोकयात्राका निर्वाह नहीं होगा। दान और दूसरे धर्मोंके फलकी प्राप्तिके लिये कोई आस्था नहीं रहेगी; क्योंकि वैदिक शब्द और लौकिक व्यवहार सब आत्माको ही सुख देनेके लिये हैं ॥

इति सम्यङ्मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः।
एतदस्तीदमस्तीति न किञ्चित्प्रतिदृश्यते ॥ ४३ ॥

इस प्रकार मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते हैं और उन तर्कों तथा युक्तियोंसे आत्माकी सत्ता या असत्ताका निर्धारण कुछ भी होता नहीं दिखायी देता ॥ ४३ ॥

तेषां विमृशतामेव तत् तत्समभिधावताम् ।
क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जीर्यति वृक्षवत् ॥ ४४ ॥

इस तरह विचार करते हुए भिन्न-भिन्न मतोंकी ओर दौड़नेवाले लोगोंकी बुद्धि कहीं एक जगह प्रवेश करती है और वहीं वृक्षकी भाँति जड़ जमाये जीर्ण हो जाती है ॥४४॥

एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।
आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिपैर्हस्तिनो यथा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अर्थ और अनर्थसे सभी प्राणी दुखी रहते हैं। केवल शास्त्रके वचन ही उन्हें खींचकर राहपर लाते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे महावत हाथीपर अङ्कुश रखकर उन्हें काबूमें किये रहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थांस्तथात्यन्तसुखावहांश्च
लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।
महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना
हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥ ४६ ॥

बहुत-से शुष्क हृदयवाले लोग ऐसे विषयोंकी लिप्सा रखते हैं, जो अत्यन्त सुखदायक हों; किंतु इस लिप्सामें उन्हें भारी-से-भारी दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है और अन्तमें वे भोगोंको छोड़कर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं ॥ ४६ ॥

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्भिन्नपरिग्रहैश्च ।
विहाय यो गच्छति सर्वमेव
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥ ४७ ॥

जो एक दिन नष्ट होनेवाला है, जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, ऐसे अनित्य शरीरको पाकर इन बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री-पुत्र आदिसे क्या लाभ है ? यह सोचकर जो मनुष्य इन सबको क्षणभरमें वैराग्यपूर्वक त्यागकर चल देता है, उसे मृत्युके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ४७ ॥

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि
सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्
विनाशिनोऽप्यस्य न शर्म विद्यते ॥ ४८ ॥

पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु—ये सदा शरीरकी रक्षा करते रहते हैं। इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर इसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है ? जो एक दिन मृत्युके मुखमें पड़नेवाला है, ऐसे शरीरसे सुख कहाँ है ॥ ४८ ॥

इदमनुपधिवाक्यमच्छलं
परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।
नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मितः
पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

पञ्चशिखका यह उपदेश जो भ्रम और वञ्चनासे रहित, सर्वथा निर्दोष तथा आत्माका साक्षात्कार करानेवाला था, सुनकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ; अतः उन्होंने पुनः प्रश्न करनेका विचार किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्ये पाखण्डखण्डनं नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।२१८।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखके उपदेशके प्रसङ्गमें पाखण्डखण्डन नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चशिखके द्वारा मोक्षतत्त्वका विवेचन एवं भगवान् विष्णुद्वारा मिथिलानरेश जनकवंशी जनदेवकी परीक्षा और उनके लिये वरप्रदान

भीष्म उवाच

जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।
पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महर्षि पञ्चशिखके इस प्रकार उपदेश देनेपर जनदेव जनकने पुनः उनसे मृत्युके पश्चात् आत्माकी सत्ता या विनाशके विषयमें प्रश्न किया ॥

जनक उवाच

भगवन् यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।
एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥ २ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! यदि मृत्युके पश्चात् किसीकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रह जाती तो उस स्थितिमें अज्ञान अथवा ज्ञान क्या करेगा ? ॥ २ ॥

सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात् पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।
अप्रमत्तः प्रमत्तो वा किं विशेषं करिष्यति ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देखिये, मनुष्यकी मृत्युके साथ-साथ उसका सारा साधन नष्ट हो जाता है; फिर वह पहलेसे सावधान हो या असावधान, क्या विशेष लाभ उठा सकेगा ? ॥ ३ ॥

असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।
कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥ ४ ॥

मृत्यु होनेके पश्चात् जीवात्माका विनाशशील पञ्च-महाभूतोंसे कोई संसर्ग रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो किसलिये रहता है ? इस विषयमें यथार्थरूपसे क्या निश्चय किया जा सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

पुनः प्रशमयन् वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा जनककी बुद्धिको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित तथा आत्माके नाशकी सम्भावनासे भ्रान्त एवं व्याकुल जानकर ज्ञानी महात्मा पञ्चशिख उन्हें मधुर वचनोंद्वारा शान्त करते हुए-से बोले—॥ ५ ॥

उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते ।
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम् ।
वर्तते पृथगन्योन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥ ६ ॥

'राजन् ! मृत्युके पश्चात् आत्माका न तो नाश होता है और न वह किसी विशेष आकारमें ही परिणत होता है। यह जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला सङ्घात है, यह भी शरीर, इन्द्रिय और मनका समूहमात्र है। यद्यपि ये सब पृथक्-पृथक् हैं तो भी एक दूसरेका आश्रय लेकर कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ६ ॥

धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा ।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः ॥ ७ ॥

प्राणियोंके शरीरमें उपादानके रूपमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँच धातु हैं। ये स्वभावसे ही एकत्र होते और विलग हो जाते हैं ॥ ७ ॥

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥ ८ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच तत्त्वोंके समाहारसे ही अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण हुआ है ॥

ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसंग्रहः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।
प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः ॥ ९ ॥

शरीरमें ज्ञान (बुद्धि), ऊष्मा (जठरानल) तथा वायु (प्राण)—इनका समुदाय समस्त कर्मोंका संग्राहकगण है; क्योंकि इन्हींसे इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान, विकार और धातु प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥

श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च ।
इन्द्रियाणीति पञ्चैते चित्तपूर्वं गता गुणाः ॥ १० ॥

श्रवण, त्वचा, जिह्वा, नेत्र और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द आदि गुण चित्तसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियोंके विषय होते हैं ॥ १० ॥

तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा ।
सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च ॥ ११ ॥

विज्ञानयुक्त चेतना (विषयोंकी उपादेयता, हेयता और उपेक्षणीयताके कारण) निश्चय ही तीन प्रकारकी होती है। उसे अदुःखा, असुखा और सुख-दुःखा कहते हैं ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः ।
एते ह्यामरणात् पञ्च षड्गुणा ज्ञानसिद्धये ॥ १२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मूर्त द्रव्य—ये छः गुण जीवकी मृत्युके पहलेतक इन्द्रियजन्य ज्ञानके साधक होते हैं (इनके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर ही भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान होता है) ॥ १२ ॥

तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः ।
तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत् ॥ १३ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें उनके विषयोंका विसर्जन (त्याग) करनेसे सम्पूर्ण तत्त्वोंके यथार्थ निश्चयरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। उस तत्त्वनिश्चयको अत्यन्त निर्मल उत्तम ज्ञान और अविनाशी महान् ब्रह्मपद कहते हैं ॥ १३ ॥

इमं गुणसमाहारमात्मभावेन पश्यतः ।
असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ १४ ॥

जो लोग गुणोंके सङ्घातरूप इस शरीरको ही आत्मा समझ लेते हैं, उन्हें मिथ्या ज्ञानके कारण अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती है और उनकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती ॥ १४ ॥

अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं न ममेत्यपि ।
वर्तते किमधिष्ठानात् प्रसक्ता दुःखसंसृतिः ॥ १५ ॥

इसके विपरीत जिनकी दृष्टिमें यह दृश्य-प्रपञ्च अनात्मा सिद्ध हो चुका है, उनकी इसके प्रति न ममता होती है न अहंता, फिर उन्हें दुःखपरम्परा कैसे प्राप्त हो; उन दुःखोंके लिये आधार ही क्या रह जाता है ? ॥ १५ ॥

अत्र सम्यग्वधो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम् ।
शृणु यत् तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥ १६ ॥

अब मैं उस परम उत्तम सांख्यशास्त्रका वर्णन करता हूँ, जिसका नाम है सम्यग्वध (सम्यग्रूपेण दुःखोंका नाश करनेवाला)। उसमें त्यागकी प्रधानता है। तुम ध्यान देकर सुनो। उसका उपदेश तुम्हारे लिये मोक्षदायक होगा ॥१६॥

त्याग एव हि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम् ।
नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहो मतः ॥ १७ ॥

जो लोग मुक्तिके लिये प्रयत्नशील हों, उन सबको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करे। जो इनका त्याग किये बिना ही विनीत (शम, दम आदि साधनोंमें तत्पर) होनेका झूठा दावा करते हैं, उन्हें अविद्या आदि दुःखदायी क्लेश प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि ।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥ १८ ॥

शास्त्रोंमें द्रव्यका त्याग करनेके लिये यज्ञ आदि कर्म, भोगका त्याग करनेके लिये व्रत, दैहिक सुखोंके त्यागके लिये तप और सब कुछ (अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि) त्याग देनेके लिये योगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यही त्यागकी चरम सीमा है ॥ १८ ॥

तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः ।
विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत् ॥ १९ ॥

सर्वस्व-त्यागका यह एकमात्र मार्ग ही दुःखोंसे छुटकारा

पानेके लिये उत्तम बताया गया है, इसके विपरीत आचरण करनेवालोंको दुर्गति भोगनी पड़ती है ॥ १९ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि ।
बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २० ॥

बुद्धिमें स्थित मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन करके अब पाँच कर्मेन्द्रियोंका वर्णन करूँगा। जिनके साथ प्राणशक्ति छठी बतायी गयी है ॥ २० ॥

हस्तौ कर्मेन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम् ।
प्रजनानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम् ॥ २१ ॥

दोनों हाथोंको काम करनेवाली इन्द्रिय जानना चाहिये, दोनों पैर चलने-फिरनेका काम करनेवाली इन्द्रिय हैं। लिङ्ग संतानोत्पादन एवं मैथुनजनित आनन्दकी प्राप्ति करनेके लिये है। गुदनामक इन्द्रियका कार्य मल-त्याग करना है ॥ २१ ॥

वाक् च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः ।
एवमेकादशैतानि बुद्ध्याऽऽशु विसृजेन्मनः ॥ २२ ॥

वाक्-इन्द्रिय शब्दविशेषका उच्चारण करनेके लिये है। इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियोंको पाँच विषयोंसे युक्त माना गया है। मनसहित एकादश इन्द्रियोंके विषयोंका बुद्धिके द्वारा शीघ्र त्याग कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

कर्णौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसंग्रहे ।
तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥ २३ ॥

श्रवण-कालमें श्रोत्ररूपी इन्द्रिय, शब्दरूपी विषय और चित्तरूपी कर्ता—इन तीनोंका संयोग होता है, इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धके अनुभव-कालमें भी इन्द्रिय, विषय एवं मनका संयोग अपेक्षित है ॥ २३ ॥

एवं पञ्चत्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये ।
येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात् समुपस्थितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार ये तीन-तीनके पाँच समुदाय हैं, ये सब गुण कहे गये हैं। इनसे शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है, जिससे ये कर्ता, कर्म और करणरूपी त्रिविध भाव बारी-बारीसे उपस्थित होते हैं ॥ २४ ॥

सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः ।
त्रिविधा वेदना येषु प्रसूताः सर्वसाधनाः ॥ २५ ॥

इनमेंसे एक-एकके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद होते हैं। उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव भी तीन प्रकारके ही हैं। जो हर्ष, प्रीति आदि सभी भावोंके साधक हैं ॥ २५ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
अकुतश्चित् कुतश्चिद् वा चिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥ २६ ॥

हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तकी शान्ति—ये सब भाव बिना किसी कारणके स्वतः हों, या कारणवश (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग आदिके कारण) हों, सात्त्विक गुण माने गये हैं ॥ २६ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २७ ॥

असंतोष, संताप, शोक, लोभ और असहनशीलता—ये किसी कारणसे हों या अकारण—रजोगुणके चिह्न हैं ॥ २७ ॥

अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और आलस्य—ये किसी तरह भी क्यों न हों, तमोगुणके ही विविध रूप हैं ॥ २८ ॥

अत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

इनमें जो शरीर या मनमें प्रीतिके संयोगसे उदित हो, वह सात्त्विक भाव है और उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि जाननी चाहिये ॥ २९ ॥

यत् त्वसंतोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जो अपने लिये असंतोषजनक एवं अप्रीतिकर हो, उसको रजोगुणकी प्रवृत्ति एवं अभिवृद्धि समझनी चाहिये ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

शरीर या मनमें जो अतर्क्य, अज्ञेय एवं मोहसंयुक्त भाव प्रादुर्भूत हो, उसको तमोगुणजनित जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः ।
नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥ ३२ ॥

शब्दका आधार श्रोत्रेन्द्रिय है और श्रोत्रेन्द्रियका आधार आकाश है; अतः वह आकाशरूप ही है। ऐसी स्थितिमें शब्दका अनुभव करते समय आकाश और श्रोत्र—ये दोनों ही ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते हैं* ॥ ३२ ॥

एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
स्पर्शे रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका भी क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आश्रय तथा अपने आधारभूत महाभूतोंके स्वरूप हैं। इन सबका कारण मन है, इसलिये ये सब-के-सब मनःस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।
चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ ३४ ॥

इन दसों इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंको एक साथ भी ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि—इनको इन्द्रियोंका सहायक समझना चाहिये ॥

तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।
आस्थितो युगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥ ३५ ॥

* 'ये दोनों ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते, इस कथनका अभिप्राय यों समझना चाहिये—जो श्रवणकालमें शब्दका अनुभव करता है, वह उसके साथ ही श्रोत्र और आकाशका अनुभव नहीं करता है। साथ ही उसे इन दोनोंका अज्ञान भी नहीं रहता; क्योंकि शब्दका श्रवणेन्द्रिय और आकाश दोनोंसे सम्बन्ध है। इन दोनोंके बिना शब्दका अनुभव हो ही नहीं सकता।

तमोगुणजनित सुषुप्तिकालमें अपने कारणमें विलीन हो जानेसे इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं, किंतु उनका नाश नहीं होता है। उनमें जो अपने विषयोंको एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति है, वह लौकिक व्यवहारमें ही दिखायी देती है (सुषुप्तिकालमें नहीं) ॥ ३५ ॥

इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात्।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥ ३६ ॥

पहले जाग्रत्-अवस्थाके देखने-सुनने आदिके द्वारा पूर्व-वासनावश शब्द आदि विषयोंकी प्राप्ति होनेसे स्वप्नदर्शी पुरुष सूक्ष्म ग्यारह इन्द्रियोंको देखकर विषयसंगकी भावना करता हुआ सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे युक्त हो शरीरके भीतर ही इच्छानुसार घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

यत् तमोपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम्।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥ ३७ ॥

सुषुप्तिकालमें जब चित्त तमोगुणसे अभिभूत होकर अपने प्रवृत्ति और प्रकाश-स्वभावका शीघ्र ही संहार करके थोड़ी देरके लिये इन्द्रियोंके व्यापारको बंद कर देता है, उस समय शरीरमें जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे विद्वान् पुरुष तामस सुख कहते हैं ॥ ३७ ॥

यद् यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति।
अथ तत्राप्युपादत्ते तमोऽव्यक्तमिवानृतम् ॥ ३८ ॥

सुषुप्तिकालमें स्वप्नदर्शी पुरुष उपस्थित दुःखको प्रत्यक्षकी भाँति अनुभव नहीं करता है। इसलिये वह सुषुप्ति-कालमें भी तमोगुणयुक्त मिथ्या सुखका अनुभव करता है ॥

एवमेष प्रसंख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः।
कथञ्चिद् वर्तते सम्यक् केषांचिद् वा निवर्तते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने कर्मके अनुसार गुणकी प्राप्तिके विषयमें कहा गया है। अज्ञानियोंके ये गुण सम्यक्‌रूपेण प्रवृत्त होते हैं और ज्ञानियोंके निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ४० ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् इस शरीर और इन्द्रियोंके संघातको क्षेत्र कहते हैं और मनमें जो चेतन सत्ता स्थित है, वही क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहलाता है ॥ ४० ॥

एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्।
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥ ४१ ॥

ऐसी अवस्थामें आत्माका विनाश कैसे हो सकता है ? अथवा हेतुपूर्वक प्रकृतिके अनुसार प्रवृत्त पञ्चमहाभूतोंसे उसका शाश्वत संसर्ग भी कैसे रह सकता है ? ॥ ४१ ॥

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ४२ ॥

जैसे नद और नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम और व्यक्तित्व (रूप) को त्याग देती हैं तथा जैसे बड़े-बड़े नद छोटी छोटी नदियोंको अपनेमें विलीन कर लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मामें विलीन हो जाता है। यही मोक्ष है ॥ ४२ ॥

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ॥ ४३ ॥

जीवके ब्रह्ममें विलीन हो जानेपर उसके नाम-रूपका किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् जीवकी संज्ञा कैसे रहेगी ? ॥ ४३ ॥

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि-
मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः
पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥ ४४ ॥

जो इस मोक्षविद्याको जानता है और सावधानीके साथ आत्मतत्त्वका अनुसंधान करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति कर्मके अनिष्ट फलोंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ४४ ॥

दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्रजानिमित्तैरपि दैवतैश्च।
यदा ह्यसौ सुखदुःखे जहाति
मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४५ ॥

किंतु संतानोंके प्रति आसक्तिके कारण और भिन्न-भिन्न देवताओंकी प्रसन्नताके लिये अज्ञानियोंद्वारा जो सकाम कर्म किये जाते हैं, ये सब मनुष्यके लिये नाना प्रकारके सुदृढ़ बन्धन हैं। जब वह इन बन्धनोंसे छूटकर सुख-दुःखकी चिन्ता छोड़ देता है, उस समय सूक्ष्म शरीरके अभिमानका त्याग करके सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च
शेते जरामृत्युभयादभीतः।
क्षीणे च पुण्ये विगते च पापे
ततो निमित्ते च फले विनष्टे।
अलेपमाकाशमलिङ्गमेव-
मास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ताः ॥ ४६ ॥

श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणोंका विचार और शास्त्रमें बताये हुए मङ्गलमय साधनोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जरा और मृत्युके भयसे रहित होकर सुखसे सोता है। जब पुण्य और पापका क्षय तथा उनसे मिलनेवाले सुख दुःख आदि फलोंका नाश हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण पदार्थोंमें सर्वथा आसक्तिसे रहित पुरुष आकाशके समान निर्लेप और निर्गुण परमात्मामें स्थित हुए उसका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

यथोर्णनाभिः परिवर्तमान-
स्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः।
तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं
विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥ ४७ ॥

जैसे मकड़ी जाला तानकर उसपर चक्कर लगाती रहती है; किंतु उन जालोंका नाश हो जानेपर एक स्थानपर स्थित हो जाती है, उसी प्रकार अविद्याके वशीभूत हो नीचे गिरने-

वाला जीव कर्मजालमें पड़कर भटकता रहता है और उससे छूटनेपर दुःखसे रहित हो जाता है। जैसे पर्वतपर फेंका हुआ मिट्टीका ढेला उससे टकराकर चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार उसके सम्पूर्ण दुःखोंका विध्वंस हो जाता है ॥ ४७ ॥

यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं
हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
विहाय गच्छत्यनवेक्षमाण-
स्तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम्॥ ४८॥

जैसे रुरुनामक मृग अपने पुराने सींगको और साँप अपनी केंचुलको त्यागकर उसकी ओर देखे बिना ही चल देता है, उसी प्रकार ममता और अभिमानसे रहित हुआ पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो अपने सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर देता है ॥ ४८ ॥

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्त-
मुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः।
तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय
मुक्तः परार्द्ध्यां गतिमेत्यलिङ्गः॥ ४९॥

जिस प्रकार पक्षी वृक्षको जलमें गिरते देख उसमें आसक्ति छोड़कर वृक्षका परित्याग करके उड़ जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष सुख और दुःख—दोनोंका त्याग करके सूक्ष्म शरीरसे रहित हो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥४९॥

भीष्म उवाच

अपि च भवति मैथिलेन गीतं
नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य ।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्
स्वयमिदमाह किल स भूमिपालः ॥५०॥
इदममृतपदं निशम्य राजा
स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम्।
निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः
परमसुखी विजहार वीतशोकः॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! स्वयं आचार्य पञ्चशिखके बताये हुए इस अमृतमय ज्ञानोपदेशको सुनकर राजा जनक एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँच गये और सारी बातोंपर विचार करके शोकरहित हो बड़े सुखसे रहने लगे; फिर तो उनकी स्थिति ही कुछ और हो गयी। एक बार उन मिथिला-नरेश राजा जनकने मिथिला-नगरीको आगसे जलती देखकर स्वयं यह उद्गार प्रकट किया था कि इस नगरके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता है ॥ ५०-५१ ॥

इमं हि यः पठति विमोक्षनिश्चयं
महीपते सततमवेक्षते तथा।
उपद्रवान् नानुभवत्यदुःखितः
प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः॥ ५२ ॥

राजन्! यहाँ जो मोक्षतत्त्वका निर्णय किया गया है, उसका जो पुरुष सदा स्वाध्याय और चिन्तन करता रहता है, उसे उपद्रवोंका कष्ट नहीं भोगना पड़ता। दुःख तो उसके पास कभी फटकने नहीं पाते हैं तथा जिस प्रकार राजा जनक कपिलमतावलम्बी पञ्चशिखके समागमसे इस ज्ञानको पाकर मुक्त हो गये थे, उसी प्रकार वह भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

(श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थं दीपिता पुरा।
वह्निना दीपिता सा तु तन्मे शृणु महामते ॥

नृपश्रेष्ठ! महामते! पूर्वकालमें जिस उद्देश्यसे अग्निद्वारा मिथिलानगरी जलायी गयी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

जनको जनदेवस्तु कर्माण्याधाय चात्मनि।
सर्वभावमनुप्राप्य भावेन विचचार सः॥

जनकवंशी राजा जनदेव परमात्मामें कर्मोंको स्थापित करके सर्वात्मताको प्राप्त होकर उसी भावसे सर्वत्र विचरण करते थे ॥

यजन् ददंस्तथा जुह्वन् पालयन् पृथिवीमिमाम्।
अध्यात्मविन्महाप्राज्ञस्तन्मयत्वेन निष्ठितः॥

महाप्राज्ञ जनक अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता होनेके कारण निष्कामभावसे यज्ञ, दान, होम और पृथ्वीका पालन करते हुए भी उस अध्यात्मज्ञानमें ही तन्मय रहते थे ॥

स तस्य हृदि संकल्पं ज्ञातुमैच्छत् स्वयं प्रभुः।
सर्वलोकाधिपस्तत्र द्विजरूपेण संयुतः॥
मिथिलायां महाबुद्धिर्व्यलीकं किंचिदाचरन्।
स गृहीत्वा द्विजश्रेष्ठैर्नृपाय प्रतिवेदितः॥
अपराधं समुद्दिश्य तं राजा प्रत्यभाषत ॥

एक समय सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायणने राजा जनकके मनोभावकी परीक्षा लेनेका विचार किया; अतः वे ब्राह्मणरूपसे वहाँ आये। उन परम बुद्धिमान् श्रीहरिने मिथिलानगरीमें कुछ प्रतिकूल आचरण किया। तब वहाँके श्रेष्ठ द्विजोंने उन्हें पकड़कर राजाको सौंप दिया। ब्राह्मणके अपराधको लक्ष्य करके राजाने उनसे इस प्रकार कहा ॥

जनक उवाच

न त्वां ब्राह्मण दण्डेन नियोक्ष्यामि कथंचन।
मम राज्याद् विनिर्गच्छ यावत् सीमा भुवो मम॥

जनकने कहा—ब्राह्मण! मैं तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं दूँगा, तुम मेरे राज्यसे, जहाँतक मेरी राज्यभूमिकी सीमा है, उससे बाहर निकल जाओ ॥

इत्युक्तः स तथा तेन मैथिलेन द्विजोत्तमः।
अब्रवीत् तं महात्मानं राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्॥

मिथिलानरेशके ऐसा कहनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उन महात्मा राजा जनकसे इस प्रकार कहा— ॥

त्वमेवं पद्मनाभस्य नित्यं पक्षपदाहितः।
अहो सिद्धार्थरूपोऽसि गमिष्ये स्वस्ति तेऽस्तु वै॥

'महाराज! आप सदा पद्मनाभ भगवान् नारायणके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले और उन्हींके शरणागत हैं। अहो! आप कृतार्थरूप हैं, आपका कल्याण हो! अब मैं चला जाऊँगा' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तज्जिज्ञासुर्द्विजोत्तमः ।
अदहच्चाग्निना तस्य मिथिलां भगवान् स्वयम् ॥

ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहाँसे चल दिये । जाते-जाते राजाकी परीक्षा लेनेके लिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणरूपधारी भगवान् श्रीहरिने स्वयं ही मिथिलानगरीमें आग लगा दी ॥

प्रदीप्यमानां मिथिलां दृष्ट्वा राजा न कम्पितः ।
जनैः स परिपृष्टस्तु वाक्यमेतदुवाच ह ॥

मिथिलाको जलती हुई देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुए । लोगोंके पूछनेपर उन्होंने उनसे यह बात कही—॥

अनन्तं बत मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते ॥

'मेरे पास आत्मज्ञानरूप अनन्त धन है; अतः अब मेरे लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, इस मिथिलानगरीके जल जानेपर भी मेरा कुछ नहीं जलता है' ॥

तदस्य भाषमाणस्य श्रुत्वा श्रुत्वा हृदि स्थितम् ।
पुनः संजीवयामास मिथिलां तां द्विजोत्तमः ॥

राजा जनकके इस प्रकार कहनेपर उन द्विजश्रेष्ठने भी उनकी बात सुनी और उनके मनोभावको समझा; फिर उन्होंने मिथिलानगरीको पूर्ववत् सजीव एवं दाहरहित कर दिया ॥

आत्मानं दर्शयामास वरं चास्मै ददौ पुनः ।
धर्मे तिष्ठतु सद्भावो बुद्धिस्तेऽर्थे नराधिप ॥
सत्ये तिष्ठस्व निर्विण्णः स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।

साथ ही उन्होंने राजाको अपने साक्षात् स्वरूपका दर्शन कराया और उन्हें वर देते हुए पुनः कहा—'नरेश्वर ! तुम्हारा मन सद्भावपूर्वक धर्ममें लगा रहे और बुद्धि तत्त्वज्ञानमें परिनिष्ठित हो । सदा विषयोंसे विरक्त रहकर तुम सत्यके मार्गपर डटे रहो । तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं जाता हूँ' ॥

इत्युक्त्वा भगवांश्चैनं तत्रैवान्तरधीयत ।
एतत् ते कथितं राजन् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

उनसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये । राजन् ! यह प्रसङ्ग तुम्हें सुना दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्यं नाम एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखका उपदेशनामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्वेतकेतु और सुवर्चलाका विवाह, दोनों पति-पत्नीका अध्यात्मविषयक संवाद तथा गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हुए ही उनका परमात्माको प्राप्त होना एवं दमकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति कश्चिद् यदि विभो सदारो नियतो गृहे ।
अतीतसर्वसंसारः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥
तं मे ब्रूहि महाप्राज्ञ दुर्लभः पुरुषो महान् ।

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ ! प्रभो ! यदि कोई ऐसा पुरुष हो, जो गृहस्थ आश्रममें पत्नीसहित संयम-नियमके साथ रहता हो, समस्त सांसारिक बन्धनोंको पार कर चुका हो और सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे दूर रहकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता हो तो उसका मुझे परिचय दीजिये, क्योंकि ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं पृष्टवानसि ।
इतिहासमिमं शुद्धं संसारभयभेषजम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! तुमने मुझसे जो विषय पूछा है, उसे यथावत्‌रूपसे सुनो । यह विशुद्ध इतिहास जन्म-मरणरूप रोगका भय दूर करनेके लिये उत्तम औषध है ॥

देवलो नाम विप्रर्षिः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
क्रियावान् धार्मिको नित्यं देवब्राह्मणपूजकः ॥

ब्रह्मर्षि देवलका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है । वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देवताओं और ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करनेवाले थे ॥

सुता सुवर्चला नाम तस्य कल्याणलक्षणा ।
नातिह्रस्वा नातिकृशा नातिदीर्घा यशस्विनी ॥

उनके एक पुत्री थी, जो सुवर्चलाके नामसे पुकारी जाती थी । वह यशस्विनी कन्या सभी शुभ-लक्षणोंसे सम्पन्न थी । वह न तो अधिक नाटी थी और न अधिक लंबी, वह विशेष दुबली भी नहीं थी ॥

प्रदानसमयं प्राप्ता पिता तस्य ह्यचिन्तयत् ॥
अस्याः पतिः कुतो वेति ब्राह्मणः श्रोत्रियः परः ।
विद्वान् विप्रो ह्यकुटुम्बः प्रियवादी महातपाः ॥

धीरे-धीरे उसकी विवाहके योग्य अवस्था हो गयी । उसके पिता सोचने लगे, मेरी इस पुत्रीका पति श्रेष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण होना चाहिये, जो विद्वान् होनेके साथ ही प्रिय वचन बोलनेवाला, महातपस्वी और अविवाहित हो; परंतु ऐसा पुरुष कहाँसे सुलभ हो सकता है ? ॥

इत्येवं चिन्तयानं तं रहस्याह सुवर्चला ।
अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय वै पितः ।
एवं स्मर सदा विद्वन् ममेदं प्रार्थितं मुने ॥

एकान्तमें बैठकर ऐसी ही चिन्तामें पड़े हुए पिताके

पास जाकर सुवर्चलाने इस प्रकार कहा—'पिताजी ! आप परम बुद्धिमान्, विद्वान् और मुनि हैं। आप मुझे ऐसे पतिके हाथमें सौंपियेगा, जो अन्धा भी हो और आँखवाला भी हो। मेरी इस प्रार्थनाको सदा याद रखियेगा' ॥

पितोवाच

न शक्यं प्रार्थितं वत्से त्वयाद्य प्रतिभाति मे।
अन्धतानन्धता चेति विकारो मम जायते ॥
उन्मत्तेवाशुभं वाक्यं भाषसे शुभलोचने।

पिता बोले—बेटी ! तुम्हारी यह प्रार्थना पूर्ण हो सके, ऐसा तो मुझे नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति अन्धा भी हो और अन्धा न भी हो, यह कैसे सम्भव है ? तुम्हारी यह बात सुनकर मेरे मनमें खेद होता है। शुभलोचने ! तुम पगली-सी होकर अशुभ बात मुँहसे निकाल रही हो ॥

सुवर्चलोवाच

नाहमुन्मत्तभूताद्य बुद्धिपूर्वं ब्रवीमि ते।
विद्यते चेत् पतिस्तादृक् स मां भरति वेदवित् ॥

सुवर्चला बोली—पिताजी ! मैं पगली नहीं हूँ। खूब सोच-समझकर आपसे ऐसी बात कह रही हूँ। यदि ऐसा कोई वेदवेत्ता पति प्राप्त हो जाय तो वह मेरा भरण-पोषण कर सकता है ॥

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान्।
तादृशं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम् ॥

आप जिन ब्राह्मणोंके हाथमें मुझे देना चाहते हैं, उन सबको यहाँ बुलवा लीजिये। मैं उन्हींमेंसे अपनी पसंदके अनुसार योग्य पतिका वरण कर लूँगी ॥

तथेति चोक्त्वा तां कन्यामृषिः शिष्यानुवाच ह।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् योनिगोत्रविशोधितान्।
मातृतः पितृतः शुद्धाञ्शुद्धानाचारतः शुभान्।
अरोगान् बुद्धिसम्पन्नाञ्शीलसत्त्वगुणान्वितान् ॥
असंकीर्णांश्च गोत्रेषु वेदव्रतसमन्वितान्।
ब्राह्मणान् स्नातकाञ्शीघ्रं मातापितृसमन्वितान् ॥
निवेष्टुकामान् कन्यां मे दृष्ट्वाऽऽनयत शिष्यकाः।

तब अपनी पुत्रीसे 'तथास्तु' कहकर ऋषिने शिष्योंसे कहा—'शिष्यगण ! जो वेदविद्यासे सम्पन्न, निष्कलङ्क माता-पितासे उत्पन्न, निर्दोष कुलके बालक, शुद्ध आचार-विचारवाले, शुभ लक्षणोंसे युक्त, नीरोग, बुद्धिमान्, शील और सत्त्वसे सम्पन्न, गोत्रोंमें वर्णसंकरताके दोषसे रहित, वेदोक्त व्रतके पालनमें तत्पर, स्नातक, जीवित माता-पितावाले तथा मेरी कन्यासे विवाहकी इच्छा रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उन सबको देखकर तुमलोग यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥'

तच्छ्रुत्वा त्वरिताः शिष्या ह्याश्रमेषु ततस्ततः।
ग्रामेषु च ततो गत्वा ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥

मुनिकी यह बात सुनकर उनके शिष्योंने तुरंत इधर-उधर आश्रमों तथा गाँवोंमें जाकर ब्राह्मणोंको इसकी सूचना दी ॥

ऋषेः प्रभावं मत्वा ते कन्यायाश्च द्विजोत्तमाः।
अनेकमुनयो राजन् सम्प्राप्ता देवलाश्रमम् ॥

राजन् ! ऋषि और उस कन्याके प्रभावको जानकर अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि देवलके आश्रमपर आये ॥

अनुमान्य यथान्यायं मुनीन् मुनिकुमारकान्।
अभ्यर्च्य विधिवत् तत्र कन्यामाह पिता महान् ॥

कन्याके महान् पिता देवलने वहाँ आये हुए ऋषियों तथा ऋषिकुमारोंका यथायोग्य सम्मान तथा विधिपूर्वक पूजन करके अपनी पुत्रीसे कहा—

एतेऽपि नयो वत्से स्वपुत्रैकमता इह।
वेदवेदाङ्गसम्पन्नाः कुलीनाः शीलसम्मताः ॥
येऽमी तेषु वरं भद्रे त्वमिच्छसि महाव्रतम्।
तं कुमारं वृणीष्वाद्य तस्मै दास्याम्यहं शुभे ॥

'बेटी ! ये मुनि जो यहाँ पधारे हैं, वेद-वेदाङ्गोंसे सम्पन्न, कुलीन और शीलवान् हैं। ये मेरे लिये अपने पुत्रके समान प्रिय हैं। भद्रे ! इन लोगोंमेंसे तुम जिस महान् व्रतधारी ऋषिकुमारको पति बनाना चाहो, उसे आज चुन लो, शुभे ! मैं उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा' ॥

तथेति चोक्त्वा कल्याणी तप्तहेमनिभा तदा।
सर्वलक्षणसम्पन्ना वाक्यमाह यशस्विनी ॥
विप्राणां समितीर्दृष्ट्वा प्रणिपत्य तपोधनान्।

तब 'तथास्तु' कहकर तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली, समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, यशस्विनी, कल्याणमयी सुवर्चला ब्राह्मणोंके उस समुदायको देखकर सम्पूर्ण तपोधनोंको प्रणाम करके इस प्रकार बोली ॥

सुवर्चलोवाच

यद्यस्ति समितौ विप्रो ह्यन्धोऽनन्धः स मे वरः ॥

सुवर्चलाने कहा—इस ब्राह्मण-सभामें वही मेरा पति हो सकता है, जो अन्धा हो और अन्धा न भी हो ॥

तच्छ्रुत्वा मुनयस्तत्र वीक्षमाणाः परस्परम्।
नोचुर्विप्रा महाभागाः कन्यां मत्वा ह्यवेदिकाम् ॥

उस कन्याकी यह बात सुनकर सब मुनि एक दूसरेका मुँह देखने लगे। वे महाभाग ब्राह्मण उस कन्याको अबोध जानकर कुछ बोले नहीं ॥

कुत्सयित्वा मुनिं तत्र मनसा मुनिसत्तमाः ॥
यथागतं ययुः क्रुद्धा नानादेशनिवासिनः।
कन्या च संस्थिता तत्र पितृवेश्मनि भामिनी ॥

नाना देशोंमें निवास करनेवाले वे श्रेष्ठ मुनि कुपित हो मन-ही मन देवल ऋषिकी निन्दा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये और वह मानिनी कन्या वहाँ पिताके ही घरमें रह गयी

ततः कदाचिद् ब्रह्मण्यो विद्वान् न्यायविशारदः ।
ऊहापोहविधानज्ञो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ॥
वेदविद् वेदतत्त्वज्ञः क्रियाकल्पविशारदः ।
आत्मतत्त्वविभागज्ञः पितृमान् गुणसागरः ॥
श्वेतकेतुरिति ख्यातः श्रुत्वा वृत्तान्तमादरात् ।
कन्यार्थं देवलं चापि शीघ्रं तत्रागतोऽभवत् ॥

तदनन्तर किसी समय विद्वान्, ब्राह्मणभक्त, न्यायविशारद, ऊहापोह करनेमें कुशल, ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न, वेदवेत्ता, वेदतत्त्वज्ञ, कर्म-काण्डविशारद, आत्मतत्त्वको विवेकपूर्वक जाननेवाले, जीवित पितावाले तथा सद्गुणोंके सागर श्वेतकेतु ऋषि सारा वृत्तान्त सुनकर उस कन्याको प्राप्त करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आदरसहित देवल ऋषिके आश्रमपर आये ॥

उद्दालकसुतं दृष्ट्वा श्वेतकेतुं महाव्रतम् ।
यथान्यायं च सम्पूज्य देवलः प्रत्यभाषत ॥

उद्दालकके पुत्र महान् व्रतधारी श्वेतकेतुको आया देख देवलने उनकी यथायोग्य पूजा करके अपनी पुत्रीसे कहा—॥

कन्ये एष महाभागे प्राप्तो ऋषिकुमारकः ।
वरयैनं महाप्राज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥

'महान् सौभाग्यशालिनी कन्ये ! ये ऋषिकुमार श्वेतकेतु पधारे हैं । ये बड़े भारी पण्डित और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं । तुम इनका वरण कर लो' ॥

तच्छ्रुत्वा कुपिता कन्या ऋषिपुत्रमुदैक्षत ।
तां कन्यामाह विप्रर्षिः सोऽहं भद्रे समागतः ॥

पिताकी यह बात सुनकर कन्याने कुपित हो ऋषिकुमार श्वेतकेतुकी ओर देखा । तब ब्रह्मर्षि श्वेतकेतुने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मैं वही हूँ (जिसे तुम चाहती हो), तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ ॥

अन्धोऽहमत्र तत्त्वं हि तथा मन्ये च सर्वदा ।
विशालनयनं विद्धि तथा मां हीनसंशयम् ॥
वृणीष्व मां वरारोहे भजे च त्वामनिन्दिते ।

'मैं अन्ध हूँ, यह यथार्थ है । मैं अपने मनमें सदा ऐसा ही मानता भी हूँ । साथ ही मैं संदेहरहित होनेके कारण विशाल नेत्रोंसे युक्त भी हूँ । ऐसा ही तुम मुझे समझो । श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी ! तुम मुझे अङ्गीकार करो । मैं तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि करूँगा ॥

येनेदं वीक्षते नित्यं वृणोति स्पृशतेऽथ वा ॥
घ्रायते वक्ति सततं येनेदं रसते पुनः ।
येनेदं मन्यते तत्त्वं येन बुध्यति वा पुनः ॥
न चक्षुर्विद्यते ह्येतत् स वै भूतान्ध उच्यते ।

'जिस परमात्माकी शक्तिसे जीवात्मा सदा यह सब कुछ देखता है, ग्रहण करता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, बोलता है, निरन्तर विभिन्न वस्तुओंका स्वाद लेता है, तत्त्वका मनन करता और बुद्धिद्वारा निश्चय करता है, वह परमात्मा ही चक्षु[1] कहलाता है । जो इस चक्षुसे रहित है, वही प्राणियोंमें अन्धा कहलाता है (और परमात्मारूपी चक्षुसे युक्त होनेके कारण मैं अनन्ध-नेत्रवाला भी हूँ)॥

यस्मिन् प्रवर्तते चेदं पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन्नपि ॥
जिघ्रंश्च रसयंस्तद्वद् वर्तते येन चक्षुषा ।
तन्मे नास्ति ततो ह्यन्धो वृणु भद्रेऽद्य मामतः ॥

'जिस परमात्माके भीतर ही यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहारमें प्रवृत्त होता है । यह जगत् जिस आँखसे देखता, कानसे सुनता, त्वचासे स्पर्श करता, नासिकासे सूँघता, रसनासे रस लेता एवं जिस लौकिक चक्षुसे यह सारा बर्ताव करता है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मैं अन्ध हूँ; अतः भद्रे ! तुम मेरा वरण करो ॥

लोकदृष्ट्या करोमीह नित्यनैमित्तिकादिकम् ।
आत्मदृष्ट्या च तत् सर्वं विलिप्यामि च नित्यशः॥

'मैं लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ही यहाँ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करता हूँ तथा नित्य आत्मदृष्टि रखनेके कारण उन सब कर्मोंसे लिप्त नहीं होता हूँ ॥

स्थितोऽहं निर्भरः शान्तः कार्यकारणभावनः ।
अविद्यया तरन् मृत्युं विद्यया तं तथामृतम् ॥
यथाप्राप्तं तु संदृश्य वसामीह विमत्सरः ।

'कार्य-कारणरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ मैं सदा शान्तभावसे उन्हींपर निर्भर रहता हूँ । कर्मोंके अनुष्ठान-से मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमृतमय परमात्माका साक्षात्कार कर चुका हूँ और प्रारब्धवश जो कुछ प्रिय-अप्रिय पदार्थ प्राप्त होता है, उसको समानभावसे देखता हुआ मैं ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर यहाँ निवास करता हूँ ॥

क्रीते व्यवसितं भद्रे भर्ताहं ते वृणीष्व माम् ॥
ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम् ।

'भद्रे ! मैं तुम्हारा उचित शुल्क चुकानेका निश्चय कर चुका हूँ और तुम्हारा भरण-पोषण करनेमें समर्थ हूँ; अतः तुम मेरा वरण करो ।' यह सुनकर सुवर्चलाने द्विजश्रेष्ठ श्वेतकेतुकी ओर देखकर कहा ॥

सुवर्चलोवाच

मनसासि वृतो विद्वञ्शेषकर्ता पिता मम ।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिक्रमः ॥

सुवर्चला बोली—विद्वन् ! मैंने अपने हृदयसे आपका वरण कर लिया । शास्त्रमें कथित शेष कार्योंकी पूर्ति करनेवाले मेरे पिताजी हैं । आप उनसे मुझे माँग लीजिये । यही वेद-विहित मर्यादा है ॥

भीष्म उवाच

तद् विज्ञाय पिता तस्या देवलो मुनिसत्तमः ।
श्वेतकेतुं च सम्पूज्य तथैवोद्दालकेन तम् ॥
मुनीनामग्रतः कन्यां प्रददौ जलपूर्वकम् ।

१. चष्टे इति चक्षुः—जो देखता है, वह चक्षु है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वद्रष्टा परमात्मा ही चक्षुः पदका वाच्यार्थ है ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह सब वृत्तान्त जानकर सुवर्चलाके पिता मुनिश्रेष्ठ देवलने उद्दालकसहित श्वेतकेतुकी पूजा करके मुनियोंके सामने जलसे संकल्प करके अपनी कन्या श्वेतकेतुको दे दी ॥

उदाहरन्ति वै तत्र श्वेतकेतुं निरीक्ष्य तम् ॥
हृत्पुण्डरीकनिलयः सर्वभूतात्मको हरिः ।
श्वेतकेतुस्वरूपेण स्थितोऽसौ मधुसूदनः ॥

वहाँ श्वेतकेतुको देखकर ऋषिगण इस प्रकार कहने लगे—मानो यहाँ श्वेतकेतुके रूपमें सबके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले, सर्वभूतस्वरूप श्रीहरि भगवान् मधुसूदन ही विराजमान हैं ॥

देवल उवाच

प्रीयतां माधवो देवः पत्नी चेयं सुता मम ।
प्रतिपादयामि ते कन्यां सहधर्मचरीं शुभाम् ॥

देवल बोले—वररूपमें विराजमान ये भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों । यह मेरी पुत्री इन्हें पत्नीरूपसे समर्पित है । प्रभो ! मैं आपको कल्याणमयी सहधर्मिणीके रूपमें अपनी यह कन्या दे रहा हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै देवलो मुनिपुङ्गवः ।
प्रतिगृह्य च तां कन्यां श्वेतकेतुर्महायशाः ॥
उपयम्य यथान्यायमत्र कृत्वा यथाविधि ।
समाप्य तन्त्रं मुनिभिर्वैवाहिकमनुत्तमम् ॥
स गार्हस्थ्ये वसन् धीमान् भार्यां तामिदमब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मुनिवर देवलने उन्हें कन्यादान कर दिया । महायशस्वी श्वेतकेतुने उस कन्याको लेकर उसके साथ यथोचितरूपसे विधिपूर्वक विवाह किया । फिर मुनियोंद्वारा कराये हुए परम उत्तम वैवाहिक विधानको पूर्ण करके गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए बुद्धिमान् श्वेतकेतुने अपनी उस धर्मपत्नीसे इस प्रकार कहा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यानि चोक्तानि वेदेषु तत् सर्वं कुरु शोभने ।
मया सह यथान्यायं सहधर्मचरी मम ॥

श्वेतकेतुने कहा—शोभने ! वेदोंमें जिन शुभ कर्मोंका विधान है, मेरे साथ रहकर उन सबका यथोचितरूपसे अनुष्ठान करो और यथार्थरूपसे मेरी सहधर्मचारिणी बनो ॥

अहमित्येव भावेन स्थितोऽहं त्वं तथैव च ।
तस्मात् कर्माणि कुर्वीथाः कुर्यां ते च ततः परम् ॥

मैं इसी भावसे स्थित हूँ । तुम भी इसी भावसे स्थित रहना, अतः मेरी आज्ञाके अनुसार सारे कर्म करो, फिर मैं भी तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा ॥

न ममेति च भावेन ज्ञानाग्निनिलयेन च ।
अनन्तरं तथा कुर्यास्तानि कर्माणि भस्मसात् ॥
एवं त्वया च कर्तव्यं सर्वदादुर्भगा मया ।
यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः ॥
तस्माल्लोकस्य सिद्ध्यर्थं कर्तव्यं चात्मसिद्धये ॥

तदनन्तर 'ये सब कर्म मेरे नहीं है और मैं इनका कर्ता नहीं हूँ' इस भावसे ज्ञानाग्निद्वारा उन सब कर्मोंको भस्म कर डालो, तुम परम सौभाग्यवती हो । तुम्हें सदा इसी तरह ममता और अहंकारसे रहित होकर कर्म करना चाहिये और मुझे भी ऐसा ही करना चाहिये । श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वैसे ही दूसरे लोग भी करते हैं, अतः लोक-व्यवहारकी सिद्धि तथा आत्मकल्याणके लिये हम दोनोंको कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये ॥

भीष्म उवाच

उक्त्वैवं स महाप्राज्ञः सर्वज्ञानैकभाजनः ।
पुत्रानुत्पाद्य तस्यां च यज्ञैः संतर्प्य देवताः ॥
आत्मयोगपरो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा उपदेश देकर सम्पूर्ण ज्ञानके एकमात्र निधि महाज्ञानी श्वेतकेतुने सुवर्चलाके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये, यज्ञोंद्वारा देवताओंको संतुष्ट किया; फिर आत्मयोगमें नित्य तत्पर रहकर वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य हो गये ॥

भार्यां तां सदृशीं प्राप्य बुद्धिं क्षेत्रज्ञयोरिव ।
लोकमन्यमनुप्राप्तौ भार्या भर्ता तथैव च ॥
साक्षिभूतौ जगत्यस्मिंश्चरमाणौ मुदान्वितौ ।

अपने अनुरूप पत्नीको पाकर श्वेतकेतु उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे बुद्धिको पाकर क्षेत्रज्ञ । वे दोनों पति-पत्नी लोकान्तरमें भी पहुँच जाते थे और इस जगत्में साक्षीकी भाँति स्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥

ततः कदाचिद् भर्तारं श्वेतकेतुं सुवर्चला ।
पप्रच्छ को भवानत्र ब्रूहि मे तद् द्विजोत्तम ।
तामाह भगवान् वाग्मी त्वया ज्ञातो न संशयः ॥
द्विजोत्तमेति मामुक्त्वा पुनः कमनुपृच्छसि ।

तदनन्तर एक दिन सुवर्चलाने अपने पति श्वेतकेतुसे पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, यह मुझे बताइये !' उस समय प्रवचन-कुशल भगवान् श्वेतकेतुने उससे कहा—'देवि ! तुमने मेरे विषयमें जान ही लिया है, इसमें संदेह नहीं है। तुमने द्विजश्रेष्ठ कहकर मुझे सम्बोधित भी किया है; फिर उस द्विजश्रेष्ठके सिवा और किसको पूछ रही हो ?' ॥

सा तमाह महात्मानं पृच्छामि हृदि शायिनम् ॥

तब सुवर्चलाने अपने महात्मा पतिसे कहा—'नाथ ! मैं हृदय-गुफामें शयन करनेवाले आत्माको पूछती हूँ' ॥

तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचैनां स न वक्ष्यति भामिनि ।
नामगोत्रसमायुक्तमात्मानं मन्यसे यदि ।
तन्मिथ्या गोत्रसद्भावे वर्तते देहबन्धनम् ॥

यह सुनकर श्वेतकेतुने उससे कहा—'भामिनि ! वह तो कुछ कहेगा नहीं । यदि तुम आत्माको नाम और गोत्रसे

युक्त मानती हो तो यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है; क्योंकि नाम-गोत्र होनेपर देहका बन्धन प्राप्त होता है ॥

अहमित्येष भावोऽत्र त्वयि चापि समाहितः।
त्वमप्यहमहं सर्वमहमित्येव वर्तते ॥
नात्र तत् परमार्थं वै किमर्थमनुपृच्छसि ॥

'आत्मामें अहम् (मैं हूँ) यह भाव स्थापित किया गया है। तुममें भी वही भाव है। तुम भी अहम्, मैं भी अहम् और यह सब अहम्का ही रूप है। इसमें वह परमार्थतत्त्व नहीं है; फिर किसलिये पूछती हो ?'॥

ततः प्रहस्य सा हृष्टा भर्तारं धर्मचारिणी।
उवाच वचनं काले स्मयमाना तदा नृप ॥

नरेश्वर ! तब धर्मचारिणी पत्नी सुवर्चला बहुत प्रसन्न हुई, उसने हँसकर मुस्कराते हुए यह समयोचित वचन कहा ॥

सुवर्चलोवाच

किमनेकप्रकारेण विरोधेन प्रयोजनम्।
क्रियाकलापैर्ब्रह्मर्षे ज्ञाननष्टोऽसि सर्वदा ॥
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ यथाहं त्वामनुव्रता ॥

सुवर्चला बोली—ब्रह्मर्षे ! अनेक प्रकारके विरोधसे क्या प्रयोजन ? सदा इस नाना प्रकारके क्रिया-कलापमें पड़कर आपका ज्ञान लुप्त होता जा रहा है । अतः महाप्राज्ञ ! आप मुझे इसका कारण बताइये, क्योंकि मैं आपका अनुसरण करनेवाली हूँ ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः।
वर्तते तेन लोकोऽयं संकीर्णश्च भविष्यति ॥

श्वेतकेतुने कहा—प्रिये ! श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं; अतः हमारे कर्म त्याग देनेसे यह सारा जनसमुदाय संकरताके दोषसे दूषित हो जायगा ॥

संकीर्णे च तथा धर्मे वर्णसंकरमेति च।
संकरे च प्रवृत्ते तु मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥

इस प्रकार धर्ममें संकीर्णता आनेपर प्रजामें वर्णसंकरता फैल जाती है और संकरता फैल जानेपर सर्वत्र मात्स्यन्यायकी प्रवृत्ति हो जाती है (जैसे प्रबल मत्स्य दुर्बल मत्स्यको निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको सताने लगते हैं) ॥

तदनिष्टं हरेर्भद्रे धातुरस्य महात्मनः।
परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे ॥

भद्रे ! सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले परमात्मा श्रीहरिको यह अभीष्ट नहीं है। शुभे ! जगत्की यह सारी सृष्टि परमेश्वरकी क्रीड़ा है ॥

यावत् पांसव उद्दिष्टास्तावत्योऽस्य विभूतयः।
तावत्यश्चैव मायास्तु तावत्योऽस्याश्च शक्तयः ॥

धूलिके जितने कण हैं, उतनी ही परमेश्वर श्रीहरिकी विभूतियाँ हैं, उतनी ही उनकी मायाएँ हैं और उतनी ही उन मायाओंकी शक्तियाँ भी हैं ॥

एवं सुगह्वरे मुक्तो यत्र मे तद्भवाभवम्।
छित्त्वा ज्ञानासिना गच्छेत् स विद्वान् स च मे प्रियः ॥
सोऽहमेव न संदेहः प्रतिज्ञा इति तस्य वै ॥

स्वयं भगवान् नारायणका कथन है कि 'जो मुक्तिलाभके लिये उद्योगशील पुरुष अत्यन्त गहन गुफामें रहकर ज्ञानरूप खड्गके द्वारा जन्म-मृत्युके बन्धनको काटकर मेरे धामको चला जाता है, वही विद्वान् है और वही मुझे प्रिय है। वह योगी पुरुष मैं ही हूँ। इसमें संदेह नहीं है' यह भगवान्की प्रतिज्ञा है ॥

ये मूढास्ते दुरात्मानो धर्मसंकरकारकाः।
मर्यादाभेदका नीचा नरके यान्ति जन्तवः।
आसुरीं योनिमापन्ना इति देवानुशासनम् ॥

'जो मूढ़, दुरात्मा, धर्मसंकरता उत्पन्न करनेवाले, मर्यादाभेदक और नीच मनुष्य हैं, वे नरकमें गिरते हैं और आसुरी योनिमें पड़ते हैं, यह भी उन्हीं भगवान्का अनुशासन है' ॥

भगवत्या तथा लोके रक्षितव्यं न संशयः।
मर्यादालोकरक्षार्थमेवमस्मि तथा स्थितः ॥

देवि ! तुम्हें भी जगत्की रक्षाके लिये लोकमर्यादाका पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। मैं भी इसी भावसे लोक-मर्यादाकी रक्षामें स्थित हूँ ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दः कोऽत्र इति ख्यातस्तथार्थश्च महामुने।
आकृत्यापि तयोर्ब्रूहि लक्षणेन पृथक् पृथक् ॥

सुवर्चलाने पूछा—महामुने ! यहाँ शब्द किसे कहा गया है और अर्थ भी क्या है ? आप उन दोनोंकी आकृति और लक्षणका निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।
स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

श्वेतकेतुने कहा—अकार आदि वर्णोंके समुदायको क्रम या व्यतिक्रमसे उच्चारण करनेपर जो वस्तु प्रकाशित होती है, उसे 'शब्द' जानना चाहिये और उस शब्दसे जिस अभिप्रायकी प्रतीति हो, उसका नाम 'अर्थ' है ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दार्थयोर्हि सम्बन्धस्त्वनयोरस्ति वा न वा।
तन्मे ब्रूहि यथातत्त्वं शब्दस्थानेऽर्थ एव चेत् ॥

सुवर्चला बोली—यदि शब्दके होनेपर ही अर्थकी प्रतीति होती है तो इन शब्द और अर्थमें कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यह आप मुझे यथार्थरूपसे बतावें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि।
पुष्करे च यथा तोयं तथास्तीति च वेत्थ तत् ॥

श्वेतकेतुने कहा—शब्द और अर्थमें एक प्रकारसे कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। कमलके पत्तेपर स्थित जलकी भाँति शब्द एवं अर्थका अनियत सम्बन्ध है, ऐसा जानो॥

सुवर्चलोवाच

अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत्।
विद्यते चेन्महाप्राज्ञ विनार्थं ब्रूहि सत्तम॥

सुवर्चला बोली—महाप्राज्ञ! अर्थपर ही शब्दकी स्थिति है, अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती। साधुशिरोमणे! यदि बिना अर्थका कोई शब्द हो तो उसे बताइये॥

श्वेतकेतुरुवाच

स संसर्गोऽतिमात्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते।
अस्ति चेद् वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वै॥

श्वेतकेतुने कहा—अर्थके साथ शब्दका वाचकत्वरूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। यदि शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रमसे उच्चारण करनेपर भी शब्दका कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है (जैसे नदी, दीन इत्यादि)॥

सुवर्चलोवाच

शब्दस्थानोऽत्र इत्युक्तस्तथार्थ इति मे कृतम्।
अर्थास्थितो न तिष्ठेच्च विरूढमिह भाषितम्॥

सुवर्चला बोली—शब्द अर्थात् वेदका आधार है अर्थभूत परमात्मा। ऐसा ही विद्वानोंने कहा है और यही मेरा भी मत है। उस अर्थका आधार लिये बिना तो शब्द टिक ही नहीं सकता। परंतु आप तो इनमें कोई नियत सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं, अतः आपका कथन प्रसिद्धिके विपरीत है॥

श्वेतकेतुरुवाच

न विकूलोऽत्र कथितो नाकाशं हि विना जगत्।
सम्बन्धस्तत्र नास्त्येव तद्वदित्येष मन्यताम्॥

श्वेतकेतुने कहा—मैंने प्रसिद्धिके विपरीत कुछ नहीं कहा है। देखो, आकाशके बिना पृथ्वी अथवा पार्थिव जगत् टिक नहीं सकता तथापि इनमें कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी वैसा ही मानना चाहिये॥

सुवर्चलोवाच

सदाहङ्कारशब्दोऽयं व्यक्तमात्मनि संश्रितः।
न वाचस्तत्र वर्तन्ते इति मिथ्या भविष्यति॥

सुवर्चला बोली—यह 'अहम्' शब्द सदा ही आत्माके अर्थमें स्पष्टरूपसे प्रयुक्त होता है; परंतु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुतिके अनुसार वहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है; अतः आत्माके लिये 'अहम्' पदका प्रयोग भी मिथ्या ही होगा॥

श्वेतकेतुरुवाच

अहंशब्दो ह्यहंभावो नात्मभावे शुभव्रते।
न वर्तन्ते परेऽचिन्त्ये वाचः सगुणलक्षणाः॥

श्वेतकेतुने कहा—शुभव्रते! अहम् शब्दका आत्मभावमें प्रयोग नहीं होता; किंतु अहम्भावका ही आत्मभावमें प्रयोग होता है; क्योंकि सगुण पदार्थके बोधक वचन अचिन्त्य परब्रह्म परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं॥

मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते।
अयं भावः परेऽचिन्त्ये ह्यात्मभावो यथा च तत्॥

जैसे मिट्टीके घड़ेमें मृत्तिका-भाव होता है, उसी प्रकार परमात्मासे उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थमें परमात्मभाव अभीष्ट है; अतएव अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मामें अहम्भाव ही आत्मभाव है और वही यथार्थ है॥

अहं त्वमेतदित्येव परे संकल्पना मया।
तस्माद् वाचो न वर्तन्त इति नैव विरुध्यते॥

'मैं' 'तुम' और 'यह'—ये सब नाम परब्रह्म परमात्मामें हमलोगोंद्वारा कल्पित हैं (वास्तविक नहीं है), अतः 'उस परमात्मातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती' श्रुतिके इस कथनसे कोई विरोध नहीं है॥

तस्माद् वामेन वर्तन्ते मनसा भीरु सर्वशः।
यथाकाशगतं विश्वं संसक्तमिव लक्ष्यते॥

अतएव भीरु! मनुष्य भ्रान्तचित्तद्वारा ही अहम् आदि पदोंका प्रयोग करता है। जैसे आकाशमें स्थित सम्पूर्ण विश्व उसमें सटा हुआ-सा दीखता है, उसी प्रकार परमात्मामें स्थित हुआ सारा दृश्य-प्रपञ्च उससे जुड़ा हुआ-सा जान पड़ता है॥

संसर्गे सति सम्बन्धात् तद् विकारं भविष्यति।
अनाकाशगतं सर्वं विकारे च सदा गतम्॥

ब्रह्मके साथ जगत्का जो सम्बन्ध है, उसी सम्बन्धसे यह उसीका कार्य जान पड़ता है। जैसे सारा जगत् आकाशसे पृथक् है तो भी उसके विकारोंसे सम्बन्ध होनेके कारण सदा उससे मिश्रित ही रहता है, उसी प्रकार जगत्से ब्रह्मका कोई सम्पर्क नहीं है तो भी यह उसीसे उत्पन्न होनेके कारण तद्रूप माना जाता है॥

तद् ब्रह्म परमं शुद्धमनौपम्यं न शक्यते।
न दृश्यते तथा तच्च दृश्यते च मतिर्मम॥

वह ब्रह्म परम शुद्ध और उपमारहित है; अतः वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इन चर्मचक्षुओंसे उसको नहीं देखा जा सकता है तथा ज्ञानदृष्टिसे उसका साक्षात्कार होता है, ऐसा मेरा मत है॥

सुवर्चलोवाच

निर्विकारं ह्यमूर्तिं च निरयं सर्वगं तथा।
दृश्यते च वियन्नित्यं दृगात्मा तेन दृश्यते॥

सुवर्चला बोली—तब तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार निर्विकार, निराकार, निःसीम और सर्वव्यापी आकाशका सर्वदा ही दर्शन होता है, उसीके समान ज्ञानस्वरूप आत्माका भी दर्शन होता है॥

श्वेतकेतुरुवाच

त्वचा स्पृशति वै वायुमाकाशस्थं पुनः पुनः।
तत्स्थं गन्धं तथाऽऽघ्राति ज्योतिः पश्यति चक्षुषा॥

श्वेतकेतुने कहा—मनुष्य त्वचाद्वारा आकाशमें स्थित वायुका बारंबार स्पर्श करता है, नासिकाद्वारा आकाशवर्ती गन्धको बारंबार सूँघता है और नेत्रद्वारा आकाशस्थित ज्योतिका दर्शन करता है ॥

तमोरश्मिगणश्चैव मेघजालं तथैव च ।
वर्षं तारागणं चैव नाकाशं दृश्यते पुनः ॥

इसके सिवा अन्धकार, किरणसमूह, मेघोंकी घटा, बर्षा तथा तारागणका भी बारंबार दर्शन होता है; परंतु आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता ॥

आकाशस्याप्यथाकाशं सद्रूपमिति निश्चितम् ।
तदर्थे कल्पिता ह्येते तत् सत्यो विष्णुरेव च ॥

सत्स्वरूप परमात्मा उस आकाशका भी आकाश है, अर्थात् उसे भी अवकाश देनेवाला महाकाश है; यह निश्चित है, उन्हींके लिये और उन्हींके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि हुई है । वे ही सत्य तथा सर्वव्यापी हैं ॥

यानि नामानि गौणानि ह्युपचारात् परात्मनि ।
न चक्षुषा न मनसा न चान्येन परो विभुः ॥
चिन्त्यते सूक्ष्मया बुद्ध्या वाचा वक्तुं न शक्यते ।

भगवान्के जो गुण-सम्बन्धी नाम हैं, वे परमात्मामें औपचारिक हैं । नेत्र, मन तथा अन्य किसी इन्द्रियके द्वारा भी उस सर्वव्यापी परमात्माका ग्रहण नहीं हो सकता । वाणी-द्वारा भी उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । केवल सूक्ष्म बुद्धिद्वारा उनका चिन्तन एवं साक्षात्कार किया जा सकता है ॥

एतत् प्रपञ्चमखिलं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
महाघटोऽल्पकश्चैव यथा मह्यां प्रतिष्ठितौ ॥

यह सारा प्रपञ्च (समष्टि एवं व्यष्टि-जगत्) उन्हीं परमात्मामें प्रतिष्ठित है । ठीक उसी तरह, जैसे बड़ा और छोटा घड़ा पृथ्वीपर स्थित होते हैं ॥

न च स्त्री न पुमांश्चैव तथैव न नपुंसकः ।
केवलज्ञानमात्रं तत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

वह परमात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है, केवल ज्ञानस्वरूप है । उसीके आधारपर यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥

भूमिसंस्थानयोगेन वस्तुसंस्थानयोगतः ।
रसभेदा यथा तोये प्रकृत्यामात्मनस्तथा ॥

जैसे एक ही जलमें मृत्तिकाविशेष एवं बीज आदि द्रव्य-विशेषके संयोगसे रसभेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और आत्माके संयोगसे गुण-कर्मके अनुसार अनेक प्रकारकी सृष्टि प्रकट होती है ॥

तद्वाक्यस्मरणान्नित्यं तृप्तिं वारि पिबन्निव ।
प्राप्नोति ज्ञानमखिलं तेन तत् सुखमेधते ॥

जैसे प्यासा मनुष्य पानी पीकर तृप्ति लाभ करता है, उसी प्रकार साधक ब्रह्मबोधक वाक्यको स्मरण करके सदा तृप्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे उसका सुख उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त होता है ॥

सुवर्चलोवाच

अनेन साध्यं किं स्याद् वै शब्देनेति मतिर्मम ।
वेदगम्यः परोऽचिन्त्य इति पौराणिका विदुः ॥
निरर्थको यथा लोके तद्वत् स्यादिति मे मतिः ।
निरीक्ष्यैवं यथान्यायं वक्तुमर्हसि मेऽनघ ॥

सुवर्चला बोली—निष्पाप मुने ! इस शब्दसे क्या सिद्ध होनेवाला है ? मेरी तो ऐसी धारणा है कि शब्दसे कुछ भी होने-जानेवाला नहीं है । परंतु पौराणिक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि परमात्मा अचिन्त्य एवं वेदगम्य हैं । जैसे लोकमें बहुत-से शब्द निरर्थक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक शब्द भी हो सकते हैं । मेरी बुद्धिमें तो यही बात आती है; अतः आप इस विषयमें यथोचित विचार करके मुझे यथार्थ बात बतानेकी कृपा करें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः ।
व्याहत्या नैतदित्याह व्युपलिङ्गे च वर्तते ॥

श्वेतकेतुने कहा—'शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्मा वेदगम्य हैं' श्रुतिका यह कथन परम सत्य है । इस विषयमें नास्तिकोंका कहना है कि परब्रह्मकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होनेसे उक्त श्रुतिका कथन व्याघात दोषसे दूषित होनेके कारण सत्य नहीं है । इसका उत्तर आस्तिक यों देते हैं कि सूक्ष्म शरीरविशिष्ट स्थूल देहमें जीवात्मारूपसे परब्रह्मकी ही उपलब्धि होती है; अतः श्रुतिका पूर्वोक्त कथन यथार्थ ही है ॥

निरर्थको न चैवास्ति शब्दो लौकिक उत्तमे ।
अनन्वयास्तथा शब्दा निरर्था इति लौकिकैः ॥

उत्तम अङ्गोंवाली देवि ! कोई लौकिक शब्द भी निरर्थक नहीं है; फिर वैदिक शब्द तो व्यर्थ हो ही कैसे सकता है । जिन शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं होता—जो एक दूसरेसे असम्बद्ध होते हैं, उन्हींको लौकिक पुरुष निरर्थक बताते हैं ॥

गृह्यन्ते तद्वदित्येव न वर्तन्ते परात्मनि ।
अगोचरत्वं वचसां युक्तमेवं तथा शुभे ॥

किंतु शुभे ! लौकिक शब्दोंकी ही भाँति वैदिक शब्द भी यद्यपि सार्थक समझे जाते हैं, तथापि वे साक्षात् परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं; क्योंकि परमात्माको वाणीका अगोचर बताया गया है और उनकी अगोचरता युक्ति-सङ्गत भी है ॥

साधनस्योपदेशाच्च ह्युपायस्य च सूचनात् ।
उपलक्षणयोगेन व्यावृत्या च प्रदर्शनात् ॥
वेदगम्यः परः शुद्ध इति मे धीयते मतिः ।

वेदोंमें ब्रह्मकी उपासना अथवा उसकी प्राप्तिके साधनका उपदेश है । उपासनाके उपाय भी सूचित किये गये हैं । (जैसे ग्रहणकालमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ राहुका दर्शन होता है उसी प्रकार) उपलक्षण-योगसे प्रत्येक शरीरमें जीवात्मा-रूपसे ब्रह्मकी ही स्थितिका प्रदर्शन किया गया है । इसके

सिवा नेति-नेति आदि निषेधात्मक वचनोंद्वारा अनात्मवस्तुके बाधपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपकी ओर संकेत किया गया है। इसलिये शुद्धस्वरूप परमात्मा एकमात्र वेदगम्य हैं, यही मेरी सुनिश्चित धारणा है॥

अध्यात्मध्यानसम्भूतभूतं दीपवत् स्फुटम्॥
ज्ञाने विद्धि शुभाचारे तेन यान्ति परां गतिम्।

शुभ आचरणोंवाली देवि! तुम्हें यह विदित हो कि अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनसे नित्य ज्ञान दीपककी भाँति स्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगता है। उस ज्ञानसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होते हैं॥

यदि मे व्याहृतं गुह्यं श्रुतं न तु त्वया शुभे॥
तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने।

शुभे! शुद्धस्वरूपे! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न देवि! मैंने यह जो गूढ़ एवं यथार्थ ब्रह्मज्ञानका विषय बताया है, इसे तुमने सुना है या नहीं?॥

नानारूपवदस्यैवमैश्वर्यं दृश्यते शुभे।
न वायुस्तत्र सूर्यस्तत्राग्निस्तत् तु परं पदम्॥
अनेन पूर्णमेतद्धि हृदि भूतमिहेष्यते।

शुभे! परब्रह्म परमात्माका ऐश्वर्य नाना रूपोंमें दिखायी देता है? वायुकी वहाँतक पहुँच नहीं है। सूर्य और अग्नि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्रकाशित नहीं कर सकते। परमात्मासे ही यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है और वे ही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं॥

एतावदात्मविज्ञानमेतावद् यदहं स्मृतम्॥
आवयोर्न च सत्त्वे वै तस्मादज्ञानबन्धनम्।

इतना ही परमात्मविज्ञान है। इतना ही अहम् पदार्थ माना गया है। हम दोनोंकी सत्ता नित्य नहीं है, ऐसी धारणा अज्ञानके कारण होती है॥

भीष्म उवाच

एवं सुवर्चला दृष्टा प्रोक्ता भर्त्रा यथार्थवत्।
परिचर्यमाणा ह्यनिशं तत्त्वबुद्धिसमन्विता॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने पति श्वेतकेतुके इस प्रकार यथार्थ उपदेश देनेपर सुवर्चला आनन्दमग्न हो गयी। वह निरन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठ रहकर तदनुरूप आचरण करने लगी॥

भर्ता च तामनुप्रेक्ष्य नित्यनैमित्तिकान्वितः।
परमात्मनि गोविन्दे वासुदेवे महात्मनि॥
समाधाय च कर्माणि तन्मयत्वेन भावितः।
कालेन महता राजन् प्राप्नोति परमां गतिम्॥

श्वेतकेतु पत्नीको साथ रखकर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें संलग्न रहते थे। वे सबके हृदयमें निवास करनेवाले महामना परमात्मा गोविन्दको अपने समस्त कर्म समर्पित करके उन्हींके ध्यानमें तन्मय रहा करते थे। राजन्! इस प्रकार दीर्घकाल-तक परमात्मचिन्तन करके उन्होंने परमगति प्राप्त कर ली॥

एतत् ते कथितं राजन् यस्मात् त्वं परिपृच्छसि।
गार्हस्थ्यं च समाधाय गतौ जायापती परम्॥

नरेश्वर! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें मैंने यह प्रसङ्ग सुनाया है। इस प्रकार वे दोनों पति-पत्नी गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर परमात्माको प्राप्त हो गये॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कुर्वन् सुखमाप्नोति किं कुर्वन् दुःखमाप्नुयात्।
किं कुर्वन्निर्भयो लोके सिद्धश्चरति भारत॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! मनुष्य क्या उपाय करनेसे सुख पाता है; क्या करनेसे दुःख उठाता है और कौन-सा काम करनेसे वह सिद्धकी भाँति संसारमें निर्भय होकर विचरता है॥ १॥

भीष्म उवाच

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः।
सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! मनोयोगपूर्वक वेदार्थका विचार करनेवाले वृद्ध पुरुष सामान्यतः सभी वर्णोंके लिये और विशेषतः ब्राह्मणके लिये मन और इन्द्रियोंके संयमरूप 'दम' की ही प्रशंसा करते हैं॥ २॥

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ३॥

जिसने दमका पालन नहीं किया है, उसे अपने कर्मोंमें यथोचित सफलता नहीं मिलती; क्योंकि क्रिया, तप और सत्य—ये सभी दमके आधारपर ही प्रतिष्ठित होते हैं॥ ३॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो विन्दते महत्॥ ४॥

'दम' तेजकी वृद्धि करता है। 'दम' परम पवित्र बताया गया है, मन और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला पुरुष पाप और भयसे रहित होकर 'महत्' पदको प्राप्त कर लेता है॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति॥ ५॥

दमका पालन करनेवाला मनुष्य सुखसे सोता, सुखसे जागता और सुखसे ही संसारमें विचरता है तथा उसका मन भी प्रसन्न रहता है॥ ५॥

तेजो दमेन ध्रियते तन्न तीक्ष्णोऽधिगच्छति।
अमित्रांश्च बहून् नित्यं पृथगात्मनि पश्यति॥ ६॥

दमसे ही तेजको धारण किया जाता है, जिसमें दमका अभाव है, वह तीव्र कामवाला रजोगुणी पुरुष उस तेजको नहीं धारण कर सकता और सदा काम, क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओंको अपनेसे पृथक् अनुभव करता है॥ ६॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम्।
तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा॥ ७॥

जिन्होंने मन और इन्द्रियोंका दमन नहीं किया है,

उनसे समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार सदा भय बना रहता है, जैसे मांसभक्षी व्याघ्र आदि जन्तुओंसे भय हुआ करता है। ऐसे उद्दण्ड मनुष्योंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ही ब्रह्माजीने राजाकी सृष्टि की है ॥ ७ ॥

आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते ।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥ ८ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही श्रेष्ठ बताया गया है। उन सब आश्रमोंमें धर्मका पालन करनेसे जो फल मिलता है, दमनशील पुरुषको वह फल और अधिक मात्रामें उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ॥ ९ ॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता ।
गुरुपूजानसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ १० ॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।
साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥ ११ ॥

अब मैं उन लक्षणोंका वर्णन करूँगा, जिनकी उत्पत्तिमें दम ही कारण है। कृपणताका अभाव, उत्तेजनाका न होना, संतोष, श्रद्धा, क्रोधका न आना, नित्य सरलता, अधिक बकवाद न करना, अभिमानका त्याग, गुरुसेवा, किसीके गुणोंमें दोषदृष्टि न करना, समस्त जीवोंपर दया करना, किसीकी चुगली न करना, लोकापवाद, असत्यभाषण तथा निन्दा-स्तुति आदिको त्याग देना, सत्पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा तथा भविष्यमें आनेवाले सुखकी स्पृहा और दुःखकी चिन्ता न करना—॥ ९–११ ॥

अवैरकृत् सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः ।
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मवान् प्रभुः ॥ १२ ॥
प्राप्य लोके च सत्कारं स्वर्गं वै प्रेत्य गच्छति ।

जितेन्द्रिय पुरुष किसीके साथ वैर नहीं करता। उसका सबके साथ अच्छा बर्ताव होता है। वह निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखनेवाला, सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त, धैर्यवान् तथा दोषोंका दमन करनेमें समर्थ होता है। वह इहलोकमें सम्मान पाता और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२½ ॥

दुर्गमं सर्वभूतानां प्रापयन् मोदते सुखी ॥ १३ ॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स्म यो द्विषते जनम् ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥ १४ ॥

दमनशील पुरुष समस्त प्राणियोंको दुर्लभ वस्तुएँ देकर—दूसरोंको सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी और प्रमुदित होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगा रहता और किसीसे द्वेष नहीं करता है, वह बहुत बड़े जलाशयकी भाँति गम्भीर होता है। उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं होता तथा वह सदा ज्ञानानन्दसे तृप्त एवं प्रसन्न रहता है ॥ १३-१४ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥ १५ ॥

जो समस्त प्राणियोंसे निर्भय है तथा जिससे सम्पूर्ण प्राणी निर्भय हो गये हैं, वह दमनशील एवं बुद्धिमान् पुरुष सब जीवोंके लिये वन्दनीय होता है ॥ १५ ॥

न हृष्यति महत्यर्थे व्यसने च न शोचति ।
स वै परिमितप्रज्ञः स दान्तो द्विज उच्यते ॥ १६ ॥

जो बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर हर्षसे फूल नहीं उठता और संकटमें पड़नेपर शोक नहीं करता, वह द्विज सूक्ष्म बुद्धिसे युक्त एवं जितेन्द्रिय कहलाता है ॥ १६ ॥

कर्मभिः श्रुतिसम्पन्नः सद्भिराचरितैः शुचिः ।
सदैव दमसंयुक्तस्तस्य भुङ्क्ते महाफलम् ॥ १७ ॥

जो वेदशास्त्रोंका ज्ञाता और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए शुभ कर्मोंसे पवित्र है तथा जिसने सदा ही दमका पालन किया है, वह अपने शुभकर्मका महान् फल भोगता है ॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता ।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥

किसीके दोष न देखना, हृदयमें क्षमाभाव रखना, शान्ति, संतोष, मीठे वचन बोलना, सत्य, दान तथा क्रियामें परिश्रमका बोध न होना—ये सद्गुण हैं। दुरात्मा पुरुष इस मार्गसे नहीं चलते हैं ॥ १८ ॥

कामक्रोधौ च लोभश्च परस्येर्ष्याविकत्थना ।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
विक्रम्य घोरे तपसि ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
कालाकाङ्क्षी चरेल्लोकान् निरपाय इवात्मवान् ॥ २० ॥

उनमें तो काम, क्रोध, लोभ, दूसरोंके प्रति डाह और अपनी झूठी प्रशंसा आदि दुर्गुण ही भरे रहते हैं; इसलिये उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करे तथा ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उत्साहके साथ घोर तपस्यामें संलग्न हो जाय एवं मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ विघ्न-बाधाओंसे रहित हो धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌में विचरे ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दमप्रशंसायां विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दमकी प्रशंसाविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १०८½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्रत, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य तथा अतिथिसेवा आदिका विवेचन तथा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवालेको परम उत्तम गतिकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता यदिदं भुञ्जते हविः ।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! व्रतयुक्त द्विजगण वेदोक्त सकामकर्मोंके फलकी इच्छासे हविष्यान्नका भोजन करते हैं ? उनका यह कार्य उचित है या नहीं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रतोपेता भुञ्जानाः कार्यकारिणः ।
वेदोक्तेषु च भुञ्जाना व्रतलुब्धा युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो लोग अवैदिक व्रतका आश्रय ले हविष्यान्नका भोजन करते हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं और जो वेदोक्त व्रतोंमें प्रवृत्त हो सकाम यज्ञ करते और उसमें खाते हैं, वे भी उस व्रतके फलोंके प्रति लोलुप कहे जाते हैं (अतः उन्हें भी बारंबार इस संसारमें आना पड़ता है) ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः ।
एतत् तपो महाराज उताहो किं तपो भवेत् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! संसारके साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहते हैं, क्या वास्तवमें यही तप है या दूसरा । यदि दूसरा है तो उस तपका क्या स्वरूप है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत् तपो जनाः ।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! साधारण जन जो महीने-पंद्रह दिन उपवास करके उसे तप मानते हैं, उनका वह कार्य धर्मके साधनभूत शरीरका शोषण करनेवाला है; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके मतमें वह तप नहीं है ॥ ४ ॥

त्यागश्च संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम् ।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ५ ॥

उनके मतमें तो त्याग और विनय ही उत्तम तप है । इनका पालन करनेवाला मनुष्य नित्य उपवासी और सदा ब्रह्मचारी है ॥ ५ ॥

मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो दैवतं च सदा भवेत् ।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! त्यागी और विनयी ब्राह्मण सदा मुनि और सर्वदा देवता समझा जाता है । वह कुटुम्बके साथ रहकर भी निरन्तर धर्मपालनकी इच्छा रक्खे और निद्रा तथा आलस्यको कभी पास न आने दे ॥ ६ ॥

मांसादी सदा च स्यात् पवित्रश्च सदा भवेत् ।
अमृताशी सदा च स्याद् देवतातिथिपूजकः ॥ ७ ॥

मांस कभी न खाय, सदा पवित्र रहे, वैश्वदेव आदि यज्ञसे बचे हुए अमृतमय अन्नका भोजन तथा देवता और अतिथियोंकी पूजा करे ॥ ७ ॥

विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः ।
श्रद्दधानः सदा च स्याद् देवताद्विजपूजकः ॥ ८ ॥

उसे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता, अतिथिसेवाका व्रती, श्रद्धालु तथा देवता और ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी कथं भवेत् ।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य नित्य उपवास करनेवाला कैसे हो सकता है ? वह सतत ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है ? वह किस प्रकार अन्न ग्रहण करे, जिससे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता हो सके तथा वह निरन्तर अतिथि-सेवाका व्रत भी कैसे निभा सकता है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च ।
सदोपवासी स भवेद् यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो प्रतिदिन प्रातःकालके सिवा फिर शामको ही भोजन करे और बीचमें कुछ न खाय, वह नित्य उपवास करनेवाला होता है ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः ।
ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः ॥ ११ ॥

जो द्विज केवल ऋतुस्नानके समय ही पत्नीके साथ समागम करता, सदा सत्य बोलता और नित्य ज्ञानमें स्थित रहता है, वह सदा ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ११ ॥

न भक्षयेत् तथा मांसममांसाशी भवत्यपि ।
दाननित्यः पवित्रश्च अस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

तथा जो कभी मांस न खाय, वह अमांसाहारी होता है । जो नित्य दान करनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है । जो दिनमें कभी नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला समझा जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा ।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भरण-पोषण करनेके योग्य पिता-माता आदि कुटुम्बीजनों, सेवकों तथा अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर ही खाता है, वह केवल अमृत भोजन करता है; ऐसा समझो ॥ १३ ॥

(अदत्त्वा योऽतिथिभ्योऽन्नं न भुङ्क्ते सोऽतिथिप्रियः।
अदत्त्वान्नं दैवतेभ्यो यो न भुङ्क्ते स दैवतम् ॥)

जो अतिथियोंको अन्न दिये बिना स्वयं भी नहीं खाता, वह अतिथिप्रिय है तथा जो देवताओंको अन्न दिये बिना भोजन नहीं करता, वह देवभक्त है ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नानः सततं यस्तु वै द्विजः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जो द्विज भृत्यों और अतिथियोंके भोजन न करनेपर स्वयं भी कभी अन्न ग्रहण नहीं करता, वह भोजन न करनेके उस पुण्यसे स्वर्गलोकपर विजय पा लेता है ॥ १४ ॥

देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह।
अवशिष्टं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥

देवगण, पितृगण, माता-पिता तथा अतिथियोंसहित भृत्यवर्गसे अवशिष्ट अन्नको ही जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता) कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणा सह।
उपस्थिताश्चाप्सरोभिः परियान्ति दिवौकसः ॥ १६ ॥

ऐसे पुरुषोंको अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। ब्रह्माजी तथा अप्सराओंसहित समस्त देवता उनके घरपर आकर उनकी परिक्रमा किया करते हैं ॥ १६ ॥

देवताभिश्च ये सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और पितरोंके साथ (अर्थात् उन्हें उनका भाग अर्पण करके) भोजन करते हैं, वे इस लोकमें पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और परलोकमें भी उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अमृतप्राशनिको नाम एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अमृतभोजन-सम्बन्धी दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सनत्कुमारजीका ऋषियोंको भगवत्स्वरूपका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

केचिदाहुर्द्विजा लोके त्रिधा राजन्ननेकधा।
न प्रत्ययो न चान्यच्च दृश्यते ब्रह्म नैव तत् ॥
नानाविधानि शास्त्राणि युक्ताश्चैव पृथग्विधाः।
किमधिष्ठाय तिष्ठामि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! जगत्‌में कुछ विद्वान् जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं। कुछ लोग जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीन तत्त्वोंका वर्णन करते हैं और कितने ही विद्वान् अनेक तत्त्वोंका निरूपण करते रहते हैं; अतः कहीं न विश्वास किया जा सकता है, न अविश्वास। इसके सिवा वह परब्रह्म परमात्मा दिखायी नहीं देता है। नाना प्रकारके शास्त्र हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका वर्णन किया गया है; इसलिये पितामह! मैं किस सिद्धान्तका आश्रय लेकर रहूँ, यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

स्वे स्वे युक्ता महात्मानः शास्त्रेषु प्रभविष्णवः।
वर्तन्ते पण्डिता लोके को विद्वान् कश्च पण्डितः॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! शास्त्रोंके विचारमें प्रभावशाली सभी महात्मा अपने-अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें स्थित हैं। ऐसे पण्डित इस जगत्‌में बहुत हैं; परंतु उनमें वास्तवमें कौन तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् है और कौन शास्त्रचर्चामें पण्डित है? यह कहना कठिन है ॥

सर्वेषां तत्त्वमज्ञाय यथारुचि तथा भवेत्।
अस्मिन्नर्थे पुराभूतमितिहासं पुरातनम् ॥
महाविवादसंयुक्तमृषीणां भावितात्मनाम्।
हिमवत्पार्श्व आसीना ऋषयः संशितव्रताः ॥
षण्णां तानि सहस्राणि ऋषीणां गणमाहितम्।

सबके तत्त्वको भलीभाँति समझकर जैसी रुचि हो, उसीके अनुसार आचरण करे। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है। एक समय बहुत-से भावितात्मा मुनियोंका इसी विषयको लेकर आपसमें बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ था ॥

हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें कठोर व्रतका पालन करनेवाले छः हजार ऋषियोंकी एक बैठक हुई थी ॥

तत्र केचिद् ध्रुवं विश्वं सेश्वरं तु निरीश्वरम्।
प्राकृतं कारणं नास्ति सर्वं नैवमिदं जगत् ॥

उनमेंसे कुछ लोग इस जगत्‌को ध्रुव (सदा रहनेवाला) बताते थे, कुछ इसे ईश्वरसहित कहते थे और कुछ लोग बिना ईश्वरके ही जगत्‌की उत्पत्तिका प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगोंका कहना था कि इसका कोई प्राकृत कारण नहीं है तथा कुछ लोगोंका मत यह था कि वास्तवमें इस सम्पूर्ण जगत्‌की सत्ता है ही नहीं ॥

अनेन चापरे विप्राः स्वभावं कर्म चापरे।
पौरुषं कर्म दैवं च यत् स्वभावादिरेव तम् ॥

इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मणोंमेंसे कुछ लोग स्वभावको, कितने ही कर्मको, बहुतेरे पुरुषार्थको, दूसरे लोग दैवको और अन्य बहुत-से लोग स्वभाव-कर्म आदि सभीको जगत्‌का कारण बताते थे ॥

नानाहेतुशतैर्युक्ता नानाशास्त्रप्रवर्तकाः।
स्वभावाद् ब्राह्मणा राजञ्जिगीषन्तः परस्परम् ॥

वे नाना प्रकारके शास्त्रोंके प्रवर्तक थे तथा अनेक प्रकार-

की सैकड़ों युक्तियोंद्वारा अपने मतका पोषण करते थे। राजन्! वे सभी ब्राह्मण स्वभावसे ही इस शास्त्रार्थमें एक दूसरेको पराजित करनेकी इच्छा करते थे ॥

ततस्तु मूलमुद्भूतं वादिप्रत्यर्थिसंयुतम्।
पात्रदण्डविघातं च वल्कलाजिनवाससाम्॥
एके मन्युसमापन्नास्ततः शान्ता द्विजोत्तमाः।
वशिष्ठमब्रुवन् सर्वे त्वं नो ब्रूहि सनातनम्॥
नाहं जानामि विप्रेन्द्राः प्रत्युवाच स तान् प्रभुः।

तदनन्तर उन वादी और प्रतिवादियोंमें मूलभूत प्रश्नको लेकर बड़ा भारी वाद-विवाद खड़ा हो गया। उनमेंसे कितने ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेके पात्र, दण्ड, वल्कल, मृगचर्म और वस्त्रोंको भी नष्ट करने लगे। तत्पश्चात् शान्त होनेपर वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि वशिष्ठसे बोले—'प्रभो! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें।' यह सुनकर वशिष्ठने उत्तर दिया—'विप्रवरो! मैं उस सनातन तत्त्वके विषयमें कुछ नहीं जानता' ॥

ते सर्वे सहिता विप्रा नारदमृषिमब्रुवन्॥
त्वं नो ब्रूहि महाभाग तत्त्वविच्च भवानसि।

तब वे सब ब्राह्मण एक साथ नारदमुनिसे बोले—'महाभाग! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें; क्योंकि आप तत्त्ववेत्ता हैं' ॥

नाहं द्विजा विजानामि क्व हि गच्छाम संगताः॥
इति तानाह भगवांस्ततः प्राह च स द्विजान्।
को विद्वानिह लोकेऽस्मिन्नमोहोऽमृतमद्भुतम्॥

तब भगवान् नारदने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण! मैं उस तत्त्वको नहीं जानता। हम सब लोग मिलकर कहीं और चलें। इस जगत्‌में कौन ऐसा विद्वान् है, जिसमें मोह न हो तथा जो उस अद्भुत अमृततत्त्वके प्रतिपादनमें समर्थ हो' ॥

तच्च ते शुश्रुवुर्वाक्यं ब्राह्मणा ह्यशरीरिणः।
सनद्धाम द्विजा गत्वा पृच्छध्वं स च वक्ष्यति॥

यह बातचीत हो ही रही थी कि उन ब्राह्मणोंने किसी अदृश्य देवताकी बात सुनी—'ब्राह्मणो! सनत्कुमारके आश्रमपर जाकर पूछो। वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे' ॥

तमाह कश्चिद् द्विजवर्यसत्तमो
विभाण्डको मण्डितवेदराशिः।
कस्त्वं भवानर्थविभेदमध्ये
न दृश्यसे वाक्यमुदीरयंश्च॥

उस समय वेदराशिके ज्ञानसे सुशोभित विभाण्डक नामक किन्हीं ब्राह्मणशिरोमणिने उस अदृश्य देवतासे पूछा—'हम लोगोंमें तत्त्वके विषयमें मतभेद उत्पन्न हो गया है; ऐसी स्थितिमें आप कौन हैं, जो बात तो कर रहे हैं, किंतु दीखते नहीं हैं' ॥

अथाहेदं तं भगवान् सनन्तं
महामुने विद्धि मां पण्डितोऽसि।
ऋषिं पुराणं सततैकरूपं
यमक्षयं वेदविदो वदन्ति।

(भीष्मजी कहते हैं—राजन्!) तब भगवान् सनत्कुमारने उनसे कहा—'महामुने! तुम तो पण्डित हो। तुम मुझे सदा एकरूपसे ही विचरण करनेवाला पुरातन ऋषि सनत्कुमार समझो। मैं वही हूँ, जिसे वेदवेत्ता पुरुष अक्षय बताते हैं' ॥

पुनस्तमाहेदमसौ महात्मा
स्वरूपसंस्थं वद आह पार्थ।
त्वमेकोऽस्मदृषिपुङ्गवाद्य
न सत्स्वरूपमथवा पुनः किम्॥

कुन्तीनन्दन! तब उन महात्मा विभाण्डकने पुनः उनसे कहा—'आदिमुनिप्रवर! आप अपने स्वरूपका परिचय दीजिये। केवल आप ही हमसे विलक्षण जान पड़ते हैं, आपका स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा यदि आपका भी कोई स्वरूप है तो वह कैसा है?' ॥

अथाह गम्भीरतरानुपादं
वाक्यं महात्मा ह्यशरीर आदिः।
न ते मुने श्रोत्रमुखेऽपि चास्यं
न पादहस्तौ प्रपदात्मकेन॥

तब उस अदृश्य आदि महात्माने गम्भीर स्वरमें यह बात कही—'मुने! तुम्हारे न तो कान है, न मुख है, न हाथ है, न पैर है और न पैरोंके पंजे ही हैं' ॥

ब्रुवन् मुनीन् सत्यमथो निरीक्ष्य
स्वमाह विद्वान् मनसा निगम्य।
ऋषे कथं वाक्यमिदं ब्रवीषि
न चास्य मन्ता न च विद्यते चेत्॥
न शुश्रुवुस्ततस्तत् तु प्रतिवाक्यं द्विजोत्तमाः।
निरीक्ष्यमाणा आकाशं प्रहसन्तस्ततस्ततः॥

मुनियोंसे बातचीत करते हुए विद्वान् विभाण्डकने अपने विषयमें जब यह सब सत्य देखा तो मन-ही-मन विचार करके कहा—'ऋषे! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? यदि इसको जाननेवाला या न जाननेवाला कोई न रहे, तब क्या होगा?' परंतु इसका उत्तर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फिर नहीं सुनायी दिया। वे हँसते हुए आकाशकी ओर देखते ही रह गये ॥

आश्चर्यमिति मत्वा ते ययुर्हैमं महागिरिम्।
सनत्कुमारसंकाशं सगणा मुनिसत्तमाः॥

'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ऐसा मानकर वे सभी मुनिश्रेष्ठ दल-बलसहित सुवर्णमय महागिरि मेरुपर सनत्कुमारजीके पास गये ॥

तं पर्वतं समारुह्य ददृशुर्ध्यानमाश्रिताः।
कुमारं देवमर्हन्तं वेदपाराविवर्जितम्॥

उस पर्वतपर आरूढ़ हो ध्यानका आश्रय ले उन ऋषियोंने पूजनीय देव सनत्कुमारको देखा, जो निरन्तर वेदके पारायणमें लगे हुए थे ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे प्रकृतिस्थं महामुनिम्।
सनत्कुमारं राजेन्द्र प्रणिपत्य द्विजाः स्थिताः॥
आगतान् भगवानाह ज्ञाननिर्धूतकल्मषः।
ज्ञातं मया मुनिगणा वाक्यं तदशरीरिणः॥
कार्यमद्य यथाकामं पृच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः।

राजेन्द्र ! एक वर्ष पूर्ण होनेपर जब महामुनि सनत्कुमार प्रकृतिस्थ हुए, तब वे ब्राह्मण उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये। ज्ञानसे जिनके सारे पाप धुल गये थे, उन भगवान् सनत्कुमारने वहाँ पधारे हुए ऋषियोंसे कहा—'मुनिगण ! अदृश्य देवताने जो बात कही है, वह मुझे ज्ञात है; अतः आज आपलोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देना है। मुनिवरो ! आप इच्छानुसार प्रश्न करें॥

तमब्रुवन् प्राञ्जलयो महामुनिं
द्विजोत्तमं ज्ञाननिधिं सुनिर्मलम्।
कथं वयं ज्ञाननिधिं वरेण्यं
यक्ष्यामहे विश्वरूपं कुमार॥

(भीष्मजी कहते हैं—) तब उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर परमनिर्मल ज्ञाननिधि द्विजश्रेष्ठ महामुनि सनत्कुमारसे कहा—'कुमार ! हमलोग ज्ञानके भण्डार और सर्वश्रेष्ठ विश्वरूप परमेश्वरका किस प्रकार यजन करें ?॥

प्रसीद नो भगवञ्ज्ञानलेशं
मधु प्रयाताय सुखाय सन्तः।
यत् तत्पदं विश्वरूपं महामुने
तत्र ब्रूहि किं कुत्र महानुभाव॥

'भगवन्! महामुने! महानुभाव! आप हमपर प्रसन्न होइये और हमें ज्ञानरूपी मधुर अमृतका लेशमात्र दान दीजिये; क्योंकि संत अपने शरणागतोंको सदा सुख देते हैं। वह जो विश्वरूप पद है, वह क्या है ? यह हमें बताइये'॥

स तैर्वियुक्तो भगवान् महात्मा
यः संगवान् सत्यवित् तच्छृणुष्व।

उनके इस प्रकार विशेष अनुरोध करनेपर परब्रह्म परमात्मामें आसक्तचित्त सत्यवेत्ता महात्मा भगवान् सनत्कुमारने जो कुछ कहा, उसे सुनो॥

अनेकसाहस्रकलेषु चैव
प्रसन्नधातुं च शुभाज्ञया सत्॥

वे अनेक सहस्र ऋषियोंके बीचमें बैठे थे। उन्होंने उनके शुभ निवेदनसे सत्स्वरूप आनन्दमय परमेश्वरका इस प्रकार प्रतिपादन प्रारम्भ किया॥

यथाह पूर्वं युष्मासु ह्यशरीरी द्विजोत्तमाः।
तथैव वाक्यं तत् सत्यमजानन्तश्च कीर्तितम्॥

सनत्कुमार बोले—द्विजोत्तमो ! आपलोगोंके बीचमें पहले अदृश्य देवताने जो कुछ कहा था, उनका वह कथन उसी रूपमें सत्य है। आपलोगोंने उसे न जानते हुए ही उसके साथ वार्तालाप किया था॥

शृणुध्वं परमं कारणमस्ति। स एव सर्वं विद्वान् बिभेति न गच्छति। कुत्राहं कस्य नाहं केन केनेत्यवर्तमानो विजानाति।

सुनिये, वह विश्वरूप परमात्मा सबका परम कारण है। जो उस सर्वस्वरूप परमेश्वरको जानता है, वह न तो भयभीत होता है और न कहीं जाता है। मैं कहाँ हूँ ! किसका हूँ ? किसका नहीं हूँ ? किस-किस साधनसे कार्य करता हूँ ? इत्यादि विचारोंमें न पड़कर परमात्माको अनुभव करता है॥

स युगतो व्यापी। स पृथक् स्थितः। तदपरमार्थम्।

वह परमात्मा युग-युगमें व्यापक है। वह जड़ात्मक प्रपञ्चसे अत्यन्त भिन्न रूपमें पृथक् स्थित है। उस परमात्मासे भिन्न जो कोई भी जड वस्तु है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है॥

यथा वायुरेकः सन् बहुधेरितः। यथावद् द्विजे मृगे व्याघ्रे च। मनुजे वेणुसंश्रयो भिद्यते वायुरथैकः। आत्मा तथासौ परमात्मासावन्य इव भाति।

जैसे वायु एक होकर भी अनेक रूपोंमें संचरित होता है। पक्षी, मृग, व्याघ्र और मनुष्यमें तथा वेणुमें यथार्थ रूपसे स्थित होकर एक ही वायुके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। जो आत्मा है वही परमात्मा है; परंतु वह जीवात्मासे भिन्न-सा जान पड़ता है॥

एवमात्मा स एव गच्छति। सर्वमात्मा पश्यञ्शृणोति न जिघ्रति न भाषते।

इस प्रकार वह आत्मा ही परमात्मा है। वही जाता है, वह आत्मा ही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, सभी गंधोंको सूँघता है और सबसे बातचीत करता है॥

चक्रेऽस्य तं महात्मानं परितो दश रश्मयः।
विनिष्क्रम्य यथासूर्यमनुगच्छति तं प्रभुम्॥

सूर्यदेवके चक्रमें सब ओर दस-दस किरणें हैं, जो वहाँसे निकलकर महात्मा भगवान् सूर्यके पीछे-पीछे चलती हैं॥

दिने दिनेऽस्तमभ्येति पुनरुद्गच्छते दिशः।
तावुभौ न रवौ चास्तां तथा वित्त शरीरिणम्॥

सूर्यदेव प्रतिदिन अस्त होते और पुनः पूर्वदिशामें उदित होते हैं; परंतु वे उदय और अस्त दोनों ही सूर्यमें नहीं हैं। इसी प्रकार शरीरके अन्तर्गत अन्तर्यामीरूपसे जो भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनको जानो (उनमें शरीर और अशरीरभाव सूर्यमें उदय-अस्तकी ही भाँति कल्पित हैं)॥

पतिते वित्त विप्रेन्द्रा भक्षणे चरणे परः।
ऊर्ध्वमेकस्तथाधस्तादेकस्तिष्ठति चापरः॥

विप्रवरो ! आपलोगोंको गिरते-पड़ते, चलते-फिरते और खाते-पीते प्रत्येक कार्यके समय, ऊपर-नीचे आदि प्रत्येक देश और दिशामें एकमात्र भगवान् नारायण सर्वत्र विराज रहे हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिये॥

हिरण्यसदनं ज्ञेयं समेत्य परमं पदम्।
आत्मना ह्यात्मदीपं तमात्मनि ह्यात्मपूरुषम्॥

उनका दिव्य सुवर्णमय धाम ही परमपद जानना चाहिये, उसे पाकर जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह स्वयं ही अपना प्रकाशक और स्वयं ही अपने-आपमें अन्तर्यामी आत्मा है॥

संचितं संचितं पूर्वं भ्रमरो वर्तते भ्रमन्।
योऽभिमानीव जानाति न मुह्यति न हीयते॥

भौंरा पहले रसका संचय कर लेता है, तब फूलके चारों ओर चक्कर लगाने लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष देहाभिमानी-जैसा बनकर लोकसंग्रहके लिये सब विषयोंका अनुभव करता है, वह न तो मोहमें पड़ता है और न क्षीण ही होता है॥

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं
हृदा मनीषा पश्यति रूपमस्य।
इज्यते यस्तु मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः॥

कोई भी उस परमात्माको अपने चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। अन्तःकरणमें स्थित निर्मल बुद्धिके द्वारा ही उसके रूपको ज्ञानी पुरुष देख पाता है। उस परमात्माका मन्त्रद्वारा यजन किया जाता है तथा श्रेष्ठ द्विज ही उसका यजन करता है॥

नैव धर्मी न चाधर्मी द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
ज्ञानतृप्तः सुखं शेते ह्यमृतात्मा न संशयः॥

वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है, न अधर्मी। वह द्वन्द्वोंसे अतीत और ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य है। इसमें संदेह नहीं कि वह ज्ञानसे परितृप्त होकर सुखपूर्वक सोता है॥

एवमेष जगत्सृष्टिं कुरुते मायया प्रभुः।
न जानाति विमूढात्मा कारणं चात्मनो ह्यसौ॥

तथा ये भगवान् अपनी मायाद्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं। जिसका हृदय मोहसे आच्छन्न है, वह अपने कारणभूत परमात्माको नहीं जानता॥

ध्याता द्रष्टा तथा मन्ता बोद्धा दृष्टान् स एव सः।
को विद्वान् परमात्मानमनन्तं लोकभावनम्॥
यत्तु शक्यं मया प्रोक्तं गच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः।

वही ध्यान, दर्शन, मनन और देखी हुई वस्तुओंका बोध प्राप्त करनेवाला है। सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले उस अनन्त परमात्माको कौन जान सकता है ? मुनिवरो! मुझसे जहाँतक हो सकता था, मैंने इसका स्वरूप बता दिया। अब आपलोग जाइये॥

भीष्म उवाच

एवं प्रणम्य विप्रेन्द्रा ज्ञानसागरसम्भवम्।
सनत्कुमारं संदृश्य जग्मुस्ते रुचिरं पुनः॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार ज्ञानके समुद्रकी उत्पत्तिके कारणभूत मनोहर आकृतिवाले सनत्कुमारको प्रणाम करके उनका दर्शन करनेके पश्चात् वे सब ऋषि-मुनि वहाँसे चले गये॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय ज्ञानयोगपरो भव।
ज्ञानमेव महाराज सर्वदुःखविनाशनम्॥

अतः महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भी ज्ञानयोगके साधनमें तत्पर हो जाओ। ऐसा ज्ञान ही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाला है॥

इदं महादुःखसमाकराणां
नृणां परित्राणविनिर्मितं पुरा।
पुराणपुंसा ऋषिणा महात्मना
महामुनीनां प्रवरेण तद् ध्रुवम्॥

जो लोग महान् दुःखके आकर बने हुए हैं, उन मनुष्योंके परित्राणके लिये पूर्वकालमें पुराणपुरुष महात्मा महामुनिशिरोमणि नारायणऋषिने इस ज्ञानको प्रकट किया था, यह अविनाशी है॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं कर्म लोकेऽस्मिन् शुभं वा यदि वाशुभम्।
पुरुषं योजयत्येव फलयोगेन भारत॥ १॥
कर्तास्ति तस्य पुरुष उताहो नेति संशयः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन त्वत्तः श्रोतुं पितामह॥ २॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! इस लोकमें जो यह शुभ अथवा अशुभ कर्म होता है, वह पुरुषको उसके सुख-दुःखरूप फल भोगनेमें लगा ही देता है; परंतु पुरुष उस कर्मका कर्ता है या नहीं, इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः पितामह! मैं आपके द्वारा इसका तत्त्वयुक्त समाधान सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और प्रह्लादके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ ३॥

असक्तं धूतपाप्मानं कुले जातं बहुश्रुतम्।
अस्तब्धमनहङ्कारं सत्त्वस्थं समये रतम्॥ ४॥
तुल्यनिन्दास्तुतिं दान्तं शून्यागारनिवासिनम्।
चराचराणां भूतानां विदितप्रभवाप्ययम्॥ ५॥
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमप्रियेषु प्रियेषु च।
काञ्चने वाथ लोष्टे वा उभयोः समदर्शनम्॥ ६॥

आत्मनि श्रेयसि ज्ञाने धीरं निश्चितनिश्चयम् ।
परावरज्ञं भूतानां सर्वज्ञं समदर्शनम् ॥ ७ ॥
(भक्तं भागवतं नित्यं नारायणपरायणम् ।
ध्यायन्तं परमात्मानं हिरण्यकशिपोः सुतम् ॥)
शक्रः प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम् ।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

प्रह्लादजीके मनमें किसी विषयके प्रति आसक्ति नहीं थी। उनके सारे पाप धुल गये थे। वे कुलीन और बहुश्रुत विद्वान् थे। वे गर्व और अहंकारसे रहित थे। वे धर्मकी मर्यादाके पालनमें तत्पर और शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहते थे। निन्दा और स्तुतिको समान समझते, मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखते और एकान्त स्थानमें निवास करते थे। उन्हें चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका ज्ञान था। अप्रियकी प्राप्तिमें क्रोधयुक्त तथा प्रियकी प्राप्ति होनेपर हर्षयुक्त नहीं होते थे। मिट्टीके ढेले और सुवर्ण दोनोंमें उनकी समानदृष्टि थी। वे ज्ञानस्वरूप कल्याणमय परमात्माके ध्यानमें स्थित और धीर थे। उन्हें परमात्मतत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया था। उन्हें परावरस्वरूप ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान था। वे सर्वज्ञ, सम्पूर्णभूत-प्राणियोंमें समदर्शी एवं जितेन्द्रिय थे। वे भगवान् नारायणके प्रिय भक्त और सदा उन्हींके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले थे। हिरण्यकशिपुनन्दन प्रह्लादजीको एकान्तमें बैठकर परमात्मा श्रीहरिका ध्यान करते देख इन्द्र उनकी बुद्धि और विचारको जाननेकी इच्छासे उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले—॥ ४–८ ॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैः स्यात् पुरुषो नृषु।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाँल्लक्षयामहे ॥ ९ ॥

'दैत्यराज! संसारमें जिन गुणोंको पाकर कोई भी पुरुष सम्मानित हो सकता है, उन सबको मैं आपके भीतर स्थिरभावसे स्थित देखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ ते लक्ष्यते बुद्धिः समा बालजनैरिह ।
आत्मानं मन्यमानः सन् श्रेयः किमिह मन्यसे॥ १० ॥

'आपकी बुद्धि बालकोंके समान राग-द्वेषसे रहित दिखायी देती है। आप आत्माका अनुभव करते हैं, इसीलिये आपकी ऐसी स्थिति है; अतः मैं पूछता हूँ कि इस जगत्में आप किसको आत्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं ? ॥ १० ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनः प्रह्लाद शोचितव्ये न शोचसि ॥ ११ ॥

'आप रस्सियोंसे बाँधे गये, अपने राज्यसे भ्रष्ट हुए और शत्रुओंके वशमें पड़ गये थे। आप अपनी राज्यलक्ष्मीसे वञ्चित हो गये। प्रह्लादजी! ऐसी शोचनीय स्थितिमें पड़ जानेपर भी आप शोक नहीं कर रहे हैं ?॥ ११ ॥

प्रज्ञालाभात् तु दैतेय उताहो धृतिमत्तया ।
प्रह्लाद सुस्थरूपोऽसि पश्यन् व्यसनमात्मनः ॥ १२ ॥

'प्रह्लादजी! आप अपने ऊपर संकट आया देखकर भी निश्चिन्त कैसे हैं ? दैत्यराज! आपकी यह स्थिति आत्मज्ञानके कारण है या धैर्यके कारण ?' ॥ १२ ॥

इति संचोदितस्तेन धीरो निश्चितनिश्चयः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा स्वां प्रज्ञामनुवर्णयन् ॥ १३ ॥

इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर परमात्मतत्त्वको निश्चितरूपसे जाननेवाले धीरबुद्धि प्रह्लादजीने अपने ज्ञानका वर्णन करते हुए मधुर वाणीमें कहा ॥ १३ ॥

प्रह्लाद उवाच

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानां यो न बुद्ध्यते ।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः॥१४॥

प्रह्लादजी बोले—देवराज! जो प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण स्तम्भ (जडता या मोह) होता है। जिसे आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसको कभी मोह नहीं होता ॥ १४ ॥

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते॥ १५ ॥

सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं। उसके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता ॥१५॥

पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चिच्च कारकः ।
स्वयं न कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिह ॥ १६ ॥

पुरुषका प्रयत्न न होनेसे कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता; परंतु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत्में कर्तापनका अभिमान हो जाता है ॥ १६ ॥

यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधु वा ।
तस्य दोषवती प्रज्ञा अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥ १७ ॥

जो आत्माको शुभ या अशुभ कर्मोंका कर्ता मानता है, उसकी बुद्धि दोषसे युक्त और तत्त्वज्ञानसे रहित है—ऐसी मेरी मान्यता है ॥ १७ ॥

यदि स्यात् पुरुषः कर्ता शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयुर्न तु जातु पराभवेत्॥ १८ ॥

इन्द्र! यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता, उसके भी सारे कार्य अवश्य सिद्ध होते। उसे अपने प्रयत्नमें कभी पराभव नहीं प्राप्त होता ॥

अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥ १९ ॥

परंतु देखा यह जाता है कि इष्टसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको अनिष्टकी भी प्राप्ति होती है और इष्टकी सिद्धिसे वे वञ्चित रह जाते हैं; अतः पुरुषार्थकी प्रधानता कहाँ रही ? ॥ १९ ॥

अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित् तत्स्वभावतः ॥ २० ॥

कितने ही प्राणियोंको बिना किसी प्रयत्नके ही हमलोग अनिष्टकी प्राप्ति और इष्टका निवारण होते देखते हैं। यह बात स्वभावसे ही होती है ॥ २० ॥

प्रतिरूपतराः केचिद् दृश्यन्ते बुद्धिमत्तराः।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम्॥ २१ ॥

कितने ही सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष भी कुरूप और अल्पबुद्धि मनुष्योंसे धन पानेकी आशा करते देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

स्वभावप्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा।
शुभाशुभास्तदा तत्र कस्य किं मानकारणम् ॥ २२ ॥

जब शुभ और अशुभ सभी प्रकारके गुण स्वभावकी ही प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, तब किसीको भी उनपर अभिमान करनेका क्या कारण है ? ॥ २२ ॥

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा ॥ २३ ॥

मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि स्वभावसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती ॥ २३ ॥

कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्।
कर्मणां विषयं कृत्स्नमहं वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २४ ॥

यहाँपर जो शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसमें लोग कर्मको ही कारण मानते हैं; अतः मैं तुमसे कर्मके विषयका ही पूर्णतया वर्णन करता हूँ, सुनो॥ २४ ॥

यथा वेदयते कश्चिदोदनं वायसो ह्यदन्।
एवं सर्वाणि कर्माणि स्वभावस्यैव लक्षणम् ॥ २५ ॥

जैसे कोई कौआ कहीं गिरे हुए भातको खाते समय काँव-काँव करके अन्य काकोंको यह जता देता है कि यहाँ अन्न है, उसी प्रकार समस्त कर्म अपने स्वभावको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

विकारानेव यो वेद न वेद प्रकृतिं पराम्।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः।२६।

जो विकारों (कार्यों) को ही जानता है, उनकी परम प्रकृति (स्वभाव) को नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण मोह या अभिमान होता है। जो इस बातको ठीक-ठीक समझता है, उसे मोह नहीं होता॥ २६ ॥

स्वभावभाविनो भावान् सर्वानेवेह निश्चयात्।
बुद्ध्यमानस्य दर्पो वा मानो वा किं करिष्यति ॥ २७ ॥

सभी भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस बातको जो निश्चितरूपसे जान लेता है, उसका दर्प या अभिमान क्या बिगाड़ सकता है ? ॥ २७ ॥

वेद धर्मविधिं कृत्स्नं भूतानां चाप्यनित्यताम्।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ २८ ॥

इन्द्र ! मैं धर्मकी पूरी-पूरी विधि तथा सम्पूर्ण भूतोंकी अनित्यताको जानता हूँ। इसलिये, 'यह सब नाशवान् है' ऐसा समझकर किसीके लिये शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

निर्ममो निरहंकारो निराशीर्मुक्तबन्धनः।
स्वस्थो व्यपेतः पश्यामि भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ २९ ॥

ममता, अहङ्कार तथा कामनाओंसे शून्य और सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित हो आत्मनिष्ठ एवं असङ्ग रहकर मैं प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशको सदा देखता रहता हूँ॥

कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः।
नायासो विद्यते शक्र पश्यतो लोकमव्ययम् ॥ ३० ॥

इन्द्र ! मैं शुद्ध-बुद्धि तथा मन और इन्द्रियोंको अपने अधीन करके स्थित हूँ। मैं तृष्णा और कामनासे रहित हूँ और सदा अविनाशी आत्मापर ही दृष्टि रखता हूँ, इसलिये मुझे कभी कष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रकृतौ च विकारे च न मे प्रीतिर्न च द्विषे।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते ॥ ३१ ॥

प्रकृति और उसके कार्योंके प्रति मेरे मनमें न तो राग है, न द्वेष। मैं किसीको न अपना द्वेषी समझता हूँ और न आत्मीय ही मानता हूँ ॥ ३१ ॥

नोर्ध्वं नावाङ् न तिर्यक् च न क्वचिच्छक्र कामये।
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते ॥ ३२ ॥

इन्द्र ! मुझे ऊपर (स्वर्गकी), नीचे (पातालकी) तथा बीचके लोक (मर्त्यलोक) की भी कभी कामना नहीं होती। ज्ञान-विज्ञान और ज्ञेयके निमित्त भी मेरे लिये कोई कर्म आवश्यक नहीं है ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्राद पृच्छतः ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—प्रह्लादजी ! जिस उपायसे ऐसी बुद्धि और इस तरहकी शान्ति प्राप्त होती है, उसे पूछता हूँ। आप मुझे अच्छी तरह उसे बताइये ॥ ३३ ॥

प्रह्राद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥ ३४ ॥

प्रह्लादने कहा—इन्द्र ! सरलता, सावधानी, बुद्धिकी निर्मलता, चित्तकी स्थिरता तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे पुरुषको महत्-पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः।
स्वभावादेव तत्सर्वं यत्किंचिदनुपश्यसि ॥ ३५ ॥

इन गुणोंको अपनानेपर स्वभावसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, स्वभावसे ही शान्ति मिलती है तथा जो कुछ भी तुम देख रहे हो, सब स्वभावसे ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना शक्रो विस्मयमागमत् ।
प्रीतिमांश्च तदा राजंस्तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ३६ ॥

राजन् ! दैत्यराज प्रह्लादके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उनके वचनोंकी प्रशंसा की ॥ ३६ ॥

स तदाभ्यर्च्य दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यपतिरीश्वरः ।
असुरेन्द्रमुपामन्त्र्य जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इतना ही नहीं, त्रिलोकीनाथ देवेश्वर इन्द्रने उस समय दैत्यों और असुरोंके स्वामी प्रह्लादका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे अपने निवास-स्थान स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रप्रह्लादसंवादो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और प्रह्लादका संवादनामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४५½ श्लोक मिलाकर कुल ८२½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—इन्द्रके आक्षेपयुक्त वचनोंका बलिके द्वारा कठोर प्रत्युत्तर

युधिष्ठिर उवाच

यथा बुद्ध्या महीपालो भ्रष्टश्रीर्विचरेन्महीम् ।
कालदण्डविनिष्पिष्टस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया हो और कालके दण्डसे पिस गया हो, वह भूपाल किस बुद्धिसे इस पृथ्वीपर विचरे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य विरोचनकुमार बलि और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पितामहमुपागम्य प्रणिपत्यकृताञ्जलिः ।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ ३ ॥

एक समय इन्द्र समस्त असुरोंपर विजय पाकर पितामह ब्रह्माजीके पास गये और हाथ जोड़ प्रणाम करके उन्होंने पूछा—'भगवन् ! बलि कहाँ रहता है ?' ॥ ३ ॥

यस्य स्म ददतो वित्तं न कदाचन हीयते ।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! जिसके दान देते समय उसके धनका भण्डार कभी खाली नहीं होता था, उस राजा बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ । आप मुझे बलिका पता बताइये ॥ ४ ॥

स वायुर्वरुणश्चैव स रविः स च चन्द्रमाः ।
सोऽग्निस्तपति भूतानि जलं च स भवन्युत ॥ ५ ॥
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ।

'वह राजा बलि ही वायु बनकर चलता, वरुण बनकर वर्षा करता, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता, अग्नि बनकर समस्त प्राणियोंको ताप देता तथा जल बनकर सबकी प्यास बुझाता था, उसी राजा बलिको मैं कहीं नहीं पा रहा हूँ । ब्रह्मन् ! आप मुझे बलिका पता बताइये ॥५½॥

स एव ह्यस्तमयते स स्म विद्योतते दिशः ॥ ६ ॥
स वर्षति स्म वर्षाणि यथाकालमतन्द्रितः ।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ७ ॥

'वही यथासमय आलस्य छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाशित होता, वही अस्त होता और वही वर्षा करता था । ब्रह्मन् ! उस बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ । आप मुझे राजा बलिका पता बताइये ॥ ६-७ ॥

ब्रह्मोवाच

नैतत् ते साधु मघवन् यदेनमनुपृच्छसि ।
पृष्टस्तु नानृतं ब्रूयात् तस्माद् वक्ष्यामि ते बलिम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मघवन् ! यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है कि तुम मुझसे बलिका पता पूछ रहे हो । पूछनेपर झूठ नहीं बोलना चाहिये, इसलिये मैं तुमसे बलिका पता बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

उष्ट्रेषु यदि वा गोषु खरेष्वश्वेषु वा पुनः ।
वरिष्ठो भविता जन्तुः शून्यागारे शचीपते ॥ ९ ॥

शचीपते ! किसी शून्य घरमें ऊँट, गौ, गर्दभ अथवा अश्वजातिके पशुओंमें जो श्रेष्ठ जीव उपलब्ध हो, उसे बलि समझो ॥ ९ ॥

शक्र उवाच

यदि स्म बलिना ब्रह्मञ्शून्यागारे समेयिवान् ।
हन्यामेनं न वा हन्यां तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन् ! यदि किसी एकान्त गृहमें राजा बलिसे मेरी भेंट हो जाय तो मैं उन्हें मार डालूँ या न मारूँ, यह मुझे बतावें ॥ १० ॥

ब्रह्मोवाच

मा स्म शक्र बलिं हिंसीर्न बलिर्वधमर्हति ।
न्यायस्तु शक्र प्रष्टव्यस्त्वया वासव काम्यया ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र ! तुम बलिका वध न करना, बलि वधके योग्य नहीं है । वासव ! तुम उनसे इच्छानुसार न्यायोचित व्यवहारके विषयमें प्रश्न कर सकते हो ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तो भगवता महेन्द्रः पृथिवीं तदा ।
चचारैरावतस्कन्धमधिरुह्य श्रिया वृतः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार आदेश देनेपर देवराज इन्द्र ऐरावतकी पीठपर सवार हो राजलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे ॥१२॥

ततो ददर्श स बलिं खरवेषेण संवृतम् ।
यथाऽऽख्यातं भगवता शून्यागारकृतालयम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उन्होंने भगवान् ब्रह्माके बताये अनुसार एक शून्य घरमें निवास करनेवाले राजा बलिको देखा, जिन्होंने गर्दभके वेषमें अपने आपको छिपा रखा था ॥ १३ ॥

शक्र उवाच

खरयोनिमनुप्राप्तस्तुषभक्षोऽसि दानव ।
इयं ते योनिरधमा शोचस्याहो न शोचसि ॥ १४ ॥

इन्द्र बोले—दानव ! तुम गदहेकी योनिमें पड़कर भूसी खा रहे हो । यह नीच योनि तुम्हें प्राप्त हुई है । इसके लये तुम्हें शोक होता है या नहीं ? ॥ १४ ॥

अदृष्टं बत पश्यामि द्विषतां वशमागतम् ।
श्रिया विहीनं मित्रैश्च भ्रष्टवीर्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥

आज तुम्हारी ऐसी अवस्था देख रहा हूँ, जो पहले कभी नहीं देखी गयी थी । तुम शत्रुओंके वशमें पड़ गये हो । राजलक्ष्मी तथा मित्रोंसे हीन हो गये हो तथा तुम्हारा बल-पराक्रम नष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

यत् तद् यानसहस्रैस्त्वं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ १६ ॥

पहले तुम अपने सहस्रों वाहनों और सजातीय बन्धुओंसे घिरकर सब लोगोंको ताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे ॥ १६ ॥

त्वन्मुखाश्चैव दैतेया व्यतिष्ठंस्तव शासने ।
अकृष्टपच्या च मही तवैश्वर्ये बभूव ह ॥ १७ ॥
इदं च तेऽद्य व्यसनं शोचस्याहो न शोचसि ।

सब दैत्य तुम्हारा मुँह जोहते हुए तुम्हारे ही शासनमें रहते थे । तुम्हारे राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी । परंतु आज तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट आ पहुँचा है । इसके लिये तुम शोक करते हो या नहीं ? ॥१७½॥

यदाऽऽतिष्ठः समुद्रस्य पूर्वकूले विलेलिहन् ॥ १८ ॥
ज्ञातीन् विभजतो वित्तं तदाऽऽसीत् ते मनः कथम् ।

जिस समय तुम समुद्रके पूर्वतटपर विविध भोगोंका आस्वादन करते हुए निवास करते थे और अपने भाई-बन्धुओंको धन बाँटते थे, उस समय तुम्हारे मनकी अवस्था कैसी रही होगी ? ॥ १८½ ॥

यत् ते सहस्रसमिता ननृतुर्देवयोषितः ॥ १९ ॥
बहूनि वर्षपूगानि विहारे दीप्यतः श्रिया ।
सर्वाः पुष्करमालिन्यः सर्वाः काञ्चनसप्रभाः ॥ २० ॥
कथमद्य तदा चैव मनस्ते दानवेश्वर ।

तुमने बहुत वर्षोंतक राजलक्ष्मीसे सुशोभित हो विहारमें समय बिताया है । उस समय सुवर्णकी-सी कान्तिवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ जो सब-की-सब पद्ममालाओंसे अलंकृत होती थीं, तुम्हारे सामने नृत्य किया करती थीं । दानवराज ! उन दिनों तुम्हारे मनकी क्या अवस्था थी और अब कैसी है ? ॥

छत्रं तवासीत् सुमहत् सौवर्णं रत्नभूषितम् ॥ २१ ॥
ननृतुस्तत्र गन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ।

एक समय था, जब कि तुम्हारे ऊपर सोनेका बना हुआ रत्नभूषित विशाल छत्र तना रहता था और छः हजार गन्धर्व सप्त स्वरोंमें गीत गाते हुए तुम्हारे सम्मुख अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन करते थे ॥ २१½ ॥

यूपस्तवासीत् सुमहान् यजतः सर्वकाञ्चनः ॥ २२ ॥
यत्राददः सहस्राणि अयुतानां गवां दश ।
अनन्तरं सहस्रेण तदाऽऽसीद् दैत्य का मतिः ॥ २३ ॥

यज्ञ करते समय तुम्हारे यज्ञमण्डपका अत्यन्त विशाल मध्यवर्ती स्तम्भ पूरा-का-पूरा सोनेका बना हुआ होता था । जिस समय तुम निरन्तर दस-दस करोड़ गौओंका सहस्रों बार दान किया करते थे, दैत्यराज ! उस समय तुम्हारे मनमें कैसे विचार उठते रहे होंगे ? ॥ २२-२३ ॥

यदा च पृथिवीं सर्वां यजमानोऽनुपर्यगाः ।
शम्याक्षेपेण विधिना तदाऽऽसीत् किं तु ते हृदि ॥२४॥

जब तुमने शम्याक्षेप[1]की विधिसे यज्ञ करते हुए सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की थी, उस समय तुम्हारे हृदयमें कितना उत्साह रहा होगा ? ॥ २४ ॥

न ते पश्यामि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च ते मालां न पश्याम्यसुराधिप ॥ २५ ॥

असुरराज ! अब तो मैं तुम्हारे पास न तो सोनेकी झारी,

---

१. शम्याक्षेप कहते हैं शम्यापातको 'शम्या' एक ऐसे काठक डंडेको कहते है, जिसका निचला भाग मोटा होता है । उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं ।

न छत्र और न चँवर ही देखता हूँ तथा ब्रह्माजीकी दी हुई वह दिव्य माला भी तुम्हारे गलेमें नहीं दिखायी देती है ॥

(*भीष्म उवाच*

ततः प्रहस्य स बलिर्वासवेन समीरितम्।
निशम्य भावगम्भीरं सुरराजमथाब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रकी कही हुई वह भावगम्भीर वाणी सुनकर राजा बलि हँस पड़े और देवराजसे इस प्रकार बोले ॥

बलिरुवाच

अहो हि तव बालिश्यमिह देवगणाधिप।
अयुक्तं देवराजस्य तव कष्टमिदं वचः ॥)

बलिने कहा—देवेश्वर ! यहाँ तुमने जो मूर्खता दिखायी है, वह मेरे लिये आश्चर्यजनक है। तुम देवताओंके राजा हो। इस तरह दूसरोंको कष्ट देनेवाली बात कहना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है ॥

न त्वं पश्यसि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥ २६ ॥

इन्द्र ! इस समय तुम मेरी सोनेकी झारीको, मेरे छत्र और चँवरको तथा ब्रह्माजीकी दी हुई मेरी उस दिव्य मालाको भी नहीं देख सकोगे ॥ २६ ॥

गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥ २७ ॥

तुम मेरे जिन रत्नोंके विषयमें पूछ रहे हो, वे सब गुफामें छिपा दिये गये हैं। जब मेरे लिये अच्छा समय आयेगा, तब तुम फिर उन्हें देखोगे ॥ २७ ॥

न त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन गयी है, ऐसी अवस्थामें जो तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसाके गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यशके अनुरूप नहीं है ॥ २८ ॥

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्धिषु।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥ २९ ॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध है तथा जो ज्ञानसे तृप्त हैं, वे क्षमाशील मनीषी सत्पुरुष दुःख पड़नेपर शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठते हैं ॥ २९ ॥

त्वं तु प्राकृतया बुद्ध्या पुरन्दर विकत्थसे।
यदाहमिव भावी स्यास्तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ३० ॥

पुरन्दर ! तुम अपनी अशुद्धि बुद्धिके कारण मेरे सामने आत्मप्रशंसा कर रहे हो। जब मेरी-जैसी स्थिति तुम्हारी भी हो जायगी, तब ऐसी बात नहीं बोल सकोगे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादो नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवाद नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बलि और इन्द्रका संवाद, बलिके द्वारा कालकी प्रबलताका प्रतिपादन करते हुए इन्द्रको फटकारना

भीष्म उवाच

पुनरेव तु तं शक्रः प्रहसन्निदमब्रवीत्।
निःश्वसन्तं यथा नागं प्रव्याहाराय भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! ऐसा कहकर सर्पके समान फुफकारते हुए बलिसे इन्द्रने पुनः अपना उत्कर्ष सूचित करनेके लिये हँसते हुए कहा ॥ १ ॥

शक्र उवाच

यत् तद् यानसहस्रेण ज्ञातिभिः परिवारितः।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन्॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुकृपणां चेमामवस्थामात्मनो बले।
ज्ञातिमित्रपरित्यक्तः शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—दैत्यराज बलि ! पहले जो तुम सहस्रों वाहनों और भाई-बन्धुओंसे घिरकर सम्पूर्ण लोकोंको संताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे और अब बन्धु-बान्धवों तथा मित्रोंसे परित्यक्त होकर जो अपनी यह अत्यन्त दीनदशा देख रहे हो, इसमेंसे तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ २-३ ॥

प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान्।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें तुमने सम्पूर्ण लोकोंको अपने अधीन कर लिया था और अनुपम प्रसन्नता प्राप्त की थी; किंतु इस समय बाह्य जगत्‌में तुम्हारा यह घोर पतन हुआ है, यह सब सोचकर तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ ४ ॥

बलिरुवाच

अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ ५ ॥

बलिने कहा—इन्द्र ! कालचक्र स्वभावसे ही परिवर्तनशील है, उसके द्वारा यहाँकी प्रत्येक वस्तुको मैं अनित्य

समझता हूँ, इसीलिये कभी शोक नहीं करता हूँ; क्योंकि यह सारा जगत् विनाशशील है ॥ ५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा भूतानां च सुराधिप ।
तेन शक्र न शोचामि नापराधादिदं मम ॥ ६ ॥

देवेश्वर ! प्राणियोंके ये सारे शरीर अन्तवान् हैं; इसलिये मैं कभी शोक नहीं करता हूँ। यह गर्दभका शरीर भी मुझे किसी अपराधसे नहीं प्राप्त हुआ है (मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है) ॥ ६ ॥

जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः ॥ ७ ॥

जीवन और शरीर दोनों जन्मके साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

न हीदृशमहं भावमवशः प्राप्य केवलम् ।
यदेवमभिजानामि का व्यथा मे विजानतः ॥ ८ ॥

मैं इस गर्दभ-शरीरको पाकर भी विवश नहीं हुआ हूँ । जब मैं इस प्रकार देहकी अनित्यता और आत्माकी असङ्गता-को जानता हूँ, तब यह जानते हुए मुझे क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ ८ ॥

भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः ।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रधृक् ॥ ९ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! जैसे जलके प्रवाहोंका अन्तिम आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार शरीरधारियोंकी अन्तिम गति मृत्यु है । जो पुरुष इस बातको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ९ ॥

ये त्वेवं नाभिजानन्ति रजोमोहपरायणाः ।
ते कृच्छ्रं प्राप्य सीदन्ति बुद्धिर्येषां प्रणश्यति ॥ १० ॥

जो लोग रजोगुण (काम-क्रोध) और मोहके वशीभूत हो इस बातको भलीभाँति नहीं जानते हैं तथा जिनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वे सङ्कटमें पड़नेपर बहुत दुखी होते हैं ॥

बुद्धिलाभात् तु पुरुषः सर्वं नुदति किल्बिषम् ।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥ ११ ॥

जिसे सद्बुद्धि प्राप्त होती है, वह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा सारे पापोंको नष्ट कर देता है । पापहीन होनेपर उसे सत्त्वगुण-की प्राप्ति होती है और सत्त्वगुणमें स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

ततस्तु ये निवर्तन्ते जायन्ते वा पुनः पुनः ।
कृपणाः परितप्यन्ते तैरथैरभिचोदिताः ॥ १२ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव सत्त्वगुणसे भ्रष्ट हो जाते हैं, वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते हैं तथा रजोगुणजनित काम, क्रोध आदि दोषोंसे प्रेरित होकर सदा संतप्त होते रहते हैं ॥

अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा ।
सुखदुःखफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ॥ १३ ॥

मैं न तो अर्थसिद्धि, जीवन और सुखमय फलकी कामना करता हूँ और न अनर्थ, मृत्यु एवं दुःखमय फलसे द्वेष ही रखता हूँ ॥ १३ ॥

हतं हन्ति हतो ह्येव यो नरो हन्ति कञ्चन ।
उभौ तौ न विजानीतो यश्च हन्ति हतश्च यः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य किसीकी हत्या करता है, वह वास्तवमें स्वयं मरा हुआ होते हुए मरे हुएको ही मारता है । जो मारता है और जो मारा जाता है, वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते हैं (क्योंकि आत्मा हननक्रियाका न तो कर्म है, न कर्ता) ॥

हत्वा जित्वा च मघवन् यः कश्चित् पुरुषायते ।
अकर्ता ह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत् ॥ १५ ॥

मघवन् ! जो कोई किसीको मारकर या जीतकर अपने पौरुषपर गर्व करता है, वह वास्तवमें उस पुरुषार्थका कर्ता ही नहीं है; क्योंकि जो जगत्का कर्ता, जो परमात्मा है, वही उस कर्मका भी कर्ता है ॥ १५ ॥

को हि लोकस्य कुरुते विनाशप्रभवावुभौ ।
कृतं हि तत् कृतेनैव कर्ता तस्यापि चापरः ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्का संहार और सृष्टि—इन दोनों कार्योंको कौन करता है ? वह सब प्राणियोंके कर्मोंद्वारा ही किया गया है और उसका भी प्रयोजक कोई और (ईश्वर) ही है ॥

पृथिवी ज्योतिराकाशमापो वायुश्च पञ्चमः ।
एतद्योनीनि भूतानि तत्र का परिदेवना ॥ १७ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंके कारण हैं; अतः उनके लिये शोक और विलापकी क्या आवश्यकता है ? ॥ १७ ॥

महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः ।
दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ १८ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा ।
तस्मिन् कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ १९ ॥

कोई बड़ा भारी विद्वान् हो या अल्पविद्यासे युक्त, बलवान् हो या दुर्बल, सुन्दर हो या कुरूप, सौभाग्यशाली हो या दुर्भाग्ययुक्त, गम्भीर काल सबको अपने तेजसे ग्रहण कर लेता है; अतः उन सबके कालके अधीन हो जानेपर जगत्की क्षणभङ्गुरताको जाननेवाले मुझ बलिको क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ १८-१९ ॥

दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धव्यं लभते नरः ॥ २० ॥

जो कालके द्वारा दग्ध हो चुका है, उसीको पीछेसे आग जलाती है । जिसे कालने पहलेसे ही मार डाला है, वही

किसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है। जो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी है, वही वस्तु किसीके द्वारा नष्ट की जाती है तथा जिसका मिलना पहलेसे ही निश्चित है, उसीको मनुष्य हस्तगत करता है॥

नास्य द्वीपः कुतः पारो नावारः सम्प्रदृश्यते ।
नान्तमस्य प्रपश्यामि विधेर्दिव्यस्य चिन्तयन् ॥ २१ ॥

मैं बहुत सोचनेपर भी दिव्य विधाता कालका अन्त नहीं देख पाता हूँ। उस समुद्र-जैसे कालका कहीं द्वीप भी नहीं है, फिर पार कहाँसे प्राप्त हो सकता है? उसका आर-पार कहीं नहीं दिखायी देता है॥ २१ ॥

यदि मे पश्यतः कालो भूतानि न विनाशयेत् ।
स्यान्मे हर्षश्च दर्पश्च क्रोधश्चैव शचीपते ॥ २२ ॥

शचीपते! यदि काल मेरे देखते-देखते समस्त प्राणियोंका विनाश नहीं करता तो मुझे हर्ष होता, अपनी शक्तिपर गर्व होता और उस क्रूर कालपर मुझे क्रोध भी होता॥ २२ ॥

तुषभक्षं तु मां ज्ञात्वा प्रविविक्तजने गृहे ।
बिभ्रतं गार्दभं रूपमागत्य परिगर्हसे ॥ २३ ॥

इस एकान्त गृहमें गर्दभका रूप धारण किये मुझे भूसी खाता जानकर तुम यहाँ आये हो और मेरी निन्दा करते हो॥

इच्छन्नहं विकुर्यां हि रूपाणि बहुधाऽऽत्मनः।
विभीषणानि यानीक्ष्य पलायेथास्त्वमेव मे ॥ २४ ॥

मैं चाहूँ तो अपने बहुत-से ऐसे भयानक रूप प्रकट कर सकता हूँ, जिन्हें देखकर तुम्हीं मेरे निकटसे भाग खड़े होओगे॥

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥ २५ ॥

इन्द्र! काल ही सबको ग्रहण करता है, काल ही सब कुछ देता है तथा कालने ही सब कुछ किया है; अतः अपने पुरुषार्थका गर्व न करो॥ २५ ॥

पुरा सर्वं प्रव्यथितं मयि क्रुद्धे पुरंदर ।
अवैमि त्वस्य लोकस्य धर्मं शक्र सनातनम् ॥ २६ ॥

पुरन्दर! पूर्वकालमें मेरे कुपित होनेपर सारा जगत् व्यथित हो उठता था। इस लोककी कभी वृद्धि होती है और कभी ह्रास। यह इसका सनातन स्वभाव है। शक्र! इस बातको मैं अच्छी तरह जानता हूँ॥ २६ ॥

त्वमप्येवमवेक्षस्व माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।
प्रभवश्च प्रभावश्च नात्मसंस्थः कदाचन ॥ २७ ॥

तुम भी जगत्‌को इसी दृष्टिसे देखो। अपने मनमें विस्मित न होओ। प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं हैं॥२७॥

कौमारमेव ते चित्तं तथैवाद्य यथा पुरा ।
समवेक्षस्व मघवन् बुद्धिं विन्दस्व नैष्ठिकीम् ॥ २८ ॥

तुम्हारा चित्त अभी बालकके समान है। वह जैसा पहले था, वैसा ही आज भी है। मघवन्! इस बातकी ओर दृष्टिपात करो और नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त करो॥ २८ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
आसन् सर्वे मम वशे तत् सर्वं वेत्थ वासव ॥ २९ ॥

वासव! एक दिन देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सभी मेरे अधीन थे। वह सब कुछ तुम जानते हो॥ २९ ॥

नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनो बलिः ।
इति मामभ्यपद्यन्त बुद्धिमात्सर्यमोहिताः ॥ ३० ॥

मेरे शत्रु अपने बुद्धिगत द्वेषसे मोहित होकर मेरी शरण ग्रहण करते हुए ऐसा कहा करते थे कि विरोचनकुमार बलि जिस दिशामें हों, उस दिशाको भी हमारा नमस्कार है॥३०॥

नाहं तदनुशोचामि नात्मभ्रंशं शचीपते ।
एवं मे निश्चिता बुद्धिः शास्तुस्तिष्ठाम्यहं वशे ॥ ३१ ॥

शचीपते! मुझे अपने इस पतनके लिये तनिक भी शोक नहीं होता है, मेरी बुद्धिका ऐसा निश्चय है कि मैं सदा सबके शासक ईश्वरके वशमें हूँ॥ ३१ ॥

दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान् ।
दुःखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा॥३२॥

एक उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ दर्शनीय एवं प्रतापी पुरुष अपने मन्त्रियोंके साथ दुःखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है, उसका वैसा ही भवितव्य था॥ ३२ ॥

दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते ।
सुखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ३३ ॥

इन्द्र! एक नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मूढ़ मनुष्य जिसका जन्म दुराचारसे हुआ है, अपने मन्त्रियोंसहित सुखी जीवन बिताता देखा जाता है। उसकी भी वैसी ही होनहार समझनी चाहिये॥ ३३ ॥

कल्याणी रूपसम्पन्ना दुर्भगा शक्र दृश्यते ।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा ॥ ३४ ॥

शक्र! एक कल्याणमय आचार-विचार रखनेवाली सुरूपवती युवती विधवा हुई देखी जाती है और दूसरी कुलक्षणा और कुरूपा स्त्री सौभाग्यवती दिखायी देती है॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र त्वया कृतम् ।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम् ॥ ३५ ॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस तरह समृद्धिशाली हो गये हो और हमलोग जो ऐसी अवस्थामें पहुँच गये हैं, यह न तो हमारा किया हुआ है और न तुमने ही कुछ किया है॥

न कर्म भविताप्येतत् कृतं मम शतक्रतो ।
ऋद्धिर्वाप्यथवा नर्द्धिः पर्यायकृतमेव तत् ॥ ३६ ॥

शतक्रतो! इस समय मैं इस परिस्थितिमें हूँ और जो

कर्म मेरे इस शरीरसे हो रहा है, यह सब मेरा किया हुआ नहीं है। समृद्धि और निर्धनता (प्रारब्धके अनुसार) बारी-बारीसे सबपर आती है ॥ ३६ ॥

पश्यामि त्वां विराजन्तं देवराजमवस्थितम्।
श्रीमन्तं द्युतिमन्तं च गर्जमानं ममोपरि ॥ ३७ ॥

मैं देखता हूँ, इस समय तुम देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हो। अपने कान्तिमान् और तेजस्वी स्वरूपसे विराज रहे हो और मेरे ऊपर बारंबार गर्जना करते हो ॥ ३७ ॥

एवं नैव न चेत् कालो मामाक्रम्य स्थितो भवेत्।
पातयेयमहं त्वाद्य सवज्रमपि मुष्टिना ॥ ३८ ॥

परंतु यदि इस तरह काल मुझपर आक्रमण करके मेरे सिरपर सवार न होता तो मैं आज वज्र लिये होनेपर भी तुम्हें केवल मुक्केसे मारकर धरतीपर गिरा देता ॥ ३८ ॥

न तु विक्रमकालोऽयं शान्तिकालोऽयमागतः।
कालः स्थापयते सर्वं कालः पचति वै तथा ॥ ३९ ॥

किंतु यह मेरे लिये पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है; अपितु शान्त रहनेका समय आया है। काल ही सबको विभिन्न अवस्थाओंमें स्थापित करके सबका पालन करता है और काल ही सबको पकाता (क्षीण करता) है ॥ ३९ ॥

मां चेदभ्यागतः कालो दानवेश्वरपूजितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च कमन्यं नागमिष्यति ॥ ४० ॥

एक दिन मैं दानवेश्वरोंद्वारा पूजित था और मैं भी गर्जता तथा अपना प्रताप सर्वत्र फैलाता था। जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ है, तब दूसरे किसपर वह आक्रमण नहीं करेगा ? ॥ ४० ॥

द्वादशानां तु भवतामादित्यानां महात्मनाम्।
तेजांस्येकेन सर्वेषां देवराज धृतानि मे ॥ ४१ ॥

देवराज ! तुमलोग जो बारह महात्मा आदित्य कहलाते हो, तुम सब लोगोंके तेज मैंने अकेले धारण कर रक्खे थे ॥

अहमेवोद्वहाम्यापो विसृजामि च वासव।
तपामि चैव त्रैलोक्यं विद्योताम्यहमेव च ॥ ४२ ॥

वासव ! मैं ही सूर्य बनकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीका जल ऊपर उठाता और मेघ बनकर वर्षा करता था। मैं ही त्रिलोकीको ताप देता और विद्युत् बनकर प्रकाश फैलाता था ॥ ४२ ॥

संरक्षामि विलुम्पामि ददाम्यहमथाददे।
संयच्छामि नियच्छामि लोकेषु प्रभुरीश्वरः ॥ ४३ ॥

मैं प्रजाकी रक्षा करता था और लुटेरोंको लूट भी लेता था। मैं सदा दान देता और प्रजासे कर लेता था। मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका शासक और प्रभु होकर सबको संयम-नियममें रखता था ॥ ४३ ॥

तदद्य विनिवृत्तं मे प्रभुत्वममराधिप।
कालसैन्यावगाढस्य सर्वं न प्रतिभाति मे ॥ ४४ ॥

अमरेश्वर ! आज मेरी वह प्रभुता समाप्त हो गयी। कालकी सेनासे मैं आक्रान्त हो गया हूँ; अतः मेरा वह सब ऐश्वर्य अब प्रकाशित नहीं हो रहा है ॥ ४४ ॥

नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया ॥ ४५ ॥

शचीपति इन्द्र ! न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्ता है। काल बारी-बारीसे अपनी इच्छाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका उपभोग करता है ॥ ४५ ॥

मासमासार्धवेश्मानमहोरात्राभिसंवृतम्।
ऋतुद्वारं वर्षमुखमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ४६ ॥

वेदवेत्ता पुरुष कहते हैं कि मास और पक्ष कालके आवास (शरीर) हैं। दिन और रात उसके आवरण (वस्त्र) हैं। ऋतुएँ द्वार (मन-इन्द्रिय) हैं और वर्ष मुख है। वह काल आयुस्वरूप है ॥ ४६ ॥

आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्येष्यामि च पञ्चधा ॥ ४७ ॥

कुछ विद्वान् अपनी बुद्धिके बलसे कहते हैं कि यह सब कुछ कालसंज्ञक ब्रह्म है। इसका इसी रूपमें चिन्तन करना चाहिये। इस चिन्तनके मास आदि उपर्युक्त पाँच ही विषय हैं। मैं पूर्वोक्त पाँच भेदोंसे युक्त कालको जानता हूँ ॥ ४७ ॥

गम्भीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च ॥ ४८ ॥

वह कालरूप ब्रह्म अनन्त जलसे भरे हुए महासागरके समान गम्भीर एवं गहन है। उसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। उसे ही क्षर एवं अक्षररूप बताया गया है ॥ ४८ ॥

सत्त्वेषु लिङ्गमावेश्य निर्लिङ्गमपि तत् स्वयम्।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥

जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वे निश्चितरूपसे ऐसा मानते हैं कि वह कालरूप परब्रह्म परमात्मा स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियोंके भीतर जीवका प्रवेश कराता है ॥ ४९ ॥

भूतानां तु विपर्यासं कुरुते भगवानिति।
न ह्येतावद् भवेद् गम्यं न यस्मात् प्रभवेत् पुनः ॥ ५० ॥

भगवान् काल ही समस्त प्राणियोंकी अवस्थामें उलट-फेर कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति उनके इस माहात्म्यको समझ नहीं पाता। कालकी ही महिमासे पराजित होकर मनुष्य कुछ भी कर नहीं पाता ॥ ५० ॥

गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा क्व गमिष्यति ।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥ ५१ ॥
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा ।
आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥ ५२ ॥

देवराज! समस्त प्राणियोंकी गति जो काल है, उसको प्राप्त हुए बिना तुम कहाँ जाओगे? मनुष्य भागकर भी उसे छोड़ नहीं सकता—उससे दूर नहीं जा सकता और न खड़ा होकर ही उसके चंगुलसे छूट सकता है। श्रवण आदि समस्त इन्द्रियाँ मास-पक्ष आदि पाँच भेदोंसे युक्त उस कालका अनुभव नहीं कर पातीं। कुछ लोग इन कालदेवताको अग्नि कहते हैं और कुछ प्रजापति ॥ ५१-५२ ॥

ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा ।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥ ५३ ॥
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा ।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥ ५४ ॥

दूसरे लोग उस कालको ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्ण, अपराह्ण और मध्याह्न कहते हैं। उसीको विद्वान् पुरुष मुहूर्त भी कहते हैं। वह एक होकर भी अनेक प्रकारका बताया जाता है। इन्द्र! तुम उस कालको इस प्रकार जानो। यह सारा जगत् उसीके अधीन है ॥ ५३-५४ ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव ।
बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते ॥ ५५ ॥

शचीपति इन्द्र! जैसे तुम हो, वैसे ही बल और पराक्रमसे सम्पन्न अनेक सहस्र इन्द्र समाप्त हो चुके हैं ॥ ५५ ॥

त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम् ।
प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥ ५६ ॥

शक्र! तुम अपनेको अत्यन्त शक्तिशाली और उत्कट बलसे युक्त देवराज समझते हो; परंतु समय आनेपर महापराक्रमी काल तुम्हें भी शान्त कर देगा ॥ ५६ ॥

य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव ।
मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥ ५७ ॥

इन्द्र! वह काल ही सम्पूर्ण जगत्‌को अपने वशमें कर लेता है; अतः तुम भी स्थिर रहो। मैं, तुम तथा हमारे पूर्वज भी कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ५७ ॥

यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥ ५८ ॥

तुम जिस इस परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर यह जानते हो कि यह मेरे पास स्थिरभावसे रहेगी, तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है; क्योंकि यह कहीं एक जगह बँधकर नहीं रहती है ॥५८॥

स्थिता हीन्द्र सहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम् ।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद् विबुधाधिप ॥ ५९ ॥

इन्द्र! यह लक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ सहस्रों पुरुषोंके पास रह चुकी है। देवेश्वर! इस समय यह चञ्चला मुझे भी छोड़कर तुम्हारे पास गयी है ॥ ५९ ॥

मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि ।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥ ६० ॥

शक्र! अब फिर तुम ऐसा बर्ताव न करना। अब तुमको शान्ति धारण कर लेनी चाहिये। तुम्हें भी मेरी-जैसी स्थितिमें जानकर यह लक्ष्मी शीघ्र किसी दूसरेके पास चली जायगी ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवादविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और लक्ष्मीका संवाद, बलिको त्यागकर आयी हुई लक्ष्मीकी इन्द्रके द्वारा प्रतिष्ठा

भीष्म उवाच

शतक्रतुरथापश्यद् बलेर्दीप्तां महात्मनः ।
स्वरूपिणीं शरीराद्धि निष्क्रामन्तीं तदा श्रियम्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रने देखा कि महात्मा बलिके शरीरसे परम सुन्दरी तथा कान्तिमती लक्ष्मी मूर्तिमती होकर निकल रही हैं ॥ १ ॥

तां दृष्ट्वा प्रभया दीप्तां भगवान् पाकशासनः।
विस्मयोत्फुल्लनयनो बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ २ ॥

पाकशासन भगवान् इन्द्र प्रभासे प्रकाशित होनेवाली उस लक्ष्मीको देखकर आश्चर्यचकित हो उठे। उनके नेत्र विस्मयसे खिल उठे। उन्होंने बलिसे पूछा ॥ २ ॥

शक्र उवाच

बले केयमपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
त्वत्तः स्थिता सकेयूरा दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—बले! यह वेणी धारण करनेवाली कान्तिमयी कौन सुन्दरी तुम्हारे शरीरसे निकल कर खड़ी है? इसकी भुजाओंमें बाजूबंद शोभा पा रहे हैं और यह अपने तेजसे उद्भासित हो रही है ॥ ३ ॥

बलिरुवाच

न हीमामासुरीं वेद्मि न दैवीं च न मानुषीम्।
त्वमेनां पृच्छ वा मा वा यथेष्टं कुरु वासव ॥ ४ ॥

बलिने कहा—इन्द्र! मेरी समझमें न तो यह असुरकुलकी स्त्री है, न देवजातिकी है और न मानवी ही है। तुम जानना चाहते हो तो इसीसे पूछो अथवा न पूछो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ४ ॥

शक्र उवाच

का त्वं बलेरपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
अजानतो ममाचक्ष्व नामधेयं शुचिस्मिते ॥ ५ ॥
का त्वं तिष्ठसि मामेवं दीप्यमाना स्वतेजसा।
हित्वा दैत्यवरं सुभ्रु तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६ ॥

तब इन्द्रने पूछा—पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी! बलिके शरीरसे निकलकर खड़ी हुई तुम कौन हो? तुम्हारी चमक-दमक अद्भुत है। तुम्हारी वेणी भी अत्यन्त सुन्दर है। मैं तुम्हें जानता नहीं हूँ; इसलिये पूछता हूँ। तुम मुझे अपना नाम बताओ। सुभ्रू! दैत्यराजको त्यागकर अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करती हुई इस प्रकार तुम कौन खड़ी हो? मेरे प्रश्नके अनुसार अपना परिचय दो ॥ ५-६ ॥

श्रीरुवाच

न मां विरोचनो वेद नायं वैरोचनो बलिः।
आहुर्मां दुःसहेत्येवं विधित्सेति च मां विदुः ॥ ७ ॥

लक्ष्मी बोली—मुझे न तो विरोचन जानता है और न उसका पुत्र यह बलि। लोग मुझे दुःसहा कहते हैं और कुछ लोग मुझे विधित्साके नामसे भी जानते हैं ॥ ७ ॥

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव।
त्वं मां शक्र न जानीषे सर्वे देवा न मां विदुः ॥ ८ ॥

वासव! जानकार मनुष्य मुझे भूति, लक्ष्मी और श्री भी कहते हैं। शक्र! तुम मुझे नहीं जानते तथा सम्पूर्ण देवताओंको भी मेरे विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥ ८ ॥

शक्र उवाच

किमिदं त्वं मम कृते उताहो बलिनः कृते।
दुःसहे विजहास्येनं चिरसंवासिनी सती ॥ ९ ॥

इन्द्रने पूछा—दुःसहे! तुमने चिरकालतक राजा बलिके शरीरमें निवास किया है, अब क्या तुम मेरेलिये अथवा बलिके ही हितके लिये इनका त्याग कर रही हो? ॥ ९ ॥

श्रीरुवाच

नो धाता न विधाता मां विदधाति कथंचन।
कालस्तु शक्र पर्यागान्मैनं शक्रावमन्यथाः ॥ १० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र! धाता या विधाता किसी प्रकार भी मुझे किसी कार्यमें नियुक्त नहीं कर सकते हैं; किंतु कालका ही आदेश मुझे मानना पड़ता है। वही काल इस समय बलिका परित्याग करनेके लिये मुझे प्रेरित करनेके निमित्त उपस्थित हुआ है। इन्द्र! तुम उस कालकी अवहेलना न करना ॥ १० ॥

शक्र उवाच

कथं त्वया बलिस्त्यक्तः किमर्थं वा शिखण्डिनि।
कथं च मां न जह्यास्त्वं तन्मे ब्रूहि शुचिस्मिते ॥ ११ ॥

इन्द्रने पूछा—वेणी धारण करनेवाली लक्ष्मी! तुमने बलिका कैसे और किसलिये त्याग किया है? शुचिस्मिते! तुम मेरा त्याग किस प्रकार नहीं करोगी? यह मुझे बताओ ॥ ११ ॥

श्रीरुवाच

सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः ॥ १२ ॥

लक्ष्मीने कहा—मैं सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम और धर्ममें निवास करती हूँ। राजा बलि इन सबसे विमुख हो चुके हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः।
अभ्यसूयद् ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद् घृतम् ॥ १३ ॥

ये पहले ब्राह्मणोंके हितैषी, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे; किंतु आगे चलकर ब्राह्मणोंके प्रति इनकी दोषदृष्टि हो गयी तथा इन्होंने जूठे हाथसे घी छू दिया था ॥ १३ ॥

यज्ञशीलः सदा भूत्वा मामेव यजत स्वयम् ।
प्रोवाच लोकान् मूढात्मा कालेनोपनिपीडितः ॥ १४ ॥

पहले ये सदा यज्ञ किया करते थे; किंतु आगे चलकर कालसे पीड़ित एवं मोहितचित्त होकर इन्होंने सब लोगोंको स्वयं ही स्पष्टरूपसे आदेश दिया कि तुम सब लोग मेरा ही यजन करो।१४।

अपाकृता ततः शक्र त्वयि वत्स्यामि वासव ।
अप्रमत्तेन धार्यास्मि तपसा विक्रमेण च ॥ १५ ॥

वासव ! इस प्रकार इनके द्वारा तिरस्कृत होकर अब मैं तुममें ही निवास करूँगी। तुम्हें सदा सावधान रहकर तपस्या और पराक्रमद्वारा मुझे धारण करना चाहिये ॥ १५ ॥

शक्र उवाच

नास्ति देवमनुष्येषु सर्वभूतेषु वा पुमान् ।
यस्त्वामेको विषहितुं शक्नुयात् कमलालये ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—कमलालये ! देवताओं, मनुष्यों अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो अकेला तुम्हारा भार सहन कर सके ? ॥ १६ ॥

श्रीरुवाच

नैव देवो न गन्धर्वो नासुरो न च राक्षसः ।
यो मामेको विषहितुं शक्तः कश्चित् पुरंदर ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा—पुरंदर ! देवता, गन्धर्व, असुर और राक्षस कोई भी अकेला मेरा भार सहन नहीं कर सकता ॥१७॥

शक्र उवाच

तिष्ठेथा मयि नित्यं त्वं यथा तद् ब्रूहि मे शुभे ।
तत् करिष्यामि ते वाक्यमृतं तद् वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इन्द्रने कहा—शुभे ! तुम जिस प्रकार मेरे निकट सदा निवास कर सको, वह उपाय मुझे बताओ। मैं तुम्हारी आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि तुम वह उपाय मुझे अवश्य बता सकती हो ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

स्थास्यामि नित्यं देवेन्द्र यथा त्वयि निबोध तत् ।
विधिना वेददृष्टेन चतुर्धा विभजस्व माम् ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा—देवेन्द्र ! मैं जिस उपायसे तुम्हारे निकट सदा निवास कर सकूँगी, वह बताती हूँ, सुनो। तुम वेदमें बतायी हुई विधिसे मुझे चार भागोंमें विभक्त करो ॥१९॥

शक्र उवाच

अहं वै त्वां निधास्यामि यथाशक्ति यथाबलम् ।
न तु मेऽतिक्रमः स्याद् वै सदा लक्ष्मि तवान्तिके ॥ २० ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मैं शारीरिक बल और मानसिक शक्तिके अनुसार तुम्हें धारण करूँगा, किंतु तुम्हारे निकट कभी मेरा परित्याग न हो ॥ २० ॥

भूमिरेव मनुष्येषु धारिणी भूतभाविनी ।
सा ते पादं तितिक्षेत समर्था हीति मे मतिः ॥ २१ ॥

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाली यह पृथ्वी ही सबको धारण करती है। वह तुम्हारे पैरका भार सह सकेगी; क्योंकि वह सामर्थ्यशालिनी है ॥ २१ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं भूमौ प्रतिष्ठितः ।
द्वितीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २२ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह जो मेरा एक पैर पृथ्वीपर रक्खा हुआ है, इसे मैंने यहीं प्रतिष्ठित कर दिया। अब तुम मेरे दूसरे पैरको भी सुप्रतिष्ठित करो ॥ २२ ॥

शक्र उवाच

आप एव मनुष्येषु द्रवन्त्यः परिचारिणीः ।
तास्ते पादं तितिक्षन्तामलमापस्तितिक्षितुम् ॥ २३ ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मनुष्यलोकमें जल ही सब ओर प्रवाहित होता है; अतः वही तुम्हारे दूसरे पैरका भार सहन करे; क्योंकि जल इस कार्यके लिये पूर्ण समर्थ है ॥२३॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमप्सु प्रतिष्ठितः ।
तृतीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २४ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! लो, मैंने यह पैर जलमें रख दिया। अब यह जलमें ही सुप्रतिष्ठित है । अब तुम मेरे तीसरे पैरको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २४ ॥

शक्र उवाच

यस्मिन् वेदाश्च यज्ञाश्च यस्मिन् देवाः प्रतिष्ठिताः ।
तृतीयं पादमग्निस्ते सुधृतं धारयिष्यति ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! जिसमें वेद, यज्ञ और सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं। वे अग्निदेव तुम्हारे तीसरे पैरको अच्छी तरह धारण करेंगे ॥ २५ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमग्नौ प्रतिष्ठितः ।

चतुर्थं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २६ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह तीसरा पाद मैंने अग्निमें रख दिया । अब यह अग्निमें प्रतिष्ठित है । इसके बाद मेरे चौथे पादको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २६ ॥

शक्र उवाच

ये वै सन्तो मनुष्येषु ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
ते ते पादं तितिक्षन्तामलं सन्तस्तितिक्षितुम् ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले—देवि ! मनुष्योंमें जो ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे आपके चौथे पादका भार वहन करें; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष उसे सहन करनेमें पूर्ण समर्थ हैं॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं सत्सु प्रतिष्ठितः ।
एवं हि निहितां शक्र भूतेषु परिधत्स्व माम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह मैंने अपना चौथा पाद रक्खा । अब यह सत्पुरुषोंमें प्रतिष्ठित हुआ । इसी प्रकार तुम अब सम्पूर्ण भूतोंमें मुझे स्थापित करके सब ओरसे मेरी रक्षा करो ॥ २८ ॥

शक्र उवाच

भूतानामिह यो वै त्वां मया विनिहितां सतीम् ।
उपहन्यात् स मे धृष्यस्तथा शृण्वन्तु मे वचः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! मेरेद्वारा स्थापित की हुई आपको समस्त प्राणियोंमेंसे जो भी पीड़ा देगा, वह मेरेद्वारा दण्डनीय होगा । मेरी यह बात वे सब लोग सुन लें ॥ २९ ॥

ततस्त्यक्तः श्रिया राजा दैत्यानां बलिरब्रवीत् ।
यावत् पुरस्तात् प्रतपेत् तावद् वै दक्षिणां दिशम् ।
पश्चिमां तावदेवापि तथोदीचीं दिवाकरः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लक्ष्मीसे परित्यक्त होकर दैत्यराज बलिने कहा—'सूर्य जबतक पूर्वदिशामें प्रकाशित होंगे, तभीतक वे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशाको भी प्रकाशित करेंगे ॥ ३० ॥

तथा मध्यंदिने सूर्यो नास्तमेति यदा तदा ।
पुनर्देवासुरं युद्धं भावि जेतास्मि वस्तदा ॥ ३१ ॥

'जब सूर्य केवल मध्याह्नकालमें ही स्थित रहेंगे, अस्ताचलको नहीं जायँगे, उस समय पुनः देवासुरसंग्राम होगा और उसमें मैं तुम सब देवताओंको परास्त करूँगा ॥ ३१ ॥

सर्वलोकान् यदाऽऽदित्य एकस्थस्तापयिष्यति ।
तदा देवासुरे युद्धे जेताहं त्वां शतक्रतो ॥ ३२ ॥

'शतक्रतो ! जब सूर्य एक स्थान अर्थात् ब्रह्मलोकमें ही स्थित होकर नीचेके सम्पूर्ण लोकोंको ताप देने लगेंगे, उस समय देवासुरसंग्राममें मैं तुम्हें अवश्य जीत लूँगा*' ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

ब्रह्मणोऽस्मि समादिष्टो न हन्तव्यो भवानिति ।
तेन तेऽहं बले वज्रं न विमुञ्चामि मूर्धनि ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बले ! ब्रह्माजीने मुझे आज्ञा दी है कि तुम बलिका वध न करना; इसीलिये तुम्हारे मस्तकपर मैं अपना वज्र नहीं छोड़ रहा हूँ ॥ ३३ ॥

यथेष्टं गच्छ दैत्येन्द्र स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः ॥ ३४ ॥

दैत्यराज ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ । महान् असुर ! तुम्हारा कल्याण हो । सूर्य कभी मध्याह्नमें ही स्थित होकर सम्पूर्ण लोकोंको ताप नहीं देंगे ॥ ३४ ॥

स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयम्भुवा ।
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन् प्रजाः ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने पहलेसे ही उनके लिये मर्यादा स्थापित कर दी है, अतः उसी सत्यमर्यादाके अनुसार सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको ताप प्रदान करते हुए निरन्तर परिभ्रमण करते हैं ॥ ३५ ॥

अयनं तस्य षण्मासानुत्तरं दक्षिणं तथा ।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः ॥ ३६ ॥

उनके दो मार्ग हैं—उत्तर और दक्षिण । छः महीनोंका उत्तरायण होता है और छः महीनोंका दक्षिणायन । उसीसे सम्पूर्ण जगत्में सर्दी-गर्मीकी सृष्टि करते हुए सूर्यदेव भ्रमण करते हैं ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत ।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं तु पुरंदरः ॥ ३७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर दैत्यराज बलि दक्षिणदिशाको चले गये और स्वयं इन्द्र उत्तरदिशाको ॥ ३७ ॥

---

* वैवस्वत मन्वन्तरको आठ भागोंमें विभक्त करके जब अन्तिम आठवाँ भाग व्यतीत होने लगेगा, तब पूर्व आदि चारों दिशाओंमें जो इन्द्र, यम, वरुण और कुबेरकी चार पुरियाँ हैं, वे नष्ट हो जायँगी । उस समय केवल ब्रह्मलोकमें स्थित होकर सूर्य नीचेके सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करेंगे । उसी समय सावर्णिक मन्वन्तरका आरम्भ होगा, जिसमें राजा बलि इन्द्र होंगे । (नीलकण्ठी)

इत्येतद् बलिना गीतमनहंकारसंज्ञितम् ।
वाक्यं श्रुत्वा सहस्राक्षः खमेवारुरुहे तदा ॥ ३८ ॥

राजा बलिका वह पूर्वोक्त अनहंकारसंज्ञक वाक्य सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र पुनः आकाशको ही उड़ चले ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रीसंनिधानो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीसंनिधाननामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और नमुचिका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और नमुचिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

श्रिया विहीनमासीनमक्षोभ्यमिव सागरम् ।
भवाभवज्ञं भूतानामित्युवाच पुरंदरः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, दैत्यराज नमुचि राजलक्ष्मीसे च्युत हो गये, तो भी वे प्रशान्त महासागरके समान क्षोभरहित बने रहे; क्योंकि वे कालक्रमसे होनेवाले प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवके तत्त्वको जाननेवाले थे। उस समय देवराज इन्द्र उनके पास जाकर इस प्रकार बोले-॥ २ ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनो नमुचे शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

'नमुचे ! तुम रस्सियोंसे बाँधे गये, राज्यसे भ्रष्ट हुए, शत्रुओंके वशमें पड़े और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित हो गये। तुम्हें अपनी इस दुरवस्थापर शोक होता है या नहीं ?' ॥ ३ ॥

नमुचिरुवाच

अनिवार्येण शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति शोके नास्ति सहायता ॥ ४ ॥

नमुचिने कहा—देवराज ! यदि शोकको रोका न जाय तो उसके द्वारा शरीर संतप्त हो उठता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। शोकके द्वारा विपत्तिको दूर करनेमें भी कोई सहायता नहीं मिलती ॥ ४ ॥

तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ।
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥
संतापाद् भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर ।

इन्द्र ! इसीलिये मैं शोक नहीं करता; क्योंकि यह सम्पूर्ण वैभव नाशवान् है। संताप करनेसे रूपका नाश होता है। संतापसे कान्ति फीकी पड़ जाती है और सुरेश्वर ! संतापसे आयु तथा धर्मका भी नाश होता है ॥ ५½ ॥

विनीय खलु तद् दुःखमागतं वैमनस्यजम् ॥ ६ ॥
ध्यातव्यं मनसा हृद्यं कल्याणं संविजानता ।

अतः समझदार पुरुषको वैमनस्यके कारण प्राप्त हुए दुःखका निवारण करके मन-ही-मन हृदयस्थित कल्याणमय परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ ६½ ॥

यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तदा तस्य प्रसिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥ ७ ॥

पुरुष जब-जब कल्याणस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें मन लगाता है, तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥

जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक गर्भमें सोये हुए जीवका भी शासन करता है, जैसे जल निम्न स्थानकी ओर ही प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्राणी उस शासकसे प्रेरित होकर उसकी अभीष्ट दिशाको ही गमन करता है। उस ईश्वरकी जैसी प्रेरणा होती है, उसीके अनुसार मैं भी कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ८ ॥

भवाभवौ त्वभिजानन् गरीयो
ज्ञानाच्छ्रेयो न तु तद् वै करोमि ।

आशासु धर्म्यासु परासु कुर्वन्
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ९ ॥

मैं प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवको जानता हूँ। श्रेष्ठ तत्त्वसे भी परिचित हूँ और ज्ञानसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि उसका सम्पादन नहीं करता हूँ। इसके विपरीत धर्मसम्मत अथवा अधर्मयुक्त आशाएँ मनमें लेकर जैसी अन्तर्यामीकी प्रेरणा होती है, उसके अनुसार कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ९ ॥

यथा यथास्य प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव तथा तथा।
भवितव्यं यथा यच्च भवत्येव तथा तथा ॥ १० ॥

पुरुषको जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है ॥ १० ॥

यत्र यत्रैव संयुक्तो धात्रा गर्भे पुनः पुनः।
तत्र तत्रैव वसति न यत्र स्वयमिच्छति ॥ ११ ॥

विधाता जिस-जिस गर्भमें रहनेके लिये जीवको बार-बार प्रेरित करते हैं, वह जीव उसी-उसी गर्भमें वास करता है; किंतु वह स्वयं जहाँ रहनेकी इच्छा करता है, वहाँ नहीं रह पाता है ॥ ११ ॥

भावो योऽयमनुप्राप्तो भवितव्यमिदं मम।
इति यस्य सदा भावो न स मुह्येत् कदाचन ॥ १२ ॥

मुझे जो यह अवस्था प्राप्त हुई है, ऐसी ही होनहार थी। जिसके हृदयमें सदा इस तरहकी भावना होती है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

पर्यायैर्हन्यमानानामभियोक्ता न विद्यते।
दुःखमेतत् तु यद् द्वेष्टा कर्ताहमिति मन्यते ॥ १३ ॥

कालक्रमसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखोंद्वारा जो लोग आहत होते हैं, उनके उस दुःखके लिये दूसरा कोई दोषी या अपराधी नहीं है। दुःख पानेका कारण तो यह है कि पुरुष वर्तमान दुःखसे द्वेष करके अपनेको उसका कर्ता मान बैठता है ॥ १३ ॥

ऋषींश्च देवांश्च महासुरांश्च
त्रैविद्यवृद्धांश्च वने मुनींश्च।
कानापदो नोपनमन्ति लोके
परावरज्ञास्तु न सम्भ्रमन्ति ॥ १४ ॥

ऋषि, देवता, बड़े-बड़े असुर, तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े हुए विद्वान् पुरुष तथा वनवासी मुनि—इनमेंसे किनके ऊपर संसारमें आपत्तियाँ नहीं आती हैं; परंतु जिन्हें सत्-असत्का विवेक है, वे मोह या भ्रममें नहीं पड़ते हैं ॥ १४ ॥

न पण्डितः क्रुद्ध्यति नाभिपद्यते
न चापि संसीदति न प्रहृष्यति।
न चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ १५ ॥

विद्वान् पुरुष कभी क्रोध नहीं करता, कहीं आसक्त नहीं होता, अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर दुःखसे व्याकुल नहीं होता और किसी प्रिय वस्तुको पाकर अत्यन्त हर्षित नहीं होता है। आर्थिक कठिनाई या संकटके समय भी वह शोकग्रस्त नहीं होता है; अपितु हिमालयके समान स्वभावसे ही अविचल बना रहता है ॥ १५ ॥

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः स धुरंधरो नरः ॥ १६ ॥

जिसे उत्तम अर्थसिद्धि मोहमें नहीं डालती, इसी तरह जो कभी संकट पड़नेपर धैर्य या विवेकको खो नहीं बैठता तथा सुखका, दुःखका और दोनोंके बीचकी अवस्थाका समान भावसे सेवन करता है, वही महान् कार्यभारको सँभालनेवाला श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ॥ १६ ॥

यां यामवस्थां पुरुषोऽधिगच्छेत्
तस्यां रमेतापरितप्यमानः।
एवं प्रवृद्धं प्रणुदन्मनोजं
संतापनीयं सकलं शरीरात् ॥ १७ ॥

पुरुष जिस-जिस अवस्थाको प्राप्त हो, उसीमें उसे संतप्त न होकर आनन्द मानना चाहिये। इस प्रकार संतापजनक बढ़े हुए कामको अपने शरीर और मनसे पूर्णतः निकाल दे ॥ १७ ॥

न तत्सदः सत्परिषत् सभा च सा
प्राप्य यां न कुरुते सदा भयम्।
धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्
योऽभ्युपैति स धुरंधरः पुमान् ॥ १८ ॥

न तो ऐसी कोई सभा है, न साधु-सत्पुरुषोंकी कोई परिषद् है और न कोई ऐसा जनसमाज ही है, जिसे पाकर कोई पुरुष कभी भय न करे। जो बुद्धिमान् धर्मतत्त्वमें अवगाहन करके उसीको अपनाता है, वही धुरंधर माना गया है ॥ १८ ॥

प्राज्ञस्य कर्माणि दुरन्वयानि
न वै प्राज्ञो मुह्यति मोहकाले।
स्थानाच्च्युतश्चेन्न मुमोह गौतम-
स्तावत् कृच्छ्रामापदं प्राप्य वृद्धः॥ १९॥

विद्वान् पुरुषके सारे कार्य साधारण लोगोंके लिये दुर्बोध होते हैं। विद्वान् पुरुष मोहके अवसरपर भी मोहित नहीं होता। जैसे वृद्ध गौतममुनि अत्यन्त कष्टजनक विपत्तिमें पड़कर और पदच्युत होकर भी मोहित नहीं हुए॥ १९॥

न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च।
न शीलेन न वृत्तेन तथा नैवार्थसम्पदा।
अलभ्यं लभते मर्त्यस्तत्र का परिदेवना॥ २०॥

जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती है, उसको कोई मनुष्य मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे भी नहीं पा सकता; फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय?॥ २०॥

यदेवमनुजातस्य धातारो विदधुः पुरा।
तदेवानुचरिष्यामि किं मे मृत्युः करिष्यति॥ २१॥

पूर्वकालमें विधाताने मेरे लिये जैसा विधान रच रक्खा है, मैं जन्मके पश्चात् उसीका अनुसरण करता आया हूँ और आगे भी करूँगा; अतः मृत्यु मेरा क्या करेगी?॥ २१॥

लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति।
प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च॥ २२॥

मनुष्यको प्रारब्धके विधानसे जो कुछ पाना है, उसीको वह पाता है। जहाँ जाना है, वहीं वह जाता है और जो भी सुख या दुःख उसके लिये प्राप्तव्य हैं, उन्हें वह प्राप्त करता है॥ २२॥

एतद् विदित्वा कार्त्स्न्येन यो न मुह्यति मानवः।
कुशली सर्वदुःखेषु स वै सर्वधनो नरः॥ २३॥

यह पूर्णरूपसे जानकर जो मनुष्य कभी मोहित नहीं होता है, वह सब प्रकारके दुःखोंमें सकुशल रहता है और वही हर तरहसे धनवान् है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रनमुचिसंवादो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और नमुचिका संवादनामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—काल और प्रारब्धकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः॥ १॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥ २॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल! जो मनुष्य बन्धु-बान्धवोंका अथवा राज्यका नाश हो जानेपर घोर संकटमें पड़ गया हो, उसके कल्याणका क्या उपाय है? भरतश्रेष्ठ! इस संसारमें आप ही हमारे लिये सबसे श्रेष्ठ वक्ता हैं; इसलिये यह बात आपसे ही पूछता हूँ। आप यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ १-२॥

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप॥ ३॥
धैर्येण युक्तस्य सतः शरीरं न विशीर्यते।

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर! जिसके स्त्री-पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो और इन कारणोंसे जो कठिन विपत्तिमें फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करनेमें ही कल्याण है। जो धैर्यसे युक्त है, उस सत्पुरुषका शरीर चिन्ताके कारण नष्ट नहीं होता॥ ३½॥

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्॥ ४॥
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्।

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्यका उत्पादन करती है, शरीरके नीरोग होनेसे मनुष्य फिर धन-सम्पत्तिका उपार्जन कर लेता है॥ ४½॥

यश्च प्राज्ञो नरस्तात सात्त्विकीं वृत्तिमास्थितः॥ ५॥
तस्यैश्वर्यं च धैर्यं च व्यवसायश्च कर्मसु।

तात! जो बुद्धिमान् मनुष्य सदा सात्त्विक वृत्तिका सहारा लिये रहता है। उसीको ऐश्वर्य और धैर्यकी प्राप्ति होती है तथा वही सम्पूर्ण कर्मोंमें उद्योगशील होता है॥ ५½॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ६ ॥
बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! इस विषयमें पुनः बलि और इन्द्रके संवाद-रूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ ६½ ॥

वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसंक्षये ॥ ७ ॥
विष्णुक्रान्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ ।
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ॥ ८ ॥
समृद्ध्यमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि ।

पूर्वकालमें जब दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने अपने पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया और सौ यज्ञों-का अनुष्ठान करनेवाले इन्द्र जब देवताओंके राजा हो गये, तब देवताओंकी सब ओर आराधना होने लगी । चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थित रहने लगे । तीनों लोकोंका अभ्युदय होने लगा और सबको सुखी देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे ॥ ७-८½ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यामपि चर्षिभिः ॥ ९ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः ।
चतुर्दन्तं सुदान्तं च वारणेन्द्रं श्रिया वृतम् ।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ १० ॥

उन्हीं दिनोंकी बात है, देवराज इन्द्र अपने ऐरावत नामक गजराजपर, जो चार सुन्दर दाँतोंसे सुशोभित और दिव्य शोभासे सम्पन्न था, आरूढ़ हो तीनों लोकोंमें भ्रमण करनेके लिये निकले । उस समय त्रिलोकीनाथ इन्द्र रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, ऋषिगण, गन्धर्व, नाग, सिद्ध तथा विद्याधरों आदिसे घिरे हुए थे ॥ ९-१० ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ ११ ॥

घूमते-घूमते वे किसी समय समुद्रतटपर जा पहुँचे । वहाँ किसी पर्वतकी गुफामें उन्हें विरोचनकुमार बलि दिखायी दिये । उन्हें देखते ही इन्द्र हाथमें वज्र लिये उनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

तमैरावतमूर्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम् ।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ १२ ॥

देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रको ऐरावतकी पीठपर बैठे देख दैत्यराज बलिके मनमें तनिक भी शोक या व्यथा नहीं हुई ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम् ।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १३ ॥

उन्हें निर्भय और निर्विकार होकर खड़ा देख श्रेष्ठ गज-राजपर चढ़े हुए शतक्रतु इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

दैत्य न व्यथसे शौर्यादथवा वृद्धसेवया ।
तपसा भावितत्वाद् वा सर्वथैतत् सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

'दैत्य ! तुम्हें अपने शत्रुकी समृद्धि देखकर व्यथा क्यों नहीं होती ? क्या शौर्यसे अथवा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे या तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण तुम्हें शोक नहीं होता है ? साधारण पुरुषके लिये तो यह धैर्य सर्वथा परम दुष्कर है ॥ १४ ॥

शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १५ ॥

'विरोचनकुमार ! तुम शत्रुओंके वशमें पड़े और उत्तम स्थान (राज्य) से भ्रष्ट हुए—इस प्रकार शोचनीय दशामें पड़कर भी तुम किस बलका सहारा लेकर शोक नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वरत्नराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १६ ॥

'तुमने अपने जाति-भाइयोंमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था और परम उत्तम महान् भोगोंपर अधिकार जमा रक्खा था; किंतु इस समय तुम्हारे रत्न और राज्यका अपहरण हो गया है, तो भी बताओ, तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥

ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत्त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १७ ॥

'पहले तो तुम अपने बाप-दादोंके राज्यपर बैठकर तीनों लोकोंके ईश्वर बने हुए थे । अब उस राज्यको शत्रुओंने छीन लिया; यह देखकर भी तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥ १७ ॥

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १८ ॥

'तुम्हें वरुणके पाशसे बाँधा गया, वज्रसे घायल किया गया तथा तुम्हारी स्त्री और धनका भी अपहरण कर लिया गया; फिर भी बोलो, तुम्हें शोक कैसे नहीं होता है ? ॥ १८ ॥

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी । तुम अपने धन-वैभव-से हाथ धो बैठे । इतनेपर भी जो तुम्हें शोक नहीं होता है, यह दूसरोंके लिये बड़ा कठिन है । तीनों लोकोंका राज्य नष्ट हो जानेपर भी तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीवित रहनेके लिये उत्साह दिखा सकता है ? ॥ १९ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम्।
श्रुत्वा सुखमसम्भ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत्॥ २०॥

ये तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनाकर इन्द्रने बलिका तिरस्कार किया। विरोचनकुमार बलिने वे सारी बातें बड़े आनन्दसे सुन लीं और मनमें तनिक भी घबराहट न लाकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया॥ २०॥

बलिरुवाच

निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते।
वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरंदर॥ २१॥

बलिने कहा—इन्द्र! जब मैं शत्रुओं अथवा कालके द्वारा भलीभाँति बन्दी बना लिया गया हूँ, तब मेरे सामने इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? पुरंदर! मैं देखता हूँ, आज तुम वज्र उठाये मेरे सामने खड़े हो॥

अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति॥ २२॥

किंतु पहले तुममें ऐसा करनेकी शक्ति नहीं थी। अब किसी तरह शक्ति आ गयी है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा अत्यन्त क्रूर वचन कह सकता है?॥ २२॥

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदुः॥ २३॥

जो शक्तिशाली होकर भी अपने वशमें पड़े हुए अथवा हाथमें आये हुए वीर शत्रुपर दया करता है, उसे अच्छे लोग उत्तम पुरुष मानते हैं॥ २३॥

अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः।
एकः प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम्॥ २४॥

जब दो व्यक्तियोंमें विवाद एवं युद्ध छिड़ जाता है, तब किसकी जीत होगी—इसका कोई निश्चय नहीं रहता है। उनमेंसे एक पक्ष विजयी होता है और दूसरेको पराजय प्राप्त होती है॥ २४॥

मा च तेऽभूत् स्वभावोऽयमिति ते देवपुङ्गव।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात्॥ २५॥

इसलिये देवराज! तुम्हारा स्वभाव ऐसा न हो, तुम ऐसा न समझ लो कि मैंने अपने बल और पराक्रमसे ही समस्त प्राणियोंके स्वामी मुझ बलिपर विजय पायी है॥ २५॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यद्वाप्येवंगता वयम्॥ २६॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस प्रकार राज-वैभवसे सम्पन्न हो अथवा हमलोग जो इस दीन दशाको पहुँच गये हैं, यह सब न तो तुम्हारा किया हुआ है और न हमारा ही किया हुआ है॥ २६॥

अहमासं यथाद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम्।
मावमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत॥ २७॥

आज जैसे तुम हो, कभी मैं भी ऐसा ही था और इस समय जिस दशामें हमलोग पड़े हुए हैं, कभी तुम्हारी भी वैसी ही अवस्था होगी; अतः तुम यह समझकर कि मैंने बड़ा दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, मेरा अपमान न करो॥ २७॥

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणाधिगच्छति।
पर्यायेणासि शक्रत्वं प्राप्तः शक्र न कर्मणा॥ २८॥

प्रत्येक पुरुष बारी-बारीसे सुख और दुःख पाता है। इन्द्र! तुम भी अपने पराक्रमसे नहीं, कालक्रमसे ही इन्द्र-पदको प्राप्त हुए हो॥ २८॥

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम्।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वं चापि न यथा वयम्॥ २९॥

काल ही मुझे कुसमयकी ओर ले जा रहा है और यह काल ही तुम्हें अच्छे दिन दिखा रहा है; इसलिये आज जैसे तुम हो, वैसा मैं नहीं हूँ और जैसे हमलोग हैं, वैसे तुम नहीं हो॥ २९॥

न मातृपितृशुश्रूषा न च दैवतपूजनम्।
नान्यो गुणसमाचारः पुरुषस्य सुखावहः॥ ३०॥

माता-पिताकी सेवा, देवताओंकी पूजा तथा अन्य सद्गुणयुक्त सदाचार भी बुरे दिनोंमें किसी पुरुषके लिये सुखदायक नहीं होता है॥ ३०॥

न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्॥ ३१॥

कालसे पीड़ित हुए मनुष्यको न विद्या, न तप, न दान, न मित्र और न बन्धु-बान्धव ही कष्टसे बचा पाते हैं॥

नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः॥ ३२॥

मनुष्य बुद्धि-बलके सिवा और किसी उपायसे सैकड़ों आघात करके भी आनेवाले अनर्थको नहीं रोक सकते॥ ३२॥

पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते।
इदं तु दुःखं यच्छक्र कर्ताहमिति मन्यसे॥ ३३॥

कालक्रमसे जिनपर आघात होता है—स्वयं काल जिन्हें पीड़ा देता है, उनकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। शक्र! तुम जो अपनेको इस परिस्थितिका कर्ता मानते हो, यही तुम्हारे लिये दुःखकी बात है॥ ३३॥

यदि कर्ता भवेत् कर्ता न क्रियेत कदाचन।
यस्मात्तु क्रियते कर्ता तस्मात् कर्ताप्यनीश्वरः॥ ३४॥

यदि कार्य करनेवाला पुरुष स्वयं ही कर्ता होता तो

उसको उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई कभी न होता। वह दूसरेके द्वारा उत्पन्न किया जाता है; इसलिये कालके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

कालेनाहं त्वामजयं कालेनाहं जितस्त्वया।
गन्ता गतिमतां कालः कालः कलयति प्रजाः ॥ ३५ ॥

कालकी सहायता पाकर मैंने तुमपर विजय पायी थी और कालके ही सहयोगसे अब तुमने मुझे पराजित कर दिया है। काल ही जानेवाले प्राणियोंके साथ जाता या उन्हें गमनकी शक्ति प्रदान करता है और वही समस्त प्रजाका संहार करता है ॥ ३५ ॥

इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुद्ध्यसे।
केचित् त्वां बहु मन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३६ ॥

इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि साधारण है; इसलिये उसके द्वारा तुम एक-न-एक दिन अवश्य होनेवाले अपने विनाशकी बात नहीं समझ पाते। संसारमें कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो तुम्हें अपने ही पराक्रमसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुआ मानते और तुम्हें अधिक महत्त्व देते हैं ॥ ३६ ॥

कथमस्मद्विधो नाम जानँल्लोकप्रवृत्तयः।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद् वाप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३७ ॥

किंतु मेरे-जैसा पुरुष जो जगत्‌की प्रवृत्तिको जानता है—उन्नति और अवनतिका कारण काल—प्रारब्ध ही है; ऐसा समझता है, वह तुम्हें महत्त्व कैसे दे सकता है? जो कालसे पीड़ित है, वह प्राणी शोकग्रस्त, मोहित अथवा भ्रान्त भी हो सकता है ॥ ३७ ॥

नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३८ ॥

मैं होऊँ या मेरे-जैसा दूसरा कोई पुरुष हो। जब काल (प्रारब्ध) से आक्रान्त हो जाता है, तब सदा ही उसकी बुद्धि संकटमें पड़कर फटी हुई नौकाके समान शिथिल हो जाती है ॥ ३८ ॥

अहं च त्वं च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः।
ते सर्वे शक्र यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्र ! मैं, तुम या और जो लोग भी देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, वे सब-के-सब उसी मार्गपर जायँगे, जिसपर पहलेके सैकड़ों इन्द्र जा चुके हैं ॥ ३९ ॥

त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया।
काले परिणते कालः कालयिष्यति मामिव ॥ ४० ॥

यद्यपि आज तुम इस प्रकार दुर्धर्ष हो और अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो रहे हो; किंतु जब समय परिवर्तित होगा, अर्थात् जब तुम्हारा प्रारब्ध खराब होगा, तब मेरी ही भाँति तुम्हें भी काल अपना शिकार बना लेगा—इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ४० ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४१ ॥

युग-युगमें (प्रत्येक मन्वन्तरमें) इन्द्रोंका परिवर्तन होनेके कारण अबतक देवताओंके अनेक सहस्र इन्द्र कालके गालमें चले गये हैं; अतः कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ४१ ॥

इदं तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४२ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं वापि कस्यचित्।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४३ ॥

तुम इस शरीरको पाकर समस्त प्राणियोंको जन्म देनेवाले सनातन देव भगवान् ब्रह्माजीकी भाँति अपनेको बहुत बड़ा मानते हो; किंतु तुम्हारा यह इन्द्रपद आजतक (किसीके लिये भी) अविचल या अनन्त कालतक रहनेवाला नहीं सिद्ध हुआ—इसपर कितने ही आये और चले गये। केवल तुम्हीं अपनी मूढ़बुद्धिके कारण इसे अपना मानते हो ॥ ४२-४३ ॥

अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे वाध्रुवे ध्रुवम्।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ ४४ ॥

देवेश्वर ! नाशवान् होनेके कारण जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस राज्यपर तुम विश्वास करते हो और जो अस्थिर है, उसे स्थिर मानते हो; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कालने जिसके हृदयपर अधिकार कर लिया हो, वह सदा ऐसी ही विपरीत भावनासे भावित होता है ॥ ४४ ॥

ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा ॥ ४५ ॥

तुम मोहवश जिस राजलक्ष्मीको 'यह मेरी है' ऐसा समझकर पाना चाहते हो, वह न तुम्हारी है, न हमारी है और न दूसरोंकी ही है। वह किसीके पास भी सदा स्थिर नहीं रहती ॥ ४५ ॥

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता।
कंचित् कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ॥ ४६ ॥
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति।

वासव ! यह चञ्चला राजलक्ष्मी दूसरे बहुत-से राजाओंको लाँघकर इस समय तुम्हारे पास आयी है और कुछ कालतक तुम्हारे यहाँ ठहरकर फिर उसी तरह दूसरेके पास

चली जायगी, जैसे गौ जल पीनेके स्थानका परित्याग करके चली जाती है ॥ ४६½ ॥

राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न संख्यातुमुत्सहे ॥ ४७ ॥
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति पुरंदर ।

पुरंदर ! अबतक इसने जितने राजाओंका परित्याग किया है, उनकी गणना मैं नहीं कर सकता । तुम्हारे बाद भी बहुत-से नरेश इसके अधिकारी होंगे ॥ ४७½ ॥

सवृक्षौषधिरत्नेयं सहसत्त्ववनाकरा ॥ ४८ ॥
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ।

जिन लोगोंने पहले वृक्ष, ओषधि, रत्न, जीव-जन्तु, वन और खानोंसहित इस सारी पृथ्वीका उपभोग किया है, उन सबको मैं इस समय नहीं देखता हूँ ॥ ४८½ ॥

पृथुरैलो मयो भीमो नरकः शम्बरस्तथा ॥ ४९ ॥
अश्वग्रीवः पुलोमा च स्वर्भानुरमितध्वजः ।
प्रह्लादो नमुचिर्दक्षो विप्रचित्तिर्विरोचनः ॥ ५० ॥
ह्रीनिषेवः सुहोत्रश्च भूरिहा पुष्पवान् वृषः ।
सत्येषुर्ऋषभो बाहुः कपिलाश्वो विरूपकः ॥ ५१ ॥
बाणः कार्तस्वरो वह्निर्विश्वदंष्ट्रोऽथ नैर्ऋतिः ।
संकोचोऽथ वरीताक्षो वराहाश्वो रुचिप्रभः ॥ ५२ ॥
विश्वजित् प्रतिरूपश्च वृषाण्डो विष्करो मधुः ।
हिरण्यकशिपुश्चैव कैटभश्चैव दानवः ॥ ५३ ॥
दैतेया दानवाश्चैव सर्वे ते नैर्ऋतैः सह ।
एते चान्ये च बहवः पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ५४ ॥
दैत्येन्द्रा दानवेन्द्राश्च यांश्चान्याननुशुश्रुम ।
बहवः पूर्वदैत्येन्द्राः संत्यज्य पृथिवीं गताः ॥ ५५ ॥
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ।

पृथु, इलानन्दन पुरूरवा, मय, भीम, नरकासुर, शम्बरासुर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रह्लाद, नमुचि, दक्ष, विप्रचित्ति, विरोचन, ह्रीनिषेव, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवान्, वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाश्व, विरूपक, बाण, कार्तस्वर, वह्नि, विश्वदंष्ट्र, नैर्ऋति, संकोच, वरीताक्ष, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, वृषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु और कैटभ—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य, दानव एवं राक्षस सभी इस पृथ्वीके स्वामी हो चुके हैं । पहलेके और बहुत पहलेके ये पूर्वोक्त तथा अन्य अनेक दैत्यराज, दानवराज एवं दूसरे-दूसरे नरेश जिनका नाम हमलोग सुनते आ रहे हैं, कालसे पीड़ित हो सभी इस पृथ्वीको छोड़कर चले गये; क्योंकि काल ही सबसे बड़ा बलवान् है ॥ ४९—५५½ ॥

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ॥ ५६ ॥
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ।
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ॥ ५७ ॥

केवल तुमने ही सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया हो, यह बात नहीं है । उन सभी राजाओंने सौ-सौ यज्ञ किये थे । सभी धर्मपरायण थे और सभी निरन्तर यज्ञमें संलग्न रहते थे । वे सभी आकाशमें विचरनेकी शक्ति रखते थे और युद्धमें शत्रुके सामने डटकर लोहा लेनेवाले थे ॥ ५६-५७ ॥

सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ।
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ॥ ५८ ॥

वे सब-के-सब सुदृढ़ शरीरसे सुशोभित होते थे । उन सबकी भुजाएँ परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी और मजबूत थीं । वे सभी सैकड़ों माया जानते और इच्छानुसार रूप धारण करते थे ॥ ५८ ॥

सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते पराजिताः ।
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ॥ ५९ ॥

वे सब लोग समराङ्गणमें पहुँचकर कभी पराजित होते नहीं सुने गये थे । सभी सत्यव्रतका पालन करनेमें तत्पर और इच्छानुसार विहार करनेवाले थे ॥ ५९ ॥

सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ।
सर्वे सम्मतमैश्वर्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥

सभी वेदोक्त व्रतको धारण करनेवाले और बहुश्रुत विद्वान् थे । सभी लोकेश्वर थे और सबने मनोवाञ्छित ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ६० ॥

न चैश्वर्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ।
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ॥ ६१ ॥

उन महामना नरेशोंको पहले कभी भी ऐश्वर्यका मद नहीं हुआ था । वे सब-के-सब यथायोग्य दान करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥ ६१ ॥

सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत् प्रतिपेदिरे ।
सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ॥ ६२ ॥

वे सभी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ यथायोग्य बर्ताव करते थे । उन सबका जन्म दक्ष-कन्याओंके गर्भसे हुआ था और वे सभी महाबलशाली वीर प्रजापति कश्यपकी संतान थे ॥

ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ।
त्वं चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्ष्यसे पुनः ॥ ६३ ॥
न शक्ष्यसि तदा शक्र नियन्तुं शोकमात्मनः ।

इन्द्र ! वे सभी नरेश अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले और प्रतापी थे, किंतु कालने उन सबका संहार कर दिया ।

तुम जब इस पृथ्वीका उपभोग करके पुनः इसे छोड़ोगे, तब अपने शोकको रोकनेमें समर्थ न हो सकोगे ॥ ६३½ ॥

मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ॥ ६४ ॥
एवं स्वराज्यनाशे त्वं शोकं सम्प्रसहिष्यसि ।

तुम काम-भोगकी इच्छाको छोड़ो और राजलक्ष्मीके इस मदको त्याग दो । इस दशामें यदि तुम्हारे राज्यका नाश हो जाय तो तुम उस शोकको सह सकोगे ॥ ६४½ ॥

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ॥ ६५ ॥
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ।

तुम शोकका अवसर आनेपर शोक न करो और हर्षके समय हर्षित मत होओ । भूत और भविष्यकी चिन्ता छोड़कर वर्तमान कालमें जो वस्तु उपलब्ध हो, उसीसे जीवन-निर्वाह करो ॥ ६५½ ॥

मां चेदभ्यागतः कालः सदा युक्तमतन्द्रितः ॥ ६६ ॥
क्षमस्व नचिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ।

इन्द्र ! मैं सदा सावधान रहता था, तथापि कभी आलस्य न करनेवाले कालका यदि मुझपर आक्रमण हो गया तो तुमपर भी शीघ्र ही उस कालका आक्रमण होगा । इस कटु सत्यके लिये मुझे क्षमा करना ॥ ६६½ ॥

त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ॥ ६७ ॥
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ।

देवेन्द्र ! इस समय भयभीत करते हुए-से तुम यहाँ अपने वाग्बाणोंसे मुझे छेदे डालते हो । मैं अपनेको संयममें रखकर शान्त बैठा हूँ; इसीलिये अवश्य तुम अपनेको बहुत बड़ा समझने लगे हो ॥ ६७½ ॥

कालः प्रथममायान्मां पश्चात् त्वामनुधावति ॥ ६८ ॥
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वं कालहते मयि ।

देवराज ! जिस कालका पहले मुझपर धावा हुआ है, वही पीछे तुमपर भी चढ़ाई करेगा । मैं पहले कालसे पीड़ित हो गया हूँ; इसीलिये तुम सामने खड़े होकर गरज रहे हो ॥

को हि स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ६९ ॥
कालस्तु बलवान् प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ।

अन्यथा संसारमें कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें कुपित होनेपर मेरे सामने ठहर सके । इन्द्र ! बलवान् काल (अदृष्ट) ने मुझपर आक्रमण किया है, इसीसे तुम मेरे सम्मुख खड़े हुए हो ॥ ६९½॥

यत् तद् वर्षसहस्रान्तं पूर्णं भवितुमर्हति ॥ ७० ॥
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ।
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात् त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि॥ ७१॥

देवताओंका वह सहस्रों वर्षका समय अब पूरा होना ही चाहता है, जबतक कि तुम्हें इन्द्रके पदपर रहना है । कालके ही प्रभावसे मुझ महाबली वीरके अब सारे अङ्ग उतने स्वस्थ नहीं रह गये हैं । मैं इन्द्रपदसे गिरा दिया गया और तुम स्वर्गमें इन्द्र बना दिये गये ॥ ७०-७१ ॥

सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ।
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः॥ ७२॥

कालके उलट-फेरसे ही इस विचित्र जीवलोकमें तुम सबके आराध्य बन गये हो । भला बताओ तो तुम कौन-सा शुभ कर्म करके आज इन्द्र हो गये और हम कौन-सा अशुभ कर्म करके इन्द्रपदसे नीचे गिर गये ॥ ७२ ॥

कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ७३ ॥
विद्वान् प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ।

काल (प्रारब्ध) ही सबकी उत्पत्ति और संहारका कर्ता है । दूसरी सारी वस्तुएँ इसमें कारण नहीं मानी जा सकतीं; अतः विद्वान् पुरुष नाश-विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख, अभ्युदय या पराभव पाकर न तो अत्यन्त हर्ष माने और न अधिक व्यथित ही हो ॥ ७३½ ॥

त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान् वेदाहं त्वां च वासव॥ ७४ ॥
किं कत्थसे मां किं च त्वं कालेन निरपत्रपः ।

इन्द्र ! हम कैसे हैं, यह तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो । वासव ! मैं तुम्हें भली-भाँति जानता हूँ; फिर भी तुम लज्जाको तिलाञ्जलि दे क्यों मेरे सामने व्यर्थ आत्मश्लाघा कर रहे हो । वास्तवमें काल ही यह सब कुछ करा रहा है ॥ ७४½ ॥

त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत् तदा पौरुषं मम ॥ ७५ ॥
समरेषु च विक्रान्तं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।

पहले मैं जो पुरुषार्थ प्रकट कर चुका हुँ, उसको सबसे अधिक तुम्हीं जानते हो । कई बारके युद्धोंमें तुम मेरा पराक्रम देख चुके हो । इस समय एक ही दृष्टान्त देना काफी होगा॥

आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह॥ ७६ ॥
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते ।
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ॥ ७७ ॥

शचीवल्लभ इन्द्र ! पहले जब देवासुरसंग्राम हुआ था, उस समयकी बात तुम्हें अच्छी तरह याद होगी । मैंने अकेले ही समस्त आदित्यों, रुद्रों, साध्यों, वसुओं तथा मरुद्गणोंको परास्त किया था ॥ ७६-७७ ॥

समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया ।
पर्वताश्चासकृत् क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ॥ ७८ ॥

सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्ध्नि ते मया।
किं नु शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः॥ ७९॥

मेरे वेगसे सब देवता युद्धका मैदान छोड़कर एक साथ ही भाग खड़े हुए थे। वन एवं वनवासियोंसहित कितने ही पर्वत, मैंने बारंबार तुमलोगोंपर चलाये थे। तुम्हारे सिरपर भी सुदृढ़ पाषाण और शिखरोंसहित बहुत-से पर्वत मैंने फोड़ डाले थे; किंतु इस समय मैं क्या कर सकता हूँ; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना बहुत कठिन है ॥७८-७९॥

न हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना।
न तु विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः॥ ८०॥

तुम्हारे हाथमें वज्र रहनेपर भी मैं केवल मुक्केसे मारकर तुम्हें यमलोक न पहुँचा सकूँ, ऐसी बात नहीं है। किंतु मेरे लिये यह पराक्रम दिखानेका नहीं, क्षमा करनेका समय आया है॥ ८०॥

तेन त्वां मर्षये शक्र दुर्मर्षणतरस्त्वया।
तं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना॥ ८१॥
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे।

इन्द्र! यही कारण है कि मैं तुम्हारे सब अपराध चुपचाप सहे लेता हूँ। अब भी मेरा वेग तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःसह है। किंतु जब समयने पलटा खाया है, कालरूपी अग्निने मुझे सब ओरसे घेर लिया है और मैं कालपाशसे निश्चितरूपसे बँध गया हूँ, तब तुम मेरे सामने खड़े होकर अपनी झूठी बड़ाई किये जा रहे हो॥ ८१½॥

अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः॥ ८२॥
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा।

जैसे मनुष्य रस्सीसे किसी पशुको बाँध लेता है, उसी प्रकार यह भयंकर कालपुरुष मुझे अपने पाशमें बाँधे खड़ा है॥ ८२½॥

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ॥ ८३॥
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते।

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, अभ्युदय-पराभव, वध, कैद और कैदसे छुटकारा—यह सब काल (प्रारब्ध) से ही प्राप्त होते हैं॥ ८३½॥

नाहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु सदा प्रभुः॥ ८४॥
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम्।

न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो। जो वास्तवमें सदा कर्ता है, वह **सर्वस**मर्थ काल वृक्षपर लगे हुए फलके समान मुझे पका रहा है॥ ८४½॥

यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन युज्यते॥ ८५॥
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन युज्यते।

पुरुष कालका सहयोग पाकर जिन कर्मोंको करनेसे सुखी होता है, कालका सहयोग न मिलनेसे पुनः उन्हीं कर्मोंको करके वह दुःखका भागी होता है॥ ८५½॥

न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति॥ ८६॥
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता।

इन्द्र! जो कालके प्रभावको जानता है, वह उससे आक्रान्त होकर भी शोक नहीं करता; क्योंकि विपत्ति दूर करनेमें शोकसे कोई सहायता नहीं मिलती, इसलिये मैं शोक नहीं करता हूँ॥ ८६½॥

यदा हि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति॥ ८७॥
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यतोऽहं नाद्य शोचिमि।

जब शोक करनेवाले पुरुषका शोक उसके संकटको दूर नहीं हटा पाता है, उलटे शोकग्रस्त मनुष्यकी शक्ति क्षीण हो जाती है, तब शोक क्यों किया जाय? यही सोचकर मैं शोक नहीं करता हूँ॥ ८७½॥

एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान् पाकशासनः॥ ८८॥
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः।

बलिके ऐसा कहनेपर सहस्रनेत्रधारी पाकशासन शतक्रतु भगवान् इन्द्रने अपने क्रोधको रोककर इस प्रकार कहा—॥

सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान्॥ ८९॥
कस्येह न व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः।
सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी॥ ९०॥

'दैत्यराज! मेरे हाथको वज्र एवं वरुणपाशसहित ऊपर उठा देखकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्युका भी दिल दहल जाता है; फिर दूसरा कौन है जिसकी बुद्धि व्यथित न हो। तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है; इसलिये तनिक भी विचलित नहीं होती है॥ ८९-९०॥

ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्यात् सत्यपराक्रम।
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत्॥ ९१॥
कर्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं जगत्।

'सत्यपराक्रमी वीर! तुम निश्चय ही धैर्यके कारण व्यथित नहीं होते हो। इस सम्पूर्ण जगत्को विनाशकी ओर जाते देखकर कौन शरीरधारी पुरुष धन-वैभव, विषय-भोग अथवा अपने शरीरपर भी विश्वास कर सकता है?॥९१½॥

अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम्॥ ९२॥
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे।

'मैं भी इसी प्रकार सर्वव्यापी, अविनाशी,

घोर एवं गुह्य कालाग्निमें पड़े हुए इस जगत्को क्षण-भङ्गुर ही जानता हूँ ॥ ९२½ ॥

न चात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ॥ ९३ ॥
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम् ।

'जो कालकी पकड़में आ चुका है, ऐसे किसी भी पुरुषके लिये उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान् भूत भी कालाग्निमें पकाये जा रहे हैं, उनका भी उससे छुटकारा होनेवाला नहीं है ॥ ९३½ ॥

अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ॥ ९४ ॥
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ।

'कालपर किसीका भी वश नहीं चलता। वह सदा सावधान रहकर सम्पूर्ण भूतोंको पकाता रहता है। वह कभी लौटनेवाला नहीं है। ऐसे कालके अधीन हुआ प्राणी उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ९४½ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ॥ ९५ ॥
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित् ।

'देहधारी जीव प्रमादमें पड़कर सोते हैं; किंतु काल सदा सावधान रहकर जागता रहता है। किसीके प्रयत्नसे भी कालको पीछे हटाया जा सका हो, ऐसा पहले कभी किसीने देखा नहीं है॥ ९५½ ॥

पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ॥ ९६ ॥
कालो न परिहार्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ।

'काल पुरातन (अनादि), सनातन, धर्मस्वरूप और समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है। कालका किसीके द्वारा भी परिहार नहीं हो सकता और न उसका कोई उल्लङ्घन ही कर सकता है ॥ ९६½ ॥

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठा लवान् कलाः॥ ९७॥
सम्पीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ।

जैसे ऋण देनेवाला पुरुष व्याजका हिसाब जोड़कर ऋण लेनेवालोंको तंग करता है, उसी प्रकार वह काल दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव और कला तकका हिसाब लगाकर प्राणियोंको पीड़ा देता रहता है ॥ ९७½ ॥

इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्तास्मीति वादिनम् ॥ ९८ ॥
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ।

'जैसे नदीका वेग सहसा बढ़कर किनारेके वृक्षका हरण कर लेता है। उसी प्रकार 'यह आज करूँगा और वह कल पूरा करूँगा।' ऐसा कहनेवाले पुरुषका काल सहसा आकर हरण कर लेता है ॥ ९८½ ॥

इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ॥ ९९ ॥
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ।

''अरे! अभी-अभी तो मैंने उसे देखा था। वह मर कैसे गया ?' इस प्रकार कालसे अपहृत होनेवालोंके लिये अन्य मनुष्योंका प्रलाप सुना जाता है ॥ ९९½ ॥

नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥१००॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।

'धन और भोग नष्ट हो जाते हैं। स्थान और ऐश्वर्य छिन जाता है तथा इस जीव-जगत्के जीवनको भी काल आकर हर ले जाता है ॥ १००½ ॥

उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥१०१॥
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।

'ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना तथा जन्मका अन्त है मृत्यु। जो कुछ देखनेमें आता है, वह सब नाशवान् है, अस्थिर है तो भी इसका निरन्तर स्मरण रहना कठिन हो जाता है ॥ १०१½ ॥

सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥१०२॥
अहमासं पुरा चेति मनसापि न बुद्ध्यते ।

'अवश्य ही तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली तथा स्थिर है, इसीलिये उसे व्यथा नहीं होती। मैं पहले अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था, इस बातको तुम मनसे भी स्मरण नहीं करते ॥ १०२½ ॥

कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा॥१०३॥
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुद्ध्यते ।

'अत्यन्त बलवान् काल इस सम्पूर्ण जगत्पर आक्रमण करके सबको अपनी आँचमें पका रहा है। वह इस बातको नहीं देखता है कि कौन छोटा है और कौन बड़ा ? सब लोग कालाग्निमें झोंके जा रहे हैं, फिर भी किसीको चेत नहीं होता ॥ १०३½ ॥

ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ॥१०४॥
स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति ।

'लोग ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, स्पृहा, मोह और अभिमानमें फँसकर अपना विवेक खो बैठे हैं ॥ १०४½ ॥

भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः॥१०५॥
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ।
कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥१०६॥
विवेचने कृतात्मासि स्पृहणीयो विजानताम् ।
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ॥१०७॥

'परंतु तुम विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी हो। समस्त पदार्थोंके तत्त्वको जानते हो। कालकी लीला और उसके तत्त्वको समझते हो। सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो। तत्त्वके विवेचनमें कुशल, मनको वशमें रखनेवाले तथा ज्ञानी पुरुषोंके आदर्श हो। इसीलिये हाथपर रक्खे हुए आँवलेके

समान कालको स्पष्टरूपसे देख रहे हो। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुमने अपनी बुद्धिसे सम्पूर्ण लोकोंका तत्त्व जान लिया है ॥ १०५-१०७ ॥

विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिषज्जते।
रजश्च हि तमश्च त्वां स्पृशते न जितेन्द्रियम् ॥१०८॥

'तुम सर्वत्र विचरते हुए भी सबसे मुक्त हो। कहीं भी तुम्हारी आसक्ति नहीं है। तुमने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है; इसलिये रजोगुण और तमोगुण तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १०८ ॥

निष्प्रीतिं नष्टसंतापमात्मानं त्वमुपाससे।
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ॥१०९॥

'जो हर्षसे रहित, संतापसे शून्य, सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद्, वैररहित और शान्तचित्त है, उस आत्माकी तुम उपासना करते हो ॥ १०९ ॥

दृष्ट्वा त्वां मम संजाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः।
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ॥११०॥

'तुम्हें देखकर मेरे मनमें दयाका संचार हो आया है। मैं ऐसे ज्ञानी पुरुषको बन्धनमें रखकर उसका वध करना नहीं चाहता ॥ ११० ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि।
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ॥१११॥

'किसीके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करना सबसे बड़ा धर्म है। तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण अनुग्रह है। कुछ समय बीतनेपर तुम्हें बाँधनेवाले ये वरुणदेवताके पाश अपने आप ही तुम्हें छोड़ देंगे ॥ १११ ॥

प्रजानामपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर।
यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ॥११२॥
पुत्रश्च पितरं मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु।
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ॥११३॥
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः।
वियोनिषु विमोक्ष्यन्ति बीजानि पुरुषा यदा ॥११४॥
संकरं कांस्यभाण्डैश्च बलिं चैव कुपात्रकैः।
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ॥११५॥
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते।

'महान् असुर! जब प्रजाजनोंका न्यायके विपरीत आचरण होने लगेगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा। जब पतोहू बूढ़ी सासेसे अपनी सेवा-टहल कराने लगेगी और पुत्र भी मोहवश पिताको विभिन्न प्रकारके कार्य करनेके लिये आज्ञा प्रदान करने लगेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे पैर धुलाने लगेंगे तथा वे निर्भय होकर ब्राह्मण जातिकी स्त्रीको अपनी भार्या बनाने लगेंगे, जब पुरुष निर्भय होकर मानवेतर योनियोंमें अपना वीर्य स्थापित करने लगेंगे, जब काँसेके पात्रमें ऊँच जाति और नीच जातिके लोग एक साथ भोजन करने लगेंगे एवं अपवित्र पात्रोंद्वारा देवपूजाके लिये उपहार अर्पित किया जायगा, सारा वर्णधर्म जब मार्यादाशून्य हो जायगा, उस समय क्रमशः तुम्हारा एक-एक पाश (बन्धन) खुलता जायगा ॥ ११२-११५½ ॥

अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय।
सुखी भव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११६॥

'हमारी ओरसे तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम समयकी प्रतीक्षा करो और निर्बाध, स्वस्थचित्त एवं रोगरहित हो सुखसे रहो' ॥ ११६ ॥

तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः
प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः।
विजित्य सर्वानसुरान् सुराधिपो
ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११७॥

बलिसे ऐसा कहकर गजराजकी सवारीपर चलनेवाले भगवान् शतक्रतु इन्द्र अपने स्थानको लौट गये। वे समस्त असुरोंपर विजय पाकर देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए थे और एकच्छत्रसम्राट् होकर हर्षसे प्रफुल्लित हो उठे थे ॥ ११७ ॥

महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा च तं
वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम्।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे
तथामृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११८॥

उस समय महर्षियोंने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी इन्द्रका भलीभाँति स्तवन किया। अग्निदेव यज्ञमण्डपमें देवताओंके लिये हविष्य वहन करने लगे और देवेश्वर इन्द्र भी सेवकोंद्वारा अर्पित अमृत पीने लगे ॥ ११८ ॥

द्विजोत्तमैः सर्वगतैरभिष्टुतो
विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः।
प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं
त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११९॥

सर्वत्र पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उद्दीप्त तेजस्वी और क्रोधशून्य हुए देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति की; फिर वे इन्द्र शान्तचित्त एवं प्रसन्न हो अपने निवासस्थान स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि-वासवसंवादविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

श्रीकृष्णकी उग्रसेनसे भेंट

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दैत्योंको त्यागकर इन्द्रके पास लक्ष्मीदेवीका आना तथा किन सद्गुणोंके होनेपर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणोंके होनेपर वे त्यागकर चली जाती हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक बताना

युधिष्ठिर उवाच

पूर्वरूपाणि मे राजन् पुरुषस्य भविष्यतः।
पराभविष्यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! पितामह! जिस पुरुषका उत्थान या पतन होनेवाला होता है, उसके पूर्व लक्षण कैसे होते हैं? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। जिस मनुष्यका उत्थान या पतन होनेको होता है, उसका मन ही उसके पूर्व लक्षणोंको प्रकट कर देता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
श्रिया शक्रस्य संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

इस विषयमें लक्ष्मीके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण यहाँ दिया जाता है। युधिष्ठिर! तुम ध्यान देकर उसे सुनो ॥ ३ ॥

महतस्तपसो व्युष्ट्या पश्यँल्लोकौ परावरौ।
सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महातपाः।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः ॥ ५ ॥

एक समयकी बात है, महातपस्वी एवं पापरहित नारदजी अपनी इच्छाके अनुसार तीनों लोकोंमें विचरण करते थे। वे अपनी बड़ी भारी तपस्याके प्रभावसे ऊँचे और नीचे दोनों प्रकारके लोकोंको देख सकते थे तथा ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियोंके समान होकर ब्रह्माजीकी ही भाँति अमित दीप्ति और ओजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४-५ ॥

कदाचित् प्रातरुत्थाय पिस्पृक्षुः सलिलं शुचि।
ध्रुवद्वारभवां गङ्गां जगामावततार च ॥ ६ ॥

एक दिन वे प्रातःकाल उठकर पवित्र जलमें स्नान करनेकी इच्छासे ध्रुवद्वारसे प्रवाहित हुई गङ्गाजीके तटपर गये और उसके भीतर उतरे ॥ ६ ॥

सहस्रनयनश्चापि वज्री शम्बरपाकहा।
तस्या देवर्षिजुष्टायास्तीरमभ्याजगाम ह ॥ ७ ॥

इसी समय शम्बरासुर और पाक नामक दैत्यका वध करनेवाले वज्रधारी सहस्रलोचन इन्द्र भी देवर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गाजीके उसी तटपर आये ॥ ७ ॥

तावाप्लुत्य यतात्मानौ कृतजप्यौ समासतः।
नद्याः पुलिनमासाद्य सूक्ष्मकाञ्चनवालुकम् ॥ ८ ॥
पुण्यकर्मभिराख्याता देवर्षिकथिताः कथाः।
चक्रतुस्तौ तथाऽऽसीनौ महर्षिकथितास्तथा ॥ ९ ॥

फिर उन दोनोंने गङ्गाजीमें गोते लगाकर मनको एकाग्र करके संक्षेपसे गायत्रीजपका कार्य पूर्ण किया। इसके बाद सूक्ष्म सुवर्णमयी बालुकासे भरे हुए सुन्दर गङ्गातटपर आकर वे दोनों बैठ गये और पुण्यात्मा पुरुषों, देवर्षियों तथा महर्षियोंके मुखसे सुनी हुई कथाएँ कहने-सुनने लगे ॥

पूर्ववृत्तव्यपेतानि कथयन्तौ समाहितौ।
अथ भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम् ॥ १० ॥
पूर्णमण्डलमालोक्य तावुत्थायोपतस्थतुः।

दोनों एकाग्रचित्त होकर प्राचीन वृत्तान्तोंकी चर्चा कर ही रहे थे कि किरणजालसे मण्डित भगवान् भास्करका उदय हुआ। सूर्यदेवका सम्पूर्ण मण्डल देख उन दोनोंने खड़े होकर उनका उपस्थान किया ॥ १०½ ॥

अभितस्तूदयन्तं तमर्कमर्कमिवापरम् ॥ ११ ॥
आकाशे ददृशे ज्योतिरुद्यतार्चिःसमप्रभम्।
तयोः समीपं तं प्राप्तं प्रत्यदृश्यत भारत ॥ १२ ॥

उदित होते हुए सूर्यके पास ही आकाशमें उन्हें द्वितीय सूर्यके समान एक दिव्य ज्योति दिखायी दी, जो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित हो रही थी। भारत! वह ज्योति क्रमशः उन दोनोंके समीप आती दिखायी दी ॥ ११-१२ ॥

तत् सुपर्णार्कचरितमास्थितं वैष्णवं पदम्।
भाभिरप्रतिमं भाति त्रैलोक्यमवभासयत् ॥ १३ ॥

वह प्रभापुञ्ज भगवान् विष्णुका एक विमान था, जो अपनी दिव्य प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करता हुआ अनुपम जान पड़ता था। सूर्य और गरुड़ जिस आकाशमार्गसे चलते हैं, उसीपर वह भी चल रहा था ॥ १३ ॥

तत्राभिरूपशोभाभिरप्सरोभिः पुरस्कृताम्।
बृहतीमंशुमत्प्रख्यां बृहद्भानोरिवार्चिषम् ॥ १४ ॥
नक्षत्रकल्पाभरणां तां मौक्तिकसमस्रजम्।
श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात् पद्मदलस्थिताम् ॥ १५ ॥

उस विमानमें उन दोनोंने कमलदलपर विराजमान साक्षात् लक्ष्मीदेवीको देखा, जो पद्माके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन्हें बहुत-सी परम शोभामयी सुन्दरी अप्सराएँ आगे किये खड़ी थीं। लक्ष्मीदेवीकी आकृति विशाल थी। वे अंशुमाली सूर्यके समान तेजस्विनी थीं और प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान जाज्वल्यमान हो रही थीं। उनके आभूषण नक्षत्रोंके समान चमक रहे थे। मोती-जैसे रत्नोंके हार उनके कण्ठ-देशकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १४-१५ ॥

सावरुह्य विमानाग्रादङ्गनानामनुत्तमा ।
अभ्यागच्छत् त्रिलोकेशं देवर्षिं चापि नारदम् ॥ १६ ॥

अङ्गनाओंमें परम उत्तम लक्ष्मीदेवी उस विमानके अग्रभागसे उतरकर त्रिभुवनपति इन्द्र और देवर्षि नारदके पास आयीं ॥ १६ ॥

नारदानुगतः साक्षान्मघवांस्तामुपागमत् ।
कृताञ्जलिपुटो देवीं निवेद्यात्मानमात्मना ॥ १७ ॥
चक्रे चानुपमां पूजां तस्याश्चापि स सर्ववित् ।
देवराजः श्रियं राजन् वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

आगे-आगे नारदजी और उनके पीछे साक्षात् इन्द्रदेव हाथ जोड़े हुए देवीकी ओर बढ़े । उन्होंने स्वयं ही देवीको आत्मसमर्पण करके उनकी अनुपम पूजा की । राजन् ! तत्पश्चात् सर्वज्ञ देवराजने लक्ष्मीदेवीसे इस प्रकार कहा ॥ १७-१८ ॥

शक्र उवाच

का त्वं केन च कार्येण सम्प्राप्ता चारुहासिनि ।
कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क्व च ते शुभे ॥ १९ ॥

इन्द्र बोले—चारुहासिनि ! तुम कौन हो ? और किस कार्यसे यहाँ आयी हो ? सुन्दर भौंहोंवाली देवि ! तुम्हारा शुभागमन कहाँसे हुआ है ? और शुभे ! तुम्हें जाना कहाँ है ? ॥ १९ ॥

श्रीरुवाच

पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना ॥ २० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! तीनों पुण्यमय लोकोंके समस्त चराचर प्राणी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे परम उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं ॥ २० ॥

साहं वै पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते ।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां पद्मा श्रीः पद्ममालिनी ॥ २१ ॥

मैं समस्त प्राणियोंको ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिये सूर्यकी किरणोंके तापसे खिले हुए कमलमें प्रकट हुई हूँ । मेरा नाम पद्मा, श्री और पद्ममालिनी है ॥ २१ ॥

अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन ।
अहं श्रद्धा च मेधा च संनतिर्विजितिः स्थितिः ॥ २२ ॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्विड् भूतिरेव च ।
अहं स्वाहा स्वधा चैव संस्तुतिर्नियतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥

बलसूदन ! मैं ही लक्ष्मी हूँ । मैं ही भूति हूँ और मैं ही श्री हूँ । मैं श्रद्धा, मेधा, संनति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, कान्ति, समृद्धि, स्वाहा, स्वधा, संस्तुति, नियति और स्मृति हूँ ॥ २२-२३ ॥

राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च ।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु पुरेषु च ॥ २४ ॥

युद्धमें विजय पानेवाले राजाओंकी सेनाओंके अग्रभागमें फहरानेवाले ध्वजाओंपर और स्वभावसे ही धर्माचरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके निवासस्थानमें, उनके राज्य और नगरोंमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २४ ॥

जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ॥ २५ ॥

बलसूदन ! संग्राममें पीछे न हटनेवाले तथा विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर नरेशके शरीरमें भी मैं सदा ही मौजूद रहती हूँ ॥ २५ ॥

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ २६ ॥

नित्य धर्माचरण करनेवाले, परम बुद्धिमान्, ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुषमें भी मैं सदा ही निवास करती हूँ ॥ २६ ॥

असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥ २७ ॥

सत्य और धर्मसे बँधकर पहले मैं असुरोंके यहाँ रहती थी । अब उन्हें धर्मके विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसंद किया है ॥ २७ ॥

शक्र उवाच

कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—सुमुखि ! दैत्योंका आचरण पहले कैसा था ? जिससे तुम उनके पास रहती थीं और अब क्या देखा है, जो उन दैत्यों और दानवोंको छोड़कर यहाँ चली आयी हो ? ॥ २८ ॥

श्रीरुवाच

स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! जो अपने धर्मका पालन करते, धैर्यसे कभी विचलित नहीं होते और स्वर्गप्राप्तिके साधनोंमें सानन्द लगे रहते हैं, उन प्राणियोंके भीतर मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २९ ॥

दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च तेषां सत्यमवर्तत ॥ ३० ॥

पहले दैत्यलोग दान, अध्ययन और यज्ञ-यागमें संलग्न रहते थे । देवता, गुरु, पितर और अतिथियोंकी पूजा करते थे । उनके यहाँ सत्यका भी पालन होता था ॥ ३० ॥

सुसम्मृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३१ ॥

वे अपना घर-द्वार झाड़-बुहारकर साफ रखते थे । अपनी स्त्रीके मनको प्यारसे जीत लेते थे । प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे । वे गुरुसेवी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी थे ॥

देवर्षि एवं देवराजको भगवती लक्ष्मीका दर्शन

श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलानसूयवः।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्षवः ॥ ३२ ॥

उनमें श्रद्धा थी। वे क्रोधको जीत चुके थे। वे दानी थे। दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं रखते थे और ईर्ष्यारहित थे। वे स्त्री, पुत्र और मन्त्री आदिका भरण-पोषण करते थे॥

अमर्षेण न चान्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन।
न च जातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३३ ॥

अमर्षवश कभी एक दूसरेके प्रति लाग-डाँट नहीं रखते थे। सभी धीर स्वभावके थे। दूसरोंकी समृद्धियोंसे उनके मनमें कभी संताप नहीं होता था ॥ ३३ ॥

दातारः संगृहीतार आर्याः करुणवेदिनः।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥

वे दान देते, कर आदिके द्वारा धन-संग्रह करते तथा आर्य-जनोचित आचार-विचारसे रहते थे। वे दया करना जानते थे। वे दूसरोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले थे। वे सभी सरल स्वभावके और दृढ़तापूर्वक भक्ति रखनेवाले थे। उन सबने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पायी थी ॥ ३४ ॥

संतुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३५ ॥

वे अपने भृत्यों और मन्त्रियोंको संतुष्ट रखते थे। कृतज्ञ और मधुरभाषी थे। सबका समुचित रूपसे सम्मान करते, सबको धन देते, लज्जाका सेवन करते और व्रत एवं नियमोंका पालन करते थे ॥ ३५ ॥

नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलंकृताः।
उपवासतपःशीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३६ ॥

सदा ही पर्वोंपर विशेष स्नान करते, अपने अङ्गोंमें चन्दन लगाते और सुन्दर अलंकार धारण करते थे। स्वभावसे ही उपवास और तपमें लगे रहते थे। सबके विश्वासपात्र थे और वेदोंका स्वाध्याय किया करते थे ॥ ३६ ॥

नैनानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३७ ॥

दैत्य कभी प्रातःकाल सोये नहीं रहते थे। उनके सोते समय सूर्य नहीं उगते थे अर्थात् वे सूर्योदयसे पहले ही जाग उठते थे। वे रातमें कभी दही और सत्तू नहीं खाते थे ॥ ३७॥

कल्यं घृतं चान्ववेक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३८ ॥

वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते, सबेरे उठकर घीका दर्शन करते, वेदोंका पाठ करते, अन्य माङ्गलिक वस्तुओंको देखते और ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे ॥ ३८ ॥

सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम्।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३९ ॥

सदा धर्मकी ही चर्चामें लगे रहते और प्रतिग्रहसे दूर रहते थे। रातके आधे भागमें ही सोते थे और दिनमें नहीं सोते थे ॥ ३९ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
दयां च संविभागं च नित्यमेवान्वमोदताम् ॥ ४० ॥

कृपण, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और स्त्रियोंपर दया करते तथा उनके लिये अन्न और वस्त्र बाँटते थे। इस कार्यका वे सदा अनुमोदन किया करते थे ॥ ४० ॥

त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम्।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४१ ॥

त्रस्त, विषादग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधिग्रस्त, दुर्बल और पीड़ितको तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उस मनुष्यको वे सदा ढाढ़स बँधाया करते थे ॥ ४१ ॥

धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४२ ॥

वे धर्मका ही आचरण करते थे। एक-दूसरेकी हिंसा नहीं करते थे। सब कार्योंमें परस्पर अनुकूल रहते और गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें दत्तचित्त थे ॥ ४२ ॥

पितॄन् देवातिथींश्चैव यथावत् तेऽभ्यपूजयन्।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४३ ॥

पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी विधिवत् पूजा करते थे तथा उन्हें अर्पण करनेके पश्चात् बचे हुए अन्नको ही प्रसादरूपमें पाते थे। वे सभी सत्यवादी और तपस्वी थे ॥

नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम्।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथाऽऽत्मनि दयां प्रति ॥ ४४ ॥

वे अकेले बढ़िया भोजन नहीं करते थे। पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे। परायी स्त्रीसे कभी संसर्ग नहीं रखते थे। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया रखते थे ॥ ४४ ॥

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

वे आकाशमें, पशुओंमें, विपरीत योनिमें तथा पर्वके अवसरोंपर वीर्यत्याग करना कदापि अच्छा नहीं मानते थे ॥

नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४६ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥ ४७ ॥

प्रभो! नित्य दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहङ्कार-शून्यता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, करुणा, कोमल वचन, मित्रोंसे द्रोह न करनेका भाव—ये सभी सद्गुण उनमें सदा मौजूद रहते थे ॥ ४६-४७ ॥

निद्रा तन्द्रीरसम्प्रीतिरसूयाथानवेक्षिता।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४८ ॥

निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), अप्रसन्नता, दोषदृष्टि,

अविवेक, अप्रीति, विषाद और कामना आदि दोष उनके भीतर प्रवेश नहीं कर पाते थे ॥ ४८ ॥

साहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा ।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंवाले दानवोंके पास सृष्टिकालसे लेकर अबतक मैं अनेक युगोंसे रहती आयी हूँ ॥ ४९ ॥

ततः कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात् ।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम् ॥ ५० ॥

किंतु समयके उलट-फेरसे उनके गुणोंमें विपरीतता आ गयी । मैंने देखा, दैत्योंमें धर्म नहीं रह गया है । वे काम और क्रोधके वशीभूत हो गये हैं ॥ ५० ॥

सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः ।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः ॥ ५१ ॥

जब बड़े-बूढ़े लोग उस सभामें बैठकर कोई बात कहते हैं, तब गुणहीन दैत्य उनमें दोष निकालते हुए उन सब वृद्ध पुरुषोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ५१ ॥

युवानश्च समासीना वृद्धानपि गतान् सतः ।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन् ॥ ५२ ॥

ऊँचे आसनोंपर बैठे हुए नवयुवक दैत्य बड़े-बूढ़ोंके आ जानेपर भी पहलेकी भाँति न तो उठकर खड़े होते हैं और न प्रणाम करके ही उनका आदर-सत्कार करते हैं ॥५२॥

वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा ।
अमित्रभृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः ॥ ५३ ॥

बापके रहते ही बेटा मालिक बन बैठता है । वे शत्रुओंके सेवक बनकर अपने उस कर्मको निर्लज्जतापूर्वक दूसरोंके सामने कहते हैं ॥ ५३ ॥

तथा धर्मादपेतेन कर्मणा गर्हितेन ये ।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राभवत् स्पृहा ॥ ५४ ॥

धर्मके विपरीत निन्दित कर्मद्वारा जिन्हें महान् धन प्राप्त हो गया है, उनकी उसी प्रकार धनोपार्जन करनेकी अभिलाषा बढ़ गयी है ॥ ५४ ॥

उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत् ।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन् ॥ ५५ ॥

दैत्य रातमें जोर-जोरसे हल्ला मचाते हैं और उनके यहाँ अग्निहोत्रकी आग मन्दगतिसे जलने लगी है। पुत्रोंने पिताओंपर और स्त्रियोंने पतियोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया है ॥५५॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान् नान्वपालयन् ॥ ५६ ॥

दैत्य और दानव गुरुत्व होते हुए भी माता-पिता, वृद्ध-पुरुष, आचार्य, अतिथि और गुरुजनोंका अभिनन्दन नहीं करते हैं । संतानोंके लालन-पालनपर भी ध्यान नहीं देते हैं ॥ ५६ ॥

भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते ।
अनिष्ट्वासंविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून् ॥ ५७ ॥

देवताओं, पितरों, गुरुजनों तथा अतिथियोंका यजन-पूजन और उन्हें अन्नदान किये बिना, भिक्षादान और बलि-वैश्वदेवकर्मका सम्पादन किये बिना ही दैत्यलोग स्वयं भोजन कर लेते हैं ॥ ५७ ॥

न शौचमनुरुद्ध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा ।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम् ॥ ५८ ॥

दैत्य तथा उनके रसोइये मन, वाणी और क्रियाद्वारा शौचाचारका पालन नहीं करते हैं । उनका भोजन बिना ढके ही छोड़ दिया जाता है ॥ ५८ ॥

विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम् ।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम् ॥ ५९ ॥

उनके घरोंमें अनाजके दाने बिखरे रहते हैं और उन्हें कौए तथा चूहे खाते हैं । वे दूधको बिना ढके छोड़ देते हैं और घीको जूठे हाथोंसे छू देते हैं ॥ ५९ ॥

कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम् ।
द्रव्योपकरणं सर्वं नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी ॥ ६० ॥

दैत्योंकी गृहस्वामिनियाँ घरमें इधर-उधर बिखरे हुए कुदाल, दराँती (या हँसुआ), पिटारी, काँसेके बर्तन तथा अन्य सब द्रव्यों और सामानोंकी देख-भाल नहीं करती हैं ॥ ६० ॥

प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते ।
नाद्रियन्ते पशून् बद्ध्वा यवसेनोदकेन च ॥ ६१ ॥

उनके गाँवों और नगरोंकी चहारदिवारी तथा घर गिर जाते हैं; परंतु वे उसकी मरम्मत नहीं कराते हैं । दैत्यलोग पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, किंतु चारा और पानी देकर उनकी सेवा नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥

बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यमभक्षयन् ।
तथा भृत्यजनं सर्वमसंतर्प्य च दानवाः ॥ ६२ ॥

छोटे बच्चे आशा लगाये देखते रहते हैं और दानवलोग खानेकी चीजें स्वयं खा लेते हैं । सेवकों तथा अन्य सब कुटुम्बीजनोंको भूखे छोड़कर अपने खा लेते हैं ॥ ६२ ॥

पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः ।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन् ॥ ६३ ॥

खीर, खिचड़ी, मांस, पूआ और पूरी आदि भोजन वे सिर्फ अपने खानेके लिये बनवाते हैं तथा वे व्यर्थ ही मांस खाया करते हैं ॥ ६३ ॥

उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः ।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे ॥ ६४ ॥

अब वे सूर्योदय होनेतक सोने लगे हैं । प्रातःकालको भी रात ही समझते हैं । उनके घर-घरमें दिन-रात कलह मचा रहता है ॥ ६४ ॥

अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह ।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम् ॥ ६५ ॥

दानवोंके यहाँ अनार्य वहाँ बैठे हुए आर्य पुरुषकी सेवामें उपस्थित नहीं होते हैं। अधर्मपरायण दैत्य आश्रमवासी महात्माओंसे तथा आपसमें भी द्वेष रखते हैं ॥ ६५ ॥

संकराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत ।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृचश्च ये ॥ ६६ ॥
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः ।

अब उनके यहाँ वर्णसङ्कर संतानें होने लगी हैं। किसीमें पवित्रता नहीं रह गयी है। जो वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण हैं और जो स्पष्ट ही वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते हैं, उन दोनोंमें वे दैत्यलोग कोई अन्तर या विशेषता नहीं समझते हैं और न उनका मान या अपमान करनेमें ही कोई अन्तर रखते हैं ॥ ६६½ ॥

हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥ ६७ ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम् ।

वहाँकी दासियाँ सुन्दर हार एवं अन्य आभूषण पहनकर मनोहर वेष धारण करतीं और दुराचारिणी स्त्रियोंकी भाँति चलती-फिरती, खड़ी होती और कटाक्ष करती हैं। साथ ही वे उस कुकृत्यको अपनाती हैं, जिसका आचरण दुराचारीजन करते हैं ॥ ६७½ ॥

स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥ ६८ ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन् ।

क्रीडा, रति और विहारके अवसरोंपर वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषवेष धारण करके और पुरुष स्त्रियोंका वेष बनाकर एक दूसरेसे मिलते और बड़े आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ६८½ ॥

प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ॥ ६९ ॥
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद् वर्तन्तः सम्भवेष्वपि ।

कितने ही दानव पूर्वकालमें अपने पूर्वजोंद्वारा सुयोग्य ब्राह्मणोंको दानके रूपमें दी हुई जागीरें नास्तिकताके कारण उनके पास रहने नहीं देते हैं यद्यपि वे अन्य सम्भव उपायोंसे जीवन-निर्वाह कर सकते हैं तथापि उस दिये हुए दानको छीन लेते हैं ॥ ६९½ ॥

मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थसंशयिते क्वचित् ॥ ७० ॥
वालकोट्यग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद् वसु ।

कहीं धनके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर अर्थात् यह धन न्यायतः मेरा है या दूसरेका, यह प्रश्न खड़ा होनेपर यदि उस धनका अधिकारी व्यक्ति अपने किसी मित्रसे प्रार्थना करता है कि वह पंचायतद्वारा इस मामलेको निपटा दे तो वह मित्र अपने बालकी नोकके बराबर स्वार्थके लिये भी उसकी उस सम्पत्तिको चौपट कर देता है ॥ ७०½ ॥

परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः ॥ ७१ ॥
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः ।

दानवोंके यहाँ जो व्यापारी हैं, वे सदा दूसरोंका धन ठग लेनेका ही विचार रखते हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें शूद्र भी मिलकर तपोधन बन बैठे हैं ॥ ७१½ ॥

अधीयतेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे ॥ ७२ ॥

कुछ लोग ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना ही वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, । कुछ लोग व्यर्थ (अवैदिक) व्रतका आचरण करते हैं ॥ ७२ ॥

अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः ।

शिष्य गुरुकी सेवा करना नहीं चाहता। कोई-कोई गुरु भी ऐसा है जो शिष्योंको दोस्त बनाकर रखता है ॥

पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ॥ ७३ ॥
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान् ।

जब पिता और माता उत्सवशून्यकी भाँति थक जाते हैं, तब घरमें उनकी कोई प्रभुता नहीं रह जाती। वे दोनों बूढ़े दम्पति बेटोंसे अन्नकी भीख माँगते हैं ॥ ७३½ ॥

तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ॥ ७४ ॥
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत ।

वहाँ जो वेदवेत्ता ज्ञानी तथा गम्भीरतामें समुद्रके समान पुरुष हैं, वे तो खेती आदि कार्योंमें संलग्न हो गये हैं और मूर्खलोग श्राद्धान्न खाते फिरते हैं ॥ ७४½ ॥

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः ॥ ७५ ॥
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम् ।

गुरुलोग प्रतिदिन प्रातःकाल जाकर शिष्योंसे पूछते हैं कि आपकी रात सुखसे बीती है न ? इसके सिवा वे उन शिष्योंके वस्त्र आदि ठीकसे पहनाते और उनकी वेश-भूषा सँवारते हैं तथा उनकी ओरसे कोई प्रेरणा न होनेपर भी स्वयं ही उनके संदेशवाहक दूत आदिका कार्य करते हैं ॥

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ॥ ७६ ॥
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति ।

सास-ससुरके सामने ही बहू सेवकोंपर शासन करने लगी है। वह पतिको भी आदेश देती है और सबके सामने पतिको बुलाकर उससे बात करती है ॥ ७६½ ॥

प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ॥ ७७ ॥
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथावसत् ।

पिता विशेष प्रयत्नपूर्वक पुत्रका मन रखते हैं। वे उनके क्रोधसे डरकर सारा धन पुत्रोंको बाँट देते हैं और स्वयं बड़े कष्टसे जीवन बिताते हैं ॥ ७७½ ॥

अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ॥ ७८ ॥
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्सम्भाविता ह्यपि ।

जिन्हें हितैषी और मित्र समझा जाता था, वे ही लोग जब अपने सम्बन्धीके धनको आग लगने, चोरी हो जाने अथवा राजाके द्वारा छिन जानेसे नष्ट हुआ देखते हैं, तब द्वेषवश उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ ७८½ ॥

कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः ॥ ७९ ॥

अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः ।

दैत्यगण कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी तथा गुरुपत्नीगामी हो गये हैं । जो चीज नहीं खानी चाहिये, वे भी खाते और धर्मकी मर्यादा तोड़कर मनमाने आचरण करते हैं। इसीलिये वे कान्तिहीन हो गये हैं ॥ ७९½ ॥

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये ॥ ८० ॥
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः ।

देवेन्द्र ! जबसे इन दैत्योंने ये धर्मके विपरीत आचरण अपनाये हैं, तबसे मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अब इन दानवोंके घरमें नहीं रहूँगी ॥ ८०½ ॥

तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते ॥ ८१ ॥
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः ।

शचीपते ! देवेश्वर ! इसीलिये मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ आयी हूँ । तुम मेरा अभिनन्दन करो । तुमसे पूजित होनेपर मुझे अन्य देवता भी अपने सम्मुख स्थापित (एवं सम्मानित) करेंगे ॥ ८१½ ॥

यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः ॥ ८२ ॥
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा ।

जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ सात देवियाँ और निवास करेंगी, उन सबके आगे आठवीं जया देवी भी रहेंगी । ये आठों देवियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं, मुझसे भी श्रेष्ठ हैं और मुझे आत्मसमर्पण कर चुकी हैं ॥ ८२½ ॥

आशा श्रद्धा धृतिः शान्तिर्विजितिः संनतिः क्षमा॥८३॥
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन ।

पाकशासन ! उन देवियोंके नाम इस प्रकार हैं—आशा, श्रद्धा, धृति, शान्ति, विजिति, संनति, क्षमा और आठवीं वृत्ति (जया) । ये आठवीं देवी उन सातोंकी अग्रगामिनी हैं ॥

ताश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः ॥ ८४ ॥
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु ।

वे देवियाँ और मैं सब-के-सब उन असुरोंको त्यागकर तुम्हारे राज्यमें आयी हैं । देवताओंकी अन्तरात्मा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली है; इसलिये अब हमलोग इन्हींके यहाँ निवास करेंगी ॥ ८४½ ॥

इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः ॥ ८५ ॥
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः ।

(भीष्मजी कहते हैं—) लक्ष्मीदेवीके इस प्रकार कहनेपर देवर्षि नारद तथा वृत्रहन्ता इन्द्रने उनकी प्रसन्नताके लिये उनका अभिनन्दन किया ॥ ८५½ ॥

ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववर्त्मसु ॥ ८६ ॥
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः ।

उस समय देवमार्गोंपर मनोरम गन्ध और सुखद स्पर्शसे युक्त तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आनन्द प्रदान करनेवाले वायुदेव, जो अग्निदेवताके मित्र हैं, मन्दगतिसे बहने लगे ॥

शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः ॥ ८७ ॥
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः ॥ ८८ ॥

उस परम पवित्र एवं मनोवाञ्छित प्रदेशमें राजलक्ष्मीसहित इन्द्रदेवका दर्शन करनेके लिये प्रायः सभी देवता उपस्थित हो गये ॥ ८७-८८ ॥

ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः
श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा ।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः
सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ ॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् सहस्रनेत्रधारी सुरश्रेष्ठ इन्द्र लक्ष्मीदेवी तथा अपने सुहृद् महर्षि नारदके साथ हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर स्वर्गलोककी राजधानी अमरावतीमें आये और देवताओंसे सत्कृत हो उनकी सभामें गये ॥ ८९ ॥

अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः
श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन् ।
श्रियै शशंसामरदृष्टपौरुषः
शिवेन तत्रागमनं महर्षिभिः ॥ ९० ॥

उस समय अमरोंके पौरुषको प्रत्यक्ष देखनेवाले देवर्षि नारदजीने अन्य महर्षियोंके साथ मिलकर वज्रधारी इन्द्र और लक्ष्मीदेवीके संकेतपर मन-ही-मन विचार करके वहाँ लक्ष्मीजीके शुभागमनकी प्रशंसा की और उनका पदार्पण सम्पूर्ण लोकोंके लिये मङ्गलकारी बताया ॥ ९० ॥

ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती
पितामहस्यायतने स्वयम्भुवः ।
अनाहता दुन्दुभयोऽथ नेदिरे
तथा प्रसन्नाश्च दिशश्चकाशिरे ॥ ९१ ॥

तदनन्तर निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण आकाशमण्डल स्वयम्भू ब्रह्माजीके भवनमें अमृतकी वर्षा करने लगा । देवताओंकी दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं तथा सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ एवं प्रकाशित दिखायी देने लगीं ॥ ९१ ॥

यथर्तु सस्येषु ववर्ष वासवो
न धर्ममार्गाद् विचचाल कश्चन ।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः
सुघोषघोषा भुवनौकसां जये ॥ ९२ ॥

लक्ष्मीजीके स्वर्गमें पधारनेपर इन्द्रदेव ऋतुके अनुसार संसारमें लगी हुई खेतीको सींचनेके लिये समयपर वर्षा करने लगे । कोई भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होता था तथा अनेक समुद्रोंसे विभूषित हुई पृथ्वी उन समुद्रोंकी गर्जनाके रूपमें त्रिभुवनवासियोंकी विजयके लिये मानो सुन्दर जयघोष करने लगी ॥ ९२ ॥

क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो
बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः ।

नरामराः किन्नरयक्षराक्षसाः
समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन्॥ ९३ ॥

उस समय मनस्वी मानव पुण्यवानोंके मङ्गलमय पथपर स्थित हो सत्कर्मोंसे परम सुन्दर शोभा पाने लगे तथा देवता, किन्नर, यक्ष, राक्षस और मनुष्य समृद्धिशाली एवं उदारचेता हो गये ॥ ९३ ॥

न जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं
पपात वृक्षात् पवनेरितादपि ।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो
न दारुणा वाग् विचचार कस्यचित्॥ ९४॥

उन दिनों अकाल-मृत्युकी तो बात ही क्या है, प्रचण्ड पवनके वेगपूर्वक हिलानेसे भी किसी वृक्षसे असमयमें फूलतक नहीं गिरता था; फिर फल कहाँसे गिरेगा ? सभी धेनुएँ दुग्ध आदि रस देती थीं । वे इच्छानुसार दुग्ध दिया करती थीं । किसीके मुखसे कभी कोई कठोर वचन नहीं निकलता था ॥

इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः
श्रियश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः ।
पठन्ति ये विप्रसदःसमागताः
समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते॥ ९५ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले इन्द्र आदि देवताओंद्वारा की हुई लक्ष्मीजीकी इस पूजा-अर्चाके प्रसङ्गको जो लोग ब्राह्मणोंकी सभामें आकर पढ़ते हैं, उनकी सारी कामनाएँ सम्पन्न होती हैं और वे लक्ष्मी भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९५ ॥

त्वया कुरूणां वर यत् प्रचोदितं
भवाभवस्येह परं निदर्शनम् ।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया
परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥ ९६ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने जो अभ्युदय-पराभवका लक्षण पूछा था, वह सब मैंने आज यह उत्तम दृष्टान्त देकर बता दिया । तुम्हें स्वयं सोच-विचारकर उसकी यथार्थताका निश्चय करना चाहिये ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्री-वासवसंवादो नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें लक्ष्मी और इन्द्रका संवादनामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जैगीषव्यका असित-देवलको समत्वबुद्धिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

**किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥**

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे शील, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और कैसे पराक्रमसे युक्त होनेपर मनुष्य प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ? ॥

भीष्म उवाच

**मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥**

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो पुरुष मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर मोक्षोपयोगी धर्मोंके पालनमें संलग्न रहता है, वही प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥

**अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ ३ ॥**

भारत ! इस विषयमें भी जैगीषव्य और असित-देवल-मुनिका संवादरूप यह पुरातन इतिहास उदाहरणके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है ॥ ३ ॥

**जैगीषव्यं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥**

एक बार सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शास्त्रवेत्ता, महाज्ञानी और क्रोध एवं हर्षसे रहित जैगीषव्य मुनिसे असित-देवलने इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

देवल उवाच

**न प्रीयसे वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यसे ।
का ते प्रज्ञा कुतश्चैषा किं ते तस्याः परायणम् ॥ ५ ॥**

देवल बोले—मुनिवर ! यदि आपको कोई प्रणाम करे, तो आप अधिक प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करे तो भी आप उसपर क्रोध नहीं करते, यह आपकी बुद्धि कैसी है ? कहाँसे प्राप्त हुई है ? और आपकी इस बुद्धिका परम आश्रय क्या है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

**इति तेनानुयुक्तः स तमुवाच महातपाः ।
महद्वाक्यमसंदिग्धं पुष्कलार्थपदं शुचि ॥ ६ ॥**

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! देवलके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महातपस्वी जैगीषव्यने उनसे इस प्रकार संदेहरहित, प्रचुर अर्थका बोधक, पवित्र और उत्तम वचन कहा ॥ ६ ॥

जैगीषव्य उवाच

**या गतिर्या परा काष्ठा या शान्तिः पुण्यकर्मणाम्।
तां तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महतीमृषिसत्तम ॥ ७ ॥**

जैगीषव्य बोले—मुनिश्रेष्ठ ! पुण्यकर्म करनेवाले महा-

पुरुषोंको जिसका आश्रय लेनेसे उत्तम गति, उत्कर्षकी चरम सीमा और परम शान्ति प्राप्त होती है, उस श्रेष्ठ बुद्धिका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥

निन्दत्सु च समा नित्यं प्रशंसत्सु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च यत् ॥ ८ ॥

देवल ! महात्मा पुरुषोंकी कोई निन्दा करे या सदा उनकी प्रशंसा करे अथवा उनके सदाचार तथा पुण्य कर्मोंपर पर्दा डाले, किंतु वे सबके प्रति एक-सी ही बुद्धि रखते हैं ॥ ८ ॥

उक्ताश्च न वदिष्यन्ति वक्तारमहिते हितम् ।
प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ॥ ९ ॥

उन मनीषी पुरुषोंसे कोई कटु वचन कह दे तो वे उस कटुवादी पुरुषको बदलेमें कुछ नहीं कहते । अपना अहित करनेवालेका भी हित ही चाहते हैं तथा जो उन्हें मारता है, उसे भी वे बदलेमें मारना नहीं चाहते हैं ॥ ९ ॥

नाप्राप्तमनुशोचन्ति प्राप्तकालानि कुर्वते ।
न चातीतानि शोचन्ति न चैव प्रतिजानत ॥ १० ॥

जो अभी सामने नहीं आयी है या भविष्यमें होनेवाली है, उसके लिये वे शोक या चिन्ता नहीं करते हैं । वर्तमान समयमें जो कार्य प्राप्त हैं, उन्हींको वे करते हैं । जो बातें बीत गयी हैं, उनके लिये भी उन्हें शोक नहीं होता है और वे किसी बातकी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं ॥ १० ॥

सम्प्राप्तानां च पूज्यानां कामादर्थेषु देवल ।
यथोपपत्ति कुर्वन्ति शक्तिमन्तः कृतव्रताः ॥ ११ ॥

देवल ! यदि कोई कामना मनमें लेकर किन्हीं विशेष प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये पूजनीय पुरुष उनके पास आ जायँ तो वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शक्तिशाली महात्मा यथाशक्ति उनके कार्य-साधनकी चेष्टा करते हैं ॥ ११ ॥

पक्वविद्या महाप्राज्ञा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १२ ॥

उनका ज्ञान परिपक्व होता है । वे महाज्ञानी, क्रोधको जीतनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं तथा मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीका अपराध नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

अनीर्षवो न चान्योन्यं विहिंसन्ति कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ १३ ॥

उनके मनमें एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या नहीं होती । वे कभी हिंसा नहीं करते तथा वे धीर पुरुष दूसरोंकी समृद्धियोंसे कभी मन-ही-मन जलते नहीं हैं ॥ १३ ॥

निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये ।
न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन ॥ १४ ॥

वे दूसरोंकी न तो निन्दा करते हैं और न अधिक प्रशंसा ही । उनकी भी कोई निन्दा या प्रशंसा करे तो उनके मनमें कभी विकार नहीं होता है ॥ १४ ॥

सर्वतश्च प्रशान्ता ये सर्वभूतहिते रताः ।
न क्रुद्ध्यन्ति न हृष्यन्ति नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

वे सर्वथा शान्त और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते हैं, न कभी क्रोध करते हैं, न हर्षित होते हैं और न किसीका अपराध ही करते हैं ॥ १५ ॥

विमुच्य हृदयग्रन्थिं चङ्क्रमन्ति यथासुखम् ।
न येषां बान्धवाः सन्ति ये चान्येषां न बान्धवाः ॥ १६ ॥

वे हृदयकी अज्ञानमयी गाँठ खोलकर चारों ओर आनन्दके साथ विचरा करते हैं । न उनके कोई भाई-बन्धु होते हैं और न वे ही दूसरोंके भाई-बन्धु होते हैं ॥ १६ ॥

अमित्राश्च न सन्त्येषां ये चामित्रा न कस्यचित् ।
य एवं कुर्वते मर्त्याः सुखं जीवन्ति सर्वदा ॥ १७ ॥

न उनके कोई शत्रु होते हैं और न वे ही किसीके शत्रु होते हैं । जो मनुष्य ऐसा करते हैं, वे सदा सुखसे जीवन बिताते हैं ॥ १७ ॥

ये धर्मं चानुरुद्ध्यन्ते धर्मज्ञा द्विजसत्तम ।
ये ह्यतो विच्युता मार्गात् ते हृष्यन्त्युद्विजन्ति च ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मके अनुसार चलते हैं, वे ही धर्मज्ञ हैं । तथा जो धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें ही हर्ष-उद्वेग आदि प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

आस्थितस्तमहं मार्गमसूयिष्यामि कं कथम् ।
निन्द्यमानः प्रशस्तो वा हृष्येऽहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

मैंने भी उसी धर्ममार्गका अवलम्बन किया है; अतः अपनी निन्दा सुनकर क्यों किसीके प्रति द्वेष-दृष्टि करूँ ? अथवा प्रशंसा सुनकर भी किस लिये हर्ष मानूँ ? ॥ १९ ॥

यद् यदिच्छन्ति तत् तस्मादपि गच्छन्तु मानवाः ।
न मे निन्दाप्रशंसाभ्यां ह्रासवृद्धी भविष्यतः ॥ २० ॥

मनुष्य निन्दा और प्रशंसामेंसे जिससे जो-जो लाभ उठाना चाहते हों, उससे वह-वह लाभ उठा लें । उस निन्दा और प्रशंसासे न मेरी कोई हानि होगी, न लाभ ॥ २० ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित् ।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपमानको अमृतके समान समझकर उससे संतुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मानको विषके तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे ॥ २१ ॥

अवज्ञातः सुखं शेते इह चामुत्र चाभयम् ।
विमुक्तः सर्वदोषेभ्यो योऽवमन्ता स बध्यते ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त महात्मा पुरुष अपमानित होनेपर भी इस लोक और परलोकमें निर्भय होकर सुखसे सोता है; परंतु उसका अपमान करनेवाला पुरुष पापबन्धनमें पड़ जाता है ॥ २२ ॥

परां गतिं च ये केचित् प्रार्थयन्ति मनीषिणः ।
एतद् व्रतं समाश्रित्य सुखमेधन्ति ते जनाः ॥ २३ ॥

जो मनीषी पुरुष उत्तम गति प्राप्त करना चाहते हैं, वे

इस उत्तम व्रतका आश्रय लेकर सुखी एवं अभ्युदयशील होते हैं ॥ २३ ॥

सर्वतश्च समाहृत्य क्रतून् सर्वान् जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २४ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सारे काम्यकर्मोंका परित्याग करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर ले । फिर वह प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
पदमन्ववरोहन्ति प्राप्तस्य परमां गतिम् ॥ २५ ॥

परमगतिको प्राप्त हुए उस ज्ञानी महात्माके पदका अनुसरण न देवता कर पाते हैं न गन्धर्व, न पिशाच कर पाते हैं और न राक्षस ही ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जैगीषव्यासितसंवादे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जैगीषव्य और असित-देवलसंवादविषयक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद—नारदजीकी लोकप्रियताके हेतुभूत गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

प्रियः सर्वस्य लोकस्य सर्वसत्त्वाभिनन्दिता ।
गुणैः सर्वैरुपेतश्च को न्वस्ति भुवि मानवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस भूतलपर कौन ऐसा मनुष्य है ? जो सब लोगोंका प्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंको आनन्द प्रदान करनेवाला तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पृच्छतो भरतर्षभ ।
उग्रसेनस्य संवादं नारदे केशवस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस प्रश्नके उत्तरमें मैं श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद सुनाता हूँ, जो नारदजीके विषयमें हुआ था ॥ २ ॥

उग्रसेन उवाच

यस्य संकल्पते लोको नारदस्य प्रकीर्तने ।
मन्ये स गुणसम्पन्नो ब्रूहि तन्मम पृच्छतः ॥ ३ ॥

उग्रसेन बोले—जनार्दन ! सब लोग जिनके गुणोंका कीर्तन करनेकी इच्छा रखते हैं, वे नारदजी मेरी समझमें अवश्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं; अतः मैं उनके गुणोंके विषयमें पूछता हूँ, तुम मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

कुकुराधिप यान् मन्ये शृणु तान् मे विवक्षतः ।
नारदस्य गुणान् साधून् संक्षेपेण नराधिप ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—कुकुरकुलके स्वामी ! नरेश्वर ! मैं नारदके जिन उत्तम गुणोंको मानता और जानता हूँ, उन्हें संक्षेपसे बताना चाहता हूँ । आप मुझसे उनका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

न चारित्रनिमित्तोऽस्याहंकारो देहतापनः ।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ५ ॥

नारदजीमें शास्त्रज्ञान और चरित्रबल दोनों एक साथ संयुक्त हैं । फिर भी उनके मनमें अपनी सच्चरित्रताके कारण तनिक भी अभिमान नहीं है । वह अभिमान शरीरको संतप्त करनेवाला है । उसके न होनेसे ही नारदजीकी सर्वत्र पूजा (प्रतिष्ठा) होती है ॥ ५ ॥

अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि नारदे ।
अदीर्घसूत्रः शूरश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ६ ॥

नारदजीमें अप्रीति, क्रोध, चपलता और भय–ये दोष नहीं हैं, वे दीर्घसूत्री (किसी कामको विलम्बसे करनेवाले या आलसी) नहीं हैं तथा धर्म और दया आदि करनेमें बड़े शूरवीर हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ ६ ॥

उपास्यो नारदो बाढं वाचि नास्य व्यतिक्रमः ।
कामतो यदि वा लोभात् तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ७ ॥

निश्चय ही नारद उपासना करनेके योग्य हैं । कामना या लोभसे भी कभी उनके द्वारा अपनी बात पलटी नहीं जाती; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ ७ ॥

अध्यात्मविधितत्त्वज्ञः क्षान्तः शक्तो जितेन्द्रियः ।
ऋजुश्च सत्यवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ८ ॥

वे अध्यात्मशास्त्रके तत्त्वज्ञ विद्वान्, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं । इसीलिये वे सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ९ ॥

नारदजी तेज, बुद्धि, यश, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्याद्वारा भी सबसे बढ़े-चढ़े हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ९ ॥

सुशीलः सुखसंवेशः सुभोजः स्वादरः शुचिः ।
सुवाक्यश्चाप्यनीर्ष्यश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १० ॥

वे सुशील, सुखसे सोनेवाले, पवित्र भोजन करनेवाले, उत्तम आदरके पात्र, पवित्र, उत्तम वचन बोलनेवाले तथा ईर्ष्यासे रहित हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा हुई है ॥ १० ॥

कल्याणं कुरुते बाढं पापमस्मिन्न विद्यते ।

न प्रीयते परानर्थैस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ११ ॥

वे खुले दिलसे सबका कल्याण करते हैं । उनके मनमें लेशमात्र भी पाप नहीं है । दूसरोंका अनर्थ देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती; इसीलिये उनका सब जगह सम्मान होता है ॥ ११ ॥

वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति ।
तितिक्षुरनवज्ञाता तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १२ ॥

नारदजी वेदों और उपनिषदोंकी, श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणकी कथाओंद्वारा प्रस्तुत विषयोंको समझाने और सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वे सहनशील तो हैं ही, कभी किसीकी अवज्ञा नहीं करते हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १२ ॥

समत्वाच्च प्रियो नास्ति नाप्रियश्च कथंचन ।
मनोऽनुकूलवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १३ ॥

वे सर्वत्र समभाव रखते हैं; इसलिये उनका न कोई प्रिय है और न किसी तरह अप्रिय ही है । वे मनके अनुकूल बोलते हैं, इसलिये सर्वत्र उनका आदर होता है ॥ १३ ॥

बहुश्रुतश्चित्रकथः पण्डितोऽलालसोऽशठः ।
अदीनोऽक्रोधनोऽलुब्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥१४॥

वे अनेक शास्त्रोंके विद्वान् हैं और उनका कथा कहनेका ढंग भी बड़ा विचित्र है । उनमें पूर्ण पाण्डित्य होनेके साथ ही लालसा और शठताका भी अभाव है । दीनता, क्रोध और लोभ आदि दोषसे वे सर्वथा रहित हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ १४ ॥

नार्थे धने वा कामे वा भूतपूर्वोऽस्य विग्रहः ।
दोषाश्चास्य समुच्छिन्नास्तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ १५ ॥

धन, अन्य कोई प्रयोजन अथवा कामके विषयमें नारदजीका पहले कभी किसीके साथ कलह हुआ हो, ऐसी बात नहीं है । उनमें समस्त दोषोंका अभाव है, इसीलिये उनका सब जगह आदर होता है ॥ १५ ॥

दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवाननृशंसवान् ।
वीतसम्मोहदोषश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १६ ॥

उनकी मेरे प्रति दृढ़ भक्ति है । उनका हृदय शुद्ध है । वे विद्वान् और दयालु हैं । उनके मोह आदि दोष दूर हो गये हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर है ॥ १६ ॥

असक्तः सर्वभूतेषु सक्तात्मेव च लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १७ ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित हैं; फिर भी आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं । उनके मनमें दीर्घकालतक कोई संशय नहीं रहता और वे बहुत अच्छे वक्ता हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १७ ॥

समाधिर्नास्य कामार्थे नात्मानं स्तौति कर्हिचित् ।
अनीर्षुर्मृदुसंवादस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १८ ॥

उनका मन कभी विषयभोगोंमें स्थित नहीं होता और वे कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं । किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं रखते तथा सबसे मीठे वचन बोलते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ १८ ॥

लोकस्य विविधं चित्तं प्रेक्षते चाप्यकुत्सयन् ।
संसर्गविद्याकुशलस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १९ ॥

नारदजी लोगोंकी नाना प्रकारकी चित्तवृत्तिको देखते और समझते हैं । फिर भी किसीकी निन्दा नहीं करते । किसका संसर्ग कैसा है ? इसके ज्ञानमें वे बड़े निपुण हैं; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित होते हैं ॥ १९ ॥

नासूयत्यागमं कंचित् स्वनयेनोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ २० ॥

वे किसी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते । अपनी नीतिके अनुसार जीवन-यापन करते हैं । समयको कभी व्यर्थ नहीं गँवाते और मनको वशमें रखते हैं; इसीलिये वे सर्वत्र सम्मानित होते हैं ॥ २० ॥

कृतश्रमः कृतप्रज्ञो न च तृप्तः समाधितः ।
नित्ययुक्तोऽप्रमत्तश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २१ ॥

उन्होंने योगाभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया है । उनकी बुद्धि पवित्र है । उन्हें समाधिसे कभी तृप्ति नहीं होती । वे कर्तव्य-पालनके लिये सदा उद्यत रहते हैं और कभी प्रमाद नहीं करते हैं; इसीलिये सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥२१॥

नापत्रपश्च युक्तश्च नियुक्तः श्रेयसे परैः ।
अभेत्ता परगुह्यानां तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २२ ॥

नारदजी निर्लज्ज नहीं हैं । दूसरोंकी भलाईके लिये सदा उद्यत रहते हैं; इसीलिये दूसरे लोग उन्हें अपने कल्याणकारी कार्योंमें लगाये रखते हैं तथा वे किसीके गुप्त रहस्यको कहीं प्रकट नहीं करते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥

न हृष्यत्यर्थलाभेषु नालाभे तु व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २३ ॥

वे धनका लाभ होनेसे प्रसन्न नहीं होते और उसके न मिलनेसे उन्हें दुःख भी नहीं होता है । उनकी बुद्धि स्थिर और मन आसक्तिरहित है; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित हुए हैं ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमनामयम् ।
कालज्ञं च प्रियज्ञं च कः प्रियं न करिष्यति ॥ २४ ॥

वे सम्पूर्ण गुणोंसे सुशोभित, कार्यकुशल, पवित्र, नीरोग, समयका मूल्य समझनेवाले और परम प्रिय आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं; फिर कौन उन्हें अपना प्रिय नहीं बनायेगा ? ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वासुदेवोग्रसेनसंवादे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवादविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३०॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका प्रश्न और व्यासजीका उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कालका स्वरूप बताना

युधिष्ठिर उवाच

आद्यन्तं सर्वभूतानां ज्ञातुमिच्छामि कौरव।
ध्यानं कर्म च कालं च तथैवायुर्युगे युगे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति किससे होती है ? उनका अन्त कहाँ होता है ? परमार्थकी प्राप्तिके लिये किसका ध्यान और किस कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ? कालका क्या स्वरूप है ? तथा भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्योंकी कितनी आयु होती है ? ॥ १ ॥

लोकतत्त्वं च कार्त्स्न्येन भूतानामागतिं गतिम्।
सर्गश्च निधनं चैव कुत एतत् प्रवर्तते ॥ २ ॥

मैं लोकका तत्त्व पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ। प्राणियोंके आवागमन और सृष्टि-प्रलय किससे होते हैं ? ॥ २ ॥

यदि तेऽनुग्रहे बुद्धिरस्मास्विह सतां वर।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह करनेका विचार है तो मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे बताइये ॥ ३ ॥

पूर्वं हि कथितं श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम्।
भरद्वाजस्य विप्रर्षेस्ततो मे बुद्धिरुत्तमा ॥ ४ ॥

पहले ब्रह्मर्षि भरद्वाजके प्रति भृगुजीका जो उत्तम उपदेश हुआ था, उसे आपके मुँहसे सुनकर मुझे उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई थी ॥ ४ ॥

जाता परमधर्मिष्ठा दिव्यसंस्थानसंस्थिता।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मेरी बुद्धि परम धर्मिष्ठ एवं दिव्य स्थितिमें स्थित हो गयी थी; इसीलिये फिर पूछता हूँ। आप इस विषयका वर्णन करनेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
जगौ यद् भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें भगवान् व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर जो उपदेश दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं दुहराऊँगा ॥ ६ ॥

अधीत्य वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदस्तथा।
अन्विच्छन्नैष्ठिकं कर्म धर्मनैपुणदर्शनात् ॥ ७ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं पुत्रो वैयासकिः शुकः।
पप्रच्छ संदेहमिमं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ८ ॥

अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके व्यासपुत्र शुकदेवने नैष्ठिक कर्मको जाननेकी इच्छासे अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी धर्मज्ञानविषयक निपुणता देखकर उनसे अपने मनका संदेह पूछा। उन्हें यह विश्वास था कि पिताजीके उपदेशसे मेरा धर्म और अर्थविषयक सारा संशय दूर हो जायगा ॥ ७-८ ॥

श्रीशुक उवाच

भूतग्रामस्य कर्तारं कालज्ञाने च निश्चयम्।
ब्राह्मणस्य च यत् कृत्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी ! समस्त प्राणिसमुदायको उत्पन्न करनेवाला कौन है ? कालके ज्ञानके विषयमें आपका क्या निश्चय है ? और ब्राह्मणका क्या कर्तव्य है ? ये सब बातें आप बतानेकी कृपा करें ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वं पिता पुत्राय पृच्छते।
अतीतानागते विद्वान् सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले सर्वज्ञ विद्वान् पिता व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर उसे उन सब बातोंका इस प्रकार उपदेश किया ॥ १० ॥

व्यास उवाच

अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! सृष्टिके आरम्भमें अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर-अमर, ध्रुव, अविकारी, अतर्क्य और ज्ञानातीत ब्रह्म ही रहता है ॥ ११ ॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव
त्रिंशत्तु काष्ठा गणयेत् कलां ताम्।
त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो
भागः कलाया दशमश्च यः स्यात् ॥ १२ ॥

(अब कालका विभाग इस प्रकार समझना चाहिये) पंद्रह निमेषकी एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला गिननी चाहिये तीस कलाका एक मुहूर्त होता है। उसके साथ कलाका दसवाँ भाग और सम्मिलित होता है अर्थात् तीस कला और तीन काष्ठाका एक मुहूर्त होता है ॥ १२ ॥

त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च
रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत्
संवत्सरो द्वादशमास उक्तः ॥ १३ ॥

तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है। महर्षियोंने दिन और रात्रिके मुहूर्तोंकी संख्या उतनी ही बतायी है। तीस रात-दिनका एक मास और बारह मासोंका एक संवत्सर बताया गया है ॥ १३ ॥

संवत्सरं द्वे त्वयने वदन्ति
संख्याविदो दक्षिणमुत्तरं च ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष दो अयनोंको मिलाकर एक संवत्सर कहते हैं। वे दो अयन हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकके दिन-रातका विभाग सूर्यदेव करते हैं। रात प्राणियोंके सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
शुक्लोऽहः कर्मचेष्टायां कृष्णः स्वप्नाय शर्वरी ॥ १६ ॥

मनुष्योंके एक मासमें पितरोंका एक दिन-रात होता है। शुक्लपक्ष उनके काम-काज करनेके लिये दिन है और कृष्णपक्ष उनके विश्रामके लिये रात है ॥ १६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम् ॥ १७ ॥

मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रातके बराबर है, उनके दिन-रातका विभाग इस प्रकार है। उत्तरायण उनका दिन है और दक्षिणायन उनकी रात्रि ॥ १७ ॥

ये ते रात्र्यहनी पूर्वे कीर्तिते जीवलौकिके।
तयोः संख्याय वर्षाग्रं ब्राह्मे वक्ष्याम्यहःक्षपे ॥ १८ ॥
पृथक् संवत्सराग्राणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
कृते त्रेतायुगे चैव द्वापरे च कलौ तथा ॥ १९ ॥

पहले मनुष्योंके जो दिन-रात बताये गये हैं, उन्हींकी संख्याके हिसाबसे अब मैं ब्रह्माके दिन-रातका मान बताता हूँ। साथ ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंकी वर्ष-संख्या भी अलग-अलग बता रहा हूँ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ २० ॥

देवताओंके चार हजार वर्षोंका एक सत्ययुग होता है। सत्ययुगमें चार सौ दिव्य वर्षोंकी संध्या होती है और उतने ही वर्षोंका एक संध्यांश भी होता है। (इस प्रकार सत्ययुग अड़तालीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥

इतरेषु ससंध्येषु संध्यांशेषु ततस्त्रिषु।
एकपादेन हीयन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २१ ॥

संध्या और संध्यांशोंसहित अन्य तीन युगोंमें यह (चार हजार आठ सौ वर्षोंकी) संख्या क्रमशः एक-एक चौथाई घटती जाती है* ॥ २१ ॥

एतानि शाश्वताँल्लोकान् धारयन्ति सनातनान्।
एतद् ब्रह्मविदां तात विदितं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २२ ॥

ये चारों युग प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले सनातन लोकोंको धारण करते हैं। तात! यह युगात्मक काल ब्रह्मवेत्ताओंके सनातन ब्रह्मका ही स्वरूप है ॥ २२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चित् परस्तस्य प्रवर्तते ॥ २३ ॥

सत्ययुगमें सत्य और धर्मके चारों चरण मौजूद रहते हैं—उस समय सत्य और धर्मका पूरा-पूरा पालन होता है उस समय कोई भी धर्मशास्त्र अधर्मसे संयुक्त नहीं होता; उसका उत्तम रीतिसे पालन होता है ॥ २३ ॥

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ॥ २४ ॥

अन्य युगोंमें शास्त्रोक्त धर्मका क्रमशः एक-एक चरण क्षीण होता जाता है और चोरी, असत्य तथा छल-कपट आदिके द्वारा अधर्मकी वृद्धि होने लगती है ॥ २४ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ॥ २५ ॥

सत्ययुगके मनुष्य नीरोग होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं तथा वे चार सौ वर्षोंकी आयुवाले होते हैं। त्रेतायुग आनेपर उनकी आयु एक चौथाई घटकर तीन सौ वर्षोंकी रह जाती है। इसी प्रकार द्वापरमें दो सौ और कलियुगमें सौ वर्षोंकी आयु होती है ॥ २५ ॥

वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम्।
आयूंषि चाशिषश्चैव वेदस्यैव च यत्फलम् ॥ २६ ॥

त्रेता आदि युगोंमें वेदोंका स्वाध्याय और मनुष्योंकी आयु घटने लगती है, ऐसा सुना गया है। उनकी कामनाओंकी सिद्धिमें भी बाधा पड़ती है और वेदाध्ययनके फलमें भी न्यूनता आ जाती है ॥ २६ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥

युगोंके ह्रासके अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें मनुष्योंके धर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम्।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ २८ ॥

सत्ययुगमें तपस्याको ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है। त्रेतामें ज्ञानको ही उत्तम बताया गया है। द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें एकमात्र दान ही श्रेष्ठ कहा गया है ॥

एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः।
सहस्रपरिवर्तं तद् ब्राह्मं दिवसमुच्यते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है; यह विद्वानोंकी मान्यता है। एक सहस्र चतुर्युगको ब्रह्माका एक दिन बताया जाता है ॥ २९ ॥

रात्रिमेतावतीं चैव तदादौ विश्वमीश्वरः।
प्रलये ध्यानमाविश्य सुप्त्वा सोऽन्ते विबुद्ध्यते ॥ ३० ॥

* अर्थात् संध्या और संध्यांशोंसहित त्रेतायुग छत्तीस सौ वर्षोंका, द्वापर चौबीस सौ वर्षोंका और कलियुग बारह सौ वर्षोंका होता है।

इतने ही युगोंकी उनकी एक रात्रि भी होती है। भगवान् ब्रह्मा अपने दिनके आरम्भमें संसारकी सृष्टि करते हैं और रातमें जब प्रलयका समय होता है, तब सबको अपनेमें लीन करके योगनिद्राका आश्रय ले सो जाते हैं; फिर प्रलयका अन्त होने अर्थात् रात बीतनेपर वे जाग उठते हैं ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ३१ ॥

एक हजार चतुर्युगका जो ब्रह्माका एक दिन बताया गया है और उतनी ही बड़ी जो उनकी रात्रि कही गयी है, उसको जो लोग ठीक-ठीक जानते हैं, वे ही दिन और रात अर्थात् कालतत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ ३१ ॥

प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः ॥ ३२ ॥

रात्रि समाप्त होनेपर जाग्रत् हुए ब्रह्माजी पहले अपने अक्षय स्वरूपको मायासे विकारयुक्त बनाते हैं फिर महत्तत्त्वको उत्पन्न करते हैं। तत्पश्चात् उससे स्थूल जगत्को धारण करनेवाले मनकी उत्पत्ति होती है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासजीका शुकदेवको सृष्टिके उत्पत्ति-क्रम तथा युगधर्मोंका उपदेश

व्यास उवाच

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं जगत्।
एकस्य ब्रह्मभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तेजोमय ब्रह्म ही सबका बीज है, उसीसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस एक ही ब्रह्मसे स्थावर और जङ्गम दोनोंकी उत्पत्ति होती है ॥

अहर्मुखे विबुद्धः सन् सृजतेऽविद्यया जगत्।
अग्र एव महद्भूतमाशु व्यक्तात्मकं मनः ॥ २ ॥

पहले कह आये हैं, ब्रह्माजी अपने दिनके आरम्भमें जागकर अविद्या (त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके) द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं। सबसे पहले महत्तत्त्व प्रकट होता है। उससे स्थूल सृष्टिका आधारभूत मन उत्पन्न होता है ॥

अभिभूयेह चार्चिष्मद् व्यसृजत् सप्त मानसान्।
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ॥ ३ ॥

उस मनकी दूरतक गति है तथा वह अनेक प्रकारसे गमनागमन करता है। प्रार्थना और संशयवृत्तिशाली वह मन चैतन्यसे संयुक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको अभिभूत करके सात[1] मानस ऋषियोंकी सृष्टि करता है ॥ ३ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥

फिर सृष्टिकी इच्छासे प्रेरित होनेपर मन नाना प्रकारकी सृष्टि करता है। उससे आकाशकी उत्पत्ति होती है। आकाशका गुण 'शब्द' माना गया है ॥ ४ ॥

आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् जब आकाशमें विकार होता है, तब उससे पवित्र और सम्पूर्ण गन्धोंको वहन करनेवाले बलवान् वायुतत्त्वका आविर्भाव होता है। उसका गुण 'स्पर्श' माना गया है ॥ ५ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाज्ज्योतिर्भवति भास्वरम्।
रोचिष्णु जायते शुक्रं तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ६ ॥

फिर वायुमें भी विकार होता है और उससे प्रकाशपूर्ण अग्नि-तत्त्व प्रकट होता है। वह अग्नि-तत्त्व चमचमाता हुआ एवं दीप्तिमान है। उसका गुण 'रूप' बताया जाता है ॥

ज्योतिषोऽपि विकुर्वाणाद् भवन्त्यापो रसात्मिकाः।
अद्भ्यो गन्धवहा भूमिः सर्वेषां सृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

फिर अग्नि-तत्त्वमें विकार आनेपर रसमय जलतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। जलसे गन्धका वहन करनेवाली पृथ्वीका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि बतायी जाती है ॥ ७ ॥

गुणाः सर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्।
तेषां यावद् यथा यच्च तत्तत् तावद्गुणं स्मृतम् ॥ ८ ॥

पीछे प्रकट हुए वायु आदि भूत उत्तरोत्तर अपने पूर्ववर्ती सभी भूतोंके गुण धारण करते हैं। इन सब भूतोंमेंसे जो भूत जितने समयतक जिस प्रकार रहता है, उसके गुण भी उतने ही समयतक रहते हैं ॥ ८ ॥

उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणात्।

---

१. इन सप्तर्षियोंके नाम इस प्रकार हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥

(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।

पृथिव्यामेव तं विद्यादपां वायोश्च संश्रितम् ॥ ९ ॥

यदि कुछ मनुष्य जलमें गन्ध पाकर अयोग्यतावश यह कहने लगें कि यह जलका ही गुण है तो उनका वह कथन मिथ्या होगा; क्योंकि गन्ध वास्तवमें पृथ्वीका गुण है; अतः उसे पृथ्वीमें ही स्थित जानना चाहिये । जल और वायुमें तो वह आगन्तुककी भाँति स्थित होता है ॥ ९ ॥

एते सप्तविधात्मानो नानावीर्याः पृथक् पृथक् ।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ १० ॥

ये नाना प्रकारकी शक्तिवाले महत्तत्त्व, मन (अहंकार) और पञ्चसूक्ष्म महाभूत—सात पदार्थ पृथक्-पृथक् रहकर जबतक सब-के-सब मिल न सकें; तबतक उनमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं आयी ॥ १० ॥

ते समेत्य महात्मानो ह्यन्योन्यमभिसंश्रिताः ।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ ११ ॥

परंतु ये सातों व्यापक पदार्थ ईश्वरकी इच्छा होनेपर जब एक दूसरेसे मिलकर परस्पर सहयोगी हो गये, तब भिन्न-भिन्न शरीरके आकारमें परिणत हुए। उस शरीर-नामक पुरमें निवास करनेके कारण जीवात्मा पुरुष कहलाता है॥

शरीरं श्रयणाद् भवति मूर्तिमत् षोडशात्मकम् ।
तमाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मणा ॥ १२ ॥

पञ्च स्थूल महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन—इन सोलह तत्त्वोंसे शरीरका निर्माण हुआ है। इन सबका आश्रय होनेके कारण ही देहको शरीर कहते हैं । शरीरके उत्पन्न होनेपर उसमें जीवोंके भोगावशिष्ट कर्मोंके साथ सूक्ष्म महाभूत प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वभूतान्युपादाय तपसश्चरणाय हि ।
आदिकर्ता स भूतानां तमेवाहुः प्रजापतिम् ॥ १३ ॥

भूतोंके आदि कर्ता ब्रह्माजी ही तपस्याके लिये समस्त सूक्ष्म भूतोंको साथ लेकर समष्टि शरीरमें प्रवेश करके स्थित होते हैं; इसलिये मुनिजन उन्हें प्रजापति कहते हैं ॥

स वै सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
ततः स सृजति ब्रह्मा देवर्षिपितृमानवान् ॥ १४ ॥
लोकान् नदीः समुद्रांश्च दिशः शैलान् वनस्पतीन् ।
नरकिंनररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मा ही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। वे ही देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, नाना प्रकारके लोक, नदी, समुद्र, दिशा, पर्वत, वनस्पति, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, मृग तथा सर्पोंको भी उत्पन्न करते हैं। अक्षय आकाश आदि और क्षयशील चराचर प्राणियोंकी सृष्टि भी उन्हींके द्वारा हुई है ॥ १४-१५ ॥

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपाद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

पूर्वकल्पकी सृष्टिमें जिन प्राणियोंद्वारा जैसे कर्म किये गये होते हैं, दूसरे कल्पोंमें बारंबार जन्म लेनेपर वे उन पूर्वकृत कर्मोंकी वासनासे प्रभावित होनेके कारण वैसे ही कर्म करने लगते हैं ॥ १६ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ १७ ॥

एक जन्ममें मनुष्य हिंसा-अहिंसा, कोमलता-कठोरता, धर्म-अधर्म और सच-झूठ आदि जिन गुणों या दोषोंको अपनाता है, दूसरे जन्ममें भी उनके संस्कारोंसे प्रभावित होकर उन्हीं गुणोंको वह पसंद करता और वैसे ही कार्योंमें लग जाता है ॥ १७ ॥

महाभूतेषु नानात्वमिन्द्रियार्थेषु मूर्तिषु ।
विनियोगं च भूतानां धातैव विदधात्युत ॥ १८ ॥

आकाश आदि महाभूतोंमें, शब्द आदि विषयोंमें तथा देवता आदिकी आकृतियोंमें जो अनेकता और भिन्नता है तथा प्राणियोंकी जो भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्ति है, इन सबका विधान विधाता ही करते हैं ॥ १८ ॥

केचित् पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १९ ॥

कुछ लोग कर्मोंकी सिद्धिमें पुरुषार्थको ही प्रधान मानते हैं। दूसरे ब्राह्मण दैवको प्रधानता देते हैं और भूत-चिन्तक नास्तिकगण स्वभावको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं ॥ १९ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिः स्वभावतः ।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २० ॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि पुरुषार्थ, दैव और स्वभावसे अनुगृहीत कर्म—इन तीनोंके सहयोगसे फलकी सिद्धि होती है। ये तीनों मिलकर ही कार्यसाधक होते हैं। इनका अलग-अलग होना कार्यकी सिद्धिका हेतु नहीं होता है॥

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च ।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥

कर्मवादी इस विषयमें यह पुरुषार्थ ही कार्यसाधक है, ऐसा नहीं कहते। ऐसा नहीं है, अर्थात् पुरुषार्थ नहीं, दैव कारण है, यह भी नहीं कहते। दोनों मिलकर कार्यसिद्धिके हेतु हैं, यह भी नहीं कहते और दोनों नहीं हैं, यह भी नहीं कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे इस विषयमें कुछ निश्चय नहीं कर पाते हैं; परंतु जो सत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हुए योगी हैं, वे समदर्शी हैं अर्थात् शम (ब्रह्म) को ही कारण मानते हैं ॥ २१ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति॥ २२ ॥

तप ही जीवके कल्याणका मुख्य साधन है। तपका मूल है शम और दम। पुरुष अपने मनसे जिन-जिन कामनाओं-

को पाना चाहता है, उन सबको वह तपस्यासे प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद्भूतं सृजते जगत्।
स तद्भूतश्च सर्वेषां भूतानां भवति प्रभुः ॥ २३ ॥

तपस्यासे वह उस परमात्मसत्ताको भी प्राप्त कर लेता है, जिससे इस जगत्की सृष्टि होती है। तपसे परमात्मस्वरूप होकर मनुष्य समस्त प्राणियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ॥ २३ ॥

ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

तपके ही प्रभावसे महर्षिगण दिन-रात वेदोंका अध्ययन करते थे। तपःशक्तिसे सम्पन्न होकर ही ब्रह्माजीने आदि-अन्तसे रहित वेदमयी वाणीका प्रथम उच्चारण किया ॥२४॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥ २५ ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

ऋषियोंके नाम, वेदोक्त सृष्टिक्रमके अनुसार रचे हुए सब पदार्थोंके नाम, प्राणियोंके अनेकविध रूप तथा उनके कर्मोंका विधान—यह सब कुछ वे ऐश्वर्यशाली प्रजापति सृष्टिके आदिकालमें वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही रचते हैं ॥ २५½ ॥

नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥ २६ ॥
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः।

वेदोंमें ऋषियोंके नाम तो हैं ही, सृष्टिमें उत्पन्न हुए सब पदार्थोंके भी नाम हैं। अजन्मा ब्रह्माजी अपनी रात्रिके अन्तमें अर्थात् नूतन सृष्टिके प्रभातकालमें अपने द्वारा रचे गये सभी पदार्थोंका दूसरोंके लिये नाम-निर्देश करते हैं ॥ २६½ ॥

नामभेदतपःकर्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः ॥ २७ ॥

फिर ब्रह्माजीने ऋग्वेद आदिके नाम, वर्ण और आश्रमके भेद, तप, शम, दम (कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत), कर्म (संध्योपासन आदि नित्य-कर्म) और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ बनाये। ये नाम आदि लौकिक सिद्धियाँ हैं ॥ २७ ॥

आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते दशभिः क्रमैः।
यदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
तदन्तेषु यथायुक्तं क्रमयोगेन लक्ष्यते ॥ २८ ॥

आत्मा (के मोक्ष) की सिद्धि तो वेदोंमें दस[1] उपायोंद्वारा बतायी जाती है। जो गहन (दुर्बोध) ब्रह्म वेदवाक्योंमें वेददर्शी विद्वानोंद्वारा वर्णित हुआ है और वेदान्तवचनोंमें जिसका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है, वह क्रमयोगसे लक्षित होता है ॥ २८ ॥

कर्मजोऽयं पृथग्भावो द्वन्द्वयुक्तोऽपि देहिनः।
तमात्मसिद्धिर्विज्ञानाज्जहाति पुरुषो बलात् ॥ २९ ॥

देहाभिमानी जीवको जो यह पृथक्-पृथक् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका भोग प्राप्त होता है, वह कर्मजनित है। मनुष्य तत्त्वज्ञानके द्वारा उस द्वन्द्वभोगको त्याग देता है तथा ज्ञानके ही बलसे आत्मसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३० ॥

ब्रह्मके दो स्वरूप जानने चाहिये—एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म, जो शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदका पूर्ण विद्वान् है, वह सुगमतासे परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३० ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोंके लिये तप ही यज्ञ है, क्षत्रियोंके लिये हिंसा-प्रधान युद्ध आदि ही यज्ञ हैं, वैश्योंके लिये घृत आदि हविष्यकी आहुति देना ही यज्ञ है और शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही यज्ञ है ॥ ३१ ॥

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

यह यज्ञोंका विधान त्रेतायुगमें ही था, सत्ययुगमें नहीं। द्वापरसे क्रमशः क्षीण होते हुए यज्ञ कलियुगमें लुप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
काम्या इष्टीः पृथग् दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च ॥ ३३ ॥

सत्ययुगमें अद्वैत-धर्ममें निष्ठा रखनेवाले मनुष्य ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा सकाम इष्टियोंको ज्ञानरूप तपस्यासे भिन्न देखकर उन सबको छोड़ केवल ज्ञानरूप तपस्यामें ही संलग्न होते हैं ॥ ३३ ॥

त्रेतायां तु समस्ता ये प्रादुरासन् महाबलाः।
संयन्तारः स्थावराणां जङ्गमानां च सर्वशः ॥ ३४ ॥

त्रेतायुगमें जो महाबली नरेश प्रकट हुए थे, वे सब-के-सब समस्त चराचर प्राणियोंके नियन्ता थे ॥ ३४ ॥

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रश्यन्ते द्वापरे युगे ॥ ३५ ॥

त्रेतायुगमें वेद, यज्ञ और वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थितरूपसे पालित होते थे; परंतु द्वापरयुगमें आयुकी न्यूनता होनेसे लोगोंमें उनके पालनका उत्साह कम हो गया—वे वेद यज्ञ आदिसे च्युत होने लगे ॥ ३५ ॥

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥ ३६ ॥

कलियुग आनेपर तो कहीं वेदोंका दर्शन होता है और कहीं नहीं होता है। उस समय केवल अधर्मसे पीड़ित होकर यज्ञ और वेद लुप्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

---

१. स्वाध्याय, गार्हस्थ्य, संध्यावन्दनादि, कृच्छ्रचान्द्रायणादि, यज्ञ, पूर्तकर्म, योग, दान, गुरुशुश्रूषा और समाधि—ये दस क्रमयोग हैं।

कृते युगे यस्तु धर्मो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते ।
आत्मवत्सु तपोवत्सु श्रुतवत्सु प्रतिष्ठितः ॥ ३७ ॥

सत्ययुगमें जिस चारों चरणोंवाले धर्मकी चर्चा की गयी है, वह अन्य युगोंमें भी मनको वशमें रखनेवाले तपस्वी एवं वेद-वेदान्तोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित देखा जाता है ॥ ३७ ॥

स्वधर्मव्रतसंयोगं यथाधर्मं युगे युगे ।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्था वेदवादा यथागमम् ॥ ३८ ॥

सत्ययुगमें मनुष्य स्वभावके अनुसार यज्ञ, व्रत और तीर्थाटन आदि करते हैं और त्रेता आदि युगमें वेदवादी एवं स्वधर्मनिष्ठ पुरुष शास्त्रके कथनानुसार धर्मके ह्रासके विकारको प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

यथा विश्वानि भूतानि वृष्ट्या भूयांसि प्रावृषि ।
सृज्यन्ते जङ्गमस्थानि तथा धर्मा युगे युगे ॥ ३९ ॥

जैसे वर्षाकालमें जलकी वर्षा होनेसे स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थ वृद्धिको प्राप्त होते हैं और वर्षा बीतनेपर उनका ह्रास होने लगता है, उसी प्रकार प्रत्येक युगमें धर्म और अधर्मकी वृद्धि एवं ह्रास होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त आदि ऋतुओंमें फूल और फल आदि नाना प्रकारके ऋतुचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न ऋतुओंमें उन चिह्नोंका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरमें भी सृष्टि, रक्षा और संहारकी शक्तियाँ कभी न्यून और कभी अधिक दिखायी देती हैं ॥ ४० ॥

विहितं कालनानात्वमनादिनिधनं तथा ।
कीर्तितं तत्पुरस्तात् ते तत्सूते चात्ति च प्रजाः ॥ ४१ ॥

स्वयं ब्रह्माजीने ही सत्ययुग, त्रेता आदिके रूपमें काल-भेदका विधान किया है। वह अनादि और अनन्त है। वह काल ही लोककी सृष्टि और संहार करता है। बेटा ! यह बात मैं तुमसे पहले ही बता चुका हूँ ॥ ४१ ॥

दधाति प्रभवे स्थानं भूतानां संयमो यमः ।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वयुक्तानि भूरिशः ॥ ४२ ॥

काल ही सम्पूर्ण प्राणियोंको संयम और नियममें रखनेवाला है। वही उनकी उत्पत्तिके लिये स्थान धारण करता है। सारे प्राणी स्वभावसे ही द्वन्द्वोंसे युक्त होकर अत्यन्त कष्ट पाते हैं ॥ ४२ ॥

सर्गकालक्रिया वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम् ।
प्रोक्तं ते पुत्र सर्वं वै यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥

बेटा ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हें सृष्टि, काल, क्रिया, वेद, कर्ता, कार्य तथा क्रिया-फल आदि सब विषय बता दिये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलयका वर्णन

व्यास उवाच

प्रत्याहारं तु वक्ष्यामि शर्वर्यादौ गतेऽहनि ।
यथेदं कुरुतेऽध्यात्मं सुसूक्ष्मं विश्वमीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि ब्रह्माजीका दिन बीतनेपर उनकी रात्रि आरम्भ होनेके पहले ही किस प्रकार इस सृष्टिका लय होता है तथा लोकेश्वर ब्रह्माजी स्थूल जगत्‌को अत्यन्त सूक्ष्म करके इसे कैसे अपने भीतर लीन कर लेते हैं ? ॥ १ ॥

दिवि सूर्यस्तथा सप्त दहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेतत् तदार्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते जगत् ॥ २ ॥

जब प्रलयका समय आता है, तब आकाशमें ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निकी सात ज्वालाएँ संसारको भस्म करने लगती हैं। उस समय यह सारा जगत् ज्वालाओंसे व्याप्त होकर जाज्वल्यमान दिखायी देने लगता है ॥ २ ॥

पृथिव्यां यानि भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते भूमित्वमुपयान्ति च ॥ ३ ॥

भूतलके जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सब पहले ही दग्ध होकर पृथ्वीमें एकाकार हो जाते हैं ॥ ३ ॥

ततः प्रलीने सर्वस्मिन् स्थावरे जङ्गमे तथा ।
निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिर्दृश्यते कूर्मपृष्ठवत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण प्राणियोंके लीन हो जानेपर तृण और वृक्षोंसे रहित हुई यह भूमि कछुएकी पीठ-सी दिखायी देने लगती है ॥ ४ ॥

भूमेरपि गुणं गन्धमाप आददते यदा ।
आत्तगन्धा तदा भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् जब जल पृथ्वीके गुण गन्धको ग्रहण कर लेता है, तब गन्धहीन हुई पृथ्वी अपने कारणभूत जलमें लीन हो जाती है ॥ ५ ॥

आपस्तत्र प्रतिष्ठन्ति ऊर्मिमत्यो महास्वनाः ।
सर्वमेवेदमापूर्य तिष्ठन्ति च चरन्ति च ॥ ६ ॥

फिर तो जल गम्भीर शब्द करता हुआ चारों ओर उमड़ पड़ता है और उसमें उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं। वह सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें निमग्न करके लहराता रहता है ॥ ६ ॥

अपामपि गुणं तात ज्योतिराददते यदा।
आपस्तदा त्वात्तगुणा ज्योतिःषूपरमन्ति वै ॥ ७ ॥

वत्स! तदनन्तर तेज जलके गुण रसको ग्रहण कर लेता है और रसहीन जल तेजमें लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

यदाऽऽदित्यं स्थितं मध्ये गूहन्ति शिखिनोऽर्चिषः।
सर्वमेवेदमर्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥ ८ ॥

उस समय जब आगकी लपटें सूर्यको अपने भीतर करके चारों ओरसे ढक लेती हैं, तब सम्पूर्ण आकाश ज्वालाओंसे व्याप्त होकर प्रज्वलित होता-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुराददते यदा।
प्रशाम्यति ततो ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् ॥ ९ ॥

फिर तेजके गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रहण कर लेता है। इससे आग शान्त हो जाती है और वायुमें मिल जाती है। तब वायु अपने महान् वेगसे सम्पूर्ण आकाशको क्षुब्ध कर डालती है ॥ ९ ॥

ततस्तु स्वनमासाद्य वायुः सम्भवमात्मनः।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च दोधवीति दिशो दश ॥ १० ॥

वह बड़े जोरसे हरहराती और अपने वेगसे उत्पन्न आवाजको फैलाती हुई ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दसों दिशाओंमें चलने लगती है ॥ १० ॥

वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते यदा।
प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ ११ ॥

इसके बाद आकाश वायुके गुण स्पर्शको भी ग्रस लेता है। तब वायु शान्त हो जाती और आकाशमें मिल जाती है; फिर तो आकाश महान् शब्दसे युक्त हो अकेला ही रह जाता है ॥ ११ ॥

अरूपमरसस्पर्शमगन्धं न च मूर्तिमत्।
सर्वलोकप्रणदितं खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ १२ ॥

उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका नाम भी नहीं रह जाता। किसी भी मूर्त पदार्थकी सत्ता नहीं रहती। जिसका शब्द सभी लोकोंमें निनादित होता था, वह आकाश ही केवल शब्द गुणसे युक्त होकर शेष रहता है ॥ १२ ॥

आकाशस्य गुणं शब्दमभिव्यक्तात्मकं मनः।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं ब्राह्मः सम्प्रतिसंचरः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् दृश्य प्रपञ्चको व्यक्त करनेवाला मन आकाशके गुण शब्दको, जो मनसे ही प्रकट हुआ था, अपनेमें लीन कर लेता है। इस तरह व्यक्त मन और अव्यक्त (महत्तत्त्व) का ब्रह्माके मनमें लय होना ब्राह्म प्रलय कहलाता है ॥ १३ ॥

तदात्मगुणमाविश्य मनो ग्रसति चन्द्रमाः।
मनस्युपरते चापि चन्द्रमस्युपतिष्ठते ॥ १४ ॥

महाप्रलयके समय चन्द्रमा व्यक्त मनको आत्मगुणमें प्रविष्ट करके स्वयं उसको ग्रस लेते हैं। तब मन उपरत (शान्त) हो जाता है; फिर वह चन्द्रमामें उपस्थित रहता है ॥ १४ ॥

तं तु कालेन महता संकल्पः कुरुते वशे।
चित्तं ग्रसति संकल्पं तच्च ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् संकल्प (अव्यक्त मन) दीर्घकालमें उस व्यक्त-मनसहित चन्द्रमाको अपने वशीभूत कर लेता है और समष्टि बुद्धि संकल्पको ग्रस लेती है। उसी बुद्धिको परम उत्तम ज्ञान माना गया है ॥ १५ ॥

कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः।
बलं कालो ग्रसति तु तं विद्वान् कुरुते वशे ॥ १६ ॥

सुननेमें आया है कि काल ज्ञान (समष्टि बुद्धि) को ग्रस लेता है; शक्ति उस कालको अपने अधीन कर लेती है; फिर महाकाल-शक्तिको और परब्रह्म महाकालको अपने अधीन कर लेता है ॥ १६ ॥

आकाशस्य यथा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि।
तदव्यक्तं परं ब्रह्म तच्छाश्वतमनुत्तमम्।
एवं सर्वाणि भूतानि ब्रह्मैव प्रतिसंचरः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार आकाश अपने गुण शब्दको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म महाकालको अपनेमें विलीन कर लेता है। वह परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त, सनातन और सर्वोत्तम है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंका लय होता है और सबके लयका अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १७ ॥

यथावत् कीर्तितं सम्यगेवमेतदसंशयम्।
बोध्यं विद्यामयं दृष्ट्वा योगिभिः परमात्मभिः ॥ १८ ॥

इस प्रकार परमात्मस्वरूप योगियोंने इस ज्ञानमय बोध्य-तत्त्वका साक्षात्कार करके इसका यथार्थरूपसे वर्णन किया है, यह उत्तम ज्ञान निःसंदेह ऐसा ही है ॥ १८ ॥

एवं विस्तारसंक्षेपौ ब्रह्माव्यक्ते पुनः पुनः।
युगसाहस्रयोरादावहोरात्रस्तथैव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार बारंबार अव्यक्त परब्रह्ममें सृष्टिका विस्तार और लय होता है। ब्रह्माजीका दिन एक हजार चतुर्युगका होता है और उनकी रात भी उतनी ही बड़ी होती है; यह बात पहले ही बता दी गयी है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंका कर्तव्य और उन्हें दान देनेकी महिमाका वर्णन

व्यास उवाच

भूतग्रामे नियुक्तं यत् तदेतत् कीर्तितं मया।
ब्राह्मणस्य तु यत् कृत्यं तत् ते वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तुमने भूतसमुदायके

विषयमें जो प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें मैंने यह सब बताया है। अब मैं तुम्हें ब्राह्मणका जो कर्तव्य है, वह बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

जातकर्मप्रभृत्यस्य कर्मणां दक्षिणावताम्।
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे ॥ २ ॥

ब्राह्मण-बालकके जातकर्मसे लेकर समावर्तनतक समस्त संस्कार वेदोंके पारङ्गत विद्वान् आचार्यके निकट रहकर सम्पन्न होने चाहिये और उनमें समुचित दक्षिणा देनी चाहिये॥

अधीत्य वेदानखिलान् गुरुशुश्रूषणे रतः।
गुरूणामनृणो भूत्वा समावर्तेत यज्ञवित् ॥ ३ ॥

उपनयनके पश्चात् ब्राह्मण-बालक गुरुशुश्रूषामें तत्पर हो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे। तत्पश्चात् पर्याप्त गुरु-दक्षिणा दे। गुरु-ऋणसे उऋण हो वह यज्ञवेत्ता बालक समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घर लौटे ॥ ३ ॥

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽवतिष्ठेद् यथाविधि ॥ ४ ॥

तदनन्तर आचार्यकी आज्ञा लेकर चारों आश्रमोंमेंसे किसी एक आश्रममें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जीवनपर्यन्त रहे (अथवा क्रमशः सभी आश्रमोंमें प्रवेश करे) ॥ ४ ॥

प्रजासर्गेण दारैश्च ब्रह्मचर्येण वा पुनः।
वने गुरुसकाशे वा यतिधर्मेण वा पुनः ॥ ५ ॥

उसकी इच्छा हो तो स्त्री-परिग्रह करके गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए संतान उत्पन्न करे अथवा आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे या वनमें रहकर वानप्रस्थ-धर्मका आचरण करे अथवा गुरुके समीप रहे या सन्यास-धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करे ॥ ५ ॥

गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥ ६ ॥

यह गृहस्थ-आश्रम सब धर्मोंका मूल कहा जाता है। इसमें रहकर अन्तःकरणके रागादि दोष पक जानेपर जितेन्द्रिय पुरुषको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

प्रजावाञ्श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः।
अथान्यानाश्रमान् पश्चात् पूतो गच्छेत कर्मभिः॥ ७ ॥

गृहस्थ पुरुष संतान उत्पन्न करके पितृ-ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषि-ऋणसे और यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे छुटकारा पाता है। इस प्रकार तीनों ऋणोंसे मुक्त हो विहित कर्मोंका सम्पादन करके पवित्र बने। तत्पश्चात् दूसरे आश्रमोंमें प्रवेश करे ॥ ७ ॥

यत् पृथिव्यां पुण्यतमं विद्यात् स्थानं तदावसेत्।
यतेत तस्मिन् प्रामाण्यं गन्तुं यशसि चोत्तमे ॥ ८ ॥

इस पृथ्वीपर जो स्थान पवित्र एवं उत्तम जान पड़े, वहीं निवास करे। उसी स्थानमें रहकर वह उत्तम यशके विषयमें अपनेको आदर्श पुरुष बनानेका प्रयत्न करे ॥ ८ ॥

तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा।
इज्यया वा प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः ॥ ९ ॥
यावदस्य भवत्यस्मिन् कीर्तिर्लोके यशस्करी।
तावत् पुण्यकृतां लोकाननन्तान् पुरुषोऽश्नुते ॥ १० ॥

महान् तप, पूर्ण विद्याध्ययन, यज्ञ अथवा दान करनेसे ब्राह्मणोंका यश बढ़ता है। जबतक इस जगत्‌में यशको बढ़ानेवाली उसकी कीर्ति बनी रहती है, तबतक वह पुण्यवानोंके अक्षय लोकोंमें निवास करके दिव्य सुख भोगता रहता है॥

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन ॥ ११ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंका आश्रय लेना चाहिये; परंतु उसे किसी तरह न तो अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये, न व्यर्थ दान ही देना चाहिये ॥ ११ ॥

याज्यतः शिष्यतो वापि कन्याया वा धनं महत्।
यदाऽऽगच्छेद् यजेद् दद्यान्नैकोऽश्नीयात् कथंचन ॥

यजमानसे, शिष्यसे अथवा कन्या-शुल्कसे जब महान् धन प्राप्त हो, तब उसके द्वारा यज्ञ करे, दान दे, अकेला किसी तरह उस धनका उपभोग न करे ॥ १२ ॥

गृहमावसतो ह्यस्य नान्यत् तीर्थं प्रतिग्रहात्।
देवर्षिपितृगुर्वर्थं वृद्धातुरबुभुक्षताम् ॥ १३ ॥

देवता, ऋषि, पितर, गुरु, वृद्ध, रोगी और भूखे मनुष्योंको भोजन देनेके लिये गृहस्थ ब्राह्मणको प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये। प्रतिग्रहके सिवा ब्राह्मणके लिये धन-संग्रहका दूसरा कोई पवित्र मार्ग नहीं है ॥ १३ ॥

अन्तर्हिताधितप्तानां यथाशक्ति बुभूषताम्।
देवानामतिशक्त्यापि देयमेषां कृतादपि ॥ १४ ॥
अर्हतामनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन।
उच्चैःश्रवसमप्यश्वं प्रापणीयं सतां विदुः ॥ १५ ॥

जो दारिद्र्यग्रस्त होनेके कारण लज्जासे छिपे-छिपे फिरते हैं तथा अत्यन्त संतप्त हैं, अथवा जो यथाशक्ति अपनी पारमार्थिक उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं, ऐसे भूदेवोंको उपार्जित धनमेंसे यथाशक्ति देना चाहिये। योग्य एवं पूजनीय ब्राह्मणोंके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। वैसे सत्पात्रोंके लिये तो उच्चैःश्रवा घोड़ा भी दिया जा सकता है, यह श्रेष्ठ पुरुषोंका मत है ॥ १४-१५ ॥

अनुनीय यथाकामं सत्यसंधो महाव्रतः।
स्वैः प्राणैर्ब्राह्मणप्राणान् परित्राय दिवं गतः ॥ १६ ॥

महान् व्रतधारी राजा सत्यसंधने इच्छानुसार अनुनय-विनय करके अपने प्राणोंद्वारा एक ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षा की थी, ऐसा करके वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १६ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अपः प्रदाय शीतोष्णा नाकपृष्ठे महीयते ॥ १७ ॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठको शीतोष्ण जल प्रदान किया था, जिससे वे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हैं॥

आत्रेयश्चेन्द्रदमनो ह्यर्हते विविधं धनम् ।
दत्त्वा लोकान् ययौ धीमाननन्तान् स महीपतिः ॥ १८ ॥

अत्रिवंशज बुद्धिमान् राजा इन्द्रदमनने एक योग्य ब्राह्मणको नाना प्रकारके धनका दान करके अक्षय लोक प्राप्त किये थे ॥

शिबिरौशीनरोऽङ्गानि सुतं च प्रियमौरसम् ।
ब्राह्मणार्थमुपाहृत्य नाकपृष्ठमितो गतः ॥ १९ ॥

उशीनरके पुत्र राजा शिबिने किसी ब्राह्मणके लिये अपने शरीर और प्रिय औरस पुत्रका दान कर दिया था, जिससे वे यहाँसे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १९ ॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय नयने स्वके ।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ २० ॥

काशिराज प्रतर्दनने किसी ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र प्रदान करके इस लोकमें अनुपम कीर्ति प्राप्त की और परलोकमें वे उत्तम सुख भोगते हैं ॥ २० ॥

दिव्यमष्टशलाकं तु सौवर्णं परमर्द्धिमत् ।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २१ ॥

राजा देवावृधने आठ शलाकाओं (ताड़ियों) से युक्त सोनेका बना हुआ बहुमूल्य छत्र दान करके अपने देशकी प्रजाके साथ स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सांकृतिश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम् ।
उपदिश्य महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २२ ॥

अत्रिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी सांकृति अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥

अम्बरीषो गवां दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रतापवान् ।
अर्बुदानि दशैकं च सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २३ ॥

प्रतापी राजा अम्बरीषने ब्राह्मणोंको ग्यारह अर्बुद (एक अरब दस करोड़) गौएँ दानमें देकर देशवासियों-सहित स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २३ ॥

सावित्री कुण्डले दिव्ये शरीरं जनमेजयः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य जग्मतुर्लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

सावित्रीने दो दिव्य कुण्डल दान किये थे और राजा जनमेजयने ब्राह्मणके लिये अपने शरीरका परित्याग किया था । इससे वे दोनों उत्तम लोकमें गये ॥ २४ ॥

सर्वरत्नं वृषादर्भिर्युवनाश्वः प्रियाः स्त्रियः ।
रम्यमावसथं चैव दत्त्वा स्वर्लोकमास्थितः ॥ २५ ॥

वृषदर्भके पुत्र युवनाश्व सब प्रकारके रत्न, अभीष्ट स्त्रियाँ तथा सुरम्य गृह दान करके स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥

निमी राष्ट्रं च वैदेहो जामदग्न्यो वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ चापि गयश्चोर्वीं सपत्तनाम् ॥ २६ ॥

विदेहराज निमिने अपना राज्य और जमदग्निनन्दन परशुराम तथा राजा गयने नगरोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणको दानमें दे दी थी ॥ २६ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत् ।
वसिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २७ ॥

एक बार पानी न बरसनेपर महर्षि वसिष्ठने प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले दूसरे प्रजापतिके समान सम्पूर्ण प्रजाको जीवन-दान दिया था ॥ २७ ॥

करन्धमस्य पुत्रस्तु कृतात्मा मरुतस्तथा ।
कन्यामङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम ह ॥ २८ ॥

करन्धमके पुण्यात्मा पुत्र राजा मरुत्तने महर्षि अङ्गिराको कन्यादान करके तत्काल स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया था ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा बुद्धिमतां वरः ।
निधिं शङ्खं द्विजाग्र्येभ्यो दत्त्वा लोकानवाप्तवान् ॥ २९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्तने उत्तम ब्राह्मणोंको शङ्खनिधि देकर पुण्यलोक प्राप्त किये थे ॥ २९ ॥

राजा मित्रसहश्चापि वसिष्ठाय महात्मने ।
मदयन्तीं प्रियां दत्त्वा तया सह दिवं गतः ॥ ३० ॥

राजा मित्रसहने महात्मा वसिष्ठको अपनी प्यारी रानी मदयन्ती देकर उसके साथ ही स्वर्गलोकमें पदार्पण किया था ॥

सहस्रजिच्च राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३१ ॥

महायशस्वी राजर्षि सहस्रजित् ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके परम उत्तम लोकोंमें गये ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम् ।
मुद्गलाय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ ३२ ॥

महाराज शतद्युम्न मुद्गल ब्राह्मणको समस्त भोगोंसे सम्पन्न सुवर्णमय भवन देकर स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ३२ ॥

नाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजः प्रतापवान् ।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३३ ॥

प्रतापी शाल्वराज द्युतिमान्ने ऋचीकको राज्य देकर परम उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३३ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः ।
ऋष्यश्रृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥ ३४ ॥

शक्तिशाली राजर्षि लोमपाद अपनी पुत्री शान्ताका ऋष्यश्रृङ्गमुनिको दान करके सब प्रकारके प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न हो गये ॥ ३४ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम् ।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरभिष्टुतान् ॥ ३५ ॥

राजर्षि मदिराश्व हिरण्यहस्तको अपनी सुन्दरी कन्या देकर देववन्दित लोकोंमें गये थे ॥ ३५ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा प्रसेनजित् ।
सवत्सानां महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी राजा प्रसेनजित्ने एक लाख सवत्सा गौओं-का दान करके उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३६ ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसैव च ।
महात्मानो गताः स्वर्गं शिष्टात्मानो जितेन्द्रियाः॥ ३७ ॥

ये तथा और भी बहुतसे शिष्ट स्वभाववाले जितेन्द्रिय

महात्मा दान और तपस्यासे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी ।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन् ॥ ३८ ॥

जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक उनकी कीर्ति संसारमें स्थिर रहेगी । उन सबने दान, यज्ञ और प्रजा-सृष्टिके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकानुप्रश्नविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३४॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणके कर्तव्यका प्रतिपादन करते हुए कालरूप नदको पार करनेका उपाय बतलाना

व्यास उवाच

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥
तिष्ठत्येतेषु भगवान् षट्सु कर्मसु संस्थितः ।

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! ब्राह्मणको चाहिये कि वेदोंमें बतायी गयी त्रयी विद्या—'अ उ म्' इन तीन अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रणवविद्याका चिन्तन एवं विचार करे । वेदके छहों अङ्गोंसहित ऋक्, साम, यजुष् एवं अथर्वके मन्त्रोंका स्वर-व्यञ्जनके सहित अध्ययन करे; क्योंकि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें विराजमान भगवान् धर्म ही इन वेदोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥

वेदवादेषु कुशला ह्यध्यात्मकुशलाश्च ये ॥ २ ॥
सत्त्ववन्तो महाभागाः पश्यन्ति प्रभवाप्ययौ ।
एवं धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ॥ ३ ॥

जो लोग वेदोंके प्रवचनमें निपुण, अध्यात्मज्ञानमें कुशल, सत्त्वगुणसम्पन्न और महान् भाग्यशाली हैं, वे जगत्‌की सृष्टि और प्रलयको ठीक-ठीक जानते हैं; अतः ब्राह्मणको इस प्रकार धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए शिष्ट पुरुषोंकी भाँति सदाचारका पालन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः ।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण किसी भी जीवको कष्ट न देकर—उसकी जीविकाका हनन न करके अपनी जीविका चलानेकी इच्छा करे । संतोंकी सेवामें रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे, सत्पुरुष बने और शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशल हो ॥ ४ ॥

स्वधर्मेण क्रिया लोके कुर्वाणः सत्यसंगरः ।
तिष्ठते तेषु गृहवान् षट्सु कर्मसु स द्विजः ॥ ५ ॥

जगत्‌में अपने धर्मके अनुकूल कर्म करे, सत्यप्रतिज्ञ बने । गृहस्थ ब्राह्मणको पूर्वोक्त छः कर्मोंमें ही स्थित रहना चाहिये ॥

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च ।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥ ६ ॥

सदा श्रद्धापूर्वक पञ्च-महायज्ञोंद्वारा परमात्माका पूजन करे, सर्वदा धैर्य धारण करे । प्रमाद (अकर्तव्य कर्मको करने और कर्तव्य कर्मकी अवहेलना करने) से बचे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे, धर्मका ज्ञाता बने और मनको भी अपने अधीन रक्खे ॥ ६ ॥

वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ॥ ७ ॥
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ।

जो ब्राह्मण हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, उसे कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता है । दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और इन्द्रियसंयम—इन सद्गुणोंसे ब्राह्मण अपने तेजकी वृद्धि और पापका नाश करता है ॥ ७½ ॥

धूतपाप्मा च मेधावी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ।

इस प्रकार पाप धुल जानेपर बुद्धिमान् ब्राह्मण स्वल्पाहार करते हुए इन्द्रियोंको जीते और काम तथा क्रोधको अधीन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ८½ ॥

अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ९ ॥
वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसां चाधर्मसंहिताम् ।
एषा पूर्वगता वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १० ॥

अग्नि, ब्राह्मण और देवताओंको प्रणाम एवं उनका पूजन करे । कड़वी बात मुँहसे न निकाले और हिंसा न करे; क्योंकि वह अधर्मसे युक्त है । यह ब्राह्मणके लिये परम्परागत वृत्ति (कर्तव्य) का विधान किया गया है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानागमेन कर्माणि कुर्वन् कर्मसु सिध्यति ।
पञ्चेन्द्रियजलां घोरां लोभकूलां सुदुस्तराम् ॥ ११ ॥
मन्युपङ्कामनाधृष्यां नदीं तरति बुद्धिमान् ।
कालमभ्युद्यतं पश्येन्नित्यमत्यन्तमोहनम् ॥ १२ ॥

कर्मोंके तत्त्वको जानकर उनका अनुष्ठान करनेसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है । संसारका जीवन एक भयंकर नदीके समान है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इस नदीका जल हैं । लोभ किनारा है । क्रोध इसके भीतर कीचड़ है । इसे पार करना अत्यन्त कठिन है और इसके वेगको दबाना अत्यन्त असम्भव है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष इसे पार कर जाता है । प्राणियोंको अत्यन्त मोहमें डालनेवाला काल सदा आक्रमण करनेके लिये उद्यत है, इस बातकी ओर सदा ही दृष्टि रखे ॥ ११-१२ ॥

महता विधिदृष्टेन बलेनाप्रतिघातिना ।
स्वभावस्रोतसा वृत्तमुह्यते सततं जगत् ॥ १३ ॥

जो महान् है, जो विधाताकी ही दृष्टिमें आ सकता है तथा जिसका बल कहीं प्रतिहत नहीं होता, उस स्वभावरूप

धारा-प्रवाहमें यह सारा जगत् निरन्तर बहता जा रहा है ॥

कालोदकेन महता वर्षावर्तेन संततम् ।
मासोर्मिणर्तुवेगेन पक्षोलपतृणेन च ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषफेनेन अहोरात्रजलेन च ।
कामग्राहेण घोरेण वेदयज्ञप्लवेन च ॥ १५ ॥
धर्मद्वीपेन भूतानां चार्थकामजलेन च ।
ऋतवाङ्मोक्षतीरेण विहिंसातरुवाहिना ॥ १६ ॥
युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च ।
धात्रा सृष्टानि भूतानि कृष्यन्ते यमसादनम् ॥ १७ ॥

कालरूपी महान् नद बह रहा है। इसमें वर्षरूपी भँवरें सदा उठ रही हैं। महीने इसकी उत्ताल तरंगें हैं। ऋतु बेग हैं। पक्ष लता और तृण हैं। निमेष और उन्मेष फेन हैं। दिन और रात जल-प्रवाह हैं। कामदेव भयंकर ग्राह है। वेद और यज्ञ नौका हैं। धर्म प्राणियोंका आश्रयभूत द्वीप है। अर्थ और काम जल हैं। सत्यभाषण और मोक्ष दोनों किनारे हैं। हिंसारूपी वृक्ष उस कालरूपी प्रवाहमें बह रहे हैं। युग ह्रद है तथा ब्रह्म ही उस कालनदको उत्पन्न करनेवाला पर्वत है। उसी प्रवाहमें पड़कर विधाताके रचे हुए समस्त प्राणी यमलोककी ओर खिंचे चले जा रहे हैं ॥ १४—१७ ॥

एतत् प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः ।
प्लवैरप्लववन्तो हि किं करिष्यन्त्यचेतसः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् और धीर मनुष्य प्रज्ञारूप नौकाओंद्वारा उस कालनदके पार हो जाते हैं। जो वैसी नौकाओंसे रहित हैं, वे अविवेकी मनुष्य क्या करेंगे ? ॥ १८ ॥

उपपन्नं हि यत् प्राज्ञो निस्तरेन्नेतरो जनः ।
दूरतो गुणदोषौ हि प्राज्ञः सर्वत्र पश्यति ॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुष जो कालनदसे पार हो जाता है और अज्ञानी मनुष्य नहीं पार होता है, यह युक्तिसङ्गत ही है; क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष सर्वत्र गुण और दोषोंको दूरसे ही देख लेता है ॥ १९ ॥

संशयं स तु कामात्मा चलचित्तोऽल्पचेतनः ।
अप्राज्ञो न तरत्येनं यो ह्यास्ते न स गच्छति ॥ २० ॥

कामनाओंमें आसक्त, चञ्चलचित्त, मन्दबुद्धि एवं अज्ञानी पुरुष संदेहमें पड़ जानेके कारण कालनदको पार नहीं कर पाता तथा जो निश्चेष्ट होकर बैठ जाता है, वह भी उसके पार नहीं जा सकता ॥ २० ॥

अप्लवो हि महादोषं मुह्यमानो नियच्छति ।
कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ॥ २१ ॥

जिसके पास ज्ञानमयी नौका नहीं है, वह मोहितचित्त मूढ़ मानव महान् दोषको प्राप्त होता है। कामरूपी ग्राहसे पीड़ित होनेके कारण ज्ञान भी उसके लिये नौका नहीं बन पाता ॥ २१ ॥

तस्मादुन्मज्जनस्यार्थे प्रयतेत विचक्षणः ।
एतदुन्मज्जनं तस्य यदयं ब्राह्मणो भवेत् ॥ २२ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको कालनद या भवसागरसे पार होनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। उसका पार होना यही है कि वह वास्तवमें ब्राह्मण बन जाय अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे ॥ २२ ॥

अवदातेषु संजातस्त्रिसंदेहस्त्रिकर्मकृत् ।
तस्मादुन्मज्जने तिष्ठेत् प्रज्ञया निस्तरेद् यथा ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—इन तीन कर्मोंको संदेहकी दृष्टिसे देखे (कि कहीं इनमें आसक्त न हो जाऊँ) और अध्ययन, यजन तथा दान—इन तीन कर्मोंका अवश्य पालन करे। वह जैसे भी हो प्रज्ञाद्वारा अपने उद्धारका प्रयत्न करे, उस कालनदसे पार हो जाय ॥ २३ ॥

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च ॥ २४ ॥

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती ॥ २४ ॥

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः ।
पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥ २५ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण क्रोध और दोषदृष्टिका त्याग करके पूर्वोक्त नियमोंके पालनमें संलग्न रहे। नित्य पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे और यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करे ॥ २५ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंरोधेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेदगर्हिताम् ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मके अनुसार चले और शिष्टाचारका पालन करे तथा ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे, जिससे दूसरे लोगोंकी जीविकाका हनन न हो और जिसकी लोकमें निन्दा न होती हो ॥ २६ ॥

श्रुतिविज्ञानतत्त्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः ।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यसंकरः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणको वेदका विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, सदाचारी और चतुर होना चाहिये। वह अपने धर्मके अनुसार कार्य करे, परंतु कर्मद्वारा संकरता न फैलावे अर्थात् स्वधर्म और पर-धर्मका सम्मिश्रण न करे ॥ २७ ॥

क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥ २८ ॥

जो अपने धर्मके अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, विद्वान्, किसीके दोष न देखनेवाला तथा धर्म और अधर्मका विशेषज्ञ है, वह सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ २८ ॥

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ २९ ॥

जो धैर्यवान्, प्रमादशून्य, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी

तथा हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषादको नहीं प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एषा पुरातनी वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
ज्ञानवत्त्वेन कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ ३० ॥

यह ब्राह्मणकी प्राचीनकालसे चली आनेवाली वृत्तिका विधान किया गया है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले ब्राह्मणको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अधर्मे धर्मकामो हि करोति ह्यविचक्षणः ।
धर्मं वाधर्मसंकाशं शोचन्निव करोति सः ॥ ३१ ॥

धर्मं करोमीति करोत्यधर्म-
मधर्मकामश्च करोति धर्मम् ।
उभे बालः कर्मणी न प्रजानन्
स जायते म्रियते चापि देही ॥ ३२ ॥

जो मूढ़ है, वह धर्मकी इच्छा रखकर भी अधर्म करता है अथवा शोकमग्न-सा होकर अधर्मतुल्य धर्मका सम्पादन करता है। मूर्ख या अविवेकी मनुष्य न जाननेके कारण 'मैं धर्म कर रहा हूँ' ऐसा समझकर अधर्म करता है और अधर्मकी इच्छा रखकर धर्म करता है, इस प्रकार अज्ञानपूर्वक दोनों तरहके कर्म करनेवाला देहधारी मनुष्य बारंबार जन्म लेता और मरता है ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ध्यानके सहायक योग, उनके फल और सात प्रकारकी धारणाओंका वर्णन तथा सांख्य एवं योगके अनुसार ज्ञानद्वारा मोक्षकी प्राप्ति

व्यास उवाच

अथ चेद् रोचयेदेतदुह्येत स्रोतसा यथा ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानवान् प्लववान् भवेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! मनुष्य जिस प्रकार डूबता-उतराता हुआ जलके प्रवाहमें बहता रहता है और यदि संयोगवश कोई नौका मिल गयी तो उसकी सहायतासे पार लग जाता है, उसी प्रकार संसार-सागरमें डूबता-उतराता हुआ मानव यदि इस संकटसे मुक्त होना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेना चाहिये ॥ १ ॥

प्रज्ञया निश्चिता धीरास्तारयन्त्यबुधान् प्लवैः ।
नाबुधास्तारयन्त्यन्यानात्मानं वा कथंचन ॥ २ ॥

जिन्हें बुद्धिद्वारा तत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया है, वे धीर पुरुष अपनी ज्ञाननौकाद्वारा दूसरे अज्ञानियोंको भी भवसागरसे पार कर देते हैं, परंतु जो अज्ञानी हैं वे न तो दूसरोंको तार सकते है और न अपना ही किसी प्रकार उद्धार कर पाते हैं ॥ २ ॥

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश ।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥ ३ ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च ।

समाहितचित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके राग आदि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंका आश्रय ले ध्यानयोगका अभ्यास करे* ॥ ३½ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या य इच्छेज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः ।

जो उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे बुद्धिके द्वारा मन और वाणीको जीतना चाहिये तथा जो अपने लिये शान्ति चाहे, उसे ज्ञानद्वारा बुद्धिको परमात्मामें नियन्त्रित करना चाहिये ॥ ४½ ॥

एतेषां चेदनुद्रष्टा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ ५ ॥
यदि वा सर्ववेदज्ञो यदि वाप्यनृचो द्विजः ।
यदि वा धार्मिको यज्वा यदि वा पापकृत्तमः ॥ ६ ॥

* ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है । ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं । आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये । यही कर्मनामक योग है । परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है । संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं । गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है । चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है । शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग । विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये ।

यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लेशधारितः।
तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम् ॥ ७ ॥

मनुष्य अत्यन्त दारुण हो या सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता हो अथवा ब्राह्मण होकर भी वैदिकज्ञानसे शून्य हो अथवा धर्मपरायण एवं यज्ञशील हो या घोर पापाचारी हो अथवा पुरुषोंमें सिंहके समान शूरवीर हो या बड़े कष्टसे जीवन धारण करता हो, वह यदि इन बारह योगोंका भलीभाँति साक्षात्कार अर्थात् ज्ञान कर ले तो जरा-मृत्युके परम दुर्गम समुद्रसे पार हो जाता है ॥ ५—७ ॥

एवं ह्येतेन योगेन युञ्जानो ह्येवमन्ततः।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार सिद्धिपर्यन्त इस योगका अभ्यास करनेवाला पुरुष यदि ब्रह्मका जिज्ञासु हो तो वेदोक्त सकाम कर्मोंकी सीमाको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

धर्मोपस्थो ह्रीवरूथ उपायापायकूबरः।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः ॥ ९ ॥
चेतनाबन्धुरश्चारुश्चाचारग्रहनेमिमान् ।
दर्शनस्पर्शनवहो घ्राणश्रवणवाहनः ॥ १० ॥
प्रज्ञानाभिः सर्वतन्त्रप्रतोदो ज्ञानसारथिः।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितो धीरः श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ११ ॥
त्यागसूक्ष्मानुगः क्षेम्यः शौचगो ध्यानगोचरः।
जीवयुक्तो रथो दिव्यो ब्रह्मलोके विराजते ॥ १२ ॥

यह योग एक सुन्दर रथ है । धर्म ही इसका पिछला भाग या बैठक है। लज्जा आवरण है। पूर्वोक्त उपाय और अपाय इसका कूबर है। अपानवायु धुरा है। प्राणवायु जूआ है। बुद्धि आयु है। जीवन बन्धन है । चैतन्य बन्धुर है । सदाचार-ग्रहण इस रथकी नेमि हैं। नेत्र, त्वचा, घ्राण और श्रवण इसके वाहन हैं। प्रज्ञा नाभि है। सम्पूर्ण शास्त्र चाबुक है। ज्ञान सारथि है। क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इसपर रथी बनकर बैठा हुआ है। यह रथ धीरे-धीरे चलनेवाला है। श्रद्धा और इन्द्रियदमन इस रथके आगे-आगे चलनेवाले रक्षक हैं। त्यागरूपी सूक्ष्म गुण इसके अनुगामी (पृष्ठ-रक्षक) हैं। यह मङ्गलमय रथ ध्यानके पवित्र मार्गपर चलता है। इस प्रकार यह जीवयुक्त दिव्य रथ ब्रह्मलोकमें विराजमान होता है अर्थात् इसके द्वारा जीवात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ९—१२ ॥

अथ संत्वरमाणस्य रथमेवं युयुक्षतः।
अक्षरं गन्तुमनसो विधिं वक्ष्यामि शीघ्रगम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार योगरथपर आरूढ़ हो साधनकी इच्छा रखनेवाले तथा अविनाशी परब्रह्म परमात्माको तत्काल प्राप्त करनेकी कामनावाले साधकको जिस उपायसे शीघ्र सफलता मिलती है, वह उपाय मैं बता रहा हूँ ॥ १३ ॥

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ १४ ॥

साधक वाणीका संयम करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बुद्धि और अहंकारसम्बन्धी सात धारणाओंको सिद्ध करता है। इनके विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंवृत्ति और निश्चय) से सम्बन्धित सात प्रधारणाएँ इनकी पार्श्ववर्तिनी एवं पृष्ठवर्तिनी हैं ॥ १४ ॥

क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं तथा पयः।
ज्योतिषो यत् तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

साधक क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धिके ऐश्वर्यपर अधिकार कर लेता है। इसके बाद वह क्रमपूर्वक अव्यक्त ब्रह्मका ऐश्वर्य भी प्राप्त कर लेता है* ॥

विक्रमाश्चापि यस्यैते तथा युक्तेषु योगतः।
तथा योगस्य युक्तस्य सिद्धिमात्मनि पश्यतः ॥ १६ ॥

अब योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुए योगियोंमेंसे जिस योगीको ये आगे बताये जानेवाले पृथ्वीजय आदि ऐश्वर्य जिस प्रकार प्राप्त होते हैं; वह बताता हूँ तथा धारणापूर्वक ध्यान करते समय ब्रह्म-प्राप्तिका अनुभव करनेवाले योगीको जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद् रूपाणीमानि पश्यतः।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नभः ॥ १७ ॥

साधक जब स्थूल देहके अभिमानसे मुक्त होकर ध्यानमें स्थित होता है, उस समय सूक्ष्मदृष्टिसे युक्त होनेके कारण उसे कुछ इस तरहके रूप (चिह्न) दिखायी पड़ते हैं। प्रारम्भमें पृथ्वीकी धारणा करते समय मालूम होता है कि शिशिरकालीन कुहरेके समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर रही है ॥ १७ ॥

तथा देहाद् विमुक्तस्य पूर्वं रूपं भवत्युत।
अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार देहाभिमानसे मुक्त हुए योगीके अनुभवका यह पहला रूप है। जब कुहरा निवृत्त हो जाता है, तब दूसरे रूपका दर्शन होता है ॥ १८ ॥

---

* पातञ्जलयोग-दर्शनमें 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् एकदेशमें चित्तको एकाग्र करना धारणा बतलाया गया है। साधक सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्वमें चित्तको लगावे। इस धारणासे उसका पृथ्वीतत्त्वपर अधिकार हो जाता है । फिर पृथ्वीतत्त्वको जलतत्त्वमें विलीन करके जलतत्त्वकी धारणा करे। इससे साधक जलतत्त्वका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। फिर जल-तत्त्वको अग्नितत्त्वमें विलीन करके अग्नितत्त्वकी धारणा करे। इससे अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जाता है। तदनन्तर अग्निको वायुमें विलीन करके चित्तको वायुतत्त्वमें एकाग्र करे। इससे साधक वायुतत्त्वपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। इसीप्रकार क्रमशः वायुको आकाशमें और आकाशको मनमें और मनको बुद्धिमें लय करके उस-उस तत्त्वकी धारणा करे। इस प्रकार धारणाके ये सात स्तर हैं। अन्तमें बुद्धिको अव्यक्त ब्रह्ममें विलीन कर देना चाहिये।

जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यति।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते ॥ १९ ॥

वह सम्पूर्ण आकाशमें जल-ही-जल-सा देखता है तथा आत्माको भी जलरूप अनुभव करता है (यह अनुभव जल-तत्त्वकी धारणा करते समय होता है)। फिर जलका लय हो जानेपर अग्नितत्त्वकी धारणा करते समय उसे सर्वत्र अग्नि प्रकाशित दिखायी देती है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते।
ऊर्णारूपसवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ २० ॥

उसके भी लय हो जानेपर योगीको आकाशमें सर्वत्र फैले हुए वायुका ही अनुभव होता है। उस समय वृक्ष और पर्वत आदि अपने समस्त शस्त्रोंको पी जानेके कारण वायुकी 'पीतशस्त्र' संज्ञा हो जाती है अर्थात् पृथ्वी, जल और तेजरूप समस्त पदार्थोंको निगलकर वायु केवल आकाशमें ही आन्दोलित होता रहता है और साधक स्वयं भी ऊनके धागेके समान अत्यन्त छोटा और हलका होकर अपनेको निराधार आकाशमें वायुके साथ ही स्थित मानता है ॥ २० ॥

अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममप्युत।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमप्युक्तं ब्राह्मणस्य वै ॥ २१ ॥

तदनन्तर तेजका संहार और वायु-तत्त्वपर विजय प्राप्त होनेके पश्चात् वायुका सूक्ष्म रूप स्वच्छ आकाशमें लीन हो जाता है और केवल नीलाकाशमात्र शेष रह जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले योगीका चित्त अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, ऐसा बताया गया है। (उसे अपने स्थूल रूपका तनिक भी भान नहीं रहता। यही वायुका लय और आकाशतत्त्वपर विजय कहलाता है।) ॥ २१ ॥

एतेष्वपि हि जातेषु फलजातानि मे शृणु।
जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयते ॥ २२ ॥

इन सब लक्षणोंके प्रकट हो जानेपर योगीको जो-जो फल प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो। पार्थिव ऐश्वर्यकी सिद्धि हो जानेपर योगीमें सृष्टि करनेकी शक्ति आ जाती है ॥

प्रजापतिरिवाक्षोभ्यः शरीरात् सृजते प्रजाः।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठमात्रेण हस्तपादेन वा तथा ॥ २३ ॥
पृथिवीं कम्पयत्येको गुणो वायोरिति श्रुतिः।

वह प्रजापतिके समान क्षोभरहित होकर अपने शरीरसे प्रजाकी सृष्टि कर सकता है। जिसको वायुतत्त्व सिद्ध हो जाता है, वह बिना किसीकी सहायताके हाथ-पैर, अँगूठे अथवा अङ्गुलिमात्रसे दबाकर पृथ्वीको कम्पित कर सकता है—ऐसा सुननेमें आया है २३½ ॥

आकाशभूतश्चाकाशे सवर्णत्वात् प्रकाशते ॥ २४ ॥
वर्णतो गृह्यते चापि कामात् पिबति चाशयान्।

आकाशको सिद्ध करनेवाला पुरुष आकाशमें आकाशके ही समान सर्वव्यापी हो जाता है। वह अपने शरीरको अन्तर्धान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसका जल-तत्त्वपर अधिकार होता है, वह इच्छा करते ही बड़े-बड़े जलाशयोंको पी जाता है ॥ २४½ ॥

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते शाम्यते तथा।
अहङ्कारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ॥ २५ ॥

अग्नितत्त्वको सिद्ध कर लेनेपर वह अपने शरीरको इतना तेजस्वी बना लेता है कि कोई उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता और न उसके तेजको बुझा ही सकता है। अहंकारको जीत लेनेपर पाँचों भूत योगीके वशमें हो जाते हैं ॥

षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ।
निर्दोषप्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ॥ २६ ॥

पञ्चभूत और अहंकार—इन छः तत्त्वोंका आत्मा है बुद्धि। उसको जीत लेनेपर सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है तथा उस योगीको निर्दोष प्रतिभा (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) पूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

तथैव व्यक्तमात्मानमव्यक्तं प्रतिपद्यते।
यतो निःसरते लोको भवति व्यक्तसंज्ञकः ॥ २७ ॥

उपर्युक्त सप्त पदार्थोंका कार्यभूत व्यक्त जगत् अव्यक्त परमात्मामें ही विलीन हो जाता है, क्योंकि उन्हीं परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न होता है और व्यक्त नाम धारण करता है ॥

तत्राव्यक्तमयीं विद्यां शृणु त्वं विस्तरेण मे।
तथा व्यक्तमयं चैव सांख्ये पूर्वं निबोध मे ॥ २८ ॥

वत्स! तुम सांख्यदर्शनमें वर्णित अव्यक्तविद्याका विस्तारपूर्वक मुझसे श्रवण करो। सर्वप्रथम सांख्यशास्त्रमें कथित व्यक्तविद्याको मुझसे समझो ॥ २८ ॥

पञ्चविंशति तत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।
योगे सांख्येऽपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २९ ॥

सांख्य और पातञ्जलयोग—इन दोनों दर्शनोंमें समान-भावसे पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है*। इस

---

* सांख्य-कारिकामें बतलाया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सां० का० ३)

मूलप्रकृति—अव्याकृत माया, महत्तत्त्व आदि प्रकृतिके सात विकार—महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), सोलह विकार—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और शिश्न) तथा मन और पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) एवं पुरुष, जो न प्रकृति है और न प्रकृतिका विकार ही—इस प्रकार सांख्यके अनुसार ये पचीस तत्त्व हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।
(योग० साधनपाद १९)

'विशेष—पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, अविशेष—पञ्चतन्मात्रा और अहंकार, लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व, अलिङ्ग—मूलप्रकृति; इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व एवं पचीसवाँ द्रष्टा (पुरुष) है।

विषयमें जो विशेष बात है, वह मुझसे सुनो ॥ २९ ॥

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत् ।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ॥ ३० ॥

जन्म, वृद्धि, जरा और मरण—इन चार लक्षणोंसे युक्त जो तत्त्व है, उसीको व्यक्त कहते हैं ॥ ३० ॥

विपरीतमतो यत् तु तदव्यक्तमुदाहृतम् ।
द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व इसके विपरीत है अर्थात् जिसमें जन्म आदि चारों विकार नहीं हैं, उसे अव्यक्त कहा गया है । वेदों और सिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रोंमें उस अव्यक्तके दो भेद बताये गये हैं—जीवात्मा और परमात्मा ॥ ३१ ॥

चतुर्लक्षणजं त्वाद्यं चतुर्वर्गं प्रचक्षते ।
व्यक्तमव्यक्तजं चैव तथा बुद्धमथेतरत् ।
सत्त्वं क्षेत्रज्ञ इत्येतद् द्वयमप्यनुदर्शितम् ॥ ३२ ॥
द्वावात्मानौ च वेदेषु विषयेष्वनुरज्यतः ।
विषयात् प्रतिसंहारः सांख्यानां सिद्धिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

अव्यक्त होते हुए भी जीवात्मा व्यक्तके सम्पर्कसे जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु—इन चार लक्षणोंसे युक्त तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंसे सम्बन्धित कहा जाता है । दूसरा अव्यक्त परमात्मा ज्ञानस्वरूप है । व्यक्त (जडवर्ग) की उत्पत्ति उसी अव्यक्त (परमात्मा) से होती है । व्यक्तको सत्त्व (जडवर्ग—क्षेत्र) तथा अव्यक्त जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । इस प्रकार इन दोनोंहीका वर्णन किया गया है । वेदोंमें भी पूर्वोक्त दो आत्मा बताये गये हैं । विषयोंमें आसक्त हुआ जीवात्मा जब आसक्तिरहित होकर विषयोंसे निवृत्त हो जाता है, तब वह मुक्त कहलाता है । सांख्यवादियोंके मतमें यही मोक्षका लक्षण है ॥ ३२-३३ ॥

निर्ममश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुद्ध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ॥ ३४ ॥
आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम् ।
वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः ॥ ३५ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते ।

जिसने ममता और अहंकारका त्याग कर दिया है, जो शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको समानभावसे सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं, जो कभी क्रोध और द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, किसीकी गाली सुनकर और मार खाकर भी उसका अहित नहीं सोचता, सबपर मित्रभाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाता और समस्त प्राणियोंपर समानभाव रखता है, वही योगी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३४-३५½ ॥

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ॥ ३६ ॥
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ॥ ३७ ॥
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ३८ ॥
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः ।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ॥ ३९ ॥

जो किसी वस्तुकी न तो इच्छा करता है, न अनिच्छा ही करता है, जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जो कुछ मिल जाता है, उसीपर संतोष करता है, जो निर्लोभ, व्यथारहित और जितेन्द्रिय है, जिसको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे ही, जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चञ्चल नहीं होते, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो समस्त प्राणियोंपर समान दृष्टि और मैत्रीभाव रखता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णको एक-सा समझता है, जिसकी दृष्टिमें प्रिय और अप्रियका भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा तथा स्तुतिमें सम रहता है, जो सम्पूर्ण भोगोंमें स्पृहारहित है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित है तथा जो सब प्राणियोंमें हिंसाभावसे रहित है, ऐसा सांख्ययोगी (ज्ञानी) संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६—३९ ॥

यथा योगाद् विमुच्यन्ते कारणैर्यैर्निबोध तत् ।
योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते ॥ ४० ॥

योगी जिस प्रकार और जिन कारणोंसे योगके फलस्वरूप मोक्ष लाभ करते हैं, अब उन्हें बताता हूँ, सुनो । जो पर-वैराग्यके बलसे योगजनित ऐश्वर्यको लाँघकर उसकी सीमासे बाहर निकल जाता है, वही मुक्त होता है ॥ ४० ॥

इत्येषा भावजा बुद्धिः कथिता ते न संशयः ।
एवं भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्माणं चाधिगच्छति ॥ ४१ ॥

बेटा ! यह तुम्हारे निकट मैंने भावशुद्धिसे प्राप्त होनेवाली बुद्धिका वर्णन किया है । जो उपर्युक्तरूपसे साधना करके द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, वही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सृष्टिके समस्त कार्योंमें बुद्धिकी प्रधानता और प्राणियोंकी श्रेष्ठताके तारतम्यका वर्णन

व्यास उवाच

अथ ज्ञानप्लवं धीरो गृहीत्वा शान्तिमात्मनः ।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानमेवाभिसंश्रयेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स ! धीर पुरुषको चाहिये

कि वह विवेकरूप नौकाका अवलम्बन लेकर भवसागरमें डूबता-उतरता हुआ अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी परम शान्तिके लिये वास्तविक ज्ञानके आश्रित हो जाय ॥ १ ॥

शुक उवाच

किं तज्ज्ञानमथो विद्या यथा निस्तरते द्वयम् ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिरिति वा वद ॥ २ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! जिसके द्वारा मनुष्य जन्म और मृत्यु दोनोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है, वह ज्ञान अथवा विद्या क्या है ? वह प्रवृत्तिरूप धर्म है या निवृत्तिरूप ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यस्तु पश्यन् स्वभावेन विनाभावमचेतनः ।
पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया मुक्तहेतुकान् ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—जो यह समझता है कि यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न है, इसका कोई चेतन मूल कारण नहीं है, वह अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ तर्कयुक्त बुद्धिद्वारा हेतुरहित वचनोंका बारंबार पोषण करता रहता है ॥ ३ ॥

येषां चैकान्तभावेन स्वभावात् कारणं मतम् ।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन ॥ ४ ॥

जिनकी यह मान्यता है कि निश्चित-रूपसे वस्तुगत स्वभाव ही जगत्का कारण है—स्वभावसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं है, (किंतु इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होने मात्र हेतुसे उनका यह मानना कि ईश्वर-जैसा कोई जगत्का कारण है ही नहीं, युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि) मूँजके भीतर स्थित दिखायी न देनेवाली सींक क्या मूँजको चीर डालनेपर उन्हें उपलब्ध नहीं होती ? अपितु अवश्य होती है (उसी प्रकार समस्त जगत्मे व्याप्त परमात्मा यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा दिखायी नहीं देता तो भी उसकी उपलब्धि दिव्य-ज्ञानके द्वारा अवश्य होती है) ॥ ४ ॥

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः ।
स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते ॥ ५ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव इस नास्तिक-मतका अवलम्बन करके स्वभावहीको कारण जानकर परमेश्वरकी उपासनासे निवृत्त हो जाते हैं, वे कल्याणके भागी नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्म मनोभवः ।
निरुक्तमेतयोरेतत् स्वभावपरिभावयोः ॥ ६ ॥

नास्तिक लोग जो स्वभाववादका आश्रय लेकर ईश्वर और अदृष्टकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनका मोहजनित कार्य है, स्वभाववाद मूढ़ोंकी कल्पनामात्र है। यह मानवोंको परमार्थसे वञ्चित करके उनका विनाश करनेके लिये ही उपस्थित किया गया है । स्वभाव और परिभावके तत्त्वका यह आगे बताया जानेवाला विवेचन सुनो ॥ ६ ॥

कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च ।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च ॥ ७ ॥

देखा जाता है कि जगत्में बुद्धिसम्पन्न चेतन प्राणियोंद्वारा ही भूमिको जोतने आदिके कार्य, अनाजके बीजोंका संग्रह तथा सवारी, आसन और गृहनिर्माण—ये सब कार्य सदासे किये जाते हैं। यदि स्वभावसे ये कार्य हो जाते तो कोई इनमें प्रवृत्त ही न होता ॥ ७ ॥

आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च ।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः ॥ ८ ॥

बेटा ! चेतन प्राणी क्रीडाके लिये स्थान और रहनेके लिये घर बनाते हैं। वे ही रोगोंको पहचानकर उनपर ठीक-ठीक दवाका प्रयोग करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषोंद्वारा ही इन सब कार्योंका यथावत् अनुष्ठान होता है (स्वभावसे—अपने आप नहीं) ॥ ८ ॥

प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः प्रज्ञा श्रेयोऽधिगच्छति ।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥ ९ ॥

बुद्धि ही धनकी प्राप्ति कराती है । बुद्धिसे ही मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है । एक-से लक्षणोंवाले राजाओंमें भी जो बुद्धिमें बढ़े-चढ़े होते हैं, वे ही राज्यका उपभोग और दूसरोंपर शासन करते हैं ॥ ९ ॥

परावरं तु भूतानां ज्ञानेनैवोपलभ्यते ।
विद्यया तात सृष्टानां विद्यैवेह परा गतिः ॥ १० ॥

तात ! प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म या छोटे-बड़ेका भेद बुद्धिसे ही जाना जाता है । इस जगत्में सब प्राणियोंकी सृष्टि विद्यासे हुई है और उनकी परम गति विद्या ही है ॥ १० ॥

भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम् ।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत् ॥ ११ ॥

संसारमें जो नाना प्रकारके जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चतुर्विध प्राणी हैं, उन सबके जन्मकी ओर भी लक्ष्य करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्थावरेभ्यो विशिष्टानि जङ्गमान्युपधारयेत् ।
उपपन्नं हि यच्चेष्टा विशिष्येत विशेष्यया ॥ १२ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणियोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये। यह बात युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि उनमें विशेषरूपसे चेष्टा देखी जाती है, इस विशेषताके कारण जङ्गम प्राणियोंकी विशिष्टता स्वतः सिद्ध है ॥ १२ ॥

आहुर्वै बहुपादानि जङ्गमानि द्वयानि तु ।
बहुपाद्भ्यो विशिष्टानि द्विपदानि बहून्यपि ॥ १३ ॥

जङ्गम जीवोंमें भी बहुत पैरवाले और दो पैरवाले—ये दो तरहके प्राणी होते हैं । इनमें बहुत पैरवालोंकी अपेक्षा दो पैरवाले अनेक प्राणी श्रेष्ठ बताये गये हैं ॥ १३ ॥

द्विपदानि द्वयान्याहुः पार्थिवानीतराणि च ।
पार्थिवानि विशिष्टानि तानि ह्यन्नानि भुञ्जते ॥ १४ ॥

दो पैरवाले जङ्गम प्राणी भी दो प्रकारके कहे गये हैं—पार्थिव (मनुष्य) और अपार्थिव (पक्षी) । अपार्थिवोंसे पार्थिव श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे अन्न भोजन करते हैं ॥ १४ ॥

पार्थिवानि द्वयान्याहुर्मध्यमान्यधमानि तु।
मध्यमानि विशिष्टानि जातिधर्मोपधारणात् ॥ १५ ॥

पार्थिव (मनुष्य) भी दो प्रकारके बताये गये हैं— मध्यम और अधम । उनमें मध्यम मनुष्य अधमकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जाति-धर्मको धारण करते हैं ॥ १५ ॥

मध्यमानि द्वयान्याहुर्धर्मज्ञानीतराणि च।
धर्मज्ञानि विशिष्टानि कार्याकार्योपधारणात् ॥ १६ ॥

मध्यम मनुष्य दो प्रकारके कहे गये हैं—धर्मज्ञ और धर्मसे अनभिज्ञ । इनमें धर्मज्ञ ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विवेक रखते और कर्त्तव्यका पालन करते हैं ॥ १६ ॥

धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः ॥ १७ ॥

धर्मज्ञोंके भी दो भेद कहे गये हैं—वेदज्ञ और अवेदज्ञ । इनमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें वेद प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

वेदज्ञानि द्वयान्याहुः प्रवक्तृणीतराणि च।
प्रवक्तृणि विशिष्टानि सर्वधर्मोपधारणात् ॥ १८ ॥

वेदज्ञ भी दो प्रकारके बताये गये हैं—प्रवक्ता और अप्रवक्ता। इनमें प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वेदमें बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंको धारण करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

विज्ञायन्ते हि यैर्वेदाः सधर्माः सक्रियाफलाः।
सधर्मा निखिला वेदाः प्रवक्तृभ्यो विनिःसृताः ॥ १९ ॥

एवं उन्हींके द्वारा धर्म, कर्म और फलोंसहित वेदोंका ज्ञान दूसरोंको होता है । धर्मसहित सम्पूर्ण वेद प्रवक्ताओंके ही मुखसे प्रकट होते हैं ॥ १९ ॥

प्रवक्तृणि द्वयान्याहुरात्मज्ञानीतराणि च।
आत्मज्ञानि विशिष्टानि जन्माजन्मोपधारणात् ॥ २० ॥

प्रवक्ता भी दो प्रकारके कहे गये हैं—आत्मज्ञ और अनात्मज्ञ । इनमें आत्मज्ञ पुरुष ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझते हैं ॥ २० ॥

धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वज्ञः स सर्ववित्।
स त्यागी सत्यसंकल्पः सत्यः शुचिरथेश्वरः ॥ २१ ॥

जो प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो प्रकारके धर्मको जानता है, वही सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, त्यागी, सत्यसंकल्प, सत्यवादी, पवित्र और समर्थ होता है ॥ २१ ॥

ब्रह्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम् ॥ २२ ॥

जो शब्दब्रह्म (वेद) में पारङ्गत होकर परब्रह्मके तत्त्वका निश्चय कर चुका है और सदा ब्रह्मज्ञानमें ही स्थित रहता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ २२ ॥

अन्तःस्थं च बहिष्ठं च साधियज्ञाधिदैवतम्।
ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः ॥ २३ ॥

बेटा ! जो लोग ज्ञानवान् होकर बाहर और भीतर व्याप्त अधियज्ञ (परमात्मा) और अधिदैव (पुरुष) का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे ही देवता और वे ही द्विज हैं ॥ २३ ॥

तेषु विश्वमिदं भूतं सर्वं च जगदाहितम्।
तेषां माहात्म्यभावस्य सदृशं नास्ति किंचन ॥ २४ ॥

उन्हींमें यह सारा विश्व, सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है । उनके माहात्म्यकी कहीं कोई तुलना नहीं है ॥ २४ ॥

आद्यन्ते निधनं चैव कर्म चातीत्य सर्वशः।
चतुर्विधस्य भूतस्य सर्वस्येशाः स्वयम्भुवः ॥ २५ ॥

वे जन्म, मृत्यु और कर्मकी सीमाको भलीभाँति लाँघकर समस्त चतुर्विध प्राणियोंके अधीश्वर एवं स्वयम्भू होते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके भूतोंकी समीक्षापूर्वक कर्मतत्त्वका विवेचन, युगधर्मका वर्णन एवं कालका महत्त्व

व्यास उवाच

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! यह ब्राह्मणकी अत्यन्त प्राचीनकालसे चली आयी हुई वृत्ति है, जो शास्त्रविहित है। ज्ञानवान् मनुष्य ही सर्वत्र कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १ ॥

तत्र चेन्न भवेदेवं संशयः कर्मसिद्धये।
किं तु कर्म स्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः ॥ २ ॥

यदि कर्ममें संशय न हो तो वह सिद्धि देनेवाला होता है। यहाँ संदेह यह होता है कि क्या यह कर्म स्वभावसिद्ध है अथवा ज्ञानजनित ? ॥ २ ॥

तत्र वेदविधिः स स्याज्ज्ञानं चेत् पुरुषं प्रति।
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां वर्णयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥

उपर्युक्त संशय होनेपर यह कहा जाता है कि यदि वह पुरुषके लिये वैदिक विधानके अनुसार कर्त्तव्य हो तो ज्ञान-जन्य है, अन्यथा स्वाभाविक है । मैं युक्ति और फल-प्राप्तिके सहित इस विषयका वर्णन करूँगा, तुम उसे सुनो ॥ ३ ॥

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः ॥ ४ ॥

कुछ मनुष्य कर्मोंमें पुरुषार्थको कारण बताते हैं । कोई-कोई दैव (प्रारब्ध अथवा भावी)की प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग स्वभावके गुण गाते हैं ॥ ४ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥

कितने ही मनुष्य पुरुषार्थद्वारा की हुई क्रिया, दैव और कालगत स्वभाव—इन तीनोंको कारण मानते हैं। कुछ लोग इन्हें पृथक्-पृथक् प्रधानता देते हैं अर्थात् इनमेंसे एक प्रधान है और दूसरे दो अप्रधान कारण हैं—ऐसा कहते हैं और कुछ लोग इन तीनोंको पृथक् न करके इनके समुच्चयको ही कारण बताते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवं च नैवं च न चोभे नानुभे तथा।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥

कुछ कर्मनिष्ठ विचारक घट-पट आदि विषयोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि 'यह ऐसा ही है।' दूसरे कहते हैं कि 'यह ऐसा नहीं है।' तीसरोंका कहना है कि 'ये दोनों ही सम्भव हैं अर्थात् यह ऐसा है और नहीं भी है।' अन्य लोग कहते हैं कि 'ये दोनों ही मत सम्भव नहीं हैं' परंतु सत्त्वगुणमें स्थित हुए योगी पुरुष सर्वत्र समस्वरूप ब्रह्मको ही कारणरूपमें देखते हैं ॥ ६ ॥

त्रेतायां द्वापरे चैव कलिजाश्च ससंशयाः।
तपस्विनः प्रशान्ताश्च सत्त्वस्थाश्च कृते युगे ॥ ७ ॥

त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके मनुष्य परमार्थके विषयमें संशयशील होते हैं; परंतु सत्ययुगके लोग तपस्वी और सत्त्वगुणी होनेके कारण प्रशान्त (संशयरहित) होते हैं ॥ ७ ॥

अपृथग्दर्शनाः सर्वे ऋक्सामसु यजुःषु च।
कामद्वेषौ पृथक् कृत्वा तपः कृत उपासते ॥ ८ ॥

सत्ययुगमें सभी द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनोंमें भेददृष्टि न रखते हुए राग-द्वेषको मनसे हटाकर तपस्याका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तपोधर्मेण संयुक्तस्तपोनित्यः सुसंशितः।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ॥ ९ ॥

जो मनुष्य तपस्यारूप धर्मसे संयुक्त हो पूर्णतया संयमका पालन करते हुए सदा तपमें ही तत्पर रहता है, वह उसीके द्वारा अपने मनसे जिन-जिन कामनाओंको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद् भूत्वा सृजते जगत्।
तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥ १० ॥

तपस्यासे मनुष्य उस ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभावको प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियोंका प्रभु हो जाता है। १०।

तदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
वेदान्तेषु पुनर्व्यक्तं कर्मयोगेन लक्ष्यते ॥ ११ ॥

वह ब्रह्म वेदके कर्मकाण्डोंमें गुप्तरूपसे प्रतिपादित हुआ है; अतः वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा भी वह अज्ञात ही रहता है। किंतु वेदान्तमें उसी ब्रह्मका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है और निष्काम कर्मयोगके द्वारा उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ११ ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥ १२ ॥

क्षत्रिय आलम्भ[1] यज्ञ करनेवाले होते हैं, वैश्य हविष्यप्रधान यज्ञ करनेवाले माने गये हैं, शूद्र सेवारूप यज्ञ करनेवाले और ब्राह्मण जपयज्ञ करनेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १३ ॥

क्योंकि ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह और कोई कार्य करे या न करे, सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला होनेके कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है ॥

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १४ ॥

सत्ययुग और त्रेतामें वेद, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म विशुद्ध रूपमें पालित होते हैं, परंतु द्वापरयुगमें लोगोंकी आयुका ह्रास होनेके कारण ये भी क्षीण होने लगते हैं ॥ १४ ॥

द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।
दृश्यन्ते नापि दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल ॥ १५ ॥

द्वापर और कलियुगमें वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं। कलियुगके अन्तिम भागमें तो वे कभी कहीं दिखायी देते हैं और कभी दिखायी भी नहीं देते हैं ॥ १५ ॥

उत्सीदन्ति स्वधर्माश्च तत्राधर्मेण पीडिताः।
गवां भूमेश्च ये चापामोषधीनां च ये रसाः ॥ १६ ॥

उस समय अधर्मसे पीड़ित हो सभी वर्णोंके स्वधर्म नष्ट हो जाते हैं। गौ, जल, भूमि और ओषधियोंके रस भी नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्थाः स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥

वेद, वैदिक धर्म तथा स्वधर्मपरायण आश्रम ये—सभी उस समय अधर्मसे आच्छादित हो अदृश्य हो जाते हैं और स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं अर्थात् सबमें विकार उत्पन्न हो जाता है ॥ १७ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि वृष्टिर्भौमानि वर्षति।
सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे ॥ १८ ॥

जैसे वर्षा भूतलके समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करती है और सर्व ओरसे उनके अङ्गोंको पुष्ट करती है, उसी प्रकार वेद प्रत्येक युगमें सम्पूर्ण योगाङ्गोंका पोषण करते हैं ॥ १८ ॥

---

१. आलम्भके दो अर्थ हैं—स्पर्श और हिंसा। क्षत्रिय नरेश किसी वस्तुका स्पर्श करके अथवा छूकर जो दान देते हैं, वह आलम्भ कहलाता है। इसी प्रकार वे प्रजाकी रक्षाके लिये जो हिंसक जन्तुओं तथा दुष्ट डाकुओंका वध करते हैं, यह भी आलम्भ यज्ञके अन्तर्गत है।

निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं च यत्।
कीर्तितं यत् पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार निश्चय ही कालके भी अनेक रूप हैं। उसका न आदि है और न अन्त। वही प्रजाकी सृष्टि करता है और अन्तमें वही सबको अपना ग्रास बना लेता है। यह बात मैंने तुमको पहले ही बता दी है ॥ १९ ॥

यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः ॥ २० ॥

यह जो काल नामक तत्त्व है, वही प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाला है। उसीमें द्वन्द्वयुक्त असंख्य प्राणी स्वभावसे ही निवास करते हैं ॥ २० ॥

सर्गः कालो धृतिर्वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम्।
एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

तात! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हारे समक्ष सर्ग, काल, धारणा, वेद, कर्ता, कार्य और क्रियाफलके विषयमें ये सब बातें कही हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानका साधन और उसकी महिमा

भीष्म उवाच

इत्युक्तोऽभिप्रशस्यैतत् परमर्षेस्तु शासनम्।
मोक्षधर्मार्थसंयुक्तमिदं प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार महर्षि व्यासके उपदेश देनेपर शुकदेवजीने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और मोक्षधर्मके विषयमें पूछनेके लिये उत्सुक होकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शुक उवाच

प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी! प्रज्ञावान्, वेदवेत्ता, याज्ञिक, दोष-दृष्टिसे रहित तथा शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष उस ब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी अज्ञात है तथा वेदके द्वारा भी जिसका इदमित्थंरूपसे वर्णन नहीं किया गया है ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया।
सांख्ये वा यदि वा योग एतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३ ॥

सांख्य एवं योगमें तप, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वका त्याग और मेधाशक्ति—इनमेंसे किस साधनके द्वारा तत्त्वका साक्षात्कार माना गया है? यह आपसे मेरा प्रश्न है, आप मुझे कृपापूर्वक इस विषयका उपदेश दीजिये ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते।
येनोपायेन पुरुषैस्तत् त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

मनुष्य मन और इन्द्रियोंको जिस उपायसे और जिस तरह एकाग्र कर सकता है, उस विषयका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और सर्वस्वत्यागके बिना कोई भी सिद्धि नहीं पा सकता ॥ ५ ॥

महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयम्भुवः।
भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण महाभूत विधाताकी पहली सृष्टि हैं। वे समस्त प्राणिसमुदायमें तथा सभी देहधारियोंके शरीरोंमें अधिक-से-अधिक भरे हुए हैं ॥ ६ ॥

भूमेर्देहो जलात् स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते।
प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशं शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

देहधारियोंकी देहका निर्माण पृथ्वीसे हुआ है, चिकनाहट और पसीने आदि जलसे प्रकट होते हैं, अग्निसे नेत्र तथा वायुसे प्राण और अपानका प्रादुर्भाव हुआ है। नाक, कान आदिके छिद्रोंमें आकाश-तत्त्व स्थित है ॥ ७ ॥

क्रान्ते विष्णुर्बले शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति।
कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रं जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥ ८ ॥

चरणोंकी गतिमें विष्णु और बाहुबल [पाणिनामक इन्द्रिय]में इन्द्र स्थित हैं। उदरमें अग्निदेवता प्रतिष्ठित हैं, जो भोजन चाहते और पचाते हैं। कानोंमें श्रवणशक्ति और दिशाएँ हैं तथा जिह्वामें वाणी और सरस्वती देवीका निवास है ॥ ८ ॥

कर्णौ त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
दर्शनीयेन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥ ९ ॥

दोनों कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें विषयानुभवका द्वार बतलाया गया है ॥ ९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः।
इन्द्रियार्थान् पृथग् विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हें सदा इन्द्रियोंसे पृथक् समझना चाहिये ॥ १० ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिनः।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११ ॥

जैसे सारथि घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उन्हें इच्छानुसार चलाता है, इसी प्रकार मन इन्द्रियोंको काबूमें रखकर

उन्हें स्वेच्छासे विषयोंकी ओर प्रेरित करता है, परंतु हृदयमें रहनेवाला जीवात्मा सदा उस मनपर भी शासन किया करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मानसस्तथा ॥ १२ ॥

जैसे मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राजा और उन्हें विषयोंकी ओर प्रवृत्त करने तथा रोकनेमें भी समर्थ है, उसी प्रकार हृदयस्थित जीवात्मा भी मनका स्वामी तथा उसके निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।
प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके रूप, रस आदि विषय, स्वभाव [शीतोष्णादि धर्म], चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव—ये देहधारियोंके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणाः शब्दो न चेतना ।
सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान् वै कथंचन ॥ १४ ॥

शरीर भी वास्तवमें सत्त्व अर्थात् बुद्धिका आश्रय नहीं है; क्योंकि पाञ्चभौतिक शरीर तो उसका कार्य है तथा गुण, शब्द एवं चेतना भी बुद्धिके आश्रय (कारण) नहीं हैं; क्योंकि बुद्धि चेतनाकी सृष्टि करती है, परंतु बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि बुद्धि स्वयं उसका कार्य है ॥ १४ ॥

एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् ब्राह्मण इस शरीरमें पाँच इन्द्रिय, पाँच विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव—इन सोलह तत्त्वोंसे आवृत सत्रहवें परमात्माका बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणमें साक्षात्कार करता है ॥ १५ ॥

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६ ॥

इस परमात्माका नेत्रों अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी दर्शन नहीं हो सकता । यह विशुद्ध मनरूपी दीपकसे ही बुद्धिमें प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम् ।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वह आत्मतत्त्व यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे हीन, अविकारी तथा शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है तो भी शरीरोंके भीतर ही इसका अनुसंधान करना चाहिये ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमार्चितम् ।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ १८ ॥

जो इस विनाशशील समस्त शरीरोंमें अव्यक्तभावसे स्थित परमेश्वरका ज्ञानमयी दृष्टिसे निरन्तर दर्शन करता रहता है, वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १९ ॥

पण्डितजन विद्या और उत्तम कुलसे सम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे स्थित ब्रह्मका दर्शन करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ २० ॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियोंके भीतर निवास करता है ॥ २० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २१ ॥

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको स्थित देखता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि ।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २२ ॥

अपने शरीरके भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरोंके शरीरमें भी है, जिस पुरुषको निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥ २२ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा होकर सब प्राणियोंके हितमें लगा हुआ है, जिसका अपना कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपदको प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञानयोगीके मार्गकी खोज करनेमें देवता भी मोहित हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ २४ ॥

जैसे आकाशमें चिड़ियोंके और जलमें मछलियोंके पद-चिह्न नहीं दिखायी देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका भी किसीको पता नहीं चलता है ॥ २४ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि ।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ २५ ॥

काल सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं ही अपने भीतर पकाता रहता है, परंतु जहाँ काल भी पकाया जाता है, जो कालका भी काल है; उस परमात्माको यहाँ कोई नहीं जानता ॥ २५ ॥

न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः ।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचित् कुतश्चन ॥ २६ ॥
सर्वेऽन्तःस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन ।

वह परमात्मा न ऊपर है न नीचे और न वह अगल-बगलमें अथवा बीचमें ही है । कोई भी स्थानविशेष उसको ग्रहण नहीं कर सकता, वह परमात्मा किसी एक स्थानसे दूसरे स्थानको

१. अन्तःकरणमें जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जो कि अन्तःकरणकी एक वृत्तिविशेष है, इसे ही 'चेतना' कहते हैं ।

नहीं जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसके भीतर ही स्थित हैं, इनका कोई भी भाग या प्रदेश उस परमात्मासे बाहर नहीं है॥

यद्यजस्रं समागच्छेद् यथा बाणो गुणच्युतः ॥ २७ ॥
नैवान्तं कारणस्येयाद् यद्यपि स्यान्मनोजवः ।

यदि कोई धनुषसे छूटे हुए बाणके समान अथवा मनके सदृश तीव्र वेगसे निरन्तर दौड़ता रहे तो भी जगत्के कारण-स्वरूप उस परमेश्वरका अन्त नहीं पा सकता ॥ २७½ ॥

तस्मात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः॥ २८ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥

उस सूक्ष्मस्वरूप परमात्मासे बढ़कर सूक्ष्मतर वस्तु कोई नहीं है, उससे बढ़कर स्थूलतर वस्तु भी कोई नहीं है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तःसर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३० ॥

वह लघुसे भी अत्यन्त लघु और महान्‌से भी अत्यन्त महान् है, वह निश्चय ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित है तो भी किसीको दिखायी नहीं देता ॥ ३० ॥

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं त्वमृतमक्षरम् ॥ ३१ ॥

उस परमात्माके क्षर और अक्षर ये दो भाव (स्वरूप) हैं, सम्पूर्ण भूतोंमें तो उसका क्षर (विनाशी) रूप है और दिव्य सत्यस्वरूप चेतनात्मा अक्षर (अविनाशी) है ॥ ३१ ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा हंसो हि नियतो वशी ।
ईशः सर्वस्य भूतस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ ३२ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका ईश्वर स्वाधीन परमात्मा नव द्वारोंवाले शरीरमें प्रवेश करके हंस (जीव) रूपसे स्थिरतापूर्वक स्थित है ॥ ३२ ॥

हानिभङ्गविकल्पानां नवानां संचयेन च ।
शरीराणामजस्याहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥ ३३ ॥

पारदर्शी (तत्त्वज्ञानी) पुरुष परिणाममें हानि, भङ्ग एवं विकल्पसे युक्त नवीन शरीरोंको बारंबार ग्रहण करनेके कारण अजन्मा परमात्माके अंशभूत जीवात्माको 'हंस' कहते हैं ॥ ३३ ॥

हंसोक्तं चाक्षरं चैव कूटस्थं यत् तदक्षरम् ।
तद् विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥ ३४ ॥

हंस नामसे जिस अविनाशी जीवात्माका प्रतिपादन किया गया है, वह कूटस्थ अक्षर ही है, इस प्रकार जो विद्वान् उस अक्षर आत्माको यथार्थरूपसे जान लेता है, वह प्राण, जन्म और मृत्युके बन्धनको सदाके लिये त्याग देता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगसे परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

व्यास उवाच

पृच्छतस्तव सत्पुत्र यथावदिह तत्त्वतः ।
सांख्यज्ञानेन संयुक्तं यदेतत् कीर्तितं मया ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—सत्पुत्र शुक ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने जो यहाँ ज्ञानके विषयका यथार्थ रूपसे तात्त्विक वर्णन किया है, ये सब सांख्यज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं ॥ १ ॥

योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु ।
एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥ २ ॥
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम् ।

अब योगसम्बन्धी सम्पूर्ण कृत्योंका वर्णन आरम्भ करता हूँ, सुनो। तात ! इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको सब ओरसे रोककर सर्वव्यापी आत्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्रियोंके मतमें सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ २½ ॥

तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥ ३ ॥
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ।

इसे प्राप्त करनेके लिये साधक सब ओरसे मनको हटाकर शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मतत्त्वका चिन्तन करे, एकमात्र परमात्मामें ही रमण करे, ज्ञानवान् पुरुषसे ज्ञान ग्रहण करे एवं शास्त्रविहित पवित्र कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करके ज्ञातव्य तत्त्वको जाने ॥ ३½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।

विद्वानोंने योगके जो काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवाँ स्वप्न—ये पाँच दोष बताये हैं उनका पूर्णतया उच्छेद करे। इनमेंसे क्रोधको शम (मनोनिग्रह) के द्वारा जीते, कामको संकल्पके त्यागद्वारा पराजित करे तथा धीर पुरुष सत्त्वगुणका सेवन करनेसे निद्राका उच्छेद कर सकता है ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च कर्मणा ।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥ ७ ॥

मनुष्य धैर्यका सहारा लेकर शिश्न और उदरकी रक्षा करे अर्थात् विषयभोग और भोजनकी चिन्ता दूर कर दे। नेत्रोंकी

सहायतासे हाथ और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा कर्मके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे अर्थात् इनको शुद्ध बनावे। सावधानीके द्वारा भयका और विद्वान् पुरुषोंके सेवनसे दम्भका त्याग करे ॥ ६-७ ॥

एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ८ ॥

इस प्रकार सदैव सावधानीपूर्वक आलस्य छोड़कर इन योगसम्बन्धी दोषोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। एवं अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा देवताओंको प्रणाम करना चाहिये ॥ ८ ॥

वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम्।
ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं रसः ॥ ९ ॥
एतस्य भूतं भव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम्।

साधकको चाहिये कि मनको पीड़ा देनेवाली हिंसायुक्त वाणीका प्रयोग न करे। तेजोमय निर्मल ब्रह्म सबका बीज (कारण) है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब उसीका रस (कार्य) है। सम्पूर्ण चराचर जगत् उस ब्रह्मके ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है ॥ ९½ ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥ १० ॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ ११ ॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि एवं इन्द्रियोंका निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पापोंका नाश हो जाता है ॥ १०-११ ॥

सिध्यन्ति चास्य सर्वार्था विज्ञानं च प्रवर्तते।
समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ॥ १२ ॥
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १३ ॥

इतना ही नहीं, इनसे साधकके सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं तथा उसे विज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। योगीको चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाव रक्खे। जो कुछ भी मिले या न मिले, उसीसे संतोषपूर्वक निर्वाह करे। पापोंको धो डाले तथा तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करके ब्रह्मपदको पानेकी इच्छा करे ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः।
पूर्वरात्रापरार्धे च धारयेन्मन आत्मनि ॥ १४ ॥

योगी मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रातके पहले और पिछले पहरमें ध्यानस्थ होकर मनको आत्मामें लगावे ॥

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ १५ ॥

जैसे मशकमें एक जगह भी छेद हो जाय तो वहाँसे पानी बह जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माकी एक इन्द्रिय भी यदि छिद्रयुक्त हुई–विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई तो उसीसे उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है ॥

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥ १६ ॥

जैसे मछलीमार जाल काटनेवाली दुष्ट मछलीको पहले पकड़ता है, उसी तरह योगवेत्ता साधक पहले अपने मनको वशमें करे। उसके बाद कानका, फिर नेत्रका, तदनन्तर जिह्वा और घ्राण आदिका निग्रह करे ॥ १६ ॥

तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद् यतिः।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् ॥ १७ ॥

यत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके मनमें स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पोंका परित्याग करके मनको बुद्धिमें लीन करे ॥ १७ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् यतिः।
यदैतान्यवतिष्ठन्ति मनःषष्ठान्यथात्मनि ॥ १८ ॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा ब्रह्म प्रकाशते।

योगी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें दृढ़तापूर्वक मनमें स्थापित करे। जब छठे मनसहित ये इन्द्रियाँ बुद्धिमें स्थिर होकर प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाती हैं, तब उस योगीको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १८½ ॥

विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान् ॥ १९ ॥
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि।

वह योगी अपने अन्तःकरणमें धूमरहित प्रज्वलित अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य तथा आकाशमें चमकती हुई बिजलीकी ज्योतिके समान प्रकाशस्वरूप आत्माका दर्शन करता है ॥ १९½ ॥

सर्वस्तत्र स सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते ॥ २० ॥
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः ॥ २१ ॥

सब उस आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं और व्यापक होनेके कारण वह आत्मा सबमें दिखायी देता है। जो महात्मा ब्राह्मण मनीषी, महाज्ञानी, धैर्यवान् और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे ही उस परमात्माका दर्शन कर पाते हैं ॥

एवं परिमितं कालमाचरन् संशितव्रतः।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसात्मताम् ॥ २२ ॥

जो योगी प्रतिदिन नियत समयतक अकेला एकान्त स्थानमें बैठकर भलीभाँति नियमोंके पालनपूर्वक इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर-ब्रह्मकी समताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शे शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥ २३ ॥

योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। फिर दिव्य सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंके दर्शन होते हैं। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुरूप होकर आकाशमें चलने-फिरनेकी शक्ति आ जाती है ॥ २३ ॥

प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः ।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥ २४ ॥

प्रतिभा बढ़ जाती है । दिव्य भोग अपने आप उपस्थित हो जाते हैं । इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगी उनका आदर न करे; क्योंकि ये सब योगके विघ्न हैं । अतः मनको उनकी ओरसे लौटाकर आत्मामें ही एकाग्र करे ॥ २४ ॥

कुर्यात् परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः ।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत् ॥ २५ ॥

नित्य-नियमसे रहकर योगी मुनि किसी पर्वतके शिखरपर किसी देववृक्षके समीप या एकान्त मन्दिरमें अथवा वृक्षोंके सम्मुख बैठकर तीन समय (सबेरे तथा रातके पहले और पिछले पहरोंमें) योगका अभ्यास करे ॥ २५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव ।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्विजयेन्मनः ॥ २६ ॥

द्रव्य चाहनेवाले मनुष्य जैसे सदा द्रव्यसमुदायको कोठेमें बाँध करके रखता है, उसी तरह योगका साधक भी इन्द्रिय-समुदायको संयममें रखकर हृदयकमलमें स्थित नित्य आत्माका एकाग्रभावसे चिन्तन करे । मनको योगसे उद्विग्न न होने दे ॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः ।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत् ततः ॥ २७ ॥

जिस उपायसे चञ्चल मनको रोका जा सके, योगका साधक उसका सेवन करे और उस साधनसे वह कभी विचलित न हो ॥ २७ ॥

शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च ।
शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥ २८ ॥

एकाग्रचित्त योगी पर्वतकी सूनी गुफा, देवमन्दिर तथा एकान्तस्थ शून्य गृहको ही अपने निवासके लिये चुने ॥ २८ ॥

नाभिष्वजेत् परं वाचा कर्मणा मनसापि वा ।
उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥ २९ ॥

योगका साधक मन, वाणी या क्रियाद्वारा भी किसी दूसरेमें आसक्त न हो । सबकी ओरसे उपेक्षाका भाव रक्खे । नियमित भोजन करे और लाभ-हानिमें भी समान भाव रक्खे॥

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत् ।
समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥ ३० ॥

जो उसकी प्रशंसा करे और जो उसकी निन्दा करे, उन दोनोंमें वह समान भाव रक्खे, एककी भलाई या दूसरेकी बुराई न सोचे ॥ ३० ॥

न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ ३१ ॥

कुछ लाभ होनेपर हर्षसे फूल न उठे और न होनेपर चिन्ता न करे । समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखे । वायुके समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असङ्ग और अनिकेत रहे ॥ ३१ ॥

एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार स्वस्थचित्त और सर्वत्र समदर्शी रहकर कर्मफलका उल्लङ्घन करके छः महीनेतक नित्य योगाभ्यास करनेवाला श्रेष्ठ योगी वेदोक्त परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३२ ॥

वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
एतस्मिन् विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहितः ॥ ३३ ॥

प्रजाको धनकी प्राप्तिके लिये वेदनासे पीड़ित देख धनकी ओरसे विरक्त हो जाय—मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णको समान समझे । विरक्त पुरुष इस योगमार्गसे न तो विरत हो और न मोहमें ही पड़े ॥ ३३ ॥

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ३४ ॥

अजं पुराणमजरं सनातनं
यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः ।
अणोरणीयो महतो महत्तरं
तदात्मना पश्यति युक्तमात्मवान् ३५

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वही योगी निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है ॥ ३५ ॥

इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो
यथावदुक्तं मनसानुदृश्य च ।
अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां
प्रयान्ति चाभूतगतिं मनीषिणः ॥ ३६ ॥

महर्षि महात्मा व्यासके यथावद्रूपसे कहे गये इस उपदेशवाक्यपर मन-ही-मन विचार करके एवं इसको भली-भाँति समझकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समानताको प्राप्त होते हैं और प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्म और ज्ञानका अन्तर तथा ब्रह्मप्राप्तिके उपायका वर्णन

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥ १ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो दो प्रकारके वचन मिलते हैं, उनके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि विद्या (ज्ञान) के द्वारा कर्मको त्याग देनेपर मनुष्य किस दिशामें जाते हैं ? और कर्म करनेसे उन्हें किस गतिकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

एतद् वै श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे।
एतच्चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः॥ २ ॥

मैं इस विषयको सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे यह बतावें। ये दोनों वचन एक दूसरेके विपरीत हैं, अतः प्रतिकूल परिणाम ही उत्पन्न कर सकते हैं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम्।
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! शुकदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर पराशरनन्दन भगवान् व्यासने यों उत्तर दिया—'बेटा ! ये कर्ममय और ज्ञानमय मार्ग क्रमशः विनाशशील और अविनाशी हैं, मैं इनकी व्याख्या आरम्भ करता हूँ ॥ ३ ॥

यां दिशं विद्यया यान्ति यां च गच्छन्ति कर्मणा।
शृणुष्वैकमना वत्स गह्वरं ह्येतदन्तरम्॥ ४ ॥

'वत्स ! ज्ञानसे मनुष्य जिस दिशाको जाते हैं और कर्मद्वारा उन्हें जिस गतिकी प्राप्ति होती है, वह सब बताता हूँ, एकचित्त होकर सुनो। इन दोनोंका अन्तर अत्यन्त गहन है ॥

अस्ति धर्म इति प्रोक्तं नास्तीत्यत्रैव यो वदेत्।
तस्य पक्षस्य सदृशमिदं मम भवेद् व्यथा॥ ५ ॥

'धर्म है, ऐसा शास्त्रका उपदेश है, इसके विपरीत यदि कोई कहे कि धर्म नहीं है तो उसे सुनकर एक आस्तिकको जितना कष्ट होता है, उसके पक्षके ही समान यह कर्म और विद्याका तारतम्यविषयक प्रश्न मेरे लिये क्लेशदायक है ॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥ ६ ॥

'प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म, ये दो मार्ग हैं जहाँ वेद प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥ ७ ॥

'सकामकर्मसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, अतः दूरदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम्॥ ८ ॥

'कर्म करनेसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् सोलह* तत्त्वोंके बने हुए मूर्तिमान् शरीरको धारण करके जन्म लेता है; किंतु ज्ञानके प्रभावसे जीव नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः।
तेन ते देहजालानि रमयन्त उपासते॥ ९ ॥

'अधूरे ज्ञानमें आसक्त अर्थात् इन्द्रियज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले कुछ मनुष्य सकामकर्मकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये वे भोगासक्त होकर बारंबार विभिन्न शरीरोंमें आनन्द मानकर उनका सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

ये तु बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव॥ १० ॥

'परंतु जो धर्मके तत्त्वको भलीभाँति समझकर सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी उसी तरह प्रशंसा नहीं करते हैं, जैसे प्रतिदिन नदीका पानी पीनेवाले मनुष्य कुएँका आदर नहीं करते हैं ॥ १० ॥

कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ।
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति॥ ११ ॥

'कर्मके फल हैं सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु। कर्मद्वारा मनुष्य इन्हींको पाते हैं, परंतु ज्ञानके द्वारा उन्हें उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ जानेसे सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते।
न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते॥ १२ ॥

'जहाँ जाकर फिर मृत्युका कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जहाँ जानेसे फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ १२ ॥

यत्र तद् ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम्।
अव्याकृतमनायासममृतं चावियोगि च॥ १३ ॥

'जहाँ बिना क्लेशके प्राप्त होनेवाले और मिलकर कभी विलग न होनेवाले, अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय तथा विकारशून्य उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १३ ॥

द्वन्द्वैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा।
समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः॥ १४ ॥

'उस स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्योंको सुख-दुःखादि द्वन्द्व,

* पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव (शीतोष्णादि धर्म), चेतना (ज्ञानशक्ति), मन, प्राण, अपान और जीव—ये सोलह तत्त्व पूर्वमें २३९ वें अध्यायके १३ वें श्लोकमें बतला चुके हैं।

मानसिक संकल्प और कर्म-संस्कार बाधा नहीं पहुँचाते । वहाँ पहुँचे हुए मानव सर्वत्र समानभाव रखते हैं, सबको मित्र मानते हैं और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥

विद्यामयोऽन्यः पुरुषस्तात कर्ममयोऽपरः ।
विद्धि चन्द्रमसं दर्शे सूक्ष्मया कलया स्थितम्॥ १५ ॥

'तात ! ज्ञानी मनुष्य कुछ और ही होता है, कर्मासक्त मनुष्य उससे सर्वथा भिन्न है। जैसे चन्द्रमा घटते-घटते अमावास्याको एक सूक्ष्म कलाके रूपमें ही शेष रह जाता है, यही अवस्था तुम कर्मासक्त मनुष्योंकी भी समझो—उसे क्षय और वृद्धिके ही चक्करमें पड़े रहना पड़ता है ॥ १५ ॥

तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुमीयते ।
नवजं शशिनं दृष्ट्वा वक्रतन्तुमिवाम्बरे ॥ १६ ॥

'इस बातको एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिने विस्तारके साथ बताया है। अमावास्याके बाद आकाशमें एक टेढ़े और पतले सूतके समान प्रतीत होनेवाले नवोदित चन्द्रमाको देखकर ऐसा ही अनुमान किया जाता है ॥ १६ ॥

एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ।
मूर्तिमानिति तं विद्धि तात कर्मगुणात्मकम् ॥ १७ ॥

'कर्मजन्य कलाओंके भारको धारण करनेवाला कर्मासक्त मनुष्य मन और इन्द्रियरूप ग्यारह विकारोंसे युक्त होकर जन्म धारण किया करता है। इस प्रकार वह मूर्तिमान् (देहधारी) व्यक्ति होता है । तुम उसे कर्मफलसम्भूत त्रिगुणात्मक शरीरसे युक्त तथा चन्द्रमाके समान वृद्धि और ह्रासका भागी होनेवाला समझो ॥ १७ ॥

देवो यः संश्रितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम् ॥ १८ ॥

'प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदयाकाश) में जो स्वयम्प्रकाश चिन्मय देवता कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँदके समान निर्लेपभावसे विराजमान है तथा जिसने योगके द्वारा चित्तको वशमें किया है, उस आत्मतत्त्वको तुम सदैव क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १८ ॥

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणात्मकम् ।
जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः ॥ १९ ॥

'तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको बुद्धिका गुण समझो, इनके सम्बन्धसे जीव गुणस्वरूप और गुण जीव-स्वरूप प्रतीत होने लगते हैं। अतः वास्तवमें जीवात्मा परमात्मा-का ही अंश है, ऐसा समझो ॥ १९ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते जीवयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २० ॥

'शरीर स्वयं तो अचेतन (जड) है, परंतु चेतनसे युक्त होनेसे उसे जीवात्माके गुण चैतन्यसे युक्त कहा जाता है। जीवात्मा ही शरीरके द्वारा चेष्टा करता है और वही समस्त शरीरको जीवन (चेतना) प्रदान करता है, परंतु जिस परमात्माने सातों भुवनोंकी सृष्टि की है, उसे क्षेत्रवेत्ता विद्वान् उस जीवात्मासे भी श्रेष्ठ बताते हैं' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

आश्रमधर्मकी प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य-आश्रमका वर्णन

शुक उवाच

क्षरात्प्रभृति यः सर्गः सगुणानीन्द्रियाणि च ।
बुद्ध्यैश्वर्यातिसर्गोऽयं प्रधानश्चात्मनः श्रुतम्॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! क्षर अर्थात् प्रधानसे जो चौबीस तत्त्वोंवाली सामान्य सृष्टि हुई है तथा शब्द आदि विषयोंसहित जो इन्द्रियाँ हैं, उनकी सृष्टि बुद्धिके सामर्थ्यसे हुई है, अतः यह अतिसर्ग—असाधारण सृष्टि है। बन्धन-कारी होनेके कारण इसे प्रमुख या प्रबल माना गया है, यह दोनों प्रकारकी सृष्टि पुरुषके संनिधानसे, प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है; यह सब मैंने पहले सुन लिया है ॥ १ ॥

भूय एव तु लोकेऽस्मिन् सद्वृत्तिं कालहैतुकीम्।
यया सन्तः प्रवर्तन्ते तदिच्छाम्यनुवर्तितुम् ॥ २ ॥

अब पुनः इस संसारमें प्रत्येक युगके अनुसार जो शिष्ट पुरुषोंकी आचार-परम्परा रही है तथा जिसके अनुकूल सत्पुरुषोंका बर्ताव होता आया है, उसका मैं भी अनुसरण करना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वेदे वचनमुक्तं तु कुरु कर्म त्यजेति च ।
कथमेतद् विजानीयां तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये दोनों बातें कही गयी हैं। मैं इनका तात्पर्य कैसे समझूँ ? जिससे इनका विरोध हट जाय। आप इस विषयकी व्याख्या करें ॥ ३ ॥

लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञः पूतोऽहं गुरुशासनात् ।
कृत्वा बुद्धिं विमुक्तात्मा द्रक्ष्याम्यात्मानमव्ययम्॥ ४ ॥

मैं आप-जैसे गुरुके उपदेशसे पवित्र हो गया हूँ तथा मुझे जगत्के वृत्तान्त (लौकिक नीति-रीति) का भी ज्ञान हो गया है; अतः धर्माचरणसे बुद्धिका संस्कार करके स्थूल देहका अभिमान त्यागकर अपने अविनाशीस्वरूप परमात्मा-का दर्शन करूँगा ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

यथा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद् ब्रह्मणा स्वयम् ।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने जिस आचार-व्यवहारका विधान कर दिया है, पहलेके सत्पुरुष तथा ऋषि-महर्षि भी उसीका पालन करते आ रहे हैं॥

ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन् मनसाऽऽत्मनि॥ ६ ॥

परम ऋषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम लोकोंपर विजय पायी है; अतः मन-ही-मन अपने कल्याणकी इच्छा रखकर पहले ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ६ ॥

वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः॥ ७ ॥

(फिर वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले) वनमें फल-मूल खाकर रहे, भारी तपस्यामें तत्पर हो जाय, पुण्य-तीर्थोंमें भ्रमण करे और किसी भी प्राणीकी अपने द्वारा हिंसा न होने दे ॥ ७ ॥

विधूमे सन्नमुसले वानप्रस्थप्रतिश्रये ।
काले प्राप्ते चरन् भैक्ष्यं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ८ ॥

इसके बाद संन्यासी होकर यथासमय भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए भिक्षाके लिये 'वानप्रस्थी' के आश्रमपर उस समय जाना चाहिये, जब कि मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न सुनायी पड़े और रसोईघरसे धूँआ निकलना बंद हो जाय। इस प्रकार जीवन बितानेवाला संन्यासी ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ८ ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे ।
अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाशितः ॥ ९ ॥

शुकदेव ! तुम भी स्तुति और नमस्कारसे अलग रहकर शुभाशुभ कर्मोंका परित्याग करके जो कुछ फल-मूल मिल जाय, उसीसे भूख मिटाते हुए वनमें अकेले विचरते रहो ॥

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते ।
प्रमाणे वाप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि प्रमाणं तूभयं कथम्।
कर्मणामविरोधेन कथं मोक्षः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो वेदके दो तरहके वचन हैं, लोकदृष्टिसे विचार करनेपर परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। ये प्रामाणिक हैं या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक हैं तो परस्पर विरोध रहते हुए इन्हें शास्त्रवचन कैसे माना जा सकता है तथा दोनों ही प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ; साथ ही यह भी बताइये कि कर्मोंका विरोध किये बिना मोक्षकी प्राप्ति किस तरह हो सकती है ? ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गन्धवत्याः सुतः सुतम्।
ऋषिस्तत्पूजयन् वाक्यं पुत्रस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके इस प्रकार पूछनेपर गन्धवती (सत्यवती) के पुत्र महर्षि व्यासने अपने अमिततेजस्वी पुत्रके वचनका आदर करते हुए उससे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

व्यास उवाच

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी अपने-अपने आश्रमके लिये विहित शास्त्रोक्त कर्मोंका पालन करते हुए परम गतिको प्राप्त होते हैं॥

एको वाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद् यथाविधि।
अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते ॥ १४ ॥

यदि कोई एक पुरुष भी इन आश्रमोंके धर्मोंका राग-द्वेषसे शून्य होकर विधिपूर्वक अनुष्ठान कर ले तो वह परब्रह्म परमात्माको तत्त्वसे जाननेका अधिकारी हो जाता है ॥ १४ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १५ ॥

ये चारों आश्रम ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्मतक पहुँचानेके लिये चार पैंडीवाली सीढ़ीके समान माने गये हैं। इस सीढ़ीपर चढ़कर मनुष्य ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः ॥ १६ ॥

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरु अथवा गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके एक चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है ॥ १६ ॥

जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।
यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः ॥ १७ ॥

वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोवे और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे ॥ १७ ॥

कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः ॥ १८ ॥

गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिये सदा यही उत्तर दे कि 'भगवन् ! इसे अभी पूरा किया' और वह सब कार्य करके उनके पास आकर खड़ा हो जाय। 'मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ऐसा पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवककी भाँति गुरुका सारा कार्य करनेके लिये तैयार रहे और सभी कर्मोंके सम्पादनमें कुशल हो ॥ १८ ॥

कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता ।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥ १९ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले शिष्यको गुरुकी सेवा-टहलका सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन

करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी-पर कोई कलङ्क न लगावे। गुरुके बुलानेपर झट उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय ॥ १९ ॥

शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा ।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे पवित्र रहे। कार्यमें कुशल हो। गुणवान् बने। भीतरसे सद्भावना रखकर बीच-बीचमें ऐसी बात बोले जो गुरुको प्रिय लगनेवाली हो। शान्त-भावसे भक्तिभरी दृष्टि डालकर गुरुकी ओर देखे और इन्द्रियोंको वशमें रखे ॥ २० ॥

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ॥ २१ ॥

आचार्य जबतक भोजन न कर लें, तबतक स्वयं भी न खाय। वे जबतक जल-पान न कर लें, तबतक स्वयं भी न करे। उनके बैठनेसे पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोनेसे पहले स्वयं भी न सोये ॥ २१ ॥

उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत् ॥ २२ ॥

दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे ॥ २२ ॥

अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया ॥ २३ ॥

इस प्रकार अभिवादनके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरुसे कहे—'भगवन् ! अब आप मुझे पढ़ावें। मैंने अमुक काम पूरा कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूँगा ॥ २३ ॥

ब्रह्मंस्तदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य च यथाविधि ॥ २४ ॥
कुर्यात् कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।

'ब्रह्मन् ! इसके सिवा और भी जिन कार्योंके लिये आप आज्ञा देंगे, उन्हें भी मैं शीघ्र पूर्ण करूँगा।' इस तरह सब बातें विधिवत् निवेदन करके गुरुकी आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके पुनः उसका सारा समाचार गुरुजीको बतावे ॥ २४½ ॥

यांस्तु गन्धान् रसान् वापि ब्रह्मचारी न सेवते ॥ २५ ॥
सेवेत तान् समावृत्य इति धर्मेषु निश्चयः ।

जिन-जिन गन्धों और रसोंका ब्रह्मचारीको सेवन नहीं करना चाहिये, उनका वह ब्रह्मचर्यकालमें त्याग करे। समावर्तनसंस्कारके बाद ही वह उनका सेवन कर सकता है, यही धर्मका निश्चय है ॥ २५½ ॥

ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
तान् सर्वानाचरेन्नित्यं भवेच्चानपगो गुरोः ।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये जो कोई भी नियम विस्तार-पूर्वक बताये गये हैं, उन सबका वह पालन करे तथा सदा गुरुके समीप ही रहे ॥ २६½ ॥

स एवं गुरवे प्रीतिमुपहृत्य यथाबलम् ॥ २७ ॥
आश्रमादाश्रमेष्वेव शिष्यो वर्तेत कर्मणा ।

इस प्रकार शिष्य यथाशक्ति सेवा करके गुरुको प्रसन्न करे और उन्हें उपहार देकर उनकी आज्ञासे ब्रह्मचर्य-आश्रम-से दूसरे आश्रमोंमें पदार्पण करे और वहाँ भी उन आश्रमोंके कर्तव्योंका पालन करता रहे ॥ २७½ ॥

वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते ॥ २८ ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्त्तेद् यथाविधि ॥ २९ ॥

जब वेदसम्बन्धी व्रत और उपवास करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे ॥ २८-२९ ॥

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती ॥ ३० ॥

धर्मतः पत्नीका पाणिग्रहण करके उसके साथ यत्नपूर्वक अग्निकी स्थापना करे और आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी अवस्थातक उत्तम व्रतका पालन करते हुए गृहस्थ बना रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके उपलक्षणसे गार्हस्थ्य-धर्मका वर्णन

व्यास उवाच

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत् ।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! गृहस्थ पुरुष अपनी आयुके दूसरे भागतक गृहस्थधर्मका पालन करते हुए घरपर ही रहे। धर्मानुसार स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ अग्नि-स्थापना करनेके पश्चात् नित्य अग्निहोत्र आदि करे और उत्तम व्रतका पालन करता रहे ॥ १ ॥

गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः ।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ २ ॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत् ।
तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणके लिये विद्वानोंने चार प्रकारकी आजीविका बतायी है—कोठेभर अनाजका संग्रह करके रखना, यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्नका संग्रह करना, यह दूसरी वृत्ति है तथा उतने ही अन्नका संग्रह करना जो

दूसरे दिनके लिये शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है। अथवा 'कापोतीवृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करे, यह चौथी वृत्ति है। इन चारोंमें पहलीकी अपेक्षा दूसरी-दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अन्तिम वृत्तिका आश्रय लेनेवाला धर्मकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ है और वही सबसे बढ़कर धर्मविजयी है ॥ २-३ ॥

षट्कर्मा वर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

पहली श्रेणीके अनुसार जीविका चलानेवाले ब्राह्मणको यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म करने चाहिये। दूसरी श्रेणीवालेको अध्ययन, यजन और दान—इन तीन कर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। तीसरी श्रेणीवालेको अध्ययन और दान—ये दो ही कर्म करने चाहिये तथा चौथी श्रेणीवालेको केवल ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन) करना उचित है ॥ ४ ॥

गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते ।
नात्मार्थे पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून् ॥ ५ ॥

गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से श्रेष्ठ नियम बताये गये हैं। वह केवल अपने ही भोजनके लिये रसोई न बनावे (अपितु देवता, पितर और अतिथियोंके उद्देश्यसे ही बनावे) और पशुहिंसा न करे, क्योंकि यह अनर्थमूलक है ॥

प्राणी वा यदि वाप्राणी संस्कारं यजुषार्हति ।
न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ ६ ॥

यज्ञमें यजमान एवं हविष्य आदि सबका यजुर्वेदके मन्त्रसे संस्कार होना चाहिये। गृहस्थ पुरुष दिनमें कभी न सोये। रातके पहले और पिछले भागमें भी नींद न ले ॥ ६ ॥

न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः ॥ ७ ॥

सबेरे और शाम दो ही समय भोजन करे, बीचमें न खाय। ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलावे। उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय ॥ ७ ॥

तथास्यातिथयः पूज्या हव्यकव्यवहाः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मजीविनो दान्ताः क्रियावन्तस्तपस्विनः ।
तेषां हव्यं च कव्यं चाप्यर्हणार्थं विधीयते ॥ ९ ॥

यदि द्वारपर अतिथिके रूपमें वेदके पारङ्गत विद्वान्, स्नातक, श्रोत्रिय, हव्य (यज्ञान्न) और कव्य (श्राद्धान्न) भोजन करनेवाले, जितेन्द्रिय, क्रियानिष्ठ, स्वधर्मसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले और तपस्वी ब्राह्मण आ जायँ तो सदा उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें हव्य और कव्य समर्पित करने चाहिये। उनके सत्कारके लिये यह सब करनेका विधान है ॥ ८-९ ॥

नखरैः सम्प्रयातस्य स्वधर्मज्ञापकस्य च ।
अपविद्धाग्निहोत्रस्य गुरोर्वालीककारिणः ॥ १० ॥
संविभागोऽत्र भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ११ ॥

जो धार्मिकताका ढोंग दिखानेके लिये अपने नख और बाल बढ़ाकर आया हो, अपने ही मुखसे अपने किये हुए धर्मका विज्ञापन करता हो, अकारण अग्निहोत्रका त्याग कर चुका हो अथवा गुरुके साथ कपट करनेवाला हो, ऐसा मनुष्य भी गृहस्थके घरमें अन्न पानेका अधिकारी है। वहाँ सभी प्राणियोंके लिये अन्न-वितरणकी विधि है। जो अपने हाथसे भोजन नहीं बनाते, ऐसे लोगों (ब्रह्मचारियों और संन्यासियों) के लिये गृहस्थ पुरुषको सदा ही अन्न देना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥ १२ ॥

गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन करना चाहिये। यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान और अमृत माना गया है ॥ १२ ॥

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥ १३ ॥

कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) बताया गया है। पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं ॥

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥ १४ ॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥ १५ ॥
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।
एतान् विमुच्य संवादान् सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ १६ ॥

गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे। इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसीके गुणोंमें दोष न ढूँढ़े। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बकी स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूहके साथ कभी विवाद न करे। जो इन सबके साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १४—१६ ॥

एतैर्जितस्तु जयति सर्वाँल्लोकान् न संशयः ।
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥ १७ ॥
अतिथिस्त्विन्द्रलोकस्य देवलोकस्य चर्त्विजः ।
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवे तु ज्ञातयः ॥ १८ ॥

इनसे हार मानकर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पाता है, इसमें संशय नहीं है। आचार्य ब्रह्मलोकका

स्वामी है, पिता प्रजापतिलोकका ईश्वर है, अतिथि इन्द्रलोकके और ऋत्विज देवलोकके स्वामी हैं। कुटुम्बकी स्त्रियाँ अप्सराओंके लोककी स्वामिनी हैं और जाति-भाई विश्वेदेव लोकके अधिकारी हैं ॥ १७-१८ ॥

सम्बन्धिबान्धवा दिक्षु पृथिव्यां मातृमातुलौ।
वृद्धबालातुरकृशास्त्वाकाशे प्रभविष्णवः ॥ १९ ॥

सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव दिशाओंपर, माता और मामा पृथ्वीपर तथा वृद्ध, बालक और निर्बल रोगी आकाशपर अपना प्रभुत्व रखते हैं। इन सबको संतुष्ट रखनेसे उन-उन लोकों-की प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ २० ॥

बड़ा भाई पिताके समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छायाके समान हैं। बेटी तो और भी अधिक दयनीय है ॥ २० ॥

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥ २१ ॥

अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो सदा क्रोधरहित रहकर सहन कर लेना चाहिये। गृहस्थधर्मका पालन करनेवाले विद्वान् पुरुषको निश्चिन्त होकर क्लेश और थकावटको जीतकर धर्मका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये ॥ २१ ॥

न चार्थबद्धः कर्माणि धर्मवान् कश्चिदाचरेत्।
गृहस्थवृत्तयस्तिस्रस्तासां निःश्रेयसं परम् ॥ २२ ॥

किसी भी धर्मात्मा पुरुषको धनके लोभसे धर्मकर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। गृहस्थ ब्राह्मणके लिये जो तीन आजीविकाकी वृत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ एवं कल्याणकारिणी हैं ॥ २२ ॥

परं परं तथैवाहुश्चातुराश्रम्यमेव तत्।
यथोक्ता नियमास्तेषां सर्वं कार्यं बुभूषता ॥ २३ ॥

इसी प्रकार चारों आश्रम भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं। उन आश्रमोंके जो शास्त्रोक्त नियम हैं, उन सबका अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥ २४ ॥

कुंडेभर अनाजका संग्रह करके अथवा उञ्छशिल (अनाजके एक-एक दाने बीनने अथवा उस अनाजकी बाली बीनने) के द्वारा अन्नका संग्रह करके 'कापोती-वृत्ति' का आश्रय लेनेवाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देशमें निवास करते हैं, उस राष्ट्रकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान्।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः ॥ २५ ॥

जो मनमें तनिक भी क्लेशका अनुभव न करके गृहस्थ-की इन वृत्तियोंके सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढ़ीके पूर्वजोंको तथा दस पीढ़ीतक आगे होनेवाली संतानों-को पवित्र कर देता है ॥ २५ ॥

स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम्।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥ २६ ॥

उसे चक्रधारी श्रीविष्णुके लोकके सदृश उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है अथवा वह जितेन्द्रिय पुरुषको मिलनेवाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥ २७ ॥

उदारचित्तवाले गृहस्थोंको हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है। उनके लिये विमानसहित सुन्दर फूलोंसे सुशोभित परम रमणीय स्वर्ग सुलभ होता है, जिसका वेदोंमें वर्णन है ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम्।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥

मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले गृहस्थोंके लिये स्वर्गलोकको ही प्रतिष्ठाका स्थान नियत किया है। ब्रह्माजीने गार्हस्थ्य-आश्रमको स्वर्गकी प्राप्तिका कारण बनाया है; इसी-लिये इसके पालनका विधान किया गया है। इस प्रकार क्रमशः द्वितीय आश्रम गार्हस्थ्यको पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अतः परं परममुदारमाश्रमं
तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम्।
वनौकसां गृहपतिनामनुत्तमं
शृणुष्व संक्लिष्टशरीरकारिणाम्॥ २९ ॥

इस गृहस्थाश्रमके पश्चात् तीसरा उससे भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ-आश्रम है; जो शरीरको सुखाकर अस्थिचर्मा-वशिष्ट कर देनेवाले तथा वनमें रहकर तपस्यापूर्वक शरीरको त्यागनेवाले वानप्रस्थियोंका आश्रय है। यह गृहस्थोंसे श्रेष्ठतम माना गया है, अब इसके धर्म बताता हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्म और महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

प्रोक्ता गृहस्थवृत्तिस्ते विहिता या मनीषिभिः।
तदनन्तरमुक्तं यत् तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
(व्यासेन कथितं पूर्वं सुताय सुमहात्मने।)

भीष्मजी कहते हैं—बेटा युधिष्ठिर ! मनीषी पुरुषोंद्वारा जिसका विधान एवं आचरण किया गया है, उस गृहस्थ-वृत्तिका मैंने तुमसे वर्णन किया । तदनन्तर व्यासजीने अपने महात्मा पुत्र शुकदेवसे जो कुछ कहा था, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

क्रमशस्त्ववधूयैनां तृतीयां वृत्तिमुत्तमाम् ।
संयोगव्रतखिन्नानां वानप्रस्थाश्रमौकसाम् ॥ २ ॥
श्रूयतां पुत्र भद्रं ते सर्वलोकाश्रमात्मनाम् ।
प्रेक्षापूर्वं प्रवृत्तानां पुण्यदेशनिवासिनाम् ॥ ३ ॥

वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो । गृहस्थकी इस उत्तम तृतीय वृत्तिकी भी उपेक्षा करके सहधर्मिणीके संयोगसे किये जानेवाले व्रत-नियमोंद्वारा जो खिन्न हो चुके हैं तथा वानप्रस्थ-आश्रमको जिन्होंने अपना आश्रय बना लिया है, सम्पूर्ण लोक और आश्रम जिनके अपने ही स्वरूप हैं, जो विचारपूर्वक व्रत और नियमोंमें प्रवृत्त हैं तथा पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं, ऐसे वनवासी मुनियोंका जो धर्म है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २-३ ॥

व्यास उवाच

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत् ॥ ४ ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! गृहस्थ पुरुष जब अपने सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो अपनी आयुका तीसरा भाग व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थ-आश्रममें रहे । वह वानप्रस्थ-आश्रममें भी उन्हीं अग्नियोंका सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रममें उपासना करता था । साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे ॥ ४-५ ॥

नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान् ।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे । दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे । गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है ॥ ६ ॥

अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च ।
हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ ७ ॥

वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार तथा विघस (अतिथियोंको देनेसे बचे हुए) अन्नसे जीवन-निर्वाह करे । वानप्रस्थमें भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे ॥ ७ ॥

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः ।
सद्यःप्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः ॥ ८ ॥

वानप्रस्थ-आश्रममें भी चार प्रकारकी वृत्तियाँ मानी गयी हैं । कोई उतने ही अन्नका संग्रह करते हैं कि तुरंत बना-खाकर बर्तनको धो-माँजकर साफ कर लें अर्थात् वे दूसरे दिनके लिये कुछ नहीं बचाते । कुछ दूसरे लोग वे हैं, जो एक महीनेके लिये अनाजका संग्रह करते हैं ॥ ८ ॥

वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम् ।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥ ९ ॥

कोई वर्षभरके लिये और कोई बारह वर्षोंके लिये अन्नका संग्रह करते हैं । उनका यह संग्रह अतिथि-सेवा तथा यज्ञकर्मके लिये होता है ॥ ९ ॥

अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः ।
ग्रीष्मे च पञ्चतपसः शश्वच्च मितभोजनाः ॥ १० ॥

वे वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें पानीके भीतर खड़े रहते हैं । जब गर्मी आती है, तब पञ्चाग्निसे शरीरको तपाते हैं और सदा स्वल्प भोजन करनेवाले होते हैं ॥

भूमौ विपरिवर्तन्ते तिष्ठन्ति प्रपदैरपि ।
स्थानासनैर्वर्तयन्ति सवनेष्वभिषिञ्चते ॥ ११ ॥

वानप्रस्थी महात्मा जमीनपर लोट-पोट करते, पंजोंके बल खड़े होते, एक स्थानपर आसन लगाकर बैठते तथा तीनों काल स्नान और संध्या करते हैं ॥ ११ ॥

दन्तोलूखलिकाः केचिदश्मकुट्टास्तथा परे ।
शुक्लपक्षे पिबन्त्येके यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ १२ ॥
कृष्णपक्षे पिबन्त्यन्ये भुञ्जते वा यथागतम् ।

कोई दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं, अर्थात् कच्चे अन्नको चबा-चबाकर खाते हैं । दूसरे लोग पत्थरपर कूटकर भोजन करते हैं और कोई-कोई शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एक बार जौका औटाया हुआ माँड़ पीकर रह जाते हैं अथवा समयानुसार जो कुछ मिल जाय वही खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ १२½ ॥

मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः ॥ १३ ॥
वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः ।

वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय लेकर कोई कन्द-मूलसे और कोई-कोई दृढ़ व्रतका पालन करते हुए फूलोंसे ही धर्मानुकूल जीविका चलाते हैं ॥ १३½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधा दीक्षास्तेषां मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः ।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः सम्प्रवर्तते ॥ १५ ॥

उन मनीषी पुरुषोंके लिये ये तथा और भी बहुत-से नाना प्रकारके नियम शास्त्रोंमें बताये गये हैं । चौथे संन्यास-आश्रममें विहित जो उपनिषद्-प्रतिपादित शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधानरूप धर्म है, वह सभी आश्रमोंके लिये साधारण माना गया है, उसका पालन सभी आश्रमवालोंको करना चाहिये; किंतु चौथे आश्रम संन्यासका जो विशेष धर्म है, वह वानप्रस्थ और गृहस्थसे भिन्न है ॥ १४-१५ ॥

अस्मिन्नेव युगे तात विप्रैः सर्वार्थदर्शिभिः ।
अगस्त्यः सप्त ऋषयो मधुच्छन्दोऽघमर्षणः ॥ १६ ॥
सांकृतिः सुदिवा तण्डिर्यथावासोऽकृतश्रमः ।
अहोवीर्यस्तथा काव्यस्ताण्ड्यो मेधातिथिर्बुधः ॥ १७ ॥
बलवान् कर्णनिर्वाकः शून्यपालः कृतश्रमः ।
एतं धर्मं कृतवन्तस्ततः स्वर्गमुपागमन् ॥ १८ ॥

तात ! इस युगमें भी सर्वार्थदर्शी ब्राह्मणोंने इस वानप्रस्थ-धर्मका पालन एवं प्रसार किया । अगस्त्य, सप्तर्षिगण, मधुच्छन्द, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवा, तण्डि, यथावास, अकृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य (शुक्राचार्य), ताण्ड्य, मेधातिथि, बुध, शक्तिशाली कर्ण निर्वाक, शून्यपाल और कृतश्रम—इन सबने इस धर्मका पालन किया, जिससे ये सभी स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ॥ १६–१८ ॥

तात प्रत्यक्षधर्माणस्तथा यायावरा गणाः ।
ऋषीणामुग्रतपसां धर्मनैपुणदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
अन्ये चापरिमेयाश्च ब्राह्मणा वनमाश्रिताः ।
वैखानसा वालखिल्याः सैकताश्च तथा परे ॥ २० ॥

तात ! जिनकी तपस्या उग्र है, जिन्होंने धर्मकी निपुणताको देखा और अनुभव किया है, उन ऋषियोंके यायावर नामक गण भी वानप्रस्थी हैं, जिन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव है । वे तथा और भी असंख्य वनवासी ब्राह्मण, वालखिल्य और सैकत नामवाले दूसरे मुनि भी वैखानस (वानप्रस्थ) धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १९-२० ॥

कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः ॥ २१ ॥
अनक्षत्रास्त्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ।

ये सब ब्राह्मण प्रायः उपवास आदि क्लेशदायक कर्म करनेके कारण लौकिक सुखसे रहित थे । सदा धर्ममें तत्पर रहते और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे । उन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव था । वे सब-के-सब वानप्रस्थी थे । इस लोकसे जानेपर आकाशमें वे नक्षत्र-भिन्न, दुर्धर्ष ज्योतिर्मय तारोंके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं २१½ ॥

जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः ॥ २२ ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्थासे शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगें तो उस आश्रमका परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले) । संन्यासकी दीक्षा लेते समय एक दिनमें पूरा होनेवाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणामें दे डाले ॥ २२-२३ ॥

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥ २४ ॥
सद्यस्कांश्च यजेद् यज्ञानिष्टीश्चैवेह सर्वदा ।
यदैव याजिनां यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥

फिर आत्माका ही यजन, आत्मामें ही रत होकर आत्मामें ही क्रीडा करे । सब प्रकारसे आत्माका ही आश्रय ले । अग्निहोत्रकी अग्नियोंको आत्मामें ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रहको त्याग दे और तुरंत सम्पन्न किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ आदि यज्ञों तथा इष्टियोंका सदा ही मानसिक अनुष्ठान करता रहे । ऐसा तबतक करे, जबतक कि याज्ञिकोंके कर्ममय यज्ञसे हटकर आत्मयज्ञका अभ्यास न हो जाय ॥ २४-२५ ॥

त्रींश्चैवाग्नीन् यजेत् सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात् ।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन् ॥ २६ ॥

आत्मयज्ञका स्वरूप इस प्रकार है, अपने भीतर ही तीनों अग्नियोंकी विधिपूर्वक स्थापना करके देहपात होनेतक प्राणाग्निहोत्र[1]की विधिसे भलीभाँति यजन करता रहे । यजुर्वेदके 'प्राणाय स्वाहा' आदि मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ पहले अन्नके पाँच-छः ग्रास ग्रहण करे (फिर आचमनके पश्चात्) शेष अन्नकी निन्दा न करते हुए मौनभावसे भोजन करे ॥ २६ ॥

केशलोमनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः ।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थ मुनि केश, लोम और नख कटाकर कर्मोंसे पवित्र हो वानप्रस्थ-आश्रमसे पुण्यमय संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ २७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ २८ ॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकमें जाता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

सुशीलवृत्तो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च कर्तुमीहते ।
अरोषमोहो गतसंधिविग्रहो
भवेदुदासीनवदात्मविन्नरः ॥ २९ ॥

आत्मज्ञानी पुरुष सुशील, सदाचारी और पापरहित होता है । वह इहलोक और परलोकके लिये भी कोई कर्म करना नहीं चाहता । क्रोध, मोह, संधि और विग्रहका त्याग करके वह सब ओरसे उदासीन-सा रहता है ॥ २९ ॥

यमेषु चैवानुगतेषु न व्यथे
स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः ।

१. ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा—ये प्राणाग्निहोत्रके पाँच मन्त्र हैं, भोजन आरम्भ करते समय पहले आचमन करके इनमेंसे एक-एक मन्त्रको पढ़कर एक-एक ग्रास अन्न मुँहमें डाले । इस प्रकार पाँच ग्रास पूरे होनेपर पुनः आचमन कर ले । यही प्राणाग्निहोत्र कहलाता है ।

भवेद् यथेष्टागतिरात्मवेदिनि
न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये ॥ ३० ॥

जो अहिंसा आदि यमों और शौच-संतोष आदि नियमों-का पालन करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करता, संन्यास-आश्रमका विधान करनेवाले शास्त्रके सूत्रभूत वचनोंके अनुसार त्यागमयी अग्निमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे देनेके लिये निरन्तर उत्साह दिखाता है, उसे इच्छानुसार गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । ऐसे जितेन्द्रिय एवं धर्मपरायण आत्मज्ञानीकी मुक्तिके विषयमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ ३० ॥

ततः परं श्रेष्ठमतीव सद्गुणै-
रधिष्ठितं त्रीनधिवृत्तिमुत्तमम् ।
चतुर्थमुक्तं परमाश्रमं शृणु
प्रकीर्त्यमानं परमं परायणम् ॥ ३१ ॥

जो वानप्रस्थ-आश्रमसे उत्कृष्ट तथा अपने सद्गुणोंके कारण अति ही श्रेष्ठ है, जो पूर्वोक्त तीनों आश्रमोंसे ऊपर है, जिसमें शम आदि गुणोंका अधिक विकास होता है, जो सबसे श्रेष्ठ और सबकी परम गति है, उस सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम-का यद्यपि वर्णन किया गया है, तथापि पुनः विशेषरूपसे उसका प्रतिपादन करता हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

संन्यासीके आचरण और ज्ञानवान् संन्यासीकी प्रशंसा

शुक उवाच

वर्तमानस्तथैवात्र वानप्रस्थाश्रमे यथा ।
योक्तव्योऽऽत्मा कथं शक्त्या वेद्यं वै काङ्क्षता परम् ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंमें जैसे शास्त्रोक्त नियमके अनुसार चलना आवश्यक है, उसी प्रकार इस वानप्रस्थ आश्रममें भी शास्त्रोक्त नियमका पालन करते हुए चलना चाहिये । यह सब तो मैंने सुन लिया । अब मैं यह जानना चाहता हूँ, जो जानने योग्य परब्रह्म परमात्माको पाना चाहता हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार उस परमात्माका चिन्तन कैसे करना चाहिये ? ॥

व्यास उवाच

प्राप्य संस्कारमेताभ्यामाश्रमाभ्यां ततः परम् ।
यत्कार्यं परमार्थं तु तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके धर्मोंद्वारा चित्तका संस्कार (शोधन) करनेके अनन्तर मुक्तिके लिये जो वास्तविक कर्तव्य है, उसे बताता हूँ, तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पङ्क्तिक्रमसे स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थमें चित्तके राग-द्वेष आदि दोषोंको पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थआश्रम संन्यासको ग्रहण कर ले ॥

तद् भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ।
एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४ ॥

बेटा ! तुम इस संन्यास-धर्मके नियमोंको सुनो और उन्हें अभ्यासमें लाकर उसीके अनुसार बर्ताव करो । संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही संन्यास-धर्मका पालन करे ॥ ४ ॥

एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते ।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ५ ॥

जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं । संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे; केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय ॥ ५ ॥

अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः ।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥ ६ ॥

वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे । चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करके मौनभावसे रहे । हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे ॥ ६ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥ ७ ॥

भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे । वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे । जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे । किसीको साथ न रखे और सब प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे । ये सब संन्यासीके लक्षण हैं ॥ ७ ॥

यस्मिन् वाचः प्राविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ८ ॥

जैसे डरे हुए हाथी भागकर किसी जलाशयमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर सहसा निकलकर अपने पूर्व स्थानको नहीं लौटते उसी प्रकार जिस पुरुषमें दूसरोंके कहे हुए निन्दात्मक या प्रशंसात्मक वचन समा जाते हैं, परंतु प्रत्युत्तरके रूपमें वे वापस पुनः नहीं लौटते अर्थात् जो किसीकी की हुई निन्दा

या स्तुतिका कोई उत्तर नहीं देता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है ॥ ८ ॥

नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित् ।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात् कथंचन ॥ ९ ॥

संन्यासी किसीकी निन्दा करनेवाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर देखे नहीं, कभी किसीका निन्दात्मक वचन सुने नहीं तथा विशेषतः ब्राह्मणोंके प्रति किसी प्रकार न कहने योग्य बात न कहे ॥ ९ ॥

यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत् ।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः ॥ १० ॥

जिससे ब्राह्मणोंका हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले । अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बनको भवरोगसे छूटनेकी दवा समझकर इसका सेवन करता रहे ॥

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११ ॥

जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूपसे स्थित होनेके कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाशमें परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असङ्ग होनेके कारण लोगोंसे भरे हुए स्थानको भी सूना समझता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं ॥ ११ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १२ ॥

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वल्कल आदि) वस्तुसे अपना शरीर ढक लेता है, समयपर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसीसे भूख मिटा लेता है और जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं ॥ १२ ॥

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १३ ॥

जो जनसमुदायको सर्प-सा समझकर उसके निकट जानेसे डरता है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्तिको नरक-सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियोंको मुर्दोंके समान समझकर उनकी ओरसे विरक्त होता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥

न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १४ ॥

जो सम्मान प्राप्त होनेपर हर्षित, अपमानित होनेपर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ १४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥

संन्यासी न तो जीवनका अभिनन्दन करे और न मृत्युका ही । जैसे सेवक स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार उसे भी कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत् ।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ १६ ॥

संन्यासी अपने चित्तको राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित न होने दे । अपनी वाणीको निन्दा आदि दोषोंसे बचावे और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर सर्वथा शत्रुहीन हो जाय । जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो उसे किसीसे क्या भय हो सकता है ? ॥ १६ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः ।
तस्य मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ १७ ॥

जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है तथा जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोहमुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता ॥ १७ ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ १८ ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते ।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥ १९ ॥

जैसे पैरोंद्वारा चलनेवाले अन्य प्राणियोंके सम्पूर्ण पदचिह्न हाथीके पदचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार सारा धर्म और अर्थ अहिंसाके अन्तर्भूत है । जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह सदा अमृत (जन्म और मृत्युके बन्धनसे मुक्त) होकर निवास करता है ॥ १८-१९ ॥

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः ।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २० ॥

जो हिंसा न करनेवाला, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंको शरण देनेवाला है, वह अत्यन्त उत्तम गति पाता है ॥ २० ॥

एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः ।
न मृत्युरतिगो भावः स मृत्युमधिगच्छति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो ज्ञानानन्दसे तृप्त होकर भय और कामनाओंसे रहित हो गया है, उसपर मृत्युका जोर नहीं चलता । वह स्वयं ही मृत्युको लाँघ जाता है ॥ २१ ॥

विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥

जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर मुनिवृत्तिसे रहता है, आकाशकी भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभावसे रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ॥ २२ ॥

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २३ ॥

जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान् श्रीहरिके लिये होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालनमें ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं ॥ २३ ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥

जो कामनाओंसे रहित तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, नमस्कार और स्तुतिसे दूर रहता तथा सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ २४ ॥

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी सुखमें प्रसन्न होते और दुःखसे बहुत डरते हैं; अतः प्राणियोंपर भय आता देखकर जिसे खेद होता है, उस श्रद्धालु पुरुषको भयदायक कर्म नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

दानं हि भूताभयदक्षिणायाः
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति
सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः ॥ २६ ॥

इस जगत्में जीवोंको अभयकी दक्षिणा देना सब दानोंसे बढ़कर है । जो पहलेसे ही हिंसाका त्याग कर देता है, वह सब प्राणियोंसे निर्भय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

उत्तान आस्ये न हविर्जुहोति
लोकस्य नाभिर्जगतः प्रतिष्ठा ।
तस्याङ्गमङ्गानि कृताकृतं च
वैश्वानरः सर्वमिदं प्रपेदे ॥ २७ ॥

जो संन्यासी खोले हुए मुखमें 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे प्राणोंके लिये अन्नकी आहुति नहीं देता, अपितु प्राणों (इन्द्रिय-मन आदि) को ही आत्मामें होम देता—लीन करता है, उसका मस्तक आदि सारा अङ्गसमुदाय तथा किया हुआ और नहीं किया हुआ कर्मसमूह अग्निका ही अवयव हो जाता है अर्थात् वह उस अग्निका स्वरूप हो जाता है, जो सृष्टिके आरम्भसे ही प्राणियोंके नाभिस्थान—उदरमें जठरानलरूपमें विराजमान है तथा सम्पूर्ण जगत्का आश्रय है । उस वैश्वानर (अग्नि) ने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है ॥ २७ ॥

प्रादेशमात्रे हृदि निःसृतं यत्
तस्मिन् प्राणानात्मयाजी जुहोति ।
तस्याग्निहोत्रं हुतमात्मसंस्थं
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ॥ २८ ॥

आत्मयज्ञ करनेवाला ज्ञानी पुरुष नाभिसे लेकर हृदय-तकका जो प्रादेशमात्र स्थान है, उसमें प्रकट हुई जो चैतन्य-ज्योति है, उसीमें समस्त प्राणोंकी—इन्द्रिय, मन आदिकी आहुति देता है अर्थात् समस्त प्राणादिका आत्मामें लय करता है । उसका प्राणाग्निहोत्र यद्यपि अपने शरीरके भीतर ही होता है तथापि वह सर्वात्मा होनेके कारण उसके द्वारा देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें प्राणाग्निहोत्रकर्म सम्पन्न हो जाता है; अर्थात् उसके प्राणोंकी तृप्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राण तृप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

देवं त्रिधातुं त्रिवृतं सुपर्णं
ये विद्युरग्र्यां परमात्मतां च ।
ते सर्वलोकेषु महीयमाना
देवाः समर्त्याः सुकृतं वदन्ति ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्में अपने चिन्मयस्वरूपसे प्रकाशित होता है, तीन धातु (वर्ण—अकार, उकार, मकार) अर्थात् प्रणव जिसका वाचक है, जो सत्त्व आदि तीनों गुणोंमें—त्रिगुणमयी मायामें उसके नियन्तारूपसे विद्यमान है तथा जिसके जगत्-सम्बन्धी व्यापार वृक्षके सुन्दर पत्तोंके समान विस्तारको प्राप्त हुए हैं, उस अन्तर्यामी पुरुषको तथा उसकी उत्तम परब्रह्मस्वरूपताको जो जानते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें सम्मानित होते हैं और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण देवता उनके शुभकर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च वेद्यं तु विधिं च कृत्स्न-
मथो निरुक्तं परमार्थतां च ।
सर्वं शरीरात्मनि यः प्रवेद
तस्यैव देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण वेदशास्त्र, ज्ञेय वस्तु (आकाश आदि भूत और भौतिक जगत्), समस्त विधि (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द-प्रमाणगम्य परलोक आदि) और परमार्थता (आत्माकी सत्यस्वरूपता)—यह सब कुछ शरीरके भीतर विद्यमान आत्मामें ही प्रतिष्ठित है । ऐसा जो जानता है, उस सर्वात्मा ज्ञानी पुरुषकी सेवाके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ ३० ॥

भूमावसक्तं दिवि चाप्रमेयं
हिरण्मयं योऽण्डजमण्डमध्ये ।
पतत्रिणं पक्षिणमन्तरिक्षे
यो वेद भोग्यात्मनि रश्मिदीप्तः ॥ ३१ ॥

जो पृथ्वीपर रहकर भी उसमें आसक्त नहीं है, अनन्त आकाशमें अप्रमेयभावसे स्थित है, जो हिरण्मय (चिन्मय ज्योतिस्वरूप), अण्डज—ब्रह्माण्डके भीतर प्रादुर्भूत और अण्ड-पिण्डात्मक शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदय-कमलके आसनपर, भोग्यात्मा (शरीर) के अन्तर्गत हृदयाकाशमें जीवरूपसे विराजमान है; जिसमें अनेक अङ्गदेवता छोटे-छोटे पंखोंके समान शोभा पाते हैं तथा जो मोद और प्रमोद नामक दो प्रमुख पंखोंसे शोभायमान है; उस सुवर्णमय पक्षीरूप जीवात्मा एवं ब्रह्मको जो जानता है, वह ज्ञानकी तेजोमयी किरणोंसे प्रकाशित होता है ॥ ३१ ॥

आवर्तमानमजरं विवर्तनं
षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व ।
यस्येदमास्ये परियाति विश्वं
तत् कालचक्रं निहितं गुहायाम् ॥ ३२ ॥

जो निरन्तर घूमता रहता है, कभी जीर्ण या क्षीण नहीं होता, जो लोगोंकी आयुको क्षीण करता है, छः ऋतुएँ जिसकी नाभि हैं, बारह महीने जिसके अरे हैं, दर्शपौर्णमास आदि जिसके सुन्दर पर्व हैं; यह सम्पूर्ण विश्व जिसके मुँहमें भक्ष्य पदार्थके समान जाता है, वह कालचक्र बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है (उसे जो जानता है, देवगण उसके शुभकर्म-की प्रशंसा करते हैं) ॥ ३२ ॥

यः सम्प्रसादो जगतः शरीरं
सर्वान् स लोकानधिगच्छतीह ।
तस्मिन् हितं तर्पयतीह देवां-
स्ते वै तृप्तास्तर्पयन्त्यास्यमस्य ॥ ३३ ॥

जो मनको प्रसन्नता प्रदान करता है, इस जगत्का शरीर है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसके विराट् शरीरमें विराजित है, वह परमात्मा इस जगत्में सब लोकोंको घेरे हुए स्थित है । उस परमात्मामें ध्यानद्वारा स्थापित किया हुआ मन, इस देहमें स्थित देवताओं–प्राणोंको तृप्त करता है और वे तृप्त हुए प्राण उस ज्ञानीके मुखको ज्ञानामृतसे तृप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

तेजोमयो नित्यमयः पुराणो
लोकाननन्तानभयानुपैति ।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्
स भूतानां न त्रसते कदाचित् ॥ ३४ ॥

जो ब्रह्मज्ञानमय तेजसे सम्पन्न और पुरातन नित्य-ब्रह्म-परायण है, वह भिक्षु अनन्त एवं निर्भय लोकोंको प्राप्त होता है । जिससे जगत्के प्राणी कभी भयभीत नहीं होते, वह भी संसारके प्राणियोंसे कभी भय नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

अगर्हणीयो न च गर्हतेऽन्यान्
स वै विप्रः परमात्मानमीक्षेत् ।
विनीतमोहो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च सोऽन्नमृच्छति ॥ ३५ ॥

जो न तो स्वयं निन्दनीय है और न दूसरोंकी निन्दा करता है, वही ब्राह्मण परमात्माका दर्शन कर सकता है । जिसके मोह और पाप दूर हो गये हैं, वह इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः
प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः ।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रिय-
श्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ३६ ॥

ऐसे संन्यासीको रोष और मोह नहीं छू सकते । वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है । पाँच कोशोंका अभिमान त्याग देता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है । उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय । वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी श्रेष्ठता, उसके दर्शनका उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेशके पात्रका निर्णय

व्यास उवाच

प्रकृत्यास्तु विकारा ये क्षेत्रज्ञस्तैरधिष्ठितः ।
न चैनं ते प्रजानन्ति स तु जानाति तानपि ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! देह, इन्द्रिय और मन आदि जो प्रकृतिके विकार हैं, वे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के ही आधारपर स्थित रहते हैं । वे जड होनेके कारण क्षेत्रज्ञको नहीं जानते; परंतु क्षेत्रज्ञ उन सबको जानता है ॥ १ ॥

तैश्चैवं कुरुते कार्यं मनःषष्ठैरिहेन्द्रियैः ।
सुदान्तैरिव संयन्ता दृढैः परमवाजिभिः ॥ २ ॥

जैसे चतुर सारथि अपने वशमें किये हुए बलवान् और उत्तम घोड़ोंसे अच्छी तरह काम लेता है, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ भी अपने वशमें किये हुए मनसहित इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करता है ॥ २ ॥

इन्द्रियेभ्यः परे ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय बलवान् हैं, विषयोंसे मन बलवान् है, मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे जीवात्मा बलवान् है ॥ ३ ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् परतोऽमृतम् ।
अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ४ ॥

जीवात्मासे बलवान् है अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अव्यक्तसे बलवान् और श्रेष्ठ है अमृतस्वरूप परमात्मा । उस परमात्मासे बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है । वही श्रेष्ठता-की चरम सीमा और परम गति है ॥ ४ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ वह परमात्मा इन्द्रियोंद्वारा प्रकाशमें नहीं आता । सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा ही अपनी सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ बुद्धिद्वारा उसका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ६ ॥
ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः ।
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ॥ ७ ॥

योगी बुद्धिके द्वारा मनसहित इन्द्रियों और उनके विषयोंको अन्तरात्मामें लीन करके नाना प्रकारके चिन्तनीय विषयका चिन्तन न करता हुआ जब विवेकद्वारा विशुद्ध किये हुए मनको ध्यानके द्वारा सब ओरसे पूर्णतया उपरत करके अपनेको कुछ भी करनेमें असमर्थ बना लेता है अर्थात् सर्वथा कर्तापनके अभिमानसे शून्य हो जाता है, तब उसका मन अविचल परम शान्ति-

सम्पन्न हो जाता है और वह अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ६-७ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा चलितस्मृतिः ।
आत्मनः सम्प्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥ ८ ॥

जिसका मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वशमें होता है, वह मनुष्य विवेक-शक्तिको खो देता है और अपनेको काम आदि शत्रुओंके हाथोंमें सौंपकर मृत्युका कष्ट भोगता है ॥ ८ ॥

आहृत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् ।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत् ॥ ९ ॥

अतः सब प्रकारके संकल्पोंका नाश करके चित्तको सूक्ष्म बुद्धिमें लीन करे । इस प्रकार बुद्धिमें चित्तका लय करके वह कालपर विजय पा जाता है ॥ ९ ॥

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते॥ १० ॥

चित्तकी पूर्ण शुद्धिसे सम्पन्न हुआ यत्नशील योगी इस जगत्‌में शुभ और अशुभको त्याग देता है और प्रसन्नचित्त एवं आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुखका उपभोग करता है ।१०।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥ ११ ॥

मनुष्य नींदके समय जैसे सुखसे सोता है—सुषुप्तिके सुखका अनुभव करता है, अथवा जैसे वायुरहित स्थानमें जलता हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, एकतार जला करता है, उसी प्रकार मन कभी चञ्चल न हो, यही उसके प्रसादका अर्थात् परम शुद्धिका लक्षण है ॥ ११ ॥

एवं पूर्वापरे काले युञ्जन्नात्मानमात्मनि ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १२ ॥

जो मिताहारी और शुद्धचित्त होकर रातके पहले और पिछले पहरोंमें उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाता है, वही अपने अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन करता है ॥ १२ ॥

रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम् ।
आत्मप्रत्ययिकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥ १३ ॥

बेटा ! मैंने जो यह उपदेश दिया है, यह परमात्माका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है । यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है । केवल अनुमान या आगमसे इसका ज्ञान नहीं होता, अनुभवसे ही यह ठीक-ठीक समझमें आता है ॥ १३ ॥

धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्याने च यद् वसु ।
दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ १४ ॥

धर्म और सत्यके जितने भी आख्यान हैं, उन सबका यह सारभूत धन है । ऋग्वेदकी दस हजार ऋचाओंका मन्थन करके यह अमृतमय सारतत्त्व निकाला गया है ॥१४॥

नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्र हेतोः समुद्धृतम् ॥ १५ ॥

बेटा ! मनुष्य जैसे दहीसे मक्खन निकालते हैं और काठसे आग प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी विद्वानोंके लिये ज्ञानजनक यह मोक्षशास्त्र शास्त्रोंको मथकर निकाला है ॥

स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् ।
तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने ॥ १६ ॥

बेटा ! व्रतधारी स्नातकोंको ही तुम इस मोक्षशास्त्रका उपदेश करना । जिसका मन शान्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं तथा जो तपस्वी नहीं है, उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च ।
नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥ १७ ॥
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च ।

जो वेदका विद्वान् न हो, अनुगत भक्त न हो, दोषदृष्टिसे रहित न हो, सरल स्वभावका न हो और आज्ञाकारी न हो तथा तर्कशास्त्रकी आलोचना करते-करते जिसका हृदय दग्ध—रस-शून्य हो गया हो और जो दूसरोंकी चुगली खाता हो—ऐसे लोगोंको इस ज्ञानका उपदेश देना उचित नहीं है ॥ १७½ ॥

श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय तपस्विने ॥ १८ ॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय च ।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथंचन ॥ १९ ॥

जो तत्त्वज्ञानकी अभिलाषा रखनेवाला, स्पृहणीय गुणोंसे युक्त, शान्तचित्त, तपस्वी एवं अनुगत शिष्य हो अथवा इन्हीं गुणोंसे युक्त प्रिय पुत्र हो, उसीको इस गूढ़ रहस्यमय धर्मका उपदेश देना चाहिये; दूसरे किसीको किसी प्रकार भी नहीं ॥ १८-१९ ॥

यद्यप्यस्य महीं दद्याद् रत्नपूर्णामिमां नरः ।
इदमेव ततः श्रेय इति मन्येत तत्त्ववित् ॥ २० ॥

यदि कोई मनुष्य रत्नोंसे भरी हुई यह सम्पूर्ण पृथ्वी देने लगे तो भी तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझे कि इस सारे धनकी अपेक्षा यह ज्ञान ही श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् ।
यत् तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥ २१ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ २२ ॥

बेटा ! तुम मुझसे जो प्रश्न कर रहे हो, उसके अनुसार मैं इससे भी गूढ़तर अर्थवाले अलौकिक अध्यात्मज्ञानका उपदेश करूँगा, जिसे महर्षियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है और जिसका वेदान्तशास्त्र—उपनिषदोंमें गान किया गया है ॥ २१-२२ ॥

यच्च ते मनसि वर्तते परं
यत्र चास्ति तव संशयः क्वचित् ।
श्रूयतामयमहं तवाग्रतः
पुत्र किं हि कथयामि ते पुनः ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे मनमें जो वस्तु सर्वश्रेष्ठ जान पड़ती हो तथा जिसके विषयमें तुम्हें कहीं संशय हो रहा हो, उसे पूछो और उसके उत्तरमें मैं जो कुछ तुम्हारे सामने कहूँ, उसे सुनो ! बोलो, मैं फिर तुम्हें किस विषयका उपदेश करूँ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४६॥

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महाभूतादि तत्त्वोंका विवेचन

शुक उवाच

अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व मे ।
यदध्यात्मं यथा वेद भगवन्नृषिसत्तम ॥ १ ॥

शुकदेवजीने कहा—भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब पुनः मुझे अध्यात्मज्ञानका विस्तारपूर्वक उपदेश दीजिये । अध्यात्म क्या है और उसे मैं कैसे जानूँगा ? ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अध्यात्मं यदिदं तात पुरुषस्येह पठ्यते ।
तत् तेऽहं वर्तयिष्यामि तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! मनुष्यके लिये शास्त्रमें जो यह अध्यात्मविषयकी चर्चा की जाती है, उसका परिचय मैं तुम्हें दे रहा हूँ; तुम अध्यात्मकी यह व्याख्या सुनो ॥२॥

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश एव च ।
महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें स्थित हैं । जैसे समुद्रकी लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ये पाँचों महाभूत प्राणियोंके शरीरके रूपमें जन्म ग्रहण करते और विलीन होते रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वन्महान्ति भूतानि यवीयःसु विकुर्वते ॥ ४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको सब ओर फैलाकर फिर समेट लेता है, इसी प्रकार ये सारे महाभूत छोटे-छोटे शरीरोंमें विकृत होते—उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं ॥४॥

इति तन्मयमेवेदं सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्गे च प्रलये चैव तस्मिन् निर्दिश्यते तथा ॥ ५ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् पञ्चभूतमय ही है । सृष्टिकालमें पञ्चभूतोंसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और प्रलयके समय उन्हींमें सबका लय बताया जाता है ॥५॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तात वैषम्यं यस्मिन् यदनुपश्यति ॥ ६ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण शरीरोंमें पाँच ही भूत हैं तथापि लोगोंको उनमेंसे जिसमें जो वैषम्य दिखायी देता है, उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त प्राणियोंमें उनके कर्मानुसार ही न्यूनाधिकरूपमें उन भूतोंका समावेश किया है ॥ ६ ॥

शुक उवाच

अकरोद् यच्छरीरेषु कथं तदुपलक्षयेत् ।
इन्द्रियाणि गुणाः केचित् कथं तानुपलक्षयेत् ॥ ७ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! देवता, मनुष्य, पशु और पक्षी आदिके शरीरोंमें विधाताने जो वैषम्य किया है, उसको किस प्रकार लक्ष्य किया जाय ? शरीरमें इन्द्रियाँ भी हैं और कुछ गुण भी हैं, उन्हें कैसे देखा जाय—उनमेंसे कौन किस महाभूतके कार्य हैं, इसकी पहचान कैसे हो ? ॥ ७ ॥

व्यास उवाच

एतत् ते वर्तयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
शृणु तत् त्वमिहैकाग्रो यथातत्त्वं यथा च तत् ॥ ८ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! मैं इस विषयका क्रमशः और यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन करूँगा । यह समस्त विषय तत्त्वतः जैसा है, वह सब तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम् ।
प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः ॥ ९ ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय तथा शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीनों वस्तुएँ आकाशसे उत्पन्न हुई हैं । प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श—ये तीनों वायुके गुण (कार्य) हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते ।
रसोऽथ रसनं स्नेहो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसः॥ १० ॥

रूप, नेत्र और जठरानल—इन तीन रूपोंमें अग्निका ही कार्य प्रकट हुआ है । रस, रसना और स्नेह—ये तीनों जलके कार्य हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः ।
एतावानिन्द्रियग्रामैर्व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः ॥ ११ ॥

गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीनों भूमिके गुण हैं । इस प्रकार इन्द्रियसमुदायसहित यह शरीर पाञ्चभौतिक बताया गया है ॥ ११ ॥

वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते ।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः ॥ १२ ॥

स्पर्श वायुका, रस जलका और रूप तेजका गुण बताया जाता है एवं शब्द आकाशका और गन्ध भूमिका गुण माना गया है ॥ १२ ॥

मनो बुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते स्वयोनिजाः ।
न गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमागताः ॥ १३ ॥

मन, बुद्धि और स्वभाव (अहंभाव)—ये तीनों अपने कारणभूत पूर्वसंस्कारोंसे उत्पन्न हुए हैं। ये तीनों पाञ्चभौतिक होते हुए भी भूतोंके अन्य कार्य जो श्रोत्रादि हैं, उनसे श्रेष्ठ हैं तो भी गुणोंका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं कर पाते हैं ॥ १३ ॥

यथा कूर्म इहाङ्गानि प्रसार्य विनियच्छति।
एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिः सृष्ट्वा नियच्छति ॥ १४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर फैलाकर फिर उन्हें वहाँसे हटा लेती है ॥ १४ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ्मूर्ध्नश्च पश्यति।
एतस्मिन्नेव कृत्ये तु वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥ १५ ॥

पैरोंसे ऊपर और मस्तकसे नीचे मनुष्य जो कुछ देखता है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरको जो अहंभावसे देखना है, इस कार्यमें उत्तम बुद्धि प्रवृत्त होती है। तात्पर्य यह कि शरीरमें जो अहंभावका अनुभव है, वह बुद्धिका ही रूपान्तर है ॥ १५ ॥

गुणान् नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १६ ॥

बुद्धि ही शब्द आदि गुणोंको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके पास बार-बार ले जाती है और बुद्धि ही मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंके पास पुनः-पुनः खींच ले जाती है; यदि इनके साथ बुद्धि न रहे तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द आदि विषयोंका अनुभव कैसे हो सकता है ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञं पुनरष्टमम् ॥ १७ ॥

मनुष्यके शरीरमें पाँच इन्द्रियाँ हैं। छठा तत्त्व मन है। सातवाँ तत्त्व बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ बताया गया है ॥ १७ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

आँख देखनेका काम करती है, (यह उपलक्षण है। इससे सभी इन्द्रियोंके कार्यका लक्ष्य कराया गया है) मन संदेह करता है और बुद्धि उसका निश्चय करती है; किंतु क्षेत्रज्ञ (आत्मा) उन सबका साक्षी कहलाता है ॥ १८ ॥

रजस्तमश्च सत्त्वं च यत्र एते स्वयोनिजाः।
समाः सर्वेषु भूतेषु तान् गुणानुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये तीनों अपने कारणभूत मूल प्रकृतिसे प्रकट हुए हैं; वे तीनों गुण सब प्राणियोंमें समानरूपसे रहते हैं। उनकी पहचान उनके कार्योंद्वारा करे ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव संशुद्धं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २० ॥

जब अपनेमें कुछ प्रसन्नतायुक्त विशुद्ध और शान्त-सा भाव दिखायी दे, तब यह निश्चय करे कि सत्त्वगुण प्रवृत्त हुआ है ॥

यत् तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥ २१ ॥

शरीर अथवा मनमें जब कुछ संतापयुक्त भाव दृष्टिगोचर हो, तब वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ २१ ॥

यत् तु सम्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधार्यताम् ॥ २२ ॥

जब मोहयुक्त भाव मनपर छा जाय, किसी भी विषयमें कोई बात स्पष्ट न जान पड़े, जब तर्क भी काम न दे और किसी तरह कोई बात समझमें न आवे, तब समझना चाहिये कि तमोगुण प्रवृत्त हुआ है ॥ २२ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता।
अकस्माद् यदि वा कस्माद् वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः॥२३॥

जब अतिशय हर्ष, प्रेम, आनन्द, समता और स्वस्थचित्तता—ये सद्गुण अकस्मात् या किसी कारणवश विकसित हों, तब समझना चाहिये कि ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २३ ॥

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २४ ॥

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह और असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारणसे प्रकट हुए हों अथवा बिना कारणके हर एक परिस्थितिमें रजोगुणके ही चिह्न माने गये हैं ।२४।

तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता।
कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान जिस किसी कारणसे हो जायँ, उन्हें तमोगुणका कार्य जानना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

बुद्धिकी श्रेष्ठता और प्रकृति-पुरुष-विवेक

व्यास उवाच

मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी।
हृदयं प्रियाप्रिये वेद त्रिविधा कर्मचोदना ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र! कर्म करनेमें तीन प्रकारसे प्रेरणा प्राप्त होती है। पहले तो मन संकल्पमात्रसे नाना प्रकारके भावकी सृष्टि करता है, बुद्धि उसका निश्चय करती है। तत्पश्चात् हृदय उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव करता है। (इसके बाद कर्ममें प्रवृत्ति होती है)॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः ॥ २ ॥

इन्द्रियोंसे उनके विषय बलवान् हैं (क्योंकि वे बलात् इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं), उन विषयोंसे मन बलवान् है (क्योंकि वह इन्द्रियोंको उनसे हटानेमें समर्थ है)। मनसे बुद्धि बलवान् है (क्योंकि वह मनको वशमें रख सकती है) और बुद्धिसे आत्मा बलवान् माना गया है (क्योंकि वह बुद्धिको सम बनाकर स्वाधीन कर सकता है) ॥ २ ॥

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनाऽऽत्मनि ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥ ३ ॥

बुद्धि प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है, इसलिये वह जीवात्माके समान ही उनकी आत्मा मानी गयी है । बुद्धि ही स्वयं अपने भीतर जब भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये विकृत हो नाना प्रकारके रूप धारण करती है, तब वही मन बन जाती है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावाद् बुद्धिर्विक्रियते ह्यतः ।
शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी क्रियाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं । अतः उन्हींके लिये बुद्धि नाना प्रकारके रूप धारण करती है । वही जब सुनती है तो श्रोत्र कहलाती है और स्पर्श करते समय स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नामसे पुकारी जाती है ॥ ४ ॥

पश्यती भवते दृष्टी रसती रसनं भवेत् ।
जिघ्रती भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥ ५ ॥

वही देखते समय दृष्टि और रसास्वादनके समय रसना हो जाती है । जब वह गन्धको ग्रहण करती है, तब वही घ्राणेन्द्रिय कहलाती है । इस प्रकार बुद्धि ही पृथक्-पृथक् विकृत होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेष्वदृश्योऽधितिष्ठति ।
तिष्ठती पुरुषे बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ॥ ६ ॥

बुद्धिके इन विकारोंको ही इन्द्रियाँ कहते हैं । अदृश्य जीवात्मा उन सबमें अधिष्ठित है । बुद्धि उस जीवात्मामें ही स्थित हो सात्त्विक आदि तीनों भावोंमें रहती है ॥ ६ ॥

कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह युज्यते ॥ ७ ॥

इसी हेतुसे वह कभी प्रेम और प्रसन्नता लाभ करती है (यह उसका सात्त्विक भाव है)। कभी शोकमें डूबती है (यह उसका राजस भाव है) । और कभी न तो सुखसे युक्त होती है एवं न दुःखसे ही; उसपर मोह छाया रहता है (यही उसका तामस भाव है) ॥ ७ ॥

सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते ।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ ८ ॥

जैसे उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त सरिताओंका स्वामी समुद्र कभी-कभी अपनी विशाल तटभूमिको भी लाँघ जाता है, उसी प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित होनेपर इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है ॥ ८ ॥

यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः ।
अधिष्ठानानि वै बुद्ध्यां पृथगेतानि संस्मरेत् ।
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि कृत्स्नशः ॥ ९ ॥

मनुष्य जब किसी वस्तुकी इच्छा करता है, तब उसकी बुद्धि मनके रूपमें परिणत हो जाती है । ये जो एक दूसरेसे पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके भाव हैं, इन्हें बुद्धिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये । 'मेधा' कहते हैं रूप आदिके ज्ञानको, उसमें हितकर या सहायक होनेके कारण इन्द्रियाँ 'मेध्य' कही गयी हैं । योगीको सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वाण्येवानुपूर्व्येण यद् यदानुविधीयते ।
अविभागगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ १० ॥

बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमेंसे जब जिस इन्द्रियके साथ हो जाती है, उस समय पहले अलग न होनेपर भी वह बुद्धि संकल्पात्मक मन एवं घटादि पदार्थोंमें उपस्थित होती है अर्थात् बुद्धिसे अनुगृहीत होनेपर ही कोई भी इन्द्रिय संकल्पजनित घट-पटादिको क्रमशः ग्रहण करती है ॥ १० ॥

ये चैव भावा वर्तन्ते सर्वे एष्वेव ते त्रिषु ।
अन्वर्थाः सम्प्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥ ११ ॥

जगत्में जो भी नाना भाव हैं, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों भावोंके ही अन्तर्गत हैं । जैसे अरे रथकी नेमिसे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार सभी भाव सात्त्विक आदि गुणोंके अनुगामी हैं ॥ ११ ॥

प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः ।
निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥ १२ ॥

बुद्धिरूप अधिष्ठानमें स्थित हुई उदासीनभावसे स्वभावके अनुसार यथासम्भव विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंद्वारा मन दीपकका कार्य करता है अर्थात् जैसे दीपक अपनी प्रभाद्वारा घटादि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मन नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा घट-पट आदि वस्तुओंका दर्शन एवं ग्रहण कराता है ॥ १२ ॥

एवं स्वभावमेवेदमिति विद्वान् न मुह्यति ।
अशोचन्नप्रहृष्यन् हि नित्यं विगतमत्सरः ॥ १३ ॥

इस जगत्का ऐसा ही परिवर्तनस्वभाव है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ता, हर्ष और शोक नहीं करता तथा ईर्ष्या-द्वेष आदिसे रहित रहता है ॥ १३ ॥

न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः ।
प्रवर्तमानैरनये दुष्करैरकृतात्मभिः ॥ १४ ॥

जो दुष्कर्मपरायण और अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे अज्ञानी पुरुष अन्यायपूर्वक मनोवाञ्छित विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंद्वारा आत्माका दर्शन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ्नियच्छति ।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ॥ १५ ॥

परंतु जब मनुष्य अपने मनके द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोरको सदा पकड़े रहकर उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर लेता है; तब उसे ज्ञानके प्रकाशमें आत्माका दर्शन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें किसी वस्तुकी आकृति स्पष्ट दिखायी देती है ॥ १५ ॥

सर्वेषामेव भूतानां तमस्यपगते यथा ।
प्रकाशं भवते सर्वं तथेदमुपधार्यताम् ॥ १६ ॥

जैसे अन्धकार दूर हो जानेपर सभी प्राणियोंके सामने प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार यह निश्चितरूपसे समझ लो कि अज्ञानका नाश होनेपर ही ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है ॥ १६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन् ।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ॥ १७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलमें विचरता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी संसारमें रहकर भी उसके गुण और दोषोंसे लिपायमान नहीं होता ॥ १७ ॥

एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयांश्चरन् ।
असज्जमानः सर्वेषु कथंचन न लिप्यते ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जिसकी बुद्धि शुद्ध है, वह स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियोंमें आसक्त न होनेके कारण विषयोंका सेवन करता हुआ भी किसी प्रकार उनके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१८॥

त्यक्त्वा पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि ।
सर्वभूतात्मभूतस्य गुणवर्गेष्वसज्जतः ॥ १९ ॥

जो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारोंका त्याग करके सदा परमात्मामें ही अनुराग रखता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा हो जाता है और विषयोंमें कभी आसक्त नहीं होता ॥

सत्त्वमात्मा प्रसरति गुणान् वापि कदाचन ।
न गुणा विदुरात्मानं गुणान् वेद स सर्वदा ॥ २० ॥
परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम् ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ॥ २१ ॥

जीवात्मा कभी बुद्धिकी ओर झुकता है और कभी गुणोंकी ओर । गुण आत्माको नहीं जानते, किंतु आत्मा गुणोंको सदा जानता रहता है, क्योंकि वह गुणोंका द्रष्टा और यथावत्रूपसे स्रष्टा भी है । यद्यपि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ दोनों ही सूक्ष्म वस्तु हैं, किंतु उन दोनोंमें यही अन्तर समझो कि बुद्धि दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है ॥ २०-२१ ॥

सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ।
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ॥ २२ ॥

इन दोनोंमेंसे एक (बुद्धि) तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता है । वे दोनों स्वरूपतः एक दूसरेसे पृथक् हैं; परंतु सदा संयुक्त रहते हैं ॥

यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ।
मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सह ॥ २३ ॥

जैसे मछली जलसे भिन्न है, फिर भी वे एक दूसरेसे संयुक्त रहते हैं । जैसे गूलर और उसके कीड़े एक दूसरेसे पृथक् हैं तथापि परस्पर संयुक्त रहते हैं । उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञको भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक् च सह चैव च ।
तथैव सहितावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ॥ २४ ॥

जैसे मूँजमें जो सींक है, वह उससे पृथक् है तो भी वे दोनों साथ ही रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञ सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी दोनों साथ-साथ और एक दूसरेके आश्रित रहते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानके साधन तथा ज्ञानीके लक्षण और महिमा

व्यास उवाच

सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वधितिष्ठति ।
गुणान् विक्रियतः सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! प्रकृति ही गुणोंकी सृष्टि करती है । क्षेत्रज्ञ—आत्मा तो उदासीनकी भाँति उन सम्पूर्ण विकारशील गुणोंको देखा करता है । वह स्वाधीन एवं उनका अधिष्ठाता है ॥ १ ॥

स्वभावयुक्तं तत् सर्वं यदिमान् सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥ २ ॥

जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तुओंकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार प्रकृति भी समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थोंको उत्पन्न करती है । प्रकृति जो इन सब विषयोंकी सृष्टि करती है, वह सब उसके स्वभावसे ही होता है ॥ २ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ३ ॥

किन्हींका मत है कि तत्त्वज्ञानसे जब गुणोंका नाश कर दिया जाता है, तब भी वे सर्वथा नष्ट नहीं होते; किंतु तत्त्वज्ञके लिये उनकी उपलब्धि नहीं होती अर्थात् उसका उनसे सम्बन्ध नहीं रहता । दूसरे लोग मानते हैं कि उनकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं रहता ॥

उभयं सम्प्रधार्यैतदध्यवस्येद् यथामति ।
अनेनैव विधानेन भवेद् गर्भशयो महान् ॥ ४ ॥

इन दोनों मतोंपर अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करके सिद्धान्तका निश्चय करे। इस प्रकार निश्चय करनेसे (बार-बार) गर्भमें शयन करनेवाला जीव महान् हो जाता है ॥ ४ ॥

अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः॥ ५ ॥

आत्मा आदि और अन्तसे रहित है। उसे जानकर मनुष्य सदा हर्ष, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो विचरता रहे॥

इत्येवं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
अनित्यं सुखमासीत अशोचंश्छिन्नसंशयः॥ ६ ॥

साधकको चाहिये कि बुद्धिके चिन्ता आदि धर्मोंसे सुदृढ़ हुई हृदयकी अविद्यामयी अनित्य ग्रन्थिको उपर्युक्त प्रकारसे काटकर शोक और संदेहसे रहित हो सुखपूर्वक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाय ॥ ६ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्व्या यथा पूर्णां नदीं नराः।
अवगाढा ह्यविद्वांसो विद्धि लोकमिमं तथा ॥ ७ ॥

जैसे तैरनेकी कला न जाननेवाले मनुष्य यदि किनारेकी भूमिसे जलपूर्ण नदीमें गिर पड़ते हैं तो गोते खाते हुए महान् क्लेश सहन करते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य इस संसार-सागरमें डूबकर कष्ट भोगते रहते हैं—ऐसा समझो ॥ ७ ॥

न तु ताम्यति वै विद्वान् स्थले चरति तत्त्ववित्।
एवं यो विन्दतेऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥ ८ ॥

परंतु जो तैरना जानता है, वह कष्ट नहीं उठाता। वह तो जलमें भी स्थलकी ही भाँति चलता है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता संसार-सागरसे पार हो जाता है ॥ ८ ॥

एवं बुद्ध्वा नरः सर्वं भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य च वैषम्यं लभते शममुत्तमम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके आवागमनको जानता तथा उनकी विषम अवस्थापर विचार करता है, उसे परम उत्तम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

एतद् वै जन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम् ॥ १० ॥

विशेषरूपसे ब्राह्मणमें और समानभावसे मनुष्यमात्रमें इस ज्ञानको प्राप्त करनेकी जन्मसिद्ध शक्ति है। मन और इन्द्रियोंका संयम तथा आत्मज्ञान मोक्ष-प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन है ॥ १० ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम्।
विज्ञायैतद् विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ११ ॥

शम और आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध हो जाता है। ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण हो सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस आत्मतत्त्वको जानकर कृतार्थ और मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचिद्
भवति हि या विदुषः सनातनी ॥ १२ ॥

परलोकमें जो अज्ञानी मनुष्योंको महान् भय प्राप्त होता है, वह महान् भय ज्ञानी पुरुषोंको नहीं होता। ज्ञानीको जो सनातन गति प्राप्त होती है, उससे बढ़कर उत्तम गति और किसीको भी प्राप्त नहीं होती ॥ १२ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तत् तदेव च निरीक्ष्य शोचते।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥ १३ ॥

कुछ लोग मनुष्योंको दुखी और रोगी देखकर उनमें दोष-दृष्टि करते हैं और दूसरे लोग उनकी वह अवस्था देखकर शोक करते हैं। परंतु जो कार्य और कारण दोनोंको तत्त्वसे जानते हैं, वे शोक नहीं करते। तुम उन्हीं लोगोंको वहाँ कुशल समझो ॥ १३ ॥

यत् करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति तत् पुराकृतम्।
न प्रियं तदुभयं न चाप्रियं
तस्य तज्जनयतीह कुर्वतः ॥ १४ ॥

कर्मपरायण मनुष्य निष्कामभावसे जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वह पहलेके किये हुए सकाम या अशुभ कर्मोंको भी नष्ट कर देता है; इस प्रकार कर्म करनेवाले साधकके कर्म इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी उसका भला-बुरा या दोनों कुछ भी नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी प्राप्तिका साधन, संसार-नदीका वर्णन और ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति

शुक उवाच

यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! इस जगत्में जिस धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है तथा जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, उसका आप मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

धर्मं ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम्।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा! मैं ऋषियोंके बताये हुए

उस प्राचीन धर्मका, जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, तुमसे यहाँ वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य यत्नतः ।
सर्वतो निष्पतिष्णूनि पिता बालानिवात्मजान् ॥ ३ ॥

जैसे पिता अपने छोटे पुत्रोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार मनुष्यको चाहिये कि वह सब विषयोंपर टूट पड़नेवाली अपनी प्रमथनशील इन्द्रियोंका बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक संयम करके उन्हें वशमें रखे ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ ४ ॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है । यही सब धर्मोंसे श्रेष्ठतम परम धर्म बताया जाता है ॥४॥

तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया ।
आत्मतृप्त इवासीत बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ५ ॥

मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा स्थिर करके बहुत-से चिन्तनीय विषयोंका चिन्तन न करते हुए अपनी आत्मामें तृप्त-सा होकर निश्चिन्त और निश्चल हो जाय ॥५॥

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम्॥ ६ ॥

जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर अपने निवासस्थानमें स्थित हो जायँगी, उस समय तुम स्वयं ही उस सनातन परमात्माका दर्शन कर लोगे ॥ ६ ॥

सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥

धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबका आत्मा और परम महान् है । महात्मा एवं ज्ञानी ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं ॥ ७ ॥

यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः ।
आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥ ८ ॥
एवमात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतस्त्वहम् ।
अन्यो ह्यत्रान्तरात्मास्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥ ९ ॥

जैसे फल और फूलोंसे भरा हुआ अनेक शाखाओंसे युक्त विशाल वृक्ष अपने ही विषयमें यह नहीं जानता कि कहाँ मेरा फूल है और कहाँ मेरा फल है; उसी प्रकार जीवात्मा यह नहीं जानता कि मैं कहाँसे आया हूँ और कहाँ जाऊँगा । किंतु शरीरमें जीवसे पृथक् दूसरा ही अन्तरात्मा है, जो सबको सब प्रकारसे निरन्तर देखता रहता है ॥ ८–९ ॥

ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
दृष्ट्वा त्वमात्मनाऽऽत्मानं निरात्मा भव सर्ववित् ॥१०॥

पुरुष प्रज्वलित ज्ञानमय प्रदीपके द्वारा अपनेमें ही परमात्माका दर्शन करता है; इसी प्रकार तुम भी आत्माद्वारा परमात्माका साक्षात्कार करके सर्वज्ञ और स्वाभिमानसे रहित हो जाओ ।१०।

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः ।
परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः ॥ ११ ॥

केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पके समान सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो उत्तम बुद्धि पाकर तुम यहाँ पाप और चिन्तासे रहित हो जाओ ॥ ११ ॥

सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥ १२ ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥ १३ ॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम् ॥ १४ ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥ १५ ॥

यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकमें प्रवाहित हो रही है । इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहोंके समान हैं । मनके संकल्प ही इसके किनारे हैं । लोभ और मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है । काम और क्रोध इसमें सर्पके समान निवास करते हैं । सत्य इसका घाट है । मिथ्या इसकी हलचल है । क्रोध ही कीचड़ है । यह नदी दूसरी नदियोंसे श्रेष्ठ है । यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है । इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है । अजितात्मा पुरुषोंके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूप ग्राह सब ओर भरे हैं । यह नदी संसार-सागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है । तात ! यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है । जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है । तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इस नदीको पार कर जाओ ॥ १२–१५ ॥

यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः ।
तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मविच्छुचिः।१६।
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्मभूयान् भविष्यसि ।
संतीर्णः सर्वसंसारात् प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥ १७ ॥

धैर्यशाली, मनीषी और तत्त्वज्ञानी लोग जिस नदीको पार करते हैं, उसे तुम भी तैर जाओ । सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, संयतचित्त, आत्मज्ञ और पवित्र हो जाओ । उत्तम बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय ले तुम सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे छूट जाओगे और निष्पाप एवं प्रसन्नचित्त हो ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाओगे ॥ १६-१७ ॥

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥ १८ ॥

जैसे पर्वतके शिखरपर खड़ा हुआ पुरुष धरतीपर रहनेवाले समस्त प्राणियोंको सुस्पष्ट देखता है, उसी प्रकार तुम भी ज्ञानरूपी शैलशिखरपर आरूढ़ हो समस्त प्राणियोंकी अवस्थापर दृष्टिपात करो । क्रोध और हर्षसे रहित हो जाओ तथा बुद्धिकी क्रूरतासे भी रहित हो जाओ ॥ १८ ॥

ततो द्रक्ष्यसि सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
एनं वै सर्वभूतेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः ।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥

ऐसा करनेसे तुम समस्त भूतोंके उत्पत्ति और प्रलयको देख सकोगे । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तत्त्वदर्शी ज्ञानी मुनि इस धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १९ ॥

आत्मनो व्यापिनो ज्ञानमिदं पुत्रानुशासनम् ।
प्रयताय प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च ॥ २० ॥

बेटा ! यह उपदेश व्यापक आत्माका ज्ञान करानेवाला है । जो संयतचित्त, हितैषी और अनुगत भक्त हो, उसीके समक्ष इसका वर्णन करना चाहिये ॥ २० ॥

आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत् ।
अब्रुवं यदहं तात आत्मसाक्षिकमञ्जसा ॥ २१ ॥

यह गोपनीय आत्मज्ञान सबसे अधिक गुह्यतम और महान् है । तात ! मैंने जिसका उपदेश किया है, वह यथार्थतः मेरे अपने प्रत्यक्ष अनुभवमें लाया हुआ ज्ञान है ॥ २१ ॥

नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव चेदं नपुंसकम् ।
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम् ॥ २२ ॥

दुःख और सुखसे रहित तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमानस्वरूप ब्रह्म तो न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है ॥

नैतज्ज्ञात्वा पुमान् स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुते ।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद् धर्मं विधीयते ॥ २३ ॥

पुरुष हो या स्त्री, इस ब्रह्मको जान ले तो उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता । अपुनर्भवस्थिति प्राप्त करनेके लिये ही इस ब्रह्मज्ञानरूप धर्मका विधान किया गया है ॥२३॥

यथा मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा ।
कथितानि मया पुत्र भवन्ति न भवन्ति च ॥ २४ ॥

बेटा ! सारे विभिन्न मत जैसे रहे हैं, वैसे ही मेरेद्वारा तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे बताये गये हैं । जो इन मतोंका अनुसरण करते हैं; वे मुक्त हो जाते हैं, जो नहीं करते हैं, वे नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

तत् प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन
पुत्रेण सत्पुत्र दमान्वितेन ।
पृष्टो हि सम्प्रीतमना यथार्थं
ब्रूयात् सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥ २५ ॥

सत्पुत्र शुकदेव ! प्रीतियुक्त, गुणवान् तथा इन्द्रियसंयमी पुत्र यदि प्रश्न करे तो पिता संतुष्टचित्त होकर उस जिज्ञासु पुत्रके समीप यथार्थरूपसे इस ज्ञानका उपदेश करे, जो कुछ मैंने तुम्हारे निकट कहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके लक्षण और परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

व्यास उवाच

गन्धान् रसान् नानुरुन्ध्यात् सुखं वा
नालंकारांश्चाप्नुयात् तस्य तस्य ।
मानं च कीर्तिं च यशश्च नेच्छेत्
स वै प्रचारः पश्यतो ब्राह्मणस्य ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! साधकको चाहिये कि गन्ध और रस आदि विषयोंका उपभोग न करे, विषयसेवन-जनित सुखकी ओर न जाय, स्वर्ण आदिके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंको भी न धारण करे तथा मान, बड़ाई और यशकी इच्छा न करे, यही ज्ञानवान् ब्राह्मणका आचार है ॥ १ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान् ।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न स वै द्विजः ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर ले, गुरुकी सेवामें रहे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले, वही मुख्य ब्राह्मण है ॥ २ ॥

ज्ञातिवत् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित् ।
नाकामो म्रियते जातु न तेन न च वै द्विजः ॥ ३ ॥

जो समस्त प्राणियोंको अपने कुटुम्बकी भाँति समझकर उनपर दया करता है । जाननेयोग्य तत्त्वका ज्ञाता तथा सब वेदोंका तत्त्वज्ञ है और कामनासे रहित है । वह कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है । इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ब्राह्मण नहीं है ऐसी बात नहीं, किंतु वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ३ ॥

इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान् ।
प्राप्नोति नैव ब्राह्मण्यमविधानात् कथंचन ॥ ४ ॥

नाना प्रकारकी इष्टियों और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमात्रसे बिना विधानके अर्थात् बिना आत्मज्ञानके किसीको किसी तरह भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ४ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

जिस समय वह दूसरे प्राणियोंसे नहीं डरता और दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते तथा जब वह इच्छा और द्वेषका सर्वथा परित्याग कर देता है, उसी समय उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी

बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥

जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है । जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥

कामनासे मुक्त हुआ रजोगुणरहित धीर पुरुष धूमिल रंगके बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी भाँति निर्मल होकर धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ ८ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामः॥ ९ ॥

जैसे नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं॥

स कामकान्तो न तु कामकामः
स वै कामात् स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥

भोग ही उस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना करते हैं, परंतु वह भोगोंकी कामना नहीं रखता । जो कामभोग चाहनेवाला देहाभिमानी है, वह कामनाओंके फल-स्वरूप स्वर्गलोकमें चला जाता है॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥ ११ ॥

वेदका सार है सत्य वचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान और दानका सार है तपस्या ॥

तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥

तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका सार है शान्ति ॥ १२ ॥

क्लेदनं शोकमनसोः संतापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि संतोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम् ॥ १३ ॥

मनुष्यको संतोषपूर्वक रहकर शान्तिके उत्तम उपाय सत्त्वगुणको अपनानेकी इच्छा करनी चाहिये । सत्त्वगुण मनकी तृष्णा, शोक और संकल्पको उसी प्रकार जलाकर नष्ट करनेवाला है, जैसे गरम जल चावलको गला देता है ॥

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और संतोषी—इन छः लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्णतः ज्ञानसे तृप्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः ।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥

जो देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्त्वप्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम—इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप त्रिविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्माको इस शरीरके रहते हुए ही जान लेते हैं, वे परम शान्तिरूप गुणको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम् ।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभावसिद्ध, संस्कारशून्य तथा शरीरके भीतर स्थित सुकृत नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १६ ॥

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा॥ १७ ॥

अपने मनको इधर-उधर जानेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्णरूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जिस संतोष और सुखकी प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपायसे प्राप्त होना असम्भव है॥

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान् ।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

जिससे बिना भोजनके भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होनेसे निर्धनको भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलनेसे घृत आदि स्निग्ध पदार्थका सेवन किये बिना भी मनुष्य अपनेमें अनन्त बलका अनुभव करता है, उस ब्रह्मको जो जानता है, वही वेदोंका तत्त्वज्ञ है ॥ १८ ॥

संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन् ।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥ १९ ॥

जो अपनी इन्द्रियोंके सुरक्षित द्वारोंको सब ओरसे बंद करके नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है ॥ १९ ॥

समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम् ।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

जो अपनी कामनाओंको नष्ट करके परम तत्त्वरूप परमात्मामें एकाग्रचित्त होकर स्थित है, उसका सुख शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति सब ओरसे बढ़ता रहता है ॥ २० ॥

अविशेषाणि भूतानि गुणांश्च जहतो मुनेः ।
सुखेनापोह्यते दुःखं भास्करेण तमो यथा ॥ २१ ॥

जो सामान्यतः सम्पूर्ण भूतों और भौतिक गुणोंका त्याग कर देता है, उस मुनिका दुःख उसी प्रकार सुखपूर्वक अनायास नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदयसे अन्धकार ॥ २१ ॥

तमतिक्रान्तकर्माणमतिक्रान्तगुणक्षयम् ।
ब्राह्मणं विषयाश्लिष्टं जरामृत्यू न विन्दतः ॥ २२ ॥

गुणोंके ऐश्वर्य तथा कर्मोंका परित्याग करके विषयवासनासे रहित हुए उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषको जरा और मृत्यु नहीं प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

स यदा सर्वतो मुक्तः समः पर्यवतिष्ठते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च शरीरस्थोऽतिवर्तते ॥ २३ ॥

जब मनुष्य समस्त बन्धनोंसे पूर्णतया मुक्त होकर समतामें स्थित हो जाता है, उस समय इस शरीरके भीतर रहकर भी वह इन्द्रियों और उनके विषयोंकी पहुँचके बाहर हो जाता है॥

कारणं परमं प्राप्य अतिक्रान्तस्य कार्यताम् ।
पुनरावर्तनं नास्ति सम्प्राप्तस्य परं पदम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार जो परम कारणस्वरूप ब्रह्मको पाकर कार्यमयी प्रकृतिकी सीमाको लाँघ जाता है, वह ज्ञानी परमपदको प्राप्त हो जाता है । उसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीरमें पञ्चभूतोंके कार्य और गुणोंकी पहचान

व्यास उवाच

द्वन्द्वानि मोक्षजिज्ञासुरर्थधर्मावनुष्ठितः ।
वक्त्रा गुणवता शिष्यः श्राव्यः पूर्वमिदं महत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! जो अर्थ और धर्मका अनुष्ठान करके सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहता हो और मोक्षकी जिज्ञासा रखता हो, उस श्रद्धालु शिष्यको गुणवान् वक्ता पहले इस महत्त्वपूर्ण अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराये ॥ १ ॥

आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पञ्चमी ।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

आकाश, वायु, जल, तेज और पाँचवाँ पृथ्वी तथा भावपदार्थ अर्थात् गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय एवं अभाव और काल (दिक्, आत्मा और मन)—ये सब-के-सब समस्त पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियोंमें स्थित हैं ॥

अन्तरात्मकमाकाशं तन्मयं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तस्य शब्दं गुणं विद्यान्मूर्तिशास्त्रविधानवित् ॥ ३ ॥

आकाश अवकाशस्वरूप है और श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है । शरीर-शास्त्रके विधानको जाननेवाला मनुष्य शब्दको आकाशका गुण जाने ॥ ३ ॥

चरणं मारुतात्मेति प्राणापानौ च तन्मयौ ।
स्पर्शनं चेन्द्रियं विद्यात् तथा स्पर्शं च तन्मयम् ॥ ४ ॥

चलना-फिरना वायुका धर्म है । प्राण और अपान भी वायुस्वरूप ही हैं (समान, उदान और व्यानको भी वायुरूप ही मानना चाहिये)। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) तथा स्पर्श नामक गुणको भी वायुमय ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तापः पाकः प्रकाशश्च ज्योतिश्चक्षुश्च पञ्चमम् ।
तस्य रूपं गुणं विद्यात् ताम्रगौरासितात्मकम् ॥ ५ ॥

ताप, पाक, प्रकाश और नेत्रेन्द्रिय—ये सब तेज या अग्नितत्त्वके कार्य हैं । श्याम, गौर और ताम्र आदि वर्णवाले रूपको उसका गुण समझना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रक्लेदः क्षुद्रता स्नेह इत्यपामुपदिश्यते ।
असृङ्मज्जा च यच्चान्यत् स्निग्धं विद्यात् तदात्मकम् ॥ ६ ॥

क्लेदन (किसी वस्तुको सड़ा-गला देना), क्षुद्रता (सूक्ष्मता) तथा स्निग्धता—ये जलके धर्म बताये जाते हैं । रक्त, मज्जा तथा अन्य जो कुछ स्निग्ध पदार्थ है, उस सबको जलमय समझे ॥ ६ ॥

रसनं चेन्द्रियं जिह्वा रसश्चापां गुणो मतः ।
संघातः पार्थिवो धातुरस्थिदन्तनखानि च ॥ ७ ॥

रसनेन्द्रिय, जिह्वा और रस—ये सब जलके गुण माने गये हैं । शरीरमें जो संघात या कड़ापन है, वह पृथ्वीका कार्य है, अतः हड्डी, दाँत और नख आदिको पृथ्वीका अंश समझना चाहिये ॥ ७ ॥

श्मश्रु रोम च केशाश्च शिरा स्नायु च चर्म च ।
इन्द्रियं घ्राणसंज्ञातं नासिकेत्यभिसंज्ञिता ॥ ८ ॥
गन्धश्चेवेन्द्रियार्थोऽयं विज्ञेयः पृथिवीमयः ।

इसी प्रकार दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोएँ, केश, नाड़ी, स्नायु और चर्म—इन सबकी उत्पत्ति भी पृथ्वीसे ही हुई है । नासिका नामसे प्रसिद्ध जो घ्राणेन्द्रिय है, वह भी पृथ्वीका ही अंश है । इस गन्धनामक विषयको भी पार्थिव गुण ही जानना चाहिये ॥ ८½ ॥

उत्तरेषु गुणाः सन्ति सर्वसत्त्वेषु चोत्तराः ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर सभी भूतोंमें पूर्ववर्ती भूतोंके गुण विद्यमान हैं, (जैसे आकाशमें शब्दमात्र गुण है; वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण; तेजमें शब्द, स्पर्श और रूप —तीन गुण; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—चार गुण तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं)॥ ९ ॥

पञ्चानां भूतसंघानां संततिं मुनयो विदुः ।
मनो नवममेषां तु बुद्धिस्तु दशमी स्मृता ॥ १० ॥

मुनिलोग भावना, अज्ञान और कर्म—इन तीनोंको पाँच महाभूतोंके समुदायकी संतति मानते हैं । इन्हीं तीनोंको अविद्या, काम और कर्म भी कहते है । ये सब मिलकर आठ हुए । इनके साथ मनको नवाँ और बुद्धिको दसवाँ तत्त्व माना गया है ॥ १० ॥

एकादशस्त्वनन्तात्मा स सर्वः पर उच्यते ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम् ।
कर्मानुमानाद् विज्ञेयः स जीवः क्षेत्रसंज्ञकः ॥ ११ ॥

अविनाशी आत्मा ग्यारहवाँ तत्त्व है । उसीको सर्वस्वरूप और श्रेष्ठ बताया जाता है । बुद्धि निश्चयात्मिका होती है और मनका स्वरूप संशय बताया गया है । कर्मोंका ज्ञाता और कर्ता कोई भी जड़तत्त्व नहीं हो सकता, इस अनुमान-ज्ञानसे उस क्षेत्रज्ञ नामक जीवात्माको समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एभिः कालात्मकैर्भावैर्यः सर्वैः सर्वमन्वितम् ।
पश्यत्यकलुषं कर्म स मोहं नानुवर्तते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य सारे जगत्‌को इन समस्त कालात्मक भावोंसे सम्पन्न देखता और निष्पाप कर्म करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे भिन्न जीवात्माका और परमात्माका योगके द्वारा साक्षात्कार करनेका प्रकार

व्यास उवाच

शरीराद् विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम् ।
कर्मभिः परिपश्यन्ति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! योगशास्त्रके ज्ञाता शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीरसे निकले हुए सूक्ष्म स्वरूप जीवात्माको देखते हैं ॥ १ ॥

यथा मरीच्यः सहिताश्चरन्ति
सर्वत्र तिष्ठन्ति च दृश्यमानाः ।
देहैर्विमुक्तानि चरन्ति लोकां-
स्तथैव सत्त्वान्यतिमानुषाणि ॥ २ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें परस्पर मिली हुई ही सर्वत्र विचरती हैं एवं स्थित हुई दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार अलौकिक जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलकर सम्पूर्ण लोकोंमें जाते हैं। (यह ज्ञानदृष्टिसे ही जाननेमें आ सकता है) ॥ २ ॥

प्रतिरूपं यथैवाप्सु तापः सूर्यस्य लक्ष्यते ।
सत्त्ववत्सु तथा सत्त्वं प्रतिरूपं स पश्यति ॥ ३ ॥

जैसे विभिन्न जलाशयोंके जलमें सूर्यकी किरणोंका पृथक्-पृथक् दर्शन होता है, उसी प्रकार योगी पुरुष सभी सजीव शरीरोंके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित पृथक्-पृथक् जीवोंको देखता है ॥

तानि सूक्ष्माणि सत्त्वानि विमुक्तानि शरीरतः ।
स्वेन सत्त्वेन सत्त्वज्ञाः पश्यन्ति नियतेन्द्रियाः ॥ ४ ॥

शरीरके तत्त्वको जाननेवाले जितेन्द्रिय योगीजन उन स्थूलशरीरोंसे निकले हुए सूक्ष्म लिङ्गशरीरोंसे युक्त जीवोंको अपने आत्माके द्वारा देखते हैं ॥ ४ ॥

स्वपतां जाग्रतां चैव सर्वेषामात्मचिन्तितम् ।
प्रधानाद्वैधमुक्तानां जहतां कर्मजं रजः ॥ ५ ॥
यथाहनि तथा रात्रौ यथा रात्रौ तथाहनि ।
वशे तिष्ठति सत्त्वात्मा सततं योगयोगिनाम् ॥ ६ ॥

जो अपने मनमें चिन्तित कर्मजनित रजोगुणका अर्थात् रजोगुणजनित काम आदिका योगबलसे परित्याग कर देते हैं तथा जो प्रकृतिके तादात्म्यभावसे भी मुक्त हैं, उन सभी योगपरायण योगी पुरुषोंका जीवात्मा जैसे दिनमें वैसे रातमें, जैसे रातमें वैसे दिनमें सोते-जागते समय निरन्तर उनके वशमें रहता है ॥ ५-६ ॥

तेषां नित्यं सदा नित्यो भूतात्मा सततं गुणैः ।
सप्तभिस्त्वन्वितः सूक्ष्मैश्चरिष्णुरजरामरः ॥ ७ ॥

उन योगियोंका नित्य-स्वरूप जीव सदा सात सूक्ष्म गुणों (महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) से युक्त हो अजर-अमर देवताओंकी भाँति नित्यप्रति विचरता रहता है ॥७॥

मनोबुद्धिपराभूतः स्वदेहपरदेहवित् ।
स्वप्नेष्वपि भवत्येष विज्ञाता सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

जिन मूढ़ मनुष्योंका जीवात्मा मन और बुद्धिके वशीभूत रहता है, वह अपने और पराये शरीरको जाननेवाला मनुष्य स्वप्न-अवस्थामें भी सूक्ष्म शरीरसे सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ ८ ॥

तत्रापि लभते दुःखं तत्रापि लभते सुखम् ।
क्रोधलोभौ तु तत्रापि कृत्वा व्यसनमृच्छति ॥ ९ ॥

वहाँ (स्वप्नमें भी) उसे दुःख और सुख प्राप्त होते हैं। एवं उस स्वप्नमें भी (जाग्रत्‌की भाँति ही) क्रोध और लोभ करके वह संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

प्रीणितश्चापि भवति महतोऽर्थानवाप्य हि ।
करोति पुण्यं तत्रापि जीवन्निव च पश्यति ॥ १० ॥

वहाँ भी महान् धन पाकर वह प्रसन्न होता है तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है; इतना ही नहीं, जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति वह स्वप्नमें भी सब वस्तुओंको देखता है ॥

महोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान् ।
दश मासान् वसन् कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते ॥ ११ ॥

(यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि) गर्भभावको प्राप्त हुआ जीवात्मा दस मासतक माताके उदरमें निवास करता है और जठरानलकी अधिक आँचसे संतप्त होता रहता है तो भी अन्नकी भाँति पच नहीं जाता ॥ ११ ॥

तमेतमतितेजोऽशं भूतात्मानं हृदि स्थितम् ।
तमोरजोभ्यामाविष्टा नानुपश्यन्ति मूर्तिषु ॥ १२ ॥

यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और देहधारियोंके हृदयमें विराजमान है तथापि जो लोग रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत हैं, वे देहके भीतर उस जीवात्माकी स्थितिको देख या समझ नहीं पाते हैं ॥ १२ ॥

योगशास्त्रपरा भूत्वा तमात्मानं परीप्सवः ।
अनुच्छ्वासान्यमूर्तानि यानि वज्रोपमान्यपि ॥ १३ ॥

जड स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर तथा वज्रतुल्य सुदृढ़ कारण शरीर—ये जो तीन प्रकारके शरीर हैं, इन्हें आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले योगीजन योगशास्त्रपरायण होकर लाँघ जाते हैं ॥ १३ ॥

पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु ।
समाधौ योगमेवैतच्छाण्डिल्यः शममब्रवीत् ॥ १४ ॥

संन्यास-आश्रमके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके बताये गये हैं । उनमें समाधिके विषयमें मैंने जो कुछ बताया है, इसीको शाण्डिल्य मुनिने शमके नामसे (छान्दोग्यउपनिषद् शाण्डिल्य ब्राह्मणमें) कहा है ॥ १४ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।
प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्मानुपश्यति ॥ १५ ॥

जो पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको शाश्वत जानकर एवं छः अङ्गोंसे यानी ऐश्वर्योंसे युक्त महेश्वरका ज्ञान प्राप्त करके इस बातको जान लेता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका परिणाम ही यह सम्पूर्ण जगत् है, वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कामरूपी अद्भुत वृक्षका तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका और शरीररूपी नगरका वर्णन

व्यास उवाच

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥ १ ॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम् ।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरा दुष्कृतसारवान् ॥ २ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! मनुष्यकी हृदयभूमिमें मोहरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम । क्रोध और अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं । कुछ करनेकी इच्छा उसमें जल सींचनेका पात्र है । अज्ञान उसकी जड़ है । प्रमाद ही उसे सींचनेवाला जल है । दूसरोंके दोष देखना उस वृक्षका पत्ता है तथा पूर्व जन्ममें किये हुए पाप उसके सारभाग हैं ॥ १-२ ॥

सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः ।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥ ३ ॥

शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ एवं भय उसके अङ्कुर हैं । मोहमें डालनेवाली तृष्णारूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं ॥ ३ ॥

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः ।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥ ४ ॥

लोभी मनुष्य लोहेकी जंजीरोंके समान वासनाके बन्धनोंमें बँधकर उस फलदायक महान् वृक्षको चारों ओरसे घेरकर आसपास बैठे हैं और उसके फलको प्राप्त करना चाहते हैं ॥

यस्तान् पाशान् वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति ।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥

जो उन वासनाके बन्धनोंको वशमें करके वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उस काम-वृक्षको काट डालता है, वह मनुष्य जरा और मृत्युजनित दोनों प्रकारके दुःखोंसे पार हो जाता है ॥

संरोहत्यकृतप्रज्ञः सदा येन हि पादपम् ।
स तमेव ततो हन्ति विषग्रन्थिरिवातुरम् ॥ ६ ॥

परंतु जो मूर्ख फलके लोभसे सदा उस वृक्षपर चढ़ता है, उसे वह वृक्ष ही मार डालता है; ठीक वैसे ही, जैसे खायी हुई विषकी गोली रोगीको मार डालती है ॥ ६ ॥

तस्यानुगतमूलस्य मूलमुद्ध्रियते बलात् ।
योगप्रसादात् कृतिना साम्येन परमासिना ॥ ७ ॥

उस काम-वृक्षकी जड़ें बहुत दूरतक फैली हुई हैं । कोई विद्वान् पुरुष ही ज्ञानयोगके प्रसादसे समतारूप उत्तम खड्गके द्वारा बलपूर्वक उस वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है ॥

एवं यो वेद कामस्य केवलस्य निवर्तनम् ।
बन्धं वै कामशास्त्रस्य स दुःखान्यतिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो केवल कामनाओंको निवृत्त करनेका उपाय जानता है तथा भोगविधायक शास्त्र बन्धनकारक है—इस बातको समझता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्त्वबुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥ ९ ॥

इस शरीरको पुर या नगर कहते हैं । बुद्धि इस नगरकी रानी मानी गयी है और शरीरके भीतर रहनेवाला मन निश्चयात्मिका बुद्धिरूप रानीके अर्थकी सिद्धिका विचार करनेवाला मन्त्री है ॥

इन्द्रियाणि मनःपौरास्तदर्थं तु पराकृतिः ।
तत्र द्वौ दारुणौ दोषौ तमो नाम रजस्तथा ।
तदर्थमुपजीवन्ति पौराः सह पुरेश्वरैः ॥ १० ॥

इन्द्रियाँ इस नगरमें निवास करनेवाली प्रजा हैं । वे मनरूपी मन्त्रीकी आज्ञाके अधीन रहती हैं । उन प्रजाओंकी रक्षाके लिये मनको बड़े-बड़े कार्य करने पड़ते हैं । वहाँ दो

दारुण दोष हैं, जो रज और तमके नामसे प्रसिद्ध हैं। नगरके शासक मन, बुद्धि और जीव इन तीनोंके साथ समस्त पुरवासी रूप इन्द्रियगण मनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए शब्द आदि विषयोंका उपभोग करते हैं॥ १० ॥

अद्वारेण तमेवार्थं द्वौ दोषावुपजीवतः।
तत्र बुद्धिर्हि दुर्धर्षा मनः सामान्यमश्नुते ॥ ११ ॥

रजोगुण और तमोगुण—ये दो दोष निषिद्धमार्गके द्वारा उस विषय-सुखका आश्रय लेते हैं। वहाँ बुद्धि दुर्धर्ष होनेपर भी मनके साथ रहनेसे उसीके समान हो जाती है॥ ११ ॥

पौराश्चापि मनस्त्रस्तास्तेषामपि चला स्थितिः।
तदर्थं बुद्धिरध्यास्ते सोऽनर्थः परिषीदति ॥ १२ ॥

उस समय इन्द्रियरूपी पुरवासी जन मनके भयसे त्रस्त हो जाते हैं, अतः उनकी स्थिति भी चञ्चल ही रहती है। बुद्धि भी उस अनर्थका ही निश्चय करती है। इसलिये वह अनर्थ आ बसता है॥ १२ ॥

यदर्थं पृथगध्यास्ते मनस्तत्परिषीदति।
पृथग्भूतं मनो बुद्ध्या मनो भवति केवलम् ॥ १३ ॥

बुद्धि जिस विषयका अवलम्बन करती है, मन भी उसीका आश्रय लेता है। मन जब बुद्धिसे पृथक् होता है, तब केवल मन रह जाता है॥ १३ ॥

तत्रैनं विधृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते।
तन्मनः कुरुते सख्यं रजसा सह सङ्गतम्।
तं चादाय जनं पौरं रजसे सम्प्रयच्छति ॥ १४ ॥

उस समय रजोगुणजनित काम मनको आत्माके बलसे युक्त होनेपर भी विवेकसे रहित होनेके कारण सब ओरसे घेर लेता है। तब वह कामसे घिरा हुआ मन उस रजोगुणरूप कामके साथ मित्रता स्थापित कर लेता है। उसके बाद वह मन ही उस इन्द्रियरूप पुरवासीजनको रजोगुणजनित कामके हाथमें समर्पित कर देता है (जैसे राजाका विरोधी मन्त्री राज्य और प्रजाको शत्रुके हाथमें सौंप देता है)॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चभूतोंके तथा मन और बुद्धिके गुणोंका विस्तृत वर्णन

भीष्म उवाच

भूतानां परिसंख्यानं भूयः पुत्र निशामय।
द्वैपायनमुखाद् भ्रष्टं श्लाघया परयानघ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—निष्पाप पुत्र युधिष्ठिर! द्वैपायन व्यासजीके मुखसे वर्णित जो पञ्चमहाभूतोंका निरूपण है, वह मैं पुनः तुम्हें बता रहा हूँ; तुम बड़ी स्पृहाके साथ इस विषयको सुनो॥ १ ॥

दीप्तानलनिभः प्राह भगवान् धूमवर्चसे।
ततोऽहमपि वक्ष्यामि भूयः पुत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥

वत्स! प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भगवान् वेदव्यासने धूमाच्छादित अग्निके सदृश विराजमान अपने पुत्र शुकदेवके समक्ष पहले जिस प्रकार इस विषयका प्रतिपादन किया था, उसे मैं पुनः तुमसे कहूँगा। बेटा! तुम सुनिश्चित दर्शन-शास्त्रको श्रवण करो॥ २ ॥

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः॥ ३ ॥

स्थिरता, भारीपन, कठिनता (कड़ापन), बीजको अङ्कुरित करनेकी शक्ति, गन्ध, विशालता, शक्ति, संघात, स्थापना और धारणशक्ति—ये दस पृथ्वीके गुण हैं॥ ३ ॥

अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा ॥ ४ ॥

शीतलता, रस, क्लेद (गलाना या गीला करना), द्रवत्व (पिघलना), स्नेह (चिकनाहट), सौम्यभाव, जिह्वा, टपकना, ओले या बर्फके रूपमें जम जाना तथा पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले चावल-दाल आदिको गला देना—ये सब जलके गुण हैं॥ ४ ॥

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता॥ ५ ॥

दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हल्कापन, तीक्ष्णता और आगकी लपटोंका सदा ऊपरकी ओर उठना एवं प्रकाशित होना—ये सब अग्निके गुण हैं॥ ५ ॥

वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टाऽऽत्मता भवः ॥ ६ ॥

अनियत स्पर्श, वाक्-इन्द्रियकी स्थिति, चलने-फिरने आदिकी स्वतन्त्रता, बल, शीघ्रगामिता, मल-मूत्र आदिको शरीरसे बाहर निकालना, उत्क्षेपण आदि कर्म, क्रिया-शक्ति, प्राण और जन्म-मृत्यु—ये सब वायुके गुण हैं॥ ६ ॥

आकाशस्य गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रतापि च।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता ॥ ७ ॥
अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च।
गुणाः पञ्चाशतं प्रोक्ताः पञ्चभूतात्मभाविताः ॥ ८ ॥

शब्द, व्यापकता, छिद्र होना, किसी स्थूल पदार्थका आश्रय न होना, स्वयं किसी दूसरे आधारपर न रहना, अव्यक्तता, निर्विकारता, प्रतिघातशून्यता और भूतता अर्थात् श्रवणेन्द्रियका कारण होना और विकृतिसे युक्त होना—ये सब

आकाशके गुण हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके ये पचास गुण बताये गये हैं ॥ ७-८ ॥

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ ९ ॥

धैर्य, तर्क-वितर्कमें कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ एवं अशुभ संकल्प और चञ्चलता—ये मनके नौ गुण हैं ॥ ९ ॥

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥ १० ॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियोंका नाश, विचार, समाधान, संदेह और निश्चय—ये पाँच बुद्धिके गुण माने गये हैं ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं पञ्चगुणा बुद्धिः कथं पञ्चेन्द्रिया गुणाः।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सूक्ष्मज्ञानं पितामह ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! बुद्धिके पाँच ही गुण कैसे हैं? तथा पाँच इन्द्रियाँ भी भूतोंके गुण कैसे हो सकती है? यह सारा सूक्ष्म ज्ञान आप मुझे बताइये ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

आहुः षष्टिं बुद्धिगुणान् वै
भूतविशिष्टा नित्यविषक्ताः।
भूतविभूतीश्चाक्षरसृष्टाः
पुत्र न नित्यं तदिह वदन्ति ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स युधिष्ठिर! महर्षियोंका कहना है कि बुद्धिके साठ गुण हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके पूर्वोक्त पचास गुण तथा बुद्धिके पाँच गुण मिलकर पचपन हुए। इनमें पञ्चभूतोंको भी बुद्धिके गुणरूपसे गिन लेनेपर वे साठ हो जाते हैं। ये सभी गुण नित्य चैतन्यसे मिले हुए हैं। पञ्चमहाभूत और उनकी विभूतियाँ अविनाशी परमात्माकी सृष्टि हैं; परंतु परिवर्तनशील होनेके कारण उसे तत्त्वज्ञ पुरुष नित्य नहीं बताते हैं ॥ १२ ॥

तत् पुत्र चिन्ताकलिलं तदुक्त-
मनागतं वै तव सम्प्रतीह।
भूतार्थतत्त्वं तदवाप्य सर्वं
भूतप्रभावाद् भव शान्तबुद्धिः ॥ १३ ॥

वत्स युधिष्ठिर! अन्य वक्ताओंने जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें पहले जो कुछ कहा है, वह सब वेदविरुद्ध और विचार-दूषित है; अतः इस समय तुम नित्यसिद्ध परमात्माका यथार्थ तत्त्व सुनकर उन्हीं परमेश्वरके प्रभाव एवं प्रसादसे शान्त-बुद्धि हो जाओ ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मृत्युविषयक प्रश्न, नारदजीका राजा अकम्पनसे मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाते हुए ब्रह्माजीकी रोषाग्निसे प्रजाके दग्ध होनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

य इमे पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले।
पृतनामध्य एते हि गतसंज्ञा महाबलाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! ये जो असंख्य भूपाल (प्राणशून्य होकर) इस भूतलपर सेनाके बीचमें सो रहे हैं इनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। ये महान् बलवान् थे तो भी संज्ञाहीन होकर पड़े हैं ॥ १ ॥

एकैकशो भीमबला नागायुतबलास्तथा।
एते हि निहताः संख्ये तुल्यतेजोबलैर्नरैः ॥ २ ॥

इनमेंसे एक-एक नरेश भयानक बलसे सम्पन्न था। दस-दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता था। ये सब-के-सब इस युद्धस्थलमें अपने समान ही तेजस्वी और बलवान् मनुष्यों-द्वारा मारे गये हैं ॥ २ ॥

नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे परम्।
विक्रमेणोपसम्पन्नास्तेजोबलसमन्विताः ॥ ३ ॥

इन प्राणशक्ति-सम्पन्न नरेशोंको कोई दूसरा वीर संग्राम-भूमिमें मार सके—ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता था; क्योंकि वे सब-के-सब बल-पराक्रमसे सम्पन्न और तेजस्वी थे ॥ ३ ॥

अथ चेमे महाप्राज्ञाः शेरते हि गतासवः।
मृता इति च शब्दोऽयं वर्तत्येषु गतासुषु ॥ ४ ॥

किंतु इस समय ये महाबुद्धिमान् भूपाल निष्प्राण होकर पड़े हैं। इनके प्राण निकल जानेपर इनके लिये मृत शब्दका व्यवहार होता है अर्थात् 'ये मर गये' ऐसा कहा जाता है ॥

इमे मृता नृपतयः प्रायशो भीमविक्रमाः।
तत्र मे संशयो जातः कुतः संज्ञा मृता इति ॥ ५ ॥
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिह प्रजाः।
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

ये जो नरेश मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, इनमें बहुत-से भयानक पराक्रमसे सम्पन्न हैं। यहाँ मेरे मनमें यह संदेह होता है कि इन्हें मृत नाम कैसे दिया गया! किसकी मृत्यु होती है? किससे मृत्यु होती है! और किस कारणसे मृत्यु यहाँ समस्त प्राणियोंका अपहरण करती है? देवतुल्य पितामह! मुझे यह सब बतानेकी कृपा करें ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

पुरा कृतयुगे तात राजा ह्यासीदकम्पनः ।
स शत्रुवशमापन्नः संग्रामे क्षीणवाहनः ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! प्राचीन सत्ययुगकी बात है, अकम्पन नामके एक राजा थे । एक समय संग्राममें उनका रथ नष्ट हो गया और वे शत्रुके वशमें पड़ गये ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले ।
स शत्रुभिर्हतः संख्ये सबलः सपदानुगः ॥ ८ ॥

उनके एक पुत्र था, जिसका नाम था हरि । वह बलमें भगवान् नारायणके ही समान जान पड़ता था, परंतु उस समराङ्गणमें शत्रुओंने सेना और सेवकोंसहित उस राजकुमारको मार गिराया ॥ ८ ॥

स राजा शत्रुवशगः पुत्रशोकसमन्वितः ।
यदृच्छया शान्तिपरो ददर्श भुवि नारदम् ॥ ९ ॥

राजा अकम्पन स्वतन्त्र भूपाल न रहकर शत्रुके अधीन हो गये तथा पुत्रके शोकमें डूबे रहने लगे । वे शान्तिका उपाय ढूँढ़ रहे थे । इतनेहीमें दैवेच्छासे भूतलपर विचरते हुए देवर्षि नारदका उन्हें दर्शन हुआ ॥ ९ ॥

तस्मै स सर्वमाचष्ट यथावृत्तं जनेश्वरः ।
शत्रुभिर्ग्रहणं संख्ये पुत्रस्य मरणं तथा ॥ १० ॥

राजाने युद्धस्थलमें शत्रुओंद्वारा अपने पकड़े जाने एवं पुत्रकी मृत्यु होनेका सारा समाचार यथावत् रूपसे नारदजीके सामने कह सुनाया ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नारदोऽथ तपोधनः ।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं तदा ॥ ११ ॥

राजाका वह कथन सुनकर तपस्याके धनी नारदजीने उस समय उनसे यह प्राचीन इतिहास कहना आरम्भ किया, जो उनके पुत्रशोकको मिटानेवाला था ॥ ११ ॥

नारद उवाच

राजञ्छृणु समाख्यानमद्येदं बहुविस्तरम् ।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयेदं वसुधाधिप ॥ १२ ॥

नारदजी बोले—राजन् ! आज यह अत्यन्त विस्तृत आख्यान सुनो । पृथ्वीनाथ ! मैंने इसे जैसा सुना है, वह यथावत् वृत्तान्त तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १२ ॥

प्रजाः सृष्ट्वा महातेजाः प्रजासर्गे पितामहः ।
अतीव वृद्धा बहुला नामृष्यत पुनः प्रजाः ॥ १३ ॥

प्रजाकी सृष्टि करते समय महातेजस्वी पितामह ब्रह्माने जब बहुत-से प्राणियोंकी सृष्टि कर डाली, तब उनकी संख्या बहुत अधिक हो गयी । इतनी अधिक प्रजाओंका होना ब्रह्माजीसे सहन न हो सका ॥ १३ ॥

न ह्यन्तरमभूत् किंचित् कचिज्जन्तुभिरच्युत ।
निरुच्छ्वासमिवोन्नद्धं त्रैलोक्यमभवन्नृप ॥ १४ ॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! उस समय कहीं कोई थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जो जीव-जन्तुओंसे भरा न हो । सारी त्रिलोकी अवरुद्ध हो गयी । लोगोंका कहीं साँस लेना भी असम्भव-सा हो गया—सबका दम घुटने लगा ॥ १४ ॥

तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति भूपते ।
चिन्तयन् नाध्यगच्छच्च संहारे हेतुकारणम् ॥ १५ ॥

भूपाल ! अब ब्रह्माजीके मनमें प्रजाके संहारकी—उनकी संख्या घटानेकी चिन्ता उत्पन्न हुई । वे बहुत देरतक सोचते-विचारते रहे, परंतु प्रजाके संहारका कोई युक्तियुक्त कारण ध्यानमें नहीं आया ॥ १५ ॥

तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत ।
तेन सर्वा दिशो राजन् ददाह स पितामहः ॥ १६ ॥

महाराज ! उस समय रोषवश ब्रह्माजीके नेत्र आदि इन्द्रियगोलकोंसे अग्नि प्रकट हो गयी । राजन् ! उस अग्निसे पितामहने सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करना आरम्भ किया ॥

ततो दिवं भुवं खं च जगच्च सचराचरम् ।
ददाह पावको राजन् भगवत्कोपसम्भवः ॥ १७ ॥

राजन् ! तब भगवान् ब्रह्माके क्रोधसे प्रकट हुई वह आग स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्को जलाने लगी ॥ १७ ॥

तत्रादह्यन्त भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च ।
महता क्रोधवेगेन कुपिते प्रपितामहे ॥ १८ ॥

प्रपितामह ब्रह्माके कुपित होनेपर उनके क्रोधके महान् वेगसे सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी दग्ध होने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽध्वरजटः स्थाणुर्वेदाध्वरपतिः शिवः ।
जगाम शरणं देवो ब्रह्माणं परवीरहा ॥ १९ ॥

तब यज्ञ ही जिनकी जटाएँ हैं तथा जो वेदों और यज्ञोंके प्रतिपालक हैं, वे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कल्याणकारी भगवान् शिव ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १९ ॥

तस्मिन्नभिगते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया ।
अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव तदा शिवम् ॥ २० ॥

प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महादेवजीके अपने सामने आनेपर तेजसे जलते हुए-से परमदेव ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

करवाण्यद्य कं कामं वरार्होऽसि मतो मम ।
कर्ता ह्यस्मि प्रियं शम्भो तव यद्धृदि वर्तते ॥ २१ ॥

'शम्भो ! मैं तुम्हें वर पानेके योग्य समझता हूँ, बोलो, आज तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ ? तुम्हारे हृदयमें जो भी प्रिय मनोरथ हो, उसे मैं पूर्ण करूँगा' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादोपक्रमे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिके संवादका उपक्रमविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महादेवजीकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीके द्वारा अपनी रोषाग्निका उपसंहार तथा मृत्युकी उत्पत्ति

स्थाणुरुवाच

प्रजासर्गनिमित्तं मे कार्यवत्तामिमां प्रभो।
विद्धि सृष्टास्त्वया हीमा मा कुप्यासां पितामह॥ १॥

महादेवजीने कहा—प्रभो! पितामह! मेरा मनोरथ या प्रयोजन आपसे प्रजासर्गकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना है। आप इस बातको जान लें। आपहीने इन प्रजाओंकी सृष्टि की है; अतः आप इनपर क्रोध न कीजिये॥ १॥

तव तेजोऽग्निना देव प्रजा दह्यन्ति सर्वशः।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं मा कुप्यासां जगत्प्रभो॥ २॥

देव! जगदीश्वर! आज आपकी क्रोधाग्निसे सारी प्रजाएँ दग्ध हो रही हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर मुझे दया आती है, आप उनपर क्रोध न करें॥ २॥

प्रजापतिरुवाच

न कुप्ये न च मे कामो न भवेयुः प्रजा इति।
लाघवार्थं धरण्यास्तु ततः संहार इष्यते॥ ३॥

प्रजापति ब्रह्माजी बोले—शिव! मैं प्रजापर कुपित नहीं हूँ और न मेरी यही इच्छा है कि प्रजाओंका विनाश हो जाय। पृथ्वीका भार हल्का करनेके लिये ही प्रजाके संहारकी आवश्यकता प्रतीत हुई है॥ ३॥

इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचोदयत्।
संहारार्थं महादेव भारेणाप्सु निमज्जति॥ ४॥

महादेव! यह पृथ्वीदेवी भारी भारसे पीड़ित हो सदा मुझे प्रजाके संहारके लिये प्रेरित करती रही है; क्योंकि यह जगत्‌के भारसे समुद्रमें डूबी जा रही है॥ ४॥

यदाहं नाधिगच्छामि बुद्ध्या बहु विचारयन्।
संहारमासां वृद्धानां ततो मां क्रोध आविशत्॥ ५॥

जब बहुत विचार करनेपर भी मुझे इन बढ़ी हुई प्रजाओंके संहारका कोई उपाय न सूझा, तब मुझे क्रोध आ गया॥ ५॥

स्थाणुरुवाच

संहारार्थं प्रसीदस्व मा क्रुधो विबुधेश्वर।
मा प्रजाः स्थावरं चैव जङ्गमं च व्यनीनशत्॥ ६॥

महादेवजीने कहा—देवेश्वर! संहारके लिये आप क्रोध न करें। प्रजापर प्रसन्न हों। कहीं ऐसा न हो कि समस्त चराचर प्राणियोंका विनाश हो जाय॥ ६॥

पल्वलानि च सर्वाणि सर्वं चैव तृणोपलम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतग्रामं चतुर्विधम्॥ ७॥
तदेतद् भस्मसाद्भूतं जगत् सर्वमुपप्लुतम्।
प्रसीद भगवन् साधो वर एष वृतो मया॥ ८॥

ये सारे जलाशय, सब-के-सब घास और लता-बेलें तथा चार प्रकारके प्राणिसमुदाय (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज) भस्मीभूत हो रहे हैं। सारे जगत्‌का प्रलय उपस्थित हो गया है। भगवन्! प्रसन्न होइये। साधो! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ॥ ७-८॥

नष्टा न पुनरेष्यन्ति प्रजा ह्येताः कथंचन।
तस्मान्निवर्ततामेतत् तेन स्वेनैव तेजसा॥ ९॥

यदि इन प्रजाओंका नाश हो गया तो ये किसी तरह फिर यहाँ उपस्थित न हो सकेंगी। इसलिये आप अपने ही प्रभावसे इस क्रोधाग्निको निवृत्त कीजिये॥ ९॥

उपायमन्यं सम्पश्य भूतानां हितकाम्यया।
यथामी जन्तवः सर्वे न दह्येरन् पितामह॥ १०॥

पितामह! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये संहारका कोई दूसरा ही उपाय सोचिये, जिससे ये सारे जीव-जन्तु एक साथ ही दग्ध न हो जायँ॥ १०॥

अभावं हि न गच्छेयुरुच्छिन्नप्रजनाः प्रजाः।
अधिदैवे नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेश्वरेश्वर॥ ११॥

लोकेश्वरेश्वर! आपने मुझे देवताओंके आधिपत्य-पदपर नियुक्त किया है, अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यदि प्रजाकी संततिका उच्छेद होगा तो समस्त प्रजाओंका सर्वथा अभाव ही हो जायगा; अतः आप इस विनाशको बंद कीजिये॥

त्वद्भवं हि जगन्नाथ एतत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसाद्य त्वां महादेव याचाम्यावृत्तिजाः प्रजाः॥ १२॥

जगन्नाथ! महादेव! यह समस्त चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः मैं आपको प्रसन्न करके यह याचना करता हूँ कि ये सारी प्रजा पुनरावर्तनशील हो—मरकर पुनः जन्म धारण करे॥ १२॥

नारद उवाच

श्रुत्वा तु वचनं देवः स्थाणोर्नियतवाङ्मनाः।
तेजस्तत् संनिजग्राह पुनरेवान्तरात्मनि॥ १३॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! महादेवजीकी वह बात सुनकर भगवान् ब्रह्माने मन और वाणीका संयम किया तथा उस अग्निको पुनः अपनी अन्तरात्मामें ही लीन कर लिया॥

ततोऽग्निमुपसंगृह्य भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कल्पयामास वै प्रभुः॥ १४॥

तब लोकपूजित भगवान् ब्रह्माने उस अग्निका उपसंहार करके प्रजाके लिये जन्म और मृत्युकी व्यवस्था की॥ १४॥

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः॥ १५॥

उस क्रोधाग्निका उपसंहार करते समय महात्मा ब्रह्माजीकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे एक मूर्तिमती नारी प्रकट हुई॥ १५॥

कृष्णरक्ताम्बरधरा कृष्णनेत्रतलान्तरा।
दिव्यकुण्डलसम्पन्ना दिव्याभरणभूषिता॥ १६॥

उसके वस्त्र काले और लाल थे। आँखोंके निम्न और आभ्यन्तर प्रदेश भी काले रंगके ही थे। वह दिव्य कुण्डलोंसे कान्तिमती तथा अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित थी ॥ १६ ॥

सा विनिःसृत्य वै खेभ्यो दक्षिणामाश्रिता दिशम्।
ददृशाते च तां कन्यां देवौ विश्वेश्वरावुभौ ॥ १७ ॥

वह ब्रह्माजीके इन्द्रियच्छिद्रोंसे निकलकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दी। उस समय उन दोनों जगदीश्वरों (ब्रह्मा और शिव) ने उस कन्याको देखा ॥ १७ ॥

तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः।
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति ॥ १८ ॥

भूपाल! तब लोकोंके आदिकारण भगवान् ब्रह्माने उसे 'मृत्यु' कहकर पुकारा और निकट बुलाकर कहा—'तुम इन प्रजाओंका समय-समयपर विनाश करती रहो ॥ १८ ॥

त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च।
तस्मात् संहर सर्वांस्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ १९ ॥

'मैंने प्रजाके संहारकी भावनासे रोषमें भरकर तुम्हारा चिन्तन किया था; इसलिये तुम मूढ़ और विद्वानोंसहित सम्पूर्ण प्रजाओंका संहार करो ॥ १९ ॥

अविशेषेण चैव त्वं प्रजाः संहर कामिनि।
मम त्वं हि नियोगेन श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'कामिनि! तुम मेरे आदेशसे सामान्यतः सारी प्रजाका संहार करो। इससे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी' ॥२०॥

एवमुक्ता तु सा देवी मृत्युः कमलमालिनी।
प्रदध्यौ दुःखिता बाला साश्रुपातमतीव च ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर कमलोंकी मालासे अलंकृत नवयौवना मृत्यु देवी नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई दुखी हो बड़ी चिन्तामें पड़ गयी ॥ २१ ॥

पाणिभ्यां चैव जग्राह तान्यश्रूणि जनेश्वरः।
मानवानां हितार्थाय ययाचे पुनरेव ह ॥ २२ ॥

तब जनेश्वर ब्रह्माजीने मानवोंके हितके लिये अपने दोनों हाथोंमें मृत्युके आँसू ले लिये। फिर मृत्युने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृत्युकी घोर तपस्या और प्रजापतिकी आज्ञासे उसका प्राणियोंके संहारका कार्य स्वीकार करना

नारद उवाच

विनीय दुःखमबला साऽऽत्मनैवायतेक्षणा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा लतेवावर्जिता तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वह विशाल नेत्रोंवाली अबला स्वयं ही उस दुःखको दूर हटाकर झुकायी हुई लताके समान विनम्र हो हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे बोली—॥

त्वया सृष्टा कथं नारी मादृशी वदतां वर।
रौद्रकर्माभिजायेत सर्वप्राणिभयङ्करी ॥ २ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रजापते! (यदि मुझसे क्रूर कर्म ही कराना था तो) आपने मुझ-जैसी कोमलहृदया नारीको क्यों उत्पन्न किया? क्या मुझ-जैसी स्त्री समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर तथा क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली हो सकती है? ॥ २ ॥

बिभेम्यहमधर्मस्य धर्म्यमादिश कर्म मे।
त्वं मां भीतामवेक्षस्व शिवेनेक्षस्व चक्षुषा ॥ ३ ॥

'भगवन्! मैं अधर्मसे बहुत डरती हूँ। आप मुझे धर्मानुकूल कार्य करनेकी आज्ञा दें। मुझ भयभीत अबलापर दृष्टिपात करें और कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखें ॥ ३ ॥

बालान् वृद्धान् वयःस्थांश्च न हरेयमनागसः।
प्राणिनः प्राणिनामीश नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥ ४ ॥

'समस्त प्राणियोंके अधीश्वर! मैं निरपराध बाल, वृद्ध और तरुण प्राणियोंके प्राण नहीं लूँगी। आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ४ ॥

प्रियान् पुत्रान् वयस्यांश्च भ्रातॄन् मातॄः पितॄनपि।
अपध्यास्यन्ति यद्येवं मृतास्तेषां बिभेम्यहम् ॥ ५ ॥

'जब मैं लोगोंके प्यारे पुत्रों, मित्रों, भाइयों, माताओं तथा पिताओंको मारने लगूँगी, तब उनके सम्बन्धी उनके इस प्रकार मारे जानेके कारण मेरा अनिष्ट-चिन्तन करेंगे; अतः मैं उन लोगोंसे बहुत डरती हूँ ॥ ५ ॥

कृपणाश्रुपरिक्लेदो दहेन्मां शाश्वतीः समाः।
तेभ्योऽहं बलवद् भीता शरणं त्वामुपागता ॥ ६ ॥

'उन दीन-दुखियोंके नेत्रोंसे जो आँसू बहकर उनके कपोलों और वक्षःस्थलको भिगो देगा, वह मुझे सदा अनन्त वर्षोंतक जलाता रहेगा। मैं उनसे बहुत डरी हुई हूँ, इसलिये आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ६ ॥

यमस्य भवने देव पात्यन्ते पापकर्मिणः।
प्रसादये त्वां वरद प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ७ ॥

'वरदायक प्रभो! देव! सुना है कि पापाचारी प्राणी यमराजके लोकमें गिराये जाते हैं, अतः आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करती हूँ, आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह।
इच्छेयं त्वत्प्रसादार्थं तपस्तप्तुं महेश्वर ॥ ८ ॥

'लोकपितामह! महेश्वर! मैं आपसे अपनी एक अभिलाषाकी पूर्ति चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिये कहीं जाकर तप करूँ' ॥ ८ ॥

पितामह उवाच

मृत्यो संकल्पिता मे त्वं प्रजासंहारहेतुना ।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा च विचारय ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो ! प्रजाके संहारके लिये ही मैंने संकल्पपूर्वक तुम्हारी सृष्टि की है । जाओ, सारी प्रजाका संहार करो । इसके लिये मनमें कोई विचार न करो ॥ ९ ॥

एतदेवमवश्यं हि भविता नैतदन्यथा ।
क्रियतामनवद्याङ्गि यथोक्तं मद्वचोऽनघे ॥ १० ॥

यह बात अवश्य ही इसी प्रकार होनेवाली है । इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । निर्दोष अङ्गोंवाली देवि ! मैंने जो बात कही है, उसका पालन करो । इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ १० ॥

एवमुक्ता महाबाहो मृत्युः परपुरंजय ।
न व्याजहार तस्थौ च प्रह्वा भगवदुन्मुखी ॥ ११ ॥

महाबाहो ! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले नरेश ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु उन्हींकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े खड़ी रह गयी—कुछ बोल न सकी ॥ ११ ॥

पुनः पुनरथोक्ता सा गतसत्त्वेव भामिनी ।
तूष्णीमासीत् ततो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ १२ ॥
प्रससाद किल ब्रह्मा स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
स्मयमानश्च लोकेशो लोकान् सर्वानवैक्षत ॥ १३ ॥

उनके बारंबार कहनेपर वह मानिनी नारी निष्प्राण-सी होकर मौन रह गयी । 'हाँ' या 'ना' कुछ भी न बोल सकी । तदनन्तर देवताओंके भी देवता और ईश्वरोंके भी ईश्वर लोकनाथ ब्रह्माजी स्वयं ही अपने मनमें बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराते हुए समस्त लोकोंकी ओर देखने लगे ॥ १२-१३ ॥

निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते ।
सा कन्याथ जगामास्य समीपादिति नः श्रुतम् ॥ १४ ॥

उन अपराजित भगवान् ब्रह्माका रोष निवृत्त हो जानेपर वह कन्या भी उनके निकटसे चली गयी, ऐसा हमने सुना है ॥

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा ।
त्वरमाणेव राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रजाका संहार करनेके विषयमें कोई प्रतिज्ञा न करके मृत्यु वहाँसे हट गयी और बड़ी उतावलीके साथ धेनुकाश्रममें जा पहुँची ॥ १५ ॥

सा तत्र परमं देवी तपोऽचरद् दुश्चरम् ।
समा ह्येकपदे तस्थौ दश पद्मानि पञ्च च ॥ १६ ॥

वहाँ मृत्युदेवीने अत्यन्त दुष्कर और उत्तम तपस्या की । वह पंद्रह पद्म वर्षोंतक एक पैरपर खड़ी रही ॥ १६ ॥

तां तथा कुर्वतीं तत्र तपः परमदुश्चरम् ।
पुनरेव महातेजा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वहाँ अत्यन्त दुष्कर तपस्या करती हुई मृत्युसे महातेजस्वी ब्रह्माजीने पुनः जाकर इस प्रकार कहा—॥

कुरुष्व मे वचो मृत्यो तदनादृत्य सत्वरा ।
तथैवैकपदे तात पुनरन्यानि सप्त सा ॥ १८ ॥
तस्थौ पद्मानि षट् चैव पञ्च द्वे चैव मानद ।

'मृत्यो ! तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ।' दूसरोंको मान देनेवाले तात ! उनके इस कथनका आदर न करके मृत्युने तुरंत ही दूसरे बीस पद्म वर्षोंतक पुनः एक पैरपर खड़ी हो तपस्या आरम्भ कर दी ॥ १८½ ॥

भूयः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ॥ १९ ॥
द्वे चायुते नरश्रेष्ठ वाय्वाहारा महामते ।

तात ! महामते ! नरश्रेष्ठ ! फिर वह दस हजार पद्म वर्षोंतक मृगोंके साथ विचरती रही । इसके बाद बीस हजार वर्षोंतक उसने केवल वायुका आहार किया ॥ १९½ ॥

पुनरेव ततो राजन् मौनमातिष्ठदुत्तमम् ॥ २० ॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च पार्थिव ।

राजन् ! तदनन्तर उसने उत्तम मौन-व्रत धारण कर लिया । पृथ्वीपते ! फिर उसने जलमें आठ हजार वर्षोंतक रहकर तपस्या की॥

ततो जगाम सा कन्या कौशिकीं नृपसत्तम ॥ २१ ॥
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर वह कन्या कौशिकी नदीके तटपर गयी । वहाँ वायु और जलका आहार करके उसने पुनः कठोर नियमोंका पालन किया ॥ २१½ ॥

ततो ययौ महाभागा गङ्गां मेरुं च केवलम् ॥ २२ ॥
तस्थौ दार्विव निश्चेष्टा प्रजानां हितकाम्यया ।

तत्पश्चात् वह महाभागा ब्रह्मकन्या गङ्गाजीके किनारे और केवल मेरुपर्वतपर गयी । वहाँ प्रजावर्गके हितकी इच्छासे वह काठकी भाँति निश्चेष्ट खड़ी रही ॥ २२½ ॥

ततो हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः समीजिरे ॥ २३ ॥
तत्राङ्गुष्ठेन राजेन्द्र निखर्वमपरं ततः ।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास यत्नतः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर हिमालय पर्वतके शिखरपर जहाँ पहले देवताओंने यज्ञ किया था, उस स्थानपर वह परम शुभलक्षणा कन्या एक निखर्व वर्षोंतक अँगूठेके बलपर खड़ी रही । इस प्रकार यत्न करके उसने पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया॥

ततस्तामब्रवीत् तत्र लोकानां प्रभवाप्ययः ।
किमिदं वर्तते पुत्रि क्रियतां मम तद् वचः ॥ २५ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्माजी वहाँ उस कन्यासे बोले—'बेटी ! तुम यह क्या करती हो ? मेरी आज्ञाका पालन करो' ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम् ।
न हरेयं प्रजा देव पुनश्चाहं प्रसादये ॥ २६ ॥

तब मृत्युने पुनः भगवान् पितामहसे कहा—'देव ! मैं प्रजाका नाश नहीं कर सकती । इसके लिये पुनः आपका कृपाप्रसाद चाहती हूँ' ॥ २६ ॥

तामधर्मभयाद् भीतां पुनरेव प्रयाचतीम् ।
तदाब्रवीद् देवदेवो निगृह्येदं वचस्ततः ॥ २७ ॥

अधर्मके भयसे डरकर पुनः कृपाकी भीख माँगती हुई मृत्युको रोककर देवाधिदेव ब्रह्माने उससे यह बात कही—॥

अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संयच्छेमाः प्रजाः शुभे।
मया ह्युक्तं मृषा भद्रे भविता नेह किंचन ॥ २८ ॥

'मृत्यो! तुम इन प्रजाओंका संहार करो। शुभे! इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। भद्रे! मेरी कही हुई कोई भी बात यहाँ झूठी नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

धर्मः सनातनश्च त्वामिहैवानुप्रवेक्ष्यति।
अहं च विबुधाश्चैव त्वद्धिते निरताः सदा ॥ २९ ॥

'सनातन धर्म यहीं तुम्हारे भीतर प्रवेश करेगा। मैं तथा ये सम्पूर्ण देवता सदा तुम्हारे हितमें लगे रहेंगे ॥

इममन्यं च ते कामं ददानि मनसेप्सितम्।
न त्वां दोषेण यास्यन्ति व्याधिसम्पीडिताः प्रजाः॥ ३०॥
पुरुषेषु स्वरूपेण पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
स्त्रीषु स्त्रीरूपिणी चैव तृतीयेषु नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

'मैं तुम्हें यह दूसरा भी मनोवाञ्छित वर दे रहा हूँ कि रोगोंसे पीड़ित हुई प्रजा तुम्हारे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करेगी। तुम पुरुषोंमें पुरुषरूपसे रहोगी, स्त्रियोंमें स्त्रीरूप धारण कर लोगी और नपुंसकोंमें नपुंसक हो जाओगी' ॥ ३०-३१ ॥

सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरुवाच ह।
पुनरेव महात्मानं नेति देवेशमव्ययम् ॥ ३२ ॥

महाराज! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु हाथ जोड़कर उन अविनाशी महात्मा देवेश्वर ब्रह्मासे पुनः इस प्रकार बोली—'प्रभो! मैं प्राणियोंका संहार नहीं करूँगी' ॥ ३२ ॥

तामब्रवीत् तदा देवो मृत्यो संहर मानवान्।
अधर्मस्ते न भविता तथा ध्यास्याम्यहं शुभे ॥ ३३ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'मृत्यो! तुम मनुष्योंका संहार करो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे! मैं तुम्हारे लिये शुभ-चिन्तन करता रहूँगा ॥ ३३ ॥

यानश्रुबिन्दून् पतितानपश्यं
ये पाणिभ्यां धारितास्ते पुरस्तात्।
ते व्याधयो मानवान् घोररूपाः
प्राप्ते काले कालयिष्यन्ति मृत्यो ॥ ३४ ॥

'मृत्यो! मैंने पहले तुम्हारे जिन अश्रुबिन्दुओंको गिरते देखा और जिन्हें अपने हाथोंमें धारण कर लिया था, वे ही समय आनेपर भयंकर रोग बनकर मनुष्योंको कालके गालमें डाल देंगे ॥ ३४ ॥

सर्वेषां त्वं प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ सहितौ योजयेथाः।
एवं धर्मस्त्वामुपैष्यत्यमेयो
न चाधर्मं लप्स्यसे तुल्यवृत्तिः ॥ ३५ ॥

'सभी प्राणियोंके अन्तकालमें तुम काम और क्रोधको एक साथ नियुक्त कर देना। इस प्रकार तुम्हें अप्रमेय धर्मकी प्राप्ति होगी और तुम्हें पाप नहीं लगेगा; क्योंकि तुम्हारी चित्तवृत्ति सम (राग-द्वेषसे शून्य) है ॥ ३५ ॥

एवं धर्मं पालयिष्यस्यथो त्वं
न चात्मानं मज्जयिष्यस्यधर्मे।
तस्मात् कामं रोचयाभ्यागतं त्वं
संयोज्याथो संहरस्वेह जन्तून् ॥ ३६ ॥

'इस प्रकार तुम धर्मका पालन करोगी और अपने-आपको पापमें नहीं डुबाओगी; अतः अपनेको प्राप्त होनेवाले इस अधिकारको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करो और कामको इस कार्यमें लगाकर इस जगत्‌के प्राणियोंका संहार करो' ॥ ३६ ॥

सा वै तदा मृत्युसंज्ञापदेशा
भीता शापाद् बाढमित्यब्रवीत् तम्।
अथो प्राणान् प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ प्राप्य निर्मोह्य हन्ति ॥ ३७ ॥

तब वह मृत्यु नामवाली नारी शापसे डरकर ब्रह्माजीसे बोली—'बहुत अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है।' वही मृत्यु प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर काम और क्रोधको प्रेरित करके उनके द्वारा उन्हें मोहमें डालकर मार डालती है ॥

मृत्योर्ये ते व्याधयश्चाश्रुपाता
मनुष्याणां रुज्यते यैः शरीरम्।
सर्वेषां वै प्राणिनां प्राणनान्ते
तस्माच्छोकं मा कृथा बुद्ध्य बुद्ध्या ॥

पहले मृत्युके जो अश्रुबिन्दु गिरे थे, वे ही ज्वर आदि रोग हो गये; जिनके द्वारा मनुष्योंका शरीर रुग्ण हो जाता है। वह मृत्यु सभी प्राणियोंकी आयु समाप्त होनेपर उनके पास आती है। अतः राजन्! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। इस विषयको बुद्धिके द्वारा समझो ॥

सर्वे देवाः प्राणिनां प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ताः संनिवृत्तास्तथैव।
एवं सर्वे मानवाः प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ता देववद् राजसिंह ॥ ३९ ॥

राजसिंह! जैसे इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थाके अन्तमें सुषुप्तिके समय निष्क्रिय होकर विलीन हो जाती हैं और जाग्रत्-अवस्था आनेपर पुनः लौट आती हैं, उसी प्रकार सारे प्राणी ही जीवनके अन्तमें परलोकमें जाकर कर्मोंके अनुसार देवताओंके तुल्य अथवा नरकगामी होते हैं और कर्मोंके क्षीण होनेपर इस जगत्‌में लौटकर पुनः मनुष्य आदि योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ३९ ॥

वायुर्भीमो भीमनादो महौजाः
स सर्वेषां प्राणिनां प्राणभूतः।
नानावृत्तिर्देहिनां देहभेदे
तस्माद् वायुर्देवदेवो विशिष्टः ॥ ४० ॥

भयंकर शब्द करनेवाला महान् बलशाली भयानक प्राणवायु ही समस्त प्राणियोंका प्राणस्वरूप है। वही देह-

धारियोंके देहका नाश होनेपर नाना प्रकारके रूपों या शरीरोंको प्राप्त होता है। अतः इस शरीरके भीतर देवाधिदेव वायु (प्राण) ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः
सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः।
तस्मात् पुत्रं मा शुचो राजसिंह
पुत्रः स्वर्गं प्राप्य ते मोदते ह ॥ ४१ ॥

सभी देवता पुण्य क्षय होनेपर इस लोकमें आकर मरण-धर्मा नामसे विभूषित होते हैं और सभी मरणधर्मा मनुष्य पुण्यके प्रभावसे मृत्युके पश्चात् देवसंज्ञासे संयुक्त होते हैं। अतः राजसिंह ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें जाकर आनन्द भोग रहा है ॥ ४१ ॥

एवं मृत्युर्देवसृष्टा प्रजानां
प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत्।
तस्याश्चैव व्याधयस्तेऽश्रुपाताः
प्राप्ते काले संहरन्तीह जन्तून् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीने ही प्राणियोंकी मृत्यु रची है। वह मृत्यु ठीक समय आनेपर यथावत् रूपसे जीवोंका संहार करती है। उसके जो अश्रुपात हैं, वे ही मृत्युकाल प्राप्त होनेपर रोग बनकर इस जगत्के प्राणियोंका संहार करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्माधर्मके स्वरूपका निर्णय

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ये सभी मनुष्य प्रायः धर्मके विषयमें संशयशील हैं; अतः मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत्।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! इस लोकमें सुख पानेके लिये जो कर्म किया जाता है, वही धर्म है या परलोकमें कल्याणके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा लोक-परलोक दोनोंके सुधारके लिये कुछ किया जानेवाला कर्म ही धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्मके स्वरूपको लक्षित करानेवाले हैं। कुछ विद्वान् अर्थको भी धर्मका चौथा लक्षण बताते हैं ॥

अपि ह्युक्तानि धर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ ४ ॥

शास्त्रोंमें जो धर्मानुकूल कार्य बताये गये हैं, उन्हें ही प्रधान एवं अप्रधान सभी लोग निश्चित रूपसे धर्म मानते हैं। लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही महर्षियोंने यहाँ धर्मकी मर्यादा स्थापित की है ॥ ४ ॥

उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥ ५ ॥

धर्मका पालन करनेसे आगे चलकर इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है। पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्मका आश्रय न लेनेसे पापमें प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप फलका भागी होता है ॥ ५ ॥

न च पापकृतः पापान्मुच्यन्ते केचिदापदि।
अपापवादी भवति यथा भवति धर्मकृत्।
धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ६ ॥

पापाचारी मनुष्य आपत्तिकालमें कष्ट भोगकर भी उस पापसे मुक्त नहीं होते और धर्मका आचरण करनेवाले लोग आपत्तिकालमें भी पापका समर्थन नहीं करते हैं। आचार (शौचाचार-सदाचार) ही धर्मका आधार है; अतः युधिष्ठिर ! तुम उस आचारका आश्रय लेकर ही धर्मके यथार्थ स्वरूपको जान सकोगे ॥ ६ ॥

यथा धर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः।
रमते निर्हरन् स्तेनः परवित्तमराजके ॥ ७ ॥

जैसे चोर धर्मकार्यमें प्रवृत्त होकर भी दूसरोंके धनका अपहरण कर ही लेता है और अराजक-अवस्थामें पराये धनका अपहरण करनेवाला लुटेरा सुखका अनुभव करता है ॥

यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ८ ॥

परंतु जब दूसरे लोग उस चोरका भी धन हर लेते हैं, तब वह चोर भी प्रजाकी रक्षा करने और चोरोंको दण्ड देनेवाले राजाको चाहता है—उसकी आवश्यकताका अनुभव

करता है। उस अवस्थामें वह उन पुरुषोंके समान बननेकी इच्छा करता है, जो अपने ही धनसे संतुष्ट रहते हैं—दूसरोंके धनपर हाथ लगाना पाप समझते हैं ॥ ८ ॥

अभीतः शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कितः ।
न हि दुश्चरितं किंचिदन्तरात्मनि पश्यति ॥ ९ ॥

जो पवित्र है—जिसमें चोरी आदिके दोष नहीं हैं, वह मनुष्य निर्भय और निःशङ्क होकर राजाके द्वारपर चला जाता है; क्योंकि वह अपनी अन्तरात्मामें कोई दुराचार नहीं देखता है॥९॥

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

सत्य बोलना शुभ कर्म है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है। सत्यने ही सबको धारण कर रक्खा है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ११ ॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्यकी शपथ खाकर ही आपसमें द्रोह या विवादसे बचे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे सत्यका आश्रय लेकर सत्यकी ही दुहाई देकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥

ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम् ।
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

वे यदि आपसकी शपथको भंग कर दें तो निस्संदेह परस्पर लड़-भिड़कर नष्ट हो जायँ। दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये—यही सनातन धर्म है ॥ १२ ॥

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥ १३ ॥

कुछ बलवान् लोग (बलके घमंडमें नास्तिकभावका आश्रय लेकर) धर्मको दुर्बलोंका चलाया हुआ मानते हैं; किंतु जब भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षाके लिये उन्हें भी धर्मका ही सहारा लेना अच्छा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न कार्या ते कदाचन ॥ १४ ॥

संसारमें कोई भी न तो अत्यन्त बलवान् होते हैं और न बहुत सुखी ही। इसलिये तुम्हें अपनी बुद्धिमें कभी कुटिलताका विचार नहीं लाना चाहिये ॥ १४ ॥

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित् कस्यचित् कुर्वन् निर्भयः शुचिरावसेत्॥ १५॥

जो किसीका कुछ बिगाड़ता नहीं है, उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजासे भय नहीं होता। शुद्ध आचार-विचारवाला पुरुष सदा निर्भय रहता है ॥ १५ ॥

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १६ ॥

गाँवोंमें आये हुए हिरणकी भाँति चोर सबसे डरता रहता है। वह अनेकों बार दूसरोंके साथ जैसा पापाचार कर चुका है, दूसरोंको भी वैसा ही पापाचारी समझता है ॥ १६ ॥

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किंचिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥ १७ ॥

जिसका आचार-विचार शुद्ध है, उसे कहींसे कोई खटका नहीं होता। वह सदा प्रसन्न एवं सब ओरसे निर्भय बना रहता है तथा वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरोंमें नहीं देखता है॥

दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः ।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्तितम् ॥ १८ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महात्माओंने 'दान करना चाहिये' ऐसा कहकर इसे धर्म बताया है; परंतु बहुत-से धनवान् उसे दरिद्रोंका चलाया हुआ धर्म समझते हैं ॥ १८ ॥

यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते ।
न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ॥ १९ ॥

परंतु यदि भाग्यवश वे भी निर्धन या दर-दरके भिखारी हो जाते हैं, उस समय उनको भी यह धर्म उत्तम जान पड़ता है; क्योंकि कोई भी न तो अत्यन्त धनवान् होते हैं और न अतिशय सुखी ही हुआ करते हैं (अतः धनका अभिमान नहीं करना चाहिये) ॥ १९ ॥

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा बर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति ।
यदन्यस्य ततः कुर्यान्न मृष्येदिति मे मतिः ॥ २१ ॥

जो स्वयं दूसरेके घरमें उपपति (जार) बनकर जाता है—परायी स्त्रीके साथ व्यभिचार करता है, वह दूसरेको वैसा ही कर्म करते देख किससे क्या कह सकता है ? यदि दूसरेकी उसी प्रवृत्तिके कारण वह निन्दा करे तो वह पुरुष उसकी निन्दाको नहीं सह सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २१ ॥

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत्॥ २२ ॥

जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरोंके प्राण कैसे ले सकता है ? मनुष्य अपने लिये जो-जो सुख-सुविधा

चाहे, वही दूसरेके लिये भी सुलभ करानेकी बात सोचे ॥

अतिरिक्तैः संविभजेद् भोगैरन्यानकिंचनान्।
एतस्मात् कारणाद् धात्रा कुसीदं सम्प्रवर्तितम्॥ २३ ॥

जो अपनी आवश्यकतासे अधिक हो, उन भोगपदार्थोंको दूसरे दीन-दुखियोंके लिये बाँट दे। इसीलिये विधाताने सूदपर धन देनेकी वृत्ति चलायी है ॥ २३ ॥

यस्मिंस्तु देवाः समये संतिष्ठेरंस्तथा भवेत्।
अथवा लाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपि शोभना ॥ २४ ॥

जिस सन्मार्ग या मर्यादापर देवता स्थित होते हैं, उसीपर मनुष्यको भी स्थिर रहना चाहिये अथवा धन-लाभके समय धर्ममें स्थित रहना भी अच्छा है ॥ २४ ॥

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर! सबके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेसे जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है तथा जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है। तुम धर्म और अधर्मका संक्षेपसे यही लक्षण समझो ॥ २५ ॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥

विधाताने पूर्वकालमें सत्पुरुषोंके जिस उत्तम आचरणका विधान किया है, वह विश्वके कल्याणकी भावनासे युक्त है और उससे धर्म एवं अर्थके सूक्ष्म स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

धर्मलक्षणमाख्यातमेतत् ते कुरुसत्तम।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! यह मैंने तुमसे धर्मका लक्षण बताया है; अतः तुम्हें किसी तरह कुटिल मार्गमें अपनी बुद्धिको नहीं ले जाना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मलक्षणे एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मका लक्षणविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५९ ॥

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धर्मकी प्रामाणिकतापर संदेह उपस्थित करना

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मं साधु समादिष्टं भवता धर्मलक्षणम्।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने धर्मका सूक्ष्म एवं सुन्दर लक्षण बताया है; परंतु मुझे कुछ और ही स्फुरित हो रहा है। अतः मैं उसके सम्बन्धमें अनुमानसे ही कुछ कहूँगा ॥ १ ॥

भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया।
इदं त्वन्यत् प्रवक्ष्यामि न राजन् निग्रहादिव ॥ २ ॥

मेरे हृदयमें जो बहुत-से प्रश्न उठे थे, उन सबका निराकरण आपने कर दिया। महाराज! अब मैं यह दूसरा प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ। इसमें जिज्ञासा ही कारण है, दुराग्रह नहीं ॥ २ ॥

इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! धर्म ही इन प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। धर्म ही उनके जीवनधारण और उद्धारमें कारण होते हैं; परंतु धर्मको केवल वेदोंके पाठमात्रसे नहीं जाना जा सकता॥

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य अच्छी स्थितिमें है, उसका धर्म दूसरा है और जो संकटमें पड़ा हुआ है, उसका धर्म दूसरा ही है। केवल वेदोंके पाठसे आपद्धर्मका ज्ञान कैसे हो सकता है?॥४॥

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥

आपके कथनानुसार सत्पुरुषोंका आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है, वे ही सत्पुरुष हैं। ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय दोष पड़नेके कारण साध्य और असाध्यका विवेक कैसे हो सकता है? ऐसी दशामें सदाचार धर्मका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन्।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥

इस लोकमें देखा जाता है कि कितने ही प्राकृत मनुष्य धर्म-से दिखायी देनेवाले अधर्मका आचरण करते हैं और कितने ही अप्राकृत (शिष्ट) पुरुष अधर्म प्रतीत होनेवाले धर्मका अनुष्ठान करते हैं (अतः केवल आचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

शास्त्रज्ञ पुरुषोंने धर्ममें वेदको ही प्रमाण बताया है; किंतु हमने सुना है कि युग-युगमें वेदोंका ह्रास होता है अर्थात् धर्मके सम्बन्धमें जो वेदोंका निश्चय है, वह प्रत्येक युगमें बदलता रहता है ॥ ७ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥

सत्ययुगके धर्म कुछ और हैं, त्रेता और द्वापरके धर्म

कुछ और ही हैं और कलियुगके धर्म कुछ और ही बताये गये हैं। मानो मुनियोंने लोगोंकी शक्तिके अनुसार ही धर्मकी व्यवस्था की है ॥ ८ ॥

आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

वेदोंका वचन सत्य है, यह कथन लोकरञ्जनमात्र है। वेदोंसे ही सर्वतोमुखी स्मृतियोंका प्रचार और प्रसार हुआ है॥

ते चेत् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं ह्यत्र विद्यते।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥

यदि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक हैं तो स्मृतियाँ भी प्रामाणिक हो सकती हैं; परंतु जब (युग-युगमें धर्मके विषयमें विभिन्न प्रकारकी बात कहनेसे) प्रमाणभूत वेद भी अप्रामाणिक हो तो वेदमूलक स्मृतियाँ भी प्रामाणिक नहीं रहेंगी। यदि स्मृतिका श्रुतिके साथ विरोध हो, तो उसमें शास्त्रत्व कैसे रह सकता है ? ॥ १० ॥

धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रणश्यति ॥ ११ ॥

जब धर्मका अनुष्ठान हो रहा हो, उस समय बलवान् दुरात्माओंद्वारा उसमें जो-जो विकृति उत्पन्न की जाती है, उसके कारण उस धर्ममर्यादाका ही लोप हो जाता है ॥११॥

विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ॥ १२ ॥

हम धर्मको जानते हों या न जानते हों, धर्मस्वरूप जाना जा सकता हो या नहीं; इतना तो हम समझते ही हैं कि धर्म छूरेकी धारसे भी सूक्ष्म और पर्वतसे भी अधिक विशाल एवं भारी है ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदृश्यते।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

धर्मके विषयमें जब आलोचना की जाती है, तब पहले तो वह गन्धर्वनगरके समान दिखायी देता है; फिर विद्वानोंद्वारा विशेष रूपसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि वह अदृश्य हो गया॥ १३ ॥

निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! जैसे बहुत-सी गौओंको पानी पिलानेसे निपान (क्षुद्र जलाशय) सूख जाते हैं तथा जैसे अधिक खेतोंकी सिंचाई करनेसे नहरोंका पानी निपट जाता है, उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म अथवा स्मृति-शास्त्र धीरे-धीरे क्षीण होकर कलियुगके अन्तिम भागमें दिखायी ही नहीं देता है॥

कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ॥ १५ ॥

क्योंकि उस समय कुछ लोग स्वार्थवश, दूसरे लोग दूसरोंकी इच्छासे तथा अन्य मनुष्य अन्यान्य कारणोंसे धर्माचरण करते हैं और बहुत-से असाधु पुरुष भी व्यर्थ धर्माचरणका ढोंग फैला लेते हैं ॥ १५ ॥

धर्मो भवति स क्षिप्रं प्रलापस्त्वेव साधुषु।
अथैतानाहुरुन्मत्तानपि चावहसन्त्युत ॥ १६ ॥

उन दिनों लोगोंद्वारा प्रायः सकामभावसे ही धर्मका आचरण होता देखा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो यथार्थ धर्म होता है, वह शीघ्र ही मूढ मनुष्योंकी दृष्टिमें प्रलापमात्र सिद्ध होता है। वे मूढ उन धर्मात्मा पुरुषोंको पागल कहते और उनकी हँसी उड़ाते हैं ॥ १६ ॥

महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः।
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

आचार्य द्रोण-जैसे महापुरुष भी स्वधर्मसे हटकर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेते हैं; अतः कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जो सबके लिये समानरूपसे हितकर या सबके द्वारा समानरूपसे पालित हो ॥ १७ ॥

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ॥ १८ ॥

यह भी देखा जाता है कि उसी धर्मके आचरणसे विश्वामित्र आदि अन्य महापुरुषोंने उन्नति प्राप्त की है तथा रावणादि निशाचर उसी धर्मके बलसे दूसरोंको पीड़ा देते हैं एवं कश्यप आदि अनेक महर्षि ईश्वरकी इच्छासे उसी धर्मके द्वारा सदा एक-सी स्थितिमें दिखायी देते हैं ॥ १८ ॥

येनैवान्यः प्रभवति सोऽपरानपि बाधते।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

जिस धर्मको अपनाकर एक व्यक्ति उन्नति करता है, उसीसे दूसरा दूसरोंको पीड़ा देता है; अतः सबके लिये आचारोंकी एकरूपता कोई नहीं दिखा सकता ॥१९ ॥

चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः।
तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ २० ॥

आपने पहले उसी धर्मका वर्णन किया है, जिसे विद्वान् लोग चिरकालसे धारण करते चले आ रहे हैं। मैं भी यही समझता हूँ कि उस पूर्वप्रचलित धर्मके आचरणद्वारा ही समाजकी मर्यादा दीर्घकालतक टिकी रहती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मप्रामाण्याक्षेपे षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मकी प्रामाणिकतापर आक्षेपविषयक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२६०॥

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिकी घोर तपस्या, सिरपर जटाओंमें पक्षियोंके घोंसला बनानेसे उनका अभिमान और आकाशवाणीकी प्रेरणासे उनका तुलाधार वैश्यके पास जाना

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! धर्मके विषयमें जाजलिके साथ तुलाधार वैश्यकी जो बातें हुई थीं, उसी प्राचीन इतिहासका विद्वान् पुरुष यहाँ उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें जाजलि नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो वनमें ही रहते और विचरते थे । उन महातपस्वी जाजलिने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥२॥

नियतो नियताहारश्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरो धीमान् बहून् वर्षगणान् मुनिः ॥ ३ ॥

वे नियमसे रहते, नियमित भोजन करते और वल्कल, मृगचर्म एवं जटा धारण किया करते थे । वे बुद्धिमान् मुनि बहुत वर्षोंतक शरीरपर मैल और कीचड़ धारण किये खड़े रहे ॥ ३ ॥

स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते ।
चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ४ ॥

राजन् ! फिर किसी समय समुद्रतटस्थ जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले वे महातेजस्वी विप्रर्षि सम्पूर्ण लोकोंको देखनेके लिये मनके समान तीव्र गतिसे विचरण करने लगे ॥ ४ ॥

स चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन ।
विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै महीं सवनकाननाम् ॥ ५ ॥

वन और काननोंसहित समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका निरीक्षण करके समुद्रतटवर्ती सजल प्रदेशमें निवास करते समय जाजलि मुनि कभी इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ५ ॥

न मया सदृशोऽस्तीह लोके स्थावरजङ्गमे ।
अप्सु वैहायसं गच्छेन्मया योऽन्यः सहेति वै ॥ ६ ॥

इस चराचर जगत्‌में मेरे सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है, जो मेरे साथ जलमें विचरने और आकाशमें घूमने-फिरनेकी शक्ति रखता हो ॥ ६ ॥

अदृश्यमानो रक्षोभिर्जलमध्ये वदंस्तथा ।
अब्रुवंश्च पिशाचास्तं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

राक्षसोंसे अदृश्य रहकर जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले जाजलि मुनिने जब इस प्रकार कहा, तब अदृश्य पिशाचोंने उनसे कहा, 'मुने ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥

तुलाधारो वणिग्धर्मा वाराणस्यां महायशाः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं द्विजसत्तम ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! काशीमें महायशस्वी तुलाधार रहते हैं, जो बणिक्-धर्मका पालन करते हैं; किंतु वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी आज आप कह रहे हैं' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैः प्रत्युवाच महातपाः ।
पश्येयं तमहं प्राज्ञं तुलाधारं यशस्विनम् ॥ ९ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर महातपस्वी जाजलिने उनसे कहा—'क्या मैं उन ज्ञानी एवं यशस्वी तुलाधारका दर्शन कर सकता हूँ' ॥ ९ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं रक्षांस्युद्धृत्य सागरात् ।
अब्रुवन् गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम ॥ १० ॥

ऐसा कहते हुए उन महर्षिको समुद्रतटवर्ती जलप्रदेशसे बाहर निकालकर राक्षसोंने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस मार्गका आश्रय लेकर काशीपुरी चले जाइये' ॥ १० ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैर्जगाम विमनास्तदा ।
वाराणस्यां तुलाधारं समासाद्याब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर जाजलि मुनि उदास होकर काशीमें गये और तुलाधारके पास पहुँचकर उससे इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कृतं दुष्करं तात कर्म जाजलिना पुरा ।
येन सिद्धिं परां प्राप्तस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! पूर्वकालमें जाजलिने कौन-सा ऐसा दुष्कर कार्य किया था, जिससे वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये, यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अतीव तपसा युक्तो घोरेण स बभूव ह ।
तथोपस्पर्शनरतः सायं प्रातर्महातपाः ॥ १३ ॥
अग्नीन् परिचरन् सम्यक् स्वाध्यायपरमो द्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितः श्रिया ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जाजलि मुनि महान् तपस्वी थे और अत्यन्त घोर तपस्यामें लगे हुए थे । वे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं संध्योपासना करके विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे । ब्रह्मर्षि जाजलि वानप्रस्थके धर्मकी विधिको जानने और पालनेवाले थे, वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ १३-१४ ॥

वने तपस्यतिष्ठत् स न च धर्ममवैक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते जलसंश्रयः ॥ १५ ॥
वातातपसहो ग्रीष्मे न च धर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्च विविधा भूमौ च परिवर्तते ॥ १६ ॥

वे वनमें रहकर तपस्यामें ही लगे रहते, किंतु अपने धर्मकी कभी अवहेलना नहीं करते थे । वे वर्षाके दिनोंमें

खुले आकाशके नीचे सोते और हेमन्त ऋतुमें पानीके भीतर बैठा करते थे। इसी तरह गर्मीके महीनोंमें कड़ी धूप और लूका कष्ट सहते थे; परंतु उनको वास्तविक धर्मका ज्ञान नहीं हुआ। वे पृथ्वीपर ही लोटते और तरह-तरहसे इस प्रकार सोते, जिससे दुःख और कष्टका ही अधिक अनुभव होता था॥

ततः कदाचित् स मुनिर्वर्षास्वाकाशमास्थितः।
अन्तरिक्षाज्जलं मूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः॥ १७॥

तदनन्तर किसी समय वर्षा-ऋतु आनेपर वे मुनि खुले आकाशके नीचे खड़े हो गये और आकाशसे जो जलकी मूसलाधार वृष्टि होती थी, उसके आघातको बारंबार अपने मस्तकपर ही सहने लगे॥ १७॥

अथ तस्य जटाः क्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताः प्रभो।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोऽमलसंयुतः॥ १८॥

प्रभो! उनके सिरके बाल बराबर भींगे रहनेके कारण उलझकर जटाके रूपमें परिणत हो गये। सदा वनमें ही विचरण करनेके कारण उनके शरीरपर मैल जम गयी थी; परंतु उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था॥ १८॥

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित्॥ १९॥

एक समयकी बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायु-भक्षण करते हुए काष्ठकी भाँति खड़े हो गये, उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभरके लिये भी कभी विचलित नहीं होते थे॥ १९॥

तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः॥ २०॥

भरतनन्दन! वे चेष्टाशून्य होनेके कारण किसी ठूँठे पेड़के समान जान पड़ते थे। राजन्! उस समय उनके सिरपर गौरैया पक्षीके एक जोड़ेने अपने रहनेके लिये एक घोंसला बना लिया॥ २०॥

स तौ दयावान् ब्रह्मर्षिरुपप्रैक्षत दम्पती।
कुर्वाणौ नीडकं तत्र जटासु तृणतन्तुभिः॥ २१॥

वे विप्रर्षि बड़े दयालु थे, इसलिये उन्होंने उन दोनों पक्षियोंको तिनकोंसे अपनी जटाओंमें घोंसला बनाते देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी—उन्हें हटाने या उड़ानेकी कोई चेष्टा नहीं की॥ २१॥

यदा न स चलत्येव स्थाणुभूतो महातपाः।
ततस्तौ सुखविश्वस्तौ सुखं तत्रोषतुस्तदा॥ २२॥

जब वे महातपस्वी ठूँठे काठके समान होकर जरा भी हिले-डुले नहीं, तब अच्छी तरह विश्वास जम जानेके कारण वे दोनों पक्षी वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे॥ २२॥

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात् काममोहितौ॥ २३॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः॥ २४॥

राजन्! धीरे-धीरे वर्षा-ऋतु बीत गयी और शरत्काल उपस्थित हुआ। उस समय कामसे मोहित होकर उन गौरैयोंने संतानोत्पादनकी विधिसे परस्पर समागम किया और विश्वासके कारण महर्षिके सिरपर ही अण्डे दिये। कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मणको यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरी जटाओंमें अण्डे दिये हैं॥ २३-२४॥

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल च जाजलिः।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत्॥ २५॥

इस बातको जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए। उनका मन सदा धर्ममें लगा रहता था; अतः उन्हें अधर्मका कार्य पसंद नहीं था॥ २५॥

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो॥ २६॥

प्रभो! चिड़ियोंके वे जोड़े प्रतिदिन चारा चुगनेके लिये जाते और फिर लौटकर उनके मस्तकपर ही बसेरा लेते थे, वहाँ उन्हें बड़ा आश्वासन मिलता था और वे बहुत प्रसन्न रहते थे॥

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः॥ २७॥

अण्डोंके पुष्ट होनेपर उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर निकले और वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं॥

स रक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानां धृतव्रतः।
तथैव तस्थौ धर्मात्मा निर्विचेष्टः समाहितः॥ २८॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे एकाग्रचित्त धर्मात्मा मुनि उन पक्षियोंके अण्डोंकी रक्षा करते हुए पूर्ववत् निश्चेष्टभावसे खड़े रहे॥ २८॥

ततस्तु कालसमये बभूवुस्तेऽथ पक्षिणः।
बुबुधे तांस्तु स मुनिर्जातपक्षान् कुलिङ्गकान्॥ २९॥

तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर उन सब बच्चोंके पर निकल आये, मुनिको यह बात मालूम हो गयी कि चिड़ियोंके इन बच्चोंके पंख निकल आये हैं॥ २९॥

ततः कदाचित् तांस्तत्र पश्यन् पक्षीन् यतव्रतः।
बभूव परमप्रीतस्तदा मतिमतां वरः॥ ३०॥
तथा तानपि संवृद्धान् दृष्ट्वा चाप्नुवतां मुदम्।
शकुनौ निर्भयौ तत्र ऊषतुश्चात्मजैः सह॥ ३१॥

संयमपूर्वक व्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजलि किसी दिन वहाँ उन पंखधारी बच्चोंको उड़ते देख बड़े प्रसन्न हुए तथा अपने बच्चोंको बड़ा हुआ देख वे दोनों पक्षी भी बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे और अपनी संतानोंके साथ निर्भय होकर वहीं रहने लगे॥ ३०-३१॥

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान् पुनरागतान्।
सायं सायं द्विजान् विप्रो न चाकम्पत जाजलिः॥ ३२॥

बच्चोंके पंख हो गये थे, इसलिये वे दिनमें चारा चुगनेके लिये उड़कर निकल जाते और प्रतिदिन सायंकाल फिर वहीं लौट आते थे। ब्राह्मणप्रवर जाजलि उन पक्षियोंको इस

मुनि जाजलिकी तपस्या

प्रकार आते-जाते देखते, परंतु हिलते-डुलते नहीं थे ॥ ३२ ॥

कदाचित् पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्ति संततम् ।
त्यक्ता मातापितृभ्यां ते न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३३ ॥

किसी समय माता-पिता उनको छोड़कर उड़ गये । अब वे बच्चे कभी आकर फिर चले जाते और जाकर फिर चले आते थे, इस प्रकार वे सदा आने-जाने लगे । उस समयतक जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३३ ॥

तथा ते दिवसं चापि गत्वा सायं पुनर्नृप ।
उपावर्तन्त तत्रैव निवासार्थं शकुन्तकाः ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! अब वे पक्षी दिनभर चरनेके लिये चले जाते और शामको पुनः बसेरा लेनेके लिये वहीं आते थे ॥ ३४ ॥

कदाचिद् दिवसान् पञ्च समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३५ ॥

कभी-कभी वे विहङ्गम उड़कर पाँच-पाँच दिनतक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वहाँ लौटते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३५ ॥

क्रमेण च पुनः सर्वे दिवसान् सुबहूनथ ।
नोपावर्तन्त शकुना जातप्राणाः स्म ते यदा ॥ ३६ ॥

फिर क्रमशः वे सब पक्षी बहुत दिनोंके लिये जाने और आने लगे, अब वे हृष्ट-पुष्ट और बलवान् हो गये थे । अतः बाहर निकल जानेपर जल्दी नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
नैवागच्छंस्ततो राजन् प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥ ३७ ॥

राजन् ! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जानेके बाद एक मासतक लौटकर नहीं आये, तब जाजलि मुनि वहाँसे अन्यत्र चल दिये ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियोंके अदृश्य हो जानेपर जाजलिको बड़ा विस्मय हुआ, वे मन-ही-मन यह मानने लगे कि मैं सिद्ध हो गया, फिर तो उनके भीतर अहंकार आ गया ॥ ३८ ॥

स तथा निर्गतान् दृष्ट्वा शकुन्तान् नियतव्रतः ।
सम्भावितात्मा सम्भाव्य भृशं प्रीतमनाऽभवत् ॥ ३९ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे सम्भावितात्मा महर्षि उन पक्षियोंको इस प्रकार गया हुआ देख अपनी सिद्धिकी सम्भावना करके मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥

स नद्यां समुपस्पृश्य तर्पयित्वा हुताशनम् ।
उदयन्तमथादित्यमुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥

फिर नदीके तटपर जाकर उन महातपस्वी मुनिने स्नान किया और संध्या-तर्पणके पश्चात् अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवको तृप्त करके उगते हुए सूर्यका उपस्थान किया ॥ ४० ॥

सम्भाव्य चटकान् मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः ।
आस्फोटयत् तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥ ४१ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तकपर चिड़ियोंके पैदा होने और बढ़ने आदिकी बातें याद करके अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाशमें मानो ताल ठोंकते हुए स्पष्ट वाणीमें बोले, मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया ॥ ४१ ॥

अथान्तरिक्षे वागासीत् तां च शुश्राव जाजलिः ।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥ ४२ ॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ४३ ॥

इतनेहीमें आकाशवाणी हुई—[1]'जाजले ! तुम धर्ममें तुलाधारके समान नहीं हो, काशीपुरीमें महाज्ञानी तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं । विप्रवर ! वे तुलाधार भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो ।' जाजलिने उस आकाशवाणीको सुना ॥ ४२-४३ ॥

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद् राजन् यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इससे वे अमर्षके वशीभूत हो गये और वे तुलाधारको देखनेके लिये पृथ्वीपर विचरने लगे । जहाँ संध्या होती, वहीं वे मुनि टिक जाते थे ॥ ४४ ॥

कालेन महतागच्छत् स तु वाराणसीं पुरीम् ।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दीर्घकालके पश्चात् वे वाराणसी पुरीमें जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने तुलाधारको सौदा बेचते देखा ॥ ४५ ॥

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः ।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥

विविध पदार्थोंके क्रय-विक्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले तुलाधार भी ब्राह्मणको आते देख तुरंत ही उठकर खड़े हो गये और बड़े हर्षके साथ आगे बढ़कर उन्होंने ब्राह्मणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४६ ॥

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन् न संशयः ।
ब्रवीमि यत् तु वचनं तच्छृणुष्व द्विजोत्तम ॥ ४७ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! आप मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही मालूम हो गयी थी, इसमें संशय नहीं है । द्विजश्रेष्ठ ! अब जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये ॥ ४७ ॥

सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तं त्वया महत् ।
न च धर्मस्य संज्ञां त्वं पुरा वेत्थ कथंचन ॥ ४८ ॥

आपने सागरके तटपर सजल प्रदेशमें रहकर बड़ी भारी तपस्या की है, परंतु पहले कभी किसी तरह आपको यह बोध नहीं हुआ था कि मैं बड़ा धर्मवान् हूँ ॥ ४८ ॥

ततः सिद्धस्य तपसा तव विप्र शकुन्तकाः ।

---

१. इसी अध्यायमें पहले अदृश्य भूत-पिशाचोंके द्वारा उपर्युक्त वचन कहा गया है । यहाँ उसीको आकाशवाणी बतला रहे हैं ।

क्षिप्रं शिरस्यजायन्त ते च सम्भावितास्त्वया ॥ ४९ ॥

विप्रवर ! जब आप तपस्यासे सिद्ध हो गये, तब पक्षियोंने शीघ्र ही आपके सिरपर अण्डे दिये और उनसे बच्चे पैदा हुए, आपने उन सबकी भलीभाँति रक्षा की ॥ ४९ ॥

जातपक्षा यदा ते च गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततो धर्मं चटकप्रभवं द्विज ॥ ५० ॥

ब्रह्मन् ! जब उनके पर निकल आये और वे चारा चुगनेके लिये उड़कर इधर-उधर चले गये, तब उन पक्षियोंके पालनजनित धर्मको आप बहुत बड़ा मानने लगे ॥ ५० ॥

खे वाचं त्वमथाश्रौषीर्मां प्रति द्विजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्नस्ततः प्राप्तो भवानिह ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ५१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उसी समय मेरे विषयमें आकाशवाणी हुई, जिसे आपने सुना और सुनते ही अमर्षके वशीभूत होकर आप यहाँ मेरे पास चले आये। विप्रवर ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२६१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलि और तुलाधारका धर्मके विषयमें संवाद

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन तुलाधारेण धीमता ।
प्रोवाच वचनं धीमाञ्जाजलिर्जपतां वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस समय बुद्धिमान् तुलाधारके इस प्रकार कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मतिमान् जाजलिने यह बात कही ॥ १ ॥

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषां मूलफलानि च ॥ २ ॥

जाजलि बोले—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो ॥ २ ॥

अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥ ३ ॥

महामते ! तुम्हें यह धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेन यशस्विना ।
उवाच धर्मसूक्ष्माणि वैश्यो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यशस्वी ब्राह्मण जाजलिके इस प्रकार पूछनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले तुलाधार वैश्यने उन्हें धर्म-सम्बन्धी सूक्ष्म बातोंको इस तरह बताना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥

तुलाधार बोले—जाजले ! जो समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी और सबके प्रति मैत्रीभावकी स्थापना करनेवाला है, जिसे सब लोग पुरातन धर्मके रूपमें जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्मका मुझे ज्ञान है ॥ ५ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ ६ ॥

जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करनेसे काम चल जाय, ऐसी जो जीवन-वृत्ति है, वही उत्तम धर्म है। जाजले ! मैं उसीसे जीवननिर्वाह करता हूँ॥

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥ ७ ॥

मैंने दूसरोंके द्वारा काटे गये काठ और घास-फूससे यह घर तैयार किया है। अलक्तक (वृक्षविशेषकी छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्धद्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओंको मैं दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ ॥ ७ ॥

रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥ ८ ॥

विप्रर्षे ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ। माल बेचनेमें छल-कपट एवं असत्यसे काम नहीं लेता ॥ ८ ॥

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ ९ ॥

जाजले ! जो सब जीवोंका सुहृद् होता और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा सदा सबके हितमें लगा रहता है, वही वास्तवमें धर्मको जानता है ॥ ९ ॥

नानुरुद्ध्ये विरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥ १० ॥

मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ न विरोध ही करता हूँ और न कहीं मेरा द्वेष है, न किसीसे कुछ कामना करता हूँ। समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है। जाजले ! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो। मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है ॥

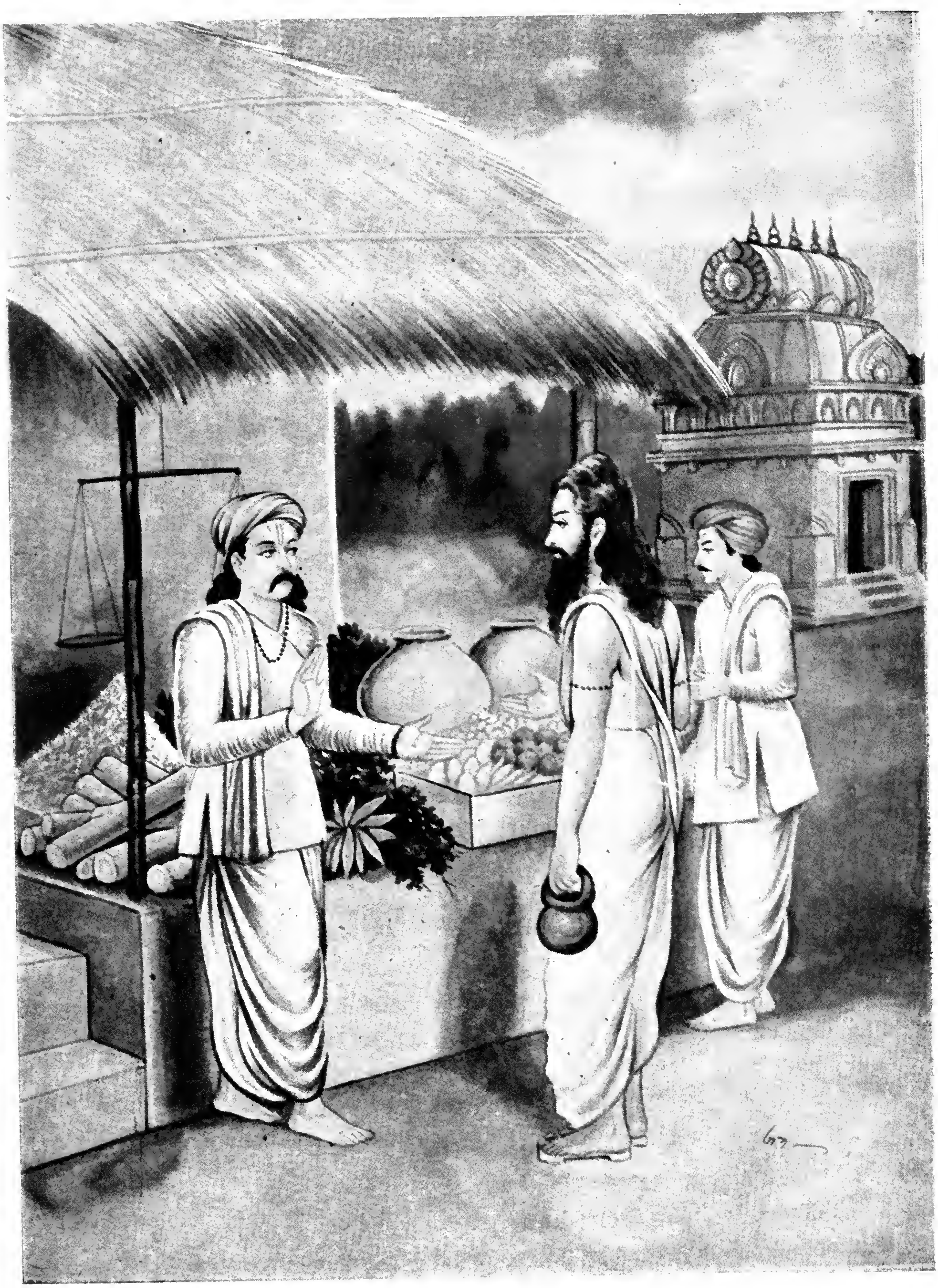

वैश्य तुलाधारके द्वारा मुनि जाजलिका सत्कार

नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यँल्लोकस्य चित्रताम्॥ ११॥

विप्रवर! मैं आकाशकी भाँति असङ्ग रहकर जगत्के कार्योंकी विचित्रताको देखता हुआ दूसरोंके कार्योंकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही॥ ११॥

इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले।
समं मतिमतां श्रेष्ठ समलोष्टाश्मकाञ्चनम्॥ १२॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजले! इस प्रकार तुम मुझे सब लोगोंके प्रति समता रखनेवाला और मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा सुवर्णको समान समझनेवाला जानो॥ १२॥

यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा।
देवैरपिहितद्वाराः सोपमा पश्यतो मम॥ १३॥

जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त (पागल) मनुष्य, जिनके नेत्र, कान आदि द्वार देवताओंने सदाके लिये बंद कर दिये हैं, सदा केवल साँस लेते रहते हैं, मुझ द्रष्टा पुरुषकी भी वैसी ही उपमा है (अर्थात् मैं देखकर भी नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता और विषयोंकी ओर मन नहीं ले जाता, केवल साक्षीरूपसे देखता हुआ श्वास-प्रश्वासमात्रकी क्रिया करता रहता हूँ)॥ १३॥

यथा वृद्धातुरकृशा निःस्पृहा विषयान् प्रति।
तथार्थकामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा॥ १४॥

जैसे वृद्ध, रोगी और दुर्बल मनुष्य विषयभोगोंकी स्पृहा नहीं रखते, उसी प्रकार मेरे मनसे भी धन और विषय-भोगोंकी इच्छा दूर हो गयी है॥ १४॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १५॥

जब यह पुरुष दूसरेसे भयभीत नहीं होता, जब दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह न तो किसीकी इच्छा रखता है और न किसीसे द्वेष ही करता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ १५॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १६॥

जब समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी बुरे भाव नहीं होते हैं तब मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम्॥ १७॥

जिसका भूत या भविष्यमें कोई कार्य नहीं है तथा जिसके लिये कोई धर्म करना शेष नहीं है, साथ ही सम्पूर्ण भूतोंको अभय प्रदान करता है, वही निर्भय पदको प्राप्त होता है॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम्॥ १८॥

जैसे सब लोग मौतके मुखमें जानेसे डरते हैं, उसी प्रकार जिसके स्मरणमात्रसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं तथा जो कटुवचन बोलनेवाला और दण्ड देनेमें कठोर है, ऐसे मनुष्यको महान् भयका सामना करना पड़ता है॥ १८॥

यथावद् वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम्।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम्॥ १९॥

जो वृद्ध हैं, पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न हैं, शास्त्रके अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं, उन्हीं महात्माओंके बर्तावका मैं भी अनुसरण करता हूँ॥

प्रणष्टः शाश्वतो धर्मस्त्वनाचारेण मोहितः।
तेन वैद्यस्तपस्वी वा बलवान् वा विमुह्यते॥ २०॥

अनाचारसे सनातनधर्म मोहयुक्त होकर नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा विद्वान्, तपस्वी तथा काम-क्रोधको जीतनेवाला बलवान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाता है॥ २०॥

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात्।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा॥ २१॥

जाजले! जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्तमें दूसरोंके प्रति द्रोह न रखकर, इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पालित आचारको अपने आचरणमें लाता है, वह विद्वान् वेदबोधित सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही धर्मके रहस्यको जान लेता है॥

नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया।
यदृच्छयैव काष्ठेन सन्धिं गच्छेत केनचित्॥ २२॥
तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम्।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया॥ २३॥

जैसे यहाँ नदीकी धारामें दैवेच्छासे बहता हुआ काठ अकस्मात् किसी दूसरे काठसे संयुक्त हो जाता है; फिर वहाँ दूसरे-दूसरे काष्ठ, तिनके, छोटी-छोटी लकड़ियाँ और सूखे गोबर भी आकर एक-दूसरेसे जुड़ जाते हैं, परंतु इन सबका वह संयोग आकस्मिक ही होता है, समझ-बूझकर नहीं (इसी प्रकार संसारके प्राणियोंके भी परस्पर संयोग-वियोग होते रहते हैं)॥ २२-२३॥

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने॥ २४॥

मुने! जिससे कोई भी प्राणी कभी किसी तरह भी उद्विग्न नहीं होता, वह सदा सम्पूर्ण भूतोंसे अभय प्राप्त कर लेता है॥

यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः॥ २५॥
स भयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामते।

महामते! विद्वन्! जैसे नदीके तीरपर आकर कोलाहल करनेवाले मनुष्यके डरसे सभी जलचर जन्तु भयके मारे छिप जाते हैं तथा जिस प्रकार भेड़ियेको देखकर सभी थर्रा उठते हैं, उसी प्रकार जिससे सब लोग डरते हैं, उसे भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे भय प्राप्त होता है॥ २५॥

एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतो यतस्ततः ।
सहायवान् द्रव्यवान् यः सुभगोऽथ परस्तथा ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह अभयदानरूप आचार प्रकट हुआ है, जो सभी उपायोंसे साध्य है—जैसे बने वैसे इसका पालन करना चाहिये । जो इसे आचरणमें लाता है वह सहायवान्, द्रव्यवान्, सौभाग्यशाली तथा श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ २६ ॥

ततस्तानेव कवयः शास्त्रेषु प्रवदन्त्युत ।
कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवः कृत्स्ननिर्णयाः ॥ २७ ॥

अतः जो अभयदान देनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींको विद्वान् पुरुष शास्त्रोंमें श्रेष्ठ बताते हैं । उनमेंसे जो बहिर्मुख होकर अपने हृदयमें क्षणभङ्गुर विषय-सुखोंकी इच्छा रखते हैं, वे तो कीर्ति और मान-बड़ाईके लिये ही अभयदानरूप व्रतका पालन करते हैं; परंतु जो पटु या प्रवीण पुरुष हैं, वे पूर्णस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही इस व्रतका आश्रय लेते हैं ॥२७॥

तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद् यत् फलमिहाश्नुते ॥ २८ ॥

तप, यज्ञ, दान और ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशके द्वारा मनुष्य यहाँ जो-जो फल प्राप्त करता है, वह सब उसे केवल अभय-दानसे मिल जाता है ॥ २८ ॥

लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥ २९ ॥

जो जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयकी दक्षिणा देता है, वह मानो समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है तथा उसे भी सब ओरसे अभय-दान प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ॥ ३० ॥

प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे जिस धर्मकी सिद्धि होती है, उससे बढ़कर महान् धर्म कोई नहीं है । महामुने ! जिससे कभी कोई भी प्राणी किसी तरह उद्विग्न नहीं होता, वह भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च ॥ ३१ ॥

घरके भीतर रहनेवाले सर्पके समान जिस पुरुषसे सब लोग भयभीत रहते हैं, वह इहलोक और परलोकमें भी कभी धर्मके फलको नहीं पाता ॥ ३१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियोंका आत्मा हो गया है और सम्पूर्ण भूतोंको अपनेसे अभिन्न देखता है, उसे किसी विशेष स्थानकी प्राप्ति नहीं होती । वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । उसके पदचिह्नकी खोज करनेवाले देवता भी उस ज्ञानी पुरुषके मार्गके विषयमें मोहित हो जाते हैं—उसकी गतिका पता नहीं पाते हैं॥

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम् ।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्दधस्व च जाजले ॥ ३३ ॥

प्राणियोंको अभयदान देना सब दानोंसे उत्तम बताया गया है । जाजले ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ, तुम इसपर विश्वास करो ॥ ३३ ॥

स एव सुभगो भूत्वा पुनर्भवति दुर्भगः ।
व्यापत्तिं कर्मणां दृष्ट्वा जुगुप्सन्ति जनाः सदा ॥ ३४ ॥

जो स्वर्गादिकी कामना करके धर्मकार्य करते हैं, वे ही स्वर्गादि फलोंको पाकर सौभाग्यवान् कहलाते हैं, फिर वे ही पुण्यक्षीण होनेके पश्चात् जब स्वर्गसे नीचे गिरते हैं, तब दुर्भाग्यसे दूषित माने जाते हैं, इस प्रकार कर्मोंका विनाश देखकर विज्ञ पुरुष सदा ही सकाम कर्मोंकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥

जाजले ! कोई भी धर्म निष्प्रयोजन या निष्फल नहीं है, उसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, स्वर्ग या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही यहाँ धर्मकी व्याख्या की गयी है ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः ।
उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते ॥ ३६ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह सबकी समझमें नहीं आ सकता; क्योंकि उसके स्वरूपको छिपानेवाली बहुत-सी बातें हैं । बीच-बीचमें विभिन्न सत्पुरुषोंके आचारोंको देखकर मनुष्य वास्तविक धर्मका ज्ञान प्राप्त करता है ॥३६॥

ये च च्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान् ।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान् कथं न विगर्हसे ।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥

जो लोग बैलोंको बधिया करके बाँधते-नाथते, उनसे भारी बोझ ढुलाते और उनका दमन करके उन्हें कामपर निकालते हैं, जो कितने ही जीवोंको मारकर खा जाते हैं, मनुष्य होकर मनुष्योंको दास बनाकर और उनके परिश्रमका फल आप भोगते हैं, उनकी तुम निन्दा क्यों नहीं करते हो ?॥

वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ।
आत्मनश्चापि जानाति यद् दुःखं वधबन्धने ॥ ३९ ॥

जो लोग वध और बन्धनकी दशामें अपनेको कितना कष्ट होता है, इस बातको जानते हैं तो भी दूसरोंको वध, बन्धन और कैदके कष्टमें डालकर उनसे दिन-रात काम कराते हैं, उनकी निन्दा तुम क्यों नहीं करते हो ? ॥ ३९ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥

तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा ।

पाँच इन्द्रियोंवाले समस्त प्राणियोंमें सूर्य, चन्द्र, वायु, ब्रह्मा, प्राण, यज्ञ और यमराज—इन सब देवताओंका निवास है, जो उन्हें जीते-जी बेचकर जीविका चलाते हैं, उन्हें अधर्मकी प्राप्ति होती है । फिर मृत जीवोंका विक्रय करनेवालोंके विषयमें तो कहा ही क्या जाय ? ॥ ४०½ ॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ॥ ४१ ॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिध्यति ।

बकरा अग्निका, भेड़ वरुणका, घोड़ा सूर्यका और पृथ्वी विराट्का रूप है तथा गाय और बछड़े चन्द्रमाके स्वरूप हैं, इनको बेचनेसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४१½ ॥

का तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान् पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियाञ्ज्ञानन्नाक्रम्य बहुधा नराः ॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान् देशान् नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसम्पीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥

किंतु ब्रह्मन् ! तेल, घी, शहद और दवाओंकी बिक्री करनेमें क्या हानि है, बहुत-से मनुष्य तो दंश और मच्छरोंसे रहित देशमें उत्पन्न और सुखसे पले हुए पशुओंको यह जानते हुए भी कि ये अपनी माताओंको बहुत प्रिय हैं और इनके बिछुड़नेसे उन्हें बहुत कष्ट होगा, जबरदस्ती आक्रमण करके ऐसे देशोंमें ले जाते हैं जहाँ दंश, मच्छर और कीचड़की अधिकता होती है । कितने ही बोझ ढोनेवाले पशु भारी भारसे पीड़ित हो लोगोंद्वारा अनुचित रूपसे सताये जाते हैं ॥

न मन्ये भ्रूणहत्यापि विशिष्टा तेन कर्मणा ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा ॥ ४५ ॥

मैं समझता हूँ कि उस क्रूर कर्मसे बढ़कर भ्रूणहत्याका पाप भी नहीं है । कुछ लोग खेतीको अच्छा मानते हैं, परंतु वह वृत्ति भी अत्यन्त कठोर है ॥ ४५ ॥

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानडुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥

जाजले ! जिसके मुखपर फाल जुड़ा हुआ है, वह हल पृथ्वीको पीड़ा देता है और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंका भी वध कर डालता है और उसमें जो बैल जोते जाते हैं, उनकी दुर्दशापर भी दृष्टिपात करो ॥ ४६ ॥

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः ॥ ४७ ॥

श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा ? जो पुरुष गाय और बैलोंको मारता है, वह महान् पाप करता है ॥ ४७ ॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥

एक समयकी बात है, ऋषियों और यतियोंने राजा नहुषके पास जाकर निवेदन किया कि तुमने माता गौ और प्रजापति वृषभका वध किया है, नहुष ! यह तुम्हारे द्वारा न करनेयोग्य पापकर्म किया गया है, तुम्हारे इस कुकृत्यके कारण हम सब लोगोंको बड़ी व्यथा हो रही है । जाजले ! ऐसा कहकर नहुषके द्वारा प्रशंसित उन महाभाग ऋषियोंने पापको एक सौ एक रोगोंके रूपमें परिणत करके समस्त प्राणियोंपर डाल दिया, राजा नहुषको भ्रूणहत्यारा बताया और स्पष्ट कह दिया कि हमलोग तुम्हारे यज्ञमें हविष्यकी आहुति नहीं देंगे॥

इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्त्वार्थदर्शिनः ।
ऋषयो यतयः शान्तास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर उन समस्त तत्त्वार्थदर्शी महात्माओंने तपस्या (ध्यान) द्वारा सारी बातें जान लीं और नहुषके अज्ञानवश वह पाप होनेके कारण उन्हें निर्दोष पाकर वे सब ऋषि और यति शान्त हो गये ॥ ५१ ॥

ईदृशानशिवान् घोरानाचारानिह जाजले ।
केवलाचरितत्वात् तु निपुणो नावबुद्ध्यसे ॥ ५२ ॥

जाजले ! इस तरहके अमङ्गलकारी और भयंकर आचार इस जगत्में बहुत-से प्रचलित हैं; केवल इसलिये कि अमुक कर्म पूर्वजोंद्वारा भी किया गया है, तुम चतुर होते हुए भी उसकी बुराईपर ध्यान नहीं देते ॥ ५२ ॥

कारणाद् धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत् ।
यो हन्याद् यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ॥ ५३ ॥
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम् ।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस कर्मका हेतु या परिणाम क्या है ? इसपर विचार करके ही तुम्हें किसी भी धर्मको स्वीकार करना चाहिये । लोगोंने किया है या कर रहे हैं, यह जानकर उनका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये । जाजले ! अब मैं अपने विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो, जो मुझे मारता है तथा जो मेरी प्रशंसा करता है, वे दोनों ही मेरे लिये बराबर हैं । उनमेंसे कोई भी मेरे लिये प्रिय या अप्रिय नहीं है, मनीषी पुरुष ऐसे ही धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५३-५४ ॥

उपपत्त्या हि सम्पन्नो यतिभिश्चैव सेव्यते ।

सततं धर्मशीलैश्च निपुणेनोपलक्षितः ॥ ५५ ॥

यही युक्तिसंगत है, यति भी इसीका सेवन करते हैं तथा धर्मात्मा मनुष्य अच्छी तरह विचारकर सदा इसी धर्मका अनुष्ठान करते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५५½ श्लोक हैं)

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको तुलाधारका आत्मयज्ञविषयक धर्मका उपदेश

जाजलिरुवाच

अयं प्रवर्तितो धर्मस्तुलां धारयता त्वया ।
स्वर्गद्वारं च वृत्तिं च भूतानामवरोत्स्यते ॥ १ ॥

जाजलिने कहा—वणिक् महोदय ! तुम हाथमें तराजू लेकर सौदा तौलते हुए जिस धर्मका उपदेश करते हो, उससे तो स्वर्गका दरवाजा ही बंद किये देते हो और प्राणियोंकी जीविकावृत्तिमें भी रुकावट पैदा करते हो ॥ १ ॥

कृष्या ह्यन्नं प्रभवति ततस्त्वमपि जीवसि ।
पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्या जीवन्ति वाणिज ॥ २ ॥

वैश्यपुत्र ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि खेतीसे ही अन्न पैदा होता है, जिससे तुम भी जी रहे हो । अन्न और पशुओंसे ही मनुष्यका जीवन-निर्वाह होता है ॥ २ ॥

ततो यज्ञः प्रभवति नास्तिक्यमपि जल्पसि ।
न हि वर्तेदयं लोको वार्तामुत्सृज्य केवलाम् ॥ ३ ॥

उन्हींसे यज्ञकार्य सम्पन्न होता है । तुम तो नास्तिकताकी भी बातें करते हो । यदि पशुओंके कष्टका ख्याल करके खेती आदि वृत्तियोंका त्याग कर दिया जाय, तो इस संसारका जीवन ही समाप्त हो जायगा ॥ ३ ॥

तुलाधार उवाच

वक्ष्यामि जाजले वृत्तिं नास्मि ब्राह्मण नास्तिकः ।
न यज्ञं च विनिन्दामि यज्ञवित् तु सुदुर्लभः ॥ ४ ॥

तुलाधारने कहा—जाजले ! मैं तुम्हें हिंसातिरिक्त जीविका-वृत्ति बताऊँगा । ब्राह्मणदेव ! मैं नास्तिक नहीं हूँ और न यज्ञकी ही निन्दा करता हूँ; परंतु यज्ञके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४ ॥

नमो ब्राह्मणयज्ञाय ये च यज्ञविदो जनाः ।
स्वयज्ञं ब्राह्मणा हित्वा क्षत्रयज्ञमिहास्थिताः ॥ ५ ॥

विप्र ! ब्राह्मणोंके लिये जिस यज्ञका विधान है, उसको तो मैं नमस्कार करता हूँ और जो लोग उस यज्ञको ठीक-ठीक जानते हैं, उनके चरणोंमें भी मस्तक झुकाता हूँ, किंतु खेद है, इस समय ब्राह्मणलोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्य-से प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है ॥ ६ ॥

इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते ।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥

जाजले ! श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया है कि अमुक कर्मके लिये यह दक्षिणा देनी चाहिये, वह दक्षिणा देनी चाहिये, उसके अनुसार वैसी दक्षिणा देनेसे भी यह यज्ञ श्रेष्ठ माना जाता है; अन्यथा शक्ति रहते हुए यदि यज्ञकर्ताने लोभ दिखाया तो उसको चोरी करनेका पाप लगता है और उस कर्ममें भी विपरीतता आ जाती है ॥ ७ ॥

यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः ।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥ ८ ॥
पूजा स्याद् देवतानां हि यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।

शुभ कर्मके द्वारा जिस हविष्यका संग्रह किया जाता है, उसीके होमसे देवता संतुष्ट होते हैं । शास्त्रके कथनानुसार नमस्कार, स्वाध्याय, घी और अन्न—इन सबके द्वारा देवताओंकी पूजा हो सकती है ॥ ८½ ॥

इष्टापूर्तादसाधूनां विगुणा जायते प्रजा ॥ ९ ॥

जो लोग कामनाके वशीभूत होकर यज्ञ करते, तालाब खुदवाते या बगीचे लगवाते हैं, उन (सकामभावयुक्त) असाधु पुरुषोंसे उन्हींके समान गुणहीन संतान उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः ।
यजमाना यथाऽऽत्मानमृत्विजश्च तथा प्रजाः ॥ १० ॥

लोभी पुरुषोंसे लोभीका जन्म होता है और समदर्शी पुरुषोंसे समदर्शी पुत्र उत्पन्न होता है । यजमान और ऋत्विज स्वयं जैसे होते हैं, उनकी प्रजा भी वैसी ही होती है ॥

यज्ञात् प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ।
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति ॥ ११ ॥
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

जिस प्रकार आकाशसे निर्मल जलकी वर्षा होती है उसी प्रकार शुद्ध भावसे किये हुए यज्ञसे योग्य प्रजाकी उत्पत्ति होती है। विप्रवर ! अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलको प्राप्त होती है, सूर्यसे जलकी वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उपजता है और अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती है ॥ ११½ ॥

तस्मात् सुनिष्ठिताः पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे ॥ १२ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ।

पहलेके लोग कर्तव्य समझकर यज्ञमें श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होते थे और उस यज्ञसे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती थीं। पृथ्वीसे बिना जोते-बोये ही काफी अन्न पैदा होता तथा जगत्‌की भलाईके लिये उनके शुभ संकल्पसे ही वृक्षों और लताओंमें फल-फूल लगते थे ॥ १२½ ॥

न ते यज्ञेष्वात्मसु वा फलं पश्यन्ति किंचन ॥ १३ ॥
शङ्कमानाः फलं यज्ञे ये यजेरन् कथंचन ।
जायन्तेऽसाधवो धूर्ता लुब्धा वित्तप्रयोजनाः ॥ १४ ॥

वे यज्ञोंमें अपने लिये किसी फलकी ओर दृष्टि नहीं रखते थे। जो मनुष्य यज्ञसे कोई फल मिलता है या नहीं, इस प्रकारका संदेह मनमें लेकर किसी तरह यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे धन चाहनेवाले लोभी, धूर्त और दुष्ट होते हैं ॥ १३-१४ ॥

स स्म पापकृतां लोकान् गच्छेदशुभकर्मणा ।
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः ॥ १५ ॥
पापात्मा सोऽकृतप्रज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ ! जो मनुष्य प्रमाणभूत वेदको अपने अप्रामाणिक कुतर्कद्वारा अमङ्गलकारी सिद्ध करता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, उसका मन सदा यहाँ पापोंमें ही लगा रहता है और वह अपने अशुभ कर्मके कारण पापाचारियोंके लोकों (नरकों) में ही जाता है ॥ १५½ ॥

कर्तव्यमिति कर्तव्यं वेत्ति वै ब्राह्मणो भयम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैव वर्तते लोके नैव कर्तव्यतां पुनः ।

जो करने योग्य कर्मोंको अपना कर्तव्य समझता है और उसका पालन न होनेपर भय मानता है, जिसकी दृष्टिमें (ऋत्विक्, हविष्य, मन्त्र और अग्नि आदि) सब कुछ ब्रह्म ही है तथा जो किसी भी कर्तव्यको अपना नहीं मानता—कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ १६½ ॥

विगुणं च पुनः कर्म ज्याय इत्यनुशुश्रुम ॥ १७ ॥
सर्वभूतोपघातश्च फलभावे च संयमः ।

हमने सुना है कि यदि कर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि हो जानेके कारण वह गुणहीन हो जाय तो भी यदि वह निष्कामभावसे किया जा रहा है तो श्रेष्ठ ही है अर्थात् वह कल्याणकारी ही होता है। निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्ममें यदि कुत्ते आदि अपवित्र पशुओंके द्वारा स्पर्श हो जानेसे कोई बाधा भी आ जाय तथापि वह कर्म नष्ट नहीं होता, वह श्रेष्ठतम ही माना जाता है, अतः प्रत्येक कर्ममें फलकी भावना या कामनापर संयम—नियन्त्रण रखना आवश्यक है ॥ १७½ ॥

सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः ॥ १८ ॥
उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ।

प्राचीन कालके ब्राह्मण सत्यभाषण और इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के प्रति लोभ रखते थे, उन्हें लौकिक धनकी प्यास नहीं रहती थी, वे उस ओरसे सदा तृप्त रहते थे। वे सब लोग प्राप्त वस्तुका त्याग करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ।

वे क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के तत्त्वको जाननेवाले और आत्मयज्ञ-परायण थे। उपनिषदोंके अध्ययनमें तत्पर रहते तथा स्वयं संतुष्ट होकर दूसरोंको भी संतोष देते थे ॥ १९½ ॥

अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि संश्रितम् ॥ २० ॥
तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जाजले ।

ब्रह्म सर्वस्वरूप है, सम्पूर्ण देवता उसीके रूप हैं, वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके भीतर विराजमान है। इसलिये जाजले ! इसके तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता तृप्त एवं संतुष्ट हो जाते हैं ॥

यथा सर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किंचन ॥ २१ ॥
तथा प्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिः सुखोदया ।

जैसे सब प्रकारके रसोंसे तृप्त हुआ मनुष्य किसी भी रसका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार जो ज्ञानानन्दसे परितृप्त है, उसे अक्षय सुख देनेवाली नित्य तृप्ति बनी रहती है ॥

धर्माधारा धर्मसुखाः कृतत्नव्यवसितास्तथा ॥ २२ ॥
अस्ति नस्तत्त्वतो भूय इति प्राज्ञस्त्ववेक्षते ।

हममेंसे बहुत लोग ऐसे हैं, जिनका धर्म ही आधार है, जो धर्ममें ही सुख मानते हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय कर लिया है; परंतु हमलोगोंका जो यथार्थरूप है, उसकी अपेक्षा बहुत महान् और व्यापक परमात्मा सर्वत्र सर्वात्मा रूपसे विराजमान है—ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है ॥ २२½ ॥

ज्ञानविज्ञानिनः केचित् परं पारं तितीर्षवः ॥ २३ ॥
अतीव पुण्यदं पुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ॥ २४ ॥

भवसागरसे पार उतरनेकी इच्छावाले कोई-कोई ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न महात्मा पुरुष ही अत्यन्त पवित्र और पुण्यात्माओंसे सेवित पुण्यदायक ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं,

जहाँ जाकर वे न तो शोक करते हैं, न वहाँसे नीचे गिरते हैं और न मनमें किसी प्रकारकी व्यथाका ही अनुभव करते हैं ॥ २३-२४ ॥

ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः।
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ॥ २५ ॥
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ॥ २६ ॥
न चैतानृत्विजो लुब्धा याजयन्ति फलार्थिनः।

वे सात्त्विक महापुरुष उस ब्रह्मधामको ही प्राप्त होते हैं, उन्हें स्वर्गकी इच्छा नहीं होती, वे यश और धनके लिये यज्ञ नहीं करते, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलते और हिंसा-रहित यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। वनस्पति, अन्न और फल-मूलको ही वे हविष्य मानते हैं, धनकी इच्छा रखनेवाले लोभी ऋत्विज इनका यज्ञ नहीं कराते हैं ॥ २५-२६½ ॥

स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ॥ २७ ॥
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया।

ज्ञानी ब्राह्मणोंने अपनेको ही यज्ञका उपकरण मानकर मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है। उन्होंने प्रजाहितकी कामनासे ही मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है ॥ २७½ ॥

तस्मात् तानृत्विजो लुब्धा याजयन्त्यशुभान् नरान् २८
प्रापयेयुः प्रजाः स्वर्गं स्वधर्माचरणेन वै।
इति मे वर्तते बुद्धिः समा सर्वत्र जाजले ॥ २९ ॥

लोभी ऋत्विज तो ऐसे लोगोंका ही यज्ञ कराते हैं, जो अशुभ (मोक्षकी इच्छासे रहित) होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष तो स्वधर्मका आचरण करते हुए ही प्रजाको स्वर्गमें पहुँचा देते हैं। जाजले ! यही सोचकर मेरी बुद्धि भी सर्वत्र समान भाव ही रखती है ॥ २८-२९ ॥

यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।
तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ॥ ३० ॥

महामुने ! श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण सदा ही जिन द्रव्योंको लेकर उनका यज्ञोंमें उपयोग करते हैं उन्हींके द्वारा वे दिव्य मार्गसे पुण्य लोकोंमें जाते हैं ॥ ३० ॥

आवृत्तिस्तस्य चैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः।
उभौ तौ देवयानेन गच्छतो जाजले यथा ॥ ३१ ॥

जाजले ! जो कामनाओंमें आसक्त है, उसी मनुष्यकी इस संसारमें पुनरावृत्ति होती है। ज्ञानीका पुनः यहाँ जन्म नहीं होता। यद्यपि दोनों दिव्यमार्गसे ही पुण्यलोकोंमें जाते हैं, तथापि संकल्प-भेदसे ही उनकी आवृत्ति और अनावृत्ति होती है॥

स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥ ३२ ॥

ज्ञानी महात्माओंकी इच्छा होते ही उनके मानसिक संकल्पकी सिद्धियोंके अनुसार बैल स्वयं गाड़ीमें जुतकर उनकी सवारी ढोने लगते हैं, दूध देनेवाली गौएँ स्वयं ही सब प्रकारके मनोरथोंकी सिद्धिरूप दुग्ध प्रदान करती हैं॥

स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः।
यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गामालब्धुमर्हति ॥ ३३ ॥

योगसिद्ध पुरुषोंके पास स्वयं यज्ञयूप उपस्थित हो जाते हैं और उन्हें लेकर वे पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं। उनके ऋत्विजोंके पास दक्षिणा भी स्वतः उपस्थित हो जाती है। जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध एवं सिद्ध हो गया है, वही पृथ्वीको उपलब्ध कर सकता है॥

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरंस्ते न तादृशाः।
इति त्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! इसलिये वे योगसिद्ध पुरुष ओषधियों—अन्न आदिके द्वारा यज्ञ कर सकते हैं। जो पहले बताये अनुसार मूढ़ लोग हैं, वे उस तरहका यज्ञ नहीं कर सकते। कर्म-फलका त्याग करनेवाले महात्माओंका ऐसा अद्भुत माहात्म्य है, इसलिये मैं त्यागको आगे रखकर तुमसे ऐसी बात कह रहा हूँ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३५ ॥

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी फलकी इच्छासे कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, नमस्कार और स्तुतिसे अलग रहता है, जिसका धर्म नहीं क्षीण हुआ है, कर्म-बन्धन क्षीण हो गया है, उसी पुरुषको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥

न श्रावयन् न च यजन् न ददद् ब्राह्मणेषु च।
काम्यां वृत्तिं लिप्समानः किंगतिं याति जाजले।
इदं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

जाजले ! जो ब्राह्मण वेदाध्ययन, यजन और ब्राह्मणोंको दान देना आदि वर्णोचित कर्म नहीं करता और मनोहर भोग-पदार्थोंकी लिप्सा रखता है, वह कुत्सित गतिको प्राप्त होता है। किंतु निष्काम धर्मको देवताके समान आराध्य बनानेवाला मनुष्य यज्ञके यथार्थ फल—मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥३६ ॥

जाजलिरुवाच

न वै मुनीनां शृणुमः स्म तत्त्वं
पृच्छामि ते वाणिज कष्टमेतत्।
पूर्वैः पूर्वैश्चास्य नावेक्षमाणा
नातः परं तमृषयः स्थापयन्ति ॥ ३७ ॥

जाजलिने पूछा—वैश्यप्रवर ! मैंने आत्मयाजी मुनियोंके समीप तुम्हारेद्वारा प्रतिपादित तत्त्वको कभी नहीं सुना। सम्भवतः यह समझनेमें कठिन भी है, क्योंकि पूर्वकालीन महर्षियोंने उसके ऊपर विशेष विचार नहीं किया है। जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने भी उत्तम होनेपर भी इस धर्मकी जगत्‌में स्थापना नहीं की है अतः मैं तुमसे ही पूछता हूँ ॥ ३७ ॥

यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवः प्राप्नुयुर्मखम् ।
अथ स्म कर्मणा केन वाणिज प्राप्नुयात् सुखम् ॥ ३८ ॥
शंस मे तन्महाप्राज्ञ भृशं वै श्रद्दधामि ते ।

वणिक्पुत्र ! यदि इस प्रकार आत्मतीर्थमें पशु अर्थात् अज्ञानी मानव आत्मयज्ञका सौभाग्य नहीं पा सकते, तो किस कर्मसे उन्हें सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? महामते ! यह बात मुझे बताओ। मैं तुम्हारे कथनपर अधिक श्रद्धा रखता हूँ ॥

तुलाधार उवाच

उत यज्ञा उतायज्ञा मखं नार्हन्ति ते क्वचित् ॥ ३९ ॥
आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः ।
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भरत्येव गौर्मखम् ॥ ४० ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! जिन दम्भी पुरुषोंके यज्ञ अश्रद्धा आदि दोषोंके कारण यज्ञ कहलानेयोग्य नहीं रह जाते, वे न तो मानसिक यज्ञके अधिकारी हैं और न क्रियात्मक यज्ञके ही। श्रद्धालु पुरुष तो घी, दूध, दही और विशेषतः पूर्णाहुतिसे ही अपना यज्ञ पूर्ण करते हैं। श्रद्धालुओंमें जो असमर्थ हैं, उनका यज्ञ गाय अपनी पूँछके बालोंके स्पर्शसे, शृङ्गजलसे और पैरोंकी धूलसे ही पूर्ण कर देती है ॥ ३९-४० ॥

पत्नीं चानेन विधिना प्रकरोति नियोजयन् ।
इष्टं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इसी विधिसे देवताके लिये घी आदि द्रव्य समर्पित करनेके लिये श्रद्धाको ही पत्नी बनाये और यज्ञको ही देवताके समान आराध्य बनाकर यथावत् रूपसे यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुको प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते ।
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ॥ ४२ ॥

यज्ञविहित समस्त पशुओंके दुग्ध आदिसे निर्मित पुरोडाशको ही पवित्र बताया जाता है। सारी नदियाँ ही सरस्वतीका रूप हैं और समस्त पर्वत ही पुण्यमय प्रदेश हैं ॥

जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।
एतानीदृशकान् धर्मानाचरन्निह जाजले ॥ ४३ ॥
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ।

जाजले ! यह आत्मा ही प्रधान तीर्थ है। आप तीर्थ-सेवनके लिये देश-देशमें मत भटकिये। जो यहाँ मेरे बताये हुए अहिंसाप्रधान धर्मोंका आचरण करता है तथा विशेष कारणोंसे धर्मका अनुसंधान करता है, वह कल्याणकारी लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४३½ ॥

भीष्म उवाच

एतानीदृशकान् धर्मांस्तुलाधारः प्रशंसति ॥ ४४ ॥
उपपत्त्याभिसम्पन्नान् नित्यं सद्भिर्निषेवितान् ॥ ४५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार हिंसारहित, युक्तिसंगत तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित धर्मोंकी ही तुलाधार वैश्यने सदा प्रशंसा की थी ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको पक्षियोंका उपदेश

तुलाधार उवाच

सद्भिर्वा यदि वासद्भिः पन्थानमिममास्थितम् ।
प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यसि तद् यथा ॥ १ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन ? इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लो। तब तुम्हें इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा ॥ १ ॥

एते शकुन्ता बहवः समन्ताद् विचरन्ति ह ।
तवोत्तमाङ्गे सम्भूताः श्येनाश्चान्याश्च जातयः ॥ २ ॥

देखो ! आकाशमें ये जो बहुत-से श्येन एवं दूसरी जातियोंके पक्षी चारों ओर विचरण कर रहे हैं, इनमें तुम्हारे सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी भी हैं ॥ २ ॥

आह्वयैनान् महाब्रह्मन् विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान् हस्तपादैश्च श्लिष्टान् देहेषु सर्वशः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! ये यत्र-तत्र घोंसलोंमें घुस रहे हैं। देखो, इन सबके हाथ-पैर सिकुड़कर शरीरोंसे सट गये हैं। इन सबको बुलाकर पूछो ॥ ३ ॥

सम्भावयन्ति पितरं त्वया सम्भाविताः खगाः ।
असंशयं पिता वै त्वं पुत्रानाहूय जाजले ॥ ४ ॥

ये पक्षी तुम्हारे द्वारा पालित और समादृत हुए हैं। अतः तुम्हारा पिताके समान सम्मान करते हैं। जाजले ! इसमें संदेह नहीं कि तुम इनके पिता ही हो; अतः इन पुत्रोंको बुलाकर प्रश्न करो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ततो जाजलिना तेन समाहूताः पतत्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्ति स्म धर्मस्य वचनात् किल ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया। उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर

वे पक्षी वहाँ आये और उनसे मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें बोलने लगे—॥ ५ ॥

अहिंसादिकृतं कर्म इह चैव परत्र च।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम्॥ ६ ॥

'अहिंसा और दया आदि भावोंसे प्रेरित होकर किया हुआ कर्म इहलोक और परलोकमें भी उत्तम फल देनेवाला है। ब्रह्मन्! यदि मनमें हिंसाकी भावना हो तो वह श्रद्धाका नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्म करनेवाले इस हिंसक मनुष्यका ही सर्वनाश कर डालती है॥ ६ ॥

समानां श्रद्दधानानां संयतानां सुचेतसाम्।
कुर्वतां यज्ञ इत्येव न यज्ञो जातु नेष्यते॥ ७ ॥

'जो हानि और लाभमें समान भाव रखनेवाले, श्रद्धालु, संयमी और शुद्ध चित्तवाले पुरुष हैं तथा यज्ञको कर्तव्य समझकर करते हैं, उनका यज्ञ कभी असफल नहीं होता॥७॥

श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी ततः॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! श्रद्धा सूर्यकी पुत्री है, इसलिये उसे वैवस्वती, सावित्री और प्रसवित्री (विशुद्ध जन्मदायिनी) भी कहते हैं। वाणी और मन भी श्रद्धाकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं॥ ८ ॥

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति॥ ९ ॥

'भरतनन्दन! यदि वाणीके दोषसे मन्त्रके उच्चारणमें त्रुटि रह जाय और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवताका ध्यान आदि कर्म सम्पन्न न हो सके तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह वाणी और मनके दोषको दूर करके उस कर्मकी रक्षा कर सकती है। परंतु यदि श्रद्धा न होनेके कारण कर्ममें त्रुटि रह जाय तो वाणी और मन (मन्त्रोच्चारण और ध्यान) उस कर्मकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ९ ॥

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः॥ १० ॥
देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः॥ ११ ॥
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।

इस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंको जाननेवाले लोग ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो इस प्रकार है—पहले देवतालोग श्रद्धाहीन पवित्र और पवित्रतारहित श्रद्धालुके द्रव्यको यज्ञकर्मके लिये एक-सा ही समझते थे। इसी प्रकार वे कृपण वेदवेत्ता और महादानी सूदखोरके अन्नमें भी कोई अन्तर नहीं मानते थे। देवताओंने खूब सोच-विचारकर दोनों प्रकारके अन्नोंको समान निश्चित किया था। १०-११½।

प्रजापतिस्तानुवाच विषमं कृतमित्युत॥ १२ ॥
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।

'किंतु एक बार यज्ञमें प्रजापतिने उनके इस बर्तावको देखकर कहा—'देवताओ! तुमने यह अनुचित किया है। वास्तवमें उदारका अन्न उसकी श्रद्धाके कारण पवित्र होता है और कंजूसका अश्रद्धाके कारण अपवित्र एवं नष्टप्राय समझा जाता है*॥ १२½ ॥

भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः॥ १३ ॥
अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः॥ १४ ॥

'सारांश यह कि उदारका ही अन्न भोजन करना चाहिये, कृपण, श्रोत्रिय एवं केवल सूदखोरका नहीं। जिसमें श्रद्धा नहीं है, एकमात्र वही देवताओंको हविष्य अर्पण करनेका अधिकार नहीं रखता है। उसीका अन्न नहीं खाना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही मानते हैं॥ १३-१४ ॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ १५ ॥

'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है। जैसे साँप अपने पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है॥ १५ ॥

ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः॥ १६ ॥

'श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना समस्त पवित्रताओंसे बढ़कर है। जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है॥ १६ ॥

किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७ ॥

'उसे तपस्याद्वारा क्या लेना है? आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना है? यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है, वह वैसा सात्त्विक, राजस या तामस होता है॥१७॥

इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः।
वयं जिज्ञासमानास्तु सम्प्राप्ता धर्मदर्शनात्॥ १८ ॥

'धर्म और अर्थका साक्षात्कार करनेवाले सत्पुरुषोंने इसी प्रकार धर्मकी व्याख्या की है। हमलोगोंने धर्मदर्शन नामक मुनिसे जिज्ञासा प्रकट करनेपर उस धर्मका ज्ञान प्राप्त किया है॥ १८ ॥

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।

---

* अतः श्रद्धाहीन पवित्रकी अपेक्षा पवित्रताहीन श्रद्धालुका ही अन्न ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार कृपण वेदवेत्ता और दानी सूदखोरमेंसे दानी सूदखोरका ही अन्न श्रद्धापूत एवं ग्राह्य है। केवल सूदखोर और केवल कृपणका अन्न तो त्याज्य है ही।

स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ॥ १९ ॥

महाज्ञानी जाजलि ! तुम इसपर श्रद्धा करो । तदनन्तर इसके अनुसार आचरण करनेसे तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी । श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है । जाजले ! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है' ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽचिरेण कालेन तुलाधारः स एव च ।
दिवं गत्वा महाप्राज्ञौ विहरेतां यथासुखम् ॥ २० ॥
स्वं स्वं स्थानमुपागम्य स्वकर्मफलनिर्जितम् ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर थोड़े ही समयमें तुलाधार और जाजलि दोनों महाज्ञानी पुरुष परमधाममें जाकर अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप अपने-अपने स्थानको पाकर वहाँ सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ २०½ ॥

एवं बहुविधार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ॥ २१ ॥
सम्यक् चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः ।
तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः॥ २२ ॥

इस प्रकार तुलाधारने नाना प्रकारके वक्तव्य विषयोंसे युक्त उत्तम भाषण किया । उन्होंने सनातनधर्मका भी वर्णन किया । ब्राह्मण जाजलिने विख्यात प्रभावशाली तुलाधारके वे वचन सुनकर उनके इस तात्पर्यको भलीभाँति हृदयंगम किया ॥ २१-२२ ॥

तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ।
एवं बहुमतार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ।
यथौपम्योपदेशेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुलाधारने जो उपदेश दिया था, वह बहुजनसम्मत अर्थसे युक्त था । उसे सुनकर जाजलिको परम शान्ति प्राप्त हुई । उसे यथावत् दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा विचख्नुके द्वारा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालमें राजा विचख्नुने समस्त प्राणियोंपर दया करनेके लिये जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका इस प्रसङ्गमें जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥

एक समय किसी यज्ञशालामें राजाने देखा कि एक बैलकी गरदन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं । यज्ञशालाके प्राङ्गणमें कितनी ही गौएँ खड़ी हैं । यह सब देखकर राजा बोले—॥ २ ॥

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥ ३ ॥

'संसारमें समस्त गौओंका कल्याण हो ।' जब हिंसा आरम्भ होने जा रही थी, उस समय उन्होंने गौओंके लिये यह शुभ कामना प्रकट की और उस हिंसाका निषेध करते हुए कहा—॥ ३ ॥

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥

'जो धर्मकी मर्यादासे भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्माके विषयमें संदेह है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगोंने ही हिंसाका समर्थन किया है ॥

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥ ५ ॥

धर्मात्मा मनुने सम्पूर्ण कर्मोंमें अहिंसाका ही प्रतिपादन किया है । मनुष्य अपनी ही इच्छासे यज्ञकी बाह्यवेदीपर पशुओंका बलिदान करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ ६ ॥

अतः विज्ञ पुरुषको उचित है कि वह वैदिक प्रमाणसे धर्मके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय करे । सम्पूर्ण भूतोंके लिये जिन धर्मोंका विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गयी है ॥ ६ ॥

उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः ।
आचार इत्यनाचारः कृपणाः फलहेतवः ॥ ७ ॥

उपवासपूर्वक कठोर नियमोंका पालन करे । वेदकी फलश्रुतियोंका परित्याग कर दे अर्थात् काम्य कर्मोंको छोड़ दे, सकामकर्मोंके आचरणको अनाचार समझकर उनमें प्रवृत्त न हो । कृपण (क्षुद्र) मनुष्य ही फलकी इच्छासे कर्म करते हैं ॥ ७ ॥

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥ ८ ॥

यदि कहें कि मनुष्य यूपनिर्माणके उद्देश्यसे जो वृक्ष काटते और यज्ञके उद्देश्यसे पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है अपि तु धर्म ही है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे धर्मकी कोई प्रशंसा नहीं करते ॥ ८ ॥

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥ ९ ॥

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है ॥९॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।

उन धूर्तोंने अभिमान, मोह और लोभके वशीभूत होकर उन वस्तुओंके प्रति अपनी यह लोलुपता ही प्रकट की है।९½।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥ १० ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।

ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञोंमें भगवान् विष्णुका ही आदर-भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदिसे ही उनकी पूजाका विधान है ॥ १०½ ॥

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
यच्चापि किंचित् कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम् ।
महासत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत् ॥ १२ ॥

वेदोंमें जो यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष बताये गये हैं, उन्हींका यज्ञोंमें उपयोग होना चाहिये। शुद्ध आचार-विचारवाले महान् सत्त्वगुणी पुरुष अपनी विशुद्ध भावनासे प्रोक्षण आदिके द्वारा उत्तम संस्कार करके जो कोई भी हविष्य या नैवेद्य तैयार करते हैं, वह सब देवताओंको अर्पण करनेके योग्य ही होता है ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शरीरमापदश्चापि विवदन्त्यविहिंसतः ।
कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यते ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो हिंसासे अत्यन्त दूर रहनेवाला है, उस पुरुषका शरीर और आपत्तियाँ परस्पर विवाद करने लगती हैं—आपत्तियाँ शरीरका शोषण करती हैं और शरीर आपत्तियोंका नाश चाहता है; अतः सूक्ष्म हिंसाके भयसे कृषि आदि किसी कार्यका आरम्भ न करनेवाले पुरुषकी शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा ? ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा ।
तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कर्मोंमें इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति सर्वथा क्षीण न हो जाय, जिससे वह मृत्युके अधीन न हो जाय; क्योंकि मनुष्य शरीरके समर्थ होनेपर ही धर्मका पालन कर सकता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि विचख्नुगीतायां पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें विचख्नुगीताविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

महर्षि गौतम और चिरकारीका उपाख्यान—दीर्घकालतक सोच-विचारकर कार्य करनेकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान् नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप मेरे परम गुरु हैं। कृपया यह बतलाइये कि यदि कभी सर्वथा ऐसा कार्य उपस्थित हो जाय, जो गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण अवश्य कर्तव्य हो, परंतु हिंसायुक्त होनेके कारण दुष्कर एवं अनुचित प्रतीत होता हो तो ऐसे अवसरपर उस कार्यकी परख कैसे करनी चाहिये ? उसे शीघ्र कर डाले या देरतक उसपर विचार करता रहे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत् पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस विषयमें जानकार लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलमें उत्पन्न चिरकारीपर बीत चुका है ॥ २ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥

'चिरकारी ! तुम्हारा कल्याण हो। चिरकारी ! तुम्हारा मङ्गल हो। चिरकारी बड़ा बुद्धिमान् है। चिरकारी कर्तव्योंके पालनमें कभी अपराध नहीं करता है।' (यह बात चिरकारीकी प्रशंसा करते हुए उसके पिताने कही थी) ॥ ३ ॥

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥ ४ ॥

कहते हैं, महर्षि गौतमके एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम था चिरकारी। वह कर्तव्य-विषयोंका भलीभाँति

विचार करके सारे कार्य विलम्बसे किया करता था ॥ ४ ॥

चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन् ।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥

वह सभी विषयोंपर बहुत देरतक विचार करता था, चिरकालतक जागता और चिरकालतक सोता था तथा चिर-विलम्बके बाद ही कार्य पूर्ण करता था; इसलिये सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे ॥ ५ ॥

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते ।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥

जो दूरतककी बात नहीं सोच सकते, ऐसे मन्दबुद्धि मानवोंने उसे आलसीकी उपाधि दे दी। उसे दुर्बुद्धि कहा जाने लगा ॥ ६ ॥

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान् ।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥

एक दिनकी बात है, गौतमने अपनी स्त्रीके द्वारा किये गये किसी व्यभिचारपर कुपित हो अपने दूसरे पुत्रोंको न कहकर चिरकारीसे कहा—'बेटा ! तू अपनी इस पापिनी माताको मार डाल' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः ।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा देकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वनमें चले गये ॥ ८ ॥

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः ।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥

चिरकारीने अपने स्वभावके अनुसार देर करके कहा, 'बहुत अच्छा'। चिरकारी तो वह था ही, चिरकालतक उस बातपर विचार करता रहा ॥ ९ ॥

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम् ।
कथं धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥

उसने सोचा कि 'मैं किस उपायसे काम लूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो जाय और माताका वध भी न करना पड़े। धर्मके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट आ गया है। भला, अन्य असाधु पुरुषोंकी भाँति मैं भी इसमें डूबनेका कैसे साहस करूँ ? ॥ १० ॥

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम् ।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं तु मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥

'पिताकी आज्ञाका पालन परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता, वह सदा माता-पिताके अधीन ही रहता है, अतः क्या करूँ जिससे मुझे धर्मकी हानिरूप पीड़ा न हो ॥ ११ ॥

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत् ।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

'एक तो स्त्री-जाति, दूसरे माताका वध करके कौन पुत्र कभी भी सुखी हो सकता है ? पिताकी अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा पा सकता है ? ॥ १२ ॥

अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम् ।
युक्तक्षमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥

'पिताका अनादर उचित नहीं है, साथ ही माताकी रक्षा करना भी पुत्रका धर्म है। ये दोनों ही धर्म उचित और योग्य हैं। मैं किस प्रकार इनका उल्लङ्घन न करूँ ? ॥ १३ ॥

पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां जज्ञिवानिति ।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥

'पिता स्वयं अपने शील, सदाचार, कुल और गोत्रकी रक्षाके लिये स्त्रीके गर्भमें अपना ही आधान करता और पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः ।
विज्ञानं मे कथं न स्याद् द्वौ बुद्ध्ये चात्मसम्भवम् ॥ १५ ॥

'अतः मुझे माता और पिता—दोनोंने ही पुत्रके रूपमें जन्म दिया है। मैं इन दोनोंको ही अपनी उत्पत्तिका कारण समझता हूँ। मेरा ऐसा ही ज्ञान क्यों न सदा बना रहे ? ॥

जातकर्मणि यत् प्राह पिता यच्चोपकर्मणि ।
पर्याप्तः स दृढीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥

'जातकर्म-संस्कार और उपनयन-संस्कारके समय पिताने जो आशीर्वाद दिया है, वह पिताके गौरवका निश्चय करानेमें पर्याप्त एवं सुदृढ़ प्रमाण है ॥ १६ ॥

गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः ।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १७ ॥

'पिता भरण-पोषण करने तथा शिक्षा देनेके कारण पुत्रका प्रधान गुरु है। वह परम धर्मका साक्षात् स्वरूप है। पिता जो कुछ आज्ञा दे, उसे ही धर्म समझकर स्वीकार करना चाहिये । वेदोंमें भी उसीको धर्म निश्चित किया गया है ॥ १७ ॥

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता ।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥ १८ ॥

'पुत्र पिताकी सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्रका सर्वस्व है। केवल पिता ही पुत्रको देह आदि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओंको देता है ॥ १८ ॥

तस्मात् पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन ।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९ ॥

'इसलिये पिताके आदेशका पालन करना चाहिये। उसपर कभी कोई विचार नहीं करना चाहिये। जो पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, उसके पातक भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने ।

भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥ २० ॥

'पुत्रके भोग्य (वस्त्र आदि), भोज्य (अन्न आदि), प्रवचन (वेदाध्ययन), सम्पूर्ण लोक-व्यवहारकी शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि समस्त संस्कारोंके सम्पादनमें पिता ही प्रभु है ॥ २० ॥

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥ २१ ॥

'इसलिये पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है । पिताके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २१ ॥

आशिषस्ता भजन्त्येनं परुषं प्राह यत् पिता ।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति ॥ २२ ॥

'पिता पुत्रसे यदि कुछ कठोर बातें कह देता है तो वे आशीर्वाद बनकर उसे अपना लेती हैं और पिता यदि पुत्रका अभिनन्दन करता है—मीठे वचन बोलकर उसके प्रति प्यार और आदर दिखाता है तो इससे पुत्रके सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २२ ॥

मुच्यते बन्धनात् पुष्पं फलं वृक्षात् प्रमुच्यते ।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २३ ॥

'फूल डंठलसे अलग हो जाता है, फल वृक्षसे अलग हो जाता है; परंतु पिता कितने ही कष्टमें क्यों न हो, लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने पुत्रको कभी नहीं छोड़ता है अर्थात् पुत्र कभी पितासे अलग नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

एतद् विचिन्तितं तावत् पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥ २४ ॥

'पुत्रके निकट पिताका कितना गौरव होना चाहिये, इस बातपर पहले विचार किया है । विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि पिता पुत्रके लिये कोई छोटा-मोटा आश्रय नहीं है । अब मैं माताके विषयमें सोचता हूँ ॥ २४ ॥

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥ २५ ॥

'मेरे लिये जो यह पाञ्चभौतिक मनुष्यशरीर मिला है, इसके उत्पन्न होनेमें मेरी माता ही मुख्य हेतु है । जैसे अग्निके प्रकट होनेका मुख्य आधार अरणी-काष्ठ है ॥ २५ ॥

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥

'माता मनुष्योंके शरीररूपी अग्निको प्रकट करनेवाली अरणी है । संसारके समस्त आर्त प्राणियोंको सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है । जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपनेको सनाथ समझता है और उसके न रहनेपर वह अनाथ हो जाता है ॥ २६ ॥

न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति ।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमम्बेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥

'माताके रहते मनुष्यको कभी चिन्ता नहीं होती है, बुढ़ापा उसे अपनी ओर नहीं खींचता है । जो अपनी माँको पुकारता हुआ घरमें जाता है, वह निर्धन होनेपर भी मानो माता अन्नपूर्णाके पास चला जाता है ॥ २७ ॥

पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः ।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥

'पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी जो अपनी माताके आश्रयमें रहता है, वह सौ वर्षकी अवस्थाके बाद भी उसके पास दो वर्षके बच्चेके समान आचरण करता है ॥ २८ ॥

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है । माताके सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्रका पालन-पोषण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत् तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥

'जब मातासे विछोह हो जाता है, उसी समय मनुष्य अपनेको बुड्ढा समझने लगता है, दुखी हो जाता है और उसके लिये सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है ॥ ३० ॥

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ ३१ ॥

'माताके समान दूसरी कोई छाया नहीं है अर्थात् माताकी छत्रछायामें जो सुख है, वह कहीं नहीं है । माताके तुल्य दूसरा सहारा नहीं है, माताके सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है तथा बच्चेके लिये माके समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

कुक्षिसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता ।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥

'वह गर्भाशयमें धारण करनेके कारण धात्री, जन्म देनेके कारण जननी, शिशुका अङ्गवर्धन (पालन-पोषण) करनेसे अम्बा तथा वीर-संतानका प्रसव करनेके कारण वीरसू कही गयी है ॥ ३२ ॥

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान् नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥

'वह शिशुकी शुश्रूषा करके शुश्रू नाम धारण करती है । माता अपना निकटतम शरीर है । जिसका मस्तिष्क विचारशून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई सचेतन मनुष्य कभी अपनी माताकी हत्या नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल ।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥

'पति और पत्नी मैथुनकालमें सुयोग्य पुत्र होनेके लिये

जो अभिलाषा करते हैं, उसे यद्यपि पिता और माता—दोनों धारण करते हैं तथापि वास्तवमें वह अभिलाषा मातामें ही प्रतिष्ठित होती है ॥ ३४ ॥

माता जानाति यद्गोत्रं माता जानाति यस्य सः ।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः प्रजाः ॥ ३५ ॥

'पुत्रका गोत्र क्या है ? यह माता जानती है । वह किस पिताका पुत्र है ? यह भी माता ही जानती है । माता बालकको अपने गर्भमें धारण करती है, इसलिये उसीका उसपर अधिक स्नेह और प्रेम होता है । पिताका तो अपनी संतानपर प्रभुत्वमात्र है ॥ ३५ ॥

पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सह धर्ममुपेत्य च ।
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति वाच्यताम्॥ ३६ ॥

'जब स्वयं ही पत्नीका पाणिग्रहण करके साथ-साथ धर्माचरण करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी पुरुष परायी स्त्रियोंके पास जायेंगे (और उनपर बलात्कार करेंगे), तब इसके लिये स्त्रियोंको दोषी नहीं ठहराया जा सकता ॥ ३६ ॥

भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पालनाद्धि पतिस्तथा ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः॥ ३७ ॥

'पुरुष अपनी स्त्रीका भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पालन करनेके कारण पति कहलाता है । इन गुणोंके न रहनेपर वह न तो भर्ता है और न पति ही कहलाने योग्य है ॥

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति ।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥

'वास्तवमें स्त्रीका कोई अपराध नहीं होता है, पुरुष ही अपराध करता है । व्यभिचारका महान् पाप पुरुष ही करता है, इसलिये वही अपराधी है ॥ ३८ ॥

स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम् ।
तस्यात्मना तु सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥

'स्त्रीके लिये पति ही परम आदरणीय है, वही उसका सबसे बड़ा देवता माना गया है । मेरी माताने ऐसे पुरुषको आत्मसमर्पण किया है, जो शरीरसे, वेशभूषासे पिताजीके समान ही था ॥ ३९ ॥

नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥

'ऐसे अवसरोंपर स्त्रियोंका अपराध नहीं होता, पुरुष ही अपराधी होता है । सभी कार्योंमें अबला होनेके कारण स्त्रियोंको अपराधके लिये विवश कर दिया जाता है, अतः पराधीन होनेके कारण वे अपराधिनी नहीं हैं ॥ ४० ॥

यश्च नोक्तोऽथ निर्देशः स्त्रिया मैथुनतृप्तये ।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥

'स्त्रीके द्वारा मैथुनजनित सुखसे तृप्त होनेके लिये कोई संकेत न करनेपर भी उसके कामको उद्दीप्त करनेवाले पुरुषको स्पष्ट ही अधर्मकी प्राप्ति होती है । इसमें संशय नहीं है ॥

एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम् ।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥ ४२ ॥

'इस प्रकार विचार करनेसे एक तो वह नारी होनेके कारण ही अवध्य है, दूसरे मेरी पूजनीया माता है । माताका गौरव पितासे भी बढ़कर है, जिसमें मेरी मा प्रतिष्ठित है । नासमझ पशु भी स्त्री और माताको अवध्य मानते हैं (फिर मैं समझदार मनुष्य होकर भी उसका वध कैसे करूँ ?) ॥

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः ।
मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥

'मनीषी पुरुष यह जानते हैं कि पिता एक स्थानपर स्थित सम्पूर्ण देवताओंका समूह है; परंतु माताके भीतर उसके स्नेहवश समस्त मनुष्यों और देवताओंका समुदाय स्थित रहता है (अतः माताका गौरव पितासे भी अधिक है)' ॥ ४३ ॥

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत् पिता॥४४॥

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा । इसी सोच-विचारमें बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया । इतनेमें ही उसके पिता वनसे लौट आये ॥ ४४ ॥

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥ ४५ ॥
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥

महाज्ञानी तपोनिष्ठ मेधातिथि गौतम उस समय पत्नीके वधके अनौचित्यपर विचार करके अधिक संतप्त हो गये । वे दुःखसे आँसू बहाते हुए वेदाध्ययन और धैर्यके प्रभावसे किसी तरह अपनेको सँभाले रहे और पश्चात्ताप करते हुए मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—॥ ४५-४६ ॥

आश्रमं मम सम्प्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरंदरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥
स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
अर्घ्यं पाद्यं यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ ४८ ॥

'अहो ! त्रिभुवनका स्वामी इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके मेरे आश्रमपर आया था । मैंने अतिथि-सत्कारके गृहस्थोचित व्रतका आश्रय लेकर उसे मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, उसका स्वागत-सत्कार किया और यथोचित रूपसे अर्घ्य-पाद्य आदि निवेदन करके मैंने स्वयं ही उसकी विधिवत् पूजा की ॥ ४७-४८ ॥

परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः॥ ४९ ॥

'मैंने विनयपूर्वक कहा—'भगवन् ! मैं आपके अधीन

हूँ। आपके पदार्पणसे मैं सनाथ हो गया।' मुझे आशा थी कि मेरे इस सद्व्यवहारसे संतुष्ट होकर अतिथिदेवता मुझसे प्रेम करेंगे; परंतु यहाँ इन्द्रकी विषयलोलुपताके कारण दुःखद घटना घटित हो गयी। इसमें मेरी स्त्रीका कोई अपराध नहीं॥

एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः।
अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति॥ ५०॥

'इस प्रकार न तो स्त्री अपराधिनी है, न मैं अपराधी हूँ और न एक पथिक ब्राह्मणके वेशमें आया हुआ देवताओंका राजा इन्द्र ही अपराधी है। मेरेद्वारा धर्मके विषयमें जो स्त्रीवध-रूप प्रमाद हुआ है, वही इस अपराधकी जड़ है॥ ५०॥

ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे॥ ५१॥

'ऊर्ध्वरेता मुनि उस प्रमादके ही कारण ईर्ष्याजनित संकट-की प्राप्ति बताते हैं; ईर्ष्याने मुझे पापके समुद्रमें ढकेल दिया है और मैं उसमें डूब गया हूँ॥ ५१॥

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को नु मां तारयिष्यति॥ ५२॥

'जिसे मैंने पत्नीके रूपमें अपने घरमें आश्रय दिया था। जो एक सती-साध्वी नारी थी और भार्या होनेके कारण मुझसे भरण-पोषण पानेकी अधिकारिणी थी, उसीका मैंने प्रमादरूपी व्यसनके वशीभूत होनेके कारण वध करा डाला। अब इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा!॥ ५२॥

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः।
यद्यद्य चिरकारी स्यात् स मां त्रायेत पातकात्॥ ५३॥

'परंतु मैंने उदारबुद्धि चिरकारीको उसकी माताके वधके लिये आज्ञा दी थी। यदि उसने इस कार्यमें विलम्ब करके अपने नामको सार्थक किया हो, तो वही मुझे स्त्रीहत्याके पापसे बचा सकता है॥ ५३॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः॥ ५४॥

'बेटा चिरकारी! तेरा कल्याण हो। चिरकारी! तेरा मङ्गल हो। यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया हो तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है॥ ५४॥

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः॥ ५५॥

'बेटा! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी, अपनी माताकी तथा मैंने जो तपका उपार्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर। साथ ही अपने आपको भी पातकोंसे बचा ले॥ ५५॥

सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव।
सफलं तत् तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः॥ ५६॥

'अत्यन्त बुद्धिमान् होनेके कारण तुझमें जो चिरकारिता-का सहज गुण है, वह इस समय सफल हो। आज तू वास्तवमें चिरकारी बन॥ ५६॥

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक॥ ५७॥

'तेरी माता चिरकालसे तेरे जन्मकी आशा लगाये बैठी थी। उसने चिरकालतक तुझे गर्भमें धारण किया है, अतः बेटा चिरकारी! आज तू अपनी माताकी रक्षा करके चिर-कारिताको सफल कर ले॥ ५७॥

चिरायते च संतापाच्चिरं स्वपिति वारितः।
आवयोश्चिरसंतापादवेक्ष्य चिरकारिकः॥ ५८॥

'मेरा बेटा चिरकारी कोई दुःख या संताप प्राप्त होनेपर भी कार्य करनेमें विलम्ब करनेका स्वभाव नहीं छोड़ता है। मना करनेपर भी चिरकालतक सोता रहता है। आज हम दोनों माता-पिताका चिरसंताप देखकर वह अवश्य चिरकारी बने'॥ ५८॥

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके॥ ५९॥

राजन्! इस प्रकार दुखी हुए महर्षि गौतमने घर आने-पर अपने पुत्र चिरकारीको पास ही खड़ा देखा॥ ५९॥

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे॥ ६०॥

पिताको उपस्थित देख चिरकारी बहुत दुखी हुआ। वह हथियार फेंककर उनके चरणोंमें मस्तक झुका उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा॥ ६०॥

गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम्॥ ६१॥

गौतमने देखा, चिरकारी पृथ्वीपर माथा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जाके मारे निश्चेष्ट खड़ी है। यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ६१॥

न हि सा तेन सम्भेदं पत्नी नीता महात्मना।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः॥ ६२॥

एकान्त वनमें उस आश्रमके भीतर रहनेवाले महामना गौतमने अपनी पत्नी तथा एकाग्रचित्त पुत्र चिरकारीको कभी अपनेसे अलग नहीं किया॥ ६२॥

हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते।
विनीते प्रसवत्यर्थे विवासे चात्मकर्मसु॥ ६३॥

अपने आवश्यक कर्म जप-ध्यान आदिके लिये महर्षि गौतमके बाहर चले जानेपर उनका पुत्र चिरकारी यद्यपि हाथमें हथियार लेकर खड़ा था तथापि माताकी रक्षाके लिये वह विनीतभावसे कुछ सोचता-विचारता रहा। इसीलिये

चिरकारी शस्त्र त्यागकर अपने पिताको प्रणाम कर रहे हैं

माताको मार डालनेका जो आदेश प्राप्त हुआ था, वह पालित न हो सका ॥ ६३ ॥

बुद्धिश्चासीत् सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम् ।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥

पुत्रको अपने चरणोंमें नतमस्तक हुआ देख गौतमके मनमें यह विचार हुआ कि सम्भवतः चिरकारी भयके मारे हथियार उठानेकी चपलताको छिपा रहा है ॥ ६४ ॥

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥

तब पिताने चिरकालतक उसकी प्रशंसा करके देरतक उसका मस्तक सूँघा और चिरकालतक दोनों भुजाओंसे खींचकर उसे हृदयसे लगाये रक्खा और आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा ! चिरञ्जीवी हो' ॥ ६५ ॥

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

महामते ! इस प्रकार प्रेम और हर्षसे भरे हुए गौतमने पुत्रका अभिनन्दन करके यह बात कही—॥६६॥

चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव ।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः॥ ६७ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो । तू चिरकालतक चिरकारी एवं चिरञ्जीवी बना रह । सौम्य ! यदि तू चिरकाल-तक ऐसे ही स्वभावका बना रहा तो मैं दीर्घकालतक कभी दुखी नहीं होऊँगा' ॥ ६७ ॥

गाथाश्चाप्यब्रवीद् विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर विद्वान् मुनिश्रेष्ठ गौतमने कुछ गाथाएँ गायीं । चिरकालतक सोच-विचारकर काम करनेवाले धीर पुरुषोंमें जो गुण होते हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—॥ ६८ ॥

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये । यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये । दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है ॥६९॥

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥

'राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ७० ॥

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा की जाती है' ॥ ७१ ॥

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! इस प्रकार गौतम वहाँ अपने पुत्रके विलम्बपूर्वक कार्य करनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए थे ॥७२॥

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥

इस प्रकार सभी कार्योंमें विचार करके चिरकालके पश्चात् किसी निश्चयपर पहुँचनेवाले पुरुषको दीर्घकालतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ७३ ॥

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥

जो दीर्घकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो ॥ ७४ ॥

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥

दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे । दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे । चिर-कालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे॥

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥

अधिक समयतक विद्वानोंका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे । इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है ॥ ७६ ॥

ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥

धर्मोपदेश करनेवाले पुरुषसे यदि कोई प्रश्न करे तो उसे देरतक सोच-विचार कर ही उत्तर देना चाहिये । ऐसा करनेसे उसको देरतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है ॥ ७७ ॥

उपास्य बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।

समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥ ७८ ॥

वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि गौतम उस आश्रममें बहुत वर्षोंतक रहकर अन्तमें पुत्र चिरकारीके साथ ही स्वर्गलोकको सिधारे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिकोपाख्याने षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चिरकारीका उपाख्यानविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवाद—अहिंसापूर्वक राज्यशासनकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षेन्न च किंचित् प्रघातयेत् ।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ कि राजा किस प्रकार प्रजाकी रक्षा करे, जिससे उसको किसीकी हिंसा न करनी पड़े; वह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
द्युमत्सेनस्य संवादं राज्ञा सत्यवता सह ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें राजा सत्यवान्‌के साथ उनके पिता द्युमत्सेनका जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अव्याहृतं व्याजहार सत्यवानिति नः श्रुतम् ।
वधायोन्नीयमानेषु पितुरेवानुशासनात् ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि एक दिन सत्यवान्‌ने देखा कि पिताकी आज्ञासे बहुत-से अपराधी शूलीपर चढ़ा देनेके लिये ले जाये जा रहे हैं । उस समय उन्होंने पिताके पास जाकर ऐसी बात कही, जो पहले किसीने नहीं कही थी ॥ ३ ॥

अधर्मतां याति धर्मो यात्यधर्मश्च धर्मताम् ।
वधो नाम भवेद् धर्मो नैतद् भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

'पिताजी ! यह सत्य है कि कभी ऊपरसे धर्म-सा दिखायी देनेवाला कार्य अधर्मरूप हो जाता है और अधर्म भी धर्मके रूपमें परिणत हो जाता है, तथापि किसी प्राणीका वध करना भी धर्म हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता' ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अथ चेदवधो धर्मोऽधर्मः को जातु चिद् भवेत् ।
दस्यवश्चेन्न हन्येरन् सत्यवन् संकरो भवेत् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—बेटा सत्यवान् ! यदि अपराधीका वध न करना भी कभी धर्म हो तो अधर्म क्या हो सकता है ? यदि चोर-डाकू मारे न जायँ तो प्रजामें वर्णसंकरता और धर्मसंकरता फैल जाय ॥ ५ ॥

ममेदमिति नास्यैतत् प्रवर्तेत कलौ युगे ।
लोकयात्रा न चैव स्यादथ चेद् वेत्थ शंस नः ॥ ६ ॥

कलियुग आनेपर तो लोग 'यह वस्तु मेरी है, इसकी नहीं है' ऐसा कहकर सीधे ही दूसरोंका धन हड़प लेंगे । इस तरह लोकयात्राका निर्वाह असम्भव हो जायगा । यदि तुम इसका कोई समाधान जानते हो, तो मुझसे बताओ ॥

सत्यवानुवाच

सर्वं एते त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः ।
धर्मपाशनिबद्धानामन्योऽप्येवं चरिष्यति ॥ ७ ॥

सत्यवान् बोले—पिताजी ! क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मणोंके अधीन कर देना चाहिये । जब चारों वर्णोंके लोग धर्मके बन्धनमें बँधकर उसका पालन करने लगेंगे तो उनकी देखा-देखी दूसरे मनुष्य सूत-मागध आदि भी धर्मका आचरण करेंगे ॥ ७ ॥

यो यस्तेषामपचरेत् तमाचक्षीत वै द्विजः ।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन् राजा प्रधारयेत् ॥ ८ ॥

इनमेंसे जो भी ब्राह्मणकी आज्ञाके विपरीत आचरण करे, उसके विषयमें ब्राह्मणको राजाके पास जाकर कहना चाहिये कि 'अमुक मनुष्य मेरी बात नहीं सुनता है ।' तब राजा उसी व्यक्तिको दण्ड दे ॥ ८ ॥

तत्त्वाभेदेन यच्छास्त्रं तत् कार्यं नान्यथाविधम् ।
असमीक्ष्यैव कर्माणि नीतिशास्त्रं यथाविधि ॥ ९ ॥

जो दण्ड-विधान शरीरके पाँचों तत्त्वोंको अलग-अलग न कर सके अर्थात् किसीके प्राण न ले, उसीका प्रयोग करना चाहिये । नीतिशास्त्रकी आलोचना और अपराधीके कार्यपर भलीभाँति विचार किये बिना ही इसके विपरीत कोई दण्ड नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

दस्यून् निहन्ति वै राजा भूयसो वाप्यनागसः ।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यन्ते पुरुषेण ते ।
परेणापकृतो राजा तस्मात् सम्यक् प्रधारयेत् ॥ १० ॥

राजा डाकुओं अथवा दूसरे बहुत-से निरपराध मनुष्योंको मार डालता है और इस प्रकार उसके द्वारा मारे गये पुरुषके पिता-माता, स्त्री और पुत्र आदि भी जीविकाका कोई उपाय न रह जानेके कारण मानो मार दिये जाते हैं, अतः किसी दूसरेके अपकार करनेपर राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये (जल्दबाजी करके किसीको प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये) ॥ १० ॥

असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा ।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यः शोभना जायते प्रजा ॥ ११ ॥

दुष्ट पुरुष भी कभी साधुसङ्गसे सुधरकर सुशील बन जाता है तथा बहुत-से दुष्ट पुरुषोंकी संतानें भी अच्छी निकल जाती हैं ॥ ११ ॥

न मूलघातः कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः ।
अपि स्वल्पवधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥

इसलिये दुष्टोंको प्राणदण्ड देकर उनका मूलोच्छेद नहीं करना चाहिये । किसीकी जड़ उखाड़ना सनातन धर्म नहीं है । अपराधके अनुरूप साधारण दण्ड देना चाहिये, उसीसे अपराधीके पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १२ ॥

उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च ।
वधदण्डेन ते क्लिश्या न पुरोहितसंसदि ॥ १३ ॥

अपराधीको उसका सर्वस्व छीन लेनेका भय दिखाया जाय अथवा उसे कैद कर लिया जाय या उसके किसी अङ्गको भङ्ग करके उसे कुरूप बना दिया जाय; परंतु प्राणदण्ड देकर उनके कुटुम्बियोंको क्लेश पहुँचाना उचित नहीं है । इसी तरह यदि वे पुरोहित ब्राह्मणकी शरणमें जा चुके हों तो भी राजा उन्हें दण्ड न दे ॥ १३ ॥

यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः ।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन् न पापमिति वादिनः ॥ १४ ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं धातृशासनम् ।
बिभ्रद् दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति शासनम् ॥ १५ ॥

यदि शरण चाहनेवाले डाकू या दुष्ट पुरुष पुरोहितकी शरणमें चले जायँ और यह प्रतिज्ञा करें कि 'ब्रह्मन् ! अब हम फिर ऐसा पाप नहीं करेंगे' तो उन्हें छोड़ देना चाहिये । यह ब्रह्माजीका आदेश है । सिर मुड़ाकर दण्ड और मृगचर्म धारण करनेवाला संन्यासी ब्राह्मण भी यदि पाप करे तो दण्ड पानेका अधिकारी है ॥ १४-१५ ॥

गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः ।
तदा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ १६ ॥

यदि मनुष्य बारंबार अपराध करे, तो प्रमुख विचारकगण उसके अपराधके लिये गुरुतर दण्ड प्रदान करें । उस अवस्थामें पहले बारके अपराधकी भाँति वे बिना दण्ड दिये छोड़ देनेके योग्य नहीं रह जाते हैं ॥ १६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यत्र यत्रैव शक्येरन् संयन्तुं समये प्रजाः ।
स तावान् प्रोच्यते धर्मो यावन्न प्रतिलङ्घ्यते ॥ १७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—बेटा ! जहाँ-जहाँ भी प्रजाको धर्मकी मर्यादाके भीतर नियन्त्रित करके रखा जा सके वहाँ-वहाँ वैसा करना धर्म ही बताया जाता है । जबतक कि धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जाता (तबतक ही वहाँ ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिये) ॥ १७ ॥

अहन्यमानेषु पुनः सर्वमेव पराभवेत् ।
पूर्वे पूर्वतरे चैव सुशास्या ह्यभवन् जनाः ॥ १८ ॥
मृदवः सत्यभूयिष्ठा अल्पद्रोहाल्पमन्यवः ।
पुरा धिग्दण्ड एवासीद् वाग्दण्डस्तदनन्तरम् ॥ १९ ॥

यदि धर्मका उल्लङ्घन करनेपर भी लुटेरोंका वध न किया जाय तो उनसे सारी प्रजाको कष्ट पहुँच सकता है । पहले और बहुत पहलेके लोगोंपर शासन करना सुगम था, क्योंकि उनका स्वभाव कोमल था, सत्यमें उनकी विशेष रुचि थी और द्रोह तथा क्रोधकी मात्रा उनमें बहुत कम थी । पहले अपराधीको धिक्कार देना ही बड़ा भारी दण्ड समझा जाता था । तदनन्तर अपराधकी मात्रा बढ़नेपर वाग्दण्डका प्रचार हुआ—अपराधीको कटुवचन सुनाकर छोड़ दिया जाने लगा ॥ १८-१९ ॥

आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते ।
वधेनापि न शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ २० ॥

इसके बाद आवश्यकता समझकर अर्थदण्ड भी चालू किया गया और आजकल तो वधका दण्ड भी प्रचलित हो गया है । बहुत से दुष्टात्मा मनुष्योंको तो प्राणदण्डके द्वारा भी काबूमें लाना या मर्यादाके भीतर रखना असम्भव-सा हो रहा है ॥ २० ॥

नैव दस्युर्मनुष्याणां न देवानामिति श्रुतिः ।
न गन्धर्वपितॄणां च कः कस्येह न कश्चन ॥ २१ ॥

सुननेमें आया है कि डाकू मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों अथवा पितरोंमेंसे किसीका आत्मीय नहीं होता । इतना ही नहीं, इस संसारमें कौन लुटेरा किसका है, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता । कोई डाकू किसीका नहीं होता है, यही कहना यथार्थ है ॥ २१ ॥

पद्मं श्मशानादादत्ते पिशाचाच्चापि दैवतम् ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २२ ॥

वह तो मरघटमें जाकर मृत शरीरसे चिह्नभूत वस्त्र आदि उतार लाता है और देवताकी सम्पत्तिको भी लूट लेता है । जिनकी बुद्धि मारी गयी है, उन डाकुओंपर जो कोई विश्वास करता है, वह मूर्ख है ॥ २२ ॥

सत्यवानुवाच

तान् न शक्नोषि चेत् साधून् परित्रातुमहिंसया ।
कस्यचिद् भूतभव्यस्य लाभेनान्तं तथा कुरु ॥ २३ ॥

सत्यवान्ने कहा—पिताजी ! यदि आप लुटेरोंका वध न करके साधुओंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, अथवा उन दस्युओंको ही साधु बनाकर अहिंसाद्वारा उनकी प्राणरक्षा नहीं कर सकते तो भूत, वर्तमान और भविष्यमें उनके पारमार्थिक लाभका उद्देश्य सामने रखकर किसी उत्तम उपायसे उनका या उनकी दस्युवृत्तिका अन्त कर दीजिये ॥

राजानो लोकयात्रार्थं तप्यन्ते परमं तपः।
तेऽपत्रपन्ति तादृग्भ्यस्तथावृत्ता भवन्ति च ॥ २४ ॥

बहुत-से नरेश, लोगोंकी जीवनयात्राका यथावत् रूपसे निर्वाह हो, इस उद्देश्यसे बड़ी भारी तपस्या करते हैं। वे राजा अपने राज्यमें चोर-डाकुओंके होनेसे लज्जाका अनुभव करते हैं। इसीलिये प्रजाको शुद्ध, सदाचारी एवं सुखी बनानेकी इच्छासे वैसी तपस्यामें प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

वित्रास्यमानाः सुकृतो न कामाद् घ्नन्ति दुष्कृतीन्।
सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥ २५ ॥

जब प्रजामें दण्डका भय उत्पन्न किया जाता है, तब वह सत्कर्मपरायण होती है; अतः भय दिखाकर प्रजाको धर्ममें लगाना ही दण्डका उद्देश्य है, किसीका प्राण लेना नहीं। राजालोग अपनी इच्छासे दुष्टोंका वध नहीं करते हैं। श्रेष्ठ नरेश प्रायः सत्कर्मों और सद्व्यवहारोंद्वारा ही दीर्घकालतक प्रजापर शासन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽप्येवं वृत्तं लोकोऽनुवर्तते।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार परम श्रेष्ठ राजाके सद्व्यवहारका सब लोग अनुसरण करते हैं। मनुष्य स्वभावसे ही सदा बड़ोंके आचरणोंका अनुकरण करते हैं ॥ २६ ॥

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥ २७ ॥

जो राजा स्वयं विषय भोगनेके लिये इन्द्रियोंका दास हो रहा है, अपने मनको काबूमें नहीं रख पाता है, वह यदि दूसरोंको सदाचारका उपदेश देने लगे तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २७ ॥

यो राज्ञो दम्भमोहेन किंचित् कुर्यादसाम्प्रतम्।
सर्वोपायैर्नियम्यः स तथा पापान्निवर्तते ॥ २८ ॥

यदि कोई मनुष्य दम्भ या मोहके कारण राजाके साथ किंचिन्मात्र भी कोई अनुचित बर्ताव करने लगे तो सभी उपायोंसे उसका दमन करना चाहिये। ऐसा करनेपर वह पापकर्मसे दूर हट जाता है ॥ २८ ॥

आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान् ॥ २९ ॥

जो राजा पापकी प्रवृत्तिको रोकना चाहता हो, उसे पहले अपने मनको ही वशमें करना चाहिये। फिर अपने सगे बन्धु-बान्धव भी अपराध करें तो उनको भी भारी-से-भारी दण्ड देना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्र वै पापकृन्नीचो न महद् दुःखमर्च्छति।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ॥ ३० ॥

जहाँ पाप करनेवाले नीचको महान् दुःख नहीं भोगना पड़ता है, वहाँ निश्चय ही पाप बढ़ता है और धर्मका ह्रास होता है ॥ ३० ॥

इति कारुण्यशीलस्तु विद्वान् वै ब्राह्मणोऽन्वशात्।
इति चैवानुशिष्टोऽस्मि पूर्वैस्तात पितामहैः ॥ ३१ ॥
आश्वासयद्भिः सुभृशमनुक्रोशात् तथैव च।
एतत् प्रथमकल्पेन राजा कृतयुगे जयेत् ॥ ३२ ॥

पिताजी! एक दयालु एवं विद्वान् ब्राह्मणने मुझे यह सब उपदेश दिया था। उस समय उसने कहा था कि 'तात सत्यवान्! मेरे पूर्वज पितामहोंने मुझे आश्वासन देते हुए अत्यन्त कृपापूर्वक ऐसी शिक्षा दी थी। इसलिये राजाको सत्ययुगमें जब कि धर्म अपने चारों चरणोंसे मौजूद रहता है, पूर्वोक्त प्रथम श्रेणीके (अहिंसामय) दण्डद्वारा ही प्रजाको वशमें करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

पादोनेनापि धर्मेण गच्छेत् त्रेतायुगे तथा।
द्वापरे तु द्विपादेन पादेन त्वपरे युगे ॥ ३३ ॥

'त्रेतायुग आनेपर धर्मका प्रचार एक चौथाई कम हो जाता है, द्वापरमें धर्मके दो ही पैर रह जाते हैं; परंतु कलियुगमें तो धर्मका चतुर्थ भाग ही शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥

तथा कलियुगे प्राप्ते राज्ञो दुश्चरितेन ह।
भवेत् कालविशेषेण कला धर्मस्य षोडशी ॥ ३४ ॥

'इस प्रकार कलियुग उपस्थित होनेपर राजाके दुर्व्यवहारसे तथा उस कालविशेषका प्रभाव पड़नेसे सम्पूर्ण धर्मकी सोलहवीं कलामात्र शेष रह जायगी ॥ ३४ ॥

अथ प्रथमकल्पेन सत्यवन् संकरो भवेत्।
आयुः शक्तिं च कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ॥ ३५ ॥

'सत्यवान्! यदि प्रथम श्रेणीके अहिंसात्मक दण्डसे धर्म और अधर्मका सम्मिश्रण होने लगे, तब दण्डनीय व्यक्तिकी आयु, शक्ति और कालको ध्यानमें रखते हुए राजा यथोचित दण्डके लिये आज्ञा प्रदान करे ॥ ३५ ॥

सत्याय हि यथा नेह जह्याद् धर्मफलं महत्।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'स्वायम्भुव मनुने प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका उपदेश किया है, जिससे इस जगत्‌में वह सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले धर्मके महान् फलसे वञ्चित न रह जाय' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्युमत्सेनसत्यवत्संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि और कपिलका संवाद—स्यूमरश्मिके द्वारा यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! प्राणियोंका विरोध (अहित) न करते हुए मनुष्योंको शम-दमादि छहों गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला जो योग है तथा जो भोग और मोक्ष दोनों फलोंको प्राप्त करानेवाला धर्म है, वह मुझे बतलाइये॥ १॥

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह॥ २॥

दादाजी! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म दोनों एक दूसरेसे दूर नहीं हैं, तथापि उन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ है? यह बतानेकी कृपा करें॥ २॥

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! गार्हस्थ्य और योगधर्म दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं, दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनोंके ही फल महान् हैं और दोनोंका ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आचरण किया है॥ ३॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ च्छिन्नधर्मार्थसंशयम्॥ ४॥

कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें इन दोनों धर्मोंकी प्रामाणिकताका प्रतिपादन करूँगा और तुम्हारे धर्म तथा अर्थविषयक संदेहको मिटा दूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ५॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार लोग महर्षि कपिल और गौके भीतर आविष्ट हुए स्यूमरश्मिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो॥

आम्नायमनुपश्यन् हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम्।
नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्॥ ६॥

हमने सुना है कि पूर्वकालमें राजा नहुषने वेदके अनुशासनको प्राचीन, सनातन एवं नित्य समझकर अपने घरपर आये हुए अतिथि त्वष्टाके लिये एक गायका आलम्भ करनेका विचार किया॥ ६॥

तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः।
ज्ञानवान् नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा॥ ७॥

उस समय सत्त्वगुणमें स्थित, संयमपरायण, मिताहारी, उदारचित्त और ज्ञानवान् कपिलमुनिने त्वष्टाके लिये नियुक्त हुई उस गायको देखा॥ ७॥

स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नैष्ठिकीमकुतोभयाम्।
सतीमशिथिलां सत्यां वेदा३इत्यब्रवीत् सकृत्॥ ८॥

तब उत्तम, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त एवं उत्साहयुक्त बुद्धिको प्राप्त हुए महर्षि कपिलने केवल एक बार इतना ही कहा—हा वेद! (जो तुम्हारे नामपर लोग ऐसा अनाचार करते हैं)॥ ८॥

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत्।
हंहो वेदा३ यदि मता धर्माः केनापरे मताः॥ ९॥

उस समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषिने उस गायके भीतर प्रवेश करके कपिलमुनिसे कहा—'अहो! यदि वेदोंकी प्रामाणिकतापर आपको संदेह है तो अन्य धर्मशास्त्रोंको किस आधारपर प्रमाणभूत माना जा सकता है?॥ ९॥

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः॥ १०॥

'तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टिवाले ऋषि-मुनि वेदको नित्यज्ञानसम्पन्न परमेश्वरकी निःश्वासभूत वाणी मानते हैं॥ १०॥

तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः।
का विवक्षास्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः॥ ११॥

'जो तृष्णारहित, उद्वेगशून्य, निष्काम तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, उस परमेश्वरके निःश्वाससे निःसृत वेदोंके विषयमें आप विपरीत वचन क्यों कह रहे हैं?'॥ ११॥

कपिल उवाच

नाहं वेदान् विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित्।
पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम्॥ १२॥

कपिलने कहा—मैं न तो वेदोंकी निन्दा करता हूँ और न कभी उन्हें विपरीत बात बतानेवाला बताता हूँ। पृथक्-पृथक् आश्रमवालोंके जो कर्म हैं, उन सबके उद्देश्य एक ही हैं—ऐसा हमने सुन रखा है॥ १२॥

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः॥ १३॥

संन्यासी परमपदको प्राप्त कर सकता है, वानप्रस्थ भी वहीं जा सकता है। गृहस्थ और ब्रह्मचारी—ये दोनों भी उसी पदको प्राप्त हो सकते हैं॥ १३॥

देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः।
एषां ज्यायः कनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम्॥ १४॥

चारों आश्रम ही देवयाननामक चार सनातन मार्ग माने गये हैं। इनमें कौन बड़ा है कौन छोटा; अतः कौन प्रबल है, कौन दुर्बल—यह उनके फलोंको निमित्त बनाकर बताया गया है॥ १४॥

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम् ।
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥ १५ ॥

ऐसा जानकर समस्त कार्योंका आरम्भ करे, यह वैदिक मत है । अन्यत्र यह सिद्धान्तभूत श्रुति भी सुनी जाती है कि कर्मोंका आरम्भ ही न करे ॥ १५ ॥

अनालम्भे ह्यदोषः स्यादालम्भे दोष उत्तमः ।
एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥ १६ ॥

क्योंकि यज्ञ आदि कार्योंमें आलम्भन न करनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं होती है और आलम्भन करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है । ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंके बलाबलको जानना अत्यन्त कठिन है ॥ १६ ॥

यद्यत्र किञ्चित् प्रत्यक्षमहिंसायाः परं मतम् ।
ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद् यदि पश्यसि ॥ १७ ॥

वेदों और तदनुकूल आगमोंको छोड़कर अन्यत्र अहिंसासे भिन्न हिंसाबोधक शास्त्रका कोई फल यदि युक्तिसे भी प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला प्रतीत होता हो अथवा तुम अनुभवमें उसका साक्षात्कार कर रहे हो तो उसे स्पष्ट बताओ ॥१७॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।
फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १८ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला पुरुष यज्ञ करे' यह श्रुति सदा ही सुनी जाती है । अतः मनुष्य पहले स्वर्गरूप फलकी कल्पना (संकल्प) करके फिर यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ करता है ॥ १८ ॥

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

बकरा, घोड़ा, भेड़, गाय, पक्षी, ग्राम्य अन्न तथा जंगली अन्न आदि सारी वस्तुएँ प्राणके लिये अन्न हैं—ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १९ ॥

तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ।
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥ २० ॥

प्रतिदिन सबेरे-शाम अन्नको प्राणका भोज्य बताया गया है । पशु और धान्य—ये यज्ञके अङ्ग हैं, ऐसा श्रुति कहती है॥

एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत् ।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः ॥ २१ ॥

भगवान् प्रजापतिने यज्ञके साथ-साथ इन सबकी सृष्टि की । फिर उन प्रजापतिने ही इन यज्ञसामग्रियोंद्वारा देवताओंसे यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ २१ ॥

तदन्योन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा ।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ॥ २२ ॥

सात-सात प्रकारके जो ग्राम्य और आरण्य (जंगली) प्राणी हैं, वे सब एक-दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । इन सबमें 'उत्तम' नामसे प्रसिद्ध जो सब-के-सब पुरुष या मनुष्यसंज्ञक प्राणी हैं, उन्हें भी यज्ञके लिये नियुक्त बताया गया है ॥

एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वैः पूर्वतरैस्तथा ।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान् स्वां शक्तिमात्मनः॥२३॥

पूर्ववर्ती तथा अधिक पूर्ववर्ती पुरुषोंने इन समस्त द्रव्योंको यज्ञका अङ्ग माना है, अतः कौन विद्वान् मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार कभी किसी यज्ञको अपने लिये नहीं चुनेगा ॥ २३ ॥

पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह ।
स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥ २४ ॥

पशु, मनुष्य, वृक्ष और ओषधियाँ—ये सब-के-सब स्वर्ग चाहते हैं, परंतु यज्ञको छोड़कर और किसी साधनसे वह विशाल स्वर्गलोक सुलभ नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि ।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥ २५ ॥

ओषधि (अन्न आदि), पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्यान्य हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल—ये बारह यज्ञके अङ्ग हैं ॥ २५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश ।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्तदश उच्यते ॥ २६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान—ये चार मिलकर सोलह यज्ञाङ्ग होते हैं तथा गार्हपत्य अग्निको सत्रहवाँ यज्ञाङ्ग समझना चाहिये । इस प्रकार ये सत्रह अङ्ग बताये जाते हैं ॥ २६ ॥

अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ।
आज्येन पयसा दध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा ॥ २७ ॥
वालैः श्रृङ्गेण पादेन सम्भवत्येव गौर्मखम् ।
एवं प्रत्येकशः सर्वं यद् यदस्य विधीयते ॥ २८ ॥

ये सब यज्ञके अङ्ग हैं और यज्ञ इस जगत्‌की स्थितिका मूल कारण है; ऐसा श्रुतिका कथन है । घी, दूध, दही, छाछ, गोबर, चमड़ा, बाल, सींग और पैर—इन सबके द्वारा गौ यज्ञकर्मका सम्पादन करती है । इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक वस्तु-का, जो-जो विहित है, संग्रह करना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

यज्ञं वहन्ति सम्भूय सहर्त्विग्भिः सदक्षिणैः ।
संहृत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥ २९ ॥

ऋत्विक् और दक्षिणाओंके साथ ये सब मिलकर यज्ञका निर्वाह करते हैं । यजमान इन सारी वस्तुओंका संग्रह करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ २९ ॥

यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।
एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥ ३० ॥

ये सारी वस्तुएँ यज्ञके लिये रची गयी हैं; यह श्रुतिका कथन यथार्थ ही है । पहलेके सभी मनुष्य इसी प्रकार यज्ञा-नुष्ठानमें प्रवृत्त होते आये हैं ॥ ३० ॥

न हिनस्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥ ३१ ॥

यज्ञका अनुष्ठान अपना कर्तव्य है—ऐसा समझकर जो फलकी इच्छा न रखते हुए यज्ञ करता है, वह न तो हिंसा करता है, न किसीसे द्रोह करता है और न अहंकारपूर्वक किसी कर्मका आरम्भ ही करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः।
विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥ ३२ ॥

यज्ञशास्त्रमें क्रमशः वर्णित ये सम्पूर्ण यज्ञाङ्ग विधिपूर्वक यज्ञमें प्रयुक्त हो एक दूसरेको धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥ ३३ ॥

मैं ऋषियोंद्वारा कथित आम्नाय (धर्मशास्त्र) को देखता हूँ, जिसमें सारे वेद प्रतिष्ठित हैं। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाले ब्राह्मणग्रन्थके वाक्योंका उसमें दर्शन होनेसे विद्वान् पुरुष उस आर्षग्रन्थको प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च।
अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ॥ ३४ ॥

वेदोंके ब्राह्मणभागसे यज्ञका प्राकट्य हुआ है। वह यज्ञ ब्राह्मणोंको ही अर्पित किया जाता है। यज्ञके पीछे सारा जगत् और जगत्के पीछे सदा यज्ञ रहता है ॥ ३४ ॥

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट्।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥ ३५ ॥

'ॐ' यह वेदका मूल कारण है। वह ॐ तथा नमः, स्वाहा, स्वधा और वषट्—ये पद यथाशक्ति जिसके यज्ञमें प्रयुक्त होते हैं, उसीका यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होता है ॥

न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः।
इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ३६ ॥

ऐसे मनुष्यको तीनों लोकोंमें किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता है। यह बात यहाँ सम्पूर्ण वेद तथा सिद्ध महर्षि भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि स्तोभाश्च विधिचोदिताः।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥ ३७ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और विधिविहित स्तोभ[1]—ये सब जिसमें विद्यमान होते हैं, वही इस जगत्में द्विज कहलानेका अधिकारी है ॥ ३७ ॥

अग्न्याधेये यद् भवति यच्च सोमे सुते द्विज।
यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद् भगवान् पुनः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मन्! अग्न्याधान, (अग्निहोत्र) तथा सोमयाग करनेसे जो फल मिलता है और अन्यान्य महायज्ञोंके अनुष्ठानसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसे आप जानते हैं ॥ ३८ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन्।
यजतः स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥ ३९ ॥

अतः विप्रवर! प्रत्येक द्विजको चाहिये कि वह बिना किसी विचारके यज्ञ करे और करावे। जो स्वर्गदायक विधिसे यज्ञ करता है, उसे देहत्यागके पश्चात् महान् स्वर्गफलकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥ ४० ॥

यह निश्चय है कि जो यज्ञ नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये न तो यह लोक सुखदायक होता है और न स्वर्ग ही। जो वेदोक्त विषयोंके जानकार हैं, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंको ही प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके विषयमें स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद

कपिल उवाच

एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः।
नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥ १ ॥

कपिलने कहा—यम-नियमोंका पालन करनेवाले संन्यासी ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। वे इस दृश्य प्रपञ्चको नश्वर समझते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें उनकी गतिका कहीं कोई अवरोध नहीं होता ॥

निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥ २ ॥

उन्हें सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व विचलित नहीं करते। वे न तो किसीको प्रणाम करते हैं और न आशीर्वाद ही देते हैं। इतना ही नहीं, वे विद्वान् पुरुष कामनाओंके बन्धनमें भी नहीं बँधते हैं। सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरते रहते हैं ॥ २ ॥

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः।
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥ ३ ॥

वे मोक्षकी प्राप्ति और सर्वस्वके त्यागके लिये अपनी बुद्धिमें दृढ़ निश्चय रखते हैं। ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर एवं

१. सामगानके जो 'हाऽऽयि, हाऽऽवु' इत्यादि पूरक अक्षर हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममें ही निवास करते हैं ॥ ३ ॥

विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः ।
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन्हें वे सनातन लोक प्राप्त होते हैं, जहाँ शोक और दुःखका सर्वथा अभाव है तथा जहाँ रजोगुण (काम-क्रोध आदि) का दर्शन नहीं होता । उस परम गतिको पाकर उन्हें गार्हस्थ्य-आश्रममें रहने और यहाँके धर्मोंके पालन करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? ॥ ४ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः ।
गृहस्थानव्यपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ज्ञान प्राप्त करके परब्रह्ममें स्थित हो जाना ही यदि पुरुषार्थकी चरम सीमा है, यदि वही उत्तम गति है, तब तो गृहस्थ-धर्मका महत्त्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि गृहस्थोंका सहारा लिये बिना कोई भी आश्रम न तो चल सकता है और न तो ज्ञानकी निष्ठा ही प्रदान कर सकता है ॥ ५ ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥ ६ ॥

जैसे समस्त प्राणी माताकी गोदका सहारा पाकर ही जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रमका आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं ॥ ६ ॥

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥ ७ ॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है । मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्मका आचरण करता है, उस धर्मका मूल कारण गार्हस्थ्य-आश्रम ही है ॥ ७ ॥

प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः ।
प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते ॥ ८ ॥

समस्त प्राणधारी जीव संतानके उत्पादन आदिसे सुखका अनुभव करते हैं, परंतु संतान गार्हस्थ्य-आश्रमके सिवा अन्यत्र किसी तरह सुलभ नहीं है ॥ ८ ॥

यास्तु स्युर्बर्हिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाद्रिजाः ।
ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात् प्राणात् कश्चिन्न दृश्यते ॥ ९ ॥

कुश-काश आदि तृण, धान-जौ आदि ओषधि, नगरके बाहर उत्पन्न होनेवाली दूसरी ओषधियाँ तथा पर्वतपर होनेवाली जो ओषधियाँ हैं, उन सबका मूल भी गार्हस्थ्य-आश्रम ही है (क्योंकि वहींके यज्ञसे पर्जन्य (मेघ) की उत्पत्ति होती है, जिससे वर्षा आदिके द्वारा तृण-लता, ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं) । प्राणस्वरूप जो ओषधियाँ हैं; उससे बाहर कोई दिखायी नहीं देता ॥ ९ ॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति ।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः ॥ १० ॥
निराशैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः ।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः ॥ ११ ॥

गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करनेसे मोक्ष नहीं होता है, ऐसी किसकी वाणी सत्य होगी । जो श्रद्धारहित, मूढ़ और सूक्ष्मदृष्टिसे वञ्चित हैं, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मोंसे संतप्त हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास-मार्गका आश्रय ले गृहस्थाश्रममें शान्तिका अभाव देखते हैं ।१०-११।

त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा ।
ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ॥ १२ ॥

वैदिक धर्मकी सनातन मर्यादा तीनों लोकोंका हित करनेवाली एवं ध्रुव है । ब्राह्मण पूजनीय है और जन्मकालसे ही उसका सबके द्वारा समादर होता है ॥ १२ ॥

प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु ।
अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंमें गर्भाधानसे पहले वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है । फिर लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंमें निस्संदेह उन वेदमन्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने ।
दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने ॥ १४ ॥

मृतकके दाह-संस्कारमें, पुनः देह धारण करनेमें, देह धारण कर लेनेपर, मृत व्यक्तिकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण और श्राद्ध करनेमें, वैतरणीके निमित्त गौओं अथवा अन्य पशुओंका दान करनेमें तथा श्राद्धकर्ममें दिये हुए पिण्डोंका जलके भीतर विसर्जन करनेमें भी वैदिक मन्त्रोंका उपयोग होता है—इन सब कार्योंके मूल वेद-मन्त्र हैं ॥ १४ ॥

अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः क्रव्यादाः पितरस्तथा ।
मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रान् मन्त्राश्च कारणम् ॥ १५ ॥

अर्चिष्मत्, बर्हिषद् तथा कव्यवाह संज्ञक पितर भी मृत व्यक्तिके (सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता) के लिये मन्त्र-पाठकी अनुमति देते हैं । मन्त्र ही सब धर्मोंके कारण हैं ॥

एवं क्रोशत्सु वेदेषु कुतो मोक्षोऽस्ति कस्यचित् ।
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु ॥ १६ ॥

वे ही वेद-मन्त्र जब पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य देवताओं, पितरों और ऋषियोंके जन्मसे ही ऋणी होते हैं, तब गृहस्थाश्रममें रहकर उन ऋणोंको चुकाये बिना किसीका भी मोक्ष कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ १७ ॥

श्रीहीन और आलसी पण्डितोंने कर्मोंके त्यागसे मोक्ष मिलता है—ऐसा मत चलाया है । यह सुननेमें सत्य-सा आभासित होता है, परंतु है मिथ्या । इस मार्गमें किसीको वेदके सिद्धान्तोंका तनिक भी ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥

न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा
यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः।
ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति
संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके अनुसार यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसपर पापोंका आक्रमण नहीं हो सकता और न पाप उसे अपनी ओर खींच ही सकते हैं। वह अपने किये हुए यज्ञों और उनमें उपयोगी पशुओंके साथ ऊपरके पुण्यलोकोंमें जाता है और स्वयं सब प्रकारके भोगोंसे तृप्त होकर दूसरोंको भी तृप्त करता है ॥ १८ ॥

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत् प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥ १९ ॥

वेदोंका अनादर करनेसे, शठतासे तथा छल-कपटसे कोई भी मनुष्य परब्रह्म परमात्माको नहीं पाता है। वेदों तथा उनमें बताये हुए कर्मोंका आश्रय लेनेपर ही उसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कपिल उवाच

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

कपिलजीने कहा—बुद्धिमान् पुरुषके लिये दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदिके अनुष्ठानका विधान है; क्योंकि उनमें सनातनधर्मकी स्थिति है ॥ २० ॥

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥ २१ ॥

परंतु जो संन्यास धर्म स्वीकार करके कर्मानुष्ठानसे निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र एवं ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्मको चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञानसे ही देवताओंको तृप्त करते हैं ॥ २१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २२ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मारूपसे स्थित हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मभावसे ही देखते हैं, जिनका कोई विशेष पद नहीं है, उन ज्ञानी पुरुषका पदचिह्न ढूँढ़नेवाले—उनकी गतिका पता लगानेवाले देवता भी मार्गमें मोहित हो जाते हैं ॥

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥ २३ ॥

मनुष्योंके हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होनेकी इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्योंके अनुसार इन चारों द्वारोंके संयमसे प्राप्य ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखोंसे युक्त परमपुरुषको भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायोंसे प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमां-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरोंका धन न ले, नीच पुरुषका बनाया हुआ अन्न न ग्रहण करे और क्रोधमें आकर किसीको मार न बैठे—ऐसा करनेसे उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं ॥ २४ ॥

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥ २५ ॥

किसीको गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरोंकी चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले तथा इसके लिये सदा सावधान रहे—ऐसा करनेसे वाक् इन्द्रियरूप द्वारकी रक्षा होती है ॥ २५ ॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥ २६ ॥

उपवास न करे, किंतु बहुत अधिक भी न खाय, सदा भोजनके लिये लालायित न रहे। सज्जनोंका सङ्ग करे और जीवननिर्वाहके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेटमें डाले—इससे उदरद्वारका संरक्षण होता है ॥ २६ ॥

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चापि नारीमनृतावाह्वयीत।
भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
तथास्योपस्थद्वारगुप्तिर्भवेत ॥ २७ ॥

वीर युधिष्ठिर! अपनी धर्मपत्नीके साथ ही विहार करे, परायी स्त्रीके साथ नहीं, अपनी स्त्रीको भी जबतक वह ऋतुस्नाता न हुई हो, समागमके लिये अपने पास न बुलाये और मनमें एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करनेसे उसके उपस्थ-द्वारकी रक्षा हो सकती है ॥ २७ ॥

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥ २८ ॥

जिस मनीषी पुरुषके उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तवमें ब्राह्मण है ॥

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥ २९ ॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ-कर्म निष्फल होते हैं, ऐसे मनुष्यको तपस्या, यज्ञ तथा आत्मचिन्तन-से क्या लाभ हो सकता है ? ॥ २९ ॥

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३० ॥

जिसके पास वस्त्रके नामपर एक लंगोटी मात्र है, ओढ़ने-के लिये एक चादरतक नहीं है, जो बिना बिछौनेके ही सोता है, बाँहोंका ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है, उसीको देवता ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३० ॥

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः ।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३१ ॥

जो मुनि शीत-उष्ण आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वरूपी उपवनोंमें अकेला ही आनन्दपूर्वक रहता है और दूसरोंका चिन्तन नहीं करता, उसे देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समझते हैं ॥

येन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ।
गतिज्ञः सर्वभूतानां तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३२ ॥

जिसको इस सम्पूर्ण जगत्‌की नश्वरताका ज्ञान है, जो प्रकृति और उसके विकारोंसे परिचित है तथा जिसे सम्पूर्ण भूतोंकी गतिका ज्ञान है, उसे देवतालोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय है, जिससे समस्त प्राणी भय नहीं मानते हैं तथा जो सब भूतोंका आत्मा है, उसीको देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३३ ॥

नान्तरेणानुजानन्ति दानयज्ञक्रियाफलम् ।
अविज्ञाय च तत् सर्वमन्यद् रोचयते फलम् ॥ ३४ ॥

परंतु मूढ़ मानव दान और यज्ञ-कर्मके फलके सिवा योग आदिके फलका अनुमोदन नहीं करते । वे उन मोक्षप्रद समस्त साधनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण स्वर्ग आदि अन्य फलोंमें ही रुचि रखते हैं ॥ ३४ ॥

स्वकर्मभिः संश्रितानां तपो घोरत्वमागतम् ।
तं सदाचारमाश्रित्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

किंतु उस पुराण, शाश्वत एवं ध्रुव यौगिक सदाचारका आश्रय लेकर अपने कर्तव्य कर्मोंमें परायण रहनेवाले ज्ञानियों-का तप उत्तरोत्तर तीव्रताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

अशक्नुवन्तश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूत्रितम् ।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य योगशास्त्रके सूत्रोंमें कथित यम-नियमादिका अनुष्ठान नहीं कर सकते । वह यौगिक आचार आपत्तिशून्य, प्रमादरहित है । वह कामादिसे पराभवको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

फलवन्ति च कर्माणि व्युष्टिमन्ति ध्रुवाणि च ।
विगुणानि च पश्यन्ति तथानैकान्तिकानि च ॥ ३७ ॥

योगशास्त्रमें कथित कर्म श्रेष्ठ फल देनेवाले, उन्नति करनेवाले एवं स्थायी हैं; तो भी प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य उनको गुणरहित (निष्फल) और अस्थिर समझते हैं ॥ ३७ ॥

गुणाश्चात्र सुदुर्ज्ञेया ज्ञाताश्चात्र सुदुष्कराः ।
अनुष्ठिताश्चान्तवन्त इति त्वमनुपश्यसि ॥ ३८ ॥

गुणोंके कार्यभूत जो यज्ञ-यागादि हैं, उनके स्वरूप और विधि-विधानको समझना बहुत कठिन है । समझ लेनेपर भी उनका अनुष्ठान करना तो और भी कठिन है । यदि अनुष्ठान भी किया जाय तो भी उनसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है । इन सब बातोंको तुम भी देखते और समझते हो ॥ ३८ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यथा च वेदप्रामाण्यं त्यागश्च सफलो यथा ।
तौ पन्थानावुभौ व्यक्तौ भगवंस्तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—भगवन् ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो' ये जो परस्परविरुद्ध दो स्पष्ट मार्ग हैं, इनका उपदेश करनेवाले वेदकी प्रामाणिकताका निर्वाह कैसे हो ? तथा त्याग कैसे सफल होता है ? यह आप मुझको बताइये ॥ ३९ ॥

कपिल उवाच

प्रत्यक्षमिह पश्यन्ति भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
प्रत्यक्षं तु किमत्रास्ति यद् भवन्त उपासते ॥ ४० ॥

कपिलने कहा—आपलोग सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं; परंतु कर्ममार्गमें रहकर आपलोग जिस यज्ञकी उपासना करते हैं, उससे यहाँ कौन-सा प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है ? ॥ ४० ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्यूमरश्मिरहं ब्रह्मन् जिज्ञासार्थमिहागतः ।
श्रेयस्कामः प्रत्यवोचमार्जवान्न विवक्षया ॥ ४१ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन् ! मेरा नाम स्यूमरश्मि है । मैं ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे यहाँ आया हूँ । मैंने कल्याण-की इच्छा रखकर सरल भावसे ही अपनी बातें आपकी सेवामें उपस्थित की हैं, वाद-विवादकी इच्छासे नहीं ॥ ४१ ॥

इमं च संशयं घोरं भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
प्रत्यक्षमिह पश्यन्तो भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
किमत्र प्रत्यक्षतमं भवन्तो यदुपासते ॥ ४२ ॥
अन्यत्र तर्कशास्त्रेभ्य आगमार्थं यथागमम् ।

मेरे मनमें एक भयानक संशय उठ खड़ा हुआ है, इसे आप ही मिटा सकते हैं । आपने कहा था कि तुम सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते

हो। मैं पूछता हूँ कि आप जिसकी उपासना करते हैं, यहाँ उसका अत्यन्त प्रत्यक्ष फल क्या है ? आप उसका तर्कका सहारा न लेकर प्रतिपादन कीजिये, जिससे मैं आगमके अर्थको जान सकूँ ॥ ४२½ ॥

आगमो वेदवादास्तु तर्कशास्त्राणि चागमः ॥ ४३ ॥

वेदमतका अनुसरण करनेवाले शास्त्र तो आगम हैं ही, तर्कशास्त्र (वेदोंके अर्थका निर्णय करनेवाले पूर्वोत्तर मीमांसा आदि) भी आगम हैं ॥ ४३ ॥

यथाश्रममुपासीत आगमस्तत्र सिध्यति ।
सिद्धिः प्रत्यक्षरूपा च दृश्यत्यागमनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

जिस-जिस आश्रममें जो-जो धर्म विहित है, वहाँ-वहाँ उसी-उसी धर्मकी उपासना करनी चाहिये। उस-उस स्थानपर उसी-उसी धर्मका आचरण करनेसे वहाँ आगम सफल होता है । एवं शास्त्रके निश्चयसे ही सिद्धिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४४ ॥

नौर्नावीव निबद्धा हि स्रोतसा सनिबन्धना ।
ह्रियमाणा कथं विप्र कुबुद्धींस्तारयिष्यति ।
एतद् ब्रवीतु भगवानुपपन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ४५ ॥

जैसे एक जगह जानेवाली नावमें दूसरी जगह जानेवाली नाव बाँध दी जाय तो वह जलके स्रोतसे अपहृत हो किसीको गन्तव्य स्थानतक नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मोंकी वासनासे बँधी हुई हमारी कर्ममयी नौका हम कुबुद्धि पुरुषोंको कैसे भवसागरसे पार उतारेगी ? भगवन् ! यह आप मुझे बताइये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ ४५ ॥

नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः ।
न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन ॥ ४६ ॥

वास्तवमें इस जगत्के भीतर न कोई त्यागी है न संतुष्ट, न शोकहीन है न नीरोग । न तो कोई पुरुष कर्म करनेकी इच्छासे सर्वथा शून्य है, न आसक्तिसे रहित है और न सर्वथा कर्मका त्यागी ही है ॥ ४६ ॥

भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ४७ ॥

आप भी हमलोगोंकी ही भाँति हर्ष और शोक प्रकट करते हैं। समस्त प्राणियोंके समान आपके समक्ष भी शब्द, स्पर्श आदि विषय उपस्थित और गृहीत होते हैं ॥ ४७ ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।
एकमालम्बमानानां निर्णये किं निरामयम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग सभी प्रवृत्तियोंमें एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसीको अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, अतः सिद्धान्ततः अक्षय सुख क्या है, यह बताइये ॥ ४८ ॥

कपिल उवाच

यद् यदाचरते शास्त्रमर्थ्यं सर्वप्रवृत्तिषु ।
यस्य यत्र ह्यनुष्ठानं तत्र तत्र निरामयम् ॥ ४९ ॥

कपिलने कहा—जो-जो शास्त्र जिस-जिस अर्थका आचरण—प्रतिपादन करता है, वह-वह सभी प्रवृत्तियोंमें सफल होता है । जिस साधनका जहाँ अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते ।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥ ५० ॥

जो ज्ञानका अनुसरण करता है, ज्ञान उसके समस्त संसारबन्धनका नाश कर देता है । बिना ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रजाको जन्म और मरणके चक्करमें डालकर उसका विनाश कर देती है ॥ ५० ॥

भवन्तो ज्ञानिनो व्यक्तं सर्वतश्च निरामयाः ।
ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचिदुपपद्यते ॥ ५१ ॥

आपलोग ज्ञानी हैं, यह बात सर्वविदित है । आप सब ओरसे नीरोग भी हैं; परंतु क्या आपलोगोंमेंसे कोई भी किसी भी कालमें एकात्मताको प्राप्त हुआ है ? (जब एकमात्र अद्वितीय आत्मा अर्थात् ब्रह्मकी ही सत्ताका सर्वत्र बोध होने लगे, तब उसे एकात्मताका ज्ञान कहते हैं) ॥ ५१ ॥

शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः ।
कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः ॥ ५२ ॥

शास्त्रको यथार्थरूपसे न जानकर कुछ लोग वितण्डावादके ही बलसे राग-द्वेषसे अभिभूत होनेके कारण अहंकारके अधीन हो गये हैं ॥ ५२ ॥

याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः ।
ब्रह्मस्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः ॥ ५३ ॥

वे शास्त्रोंके यथार्थ तात्पर्यको न जाननेके कारण शास्त्रदस्यु (शास्त्रोंके अर्थपर डाका डालनेवाले लुटेरे) कहे जाते हैं । सर्वव्यापी ब्रह्मका भी अपलाप करनेके कारण ब्रह्मचोरकी पदवीसे विभूषित होते हैं । शम-दम आदि साधनोंका कभी अनुष्ठान नहीं करते हैं तथा दम्भ और मोहके वशमें पड़े रहते हैं ॥ ५३ ॥

नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते ।
तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम् ॥ ५४ ॥

वे शम-दम आदि साधनोंको सदा निष्फल ही देखते और समझते हैं । ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सद्गुणोंकी जिज्ञासा नहीं करते हैं । उन तमोमय शरीरवाले पुरुषोंका तमोगुण ही सबसे बड़ा अवलम्ब है ॥ ५४ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः प्रकृतेः स्याद् वशानुगः ।
तस्य द्वेषश्च कामश्च क्रोधो दम्भोऽनृतं मदः ।
नित्यमेवाभिवर्तन्ते गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥ ५५ ॥

जिस प्राणीकी जैसी प्रकृति होती है, उस प्रकृतिके वह अधीन होता है। उसके भीतर द्वेष, काम, क्रोध, दम्भ, असत्य और मद—ये प्रकृतिजनित गुण सदा ही विद्यमान रहते हैं ॥ ५५ ॥

एवं ध्यात्वानुपश्यन्तः संत्यजेयुः शुभाशुभम्।
परां गतिमभीप्सन्तो यतयः संयमे रताः ॥ ५६ ॥

परम गति प्राप्त करनेकी इच्छावाले संयमशील यति इस प्रकार सोच-विचारकर शुभ और अशुभ दोनोंका परित्याग कर देते हैं ॥ ५६ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

सर्वमेतन्मया ब्रह्मन् शास्त्रतः परिकीर्तितम्।
न ह्यविज्ञाय शास्त्रार्थं प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ५७ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन्! मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सब शास्त्रसे प्रतिपादित है; क्योंकि शास्त्रके अर्थको जाने बिना किसीकी किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती।५७।

यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः।
यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ॥ ५८ ॥

जो कोई भी न्यायोचित आचार है, वह सब शास्त्र है, ऐसा श्रुतिका कथन है। जो अन्यायपूर्ण बर्ताव है, वह अशास्त्रीय है, ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ५८ ॥

न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः।
यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके बिना अर्थात् शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कोई प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती, यह विद्वानोंका निश्चय है। जो वैदिक वचनोंके विरुद्ध है, वह सब अशास्त्रीय है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ५९ ॥

शास्त्रादपेतं पश्यन्ति बहवो व्यक्तमानिनः।
शास्त्रदोषान् न पश्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम्।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ६० ॥

बहुत-से मनुष्य प्रत्यक्षको ही माननेवाले हैं। वे शास्त्रसे पृथक् इहलोकपर ही दृष्टि रखते हैं। शास्त्रोक्त दोषोंको नहीं देखते हैं और जैसे हमलोग शोक करते हैं वैसे ही वे भी अवैदिकमतका आश्रय लेकर शोक किया करते हैं। आप-जैसे ज्ञानियोंको भी सब जन्तुओंके समान ही इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव होता है ॥ ६० ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु।
एकमालम्बमानानां निर्णये सर्वतोदिशम् ॥ ६१ ॥
आनन्त्यं वदमानेन शक्तेनावजितात्मना।
अविज्ञानहतप्रज्ञा हीनप्रज्ञास्तमोवृताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंकी जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें लगे हुए मनुष्य एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसे ही प्राप्त करना चाहते हैं। उनमेंसे हम-जैसे लोग अज्ञानसे हतबुद्धि, तुच्छ विषयोंमें मन लगानेवाले तथा तमोगुणसे आवृत हैं। आप ऊहापोह करनेमें समर्थ—कुशल हैं, अतः सार्वदेशिक सिद्धान्तके रूपमें मोक्षसुखकी अनन्तता बताकर आपने मनसे हमें शान्ति पहुँचायी है ॥ ६१-६२ ॥

शक्यं त्वेकेन युक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः।
पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य चरितुं विजितात्मना ॥ ६३ ॥
वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम्।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा ॥ ६४ ॥

जो आपके समान एकाकी, योगयुक्त, कृतकृत्य और मनपर विजय पानेवाला है तथा जो केवल शरीरका अथवा उसकी रक्षाके लिये स्वल्प भिक्षान्नमात्रका सहारा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण कर सकता है, जिसने न्यायशास्त्रका परित्याग कर दिया है तथा जो सम्पूर्ण संसारको नाशवान् होनेके कारण गर्हित समझता है, ऐसा पुरुष ही वेद-वाक्योंका आश्रय लेकर 'मोक्ष है' यह साधिकार कह सकता है।६३-६४।

इदं तु दुष्करं कर्म कुटुम्बमभिसंश्रितम्।
दानमध्ययनं यज्ञः प्रजासंतानमार्जवम् ॥ ६५ ॥

गृहस्थाश्रमके अनुसार जो यह कुटुम्बके भरण-पोषणसे सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है तथा दान, स्वाध्याय, यज्ञ, संतानोत्पादन एवं सदा सरल और कोमल भावसे बर्ताव करना रूप जो कर्म है, यह सब मनुष्यके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥ ६५ ॥

यद्येतदेवं कृत्वापि न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
धिक् कर्तारं च कार्यं च श्रमश्चायं निरर्थकः ॥ ६६ ॥

यदि यह सब दुष्कर कर्म करके भी किसीको मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ तो कर्ताको धिक्कार है। उसके उस कार्यको धिक्कार है। और इसमें जो परिश्रम हुआ, वह व्यर्थ हो गया ॥६६॥

नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया।
एतस्यानन्त्यमिच्छामि भगवञ्छ्रोतुमञ्जसा ॥ ६७ ॥

यदि कर्मकाण्डको व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाय तो यह नास्तिकता और वेदोंकी अवहेलना होगी; अतः भगवन्! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि कर्मकाण्ड किस प्रकार सुगमतापूर्वक मोक्षका साधक होगा ॥ ६७ ॥

तत्त्वं वदस्व मे ब्रह्मन्नुपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः।
यथा ते विदितो मोक्षस्तथेच्छाम्युपशिक्षितुम् ॥ ६८ ॥

ब्रह्मन्! आप मुझे तत्त्वकी बात बताइये। मैं शिष्यभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। गुरुदेव! मुझे उपदेश कीजिये। आपको मोक्षके स्वरूपका जैसा ज्ञान है, वैसा ही मैं भी सीखना और जानना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद—चारों आश्रमोंमें उत्तम साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका कथन

कपिल उवाच

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ १॥

कपिलने कहा—स्यूमरश्मे ! सम्पूर्ण लोकोंके लिये वेद ही प्रमाण हैं। अतः वेदोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। ब्रह्मके दो रूप समझने चाहिये—शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)॥ १॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरुते तनुम्॥ २॥
कृतशुद्धशरीरो हि पात्रं भवति ब्राह्मणः।
आनन्त्यमत्र बुद्ध्येदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ते॥ ३॥

जो पुरुष शब्दब्रह्ममें पारंगत (वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठान-से शुद्धचित्त हो चुका) है, वह परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। पिता और माता वेदोक्त गर्भाधानकी विधिसे बालकके जिस शरीरको जन्म देते हैं, वे उस बालकके उस शरीरका ही संस्कार करते हैं। इस प्रकार जिसका शरीर वैदिक संस्कारसे शुद्ध हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानका पात्र होता है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्म किस प्रकार अक्षय मोक्ष-सुखकी प्राप्ति करानेमें कारण होते हैं। २-३।

अनागममनैतिह्यं प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम्।
धर्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वन्ति निराशिषः॥ ४॥

जो अपना धर्म (कर्तव्य) समझकर बिना किसी प्रकारकी भोगेच्छाके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके उस यज्ञका फल वेद या इतिहासद्वारा नहीं जाना जाता है। वह प्रत्यक्ष है और उसे सब लोग अपनी आँखों देखते हैं॥ ४॥

उत्पन्नत्यागिनोऽलुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः।
धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम्॥ ५॥
अनाश्रिताः पापकर्म कदाचित् कर्मयोगिनः।
मनःसंकल्पसंसिद्धा विशुद्धज्ञाननिश्चयाः॥ ६॥

जो प्राप्त हुए पदार्थोंका त्याग सब प्रकारके लालचको छोड़कर करते हैं, जो कृपणता और असूयासे रहित हैं और 'धनके उपयोगका यही सर्वोत्तम मार्ग है' ऐसा समझकर सत्पात्रोंको दान करते हैं, कभी पापकर्मका आश्रय नहीं लेते तथा सदा कर्मयोगके साधनमें ही लगे रहते हैं, उनके मान-सिक संकल्पकी सिद्धि होने लगती है और उन्हें विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप परब्रह्मके विषयमें दृढ़ निश्चय हो जाता है॥ ५-६॥

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ज्ञाननिष्ठास्त्रिशुक्लाश्च सर्वभूतहिते रताः॥ ७॥

वे किसीपर क्रोध नहीं करते, कहीं दोषदृष्टि नहीं रखते, अहंकार तथा मात्सर्यसे दूर रहते हैं, ज्ञानके साधनोंमें उनकी निष्ठा होती है, उनके जन्म, कर्म और विद्या—तीनों ही शुद्ध होते हैं तथा वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥ ७॥

आसन् गृहस्था भूयिष्ठा अव्युत्क्रान्ताः स्वकर्मसु।
राजानश्च तथा युक्ता ब्राह्मणाश्च यथाविधि॥ ८॥

पूर्वकालमें बहुत-से ब्राह्मण और राजा ऐसे हो गये हैं, जो गृहस्थ आश्रममें ही रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका त्याग न करके उनमें निष्काम भावसे विधिपूर्वक लगे रहे॥

समा ह्यार्जवसम्पन्नाः संतुष्टा ज्ञाननिश्चयाः।
प्रत्यक्षधर्माः शुचयः श्रद्दधानाः परावरे॥ ९॥

वे सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखते थे। सरल, संतुष्ट, ज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्ष फल देनेवाले धर्मके अनुष्ठाता और शुद्धचित्त होते थे तथा शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म—दोनोंमें ही श्रद्धा रखते थे॥ ९॥

पुरस्ताद् भावितात्मानो यथावच्चरितव्रताः।
चरन्ति धर्मं कृच्छ्रेऽपि दुर्गे चैवापि संहताः॥ १०॥
संहत्य धर्मं चरतां पुराऽऽसीत् सुखमेव तत्।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कथंचन॥ ११॥

वे आवश्यक नियमोंका यथावत् पालन करके पहले अपने चित्तको शुद्ध करते थे और कठिनाई तथा दुर्गम स्थानोंमें पड़ जानेपर भी परस्पर मिलकर धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहते थे। संघ-बद्ध होकर धर्मानुष्ठान करनेवाले उन पूर्ववर्ती पुरुषोंको इसमें सुखका ही अनुभव होता था। उन्हें किसी प्रकारका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी॥ १०-११॥

सत्यं हि धर्ममास्थाय दुराधर्षतमा मताः।
न मात्रामनुरुध्यन्ते न धर्मच्छलमन्ततः॥ १२॥

वे सत्यधर्मका आश्रय लेकर ही अत्यन्त दुर्धर्ष माने जाते थे। लेशमात्र भी पाप नहीं करते थे और प्राणान्तका अवसर उपस्थित होनेपर भी धर्मके विषयमें छलसे काम नहीं लेते थे॥ १२॥

य एव प्रथमः कल्पस्तमेवाभ्याचरन् सह।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कदाचन॥ १३॥

जो प्रथम श्रेणीका धर्म माना जाता था, उसीका वे सब लोग साथ रहकर आचरण करते थे, अतः उनके सामने कभी प्रायश्चित्त करनेका अवसर नहीं आता था॥ १३॥

तस्मिन् विधौ स्थितानां हि प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दुर्बलात्मन उत्पन्नं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥ १४॥

धर्मकी उस उत्तम श्रेणीमें स्थित हुए उन शुद्धचित्त

पुरुषोंके लिये प्रायश्चित्त हैं ही नहीं। जिनका हृदय दुर्बल है, उन्हींसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया गया है—ऐसा सुननेमें आता है ॥ १४ ॥

एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से ब्राह्मण पूर्वकालमें यज्ञका निर्वाह करते थे। वे वेदविद्याके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े, पवित्र, सदाचारी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः।
तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥ १६ ॥

वे विद्वान् पुरुष प्रतिदिन कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हो यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते थे। उनके वे यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्यान्य कर्म शास्त्रविधिके अनुसार सम्पन्न होते थे ॥ १६ ॥

आगमाश्च यथाकाले संकल्पाश्च यथाक्रमम्।
अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १७ ॥

उन्होंने काम और क्रोधको त्याग दिया था। उनके आचार-कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लाने अत्यन्त कठिन थे। उनके हृदयमें यथासमय शास्त्र-ज्ञान और सत्सं-कल्पका क्रमशः उदय होता था ॥ १७ ॥

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम्।
ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम् ॥ १८ ॥

अपने उत्तम कर्मोंके कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। वे स्वभावसे ही पवित्रचित्त, सरल, शान्तिपरायण और स्वधर्मनिष्ठ होते थे ॥ १८ ॥

सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १९ ॥

उनके हृदय बड़े उदार थे, उनके आचार और कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लानेमें अत्यन्त कठिन थे, अतः उनका सारा शुभ कर्म ही अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाला था। यह बात सदा हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९ ॥

स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपने-अपने कर्मोंसे ही परिपुष्ट थे। उनकी तपस्या घोर रूप धारण कर चुकी थी। वे आश्चर्यजनक 'सदाचार-का पालन करते थे और उसका उन्हें पुरातन, शाश्वत एवं अविनाशी ब्रह्मरूप फल प्राप्त होता था ॥ २० ॥

अशक्नुवद्भिश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूक्ष्मताम्।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ २१ ॥

धर्मोंमें जो किंचित् सूक्ष्मता है, उसका आचरण करनेमें कितने ही लोग असमर्थ हो जाते हैं। वास्तवमें वेदोक्त आचार और धर्म आपत्तिसे रहित है। उसमें न तो प्रमाद है और न पराभव ही है ॥ २१ ॥

सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद् व्यतिक्रमः।
व्यस्तमेकं चतुर्धा हि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥ २२ ॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंकी उत्पत्ति हो जानेपर आश्रमके विषयमें कोई वैषम्य नहीं था। तदनन्तर एक ही आश्रमको अवस्था-भेदसे चार भागोंमें विभक्त किया गया। इस बातको सभी ब्राह्मण जानते रहे ॥ २२ ॥

तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम्।
गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥ २३ ॥
गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः।
त एते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः ॥ २४ ॥
नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः।
आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम् ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष विधिपूर्वक उन सब आश्रमोंमें प्रवेश करके उनके धर्मका पालन करते हुए परमगतिको प्राप्त होते हैं। उनमेंसे कुछ लोग तो घरसे निकलकर (अर्थात् संन्यासी होकर), कुछ लोग वानप्रस्थका आश्रय लेकर, कुछ मानव गृहस्थ ही रहकर और कोई ब्रह्मचर्य आश्रमका सेवन करते हुए ही उस आश्रमधर्मका पालन करके परमपदको प्राप्त होते हैं। उस समय वे ही द्विजगण आकाशमें ज्योतिर्मयरूपसे दिखायी देते हैं, जो कि नक्षत्रोंके समान ही आकाशके विभिन्न स्थानोंमें अनेक तारागण हैं—इन सबने संतोषके द्वारा ही यह अनन्त पद प्राप्त किया है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है ॥ २३—२५ ॥

यद्यागच्छन्ति संसारं पुनर्योनिषु तादृशाः।
न लिप्यन्ते पापकृत्यैः कदाचित् कर्मयोनितः ॥ २६ ॥

ऐसे पुण्यात्मा पुरुष यदि कभी पुनः संसारकी कर्माधि-कार युक्त योनियोंमें आते या जन्म ग्रहण करते हैं तो वे उस योनिके सम्बन्धसे पापकर्मोंद्वारा लिप्त नहीं होते हैं ॥ २६ ॥

एवमेव ब्रह्मचारी शुश्रूषुर्घोरनिश्चयः।
एवं युक्तो ब्राह्मणः स्यादन्यो ब्राह्मणको भवेत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेवाला, ब्रह्मचर्य-परायण, दृढ़ निश्चयवाला तथा योगयुक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है। उससे भिन्न अन्य प्रकार-का ब्राह्मण निम्न कोटिका अथवा नाममात्रका ब्राह्मण समझा जाता है ॥ २७ ॥

कर्मैवं पुरुषस्याह शुभं वा यदि वाशुभम्।
एवं पक्वकषायाणामानन्त्येन श्रुतेन च ॥ २८ ॥
सर्वमानन्त्यमासीद् वै एवं नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामपेततृष्णानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म ही पुरुषका तदनु-रूप नाम नियत करता है। जिनके राग-द्वेष आदि कषाय पक गये हैं, जिनके मनसे तृष्णा निकल गयी है, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध हैं तथा जिनकी बुद्धि कल्याणस्वरूप मोक्षमें

लगी हुई है, उन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें अनन्त ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञानके प्रभावसे सब कुछ ब्रह्मस्वरूप हो गया था; यह बात सदा ही हमारे सुननेमें आयी है ॥ २८-२९ ॥

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः ।
संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥ ३० ॥

तुरीय ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जो उपनिषद्-विद्या है, उसकी प्राप्ति करानेवाले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानरूप जो धर्म हैं, वह सभी वर्ण और आश्रमके लोगोंके लिये साधारण हैं—ऐसा स्मृतिका कथन है। परंतु जो संयतचित्त और तपःसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं, वे ही सदा उस धर्मका साधन कर पाते हैं ॥ ३० ॥

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥

संतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानका आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्ष-दायिनी बुद्धि—ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति नित्य आवश्यक है, वह संन्यास-आश्रमरूप धर्म सनातन है ॥ ३१ ॥

साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते ।
गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।
ब्रह्मणः पदमन्विच्छन् संसारान्मुच्यते शुचिः ॥ ३२ ॥

यह यतिधर्म अन्य आश्रमके धर्मोंसे मिला हुआ हो या स्वतन्त्र हो, जो अपने वैराग्य-बलके अनुसार इसका आश्रय लेते हैं, वे कल्याणके भागी होते हैं। इस मार्गसे जानेवाले सभी पथिकोंका परम कल्याण होता है; परंतु जो दुर्बल है—मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण जो इसके साधनमें असमर्थ है, वही यहाँ शिथिल होकर बैठ रहता है। जो बाहर और भीतरसे पवित्र है, वह ब्रह्मपदका अनुसंधान करता हुआ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

ये भुञ्जते ये ददते यजन्तेऽधीयते च ये ।
मात्राभिरुपलब्धाभिर्ये वा त्यागं समाश्रिताः ॥ ३३ ॥
एतेषां प्रेत्यभावे तु कतमः स्वर्गजित्तमः ।
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मन् यथातत्त्वेन पृच्छतः ॥ ३४ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—ब्रह्मन्! जो लोग प्राप्त हुए धनके द्वारा केवल भोग भोगते हैं, जो दान करते हैं, जो उस धनको यज्ञमें लगाते हैं, जो स्वाध्याय करते हैं अथवा जो त्यागका आश्रय लेते हैं, इनमेंसे कौन पुरुष मृत्युके पश्चात् प्रधान-रूपसे स्वर्गलोकपर विजय पाता है? मैं जिज्ञासुभावसे पूछ रहा हूँ; आप मुझे यह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३३-३४ ॥

कपिल उवाच

परिग्रहाः शुभाः सर्वे गुणतोऽभ्युदयाश्च ये ।
न तु त्यागसुखं प्राप्ता एतत् त्वमपि पश्यसि ॥ ३५ ॥

कपिलजीने कहा—जिनका सात्त्विक गुणसे प्राकट्य हुआ है, ऐसे सभी परिग्रह शुभ हैं; परंतु त्यागमें जो सुख है, उसे इनमेंसे कोई भी नहीं पा सके हैं। इस बातको तुम भी देखते ही हो ॥ ३५ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

भवन्तो ज्ञाननिष्ठा वै गृहस्थाः कर्मनिश्चयाः ।
आश्रमाणां च सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते ॥ ३६ ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते ।
तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३७ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—भगवन्! आप तो ज्ञाननिष्ठ हैं और गृहस्थलोग कर्मनिष्ठ होते हैं; परंतु आप इस समय निष्ठामें सभी आश्रमोंकी एकताका प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्मकी एकता और पृथक्ता—दोनों-का भ्रम होनेसे इनका ठीक-ठीक अन्तर समझमें नहीं आता है। इसलिये आप मुझे उसे यथोचित एवं यथार्थरीतिसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३६-३७ ॥

कपिल उवाच

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥ ३८ ॥

कपिलजीने कहा—कर्म स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी शुद्धि करनेवाले हैं, किंतु ज्ञान परम गतिरूप है। जब कर्मों-द्वारा चित्तके रागादि दोष जल जाते हैं, तब मनुष्य रस-स्वरूप ज्ञानमें स्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ॥ ३९ ॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ।
तद् विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम् ॥ ४० ॥

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

यां विप्राः सर्वतः शान्ता विशुद्धा ज्ञाननिश्चयाः ।
गतिं गच्छन्ति संतुष्टास्तामाहुः परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

सब ओरसे शान्त, संतुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञाननिष्ठ विप्र जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसीको परमगति कहते हैं ॥

वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।
एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥ ४२ ॥

जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्मको ठीक-ठीक जानता है, उसीको वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, वे मुँहसे वेद नहीं पढ़ते, धौंकनीके समान केवल हवा छोड़ते हैं ॥ ४२ ॥

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥ ४३ ॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयोंको जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेदमें बतायी गयी है ॥ ४३ ॥

एषैव निष्ठा सर्वत्र यत् तदस्ति च नास्ति च।
एतदन्तं च मध्यं च सच्चासच्च विजानतः ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंकी एकमात्र निष्ठा यही है कि जो-जो दृश्य पदार्थ है वह प्रतीतिकालमें तो विद्यमान है, परंतु परमार्थ ज्ञानकी स्थितिमें बाधित हो जानेपर वह नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें सदसत् स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्का आदि, मध्य और अन्त है ॥ ४४ ॥

समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम्।
संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

सब कुछ त्याग देनेपर ही उस ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही बात सम्पूर्ण वेदोंमें निश्चित की गयी है। वह अपने आनन्दस्वरूपसे सबमें अनुगत तथा अपवर्ग (मोक्ष) में प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं
सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च।
सर्वं सुखं यच्छिवमुत्तरं च
ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च ॥ ४६ ॥

अतः वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सबका आत्मा, स्थावर-जङ्गमरूप, सम्पूर्ण सुखरूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सबकी उत्पत्तिका कारण और अविनाशी है ॥ ४६ ॥

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं
तथाविधं व्योम सनातनं ध्रुवम्।
एतैः सर्वैर्गम्यते बुद्धिनेत्रै-
स्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय ॥ ४७ ॥

उस आकाशके समान असङ्ग, अविनाशी और सदा एकरस तत्त्वका ज्ञान-नेत्रोंवाले सभी पुरुष तेज, क्षमा और शान्तिरूप शुभ साधनोंके द्वारा साक्षात्कार करते हैं। जो वास्तवमें ब्रह्मवेत्तासे अभिन्न है, उस परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धन और काम-भोगोंकी अपेक्षा धर्म और तपस्याका उत्कर्ष सूचित करनेवाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत।
कस्य लाभो विशिष्टोऽत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन पितामह ! वेद तो धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी ही प्रशंसा करते हैं; अतः आप मुझे यह बताइये कि इन तीनोंमेंसे किसकी प्राप्ति मेरे लिये सबसे बढ़कर है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
कुण्डधारेण यत् प्रीत्या भक्तायोपकृतं पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जिसके अनुसार कुण्डधार नामक मेघने पूर्वकालमें प्रसन्न होकर अपने एक भक्तका उपकार किया था ॥ २ ॥

अधनो ब्राह्मणः कश्चित् कामाद् धर्ममवैक्षत।
यज्ञार्थं सततोऽर्थार्थी तपोऽतप्यत दारुणम् ॥ ३ ॥

किसी समय एक निर्धन ब्राह्मणने सकामभावसे धर्म करनेका विचार किया। वह यज्ञ करनेके लिये सदा ही धनकी इच्छा रखता था, अतः बड़ी कठोर तपस्या करने लगा ॥ ३ ॥

स निश्चयमथो कृत्वा पूजयामास देवताः।
भक्त्या न चैवाध्यगच्छद् धनं सम्पूज्य देवताः ॥ ४ ॥

यही निश्चय करके उसने भक्तिपूर्वक देवताओंकी पूजा-अर्चा आरम्भ की। परंतु देवताओंकी पूजा करके भी वह धन न पा सका ॥ ४ ॥

ततश्चिन्तामनुप्राप्तः कतमद्दैवतं तु तत्।
यन्मे द्रुतं प्रसीदेत मानुषैरजडीकृतम् ॥ ५ ॥

तब वह इस चिन्तामें पड़ा कि वह कौन-सा देवता है, जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जाय और मनुष्योंने आराधना करके जिसे जड न बना दिया हो ॥ ५ ॥

सोऽथ सौम्येन मनसा देवानुचरमन्तिके।
प्रत्यपश्यज्जलधरं कुण्डधारमवस्थितम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस ब्राह्मणने शान्त मनसे देवताओंके अनुचर कुण्डधार नामक मेघको पास ही खड़ा देखा ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तं महाबाहुं तस्य भक्तिरजायत।
अयं मे धास्यति श्रेयो वपुरेतद्धि तादृशम् ॥ ७ ॥

उस महाबाहु मेघको देखते ही ब्राह्मणके मनमें उसके

प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह सोचने लगा कि यह अवश्य मेरा कल्याण करेगा; क्योंकि इसका यह शरीर वैसे ही लक्षणोंसे सम्पन्न है ॥ ७ ॥

संनिकृष्टश्च देवस्य न चान्यैर्मानुषैर्वृतः ।
एष मे दास्यति धनं प्रभूतं शीघ्रमेव च ॥ ८ ॥

यह देवताका संनिकटवर्ती है और दूसरे मनुष्योंने इसे घेर नहीं रखा है । इसलिये यह मुझे शीघ्र ही प्रचुर धन देगा ॥

ततो धूपैश्च गन्धैश्च माल्यैरुच्चावचैरपि ।
बलिभिर्विविधाभिश्च पूजयामास तं द्विजः ॥ ९ ॥

तब ब्राह्मणने धूप, गन्ध, छोटे-बड़े माल्य तथा भाँति-भाँतिके पूजोपहार अर्पित करके कुण्डधार मेघका पूजन किया ॥

ततस्त्वल्पेन कालेन तुष्टो जलधरस्तदा ।
तस्योपकारनियतामिमां वाचमुवाच ह ॥ १० ॥

इससे वह मेघ थोड़े ही समयमें संतुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मणके उपकारमें नियमपूर्वक प्रवृत्ति सूचित करनेवाली यह बात कही—॥ १० ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवाले मनुष्यके लिये साधुपुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है, किंतु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ११ ॥

आशायास्तनयोऽधर्मः क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः ।
लोभः पुत्रो निकृत्यास्तु कृतघ्नो नार्हति प्रजाम् ॥ १२ ॥

'आशाका पुत्र अधर्म है । असूयाका पुत्र क्रोध माना गया है । निकृति (शठता) का पुत्र लोभ है; परंतु कृतघ्न मनुष्य संतान पानेके योग्य नहीं है' ॥ १२ ॥

ततः स ब्राह्मणः स्वप्ने कुण्डधारस्य तेजसा ।
अपश्यत् सर्वभूतानि कुशेषु शयितस्तदा ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण कुण्डधारके तेजसे प्रेरित हो कुशोंकी शय्यापर सो गया और स्वप्नमें उसने समस्त प्राणियोंको देखा ॥

शमेन तपसा चैव भक्त्या च निरुपस्कृतः ।
शुद्धात्मा ब्राह्मणो रात्रौ निदर्शनमपश्यत ॥ १४ ॥

वह शम-दम, तप और भक्तिभावसे सम्पन्न, भोगरहित तथा शुद्धचित्तवाला था । उस ब्राह्मणको रातमें कुछ ऐसा दृष्टान्त दिखायी दिया, जिससे उसे कुण्डधारके प्रति अपनी भक्तिका परिचय मिल गया ॥ १४ ॥

मणिभद्रं स तत्रस्थं देवतानां महाद्युतिम् ।
अपश्यत महात्मानं व्यादिशन्तं युधिष्ठिर ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! उसने देखा कि महातेजस्वी महात्मा यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराजमान हैं और देवताओंके समक्ष विभिन्न याचकोंको उपस्थित कर रहे हैं ॥ १५ ॥

तत्र देवाः प्रयच्छन्ति राज्यानि च धनानि च ।
शुभैः कर्मभिरारब्धाः प्रच्छिन्दन्त्यशुभेषु च ॥ १६ ॥

वहाँ देवतालोग उन याचकोंके शुभकर्मके बदले राज्य और धन आदि दे रहे थे और अशुभ कर्मका भोग उपस्थित होनेपर पहलेके दिये हुए राज्य आदिको भी छीन लेते थे ॥

पश्यतामथ यक्षाणां कुण्डधारो महाद्युतिः ।
निपत्य पतितो भूमौ देवानां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यक्षोंके देखते-देखते महातेजस्वी कुण्डधारने देवताओंके आगे धरतीपर माथा टेक दिया ॥ १७ ॥

ततस्तु देववचनान्मणिभद्रो महामनाः ।
उवाच पतितं भूमौ कुण्डधार किमिष्यते ॥ १८ ॥

तब महामनस्वी मणिभद्रने देवताओंके कहनेसे पृथ्वीपर पड़े हुए उस मेघसे पूछा, 'कुण्डधार ! तुम क्या चाहते हो?' ॥

कुण्डधार उवाच

यदि प्रसन्ना देवा मे भक्तोऽयं ब्राह्मणो मम ।
अस्यानुग्रहमिच्छामि कृतं किंचित् सुखोदयम् ॥ १९ ॥

कुण्डधार बोला—यह ब्राह्मण मेरा भक्त है । यदि देवतालोग मुझपर प्रसन्न हों तो मैं इसके ऊपर उनका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ, जिससे इसे भविष्यमें कुछ सुख मिल सके ॥

ततस्तं मणिभद्रस्तु पुनर्वचनमब्रवीत् ।
देवानामेव वचनात् कुण्डधारं महाद्युतिम् ॥ २० ॥

तब मणिभद्रने देवताओंकी ही आज्ञासे महातेजस्वी कुण्डधारके प्रति पुनः यह बात कही ॥ २० ॥

मणिभद्र उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते कृतकृत्यः सुखी भव ।

धनार्थी यदि विप्रोऽयं धनमस्मै प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

मणिभद्र बोले—कुण्डधार! उठो, उठो; तुम्हारा कल्याण हो, तुम कृतकृत्य और सुखी हो जाओ। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता हो तो इसे धन दे दिया जाय ॥ २१ ॥

यावद् धनं प्रार्थयते ब्राह्मणोऽयं सखा तव।
देवानां शासनात् तावदसंख्येयं ददाम्यहम् ॥ २२ ॥

तुम्हारा सखा यह ब्राह्मण जितना धन चाहता हो, देवताओंकी आज्ञासे मैं उतना ही अथवा असंख्य धन इसे दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

विचार्य कुण्डधारस्तु मानुष्यं चलमध्रुवम्।
तपसे मतिमाधत्त ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! परंतु कुण्डधारने यह सोचकर कि मानव-जीवन चञ्चल एवं अस्थिर है, उस ब्राह्मणके तपोबलको भी बढ़ानेका विचार किया ॥ २३ ॥

कुण्डधार उवाच

नाहं धनानि याचामि ब्राह्मणाय धनप्रद ॥ २४ ॥
अन्यमेवाहमिच्छामि भक्तायानुग्रहं कृतम्।
पृथिवीं रत्नपूर्णां वा महद् वा रत्नसंचयम् ॥ २५ ॥
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः।
धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिर्धर्मं चैवोपजीवतु।
धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः ॥ २६ ॥

कुण्डधार बोला—धनदाता देव! मैं ब्राह्मणके लिये धनकी याचना नहीं करता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे इस भक्तपर किसी और प्रकारका ही अनुग्रह किया जाय। मैं अपने इस भक्तको रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी अथवा रत्नोंका विशाल भण्डार नहीं देना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि यह धर्मात्मा हो। इसकी बुद्धि धर्ममें लगी रहे तथा यह धर्मसे ही जीवन-निर्वाह करे। इसके जीवनमें धर्मकी ही प्रधानता रहे। इसीको मैं इसके लिये महान् अनुग्रह मानता हूँ ॥ २४-२६ ॥

मणिभद्र उवाच

सदा धर्मफलं राज्यं सुखानि विविधानि च।
फलान्येवायमश्नातु कायक्लेशविवर्जितः ॥ २७ ॥

मणिभद्र बोला—धर्मके फल तो सदा राज्य और नाना प्रकारके सुख ही हैं; अतः यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टसे रहित हो केवल उन फलोंका ही उपभोग करे ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तदेव बहुशः कुण्डधारो महायशाः।
अभ्यासमकरोद् धर्मे ततस्तुष्टास्तु देवताः ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मणिभद्रके ऐसा कहनेपर भी महायशस्वी कुण्डधारने बार-बार अपनी वही बात दुहरायी। ब्राह्मणका धर्म बढ़े, इसीके लिये आग्रह किया। इससे सब देवता संतुष्ट हो गये ॥ २८ ॥

मणिभद्र उवाच

प्रीतास्ते देवताः सर्वा द्विजस्यास्य तथैव च।
भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधास्यते मतिः ॥ २९ ॥

तब मणिभद्रने कहा—कुण्डधार! सब देवता तुमपर और इस ब्राह्मणपर भी बहुत प्रसन्न हैं। यह धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि धर्ममें ही लगी रहेगी ॥ २९ ॥

ततः प्रीतो जलधरः कृतकार्यो युधिष्ठिर।
ईप्सितं मनसो लब्ध्वा वरमन्यैः सुदुर्लभम् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ मनोवाञ्छित वर पाकर कृतकृत्य एवं सफलमनोरथ हो वह मेघ बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

ततोऽपश्यत चीराणि सूक्ष्माणि द्विजसत्तमः।
पार्श्वतोऽभ्याशतो न्यस्तान्यथ निर्वेदमागतः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने निकट अगल-बगलमें रक्खे हुए बहुत-से सूक्ष्म चीर (वल्कल आदि) देखे। इससे उसके मनमें बड़ा खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

अयं न सुकृतं वेत्ति को न्वन्यो वेत्स्यते कृतम्।
गच्छामि वनमेवाहं वरं धर्मेण जीवितुम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण मन-ही-मन बोला—जब मेरे इस पुण्यमय तपका उद्देश्य यह कुण्डधार ही नहीं समझ पा रहा है, तब दूसरा कौन जानेगा! अच्छा, अब मैं वनको ही चलता हूँ। धर्ममय जीवन बिताना ही अच्छा है ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

निर्वेदाद् देवतानां च प्रसादात् स द्विजोत्तमः।
वनं प्रविश्य सुमहत् तप आरब्धवांस्तदा ॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वैराग्य और देवताओंके कृपाप्रसादसे वनमें जाकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने उस समय बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की ॥ ३३ ॥

देवतातिथिशेषेण फलमूलाशनो द्विजः।
धर्मे चास्य महाराज दृढा बुद्धिरजायत ॥ ३४ ॥

देवताओं और अतिथियोंको अर्पण करके शेष बचे हुए फल-मूल आदिका वह आहार करता था। महाराज! धर्मके विषयमें उसकी बुद्धि अटल हो गयी थी ॥ ३४ ॥

त्यक्त्वा मूलफलं सर्वं पर्णाहारोऽभवद् द्विजः।
पर्णं त्यक्त्वा जलाहारः पुनरासीद् द्विजस्तदा ॥ ३५ ॥
वायुभक्षस्ततः पश्चाद् बहून् वर्षगणानभूत्।
न चास्य क्षीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३६ ॥

कुछ कालके बाद वह ब्राह्मण सारे फल-मूलका भोजन छोड़कर केवल पत्ते चबाकर रहने लगा। फिर पत्तेका भी त्याग करके केवल जल पीकर निर्वाह करने लगा। तत्पश्चात् बहुत वर्षोंतक वह केवल वायु पीकर रहा। फिर भी उसकी

प्राणशक्ति क्षीण नहीं होती थी, यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥

धर्मे च श्रद्दधानस्य तपस्युग्रे च वर्ततः।
कालेन महता तस्य दिव्या दृष्टिरजायत ॥ ३७ ॥

धर्ममें श्रद्धा रखते हुए दीर्घकालतक उग्र तपस्यामें लगे हुए उस ब्राह्मणको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिः प्रादुरासीद् यदि दद्यामहं धनम्।
तुष्टः कस्यचिदेवेह मिथ्यावाङ् न भवेन्मम ॥ ३८ ॥

उस समय उसे यह अनुभव हुआ कि यदि मैं संतुष्ट होकर इस जगत्में किसीको प्रचुर धन दे दूँ तो मेरा दिया हुआ वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३८ ॥

ततः प्रहृष्टवदनो भूय आरब्धवांस्तपः।
भूयश्चाचिन्तयत् सिद्धो यत्परं सोऽभिमन्यते ॥ ३९ ॥

यह विचार आते ही उसका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उसने बड़े उत्साहके साथ पुनः तपस्या आरम्भ की। पुनः सिद्धि प्राप्त होनेपर उसने देखा कि वह मनमें जो-जो संकल्प करता है, वह अत्यन्त महान् होनेपर भी सामने प्रस्तुत हो जाता है। यह देखकर ब्राह्मणने पुनः यों विचार किया—॥ ३९ ॥

यदि दद्यामहं राज्यं तुष्टो वै यस्य कस्यचित्।
स भवेदचिराद् राजा न मिथ्या वाग् भवेन्मम।

'यदि मैं संतुष्ट होकर जिस किसीको भी राज्य दे दूँ तो वह शीघ्र ही राजा हो जायगा। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती' ॥३९½ ॥

तस्य साक्षात् कुण्डधारो दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
ब्राह्मणस्य तपोयोगात् सौहृदेनाभिचोदितः ॥ ४१ ॥
समागम्य स तेनाथ पूजांचक्रे यथाविधि।
ब्राह्मणः कुण्डधारस्य विस्मितश्चाभवन्नृप ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! इतनेहीमें ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे तथा उसके प्रति सौहार्दसे प्रेरित होकर कुण्डधारने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उससे मिलकर ब्राह्मणने कुण्डधारकी विधिपूर्वक पूजा की। नरेश्वर! उसे देखकर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ततोऽब्रवीत् कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम्।
पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव तु चक्षुषा ॥ ४३ ॥

तब कुण्डधारने ब्राह्मणसे कहा—'विप्रवर! तुम्हें परम उत्तम दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है; अतः तुम अपनी आँखोंसे देख लो कि राजाओंको किस गतिकी प्राप्ति होती है तथा वे किन-किन लोकोंमें जाते हैं' ॥४३॥

ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा।
दूरादपश्यद् विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥ ४४ ॥

तब उस ब्राह्मणने दूरसे ही अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा कि सहस्रों राजा नरकमें डूबे हुए हैं ॥ ४४ ॥

कुण्डधार उवाच

मां पूजयित्वा भावेन यदि त्वं दुःखमाप्नुयाः।
कृतं मया भवेत् किं ते कश्च तेऽनुग्रहो भवेत् ॥ ४५ ॥

कुण्डधार बोला—ब्रह्मन्! तुमने बड़े भक्तिभावसे मेरी पूजा की थी। इसपर भी यदि तुम धन पाकर दुःख ही भोगते रहते तो मेरे द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हुआ होता और तुम्हारे ऊपर मेरा कौन-सा अनुग्रह सिद्ध हो सकता था ॥४५॥

पश्य पश्य च भूयस्त्वं कामानिच्छेत् कथं नरः।
स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥ ४६ ॥

देखो-देखो, एक बार फिर लोगोंकी दशापर दृष्टिपात करो। यह सब देख-सुनकर मनुष्य भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है। जो धन और भोगोंमें आसक्त हैं, ऐसे लोगों, विशेषतः मनुष्योंके लिये स्वर्गका दरवाजा प्रायः बंद ही रहता है ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽपश्यत् स कामं च क्रोधं लोभं भयं मदम्।
निद्रां तन्द्रीं तथाऽऽलस्यमावृत्य पुरुषान् स्थितान्॥४७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि शत्रु घेरकर खड़े हैं ॥ ४७ ॥

कुण्डधार उवाच

एतैर्लोकाः सुसंरुद्धा देवानां मानुषाद् भयम्।
तथैव देववचनाद् विघ्नं कुर्वन्ति सर्वशः ॥ ४८ ॥

कुण्डधार बोला—विप्रवर! देखो, सब लोग इन्हीं दोषोंसे घिरे हुए हैं। देवताओंको मनुष्योंसे भय बना रहता है, इसलिये ये काम आदि दोष देवताओंके आदेशसे मनुष्यके धर्म और तपस्यामें सब प्रकारसे विघ्न डाला करते हैं ॥ ४८॥

न देवैरननुज्ञातः कश्चिद् भवति धार्मिकः।
एष शक्तोऽसि तपसा दातुं राज्यं धनानि च ॥ ४९ ॥

देवताओंकी अनुमति प्राप्त किये बिना कोई निर्विघ्नरूपसे धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता; किंतु तुम्हें तो देवताओंका अनुग्रह प्राप्त हो गया है। इसलिये अब तुम अपने तपके प्रभावसे दूसरोंको राज्य और धन देनेमें समर्थ हो गये हो ॥

भीष्म उवाच

ततः पपात शिरसा ब्राह्मणस्तोयधारिणे।
उवाच चैनं धर्मात्मा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥ ५० ॥
कामलोभानुबन्धेन पुरा ते यदसूयितम्।
मया स्नेहमविज्ञाय तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब उस धर्मात्मा ब्राह्मणने धरतीपर मस्तक टेककर कुण्डधार मेघको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उससे कहा—'प्रभो! आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया है। आपके स्नेहको न समझकर काम और लोभके बन्धनमें बँधे रहनेसे मैंने पहले आपके प्रति जो दोषदृष्टि

कर ली थी, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥५०-५१ ॥

क्षान्तमेव मयेत्युक्त्वा कुण्डधारो द्विजर्षभम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५२ ॥

(कुण्डधारने कहा—) 'विप्रवर ! मैं तो पहलेसे ही क्षमा कर चुका हूँ' ऐसा कहकर उस मेघने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपनी दोनों भुजाओंद्वारा हृदयसे लगा लिया और वह फिर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ५२ ॥

ततः सर्वांस्तदा लोकान् ब्राह्मणोऽनुचचार ह ।
कुण्डधारप्रसादेन तपसा सिद्धिमागतः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर कुण्डधारके कृपाप्रसादसे तपस्याद्वारा सिद्धि पाकर वह ब्राह्मण सम्पूर्ण लोकोंमें विचरने लगा ॥ ५३ ॥

विहायसा च गमनं तथा संकल्पितार्थता ।
धर्माच्छक्त्या तथा योगाद् या चैव परमा गतिः॥५४॥

आकाशमार्गसे चलना, संकल्पमात्रसे ही अभीष्ट वस्तुका प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योगके द्वारा जो परमगति प्राप्त होती है,वह सब कुछ उस ब्राह्मणको प्राप्त हो गयी ॥५४॥

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः॥ ५५ ॥

देवता, ब्राह्मण, साधु-संत, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सब-के-सब इस जगत्में धर्मात्माओंका ही पूजन करते हैं, धनियों और भोगियोंका नहीं ॥ ५५ ॥

सुप्रसन्ना हि ते देवा यत्ते धर्मे रता मतिः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे तु परमं सुखम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! तुम्हारे ऊपर भी देवता बहुत प्रसन्न हैं, जिससे तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी हुई है । धनमें तो सुखका कोई लेशमात्र ही रहता है । परमसुख तो धर्ममें ही है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि कुण्डधारोपाख्याने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें कुण्डधारका उपाख्यानविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यज्ञमें हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

बहूनां यज्ञतपसामेकार्थानां पितामह ।
धर्मार्थं न सुखार्थार्थं कथं यज्ञः समाहितः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यज्ञ और तप तो बहुत हैं और वे सब एकमात्र भगवत्प्रीतिके लिये किये जा सकते हैं; परंतु उनमेंसे जिस यज्ञका प्रयोजन केवल धर्म हो, स्वर्ग-सुख अथवा धनकी प्राप्ति न हो, उसका सम्पादन कैसे होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नारदेनानुकीर्तितम् ।
उञ्छवृत्तेः पुरावृत्तं यज्ञार्थे ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले एक ब्राह्मणका यज्ञके सम्बन्धमें जैसा वृत्तान्त है और जिसे नारदजीने मुझसे कहा था, वही प्राचीन इतिहास मैं यहाँ तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २ ॥

नारद उवाच

राष्ट्रे धर्मोत्तरे श्रेष्ठे विदर्भेष्वभवद् द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्ऋषिः कश्चिद् यज्ञं यष्टुं समादधे ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—जहाँ धर्मकी ही प्रधानता है, उस उत्तम राष्ट्र विदर्भमें कोई ब्राह्मण ऋषि निवास करता था । वह कटे हुए खेत या खलिहानसे अन्नके बिखरे हुए दानोंको बीन लाता और उसीसे जीवन-निर्वाह करता था । एक बार उसने यज्ञ करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

श्यामाकमशनं तत्र सूर्यपर्णी सुवर्चला ।
तिक्तं च विरसं शाकं तपसा स्वादुतां गतम् ॥ ४ ॥

जहाँ वह रहता था, वहाँ अन्नके नामपर साँवाँ मिलता था । दाल बनानेके लिये सूर्यपर्णी (जंगली उड़द) मिलती थी और शाक-भाजीके लिये सुवर्चला (ब्राह्मी लता) तथा अन्य प्रकारके तिक्त एवं रसहीन शाक उपलब्ध होते थे; परंतु ब्राह्मणकी तपस्यासे उपर्युक्त सभी वस्तुएँ सुस्वादु हो गयी थीं ॥ ४ ॥

उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया ।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मणने वनमें तपस्याद्वारा सिद्धि लाभ करके समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करते हुए मूल और फलोंद्वारा भी स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

तस्य भार्या व्रतकृशा शुचिः पुष्करधारिणी ।
यज्ञपत्नी समानीता सत्येनानुविधीयते ॥ ६ ॥

उस ब्राह्मणके एक पत्नी थी, जिसका नाम था पुष्करधारिणी । उसके आचार-विचार परम पवित्र थे । वह व्रत-उपवास करते-करते दुर्बल हो गयी थी । ब्राह्मणका नाम सत्य था । यद्यपि वह ब्राह्मणी अपने पति सत्यके हिंसाप्रधान यज्ञकी इच्छा प्रकट करनेपर उसके अनुकूल नहीं होती थी, तो भी ब्राह्मण उसे यज्ञपत्नीके स्थानपर आग्रहपूर्वक बुला ही लाता था ॥ ६ ॥

सा तु शापपरित्रस्ता तत्स्वभावानुवर्तिनी ।
मायूरजीर्णपर्णानां वस्त्रं तस्याश्च वर्णितम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणी शापसे डरकर पतिके स्वभावका सर्वथा अनुसरण

करती थी। ऐसा कहा जाता है कि वह मोरोंकी टूटकर गिरी पुरानी पाँखोंको जोड़कर उनसे ही अपना शरीर ढँकती थी ॥ ७ ॥

अकामया कृतस्तत्र यज्ञो होत्रनुशासनात्।
शुक्रस्य पुनराजातिः पर्णादो नाम धर्मवित् ॥ ८ ॥

होताके आदेशसे इच्छा न होनेपर भी ब्राह्मण-पत्नीने उस यज्ञका कार्य सम्पन्न किया। होताका कार्य पर्णाद नामसे प्रसिद्ध एक धर्मज्ञ ऋषि करते थे, जो शुक्राचार्यके वंशज थे ॥ ८ ॥

तस्मिन् वने समीपस्थो मृगोऽभूत् सहवासिकः।
वचोभिरब्रवीत् सत्यं त्वयेदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ९ ॥

उस वनमें सत्यका सहवासी एक मृग था, जो वहाँ पास ही रहता था। एक दिन उसने मनुष्यकी बोलीमें सत्यसे कहा—'ब्राह्मण ! तुमने यज्ञके नामपर यह दुष्कर्म किया है ॥ ९ ॥

यदि मन्त्राङ्गहीनोऽयं यज्ञो भवति वै कृतः।
मां भोः प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः॥ १० ॥

'यदि किया हुआ यज्ञ मन्त्र और अङ्गसे हीन हो तो वह यजमानके लिये दुष्कर्म ही है। ब्राह्मणदेव ! तुम मुझे होताको सौंप दो और स्वयं निन्दारहित होकर स्वर्गलोकमें जाओ' ॥ १० ॥

ततस्तु यज्ञे सावित्री साक्षात् तं संन्यमन्त्रयत्।
निमन्त्रयन्ती प्रत्युक्ता न हन्यां सहवासिनम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर उस यज्ञमें साक्षात् सावित्रीने पधारकर उस ब्राह्मणको मृगकी आहुति देनेकी सलाह दी। ब्राह्मणने यह कहकर कि मैं अपने सहवासी मृगका वध नहीं कर सकता, सावित्रीकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दी ॥ ११ ॥

एवमुक्ता निवृत्ता सा प्रविष्टा यज्ञपावकम्।
किं नु दुश्चरितं यज्ञे दिदृक्षुः सा रसातलम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मणसे इस प्रकार कोरा जवाब मिल जानेपर सावित्रीदेवी लौट पड़ीं और यज्ञाग्निमें प्रविष्ट हो गयीं। यज्ञमें कौन-सा दुष्कर्म या त्रुटि है—यही देखनेकी इच्छासे वे आयी थीं और फिर रसातलमें चली गयीं ॥ १२ ॥

स तु बद्धाञ्जलिं सत्यमयाचद्धरिणः पुनः।
सत्येन स परिष्वज्य संदिष्टो गम्यतामिति ॥ १३ ॥

सत्य सावित्रीदेवीकी ओर हाथ जोड़कर खड़ा था। इतनेहीमें उस हरिणने पुनः अपनी आहुति देनेके लिये याचना की। सत्यने मृगको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्यारसे कहा—'तुम यहाँसे चले जाओ' ॥ १३ ॥

ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्तत।
साधु हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम्॥ १४ ॥

तब वह हरिण आठ पग आगे जाकर लौट पड़ा और बोला—'सत्य ! तुम विधिपूर्वक मेरी हिंसा करो। मैं यज्ञमें वधको प्राप्त होकर उत्तम गति पा लूँगा ॥ १४ ॥

पश्य ह्यप्सरसो दिव्या मया दत्तेन चक्षुषा।
विमानानि विचित्राणि गन्धर्वाणां महात्मनाम्॥ १५ ॥

'मैंने तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की है; उससे देखो, आकाशमें वे दिव्य अप्सराएँ खड़ी हैं। महात्मा गन्धर्वोंके विचित्र विमान भी शोभा पा रहे हैं' ॥ १५ ॥

ततः स सुचिरं दृष्ट्वा स्पृहालग्नेन चक्षुषा।
मृगमालोक्य हिंसायां स्वर्गवासं समर्थयत् ॥ १६ ॥

सत्यकी आँखें बड़ी चाहसे उधर ही जा लगीं। उसने बड़ी देरतक वह रमणीय दृश्य देखा, फिर मृगकी ओर दृष्टिपात करके 'हिंसा करनेपर ही मुझे स्वर्गवासका सुख मिल सकता है' यह मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १६ ॥

स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने।
तस्य निष्कृतिमाधत्त न त्वसौ यज्ञसंविधिः ॥ १७ ॥

वास्तवमें उस मृगके रूपमें साक्षात् धर्म थे, जो मृगका शरीर धारण करके बहुत वर्षोंसे वनमें निवास करते थे। पशुहिंसा यज्ञकी विधिके प्रतिकूल कर्म है। भगवान् धर्मने उस ब्राह्मणका उद्धार करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥ १८ ॥

मैं उस पशुका वध करके स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा; यह सोचकर मृगकी हिंसा करनेके लिये उद्यत उस ब्राह्मणका महान् तप तत्काल नष्ट हो गया। इसलिये हिंसा यज्ञके लिये हितकर नहीं है ॥ १८ ॥

ततस्तं भगवान् धर्मो यज्ञं याजयत स्वयम्।
समाधानं च भार्याया लेभे स तपसा परम्॥ १९ ॥

तदनन्तर भगवान् धर्मने स्वयं सत्यका यज्ञ कराया। फिर सत्यने तपस्या करके अपनी पत्नी पुष्करधारिणीके मनकी जैसी स्थिति थी, वैसा ही उत्तम समाधान प्राप्त किया (उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि हिंसासे बड़ी हानि होती है, अहिंसा ही परम कल्याणका साधन है) ॥ १९ ॥

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥ २० ॥

अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्यका महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषोंका परम धर्म है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि यज्ञनिन्दानाम द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हिंसात्मक यज्ञकी निन्दा नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७२॥

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें युधिष्ठिरके चार प्रश्न और उनका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्य पापात्मा कैसे हो जाता है? वह धर्मका आचरण किस प्रकार करता है? किस हेतुसे उसे वैराग्य प्राप्त होता है और किस साधनसे वह मोक्ष पाता है?॥ १॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम्हें सब धर्मोंका ज्ञान है। तुम तो लोकमर्यादाकी रक्षा तथा मेरी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्मका मूल क्या है, इसको श्रवण करो॥ २॥

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! मनुष्यको (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन) पाँचों विषयोंका अनुभव करनेके लिये पहले इच्छा होती है। फिर उन पाँचों विषयोंमेंसे किसी एकको पाकर उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है॥ ३॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति॥ ४॥

तत्पश्चात् जिसके प्रति राग होता है, उसे पानेके लिये वह प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदिका बारंबार सेवन करना चाहता है॥ ४॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम्॥ ५॥

इससे उन विषयोंके प्रति उसके मनमें राग उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर प्रतिकूल विषयसे द्वेष होता है। फिर अनुकूल विषयके लिये लोभ होता है और लोभके बाद उसके मनपर मोह अधिकार जमा लेता है॥ ५॥

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च॥ ६॥

लोभ और मोहसे घिरे हुए तथा राग-द्वेषके वशीभूत हुए मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती है। वह किसी-न-किसी बहानेसे दिखाऊ धर्मका आचरण करता है॥ ६॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धनेषु कुरुनन्दन॥ ७॥
तत्रैव कुरुते बुद्धिं ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत॥ ८॥
उत्तरं न्यायसम्बद्धं ब्रवीति विधिचोदितम्।

कुरुनन्दन! वह कोई बहाना लेकर ही धर्म करता है, कपटसे ही धन कमानेकी रुचि रखता है और यदि कपटसे धन प्राप्त करनेमें सफलता मिल गयी तो वह उसीमें अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भरतनन्दन! फिर तो विद्वानों और सुहृदोंके मना करनेपर भी वह केवल पाप ही करना चाहता है तथा मना करनेवालोंको धर्मशास्त्रके वाक्योंके द्वारा प्रतिपादित न्याययुक्त उत्तर दे देता है॥ ७-८½॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः॥ ९॥
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च।

उसका राग और मोहजनित तीन प्रकारका अधर्म बढ़ता है। वह मनसे पापकी ही बात सोचता है, वाणीसे पाप ही बोलता है और क्रियाद्वारा पाप ही करता है॥ ९½॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य दोषान् पश्यन्ति साधवः॥ १०॥
एकशीलाश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः।
स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै॥ ११॥

श्रेष्ठ पुरुष तो अधर्ममें प्रवृत्त हुए मनुष्यके दोष जानते हैं; परंतु उस पापीके समान स्वभाववाले पापाचारी मनुष्य उसके साथ मित्रता स्थापित करते हैं। ऐसा पुरुष इस लोकमें ही सुख नहीं पाता है, फिर परलोकमें तो पा ही कैसे सकता है॥ १०-११॥

एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु।
यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते॥ १२॥
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मात्माके विषयमें मुझसे सुनो। वह जिस प्रकार परहितसाधक कल्याणकारी धर्मका आचरण करता है, उसी प्रकार कल्याणका भागी होता है। वह क्षेमकारक धर्मके प्रभावसे ही अभीष्ट गतिको प्राप्त होता है॥ १२½॥

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति॥ १३॥
कुशलः सुखदुःखानां साधूंश्चाप्युपसेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते॥ १४॥

जो पुरुष अपनी बुद्धिसे राग आदि दोषोंको पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःखको समझनेमें कुशल होता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषोंका सेवन करता है। सत्पुरुषोंकी सेवा या सत्संगसे और सत्कर्मोंके अभ्याससे उस पुरुषकी बुद्धि बढ़ती है॥ १३-१४॥

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।

सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥ १५ ॥

वह बढ़ी हुई बुद्धि धर्ममें ही सुख मानती और उसीका सहारा लेती है । वह पुरुष धर्मसे प्राप्त होनेवाले धनमें मन लगाता है ॥ १५ ॥

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥ १६ ॥

वह जहाँ गुण देखता है, उसीके मूलको सींचता है । ऐसा करनेसे वह पुरुष धर्मात्मा होता है और शुभकारक मित्र प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

स मित्रधनलाभात् तु प्रेत्य चेह च नन्दति ।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे तथा गन्धे च भारत ॥ १७ ॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।
स तु धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

भारत ! उत्तम मित्र और धनके लाभसे वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है । ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयोंपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है । इसे धर्मका फल माना जाता है । युधिष्ठिर ! वह धर्मका फल पाकर भी हर्षसे फूल नहीं उठता है ॥ १७-१८ ॥

अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा ।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥ १९ ॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः ।
विमुच्यते तदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥ २० ॥

वह इससे तृप्त न होनेके कारण विवेकदृष्टिसे वैराग्यको ही ग्रहण करता है, बुद्धिरूप नेत्रके खुल जानेके कारण जब वह कामोपभोग, रस और गन्धमें अनुरक्त नहीं होता तथा शब्द, स्पर्श और रूपमें भी उसका चित्त नहीं फँसता, तब वह सब कामनाओंसे मुक्त हो जाता है और धर्मका त्याग नहीं करता ॥ १९-२० ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥ २१ ॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको नाशवान् समझकर वह सर्वस्वका मनसे त्याग कर देनेका यत्न करता है । तदनन्तर वह अयोग्य उपायसे नहीं किंतु योग्य उपायसे मोक्षके लिये यत्नशील हो जाता है । इस प्रकार धीरे-धीरे मनुष्यको वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन जाता है । तत्पश्चात् परम मोक्षको प्राप्त कर लेता है ।२१-२२।

एतत् ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पापं धर्मस्तथा मोक्षो निर्वेदश्चैव भारत ॥ २३ ॥

तात ! भरतनन्दन ! तुमने मुझसे पाप, धर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें जो प्रश्न किया था, वह सब मैंने कह सुनाया ॥ २३ ॥

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥ २४ ॥

अतः कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मका ही आचरण करो; क्योंकि जो लोग धर्ममें स्थित रहते हैं, उन्हें सदा रहनेवाली मोक्षरूप परम सिद्धि प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुःप्राश्निको नाम त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चार प्रश्न और उनका उत्तरनामक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७३॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मोक्षके साधनका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः ।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने योग्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति बतायी, अयोग्य उपायसे नहीं । भरतनन्दन ! वह यथायोग्य उपाय क्या है ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

भीष्म उवाच

त्वय्येवैतन्महाप्राज्ञ युक्तं निपुणदर्शनम् ।
येनोपायेन सर्वार्थं नित्यं मृगयसेऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ निष्पाप नरेश ! तुम उचित उपायसे ही सदा सम्पूर्ण धर्म आदि पुरुषार्थोंकी खोज किया करते हो । इसलिये तुममें सुने हुए विषयोंकी परीक्षा करनेकी निपुण दृष्टिका होना उचित ही है ॥ २ ॥

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता ।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यधर्मेषु कारणम् ॥ ३ ॥

घटके निर्माणकालमें जिस बुद्धिका उपयोग है, वह घटकी उत्पत्ति हो जानेपर आवश्यक नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त-शुद्धिके उपायभूत यज्ञादि धर्मोंका लक्ष्य पूरा हो जानेपर मोक्षसाधनरूप शम-दमादि अन्य धर्मोंके लिये वे आवश्यक नहीं रहते ॥ ३ ॥

पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ४ ॥

देखो, जो मार्ग पूर्व समुद्रकी ओर जाता है, वह पश्चिम समुद्रकी ओर नहीं जा सकता । इसी प्रकार मोक्षका भी एक ही मार्ग है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रां च च्छेत्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि क्षमासे क्रोधका और संकल्पोंके त्यागसे कामनाओंका उच्छेद कर डाले। धीर पुरुष ज्ञान-ध्यानादि सात्त्विक गुणोंके सेवनसे निद्राका क्षय करे ॥ ५ ॥

अप्रमादाद् भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत् ॥ ६ ॥

अप्रमादसे भयको दूर करे, आत्माके चिन्तनसे श्वासकी रक्षा करे अर्थात् प्राणायाम करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष एवं कामका निवारण करे ॥ ६ ॥

भ्रमं सम्मोहमावर्तमभ्यासाद् विनिवर्तयेत् ।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥ ७ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष शास्त्रके अभ्याससे भ्रम, मोह और संशयका तथा आलस्य और प्रतिभा (नानाविषयिणी बुद्धि)—इन दोनों दोषोंका ज्ञानके अभ्याससे निराकरण करे ॥ ७ ॥

उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च संतोषाद् विषयांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ ८ ॥

शारीरिक उपद्रवों तथा रोगोंका हितकर, सुपाच्य और परिमित आहारसे· लोभ और मोहका संतोषसे तथा विषयोंका तात्त्विक दृष्टिसे निवारण करे ॥ ८ ॥

अनुक्रोशादधर्मं च जयेद् धर्ममवेक्षया।
आयत्या च जयेदाशामर्थं संगविवर्जनात् ॥ ९ ॥

अधर्मको दयासे और धर्मको विचारपूर्वक पालन करनेसे जीते। भविष्यका विचार करके आशापर और आसक्तिके त्यागसे अर्थपर विजय प्राप्त करे ॥ ९ ॥

अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष वस्तुओंकी अनित्यताका चिन्तन करके स्नेहको, योगाभ्यासके द्वारा क्षुधाको, करुणाके द्वारा अपने अभिमानको और संतोषसे तृष्णाको जीते ॥ १० ॥

उत्थानेन जयेत् तन्द्रीं वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ॥ ११ ॥

आलस्यको उद्योगसे और विपरीत तर्कको शास्त्रके प्रति दृढ़ विश्वाससे जीते, मौनावलम्बनद्वारा बहुत बोलनेकी आदतको और शूरवीरताके द्वारा भयको त्याग दे ॥ ११ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना ॥ १२ ॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।

मन और वाणीको अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियोंको बुद्धिद्वारा वशमें करे, बुद्धिका विवेकरूप नेत्रद्वारा शमन करे, फिर आत्मज्ञानद्वारा विवेकज्ञानका शमन करे और आत्माको परमात्मामें विलीन कर दे। इस प्रकार पवित्र आचार-विचारसे युक्त साधकको सब ओरसे उपरत होकर शान्तभावसे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १२½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः ॥ १३ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग् योगसाधनान् ॥ १४ ॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—ये ही योगसम्बन्धी वे पाँच दोष हैं, जिनको विद्वान् पुरुष जानते हैं। इनका मूलोच्छेद कर देना चाहिये तथा इनका परित्याग करके वाणीको संयममें रखते हुए योगसाधनोंका सेवन करना चाहिये ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥ १५ ॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥ १६ ॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतरकी पवित्रता, आहारशुद्धि और इन्द्रियोंका संयम—ये ही योगके साधन हैं। इन सबके द्वारा साधकका तेज बढ़ता है। वह अपने पापोंका नाश कर डालता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदयमें विज्ञानका आविर्भाव हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब पाप धुल जायँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय हो जाय, तब वह काम और क्रोधको अपने अधीन करके अपने-आपको ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा करे ॥ १७ ॥

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥ १८ ॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥ १९ ॥

मूढता और आसक्तिका अभाव, काम और क्रोधका त्याग एवं दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेगसे रहित होना और चित्तकी स्थिरता एवं निष्कामभावसे मन, वाणी और इन्द्रियोंका संयम—यह मोक्षका स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र मार्ग है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगाचारानुवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगसम्बन्धी आचारका वर्णननामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७४॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवात्माके देहाभिमानसे मुक्त होनेके विषयमें नारद और असितदेवलका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें देवर्षि नारद तथा ब्रह्मर्षि असितदेवलके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का विद्वान् पुरुष उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

आसीनं देवलं वृद्धं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम् ।
नारदः परिपप्रच्छ भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बूढ़े असित-देवलको आसनपर बैठा हुआ जान नारदजीने उनसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके विषयमें प्रश्न किया ॥ २ ॥

नारद उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये च कमभ्येति तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस समस्त चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है तथा यह प्रलयके समय किसमें लीन हो जाता है, यह आप मुझे बताइये ? ॥ ३ ॥

असित उवाच

येभ्यः सृजति भूतानि काले भावप्रचोदितः ।
महाभूतानि पञ्चेति तान्याहुर्भूतचिन्तकाः ॥ ४ ॥

असितदेवलने कहा—देवर्षे ! सृष्टिके समय परमात्मा प्राणियोंकी वासनाओंसे प्रेरित हो समयपर जिन तत्त्वोंसे सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करते हैं, उन्हें भूतचिन्तक (भौतिक विज्ञानवादी) विद्वान् पञ्चमहाभूत कहते हैं ॥ ४ ॥

तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्मप्रचोदितः ।
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम् ॥ ५ ॥

परमात्माकी प्रेरणासे काल इन पाँच तत्त्वोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करता है । जो इनसे भिन्न किसी अन्य तत्त्वको प्राणियोंके शरीरोंका उपादान कारण बताता है, वह निरसंदेह झूठी बात कहता है ॥ ५ ॥

विद्धि नारद पञ्चैताञ्शाश्वतानचलान् ध्रुवान् ।
महतस्तेजसो राशीन् कालषष्ठान् स्वभावतः ॥ ६ ॥

नारद ! पाँच भूत और छठा काल—इन छः तत्त्वोंको तुम प्रवाहरूपसे शाश्वत, अविचल और ध्रुव समझो । ये तेजोमय महत्तत्त्वकी स्वाभाविक कलाएँ हैं ॥ ६ ॥

आपश्चैवान्तरिक्षं च पृथिवी वायुपावकौ ।
नासीद्धि परमं तेभ्यो भूतेभ्यो मुक्तसंशयम् ॥ ७ ॥

जल, आकाश, पृथ्वी, वायु और अग्नि—इन भूतोंसे भिन्न कोई तत्त्व कभी नहीं था; इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

नोपपत्त्या न वा युक्त्या त्वसद् ब्रूयादसंशयम् ।
वेत्थैतानभिनिर्वृत्तान् षडेते यस्य राशयः ॥ ८ ॥

किसी भी युक्ति या प्रमाणसे इन छःके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं बताया जा सकता । इसलिये जो कोई दूसरी बात कहता है, वह निरसंदेह झूठ बोलता है । तुम सभी कार्योंमें अनुगत हुए इन छः तत्त्वोंको और जिसके ये कार्य हैं, उस कारणको भी जानते हो ॥ ८ ॥

पञ्चैव तानि कालश्च भावाभावौ च केवलौ ।
अष्टौ भूतानि भूतानां शाश्वतानि भवात्ययौ ॥ ९ ॥

पाँच महाभूत, काल तथा विशुद्ध भाव और अभाव अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व और परिवर्तनशील महत्तत्त्व—ये आठ तत्त्व नित्य हैं । ये ही चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं ॥ ९ ॥

अभावं यान्ति तेष्वेव तेभ्यश्च प्रभवन्त्यपि ।
विनष्टोऽप्यनु तान्येव जन्तुर्भवति पञ्चधा ॥ १० ॥

सब प्राणी उन्हींमें लीन होते हैं और उन्हींसे उनका प्राकट्य भी होता है । जीवोंका शरीर नष्ट हो जानेपर पाँच भागोंमें विभक्त होकर अपने-अपने कारणमें विलीन हो जाता है ॥ १० ॥

तस्य भूमिमयो देहः श्रोत्रमाकाशसम्भवम् ।
सूर्याच्चक्षुरसुर्वायोरद्भ्यस्तु खलु शोणितम् ॥ ११ ॥

प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका विकार है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशसे उत्पन्न हुई है, नेत्रेन्द्रिय सूर्यसे, प्राण वायुसे और रक्त जलसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ११ ॥

चक्षुषी नासिकाकर्णौ त्वक् जिह्वेति च पञ्चमी ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थानां ज्ञानानि कवयो विदुः ॥ १२ ॥

विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि नेत्र, नासिका, कर्ण, त्वचा और पाँचवीं जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं ॥ १२ ॥

दर्शनं श्रवणं घ्राणं स्पर्शनं रसनं तथा ।
उपपत्त्या गुणान् विद्धि पञ्च पञ्चसु पञ्चधा ॥ १३ ॥

बाह्य पदार्थोंको देखना, सुनना, सूँघना, छूना तथा रस लेना—ये क्रमशः नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंके कार्य हैं । उन्हें युक्तिसे तुम इन इन्द्रियोंके गुण ही समझो । पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारसे (दर्शन आदि क्रियाओंके रूपमें) विद्यमान हैं ॥ १३ ॥

रूपं गन्धो रसः स्पर्शः शब्दश्चैवाथ तद्गुणाः ।
इन्द्रियैरुपलभ्यन्ते पञ्चधा पञ्च पञ्चभिः ॥ १४ ॥

नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंद्वारा रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण दर्शन आदि पाँच प्रकारोंसे उपलब्ध किये जाते हैं ॥ १४ ॥

रूपं गन्धं रसं स्पर्शं शब्दं चैवाथ तद्गुणान् ।
इन्द्रियाणि न बुध्यन्ते क्षेत्रज्ञस्तैस्तु बुध्यते ॥ १५ ॥

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—इन्द्रियोंके इन पाँचों गुणोंको स्वयं इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं। उन इन्द्रियोंद्वारा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही उनका अनुभव करता है ॥ १५ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातात् परं तस्मात् परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः ॥ १६ ॥

शरीर और इन्द्रियोंके संघातसे चित्त श्रेष्ठ है, चित्तसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी क्षेत्रज्ञ श्रेष्ठ है॥

पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रियैर्विषयान् पृथक् ।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्ध्या व्यवस्यति ।
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् बुद्धिमांस्तु व्यवस्यति ॥ १७ ॥

जीव पहले तो इन्द्रियोंद्वारा उनके अलग-अलग विषयों-को प्रकाशित करता है, फिर मनसे विचार करके बुद्धिद्वारा उसका निश्चय करता है। बुद्धियुक्त जीव ही इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध विषयोंका निश्चितरूपसे अनुभव करता है ॥ १७ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाष्टमी ।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ॥ १८ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले पुरुष पाँच इन्द्रिय तथा चित्त, मन और आठवीं बुद्धि— इन आठोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ १८ ॥

पाणिपादं च पायुश्च मेहनं पञ्चमं मुखम् ।
इति संशब्द्यमानानि शृणु कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ १९ ॥

हाथ, पैर, पायु और उपस्थ तथा पाँचवाँ मुख—ये सब-के-सब कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं । तुम इनका भी विवरण सुनो ॥ १९ ॥

जल्पनाभ्यवहारार्थं मुखमिन्द्रियमुच्यते ।
गमनेन्द्रियं तथा पादौ कर्मणः करणे करौ ॥ २० ॥

मुख-इन्द्रियका उपयोग बोलने और भोजन करनेके लिये बताया जाता है। पैर चलनेकी और हाथ काम करनेकी इन्द्रियाँ हैं॥

पायूपस्थं विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी ।
विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चापि कामिके ॥ २१ ॥

पायु और उपस्थ—ये दो इन्द्रियाँ क्रमशः मल और मूत्रका त्याग करनेके लिये हैं। इन दोनोंके त्यागरूप कर्म समान ही हैं। इनमेंसे पायु-इन्द्रिय मलका त्याग करती है और उपस्थ मैथुनके समय वीर्यका भी त्याग करता है ॥२१॥

बलं षष्ठं षडेतानि वाचा सम्यग्यथा मम ।
ज्ञानचेष्टेन्द्रियगुणाः सर्वेषां शब्दिता मया ॥ २२ ॥

इसके सिवा छठी कर्मेन्द्रिय बल अर्थात् प्राणसमूह है। इस प्रकार मैंने अपनी वाणीद्वारा तुम्हें समस्त इन्द्रियाँ और उनके ज्ञान, कर्म एवं गुण सुना दिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां स्वकर्मभ्यः श्रमादुपरमो यदा ।
भवतीन्द्रियसंत्यागादथ स्वपिति वै नरः ॥ २३ ॥

जब अपने-अपने कर्मोंसे थककर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, तब इन्द्रियोंका त्याग करके जीवात्मा सो जाता है ॥

इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि ।
सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर भी यदि मन निवृत्त न होकर विषयोंका ही सेवन करता है तो उसे स्वप्नदर्शनकी अवस्था समझना चाहिये ॥ २४ ॥

सात्त्विकाश्चैव ये भावास्तथा तामसराजसाः ।
कर्मयुक्तान् प्रशंसन्ति सात्त्विकानितरांस्तथा ॥ २५ ॥

जो सात्त्विक, राजस और तामसभाव प्रसिद्ध हैं, वे ही जब भोग प्रदान करनेवाले कर्मोंसे संयुक्त होते हैं, तब उन सात्त्विक आदि भावोंकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं ॥ २५ ॥

आनन्दः कर्मणां सिद्धिः प्रतिपत्तिः परा गतिः ।
सात्त्विकस्य निमित्तानि भावान् संश्रयते स्मृतिः ॥२६॥

आनन्द, सुख, कर्मोंकी सिद्धि जाननेकी सामर्थ्य और उत्तम गति—ये चार सात्त्विक भाव हैं। सात्त्विक पुरुषकी स्मृति इन्हीं चार निमित्तोंका आश्रय लेती है अर्थात् सात्त्विक पुरुष जाग्रत् कालकी भाँति स्वप्नमें भी आनन्द आदि भावों-का ही स्मरण करता है ॥ २६ ॥

जन्तुष्वेकतमेष्वेवं भावा ये विधिमास्थिताः ।
भावयोरीप्सितं नित्यं प्रत्यक्षं गमनं तयोः ॥ २७ ॥

इनसे भिन्न राजस और तामस—प्राणियोंमेंसे जिस किसी एक श्रेणीके जीवोंमें जो-जो भाव (वासनाएँ), विधि (कर्म-गति) का आश्रय लेकर स्थित हैं, उन्हीं भावोंको उनकी स्मृति ग्रहण करती है। अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अवस्थाओंमें उन मनुष्योंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार राजस और तामस पदार्थोंका सदा प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥

इन्द्रियाणि च भावाश्च गुणाः सप्तदश स्मृताः ।
तेषामष्टादशो देही यः शरीरे स शाश्वतः ॥ २८ ॥
अथवा सशरीरास्ते गुणाः सर्वे शरीरिणाम् ।
संश्रितास्तद्वियोगे हि सशरीरा न सन्ति ते ॥ २९ ॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि, प्राण तथा सात्त्विक आदि तीन भाव—ये सत्रह गुण माने गये हैं। इनका अधिष्ठाता देहाभिमानी जीवात्मा अठारहवाँ है, जो इस शरीरके भीतर निवास करता है। उसे सनातन माना गया है। अथवा शरीरसहित वे सभी गुण देहधारियोंके आश्रित रहते हैं।

जब जीवका वियोग हो जाता है, तब शरीर और उसमें रहनेवाले वे तत्त्व भी नहीं रह जाते ॥ २८-२९ ॥

अथवा संनिपातोऽयं शरीरं पाञ्चभौतिकम्।
एकश्च दश चाष्टौ च गुणाः सह शरीरिणा ॥ ३० ॥

अथवा इन सबका समुदाय ही पाञ्चभौतिक शरीर है। एक महत्तत्त्व और जीवसहित पूर्वोक्त अठारह गुण— ये सभी इस समुदायके अन्तर्गत हैं ॥ ३० ॥

ऊष्मणा सह विंशो वा संघातः पाञ्चभौतिकः।
महान् संधारयत्येतच्छरीरं वायुना सह ॥ ३१ ॥

जठरानलके साथ-साथ उक्त तत्त्वोंकी गणना करनेपर यह पाञ्चभौतिक संघात बीस तत्त्वोंका समूह है। महत्तत्त्व प्राणवायुके साथ इस शरीरको धारण करता है। यह वायु शरीरका भेदन करनेमें प्रभावशाली महत्तत्त्वका उपकरणमात्र है ॥

तस्य प्रभावयुक्तस्य निमित्तं देहभेदने।
यथैवोत्पद्यते किंचित् पञ्चत्वं गच्छते तथा ॥ ३२ ॥
पुण्यपापविनाशान्ते पुण्यपापसमीरितः।
देहं विशति कालेन ततोऽयं कर्मसम्भवम् ॥ ३३ ॥

जैसे इस जगत्में घट आदि कोई वस्तु उत्पन्न होती और फिर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध, पुण्य और पापका क्षय होनेपर शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है तथा संचित पुण्य और पापसे प्रेरित हो जीव समयानुसार कर्मजनित दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है ॥ ३२-३३ ॥

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद् देहं कृताश्रयः।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद् वा गृहाद् गृहम्॥३४॥

जिस प्रकार घरमें रहनेवाला पुरुष एक घरके गिरनेपर दूसरेमें और दूसरेके गिरनेपर तीसरेमें चला जाता है, उसी प्रकार कालसे प्रेरित हुआ जीव क्रमशः एक-एक शरीरको छोड़कर पूर्वसंकल्पके द्वारा निर्मित दूसरे-दूसरे शरीरमें जाता है॥

तत्र नैवानुतप्यन्ते प्राज्ञा निश्चितनिश्चयाः।
कृपणास्त्वनुतप्यन्ते जनाः सम्बन्धदर्शिनः ॥ ३५ ॥

विद्वान् पुरुष यह निश्चितरूपसे जानते हैं कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग और अविनाशी है, अतः शरीरका वियोग होनेपर उन्हें तनिक भी संताप नहीं होता; परंतु अज्ञानीजन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देह छूटनेसे उन्हें बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

न ह्ययं कस्यचित् कश्चिन्नास्य कश्चन विद्यते।
भवत्येको ह्ययं नित्यं शरीरे सुखदुःखभाक् ॥ ३६ ॥

यह जीव वास्तवमें किसीका कोई नहीं है और न कोई दूसरा ही उसका कुछ है। वास्तवमें यह तो सदा अकेला ही है। परंतु शरीरमें रहकर उसे अपना माननेके कारण ही यह सुख-दुःखका भागी होता है॥ ३६ ॥

नैव संजायते जन्तुर्न च जातु विपद्यते।
याति देहमयं मुक्त्वा कदाचित्परमां गतिम् ॥ ३७ ॥

जीव न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। जब कभी इसे तत्त्वज्ञान होता है, तब यह शरीर-अभिमान छोड़कर परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

पुण्यपापमयं देहं क्षपयन् कर्मसंक्षयात्।
क्षीणदेहः पुनर्देही ब्रह्मत्वमुपगच्छति ॥ ३८ ॥

यह शरीर पुण्य-पापमय है। देहधारी जीव प्रारब्ध-कर्मोंके क्षयके साथ-साथ इस शरीरको क्षीण करता रहता है। इस प्रकार शरीरका नाश हो जानेपर वह मुक्त पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥ ३९ ॥

पुण्य और पापोंके क्षयके लिये ही ज्ञानयोगको साधन बताया गया है। उनका क्षय हो जानेपर जब जीवात्माकी ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है, तब विद्वान्लोग उसकी परमगति मानते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदासितसंवादे पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारद और असितदेवलका संवादविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

तृष्णाके परित्यागके विषयमें माण्डव्य मुनि और जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥ १ ॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह।
निवर्तयेयं पापानि तृष्णया कारिता वयम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! हमलोग बड़े पापी और क्रूर हैं। हमने धनके लिये ही भाई, पिता, पौत्र, कुटुम्बीजन, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार कर डाला। यह जो धनजनित तृष्णा है, इसीने हमसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं। हम इस तृष्णाको किस तरह दूर करें? ॥१-२॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! एक बार माण्डव्य मुनिने

विदेहराज जनकसे ऐसा ही प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें विदेहराजने जो उद्गार प्रकट किया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष ऐसे अवसरोंपर उदाहरणके तौरपर दुहराया करते हैं ॥ ३ ॥

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ ४ ॥

राजा जनकने कहा था कि मैं बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करता हूँ; क्योंकि इस जगत्‌की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। किसीपर भी मेरा ममत्व नहीं है। यदि सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है ॥ ४ ॥

अर्थाः खलु समृद्धा हि बाढं दुःखं विजानताम् ।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥ ५ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ६ ॥

जो विवेकी हैं, उन्हें बड़े समृद्धिसम्पन्न विषय भी दुःखरूप ही जान पड़ते हैं। परंतु अज्ञानियोंको तुच्छ विषय भी सदा मोहमें डाले रहते हैं। लोकमें जो कामजनित सुख है तथा जो स्वर्गका दिव्य एवं महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा-क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाकी भी तुलना पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ५-६ ॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते ।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥ ७ ॥

जिस प्रकार समयानुसार बड़े होते हुए बछड़ेका सींग भी उसके शरीरके साथ ही बढ़ता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए धनके साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है ॥ ७ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥ ८ ॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है, तब नष्ट होनेपर वही संतापका कारण बन जाती है ॥ ८ ॥

न कामाननुरुद्ध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः ।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मे कामान् विसर्जयेत् ॥ ९ ॥

इसलिये कामनाओं या भोगोंकी वृद्धिके लिये आग्रह नहीं रखना चाहिये। भोगोंमें जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है। धन पाकर भी उसे धर्ममें ही लगा देना चाहिये। काम-भोगोंको तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिये ॥

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव ह ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष सभी प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखे। इससे वह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषोंको त्याग देता है ॥ १० ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये ।
भयाभयं च संत्यज्य स प्रशान्तो निरामयः ॥ ११ ॥

वह सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय तथा भय-अभय आदि सभी द्वन्द्वोंको त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो जाता है ॥ ११ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ १२ ॥

खोटी बुद्धिवाले मूढ़ पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जराजीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण न होकर नयी-नवेली ही बनी रहती है तथा जिसे प्राणान्तकाल-तक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको परम सुख मिलता है ॥ १२ ॥

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥ १३ ॥

जो अपने सदाचारको चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल एवं निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें कीर्ति एवं उत्तम सुख पाता है ॥ १३ ॥

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः ।
पूजयित्वा च तद् वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः ॥ १४ ॥

राजाके ये वचन सुनकर ब्रह्मर्षि माण्डव्य बड़े प्रसन्न हुए। उनके कथनकी प्रशंसा करके मुनिने मोक्षमार्गका आश्रय लिया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि माण्डव्यजनकसंवादे षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें माण्डव्य और जनकका संवादविषयक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर और संसारकी अनित्यता तथा आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके कर्तव्यका निर्देश—पिता-पुत्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतभयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! सम्पूर्ण प्राणियोंको भय देनेवाला यह काल धीरे-धीरे बीता जा रहा है। (कौन कब तक जीवित रहेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है।) ऐसी दशामें मनुष्य किस कार्यको अपने लिये कल्याणकारी समझे, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष पिता-पुत्र-संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालमें किसी स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणके एक बड़ा मेधावी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेधावी' ही था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मेष्वकुशलं मोक्षधर्मविचक्षणः ॥ ४ ॥

उसके पिता सदा स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते थे, किंतु मोक्षधर्ममें इतने निपुण नहीं थे । पुत्र मोक्षधर्मके ज्ञानमें कुशल था; अतः उसने अपने पितासे पूछा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तथाऽऽख्याहि यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—तात ! मनुष्योंकी आयु तीव्रगतिसे बीती जा रही है । इस बातको अच्छी तरह जाननेवाला धीर पुरुष किस धर्मका अनुष्ठान करे ? पिताजी ! यह सब क्रमशः और यथार्थरूपसे आप मुझे बताइये, जिससे मैं भी उस धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

अधीत्य वेदान् ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनाय पितृणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा ! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर वेदोंका अध्ययन कर ले, फिर पितरोंका उद्धार करनेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पुत्रोत्पादनकी इच्छा करे । वहाँ विधिपूर्वक अग्नियोंकी स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे । इस प्रकार यज्ञकर्मका सम्पादन करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रविष्ट हो मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके सर्वतः परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने पूछा—पिताजी ! यह लोक तो किसीके द्वारा अत्यन्त ताड़ित और सब ओरसे घिरा हुआ जान पड़ता है । यहाँ ये अमोघ वस्तुएँ निरन्तर हमलोगोंपर टूटी पड़ती हैं । ऐसी दशामें आप धीर पुरुषके समान कैसे बातचीत कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिता बोले—पुत्र ! तुम मुझे डरानेकी चेष्टा क्यों करते हो ? भला, यह लोक कैसे ताड़ित होता है अथवा किसने इसे घेर रक्खा है ? और यहाँ कौन-सी अमोघ वस्तुएँ हमपर टूटी पड़ती हैं ? ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्तीमे तच्च कस्मान्न बुद्ध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्र बोला—पिताजी ! देखिये, मृत्यु सारे जगत्को पीट रही है । बुढ़ापेने इसे घेर लिया है । ये दिन और रात्रियाँ हमपर टूटी पड़ती हैं । इस बातको आप समझ क्यों नहीं रहे हैं ? ॥ ९ ॥

यदाहमेव जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

जब मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मौत मेरे कहनेसे क्षणभर भी रुक नहीं सकती और मैं ज्ञानरूपी कवचसे अपनेको बिना ढके हुए ही विचर रहा हूँ, तब यह समझकर भी मैं अपने कल्याणसाधनमें एक क्षणकी भी प्रतीक्षा कैसे करूँगा ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब प्रत्येक रात बीतनेके बाद आयु क्षीण होकर कुछ-न-कुछ थोड़ी होती चली जा रही है, तब छिछले पानीमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है ? ॥ ११ ॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य वनमें फूल चुन रहा हो, उसी बीचमें कोई हिंसक जीव उसपर आक्रमण कर दे; उसी प्रकार जब मनुष्यका मन दूसरी ओर (विषयभोगोंमें) लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होनेके पहले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है ॥ १२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिस कामको कल करना हो, उसे आज ही कर ले । जिसे अपराह्णमें करना हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर डाले;

क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका काम पूरा हो गया या नहीं ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥ १४ ॥

जो कल्याणकारी कार्य है, उसे आप आज ही कर डालिये। यह महान् काल आपको लाँघ न जाय; क्योंकि कौन जानता है कि आज किसकी मृत्युकी घड़ी आ पहुँचेगी ॥ १४ ॥

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ॥ १५ ॥

सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है, इसलिये युवावस्थामें ही मनुष्यको धर्मका आचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवनका कुछ ठिकाना नहीं है ॥ १५ ॥

कृते धर्मे भवेत् प्रीतिरिह प्रेत्य च शाश्वती।
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ॥ १६ ॥
कृत्वा कार्यमकार्यं वा तुष्टिमेषां प्रयच्छति।
तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ॥ १७ ॥
सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति।

धर्माचरण करनेसे इस लोकमें प्रसन्नता प्राप्त होती है और मृत्युके पश्चात् परलोकमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जिसपर मोहका आवेश होता है, वही स्त्री-पुत्रोंके लिये तरह-तरहके काम-धंधोंकी खटपटमें लगा रहता है। वह करने और न करने योग्य काम करके भी इन सबको संतोष देता है। पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो जब मनुष्यका मन उन्हींमें आसक्त रहता है, उसी समय जैसे नदीका महान् जलप्रवाह अपने तटपर सोये हुए व्याघ्रको बहा ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस मनुष्यको लेकर चल देती है।१६-१७½।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ॥ १८ ॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति।

वह भोग-सामग्रियोंका संयम करता और कामनाओंसे अतृप्त ही रहता है। तभी मृत्यु आकर उसे उसी तरह उठा ले जाती है, जैसे बाघिन भेड़के पास पहुँचकर उसे दबोच लेती है॥१८½ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ॥ १९ ॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति।

मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस कामको अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधनेमें लगे हुए उस मनुष्यको मौत लेकर चल देती है ॥ १९½ ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसङ्गिनाम् ॥ २० ॥
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति।

वह अपने खेत, दूकान और घरके ही चक्करमें पड़ा रहता है। उनके लिये तरह-तरहके कर्मोंमें फँसता है; परंतु उनका फल मिलने भी नहीं पाता कि मौत उसको इस संसारसे उठा ले जाती है॥ २०½ ॥

दुर्बलं बलवन्तं च प्राज्ञं शूरं जडं कविम् ॥ २१ ॥
अप्राप्तसर्वकामार्थं मृत्युरादाय गच्छति।

मनुष्य दुर्बल हो या बलवान्, बुद्धिमान् हो या शूरवीर अथवा मूर्ख हो या विद्वान्—मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २१½ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ॥ २२ ॥
असंत्याज्यं यदा मर्त्यैः किं स्वस्थ इव तिष्ठसि।

पिताजी! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका ताँता बँधा ही रहता है और मनुष्य किसी प्रकार भी उनसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते, तब ऐसी दशामें आप निश्चिन्त-से क्यों बैठे हैं!॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चाभ्येति देहिनम् ॥ २३ ॥
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः।

मनुष्यके जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालनेके लिये अन्तक (यमराज) उसके पीछे लग जाता है और बुढ़ापा भी देहधारीके पास आता ही है। समस्त चराचर पदार्थ इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २३½ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ॥ २४ ॥
बलात् सत्यमृते त्वेकं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम्।

एकमात्र सत्यके बिना कोई भी मनुष्य कभी सामने आती हुई मृत्युकी सेनाको बलपूर्वक नहीं दबा सकता (अतः असत्यको त्यागकर सत्यका ही आश्रय लेना चाहिये)। क्योंकि सत्यमें ही अमृत (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है॥ २४½ ॥

मृत्योर्वा गृहमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २५ ॥
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः।

गाँव या नगरमें रहकर स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना—यह मृत्युका घर ही है। 'यदरण्यम्' इस श्रुतिके अनुसार जो वानप्रस्थ-आश्रम है, यह देवताओंकी गोशालाके समान है॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २६ ॥
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः।

गाँवोंमें रहकर विषय-भोगोंमें आसक्त होना—यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। केवल पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट सकते ॥ २६½ ॥

यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ॥ २७ ॥
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते।

जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणोंद्वारा किसी भी प्राणीकी जीविकाका अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धनके कष्टमें नहीं डालते ॥ २७½ ॥

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः ॥ २८ ॥
सत्यकामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्।

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्यरूपी व्रतके पालनमें तत्पर रहना चाहिये। वह सत्यकी कामना करे। सबके प्रति समान भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्यके द्वारा ही मृत्युपर विजय प्राप्त करे ॥ २८½ ॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्।

अमृत और मृत्यु—ये दोनों इस शरीरमें ही विद्यमान हैं। मोहसे मृत्यु प्राप्त होती है और सत्यसे अमृतपदकी उपलब्धि होती है ॥ २९½ ॥

सोऽहं सत्यमहिंसार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ॥ ३० ॥
समाश्रित्य सुखं क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमृत्युवत्।

अतः अब मैं काम और क्रोधको त्यागकर अहिंसा-धर्मके पालनकी इच्छा करूँगा। सत्यका आश्रय लेकर कल्याणका भागी बनूँगा और अमरकी भाँति मृत्युको दूर हटा दूँगा ॥ ३०½ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ॥ ३१ ॥
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर, जितेन्द्रिय, ब्रह्मयज्ञपरायण एवं मननशील होकर मैं जप-स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और शास्त्रविहित कर्मोंका निष्काम-भावसे आचरणरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३१½ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ॥ ३२ ॥
अन्तवद्भिरुत प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत्।

मेरे-जैसा ज्ञानवान् पुरुष हिंसाप्रधान पशुयज्ञोंद्वारा कैसे यजन कर सकता है ? अथवा पिशाचके समान विनाश-शील क्षत्रिय—यज्ञोंके अनुष्ठानमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजः पितः ॥ ३३ ॥
आत्मयज्ञो भविष्यामि न मां तारयति प्रजा।

पिताजी ! मैं आत्मासे अपने आपमें ही उत्पन्न हुआ हूँ। अपने आपमें ही स्थित हूँ। मेरे कोई संतान नहीं है। मैं आत्मयज्ञका ही यजमान होऊँगा। मुझे संतान नहीं तार सकती है ॥ ३३½ ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ॥ ३४ ॥
तपस्त्यागश्च योगश्च स तैः सर्वमवाप्नुयात्।

जिसकी वाणी और मन सदा एकाग्र रहते हैं तथा जिसमें तप, त्याग और योग—तीनोंका समावेश है, वह उनके द्वारा सब कुछ पा लेता है ॥ ३४½ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं फलम् ॥ ३५ ॥
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३६ ॥

संसारमें ब्रह्मविद्याके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५-३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

ब्रह्ममें एकीभाव, समता, सत्यपरायणता, सदाचारनिष्ठा, दण्डका त्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे निवृत्ति—इनके समान ब्राह्मणका दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव (पिताजी) ! जब एक दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बन्धु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोंसे क्या प्रयोजन है ! अपनी हृदयगुहामें विराजमान आत्माकी खोज कीजिये। सोचिये तो सही, आज आपके पिताजी कहाँ हैं, दादा-बाबा कहाँ चले गये ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा तथाकार्षीत् पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! पुत्रका यह वचन सुनकर उसके पिताने सब कुछ उसके कथनानुसार किया। उसी प्रकार तुम भी सत्य और धर्ममें तत्पर होकर उसी प्रकार आचरण करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादे सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रका संवादविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहनेवाला पुरुष प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो पुरुष मोक्षधर्मोंमें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर ॥)

युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें हारीत मुनिने जो ज्ञानका उपदेश किया है, इस विषयमें विज्ञ पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

स्वगृहादभिनिस्सृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ३ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले ॥ ३ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥ ४ ॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे । किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे ॥ ४ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ५ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे । सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे । इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे ॥५॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कंचन ।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥ ६ ॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले । किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे । कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले । यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत् ।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः ॥ ७ ॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीकी पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय ॥ ७ ॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत् ।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥ ८ ॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे । बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन ही निकाले । सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे । किसीके प्रति कठोरता न करे । निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये ॥ ८ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः ॥ ९ ॥

जब रसोईघरसे धूआँ निकलना बंद हो जाय, अनाज-मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका संचार—रसोई परोसी हुई थाली-का इधर-उधर ले जाया जाना बंद हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः ।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत् ॥ १० ॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये । भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ा-का अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो ॥ १० ॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः ॥ ११ ॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे । जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे । मुमुक्षु पुरुष-को आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत् ।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ १२ ॥

भिक्षामें मिले. हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा

न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा ही करे। सोने और बैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे॥

शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत्॥ १३॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, जंगल अथवा पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहे॥ १३॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा॥ १४॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो जाय तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे॥ १४॥

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥ १५॥

सर्वदा तृप्त और संतुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखे। भयको पास न आने दे। प्रणव आदिका जप करता रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे॥ १५॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ १६॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन—जन्म और मरण—बारंबार होते रहते हैं। यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे (फल, मूल आदि) से जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभ-के लिये जो शान्तचित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलाने योग्य है॥१६॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥ १७॥

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे। दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे॥ १७॥

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत् पवित्रं परमं परिव्राजक आश्रमे॥ १८॥

प्रशंसा और निन्दा—दोनोंमें समान भाव रखकर उदासीन ही रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण परम पवित्र माना गया है॥ १८॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः॥ १९॥

संन्यासीको महामनस्वी, सब प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे असङ्ग, सौम्य, मठ और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये। उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये॥ १९॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्।
अज्ञातलिप्सां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्॥ २०॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये तथा अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये॥ २०॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्॥ २१॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है। हारीत मुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है॥ २१॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते॥२२॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीतायां अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हारीतगीताविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्या धन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत।
न दुःखिततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति ह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! सभी लोग हमलोगोंको धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है॥ १॥

लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम।
प्राप्य जातिं मनुष्येषु देवैरपि पितामह॥ २॥

कुरुश्रेष्ठ पितामह ! देवताओंद्वारा मानवलोकमें जन्म पाकर तथा सब लोगोंद्वारा सम्मानित होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम् ।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरुसत्तम ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! संसारी मनुष्य जिसे दुःख कहते हैं, उस संन्यासका अवलम्बन हमलोग कब करेंगे ? हमें तो इन शरीरोंका धारण करना ही दुःख जान पड़ता है ॥ ३ ॥

विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः ।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह ॥ ४ ॥
न गच्छन्ति पुनर्भावं मुनयः संशितव्रताः ।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप ॥ ५ ॥

पितामह ! पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न—ये संसारके पाँच हेतु; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण तथा पाँच भूतोंसहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वोंके समुदाय सब मिलाकर अड़तीस तत्त्व होते हैं। इन सबसे मुक्त हुए तीक्ष्ण व्रतधारी मुनि पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं। परंतप पितामह ! हमलोग भी कब अपना राज्य छोड़कर इसी स्थितिको प्राप्त होंगे ॥ ४-५ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यनन्तं महाराज सर्वं संख्यानगोचरः ।
पुनर्भावोऽपि विख्यातो नास्ति किंचिदिहाचलम् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! दुःख अनन्त नहीं हैं। जगत्की सभी वस्तुएँ संख्याकी सीमामें ही हैं—असंख्य नहीं हैं। पुनर्जन्म भी नश्वरताके लिये विख्यात ही है। तात्पर्य यह कि इस जगत्में कोई भी वस्तु अचल या स्थायी नहीं है ॥ ६ ॥

न चापि मन्यसे राजन्नेष दोषः प्रसङ्गतः ।
उद्योगादेव धर्मज्ञाः कालेनैव गमिष्यथ ॥ ७ ॥

तुम जो ऐसा मानते हो कि ऐश्वर्य दोषकारक होता है, क्योंकि वह आसक्तिका हेतु होनेके कारण मोक्षका प्रतिबन्धक है तो तुम्हारी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि तुम सब लोग धर्मके ज्ञाता हो। स्वयं ही उद्योग करके शम, दम आदि साधनोंद्वारा कुछ ही कालमें मोक्ष प्राप्त कर सकते हो ॥ ७ ॥

नेशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः ।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! यह जीवात्मा पुण्य और पापके फल सुख और दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उन पुण्य और पापोंसे उत्पन्न संस्काररूप अन्धकारसे यह आच्छन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

यथाञ्जनमयो वायुः पुनर्मानःशिलं रजः ।
अनुप्रविश्य तद्वर्णो दृश्यते रञ्जयन् दिशः ॥ ९ ॥
तथा कर्मफलैर्देही रञ्जितस्तमसाऽऽवृतः ।
विवर्णो वर्णमाश्रित्य देहेषु परिवर्तते ॥ १० ॥

जैसे अन्धकारमयी वायु मैनसिलके लाल-पीले चूर्णमें प्रवेश करके उसीके रंगसे युक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको रँगती दिखायी देती है, उसी प्रकार स्वभावतः वर्णविहीन यह जीवात्मा तमोमय अज्ञानसे आवृत और कर्मफलसे रञ्जित हो वही वर्ण ग्रहण कर अर्थात् विभिन्न शरीरोंके धर्मोंको स्वीकार करके समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें घूमता रहता है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानेन हि यदा जन्तुरज्ञानप्रभवं तमः ।
व्यपोहति तदा ब्रह्म प्रकाशति सनातनम् ॥ ११ ॥

जब जीव तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानजनित अन्धकारको दूर कर देता है, तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ ११ ॥

अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति
ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः ।
त्वया च लोकेन च सामरेण
तस्मान्नमस्यामि महर्षिसङ्घान् ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनि कहते हैं कि ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है। इसके लिये तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्को और तुमको उन पुरुषोंकी उपासना करनी चाहिये, जो जीवन्मुक्त हैं; अतएव मैं महर्षियोंके समुदायको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शृणुष्वैकमना नृप ।
यथा दैत्येन वृत्रेण भ्रष्टैश्वर्येण चेष्टितम् ॥ १३ ॥
निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत ।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलाम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है। उसे एकचित्त होकर सुनो। भरतनन्दन ! पूर्वकालमें वृत्रासुर पराजित और ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया था। उसका कोई सहायक नहीं रह गया था। देवताओंने उसका राज्य छीन लिया था। उस दशामें पड़कर भी उस असुरने जैसी चेष्टा की थी, उसीका इस कथामें वर्णन है। वह शत्रुओंके बीचमें रहकर भी आसक्तिशून्य बुद्धिका आश्रय ले शोक नहीं करता था ॥ १३-१४ ॥

भ्रष्टैश्वर्यं पुरा वृत्रमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
कच्चित् पराजितस्याद्य न व्यथा तेऽस्ति दानव ॥ १५ ॥

पूर्वकालकी बात है कि वृत्रासुरको ऐश्वर्यभ्रष्ट हुआ देख शुक्राचार्यने उससे पूछा—'दानवराज ! तुम्हें देवताओंने पराजित कर दिया है तो भी आजकल तुम्हारे चित्तमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं है; इसका क्या कारण है ?' ॥ १५ ॥

वृत्र उवाच

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम्।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम्॥ १६॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! मैंने सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आवागमनका रहस्य निश्चितरूपसे जान लिया है; इसलिये मैं उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता हूँ॥ १६॥

कालसंचोदिता जीवा मज्जन्ति नरकेऽवशाः।
परितुष्टानि सर्वाणि दिव्यान्याहुर्मनीषिणः॥ १७॥

कालसे प्रेरित हुए जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप विवश होकर नरकमें डूबते हैं और पुण्यके फलसे वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्द भोगते हैं। ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है॥ १७॥

क्षपयित्वा तु तं कालं गणितं कालचोदिताः।
सावशेषेण कालेन सम्भवन्ति पुनः पुनः॥ १८॥

इस प्रकार स्वर्ग अथवा नरकमें कर्मफलभोगद्वारा निश्चित समय व्यतीत करके भोगनेसे बचे हुए कर्मसहित कालकी प्रेरणासे वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते रहते हैं॥ १८॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च।
निर्गच्छन्त्यवशा जीवाः कामबन्धनबन्धनाः॥ १९॥

कामनाओंके बन्धनमें बँधकर विवश हुए कितने ही जीव सहस्रों बार तिर्यक्योनि तथा नरकमें पड़कर पुनः वहाँसे निकलते हैं॥ १९॥

एवं संसरमाणानि जीवान्यहमदृष्टवान्।
यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्॥ २०॥

इस प्रकार मैंने सभी जीवोंको जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ देखा है। शास्त्रका भी ऐसा सिद्धान्त है कि जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल मिलता है॥ २०॥

तिर्यग् गच्छन्ति नरकं मानुष्यं दैवमेव च।
सुखदुःखे प्रिये द्वेष्ये चरित्वा पूर्वमेव ह॥ २१॥

प्राणी पहले ही सुख-दुःख तथा प्रिय और अप्रिय-विषयोंमें विचरण करके कर्मके अनुसार नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि अथवा देवयोनिमें जाते हैं॥ २१॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः सर्वो लोकः प्रपद्यते।
गतं गच्छन्ति चाध्वानं सर्वभूतानि सर्वदा॥ २२॥

समस्त जीव जगत्-विधाताके विधानसे ही परिचालित हो सुख-दुःख पाता है और समस्त प्राणी सदा चले हुए मार्ग-पर ही चलते हैं॥ २२॥

कालसंख्यानसंख्यातं सृष्टिस्थितिपरायणम्।
तं भाषमाणं भगवानुशना प्रत्यभाषत।
धीमान् दुष्टप्रलापांस्त्वं तात कस्मात् प्रभाषसे॥ २३॥

जो काल नामसे प्रसिद्ध एवं सृष्टि और पालनके परम आश्रय हैं, उन परमात्माका प्रतिपादन करते हुए वृत्रासुरकी बात सुनकर भगवान् शुक्राचार्यने उससे कहा—'तात! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो, फिर ये असुरभावके विपरीत दोषयुक्त निरर्थक वचन कैसे कह रहे हो?' ॥ २३॥

वृत्र उवाच

प्रत्यक्षमेतद् भवतस्तथान्येषां मनीषिणाम्।
मया यज्जयलुब्धेन पुरा तप्तं महत् तपः॥ २४॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! आपने तथा दूसरे मनीषी महानुभावोंने यह तो प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने पहले विजयके लोभसे बड़ी भारी तपस्या की थी॥ २४॥

गन्धानादाय भूतानां रसांश्च विविधानपि।
अवर्धं त्रीन् समाक्रम्य लोकान् वै स्वेन तेजसा॥ २५॥

मैं बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था; अतः मैंने अपने ही तेजसे तीनों लोकोंपर आक्रमण करके दूसरे प्राणियोंको धूलमें मिलाकर उनके उपभोगकी गन्ध और रस आदि विविध वस्तुएँ छीन ली थीं॥ २५॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो वैहायसचरस्तथा।
अजेयः सर्वभूतानामासं नित्यमपेतभीः॥ २६॥

मेरे शरीरसे आगकी लपटें निकलती थीं और मैं ज्वाला-मालाओंसे घिरकर सदा आकाशमें निर्भय विचरता हुआ समस्त प्राणियोंके लिये अजेय हो गया था॥ २६॥

ऐश्वर्यं तपसा प्राप्तं भ्रष्टं तच्च स्वकर्मभिः।
धृतिमास्थाय भगवन् न शोचामि ततस्त्वहम्॥ २७॥

भगवन्! इस प्रकार मैंने तपस्याके प्रभावसे जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, वह मेरे अपने ही कर्मोंसे नष्ट हो गया। तथापि मैं धैर्य धारण करके उसके लिये शोक नहीं करता हूँ॥

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः॥ २८॥

महामनस्वी पुरुषप्रवर देवराज इन्द्र जब युद्धकी इच्छासे मेरे सामने आये, उस समय उनके साथ उन्हींकी सहायताके लिये आये हुए सबके प्रभु भगवान् श्रीनारायण हरिका मैंने दर्शन किया था॥ २८॥

वैकुण्ठः पुरुषोऽनन्तः शुक्लो विष्णुः सनातनः।
मुञ्जकेशो हरिश्मश्रुः सर्वभूतपितामहः॥ २९॥

वे भगवान् वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, शुक्ल, विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु तथा सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं॥

नूनं तु तस्य तपसः सावशेषमिहास्ति वै।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि भगवन् कर्मणः फलम्॥ ३०॥

भगवन्! अवश्य ही मेरी उस तपस्याका कोई अंश अब भी शेष रह गया है, अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करना चाहता हूँ॥ ३०॥

ऐश्वर्यं वै महद् ब्रह्म वर्णे कस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

निवर्तते चापि पुनः कथमैश्वर्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य और महद् ब्रह्म किस वर्णमें प्रतिष्ठित हैं ? तथा वह उत्तम ऐश्वर्य कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥

कस्माद् भूतानि जीवन्ति प्रवर्तन्ते तथा पुनः ।
किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः ॥ ३२ ॥

प्राणी किस हेतुसे जीवन धारण करते हैं ? तथा किस कारणसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ? जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है ? ॥३२॥

केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा ।
तदवाप्तुं फलं विप्र तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३३ ॥

विप्रवर ! किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ३३ ॥

इतीदमुक्तः स मुनिस्तदानीं
प्रत्याह यत् तच्छृणु राजसिंह ।
मयोच्यमानं पुरुषर्षभ त्व-
मनन्यचित्तः सह सोदरीयैः ॥ ३४ ॥

राजसिंह ! पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! उसके ऐसा प्रश्न करनेपर मुनिवर शुक्राचार्यने उस समय उसे जो उत्तर दिया, उसे मैं बता रहा हूँ, तुम अपने भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्र-गीताविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शङ्काका निवारण

उशनोवाच

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे ।
यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरः ॥ १ ॥

शुक्राचार्यने कहा—तात ! आकाशसहित यह सारी पृथ्वी जिनकी भुजाओंके बलपर स्थित है, महान् प्रभावशाली उन भगवान् विष्णुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

मूर्धा यस्य त्वनन्तं च स्थानं दानवसत्तम ।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

दानवश्रेष्ठ ! जिनका मस्तक और स्थान भी अनन्त है, उन भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य मैं तुम्हें बताऊँगा ॥

तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः ।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै ॥ ३ ॥

शुक्राचार्य और वृत्रासुरमें ये बातें हो ही रही थीं कि वहाँ महामुनि धर्मात्मा सनत्कुमार उनके संशयका निवारण करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स पूजितोऽसुरेन्द्रेण मुनिनोशनसा तथा ।
निषसादासने राजन् महार्हे मुनिपुङ्गवः ॥ ४ ॥

राजन् ! असुरराज वृत्र और मुनि शुक्राचार्यके द्वारा पूजित हो मुनिवर सनत्कुमार एक बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ४ ॥

तमासीनं महाप्रज्ञमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
ब्रूह्यस्मै दानवेन्द्राय विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब महाज्ञानी सनत्कुमार आरामसे बैठ गये, तब शुक्राचार्यने उनसे कहा—'भगवन् ! आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइये' ॥ ५ ॥

सनत्कुमारस्तु ततः श्रुत्वा प्राह वचोऽर्थवत् ।
विष्णोर्माहात्म्यसंयुक्तं दानवेन्द्राय धीमते ॥ ६ ॥

यह सुनकर सनत्कुमारजीने बुद्धिमान् दानवराज वृत्रासुरके प्रति भगवान् विष्णुकी महिमासे युक्त यह सार्थक वचन कहा—॥ ६ ॥

शृणु सर्वमिदं दैत्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
विष्णौ जगत् स्थितं सर्वमिति विद्धि परंतप ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दैत्य ! भगवान् विष्णुका यह सम्पूर्ण उत्तम माहात्म्य सुनो—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह समस्त संसार भगवान् विष्णुमें ही स्थित है ॥

सृजत्येष महाबाहो भूतग्रामं चराचरम् ।
एष चाक्षिपते काले काले विसृजते पुनः ॥ ८ ॥

'पर महाबाहो ! ये श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं और ये ही समय आनेपर उसका विनाश करते हैं एवं समय आनेपर पुनः सृष्टि भी करते हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् गच्छन्ति विलयमस्माच्च प्रभवन्त्युत ।
नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया ।
सम्प्राप्तुमिन्द्रियाणां तु संयमेनैव शक्यते ॥ ९ ॥

'समस्त प्राणी इन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं और इन्हींसे प्रकट भी होते हैं । इन्हें कोई शास्त्रज्ञान, तपस्या और यज्ञके द्वारा भी नहीं पा सकता । केवल इन्द्रियोंके संयमसे ही उनकी उपलब्धि हो सकती है ॥ ९ ॥

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणोर्मनसि स्थितः ।
निर्मलीकुरुते बुद्ध्या सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ १० ॥

'जो बाह्य (यज्ञ आदि) और आभ्यन्तर (शम, दम

सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट

आदि) कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनके विषयमें स्थिरता प्राप्त करके अर्थात् मनको स्थिर करके बुद्धिके द्वारा उसे निर्मल बनाता है, वह परलोकमें अक्षय सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

यथा हिरण्यकर्ता वै रूप्यमग्नौ विशोधयेत्।
बहुशोऽतिप्रयत्नेन महताऽऽत्मकृतेन ह ॥ ११ ॥
तद्वज्जातिशतैर्जीवः शुद्ध्यतेऽनेन कर्मणा।
यत्नेन महता चैवाप्येकजातौ विशुद्ध्यते ॥ १२ ॥

'जैसे सोनार बारंबार किये हुए अपने महान् प्रयत्नके द्वारा चाँदीको आगमें डालकर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार जीव सैकड़ों जन्मोंमें अपने मनको शुद्ध कर पाता है; परंतु इस यज्ञ आदि और शम-दम आदि कर्मोंद्वारा यदि वह महान् प्रयत्न करे तो एक ही जन्ममें शुद्ध हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यादात्मनो रजः।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा ॥ १३ ॥

'जैसे अपने शरीरमें लगी हुई थोड़ी-सी धूलको मनुष्य साधारण चेष्टासे खेल-खेलमें ही झाड़-पोछ देता है, उसी प्रकार बारंबार किये हुए महान् प्रयत्नसे वह अपने राग-द्वेष आदि दोषोंको भी दूर कर सकता है ॥ १३ ॥

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम्।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम् ॥ १४ ॥

'जैसे थोड़े-से पुष्प एवं मालाद्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार थोड़े-से प्रयत्नसे न तो दोष दूर होते हैं और न सूक्ष्म ब्रह्मका साक्षात्कार ही हो पाता है ॥ १४ ॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धे च तिष्ठति ॥ १५ ॥
एवं जातिशतैर्युक्तो गुणैरेव प्रसङ्गिषु।
बुद्ध्या निवर्तते दोषो यत्नेनाभ्यासजेन ह ॥ १६ ॥

'वही तिल या सरसोंका तेल बहुत-से सुगन्धित पुष्पोंद्वारा बारंबार वासित होनेपर अपनी गन्धको छोड़ देता है और उस फूलकी गन्धमें ही स्थित हो जाता है। उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंमें स्त्री-पुत्र आदिके संसर्गसे युक्त तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा प्रवर्तित दोषसमूह बुद्धि तथा अभ्यासजनित यत्नसे निवृत्त हो पाता है ॥ १५-१६ ॥

कर्मणा स्वनुरक्तानि विरक्तानि च दानव।
यथा कर्मविशेषांश्च प्राप्नुवन्ति तथा शृणु ॥ १७ ॥

'दनुनन्दन! कर्मसे अनुरक्त और कर्मसे विरक्त होनेवाले प्राणिसमूह जिस प्रकार राग और विरागके हेतुभूत विभिन्न कर्मोंको प्राप्त होते हैं, वह सुनो ॥ १७ ॥

यथावत् सम्प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तिष्ठन्ति वा विभो।
तत् तेऽनुपूर्व्या व्याख्यास्ये तदिहैकमनाः शृणु ॥ १८ ॥

'प्रभो! जिस प्रकार वे कर्ममें प्रवृत्त होते तथा जिस निमित्तसे उसमें स्थित होते हैं और जिस अवस्थामें उससे निवृत्त हो जाते हैं, वह सब मैं तुमसे क्रमशः बताऊँगा। तुम उसे यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १८ ॥

अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
देवः सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ १९ ॥

'श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्तसे रहित हैं। वे ही चराचर प्राणियोंकी रचना करते हैं ॥ १९ ॥

स वै सर्वेषु भूतेषु क्षरश्चाक्षर एव च।
एकादशविकारात्मा जगत् पिबति रश्मिभिः ॥ २० ॥

'वे ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षर और अक्षररूपसे विद्यमान हैं। ग्यारह इन्द्रियोंका जो वैकारिक सर्ग है, वह भी उन्हींका स्वरूप है। वे अपनी चैतन्यमयी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हो रहे हैं[१] ॥ २० ॥

पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिवमित्युत।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च ॥ २१ ॥
तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम्।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

'दैत्यराज! पृथ्वीको भगवान् विष्णुके दोनों चरण समझो, स्वर्गलोकको मस्तक जानो, ये चारों दिशाएँ उनकी चार भुजाएँ हैं, आकाश कान है, तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, मन चन्द्रमा है, बुद्धि (महत्तत्त्व) उनकी नित्य ज्ञानवृत्ति है और जल रसनेन्द्रिय है ॥ २१-२२ ॥

भ्रुवोरनन्तरास्तस्य ग्रहा दानवसत्तम।
नक्षत्रचक्रं नेत्राभ्यां पादयोर्भूश्च दानव ॥ २३ ॥

'दानवप्रवर! सम्पूर्ण ग्रह उनकी दोनों भौंहोंके बीचमें स्थित हैं। नक्षत्रमण्डल नेत्रोंसे प्रकट हुआ है। दनुनन्दन! यह पृथ्वी उनके दोनों चरणोंमें स्थित हैं ॥ २३ ॥

(तं विद्धि भूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम्।)
रजस्तमश्च सत्त्वं च विद्धि नारायणात्मकम्।
सोऽऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः ॥ २४ ॥

'उन्हें तुम सम्पूर्ण भूतस्वरूप, इस जगत्‌का आदिकारण और परमेश्वर समझो। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको नारायणमय ही मानो। तात! समस्त आश्रमोंका

१. श्रीविष्णुपुराणमें तीन प्रकारकी प्राकृत सृष्टि बतायी गयी है—पहली महत्तत्त्वकी सृष्टि है, जिसे यहाँ 'क्षर' शब्दसे कहा गया है। दूसरी भूत-सृष्टि मानी गयी है, जो तन्मात्राओंकी सृष्टि है। यहाँ 'भूतेषु' पदके द्वारा उसीकी ओर संकेत किया गया है। 'एकादशविकारात्मा' इस पदके द्वारा तीसरी सृष्टिका निर्देश किया गया है, जिसे वैकारिक अथवा ऐन्द्रियक सर्ग भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारह तत्त्वोंकी रचना हुई है।

फल वे ही हैं। विद्वान् पुरुष समस्त कर्मोंद्वारा प्राप्तव्य फल उन्हींको मानते हैं ॥ २४ ॥

अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती ॥ २५ ॥

'कर्मोंका त्यागरूप जो संन्यास है, उसका फल भी वे ही अविनाशी परमात्मा हैं। वेद-मन्त्र उनके रोम हैं तथा प्रणव उनकी वाणी है ॥ २५ ॥

बह्वाश्रयो बहुमुखो धर्मो हृदि समाश्रितः।
स ब्रह्म परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः ॥ २६ ॥

'बहुत-से वर्ण और आश्रम उनके आश्रय हैं, उनके अनेक मुख हैं। हृदयमें आश्रित धर्म भी उन्हींका स्वरूप है। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही आत्मदर्शनरूप परम धर्म हैं। वे ही तप और सदसत्स्वरूप हैं ॥ २६ ॥

श्रुतिशास्त्रग्रहोपेतः षोडशर्त्विक् क्रतुश्च सः।
पितामहश्च विष्णुश्च सोऽश्विनौ स पुरंदरः।
मित्रोऽथ वरुणश्चैव यमोऽथ धनदस्तथा ॥ २७ ॥

'श्रुति (वेद), शास्त्र और सोमपात्रसहित सोलह[1] ऋत्विजोंवाला यज्ञ भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, अश्विनी-कुमार, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं ॥ २७ ॥

ते पृथग्दर्शनास्तस्य संविदन्ति तथैकताम्।
एकस्य विद्धि देवस्य सर्वं जगदिदं वशे ॥ २८ ॥

'उनका दर्शन पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे अपनी एकताको जानते हैं। तुम भी इस सम्पूर्ण जगत्को एक परमात्मदेवके ही अधीन समझो ॥ २८ ॥

नानाभूतस्य दैत्येन्द्र तस्यैकत्वं वदत्ययम्।
जन्तुः पश्यति विज्ञानात् ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ २९ ॥

'दैत्यराज! अनेक रूपोंमें प्रकट हुए उन परमात्माकी एकताका यह वेद प्रतिपादन करता है। जीव विज्ञानबलसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। उस समय उसकी बुद्धिमें वह ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ २९ ॥

संहारविक्षेपसहस्रकोटी-
स्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये।
प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं
वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य ॥ ३० ॥

'कितने ही जीव करोड़ों कल्पोंतक स्थावररूपसे एक स्थानमें स्थित रहते हैं और कितने ही उतने समयतक इधर-उधर विचरते रहते हैं। दैत्यप्रवर! प्रजाके सृष्टिका परिमाण कई हजार बावड़ियोंकी संख्याके समान है ॥

वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः
क्रोशं च गम्भीरतयावगाढाः।
आयामतः पञ्चशताश्च सर्वाः
प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः ॥ ३१ ॥
वाप्या जलं क्षिप्यति वालकोट्या
त्वह्ना सकृच्चाप्यथ न द्वितीयम्।
तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं
संहारमेकं च तथा प्रजानाम् ॥ ३२ ॥

'वे सारी बावड़ियाँ पाँच सौ योजन चौड़ी, पाँच सौ योजन लंबी और एक-एक कोस गहरी हों। गहराई इतनी हो कि कोई उनमें प्रवेश न कर सके। तात्पर्य यह कि प्रत्येक बावड़ी बहुत लंबी-चौड़ी और गहरी हो—उनमेंसे एक बावड़ीके जलको कोई दिन-भरमें एक ही बार एक बालकी नोकसे उलीचे, दूसरी बार न उलीचे। इस प्रकार उलीचनेसे उन सारी बावड़ियोंका जल जितने समयमें समाप्त हो सकता है, उतने ही समयमें प्राणियोंकी सृष्टि और संहारके क्रमकी समाप्ति हो सकती है (अर्थात् जैसे उक्त प्रकारसे उलीचनेपर उन बावड़ियोंका जल सूखना असम्भव है, वैसे ही बिना ज्ञानके संसारका उच्छेद होना असम्भव है।) ॥ ३१-३२ ॥

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं
कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु
हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥ ३३ ॥

'प्राणियोंके वर्ण छः प्रकारके हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्रा (पीला) और शुक्ल[1]। इनमेंसे कृष्ण, धूम्र

---

१. सोलह ऋत्विजोंके नाम इस प्रकार हैं—१—ब्रह्मा, २—ब्राह्मणाच्छंसी, ३—आग्नीध्र और ४—पोता—ये चार ऋत्विज सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होते हैं। ५—होता, ६—मैत्रावरुण, ७—अच्छावाक और ८—ग्रावस्तोता—ये चार ऋत्विज ऋग्वेदी होते हैं। ९—अध्वर्यु, १०—प्रतिप्रस्थाता, ११—नेष्टा और १२—उन्नेता—ये चार यजुर्वेदी होते हैं। १३—उद्गाता, १४—प्रस्तोता, १५—प्रतिहर्ता तथा १६—सुब्रह्मण्य—ये सामवेदके गायक होते हैं।

१. जब तमोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोगुणकी सम अवस्था हो, तब कृष्णवर्ण होता है। यह स्थावर सृष्टिका रंग माना गया है। तमोगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और सत्त्वगुणकी सम अवस्था होनेपर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षीकी योनिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंका वर्ण माना गया है। रजोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था होनेपर नीलवर्ण होता है। यह मानवसर्गका वर्ण बताया गया है। इसीमें जब सत्त्वगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनावस्था हो तो मध्यमवर्ण होता है। उसका रंग लाल होता है। इसे अनुग्रह सर्ग कहते हैं। जब सत्त्वगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था हो तो हरिद्राके समान पीतवर्ण होता है। यही देवताओंका वर्ण है, अतः इसे देवसर्ग कहते हैं। उसीमें जब रजोगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है। इसीको कौमारसर्ग कहा गया है।

और नील वर्णका सुख मध्यम होता है। रक्तवर्ण विशेष रूपसे सहन करने योग्य होता है। हरिद्राकी-सी कान्ति सुख देनेवाली होती है और शुक्लवर्ण अत्यन्त सुखदायक होता है॥

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं
गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र।
गत्वा तु योनिप्रभवाणि दैत्य
सहस्रशः सिद्धिमुपैति जीवः॥ ३४॥

'दानवराज! शुक्लवर्ण निर्मल, शोकहीन, परिश्रमशून्य होनेके कारण सिद्धिकारक होता है। दितिकुलनन्दन! जीव सहस्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेके बाद मनुष्य-योनिमें आकर कभी सिद्धि लाभ करता है॥ ३४॥

गतिं च यां दर्शनमाह देवो
गत्वा शुभं दर्शनमेव चापि।
गतिः पुनर्वर्णकृता प्रजानां
वर्णस्तथा कालकृतोऽसुरेन्द्र॥ ३५॥

'असुरेन्द्र! देवराज इन्द्रने मंगलमय तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हमारे निकट जिस गति और दर्शन-शास्त्रका वर्णन किया है, वह प्राणियोंकी वर्णजनित गति है अर्थात् शुक्लवर्णवालोंको वही सिद्धि प्राप्त होती है। वह वर्ण कालकृत माना गया है॥

शतं सहस्राणि चतुर्दशेह
परागतिर्जीवगणस्य दैत्य।
आरोहणं तत्कृतमेव विद्धि
स्थानं तथा निःसरणं च तेषाम्॥ ३६॥

'दैत्यप्रवर! इस जगत्‌में समस्त जीव-समुदायकी परागति चौदह लाख बतायी गयी है। (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चौदह करण हैं। इन्हींके भेदसे चौदह प्रकारकी गति होती है। फिर विषय-भेदसे वृत्तिभेद होनेके कारण चौदह लाख प्रकारकी गति होती है।) जीवका जो ऊर्ध्वलोकोंमें गमन होता है, वह भी उन्हीं चौदह करणोंद्वारा सम्पादित होता है। विभिन्न स्थानोंमें जो स्थिरतापूर्वक निवास है, वह और उन स्थानोंसे जो उन जीवोंका अधःपतन होता है, वह भी उन्हींके सम्बन्धसे होता है। इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो (अतः इन चौदह करणोंको सात्त्विक मार्गाभिमुखी बनाना चाहिये)॥ ३६॥

कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा
स सज्जते नरके पच्यमानः।
स्थानं तथा दुर्गतिभिस्तु तस्य
प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति॥ ३७॥

'कृष्णवर्णकी गति नीच बतायी गयी है। वह नरक प्रदान करनेवाले निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त होता है, इसीलिये नरककी आगमें पकाया जाता है। वह कुमार्गमें प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त चौदह करणोंद्वारा पापाचार करनेके कारण अनेक कल्पोंतक नरकमें ही निवास करता है—ऐसा ऋषि-मुनि कहते हैं॥ ३७॥

शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा
प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात्।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो
युगक्षये तपसा संवृतात्मा॥ ३८॥

'तदनन्तर वह जीव लाखों बार (या लाखों वर्षोंतक) नरकमें विचरण करके फिर धूम्रवर्ण पाता है (पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म लेता है)। उस योनिमें भी वह विवश होकर बड़े दुःखसे निवास करता है। फिर युगक्षय होनेपर वह तप (पुरातन पुण्यकर्म या विवेक) के प्रभावसे सुरक्षित होकर उस संकटसे उद्धार पा जाता है॥ ३८॥

स वै यदा सत्त्वगुणेन युक्त-
स्तमो व्यपोहन् घटते स्वबुद्ध्या।
स लोहितं वर्णमुपैति नीलान्
मनुष्यलोके परिवर्तते च॥ ३९॥

'वही जीव जब सत्त्वगुणसे युक्त होता है, तब अपनी बुद्धिके द्वारा तमोगुणकी प्रवृत्तिको दूर हटाता हुआ अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है। उस समय सत्त्वगुणके बढ़ जानेपर वह रक्तवर्णको प्राप्त होता है (इसीको अनुग्रह सर्ग कहा गया है, चित्तकी विभिन्न वृत्तियोंपर अनुग्रह करनेवाले देवविशेषका ही नाम 'अनुग्रह' है)। जब सत्त्वगुणमें कुछ कमी रह जाती है, तब वह जीव नीलवर्णको प्राप्त होकर मनुष्यलोकमें आवागमन करने लगता है॥ ३९॥

स तत्र संहारविसर्गमेकं
स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः।
ततः स हारिद्रमुपैति वर्णं
संहारविक्षेपशते व्यतीते॥ ४०॥

'तत्पश्चात् वह मनुष्यलोकमें एक कल्पतक स्वधर्मजनित बन्धनोंसे बँधकर क्लेश उठाता हुआ जब धीरे-धीरे अपनी तपस्याको बढ़ाता है, तब हल्दीकी-सी कान्तिवाले पीतवर्ण—देवताभावको प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों कल्प व्यतीत कर लेनेपर वह पुनः पुण्यक्षयके पश्चात् मनुष्य होता है (इस प्रकार वह देवतासे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होता रहता है)॥

हारिद्रवर्णस्तु प्रजाविसर्गात्
सहस्रशस्तिष्ठति संचरन् वै।
अविप्रमुक्तो निरये च दैत्य
ततः सहस्राणि दशापराणि॥ ४१॥
गतीः सहस्राणि च पञ्च तस्य
चत्वारि संवर्तकृतानि चैव।
विमुक्तमेनं निरयाच्च विद्धि
सर्वेषु चान्येषु च सम्भवेषु॥ ४२॥

'दैत्य! सहस्रों कल्पोंतक देवरूपसे विचरते रहनेपर भी

जीव विषयभोगसे मुक्त नहीं होता तथा प्रत्येक कल्पमें किये हुए अशुभ कर्मोंके फलोंको नरकमें रहकर भोगता हुआ जीव उन्नीस[1] हजार विभिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उसे नरकसे छुटकारा मिलता है। मनुष्यके सिवा अन्य सभी योनियोंमें केवल सुख-दुःखके भोग प्राप्त होते हैं। मोक्षका सुयोग हाथ नहीं लगता है। इस बातको तुम्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

स देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं
ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।
संहारविक्षेपशतानि चाष्टौ
मर्त्येषु तिष्ठत्यमृतत्वमेति ॥ ४३ ॥

'वह जीव निरन्तर देवलोकमें विहार करता है और वहाँसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। मर्त्यलोकमें वह आठ सौ कल्पोंतक बारंबार जन्म लेता रहता है। तत्पश्चात् शुभकर्म करके वह पुनः देवभावको प्राप्त करता है (यह आवागमनका चक्र तभीतक चलता है, जबतक जीवको परमज्ञान या अनन्य भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति होनेपर तो वह मुक्त या परमात्माको प्राप्त हो जाता है।) ॥ ४३ ॥

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात्
कृष्णे तले तिष्ठति सर्वकृष्टे।
यथा त्वयं सिद्ध्यति जीवलोक-
स्तत् तेऽभिधास्याम्यसुरप्रवीर ॥ ४४ ॥

'असुरोंके प्रमुख वीर! वह जीव कालक्रमसे अशुभ कर्म करके कभी-कभी मर्त्यलोकसे भी नीचे गिर जाता है और सबसे निकृष्ट, तलप्रदेशकी भाँति निम्नतम, कृष्णवर्ण (स्थावर योनि) में जन्म ग्रहण करके स्थित होता है। इस प्रकार उत्थान-पतनके चक्रमें पड़े हुए इस जीवसमूहको जिस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ४४ ॥

दैवानि स व्यूहशतानि सप्त
रक्तो हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः।
संश्रित्य संधावति शुक्लमेत-
मष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान् ॥ ४५ ॥

'क्रमशः रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता), हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण (सनकादिकुमारों-जैसा सिद्ध शरीरधारी) होकर वह जीव बारी-बारीसे सात सौ दिव्य शरीरोंका आश्रय ले भू आदि सात उत्तमोत्तम लोकोंमें विचरण करके पूर्व पुण्यके प्रभावसे वेगपूर्वक विशुद्ध ब्रह्म-लोकमें चला जाता है ॥ ४५ ॥

१. दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस भोगके साधन हैं, विषय और वृत्तियोंके भेदसे इन्हींके उतने ही सौ और उतने ही हजार प्रकार हो जाते हैं।

अष्टौ च षष्टिं च शतानि चैव
मनोनिरुद्धानि महाद्युतीनाम्।
शुक्लस्य वर्णस्य परा गतिर्या
त्रीण्येव रुद्धानि महानुभाव ॥ ४६ ॥

'महानुभाव वृत्रासुर! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ—ये आठ, तथा दूसरे साठ[1] तत्त्व और इनकी जो सैकड़ों वृत्तियाँ हैं—ये सब महातेजस्वी योगियोंके मनके द्वारा अवरुद्ध की हुई होती हैं। तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको भी वे अवरुद्ध कर देते हैं। अतः शुक्लवर्णवाले (सनकादिकोंके समान सिद्ध) पुरुषको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वही उन योगियोंको मिलती है ॥

संहारविक्षेपमनिष्टमेकं
चत्वारि चान्यानि वसत्यनीशः।
षष्ठस्य वर्णस्य परा गतिर्या
सिद्धावसिद्धस्य गतक्लमस्य ॥ ४७ ॥

'जो परमगति छठे (शुक्ल) वर्णके साधकको मिलती है, उसे पानेका अधिकार भ्रष्ट करके भी जो असिद्ध हो रहा है एवं जिसके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं ऐसा योगी भी यदि योगजनित ऐश्वर्यके सुखभोगकी वासनाका त्याग करनेमें असमर्थ है तो वह न चाहनेपर भी एक कल्पतक अपनी साधनाके फलरूप महर्, जन, तप और सत्य—इन चारों लोकोंमें क्रमशः निवास करता है (और कल्पके अन्तमें मुक्त हो जाता है) ॥ ४७ ॥

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः
संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके
ततो महान् मानुषतामुपैति ॥ ४८ ॥

'किंतु जो भलीभाँति योगसाधनमें असमर्थ है, वह योग-भ्रष्ट पुरुष सौ कल्पोंतक ऊपरके सात लोकोंमें निवास करता है। फिर बचे हुए कर्मसंस्कारोंके सहित वहाँसे लौटकर मनुष्यलोकमें पहलेसे बढ़कर महत्त्वसम्पन्न हो मनुष्यशरीरको पाता है ॥ ४८ ॥

तस्मादुपावृत्य ततः क्रमेण
सोऽग्रेण संतिष्ठति भूतसर्गम्।
स सप्तकृत्वश्च परैति लोकान्
संहारविक्षेपकृतप्रभावः ॥ ४९ ॥

'तदनन्तर मनुष्ययोनिसे निकलकर वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ देवादि योनियोंकी ओर अग्रसर होता है एवं सातों लोकोंमें प्रभावशाली होकर एक कल्पतक निवास करता है ॥ ४९ ॥

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस इन्द्रियाँ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके भेदसे प्रत्येक छः-छः प्रकारकी होती हैं। इस प्रकार इनके साठ भेद हो जाते हैं।

सप्तैव संहारमुपप्लवानि
सम्भाव्य संतिष्ठति जीवलोके ।
ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति
देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च ।
शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव
देवस्य विष्णोः परमस्य चैव ॥ ५० ॥

'फिर वह योगी भू आदि सात लोकोंको विनाशशील क्षणभङ्गुर समझकर पुनः मनुष्यलोकमें भलीभाँति (शोक-मोहसे रहित होकर) निवास करता है। तदनन्तर शरीरका अन्त होनेपर वह अव्यय (अविनाशी या निर्विकार) एवं अनन्त (देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य) स्थान (परब्रह्मपद) को प्राप्त होता है। वह अव्यय एवं अनन्त स्थान किसीके मतमें महादेवजीका कैलासधाम है। किसीके मतमें भगवान् विष्णुका वैकुण्ठधाम है । किसीके मतमें ब्रह्माजीका सत्यलोक है। कोई-कोई उसे भगवान् शेष या अनन्तका धाम बताते हैं। कोई वह जीवका ही परमधाम है—ऐसा कहते हैं और कोई-कोई उसे सर्वव्यापी चिन्मय प्रकाशसे युक्त परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं ॥ '५० ॥

संहारकाले परिदग्धकाया
ब्रह्माणमायान्ति सदा प्रजा हि ।
चेष्टात्मनो देवगणाश्च सर्वे
ये ब्रह्मलोकेऽपराः स्म तेऽपि ॥ ५१ ॥

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सूक्ष्म, स्थूल और कारणशरीर दग्ध हो गये हैं, वे प्रजाजन अर्थात् योगीलोग प्रलयकालमें सदा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं एवं जो ब्रह्मलोकसे नीचेके लोकोंमें रहनेवाले साधनशील दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न साधक हैं, वे सब परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

प्रजाविसर्गं तु सशेषकाले
स्थानानि स्वान्येव सरन्ति जीवाः ।
निःशेषतस्तत्पदं यान्ति चान्ते
सर्वे देवा ये सदृशा मनुष्याः ॥ ५२ ॥

'प्रलयकालमें जो जीव देवभावको प्राप्त थे, वे यदि अपने सम्पूर्ण कर्मफलोंका उपभोग समाप्त करनेसे पहले ही लयको प्राप्त हो जाते हैं तो कल्पान्तरमें पुनः प्रजाकी सृष्टि होनेपर वे शेष फलका उपभोग करनेके लिये उन्हीं स्थानोंको प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पूर्वकल्पमें प्राप्त थे; किंतु जो कल्पान्तमें उस योनिसम्बन्धी कर्मफल-भोगको पूर्ण कर चुके हैं, वे स्वर्गलोकका नाश हो जानेपर दूसरे कल्पमें उनके जैसे कर्म हैं, उसीके सदृश अन्य प्राणियोंकी भाँति मनुष्य-योनिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

ये तु च्युताः सिद्धलोकात् क्रमेण
तेषां गतिं यान्ति तथाऽऽनुपूर्व्या ।
जीवाः परे तद्बलतुल्यरूपाः
स्वं स्वं विधिं यान्ति विपर्ययेण ॥ ५३ ॥

'जो योगी सिद्धलोकसे गिरकर मृत्युलोकमें आये हैं, उनके समान साधनबलसे सम्पन्न जो अन्य योगी हैं, वे भी एक लोकसे दूसरे लोकमें ऊपर उठते हुए क्रमशः उन सिद्ध पुरुषोंकी ही गतिको प्राप्त होते हैं। परंतु जो वैसे नहीं हैं, वे विपरीतभावके कारण अपनी-अपनी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

स यावदेवास्ति सशेषभुक् ते
प्रजाश्च देव्यौ च तथैव शुक्ले ।
तावत् तदङ्गेषु विशुद्धभावः
संयम्य पञ्चेन्द्रियरूपमेतत् ॥ ५४ ॥

'विशुद्धभावसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष जबतक पञ्चेन्द्रिय-रूप इस करणसमुदायका संयम करके शेष प्रारब्ध कर्मका उपभोग करता है, तबतक उसके शरीरमें समस्त प्रजागणोंका अर्थात् इन्द्रियोंके देवताओंका तथा अपरा और परा विद्याका निवास रहता है ॥ ५४ ॥

शुद्धां गतिं तां परमां परैति
शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन् ।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म
दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै ॥ ५५ ॥

'जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसंधान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व
नारायणस्येह बलं मया ते ॥ ५६ ॥

'उत्कृष्ट बलशाली दैत्यराज ! इस प्रकार यहाँ मैंने तुमसे यह भगवान् नारायणका बल एवं प्रभाव बताया है' ॥

वृत्र उवाच

एवं गते मे न विषादोऽस्ति कश्चित्
सम्यक् च पश्यामि वचस्तथैतत् ।
श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व
विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा ॥ ५७ ॥

वृत्रासुर बोला—उदारचित्त महात्मा सनत्कुमारजी ! यदि ऐसी बात है तो मुझे कोई विषाद नहीं है। मैं आपके वचनको अच्छी तरह समझता और इसे यथार्थ मानता हूँ। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आपकी इस वाणीको सुनकर मेरे सारे पाप और कलुष दूर हो गये ॥ ५७ ॥

प्रवृत्तमेतद् भगवन् महर्षे
महाद्युतेश्चक्रमनन्तवीर्यम् ।
विष्णोरनन्तस्य सनातनं तत्
स्थानं सर्गा यत्र सर्वे प्रवृत्ताः ।

स वै महात्मा पुरुषोत्तमो वै
तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्॥५८॥

भगवन्! महर्षे! महातेजस्वी, अनन्त एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका यह अमित शक्तिशाली संसारचक्र चल रहा है। यह भगवान् विष्णुका वह सनातन स्थान है, जहाँसे सारी सृष्टियोंका आरम्भ होता है। महात्मा विष्णु पुरुषोत्तम हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है॥५८॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स कौन्तेय वृत्रः प्राणानवासृजत्।
योजयित्वा तथाऽऽत्मानं परं स्थानमवाप्तवान्॥ ५९॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! ऐसा कहकर वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परमधामको प्राप्त कर लिया॥ ५९॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं स भगवान् देवः पितामह जनार्दनः।
सनत्कुमारो वृत्राय यत्तदाख्यातवान् पुरा॥ ६०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पूर्वकालमें महात्मा सनत्कुमारने वृत्रासुरसे जिनके स्वरूपका वर्णन किया था, वे भगवान् विष्णु—ये हमारे जनार्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं?॥

भीष्म उवाच

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा।
तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः।६१।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! मूल-कारणरूपसे स्थित, महान् देव, महामनस्वी भगवान् नारायण हैं। वे अपने उस चिन्मय स्वरूपमें स्थित होकर अपने प्रभावसे नाना प्रकारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं॥ ६१॥

तुरीयांशेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम्।
तुरीयार्धेन लोकांस्त्रीन् भावयत्येव बुद्धिमान्॥ ६२॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णको तुम उस श्रीनारायणके एक चतुर्थ अंशसे सम्पन्न समझो। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्थ अंशसे ही तीनों लोकोंकी रचना करते हैं॥ ६२॥

अर्वाक् स्थितस्तु यः स्थायी कल्पान्ते परिवर्तते।
स शेते भगवानप्सु योऽसावतिबलः प्रभुः।
तान् विधाता प्रसन्नात्मा लोकांश्चरति शाश्वतान्।६३।

जो परवर्ती सनातन नारायण प्रलयकालमें भी विद्यमान हैं, वे ही अत्यन्त बलशाली और सबके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि कल्पान्तमें जलके भीतर शयन करते हैं तथा वे प्रसन्नात्मा सृष्टिकर्ता ईश्वर उन समस्त शाश्वत लोकोंमें विचरण करते हैं॥

सर्वाण्यशून्यानि करोत्यनन्तः
सनातनः संचरते च लोकान्।
स चानिरुद्धः सृजते महात्मा
तत्स्थं जगत् सर्वमिदं विचित्रम्॥ ६४॥

अनन्त एवं सनातन भगवान् श्रीहरि समस्त कारणोंको सत्ता और स्फूर्ति देकर परिपूर्ण करते और लीलावपु धारण करके लोकोंमें विचरण करते हैं। उन महापुरुषकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। वे ही इस जगत्‌की सृष्टि करते हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण विचित्र विश्व प्रतिष्ठित है॥ ६४॥

युधिष्ठिर उवाच

वृत्रेण परमार्थज्ञ दृष्टा मन्येऽऽत्मनो गतिः।
शुभा तस्मात् स सुखितो न शोचति पितामह॥ ६५॥

युधिष्ठिरने कहा—परमार्थतत्त्वके ज्ञाता पितामह! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुरने आत्माके शुभ एवं यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया था; इसीलिये वह सुखी था, शोक नहीं करता था॥ ६५॥

शुक्लः शुक्लाभिजातीयः साध्यो नावर्ततेऽनघ।
तिर्यग्गतेश्च निर्मुक्तो निरयाच्च पितामह॥ ६६॥

निष्पाप पितामह! वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुआ था और स्वभावसे भी शुद्ध था। जान पड़ता है वह साध्य नामक देवता ही था; इसीलिये पुनः संसारमें नहीं लौटा। वह पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकसे छुटकारा पा गया॥ ६६॥

हारिद्रवर्णे रक्ते वा वर्तमानस्तु पार्थिव।
तिर्यगेवानुपश्येत कर्मभिस्तामसैर्वृतः॥ ६७॥

पृथ्वीनाथ! पीतवर्णवाले देवसर्गमें तथा रक्तवर्णवाले अनुग्रहसर्गमें विद्यमान प्राणी कभी तामस कर्मोंसे आवृत होकर तिर्यग्योनिका भी दर्शन कर सकता है॥ ६७॥

वयं तु भृशमापन्ना रक्ता दुःखसुखेऽसुखे।
कां गतिं प्रतिपत्स्यामो नीलां कृष्णाधमामथ॥ ६८॥

हमलोग तो और भी अधिक आपत्तिसे घिरे हुए हैं। दुःख-सुखसे मिश्रित भावमें अथवा केवल दुःखमय भावमें आसक्त हैं। ऐसी दशामें पता नहीं हमें किस गतिकी प्राप्ति होगी। हम नीलवर्णवाली मानव-योनिमें पड़ेंगे या कृष्णवर्णवाली स्थावर योनिसे भी हीनदशाको जा पहुँचेंगे॥ ६८॥

भीष्म उवाच

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः पाण्डवाः संशितव्रताः।
विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुषमेष्यथ॥ ६९॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम सभी पाण्डव विशुद्ध कुलसे सम्पन्न और तीक्ष्ण व्रतोंका भलीभाँति पालन करनेवाले हो; अतः देवताओंके लोकोंमें विहार करके पुनः मनुष्य-शरीरको ही प्राप्त करोगे॥ ६९॥

प्रजाविसर्गं च सुखेन काले
प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा।
सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां
मा वो भयं भूद् विमलाः स्थ सर्वे॥ ७०॥

तुम सब लोग यथासमय सुखसे संतानोत्पादन करके

देवलोकोंमें जाकर सुख भोगोगे। तत्पश्चात् सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करके सिद्धोंमें गिने जाओगे। तुम्हारे मनमें दुर्गतिका भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम सब लोग निर्मल एवं निष्पाप हो ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रगीताविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णोर्भक्तिश्च तादृशी ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! अमित तेजस्वी वृत्रासुरकी धर्मनिष्ठा अद्भुत थी। उसका विज्ञान भी अनुपम था और भगवान् विष्णुके प्रति उसकी भक्ति भी वैसी ही उच्चकोटिकी थी ॥ १ ॥

दुर्विज्ञेयं पदं तात विष्णोरमिततेजसः।
कथं वा राजशार्दूल पदं तु ज्ञातवानसौ ॥ २ ॥

तात! अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुके स्वरूपका ज्ञान तो अत्यन्त कठिन है। नृपश्रेष्ठ! उस वृत्रासुरने उस परमपदका ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ २ ॥

भवता कथितं ह्येतच्छ्रद्दधे चाहमच्युत।
भूयस्तु मे समुत्पन्ना बुद्धिरव्यक्तदर्शनात् ॥ ३ ॥

आपने इस घटनाका वर्णन किया है; इसलिये मैं इसे सत्य मानता और इसपर विश्वास करता हूँ; क्योंकि आप कभी सत्यसे विचलित नहीं होते हैं तथापि यह बात स्पष्टरूपसे मेरी समझमें नहीं आयी है; अतः पुनः मेरी बुद्धिमें प्रश्न उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥

कथं विनिहतो वृत्रः शक्रेण पुरुषर्षभ।
धार्मिको विष्णुभक्तश्च तत्त्वज्ञश्च पदान्वये ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर! वृत्रासुर धर्मात्मा, भगवान् विष्णुका भक्त और वेदान्तके पदोंका अन्वय करके उनके तात्पर्यको ठीक-ठीक समझनेमें कुशल था तो भी इन्द्रने उसे कैसे मार डाला?॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि पृच्छते भरतर्षभ।
वृत्रस्तु राजशार्दूल यथा शक्रेण निर्जितः॥ ५ ॥

भरतभूषण! नृपश्रेष्ठ! मैं यह बात आपसे पूछता हूँ, आप मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। इन्द्रने वृत्रासुरको कैसे परास्त किया? ॥ ५ ॥

यथा चैवाभवद् युद्धं तच्चाचक्ष्व पितामह।
विस्तरेण महाबाहो परं कौतूहलं हि मे ॥ ६ ॥

महाबाहु पितामह! इन्द्र और वृत्रासुरमें किस प्रकार युद्ध हुआ था, यह विस्तारपूर्वक बताइये; इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

रथेनेन्द्रः प्रयातो वै सार्धं देवगणैः पुरा।
ददर्शाथाग्रतो वृत्रं धिष्ठितं पर्वतोपमम् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालकी बात है, इन्द्र रथपर आरूढ़ हो देवताओंको साथ ले वृत्रासुरसे युद्ध करनेके लिये चले। उन्होंने अपने सामने खड़े हुए पर्वतके समान विशालकाय वृत्रको देखा ॥ ७ ॥

योजनानां शतान्यूर्ध्वं पञ्चोच्छ्रितमरिंदम।
शतानि विस्तरेणाथ त्रीण्येवाभ्यधिकानि वै ॥ ८ ॥

शत्रुदमन नरेश! वह पाँच सौ योजन ऊँचा था और कुछ अधिक तीन सौ योजन उसकी मोटाई थी ॥ ८ ॥

तत् प्रेक्ष्य तादृशं रूपं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम्।
वृत्रस्य देवाः संत्रस्ता न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ९ ॥

वृत्रासुरका वह वैसा रूप, जो तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय था, देखकर देवतालोग डर गये। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ९ ॥

शक्रस्य तु तदा राजन्नूरुस्तम्भो व्यजायत।
भयाद् वृत्रस्य सहसा दृष्ट्वा तद्रूपमुत्तमम् ॥ १० ॥

राजन्! उस समय वृत्रासुरका वह उत्तम एवं विशाल रूप देखकर सहसा भयके मारे इन्द्रकी दोनों जाँघें अकड़ गयीं॥

ततो नादः समभवद् वादित्राणां च निःस्वनः।
देवासुराणां सर्वेषां तस्मिन् युद्धे ह्युपस्थिते ॥ ११ ॥

तदनन्तर वह युद्ध उपस्थित होनेपर समस्त देवताओं और असुरोंके दलोंमें रणवाद्योंका भीषण नाद होने लगा ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य दृष्ट्वा शक्रमवस्थितम्।
न सम्भ्रमो न भीः काचिदास्था वा समजायत ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! इन्द्रको खड़ा देखकर भी वृत्रासुरके मनमें न तो घबराहट हुई, न कोई भय हुआ और न इन्द्रके प्रति उसकी कोई युद्धविषयक चेष्टा ही हुई ॥ १२ ॥

ततः समभवद् युद्धं त्रैलोक्यस्य भयंकरम्।
शक्रस्य च सुरेन्द्रस्य वृत्रस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

फिर तो देवराज इन्द्र और महामनस्वी वृत्रासुरमें भारी युद्ध छिड़ गया, जो तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ १३ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैः शक्तितोमरमुद्गरैः।
शिलाभिर्विविधाभिश्च कार्मुकैश्च महास्वनैः॥ १४॥
शस्त्रैश्च विविधैर्दिव्यैः पावकोल्काभिरेव च।
देवासुरैस्ततः सैन्यैः सर्वमासीत् समाकुलम्॥ १५॥

उस समय तलवार, पट्टिश, त्रिशूल, शक्ति, तोमर, मुद्गर, नाना प्रकारकी शिला, भयानक टङ्कार करनेवाले धनुष, अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र तथा आगकी ज्वालाओंसे एवं देवताओं और असुरोंकी सेनाओंसे यह सारा आकाश व्याप्त हो गया॥

पितामहपुरोगाश्च सर्वे देवगणास्तथा।
ऋषयश्च महाभागास्तद् युद्धं द्रष्टुमागमन्॥ १६॥
विमानाग्र्यैर्महाराज सिद्धाश्च भरतर्षभ।
गन्धर्वाश्च विमानाग्र्यैरप्सरोभिः समागमन्॥ १७॥

भरतभूषण महाराज! ब्रह्मा आदि समस्त देवता, महाभाग ऋषि, सिद्धगण तथा अप्सराओंसहित गन्धर्व—ये सबके सब श्रेष्ठ विमानोंपर आरूढ़ हो उस अद्भुत युद्धका दृश्य देखनेके लिये वहाँ आ गये थे॥ १६-१७॥

ततोऽन्तरिक्षमावृत्य वृत्रो धर्मभृतां वरः।
अश्मवर्षेण देवेन्द्रं समाकिरदलिद्रुतम्॥ १८॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरने आकाशको घेरकर बड़ी उतावलीके साथ देवराज इन्द्रपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ १८॥

ततो देवगणाः क्रुद्धाः सर्वतः शरवृष्टिभिः।
अश्मवर्षमपोहन्त वृत्रप्रेरितमाहवे॥ १९॥

यह देख देवगण कुपित हो उठे। उन्होंने युद्धमें सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करके वृत्रासुरके चलाये हुए पत्थरोंकी वर्षाको नष्ट कर दिया॥ १९॥

वृत्रस्तु कुरुशार्दूल महामायो महाबलः।
मोहयामास देवेन्द्रं मायायुद्धेन सर्वशः॥ २०॥

कुरुश्रेष्ठ! महामायावी महाबली वृत्रासुरने सब ओरसे मायामय युद्ध छेड़कर देवराज इन्द्रको मोहमें डाल दिया॥२०॥

तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोह आसीच्छतक्रतोः।
रथन्तरेण तं तत्र वसिष्ठः समबोधयत्॥ २१॥

वृत्रासुरसे पीड़ित हुए इन्द्रपर मोह छा गया। तब वसिष्ठजीने रथन्तर सामद्वारा वहाँ इन्द्रको सचेत किया॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

देवश्रेष्ठोऽसि देवेन्द्र दैत्यासुरनिबर्हण।
त्रैलोक्यबलसंयुक्तः कस्माच्छक्र विषीदसि॥ २२॥

वसिष्ठजीने कहा—देवेन्द्र! तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ हो। दैत्यों तथा असुरोंका संहार करनेवाले शक्र! तुम तो त्रिलोकीके बलसे सम्पन्न हो; फिर इस प्रकार विषादमें क्यों पड़े हो?॥ २२॥

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवश्चैव जगत्पतिः।
सोमश्च भगवान् देवः सर्वे च परमर्षयः॥ २३॥
(समुद्विग्नं समीक्ष्य त्वां स्वस्तीत्यूचुर्जयाय ते।)

ये जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा भगवान् सोमदेव और समस्त महर्षि तुम्हें उद्विग्न देखकर तुम्हारी विजयके लिये स्वस्तिवाचन कर रहे हैं॥ २३॥

मा कार्षीः कश्मलं शक्र कश्चिदेवेतरो यथा।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि शत्रून् सुराधिप॥ २४॥

इन्द्र! किसी साधारण मनुष्यके समान तुम कायरता न प्रकट करो। सुरेश्वर! युद्धके लिये श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर अपने शत्रुओंका संहार करो॥ २४॥

एष लोकगुरुस्त्र्यक्षः सर्वलोकनमस्कृतः।
निरीक्षते त्वां भगवांस्त्यज मोहं सुराधिप॥ २५॥

देवराज! ये सर्वलोकवन्दित लोकगुरु भगवान् त्रिलोचन शिव तुम्हारी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। तुम मोहको त्याग दो॥ २५॥

एते ब्रह्मर्षयश्चैव बृहस्पतिपुरोगमाः।
स्तवेन शक्र दिव्येन स्तुवन्ति त्वां जयाय वै॥ २६॥

शक्र! ये बृहस्पति आदि ब्रह्मर्षि तुम्हारी विजयके लिये दिव्य स्तोत्रद्वारा स्तुति कर रहे हैं॥ २६॥

भीष्म उवाच

एवं सम्बोध्यमानस्य वसिष्ठेन महात्मना।
अतीव वासवस्यासीद् बलमुत्तमतेजसः॥ २७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! महात्मा वसिष्ठके द्वारा इस प्रकार सचेत किये जानेपर महातेजस्वी इन्द्रका बल बहुत बढ़ गया॥

ततो बुद्धिमुपागम्य भगवान् पाकशासनः।
योगेन महता युक्तस्तां मायां व्यपकर्षत॥ २८॥

तब भगवान् पाकशासनने उत्तम बुद्धिका आश्रय ले महान् योगसे युक्त हो उस मायाको नष्ट कर दिया॥ २८॥

ततोऽङ्गिरःसुतः श्रीमांस्ते चैव सुमहर्षयः।
दृष्ट्वा वृत्रस्य विक्रान्तमुपागम्य महेश्वरम्॥ २९॥
ऊचुर्वृत्रविनाशार्थं लोकानां हितकाम्यया।

तदनन्तर अङ्गिराके पुत्र श्रीमान् बृहस्पति तथा बड़े-बड़े महर्षियोंने जब वृत्रासुरका पराक्रम देखा, तब महादेवजीके पास आकर लोकहितकी कामनासे वृत्रासुरके विनाशके लिये उनसे निवेदन किया॥ २९½॥

ततो भगवतस्तेजो ज्वरो भूत्वा जगत्पतेः॥ ३०॥
समाविशत् तदा रौद्रो वृत्रं लोकपतिं तदा।

तब जगदीश्वर भगवान् शिवका तेज रौद्र ज्वर होकर लोकेश्वर वृत्रके शरीरमें समा गया॥ ३०½॥

विष्णुश्च भगवान् देवः सर्वलोकाभिपूजितः॥ ३१॥
ऐन्द्रं समाविशद् वज्रं लोकसंरक्षणे रतः।

फिर लोकरक्षापरायण सर्वलोकपूजित देवेश्वर भगवान् विष्णुने भी इन्द्रके वज्रमें प्रवेश किया॥ ३१½॥

ततो बृहस्पतिर्धीमानुपागम्य शतक्रतुम्।

वसिष्ठश्च महातेजाः सर्वे च परमर्षयः ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य वरदं वासवं लोकपूजितम् ।
ऊचुरेकाग्रमनसो जहि वृत्रमिति प्रभो ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् बृहस्पति, महातेजस्वी वसिष्ठ तथा सम्पूर्ण महर्षि वरदायक, लोकपूजित शतक्रतु इन्द्रके पास जाकर एकाग्रचित्त हो इस प्रकार बोले—'प्रभो ! वृत्रासुरका वध करो' ॥ ३२-३३ ॥

महेश्वर उवाच

एष वृत्रो महाञ्शक्र बलेन महता वृतः ।
विश्वात्मा सर्वगश्चैव बहुमायश्च विश्रुतः ॥ ३४ ॥

महेश्वर बोले—इन्द्र ! यह महान् वृत्रासुर बड़ी भारी सेनासे घिरा हुआ तुम्हारे सामने खड़ा है । ज्ञाननिष्ठ होनेके कारण यह सम्पूर्ण विश्वका आत्मा है । इसमें सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति है । यह अनेक प्रकारकी मायाओंका सुविख्यात ज्ञाता भी है ॥ ३४ ॥

तदेनमसुरश्रेष्ठं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम् ।
जहि त्वं योगमास्थाय मावमंस्थाः सुरेश्वर ॥ ३५ ॥

सुरेश्वर ! यह श्रेष्ठ असुर तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय है । तुम योगका आश्रय लेकर इसका वध करो । इसकी अवहेलना न करो ॥ ३५ ॥

अनेन हि तपस्तप्तं बलार्थममराधिप ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि ब्रह्मा चास्मै वरं ददौ ॥ ३६ ॥

अमरेश्वर ! इस वृत्रासुरने बलकी प्राप्तिके लिये ही साठ हजार वर्षोंतक तप किया था और तब ब्रह्माजीने इसे मनोवाञ्छित वर दिया था ॥ ३६ ॥

महत्त्वं योगिनां चैव महामायत्वमेव च ।
महाबलत्वं च तथा तेजश्चाग्र्यं सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

सुरेन्द्र ! उन्होंने इसे योगियोंकी महिमा, महामायावीपन, महान् बल-पराक्रम तथा सर्वश्रेष्ठ तेज प्रदान किया है ॥

एतत् त्वां मामकं तेजः समाविशति वासव ।
व्यग्रमेनं त्वमप्येनं वज्रेण जहि दानवम् ॥ ३८ ॥

वासव ! लो, यह मेरा तेज तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करता है । इस समय दानव वृत्र ज्वरके कारण बहुत व्यग्र हो रहा है; इसी अवस्थामें तुम वज्रसे इसे मार डालो ॥ ३८ ॥

शक्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादेन दितिजं सुदुरासदम् ।
वज्रेण निहनिष्यामि पश्यतस्ते सुरर्षभ ॥ ३९ ॥

इन्द्रने कहा—भगवन् ! सुरश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे इस दुर्धर्ष दैत्यको मैं आपके देखते-देखते वज्रसे मार डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

आविश्यमाने दैत्ये तु ज्वरेणाथ महासुरे ।
देवतानामृषीणां च हर्षान्नादो महानभूत् ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब महादैत्य वृत्रासुरके शरीरमें ज्वरने प्रवेश किया, तब देवता और ऋषियोंका महान् हर्षनाद वहाँ गूँज उठा ॥ ४० ॥

ततो दुन्दुभयश्चैव शङ्खाश्च सुमहास्वनाः ।
मुरजा डिण्डिमाश्चैव प्रावाद्यन्त सहस्रशः ॥ ४१ ॥

फिर तो दुन्दुभियाँ, जोर-जोरसे बजनेवाले शङ्ख, ढोल और नगाड़े आदि सहस्रों बाजे बजाये जाने लगे ॥ ४१ ॥

असुराणां तु सर्वेषां स्मृतिलोपो महानभूत् ।
मायानाशश्च बलवान् क्षणेन समपद्यत ॥ ४२ ॥

समस्त असुरोंकी स्मरण-शक्तिका बड़ा भारी लोप हो गया । क्षणभरमें उनकी सारी मायाओंका पूर्णरूपसे विनाश हो गया ॥ ४२ ॥

तथाविष्टमथो ज्ञात्वा ऋषयो देवतास्तथा ।
स्तुवन्तः शक्रमीशानं तथा प्राचोदयन्नपि ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वृत्रासुरमें महादेवजीके ज्वरका आवेश हुआ जान देवता और ऋषि देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति करते हुए उन्हें वृत्रवधके लिये प्रेरणा देने लगे ॥ ४३ ॥

रथस्थस्य हि शक्रस्य युद्धकाले महात्मनः ।
ऋषिभिः स्तूयमानस्य रूपमासीत् सुदुर्दृशम् ॥ ४४ ॥

युद्धके समय रथपर बैठकर ऋषियोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए महामना इन्द्रका रूप ऐसा तेजस्वी प्रतीत होता था कि उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रवधे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रासुरका वधविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और उससे प्रकट हुई ब्रह्महत्याका ब्रह्माजीके द्वारा चार स्थानोंमें विभाजन

भीष्म उवाच

वृत्रस्य तु महाराज ज्वराविष्टस्य सर्वशः ।
अभवन् यानि लिङ्गानि शरीरे तानि मे शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! ज्वरसे आविष्ट हुए वृत्रासुरके शरीरमें जो लक्षण प्रकट हुए थे, उन्हें मुझसे सुनो ॥

ज्वलितास्योऽभवद् घोरो वैवर्ण्यं चागमत् परम् ।
गात्रकम्पश्च सुमहाञ्श्वासश्चाप्यभवन्महान् ॥ २ ॥

उसके मुखमें विशेष जलन होने लगी । उसकी आकृति बड़ी भयानक हो गयी । अङ्गकान्ति बहुत फीकी पड़ गयी । शरीर जोर-जोरसे काँपने लगा तथा बड़े वेगसे साँस चलने लगी ॥

रोमहर्षश्च तीव्रोऽभून्निःश्वासश्च महान् नृप ।
शिवा चाशिवसंकाशा तस्य वक्त्रात् सुदारुणा ॥ ३ ॥

निष्पपात महाघोरा स्मृतिः सा तस्य भारत ।

नरेश्वर ! उसके सारे शरीरमें तीव्र रोमाञ्च हो आया। वह लंबी साँस खींचने लगा। भरतनन्दन! वृत्रासुरके मुखसे अत्यन्त भयंकर अकल्याणस्वरूपा महाघोर गीदड़ीके रूपमें उसकी स्मरणशक्ति ही बाहर निकल पड़ी ॥ ३½ ॥

उल्काश्च ज्वलितास्तस्य दीप्ताः पार्श्वे प्रपेदिरे ॥ ४ ॥
गृध्राः कङ्का बलाकाश्च वाचोऽमुञ्चन् सुदारुणाः ।
वृत्रस्योपरि संहृष्टाश्चक्रवत् परिबभ्रमुः ॥ ५ ॥

उसके पार्श्वभागमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित उल्काएँ गिरने लगीं। गीध, कंक, बगले आदि भयंकर पक्षी अपनी बोली सुनाने लगे और एक दूसरेसे सटकर वृत्रासुरके ऊपर चक्रकी भाँति घूमने लगे ॥ ४-५ ॥

ततस्तं रथमास्थाय देवाप्यायित आहवे ।
वज्रोद्यतकरः शक्रस्तं दैत्यं समवैक्षत ॥ ६ ॥

तदनन्तर महादेवजीके तेजसे परिपुष्ट हो वज्र हाथमें लिये हुए इन्द्रने रथपर बैठकर युद्धमें उस दैत्यकी ओर देखा ॥

अमानुषमथो नादं स मुमोच महासुरः ।
व्यजृम्भच्चैव राजेन्द्र तीव्रज्वरसमन्वितः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! इसी समय तीव्र ज्वरसे पीड़ित हो उस महान् असुरने अमानुषी गर्जना की और बारंबार जँभाई ली ॥ ७ ॥

अथास्य जृम्भतः शक्रस्ततो वज्रमवासृजत् ।
स वज्रः सुमहातेजाः कालाग्निसदृशोपमः ॥ ८ ॥

जँभाई लेते समय ही इन्द्रने उसके ऊपर वज्रका प्रहार किया। वह महातेजस्वी वज्र कालाग्निके समान जान पड़ता था ॥

क्षिप्रमेव महाकायं वृत्रं दैत्यमपातयत् ।
ततो नादः समभवत् पुनरेव समन्ततः ॥ ९ ॥
वृत्रं विनिहतं दृष्ट्वा देवानां भरतर्षभः ।

उसने उस महाकाय दैत्य वृत्रासुरको तुरंत ही धराशायी कर दिया*। भरतश्रेष्ठ ! फिर तो वृत्रासुरको मारा गया देख चारों ओरसे देवताओंका सिंहनाद वहाँ बारंबार गूँजने लगा ॥

वृत्रं तु हत्वा मघवा दानवारिर्महायशाः ॥ १० ॥
वज्रेण विष्णुयुक्तेन दिवमेव समाविशत् ।

दानवशत्रु महायशस्वी इन्द्रने विष्णुके तेजसे व्याप्त हुए वज्रके द्वारा वृत्रासुरका वध करके पुनः स्वर्गलोकमें ही प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

अथ वृत्रस्य कौरव्य शरीरादभिनिःसृता ॥ ११ ॥
ब्रह्मवध्या महाघोरा रौद्रा लोकभयावहा ।
करालदशना भीमा विकृता कृष्णपिङ्गला ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर वृत्रासुरके मृत शरीरसे सम्पूर्ण जगत्को भय देनेवाली महाघोर एवं क्रूर स्वभाववाली ब्रह्महत्या प्रकट हुई। उसके दाँत बड़े विकराल थे। उसकी आकृति कृष्ण और पिङ्गल वर्णकी थी। वह देखनेमें बड़ी भयानक और विकृत रूपवाली थी ॥ ११-१२ ॥

प्रकीर्णमूर्धजा चैव घोरनेत्रा च भारत ।
कपालमालिनी चैव कृत्येव भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! उसके बाल बिखरे हुए थे, नेत्र बड़े भयावने थे। उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी। भरतश्रेष्ठ ! वह कृत्या-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

रुधिरार्द्रा च धर्मज्ञ चीरवल्कलवासिनी ।
साभिनिष्क्रम्य राजेन्द्र तादृग्रूपा भयावहा ॥ १४ ॥
वज्रिणं मृगयामास तदा भरतसत्तम ।

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! भरतसत्तम ! उसके सारे अङ्ग रक्तसे भींगे हुए थे। उसने चीर और वल्कल पहन रखे थे। ऐसे विकराल रूपवाली वह भयानक ब्रह्महत्या वृत्रके शरीरसे निकलकर तत्काल ही वज्रधारी इन्द्रको खोजने लगी ॥ १४½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य वृत्रहा कुरुनन्दन ॥ १५ ॥
स्वर्गायाभिमुखः प्रायाल्लोकानां हितकाम्यया ।
सा विनिःसरमाणं तु दृष्ट्वा शक्रं महौजसम् ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय वृत्रविनाशक इन्द्र लोकहितकी कामनासे स्वर्गकी ओर जा रहे थे। महातेजस्वी इन्द्रको युद्धभूमिसे निकलकर जाते देख ब्रह्महत्या कुछ ही कालमें उनके पास जा पहुँची ॥ १५-१६ ॥

जग्राह वध्या देवेन्द्रं सुलग्ना चाभवत् तदा ।
स हि तस्मिन् समुत्पन्ने ब्रह्मवध्याकृते भये ॥ १७ ॥

* अध्याय २८० के ५९ वें श्लोकमें आया है कि 'वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका चिन्तन करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परम धामको प्राप्त कर लिया'—यहाँ भी इतनी बात और समझ लेनी चाहिये ।

नलिन्या विसमध्यस्थ उवासाब्दगणान् बहून् ।

उस ब्रह्महत्याने देवेन्द्रको पकड़ लिया और वह तुरंत ही उनके शरीरसे सट गयी। वह ब्रह्महत्याजनित भय उपस्थित होनेपर इन्द्र उससे पिण्ड छुड़ानेके लिये भागे और कमलकी नालके भीतर घुसकर उसीमें बहुत वर्षोंतक छिपे रहे ॥१७½॥

अनुसृत्य तु यत्नात् स तथा वै ब्रह्महत्यया ॥ १८ ॥
तदा गृहीतः कौरव्य निस्तेजाः समपद्यत ।

परंतु उस ब्रह्महत्याने यत्नपूर्वक उनका पीछा करके वहाँ भी उन्हें जा पकड़ा। कुरुनन्दन ! ब्रह्महत्याद्वारा पकड़ लिये जानेपर इन्द्र निस्तेज हो गये ॥ १८½ ॥

तस्या व्यपोहने शक्रः परं यत्नं चकार ह ॥ १९ ॥
न चाशकत् तां देवेन्द्रो ब्रह्मवध्यां व्यपोहितुम् ।

देवेन्द्रने उसके निवारणके लिये महान् प्रयत्न किया; परंतु किसी तरह भी वे उसे दूर न कर सके ॥ १९½ ॥

गृहीत एव तु तया देवेन्द्रो भरतर्षभ ॥ २० ॥
पितामहमुपागम्य शिरसा प्रत्यपूजयत् ।

भरतभूषण ! ब्रह्महत्याने देवराज इन्द्रको अपना बंदी बना ही लिया। वे उसी अवस्थामें ब्रह्माजीके पास गये और मस्तक झुकाकर उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥ २०½ ॥

ज्ञात्वा गृहीतं शक्रं स द्विजप्रवरवध्यया ॥ २१ ॥
ब्रह्मा स चिन्तयामास तदा भरतसत्तम ।

भरतसत्तम ! एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके वधसे पैदा हुई ब्रह्महत्याने इन्द्रको पकड़ लिया है—यह जानकर ब्रह्माजी विचार करने लगे ॥ २१½ ॥

तामुवाच महाबाहो ब्रह्मवध्यां पितामहः ॥ २२ ॥
स्वरेण मधुरेणाथ सान्त्वयन्निव भारत ।

महाबाहु भारत ! तब ब्रह्माजीने उस ब्रह्महत्याको अपनी मीठी वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए-से उससे कहा—॥२२½॥

मुच्यतां त्रिदशेन्द्रोऽयं मत्प्रियं कुरु भाविनि ॥ २३ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यद्य कामं किं त्वमिहेच्छसि ॥ २४ ॥

'भाविनि ! ये देवताओंके राजा इन्द्र हैं, इन्हें छोड़ दो। मेरा यह प्रिय कार्य करो। बोलो, मैं तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा पूर्ण करूँ। तुम जिस किसी मनोरथको पाना चाहो उसे बताओ' ॥ २३-२४ ॥

ब्रह्मवध्योवाच

त्रिलोकपूजिते देवे प्रीते त्रैलोक्यकर्तरि ।
कृतमेव हि मन्यामि निवासं तु विधत्स्व मे ॥ २५ ॥

ब्रह्महत्या बोली—तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले त्रिभुवनपूजित आप परमदेवके प्रसन्न हो जानेपर मैं अपने सारे मनोरथोंको पूर्ण हुआ ही मानती हूँ। अब आप मेरे लिये केवल निवासस्थानका प्रबन्ध कर दीजिये ॥ २५ ॥

त्वया कृतेयं मर्यादा लोकसंरक्षणार्थिना ।
स्थापना वै सुमहती त्वया देव प्रवर्तिता ॥ २६ ॥

आपने सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये यह धर्मकी मर्यादा बाँधी है। देव ! आपहीने इस महत्त्वपूर्ण मर्यादाकी स्थापना करके इसे चलाया है ॥ २६ ॥

प्रीते तु त्वयि धर्मज्ञ सर्वलोकेश्वर प्रभो ।
शक्रादपगमिष्यामि निवासं संविधत्स्व मे ॥ २७ ॥

धर्मके ज्ञाता सर्वलोकेश्वर प्रभो ! जब आप प्रसन्न हैं तो मैं इन्द्रको छोड़कर हट जाऊँगी; परंतु आप मेरे लिये निवास-स्थानकी व्यवस्था कर दीजिये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तथेति तां प्राह तदा ब्रह्मवध्यां पितामहः ।
उपायतः स शक्रस्य ब्रह्मवध्यां व्यपोहत ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब ब्रह्माजीने ब्रह्महत्यासे कहा—'बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे रहनेकी व्यवस्था करता हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उपायद्वारा इन्द्रकी ब्रह्महत्याको दूर किया ॥ २८ ॥

ततः स्वयम्भुवा ध्यातस्तत्र वह्निर्महात्मना ।
ब्रह्माणमुपसंगम्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

तदनन्तर महात्मा स्वयम्भूने वहाँ अग्निदेवका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे ब्रह्माजीके पास आ गये और इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

प्राप्तोऽस्मि भगवन् देव त्वत्सकाशमनिन्दित ।
यत् कर्तव्यं मया देव तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'भगवन् ! अनिन्द्य देव ! मैं आपके निकट आया हूँ। प्रभो ! मुझे जो कार्य करना हो, उसके लिये आप मुझे आज्ञा दें' ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

बहुधा विभजिष्यामि ब्रह्मवध्यामिमामहम् ।
शक्रस्याघविमोक्षार्थं चतुर्भागं प्रतीच्छ वै ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! मैं इन्द्रको पापमुक्त करनेके लिये इस ब्रह्महत्याके कई भाग करूँगा। इसका एक चतुर्थांश तुम भी ग्रहण कर लो ॥ ३१ ॥

अग्निरुवाच

मम मोक्षस्य कोऽन्तो वै ब्रह्मन् ध्यायस्व वै प्रभो ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वतो लोकपूजित ॥ ३२ ॥

अग्निने कहा—ब्रह्मन् ! प्रभो ! मेरे लिये आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परंतु मैं भी इस ब्रह्महत्यासे मुक्त हो सकूँ, इसके लिये इसकी अन्तिम अवधि क्या होगी, इसपर आप विचार करें। विश्ववन्द्य पितामह ! मैं इस बातको ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ।३२।

ब्रह्मोवाच

यस्त्वां ज्वलन्तमासाद्य स्वयं वै मानवः क्वचित् ।
बीजौषधिरसैर्वह्ने न यक्ष्यति तमोवृतः ॥ ३३ ॥
तमेषा यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।

ब्रह्मवध्या हव्यवाह व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ३४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! यदि किसी स्थानपर तुम प्रज्वलित हो रहे हो, वहाँ पहुँचकर कोई अधिकारी मानव तमोगुणसे आवृत होनेके कारण बीज, ओषधि या रसोंसे स्वयं ही तुम्हारा पूजन नहीं करेगा तो उसीपर तुरंत यह ब्रह्महत्या चली जायगी और उसीके भीतर निवास करने लगेगी; अतः हव्यवाहन ! तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह तद् वचो हव्यकव्यभुक् ।
पितामहस्य भगवांस्तथा च तदभूत् प्रभो ॥ ३५ ॥

प्रभो ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर हव्य और कव्यके भोक्ता भगवान् अग्निदेवने उन पितामहकी वह आज्ञा स्वीकार कर ली। इस प्रकार ब्रह्महत्याका एक चौथाई भाग अग्निमें चला गया ॥ ३५ ॥

ततो वृक्षौषधितृणं समाहूय पितामहः ।
इममर्थं महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

महाराज ! इसके बाद पितामह वृक्ष, तृण और ओषधियोंको बुलाकर उनसे भी वही बात कहने लगे ॥ ३६ ॥

(*ब्रह्मोवाच*

इयं वृत्रादनुप्राप्ता ब्रह्महत्या महाभया ।
पुरुहूतं चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छथ ॥)

ब्रह्माजी बोले—वृत्रासुरके वधसे यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्रकट होकर इन्द्रके पीछे लगी है । तुमलोग उसका एक चौथाई भाग स्वयं ग्रहण कर लो ॥

ततो वृक्षौषधितृणं तथैवोक्तं यथातथम् ।
व्यथितं वह्निवद् राजन् ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने जब उसी प्रकार सब बातें ठीक-ठीक सामने रख दीं, तब अग्निके ही समान वृक्ष, तृण और ओषधियोंका समुदाय भी व्यथित हो उठा और उन सबने ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३७ ॥

अस्माकं ब्रह्मवध्यायाः कोऽन्तो लोकपितामह ।
दैवेनाभिहतानस्मान् न पुनर्हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

'लोकपितामह ! हमारी इस ब्रह्महत्याका अन्त क्या होगा ? हम तो यों ही दैवके मारे हुए स्थावर योनिमें पड़े हैं; अतः अब आप पुनः हमें न मारें ॥ ३८ ॥

वयमग्निं तथा शीतं वर्षं च पवनेरितम् ।
सहामः सततं देव तथा च्छेदनभेदने ॥ ३९ ॥

ब्रह्मवध्यामिमामद्य भवतः शासनाद् वयम् ।
ग्रहीष्यामस्त्रिलोकेश मोक्षं चिन्तयतां भवान् ॥ ४० ॥

'देव ! त्रिलोकीनाथ ! हमलोग सदा अग्नि और धूपका ताप, सर्दी, वर्षा, आँधी और अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा भेदन-छेदनका कष्ट सहते रहते हैं। आज आपकी आज्ञासे इस ब्रह्महत्याको भी ग्रहण कर लेंगे; किंतु आप इनसे हमारे छुटकारेका उपाय भी तो सोचिये' ॥ ३९-४० ॥

ब्रह्मोवाच

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते यो वै च्छेदनभेदनम् ।
करिष्यति नरो मोहात् तमेषानुगमिष्यति ॥ ४१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—संक्रान्ति, ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वकाल प्राप्त होनेपर जो मनुष्य मोहवश तुम्हारा भेदन-छेदन करेगा, उसीके पीछे तुम्हारी यह ब्रह्महत्या लग जायगी ॥

भीष्म उवाच

ततो वृक्षौषधितृणमेवमुक्तं महात्मना ।
ब्रह्माणमभिसम्पूज्य जगामाशु यथागतम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर वृक्ष, ओषधि और तृणका समुदाय उनकी पूजा करके जैसे आया था, वैसे ही शीघ्र लौट गया ॥ ४२ ॥

आहूयाप्सरसो देवस्ततो लोकपितामहः ।
वाचा मधुरया प्राह सान्त्वयन्निव भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् लोकपितामह ब्रह्माजीने अप्सराओंको बुलाकर उन्हें मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए-से कहा—॥

इयमिन्द्रादनुप्राप्ता ब्रह्मवध्या वराङ्गनाः ।
चतुर्थमस्या भागांशं मयोक्ताः सम्प्रतीच्छत ॥ ४४ ॥

'सुन्दरियो ! यह ब्रह्महत्या इन्द्रके पाससे आयी है। तुमलोग मेरे कहनेसे इसका एक चतुर्थांश ग्रहण कर लो' ॥

अप्सरस ऊचुः

ग्रहणे कृतबुद्धीनां देवेश तव शासनात् ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं चिन्तयस्व पितामह ॥ ४५ ॥

अप्सराएँ बोलीं—देवेश पितामह ! आपकी आज्ञासे हमने इस ब्रह्महत्याको ग्रहण कर लेनेका विचार किया है, किंतु इससे हमारे छुटकारेके समयका भी विचार करनेकी कृपा करें ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच

रजस्वलासु नारीषु यो वै मैथुनमाचरेत् ।
तमेषा यास्यति क्षिप्रं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो पुरुष रजस्वला स्त्रियोंके साथ मैथुन करेगा, उसपर यह ब्रह्महत्या शीघ्र चली जायगी; अतः तुम्हारी यह मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥

भीष्म उवाच

तथेति हृष्टमनस इत्युक्त्वाप्सरसां गणाः ।
स्वानि स्थानानि सम्प्राप्य रेमिरे भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो गया । वे 'बहुत अच्छा' कहकर अपने-अपने स्थानोंमें जाकर विहार करने लगीं ॥ ४७ ॥

ततस्त्रिलोककृद् देवः पुनरेव महातपाः ।
अपःसंचिन्तयामास ध्यातास्ताश्चाप्यथागमन् ॥ ४८ ॥

तब त्रिभुवनकी सृष्टि करनेवाले महातपस्वी भगवान् ब्रह्माने पुनः जलका चिन्तन किया । उनके स्मरण करते ही तुरंत जल देवता वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ४८ ॥

तास्तु सर्वाः समागम्य ब्रह्माणममितौजसम् ।
इदमूचुर्वचो राजन् प्रणिपत्य पितामहम् ॥ ४९ ॥

राजन् ! वे सब अमित तेजस्वी पितामह ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार बोले–॥ ४९ ॥

इमाः स्म देव सम्प्राप्तास्त्वत्सकाशमरिंदम ।
शासनात् तव लोकेश समाज्ञापय नः प्रभो ॥ ५० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रभो ! देव ! लोकनाथ ! हम आपकी आज्ञासे सेवामें उपस्थित हुए हैं । हमें आज्ञा दीजिये, हम कौन-सी सेवा करें ?' ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच

इयं वृत्रादनुप्राप्ता पुरुहूतं महाभया ।
ब्रह्मवध्या चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छत ॥ ५१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वृत्रासुरके वधसे इन्द्रको यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्राप्त हुई है । तुमलोग इसका एक चौथाई भाग ग्रहण कर लो ॥ ५१ ॥

आप ऊचुः

एवं भवतु लोकेश यथा वदसि नः प्रभो ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं संचिन्तयितुमर्हसि ॥ ५२ ॥

जलदेवताने कहा—लोकेश्वर ! प्रभो ! आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही होगा; परंतु हम इस ब्रह्महत्यासे किस समय छुटकारा पायेंगे, इसका भी विचार कर लें ॥ ५२ ॥

त्वं हि देवेश सर्वस्य जगतः परमा गतिः ।
कोऽन्यः प्रसादो हि भवेद् यन्नः कृच्छ्रात् समुद्धरेत् ॥ ५३ ॥

देवेश्वर ! आप ही इस सम्पूर्ण जगत्के परम आश्रय हैं । आप हमारा इस संकटसे उद्धार कर दें, इससे बढ़कर हम लोगोंपर दूसरा कौन अनुग्रह होगा ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोवाच

अल्पा इति मतिं कृत्वा यो नरो बुद्धिमोहितः ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि युष्मासु प्रतिमोक्ष्यति ॥ ५४ ॥
तमियं यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।
तथा वो भविता मोक्ष इति सत्यं ब्रवीमि वः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो मनुष्य अपनी बुद्धिकी मन्दतासे मोहित होकर जलमें तुच्छ बुद्धि करके तुम्हारे भीतर थूक, खँखार या मल-मूत्र डालेगा, तुम्हें छोड़कर यह ब्रह्महत्या तुरंत उसीपर चली जायगी और उसीके भीतर निवास करेगी । इस प्रकार तुमलोगोंका ब्रह्महत्यासे उद्धार हो जायगा, यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ ५४-५५ ॥

ततो विमुच्य देवेन्द्रं ब्रह्मवध्या युधिष्ठिर ।
यथा विसृष्टं तं वासमगमद् देवशासनात् ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर देवराज इन्द्रको छोड़कर वह ब्रह्महत्या ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके दिये हुए पूर्वोक्त निवासस्थानोंको चली गयी ॥ ५६ ॥

एवं शक्रेण सम्प्राप्ता ब्रह्मवध्या जनाधिप ।
पितामहमनुज्ञाप्य सोऽश्वमेधमकल्पयत् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार इन्द्रको ब्रह्महत्या प्राप्त हुई थी, फिर उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा लेकर अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५७ ॥

श्रूयते च महाराज सम्प्राप्ता वासवेन वै ।
ब्रह्मवध्या ततः शुद्धिं हयमेधेन लब्धवान् ॥ ५८ ॥

महाराज ! सुननेमें आता है कि इन्द्रको जो ब्रह्महत्या लगी थी, उससे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके ही शुद्धि लाभ की थी ॥ ५८ ॥

समवाप्य श्रियं देवो हत्वारींश्च सहस्रशः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे वासवः पृथिवीपते ॥ ५९ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवराज इन्द्रने सहस्रों शत्रुओंका वध करके अपनी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पाकर अनुपम आनन्द प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

वृत्रस्य रुधिराच्चैव शिखण्डाः पार्थ जज्ञिरे ।
द्विजातिभिरभक्ष्यास्ते दीक्षितैश्च तपोधनैः ॥ ६० ॥

कुन्तीनन्दन ! वृत्रासुरके रक्तसे बहुतेरे छत्रक उत्पन्न हुए थे, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये तथा यज्ञकी दीक्षा लेनेवालोंके लिये और तपस्वियोंके लिये अभक्षणीय हैं ॥ ६० ॥

सर्वावस्थं त्वमप्येषां द्विजातीनां प्रियं कुरु ।
इमे हि भूतले देवाः प्रथिताः कुरुनन्दन ॥ ६१ ॥

कुरुनन्दन ! तुम भी इन ब्राह्मणोंका सभी अवस्थाओंमें प्रिय करो । ये इस पृथ्वीपर देवताके रूपमें विख्यात हैं ॥ ६१ ॥

एवं शक्रेण कौरव्य बुद्धिसौक्ष्म्यान्महासुरः ।
उपायपूर्वं निहतो वृत्रो ह्यमिततेजसा ॥ ६२ ॥

कुरुकुलभूषण ! इस तरह अमित तेजस्वी देवराज इन्द्रने अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे काम लेकर उपायपूर्वक महान् असुर वृत्रका वध किया था ॥ ६२ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय पृथिव्यामपराजितः ।
भविष्यसि यथा देवः शतक्रतुरमित्रहा ॥ ६३ ॥

कुन्तीकुमार ! जैसे स्वर्गलोकमें शत्रुसूदन इन्द्रदेव विजयी हुए थे, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीपर किसीसे पराजित होनेवाले नहीं हो ॥ ६३ ॥

ये तु शक्रकथां दिव्यामिमां पर्वसु पर्वसु ।
विप्रमध्ये वदिष्यन्ति न ते प्राप्स्यन्ति किल्बिषम् ॥ ६४ ॥

जो प्रत्येक पर्वके दिन ब्राह्मणोंकी सभामें इस दिव्य कथाका प्रवचन करेंगे, उन्हें किसी प्रकारका पाप नहीं प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

इत्येतद् वृत्रमाश्रित्य शक्रस्यात्यद्भुतं महत्।
कथितं कर्म ते तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६५ ॥

तात ! इस प्रकार वृत्रासुरके प्रसंगसे मैंने तुम्हें यह इन्द्रका अत्यन्त अद्भुत चरित्र सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्रह्महत्याविभागे द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्रह्महत्याका विभाजनविषयक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शिवजीद्वारा दक्षयज्ञका भंग और उनके क्रोधसे ज्वरकी उत्पत्ति तथा उसके विविध रूप

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
अस्मिन् वृत्रवधे देव विवक्षा मम जायते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! देव ! इस वृत्रवधके प्रसंगमें मुझे कुछ पूछनेकी इच्छा हो रही है ॥ १ ॥

ज्वरेण मोहितो वृत्रः कथितस्ते जनाधिप।
निहतो वासवेनेह वज्रेणेति तदानघ ॥ २ ॥

निष्पाप जनेश्वर ! आपने कहा है कि वृत्रासुर ज्वरसे मोहित हो गया था, उसी अवस्थामें इन्द्रने अपने वज्रसे उसे मार डाला ॥ २ ॥

कथमेष महाप्राज्ञ ज्वरः प्रादुर्बभौ कुतः।
ज्वरोत्पत्तिं निपुणतः श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ ३ ॥

महामते ! प्रभो ! यह ज्वर कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुआ ? मैं ज्वरकी उत्पत्तिका प्रसंग भलीभाँति सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् ज्वरस्येमं सम्भवं लोकविश्रुतम्।
विस्तरं चास्य वक्ष्यामि यादृशश्चैव भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ज्वरकी उत्पत्तिका यह वृत्तान्त सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है, सुनो। भारत ! यह प्रसंग जैसा है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

पुरा मेरोर्महाराज शृङ्गं त्रैलोक्यपूजितम्।
ज्योतिष्कं नाम सावित्रं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ५ ॥
अप्रमेयमनाधृष्यं सर्वलोकेषु भारत।

भरतनन्दन ! महाराज ! पूर्वकालमें सुमेरु पर्वतका ज्योतिष्क नामसे प्रसिद्ध एक शिखर था, जो सविता (सूर्य) देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण सावित्र कहलाता था। वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, अप्रमेय, समस्त लोकोंके लिये अगम्य और तीनों लोकोंद्वारा पूजित था ॥ ५½ ॥

तत्र देवो गिरितटे हेमधातुविभूषिते ॥ ६ ॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो बभूव ह।
शैलराजसुता चास्य नित्यं पार्श्वे स्थिता बभौ ॥ ७ ॥

सुवर्णमय धातुसे विभूषित उस पर्वतशिखरके तटपर बैठे हुए महादेवजी उसी प्रकार अपूर्व शोभा पाते थे मानो किसी सुन्दर पर्यङ्कपर बैठे हों। वहीं प्रतिदिन उनके वामपार्श्वमें रहकर गिरिराजनन्दिनी भगवती पार्वती भी अनुपम शोभा पाती थीं ॥ ६-७ ॥

तथा देवा महात्मानो वसवश्चामितौजसः।
तथैव च महात्मानावश्विनौ भिषजां वरौ।
तथा वैश्रवणो राजा गुह्यकैरभिसंवृतः ॥ ८ ॥
यक्षाणामीश्वरः श्रीमान् कैलासनिलयः प्रभुः।
(शङ्खपद्मनिधिभ्यां च ऋद्ध्या परमया सह।)
उपासन्त महात्मानमुशना च महामुनिः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार वहाँ बहुत-से महामनस्वी देवता, अमित तेजस्वी वसुगण, चिकित्सकोंमें श्रेष्ठ महामना अश्विनीकुमार, शङ्खनिधि, पद्मनिधि तथा उत्तम ऋद्धिके साथ गुह्यकोंसे घिरे हुए कैलासवासी यक्षपति प्रभुतासम्पन्न श्रीमान् राजा कुबेर तथा महामुनि शुक्राचार्य—ये सभी परमात्मा महादेवजीकी उपासना किया करते थे ॥ ८-९ ॥

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव च महर्षयः।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा देवर्षयोऽपरे ॥ १० ॥
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा नारदपर्वतौ।
अप्सरोगणसंघाश्च समाजग्मुरनेकशः ॥ ११ ॥

सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि तथा अन्य देवर्षि, विश्वावसु गन्धर्व, नारद, पर्वत और अप्सराओंके अनेक समुदाय उस पर्वतपर महादेवजीकी आराधनाके लिये आया करते थे ॥ १०-११ ॥

ववौ सुखः शिवो वायुर्नानागन्धवहः शुचिः।
सर्वर्तुकुसुमोपेताः पुष्पवन्तो द्रुमास्तथा ॥ १२ ॥

वहाँ नाना प्रकारकी सुगन्धको फैलानेवाली, पवित्र, सुखद एवं मङ्गलमयी वायु चलती रहती थी। सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित होनेवाले खिले हुए वृक्ष उस शिखरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १२ ॥

तथा विद्याधराश्चैव सिद्धाश्चैव तपोधनाः।
महादेवं पशुपतिं पर्युपासन्त भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तपस्याके धनी सिद्ध और विद्याधर भी वहाँ पशुपति महादेवजीकी उपासनामें तत्पर रहते थे ॥ १३ ॥

भूतानि च महाराज नानारूपधराण्यथ।
राक्षसाश्च महारौद्राः पिशाचाश्च महाबलाः ॥ १४ ॥
बहुरूपधरा हृष्टा नानाप्रहरणोद्यताः।
देवस्यानुचरास्तत्र तस्थिरे चानलोपमाः ॥ १५ ॥

महाराज ! अनेक रूप धारण करनेवाले भूत, महाभयङ्कर राक्षस, महाबली और बहुत-से रूप धारण करनेवाले पिशाच, जो महादेवजीके अनुचर थे, वहाँ हर्षमें भरकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े रहते थे। वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी थे ॥ १४-१५ ॥

नन्दी च भगवांस्तत्र देवस्यानुमते स्थितः।
प्रगृह्य ज्वलितं शूलं दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ १६ ॥

महादेवजीकी आज्ञासे भगवान् नन्दी अपने तेजसे देदीप्यमान हो हाथमें प्रज्वलित शूल लेकर वहाँ खड़े रहते थे ॥

गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा सर्वतीर्थजलोद्भवा।
पर्युपासत तं देवं रूपिणी कुरुनन्दन ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! समस्त तीर्थोंके जलोंको लेकर प्रकट हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी वहाँ दिव्यरूप धारण करके देवाधिदेव महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥ १७ ॥

स एवं भगवांस्तत्र पूज्यमानः सुरर्षिभिः।
देवैश्च सुमहातेजा महादेवो व्यतिष्ठत ॥ १८ ॥

इस प्रकार देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित होते हुए महातेजस्वी भगवान् महादेव वहाँ नित्य विराजमान थे ॥१८॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य दक्षो नाम प्रजापतिः।
पूर्वोक्तेन विधानेन यक्ष्यमाणोऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥

कुछ कालके अनन्तर दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापतिने पूर्वोक्त शास्त्रीय विधानके अनुसार यज्ञ करनेका संकल्प लेकर उसके लिये तैयारी आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

ततस्तस्य मखं देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
गमनाय समागम्य बुद्धिमापेदिरे तदा ॥ २० ॥

उस समय इन्द्र आदि सब देवताओंने दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें जानेके लिये परस्पर मिलकर निश्चय किया ॥ २० ॥

ते विमानैर्महात्मानो ज्वलनार्कसमप्रभैः।
देवस्यानुमतेऽगच्छन् गङ्गाद्वारमिति श्रुतिः ॥ २१ ॥

वे महामनस्वी देवता सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विमानोंपर बैठकर महादेवजीकी आज्ञा ले गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को गये—यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥

प्रस्थिता देवता दृष्ट्वा शैलराजसुता तदा।
उवाच वचनं साध्वी देवं पशुपतिं पतिम् ॥ २२ ॥

देवताओंको प्रस्थित हुआ देख सती साध्वी गिरिराज-नन्दिनी उमाने अपने स्वामी पशुपति महादेवजीसे पूछा— ॥

भगवन् क्व नु यान्त्येते देवाः शक्रपुरोगमाः।
ब्रूहि तत्त्वेन तत्त्वज्ञ संशयो मे महानयम् ॥ २३ ॥

'भगवन् ! ये इन्द्र आदि देवता कहाँ जा रहे हैं ? तत्त्वज्ञ परमेश्वर ! ठीक-ठीक बताइये। मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है' ॥ २३ ॥

महेश्वर उवाच

दक्षो नाम महाभागे प्रजानां पतिरुत्तमः।
हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः ॥ २४ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष अश्वमेध यज्ञ करते हैं; उसीमें ये सब देवता जा रहे हैं ॥ २४ ॥

उमोवाच

यज्ञमेतं महादेव किमर्थं नाधिगच्छसि।
केन वा प्रतिषेधेन गमनं ते न विद्यते ॥ २५ ॥

उमा बोलीं—महादेव ! इस यज्ञमें आप क्यों नहीं पधार रहे हैं ? किस प्रतिबन्धके कारण आपका वहाँ जाना नहीं हो रहा है ? ॥२५ ॥

महेश्वर उवाच

सुरैरेव महाभागे पूर्वमेतदनुष्ठितम्।
यज्ञेषु सर्वेषु मम न भाग उपकल्पितः ॥ २६ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! देवताओंने ही पहले ऐसा निश्चय किया था। उन्होंने सभी यज्ञोंमेंसे किसीमें भी मेरे लिये भाग नियत नहीं किया ॥ २६ ॥

पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि।
न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्मतः ॥ २७ ॥

सुन्दरि ! पूर्वनिश्चित नियमके अनुसार धर्मकी दृष्टिसे ही देवतालोग यज्ञमें मुझे भाग नहीं अर्पित करते हैं ॥२७॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेषु प्रभावाभ्यधिको गुणैः।
अजय्यश्चाप्यधृष्यश्च तेजसा यशसा श्रिया ॥ २८ ॥
अनेन ते महाभाग प्रतिषेधेन भागतः।
अतीव दुःखमुत्पन्नं वेपथुश्च ममानघ ॥ २९ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली, गुणवान्, अजेय, अधृष्य, तेजस्वी, यशस्वी तथा श्रीसम्पन्न हैं। महाभाग ! यज्ञमें जो इस प्रकार आपको भाग देनेका निषेध किया गया है, इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ है। अनघ ! इस अपमानसे मेरा सारा शरीर काँप रहा है ॥ २८-२९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु सा देवी तदा पशुपतिं पतिम्।
तूष्णींभूताभवद् राजन् दह्यमानेन चेतसा ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपने पति भगवान् पशुपतिसे ऐसा कहकर पार्वतीदेवी चुप हो गयीं, परंतु उनका हृदय शोकसे दग्ध हो रहा था ॥ ३० ॥

अथ देव्या मतं ज्ञात्वा हृद्गतं यच्चिकीर्षितम् ।
स समाज्ञापयामास तिष्ठ त्वमिति नन्दिनम् ॥ ३१ ॥

पार्वतीदेवीके मनमें क्या है और वे क्या करना चाहती हैं, इस बातको जानकर महादेवजीने नन्दीको आज्ञा दी कि तुम यहीं खड़े रहो ॥ ३१ ॥

ततो योगबलं कृत्वा सर्वयोगेश्वरेश्वरः ।
तं यज्ञं स महातेजा भीमैरनुचरैस्तदा ॥ ३२ ॥
सहसा घातयामास देवदेवः पिनाकधृक् ।

तदनन्तर सम्पूर्ण योगेश्वरोंके भी ईश्वर महातेजस्वी देवाधिदेव पिनाकधारी शिवने योगबलका आश्रय ले अपने भयानक सेवकोंद्वारा उस यज्ञको सहसा नष्ट करा दिया ॥

केचिन्नादानमुञ्चन्त केचिद्धासांश्च चक्रिरे ॥ ३३ ॥
रुधिरेणापरे राजंस्तत्राग्निं समवाकिरन् ।

राजन् ! भगवान् शिवके अनुचरोंमेंसे कोई तो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे, किन्हींने अट्टहास करना आरम्भ कर दिया तथा दूसरे यज्ञाग्निको बुझानेके लिये उसपर रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३३½ ॥

केचिद् यूपान् समुत्पाट्य बभ्रमुर्विकृताननाः ॥ ३४ ॥
आस्यैरन्ये चाग्रसन्त तथैव परिचारकान् ।

कोई विकराल मुखवाले पार्षद यज्ञके यूपोंको उखाड़कर वहाँ चारों ओर चक्कर लगाने लगे । दूसरोंने यज्ञके परिचारकोंको अपने मुखका ग्रास बना लिया ॥ ३४½ ॥

ततः स यज्ञो नृपते वध्यमानः समन्ततः ॥ ३५ ॥
आस्थाय मृगरूपं वै खमेवाभ्यगमत् तदा ।

नरेश्वर ! इस प्रकार जब सब ओरसे आघात होने लगा, तब वह यज्ञ मृगका रूप धारण करके आकाशकी ओर ही भाग चला ॥ ३५½ ॥

तं तु यज्ञं तथारूपं गच्छन्तमुपलभ्य सः ॥ ३६ ॥
धनुरादाय बाणेन तदान्वसरत प्रभुः ।

यज्ञको मृगका रूप धारण करके भागते देख भगवान् शिवने धनुष हाथमें लेकर अपने बाणके द्वारा उसका पीछा किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तस्य सुरेशस्य क्रोधादमिततेजसः ॥ ३७ ॥
ललाटात् प्रसृतो घोरः स्वेदबिन्दुर्बभूव ह ।
तस्मिन् पतितमात्रे च स्वेदबिन्दौ तदा भुवि ॥ ३८ ॥
प्रादुर्बभूव सुमहानग्निः कालानलोपमः ।

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी देवेश्वर महादेवजीके क्रोधके कारण उनके ललाटसे भयंकर पसीनेकी बूँद प्रकट हुई। उस पसीनेके बिन्दुके पृथ्वीपर पड़ते ही कालाग्निके समान विशाल अग्निपुञ्जका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३७-३८½ ॥

तत्र चाजायत तदा पुरुषः पुरुषर्षभ ॥ ३९ ॥
ह्रस्वोऽतिमात्रं रक्ताक्षो हरिश्मश्रुर्विभीषणः ।

पुरुषप्रवर ! उस समय उस आगसे एक नाटा-सा पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी आँखें बहुत ही लाल थीं। दाढ़ी और मूँछके बाल भूरे रंगके थे । वह देखनेमें बड़ा डरावना जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

ऊर्ध्वकेशोऽतिरोमाङ्गः श्येनोलूकस्तथैव च ॥ ४० ॥
करालकृष्णवर्णश्च रक्तवासास्तथैव च ।
तं यज्ञं सुमहासत्त्वोऽदहत् कक्षमिवानलः ॥ ४१ ॥

उसके केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे । उसके सारे अङ्ग बाज और उल्लूके समान अतिशय रोमावलियोंसे भरे थे । शरीरका रंग काला और विकराल था । उसके वस्त्र लाल रंगके थे । उस महान् शक्तिशाली पुरुषने उस यज्ञको उसी प्रकार दग्ध कर दिया, जैसे आग सूखे काठ या घास-फूसके ढेरको जलाकर भस्म कर डालती है ॥ ४०-४१ ॥

व्यचरत् सर्वतो देवान् प्राद्रवत् स ऋषींस्तथा ।
देवाश्चाप्याद्रवन् सर्वे ततो भीता दिशो दश ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् वह पुरुष सब ओर विचरने लगा और देवताओं तथा ऋषियोंकी ओर दौड़ा । उसे देखकर सब देवता भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४२ ॥

तेन तस्मिन् विचरता पुरुषेण विशाम्पते ।
पृथिवी ह्यचलद् राजन्नतीव भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

राजन् ! भरतभूषण ! प्रजानाथ ! उस यज्ञमें विचरते हुए उस पुरुषके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी बड़े जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ४३ ॥

हाहाभूतं जगत् सर्वमुपलक्ष्य तदा प्रभुः ।
पितामहो महादेवं दर्शयन् प्रत्यभाषत ॥ ४४ ॥

उस समय सारे जगत्में हाहाकार मच गया । यह सब देखकर भगवान् ब्रह्माने महादेवजीको जगत्की यह दुर्दशा दिखाते हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच

भवतोऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो ।
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी बोले—सर्वदेवेश्वर ! प्रभो ! अब आप अपने बढ़े हुए उस क्रोधको शान्त कीजिये । आजसे सब देवता आपको भी यज्ञका भाग दिया करेंगे ॥ ४५ ॥

इमा हि देवताः सर्वा ऋषयश्च परंतप ।
तव क्रोधान्महादेव न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ४६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महादेव ! ये सब देवता और ऋषि आपके क्रोधसे संतप्त होकर कहीं शान्ति नहीं पा रहे हैं ॥ ४६ ॥

यश्चैष पुरुषो जातः स्वेदात् ते विबुधोत्तम।
ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ ४७ ॥

धर्मज्ञ देवेश्वर ! आपके पसीनेसे जो यह पुरुष प्रकट हुआ है, इसका नाम होगा ज्वर। यह समस्त लोकोंमें विचरण करेगा ॥ ४७ ॥

एकीभूतस्य न त्वस्य धारणे तेजसः प्रभो।
समर्था सकला पृथ्वी बहुधा सृज्यतामयम् ॥ ४८ ॥

प्रभो ! आपका तेजरूप यह ज्वर जबतक एक रूपमें रहेगा, तबतक यह सारी पृथ्वी इसे धारण करनेमें समर्थ न हो सकेगी। अतः इसे अनेक रूपोंमें विभक्त कर दीजिये॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा देवो भागे चापि प्रकल्पिते।
भगवन्तं तथेत्याह ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४९ ॥

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा और यज्ञमें भाग मिलनेकी भी व्यवस्था हो गयी, तब महादेवजी अमित-तेजस्वी भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार बोले—'तथास्तु' ऐसा ही हो ॥ ४९ ॥

परां च प्रीतिमगमदुत्स्मयंश्च पिनाकधृक्।
अवाप च तदा भागं यथोक्तं ब्रह्मणा भवः ॥ ५० ॥

पिनाकधारी शिवको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई और वे मुस्कराने लगे। जैसा कि ब्रह्माजीने कहा था, उसके अनुसार उन्होंने यज्ञमें भाग प्राप्त कर लिया ॥ ५० ॥

ज्वरं च सर्वधर्मज्ञो बहुधा व्यसृजत् तदा।
शान्त्यर्थं सर्वभूतानां शृणु तच्चापि पुत्रक ॥ ५१ ॥

वत्स युधिष्ठिर ! उस समय समस्त धर्मोंके ज्ञाता भगवान् शिवने सम्पूर्ण प्राणियोंकी शान्तिके लिये ज्वरको अनेक रूपोंमें बाँट दिया, उसे भी सुन लो ॥ ५१ ॥

शीर्षाभितापो नागानां पर्वतानां शिलाजतु।
अपां तु नीलिकां विद्यान्निर्मोकं भुजगेषु च ॥ ५२ ॥
खोरकः सौरभेयाणामूषरं पृथिवीतले।
पशूनामपि धर्मज्ञ दृष्टिप्रत्यवरोधनम् ॥ ५३ ॥

हाथियोंके मस्तकमें जो ताप या पीड़ा होती है, वही उनका ज्वर है। पर्वतोंका ज्वर शिलाजितके रूपमें प्रकट होता है। सेवारको पानीका ज्वर समझना चाहिये। सर्पोंका ज्वर केंचुल है। गाय, बैलोंके खुरोंमें जो खोरक नामवाला रोग होता है, वही उनका ज्वर है। पृथ्वीका ज्वर ऊसरके रूपमें प्रकट होता है। धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! पशुओंकी दृष्टि-शक्तिका जो अवरोध होता है, वह भी उनका ज्वर ही है ॥ ५२-५३ ॥

रन्ध्रागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम्।
नेत्ररोगः कोकिलस्य ज्वरः प्रोक्तो महात्मना ॥ ५४ ॥

घोड़ोंके गलेके छेदमें जो मांसखण्ड बढ़ जाता है, वही उनका ज्वर है। मोरोंकी शिखाका निकलना ही उनके लिये ज्वर है। कोकिलका जो नेत्ररोग है, उसे भी महात्मा शिवने ज्वर बताया है ॥ ५४ ॥

अवीनां पित्तभेदश्च सर्वेषामिति नः श्रुतम्।
शुकानामपि सर्वेषां हिक्किका प्रोच्यते ज्वरः ॥ ५५ ॥

समस्त भेड़ोंका पित्तभेद भी ज्वर ही है—यह हमारे सुननेमें आया है। समस्त तोतोंके लिये हिचकीको ही ज्वर बताया गया है ॥ ५५ ॥

शार्दूलेष्वथ धर्मज्ञ श्रमो ज्वर इहोच्यते।
मानुषेषु तु धर्मज्ञ ज्वरो नामैष भारत ॥ ५६ ॥

धर्मज्ञ भरतनन्दन ! सिंहोंमें थकावटका होना ही ज्वर कहलाता है; परंतु मनुष्योंमें यह ज्वरके नामसे ही प्रसिद्ध है ॥ ५६ ॥

मरणे जन्मनि तथा मध्ये चाविशते नरम्।
एतन्माहेश्वरं तेजो ज्वरो नाम सुदारुणः ॥ ५७ ॥
नमस्यश्चैव मान्यश्च सर्वप्राणिभिरीश्वरः।
अनेन हि समाविष्टो वृत्रो धर्मभृतां वरः ॥ ५८ ॥

भगवान् महेश्वरका तेजरूप यह ज्वर अत्यन्त दारुण है। यह मृत्युकालमें, जन्मके समय तथा बीचमें भी मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। यह सर्वसमर्थ माहेश्वर ज्वर समस्त प्राणियोंके लिये वन्दनीय और माननीय है। इसीने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरके शरीरमें प्रवेश किया था॥

व्यजृम्भत ततः शक्रस्तस्मै वज्रमवासृजत्।
प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ॥ ५९ ॥

भारत ! उस ज्वरसे पीड़ित होकर जब वह जँभाई लेने लगा, उसी समय इन्द्रने उसपर वज्रका प्रहार किया। वज्रने उसके शरीरमें घुसकर उसे चीर डाला ॥ ५९ ॥

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ॥ ६० ॥

वज्रसे विदीर्ण हुआ महायोगी एवं महान् असुर वृत्र अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके परम धामको चला गया ॥

विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद् व्याप्तमभूत् तदा।
तस्माच्च निहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ॥ ६१ ॥

भगवान् विष्णुकी भक्तिके प्रभावसे ही उसने अपनी विशाल कायाद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लिया था। अतः युद्धमें मारे जानेपर उसने विष्णुधाम प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

इत्येष वृत्रमाश्रित्य ज्वरस्य महतो मया।
विस्तरः कथितः पुत्र किमन्यत् प्रब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

बेटा ! इस प्रकार वृत्रासुरके वधके प्रसंगसे मैंने महान् माहेश्वर ज्वरकी उत्पत्तिका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया। अब तुमसे और क्या कहूँ ? ॥ ६२ ॥

इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः
पठेत् सदा यः सुसमाहितो नरः।
विमुक्तरोगः स सुखी मुदा युतो
लभेत कामान् स यथामनीषितान् ।६३।

जो उदारचित्त एवं एकाग्र होकर ज्वरकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको सदा पढ़ता है, वह मनुष्य रोगमुक्त, सुखी एवं प्रसन्न होकर मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ज्वरोत्पत्तिर्नाम त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ज्वरकी उत्पत्तिविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६३½ श्लोक हैं)

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पार्वतीके रोष एवं खेदका निवारण करनेके लिये भगवान् शिवके द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस, दक्षद्वारा किये हुए शिवसहस्रनामस्तोत्रसे संतुष्ट होकर महादेवजीका उन्हें वरदान देना तथा इस स्तोत्रकी महिमा

जनमेजय उवाच

प्राचेतसस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे।
विनाशमगमद् ब्रह्मन् हयमेधः प्रजापतेः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! वैवस्वत मन्वन्तरमें प्रचेताओंके पुत्र दक्षप्रजापतिका अश्वमेध यज्ञ कैसे नष्ट हो गया? ॥ १ ॥

देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः।
प्रसादात् तस्य दक्षेण स यज्ञः संधितः कथम्।
एतद् वेदितुमिच्छेयं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥ २ ॥

दक्षके यज्ञमें मेरा आवाहन न होना पार्वतीके दुःखका कारण बन गया है—यह जानकर भगवान् शंकर, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं, जब कुपित हो उठे, तब फिर उन्हींकी कृपापूर्ण प्रसन्नतासे दक्षप्रजापतिका यह यज्ञ कैसे सम्पन्न हुआ? मैं यह वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, आप इसे यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमाहरत्।
गङ्गाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्राचीन कालकी बात है—हिमालयके पार्श्ववर्ती गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के शुभ देशमें, जहाँ ऋषियों तथा सिद्ध पुरुषोंका निवास है, प्रजापति दक्षने अपने यज्ञका आयोजन किया था ॥ ३ ॥

गन्धर्वाप्सरसाकीर्णे नानाद्रुमलतावृते।
ऋषिसङ्घैः परिवृतं दक्षं धर्मभृतां वरम् ॥ ४ ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये च स्वर्लोकवासिनः।
सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ५ ॥

वह स्थान गन्धर्वों और अप्सराओंसे भरा था। भाँति-भाँतिके वृक्षसमूह और लताएँ वहाँ सब ओर छा रही थीं। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष ऋषिसमुदायसे घिरे हुए बैठे। उस समय पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकके निवासी भी वहाँ जुटे हुए थे और वे सब-के-सब हाथ जोड़कर प्रजापतिको प्रणाम करके उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ४-५ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।
हाहाहूहूश्च गन्धर्वौ तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥ ६ ॥
विश्वावसुर्विश्वसेनो गन्धर्वाप्सरसस्तथा।

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, विश्वसेन तथा दूसरे-दूसरे गन्धर्व और अप्सराएँ वहाँ उपस्थित थीं ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याः सह मरुद्गणैः ॥ ७ ॥
इन्द्रेण सहिताः सर्वे आगता यज्ञभागिनः।

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य और मरुद्गण—ये सब-के-सब इन्द्रके साथ यज्ञमें भाग लेनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ७½ ॥

ऊष्मपाः सोमपाश्चैव धूमपा आज्यपास्तथा ॥ ८ ॥
ऋषयः पितरश्चैव आगता ब्रह्मणा सह।

ऊष्मपा (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले), सोमपा (सोमरस पीनेवाले), धूमपा (यज्ञमें धूम-पान करनेवाले) और आज्यपा (घृत-पान करनेवाले) पितर और ऋषि भी ब्रह्माजीके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८½ ॥

एते चान्ये च बहवो भूतग्रामाश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥
जरायुजाण्डजाश्चैव सहसा स्वेदजोद्भिजैः।

ये तथा और भी बहुत-से चतुर्विध प्राणिसमुदाय जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज वहाँ उपस्थित हुए थे ॥

आहूता मन्त्रिताः सर्वे देवाश्च सह पत्निभिः ॥ १० ॥
विराजन्ते विमानस्था दीप्यमाना इवाग्नयः।

जिन्हें निमन्त्रित करके बुलाया गया था, वे सब देवता अपनी पत्नियोंके साथ विमानपर बैठकर आते समय प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

नायं यशो न वा धर्मो यत्र रुद्रो न इज्यते ।
वधबन्धं प्रपन्ना वै किं नु कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥

(महामुनि दधीचि भी उस यज्ञमण्डपमें उपस्थित थे । उन्होंने देखा कि देवता और दानव आदिका समाज तो खूब जुटा हुआ है; परंतु भगवान् शंकर दिखायी नहीं देते हैं । जान पड़ता है उनका आवाहन नहीं किया गया है । इससे उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ ।) उन सब देवताओंको वहाँ उपस्थित देख दधीचि क्रोधमें भर गये और बोले—'सज्जनो ! जिसमें भगवान् शिवकी पूजा नहीं होती

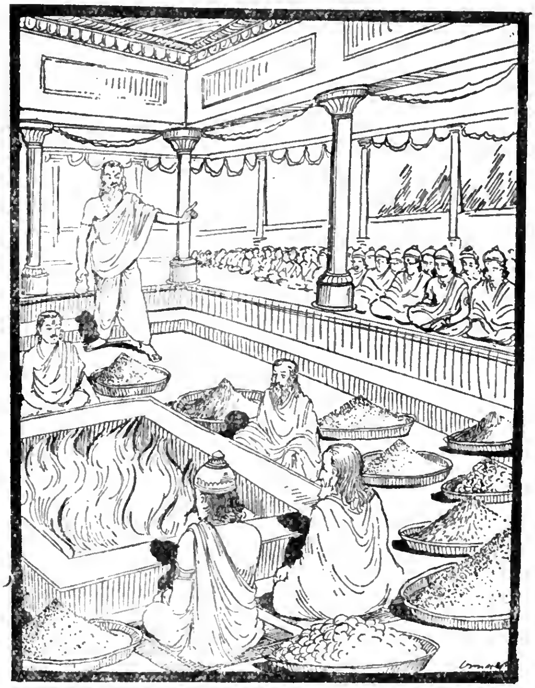

है, वह न यज्ञ है और न धर्म । यह यज्ञ भी भगवान् शिवके बिना यज्ञ कहनेयोग्य नहीं रहा । इसका आयोजन करनेवाले लोग वध और बन्धनकी दुर्दशामें पड़नेवाले हैं । अहो ! कालका कैसा उलट-फेर है ॥ ११-१२ ॥

किंनु मोहान्न पश्यन्ति विनाशं पर्युपस्थितम् ।
उपस्थितं महाघोरं न बुध्यन्ति महाध्वरे ॥ १३ ॥

'इस महायज्ञमें अत्यन्त घोर विनाश उपस्थित होनेवाला है; किंतु मोहवश कोई देख नहीं रहे हैं—समझ नहीं पाते हैं' ॥

इत्युक्त्वा स महायोगी पश्यति ध्यानचक्षुषा ।
स पश्यति महादेवं देवीं च वरदां शुभाम् ॥ १४ ॥
नारदं च महात्मानं तस्या देव्याः समीपतः ।
संतोषं परमं लेभे इति निश्चित्य योगवित् ॥ १५ ॥
एकमन्त्रास्तु ते सर्वे येनेशो न निमन्त्रितः ।

ऐसा कहकर महायोगी दधीचिने जब ध्यान लगाकर देखा, तब उन्हें भगवान् शंकर और मङ्गलमयी वरदायिनी देवी पार्वतीजीका दर्शन हुआ । उनके पास ही महात्मा नारदजी भी दिखायी दिये, इससे उनको बड़ा संतोष हुआ । योगवेत्ता दधीचिको यह निश्चय हो गया कि ये सब देवता एकमत हो गये हैं । इसीलिये इन्होंने महेश्वरको यहाँ निमन्त्रित नहीं किया है ॥ १४-१५½ ॥

तस्माद् देशादपक्रम्य दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥
अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात् ।
नृघातकसमं पापं शश्वत् प्राप्नोति मानवः ॥ १७ ॥

यह बात ध्यानमें आते ही दधीचि यज्ञशालासे अलग हो गये और दूर जाकर कहने लगे—'सज्जनो ! अपूजनीय पुरुषकी पूजा करनेसे और पूजनीय महापुरुषकी पूजा न करनेसे मनुष्य सदा ही नरहत्याके समान पापका भागी होता है ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
देवतानामृषीणां च मध्ये सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

'मैंने पहले कभी झूठ नहीं कहा है और आगे भी कभी झूठ नहीं कहूँगा । इन देवताओं तथा ऋषियोंके बीचमें मैं सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ १८ ॥

आगतं पशुभर्तारं स्रष्टारं जगतः पतिम् ।
अध्वरे ह्यग्रभोक्तारं सर्वेषां पश्यत प्रभुम् ॥ १९ ॥

'भगवान् शंकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेवाले, सम्पूर्ण जीवोंके रक्षक, स्वामी तथा सबके प्रभु हैं । तुम सब लोग देख लेना, वे इस यज्ञमें प्रधान भोक्ताके रूपमें उपस्थित होंगे' ॥

दक्ष उवाच

सन्ति नो बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः ।
एकादशस्थानगता नाहं वेद्मि महेश्वरम् ॥ २० ॥

दक्षने कहा—हाथोंमें शूल और मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले बहुत-से रुद्र हमारे यहाँ रहते हैं । वे ग्यारह हैं और ग्यारह स्थानोंमें निवास करते हैं । उनके सिवा दूसरे किसी महेश्वरको मैं नहीं जानता ॥ २० ॥

दधीचिरुवाच

सर्वेषामेव मन्त्रोऽयं येनासौ न निमन्त्रितः ।
यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम् ।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति ॥ २१ ॥

दधीचि बोले—मैं जानता हूँ, आप सब लोगोंका ही यह मिल-जुलकर किया हुआ निश्चय है । इसीलिये उन महादेवजीको निमन्त्रित नहीं किया गया है; परंतु मैं भगवान् शंकरसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं देखता । यदि यह सत्य है तो प्रजापति दक्षका यह विशाल यज्ञ निश्चय ही नष्ट हो जायगा ॥

दक्ष उवाच

एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे
हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम् ।

विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य भागं
प्रभुर्विभुश्चाहवनीय एषः ॥ २२ ॥

दक्षने कहा—महर्षे ! देखो, विधिपूर्वक मन्त्रसे पवित्र की हुई यह सारी हवि सुवर्णके पात्रमें रखी हुई है। यह यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको समर्पित है। भगवान् विष्णुकी कहीं समता नहीं है। मैं उन्हींको हविष्यका यह भाग अर्पित करूँगा। ये भगवान् विष्णु ही सर्वसमर्थ, व्यापक और यज्ञ-भाग अर्पित करनेके योग्य हैं ॥ २२ ॥

देव्युवाच

किं नाम दानं नियमं तपो वा
कुर्यामहं येन पतिर्ममाद्य।
लभेत भागं भगवानचिन्त्यो
ह्यर्धं तथा भागमथो तृतीयम् ॥ २३ ॥

(दूसरी ओर कैलास पर्वतपर) पार्वती देवी (बहुत दुखी होकर) कह रही थीं—आह, मैं कौन-सा व्रत, दान या तप करूँ, जिसके प्रभावसे आज मेरे पतिदेव अचिन्त्य भगवान् शंकरको यज्ञका आधा अथवा तिहाई भाग अवश्य प्राप्त हो ?' ॥ २३ ॥

एवं ब्रुवाणां भगवान् स पत्नीं
प्रहृष्टरूपः क्षुभितामुवाच।
न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि
किं नाम युक्तं वचनं मखेशे ॥ २४ ॥

क्षोभमें भरकर इस प्रकार बोलती हुई पत्नीकी बात सुनकर भगवान् शंकर हर्षसे खिल उठे और इस प्रकार बोले—'देवि ! कृशोदराङ्गि ! तू मुझे नहीं जानती, मैं सम्पूर्ण यज्ञोंका ईश्वर हूँ। मेरे विषयमें किस प्रकारके वचन कहना चाहिये, यह भी तुम नहीं जानती ॥ २४ ॥

अहं विजानामि विशालनेत्रे
ध्यानेन हीना न विदन्त्यसन्तः।
तवाद्य मोहेन च सेन्द्रदेवा
लोकास्त्रयः सर्वत एव मूढाः ॥ २५ ॥

'पर मैं सब कुछ जानता हूँ। विशाललोचने ! जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, वे ध्यानशून्य असाधु पुरुष मेरे स्वरूप-को नहीं जानते। आज तुम्हारे इस मोहसे इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोक सब ओरसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं ॥ २५ ॥

मामध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरं सामगाश्चोपगान्ति।
मां ब्राह्मणा ब्रह्मविदो यजन्ते
ममाध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम् ॥ २६॥

'यज्ञमें प्रस्तोतालोग मेरी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले ब्राह्मण रथन्तर सामके रूपमें मेरी ही महिमाका गान करते हैं। वेदवेत्ता विप्र मेरा ही यजन करते और ऋत्विजलोग यज्ञमें मुझे ही भाग अर्पित करते हैं' ॥ २६ ॥

देव्युवाच

सुप्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वः स्त्रीजनसंसदि।
स्तौति गर्वायते चापि स्वमात्मानं न संशयः ॥ २७ ॥

देवीने कहा—नाथ ! अत्यन्त गँवार पुरुष भी क्यों न हो, प्रायः सभी स्त्रियोंके बीचमें अपनी प्रशंसाके गीत गाते और अपनी श्रेष्ठतापर गर्व करते हैं—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

नात्मानं स्तौमि देवेशि पश्य मे तनुमध्यमे।
यं स्रक्ष्यामि वरारोहे यागार्थे वरवर्णिनि ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—देवेश्वरि ! तनुमध्यमे ! वरारोहे ! वरवर्णिनि ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता हूँ। मेरा प्रभाव देखो। जिसके कारण तुम्हें दुःख हुआ है, उस यज्ञको नष्ट करनेके लिये मैं जिस वीर पुरुषकी सृष्टि कर रहा हूँ' उसपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् पत्नीमुमां प्राणैरपि प्रियाम्।
सोऽसृजद् भगवान् वक्त्राद् भूतं घोरं प्रहर्षणम्॥२९॥

अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी पत्नी उमासे ऐसी बात कहकर भगवान् महेश्वरने अपने मुखसे एक अद्भुत एवं भयंकर प्राणीको प्रकट किया, जो उनका हर्ष बढ़ानेवाला था॥

तमुवाचाक्षिप मखं दक्षस्येति महेश्वरः।
ततो वक्त्राद् विमुक्तेन सिंहेनैकेन लीलया ॥ ३० ॥
देव्या मन्युव्यपोहार्थं हतो दक्षस्य वै क्रतुः।

महेश्वरने उस पुरुषको आज्ञा दी—'वीर ! तुम दक्षके यज्ञका नाश कर दो।' फिर तो भगवान्के मुखसे निकले हुए उस सिंहके समान पराक्रमी एक ही वीरने पार्वतीदेवीके दुःख और क्रोधका निवारण करनेके लिये खेल-ही-खेलमें प्रजापति दक्षके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ ३०½ ॥

मन्युना च महाभीमा महाकाली महेश्वरी ॥ ३१ ॥
आत्मनः कर्मसाक्षित्वे तेन सार्धं सहानुगा।

उस समय भवानीके क्रोधसे प्रकट हुई अत्यन्त भयंकर रूपवाली महाकाली महेश्वरीने भी अपना पराक्रम दिखानेके लिये सेवकोंसहित उस वीरके साथ प्रस्थान किया था ॥३१½॥

देवस्यानुमतं मत्वा प्रणम्य शिरसा ततः ॥ ३२ ॥
आत्मनः सदृशः शौर्याद् बलरूपसमन्वितः।
स एव भगवान् क्रोधः प्रतिरूपसमन्वितः ॥ ३३ ॥
अनन्तबलवीर्यश्च अनन्तबलपौरुषः।
वीरभद्र इति ख्यातो देव्या मन्युप्रमार्जकः ॥ ३४ ॥

(वीरभद्रने किस प्रकार उस यज्ञका विध्वंस किया, यह

प्रसङ्ग आगे बताया जाता है—) महादेवजीकी अनुमति जानकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। वह वीर अपने ही समान शौर्य, रूप और बलसे सम्पन्न था (उसकी कहीं उपमा नहीं थी)। भगवान् शिवका वह सब कुछ करनेमें समर्थ क्रोध ही मूर्तिमान् होकर उस वीरके रूपमें प्रकट हुआ था। उसके बल, वीर्य, शक्ति और पुरुषार्थका कहीं अन्त नहीं था। पार्वतीदेवीके क्रोध और खेदका निवारण करनेवाला वह पुरुष वीरभद्रके नामसे विख्यात हुआ ॥ ३२—३४ ॥

सोऽसृजद् रोमकूपेभ्यो रौम्यान् नाम गणेश्वरान्।
रुद्रतुल्या गणा रौद्रा रुद्रवीर्यपराक्रमाः ॥३५॥

उसने अपने रोमकूपोंसे रौम्य नामवाले गणेश्वरोंको प्रकट किया, जो रुद्रके समान ही होनेके कारण रौद्रगण कहलाये। उन सबके बल-पराक्रम भी रुद्रके ही समान थे ॥ ३५ ॥

ते निपेतुस्ततस्तूर्णं दक्षयज्ञविहिंसया।
भीमरूपा महाकायाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३६ ॥
ततः किलकिलाशब्दैराकाशं पूरयन्निव।

वे भयंकर रूपधारी विशालकाय रुद्रगण सैकड़ों और हजारोंकी टोलियाँ बनाकर अपनी किलकारियोंसे आकाशको गुँजाते हुए-से दक्षयज्ञका विध्वंस करनेके लिये बड़ी तेजीके साथ टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

तेन शब्देन महता त्रस्तास्तत्र दिवौकसः ॥ ३७ ॥
पर्वताश्च व्यशीर्यन्त चकम्पे च वसुंधरा।
मारुताश्चैव घूर्णन्ते चुक्षुभे वरुणालयः ॥ ३८ ॥

उस महाभयंकर कोलाहलसे उस यज्ञमें पधारे हुए समस्त देवता व्याकुल हो उठे। पर्वत टूक-टूक होकर बिखर गये। धरती डोलने लगी, आँधी चलने लगी और समुद्रमें तूफान आ गया ॥ ३७-३८ ॥

अग्नयो नैव दीप्यन्ते नैव दीप्यति भास्करः।
ग्रहा नैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ३९ ॥
ऋषयो न प्रकाशन्ते न देवा न च मानुषाः।
एवं तु तिमिरीभूते निर्दहन्त्यपमानिताः ॥ ४० ॥

उस समय आग नहीं जलती थी, सूर्यका प्रकाश फीका पड़ गया; ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा भी निस्तेज हो गये। इस प्रकार वहाँ चारों ओर अँधेरा छा गया। देवता, ऋषि और मनुष्य—सभी छिप गये—कोई दिखायी नहीं देते थे। दक्षसे अपमानित हुए रुद्रगण यज्ञशालामें सब ओर आग लगाने लगे ॥ ३९-४० ॥

प्रहरन्त्यपरे घोरा यूपानुत्पाटयन्ति च।
प्रमर्दन्ति तथा चान्ये विमर्दन्ति तथा परे ॥ ४१ ॥

दूसरे भयंकर भूत उसी यज्ञके सदस्योंको पीटने लगे। कुछ यूप उखाड़ने लगे। बहुतेरे रुद्रगण यज्ञकी सामग्रीको कुचलने और रौंदने लगे ॥ ४१ ॥

आधावन्ति प्रधावन्ति वायुवेगा मनोजवाः।
चूर्ण्यन्ते यज्ञपात्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ४२ ॥

वायु और मनके समान वेगशाली कितने ही पार्षद इधर-उधर दौड़ लगाने लगे। कुछ लोग यज्ञके उपयोगमें आनेवाले पात्रों तथा दिव्य आभूषणोंको चूर-चूर कर रहे थे ॥

विशीर्यमाणा दृश्यन्ते तारा इव नभस्तले।
दिव्यान्नपानभक्ष्याणां राशयः पर्वतोपमाः ॥ ४३ ॥

उनके बिखरकर गिरते हुए टुकड़े आकाशमें छिटके हुए तारोंके समान दिखायी देते थे। उस यज्ञभूमिमें जहाँ-तहाँ दिव्य अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थोंके पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ ४३ ॥

क्षीरनद्योऽथ दृश्यन्ते घृतपायसकर्दमाः।
दधिमण्डोदका दिव्याः खण्डशर्करवालुकाः ॥ ४४ ॥

दूधकी दिव्य नदियाँ वहाँ बहती दीखती थीं, घी और खीरकी कीच जम गयी थी, दही और मट्ठा पानीकी तरह बह रहे थे तथा खाँड़ और शक्कर वहाँ बालूकी भाँति बिछ गये थे ॥ ४४ ॥

षड् रसान् निवहन्त्येता गुडकुल्या मनोरमाः।
उच्चावचानि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च ॥ ४५ ॥

ये सब नदियाँ षट्रस भोजन प्रवाहित कर रही थीं। गुड़के रसकी छोटी-छोटी मनोरम नहरें दृष्टिगोचर होती थीं। नाना प्रकारके फलोंके गुदे और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत किये गये थे ॥ ४५ ॥

पानकानि च दिव्यानि लेह्यचोष्याणि यानि च।
भुञ्जते विविधैर्वक्त्रैर्विलुम्पन्त्याक्षिपन्ति च ॥ ४६ ॥

दिव्य पेय पदार्थ, लेह्य और चोष्य आदि जो-जो भोजन वहाँ उपलब्ध हुए, उन सबको वे रुद्रगण अपने विविध मुखोंद्वारा खाने, नष्ट करने और चारों ओर छींटने तथा फेंकने लगे ॥ ४६ ॥

रुद्रकोपान्महाकायाः कालाग्निसदृशोपमाः।
क्षोभयन् सुरसैन्यानि भीषयन्तः समन्ततः ॥ ४७ ॥

वे विशालकाय भूत रुद्रदेवके क्रोधसे कालाग्निके समान होकर देवताओंकी सेनाओंको चारों ओरसे डराने और क्षुब्ध करने लगे ॥ ४७ ॥

क्रीडन्ति विविधाकाराश्चिक्षिपुः सुरयोषितः।
रुद्रकोधात् प्रयत्नेन सर्वदेवैः सुरक्षितम् ॥ ४८ ॥
तं यज्ञमदहच्छीघ्रं रुद्रकर्मा समन्ततः।

अनेक प्रकारकी आकृतिवाले वे रुद्रगण खेलते-कूदते और देवाङ्गनाओंको दूर फेंक देते थे। यद्यपि सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर प्रयत्नपूर्वक उस यज्ञकी रक्षा की थी तथापि रुद्रकर्मा वीरभद्रने रुद्रदेवके क्रोधसे प्रेरित हो सब ओरसे शीघ्र ही उसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ ४८½ ॥

चकार भैरवं नादं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ४९ ॥
छित्त्वा शिरो वै यज्ञस्य ननाद च मुमोद च ।

तत्पश्चात् उसने ऐसी भीषण गर्जना की, जो समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली थी। फिर उसने यज्ञका सिर काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव किया ॥ ४९½ ॥

ततो ब्रह्मादयो देवा दक्षश्चैव प्रजापतिः ॥ ५० ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कथ्यतां को भवानिति ।

तब ब्रह्मा आदि देवता तथा प्रजापति दक्ष—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर बोले—'देवदेव ! कहिये, आप कौन हैं ?' ॥

वीरभद्र उवाच

नाहं रुद्रो न वा देवी नैव भोक्तुमिहागतः ॥ ५१ ॥
देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः ।

वीरभद्रने कहा—ब्रह्मन् ! मैं न तो रुद्र हूँ, न देवी हूँ और न यहाँ भोजन करनेके लिये ही आया हूँ। तुम्हारा यह यज्ञ देवी पार्वतीके रोषका कारण बन गया है—ऐसा जानकर सर्वात्मा भगवान् शिव कुपित हो उठे हैं ॥ ५१½ ॥

द्रष्टुं वा नैव विप्रेन्द्रान् नैव कौतूहलेन वा ॥ ५२ ॥
तव यज्ञविघातार्थं सम्प्राप्तं विद्धि मामिह ।

मैं यहाँ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका दर्शन करने या कौतूहलवश इस यज्ञका तमाशा देखनेके लिये नहीं आया हूँ। तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं तुम्हारे इस यज्ञका विनाश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ५२½ ॥

वीरभद्र इति ख्यातो रुद्रकोपाद् विनिःसृतः ॥ ५३ ॥
भद्रकालीति विख्याता देव्याः कोपाद् विनिःसृता ।
प्रेषितौ देवदेवेन यज्ञान्तिकमिहागतौ ॥ ५४ ॥

मेरा नाम वीरभद्र है। रुद्रदेवके क्रोधसे मेरा प्राकट्य हुआ है। यह नारी भद्रकालीके नामसे विख्यात है और देवी पार्वतीके कोपसे प्रकट हुई है। देवाधिदेव महादेवने हम दोनोंको यहाँ भेजा है। इसलिये हम दोनों इस यज्ञके निकट आये हैं ॥ ५३-५४ ॥

शरणं गच्छ विप्रेन्द्र देवदेवमुमापतिम् ।
वरं क्रोधोऽपि देवस्य वरदानं न चान्यतः ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! तुम देवाधिदेव उमावल्लभ भगवान् शिवकी शरणमें जाओ। महादेवजीका क्रोध भी परम मङ्गलमय है और दूसरोंसे मिला हुआ वरदान भी मङ्गलकारक नहीं होता ॥

वीरभद्रवचः श्रुत्वा दक्षो धर्मभृतां वरः ।
तोषयामास स्तोत्रेण प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ ५६ ॥

वीरभद्रकी यह बात सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ दक्षने भगवान् शिवके उद्देश्यसे प्रणाम करके निम्नाङ्कित स्तोत्रके द्वारा उनकी स्तुति की—॥ ५६ ॥

प्रपद्ये देवमीशानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ५७ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्के शासक, पालक, महान् आत्मा, नित्य, सनातन, अविकारी और आराध्यदेव हैं, उन महादेवजीकी आज मैं शरण लेता हूँ' ॥ ५७ ॥

प्राणापानौ संनिरुध्य वक्त्रस्थानेन यत्नतः ।
विचार्य सर्वतो दृष्टिं बहुदृष्टिरमित्रजित् ॥ ५८ ॥
सहसा देवदेवेशो ह्यग्निकुण्डात् समुत्थितः ।
बिभ्रत्सूर्यसहस्रस्य तेजः संवर्तकोपमः ॥ ५९ ॥
स्मितं कृत्वाब्रवीद् वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

तब अनेक नेत्रोंवाले, शत्रुबिजयी, महादेव अपने मुखों-द्वारा यत्नपूर्वक प्राण और अपान वायुको अवरुद्ध करके सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिपात करते हुए सहसा अग्निकुण्डसे निकल पड़े। प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी स्वरूप-से सहस्रों सूर्योंकी प्रभा धारण किये वे दक्षके सामने खड़े हो गये और मुसकराकर बोले—'प्रजापते ! बोलो, मैं आज तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ' ॥ ५८-५९½ ॥

श्राविते च मखाध्याये देवानां गुरुणा ततः ॥ ६० ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा दक्षो देवं प्रजापतिः ।
भीतशङ्कितवित्रस्तः सबाष्पवदनेक्षणः ॥ ६१ ॥
यदि प्रसन्नो भगवान् यदि चाहं भवत्प्रियः ।
यदि वाहमनुग्राह्यो यदि वा वरदो मम ॥ ६२ ॥
यद् दग्धं भक्षितं पीतमशितं यच्च नाशितम् ।
चूर्णीकृतापविद्धं च यज्ञसम्भारमीदृशम् ॥ ६३ ॥
दीर्घकालेन महता प्रयत्नेन सुसंचितम् ।
तन्न मिथ्या भवेन्मह्यं वरमेतमहं वृणे ॥ ६४ ॥

उस समय देवगुरु बृहस्पतिने महादेवजीको वेदका मखाध्याय पढ़कर सुनाया। तत्पश्चात् प्रजापति दक्ष दोनों नेत्रों-से आँसुओंकी धारा बहाते हुए हाथ जोड़कर भय और शङ्का-से सहमे हुए-से बोले—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, यदि मैं आपका प्रिय हूँ, आपके अनुग्रहका पात्र हूँ अथवा यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो मैं यही वर माँगता हूँ कि मैंने दीर्घकालसे महान् प्रयत्न करके जो ऐसा यज्ञ-सम्भार जुटा रखा था, उसमेंसे जो जला दिया गया, खा-पी लिया गया, नष्ट किया गया अथवा चूर-चूर करके फेंक दिया गया, वह सब मेरे लिये व्यर्थ न हो' ॥ ६०—६४ ॥

तथास्त्वित्याह भगवान् भगनेत्रहरो हरः ।
धर्माध्यक्षो विरूपाक्षस्त्र्यक्षो देवः प्रजापतिः ॥ ६५ ॥

तब धर्मके अध्यक्ष, प्रजापालक, विरूपाक्ष, त्रिनेत्रधारी, भगनेत्रहारी देवेश्वर भगवान् हरने 'तथास्तु' कहकर दक्षको मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ६५ ॥

जानुभ्यामवनीं गत्वा दक्षो लब्ध्वा भवाद् वरम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण स्तुतवान् वृषभध्वजम् ॥ ६६ ॥

दक्षके यज्ञमें शिवजीका प्राकट्य

महादेवजीसे वर पाकर दक्षने धरतीपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया और एक हजार आठ नामोंद्वारा उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यैर्नामधेयैः स्तुतवान् दक्षो देवं प्रजापतिः ।
वक्तुमर्हसि मे तात श्रोतुं श्रद्धा ममानघ ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! निष्पाप पितामह ! प्रजापति दक्षने जिन नामोंद्वारा महादेवजीकी स्तुति की थी, उनका मुझसे वर्णन कीजिये । उन्हें सुननेके लिये मेरे हृदयमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां देवदेवस्य नामान्यद्भुतकर्मणः ।
गूढव्रतस्य गुह्यानि प्रकाशानि च भारत ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! अद्भुत कर्म करनेवाले गूढ व्रतधारी देवाधिदेव महादेवजीके कुछ नाम गोपनीय हैं और कुछ प्रकाशित हैं । तुम उन सबको सुनो ॥ ६८ ॥

नमस्ते देवदेवेश देवारिबलसूदन ।
देवेन्द्रबलविष्टम्भ देवदानवपूजित ॥ ६९ ॥

(दक्ष बोले)—देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप देववैरी दानवोंकी सेनाके संहारक और देवराज इन्द्रकी शक्तिको भी स्तम्भित करनेवाले हैं । देवता और दानव—सबने आपकी पूजा की है ॥ ६९ ॥

सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष यक्षाधिपप्रिय ।
सर्वतःपाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ ७० ॥

आप सहस्रों नेत्रोंसे युक्त होनेके कारण सहस्राक्ष हैं । आपकी इन्द्रियाँ सबसे विलक्षण अर्थात् परोक्ष विषयको भी प्रत्यक्ष करनेवाली हैं, इसलिये आपको विरूपाक्ष कहते हैं । आप त्रिनेत्रधारी होनेके कारण त्र्यक्ष कहलाते हैं । यक्षराज कुबेरके भी आप प्रिय (इष्टदेव) हैं । आपके सब ओर हाथ और पैर हैं तथा सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥

सर्वतःश्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
शङ्कुकर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ७१ ॥
गजेन्द्रकर्ण गोकर्ण पाणिकर्ण नमोऽस्तु ते ।

आपके कान भी सब ओर हैं । संसारमें जो कुछ है, सबको व्याप्त करके आप स्थित हैं । शङ्कुकर्ण, महाकर्ण, कुम्भकर्ण, अर्णवालय, गजेन्द्रकर्ण, गोकर्ण और पाणिकर्ण—ये सात पार्षद् आपके ही स्वरूप हैं । इन सबके रूपमें आपको नमस्कार है ॥ ७१½ ॥

शतोदर शतावर्त शतजिह्व नमोऽस्तु ते ॥ ७२ ॥
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणं त्वा शतक्रतुमूर्ध्वं खमिव मेनिरे ॥ ७३ ॥

आपके सैकड़ों उदर, सैकड़ों आवर्त और सैकड़ों जिह्वाएँ होनेके कारण आप क्रमशः शतोदर, शतावर्त और शतजिह्व नामसे प्रसिद्ध हैं । आपको प्रणाम है । गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाले द्विज आपकी ही महिमाका गान करते हैं और सूर्योपासक सूर्यके रूपमें आपकी ही आराधना करते हैं । ऋषिगण आपको ही ब्रह्मा, शतक्रतु इन्द्र और आकाशके समान सर्वोच्च पद मानते हैं ॥ ७२-७३ ॥

मूर्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राम्बरसंनिभ ।
सर्वा वै देवता ह्यस्मिन् गावो गोष्ठ इवासते ॥ ७४ ॥

समुद्र और आकाशके समान अपार, अनन्त रूप धारण करनेवाले महामूर्तिधारी महेश्वर ! जैसे गोशालामें गौएँ निवास करती हैं, उसी प्रकार आपकी भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं यजमानरूप आठ प्रकारकी मूर्तियोंमें सम्पूर्ण देवताओंका निवास है ॥ ७४ ॥

भवच्छरीरे पश्यामि सोममग्निं जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ वै विष्णुं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ७५ ॥

मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा तथा बृहस्पतिको भी देख रहा हूँ ॥ ७५ ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रिया करणमेव च ।
असतश्च सतश्चैव तथैव प्रभवाप्ययौ ॥ ७६ ॥

आप ही कारण, कार्य, क्रिया (प्रयत्न) और करण हैं । सत् और असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान भी आप ही हैं ॥ ७६ ॥

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
पशूनां पतये नित्यं नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥ ७७ ॥

आप सबके उद्भवका स्थान होनेसे भव, संहार करनेके कारण शर्व, 'रु' अर्थात् पाप एवं दुःखको दूर करनेसे रुद्र, वरदाता होनेसे वरद तथा पशुओं (जीवों) के पालक होनेके कारण सदा पशुपति कहलाते हैं । आपने ही अन्धकासुरका वध किया है, इसलिये आपका नाम अन्धकघाती है । आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ७७ ॥

त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलवरपाणिने ।
त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्नाय वै नमः ॥ ७८ ॥

आप तीन जटा और तीन मस्तक धारण करनेवाले हैं । आपके हाथमें श्रेष्ठ त्रिशूल शोभा पाता है । आप त्र्यम्बक, त्रिनेत्रधारी तथा त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

नमश्चण्डाय कुण्डाय अण्डायाण्डधराय च ।
दण्डिने समकर्णाय दण्डिमुण्डाय वै नमः ॥ ७९ ॥

आप दुष्टोंपर अत्यन्त क्रोध करनेके कारण चण्ड हैं । कुण्डमें जलकी भाँति आपके उदरमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है,

इसलिये आपको कुण्ड कहते हैं। आप अण्ड (ब्रह्माण्ड-स्वरूप) और अण्डधर (ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले) हैं। आप दण्डधारी (सबको दण्ड देनेवाले) और समकर्ण (सबकी समान रूपसे सुननेवाले) हैं। दण्डधारण करके मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी भी आपके ही स्वरूप हैं, इसलिये आपका नाम दण्डिमुण्ड है। आपको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

नमोर्ध्वदंष्ट्रकेशाय शुक्लायावतताय च ।
विलोहिताय धूम्राय नीलग्रीवाय वै नमः ॥ ८० ॥

आपकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं, इसलिये आप ऊर्ध्वदंष्ट्र तथा ऊर्ध्वकेश कहलाते हैं। आप ही शुक्ल (विशुद्ध ब्रह्म) और आप ही अवतत (जगत्के रूपमें विस्तृत) हैं। आप रजोगुणको अपनानेपर विलोहित और तमोगुणका आश्रय लेनेपर धूम्र कहलाते हैं। आपकी ग्रीवामें नीले रंगका चिह्न है, इसलिये आपको नीलग्रीव कहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८० ॥

नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च ।
सूर्याय सूर्यमालाय सूर्यध्वजपताकिने ॥ ८१ ॥

आपके रूपकी कहीं भी समता नहीं है, इसलिये आप अप्रतिरूप हैं। विविध रूप धारण करनेके कारण आपका नाम विरूप है। आप ही परम कल्याणकारी शिव हैं। आप ही सूर्य हैं, आप ही सूर्यमण्डलके भीतर सुशोभित होते हैं। आप अपनी ध्वजा और पताकापर सूर्यका चिह्न धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

नमः प्रमथनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने ।
शत्रुंदमाय दण्डाय पर्णचीरपटाय च ॥ ८२ ॥

आप प्रमथगणोंके अधीश्वर हैं। वृषभके कंधोंके समान आपके कंधे भरे हुए हैं। आप पिनाक धनुष धारण करते हैं। शत्रुओंका दमन करनेवाले और दण्डस्वरूप हैं। किरात या तपस्वीके रूपमें विचरते समय आप भोजपत्र और वल्कल-वस्त्र धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८२ ॥

नमो हिरण्यगर्भाय हिरण्यकवचाय च ।
हिरण्यकृतचूडाय हिरण्यपतये नमः ॥ ८३ ॥

हिरण्य (सुवर्ण) को उत्पन्न करनेके कारण हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके ही कवच और मुकुट धारण करनेसे आपको हिरण्यकवच और हिरण्यचूड कहा गया है। आप सुवर्णके अधिपति हैं। आपको सादर नमस्कार है ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय वै नमः ।
सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतान्तरात्मने ॥ ८४ ॥

जिनकी स्तुति हो चुकी है, वे आप हैं। जो स्तुतिके योग्य हैं, वे भी आप हैं और जिनकी स्तुति हो रही है, वे भी आप ही हैं। आप सर्वस्वरूप, सर्वभक्षी और सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ८४ ॥

नमो होत्रेऽथ मन्त्राय शुक्लध्वजपताकिने ।
नमो नाभाय नाभ्याय नमः कटकटाय च ॥ ८५ ॥

आप ही होता और मन्त्र हैं। आपको नमस्कार है। आपकी ध्वजा और पताकाका रंग श्वेत है। आपको नमस्कार है। आप नाभ (नाभिमें सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले), नाभ्य (संसार-चक्रके नाभि-स्थान) तथा कट-कट (आवरणके भी आवरण) हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८५ ॥

नमोऽस्तु कृशनासाय कृशाङ्गाय कृशाय च ।
संहृष्टाय विहृष्टाय नमः किलकिलाय च ॥ ८६ ॥

आपकी नासिका कृश (पतली) है, इसलिये आप कृशनस कहलाते हैं। आपके अवयव कृश होनेसे आपको कृशाङ्ग तथा शरीर दुबला होनेसे कृश कहते हैं। आप अत्यन्त हर्षोल्लाससे परिपूर्ण, विशेष हर्षका अनुभव करनेवाले और हर्षकी किल-किल ध्वनि हैं। आपको नमस्कार है ॥८६॥

नमोऽस्तु शयमानाय शयितायोत्थिताय च ।
स्थिताय धावमानाय मुण्डाय जटिलाय च ॥ ८७ ॥

आप समस्त प्राणियोंके भीतर शयन करनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं। प्रलयकालमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोते और सृष्टिके प्रारम्भकालमें कल्पान्त निद्रासे जागते हैं। आप ब्रह्म-रूपसे सर्वत्र स्थित और कालरूपसे सदा दौड़नेवाले हैं। मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी और जटाधारी तपस्वी भी आपके ही स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८७ ॥

नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रवादिने ।
नाद्योपहारलुब्धाय गीतवादित्रशालिने ॥ ८८ ॥

आपका ताण्डव-नृत्य बराबर चलता रहता है। आप मुखसे शृङ्गी आदि बाजे बजानेमें कुशल हैं। कमलपुष्पकी भेंट लेनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं। गाने और बजानेकी कलामें तत्पर रहकर आप बड़ी शोभा पाते हैं। आपको प्रणाम है ॥ ८८ ॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलप्रमथनाय च ।
कालनाथाय कल्याय क्षयायोपक्षयाय च ॥ ८९ ॥

आप अवस्थामें सबसे ज्येष्ठ और गुणोंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आपने बल नामक दैत्यको इन्द्ररूपसे मथ डाला था। आप कालके भी नियन्ता और सर्वशक्तिमान् हैं। महाप्रलय और अवान्तर-प्रलय भी आप ही हैं। आपको नमस्कार है॥

भीमदुन्दुभिहासाय भीमव्रतधराय च ।
उग्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे ॥ ९० ॥

प्रभो ! आपका अट्टहास भयंकर शब्द करनेवाली दुन्दुभिके समान जान पड़ता है। आप भीषण व्रतको धारण करनेवाले हैं। दस भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले उग्ररूपधारी आपको मेरा नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ ९० ॥

नमः कपालहस्ताय चितिभस्मप्रियाय च ।
विभीषणाय भीष्माय भीमव्रतधराय च ॥ ९१ ॥

आपके हाथमें कपाल है। चिताका भस्म आपको बहुत प्रिय है। आप सबको भयभीत करनेवाले और स्वयं निर्भय हैं तथा शम-दम आदि तीक्ष्ण व्रतोंको धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ९१ ॥

नमो विकृतवक्त्राय खड्गजिह्वाय दंष्ट्रिणे ।
पक्वाममांसलुब्धाय तुम्बीवीणाप्रियाय च ॥ ९२ ॥

आपका मुख विकृत है। जिह्वा खड्गके समान है। आपका मुख दाढ़ोंसे सुशोभित होता है। आप कच्चे-पक्के फलोंके गुद्देके लिये लुभायमान रहते हैं। तुम्बी और वीणा आपको विशेष प्रिय हैं। आपको प्रणाम है ॥ ९२ ॥

नमो वृषाय वृष्याय गोवृषाय वृषाय च ।
कटंकटाय दण्डाय नमः पचपचाय च ॥ ९३ ॥

आप वृष (वृष्टिकर्ता), वृष्य (धर्मकी वृद्धि करनेवाले), गोवृष (नन्दी) और वृष (धर्म) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। कटंकट (नित्य गतिशील), दण्ड (शासक) और पचपच (सम्पूर्ण भूतोंको पचानेवाला काल) भी आपके ही नाम हैं। आपको नमस्कार है ॥ ९३ ॥

नमः सर्ववरिष्ठाय वराय वरदाय च ।
वरमाल्यगन्धवस्त्राय वरातिवरदे नमः ॥ ९४ ॥

आप सबसे श्रेष्ठ वरस्वरूप और वरदाता है। उत्तम वस्त्र, माल्य और गन्ध धारण करते हैं तथा भक्तको इच्छानुसार एवं उससे भी अधिक वर देनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ९४ ॥

नमो रक्तविरक्ताय भावनायाक्षमालिने ।
सम्भिन्नाय विभिन्नाय छायायातपनाय च ॥ ९५ ॥

रागी और विरागी—दोनों जिनके स्वरूप हैं, जो ध्यानपरायण, रुद्राक्षकी माला धारण करनेवाले, कारणरूपसे सबमें व्याप्त और कार्यरूपसे पृथक्-पृथक् दिखायी देनेवाले हैं तथा जो सम्पूर्ण जगत्‌को छाया और धूप प्रदान करते हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है ॥ ९५ ॥

अघोरघोररूपाय घोरघोरतराय च ।
नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्ततमाय च ॥ ९६ ॥

जो अघोर, घोर और घोरसे भी घोरतर रूप धारण करनेवाले हैं तथा जो शिव, शान्त एवं परमशान्तरूप हैं, उन भगवान् शंकरको मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ ९६ ॥

एकपाद्बहुनेत्राय एकशीर्ष्णे नमोऽस्तु ते ।
रुद्राय क्षुद्रलुब्धाय संविभागप्रियाय च ॥ ९७ ॥

एक पाद, अनेक नेत्र और एक मस्तकवाले आपको प्रणाम है। भक्तोंकी दी हुई छोटी-से-छोटी वस्तुके लिये भी लालायित रहनेवाले और उसके बदलेमें उन्हें अपार धनराशि बाँट देनेकी रुचि रखनेवाले आप भगवान् रुद्रको नमस्कार है ॥ ९७ ॥

पञ्चालाय सिताङ्गाय नमः शमशमाय च ।
नमश्चण्डिकघण्टाय घण्टायाघण्टघण्टिने ॥ ९८ ॥

जो इस विश्वका निर्माण करनेवाले कारीगर, गौरवर्णके शरीरवाले तथा सदा शान्तरूपसे रहनेवाले हैं, जिनकी घण्टाध्वनि शत्रुओंको भयभीत कर देती है तथा जो स्वयं ही घण्टानाद और अनाहतध्वनिके रूपमें श्रवणगोचर होते हैं उन महेश्वरको प्रणाम है ॥ ९८ ॥

सहस्राध्मातघण्टाय घण्टामालप्रियाय च ।
प्राणघण्टाय गन्धाय नमः कलकलाय च ॥ ९९ ॥

जिनके मन्दिरमें लगे हुए घण्टोंको सहस्रों आदमी बजाते हैं, घण्टोंकी माला जिन्हें प्रिय है, जिनके प्राण ही घण्टाके समानध्वनि करते हैं, जो गन्ध और कोलाहलरूप हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है ॥ ९९ ॥

हूंहूंहूंकारपाराय हूंहूंकारप्रियाय च ।
नमः शमशमे नित्यं गिरिवृक्षालयाय च ॥१००॥

आप हूं (क्रोध), हूं (हिंकार), हूं (आकाश, सूर्य और ईश्वर)—इन सबसे परे विद्यमान शान्तस्वरूप परब्रह्म हैं, 'हूं, हूं' करना आपको प्रिय लगता है, आप 'शान्त रहो, शान्त रहो' ऐसा कहकर सदा सबको आश्वासन देनेवाले हैं तथा पर्वतोंपर और वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०० ॥

गर्भमांसशृगालाय तारकाय तराय च ।
नमो यज्ञाय यजिने हुताय प्रहुताय च ॥१०१॥

आप फलके भीतरके गुद्देरूप मांसके प्रलोभी शृगालरूप हैं। आप ही सबको तारनेवाले तथा तरण-तारणके साधन हैं। आप ही यज्ञ और आप ही यजमान हैं। आप ही हुत (हवन) और आप ही प्रहुत (अग्नि) हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०१ ॥

यज्ञवाहाय दान्ताय तप्यायातपनाय च ।
नमस्तटाय तट्याय तटानां पतये नमः ॥१०२॥

आप ही यज्ञके निर्वाहक अथवा उसे सब देवताओंतक पहुँचानेवाले अग्निदेव हैं। आप मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं। आप ही भक्तोंका कष्ट देखकर संतप्त होनेवाले तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं। आप ही तट हैं। आप ही तटवर्ती नदी आदि हैं तथा आप ही तटोंके पालक हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०२ ॥

अन्नदायान्नपतये नमस्त्वन्नभुजे तथा ।
नमः सहस्रशीर्षाय सहस्रचरणाय च ॥१०३॥

आप ही अन्नदाता, अन्नपति और अन्नके भोक्ता हैं। आपके सहस्रों मस्तक और सहस्रों चरण हैं। आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १०३ ॥

सहस्रोद्यतशूलाय सहस्रनयनाय च।
नमो बालार्कवर्णाय बालरूपधराय च ॥१०४॥

आप अपने सहस्रों हाथोंमें सहस्रों शूल लिये रहते हैं। आपके सहस्रों नेत्र हैं। आपकी अङ्गकान्ति प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान है। आप बालकरूप धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०४ ॥

बालानुचरगोप्त्राय बालक्रीडनकाय च।
नमो वृद्धाय लुब्धाय क्षुब्धाय क्षोभणाय च ॥१०५॥

आप श्रीकृष्णरूपसे संगी-साथी बालकोंके रक्षक तथा बालकोंके साथ खेल करनेवाले हैं। आप सबकी अपेक्षा वृद्ध हैं। भक्ति और प्रेमके लोभी हैं। दुष्टोंके पापाचारसे क्षुब्ध हो उठते हैं और दुराचारियोंको क्षोभमें डालनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०५ ॥

तरङ्गाङ्कितकेशाय मुञ्जकेशाय वै नमः।
नमः षट्कर्मतुष्टाय त्रिकर्मनिरताय च ॥१०६॥

आपके केश गङ्गाके तरङ्गोंसे अङ्कित तथा मुञ्जके समान हैं। आपको नमस्कार है। आप ब्राह्मणोंके छः कर्म—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रहसे संतुष्ट रहते हैं; स्वयं यजन, अध्ययन और दानरूप तीन कर्मोंमें ही तत्पर रहते हैं। आपको मेरा प्रणाम है ॥ १०६ ॥

वर्णाश्रमाणां विधिवत् पृथक्कर्मनिवर्तिने।
नमो घुष्याय घोषाय नमः कलकलाय च ॥१०७॥

आप वर्ण और आश्रमोंके भिन्न-भिन्न कर्मोंका विधिवत् विभाग करनेवाले, जपनीय मन्त्ररूप, घोषस्वरूप तथा कोलाहलमय हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०७ ॥

श्वेतपिङ्गलनेत्राय कृष्णरक्तेक्षणाय च।
प्राणभग्नाय दण्डाय स्फोटनाय कृशाय च ॥१०८॥

आपके नेत्र श्वेत और पिङ्गलवर्णके हैं, काले और लाल रंगके हैं। आप प्राणवायु (श्वास) को जीतनेवाले, दण्ड (आयुध) रूप, ब्रह्माण्डरूपी घटको फोड़नेवाले तथा कृश-शरीरधारी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०८ ॥

धर्मकामार्थमोक्षाणां कथनीयकथाय च।
सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥१०९॥

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष देनेके विषयमें आपकी कीर्तिकथा वर्णन करनेके योग्य है। आप सांख्यस्वरूप, सांख्ययोगियोंमें प्रधान तथा सांख्यशास्त्रको प्रवृत्त करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०९ ॥

नमो रथ्यविरथ्याय चतुष्पथरथाय च।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥११०॥

आप रथपर बैठकर तथा बिना रथके भी घूमनेवाले हैं। जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन चारों मार्गोंपर आपकी गति है। आप काले मृगचर्मको दुपट्टेकी भाँति ओढ़नेवाले तथा सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११० ॥

ईशान वज्रसंघात हरिकेश नमोऽस्तु ते।
त्र्यम्बकाम्बिकनाथाय व्यक्ताव्यक्त नमोऽस्तु ते॥१११॥

ईशान ! आपका शरीर वज्रके समान कठोर है। हरिकेश ! आपको नमस्कार है। व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परमेश्वर ! आप त्रिनेत्रधारी तथा अम्बिकाके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १११ ॥

काम कामद कामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे।
सर्व सर्वद सर्वघ्न संध्याराग नमोऽस्तु ते ॥११२॥

आप कामस्वरूप, कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, कामदेवके नाशक, तृप्त और अतृप्तका विचार करनेवाले, सर्वस्वरूप, सब कुछ देनेवाले, सबके संहारक और संध्याकालके समान रंगवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११२ ॥

महाबल महाबाहो महासत्त्व महाद्युते।
महामेघचयप्रख्य महाकाल नमोऽस्तु ते ॥११३॥

महाबल ! महाबाहो ! महासत्त्व ! महाद्युते ! आप महान् मेघोंकी घटाके समान रंगवाले महाकालस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११३ ॥

स्थूल जीर्णाङ्ग जटिले वल्कलाजिनधारिणे।
दीप्तसूर्याग्निजटिले वल्कलाजिनवाससे।
सहस्रसूर्यप्रतिम तपोनित्य नमोऽस्तु ते ॥११४॥

आपका श्रीविग्रह स्थूल और जीर्ण है। आप जटाधारी हैं। वल्कल और मृगचर्म धारण करते हैं। देदीप्यमान सूर्य और अग्निके समान ज्योतिर्मयी जटासे सुशोभित हैं। वल्कल और मृगचर्म ही आपके वस्त्र हैं। आप सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान और सदा तपस्यामें संलग्न रहनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११४ ॥

उन्मादन शतावर्त गङ्गातोयार्द्रमूर्धज।
चन्द्रावर्त युगावर्त मेघावर्त नमोऽस्तु ते ॥११५॥

आप जगत्को उन्माद (मोह) में डालनेवाले हैं। आपके मस्तकपर गङ्गाजीकी सैकड़ों लहरें और भँवरें उठती रहती हैं। आपके केश सदा गङ्गाजलसे भीगे रहते हैं। आप चन्द्रमाको क्षय-वृद्धिके चक्करमें डालनेवाले हैं। आप ही युगोंकी पुनरावृत्ति करनेवाले और मेघोंके प्रवर्तक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११५ ॥

त्वमन्नमन्नभोक्ता च अन्नदोऽन्नभुगेव च।

अन्नस्रष्टा च पक्ता च पक्वभुक्पवनोऽनलः ॥११६॥

आप ही अन्न, अन्नके भोक्ता, अन्नदाता, अन्नका पालन करनेवाले, अन्नस्रष्टा, पाचक, पक्वान्नभोजी, प्राण-वायु तथा जठरानलरूप हैं ॥ ११६ ॥

जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजाश्च तथोद्भिजाः ।
त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥११७॥

देवदेवेश्वर ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज–ये चार प्रकारके प्राणिसमूह आप ही हैं ॥ ११७ ॥

चराचरस्य स्रष्टा त्वं प्रतिहर्ता तथैव च ।
त्वामाहुर्ब्रह्मविदुषो ब्रह्म ब्रह्मविदां वर ॥११८॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! आप ही चराचर जीवोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं । ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपहीको ब्रह्म कहते हैं ॥ ११८ ॥

मनसः परमा योनिः खं वायुर्ज्योतिषां निधिः ।
ऋक्सामानि तथोङ्कारमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥११९॥

वेदवादी विद्वान् आपको ही मनका परम कारण, आकाश, वायु, तेजकी निधि, ऋक्, साम तथा ॐकार बताते हैं ॥ ११९ ॥

हायिहायिहुवाहायिहावुहायि तथासकृत् ।
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठ सामगा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

सुरश्रेष्ठ ! सामगान करनेवाले वेदवेत्ता पुरुष 'हा ३ यि, हा ३ यि, हु ३ वा, हा ३ यि, हा ३ वु, हा ३ यि' आदिका बारंबार उच्चारण करके निरन्तर आपकी ही महिमाका गान करते हैं ॥ १२० ॥

यजुर्मयो ऋङ्मयश्च त्वमाहुतिमयस्तथा ।
पठ्यसे स्तुतिभिश्चैव वेदोपनिषदां गणैः ॥१२१॥

यजुर्वेद और ऋग्वेद आपके ही स्वरूप हैं । आप ही हविष्य हैं । वेदों और उपनिषदोंके समूह अपनी स्तुतियोंद्वारा आपकी ही महिमाका प्रतिपादन करते हैं ॥ १२१ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये ।
त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युत्स्तनितगर्जितः ॥१२२॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज–ये आपके ही स्वरूप हैं । मेघोंकी घटा, बिजली, गर्जना और गड़गड़ा-हट भी आप ही हैं ॥ १२२ ॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च ।
युगं निमेषाः काष्ठास्त्वं नक्षत्राणि ग्रहाः कलाः ॥१२३॥

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, युग, निमेष, काष्ठा, नक्षत्र, ग्रह और कला भी आप ही हैं ॥ १२३ ॥

वृक्षाणां ककुदोऽसि त्वं गिरीणां शिखराणि च ।
व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम् ॥१२४॥

वृक्षोंमें प्रधान वट-पीपल आदि, पर्वतोंमें उनके शिखर, वन-जन्तुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमें गरुड तथा सर्पोंमें अनन्त आप ही हैं ॥ १२४ ॥

क्षीरोदो ह्युदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च ।
वज्रः प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च ॥१२५॥

समुद्रोंमें क्षीरसागर, यन्त्रों (अस्त्रों) में धनुष, चलाये जानेवाले आयुधोंमें वज्र और व्रतोंमें सत्य भी आप ही हैं ॥

त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे ।
व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ ॥१२६॥

आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय तथा पराजय हैं ॥

त्वं गदी त्वं शरी चापी खट्वाङ्गी झर्झरी तथा ।
छेत्ता भेत्ता प्रहर्ता त्वं नेता मन्ता पिता मतः ॥१२७॥

आप गदा, बाण, धनुष, खाटका अङ्ग तथा झर्झर नामक अस्त्र धारण करनेवाले हैं । आप छेदन, भेदन और प्रहार करनेवाले हैं । सत्पथपर ले जानेवाले, शुभका मनन करनेवाले तथा पिता माने गये हैं ॥ १२७ ॥

दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च ।
गङ्गा समुद्राः सरितः पल्वलानि सरांसि च ॥१२८॥
लता वल्ल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः ।
द्रव्यकर्मसमारम्भः कालः पुष्पफलप्रदः ॥१२९॥

दस लक्षणोंवाला धर्म तथा अर्थ और काम भी आप ही हैं । गङ्गा, समुद्र, नदियाँ, गड्ढे, तालाब, लता, वल्ली, तृण, ओषधि, पशु, मृग, पक्षी, द्रव्य और कर्मोंके आरम्भ तथा फूल और फल देनेवाला काल भी आप ही हैं ॥१२८-१२९॥

आदिश्चान्तश्च देवानां गायत्र्योंकार एव च ।
हरितो रोहितो नीलः कृष्णो रक्तस्तथारुणः ।
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा ॥१३०॥

आप देवताओंके आदि और अन्त हैं । गायत्री-मन्त्र और ॐकार भी आप ही हैं । हरित, लोहित, नील, कृष्ण, रक्त, अरुण, कद्रु, कपिल, कबूतरके समान तथा मेचक (श्याम मेघके समान)–ये दस प्रकारके रंग भी आपके ही स्वरूप हैं ॥ १३० ॥

अवर्णश्च सुवर्णश्च वर्णकारो घनोपमः ।
सुवर्णनामा च तथा सुवर्णप्रिय एव च ॥१३१॥

आप वर्णरहित होनेके कारण अवर्ण और अच्छे वर्ण-वाले होनेसे सुवर्ण कहलाते हैं । आप वर्णोंके निर्माता और मेघके समान हैं । आपके नाममें सुन्दर वर्णों (अक्षरों) का उपयोग हुआ है, इसलिये आप सुवर्णनामा हैं तथा आपको श्रेष्ठ वर्ण प्रिय है ॥ १३१ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनलः ।
उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुर्भानुरेव च ॥१३२॥

आप ही इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, सूर्य-चन्द्र-का ग्रहण, चित्रभानु (सूर्य), राहु और भानु हैं ॥१३२॥

होत्रं होता च होम्यं च हुतं चैव तथा प्रभुः ।
त्रिसौपर्णं तथा ब्रह्म यजुषां शतरुद्रियम् ॥१३३॥

होत्र (स्रुवा), होता, हवनीय पदार्थ, हवन-क्रिया तथा (उसके फल देनेवाले) परमेश्वर भी आप ही हैं। वेदकी त्रिसौपर्ण नामक श्रुतियोंमें तथा यजुर्वेदके शतरुद्रिय-प्रकरणमें जो बहुत-से वैदिक नाम हैं, वे सब आपहीके नाम हैं॥१३३॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
गिरिको हिंडुको वृक्षो जीवः पुद्गल एव च ॥१३४॥
प्राणः सत्त्वं रजश्चैव तमश्चाप्रमदस्तथा ।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ॥१३५॥
उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुतं जृम्भितमेव च ।
लोहितान्तर्गता दृष्टिर्महावक्त्रो महोदरः ॥१३६॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं। आप ही गिरिक (अचेतनको भी चेतन करनेवाले), हिंडुक (गमनागमन करनेवाले), संसार-वृक्ष, जीव, शरीर, प्राण, सत्त्व, रज, तम, अप्रमद (स्त्रीरहित—ऊर्ध्वरेता), प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष (आँखोंका खोलना-मींचना), छींकना और जँभाई लेना आदि चेष्टाएँ भी आप ही हैं। आपकी अग्निमयी लाल रंगकी दृष्टि भीतर छिपी हुई है। आपके मुख और उदर महान् हैं॥

सूचीरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ।
गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥१३७॥

रोएँ सूईके समान हैं। दाढ़ी-मूछ काली है। सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं। आप चराचर-स्वरूप हैं। गाने-बजानेके तत्त्वको जाननेवाले हैं। गाना-बजाना आपको अधिक प्रिय है ॥ १३७ ॥

मत्स्यो जलचरो जाल्योऽकलः केलिकलः कलिः ।
अकालश्चातिकालश्च दुष्कालः काल एव च ॥१३८॥

आप मत्स्य, जलचर और जालधारी घड़ियाल हैं। फिर भी अकल (बन्धनसे परे) हैं। आप केलिकलासे युक्त और कलहरूप हैं। आप ही अकाल, अतिकाल, दुष्काल तथा काल हैं ॥ १३८ ॥

मृत्युः क्षुरश्च कृत्यश्च पक्षोऽपक्षक्षयंकरः ।
मेघकालो महादंष्ट्रः संवर्तकबलाहकः ॥१३९॥

मृत्यु, क्षुर (छेदन करनेका शस्त्र), कृत्य (छेदन करने योग्य), पक्ष (मित्र) तथा अपक्ष-क्षयंकर (शत्रुपक्षका नाश करनेवाले) भी आप ही हैं। आप मेघके समान काले, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले और प्रलयकालीन मेघ हैं ॥ १३९ ॥

घण्टोऽघण्टो घटी घण्टी चरुचेली मिलीमिली।
ब्रह्मकायिकमग्नीनां दण्डी मुण्डस्त्रिदण्डधृक् ॥१४०॥

घण्ट (प्रकाशवान्), अघण्ट (अव्यक्त प्रकाशवाले), घटी (कर्मफलसे युक्त करनेवाले), घण्टी (घण्टावाले), चरुचेली (जीवोंके साथ क्रीडा करनेवाले) तथा मिलीमिली (कारणरूपसे सबमें व्याप्त)—ये सब आप ही हैं। आप ही ब्रह्म, अग्नियोंके स्वरूप, दण्डी, मुण्ड तथा त्रिदण्डधारी हैं ॥

चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः ।
चातुराश्रम्यनेता च चातुर्वर्ण्यकरश्च यः ॥१४१॥

चार युग और चार वेद आपके ही स्वरूप हैं तथा चार प्रकारके होतृ-कर्मोंके प्रवर्तक आप ही हैं। आप चारों आश्रमों-के नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं ॥ १४१ ॥

सदा चाक्षप्रियो धूर्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरिशो गिरिकप्रियः ॥१४२॥

आप ही अक्षप्रिय, धूर्त, गणाध्यक्ष और गणाधिप आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। आप रक्त वस्त्र तथा लाल फूलोंकी माला पहनते हैं, पर्वतपर शयन करते और गेरुए वस्त्रसे प्रेम रखते हैं ॥ १४२ ॥

शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ।
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः ॥१४३॥

आप ही शिल्पियोंमें सर्वश्रेष्ठ शिल्पी (कारीगर) तथा सब प्रकारकी शिल्पकलाके प्रवर्तक हैं। आप भगदेवताकी आँख फोड़नेके लिये अङ्कुश, चण्ड (अत्यन्त कोप करनेवाले) और पूषाके दाँत नष्ट करनेवाले हैं ॥ १४३ ॥

स्वाहा स्वधा वषट्कारो नमस्कारो नमो नमः ।
गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकस्तारकामयः ॥१४४॥

स्वाहा, स्वधा, वषट्, नमस्कार और नमो नमः आदि पद आपके ही नाम हैं। आप गूढ़ व्रतधारी, गुप्त तपस्या करनेवाले, तारकमन्त्र और ताराओंसे भरे हुए आकाश हैं ॥ १४४ ॥

धाता विधाता संधाता विधाता धारणोऽधरः ।
ब्रह्मा तपश्च सत्यं च ब्रह्मचर्यमथार्जवम् ॥१४५॥
भूतात्मा भूतकृद्भूतो भूतभव्यभवोद्भवः ।
भूर्भुवः स्वरितश्चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वरः ॥१४६॥

धाता (धारण करनेवाले), विधाता (सृष्टि करनेवाले), संधाता (जोड़नेवाले), विधाता, धारण और अधर (आधाररहित) भी आपहीके नाम हैं। आप ब्रह्मा, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, आर्जव (सरलता), भूतात्मा (प्राणियोंके आत्मा), भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, भूत (नित्यसिद्ध), भूत, भविष्य और वर्तमानकी उत्पत्तिके कारण, भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, ध्रुव (स्थिर), दान्त (दमनशील) और महेश्वर हैं ॥ १४५-१४६ ॥

दीक्षितोऽदीक्षितः क्षान्तो दुर्दान्तोऽदान्तनाशनः।
चन्द्रावर्तो युगावर्तः संवर्तः सम्प्रवर्तकः ॥१४७॥

दीक्षित (यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले), अदीक्षित, क्षमावान्, दुर्दान्त, उद्दण्ड प्राणियोंका नाश करनेवाले, चन्द्रमाकी आवृत्ति करनेवाले (मास), युगोंकी आवृत्ति करनेवाले (कल्प), संवर्त (प्रलय) तथा सम्प्रवर्तक (पुनः सृष्टि-संचालन करनेवाले) भी आप ही हैं ॥१४७॥

कामो बिन्दुरणुः स्थूलः कर्णिकारस्रजप्रियः।
नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखोऽमुखः ॥१४८॥
चतुर्मुखो बहुमुखो रणेष्वग्निमुखस्तथा।
हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥१४९॥

आप ही काम, बिन्दु, अणु (सूक्ष्म) और स्थूलरूप हैं। आप कनेरके फूलकी माला अधिक पसंद करते हैं। आप ही नन्दीमुख, भीममुख (भयंकर मुखवाले), सुमुख, दुर्मुख, अमुख (मुखरहित), चतुर्मुख, बहुमुख तथा युद्धके समय शत्रुका संहार करनेके कारण अग्निमुख (अग्निके समान मुखवाले) हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), शकुनि (पक्षीके समान असङ्ग), महान् सर्पोंके स्वामी (शेषनाग) और विराट् भी आप ही हैं ॥१४८-१४९॥

अधर्महा महापार्श्वश्चण्डधारो गणाधिपः।
गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहनः ॥१५०॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गोऽमार्ग एव च।
श्रेष्ठः स्थिरश्च स्थाणुश्च निष्कम्पः कम्प एव च ॥१५१॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः।
दुर्धर्षो दुष्प्रकम्पश्च दुर्विषो दुर्जयो जयः ॥१५२॥
शशः शशाङ्कः शमनः शीतोष्णक्षुज्जराधिकृत्।
आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिरेव च ॥१५३॥

आप अधर्मके नाशक, महापार्श्व, चण्डधार, गणाधिप, गोनर्द, गौओंको आपत्तिसे बचानेवाले, नन्दीकी सवारी करनेवाले, त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द (श्रीकृष्णरूप), गोमार्ग (इन्द्रियोंके संचालक), अमार्ग (इन्द्रियोंके अगोचर), श्रेष्ठ, स्थिर, स्थाणु, निष्कम्प, कम्प, दुर्वारण (जिनका सामना करना कठिन है, ऐसे), दुर्विषह (असह्य वेगवाले), दुःसह, दुर्लङ्घ्य, दुर्द्धर्ष, दुष्प्रकम्प, दुर्विष, दुर्जय, जय, शश (शीघ्रगामी), शशाङ्क (चन्द्रमा) तथा शमन (यमराज) हैं। सर्दी-गर्मी, क्षुधा, वृद्धावस्था तथा मानसिक चिन्ताको दूर करनेवाले भी आप ही हैं। आप ही आधि-व्याधि तथा उसे दूर करनेवाले हैं ॥ १५०—१५३ ॥

मम यज्ञमृगव्याधो व्याधीनामागमो गमः।
शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥१५४॥
दण्डधारस्त्र्यम्बकश्च उग्रदण्डोऽण्डनाशनः।
विषाग्निपाः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुत्पतिः ॥१५५॥

मेरे यज्ञरूपी मृगके वधिक तथा व्याधियोंको लाने और मिटानेवाले भी आप ही हैं। (कृष्णरूपमें) मस्तकपर शिखण्ड (मोरपङ्ख) धारण करनेके कारण आप शिखण्डी हैं। आप कमलके समान नेत्रोंवाले, कमलके वनमें निवास करनेवाले, दण्ड धारण करनेवाले, त्र्यम्बक, उग्रदण्ड और ब्रह्माण्डके संहारक हैं। विषाग्निको पी जानेवाले, देवश्रेष्ठ, सोमरसका पान करनेवाले और मरुद्गणोंके स्वामी हैं ॥ १५४-१५५ ॥

अमृतपास्त्वं जगन्नाथ देवदेव गणेश्वरः।
विषाग्निपा मृत्युपाश्च क्षीरपाः सोमपास्तथा।
मधुश्च्युतानामग्रपास्त्वमेव तुषिताद्यपाः ॥ १५६ ॥

देवाधिदेव ! जगन्नाथ ! आप अमृत पान करनेवाले और गणोंके स्वामी हैं। विषाग्नि तथा मृत्युसे रक्षा करनेवाले और दूध एवं सोमरसका पान करनेवाले हैं। आप सुखसे भ्रष्ट हुए जीवोंके प्रधान रक्षक तथा तुषितनामक देवताओंके आदिभूत ब्रह्माजीका भी पालन करनेवाले हैं ॥ १५६ ॥

हिरण्यरेताः पुरुषस्त्वमेव
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च नपुंसकं च।
बालो युवा स्थविरो जीर्णदंष्ट्र-
स्त्वं नागेन्द्र शक्रस्त्वं विश्वकृद्विश्वकर्ता ॥१५७॥
विश्वकृद् विश्वकृतां वरेण्यस्त्वं विश्ववाहो
विश्वरूपस्तेजस्वी विश्वतोमुखः।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते हृदयं च पितामहः ॥१५८॥

आप ही हिरण्यरेता (अग्नि), पुरुष (अन्तर्यामी) तथा आप ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक हैं। बालक-युवा और वृद्ध भी आप ही हैं। नागेश्वर ! आप जीर्ण दाढ़ोंवाले और इन्द्र हैं। आप विश्वकृत् (जगत्‌के संहारक), विश्वकर्ता (प्रजापति), विश्वकृत् (ब्रह्माजी), विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ, विश्वका भार वहन करनेवाले, विश्वरूप, तेजस्वी और सब ओर मुखवाले हैं। चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र तथा पितामह ब्रह्मा आपके हृदय हैं ॥ १५७-१५८ ॥

महोदधिः सरस्वती वाग् बलमनलोऽ-
निलः अहोरात्रं निमेषोन्मेषकर्म ॥१५९॥

आप ही समुद्र हैं, सरस्वती आपकी वाणी हैं, अग्नि और वायु बल हैं तथा आपके नेत्रोंका खुलना और बंद होना ही दिन और रात्रि हैं ॥ १५९ ॥

न ब्रह्मा न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो न ते।
माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन ते शिव ॥१६०॥

शिव ! आपके माहात्म्यको ठीक-ठीक जाननेमें ब्रह्मा, विष्णु तथा प्राचीन ऋषि भी समर्थ नहीं हैं ॥ १६० ॥

या मूर्तयः सुसूक्ष्मास्ते न मह्यं यान्ति दर्शनम्।
त्राहि मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६१॥

आपके जो सूक्ष्म रूप हैं, वे हमलोगोंकी दृष्टिमें नहीं आते। भगवन्! जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी तरह आप सर्वदा मेरी रक्षा करें ॥ १६१ ॥

रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते।
भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥१६२॥

अनघ! मैं आपके द्वारा रक्षित होने योग्य हूँ, आप अवश्य मेरी रक्षा करें, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप भक्तोंपर दया करनेवाले भगवान् हैं और मैं सदाके लिये आपका भक्त हूँ ॥ १६२ ॥

यः सहस्राण्यनेकानि पुंसामावृत्य दुर्दृशः।
तिष्ठत्येकः समुद्रान्ते स मे गोप्तास्तु नित्यशः ॥१६३॥

जो हजारों मनुष्योंपर मायाका परदा डालकर सबके लिये दुर्बोध हो रहे हैं, अद्वितीय हैं तथा समुद्रके समान कामनाओंका अन्त होनेपर प्रकाशमें आते हैं, वे परमेश्वर नित्य मेरी रक्षा करें ॥ १६३ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥१६४॥

जो निद्राके वशीभूत न होकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको जीतकर सत्त्वगुणमें स्थित हैं, ऐसे योगीलोग ध्यानमें जिस ज्योतिर्मय तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, उस योगात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६४ ॥

जटिले दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥१६५॥

जो सदा जटा और दण्ड धारण किये रहते हैं, जिनका उदर और शरीर विशाल है तथा कमण्डलु ही जिनके लिये तरकसका काम देता है, ऐसे ब्रह्माजीके रूपमें विराजमान भगवान् शिवको प्रणाम है ॥ १६५ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥१६६॥

जिनके केशोंमें बादल, शरीरकी संधियोंमें नदियाँ और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलस्वरूप परमात्माको नमस्कार है॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते।
यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥१६७॥

जो प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंका संहार करके एकार्णवके जलमें शयन करते हैं, उन जलशायी भगवान्‌की मैं शरण लेता हूँ ॥ १६७ ॥

प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि।
ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानुर्भूत्वा मां सोऽभिरक्षतु ॥१६८॥

जो रातमें राहुके मुखमें प्रवेश करके स्वयं चन्द्रमाके अमृतका पान करते हैं तथा स्वयं ही राहु बनकर सूर्यपर ग्रहण लगाते हैं, वे परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥ १६८ ॥

ये चानुपतिता गर्भा यथा भागानुपासते।
नमस्तेभ्यः स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्तु मुदन्तु ते ॥१६९॥

ब्रह्माजीके बाद उत्पन्न होनेवाले जो देवता और पितर बालककी भाँति यज्ञमें अपने-अपने भाग ग्रहण करते हैं, उन्हें नमस्कार है। वे 'स्वाहा और स्वधा' के द्वारा अपने भाग प्राप्त करके प्रसन्न हों ॥ १६९ ॥

येऽङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम्।
रक्षन्तु ते हि मां नित्यं नित्यं चाप्याययन्तु माम् ॥१७०॥

जो अङ्गुष्ठमात्र जीवके रूपमें सम्पूर्ण देहधारियोंके भीतर विराजमान हैं, वे सदा मेरी रक्षा और वृद्धि करें ॥ १७० ॥

ये न रोदन्ति देहस्था देहिनो रोदयन्ति च।
हर्षयन्ति न हृष्यन्ति नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७१॥

जो देहके भीतर रहते हुए स्वयं न रोकर देहधारियोंको ही रुलाते हैं, स्वयं हर्षित न होकर उन्हें ही हर्षित करते हैं, उन सब रुद्रोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥ १७१ ॥

ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च।
वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारे गहनेषु च ॥१७२॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु तटेषु च।
हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥१७३॥
येषु पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च।
चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥१७४॥
रसातलगता ये च ये च तस्मै परं गताः।
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७५॥

नदी, समुद्र, पर्वत, गुहा, वृक्षोंकी जड़, गोशाला, दुर्गम पथ, वन, चौराहे, सड़क, चौतरे, किनारे, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला, पुराने बगीचे, जीर्ण गृह, पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य तथा उन-उनकी किरणोंमें, रसातलमें और उससे भिन्न स्थानोंमें भी जो अधिष्ठातृ देवताके रूपमें व्याप्त हैं, उन सबको सदा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च।
असंख्येयगुणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७६॥

जिनकी संख्या, प्रमाण और रूपकी सीमा नहीं है, जिनके गुणोंकी गिनती नहीं हो सकती, उन रुद्रोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १७६ ॥

सर्वभूतकरो यस्मात् सर्वभूतपतिर्हरः।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७७॥

आप सम्पूर्ण भूतोंके जन्मदाता, सबके पालक और संहारक हैं तथा आप ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, इसीलिये मैंने आपको पृथक् निमन्त्रण नहीं दिया ॥१७७॥

त्वमेव हीज्यसे यस्माद् यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
त्वमेव कर्ता सर्वस्य तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७८॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंद्वारा आपहीका यजन किया जाता है और आप ही सबके कर्ता हैं, इसीलिये मैंने आपको अलग निमन्त्रण नहीं दिया ॥ १७८ ॥

अथवा मायया देव सूक्ष्मया तव मोहितः।
एतस्मात् कारणाद् वापि तेन त्वं न निमन्त्रितः॥१७९॥

अथवा देव ! आपकी सूक्ष्म मायासे मैं मोहमें पड़ गया था, इस कारणसे भी मैंने आपको निमन्त्रण नहीं दिया ॥

प्रसीद मम भद्रं ते भव भावगतस्य मे।
त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मनस्त्वयि ॥१८०॥

भगवन् भव ! आपका भला हो, मैं भक्तिभावके साथ आपकी शरणमें आया हूँ, इसलिये अब मुझपर प्रसन्न होइये । मेरा हृदय, मेरी बुद्धि और मेरा मन सब आपमें समर्पित हैं॥

स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम प्रजापतिः।
भगवानपि सुप्रीतः पुनर्दक्षमभाषत ॥१८१॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके प्रजापति दक्ष चुप हो गये । तब भगवान् शिवने भी बहुत प्रसन्न होकर दक्षसे कहा—॥

परितुष्टोऽस्मि ते दक्ष स्तवेनानेन सुव्रत।
बहुनात्र किमुक्तेन मत्समीपे भविष्यसि ॥१८२॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दक्ष ! तुम्हारेद्वारा की हुई इस स्तुतिसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ । यहाँ अधिक क्या कहूँ, तुम मेरे निकट निवास करोगे ॥ १८२ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च।
प्रजापते मत्प्रसादात् फलभागी भविष्यसि ॥१८३॥

'प्रजापते ! मेरे प्रसादसे तुम्हें एक हजार अश्वमेध तथा एक सौ वाजपेय यज्ञका फल मिलेगा' ॥ १८३ ॥

अथैनमब्रवीद् वाक्यं लोकस्याधिपतिर्भवः।
आश्वासनकरं वाक्यं वाक्यविद् वाक्यसम्मतम्॥१८४॥

तदनन्तर वाक्यविशारद, लोकनाथ भगवान् शिवने प्रजापतिको सान्त्वना देनेवाला युक्तियुक्त एवं उत्तम वचन कहा—॥ १८४ ॥

दक्ष दक्ष न कर्तव्यो मन्युर्विघ्नमिमं प्रति।
अहं यज्ञहरस्तुभ्यं दृष्टमेतत् पुरातनम् ॥१८५॥

'दक्ष ! दक्ष ! इस यज्ञमें जो विघ्न डाला गया है, इसके लिये तुम खेद न करना । मैंने पहले कल्पमें भी तुम्हारे यज्ञका विध्वंस किया था । यह घटना भी पूर्वकल्पके अनुसार ही हुई है ॥ १८५ ॥

भूयश्च ते वरं दद्मि तं त्वं गृह्णीष्व सुव्रत।
प्रसन्नवदनो भूत्वा तदिहैकमनाः शृणु ॥१८६॥

'सुव्रत ! मैं पुनः तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम इसे स्वीकार करो और प्रसन्नवदन तथा एकाग्रचित्त होकर यहाँ मेरी यह बात सुनो ॥ १८६ ॥

वेदात् षडङ्गादुद्धृत्य सांख्ययोगाच्च युक्तितः।
तपः सुतप्तं विपुलं दुश्चरं देवदानवैः ॥१८७॥

'पूर्वकालमें षडङ्ग वेद, सांख्ययोग और तर्कसे निश्चित करके देवताओं और दानवोंने जिस विशाल एवं दुष्कर तपका अनुष्ठान किया था (उससे भी उत्तम व्रत मैं तुम्हें बता रहा हूँ)॥

अपूर्वं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम्।
अब्दैर्दशाहसंयुक्तं गूढमप्राज्ञनिन्दितम् ॥१८८॥
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित्समम्।
गतान्तैरध्यवसितमत्याश्रममिदं व्रतम् ॥१८९॥
मया पाशुपतं दक्ष शुभमुत्पादितं पुरा।
तस्य चीर्णस्य तत् सम्यक् फलं भवति पुष्कलम्।
तच्चास्तु ते महाभाग त्यज्यतां मानसो ज्वरः ॥१९०॥

'दक्ष ! मैंने पूर्वकालमें एक शुभकारक पाशुपत नामक व्रतको प्रकट किया था, जो अपूर्व है, साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें सब प्रकारसे कल्याणकारी, सर्वतोमुखी (सभी वर्णों और आश्रमोंके अनुकूल) तथा मोक्षका साधक होनेके कारण अविनाशी है । वर्षोंतक पुण्यकर्म करने और यम-नियम नामक दस साधनोंको अभ्यासमें लानेसे उसकी उपलब्धि होती है । वह गूढ़ है । मूर्ख मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं । वह समस्त वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके अनुकूल, सम और किसी-किसी अंशमें विपरीत भी है । जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान है, उन्होंने इसे अपनानेका पूर्ण निश्चय कर लिया है । यह व्रत सभी आश्रमोंसे बढ़कर है । इसके अनुष्ठानसे उत्तम एवं प्रचुर फलकी प्राप्ति होती है । महाभाग ! उस पाशुपत व्रतके अनुष्ठानका फल तुम्हें प्राप्त हो । अब तुम अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो' ॥ १८८—१९० ॥

एवमुक्त्वा महादेवः सपत्नीकः सहानुगः।
अदर्शनमनुप्राप्तो दक्षस्यामितविक्रमः ॥१९१॥

दक्षसे ऐसा कहकर पत्नी और पार्षदोंसहित अमित पराक्रमी महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १९१ ॥

दक्षप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्तयेद् यः शृणोति वा।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।१९२।

जो मनुष्य दक्षके द्वारा कहे हुए इस स्तोत्रका कीर्तन अथवा श्रवण करेगा, उसे कोई अमङ्गल नहीं प्राप्त होगा । वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ १९२ ॥

यथा सर्वेषु देवेषु वरिष्ठो भगवाञ्छिवः।
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां ब्रह्मसम्मितः ॥१९३॥

जैसे भगवान् शिव सब देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार यह वेदतुल्य स्तोत्र सभी स्तुतियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १९३ ॥

यशोराज्यसुखैश्वर्यकामार्थधनकाङ्क्षिभिः ।
श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः ॥१९४॥

यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, काम, अर्थ, धन और विद्याकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको भक्तिभावका आश्रय लेकर यत्नपूर्वक इस स्तोत्रका श्रवण करना चाहिये ॥ १९४ ॥

व्याधितो दुःखितो दीनश्चोरग्रस्तो भयार्दितः।
राजकार्याभियुक्तो वा मुच्यते महतो भयात्॥१९५॥

रोगी, दुखी, दीन, चोरके हाथमें पड़ा हुआ, भयभीत तथा राजकार्यका अपराधी मनुष्य भी इस स्तोत्रका पाठ करनेसे महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ १९५ ॥

अनेनैव तु देहेन गणानां समतां व्रजेत्।
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः॥१९६॥

इतना ही नहीं, वह इसी शरीरसे भगवान् शिवके गणोंकी समानता प्राप्त कर लेता है तथा तेज और यशसे सम्पन्न होकर निर्मल हो जाता है ॥ १९६ ॥

न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः।
विघ्नं कुर्युर्गृहे तस्य यत्रायं पठ्यते स्तवः॥१९७॥

जिसके यहाँ इस स्तोत्रका पाठ होता है, उसके घरमें राक्षस, पिशाच, भूत और विनायक कभी कोई विघ्न नहीं करते हैं ॥ १९७ ॥

शृणुयाच्चैव या नारी तद्भक्ता ब्रह्मचारिणी।
पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति देववत्॥१९८॥

जो नारी भगवान् शङ्करमें भक्तिभाव रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई इस स्तोत्रको सुनती है, वह पितृकुल और पतिकुलमें देवताके समान आदरणीय होती है ॥ १९८ ॥

शृणुयाद् यः स्तवं कृत्स्नं कीर्तयेद् वा समाहितः।
तस्य सर्वाणि कर्माणि सिद्धिं गच्छन्त्यभीक्ष्णशः॥१९९॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण स्तोत्रको सुनता अथवा पढ़ता है, उसके सारे कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं ॥

मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचानुकीर्तितम्।
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवस्यास्यानुकीर्तनात्॥२००॥

वह मनसे जिस वस्तुके लिये चिन्तन करता है अथवा वाणीसे जिस मनोरथकी याचना करता है, उसका वह सारा अभीष्ट इस स्तोत्रके बार-बार पाठसे सिद्ध हो जाता है ॥२००॥

देवस्य च गुहस्यापि देव्या नन्दीश्वरस्य च।
बलिं सुविहितं कृत्वा दमेन नियमेन च॥२०१॥
ततस्तु युक्तो गृह्णीयान्नामान्याशु यथाक्रमम्।
ईप्सितांल्लँभते सोऽर्थान् भोगान् कामांश्च मानवः२०२
मृतश्च स्वर्गमाप्नोति तिर्यक्षु च न जायते।
इत्याह भगवान् व्यासः पराशरसुतः प्रभुः॥२०३॥

मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको संयममें रखकर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करते हुए महादेवजी, कार्तिकेय, पार्वतीदेवी और नन्दिकेश्वरको विधिपूर्वक पूजोपहार समर्पित करे, फिर एकाग्रचित्त होकर क्रमशः इन सहस्र नामोंका पाठ करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शीघ्र ही मनोवाञ्छित पदार्थों, भोगों और कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें जाता है। उसे पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म नहीं लेना पड़ता है। इस प्रकार सर्वसमर्थ पराशरनन्दन भगवान् व्यासजीने इस स्तोत्रका माहात्म्य बतलाया है ॥२०१—२०३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दक्षप्रोक्तशिवसहस्रनामस्तवे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दक्षद्वारा कथित शिवसहस्रनामस्तोत्रविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह विद्यते।
यदध्यात्मं यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! शास्त्रमें पुरुषके लिये जो यह अध्यात्मतत्त्व बताया गया है, वह अध्यात्म क्या है? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञानं परं बुद्ध्या यन्मां त्वमनुपृच्छसि।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात तस्य व्याख्यामिमां शृणु॥२॥

भीष्मजीने कहा—तात! तुम मुझसे जिस अध्यात्मतत्त्वको पूछ रहे हो, वह बुद्धिके द्वारा सभी विषयोंका उत्तम ज्ञान प्रदान करनेवाला है। मैं तुमसे उसकी व्याख्या करूँगा, तुम उस व्याख्याको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ॥ ३ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच महाभूत समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥ ३ ॥

स तेषां गुणसंघातः शरीरं भरतर्षभ।
सततं हि प्रलीयन्ते गुणास्ते प्रभवन्ति च॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्राणियोंका शरीर उन्हीं पाँचों महाभूतोंका कार्यसमूह है। वे कार्यरूपमें परिणत भूतगण सदा लीन होते और प्रकट होते रहते हैं ॥ ४ ॥

ततः सृष्टानि भूतानि तानि यान्ति पुनः पुनः।
महाभूतानि भूतेभ्य ऊर्मयः सागरे यथा॥ ५ ॥

जैसे महाभूत सूक्ष्म भूतोंसे प्रकट होते और उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं तथा जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मासे समस्त प्राणी उत्पन्न होते और पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ ५ ॥

प्रसारयित्वेहाङ्गानि कूर्मः संहरते यथा।
तद्वद् भूतानि भूतानामल्पीयांसि स्थवीयसाम्॥ ६ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके शरीर आकाश आदि पाँच महाभूतोंसे उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं॥

आकाशात् खलु यो घोषः संघातस्तु महीगुणः।
वायोः प्राणो रसस्त्वद्भ्यो रूपं तेजस उच्यते॥ ७ ॥

शरीरमें जो शब्द होता है, वह आकाशका गुण है। यह स्थूल शरीर पृथ्वीका गुण या कार्य है। प्राण वायुका, रस जलका तथा रूप तेजका गुण बताया जाता है ॥ ७ ॥

इत्येतन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च तमभ्येति तस्मादुद्दिश्यते पुनः॥ ८ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम शरीर पञ्चभूतमय ही है। प्रलयकालमें यह परमात्मामें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें पुनः उन्हींसे प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत्।
विषयान् कल्पयामास यस्मिन् यदनुपश्यति॥ ९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ईश्वरने समस्त प्राणियोंमें पञ्चमहाभूतोंका ही विभागपूर्वक समावेश किया है। देहके भीतर जिस भूतके स्थित होनेसे मनुष्य जो कार्य देखता है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ९ ॥

शब्दश्श्रोत्रे तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम्।
रसः स्नेहश्च जिह्वा च अपामेते गुणाः स्मृताः॥ १० ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय और सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं। रस, स्नेह तथा जिह्वा—ये तीनों जलके गुण या कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिविधं ज्योतिरुच्यते।
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणाः स्मृताः॥ ११ ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—इन तीन गुणोंके रूपमें तेजकी ही स्थिति बतायी जाती है। गन्ध, घ्राण तथा शरीर—ये तीनों भूमिके गुण माने गये हैं ॥ ११ ॥

प्राणः स्पर्शश्च चेष्टा च वायोरेते गुणाः स्मृताः।
इति सर्वगुणा राजन् व्याख्याताः पाञ्चभौतिकाः॥ १२॥

प्राण, स्पर्श और चेष्टा—ये तीनों वायुके गुण बताये गये हैं। राजन्! इस प्रकार मैंने समस्त पाञ्चभौतिक गुणोंकी व्याख्या कर दी ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तमः कालः कर्म बुद्धिश्च भारत।
मनःषष्ठानि चैतेषु ईश्वरः समकल्पयत्॥ १३ ॥

भरतनन्दन! ईश्वरने इन प्राणियोंके शरीरोंमें सत्त्व, रज, तम, काल, कर्म, बुद्धि तथा मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी कल्पना की है ॥ १३ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ् मूर्ध्नश्च पश्यसि।
एतस्मिन्नेव कृत्स्नेयं वर्तते बुद्धिरन्तरे॥ १४ ॥

पैरोंके तलुओंसे लेकर ऊपरकी ओर और मस्तकसे नीचेकी ओर जितना भी शरीर है, इसके भीतर यह बुद्धि पूर्णरूपसे व्याप्त हो रही है ॥ १४ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः॥ १५ ॥

मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन बताया जाता है। बुद्धिको सातवीं और क्षेत्रज्ञको आठवाँ कहते हैं ॥

इन्द्रियाणि च कर्ता च विचेतव्यानि भागशः।
तमः सत्त्वं रजश्चैव तेऽपि भावास्तदाश्रयाः॥ १६ ॥

पाँच इन्द्रियाँ और जीवात्मा—इन सबको कार्य-विभागके अनुसार अलग-अलग समझना चाहिये। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा उनके सात्त्विक, राजस और तामस भाव जीवात्माके ही आश्रित हैं ॥ १६ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते।
तमः सत्त्वं रजश्चेति कालः कर्म च भारत॥ १७ ॥
गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाणि च।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः॥ १८ ॥

नेत्र आदि इन्द्रियाँ दर्शन आदि कार्योंके लिये हैं। मन संशय करता है और बुद्धि उस विषयका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये है। क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को साक्षी बताया जाता है। भरतनन्दन! सत्त्व, रज, तम, काल और कर्म—इन पाँच गुणोंद्वारा बुद्धि बार-बार विभिन्न विषयोंकी ओर ले जायी जाती है। बुद्धि मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संचालन करती है। यदि बुद्धि न हो तो ये गुण—इन्द्रिय आदि कैसे कोई कार्य कर सकते हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृण्वती श्रोत्रमुच्यते।
जिघ्रती भवति घ्राणं रसती रसना रसान्॥ १९ ॥
स्पर्शनं स्पर्शती स्पर्शान् बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत्।
यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः॥ २० ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उस इन्द्रियका नाम दृष्टि या नेत्र है। वही अपने वृत्तिविशेषके द्वारा जब सुनने लगती है, तब श्रोत्र कहलाती है। गन्धको ग्रहण करते समय वह घ्राण बन जाती है। रसास्वादन करते समय रसना कहलाती है और स्पर्शोंका अनुभव करते समय वही स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) नाम धारण करती है। इस प्रकार

बुद्धि बार-बार विकृत होती है। जब वह कुछ प्रार्थना (याचना) करती है, तब मन बन जाती है ॥ १९-२० ॥

अधिष्ठानानि बुद्ध्या हि पृथगेतानि पञ्चधा ।
इन्द्रियाणीति तान्याहुस्तेषु दुष्टेषु दुष्यति ॥ २१ ॥

बुद्धिके ये जो पृथक्-पृथक् पाँच अधिष्ठान हैं, इन्हींको इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके दूषित होनेपर बुद्धि भी दूषित हो जाती है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ॥ २२ ॥

साक्षी आत्माके आश्रित रहनेवाली बुद्धि सात्त्विक, राजस और तामस तीन भावोंमें (जो सुख दुःख और मोह-रूप हैं) स्थित होती है, इसीलिये कभी (सत्त्वगुणका उद्रेक होनेपर) उसे आनन्द प्राप्त होता है और कभी (रजोगुणकी अधिकता होनेपर) वह दुःख-शोकका अनुभव करती है ॥ २२ ॥

न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते ।
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतान् परिवर्तते ॥ २३ ॥

कभी (तमोगुणकी अधिकतासे मोहाच्छन्न होनेपर) उसका न सुखसे संयोग होता है न दुःखसे (वह निद्रा और आलस्य आदिमें मग्न रहती है) । इस प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि इन तीन भावोंका अनुसरण करती है ॥ २३ ॥

सरितां सागरो भर्ता यथा वेलामिवोर्मिवान् ।
इति भावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ २४ ॥

जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरंगोंसे युक्त होनेपर भी अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि भावोंसे युक्त बुद्धि तीनों गुणोंका उल्लङ्घन नहीं करती। भावनामय मनमें ही चक्कर लगाती रहती है ॥ २४ ॥

प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावेनानुवर्तते ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ॥ २५ ॥
कथंचिदुपपद्यन्ते पुरुषे सात्त्विका गुणाः ।

जब रजोगुणकी प्रवृत्ति होती है, तब बुद्धि राजसिक भावका अनुसरण करती है । यदि पुरुषमें किसी प्रकार अधिक हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तमें शान्ति उपलब्ध हो तो ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २५½ ॥

परिदाहस्तथा शोकः संतापोऽपूर्तिरक्षमा ॥ २६ ॥
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ।

जब शरीर या मनमें किसी कारणसे या अकारण ही दाह, शोक, संताप, अपूर्णता (लोभ-लिप्सा) और असहन-शीलताके भाव दिखायी देते हों तो उन्हें रजोगुणके चिह्न समझना चाहिये ॥ २६½ ॥

अविद्या रागमोहौ च प्रमादः स्तब्धता भयम् ॥ २७ ॥
असमृद्धिस्तथा दैन्यं प्रमोहः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदुपवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

यदि किसी प्रकार अविद्या, राग, मोह, प्रमाद, स्तब्धता, भय, दरिद्रता, दीनता, प्रमोह (मूर्च्छा), स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष आ घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप जाने ॥ २७-२८ ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तथा ॥ २९॥

ऐसी स्थितिमें शरीर अथवा मनके भीतर यदि कोई प्रसन्नताका भाव हो तो वह सात्त्विक भाव है, ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येव तदसंरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३०॥

जब अपने लिये अप्रसन्नताका हेतु और दुःखयुक्त भाव अनुभवमें आये, तब रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है, ऐसा अपने मनमें विचार करे तथा वैसे किसी कार्यका आरम्भ न करके उसकी ओरसे अपना ध्यान हटा ले ॥ ३० ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१॥

इसी प्रकार शरीर या मनमें जो मोहयुक्त भाव अतर्कित या अविज्ञातरूपसे उपस्थित हो गया हो, उसके विषयमें यही निश्चय करे कि यह तमोगुण है ॥ ३१ ॥

इति बुद्धिगतीः सर्वा व्याख्याता यावतीरिह ।
एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ॥ ३२॥

इस प्रकार बुद्धिकी जितनी अवस्थाएँ हैं, उनकी व्याख्या यहाँ कर दी गयी। यह सब जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। इसके सिवा ज्ञानीका और क्या लक्षण हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ।
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३३ ॥

बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये दोनों सूक्ष्मतत्त्व हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, उसे समझो । इनमेंसे एक अर्थात् बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता—केवल साक्षीभावसे देखता रहता है॥ ३३ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तु सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ।
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत् तथा ॥ ३४ ॥

वे दोनों बुद्धि और क्षेत्रज्ञ स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं, परंतु सदा परस्पर मिले हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे मछली जलसे भिन्न है तो भी उससे सदा संयुक्त रहती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेद सर्वतः ।
परिद्रष्टा गुणानां तु संस्रष्टा मन्यते यथा ॥ ३५ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते, परंतु आत्मा चेतन है, इसलिये गुणोंको पूर्णरूपसे जानता है। वह गुणोंका साक्षी है तथापि मूढ़ मनुष्य उसे गुणोंसे संश्लिष्ट या संयुक्त समझते हैं ॥ ३५ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणसर्गेण चेतना।
सत्त्वमस्य सृजन्त्यन्ये गुणान् वेद कदाचन ॥ ३६ ॥

बुद्धि जब सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टि करती है, उस समय जीवात्मा उसका आश्रय नहीं होता। अन्य गुणोंकी रचना बुद्धि ही करती है और उन गुणोंको जीव कभी जानता है ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ३७ ॥

बुद्धि गुणोंको उत्पन्न करती है और आत्मा केवल देखता है। बुद्धि और आत्माका यह सम्बन्ध अनादि है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं क्रियते बुद्धिरन्तरा।
निश्चक्षुर्भिरजानद्भिरिन्द्रियाणि प्रदीपवत् ॥ ३८ ॥

ज्ञानशक्तिरहित न जाननेवाली इन्द्रियाँ वस्तुओंको प्रकाशित करनेके लिये बुद्धिको बीचमें करती हैं। इन्द्रियाँ तो वस्तुको प्रकट करनेमें दीपककी भाँति केवल सहायक हैं ॥

एवंस्वभावमेवैतत् तद् बुद्ध्वा विहरेन्नरः।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च स वै विगतमत्सरः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार 'आत्मा असंग एवं निर्लेप है' इस बातको जानकर मनुष्य शोक, हर्ष और द्वेषका परित्याग करके विचरण करे ॥ ३९ ॥

स्वभावसिद्धमेवैतद् यदिमान् सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४० ॥

जैसे मकड़ी जाला बुनती है, उसी प्रकार बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है—यह स्वभावसिद्ध है, अतएव गुणोंको जालेके समान और बुद्धिको मकड़ीके समान जानना चाहिये ॥ ४० ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ४१ ॥

वे गुण नष्ट होनेपर पुनः वापस नहीं आते; क्योंकि फिर उनकी प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है। दूसरी श्रेणीके लोग उन नष्ट हुए गुणोंकी पुनरावृत्ति भी मानते हैं ॥ ४१ ॥

इतीदं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत विशोकश्छिन्नसंशयः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी चिन्तास्वरूप इस सुदृढ़ हृदयग्रन्थिको त्यागकर शोक और संशयसे रहित हो सुखपूर्वक रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्वीं मोहपूर्णां नदीं नराः।
यथा गाधमविद्वांसो बुद्धियोगमयं तथा ॥ ४३ ॥

जलकी गहराईको न जाननेवाले मनुष्य जैसे नदीके तलप्रदेशमें जाकर दुःखका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार बुद्धियोग (ज्ञान) से अनभिज्ञ सभी मनुष्य इस मोहपूर्ण विशाल संसारनदीमें पड़कर क्लेश भोगते हैं ॥ ४३ ॥

नैव ताम्यन्ति विद्वांसः प्लवन्तः पारमम्भसः।
अध्यात्मविदुषो धीरा ज्ञानं तु परमं प्लवः ॥ ४४ ॥

जो तैरनेकी कला जानते हैं, वे तैरकर अगाध जलसे पार हो जाते हैं। उन्हें कष्ट नहीं भोगना पड़ता। उसी प्रकार अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता धीर पुरुष अनायास संसार-सागरको पार कर जाते हैं। उनके लिये परम ज्ञान ही जहाज बन जाता है ॥ ४४ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं भवेत्।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सकृदुपदर्शयतीह तुल्यताम् ॥ ४५ ॥

अज्ञानियोंको जिस संसारसे महान् भय बना रहता है, उससे ज्ञानियोंको वह गुरुतर भय तनिक भी नहीं प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुषोंमेंसे किसीको भी अधिक या न्यून गति नहीं प्राप्त होती—वे सब समान गतिके भागी होते हैं। 'सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः' इत्यादि श्रुति यहाँ ज्ञानियोंकी गतिकी समानता दिखाती है ॥ ४५ ॥

यत् करोति बहुदोषमेकत-
स्तच्च दूषयति यत्पुरा कृतम्।
नाप्रियं तदुभयं करोत्यसौ
यच्च दूषयति यत् करोति च ॥ ४६ ॥

अज्ञानावस्थामें मनुष्य जो अनेक दोषसे युक्त कर्म करता है और वह पहलेके जो कर्म कर चुका है, उनके लिये शोक करता है। इसके सिवा अज्ञानावस्थामें जो वह दूसरेके किये हुए अप्रिय कर्मको दोषरूपमें देखता है और राग आदि दोषके कारण स्वयं जो दूषित कर्म करता है, वह दोनों ही प्रकारका कार्य वह ज्ञान होनेके बाद नहीं करता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पाञ्चभौतिके पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका वर्णनविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

समङ्गके द्वारा नारदजीसे अपनी शोकहीन स्थितिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! संसारके सभी प्राणी सदा शोक, दुःख और मृत्युसे डरते रहते हैं; अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हमलोगोंको उन दोनोंका भय न रहे ॥१॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं समङ्गस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष देवर्षि नारद और समङ्गके संवादरूप प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक इव लक्ष्यसे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—समङ्गजी ! दूसरे लोग तो सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं; परंतु आप हृदयसे प्रणाम करते जान पड़ते हैं। मालूम होता है, आप इस संसारसागरको अपनी इन दोनों भुजाओंसे ही तैरकर पार हो जायँगे। आपका मन नित्य प्रसन्न रहता है तथा आप सदा शोकशून्य-से दिखायी देते हैं ॥ ३ ॥

उद्वेगं न हि ते किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्षये।
नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ॥ ४ ॥

मैं आपके चित्तमें कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख पाता हूँ। आप नित्य तृप्तकी भाँति अपने आपमें ही स्थित रहकर बालकोंके समान चेष्टा करते हैं (इसका क्या कारण है ?) ॥ ४ ॥

समङ्ग उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत् तु मानद।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ५ ॥

समङ्गजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले देवर्षे ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका स्वरूप तथा तत्त्व जानता हूँ; इसलिये मेरे मनमें कभी विषाद नहीं होता ॥५॥

उपक्रमानहं वेद पुनरेव फलोदयान्।
लोके फलानि चित्राणि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ६ ॥

मुझे कर्मोंके आरम्भका तथा उनके फलोदयकालका भी ज्ञान है और लोकमें जो भाँति-भाँतिके कर्मफल प्राप्त होते हैं, उनको भी मैं जानता हूँ; इसीलिये मेरे मनमें कभी खेद नहीं होता ॥ ६ ॥

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद।
अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ७ ॥

नारदजी ! देखिये, जैसे जगत्में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और जड मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ॥ ७ ॥

विहितेनैव जीवन्ति अरोगाङ्गा दिवौकसः।
बलवन्तोऽबलाश्चैव तस्मादस्मान् सभाजय ॥ ८ ॥

नीरोग शरीरवाले देवता, बलवान् और निर्बल सभी अपने प्रारब्ध-विधानके अनुसार जीवन धारण करते हैं; अतः हम भी प्रारब्धपर ही अवलम्बित रहकर किसी कर्मका आरम्भ नहीं करते हैं, इसलिये हमारे प्रति भी आप आदर बुद्धि रखें (अकर्मण्य समझकर हमारा निरादर न करें) ॥ ८ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ९ ॥

जिनके पास हजारों रुपये हैं, वे भी जीते हैं। जिनके पास सैकड़ों रुपयोंका संग्रह है, वे भी जीवन धारण करते हैं। दूसरे लोग सागसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। उसी तरह हमें भी जीवित समझिये ॥ ९ ॥

यदा न शोचेमहि किं नु नः स्याद्
धर्मेण वा नारद कर्मणा वा।
कृतान्तवश्यानि यदा सुखानि
दुःखानि वा यन्न विधर्षयन्ति ॥ १० ॥

नारदजी ! जब अज्ञान दूर हो जानेके कारण हम शोक ही नहीं करते हैं तो धर्म अथवा लौकिक कर्मसे हमारा क्या प्रयोजन है। सारे सुख और दुःख कालके अधीन होनेके कारण क्षणभङ्गुर हैं, अतः वे ज्ञानी पुरुषको पराभूत नहीं कर सकते हैं ॥

यस्मै प्राज्ञाः कथयन्ते मनुष्याः
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

ज्ञानी पुरुष जिसके लिये कहा करते हैं, उस प्रज्ञाकी जड़ है इन्द्रियोंकी निर्मलता। जिसकी इन्द्रियाँ मोह और शोक-में मग्न हैं, उस मोहाच्छन्न इन्द्रियवाले पुरुषको कभी प्रज्ञाका लाभ नहीं मिल सकता ॥ ११ ॥

मूढस्य दर्पः स पुनर्मोह एव
मूढस्य नायं न परोऽस्ति लोकः।

न ह्येव दुःखानि सदा भवन्ति
सुखस्य वा नित्यशो लाभ एव ॥ १२ ॥

मूढ़ मनुष्यको गर्व होता है। उसका वह गर्व मोहरूप ही है। मूढ़के लिये न तो यह लोक सुखद होता है और न परलोक ही। किसीको भी न तो सदा दुःख ही उठाने पड़ते हैं और न नित्य, निरन्तर सुखका ही लाभ होता है ॥ १२ ॥

भवात्मकं सम्परिवर्तमानं
न मादृशः संज्वरं जातु कुर्यात्।
इष्टान् भोगान् नानुरुध्येत् सुखं वा
न चिन्तयेद् दुःखमभ्यागतं वा ॥ १३ ॥

संसारके स्वरूपको परिवर्तित होता देख मेरे-जैसा मनुष्य कभी संताप नहीं करता है। अभीष्ट भोग अथवा सुखका भी अनुसरण नहीं करता तथा दुःख आ जाय तो उसके लिये चिन्तित नहीं होता ॥ १३ ॥

समाहितो न स्पृहयेत् परेषां
नानागतं चाभिनन्देच्च लाभम्।
न चापि हृष्येद् विपुलेऽर्थलाभे
तथार्थनाशे च न वै विषीदेत् ॥ १४ ॥

सब प्रकारसे उपरत महापुरुष दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहता। भविष्यमें होनेवाले अर्थलाभका भी अभिनन्दन नहीं करता। बहुत-सी सम्पत्ति पाकर हर्षित नहीं होता तथा धनका नाश हो जानेपर भी खेद नहीं करता ॥ १४ ॥

न बान्धवा न च वित्तं न कौल्यं
न च श्रुतं न च मन्त्रा न वीर्यम्।
दुःखात् त्रातुं सर्व एवोत्सहन्ते
परत्र शीलेन तु यान्ति शान्तिम् ॥ १५ ॥

बन्धु-बान्धव, धन, उत्तम कुल, शास्त्राध्ययन, मन्त्र तथा पराक्रम—ये सब-के-सब मिलकर भी किसीको दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते हैं। परलोकमें मनुष्य उत्तम स्वभावके कारण ही शान्ति पाते हैं ॥ १५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम्।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप ॥ १६ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व बुद्धि नहीं प्राप्त होती। योगके बिना कोई सुख नहीं पाता है। नरेश्वर! दुःखोंके सम्बन्धका त्याग और धैर्य—ये ही दोनों सुखके कारण हैं ॥ १६ ॥

प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः।
उत्सेको नरकायैव तस्मात् तान् संत्यजाम्यहम् ॥ १७ ॥

प्रिय वस्तु हर्षजनक होती है। हर्ष अभिमानको बढ़ाता है और अभिमान नरकमें ही डुबानेवाला है। इसलिये मैं इन तीनोंका त्याग करता हूँ ॥ १७ ॥

एताञ्शोकभयोत्सेकान् मोहनान् सुखदुःखयोः।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ॥ १८ ॥

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियोंको सुख-दुःखमें डालकर मोहित करनेवाले हैं; इसलिये जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षीकी भाँति देखता हूँ ॥

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः।
तृष्णामोहौ तु संत्यज्य चरामि पृथिवीमिमाम् ॥ १९ ॥

अर्थ और कामको त्यागकर एवं तृष्णा और मोहका सर्वथा परित्याग करके मैं शोक और संतापसे रहित हुआ इस पृथ्वीपर विचरता हूँ ॥ १९ ॥

न च मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह वामुत्र च भयम् ॥ २० ॥

जैसे अमृत पीनेवालेको मृत्युसे भय नहीं होता, उसी प्रकार मुझे भी इहलोक या परलोकमें मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा दूसरे किसीसे भी भय नहीं है ॥ २० ॥

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत् कृत्वा तपोऽव्ययम्।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मैंने महान् और अक्षय तप करके यही ज्ञान पाया है; अतः नारदजी! शोककी परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि समङ्गनारदसंवादे षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें समङ्ग और नारदजीका संवादविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नारदजीका गालव मुनिको श्रेयका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो शास्त्रोंके तत्त्वको नहीं जानता, जिसका मन सदा संशयमें ही पड़ा रहता है तथा जिसने परमार्थके लिये कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, उस

पुरुषका कल्याण कैसे हो सकता है ? यह मुझे बताइये ॥१॥

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम् ।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सदा गुरुजनोंकी पूजा, वृद्ध पुरुषोंकी सेवा और शास्त्रोंका श्रवण—ये तीन कल्याणके अमोघ साधन बताये जाते हैं ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गालवस्य च संवादं देवर्षेर्नारदस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भी जानकर मनुष्य देवर्षि नारद और महर्षि गालवके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥

स्वाश्रमं समनुप्राप्तं नारदं देववर्चसम् ।
वीतमोहक्लमं विप्रं ज्ञानतृप्तं जितेन्द्रियः ।
श्रेयस्कामो यतात्मानं नारदं गालवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जितेन्द्रिय गालव मुनिने अपने आश्रमपर पधारे हुए देवोपम तेजस्वी ब्राह्मण, मोह और क्लान्तिसे रहित, ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण एवं मनको वशमें रखनेवाले देवर्षि नारदजीसे इस प्रकार पूछा—॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैश्च पुरुषो मुने ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाल्लँक्षयामहे ॥ ५ ॥

'मुने ! संसारमें कोई भी पुरुष जिन गुणोंद्वारा सम्मानित होता है, उन समस्त गुणोंका मैं आपमें कभी अभाव नहीं देखता हूँ ॥ ५ ॥

भवानेवंविधोऽस्माकं संशयं छेत्तुमर्हति ।
अमूढश्चिरमूढानां लोकतत्त्वमजानताम् ॥ ६ ॥

'लोक-तत्त्वके ज्ञानसे शून्य और चिरकालसे अज्ञानमें पड़े हुए हम-जैसे लोगोंके संशयका निवारण सर्वगुणसम्पन्न आप-जैसा ज्ञानी महात्मा ही कर सकता है ॥ ६ ॥

ज्ञाने ह्येवं प्रवृत्तिः स्यात् कार्याणामविशेषतः ।
यत् कार्यं न व्यवस्यामस्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

'मुने! शास्त्रोंमें बहुत-से कर्तव्यकर्म बताये गये हैं, उनमेंसे अमुक कर्मके इस प्रकार करनेसे ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति हो सकती है, इसका विशेषरूपसे हमें निश्चय नहीं हो पाता है; अतः हमारे लिये जो कर्तव्य हो और जिसका निर्धारण हम न कर पाते हों, उसे आप ही हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भगवन्नाश्रमाः सर्वे पृथगाचारदर्शिनः ।
इदं श्रेय इदं श्रेय इति सर्वे प्रबोधिताः ॥ ८ ॥

'भगवन् ! सभी आश्रमोंवाले पृथक्-पृथक् आचारका दर्शन कराते हैं तथा 'यह श्रेष्ठ है, यह श्रेष्ठ है' ऐसा उपदेश देते हुए वे (अपने ही सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं और) सभी मनुष्योंकी बुद्धिमें यही बात जमा देते हैं ॥८॥

तांस्तु विप्रस्थितान् दृष्ट्वा शास्त्रैः शास्त्राभिनन्दिनः ।
स्वशास्त्रैः परितुष्टांश्च श्रेयो नोपलभामहे ॥ ९ ॥

'जिनके मनमें वह बात बैठ गयी है, उन सबको उन शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार नाना प्रकारके आचार-मार्गसे चलते और अपने-अपने शास्त्रोंका अभिनन्दन करते देखकर जैसे हम अपनी मान्यतामें संतुष्ट हैं, वैसे ही उन्हें भी संतुष्ट पाकर हमारे मनमें संशय उत्पन्न हो गया है । हम यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि परम कल्याणकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? ॥ ९ ॥

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा ।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥ १० ॥

'यदि शास्त्र एक होता तो श्रेयकी प्राप्तिका उपाय भी एक ही होनेके कारण वह स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता, परंतु बहुत-से शास्त्रोंने नाना प्रकारसे वर्णन करके श्रेयको गुह्य अवस्थामें पहुँचा दिया है—उसे अत्यन्त गूढ़ बना डाला है ॥

एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ११ ॥

'इस कारणसे मुझे श्रेयका स्वरूप संशयाच्छन्न जान पड़ता है । भगवन् ! अब आप ही मुझे उसका उपदेश दें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझ शिष्यको श्रेयोमार्गका बोध करायें'।

नारद उवाच

आश्रमास्तात चत्वारो यथासंकल्पिताः पृथक् ।
तान् सर्वाननुपश्य त्वं समाश्रित्येति गालव ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—तात ! आश्रम चार हैं और शास्त्रोंमें उनकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गयी है । गालव ! तुम ज्ञानका आश्रय लेकर उन सबको यथार्थरूपसे जानो ॥ १२ ॥

तेषां तेषां तथा हि त्वमाश्रमाणां ततस्ततः ।
नानारूपगुणोद्देशं पश्य विप्र स्थितं पृथक् ॥ १३ ॥

विप्रवर ! उन-उन आश्रमोंके जो नाना प्रकारसे गुण-सम्पन्न धर्म बताये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति है । इस बातको तुम देखो और समझो ॥ १३ ॥

न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्येऽपश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ॥१४॥

जो साधारण मनुष्य हैं, वे उन आश्रमोंके वास्तविक अभिप्रायको भलीभाँति संशयरहित नहीं जान पाते, किंतु उनसे भिन्न जो तत्त्वज्ञ हैं, वे इन आश्रमोंके परमतत्त्वको ठीक-ठीक समझते हैं ॥ १४ ॥

यत् तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् ॥ १५ ॥
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।

संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जो अच्छी तरह कल्याण करनेवाला साधन होता है, वह सर्वथा संशयरहित होता है। सुहृदोंपर अनुग्रह करना, शत्रुभाव रखनेवाले दुष्टोंको दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और कामका संग्रह करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥ १७ ॥

पापकर्मसे दूर रहना, निरन्तर पुण्यकर्मोंमें लगे रहना और सत्पुरुषोंके साथ रहकर सदाचारका ठीक-ठीक पालन करना—यह संशयरहित कल्याणका मार्ग है ॥ १७ ॥

मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करना, व्यवहारमें सरल होना तथा मीठे वचन बोलना—यह भी कल्याणका संदेहरहित मार्ग है ॥ १८ ॥

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ॥ १९ ॥

देवताओं, पितरों और अतिथियोंको उनका भाग देना तथा भरण-पोषण करनेयोग्य व्यक्तियोंका त्याग न करना—यह कल्याणका निश्चित साधन है ॥ १९ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

सत्य बोलना भी श्रेयस्कर है; परंतु सत्यको यथार्थरूपसे जानना कठिन है। मैं तो उसीको सत्य कहता हूँ, जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो ॥ २० ॥

अहंकारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः ।
संतोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २१ ॥

अहंकारका त्याग, प्रमादको रोकना, संतोष और एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ॥ २१ ॥

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥ २२ ॥

धर्माचरणपूर्वक वेद और वेदाङ्गोंका स्वाध्याय करना तथा उनके सिद्धान्तको जाननेकी इच्छाको जगाये रखना निस्संदेह कल्याणका साधन है ॥ २२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान् ।
नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथंचन ॥ २३ ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उस मनुष्यको किसी तरह भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

नक्तंचर्या दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम् ।
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ॥ २४ ॥

कल्याण चाहनेवाला पुरुष रातमें घूमना, दिनमें सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुका सेवन, आहार-विहारका अधिक मात्रामें सेवन और उसका सर्वथा त्याग—ये सब बातें त्याग दे ॥ २४ ॥

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया ।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥ २५ ॥

दूसरोंकी निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेका प्रयत्न न करे। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा जो अपनी उत्कृष्टता है, उसे अपने गुणोंद्वारा ही सिद्ध करे (बातोंसे नहीं) ॥ २५ ॥

निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः ।
दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात् ॥ २६ ॥

गुणहीन मनुष्य ही अधिकतर अपनी प्रशंसा किया करते हैं। वे अपनेमें गुणोंकी कमी देखकर दूसरे गुणवान् पुरुषोंके गुणोंमें दोष बताकर उनपर आक्षेप किया करते हैं ॥ २६ ॥

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात् ।
गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः ॥ २७ ॥

यदि उनको उत्तर दिया जाय तो फिर वे घमंडमें भरकर अपने-आपको महापुरुषोंसे भी अधिक गुणवान् मानने लगें ॥

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद् यशः ॥ २८ ॥

परंतु जो दूसरे किसीकी निन्दा तथा अपनी प्रशंसा नहीं करता, ऐसा उत्तम गुणसम्पन्न विद्वान् पुरुष ही महान् यशका भागी होता है ॥ २८ ॥

अब्रुवन् वाति सुरभिर्गन्धः सुमनसां शुचिः ।
तथैवाव्याहरन् भाति विमलो भानुरम्बरे ॥ २९ ॥

फूलोंकी पवित्र एवं मनोरम सुगन्ध बिना कुछ बोले ही महक उठती है। निर्मल सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना ही आकाशमें प्रकाशित होने लगते हैं ॥ २९ ॥

एवमादीनि चान्यानि परित्यक्तानि मेधया ।
ज्वलन्ति यशसा लोके यानि न व्याहरन्ति च ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें और भी बहुत-सी ऐसी बुद्धिसे रहित वस्तुएँ हैं, जो अपनी प्रशंसा नहीं करती हैं, किंतु अपने यशसे जगमगाती रहती हैं ॥ ३० ॥

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ३१ ॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करनेसे ही जगत्‌में ख्याति नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफामें छिपा रहे तो भी उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो जाती है ॥ ३१ ॥

असदुच्चैरपि प्रोक्तः शब्दः समुपशाम्यति ।

दीप्यते त्वेव लोकेषु शनैरपि सुभाषितम् ॥ ३२ ॥

बुरी बात जोर-जोरसे कही गयी हो तो भी वह शून्यमें विलीन हो जाती है, लोकमें उसका आदर नहीं होता है; किंतु अच्छी बात धीरेसे कही जाय तो भी वह संसारमें प्रकाशित होती है—उसका आदर होता और प्रभाव बढ़ता है॥

मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं बहु ।
दर्शयत्यन्तरात्मानमग्निरूपमिवांशुमान् ॥ ३३ ॥

घमंडी मूर्खोंकी कही हुई असार बातें उनके दूषित अन्तःकरणका ही प्रदर्शन कराती हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य सूर्यकान्तमणिके योगसे अपने दाहक अग्निरूपको ही प्रकट करता है ॥ ३३ ॥

एतस्मात् कारणात् प्रज्ञां मृगयन्ते पृथग्विधाम् ।
प्रज्ञालाभो हि भूतानामुत्तमः प्रतिभाति मे ॥ ३४ ॥

इस कारण कल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधु पुरुष अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे नाना प्रकारकी प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) का ही अनुसंधान करते हैं । मुझे तो सभी प्राणियोंके लिये प्रज्ञाका लाभ ही उत्तम जान पड़ता है ॥ ३४ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः ।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूछे किसीको कोई उपदेश न करे । अन्यायपूर्वक पूछनेपर भी किसीके प्रश्नका उत्तर न दे । जडकी भाँति चुपचाप बैठा रहे ॥

ततो वासं परीक्षेत धर्मनित्येषु साधुषु ।
मनुष्येषु वदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु च ॥ ३६ ॥

मनुष्यको सदा धर्ममें लगे रहनेवाले साधु-महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषोंके समीप निवास करनेकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ ३६ ॥

चतुर्णां यत्र वर्णानां धर्मव्यतिकरो भवेत् ।
न तत्र वासं कुर्वीत श्रेयोऽर्थी वै कथंचन ॥ ३७ ॥

जहाँ चारों वर्णोंके धर्मोंका उल्लङ्घन होता हो, वहाँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको किसी तरह भी नहीं रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

निरारम्भोऽप्ययमिह यथालब्धोपजीवनः ।
पुण्यं पुण्येषु विमलं पापं पापेषु चाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

किसी कर्मका आरम्भ न करनेवाला और जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष भी यदि पुण्यात्माओंके समाजमें रहे तो उसे निर्मल पुण्यकी प्राप्ति होती है और पापियोंके संसर्गमें रहे तो वह पापका ही भागी होता है॥

अपामग्नेस्तथेन्दोश्च स्पर्शं वेदयते यथा ।
तथा पश्यामहे स्पर्शमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ ३९ ॥

जैसे जल, अग्नि और चन्द्रमाकी किरणोंके संसर्गमें आनेपर मनुष्य क्रमशः शीत, उष्ण और सुखदायी स्पर्शका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम पुण्यात्मा और पापियोंके संगसे पुण्य और पाप दोनोंके स्पर्शका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥

अपश्यन्तोऽनुविषयं भुञ्जते विघसाशिनः ।
भुञ्जानाश्चात्मविषयान् विषयान् विद्धि कर्मणाम्॥ ४० ॥

जो विघसाशी (भृत्यवर्ग और अतिथि आदिको भोजन करानेके बाद बचा हुआ भोजन करनेवाले) हैं, वे तिक्त-मधुर रस या स्वादकी आलोचना न करते हुए अन्न ग्रहण करते हैं; किंतु जो अपनी रसनाका विषय समझकर स्वादु और अस्वादुका विचार रखते हुए भोजन करते हैं, उन्हें कर्मपाशमें बँधा हुआ ही समझना चाहिये ॥ ४० ॥

यत्रागमयमानानामसत्कारेण पृच्छताम् ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणो धर्मं त्यजेत् तं देशमात्मवान् ॥ ४१ ॥

जहाँ ब्राह्मण अनादर एवं अन्यायपूर्वक धर्म-शास्त्रविषयक प्रश्न करनेवाले पुरुषोंको धर्मका उपदेश करता हो, आत्मपरायण साधकको उस देशका परित्याग कर देना चाहिये ॥

शिष्योपाध्यायिकावृत्तिर्यत्र स्यात् सुसमाहिता ।
यथावच्छास्त्रसम्पन्ना कस्तं देशं परित्यजेत् ॥ ४२ ॥

जहाँ गुरु और शिष्यका व्यवहार सुव्यवस्थित, शास्त्रसम्मत एवं यथावत् रूपसे चलता है, कौन उस देशका परित्याग करेगा ? ॥ ४२ ॥

आकाशस्था ध्रुवं यत्र दोषं ब्रूयुर्विपश्चिताम् ।
आत्मपूजाभिकामो वै को वसेत् तत्र पण्डितः ॥ ४३ ॥

जहाँके लोग बिना किसी आधारके ही विद्वान् पुरुषोंपर निश्चितरूपसे दोषारोपण करते हों, उस देशमें आत्मसम्मानकी इच्छा रखनेवाला कौन मनुष्य निवास करेगा ? ॥ ४३ ॥

यत्र संलोडिता लुब्धैः प्रायशो धर्मसेतवः ।
प्रदीप्तमिव चैलान्तं कस्तं देशं न संत्यजेत् ॥ ४४ ॥

जहाँ लालची मनुष्योंने प्रायः धर्मकी मर्यादाएँ तोड़ डाली हों, जलते हुए कपड़ेकी भाँति उस देशको कौन नहीं त्याग देगा ? ॥ ४४ ॥

यत्र धर्ममनाशङ्काश्चरेयुर्वीतमत्सराः ।
भवेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ४५ ॥

परंतु जहाँके लोग मात्सर्य और शङ्कासे रहित होकर धर्मका आचरण करते हों, वहाँ पुण्यशील साधु पुरुषोंके पास अवश्य निवास करे ॥ ४५ ॥

धर्ममर्थनिमित्तं च चरेयुर्यत्र मानवाः ।
नताननुवसेज्जातु ते हि पापकृतो जनाः ॥ ४६ ॥

जहाँके मनुष्य धनके लिये धर्मका अनुष्ठान करते हों,

वहाँ उनके पास कदापि न रहे; क्योंकि वे सब-के-सब पापाचारी होते हैं ॥ ४६ ॥

कर्मणा यत्र पापेन वर्तन्ते जीवितेप्सवः।
व्यवधावेत् ततस्तूर्णं ससर्पाच्छरणादिव ॥ ४७ ॥

जहाँ जीवनकी रक्षाके लिये लोग पापकर्मसे जीविका चलाते हों, सर्पयुक्त घरके समान उस स्थानसे तुरंत दूर हट जाना चाहिये ॥ ४७ ॥

येन खट्वां समारूढः कर्मणानुशयी भवेत्।
आदितस्तन्न कर्तव्यमिच्छता भवमात्मनः ॥ ४८ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले साधकको चाहिये कि जिस पापकर्मके संस्कारोंसे युक्त हुआ मनुष्य खाटपर पड़कर दुःख भोगता है, उस कर्मको पहलेसे ही न करे ॥ ४८ ॥

यत्र राजा च राज्ञश्च पुरुषाः प्रत्यनन्तराः।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत् तद् राष्ट्रमात्मवान् ॥ ४९ ॥

जहाँ राजा और राजाके निकटवर्ती अन्य पुरुष कुटुम्बीजनोंसे पहले ही भोजन कर लेते हैं, उस राष्ट्रको मनस्वी पुरुष अवश्य त्याग दे ॥ ४९ ॥

श्रोत्रियास्त्वग्रभोक्तारो धर्मनित्याः सनातनाः।
याजनाध्यापने युक्ता यत्र तद् राष्ट्रमावसेत् ॥ ५० ॥

जिस देशमें सदा धर्मपरायण, यज्ञ कराने और पढ़ानेके कार्यमें संलग्न सनातनधर्मी श्रोत्रिय ब्राह्मण ही सबसे पहले भोजन पाते हों, उस राष्ट्रमें अवश्य निवास करे ॥ ५० ॥

स्वाहास्वधावषट्कारा यत्र सम्यगनुष्ठिताः।
अजस्रं चैव वर्तन्ते वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५१ ॥

जहाँ स्वाहा (अग्निहोत्र), स्वधा (श्राद्धकर्म) तथा वषट्कारका भलीभाँति अनुष्ठान होता हो और निरन्तर ये सभी कर्म किये जाते हों, वहाँ बिना विचारे ही निवास करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अशुचीन् यत्र पश्येत ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान्।
त्यजेत् तद् राष्ट्रमासन्नमुपसृष्टमिवामिषम् ॥ ५२ ॥

जहाँ ब्राह्मणोंको जीविकाके लिये कष्ट पाते तथा अपवित्र अवस्थामें रहते देखे, उस राष्ट्रको निकटवर्ती होनेपर भी विषमिश्रित भोग्यवस्तुकी भाँति त्याग दे ॥ ५२ ॥

प्रीयमाणा नरा यत्र प्रयच्छेयुरयाचिताः।
स्वस्थचित्तो वसेत् तत्र कृतकृत्य इवात्मवान् ॥ ५३ ॥

जहाँके लोग प्रसन्नतापूर्वक बिना माँगे ही भिक्षा देते हों, वहाँ मनको वशमें करनेवाला पुरुष कृतकृत्यकी भाँति स्वस्थचित्त होकर निवास करे ॥ ५३ ॥

दण्डो यत्राविनीतेषु सत्कारश्च कृतात्मसु।
चरेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ५४ ॥

जहाँ उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड दिया जाता हो और जितात्मा पुरुषोंका सत्कार किया जाता हो, वहाँ पुण्यशील श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच विचरना और निवास करना चाहिये ॥

उपसृष्टेषु दान्तेषु दुराचारेषु साधुषु।
अविनीतेषु लुब्धेषु सुमहद् दण्डधारणम् ॥ ५५ ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुषोंपर क्रोध और श्रेष्ठ पुरुषोंपर अत्याचार करते हों, उद्दण्ड और लोभी हों, ऐसे लोगोंको जहाँ अत्यन्त कठोर और महान् दण्ड दिया जाता हो, उस देशमें बिना विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५५ ॥

यत्र राजा धर्मनित्यो राज्यं धर्मेण पालयेत्।
अपास्य कामान् कामेशो वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५६ ॥

जहाँका राजा सदा धर्मपरायण रहकर धर्मानुसार ही राज्यका पालन करता हो और सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी होकर भी विषयभोगसे विमुख रहता हो, वहाँ बिना कुछ सोचे-विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५६ ॥

यथाशीला हि राजानः सर्वान् विषयवासिनः।
श्रेयसा योजयन्त्याशु श्रेयसि प्रत्युपस्थिते ॥ ५७ ॥

क्योंकि राजाके शील-स्वभाव जैसे होते हैं, वैसे ही प्रजाके भी हो जाते हैं। वह अपने कल्याणका अवसर उपस्थित होनेपर समस्त प्रजाको भी शीघ्र ही कल्याणका भागी बना देता है ॥ ५७ ॥

पृच्छतस्ते मया तात श्रेय एतदुदाहृतम्।
न हि शक्यं प्रधानेन श्रेयः संख्यातुमात्मनः ॥ ५८ ॥

तात ! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यह श्रेयोमार्गका वर्णन किया है। पूर्णतया तो आत्मकल्याणकी परिगणना हो ही नहीं सकती ॥ ५८ ॥

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः।
तपसैवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥ ५९ ॥

जो इस प्रकारकी वृत्तिसे रहकर जीविका चलाता है और प्राणियोंके हितमें मन लगाये रहता है, उस पुरुषको स्वधर्मरूप तपके अनुष्ठानसे इस लोकमें ही परम कल्याणकी प्रत्यक्ष उपलब्धि हो जायगी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रेयोवाचिको नाम सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रेयोमार्गका प्रतिपादन नामक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अरिष्टनेमिका राजा सगरको वैराग्योत्पादक मोक्षविषयक उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः संगपाशाद् विमुच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! मेरे-जैसा राजा कैसे साधन और व्यवहारसे युक्त होकर पृथ्वीपर विचरे और सदा किन गुणोंसे सम्पन्न होकर वह आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो?॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें राजा सगरके प्रश्न करनेपर अरिष्टनेमिने जो उत्तर दिया था, वह प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ २ ॥

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

सगरने पूछा—ब्रह्मन् ! इस जगत्में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्मका अनुष्ठान करके सुखका भागी होता है ? तथा किस उपायसे उसे शोक या क्षोभ प्राप्त नहीं होता ! यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः।
विबुध्य सम्पदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा सगरके इस प्रकार पूछनेपर सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ तार्क्ष्य (अरिष्टनेमि) ने उनमें सर्वोत्तम दैवी सम्पत्तिके गुण जानकर उनको इस प्रकार उत्तम उपदेश दिया—॥ ४ ॥

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥ ५ ॥

'सगर ! संसारमें मोक्षका सुख ही वास्तविक सुख है, परंतु जो धनधान्यके उपार्जनमें व्यग्र तथा पुत्र और पशुओंमें आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्यको उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥ ५ ॥

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्यकी चिकित्सा करनी कठिन है; क्योंकि जो स्नेहके बन्धनमें बँधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पानेके लिये योग्य नहीं होता ॥ ६ ॥

स्नेहजानिह ते पाशान् वक्ष्यामि शृणु तान् मम।
सकर्णकेन शिरसा शक्याः श्रोतुं विजानता ॥ ७ ॥

'मैं तुम्हें स्नेहजनित बन्धनोंका परिचय देता हूँ, उन्हें तुम मुझसे सुनो। श्रवणेन्द्रियसम्पन्न समझदार मनुष्य ही ऐसी बातोंको बुद्धिपूर्वक सुन सकता है ॥ ७ ॥

सम्भाव्य पुत्रान् कालेन यौवनस्थान् निवेश्य च।
समर्थान् जीवने ज्ञात्वा मुक्तश्चर यथासुखम् ॥ ८ ॥

'समयानुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके जब वे जवान हो जायँ, तब उनका विवाह कर दो और जब यह मालूम हो जाय कि अब ये दूसरेके सहयोगके बिना ही जीवन-निर्वाह करनेमें समर्थ हैं, तब उनके स्नेह-पाशसे मुक्त हो सुखपूर्वक विचरो ॥

भार्यां पुत्रवतीं वृद्धां लालितां पुत्रवत्सलाम्।
ज्ञात्वा प्रजहि कालेन परार्थमनुदृश्य च ॥ ९ ॥

'पत्नी पुत्रवती होकर वृद्ध हो गयी। अब पुत्रगण उसका पालन करते हैं और वह भी पुत्रोंपर पूर्ण वात्सल्य रखती है, यह जानकर परम पुरुषार्थ मोक्षको अपना लक्ष्य बनाकर यथासमय उसका परित्याग कर दे ॥ ९ ॥

सापत्यो निरपत्यो वा मुक्तश्चर यथासुखम्।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांस्त्वमनुभूय यथाविधि ॥ १० ॥
कृतकौतूहलस्तेषु मुक्तश्चर यथासुखम्।

'शास्त्र-विधिके अनुसार इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव करके जब तुम उनके खेलको पूरा कर चुको, तब संतान हुई हो चाहे न हुई हो, उनसे मुक्त होकर सुखपूर्वक विचरो ॥ १०½ ॥

उपपत्त्योपलब्धेषु लोकेषु च समो भव ॥ ११ ॥

'दैवेच्छासे जो भी लौकिक पदार्थ उपलब्ध हों, उनमें समान भाव रक्खो—राग-द्वेष न करो ॥ ११ ॥

एष तावत् समासेन तव संकीर्तितो मया।
मोक्षार्थो विस्तरेणाथ भूयो वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥

'यह संक्षेपमें मैंने तुम्हें मोक्षका विषय बताया है। अब पुनः इसीको विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः।
सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥ १३ ॥
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥ १४ ॥

'मुक्त पुरुष सुखी होते हैं और संसारमें निर्भय होकर विचरते हैं; किंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति आहारका संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है; अतः जो आसक्तिसे रहित हैं, वे ही इस संसारमें सुखी हैं। आसक्त मनुष्योंका तो नाश ही होता है ॥ १३-१४ ॥

स्वजने न च ते चिन्ता कर्तव्या मोक्षबुद्धिना।
इमे मया विनाभूता भविष्यन्ति कथं त्विति ॥ १५ ॥

'यदि तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें लगी हुई है तो तुम्हें स्वजनोंके विषयमें ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि ये मेरे बिना कैसे रहेंगे ॥ १५ ॥

स्वयमुत्पद्यते जन्तुः स्वयमेव विवर्धते।
सुखदुःखे तथा मृत्युं स्वयमेवाधिगच्छति ॥ १६ ॥

'प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता है और स्वयं ही सुख-दुःख तथा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम्।
स्वकृतेनाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा ॥ १७ ॥

'मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिताके द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करता है। संसारमें जो कुछ मिलता है, वह पूर्वकृत कर्मोंके फलके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है ॥ १७ ॥

धात्रा विहितभक्ष्याणि सर्वभूतानि मेदिनीम्।
लोके विपरिधावन्ति रक्षितानि स्वकर्मभिः ॥ १८ ॥

'संसारमें सभी प्राणी अपने कर्मोंसे सुरक्षित हो सारी पृथ्वीकी दौड़ लगाते हैं और विधाताने उनके प्रारब्धके अनुसार जो आहार नियत कर दिया है, उसे प्राप्त करते हैं ॥

स्वयं मृत्पिण्डभूतस्य परतन्त्रस्य सर्वदा।
को हेतुः स्वजनं पोष्टुं रक्षितुं वाप्यदृढात्मनः ॥ १९ ॥

'जो स्वयं ही शरीरकी दृष्टिसे मिट्टीका लोंदामात्र है, सर्वदा परतन्त्र है, वह अदृढ़ मनवाला मनुष्य स्वजनोंका पोषण और रक्षण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ! ॥१९॥

स्वजनं हि यदा मृत्युर्हन्त्येव तव पश्यतः।
कृतेऽपि यत्ने महति तत्र बोद्धव्यमात्मना ॥ २० ॥

'जब स्वजनोंको तुम्हारे देखते-देखते मौत मार ही डालती है और तुम उन्हें बचानेके लिये महान् प्रयत्न करनेपर भी सफल नहीं हो पाते, तब इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही यह विचार करना चाहिये कि मेरी क्या शक्ति है ! ॥ २०॥

जीवन्तमपि चैवैनं भरणे रक्षणे तथा।
असमाप्ते परित्यज्य पश्चादपि मरिष्यसि ॥ २१ ॥

'यदि ये स्वजन जीवित रह जायँ तो भी इनके भरण-पोषण और संरक्षणका कार्य समाप्त होनेसे पहले ही तुम इन्हें छोड़कर पीछे स्वयं भी तो मर जाओगे ॥ २१ ॥

यदा मृतं च स्वजनं न ज्ञास्यसि कदाचन।
सुखितं दुःखितं वापि ननु बोद्धव्यमात्मना ॥ २२ ॥

'अथवा जब कोई स्वजन मरकर इस लोकसे चला जायगा, तब उसके विषयमें यह कभी नहीं जान सकोगे कि वह सुखी है या दुखी, अतः इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही विचार करना चाहिये ॥ २२ ॥

मृते वा त्वयि जीवे वा यदा भोक्ष्यति वै जनः।
स्वकृतं ननु बुद्ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २३ ॥

'तुम जीवित रहो या मर जाओ। तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपनी-अपनी करनीका ही फल भोगेगा, तब इस बातको जानकर तुम्हें भी अपने कल्याणके ही साधनमें लग जाना चाहिये ॥ २३ ॥

एवं विजानँल्लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः।
मोक्षे निवेशय मनो भूयश्चाप्युपधारय ॥ २४ ॥

'ऐसा जानकर, इस संसारमें कौन किसका है, इस बातका भलीभाँति विचार करके अपने मनको मोक्षमें लगा दो और साथ ही पुनः इस बातपर ध्यान दो ॥ २४ ॥

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान् मुक्त एव सः ॥ २५ ॥

'जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावोंपर विजय पा ली है, वह सत्त्वसम्पन्न पुरुष सदा मुक्त ही है ॥ २५ ॥

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ॥ २६ ॥

'जो मोहवश जूआ, मद्यपान, परस्त्रीसंसर्ग तथ मृगया आदि व्यसनोंमें आसक्त होनेका प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ॥ २६ ॥

दिवसे दिवसे नाम रात्रौ रात्रौ पुमान् सदा।
भोक्तव्यमिति यः खिन्नो दोषबुद्धिः स उच्यते ॥ २७ ॥

'जो पुरुष सदा प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात्रिमें भोग भोगने या भोजन करनेकी ही चिन्तामें पड़कर दुखी रहता है, वह दोषबुद्धिसे युक्त कहलाता है ॥ २७॥

आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः।
यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

'जो सदा योगयुक्त रहकर स्त्रियोंके प्रति अपने भाव (अनुराग या आसक्ति) को निवृत्त हुआ ही देखता है

अर्थात् जिसकी स्त्रियोंके प्रति भोग्यबुद्धि नहीं होती, वही वास्तवमें मुक्त है ॥ २८ ॥

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ २९ ॥

'जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और चेष्टाओंको ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसारमें मुक्त ही है ॥ २९ ॥

प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु।
प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३० ॥

'जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्नमेंसे केवल एक प्रस्थ (पेट भरने लायक) को ही अपने जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त समझता है (उससे अधिकका संग्रह करना नहीं चाहता) तथा बड़े-से-बड़े महलमें माँच बिछाने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

मृत्युनाभ्याहतं लोकं व्याधिभिश्चोपपीडितम्।
अवृत्तिकर्शितं चैव यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३१ ॥

'जो इस जगत्को रोगोंसे पीड़ित, जीविकाके अभावसे दुर्बल और मृत्युके आघातसे नष्ट हुआ देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

यः पश्यति स संतुष्टो न पश्यंश्च विहन्यते।
यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३२ ॥

'जो ऐसा देखता है, वह संतुष्ट एवं मुक्त होता है; किंतु जो ऐसा नहीं देखता, वह मारा जाता है—जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ा रहता है। जो थोड़ेसे लाभमें ही संतुष्ट रहता है, वह इस जगत्में मुक्त ही है ॥ ३२ ॥

अग्नीषोमाविदं सर्वमिति यश्चानुपश्यति।
न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

'जो इस सम्पूर्ण जगत्को अग्नि और सोम (भोक्ता और भोज्य) रूप ही देखता है और स्वयंको उनसे भिन्न समझता है, उसे मायाके अद्भुत भाव—सुख-दुःख आदि छू नहीं सकते। वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।
शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३४ ॥

'जिस देहधारीके लिये पलंगकी सेज और भूमि—दोनों समान हैं; जो अगहनीके चावल और कोदो आदिको एक-सा समझता है, वह मुक्त ही है ॥ ३४ ॥

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च।
आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३५ ॥

जिसके लिये सनके वस्त्र, कुशके चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान हैं, वह भी मुक्त ही है ॥ ३५ ॥

पञ्चभूतसमुद्भूतं लोकं यश्चानुपश्यति।
तथा च वर्तते दृष्ट्वा लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३६ ॥

'जो संसारको पाञ्चभौतिक देखता और उस दृष्टिके अनुसार ही बर्ताव करता है, वह भी इस जगत्में मुक्त ही है ॥ ३६ ॥

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ३७ ॥

'जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय पराजय सम है तथा जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वही मुक्त है ॥ ३७ ॥

रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा।
शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥ ३८ ॥

'यह शरीर क्या है, बहुत-से दोषोंका भण्डार। इसमें रक्त, मल-मूत्र तथा और भी अनेक दोषोंका संचय हुआ है। जो इस बातको देखता और समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥

वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३९ ॥

'बुढ़ापा आनेपर इस शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सिरके बाल सफेद हो जाते हैं। देह दुबली-पतली एवं कान्तिहीन हो जाती है तथा कमर झुक जानेके कारण मनुष्य कुबड़ा-सा हो जाता है। इन सब बातोंकी ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४० ॥

'समय आनेपर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखोंसे दिखायी नहीं देता है, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इन सब बातोंको जो सदा देखता और इनपर विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

गतानृषींस्तथा देवानसुरांश्च तथा गतान्।
लोकादस्मात् परं लोकं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४१ ॥

'कितने ही ऋषि, देवता तथा असुर इस लोकसे परलोकको चले गये। जो सदा यह देखता और स्मरण रखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

प्रभावैरन्वितास्तैस्तैः पार्थिवेन्द्राः सहस्रशः।
ये गताः पृथिवीं त्यक्त्वा इति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ ४२ ॥

'सहस्रों प्रभावशाली नरेश इस पृथ्वीको छोड़कर कालके गालमें चले गये। इस बातको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

अर्थांश्च दुर्लभाँल्लोके क्लेशांश्च सुलभांस्तथा।

दुःखं चैव कुटुम्बार्थे यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४३ ॥

'संसारमें धन दुर्लभ है और क्लेश सुलभ। कुटुम्बके पालन-पोषणके लिये भी जहाँ बहुत दुःख उठाना पड़ता है, यह सब जिसकी दृष्टिमें है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपत्यानां च वैगुण्यं जनं विगुणमेव च।
पश्यन् भूयिष्ठशो लोके को मोक्षं नाभिपूजयेत् ॥ ४४ ॥

'इतना ही नहीं, इस जगत्में अपनी संतानोंकी गुणहीनताका दुःख भी देखना पड़ता है। विपरीत गुणवाले मनुष्योंसे भी सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार जो यहाँ अधिकांश कष्ट ही देखता है, ऐसा कौन मनुष्य मोक्षका आदर नहीं करेगा ? ॥ ४४ ॥

शास्त्राल्लोकाच्च यो बुद्धः सर्वं पश्यति मानवः।
असारमिव मानुष्यं सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन तथा लौकिक अनुभवसे भी ज्ञानसम्पन्न होकर समस्त मानव-जगत्को सारहीन-सा देखता है, वह सब प्रकारसे मुक्त ही है ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा मम वचो भवांश्चरतु मुक्तवत्।
गार्हस्थ्ये यदि वा मोक्षे कृता बुद्धिरविक्लवा ॥ ४६ ॥

'मेरे इस वचनको सुनकर तुम अपनी बुद्धिको व्याकुलतासे रहित बनाकर गृहस्थाश्रममें या संन्यास-आश्रममें चाहे जहाँ रहकर मुक्तकी भाँति आचरण करो' ॥ ४६ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा सम्यक् स पृथिवीपतिः।
मोक्षजैश्च गुणैर्युक्तः पालयामास च प्रजाः ॥ ४७ ॥

राजा सगर अरिष्टनेमिके उपर्युक्त उपदेशको भलीभाँति सुनकर मोक्षोपयोगी गुणोंसे सम्पन्न हो प्रजाका पालन करने लगे ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सगरारिष्टनेमिसंवादेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सगर और अरिष्टनेमिका संवादविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८८ ॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भृगुपुत्र उशनाका चरित्र और उन्हें शुक्र नामकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

तिष्ठते मे सदा तात कौतूहलमिदं हृदि।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुपितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! कुरुकुलके पितामह ! मेरे हृदयमें चिरकालसे यह एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न खड़ा है, जिसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कथं देवर्षिरुशना सदा काव्यो महामतिः।
असुराणां प्रियकरः सुराणामप्रिये रतः ॥ २ ॥

परम बुद्धिमान् कवित्वसम्पन्न देवर्षि उशना क्यों सदा ही असुरोंका प्रिय तथा देवताओंका अप्रिय करनेमें लगे रहते हैं ? ॥ २ ॥

वर्धयामास तेजश्च किमर्थममितौजसाम्।
नित्यं वैरनिबद्धाश्च दानवाः सुरसत्तमैः ॥ ३ ॥

उन्होंने अमित तेजस्वी दानवोंका तेज किसलिये बढ़ाया ? दानव तो सदा श्रेष्ठ देवताओंके साथ वैर ही बाँधे रहते हैं ॥

कथं चाप्युशना प्राप शुक्रत्वममरद्युतिः।
ऋद्धिं च स कथं प्राप्तः सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

देवोपम तेजस्वी मुनिवर उशनाका नाम शुक्र क्यों हो गया ? उन्हें ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई ? यह सब मुझे बताइये ॥

न याति च स तेजस्वी मध्येन नभसः कथम्।
एतदिच्छामि विज्ञातुं निखिलेन पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! देवर्षि उशना हैं तो बड़े तेजस्वी; परंतु वे आकाशके बीचसे होकर क्यों नहीं जाते ? इन सब बातोंको मैं पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितः सर्वमेतद् यथातथम्।
यथामति यथा चैतच्छ्रुतपूर्वं मयानघ ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप नरेश ! मैंने इन सब बातोंको पहले जिस तरह सुन रक्खा है, वह सारा वृत्तान्त अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥

एष भार्गवदायादो मुनिर्मान्यो दृढव्रतः।
सुराणां विप्रियकरो निमित्ते कारणात्मके ॥ ७ ॥

ये भृगुपुत्र मुनिवर उशना सबके लिये माननीय तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। एक विशेष कारण बन जानेसे रुष्ट होकर ये देवताओंके विरोधी हो गये* ॥

* कहते हैं, किसी समय असुरगण देवताओंको कष्ट पहुँचाकर भृगुपत्नीके आश्रममें जाकर छिप जाते थे। असुरोंने 'माता' कहकर उनकी शरण ली थी और उन्होंने पुत्र मानकर उन सबको निर्भय

इन्द्रोऽथ धनदो राजा यक्षरक्षोऽधिपः सदा ।
प्रभविष्णुश्च कोशस्य जगतश्च तथा प्रभुः ॥ ८ ॥

उस समय इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर थे और सदा यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति प्रभावशाली जगत्पति राजा कुबेर उनके कोषाध्यक्ष बनाये गये थे ॥ ८ ॥

तस्यात्मानमथाविश्य योगसिद्धो महामुनिः ।
रुद्ध्वा धनपतिं देवं योगेन हृतवान् वसु ॥ ९ ॥

योगसिद्ध महामुनि उशनाने योगबलसे धनाध्यक्ष कुबेरके भीतर प्रवेश करके उन्हें अपने काबूमें कर लिया और उनके सारे धनका अपहरण कर लिया ॥ ९ ॥

हृते धने ततः शर्म न लेभे धनदस्तथा ।
आपन्नमन्युः संविग्नः सोऽभ्यगात् सुरसत्तमम् ॥ १० ॥

धनका अपहरण हो जानेपर कुबेरको चैन नहीं पड़ा। वे कुपित और उद्विग्न होकर देवेश्वर महादेवजीके पास गये ॥

निवेदयामास तदा शिवायामिततेजसे ।
देवश्रेष्ठाय रुद्राय सौम्याय बहुरूपिणे ॥ ११ ॥

उस समय उन्होंने अमित तेजस्वी अनेक रूपधारी सौम्य एवं शिवस्वरूप देवेश्वर रुद्रसे इस प्रकार निवेदन किया—॥

योगात्मकेनोशनसा रुद्ध्वा मम हृतं वसु ।
योगेनात्मगतं कृत्वा निःसृतश्च महातपाः ॥ १२ ॥

'प्रभो ! महर्षि उशना योगबलसे सम्पन्न हैं। उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे बंदी बनाकर मेरा सारा धन हर लिया। वे महान् तपस्वी तो हैं ही, योगबलसे मुझे अपने अधीन करके अपना काम बनाकर निकल गये' ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततः क्रुद्धो महायोगी महेश्वरः ।
संरक्तनयनो राजञ्शूलमादाय तस्थिवान् ॥ १३ ॥

राजन् ! यह सुनकर महायोगी महेश्वर कुपित हो गये और लाल आँखें किये हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हो गये ॥ १३ ॥

क्वासौ क्वासाविति प्राह गृहीत्वा परमायुधम् ।
उशना दूरतस्तस्य बभौ ज्ञात्वा चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

उस उत्तम अस्त्रको लेकर वे सहसा बोल उठे—'कहाँ है, कहाँ है वह उशना ?' महादेवजी क्या करना चाहते हैं, यह जानकर उशना उनसे दूर हो गये ॥ १४ ॥

स महायोगिनो बुद्ध्वा तं रोषं वै महात्मनः ।
गतिमागमनं वेत्ति स्थानं चैव ततः प्रभुः ॥ १५ ॥

महायोगी महात्मा भगवान् शिवके उस रोषको समझकर वे उनसे दूर हट गये थे, योगसिद्ध उशना गमन, आगमन और स्थानको जानते थे अर्थात् कब हटना चाहिये, कब आना चाहिये तथा किस अवस्थामें कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थानपर ही ठहरे रहना चाहिये, इन सब बातोंको वे अच्छी तरह समझते थे ॥ १५ ॥

संचिन्त्योग्रेण तपसा महात्मानं महेश्वरम् ।
उशना योगसिद्धात्मा शूलाग्रे प्रत्यदृश्यत ॥ १६ ॥

योगसिद्धात्मा उशना अपनी उग्र तपस्याद्वारा महात्मा महेश्वरका चिन्तन करके उनके त्रिशूलके अग्रभागमें दिखायी दिये ॥ १६ ॥

विज्ञातरूपः स तदा तपःसिद्धोऽथ धन्विना ।
ज्ञात्वा शूलं च देवेशः पाणिना समनामयत् ॥ १७ ॥

तपःसिद्ध शुक्राचार्यको उस रूपमें पहचानकर देवेश्वर शिवने उन्हें शूलपर स्थित जानकर अपने धनुषयुक्त हाथसे उस शूलको झुका दिया ॥ १७ ॥

आनतेनाथ शूलेन पाणिनामिततेजसा ।
पिनाकमिति चोवाच शूलमुग्रायुधः प्रभुः ॥ १८ ॥

जब अमित तेजस्वी शूल उनके हाथसे मुड़कर धनुषके रूपमें परिणत हो गया, तब उग्र धनुर्धर भगवान् शिवने पाणिसे आनत होनेके कारण उस शूलको 'पिनाक' कहा ॥ १८ ॥

पाणिमध्यगतं दृष्ट्वा भार्गवं तमुमापतिः ।
आस्यं विवृत्य ककुदी पाणिना प्राक्षिपच्छनैः ॥ १९ ॥

उसके मुड़नेके साथ ही भृगुपुत्र उशना उनके हाथमें आ गये, उशनाको हाथमें आया देख देवेश्वर उमावल्लभ भगवान् शिवने मुँह फैला लिया और धीरेसे हाथका धक्का देकर उशनाको मुखके भीतर डाल दिया ॥ १९ ॥

स तु प्रविष्ट उशना कोष्ठं माहेश्वरं प्रभुः ।
व्यचरच्चापि तत्रासौ महात्मा भृगुनन्दनः ॥ २० ॥

महादेवजीके पेटमें घुसकर प्रभावशाली महामना भृगुनन्दन उशना उसके भीतर सब ओर विचरने लगे ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं व्यचरद् राजन्नुशना तस्य धीमतः ।
जठरे देवदेवस्य किं चाकार्षीन्महाद्युतिः ॥ २१ ॥

कर दिया था। देवता जब असुरोंको दण्ड देनेके लिये उनका पीछा करते हुए आते, तब भृगुपत्नीके प्रभावसे उनके आश्रममें प्रवेश नहीं कर पाते थे। यह देख समस्त देवताओंने भगवान् विष्णुकी शरण ली। भुवनपालक भगवान् विष्णुने देवताओं और दैवी-सम्पत्तिकी रक्षाके लिये चक्र उठाया तथा असुरों एवं आसुर भावके उत्थानमें योग देनेवाली भृगुपत्नीका सिर काट लिया। उस समय मरनेसे बचे हुए असुर भृगुपुत्र उशनाकी शरणमें गये। उशना माताके वधसे खिन्न थे; इसलिये उन्होंने असुरोंको अभयदान दे दिया। तभीसे वे देवताओंकी उन्नतिके मार्गमें असुरोंद्वारा बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं।

युधिष्ठिरने पूछा—राजन् ! महातेजस्वी उशनाने बुद्धिमान् देवाधिदेव महादेवजीके उदरमें किसलिये विचरण किया और वहाँ क्या किया ? ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

पुरा सोऽन्तर्जलगतः स्थाणुभूतो महाव्रतः ।
वर्षाणामभवद् राजन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ २२ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! प्राचीनकालमें महान् व्रतधारी महादेवजी जलके भीतर ठूँठे काठकी भाँति स्थिर भावसे खड़े हो लाखों-अरबों वर्षोंतक तपस्या करते रहे ॥२२॥

उदतिष्ठत् तपस्तप्त्वा दुश्चरं च महाह्रदात् ।
ततो देवातिदेवस्तं ब्रह्मा वै समसर्पत ॥ २३ ॥

वह दुष्कर तपस्या पूरी करके जब वे जलके उस महान् सरोवरसे बाहर निकले, तब देवदेव ब्रह्माजी उनके पास गये ॥ २३ ॥

तपोवृद्धिमपृच्छच्च कुशलं चैवमव्ययः ।
तपः सुचीर्णमिति च प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ २४ ॥

अविनाशी ब्रह्माजीने उनकी तपोवृद्धिका कुशल-समाचार पूछा । तब भगवान् वृषभध्वजने यह बताया कि 'मेरी तपस्या भलीभाँति सम्पन्न हो गयी' ॥ २४ ॥

तत्संयोगेन वृद्धिं चाप्यपश्यत् स तु शंकरः ।
महामतिरचिन्त्यात्मा सत्यधर्मरतः सदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् परम बुद्धिमान्, अचिन्त्यस्वरूप और सदा सत्यधर्मपरायण महादेवजीने अपनी तपस्याके सम्पर्कसे उशनाकी तपस्यामें भी वृद्धि हुई देखी ॥ २५ ॥

स तेनाढ्यो महायोगी तपसा च धनेन च ।
व्यराजत महाराज त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ २६ ॥

महाराज ! महायोगी उशना उस तपस्यारूप धनसे सम्पन्न एवं शक्तिशाली हो तीनों लोकोंमें प्रकाशित होने लगे ॥

ततः पिनाकी योगात्मा ध्यानयोगं समाविशत् ।
उशना तु समुद्विग्नो निलिल्ये जठरे ततः ॥ २७ ॥

तदनन्तर पिनाकधारी योगी महादेवने ध्यान लगाया । उस समय उशना अत्यन्त उद्विग्न हो उनके उदरमें ही विलीन होने लगे ॥ २७ ॥

तुष्टाव च महायोगी देवं तत्रस्थ एव च ।
निःसारं काङ्क्षमाणः स तेन स्म प्रतिहन्यते ॥ २८ ॥

महायोगी उशनाने वहीं रहकर महादेवजीकी स्तुति की। वे निकलनेका मार्ग चाहते थे; परंतु महादेवजी उनकी गतिको प्रतिहत कर देते थे ॥ २८ ॥

उशना तु तथोवाच जठरस्थो महामुनिः ।
प्रसादं मे कुरुष्वेति पुनः पुनररिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुदमन नरेश ! तब उदरमें ही रहकर महामुनि उशनाने महादेवजीसे बारंबार प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझपर कृपा कीजिये' ॥ २९ ॥

तमुवाच महादेवो गच्छ शिश्नेन मोक्षणम् ।
इति सर्वाणि स्रोतांसि रुद्ध्वा त्रिदशपुङ्गवः ॥ ३० ॥

तब महादेवजीने उनसे कहा—'शिश्नके मार्गसे ही तुम्हारा उद्धार होगा, अतः उसीसे निकलो ।' ऐसा कहकर देवेश्वर शिवने अन्य सारे द्वार रोक दिये ॥ ३० ॥

अपश्यमानस्तद् द्वारं सर्वतः पिहितो मुनिः ।
पर्यक्रामद् दह्यमान इतश्चेतश्च तेजसा ॥ ३१ ॥

सब ओरसे घिरे हुए मुनिवर उशना उस शिश्नद्वारको देख नहीं पाते थे । अतः भगवान् शङ्करके तेजसे दग्ध होते हुए वे उदरमें ही इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ३१ ॥

स वै निष्क्रम्य शिश्नेन शुक्रत्वमभिपेदिवान् ।
कार्येण तेन नभसो नाध्यगच्छत मध्यतः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् वे शिश्नके द्वारसे निकलकर सहसा बाहर आ गये । उस द्वारसे निकलनेके कारण ही उनका नाम शुक्र (वीर्य) हो गया । यही कारण है जिससे वे आकाशके बीचसे होकर नहीं निकलते ॥ ३२ ॥

विनिष्क्रान्तं तु तं दृष्ट्वा ज्वलन्तमिव तेजसा ।
भवो रोषसमाविष्टः शूलोद्यतकरः स्थितः ॥ ३३ ॥

बाहर निकलनेपर शुक्र अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए भगवान् शिव पुनः रोषसे भर गये ॥ ३३ ॥

अवारयत तं देवी क्रुद्धं पशुपतिं पतिम् ।
पुत्रत्वमगमद् देव्या वारिते शंकरे च सः ॥ ३४ ॥

उस समय देवी पार्वतीने कुपित हुए अपने पतिदेव भगवान् पशुपतिको रोका । देवीके द्वारा भगवान् शङ्करके रोक दिये जानेपर शुक्राचार्य उनके पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

देव्युवाच

हिंसनीयस्त्वया नैव मम पुत्रत्वमागतः ।
न हि देवोदरात् कश्चिन्निःसृतो नाशमृच्छति ॥ ३५ ॥

देवी पार्वतीने कहा—प्रभो ! अब यह शुक्र मेरा पुत्र हो गया; अतः आपको इसका विनाश नहीं करना चाहिये । देव ! जो आपके उदरसे निकला हो, ऐसा कोई भी पुरुष विनाशको नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३५ ॥

ततः प्रीतो भवो देव्याः प्रहसंश्चेदमब्रवीत् ।

गच्छत्वेष यथाकाममिति राजन् पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

राजन्! यह सुनकर महादेवजी पार्वतीजीपर बहुत प्रसन्न हुए और हँसते हुए बारंबार कहने लगे—'अब यह जहाँ चाहे जा सकता है' ॥ ३६ ॥

ततः प्रणम्य वरदं देवं देवीमुमां तथा।
उशना प्राप तद्धीमान् गतिमिष्टां महामुनिः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महामुनि शुक्राचार्यने वरदायक देवता महादेवजी तथा उमादेवीको प्रणाम करके अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ ३७ ॥

एतत् ते कथितं तात भार्गवस्य महात्मनः।
चरितं भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तात युधिष्ठिर! तुमने जैसा मुझसे पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह महात्मा भृगुपुत्र शुक्राचार्यका चरित्र तुमसे कह सुनाया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भवभार्गवसमागमे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें महादेवजी और शुक्राचार्यका समागमविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका आरम्भ—पराशर मुनिका राजा जनकको कल्याणकी प्राप्तिके साधनका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहु पितामह! अब इसके बाद जो भी कल्याण-प्राप्तिका उपाय हो, वह मुझे बताइये। जैसे अमृत पीनेसे मन नहीं भरता, उसी तरह आपके वचन सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद् वद ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर! इसीलिये मैं पूछता हूँ कि पुरुष कौन-सा शुभ कर्म करे तो उसे इस लोक और परलोकमें भी परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊँगा। एक समय महायशस्वी राजा जनकने महात्मा पराशर मुनिसे पूछा—॥ ३ ॥

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिँल्लोके परत्र च।
यद् भवेत् प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥

'मुने! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो समस्त प्राणियोंके लिये इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी एवं जानने योग्य है? उसे आप मुझे बताइये' ॥ ४ ॥

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित्।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके विधानको जाननेवाले वे तपस्वी मुनि राजा जनकपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे इस प्रकार बोले ॥

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है, धर्मका ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका उत्तम साधन नहीं है ॥ ६ ॥

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! धर्मको जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। वेदोंमें जो 'सत्यं वद, धर्मं चर, यजेत, जुहुयात्' इत्यादि वाक्योंद्वारा मनुष्योंका कर्तव्य-विधान किया गया है, वही धर्मका लक्षण है ॥ ७ ॥

तस्मिन्नाश्रमिणः सन्तः स्वकर्माणीह कुर्वते ॥ ८ ॥

सभी आश्रमोंके लोग उस धर्ममें ही स्थित रहकर इस जगत्‌में अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ८ ॥

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

तात! इस लोकमें चार प्रकारकी जीविकाका विधान है

(ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कराकर दक्षिणा लेना, क्षत्रियके लिये कर लेना, वैश्यके लिये खेती आदि करना और शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना)। मनुष्य इन्हीं चार प्रकारकी जीविकाओंका आश्रय लेकर रहते हैं। वह जीविका दैवेच्छासे चलती है ॥ ९ ॥

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥ १० ॥

जो प्राणी नाना प्रकारके क्रमसे पुण्य और पापकर्मका सेवन करके पञ्चत्वको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् स्थूल शरीरका त्याग कर देते हैं उनको मिलनेवाली गति नाना प्रकारकी बतायी गयी है ॥ १० ॥

सौवर्णं राजतं चापि यथा भाण्डं निषिच्यते।
तथा निषिच्यते जन्तुः पूर्वकर्मवशानुगः ॥ ११ ॥

जैसे ताँबे आदिके बर्तनोंपर जब सोने और चाँदीकी कलई चढ़ा दी जाती है, तब वे वैसे ही दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्व कर्मोंके वशीभूत प्राणी पूर्वकृत कर्मसे लिप्त रहता है (पुण्यकर्मसे लिप्त होनेके कारण वह सुखी होता है और पापसे लिप्त होनेके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है) ॥ ११ ॥

नाबीजाज्जायते किंचिन्नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥ १२ ॥

जैसे बिना बीजके कोई अङ्कुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार पुण्यकर्म किये बिना कोई सुखी या समृद्धिशाली नहीं हो सकता; अतः मनुष्य देहत्यागके पश्चात् पुण्यकर्मोंके फलसे ही सुख पाता है ॥ १२ ॥

दैवं तात न पश्यामि नास्ति दैवस्य साधनम्।
स्वभावतो हि संसिद्धा देवगन्धर्वदानवाः ॥ १३ ॥

तात ! इस विषयमें नास्तिक कहते हैं 'मैं प्रारब्धको प्रत्यक्ष नहीं देख पाता तथा प्रारब्धके अस्तित्वका सूचक अनुमानप्रमाण भी नहीं है। किंतु देवता, गन्धर्व और दानव आदि योनियाँ तो स्वभावसे ही प्राप्त होती हैं' ॥१३॥

प्रेत्य जातिकृतं कर्म न स्मरन्ति सदा जनाः।
ते वै तस्य फलप्राप्तौ कर्म चापि चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि मरकर गये हुए प्राणी पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंको सदैव याद नहीं रख सकते। किंतु जब किसी पूर्वकृत कर्मका फल प्राप्त होता है, तब वे ही लोग सदा (मन, वाणी, नेत्र और क्रियाद्वारा किये हुए) चार प्रकारके कर्मोंका स्मरण करते हैं—अर्थात् यह कहते हैं कि मैंने पूर्व जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया होगा जिसका फल इस रूपमें प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

लोकयात्राश्रयश्चैव शब्दो वेदाश्रयः कृतः।
शान्त्यर्थं मनसस्तात नैतद् वृद्धानुशासनम् ॥ १५ ॥

तात ! नास्तिक लोग जो यह कहते हैं कि लोकयात्राके निर्वाह और मनकी शान्तिके लिये वेदोक्त शब्दोंको प्रमाण माना गया है अर्थात् वेदोंमें जो कर्म करनेका विधान है, वह तो असमर्थ पुरुषोंके जीविकानिर्वाहके लिये है और जो पूर्वजन्मके किये हुए कर्मकी चर्चा आयी है, वह दुखी मनुष्योंके मनको धीरज बँधानेके लिये है, परंतु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि पतञ्जलि आदि ज्ञानवृद्ध पुरुषोंने ऐसा उपदेश नहीं किया है (पतञ्जलिने 'तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इस सूत्रके द्वारा जाति (जन्म), आयु और सुख-दुःखरूप भोगको पूर्वकृत कर्मका फल बताया है) ॥ १५ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और क्रियाके द्वारा चार प्रकारके कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है ॥ १६ ॥

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥

राजन् ! मनुष्य कर्मके फलरूपसे कभी केवल सुख, कभी सुख-दुःख दोनोंको एक साथ प्राप्त करता है। पुण्य या पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता ॥ १७ ॥

कदाचित् सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद् विमुच्यते ॥ १८ ॥
ततो दुःखक्षयं कृत्वा सुकृतं कर्म सेवते।
सुकृतक्षयाद् दुष्कृतं तद् विद्धि मनुजाधिप ॥ १९ ॥

तात ! संसार-सागरमें डूबते हुए मनुष्यका पुण्यकर्म कभी-कभी तबतक स्थिर-जैसा रहता है, जबतक कि दुःखसे उसका छुटकारा नहीं हो जाता है। तदनन्तर दुःखका भोग समाप्त कर लेनेपर जीव अपने पुण्य कर्मके फलका उपभोग आरम्भ करता है। जब पुण्यका भी क्षय हो जाता है, तब फिर वह पापका फल भोगता है। नरेश्वर ! इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १८-१९ ॥

दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥ २० ॥

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, संतोष, सत्यभाषण, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका अभाव तथा दक्षता—ये सब सुख देनेवाले हैं ॥ २० ॥

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत्।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २१ ॥

विद्वान् पुरुषको जीवनपर्यन्त पाप या पुण्यमें भी आसक्त न होकर अपने मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २१ ॥

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

जीव दूसरेके किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको नहीं भोगता, वह स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है ॥

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति ।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥ २३ ॥

विवेकी पुरुष सुख और दुःखको अपने भीतर विलीन करके अन्य मार्गसे अर्थात् मोक्षप्राप्तिके मार्गद्वारा चलता है । जो स्त्री, पुत्र और धन आदिमें आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्गपर चलते हैं; अतः जन्मते और मरते रहते हैं ॥ २३ ॥

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ २४ ॥

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे । जो दूसरेकी निन्दा तो करता है; किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है ॥ २४ ॥

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा २५
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतो-
र्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् ।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥ २६ ॥

राजन्! डरपोक क्षत्रिय, (भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके) सब कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जनकी चेष्टासे रहित या अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणोंसे रहित विद्वान्, सदाचारका पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्यसे भ्रष्ट हुआ धार्मिक पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला मनुष्य, मूर्ख वक्ता, राजासे रहित राष्ट्र तथा अजितेन्द्रिय होकर प्रजाके प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोकके योग्य हैं अर्थात् निन्दनीय हैं ॥ २५–२६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—कर्मफलकी अनिवार्यता तथा पुण्यकर्मसे लाभ

पराशर उवाच

मनोरथरथं प्राप्य इन्द्रियाख्यहयं नरः ।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! इन्द्रियरूप घोड़ोंसे युक्त मनोमय (सूक्ष्म शरीर) एक रथ है । ज्ञानाकार वृत्तियाँ ही इस रथके घोड़ोंकी बागडोर हैं । इन उपकरणोंसे युक्त रथपर आरुढ़ होकर जो पुरुष यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है ॥ १ ॥

सेवाऽऽश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते ।
द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात् परस्परात् ॥ २ ॥

जो मनुष्य इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तिसे रहित (अन्तर्मुख) होकर ईश्वरकी शरणमें गये हुए मनके द्वारा उनकी उपासना करता है, उसकी वह उपासना श्रेष्ठ समझी जाती है । ऐसी उपासना किसी विद्वान् एवं भक्त ब्राह्मणके वरद हस्तसे ही उपलब्ध होती है । समान योग्यतावाले आपसके लोगोंसे उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते ।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥ ३ ॥

प्रजानाथ ! मनुष्य-शरीरकी आयु सुलभ नहीं है—वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये । मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्यकर्मके अनुष्ठानद्वारा आत्माके उत्थानके लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥ ३ ॥

वर्णेभ्यो हि परिभ्रष्टो न वै सम्मानमर्हति ।
न तु यः सत्क्रियां प्राप्य राजसं कर्म सेवते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दुष्कर्म करके वर्णसे भ्रष्ट हो जाता है, वह कदापि सम्मान पानेके योग्य नहीं है । इसके सिवा जो मनुष्य सत्त्वगुणके द्वारा सत्कार पाकर फिर राजस कर्मका सेवन करने लगता है, वह भी सम्मानके योग्य नहीं है ॥

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥ ५ ॥

पुण्य कर्मसे ही मनुष्य उत्तम वर्णमें जन्म पाता है। पापीके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। वह उसे न पाकर अपने पापकर्मके द्वारा अपना ही नाश करता है ॥ ५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत् ।
पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतम् ।
तस्मात् पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम् ॥ ६ ॥

अनजानमें जो पाप बन जाय, उसे तपस्याके द्वारा नष्ट कर दे; क्योंकि अपना किया हुआ पाप कर्म पापरूप दुःखके रूपमें ही फलता है। अतः दुःखमय फल देनेवाले पापकर्मका कदापि सेवन न करे ॥ ६ ॥

पापानुबन्धं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥ ७ ॥

पापसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कर्म है, उसका कितना ही बड़ा लौकिक सुखरूप फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका कदापि सेवन न करे। वह उससे उसी तरह दूर रहे, जैसे पवित्र मनुष्य चाण्डालसे ॥ ७ ॥

किं कष्टमनुपश्यामि फलं पापस्य कर्मणः ।
प्रत्यापन्नस्य हि ततो नात्मा तावद् विरोचते ॥ ८ ॥

क्या पापकर्मका कोई दुःखदायक फल मैं देखता हूँ ? अर्थात् नहीं देखता। ऐसा मानकर पापमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको परमात्माका चिन्तन अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥

प्रत्यापत्तिश्च यस्येह बालिशस्य न जायते ।
तस्यापि सुमहांस्तापः प्रस्थितस्योपजायते ॥ ९ ॥

इस संसारमें जिस मूर्खको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको परलोकमें जानेपर महान् संताप भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

विरक्तं शोध्यते वस्त्रं न तु कृष्णोपसंहितम् ।
प्रयत्नेन मनुष्येन्द्र पापमेवं निबोध मे ॥ १० ॥

नरेन्द्र ! बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे स्वच्छ हो जाता है; किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह प्रयत्न करनेसे भी सफेद नहीं होता; पापको भी ऐसा ही समझो। उसका रंग भी जल्दी नहीं उतरता है ॥ १० ॥

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥ ११ ॥

जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसके प्रायश्चित्तके उद्देश्यसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनोंका पृथक् पृथक् फल भोगता है ॥

अज्ञानात् तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति ।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १२ ॥
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति ।
इत्याहुर्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥

अनजानमें जो हिंसा हो जाती है, उसे अहिंसा-व्रतका पालन दूर कर देता है। ब्रह्मवादी ब्राह्मण शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ऐसा ही कहते हैं; किंतु स्वेच्छासे किये हुए हिंसामय पापकर्मको अहिंसाका व्रत भी दूर नहीं कर सकता। ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, वेदका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंका कथन है॥

अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम् ।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम् ॥ १४ ॥

परंतु मैं तो ऐसा देखता हूँ कि जो कर्म किया गया है, वह पुण्य हो या पापयुक्त, प्रकटरूपमें किया गया हो या छिपाकर (तथा जान-बूझकर किया गया हो या अनजानमें), वह अपना फल अवश्य देता ही है ॥ १४ ॥

यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् ।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥ १५ ॥
भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् ।
अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ कृतमुग्रेण कर्मणा ॥ १६ ॥

धर्मज्ञ राजा जनक ! जैसे मनसे सोच-विचारकर बुद्धिद्वारा निश्चय करके जो स्थूल या सूक्ष्म कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे यथायोग्य फल अवश्य देते हैं, उसी प्रकार हिंसा आदि उग्र कर्मके द्वारा अनजानमें किया हुआ भयंकर पाप यदि सदा बनता रहे तो उसका फल भी मिलता ही है; अन्तर इतना ही है कि जान-बूझकर किये हुए कर्मकी अपेक्षा उसका फल बहुत कम हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा ।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥ १७ ॥

देवताओं और मुनियोंद्वारा जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मों-को सुनकर भी उन देवता आदिकी निन्दा भी न करे ॥ १७ ॥

संचिन्त्य मनसा राजन् विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥ १८ ॥

राजन् ! जो मनुष्य मनसे खूब सोच-विचारकर, 'अमुक काम मुझसे हो सकेगा या नहीं' इसका निश्चय करके शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह अवश्य ही अपनी भलाई देखता है ॥

नवे कपाले सलिलं संन्यस्तं हीयते यथा ।
नवेतरे तथाभावं प्राप्नोति सुखभावितम् ॥ १९ ॥

जैसे नये बने हुए कच्चे घड़ेमें रक्खा हुआ जल नष्ट

हो जाता है, परंतु पके-पकाये घड़ेमें रखा हुआ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसी प्रकार परिपक्व विशुद्ध अन्तःकरणमें सम्पादित सुखदायक शुभकर्म निश्चल रहते हैं ॥ १९ ॥

सतोयेऽन्यत् तु यत् तोयं तस्मिन्नेव प्रसिच्यते ।
वृद्धे वृद्धिमवाप्नोति सलिले सलिलं यथा ॥ २० ॥
एवं कर्माणि यानीह बुद्धियुक्तानि पार्थिव ।
समानि चैव यानीह तानि पुण्यतमान्यपि ॥ २१ ॥

राजन्! उसी जलयुक्त पक्के घड़ेमें यदि दूसरा जल डाला जाय तो पात्रमें रखा हुआ पहलेका जल और नया ढाला हुआ जल—दोनों मिलकर बढ़ जाते हैं और इस प्रकार वह घड़ा अधिक जलसे सम्पन्न हो जाता है, उसी तरह यहाँ विवेकपूर्वक किये हुए जो पुण्य कर्म संचित हैं, उन्हींके समान जो नये पुण्यकर्म किये जाते हैं, वे दोनों मिलकर अधिक पुण्यतम कर्म हो जाते हैं (और उनके द्वारा वह पुरुष महान् पुण्यात्मा हो जाता है) ॥ २०-२१ ॥

राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् ।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ।२२।

नरेश्वर! राजाको चाहिये कि वह बढ़े हुए शत्रुओंको जीते। प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करे। नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करे तथा वैराग्य होनेपर मध्यम अवस्थामें अथवा अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर रहे ॥

दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ २३ ॥

राजन्! प्रत्येक पुरुषको इन्द्रियसंयमी और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियोंको अपने ही समान समझना चाहिये। जो विद्या, तप और अवस्थामें अपनेसे बड़े हों अथवा गुरु कोटिके लोग हों, उन सबकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। सत्यभाषण और अच्छे आचार-विचारसे ही सुख मिलता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९१॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—धर्मोपार्जित धनकी श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कारका महत्त्व, पाँच प्रकारके ऋणोंसे छूटनेकी विधि, भगवत्स्तवनकी महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनोंकी सेवासे महान् लाभ

पराशर उवाच

कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति ।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन्! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है? यह प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने ही लिये करता है ॥ १ ॥

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् ।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥ २ ॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभावका और स्नेहका त्याग कर दे तो लोग उसको त्याग देते हैं; फिर दूसरे किसी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ॥ २ ॥

विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषको दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुषसे प्राप्त हुआ प्रतिग्रह—इन दोनोंका महत्त्व बराबर है तो भी इन दोनोंमेंसे ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह स्वीकार करनेकी अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है ॥ ३ ॥

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥ ४ ॥

जो धन न्यायसे प्राप्त किया गया हो और न्यायसे ही बढ़ाया गया हो, उसको यत्नपूर्वक धर्मके उद्देश्यसे बचाये रखना चाहिये। यही धर्मशास्त्रका निश्चय है ॥ ४ ॥

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत् ।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥ ५ ॥

धर्म चाहनेवाले पुरुषको क्रूरकर्मके द्वारा धनका उपार्जन नहीं करना चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार समस्त शुभ कर्म करे। धन बढ़ानेकी चिन्तामें न पड़े ॥ ५ ॥

अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा ।
शक्तितोऽतिथये दत्त्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

जो मौसमका विचार करके अपनी शक्तिके अनुसार प्यासे और भूखे अतिथिको ठंडा या गरम किया हुआ जल और अन्न पवित्रभावसे अर्पण करता है, वह उत्तम फल पाता है ॥

रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः ॥ ७ ॥

महात्मा राजा रन्तिदेवने फल-मूल और पत्तोंसे ऋषि-मुनियोंका पूजन किया था। इसीसे उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसकी सब लोग अभिलाषा रखते हैं ॥ ७ ॥

तैरेव फलपत्रैश्च स माठरमतोषयत्।
तस्माल्लेभे परं स्थानं शैब्योऽपि पृथिवीपतिः ॥ ८ ॥

पृथ्वीपालक महाराज शैब्यने भी उन फल और पत्रोंसे ही माठर मुनिको संतुष्ट किया था, जिससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ८ ॥

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत्॥ ९ ॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है; अतः उसे उस ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करना चाहिये ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ १० ॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके, यज्ञ-कर्मद्वारा देवताओंके, श्राद्ध और दानसे पितरोंके तथा स्वागत-सत्कार, सेवा आदिसे अतिथियोंके ऋणसे छुटकारा होता है ॥ १० ॥

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वेद-वाणीके पठन, श्रवण एवं मननसे, यज्ञ-शेष अन्नके भोजनसे तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य अपने ऋणसे मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजनके पालन-पोषणका आरम्भसे ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋणसे भी मुक्ति हो जाती है ॥ ११ ॥

प्रयत्नेन च संसिद्धा धनैरपि विवर्जिताः।
सम्यग्घुत्वा हुतवहं मुनयः सिद्धिमागताः॥ १२ ॥

ऋषि-मुनियोंके पास धन नहीं था तो भी वे अपने प्रयत्नसे ही सिद्ध हो गये। उन्होंने विधिपूर्वक अग्निहोत्र करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १२ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्।
ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः॥ १३ ॥

महाबाहो! ऋचीकके पुत्र यज्ञमें भाग लेनेवाले देवताओंकी वेद-मन्त्रोंद्वारा स्तुति करके विश्वामित्रके पुत्र हो गये ॥

गतः शुक्रत्वमुशना देवदेवप्रसादनात्।
देवीं स्तुत्वा तु गगने मोदते यशसा वृतः ॥ १४ ॥

महर्षि उशना देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करके उनके शुक्रत्वको प्राप्त हो उसी नामसे प्रसिद्ध हुए। साथ ही पार्वतीदेवीकी स्तुति करके वे यशस्वी मुनि आकाशमें ग्रहरूपसे स्थित हो आनन्द भोग रहे हैं ॥ १४ ॥

असितो देवलश्चैव तथा नारदपर्वतौ।
कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्ताण्ड्यस्तथाऽऽत्मवान्॥
वसिष्ठो जमदग्निश्च विश्वामित्रोऽत्रिरेव च।
भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः ॥ १६ ॥
एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः।
लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादात् तस्य धीमतः ॥ १७ ॥

असित, देवल, नारद, पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निनन्दन परशुराम, मनको वशमें रखनेवाले ताण्ड्य, वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधार तथा श्रुतश्रवा—इन महर्षियोंने एकाग्रचित्त हो वेदकी ऋचाओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति करके उन्हीं बुद्धिमान् श्रीहरिकी कृपासे तपस्या करके सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ १५—१७ ॥

अनर्हाश्चार्हतां प्राप्ताः सन्तः स्तुत्वा तमेव ह।
न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥ १८॥

जो पूजाके योग्य नहीं थे, वे भी भगवान् विष्णुकी स्तुति करके पूजनीय संत होकर उन्हींको प्राप्त हो गये। इस लोकमें निन्दनीय आचरण करके किसीको भी अपने अभ्युदयकी आशा नहीं रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

धर्मका पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥ २० ॥

राजेन्द्र! जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ है। प्रभो! सम्पूर्ण वेद दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य—इन तीन अग्नियोंमें ही स्थित हैं ॥ २० ॥

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥ २१ ॥

जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी लुप्त नहीं होता, वह ब्राह्मण (अग्निहोत्र न करनेपर भी) अग्निहोत्री ही है। सदाचारका ठीक-ठीक पालन होनेपर अग्निहोत्र न हो सके तो भी अच्छा है; किंतु सदाचारका त्याग करके केवल अग्नि-

दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः॥२३॥

होत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है ॥ २१ ॥

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! अग्नि, आत्मा, माता, जन्म देनेवाले पिता तथा गुरु—इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।

जो अभिमानका त्याग करके वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करता, विद्वान् एवं काम-भोगमें अनासक्त होकर सबको प्रेमभावसे देखता, मनमें चतुराई न रखकर धर्ममें संलग्न रहता और दूसरोंका दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोकमें श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९२ ॥

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—शूद्रके लिये सेवावृत्तिकी प्रधानता, सत्सङ्गकी महिमा और चारों वर्णोंके धर्मपालनका महत्त्व

पराशर उवाच

वृत्तिः सकाशाद् वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवासे जीवन-निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। शूद्रके लिये निर्दिष्ट सेवावृत्तिका यदि वे प्रेमपूर्वक पालन करें तो वह सदा उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है ॥ १ ॥

वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥ २ ॥

यदि शूद्रके पास बाप-दादोंका दिया हुआ जीविकाका कोई निश्चित साधन नहीं है तो वह दूसरी किसी वृत्तिका अनुसंधान न करे। तीनों वर्णोंकी सेवाको ही जीविकाके उपयोगमें लाये ॥ २ ॥

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥ ३ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमें रहना सदा ही श्रेष्ठ है; परंतु किसी भी दशामें कभी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ३ ॥

यथोदयगिरौ द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४ ॥

जैसे सूर्यका सामीप्य प्राप्त होनेसे उदयाचल पर्वतकी प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, उसी प्रकार साधु पुरुषोंके निकट रहनेसे नीच वर्णका मनुष्य भी सद्गुणोंसे सुशोभित होने लगता है ॥ ४ ॥

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥ ५ ॥

श्वेत वस्त्रको जैसे रंगमें रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥ ६ ॥

इसलिये तुम गुणोंमें ही अनुराग रक्खो, दोषोंमें कभी नहीं; क्योंकि यहाँ मनुष्योंका जीवन अनित्य और चञ्चल है॥

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥ ७ ॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःखमें रहकर भी सदा शुभ-कर्मका ही अनुष्ठान करता है, वही यहाँ शास्त्रोंको देखता और समझता है ॥ ७ ॥

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ ८ ॥

धर्मके विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टिसे बहुत लाभदायक हो तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसे इस जगत्में हितकर नहीं बताया जाता है ॥ ८ ॥

(धर्मेण सहितं यत् तु भवेदल्पफलोदयम्।
तत् कार्यमविशङ्केन कर्मात्यन्तं सुखावहम् ॥)

यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता।
स शब्दमात्रफलभाग् राजा भवति तस्करः ॥ ९ ॥

जो कार्य धर्मके अनुकूल हो, वह अल्प लाभदायक होनेपर भी निःशङ्क होकर कर लेने योग्य है; क्योंकि वह अन्तमें अत्यन्त सुख देनेवाला होता है। जो राजा दूसरोंकी हजारों गौएँ छीनकर दान करता है और प्रजाकी रक्षा नहीं करता, वह नाममात्रका ही दानी और राजा है। वास्तवमें तो वह चोर और डाकू है ॥ ९ ॥

स्वयम्भूरसृजच्चाग्रे धातारं लोकसत्कृतम्।
धातासृजत् पुत्रमेकं लोकानां धारणे रतम्॥ १० ॥

ईश्वरने सबसे पहले लोकपूजित ब्रह्माको उत्पन्न किया। ब्रह्माने एक पुत्र (पर्जन्य) को जन्म दिया, जो सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेमें तत्पर है ॥ १० ॥

तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत्।
रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः ॥ ११ ॥
अजिह्मैरशठक्रोधैर्हव्यकव्यप्रयोक्तृभिः ।
शूद्रैर्निर्माजनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति ॥ १२ ॥

उसीकी पूजा करके वैश्यको चाहिये कि खेती और पशु-पालन आदिके द्वारा उसे अत्यन्त समृद्धिशाली बनाये। राजाको उसकी रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे कुटिलता, शठता एवं क्रोधको त्यागकर हव्य-कव्यका प्रयोग करते हुए उस अन्न-धनका यज्ञ (लोकहितके कार्य) में सदुपयोग करें। शूद्रोंको यज्ञभूमि तथा त्रैवर्णिकोंके घरोंको झाड़-बुहारकर साफ रखना चाहिये। ऐसा करनेसे धर्मका नाश नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

अप्रणष्टे ततो धर्मे भवन्ति सुखिताः प्रजाः।
सुखेन तासां राजेन्द्र मोदन्ते दिवि देवताः ॥ १३ ॥

धर्मका नाश न होकर उसका पालन होता रहे तो सारी प्रजा सुखी होती है। राजेन्द्र ! प्रजाओंके सुखी होनेपर स्वर्गमें देवता भी प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः ॥ १४ ॥
यश्च शुश्रूषते शूद्रः सततं नियतेन्द्रियः।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते ॥ १५ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करता है, वह उस धर्माचरणके कारण ही लोकमें पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्मपूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्मके अनुसार धनोपार्जनमें तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भावसे रहकर सर्वदा द्विजातियोंकी सेवा करता है, वे सभी अपने-अपने धर्माचरणके कारण लोकमें सम्मानित होते हैं। नरेन्द्र ! इसके विपरीत आचरण करनेसे सब लोग अपने धर्मसे गिर जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥

प्राणोंको कष्ट देकर भी यदि न्यायसे कमायी हुई थोड़ी-सी कौड़ियोंका भी दान किया जाय तो वे महान् फल देनेवाली होती हैं; फिर जो दूसरी वस्तुएँ हजारोंकी संख्यामें दी जाती हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ १६ ॥

सत्कृत्य हि द्विजातिभ्यो यो ददाति नराधिपः।
यादृशं तादृशं नित्यमश्नाति फलमूर्जितम् ॥ १७ ॥

जो राजा ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें जैसा दान देता है, वैसे ही उत्तम फलका वह सदा ही उपभोग करता है ॥

अभिगम्य च तत् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन तु यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः ॥ १८ ॥

स्वयं ही ब्राह्मणके पास जाकर उसे संतुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे प्रशंसनीय—उत्तम बताया गया है और याचना करनेपर जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष मध्यम श्रेणीका दान कहते हैं ॥ १८ ॥

अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात् ॥ २० ॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियोंने अधम श्रेणीका दान कहा है। डूबता हुआ मनुष्य जिस तरह नाना प्रकारके उपायद्वारा समुद्रसे पार हो जाता है, वैसे ही तुमको भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस प्रकार संसारसमुद्रसे छुटकारा मिले ॥ १९-२० ॥

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण इन्द्रियसंयमसे, क्षत्रिय युद्धमें विजय पानेसे, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे और शूद्र सदा सेवाकार्यमें कुशलताका परिचय देनेसे शोभा पाता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—ब्राह्मण और शूद्रकी जीविका, निन्दनीय कर्मोंके त्यागकी आज्ञा, मनुष्योंमें आसुरभावकी उत्पत्ति और भगवान् शिवके द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्मके अनुसार कर्तव्यपालनका आदेश

पराशर उवाच

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः॥ १॥
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः।

पराशरजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके यहाँ प्रतिग्रहसे मिला हुआ, क्षत्रियके घर युद्धसे जीतकर लाया हुआ, वैश्यके पास न्यायपूर्वक (खेती आदिसे) कमाया हुआ और शूद्रके यहाँ सेवासे प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्मके कार्यमें उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देनेवाला होता है॥ १½॥

नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते॥ २॥
क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतते द्विजः।
शूद्रधर्मा यदा तु स्यात् तदा पतति वै द्विजः॥ ३॥

शूद्रको तीनों वर्णोंका नित्य सेवक बताया जाता है। यदि ब्राह्मण जीविकाके अभावमें क्षत्रिय अथवा वैश्यके धर्मसे जीवन-निर्वाह करे तो वह पतित नहीं होता है; किंतु जब वह शूद्रके धर्मको अपनाता है, तब तत्काल पतित हो जाता है॥

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते॥ ४॥

जब शूद्र सेवावृत्तिसे जीविका न चला सके, तब उसके लिये भी व्यापार, पशुपालन तथा शिल्पकला आदिसे जीवन-निर्वाह करनेकी आज्ञा है॥ ४॥

रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्।
मद्यमांसोपजीव्यं च विक्रयं लोहचर्मणोः॥ ५॥
अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम्।
कृतपूर्वं तु त्यजतो महान् धर्म इति श्रुतिः॥ ६॥

रंगमञ्चपर स्त्री आदिके वेषमें उतरकर नाचना या खेल दिखाना, बहुरूपियेका काम करना, मदिरा और मांस बेचकर जीविका चलाना तथा लोहे और चमड़ेकी बिक्री करना—ये सब काम (सबके लिये) लोकमें निन्दित माने गये हैं। जिसके घरमें पूर्वपरम्परासे ये काम न होते आये हों, उसे स्वयं इनका आरम्भ नहीं करना चाहिये। जिसके यहाँ पहलेसे इन्हें करनेकी प्रथा हो, वह भी छोड़ दे तो महान् धर्म होता है—ऐसा शास्त्रका निर्णय है॥ ५-६॥

संसिद्धः पुरुषो लोके यदाचरति पापकम्।
मदेनाभिप्लुतमनास्तच्च न ग्राह्यमुच्यते॥ ७॥

यदि कोई जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ पुरुष घमण्डमें आकर या मनमें लोभ भरा रहनेके कारण पापाचरण करने लगे तो उसका वह कार्य अनुकरण करने योग्य नहीं बताया गया है॥

श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।
दान्ता धर्मप्रधानाश्च न्यायधर्मानुवृत्तिकाः॥ ८॥

पुराणोंमें सुना जाता है कि पहले अधिकांश मनुष्य संयमी, धार्मिक तथा न्यायोचित आचारका ही अनुसरण करनेवाले थे। उस समय अपराधियोंको धिक्कारमात्रका ही दण्ड दिया जाता था॥ ८॥

धर्म एव सदा नृणामिह राजन् प्रशस्यते।
धर्मवृद्धा गुणानेव सेवन्ते हि नरा भुवि॥ ९॥

राजन्! इस जगत्‌में सदा मनुष्योंके धर्मकी ही प्रशंसा होती आयी है। धर्ममें बढ़े-चढ़े लोग इस भूतलपर केवल सद्गुणोंका ही सेवन करते हैं॥ ९॥

तं धर्ममसुरास्तात नामृष्यन्त जनाधिप।
विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः॥ १०॥

तात! जनेश्वर! परंतु उस धर्मको असुर नहीं सह सके। वे क्रमशः बढ़ते हुए प्रजाके शरीरमें समा गये॥१०॥

तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्मनाशनः।
दर्पात्मनां ततः पश्चात् क्रोधस्तासामजायत॥ ११॥

तब प्रजाओंमें धर्मको नष्ट करनेवाला दर्प प्रकट हुआ। फिर जब प्रजाओंके मनमें दर्प आ गया, तब क्रोधका भी प्रादुर्भाव हो गया॥ ११॥

ततः क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम्।
ह्रीश्चैवाप्यनशद् राजंस्ततो मोहो व्यजायत॥ १२॥

राजन्! तदनन्तर क्रोधसे आक्रान्त होनेपर मनुष्योंके लज्जायुक्त सदाचारका लोप हो गया। उनका संकोच भी जाता रहा। इसके बाद उनमें मोहकी उत्पत्ति हुई॥१२॥

ततो मोहपरीतास्ता नापश्यन्त यथा पुरा।
परस्परावमर्देन वर्धयन्त्यो यथासुखम्॥ १३॥

मोहसे घिर जानेपर उनमें पहले-जैसी विवेकपूर्ण दृष्टि नहीं रह गयी; अतः वे परस्पर एक दूसरेका विनाश करके अपने-अपने सुखको बढ़ानेकी चेष्टा करने लगे॥ १३॥

ताः प्राप्य तु स धिग्दण्डो न कारणमतोऽभवत्।

ततोऽभ्यगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणांश्चावमन्य ह ॥ १४ ॥

उन बिगड़े हुए लोगोंको पाकर धिक्कारका दण्ड उन्हें राहपर लानेमें सफल न हो सका। सभी मनुष्य देवता और ब्राह्मणोंका अपमान करके मनमाने तौरपर विषय-भोगोंका सेवन करने लगे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवा देववरं शिवम्।
अगच्छन् शरणं धीरं बहुरूपं गुणाधिकम् ॥ १५ ॥

ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर सम्पूर्ण देवता अनेक रूपधारी, अधिक गुणशाली, धीरजस्वभाव देवेश्वर भगवान् शिवकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तेन स्म ते गगनगाः सपुराः पातिताः क्षितौ।
त्रिधाप्येकेन बाणेन देवाप्यायिततेजसा ॥ १६ ॥

तब शिवजीने देवताओंके द्वारा बढ़ाये हुए तेजसे युक्त एक ही शक्तिशाली बाणके द्वारा तीन नगरोंसहित आकाशमें विचरनेवाले उन समस्त असुरोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १६ ॥

तेषामधिपतिस्त्वासीद् भीमो भीमपराक्रमः।
देवतानां भयकरः स हतः शूलपाणिना ॥ १७ ॥

उन असुरोंका स्वामी भयंकर आकारवाला तथा भीषण पराक्रमी था। देवताओंको वह सदा भयभीत किये रहता था; किंतु भगवान् शूलपाणिने उसे भी मार डाला ॥ १७ ॥

तस्मिन् हतेऽथ स्वं भावं प्रत्यपद्यन्त मानवाः।
प्रापद्यन्त च वेदान् वै शास्त्राणि च यथा पुरा ॥ १८ ॥

उस असुरके मारे जानेपर सब मनुष्य प्रकृतिस्थ हो गये तथा उन्हें पूर्ववत् वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया ॥ १८ ॥

ततोऽभिषिच्य राज्येन देवानां दिवि वासवम्।
सप्तर्षयश्चान्वयुञ्जन् नराणां दण्डधारणे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् सप्तर्षियोंने इन्द्रको स्वर्गमें देवताओंके राज्यपर अभिषिक्त किया और वे स्वयं मनुष्यके शासनकार्यमें लग गये ॥ १९ ॥

सप्तर्षीणामथोर्ध्वं च विपृथुर्नाम पार्थिवः।
राजानः क्षत्रियाश्चैव मण्डलेषु पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

सप्तर्षियोंके बाद विपृथुनामक राजा भूमण्डलका स्वामी हुआ तथा और भी बहुत-से क्षत्रिय भिन्न-भिन्न मण्डलोंके राजा हुए ॥ २० ॥

महाकुलेषु ये जाता वृद्धाः पूर्वतराश्च ये।
तेषामप्यासुरो भावो हृदयान्नापसर्पति ॥ २१ ॥

उस समय जो उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, अवस्था और गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे तथा जो उनसे भी पूर्ववर्ती पुरुष थे, उनके हृदयसे भी आसुरभाव पूर्णरूपसे नहीं निकला था ॥ २१ ॥

तस्मात् तेनैव भावेन सानुषङ्गेण पार्थिवाः।
आसुराण्येव कर्माणि न्यसेवन् भीमविक्रमाः ॥ २२ ॥

अतः उसी आनुषङ्गिक आसुरभावसे युक्त होकर कितने ही भयंकर पराक्रमी भूपाल असुरोचित कर्मोंका ही सेवन करने लगे ॥ २२ ॥

प्रत्यतिष्ठंश्च तेष्वेव तान्येव स्थापयन्त्यपि।
भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त मूर्ख हैं, वे आज भी उन्हीं आसुर-भावोंमें स्थित हैं, उन्हींकी स्थापना करते हैं और उन्हींको सब प्रकारसे अपनाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
संसिद्धाधिगमं कुर्यात् कर्म हिंसात्मकं त्यजेत् ॥ २४ ॥

अतः राजन्! मैं शास्त्रके अनुसार खूब सोच-विचारकर कहता हूँ कि मनुष्यको उन्नत होनेका प्रयत्न तो करना चाहिये, किंतु हिंसात्मक कर्मका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह धर्म करनेके लिये न्यायको त्यागकर पापमिश्रित मार्गसे धनका संग्रह न करे; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया जाता है ॥ २५ ॥

स त्वमेवंविधो दान्तः क्षत्रियः प्रियबान्धवः।
प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय ॥ २६ ॥

नरेश्वर! तुम भी इसी प्रकार जितेन्द्रिय क्षत्रिय होकर बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम रखते हुए प्रजा, भृत्य और पुत्रोंका स्वधर्मके अनुसार पालन करो ॥ २६ ॥

इष्टानिष्टसमायोगो वैरं सौहार्दमेव च।
अथ जातिसहस्राणि बहूनि परिवर्तते ॥ २७ ॥

इष्ट और अनिष्टका संयोग, वैर और सौहार्द—इन सबका अनुभव करते-करते जीवके कई सहस्र जन्म बीत जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कथंचन।
निर्गुणोऽपि हि दुर्बुद्धिरात्मनः सोऽतिरज्यते ॥ २८ ॥

इसलिये तुम सद्गुणोंमें ही अनुराग रखो, दोषोंमें किसी प्रकार नहीं; क्योंकि गुणहीन और दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने गुणोंके अभिमानसे अत्यन्त संतुष्ट रहता है ॥ २८ ॥

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥ २९ ॥

महाराज! यहाँ मनुष्योंमें जैसे धर्म और अधर्म निवास करते हैं, उस प्रकार मनुष्येतर अन्य प्राणियोंमें नहीं ॥ २९ ॥

धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा ।
आत्मभूतः सदा लोके चरेद् भूतान्यहिंसया ॥ ३० ॥

धर्मशील विद्वान् मनुष्य सचेष्ट हो चाहे चेष्टारहित, उसे चाहिये कि सदैव जगत्‌में सबके प्रति आत्मभाव रखकर किसी भी प्राणीकी हिंसा न करते हुए समभावसे व्यवहार करे॥३०॥

यदा व्यपेतहृल्लेखं मनो भवति तस्य वै ।
नानृतं चैव भवति तदा कल्याणमृच्छति ॥ ३१ ॥

जब मनुष्यका मन कामना और कर्मसंस्कारोंसे रहित हो जाता है तथा वह मिथ्याचारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९४॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—विषयासक्त मनुष्यका पतन, तपोबलकी श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालनका आदेश

पराशर उवाच

एष धर्मविधिस्तात गृहस्थस्य प्रकीर्तितः ।
तपोविधिं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—तात ! यह मैंने गृहस्थके धर्मका विधान बताया है । अब मैं तपकी विधि बताऊँगा, उसे मेरे मुखसे सुनो ॥ १ ॥

प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते ।
सङ्गागतं नरश्रेष्ठ भावैः राजसतामसैः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ ! गृहस्थ पुरुषको प्रायः राजस और तामस भावोंके संसर्गवश पदार्थ और व्यक्तियोंमें ममता हो जाती है ॥२॥

गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च ।
दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै ॥ ३ ॥

घरका आश्रय लेते ही मनुष्यका गौ, खेती-बारी, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र तथा भरण-पोषणके योग्य अन्यान्य कुटुम्बी-जनोंसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ॥ ३ ॥

एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः ।
रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर वह नित्य ही उन वस्तुओंको देखता है, किंतु इनकी अनित्यताकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती; इसलिये उसके मनमें इनके प्रति राग और द्वेष बढ़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम् ।
मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! राग और द्वेषके वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्यमें आसक्त हो जाता है, तब मोहकी कन्या रति उसके पास आ जाती है ॥ ५ ॥

कृतार्थं भोगिनं मत्वा सर्वो रतिपरायणः ।
लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो नानुपश्यति ॥ ६ ॥

तब रतिकी उपासनामें लगे हुए सभी लोग भोगीको ही कृतार्थ मानकर रतिके द्वारा जो विषय-सुख प्राप्त होता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं समझते हैं ॥ ६ ॥

ततो लोभाभिभूतात्मा संगाद् वर्धयते जनम् ।
पुष्ट्यर्थं चैव तस्येह जनस्यार्थं चिकीर्षति ॥ ७ ॥

तदनन्तर उनके मनपर लोभका अधिकार हो जाता है और वे आसक्तिवश अपने परिजनोंकी संख्या बढ़ाने लगते हैं । इसके बाद उन कुटुम्बी जनोंके पालन-पोषणके लिये मनुष्यके मनमें धन-संग्रहकी इच्छा होती है ॥ ७ ॥

स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः ।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि मनुष्य जानता है कि अमुक काम करना पाप है, तो भी वह धनके लिये उसका सेवन करता है । बाल-बच्चोंके स्नेहमें उसका मन डूबा रहता है और उनमेंसे जब कोई मर जाता है, तब उनके लिये वह बारंबार संतप्त होता है ॥ ८ ॥

ततो मानेन सम्पन्नो रक्षन्नात्मपराजयम् ।
करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति ॥ ९ ॥

धनसे जब लोकमें सम्मान बढ़ता है, तब वह मानसम्पन्न पुरुष सदा अपने अपमानसे बचनेके लिये प्रयत्न करता रहता है एवं 'मैं भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न होऊँ' यह उद्देश्य लेकर ही वह सारा कार्य करता है और इसी प्रयत्नमें एक दिन नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम् ।
अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥ १० ॥

वास्तवमें जो शुभ कर्मोंका अनुष्ठान तो करते हैं, परंतु उनसे सुख पानेकी इच्छाको त्याग देते हैं, उन समत्व-बुद्धिसे युक्त ब्रह्मवादी पुरुषोंको ही सनातन पदकी प्राप्ति होती है ॥

स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव ।
आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! संसारी जीवोंको तो जब उनके स्नेहके आधारभूत स्त्री-पुत्र आदिका नाश हो जाता, धन चला जाता और रोग तथा चिन्तासे कष्ट उठाना पड़ता है, तभी वैराग्य होता है ॥ ११ ॥

निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाच्छास्त्रदर्शनम् ।
शास्त्रार्थदर्शनाद् राजंस्तप एवानुपश्यति ॥ १२ ॥

राजन् ! वैराग्यसे मनुष्यको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा होती है । जिज्ञासासे शास्त्रोंके स्वाध्यायमें मन लगता है तथा शास्त्रोंके अर्थ और भावके ज्ञानसे वह तपको ही कल्याणका साधन समझता है ॥ १२ ॥

दुर्लभो हि मनुष्येन्द्र नरः प्रत्यवमर्शवान् ।
यो वै प्रियसुखे क्षीणे तपः कर्तुं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! संसारमें ऐसा विवेकी मनुष्य दुर्लभ है, जो स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनोंसे मिलनेवाले सुखके न रहनेपर तपमें प्रवृत्त होनेका ही निश्चय करता है ॥ १३ ॥

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥ १४ ॥

तात ! तपस्यामें सभीका अधिकार है । जितेन्द्रिय और मनोनिग्रहसम्पन्न हीन वर्णके लिये भी तपका विधान है; क्योंकि तप पुरुषको स्वर्गकी राहपर लानेवाला है ॥ १४ ॥

प्रजापतिः प्रजाः पूर्वमसृजत् तपसा विभुः ।
क्वचित् क्वचिद् व्रतपरो व्रतान्यास्थाय पार्थिव ॥ १५ ॥

भूपाल ! पूर्वकालमें शक्तिशाली प्रजापतिने तपमें स्थित होकर और कभी-कभी ब्रह्मपरायण व्रतमें स्थित होकर संसारकी रचना की थी ॥ १५ ॥

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥ १६ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः ।
संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥ १७ ॥

तात ! आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेव, साध्य, पितर, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध तथा अन्य जो स्वर्गवासी देवता हैं, वे सब-के-सब तपस्यासे ही सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १६-१७ ॥

ये चादौ ब्राह्मणाः सृष्टा ब्रह्मणा तपसा पुरा ।
ते भावयन्तः पृथिवीं विचरन्ति दिवं तथा ॥ १८ ॥

ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन मरीचि आदि ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था, वे तपके ही प्रभावसे पृथ्वी और आकाशको पवित्र करते हुए ही विचरते हैं ॥ १८ ॥

मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः ।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ १९ ॥

मर्त्यलोकमें भी जो राजे-महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलोंमें उत्पन्न देखे जाते हैं, वह सब उनकी तपस्याका ही फल है ॥ १९ ॥

कौशिकानि च वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च ।
वाहनासनपानानि तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २० ॥

रेशमी वस्त्र, सुन्दर आभूषण, वाहन, आसन और उत्तम खान-पान आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है ॥२०॥

मनोऽनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः सहस्रशः ।
वासः प्रासादपृष्ठे च तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २१ ॥

मनके अनुकूल चलनेवाली सहस्रों रूपवती युवतियाँ और महलोंका निवास आदि सब कुछ तपस्याका ही फल है॥

शयनानि च मुख्यानि भोज्यानि विविधानि च ।
अभिप्रेतानि सर्वाणि भवन्ति शुभकर्मिणाम् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ शय्या, भाँति-भाँतिके उत्तम भोजन तथा सभी मनोवाञ्छित पदार्थ पुण्यकर्म करनेवाले लोगोंको ही प्राप्त होते हैं॥

नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परंतप ।
उपभोगपरित्यागः फलान्यकृतकर्मणाम् ॥ २३ ॥

परंतप ! त्रिलोकीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तपस्यासे प्राप्त न हो सके; किंतु जिन्होंने काम्य अथवा निषिद्ध कर्म नहीं किये हैं, उनकी तपस्याका फल सुखभोगोंका परित्याग ही है ॥ २३ ॥

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्ध्या च नृपसत्तम ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, मन और बुद्धिसे शास्त्रका तत्त्व समझकर लोभका परित्याग कर दे ॥२४॥

असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥ २५ ॥

असंतोष दुःखका ही कारण है । लोभसे मन और इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, उससे मनुष्यकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यासके विद्या ॥ २५ ॥

नष्टप्रज्ञो यदा तु स्यात् तदा न्यायं न पश्यति ।
तस्मात् सुखक्षये प्राप्ते पुमानुग्रं तपश्चरेत् ॥ २६ ॥

जब मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब वह न्यायको नहीं देख पाता अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं

कर पाता है। इसलिये सुखका क्षय हो जानेपर प्रत्येक पुरुषको घोर तपस्या करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते।
कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम् ॥ २७ ॥

जो अपनेको प्रिय जान पड़ता है, उसे सुख कहते हैं तथा जो मनके प्रतिकूल होता है, वह दुःख कहलाता है। तपस्या करनेसे सुख और न करनेसे दुःख होता है। इस प्रकार तप करने और न करनेका जैसा फल होता है, उसे तुम भलीभाँति समझ लो ॥ २७ ॥

नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते।
प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः ॥ २८ ॥

मनुष्य पापरहित तपस्या करके सदा अपना कल्याण ही देखते हैं। मनोवाञ्छित विषयोंका उपभोग करते हैं और संसारमें उनकी ख्याति होती है ॥ २८ ॥

अप्रियाण्यवमानांश्च दुःखं बहुविधात्मकम्।
फलार्थी तत्फलं त्यक्त्वा प्राप्नोति विषयात्मकम्॥ २९ ॥

मनके अनुकूल फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सकाम कर्मका अनुष्ठान करके अप्रिय, अपमान और नाना प्रकारके दुःख पाता है, किंतु उस फलका परित्याग करके वह सम्पूर्ण विषयोंके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥

धर्मे तपसि दाने च विचिकित्सास्य जायते।
स कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

जिसे धर्म, तपस्या और दानमें संशय उत्पन्न हो जाता है, वह पापकर्म करके नरकमें पड़ता है ॥ ३० ॥

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, जो सदाचारसे कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्रका ज्ञाता है ॥ ३१ ॥

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशाम्पते ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ! बाणको धनुषसे छूटकर पृथ्वीपर गिरनेमें जितनी देर लगती है, उतना ही समय स्पर्शेन्द्रिय, रसना, नेत्र, नासिका और कानके विषयोंका सुख अनुभव करनेमें लगता है अर्थात् विषयोंका सुख क्षणिक है ॥ ३२ ॥

ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम् ॥ ३३ ॥

फिर वह सुख जब नष्ट हो जाता है, तब उसके लिये मनमें बड़ी वेदना होती है। इतनेपर भी अज्ञानी पुरुष (विषयोंमें ही लिप्त रहते हैं, वे) सर्वोत्तम मोक्ष-सुखकी प्रशंसा नहीं करते हैं अर्थात् उसे नहीं चाहते ॥ ३३ ॥

ततः फलार्थं सर्वस्य भवन्ति ज्यायसे गुणाः।
धर्मवृत्त्या च सततं कामार्थाभ्यां न हीयते ॥ ३४ ॥

अतः प्रत्येक विवेकी पुरुषके मनमें श्रेष्ठ मोक्षफलकी प्राप्ति करानेके लिये शम-दम आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है। निरन्तर धर्मका पालन करनेसे मनुष्य कभी धन और भोगोंसे वञ्चित नहीं रहता ॥ ३४ ॥

अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥ ३५ ॥

इसलिये गृहस्थ पुरुषको सदा बिना प्रयत्न अपने-आप प्राप्त हुए विषयोंका ही सेवन करना चाहिये और प्रयत्न करके तो अपने धर्मका ही पालन करना चाहिये। यही मेरा मत है ॥

मानिनां कुलजातानां नित्यं शास्त्रार्थचक्षुषाम्।
क्रियाधर्मविमुक्तानामशक्त्या संवृतात्मनाम् ॥ ३६ ॥
क्रियमाणं यदा कर्म नाशं गच्छति मानुषम्।
तेषां नान्यदृते लोके तपसः कर्म विद्यते ॥ ३७ ॥

जब उत्तम कुलमें उत्पन्न, सम्मानित तथा शास्त्रके अर्थको जाननेवाले पुरुषोंका और असमर्थताके कारण कर्म-धर्मसे रहित एवं आत्मतत्त्वसे अनभिज्ञ मनुष्योंका भी किया हुआ लौकिक कर्म नष्ट हो ही जाता है, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्में उनके लिये तपके सिवा दूसरा कोई सत्कर्म नहीं है ॥ ३६-३७ ॥

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मं विचरन् नृप ॥ ३८ ॥

नरेश्वर! गृहस्थको सर्वथा अपने कर्तव्यका निश्चय करके स्वधर्मका पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ३९ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्रमें जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थका ही सहारा लेते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—वर्णविशेषकी उत्पत्तिका रहस्य, तपोबलसे उत्कृष्ट वर्णकी प्राप्ति, विभिन्न वर्णोंके विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्मकी श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्मका वर्णन

जनक उवाच

वर्णो विशेषवर्णानां महर्षे केन जायते।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

जनकने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! ब्राह्मण आदि विशेष-विशेष वर्णोंका जो वर्ण है, वह कैसे उत्पन्न होता है? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप इस विषयको बतायें ॥१॥

यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः।
कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः ॥ २ ॥

श्रुति कहती है कि जिससे यह संतान उत्पन्न होती है, तद्रूप ही समझी जाती है। अर्थात् संततिके रूपमें जन्मदाता पिता ही नूतन जन्म धारण करता है। ऐसी दशामें प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे ही सबका जन्म हुआ है, तब उनकी क्षत्रिय आदि विशेष संज्ञा कैसे हो गयी? ॥२॥

पराशर उवाच

एवमेतन्महाराज येन जातः स एव सः।
तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! यह ठीक है कि जिससे जो जन्म लेता है, उसीका वह स्वरूप होता है तथापि तपस्याकी न्यूनताके कारण लोग निकृष्ट जातिको प्राप्त हो गये हैं ॥ ३ ॥

सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते ॥ ४ ॥

उत्तम क्षेत्र और उत्तम बीजसे जो जन्म होता है, वह पवित्र ही होता है। यदि क्षेत्र और बीजमेंसे एक भी निम्नकोटिका हो तो उससे निम्न संतानकी ही उत्पत्ति होती है॥

वक्त्राद् भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी जब मानव-जगत्‌की सृष्टि करने लगे, उस समय उनके मुख, भुजा, ऊरु और पैर—इन अङ्गोंसे मनुष्योंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥

मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः ॥ ६ ॥

तात! जो मुखसे उत्पन्न हुए, वे ब्राह्मण कहलाये। दोनों भुजाओंसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंको क्षत्रिय माना गया। राजन्! जो ऊरुओं (जाँघों) से उत्पन्न हुए, वे धनवान् (वैश्य) कहे गये; जिनकी उत्पत्ति चरणोंसे हुई, वे सेवक या शूद्र कहलाये ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
अतोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर! इस प्रकार ब्रह्माजीके चार अङ्गोंसे चार वर्णोंकी ही उत्पत्ति हुई। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे मनुष्य हैं, वे इन्हीं चार वर्णोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण वर्णसंकर कहलाते हैं ॥ ७ ॥

क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा।
श्वपाकाः पुल्कसाः स्तेना निषादाः सूतमागधाः ॥ ८ ॥
अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप।
एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! क्षत्रिय, अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य और चाण्डाल—ये ब्राह्मण आदि चार वर्णोंसे अनुलोम और विलोम वर्णकी स्त्रियोंके साथ परस्पर संयोग होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ ८-९ ॥

जनक उवाच

ब्रह्मणैकेन जातानां नानात्वं गोत्रतः कथम्।
बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनिसत्तम ॥ १० ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! जब सबको एकमात्र ब्रह्माजीने ही जन्म दिया है, तब मनुष्योंके भिन्न-भिन्न गोत्र कैसे हुए? इस जगत्‌में मनुष्योंके बहुत-से गोत्र सुने जाते हैं ॥

यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिं मुनयो गताः।
शुद्धयोनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथा परे ॥ ११ ॥

ऋषि-मुनि जहाँ-तहाँ जन्म ग्रहण करके अर्थात् जो शुद्ध योनिमें और दूसरे जो विपरीत योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे सब ब्राह्मणत्वको कैसे प्राप्त हुए? ॥ ११ ॥

पराशर उवाच

राजन्नेतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मनां समुत्पत्तिस्तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! तपस्यासे जिनके अन्तः-करण शुद्ध हो गये हैं, उन महात्मा पुरुषोंके द्वारा जिस संतानकी उत्पत्ति होती है, अथवा वे स्वेच्छासे जहाँ-कहीं भी जन्म ग्रहण करते हैं, वह क्षेत्रकी दृष्टिसे निकृष्ट होनेपर भी उसे उत्कृष्ट ही मानना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह।
स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मुनियोंने जहाँ-तहाँ कितने ही पुत्र उत्पन्न

करके उन सबको अपने ही तपोबलसे ऋषि बना दिया ॥

पितामहश्च मे पूर्वमृष्यशृङ्गश्च काश्यपः।
वेदस्ताण्ड्यः कृपश्चैव कक्षीवान् कमठादयः॥ १४॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वरः।
आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मत्स्य एव च॥ १५॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात्।
प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि॥ १६॥

विदेहराज ! मेरे पितामह वसिष्ठजी, काश्यप-गोत्रीय ऋष्यशृङ्ग, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमठ आदि, यवक्रीत, वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुपद तथा मत्स्य—ये सब तपस्याका आश्रय लेनेसे ही अपनी-अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुए थे। इन्द्रियसंयम और तपसे ही वे वेदोंके विद्वान् तथा समाजमें प्रतिष्ठित हुए थे॥१४—१६॥

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव।
अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च॥ १७॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव।
नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम्॥ १८॥

पृथ्वीनाथ ! पहले अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु—ये ही चार मूल गोत्र प्रकट हुए थे। अन्य गोत्र कर्मके अनुसार पीछे उत्पन्न हुए हैं। वे गोत्र और उनके नाम उन गोत्र-प्रवर्तक महर्षियोंकी तपस्यासे ही साधुसमाजमें सुविख्यात एवं सम्मानित हुए हैं॥ १७-१८॥

जनक उवाच

विशेषधर्मान् वर्णानां प्रब्रूहि भगवन् मम।
ततः सामान्यधर्मांश्च सर्वत्र कुशलो ह्यसि॥ १९॥

जनकने पूछा—भगवन् ! आप मुझे सब वर्णोंके विशेष धर्म बताइये, फिर सामान्य धर्मोंका भी वर्णन कीजिये; क्योंकि आप सब विषयोंका प्रतिपादन करनेमें कुशल हैं॥१९॥

पराशर उवाच

प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप।
विशेषधर्मो विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना॥ २०॥

पराशरजीने कहा—राजन् ! दान लेना, यज्ञ कराना तथा विद्या पढ़ाना—ये ब्राह्मणोंके विशेष धर्म हैं (जो उनकी जीविकाके साधन हैं)। प्रजाकी रक्षा करना क्षत्रियके लिये श्रेष्ठ धर्म है॥ २०॥

कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।
द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नराधिप॥ २१॥

नरेश्वर ! कृषि, पशुपालन और व्यापार—ये वैश्योंके कर्म हैं तथा द्विजातियोंकी सेवा शूद्रका धर्म है॥ २१॥

विशेषधर्मा नृपते वर्णानां परिकीर्तिताः।
धर्मान् साधारणांस्तात विस्तरेण शृणुष्व मे॥ २२॥

महाराज ! ये वर्णोंके विशेष धर्म बताये गये हैं। तात ! अब उनके साधारण धर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुनो॥

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥ २३॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप॥ २४॥

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (सावधानी), देवता-पितर आदिको उनके भाग समर्पित करना अथवा दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं॥ २३-२४॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर॥ २५॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। उपर्युक्त धर्मोंमें इन्हींका अधिकार है॥

विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु॥ २६॥

नरेश्वर ! ये तीन वर्ण विपरीत कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर पतित हो जाते हैं। सत्पुरुषोंका आश्रय ले अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मोंके आचरणसे पतन भी हो जाता है॥ २६॥

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम्॥ २७॥

यह निश्चय है कि शूद्र पतित नहीं होता तथा वह उपनयन आदि संस्कारका भी अधिकारी नहीं है। उसे वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मोंके अनुष्ठानका भी अधिकार नहीं प्राप्त है; परंतु उपर्युक्त सामान्य धर्मोंका उसके लिये निषेध भी नहीं किया गया है॥ २७॥

वैदेहकं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम्॥ २८॥

महाराज विदेहनरेश ! वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न द्विज शूद्रको प्रजापतिके तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्याद्वारा समस्त प्रजाका पालन करता है); परंतु नरेन्द्र ! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत्के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णुके रूपमें देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णुका ही है और वह अपने उस कर्मद्वारा पालनकर्ता श्रीहरिकी आराधना करके उन्हींको प्राप्त होता है)॥ २८॥

सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः॥ २९॥

हीनवर्णके मनुष्य (शूद्र) यदि अपना उद्धार करना

चाहें तो सदाचारका पालन करते हुए आत्माको उन्नत बनानेवाली समस्त क्रियाओंका अनुष्ठान करें; परंतु वैदिक मन्त्रका उच्चारण न करें। ऐसा करनेसे वे दोषके भागी नहीं होते हैं ॥ २९ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमालम्बन्तीतरे जनाः।
तथा तथा सुखं प्राप्य प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ३० ॥

इतर जातीय मनुष्य भी जैसे-जैसे सदाचारका आश्रय लेते हैं, वैसे-ही-वैसे सुख पाकर इहलोक और परलोकमें भी आनन्द भोगते हैं ॥ ३० ॥

जनक उवाच

किं कर्म दूषयत्येनमथो जातिर्महामुने।
संदेहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३१ ॥

जनकने पूछा—महामुने ! मनुष्यको उसके कर्म दूषित करते हैं या जाति ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है, आप इसका विवेचन कीजिये ॥ ३१ ॥

पराशर उवाच

असंशयं महाराज उभयं दोषकारकम्।
कर्म चैव हि जातिश्च विशेषं तु निशामय ॥ ३२ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज ! इसमें संदेह नहीं कि कर्म और जाति दोनों ही दोषकारक होते हैं; परंतु इसमें जो विशेष बात है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ३२ ॥

जात्या च कर्मणा चैव दुष्टं कर्म न सेवते।
जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ॥ ३३ ॥

जो जाति और कर्म—इन दोनोंसे श्रेष्ठ तथा पापकर्मका सेवन नहीं करता एवं जातिसे दूषित होकर भी जो पापकर्म नहीं करता है, वही पुरुष कहलाने योग्य है ॥ ३३ ॥

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम्।
कर्म तद् दूषयत्येनं तस्मात् कर्म न शोभनम् ॥ ३४ ॥

जातिसे श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो वह कर्म उसे कलङ्कित कर देता है; इसलिये किसी भी दृष्टिसे बुरा कर्म करना अच्छा नहीं है ॥ ३४ ॥

जनक उवाच

कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा ॥ ३५ ॥

जनकने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! इस लोकमें कौन-कौन-से ऐसे धर्मानुकूल कर्म हैं, जिनका अनुष्ठान करते समय कभी किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं होती ? ॥ ३५ ॥

पराशर उवाच

शृणु मेऽत्र महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा ॥ ३६ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज ! तुम जिन कर्मोंके विषयमें पूछ रहे हो, उन्हें बताता हूँ, मुझसे सुनो। जो कर्म हिंसासे रहित हैं, वे सदा मनुष्यकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

संन्यस्याग्नीनुदासीनाः पश्यन्ति विगतज्वराः।
नैःश्रेयसं कर्मपथं समारुह्य यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥
प्रश्रिता विनयोपेता दमनित्याः सुसंशिताः।
प्रयान्ति स्थानमजरं सर्वकर्मविवर्जिताः ॥ ३८ ॥

जो लोग (संन्यासकी दीक्षा ले) अग्निहोत्रका त्याग करके उदासीनभावसे सब कुछ देखते रहते हैं और सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो क्रमशः कल्याणकारी कर्मके पथपर आरूढ़ होकर नम्रता, विनय और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंको अपनाते तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करते हैं, वे सब कर्मोंसे रहित हो अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥

सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके
यान्ति स्वर्गं नात्र कार्यो विचारः ॥ ३९ ॥

राजन् ! सभी वर्णोंके लोग इस जीव-जगत्में अपने-अपने धर्मानुसार कर्मका भलीभाँति अनुष्ठान करके, सदा सत्य बोलकर तथा भयानक पापकर्मका सर्वथा परित्याग करके स्वर्गलोकमें जाते हैं। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—नाना प्रकारके धर्म और कर्तव्योंका उपदेश

पराशर उवाच

पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च
न निर्गुणानां हि भवन्ति लोके।
अनन्यभक्ताः प्रियवादिनश्च
हिताश्च वश्याश्च भवन्ति राजन् ॥ १ ॥

राजन् ! संसारमें पिता, सखा, गुरुजन और स्त्रियाँ—ये कोई भी उसके नहीं होते, जो सर्वथा गुणहीन हैं; किंतु जो प्रभुके अनन्य भक्त, प्रियवादी, हितैषी और इन्द्रियविजयी हैं, वे ही उसके होते हैं अर्थात् उसका त्याग नहीं करते ॥ १ ॥

पिता परं दैवतं मानवानां
मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति।

ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति
जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

पिता मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ देवता है। कोई-कोई पिताको मातासे भी बढ़कर बताते हैं। श्रेष्ठ पुरुष ज्ञानके लाभको ही परम लाभ कहते हैं। जिन्होंने श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयोंपर विजय पा ली है, वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे
नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते।
प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्
निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियका पुत्र यदि समराङ्गणमें घायल होकर बाणोंकी चितापर दग्ध होता है तो वह देवदुर्लभ लोकोंमें जाता और वहाँ आनन्दपूर्वक स्वर्गीय-सुख भोगता है ॥ ३ ॥

श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं
पराङ्मुखं पारिबर्हैश्च हीनम्।
अनुद्यन्तं रोगिणं याचमानं
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन् ॥ ४ ॥

राजन्! जो युद्धमें थका हुआ हो, भयभीत हो, जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, जो रोता हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो, जिसके पास युद्धका कोई भी सामान न रह गया हो, जो युद्धविषयक उद्यम छोड़ चुका हो, रोगी हो और प्राणोंकी भीख माँगता हो तथा जो अवस्थामें बालक या वृद्ध हो, ऐसे शत्रुका वध नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

पारिबर्हैः सुसंयुक्तमुद्यतं तुल्यतां गतम्।
अतिक्रमेत् तं नृपतिः संग्रामे क्षत्रियात्मजम् ॥ ५ ॥

किंतु जिसके पास युद्धका सामान हो, जो युद्धके लिये तैयार हो और अपने बराबरका हो, संग्रामभूमिमें उस क्षत्रिय-कुमारको राजा अवश्य जीतनेका प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

तुल्यादिह वधः श्रेयान् विशिष्टाच्चेति निश्चयः।
निहीनात् कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः ॥ ६ ॥

अपने समान या अपनी अपेक्षा बड़े वीरके हाथसे वध होना श्रेष्ठ है, ऐसा युद्ध-शास्त्रके ज्ञाताओंका निश्चय है। अपनेसे हीन, कातर तथा दीन पुरुषके हाथसे होनेवाली मृत्यु निन्दित है ॥ ६ ॥

पापात् पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप।
पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः ॥ ७ ॥

नरेश्वर! पापी, पापाचारी और हीन मनुष्यके हाथसे जो वध होता है, वह पापरूप ही बताया गया है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है, यही शास्त्रका निश्चय है ॥ ७ ॥

न कश्चित् त्राति वै राजन् दिष्टान्तवशमागतम्।
सावशेषायुषं चापि कश्चिन्नैवापकर्षति ॥ ८ ॥

राजन्! मृत्युके वशमें पड़े हुए प्राणीको कोई बचा नहीं सकता और जिसकी आयु शेष है, उसे कोई मार भी नहीं सकता ॥ ८ ॥

स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत्।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत् परायुषा ॥ ९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिये करते हों तो वह उन सब कर्मोंको रोक दे। दूसरेकी आयुसे अपनी आयु बढ़ानेकी अर्थात् दूसरोंके प्राण लेकर अपने प्राण बचानेकी इच्छा न करे ॥ ९ ॥

गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकाङ्क्षताम्।
निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम् ॥ १० ॥

तात! मरनेकी इच्छावाले समस्त गृहस्थोंके लिये तो वही मृत्यु सबसे उत्तम मानी गयी है, जो गङ्गादि पवित्र नदियोंके तटोंपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो ॥ १० ॥

आयुषि क्षयमापन्ने पञ्चत्वमुपगच्छति।
तथा ह्यकारणाद् भवति कारणैरुपपादितम् ॥ ११ ॥

जब आयु समाप्त हो जाती है तभी देहधारी जीव पञ्चत्वको प्राप्त होता है। यह बिना कारणके भी हो जाता है और कभी विभिन्न कारणोंसे उपपादित होता है ॥ ११ ॥

तथा शरीरं भवति देहाद् येनोपपादितम्।
अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद् गृहम् ॥ १२ ॥

जो लोग देहको पाकर हठपूर्वक उसका परित्याग कर देते हैं, उनको पूर्ववत् ही यातनामय शरीरकी प्राप्ति होती है। ऐसे लोग (मोक्षके साधनरूप मनुष्यशरीरको पाकर भी आत्महत्याके कारण उस लाभसे वञ्चित हो) एक घरसे दूसरे घरमें जानेवाले मनुष्यके समान एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

द्वितीयं कारणं तत्र नान्यत् किंचन विद्यते।
तद् देहं देहिनां युक्तं पञ्चभूतेषु वर्तते ॥ १३ ॥

इनकी उस अवस्थाके प्राप्त होनेमें आत्महत्यारूप पापके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। उन प्राणियोंको उस शरीरका मिलना उचित ही है, जो कि पञ्चभूतमय है ॥ १३ ॥

शिरास्नाय्वस्थिसंघातं बीभत्सामेध्यसंकुलम्।
भूतानामिन्द्रियाणां च गुणानां च समागमम् ॥ १४ ॥

यह शरीर नस, नाड़ी और हड्डियोंका समूह है। घृणित और अपवित्र मल-मूत्र आदिसे भरा हुआ है। पञ्चमहाभूतों, श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा गुणों (वासनामय विषयों) का समुदाय है ॥ १४ ॥

त्वगन्तं देहमित्याहुर्विद्वांसोऽध्यात्मचिन्तकाः।
गुणैरपि परिक्षीणं शरीरं मर्त्यतां गतम् ॥ १५ ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस शरीरके अन्तमें अर्थात् बाह्यभागमें त्वचा (चमड़ा)

मात्र है। यह सौन्दर्य आदि गुणोंसे भी रहित है। इसकी मृत्यु अनिवार्य है ॥ १५ ॥

शरीरिणा परित्यक्तं निश्चेष्टं गतचेतनम्।
भूतैः प्रकृतिमापन्नैस्ततो भूमौ निमज्जति ॥ १६ ॥

जब जीवात्मा इस देहका परित्याग कर देता है, तब यह देह निश्चेष्ट और चेतनाशून्य हो जाती है। एवं इसके पाँच भूत अपनी-अपनी प्रकृतिके साथ मिल जाते हैं। फिर तो यह पृथ्वीमें निमग्न हो जाती है ॥ १६ ॥

भावितं कर्मयोगेन जायते तत्र तत्र ह।
इदं शरीरं वैदेह म्रियते यत्र यत्र ह।
तत्स्वभावोऽपरो दृष्टो विसर्गः कर्मणस्तथा ॥ १७ ॥

विदेहराज ! यह शरीर जिस किसी स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है; फिर प्रारब्धकर्मके योगसे भावित होकर जहाँ-कहीं भी जन्म ले लेता है। कर्मोंका फलस्वरूप यह स्वभावसिद्ध पुनर्जन्म देखा गया है ॥ १७ ॥

न जायते तु नृपते कंचित् कालमयं पुनः।
परिभ्रमति भूतात्मा द्यामिवाम्बुधरो महान् ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! जैसे विशाल मेघ आकाशमें सब ओर भ्रमण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध-कर्मके फलसे कुछ कालतक घूमता रहता है, जन्म नहीं लेता है ॥ १८ ॥

स पुनर्जायते राजन् प्राप्येहायतनं नृप।
मनसः परमो ह्यात्मा इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥ १९ ॥

राजन् ! वही यहाँ फिर कोई आधार पाकर पुनः जन्म लेता है। मनसे आत्मा श्रेष्ठ है और इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है ॥

विविधानां च भूतानां जङ्गमाः परमा नृप।
जङ्गमानामपि तथा द्विपदाः परमा मताः ॥ २० ॥

महाराज ! संसारके विविध प्राणियोंमें चलने-फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ माने गये हैं। इन जङ्गम प्राणियोंमें भी दो पैरवाले जीव (मनुष्य) श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ २० ॥

द्विपदानामपि तथा द्विजा वै परमाः स्मृताः।
द्विजानामपि राजेन्द्र प्रज्ञावन्तः परा मताः।
प्राज्ञानामात्मसम्बुद्धाः सम्बुद्धानाममानिनः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें भी द्विज श्रेष्ठ कहे गये हैं। राजेन्द्र ! द्विजोंमें बुद्धिमान् और बुद्धिमानोंमें भी आत्मज्ञानी श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उनमें भी जो अहङ्काररहित हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥ २१ ॥

जातमन्वेति मरणं नृणामिति विनिश्चयः।
अन्तवन्ति हि कर्माणि सेवन्ते गुणतः प्रजाः ॥ २२ ॥

जन्मके साथ ही मृत्यु मनुष्योंके पीछे लगी रहती है। यह विद्वानोंका निश्चय है। समस्त प्रजा सत्त्व आदि गुणोंसे प्रेरित होकर विनाशशील कर्मोंका आचरण करती है ॥ २२ ॥

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्।
नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत् ॥ २३ ॥

राजन् ! जो सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र और पवित्र मुहूर्तमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह पुण्यात्मा है ॥ २३ ॥

अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्।
मृत्युनाऽऽत्मकृतेनेह कर्म कृत्वाऽऽत्मशक्तिभिः ॥ २४ ॥

वह किसीको भी कष्ट न देकर प्रायश्चित्तके द्वारा अपने पापको नष्ट कर डालता है और अपनी शक्तिके अनुसार शुभकर्म करके स्वेच्छासे मृत्युको अङ्गीकार करता है ॥ २४ ॥

विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात् तथा वधः।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते ॥ २५ ॥

किंतु विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगानेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है, वह अधम श्रेणीका माना जाता है ॥ २५ ॥

न चैभिः पुण्यकर्माणो युज्यन्ते चाभिसंधिजैः।
एवंविधैश्च बहुभिरपरैः प्राकृतैरपि ॥ २६ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे-ऐसे दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप।
मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

राजन् ! पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकलते हैं। जिनके पुण्यकर्म मध्यम श्रेणीके हैं, उनके प्राण मध्यद्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं तथा जिन्होंने केवल पाप ही किया है, उनके प्राण नीचेके छिद्र (गुदा या शिश्नद्वार) से निकलते हैं ॥ २७ ॥

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ २८ ॥

राजन् ! पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। वह है अज्ञान, जिससे आवृत और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर और क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ २८ ॥

प्रबोधनार्थं श्रुतिधर्मयुक्तान्
वृद्धानुपास्य प्रभवेत यस्य।
प्रयत्नसाध्यो हि स राजपुत्र
प्रज्ञाशरेणोन्मथितः परैति ॥ २९ ॥

राजकुमार ! उस शत्रुको पराजित करनेमें वही समर्थ हो सकता है, जो वेदोक्त धर्मसम्पन्न वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करके प्रज्ञा (स्थिरबुद्धि) को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अज्ञानमय शत्रुको जीतना महान् प्रयत्नसाध्य कर्म है। वह प्रज्ञारूपी बाणकी चोट खाकर ही नष्ट होता है ॥ २९ ॥

अधीत्य वेदं तपसा ब्रह्मचारी
यज्ञाञ्शक्त्या संनिगृह्येह पञ्च।
वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्॥३०॥

द्विजको पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर तपस्यापूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपनी शक्तिके अनुसार इन्द्रियसंयमपूर्वक पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने पुत्रको घर-बारकी रक्षामें नियुक्त करके कल्याणमार्गमें स्थित हो केवल धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उसे वनको प्रस्थान करना चाहिये ॥

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्॥ ३१ ॥

तात! उपभोगके साधनोंसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डालकी योनिमें भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियोंकी अपेक्षा सर्वथा उत्तम है ॥ ३१ ॥

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ ३२ ॥

क्योंकि पृथ्वीनाथ! मनुष्यकी योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे आत्माका उद्धार किया जा सकता है ॥ ३२ ॥

कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो।
कुर्वन्ति धर्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात्॥ ३३ ॥

'प्रभो! हम कौन ऐसा उपाय करें, जिससे हमें इस मनुष्य-योनिसे नीचे न गिरना पड़े' यह सोचकर और वैदिक प्रमाणोंपर विचार करके मनुष्य धर्मका अनुष्ठान करते हैं ॥

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते॥ ३४ ॥

जो मानव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी दूसरोंसे द्वेष करता है और धर्मका अनादर करता है तथा मनसे कामनाओंमें आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभसे वञ्चित होता है ॥ ३४ ॥

यस्तु प्रीतिपुरोगेन चक्षुषा तात पश्यति।
दीपोपमानि भूतानि यावदर्थान्न पश्यति॥ ३५ ॥

तात! जो समस्त प्राणियोंको दीपकके समान स्नेहसे संवर्धन करनेयोग्य मानता है और उन्हें स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है एवं जो समस्त विषयोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करता, वह परलोकमें सम्मानित होता है ॥ ३५ ॥

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते॥ ३६ ॥

जो सब लोगोंको सान्त्वना प्रदान करता, भूखोंको भोजन देता और प्रिय वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःखमें सम रहकर (इहलोक और) परलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३६ ॥

दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्‌भ्यो
भूयःप्लाव्यं तपसा वै शरीरम्।
सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु
ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ ३७ ॥

राजन्! सरस्वती नदी, नैमिषारण्यक्षेत्र, पुष्करक्षेत्र तथा और भी जो पृथ्वीके पावन तीर्थ हैं, उनमें जाकर दान देना, भोगोंका त्याग करना, शान्तभावसे रहना तथा तपस्या और तीर्थके जलसे तन-मनको पवित्र करना चाहिये ॥ ३७ ॥

गृहेषु येषामसवः पतन्ति
तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्।
यानेन वै प्रापणं च श्मशाने
शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः॥ ३८ ॥

घरोंमें जिनके प्राण निकल रहे हों, उन्हें शीघ्र ही घरसे बाहर ले जाना उत्तम है। मृत्युके पश्चात् उन्हें विमानपर सुलाकर श्मशानमें पहुँचाना तथा पवित्रतापूर्वक शास्त्रोक्त-विधिसे उनका दाह-संस्कार करना आवश्यक कर्तव्य है ॥३८॥

इष्टिः पुष्टिर्यजनं याजनं च
दानं पुण्यानां कर्मणां च प्रयोगः।
शक्त्या पित्र्यं यच्च किंचित् प्रशस्तं
सर्वाण्यात्मार्थे मानवोऽयं करोति॥ ३९ ॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार इष्टि-पुष्टि (शान्तिकर्म), यजन, याजन, दान, पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान तथा श्राद्ध आदि जो भी कुछ उत्तम कार्य करता है, वह सब अपने ही लिये करता है ॥ ३९ ॥

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः॥ ४० ॥

नरेश्वर! धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित वेद पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषके कल्याणके लिये ही कर्तव्यका विधान करते हैं ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच

एतद् वै सर्वमाख्यातं मुनिना सुमहात्मना।
विदेहराजाय पुरा श्रेयसोऽर्थे नराधिप॥ ४१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीनकालमें महात्मा पराशर मुनिने विदेहराज जनकके कल्याणके लिये यह सब उपदेश दिया था ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९७ ॥

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका उपसंहार—राजा जनकके विविध प्रश्नोंका उत्तर

भीष्म उवाच

पुनरेव तु पप्रच्छ जनको मिथिलाधिपः।
पराशरं महात्मानं धर्मे परमनिश्चयम्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर मिथिलानरेश जनकने उन धर्मके विषयमें उत्तम निश्चय रखनेवाले महात्मा पराशर मुनिसे इस प्रकार पूछा॥ १॥

जनक उवाच

किं श्रेयः का गतिर्ब्रह्मन् किं कृतं न विनश्यति।
क्व गतो न निवर्तेत तन्मे ब्रूहि महामते॥ २॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! श्रेयका साधन क्या है? उत्तम गति कौन-सी है? कौन-सा कर्म नष्ट नहीं होता तथा कहाँ गया हुआ जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता है? महामते! मेरे इन प्रश्नोंका समाधान कीजिये॥ २॥

पराशर उवाच

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति॥ ३॥

पराशरजीने कहा—राजन्! आसक्तिका अभाव ही श्रेयका मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है। स्वयं किया हुआ तप तथा सुपात्रको दिया हुआ दान—ये कभी नष्ट नहीं होते॥ ३॥

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते॥ ४॥

जो मनुष्य जब अधर्ममय बन्धनका उच्छेद करके धर्ममें अनुरक्त हो जाता और सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है॥ ४॥

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते॥ ५॥

जो एक हजार गौ तथा एक सौ घोड़े दान करता है तथा दूसरा जो सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, वह सदा गौ और अश्वदान करनेवालेसे बढ़ा-चढ़ा रहता है॥ ५॥

वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि॥ ६॥

बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके बीचमें रहता हुआ भी (असङ्ग होनेके कारण) उनमें नहीं रहनेके बराबर ही है; किंतु जिसकी बुद्धि दूषित होती है, वह विषयोंके निकट न होनेपर भी सदा उन्हींमें रहता है॥ ६॥

नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत्।
अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत्॥ ७॥

जैसे पानी कमलके पत्तेको लिपायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंको अधर्म लिप्त नहीं कर सकता; परंतु जैसे लाह काठमें चिपक जाती है, उसी प्रकार पाप अज्ञानी मनुष्यमें अधिक लिप्त हो जाता है॥ ७॥

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति।
कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते॥ ८॥

अधर्म फल प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करनेवाला है, अतः वह कर्ताका पीछा नहीं छोड़ता। समय आनेपर उस कर्ताको उस पापका फल अवश्य भोगना पड़ता है॥ ८॥

न भिद्यन्ते कृतात्मान आत्मप्रत्ययदर्शिनः।
बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां हि प्रमत्तो यो न बुद्ध्यते।
शुभाशुभे प्रसक्तात्मा प्राप्नोति सुमहद् भयम्॥ ९॥

पवित्र अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानी पुरुष कर्मोंके शुभाशुभ फलोंसे कभी विचलित नहीं होते हैं। जो प्रमादवश ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंद्वारा होनेवाले पापोंपर विचार नहीं करता तथा शुभ एवं अशुभमें आसक्त रहता है, उसे महान् भयकी प्राप्ति होती है॥ ९॥

वीतरागो जितक्रोधः सम्यग् भवति यः सदा।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते॥ १०॥

परंतु जो वीतराग होकर क्रोधको जीत लेता और नित्य सदाचारका पालन करता है, वह विषयोंमें वर्तमान रहकर भी पापकर्मसे सम्बन्ध नहीं जोड़ता है॥ १०॥

मर्यादायां धर्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति।
पुष्टस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति संचयः॥ ११॥

जैसे नदीमें बँधा हुआ मजबूत बाँध टूटता नहीं है और उसके कारण वहाँ जलका स्रोत बढ़ता रहता है, उसी प्रकार प्राचीन मर्यादापर बँधा हुआ धर्मरूपी बाँध नष्ट नहीं होता है तथा उससे आसक्तिरहित संचित तपकी वृद्धि होने लगती है॥ ११॥

यथा भानुगतं तेजो मणिः शुद्धः समाधिना।
आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते॥ १२॥

नृपश्रेष्ठ! जिस प्रकार शुद्ध सूर्यकान्तमणि सूर्यके तेजको ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार योगका साधक समाधिके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपको ग्रहण करता है॥ १२॥

यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्
पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम्।
तथा नराणां भुवि भावितात्मनां
यथाऽऽश्रयं सत्त्वगुणः प्रवर्तते॥ १३॥

जैसे तिलका तेल भिन्न-भिन्न प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे वासित होकर अत्यन्त मनोरम गन्ध ग्रहण करता है, वैसे ही पृथ्वीपर शुद्धचित्त पुरुषोंका स्वभाव सत्पुरुषोंके सङ्गके अनुसार सत्त्वगुणसम्पन्न हो जाता है॥ १३॥

जहाति दारांश्च जहाति सम्पदः
पदं च यानं विविधाश्च याः क्रियाः।
त्रिविष्टपे जातमतिर्यदा नर-
स्तदास्य बुद्धिर्विषयेषु भिद्यते ॥ १४ ॥

जिस समय मनुष्य सर्वोत्तम पद पानेके लिये उत्सुक हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि विषयोंसे विलग हो जाती है तथा वह स्त्री, सम्पत्ति, पद, वाहन और नाना प्रकारकी जो क्रियाएँ हैं, उनका भी परित्याग कर देता है ॥ १४ ॥

प्रसक्तबुद्धिर्विषयेषु यो नरो
न बुध्यते ह्यात्महितं कथंचन ।
स सर्वभावानुगतेन चेतसा
नृपामिषेणेव झषो विकृष्यते ॥ १५ ॥

परंतु जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त हो जाती है, वह मनुष्य किसी तरह अपने हितकी बात नहीं समझता। राजन् ! जैसे मछली काँटेमें गुँथे हुए मांसपर आकृष्ट होती है और दुःख पाती है, उसी तरह वह सब प्रकारकी वासनाओंसे वासित चित्तके द्वारा विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

संघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमपाश्रितः ।
कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं, उसी प्रकार यह मर्त्यलोक—स्त्री-पुत्र और पशु आदिका समुदाय आपसमें एक-दूसरेपर अवलम्बित है । यह संसार केलेके भीतरी भागके समान निस्सार है। जैसे नौका पानीमें डूब जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ कालके प्रवाहमें निमग्न हो जाता है ॥ १६ ॥

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते॥ १७॥

पुरुषके लिये धर्म करनेका कोई विशेष समय निश्चित नहीं है; क्योंकि मृत्यु किसीकी बाट नहीं जोहती। जब मनुष्य सदा मौतके मुखमें ही है, तब नित्य-निरन्तर धर्मका आचरण करते रहना ही उसके लिये शोभाकी बात है ॥ १७ ॥

यथान्धः स्वगृहे युक्तो ह्यभ्यासादेव गच्छति।
तथा युक्तेन मनसा प्राज्ञो गच्छति तां गतिम्॥ १८ ॥

जैसे अन्धा प्रतिदिनके अभ्याससे ही सावधानीके साथ बाहरसे अपने घरमें आ जाता है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य योगयुक्त चित्तके द्वारा उस परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम् ।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत् ।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ १९ ॥

जन्ममें मृत्युकी स्थिति बतायी गयी है और मृत्युमें जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्मको नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसारमें आबद्ध होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता रहता है; किंतु ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ १९ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ २० ॥

कर्मोंका विस्तार क्लेशयुक्त होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्म-विस्तार परार्थ हैं अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये हैं; परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ २० ॥

यथा मृणालानुगतमाशु मुञ्चति कर्दमम् ।
तथाऽऽत्मा पुरुषस्येह मनसा परिमुच्यते ॥ २१ ॥

जैसे (पानीसे निकालते समय) कमलकी नालमें लगी हुई कीचड़ पानीसे तुरंत धुल जाती है, उसी प्रकार त्यागी पुरुषका आत्मा मनके द्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

मनः प्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति ।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम् ॥ २२ ॥

मन आत्माको योगकी ओर ले जाता है। योगी इस मनको योगयुक्त (आत्मामें लीन) करता है। इस प्रकार जब वह योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब वह उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २२ ॥

परार्थं वर्तमानस्तु स्वं कार्यं योऽभिमन्यते ।
इन्द्रियार्थेषु संयुक्तः स्वकार्यात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥

जो परके लिये अर्थात् इन बाह्य इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषयभोगोंमें प्रवृत्त होकर इसे अपना मुख्य कार्य समझता है, वह अपने वास्तविक कर्तव्यसे च्युत हो जाता है ॥ २३ ॥

अधस्तिर्यग्गतिं चैव स्वर्गे चैव परां गतिम् ।
प्राप्नोति स्वकृतैरात्मा प्राज्ञस्येहेतरस्य च ॥ २४ ॥

इहलोकमें बुद्धिमान् हो या मूढ़, उसका आत्मा अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार ही नरकको, पशु-पक्षी आदि योनियोंको, स्वर्गको और परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

मृण्मये भाजने पक्के यथा वै न श्यति द्रवः ।
तथा शरीरं तपसा तप्तं विषयमश्नुते ॥ २५ ॥

जैसे पके हुए मिट्टीके बर्तनमें रक्खा हुआ जल आदि तरल पदार्थ न तो चूता है और न नष्ट ही होता है, उसी प्रकार तपस्यासे तपा हुआ सूक्ष्म शरीर ब्रह्मलोकतकके विषयोंका अनुभव करता है ॥ २५ ॥

विषयानश्नुते यस्तु न स भोक्ष्यत्यसंशयम् ।
यस्तु भोगांस्त्यजेदात्मा स वै भोक्तुं व्यवस्यति॥ २६ ॥

जो मनुष्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका उपभोग करता है, वह निश्चय ही ब्रह्मानन्दके अनुभवसे वञ्चित रह जायगा, परंतु जो विषयोंका परित्याग करता है, वह अवश्य ही ब्रह्मानन्दके अनुभवमें समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्ध्यते ॥ २७ ॥

जैसे जन्मका अंधा रास्तेको नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण एवं अज्ञानसे आवृत जीव मायारूप कुहासासे आच्छन्न होनेके कारण मोक्षमार्गको नहीं समझ पाता है ॥ २७ ॥

वणिग् यथा समुद्राद् वै यथार्थं लभते धनम् ।
तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः ॥ २८ ॥

जैसे वैश्य समुद्रमार्गसे व्यापार करने जाकर अपने मूलधनके अनुसार द्रव्य कमाकर लाता है, उसी प्रकार संसारसागरमें व्यापार करनेवाला जीव अपने कर्म एवं विज्ञानके अनुरूप गति पाता है ॥ २८ ॥

अहोरात्रमये लोके जरारूपेण संसरन् ।
मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥ २९ ॥

दिन और रात्रिमय संसारमें बुढ़ापाका रूप धारण करके घूमती हुई मृत्यु समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार खाती रहती है, जैसे सर्प हवा पीया करता है ॥ २९ ॥

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ ३० ॥

जीव जगत्में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है; पूर्वजन्ममें कुछ किये विना यहाँ कोई भी किसी इष्ट या अनिष्ट फलको नहीं पाता है ॥ ३० ॥

शयानं यान्तमासीनं प्रवृत्तं विषयेषु च ।
शुभाशुभानि कर्माणि प्रपद्यन्ते नरं सदा ॥ ३१ ॥

मनुष्य सोता हो, बैठा हो, चलता हो या विषयभोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म सदा उसे प्राप्त होते रहते हैं ॥

न ह्यन्यत् तीरमासाद्य पुनस्तर्तुं व्यवस्यति ।
दुर्लभो दृश्यते ह्यस्य विनिपातो महार्णवे ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रके परलेपार पहुँचकर पुनः कोई उसमें तैरनेका विचार नहीं करता, उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हुए मनुष्यका फिर उसमें पड़ना अर्थात् वापस आना दुर्लभ दिखायी देता है ॥ ३२ ॥

यथा भावावसन्ना हि नौर्महाम्भसि तन्तुना ।
तथा मनोभियोगाद् वै शरीरं प्रचिकीर्षति ॥ ३३ ॥

जैसे गम्भीर जलमें पड़ी हुई नौका नाविकद्वारा रस्सीसे खींची जानेपर उसके मनोभावके अधीन होकर चलती है, उसी प्रकार यह जीव इस शरीररूपी नौकाको अपने मनके अभिप्रायानुसार चलाना चाहता है ॥ ३३ ॥

यथा समुद्रमभितः संश्रिताः सरितोऽपराः ।
तथाद्या प्रकृतिर्योगादभिसंश्रियते सदा ॥ ३४ ॥

जैसे बहुत-सी नदियाँ सब ओरसे आकर समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार योगसे वशमें किया हुआ मन सदाके लिये मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है ॥ ३४ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः ।
प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥ ३५ ॥

जिनका मन नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है, वे प्रकृतिमें स्थित हुए जीव जलमें ढह जानेवाले बालूके मकानकी भाँति महान् दुःखसे नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

शरीरगृहसंस्थस्य शौचतीर्थस्य देहिनः ।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ ३६ ॥

शरीर ही जिसका घर है, जो बाहर-भीतरकी पवित्रताको ही तीर्थ मानता है तथा बुद्धिपूर्वक कल्याणके मार्गपर चलता है, उस देहधारी जीवको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ ३७ ॥

क्रियाओंका विस्तार क्लेशदायक होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्मविस्तार परार्थरूप अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये होते हैं, परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ ३७ ॥

संकल्पजो मित्रवर्गो ज्ञातयः कारणात्मकाः ।
भार्या पुत्रश्च दासश्च स्वमर्थमनुयुज्यते ॥ ३८ ॥

कोई-न-कोई संकल्प (मनोरथ) लेकर ही लोग मित्र बनते हैं, कुटुम्बी जन भी किसी हेतुसे ही नाता रखते हैं, पत्नी, पुत्र और सेवक सभी अपने-अपने स्वार्थका ही अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते ।
दानपथ्योदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

माता और पिता भी परलोक-साधनमें किसीकी कुछ सहायता नहीं कर सकते। परलोकके पथमें तो अपना किया हुआ दान अर्थात् त्याग ही राहखर्चका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है ॥ ३९ ॥

माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा ।
अष्टापदपदस्थाने लक्षमुद्रेव लक्ष्यते ॥ ४० ॥

माता, पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या और मित्रगण—ये सब सुवर्णके सिक्कोंके स्थानपर रखी हुई लाखकी मुद्राके समान देखे जाते हैं ॥ ४० ॥

सर्वाणि कर्माणि पुरा कृतानि
शुभाशुभान्यात्मनो यान्ति जन्तोः ।

उपस्थितं कर्मफलं विदित्वा
बुद्धिं तथा चोदयतेऽन्तरात्मा ॥ ४१ ॥

पूर्वजन्मके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार प्राप्त हुई परिस्थितिको अपने कर्मोंका फल जानकर जिसका मन अन्तर्मुख हो गया है, वह अपनी बुद्धिको वैसी शुभ प्रेरणा देता है जिससे भविष्यमें दुःख न भोगना पड़े ॥ ४१ ॥

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥ ४२ ॥

जो दृढ निश्चय एवं पूर्ण उद्योगका सहारा ले तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता ॥ ४२ ॥

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥ ४३ ॥

जिसके मनमें दुविधा नहीं होती, जो उद्योगी, शूरवीर, धीर और विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी तरह कभी नहीं छोड़ती, जैसे किरणें सूर्यको ॥ ४३ ॥

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद् विस्मयाद् धिया।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिषीदति ॥ ४४ ॥

जिसका हृदय उदार एवं प्रशस्त है, जो आस्तिक भाव, निश्चय एवं आवश्यक उपायसे गर्वहीनताके साथ उत्तम बुद्धिपूर्वक कार्य आरम्भ करता है, उसका वह कार्य कभी असफल नहीं होता है ॥ ४४ ॥

सर्वैः स्वानि शुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं
गर्भात् सम्प्रतिपद्यते तदुभयं यत् तेन पूर्वं कृतम्।
मृत्युश्चापरिहारवान् समगतिः कालेन विच्छेदिना
दारोश्चूर्णमिवाश्मसारविहितं कर्मान्तिकं प्रापयेत्॥ ४५॥

सभी जीव, पूर्वजन्ममें उन्होंने जो कुछ किया है, उन अपने शुभाशुभ कर्मोंके नियत फलोंको गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे ही क्रमशः पाने और भोगने लगते हैं। जैसे वायु आरेसे चीरकर बनाये गये लकड़ीके चूरेको उड़ा देती है, उसी प्रकार कभी टाली न जा सकनेवाली मृत्यु विनाशकारी कालकी सहायतासे मनुष्यका अन्त कर देती है ॥ ४५ ॥

स्वरूपतामात्मकृतं च विस्तरं
कुलान्वयं द्रव्यसमृद्धिसंचयम्।
नरो हि सर्वो लभते यथाकृतं
शुभाशुभेनात्मकृतेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

सब मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही सुन्दर या असुन्दर रूप, अपनेसे होनेवाले योग्य-अयोग्य पुत्र-पौत्र आदिका विस्तार, उत्तम या अधम कुलमें जन्म तथा द्रव्य-समृद्धिका संचय आदि पाते हैं ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमवाप ह ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनिके मुखसे इस यथार्थ उपदेशको सुनकर धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा जनक बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायामष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्माका साध्यगणोंको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें बहुत-से विद्वान् सत्य, इन्द्रिय-संयम, क्षमा और प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) की प्रशंसा करते हैं। इस विषयमें आपका कैसा मत है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें साध्यगणोंका हंसके साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २ ॥

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥

एक समय नित्य अजन्मा प्रजापति सुवर्णमय हंसका रूप धारण करके तीनों लोकोंमें विचर रहे थे। घूमते-घामते वे साध्यगणोंके पास जा पहुँचे ॥ ३ ॥

साध्या ऊचुः

शकुने वयं स्म देवा वै साध्यास्त्वामनुयुङ्क्ष्महे।
पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित् ॥ ४ ॥

उस समय साध्योंने कहा—हंस! हमलोग साध्य देवता हैं और आपसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करना चाहते हैं; क्योंकि आप मोक्ष-तत्त्वके ज्ञाता हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन् ।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ॥ ५ ॥

महात्मन्! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीर वक्ता हैं। पतत्रिन्! आपकी उत्तम वाणीका सर्वत्र प्रचार है। पक्षि-प्रवर! आपके मतमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है? ॥ ५ ॥

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम् ।
यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धै-
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ॥ ६ ॥

पक्षिराज! खगश्रेष्ठ! समस्त कार्योंमेंसे जिस एक कार्यको आप सबसे उत्तम समझते हों तथा जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसीका हमें उपदेश कीजिये ॥ ६ ॥

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः ।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत ॥ ७ ॥

हंसने कहा—अमृतभोजी देवताओ! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सबसे उत्तम हैं। हृदयकी सारी गाँठें खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने वशमें करे अर्थात् उनके लिये हर्ष एवं विषाद न करे ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद्रुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥

किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये। दूसरोंसे निष्ठुर वचन न बोले। किसी नीच मनुष्यसे अध्यात्मशास्त्रका उपदेश न ग्रहण करे तथा जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी मुँहसे न निकाले ॥ ८ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राव्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ९ ॥

वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, इसलिये विद्वान् पुरुषको किसी दूसरे मनुष्यपर वाग्बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

परश्चेदेनमतिवादबाणै-
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः ।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ॥ १० ॥

दूसरा कोई भी यदि इस विद्वान् पुरुषको कटुवचनरूपी बाणोंसे बहुत अधिक चोट पहुँचाये तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिये। जो दूसरोंके क्रोध करनेपर भी स्वयं बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्यको ग्रहण कर लेता है ॥ १० ॥

क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम् ।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम् ॥ ११ ॥

जो जगत्‌में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेके कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोधको रोक लेता है, चित्तमें कोई विकार या दोष नहीं आने देता, प्रसन्न रहता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, वह पुरुष अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगोंके पुण्य ले लेता है ॥ ११ ॥

आक्रुश्यमानो न वदामि किंचित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम् ।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ॥ १२ ॥

मुझे कोई गाली दे तो भी बदलेमें कुछ नहीं कहता हूँ। कोई मार दे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ; क्योंकि श्रेष्ठ जन क्षमा, सत्य, सरलता और दयाको ही उत्तम बताते हैं ॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥ १३ ॥

वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है ॥ १३ ॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥ १४ ॥

जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग तथा पेट और जननेन्द्रियका वेग—इन सब प्रचण्ड वेगोंको सह लेता है, उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ ॥ १४ ॥

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।

अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥ १५ ॥

क्रोधी मनुष्योंसे क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशीलसे सहनशील पुरुष बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य ही बढ़कर है तथा अज्ञानीसे ज्ञानवान् ही श्रेष्ठ है॥ १५॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ १६ ॥

जो दूसरेके द्वारा गाली दी जानेपर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवालेको भस्म कर देता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ १६ ॥

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ १७ ॥

जो दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़वी बात कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ १७ ॥

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥ १८ ॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्थामें अपनेसे बड़ा हो या बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे
न मे विधित्सोत्सहते न रोषः।
न वाप्यहं लिप्समानः परैमि
न चैव किंचिद् विषयेण यामि ॥ १९ ॥

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ (मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है) तो भी मैं श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना (सत्सङ्ग) करता रहता हूँ। मुझपर न तृष्णाका वश चलता है न रोषका। मैं कुछ पानेके लोभसे धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता और न विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही कहीं आता-जाता हूँ ॥ १९ ॥

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥ २० ॥

कोई मुझे शाप दे दे तो भी मैं बदलेमें उसे शाप नहीं देता। इन्द्रियसंयमको ही मोक्षका द्वार मानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है ॥ २० ॥

निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य इव चन्द्रमाः।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण सिद्ध्यति ॥ २१ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा बादलोंके ओटसे निकलनेपर अपनी प्रभासे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त हुआ निर्मल अन्तःकरणवाला धीर पुरुष धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता हुआ सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय
उत्सेधनस्तम्भ इवाभिजातः।
यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति
स वै देवान् गच्छति संयतात्मा ॥ २२ ॥

जो अपने मनको वशमें रखनेवाला विद्वान् पुरुष ऊँचे उठानेवाले खम्भेकी भाँति उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ सबके लिये आदरके योग्य हो जाता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नतापूर्वक मधुर वचन बोलते हैं, वह मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

न तथा वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान् पुरुषे गुणान्।
यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः ॥ २३ ॥

किसीसे ईर्ष्या रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वर्णन करना चाहते हैं, उस प्रकार उसके कल्याणमय गुणोंका बखान करना नहीं चाहते हैं ॥ २३ ॥

यस्य वाङ्मनसीगुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकारसे परमात्मामें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा लेता है ॥ २४ ॥

आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद् बुधः।
तस्मान्न वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत् ॥ २५ ॥

अतः समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह कटुवचन कहने या अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके उक्त दोष बताकर समझानेका प्रयत्न न करे। उसके सामने दूसरेको बढ़ावा न दे तथा उसपर आक्षेप करके उसके द्वारा अपनी हिंसा न कराये ॥ २५ ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥ २६ ॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति संतुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है, किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ॥ २६ ॥

यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य ॥ २७ ॥

क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवालेका वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है ॥ २७ ॥

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥ २८ ॥

देवेश्वरो ! जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ॥ २८ ॥

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः ॥ २९ ॥

जो सत्य, इन्द्रिय-संयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमाका अधिक सेवन करता है, सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित् ॥ ३० ॥

जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको उपर्युक्त सभी सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये। मैंने अबतक सत्यसे बढ़कर परम पावन वस्तु कहीं किसीको नहीं समझा है ॥ ३० ॥

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३१ ॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोकमें पहुँचनेकी सीढ़ी है ॥ ३१ ॥

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ ३२ ॥

पुरुष जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है ॥ ३२ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ ३३ ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ ३३ ॥

सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते
न मानुषं विषयं यान्ति द्रष्टुम् ।
नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायु-
रुच्चावचं विषयं यः स वेद ॥ ३४ ॥

देवतालोग सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग—उन्हींके साथ वार्तालाप करते हैं; इसीलिये वे मनुष्योंके क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर देखने भी नहीं जाते। जो विभिन्न विषयोंके नश्वर स्वभावको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं न वायु ॥ ३४ ॥

अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तरपूरुषे ।
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ॥ ३५ ॥

हृदयगुफामें रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा जब दोषभावसे रहित हो जाता है, उस अवस्थामें उसका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सन्मार्गगामी समझा जाता है। उसकी इस स्थितिसे ही देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् ।
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद् देवाः सम्परिवर्जयन्ति ॥ ३६ ॥

किंतु जो सदा पेट पालने और उपस्थ-इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने एवं सदा कठोर वचन बोलनेवाले हैं, वे यदि प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उक्त कर्मोंके दोषसे छूट जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ३६ ॥

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ॥ ३७ ॥

सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य देवताओंको संतुष्ट नहीं कर सकते। जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्मपरायण हैं, उन्हींके साथ देवता स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं ॥ ३७ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ ३८ ॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ ३८ ॥

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३९ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! इस जगत्‌को किसने आवृत कर रक्खा है ? किस कारणसे उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है ? मनुष्य किस हेतुसे मित्रोंका त्याग करता है ? और किस दोषसे वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ? ॥ ३९ ॥

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ॥ ४० ॥

हंसने कहा—देवताओ ! अज्ञानने इस लोकको आवृत कर रक्खा है । आपसमें डाह होनेके कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभसे मित्रोंका त्याग करता है और आसक्तिदोषके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ॥ ४० ॥

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ॥ ४१ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंमें कौन एकमात्र सुखका अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है, जो बहुतोंके साथ रहकर भी चुप रहता है ? वह कौन एक मनुष्य है, जो दुर्बल होनेपर भी बलवान् है तथा इनमें कौन ऐसा है, जो किसीके साथ कलह नहीं करता ? ॥ ४१ ॥

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥

हंसने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानी है, एकमात्र वही परम सुखका अनुभव करता है । ज्ञानी ही बहुतोंके साथ रहकर भी मौन रहता है । एकमात्र ज्ञानी दुर्बल होनेपर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसीके साथ कलह नहीं करता है ॥ ४२ ॥

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंका देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बतायी जाती है ? उनके भीतर असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गयी है ? ॥ ४३ ॥

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ॥ ४४ ॥

हंसने कहा—साध्यगण ! वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंका देवत्व है । उत्तम व्रतोंका पालन करना ही उनमें साधुता बतायी जाती है । दूसरोंकी निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्युको प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता बतायी गयी है ॥ ४४ ॥

भीष्म उवाच

(इत्युक्त्वा परमो देवो भगवान् नित्य अव्ययः ।
साध्यैर्देवगणैः सार्धं दिवमेवारुरोह सः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नित्य अविनाशी परमदेव भगवान् ब्रह्मा साध्य देवताओंके साथ ही ऊपर स्वर्गलोककी ओर चल दिये ॥

एतद् यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्गाय च ध्रुवम् ।
दर्शितं देवदेवेन परमेणाव्ययेन च ॥)

सर्वश्रेष्ठ अविनाशी देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा प्रकाशमें लाया हुआ यह पुण्यमय तत्त्वज्ञान यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है तथा यह स्वर्गलोककी प्राप्तिका निश्चित साधन है ॥

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्योंके साथ जो हंसका संवाद हुआ था, उसका मैंने तुमसे वर्णन किया । यह शरीर ही कर्मोंकी योनि है और सद्भावको ही सत्य कहते हैं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतासमाप्तौ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हंसगीताकी समाप्ति विषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

त्रिशततमोऽध्यायः

सांख्य और योगका अन्तर बतलाते हुए योगमार्गके स्वरूप, साधन, फल और प्रभावका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सांख्ये योगे च मे तात विशेषं वक्तुमर्हसि ।
तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! धर्मज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! सांख्य और योगमें क्या अन्तर है ? यह बतानेकी कृपा करें; क्योंकि आपको सब बातोंका ज्ञान है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सांख्यके विद्वान् सांख्यकी और योगके ज्ञाता द्विज योगकी प्रशंसा करते हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्षकी उत्कृष्टता सूचित करनेके लिये उत्तमोत्तम युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन।
वदन्ति कारणैः श्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ्मनीषिणः॥ ३ ॥

शत्रुसूदन ! योगके मनीषी विद्वान् अपने मतकी श्रेष्ठता बताते हुए यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किये बिना किसीकी भी मुक्ति कैसे हो सकती है ? (अतः मोक्षदाता ईश्वरकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये) ॥ ३ ॥

वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग् द्विजातयः।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वं स देहात् सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा।
एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्ये वै मोक्षदर्शनम् ॥ ५ ॥

सांख्यमतके माननेवाले महाज्ञानी द्विज मोक्षका युक्तियुक्त कारण इस प्रकार बताते हैं—सब प्रकारकी गतियोंको जानकर जो विषयोंसे विरक्त हो जाता है, वही देहत्यागके अनन्तर मुक्त होता है। यह बात स्पष्टरूपसे सबकी समझमें आ सकती है। दूसरे किसी उपायसे मोक्ष मिलना असम्भव है। इस प्रकार वे सांख्यको ही मोक्षदर्शन कहते हैं ॥४-५॥

स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समये वचनं हितम्।
शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं त्वद्विधैः शिष्टसम्मतैः ॥ ६ ॥

अपने-अपने पक्षमें युक्तियुक्त कारण ग्राह्य होता है तथा सिद्धान्तके अनुकूल हितकारक वचन मानने योग्य समझा जाता है। शिष्ट पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम जैसे लोगोंको श्रेष्ठ पुरुषोंका ही मत ग्रहण करना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः।
उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

योगके विद्वान् प्रधानतया प्रत्यक्ष प्रमाणको ही माननेवाले होते हैं और सांख्यमतानुयायी शास्त्र-प्रमाणपर ही विश्वास करते हैं। तात युधिष्ठिर ! ये दोनों ही मत मुझे तात्त्विक जान पड़ते हैं ॥ ७ ॥

उभे चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसम्मते।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! इन दोनों मतोंका श्रेष्ठ पुरुषोंने आदर किया है। इन दोनों ही मतोंको जानकर शास्त्रके अनुसार उनका आचरण किया जाय तो वे परमगतिकी प्राप्ति करा सकते हैं।

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥ ९ ॥

बाहर-भीतरकी पवित्रता, तप, प्राणियोंपर दया और व्रतोंका पालन आदि नियम दोनों मतोंमें समान रूपसे स्वीकार किये गये हैं। केवल उनके दर्शनोंमें अर्थात् पद्धतियोंमें समानता नहीं है ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र फलं तथा।
न तुल्यं दर्शनं कस्मात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि इन दोनों मतोंमें उत्तम व्रत, बाहर-भीतरकी पवित्रता और दया समान है एवं दोनोंका परिणाम भी एक ही है तो इनके दर्शनमें समानता क्यों नहीं है, यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्।
योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत् ११

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! योगी पुरुष केवल योगबलसे राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध—इन पाँच दोषोंका मूलोच्छेद करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्त्वा पुनर्जलम्।
प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत् पदं वीतकल्मषाः॥ १२ ॥

जैसे बड़े-बड़े और मोटे मत्स्य जालको काटकर फिर जलमें समा जाते हैं, उसी प्रकार योगी अपने पापोंका नाश करके परमात्मपदको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः।
छित्त्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्॥ १४ ॥

राजन् ! इसी प्रकार जैसे बलवान् मृग जाल तोड़कर सारे बन्धनोंसे मुक्त हो निर्विघ्न मार्गपर चले जाते हैं, वैसे ही योगबलसे सम्पन्न योगी पुरुष लोभजनित सब बन्धनोंको तोड़कर परम निर्मल कल्याणमय मार्गको प्राप्त कर लेते हैं ॥१३-१४॥

अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे।
विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद् योगबलादृते ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! जैसे निर्बल मृग तथा दूसरे पशु जालमें पड़कर निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार योगबलसे रहित मनुष्यकी भी दशा होती है ॥ १५ ॥

बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालं गता झषाः।
वधं गच्छन्ति राजेन्द्र योगास्तद्वत् सुदुर्बलाः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन राजेन्द्र ! जैसे निर्बल मत्स्य जालमें फँसकर वधको प्राप्त होते हैं, वही दशा योगबलसे सर्वथा रहित मनुष्योंकी भी होती है ॥ १६ ॥

यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिंदम ।
तत्र सक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १७ ॥
कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद् योगाः परंतप ।
अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १८ ॥

शत्रुदमन ! जैसे निर्बल पक्षी सूक्ष्म जालमें फँसकर बन्धनको प्राप्त हो अपने प्राण खो देते हैं और बलवान् पक्षी जाल तोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मजनित बन्धनोंसे बँधे हुए निर्बल योगी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, किंतु परंतप ! योगबलसे सम्पन्न योगी सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७-१८ ॥

अल्पकश्च यथा राजन् वह्निः शाम्यति दुर्बलः ।
आक्रान्त इन्धनैः स्थूलैस्तद्वद् योगोऽबलः प्रभो॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे अल्प होनेके कारण दुर्बल अग्निपर बड़े-बड़े मोटे ईंधन रख देनेसे वह जलनेके बजाय बुझ जाती है, प्रभो ! उसी प्रकार निर्बल योगी महान् योगके भारसे दबकर नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

स एव च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः ।
समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि ॥ २० ॥

राजन् ! वही आग जब हवाका सहारा पाकर प्रबल हो जाती है, तब सम्पूर्ण पृथ्वीको भी तत्काल भस्म कर सकती है ॥ २० ॥

तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः ।
अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत् ॥ २१ ॥

इसी तरह योगीका भी योगबल बढ़ जानेसे जब वह उद्दीप्त तेजसे सम्पन्न और महान् शक्तिशाली हो जाता है, तब वह जैसे प्रलयकालीन सूर्य समस्त जगत्‌को सुखा डालता है, वैसे ही समस्त रागादि दोषोंका नाश कर देता है ॥२१॥

दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः ।
बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः ॥ २२ ॥

राजन् ! जैसे दुर्बल मनुष्य पानीके वेगसे बह जाता है, उसी तरह दुर्बल योगी विवश होकर विषयोंकी ओर खिंच जाता है ॥ २२ ॥

तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः ।
तद्वद् योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून् ॥ २३ ॥

परंतु जलके उसी महान् स्रोतको जैसे गजराज रोक देता है अर्थात् उसमें नहीं बहता, उसी प्रकार योगका महान् बल पाकर योगी भी उन सभी बहुसंख्यक विषयोंको अवरुद्ध कर देता है अर्थात् उनके प्रवाहमें नहीं बहता ॥ २३ ॥

विशन्ति चावशाः पार्थ योगाद् योगबलान्विताः।
प्रजापतीनृषीन् देवान् महाभूतानि चेश्वराः ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! योगशक्तिसम्पन्न पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक प्रजापति, ऋषि, देवता और पञ्चमहाभूतोंमें प्रवेश कर जाते हैं। उनमें ऐसा करनेकी सामर्थ्य आ जाती है ॥ २४ ॥

न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः ।
ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! अमित तेजस्वी योगीपर क्रोधमें भरे हुए यमराज, अन्तक और भयंकर पराक्रम दिखानेवाली मृत्युका भी शासन नहीं चलता है ॥ २५ ॥

आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगः कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! योगी योगबल पाकर अपने हजारों रूप बना सकता है और उन सबके द्वारा इस पृथ्वीपर विचर सकता है॥

प्राप्नुयाद् विषयांश्चैव पुनश्चोग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिव ॥ २७ ॥

तात ! वह उन शरीरोंद्वारा विषयोंका सेवन और उग्र तपस्या भी करता है । तदनन्तर अपनी तेजोमयी किरणोंको समेट लेनेवाले सूर्यकी भाँति सभी रूपोंको अपनेमें लीन कर लेता है॥ २७ ॥

बलस्थस्य हि योगस्य बन्धनेशस्य पार्थिव ।
विमोक्षप्रभविष्णुत्वमुपपन्नमसंशयम् ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! बलवान् योगी बन्धनोंको तोड़नेमें समर्थ होता है, उसमें अपनेको मुक्त करनेकी पूर्ण शक्ति आ जाती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥

बलानि योगप्राप्तानि मयैतानि विशाम्पते ।
निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनस्तव ॥ २९ ॥

प्रजापालक नरेश ! मैं दृष्टान्तके लिये योगसे प्राप्त होनेवाली कुछ सूक्ष्म शक्तियोंका पुनः तुमसे वर्णन करूँगा ॥

आत्मनश्च समाधाने धारणां प्रति वा विभो ।
निदर्शनानि सूक्ष्माणि शृणु मे भरतर्षभ ॥ ३० ॥

प्रभो ! भरतश्रेष्ठ ! आत्मसमाधिके लिये जो धारणा की जाती है, उसके विषयमें भी कुछ सूक्ष्म दृष्टान्त बतलाता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

अप्रमत्तो तथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः ।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥३१॥

जैसे सदा सावधान रहनेवाला धनुर्धर वीर चित्तको एकाग्र करके बाण चलानेपर लक्ष्यको अवश्य बींध डालता है, उसी प्रकार जो योगी मनको परमात्माके ध्यानमें लगा देता है, वह निस्संदेह मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम् ।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः ॥ ३२ ॥
युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम् ।
करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम् ॥ ३३ ॥

पृथ्वीनाथ ! जैसे सिरपर रक्खे हुए तेलसे भरे पात्रकी

ओर मनको स्थिरभावसे लगाये रखनेवाला पुरुष एकाग्र-चित्त हो सीढ़ियोंपर चढ़ जाता है और जरा भी तेल नहीं छलकता, उसी तरह योगी भी योगयुक्त होकर जब आत्माको परमात्मामें स्थिर करता है, उस समय उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल तथा अचल सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

यथा च नावं कौन्तेय कर्णधारः समाहितः ।
महार्णवगतां शीघ्रं नयेत् पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥
तद्वदात्मसमाधानं युक्त्वा योगेन तत्त्ववित् ।
दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं नृप ॥ ३५ ॥

कुन्तीकुमार ! नृपश्रेष्ठ ! जैसे सावधान नाविक समुद्रमें पड़ी हुई नौकाको शीघ्र ही किनारेपर लगा देता है, उसी प्रकार योगके अनुसार तत्त्वको जाननेवाला पुरुष समाधिके द्वारा मनको परमात्मामें लगाकर इस देहका त्याग करनेके अनन्तर दुर्गम स्थान (परमधाम) को प्राप्त होता है ॥

सारथिश्च यथा युक्त्वा सदश्वान् सुसमाहितः ।
देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥
तथैव नृपते योगी धारणासु समाहितः ।
प्राप्नोत्याशु परं स्थानं लक्षं मुक्त इवाशुगः ॥ ३७ ॥

पुरुषप्रवर ! राजन् ! जिस तरह अत्यन्त सावधान रहनेवाला सारथि अच्छे घोड़ोंको रथमें जोतकर धनुर्धर योद्धाको तुरंत ही अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, वैसे ही धारणाओंमें एकाग्रचित्त हुआ योगी लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बाणकी भाँति शीघ्र परम पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६-३७ ॥

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः ।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥ ३८ ॥

जो योगी समाधिके द्वारा आत्माको परमात्मामें स्थिर करके अचल हो जाता है, वह अपने पापको नष्ट कर देता है और पवित्र पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले अविनाशी पदको पा लेता है ॥ ३८ ॥

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः ।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥ ३९ ॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः ।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग्विशाम्पते ॥ ४० ॥
स शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम् ।
उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अमित पराक्रमी नरेश ! योगके महान् व्रतमें एकाग्रचित्त रहनेवाला जो योगी नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग, नेत्र, कान और नासिका आदि स्थानोंमें धारणाके द्वारा सूक्ष्म आत्माको परमात्माके साथ भलीभाँति संयुक्त करता है, वह यदि इच्छा करे तो अपने पर्वताकार विशाल शुभाशुभ कर्मोंको शीघ्र ही भस्म करके उत्तम योगका आश्रय लेकर मुक्त हो जाता है ॥ ३९—४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहारान् कीदृशान् कृत्वा कानि जित्वा च भारत ।
योगी बलमवाप्नोति तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! योगी कैसे आहार करके और किन-किनको जीतकर योगशक्ति प्राप्त कर लेता है यह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत ।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! जो धानकी खुद्दी और तिलकी खली खाता तथा घी-तेलका परित्याग कर देता है, उसी योगीको योगबलकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिंदम ।
एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जो दीर्घकालतक एक समय जौका रूखा दलिया खाता है, वह योगी शुद्धचित्त होकर योगबलकी प्राप्ति कर सकता है ॥ ४४ ॥

पक्षान् मासानृतूंश्चैतान् संवत्सरानहस्तथा ।
अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

जो योगी दुग्धमिश्रित जलको दिनमें एक बार पीता है; फिर पंद्रह दिनोंमें एक बार पीता है । तत्पश्चात् एक महीनेमें, एक ऋतुमें और एक वर्षमें एक बार उसे ग्रहण करता है, उसको योगशक्ति प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

अखण्डमपि वा मांसं सततं मनुजेश्वर ।
उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! जो लगातार जीवनभरके लिये मांस नहीं खाता है और विधिपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

कामं जित्वा तथा क्रोधं शीतोष्णे वर्षमेव च ।
भयं शोकं तथा श्वासं पौरुषान् विषयांस्तथा ॥ ४७ ॥
अरतिं दुर्जयां चैव घोरां तृष्णां च पार्थिव ।
स्पर्शं निद्रां तथा तन्द्रीं दुर्जयां नृपसत्तम ॥ ४८ ॥
दीपयन्ति महात्मानः सूक्ष्ममात्मानमात्मना ।
वीतरागा महाप्राज्ञा ध्यानाध्ययनसम्पदा ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! काम, क्रोध, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भय, शोक, श्वास, मनुष्योंको प्रिय लगनेवाले विषय, दुर्जय असंतोष, घोर तृष्णा, स्पर्श, निद्रा तथा दुर्जय आलस्यको जीतकर वीतराग, महान् एवं उत्तम बुद्धिसे युक्त महात्मा योगी स्वाध्याय तथा ध्यानका सम्पादन करके बुद्धिके द्वारा सूक्ष्म आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४७—४९ ॥

दुर्गस्त्वेष मतः पन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम् ।
यः कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! विद्वान् ब्राह्मणोंने योगके इस मार्गको दुर्गम माना है। कोई विरला ही इस मार्गको कुशलपूर्वक तै कर सकता है ॥ ५० ॥

यथा कश्चिद् वनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम्।
श्वभ्रवत् तोयहीनं च दुर्गमं बहुकण्टकम्॥ ५१॥
अभक्तमटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम्।
पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभिपतेद् युवा॥ ५२॥
योगमार्गं तथाऽऽसाद्य यः कश्चिद् व्रजते द्विजः।
क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद् बहुदोषो हि स स्मृतः॥ ५३॥

जैसे कोई-कोई विरला नवयुवक ही अनेकानेक सर्पों तथा विच्छू आदिसे भरे हुए गड्ढों और बहुत-से काँटोंवाले, जल-शून्य, दुर्गम एवं घोर वनमें सकुशल यात्रा कर सकता है तथा जहाँ भोजन मिलना असम्भव है, जिसमें प्रायः जंगल-ही-जंगल पड़ता है, जहाँके वृक्ष दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं तथा जो चोर-डाकुओंसे भरा हुआ है, ऐसे मार्गको सकुशल तै कर सकता है; उसी प्रकार योगमार्गका आश्रय लेकर कोई विरला ही द्विज उसपर कुशलपूर्वक चल पाता है, क्योंकि वह बहुत-से दोषों (कठिनाइयों) से भरा हुआ बताया गया है ॥५१–५३॥

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः॥ ५४॥

पृथ्वीपते ! छुरेकी तीखी धारपर कोई सुखपूर्वक खड़ा रह सकता है; किंतु जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंका योगकी धारणाओंमें स्थिर रहना नितान्त कठिन है ॥ ५४ ॥

विपन्ना धारणास्तात नयन्ति न शुभां गतिम्।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप॥ ५५॥

तात ! नरेश्वर ! जैसे समुद्रमें बिना नाविककी नाव मनुष्योंको पार नहीं लगा सकती, उसी प्रकार यदि योगकी धारणाएँ सिद्ध न हुई तो वे शुभगतिकी प्राप्ति नहीं करा सकतीं ॥ ५५ ॥

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति॥ ५६॥

कुन्तीनन्दन ! जो विधिपूर्वक योगकी धारणाओंमें स्थिर रहता है, वह जन्म, मृत्यु, दुःख और सुखके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५६ ॥

नानाशास्त्रेषु निष्पन्नं योगेष्विदमुदाहृतम्।
परं योगस्य यत् कृत्यं निश्चितं तद् द्विजातिषु॥ ५७॥

यह मैंने तुम्हें योगविषयक नाना शास्त्रोंका सिद्धान्त बतलाया है। योग-साधनाका जो-जो कृत्य है, वह द्विजातियोंके लिये ही निश्चित किया गया है अर्थात् उन्हींका उसमें अधिकार है ॥ ५७ ॥

परं हि तद् ब्रह्म महन्महात्मन्
ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम्।
भवं च धर्मं च षडाननं च
यद् ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभावान्॥ ५८॥
तमश्च कष्टं सुमहद् रजश्च
सत्त्वं विशुद्धं प्रकृतिं परां च।
सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं
तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम्॥ ५९॥
ताराधिपं खे विमलं सतारं
विश्वांश्च देवानुरगान् पितॄंश्च।
शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च घोरान्
नदीश्च सर्वाः सवनान् घनांश्च॥ ६०॥
नागान् नगान् यक्षगणान् दिशश्च
गन्धर्वसंघान् पुरुषान् स्त्रियश्च।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा
विशेत योगी न चिराद् विमुक्तः॥ ६१॥

महात्मन् ! योगसिद्ध महात्मा पुरुष यदि चाहे तो तुरंत ही मुक्त होकर महान् परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अथवा वह अपने योगबलसे भगवान् ब्रह्मा, वरदायक विष्णु, महादेवजी, धर्म, छः मुखोंवाले कार्त्तिकेय, ब्रह्माजीके महानुभाव पुत्र सनकादि, कष्टदायक तमोगुण, महान् रजोगुण, विशुद्ध सत्त्वगुण, मूल प्रकृति, वरुणपत्नी सिद्धिदेवी, सम्पूर्ण तेज, महान् धैर्य, ताराओंसहित आकाशमें प्रकाशित होनेवाले निर्मल तारापति चन्द्रमा, विश्वेदेव, नाग, पितर, सम्पूर्ण पर्वत, भयंकर समुद्र, सम्पूर्ण नदी-समुदाय, वन, मेघ, नाग, वृक्ष, यक्ष, दिशा, गन्धर्वगण, समस्त पुरुष और स्त्री—इनमेंसे प्रत्येकके पास पहुँचकर उसके भीतर प्रवेश कर सकता है ॥५८–६१॥

कथा च येयं नृपते प्रसक्ता
देवे महावीर्यमतौ शुभेयम्।
योगी स सर्वानभिभूय मर्त्यान्
नारायणात्मा कुरुते महात्मा॥ ६२॥

नरेश्वर ! महान् बल और बुद्धिसे सम्पन्न परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली, यह कल्याणमयी वार्ता मैंने प्रसंगवश तुम्हें सुनायी है। योगसिद्ध महात्मा पुरुष सब मनुष्योंसे ऊपर उठकर नारायणस्वरूप हो जाता है और संकल्पमात्रसे सृष्टि करने लगता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगविधौ त्रिशततमोऽध्यायः॥ ३००॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगविधिविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

नारदजीको भगवानके विश्वरूपका दर्शन

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सांख्ययोगके अनुसार साधन और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सम्यक् त्वयायं नृपते वर्णितः शिष्टसम्मतः ।
योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! आप मेरे हितैषी हैं, आपने मुझ शिष्यके प्रति शिष्ट पुरुषोंके मतके अनुसार इस योगमार्गका यथोचितरूपसे वर्णन किया ॥ १ ॥

सांख्ये त्विदानीं कार्त्स्न्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते ।
त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद् विदितं हि ते ॥ २ ॥

अब मैं सांख्यविषयक सम्पूर्ण विधि पूछ रहा हूँ । आप मुझे उसे बतानेकी कृपा करें; क्योंकि तीनों लोकोंमें जो ज्ञान है, वह सब आपको विदित है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम् ।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! आत्मतत्त्वके जाननेवाले सांख्यशास्त्रके विद्वानोंका यह सूक्ष्म ज्ञान तुम मुझसे सुनो । इसे ईश्वरकोटिके कपिल आदि सम्पूर्ण यतियोंने प्रकाशित किया है ॥

यस्मिन् न विभ्रमाः केचिद् दृश्यन्ते मनुजर्षभ ।
गुणाश्च यस्मिन् बहवो दोषहानिश्च केवला ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस मतमें किसी प्रकारकी भूल नहीं दिखायी देती । इसमें गुण तो बहुत-से हैं; किंतु दोषोंका सर्वथा अभाव है ॥ ४ ॥

ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान् विषयान् नृप ।
मानुषान् दुर्जयान् कृत्स्नान् पैशाचान् विषयांस्तथा ॥५॥
राक्षसान् विषयान् ज्ञात्वा यक्षाणां विषयांस्तथा ।
विषयानौरगान् ज्ञात्वा गान्धर्वविषयांस्तथा ॥ ६ ॥
पितॄणां विषयान् ज्ञात्वा तिर्यक्षु चरतां नृप ।
सुपर्णविषयान् ज्ञात्वा मरुतां विषयांस्तथा ॥ ७ ॥
राजर्षिविषयान् ज्ञात्वा ब्रह्मर्षिविषयांस्तथा ।
आसुरान् विषयान् ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च ॥ ८ ॥
देवर्षिविषयान् ज्ञात्वा योगानामपि चेश्वरान् ।
प्रजापतीनां विषयान् ब्रह्मणो विषयांस्तथा ॥ ९ ॥
आयुषश्च परं कालं लोके विज्ञाय तत्त्वतः ।
सुखस्य च परं तत्त्वं विज्ञाय वदतां वर ॥ १० ॥
प्राप्ते काले च यद् दुःखं सततं विषयैषिणाम् ।
तिर्यक्षु पततां दुःखं पततां नरके च यत् ॥ ११ ॥
स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत ।
वेदवादेऽपि ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥ १२ ॥
ज्ञानयोगे च ये दोषा गुणा योगे च ये नृप ।
सांख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव च गुणा नृप ॥ १३ ॥
सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा ।
तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणां तथा ॥ १४ ॥
षड्गुणं च मनो ज्ञात्वा नभः पञ्चगुणं तथा ।
बुद्धिं चतुर्गुणां ज्ञात्वा तमश्च त्रिगुणं तथा ॥ १५ ॥
द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्त्वमेकगुणं पुनः ।
मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन प्रलये प्रेक्षणे तथा ॥ १६ ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः ।
प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥ १७ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो ज्ञानके द्वारा मनुष्य, पिशाच, राक्षस, यक्ष, सर्प, गन्धर्व, पितर, तिर्यग्योनि, गरुड़, मरुद्गण, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, असुर, विश्वेदेव, देवर्षि, योगी, प्रजापति तथा ब्रह्माजीके भी सम्पूर्ण दुर्जय विषयोंको सदोष जानकर, संसारके मनुष्योंका परमायुकाल तथा सुखके परम तत्त्वका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और विषयोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको समय-समयपर जो दुःख प्राप्त होता है, उसको, तिर्यग्योनि और नरकमें पड़नेवाले जीवोंके दुःखको, स्वर्ग तथा वेदकी फल-श्रुतियोंके सम्पूर्ण गुण-दोषोंको जानकर ज्ञानयोग, सांख्यज्ञान और योगमार्गके गुण-दोषोंको भी समझ लेते हैं तथा भरतनन्दन ! सत्त्वगुणके दस[1], रजोगुणके नौ[2], तमोगुणके आठ[3], बुद्धिके सात[4], मनके छः[5] और आकाशके पाँच[6] गुणोंका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिके दूसरे चार[7], तमोगुणके दूसरे तीन[8], रजोगुणके दूसरे दो[9] और सत्त्वगुणके पुनः एक[10] गुणको जानकर आत्माकी प्राप्ति करानेवाले मार्ग—प्राकृत प्रलय तथा आत्मविचारको ठीक-ठीक जान लेते हैं, वे ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा मोक्षोपयोगी साधनोंके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त हुए

---

१. ज्ञानशक्ति, वैराग्य, स्वामिभाव, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्वच्छता, आत्माका बोध और अधिष्ठातृत्व—ये दस सात्त्विक गुण बताये गये हैं । २. असंतोष, पश्चात्ताप, शोक, लोभ, अक्षमा, दमन करनेकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध और ईर्ष्या—ये नौ राजस गुण बताये गये हैं । ३. अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा, अभिमान, विषाद और प्रीतिका अभाव—ये आठ तामस गुण हैं । ४. महत्, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा—ये सात गुण बुद्धिके हैं । ५. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंसहित छठा मन—ये मनके छः गुण हैं । ६. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये आकाशके पाँच गुण हैं । ७. संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये बुद्धिके चार गुण हैं । ८. अप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति और विपरीत प्रतिपत्ति—ये तीन गुण तमके हैं । ९. प्रवृत्ति तथा दुःख—ये दो गुण रजके हैं । १०. प्रकाश सत्त्वका एक प्रधान गुण है ।

कल्याणमय सांख्ययोगी परम आकाशको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म भूतोंके समान मङ्गलमय मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं ॥५–१७॥

रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च ।
शब्दे सक्तं तथा श्रोत्रं जिह्वा रसगुणेषु च ॥ १८ ॥

नेत्र रूप-गुणसे संयुक्त हैं । घ्राणेन्द्रिय गन्ध नामक गुणसे सम्बन्ध रखती है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमें आसक्त है और रसना रसगुणमें ॥ १८ ॥

तनुं स्पर्शे तथा सक्तां वायुं नभसि चाश्रितम् ।
मोहं तमसि संयुक्तं लोभमर्थेषु संश्रितम् ॥ १९ ॥

त्वचा स्पर्शनामक गुणमें आसक्त है । इसी प्रकार वायुका आश्रय आकाश, मोहका आश्रय तमोगुण और लोभका आश्रय इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १९ ॥

विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथानलम् ।
अप्सु देवीं समासक्तामपस्तेजसि संश्रिताः ॥ २० ॥
तेजो वायौ तु संसक्तं वायुं नभसि चाश्रितम् ।
नभो महति संयुक्तं महद् बुद्धौ च संश्रितम् ॥ २१ ॥

गतिका आधार विष्णु, बलका इन्द्र, उदरका अग्नि तथा पृथ्वीदेवीका आधार जल है । जलका तेज, तेजका वायु, वायुका आकाश, आकाशका आश्रय महत्तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है और अहंकारका अधिष्ठान समष्टि बुद्धि है ॥ २०-२१ ॥

बुद्धिं तमसि संसक्तां तमो रजसि संश्रितम् ।
रजः सत्त्वे तथा सक्तं सत्त्वं सक्तं तथाऽऽत्मनि ॥ २२ ॥
सक्तमात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा ।
देवं मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तं तु न क्वचित् ॥ २३ ॥

बुद्धिका आश्रय तमोगुण, तमोगुणका आश्रय रजोगुण और रजोगुणका आश्रय सत्त्वगुण है । सत्त्वगुण जीवात्माके आश्रित है । जीवात्माको भगवान् नारायणदेवके आश्रित समझो । भगवान् नारायणका आश्रय है मोक्ष (परब्रह्म), परंतु मोक्षका कोई भी आश्रय नहीं है (वह अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है) ॥ २२-२३ ॥

ज्ञात्वा सत्त्वगुणं देहं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
स्वभावं चेतनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रिते ॥ २४ ॥
मध्यस्थमेकमात्मानं पापं यस्मिन् न विद्यते ।
द्वितीयं कर्म विज्ञाय नृपते विषयैषिणाम् ॥ २५ ॥

इन बातोंको भलीभाँति जानकर तथा सत्त्वगुणको, मनसहित ग्यारह इन्द्रिय, पाँच प्राण—इन सोलह गुणोंसे घिरे हुए सूक्ष्म शरीरको, शरीरके आश्रित रहनेवाले स्वभाव और चेतनाको जाने । नरेश्वर ! जिसमें पापका लेश भी नहीं है, वह एकमात्र जीवात्मा शरीरके भीतर हृदयरूपी गुफामें उदासीनभावसे विद्यमान है, इस बातको जाने । विषयकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंका जो कर्म है, वह शरीरके भीतर आत्माके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व है । यह भी अच्छी तरह जान ले ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान् ।
दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥

इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय—ये सबके सब शरीरके भीतर स्थित हैं । मोक्ष परम दुर्लभ वस्तु है । इन सब बातोंको वेदोंके स्वाध्यायपूर्वक भलीभाँति समझ ले ॥ २६ ॥

प्राणापानौ समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ।
अधश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः ॥ २७ ॥
सप्त वातांस्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान् पुनः ।
प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गांश्चैव बहून् वरान् ॥ २८ ॥

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच प्राणवायु हैं । अधोगामी वायु छठा और ऊर्ध्वगामी प्रवह नामक वायु सातवाँ है । ये वायुके जो सात भेद हैं, इनमेंसे प्रत्येकके सात-सात भेद और हो जाते हैं । इस प्रकार कुल उन्चास वायु होते हैं । अनेक प्रजापति, अनेक ऋषि तथा मुक्तिके अनेकानेक उत्तम मार्ग हैं । इन सबकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

सप्तर्षींश्च बहून् ज्ञात्वा राजर्षींश्च परंतप ।
सुरर्षीन् महतश्चान्यान् ब्रह्मर्षीन् सूर्यसंनिभान् ॥ २९ ॥

परंतप ! सप्तर्षियों, बहुसंख्यक राजर्षियों, देवर्षियों, अन्यान्य महापुरुषों तथा सूर्यके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे ॥ २९ ॥

ऐश्वर्याच्च्यावितान् दृष्ट्वा कालेन महता नृप ।
महतां भूतसंघानां श्रुत्वा नाशं च पार्थिव ॥ ३० ॥
गतिं चाप्यशुभां ज्ञात्वा नृपते पापकर्मिणाम् ।
वैतरण्यां च यद् दुःखं पतितानां यमक्षये ॥ ३१ ॥

पृथ्वीनाथ ! महान् कालकी प्रेरणासे मनुष्य ऐश्वर्यसे भ्रष्ट कर दिये जाते हैं । बड़े-बड़े जो भूत-समुदाय हैं, उनका भी कालके द्वारा नाश हो जाता है । यह सब देख-सुनकर पापकर्मी मनुष्योंको जो अशुभ गति प्राप्त होती है तथा यमलोकमें जाकर वैतरणी नदीमें गिरे हुए प्राणियोंको जो दुःख होता है, उसको भी जाने ॥ ३०-३१ ॥

योनीषु च विचित्रासु संसारानशुभांस्तथा ।
जठरे चाशुभे वासं शोणितोदकभाजने ॥ ३२ ॥
श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते ।
शुक्रशोणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे ॥ ३३ ॥
शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽशुचौ ।
विज्ञाय हितमात्मानं योगांश्च विविधान् नृप ॥ ३४ ॥

प्राणियोंको विचित्र-विचित्र योनियोंमें अशुभ जन्म धारण करने पड़ते हैं । रक्त और मूत्रके पात्ररूप अपवित्र गर्भाशयमें निवास करना पड़ता है, जहाँ कफ, मूत्र और मल भरा होता है तथा तीव्र दुर्गन्ध व्याप्त रहती है, जो रज और वीर्यका समुदायमात्र है, मज्जा एवं स्नायुका संग्रह है, सैकड़ों नस-नाड़ियोंसे व्याप्त है तथा जिसमें नौ द्वार

हैं; उस अपवित्र पुर अर्थात् शरीरमें जीवको रहना पड़ता है। नरेश्वर! इन सब बातोंको जानकर अपने परम हितस्वरूप आत्माको और उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंद्वारा बताये हुए नाना प्रकारके योगों (साधनों) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ ३२–३४ ॥

तामसानां च जन्तूनां रमणीयावृतात्मनाम्।
सात्त्विकानां च जन्तूनां कुत्सितं भरतर्षभ ॥ ३५ ॥
गर्हितं महतामर्थे सांख्यानां विदितात्मनाम्।

भरतश्रेष्ठ! तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन प्रकारके प्राणियोंके जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंद्वारा निन्दित—मोक्षविरोधी व्यवहार हैं, उनको भी जानना चाहिये ॥

उपप्लवांस्तथा घोराञ्शशिनस्तेजसस्तथा ॥ ३६ ॥
ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम्।
द्वन्द्वानां विप्रयोगं च विज्ञाय कृपणं नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! घोर उत्पात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ताराओंका टूटकर गिरना, नक्षत्रोंकी गतिमें उलट-फेर होना तथा पति-पत्नियोंका दुःखदायक वियोग होना आदि बातें, जो इस जगत्‌में घटित होती हैं, उनको भी जानकर अपने कल्याणका उपाय करना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम्।
बाल्ये मोहं च विज्ञाय क्षयं देहस्य चाशुभम् ॥ ३८ ॥
रागे मोहे च सम्प्राप्ते क्वचित् सत्त्वं समाश्रितम्।
सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः ॥ ३९ ॥

संसारके प्राणी एक-दूसरेको खा जाते हैं, यह कैसी अशुभ घटना है। इसपर दृष्टिपात करो। बाल्यावस्थामें मनपर मोह छाया रहता है और वृद्धावस्थामें शरीरका अमङ्गलकारी विनाश उपस्थित होता है। राग और मोह प्राप्त होनेपर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इन सबको जानकर कहीं किसी-किसीको ही सत्त्वगुणसे युक्त देखा जाता है। सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई बिरला ही मोक्षविषयक बुद्धिका आश्रय लेता है ॥ ३८–३९ ॥

दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम्।
बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः ॥ ४० ॥

वेद-वाक्योंके श्रवणद्वारा मुक्तिकी दुर्लभताको जानकर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर भी उस परिस्थितिके प्रति अधिक आदर-बुद्धि रखे और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, तो भी उसकी ओरसे उदासीन ही रहे ॥ ४० ॥

विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय नृपते पुनः।
गतासूनां च कौन्तेय देहान् दृष्ट्वा तथाशुभान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर! शब्द-स्पर्श आदि विषय दुःखरूप ही हैं, इस बातको जाने। कुन्तीनन्दन! जिनके प्राण चले जाते हैं, उन मनुष्योंके शरीरोंकी जो अशुभ एवं बीभत्स दशा होती है, उसपर भी दृष्टिपात करे ॥ ४१ ॥

वासं कुलेषु जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भारत।
ब्रह्मघ्नानां गतिं ज्ञात्वा पतितानां सुदारुणाम् ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका घरोंमें निवास करना भी दुःखरूप ही है, इस बातको अच्छी तरह समझे तथा ब्रह्मघाती और पतित मनुष्योंकी जो अत्यन्त भयंकर दुर्गति होती है, उसको भी जाने ॥ ४२ ॥

सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम्।
गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ॥ ४३ ॥

मदिरापानमें आसक्त दुरात्मा ब्राह्मणोंकी तथा गुरु-पत्नीगामी मनुष्योंकी जो अशुभ गति होती है, उसका भी विचार करे ॥ ४३ ॥

जननीषु च वर्तन्ते ये न सम्यग् युधिष्ठिर।
सदेवकेषु लोकेषु ये न वर्तन्ति मानवाः ॥ ४४ ॥
तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम्।
तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय गतयः पृथक् ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य माताओं, देवताओं तथा सम्पूर्ण लोकोंके प्रति उत्तम बर्ताव नहीं करते हैं, उनकी दुर्गतिका ज्ञान जिससे होता है, उसी ज्ञानसे पापाचारी पुरुषोंकी अधोगतिका ज्ञान प्राप्त करे तथा तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी जो विभिन्न गतियाँ होती हैं, उनको भी जान ले ॥ ४४-४५ ॥

वेदवादांस्तथा चित्रानृतूनां पर्ययांस्तथा।
क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा ॥ ४६ ॥
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम्।
क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ॥ ४७ ॥
वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयं तेषां तथा पुनः।
क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ॥ ४८ ॥

वेदोंके भाँति-भाँतिके विचित्र वचन, ऋतुओंके परिवर्तन तथा दिन, पक्ष, मास और संवत्सर आदि काल जो प्रतिक्षण बीत रहा है, उसकी ओर भी ध्यान दे। चन्द्रमाकी ह्रास-वृद्धि तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है। समुद्रोंका ज्वारभाटा भी प्रत्यक्ष ही है। धनवानोंके धनका नाश और नाशके बाद पुनः वृद्धिका क्रम भी दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इन सबको देखकर अपने कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ४६–४८ ॥

संयोगानां क्षयं दृष्ट्वा युगानां च विशेषतः।
क्षयं च दृष्ट्वा शैलानां क्षयं च सरितां तथा ॥ ४९ ॥
वर्णानां च क्षयं दृष्ट्वा क्षयान्तं च पुनः पुनः।
जरामृत्युं तथा जन्म दृष्ट्वा दुःखानि चैव ह ॥ ५० ॥

संयोगोंका, युगोंका, पर्वतोंका और सरिताओंका जो क्षय होता है, उसपर दृष्टि डाले। वर्णोंका क्षय और क्षयका अन्त भी बारंबार देखे। जन्म, मृत्यु और जरावस्थाके दुःखोंपर दृष्टिपात करे ॥ ४९-५० ॥

देहदोषांस्तथा ज्ञात्वा तेषां दुःखं च तत्त्वतः।
देहविक्लवतां चैव सम्यग् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

देहके दोषोंको जानकर उनसे मिलनेवाले दुःखका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। शरीरकी व्याकुलताको भी ठीक-ठीक जाननेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संश्रितान्।
स्वदेहादुत्थितान् गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभान्॥ ५२॥

अपने शरीरमें स्थित जो अपने ही दोष हैं, उन सबको जानकर शरीरसे जो निरन्तर दुर्गन्ध उठती रहती है, उसकी ओर भी ध्यान दे (तथा विरक्त होकर परमात्माका चिन्तन करते हुए भवबन्धनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करे) ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कान् स्वगात्रोद्भवान् दोषान् पश्यस्यमितविक्रम।
एतन्मे संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः॥ ५३॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी पितामह ! आपके देखनेमें कौन-कौन-से दोष ऐसे हैं, जो अपने ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं ? आप मेरे इस सम्पूर्ण संदेहका यथार्थ-रूपसे समाधान करनेकी कृपा करें ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

पञ्च दोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन॥ ५४॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! शत्रुसूदन ! कपिल-सांख्य-मतके अनुसार चलनेवाले उत्तम मार्गोंके ज्ञाता मनीषी पुरुष इस देहके भीतर पाँच दोष बतलाते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम्॥ ५५॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास–ये पाँच दोष समस्त देहधारियोंके शरीरोंमें देखे जाते हैं ॥ ५५ ॥

छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद् भयं तथा॥ ५६॥
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप॥ ५७॥

सत्पुरुष क्षमासे क्रोधका, संकल्पके त्यागसे कामका, सत्त्वगुणके सेवनसे निद्राका, प्रमादके त्यागसे भयका तथा अल्पाहारके सेवनद्वारा पाँचवें श्वास-दोषका नाश करते हैं ॥

गुणान् गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान् दोषशतैरपि।
हेतून् हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान् विज्ञाय तत्त्वतः॥ ५८॥
अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम्।
चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम्॥ ५९॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम्॥ ६०॥
रजस्तमसि सम्मग्नं पङ्के द्विपमिवावशम्।
सांख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम्॥ ६१॥
ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप।
राजसानशुभान् गन्धांस्तामसांश्च तथाविधान्॥ ६२॥
पुण्यांश्च सात्त्विकान् गन्धान् स्पर्शजान् देहसंश्रितान्।
छित्त्वाऽऽशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत॥ ६३॥

राजन् ! भरतनन्दन ! महाबुद्धिमान् सांख्यके विद्वान् सैकड़ों गुणोंके द्वारा गुणोंको, सैकड़ों दोषोंके द्वारा दोषोंको तथा सैकड़ों विचित्र हेतुओंसे विचित्र हेतुओंको तत्त्वतः जानकर व्यापक ज्ञानके प्रभावसे संसारको पानीके फेनके समान नश्वर, विष्णुकी सैकड़ों मायाओंसे ढका हुआ, दीवारपर बने हुए चित्रके समान, नरकुलके समान सारहीन, अन्धकारसे भरे हुए गड्ढेकी भाँति भयंकर, वर्षाकालके पानीके बुलबुलोंके समान क्षणभङ्गुर, सुखहीन, पराधीन, नष्टप्राय तथा कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह रजोगुण और तमोगुणमें मग्न समझते हैं। इसलिये वे संतान आदिकी आसक्तिको दूर करके तपरूप दण्डसे युक्त विवेकरूपी शस्त्रसे राजस-तामस अशुभ गन्धोंको और सुन्दर शोभनीय सात्त्विक गन्धोंको तथा स्पर्शेन्द्रियके देहाश्रित भोगोंकी आसक्तिको शीघ्र ही काट डालते हैं ॥ ५८–६३ ॥

ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम्।
व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम्॥ ६४॥
तमःकूर्मं रजोमीनं प्रज्ञया संतरन्त्युत।
स्नेहपङ्कं जरादुर्गं ज्ञानद्वीपमरिंदम॥ ६५॥
कर्मागाधं सत्यतीरं स्थितव्रतमरिंदम।
हिंसाशीघ्रमहावेगं नानारससमाकरम्॥ ६६॥
नानाप्रीतिमहारत्नं दुःखज्वरसमीरणम्।
शोकतृष्णामहावर्तं तीक्ष्णव्याधिमहागजम्॥ ६७॥
अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मफेनमरिंदम।
दानमुक्ताकरं घोरं शोणितह्रदविद्रुमम्॥ ६८॥
हसितोत्क्रुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुस्तरम्।
रोदनाश्रुमलक्षारं संगत्यागपरायणम्॥ ६९॥
पुत्रदारजलौकौघं मित्रबान्धवपत्तनम्।
अहिंसासत्यमर्यादं प्राणत्यागमहोर्मिणम्॥ ७०॥
वेदान्तगमनद्वीपं सर्वभूतदयोदधिम्।
मोक्षदुर्लभविषयं वडवामुखसागरम्॥ ७१॥
तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत।
तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः॥ ७२॥

शत्रुसूदन ! तदनन्तर वे सिद्ध यति प्रज्ञारूपी नौकाके द्वारा उस संसाररूपी घोर सागरको तर जाते हैं, जिसमें दुःखरूपी जल भरा है। चिन्ता और शोकके बड़े-बड़े कुण्ड हैं। नाना प्रकारके रोग और मृत्यु विशाल ग्राहोंके समान हैं। महान् भय ही महानागोंके समान हैं। तमोगुण कछुए और रजोगुण मछलियाँ हैं। स्नेह ही कीचड़ है। बुढ़ापा ही उससे पार होनेमें कठिनाई है। ज्ञान ही उसका द्वीप है। नाना प्रकारके कर्मोंद्वारा वह अगाध बना हुआ है।

सत्य ही उसका तीर है। नियम-व्रत आदि स्थिरता है। हिंसा ही उसका शीघ्रगामी महान् वेग है। वह नाना प्रकारके रसोंका भण्डार है। अनेक प्रकारकी प्रीतियाँ ही उस भवसागरके महारत्न हैं। दुःख और संताप ही वहाँकी वायु है। शोक और तृष्णाकी बड़ी-बड़ी भँवरें उठती रहती हैं। तीव्र व्याधियाँ उसके भीतर रहनेवाले महान् जलहस्ती हैं। हड्डियाँ ही उसके घाट हैं। कफ फेन हैं। दान मोतियोंकी राशि हैं। रक्त उसके कुण्डमें रहनेवाले मूँगा हैं। हँसना और चिल्लाना ही उस सागरकी गम्भीर गर्जना है। अनेक प्रकारके अज्ञान ही इसे अत्यन्त दुस्तर बनाये हुए हैं। रोदनजनित आँसू ही उसमें मलिन खारे जलके समान हैं। आसक्तियोंका त्याग ही उसमें परम आश्रय या दूसरा तट है। स्त्री-पुत्र जोंकके समान हैं। मित्र और बन्धु-बान्धव तटवर्ती नगर हैं। अहिंसा और सत्य उसकी सीमा हैं। प्राणोंका परित्याग ही उसकी उत्ताल तरङ्गें हैं। वेदान्तज्ञान द्वीप है। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव इसकी जलराशि हैं। मोक्ष उसमें दुर्लभ विषय है और नाना प्रकारके संताप उस संसारसागरके बड़वानल हैं। भरतनन्दन! उससे पार होकर वे आकाशस्वरूप निर्मल परब्रह्ममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ६४--७२ ॥

तत्र तान् सुकृतीन् सांख्यान् सूर्यो वहति रश्मिभिः।
पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन् विषयान् नृप ॥ ७३ ॥

राजन्! उन पुण्यात्मा सांख्ययोगी सिद्ध पुरुषोंको अपनी रश्मियोंद्वारा उनमें प्रविष्ट हुआ सूर्य अर्चिमार्गसे उस ब्रह्मलोकमें ले जानेके लिये ऊपरके लोकोंमें उसी प्रकार वहन करता है, जैसे कमलकी नाल सरोवरके जलको खींच लेती है॥

तत्र तान् प्रवहो वायुः प्रतिगृह्णाति भारत।
वीतरागान् यतीन् सिद्धान् वीर्ययुक्तांस्तपोधनान्॥७४॥

वहाँ प्रवहनामक वायु-अभिमानी देवता उन वीतराग शक्तिसम्पन्न सिद्ध तपोधन महापुरुषोंको सूर्य-अभिमानी देवतासे अपने अधिकारमें ले लेता है ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मः शीतः सुगन्धी च सुखस्पर्शश्च भारत।
सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान् गच्छति यः शुभान्।
स तान् वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम् ॥ ७५ ॥

भरतनन्दन! कुन्तीकुमार! सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्श एवं सातों वायुओंमें श्रेष्ठ जो वायुदेव शुभ लोकोंमें जाते हैं, वे फिर उन कल्याणमय सांख्ययोगियोंको आकाशकी ऊँची स्थितिमें पहुँचा देते हैं ॥ ७५ ॥

नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम्।
रजो वहति राजेन्द्र सत्त्वस्य परमां गतिम् ॥ ७६ ॥
सत्त्वं वहति शुद्धात्मन् परं नारायणं प्रभुम्।
प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना ॥ ७७ ॥
परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः।
अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो ॥ ७८ ॥

लोकेश्वर! आकाशाभिमानी देवता उन योगियोंको रजोगुणकी परमागतितक वहन करता है। अर्थात् तेजोमय विद्युत्-अभिमानी देवताओंके पास पहुँचा देता है। राजेन्द्र! वह रजोगुण अर्थात् विद्युदभिमानी देवता उनको सत्यकी परमगतितक अर्थात् जहाँ श्रीनारायणके पार्षदगण उनको लेनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं, वहाँतक वहन करता है। शुद्धात्मन्! वहाँसे सत्त्वगुणयुक्त वे भगवान्‌के पार्षद उनको परम प्रभु श्रीनारायणके पास पहुँचा देते हैं। समर्थ राजन्! भगवान् नारायण स्वयं उनको विशुद्ध आत्मा परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट कर देते हैं। परमात्माको पाकर तद्रूप हुए वे निर्मल योगीजन अमृतभावसम्पन्न हो जाते हैं, फिर नहीं लौटते॥

परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्।
सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम् ॥ ७९ ॥

कुन्तीकुमार! जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं, उन महात्माओंको वही परमगति मिलती है ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्थानमुत्तममासाद्य भगवन्तं स्थिरव्रताः।
आजन्ममरणं वा ते स्मरन्त्युत न वानघ ॥ ८० ॥
यदत्र तथ्यं तन्मे त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि।
त्वदृते पुरुषं नान्यं प्रष्टुमर्हामि कौरव ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप पितामह! स्थिरतापूर्वक श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले वे सांख्ययोगी महात्मा भगवान् नारायणको एवं उत्तम परमात्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेनेपर अपने जन्मसे लेकर मृत्युतकके बीते हुए वृत्तान्तको फिर कभी याद करते हैं या नहीं? (मोक्षावस्थामें विशेष-विशेष बातोंका ज्ञान रहता है या नहीं? यही मेरा प्रश्न है।) इस विषयमें जो तथ्य बात है, उसे आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें। कुरुनन्दन! आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषसे मैं ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ ८०-८१ ॥

मोक्षे दोषो महानेष प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन्।
यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे ॥ ८२ ॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप।
मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं नु दुःखतरं भवेत् ॥ ८३ ॥

सिद्धावस्थाको प्राप्त ऋषियोंके लिये मोक्षमें यह एक बड़ा दोष प्रतीत होता है। वह यह कि यदि मोक्ष प्राप्त होनेपर भी वे यतिलोग विशेष ज्ञानमें ही विचरण करते हैं अर्थात् उनको पहलेकी स्मृति रहती है, तब तो मैं प्रवृत्तिरूप धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। यदि कहें, मुक्तावस्थामें विशेष विज्ञानका अनुभव नहीं होता तब तो उस परम ज्ञानमें डूब जानेपर

विशेष जानकारीका अभाव हो जाता है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ८२-८३ ॥

भीष्म उवाच

यथान्यायं त्वया तात प्रश्नः पृष्टः सुसंकटः।
बुधानामपि सम्मोहः प्रश्नेऽस्मिन् भरतर्षभ ॥ ८४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुमने यथोचित रीतिसे यह बहुत ही जटिल प्रश्न उपस्थित किया। इस प्रश्न-पर विचार करते समय बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम्।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥ ८५ ॥

इस विषयमें भी जो परम तत्त्व है, उसे मैं भलीभाँति बता रहा हूँ, सुनो। यहाँ कपिलजीके द्वारा प्रतिपादित सांख्य-मतका अनुसरण करनेवाले महात्मा पुरुषोंका जो उत्तम विचार है, वही प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८५ ॥

इन्द्रियाण्येव बुध्यन्ते स्वदेहे देहिनां नृप।
कारणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः ॥ ८६ ॥

नरेश्वर ! देहधारियोंके अपने-अपने शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, वे ही विशेष-विशेष विषयोंको देखती या अनुभव करती हैं; वे ही आत्माको विभिन्न ज्ञान करानेमें कारण हैं; क्योंकि वह सूक्ष्म आत्मा उन इन्द्रियोंद्वारा ही बाह्य विषयोंका दर्शन या प्रकाशन करता है (मुक्तावस्थामें मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध न रहनेके कारण ही उसमें इन्द्रियजनित विशेष ज्ञानका अभाव देखा जाता है) ॥ ८६ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्यसमानि तु।
विनश्यन्ति न संदेहः फेना इव महार्णवे ॥ ८७ ॥

जैसे महासागरमें उठे हुए फेन नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर मनुष्यकी काठ और दीवारकी भाँति जड इन्द्रियाँ प्रकृतिमें विलीन हो जाती हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियैः सह सुप्तस्य देहिनः शत्रुतापन।
सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ॥ ८८ ॥

शत्रुओंको ताप देनेवाले नरेश ! जब शरीरधारी प्राणी इन्द्रियोंसहित निद्रित हो जाता है, तब उसका सूक्ष्मशरीर आकाशमें वायुके समान सर्वत्र विचरण करने लगता है अर्थात् स्वप्न देखने लगता है ॥ ८८ ॥

स पश्यति यथान्यायं स्पर्शान् स्पृशति वा विभो।
बुध्यमानो यथापूर्वमखिलेनेह भारत ॥ ८९ ॥

प्रभो ! भरतनन्दन ! वह जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति स्वप्न-में भी यथोचित रीतिसे दृश्य वस्तुओंको देखता है तथा स्पृश्य पदार्थोंका स्पर्श करता है। सारांश यह कि सम्पूर्ण विषयोंका वह जाग्रत्के समान ही अनुभव करता है ॥ ८९ ॥

इन्द्रियाणीह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि।
अनीशत्वात् प्रलीयन्ते सर्पा हतविषा इव ॥ ९० ॥

फिर सुषुप्ति-अवस्था होनेपर विषय-ज्ञानमें असमर्थ हुई सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें उसी प्रकार विधिवत् लीन हो जाती हैं, जैसे विषहीन सर्प (भयसे) छिपे रहते हैं ॥ ९० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः।
आक्रम्य गतयः सूक्ष्माश्चरत्यात्मा न संशयः ॥ ९१ ॥

स्वप्नावस्थामें अपने-अपने स्थानोंमें स्थित हुई सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी समस्त गतियोंको आक्रान्त करके जीवात्मा सूक्ष्म विषयोंमें विचरण करता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९१ ॥

सत्त्वस्य च गुणान् कृत्स्नान् रजसश्च गुणान् पुनः।
गुणांश्च तमसः सर्वान् गुणान् बुद्धेश्च भारत ॥ ९२ ॥
गुणांश्च मनसश्चापि नभसश्च गुणांश्च सः।
गुणान् वायोश्च धर्मात्मंस्तेजसश्च गुणान् पुनः ॥ ९३ ॥
अपां गुणांस्तथा पार्थ पार्थिवांश्च गुणानपि।
सर्वाण्येव गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु युधिष्ठिर ॥ ९४ ॥
मनोऽनु याति क्षेत्रज्ञं कर्मणी च शुभाशुभे।
शिष्या इव महात्मानमिन्द्रियाणि च तं प्रभो ॥ ९५ ॥
प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम्।
परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ! परब्रह्म परमात्मा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको एवं बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन सबके सम्पूर्ण गुणोंको तथा अन्य सब वस्तुओंको भी अपने गुणोंद्वारा व्याप्त करके सभी क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) में स्थित हैं, प्रभो ! जैसे शिष्य अपने गुरुके पीछे चलते हैं, उसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ और शुभा-शुभ कर्म भी उस जीवात्माके पीछे-पीछे चलते हैं। जब जीवात्मा इन्द्रियों और प्रकृतिको भी लाँघकर जाता है, तब उस नारायण-स्वरूप अविनाशी परमात्माको प्राप्त हो जाता है, जो द्वन्द्वरहित और मायासे अतीत है ॥ ९२–९६ ॥

विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम्।
परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥

भारत ! पुण्य-पापसे रहित हुआ सांख्ययोगी मुक्त होकर जब उन्हीं निर्गुण-निर्विकार नारायणस्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह इस संसारमें नहीं लौटता है ॥ ९७ ॥

शिष्टं तत्र मनस्तात इन्द्रियाणि च भारत।
आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः ॥ ९८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका आत्मा तो परमात्मामें मिल जाता है, परंतु प्रारब्धवश जबतक शरीर रहता है, तबतक उसके मन और इन्द्रियाँ शेष रहते हैं और गुरुके आदेश पालन करनेवाले शिष्योंके समान यथा-समय यहाँ गमनागमन करते हैं ॥ ९८ ॥

शक्यं चाल्पेन कालेन शान्तिं प्राप्तुं गुणार्थिना।
एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा ॥ ९९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार बताये हुए ज्ञानसे सम्पन्न मोक्षाधिकारी तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष थोड़े ही समयमें परम शान्ति प्राप्त कर सकता है ॥

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥१००॥

राजन् ! कुन्तीकुमार ! महाज्ञानी सांख्ययोगी ऊपर बताए हुए इसी परमगतिको प्राप्त होते हैं। इस ज्ञानके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥१०१॥

सांख्यज्ञान सबसे उत्कृष्ट माना गया है। इस विषयमें तुम्हें तनिक भी संशय नहीं होना चाहिये। इसमें अक्षर, ध्रुव एवं पूर्ण सनातन ब्रह्मका ही प्रतिपादन हुआ है ॥१०१॥

अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद् वदन्ति मनीषिणः ॥१०२॥

वह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्तसे रहित, निर्द्वन्द्व, जगत्‌की उत्पत्तिका हेतुभूत, शाश्वत, कूटस्थ और नित्य है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ १०२ ॥

यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यच्च शंसन्ति शास्त्रेषु वदन्ति परमर्षयः ॥१०३॥

संसारकी सृष्टि और प्रलयरूप सारे विकार उसीसे सम्भव होते । महर्षि अपने शास्त्रोंमें उसीकी प्रशंसा करते हैं ॥१०३॥

सर्वे विप्राश्च देवाश्च तथा शमविदो जनाः।
ब्रह्मण्यं परमं देवमनन्तं परमच्युतम् ॥१०४॥
प्रार्थयन्तश्च तं विप्रा वदन्ति गुणबुद्धयः।
सम्यग्युक्तास्तथा योगाः सांख्याश्चामितदर्शनाः।१०५।

समस्त ब्राह्मण, देवता और शान्तिका अनुभव करनेवाले लोग उसी अनन्त, अच्युत, ब्राह्मणहितैषी तथा परमदेव परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना करते हैं। उनके गुणोंका चिन्तन करते हुए उनकी महिमाका गान करते हैं। योगमें उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए योगी तथा अपार ज्ञानवाले सांख्यवेत्ता पुरुष भी उसीके गुण गाते हैं ॥ १०४-१०५ ॥

अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः।
अभिज्ञानानि तस्याहुर्मतं हि भरतर्षभ ॥१०६॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसी प्रसिद्धि है कि यह सांख्यशास्त्र ही उस निराकार परमात्माका आकार है। भरतश्रेष्ठ ! जितने ज्ञान हैं, वे सब सांख्यकी ही मान्यताका प्रतिपादन करते हैं ॥

द्विविधानीह भूतानि पृथिव्यां पृथिवीपते।
जङ्गमागमसंज्ञानि जङ्गमं तु विशिष्यते ॥१०७॥

पृथ्वीनाथ ! इस भूतलपर स्थावर और जङ्गम—दो प्रकारके प्राणी उपलब्ध होते हैं। उनमें भी जङ्गम ही श्रेष्ठ है॥१०७॥

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥१०८॥

राजन् ! नरेश्वर ! महात्मा पुरुषोंमें, वेदोंमें, सांख्यों (दर्शनों) में, योगशास्त्रमें तथा पुराणोंमें जो नाना प्रकारका उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्यसे ही आया हुआ है ॥ १०८ ॥

यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं
यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥१०९॥

नरेश ! महात्मन् ! बड़े-बड़े इतिहासोंमें, सत्पुरुषोंद्वारा सेवित अर्थशास्त्रमें तथा इस संसारमें जो कुछ भी महान् ज्ञान देखा गया है, वह सब सांख्यसे ही प्राप्त हुआ है ॥ १०९ ॥

शमश्च दृष्टः परमं बलं च
ज्ञानं च सूक्ष्मं च यथावदुक्तम्।
तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव
सांख्ये यथावद् विहितानि राजन् ॥११०॥

राजन् ! प्रत्यक्ष प्राप्त मन और इन्द्रियोंका संयम, उत्तम बल, सूक्ष्मज्ञान तथा परिणाममें सुख देनेवाले जो सूक्ष्म तप बतलाये गये हैं, उन सबका सांख्यशास्त्रमें यथावत् वर्णन किया गया है ॥ ११० ॥

विपर्यये तस्य हि पार्थ देवान्
गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन।
तांश्चानुसंचार्य ततः कृतार्थाः
पतन्ति विप्रेषु यतेषु भूयः ॥१११॥

कुन्तीकुमार ! यदि साधनमें कुछ त्रुटि रह जानेके कारण सांख्यका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो तो भी सांख्ययोगके साधक देवलोकमें अवश्य जाते हैं और वहाँ निरन्तर सुखसे रहते हुए देवताओंका आधिपत्य पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। तदनन्तर पुण्यक्षयके पश्चात् वे इस लोकमें आकर पुनः साधनके लिये यत्नशील ब्राह्मणोंके यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं॥

हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं
दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हे
सांख्ये द्विजाः पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥११२॥

पार्थ ! सांख्यज्ञानी शरीर-त्यागके पश्चात् परमदेव परमात्मामें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे देवता स्वर्गमें। पृथ्वीनाथ ! अतः शिष्ट पुरुषोंद्वारा सेवित परम पूजनीय सांख्यशास्त्रमें वे सभी द्विज अधिक अनुरक्त रहते हैं ॥ ११२॥

तेषां न तिर्यग्गमनं हि दृष्टं
नार्वाग्गतिः पापकृताधिवासः।
न वा प्रधाना अपि ते द्विजातयो
ये ज्ञानमेतन्नृपतेऽनुरक्ताः ॥११३॥

राजन् ! जो इस सांख्य-ज्ञानमें अनुरक्त हैं, वे ही ब्राह्मण प्रधान हैं, अतः उन्हें मृत्युके पश्चात् कभी पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जाना पड़ा हो, ऐसा नहीं देखा गया है। वे कभी नरकादि अधोगतिको भी नहीं प्राप्त होते हैं तथा उन्हें पापाचारियोंके बीचमें भी नहीं रहना पड़ता है ॥ ११३ ॥

सांख्यं विशालं परमं पुराणं
महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा
नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥११४॥

सांख्यका ज्ञान अत्यन्त विशाल और परम प्राचीन है। यह महासागरके समान अगाध, निर्मल, उदार भावोंसे परिपूर्ण और अतिसुन्दर है । नरनाथ ! परमात्मा भगवान् नारायण इस सम्पूर्ण अप्रमेय सांख्य-ज्ञानको पूर्णरूपसे धारण करते हैं ॥ ११४ ॥

एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं
नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ।
स सर्गकाले च करोति सर्गं
संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥११५॥
संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं
कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा ॥११६॥

नरदेव ! यह मैंने तुमसे सांख्यका तत्त्व बतलाया है। इस पुरातन विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् नारायण ही सर्वत्र विराजमान हैं। वे ही सृष्टिके समय जगत्‌की सृष्टि और संहारकालमें उसको अपनेमें विलीन कर लेते हैं। इस प्रकार जगत्‌को अपने शरीरके भीतर ही स्थापित करके वे जगत्‌के अन्तरात्मा भगवान् नारायण एकार्णवके जलमें शयन करते हैं ॥ ११५-११६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सांख्यकथने एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सांख्यतत्त्वका वर्णनविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वसिष्ठ और करालजनकका संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्वका निरूपण और इनके ज्ञानसे मुक्ति

युधिष्ठिर उवाच

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः ।
किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! वह अक्षर तत्त्व क्या है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता तथा वह क्षर पदार्थ क्या है, जिसको जानने या पा लेनेपर भी पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है ? ॥ १ ॥

अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन ।
उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वेन कुरुनन्दन ॥ २ ॥

शत्रुसूदन ! महाबाहु ! कुरुनन्दन ! क्षर और अक्षरके स्वरूपको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये ही मैंने आपसे यह प्रश्न किया है ॥ २ ॥

त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ३ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण, महाभाग महर्षि तथा महात्मा यति भी आपको ज्ञाननिधि कहते हैं ॥ ३ ॥

शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे ।
आवृत्ते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम् ॥ ४ ॥

अब सूर्यके दक्षिणायनमें रहनेके थोड़े ही दिन शेष हैं । भगवान् सूर्यके उत्तरायणमें पदार्पण करते ही आप परमधामको पधारेंगे ॥ ४ ॥

त्वयि प्रतिगते श्रेयः कुतः श्रोष्यामहे वयम् ।
कुरुवंशप्रदीपस्त्वं ज्ञानदीपेन दीप्यसे ॥ ५ ॥

आपके चले जानेपर हमलोग अपने कल्याणकी बातें किससे सुनेंगे ? आप कुरुवंशको प्रकाशित करनेवाले प्रदीप हैं और ज्ञानदीपसे उद्भासित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह ।
न तृप्यामीह राजेन्द्र शृण्वन्नमृतमीदृशम् ॥ ६ ॥

अतः कुरुकुलधुरन्धर ! राजेन्द्र ! मैं आपहीके मुँहसे यह सब सुनना चाहता हूँ। आपके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती है (अतएव आप मुझे यह क्षर-अक्षरका विषय बताइये ।)॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें कराल नामक जनक और वसिष्ठका जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बतलाऊँगा ॥ ७ ॥

वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम् ।
पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥ ८ ॥

एक समयकी बात है, ऋषियोंमें सूर्यके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ अपने आश्रमपर विराजमान थे । वहाँ राजा जनकने पहुँचकर उनसे परम कल्याणकारी ज्ञानके विषयमें पूछा ॥ ८ ॥

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम् ।
मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥
स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम् ।
पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥ १० ॥

महर्षि वशिष्ठका राजा करालजनकको उपदेश

मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी अध्यात्मविषयक प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे और उन्हें अध्यात्मज्ञानका निश्चय हो गया था। वे एक आसनपर विराजमान थे। पूर्वकालमें कराल नामक राजा जनकने उन मुनिवरके पास जा हाथ जोड़कर प्रणाम किया और सुन्दर अक्षरोंसे युक्त विनयपूर्ण तथा कुतर्करहित मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछा—॥ ९-१० ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम्।
यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥

'भगवन्! जहाँसे मनीषी पुरुष पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आते हैं, उस सनातन परब्रह्मके स्वरूपका मैं वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

यच्च तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत्।
यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥ १२ ॥

'तथा जिसे क्षर कहा गया है, उसे भी जानना चाहता हूँ। जिसमें इस जगत्का क्षरण (लय) होता है और जिसे अक्षर कहा गया है, उस निर्विकार कल्याणमय शिवस्वरूप अधिष्ठान-का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत्।
यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन वाप्यथ ॥ १३ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भूपाल! जिस प्रकार इस जगत्-का क्षय (परिवर्तन) होता है, उसको तथा जो किसी भी कालमें क्षरित (नष्ट) नहीं होता, उस अक्षरको भी बता रहा हूँ, सुनो ॥ १३ ॥

युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम्।
दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते ॥ १४ ॥

देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। इसीको कल्प अर्थात् महायुग समझो। ऐसे एक हजार महा-युगोंका ब्रह्माजीका एक दिन बताया जाता है ॥ १४ ॥

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्ध्यते।
सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम् ॥ १५ ॥
मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥ १६ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १७ ॥

राजन्! उनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है; जिसके अन्तमें वे जागते हैं। अनन्तकर्मा ब्रह्माजी सबके अग्रज और महान् भूत हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। जो अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियोंपर शासन करनेवाले हैं, वे कल्याणस्वरूप निराकार परमेश्वर ही उन मूर्तिमान् ब्रह्माकी सृष्टि करते हैं। परमात्मा ज्योतिः-स्वरूप स्वयं प्रकट और अविनाशी हैं। उनके हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर हैं। कान भी सब ओर हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १५-१७ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥ १८ ॥

परमेश्वरसे उत्पन्न जो सबके अग्रज भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, ये ही बुद्धि कहे गये हैं। योगशास्त्रमें ये ही महान् कहे गये हैं। इन्हींको विरिञ्चि तथा अज भी कहते हैं ॥ १८ ॥

सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥ १९ ॥
वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः ॥ २० ॥

अनेक नाम और रूपोंसे युक्त इन हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सांख्यशास्त्रमें भी वर्णन आता है। ये विचित्र रूपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहे गये हैं। इस अनेक रूपोंवाली त्रिलोकीकी रचना उन्होंने ही की है और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रक्खा है। इस प्रकार बहुत-से रूप धारण करनेके कारण वे विश्वरूप माने गये हैं ॥ १९-२० ॥

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥ २१ ॥

ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकारको प्राप्त हो स्वयं ही अहंकारकी और उसके अभिमानी प्रजापति विराट्की सृष्टि करते हैं ॥ २१ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम्।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥ २२ ॥

इनमें निराकारसे साकार रूपमें प्रकट होनेवाली मूल प्रकृतिको तो विद्यासर्ग कहते हैं और महत्तत्त्व एवं अहंकार-को अविद्यासर्ग कहते हैं ॥ २२ ॥

अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः।
विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २३ ॥

अविधि (ज्ञान) और विधि (कर्म) की उत्पत्ति भी उस परमात्मासे ही हुई है। श्रुति तथा शास्त्रके अर्थका विचार करनेवाले विद्वानोंने उन्हें विद्या और अविद्या बतलाया है॥

भूतसर्गमहङ्कारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥ २४ ॥

पृथ्वीनाथ! अहंकारसे जो सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टि होती है, उसे तीसरा सर्ग समझो। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके अहंकारोंसे जो चौथी सृष्टि उत्पन्न होती है, उसे वैकृत-सर्ग समझो ॥ २४ ॥

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २५ ॥

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महा-भूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय वैकृत-सर्गके अन्तर्गत हैं ॥ २५ ॥

एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम्।

पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥ २६ ॥

इन दसोंकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है, इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र! पाँचवाँ भौतिक सर्ग समझो। जो प्राणियोंके लिये विशेष प्रयोजनीय होनेके कारण सार्थक है ॥ २६ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम्।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥२७॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥ २८ ॥

इस भौतिक सर्गके अन्तर्गत आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पृथ्वीनाथ! मनसहित इन सबकी उत्पत्ति भी एक ही साथ होती है ॥ २७-२८ ॥

एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः॥ २९ ॥

ये चौबीस तत्त्व सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें मौजूद रहते हैं। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर कभी शोक नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

एतद् देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु।
वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेवनरदानवे ॥ ३० ॥
सयक्षभूतगन्धर्वे सकिंनरमहोरगे।
सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥ ३१ ॥
सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके।
शुनि श्वपाके चैणेये सचाण्डाले सपुल्कसे ॥ ३२ ॥
हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृक्षे गवि चैव ह।
यच्च मूर्तिमयं किंचित् सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ! तीनों लोकोंमें जितने देहधारी हैं, उन सबमें इन्हीं तत्त्वोंके समुदायको देह समझना चाहिये। देवता, मनुष्य, दानव, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किंनर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, दंश (डंक मारनेवाली मक्खी), कीट, मच्छर, दुर्गन्धित कीड़े, चूहे, कुत्ते, चाण्डाल, हिरन, श्वपाक (कुत्ताका मांस खानेवाला), पुल्कस (म्लेच्छ), हाथी, घोड़े, गधे, सिंह, वृक्ष और गौ आदिके रूपमें जो कुछ मूर्तिमान् पदार्थ है, सर्वत्र इन्हीं तत्त्वोंका दर्शन होता है ॥ ३०—३३ ॥

जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः।
स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३४ ॥

पृथ्वी, जल और आकाशमें ही देहधारियोंका निवास है, और कहीं नहीं; यह विद्वानोंका निश्चय है। ऐसा मैंने सुन रक्खा है ॥ ३४ ॥

कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥ ३५ ॥

हे तात! यह सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् व्यक्त कहलाता है और प्रतिदिन इसका क्षरण होता है, इसलिये इसको क्षर कहते हैं ॥ ३५ ॥

एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत्।
जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम् ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न जो तत्त्व है, उसे अक्षर कहा गया है। इस प्रकार उस अव्यक्त अक्षरसे उत्पन्न हुआ यह व्यक्तसंज्ञक मोहात्मक जगत् क्षरित होनेके कारण क्षर नाम धारण करता है ॥ ३६ ॥

महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत् क्षरनिदर्शनम्।
कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३७ ॥

क्षर-तत्त्वोंमें सबसे पहले महत्तत्त्वकी ही सृष्टि हुई है। यह बात सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। यही क्षरका परिचय है। महाराज! तुमने जो मुझसे पूछा था, उसके अनुसार यह मैंने तुम्हारे समक्ष क्षर-अक्षरके विषयका वर्णन किया है ॥

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः।
तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥

इन चौबीस तत्त्वोंसे परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पचीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वोंको आश्रय देनेके कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं ॥

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति।
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, वे किसी-न-किसी आकार या मूर्तिका आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करनेपर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पचीसवाँ है निराकार परमात्मा ॥३९॥

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान्।
केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥

जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरोंके हृदयदेशमें निवास करते हैं ॥ ४० ॥

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः ।
गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥ ४१॥

यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृतिके संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्मसे सम्बद्ध-सा जान पड़ता है। इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियगोचर-सा हो जाता है तथा निर्गुण होनेपर भी गुणवान्-सा जान पड़ता है॥

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः।
विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलयके तत्त्वको जाननेवाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृतिके संसर्गसे युक्त हो विकारवान्-सा हो जाता है एवं प्राकृत-बुद्धिसे रहित होनेपर भी शरीरमें आत्माभिमान कर लेता है ॥ ४२ ॥

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
नियते प्रतिबुद्धित्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥

प्रकृतिके संसर्गवश ही वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त हो जाता है तथा अज्ञानी मनुष्योंका सङ्ग करनेसे उन्हींकी भाँति अपनेको शरीरस्थ समझनेके कारण वह उन-उन सात्त्विक, राजस, तामस योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है ॥

सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते ।
योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रकृतिके सहवाससे अपने स्वरूपका बोध लुप्त हो जानेके कारण पुरुष यह समझने लगता है कि मैं शरीरसे भिन्न नहीं हूँ । 'मैं यह हूँ, वह हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, अमुक जातिका हूँ', इस प्रकार कहता हुआ वह सात्त्विक आदि गुणोंका ही अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥

तमसा तामसान् भावान् विविधान् प्रतिपद्यते ।
रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्त्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

वह तमोगुणसे मोह आदि नाना प्रकारके तामस भावोंको, रजोगुणसे प्रवृत्ति आदि राजस भावोंको तथा सत्त्वगुणका आश्रय लेकर प्रकाश आदि सात्त्विक भावोंको प्राप्त होता है ॥

शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु ।
सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥ ४६ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे क्रमशः शुक्ल, रक्त और कृष्ण—ये तीन वर्ण प्रकट होते हैं । प्रकृतिसे जो-जो रूप प्रकट हुए हैं, वे सब इन्हीं तीनों वर्णोंके अन्तर्गत हैं ॥

तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥ ४७ ॥

तमोगुणी प्राणी नरकमें पड़ते हैं, राजस स्वभावके जीव मनुष्यलोकमें जाते हैं तथा सुखके भागी सात्त्विक पुरुष देवलोकको प्रस्थान करते हैं ॥ ४७ ॥

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥ ४८ ॥

अत्यन्त केवल पापकर्मोंके फलस्वरूप जीव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनिको प्राप्त होता है । पुण्य और पाप दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यलोक मिलता है तथा केवल पुण्यसे प्राणी देवयोनिको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः ।
पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंको क्षर कहते हैं । उपर्युक्त चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व—परमपुरुष परमात्मा बताया गया है, वही अक्षर है । उसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-संसर्गके कारण जीवका अपनेको नाना प्रकारके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियोंमें बारंबार जन्म ग्रहण करना

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते ।
देहाद् देहसहस्राणि तथा समभिपद्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार जीव बोधहीन होनेके कारण अज्ञानका ही अनुसरण करता है; इसीलिये उसे एक शरीरसे सहस्रों शरीरोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥ १ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥ २ ॥

वह गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उन्हीं गुणोंकी सामर्थ्यसे कभी सहस्रों बार तिर्यग्योनियोंमें और कभी देवताओंमें जन्म लेता है ॥ २ ॥

मानुषत्वाद् दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च ।
मानुष्यान्निरयस्थानमानन्त्यं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

कभी मानव-योनिसे स्वर्गलोकमें जाता है और कभी स्वर्गसे मनुष्यलोकमें लौट आता है । मनुष्यलोकसे कभी-कभी अनन्त नरकोंमें भी पड़ता है ॥ ३ ॥

कोशकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समवरुन्धति ।
सूत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥ ४ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही उत्पन्न किये हुए तन्तुओंसे अपनेको सब ओरसे बाँध लेता है, उसी प्रकार यह निर्गुण आत्मा भी अपने ही प्रकट किये हुए प्राकृत गुणोंसे बँध जाता है ॥ ४ ॥

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥ ५ ॥

वह स्वयं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेपर भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण करके सुख-दुःखको भोगता है । उसे कभी सिरमें दर्द होता, कभी आँख दुखती, कभी दाँतमें व्यथा होती और कभी गलेमें घेघा निकल आता है ॥

जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।
श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह जलोदर, तृषारोग, ज्वर, गलगण्ड (गलसूआ), विषूचिका (हैजा), सफेद कोढ़, अग्निदाह,

सिध्मा[1] (सफेद दाग या सेहुँवा), अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंका शिकार होता रहता है ॥ ६ ॥

यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥ ७ ॥

इनके सिवा और भी जितने प्रकारके प्रकृतिजन्य विचित्र रोग या द्वन्द्व देहधारियोंमें उत्पन्न होते हैं, उन सबसे यह अपनेको आक्रान्त मानता है ॥ ७ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
अभिमन्यत्यभीमानात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ८ ॥

कभी अपनेको सहस्रों तिर्यग्योनियोंका जीव समझता है और कभी देवत्वका अभिमान धारण करता है तथा इसी अभिमानके कारण उन-उन शरीरोंद्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी भोगता है ॥ ८ ॥

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥ ९ ॥
चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।
इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे तथा ॥ १० ॥
भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्या तलेषु च ।
वीरस्थानाम्बुपङ्के च शयनं फलकेषु च ॥ ११ ॥
विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा ।
मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥ १२ ॥

फलकी आशासे बँधा हुआ मनुष्य कभी नये-धुले सफेद वस्त्र पहनता है और कभी फटे-पुराने मैले वस्त्र धारण करता है, कभी पृथ्वीपर सोता है, कभी मेढकके समान हाथ-पैर सिकोड़कर शयन करता है, कभी वीरासनसे बैठता है और कभी खुले आकाशके नीचे । कभी चीर और वल्कल पहनता है, कभी ईंट और पत्थरपर सोता-बैठता है तो कभी काँटोंके बिछौनोंपर । कभी राख बिछाकर सोता है, कभी भूमिपर ही लेट जाता है, कभी किसी पेड़के नीचे पड़ा रहता है । कभी युद्धभूमिमें, कभी पानी और कीचड़में, कभी चौकियोंपर तथा कभी नाना प्रकारकी शय्याओंपर सोता है । कभी मूँजकी मेखला बाँधे कौपीन धारण करता है, कभी नंग-धड़ंग घूमता है । कभी रेशमी वस्त्र और कभी काला मृगचर्म पहनता है ॥

शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ।
सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥ १३ ॥

कभी सन या ऊनके बने वस्त्र धारण करता है । कभी व्याघ्र या सिंहके चमड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढँक लेता है । कभी रेशमी पीताम्बर पहनता है ॥ १३ ॥

फलकपरिधानश्च तथा कण्टकवस्त्रधृक् ।
कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥ १४ ॥

कभी फलकवस्त्र (भोजपत्रकी छाल), कभी साधारण वस्त्र और कभी कण्टकवस्त्र धारण करता है । कभी कीड़ोंसे निकले हुए रेशमके मुलायम वस्त्र पहनता है तो कभी चिथड़े पहनकर रहता है ॥ १४ ॥

वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।
भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ १५ ॥

वह अज्ञानी जीव इनके अतिरिक्त भी नाना प्रकारके वस्त्र पहनता, विचित्र-विचित्र भोजनोंके स्वाद लेता और भाँति-भाँतिके रत्न धारण करता है ॥ १५ ॥

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।
चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥ १६ ॥

कभी एक रातका अन्तर देकर भोजन करता है, कभी दिन-रातमें एक बार अन्न ग्रहण करता है और कभी दिनके चौथे, छठे या आठवें पहरमें भोजन करता है ॥ १६ ॥

षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः ।
सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥ १७ ॥

कभी छः रात बिताकर खाता है और कभी सात, आठ, दस अथवा बारह दिनोंके बाद अन्न ग्रहण करता है ॥ १७ ॥

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।
वायुभक्षोऽम्बुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥ १८ ॥

कभी लगातार एक मासतक उपवास करता है । कभी फल खाकर रहता है और कभी कन्द-मूलके भोजनसे निर्वाह करता है । कभी पानी-हवा पीकर रह जाता है । कभी तिलकी खली, कभी दही और कभी गोबर खाकर ही रहता है ॥ १८ ॥

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।
शैवालभोजनश्चैव तथाऽऽचामेन वर्तयन् ॥ १९ ॥

कभी वह गोमूत्रका भोजन करनेवाला बनता है । कभी वह साग, फूल या सेवार खाता है तथा कभी जलका आचमन मात्र करके जीवन-निर्वाह करता है ॥ १९ ॥

वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।
विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाङ्क्षया ॥ २० ॥

कभी सूखे पत्ते और पेड़से गिरे हुए फलोंको ही खाकर रह जाता है । इस प्रकार सिद्धि पानेकी अभिलाषासे वह नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है ॥ २० ॥

चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि च ।
चातुराश्रम्यपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥ २१ ॥

कभी विधिपूर्वक चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करता और अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता है । कभी चारों आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीत पथका भी आश्रय लेता है ॥ २१ ॥

उपाश्रमानप्यपरान् पाषण्डान् विविधानपि ।
विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥ २२ ॥

कभी नाना प्रकारके उपाश्रमों तथा भाँति-भाँतिके

---

[1] किसी-किसी टीकाकारने 'सिध्मा' का अर्थ 'खाँसी' और 'दमा' भी किया है । परंतु कोष-प्रसिद्ध अर्थ 'सफेद दाग या सेहुँवा' ही है ।

पाखण्डोंको अपनाता है। कभी एकान्तमें शिलाखण्डोंकी छायामें बैठता और कभी झरनोंके समीप निवास करता है॥ २२॥

पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च।
देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च॥ २३॥

कभी नदियोंके एकान्त तटोंमें, कभी निर्जन वनोंमें, कभी पवित्र देवमन्दिरोंमें तथा कभी एकान्त सरोवरोंके आसपास रहता है॥ २३॥

विविक्ताश्चापि शैलानां गुहा गृहनिभोपमाः।
विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च॥ २४॥
नियमान् विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च।
यज्ञांश्च विविधाकारान् विधींश्च विविधांस्तथा॥ २५॥

कभी पर्वतोंकी एकान्त गुफाओंमें, जो गृहके समान ही होती हैं, निवास करता है। उन स्थानोंमें नाना प्रकारके गोपनीय जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ तथा अन्य भाँति-भाँतिके कर्मोंका अनुष्ठान करता है॥ २४-२५॥

वणिक्पथं द्विजं क्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च।
दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु॥ २६॥

वह कभी व्यापार करता, कभी ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्तव्यका पालन करता तथा कभी वैश्यों और शूद्रोंके कर्मोंका आश्रय लेता। दीन-दुखी और अन्धोंको नाना प्रकारके दान देता है॥ २६॥

अभिमन्यत्यसम्बोधात् तथैव त्रिविधान् गुणान्।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च॥ २७॥

अज्ञानवश वह अपनेमें सत्त्व, रज, तम—इन त्रिविध गुणों और धर्म, अर्थ एवं कामका अभिमान कर लेता है॥

प्रकृत्याऽऽत्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत।
स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकारनमस्क्रियाः॥ २८॥

इस प्रकार आत्मा प्रकृतिके द्वारा अपने ही स्वरूपके अनेक विभाग करता है। वह कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कारमें प्रवृत्त होता है॥ २८॥

याजनाध्यापनं दानं तथैवाहुः प्रतिग्रहम्।
यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किंचन॥ २९॥

कभी यज्ञ करता और कराता, कभी वेद पढ़ता और पढ़ाता तथा कभी दान करता और प्रतिग्रह लेता है। इसी प्रकार वह दूसरे-दूसरे कार्य भी किया करता है॥ २९॥

जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च।
शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम्॥ ३०॥

कभी जन्म लेता, कभी मरता तथा कभी विवाद और संग्राममें प्रवृत्त रहता है। विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सब शुभाशुभ कर्ममार्ग है॥ ३०॥

प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्यैकोऽवतिष्ठते॥ ३१॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत् तत्काले नियच्छति।

प्रकृतिदेवी ही जगत्की सृष्टि और प्रलय करती है। जैसे सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी किरणोंको सब ओर फैलाता और सायंकालमें अपने किरण-जालको समेट लेता है, वैसे ही आदिपुरुष ब्रह्मा अपने दिन—कल्पके आरम्भमें तीनों गुणोंका विस्तार करता और अन्तमें सबको समेटकर अकेला ही रह जाता है॥ ३१½॥

एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते॥ ३२॥
आत्मरूपगुणानेतान् विविधान् हृदयप्रियान्।

इस प्रकार प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष तत्त्वज्ञान होनेसे पहले मनको प्रिय लगनेवाले नाना प्रकारके अपने व्यापारोंको क्रीड़ाके लिये बार-बार करता और उन्हें अपना कर्तव्य मानता है॥ ३२½॥

एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणीम्॥ ३३॥
क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः।
क्रियां क्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते॥ ३४॥

सृष्टि और प्रलय जिसके धर्म हैं, उस त्रिगुणमयी प्रकृतिको विकृत करके तीनों गुणोंका स्वामी आत्मा कर्ममार्गमें अनुरक्त और प्रवृत्त हो उस प्रकृतिके द्वारा होनेवाले प्रत्येक त्रिगुणात्मक कार्यको अपना मान लेता है॥ ३३—३४॥

प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो।
रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा॥ ३५॥

प्रभो! प्रकृतिने इस सम्पूर्ण जगत्को अन्धा बना रखा है। उसीके संयोगसे समस्त पदार्थ अनेक प्रकारसे रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हो रहे हैं॥ ३५॥

एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः।
ममैवैतानि जायन्ते धावन्ते तानि मामिति॥ ३६॥
निस्तर्तव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप।
मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात् तथैव सुकृतान्यपि॥ ३७॥
भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै।
इहैव चैनं भोक्ष्यामि शुभाशुभफलोदयम्॥ ३८॥

इस प्रकार प्रकृतिकी प्रेरणासे स्वभावतः सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी सदा पुनरावृत्ति होती रहती है; किंतु जीवात्मा अज्ञानवश यह मान बैठता है कि ये सारे द्वन्द्व मुझपर ही धावा करते हैं और मुझे इनसे निस्तार पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। (ऐसा मानकर वह दुखी होता है) नरेश्वर! प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष अज्ञानवश यह मान लेता है कि मैं देवलोकमें जाकर अपने समस्त पुण्योंके फलका उपभोग करूँगा और पूर्वजन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका जो फल प्रकट हो रहा है, उसे यहीं भोगूँगा॥ ३६—३८॥

सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत् कृत्वा सुखं मम।
यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति॥ ३९॥

अब मुझे सुखके साधनभूत पुण्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये। उसका एक बार भी अनुष्ठान कर लेनेपर मुझे

आजीवन सुख मिलेगा तथा भविष्यमें भी प्रत्येक जन्ममें सुखकी प्राप्ति होती रहेगी ॥ ३९ ॥

भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम्।
महद् दुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥ ४० ॥

यदि इस जन्ममें मैं बुरे कर्म करूँगा तो मुझे यहाँ भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा। यह मानव-जन्म महान् दुःखसे भरा हुआ है। इसके सिवा पापके फलसे नरकमें भी डूबना पड़ेगा ॥ ४० ॥

निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः।
मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात् पौरुषं पुनः ॥ ४१ ॥

नरकसे दीर्घकालके बाद छुटकारा मिलनेपर मैं पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लूँगा। मानवयोनिसे पुण्यके फलस्वरूप देवयोनिमें जाऊँगा और वहाँसे पुण्य-क्षीण होनेपर पुनः मानव-शरीरमें जन्म लूँगा ॥ ४१ ॥

मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति।
य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः ॥ ४२ ॥
तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते।

इसी तरह बारी-बारीसे वह जीव मानव-योनिसे नरकमें (और नरकसे मानवयोनिमें) आता-जाता रहता है। आत्मासे भिन्न तथा आत्माके गुण चैतन्य आदिसे युक्त जो इन्द्रियोंका समुदाय शरीरमें ऐसी भावना रखता है कि 'यह मैं हूँ' वही देवलोक, मनुष्यलोक, नरक तथा तिर्यग्योनि-में जाता है ॥ ४२½ ॥

ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥ ४३ ॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।

स्त्री-पुत्र आदिके प्रति ममतासे बँधा हुआ पुरुष उन्हींके संसर्गमें रहकर सहस्र-सहस्र कोटि सृष्टिपर्यन्त नश्वर शरीरोंमें ही सदा चक्कर लगाता रहता है ॥ ४३½ ॥

य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥ ४४ ॥
स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान्।

जो इस प्रकार शुभाशुभ फल देनेवाला कर्म करता है, वही तीनों लोकोंमें शरीर धारण करके इन उपर्युक्त फलोंको पाता है ॥ ४४½ ॥

प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम्।
प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥४५॥

वास्तवमें तो प्रकृति ही शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करती है और तीनों लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करनेवाली वह प्रकृति ही उन कर्मोंका फल भोगती है (किंतु पुरुष अज्ञानके कारण कर्ता-भोक्ता बन जाता है) ॥ ४५ ॥

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वं देवलोके तथैव च।
त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात् प्राकृतानि ह ॥४६॥

तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि तथा देवलोकमें देवयोनि—ये कर्म-फल-भोगके तीन स्थान हैं। इन सबको प्राकृत समझो॥

अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गैरनुमिमीमहे।
तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते ॥ ४७ ॥

मुनिगण प्रकृतिको लिङ्गरहित बताते हैं; किंतु हमलोग विशेष हेतुओंके द्वारा ही उसका अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार अनुमानद्वारा ही हमें पुरुषके स्वरूपका अर्थात् उसके होनेका ज्ञान होता है ॥ ४७ ॥

स लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणः।
व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय कर्मण्यात्मनि मन्यते ॥ ४८ ॥

पुरुष स्वयं छिद्ररहित होते हुए भी प्रकृतिनिर्मित चिह्नस्वरूप विभिन्न शरीरोंका अवलम्बन करके छिद्रोंमें स्थित रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता बनकर उन सबके कर्मोंको अपनेमें मान लेता है ॥ ४८ ॥

श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यथ।
वागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैः सह ॥४९॥

इस जगत्में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गुणोंके साथ गुणमय शरीरोंमें स्थित हैं ॥ ४९ ॥

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥ ५० ॥

किंतु यह जीव वास्तवमें इन्द्रियोंसे रहित है तो भी यह मानता है कि मैं ही ये सब कर्म करता हूँ और मुझमें ही सब इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह छिद्रशून्य होकर भी अपनेको छिद्रयुक्त मानता है ॥ ५० ॥

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥ ५१ ॥

वह लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे हीन होनेपर भी अपनेको उससे युक्त मानता है। कालधर्म (मृत्यु) से रहित होकर भी अपनेको कालधर्मी (मरणशील) समझता है। सत्त्वसे भिन्न होकर भी अपनेको सत्त्वरूप मानता है तथा महा-भूतादि तत्त्वसे रहित होकर भी अपने आपको तत्त्व-स्वरूप समझता है ॥ ५१ ॥

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः ।
अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥ ५२ ॥

वह मृत्युसे सर्वथा रहित है तो भी अपनेको मृत्युग्रस्त मानता है। अचर होनेपर भी अपनेको चलने-फिरनेवाला मानता है। क्षेत्रसे भिन्न होनेपर भी अपनेको क्षेत्र मानता है। सृष्टिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होनेपर भी सृष्टिको अपनी ही समझता है ॥ ५२ ॥

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः।
अभवो भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ॥ ५३ ॥
अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ५४ ॥

वह कभी तप नहीं करता तो भी अपनेको तपस्वी

मानता है। कहीं गमन नहीं करता तो भी अपनेको आने-जानेवाला समझता है। संसाररहित होकर भी अपनेको संसारी और निर्भय होकर भी अपनेको भयभीत मानता है। यद्यपि वह अक्षर (अविनाशी) है तो भी अपनेको क्षर (नाशवान्) समझता है तथा बुद्धिसे परे होनेपर भी बुद्धिमत्ताका अभिमान रखता है ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृतिके संसर्गदोषसे जीवका पतन

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।
सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! इस तरह अज्ञानके कारण अज्ञानी पुरुषोंका संग करनेसे जीवका निरन्तर पतन होता है तथा उसे हजारों-करोड़ बार जन्म लेने पड़ते हैं ॥ १ ॥

धाम्ना धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।
तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥ २ ॥

वह पशु-पक्षी, मनुष्य तथा देवताओंकी योनियोंमें तथा एक स्थानसे सहस्रों स्थानोंमें बारंबार मरकर जाता और जन्म लेता है ॥ २ ॥

चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।
लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेष ह्यबुद्धिमान् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाका सहस्रों बार क्षय और सहस्रों बार वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी अज्ञानवश ही सहस्रों बार लयको प्राप्त होता है (और जन्म लेता है)॥ ३ ॥

कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते ।
नित्यमेतद् विजानीहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥ ४ ॥

राजन्! चन्द्रमाकी पंद्रह कलाओंके समान जीवोंकी पंद्रह कलाएँ ही उत्पत्तिके स्थान हैं। अज्ञानी जीव उन्हींको अपना आश्रय समझता है; परंतु उसकी जो सोलहवीं कला है, उसको तुम नित्य समझो। वह चन्द्रमाकी अमा नामक सोलहवीं कलाके समान है ॥ ४ ॥

कलायां जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान् ।
धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥ ५ ॥

अज्ञानी जीव सदा बारंबार उन्हीं कलाओंमें स्थित हुआ जन्म ग्रहण करता है। वे ही कलाएँ जीवके आश्रय लेने-योग्य हैं, अतः जीवका उन्हींसे पुनः-पुनः जन्म होता रहता है ॥ ५ ॥

षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।
न तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥ ६ ॥

अमा नामक जो सोलहवीं सूक्ष्म कला है, वही सोम है अर्थात् जीवकी प्रकृति है, यह तुम निश्चितरूपसे जान लो। देवतालोग अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियगण जिनको पंद्रह कलाओंके नामसे कहा गया, वे उस सोलहवीं कलाका उपयोग नहीं कर सकते; किंतु वे सोलहवीं कला अर्थात् उन सबकी कारणभूता प्रकृति ही उनका उपयोग करती है ॥ ६ ॥

एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम ।
सा ह्यस्य प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! जीव अपने अज्ञानवश उस सोलहवीं कला-रूप प्रकृतिके संयोगका क्षय नहीं कर पाता, इसलिये बारंबार जन्म ग्रहण करता है। वह ही कला जीवकी प्रकृति अर्थात् उत्पत्तिका कारण देखी गयी है। उसके संयोगका क्षय होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति बतायी जाती है ॥ ७ ॥

तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥

(मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ—एक प्राण और चार प्रकारका अन्तःकरण—इन) सोलह कलाओंसे युक्त जो यह सूक्ष्मशरीर है, इसे 'यह मेरा है' ऐसा माननेके कारण अज्ञानी जीव उसीमें भटकता रहता है ॥ ८ ॥

पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् ।
विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥ ९ ॥
अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग् भवति पार्थिव ।
अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥ १० ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप जो महान् आत्मा है, वह निर्मल एवं विशुद्ध है। उसको न जाननेके कारण तथा शुद्ध-अशुद्ध वस्तुओंके सेवनसे वह निर्मल, संगरहित आत्मा भी शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओंके सदृश हो जाता है। पृथ्वीनाथ! अविवेकी-के संगसे विवेकशील भी अविवेकी हो जाता है ॥ ९-१० ॥

तथैवाप्रतिबुद्धोऽपि विज्ञेयो नृपसत्तम ।
प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत् ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मूर्ख भी विवेकशीलका संग करनेसे विवेकशील हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके सम्बन्धसे निर्गुण आत्मा भी त्रिगुणमय-सा हो जाता है॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३०४॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुषके विषयमें राजा जनककी शङ्का और उसका वसिष्ठजीद्वारा उत्तर

जनक उवाच

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते।
स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते॥ १ ॥

राजा जनकने कहा—भगवन् ! क्षर और अक्षर (प्रकृति और पुरुष) दोनोंका यह सम्बन्ध वैसा ही माना जाता है, जैसा कि नारी और पुरुषका दाम्पत्य-सम्बन्ध बताया जाता है॥ १ ॥

ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत।
ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत् तथा॥ २ ॥

इस जगत्में न तो पुरुषके बिना स्त्री गर्भ धारण कर सकती है और न स्त्रीके बिना कोई पुरुष ही किसी शरीरको उत्पन्न कर सकता है॥ २ ॥

अन्योन्यस्याभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
रूपं निर्वर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु॥ ३ ॥

दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे एक दूसरेके गुणोंका आश्रय लेकर ही किसी शरीरका निर्माण होता है। प्रायः सभी योनियोंमें ऐसी ही स्थिति है॥ ३ ॥

रत्यर्थमभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद् वक्ष्यामि निदर्शनम्॥ ४ ॥
ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातृगुणास्तथा।
अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः॥ ५ ॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम।
एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते॥ ६ ॥

जब स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय रतिके लिये पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे दोनोंके गुणोंका मिश्रण होनेपर शरीरकी उत्पत्ति होती है। शरीरमें पुरुष अर्थात् पिताके जो गुण हैं तथा माताके जो गुण हैं, उन्हें मैं दृष्टान्तके तौरपर बता रहा हूँ। हड्डी, स्नायु और मज्जा—इन्हें मैं पितासे प्राप्त हुए गुण समझता हूँ तथा त्वचा, मांस और रक्त—ये मातासे पैदा हुए गुण हैं, ऐसा मैंने सुना है। द्विजश्रेष्ठ ! यही बात वेद और शास्त्रमें भी पढ़ी जाती है॥ ४—६ ॥

प्रमाणं यत् स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते।
वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत् सनातनम्॥ ७ ॥

वेदोंमें जो प्रमाण बताया गया है तथा शास्त्रमें कहे हुए जिस प्रमाणको पढ़ा और सुना जाता है, वह सब ठीक है; क्योंकि वेद और शास्त्र दोनों ही सनातन प्रमाण हैं॥ ७॥

अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ॥ ८ ॥
पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते।

भगवन् ! इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही एक दूसरेके गुणोंको आच्छादित करके एक दूसरेके गुणोंका आश्रय* लेते हुए सृष्टि करते हैं। इस तरह मैं इन दोनोंको सदा एक दूसरेसे सम्बद्ध देखता हूँ। अतः पुरुषके लिये मोक्ष-धर्मकी सिद्धि असम्भव जान पड़ती है॥ ८½ ॥

अथवानन्तरकृतं किंचिदेव निदर्शनम्॥ ९ ॥
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा।

अथवा पुरुषके मोक्षका साक्षात्कार करानेवाला कोई दृष्टान्त हो तो आप उसे बताइये और मुझे ठीक-ठीक समझा दीजिये; क्योंकि आपको सदा सब कुछ प्रत्यक्ष है॥ ९½ ॥

मोक्षकामा वयं चापि काङ्क्षामो यदनामयम्।
अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम्॥ १० ॥

मैं भी मोक्षकी अभिलाषा रखता हूँ और उस परम पदको पाना चाहता हूँ, जो निर्विकार, निराकार, अजर, अमर, नित्य और इन्द्रियातीत है तथा जिसे प्राप्त पुरुषका कोई शासक न रहे॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम्।
एवमेतद् यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान्॥ ११ ॥

वसिष्ठजीने कहा—राजन् ! तुमने वेद और शास्त्रोंके दृष्टान्त देकर यह जो कुछ कहा है, वह ठीक है। तुम जैसा समझते हो, वैसी ही बात है॥ ११ ॥

धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः।
न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर॥ १२॥

* पुरुष प्रकृतिकी जडताको आच्छादित करके उसके दुःखका आश्रय लेता है तथा प्रकृति पुरुषके आनन्दगुणको आच्छादित करके उसके चैतन्य गुणका आश्रय लेती है। तात्पर्य यह कि प्रकृतिके संयोगसे पुरुष आनन्दसे वञ्चित हो दुःखका भागी होता है और प्रकृति पुरुषके संगसे अपनी जडताको भुलाकर चेतनकी भाँति कार्य करने लगती है।

नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि वेद-शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है, वह सब तुम्हें याद है; परंतु ग्रन्थके यथार्थ तत्त्वका तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है ॥ १२ ॥

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ १३ ॥

जो वेद और शास्त्रके ग्रन्थोंको तो याद रखनेमें तत्पर है, किंतु उनके यथार्थ तत्त्वको नहीं समझता, उसका वह याद रखना व्यर्थ है ॥ १३ ॥

भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ १४ ॥

जो ग्रन्थके अर्थको नहीं समझता, वह केवल रटकर मानो उन ग्रन्थोंका बोझ ढोता है; परंतु जो ग्रन्थके अर्थका तत्त्व समझता है, उसके लिये उस ग्रन्थका अध्ययन व्यर्थ नहीं है ॥ १४ ॥

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति ।
यथा तत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥ १५ ॥

ऐसा पुरुष पूछनेपर तत्त्वज्ञानपूर्वक ग्रन्थके अर्थको जैसा समझता है, वैसा दूसरोंको भी बता सकता है ॥ १५ ॥

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।
स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥ १६ ॥

जो स्थूल एवं मन्दबुद्धिसे युक्त होनेके कारण विद्वानोंकी सभामें शास्त्रग्रन्थका अर्थ नहीं बता सकता, वह निर्णयपूर्वक उस ग्रन्थका तात्पर्य कैसे कह सकता है? ॥ १६ ॥

निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः ।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥ १७ ॥

जिसका चित्त शास्त्रज्ञानसे शून्य है, वह ग्रन्थके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय कर ही नहीं सकता । यदि वह कुछ कहता है तो मनस्वी होनेपर भी लोगोंके उपहासका पात्र बनता है ॥ १७ ॥

तस्मात् त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते ।
याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥ १८ ॥

इसलिये राजेन्द्र ! सांख्य और योगके ज्ञाता महात्मा पुरुषोंके मतमें मोक्षका जैसा स्वरूप देखा जाता है, उसे मैं तुम्हें यथार्थरूपसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं; सांख्यवेत्ता विद्वान् भी उसीका ज्ञान प्राप्त करते हैं । जो सांख्य और योगको फलकी दृष्टिसे एक समझता है, वही बुद्धिमान् है ॥ १९ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च ।
अथ चैन्द्रियकं तात तद् भवानिदमाह माम् ॥ २० ॥

तात ! तुम मुझसे कह चुके हो कि शरीरमें जो त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, स्नायु और इन्द्रियसमुदाय हैं (वे सब माता-पिताके सम्बन्धसे प्रकट हुए हैं) ॥ २० ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा ।
देहाद् देहमवाप्नोति बीजाद् बीजं तथैव च ॥ २१ ॥

जैसे बीजसे बीजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार द्रव्यसे द्रव्य, इन्द्रियसे इन्द्रिय तथा देहसे देहकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः ।
कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥ २२ ॥

परंतु परमात्मा तो इन्द्रिय, बीज, द्रव्य और देहसे रहित तथा निर्गुण है; अतः उसमें गुण कैसे हो सकते हैं ॥

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।
एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥ २३ ॥

जैसे आकाश आदि गुण सत्त्व आदि गुणोंसे उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन हो जाते हैं; उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण भी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और उसीमें लीन होते हैं ॥ २३ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च ।
अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै ॥ २४ ॥

राजन् ! तुम यह जान लो कि त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु—ये आठों वस्तुएँ वीर्यसे उत्पन्न हुई हैं; इसलिये प्राकृत ही हैं ॥ २४ ॥

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम् ।
न वापुमान् पुमांश्चैव स लिङ्गीत्यभिधीयते ॥ २५ ॥

पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं । इनके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले जो तीन प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस चिह्न हैं, वे सब प्राकृत माने गये हैं; परंतु जो लिङ्गी अर्थात् इन सबका आधार आत्मा है, वह न पुरुष कहा जा सकता है और न प्रकृति ही । वह इन दोनोंसे विलक्षण है ॥ २५ ॥

अलिङ्गात् प्रकृतिर्लिङ्गैरुपालभ्यति सात्मजैः ।
यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्तयस्तथा ॥ २६ ॥

जैसे फूलों और फलोंद्वारा सदा निराकार ऋतुओंका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार निराकार पुरुषका संयोग पाकर अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए जो महत्तत्त्व आदि लिङ्ग हैं, उन्हींके द्वारा प्रकृति अनुमानका विषय होती है ॥

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते ।
पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥ २७ ॥

इसी प्रकार लिङ्गसे भिन्न जो शुद्ध चेतनरूप आत्मा है, वह भी अनुमानसे बोधका विषय होता है अर्थात् जैसे दृश्यको प्रकाशित करनेके कारण सूर्य दृश्यसे भिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मा भी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उनसे भिन्न सत्ता रखता है । तात ! वही पचीसवाँ तत्त्व है, जो सभी लिङ्गोंमें नियतरूपसे व्याप्त है ॥

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः ।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥ २८ ॥

आत्मा तो जन्म-मृत्युसे रहित, अनन्त, सबका द्रष्टा और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणोंमें केवल अभिमान करनेके कारण ही गुणस्वरूप कहलाता है ॥ २८ ॥

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः ।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥ २९ ॥
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ॥ ३० ॥

गुण तो गुणवान्में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मामें गुण कैसे रह सकते हैं। अतः गुणोंके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणोंको प्रकृतिका कार्य मानकर उनमें अपनेपनका अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदिमें आत्मबुद्धिका परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है ॥

यत् तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्या योगाश्च सर्वशः ।
बुद्ध्यमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात् ॥ ३१ ॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम् ।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥ ३२ ॥
प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः ।
सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥ ३३ ॥

सांख्य और योगके सम्पूर्ण विद्वान् जिसको बुद्धिसे परे बताते हैं, जो परम ज्ञानसम्पन्न है, अहंकार आदि जड तत्त्वोंका परित्याग (बाध) कर देनेपर शेष रहे हुए चिन्मय तत्त्वके रूपमें जिसका बोध होता है, जो अज्ञात, अव्यक्त, सगुण ईश्वर, निर्गुण ईश्वर, नित्य और अधिष्ठाता कहा गया है, वह परमात्मा ही प्रकृति और उसके गुणों (चौबीस तत्त्वों) की अपेक्षा पचीसवाँ तत्त्व है, ऐसा सांख्य और योगमें कुशल तथा परमतत्त्वकी खोज करनेवाले विद्वान् पुरुष समझते हैं ॥ ३१–३३ ॥

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः ।
बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा ॥ ३४ ॥

जिस समय बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था अथवा जन्म-मरणसे भयभीत हुए विवेकी पुरुष चेतन-स्वरूप अव्यक्त परमात्माके तत्त्वको ठीक-ठीक समझ लेते हैं, उस समय उन्हें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम् ।
बुध्यमानाप्रबुद्धानां पृथक्पृथगरिंदम ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश ! ज्ञानी पुरुषोंका यह ज्ञान युक्तियुक्त होनेके कारण उत्तम और (अज्ञानियोंकी धारणासे) पृथक् है। इसके विपरीत अज्ञानी पुरुषोंका जो अप्रामाणिक ज्ञान है, वह युक्तियुक्त न होनेके कारण ठीक नहीं है। यह पूर्वोक्त सम्यक् ज्ञानसे पृथक् है ॥ ३५ ॥

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम् ।
एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥ ३६ ॥

क्षर और अक्षरके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला यह दर्शन मैंने तुम्हें बताया है। क्षर और अक्षरमें परस्पर क्या अन्तर है ? इसे इस प्रकार समझो—सदा एकरूपमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको अक्षर बताया गया है और नाना रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह प्राकृत प्रपञ्च क्षर कहलाता है ॥३६॥

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते ।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥ ३७ ॥

जब यह पुरुष पचीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति उत्तम बतायी जाती है—वह ठीक बर्ताव करता है, ऐसा माना जाता है। एकत्वका बोध ही ज्ञान है और नानात्वका बोध ही अज्ञान है ॥ ३७ ॥

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम् ।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम् ।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ॥ ३९ ॥

तत्त्व (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) का यह पृथक्-पृथक् लक्षण समझना चाहिये। कुछ मनीषी पुरुष पचीस तत्त्वोंको ही तत्त्व कहते हैं; परंतु दूसरे विद्वानोंने चौबीस जड तत्त्वोंको तो तत्त्व कहा है और पचीसवें चेतन परमात्माको निस्तत्त्व (तत्त्वसे भिन्न) बताया है। यह चैतन्य ही परमात्मा-का लक्षण है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं, वे क्षरतत्त्व हैं और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' तत्त्वोंसे भिन्न उनका सनातन आधार है ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३०५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योग और सांख्यके स्वरूपका वर्णन तथा आत्मज्ञानसे मुक्ति

जनक उवाच

नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम ।
पश्याम्येतद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥ १ ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! आपने क्षरको अनेक रूप और अक्षरको एकरूप बताया; किंतु इन दोनोंके तत्त्वका जो निर्णय किया गया है, उसे मैं अब भी संदेहकी दृष्टिसे ही देखता हूँ ॥ १ ॥

तथा बुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुद्ध्यमानस्य चानघ ।
स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्त्वमेतन्न संशयः ॥ २ ॥

निष्पाप महर्षे ! जिसे अज्ञानी पुरुष (अनेक रूपमें) और ज्ञानी पुरुष एक रूपमें जानते हैं, उस परमात्माका तत्त्व मैं अपनी स्थूल बुद्धिके कारण समझ नहीं पाता हूँ। मेरे इस कथनमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २ ॥

अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम् ।
तदप्यस्थिरबुद्धित्वात् प्रणष्टमिव मेऽनघ ॥ ३ ॥

अनघ ! यद्यपि आपने क्षर और अक्षरको समझानेके लिये अनेक प्रकारकी युक्तियाँ बतायी हैं तथापि मेरी बुद्धि अस्थिर होनेके कारण मैं उन सारी युक्तियोंको मानो भूल गया हूँ ॥ ३ ॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम् ।
बुद्धं चाप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ॥ ४ ॥

इसलिये इस नानात्व और एकत्व-रूप दर्शनको मैं पुनः सुनना चाहता हूँ। बुद्ध (ज्ञानवान्) क्या है ? अप्रतिबुद्ध (ज्ञानहीन) क्या है ? तथा बुद्ध्यमान (ज्ञेय) क्या है ? यह ठीक-ठीक बताइये ॥ ४ ॥

विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं क्षरमेव च ।
साङ्ख्यं योगं च कात्स्न्येंन पृथक् चैवापृथक् च ह॥५॥

भगवन् ! मैं विद्या, अविद्या, अक्षर और क्षर तथा सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् पूर्णरूपसे समझना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज पृथगेव शृणुष्व मे ॥ ६ ॥

वसिष्ठजीने कहा—महाराज ! तुम जो-जो बातें पूछ रहे हो, मैं उन सबका भलीभाँति उत्तर दूँगा। इस समय योगसम्बन्धी कृत्यका पृथक् ही वर्णन कर रहा हूँ, सुनो ॥

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् ।
तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥ ७ ॥
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ।
प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा ॥ ८ ॥

योगियोंके लिये प्रधान कर्तव्य है ध्यान। वही उनका परम बल है। योगके विद्वान् उस ध्यानको दो प्रकारका बतलाते हैं—एक तो मनकी एकाग्रता और दूसरा प्राणायाम। प्राणायामके भी दो भेद हैं—सगुण और निर्गुण। इनमेंसे जिस प्राणायाममें मनका सम्बन्ध सगुणके साथ रहता है, वह सगुण प्राणायाम है और जिसमें मनका सम्बन्ध निर्गुणके साथ रहता है, वह निर्गुण प्राणायाम है ॥ ७-८ ॥

मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप ।
त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! मलत्याग, मूत्रत्याग और भोजन—इन तीन कार्योंमें जो समय लगता है, उसमें योगका अभ्यास न करे। शेष समयमें तत्परतापूर्वक योगका अभ्यास करना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियार्णीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः ।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः ॥ १० ॥
संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ ।
तिष्ठन्तमजरं तं तु यत् तदुक्तं मनीषिभिः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् योगीको चाहिये कि पवित्र हो मनके द्वारा श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको शब्द आदि विषयोंसे हटावे एवं बाईस[1] प्रकारकी प्रेरणाओंद्वारा उस जरारहित जीवात्माको, जिसे मनीषी पुरुषोंने आत्मस्वरूप बताया है, चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप प्रकृतिसे परे परम पुरुष परमात्माकी ओर प्रेरित करे ॥ १०-११ ॥

तैश्चात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम ।
व्रतं ह्यहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः ॥ १२ ॥

हमने गुरुजनोंके मुखसे सुना है कि जो लोग इस प्रकार प्राणायाम करते हैं, वे सदा ही परब्रह्म परमात्माके जाननेके अधिकारी होते हैं। जिसका मन सदा ध्यानमें संलग्न रहता है, ऐसे योगीके ही योग्य यह व्रत है अन्यथा बहिर्मुख चित्तवाले पुरुषके लिये यह नहीं है। यह निश्चितरूपसे जानना चाहिये ॥ १२ ॥

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पूर्वरात्रेऽपररात्रे धारयीत मनोऽऽत्मनि ॥ १३ ॥

योगी सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो मिताहारी और जितेन्द्रिय बने तथा रात्रिके पहले और पिछले भागमें मनको आत्मामें एकाग्र करे ॥ १३ ॥

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर ।
मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥ १४ ॥
स्थाणुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥ १५ ॥

---

१. जैसे घड़ेमें जल भरा जाता है, उसी प्रकार पादाङ्गुष्ठसे लेकर मूर्धातक सम्पूर्ण शरीरमें नासिकाके छिद्रोंद्वारा वायुको खींचकर भर ले। फिर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा) से वायुको हटाकर ललाटमें स्थापित करे। यह प्राणवायुके प्रत्याहारका पहला स्थान है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर हटाते और रोकते हुए क्रमशः भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकामूल, जिह्वामूल, कण्ठकूप, हृदयमध्य, नाभिमध्य, मेढ्र (उपस्थका मूलभाग), उदर, गुदा, ऊरुमूल, ऊरुमध्य, जानु, चितिमूल, जङ्घामध्य, गुल्फ और पादाङ्गुष्ठ—इन स्थानोंमें वायुको ले जाकर स्थापित करे। इन अट्ठारह स्थानोंमें किये हुए प्रत्याहारोंको अठारह प्रकारकी प्रेरणा समझना चाहिये। इनके सिवा ध्यान, धारणा, समाधि तथा 'सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति' (बुद्धि और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका बोध)—ये चार प्रेरणाएँ और हैं। ये ही सब मिलकर बाईस प्रकारकी प्रेरणाएँ कही गयी हैं।

मिथिलेश्वर ! जब योगी मनके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करके पत्थरकी भाँति अविचल हो जाय, सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतकी तरह स्थिर रहने लगे तभी शास्त्रके विधानको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अपने अनुभवसे ही उसको योगयुक्त कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

न शृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ १६ ॥
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

जिस समय वह न तो सुनता है, न सूँघता है; न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्शका ही अनुभव करता है, जब उसके मनमें किसी प्रकारका संकल्प नहीं उठता तथा काठकी भाँति स्थित होकर वह किसी भी वस्तुका अभिमान या सुध-बुध नहीं रखता, उसी समय मनीषी पुरुष उसे अपने शुद्धस्वरूपको प्राप्त एवं योगयुक्त कहते हैं ॥ १६-१७ ॥

निर्वाते हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अवस्थामें वह वायुरहित स्थानमें रखे हुए निश्चल-भावसे प्रज्वलित दीपककी भाँति प्रकाशित होता है । लिङ्ग शरीरसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । वह ऐसा निश्चल हो जाता है कि उसकी ऊपर-नीचे अथवा मध्यमें कहीं भी गति नहीं होती ॥ १८ ॥

तदा तमनुपश्येत यस्मिन् दृष्टे न कथ्यते ।
हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥ १९ ॥

जिनका साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य कुछ बोल नहीं पाता, योगकालमें योगी उसी परमात्माको देखे । वत्स ! मुझ-जैसे लोगोंको अपने-अपने हृदयमें स्थित सबके ज्ञाता अन्त-रात्माका ही ज्ञान प्राप्त करना उचित है ॥ १९ ॥

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥ २० ॥

ध्याननिष्ठ योगीको अपने हृदयमें उसी प्रकार परमात्माका साक्षात् दर्शन होता है जैसे धूमरहित अग्निका, किरणमालाओंसे मण्डित सूर्यका तथा आकाशमें विद्युत्के प्रकाशका दर्शन होता है ॥ २० ॥

ये पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ २१ ॥

धैर्यवान्, मनीषी, ब्रह्मबोधक शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवाले और महात्मा ब्राह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृतस्वरूप ब्रह्म-का दर्शन कर पाते हैं ॥ २१ ॥

तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तत् तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन् न दृश्यते ॥ २२ ॥

वह ब्रह्म अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा गया है । सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर वह अन्तर्यामीरूपसे अवश्य स्थिर रहता है तथापि किसीको दिखायी नहीं देता है ॥ २२ ॥

बुद्धिद्रव्येण दृश्येत मनोदीपेन लोककृत् ।
महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥ २३ ॥
स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः ।
विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥ २४ ॥
योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥ २५ ॥

सूक्ष्म बुद्धिरूप धन-सम्पन्न पुरुष ही मनोमय दीपकके द्वारा उस लोकस्रष्टा परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं । वह परमात्मा महान् अन्धकारसे परे और तमोगुणसे रहित है; इसलिये वेदके पारगामी सर्वज्ञ पुरुषोंने उसे तमोनुद (अज्ञान-नाशक) कहा है । वह निर्मल, अज्ञानरहित, लिङ्गहीन और अलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध (उपाधिशून्य) है । यही योगियोंका योग है । इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है । इस तरह साधना करनेवाले योगी सबके द्रष्टा अजर-अमर परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ २३—२५ ॥

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ।
सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥ २६ ॥

यहाँतक मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे योग-दर्शनकी बात बतायी है, अब सांख्यका वर्णन करता हूँ; यह विचारप्रधान दर्शन है ॥ २६ ॥

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः ।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रकृतिवादी विद्वान् मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं । उससे दूसरा तत्त्व प्रकट हुआ, जिसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ २७ ॥

अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम् ।
पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥ २८ ॥

महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट हुआ, जो तीसरा तत्त्व है । ऐसा हमारे सुननेमें आया है । अहंकारसे पाँच सूक्ष्म भूतोंकी अर्थात् पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई; यह सांख्यात्मदर्शी विद्वानोंका कथन है ॥ २८ ॥

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ २९ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ हैं । इनसे सोलह तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, जिन्हें विकार कहते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकार हैं । इनमेंसे आकाश आदि पाँच तत्त्व और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये विशेष कहलाते हैं ॥ २९ ॥

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।
सांख्ये विधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥ ३० ॥

सांख्यशास्त्रीय विधिविधानके ज्ञाता और सदा सांख्यमार्गमें ही अनुरक्त रहनेवाले मनीषी पुरुष इतनी ही सांख्यसम्मत

तत्त्वोंकी संख्या बतलाते हैं। अर्थात् अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन आठ प्रकृतियोंसहित उपर्युक्त सोलह विकार मिलकर कुल चौबीस तत्त्व सांख्यशास्त्रके विद्वानोंने स्वीकार किये हैं ॥ ३० ॥

यस्माद् यदभिजायेत तत् तत्रैव प्रलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चान्तरात्मना ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व जिससे उत्पन्न होता है, वह उसीमें लीन भी होता है। अनुलोमक्रमसे उन तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है (जैसे प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे सूक्ष्म भूत आदिके क्रमसे सृष्टि होती है); परंतु उनका संहार विलोमक्रमसे होता है (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है। इस तरह सभी तत्त्व अपने-अपने कारणमें लीन होते हैं)। ये सभी तत्त्व अन्तरात्माद्वारा ही रचे जाते हैं ॥ ३१ ॥

अनुलोमेन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः ।
गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रसे उठी हुई लहरें फिर उसीमें शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण गुण (तत्त्व) सदा अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते और विलोमक्रमसे अपने कारणभूत गुणों (तत्त्व) में ही लीन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ॥ ३३ ॥
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः ।
अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥ ३४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इतना ही प्रकृतिके सर्ग और प्रलयका विषय है। प्रलयकालमें इसका एकत्व है और जब रचना होती है, तब इसके बहुत भेद हो जाते हैं। राजेन्द्र ! ज्ञाननिपुण पुरुषोंको इसी प्रकार प्रकृतिका एकत्व और नानात्व जानना चाहिये। अव्यक्त प्रकृति ही अधिष्ठाता पुरुषको सृष्टिकालमें नानात्वकी ओर ले जाती है। यही पुरुषके एकत्वका निदर्शन है ॥ ३३-३४ ॥

एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान् ।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥ ३५ ॥

अर्थ-तत्त्वके ज्ञाता पुरुषको यह जानना चाहिये कि प्रलयकालमें प्रकृतिमें भी एकता और सृष्टिकालमें अनेकता रहती है। इसी प्रकार पुरुष भी प्रलयकालमें एक ही रहता है; किंतु सृष्टिकालमें प्रकृतिका प्रेरक होनेके कारण उसमें नानात्वका आरोप हो जाता है ॥ ३५ ॥

बहुधाऽऽत्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् ।
तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ॥ ३६ ॥

परमात्मा ही प्रसवात्मिका प्रकृतिको नाना रूपोंमें परिणत करता है। प्रकृति और उसके विकारको क्षेत्र कहते हैं। चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व महान् आत्मा है, वह क्षेत्रमें अधिष्ठातारूपसे निवास करता है ॥ ३६ ॥

अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः ।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! इसीलिये यतिशिरोमणि उसे अधिष्ठाता कहते हैं। क्षेत्रोंका अधिष्ठान होनेके कारण वह अधिष्ठाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ ३७ ॥

क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते ।
अव्यक्तिके पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते ॥ ३८ ॥

वह अव्यक्तसंज्ञक क्षेत्र (प्रकृति) को जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है और प्राकृत शरीररूपी पुरीमें अन्तर्यामीरूपसे शयन करनेके कारण उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३८ ॥

अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञाता वै पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

वास्तवमें क्षेत्र अन्य वस्तु है और क्षेत्रज्ञ अन्य। क्षेत्र अव्यक्त कहा गया है और क्षेत्रज्ञ उसका ज्ञाता पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ३९ ॥

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते ।
ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥ ४० ॥

ज्ञान अन्य वस्तु है और ज्ञेय उससे भिन्न कहा जाता है। ज्ञान[1] अव्यक्त कहा गया है और ज्ञेय पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ।
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥ ४१ ॥

अव्यक्तको क्षेत्र कहा गया है। उसीको सत्त्व (बुद्धि) और शासककी भी संज्ञा दी गयी है; परंतु पचीसवाँ तत्त्व परमपुरुष परमात्मा जड तत्त्व और ईश्वरसे रहित भिन्न है ॥

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

इतना ही सांख्यदर्शन है। सांख्यके विद्वान् तत्त्वोंकी संख्या (गणना) करते और प्रकृतिको ही जगत्का कारण बताते हैं। इसीलिये इस दर्शनका नाम सांख्यदर्शन है ॥ ४२ ॥

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

सांख्यवेत्ता पुरुष प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंकी परिगणना करके परमपुरुषको जड तत्त्वोंसे भिन्न पचीसवाँ निश्चित करते हैं ॥ ४३ ॥

पञ्चविंशोऽप्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ।
यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥ ४४ ॥

वह पचीसवाँ प्रकृतिरूप नहीं है। उससे सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप माना गया है। जब वह अपने-आपको प्रकृतिसे भिन्न नित्य-चिन्मय जान लेता है, उस समय केवल हो जाता है अर्थात् अपने विशुद्ध परब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे बुद्धिवृत्तिको समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ।
एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मैंने तुमसे यह सम्यग्दर्शन (सांख्य) का यथावत्रूपसे वर्णन किया है । जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे शान्तस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥

सम्यङ्निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा ।
गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणोऽन्यस्तथा भवेत् ॥ ४६ ॥

प्रकृति-पुरुषका प्रत्यक्ष-दर्शन (अपरोक्ष-अनुभव) ही सम्यग्दर्शन है । ये जो गुणमय तत्त्व हैं, इनसे भिन्न परमपुरुष परमात्मा निर्गुण हैं ॥ ४६ ॥

न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः ।
विद्यतेऽक्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥ ४७ ॥

इस दर्शनके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेवालोंकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती; क्योंकि वे अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, अतः परापरस्वरूप निर्विकार परब्रह्मरूपसे ही उनकी स्थिति होती है ॥ ४७ ॥

पश्येरन्नैकमतयो न सम्यक् तेषु दर्शनम् ।
ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥ ४८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जिनकी बुद्धि नानात्वका दर्शन करती है, उन्हें सम्यक्-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । ऐसे लोगोंको बारंबार शरीर धारण करना पड़ता है ॥ ४८ ॥

सर्वमेतद् विजानन्तो नासर्वस्य प्रबोधनात् ।
व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥ ४९ ॥

जो इस सारे प्रपञ्चको ही जानते हैं, वे इससे भिन्न परमात्माका तत्त्व न जाननेके कारण निश्चय ही शरीरधारी होंगे और शरीर तथा काम-क्रोध आदि दोषोंके वशवर्ती बने रहेंगे ॥ ४९ ॥

सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः ।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥ ५० ॥

'सर्व' नाम है अव्यक्त प्रकृतिका और उससे भिन्न पचीसवें तत्त्व परमात्माको असर्व कहा गया है । जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, उन्हें आवागमनका भय नहीं होता है ।५०।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विद्या-अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका एवं विवेकीके उद्धारका वर्णन

वसिष्ठ उवाच

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम ।
विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! यहाँतक मैंने तुम्हें सांख्यदर्शनकी बात बतायी है । अब इस समय तुम मुझसे विद्या और अविद्याका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ १ ॥

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पञ्चविंशकः ॥ २ ॥

मुनियोंने सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाले कार्यसहित अव्यक्तको ही अविद्या कहा है तथा चौबीस तत्त्वोंसे परे जो पचीसवाँ तत्त्व परम पुरुष परमात्मा है, जो सृष्टि और प्रलयसे रहित है, उसीको विद्या कहते हैं ॥ २ ॥

परस्परस्य विद्यां वै त्वं नबोधानुपूर्वशः ।
यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्याभिनिदर्शनम् ॥ ३ ॥

तात ! ऋषियोंने जिस प्रकार सांख्यदर्शनकी बात बतायी है, उसी प्रकार तुम अव्यक्तका जो पारस्परिक भेद है, उनमें जो जिसकी विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है, उसका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ ३ ॥

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम् ।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥ ४ ॥

हमने सुन रक्खा है कि समस्त कर्मेन्द्रियोंकी विद्या ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं । अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंकी विद्या पञ्चमहाभूत हैं ॥ ४ ॥

विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः ।
मनसः पञ्च भूतानि विद्या इत्यभिचक्षते ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि स्थूल पञ्चभूतोंकी विद्या मन है और मनकी विद्या सूक्ष्म पञ्चभूत हैं ॥ ५ ॥

अहङ्कारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः ।
अहङ्कारस्य च तथा बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! उन सूक्ष्मपञ्चभूतोंकी विद्या अहंकार है, इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकारकी विद्या बुद्धि मानी गयी है ॥ ६ ॥

विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी ।
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! अव्यक्त नामवाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्त्वोंकी विद्या है । यह विद्या जानने योग्य है । इसीको ज्ञानकी परम विधि कहते हैं ॥ ७ ॥

अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम् ।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥ ८ ॥

पचीसवें तत्त्वके रूपमें जिस परम पुरुष परमात्माकी

चर्चा की गयी है, उसीको अव्यक्त प्रकृतिकी परम विद्या बताया गया है। राजन्! वही सम्पूर्ण ज्ञानका सर्वरूप ज्ञेय है॥

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः।
तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः॥ ९॥

ज्ञान अव्यक्त कहा गया है और परम पुरुष ज्ञेय बताया गया है, उसी प्रकार ज्ञान अव्यक्त है और उसका ज्ञाता परम पुरुष है॥ ९॥

विद्याविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः।
अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे॥ १०॥

राजन्! मैंने तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे विद्यासहित अविद्याका विशेषरूपसे वर्णन किया है। अब जो क्षर और अक्षर तत्त्व कहे गये हैं; उनके विषयमें मुझसे सुनो॥ १०॥

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ।
कारणं तु प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं तु ज्ञानतः॥ ११॥

सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही अक्षर कहा गया है तथा ये ही दोनों क्षर भी हैं। मैं अपने ज्ञानके अनुसार इसका यथार्थ कारण बतलाता हूँ॥ ११॥

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ।
तत्त्वसंज्ञावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः॥ १२॥

ये दोनों ही अनादि और अनन्त हैं; अतः परस्पर संयुक्त होकर दोनों ही ईश्वर (सर्वसमर्थ) माने गये हैं। सांख्यज्ञानका विचार करनेवाले विद्वान् इन दोनों-को ही 'तत्त्व' कहते हैं॥ १२॥

सर्गप्रलयधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम्।
तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः॥ १३॥

सृष्टि और प्रलय प्रकृतिका धर्म है। इसलिये प्रकृतिको अक्षर कहा गया है। वही प्रकृति महत्तत्त्व आदि गुणोंकी सृष्टिके लिये बारंबार विकारको प्राप्त होती है; इसलिये उसे क्षर भी कहा जाता है॥ १३॥

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम्।
अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तत् पञ्चविंशकम्॥ १४॥

महत्तत्त्व आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषके परस्पर संयोगसे होती है; अतः एक दूसरेका अधिष्ठान होनेके कारण पुरुषको भी क्षेत्र कहते हैं॥ १४॥

यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत्।
तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते॥ १५॥

योगी जब अपने योगके प्रभावसे प्रकृतिके गुणसमूहको अव्यक्त मूल प्रकृतिमें विलीन कर देता है, तब उन गुणोंका विलय होनेके साथ-साथ पचीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मामें मिल जाता है। इस दृष्टिसे उसे भी क्षर कह सकते हैं॥ १५॥

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत्।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते॥ १६॥

तात! जब कार्यभूत गुण कारणभूत गुणोंमें लीन हो जाते हैं, उस समय सब कुछ एकमात्र प्रकृतिस्वरूप हो जाता है तथा जब क्षेत्रज्ञ भी परमात्मामें लीन हो जाता है, तब उसका भी पृथक् अस्तित्व नहीं रहता॥ १६॥

तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता।
निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात्॥ १७॥

विदेहराज! उस समय त्रिगुणमयी प्रकृति क्षरत्व (नाश) को प्राप्त होती है और पुरुष भी गुणोंमें प्रवृत्त न होनेके कारण निर्गुण (गुणातीत) हो जाता है॥ १७॥

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये।
प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम॥ १८॥

इस प्रकार जब क्षेत्रका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् पुरुषको प्रकृतिका ज्ञान नहीं रहता, तब वह स्वभावसे ही निर्गुण है—यह हमने सुन रक्खा है॥ १८॥

क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ।
प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः॥ १९॥

जब यह पुरुष र होता है, अर्थात् परमात्मामें लीन हो जाता है, उस समय वह प्रकृतिके सगुणत्वको और अपने निर्गुणत्वको यथार्थ समझ लेता है॥ १९॥

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात्।
अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान्॥ २०॥

इस तरह ज्ञानवान् पुरुष जब यह जान लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह प्रकृतिसे रहित हो जानेसे अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होता है॥

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत्।
प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते॥ २१॥

राजेन्द्र! प्रकृतिसे संयोगके समय उससे अभिन्न-सा प्रतीत होनेके कारण यह पुरुष तद्रूपताको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है, परंतु उस अवस्थामें भी उसका प्रकृतिके साथ मिश्रण नहीं होता, उसकी पृथक्ता बनी रहती है। इस प्रकार पुरुष प्रकृतिके साथ संयुक्त और पृथक् भी दिखायी देता है॥ २१॥

यदा तु गुणजालं तत् प्राकृतं वै जुगुप्सते।
पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न संत्यजेत्॥ २२॥

जब वह प्राकृत गुणसमुदायको कुत्सित समझकर उससे विरत हो जाता है, उस समय वह परम दर्शनीय परमात्माका दर्शन पा जाता है और उसको देखकर फिर भी उसका त्याग नहीं करता अर्थात् उससे अलग नहीं होता॥ २२॥

किं मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम्।
मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह॥ २३॥

(जिस समय जीवात्माको विवेक होता है, उस समय वह यों विचार करने लगता है—) 'ओह! मैंने यह क्या किया? जैसे मछली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जालमें फँस जाती है, उसी प्रकार मैं भी आजतक यहाँ इस प्राकृत शरीर-का ही अनुसरण करता रहा॥ २३॥

अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ।
मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥ २४ ॥

'जैसे मत्स्य पानीको ही अपने जीवनका मूल समझकर एक जलाशयसे दूसरे जलाशयको जाता है, उसी तरह मैं भी मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहा ॥ २४ ॥

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते ।
आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम् ॥ २५ ॥

'जैसे मत्स्य अज्ञानवश अपनेको जलसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अज्ञताके कारण इस प्राकृत शरीरसे अपनेको भिन्न नहीं समझता था ॥ २५ ॥

ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः ।
अनुवर्तितवान् मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥ २६ ॥

'मुझ मूढ़को धिक्कार है; जो कि संसारसागरमें डूबे हुए इस शरीरका आश्रय ले मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरका अनुसरण करता रहा ॥ २६ ॥

अयमत्र भवेद् बन्धुरनेन सह मे क्षमम् ।
साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥ २७ ॥

'वास्तवमें इस जगत्‌के भीतर यह परमात्मा ही मेरा बन्धु है । इसीके साथ मेरी मैत्री हो सकती है । पहले मैं कैसा भी क्यों न रहा होऊँ, इस समय तो मैं इसकी समानता और एकताको प्राप्त हो चुका हूँ, जैसा वह है वैसा ही मैं हूँ ॥

तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै ।
अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तथा ॥ २८ ॥

'इसीमें मुझे अपनी समानता दिखायी देती है । मैं अवश्य इसके ही सदृश हूँ । यह परमात्मा प्रत्यक्ष ही अत्यन्त निर्मल है और मैं भी ऐसा ही हूँ ॥ २८ ॥

योऽहमज्ञानसम्मोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् ।
ससङ्गयाहं निःसङ्गः स्थितः कालमिमं त्वहम् ॥ २९ ॥

'मैं जो कि आसक्तिसे सर्वथा रहित हूँ तो भी अज्ञान एवं मोहके वशीभूत होकर इतने समयतक इस आसक्तिमयी जड प्रकृतिके साथ रमता रहा ॥ २९ ॥

अनयाहं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान् ।
उच्चमध्यमनीचानां तामहं कथमावसे ॥ ३० ॥

'इसने मुझे इस तरह वशमें कर लिया था कि मुझे आजतकके समयका पता ही न चला । यह तो उच्च, मध्यम तथा नीच सब श्रेणीके लोगोंके साथ रहती है । भला, इसके साथ मैं कैसे रह सकता हूँ ? ॥ ३० ॥

समानयानया चेह सह वासमहं कथम् ।
गच्छाम्यबुद्धभावत्वादेषेदानीं स्थिरो भवे ॥ ३१ ॥

'जो मेरे साथ संयुक्त होकर मेरी समानता करने लगी है, ऐसी इस प्रकृतिके साथ मैं मूर्खतावश सहवास कैसे कर सकता हूँ ? यह लो, अब मैं स्थिर हो रहा हूँ ॥ ३१ ॥

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् ।
वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३२ ॥

'मैं निर्विकार होकर भी इस विकारमयी प्रकृतिके द्वारा ठगा गया । इतने समयतक इसने मेरे साथ ठगी की है । इसलिये अब इसके साथ नहीं रहूँगा ॥ ३२ ॥

न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम ।
योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥ ३३ ॥

'किंतु यह इसका अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरा ही है; जो कि मैं परमात्मासे विमुख होकर इसमें आसक्त हुआ स्थित रहा ॥ ३३ ॥

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् ।
अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥ ३४ ॥

'यद्यपि मैं सर्वथा अमूर्त हूँ अर्थात् किसी आकारवाला नहीं हूँ तो भी मैं प्रकृतिकी अनेक रूपवाली मूर्तियोंमें स्थित हुआ देहरहित होकर भी ममतासे परास्त होनेके कारण देहधारी बना रहा ॥ ३४ ॥

प्राक् कृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु ।
निर्ममस्य ममत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥ ३५ ॥

'पहले जो मैंने इसके प्रति ममता की थी, उसके कारण मुझे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकना पड़ा । यद्यपि मैं ममता-रहित हूँ तो भी इस प्रकृतिजनित ममताने भिन्न-भिन्न योनियोंमें मुझे डालकर मेरी बड़ी दुर्दशा कर डाली ॥ ३५ ॥

योनीषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा ।
न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥ ३६ ॥

'इसके साथ नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकनेके कारण मेरी चेतना खो गयी थी । अब इस अहंकारमयी प्रकृतिसे मेरा कोई काम नहीं है ॥ ३६ ॥

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् ।
इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥ ३७ ॥

'अब भी यह बहुत-से रूप धारण करके मेरे साथ संयोगकी चेष्टा कर रही है; किंतु अब मैं सावधान हो गया हूँ, इसलिये ममता और अहंकारसे रहित हो गया हूँ ॥ ३७ ॥

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् ।
अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३८ ॥

'अब तो इसको और इसकी अहंकारस्वरूपिणी ममता-को त्यागकर इससे सर्वथा अतीत होकर मैं निरामय परमात्मा-की शरण लूँगा ॥ ३८ ॥

अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया ।
क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥ ३९ ॥

'उन परमात्माकी ही समानता प्राप्त करूँगा । इस जड प्रकृतिकी समानता नहीं धारण करूँगा । परमात्माके साथ संयोग करनेमें ही मेरा कल्याण है । इस प्रकृतिके साथ नहीं ॥

एवं परमसम्बोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् ।
अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वा क्षरमनामयम् ॥ ४० ॥

'इस प्रकार उत्तम विवेकके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ आत्मा क्षरभाव (विनाशशीलता) का त्याग करके निरामय अक्षरभावको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा ।
निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥ ४१ ॥

'मिथिलानरेश ! अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्वादि, सगुण (जडवर्ग), निर्गुण (आत्मा) तथा सबके आदि-भूत निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार करके मनुष्य स्वयं भी वैसा ही हो जाता है ॥ ४१ ॥

अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् ।
मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

राजन् ! वेदमें जैसा वर्णन किया गया है, उसके अनुरूप यह क्षर-अक्षरका विवेक करानेवाला ज्ञान मैंने तुम्हें सुनाया है ॥

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा ।
प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ४३ ॥

अब पुनः श्रुतिके अनुसार संदेहरहित, सूक्ष्म तथा अत्यन्त निर्मल विशिष्ट ज्ञानकी बात तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥

मैंने सांख्य और योगका जो वर्णन किया है, उसमें इन दोनोंको पृथक्-पृथक् दो शास्त्र बताया है; परंतु वास्तवमें जो सांख्यशास्त्र है, वही योगशास्त्र भी है (क्योंकि दोनोंका फल एक ही है) ॥ ४४ ॥

प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते ।
विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ४५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैंने शिष्योंके हितकी कामनासे उनके लिये ज्ञानजनक जो सांख्यदर्शन है, उसका तुम्हारे निकट स्पष्टरूपसे वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः ।
अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरःसरः ॥ ४६ ॥

विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सांख्यशास्त्र महान् है । इस शास्त्रमें, योगशास्त्रमें तथा वेदमें अधिक प्रामाणि-कता समझकर मनुष्यको इनके अध्ययनके लिये आगे बढ़ना चाहिये ॥ ४६ ॥

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! सांख्यशास्त्रके आचार्य पचीसवें तत्त्वसे परे और किसी तत्त्वका वर्णन नहीं करते हैं । यह मैंने सांख्योंके परम तत्त्वका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है ॥ ४७ ॥

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥

जो नित्य ज्ञानसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है तथा जो परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी 'बुध्यमान' संज्ञा होती है । इस प्रकार योगके सिद्धान्तके अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं ॥४८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर और परमात्म-तत्त्वका वर्णन, जीवके नानात्व और एकत्वका दृष्टान्त, उपदेशके अधिकारी और अनधिकारी तथा इस ज्ञानकी परम्पराको बताते हुए वसिष्ठ-करालजनक-संवादका उपसंहार

वसिष्ठ उवाच

अथ बुद्धमथाबुद्धमिमं गुणविधिं शृणु ।
आत्मानं बहुधा कृत्वा तान्येव प्रविचक्षते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! अब बुद्ध (परमात्मा), अबुद्ध (जीवात्मा) और इस गुणमयी सृष्टि (प्राकृत प्रपञ्च) का वर्णन सुनो । जीवात्मा अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके उन रूपोंको सत्य मानकर देखता रहता है ॥

एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते ।
गुणान् धारयते ह्येष सृजत्याक्षिपते तदा ॥ २ ॥

वास्तवमें ज्ञानसम्पन्न होनेपर भी इस प्रकार प्रकृतिके संसर्गसे विकारको प्राप्त हुआ जीवात्मा ब्रह्मको नहीं जान पाता । वह गुणोंको धारण करता है; अतः कर्तृत्वका अभिमान लेकर रचना और संहार किया करता है ॥ २ ॥

अजस्रं त्विह क्रीडार्थं विकरोति जनाधिप ।
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! जीवात्मा इस जगत्‌में सदा क्रीड़ा करनेके लिये ही विकारको प्राप्त होता है । वह अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये ऋषि-मुनि उसे 'बुध्यमान' कहते हैं ॥ ३ ॥

न त्वेव बुध्यतेऽव्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम् ।
कदाचित् त्वेव खल्वेतदाहुरप्रतिबुद्धकम् ॥ ४ ॥

तात ! परब्रह्म परमात्मा सगुण हो या निर्गुण, उसे प्रकृति कभी नहीं जानती (क्योंकि वह जड है), अतः सांख्यवादी विद्वान् इस प्रकृतिको अप्रतिबुद्ध (ज्ञानशून्य) कहते हैं ॥ ४ ॥

बुध्यते यदि वाव्यक्तमेतद् वै पञ्चविंशकम् ।

बुध्यमानो भवत्येव सङ्गात्मक इति श्रुतिः।
अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्त्यव्यक्तमच्युतम्॥ ५॥

यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति भी जानती है तो यह केवल पचीसवें तत्त्व—पुरुषको ही उससे संयुक्त होकर जान पाती है, प्रकृतिके साथ संयुक्त होनेके कारण ही जीव सङ्गात्मक (सङ्गी) होता है; ऐसा श्रुतिका कथन है। इस सङ्गदोषके कारण ही अव्यक्त एवं अविकारी जीवात्माको लोग 'मूढ़' कह दिया करते हैं॥ ५॥

अव्यक्तबोधनाच्चापि बुध्यमानं वदन्त्युत।
पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते॥ ६॥
षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम्।
स तु तं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुध्यते॥ ७॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप महान् आत्मा अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये उसे 'बुध्यमान' कहते हैं; परंतु वह भी छब्बीसवें तत्त्वरूप निर्मल नित्य शुद्ध बुद्ध अप्रमेय सनातन परमात्माको नहीं जानता है; किंतु वह सनातन परमात्मा उस पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको तथा चौबीसवीं प्रकृतिको भी भलीभाँति जानता है॥ ६-७॥

दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते।
अव्यक्तमत्र तद् ब्रह्म बुध्यते तात केवलम्॥ ८॥

तात! महातेजस्वी नरेश! वह अव्यक्त एवं अद्वितीय ब्रह्म यहाँ दृश्य और अदृश्य सभी वस्तुओंमें स्वभावसे ही व्याप्त है; अतः वह सबको जानता है॥ ८॥

केवलं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं न पश्यति।
बुध्यमानो यदाऽऽत्मानमन्योऽहमिति मन्यते॥ ९॥
तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः।

चौबीसवीं अव्यक्त प्रकृति न तो अद्वितीय ब्रह्मको देख पाती है और न पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको। जब जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्मकी ओर दृष्टि रखकर अपनेको प्रकृतिसे भिन्न मानता है, तब यह प्रकृतिका अधिपति हो जाता है॥ ९½॥

बुध्यते च परां बुद्धिं विशुद्धाममलां यदा॥ १०॥
षड्विंशो राजशार्दूल तथा बुद्धत्वमाव्रजेत्।
ततस्त्यजति सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै॥ ११॥

नृपश्रेष्ठ! जब जीवात्मा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी, निर्मल एवं सर्वोत्कृष्ट बुद्धिको प्राप्त कर लेता है, तब वह छब्बीसवें तत्त्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है। उस स्थितिमें वह नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित होता है। फिर तो वह सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाली अव्यक्त प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाता है॥ १०-११॥

निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम्।
ततः केवलधर्मासौ भवत्यव्यक्तदर्शनात्॥ १२॥

वह गुणोंसे अतीत होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिको जडरूपमें जान लेता है, इस प्रकार प्रकृतिको अपनेसे सर्वथा अभिन्न देखनेके कारण वह कैवल्यको प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

केवलेन समागम्य विमुक्तोऽऽत्मानमाप्नुयात्।
एतत् तु तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामरम्॥ १३॥

केवल (अद्वितीय) ब्रह्मसे मिलकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हुआ अपने परमार्थस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसीको परमार्थतत्त्व कहते हैं। यह सब तत्त्वोंसे अतीत तथा जरा-मरणसे रहित है॥ १३॥

तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्ववन्न च मानद।
पञ्चविंशति तत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः॥ १४॥

सबको मान देनेवाले नरेश! जीवात्मा तत्त्वोंका आश्रय लेनेसे ही तत्त्व-सदृश प्रतीत होता है। वास्तवमें वह तत्त्वोंका द्रष्टामात्र होनेके कारण तत्त्व नहीं है—तत्त्वोंसे सर्वथा भिन्न ही है। इस प्रकार मनीषी पुरुष (प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंके साथ) जीवात्माको भी एक तत्त्व मानकर कुल पचीस तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं॥ १४॥

न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान्।
एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धस्य लक्षणम्॥ १५॥

तात! यह जीवात्मा वास्तवमें तत्त्वोंसे अतीत है, अतः तद्रूप नहीं होता है; अपितु ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही प्राकृत तत्त्वोंका त्याग कर देता है और उसमें नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मके लक्षण प्रकट हो जाते हैं॥

षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः।
केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम्॥ १६॥

'मैं पचीस तत्त्वोंसे भिन्न छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ। नित्य ज्ञानसम्पन्न और जाननेके योग्य अजर-अमरस्वरूप हूँ,' इस प्रकार विचार करते-करते जीवात्मा केवल विवेक-बलसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है॥ १६॥

षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्यबुद्धिमान्।
एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यश्रुतिनिदर्शनात्॥ १७॥

जीव छब्बीसवें तत्त्व ज्ञानस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही जडवर्गको जानता है; परंतु उसे जानकर भी परमात्माको न जाननेके कारण वह अज्ञानी ही रह जाता है। यह अज्ञान ही जीवके नानात्वरूप बन्धनका कारण बताया जाता है। जैसा कि सांख्यशास्त्र और श्रुतियोंद्वारा दिग्दर्शन कराया गया है॥

चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह।
एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते॥ १८॥

जब जीवात्मा बुद्धिके द्वारा जडवर्गको अपना नहीं समझता अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब नित्य चेतन परमात्मासे संयुक्त हुए उस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता हो जाती है॥ १८॥

बुध्यमानोऽप्रबुद्धेन समतां याति मैथिल।
सङ्गधर्मा भवत्येष निःसङ्गात्मा नराधिप॥ १९॥

मिथिलानरेश! जबतक जीवात्मा जडवर्गको अपना

समझता है, तबतक उस जडवर्गकी ही समताको वह प्राप्त होता है। यद्यपि वह स्वरूपसे असङ्ग है, तो भी प्रकृतिके सम्पर्कसे आसक्तिरूप धर्मवाला हो जाता है ॥ १९ ॥

निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्।
विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद् विबुद्ध्यते ॥ २० ॥
चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात्।

छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापी और सङ्ग-दोषसे रहित है। उसकी शरण लेकर जब जीवात्मा उसके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, तब परमात्मज्ञानके प्रभावसे स्वयं भी सर्वव्यापी हो जाता है तथा चौबीस तत्त्वोंसे युक्त प्रकृतिको असार समझकर त्याग देता है ॥ २०½ ॥

एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ २१ ॥
प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात्।
नानात्वैकत्वमेतावद् द्रष्टव्यं शास्त्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे अप्रतिबुद्ध (क्षर), बुध्यमान (अक्षर जीवात्मा) और बुद्ध (ज्ञान-स्वरूप परमात्मा)—इन तीनोंका श्रुतिके निर्देशके अनुसार यथार्थरूपसे प्रतिपादन किया है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार जीवात्माके नानात्व और एकत्वको इसी तरह समझना चाहिये॥

मशकोदुम्बरे यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः।
मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते ॥ २३ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ रहते हुए भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भिन्नता है। जैसे मछली और जल एक-दूसरेसे भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भेद उपलब्ध होता है ॥ २३ ॥

एवमेवावगन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः।
एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंहितम् ॥ २४ ॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी एकता और अनेकता-को समझना चाहिये। अव्यक्त प्रकृतिका पुरुषसे जो नित्य भेद है, उसके यथार्थज्ञानसे पुरुष उसके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसीको मोक्ष कहा गया है ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते।
एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ २५ ॥

इस शरीरमें जो पचीसवाँ तत्त्व अन्तर्यामी पुरुष विद्यमान है, उसे अव्यक्तके कार्यभूत महत्तत्त्वादिके बन्धनसे मुक्त करना आवश्यक है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ २५ ॥

सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः।
परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै ॥ २६ ॥

वह यह जीवात्मा पूर्वोक्त प्रकारसे ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यही विद्वानोंका निश्चय है। यह दूसरेसे मिल-कर उसीका समानधर्मी हो जाता है ॥ २६ ॥

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर ! जीवात्मा शुद्ध पुरुषका सङ्ग करके विशुद्ध धर्मवाला होता है। किसी ज्ञानी या बुद्धिमान्‌का सङ्ग करनेसे बुद्धिमान् होता है। किसी मुक्तसे मिलनेपर उसमें मुक्तके-से ही धर्म या लक्षण प्रकट होते हैं ॥ २७ ॥

वियोगधर्मिणा चैव विमुक्तात्मा भवत्यथ।
विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् ॥ २८ ॥

जिसका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट गया है, ऐसे पुरुषसे मिलनेपर वह विमुक्तात्मा होता है। जो मोक्षधर्मसे युक्त है, उसका साथ करनेसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥

जिसके आचार-विचार शुद्ध हैं, उससे मिलनेपर वह पवित्र-कर्मा एवं पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके सम्पर्कमें जानेपर वह भी निर्मलात्मा और अमित-तेजस्वी होता है ॥ २९ ॥

केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३० ॥

अद्वितीय परमात्मासे सम्बन्ध स्थापित करके वह तद्रूपता-को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अद्वितीय परमात्माको प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेके कारण वह वास्तवमें स्वतन्त्र होकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है॥

एतावदेतत् कथितं मया ते
तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम्।
अमत्सरत्वं परिगृह्य चार्थं
सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! मैंने ईर्ष्या-द्वेषसे रहित भावको स्वीकार करके और तुम्हारे प्रयोजनको समझकर तुमसे प्रेमपूर्वक इस शुद्ध सनातन एवं सबके आदिभूत सत्यस्वरूप ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वका इस रूपमें वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्
प्रदेयमेतत् परमं त्वया भवेत्।
विधित्समानाय विबोधकारणं
प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! जो मनुष्य वेदमें श्रद्धा रखनेवाला न हो, उसे इस उत्तम ज्ञानका उपदेश तुम्हें नहीं करना चाहिये। जिसे बोधके लिये अधिक प्यास हो तथा जो जिज्ञासुभावसे शरणमें आया हो, वही इस उपदेशको सुननेका अधिकारी है ॥ ३२ ॥

न देयमेतच्च तथानृतात्मने
शठाय क्लीबाय न जिह्मबुद्धये।
न पण्डितज्ञानपरोपतापिने
देयं तु देयं च निबोध यादृशे ॥ ३३ ॥

असत्यवादी, शठ, नीच, कपटी, अपनेको पण्डित माननेवाले और दूसरेको कष्ट पहुँचानेवाले मनुष्यको भी

इसका उपदेश नहीं देना चाहिये । कैसे पुरुषको इस ज्ञानका उपदेश देना और अवश्य देना चाहिये—यह भी सुन लो ॥ ३३ ॥

श्रद्धान्वितायाथ गुणान्विताय
परापवादाद् विरताय नित्यम् ।
विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं
क्रियावते च क्षमिणे हिताय ॥ ३४ ॥
विविक्तशीलाय विधिप्रियाय
विवादहीनाय बहुश्रुताय ।
विजानते चैव न चाहितक्षमे
दमे च शक्ताय शमे च देयम् ॥ ३५ ॥

श्रद्धालु, गुणवान्, परनिन्दासे सदा दूर रहनेवाले, विशुद्ध योगी, विद्वान्, सदा शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले, क्षमाशील, सबके हितैषी, एकान्तवासी, शास्त्रविधिका आदर करनेवाले, विवादहीन, बहुज्ञ, विज्ञ, किसीका अहित न करनेवाले तथा इन्द्रियसंयम एवं मनोनिग्रहमें समर्थ पुरुषको ही इस ज्ञानका उपदेश देना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

एतैर्गुणैर्हीनतमे न देय-
मेतत् परं ब्रह्म विशुद्धमाहुः ।
न श्रेयसा योक्ष्यति तादृशे कृतं
धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात् ॥ ३६ ॥

जो इन सद्गुणोंसे अत्यन्त हीन हो, उसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिये । यह ज्ञान विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप बताया गया है । वैसे गुणहीन पुरुषको दिया हुआ यह ज्ञान उसके लिये कल्याणकारी नहीं होगा तथा कुपात्रको उपदेश देनेसे वह वक्ताका भी कल्याण नहीं करेगा ॥ ३६ ॥

पृथ्वीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां
दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय ।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते
भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र ॥ ३७ ॥

नरेन्द्र ! जिसने व्रत और नियमोंका पालन न किया हो, वह यदि रत्नोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका राज्य दे तो भी उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये । परंतु जितेन्द्रिय पुरुषको निस्संदेह इस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश देना तुझे उचित है ॥ ३७ ॥

कराल मा ते भयमस्तु किञ्चि-
देतच्छ्रुतं ब्रह्म परं त्वयाद्य ।
यथावदुक्तं परमं पवित्रं
विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम् ॥ ३८ ॥
अगाधजन्मामरणं च राजन्
निरामयं वीतभयं शिवं च ।
समीक्ष्य मोहं त्यज चाद्य सर्वं
ज्ञानस्य तत्त्वार्थमिदं विदित्वा ॥ ३९ ॥

कराल ! तुमने मुझसे आज परब्रह्मका ज्ञान सुना है; अतः तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये । वह परब्रह्म परम पवित्र, शोकरहित, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य, जन्म-मृत्युसे बचानेवाला, निरामय, निर्भय तथा कल्याणमय है । राजन् ! उसका मैंने यथावत्रूपसे प्रतिपादन किया है । वही सम्पूर्ण ज्ञानोंका तात्त्विक अर्थ है । ऐसा जानकर उसका ज्ञान प्राप्त करके आज मोहका परित्याग कर दो ॥

अवाप्तमेतद्धि मया सनातना-
द्धिरण्यगर्भाद् गदतो नराधिप ।
प्रसाद्य यत्नेन तमुग्रचेतसं
सनातनं ब्रह्म यथाद्य वै त्वया ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! जिस प्रकार आज तुमने मुझसे सनातन ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया है; इसी प्रकार मैंने भी हिरण्यगर्भ नामसे प्रसिद्ध सनातन उग्रचेता ब्रह्माजीके मुखसे, उन्हें बड़े यत्नसे प्रसन्न करके, इसे प्राप्त किया था ॥ ४० ॥

पृष्टस्त्वया चास्मि यथा नरेन्द्र
यथा मयेदं त्वयि चोक्तमद्य ।
तथावाप्तं ब्रह्मणो मे नरेन्द्र
महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम् ॥ ४१ ॥

नरेन्द्र ! जैसे तुमने मुझसे पूछा है और जैसे मैंने तुम्हारे प्रति आज इस ज्ञानका उपदेश किया है, उसी प्रकार मैंने भी ब्रह्माजीसे प्रश्न करके उनके मुखसे इस महान् ज्ञानको प्राप्त किया है । यह मोक्षज्ञानियोंका परम आश्रय है ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः ।
पञ्चविंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! महर्षि वसिष्ठके बताये अनुसार यह परब्रह्मका स्वरूप मैंने तुम्हें बताया है, जिसे पाकर जीवात्मा फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ ४२ ॥

पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च ।
नावबुध्यति तत्त्वेन बुध्यमानोऽजरामरम् ॥ ४३ ॥

जो इस उत्तम ज्ञानको गुरुके मुखसे पाकर भी भलीभाँति समझता नहीं है, वह पुनरावृत्ति (बारंबार आवागमन) को प्राप्त होता है और जो इसे तत्त्वतः समझ लेता है, वह जरा-मृत्युसे रहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानं ते परमं मया ।
कथितं तत्त्वतस्तात श्रुत्वा देवर्षितो नृप ॥ ४४ ॥

तात ! नरेश्वर ! यह परम कल्याणकारी उत्तम ज्ञान मैंने देवर्षि नारदजीके मुँहसे सुना था । जिसे यथार्थरूपसे तुम्हें भी बताया है ॥ ४४ ॥

हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठेन महात्मना ।
वसिष्ठादृषिशार्दूलान्नारदोऽवाप्तवानिदम् ॥ ४५ ॥
नारदाद् विदितं मह्यमेतद् ब्रह्म सनातनम् ।
मा शुचः कौरवेन्द्र त्वं श्रुत्वैतत् परमं पदम् ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीसे महात्मा वसिष्ठ मुनिने यह ज्ञान प्राप्त किया था। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे यह नारदजीको उपलब्ध हुआ और नारदजीसे मुझे यह सनातन ब्रह्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। कौरवनरेश ! यह ज्ञान परमपद है। इसे सुनकर अब तुम शोकका त्याग कर दो ॥ ४५-४६ ॥

येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते।
विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद् वेत्ति पार्थिव ॥ ४७ ॥

पृथ्वीनाथ ! जिसने क्षर और अक्षरके तत्त्वको जान लिया है, उसमें किसी प्रकारका भी भय नहीं होता। जो इसे नहीं जानता, उसीमें भय रहता है ॥ ४७ ॥

अविज्ञानाच्च मूढात्मा पुनः पुनरुपाद्रवत्।
प्रेत्य जातिसहस्राणि मरणान्तान्युपाश्नुते ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य इस तत्त्वको न जाननेके कारण बारंबार संसारमें आता है और हजारों योनियोंमें जन्म-मरणके कष्टका अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

देवलोकं तथा तिर्यङ्मनुष्यमपि चाश्नुते।
यदि शुध्यति कालेन तस्मादज्ञानसागरात् ॥ ४९ ॥
(उत्तीर्णोऽस्मादगाधात् स परमाप्नोति शोभनम्।)

वह देव, मनुष्य और पशु-पक्षी आदिकी योनिमें भटकता रहता है। यदि कभी समयके अनुसार शुद्ध हो गया तो उस अगाध अज्ञानसमुद्रसे पार होकर परम कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन ! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं ॥ ५० ॥

यस्मादगाधादव्यक्तादुत्तीर्णस्त्वं सनातनात्।
तस्मात् त्वं विरजाश्चैव वितमस्कश्च पार्थिव ॥ ५१ ॥

राजन् ! तुम मेरा उपदेश पाकर इस अव्यक्त, अगाध एवं प्रवाहरूपमें सदा रहनेवाले भवसागरसे पार हो गये हो, इसलिये अब तुम रजोगुण और तमोगुणसे भी रहित हो गये हो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादसमाप्तौ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ-करालजनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनकवंशी वसुमान्‌को एक मुनिका धर्मविषयक उपदेश

भीष्म उवाच

मृगयां विचरन् कश्चिद् विजने जनकात्मजः।
वने ददर्श विप्रेन्द्रमृषिं वंशधरं भृगोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! एक समयकी बात है, जनकवंशका कोई राजकुमार शिकार खेलनेके लिये एक निर्जन वनमें घूम रहा था। उसने वनमें बैठे हुए एक मुनिको देखा; जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एवं महर्षि भृगुके वंशधर थे ॥ १ ॥

उपासीनमुपासीनः प्रणम्य शिरसा मुनिम्।
पश्चादनुमतस्तेन पप्रच्छ वसुमानिदम् ॥ २ ॥

पास ही बैठे हुए मुनिको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके वह राजकुमार उनके समीपमें ही बैठ गया। उसका नाम वसुमान् था। उसने महर्षिकी आज्ञा लेकर उनसे इस प्रकार पूछा—॥ २ ॥

भगवन् किमिदं श्रेयः प्रेत्य चापीह वा भवेत्।
पुरुषस्याध्रुवे देहे कामस्य वशवर्तिनः ॥ ३ ॥

'भगवन् ! इस क्षणभङ्गुर शरीरमें कामके अधीन होकर रहनेवाले पुरुषका इस लोक और परलोकमें किस उपायसे कल्याण हो सकता है ?' ॥ ३ ॥

सत्कृत्य परिपृष्टः सन् सुमहात्मा महातपाः।
निजगाद ततस्तस्मै श्रेयस्करमिदं वचः ॥ ४ ॥

सत्कारपूर्वक प्रश्न करनेपर उन महातपस्वी महात्मा मुनिने राजकुमार वसुमान्‌से यह कल्याणकारी वचन कहा ॥

ऋषिरुवाच

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥ ५ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार ! यदि तुम इस लोक और परलोकमें अपने मनके अनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर समस्त प्राणियोंके प्रतिकूल आचरणोंसे दूर हट जाओ ॥ ५ ॥

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥ ६ ॥

धर्म ही सत्पुरुषोंका कल्याण करनेवाला और धर्म ही उनका आश्रय है। तात ! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोक धर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

स्वादुकामुक कामानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ७ ॥

भोगोंका रस लेनेकी इच्छा रखनेवाले दुर्बुद्धि मानव ! तुम्हारी कामपिपासा शान्त क्यों नहीं होती ? अभी तुम्हें वृक्षकी ऊँची डालीमें लगा हुआ केवल मधु ही दिखायी

देता है। वहाँसे गिरनेपर प्राणान्त हो सकता है, इसकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं है (अर्थात् अभी तुम भोगोंकी मिठासपर ही लुभाये हुए हो। उससे होनेवाले पतनकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जा रहा है) ॥ ७ ॥

यथा ज्ञाने परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना।
तथा धर्मे परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना ॥ ८ ॥

जैसे ज्ञानका फल चाहनेवालेके लिये ज्ञानसे परिचित होना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्मका फल चाहनेवाले मनुष्यको भी धर्मका परिचय प्राप्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम्।
सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम् ॥ ९ ॥

दुष्ट पुरुष यदि धर्मकी इच्छा करे तो भी उसके द्वारा विशुद्ध कर्मका सम्पादन होना कठिन है और साधु पुरुष यदि धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे तो उसके लिये कठिन-से-कठिन कर्म भी करना सहज है ॥ ९ ॥

वने ग्राम्यसुखाचारो यथा ग्राम्यस्तथैव सः।
ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा ॥ १० ॥

वनमें रहकर भी जो ग्रामीण सुखोंका उपभोग करनेमें लगा है, उसको ग्रामीण ही समझना चाहिये तथा गाँवोंमें रहकर भी जो वनवासी मुनियोंके-से बर्तावमें ही सुख मानता है, उसकी गिनती वनवासियोंमें ही करनी चाहिये ॥ १० ॥

मनोवाक्कायिके धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः।
निवृत्तौ वा प्रवृत्तौ वा सम्प्रधार्य गुणागुणान् ॥ ११ ॥

पहले निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्गमें जो गुण-अवगुण हैं, उनका तुम अच्छी तरह निश्चय कर लो; फिर एकाग्रचित्त हो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले धर्ममें श्रद्धा करो (अर्थात् श्रद्धापूर्वक धर्मके पालनमें लग जाओ) ॥ ११ ॥

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥ १२ ॥

प्रतिदिन व्रत और शौचाचारका पालन करते हुए उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कारपूर्वक अधिक-से-अधिक दान करना चाहिये और उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये ॥ १२ ॥

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥ १३ ॥

शुभकर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको अर्पण करना चाहिये। क्रोधको त्यागकर दान देना चाहिये और देनेके बाद न तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और न उसे दूसरोंको बताना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः ॥ १४ ॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला तथा योनिसे अर्थात् जन्मसे और कर्मसे शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पानेका उत्तम पात्र है ॥ १४ ॥

सत्कृता चैकपत्नी च जात्या योनिरिहेष्यते।
ऋग्यजुःसामगो विद्वान् षट्कर्मा पात्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अपनी ही जातिके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिद्वारा सम्मानित पतिव्रता स्त्री यहाँ उत्तम योनि मानी गयी है। अतः जिसका ऐसी मातासे जन्म हुआ, हो वह जन्मसे शुद्ध है। ऋक्, यजुष् और सामवेदका विद्वान् होकर सदा (यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन) छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण कर्मसे शुद्ध एवं उत्तम पात्र बताया गया है ॥ १५ ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत्।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥ १६ ॥

देश, काल, पात्र और कर्मविशेषपर विचार करनेसे एक ही कर्म भिन्न-भिन्न मनुष्यके लिये धर्म और अधर्मरूप हो जाता है ॥ १६ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यात् तु रजः पुमान्।
बहुयत्नेन च महत् पापनिर्हरणं तथा ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें थोड़ी-सी धूल लगी हुई हो तो मनुष्य उसे अनायास ही झाड़-पोंछकर दूर कर देता है; परंतु बहुत अधिक मैल बैठ जाय तो उसे बड़े प्रयत्नसे दूर कर सकता है, उसी प्रकार थोड़ा पाप थोड़े-से प्रयत्नसे और महान् पाप महान् प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है ॥ १७ ॥

विरिक्तस्य यथा सम्यग् घृतं भवति भेषजम्।
तथा निर्हृतदोषस्य प्रेत्य धर्मः सुखावहः ॥ १८ ॥

जैसे जिसने विरेचनके द्वारा अपने पेटको अच्छी तरह साफ कर लिया हो, वह मनुष्य यदि घी खाय तो वह उसके लिये दवाके सामन लाभदायक होता है। उसी तरह जिसके सारे पाप-दोष दूर हो गये हैं, उसीके लिये धर्म परलोकमें सुख देनेवाला होता है ॥ १८ ॥

मानसं सर्वभूतेषु वर्तते वै शुभाशुभम्।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् ॥ १९ ॥

सभी प्राणियोंके मनमें शुभ और अशुभ विचार उठते रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह चित्तको सदा अशुभ विचारोंकी ओरसे हटाकर शुभ विचारोंमें ही लगाये ॥ १९ ॥

सर्वं सर्वेण सर्वत्र क्रियमाणं च पूजय।
स्वधर्मे यत्र रागस्ते कामं धर्मो विधीयताम् ॥ २० ॥

अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सबके द्वारा सब जगह किये जानेवाले सब प्रकारके कर्मोंका आदर करो। तुम भी अपने धर्मके अनुसार जिस कर्ममें तुम्हारा अनुराग हो, उसका इच्छानुसार पालन करते रहो ॥ २० ॥

अधृतात्मन् धृतौ तिष्ठ दुर्बुद्धे बुद्धिमान् भव।
अप्रशान्तः प्रशाम्य त्वमप्राज्ञः प्राज्ञवच्चर ॥ २१ ॥

अधीरचित्त नरेश! धीरताका आश्रय लो। दुर्बुद्धे!

बुद्धिमान् बनो। तुम सदा अशान्त रहते हो। अबसे शान्त हो जाओ और अबतक मूर्खोंके-से बर्ताव करते रहे, अब विद्वानोंके समान आचरण करो ॥ २१ ॥

तेजसा शक्यते प्राप्तुमुपायः सहचारिणा।
इह च प्रेत्य च श्रेयस्तस्य मूलं धृतिः परा ॥ २२ ॥

जो सत्पुरुषोंका सङ्ग करता है, उसे उन्हींके तेज या प्रतापसे कोई ऐसा उपाय प्राप्त हो सकता है, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो। उत्तम धृति (मनकी स्थिरता) ही कल्याणका मूल है ॥ २२ ॥

राजर्षिरधृतिः स्वर्गात् पतितो हि महाभिषः।
ययातिः क्षीणपुण्योऽपि धृत्या लोकानवाप्तवान् ॥ २३ ॥

राजर्षि महाभिष धृतिमान् न होनेके कारण ही स्वर्गसे नीचे गिरे और राजा ययाति अपना पुण्यक्षीण हो जानेके बाद भी धृतिके ही बलसे उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥ २३ ॥

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात्।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ २४ ॥

राजन्! तपस्वी, धर्मात्मा एवं विद्वानोंकी सेवा करनेसे तुम्हें विशाल बुद्धि प्राप्त होगी, जिससे तुम कल्याणके भागी हो सकोगे ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

स तु स्वभावसम्पन्नस्तच्छ्रुत्वा मुनिभाषितम्।
विनिवर्त्य मनः कामाद् धर्मे बुद्धिं चकार ह ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजकुमार वसुमान् अच्छे स्वभावसे सम्पन्न था। उसने मुनिके उस उपदेशको सुनकर अपने मनको कामनाओंसे हटा लिया और बुद्धिको धर्ममें ही लगा दिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकानुशासने नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जनकवंशी वसुमान्‌को उपदेशविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०९ ॥

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यका राजा जनकको उपदेश—सांख्यमतके अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकारके सर्गोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविमुक्तं यद् विमुक्तं सर्वसंशयात्।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः ॥ १ ॥
यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम्।
शुचि नित्यमनायासं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! जो धर्म और अधर्मके बन्धनसे मुक्त, सम्पूर्ण संशयोंसे रहित, जन्म और मृत्युसे रहित, पुण्य और पापसे मुक्त, नित्य, निर्भय, कल्याणमय, अक्षर, अव्यय (अविकारी), पवित्र एवं क्लेशरहित तत्त्व है, उसका आप हमें उपदेश कीजिये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन! इस विषयमें मैं तुम्हें जनक और याज्ञवल्क्यका संवादरूप एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम् ॥ ४ ॥

एक बार देवरातके महायशस्वी पुत्र राजा जनकने प्रश्नका रहस्य समझनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर याज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ ४ ॥

जनक उवाच

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥ ५ ॥
प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च।
वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ६ ॥

जनक बोले—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृतिके कितने भेद माने गये हैं? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है? सृष्टि और प्रलय क्या है? और कालकी गणना कैसे की जाती है? विप्रेन्द्र! ये सब बतानेकी कृपा करें; क्योंकि हमलोग आपकी कृपाके अभिलाषी हैं ॥

अज्ञानात् परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः।
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम् ॥ ७ ॥

मैं इन बातोंको नहीं जानता, इसलिये पूछ रहा हूँ। आप ज्ञानके भण्डार हैं, इसलिये आपहीसे इन सब विषयोंको सुननेकी इच्छा हो रही है; जिससे सारा संदेह दूर हो जाय ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि।
योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—भूपाल! सुनो, तुम जो कुछ पूछते हो, वह योग और विशेषतः सांख्यका परम रहस्यमय ज्ञान तुम्हें बताता हूँ ॥ ८ ॥

न तवाविदितं किंचिन्मां तु जिज्ञासते भवान्।
पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥ ९॥

यद्यपि तुमसे कोई भी विषय अज्ञात नहीं है, फिर भी मुझसे पूछते हो तो कहना ही पड़ता है; क्योंकि किसीके पूछनेपर जानकार मनुष्यको उसके प्रश्नका उत्तर देना ही चाहिये। यही सनातन धर्म है॥ ९॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः॥ १०॥
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्॥ ११॥

प्रकृतियाँ आठ बतायी गयी हैं और उनके विकार सोलह। अध्यात्मशास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् आठ प्रकृतियोंके नाम इस प्रकार बतलाते हैं—अव्यक्त (मूल प्रकृति), महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी॥ १०-११॥

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्॥ १२॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च॥ १३॥

ये आठ प्रकृतियाँ कही गयीं। अब मुझसे विकारोंका भी वर्णन सुनो—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवीं नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा॥ १२-१३॥

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु।
बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल॥ १४॥

राजेन्द्र! उनमें पाँच कर्मेन्द्रियों और शब्द आदि पाँच विषयोंकी 'विशेष' संज्ञा है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'सविशेष' कहलाती हैं। मिथिलानरेश! ये 'विशेष' और 'सविशेष' तत्त्व पञ्चमहाभूतोंमें ही स्थित हैं॥ १४॥

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः।
त्वं चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः॥ १५॥

(ये सब मिलकर पंद्रह हैं) इनके साथ सोलहवाँ मन है। अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेवाले तत्त्वज्ञान-विशारद तुम और दूसरे विद्वान् भी इन्हींको सोलह विकार कहते हैं॥

अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव।
प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः॥ १६॥

पृथ्वीनाथ! अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे विद्वान् पुरुष प्रथम एवं प्राकृत सृष्टि कहते हैं॥ १६॥

महतश्चाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम्॥ १७॥

नरेश्वर! महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है, जो दूसरा सर्ग बताया जाता है। इसे बुध्यात्मक-सृष्टि माना गया है॥

अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम्।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते॥ १८॥

अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ है, जो पञ्चभूत और शब्दादि गुणस्वरूप है। इसे तीसरा और आहंकारिक सर्ग कहा जाता है॥ १८॥

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम्॥ १९॥

राजन्! मनसे पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न हुए हैं। यह चौथा सर्ग है। मेरे मतके अनुसार इसे मानसी सृष्टि समझो॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः॥ २०॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए हैं। यह पाँचवीं सृष्टि है। भूत-चिन्तक विद्वान् इसे भौतिक सर्ग कहते हैं॥ २०॥

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्।
सर्गं तु षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं स्मृतम्॥ २१॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—इसे छठा सर्ग बताया गया है। यह बहुचिन्तात्मक सर्ग माना गया है॥ २१॥

अधः श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप।
सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम्॥ २२॥

नरेन्द्र! श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके बाद कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इसे सातवाँ सर्ग कहते हैं। इसीको ऐन्द्रियक सृष्टि भी कहा जाता है॥ २२॥

ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप।
अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम्॥ २३॥

तदनन्तर जिसका प्रवाह ऊपरकी ओर है, वह प्राण एवं तिरछा चलनेवाले समान, व्यान और उदान—ये सब प्रकट हुए। यह आठवाँ सर्ग है। इसीको आर्जवक सर्ग कहा गया है॥ २३॥

तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप।
नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः॥ २४॥

राजन्! तत्पश्चात् जिसका प्रवाह तिरछा चलता है, वे व्यान और उदान अपान वायुके साथ निम्नभागमें प्रकट हुए। इसे नवम सर्ग कहते हैं। इसे भी विद्वान् पुरुष आर्जवक सृष्टिके नामसे ही पुकारते हैं॥ २४॥

एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात्॥ २५॥

नरेश्वर! ये नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुतिके निर्देशके अनुसार यहाँ बताये गये हैं॥ २५॥

अत ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य तत्त्वतः।

महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥ २६ ॥

महाराज ! अब इसके बाद महात्मा पुरुषोंद्वारा बतायी गयी इस गुणमयी सृष्टिकी कालसंख्या भी मुझसे यथावत्‌रूपसे सुनो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, मन और विषयोंकी कालसंख्याका एवं सृष्टिका वर्णन तथा इन्द्रियोंमें मनकी प्रधानताका प्रतिपादन

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्य नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे ।
पञ्चकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे अव्यक्तकी काल-संख्या सुनो । दस हजार कल्पोंका (महायुगोंका) इस अव्यक्तका एक दिन बताया जाता है ॥ १ ॥

रात्रिरेतावती चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप ।
सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसकी रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है । ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा पहले समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहके लिये ओषधि (नाना प्रकारके अन्न) की सृष्टि करते हैं ॥ २ ॥

ततो ब्रह्माणमसृजद्धिरण्याण्डसमुद्भवम् ।
सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि परमात्माने ओषधियोंकी सृष्टिके बाद ब्रह्माजीकी सृष्टि की थी, जो सुवर्णमय अण्डके भीतरसे प्रकट हुए थे । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके उद्गमस्थान हैं ॥ ३ ॥

संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्क्रम्य च महामुनिः ।
संदधे स महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ ४ ॥

वे महामुनि प्रजापति ब्रह्मा उस सुवर्णमय अण्डके भीतर एक वर्षतक निवास करके उससे बाहर निकल आये । फिर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) की सृष्टिके लिये विचार आरम्भ किया ॥ ४ ॥

द्यावापृथिव्योरित्येष राजन् वेदेषु पठ्यते ।
तयोः शकलयोर्मध्यमाकाशमकरोत् प्रभुः ॥ ५ ॥

राजन् ! शक्तिशाली ब्रह्माजीने उस अण्डके दोनों टुकड़ोंके एवं स्वर्ग तथा भूतलके मध्यभागमें आकाशकी सृष्टि की । यह बात वेदोंमें कही गयी है ॥ ५ ॥

एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदाङ्गपारगैः ।
दशकल्पसहस्राणि पादोनान्यहरुच्यते ॥ ६ ॥

वेदों और वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्रह्माजीकी भी कालसंख्याका विचार करते हुए कहते हैं कि दस हजार कल्पोंमेंसे एक चौथाई कम कर देनेपर जितना शेष रहता है, उतना ही ब्रह्माजीके एक दिनका मान है अर्थात् साढ़े सात हजार कल्पोंका उनका एक दिन होता है ॥ ६ ॥

रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
सृजत्यहङ्कारमृषिर्भूतं दिव्यात्मकं तथा ॥ ७ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले विद्वानोंका कथन है कि ब्रह्माजीकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी है । महान् ऋषि ब्रह्मा अहंकार नामक दिव्य भूतकी सृष्टि करते हैं ॥ ७ ॥

चतुरश्चापरान् पुत्रान् देहात् पूर्वं महानृषिः ।
ते वै पितृणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महान् ऋषि ब्रह्माने पूर्वकालमें भौतिक देहकी उत्पत्तिसे पहले चार अन्य पुत्रोंको उत्पन्न किया (जिनके नाम ये हैं—बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त) । वे चारों पुत्र 'पितरोंके भी पितर' अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके भी जनक सुने जाते हैं ॥ ८ ॥

देवाः पितृणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः ।
चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! देवता (श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ) पितरों (पञ्चमहाभूतों) के पुत्र हैं अर्थात् सारी इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतोंसे ही उत्पन्न हुई हैं और वे समस्त चराचर जगत्‌का आश्रय लेकर स्थित हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९ ॥

परमेष्ठी त्वहङ्कारः सृजन् भूतानि पञ्चधा ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १० ॥

स्रष्टाके उत्तम पदपर प्रतिष्ठित हुआ अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी–इन पाँच प्रकारके भूतोंकी सृष्टि करता है ॥ १० ॥

एतस्यापि निशामाहुस्तृतीयमिह कुर्वतः ।
पञ्चकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥ ११ ॥

इस तृतीय भौतिक सर्गकी सृष्टि करनेवाले अहंकारकी रात्रि पाँच हजार कल्पोंकी होती है । उसका दिन भी उतना ही बड़ा बताया जाता है ॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! आकाश आदि पाँच महाभूतोंमें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–ये विशेष गुण हैं ॥ १२ ॥

यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव ।

अन्योन्यं स्पृहयन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥ १३ ॥
अन्योन्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धिनस्तथा ।
ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणैर्हारिभिरव्ययैः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! प्रवाहरूपसे सदा विद्यमान रहनेवाले इन मनोहर शब्द आदि विषयोंसे आविष्ट होकर सभी प्राणी प्रतिदिन कभी एक-दूसरेको चाहते हैं, कभी पारस्परिक हित-साधनमें तत्पर रहते हैं, कभी एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी चेष्टा करते हैं, कभी आपसमें ईर्ष्या रखते हैं और कभी परस्पर प्रहार भी कर बैठते हैं ॥ १३-१४ ॥

इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः ।
त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥ १५ ॥
रात्रिरेतावती चैव मनसश्च नराधिप ।

ऐसे विषयासक्त प्राणी तिर्यग्योनियोंमें प्रवेश करके इसी संसारमें चक्कर काटते रहते हैं । इन शब्दादि विषयोंका एक दिन तीन हजार कल्पोंका बताया जाता है । नरेश्वर ! इनकी रात भी इतनी ही बड़ी है । मनके भी दिन-रातका परिमाण इतना ही है ॥ १५½ ॥

मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः ॥ १६ ॥
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति ।
चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! मन इन्द्रियोंद्वारा संचालित होकर सब विषयोंकी ओर जाता है । इन्द्रियाँ उन विषयोंको नहीं देखतीं, मन ही उन्हें निरन्तर देखता है । आँख मनके सहयोगसे ही रूपका दर्शन करती है, अपनी शक्तिसे नहीं ॥ १६-१७ ॥

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।
तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ १८ ॥

जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती । लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंको प्रत्यक्ष करती हैं ॥ १८ ॥

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ।
मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥ १९ ॥

किंतु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखतीं, केवल मन ही देखता है । राजन् ! मन विषयोंसे उपरत हो जाय तो इन्द्रियाँ भी विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं ॥ १९ ॥

न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत् ।
एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥ २० ॥

परंतु इन्द्रियोंके उपरत होनेपर मनमें उपरति नहीं आती। इस प्रकार, यह निश्चय करना चाहिये कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें मन ही प्रधान है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ।
एतद् विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥ २१ ॥

मनको सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्वामी कहा जाता है । महायशस्वी नरेश ! जगत्‌के समस्त प्राणी इस मनका ही आश्रय लेते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनकका संवादविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३११॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

संहारक्रमका वर्णन

याज्ञवल्क्य उवाच

तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च ।
मया प्रोक्ताऽऽनुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन् ! अब मेरेद्वारा क्रमशः बतायी हुई तत्त्वोंकी सम्पूर्ण संख्या, कालसंख्या तथा तत्त्वोंके संहारकी वार्ता सुनो ॥ १ ॥

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः ।
अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च ॥ २ ॥

आदि और अन्तसे रहित नित्य अक्षरस्वरूप ब्रह्माजी किस प्रकार बारंबार प्राणियोंकी सृष्टि और संहार करते हैं—यह बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

अहःक्षयमथो बुद्ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा ।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥ ३ ॥

भगवान् ब्रह्माजी जब देखते हैं कि मेरे दिनका अन्त हो गया, तब उनके मनमें रातको शयन करनेकी इच्छा होती है, इसलिये वे अहंकारके अभिमानी देवता रुद्रको संहारके लिये प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः ।
कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥ ४ ॥

उस समय वे रुद्रदेव ब्रह्माजीसे प्रेरित होकर प्रचण्ड सूर्यका रूप धारण करते हैं और अपनेको बारह रूपोंमें अभिव्यक्त करके अग्निके समान प्रज्वलित हो उठते हैं ॥४॥

चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा ।
जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥ ५ ॥

भूपाल ! नरेश्वर ! फिर वे अपने तेजसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्‌को शीघ्र ही भस्म कर डालते हैं ॥ ५ ॥

एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणु जङ्गमम् ।
कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥ ६ ॥

पलक मारते-मारते इस समस्त चराचर जगत्‌का नाश

हो जाता है और यह भूमि सब ओरसे कछुएकी पीठकी तरह प्रतीत होने लगती है ॥ ६ ॥

जगद् दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः।
अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥ ७ ॥

जगत्‌को दग्ध करनेके बाद अमित बलवान् रुद्र इस अकेली बची हुई समूची पृथ्वीको शीघ्र ही जलके महान् प्रवाहमें डुबो देते हैं ॥ ७ ॥

ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम्।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर कालाग्निकी लपटमें पड़कर वह सारा जल सूख जाता है। राजेन्द्र! जलके नष्ट हो जानेपर आग अत्यन्त भयानक रूप धारण करती है और सब ओर बड़े जोरसे प्रज्वलित होने लगती है ॥ ८ ॥

तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम्।
ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्तार्चिषमथाञ्जसा ॥ ९ ॥
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली।
विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भूतोंको गर्मी पहुँचानेवाली तथा अत्यन्त प्रबल वेगसे जलती हुई उस सात ज्वालाओंसे युक्त आगको बलवान् वायुदेव अपने आठ रूपोंमें प्रकट होकर निगल जाते हैं और ऊपर-नीचे तथा बीचमें सब ओर प्रवाहित होने लगते हैं ॥ ९-१० ॥

तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना।
आकाशमप्यभिनदन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर आकाश उस अत्यन्त प्रबल एवं भयंकर वायुको स्वयं ही ग्रस लेता है। फिर गर्जन-तर्जन करनेवाले उस आकाशको उससे भी अधिक शक्तिशाली मन अपना ग्रास बना लेता है ॥ ११ ॥

मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १२ ॥

क्रमशः भूतात्मा और प्रजापतिस्वरूप अहंकार मनको अपनेमें लीन कर लेता है। तत्पश्चात् भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञाता बुद्धिस्वरूप महत्तत्त्व अहंकारको अपना ग्रास बना लेता है ॥ १२ ॥

तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १३ ॥
सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः।
अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥ १५ ॥

इसके बाद, जिनके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं, सब ओर कान हैं तथा जो जगत्‌में सबको व्याप्त करके स्थित हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें अङ्गुष्ठपर्वके बराबर आकार धारण करके विराजमान हैं, अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि ऐश्वर्य जिनके अधीन हैं, जो सबके नियन्ता, ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी, कल्याणमय, प्रजाके स्वामी, अनन्त, महान् आत्मा और सर्वेश्वर हैं, वे परब्रह्म परमात्मा उस अनुपम विश्वरूप बुद्धितत्त्वको अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ १३—१५ ॥

ततः समभवत् सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम्।
भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघं तथा ॥ १६ ॥

तदनन्तर ह्रास और वृद्धिसे रहित, अविनाशी और निर्विकार, सर्वस्वरूप परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसीने भूत, भविष्य और वर्तमानकी सृष्टि करनेवाले निष्पाप ब्रह्माकी भी सृष्टि की है ॥ १६ ॥

एषोऽप्ययस्ते राजेन्द्र यथावत् समुदाहृतः।
अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवं च श्रूयताम् ॥ १७ ॥

राजेन्द्र! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष संहारक्रमका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है। अब तुम अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवका वर्णन सुनो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके लक्षण

याज्ञवल्क्य उवाच

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन्! तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंका कथन है कि दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य स्थान अधिभूत है और विष्णु अधिदैवत हैं ॥ १ ॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः।
विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् गुदाको अध्यात्म कहते हैं। मलत्याग अधिभूत है और मित्र अधिदैवत हैं ॥ २ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः।
अधिभूतं तथाऽऽनन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥ ३ ॥

योगमतका प्रदर्शन करनेवाले जैसा कहते हैं, उसके अनुसार उपस्थ अध्यात्म है, मैथुनजनित आनन्द अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं ॥ ३ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ४ ॥

सांख्यदर्शी विद्वानोंके कथनानुसार दोनों हाथ अध्यात्म हैं, कर्तव्य अधिभूत है और इन्द्र अधिदैवत हैं ॥ ४ ॥

वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥

वेदार्थपर विचार करनेवाले विद्वान् जैसा कहते हैं, उसके अनुसार वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं ॥ ५ ॥

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥

वेददर्शी विद्वान् जैसा बताते हैं, उसके अनुसार नेत्र अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत हैं ॥ ६ ॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥

वैदिक सिद्धान्तका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं कि श्रोत्र अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं ॥ ७ ॥

जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥

वेदके अनुसार दृष्टि रखनेवाले विद्वानोंका कथन है कि जिह्वा अध्यात्म है, रस अधिभूत है और जल अधिदैवत है ॥

घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
गन्ध एवाधिभूतं तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥ ९ ॥

वैदिक मतके अनुसार यथार्थ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि नासिका अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथ्वी अधिदैवत है ॥ ९ ॥

त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥

तत्त्वज्ञानमें कुशल पुरुषोंका कथन है कि त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है और वायु अधिदैवत है ॥ १० ॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ११ ॥

शास्त्रज्ञाननिपुण विद्वान् कहते हैं कि मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदेवता हैं ॥ ११ ॥

अहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतं तु रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ १२ ॥

तत्त्वदर्शी पुरुषोंका कथन है कि अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और रुद्र अधिदेवता हैं ॥ १२ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥

यथार्थ ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है और आत्मा अधिदेवता है ॥ १३ ॥

एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदर्शिता ।
आदौ मध्ये तथान्ते च यथातत्त्वेन तत्त्ववित् ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञ नरेश ! यह मैंने तुम्हारे निकट आदि, मध्य और अन्तमें तत्त्वतः प्रकाशित होनेवाली जीवकी व्यक्तिगत विभूतिका वर्णन किया है ॥ १४ ॥

प्रकृतिर्गुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया ।
क्रीडार्थं तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

महाराज ! प्रकृति स्वतन्त्रतापूर्वक खेल करनेके लिये अपनी ही इच्छासे सैकड़ों और हजारों गुणोंको उत्पन्न करती है ॥

यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।
प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान् बहून् ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य एक दीपकसे हजारों दीपक जला लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके सम्बन्धसे अनेक गुण उत्पन्न कर देती है ॥ १६ ॥

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।
सुखं शुद्धित्वमारोग्यं संतोषः श्रद्दधानता ॥ १७ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।
समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १८ ॥
शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥ १९ ॥
दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सर्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥

धैर्य, आनन्द, प्रीति, उत्कर्ष, प्रकाश (ज्ञानशक्ति), सुख, शुद्धि, आरोग्य, संतोष, श्रद्धा, अकार्पण्य (दीनताका अभाव), असंरम्भ (क्रोधका अभाव), क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, ऋणसे रहित होना, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, शौच, सरलता, सदाचार, अलोलुपता, हृदयमें सम्भ्रमका न होना, इष्ट और अनिष्टके वियोगका बखान न करना, दानके द्वारा धैर्य धारण करना, किसी वस्तुकी इच्छा न करना, परोपकार और सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया—ये सब सत्त्वसम्बन्धी गुण बताये गये हैं ॥ १७-२० ॥

रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।
अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥ २१ ॥
परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् ।
अहंकारमसत्कारश्चिन्ता वैरोपसेवनम् ॥ २२ ॥
परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।
भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥ २३ ॥
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।
तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥ २४ ॥

रूप, ऐश्वर्य, विग्रह, त्यागका अभाव, करुणाका अभाव, दुःख-सुखका उपभोग, परनिन्दामें प्रीति, वाद-विवाद करना, अहङ्कार, माननीय पुरुषोंका सत्कार न करना, चिन्ता, वैर-भाव रखना, संताप करना, दूसरोंका धन हड़प लेना, निर्लजता, कुटिलता, भेदबुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष और बहुत बोलनेका स्वभाव—यह रजोगुणका समूह है। ये सारे भाव रजोगुणके कार्य बताये गये हैं। अब मैं तामस भावोंके समूहका परिचय देता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥

मोहोऽप्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम् ।
मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥ २५ ॥
तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ।
भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥ २६ ॥
गन्धवासो विहारेषु शयनेष्वासनेषु च ।
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥ २७ ॥
नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता ।
द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

मोह, अप्रकाश (अज्ञान), तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये सब तमोगुणके लक्षण हैं। इनमें तामिस्र क्रोधका वाचक है और अन्धतामिस्र मरणका। भोजनमें रुचिका न होना, खानेकी वस्तुओंसे तृप्ति या संतोषका अभाव अथवा कितना ही भोजन क्यों न मिले, उसे पर्याप्त न मानना, पीनेकी वस्तुओंसे कभी तृप्त न होना, दुर्गन्धयुक्त वस्त्र, अनुचित विहार, मलिन शय्या और आसनोंका सेवन, दिनमें सोना, अत्यन्त वाद-विवादमें और प्रमादमें अत्यन्त आसक्त रहना, अज्ञानवश नाच-गीत और नाना प्रकारके बाजोंमें श्रद्धा, नाना प्रकारके धर्मोंसे द्वेष—ये तमोगुणके लक्षण हैं॥ २५—२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३॥

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्योंकी गतिका वर्णन तथा राजा जनकके प्रश्न

याज्ञवल्क्य उवाच

एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम ।
कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—पुरुषप्रवर ! सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं, जो सम्पूर्ण जगत्‌में सदा विद्यमान रहते हैं। कभी उससे अलग नहीं होते हैं॥ १॥

अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥ २ ॥
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना ।

यह ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति अपने ही प्रभावसे जीवको सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों रूपोंमें प्रकट कर देती है॥

सात्त्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् ॥ ३ ॥
तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।

अध्यात्म-शास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सात्त्विक पुरुषको उत्तम, रजोगुणीको मध्यम और तमोगुणीको अधम स्थानकी प्राप्ति होती है॥ ३½॥

केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् ॥ ४ ॥
पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ।

केवल पुण्य करनेसे मनुष्य ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है, पुण्य और पाप दोनोंके अनुष्ठानसे मर्त्यलोकमें जन्म लेता है तथा केवल पापाचार करनेपर उसे अधोगतिमें गिरना पड़ता है॥ ४½॥

द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु संनिपातं च तत्त्वतः ॥ ५ ॥
सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे ।

अब मैं सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वन्द्व[1] और संनिपात[2]का यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो॥ ५½॥

सत्त्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥ ६ ॥
तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव च ।
अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, रजोगुणके साथ तमोगुण, तमोगुणके साथ सत्त्वगुण तथा सत्त्वगुणके साथ अव्यक्त (जीवात्मा) का सम्मिश्रण देखा जाता है (यह दो तत्त्वोंका संयोग या मेल ही द्वन्द्व है)। जीवात्मा जब सत्त्वगुणसे संयुक्त होता है, तब देवलोकको प्राप्त होता है॥ ६-७॥

रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ।
रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥ ८ ॥

रजोगुण और सत्त्वगुणसे संयुक्त होनेपर वह मनुष्य-लोकमें जाता है तथा रजोगुण और तमोगुणसे संयुक्त होनेपर वह पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है॥ ८॥

राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ।
पुण्यपापवियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ।
शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षयं चामृतं च तत् ॥ ९ ॥

राजस, तामस और सात्त्विक तीनों भावोंसे युक्त होनेपर जीवको मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। जो पुण्य और पाप

१—२. दो गुणोंके मेलको द्वन्द्व और तीन गुणोंके मेलको संनिपात कहते हैं।

दोनोंसे रहित हैं, उन महात्मा पुरुषोंके लिये सनातन, अविकारी, अक्षय और अमृतपदकी प्राप्ति बतायी गयी है॥ ९॥

ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम्।
अतीन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम्॥ १०॥

जहाँ किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, जहाँसे कभी पतन नहीं होता है, जो इन्द्रियातीत है, जहाँ बन्धनमें डालनेवाला कोई कारण नहीं है तथा जो जन्म, मृत्यु और अज्ञानका विनाश करनेवाला है, वह श्रेष्ठ स्थान (परमपद) ज्ञानियोंको ही प्राप्त हो सकता है॥ १०॥

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप।
स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते॥ ११॥

नरेश्वर! तुमने जो अव्यक्त प्रकृतिमें स्थित परमतत्त्वके विषयमें मुझसे प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें यह निवेदन है कि यह परमतत्त्व प्राकृत शरीरमें स्थित होनेसे ही प्रकृतिस्थ कहलाता है॥ ११॥

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि॥ १२॥

पृथ्वीनाथ! प्रकृति अचेतन मानी गयी है। इस परमतत्त्वद्वारा अधिष्ठित होकर ही वह सृष्टि एवं संहार करती है॥ १२॥

जनक उवाच

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते।
अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ॥ १३॥

जनकने पूछा—महामते! प्रकृति और पुरुष दोनों आदि-अन्तसे रहित, मूर्तिहीन और अचल हैं। दोनों अपने-अपने गुणमें स्थिर रहनेवाले और दोनों ही निर्गुण हैं॥१३॥

अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः।
चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः॥ १४॥

मुनिश्रेष्ठ! वे दोनों ही बुद्धि-अगोचर हैं। फिर इन दोनोंमेंसे एक प्रकृतिको आपने अचेतन क्यों बताया है? तथा दूसरेको चेतन एवं क्षेत्रज्ञ कैसे कहा है?॥ १४॥

त्वं हि विप्रेन्द्र कार्त्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे।
साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १५॥

विप्रवर! आप पूर्णरूपसे मोक्षधर्मका सेवन करते हैं, इसलिये आपहीके मुँहसे मैं सम्पूर्ण मोक्ष-धर्मका यथावत् रूपसे श्रवण करना चाहता हूँ॥ १५॥

अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च।
दैवतानि च मे ब्रूहि देहं यान्याश्रितानि वै॥ १६॥

आप पुरुषके अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृतिसे पृथक् सत्ताका स्पष्टीकरण कीजिये और देहका आश्रय ग्रहण करनेवाले जो देवता हैं, उनका तत्त्व भी मुझे समझाइये॥ १६॥

तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपद्यतः।
कालेन यद्धि प्राप्नोति स्थानं तत् प्रब्रवीहि मे॥ १७॥

तथा मरनेवाले जीवके प्राणोंका जब उत्क्रमण होता है, उस समय उसे समयानुसार किस स्थानकी प्राप्ति होती है? इसपर भी प्रकाश डालिये॥ १७॥

सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च।
अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम।
विदितं सर्वमेतत् ते पाणावामलकं यथा॥ १८॥

साधुशिरोमणे! साथ ही पृथक्-पृथक् सांख्य और योगके ज्ञानका तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; क्योंकि ये सारी बातें आपको हाथपर रखे हुए आँवलेके समान ज्ञात हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ३१४

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-पुरुषका विवेक और उसका फल

याज्ञवल्क्य उवाच

न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशाम्पते।
गुणवांश्चाप्यगुणवान् यथातत्त्वं निबोध मे॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—तात! प्रजापालक नरेश! निर्गुणको सगुण और सगुणको निर्गुण नहीं किया जा सकता। इस विषयमें जो यथार्थ तत्त्व है, वह मुझसे सुनो॥ १॥

गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥ २॥

तत्त्वदर्शी महात्मा मुनि कहते हैं, जिसका गुणोंके साथ सम्पर्क है, वह गुणवान् है तथा जो गुणोंके संसर्गसे रहित है, वह निर्गुण कहलाता है॥ २॥

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान् नैवातिवर्तते।
उपयुङ्क्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः॥ ३॥

अव्यक्त प्रकृति स्वभावसे ही गुणवती है। वह गुणोंका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकती है। उन्हींको उपयोगमें लाती है और स्वभावसे ही ज्ञानरहित है॥ ३॥

अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः।
न मत्तः परमोऽस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते॥ ४॥

प्रकृतिको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत पुरुष स्वभावसे ही ज्ञानी है। वह सदा इस बातको जानता रहता है कि मुझसे कोई दूसरा उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है॥ ४॥

अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम्।

नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वान्न तदन्यथा ॥ ५ ॥

इस कारणसे प्रकृतिको अचेतन माना गया है। क्षर अर्थात् विनाशी होनेके कारण वह जडके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती। इधर नित्य तथा अक्षर (अविनाशी) होनेके कारण पुरुष चेतन है ॥ ५ ॥

यदाज्ञानेन कुर्वीत गुणसर्गं पुनः पुनः।
यदाऽऽत्मानं न जानीते तदाऽऽत्मापि न मुच्यते ॥ ६ ॥

परंतु वह जबतक अज्ञानवश बारंबार गुणोंका संसर्ग करता और अपने असङ्गस्वरूपको नहीं जानता है, तबतक उसकी मुक्ति नहीं होती है ॥ ६ ॥

कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते।
कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते ॥ ७ ॥

वह अपनेको सृष्टिका कर्ता माननेके कारण सर्गधर्मा कहलाता है और योगका कर्ता माननेसे योगधर्मा कहा जाता है ॥ ७ ॥

कर्तृत्वात् प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥ ८ ॥

नाना प्रकृतियोंको अपनेमें स्वीकार कर लेनेसे वह प्रकृतिधर्मवाला हो जाता है ॥ ८ ॥

कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात् तथैव च ॥ ९ ॥

तथा स्थावर पदार्थोंके बीजोंका कर्ता होनेसे उसे बीजधर्मा कहते हैं। साथ ही वह गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता है, इसलिये गुणधर्मा कहलाता है ॥ ९ ॥

उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम्।
मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः।
अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्धि शुश्रुम ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रको जाननेवाले चिन्तारहित सिद्ध यति लोग पुरुषको केवल (प्रकृतिके सङ्गसे रहित) मानते हैं; क्योंकि वह साक्षी और अद्वितीय है, उसे सुख-दुःखका अनुभव तो अभिमानके कारण होता है। वह वास्तवमें तो नित्य और अव्यक्त है, किंतु प्रकृतिके सम्बन्धसे अनित्य और व्यक्त प्रतीत होता है ॥ १० ॥

अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषे तथा।
सर्वभूतदयावन्तः केवलं ज्ञानमास्थिताः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले और केवल ज्ञानका सहारा लेनेवाले कुछ सांख्यके विद्वान् प्रकृतिको एक तथा पुरुषको अनेक मानते हैं ॥ ११ ॥

अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः।
यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्धि जायते ॥ १२ ॥

पुरुष प्रकृतिसे भिन्न और नित्य है तथा अव्यक्त (प्रकृति) पुरुषसे भिन्न एवं अनित्य है। जैसे सींकसे मूँज अलग होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषसे पृथक् है ॥

अन्यच्च मशकं विद्यादन्यच्चोदुम्बरं तथा।
न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते ॥ १३ ॥
अन्य एव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ होनेपर भी अलग-अलग समझे जाते हैं, गूलरके संयोगसे कीड़े उससे लिप्त नहीं होते तथा जैसे मत्स्य दूसरी वस्तु है और जल दूसरी। पानीके स्पर्शसे कभी कोई मत्स्य लिप्त नहीं होता है ॥ १३-१४ ॥

अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः।
न चोपलिप्यते सोऽग्निरुखासंस्पर्शनेन वै ॥ १५ ॥

राजन्! जैसे अग्नि दूसरी वस्तु है और मिट्टीकी हँड़िया दूसरी वस्तु। इन दोनोंके भेदको नित्य समझो। उस हँड़ियेके स्पर्शसे अग्नि दूषित नहीं होती है ॥ १५ ॥

पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥ १६ ॥

जैसे कमल दूसरी वस्तु है और पानी दूसरी, पानीके स्पर्शसे कमल लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृतिसे भिन्न और असङ्ग है ॥ १६ ॥

एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः।
याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥ १७ ॥
ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

साधारण मनुष्य इनके सहवास और निवासको कभी ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। जो इन दोनोंके स्वरूपको अन्यथा जानते हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुषको एक दूसरेसे भिन्न नहीं जानते हैं उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। वे अवश्य ही बार-बार घोर नरकमें पड़ते हैं ॥ १७-१८ ॥

सांख्यदर्शनमेतत् ते परिसंख्यानमुत्तमम्।
एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें यह विचारप्रधान उत्तम सांख्य-दर्शन बताया है। सांख्यशास्त्रके विद्वान् इस प्रकार जान करके कैवल्यको प्राप्त हो गये हैं ॥ १९ ॥

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥ २० ॥

दूसरे भी जो तत्त्वविचारकुशल विद्वान् हैं, उनका भी ऐसा ही मत है। इसके बाद मैं योगियोंके शास्त्रका वर्णन करूँगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकके संवादमें तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योगका वर्णन और उसके साधनसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति

याज्ञवल्क्य उवाच

सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! मैं सांख्यसम्बन्धी ज्ञान तो तुम्हें बतला चुका। अब जैसा मैंने देखा, सुना या समझा है, उसके अनुसार योगशास्त्रका तात्त्विक ज्ञान मुझसे सुनो॥

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥ २ ॥

सांख्यके समान कोई ज्ञान नहीं है। योगके समान कोई बल नहीं है। इन दोनोंका लक्ष्य एक है और वे दोनों ही मृत्युका निवारण करनेवाले माने गये हैं ॥ २॥

पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥ ३ ॥

राजन् ! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं, वे ही इन दोनों शास्त्रोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं। हम तो विचारके द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनोंको एक ही समझते हैं ॥ ३ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्यों-द्वारा भी देखा जाता है; अतः जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है ॥ ४ ॥

रुद्रप्रधानानपरान् विद्धि योगानरिंदम ।
तेनैव चाथ देहेन विचरन्ति दिशो दश ॥ ५ ॥

शत्रुदमन नरेश ! योग-साधनोंमें रुद्र अर्थात् प्राण प्रधान है। इन सबको तुम सर्वश्रेष्ठ समझो। प्राणको अपने वशमें कर लेनेपर योगी इसी शरीरसे दसों दिशाओंमें स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं ॥ ५॥

यावद्धि प्रलयस्तात सूक्ष्मेणाष्टगुणेन ह ।
योगेन लोकान् विचरन् सुखं संन्यस्य चानघ ॥ ६ ॥

प्रिय निष्पाप भूपाल ! जबतक मृत्यु न हो जाय, तबतक ही योगी योगबलसे स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर अष्टविध ऐश्वर्यसे युक्त सूक्ष्मशरीरके द्वारा लोक-लोकान्तरोंमें सुखपूर्वक विचरण करता है ॥ ६ ॥

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः ।
सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनीषी पुरुषोंका कहना है कि वेदमें स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके योगोंका वर्णन है। उनमें स्थूल योग अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है और सूक्ष्म योग ही (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन) आठ गुणों (अङ्गों) से युक्त है; दूसरा नहीं ॥ ७ ॥

द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम् ।
सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥

योगका मुख्य साधन दो प्रकारका बताया गया है—सगुण और निर्गुण (सबीज और निर्बीज)। ऐसा ही शास्त्रोंका निर्णय है ॥ ८ ॥

धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव ।
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ॥ ९ ॥

पृथ्वीनाथ ! किसी विशेष देशमें चित्तको स्थापित करनेका नाम 'धारणा' है। मनकी धारणाके साथ किया जानेवाला प्राणायाम सगुण है और देश-विशेषका आश्रय न लेकर मनको निर्बीज समाधिमें एकाग्र करना निर्गुण प्राणायाम कहलाता है ॥ ९ ॥

प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः ।
यद्यदृश्यति मुञ्चन् वै प्राणान् मैथिलसत्तम ।
वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात् तं न समाचरेत् ॥ १० ॥

सगुण प्राणायाम मनको निर्गुण अर्थात् वृत्तिशून्य करके स्थिर करनेमें सहायक होता है। मैथिलशिरोमणे ! यदि पूरक आदिके समय नियत देवता आदिका ध्यानद्वारा साक्षात्कार किये बिना ही कोई प्राणवायुका रेचन करता है तो उसके शरीरमें वायुका प्रकोप बढ़ जाता है; अतः ध्यान-रहित प्राणायामको नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः ।
मध्ये स्वप्नात् परे यामे द्वादशैव तु चोदनाः ॥ ११ ॥

रातके पहले पहरमें वायुको धारण करनेकी बारह प्रेरणाएँ बतायी गयी हैं। मध्य रात्रिमें रात्रिके बिचले दो पहरोंमें सोना चाहिये तथा पुनः अन्तिम प्रहरमें बारह प्रेरणाओंका ही अभ्यास करना चाहिये* ॥ ११ ॥

तदेवमुपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलिना ।
आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्योऽऽत्मा न संशयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करके शान्त और जितेन्द्रिय हो एकान्तवास करनेवाले आत्माराम ज्ञानीको चाहिये कि मनको परमात्मामें लगावे। इसमें संशय नहीं है ॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा ।
शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥ १३ ॥

* एक प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रेरणाएँ समझनी चाहिये। इस प्रकार जहाँ बारह प्रेरणाओंके अभ्यासका विधान किया गया है, वहाँ चार-चार प्राणायाम करनेकी विधि समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि रातके पहले और पिछले पहरोंमें ध्यानपूर्वक चार-चार प्राणायामोंका नित्य अभ्यास करना योगीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल ।
इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह ॥ १४ ॥
मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप ।
अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि ॥ १५ ॥
एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ॥ १६ ॥
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम् ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ॥ १७ ॥

मिथिलानरेश ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये इन्द्रियोंके पाँच दोष हैं । इन दोषोंको दूर करे । फिर लय और विक्षेपको शान्त करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे । नरेश्वर ! तत्पश्चात् मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थापित करे । इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल उस परमात्माका ध्यान करते हैं, जो रजोगुणसे रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध, छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी, सबका शासन करनेवाला और सनातन ब्रह्म है ॥ १३–१७ ॥

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय ।
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ॥ १८ ॥

महाराज ! अब समाधिमें स्थित हुए योगीके लक्षण सुनो । जैसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुषके चित्तमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है—वह समाधिसे विरत होना नहीं चाहता । यही उसकी प्रसन्नताकी पहचान है ॥ १८ ॥

निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः ।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १९ ॥

जैसे तेलसे भरा हुआ दीपक वायुशून्य स्थानमें एकतार जलता रहता है । उसकी शिखा स्थिरभावसे ऊपरकी ओर उठी रहती है, उसी तरह समाधिनिष्ठ योगीको भी मनीषी पुरुष स्थिर बताते हैं ॥ १९ ॥

पाषाण इव मेघोत्थैर्यथा बिन्दुभिराहतः ।
नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

जैसे बादलकी बरसायी हुई बूँदोंके आघातसे पर्वत चञ्चल नहीं होता, उसी तरह अनेक प्रकारके विक्षेप आकर योगीको विचलित नहीं कर सकते । यही योगयुक्त पुरुषकी पहचान है ॥ २० ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः ।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २१ ॥

उसके पास बहुत-से शङ्ख और नगाड़ोंकी ध्वनि हो और तरह-तरहके गाने-बजाने किये जायँ तो भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं हो सकता । यही उसकी सुदृढ़ समाधिकी पहचान है ॥ २१ ॥

तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः ।
सोपानमारुहेद् भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः ॥ २२ ॥
संयतात्मा भयात् तेषां न पात्राद् बिन्दुमुत्सृजेत् ।
तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा ॥ २३ ॥
स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च ।
एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत् ॥ २४ ॥

जैसे मनको संयममें रखनेवाला सावधान मनुष्य हाथोंमें तेलसे भरा कटोरा लेकर सीढ़ीपर चढ़े और उस समय बहुत-से पुरुष हाथमें तलवार लेकर उसे डराने-धमकाने लगें तो भी वह उनके डरसे एक बूँद भी तेल पात्रसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार योगकी ऊँची स्थितिको प्राप्त हुआ एकाग्रचित्त योगी इन्द्रियोंकी स्थिरता और मनकी अविचल स्थितिके कारण समाधिसे विचलित नहीं होता । योगसिद्ध मुनिके ऐसे ही लक्षण समझने चाहिये ॥ २२–२४ ॥

स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परममव्ययम् ।
महतस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम् ॥ २५ ॥

जो अच्छी तरह समाधिमें स्थित हो जाता है, वह महान् अन्धकारके बीचमें प्रकाशित होनेवाली प्रज्वलित अग्निके समान हृदयदेशमें स्थित अविनाशी (ज्ञानस्वरूप) परब्रह्मका साक्षात्कार करता है ॥ २५ ॥

एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम् ।
कालेन महता राजञ्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २६ ॥

राजन् ! इस साधनाके द्वारा मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् इस अचेतन देहका परित्याग करके केवल (प्रकृतिके संसर्गसे रहित) परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है । ऐसी सनातन श्रुति है ॥ २६ ॥

एतद्धि योगं योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ २७ ॥

यही योगियोंका योग है । इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है ? इसे जानकर मनीषी पुरुष अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१६ ॥

सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विभिन्न अङ्गोंसे प्राणोंके उत्क्रमणका फल तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका वर्णन और मृत्युको जीतनेका उपाय

याज्ञवल्क्य उवाच

तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्वावहितो नृप।
पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! देह-त्यागके समय मनुष्यके जिन-जिन अङ्गोंसे निकलकर प्राण जिन-जिन ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, उनके विषयमें बता रहा हूँ; तुम सावधान होकर सुनो । पैरोंके मार्गसे प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्यको भगवान् विष्णुके परमधामकी प्राप्ति होती बतायी जाती है ॥ १ ॥

जङ्घाभ्यां तु वसून् देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम्।
जानुभ्यां च महाभागान् साध्यान् देवानवाप्नुयात्॥२॥

जिसके प्राण दोनों पिण्डलियोंके मार्गसे बाहर निकलते हैं, वह वसु नामक देवताओंके लोकमें जाता है; ऐसा हमने सुन रक्खा है । घुटनोंसे प्राणत्याग करनेपर महाभाग साध्य-देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानमवाप्नुयात्।
पृथिवीं जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम्॥ ३॥

जिसके प्राण गुदामार्गसे निकलकर ऊपरकी ओर जाते हैं, वह मित्रदेवताके उत्तम स्थानको पाता है । कटिके अग्रभागसे प्राण निकलनेपर पृथ्वीलोककी और दोनों जाँघोंसे निकलनेपर प्रजापतिलोककी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

पार्श्वाभ्यां मरुतो देवान् नाभ्यामिन्द्रत्वमेव च।
बाहुभ्यामिन्द्रमेवाहुरुरसा रुद्रमेव च॥ ४॥

दोनों पसलियोंसे प्राणोंका निष्क्रमण हो तो मरुत् नामक देवताओंकी, नाभिसे हो तो इन्द्रपदकी, दोनों भुजाओंसे हो तो भी इन्द्रपदकी ही और वक्षःस्थलसे हो तो रुद्रलोककी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम्।
विश्वेदेवान् मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात्॥ ५॥

ग्रीवासे प्राणोंका निष्क्रमण होनेपर मनुष्य मुनियोंमें श्रेष्ठ परम उत्तम नरका सांनिध्य प्राप्त करता है । मुखसे प्राण-त्याग करनेपर वह विश्वेदेवोंको और श्रोत्रसे प्राण त्याग-नेपर दिशाओंकी अधिष्ठात्री देवियोंको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च।
भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितॄनथ॥ ६॥

नासिकासे प्राणोंका उत्क्रमण हो तो मनुष्य वायुदेवताको, दोनों नेत्रोंसे हो तो अग्निदेवताको, दोनों भौंहोंसे हो तो अश्विनीकुमारोंको और ललाटसे हो तो पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं तथा।
एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर॥ ७॥

मस्तकसे प्राणोंका परित्याग करनेपर मनुष्य देवताओंके अग्रज भगवान् ब्रह्माजीके लोकको जाता है । मिथिलेश्वर ! ये प्राणोंके निष्क्रमणके स्थान बताये गये हैं ॥ ७ ॥

अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः।
संवत्सरवियोगस्य सम्भवन्ति शरीरिणः॥ ८॥

अब मैं ज्ञानी पुरुषोंद्वारा नियत किये हुए अमङ्गल अथवा मृत्युको सूचित करनेवाले उन चिह्नोंका वर्णन करता हूँ, जो देहधारीके शरीर छूटनेमें केवल एक वर्ष शेष रह जानेपर उसके सामने प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वां कदाचन।
तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च॥ ९॥
खण्डाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः।

जो कभी पहलेकी देखी हुई अरुन्धती और ध्रुवको न देख पाता हो तथा पूर्णचन्द्रमाका मण्डल और दीपककी शिखा जिसे दाहिने भागसे खण्डित जान पड़े, ऐसे लोग केवल एक वर्षतक जीवित रहनेवाले होते हैं ॥ ९½ ॥

परचक्षुषि चात्मानं ये न पश्यन्ति पार्थिव॥ १०॥
आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः।

पृथ्वीनाथ ! जो लोग दूसरेके नेत्रोंमें अपनी परछाईं न देख सकें, उनकी आयु भी एक ही वर्षतक शेष समझनी चाहिये॥

अतिद्युतिरतिप्रज्ञा अप्रज्ञा चाद्युतिस्तथा॥ ११॥
प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

यदि मनुष्यकी बहुत बढ़ी-चढ़ी कान्ति भी अत्यन्त फीकी पड़ जाय, अधिक बुद्धिमत्ता भी बुद्धिहीनतामें परिणत हो जाय और स्वभावमें भी भारी उलट-फेर हो जाय तो यह उसके छः महीनेके भीतर ही होनेवाली मृत्युका सूचक है ॥ ११½ ॥

दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुद्ध्यते॥ १२॥
कृष्णश्यावच्छविच्छायः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

जो काले रंगका होकर भी पीला पड़ने लगे, देवताओंका अनादर करे और ब्राह्मणोंके साथ विरोध करे, वह भी छः महीनेसे अधिक नहीं जी सकता, यह उक्त लक्षणोंसे सूचित होता है ॥ १२½ ॥

ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति॥ १३॥
तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो मनुष्य सूर्य और चन्द्रमाके मण्डलको मकड़ीके जालेके समान छिद्रयुक्त देखता है, वह सात रातमें ही मृत्युका भागी होता है ॥ १३½ ॥

शवगन्धमुपाघ्राति सुरभिं प्राप्य यो नरः॥ १४॥
देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो देवमन्दिरमें बैठकर वहाँकी सुगन्धित वस्तुमें सड़े मुर्देकी-सी दुर्गन्धका अनुभव करता है, वह सात दिनमें ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १४½ ॥

कर्णनासावनमनं दन्तदृष्टिविरागिता ॥ १५ ॥
संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।
अकस्माच्च स्रवेद् यस्य वाममक्षि नराधिप ॥ १६ ॥
मूर्धतश्चोत्पतेद् धूमः सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।

नरेश्वर ! जिसके नाक और कान टेढ़े हो जायँ, दाँत और नेत्रोंका रंग बिगड़ जाय, जिसे बेहोशी होने लगे, जिसका शरीर ठंडा पड़ जाय तथा जिसकी बायीं आँखसे अकस्मात् आँसू बहने और मस्तकसे धुआँ उठने लगे, उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। उपर्युक्त लक्षण तत्काल होनेवाली मृत्युके सूचक हैं ॥ १५-१६½ ॥

एतावन्ति त्वरिष्टानि विदित्वा मानवोऽऽत्मवान् ॥ १७॥
निशि चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि ।
प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥ १८ ॥

इन मृत्युसूचक लक्षणोंको जानकर मनको वशमें रखनेवाला साधक रात-दिन परमात्माका ध्यान करे और जिस समय मृत्यु होनेवाली हो, उस कालकी प्रतीक्षा करता रहे। १७-१८।

अथास्य नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् ।
सर्वगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! यदि योगीको मृत्यु अभीष्ट न हो, अभी वह इस जगत्में रहना चाहे तो यह क्रिया करे। पूर्वोक्त रीतिसे पञ्चभूतविषयक धारणा करके पृथ्वी आदि तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करते हुए सम्पूर्ण गन्धों, रसों तथा रूप आदि विषयोंको अपने वशमें करे * ॥ १९ ॥

ससांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ ।
जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणान्तरात्मना ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! सांख्य और योगके अनुसार धारणापूर्वक आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लगा देनेसे योगी मृत्युको जीत लेता है ॥ २० ॥

गच्छेत् प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम् ।
शाश्वतं स्थानमचलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २१ ॥

ऐसा करनेसे वह उस सनातन पदको प्राप्त करता है, जो अशुद्ध चित्तवाले पुरुषोंको दुर्लभ है तथा जो अक्षय, अजन्मा, अचल, अविकारी, पूर्ण एवं कल्याणमय है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१७ ॥

अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यद्वारा अपनेको सूर्यसे वेदज्ञानकी प्राप्तिका प्रसङ्ग सुनाना, विश्वावसुको जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना तथा जनकको उपदेश देकर विदा होना

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ।
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जो मुझसे अव्यक्तमें स्थित परब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया है, वह अत्यन्त गूढ़ है। उसके विषयमें ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

यथाऽऽर्षेणेह विधिना चरतावनतेन ह ।
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ॥ २ ॥

मिथिलापते ! पूर्वकालमें मैंने शास्त्रोक्त विधिसे व्रतका आचरण करते हुए नतमस्तक होकर भगवान् सूर्यसे जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र उपलब्ध किये थे, वह सब प्रसङ्ग सुनो ॥ २ ॥

---

* धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर विजय या अधिकार प्राप्त करके योगी जन्म, जरा, मृत्यु आदिको जीत लेता है; इस विषयमें यह सूत्र भी प्रमाण है—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

'ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता (योगद० ३। ४६, ४७) ।

महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया ।
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! पहलेकी बात है, मैंने बड़ी भारी तपस्या करके तपनेवाले भगवान् सूर्यकी आराधना की थी । उससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—॥ ३ ॥

वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ।
तत् ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥ ४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो । वह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें दे दूँगा; क्योंकि मेरा मन तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट है । मेरा कृपा-प्रसाद प्रायः दुर्लभ है' ॥ ४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ।
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५ ॥

तब मैंने मस्तक झुकाकर तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यको प्रणाम किया और उनसे कहा—'प्रभो ! मैं शीघ्र ही ऐसे यजुर्मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जो आजसे पहले दूसरे किसीके उपयोगमें नहीं आये हैं' ॥ ५ ॥

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ।
सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥ ६ ॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु ।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ७ ॥

तब भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—'ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें यजुर्वेद प्रदान करता हूँ । तुम अपना मुँह खोलो । वाङ्मयी सरस्वती देवी तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करेंगी ।' यह सुनकर मैंने मुँह खोल दिया और सरस्वती देवी उसमें प्रविष्ट हो गयीं ॥

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ।
अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! सरस्वतीके प्रवेश करते ही मैं तापसे जलने लगा और जलमें घुस गया । महात्मा भास्करकी महिमाको न जानने तथा अपनेमें सहनशीलता न होनेके कारण मुझे उस समय विशेष कष्ट हुआ था ॥ ८ ॥

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः ।
मुहूर्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुझे तापसे दग्ध होता देख भगवान् सूर्यने कहा—'तात ! तुम दो घड़ीतक इस तापको सहन करो । फिर यह स्वयं ही शीतल एवं शान्त हो जायगा' ॥ ९ ॥

शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः ।
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ॥ १० ॥

जब मैं पूर्ण शीतल हो गया, तब मुझे देखकर भगवान् भास्करने कहा—'विप्रवर ! खिल और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेद तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठित होंगे ॥ १० ॥

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ ।
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम सम्पूर्ण शतपथका भी प्रणयन (सम्पादन) करोगे । इसके बाद तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें स्थिर होगी ॥ ११ ॥

प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत् सांख्ययोगेप्सितं पदम् ।
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्तत ॥ १२ ॥

'तुम उस अभीष्ट पदको प्राप्त करोगे, जिसे सांख्यवेत्ता तथा योगी भी पाना चाहते हैं ।' इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अदृश्य हो गये ॥ १२ ॥

ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ।
गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥ १३ ॥

मैंने सूर्यदेवका वह कथन सुना । फिर जब वे चले गये, तब मैंने घर आकर प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका चिन्तन किया ॥

ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ।
ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ १४ ॥

मेरे स्मरण करते ही स्वर और व्यञ्जन-वर्णोंसे विभूषित अत्यन्त मङ्गलमयी सरस्वतीदेवी ॐकारको आगे करके मेरे सम्मुख प्रकट हुईं ॥ १४ ॥

ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम् ।
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥ १५ ॥

तब मैंने सरस्वतीदेवी तथा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् भास्करको अर्घ्य निवेदन किया और उन्हींका चिन्तन करता हुआ बैठ गया ॥ १५ ॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् ।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ १६ ॥

उस समय बड़े हर्षके साथ मैंने रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट-भागसहित समस्त शतपथका संकलन किया ॥ १६ ॥

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् ।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
ततः सशिष्येण मया सूर्येणेव गभस्तिभिः ।
व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥ १८ ॥

महाराज ! तदनन्तर मैंने अपने सौ उत्तम शिष्योंको शतपथका अध्ययन कराया । इसके बाद शिष्यसहित अपने महामनस्वी मामाका (जो पहले मुझे तिरस्कृत कर चुके थे) अप्रिय करनेके लिये किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति शिष्योंसे सुशोभित हो मैंने तुम्हारे पिता महात्मा राजा जनकके यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ १७-१८ ॥

मिषतो देवलस्यापि ततोऽर्धं हृतवानहम् ।
स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दे मातुलेन ह ॥ १९ ॥

उस समय अपने वेदकी दक्षिणाके लिये मामाके द्वारा विशेष आग्रह होनेपर महर्षि देवलके सामने ही मैंने आधी दक्षिणा उन्हें दे दी और आधी स्वयं ग्रहण की ॥ १९ ॥

सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै ।
पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा अन्य

महर्षि याज्ञवल्क्यके स्मरणसे देवी सरस्वतीका प्राकट्य

ऋषि-मुनियोंने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

दश पञ्च च प्राप्तानि यजूंष्यर्कान्मयानघ ।
तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥ २१ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने सूर्यदेवसे शुक्लयजुर्वेदकी पंद्रह शाखाएँ प्राप्त कीं । इसी तरह रोमहर्षण सूतसे मैंने पुराणोंका अध्ययन किया ॥ २१ ॥

बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ।
सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥ २२ ॥
कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने बीजरूप प्रणव और सरस्वती देवीको सामने करके भगवान् सूर्यकी कृपासे शतपथकी रचना आरम्भ की और इस अपूर्व ग्रन्थको पूर्ण कर लिया और जो मोक्षका मार्ग मुझे अभीष्ट था, उसका भी भलीभाँति सम्पादन किया ॥ २२-२३ ॥

शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् ।
सर्वे च शिष्याः शुचयो गताः परमहर्षिताः ॥ २४ ॥

फिर मैंने शिष्योंको वह सारा ग्रन्थ रहस्य और संग्रहसहित पढ़ाया और उन्हें घर जानेकी अनुमति दे दी । फिर वे सभी शुद्ध आचार-विचारवाले शिष्य अत्यन्त हर्षित हो अपने-अपने घरको चले गये ॥ २४ ॥

शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः ।
प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार सूर्यदेवके द्वारा उपदेश की हुई शुक्लयजुर्वेद विद्याकी इन पंद्रह शाखाओंका ज्ञान प्राप्त करके मैंने इच्छानुसार वेद्यतत्त्वका चिन्तन किया है ॥ २५ ॥

किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् ।
चिन्तयंस्तत्र चागत्य गन्धर्वो मामपृच्छत ॥ २६ ॥
विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञानकोविदः ।

राजन् ! एक समय वेदान्तज्ञानमें कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व मेरे पास आया एवं इस बातका विचार करते हुए कि यहाँ ब्राह्मण-जातिके लिये हितकर क्या है ? सत्य और सर्वोत्तम ज्ञातव्य वस्तु क्या है ? मुझसे पूछने लगा ॥ २६½ ॥

चतुर्विंशांस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव ॥ २७ ॥
पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा ।
विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने वेदके सम्बन्धमें चौबीस प्रश्न पूछे । फिर आन्वीक्षिकी विद्याके सम्बन्धमें पचीसवाँ प्रश्न उपस्थित किया । वे चौबीस प्रश्न इस प्रकार हैं—१. विश्व क्या है ? २. अविश्व क्या है ? ३. अश्वा क्या है ? ४. अश्व क्या है ? ५. मित्र क्या है ? ६. वरुण क्या है ? ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा ।
सूर्यातिसूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ॥ २९ ॥

७. ज्ञान क्या है ? ८. ज्ञेय क्या है ? ९. ज्ञाता क्या है ? १०. अज्ञ क्या है ? ११. क कौन है ? १२. कौन तपस्वी है ? १३. और कौन अतपस्वी है ? १४. कौन सूर्य है ? १५. तथा कौन अतिसूर्य ? १६. और विद्या क्या है ? १७. तथा अविद्या क्या है ? ॥ २९ ॥

वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च ।
अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

१८. राजन् ! वेद्य क्या है ? १९. अवेद्य क्या है ? २०. चल क्या है ? २१. अचल क्या है ? २२. अपूर्व क्या है ? २३. अक्षय क्या है ? २४. और विनाशशील क्या है ? ये ही उनके परम उत्तम प्रश्न हैं ॥ ३० ॥

अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः ।
पृष्टवाननुपूर्वेण प्रश्नमर्थविदुत्तमम् ॥ ३१ ॥
मुहूर्तमुष्यतां तावद् यावदेनं विचिन्तये ।
बाढमित्येव कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ॥ ३२ ॥

महाराज ! इन प्रश्नोंको सुनकर मैंने गन्धर्वशिरोमणि राजा विश्वावसुसे कहा—'राजन् ! आपने क्रमशः बड़े उत्तम प्रश्न उपस्थित किये हैं । आप अर्थके ज्ञाता हैं । थोड़ी देर ठहर जाइये, तबतक मैं आपके इन प्रश्नोंपर विचार कर लेता हूँ ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर गन्धर्वराज चुपचाप बैठे रहे ॥ ३१-३२ ॥

ततोऽनुचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् ।
मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर मैंने पुनः सरस्वतीदेवीका मन-ही-मन चिन्तन किया । फिर तो जैसे दहीसे घी निकल आता है, उसी प्रकार उन प्रश्नोंका उत्तर निकल आया ॥ ३३ ॥

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! तात ! उस समय मैं वहाँ उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और परम उत्तम आन्वीक्षिकी विद्यापर दृष्टिपात करके मनके द्वारा उन सबका मन्थन करने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा साम्परायिकी ।
उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशादधिष्ठिता ॥ ३५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह आन्वीक्षिकी विद्या (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओंकी अपेक्षासे) चौथी बतायी गयी है । यह मोक्षमें सहायक है । पचीसवें तत्त्वरूप पुरुषसे अधिष्ठित उस विद्याका मैंने तुमसे प्रतिपादन किया था (वही विश्वावसुके निकट भी कही गयी) ॥ ३५ ॥

अथोक्तस्तु मया राजन् राजा विश्वावसुस्तदा ।
श्रूयतां यद् भवानस्मान् प्रश्नं सम्पृष्टवानिह ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय मैंने राजा विश्वावसुसे कहा—'गन्धर्वराज ! आपने यहाँ मुझसे जो प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर सुनिये ॥ ३६ ॥

विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि।
विश्वाव्यक्तं परं विद्याद् भूतभव्यभयंकरम्॥३७॥

गन्धर्वपते! आपने जो विश्वा और अविश्व इत्यादि कहकर यह प्रश्नावली उपस्थित की है, उसमें विश्वा अव्यक्त प्रकृतिका नाम है। वह संसार-बन्धनमें डालनेवाली होनेके कारण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें भयंकर है—इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें॥३७॥

त्रिगुणं गुणकर्तृत्वादविश्वो निष्कलस्तथा।
अश्वश्चाश्वा च मिथुनमेवमेवानुदृश्यते॥३८॥

इस प्रकार विश्वा नामसे प्रसिद्ध जो अव्यक्त प्रकृति है, वह त्रिगुणमयी है; क्योंकि वही त्रिगुणात्मक जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली है। उससे भिन्न जो निष्कल (कलाओंसे रहित) आत्मा है, वही अविश्व कहलाता है। इसी तरह अश्व और अश्वाकी जोड़ी भी देखी जाती है (अर्थात् अश्वा अव्यक्त प्रकृति है और अश्व पुरुष)॥३८॥

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम्।
तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा॥३९॥

अव्यक्त प्रकृतिको सगुण बताया गया है और पुरुषको निर्गुण। इसी प्रकार वरुणको प्रकृति समझना चाहिये और मित्रको पुरुष॥३९॥

ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च।
अज्ञश्च ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते॥४०॥

(भौतिक) ज्ञान शब्दसे प्रकृतिका प्रतिपादन किया गया है और निष्कल आत्माको ज्ञेय बताया गया है। इसी तरह अज्ञ प्रकृति है और उससे भिन्न निष्कल पुरुषको 'ज्ञाता' बताया गया है॥४०॥

कस्तपा अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते।
तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः॥४१॥

क, तपा और अतपाके विषयमें जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसके विषयमें बताया जाता है। पुरुषको ही 'क' कहते हैं। प्रकृतिका ही नाम तपा है और निष्कल पुरुषको अतपा नाम दिया गया है॥४१॥

(सूर्यमव्यक्तमित्युक्तमतिसूर्यस्तु निष्कलः।
अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया विद्या पुरुष उच्यते॥)

अव्यक्त प्रकृतिको ही सूर्य और निष्कल पुरुषको अतिसूर्य कहा गया है। प्रकृतिको अविद्या जानना चाहिये और पुरुष विद्या कहलाता है॥

तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते।
चलाचलमिति प्रोक्तं त्वया तदपि मे शृणु॥४२॥

इसी तरह अवेद्य नामसे अव्यक्त प्रकृतिका और वेद्य नामसे पुरुषका प्रतिपादन किया जाता है। आपने जो चल और अचलके विषयमें प्रश्न किया है, उसका भी उत्तर सुनिये॥

चलां तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः।
आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः॥४३॥

सृष्टि और संहारकी कारणभूता प्रकृतिको 'चला' कहा गया है और सृष्टि और प्रलयका कर्ता पुरुष ही निश्चल पुरुष माना गया है॥४३॥

तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यः पुरुषस्तथा।
अज्ञावुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि॥४४॥
अजौ नित्यावुभौ प्राहुरध्यात्मगतिनिश्चयाः॥४५॥

उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति वेद्य (जाननेमें आनेवाली) है और पुरुष अवेद्य (जाननेमें न आनेवाला)। अध्यात्म-तत्त्वका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज्ञ हैं, दोनों ही निश्चल हैं और दोनों ही अक्षय, अजन्मा तथा नित्य हैं॥४४-४५॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम्।
अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते॥४६॥

ज्ञानी पुरुषोंका कथन है कि जन्म ग्रहण करनेपर भी क्षयरहित होनेके कारण यहाँ पुरुषको अजन्मा, अविनाशी और अक्षय कहा गया है; क्योंकि उसका कभी क्षय नहीं होता है॥४६॥

गुणक्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः।
एषा तेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी॥४७॥

गुणोंका क्षय होनेके कारण प्रकृति क्षयशील मानी गयी है और उसका प्रेरक होनेके कारण पुरुषको विद्वानोंने अक्षय कहा है। गन्धर्वराज! यह मैंने आपको चौथी आन्वीक्षिकी विद्या, जो मोक्षमें सहायक है, बतायी है॥४७॥

विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि।
एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः॥४८॥

विश्वावसो! आन्वीक्षिकी विद्यासहित वेद-विद्यारूपी धनका उपार्जन करके प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्ममें संलग्न रहना चाहिये। सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करनेके योग्य माने गये हैं॥४८॥

जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः।
वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम॥४९॥

गन्धर्वराज! समस्त भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्माको जो नहीं जानते हैं, वे परमार्थसे भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं॥४९॥

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥५०॥

साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेके योग्य परमेश्वरको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है॥५०॥

यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद् गन्धर्वसत्तम।
विष्ठां तत्रानुपश्येत न मण्डं न च वै घृतम्॥५१॥

गन्धर्वशिरोमणे ! जो घी पानेकी इच्छा रखकर गधीके दूधको मथता है, उसे वहाँ विष्ठा ही दिखायी देती है। उसे न तो वहाँ मक्खन ही मिलता है और न घी ही ॥ ५१ ॥

तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः ॥ ५२ ॥

इसी प्रकार जो वेदोंका अध्ययन करके भी वेद्य और अवेद्यका तत्त्व नहीं जानता, वह मूढ़बुद्धि मानव केवल ज्ञानका बोझ ढोनेवाला माना गया है ॥ ५२ ॥

द्रष्टव्यौ नित्यमेवैतौ तत्परेणान्तरात्मना।
तथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

मनुष्यको सदा ही तत्पर होकर अन्तरात्माके द्वारा इन दोनों प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिससे बारंबार उसे जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ना पड़े ॥ ५३ ॥

अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम्।
परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥ ५४ ॥

संसारमें जन्म और मरणकी परम्परा निरन्तर चलती रहती है—ऐसा सोचकर वैदिक कर्मकाण्डमें बताये हुए सभी कर्मों और उनके फलोंको विनाशशील जानकर उनका परित्याग करके मनुष्यको यहाँ अक्षय धर्मका आश्रय लेना चाहिये ॥

यदानुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ५५ ॥

कश्यपनन्दन ! जब साधक प्रतिदिन परमात्माके स्वरूपका विचार एवं चिन्तन करने लगता है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर छब्बीसवें तत्त्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तस्य द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ॥ ५६ ॥

मूढ़बुद्धि मानव उस आत्माके सम्बन्धमें द्वैतभावसे युक्त धारणा रखते हुए कहते हैं—'सनातन अव्यक्त परमात्मा दूसरा है और पचीसवाँ तत्त्वरूप जीवात्मा दूसरा, परंतु साधु पुरुष उन दोनोंको एक मानते हैं ॥ ५६ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्।
जन्ममृत्युभयाद् योगाः सांख्याश्च परमैषिणः ॥ ५७ ॥

वे जन्म और मृत्युके भयसे रहित होकर परमपद पानेकी इच्छा रखनेवाले सांख्यवेत्ता और योगी जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न नहीं मानते हैं। जीव और ईश्वरका अभेद बतानेवाला जो यह पूर्वोक्त दर्शन अथवा साधुमत है, उसका वे भी अभिनन्दन करते ही हैं ॥

विश्वावसुरुवाच

पञ्चविंशं यदेतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम।
तथा तन्न तथा चेति तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५८ ॥

विश्वावसुने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे ! आपने जो यह पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न बताया है, उसमें यह संदेह उठता है कि जीवात्मा वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है या नहीं ? अतः आप इस बातका स्पष्टरूपसे वर्णन करें ॥ ५८ ॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्।
पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥ ५९ ॥
भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च।
गौतमस्यार्ष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ॥ ६० ॥
नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः।
सनत्कुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः ॥ ६१ ॥
कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम्।

मैंने मुनिवर जैगीषव्य, असित, देवल, ब्रह्मर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यपजीके मुखसे भी पहले इस विषयका प्रतिपादन सुना था ॥ ५९—६१½ ॥

तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ ६२ ॥
दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः।
प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्युत ॥ ६३ ॥

तदनन्तर रुद्र, बुद्धिमान् विश्वरूप, अन्यान्य देवता, पितर तथा दैत्योंसे भी जहाँ-तहाँसे यह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। वे सब लोग ज्ञेय तत्त्वको पूर्ण और नित्य बतलाते हैं ॥ ६२-६३ ॥

तस्मात् तद् वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण।
भवान् प्रबर्हः शास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणदेव ! अब मैं इस विषयमें आपकी बुद्धिसे किये गये निर्णयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ, शास्त्रोंके प्रगल्भ पण्डित और अत्यन्त बुद्धिमान् हैं ॥

न तवाविदितं किंचिद् भवाञ्छ्रुतिनिधिः स्मृतः।
कथ्यते देवलोके च पितृलोके च ब्राह्मण ॥ ६५ ॥

ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। वैदिक ज्ञानके तो आप भण्डार ही माने जाते हैं। ब्रह्मन् ! देवलोक और पितृलोकमें भी आपकी ख्याति है ॥ ६५ ॥

ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः।
पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता ॥ ६६ ॥

ब्रह्मलोकमें गये हुए महर्षि भी आपकी महिमाका वर्णन करते हैं। तपनेवाले तेजस्वी ग्रहोंके पति अदितिनन्दन सनातन भगवान् सूर्यने आपको वेदका उपदेश किया है ॥

सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च।
तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने सम्पूर्ण सांख्य तथा योगशास्त्रका भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम्।

श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं घृतं मण्डमयं यथा ॥ ६८ ॥

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आप पूर्ण ज्ञानी हैं और सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को जानते हैं; अतः मैं माखन-मय घीके समान स्वादिष्ट एवं सारभूत वह तत्त्वज्ञान आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

कृत्स्नधारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम ।
जिज्ञाससे च मां राजंस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ६९ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—अर्थात् मैंने उत्तर दिया—गन्धर्वशिरोमणे ! आपको मैं निःसंदेह सम्पूर्ण ज्ञानोंको धारण करनेवाली मेधाशक्तिसे सम्पन्न मानता हूँ। राजन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे प्रश्न करते और मेरे विचार-को जानना चाहते हैं; इसलिये मैंने जैसा सुना है, वह बताता हूँ सुनिये ॥ ६९ ॥

अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः ।
न तु बुध्यति गन्धर्व प्रकृतिः पञ्चविंशकम् ॥ ७० ॥

गन्धर्व ! प्रकृति जड है, इसलिये उसे पचीसवाँ तत्त्व—जीवात्मा तो जानता है; किंतु प्रकृति जीवात्माको नहीं जानती ॥ ७० ॥

अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत् ।
सांख्ययोगाश्च तत्त्वज्ञा यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ७१ ॥

सांख्य और योगके तत्त्वज्ञानी विद्वान् श्रुतिमें किये हुए निरूपणके अनुसार जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाके समान प्रकृतिमें ज्ञानस्वरूप जीवात्माके बोधका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उस प्रकृतिको प्रधान कहते हैं ॥ ७१ ॥

पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदानघ ।
षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ७२ ॥

निष्पाप गन्धर्व ! जीवात्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्थामें कुछ भी नहीं देखता है तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें तत्त्वरूप अपने-आपको, पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको और चौबीसवें तत्त्वरूप प्रकृतिको भी देखता रहता है ॥ ७२ ॥

न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति ।
पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम ॥ ७३ ॥

किंतु यदि जीवात्मा यह अभिमान करता है कि मुझसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है तो जो परमात्मा उसे निरन्तर देखता है, उसे वह समझता हुआ भी नहीं समझता ॥७३॥

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः ।
मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥ ७४ ॥

तत्त्वज्ञानी मनुष्योंको चाहिये कि वे प्रकृतिको आत्मभावसे ग्रहण न करें। जैसे मत्स्य जलका अनुसरण करता है, परंतु अपनेको उससे भिन्न ही मानता है, उसी प्रकार मनुष्य उसकी प्रवृत्तिके अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे; परंतु प्रकृति-को अपना स्वरूप न माने ॥ ७४ ॥

यथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोऽप्यनुबुध्यते ।
स स्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः॥ ७५ ॥
स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते ।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥ ७६ ॥

जैसे मछली जलमें रहती हुई भी उस जलको अपनेसे भिन्न समझती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी प्रकृतिसे अपनेको भिन्न समझता है तथापि वह शरीरके प्रति स्नेह, सहवास और अभिमानके कारण जब परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव नहीं करता है, तब कालके समुद्रमें डूब जाता है। परंतु जब वह समत्व-बुद्धिसे युक्त हो अपनी और परमात्माकी एकताको समझ लेता है, तब उस कालसमुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है ॥

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः ।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥ ७७ ॥

जब द्विज इस बातको समझ लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर अथवा अनात्म-जगत् मुझसे सर्वथा भिन्न है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ७७ ॥

अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः ।
तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥ ७८ ॥

राजन् ! परमात्मा भिन्न है और जीवात्मा भिन्न; क्योंकि परमात्मा जीवात्माका आश्रय है; परंतु ज्ञानी संत महात्मा उन दोनोंको एक ही देखते और समझते हैं ॥ ७८ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।
जन्ममृत्युभयाद् भीता योगाःसांख्याश्च काश्यप॥७९॥

कश्यपनन्दन ! जन्म और मृत्युके भयसे डरे हुए योग और सांख्यके साधक भगवत्परायण हो शुद्ध भावसे छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका दर्शन करते हुए जीवात्मा और परमात्माको एक समझते हैं और इस अभेद-दर्शनका सदा अभिनन्दन ही करते हैं ॥ ७९ ॥

षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः ।
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥ ८० ॥

जब जीवात्मा प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञ विद्वान् होकर इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥ ८० ॥

एवमप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ।
बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ८१ ॥

निष्पाप गन्धर्वराज ! इस प्रकार मैंने तुमसे जड प्रकृति, चेतन जीवात्मा और बोधस्वरूप परमात्माका श्रुतिके अनुसार यथावत्‌रूपसे निरूपण किया है ॥ ८१ ॥

पश्यापश्यं यो न पश्येत् क्षेम्यं तत्त्वं च काश्यप ।
केवलाकेवलं चाद्यं पञ्चविंशं परं च यत् ॥ ८२ ॥

कश्यपनन्दन ! जो मनुष्य जीवात्माको और प्रकृति आदि जडवर्गको पृथक्-पृथक् नहीं जानता, मङ्गलकारी तत्त्वपर दृष्टि नहीं रखता, केवल (प्रकृति-संसर्गसे रहित), अकेवल (प्रकृति-संसर्गसे युक्त), सबके आदिकारण जीवात्मा तथा परब्रह्म परमात्माको भी यथार्थरूपसे नहीं जानता (वह आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है) ॥ ८२ ॥

विश्वावसुरुवाच

तथ्यं शुभं चैतदुक्तं त्वया विभो
सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत् ।
स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं
बुद्ध्या सदा बुद्धियुक्तं मनस्ते ॥ ८३ ॥

विश्वावसुने कहा—प्रभो ! आपने सब देवताओंके आदिकारण ब्रह्मके विषयमें जो यथावत् वर्णन किया है, वह सत्य, शुभ, सुन्दर तथा परम मङ्गलकारी है । आपका मन सदा ही इसी प्रकार ज्ञानमें स्थित रहे तथा आपको नित्य अक्षय कल्याणकी प्राप्ति हो (अच्छा, अब मैं जाता हूँ)॥

याज्ञवल्क्य उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रयातो दिवं स
विभ्राजन् वै श्रीमता दर्शनेन ।
हृष्टश्च तुष्ट्या परयाभिनन्द्य
प्रदक्षिणं मम कृत्वा महात्मा ॥ ८४ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं राजन् ! ऐसा कहकर महामना गन्धर्वराज विश्वावसु अपने कान्तिमान् दर्शनसे प्रकाशित होते हुए मेरी परिक्रमा और अभिनन्दन करके स्वर्गलोकको चले गये । उस समय मैंने भी बड़े संतोषसे उनकी ओर देखा था ॥ ८४ ॥

ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ च
ये चाधस्तात् संवसन्ते नरेन्द्र ।
तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन् वै
सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥ ८५ ॥

राजा जनक ! आकाशमें विचरनेवाले जो ब्रह्मा आदि देवता हैं, पृथ्वीपर निवास करनेवाले जो मनुष्य हैं तथा जो पृथ्वीसे नीचेके लोकोंमें रहते हैं, उनमेंसे जो लोग कल्याणमय मोक्षमार्गका आश्रय लिये हुए थे, उन सबको उन्हीं स्थानोंमें जाकर विश्वावसुने मेरे बताये हुए इस सम्यक्-दर्शनका उपदेश दिया था ॥ ८५ ॥

सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च
तद्वद् योगा योगधर्मे रताश्च ।
ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्या-
स्तेषामेतद् दर्शनं ज्ञानदृष्टम् ॥ ८६ ॥

सांख्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले सम्पूर्ण सांख्यवेत्ता, योग-धर्मपरायण योगी तथा दूसरे जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य हैं, उन सबको यह उपदेश ज्ञानका प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥ ८६ ॥

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह
नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं
येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥ ८७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी नरेन्द्र ! ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, अज्ञानसे नहीं—ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। इसलिये यथार्थ ज्ञानका अनुसंधान करना चाहिये, जिससे अपने-आपको जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ाया जा सके ॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये । जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ८८ ॥

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि
सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥ ८९ ॥

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण सभी वर्ण ब्राह्मण हैं । सभी सदा ब्रह्मका उच्चारण करते हैं । मैं ब्रह्मबुद्धिसे यथार्थ शास्त्रका सिद्धान्त बता रहा हूँ । यह सम्पूर्ण जगत्, यह सारा दृश्यप्रपञ्च ब्रह्म ही है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता
बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः
सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥ ९० ॥

ब्रह्मके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मकी ही भुजाओंसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है, ब्रह्मकी ही नाभिसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र प्रकट हुए हैं, अतः सभी वर्णके लोग ब्रह्मरूप ही हैं । किसी भी वर्णको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना चाहिये ॥ ९० ॥

अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते
तां तां राजंस्ते तथा यान्त्यभावम् ।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते
घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम् ॥ ९१ ॥

राजन् ! मनुष्य अज्ञानके कारण ही कर्मानुष्ठानसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और मरते हैं । ज्ञानहीन मनुष्य ही अपने भयंकर अज्ञानके कारण नाना प्रकारकी प्राकृत योनियोंमें गिरते हैं ॥ ९१ ॥

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो य-
स्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥ ९२ ॥

नरेन्द्र ! अतः सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतः जो ब्राह्मण ज्ञानमें स्थित है अथवा जो दूसरे वर्णका मनुष्य भी ज्ञाननिष्ठ है, उसके लिये नित्य मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ९२ ॥

यत् ते पृष्टं तन्मया चोपदिष्टं
याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व ।
राजन् गच्छस्वैतदर्थस्य पारं
सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति तेऽत्वस्तु नित्यम् ॥

राजन् ! तुमने जो पूछा था उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें यथार्थ ज्ञानका उपदेश किया है; अतः अब तुम शोकरहित हो जाओ और इस तत्त्वज्ञानमें पारङ्गत बनो । मैंने तुम्हें ज्ञानका भलीभाँति उपदेश कर दिया है। जाओ, तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता।
प्रीतिमानभवद् राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर मिथिलापति राजा जनक उस समय बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम्।
दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥ ९५ ॥
गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च।
रत्नाञ्जलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ९६ ॥

उन्होंने सत्कारपूर्वक मुनिकी प्रदक्षिणा करके उन्हें विदा किया। जब वे मुनिवर याज्ञवल्क्य चले गये, तब मोक्षके ज्ञाता देवरातनन्दन राजा जनकने वहीं बैठे-बैठे एक करोड़ गौएँ छूकर ब्राह्मणोंको दान कर दीं तथा प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अञ्जलि रत्न और सुवर्ण प्रदान किये ॥ ९५-९६ ॥

विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥ ९७ ॥

इसके बाद मिथिलानरेशने विदेहदेशका राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और स्वयं वे यति-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ ९७ ॥

सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः।
धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥ ९८ ॥
अनन्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥ ९९ ॥
जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत्।
व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥१००॥

राजेन्द्र ! नरेश्वर ! उन्होंने सम्पूर्ण सांख्य, ज्ञान और योगशास्त्रका स्वाध्याय करके प्राकृत धर्म और अधर्मको त्याज्य मानते हुए यह निश्चय किया कि 'मैं अनन्त हूँ।' ऐसा निश्चय करके वे धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सत्य-असत्य तथा जन्म और मृत्युको व्यक्त (बुद्धि आदि) और अव्यक्त (प्रकृति) का कार्य मानकर सबको प्राकृत (प्रकृतिजन्य एवं मिथ्या) समझते हुए प्रकृतिसंसर्गसे रहित अपने शुद्ध एवं नित्य स्वरूपका ही चिन्तन करने लगे ॥ ९८–१०० ॥

पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतलक्षणाः।
इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! सांख्य और योगके विद्वान् अपने-अपने शास्त्रोंमें वर्णित लक्षणोंके अनुसार ऐसा देखते और समझते हैं कि वह ब्रह्म इष्ट और अनिष्टसे मुक्त, अचल-भावसे स्थित एवं परात्पर है ॥ १०१ ॥

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव।
दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ॥१०२॥
ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह।
ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ॥१०३॥

विद्वान् पुरुष उस ब्रह्मको नित्य एवं पवित्र बताते हैं; अतः तुम भी उसे जानकर पवित्र हो जाओ। नरश्रेष्ठ ! जो कुछ दिया जाता है, जो दी हुई वस्तु किसीको प्राप्त होती है, जो दानका अनुमोदन करता है, जो देता है तथा जो उस दानको ग्रहण करता है, वह सब अव्यक्त परमात्मा ही है। परमात्मा ही यह सब कुछ देता और लेता है ॥

आत्मा ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत्।
एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥१०४॥

युधिष्ठिर ! एकमात्र परमात्मा ही अपना है। उससे बढ़कर आत्मीय दूसरा कौन हो सकता है । तुम सदा ऐसा ही मानो और इसके विपरीत दूसरी किसी बातका चिन्तन न करो ॥ १०४ ॥

यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः।
तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता ॥१०५॥

जिसे अव्यक्त प्रकृतिका ज्ञान न हुआ हो, सगुण-निर्गुण परमात्माकी पहचान न हुई हो, उस विद्वान्‌को तीर्थोंका सेवन और यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १०५ ॥

न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन।
लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वा व्यक्तं महीयते ॥१०६॥

कुरुनन्दन ! स्वाध्याय, तप अथवा यज्ञोंद्वारा मोक्ष या परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं होती (ये तो उनके तत्त्वको जाननेमें सहायक होते हैं) । इनके द्वारा परमात्माका स्पष्ट

(अपरोक्ष) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य महिमान्वित होता है॥

तथैव महतः स्थानमाहङ्कारिकमेव च ।
अहङ्कारात् परं चापि स्थानानि समवाप्नुयात् ॥१०७॥

महत्तत्त्वकी उपासना करनेवाले महत्तत्त्वको और अहंकार-के उपासक अहंकारको प्राप्त होते हैं; परंतु महत्तत्त्व और अहंकारसे भी श्रेष्ठ जो स्थान हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये॥ १०७॥

ये त्वव्यक्तात् परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः ।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥१०८॥

जो शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होते हैं, वे ही प्रकृतिसे पर, नित्य, जन्म-मृत्युसे रहित, मुक्त एवं सदसत्स्वरूप परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ १०८ ॥

एतन्मयाऽऽप्तं जनकात् पुरस्तात्
तेनापि चाप्तं नृप याज्ञवल्क्यात् ।
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥१०९॥

युधिष्ठिर ! यह ज्ञान मुझे पूर्वकालमें राजा जनकसे मिला था और जनकको याज्ञवल्क्यजीसे प्राप्त हुआ था । ज्ञान सबसे उत्तम साधन है । यज्ञ इसकी समानता नहीं कर सकते । ज्ञानसे ही मनुष्य इस दुर्गम संसार-सागरसे पार हो सकता है; यज्ञोंद्वारा नहीं॥ १०९ ॥

दुर्गं जन्म निधनं चापि राजन्
न भौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति ।
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैश्च
दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥११०॥

राजन् ! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भौतिक जन्म और मृत्युको पार करना अत्यन्त कठिन है । यज्ञ आदिके द्वारा भी मनुष्य उस दुर्गम संकटसे पार नहीं हो सकता । यज्ञ, तप, नियम और व्रतोंद्वारा तो लोग स्वर्गलोकमें जाते और पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं ॥ ११० ॥

तस्मादुपास्स्व परं महच्छुचि
शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम् ।
क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञ-
मुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥१११॥

इसलिये तुम प्रकृतिसे पर, महत्, पवित्र, कल्याणमय, निर्मल, शुद्ध तथा मोक्षस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करो । पृथ्वी-नाथ ! क्षेत्रको जानकर और ज्ञानयज्ञका आश्रय लेकर तुम निश्चय ही तत्त्वज्ञानी ऋषि बन जाओगे ॥ १११ ॥

यदुपनिषदमुपाकरोत् तथासौ
जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः ।
यदुपगणितशाश्वताव्ययंत-
च्छुभममृतत्वमशोकमर्च्छति ॥११२॥

पूर्वकालमें याज्ञवल्क्य मुनिने राजा जनकको जिस उप-निषद् (ज्ञान) का उपदेश दिया था, उसका मनन करनेसे मनुष्य पूर्वकथित सनातन अविनाशी, शुभ, अमृतमय तथा शोकरहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादसमाप्तौ अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जरा-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके विषयमें पञ्चशिख और राजा जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

ऐश्वर्यं वा महत् प्राप्य धनं वा भरतर्षभ ।
दीर्घमायुरवाप्याथ कथं मृत्युमतिक्रमेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! महान् ऐश्वर्य या प्रचुर धन अथवा बहुत बड़ी आयु पाकर मनुष्य किस तरह मृत्युका उल्लङ्घन कर सकता है ?॥ १ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
रसायनप्रयोगैर्वा कैर्नाप्नोति जरान्तकौ ॥ २ ॥

वह गुरुतर तपस्या करके, महान् कर्मोंका अनुष्ठान करके, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके अथवा नाना प्रकारके रसायनों-का प्रयोग करके किन उपायोंद्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त नहीं होता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्येह संवादं जनकस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष संन्यासी पञ्चशिख तथा राजा जनकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम् ।
पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, विदेहदेशके राजा जनकने वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि पञ्चशिखसे, जिनके धर्म और अर्थ-विषयक संदेह नष्ट हो गये थे, इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४ ॥

केन वृत्तेन भगवन्नतिक्रामेज्जरान्तकौ ।
तपसा वाथ बुद्ध्या वा कर्मणा वा श्रुतेन वा ॥ ५ ॥

'भगवन् ! किस आचार, तपस्या, बुद्धि, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानके द्वारा मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है ?' ॥

एवमुक्तः स वैदेहं प्रत्युवाचापरोक्षवित् ।
निवृत्तिर्न तयोरस्ति नानिवृत्तिः कथञ्चन ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर अपरोक्षज्ञानसे सम्पन्न महर्षि पञ्चशिखने विदेहराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती है, परंतु ऐसा भी नहीं है कि किसी प्रकार उनकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती (धन और ऐश्वर्य आदिसे उनकी निवृत्ति नहीं होती, परंतु ज्ञानसे तो पुनर्जन्मकी भी निवृत्ति हो जाती है; फिर जरा और मृत्युकी तो बात ही क्या ?) ॥ ६ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः ।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः ॥ ७ ॥

दिन, रात और महीनोंके जो चक्र चल रहे हैं, वे किसीके टाले नहीं टलते हैं। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु और जरा आदिके क्रम प्रायः चलते ही रहते हैं। जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, वह मरणधर्मा मानव कभी दीर्घकालके पश्चात् नित्य-पथ (मोक्षमार्ग) का आश्रय लेता है ॥ ७ ॥

सर्वभूतसमुच्छेदः स्रोतसेवोह्यते सदा ।
ऊह्यमानं निमज्जन्तमप्लवे कालसागरे ॥ ८ ॥
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदभिपद्यते ।

काल समस्त प्राणियोंका उच्छेद कर डालता है। जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहाये लिये जाता है, उसी प्रकार काल सदा ही प्राणियोंको अपने वेगसे बहाया करता है। यह काल बिना नौकाके समुद्रकी भाँति लहरा रहा है। जरा और मृत्यु विशाल ग्राहका रूप धारण करके उसमें बैठे हुए हैं। उस काल-सागरमें बहते और डूबते हुए जीवको कोई भी बचा नहीं सकता ॥ ८½ ॥

नैवास्य कश्चिद् भवति नासौ भवति कस्यचित् ॥ ९ ॥
पथि सङ्गतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित् ॥ १० ॥

यहाँ इस जीवका कोई भी अपना नहीं है और वह भी किसीका अपना नहीं है। रास्तेमें मिले हुए राहगीरोंके समान यहाँ पत्नी तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंका साथ हो जाता है, परंतु यहाँ पहले कभी किसीने किसीके साथ चिरकालतक सहवास-का सुख नहीं उठाया है ॥ ९-१० ॥

क्षिप्यन्ते तेन तेनैव निष्टनन्तः पुनः पुनः ।
कालेन जाता याता हि वायुनेवाभ्रसंचयाः ॥ ११ ॥

जैसे गर्जते हुए बादलोंको हवा बारंबार उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार काल यहाँ जन्म लेनेवाले प्राणियोंको उनके रोने-चिल्लानेपर भी विनाशकी आगमें झोंक देता है ॥ ११ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १२ ॥

कोई बलवान् हों या दुर्बल, बड़ा हों या छोटा, उन सब प्राणियोंको बुढ़ापा और मौत व्याघ्रकी भाँति खा जाती है।१२।

एवंभूतेषु भूतात्मा नित्यभूतोऽध्रुवेषु च ।
कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च कथं ज्वरेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब सभी प्राणी विनाशशील ही हैं, तब नित्य-स्वरूप जीवात्मा उन प्राणियोंके लिये जन्म लेनेपर हर्ष किस लिये माने और मर जानेपर शोक क्यों करे ? ॥ १३ ॥

कुतोऽहमागतः कोऽस्मि क्व गमिष्यामि कस्य वा ।
कस्मिन् स्थितः क्व भविता कस्मात्किमनुशोचसि ॥१४॥

मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? किसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? किस स्थानमें स्थित होकर कहाँ फिर जन्म लूँगा ? इन सब बातोंको लेकर तुम किस लिये क्या शोक कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

द्रष्टा स्वर्गस्य कोऽन्योऽस्ति तथैव नरकस्य च ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य दद्याच्चैव यजेत च ॥ १५ ॥

जो शुभ और अशुभ कर्म करता है, उसके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो उन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकका दर्शन एवं उपभोग करेगा; अतः शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए सब लोगोंको दान और यज्ञ आदि सत्कर्म करते रहने चाहिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखजनकसंवादे एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिख और जनकका संवादविषयक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१९ ॥

विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनककी परीक्षा करनेके लिये आयी हुई सुलभाका उनके शरीरमें प्रवेश करना, राजा जनकका उसपर दोषारोपण करना एवं सुलभाका युक्तियोंद्वारा निराकरण करते हुए राजा जनकको अज्ञानी बताना

युधिष्ठिर उवाच

अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरुराजर्षिसत्तम ।
कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलराजर्षिशिरोमणि ! जहाँ बुद्धिका लय हो जाता है, उस मोक्षतत्त्वको गृहस्थाश्रमका त्याग बिना किये कौन पुरुष प्राप्त हुआ है, यह मुझे बताइये ॥१॥

संन्यस्यते यथाऽऽत्मायं व्यक्तस्यात्मा यथा च यत्।
परं मोक्षस्य यच्चापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! यह मनुष्यशरीर जिस प्रकार स्थूल शरीरका त्याग करता है और जिस प्रकार स्थूल शरीरका आत्मा सूक्ष्म शरीरका त्याग करता है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके अभिमानसे जिस प्रकार रहित हो सकता है एवं उनके त्यागका जो स्वरूप है और जो मोक्षका तत्त्व है, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें जानकार मनुष्य जनक और सुलभाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

संन्यासफलिकः कश्चिद् बभूव नृपतिः पुरा।
मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ ४ ॥

प्राचीन कालमें मिथिलापुरीके कोई एक राजा जनक हो गये हैं, जो धर्मध्वज नामसे प्रसिद्ध थे। उन्हें (गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी) संन्यासका जो सम्यग्ज्ञानरूप फल है, वह प्राप्त हो गया था ॥ ४ ॥

स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः।
इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

उन्होंने वेदमें, मोक्षशास्त्रमें तथा अपने शास्त्र (दण्डनीति) में भी बड़ा परिश्रम किया था। वे इन्द्रियोंको एकाग्र करके इस वसुन्धराका शासन करते थे ॥ ५ ॥

तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम्।
लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! वेदोंके ज्ञाता विद्वान् पुरुष उनकी उस साधुवृत्तिका समाचार सुनकर उन्हींके समान सज्जन होनेकी इच्छा करते थे ॥ ६ ॥

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ७ ॥

वह धर्मप्रधान युगका समय था। उन दिनों सुलभा नामवाली एक संन्यासिनी योगधर्मके अनुष्ठानद्वारा सिद्धि प्राप्त करके अकेली ही इस पृथ्वीपर विचरण करती थी ॥ ७ ॥

तया जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः।
तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ८ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्में घूमती हुई सुलभाने यत्र-तत्र अनेक स्थानोंमें त्रिदण्डी संन्यासियोंके मुखसे मोक्ष-तत्त्वकी जानकारीके विषयमें मिथिलापति राजा जनककी प्रशंसा सुनी ॥ ८ ॥

सातिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया।
दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ९ ॥

उनके द्वारा कही जानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्मविषयक वार्ता दूसरोंके मुखसे सुनकर सुलभाके मनमें यह संदेह हुआ कि पता नहीं जनकके सम्बन्धमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे सत्य हैं या नहीं। यह संशय उत्पन्न होनेपर उसके हृदयमें राजा जनकके दर्शनका संकल्प उदित हुआ ॥ ९ ॥

तत्र सा विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगतः।
अबिभ्रदनवद्याङ्गी रूपमन्यदनुत्तमम् ॥ १० ॥
चक्षुर्निमेषमात्रेण लघ्वस्त्रगतिगामिनी।
विदेहानां पुरीं सुभ्रूर्जगाम कमलेक्षणा ॥ ११ ॥

उसने योगशक्तिसे अपना पहला शरीर छोड़कर दूसरा परम सुन्दर रूप धारण कर लिया। अब उसका प्रत्येक अङ्ग अनिन्द्य सौन्दर्यसे प्रकाशित होने लगा। सुन्दर भौंहोंवाली वह कमलनयनी बाला बाणोंके समान तीव्र गतिसे चलकर पलभरमें विदेहदेशकी राजधानी मिथिलामें जा पहुँची ॥ १०-११ ॥

सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम्।
भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ॥ १२ ॥

प्रचुर जनसमुदायसे भरी हुई उस रमणीय मिथिलानगरीमें पहुँचकर संन्यासिनी सुलभाने भिक्षा लेनेके बहाने मिथिलानरेशका दर्शन किया ॥ १२ ॥

राजा तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा।
केयं कस्य कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥ १३ ॥

उसके परम सुकुमार शरीर और सौन्दर्यको देखकर राजा जनक आश्चर्यसे चकित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'यह कौन है, किसकी है अथवा कहाँसे आयी है?' ॥ १३ ॥

ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम्।
पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसका स्वागत करके राजाने उसे सुन्दर आसन समर्पित किया और पैर धुलाकर उसका यथोचित पूजन करनेके पश्चात् उत्तमोत्तम अन्न देकर उसे तृप्त किया ॥ १४ ॥

अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतम्।
सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १५ ॥

भोजन करके संतुष्ट हुई संन्यासिनी सुलभाने सम्पूर्ण भाष्यवेत्ता विद्वानोंके बीचमें मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए राजा जनकसे कुछ प्रश्न करनेका विचार किया ॥ १५ ॥

सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया।
सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १६ ॥

सुलभा मोक्षधर्मके विषयमें राजासे कुछ पूछना चाहती थी। उसके मनमें यह संदेह था कि राजा जनक जीवन्मुक्त हैं या नहीं। वह योगशक्तियोंकी जानकार तो थी ही, अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा राजाकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गयी ॥ १६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः।
सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥ १७ ॥

राजा जनकसे प्रश्न करनेके लिये उद्यत हो उसने अपने नेत्रोंकी किरणोंद्वारा उनके नेत्रोंकी किरणोंको संयत करके

योगबलसे उनके चित्तको बाँधकर उन्हें वशमें कर लिया॥ १७॥

जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्।
प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम॥ १८॥

नृपश्रेष्ठ ! तब राजा जनकने सुलभाके अभिप्रायको जानकर उसका आदर करते हुए मुस्कराकर अपने भावद्वारा उसके भावको ग्रहण कर लिया ॥ १८ ॥

तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम्।
छत्रादिषु विमुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके॥ १९॥

फिर छत्र आदि राजचिह्नोंसे रहित हुए राजा जनक और त्रिदण्डरूप संन्यास-चिह्नसे मुक्त हुई सुलभाका एक ही शरीरमें रहकर जो संवाद हुआ था, उसे सुनो ॥ १९ ॥

जनक उवाच

भगवत्याः क्व चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि।
कस्य च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः॥ २०॥

जनकने पूछा—भगवति ! आपको यह संन्यासकी दीक्षा कहाँसे प्राप्त हुई है, आप कहाँ जायँगी ! किसकी हैं और कहाँसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ? ये सब बातें राजा जनकने सुलभासे पूछीं ॥ २० ॥

श्रुते वयसि जातौ च सद्भावो नाधिगम्यते।
एष्वर्थेषूत्तरं तस्मात् प्रवेद्यं मत्समागमे॥ २१॥

वे बोले, किसीसे पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जातिके विषयमें सच्ची बात नहीं मालूम होती;अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसरपर इन सब विषयोंकी जानकारीके लिये यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है॥

छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः।
स त्वां सम्मन्तुमिच्छामि मानार्हा हि मतासि मे॥ २२॥

छत्र आदि जो विशेष राजोचित चिह्न हैं, उन्हें इस समय मैं त्याग चुका हूँ; अतः अब आप मुझे यथार्थरूपसे जान लें। मैं आपका सम्मान करना चाहता हूँ; क्योंकि आप मुझे सम्मानके योग्य जान पड़ती हैं ॥ २२ ॥

यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा।
यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु॥ २३॥

मैंने पूर्वकालमें सर्वश्रेष्ठ मोक्षविषयक ज्ञान जिनसे प्राप्त किया था, जिसका उनके सिवा दूसरा कोई प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, उस ज्ञान और ज्ञानदाता गुरुका भी परिचय आप मुझसे सुनो ॥ २३ ॥

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥ २४॥

पराशरगोत्री संन्यास-धर्मावलम्बी वृद्ध महात्मा पञ्चशिख मेरे गुरु हैं। मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ ॥ २४ ॥

सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा।
त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः॥ २५॥

सांख्यज्ञान, योगविद्या तथा राजधर्म—इन तीन प्रकारके मोक्षधर्ममें मुझे गन्तव्य मार्ग गुरुदेवसे प्राप्त हो चुका है। इन विषयोंके मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं ॥ २५ ॥

स यथाशास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन्।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः॥ २६॥

पहलेकी बात है, वे आचार्यचरण शास्त्रोक्त मार्गसे चलते हुए घूमते-घामते इधर आ निकले और वर्षा-ऋतुके चार महीने मेरे यहाँ सुखपूर्वक रहे ॥ २६ ॥

तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः।
श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः॥ २७॥

वे सांख्यशास्त्रके प्रमुख विद्वान् हैं और सारा सिद्धान्त उन्हें यथावत् रूपसे प्रत्यक्षकी भाँति ठीक-ठीक ज्ञात है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्षधर्म श्रवण कराया है, परंतु राज्यसे दूर हटनेकी आज्ञा नहीं दी है ॥ २७ ॥

सोऽहं तामखिलां वृत्तिं त्रिविधां मोक्षसंहिताम्।
मुक्तरागश्चराम्येकः पदे परमके स्थितः॥ २८॥

इस प्रकार उपदेश पाकर मैं विषयोंकी आसक्तिसे रहित हो मुक्तिविषयक तीन प्रकारकी समस्त वृत्तियोंका आचरण करता हूँ और अकेला ही परमपदमें स्थित हूँ ॥ २८ ॥

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव च वैराग्यं जायते येन मुच्यते॥ २९॥

वैराग्य ही इस मुक्तिका प्रधान कारण है और ज्ञानसे ही वह वैराग्य प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।
महद् द्वन्द्वप्रमोक्षाय सा सिद्धिर्या वयोऽतिगा॥ ३०॥

मनुष्य ज्ञानके द्वारा मुक्ति पानेके लिये यत्न करता है। उस यत्नसे महान् आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह महान् आत्मज्ञान ही सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे छुटकारा दिलानेका साधन है, वही सिद्धि है, जो काल (मृत्यु) को भी लाँघ जानेवाली है ॥ ३० ॥

सेयं परमिका बुद्धेः प्राप्ता निर्द्वन्द्वता मया।
इहैव गतमोहेन चरता मुक्तसङ्गिना॥ ३१॥

मेरा मोह दूर हो गया है। मैं समस्त संसर्गोंका त्याग कर चुका हूँ; इसलिये मैंने इस गृहस्थधर्ममें रहते हुए ही बुद्धिकी परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त कर ली है॥ ३१ ॥

यथा क्षेत्रं मृदूभूतमद्भिराप्लावितं तथा।
जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत् पुनर्भवम्॥ ३२॥

जैसे जिस खेतको जोतकर खूब मुलायम बना दिया गया हो और यथासमय उसे पानीसे सींचा गया हो, वही बोये हुए बीजमें अङ्कुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्योंका शुभ-अशुभ कर्म ही पुनर्जन्मका उत्पादन करता है ॥ ३२ ॥

यथा चोत्तापितं बीजं कपाले यत्र तत्र वा।
प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्वमबीजत्वान्न जायते॥ ३३॥

तद्वद् भगवतानेन शिखा प्रोक्तेन भिक्षुणा।
ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ ३४ ॥

जैसे मिट्टीके खपरेमें या और किसी भी बर्तनमें भूना गया बीज बीज न रह जानेके कारण अङ्कुर उगाने योग्य खेतमें पड़कर भी नहीं जमता है, उसी प्रकार मेरे संन्यासी गुरु भगवान् पञ्चशिखने मुझे जो ज्ञान प्रदान किया है, वह निर्बीज है । इसलिये विषयोंके क्षेत्रमें अङ्कुरित नहीं होता है ॥ ३३-३४ ॥

नाभिरज्यति कस्मिंश्चिन्नानर्थे न परिग्रहे।
नाभिरज्यति चैतेषु व्यर्थत्वाद् रागरोषयोः ॥ ३५ ॥

मेरी बुद्धि किसी अनर्थमें अथवा भोगोंके संग्रहमें भी आसक्त नहीं होती है। स्त्री आदिके विषयमें जो अनुराग और शत्रु आदिके विषयमें जो क्रोध होता है, वह व्यर्थ होनेके कारण उसकी ओर मेरी बुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ मम ॥ ३६ ॥

जो मेरी दाहिनी बाँहपर चन्दन छिड़के और जो बायीं बाँहको बँसूलेसे काटे तो ये दोनों ही मनुष्य मेरे लिये एक समान हैं ॥ ३६ ॥

सुखी सोऽहमवाप्तार्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
मुक्तसङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥३७॥

मैं आप्तकाम होकर सदा सुखका अनुभव करता हूँ। मेरी दृष्टिमें मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण सब एक-से हैं। मैं आसक्तिरहित होकर राजाके पदपर प्रतिष्ठित हूँ। अतः अन्य त्रिदण्डी साधुओंसे मेरा स्थान विशिष्ट है॥ ३७ ॥

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ३८ ॥

अलौकिक जो ज्ञान है, अलौकिक जो संन्यास है तथा जो कर्मोंका अलौकिक अनुष्ठान है अर्थात् निष्काम भावसे कर्मोंका करना है—इन तीन प्रकारकी निष्ठाओंको ही मोक्षवेत्ता विद्वानोंने मोक्षका उपाय देखा और समझा है ॥ ३८ ॥

ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ३९ ॥

मोक्षशास्त्रका ज्ञान रखनेवाले एक श्रेणीके लोग कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा ही मोक्षका साधन है तथा दूसरे सूक्ष्मदर्शी यति लोग कर्मनिष्ठाको ही मुक्तिका उपाय बताते हैं ॥ ३९ ॥

प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥ ४० ॥

किंतु उन महात्मा पञ्चशिखाचार्यने पूर्वोक्त केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों पक्षोंका परित्याग करके एक तीसरी निष्ठा बतायी है ॥ ४० ॥

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥ ४१ ॥

यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ तथा स्नेह करके उनसे होनेवाले लाभ और हानिमें संन्यासी भी गृहस्थोंके ही तुल्य है अर्थात् यम-नियम आदिका अभ्यास करनेपर गृहस्थ भी मोक्षलाभ कर सकते हैं और कामना तथा द्वेष होनेपर संन्यासी भी मुक्तिसे वञ्चित हो सकते हैं ॥

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

संन्यासी त्रिदण्ड आदि धारण करते हैं और गृहस्थ नरेश छत्र-चवँर आदि। यदि त्रिदण्ड धारण करनेपर किसीको ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो छत्र आदि धारण करनेपर दूसरेको उसी ज्ञानके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त नहीं हो सकता ? क्योंकि प्रतिबन्धका कारण परिग्रह दोनोंके लिये समान है—एक त्रिदण्ड आदिका संग्रह करता है और दूसरा छत्र आदिका ॥ ४२ ॥

येन येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि।
तत्तदालम्बते सर्वः स्वे स्वे स्वार्थपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

अपने-अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये जिस मनुष्यको जिस-जिस साधनभूत वस्तुसे प्रयोजन होता है, वे सभी अपना-अपना काम बनानेके लिये उन-उन वस्तुओंका आश्रय लेते हैं ॥

दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्याश्रमान्तरे।
उत्सृजन् परिगृह्णंश्च सोऽपि सङ्गान्न मुच्यते ॥ ४४ ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें दोष देखकर उसका परित्याग करके दूसरे आश्रममें चला जाता है, वह भी कुछ छोड़ता है और कुछ ग्रहण करता है; अतः उसे भी सङ्गदोषसे छुटकारा नहीं मिलता है ॥ ४४ ॥

आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके।
राजभिर्भिक्षुकास्तुल्या मुच्यन्ते केन हेतुना ॥ ४५ ॥

किसीका निग्रह और किसीपर अनुग्रह करना ही आधिपत्य (प्रभुत्व) कहलाता है। यह जैसे राजामें है, वैसे संन्यासीमें भी है। इस दृष्टिसे जब संन्यासी भी राजाओंके ही समान हैं, तब केवल वे ही मुक्त होते हैं—ऐसा माननेका क्या कारण है ? ॥ ४५ ॥

अथ सत्याधिपत्येऽपि ज्ञानेनैवेह केवलम्।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ४६ ॥

मनुष्यरूप उत्तम शरीरमें स्थित हुए प्राणी प्रभुत्व रखते हुए भी केवल ज्ञानके ही बलसे यहाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥ ४७ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि गेरुआ वस्त्र पहनना, मस्तक मुड़ा लेना तथा त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करना—ये सब उत्कृष्ट संन्यासमार्गका परिचय देनेवाले चिह्नमात्र हैं। इनके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४७ ॥

यदि सत्यपि लिङ्गेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम् ।
निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिङ्गमात्रं निरर्थकम् ॥ ४८ ॥

यदि इन चिह्नोंके रहते हुए भी यहाँ दुःखसे सर्वथा मोक्ष पानेके लिये एकमात्र ज्ञान ही उपाय है तो जितने भी चिह्न धारण किये जाते हैं, वे सब निरर्थक हैं ॥ ४८ ॥

अथवा दुःखशैथिल्यं वीक्ष्य लिङ्गे कृता मतिः ।
किं तदेवार्थसामान्यं छत्रादिषु न लक्ष्यते ॥ ४९ ॥

अथवा यदि कहें कि त्रिदण्ड और गैरिक वस्त्र आदि धारण करनेसे कुछ सुविधा प्राप्त होती है और कष्ट कम होता है, इसलिये संन्यासियोंने उन चिह्नोंको धारण करनेका विचार किया है तो छत्र आदि धारण करनेमें भी इसी सामान्य प्रयोजनकी ओर क्यों न दृष्टि रखी जाय ? ॥ ४९ ॥

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम् ।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ ५० ॥

न तो अकिञ्चनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किञ्चनता (आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होने) में बन्धन ही है । धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओंमें ज्ञानसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

तस्माद् धर्मार्थकामेषु तथा राज्यपरिग्रहे ।
बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसलिये धर्म, अर्थ, काम तथा राज्यपरिग्रह—इन बन्धनके स्थानोंमें रहते हुए भी मुझे आप बन्धनरहित (जीवन्मुक्त) पदपर प्रतिष्ठित समझें ॥ ५१ ॥

राज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः ।
मोक्षाश्मनिशितेनेह छिन्नस्त्यागासिना मया ॥ ५२ ॥

मैंने मोक्षरूपी पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए त्याग-वैराग्यरूपी तलवारसे राज्य और ऐश्वर्यरूपी पाशको तथा स्नेहके आश्रयभूत स्त्री-पुत्र आदिके ममत्वरूपी बन्धनको काट डाला है ॥ ५२ ॥

सोऽहमेवंगतो मुक्तो जातास्थस्त्वयि भिक्षुकि ।
अयथार्थं हि ते वर्णं वक्ष्यामि शृणु तन्मम ॥ ५३ ॥

संन्यासिनी ! इस प्रकार मैं जीवन्मुक्त हूँ । आपमें योगका प्रभाव देखकर यद्यपि आपके प्रति मेरी आस्था और आदर-बुद्धि हो गयी है तथापि मैं आपके इस रूप और सौन्दर्यको योगसाधनाके योग्य नहीं मानता, अतः इस विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस वचनको आप सुनिये ॥५३॥

सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथा वयः ।
तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ५४ ॥

सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहर शरीर तथा यौवनावस्था—ये सारी वस्तुएँ योगके विरुद्ध हैं; फिर भी आपमें इन सब गुणोंके साथ-साथ योग और नियम भी है ही, यह कैसे सम्भव हुआ ? यही मेरे मनमें संदेह है ॥ ५४ ॥

यच्चाप्यननुरूपं ते लिङ्गस्यास्य विचेष्टितम् ।
मुक्तोऽयं स्यान्न वेति स्याद् धर्षितो मत्परिग्रहः ॥ ५५ ॥

यह जो त्रिदण्डधारणरूप चिह्न है, उसके अनुरूप आपकी कोई चेष्टा नहीं है । यह मुक्त है या नहीं, इसकी परीक्षा लेनेके लिये आपने मेरे शरीरको अभिभूत कर दिया है—उसपर बलात्कारपूर्वक अधिकार जमा लिया है ॥ ५५ ॥

न च कामसमायुक्ते युक्तेऽप्यस्ति त्रिदण्डके ।
न रक्ष्यते त्वया चेदं न मुक्तस्यास्ति गोपना ॥ ५६ ॥

मनुष्य योगयुक्त होकर भी यदि कामभोगमें आसक्त हो जाय तो उसका त्रिदण्ड धारण करना अनुचित एवं व्यर्थ है । आप अपने इस बर्तावद्वारा संन्यास-आश्रमके नियमकी रक्षा नहीं कर रही हैं । यदि अपने स्वरूपको छिपानेके लिये आपने ऐसा किया हो तो जीवन्मुक्त पुरुषके लिये आत्मगोपन आवश्यक नहीं है ॥ ५६ ॥

मत्पक्षसंश्रयाच्चायं शृणु यस्ते व्यतिक्रमः ।
आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहम् ॥ ५७ ॥

आपने स्वभावतः सोच-समझकर मेरे पूर्व-शरीरका आश्रय लेनेकी चेष्टा की है, अतः मेरे पक्षका आश्रय लेने—मेरे शरीरमें प्रवेश करनेके कारण आपसे जो व्यतिक्रम बन गया है, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ५७ ॥

प्रवेशस्ते कृतः केन मम राष्ट्रे पुरेऽपि वा ।
कस्य वा संनिकर्षात् त्वं प्रविष्टा हृदयं मम ॥ ५८ ॥

आपने किस कारणसे मेरे राज्य अथवा नगरमें प्रवेश किया है अथवा किसके संकेतसे आप मेरे हृदयमें घुस आयी हैं ? ॥ ५८ ॥

वर्णप्रवरमुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहम् ।
नावयोरेकयोगोऽस्ति मा कृथा वर्णसंकरम् ॥ ५९ ॥

वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी जो कन्याएँ हैं, उन सबमें आप प्रमुख हैं । आप ब्राह्मणी हैं और मैं क्षत्रिय हूँ; अतः हम दोनोंका एकत्र संयोग होना कदापि उचित नहीं है; इसलिये आप वर्णसंकर नामक दोषका उत्पादन न कीजिये ॥ ५९ ॥

वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रमे ।
अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽऽश्रमसंकरः ॥ ६० ॥

आप मोक्षधर्म (संन्यास-आश्रम) के अनुसार बर्ताव करती हैं और मैं गृहस्थ-आश्रममें स्थित हूँ; अतः आपके द्वारा यह दूसरा आश्रमसंकर नामक दोषका उत्पादन किया जा रहा है, जो अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ ६० ॥

सगोत्रां वासगोत्रां वा न वेद त्वां न वेत्थ माम् ।
सगोत्रमाविशन्त्यास्ते तृतीयो गोत्रसंकरः ॥ ६१ ॥

मैं यह भी नहीं जानता कि आप सगोत्रा हैं या असगोत्रा । इसी प्रकार आप भी मेरे विषयमें कुछ नहीं जानतीं । अतः मुझ सगोत्रमें प्रवेश करनेके कारण आपके द्वारा तीसरा गोत्रसंकर नामक दोष उत्पन्न किया गया है ॥ ६१ ॥

अथ जीवति ते भर्ता प्रोषितोऽप्यथवा क्वचित् ।

अगम्या परभार्येति चतुर्थो धर्मसंकरः ॥ ६२ ॥

यदि आपके पति जीवित हैं अथवा कहीं परदेशमें चले गये हैं तो आप परायी स्त्री होनेके कारण मेरे लिये सर्वथा अगम्य हैं। ऐसी दशामें आपका यह बर्ताव धर्मसंकर नामक चौथा दोष है ॥ ६२ ॥

सा त्वमेतान्यकार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि ।
अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन वा पुनः ॥ ६३ ॥

आप कार्य-साधनकी अपेक्षा रखकर अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञानसे युक्त हो ये सब न करने योग्य कार्य कर डालनेको उद्यत हो गयी हैं ॥ ६३ ॥

अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित् ।
यदि किंचिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृतमनर्थकम् ॥ ६४ ॥

अथवा यदि आप स्वतन्त्र हैं तो कभी आपके द्वारा यदि कुछ शास्त्रका श्रवण किया गया हो तो आपने अपने ही दोषसे वह सब व्यर्थ कर दिया है ॥ ६४ ॥

इदमन्यच्चतुर्थं ते भावस्पर्शविघातकम् ।
दुष्टाया लक्ष्यते लिङ्गं विवृण्वत्याप्रकाशितम् ॥ ६५ ॥

आपका जो दोष छिपा हुआ था, उसे आपने स्वयं ही प्रकाशित कर दिया । इससे आप दुष्टा जान पड़ती हैं। आपकी दुष्टताका यह और चौथा चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहा है, जो हृदयकी प्रीतिपर आघात करनेवाला है ॥ ६५ ॥

न मय्येवाभिसंधिस्ते जयैषिण्या जये कृतः ।
येयं मत्परिषत् कृत्स्ना जेतुमिच्छसि तामपि ॥ ६६ ॥

आप अपनी विजय चाहती हैं। आपने केवल मुझे ही जीतनेकी इच्छा नहीं की है, अपितु यह जो मेरी सारी सभा बैठी है, इसे भी जीतना चाहती हैं ॥ ६६ ॥

तथाह्येतस्ततश्च त्वं दृष्टिं स्वां प्रतिमुञ्चसि ।
मत्पक्षप्रतिघाताय स्वपक्षोद्भावनाय च ॥ ६७ ॥

आप मेरे पक्षकी पराजय और अपने पक्षकी विजयके लिये इन माननीय सभासदोंपर भी बारंबार अपनी दृष्टि फेंक रही हैं ॥ ६७ ॥

सा स्वेनामर्षजेन त्वमृद्धिमोहेन मोहिता ।
भूयः सृजसि योगांस्त्वं विषामृतमिवैकताम् ॥ ६८ ॥

आप अपनी असहिष्णुताजनित योगसमृद्धिके मोहसे मोहित हो विष और अमृतको एक करनेके समान कामके साथ योगका सम्बन्ध जोड़ रही हैं ॥ ६८ ॥

इच्छतोरत्र यो लाभः स्त्रीपुंसोरमृतोपमः ।
अलाभश्चापि रक्तस्य सोऽपि दोषो विषोपमः ॥ ६९ ॥

स्त्री और पुरुष जब एक-दूसरेको चाहते हों, उस समय उन्हें जो संयोग-सुखका लाभ होता है, वह अमृतके समान मधुर है। यदि अनुरक्त नारीको अनुरक्त पुरुषकी प्राप्ति नहीं हुई तो वह दोष विषके समान भयंकर होता है ॥ ६९ ॥

मा स्प्राक्षीः साधु जानीष्व स्वशास्त्रमनुपालय ।
कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम ।
एतत् सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७० ॥

आप मेरा स्पर्श न करें । मेरे चरित्रको उत्तम और निष्कलङ्क समझें और अपने शास्त्र (संन्यास-धर्म) का निरन्तर पालन करती रहें। आपने मेरे विषयमें यह जाननेकी इच्छा की थी कि यह राजा जीवन्मुक्त है या नहीं । यह सारा भाव आपके हृदयमें प्रच्छन्नभावसे स्थित था, अतः इस समय आप मुझसे इसको छिपा नहीं सकतीं ॥ ७० ॥

सा यदि त्वं स्वकार्येण यद्यन्यस्य महीपतेः ।
तत् त्वं सत्रप्रतिच्छन्ना मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७१ ॥

यदि आप अपने कार्यसे या किसी दूसरे राजाके कार्यसे यहाँ वेष बदलकर आयी हों तो अब आपके लिये यथार्थ बातको गुप्त रखना उचित नहीं है ॥ ७१ ॥

न राजानं मृषा गच्छेन्न द्विजातिं कथंचन ।
न स्त्रियं स्त्रीगुणोपेतां हन्युर्ह्येते मृषा गताः ॥ ७२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह किसी राजाके पास या किसी ब्राह्मणके निकट अथवा स्त्रीजनोचित पातिव्रत्य गुणसे सम्पन्न किसी सती-साध्वी नारीके समीप छद्मवेष धारण करके न जाय; क्योंकि ये राजा, ब्राह्मण और पतिव्रता स्त्री उस छद्मवेषधारी मनुष्यके धोखा देनेपर उसपर कुपित हो उसका विनाश कर देते हैं ॥ ७२ ॥

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

राजाओंका बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणोंका बल वेद है तथा स्त्रियोंका परम उत्तम बल रूप, यौवन और सौभाग्य है ॥

अत एतैर्बलैरेव बलिनः स्वार्थमिच्छता ।
आर्जवेनाभिगन्तव्या विनाशाय ह्यनार्जवम् ॥ ७४ ॥

ये इन्हीं बलोंसे बलवान् होते हैं। अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको इनके पास सरलभावसे जाना चाहिये; क्योंकि इनके प्रति किया हुआ कुटिल भाव विनाशका कारण बन जाता है ॥ ७४ ॥

सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः ।
कृत्यमागमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ७५ ॥

अतः संन्यासिनि ! आपको अपनी जाति, शास्त्रज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, स्वभाव एवं यहाँ आगमनका प्रयोजन भी यथार्थरूपसे बताना उचित है ॥ ७५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमञ्जसैः ।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥ ७६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा जनकने इन दुःखजनक, अयोग्य और असङ्गत वचनोंद्वारा उसका बड़ा तिरस्कार किया, तो भी सुलभा अपने मनमें तनिक भी विचलित नहीं हुई ॥ ७६ ॥

उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना।
ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम् ॥ ७७ ॥

जब राजाकी बात समाप्त हो गयी, तब परम सुन्दरी सुलभाने अत्यन्त मधुर वचनोंमें भाषण देना आरम्भ किया ॥

सुलभोवाच

नवभिर्नवभिश्चैव दोषैर्वाग्बुद्धिदूषणैः।
अपेतमुपपन्नार्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥ ७८ ॥
सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः।
पञ्चैतान्यर्थजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप ॥ ७९ ॥

सुलभा बोली—राजन् ! वाणी और बुद्धिको दूषित करनेवाले जो नौ-नौ दोष हैं, उनसे रहित, अठारह गुणोंसे सम्पन्न और युक्तिसङ्गत अर्थसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। उस वाक्यमें सौक्ष्म्य, सांख्य, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच प्रकारके अर्थ रहने चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

एषामेकैकशोऽर्थानां सौक्ष्म्यादीनां स्वलक्षणम्।
शृणु संसार्यमाणानां पदार्थपदवाक्यतः ॥ ८० ॥

ये जो सौक्ष्म्य आदि अर्थ हैं, ये पद, वाक्य, पदार्थ और वाक्यार्थरूपसे खोलकर बताये जा रहे हैं। आप इनमेंसे एक-एकका अलग-अलग लक्षण सुनिये ॥ ८० ॥

ज्ञानं ज्ञेयेषु भिन्नेषु यदा भेदेन वर्तते।
तत्रातिशायिनी बुद्धिस्तत् सौक्ष्म्यमिति वर्तते ॥ ८१ ॥

जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न ज्ञेय (अर्थ) उपस्थित हों और 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार वस्तुओंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता हो, ऐसे स्थलोंमें यथार्थ निर्णय करनेवाली जो बुद्धि है, उसीका नाम सौक्ष्म्य है ॥ ८१ ॥

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ ८२ ॥

जहाँ किसी विशेष अर्थको अभीष्ट मानकर उसके दोषों और गुणोंकी विभागपूर्वक गणना की जाती है, उस अर्थको संख्या अथवा सांख्य समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

इदं पूर्वमिदं पश्चाद् वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।
क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो जनाः ॥ ८३ ॥

परिगणित गुणों और दोषोंमेंसे अमुक गुण या दोष पहले कहना चाहिये और अमुकको पीछे कहना अभीष्ट है। इस प्रकार जो पूर्वापरके क्रमका विचार होता है, उसका नाम क्रम है और जिस वाक्यमें ऐसा क्रम हो, उस वाक्यको वाक्यवेत्ता विद्वान् क्रमयुक्त कहते हैं ॥ ८३ ॥

धर्मकामार्थमोक्षेषु प्रतिज्ञाय विशेषतः।
इदं तदिति वाक्यान्ते प्रोच्यते स विनिर्णयः ॥ ८४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें किसी एकका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रवचनके अन्तमें 'यही वह अभीष्ट विषय है' ऐसा कहकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है, उसीका नाम निर्णय है ॥ ८४ ॥

इच्छाद्वेषभवैर्दुःखैः प्रकर्षो यत्र जायते।
तत्र या नृपते वृत्तिस्तत् प्रयोजनमिष्यते ॥ ८५ ॥

नरेश्वर ! इच्छा अथवा द्वेषसे उत्पन्न हुए दुःखोंद्वारा जहाँ किसी एक प्रकारके दुःखकी प्रधानता हो जाय, वहाँ जो वृत्ति उदय होती है, उसीको प्रयोजन कहते हैं ॥ ८५ ॥

तान्येतानि यथोक्तानि सौक्ष्म्यादीनि जनाधिप।
एकार्थसमवेतानि वाक्यं मम निशामय ॥ ८६ ॥

जनेश्वर ! जिस वाक्यमें पूर्वोक्त सौक्ष्म्य आदि गुण एक अर्थमें सम्मिलित हों, मेरे वैसे ही वाक्यको आप श्रवण करें ॥ ८६ ॥

उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च संदिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः ॥ ८७ ॥

मैं ऐसा वाक्य बोलूँगी, जो सार्थक होगा। उसमें अर्थभेद नहीं होगा। वह न्याययुक्त होगा। उसमें आवश्यकतासे अधिक, कर्णकटु एवं संदेह-जनक पद नहीं होंगे। इस प्रकार मैं परम उत्तम वाक्य बोलूँगी ॥ ८७ ॥

न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।
नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम् ॥ ८८ ॥

मेरे इस वचनमें गुरु एवं निष्ठुर अक्षरोंका संयोग नहीं होगा; उसमें कोमलकान्त सुकुमार पदावली होगी। वह पराङ्मुख व्यक्तियोंके लिये सुखद नहीं होगा। वह न तो झूठ होगा न धर्म, अर्थ और कामके विरुद्ध और संस्कारशून्य ही होगा ॥ ८८ ॥

न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनुकल्पेन निष्कारणमहेतुकम् ॥ ८९ ॥

मेरे उस वाक्यमें न्यूनपदत्व नामक दोष नहीं रहेगा, कष्टकर शब्दोंका प्रयोग नहीं होगा, उसका क्रमरहित उच्चारण नहीं होगा। उसमें दूसरे पदोंके अध्याहार और लक्षणकी आवश्यकता नहीं होगी। यह वाक्य निष्प्रयोजन और युक्तिशून्य भी नहीं होगा ॥ ८९ ॥

कामात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् दैन्याच्चानार्यकात् तथा।
ह्रीतोऽनुक्रोशतो मानान्न वक्ष्यामि कथंचन ॥ ९० ॥

मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, अनार्यता, लज्जा, दया तथा अभिमानसे किसी तरह कोई बात नहीं बोलूँगी ॥

वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप।
सममेति विवक्षायां तदा सोऽर्थः प्रकाशते ॥ ९१ ॥

नरेश्वर ! बोलनेकी इच्छा होनेपर जब वक्ता, श्रोता और वाक्य—तीनों अविकलभावसे सम-स्थितिमें आ जाते हैं, तब वक्ताका कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है (श्रोताके समझमें आ जाता है) ॥ ९१ ॥

वक्तव्ये तु यदा वक्ता श्रोतारमवमन्य वै।
स्वार्थमाह परार्थं तत् तदा वाक्यं न रोहति ॥ ९२ ॥

जब बोलते समय वक्ता श्रोताकी अवहेलना करके दूसरेके लिये अपनी बात कहने लगता है, उस समय वह वाक्य श्रोताके हृदयमें प्रवेश नहीं करता है ॥ ९२ ॥

अथ यः स्वार्थमुत्सृज्य परार्थं प्राह मानवः ।
विशङ्का जायते तस्मिन् वाक्यं तदपि दोषवत् ॥ ९३ ॥

और जो मनुष्य स्वार्थ त्यागकर दूसरेके लिये कुछ कहता है, उस समय उसके प्रति श्रोताके हृदयमें आशङ्का उत्पन्न होती है, अतः वह वाक्य भी दोषयुक्त ही है ॥ ९३ ॥

यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते ।
श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव स वक्ता नेतरो नृप ॥ ९४ ॥

परंतु नरेश्वर ! जो वक्ता अपने और श्रोता दोनोंके लिये अनुकूल विषय ही बोलता है, वही वास्तवमें वक्ता है, दूसरा नहीं ॥ ९४ ॥

तदर्थवदिदं वाक्यमुपेतं वाक्यसम्पदा ।
अविक्षिप्तमना राजन्नेकाग्रः श्रोतुमर्हसि ॥ ९५ ॥

अतः राजन् ! आप स्थिरचित्त एवं एकाग्र होकर यह वाक्यसम्पत्तिसे युक्त सार्थक वचन सुनिये ॥ ९५ ॥

कासि कस्य कुतश्चेति त्वयाहमभिचोदिता ।
तत्रोत्तरमिदं वाक्यं राजन्नेकमनाः शृणु ॥ ९६ ॥

महाराज ! आपने मुझसे पूछा था कि आप कौन हैं, किसकी हैं और कहाँसे आयी हैं ? अतः इसके उत्तरमें मेरा यह कथन एकचित्त होकर सुनिये ॥ ९६ ॥

यथा जतु च काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः ।
संश्लिष्टानि तथा राजन् प्राणिनामिह सम्भवः ॥ ९७ ॥

राजन् ! जैसे काठके साथ लाह और धूलके साथ पानीकी बूँदें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार इस जगत्में प्राणियोंका जन्म कई तत्त्वोंके मेलसे होता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पृथगात्मान आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत् ॥ ९८ ॥
न चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ये आत्मासे पृथक् होनेपर भी काष्ठमें सटे हुए लाहके समान आत्माके साथ जुड़े हुए हैं; परंतु इनमें स्वतन्त्र कोई प्रेरणा-शक्ति नहीं है । यही विद्वानोंका निश्चय है ॥ ९८½ ॥

एकैकस्येह विज्ञानं नास्त्यात्मनि तथा परे ॥ ९९ ॥
न वेद चक्षुश्चक्षुष्ट्वं श्रोत्रं नात्मनि वर्तते ।

इनमेंसे एक-एक इन्द्रियको न तो अपना ज्ञान है और न दूसरेका । नेत्र अपने नेत्रत्वको नहीं जानता । इसी प्रकार कान भी अपने विषयमें कुछ नहीं जानता ॥ ९९½ ॥

तथैव व्यभिचारेण न वर्तन्ते परस्परम् ॥ १०० ॥
प्रश्लिष्टं च न जानन्ति यथाऽऽप इव पांसवः ।

इसी तरह ये इन्द्रियाँ और विषय परस्पर एक दूसरेसे मिल-जुलकर भी नहीं जान सकते। जैसे कि जल और धूल परस्पर मिलकर भी अपने सम्मिश्रणको नहीं जानते ॥ १००½ ॥

बाह्यानन्यानपेक्षन्ते गुणांस्तानपि मे शृणु ॥ १०१ ॥
रूपं चक्षुः प्रकाशश्च दर्शने हेतवस्त्रयः ।

शरीरस्थ इन्द्रियाँ विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करते समय अन्यान्य बाह्य गुणोंकी अपेक्षा रखती हैं । उन गुणोंको आप मुझसे सुनिये । रूप, नेत्र और प्रकाश—ये तीन किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेमें हेतु हैं ॥ १०१½ ॥

यथैवात्र तथान्येषु ज्ञानज्ञेयेषु हेतवः ॥ १०२ ॥
ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनो नामापरो गुणः ।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥ १०३ ॥

जैसे प्रत्यक्ष दर्शनमें ये तीन हेतु हैं, उसी प्रकार अन्यान्य ज्ञान और ज्ञेयमें भी तीन-तीन हेतु जानने चाहिये । ज्ञान और ज्ञातव्य विषयोंके बीचमें किसी ज्ञानेन्द्रियके अतिरिक्त मन नामक एक दूसरा गुण भी रहता है, जिससे यह जीवात्मा किसी विषयमें भले-बुरेका निश्चय करनेके लिये विचार करता है ॥ १०२-१०३ ॥

द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणः स्मृतः ।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति ॥ १०४ ॥

वहीं एक और बारहवाँ गुण भी है, जिसका नाम है बुद्धि । जिससे किसी ज्ञातव्य विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर मनुष्य एक निश्चयपर पहुँचता है ॥ १०४ ॥

अथ द्वादशके तस्मिन् सत्त्वं नामापरो गुणः ।
महासत्त्वोऽल्पसत्त्वो वा जन्तुर्येनानुमीयते ॥ १०५ ॥

उस बारहवें गुण बुद्धिमें सत्त्वनामक एक (तेरहवाँ) गुण है, जिससे महासत्त्व और अल्पसत्त्व प्राणीका अनुमान किया जाता है ॥ १०५ ॥

अहं कर्तेति चाप्यन्यो गुणस्तत्र चतुर्दशः ।
ममायमिति येनायं मन्यते न ममेति च ॥ १०६ ॥

उस सत्त्वमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे अभिमानसे युक्त अहंकार नामक एक अन्य चौदहवाँ गुण है, जिससे जीवात्मा 'यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है' ऐसा मानता है ॥

अथ पञ्चदशो राजन् गुणस्तत्रापरः स्मृतः ।
पृथक्कलासमूहस्य सामग्र्यं तदिहोच्यते ॥ १०७ ॥
गुणस्त्वेवापरस्तत्र संघात इव षोडशः ।

राजन् ! उस अहंकारमें वासना नामक एक गुण और माना गया है, जो पंद्रहवाँ है। वहाँ पृथक्-पृथक् कलाओंके समूहकी जो समग्रता है, वह एक अन्य गुण है । वह संघातकी भाँति यहाँ सोलहवाँ कहा जाता है ॥ १०७½ ॥

प्रकृतिर्व्यक्तिरित्येतौ गुणौ यस्मिन् समाश्रितौ ॥ १०८ ॥

जिसमें प्रकृति (माया) और व्यक्ति (प्रकाश)—ये दो गुण आश्रित हैं (यहाँतक सब अठारह हुए) ॥ १०८ ॥

सुखासुखे जरामृत्यू लाभालाभौ प्रियाप्रिये ।
इति चैकोनविंशोऽयं द्वन्द्वयोग इति स्मृतः ॥ १०९ ॥

सुख और दुःख, जरा और मृत्यु, लाभ और हानि तथा प्रिय और अप्रिय इत्यादि द्वन्द्वोंका जो योग है, यह उन्नीसवाँ गुण माना गया है ॥ १०९ ॥

ऊर्ध्वं चैकोनविंशत्या कालो नामापरो गुणः ।
इतीमं विद्धि विंशत्या भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥११०॥

इस उन्नीसवें गुणसे परे कालनामक दूसरा गुण और है। इसे बीसवाँ गुण समझिये। इसीसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय होते हैं ॥ ११० ॥

विंशकश्चैष संघातो महाभूतानि पञ्च च ।
सदसद्भावयोगौ तु गुणावन्यौ प्रकाशकौ ॥१११॥

इन बीस गुणोंका समुदाय एवं पाँच महाभूत तथा सद्भावयोग[1] और असद्भावयोग[2]—ये दो अन्य प्रकाशक गुण, ये सब मिलकर सत्ताईस हैं ॥ १११ ॥

इत्येवं विंशकश्चैव गुणाः सप्त च ये स्मृताः ।
विधिः शुक्रं बलं चेति त्रय एते गुणाः परे ॥११२॥

ये जो बीस और सात गुण बताये गये हैं, इनके सिवा तीन गुण और हैं—विधि[3], शुक्र[4] और बल[5] ॥ ११२ ॥

विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः ।
समग्रा यत्र वर्तन्ते तच्छरीरमिति स्मृतम् ॥११३॥

इस प्रकार गणना करनेसे बीस और दस तीस गुण होते हैं। ये सारे-के-सारे गुण जहाँ विद्यमान हैं, उसको शरीर कहा गया है ॥ ११३ ॥

अव्यक्तं प्रकृतिं त्वासां कलानां कश्चिदिच्छति ।
व्यक्तं चासां तथा चान्यः स्थूलदर्शी प्रपश्यति ॥११४॥

कोई-कोई विद्वान् अव्यक्त प्रकृतिको इन तीस कलाओंका उपादान कारण मानते हैं । दूसरे स्थूलदर्शी विचारक व्यक्त अर्थात् परमाणुओंको कारण मानते हैं तथा कोई-कोई अव्यक्त और व्यक्तको अर्थात् प्रकृति और परमाणु—इन दोनोंको उनका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११४ ॥

अव्यक्तं यदि वा व्यक्तं द्वयीमथ चतुष्टयीम् ।
प्रकृतिं सर्वभूतानां पश्यन्त्यध्यात्मचिन्तकाः ॥११५॥

अव्यक्त हो, व्यक्त हो, दोनों हों अथवा चारों (ब्रह्म, माया, जीव और अविद्या) कारण हों, अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् प्रकृतिको ही सम्पूर्ण भूतोंका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११५ ॥

येयं प्रकृतिरव्यक्ता कलाभिर्व्यक्ततां गता ।
अहं च त्वं च राजेन्द्र ये चाप्यन्ये शरीरिणः ॥११६॥

राजेन्द्र ! यह जो अव्यक्त प्रकृति सबका उपादान कारण है, यही पूर्वोक्त तीस कलाओंके रूपमें व्यक्तभावको प्राप्त हुई है। मैं, आप तथा जो अन्य शरीरधारी हैं, उन सबके शरीरोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही हुई है ॥ ११६ ॥

बिन्दुन्यासादयोऽवस्थाः शुक्रशोणितसम्भवाः ।
यासामेव निपातेन कललं नाम जायते ॥११७॥

प्राणियोंकी वीर्यस्थापनासे लेकर रजोवीर्यसंयोगसम्भूत कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनके सम्मिश्रणसे ही 'कलल' नामक एक पदार्थ उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

कललाद् बुद्बुदोत्पत्तिः पेशी च बुद्बुदात् स्मृता ।
पेश्यास्त्वङ्गाभिनिर्वृत्तिर्नखरोमाणि चाङ्गतः ॥११८॥

कललसे बुद्बुदकी उत्पत्ति होती है। बुद्बुदसे मांस-पेशीका प्रादुर्भाव माना गया है। पेशीसे विभिन्न अङ्गोंका निर्माण होता है और अङ्गोंसे रोमावलियाँ तथा नख प्रकट होते हैं ॥ ११८ ॥

सम्पूर्णे नवमे मासि जन्तोर्जातस्य मैथिल ।
जायते नामरूपत्वं स्त्री पुमान् वेति लिङ्गतः ॥११९॥

मिथिलानरेश ! गर्भमें नौ मास पूर्ण हो जानेपर जीव जन्म ग्रहण करता है। उस समय उसे नाम और रूप प्राप्त होता है तथा वह विशेष प्रकारके चिह्नसे स्त्री अथवा पुरुष समझा जाता है ॥ ११९ ॥

जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखाङ्गुलि ।
कौमारं रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते ॥१२०॥

जिस समय बालकका जन्म होता है, उस समय उसका जो रूप देखनेमें आता है, उसके नख और अङ्गुलियाँ ताँबेके समान लाल-लाल होती हैं, फिर जब वह कुमारावस्थाको प्राप्त होता है तो उस समय उसका पहलेका वह रूप नहीं उपलब्ध होता है ॥ १२० ॥

कौमाराद् यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात् ।
अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते ॥१२१॥

इसी प्रकार कुमारावस्थासे जवानीको और जवानीसे बुढ़ापेको वह प्राप्त होता है। इस क्रमसे उत्तरोत्तर अवस्थामें पहुँचनेपर पूर्व-पूर्व अवस्थाका रूप नहीं देखनेमें आता है ॥

कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे क्षणे ।
वर्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात् तु न विभाव्यते ॥१२२॥

सभी प्राणियोंमें विभिन्न प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जो पूर्वोक्त कलाएँ हैं, उनके स्वरूपमें प्रतिक्षण भेद या परिवर्तन हो रहा है; परंतु वह इतना सूक्ष्म है कि जान नहीं पड़ता ॥ १२२ ॥

न चैषामप्ययो राजँल्लक्ष्यते प्रभवो न च ।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः ॥१२३॥

राजन् ! प्रत्येक अवस्थामें इन कलाओंका लय और उद्भव होता रहता है, किंतु दिखायी नहीं देता है; ठीक उसी तरह

---

१. 'इह घटो अस्ति (यहाँ घड़ा है)'—इत्यादि रूपसे जो सत्तासूचक व्यवहार होता है, उसका नाम 'सद्भावयोग' है। २. 'इह घटो नास्ति (यहाँ घड़ा नहीं है)'—इत्यादि रूपसे जो असत्तासूचक व्यवहार होता है, वही 'असद्भावयोग' है। ३. यहाँ 'विधि' शब्दसे वासनाके बीजभूत धर्म और अधर्म समझने चाहिये। ४. वासनाका उद्बोधक संस्कार ही 'शुक्र' है। ५. वासनाके अनुसार विषयकी प्राप्तिके अनुकूल जो यत्न है, वही 'बल' है।

जैसे दीपककी लौ क्षण-क्षणमें मिटती और उत्पन्न होती रहती है, पर दिखायी नहीं देती ॥१२३॥

तस्याप्येवंप्रभावस्य सदश्वस्येव धावतः ।
अजस्रं सर्वलोकस्य कः कुतो वा न वा कुतः ॥१२४॥
कस्येदं कस्य वा नेदं कुतो वेदं न वा कुतः ।
सम्बन्धः कोऽस्ति भूतानां स्वैरप्यवयवैरिह ॥१२५॥

जैसे दौड़ता हुआ अच्छा घोड़ा इतनी तीव्र गतिसे एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसी प्रकार यह प्रभावशाली लोक निरन्तर वेगपूर्वक एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जा रहा है, अतः उसके विषयमें यह प्रश्न नहीं बन सकता कि 'कौन कहाँसे आता है और कौन कहाँसे नहीं आता है, यह किसका है? किसका नहीं है? किससे उत्पन्न हुआ है और किससे नहीं हुआ है? प्राणियोंका अपने अङ्गोंके साथ भी यहाँ क्या सम्बन्ध है?' अर्थात् कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ १२४-२५॥

यथाऽऽदित्यान्मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः ।
जायन्त्येवं समुदयात् कलानामिव जन्तवः ॥१२६॥

जैसे सूर्यकी किरणोंका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्तमणिसे आग प्रकट हो जाती है, परस्पर रगड़ खानेपर काठसे अग्निका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार पूर्वोक्त कलाओंके समुदायसे जीव जन्म ग्रहण करते हैं ॥ १२६ ॥

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि॥१२७॥

जैसे आप स्वयं अपनेद्वारा अपनेहीमें आत्माका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपनेद्वारा दूसरोंमें आत्माका दर्शन क्यों नहीं करते हैं? ॥ १२७ ॥

यद्यात्मनि परस्मिंश्च समतामध्यवस्यसि ।
अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि ॥१२८॥

यदि आप अपनेमें और दूसरेमें भी समभाव रखते हैं तो मुझसे बारंबार क्यों पूछते हैं कि 'आप कौन हैं और किसकी हैं?' ॥ १२८ ॥

इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल ।
कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनम् ॥१२९॥

मिथिलानरेश ! 'यह मुझे प्राप्त हो जाय, यह न हो।' इत्यादि रूपसे जो द्वन्द्वविषयक चिन्ता प्राप्त होती है, उससे यदि आप मुक्त हैं तो 'आप कौन हैं? किसकी हैं? अथवा कहाँसे आयी हैं?' इन वचनोंद्वारा प्रश्न करनेसे आपका क्या प्रयोजन है? ॥ १२९ ॥

रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये संधिविग्रहे ।
कृतवान् यो महीपालः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥१३०॥

शत्रु-मित्र और मध्यस्थके विषयमें, विजय, संधि और विग्रहके अवसरोंपर जिस भूपालने यथोचित कार्य किये हैं, उसमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३० ॥

त्रिवर्गं सप्तधा व्यक्तं यो न वेदेह कर्मसु ।
सङ्गवान् यस्त्रिवर्गेण किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥१३१॥

धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं। यह सात रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। जो कर्मोंमें इस त्रिवर्गको नहीं जानता तथा जो सदा त्रिवर्गसे सम्बन्ध रखता है, ऐसे पुरुषमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३१ ॥

प्रिये वाप्यप्रिये वापि दुर्बले बलवत्यपि ।
यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम् ॥१३२॥

प्रिय अथवा अप्रियमें, दुर्बल अथवा बलवान्‌में जिसकी समदृष्टि नहीं है, उसमें मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३२ ॥

तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभिमानो भवेन्नृप ।
सुहृद्भिः संनिवार्यस्तेऽविरक्तस्येव भेषजम् ॥१३३॥

नरेश्वर ! वास्तवमें आप योगयुक्त नहीं हैं तथापि आपको जो जीवन्मुक्तिका अभिमान हो रहा है, वह आपके सुहृदोंको दूर कर देना चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि आप जीवन्मुक्त हैं, ठीक उसी तरह जैसे अपथ्यशील रोगीको दवा देना बंद कर दिया जाता है ॥ १३३ ॥

तानि तानि तु संचिन्त्य सङ्गस्थानान्यरिंदम ।
आत्मनाऽऽत्मनि सम्पश्येत् किमन्यन्मुक्तलक्षणम् १३४

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! नाना प्रकारके जो-जो पदार्थ हैं, उन सबको आसक्तिके स्थान समझकर अपनेद्वारा अपनेहीमें अपनेको देखे। इसके सिवा मुक्तका और क्या लक्षण हो सकता है? ॥ १३४ ॥

इमान्यन्यानि सूक्ष्माणि मोक्षमाश्रित्य कानिचित् ।
चतुरङ्गप्रवृत्तानि सङ्गस्थानानि मे शृणु ॥१३५॥

राजन् ! अपने मोक्षका आश्रय लेकर भी ये और दूसरे जो कुछ चार अङ्गोंमें प्रवृत्त आसक्तिके जो सूक्ष्म स्थान हैं, उनको भी अपना रखा है, उन्हें बताती हूँ, आप मुझसे सुनें ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह ।
एक एव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥१३६॥

जो इस सारी पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह एक ही सार्वभौम नरेश भी एकमात्र नगरमें ही निवास करता है ॥ १३६ ॥

तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति ।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥१३७॥

उस नगरमें भी उसके लिये एक ही महल होता है, जिसमें वह निवास करता है। उस महलमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥१३७॥

शय्यार्धं तस्य चाप्यत्र स्त्रीपूर्वमधितिष्ठति ।
तदनेन प्रसङ्गेन फलेनैवेह युज्यते ॥१३८॥

उस शय्याके भी आधे भागपर राजाकी स्त्रीका अधिकार होता है; अतः इस प्रसङ्गसे वह बहुत अल्प फलका ही भागी होता है ॥ १३८ ॥

एवमेवोपभोगेषु भोजनाच्छादनेषु च ।
गुणेषु परिमेयेषु निग्रहानुग्रहं प्रति ॥१३९॥
परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते ।
संधिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥१४०॥

इसी प्रकार उपभोग, भोजन, आच्छादन तथा अन्यान्य परिमित विषयोंके सेवनमें और दुष्टोंके दमन एवं शिष्ट पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके विषयमें भी राजा सदा ही परतन्त्र है। इसी प्रकार वह बहुत थोड़े कार्योंमें भी स्वतन्त्र नहीं है तो भी उनमें आसक्त रहता है। संधि और विग्रह करनेमें भी राजाको कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त है ? ॥ १३९-१४० ॥

स्त्रीषु क्रीडाविहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता ।
मन्त्रे चामात्यसमितौ कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥१४१॥

स्त्री-सहवास, क्रीड़ा और विहारमें भी उसे सदा परतन्त्रता रहती है। मन्त्रियोंकी सभामें बैठकर मन्त्रणा करते समय भी उसे कहाँ स्वतन्त्रता रहती है ॥ १४१ ॥

यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता स्वतन्त्रता ।
अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ॥१४२॥

राजा जिस समय दूसरोंको कुछ करनेकी आज्ञा देता है, उस समय वहाँ उसकी स्वतन्त्रता बतायी जाती है; परंतु ऐसे अवसरोंपर भी भिन्न-भिन्न क्षणोंमें राजासनपर बैठा हुआ नरेश सलाह देनेवाले मन्त्रियोंद्वारा अपनी इच्छाके विपरीत करनेके लिये विवश कर दिया जाता है ॥ १४२ ॥

स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः ।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥१४३॥

वह सोना चाहता है, परंतु कार्यार्थी मनुष्योंद्वारा घिरा रहनेके कारण सोने नहीं पाता। शय्यापर सोये हुए राजाको भी लोगोंके अनुरोधसे विवश होकर उठना पड़ता है ॥१४३॥

स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि ।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥१४४॥

'महाराज ! स्नान कीजिये, तेल लगवाइये, पानी पीजिये, भोजन कीजिये, आहुति दीजिये, अग्निहोत्रमें संलग्न होइये, अपनी कहिये और दूसरोंकी सुनिये।' इत्यादि बातें कह-कहकर दूसरे लोग राजाको वैसा करनेके लिये विवश कर देते हैं॥

अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः ।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान् ॥१४५॥

याचक मनुष्य सदा निकट आ-आकर राजासे धनकी याचना करते हैं; किंतु जो लोग दानके श्रेष्ठ पात्र हैं, उनके लिये भी वह कुछ देनेका साहस नहीं करता। अपने धनको सर्वथा सुरक्षित रखना चाहता है ॥ १४५ ॥

दाने कोषक्षयोऽप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः ।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥१४६॥

यदि सबको धनका दान करे तो उसका खजाना ही खाली हो जाय और किसीको कुछ न दे तो सबके साथ वैर बढ़ जाय। उसके सामने क्षण-क्षणमें ऐसे दोष उपस्थित होते हैं, जो उसे राज-काजसे विरक्त कर देते हैं ॥ १४६ ॥

प्राज्ञाञ्शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शङ्कते ।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥१४७॥

विद्वानों, शूरवीरों तथा धनियोंको भी जब वह एक स्थानपर जुटा हुआ देख लेता है, तब उसके मनमें उनके प्रति शङ्का उत्पन्न हो जाती है। जहाँ भयका कोई कारण नहीं है, वहाँ भी राजाको भय होता है। जो लोग सदा उसके पास उठते-बैठते या सेवामें रहते हैं, उनसे भी वह सशंक बना रहता है ॥ १४७ ॥

तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्तिता मया ।
तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ॥१४८॥

राजन् ! मैंने जिनका नाम लिया है, वे विद्वान् और शूरवीर आदि अपने प्रति राजाकी आशंका देखकर सचमुच ही उसके प्रति दुर्भाव रखने लगते हैं और फिर उनसे राजाको जैसा भय प्राप्त होता है, उसको आप स्वयं ही समझ लें ॥

सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।
निग्रहानुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥१४९॥

जनक ! सब लोग अपने-अपने घरमें राजा हैं और सभी अपने-अपने घरमें गृहस्वामी हैं, सभी किसीको दण्ड देते और किसीपर अनुग्रह करते हैं; अतः वे सब लोग राजाओंके समान ही हैं ॥ १४९ ॥

पुत्रा दारास्तथैवात्मा कोशो मित्राणि संचयाः ।
परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ॥१५०॥

स्त्री, पुत्र, शरीर, कोष, मित्र तथा संग्रह—ये सब वस्तुएँ राजाओंकी भाँति दूसरोंके पास भी साधारणतया रहते ही हैं। जिन कारणोंसे वह राजा कहलाता है, उन्हीं युक्तियोंसे दूसरे लोग भी उसके समान ही कहे जा सकते हैं ॥ १५० ॥

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः ।
लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते ॥१५१॥

'हाय ! देश नष्ट हो गया, सारा नगर आगसे जल गया और वह प्रधान हाथी मर गया।' यद्यपि ये सब बातें सब लोगोंके लिये साधारण हैं—सबपर समान रूपसे ये कष्ट प्राप्त होते हैं तथापि राजा अपने मिथ्याज्ञानके कारण केवल अपनी ही हानि समझकर संतप्त होता रहता है ॥ १५१ ॥

अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः ।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः ॥१५२॥

इच्छा, द्वेष और भयजनित मानसिक दुःख राजाको कभी नहीं छोड़ते हैं। सिरदर्द आदि शारीरिक रोग भी उसे सब ओरसे नियन्त्रणमें रखकर व्याकुल किये रहते हैं ॥ १५२ ॥

द्वन्द्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशङ्कितः ।
बहुप्रत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः ॥१५३॥

वह नाना प्रकारके द्वन्द्वोंसे आहत और सब ओरसे

शङ्कित हो रातें गिनता हुआ अनेक शत्रुओंसे भरे हुए राज्यका सेवन करता है ॥ १५३ ॥

तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत् ।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसंनिभम् ॥१५४॥
को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत् ।

जिसमें सुख तो बहुत थोड़ा, किंतु दुःख बहुत अधिक है, जो सर्वथा सारहीन है, जो घास-फूसमें लगी आगके समान क्षणस्थायी और फेन तथा बुद्बुदके समान क्षणभङ्गुर है, ऐसे राज्यको कौन ग्रहण करेगा ? और ग्रहण कर लेनेपर कौन शान्ति पा सकता है ! ॥ १५४½ ॥

ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे ॥१५५॥
बलं कोशममात्यांश्च कस्यैतानि न वा नृप ।

नरेश्वर ! आप जो इस नगरको, राष्ट्रको, सेनाको तथा कोष और मन्त्रियोंको भी 'ये सब मेरे हैं' ऐसा कहते हुए अपना मानते हैं, वह आपका भ्रम ही है। मैं पूछती हूँ, ये सब किसके हैं और किसके नहीं हैं ? ॥ १५५½ ॥

मित्रामात्यपुरं राष्ट्रं दण्डः कोशो महीपतिः ॥१५६॥
सप्ताङ्गस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः ।
अन्योन्यगुणयुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः ॥१५७॥

मित्र, मन्त्री, नगर, राष्ट्र, दण्ड, कोष और राजा—ये राज्यके सात अङ्ग हैं। जैसे मेरे हाथमें त्रिदण्ड है, वैसे आपके हाथमें यह राज्य स्थित है। आपका सात अङ्गोंवाला राज्य और मेरा त्रिदण्ड—ये दोनों परस्पर उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त हैं। फिर इनमेंसे कौन किस गुणके कारण अधिक है ?॥१५६-१५७॥

तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत् सिध्यते कार्यं तत् प्राधान्याय कल्पते॥१५८॥

राज्यके जो सात अङ्ग हैं, उनमें सभी समय-समयपर अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं। जिस अङ्गसे जो कार्य सिद्ध होता है, उसके लिये उसीकी प्रधानता मानी जाती है॥१५८॥

सप्ताङ्गश्चैव संघातस्त्रयश्चान्ये नृपोत्तम ।
सम्भूय दशवर्गोऽयं भुङ्क्ते राज्यं हि राजवत् ॥१५९॥

नृपश्रेष्ठ ! उक्त सात अङ्गोंका समुदाय और तीन अन्य शक्तियाँ (प्रभु-शक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति)—ये सब मिलकर राज्यके दस वर्ग हैं। ये दसों वर्ग संगठित होकर राजाके समान ही राज्यका उपभोग करते हैं ॥ १५९ ॥

यश्च राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मे रतो भवेत् ।
स तुष्येद् दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः ॥१६०॥

जो राजा महान् उत्साही और क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर होता है, वह 'कर'के रूपमें प्रजाकी आयका दसवाँ भाग लेकर संतुष्ट हो जाता है तथा उससे भिन्न साधारण भूपाल दसवें भागसे कम लेकर भी संतोष कर लेते हैं ॥ १६० ॥

नास्त्यसाधारणो राजा नास्ति राज्यमराजकम्।
राज्येऽसति कुतो धर्मो धर्मेऽसति कुतः परम् ॥१६१॥

साधारण प्रजा न हो तो कोई राजा नहीं हो सकता। राजा न हो तो राज्य नहीं टिक सकता। राज्य न हो तो धर्म कैसे रह सकता है और धर्म न हो तो परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ! ॥ १६१ ॥

योऽप्यत्र परमो धर्मः पवित्रं राजराज्ययोः ।
पृथिवी दक्षिणा यस्य सोऽश्वमेधेन युज्यते ॥१६२॥

यहाँ राजा और राज्यके लिये जो परम धर्म और परम पवित्र वस्तु है, उसे सुनिये। जिसकी पृथ्वी दक्षिणारूपमें दे दी जाती है अर्थात् जो अपनी राज्यभूमिका दान कर देता है, वह अश्वमेध यज्ञके पुण्यफलका भागी होता है ॥ १६२ ॥

साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल ।
समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः ॥१६३॥

मिथिलानरेश ! जो राजाको दुःख देनेवाले हैं, ऐसे सैकड़ों और हजारों कर्म मैं यहाँ बता सकती हूँ ॥ १६३ ॥

स्वदेहेनाभिषङ्गो मे कुतः परपरिग्रहे ।
न मामेवंविधां युक्तामीदृशं वक्तुमर्हसि ॥१६४॥

मेरी तो अपने ही शरीरमें आसक्ति नहीं है, फिर दूसरेके शरीरमें कैसे हो सकती है ? इस प्रकार योगयुक्त रहनेवाली मुझ संन्यासिनीके प्रति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये १६४

ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पञ्चशिखाच्छ्रुतः।
सोपायः सोपनिषदः सोपासङ्गः सनिश्चयः ॥१६५॥
तस्य ते मुक्तसङ्गस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः ।
छत्रादिषु विशेषेषु पुनः सङ्गः कथं नृप ॥१६६॥

नरेश्वर ! जब आपने महर्षि पञ्चशिखाचार्यसे उपाय (निदिध्यासन), उपनिषद् (उसके श्रवण-मनन), उपासङ्ग (यम-नियम आदि योगाङ्ग) और निश्चय (ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका अनुभव)—इन सबके सहित सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका श्रवण किया है, आप आसक्तियोंसे मुक्त हो गये हैं और सम्पूर्ण बन्धनोंको काटकर खड़े हैं, तब आपकी छत्र-चवँर आदि विशेष-विशेष वस्तुओंमें आसक्ति कैसे हो रही है ? ॥ १६५–१६६ ॥

श्रुतं ते न श्रुतं मन्ये मृषा वापि श्रुतं श्रुतम् ।
अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं त्वया ॥१६७॥

मैं समझती हूँ कि आपने पञ्चशिखाचार्यसे शास्त्रका श्रवण करके भी श्रवण नहीं किया है अथवा उनसे यदि कोई शास्त्र सुना है तो उसे सुनकर भी मिथ्या कर दिया है; या यह भी हो सकता है कि आपने वेद-शास्त्र-जैसा प्रतीत होनेवाला कोई और ही शास्त्र उनसे सुना हो ॥ १६७ ॥

अथापीमासु संज्ञासु लौकिकीषु प्रतिष्ठसे ।
अभिषङ्गावरोधाभ्यां बद्धस्त्वं प्राकृतो यथा ॥१६८॥

इतनेपर भी यदि आप 'विदेहराज' 'मिथिलापति' आदि इन लौकिक नामोंमें ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं तो आप दूसरे साधारण मनुष्योंकी भाँति आसक्ति और अवरोधसे ही बँधे हुए हैं ॥ १६८ ॥

सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया ।
किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः ॥१६९॥

यदि आप सर्वथा मुक्त हैं तो मैंने जो बुद्धिके द्वारा आपके भीतर प्रवेश किया है, इसमें आपका क्या अपराध किया है ? ॥ १६९ ॥

नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता ।
शून्यमावेशयन्त्या च मया किं कस्य दूषितम् ॥१७०॥

इन सभी वर्णोंमें यह नियम प्रसिद्ध है कि संन्यासियोंको एकान्त स्थानमें रहना चाहिये । मैंने भी आपके शून्य शरीरमें निवास करके किसकी किस वस्तुको दूषित कर दिया है ? ॥१७०॥

न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ ।
न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप ॥१७१॥

निष्पाप नरेश ! न तो हाथोंसे, न भुजाओंसे, न पैरोंसे, न जाँघोंसे और न शरीरके दूसरे ही अवयवोंसे मैं आपका स्पर्श कर रही हूँ ॥ १७१ ॥

कुले महति जातेन ह्रीमता दीर्घदर्शिना ।
नैतत्सदसि वक्तव्यं सद्वासद्वा मिथः कृतम् ॥१७२॥

आप महान् कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील तथा दीर्घदर्शी पुरुष हैं । हम दोनोंने परस्पर भला या बुरा जो कुछ भी किया है, उसे आपको इस भरी सभामें नहीं कहना चाहिये ॥

ब्राह्मणा गुरवश्चेमे तथा मान्या गुरूत्तमाः ।
त्वं चाथ गुरुरप्येषामेवमन्योन्यगौरवम् ॥१७३॥

यहाँ ये सभी वर्णोंके गुरु ब्राह्मण विद्यमान हैं । इन गुरुओंकी अपेक्षा भी उत्तम कितने ही माननीय महापुरुष यहाँ बैठे हैं तथा आप भी राजा होनेके कारण इन सबके लिये गुरुस्वरूप हैं । इस प्रकार आप सबका गौरव एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ १७३ ॥

तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता ।
स्त्रीपुंसोः समवायोऽयं त्वया वाच्यो न संसदि ॥१७४॥

अतः इस प्रकार विचार करके यहाँ क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसको जाँच-बूझ लेना आवश्यक है । इस भरी सभामें आपको स्त्री-पुरुषोंके संयोगकी चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये ॥ १७४ ॥

यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् ।
तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत् त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥१७५॥

मिथिलानरेश ! जैसे कमलके पत्तेपर पड़ा हुआ जल उस पत्तेका स्पर्श नहीं करता है, उसी प्रकार मैं आपका स्पर्श न करती हुई आपके भीतर निवास करूँगी ॥ १७५ ॥

यदि वाप्यस्पृशन्त्या मे स्पर्शं जानासि कञ्चन ।
ज्ञानं कृतमबीजं ते कथं तेनेह भिक्षुणा ॥१७६॥

यद्यपि मैं स्पर्श नहीं कर रही हूँ तो भी यदि आप मेरे स्पर्शका अनुभव करते हैं तो मुझे यह कहना पड़ता है कि उन संन्यासी महात्मा पञ्चशिखने आपको ज्ञानका उपदेश कैसे कर दिया ? क्योंकि आपने उसे निर्बीज कर दिया ? ॥ १७६ ॥

स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदम् ।
उभयोरन्तराले वै वर्तसे मोक्षवार्तिकः ॥१७७॥

परस्त्रीके स्पर्शका अनुभव करनेके कारण आप गार्हस्थ्य-धर्मसे तो गिर गये और दुर्बोध एवं दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके, अतः केवल मोक्षकी बात करते हुए आप गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनोंके बीचमें लटक रहे हैं ॥ १७७ ॥

न हि मुक्तस्य मुक्तेन ज्ञस्यैकत्वपृथक्त्वयोः ।
भावाभावसमायोगे जायते वर्णसंकरः ॥१७८॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीका जीवन्मुक्त ज्ञानीके साथ, एकत्वका पृथक्त्वके साथ तथा भाव (आत्मा) का अभाव (प्रकृति) के साथ संयोग होनेपर वर्णसंकरताकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

वर्णाश्रमाः पृथक्त्वेन दृष्टार्थस्यापृथक्त्विनः ।
नान्यदन्यदिति ज्ञात्वा नान्यदन्यत्र वर्तते ॥१७९॥

मैं मानती हूँ कि समस्त वर्ण और आश्रम पृथक्-पृथक् बताये गये हैं । तथापि जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया है, जो अभेदज्ञानसे सम्पन्न है और यह जानकर सारा बर्ताव करता है कि आत्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है तथा अन्य वस्तु अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुमें विद्यमान नहीं है, उसका किसी अन्यके साथ संयोग होना सम्भव नहीं है; अतः वर्णसंकरता नहीं हो सकती ॥ १७९ ॥

पाणौ कुण्डं तथा कुण्डे पयः पयसि मक्षिका ।
आश्रिताश्रययोगेन पृथक्त्वेनाश्रिताः पुनः ॥१८०॥

हाथमें कुंडी है, कुंडीमें दूध है और दूधमें मक्खी पड़ी हुई है । ये तीनों परस्पर पृथक् होते हुए भी आधाराधेय-भाव सम्बन्धसे एक दूसरेके आश्रित हो एक साथ हो गये हैं ॥१८०॥

न तु कुण्डे पयोभावः पयश्चापि न मक्षिका ।
स्वयमेवाप्नुवन्त्येते भावा ननु पराश्रयम् ॥१८१॥

फिर भी कुंडीमें दुग्धत्व नहीं आया है और दूध भी मक्खी नहीं बन गया है । ये सारे आधेय पदार्थ स्वयं ही अपनेसे भिन्न आधारको प्राप्त होते हैं ॥ १८१ ॥

पृथक्त्वादाश्रमाणां च वर्णान्यत्वे तथैव च ।
परस्परपृथक्त्वाच्च कथं ते वर्णसंकरः ॥१८२॥

सारे आश्रम पृथक्-पृथक् हैं तथा चारों वर्ण भी भिन्न हैं । जब इनमें परस्पर पार्थक्य बना हुआ है, तब पृथक्त्वको जाननेवाले आपके वर्णका संकर कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा ।
तव राजन् सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥१८३॥

राजन् ! मैं जातिसे ब्राह्मणी नहीं हूँ और न वैश्या अथवा शूद्रा ही हूँ । मैं तो आपके समान वर्णवाली क्षत्रिया ही हूँ । मेरा जन्म शुद्ध वंशमें हुआ है और मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया है ॥ १८३ ॥

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥१८४॥

आपने प्रधान नामक राजर्षिका नाम अवश्य सुना होगा। मैं उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि मेरा नाम सुलभा है ॥ १८४ ॥

द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः।
मम सत्रेषु पूर्वेषां चिता मघवता सह ॥१८५॥

मेरे पूर्वजोंके यज्ञोंमें देवराज इन्द्रके सहयोगसे द्रोण, शतशृङ्ग और चक्रद्वार नामक पर्वत यज्ञवेदीमें ईंटोंकी जगह चुने गये थे ॥ १८५ ॥

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥१८६॥

मेरा जन्म उसी महान् कुलमें हुआ है। मैंने अपने योग्य पतिके न मिलनेपर मोक्षधर्मकी शिक्षा ली तथा मुनिव्रत धारण करके मैं अकेली विचरती रहती हूँ ॥ १८६ ॥

नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी।
न धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता ॥१८७॥

मैंने संन्यासिनीका छद्मवेष नहीं धारण किया है। मैं पराये धनका अपहरण नहीं करती हूँ और न धर्मसंकरता ही फैलाती हूँ। मैं दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हुई अपने धर्ममें स्थित रहती हूँ ॥ १८७ ॥

नास्थिरा स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवादिनी।
नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप ॥१८८॥

जनेश्वर! मैं अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होती हूँ। बिना सोचे-समझे कोई बात नहीं बोलती हूँ और आपके पास भी यहाँ खूब सोच-विचारकर ही आयी हूँ ॥ १८८ ॥

मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी।
तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थमिहागता ॥१८९॥

मैंने सुना था कि आपकी बुद्धि मोक्षधर्ममें लगी हुई है, अतः आपकी मङ्गलाकाङ्क्षिणी होकर आपके इस मोक्षज्ञानका मर्म जाननेके लिये मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १८९ ॥

न वर्गस्था ब्रवीम्येतत् स्वपक्षपरपक्षयोः।
मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ॥१९०॥

मैं स्वपक्ष और परपक्षमेंसे अपने पक्षमें स्थित हो पक्षपातपूर्वक यह बात नहीं कह रही हूँ, आपके हितको दृष्टिमें रखकर बोलती हूँ; क्योंकि जो वाणीका व्यायाम नहीं करता और जो शान्त परब्रह्ममें निमग्न रहता है, वही मुक्त है ॥

यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत्।
तथाहं त्वच्छरीरेऽस्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीम् ॥१९१॥

जैसे नगरके किसी सूने घरमें संन्यासी एक रात निवास कर लेता है, इसी तरह आपके इस शरीरमें मैं आजकी रात रहूँगी ॥ १९१ ॥

साहं मानप्रदानेन वागातिथ्येन चार्चिता।
सुप्ता सुशरणं प्रीता श्वो गमिष्यामि मैथिल ॥१९२॥

आपने मुझे बड़ा सम्मान दिया। अपनी वाणीरूप आतिथ्यके द्वारा मेरा भलीभाँति सत्कार किया। मिथिलानरेश! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके शरीररूपी सुन्दर गृहमें सोकर कल सवेरे यहाँसे चली जाऊँगी ॥ १९२ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतानि स वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च।
श्रुत्वा नाधिजगौ राजा किञ्चिदन्यदतः परम् ॥१९३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सुलभाके ये युक्तियुक्त और सार्थक वचन सुनकर राजा जनक इसके बाद और कोई बात नहीं बोले ॥ १९३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सुलभाजनकसंवादे विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सुलभा और जनकका संवादविषयक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२० ॥

एकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना

युधिष्ठिर उवाच

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पूर्वकालमें व्यासपुत्र शुकदेवको किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ १ ॥

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम्।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ॥ २ ॥

कुरुनन्दन! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंका बुद्धिद्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायणका जो चरित्र है, उसे भी सुनानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम्।
अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद् वै पिता सुतम् ॥३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पुत्र शुकदेवको साधारण लोगोंकी भाँति आचरण करते और सर्वथा निर्भय विचरते देख पिता श्रीव्यासजीने उन्हें सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कराया और फिर यह उपदेश दिया ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा! तुम सदा धर्मका सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ीसे कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यासको सहन करते हुए प्राणवायुपर विजय प्राप्त करो॥ ४॥

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय॥ ५ ॥

सत्य, सरलता, अक्रोध, दोषदर्शनका अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करो॥ ५॥

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम्।
देवतातिथिशेषेण मात्रां प्राणस्य संलिह॥ ६ ॥

सत्यपर डटे रहो तथा सब प्रकारकी वक्रता छोड़कर धर्ममें अनुराग करो। देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करके जो अन्न बचे, उसीका प्राणरक्षाके लिये आस्वादन करो॥ ६॥

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक॥ ७ ॥

बेटा! यह शरीर जलके फेनकी तरह क्षणभङ्गुर है। इसमें जीव पक्षीकी तरह बसा हुआ है और यह प्रियजनोंका सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है। फिर भी तुम क्यों सोये पड़े हो?॥ ७॥

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु।
अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे॥ ८ ॥

तुम्हारे शत्रु सर्वदा सावधान, जगे हुए, सर्वथा उद्यत और तुम्हारे छिद्रोंको देखनेमें लगे हुए हैं; परंतु तुम अभी बालक हो, इसलिये समझ नहीं रहे हो॥ ८॥

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि॥ ९ ॥

तुम्हारी आयुके दिन गिने जा रहे हैं। आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है (समाप्त हो रहा है)। फिर तुम उठकर भागते क्यों नहीं हो? (शीघ्रतापूर्वक कर्तव्यपालनमें लग क्यों नहीं जाते हो?)॥ ९॥

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम्।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः॥ १० ॥

अत्यन्त नास्तिक मनुष्य केवल इस लोकके स्वार्थको चाहते हुए शरीरमें मांस और रक्तको बढ़ानेवाली चेष्टा ही करते रहते हैं। पारलौकिक कार्योंकी ओरसे तो वे सदा सोये ही रहते हैं॥ १०॥

धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाताऽपि पीड्यते॥ ११ ॥

जो बुद्धिके व्यामोहमें डूबे हुए मनुष्य धर्मसे द्वेष करते हैं, वे सदा कुमार्गसे ही चलते हैं। उनकी तो बात ही क्या है, उनके अनुयायियोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है॥ ११॥

ये तु तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः।
धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्स्व च पृच्छ च॥ १२ ॥

इसलिये जो महान् धर्मबलसे सम्पन्न महात्मा पुरुष संतुष्ट और श्रुतिपरायण होकर सर्वदा धर्मपथपर ही आरूढ़ रहते हैं, तुम उन्हींकी सेवामें रहो और उन्हींसे अपना कर्तव्य पूछो॥ १२॥

उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम्।
नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै॥ १३ ॥

उन धर्मदर्शी विद्वानोंका मत जानकर तुम अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके द्वारा अपने कुपथगामी मनको काबूमें करो॥

आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः।
सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः॥ १४ ॥

जिसकी केवल वर्तमान सुखपर ही दृष्टि रहती है, उस बुद्धिके द्वारा भावी परिणामको बहुत दूर जानकर जो निर्भय रहते और सब प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंको खाते रहते हैं, वे बुद्धिहीन मनुष्य इस कर्मभूमिके महत्त्वको नहीं देख पाते हैं॥ १४॥

धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित् समारुह।
कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नानुबुध्यसे॥ १५ ॥

तुम धर्मरूपी सीढ़ीको पाकर धीरे-धीरे उसपर चढ़ते जाओ। अभी तो तुम रेशमके कीड़ेकी तरह अपने-आपको वासनाओंके जालसे ही लपेटते जा रहे हो, तुम्हें चेत नहीं हो रहा है॥ १५॥

नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम्।
वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम्॥ १६ ॥

जो नास्तिक हो, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहा हो और किनारेको तोड़-फोड़कर गिरा देनेवाले नदीके महान् जल-प्रवाहकी भाँति स्थित हो, ऐसे मनुष्यको उखाड़े हुए बाँसकी तरह बिना किसी हिचकके त्याग दो॥ १६॥

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर॥ १७ ॥

काम, क्रोध, मृत्यु और जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है, ऐसी विषयासक्तिरूपी नदीको तुम सात्त्विकी धृतिरूप नौकाका आश्रय ले पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी दुर्गम संकटसे पार हो जाओ॥ १७॥

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन संतर॥ १८ ॥

सारा संसार मृत्युके थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्थासे पीड़ित हो रहा है। ये रातें प्राणियोंकी आयुका अपहरण

करके अपनेको सफल बनाती हुई बीत रही हैं। तुम धर्मरूपी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार हो जाओ ॥ १८ ॥

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा।
निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ॥ १९ ॥

मनुष्य खड़ा हो या सो रहा हो, मृत्यु निरन्तर उसे खोजती फिरती है। जब इस प्रकार तुम अकस्मात् मृत्युके ग्रास बन जानेवाले हो, तब इस तरह निश्चिन्त एवं शान्त कैसे बैठे हो? ॥ १९ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २० ॥

मनुष्य भोगसामग्रियोंके संचयमें लगा ही रहता है और उनसे तृप्त भी नहीं होने पाता है कि भेड़के बच्चेको उठा ले जानेवाली बाघिनकी भाँति मौत उसे अपनी दाढ़में दबाकर चल देती है ॥ २० ॥

क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो महान्।
अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥ २१ ॥

यदि तुम्हें इस संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना है तो हाथमें उस धर्म-बुद्धिमय महान् दीपकको यत्नपूर्वक धारण कर लो, जिसकी शिखा क्रमशः प्रज्वलित हो रही हो ॥ २१ ॥

सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ॥ २२ ॥

बेटा! जीव अनेक प्रकारके शरीरोंमें जन्मता-मरता हुआ कभी इस मानव-योनिमें आकर ब्राह्मणका शरीर पाता है, अतः तुम ब्राह्मणोचित कर्तव्यका पालन करो ॥

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणका यह शरीर भोग भोगनेके लिये नहीं पैदा होता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्युके पश्चात् अनुपम सुख भोगनेके लिये रचा गया है ॥ २३ ॥

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम्।
स्वाध्याये तपसि दमे च नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ॥ २४ ॥

बहुत समयतक बड़ी भारी तपस्या करनेसे ब्राह्मणका शरीर मिलता है। उसे पाकर विषयानुरागमें फँसकर बरबाद नहीं करना चाहिये। अतः यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्ममें संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रियसंयममें पूर्णतः तत्पर रहनेका प्रयत्न करो ॥ २४ ॥

अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः
सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशो निमेषरोमा।
ऋत्वास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो
मासाङ्गो द्रवति वयोहयो नराणाम् ॥ २५ ॥
तं दृष्ट्वा प्रसृतमजस्रमुग्रवेगं
गच्छन्तं सततमिहाव्यपेक्षमाणम्।
चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं
धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य ॥ २६ ॥

मनुष्योंका आयुरूप अश्व बड़े वेगसे दौड़ा जा रहा है। इसका स्वभाव अव्यक्त है। कला-काष्ठा आदि इसके शरीर हैं। इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। क्षण, त्रुटि (चुटकी) और निमेष आदि इसके रोम हैं। ऋतुएँ मुख हैं। समान बलवाले शुक्ल और कृष्णपक्ष नेत्र हैं तथा महीने इसके विभिन्न अङ्ग हैं। वह भयंकर वेगशाली अश्व यहाँकी किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखकर निरन्तर अविराम गतिसे वेगपूर्वक भागा जा रहा है। उसे देखकर यदि तुम्हारी ज्ञानदृष्टि दूसरेके द्वारा चलाने-पर चलनेवाली नहीं है; तो तुम्हारा मन धर्ममें ही लगना चाहिये। तुम दूसरे धर्मात्माओंपर भी दृष्टि डालो ॥ २५-२६ ॥

ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः
क्रोशन्तः सततमनिष्टसम्प्रयोगाः।
क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा
बह्वीभिः सुभृशमधर्मकारणाभिः ॥ २७ ॥

जो लोग यहाँ धर्मसे विचलित हो स्वेच्छाचारमें लगे हुए हैं, दूसरोंको बुरा-भला कहते हुए सदा अनिष्टकारी अशुभ कर्मोंमें ही लगे हुए हैं, वे मरनेके बाद यातनादेह पाकर अपने अनेक पापकर्मोंके कारण अत्यन्त क्लेश भोगते हैं ॥ २७ ॥

राजा सदा धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता
समीक्ष्य सुकृतिनां दधाति लोकान्।
बहुविधमपि चरति प्रविशति
सुखमनुपगतं निरवद्यम् ॥ २८ ॥

जो राजा सर्वदा धर्मपरायण रहकर उत्तम और अधम प्रजाका यथायोग्य विचारपूर्वक पालन करता है, वह पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होता है। यदि वह स्वयं भी नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका आचरण करता है तो उसके फलस्वरूप उसे अप्राप्त एवं निर्दोष सुख प्राप्त होता है ॥

श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि
बलगृध्रकुलपक्षिणां च संघाः।
नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-
नुदमुपरतं विशसन्ति ॥ २९ ॥

परंतु जो गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उनके मरणके पश्चात् नरकमें स्थित भयानक शरीरवाले कुत्ते, लौहमुख पक्षी, कौए-गीध आदि पक्षियोंके समुदाय तथा रक्त पीनेवाले कीट उनके यातना-शरीरपर आक्रमण करके उसे नोचते और काटते हैं ॥ २९ ॥

मर्यादा नियताः स्वयम्भुवा य इहेमाः
प्रभिनत्ति दशगुणा मनोऽनुगत्वात्।
निवसति भृशमसुखं पितृविषय-
विपिनमवगाह्य स पापः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मनचाही करनेके कारण स्वायम्भुवमनुकी बाँधी हुई धर्मकी दस[1] प्रकारकी मर्यादाओंको तोड़ता है, वह पापात्मा पितृलोकके असिपत्रवनमें जाकर वहाँ अत्यन्त दुःख भोगता रहता है ॥ ३० ॥

यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः
सततनिकृतिवञ्चनाभिरतिः स्यात्।
उपनिधिभिरसुखकृत्स परमनिरयगो
भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ॥ ३१ ॥

जो पुरुष अत्यन्त लोभी, असत्यसे प्रेम करनेवाला और सर्वदा कपटभरी बातें बनानेवाला और ठगाईमें रत है तथा जो तरह-तरहके साधनोंसे दूसरोंको दुःख देता है, वह पापात्मा घोर नरकमें पड़कर अत्यन्त दुःख भोगता है ॥ ३१ ॥

उष्णां वैतरणीं महानदी-
मवगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः।
परशुवनशयो निपतितो
वसति च महानिरये भृशार्तः ॥ ३२ ॥

उसे अत्यन्त उष्ण महानदी वैतरणीमें गोता लगाना पड़ता है । असिपत्रवनमें उसका अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जाता है और परशुवनमें उसे शयन करना पड़ता है । इस प्रकार महानरकमें पड़कर वह अत्यन्त आतुर हो उठता है और विवश होकर उसीमें निवास करता है ॥ ३२ ॥

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम्।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥ ३३ ॥

तुम ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी बातें तो बनाते हो, परंतु परमपदपर तुम्हारी दृष्टि नहीं है । भविष्यमें जो मृत्युकी परिचारिका वृद्धावस्था आनेवाली है, उसका तुम्हें पता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

प्रयायतां किमास्यते समुत्थितं महद् भयम्।
अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ॥ ३४ ॥

वत्स ! चुपचाप क्यों बैठे हो ? जल्दीसे आगे बढ़ो । तुम्हारे ऊपर हृदयको अत्यन्त मथ डालनेवाला, भयंकर एवं महान् भय उठ खड़ा हुआ है; अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

पुरा मृतः प्रणीयते यमस्य राजशासनात्।
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ॥ ३५ ॥

तुम्हें मरनेपर यमराजकी आज्ञासे भयानक यमदूतोंद्वारा उनके सामने उपस्थित किया जाय, इसके पहले ही सरलतारूप धर्मके सम्पादनके लिये प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

पुरा समूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित्।
तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ॥ ३६ ॥

यमराज सबके स्वामी हैं । वे किसीका दुःख-दर्द नहीं समझते हैं । वे मूल और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे प्राण हर लेंगे । उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है । वह समय आनेके पहले ही तुम अपनी रक्षाके लिये प्रबन्ध कर लो ॥ ३६ ॥

पुराभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः।
पुरैक एव नीयसे कुरुष्व साम्परायिकम् ॥ ३७ ॥

जिस समय यमराजके आगे-आगे चलनेवाला प्रचण्ड कालरूपी पवन चल पड़ेगा, उस समय वह अकेले तुम्हींको वहाँ ले जायगा; अतः तुम पहलेसे ही परलोकमें सुख देनेवाले धर्मका आचरण करो ॥ ३७ ॥

पुरा स हि क्व एव ते प्रवाति मारुतोऽन्तकः।
पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ॥ ३८ ॥

पूर्वजन्ममें तुम्हारे सामने जो प्राणनाशक पवन चल रहा था, आज वह कहाँ है ? अब भी जब मृत्युरूप महान् भय उपस्थित होगा, तब तुम्हें सम्पूर्ण दिशाएँ घूमती दिखायी देंगी; अतः पहलेसे ही सावधान हो जाओ ॥ ३८ ॥

श्रुतिश्च संनिरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक।
समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ॥ ३९ ॥

बेटा ! जब तुम इस शरीरको छोड़कर चलने लगोगे, उस समय व्याकुलताके कारण तुम्हारी श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जायगी । इसलिये तुम सुदृढ़ समाधि प्राप्त कर लो ॥ ३९ ॥

शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४० ॥

तुम पहले असावधानतावश जो अनुचितरूपसे शुभाशुभ कर्म कर चुके हो, उसे स्मरण करके उनके फलभोगसे संतप्त होनेके पहले ही अपने लिये केवल ज्ञानका भण्डार भर लो ॥

पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते।
बलाङ्गरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४१ ॥

देखो, बल, अङ्ग और रूपका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था एक दिन तुम्हारे शरीरको जर्जर कर डालेगी, उसके पहले ही तुम अपने लिये ज्ञानका भण्डार भर लो ॥ ४१ ॥

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः।
प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत् समाचर ॥ ४२ ॥

रोग जिसका सारथि है, वह काल हठात् तुम्हारे शरीरको विदीर्ण कर डालेगा, इसलिये इस जीवनका नाश होनेसे पूर्व ही तुम महान् तपका अनुष्ठान कर लो ॥ ४२ ॥

पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः।

---

१. मनुजीने धर्मके दस भेद ये बताये हैं—
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
'धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

अभिद्रवन्ति सर्वतो यतस्व पुण्यशीलने ॥ ४३ ॥

इस मानव-शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध आदि भयंकर व्याघ्र तुमपर चारों ओरसे आक्रमण कर रहे हैं, इसलिये पहलेसे ही तुम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४३ ॥

पुरान्धकारमेकको ऽनुपश्यसि त्वरस्व वै।
पुरा हिरण्मयान् नगान् निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि ॥ ४४ ॥

मरनेके समय तुम्हें पहले घोर अन्धकार दिखलायी देगा। फिर पर्वतके शिखरपर सुनहरे वृक्ष दृष्टिगोचर होंगे। वह समय आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र प्रयत्न करो ॥ ४४ ॥

पुरा कुसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र यत्परम् ॥ ४५ ॥

इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंके सङ्ग तथा ऊपरसे मित्रभाव एवं भीतरसे शत्रुता रखनेवाले लोग दर्शनमात्रसे तुम्हें कर्तव्य-पथसे विचलित कर देंगे, इसलिये तुम पहलेसे ही परम उत्तम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४५ ॥

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ॥ ४६ ॥

जिस धनको न तो राजासे भय है और न चोरसे ही तथा जो मर जानेपर भी जीवका साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धनका उपार्जन करो ॥ ४६ ॥

न तत्र संवियुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम्।
यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ॥ ४७ ॥

अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए उस धनको परलोकमें परस्पर बाँटना नहीं पड़ता है। वहाँ तो जो जिसकी निजी सम्पत्ति है, उसे ही वह भोगता है ॥ ४७ ॥

परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्र दीयताम्।
धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत् स्वयम् ॥ ४८ ॥

बेटा! जिससे परलोकमें भी जीवन-निर्वाह हो सकता है तथा जो अविनाशी और अटल धन है, उसीका दान करो एवं उसीका स्वयं भी उपार्जन करते रहो ॥ ४८ ॥

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम्।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ॥ ४९ ॥

बेटा! घरपर आये हुए किसी समादरणीय अतिथिके लिये जितनी देरमें यावक (घृत और खाँड़ मिलाकर तैयार किया हुआ जौके आटेका पूआ) पकाया जाता है, उसके पकनेसे भी पहले तुम्हारी मृत्यु हो सकती है; अतः तुम ज्ञान-रूपी धनके उपार्जनके लिये शीघ्रता करो ॥ ४९ ॥

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ५० ॥

जीव जब अकेला ही परलोकके पथपर प्रस्थान करता है, उस संकटके समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं ॥ ५० ॥

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम्।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥ ५१ ॥

पुत्र! परलोकमें जाते समय अपना पहलेका किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता है, केवल वही साथ रहता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ॥ ५२ ॥

मनुष्यके द्वारा अच्छे-बुरे सभी तरहके कर्म करके जो सुवर्ण और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये जाते हैं, वे भी उस मनुष्यके शरीरका नाश होनेपर उसके किसी काम नहीं आते हैं (क्योंकि वे सब यहीं रह जाते हैं) ॥ ५२ ॥

परत्रगामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः।
न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ॥ ५३ ॥

परलोककी यात्रा करते समय तुम्हारे किये और न किये हुए कर्मका साक्षी आत्माके समान मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ५३ ॥

मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः।
प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ॥ ५४ ॥

परलोकमें जाते समय इस मनुष्य-शरीरका अभाव हो जाता है अर्थात् यह यहीं छूट जाता है। जीव सूक्ष्म शरीरसे लोकान्तरमें प्रवेश करके अपने बुद्धिरूपी नेत्रसे वहाँ सब कुछ देखता है ॥ ५४ ॥

इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः।
त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ॥ ५५ ॥

इस लोकमें अग्नि, वायु और सूर्य—ये तीन देवता जीवके शरीरका आश्रय करके रहते हैं। वे ही उसके धर्माचरणको देखनेवाले हैं और वे ही परलोकमें उसके साक्षी होते हैं ॥ ५५ ॥

अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेव पालय ॥ ५६ ॥

दिन सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है और रात्रि उन्हें छिपा लेती है। ये सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी वस्तुओंका स्पर्श करते हैं, अतः तुम इनकी वेलामें सर्वदा अपने धर्मका ही पालन करो ॥ ५६ ॥

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमक्षिके।
स्वमेव कर्म रक्ष्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ॥ ५७ ॥

परलोकके मार्गपर बहुत-से लुटेरे और बटमार रहते हैं तथा विकराल एवं भयंकर डाँस एवं मक्खियाँ होती हैं। वहाँ केवल अपना किया हुआ कर्म ही साथ जाता है; अतः तुम्हें अपने सत्कर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम्।
तथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ॥ ५८ ॥

वहाँ अपने कर्मके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उसका किसीके साथ बँटवारा नहीं होता। वहाँ तो अपने किये हुए कर्मोंका ही फल भोगना होता है ॥ ५८ ॥

यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह ।
तथाऽऽप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ॥ ५९ ॥

जैसे महर्षियोंके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ होती हैं और वे सब पुण्यके फलस्वरूप सुख भोगते हैं, उसी प्रकार वहाँ पुण्यात्मा लोग विमानोंपर चढ़कर इच्छानुसार विचरते और पुण्यकर्मजनित सुख भोगते हैं ॥ ५९ ॥

यथेह यत् कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः ।
तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ॥ ६० ॥

निष्पाप पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा इस लोकमें जो शुभ कर्म सम्पादित होता है, जन्मान्तरमें विशुद्ध योनिमें जन्म लेकर उसका वैसा ही फल पाते हैं ॥ ६० ॥

प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः ।
व्रजन्ति ते परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६१ ॥

गृहस्थ-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले लोग प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्रके लोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते ।
अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभुर्निनाय पावकः ॥ ६२ ॥

वत्स ! मैं तुम्हारे सामने हजारों तथा उससे भी अधिक बार यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् तथा सबको पवित्र करनेवाले धर्मने, जिसकी बुद्धिपर मोह नहीं छा गया है, उस धर्मात्मा पुरुषको सदा ही पुण्यलोकमें पहुँचाया है ॥ ६२ ॥

गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पञ्चविंशकः ।
कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ॥ ६३ ॥

बेटा ! तुम्हारी आयुके चौबीस वर्ष बीत गये । अब निश्चय ही तुम पचीस सालके हो गये; अतः धर्मका संचय करो । तुम्हारी सारी आयु यों ही बीती जा रही है ॥ ६३ ॥

पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् ।
यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ॥ ६४ ॥

देखो, तुम्हारा जो प्रमाद है, उसमें निवास करनेवाला काल तुम्हारी इन्द्रियोंके समुदायको मुखरहित (भोगशक्तिसे हीन) कर रहा है । इनके असमर्थ हो जानेके पहले ही तुम खड़े हो जाओ और अपने शरीरसे धर्मका पालन करनेके लिये जल्दी करो ॥ ६४ ॥

यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि ।
तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ॥ ६५ ॥

जिस समय तुम शरीर छोड़कर परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हीं पीछे रहोगे और तुम्हीं आगे चलोगे—तुम्हारे सिवा दूसरा कोई वहाँ आगे-पीछे चलनेवाला न होगा । ऐसी दशामें किसी अपने या पराये व्यक्तिसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? ॥ ६५ ॥

यदेकपातिनां सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् ।
भयेषु साम्परायिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ६६ ॥

भय उपस्थित होनेपर अकेले यात्रा करनेवाले सत्पुरुषोंके लिये परलोकमें जो हितकर होता है, उस धर्म या ज्ञानकी निधिको शुद्धभावसे संचित करो ॥ ६६ ॥

सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसंनिधिम् ॥ ६७ ॥

सर्वसमर्थ काल किसीके प्रति भी स्नेह नहीं करता । वह कूल और मूल अर्थात् आदि-अन्तसहित समस्त बन्धु-बान्धवोंको हर ले जाता है । उसको रोकनेवाले कोई नहीं हैं; इसलिये तुम धर्मका संचय करो ॥ ६७ ॥

इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र साम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितं कुरुष्व तत् ॥ ६८ ॥

बेटा ! मैंने अपने शास्त्रज्ञान और अनुमानके द्वारा इस समय तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश किया है, तुम उसीके अनुसार आचरण करो ॥ ६८ ॥

दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् ।
अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ॥ ६९ ॥

जो पुरुष अपने सत्कर्मोंद्वारा धर्मको धारण करता है और जिस किसीको भी निष्कामभावसे दान देता है, वह अकेला ही मोहरहित बुद्धिसे प्राप्त होनेवाले गुणोंसे संयुक्त होता है ॥ ६९ ॥

श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ॥ ७० ॥

जो समस्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करता और तदनुसार शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता है, उसीके लिये इस ज्ञानका उपदेश किया गया है; क्योंकि कृतज्ञ पुरुषको जो भी उपदेश दिया जाता है, वही सफल होता है ॥ ७० ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ७१ ॥

मनुष्य जब गाँवमें रहकर वहींके पदार्थोंसे प्रेम करने लगता है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सी ही है । पुण्यात्मा लोग इसे काटकर उत्तम लोकोंमें चले जाते हैं, परंतु पापात्मा पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ ७१ ॥

किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते
किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताश्च सर्वे ॥ ७२ ॥

बेटा ! जब तुम्हें एक दिन मरना ही है, तब धन, बन्धु और पुत्र आदिसे तुम्हें क्या लेना है; अतः तुम हृदयरूपी गुफामें छिपे हुए आत्मतत्त्वका अनुसंधान करो । सोचो तो सही; आज तुम्हारे सारे पूर्वज—पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ७२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ॥ ७३ ॥

जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये

और जो दोपहर-बाद करना हो, उसे पहले ही पहरमें पूरा कर डालना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं ॥ ७३ ॥

अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ ७४ ॥

मृत्युके बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद् श्मशान-भूमितक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुषके शरीरको चिताकी आगमें डालकर लौट आते हैं ॥ ७४ ॥

नास्तिकान् निरनुक्रोशान् नरान् पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७५ ॥

अतः तुम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके इच्छुक हो आलस्य छोड़कर नास्तिक, निर्दय तथा पापबुद्धि मनुष्योंको बिना किसी हिचकके बायें कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ न दो ॥ ७५ ॥

एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद् धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ॥ ७६ ॥

इस प्रकार जब सारा संसार कालसे आहत और पीड़ित हो रहा है, तब तुम महान् धैर्यका आश्रय ले सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आचरण करो ॥ ७६ ॥

अथेमं दर्शनोपायं सम्यग् यो वेत्ति मानवः ।
सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य परमात्माके साक्षात्कारके इस साधनको भलीभाँति जानता है, वह इस लोकमें स्वधर्मका ठीक-ठीक पालन करके परलोकमें सुख भोगता है ॥ ७७ ॥

न देहभेदे मरणं विजानतां
न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि ।
धर्मं हि यो वर्धयते स पण्डितो
य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ॥ ७८ ॥

जो ऐसा जानते हैं कि शरीरका नाश हो जानेपर भी अपनी मृत्यु नहीं होती है और शिष्ट पुरुषोंद्वारा पालित धर्ममार्गपर चलनेवालोंका कभी नाश नहीं होता है, वे ही बुद्धिमान् हैं । जो इन सब बातोंको सोच-विचारकर धर्मको बढ़ाता रहता है, वह विद्वान् है । जो धर्मसे गिर जाता है, वही मोहग्रस्त अथवा मूढ़ है ॥ ७८ ॥

प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः
फलं प्रयोक्ता लभते यथाकृतम् ।
निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते
त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ॥ ७९ ॥

कर्मके मार्गपर प्रयोग (आचरण) में लाये गये जो अपने शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल कर्ताको उस कर्मके अनुसार प्राप्त होता है । नीच कर्म करनेवाला नरकमें पड़ता है और धर्माचरणमें पारङ्गत पुरुष स्वर्गलोकको जाता है ॥

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्यते न पुनर्यथा ॥ ८० ॥

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीके समान है । इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्ममें एकाग्र करे, जिससे फिर उसे स्वर्गसे नीचे न गिरना पड़े ॥

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ॥ ८१ ॥

स्वर्गलोकके मार्गका अनुसरण करनेवाली जिसकी बुद्धि धर्मका कभी उल्लङ्घन नहीं करती, उसको पुण्यात्मा कहते हैं । वह पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके लिये कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ८१ ॥

यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलम्बते ।
स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद् भयम् ॥ ८२ ॥

जिसकी बुद्धि दूषित न होकर दृढ़ निश्चयका सहारा लेती है, उसने स्वर्गमें अपने लिये स्थान बना लिया है । उसे नरकका महान् भय नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः ।
तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८३ ॥

जो लोग तपोवनोंमें पैदा हुए और वहीं मृत्युको प्राप्त हो गये, उन्हें थोड़े-से ही धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वे कामभोगोंको जानते ही नहीं थे (अतः उन्हें त्यागनेके लिये उनको कष्ट सहन नहीं करना पड़ता) ॥ ८३ ॥

यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तन्मे बहु मतं फलम् ॥ ८४ ॥

जो भोगोंका परित्याग करके तपोवनमें जाकर शरीरसे तपस्या करता है, उसके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्राप्त न हो । वही फल मुझे अधिक जान पड़ता है ॥ ८४ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ८५ ॥

हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहले जन्मोंमें हो चुके हैं और भविष्यमें होंगे । वे हममेंसे किसके हैं और हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ८५ ॥

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ॥ ८६ ॥

मैं अकेला हूँ । न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं दूसरे किसीका हूँ । मैं ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखायी देता, जो मेरा हो ॥ ८६ ॥

न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि ।
स्वकृतैस्तानि यातानि भवांश्चैव गमिष्यति ॥ ८७ ॥

न उनका तुम कुछ कर सकते हो और न वे तुम्हारे किसी काम आ सकते हैं । वे अपने कर्मोंके साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे ॥ ८७ ॥

इह लोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते ।

स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥ ८८ ॥

इस संसारमें जो धनवान् हैं, उन्हींके स्वजन उनके साथ स्वजनोचित वर्ताव करते हैं; दरिद्रोंके स्वजन तो उनके जीते-जी ही उन्हें छोड़कर उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं ।८८।

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ॥ ८९ ॥

मनुष्य अपनी स्त्रीके लिये अशुभ कर्मका संचय करता है, फिर उसके फलरूपमें इहलोक और परलोकमें भी कष्ट उठाता है ॥ ८९ ॥

पश्यति च्छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा ।
तत् कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत् समुदाहृतम् ॥ ९० ॥

मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही इस जीव-जगत्को छिन्न-भिन्न हुआ देखता है, अतः बेटा ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब काममें लाओ ॥ ९० ॥

तदेतत् सम्प्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः ।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ॥ ९१ ॥

इहलोक कर्मभूमि है—ऐसा समझकर इसकी ओर देखते हुए दिव्य लोकोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शुभकर्मोंका ही आचरण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेण
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण
भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥ ९२ ॥

यह कालरूपी रसोइया बलपूर्वक सब जीवोंको पका रहा है । मास और ऋतु नामक करछुलसे वह जीवोंको उलटता-पलटता रहता है । सूर्य उसके लिये आगका काम देते हैं और कर्मफलके साक्षी रात और दिन उसके लिये ईंधन बने हुए हैं ॥ ९२ ॥

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ॥ ९३ ॥

उस धनसे क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसीको दे सकता और न अपने उपभोगमें ही ला सकता है ? उस बलसे क्या लाभ, जिससे शत्रुओंको बाधित न किया जा सके ? उस शास्त्रज्ञानसे क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके ? और उस जीवात्मासे क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय है और न मनको ही वशमें रख सकता है ? ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु ।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजीके कहे हुए ये हितकर वचन सुनकर शुकदेवजी अपने पिताको छोड़कर मोक्षतत्त्वके उपदेशक गुरुके पास चले गये ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पावकाध्ययनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पावकाध्ययन नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२१॥

द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च ।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरु-शुश्रूषा करनेसे कोई फल मिलता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः ।
स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जब बुद्धि काम-क्रोध आदि अनर्थोंसे युक्त हो जाती है, तब उससे प्रेरित हुए मनुष्यका मन पापमें प्रवृत्त होने लगता है । फिर वह मनुष्य दोषयुक्त कर्म करके महान् क्लेशमें पड़ जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥ ३ ॥

पापकर्म करनेवाले दरिद्र मानव दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको तथा भयसे भयको पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको पाते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं । इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है ? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होने योग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्मपालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है, तब उसका कर्मफल भी उसीके साथ सो जाता है। जब वह खड़ा होता है, तब वह भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत्पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
तत् तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्व-जन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध-भोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा वा वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म-जन्मान्तरमें उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुद्ध्यति वारिणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे मलिन हुआ वस्त्र पीछे जलसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, (उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर) उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन महामते ।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

महामते! दीर्घकालतक की हुई तपस्यासे तथा धर्मा-चरणद्वारा जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनो-रथ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार पुण्यात्मा ज्ञानियोंकी भी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधों-की चर्चा करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। जो सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्ममूलिको नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्ममूलिकनामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः ।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! व्यासजीके यहाँ महातपस्वी और धर्मात्मा शुकदेवजीका जन्म कैसे हुआ ? तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की ? यह मुझे बताइये ॥

कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः ।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ २ ॥

तपस्याके धनी व्यासजीने किस स्त्रीके गर्भसे शुकदेवजीको उत्पन्न किया ? हमें उन महात्मा शुकदेवजीकी माताका नाम नहीं मालूम है और हम उनके श्रेष्ठ जन्मका वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः ।
यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित् ॥ ३ ॥

शुकदेवजी अभी बालक थे तो भी सूक्ष्मज्ञानमें उनकी बुद्धि कैसे लगी ? इस संसारमें उनके सिवा दूसरे किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं देखी गयी ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ॥ ४ ॥

महामते ! मैं इस प्रसङ्गको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आपका यह अमृतके समान उत्तम एवं मधुर प्रवचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य ह ।
यथावदानुपूर्व्येण तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! आप मुझे शुकदेवजीका माहात्म्य, आत्मयोग और विज्ञान यथार्थ रीतिसे क्रमशः बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कोई अधिक वर्षोंकी अवस्था हो जानेसे, बाल पक जानेसे, अधिक धन होनेसे तथा भाई-बन्धुओंकी संख्या बढ़ जानेसे भी बड़ा नहीं होता । ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि हमलोगोंमेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जायगा ॥ ६ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे हो, उस सबकी जड़ तपस्या है । इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तपस्याकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥ ८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके कारण ही दोषको प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियोंको काबूमें कर लेनेपर वह सिद्धिका भागी होता है ॥ ८ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥ ९ ॥

तात ! सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञोंका जो फल है, वह योगकी सोलहवीं कलाके फलकी भी समानता नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि जन्मयोगफलं तथा ।
शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः ॥ १० ॥

राजन् ! मैं तुम्हें शुकदेवजीका जन्म-वृत्तान्त, योगफल तथा अजितात्मा पुरुषोंकी समझमें न आनेवाली उनकी उत्कृष्ट गति बता रहा हूँ ॥ १० ॥

मेरुशृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते ।
विजहार महादेवो भीमैर्भूतगणैर्वृतः ॥ ११ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें कनेरके वनोंसे सुशोभित मेरुपर्वतके शिखरपर भगवान् शङ्कर भयानक भूतगणोंको साथ ले विहार करते थे ॥ ११ ॥

शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत् पुरा ।
तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १२ ॥

वहीं गिरिराजकुमारी उमादेवी भी उनके साथ ही निवास करती थीं । उन्हीं दिनों श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उस पर्वतपर दिव्य तपस्या कर रहे थे ॥ १२ ॥

योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः ।
धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! योगधर्मपरायण व्यास योगके द्वारा अपने मनको परमात्मामें लगाकर धारणापूर्वक तपका अनुष्ठान करते थे । उनके तपका उद्देश्य था पुत्रकी प्राप्ति ॥ १३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो ।
धैर्येण सम्मितः पुत्रो मम भूयादिति स्म ह ॥ १४ ॥

उन्होंने यह संकल्प लेकर कि मुझे अग्नि, भूमि, जल, वायु अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त हो, तपस्या आरम्भ की थी ॥ १४ ॥

संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १५ ॥

उक्त संकल्प लेकर योगके द्वारा उत्तम तपस्यामें लगे हुए वेदव्यासजीने अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ देवेश्वर महादेवजीसे वर-प्रार्थना की ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः ।
आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १६ ॥

शक्तिशाली व्यासजी सौ वर्षोंतक केवल वायुभक्षण करते हुए अनेक रूपधारी उमापति महादेवजीकी आराधनामें लगे रहे ॥ १६ ॥

तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा।
लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च बहुभिः सह ॥ १७ ॥
आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ।
वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ॥ १८ ॥
अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ॥ १९ ॥

वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, सभी राजर्षि, लोकपाल, बहुतसे अनुचरोंके सहित साध्य, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, मरुद्गण, समुद्र, सरिताएँ, दोनों अश्विनीकुमार, देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, गन्धर्वराज विश्वावसु, सिद्ध तथा अप्सराएँ भी लोकेश्वर महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥

तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम्।
धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ॥ २० ॥
तस्मिन् दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले।
आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ॥ २१ ॥

वहाँ महान् रुद्रदेव कनेर पुष्पोंकी मनोहर माला धारण किये चाँदनीसहित चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। देवताओं तथा देवर्षियोंसे भरे हुए उस दिव्य रमणीय वनमें पुत्र-प्राप्तिके लिये परम योगका आश्रय ले मुनिवर व्यास तपस्यामें प्रवृत्त थे और उससे विचलित नहीं होते थे ॥ २०-२१ ॥

न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते।
त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २२ ॥

ऐसा कठोर तप करनेपर भी न तो उनके प्राण नष्ट हुए और न उन्हें थकान ही हुई। यह तीनों लोकोंके लिये अद्भुत-सी बात हुई ॥ २२ ॥

जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः।
प्रज्वलन्त्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

योगयुक्त हुए अमित तेजस्वी व्यासजीकी जटाएँ उनके तेजसे आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित दिखायी देती थीं ॥ २३ ॥

मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान् मम।
स देवचरितानीह कथयामास मे सदा ॥ २४ ॥

मुझे तो यह वृत्तान्त भगवान् मार्कण्डेयजीने सुनाया था। वे मुझे सदा ही देवताओंके चरित्र सुनाया करते थे ॥ २४ ॥

एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः।
अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २५ ॥

तात ! उसी तपस्यासे उद्दीप्त हुई महात्मा व्यासजीकी ये जटाएँ आज भी अग्निके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ २५ ॥

एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत।
महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ॥ २६ ॥

भारत ! उनकी ऐसी तपस्या और भक्ति देखकर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अभीष्ट वर देनेका विचार किया ॥ २६ ॥

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव।
एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ॥ २७ ॥

भगवान् शिव व्यासजीके सामने आये और हँसते हुए-से बोले—'द्वैपायन ! तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम्।
यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ॥ २८ ॥

'जैसे अग्नि, जैसे वायु, जैसे पृथ्वी, जैसे जल और जैसे आकाश शुद्ध है, तुम्हारा पुत्र भी वैसा ही शुद्ध एवं महान् होगा ॥ २८ ॥

तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः।
तेजसाऽऽवृत्य लोकांस्त्रीन् यशः प्राप्स्यति ते सुतः ॥ २९ ॥

'वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्में ही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्में ही उसका मन लगा रहेगा और एकमात्र भगवान्को ही वह अपना आश्रय समझेगा। उसके तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो जायँगे और तुम्हारा वह पुत्र महान् यश प्राप्त करेगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन संस्कारका वृत्तान्त

भीष्म उवाच

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीसे उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे ॥ १ ॥

अथ रूपं परं राजन् बिभ्रतीं स्वेन तेजसा।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! इसी समय उन भगवान् महर्षि व्यासने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सराको देखा, जो अपने तेजसे परम मनोहर रूप धारण किये हुए थी ॥ २ ॥

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः।

अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम् ।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! उस वनमें उस अप्सराको देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा कामसे मोहित हो गये । महाराज ! उस समय व्यासजीका हृदय कामसे व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी ॥ ३-४ ॥

तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम् ।
शरीरजेनानुगदः सर्वगात्रातिगेन ह ॥ ५ ॥

उस अप्सराको दूसरे रूपसे छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीरमें कामवेदना व्याप्त हो गयी ॥ ५ ॥

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः ।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः ॥ ६ ॥

मुनिवर व्यास महान् धैर्यके साथ अपने कामवेगको रोकने लगे; परंतु अप्सराकी ओर गये हुए मनको रोकनेमें वे किसी तरह समर्थ न हो सके ॥ ६ ॥

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः ।
यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ॥ ७ ॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत् ।

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताचीके रूपसे आकृष्ट हो गये । अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे अपने कामवेगको यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यासका वीर्य सहसा उस अरणीकाष्ठपर ही गिर पड़ा ॥ ७½ ॥

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥
अरणीं ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप ।

नरेश्वर ! उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशङ्क मनसे दोनों अरणियोंके मन्थनमें ही लगे रहे । उसी समय अरणीसे शुकदेवजी प्रकट हो गये ॥ ८½ ॥

शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः ॥ ९ ॥
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः ।

अरणीके साथ-साथ शुक्रका भी मन्थन होनेसे महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेवजीका जन्म हो गया । वे अरणीके ही गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहम् ॥ १० ॥
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा ।

जैसे यज्ञमें हविष्यका वहन करनेवाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूपसे शुकदेवजी प्रकट हुए थे । वे अपने तेजसे मानो जाज्वल्यमान हो रहे थे ॥ १०½ ॥

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः ।

कुरुनन्दन ! अपने पिताके समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ११½ ॥

तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ॥ १२ ॥
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा ।

जनेश्वर ! उसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मूर्तिमती होकर मेरुपर्वतपर आयीं और उन्होंने अपने जलसे शुकदेवजीको तृप्त किया ॥ १२½ ॥

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ॥ १३ ॥
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः ।

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! आकाशसे महात्मा शुकदेवके लिये दण्ड और काला मृगचर्म—ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वीपर गिरीं ॥ १३½ ॥

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १४ ॥
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥ १५ ॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम् ।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । देवताओंकी दुंदुभियाँ बड़े जोर-जोरसे बज उठीं । विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व शुकदेवजीके जन्मकी बधाई गाने लगे ॥ १४-१५½ ॥

तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥ १६ ॥
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च ।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये ॥ १६½ ॥

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥ १७ ॥
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत् ।

वायुने सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की । चर और अचर सारा संसार हर्षसे खिल उठा ॥ १७½ ॥

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥ १८ ॥
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा ।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीके साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधारकर महर्षि व्यासके उस नवजात पुत्रका विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया ॥ १८½ ॥

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १९ ॥
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो ।

प्रभो ! उस समय देवेश्वर इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये ॥ १९½ ॥

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत ।

भारत ! सहस्रों हंस, शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ २०½ ॥

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥ २१ ॥
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः ।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले वहीं रहने लगे । वे बड़े

बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे॥२१½॥

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ २२ ॥
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ।

महाराज ! शुकदेवजीके जन्म लेते ही रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवामें उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यासकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥

बृहस्पतिं च वव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ॥ २३ ॥
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

महाराज ! वेद-वेदाङ्गोंकी विस्तृत व्याख्याके ज्ञाता शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ॥ २३½ ॥

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ॥
इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ॥ २५ ॥

प्रभो ! महामुनि शुकदेवने उनसे रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेदोंका, समूचे इतिहासका तथा राजशास्त्रका भी अध्ययन करके गुरुको दक्षिणा दे समावर्तन संस्कारके पश्चात् घरको प्रस्थान किया ॥ २४-२५ ॥

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि स महातपाः ।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा ॥ २६ ॥

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उग्र तपस्या प्रारम्भ की । महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्याके द्वारा बाल्यकालमें भी देवताओं तथा ऋषियोंके आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे ॥ २६ ॥

न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप ।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! वे मोक्षधर्मपर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रमपर अवलम्बित रहनेवाले तीनों आश्रमोंमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती थी ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके उपरान्त ध्यानमें स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य च गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शुकदेवजी मोक्षका विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यासजीके पास गये और विनीतभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करके कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
यथा मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप मोक्षधर्ममें कुशल हैं; अतः मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरे चित्तको परम शान्ति मिले' ॥२॥

श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिरुवाच तम् ।
अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ॥ ३ ॥

पुत्रकी वह बात सुनकर महर्षि व्यासने कहा, 'बेटा ! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मोंका अध्ययन करो' ॥३॥

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥ ४ ॥

भारत ! पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा समस्त सांख्यका अध्ययन किया ॥ ४ ॥

स तं ब्राह्म्या श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥ ५ ॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ॥ ६ ॥

जब व्यासजीने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और मोक्षधर्ममें कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रोंमें इसकी ब्रह्माके समान गति हो गयी है, तब उन्होंने कहा—'बेटा ! अब तुम मिथिलाके राजा जनकके पास जाओ । वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका सार सिद्धान्त बता देंगे' ॥ ५-६ ॥

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पिताकी आज्ञा पाकर शुकदेवजी धर्मकी निष्ठा और मोक्षका परम आश्रय पूछनेके लिये मिथिलाकी ओर चल दिये ॥ ७ ॥

उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरेण वै ॥ ८ ॥

जाते समय व्यासजीने फिर बिना किसी विस्मयके कहा—'बेटा ! जिस मार्गसे साधारण मनुष्य चलते हों, उसीसे तुम भी जाना । अपनी योगशक्तिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे कदापि यात्रा न करना ॥ ८ ॥

आर्जवेणैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ९ ॥

'सरलभावसे ही यात्रा करनी चाहिये। रास्तेमें सुख और सुविधाकी खोज नहीं करनी चाहिये। विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानोंका अनुसंधान न करना; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥ १० ॥

'राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकारसे उनकी आज्ञाके अधीन रहना। वे तुम्हारी सब शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥ १० ॥

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ॥ ११ ॥

'मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्ष-शास्त्रमें प्रवीण हैं। वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसीका निःशङ्क होकर पालन करना' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम् ॥ १२ ॥

पिताके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिलाकी ओर चल दिये। यद्यपि वे आकाशमार्गसे सारी पृथ्वीको लाँघ जानेमें समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ॥ १२ ॥

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥ १३ ॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ १४ ॥

मार्गमें उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े। बहुत-से सर्पों और वन्य पशुओंसे भरे हुए कितने ही जंगलोंमें होकर जाना पड़ा। उन सबको लाँघकर क्रमशः मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्षको पार करते हुए वे भारतवर्षमें आये ॥ १३-१४ ॥

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥ १५ ॥

चीन और हूण जातिके लोगोंसे सेवित नाना प्रकारके देशोंका दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देशमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १६ ॥

पिताकी आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषयका चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया। जैसे आकाश-चारी पक्षी आकाशमें विचरता है, उसी प्रकार वे भूतलपर विचरण करते थे ॥ १६ ॥

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च।
रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १७ ॥

रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े। भाँति-भाँतिके विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए; किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ॥ १७ ॥

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥ १८ ॥

पथिक शुकदेवजीने बहुत-से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी। कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े, परंतु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १८ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥ १९ ॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समयमें धर्म-राज महात्मा जनकद्वारा पालित विदेहप्रान्तमें जा पहुँचे ॥

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान्।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥ २० ॥

वहाँ बहुत-से गाँव उनकी दृष्टिमें आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रामें मौजूद थी। छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओंके रहनेके स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायोंसे भरे हुए थे ॥ २० ॥

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान्।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ॥ २१ ॥

सारे विदेहप्रान्तमें सब ओर अगहनी धानकी खेती लहलहा रही थी। वहाँके निवासी धन-धान्यसे सम्पन्न थे। उस देशमें चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे। कमलोंसे अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेह-राज्यकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २१ ॥

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान्।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्योंद्वारा सेवित विदेह-देशको लाँघकर वे मिथिलाके समृद्धिसम्पन्न रमणीय उपवनके पास जा पहुँचे ॥ २२ ॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम्।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ॥ २३ ॥

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा था। असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए-से वहाँसे आगे बढ़ गये ॥ २३ ॥

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन्।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह ॥ २४ ॥

मनसे जिज्ञासाका भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तु-

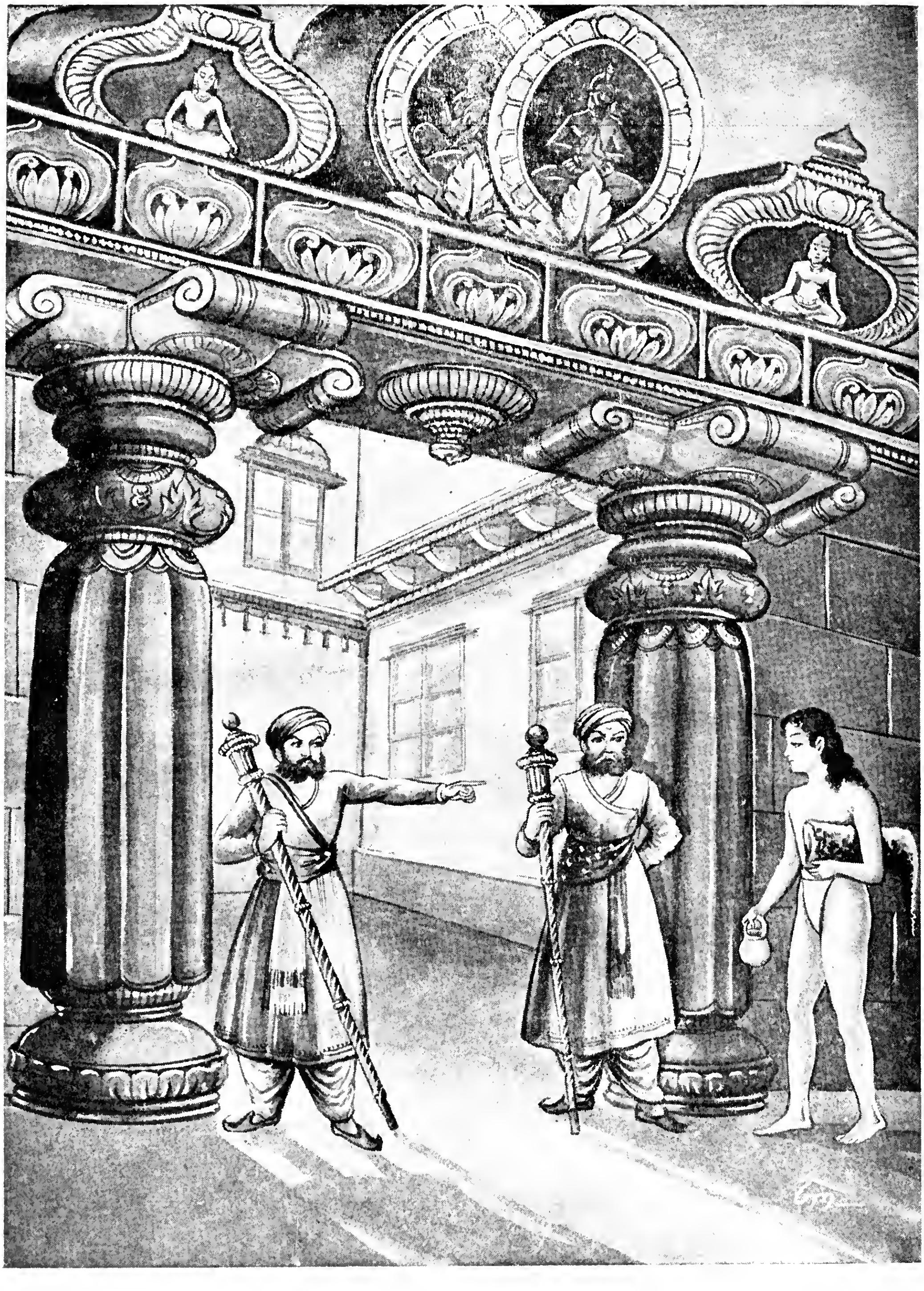

राजा जनकके द्वारपर शुकदेवजी

का ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेवने मिथिलामें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

तस्या द्वारं समासाद्य निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवाचा न्यषेधयन् ॥ २५ ॥

नगरद्वारपर पहुँचकर वे निःशङ्कभावसे उसके भीतर प्रवेश करने लगे। तब वहाँ द्वारपालोंने कठोर वाणीद्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया ॥ २५ ॥

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥ २६ ॥

शुकदेवजी वहीं खड़े हो गये; किंतु उनके मनमें किसी प्रकारका खेद या क्रोध नहीं हुआ। रास्तेकी थकावट और सूर्यकी धूपसे उन्हें संताप नहीं पहुँचा था। भूख और प्यास उन्हें कष्ट नहीं दे सकी थी ॥ २६ ॥

प्रताम्यति ग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

वे उस धूपसे न तो संतप्त होते थे, न ग्लानिका अनुभव करते थे और न धूपसे हटकर छायामें ही जाते थे। उस समय उन द्वारपालोंमेंसे एकको अपने व्यवहारपर बड़ा दुःख हुआ ॥ २७ ॥

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्यकी भाँति शुकदेवजीको चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवनकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया ॥ २८½ ॥

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ॥ २९ ॥
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात! वहाँ एक जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्षका ही चिन्तन करने लगे। धूप हो या छाया, दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी ॥ २९½ ॥

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देरमें राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने साथ महलकी तीसरी ड्योढ़ीमें ले गये ॥

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ॥ ३१ ॥
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वहाँ अन्तःपुरसे सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था, जो चैत्ररथ वनके समान मनोहर जान पड़ता था। उसमें पृथक्-पृथक् जल-क्रीडाके लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे। वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता था। उस उत्तम उद्यानका नाम था प्रमदावन। मन्त्रीने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया ॥ ३१-३२ ॥

स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम ततः पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥ ३३ ॥
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥ ३४ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ॥ ३५ ॥
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राजमन्त्री पुनः प्रमदावनसे बाहर निकल आये। मन्त्रीके जाते ही पचास प्रमुख वाराङ्गनाएँ शुकदेवजीके पास दौड़ी आयीं। उनकी वेषभूषा बड़ी मनोहारिणी थी। वे सब-की-सब देखनेमें परम सुन्दरी और नवयुवती थीं। वे सुरम्य कटिप्रदेशसे सुशोभित थीं। उनके सुन्दर अङ्गोंपर लाल रंगकी महीन साड़ियाँ शोभा पा रही थीं। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे। वे बातचीत करनेमें कुशल और नाचने-गानेकी कलामें बड़ी प्रवीण थीं। उनका रूप अप्सराओंके समान था, वे मन्द मुसकानके साथ बातें करतीं और दूसरोंके मनका भाव समझ लेती थीं। कामचर्यामें कुशल और सम्पूर्ण कलाओंका विशेष ज्ञान रखनेवाली थीं ॥ ३३—३५½ ॥

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया परयार्चयन् ॥ ३६ ॥
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् ।

उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि निवेदन करके उत्तम विधिसे शुकदेवजीका पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ठ अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ॥ ३६½ ॥

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ॥ ३७ ॥
सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ।

तात! भरतनन्दन! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वाराङ्गनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुरके उस सुरम्य कानन—प्रमदावनकी सैर कराने और वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाने लगीं ॥ ३७½ ॥

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापि ताः शुभम् ॥ ३८ ॥
उदारसत्त्वं सत्त्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थीं। मनके भावको समझनेवाली वे सुन्दरियाँ उन उदारचित्त शुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं॥

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसंदेहः स्वकर्मकृत् ॥ ३९ ॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति ।

परंतु अरणिसम्भव शुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध था। वे इन्द्रियों और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न तो किसी बातपर हर्ष होता था और न वे किसीपर क्रोध ही

करते थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्यका पालन किया करते थे ॥ ३९½ ॥

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्हं रत्नभूषितम् ॥ ४० ॥
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियोंने देवताओंके बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये दिया ॥ ४०½ ॥

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥ ४१ ॥
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥ ४२ ॥
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजीने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रातके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। फिर रात्रिके मध्यभाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुकने यथोचित निद्राको स्वीकार किया ॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥ ४३ ॥
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ ४४ ॥

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, उस समय ब्रह्मवेलामें वे पुनः उठ गये और शौच-स्नान करनेके अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस

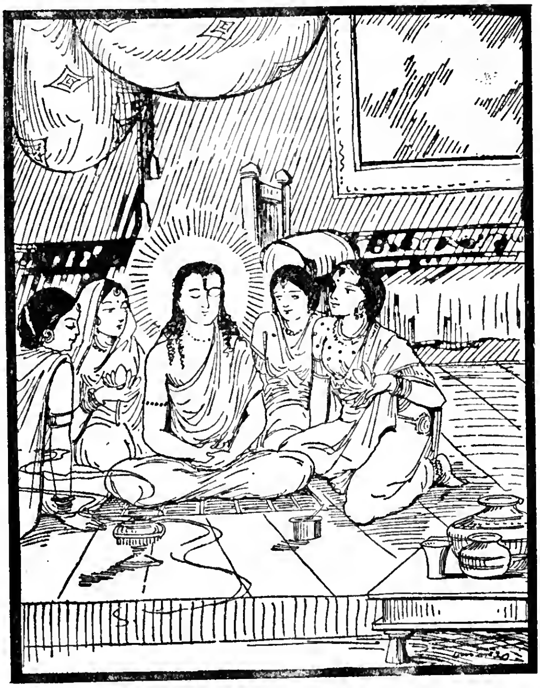

समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं ॥४३-४४॥

अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहःशेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ॥ ४५ ॥

भरतनन्दन ! इस विधिसे अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले व्यासनन्दन शुकने दिनका शेष भाग और समूची रात उस राजभवनमें रहकर व्यतीत की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुककी उत्पत्तिविषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२५॥

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ १ ॥
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके आसन तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लिये मस्तकपर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजीके पास आये ॥ १-२ ॥

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्द्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ ३ ॥
पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥ ४ ॥

उस समय जिसे पुरोहितने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिसपर मूल्यवान् बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथसे अपने हाथमें लेकर राजा जनकने गुरुपुत्र शुकदेवको समर्पित किया। वह आसन समृद्धिसे सम्पन्न था ॥

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसनपर विराजमान हुए, तब राजा जनकने शास्त्रके अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजाने उन्हें एक गौ प्रदान की ॥ ५ ॥

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः॥ ६॥
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम्॥ ७॥

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजीने राजा जनककी ओरसे प्राप्त हुई वह मन्त्रयुक्त सविधि पूजा स्वीकार की। पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजाको आदर देते हुए महातेजस्वी शुकने उनका सदा बना रहनेवाला कुशल-समाचार पूछा॥ ६-७॥

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः॥ ८॥
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृताञ्जलिः।
कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः॥ ९॥

राजेन्द्र! सेवकोंसहित राजाके आरोग्यका समाचार भी उन्होंने पूछा। फिर उनकी आज्ञा ले राजा अपने अनुचर-वर्गके साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमिपर ही बैठ गये। राजाका हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था। उन पृथ्वीपति नरेशने व्यासनन्दन शुकसे उनके कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा करके पूछा—'ब्रह्मन्! किस निमित्तसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है?'॥ ८-९॥

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः।
विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः॥ १०॥
तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम्॥ ११॥

शुकदेवजीने कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। मेरे पिताजीने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोकप्रसिद्ध विदेहराज जनक मोक्षधर्मके विशेषज्ञ हैं। यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्मके विषयमें तुम्हारे हृदयमें कोई संदेह हो तो तुरंत ही उनके पास चले जाओ। वे तुम्हारी सारी शङ्काओंका समाधान कर देंगे॥

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि॥ १२॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! पिताकी इस आज्ञासे ही मैं यहाँ आपके पास कुछ पूछनेके लिये आया हूँ। आप मेरे प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दें॥ १२॥

किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः।
कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथवा॥ १३॥

ब्राह्मणका कर्तव्य क्या है? मोक्षनामक पुरुषार्थका क्या स्वरूप है? उस मोक्षको ज्ञानसे अथवा तपस्यासे किस साधनसे प्राप्त किया जा सकता है?॥ १३॥

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः॥ १४॥

जनकने कहा—तात! ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये—यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेके बाद ब्राह्मण-बालकको वेदाध्ययनमें तत्पर होना चाहिये॥

तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो।
देवतानां पितॄणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः॥ १५॥
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः॥ १६॥

प्रभो! तपस्या, गुरुकी सेवा तथा ब्रह्मचर्यका पालन—इन तीन कर्मोंके साथ-साथ वेदाध्ययनका कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हवनकर्मद्वारा देवताओंके और तर्पणद्वारा वह पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करे। किसीके दोष न देखे और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् गुरुको दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको लौटे॥ १५-१६॥

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत्।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च॥ १७॥

घर आनेपर विवाह करके गार्हस्थ्यधर्मका पालन करे और अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखे। दूसरोंके दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्निकी स्थापनाके पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे॥ १७॥

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत्।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः॥ १८॥

वहाँ पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्रको गार्हस्थ्यधर्मका भार सौंपकर वनमें जा वानप्रस्थ आश्रममें रहे। उस समय भी शास्त्रविधिके अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी आराधना करते हुए अतिथियोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करे॥ १८॥

स वनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित्।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत्॥ १९॥

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका आत्मामें आरोप करके निर्द्वन्द्व एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे॥ १९॥

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु॥ २०॥

शुकदेवजीने पूछा—राजन्! यदि किसीके हृदयमें ब्रह्मचर्य आश्रममें ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदयके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जायँ तो भी क्या उसके लिये शेष तीन आश्रमोंमें रहना आवश्यक है?॥ २०॥

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति।
यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप॥ २१॥

नरेश्वर! मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे यह

बतानेकी कृपा करें। वेदके वास्तविक सिद्धान्तके अनुसार क्या करना उचित है? यह आप मुझे बताइये ॥ २१ ॥

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥ २२ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन्! जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥ २३ ॥

गुरु इस संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौकाके समान बताया जाता है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है। जैसे नदीको पार कर लेनेपर मनुष्य नाव और नाविक दोनोंको छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनोंको छोड़ दे ॥ २३ ॥

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम्।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः ॥ २४ ॥

पहलेके विद्वान् लोकमर्यादाकी तथा कर्मपरम्पराकी रक्षा करनेके लिये चारों आश्रमोंसहित वर्णधर्मोंका पालन करते थे ॥

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम्।
हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते ॥ २५ ॥

इस तरह क्रमशः नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग करनेसे यहाँ मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ २६ ॥

अनेक जन्मोंसे कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, तब शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें मोक्षरूप ज्ञान प्राप्त कर सकता है ॥ २६ ॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः ॥ २७ ॥

उसे पाकर जब ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो परमात्माको चाहनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान्‌के लिये शेष तीन आश्रमोंमें जानेकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत्।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ॥ २८ ॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह राजस और तामस दोषोंका सदा ही परित्याग कर दे और सात्त्विक मार्गका आश्रय लेकर बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करे ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह संसारमें उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ॥ २९ ॥

पक्षिवत् प्रवणादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः ॥ ३० ॥

वह तो घोंसलेको छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति इस देहसे पृथक् हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोकमें अक्षयपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

अत्र गाथाः पुरा गीताः शृणु राज्ञा ययातिना।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः ॥ ३१ ॥

तात! इस विषयमें पूर्वकालमें राजा ययातिके द्वारा गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्षशास्त्रके ज्ञाता द्विज सदा याद रखते हैं ॥ ३१ ॥

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम्।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥ ३२ ॥

अपने भीतर ही आत्मज्योतिका प्रकाश है, अन्यत्र नहीं। वह ज्योति सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर समानरूपसे स्थित है। अपने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है॥ ३२॥

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३३ ॥

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३४ ॥

जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ३५ ॥

जब मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके साधक अपने मनको आत्मामें लगा देता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३६ ॥

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें तथा

सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३८ ॥

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिको समान भावसे समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३७-३८ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥ ३९ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासीको मनके द्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ३९ ॥

तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥ ४० ॥

जैसे अन्धकारसे आच्छादित हुआ घर दीपकके प्रकाशसे देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे आवृत हुए आत्माका विशुद्ध बुद्धिरूपी दीपकके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४० ॥

एतत् सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शुकदेवजी ! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य तत्त्व है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ॥

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं आपको अच्छी तरह जान गया । आप अपने पिताजीकी कृपा और उन्हींसे मिली हुई शिक्षा-द्वारा विषयोंसे परे हो चुके हैं ॥ ४२ ॥

तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥ ४३ ॥

महामुने ! उन्हीं गुरुदेवकी कृपासे मुझे भी यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिससे मैं आपकी स्थितिको ठीक-ठीक समझ गया हूँ ॥ ४३ ॥

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ ४४ ॥

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य—ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बातका पता नहीं है ॥ ४४ ॥

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥ ४५ ॥

बालस्वभावके कारण, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके काल्पनिक भयसे मनुष्यको विज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ॥ ४६ ॥

मेरे-जैसे लोगोंके द्वारा जिसका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चयके द्वारा हृदयकी गाँठें खोलकर उस परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मन् ! आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है। आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आपमें विषयलोलुपताका भी सर्वथा अभाव हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चयके बिना कोई परमात्म-भावको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नासि लोलुपः ।
नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते ॥ ४८ ॥

आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है। आपको न तो नाच देखनेकी उत्कण्ठा होती है और न गीत सुननेकी। किसी विषयके प्रति आपके मनमें राग नहीं उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ ४९ ॥

महाभाग ! न तो भाई-बन्धुओंमें आपकी आसक्ति है, न भयदायक पदार्थोंसे आपको भय ही होता है। मैं देखता हूँ, आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं ॥ ४९ ॥

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः ।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ॥ ५० ॥

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं ॥ ५० ॥

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः ।
तस्मिन् वै वर्तसे ब्रह्मन् किमन्यत् परिपृच्छसि ॥ ५१ ॥

ब्रह्मन् ! इस जगत्में ब्राह्मण होनेका जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब और क्या पूछना चाहते हैं ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकोत्पत्तिविषयक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः।
आत्मनाऽऽत्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना॥ १ ॥
कृतकार्यः सुखी शान्तस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः।
शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा जनककी यह बात सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले शुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये। एवं आनन्दमग्न हो, बड़ी शान्तिका अनुभव करते हुए हिमालयपर्वतको लक्ष्य करके वायुके समान वेगसे चुपचाप उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ १-२॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा।
हिमवन्तमियाद् द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम्॥ ३ ॥

इसी समय देवर्षि नारद सिद्धों और चारणोंसे सेवित हिमालय पर्वतपर उसका दर्शन करनेके लिये आये॥ ३॥

तमप्सरोगणाकीर्णं शान्तस्वननिनादितम्।
किंनराणां सहस्रैश्च भृङ्गराजैस्तथैव च॥ ४ ॥
मद्गुभिः खञ्जरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः॥ ५ ॥
चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः।
राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा॥ ६ ॥

उस पर्वतपर सब ओर अप्सराएँ विचर रही थीं। चारों ओर विविध प्राणियोंकी शान्तिमयी ध्वनिसे वहाँका सारा प्रान्त व्याप्त हो रहा था। सहस्रों किन्नर, भ्रमर, मद्गु, विचित्र खञ्जरीट, चकोर, सैकड़ों मधुर वाणीसे सुशोभित विचित्र वर्णवाले मयूर, राजहंसोंके समुदाय तथा काले कोकिल वहाँ अपनी शान्त मधुर ध्वनि फैला रहे थे॥४-६॥

पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति।
चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा॥ ७ ॥
तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया।

पक्षिराज गरुड उस पर्वतपर नित्य विराजमान होते हैं। चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषिगण सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे वहाँ सदा आते रहते हैं॥ ७½॥

विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना॥ ८ ॥
तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः।
शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै॥ ९ ॥

वहीं महात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ने पुत्रके लिये तप किया था। वहीं कुमार कार्तिकेयने बाल्यावस्थामें देवताओंपर आक्षेप किया था और त्रिलोकीका अपमान करके पृथ्वीमें अपनी शक्ति गाड़ दी थी॥ ८-९॥

तत्रोवाच जगत् स्कन्दः क्षिपन् वाक्यमिदं तदा।
योऽन्योऽस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः॥
यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्।
सोऽभ्युद्धरत् त्विमां शक्तिमथवा कम्पयत्विति॥ ११॥

उस समय वहाँ स्कन्दने सम्पूर्ण जगत्‌पर आक्षेप करते हुए यह बात कही थी—'जो कोई भी दूसरा पुरुष मुझसे अधिक बलवान् हो, जिसे ब्राह्मण अधिक प्रिय हों, जो दूसरा व्यक्ति मुझसे भी अधिक ब्राह्मणभक्त तथा तीनों लोकोंमें पराक्रमशाली हो, वह इस शक्तिको उखाड़ दे अथवा हिला दे'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति।
अथ देवगणं सर्वं सम्भ्रान्तेन्द्रियमानसम्॥ १२॥
अपश्यद् भगवान् विष्णुः क्षिप्तं सासुरराक्षसम्।
किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन्॥ १३॥

उनकी यह तिरस्कारपूर्ण घोषणा सुनकर सब लोग व्यथित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'भला, कौन वीर इस शक्तिको उखाड़ सकता है?' उस समय भगवान् विष्णुने देखा कि सम्पूर्ण देवताओंकी इन्द्रियाँ और चित्त भयसे व्याकुल हैं तथा असुर और राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌पर स्कन्दद्वारा आक्षेप किया गया है। यह देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ क्या करना अच्छा होगा?॥१२-१३॥

अनामृष्य ततः क्षेपमवैक्षत च पावकिम्।
सम्प्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा॥ १४॥
कम्पयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः।

तब उस आक्षेपको सहन न करके विशुद्धात्मा भगवान् विष्णुने अग्निकुमार स्कन्दकी ओर देखा। फिर उन पुरुषोत्तमने उस समय उस प्रज्वलित शक्तिको बायें हाथसे पकड़कर हिला दिया॥ १४½॥

शक्त्यां तु कम्प्यमानायां विष्णुना बलिना तदा॥ १५॥
मेदिनी कम्पिता सर्वा सशैलवनकानना।

बलवान् भगवान् विष्णुके द्वारा उस शक्तिके कम्पित किये जानेपर पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी॥ १५½॥

शक्तेनापि समुद्धर्तुं कम्पिता साभवत् तदा॥ १६॥
रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना।

यद्यपि प्रभावशाली भगवान् विष्णु उसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ थे तो भी उन्होंने कुमार स्कन्दका तिरस्कार नहीं होने दिया। उन्हें अपमानसे बचा लिया॥ १६½॥

तां कम्पयित्वा भगवान् प्रह्लादमिदमब्रवीत्॥ १७॥
पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति।

उस शक्तिको हिलाकर भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—'देखो, कुमारमें कितना बल है ! यह कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकेगा' ॥ १७½ ॥

सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धरणनिश्चितः ॥ १८ ॥
जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत् ।

भगवान्‌के इस कथनको सहन न कर सकनेके कारण प्रह्लादने स्वयं ही उस शक्तिको उखाड़ फेंकनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और उस शक्तिको पकड़कर खींचा; परंतु वे उसे हिला भी न सके ॥ १८½ ॥

नादं महान्तं मुक्त्वा स मूर्च्छितो गिरिमूर्धनि ॥ १९ ॥
विह्वलः प्रापतद् भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः ।

हिरण्यकशिपुकुमार प्रह्लाद बड़े जोरसे चिग्घाड़कर मूर्च्छित एवं व्याकुल हो उस पर्वतशिखरकी भूमिपर गिर पड़े ॥ १९½ ॥

तत्रोत्तरां दिशं गत्वा शैलराजस्य पार्श्वतः ॥ २० ॥
तपोऽतप्यत दुर्धर्षं तात नित्यं वृषध्वजः ।

तात ! उसी गिरिराज हिमालयके पार्श्वभागमें उत्तर दिशाकी ओर जाकर भगवान् वृषध्वज शिवने नित्य-निरन्तर दुर्धर्ष तपस्या की है ॥ २०½ ॥

पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ॥ २१ ॥
आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः ।
न तत्र शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके उस आश्रमको प्रज्वलित अग्निने चारों ओरसे घेर रक्खा है । उस पर्वतशिखरका नाम आदित्य-गिरि है, जिसपर अजितात्मा पुरुष नहीं चढ़ सकते । यक्ष, राक्षस और दानवोंके लिये वहाँ पहुँचना सर्वथा असम्भव है ॥

दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् ।
भगवान् पावकस्तत्र स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ॥ २३ ॥

वह दस योजन विस्तृत शिखर आगकी लपटोंसे घिरा हुआ है । शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं विराजमान हैं ॥ २३ ॥

सर्वान् विघ्नान् प्रशमयन् महादेवस्य धीमतः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ॥ २४ ॥
देवान् संतापयंस्तत्र महादेवो महाव्रतः ।

परम बुद्धिमान् महादेवजी सहस्र दिव्य वर्षोंतक वहाँ एक पैरसे खड़े रहे और उनकी तपस्याके सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करते हुए अग्निदेव वहीं विराजमान थे । महान् व्रतधारी महादेवजी वहाँ देवताओंको संतप्त करते हुए महान् तपमें प्रवृत्त थे ॥ २४½ ॥

ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महामतिः ॥ २६ ॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥ २७ ॥

उसी बुद्धिमान् गिरिराज हिमवान्‌की पूर्व दिशाका आश्रय लेकर पर्वतके एकान्त तटप्रान्तमें महातपस्वी महा-बुद्धिमान् पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्य महाभाग सुमन्तु, महाबुद्धिमान् जैमिनि, तपस्वी पैल तथा वैशम्पायन—इन चार शिष्योंको वेद पढ़ा रहे थे ॥२५—२७॥

यत्र शिष्यैः परिवृतो व्यास आस्ते महातपाः ।
तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

जहाँ महातपस्वी व्यास अपने शिष्योंसे घिरे हुए बैठे थे, वहाँ शुकदेवजीने अपने पिताके उस रमणीय एवं उत्तम आश्रमको देखा ॥ २८ ॥

आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः ।
अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥
ददर्श सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् ।

उस समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले अरणीनन्दन शुकदेव आकाशमें स्थित सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे, इतनेहीमें व्यासजीने भी प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रको सब ओर अपनी प्रभा बिखेरते हुए आते देखा ॥

असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च ।
योगयुक्तं महात्मानं यथा बाणं गुणच्युतम् ॥ ३० ॥

योगयुक्त महात्मा शुकदेव धनुषकी डोरीसे छूटे हुए बाणके समान तीव्र गतिसे आ रहे थे । वे वृक्षों और पर्वतोंमें कहीं भी अटक नहीं पाते थे ॥ ३० ॥

सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः ।
यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ॥ ३१ ॥

निकट आकर अरणीपुत्र महामुनि शुकदेवने पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और शान्तभावसे उनके अन्य सब शिष्योंके साथ भी मिले ॥ ३१ ॥

ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः ।
शुको जनकराजेन संवादं प्रीतमानसः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए शुकने राजा जनकके साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त अपने पितासे कह सुनाया ॥ ३२ ॥

एवमध्यापयञ्शिष्यान् व्यासः पुत्रं च वीर्यवान् ।
उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार शक्तिशाली महामुनि पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्यों और पुत्रको पढ़ाते हुए हिमालयके शिखरपर ही रहने लगे ॥ ३३ ॥

ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्यावतस्थिरे ।
वेदाध्ययनसम्पन्नाः शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥
वेदेषु निष्ठां सम्प्राप्य साङ्गेष्वपि तपस्विनः ।
अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्राञ्जलयो गुरुम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर किसी समय वेदाध्ययनसे सम्पन्न, शान्तचित्त,

जितेन्द्रिय, साङ्गवेदमें पारङ्गत और तपस्वी शिष्यगण गुरुवर व्यासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये और उनसे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले ॥ ३४-३५ ॥

शिष्या ऊचुः

महता तेजसा युक्ता यशसा चापि वर्धिताः ।
एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणानुग्रहं कृतम् ॥ ३६ ॥

शिष्योंने कहा—गुरुदेव ! हम आपकी कृपासे महान् तेजस्वी हो गये हैं। हमारा यश भी चारों ओर बढ़ गया है। अब इस समय हम यह चाहते हैं कि आप एक बार और हमलोगोंपर अनुग्रह करें ॥ ३६ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह ।
उच्यतामिति तद् वत्सा यद् वः कार्यं प्रियं मया ॥ ३७ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि व्यासने उनसे कहा—'बच्चो ! कहो, क्या चाहते हो ? मुझे तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करना है ?' ॥ ३७ ॥

एतद् वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः।
पुनः प्राञ्जलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ॥ ३८ ॥
ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् ।
यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ॥ ३९ ॥

गुरुदेवका यह वचन सुनकर उन शिष्योंका हृदय हर्षसे खिल उठा। राजन् ! वे पुनः हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर गुरुजीको प्रणाम करके एक साथ यह उत्तम वचन बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! आप हमारे उपाध्याय हैं। यदि आप प्रसन्न हैं तो हम धन्य हो गये ॥ ३८-३९ ॥

काङ्क्षामस्तु वयं सर्वे वरं दातुं महर्षिणा ।
षष्ठः शिष्यो न ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ॥ ४० ॥

'हम सब लोग यह चाहते हैं कि महर्षि एक वरदान दें, वह यह कि आपका कोई छठा शिष्य प्रसिद्ध न हो। यहाँ हमलोगोंपर इतनी ही कृपा कीजिये ॥ ४० ॥

चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः ।
इह वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष नः काङ्क्षितो वरः ॥ ४१ ॥

'हम चार आपके शिष्य हैं और पञ्चम शिष्य गुरुपुत्र शुकदेव हैं। इन पाँचोंमें ही आपके पढ़ाये हुए सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हों; यही हमारे लिये मनोवाञ्छित वर है' ॥४१॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् ।
पराशरात्मजो धीमान् परलोकार्थचिन्तकः ॥ ४२ ॥
उवाच शिष्यान् धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः ।

शिष्योंकी यह बात सुनकर वेदार्थके तत्त्वज्ञ, पारलौकिक अर्थका चिन्तन करनेवाले, धर्मात्मा, पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीने अपने समस्त शिष्योंसे यह धर्मानुकूल कल्याणकारी वचन कहा—॥ ४२½ ॥

ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ॥ ४३ ॥
ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते ।

'शिष्यगण ! जो ब्रह्मलोकमें अटल निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि वह पढ़नेकी इच्छासे आये हुए ब्राह्मणको सदा ही वेद पढ़ावे ॥ ४३½ ॥

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥ ४४ ॥
नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि ।

'तुमलोग बहुसंख्यक हो जाओ और इस वेदका विस्तार करो। जिसका मन वशमें न हो, जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न करता हो तथा जो शिष्यभावसे पढ़ने न आया हो, उसे वेदाध्ययन नहीं कराना चाहिये ॥ ४४½ ॥

एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः ॥ ४५ ॥
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन ।

'ये सभी शिष्यके गुण हैं। किसीको शिष्य बनानेसे पहले उसके इन गुणोंको यथार्थरूपसे परख लेना चाहिये। जिसके सदाचारकी परीक्षा न ली गयी हो, उसे किसी प्रकार विद्यादान नहीं देना चाहिये ॥ ४५½ ॥

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ॥ ४६ ॥
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।

'जैसे आगमें तपाने, काटने और कसौटीपर कसनेसे शुद्ध सोनेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कुल और गुण आदिके द्वारा शिष्योंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये ॥ ४७ ॥
यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति ।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥ ४८ ॥

'तुमलोग अपने शिष्योंको किसी अनुचित या महान् भयदायक कार्यमें न लगाना। तुम्हारे पढ़ानेपर भी जिसकी जैसी बुद्धि होगी और जो पढ़नेमें जैसा परिश्रम करेगा, उसीके अनुसार उसकी विद्या सफल होगी। सब लोग दुर्गम संकटसे पार हों और सभी अपना कल्याण देखें ॥ ४७-४८ ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ॥ ४९ ॥

'ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको उपदेश देना चाहिये। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ४९ ॥

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
यो निर्वदेत सम्मोहाद् ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५० ॥
सोऽभिध्यानाद् ब्राह्मणस्य पराभूयादसंशयम्।

'स्वयम्भू ब्रह्माने यहाँ देवताओंकी स्तुतिके लिये वेदोंकी सृष्टि की है। जो मोहवश वेदके पारङ्गत ब्राह्मणकी निन्दा करता है, वह उसके अनिष्ट-चिन्तनके कारण निस्संदेह पराभवको प्राप्त होता है ॥ ५०½ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥ ५१ ॥
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।

'जो धार्मिक विधिका उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है

और जो अधर्मपूर्वक उसका उत्तर देता है, उन दोनोंमेंसे एककी मृत्यु हो जाती है अथवा एक दूसरेके द्वेषका पात्र बन जाता है ॥ ५१½ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति।
उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत् ॥ ५२ ॥

'यह सब मैंने तुमलोगोंसे स्वाध्यायकी विधि बतायी है। यह तुम्हारे हृदयमें सदा स्मरण रहे; क्योंकि यह शिष्योंका उपकार कर सकती है' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः।
अन्योन्यं हृष्टमनसः परिषस्वजिरे तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने गुरु व्यासके इस उपदेशको सुनकर उनके महातेजस्वी शिष्य मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और आपसमें एक-दूसरेको हृदयसे लगाने लगे ॥ १ ॥

उक्ताः स्मो यद् भगवता तदात्वायतिसंहितम्।
तन्नो मनसि संरूढं करिष्यामस्तथा च तत् ॥ २ ॥

फिर व्यासजीसे बोले—'भगवन्! आपने भविष्यमें हमारे हितका विचार करके जो बातें बतायी हैं, वे हमारे मनमें बैठ गयी हैं। हम अवश्य उनका पालन करेंगे' ॥ २ ॥

अन्योन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः।
विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः ॥ ३ ॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके गुरु और शिष्य सभी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रवचनकुशल शिष्योंने गुरुसे इस प्रकार निवेदन किया—॥ ३ ॥

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥ ४ ॥

'महामुने! अब हम इस पर्वतसे पृथ्वीपर जाना चाहते हैं। वेदोंके अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना ही हमारी इस यात्राका उद्देश्य है। प्रभो! यदि आपको यह रुचिकर जान पड़े तो हमें जानेकी आज्ञा दें' ॥ ४ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ॥ ५ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास यह धर्म और अर्थयुक्त हितकर वचन बोले—॥ ५ ॥

क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ ६ ॥

'शिष्यो! यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो तुम पृथ्वीपर या देवलोकमें जहाँ चाहो जा सकते हो; परंतु प्रमाद न करना; क्योंकि वेदमें बहुत सी प्ररोचनात्मक श्रुतियाँ हैं, जो व्याजसे (फलोंका लोभ दिखाकर) धर्मका प्रतिपादन करती हैं' ॥ ६ ॥

तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना।
जग्मुः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च ॥ ७ ॥

सत्यवादी गुरुकी यह आज्ञा पाकर सभी शिष्योंने उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे व्यासजीकी प्रदक्षिणा करके वहाँसे चले गये' ॥ ७ ॥

अवतीर्य महीं तेऽथ चातुर्होत्रमकल्पयन्।
संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विशस्तथा ॥ ८ ॥
पूज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः।
याजनाध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ॥ ९ ॥

पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने चातुर्होत्र कर्म (अग्निहोत्रसे लेकर सोमयागतक) का प्रचार किया और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके यज्ञ कराते हुए वे द्विजातियोंसे पूजित हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। यज्ञ कराने और वेदोंकी शिक्षा देनेमें ही वे तत्पर रहते थे। इन्हीं कर्मोंके कारण वे श्रीसम्पन्न और लोक-विख्यात हो गये थे ॥ ८-९ ॥

अवतीर्णेषु शिष्येषु व्यासः पुत्रसहायवान्।
तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपाविशत् ॥ १० ॥

शिष्योंके पर्वतसे नीचे उतर जानेपर व्यासजीके साथ उनके पुत्र शुकदेवके सिवा और कोई नहीं रह गया। वे बुद्धिमान् व्यासजी एकान्तमें ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठे थे ॥ १० ॥

तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः।
अथैनमब्रवीत् काले मधुराक्षरया गिरा ॥ ११ ॥

उसी समय महातपस्वी नारदजी उस आश्रमपर पधारकर व्यासजीसे मिले और मधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥

भो भो ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव॥ १२॥

'हे ब्रह्मर्षिवासिष्ठ! आज आपके इस आश्रममें वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि क्यों नहीं हो रही है? आप अकेले ध्यानमग्न होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं? जान पड़ता है, आप किसी चिन्तामें मग्न हैं॥ १२॥

ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते।
रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो यथा॥ १३॥
न भ्राजते यथापूर्वं निषादानामिवालयः।
देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः॥ १४॥

'वेदध्वनि न होनेके कारण इस पर्वतकी पहले-जैसी शोभा नहीं रही। रज और तमसे आच्छन्न हो यह राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी यह शैल-शिखर ब्रह्मघोषके बिना भीलोंके घरकी तरह श्रीहीन प्रतीत होता है॥ १३-१४॥

ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः।
वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा॥ १५॥

'यहाँके ऋषि, देवता और महाबली गन्धर्व भी ब्रह्मघोष-से विमुक्त हो अब पहलेकी भाँति शोभा नहीं पा रहे हैं'॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
महर्षे यत् त्वया प्रोक्तं वेदवादविचक्षण॥ १६॥
एतन्मनोऽनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम्।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली॥ १७॥

नारदजीकी बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'वेदविद्याके विद्वान् महर्षे! आपने जो कुछ कहा है, यह मेरे मनके अनुकूल ही है। आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वत्रकी बातें जाननेके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले हैं॥ १६-१७॥

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं सर्वं तव मते स्थितम्।
तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते॥ १८॥

'तीनों लोकोंमें जो बात होती है या हो चुकी है, वह सब आपकी जानकारीमें है। ब्रह्मर्षे! बताइये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥ १८॥

यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर।
विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः॥ १९॥

'ब्रह्मर्षि नारद! इस समय मेरा जो कर्तव्य है, उसे भी बताइये। अपने प्यारे शिष्योंसे बिछुड़ जानेके कारण इस समय मेरा यह मन विशेष प्रसन्न नहीं है'॥ १९॥

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम्।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम्॥ २०॥

नारदजीने कहा—व्यासजी! वेद पढ़कर उसका अभ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययनका दूषण है। व्रतका पालन न करना ब्राह्मणका दूषण है। वाहीक देशके लोग पृथ्वीके दूषण हैं और नये-नये खेल-तमाशा देखनेकी लालसा स्त्रीके लिये दोषकी बात है॥ २०॥

अधीयतां भवान् वेदान् सार्धं पुत्रेण धीमता।
विधुन्वन् ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः॥ २१॥

आप अपने वेदोच्चारणकी ध्वनिसे राक्षसभयजनित अन्धकारका नाश करते हुए बुद्धिमान् पुत्र शुकदेवजीके साथ वेदोंका स्वाध्याय करते रहें॥ २१॥

भीष्म उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित्।
तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः॥ २२॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नारदजीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और हर्षमें भरकर वे वेदाभ्यासरूपी व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करने लगे॥ २२॥

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत्।
स्वरेणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव॥ २३॥

उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवके साथ शिक्षाके नियमानुसार उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको परिपूर्ण करते हुए-से वेदोंकी आवृत्ति आरम्भ कर दी॥ २३॥

तयोरभ्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः।
वातोऽतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः॥ २४॥

नाना प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले वे पिता-पुत्र उक्त रूपसे वेदोंका अभ्यास कर ही रहे थे कि समुद्री हवासे प्रेरित होकर बड़े जोरकी आँधी चलने लगी॥ २४॥

ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयत्।
शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः ॥ २५ ॥

तब अनध्याय-काल बताकर व्यासजीने अपने पुत्रको वेद पढ़नेसे उस समय रोक दिया। उनके मना करनेपर शुकदेवजीके मनमें इसका कारण जाननेके लिये प्रबल उत्कण्ठा हुई ॥ २५ ॥

अपृच्छत् पितरं ब्रह्मन् कुतो वायुरभूदयम्।
आख्यातुमर्हति भवान् वायोः सर्वं विचेष्टितम् ॥ २६ ॥

उन्होंने अपने पितासे पूछा—'ब्रह्मन्! इस वायुकी उत्पत्ति किससे हुई है? आप वायुकी सारी चेष्टाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन करें' ॥ २६ ॥

शुकस्यैतद् वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मितः।
अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

शुकदेवजीका यह वचन सुनकर व्यासजी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे और अनध्यायके कारणपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार बोले— ॥ २७ ॥

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः ॥ २८ ॥

'बेटा! तुम्हें स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तुम्हारा हृदय अत्यन्त निर्मल है। तुम रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो ॥ २८ ॥

आदर्शे स्वामिव च्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
न्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्ध्या समनुचिन्तय ॥ २९ ॥

'जैसे लोग दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी प्रकार तुम बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करते हो; अतः स्वयं ही वेदोंको अपने भीतर स्थापित करके बुद्धिद्वारा अनध्यायके कारणभूत वायुके विषयमें विचार करो ॥ २९ ॥

देवयानचरो विष्णोः पितृयाणश्च तामसः।
द्वावेतौ प्रेत्य पन्थानौ दिवं चाधश्च गच्छतः ॥ ३० ॥

'मरकर ऊपरके लोकोंमें जानेवाले और नीचेके लोकोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये दो मार्ग हैं, एक तो देवयान जो कि विष्णुलोकका मार्ग है, अतः सात्त्विक है, दूसरा पितृयान जो कि तामस है ॥ ३० ॥

पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः।
सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ॥ ३१ ॥

'पृथ्वीपर या आकाशमें जहाँ भी हवा चलती है, उसके बहनेके लिये सात मार्ग हैं। तुम क्रमशः उनका वर्णन सुनो ॥

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः।
तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी और आकाशमें जो महाबली और महान् भूतस्वरूप साध्य नामक देवगण अदृश्यभावसे रहते हैं, उनके दुर्जय पुत्रका नाम है समान ॥ ३२ ॥

उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः।
अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः ॥ ३३ ॥

'समानका पुत्र है उदान, उदानका पुत्र है व्यान, उसके पुत्रका नाम अपान जानना चाहिये और अपानसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है ॥ ३३ ॥

अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः।
पृथक् कर्माणि तेषां ते प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ३४ ॥

'प्राणके कोई संतान नहीं हुई। वह शत्रुओंको संताप देनेवाला और दुर्जय है। उन सबके कर्म पृथक्-पृथक् हैं, जिनका मैं तुमसे यथावत्‌रूपसे वर्णन करता हूँ ॥ ३४ ॥

प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक्।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

'वायुदेव प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् समस्त चेष्टाओंका सम्पादन करते हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंको अनुप्राणित (जीवित) रखते हैं, इसलिये 'प्राण' कहलाते हैं ॥ ३५ ॥

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः।
प्रथमः प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः ॥ ३६ ॥

'जो धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न बादलों और ओलोंको इधरसे उधर ले जाता है, वह प्रथम मार्गमें प्रवाहित होनेवाला 'प्रवह' नामक प्रथम वायु है ॥ ३६ ॥

अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः।
आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ॥ ३७ ॥

'जो आकाशमें रसकी मात्राओं और बिजली आदिकी उत्पत्तिके लिये प्रकट होता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न द्वितीय वायु 'आवह' नामसे प्रसिद्ध है। वह बड़ी भारी आवाजके साथ बहता है ॥ ३७ ॥

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥
यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम्।
उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः ॥ ३९ ॥
योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति।
उद्वहो नाम वंहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः ॥ ४० ॥

'जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्भव करता है, मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे 'उदान' कहते हैं, जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है तथा जीमूत नामक मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है, जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है ॥ ३८—४० ॥

समूह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग् घनाः।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः ॥ ४१ ॥
संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च ॥ ४२ ॥

योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा ।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥ ४३ ॥

'जिसके द्वारा इधर-उधर ले जाये गये अनेक प्रकारके महामेघ घटा बाँधकर जल बरसाना आरम्भ करते हैं, घटाके रूपमें घनीभूत होनेपर भी जिसकी प्रेरणासे सारे बादल फट जाते हैं, फिर वे वेणुनादके समान शब्द करनेके कारण 'नद' कहलाते हैं तथा प्राणियोंकी रक्षाके लिये पुनः जलका संग्रह करके घनीभूत हो जाते हैं, जो वायु देवताओंके आकाशमार्गसे जानेवाले विमानोंको स्वयं ही वहन करता है, वह पर्वतोंका मान मर्दन करनेवाला चतुर्थ वायु 'संवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥

येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुवता नगान् ।
वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ॥ ४४ ॥
दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान् ।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥ ४५ ॥

'जो रुक्षभावसे वेगपूर्वक महान् शब्दके साथ बहकर बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देता और उखाड़ फेंकता है तथा जिसके द्वारा संगठित हुए प्रलयकालीन मेघ 'बलाहक' संज्ञा धारण करते हैं, जिस वायुका संचरण भयानक उत्पात लानेवाला होता है तथा जो आकाशसे अपने साथ मेघोंकी घटाएँ लिये चलता है, उस अत्यन्त वेगशाली पञ्चम वायुको 'विवह' नाम दिया गया है ॥ ४४-४५ ॥

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥ ४७ ॥
यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ४८ ॥

'जिस वायुके आधारपर आकाशमें दिव्य जल ऊपर-ही-ऊपर प्रवाहित होते हैं, जो आकाशगङ्गाके पवित्र जलको धारण करके स्थित है और जिसके द्वारा दूरसे ही प्रतिहत होकर सहस्रों किरणोंके उत्पत्तिस्थान सूर्यदेव, जिनसे यह पृथ्वी प्रकाशित होती है, एक ही किरणसे युक्त जान पड़ते हैं तथा जिससे अमृतकी दिव्य निधि चन्द्रमाका भी पोषण होता है, वह विजयशीलोंमें श्रेष्ठ छठा वायुतत्त्व 'परिवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४६—४८ ॥

सर्वप्राणभृतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ॥ ४९ ॥
सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया ।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ५० ॥
यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥ ५१ ॥
येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते ।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ॥ ५२ ॥

'जो वायु अन्तकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको शरीरसे निकालता है, जिसके इस प्राणनिष्कासनरूप मार्गका मृत्यु तथा वैवस्वत यम अनुगमनमात्र करते हैं, सदा अध्यात्मचिन्तनमें लगी हुई शान्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति अनुसंधान करनेवाले तथा ध्यानके अभ्यासमें ही सानन्द रत रहनेवाले पुरुषोंको जो अमृतत्व देनेमें समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्षके दस हजार पुत्र सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तमें पहुँच गये तथा जिससे स्पर्शित होकर विलीन हुआ प्राणी यहाँसे केवल जाता है वापस नहीं लौटता, उस सर्वश्रेष्ठ सप्तम वायुका नाम 'परावह' है । उसका अतिक्रमण करना सभीके लिये सर्वथा कठिन है ॥ ४९—५२ ॥

एवमेते दितेः पुत्रा मारुताः परमाद्भुताः ।
अनारतं ते संवान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ॥ ५३ ॥

'इस प्रकार ये सात मरुद्गण दितिके अत्यन्त अद्भुत पुत्र हैं । इनकी सर्वत्र गति है । ये निरन्तर बहते और सबको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

एतत् तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः ।
कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवायता ॥ ५४ ॥

'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अत्यन्त वेगसे बहते हुए उस वायुके द्वारा यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालय भी सहसा काँप उठा है ॥ ५४ ॥

विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत् प्रव्यथते तदा ॥ ५५ ॥

'तात ! यह भगवान् विष्णुका निःश्वास है । जब कभी सहसा वह निःश्वास वेगसे निकल पड़ता है, उस समय यह सारा जगत् व्यथित हो उठता है ॥ ५५ ॥

तस्माद् ब्रह्मविदो वेदान् नाधीयन्तेऽतिवायति ।
वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं भवेत् ॥ ५६ ॥

'इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रचण्ड वायु (आँधी) चलनेपर वेदका पाठ नहीं करते हैं । वेद भी भगवान्का निःश्वास ही है । उस समय वेदपाठ करनेपर वायुको वायुसे भय प्राप्त होता है और उस वेदको भी पीड़ा होती है' ॥ ५६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः ।
उक्त्वा पुत्रमधीष्वेति व्योमगङ्गामगात् तदा ॥ ५७ ॥

अनध्यायके विषयमें यह बात कहकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास अपने पुत्र शुकदेवसे बोले—'अब तुम वेद-पाठ करो ।' यों कहकर वे आकाशगङ्गाके तटपर चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अनध्यायनिमित्तकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अनध्यायके कारणका कथन नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ३२८

शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे ॥१॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत्॥ २ ॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देख शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य आदि निवेदन करके उनका पूजन किया ॥ २ ॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत्॥ ३ ॥

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स ! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ ?' यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही ॥ ३ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—'इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत्॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—वत्स ! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ६ ॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है ॥ ६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥ ७ ॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण) का साधन है ॥ ७ ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम्॥ ८ ॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है; अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता ॥ ८ ॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते॥ ९ ॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चञ्चल होती है। वह मोह-जालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है ॥ ९ ॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥ १० ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं ॥ १० ॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥ ११ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचावे ॥ ११ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम्॥ १२ ॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर तो कुछ है ही नहीं ॥ १२ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥ १३ ॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है ॥ १३ ॥

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः॥ १४ ॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित ॥ १४ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः॥ १५ ॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति॥ १६ ॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत

होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा ।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ॥ १७ ॥

मुने ! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे । सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ १८ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम् ।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, संतोष रखे तथा कामना और चञ्चलताको त्याग दे ॥ १९ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥

तात शुकदेव ! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ॥ २० ॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये । सौम्य ! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और संतापसे छूट जाओगे ॥ २१ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २२ ॥

जो अजित् (परमात्मा) को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ॥ २२ ॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा ।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः ।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञानसे परितृप्त समझना चाहिये । जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ॥ २४ ॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् ।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है । वह शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २५ ॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे ॥ २६ ॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे संतप्त होना पड़ता है । इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी संतापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते ? ॥ २६ ॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः ।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे ॥ २७ ॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रक्खा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है । यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है ? ॥ २७ ॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः ।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ॥ २८ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ॥ २८ ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥ २९ ॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है । रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ॥ २९ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दल-दलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ॥ ३० ॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान् ।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेह-जालसे आकृष्ट होकर

अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ॥ ३२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥ ३३ ॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो? ॥ ३३ ॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम्।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? ॥ ३४ ॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ॥ ३५ ॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ (परमात्मा) की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ॥ ३७ ॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम्।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥ ३८ ॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥

यह संसार एक नदीके समान है; जिसका उपादान या उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है। गन्ध उस नदीकी कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है। क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है। इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे ॥ ३८-३९ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४० ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ॥ ४० ॥

त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥ ४१ ॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभावद्वारा अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ॥ ४१ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥

यह शरीर पञ्चभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत्।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात् ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे जो चौबीस तत्त्वोंका

समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है ॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥
य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ॥ ४७½ ॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ॥ ४८ ॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये । जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ॥४८-४९॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते ।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥ ५० ॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य । ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ॥ ५० ॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५१ ॥
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती । जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ॥ ५१½ ॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ॥ ५२ ॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्‌में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ॥ ५२½ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ॥ ५२–५३½ ॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥ ५४ ॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ॥ ५४½ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥ ५५ ॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ॥ ५५½ ॥

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ॥५६½॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ॥ ५७½ ॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ॥ ५८½ ॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२९ ॥

त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव ! शास्त्र शोकको दूर

करनेवाला, शान्ति-कारक और कल्याणमय है। जो अपने शोकका नाश करनेके लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी होता है ॥ १ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्‌पर नहीं ॥ २ ॥

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे ।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ ४ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुखी होते हैं ॥ ४ ॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत् ।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ॥ ५ ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते ।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये । ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ॥ ६ ॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ॥ ७ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ॥ ८ ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु संततिम् ।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी संतानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ॥ १० ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते ।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ॥ १२ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्र-ज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः ।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ॥ १६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।

अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ १८ ॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ १९ ॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते) ॥ १९ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २० ॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना। संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण ॥ २० ॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ २१ ॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें संतोषको ही उत्तम धन समझते हैं ॥ २१ ॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ॥ २२ ॥

भूतेषु भावं संचिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ॥ २४ ॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किंचिद् धनिनो वाधनस्य च ॥ २६ ॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उत्तम गन्ध आदि विषयोंमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं ॥ २६ ॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७ ॥

प्राणियोंके एक दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥ २८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे ॥ २८ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥ २९ ॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है ॥ २९ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३० ॥

एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते ।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव ! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता ॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति ।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥ २ ॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञान-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता । आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे ॥ २ ॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ॥ ३ ॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं ॥ ३ ॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः ।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते ॥ ४ ॥

तृष्णासे व्यथित, दुखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है ॥ ४ ॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारंबार आते और बीतते चले जाते हैं ॥ ५ ॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते ॥ ६ ॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है । यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है ॥ ६ ॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥ ७ ॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं । वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः॥ ८ ॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं ॥ ८ ॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ९ ॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता ॥ ९ ॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ १० ॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं ॥ १० ॥

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ॥ ११ ॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥ १२ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है, तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है ॥ १२ ॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते ।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति॥ १३ ॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते ॥ १३ ॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः ।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति ॥ १४ ॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो । वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और संतानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है ॥ १४ ॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा ।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ॥ १५ ॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है ॥ १५ ॥

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ॥ १६ ॥

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी संतान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ॥

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ॥ १७ ॥

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ॥ १७ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है तथापि उनके कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १९ ॥

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके संचित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ॥ १९ ॥

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ॥ २० ॥

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् ।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ॥ २१ ॥

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् ।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफलभोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ॥ २२ ॥

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् ।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥

शुकदेव ! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है । फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो ? ॥ २३ ॥

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्ष्याश्च भक्षिताः ।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ? ॥ २४ ॥

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है ॥ २४ ॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति ह्युदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ॥ २६ ॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है । कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ॥ २५-२६ ॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई संतानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ॥ २७ ॥

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं । इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं । आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते । अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः।
व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ३० ॥

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं, तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ॥ ३० ॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥

वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं, तो भी बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है ॥ ३२ ॥

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः ।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं ? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ॥ ३४ ॥

परंतु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्रोतसा सहसाऽऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ॥ ३६ ॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युः सर्वकामिनः ।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ॥

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही । सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ॥ ३७ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ ३८ ॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च ।
अप्रमत्ताः शठाञ्छूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः ।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ॥ ४० ॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ॥ ४१ ॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है । कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः ।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़ेसे ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं । कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः ।
इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं । मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका । यह जो ब्रह्म-नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो । इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४४ ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो । सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो । सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ॥ ४४ ॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम ।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ॥ ४५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४५ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् ।
संचिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ ४६ ॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः ।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा । विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है ।

कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किंतु अभ्युदय महान् हो ॥ ४७ ॥

ततो मुहूर्तं संचिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ॥ ४८ ॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम्।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ॥ ४९ ॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ॥ ४९ ॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है ॥ ५० ॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ॥ ५१ ॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ॥ ५४ ॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ॥ ५४ ॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्रलोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ॥ ५५ ॥

रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ॥ ५६ ॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्को संतप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ॥ ५६ ॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम्।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ॥ ५७ ॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम्।
ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ५८ ॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम्।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ॥ ५९ ॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ॥ ६० ॥

आज मैं निःसंदेह जगत्के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ॥ ६० ॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम्।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ॥ ६१ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम्।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ॥ ६२ ॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम्।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ॥ ६३ ॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा ! बेटा ! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ' ॥ ६३ ॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः।
मोक्षमेवानुसंचिन्त्य गमनाय मनो दधे ॥ ६४ ॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारंबार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ॥ ६४ ॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम् ॥ ६५ ॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध-समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिगमने एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका प्रस्थानविषयक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन

भीष्म उवाच

गिरिशृङ्गं समारुह्य सुतो व्यासस्य भारत।
समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ॥ १ ॥
धारयामास चात्मानं यथाशास्त्रं यथाविधि।
पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कैलासशिखरपर आरूढ़ हो व्यासपुत्र शुकदेव एकान्तमें तृणरहित समतल भूमिपर बैठ गये और शास्त्रोक्त विधिसे पैरसे लेकर सिरतक सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्रमशः आत्माकी धारणा करने लगे । वे क्रमयोगके पूर्ण ज्ञाता थे ॥ १-२ ॥

ततः स प्राङ्मुखो विद्वानादित्ये नचिरोदिते।
पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ॥ ३ ॥
न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम्।
यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

थोड़ी ही देरमें जब सूर्योदय हुआ, तब ज्ञानी शुकदेव हाथ-पैर समेटकर विनीतभावसे पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठे और योगमें प्रवृत्त हो गये । उस समय बुद्धिमान् व्यासनन्दन जहाँ योगयुक्त हो रहे थे, वहाँ न तो पक्षियोंका समुदाय था, न कोई शब्द सुनायी पड़ता था और न दृष्टिको आकृष्ट करनेवाला कोई दृश्य ही उपस्थित था ॥ ३-४ ॥

स ददर्श तदाऽऽत्मानं सर्वसंगविनिःसृतम्।
प्रजहास ततो हासं शुकः सम्प्रेक्ष्य तत्परम् ॥ ५ ॥

उस समय उन्होंने सब प्रकारके संगोंसे रहित आत्माका दर्शन किया । उस परमतत्त्वका साक्षात्कार करके शुकदेवजी जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ५ ॥

स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम्॥ ६ ॥

फिर मोक्षमार्गकी उपलब्धिके लिये योगका आश्रय ले महान् योगेश्वर होकर वे आकाशमें उड़नेके लिये तैयार हो गये ॥ ६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः।
निवेदयामास च तं स्वं योगं परमर्षये ॥ ७ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारदके पास जा उनकी प्रदक्षिणा की और उन परम ऋषिसे अपने योगके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया ॥ ७ ॥

शुक उवाच

दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन।
त्वत्प्रसादाद् गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते ॥ ८ ॥

शुकदेव बोले—महातेजस्वी तपोधन ! आपका कल्याण हो । अब मुझे मोक्षमार्गका दर्शन हो गया । मैं वहाँ जानेको तैयार हूँ । आपकी कृपासे मैं अभीष्ट गति प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत् ॥ ९ ॥
कैलासपृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः ॥ १० ॥

नारदजीकी आज्ञा पाकर व्यासकुमार शुकदेवजी उन्हें प्रणाम करके पुनः योगमें स्थित हो आकाशमें प्रविष्ट हुए । कैलासशिखरसे उछलकर वे तत्काल आकाशमें जा पहुँचे और सुनिश्चित ज्ञान पाकर वायुका रूप धारण करके श्रीमान् शुकदेव अन्तरिक्षमें विचरने लगे ॥ ९-१० ॥

तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम्।
ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुतरंहसम् ॥ ११ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंने ऊपर जाते हुए द्विजश्रेष्ठ शुकदेवको विनतानन्दन गरुडके समान कान्तिमान् तथा मन और वायुके समान वेगशाली देखा ॥ ११ ॥

व्यवसायेन लोकांस्त्रीन् सर्वान् सोऽथ विचिन्तयन्।

आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥

वे निश्चयात्मक बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको आत्म-भावसे देखते हुए बहुत दूरतक आगे बढ़ गये। उस समय उनका तेज सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था ॥

तमेकमनसं यान्तमव्यग्रमकुतोभयम्।
ददृशुः सर्वभूतानि जङ्गमानि चराणि च ॥ १३ ॥
यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा।
पुष्पवर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

उन्हें निर्भय होकर शान्त और एकाग्रचित्तसे ऊपर जाते समय समस्त चराचर प्राणियोंने देखा और अपनी शक्ति तथा रीतिके अनुसार उनका यथोचित पूजन किया। देवताओंने उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा की ॥ १३-१४ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ॥ १५ ॥

उन्हें इस प्रकार जाते देख समस्त गन्धर्व, अप्सराओंके समुदाय तथा सिद्ध ऋषि-मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये ॥

अन्तरिक्षगतः कोऽयं तपसा सिद्धिमागतः।
अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ॥ १६ ॥

और आपसमें कहने लगे—'तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हुआ यह कौन महात्मा आकाशमार्गसे जा रहा है, जिसका मुख-मण्डल ऊपरकी ओर और शरीरका निचला भाग नीचेकी ओर ही है? हमारी आँखें बरबस इसकी ओर खिंच जाती हैं' ॥ १६ ॥

ततः परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
भास्करं समुदीक्षन् स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत्॥१७॥

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध परम धर्मात्मा शुकदेवजी पूर्व-दिशाकी ओर मुँह करके सूर्यको देखते हुए मौनभावसे आगे बढ़ रहे थे ॥ १७ ॥

शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः।
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः ॥ १८ ॥
सम्भ्रान्तमनसो राजन्नासन् परमविस्मिताः।

वे अपने शब्दसे सम्पूर्ण आकाशको पूर्ण-सा कर रहे थे। राजन्! उन्हें सहसा आते देख सम्पूर्ण अप्सराएँ मन-ही-मन घबरा उठीं और अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गयीं ॥ १८½ ॥

पञ्चचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः ॥ १९ ॥
दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम्।
सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ॥ २० ॥

पञ्चचूडा आदि अप्सराओंके नेत्र विस्मयसे अत्यन्त खिल उठे थे। वे परस्पर कहने लगीं कि उत्तम गतिका आश्रय लेकर यह कौन-सा देवता यहाँ आ रहा है? इसका निश्चय अत्यन्त दृढ़ है। यह सब प्रकारके बन्धनों तथा संशयोंसे मुक्त-सा हो गया है और इसके भीतर किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी है ॥ १९-२० ॥

ततः समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम्।
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवतः ॥ २१ ॥

कुछ ही देरमें वे मलय नामक पर्वतपर जा पहुँचे, जहाँ उर्वशी और पूर्वचित्ति—ये दो अप्सराएँ सदा निवास करती हैं ॥ २१ ॥

तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम्।
अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ॥ २२ ॥
अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत्।
पितृशुश्रूषया बुद्धिं सम्प्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मर्षि व्यासजीके पुत्रकी यह उत्तम गति देख उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे आपसमें कहने लगीं, 'अहो! इस वेदाभ्यासपरायण ब्राह्मणकी बुद्धिमें कितनी अद्भुत एका-ग्रता है? पिताकी सेवासे थोड़े ही समयमें उत्तम बुद्धि पाकर यह चन्द्रमाके समान आकाशमें विचर रहा है ॥ २२-२३ ॥

पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः।
अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ॥ २४ ॥

'यह बड़ा ही तपस्वी और पितृभक्त था और अपने पिताका बहुत ही प्यारा बेटा था। उनका मन सदा इसीमें लगा रहता था; फिर भी उन्होंने इसे जानेकी आज्ञा कैसे दे दी?' ॥

उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित्।
उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ॥ २५ ॥

उर्वशीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखा। उस समय उनका चित्त उसकी बातों-की ओर चला गया था ॥ २५ ॥

सोऽन्तरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम्।
विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा ॥ २६ ॥

आकाश, पर्वत, वन और काननोंसहित पृथ्वी एवं सरो-वरों और सरिताओंकी ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली ॥ २६ ॥

ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात् समन्ततः।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते स्म देवताः ॥ २७ ॥

उस समय इन सबकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे बड़े आदरके साथ द्वैपायनकुमार शुकदेवजीको देखा। वे सब-की-सब अञ्जलि बाँधे खड़ी थीं ॥ २७ ॥

अब्रवीत् तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित्।
पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति वै ॥ २८ ॥
ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः।
एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

तब परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने उन सबसे कहा—'देवियो! यदि मेरे पिताजी मेरा नाम लेकर पुकारते हुए इधर आ निकलें तो आप सब लोग सावधान होकर मेरी ओरसे उन्हें उत्तर देना। आप लोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है; इसलिये आप सब मेरी इतनी-सी बात मान लेना' ॥ २८-२९ ॥

शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः ।
समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समन्ततः ॥ ३० ॥

शुकदेवजीकी यह बात सुनकर काननोंसहित सम्पूर्ण दिशाओं, समुद्रों, नदियों, पर्वतों और पर्वतोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे यह उत्तर दिया—॥ ३० ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विप्र बाढमेवं भविष्यति ।
ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! आप जैसी आज्ञा देते हैं, निश्चय ही वैसा ही होगा । जब महर्षि व्यास आपको पुकारेंगे, तब हम सब लोग उन्हें उत्तर देंगी' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना

भीष्म उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः ।
प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ॥ १ ॥
तमो ह्यष्टविधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः ।
ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह वचन कहकर महातपस्वी शुकदेवजी सिद्धि पानेके उद्देश्यसे आगे बढ़ गये । बुद्धिमान् शुकने चार प्रकारके दोषोंका, आठ प्रकारके तमोगुणका तथा पाँच प्रकारके रजोगुणका परित्याग करके सत्त्वगुणको भी त्याग दिया*; यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते ।
ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् वे नित्य निर्गुण एवं लिङ्गरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गये । उस समय उनका तेज धूमहीन अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३ ॥

उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकम्पस्तथैव च ।
प्रादुर्भूताः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

उसी क्षण उल्काएँ टूटकर गिरने लगीं । दिशाओंमें दाह होने लगा और धरती डोलने लगी । यह सब आश्चर्य-की-सी घटना घटित हुई ॥ ४ ॥

द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः ।
निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान् दीर्यतीव ह ॥ ५ ॥

वृक्षोंने अपनी शाखाएँ अपने आप तोड़कर गिरा दीं । पर्वतोंने अपने शिखर भङ्ग कर दिये । वज्रपातके शब्दोंसे गिरिराज हिमालय विदीर्ण-सा होता जान पड़ता था ॥

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ॥ ६ ॥

सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी । आग प्रज्वलित नहीं होती थी । सरोवर, सरिता और समुद्र सभी क्षुब्ध हो उठे ॥

ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगन्धि च ।
ववौ समीरणश्चापि दिव्यगन्धवहः शुचिः ॥ ७ ॥

इन्द्रने सरस और सुगन्धित जलकी वर्षा की तथा दिव्य गन्ध फैलाती हुई परम पवित्र वायु चलने लगी ॥ ७ ॥

स शृङ्गे ।प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसम्भवे ।
संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ॥ ८ ॥
शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! आगे बढ़नेपर श्रीशुकदेवजीने पर्वतके दो दिव्य एवं सुन्दर शिखर देखे, जो एक दूसरेसे सटे हुए थे । उनमेंसे एक हिमालयका शिखर था और दूसरा मेरुपर्वतका । हिमालयका शिखर रजतमय होनेके कारण श्वेत दिखायी देता था और सुमेरुका स्वर्णमय शृङ्ग पीले रंगका था । इन दोनोंकी लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई सौ-सौ योजनकी थी । उत्तरदिशाकी ओर जाते समय ये दोनों सुरम्य शिखर शुकदेवजीकी दृष्टिमें पड़े ॥ ८-९ ॥

सोऽविशङ्केन मनसा तदैवाभ्यपतच्छुकः ।
ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ॥ १० ॥
अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

उन्हें देखकर वे पूर्ववत् निःशङ्क मनसे उनके ऊपर चढ़ गये । फिर तो वे दोनों पर्वतशिखर सहसा दो भागोंमें बँट गये और बीचसे फटे हुए-से दिखायी देने लगे । महाराज ! यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १०½ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ॥ ११ ॥
न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः ।

तत्पश्चात् उन पर्वतशिखरोंसे वे सहसा आगे निकल गये । वह श्रेष्ठ पर्वत उनकी गतिको रोक न सका ॥ ११½ ॥

ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ॥ १२ ॥
गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः ।

यह देख सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों तथा जो

---

* सत्त्वगुण भी सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधनेवाला होता है । 'मैं सुखी हूँ, अज्ञानी हूँ,' ऐसा जो अभिमान हो जाता है, वह ज्ञानीको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है । इसलिये यहाँ सत्त्वगुणको भी त्याग देनेकी बात कही गयी है ।

उस पर्वतपर रहनेवाले दूसरे लोग थे, उन सबने बड़े जोरसे हर्षनाद किया। उनकी हर्षध्वनि आकाशमें चारों ओर गूँज उठी ॥ १२½ ॥

दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधाकृतम् ॥ १३ ॥
साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत ।

भारत ! शुकदेवजीको पर्वत लाँघकर आगे बढ़ते और उस पर्वतको दो टुकड़ोंमें विदीर्ण होते देख वहाँ सब ओर 'साधु-साधु' शब्द सुनायी पड़ने लगे ॥ १३½ ॥

स पूज्यमानो देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ॥ १४ ॥
यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा ।
दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ॥ १५ ॥
आसीत् किल महाराज शुकाभिपतने तदा ।

महाराज ! देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, राक्षस और विद्याधरोंने उनका पूजन किया। वहाँसे शुकदेवजीके ऊपर उठते समय उनके चढ़ाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे वहाँ सब ओरका सारा आकाश छा गया ॥ १४-१५½ ॥

ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ॥ १६ ॥
शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम् ।

राजन् ! धर्मात्मा शुकने ऊर्ध्वलोकमें जाते समय खिले हुए वृक्षों और वनोंसे सुशोभित रमणीय मन्दाकिनी (आकाश-गङ्गा) का दर्शन किया ॥ १६½ ॥

तस्यां क्रीडन्त्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः ।

उसमें बहुत-सी अप्सराएँ स्नान एवं जलक्रीड़ा कर रही थीं। यद्यपि वे नंगी थीं, तो भी शुकदेवजीको शून्याकार (बाह्यज्ञानसे रहित एवं आत्मनिष्ठ) देख अपने शरीरको ढकने या छिपानेके लिये उद्यत नहीं हुईं ॥ १७½ ॥

तं प्रक्रामन्तमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ॥ १८ ॥
उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह ।

उन्हें इस प्रकार सिद्धिके लिये उत्क्रमण करते जान उनके पिता वेदव्यासजी भी स्नेहवश उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८½ ॥

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ॥ १९ ॥
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा ।

उधर शुकदेव वायुसे आकाशगामिनी ऊर्ध्वगतिका आश्रय ले अपना प्रभाव दिखाकर तत्काल ब्रह्मीभूत हो गये ॥ १९½ ॥

महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ॥ २० ॥
निमेषान्तरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ ।
स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ॥ २१ ॥

महातपस्वी व्यासजी दूसरी महायोगसम्बन्धिनी गतिका अवलम्बन करके ऊपरको उठे और पलक मारते-मारते उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँसे उन पर्वत-शिखरोंको दो भागोंमें विदीर्ण करके शुकदेवजी आगे बढ़े थे। वह स्थान शुकाभि-पतनके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उन्होंने उस स्थानको देखा ॥ २०-२१ ॥

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा ।
ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा ॥ २२ ॥

वहाँ रहनेवाले ऋषियोंने आकर व्यासजीसे उनके पुत्रका वह अलौकिक कर्म कह सुनाया। तब व्यासजीने शुकदेवका नाम लेकर बड़े जोरसे रोदन किया ॥ २२ ॥

स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रीँल्लोकाननुनाद्य वै ।
शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ २३ ॥
प्रत्यभाषत धर्मात्मा भो शब्देनानुनादयन् ।

जब पिताने उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको गुँजाते हुए पुकारा, तब सर्वव्यापी, सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख होकर धर्मात्मा शुकने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करते हुए पिताको उत्तर दिया ॥ २३½ ॥

तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ॥ २४ ॥
प्रत्याहरज्जगत् सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम् ।

उसीके साथ-साथ सम्पूर्ण चराचर जगत्‌ने उच्चस्वरसे 'भोः' इस एकाक्षर शब्दका उच्चारण करते हुए उत्तर दिया ॥ २४½ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ॥ २५ ॥
गिरिगह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति ।

तभीसे आजतक पर्वतोंके शिखरपर अथवा गुफाओंके आस-पास जब-जब आवाज दी जाती है, तब-तब वहाँके चराचर निवासी प्रतिध्वनिके रूपमें उसका उत्तर देते हैं, जैसा कि उन्होंने शुकदेवजीके लिये किया था ॥ २५½ ॥

अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥ २६ ॥
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम् ।

इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेवजी अन्तर्धान हो गये और शब्द आदि गुणोंका परित्याग करके परमपदको प्राप्त हुए ॥२६½॥

महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥
निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन् ।

अपने अमिततेजस्वी पुत्रकी यह महिमा देखकर व्यासजी उसीका चिन्तन करते हुए उस पर्वतके शिखर-पर बैठ गये ॥ २७½ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः ॥ २८ ॥
आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः ।
जले निलिलियरे काश्चित् काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे।२९।

उस समय मन्दाकिनीके तटपर क्रीड़ा करती हुई समस्त अप्सराएँ महर्षि व्यासको अपने निकट पाकर बड़ी घबराहटमें पड़ गयीं, अचेत-सी हो गयीं। कोई जलमें छिप गयीं और कोई लताओंकी झुरमुटमें ॥ २८-२९ ॥

वसनान्याददुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम् ।
तां मुक्ततां तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ॥ ३० ॥
सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद् व्रीडितश्च ह ॥ ३१ ॥

कुछ अप्सराओंने मुनिश्रेष्ठ व्यासको देखकर अपने वस्त्र पहन लिये । उस समय अपने पुत्रकी मुक्तता जानकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए और अपनी आसक्तिका विचार करके वे बहुत लज्जित भी हुए ॥ ३०-३१ ॥

तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः ।
पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः ॥ ३२ ॥
तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा ॥ ३३ ॥

इसी समय देवताओं और गन्धर्वोंसे घिरे हुए तथा महर्षियोंसे पूजित पिनाकधारी भगवान् शङ्कर वहाँ आ पहुँचे और पुत्र-शोकसे संतप्त वेदव्यासजीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ ३२-३३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह ।
वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः ॥ ३४ ॥
स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः ।
मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने पहले अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाशके समान शक्तिशाली पुत्र होनेका मुझसे वरदान माँगा था; अतः तुम्हें तुम्हारी तपस्याके प्रभाव तथा मेरी कृपासे पालित वैसा ही पुत्र प्राप्त हुआ । वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और परम पवित्र था ॥ ३४-३५ ॥

स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः ।
दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मर्षे ! इस समय उसने ऐसी उत्तम गति प्राप्त की है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, फिर भी तुम उसके लिये क्यों शोक कर रहे हो ? ॥ ३६ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति ॥ ३७ ॥

'जबतक इस संसारमें पर्वतोंकी सत्ता रहेगी और जबतक समुद्रोंकी स्थिति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी अक्षय कीर्ति इस संसारमें छायी रहेगी ॥

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा ।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने ॥ ३८ ॥

'महामुने ! तुम मेरे प्रसादसे इस जगत्‌में सदा अपने पुत्रसदृश छायाका दर्शन करते रहोगे । वह सब ओर दिखायी देगी, कभी तुम्हारी आँखोंसे ओझल न होगी' ॥

सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत ।
छायां पश्यन् समावृत्तः स मुनिः परया मुदा ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन ! साक्षात् भगवान् शंकरके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्वत्र अपने पुत्रकी छाया देखते हुए मुनिवर व्यास बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमपर लौट आये ॥ ३९ ॥

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४० ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह शुकदेवजीके जन्म और परमपद-प्राप्तिकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारसे सुनायी है ॥ ४० ॥

एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिर्नारदः पुरा ।
व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे ॥ ४१ ॥

राजन् ! सबसे पहले देवर्षि नारदजीने यह वृत्तान्त मुझे बताया था । महायोगी व्यासजी भी बातचीतके प्रसंगमें पद-पदपर इस प्रसङ्गको दुहराया करते हैं ॥ ४१ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम् ।
धारयेद् यः शमपरः स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ ४२ ॥

जो पुरुष मोक्षधर्मसे युक्त इस परम पवित्र इतिहासको सुनकर या पढ़कर अपने हृदयमें धारण करेगा, वह शान्ति-परायण हो परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पतनसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिके वर्णनकी समाप्ति नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

बदरिकाश्रममें नारदजीके पूछनेपर भगवान् नारायणका परमदेव परमात्माको ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताना

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी जो भी सिद्धि पाना चाहे, वह किस देवताका पूजन करे ? ॥ १ ॥

कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम् ।
विधिना केन जुहुयाद् दैवं पित्र्यं तथैव च ॥ २ ॥

मनुष्यको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसे परम कल्याण किस साधनसे सुलभ हो सकता है ? वह किस विधिसे देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे होम करे ? ॥ २ ॥

मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः ।
स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद् येन न च्यवते दिवः ॥ ३ ॥

मुक्त पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? स्वर्गमें गये हुए मनुष्यको क्या करना चाहिये, जिससे वह स्वर्गसे नीचे न गिरे ? ॥ ३ ॥

देवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा ।
तस्मात् परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

देवताओंका भी देवता और पितरोंका भी पिता कौन है ? अथवा उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व क्या है ? पितामह ! इन सब बातोंको आप मुझे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गूढं मां प्रश्नवित् प्रश्नं पृच्छसे त्वमिहानघ ।
न ह्येतत् तर्कया शक्यं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ५ ॥
ऋते देवप्रसादाद् वा राजन् ज्ञानागमेन वा ।
गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! तुम प्रश्न करना खूब जानते हो । इस समय तुमने मुझसे बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है । राजन् ! भगवान्‌की कृपा अथवा ज्ञानप्रधान शास्त्रके बिना केवल तर्कके द्वारा सैकड़ों वर्षोंमें भी इन प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया जा सकता । शत्रुसूदन ! यद्यपि यह विषय समझनेमें बहुत कठिन है, तो भी तुम्हारे लिये तो इसकी व्याख्या करनी ही है ॥ ५-६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ७ ॥

इस विषयमें जानकार लोग देवर्षि नारद और नारायण ऋषिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः ।
धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत ॥ ८ ॥

मेरे पिताजीने मुझे यह बताया था कि भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा, चतुर्मूर्ति और सनातन देवता हैं । वे ही एक समय धर्मके पुत्ररूपसे प्रकट हुए थे ॥ ८ ॥

कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

महाराज ! स्वायम्भुव मन्वन्तरके सत्ययुगमें उन स्वयम्भू भगवान् वासुदेवके चार अवतार हुए थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—नर, नारायण, हरि और कृष्ण ॥ ९ ॥

तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ ।
बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकामये ॥ १० ॥

उनमेंसे अविनाशी नारायण और नर बदरिकाश्रममें जाकर एक सुवर्णमय रथपर स्थित हो घोर तपस्या करने लगे ॥ १० ॥

अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोरमम् ।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ कृशौ धमनिसंततौ ॥ ११ ॥
तपसा तेजसा चैव दुर्निरीक्ष्यौ सुरैरपि ।
यस्य प्रसादं कुर्वाते स देवौ द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥

उनका वह मनोरम रथ आठ पहियोंसे युक्त था और उसमें अनेकानेक प्राणी जुते हुए थे । वे दोनों आदिपुरुष जगदीश्वर तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये । उनके शरीरकी नसें दिखायी देने लगीं । तपस्यासे उनका तेज इतना बढ़ गया था कि देवताओंको भी उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था । जिनपर वे कृपा करते थे, वही उन दोनों देवेश्वरोंका दर्शन कर सकता था ॥ ११-१२ ॥

नूनं तयोरनुमते हृदि हृच्छयचोदितः ।
महामेरोर्गिरेः शृङ्गात् प्रच्युतो गन्धमादनम् ॥ १३ ॥

निश्चय ही उन दोनोंकी इच्छाके अनुसार अपने हृदयमें अन्तर्यामीकी प्रेरणा होनेपर देवर्षि नारद महामेरु पर्वतके शिखरसे गन्धमादन पर्वतपर उतर पड़े ॥ १३ ॥

नारदः सुमहद्भूतं सर्वलोकानचीचरत् ।
तं देशमगमद् राजन् बदर्याश्रममाशुगः ॥ १४ ॥

राजन् ! नारदजी सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते थे; अतः वे शीघ्रगामी मुनि बदरिकाश्रमके उस विशाल प्रदेशमें घूमते-घामते आ पहुँचे, जो महान् प्राणियोंसे युक्त था ॥ १४ ॥

तयोराह्निकवेलायां तस्य कौतूहलं त्वभूत् ।
इदं तदास्पदं कृत्स्नं यस्मिँल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
सदेवासुरगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ।

जब वहाँ भगवान् नर और नारायणके नित्यकर्मका समय हुआ, उसी समय नारदजीके मनमें उनके दर्शनके लिये बड़ी उत्कण्ठा हुई । वे सोचने लगे, 'अहो ! यह उन्हीं भगवान्‌का स्थान है, जिनके भीतर देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर और महान् नागोंसहित सम्पूर्ण लोक निवास करते हैं ॥ १५½ ॥

एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा ॥ १६ ॥
धर्मस्य कुलसंताने धर्मादेभिर्विवर्धितः ।
अहो ह्यनुगृहीतोऽद्य धर्म एभिः सुरैरिह ॥ १७ ॥
नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा ।

'पहले ये एक ही रूपमें विद्यमान थे; फिर धर्मकी वंश-परम्पराका विस्तार करनेके लिये ये चार विग्रहोंमें प्रकट हुए । इन चारोंने अपने उपार्जित धर्मसे धर्मदेवकी वंश-परम्पराको बढ़ाया है । अहो ! इस समय नर, नारायण, कृष्ण और हरि—इन चारों देवताओंने धर्मपर बड़ा अनुग्रह किया है ॥ १६-१७½ ॥

नर-नारायणका नारदजीके साथ संवाद

अत्र कृष्णो हरिश्चैव कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥ १८ ॥
स्थितौ धर्मोत्तरौ ह्येतौ तथा तपसि धिष्ठितौ ।

'इनमेंसे हरि और कृष्ण किसी और कार्यमें संलग्न हैं; परंतु ये दोनों भाई नारायण और नर धर्मको ही प्रधान मानते हुए तपस्यामें संलग्न हैं ॥ १८½ ॥

एतौ हि परमं धाम कानयोराह्निकक्रिया ॥ १९ ॥
पितरौ सर्वभूतानां दैवतं च यशस्विनौ ।
कां देवतां तु यजतः पितॄन् वा कान् महामती ॥ २० ॥

'ये ही दोनों परमधामस्वरूप हैं। इनका यह नित्यकर्म कैसा है? ये दोनों यशस्वी देवता सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और देवता हैं। ये परम बुद्धिमान् दोनों बन्धु भला किस देवताका यजन और किन पितरोंका पूजन करते हैं?' ॥ १९-२० ॥

इति संचिन्त्य मनसा भक्त्या नारायणस्य तु ।
सहसा प्रादुरभवत् समीपे देवयोस्तदा ॥ २१ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर भगवान् नारायणके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो नारदजी सहसा उन देवताओंके समीप प्रकट हो गये ॥ २१ ॥

कृते दैवे च पित्र्ये च ततस्ताभ्यां निरीक्षितः ।
पूजितश्चैव विधिना यथाप्रोक्तेन शास्त्रतः ॥ २२ ॥

भगवान् नर और नारायण जब देवता और पितरोंकी पूजा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने नारदजीको देखा और शास्त्रमें बतायी हुई विधिसे उनका पूजन किया ॥ २२ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमपूर्वं विधिविस्तरम् ।
उपोपविष्टः सुप्रीतो नारदो भगवानृषिः ॥ २३ ॥

उनके द्वारा शास्त्रविधिका यह अपूर्व विस्तार और अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार देखकर उनके पास ही बैठे हुए देवर्षि भगवान् नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

नारायणं संनिरीक्ष्य प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
नमस्कृत्वा महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

प्रसन्न चित्तसे महादेव भगवान् नारायणकी ओर देखकर नारदजीने उन्हें नमस्कार किया और इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

नारद उवाच

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे ।
त्वमजः शाश्वतो धाता मातामृतमनुत्तमम् ॥ २५ ॥

नारदजी बोले—भगवन्! अङ्ग और उपाङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदों तथा पुराणोंमें आपकी ही महिमाका गान किया जाता है। आप अजन्मा, सनातन, सबके माता-पिता और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं ॥ २५ ॥

प्रतिष्ठितं भूतभव्यं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ २६ ॥
यजन्ते त्वामहरहर्नानामूर्तिसमास्थितम् ।

देव! आपमें ही भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। गार्हस्थ्यमूलक चारों आश्रमोंके सब लोग नाना रूपोंमें स्थित हुए आपकी ही प्रतिदिन पूजा करते हैं ॥ २६½ ॥

पिता माता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो गुरुः ।
कं त्वद्य यजसे देवं पितरं कं न विद्महे ॥ २७ ॥
(कमर्चसि महाभाग तन्मे ब्रूहीह पृच्छतः ।)

आप ही सम्पूर्ण जगत्के माता, पिता और सनातन गुरु हैं, तो भी आज आप किस देवता और किस पितरकी पूजा करते हैं? यह मैं समझ नहीं पाया। अतः महाभाग! मैं आपसे पूछ रहा हूँ' मुझे बताइये कि आप किसकी पूजा करते हैं? ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवाच्यमेतद् वक्तव्यमात्मगुह्यं सनातनम् ।
तव भक्तिमतो ब्रह्मन् वक्ष्यामि तु यथातथम् ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! तुमने जिसके विषयमें प्रश्न किया है, वह अपने लिये गोपनीय विषय है। यद्यपि यह सनातन रहस्य किसीसे कहने योग्य नहीं है, तथापि तुम-जैसे भक्त पुरुषको तो उसे बताना ही चाहिये; अतः मैं यथार्थ रूपसे इस विषयका वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

यत् तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ २९ ॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते ।
त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ ३० ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।
अव्यक्ता व्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरव्यया ॥ ३१ ॥

जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है, जो इन्द्रियों, विषयों और सम्पूर्ण भूतोंसे परे है, वही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है; अतः क्षेत्रज्ञ नामसे कहा जाता है, वही त्रिगुणातीत तथा पुरुष कहलाता है। उसीसे त्रिगुणमय अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है। द्विजश्रेष्ठ! उसीको व्यक्तभावमें स्थित, अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है ॥ २९–३१ ॥

तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः ।
आवाभ्यां पूज्यतेऽसौ हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ ३२ ॥

वह सदसत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है, इस बातको जान लो। हम दोनों उसीकी पूजा करते तथा उसीको देवता और पितर मानते हैं ॥ ३२ ॥

नास्ति तस्मात् परोऽन्यो हि पिता देवोऽथ वा द्विज ।
आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयावहे ॥ ३३ ॥

ब्रह्मन्! उससे बढ़कर दूसरा कोई देवता या पितर नहीं है। वही हमलोगोंका आत्मा है, यह जानना चाहिये; अतः हम उसीकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

तेनैषा प्रथिता ब्रह्मन् मर्यादा लोकभाविनी ।

दैवं पित्र्यं च कर्तव्यमिति तस्यानुशासनम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! उसीने लोकको उन्नतिके पथपर ले जानेवाली यह धर्मकी मर्यादा स्थापित की है। देवताओं और पितरोंकी पूजा करनी चाहिये, यह उसीकी आज्ञा है॥ ३४ ॥

ब्रह्मा स्थाणुर्मनुर्दक्षो भृगुर्धर्मस्तपो यमः।
मरीचिरङ्गिराऽत्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३५॥
वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च।
कर्दमश्चापि यः प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च ॥ ३६ ॥
एकविंशतिरुत्पन्नास्ते प्रजापतयः स्मृताः।
तस्य देवस्य मर्यादां पूजयन्तः सनातनीम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, तप, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, कर्दम, क्रोध और विक्रीत—ये इक्कीस प्रजापति उसी परमात्मासे उत्पन्न बताये गये हैं तथा उसी परमात्माकी सनातन धर्म-मर्यादाका पालन एवं पूजन करते हैं ॥ ३५–३७ ॥

दैवं पित्र्यं च सततं तस्य विज्ञाय तत्त्वतः।
आत्मप्राप्तानि च ततः प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ द्विज उसीके उद्देश्यसे किये जानेवाले देवता तथा पितृ-सम्बन्धी कार्योंको ठीक-ठीक जानकर अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

स्वर्गस्था अपि ये केचित् तान् नमस्यन्ति देहिनः।
ते तत्प्रसादाद् गच्छन्ति तेनादिष्टफलां गतिम् ॥ ३९ ॥

स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंमेंसे भी जो कोई उस परमात्माको प्रणाम करते हैं, वे उसके कृपा-प्रसादसे उसीकी आज्ञाके अनुसार फल देनेवाली उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव च।
कलाः पञ्चदश त्यक्त्वा ते मुक्ता इति निश्चयः ॥ ४० ॥

जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धिरूप सत्रह गुणोंसे, सब कर्मोंसे रहित हो पंद्रह कलाओंको त्याग करके स्थित हैं, वे ही मुक्त हैं, यह शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

मुक्तानां तु गतिर्ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता।
स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मन् ! मुक्त पुरुषोंकी गति क्षेत्रज्ञ परमात्मा निश्चित किया गया है। वही सर्वसद्गुणसम्पन्न तथा निर्गुण भी कहलाता है ॥ ४१ ॥

दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः।
एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम् ॥ ४२ ॥

ज्ञानयोगके द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। हम दोनोंका आविर्भाव उसीसे हुआ है—ऐसा जानकर हम दोनों उस सनातन परमात्माकी पूजा करते हैं ॥ ४२

तं वेदाश्चाश्रमाश्चैव नानामतसमास्थिताः।
भक्त्या सम्पूजयन्त्याशु गतिं चैषां ददाति सः ॥ ४३ ॥

चारों वेद, चारों आश्रम तथा नाना प्रकारके मतोंका आश्रय लेनेवाले लोग भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं और वह इन सबको शीघ्र ही उत्तम गति प्रदान करता है ॥ ४३ ॥

ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समास्थिताः।
एतदभ्यधिकं तेषां यत् ते तं प्रविशन्त्युत ॥ ४४ ॥

जो सदा उसका स्मरण करते तथा अनन्य भावसे उसकी शरण लेते हैं, उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वे उसके स्वरूपमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४४ ॥

इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्तितः।
भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतः॥ ४५ ॥

नारद ! ब्रह्मर्षे ! तुममें भगवान्‌के प्रति भक्ति और प्रेम है। हमलोगोंके प्रति भी तुम्हारा भक्तिभाव बना हुआ है। इसलिये हमने तुम्हारे सामने इस गोपनीय विषयका वर्णन किया है और तुम्हें इसे सुननेका शुभ अवसर मिला है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका श्वेतद्वीपदर्शन, वहाँके निवासियोंके स्वरूपका वर्णन, राजा उपरिचरका चरित्र तथा पाञ्चरात्रकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो
नारायणेनोत्तमपूरुषेण ।
जगाद वाक्यं द्विपदां वरिष्ठं
नारायणं लोकहिताधिवासम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् नारायणने जब पुरुषप्रवर नारदजीसे इस प्रकार कहा, तब वे लोकहितके आश्रयभूत पुरुषाग्रगण्य भगवान् नारायणसे यों बोले ॥ १ ॥

नारद उवाच

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म
कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा।

तत् साध्यतां लोकहितार्थमद्य
गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम्॥ २ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आप समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। आपने जिसके लिये धर्मके गृहमें चार स्वरूपोंमें अवतार धारण किया है, उस प्रयोजनकी लोकहितके लिये सिद्धि कीजिये। अब मैं (श्वेतद्वीपमें स्थित) आपके आदिविग्रहका दर्शन करने जाता हूँ॥ २॥

पूजां गुरूणां सततं करोमि
परस्य गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम्।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ
तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम्॥ ३ ॥

लोकनाथ ! मैं गुरुजनोंका सदा आदर करता हूँ। किसीकी गुप्त बात पहले कभी दूसरोंके समक्ष प्रकट नहीं की है। मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया, तपस्या की और कभी असत्य-भाषण नहीं किया है॥ ३॥

गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे
शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्।
तं चादिदेवं सततं प्रपन्न
एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम्॥ ४ ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः
कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम्।

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार हाथ, पैर, उदर और उपस्थ—इन चारोंकी मैंने रक्षा की है। शत्रु और मित्रके प्रति मैं सदा समानभाव रखता हूँ। इन आदिदेव परमात्मा श्रीनारायणकी निरन्तर शरण लेकर मैं अनन्यभावसे सदा उन्हींका भजन करता हूँ। इन सब विशेष कारणोंसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। ऐसी दशामें मैं उन अनन्त परमेश्वरका दर्शन कैसे नहीं कर सकता हूँ ?॥ ४ ½॥

तत् पारमेष्ठ्यस्य वचो निशम्य
नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता॥ ५ ॥
गच्छेति तं नारदमुक्तवान् स
सम्पूजयित्वाऽऽत्मविधिक्रियाभिः।

ब्रह्मपुत्र नारदजीका यह वचन सुनकर सनातन धर्मके रक्षक भगवान् नारायणने उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी॥ ५ ½॥

ततो विसृष्टः परमेष्ठिपुत्रः
सोऽभ्यर्चयित्वा तमृषिं पुराणम्॥ ६ ॥
खमुत्पपातोत्तमयोगयुक्त-
स्ततोऽधिमेरौ सहसा निलिल्ये।

उनसे विदा लेकर ब्रह्मकुमार नारद उन पुरातन ऋषि नारायणका पूजन करके उत्तम योगसे युक्त हो आकाशकी ओर उड़े और सहसा मेरुपर्वतपर पहुँचकर अदृश्य हो गये॥

तत्रावतस्थे च मुनिर्मुहूर्त-
मेकान्तमासाद्य गिरेः स शृङ्गे॥ ७ ॥
आलोकयन्नुत्तरपश्चिमेन
ददर्श चाप्यद्भुतमुक्तरूपम्।

मेरुके शिखरपर एकान्त स्थानमें जाकर नारद मुनिने दो घड़ीतक विश्राम किया। फिर वहाँसे उत्तर-पश्चिमकी ओर दृष्टिपात करनेपर उन्होंने पूर्व-वर्णित एक अद्भुत दृश्य देखा॥

क्षीरोदधेर्योत्तरतो हि द्वीपः
श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः॥ ८ ॥
मेरोः सहस्रैः स हि योजनानां
द्वात्रिंशतोर्ध्वं कविभिर्निरुक्तः।
अनिन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र
निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनस्ते॥ ९ ॥

क्षीरसागरके उत्तरभागमें जो श्वेत नामसे प्रसिद्ध विशाल द्वीप है, वह उनके सामने प्रकट हो गया। विद्वानोंने उस द्वीपको मेरुपर्वतसे बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। वहाँके निवासी इन्द्रियोंसे रहित, निराहार तथा चेष्टारहित एवं ज्ञानसम्पन्न होते हैं। उनके अङ्गोंसे उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है॥ ८-९॥

श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापा-
श्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणाम्।
वज्रास्थिकायाः सममानोन्माना
दिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः॥ १० ॥
छत्राकृतिशीर्षा मेघौघनिनादाः
सममुष्कचतुष्का राजीवच्छतपादाः।
षष्ट्या दन्तैर्युक्ताः शुक्लैरष्टाभिर्दंष्ट्राभिर्ये
जिह्वाभिर्ये विश्ववक्त्रं लेलिह्यन्ते सूर्यप्रख्यम्॥ ११ ॥

उस द्वीपमें सब प्रकारके पापोंसे रहित श्वेत वर्णवाले पुरुष निवास करते हैं। उनकी ओर देखनेसे पापी मनुष्योंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके शरीर तथा हड्डियाँ वज्रके समान सुदृढ़ होती हैं। वे मान और अपमानको समान समझते हैं। उनके अङ्ग दिव्य होते हैं। वे शुभ (योगके प्रभावसे उत्पन्न) बलसे सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तकका आकार छत्रके समान और स्वर मेघोंकी घटाके गर्जनकी भाँति गम्भीर होता है। उनके बराबर-बराबर चार भुजाएँ होती हैं। उनके पैर सैकड़ों कमलसदृश रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। उनके मुँहमें साठ सफेद दाँत और आठ दाढ़ें होती हैं। वे सूर्यके समान कान्तिमान् तथा सम्पूर्ण विश्वको अपने मुखमें रखनेवाले महाकालको भी अपनी जिह्वाओंसे चाट लेते हैं॥ १०-११॥

देवं भक्त्या विश्वोत्पन्नं
यस्मात् सर्वे लोकाः सम्प्रसूताः।
वेदा धर्मा मुनयः शान्ता
देवाः सर्वे तस्य निसर्गः॥ १२ ॥

जिनसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, सारे लोक प्रकट हुए हैं, वेद, धर्म, शान्त स्वभाववाले मुनि तथा सम्पूर्ण देवता जिनकी सृष्टि हैं, उन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको श्वेतद्वीपके निवासी भक्तिभावसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः।
कथं ते पुरुषा जाताः का तेषां गतिरुत्तमा॥ १३॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! श्वेतद्वीपमें रहनेवाले पुरुष इन्द्रिय, आहार तथा चेष्टासे रहित क्यों होते हैं? उनके शरीरसे सुन्दर गन्ध क्यों निकलती है? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है तथा वे किस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं? ॥१३॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम।
तेषां लक्षणमेतद्धि तच्छ्वेतद्वीपवासिनाम्॥ १४॥
तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे।
त्वं हि सर्वकथारामस्त्वां चैवोपाश्रिता वयम्॥ १५॥

भरतश्रेष्ठ! इस लोकसे मुक्त होनेवाले पुरुषोंका शास्त्रोंमें जो लक्षण बताया गया है, वैसा ही आपने श्वेतद्वीपके निवासियोंका भी बताया है। इसलिये मुझे संदेह होता है, अतः मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। आप सम्पूर्ण ज्ञानमयी कथाओंमें रस लेनेवाले हैं और हम आपके शरणागत हैं॥ १४-१५॥

भीष्म उवाच

विस्तीर्णैषा कथा राजन् श्रुता मे पितृसंनिधौ।
यैषा तव हि वक्तव्या कथासारो हि सा मता॥ १६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! यह कथा बहुत विस्तृत है। इसे मैंने अपने पिताजीके निकट सुना था। इस समय जो कथा तुम्हारे सामने कहनी है, वह सम्पूर्ण कथाओंकी सारभूत मानी गयी है॥ १६॥

(शान्तनोः कथयामास नारदो मुनिसत्तमः।
राज्ञा पृष्टः पुरा प्राह तत्राहं श्रुतवान् पुरा॥)

पूर्वकालमें मेरे पिता महाराज शान्तनुके पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उनसे यह कथा कही थी। उसी समय वहाँ मैंने भी इसे सुना था॥

राजोपरिचरो नाम बभूवाधिपतिर्भुवः।
आखण्डलसखः ख्यातो भक्तो नारायणं हरिम्॥ १७॥

पहलेकी बात है, इस पृथ्वीपर एक उपरिचर नामक राजा राज्य करते थे। वे इन्द्रके मित्र और पापहारी भगवान् नारायणके विख्यात भक्त थे॥ १७॥

धार्मिको नित्यभक्तश्च पितुर्नित्यमतन्द्रितः।
साम्राज्यं तेन सम्प्राप्तं नारायणवरात् पुरा॥ १८॥

वे धर्मात्मा तथा पिताके नित्य भक्त थे। आलस्यका उनमें सर्वथा अभाव था। पूर्वकालमें भगवान् नारायणके वरसे उन्होंने भूमण्डलका साम्राज्य प्राप्त किया था॥ १८॥

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम्।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान्॥ १९॥
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः।
शेषान्नभुक् सत्यपरः सर्वभूतेष्वहिंसकः॥ २०॥

जो पहले भगवान् सूर्यके मुखसे प्रकट हुआ था, उस वैष्णव शास्त्रोक्त विधिका आश्रय ले वे प्रथम तो देवेश्वर भगवान् नारायणका पूजन करते। फिर उनकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे पितरोंका, पितरोंकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे ब्राह्मणोंका तथा अन्य आश्रितजनोंका विभागपूर्वक सत्कार करते थे। सबको देनेके अनन्तर बचे हुए अन्नका भोजन करते थे, सत्यमें तत्पर रहते और किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करते थे॥ १९-२०॥

सर्वभावेन भक्तः स देवदेवं जनार्दनम्।
अनादिमध्यनिधनं लोककर्तारमव्ययम्॥ २१॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अविनाशी, लोककर्ता देवदेव जनार्दनके भजनमें सम्पूर्णभावसे लगे रहते थे॥

तस्य नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः।
एकशय्यासनं देवो दत्तवान् देवराट् स्वयम्॥ २२॥

भगवान् नारायणमें भक्ति रखनेवाले उस शत्रुसूदन नरेशपर प्रसन्न हो देवराज इन्द्र उन्हें अपने साथ एक शय्या और एक आसनपर बिठाया करते थे॥ २२॥

आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा॥ २३॥

राजा उपरिचरने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि सब उपकरणोंको भगवान्‌की ही वस्तु समझकर सब उन्हींको समर्पित कर रखा था॥ २३॥

काम्यनैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः।
सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः॥ २४॥

राजन्! वे सदा सावधान रहकर सकाम और नैमित्तिक यज्ञोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको वैष्णवशास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न किया करते थे॥ २४॥

पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः।
प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम्॥ २५॥

उन महात्मा नरेशके घरमें पाञ्चरात्र शास्त्रके मुख्य-मुख्य विद्वान् सदा मौजूद रहते थे और भगवान्‌को समर्पित किया हुआ प्रसाद अथवा भोज्य पदार्थ सबसे पहले वे ही भोजन करते थे॥ २५॥

तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः।
नानृता वाक् समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत्॥ २६॥
न च कायेन कृतवान् स पापं परमण्वपि।

धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए उन शत्रुघाती नरेशने न तो कभी असत्य-भाषण किया और न कभी उनका मन ही बुरे विचारोंसे दूषित हुआ। अपने शरीरके

द्वारा उन्होंने कभी छोटे-से छोटा पाप भी नहीं किया था ॥

ये हि ते ऋषयः ख्याताः सप्त चित्रशिखण्डिनः ॥ २७ ॥
तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत् प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् ।
वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ २८ ॥
आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम् ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः ॥ २९ ॥

(अब मैं जिस प्रकार तन्त्र, स्मृति और आगमकी उत्पत्ति हुई है, उसे बताता हूँ, सुनो—) मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महातेजस्वी वसिष्ठ—ये सात प्रसिद्ध ऋषि चित्रशिखण्डी कहलाते हैं। ये जो चित्रशिखण्डी नामसे विख्यात सात ऋषि हैं, इन्होंने महागिरि मेरुपर एकमत होकर जिस उत्तम शास्त्रका प्रवचन एवं निर्माण किया, वह चारों वेदोंके समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत है। उसमें सात मुखोंसे प्रकट हुए उत्तम लोकधर्मकी व्याख्या हुई है ॥ २७—२९ ॥

सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः ।
एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम् ॥ ३० ॥

ये सातों ऋषि प्रकृतिके सात रूप हैं अर्थात् प्रजाके स्रष्टा हैं। आठवाँ ब्रह्मा है। ये सब मिलकर इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। इन्हींके द्वारा शास्त्रका प्राकट्य हुआ है ॥ ३० ॥

एकाग्रमनसो दान्ता मुनयः संयमे रताः ।
भूतभव्यभविष्यज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३१ ॥

ये सबके सब ऋषि एकाग्रचित्त, जितेन्द्रिय, संयमपरायण, भूत, भविष्य और वर्तमानके ज्ञाता तथा सत्य-धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ ३१ ॥

इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम् ।
लोकान् संचिन्त्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे ॥ ३२ ॥

इन्होंने मन-ही-मन यह सोचकर कि अमुक साधनसे जगत्का कल्याण होगा, अमुकसे परमात्माकी प्राप्ति होगी तथा अमुक उपायसे संसारका सर्वोत्तम हितसाधन होगा, शास्त्रकी रचना की ॥ ३२ ॥

तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः ।
मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थिताः ॥ ३३ ॥

उसमें पहले धर्म, अर्थ और कामका, फिर मोक्षका भी वर्णन है तथा स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें प्रचलित नाना प्रकारकी मर्यादाओंका भी प्रतिपादन किया गया है ॥

आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं वै सर्वे ते ऋषिभिः सह ॥ ३४ ॥
नारायणानुशास्ता हि तदा देवी सरस्वती ।
विवेश तानृषीन् सर्वाल्लोकानां हितकाम्यया ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त ऋषियोंने अन्य ऋषियोंके साथ एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् नारायणकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान्ने सरस्वतीदेवीको उनके पास भेजा। नारायणकी आज्ञासे सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये उस समय सरस्वती देवीने उन सम्पूर्ण ऋषियोंके भीतर प्रवेश किया था ॥ ३४-३५ ॥

ततः प्रवर्तिता सम्यक् तपोविद्भिर्द्विजातिभिः ।
शब्दे चार्थे च हेतौ च एषा प्रथमसर्गजा ॥ ३६ ॥

तब उन तपस्वी ब्राह्मणोंने शब्द, अर्थ और हेतुसे युक्त वाणीका प्रयोग किया। यह उनकी प्रथम रचना थी ॥ ३६ ॥

आदावेव हि तच्छास्त्रमोंकारस्वरपूजितम् ।
ऋषिभिः श्रावितं यत्र तत्र कारुणिको ह्यसौ ॥ ३७ ॥

उस शास्त्रके आरम्भमें ही ॐकार स्वरका प्रयोग किया गया है। ऋषियोंने सबसे पहले जहाँ उस शास्त्रको सुनाया, वहाँ वे करुणामय भगवान् विराजमान थे ॥

ततः प्रसन्नो भगवाननिर्दिष्टशरीरगः ।
ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अनिर्वचनीय शरीरमें स्थित भगवान् पुरुषोत्तम प्रसन्न हो अदृश्य रहकर ही उन सब ऋषियोंसे बोले— ॥ ३८ ॥

कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

'मुनिवरो! तुमलोगोंने एक लाख श्लोकोंका यह उत्तम शास्त्र बनाया है। इससे सम्पूर्ण लोकतन्त्रका धर्म प्रचलित होगा ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति ।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ॥ ४० ॥

'प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें यह ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदके मन्त्रोंसे अनुमोदित ग्रन्थके समान प्रमाणभूत होगा ॥ ४० ॥

यथा प्रमाणं हि मया कृतो ब्रह्मा प्रसादतः ।
रुद्रश्च क्रोधजो विप्रा यूयं प्रकृतयस्तथा ॥ ४१ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्भूमिरापोऽग्निरेव च ।
सर्वे च नक्षत्रगणा यच्च भूताभिशब्दितम् ॥ ४२ ॥
अधिकारेषु वर्तन्ते यथास्वं ब्रह्मवादिनः ।
सर्वे प्रमाणं हि यथा तथा तच्छास्त्रमुत्तमम् ॥ ४३ ॥
भविष्यति प्रमाणं वै एतन्मदनुशासनम् ।

'ब्राह्मणो! जैसे मेरे प्रसादसे उत्पन्न ब्रह्मा प्रमाणभूत है एवं जैसे क्रोधसे उत्पन्न रुद्र, तुम सब प्रजापति, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, भूमि, जल, अग्नि, सम्पूर्ण नक्षत्रगण तथा अन्यान्य भूतनामधारी पदार्थ और ब्रह्मवादी ऋषिगण अपने-अपने अधिकारके अनुसार बर्ताव करते हुए प्रमाणभूत माने जाते हैं, उसी प्रकार तुमलोगोंका बनाया हुआ यह उत्तम शास्त्र भी प्रामाणिक माना जायगा, यह मेरी आज्ञा है ॥ ४१—४३½ ॥

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम्॥ ४४ ॥
उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः ।
तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥ ४५ ॥

'स्वायम्भुव मनु स्वयं इसी ग्रन्थके अनुसार धर्मोंका उपदेश करेंगे । शुक्राचार्य और बृहस्पति जब प्रकट होंगे, तब वे भी तुम्हारी बुद्धिसे निकले हुए इस शास्त्रका प्रवचन करेंगे ॥ ४४-४५ ॥

स्वायम्भुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते ।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥ ४६ ॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः ।
बृहस्पतिसकाशाद् वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥

'द्विजश्रेष्ठगण ! स्वायम्भुव मनुके धर्मशास्त्र, शुक्राचार्यके शास्त्र तथा बृहस्पतिके मतका जब लोकमें प्रचार हो जायगा, तब प्रजापालक वसु (राजा उपरिचर) बृहस्पतिजीसे तुम्हारे बनाये हुए इस शास्त्रका अध्ययन करेगा ।४६-४७ ।

स हि सद्भावितो राजा मद्भक्तश्च भविष्यति ।
तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः सर्वाः करिष्यति ॥ ४८ ॥

'सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित वह राजा मेरा बड़ा भक्त होगा और लोकमें उसी शास्त्रके अनुसार सम्पूर्ण कार्य करेगा ॥४८॥

एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम् ।
एतदर्थ्यं च धर्म्यं च रहस्यं चैतदुत्तमम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारा बनाया हुआ यह शास्त्र सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ माना जायगा । यह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं उत्तम रहस्यमय ग्रन्थ है ॥ ४९ ॥

अस्य प्रवर्तनाच्चैव प्रजावन्तो भविष्यथ ।
स च राजश्रिया युक्तो भविष्यति महान् वसुः॥ ५०॥

'इसके प्रचारसे तुम सब लोग संतानवान् होओगे अर्थात् तुम्हारी प्रजाकी वृद्धि होगी तथा राजा उपरिचर भी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं महान् पुरुष होगा ॥५०॥

संस्थिते तु नृपे तस्मिञ्शास्त्रमेतत् सनातनम् ।
अन्तर्धास्यति तत् सर्वमेतद् वः कथितं मया ॥ ५१॥

'उस राजाके दिवंगत होनेके बाद यह सनातन शास्त्र सर्वसाधारणकी दृष्टिसे लुप्त हो जायगा । इसके सम्बन्धमें सारी बातें मैंने तुमलोगोंको बता दीं' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनमदृश्यः पुरुषोत्तमः ।
विसृज्य तानृषीन् सर्वान् कामपि प्रसृतो दिशम्॥५२ ॥

अदृश्यभावसे ऐसी बात कहकर भगवान् पुरुषोत्तम उन समस्त ऋषियोंको वहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थचिन्तकाः ।
प्रावर्तयन्त तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम् ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंका हितचिन्तन करनेवाले उन लोकपिता प्रजापतियोंने धर्मके मूलभूत उस सनातन शास्त्रका जगत्में प्रचार किया ॥ ५३ ॥

उत्पन्नेऽङ्गिरसे चैव युगे प्रथमकल्पिते ।
साङ्गोपनिषदं शास्त्रं स्थापयित्वा बृहस्पतौ ॥ ५४ ॥
जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृतनिश्चयाः ।
धारणाः सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्तकाः ॥ ५५ ॥

फिर आदिकल्पके प्रारम्भिक युगमें जब बृहस्पतिका प्रादुर्भाव हुआ, तब उन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद और उपनिषदोंसहित वह शास्त्र उनको पढ़ाया। तदनन्तर सब धर्मोंका प्रचार और समस्त लोकोंको धर्ममर्यादाके भीतर स्थापित करनेवाले वे ऋषिगण तपस्याका निश्चय करके अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका महत्त्वविषयक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा उपरिचरके यज्ञमें भगवान्पर बृहस्पतिका क्रोधित होना, एकत आदि मुनियोंका बृहस्पतिसे श्वेतद्वीप एवं भगवान्की महिमाका वर्णन करके उनको शान्त करना

भीष्म उवाच

ततोऽतीते महाकल्पे उत्पन्नेऽङ्गिरसः सुते ।
बभूवुर्निर्वृता देवा जाते देवपुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर बीते हुए महान् कल्पके आरम्भमें जब अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति उत्पन्न हुए और देवताओंके पुरोहित बन गये, तब देवताओंको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः॥ २ ॥

राजन् ! बृहत्, ब्रह्म और महत्—ये तीनों शब्द एक अर्थके वाचक हैं । इन तीनों शब्दोंके गुण देवपुरोहितमें मौजूद थे; इसलिये वे विद्वान् देवगुरु 'बृहस्पति' कहलाते थे ॥

तस्य शिष्यो बभूवाग्र्यो राजोपरिचरो वसुः ।
अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक् चित्रशिखण्डिजम्॥ ३ ॥

उनके श्रेष्ठ शिष्य हुए राजा उपरिचर वसु, जिन्होंने उनसे उन दिनों चित्रशिखण्डियोंके बनाये हुए तन्त्रशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया ॥ ३ ॥

स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः ।
पालयामास पृथिवीं दिवमाखण्डलो यथा ॥ ४ ॥

वे राजा उपरिचर वसु पहले दैवविधानसे भावित हो इस पृथ्वीका उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गका ॥ ४ ॥

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः ।
बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥ ५ ॥

एक समय उन महात्मा नरेशने महान् अश्वमेध-यज्ञका आयोजन किया । उसमें उनके उपाध्याय बृहस्पति होता हुए ॥ ५ ॥

प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चाभवंस्त्रयः ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ॥ ६ ॥

प्रजापतिके तीन पुत्र एकत, द्वित और त्रित नामक महर्षि उस यज्ञमें सदस्य हुए ॥ ६ ॥

धनुषाख्योऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ॥ ७ ॥
ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः ।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः ॥ ८ ॥
आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः ।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्तिताः ॥ ९ ॥

इनके सिवा (तेरह सदस्य और थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—) धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मुनिवर मेधातिथि, महर्षि ताण्डय, महाभाग शान्ति मुनि, वेदशिरा, शालिहोत्रके पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्यकठ, वैशम्पायनके बड़े भाई तैत्तिरि, कण्व और देवहोत्र । ये कुल मिलाकर सोलह सदस्य बताये गये हैं ॥ ७–९ ॥

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥ १०॥

राजन् ! उस महान् यज्ञमें सारे सामान एकत्र किये गये; परंतु उसमें किसी पशुका वध नहीं हुआ । वे राजा उपरिचर इसी भावसे उस यज्ञमें स्थित हुए थे ॥ १० ॥

अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

वे हिंसाभावसे रहित, पवित्र, उदार तथा कामनाओंसे रहित थे और इसी भावसे कर्ममें प्रवृत्त हुए थे । जंगलमें उत्पन्न हुए फल-मूल आदि पदार्थोंसे ही उस यज्ञमें देवताओंके भाग निश्चित किये गये थे ॥ ११ ॥

प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः ।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥ १२॥

उस समय पुराणपुरुष देवाधिदेव भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया; परंतु दूसरे किसीको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२ ॥

स्वयं भागमुपाघ्राय पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा ॥ १३ ॥

भगवान् हयग्रीवने स्वयं अदृश्य रहकर ही अपने लिये अर्पित पुरोडाशको ग्रहण किया और उसे सूँघकर अपने अधीन कर लिया ॥ १३ ॥

बृहस्पतिस्ततः क्रुद्धः स्रुचमुद्यम्य वेगितः ।
आकाशं घ्नन् स्रुचः पाते रोषादश्रूण्यवर्तयत ॥ १४ ॥

यह देख बृहस्पति क्रोधमें भर गये । उन्होंने बड़े वेगसे स्रुवा उठा लिया और आकाशमें उसे दे मारा । साथ ही वे रोषवश अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १४ ॥

उवाच चोपरिचरं मया भागोऽयमुद्यतः ।
ग्राह्यः स्वयं हि देवेन मत्प्रत्यक्षं न संशयः ॥ १५ ॥

फिर वे राजा उपरिचरसे बोले—'मैंने जो यह भाग प्रस्तुत किया है, उसे भगवान्‌को मेरी आँखोंके सामने प्रकट होकर ग्रहण करना चाहिये, यही न्याय है, इसमें संशय नहीं है' ।१५।

युधिष्ठिर उवाच

उद्यता यज्ञभागा हि साक्षात् प्राप्ताः सुरैरिह ।
किमर्थमिह न प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जब सभी देवताओंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपने-अपने भाग ग्रहण किये, तब भगवान् विष्णुने उस यज्ञमें पधारकर भी क्यों प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दिया ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

ततः स तं समुद्धूतं भूमिपालो महान् वसुः ।
प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते च सर्वशः ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसका कारण बताता हूँ, सुनो । वे महान् भूपाल वसु तथा अन्य सम्पूर्ण सदस्य मिलकर उस समय रोषमें भरे हुए मुनि बृहस्पतिको मनाने लगे ॥ १७ ॥

ऊचुश्चैनमसम्भ्रान्ता न रोषं कर्तुमर्हसि ।
नैष धर्मः कृतयुगे यस्त्वं रोषमचीकृथाः ॥ १८ ॥

सब लोग शान्तचित्त होकर उनसे बोले— 'मुने ! आप रोष न करें । आपने जो रोष किया है, यह सत्ययुगका धर्म नहीं है ॥ १८ ॥

अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः ।
न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ॥ १९ ॥
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ।

'बृहस्पते ! जिनको यह भाग समर्पित किया गया है, वे भगवान् कभी क्रोध नहीं करते हैं । हम और आप उन्हें स्वेच्छासे नहीं देख सकते हैं । जिसपर वे कृपा करते हैं, वही उनका दर्शन कर पाता है' ॥ १९½ ॥

एकतद्वितत्रिताश्चोचुस्ततश्चित्रशिखण्डिनः ॥ २० ॥
वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः ।
गता निःश्रेयसार्थं हि कदाचिद् दिशमुत्तराम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर एकत, द्वित और त्रितने तथा चित्रशिखण्डी नामवाले ऋषियोंने उनसे कहा—'बृहस्पते ! हमलोग ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहलाते हैं । एक बार अपने कल्याणकी इच्छासे हम सबने उत्तर दिशाकी यात्रा की ॥ २०-२१ ॥

तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम् ।
एकपादाः स्थिताः सम्यक् काष्ठभूताः समाहिताः॥२२॥
मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्यानुकूलतः ।
स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम् ॥ २३ ॥
कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणात्मकम् ।
वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ मेरुके उत्तर और क्षीरसागरके किनारे एक पवित्र स्थान है, जहाँ हमलोगोंने हजार वर्षोंतक एकाग्रचित्त हो काष्ठकी भाँति एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या की थी । वह उत्तम तपस्या करके हम यही चाहते थे कि किसी तरह वरदायक सनातन देवाधिदेव वरणीय भगवान् नारायणका दर्शन कर लें ॥ २२—२४ ॥

कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणं त्विति ।
अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ॥ २५ ॥
स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो ।

'हम बारंबार यही सोचते थे कि हमें श्रीनारायणदेवका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? तदनन्तर व्रतकी समाप्ति होनेपर हमें हर्ष प्रदान करनेवाली किसी शरीररहित वाणीने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वरसे इस प्रकार कहा—॥ २५½ ॥

सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥
यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम् ।

'ब्राह्मणो ! तुमने प्रसन्न हृदयसे भलीभाँति तप किया है। तुम भगवान्के भक्त हो और यह जानना चाहते हो कि उन सर्वव्यापी परमात्माका दर्शन कैसे हो ? ॥ २६½ ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः ॥ २७ ॥
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।

'इसका उपाय सुनो । क्षीरसागरके उत्तरभागमें अत्यन्त प्रकाशमान श्वेतद्वीप है । वहाँ भगवान् नारायणका भजन करनेवाले पुरुष रहते हैं, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हैं ॥ २७½ ॥

एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम् ।
अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ॥ २९ ॥

'वे स्थूल इन्द्रियोंसे रहित, निराहार और निश्चेष्ट होते हैं। उनके शरीरसे मनोहर सुगन्ध निकलती रहती है तथा वे भगवान्के अनन्य भक्त होते हैं और सहस्रों किरणोंवाले उन सनातनदेव भगवान् पुरुषोत्तममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ॥ ३० ॥

'मुनियो ! वे श्वेतद्वीपके निवासी मेरे एकान्त भक्त हैं, तुम वहीं जाओ । वहाँ मेरे स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन होता है' ॥३०॥

अथ श्रुत्वा वयं सर्वे वाचं तामशरीरिणीम् ।
यथाख्यातेन मार्गेण तं देशं प्रतिपेदिरे ॥ ३१ ॥

'इस आकाशवाणीको सुनकर हमलोग उसके बताये हुए मार्गसे उस स्थानको गये ॥ ३१ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं तच्चित्तास्तद्दिदृक्षवः ।
ततोऽस्मद्दृष्टिविषयस्तदा प्रतिहतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

'श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँचकर हमारा चित्त भगवान्में ही लगा रहा । हम उनके दर्शनकी इच्छासे उत्कण्ठित हो रहे थे । वहाँ जाते ही हमारी दृष्टिशक्ति प्रतिहत हो गयी ॥

न च पश्याम पुरुषं तत्तेजोहृतदर्शनाः ।
ततो नः प्रादुरभवद् विज्ञानं देवयोगजम् ॥ ३३ ॥
न किलातप्ततपसा शक्यते द्रष्टुमञ्जसा ।

'वहाँके निवासियोंके तेजसे आँखें चौंधिया जानेके कारण हम वहाँ किसी पुरुषको देख नहीं पाते थे । तदनन्तर दैवयोगसे हमारे हृदयमें यह ज्ञान प्रकट हुआ कि तपस्या किये बिना हमलोग भगवान्को सुगमतापूर्वक नहीं देख सकते ॥

ततः पुनर्वर्षशतं तप्त्वा तात्कालिकं महत् ॥ ३४ ॥
व्रतावसाने च शुभान् नरान् ददृशिरे वयम् ।
श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान् सर्वलक्षणलक्षितान् ॥ ३५ ॥

'तदनन्तर हमने तत्काल पुनः सौ वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की । उस तपोमय व्रतके पूर्ण होनेपर हमलोगोंको वहाँके शुभलक्षण पुरुषोंका दर्शन हुआ, जो चन्द्रमाके समान गौरवर्ण और सब प्रकारके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥३४-३५॥

नित्याञ्जलिकृतान् ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान् ।
मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मभिः ॥ ३६ ॥

'वे प्रतिदिन ईशानकोणकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े हुए ब्रह्मका मानसजप करते थे ॥ ३६ ॥

तेनैकाग्रमनस्त्वेन प्रीतो भवति वै हरिः ।
याभवन्मुनिशार्दूल भाः सूर्यस्य युगक्षये ॥ ३७ ॥
एकैकस्य प्रभा तादृक् साभवन्मानवस्य ह ।

'उनके मनकी इस एकाग्रतासे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते थे । मुनिश्रेष्ठ ! प्रलयकालमें सूर्यकी जैसी प्रभा होती है, वैसी ही उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक पुरुषकी थी ॥ ३७½ ॥

तेजोनिवासः स द्वीप इति वै मेनिरे वयम् ॥ ३८ ॥
न तत्राभ्यधिकः कश्चित् सर्वे ते समतेजसः ।

'हमलोगोंने तो यही समझा कि यह द्वीप तेजका ही निवासस्थान है । वहाँ कोई किसीसे बढ़कर नहीं था । सबका तेज समान था ॥ ३८½ ॥

अथ सूर्यसहस्रस्य प्रभां युगपदुत्थिताम् ॥ ३९ ॥
सहसा दृष्टवन्तः स्म पुनरेव बृहस्पते ।

'बृहस्पते ! थोड़ी ही देरमें हमारे सामने एक ही साथ हजारों सूर्योंके समान प्रभा प्रकट हुई । हमारी दृष्टि सहसा उस ओर खिंच गयी ॥ ३९½ ॥

सहिताश्चाभ्यधावन्त ततस्ते मानवा द्रुतम् ॥ ४० ॥
कृताञ्जलिपुटा हृष्टा नम इत्येव वादिनः ।

'तदनन्तर वहाँके निवासी पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ दोनों हाथ जोड़े 'नमो नमः' कहते हुए एक ही साथ तीव्र गतिसे उस तेजकी ओर दौड़े ॥ ४०½ ॥

ततो हि वदतां तेषामश्रौष्म विपुलं ध्वनिम् ॥ ४१ ॥
बलिः किलोपह्रियते तस्य देवस्य तैर्नरैः ।

'इसके बाद जब वे स्तुति करने लगे, तब उनकी तुमुल ध्वनि हमारे कानोंमें पड़ी । वे सब लोग उन तेजोमय भगवान्‌को पूजाकी सामग्री अर्पण कर रहे थे ॥ ४१½ ॥

वयं तु तेजसा तस्य सहसा हृतचेतसः ॥ ४२ ॥
न किंचिदपि पश्यामो हतचक्षुर्बलेन्द्रियाः ।

'भगवान्‌के उस अनिर्वचनीय तेजने हमारे चित्तको सहसा खींच लिया था; परंतु हमारे नेत्र, बल और इन्द्रियाँ प्रतिहत हो गयी थीं, इसलिये हम स्पष्ट रूपसे कुछ देख नहीं पाते थे ॥

एकस्तु शब्दो विततः श्रुतोऽस्माभिरुदीरितः ॥ ४३ ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥ ४४ ॥

'परंतु एक शब्द जो उच्चस्वरसे उच्चारित होकर दूरतक फैल रहा था, हमने भी सुना । सब लोग कह रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष ! आपकी जय हो । विश्वभावन ! आपको प्रणाम है । महापुरुषोंके भी पूर्वज हृषीकेश ! आपको नमस्कार है' ॥

इति शब्दः श्रुतोऽस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः ।
एतस्मिन्नन्तरे वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ॥ ४५ ॥
दिव्यान्युवाह पुष्पाणि कर्मण्याश्चौषधीस्तथा ।
तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः ॥ ४६ ॥
भक्त्या परमया युक्तैर्मनोवाक्कर्मभिस्तदा ।

'शिक्षा और अक्षरसे युक्त यह वाक्य हमलोगोंको श्रवणगोचर हुआ । इतनेहीमें पवित्र और सुगन्धित वायु बहुत-से दिव्य पुष्प और कार्योपयोगी ओषधियाँ ले आयी, जिनसे वहाँके पञ्चकालवेत्ता अनन्य भक्तोंने बड़ी भक्तिके साथ मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन श्रीहरिका पूजन किया ॥४५-४६½॥

नूनं तत्रागतो देवो यथा तैर्वागुदीरिता ॥ ४७ ॥
वयं त्वेनं न पश्यामो मोहितास्तस्य मायया ।

'जैसी बातचीत उन्होंने की थी, उससे हमें विश्वास हो गया था कि निश्चय ही यहाँ भगवान् पधारे हुए हैं, परंतु उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण हम उन्हें देख नहीं पाते थे ॥ ४७½ ॥

मारुते संनिवृत्ते च बलौ च प्रतिपादिते ॥ ४८ ॥
चिन्ताव्याकुलितात्मानो जाताः स्मोऽङ्गिरसां वर ।

'बृहस्पते ! जब उस सुगन्धित वायुका चलना बंद हो गया और भगवान्‌को बलिसमर्पणका कार्य पूर्ण हो गया, तब हमलोग मन-ही-मन चिन्तामें व्याकुल हो उठे ॥४८½॥

मानवानां सहस्रेषु तेषु वै शुद्धयोनिषु ॥ ४९ ॥
अस्मान् न कश्चिन्मनसा चक्षुषा वाप्यपूजयत् ।

'वहाँ शुद्ध कुलवाले सहस्रों पुरुष थे; परंतु उनमेंसे किसीने मनसे अथवा दृष्टिपातद्वारा भी हमलोगोंका सत्कार नहीं किया ॥ ४९½ ॥

तेऽपि स्वस्था मुनिगणा एकभावमनुव्रताः ॥ ५० ॥
नास्मासु दधिरे भावं ब्रह्मभावमनुष्ठिताः ।

वहाँ जो स्वस्थ मुनिगण थे, वे भी अनन्य भावसे भगवान्‌के भजनमें ही मन लगाये रहते थे । उन ब्रह्मभावमें स्थित मुनियोंने हमलोगोंकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥५०½॥

ततोऽस्मान् सुपरिश्रान्तांस्तपसा चातिकर्शितान्॥५१॥
उवाच स्वस्थं किमपि भूतं तत्राशरीरकम् ।

'हमलोग तपस्यासे थककर अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । उस समय हमलोगोंसे किसी शरीररहित स्वस्थ प्राणी (देवता) ने कहा ॥ ५१½ ॥

देव उवाच

दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ५२ ॥
दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ।

देवता बोले—मुनिवरो ! तुमलोगोंने श्वेतद्वीपनिवासी श्वेतकाय इन्द्रियरहित पुरुषोंका दर्शन किया । इन श्रेष्ठ द्विजोंके दर्शन होनेसे साक्षात् देवेश्वर भगवान्‌का ही दर्शन हो जाता है ॥ ५२½ ॥

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ॥ ५३ ॥
न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन ।

मुनियो ! तुम सब लोग जैसे आये हो, वैसे ही शीघ्र लौट जाओ । भगवान्‌में अनन्य भक्ति हुए बिना किसीको किसी तरह भी उनका साक्षात् दर्शन नहीं हो सकता ॥ ५३½ ॥

कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः ॥ ५४ ॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ।

हाँ, बहुत समयतक उनकी भक्ति करते-करते जब पूरी अनन्यता आ जायगी, तब ज्योतिःपुञ्जके कारण कठिनतासे देखे जानेवाले भगवान्‌का दर्शन सम्भव हो सकता है ॥ ५४½ ॥

महत् कार्यं च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥ ५५ ॥
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च ।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ५६ ॥
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ ।

विप्रवरो ! इस समय तुम्हें अभी बहुत बड़ा काम

करना है। इस सत्ययुगके बीतनेपर जब धर्ममें किञ्चित् व्यतिक्रम आ जायगा और वैवस्वत मन्वन्तरके त्रेतायुगका आरम्भ होगा, उस समय देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुमलोग ही सहायक होगे ॥ ५५-५६½ ॥

ततस्तदद्भुतं वाक्यं निशम्यैवामृतोपमम् ॥ ५७ ॥
तस्य प्रसादात् प्राप्ताः स्मो देशमीप्सितमञ्जसा ।

'यह अमृतके समान मधुर एवं अद्भुत वचन सुनकर हमलोग भगवान्‌की कृपासे अनायास ही अपने अभीष्ट स्थानपर आ पहुँचे ॥ ५७½ ॥

एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥ ५८ ॥
देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि ।

'बृहस्पते ! इस प्रकार हमने बड़ी भारी तपस्या की, हव्य-कव्योंके द्वारा भगवान्‌का पूजन भी किया, तो भी हमें उनका दर्शन न हो सका। फिर तुम कैसे अनायास ही उनका दर्शन पा लोगे ? ॥ ५८½ ॥

नारायणो महद्भूतं विश्वसृग्घव्यकव्यभुक् ॥ ५९ ॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो देवदानवपूजितः ।

'भगवान् नारायण सबसे महान् देवता हैं। वे ही संसारके स्रष्टा और हव्य-कव्यके भोक्ता हैं। उनका आदि और अन्त नहीं है। उन अव्यक्त परमेश्वरकी देवता और दानव भी पूजा करते हैं' ॥ ५९½ ॥

एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन च ॥ ६० ॥
अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः ।
समापयत् ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार एकतके कहनेसे, द्वित और त्रितकी सम्मतिसे तथा अन्य सदस्योंद्वारा अनुनय किये जानेसे उदारबुद्धि बृहस्पतिने उस यज्ञको समाप्त किया और भगवान्‌की पूजा की ॥ ६०-६१ ॥

समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।
ब्रह्मशापाद् दिवो भ्रष्टः प्रविवेश महीं ततः ॥ ६२ ॥

राजा वसु भी यज्ञ पूरा करके प्रजाका पालन करने लगे। एक बार ब्रह्मशापसे उन्हें स्वर्गसे भ्रष्ट होना पड़ा था। उस समय वे पृथ्वीके भीतर रसातलमें समा गये थे ॥ ६२ ॥

स राजा राजशार्दूल सत्यधर्मपरायणः ।
अन्तर्भूमिगतश्चैव सततं धर्मवत्सलः ॥ ६३ ॥
नारायणपरो भूत्वा नारायणजपं जपन् ।
तस्यैव च प्रसादेन पुनरेवोत्थितस्तु सः ॥ ६४ ॥
महीतलाद् गतः स्थानं ब्रह्मणः समनन्तरम् ।
परां गतिमनुप्राप्त इति नैष्ठिकमञ्जसा ॥ ६५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले सत्यधर्मपरायण राजा उपरिचर भूमिके भीतर प्रवेश करके भी निरन्तर नारायण-मन्त्रका जप करते हुए भी उन्हींकी आराधनामें तत्पर रहते थे। अतः उन्हींकी कृपासे वे पुनः ऊपरको उठे और भूतलसे ब्रह्मलोकमें जाकर उन्होंने परम गति प्राप्त कर ली। अनायास ही उन्हें निष्ठावानोंकी यह उत्तम गति प्राप्त हो गयी॥ ६३—६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महत्ताका वर्णनविषयक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यज्ञमें आहुतिके लिये अजका अर्थ अन्न है, बकरा नहीं—इस बातको जानते हुए भी पक्षपात करनेके कारण राजा उपरिचरके अधःपतनकी और भगवत्कृपासे उनके पुनरुत्थानकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः ।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा वसु जब भगवान्‌के अत्यन्त भक्त और महान् पुरुष थे, तब वे स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पातालमें कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें ज्ञानीजन ऋषियों और देवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासको उद्धृत किया करते हैं—॥ २ ॥

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥ ३ ॥

'अजके द्वारा यज्ञ करना चाहिये—ऐसा विधान है।' ऐसा कहकर देवताओंने वहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंसे कहा, 'यहाँ अजका अर्थ बकरा समझना चाहिये, दूसरा पशु नहीं, ऐसा निश्चय है' ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—देवताओ ! यज्ञोंमें बीजोंद्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है; अतः बकरेका वध करना हमें उचित नहीं है ॥ ४ ॥

नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ॥ ५ ॥

देवताओ ! जहाँ कहीं भी यज्ञमें पशुका वध हो, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशुका वध कैसे किया जा सकता है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब ऋषियोंका देवताओंके साथ संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी उस मार्गसे आ निकले और उस स्थानपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः ।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्॥ ७ ॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः ॥ ८ ॥

श्रीमान् राजा उपरिचर अपनी सेना और वाहनोंके साथ आकाशमार्गसे चलते थे। उन अन्तरिक्षचारी वसुको सहसा आते देख ब्रह्मर्षियोंने देवताओंसे कहा—'ये नरेश हमलोगोंका संदेह दूर कर देंगे; क्योंकि ये यज्ञ करनेवाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितैषी एवं प्रिय हैं ॥ ७-८ ॥

कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा ॥ ९ ॥
अपृच्छन् सहिताभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात् ।

'ये महान् पुरुष वसु शास्त्रके विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं।' ऐसी सम्मति करके देवताओं और ऋषियोंने एक साथ राजा वसुके पास आकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—॥ ९½ ॥

भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ॥ १० ॥
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः ।

'राजन्! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिये ? बकरेके द्वारा अथवा अन्नद्वारा ? हमारे इस संदेहका आप निवारण करें । हमलोगोंकी रायमें आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं' ॥ १०½ ॥

स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः ॥ ११ ॥
कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ।

तब राजा वसुने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—'विप्रवरो ! आपलोग सच-सच बताइये, आपलोगोंमेंसे किस पक्षको कौन-सा मत अभीष्ट है ? कौन अजका अर्थ बकरा मानता है और कौन अन्न ?' ॥ ११½ ॥

ऋषय ऊचुः

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप ॥ १२ ॥
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः ।

ऋषि बोले—नरेश्वर ! हमलोगोंका पक्ष यह है कि अन्नसे यज्ञ करना चाहिये तथा देवताओंका पक्ष यह है कि छाग नामक पशुके द्वारा यज्ञ होना चाहिये । राजन् ! अब आप हमें अपना निर्णय बताइये ॥ १२½ ॥

भीष्म उवाच

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात् ॥ १३ ॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! देवताओंका मत जानकर राजा वसुने उन्हींका पक्ष लेकर कह दिया कि अजका अर्थ है, छाग (बकरा); अतः उसीके द्वारा यज्ञ करना चाहिये ॥ १३½ ॥

कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः ॥ १४ ॥
ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् ।

यह सुनकर वे सभी सूर्यके समान तेजस्वी ऋषि कुपित हो उठे और विमानपर बैठकर देवपक्षकी बात कहनेवाले वसुसे बोले—॥ १४½ ॥

सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात् तस्माद् दिवः पत ॥ १५ ॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

'राजन् ! तुमने यह जानकर भी कि अजका अर्थ अन्न है, देवताओंका पक्ष लिया है; इसलिये स्वर्गसे नीचे गिर जाओ । आजसे तुम्हारी आकाशमें विचरनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। हमारे शापके आघातसे तुम पृथ्वीको भेदकर पातालमें प्रवेश करोगे ॥ १५-१६ ॥

(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप ।
वयं विरुद्धवचना यदि तत्र पतामहे ॥)

'नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रोंके विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो और यदि हम शास्त्रविरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय' ॥

ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा ।
अधो वै सम्बभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप ॥ १७ ॥

राजन् ! ऋषियोंके इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर आकाशसे नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर गये ॥ १७ ॥

स्मृतिस्त्वेनं न हि जहौ तदा नारायणाज्ञया ।
देवास्तु सहिताः सर्वे वसोः शापविमोक्षणम् ॥ १८ ॥
चिन्तयामासुरव्यग्राः सुकृतं हि नृपस्य तत् ।
अनेनास्मत्कृते राज्ञा शापः प्राप्तो महात्मना ॥ १९ ॥

उस समय भी भगवान् नारायणकी आज्ञासे उनकी स्मरणशक्ति उन्हें छोड़ न सकी । इधर सब देवता एकत्र होकर राजाको शापसे छुटकारा दिलानेका उपाय सोचने लगे । वे शान्तभावसे परस्पर बोले—'राजाने तो पुण्य-ही-

पुण्य किया है। उन महात्मा नरेशको हमारे कारणसे ही यह शाप प्राप्त हुआ है ॥ १८-१९ ॥

अस्य प्रतिप्रियं कार्यं सहितैर्नो दिवौकसः।
इति बुद्ध्या व्यवस्याशु गत्वा निश्चयमीश्वराः ॥ २० ॥
ऊचुः संहृष्टमनसो राजोपरिचरं तदा।

'देवताओ! हमलोगोंको एक साथ होकर उनका अतिशय प्रिय करना चाहिये।' अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके वे सभी देवता राजा उपरिचर वसुके पास जाकर प्रसन्नचित्त हो बोले—॥ २०½ ॥

ब्रह्मण्यदेवभक्तस्त्वं सुरासुरगुरुर्हरिः ॥ २१ ॥
कामं स तव तुष्टात्मा कुर्याच्छापविमोक्षणम्।

'राजन्! तुम ब्रह्मण्यदेव भगवान् विष्णुके भक्त हो और वे श्रीहरि देवता तथा असुर सबके गुरु हैं। उनका मन तुमपर संतुष्ट है; इसलिये वे तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें अवश्य शापसे मुक्त कर देंगे ॥ २१½ ॥

मानना तु द्विजातीनां कर्तव्या वै महात्मनाम् ॥ २२ ॥
अवश्यं तपसा तेषां फलितव्यं नृपोत्तम।
यतस्त्वं सहसा भ्रष्ट आकाशान्मेदिनीतलम् ॥ २३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! तुम्हें महात्मा ब्राह्मणोंका सदा ही समादर करना चाहिये। अवश्य ही यह उनकी तपस्याका फल है; जिससे तुम आकाशसे सहसा भ्रष्ट होकर पातालमें चले आये हो ॥ २२-२३ ॥

एकं त्वनुग्रहं तुभ्यं दद्मो वै नृपसत्तम।
यावत् त्वं शापदोषेण कालमासिष्यसेऽनघ ॥ २४ ॥
भूमेर्विवरगो भूत्वा तावत् त्वं कालमाप्स्यसि।
यज्ञेषु सुहुतां विप्रैर्वसोर्धारां समाहितैः ॥ २५ ॥

'निष्पाप नृपशिरोमणे! हम तुम्हें अपना एक अनुग्रह प्रदान करते हैं। तुम शापदोषके कारण जबतक—जितने समयतक पृथ्वीके विवरमें रहोगे, तबतक एकाग्रचित्त ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञोंमें दी हुई वसुधाराकी आहुति तुम्हें प्राप्त होती रहेगी ॥ २४-२५ ॥

प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिरस्पृशत्।
न क्षुत्पिपासे राजेन्द्र भूमेश्छिद्रे भविष्यतः ॥ २६ ॥
वसोर्धाराभिपीतत्वात् तेजसाऽऽप्यायितेन च।
स देवोऽस्मद्वरात् प्रीतो ब्रह्मलोकं हि नेष्यति ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र! हमारे चिन्तनसे तुम्हें वसुधाराकी प्राप्ति होगी, जिससे ग्लानि तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी और इस पातालमें रहते हुए भी तुम्हें भूख और प्यासका कष्ट नहीं होगा; क्योंकि वसुधाराका पान करनेसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि होती रहेगी। हमारे वरदानसे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो तुम्हें ब्रह्मलोकमें ले जायँगे' ॥ २६-२७ ॥

एवं दत्त्वा वरं राज्ञे सर्वे ते च दिवौकसः।
गताः स्वभवनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजाको वरदान देकर वे सब देवता तथा तपोधन ऋषि अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २८ ॥

चक्रे वसुस्ततः पूजां विष्वक्सेनाय भारत।
जप्यं जगौ च सततं नारायणमुखोद्गतम् ॥ २९ ॥

भारत! तदनन्तर वसुने भगवान् विष्वक्सेनकी पूजा आरम्भ की और भगवान् नारायणके मुखसे प्रकट हुए जपनीय मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का निरन्तर जप करने लगे ॥ २९ ॥

तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिंदम।
अयजद्धरिं सुरपतिं भूमेर्विवरगोऽपि सन् ॥ ३० ॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! वहाँ पातालके विवरमें रहते हुए भी राजा उपरिचर पाँच समय पाँच यज्ञोंद्वारा देवेश्वर श्रीहरिकी आराधना करते थे ॥ ३० ॥

ततोऽस्य तुष्टो भगवान् भक्त्या नारायणो हरिः।
अनन्यभक्तस्य सतस्तत्परस्य जितात्मनः ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने मनको जीत लिया था और वे सदा भगवान्‌के भजनमें ही लगे रहते थे। अपने उस अनन्य भक्तकी भक्तिसे भगवान् श्रीनारायण हरि बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३१ ॥

वरदो भगवान् विष्णुः समीपस्थं द्विजोत्तमम्।
गरुत्मन्तं महावेगमाबभाषेप्सितं तदा ॥ ३२ ॥

फिर उन वरदायक भगवान् विष्णुने अपने पास ही खड़े हुए महान् वेगशाली पक्षिराज गरुड़से अपनी अभीष्ट बात इस प्रकार कही—॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम महाभाग पश्यतां वचनान्मम।
सम्राड् राजा वसुर्नाम धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

'महाभाग पक्षिप्रवर! तुम मेरी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा सम्राट् राजा वसुके पास जाकर उन्हें देखो ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणानां प्रकोपेन प्रविष्टो वसुधातलम्।
मानितास्ते तु विप्रेन्द्रास्त्वं तु गच्छ द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

'पक्षिराज! वे ब्राह्मणोंके कोपसे पातालमें प्रविष्ट हुए हैं। फिर भी उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सदा सम्मान ही किया है; अतः तुम उनके पास जाओ ॥ ३४ ॥

भूमेर्विवरसंगुप्तं गरुडेह ममाज्ञया।
अधश्चरं नृपश्रेष्ठं खेचरं कुरु मा चिरम् ॥ ३५ ॥

'गरुड! पृथ्वीके विवरमें सुरक्षितरूपसे रहनेवाले इन पातालचारी नृपश्रेष्ठ वसुको तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही आकाशचारी बना दो' ॥ ३५ ॥

गरुत्मानथ विक्षिप्य पक्षौ मारुतवेगवान्।
विवेश विवरं भूमेर्यत्रास्ते पार्थिवो वसुः ॥ ३६ ॥

यह आज्ञा पाकर वायुके समान वेगशाली गरुड अपने

दोनों पंख फैलाकर उड़े और पातालमें जहाँ राजा वसु विराजमान थे, घुस गये ॥ ३६ ॥

तत एनं समुत्क्षिप्य सहसा विनतासुतः ।
उत्पपात नभस्तूर्णं तत्र चैनममुञ्चत ॥ ३७ ॥

विनतानन्दन गरुड सहसा राजाको वहाँसे ऊपर उठाकर तुरंत आकाशमें ले उड़े और वहीं इन्हें छोड़ दिया ॥

अस्मिन् मुहूर्ते संजज्ञे राजोपरिचरः पुनः ।
सशरीरो गतश्चैव ब्रह्मलोकं नृपोत्तमः ॥ ३८ ॥

उसी क्षण राजा वसु पुनः उपरिचर हो गये । फिर वे नृपश्रेष्ठ सशरीर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ३८ ॥

एवं तेनापि कौन्तेय वाग्दोषाद् देवताज्ञया ।
प्राप्ता गतिरधस्तात् तु द्विजशापान्महात्मना ॥ ३९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार उस महामनस्वी नरेशने भी देवताओंकी आज्ञासे वाचिक अपराध करनेके कारण ब्राह्मणोंके शापसे अधोगति प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥

केवलं पुरुषस्तेन सेवितो हरिरीश्वरः ।
ततः शीघ्रं जहौ शापं ब्रह्मलोकमवाप च ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने केवल पुरुषप्रवर भगवान् श्रीहरिका सेवन किया, जिससे वे उस शापसे शीघ्र ही छूट गये और ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं सम्भूता मानवा यथा ।
नारदोऽपि यथा श्वेतं द्वीपं स गतवानृषिः ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥ ४१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! श्वेतद्वीपके निवासी पुरुष जैसे हैं, उनकी सारी स्थिति मैंने तुमसे कह सुनायी । अब देवर्षि नारद जिस प्रकार श्वेतद्वीपमें गये, वह सब प्रसङ्ग तुमसे कहूँगा । तुम एकचित्त होकर सुनो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका वर्णनविषयक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका दो सौ नामोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करना

भीष्म उवाच

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं नारदो भगवानृषिः ।
ददर्श तानेव नराञ्श्वेतांश्चन्द्रसमप्रभान् ॥ १ ॥
पूजयामास शिरसा मनसा तैश्च पूजितः ।
दिदृक्षुर्जप्यपरमः सर्वकृच्छ्रगतः स्थितः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस महान् श्वेतद्वीपमें पहुँचकर भगवान् देवर्षि नारदने जब वहाँके उन चन्द्रमाके समान कान्तिमान् पुरुषोंको देखा, तब मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन उनकी पूजा की । तत्पश्चात् श्वेतद्वीपनिवासी पुरुषोंने भी नारदजीका सत्कार किया । फिर वे भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे उनके नामका जप करने लगे एवं कठोर नियमोंका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ १-२ ॥

भूत्वैकाग्रमना विप्र ऊर्ध्वबाहुः समाहितः ।
स्तोत्रं जगौ स विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ ३ ॥

नारदजी वहाँ अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकाग्रचित्त हो निर्गुण सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणकी इस प्रकार (दो सौ नामोंद्वारा) स्तुति करने लगे ॥

नारद उवाच

१ नमस्ते देवदेवेश २ निष्क्रिय ३ निर्गुण ४ लोकसाक्षिन् ५ क्षेत्रज्ञ ६ पुरुषोत्तम ७ अनन्त ८ पुरुष ९ महापुरुष १० पुरुषोत्तम ११ त्रिगुण १२ प्रधान १३ अमृत १४ अमृताख्य १५ अनन्ताख्य १६ व्योम १७ सनातन १८ सदसद्व्यक्ताव्यक्त १९ ऋतधामन् २० आदिदेव २१ वसुप्रद २२ प्रजापते २३ सुप्रजापते २४ वनस्पते २५ महाप्रजापते २६ ऊर्जस्पते २७ वाचस्पते २८ जगत्पते २९ मनस्पते ३० दिवस्पते ३१ मरुत्पते ३२ सलिलपते ३३ पृथिवीपते ३४ दिक्पते ३५ पूर्वनिवास ३६ गुह्य ३७ ब्रह्मपुरोहित ३८ ब्रह्मकायिक ३९ महाराजिक ४० चातुर्महाराजिक ४१ भासुर ४२ महाभासुर ४३ सप्तमहाभाग ४४ याम्य ४५ महायाम्य ४६ संज्ञासंज्ञ ४७ तुषित ४८ महातुषित ४९ प्रमर्दन ५० परिनिर्मित ५१ अपरिनिर्मित ५२ वशवर्तिन् ५३ अपरिनिन्दित ५४ अपरिमित ५५ वशवर्तिन् ५६ अवशवर्तिन् ५७ यज्ञ ५८ महायज्ञ ५९ यज्ञसम्भव ६० यज्ञयोने ६१ यज्ञगर्भ ६२ यज्ञहृदय ६३ यज्ञस्तुत ६४ यज्ञभागहर ६५ पञ्चयज्ञ ६६ पञ्चकालकर्तृपते ६७ पाञ्चरात्रिक ६८ वैकुण्ठ ६९ अपराजित ७० मानसिक ७१ नामनामिक ७२ परस्वामिन् ७३ सुस्नात ७४ हंस ७५ परमहंस ७६ महाहंस ७७ परमयाज्ञिक ७८ सांख्ययोग ७९ सांख्यमूर्ते ८० अमृतेशय ८१ हिरण्येशय ८२ देवेशय ८३ कुशेशय ८४ ब्रह्मेशय ८५ पद्मेशय ८६ विश्वेश्वर ८७ विष्वक्सेन ८८ त्वं जगदन्वयः ८९ त्वं जगत्प्रकृतिः

९० तवाङ्गिरास्यम् ९१ वडवामुखोऽग्निः ९२ त्वमाहुतिः ९३ सारथिः ९४ त्वं वषट्कारः ९५ त्वमोङ्कारः ९६ त्वं तपः ९७ त्वं मनः ९८ त्वं चन्द्रमाः ९९ त्वं चक्षुरादित्यं १०० त्वं सूर्यः १०१ त्वं दिशां गजः १०२ त्वं दिग्भानो १०३ विदिग्भानो १०४ हयशिरः १०५ प्रथमत्रिसौपर्णः १०६ वर्णधरः १०७ पञ्चाग्ने १०८ त्रिणाचिकेत १०९ षडङ्गनिधान ११० प्राग्ज्योतिष १११ ज्येष्ठसामग ११२ सामिकव्रतधर ११३ अथर्वशिराः ११४ पञ्चमहाकल्प ११५ फेनपाचार्य ११६ वालखिल्य ११७ वैखानस ११८ अभग्नयोग ११९ अभग्नपरिसंख्यान १२० युगादे १२१ युगमध्य १२२ युगनिधन १२३ आखण्डल १२४ प्राचीनगर्भ १२५ कौशिक १२६ पुरुष्टुत १२७ पुरुहूत १२८ विश्वकृत् १२९ विश्वरूप १३० अनन्तगते १३१ अनन्तभोग १३२ अनन्त १३३ अनादे १३४ अमध्य १३५ अव्यक्तमध्य १३६ अव्यक्तनिधन १३७ व्रतावास १३८ समुद्राधिवास १३९ यशोवास १४० तपोवास १४१ दमावास १४२ लक्ष्म्यावास १४३ विद्यावास १४४ कीर्त्यावास १४५ श्रीवास १४६ सर्वावास १४७ वासुदेव १४८ सर्वच्छन्दक १४९ हरिहय १५० हरिमेध १५१ महायज्ञभागहर १५२ वरप्रद १५३ सुखप्रद १५४ धनप्रद १५५ हरिमेध १५६ यम १५७ नियम १५८ महानियम १५९ कृच्छ्र १६० अतिकृच्छ्र १६१ महाकृच्छ्र १६२ सर्वकृच्छ्र १६३ नियमधर १६४ निवृत्तभ्रम १६५ प्रवचनगत १६६ पृश्निगर्भप्रवृत्त १६७ प्रवृत्तवेदक्रिय १६८ अज १६९ सर्वगते १७० सर्वदर्शिन् १७१ अग्राह्य १७२ अचल १७३ महाविभूते १७४ माहात्म्यशरीर १७५ पवित्र १७६ महापवित्र १७७ हिरण्मय १७८ बृहत् १७९ अप्रतर्क्य १८० अविज्ञेय १८१ ब्रह्माग्र्य १८२ प्रजासर्गकर १८३ प्रजानिधनकर १८४ महामायाधर १८५ चित्रशिखण्डिन् १८६ वरप्रद १८७ पुरोडाशभागहर १८८ गताध्वर १८९ छिन्नतृष्ण १९० छिन्नसंशय १९१ सर्वतोवृत्त १९२ निवृत्तिरूप १९३ ब्राह्मणरूप १९४ ब्राह्मणप्रिय १९५ विश्वमूर्ते १९६ महामूर्ते १९७ बान्धव १९८ भक्तवत्सल १९९ ब्रह्मण्यदेव भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय २०० नमो नमः ॥

१–देवदेवेश ! आपको नमस्कार है। २–आप निष्क्रिय, ३–निर्गुण और ४– समस्त जगत्के साक्षी हैं। ५–क्षेत्रज्ञ, ६–पुरुषोत्तम (क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम), ७–अनन्त, ८–पुरुष, ९–महापुरुष, १०–पुरुषोत्तम (परमात्मा), ११–त्रिगुण, १२–प्रधान, १३–अमृत, १४ अमृताख्य, १५–अनन्ताख्य (शेषनागरूप), १६–व्योम (महाकाशरूप), १७–सनातन, १८–सदसद्व्यक्ताव्यक्त, १९–ऋतधामा (सत्य धामस्वरूप), २०–आदिदेव, २१–वसुप्रद (कर्म-फलके दाता), २२–प्रजापते (दक्ष आदि), २३–सुप्रजापते (प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ), २४–वनस्पते, २५–महाप्रजापते (ब्रह्मस्वरूप), २६–ऊर्जस्पते (महाशक्तिशाली), २७–वाचस्पते (बृहस्पति), २८–जगत्पते, २९–मनस्पते, ३०–दिवस्पते (सूर्य), ३१–मरुत्पते (वायुदेवताके स्वामी), ३२–सलिलपते (जलके स्वामी), ३३–पृथ्वीपते, ३४–दिक्पते, ३५–पूर्वनिवास (महाप्रलयके समय जगत्के आधाररूप), ३६–गुह्य(स्वरूप), ३७–ब्रह्मपुरोहित, ३८–ब्रह्मकायिक, ३९–महाराजिक, ४०–चातुर्महाराजिक, ४१–भासुर (प्रकाशमान), ४२–महाभासुर (महाप्रकाशमान), ४३–सप्तमहाभाग, ४४–याम्य, ४५–महायाम्य, ४६–संज्ञासंज्ञ, ४७–तुषित, ४८–महातुषित, ४९–प्रमर्दन (मृत्युरूप), ५०–परिनिर्मित, ५१–अपरिनिर्मित, ५२–वशवर्ती, ५३–अपरिनिन्दित (शम-दम आदि गुणसम्पन्न), ५४–अपरिमित (अनन्त), ५५–वशवर्ती, ५६–अवशवर्ती, ५७–यज्ञ, ५८–महायज्ञ, ५९–यज्ञसम्भव, ६०–यज्ञयोनि(वेदस्वरूप), ६१–यज्ञगर्भ, ६२–यज्ञहृदय, ६३–यज्ञस्तुत, ६४–यज्ञभागहर, ६५–पञ्चयज्ञ, ६६–पञ्चकालकर्तृपति (अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सररूप कालके स्वामी), ६७–पाञ्चरात्रिक, ६८–वैकुण्ठ (परमधाम), ६९–अपराजित, ७०–मानसिक, ७१–नानामिक (जिनमें सब नामोंका समावेश है), ७२–परस्वामी (परमेश्वर), ७३–सुस्नात, ७४–हंस, ७५–परमहंस, ७६–महाहंस, ७७–परमयाज्ञिक, ७८–सांख्ययोगरूप, ७९–सांख्यमूर्ति (ज्ञानमूर्ति), ८०–अमृतेशय (विष्णु), ८१–हिरण्येशय, ८२–देवेशय, ८३–कुशेशय, ८४–ब्रह्मेशय, ८५–पद्मेशय (विष्णु), ८६–विश्वेश्वर और ८७–विष्वक्सेन आदि आपहीके नाम हैं। ८८–आप ही जगदन्वय (जगत्में ओतप्रोत) तथा ८९–आप ही जगत्के कारणस्वरूप हैं। ९०–अग्नि आपका मुख है। ९१–आप ही बड़वानल, ९२–आप ही आहुतिरूप, ९३–सारथि, ९४–वषट्कार, ९५–ॐकार, ९६–तपःस्वरूप, ९७–मनःस्वरूप, ९८–चन्द्रमास्वरूप, ९९–चक्षुके देवता सूर्य आप ही हैं। १००–सूर्य, १०१–दिग्गज, १०२–दिग्भानु (दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले), १०३–विदिग्भानु (विदिशाओंको प्रकाशित करनेवाले) तथा १०४–हयग्रीवरूप हैं। १०५–आप प्रथम त्रिसौपर्ण मन्त्र, १०६–ब्राह्मणादि वर्णोंको धारण करनेवाले तथा १०७–पञ्चाग्निरूप हैं। १०८–नाचिकेत नामसे प्रसिद्ध त्रिविध अग्नि भी आप ही हैं। १०९–आप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष नामक छः अङ्गोंके भण्डार हैं। ११०–प्राग्ज्योतिषस्वरूप, १११–ज्येष्ठ सामगस्वरूप आप ही हैं। ११२–सामिक व्रतधारी, ११३–अथर्वशिरा ११४–

पञ्चमहाकल्परूप (आप ही सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव और वैष्णव शास्त्रोंके उपास्यदेव) हैं। ११५-फेनपाचार्य, ११६-वालखिल्य-मुनिरूप, ११७-वैखानस मुनिरूप आप ही हैं। ११८-अभग्नयोग (अखण्डयोग), ११९-अभग्नपरिसंख्यान (अखण्ड विचार), १२०-युगादि (युगके आदिरूप), १२१-युगमध्य (युगके मध्यरूप), १२२-युगान्त (युगके अन्तरूप आप ही हैं), १२३-आखण्डल (इन्द्र), १२४-आपही प्राचीनगर्भ, १२५-कौशिकमुनि, १२६-पुरुष्टुत (सबके द्वारा प्रचुर स्तुति करने योग्य), १२७-पुरुहूत, १२८-विश्वकृत् (विश्वके रचयिता), १२९-विश्वरूप, १३०-अनन्तगति, १३१-अनन्तभोग, १३२-आपका न तो अन्त है, १३३-न आदि, १३४-न मध्य, १३५-अव्यक्तमध्य, १३६-अव्यक्तनिधन, १३७-व्रतावास (व्रतके आश्रय), १३८-समुद्रवासी (क्षीरसागरशायी), १३९-यशोवास (यशके निवासस्थान), १४०-तपोवास (तपके निवासस्थान), १४१-दमावास (संयमके आधार), १४२-लक्ष्मीनिवास, १४३-विद्याके आश्रय, १४४-कीर्तिके आधार, १४५-सम्पत्तिके आश्रय, १४६-सर्वावास (सबके निवासस्थान), १४७-वासुदेव, १४८-सर्वच्छन्दक (सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले), १४९-हरिहय, १५०-हरिमेध (अश्वमेध-यज्ञरूप), १५१-महायज्ञभागहर, १५२-वरप्रद (भक्तोंको वरदान देनेवाले), १५३-सुखप्रद (सबको सुख प्रदान करनेवाले), १५४-धनप्रद (सबको धन देनेवाले), १५५-हरिमेध (भगवद्भक्त भी आप ही हैं), १५६-यम, १५७-नियम, १५८-महानियम आदि साधन भी आप ही हैं। १५९-कृच्छ्र, १६०-अतिकृच्छ्र, १६१-महाकृच्छ्र, १६२-सर्वकृच्छ्र आदि चान्द्रायणव्रत भी आप ही हैं। १६३-नियमधर (नियमोंको धारण करनेवाले), १६४-निवृत्तभ्रम (भ्रमरहित), १६५-प्रवचनगत (वेदवाक्यके विषय), १६६-पृश्निगर्भप्रवृत्त, १६७-प्रवृत्तवेदक्रिय (वैदिक कर्मोंके प्रवर्तक), १६८-अज (जन्मरहित), १६९-सर्वगति (सर्वव्यापी), १७०-सर्वदर्शी, १७१-अग्राह्य, १७२-अचल, १७३-महाविभूति (सृष्टिरूप विभूतिवाले), १७४-माहात्म्य-शरीर (अतुलित प्रभावशाली स्वरूपवाले), १७५-पवित्र, १७६-महापवित्र (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले), १७७-हिरण्मय, १७८-बृहद् (ब्रह्म), १७९-अप्रतर्क्य (तर्कसे जाननेमें न आनेवाले), १८०-अविज्ञेय, १८१-ब्रह्माग्र्य, १८२-प्रजाकी सृष्टि करनेवाले, १८३-प्रजाका अन्त करनेवाले, १८४-महामायाधर, १८५-चित्रशिखण्डी, १८६-वरप्रद, १८७-पुरोडाश भागको ग्रहण करनेवाले, १८८-गताध्वर (प्राप्तयज्ञ), १८९-छिन्नतृष्ण (तृष्णारहित), १९०-छिन्नसंशय (संशयरहित), १९१-सर्वतोवृत्त (सर्वव्यापक), १९२-निवृत्तिरूप, १९३-ब्राह्मणरूप, १९४-ब्राह्मणप्रिय, १९५-विश्वमूर्ति, १९६-महामूर्ति, १९७-बान्धव (जगत्के बन्धु), १९८-भक्तवत्सल तथा १९९-ब्रह्मण्यदेव आदि नामोंसे पुकारे जानेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। मैं आपका भक्त हूँ। आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। २००-एकान्तमें दर्शन देनेवाले आप परमात्माको बारंबार नमस्कार है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

श्वेतद्वीपमें नारदजीको भगवान्का दर्शन, भगवान्का वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह-स्वरूपोंका परिचय कराना और भविष्यमें होनेवाले अवतारोंके कार्योंकी सूचना देना और इस कथाके श्रवण-पठनका माहात्म्य

भीष्म उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् गुह्यैस्तथ्यैश्च नामभिः।
तं मुनिं दर्शयामास नारदं विश्वरूपधृक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार गुह्य तथा सत्य नामोंसे जब नारदजीने भगवान्की स्तुति की, तब उन्होंने विश्वरूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १ ॥

किंचिच्चन्द्राद् विशुद्धात्मा किंचिच्चन्द्राद् विशेषवान्।
कृशानुवर्णः किंचिच्च किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः॥ २ ॥

उनका वह स्वरूप कुछ चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल और कुछ चन्द्रमासे भी विलक्षण था। कुछ अग्निके समान देदीप्यमान और कुछ नक्षत्रोंके समान जाज्वल्यमान था॥२॥

शुकपत्रनिभः किंचित् किंचित्स्फटिकसंनिभः।
नीलाञ्जनचयप्रख्यो जातरूपप्रभः क्वचित् ॥ ३ ॥

कुछ तोतेकी पाँखके समान हरा, कुछ स्फटिकमणिके समान उज्ज्वल, कहींसे कज्जलराशिके समान काला और कहींसे सुवर्णके समान कान्तिमान् था ॥ ३ ॥

प्रवालाङ्कुरवर्णश्च श्वेतवर्णस्तथा क्वचित्।
क्वचित् सुवर्णवर्णाभो वैदूर्यसदृशः क्वचित् ॥ ४ ॥

कहीं नवाङ्कुरित पल्लवके समान था। कहीं श्वेतवर्ण दिखायी देता था, कहीं सुनहरी आभा दिखायी देती थी और कहीं-कहीं वैदूर्यमणिकी-सी छटा छिटक रही थी ॥ ४ ॥

नीलवैदूर्यसदृश इन्द्रनीलनिभः क्वचित्।

मयूरग्रीववर्णाभो मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥ ५ ॥

कहीं नीलवैदूर्य, कहीं इन्द्रनीलमणि, कहीं मोरकी ग्रीवाके सदृश वर्ण और कहीं मोतीके हारकी-सी कान्ति दृष्टि-गोचर होती थी ॥ ५ ॥

एतान् बहुविधान् वर्णान् रूपैर्बिभ्रत्सनातनः ।
सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ॥ ६ ॥
सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित् ।

इस प्रकार वे सनातन भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूपमें नाना प्रकारके रंग धारण किये हुए थे । उनके हजारों नेत्र, सैकड़ों (हजारों) मस्तक, हजारों पैर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे । वे अपूर्व कान्तिसे सम्पन्न थे और कहीं-कहीं उनकी आकृति अव्यक्त थी ॥ ६½ ॥

ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रात् सावित्रीं च तदन्वयाम् ॥ ७ ॥
शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून् ।
आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ॥ ८ ॥

सबको वशमें रखनेवाले वे भगवान् नारायण हरि एक मुखसे तो ॐकार तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करते थे एवं अन्यान्य मुखोंसे चारों वेदों और उनके आरण्यकभागका गान कर रहे थे ॥ ७-८ ॥

वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान् मणीनुपानहौ कुशान् ।
अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ ९ ॥
धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा ।

यज्ञोंके स्वामी उन भगवान् देवेश्वर विष्णुने उस समय अपने हाथोंमें यज्ञवेदी, कमण्डलु, चमकीले मणिरत्न, उपानह, कुशा, मृगचर्म, दण्ड-काष्ठ और प्रज्वलित अग्नि—ये सब वस्तुएँ ले रखी थीं ॥ ९½ ॥

तं प्रसन्नं प्रसन्नात्मा नारदो द्विजसत्तमः ॥ १० ॥
वाग्यतः प्रणतो भूत्वा ववन्दे परमेश्वरम् ।

उनका दर्शन करनेके पश्चात् प्रसन्नचित्त हुए द्विजश्रेष्ठ नारदने मौनभावसे नतमस्तक हो उन प्रसन्न हुए परमेश्वरकी वन्दना की ॥ १०½ ॥

तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ११ ॥

मस्तक झुकाकर चरणोंमें पड़े हुए नारदजीसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ।
इमं देशमनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! महर्षि एकत, द्वित और त्रित—ये सब भी मेरे दर्शनकी इच्छासे इस स्थानपर आये हुए थे ॥ १२ ॥

न च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन ।
ऋते ह्येकान्तिकश्रेष्ठात् त्वं चैवैकान्तिकोत्तमः ॥ १३ ॥

किंतु उन्हें मेरा दर्शन न प्राप्त हो सका । वास्तवमें मेरे अनन्य भक्तके सिवा और कोई मनुष्य मेरा दर्शन नहीं कर सकता । तुम तो मेरे अनन्य भक्तोंमें श्रेष्ठ हो; इसीलिये तुम्हें मेरा दर्शन हुआ है ॥ १३ ॥

ममैतास्तनवः श्रेष्ठा जाता धर्मगृहे द्विज ।
तास्त्वं भजस्व सततं साधयस्व यथागतम् ॥ १४ ॥

विप्रवर ! धर्मके घरमें जो अवतीर्ण हुए हैं, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं; अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो, उसका साधन करो ॥

वृणीष्व च वरं विप्र मत्तस्त्वं यदिहेच्छसि ।
प्रसन्नोऽहं तवाद्येह विश्वमूर्तिरिहाव्ययः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं अविनाशी विश्वरूप परमेश्वर आज तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, वह वर माँग लो ॥ १५ ॥

नारद उवाच

अद्य मे तपसो देव यमस्य नियमस्य च ।
सद्यः फलमवाप्तं वै दृष्टो यद् भगवान् मया ॥ १६ ॥

नारदजीने कहा—देव ! जब मैंने आप भगवान्‌का दर्शन पा लिया, तब मुझे तप, यम और नियम—सबका फल तत्काल ही मिल गया ॥ १६ ॥

वर एष ममात्यन्तं दृष्टस्त्वं यत् सनातनः ।
भगवन् विश्वदृक् सिंहः सर्वमूर्तिर्महान् प्रभुः ॥ १७ ॥

भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्वके द्रष्टा, सिंहके समान निर्भय, सर्वस्वरूप, महान् एवं सनातन प्रभु हैं । आपका जो दर्शन हो गया, यही मेरे लिये सबसे बड़ा वरदान है ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

एवं संदर्शयित्वा तु नारदं परमेष्ठिनम् ।
उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार दर्शन देकर भगवान्‌ने ब्रह्मपुत्र नारदजीसे फिर कहा, 'नारद ! जाओ, विलम्ब न करो ॥ १८ ॥

इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः ।
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥

'ये इन्द्रिय और आहारसे शून्य, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मेरे भक्तजन एकाग्रभावसे मेरा चिन्तन कर सकें और इनके ध्यानमें किसी प्रकारका विघ्न न हो, इसके लिये तुम्हें यहाँसे चले जाना चाहिये ॥ १९ ॥

सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

'यहाँ निवास करनेवाले ये सभी महाभाग सिद्ध हो चुके हैं । ये पहले भी मेरे अनन्य भक्त रहे हैं । ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हैं; अतः निःसंदेह मुझमें ही प्रवेश करेंगे ॥ २० ॥

न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च।
न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः ॥ २१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै।
यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते ॥ २२ ॥
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति।
अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस्तथा ॥ २३ ॥
द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः।
पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥ २४ ॥
यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः।
स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥ २५ ॥

'जो नेत्रोंसे देखा नहीं जाता, त्वचासे जिसका स्पर्श नहीं होता, गन्ध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रियसे जो सूँघनेमें नहीं आता, जो रसनेन्द्रियकी पहुँचसे परे है; सत्त्व, रज और तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते, जो सर्वव्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियोंका नाश हो जानेपर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता है, जिसे अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्कल बताया गया है, जो चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्वके रूपमें विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष, निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रोंसे ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज यहाँ मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन परमात्मा है। उसीको वासुदेव नामसे जानना चाहिये ॥ २१—२५ ॥

पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद।
शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥

'नारद ! उस परमात्मदेवका माहात्म्य और महिमा तो देखो, जो शुभाशुभ कर्मोंसे कभी लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान् प्रचक्षते।
यत्ते सर्वशरीरेषु तिष्ठन्ति विचरन्ति च ॥ २७ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण बताये जाते हैं, जो सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित रहते हैं और विचरते हैं ॥ २७ ॥

एतान् गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो भुङ्क्ते नैभिः स भुज्यते।
निर्गुणो गुणभुक् चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः ॥ २८ ॥

'इन गुणोंको क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है, किंतु इन गुणोंके द्वारा वह क्षेत्रज्ञ भोगा नहीं जाता; क्योंकि वह निर्गुण, गुणोंका भोक्ता, गुणोंका स्रष्टा तथा गुणोंसे उत्कृष्ट है ॥ २८ ॥

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ २९ ॥

'देवर्षे ! यह सम्पूर्ण जगत् जिसपर प्रतिष्ठित है, वह पृथ्वी जलमें विलीन हो जाती है। जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है ॥ २९ ॥

खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ ३० ॥

'वायुका आकाशमें लय होता है, आकाश मनमें विलीन होता है। मन उत्कृष्ट भूत है। वह अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है ॥ ३० ॥

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते।
नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! अव्यक्तका निष्क्रिय पुरुषमें लय होता है। उस सनातन पुरुषसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम्।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ ३२ ॥

'संसारमें उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेवको छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है ॥ ३२ ॥

सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवो महाबलः।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ३३ ॥

'महाबली वासुदेव सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं ॥ ३३ ॥

ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम्।
तदा विशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो लघुविक्रमः ॥ ३४ ॥

'वे सब महाभूत एक साथ मिलकर ही शरीर नाम धारण करते हैं। ब्रह्मन् ! उस समय अदृश्यभावसे जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है, वही जीवात्मा है ॥ ३४ ॥

उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः।
न विना धातुसंघातं शरीरं भवति क्वचित् ॥ ३५ ॥

'उसका शरीरमें प्रवेश करना ही उत्पन्न होना बताया जाता है। वही शरीरको चेष्टाशील बनाता है। वही इसके संचालनमें समर्थ है। कहीं भी पाँचों भूतोंके मिलित समुदायके बिना कोई शरीर नहीं होता ॥ ३५ ॥

न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत।
स जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मन् ! जीवके बिना प्राणवायु चेष्टा नहीं करती। वह जीव ही शेष या भगवान् सङ्कर्षण कहा गया है ॥ ३६ ॥

तस्मात् सनत्कुमारत्वं योऽलभत् स्वेन कर्मणा।
यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३७ ॥
स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते।

'जो उसी सङ्कर्षण अथवा जीवसे उत्पन्न होकर अपने कर्म (ध्यान, पूजन आदि) के द्वारा सनत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, जिसमें समस्त प्राणी लय एवं क्षयको प्राप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण भूतोंका मन ही 'प्रद्युम्न' कहलाता है ॥ ३७½ ॥

तस्मात् प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च ॥ ३८ ॥

'उस प्रद्युम्नसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह (अहंकार ही) तन्मात्रा आदिका कर्ता, परम्परा-सम्बन्धसे महाभूतोंका कारण तथा महत्तत्त्वका कार्य है ॥ ३८ ॥

तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम्।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः स सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥

'उसीसे समस्त चराचर जगत्‌की उत्पत्ति होती है। वही 'अनिरुद्ध' एवं 'ईशान' कहलाता है। वह (कर्तृत्वके अभिमानरूपसे) सम्पूर्ण कर्मोंमें व्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥

'राजेन्द्र ! जो भगवान् वासुदेव क्षेत्रज्ञस्वरूप एवं निर्गुण-रूपसे जाननेयोग्य बताये गये हैं, वे ही प्रभावशाली सङ्कर्षण-रूप जीवात्मा हैं। सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ है, जो मनोमय कहलाते हैं । प्रद्युम्नसे जो अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं, वे ही अहंकार और ईश्वर हैं ॥ ४०-४१ ॥

मत्तः सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम्।
अक्षरं च क्षरं चैव सच्चासच्चैव नारद ॥ ४२ ॥

'नारद ! मुझसे ही समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत्‌की उत्पत्ति होती है । क्षर और अक्षर तथा असत् और सत् भी मुझसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ४२ ॥

मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास्तु ये मम।
अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

'यहाँ जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें ही प्रवेश करके मुक्त होते हैं। मैं ही पचीसवें तत्त्व निष्क्रिय पुरुषरूपसे जानने योग्य हूँ ॥ ४३ ॥

निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥ ४४ ॥
इच्छन् मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः।

'मैं निर्गुण, निष्कल, द्वन्द्वोंसे अतीत और परिग्रहसे शून्य हूँ। तुम ऐसा न समझ लेना कि ये रूपवान् हैं, इस-लिये दिखायी देते हैं; क्योंकि मैं इच्छा करते ही एक ही क्षणमें अदृश्य हो सकता हूँ; क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्‌का ईश्वर और गुरु हूँ ॥ ४४½ ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ॥ ४५ ॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि।

'नारद ! तुम जो मुझे देख रहे हो, इस रूपमें मैंने माया रची है । तुम मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंसे युक्त न जानो ॥ ४५½ ॥

मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥
अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः।
नैवं ते बुद्धिरत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४७ ॥

'मैंने अपने वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार स्वरूपोंका तुम्हारे सामने भलीभाँति वर्णन किया है। मैं ही जीव नामसे प्रसिद्ध हूँ, मुझमें ही जीवकी स्थिति है; परंतु तुम्हारे मनमें ऐसा विचार नहीं उठना चाहिये कि मैंने जीवको देखा है ॥ ४६-४७ ॥

अहं सर्वत्रगो ब्रह्मन् भूतग्रामान्तरात्मकः।
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न नशाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं सर्वव्यापी और समस्त प्राणिसमुदायका अन्तरात्मा हूँ । सम्पूर्ण भूतसमुदाय और शरीरोंके नष्ट हो जानेपर भी मेरा नाश नहीं होता है ॥ ४८ ॥

सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्येकान्तिनोऽभवन्।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्ताः प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४९ ॥

'मुने ! ये महाभाग श्वेतद्वीपनिवासी सिद्ध हैं। ये पहले मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हो गये हैं; इसलिये मेरे भीतर प्रवेश करेंगे ॥ ४९ ॥

हिरण्यगर्भो लोकादिश्चतुर्वक्त्रोऽनिरुक्तगः।
ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिन्तकः ॥ ५० ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्‌के आदि, चतुर्मुख, अनिर्वचनीयस्वरूप, हिरण्यगर्भ एवं सनातन देवता हैं, वे ब्रह्मा मेरे बहुत-से कार्योंका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ५० ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद् विनिःसृतः।
पश्यैकादश मे रुद्रान् दक्षिणं पार्श्वमास्थितान्॥ ५१ ॥

'मेरे क्रोधवश ललाटसे मेरे ही रुद्रदेवका प्राकट्य हुआ है। देखो, ये ग्यारह रुद्र मेरे दाहिने भागमें विराजमान हैं ।५१।

द्वादशैव तथाऽऽदित्यान् वामपार्श्वे समास्थितान्।
अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥ ५२ ॥

'इसी प्रकार मेरे बायें भागमें बारह आदित्य विराज रहे हैं । अग्रभागमें सुरश्रेष्ठ आठ वसु विद्यमान हैं। इन सबको प्रत्यक्ष देखो ॥ ५२ ॥

नासत्यं चैव दस्रं च भिषजौ पश्य पृष्ठतः।
सर्वान् प्रजापतीन् पश्य पश्य सप्त ऋषींस्तथा ॥ ५३ ॥
वेदान् यज्ञांश्च शतशः पश्यामृतमथौषधीः।
तपांसि नियमांश्चैव यमानपि पृथग्विधान् ॥ ५४ ॥

'मेरे पृष्ठभागमें भी दृष्टिपात करो, जहाँ नासत्य और दस्र—ये दोनों देववैद्य अश्विनीकुमार स्थित हैं। इनके सिवा मेरे विभिन्न अङ्गोंमें समस्त प्रजापतियों, सप्तर्षियों, सम्पूर्ण वेदों, सैकड़ों यज्ञों, ओषधियों तथा अमृतको भी देखो । तप तथा नाना प्रकारके यम-नियम भी यहाँ मूर्तिमान् हैं ।५३-५४।

तथाष्टगुणमैश्वर्यमेकस्थं पश्य मूर्तिमत्।
श्रियं लक्ष्मीं च कीर्तिं च पृथिवीं च ककुद्मिनीम्॥५५ ॥
वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम्।
ध्रुवं च ज्योतिषां श्रेष्ठं पश्य नारद खेचरम् ॥ ५६ ॥

'आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी यहाँ एक ही जगह साकार-रूपसे प्रकट हैं, इन्हें देखो। श्री, लक्ष्मी, कीर्ति, पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा वेदमाता सरस्वतीदेवी भी मेरे भीतर विराजमान हैं, उन सबका दर्शन करो । नारद ! ये नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी ध्रुव दिखायी दे रहे हैं, इनकी ओर भी दृष्टि-पात करो ॥ ५५-५६ ॥

अम्भोधरान् समुद्रांश्च सरांसि सरितस्तथा ।
मूर्तिमन्तः पितृगणांश्चतुरः पश्य सत्तम ॥ ५७ ॥

'साधुशिरोमणे ! बादल, समुद्र, सरोवर और सरिताओंको भी मेरे भीतर मूर्तिमान् देख लो। चारों प्रकारके पितृगण भी सशरीर प्रकट हैं, इनका भी दर्शन कर लो ॥ ५७ ॥

त्रींश्चैवेमान् गुणान् पश्य मत्स्थान् मूर्तिविवर्जितान् ।
देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥

'मेरे शरीरमें स्थित हुए मूर्तिरहित इन तीन गुणोंको भी मूर्तिमान् देख लो । मुने ! देवकार्यसे भी पितृकार्य बढ़कर है ॥ ५८ ॥

देवानां च पितॄणां च पिता ह्येकोऽहमादितः ।
अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥ ५९ ॥
पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं च श्रद्धयान्वितम् ।

'एकमात्र मैं ही देवताओं और पितरोंका भी पिता हूँ। मैं ही हयग्रीवरूप धारण करके समुद्रमें वायव्यकोणकी ओर रहता हूँ और विधिपूर्वक हवन किये हुए हव्य और श्रद्धापूर्वक समर्पित किये हुए कव्यका भी पान करता हूँ ॥ ५९½ ॥

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत् स्वयम् ॥ ६० ॥
ततस्तस्मिन् वरान् प्रीतो दत्तवानस्म्यनुत्तमान् ।

'पूर्वकालमें मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये ब्रह्माने स्वयं ही मुझ यज्ञपुरुषका यजन किया था। इससे प्रसन्न होकर मैंने उन्हें उत्तम वरदान दिये थे ॥ ६०½ ॥

मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ॥ ६१ ॥
अहंकारकृतं चैव नाम पर्यायवाचकम् ।
त्वया कृतां च मर्यादां नातिक्रंस्यति कश्चन ॥ ६२ ॥

(वे वरदान इस प्रकार हैं—) ''ब्रह्मन् ! तुम प्रत्येक कल्पके आदिमें मेरे पुत्ररूपसे उत्पन्न होओगे। तुम्हें लोकाध्यक्षका पद प्राप्त होगा। तुम्हारा पर्यायवाची नाम होगा, अहङ्कारकर्ता। तुम्हारी बाँधी हुई मर्यादाका कोई उल्लङ्घन नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

त्वं चैव वरदो ब्रह्मन् वरेप्सूनां भविष्यसि ।
सुरासुरगणानां च ऋषीणां च तपोधन ॥ ६३ ॥
पितॄणां च महाभाग सततं संशितव्रत ।
विविधानां च भूतानां त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥ ६४ ॥

''ब्रह्मन् ! तुम वर चाहनेवाले साधकोंको वर देनेमें समर्थ होओगे। कठोर व्रतका पालन करनेवाले महाभाग तपोधन ! तुम देवताओं, असुरों, ऋषियों, पितरों तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके सदा ही उपासनीय होओगे ॥ ६३-६४ ॥

प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा ।
अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन् नियोज्यश्च सुतो यथा॥ ६५ ॥

''ब्रह्मन् ! जब मैं देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये अवतार धारण करूँ, उन दिनों सदा तुम मुझपर शासन करना और पुत्रकी भाँति मुझे प्रत्येक कार्यमें नियुक्त करना' ॥

एतांश्चान्यांश्च रुचिरान् ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
अहं दत्त्वा वरान् प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ॥ ६६ ॥

'नारद ! अमित तेजस्वी ब्रह्माको ये तथा और भी बहुत-से सुन्दर वर देकर मैं प्रसन्नतापूर्वक निवृत्तिपरायण हो गया॥

निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता ।
तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ॥ ६७ ॥

'समस्त कर्मोंसे उपरत हो जाना ही परम निवृत्ति है; अतः जो निवृत्तिको प्राप्त हो गया है, वह सभी अङ्गोंसे सुखी होकर विचरण करे ॥ ६७ ॥

विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६८ ॥

'सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तका निश्चय करनेवाले आचार्यगण मुझे ही विद्याकी सहायतासे युक्त, सूर्यमण्डलमें स्थित एवं समाहितचित्त कपिल कहते हैं ॥ ६८ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि सुष्टुतः ।
सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन् योगशास्त्रेषु शब्दितः ॥ ६९ ॥

'वेदमें जिनकी स्तुति की गयी है, वे भगवान् हिरण्यगर्भ मेरे ही स्वरूप हैं ! ब्रह्मन् ! योगीलोग जिसमें रमण करते हैं, वह योगशास्त्रप्रसिद्ध पुरुषविशेष ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ ६९ ॥

एषोऽहं व्यक्तिमागत्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः ।
ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७० ॥

'इस समय मैं सनातन परमात्मा ही व्यक्तरूप धारण करके आकाशमें स्थित हूँ। फिर एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर मैं ही इस जगत्का संहार करूँगा ॥ ७० ॥

कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७१ ॥

'उस समय सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपनेमें लीन करके मैं अकेला ही अपनी विद्या-शक्तिके साथ सूने संसारमें विहार करूँगा ॥ ७१ ॥

ततो भूयो जगत् सर्वं करिष्यामीह विद्यया ।
अस्मिन् मूर्तिश्चतुर्थी या सासृजच्छेषमव्ययम् ॥ ७२ ॥

'तदनन्तर सृष्टिका समय आनेपर फिर उस विद्याशक्तिके ही द्वारा संसारके सारे चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करूँगा। मेरी जो चार मूर्तियाँ हैं, उनमें जो चौथी वासुदेव मूर्ति है, उसने अविनाशी शेषको उत्पन्न किया है ॥ ७२ ॥

स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् ।
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ॥ ७३ ॥

'उस शेषको ही सङ्कर्षण कहा गया है। सङ्कर्षणने प्रद्युम्नको प्रकट किया है और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका आविर्भाव हुआ है। वह सब मैं ही हूँ। बारंबार उत्पन्न होनेवाला यह सृष्टि-विस्तार मेरा ही है ॥ ७३ ॥

अनिरुद्धात् तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ।
ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ ७४ ॥

'मेरी अनिरुद्ध मूर्तिसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, जिनका प्राकट्य मेरे नाभिकमलसे हुआ है। ब्रह्मासे समस्त चराचर भूत उत्पन्न हुए हैं ॥ ७४ ॥

एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः।
यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥ ७५ ॥

'कल्पके आदिमें बारंबार इस सृष्टिको मैं प्रकट करता हूँ (और अन्तमें इसका संहार कर डालता हूँ)। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। जैसे आकाशसे सूर्यका उदय होता है और आकाशमें ही वह अस्त होता है—ये उदय-अस्तके क्रम सदा चलते रहते हैं (उसी प्रकार मुझसे ही जगत्‌की उत्पत्ति होती है और मुझमें ही उसका लय होता है। यह सृष्टि और संहारका क्रम यों ही चला करता है) ॥

नष्टे पुनर्बलात् काल आनयत्यमितद्युतिः।
तथा बलादहं पृथ्वीं सर्वभूतहिताय वै ॥ ७६ ॥

'जैसे अमिततेजस्वी काल सूर्यके अदृश्य होनेपर पुनः बलपूर्वक उसे दृष्टिपथमें ला देता है, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंके हितके लिये इस पृथ्वीको समुद्रके जलसे बलपूर्वक ऊपर लाता हूँ' ॥ ७६ ॥

(भीष्म उवाच

नारदस्त्वथ पप्रच्छ भगवन्तं जनार्दनम्।
केषु केषु च भावेषु त्वं द्रष्टव्यो महाप्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर नारदजीने भगवान् जनार्दनसे पूछा—'महाप्रभो! किन-किन स्वरूपोंमें आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिये ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ॥
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश।

श्रीभगवान् बोले—महामुनि नारद! तुम मेरे अवतारोंके नाम सुनो—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं ॥

पूर्वं मीनो भविष्यामि स्थापयिष्याम्यहं प्रजाः ॥
लोकान् वेदान् धरिष्यामि मज्जमानान् महार्णवे।

पहले मैं 'मत्स्य' रूपसे प्रकट होऊँगा और समस्त प्रजाको निर्भय अवस्थामें स्थापित करूँगा। महासागरमें डूबते हुए लोकों और वेदोंकी भी रक्षा करूँगा ॥

द्वितीयं कूर्मरूपं मे हेमकूटनिभं सुत ॥
मन्दरं धारयिष्यामि अमृतार्थे द्विजोत्तम।

वत्स! मेरा दूसरा अवतार होगा कूर्म—कच्छप। उस समय मैं हेमकूट पर्वतके समान कच्छपरूप धारण करूँगा। द्विजश्रेष्ठ! जब देवता अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन करेंगे, तब मैं अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण करूँगा ॥

मग्नां महार्णवे घोरे भाराक्रान्तामिमं पुनः ॥)
सत्त्वैराक्रान्तसर्वाङ्गां नष्टां सागरमेखलाम्।
आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमास्थितः ॥ ७७ ॥
हिरण्याक्षं वधिष्यामि दैतेयं बलगर्वितम्।

जिसके सारे अङ्ग प्राणियोंसे भरे हुए हैं तथा जो समुद्रसे घिरी हुई है, वही यह पृथ्वी जब भारी भारसे दबकर घोर महासागरमें निमग्न हो जायगी, उस समय मैं वाराहरूप धारण करके इसे पुनः अपने स्थानपर ला दूँगा। उसी समय बलके घमंडमें भरे हुए हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वध कर डालूँगा ॥ ७७½ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ॥ ७८ ॥
सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम्।

तदनन्तर देवताओंके कार्यके लिये नरसिंहरूप धारण करके यज्ञनाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपुका संहार कर डालूँगा ॥ ७८½ ॥

विरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः ॥ ७९ ॥
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम्।
भविष्यति स शक्रं वा स्वराज्याच्च्यावयिष्यति ॥ ८० ॥

विरोचनके एक बलवान् पुत्र होगा, जो महासुर बलिके नामसे विख्यात होगा। उसे देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं मार सकेंगे। वह इन्द्रको राज्यसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ७९-८० ॥

त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ।
अदित्यां द्वादशादित्यः सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥ ८१ ॥

जब वह त्रिलोकीका अपहरण कर लेगा और शचीपति इन्द्र युद्धमें पीठ दिखाकर भाग जायँगे, उस समय मैं कश्यपजीके अंश और अदितिके गर्भसे बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा ॥ ८१ ॥

(जटी गत्वा यज्ञसदः स्तूयमानो द्विजोत्तम।
यज्ञस्तवं करिष्यामि श्रुत्वा प्रीतो भवेद् बलिः ॥

द्विजश्रेष्ठ! उस समय सब लोग मेरी स्तुति करेंगे और मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके रूपमें बलिके यज्ञमण्डपमें जाकर उसके उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा करूँगा, जिसे सुनकर बलि बहुत प्रसन्न होगा ॥

किमिच्छसि वटो ब्रूहीत्युक्तो याचे महद् वरम्।
दीयतां त्रिपदीमात्रमिति याचे महासुरम् ॥

जब वह कहेगा कि 'ब्रह्मचारी ब्राह्मण! बताओ, क्या चाहते हो ?' तब मैं उससे महान् वरकी याचना करूँगा। मैं उस महान् असुरसे कहूँगा कि 'मुझे तीन पग भूमिमात्र दे दो' ॥

स दद्यान्मयि सम्प्रीतः प्रतिषिद्धश्च मन्त्रिभिः।
यावज्जलं हस्तगतं त्रिभिर्विक्रमणैर्वृतम् ॥)
ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे।
देवताः स्थापयिष्यामि स्वस्वस्थानेषु नारद ॥ ८२ ॥

वह अपने मन्त्रियोंके मना करनेपर भी मुझपर प्रसन्न होनेके कारण वह वर मुझे दे देगा। ज्यों ही संकल्पका जल मेरे हाथपर आयेगा, त्यों ही तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापकर उसका सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्रको समर्पित कर दूँगा। नारद ! इस प्रकार मैं सम्पूर्ण देवताओंको अपने-अपने स्थानों-पर स्थापित कर दूँगा ॥ ८२ ॥

बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम्।
दानवं च बलिं श्रेष्ठमवध्यं सर्वदैवतैः ॥ ८३ ॥

साथ ही सम्पूर्ण देवताओंके लिये अवध्य श्रेष्ठ दानव बलिको भी पातालतलका निवासी बना दूँगा ॥ ८३ ॥

त्रेतायुगे भविष्यामि रामो भृगुकुलोद्वहः।
क्षत्रं चोत्सादयिष्यामि समृद्धबलवाहनम् ॥ ८४ ॥

फिर त्रेतायुगमें भृगुकुलभूषण परशुरामके रूपमें प्रकट होऊँगा और सेना तथा सवारियोंसे सम्पन्न क्षत्रियकुलका संहार कर डालूँगा ॥ ८४ ॥

संध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।
अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जब त्रेता और द्वापरकी सन्ध्या उपस्थित होगी, उस समय मैं जगत्पति दशरथनन्दन रामके रूपमें अवतार लूँगा॥

त्रितोपघाताद् वैरूप्यमेकतोऽथ द्वितस्तथा।
प्राप्स्येते वानरत्वं हि प्रजापतिसुतावृषी ॥ ८६ ॥

त्रित नामक मुनिके साथ विश्वासघात करनेके कारण एकत और द्वित—ये दो प्रजापतिके पुत्र ऋषि विरूप वानर-योनिको प्राप्त होंगे ॥ ८६ ॥

तयोर्ये त्वन्वये जाता भविष्यन्ति वनौकसः।
महाबला महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ ८७ ॥

उन दोनोंके वंशमें जो वनवासी वानर जन्म लेंगे, वे महाबली, महापराक्रमी और इन्द्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ होंगे ॥ ८७ ॥

ते सहाया भविष्यन्ति सुरकार्ये मम द्विज।
ततो रक्षःपतिं घोरं पुलस्त्यकुलपांसनम् ॥ ८८ ॥
हरिष्ये रावणं रौद्रं सगणं लोककण्टकम्।

ब्रह्मन् ! वे देवकार्यकी सिद्धिके लिये मेरे सहायक होंगे। तदनन्तर मैं पुलस्त्यकुलाङ्गार भयंकर राक्षसराज रावणको, जो समस्त जगत्‌के लिये भयावह होगा, उसके गणोंसहित मार डालूँगा ॥ ८८½ ॥

द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पार्यवसानिके ॥ ८९ ॥
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति।

फिर द्वापर और कलिकी संधिका समय बीतते-बीतते कंसका वध करनेके लिये मथुरामें मेरा अवतार होगा ॥८९½॥

(कंसं केशिं तथा कालमरिष्टं च महासुरम्।
चाणूरं च महावीर्यं मुष्टिकं च महाबलम् ॥
प्रलम्बं धेनुकं चैव अरिष्टं वृषरूपिणम्।
कालीयं च वशे कृत्वा यमुनाया महाह्रदे ॥
गोकुले तु ततः पश्चाद् गवार्थे तु महागिरिम्।
सप्तरात्रं धरिष्यामि वर्षमाणे तु वासवे ॥
अपक्रान्ते ततो वर्षे गिरिमूर्धन्यवस्थितः।
इन्द्रेण सह संवादं करिष्यामि तदा द्विज ॥)

उस समय कंस, केशी, कालासुर, महादैत्य अरिष्टासुर, महापराक्रमी चाणूर, महाबली मुष्टिक, प्रलम्ब, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्टको मारकर यमुनाके विशाल कुण्डमें स्थित कालियनागको वशमें करके गोकुलमें इन्द्रके वर्षा करते समय गौओंकी रक्षाके लिये महान् पर्वत गोवर्धनको सात दिन-रात अपने हाथसे छत्रकी भाँति धारण किये रहूँगा। ब्रह्मन् ! जब वर्षा बंद हो जायगी, तब पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो मैं इन्द्रके साथ संवाद करूँगा ॥

तत्राहं दानवान् हत्वा सुबहून् देवकण्टकान्॥ ९० ॥
कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम्।

वहाँ मैं बहुत-से देवकण्टक दानवोंको मारकर कुशस्थली-को द्वारकापुरीके नामसे बसाऊँगा और उसीमें निवास करूँगा॥

वसानस्तत्र वै पुर्यामदितेर्विप्रियंकरम् ॥ ९१ ॥
हनिष्ये नरकं भौमं मुरं पीठं च दानवम्।
प्राग्ज्योतिषं पुरं रम्यं नानाधनसमन्वितम् ॥ ९२ ॥
कुशस्थलीं नयिष्यामि हत्वा वै दानवोत्तमम्।

वहाँ रहकर देवमाता अदितिका अप्रिय करनेवाले भूमि-पुत्र नरकासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवोंका संहार करूँगा एवं नाना प्रकारके धन-धान्यसे सम्पन्न जो प्राग्ज्योतिषपुर नामक रमणीय नगर है, वहाँ दानवराज नरकका वध करके उसका सारा वैभव कुशस्थलीमें पहुँचा दूँगा ॥ ९१-९२½ ॥

(कृकलासं नृगं चैव मोचयिष्ये ह वै पुनः ॥
तत्र पौत्रनिमित्तेन गत्वा वै शोणितं पुरम्।
बाणस्य च पुरं गत्वा करिष्ये कदनं महत् ॥)

गिरगिटकी योनिमें पड़े हुए राजा नृगका भी उद्धार करूँगा। उसी अवतारमें अपने पौत्र अनिरुद्धके निमित्त बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें जाकर वहाँकी असुरसेना-का महान् संहार कर डालूँगा ॥

महेश्वरमहासेनौ बाणप्रियहितैषिणौ ॥ ९३ ॥
पराजेष्याम्यथोद्युक्तौ देवौ लोकनमस्कृतौ।

बाणासुरका प्रिय और हित चाहनेवाले विश्ववन्दित देवता भगवान् शङ्कर और कार्तिकेय भी जब मेरे साथ युद्धके लिये उद्यत होंगे, तब उन दोनोंको पराजित कर दूँगा ॥ ९३½ ॥

ततः सुतं बलेर्जित्वा बाणं बाहुसहस्रिणम् ॥ ९४ ॥
विनाशयिष्यामि ततः सर्वान् सौभनिवासिनः।

तदनन्तर सहस्र भुजाओंसे सुशोभित बलिपुत्र बाणासुरको पराजित करके शाल्वके सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त योद्धाओंका विनाश कर डालूँगा ॥ ९४½ ॥

यः कालयवनः ख्यातो गर्गतेजोऽभिसंवृतः ॥ ९५ ॥
भविष्यति वधस्तस्य मत्त एव द्विजोत्तम ।

द्विजोत्तम ! गर्गाचार्यके तेजसे उत्पन्न होकर शक्तिशाली बना हुआ जो कालयवन नामक विख्यात असुर होगा, उसका वध भी मेरे ही द्वारा सम्भव होगा ॥ ९५½ ॥

जरासंधश्च बलवान् सर्वराजविरोधनः ॥ ९६ ॥
भविष्यत्यसुरः स्फीतो भूमिपालो गिरिव्रजे ।
मम बुद्धिपरिस्पन्दाद् वधस्तस्य भविष्यति ॥ ९७ ॥

गिरिव्रजमें जरासंध नामक एक बहुत समृद्धिशाली और बलवान् असुर राजा होगा, जो सम्पूर्ण राजाओंसे वैर मोल लेता फिरेगा। मेरे ही बौद्धिक प्रयत्नसे उसका भी वध हो सकेगा ॥ ९६-९७ ॥

शिशुपालं वधिष्यामि यज्ञे धर्मसुतस्य वै ।
समागतेषु बलिषु पृथिव्यां सर्वराजसु ॥ ९८ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें भूमण्डलके समस्त बलवान् राजा पधारेंगे, उनके बीचमें मैं शिशुपालका वध कर डालूँगा॥

वासविः सुसहायो वै मम त्वेको भविष्यति ।
युधिष्ठिरं स्थापयिष्ये स्वराज्ये भ्रातृभिः सह ॥ ९९ ॥

एकमात्र इन्द्रकुमार अर्जुन मेरा सखा एवं सुन्दर सहायक होगा। मैं राजा युधिष्ठिरको उनके भाइयोंसहित पुनः राजपदपर प्रतिष्ठित करूँगा ॥ ९९ ॥

एवं लोका वदिष्यन्ति नरनारायणावृषी ।
उद्युक्तौ दहतः क्षत्रं लोककार्यार्थमीश्वरौ ॥१००॥

उस समयके लोग कहेंगे कि 'ये ईश्वररूप नर और नारायण नामक ऋषि ही एक साथ उद्यत हो लोकहितके लिये क्षत्रियजातिका संहार कर रहे हैं ॥ १०० ॥

कृत्वा भारावतरणं वसुधाया यथेप्सितम् ।
सर्वसात्वतमुख्यानां द्वारकायाश्च सत्तम ॥१०१॥
करिष्ये प्रलयं घोरमात्मज्ञातिविनाशनम् ।

साधुशिरोमणे ! पृथ्वीदेवीकी इच्छाके अनुसार उसका भार उतारकर मैं द्वारकाके समस्त यादवशिरोमणियोंका नाश करके अपनी जातिका विनाशरूप घोर कर्म करूँगा॥१०१½॥

कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ॥१०२॥
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ।

श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार स्वरूपोंका धारण करनेवाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजीके द्वारा सम्मानित अपने धामको चला जाऊँगा ॥ १०२½ ॥

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥१०३॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥१०४॥

द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, दशरथनन्दन राम, यदुवंशी श्रीकृष्ण तथा कल्कि— ये सब मेरे अवतार हैं ॥ १०३-१०४ ॥

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः ।
सवेदाः सश्रुतीकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥१०५॥

जब-जब वेद-श्रुति लुप्त हुई है, तब-तब अवतार लेकर मैंने पुनः उसे प्रकाशमें ला दिया है। मैंने ही पहले सत्ययुगमें वेदोंसहित श्रुतियोंको प्रकट किया था ॥ १०५ ॥

अतिक्रान्ताः पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित् ।
अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥१०६॥

मेरे जो अवतार अबतक व्यतीत हो चुके हैं, उन्हें सम्भवतः तुमने पुराणोंमें सुना होगा। मेरे कई उत्तमोत्तम अवतार हो चुके हैं ॥ १०६ ॥

लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ।
न ह्येतद् ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥१०७॥
यत् त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना ।

वे अवतार लोकहितके कार्य सम्पन्न करके पुनः अपने मूलस्वरूपमें मिल गये हैं। मुझमें अनन्य भक्ति रखनेके कारण आज तुमने यहाँ जिस स्वरूपका दर्शन पाया है, मेरे ऐसे स्वरूपका दर्शन अबतक ब्रह्माको भी नहीं प्राप्त हो सका है ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया॥१०८॥
पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम ।

ब्रह्मन् ! साधुप्रवर ! तुम मुझमें भक्तिभाव रखनेवाले हो, इसलिये मैंने तुमसे भूत और भविष्यके सारे अवतारोंका रहस्यसहित वर्णन किया है ॥ १०८½ ॥

भीष्म उवाच

एवं स भगवान् देवो विश्वमूर्तिधरोऽव्ययः ॥१०९॥
एतावदुक्त्वा वचनं तत्रैवान्तर्दधे पुनः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! विश्वरूपधारी अविनाशी भगवान् नारायणदेव इतनी बात कहकर वहीं पुनः अन्तर्धान हो गये ॥ १०९½ ॥

नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रहमीप्सितम् ॥११०॥
नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत् ।

तब महातेजस्वी नारदजी भी भगवान्का मनोवाञ्छित अनुग्रह पाकर नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये ॥ ११०½ ॥

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥१११॥
सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥११२॥
ब्रह्मणः सदने तात यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

यह महान् उपनिषद् (ज्ञान) चारों वेदोंके विज्ञानसे सम्पन्न है। इसमें सांख्य और योगका सिद्धान्त कूट-कूटकर भरा है। इसकी पाञ्चरात्र आगमके नामसे प्रसिद्धि है। साक्षात् नारायणके मुखसे इसका गान हुआ है। तात ! इस

विषयको नारदजीने श्वेतद्वीपमें जैसा देखा और सुना था, वैसा ही ब्रह्माजीके भवनमें सुनाया था ॥ १११-११२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतदाश्चर्यभूतं हि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥११३॥
किं वै ब्रह्मा न जानीते यतः शुश्राव नारदात् ।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! बुद्धिमान् नारायणदेवका माहात्म्य तो बड़ा ही आश्चर्यमय है । क्या ब्रह्माजी इसे नहीं जानते थे कि नारदजीके मुखसे इसका श्रवण किया ? ॥

पितामहोऽपि भगवांस्तस्माद् देवादनन्तरः ॥११४॥
कथं स न विजानीयात् प्रभावममितौजसः ।

भगवान् ब्रह्मा तो उन्हीं नारायणसे प्रकट हुए हैं । फिर वे उन महातेजस्वी नारायणका प्रभाव कैसे नहीं जानते होंगे ? ॥ ११४½ ॥

भीष्म उवाच

महाकल्पसहस्राणि महाकल्पशतानि च ॥११५॥
समतीतानि राजेन्द्र सर्गाश्च प्रलयाश्च ह ।
सर्गस्यादौ स्मृतो ब्रह्मा प्रजासर्गकरः प्रभुः ॥११६॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अबतक सैकड़ों और हजारों महाकल्प बीत चुके हैं, कितने ही सर्ग और प्रलय समाप्त हो चुके हैं । सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजी ही प्रजावर्गके सृष्टिकर्ता माने गये हैं ॥ ११५-११६ ॥

जानाति देवप्रवरं भूयश्चातोऽधिकं नृप ।
परमात्मानमीशानमात्मनः प्रभवं तथा ॥११७॥

नरेश्वर ! वे अपनी उत्पत्तिके कारणभूत देवप्रवर नारायणको इससे भी अधिक जानते हैं । उन्हें सर्वेश्वर और परमात्मा समझते हैं ॥ ११७ ॥

ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः ।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम् ॥११८॥

ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके अलावा जो दूसरे-दूसरे सिद्धसमुदाय निवास करते हैं, उनके लिये नारदजीने यह वेदतुल्य पुरातन पाञ्चरात्र सुनाया था ॥ ११८ ॥

तेषां सकाशात् सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् ।
आत्मानुगामिनां राजन् श्रावयामास वै ततः ॥११९॥
षट् षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
सूर्यस्य तपतो लोकान् निर्मिता ये पुरःसराः ॥१२०॥
तेषामकथयत् सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् ।

पवित्र अन्तःकरणवाले उन सिद्धोंके मुखसे भगवान् सूर्यने इस माहात्म्यको सुना । राजन् ! सूर्यने सुनकर अपने पीछे चलनेवाले साठ हजार भावितात्मा मुनियोंको इसका श्रवण कराया । लोकमें तपते हुए सूर्यके आगे चलनेके लिये जिन ऋषियोंकी सृष्टि हुई है, उन भावितात्माओंको भी सूर्यदेवने भगवान्‌की यह महिमा सुनायी थी ॥११९-१२०½॥

सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः ॥१२१॥
मेरौ समागता देवाः श्राविताश्चेदमुत्तमम् ।

तात ! सूर्यदेवका अनुसरण करनेवाले उन महात्मा ऋषियोंने मेरुपर्वतपर आये हुए देवताओंको वह उत्तम माहात्म्य सुनाया था ॥ १२१½ ॥

देवानां तु सकाशाद् वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥१२२॥
श्रावयामास राजेन्द्र पितॄणां मुनिसत्तमः ।

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण असितने देवताओंके मुखसे उस माहात्म्यको सुनकर पितरोंको सुनाया ॥ १२२½ ॥

(एवं परम्पराख्यातमिदं शान्तनुमाश्रितम्)
मम चापि पिता तात कथयामास शान्तनुः ॥१२३॥

इस प्रकार परम्परया प्राप्त होकर यह उत्तम ज्ञान महाराज शान्तनुको मिला । तात ! फिर पिता शान्तनुने मुझे इसका उपदेश दिया ॥ १२३ ॥

ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत ।
सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥१२४॥
सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समन्ततः ।

भरतनन्दन ! पिताजीके मुखसे इस प्रसङ्गको सुनकर मैंने अब तुमसे इसका वर्णन किया है । देवताओं, मुनियों अथवा जिन लोगोंने भी इस पुरातन ज्ञानको सुना है, वे सभी सब ओर परमात्माका पूजन करते हैं ॥ १२४½ ॥

इदमाख्यानमार्षेयं पारम्पर्यागतं नृप ॥१२५॥
नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथंचन ।

नरेश्वर ! इस प्रकार यह ऋषिसम्बन्धी आख्यान परम्परासे प्राप्त हुआ है । जो भगवान् वासुदेवका भक्त न हो, उसे किसी तरह भी इसका उपदेश तुम्हें नहीं देना चाहिये ॥ १२५½ ॥

(आख्यानमुत्तमं चेदं श्रावयेद् यः सदा नृप ।
तदैव मनुजो भक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
प्राप्नुयादचिराद् राजन् विष्णुलोकं सनातनम् ।)

नरेश्वर ! जो मनुष्य सदा इस उत्तम उपाख्यानको सुनायेगा, वह भक्त मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर शीघ्र ही भगवान् विष्णुके सनातनलोकको प्राप्त होगा ॥

मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै ॥१२६॥
यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः ।

राजन् ! तुमने मुझसे जो अन्य सैकड़ों उपाख्यान सुने हैं, उन सबका यह सारभाग निकालकर तुम्हारे सामने रक्खा गया है ॥ १२६½ ॥

सुरासुरैर्यथा राजन् निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥१२७॥
एवमेतत् पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् ।

युधिष्ठिर ! जैसे देवताओं और असुरोंने समुद्रको मथकर उससे अमृत निकाला था, उसी प्रकार प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंने सारे शास्त्रोंको मथकर इस अमृतमयी कथाको यहाँ प्रकाशित किया ॥ १२७½ ॥

यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥१२८॥
एकान्तभावोपगत एकान्तेषु समाहितः।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥१२९॥
स सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः।

जो मनुष्य प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और जो इसे सदा सुनेगा, वह भगवान्‌के प्रति अनन्यभावको प्राप्त होकर उनके अनन्य भक्तोंमें एकाग्रचित्तसे अनुरक्त हो श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँच जायगा और वह मनुष्य चन्द्रमाके समान कान्तिमान् रूप धारण करके उन सहस्रों किरणोंवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १२८-१२९½॥

मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामादितः कथाम् ॥१३०॥
जिज्ञासुर्लभते कामान् भक्तो भक्तगतिं व्रजेत्।

इस कथाको आदिसे ही सुनकर रोगी रोगसे मुक्त हो जायगा, जिज्ञासु पुरुषको इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त होगा और भक्त पुरुष भक्तजनोचित गतिको प्राप्त होगा ॥ १३०½ ॥

त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥१३१॥
स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः।

राजन्! तुम्हें भी सदा ही भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के माता, पिता और गुरु हैं ॥ १३१½ ॥

ब्रह्मण्यदेवो भगवान् प्रीयतां ते सनातनः ॥१३२॥
युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः।

महाबाहु युधिष्ठिर! ब्राह्मणहितैषी परम बुद्धिमान् सनातन पुरुष भगवान् जनार्दन देव तुमपर सदा प्रसन्न रहें ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदाख्यानवरं धर्मराड् जनमेजय ॥१३३॥
भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायणपराऽभवन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस उत्तम उपाख्यानको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर और उनके सभी भाई भगवान् नारायणके परम भक्त हो गये ॥ १३३½ ॥

जितं भगवता तेन पुरुषेणेति भारत ॥१३४॥
नित्यं जप्यपरा भूत्वा सरस्वतीमुदीरयन्।

भरतनन्दन! वे नित्यप्रति भगवन्नामके जपमें तत्पर होकर 'भगवान् पुरुषोत्तमकी जय हो' ऐसी वाणी बोला करते थे ॥ १३४½ ॥

यो ह्यस्माकं गुरुश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥१३५॥
जगौ परमकं जप्यं नारायणमुदीरयन्।

जो हमारे परमगुरु मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं, वे भी परम उत्तम नारायणमन्त्रका जप करते हुए निरन्तर उनकी महिमाका गान करते रहते हैं ॥ १३५½ ॥

गत्वान्तरिक्षात् सततं क्षीरोदममृताशयम् ॥१३६॥
पूजयित्वा च देवेशं पुनरायात् स्वमाश्रमम्।

व्यासजी सदा ही आकाशमार्गसे अमृतनिधि क्षीरसागरके तटपर जाकर देवेश्वर श्रीहरिकी पूजा करनेके पश्चात् पुनः अपने आश्रमपर लौट आते हैं ॥ १३६½ ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥१३७॥
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नारदजीका कहा हुआ यह सारा उपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। यह पूर्वपरम्परासे पहले मेरे पिताजीको प्राप्त हुआ। फिर पिताजीने मुझसे कहा था ॥ १३७½ ॥

सौतिरुवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ॥१३८॥
जनमेजयेन तच्छ्रुत्वा कृतं सम्यग् यथाविधि।
यूयं हि तप्ततपसः सर्वे च चरितव्रताः ॥१३९॥

सूतपुत्र बोले—शौनक! वैशम्पायनजीका कहा हुआ यह सारा आख्यान मैंने तुमसे कहा है। जनमेजयने इसे सुनकर उत्तम विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया। तुमलोग भी तपस्वी और व्रतका पालन करनेवाले हो ॥१३८-१३९॥

सर्वे वेदविदो मुख्या नैमिषारण्यवासिनः।
शौनकस्य महासत्रं प्राप्ताः सर्वे द्विजोत्तमाः ॥१४०॥

नैमिषारण्यमें निवास करनेवाले प्रायः सभी ऋषि प्रमुख वेदवेत्ता हैं और सभी श्रेष्ठ द्विज शौनकके इस महायज्ञमें एकत्र हुए हैं ॥ १४० ॥

यजध्वं सुहुतैर्यज्ञैः शाश्वतं परमेश्वरम्।
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ॥१४१॥

आप सब लोग विधिवत् हवन करके उत्तम यज्ञोंद्वारा उन सनातन परमेश्वरका यजन करें। यह परम्परासे प्राप्त हुआ उत्तम आख्यान मेरे पिताने पहले-पहल मुझसे कहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका माहात्म्यविषयक तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३३९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल १५६½ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने शिष्योंको भगवान्‌द्वारा ब्रह्मादि देवताओंसे कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप धर्मके उपदेशका रहस्य बताना

शौनक उवाच

कथं स भगवान् देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः।
यज्ञधारी च सततं वेदवेदाङ्गवित् तथा ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन! वे प्रभाव

शाली वेदवेद्य भगवान् नारायणदेव यज्ञोंमें प्रथम भाग ग्रहण करनेवाले माने गये हैं तथा वे ही वेदों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता परमेश्वर नित्य-निरन्तर यज्ञधारी (यज्ञकर्ता) भी बताये गये हैं। एक ही भगवान्‌में यज्ञोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों कैसे सम्भव होते हैं ? ॥ १ ॥

निवृत्तं चास्थितो धर्मे क्षमी भागवतः प्रभुः ।
निवृत्तिधर्मान् विदधे स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥

सबके स्वामी क्षमाशील भगवान् नारायण स्वयं तो निवृत्तिधर्ममें ही स्थित हैं और उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने निवृत्तिधर्मोंका विधान किया है ॥ २ ॥

कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्हा देवताः कृताः ।
कथं निवृत्तिधर्माश्च कृता व्यावृत्तबुद्धयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार निवृत्तिधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने देवताओंको प्रवृत्तिधर्मोंमें अर्थात् यज्ञादि कर्मोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बनाया ? तथा ऋषि-मुनियोंको विषयोंसे विरक्तबुद्धि और निवृत्तिधर्मपरायण किस कारण बनाया ? ॥

एतं नः संशयं सौते छिन्धि गुह्यं सनातनम् ।
त्वया नारायणकथाः श्रुता वै धर्मसंहिताः ॥ ४ ॥

सूतनन्दन ! यह गूढ़ संदेह हमारे मनमें सदा उठता रहता है, आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आपने भगवान् नारायणकी बहुत-सी धर्मसङ्गत कथाएँ सुन रक्खी हैं ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन यत् पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धीमतः ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पौराणं शौनकोत्तम ॥ ५ ॥

सूतपुत्रने कहा—मुनिश्रेष्ठ शौनक ! राजा जनमेजयने बुद्धिमान् व्यासजीके शिष्य वैशम्पायनजीके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित किया था, उस पुराणप्रोक्त विषयका मैं तुम्हारे सामने वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

श्रुत्वा माहात्म्यमेतस्य देहिनां परमात्मनः ।
जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

परम बुद्धिमान् जनमेजयने समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप इन परमात्मा नारायणदेवका माहात्म्य सुनकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच

इमे सब्रह्मका लोकाः ससुरासुरमानवाः ।
क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्ता दृश्यन्ति सर्वशः ॥ ७ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! ब्रह्मा, देवगण, असुरगण तथा मनुष्योंसहित ये समस्त लोक लौकिक अभ्युदयके लिये बताये गये कर्मोंमें ही आसक्त देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

मोक्षश्चोक्तस्त्वया ब्रह्मन् निर्वाणं परमं सुखम् ।
ये तु मुक्ता भवन्तीह पुण्यपापविवर्जिताः ॥ ८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्तीह शुश्रुम ।

ब्रह्मन् ! परंतु आपने मोक्षको परम शान्ति एवं परम सुखस्वरूप बताया है। जो मुक्त होते हैं, वे पुण्य और पापसे रहित हो सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करते हैं, यह बात मैंने सुन रक्खी है ।८½।

अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः ॥ ९ ॥
यं हित्वा देवताः सर्वा हव्यकव्यभुजोऽभवन् ।

किंतु यह सनातन मोक्षधर्म अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है, जिसे छोड़कर सब देवता हव्य और कव्योंके भोक्ता बन गये हैं ॥ ९½ ॥

किं च ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्च बलभित् प्रभुः ॥ १० ॥
सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च ।
आकाशं जगती चैव ये च शेषा दिवौकसः ॥ ११ ॥
प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम् ।
ततस्तेनास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ॥ १२ ॥

इसके सिवा ब्रह्मा, रुद्र और बलासुरका वध करनेवाले सामर्थ्यशाली इन्द्र एवं सूर्य, तारापति चन्द्रमा, वायु, अग्नि, वरुण, आकाश, पृथ्वी तथा जो अवशिष्ट देवता बताये गये हैं, वे सब क्या परमात्माके रचे हुए अपने मोक्ष-मार्गको नहीं जानते हैं ? जिससे कि निश्चल, क्षयशून्य एवं अविनाशी मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ? ॥ १०—१२ ॥

स्मृत्वा कालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः ।
दोषः कालपरीमाणे महानेष क्रियावताम् ॥ १३ ॥

जो लोग नियत कालतक प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलोंको लक्ष्य करके प्रवृत्तिमार्गका आश्रय लेते हैं, उन कर्मपरायण पुरुषोंके लिये यही सबसे बड़ा दोष है कि वे कालकी सीमामें आबद्ध रहकर ही कर्मका फल भोग करते हैं ॥ १३ ॥

एतन्मे संशयं विप्र हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
छिन्धीतिहासकथनात् परं कौतूहलं हि मे ॥ १४ ॥

विप्रवर ! यह संशय मेरे हृदयमें काँटेके समान चुभता है। आप इतिहास सुनाकर मेरे संदेहका निवारण करें । मेरे मनमें इस विषयको जाननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

कथं भागहराः प्रोक्ता देवताः क्रतुषु द्विज ।
किमर्थं चाध्वरे ब्रह्मन्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देवताओंको यज्ञोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बताया गया है ? ब्रह्मन् ! स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले देवताओंकी ही यज्ञमें किसलिये पूजा की जाती है ? ॥ १५॥

ये च भागं प्रगृह्णन्ति यज्ञेषु द्विजसत्तम ।
ते यजन्तो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै ॥ १६ ॥

ब्राह्मणशिरोमणे ! जो यज्ञोंमें भाग ग्रहण करते हैं, वे देवता जब स्वयं महायज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, तब किसको भाग समर्पित करते हैं ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वर ।

नातप्ततपसा ह्येष नावेदविदुषा तथा ॥ १७ ॥
नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! तुमने बड़ा गूढ़ प्रश्न उपस्थित किया है । जिसने तपस्या नहीं की है तथा जो वेदों और पुराणोंका विद्वान् नहीं है, वह मनुष्य अनायास ही ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ १७½ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ १८ ॥
कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः ।

अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ । पूर्वकालमें मेरे पूछनेपर वेदोंका विस्तार करनेवाले गुरुदेव महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने जो कुछ बताया था, वही मैं तुमसे कहूँगा ॥ १८½ ॥

सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः ॥ १९ ॥
अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः ।

सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पैल—इन तीनके सिवा व्यासजीका चौथा शिष्य मैं ही हूँ और पाँचवें शिष्य उनके पुत्र शुकदेव माने गये हैं ॥१९½॥

एतान् समागतान् सर्वान् पञ्च शिष्यान् दमान्वितान्२०
शौचाचारसमायुक्ताञ्जितक्रोधाञ्जितेन्द्रियान् ।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥ २१ ॥

ये पाँचों शिष्य इन्द्रियदमन एवं मनोनिग्रहसे सम्पन्न, शौच तथा सदाचारसे संयुक्त, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय हैं । अपनी सेवामें आये हुए इन सभी शिष्योंको व्यासजीने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन कराया ।२०-२१।

मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ।
तेषामभ्यस्यतां वेदान् कदाचित् संशयोऽभवत् ॥२२॥
एष वै यस्त्वया पृष्टस्तेन तेषां प्रकीर्तितः ।
ततः श्रुतो मया चापि तवाख्येयोऽद्य भारत ॥ २३ ॥

सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिवर मेरुके रमणीय शिखरपर वेदाभ्यास करते हुए हम सब शिष्योंके मनमें किसी समय यही संदेह उत्पन्न हुआ, जिसे आज तुमने पूछा है । भारत ! व्यासजीने हम शिष्योंको जो उत्तर दिया, उसे मैंने भी उन्हींके मुखसे सुना था । वही आज तुम्हें भी बताना है ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा सर्वाज्ञानतमोनुदः ।
पराशरसुतः श्रीमान् व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने शिष्योंका संशययुक्त वचन सुनकर सबके अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले पराशरनन्दन श्रीमान् व्यासजीने यह बात कही—॥ २४ ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानीयामिति सत्तमाः ॥ २५ ॥

'साधु पुरुषोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! एक समयकी बात है कि मैंने भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कठोर और बड़ी भारी तपस्या की ॥

तस्य मे तप्ततपसो निगृहीतेन्द्रियस्य च ।
नारायणप्रसादेन क्षीरोदस्यानुकूलतः ॥ २६ ॥
त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम् ।
तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥ २७ ॥

'जब मैं इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी तपस्या पूर्ण कर चुका, तब भगवान् नारायणके कृपाप्रसादसे क्षीरसागरके तटपर मुझे मेरी इच्छाके अनुसार यह तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त हुआ । अतः मैं तुम्हारे संदेहके निवारणके लिये उत्तम एवं न्यायोचित बात कहूँगा । तुमलोग ध्यान देकर सुनो ॥

यथा वृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा ।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ॥ २८ ॥
महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा ।
तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

'कल्पके आदिमें जैसा वृत्तान्त घटित हुआ था और जिसे मैंने ज्ञानदृष्टिसे देखा था, वह सब बता रहा हूँ । सांख्य और योगके विद्वान् जिन्हें परमात्मा कहते हैं, वे ही अपने कर्मके प्रभावसे महापुरुष नाम धारण करते हैं । उन्हींसे अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है, जिसे विद्वान् पुरुष प्रधानके नामसे भी जानते हैं ॥ २८-२९ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ॥ ३० ॥

'जगत्की सृष्टिके लिये उन्हीं महापुरुष और अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति हुई, जिसे सम्पूर्ण लोकोंमें अनिरुद्ध एवं महान् आत्मा कहते हैं ॥ ३० ॥

योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ३१ ॥

'व्यक्तभावको प्राप्त हुए उन्हीं अनिरुद्धने पितामह ब्रह्माकी सृष्टि की । वे ब्रह्मा सम्पूर्ण तेजोमय हैं और उन्हींको समष्टि अहंकार कहा गया है ॥ ३१ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्चधा ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच सूक्ष्म-महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ३२ ॥

महाभूतानि सृष्ट्वैव तान् गुणान् निर्ममे पुनः ।
भूतेभ्यश्चैव निष्पन्ना मूर्तिमन्तश्च ताञ्छृणु ॥ ३३ ॥

'अहंकारस्वरूप ब्रह्माने पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि करके फिर उनके शब्द-स्पर्श आदि गुणोंका निर्माण किया । उन भूतोंसे जो मूर्तिमान् प्राणी उत्पन्न हुए, उनके नाम सुनो ॥ ३३ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ॥ ३४ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, महात्मा वसिष्ठ और स्वायम्भुव मनु ॥ ३४ ॥

ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
वेदवेदाङ्गसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान् ॥ ३५ ॥
निर्ममे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत् ॥ ३६ ॥

'इन आठोंको प्रकृति जानना चाहिये, जिनमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं । लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण लोकोंके जीवन-निर्वाहके लिये वेद-वेदाङ्ग और यज्ञाङ्गोंसे युक्त यज्ञोंकी सृष्टि की है । पूर्वोक्त आठ प्रकृतियोंसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ३५-३६ ॥

रुद्रो रोषात्मको जातो दशान्यान् सोऽसृजत् स्वयम् ।
एकादशैते रुद्रास्तु विकारपुरुषाः स्मृताः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्माजीके रोषसे रुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है । उन रुद्रने स्वयं ही दस अन्य रुद्रोंकी भी सृष्टि कर ली है । इस प्रकार ये ग्यारह रुद्र हैं, जो विकारपुरुष माने गये हैं ॥ ३७ ॥

ते रुद्राः प्रकृतिश्चैव सर्वे चैव सुरर्षयः ।
उत्पन्ना लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ ३८ ॥

'वे ग्यारह रुद्र, आठ प्रकृति और समस्त देवर्षिगण, जो लोकरक्षाके लिये उत्पन्न हुए थे, ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३८ ॥

वयं सृष्टा हि भगवंस्त्वया च प्रभविष्णुना ।
येन यस्मिन्नधीकारे वर्तितव्यं पितामह ॥ ३९ ॥
योऽसौ त्वयाभिनिर्दिष्टो ह्यधिकारोऽर्थचिन्तकः ।
परिपाल्यः कथं तेन साहंकारेण कर्तृणा ॥ ४० ॥

(और इस प्रकार बोले—) 'भगवन् ! पितामह ! आप महान् प्रभावशाली हैं । आपने ही हमलोगोंकी सृष्टि की है । हममेंसे जिसको जिस अधिकार या कार्यमें प्रवृत्त होना है तथा आपके द्वारा जिस अर्थसाधक अधिकारका निर्देश किया गया है, उसका पालन अहंकारयुक्त कर्ताके द्वारा कैसे हो सकता है ? ॥ ३९-४० ॥

प्रदिशस्व बलं तस्य योऽधिकारार्थचिन्तकः ।
एवमुक्तो महादेवो देवांस्तानिदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

'उस अधिकार और प्रयोजनका चिन्तन करनेवाला जो पुरुष है, उसे आप कर्तव्यपालनकी शक्ति प्रदान कीजिये ।' उनके ऐसा कहनेपर महान् देव ब्रह्माजीने उन देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच

साध्वहं ज्ञापितो देवा युष्माभिर्भद्रमस्तु वः ।
ममाप्येषा समुत्पन्ना चिन्ता या भवतां मता ॥ ४२ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! तुमने मुझे अच्छी बात सुझायी है ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे हृदयमें जो चिन्ता उत्पन्न हुई है, वही मेरे हृदयमें भी पैदा हुई है ॥ ४२ ॥

लोकत्रयस्य कृत्स्नस्य कथं कार्यः परिग्रहः ।
कथं बलक्षयो न स्याद् युष्माकं ह्यात्मनश्च मे ॥ ४३ ॥

किस प्रकार तीनों लोकोंके अधिकृत कार्यका सम्पादन किया जाय तथा किस तरह तुम्हारी और मेरी शक्तिका भी क्षय न हो ॥ ४३ ॥

इतः सर्वेऽपि गच्छामः शरणं लोकसाक्षिणम् ।
महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति यद्धितम् ॥ ४४ ॥

हम सब लोग यहाँसे अव्यक्त लोकसाक्षी महापुरुष नारायणदेवकी शरणमें चलें । वे हमारे लिये हितकी बात बतायेंगे ॥

ततस्ते ब्रह्मणा सार्धमृषयो विबुधास्तथा ।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जग्मुर्लोकहितार्थिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर वे सब ऋषि और देवता सम्पूर्ण जगत्के हितकी भावना लेकर ब्रह्माजीके साथ क्षीरसागरके उत्तर तटपर गये ॥ ४५ ॥

ते तपः समुपातिष्ठन् ब्रह्मोक्तं वेदकल्पितम् ।
स महानियमो नाम तपश्चर्यासु दारुणः ॥ ४६ ॥

वहाँ ब्रह्माजीके कथनानुसार उन सबने वेदोक्त रीतिसे तपस्या आरम्भ की । उनका वह महान् नियम सभी तपस्याओंमें कठोर था ॥ ४६ ॥

ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च एकाग्रं च मनोऽभवत् ।
एकपादाः स्थिताः सर्वे काष्ठभूताः समाहिताः ॥ ४७ ॥

उनकी आँखें ऊपरकी ओर लगी थीं, भुजाएँ भी ऊपरकी ओर ही उठी हुई थीं । मन एकाग्र था । वे सब-के-सब समाहितचित्त हो एक पैरसे खड़े हो काष्ठके समान जान पड़ते थे ॥ ४७ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं ते तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ।
शुश्रुवुर्मधुरां वाणीं वेदवेदाङ्गभूषिताम् ॥ ४८ ॥

एक हजार दिव्य वर्षोंतक अत्यन्त कठोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें वेद और वेदाङ्गोंसे विभूषित मधुर वाणी सुनायी दी॥

श्रीभगवानुवाच

भो भोः सब्रह्मका देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
स्वागतेनार्च्य वः सर्वाञ्श्रावये वाक्यमुत्तमम्॥ ४९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे तपस्याके धनी ब्रह्मा आदि देवताओ तथा ऋषियो ! मैं स्वागतके द्वारा तुम सबका सत्कार करके तुम्हें यह उत्तम वचन सुनाता हूँ ॥ ४९ ॥

विज्ञातं वो मया कार्यं तच्च लोकहितं महत् ।
प्रवृत्तियुक्तं कर्तव्यं युष्मत्प्राणोपबृंहणम् ॥ ५० ॥

तुम्हारा प्रयोजन क्या है ? यह मुझे ज्ञात हो गया है । वह सम्पूर्ण जगत्के लिये अत्यन्त हितकर है । तुम्हें प्रवृत्तियुक्त धर्मका पालन करना चाहिये । वह तुम्हारे प्राणोंका पोषक तथा शक्तिका संवर्द्धन करनेवाला होगा ॥ ५० ॥

सुतप्तं च तपो देवा ममाराधनकाम्यया ।
भोक्ष्यथास्य महासत्त्वास्तपसः फलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

महान् धैर्यशाली देवताओ ! तुमलोगोंने मेरी आराधनाकी इच्छासे बड़ी भारी तपस्या की है । उस तपस्याके उत्तम फलका तुम अवश्य उपभोग करोगे ॥ ५१ ॥

एष ब्रह्मा लोकगुरुर्महाँल्लोकपितामहः ।
यूयं च विबुधश्रेष्ठा मां यजध्वं समाहिताः ॥ ५२ ॥

ये सम्पूर्ण जगत्‌के महान् गुरु लोकपितामह ब्रह्मा और तुम सभी श्रेष्ठ देवगण एकाग्रचित्त हो यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करो ॥

सर्वे भागान् कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः ।
तथा श्रेयोऽभिधास्यामि यथाधीकारमीश्वराः ॥ ५३ ॥

लोकेश्वरो ! तुम सब लोग यज्ञोंमें सदा मेरे लिये भाग समर्पित करते रहो । ऐसा होनेपर मैं तुम्हें तुम्हारे अधिकारके अनुसार कल्याणमार्गका उपदेश करता रहूँगा ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतद् देवदेवस्य वाक्यं हृष्टतनूरुहाः ।
ततस्ते विबुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ॥ ५४ ॥
वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन् ।
तस्मिन् सत्रे सदा ब्रह्मा स्वयं भागमकल्पयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवाधिदेव भगवान् नारायणका यह वचन सुनकर उन सबके रोम हर्षसे खिल उठे । तदनन्तर उन सब देवताओं, महर्षियों और ब्रह्माजीने वेदोक्त विधिसे वैष्णव यज्ञका अनुष्ठान किया । उस यज्ञमें ब्रह्माजीने स्वयं भगवान्‌के लिये भाग निश्चित किया ।५४-५५।

देवा देवर्षयश्चैव स्वं स्वं भागमकल्पयन् ।
ते कार्तयुगधर्माणो भागाः परमसत्कृताः ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार देवताओं और देवर्षियोंने भी अपना-अपना भाग भगवान्‌के लिये निश्चित किया । सत्ययुगके न्यायानुसार निश्चित किये हुए वे उत्तम यज्ञ-भाग सबके द्वारा अत्यन्त सत्कृत हुए ॥ ५६ ॥

प्राहुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम् ।
बृहन्तं सर्वगं देवमीशानं वरदं प्रभुम् ॥ ५७ ॥

ऋषि कहते हैं कि 'भगवान् नारायण सूर्यके समान तेजस्वी, अन्तर्यामी पुरुष, अज्ञानान्धकारसे परे, सर्वव्यापी, सर्वगामी, ईश्वर, वरदाता और सर्वसमर्थ हैं' ॥ ५७ ॥

ततोऽथ वरदो देवस्तान् सर्वानमरान् स्थितान् ।
अशरीरो बभाषेदं वाक्यं खस्थो महेश्वरः ॥ ५८ ॥

यज्ञभाग निश्चित हो जानेपर उन वरदायक देवता महेश्वर नारायणदेवने आकाशमें बिना शरीरके ही स्थित हो वहाँ खड़े हुए उन समस्त देवताओंसे यह बात कही—॥५८॥

येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः ।
प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम् ॥ ५९ ॥

'देवताओ ! जिसने जो भाग हमारे लिये निश्चित किया था, वह उसी रूपमें मुझे प्राप्त हो गया । इससे प्रसन्न होकर आज मैं तुम्हें पुनरावृत्तिरूप फल प्रदान करता हूँ ॥

एतद् वो लक्षणं देवा मत्प्रसादसमुद्भवम् ।
स्वयं यज्ञैर्यजमानाः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ६० ॥
युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः ।

'देवताओ ! मेरी कृपासे तुम्हारा ऐसा ही लक्षण होगा । तुम प्रत्येक युगमें उत्तम दक्षिणाओंसे संयुक्त यज्ञोंद्वारा यजन करके प्रवृत्तिरूप धर्मफलके भागी होओगे ॥ ६०½ ॥

यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः ॥ ६१ ॥
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान् ।

'देवगण ! सम्पूर्ण लोकोंमें जो मनुष्य यज्ञोंद्वारा यजन करेंगे, वे तुम्हारे लिये वेदके कथनानुसार यज्ञभाग निश्चित करेंगे ॥ ६१½ ॥

यो मे यथा कल्पितवान् भागमस्मिन् महाक्रतौ ॥ ६२ ॥
स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतः ।

'इस महान् यज्ञमें जिस देवताने मेरे लिये जैसा भाग निश्चित किया है, वह वैदिक सूत्रमें मेरेद्वारा वैसे ही यज्ञ-भागका अधिकारी बनाया गया ॥ ६२½ ॥

यूयं लोकान् भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥ ६३ ॥
सर्वार्थचिन्तका लोके यथाधीकारनिर्मिताः ।

'तुमलोग यज्ञमें भाग लेकर यजमानको उसका फल देनेमें प्रवृत्त हो जगत्‌में अपने अधिकारके अनुसार सबके सभी मनोरथोंका चिन्तन करते हुए सब लोगोंको उन्नतिशील बनाओ ॥ ६३½ ॥

याः क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥ ६४ ॥
आभिराप्यायितबला लोकान् वै धारयिष्यथ ।

'प्रवृत्ति-फलसे समादृत होनेवाली जिन यज्ञ-क्रियाओंका जगत्‌में प्रचार होगा, उन्हींसे तुम्हारे बलकी वृद्धि होगी और बलिष्ठ होकर तुमलोग सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करोगे ॥ ६४½ ॥

यूयं हि भाविता यज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥ ६५ ॥
मां ततो भावयिष्यध्वमेषा वो भावना मम ।

'सम्पूर्ण यज्ञोंमें मनुष्य तुम्हारा यजन करके तुम्हें उन्नतिशील एवं पुष्ट बनायेंगे, फिर तुमलोग भी मुझे इसी प्रकार परिपुष्ट करोगे । यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है ॥

इत्यर्थं निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभिः सह ॥ ६६ ॥
एभिः सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताः क्षितौ ।

'इसीके लिये मैंने वेदों तथा ओषधियों (अन्न-फल आदि) सहित यज्ञोंकी सृष्टि की है । इनका भलीभाँति पृथ्वीपर अनुष्ठान होनेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होंगे ॥ ६६½ ॥

निर्माणमेतद् युष्माकं प्रवृत्तिगुणकल्पितम् ॥ ६७ ॥
मया कृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह ।
चिन्तयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः ॥ ६८ ॥

'देवश्रेष्ठगण ! मैंने प्रवृत्तिप्रधान गुणके सहित तुमलोगोंकी सृष्टि की है, अतः लोकेश्वरो ! जबतक कल्पका अन्त न हो जाय, तबतक तुमलोग अपने अधिकारके अनुसार लोगोंका हितचिन्तन करते रहो ॥ ६७-६८ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥ ६९ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्माजीके द्वारा मनसे उत्पन्न किये गये हैं ॥ ६९ ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ ७० ॥

'ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। इन सबको वेदाचार्य माना गया है और प्रजापतिके पदपर प्रतिष्ठित किया गया है ॥ ७० ॥

अयं क्रियावतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः ॥ ७१ ॥

'यह कर्मपरायण पुरुषोंके लिये सनातन मार्ग प्रकट हुआ है। इस पद्धतिसे लोकोंकी सृष्टि करनेवाले प्रभावशाली पुरुषको अनिरुद्ध कहा गया है ॥ ७१ ॥

सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥ ७२ ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥ ७३ ॥

'सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सातवें सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र कहे गये हैं। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्ममें स्थित हैं ॥ ७२-७३ ॥

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥ ७४ ॥

'ये प्रमुख योगवेत्ता, सांख्यज्ञान-विशारद, धर्मशास्त्रोंके आचार्य तथा मोक्षधर्मके प्रवर्तक हैं ॥ ७४ ॥

यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात् त्रिगुणो महान्।
तस्मात् परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः॥ ७५ ॥

'पूर्वकालमें अव्यक्त प्रकृतिसे जो त्रिगुणात्मक महान् अहंकार प्रकट हुआ था, उससे अत्यन्त परे जिसकी स्थिति है, वह समष्टि चेतन क्षेत्रज्ञ माना गया है ॥ ७५ ॥

सोऽहं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
यो यथा निर्मितो जन्तुर्यस्मिन् यस्मिंश्च कर्मणि ॥७६॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत्।

'वह क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। जो कर्मपरायण मनुष्य हैं, वे पुनरावृत्तिशील हैं; अतः उनके लिये यह निवृत्तिमार्ग दुर्लभ है। जिस प्राणीका जिस प्रकार निर्माण हुआ है तथा वह जिस-जिस प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप कर्ममें संलग्न होता है, वह उसीके महान् फलका भागी होता है ॥ ७६½ ॥

एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥ ७७ ॥
एष माता पिता चैव युष्माकं च पितामहः।
मयानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ ७८ ॥

'ये लोकगुरु ब्रह्मा जगत्‌के आदि स्रष्टा और प्रभु हैं। ये ही तुम्हारे माता-पिता और पितामह हैं। मेरी आज्ञाके अनुसार ये सम्पूर्ण भूतोंको वर प्रदान करनेवाले होंगे ॥

अस्य चैवात्मजो रुद्रो ललाटाद् यः समुत्थितः।
ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतधरः प्रभुः ॥ ७९ ॥

'इनके ललाटसे जो रुद्र उत्पन्न हुए हैं, वे भी इन (ब्रह्माजी) के ही पुत्र हैं। ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सम्पूर्ण भूतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७९ ॥

गच्छध्वं स्वानधीकारांश्चिन्तयध्वं यथाविधि।
प्रवर्तन्तां क्रियाः सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥ ८० ॥

'तुम सब लोग जाओ और अपने-अपने अधिकारोंका विधिपूर्वक पालन करो। समस्त लोकोंमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियाएँ अविलम्ब प्रचलित हो जानी चाहिये ॥ ८० ॥

प्रदिश्यन्तां च कर्माणि प्राणिनां गतयस्तथा।
परिनिष्ठितकालानि आयूंषीह सुरोत्तमाः ॥ ८१ ॥

'सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग प्राणियोंको उनके कर्म, उन कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली गति तथा नियत कालतककी आयु प्रदान करो ॥ ८१ ॥

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा ॥ ८२ ॥

'यह सत्ययुग नामक श्रेष्ठ समय चल रहा है। इस युगमें यज्ञ-पशुओंकी हिंसा नहीं की जाती। अहिंसाधर्मके विपरीत यहाँ कुछ भी नहीं होता है ॥ ८२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥

'देवताओ ! इस सत्ययुगमें चारों चरणोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मका पालन होगा। तदनन्तर त्रेतायुग आयेगा, जिसमें वेदत्रयीका प्रचार होगा ॥ ८३ ॥

प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे।
यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥ ८४ ॥

'उस युगमें यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये गये पशुओंका वध किया जायगा* और धर्मका एक पाद—चतुर्थ अंश कम हो जायगा ॥ ८४ ॥

ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति।
द्विपादहीनो धर्मश्च युगे तस्मिन् भविष्यति ॥ ८५ ॥

'उसके बाद द्वापर युगका आगमन होगा। वह समय धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे युक्त होगा। उस युगमें धर्मके दो चरण नष्ट हो जायँगे ॥ ८५ ॥

ततस्तिष्येऽथ सम्प्राप्ते युगे कलिपुरस्कृते।
एकपादस्थितो धर्मो यत्र तत्र भविष्यति ॥ ८६ ॥

'तदनन्तर पुष्य नक्षत्रमें कलियुगका पदार्पण होगा। उस समय यत्र-तत्र धर्मका एक चरण ही शेष रह जायगा' ॥

---

* पशुवधसे यहाँ क्या अभिप्राय है, ठीक समझमें नहीं आया।

देवा देवर्षयश्चोचुस्तमेवंवादिनं गुरुम् ।
एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिनि ॥ ८७ ॥
कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद् वदस्व नः ।

तब देवताओं और देवर्षियोंने उपर्युक्त बात कहनेवाले गुरुस्वरूप भगवान्से कहा—'भगवन् ! जब कलियुगमें जहाँ कहीं भी धर्मका एक ही चरण अवशिष्ट रहेगा, तब हमें क्या करना होगा ? यह बताइये' ॥ ८७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥ ८८ ॥
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्॥

श्रीभगवान् बोले—सुरश्रेष्ठगण ! जहाँ वेद, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रियसंयम और अहिंसाधर्म प्रचलित हों, उसी देशका तुम्हें सेवन करना चाहिये । ऐसा करनेसे तुम्हें अधर्म अपने एक पैरसे भी नहीं छू सकेगा ॥ ८८-८९ ॥

व्यास उवाच

तेऽनुशिष्टा भगवता देवाः सर्षिगणास्तथा ।
नमस्कृत्वा भगवते जग्मुर्देशान् यथेप्सितान् ॥ ९० ॥

व्यासजी कहते हैं—शिष्यो ! भगवान्का यह उपदेश पाकर ऋषियोंसहित देवता उन्हें नमस्कार करके अपने अभीष्ट देशोंको चले गये ॥ ९० ॥

गतेषु त्रिदिवौकःसु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः ।
दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ ९१ ॥

स्वर्गवासी देवताओंके चले जानेपर अकेले ब्रह्माजी ही वहाँ खड़े रहे । वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित भगवान् श्रीहरिका दर्शन करना चाहते थे ॥ ९१ ॥

तं देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् ।
साङ्गानावर्तयन् वेदान् कमण्डलुत्रिदण्डधृक् ॥ ९२ ॥

तब भगवान्ने महान् हयग्रीवरूप धारण करके ब्रह्माजीको दर्शन दिया । वे कमण्डलु और त्रिदण्ड धारण करके छहों अङ्गोंसहित वेदोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥ ९२ ॥

ततोऽश्वशिरसं दृष्ट्वा तं देवममितौजसम् ।
लोककर्ता प्रभुर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ९३ ॥
मूर्ध्ना प्रणम्य वरदं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।
स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा ॥ ९४ ॥

उस समय अमित पराक्रमी भगवान् हयग्रीवका दर्शन करके सम्पूर्ण जगत्के हितकी कामनासे लोककर्ता भगवान् ब्रह्माने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उन वरदायक देवताके सम्मुख वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये । तब भगवान्ने उनको हृदयसे लगाकर यह बात सुनायी ॥

श्रीभगवानुवाच

लोककार्यगतीः सर्वास्त्वं चिन्तय यथाविधि ।
धाता त्वं सर्वभूतानां त्वं प्रभुर्जगतो गुरुः ॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! तुम सम्पूर्ण लोकोंके समस्त कर्मों और उनसे मिलनेवाली गतियोंका विधिपूर्वक चिन्तन करो; क्योंकि तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंके धाता हो, तुम्हीं सबके प्रभु हो और तुम्हीं इस जगत्के गुरु हो ॥९५॥

त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथाञ्जसा ।
यदा च सुरकार्यं ते अविषह्यं भविष्यति ॥ ९६ ॥
प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदाऽऽत्मज्ञानदैशिकः ।
एवमुक्त्वा हयशिरास्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ९७ ॥

तुमपर यह भार रखकर मैं अनायास ही धैर्य धारण करूँगा । जब कभी तुम्हारे लिये देवताओंका कार्य असह्य हो जायगा, तब मैं आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिये तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा । ऐसा कहकर भगवान् हयग्रीव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९६-९७ ॥

तेनानुशिष्टो ब्रह्मापि स्वलोकमचिराद् गतः ।
एवमेष महाभागः पद्मनाभः सनातनः ॥ ९८ ॥
यज्ञेष्वग्रहरः प्रोक्तो यज्ञधारी च नित्यदा ।
निवृत्तिं चास्थितो धर्मं गतिमक्षयधर्मिणाम् ।
प्रवृत्तिधर्मान् विदधे कृत्वा लोकस्य चित्रताम् ॥९९॥

भगवान्का यह उपदेश पाकर ब्रह्मा भी शीघ्र ही अपने लोकको चले गये । इस प्रकार ये महाभाग सनातन पुरुष भगवान् पद्मनाभ यज्ञोंमें अग्रभोक्ता और सदा ही यज्ञके पोषक एवं प्रवर्तक बताये गये हैं । वे कभी अक्षयधर्मी महात्माओंके निवृत्तिधर्मका आश्रय लेते हैं और कभी लोककी विचित्र चित्तवृत्ति करके प्रवृत्तिधर्मका विधान करते हैं ॥

स आदिः स मध्यः स चान्तः प्रजानां
स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् ।
युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान्
युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्ज ॥१००॥

वे ही भगवान् नारायण प्रजाके आदि, मध्य और अन्त हैं । वे ही धाता, धेय, कर्ता और कार्य हैं । वे ही युगान्तके समय सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके सो जाते हैं और वे ही कल्पके आदिमें जाग्रत् हो सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं ॥ १०० ॥

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।
अजाय विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम् ॥१०१॥

शिष्यो ! तुम उन्हीं अजन्मा, विश्वरूप, सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय निर्गुण परमात्मा नारायणदेवको नमस्कार करो ॥

महाभूताधिपतये रुद्राणां पतये तथा ।
आदित्यपतये चैव वसूनां पतये तथा ॥१०२॥

वे ही महाभूतोंके अधिपति तथा रुद्रों, आदित्यों और वसुओंके स्वामी हैं । उन्हें नमस्कार करो ॥ १०२ ॥

अश्विभ्यां पतये चैव मरुतां पतये तथा ।
वेदयज्ञाधिपतये वेदाङ्गपतयेऽपि च ॥१०३॥

वे अश्विनीकुमारोंके पति, मरुद्गणोंके पालक, वेद और यज्ञोंके अधिपति तथा वेदाङ्गोंके भी स्वामी हैं। उन्हें प्रणाम करो ॥ १०३ ॥

समुद्रवासिने नित्यं हरये मुञ्जकेशिने।
शान्ताय सर्वभूतानां मोक्षधर्मानुभाषिणे ॥१०४॥

जो सदा समुद्रमें निवास करते हैं, जिनका केश मूँजके समान है तथा जो समस्त प्राणियोंको मोक्षधर्मका उपदेश देते हैं, उन शान्तस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०४ ॥

तपसां तेजसां चैव पतये यशसामपि।
वचसां पतये नित्यं सरितां पतये तथा ॥१०५॥

जो तप, तेज, यश, वाणी तथा सरिताओंके स्वामी एवं नित्य संरक्षक हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०५॥

कपर्दिने वराहाय एकशृङ्गाय धीमते।
विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ॥१०६॥

जो जटाजूटधारी, एक सींगवाले वराह, बुद्धिमान् विवस्वान्, हयग्रीव तथा चतुर्मूर्तिधारी हैं, उन श्रीनारायणदेवको सदा नमस्कार करो ॥ १०६ ॥

गुह्याय ज्ञानदृश्याय अक्षराय क्षराय च।
एष देवः संचरति सर्वत्रगतिरव्ययः ॥१०७॥

जिनका स्वरूप गुह्य है, जो ज्ञानरूपी नेत्रसे ही देखे जाते हैं तथा अक्षर और क्षररूप हैं, उन श्रीहरिको प्रणाम करो। ये अविनाशी नारायणदेव सर्वत्र संचरण करते हैं; इनकी सर्वत्र गति है ॥ १०७ ॥

एष चैतत् परं ब्रह्म ज्ञेयो विज्ञानचक्षुषा।
एवमेतत् पुरा दृष्टं मया वै ज्ञानचक्षुषा ॥१०८॥

ये ही परब्रह्म हैं। विज्ञानमय नेत्रसे ही इनका दर्शन एवं ज्ञान हो सकता है। पूर्वकालमें मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही इनका इस प्रकार साक्षात्कार किया था ॥ १०८ ॥

कथितं तच्च वै सर्वं मया पृष्टेन तत्त्वतः।
क्रियतां मद्वचः शिष्याः सेव्यतां हरिरीश्वरः।
गीयतां वेदशब्दैश्च पूज्यतां च यथाविधि ॥१०९॥

शिष्यो! तुमलोगोंके पूछनेपर मैंने ये सारी बातें यथार्थरूपसे कही हैं। तुम मेरी बात मानो और सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन करो। वेदमन्त्रोंद्वारा उन्हींकी महिमाका गान और उन्हींका विधिपूर्वक पूजन करो ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्तु वयं तेन वेदव्यासेन धीमता।
सर्वे शिष्याः सुतश्चास्य शुकः परमधर्मवित् ॥११०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् वेदव्यासने हम सब शिष्योंको तथा अपने परम धर्मज्ञ पुत्र शुकदेवको ऐसा ही उपदेश दिया ॥ ११० ॥

स चास्माकमुपाध्यायः सहास्माभिर्विशाम्पते।
चतुर्वेदोद्गताभिस्तमृग्भिः समभितुष्टुवे ॥१११॥

प्रजानाथ! फिर हमारे उपाध्याय व्यासने हमारे साथ चारों वेदोंकी ऋचाओंद्वारा उन नारायणदेवका स्तवन किया॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
एवं मेऽकथयद् राजन् पुरा द्वैपायनो गुरुः ॥११२॥

राजन्! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। पूर्वकालमें मेरे गुरु व्यासजीने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया था ॥ ११२ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चैनं परिकीर्तयेत्।
नमो भगवते कृत्वा समाहितमतिर्नरः ॥११३॥
भवत्यरोगो मतिमान् बलरूपसमन्वितः।
आतुरो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥११४॥

जो प्रतिदिन इसे सुनता है और जो भगवान्‌को नमस्कार करके एकाग्रचित्त हो सदा इसका पाठ करता है, वह बुद्धिमान्, बलवान्, रूपवान् तथा रोगरहित होता है। रोगी रोगसे और बँधा हुआ पुरुष बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥

कामान् कामी लभेत् कामं दीर्घं चायुरवाप्नुयात्।
ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥११५॥

कामनावाला पुरुष मनोवाञ्छित कामनाओंको पाता है तथा बड़ी भारी आयु प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता और क्षत्रिय विजयी होता है ॥ ११५ ॥

वैश्यो विपुललाभः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्।
अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥११६॥

वैश्य इसको पढ़ने और सुननेसे महान् लाभका भागी होता है। शूद्र सुख पाता है। पुत्रहीनको पुत्र और कन्याको मनोवाञ्छित पतिकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥

लग्नगर्भा विमुच्येत गर्भिणी जनयेत् सुतम्।
वन्ध्या प्रसवमाप्नोति पुत्रपौत्रसमृद्धिमत् ॥११७॥

जिसका गर्भ अटक गया हो, वह इसको सुननेसे उस संकटसे छूट जाती है। गर्भवती स्त्री यथासमय पुत्र पैदा करती है। वन्ध्या भी प्रसवको प्राप्त होती है तथा उसका वह प्रसव पुत्र-पौत्र एवं समृद्धिसे सम्पन्न होता है ॥११७॥

क्षेमेण गच्छेदध्वानमिदं यः पठते पथि।
यो यं कामं कामयते स तमाप्नोति च ध्रुवम् ॥११८॥

जो मार्गमें इसका पाठ करता है, वह कुशलतापूर्वक अपनी यात्रा पूरी करता है। इसे पढ़ने और सुननेवाला पुरुष जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥ ११८ ॥

इदं महर्षेर्वचनं विनिश्चितं
महात्मनः पुरुषवरस्य कीर्तितम्।
समागमं चर्षिदिवौकसामिमं
निशम्य भक्ताः सुसुखं लभन्ते ॥११९॥

पुरुषप्रवर महात्मा महर्षि व्यासके कहे हुए इस सिद्धान्त-भूत वचनको तथा ऋषियों और देवताओंके समागम-सम्बन्धी इस वृत्तान्तको श्रवण करके भक्तजन उत्तम सुख पाते हैं ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना

जनमेजय उवाच

अस्तौषीद् यैरिमं व्यासः सशिष्यो मधुसूदनम् ।
नामभिर्विविधैरेषां निरुक्तं भगवन् मम ॥ १ ॥
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोः प्रजापतिपतेर्हरेः ।
श्रुत्वा भवेयं यत् पूतः शरच्चन्द्र इवामलः ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! शिष्योंसहित महर्षि व्यासने जिन नाना प्रकारके नामोंद्वारा इन मधुसूदनका स्तवन किया था, उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति) मुझे बतानेकी कृपा करें । मैं प्रजापतियोंके पति भगवान् श्रीहरिके नामोंकी व्याख्या सुनना चाहता हूँ; क्योंकि उन्हें सुनकर मैं शरच्चन्द्रके समान निर्मल एवं पवित्र हो जाऊँगा ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् यथाऽऽचष्ट फाल्गुनस्य हरिः प्रभुः ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनो नाम्नां निरुक्तं गुणकर्मजम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! भगवान् श्रीहरिने अर्जुनपर प्रसन्न होकर उनसे गुण और कर्मके अनुसार स्वयं अपने नामोंकी जैसी व्याख्या की थी, वही तुम्हें सुना रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

नामभिः कीर्तितैस्तस्य केशवस्य महात्मनः ।
पृष्टवान् केशवं राजन् फाल्गुनः परवीरहा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिन नामोंके द्वारा उन महात्मा केशवका कीर्तन किया जाता है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णसे उनके विषयमें इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय ।
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥ ५ ॥
यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः ।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥ ६ ॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव ।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके स्वामी, सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा, अविनाशी, जगदाधार तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले जगन्नाथ, भगवन्, नारायणदेव ! महर्षियोंने आपके जो-जो नाम कहे हैं तथा पुराणों और वेदोंमें कर्मानुसार जो-जो गोपनीय नाम पढ़े गये हैं, उन सबकी व्याख्या मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ । प्रभो ! केशव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन नामोंकी व्युत्पत्ति नहीं बता सकता ॥ ५—७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु ।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन ॥ ८ ॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुत-से नाम कहे हैं ॥

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित् ।
निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ १० ॥

उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं । निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो ॥ १० ॥

कथ्यमानं मया तात त्वं हि मेऽर्धं स्मृतः पुरा ।
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ॥ ११ ॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ।

तात ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति बताता हूँ, क्योंकि पूर्वकालसे ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो । जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणदेवको नमस्कार है ॥

यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः ॥ १२ ॥
योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च ।

जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं ॥

अष्टादशगुणं यत् तत् सत्त्वं सत्त्ववतां वर ॥ १३ ॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी ।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥ १४ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह[1] गुणोंवाला जो सत्त्व

[1] १. प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हलकापन, सुख, कृपणताका अभाव, रोषका अभाव, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य तथा दोषदृष्टिका अभाव—ये सत्त्वके अठारह गुण हैं।

है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी परा प्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी आत्मस्वरूपा वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्मफलभूत गतिस्वरूपा), सत्या (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा) अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है ॥ १३-१४ ॥

तस्मात् सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट् ॥ १५ ॥
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः।

उसीसे सृष्टि और प्रलय आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, यज्ञ और यजमान है, वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध कहा गया है। उसीसे लोकोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं ॥ १५½ ॥

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥ १६ ॥
प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण।
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः ॥ १७ ॥

जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक कमल प्रकट हुआ। कमलनयन अर्जुन ! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मा भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥

अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा।
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥ १८ ॥

ब्रह्माका दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए उस देवके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए ॥

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ।
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ ॥

ये दोनों श्रेष्ठ देवता--ब्रह्मा और रुद्र भगवान्‌के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हींके बताये हुए मार्गका आश्रय ले सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं ॥ १९ ॥

निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ।
कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः ॥ २० ॥
उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः।
दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥ २१ ॥

समस्त प्राणियोंको वर देनेवाले वे दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है।) इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटाजूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशानगृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक नाम हैं ॥ २०-२१ ॥

नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे।
तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥ २२ ॥
सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः।

पाण्डुनन्दन ! इन भगवान् रुद्रको नारायणस्वरूप ही जानना चाहिये। पार्थ ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्वसमर्थ भगवान् नारायणकी ही पूजा होती है ॥ २२½ ॥

अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्।

पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा हूँ। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ ॥ २३½ ॥

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः।

यदि मैं वरदाता भगवान् शिवकी पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शङ्करका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है ॥ २४½ ॥

मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्।
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥ २६ ॥

मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण या आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है ॥ २५-२६ ॥

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन ! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥

न हि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन।
इति संचिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥
पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमात्मना।

पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन ! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता; यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराणपुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी ॥ २८½ ॥

न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च ॥ २९ ॥
ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम्।

विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये मैं रुद्रका भजन करता हूँ ॥ २९½ ॥

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः ॥ ३० ॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायणदेव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं ॥ ३०½ ॥

भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥

सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ ३१½ ॥

नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नम ॥ ३२ ॥
वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नम ।

कुन्तीकुमार ! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्यभोक्ता भगवान्‌को प्रणाम करो ॥ ३२½ ॥

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ॥ ३३ ॥
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ।
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥

तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं। इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। निष्कामभावसे समस्त कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ ॥

ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥ ३५ ॥

जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं। अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं—पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादिलोकोंसे च्युत हो जाते हैं, परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है ॥

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत् परम् ॥ ३६ ॥

ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्काम-भावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

भक्तं प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः ।
त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् ।

पार्थ ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है। कुन्तीनन्दन ! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है॥

जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽभ्युदयिकोऽपि च ।
नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः ॥ ३९ ॥

भारत ! मैं अध्यात्मयोगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है। लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है। एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्योंका सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ ॥ ३८-३९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥ ४० ॥

नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको नार कहा गया है। वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवासस्थान) था; इसलिये ही मैं 'नारायण' कहलाता हूँ ॥ ४० ॥

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ ४१ ॥

(जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवासस्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वासस्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है ॥

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥ ४२ ॥
अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥ ४३ ॥

भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ। पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रक्खा है। मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है। भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ। कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ। इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है* ॥ ४२-४३ ॥

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥ ४४ ॥

मनुष्य दम (इन्द्रियसंयम) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह दामोदर शब्दकी व्युत्पत्ति है) ॥ ४४ ॥

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥ ४५ ॥

अन्न, वेद, जल और अमृतको पृश्नि कहते हैं। ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं; इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है ॥

ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् ।
पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥ ४६ ॥
ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्यृषिवरस्त्रितः ।
उत्ततारोदपानाद् वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥ ४७ ॥

---

* 'विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है, अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं।

जब त्रितमुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की—'पृश्निगर्भ ! आप एकत और द्वितके गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये।' उस समय मेरे पृश्निगर्भ नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित उस कुएँसे बाहर हो गये॥

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥ ४८ ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।

जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं। उस केशसे युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं ॥ ४८½ ॥

एवं हि वरदं नाम केशवेति ममार्जुन ।
देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ४९ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार मेरा 'केशव' नाम सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वरदायक है ॥ ४९ ॥

अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः ।
अग्नीषोममयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम् ॥ ५० ॥

अग्नि सोमके साथ संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि-सोममय है ॥ ५० ॥

अपि हि पुराणे भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हन्तो लोकान् धारयन्त इति ॥ ५१ ॥

पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं तथा सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं। एकयोनि होनेके कारण ये एक दूसरेको आनन्द प्रदान करते और समस्त लोकोंको धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन, ब्राह्मणोंकी महिमा बतानेवाली अनेक प्रकारकी संक्षिप्त कथाओंका उल्लेख, भगवन्नामोंके हेतु तथा रुद्रके साथ होनेवाले युद्धमें नारायणकी विजय

अर्जुन उवाच

अग्नीषोमौ कथं पूर्वमेकयोनी प्रवर्तितौ ।
एष मे संशयो जातस्तं छिन्धि मधुसूदन ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—मधुसूदन ! अग्नि और सोम पूर्वकालमें एकयोनि कैसे हो गये ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है। आप इसका निवारण कीजिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि पुराणं पाण्डुनन्दन ।
आत्मतेजोद्भवं पार्थ शृणुष्वैकमना मम ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! अपने तेजके उद्भवका प्राचीन वृत्तान्त मैं तुम्हें हर्षपूर्वक बताऊँगा। तुम एकचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सम्प्रक्षालनकालेऽतिक्रान्ते चतुर्युगसहस्रान्ते अव्यक्ते सर्वभूते प्रलये सर्वभूतस्था चरजङ्गमे ज्योतिर्धरणिवायुरहितेऽन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके ॥ ३ ॥

एक सहस्र चतुर्युग बीत जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रलयकाल आ पहुँचा था। समस्त भूतोंका अव्यक्तमें लय हो गया था। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी विलीन हो गये थे। पृथ्वी, तेज और वायुका कहीं पता नहीं था। चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा था तथा समस्त संसार एकार्णवके जलमें निमग्न हो चुका था ॥ ३ ॥

आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥

सब ओर केवल जल-ही-जल स्थित था। दूसरा कोई तत्त्व नहीं दिखायी देता था, मानो एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित हो ॥ ४ ॥

न वै रात्र्यां न दिवसे न सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते ॥ ५ ॥

उस समय न रात थी, न दिन। न सत् था, न असत्। न व्यक्त था और न अव्यक्तकी ही स्थिति थी ॥ ५ ॥

एवमस्यां व्यवस्थायां नारायणगुणाश्रयादजरामरादनिन्द्रियादग्राह्यादसम्भवात् सत्यादहिंस्राल्ललामाद् विविधप्रवृत्तिविशेषाद्वैरादक्षयादमरादजरादमूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतस्तस्मात् पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः ॥ ६ ॥

इस अवस्थामें नारायणके गुणोंका आश्रय लेकर रहनेवाले उस अजर, अमर, इन्द्रियरहित, अग्राह्य, असम्भव, सत्यस्वरूप, हिंसारहित, सुन्दर, नाना प्रकारकी विशेष प्रवृत्तियोंके हेतुभूत, वैररहित, अक्षय, अमर, जरारहित, निराकार, सर्वव्यापी तथा सर्वकर्ता तत्त्वसे अविनाशी सनातन पुरुष हरिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ६ ॥

निदर्शनमपि ह्यत्र भवति ॥ ७ ॥

इस विषयमें श्रुतिका यह दृष्टान्त भी है ॥ ७ ॥

नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत् तम एव पुरस्तादभवद् विश्वरूपम् । सा विश्वरूपस्य रजनी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यः ॥ ८ ॥

उस प्रलयकालमें न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था, केवल तम ही सामने था। वही सर्वरूप हो रहा था। वही विश्वात्माकी रात्रि है। इस प्रकार इस श्रुतिका अर्थ कहना और समझना चाहिये ॥ ८ ॥

तस्येदानीं तमसः सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः प्रजाः सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज । ततो भूतसर्गेषु सृष्टेषु प्रजाक्रमवशाद् ब्रह्मक्षत्रमुपातिष्ठत्। यः सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणा योऽग्निस्तत् क्षत्रं क्षत्राद् ब्रह्म बलवत्तरम्। कस्मादिति लोकप्रत्यक्षगुणमेतत्तद्यथा। ब्राह्मणेभ्यः परं भूतं नोत्पन्नपूर्वं दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति । यो ब्राह्मणमुखे जुहोतीति कृत्वा ब्रवीमि भूतसर्गः कृतो ब्रह्मणा भूतानि च प्रतिष्ठाप्य त्रैलोक्यं धार्यत इति मन्त्रवादोऽपि हि भवति ॥ ९ ॥

उस समय उस मायाविशिष्ट ईश्वरसे प्रकट हुए उस ब्रह्मयोनि पुरुषसे जब ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ, तब उस पुरुषने प्रजासृष्टिकी इच्छासे अपने नेत्रोंद्वारा अग्नि और सोमको उत्पन्न किया । इस प्रकार भौतिक सर्गकी सृष्टि हो जानेपर प्रजाकी उत्पत्तिके समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्रका प्रादुर्भाव हुआ। जो सोम है, वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वही ब्राह्मण । जो अग्नि है, वही क्षत्र या क्षत्रिय जाति है। क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति अधिक प्रबल है। यदि कहो कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मणकी यह प्रबलताका गुण सब लोगोंको प्रत्यक्ष है। यथा ब्राह्मणसे बढ़कर कोई प्राणी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ। जो ब्राह्मणके मुखमें भोजन देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें आहुति प्रदान करता है । यही सोचकर मैं ऐसा कहता हूँ। ब्रह्माने भूतोंकी सृष्टि की और सम्पूर्ण भूतोंको यथास्थान स्थापित करके वे तीनों लोकोंको धारण करते हैं। यह मन्त्रवाक्य भी इसी बातका समर्थक है॥ ९॥

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितो देवानां मानुषाणां च जगत इति ॥ १० ॥

अग्ने! तुम यज्ञोंके होता तथा सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों और सारे जगत्के हितैषी हो ॥ १० ॥

निदर्शनं चात्र भवति विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति। त्वं हितो देवैर्मनुष्यैर्जगत इति ॥ ११ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण यज्ञोंके होता हो। समस्त देवताओं तथा मनुष्योंसहित जगत्के हितैषी हो ॥ ११ ॥

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म ॥१२॥

अग्निदेव यज्ञोंके होता और कर्ता हैं । वे अग्निदेव ब्राह्मण हैं ॥ १२ ॥

न ह्यृते मन्त्राणां हवनमस्ति न विना पुरुषं तपः सम्भवति। हविर्मन्त्राणां सम्पूजा विद्यते देवमानुषऋषीणामनेन त्वं होतेति नियुक्तः। ये च मानुषहोत्राधिकारास्ते च ब्राह्मणस्य हि याजनं विधीयते न क्षत्रवैश्ययोर्द्विजात्योस्तस्माद् ब्राह्मणा ह्यग्निभूता यज्ञानुद्वहन्ति। यज्ञास्ते देवांस्तर्पयन्ति देवाः पृथिवीं भावयन्ति शतपथेऽपि हि ब्राह्मणमुखे भवति ॥१३॥

क्योंकि मन्त्रोंके बिना हवन नहीं होता और पुरुषके बिना तपस्या सम्भव नहीं होती । हविष्ययुक्त मन्त्रोंके सम्बन्धसे देवताओं, मनुष्यों और ऋषियोंकी पूजा होती है; इसलिये हे अग्निदेव ! तुम होता नियुक्त किये गये हो। मनुष्योंमें जो होताके अधिकारी हैं, वे ब्राह्मणके ही हैं; क्योंकि उसीके लिये यज्ञ करानेका विधान है। द्विजातियोंमें जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है; इसलिये अग्निस्वरूप ब्राह्मण ही यज्ञोंका भार वहन करते हैं। वे यज्ञ देवताओंको तृप्त करते हैं और देवता भूमण्डलको धन-धान्यसे सम्पन्न बनाते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी ब्राह्मणके मुखमें आहुति देनेकी बात कही गयी है ॥ १३ ॥

अग्नौ समिद्धे स जुहोति यो विद्वान् ब्राह्मणमुखेनाहुतिं जुहोति ॥ १४ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें होम करता है ॥ १४ ॥

एवमप्यग्निभूता ब्राह्मणा विद्वांसोऽग्निं भावयन्ति। अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति ॥ १५ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण अग्निस्वरूप हैं। विद्वान् ब्राह्मण अग्निकी आराधना करते हैं । अग्निदेव विष्णु हैं। वे समस्त प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनके प्राणोंको धारण करते हैं॥

अपि चात्र सनत्कुमारगीताः श्लोका भवन्ति—

ब्रह्मा विश्वं सृजत् पूर्वं सर्वादिर्निरवस्कृतम्।
ब्रह्मघोषैर्दिवं गच्छन्त्यमरा ब्रह्मयोनयः ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस विषयमें सनत्कुमारजीके द्वारा गाये हुए श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। सबके आदिकारण ब्रह्माजीने (जो ब्राह्मण ही हैं) पहले निर्मल विश्वकी सृष्टि की थी। ब्रह्म ही जिनकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वे अमर देवता ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे ही स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणानां मतिर्वाक्यं कर्म श्रद्धां तपांसि च।
धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो वागमृतं तथा ॥ १७ ॥

जैसे छींका दूध, दही आदिको धारण करता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंकी बुद्धि, वाक्य, कर्म, श्रद्धा, तप और वचनामृत पृथ्वी और स्वर्गको धारण करते हैं ॥ १७ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये ॥ १८ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है तथा ब्राह्मणोंसे बढ़कर इहलोक और पर-

लोकमें कल्याण करनेवाला और कोई नहीं है ॥ १८ ॥

नैषामुक्षा वहति नोत वाहा
न गर्गरो मथ्यति सम्प्रदाने।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
येषां राष्ट्रे ब्राह्मणा वृत्तिहीनाः ॥ १९ ॥

जिनके राज्यमें ब्राह्मणोंके लिये कोई आजीविका न हो, उन राजाओंकी सवारी, बैल और घोड़े नहीं रहते, दूसरोंको देनेके लिये उनके यहाँ दही-दूधके मटके नहीं मथे जाते हैं तथा वे अपनी मर्यादासे भ्रष्ट होकर लुटेरे हो जाते हैं ॥१९॥

वेदपुराणेतिहासप्रामाण्यान्नारायणमुखोद्गताः सर्वात्मानः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च ॥२०॥

वेद, पुराण और इतिहासके प्रमाणसे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणके मुखसे हुई है; अतः वे ब्राह्मण सर्वात्मा, सर्वकर्ता और सर्वभावस्वरूप हैं ॥ २० ॥

वाक्संयमकाले हितस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूता ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः ॥ २१ ॥

वाणीके संयमकालमें सबके हितैषी, वरदाता, देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा सबसे पहले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। फिर ब्राह्मणों-से शेष वर्णोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २१ ॥

इत्थं च सुरासुरविशिष्टा ब्राह्मणा य एव मया ब्रह्मभूतेन पुरा स्वयमेवोत्पादिताः सुरासुरमहर्षयो भूतविशेषाः स्थापिता निगृहीताश्च ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण देवताओं और असुरोंसे भी श्रेष्ठ हैं। पूर्वकालमें मैंने स्वयं ही ब्रह्मारूप होकर उन ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था। देवता, असुर और महर्षि आदि जो भूतविशेष हैं, उन्हें ब्राह्मणोंने ही उनके अधिकारपर स्थापित किया और उनके द्वारा अपराध होनेपर उन्हें दण्ड भी दिया ॥ २२ ॥

अहल्याधर्षणनिमित्तं हि गौतमाद्धरिश्मश्रुता-मिन्द्रः प्राप्तः कौशिकनिमित्तं चेन्द्रो मुष्कवियोगं मेष-वृषणत्वं चावाप ॥ २३ ॥

अहल्यापर बलात्कार करनेके कारण गौतमके शापसे इन्द्रको हरिश्मश्रु (हरी दाढ़ी-मूछोंसे युक्त) होना पड़ा तथा विश्वामित्रके शापसे इन्द्रको अपना अण्डकोष खो देना पड़ा और उनके भेड़ेके अण्डकोष जोड़े गये ॥ २३ ॥

अश्विनोर्ग्रहप्रतिषेधोद्यतवज्रस्य पुरन्दरस्य च्यवनेन स्तम्भितौ बाहू ॥ २४ ॥

अश्विनीकुमारोंके लिये नियत यज्ञभागका निषेध करनेके लिये वज्र उठाये हुए इन्द्रकी दोनों भुजाओंको महर्षि च्यवनने स्तम्भित कर दिया था ॥ २४ ॥

क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता ॥ २५ ॥

इसी प्रकार दक्ष प्रजापतिने रुद्रद्वारा किये गये अपने यज्ञके विध्वंससे कुपित हो बड़ी भारी तपस्या की और रुद्र-देवके ललाटमें एक तीसरा नेत्र-चिह्न प्रकट कर दिया था ॥

त्रिपुरवधार्थं दीक्षामुपगतस्य रुद्रस्य उशनसा जटाः शिरस उत्कृत्य प्रयुक्तास्ततः प्रादुर्भूता भुजगा-स्तैरस्य भुजगैः पीड्यमानः कण्ठो नीलतामुपगतः पूर्वे च मन्वन्तरे स्वायम्भुवे नारायणहस्तग्रहणान्नील-कण्ठत्वमेव च ॥ २६ ॥

जिस समय रुद्रने त्रिपुरनिवासी दैत्योंके वधके लिये दीक्षा ली थी, उस समय शुक्राचार्यने अपने मस्तकसे जटाएँ उखाड़-कर उन्हींका महादेवजीपर प्रयोग किया। फिर तो उन जटाओं-से बहुतेरे सर्प उत्पन्न हुए, जिन्होंने रुद्रदेवके कण्ठमें डँसना आरम्भ किया। इससे उनका कण्ठ नीला हो गया तथा पहले स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नारायणने अपने हाथसे उनका कण्ठ पकड़ा था, इसलिये भी कण्ठका रंग नीला हो जानेसे वे रुद्रदेव नीलकण्ठ हो गये ॥ २६ ॥

अमृतोत्पादने पुरश्चरणतामुपगतस्याङ्गिरसो बृह-स्पतेरुपस्पृशतो न प्रसादं गतवत्यः किलापः, अथ बृहस्पतिरपां चुक्रोध यस्मान्ममोपस्पृशतः कलुषीभूता न च प्रसादमुपगतास्तस्मादद्यप्रभृति झषमकरकच्छप-जन्तुभिः कलुषीभवतेति, तदा प्रभृत्यापो यादोभिः संकीर्णाः सम्प्रवृत्ताः ॥ २७ ॥

अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने अमृत उत्पन्न करनेके समय पुरश्चरण आरम्भ किया। उस समय जब वे आचमन करने लगे, तब जल स्वच्छ नहीं हुआ। इससे बृहस्पति जलके प्रति कुपित हो उठे और बोले—'मेरे आचमन करते समय भी तुम स्वच्छ न हुए, मैले ही बने रह गये; इसलिये आजसे मत्स्य, मकर और कछुए आदि जन्तुओंद्वारा तुम कलुषित होते रहो।' तभीसे सारे जलाशय जलजन्तुओंसे भरे रहने लगे।२७।

विश्वरूपो हि वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्, स्वस्रीयोऽसुराणां स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्ष-मसुरेभ्यः ॥ २८ ॥

त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप देवताओंके पुरोहित थे। वे असुरोंके भांनजे लगते थे; अतः देवताओंको प्रत्यक्ष और असुरोंको परोक्ष-रूपसे यज्ञोंका भाग दिया करते थे ॥ २८ ॥

अथ हिरण्यकशिपुं पुरस्कृत्य विश्वरूपमातरं स्व-सारमसुरा वरमयाचन्त हे स्वसरयं ते पुत्रस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपस्त्रिशिरा देवानां पुरोहितः प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमस्माकं ततो देवा वर्धन्ते वयं क्षी-यामस्तदेनं त्वं वारयितुमर्हसि तथा यथास्मान् भजेदिति ॥ २९ ॥

कुछ कालके अनन्तर हिरण्यकशिपुको आगे करके सब असुर विश्वरूपकी माताके पास गये और उनसे वर माँगने लगे— 'बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र विश्वरूप, जिसके तीन सिर हैं,

देवताओंका पुरोहित बना हुआ है। यह देवताओंको तो प्रत्यक्ष भाग देता है और हमलोगोंको परोक्षरूपसे भाग समर्पित करता है। इससे देवता तो बढ़ते हैं और हमलोग निरन्तर क्षीण होते चले जा रहे हैं। तुम इसे मना कर दो, जिससे यह देवताओंको छोड़कर हमारा पक्ष ग्रहण करे' ॥ २९ ॥

अथ विश्वरूपं नन्दनवनमुपगतं मातोवाच पुत्र किं परपक्षवर्धनस्त्वं मातुलपक्षं नाशयसि नार्हस्येवं कर्तुमिति स विश्वरूपो मातुर्वाक्यमनतिक्रमणीयमिति मत्वा सम्पूज्य हिरण्यकशिपुमगात् ॥ ३० ॥

तब एक दिन माताने नन्दनवनमें गये हुए विश्वरूपसे कहा-'बेटा! क्यों तुम दूसरे पक्षकी वृद्धि करते हुए मामाके पक्षका नाश कर रहे हो? तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।' विश्वरूपने माताकी आज्ञाको अलङ्घनीय मानकर उसका सम्मान करके विदा कर दिया और वे स्वयं हिरण्यकशिपुके पास चले गये ॥ ३० ॥

हैरण्यगर्भाच्च वसिष्ठाद्धिरण्यकशिपुः शापं प्राप्तवान् यस्मात् त्वयान्यो वृतो होता तस्मादसमाप्तयज्ञस्त्वमपूर्वात् सत्त्वजाताद् वधं प्राप्स्यसीति तच्छापदानाद्धिरण्यकशिपुः प्राप्तवान् वधम् ॥ ३१ ॥

(हिरण्यकशिपुने उन्हें अपना होता बना लिया)। इधर ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठकी ओरसे हिरण्यकशिपुको शाप प्राप्त हुआ—'तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरा होता चुन लिया है; इसलिये इस यज्ञकी समाप्ति होनेसे पहले ही किसी अभूतपूर्व प्राणीके हाथसे तुम्हारा वध हो जायगा।' वसिष्ठजीके वैसा शाप देनेसे हिरण्यकशिपु वधको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ विश्वरूपो मातृपक्षवर्धनोऽत्यर्थं तपस्यभवत् तस्य व्रतभङ्गार्थमिन्द्रो बह्वीःश्रीमत्योऽप्सरसो नियुयोज ताश्च दृष्ट्वा मनः क्षुभितं तस्याभवत् तासु चाप्सरःसु नचिरादेव सक्तोऽभवत् सक्तं चैनं ज्ञात्वा अप्सरस ऊचुर्गच्छामहे वयं यथागतमिति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विश्वरूप मातृपक्षकी वृद्धि करनेके लिये बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। यह देख उनके व्रतको भङ्ग करनेके लिये इन्द्रने बहुत-सी सुन्दरी अप्सराओंको नियुक्त कर दिया। उन अप्सराओंको देखते ही विश्वरूपका मन चञ्चल हो गया और वे तुरंत ही उनमें आसक्त हो गये। उन्हें आसक्त जानकर अप्सराओंने कहा—'अब हमलोग जहाँसे आयी हैं, वहीं जा रही हैं' ॥ ३२ ॥

तास्त्वाष्ट्र उवाच क्व गमिष्यथास्यतां तावन्मया सह श्रेयो भविष्यन्तीति तास्तमब्रुवन् वयं देवस्त्रियोऽप्सरस इन्द्रं देवं वरदं पुरा प्रभविष्णुं वृणीमह इति ॥ ३३ ॥

तब त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपने उनसे कहा-'कहाँ जाओगी? अभी यहीं मेरे साथ रहो। इससे तुम्हारा भला होगा।' यह सुनकर वे अप्सराएँ बोलीं—'हम सब देवाङ्गना—अप्सराएँ हैं। हमने पहलेसे ही वरदायक देवता प्रभावशाली इन्द्रका वरण कर लिया है' ॥ ३३ ॥

अथ ता विश्वरूपोऽब्रवीदद्यैव सेन्द्रा देवा न भविष्यन्तीति ततो मन्त्रान् जजाप तैर्मन्त्रैरवर्धत त्रिशिरा एकेनास्येन सर्वलोकेषु यथावद् द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपावेकेनान्नमेकेन सेन्द्रान् देवानथेन्द्रस्तं विवर्धमानं सोमपानाप्यायितसर्वगात्रं दृष्ट्वा चिन्तामापेदे सह देवैः ॥ ३४ ॥

तब विश्वरूपने उनसे कहा—'आज ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका अभाव हो जायगा।' ऐसा कहकर वे मन्त्रोंका जप करने लगे। उन मन्त्रोंसे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। तीन सिरोंवाले विश्वरूप अपने एक मुखसे सारे संसारके क्रियानिष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञोंमें होमे गये सोमरसको पी लेते थे, दूसरेसे अन्न खाते थे और तीसरेसे इन्द्र आदि देवताओंके तेजको पी लेते थे। इन्द्रने देखा, विश्वरूपका सारा शरीर सोमपानसे परिपुष्ट हो रहा है। यह देखकर देवताओंसहित इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणमभिजग्मुस्त ऊचुर्विश्वरूपेण सर्वयज्ञेषु सुहुतः सोमः पीयते वयमभागाः संवृत्ता असुरपक्षो वर्धते वयं क्षीयामस्तदर्हसि नो विधातुं श्रेयोऽनन्तरमिति ॥ ३५ ॥

तदनन्तर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता ब्रह्माजीके पास गये और इस प्रकार बोले—'भगवन्! विश्वरूप सम्पूर्ण यज्ञोंमें विधिपूर्वक होमे गये सोमरसको पी लेते हैं। हम यज्ञभागसे वञ्चित हो गये। असुरपक्ष बढ़ रहा है और हमलोग क्षीण होते जा रहे हैं; अतः आपको अब हमलोगोंका कल्याण-साधन करना चाहिये' ॥ ३५ ॥

तान् ब्रह्मोवाच ऋषिर्भार्गवस्तपस्तप्यते दधीचः स याच्यतां वरं स यथा कलेवरं जह्यात् तथा विधीयतां तस्यास्थिभिर्वज्रं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन देवताओंसे कहा—'भृगुवंशी दधीचि ऋषि तपस्या करते हैं। उनके पास जाकर ऐसा वर माँगो, जिससे वे अपने शरीरको त्याग दें। फिर उन्हींकी हड्डियोंसे वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करो' ॥ ३६ ॥

ततो देवास्तत्रागच्छन् यत्र दधीचो भगवानृषिस्तपस्तेपे सेन्द्रा देवास्तं तथाभिगम्योचुर्भगवंस्तपः सुकुशलमविघ्नं चेति ॥ ३७ ॥

तब देवता वहाँ गये, जहाँ भगवान् दधीचि ऋषि तपस्या करते थे। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले—'भगवन्! आपकी तपस्या सकुशल चल रही है न? उसमें कोई बाधा तो नहीं आती है?' ॥ ३७ ॥

तान् दधीच उवाच स्वागतं भवद्भ्य उच्यतां किं क्रियतामिति यद् वक्ष्यथ तत् करिष्यामि ॥ ३८ ॥

दधीचिने इन देवताओंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप जो कहेंगे, वही करूँगा' ॥ ३८ ॥

ते तमब्रुवञ्शरीरपरित्यागं लोकहितार्थं भगवान् कर्तुमर्हतीति ॥ ३९ ॥

देवता बोले—'भगवन् ! आप लोकहितके लिये अपने शरीरका परित्याग कर दें' ॥ ३९ ॥

अथ दधीचस्तथैवाविमनाः सुखदुःखसमो महायोगी आत्मानं समाधाय शरीरपरित्यागं चकार ॥ ४० ॥

यह सुनकर दधीचिके मनमें पूर्ववत् सोत्साह बना रहा, तनिक भी उदासी नहीं हुई । वे सुख और दुःखमें समान भाव रखनेवाले महान् योगी थे । उन्होंने आत्माको परमात्मामें लगाकर अपने शरीरका परित्याग कर दिया ॥ ४० ॥

तस्य परमात्मन्यपसृते तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् तेन वज्रेणाभेद्येनाप्रधृष्येण ब्रह्मास्थिसम्भूतेन विष्णुप्रविष्टेनेन्द्रो विश्वरूपं जघान शिरसां चास्य च्छेदनमकरोत् तस्मादनन्तरं विश्वरूपगात्रमथनसम्भवं त्वष्ट्रोत्पादितमेवारिं वृत्रमिन्द्रो जघान ॥ ४१ ॥

उनके परमात्मामें लीन हो जानेपर उनकी उन अस्थियोंका संग्रह करके धाताने वज्रास्त्रका निर्माण किया । ब्राह्मणकी हड्डीसे बने हुए उस अभेद्य एवं दुर्जय वज्रसे, जिसमें भगवान् विष्णु प्रविष्ट हुए थे, इन्द्रने विश्वरूपका वध कर डाला और उनके तीनों सिरोंको काट दिया । तदनन्तर त्वष्टा प्रजापतिने विश्वरूपके शरीरका मन्थन करके जिसे उत्पन्न किया था, उस अपने वैरी वृत्रासुरका भी इन्द्रने उसी वज्रसे संहार कर डाला ॥

तस्यां द्वैधीभूतायां ब्रह्मवध्यायां भयादिन्द्रो देवराज्यं पर्यत्यजदप्सु सम्भवां च शीतलां मानससरोगतां नलिनीं प्रतिपेदे तत्र चैश्वर्ययोगादणुमात्रो भूत्वा विसग्रन्थिं प्रविवेश ॥ ४२ ॥

अब इन्द्रके पास दोहरी ब्रह्महत्या उपस्थित हुई । उसके भयसे इन्द्रने देवराजपदका परित्याग कर दिया और मानसरोवरके जलमें उत्पन्न हुई एक शीतल कमलिनीके पास जा पहुँचे । वहाँ अणिमा आदि ऐश्वर्यके योगसे इन्द्र अणुमात्र रूप धारण करके कमलनालकी ग्रन्थिमें प्रविष्ट हो गये ॥४२॥

अथ ब्रह्मवध्याभयप्रणष्टे त्रैलोक्यनाथे शचीपतौ जगदनीश्वरं बभूव देवान् रजस्तमश्चाविवेश मन्त्रा न प्रावर्तन्त महर्षीणां रक्षांसि प्रादुरभवन् ब्रह्म चोत्सादनं जगामानिन्द्राश्चाबला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः ॥ ४३ ॥

ब्रह्महत्याके भयसे त्रिलोकीनाथ शचीपति इन्द्रके भागकर अदृश्य हो जानेपर इस जगत्का कोई ईश्वर नहीं रहा । देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया । महर्षियोंके मन्त्र अब कुछ काम नहीं दे रहे थे । राक्षस बढ़ गये । वेदोंका स्वाध्याय बंद हो गया । तीनों लोक इन्द्रसे अरक्षित होनेके कारण निर्बल एवं सुगमतासे जीत लेने योग्य हो गये ॥ ४३ ॥

अथ देवा ऋषयश्चायुषः पुत्रं नहुषं नाम देवराज्येऽभिषिषिचुर्नहुषः पञ्चभिः शतैर्ज्योतिषां ललाटे ज्वलद्भिः सर्वतेजोहरैस्त्रिविष्टपं पालयांबभूव ॥ ४४ ॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंने आयुके पुत्र नहुषको देवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया । नहुषके ललाटमें समस्त प्राणियोंके तेजको हर लेनेवाली पाँच सौ प्रज्वलित ज्योतियाँ जगमगाती रहती थीं । उनके द्वारा वे स्वर्गके राज्यका पालन करने लगे ॥ ४४ ॥

अथ लोकाः प्रकृतिमापेदिरे स्वस्थाश्च हृष्टाश्च बभूवुः ॥ ४५ ॥

ऐसा होनेपर सब लोग स्वाभाविक स्थितिमें आ गये । सभी स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये ॥ ४५ ॥

अथोवाच नहुषः सर्वं मां शक्रोपभुक्तमुपस्थितमृते शचीमिति स एवमुक्त्वा शचीसमीपमगमदुवाचैनां सुभगेऽहमिन्द्रो देवानां भजस्व मामिति तं शची प्रत्युवाच प्रकृत्या त्वं धर्मवत्सलः सोमवंशोद्भवश्च नार्हसि परपत्नीधर्षणं कर्तुमिति ॥ ४६ ॥

कुछ कालके पश्चात् नहुषने देवताओंसे कहा—'इन्द्रके उपभोगमें आनेवाली अन्य सारी वस्तुएँ तो मेरी सेवामें उपस्थित हैं । केवल शची मुझे नहीं मिली है ।' ऐसा कहकर वे शचीके पास गये और उनसे बोले—'सौभाग्यशालिनि ! मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ । मेरी सेवा स्वीकार करो ।' शचीने उत्तर दिया—'महाराज ! आप स्वभावसे ही धर्मवत्सल और चन्द्रवंशके रत्न हैं । आपको परायी स्त्रीपर बलात्कार नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तामथोवाच नहुष ऐन्द्रं पदमध्यास्यते मयाऽहमिन्द्रस्य राज्यरत्नहरो नात्राधर्मः कश्चित् त्वमिन्द्रोपभुक्तेति सा तमुवाचास्ति मम किंचिद् व्रतमपर्यवसितं तस्यावभृथे त्वामुपगमिष्यामि कैश्चिदेवाहोभिरिति स शच्यैवमभिहितो जगाम ॥ ४७ ॥

तब नहुषने शचीसे कहा—'देवि ! इस समय मैं इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हूँ । इन्द्रके राज्य और रत्न दोनोंका अधिकारी हो गया हूँ; अतः तुम्हारे साथ समागम करनेमें कोई अधर्म नहीं है; क्योंकि तुम इन्द्रके उपभोगमें आयी हुई वस्तु हो ।' यह सुनकर शचीने कहा—'महाराज ! मैंने एक व्रत ले रक्खा है । वह अभी समाप्त नहीं हुआ है । उसकी समाप्ति हो जानेपर कुछ ही दिनोंमें मैं आपकी सेवामें उपस्थित होऊँगी ।' शचीके ऐसा कहनेपर नहुष चले गये ॥ ४७ ॥

अथ शची दुःखशोकार्ता भर्तृदर्शनलालसा नहुषभयगृहीता बृहस्पतिमुपागच्छत् स च तामत्युद्विग्नां दृष्ट्वैव ध्यानं प्रविश्य भर्तृकार्यतत्परां ज्ञात्वा बृहस्पति-

रुवाचानेनैव व्रतेन तपसा चान्विता देवीं वरदामुपश्रुतिमाह्वय तदा सा ते इन्द्रं दर्शयिष्यतीति साथ महानियमस्थिता देवीं वरदामुपश्रुतिं मन्त्रैराह्वयति सोपश्रुतिः शचीसमीपमगादुवाच चैनामियमस्मीति त्वयाऽऽहूतोपस्थिता किं ते प्रियं करवाणीति तां मूर्ध्ना प्रणम्योवाच शची भगवत्यर्हसि मे भर्तारं दर्शयितुं त्वं सत्या ऋता चेति सैनां मानसं सरोऽनयत् तत्रेन्द्रं विसग्रन्थिगतमदर्शयत् ॥ ४८ ॥

इसके बाद नहुषके भयसे डरी हुई शची दुःख-शोकसे आतुर तथा पतिके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो बृहस्पतिजीके पास गयीं। उन्हें अत्यन्त उद्विग्न देख बृहस्पतिजीने ध्यानस्थ होकर यह जान लिया कि यह अपने स्वामीके कार्यसाधनमें लगी हुई है। तब उन्होंने शचीसे कहा—'देवि ! इसी व्रत और तपस्यासे सम्पन्न हो तुम वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आवाहन करो । तब वह तुम्हें इन्द्रका दर्शन करायेगी।' गुरुका यह आदेश पाकर महान् नियममें तत्पर हुई शचीने मन्त्रोंद्वारा वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आह्वान किया। तब उपश्रुतिदेवी शचीके समीप आयीं और उनसे इस प्रकार बोलीं—'इन्द्राणी ! यह मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुमने बुलाया और मैं तत्काल उपस्थित हो गयी। बोलो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' शचीने देवीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कहा—'भगवति ! आप मुझे मेरे पतिदेवके दर्शन करानेकी कृपा करें। आप ही ऋत और सत्य हैं।' उपश्रुति शचीको मानसरोवरपर ले गयीं । वहाँ उसने मृणालकी ग्रन्थियोंमें छिपे हुए इन्द्रका उन्हें दर्शन करा दिया ॥ ४८ ॥

तामथ पत्नीं कृशां ग्लानां चेन्द्रो दृष्ट्वा चिन्तयाम्बभूव अहो मम दुःखमिदमुपगतं नष्टं हि मामियमन्विष्य यत्पत्न्यभ्यगमद् दुःखार्तेति तामिन्द्र उवाच कथं वर्तयसीति सा तमुवाच नहुषो मामाह्वयति पत्नीं कर्तुं कालश्चास्य मया कृत इति तामिन्द्र उवाच गच्छ नहुषस्त्वया वाच्योऽपूर्वेण मामृषियुक्तेन यानेन त्वमधिरूढ उद्वहस्वेति इन्द्रस्य महान्ति वाहनानि सन्ति मनःप्रियाण्यधिरूढानि मया त्वमन्येनोपयातुमर्हसीति सैवमुक्ता हृष्टा जगामेन्द्रोऽपि विसग्रन्थिमेवाविवेश भूयः ॥ ४९ ॥

अपनी पत्नी शचीको दुर्बल और दुखी देख इन्द्र मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! यह बड़े दुःखकी बात है कि मैं यहाँ छिपा हुआ बैठा हूँ और मेरी यह पत्नी दुःखसे आतुर हो मुझे ढूँढ़ती हुई यहाँतक आयी है।' इस प्रकार खेद प्रकट करके इन्द्रने अपनी पत्नीसे कहा—'देवि ! कैसे दिन बिता रही हो ?' शची बोली—'प्राणनाथ ! राजा नहुष इन्द्र बना बैठा है और मुझे अपनी पत्नी बनानेके लिये बुला रहा है। इसके लिये मुझे कुछ ही दिनोंका समय मिला है और मैंने नियत समयके बाद उसकी बात माननेका वचन दे दिया है।' 'तब इन्द्रने उनसे कहा 'जाओ और नहुषसे इस प्रकार कहो—'राजन् ! आप ऋषियोंसे जुते हुए अपूर्व वाहनपर आरूढ़ होकर आइये और मुझे अपनी सेवामें ले चलिये। इन्द्रके पास मनको प्रिय लगनेवाले बड़े-बड़े वाहन हैं, किंतु उन सबपर मैं आरूढ़ हो चुकी हूँ, अतः आप उन सबसे भिन्न किसी और ही विलक्षण वाहनसे मेरे पास आइये।'' इन्द्रके इस प्रकार सुझाव देनेपर शची हर्षपूर्वक लौट गयीं और इन्द्र भी पुनः उस कमलनालकी ग्रन्थिमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ४९ ॥

अथेन्द्राणीमभ्यागतां दृष्ट्वा तामुवाच नहुषः पूर्णः स काल इति तं शच्यब्रवीच्छक्रेण यथोक्तं स महर्षियुक्तं वाहनमधिरूढः शचीसमीपमुपागच्छत् ॥ ५० ॥

इन्द्राणीको आयी हुई देख नहुषने उससे कहा—'देवि ! तुमने जो समय दिया था, वह पूरा हो गया है।' तब शचीने इन्द्रके बताये अनुसार सारी बातें कह सुनायीं । नहुष महर्षियोंसे जुते हुए वाहनपर आरूढ़ हो शचीके समीप चले॥

अथ मैत्रावरुणिः कुम्भयोनिरगस्त्य ऋषिवरो महर्षीन् धिक्क्रियमाणांस्तान् नहुषेणापश्यत् पद्भ्यां च तेनास्पृश्यत ततः स नहुषमब्रवीदकार्यप्रवृत्त पाप पतस्व महीं सर्पो भव यावद्भूमिर्गिरयश्च तिष्ठेयुस्तावदिति स महर्षिवाक्यसमकालमेव तस्माद् यानादवापतत् ॥ ५१ ॥

इसी समय मित्रावरुणके पुत्र कुम्भज मुनिवर अगस्त्यने देखा कि नहुष महर्षियोंको तीव्र गतिसे चलनेके लिये धिक्कार और फटकार रहा है। उसने अगस्त्यके शरीरमें भी दोनों पैरोंसे धक्के दिये। तब अगस्त्यने नहुषसे कहा—'न करने योग्य नीच कर्ममें प्रवृत्त हुए पापी नहुष ! तू अभी पृथ्वीपर गिर जा तथा जबतक पृथ्वी और पर्वत स्थिर रहें, तबतकके लिये सर्प हो जा।' महर्षिके इतना कहते ही नहुष उस वाहनसे नीचे गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथानिन्द्रं पुनस्त्रैलोक्यमभवत् ततो देवा ऋषयश्च भगवन्तं विष्णुं शरणमिन्द्रार्थेऽभिजग्मुरूचुश्चैनं भगवन्निन्द्रं ब्रह्महत्याभिभूतं त्रातुमर्हसीति ततः स वरदस्तानब्रवीदश्वमेधं यज्ञं वैष्णवं शक्रोऽभियजतां ततः स्वस्थानं प्राप्स्यतीति ततो देवा ऋषयश्चेन्द्रं नापश्यन् यदा तदा शचीमूचुर्गच्छ सुभगे इन्द्रमानयस्वेति सा पुनस्तत्सरः समभ्यगच्छदिन्द्रश्च तस्मात् सरसः प्रत्युत्थाय बृहस्पतिमभिजगाम बृहस्पतिश्चाश्वमेधं महाक्रतुं शक्रायाहरत् तत्र कृष्णसारङ्गं मेध्यमश्वमुत्सृज्य वाहनं तमेव कृत्वा इन्द्रं मरुत्पतिं बृहस्पतिः स्वं स्थानं प्रापयामास ॥ ५२ ॥

नहुषका पतन हो जानेपर त्रिलोकीका राज्य पुनः बिना इन्द्रके हो गया, तब देवता और ऋषि इन्द्रके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और उनसे बोले—'भगवन् ! ब्रह्महत्यासे पीड़ित हुए इन्द्रकी रक्षा कीजिये ।' तब वरदायक भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे कहा—'देवगण ! इन्द्र विष्णुके उद्देश्यसे अश्वमेध यज्ञ करें । तब वे फिर अपना स्थान प्राप्त करेंगे ।' यह सुनकर देवता और महर्षि इन्द्रको ढूँढ़ने लगे । जब वे कहीं उनका पता न पा सके, तब वे शचीसे बोले—'सुभगे ! तुम्हीं जाओ और इन्द्रको यहाँ ले आओ ।' तब शची पुनः मानसरोवरपर गयीं । शचीके कहनेसे इन्द्र उस सरोवरसे निकलकर बृहस्पतिजीके पास आये । बृहस्पतिजीने इन्द्रके लिये अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया । उस यज्ञमें उन्होंने कृष्णसारङ्ग नामक यज्ञीय अश्वको छोड़ा था । उसीको वाहन बनाकर बृहस्पतिने पुनः देवराज इन्द्रको अपने पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ५२ ॥

ततः स देवराड् देवैर्ऋषिभिः स्तूयमानस्त्रिविष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ह ब्रह्मवध्यां चतुर्षु स्थानेषु वनिताग्निवनस्पतिगोषु व्यभजदेवमिन्द्रो ब्रह्मतेजःप्रभावोपबृंहितः शत्रुवधं कृत्वा स्वं स्थानं प्रापितः ॥५३॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए देवराज इन्द्र निष्पाप हो स्वर्गलोकमें रहने लगे । अपनी ब्रह्महत्याको उन्होंने स्त्री, अग्नि, वृक्ष और गौ—इन चार स्थानोंमें विभक्त कर दिया । ब्रह्मतेजके प्रभावसे वृद्धिको प्राप्त हुए इन्द्रने शत्रुओंका वध करके पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लिया ॥ ५३ ॥

(नहुषस्य शापमोक्षनिमित्तं देवैर्ऋषिभिश्च याच्यमानोऽगस्त्यः प्राह ।
यावत् स्वकुलजः श्रीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कथयित्वा स्वकान् प्रश्नान् भीमं तं च विमोक्ष्यते ॥)

उधर नहुषको शापसे छुटकारा दिलानेके लिये देवताओं और ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—'जब नहुषके कुलमें उत्पन्न हुए श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको उनके बन्धनसे छुड़ा देंगे, तब नहुषको भी वे शापसे मुक्त कर देंगे' ॥

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत् त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाभ्यासादितः स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः ॥ ५४ ॥

प्राचीन कालमें महर्षि भरद्वाज आकाश-गङ्गाके जलमें खड़े हो आचमन कर रहे थे । उस समय तीन पगसे त्रिलोकीको नापते हुए भगवान् विष्णु उनके पासतक आ पहुँचे । तब भरद्वाजने जलसहित हाथसे उनकी छातीमें प्रहार किया । इससे उनकी छातीमें एक चिह्न बन गया ॥ ५४ ॥

भृगुणा महर्षिणा शप्तोऽग्निः सर्वभक्षत्वमुपानीतः ॥ ५५ ॥

महर्षि भृगुके शापसे अग्निदेव सर्वभक्षी हो गये ॥५५॥

अदितिर्वै देवानामन्नमपचदेतद् भुक्त्वासुरान् हनिष्यन्तीति तत्र बुधो व्रतचर्यासमाप्तावागच्छददितिं चावोचद् भिक्षां देहीति तत्र देवैः पूर्वमेतत् प्राश्यं नान्येनेत्यदितिर्भिक्षां नादादथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेनादितिः शप्ता अदितेरुदरे भविष्यति व्यथा विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यण्डसंज्ञितस्य अण्डं मातुरदित्या मारितं स मार्तण्डो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः ॥ ५६ ॥

अदितिने देवताओंके लिये इस उद्देश्यसे रसोई तैयार की थी कि वे इसे खाकर असुरोंका वध कर सकेंगे । इसी समय बुध अपनी व्रतचर्या समाप्त करके अदितिके पास गये और बोले—'मुझे भिक्षा दीजिये ।' अदितिने सोचा यह अन्न पहले देवताओंको ही खाना चाहिये, दूसरे किसीको नहीं; इसलिये उन्होंने बुधको भिक्षा नहीं दी । भिक्षा न मिलनेसे रोषमें भरे हुए ब्राह्मण बुधने अदितिको यह शाप दिया कि 'अण्ड नामधारी विवस्वान्के दूसरे जन्मके समय अदितिके उदरमें पीड़ा होगी ।' माता अदितिके पेटका वह अण्ड उस पीड़ाद्वारा मारा गया । मृत अण्डसे प्रकट होनेके कारण श्राद्धदेवसंज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड नामसे प्रसिद्ध हुए ॥५६॥

दक्षस्य या वै दुहितरः षष्टिरासंस्ताभ्यः कश्यपाय त्रयोदश प्रादाद् दश धर्माय दश मनवे सप्तविंशतिमिन्दवे तासु तुल्यासु नक्षत्राख्यां गतासु सोमो रोहिण्यामभ्यधिकं प्रीतिमानभूत् ततस्ताः शिष्टाः पत्न्य ईर्ष्यावत्यः पितुः समीपं गत्वेममर्थं शशंसुर्भगवन्नस्मासु तुल्यप्रभावासु सोमो रोहिणीं प्रत्यधिकं भजतीति सोऽब्रवीद् यक्ष्मैनमाविश्येतेति दक्षशापात् सोमं राजानं यक्ष्मा विवेश स यक्ष्मणाऽऽविष्टो दक्षमगाद् दक्षश्चैनमब्रवीन्न समं वर्तयसीति तत्रर्षयः सोममब्रुवन् क्षीयसे यक्ष्मणा पश्चिमायां दिशि समुद्रे हिरण्यसरस्तीर्थे तत्र गत्वा आत्मानमभिषेचयस्वेत्यथागच्छत् सोमस्तत्र हिरण्यसरस्तीर्थे गत्वा चात्मनः सेचनमकरोत् स्नात्वा चात्मानं पाप्मनो मोक्षयामास तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदा प्रभृति च तीर्थं तत् प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव ॥ ५७ ॥

प्रजापति दक्षके साठ कन्याएँ थीं । उनमेंसे तेरहका विवाह उन्होंने कश्यपजीके साथ कर दिया । दस कन्याएँ धर्मको, दस मनुको और सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको दे डालीं । उन सत्ताईस कन्याओंकी नक्षत्र नामसे प्रसिद्धि हुई । यद्यपि वे सब-की-सब एक समान रूपवती थीं तो भी चन्द्रमा सबसे

अधिक रोहिणीपर ही प्रेम करने लगे। यह देख शेष पत्नियोंके मनमें ईर्ष्या हुई और उन्होंने पिताके समीप जाकर यह बात बतायी—'भगवन्! हम सब बहिनोंका प्रभाव एक-सा है तो भी चन्द्रदेव रोहिणीपर ही अधिक स्नेह रखते हैं।' यह सुनकर दक्षने कहा—'इनके भीतर यक्ष्माका प्रवेश होगा।' इस प्रकार ब्राह्मण दक्षके शापसे राजा सोमके शरीरमें यक्ष्माने प्रवेश किया। यक्ष्मासे ग्रस्त होकर राजा सोम प्रजापति दक्षके पास गये। रोषका कारण पूछनेपर दक्षने उनसे कहा—'तुम अपनी सभी पत्नियोंके प्रति समान बर्ताव नहीं करते हो, उसीका यह दण्ड है।' वहाँ दूसरे ऋषियोंने सोमसे कहा—'तुम यक्ष्मासे क्षीण होते चले जा रहे हो। अतः पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर जो हिरण्यसर नामक तीर्थ है, वहाँ जाकर अपने-आपको स्नान कराओ।' तब सोमने हिरण्यसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान किया। स्नान करके उन्होंने अपने-आपको पापसे छुड़ाया। उस तीर्थमें वे दिव्य प्रभासे प्रभासित हो उठे थे, इसलिये उसी समयसे वह स्थान प्रभासतीर्थके नामसे विख्यात हो गया॥ ५७॥

तच्छापादद्यापि क्षीयते सोमोऽमावास्यान्तरस्थः पौर्णमासीमात्रेऽधिष्ठितो मेघलेखाप्रतिच्छन्नं वपुर्दर्शयति मेघसदृशं वर्णमगमत् तदस्य शशलक्ष्म विमलमभवत्॥ ५८॥

उसी शापसे आज भी चन्द्रमा कृष्णपक्षमें अमावास्यातक क्षीण होता रहता है और शुक्लपक्षमें पूर्णिमातक उसकी वृद्धि होती रहती है। उसका मण्डलाकार स्वरूप मेघकी श्याम रेखासे आच्छन्न-सा दिखायी देता है। उसके शरीरमें खरगोशका-सा चिह्न मेघके समान श्यामवर्णका है। वह स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है॥ ५८॥

स्थूलशिरा महर्षिर्मेरोः प्रागुत्तरे दिग्विभागे तपस्तेपे ततस्तस्य तपस्तप्यमानस्य सर्वगन्धवहः शुचिर्वायुर्वायमानः शरीरमस्पृशत् स तपसा तापितशरीरः कृशो वायुनोपवीज्यमानो हृदये परितोषमगमत् तत्र किल तस्यानिलव्यजनकृतपरितोषस्य सद्यो वनस्पतयः पुष्पशोभां निदर्शितवन्त इति स एताञ्शशाप न सर्वकालं पुष्पवन्तो भविष्यथेति॥ ५९॥

पूर्वकालकी बात है, मेरुपर्वतके पूर्वोत्तर भागमें स्थूलशिरा नामक महर्षि बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। उनके तपस्या करते समय सब प्रकार सुगन्ध लिये पवित्र वायु बहने लगी। उस वायुने प्रवाहित होकर मुनिके शरीरका स्पर्श किया। तपस्यासे संतप्त शरीरवाले उन कृशकाय मुनिने उस वायुसे वीजित हो अपने हृदयमें बड़े संतोषका अनुभव किया। वायुके द्वारा व्यजन डुलानेसे संतुष्ट हुए मुनिके समक्ष वृक्षोंने तत्काल फूलकी शोभा दिखलायी। इससे रुष्ट होकर मुनिने उन्हें शाप दिया कि तुम हर समय फूलोंसे भरे-पूरे नहीं रहोगे॥ ५९॥

नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलः कृतः स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः॥ ६०॥

एक समय भगवान् नारायण लोकहितके लिये वडवामुख नामक महर्षि हुए। जब वे मेरुपर्वतपर तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने समुद्रका आवाहन किया; किंतु वह नहीं आया। इससे अमर्षमें भरकर उन्होंने अपने शरीरकी गर्मीसे समुद्रके जलको चञ्चल कर दिया और पसीनेके प्रवाहकी भाँति उसमें खारापन प्रकट कर दिया॥ ६०॥

उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुखसंज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति तदेतदद्यापि वडवामुखसंज्ञितेनानुवर्तिना तोयं समुद्रात् पीयते॥ ६१॥

साथ ही उससे कहा—'समुद्र! तू पीनेयोग्य नहीं रह जायगा। तेरा यह जल वडवामुखके द्वारा बारंबार पीया जानेपर मधुर होगा।' यह बात आज भी देखनेमें आती है। वडवामुखसंज्ञक अग्नि समुद्रसे जल लेकर पीती है॥ ६१॥

हिमवतो गिरेर्दुहितरमुमां कन्यां रुद्रश्चकमे भृगुरपि च महर्षिर्हिमवन्तमागत्याब्रवीत् कन्यामिमां मे देहीति तमब्रवीद्धिमवानभिलक्षितो वरो रुद्र इति तमब्रवीद् भृगुर्यस्मात् त्वयाहं कन्यावरणकृतभावः प्रत्याख्यातस्तस्मान्न रत्नानां भवान् भाजनं भविष्यतीति॥ ६२॥

हिमवान्की पुत्री उमाको जब वह कुमारी अवस्थामें थी तभी रुद्रने पानेकी इच्छा की। दूसरी ओरसे महर्षि भृगु भी वहाँ आकर हिमवान्से बोले—'अपनी यह कन्या मुझे दे दो।' तब हिमवान्ने उनसे कहा—'इस कन्याके लिये देख-सुनकर लक्षित किये हुए वर रुद्रदेव हैं।' तब भृगुने कहा—'मैं कन्याका वरण करनेकी भावना लेकर यहाँ आया था, किंतु तुमने मेरी उपेक्षा कर दिया है; इसलिये मैं शाप देता हूँ कि तुम रत्नोंके भण्डार नहीं होओगे'॥ ६२॥

अद्यप्रभृत्येतदवस्थितमृषिवचनं तदेवंविधं माहात्म्यं ब्राह्मणानाम्॥ ६३॥

आज भी महर्षिका वह वचन हिमवान्पर ज्यों-का-त्यों लागू हो रहा है। ऐसा ब्राह्मणोंका माहात्म्य है॥ ६३॥

क्षत्रमपि च ब्राह्मणप्रसादादेव शाश्वतीमव्ययां च पृथिवीं पत्नीमभिगम्य बुभुजे॥ ६४॥

क्षत्रिय जाति भी ब्राह्मणोंकी कृपासे ही सदा रहनेवाली इस अविनाशिनी पृथ्वीको पत्नीकी भाँति पाकर इसका उपभोग करती है॥ ६४॥

यदेतद् ब्रह्माग्नीषोमीयं तेन जगद् धार्यते ॥ ६५ ॥

यह जो अग्नि और सोमसम्बन्धी ब्रह्म है, उसीके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ६५ ॥

उच्यते--

सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुः केशाश्चैवांशवः स्मृताः ।
बोधयंस्तापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥ ६६ ॥

कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा (अग्नि और सोम) मेरे नेत्र हैं तथा उनकी किरणोंको केश कहा गया है। सूर्य और चन्द्रमा जगत्को क्रमशः ताप और मोद प्रदान करते हुए पृथक्-पृथक् उदित होते हैं ॥ ६६ ॥

(नाम्नां निरुक्तं वक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसः ।)
बोधनात् तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥ ६७ ॥

अब मैं अपने नामोंकी व्याख्या करूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। जगत्को मोद और ताप प्रदान करनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य हर्षदायक होते हैं। पाण्डुनन्दन ! अग्नि और सोमद्वारा किये गये इन कर्मोंद्वारा मैं विश्वभावन वरदायक ईश्वर ही 'हृषीकेश[1]' कहलाता हूँ ॥ ६७ ॥

इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् ।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥ ६८ ॥

यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार) करता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी हरित (श्याम) है, इसलिये मुझे 'हरि' कहते हैं ॥ ६८ ॥

धाम सारो हि भूतानामृतं चैव विचारितम् ।
ऋतधामा ततो विप्रैः सद्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥ ६९ ॥

प्राणियोंके सारका नाम है धाम और ऋतका अर्थ है सत्य, ऐसा विद्वानोंने विचार किया है ! इसीलिये ब्राह्मणोंने तत्काल मेरा नाम 'ऋतधामा' रख दिया था ॥ ६९ ॥

नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ ७० ॥

मैंने पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिये देवताओंने अपनी वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर मेरी स्तुति की थी (गां विन्दति इति गोविन्दः—जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम गोविन्द है) ॥ ७० ॥

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् ।
तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥ ७१ ॥

मेरे 'शिपिविष्ट' नामकी व्याख्या इस प्रकार है। रोमहीन प्राणीको शिपि कहते हैं—तथा विष्टका अर्थ है व्यापक। मैंने निराकाररूपसे समस्त जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, इसलिये मुझे 'शिपिविष्ट' कहते हैं ॥ ७१ ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥ ७२ ॥

यास्कमुनिने शान्तचित्त होकर अनेक यज्ञोंमें शिपिविष्ट कहकर मेरी महिमाका गान किया है; अतः मैं इस गुह्यनामको धारण करता हूँ ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ ७३ ॥

उदारचेता यास्क मुनिने शिपिविष्ट नामसे मेरी स्तुति करके मेरी ही कृपासे पाताललोकमें नष्ट हुए निरुक्तशास्त्रको पुनः प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

न हि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥ ७४ ॥

मैंने न तो पहले कभी जन्म लिया है, न अब जन्म लेता हूँ और न आगे कभी जन्म लूँगा। मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ। इसीलिये मेरा नाम 'अज' है ॥ ७४ ॥

नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं वा कदाचन ।
ऋता ब्रह्मसुता सा मे सत्या देवी सरस्वती ॥ ७५ ॥
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयाऽऽवेशितमात्मनि ।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो विदुः ॥ ७६ ॥

मैंने कभी ओछी या अश्लील बात मुँहसे नहीं निकाली है। सत्यस्वरूपा ब्रह्मपुत्री सरस्वतीदेवी मेरी वाणी है। कुन्तीकुमार ! सत् और असत्को भी मैंने अपने भीतर ही प्रविष्ट कर रक्खा है; इसलिये मेरे नाभि-कमलरूप ब्रह्मलोकमें रहनेवाले ऋषिगण मुझे 'सत्य' कहते हैं ॥ ७५-७६ ॥

सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् ।
जन्मनीहा भवेत् सत्त्वं पौर्विकं मे धनंजय ॥ ७७ ॥
निराशीःकर्मसंयुक्तः सत्त्वतश्चाप्यकल्मषः ।
सात्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सत्त्वतामिति सात्त्वतः ॥ ७८ ॥

धनंजय ! मैं पहले कभी सत्त्वसे च्युत नहीं हुआ हूँ। सत्त्वको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो। मेरा वह पुरातन सत्त्व इस अवतारकालमें भी विद्यमान है। सत्त्वके कारण ही मैं पापसे रहित हो निष्कामकर्ममें लगा रहता हूँ। भगवत्प्राप्त पुरुषोंके सात्त्वतज्ञान (पाञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्र) से मेरे स्वरूपका बोध होता है। इन सब कारणोंसे लोग मुझे 'सात्त्वत' कहते हैं ॥ ७७-७८ ॥

कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् ।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन ॥ ७९ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! मैं काले लोहेका विशाल फाल बनकर इस पृथ्वीको जोतता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी काला

---

१. सूर्य और चन्द्रमा ही अग्नि एवं सोम हैं। वे जगत्को हर्ष प्रदान करनेके कारण 'हृषी' कहलाते हैं। वे ही भगवान्के केश अर्थात् किरणें हैं, इसलिये भगवान्का नाम 'हृषीकेश' है।

है, इसलिये मैं 'कृष्ण' कहलाता हूँ* ॥ ७९ ॥

मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना ।
वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ॥ ८० ॥

मैंने भूमिको जलके साथ, आकाशको वायुके साथ और वायुको तेजके साथ संयुक्त किया है। इसलिये (विगता कुण्ठा पञ्चानां भूतानां मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः; विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार) मैं 'वैकुण्ठ' कहलाता हूँ ॥ ८० ॥

निर्वाणं परमं ब्रह्म धर्मोऽसौ पर उच्यते ।
तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ॥ ८१ ॥

परम शान्तिमय जो ब्रह्म है, वही परम धर्म कहा गया है। उससे पहले कभी मैं च्युत नहीं हुआ हूँ, इसलिये लोग मुझे 'अच्युत' कहते हैं ॥ ८१ ॥

पृथिवीनभसी चोभे विश्रुते विश्वतोमुखे ।
तयोः संधारणार्थं हि मामधोक्षजमञ्जसा ॥ ८२ ॥

('अधः' का अर्थ है पृथ्वी, 'अक्ष' का अर्थ है आकाश और 'ज' का अर्थ है इनको धारण करनेवाला) पृथ्वी और आकाश दोनों सर्वतोमुखी एवं प्रसिद्ध हैं। उनको अनायास ही धारण करनेके कारण लोग मुझे 'अधोक्षज' कहते हैं ॥ ८२ ॥

निरुक्तं वेदविदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः ।
ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः ॥ ८३ ॥

वेदोंके शब्द और अर्थपर विचार करनेवाले वेदवेत्ता विद्वान् प्राग्वंश (यज्ञशालाके एक भाग) में बैठकर अधोक्षज नामसे मेरी महिमाका गान करते हैं; इसलिये भी मेरा नाम 'अधोक्षज' है ॥ ८३ ॥

(अधो न क्षीयते यस्माद् वदन्त्यन्ये ह्यधोक्षजम् ।)

जिसके अनुग्रहसे जीव अधोगतिमें पड़कर क्षीण नहीं होता, उन भगवान्‌को दूसरे लोग इसी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अधोक्षज' कहते हैं ॥

शब्द एकपदैरेष व्याहृतः परमर्षिभिः ।
नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥ ८४ ॥

महर्षि लोग अधोक्षज शब्दको पृथक्-पृथक् तीन पदोंका एक समुदाय मानते हैं—'अ' का अर्थ है लय-स्थान, 'धोक्ष' का अर्थ है पालन-स्थान और 'ज' का अर्थ है उत्पत्ति-स्थान। उत्पत्ति, स्थिति और लयके स्थान एकमात्र नारायण ही हैं; अतः उन भगवान् नारायणको छोड़कर संसारमें दूसरा कोई 'अधोक्षज' नहीं कहला सकता ॥ ८४ ॥

घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् ।
घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ८५ ॥

प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाला घृत मेरे स्वरूपभूत अग्निदेवकी अर्चिष् अर्थात् ज्वालाको जगानेवाला है; इसलिये शान्तचित्त वेदज्ञ विद्वानोंने मुझे 'घृतार्चि' कहा है ॥ ८५ ॥

त्रयो हि धातवः ख्याताः कर्मजा इति ते स्मृताः ।
पित्तं श्लेष्मा च वायुश्च एष संघात उच्यते ॥ ८६ ॥
एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते ।
आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥ ८७ ॥

शरीरमें तीन धातु विख्यात हैं वात, पित और कफ। वे सब-के-सब कर्मजन्य माने गये हैं। इनके समुदायको त्रिधातु कहते हैं। जीव इन धातुओंके रहनेसे जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण हो जानेपर क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आयुर्वेदके विद्वान् मुझे 'त्रिधातु' कहते हैं ॥

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् धर्म सम्पूर्ण लोकोंमें वृषके नामसे विख्यात हैं। वैदिक शब्दार्थबोधक कोशमें वृषका अर्थ धर्म बताया गया है; अतः उत्तम धर्मस्वरूप मुझ वासुदेवको 'वृष' समझो ॥ ८८ ॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥ ८९ ॥

कपि शब्दका अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है और वृष कहते हैं धर्मको। मैं धर्म और श्रेष्ठ वराहरूपधारी हूँ; इसलिये प्रजापति कश्यप मुझे 'वृषाकपि' कहते हैं ॥ ८९ ॥

न चाद न मध्यं तथा चैव नान्तं
कदाचिद् विदन्ते सुराश्चासुराश्च ।
अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः
प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥ ९० ॥

मैं जगत्‌का साक्षी और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य और अन्तका कभी पता नहीं पाते हैं; इसलिये मैं 'अनादि', 'अमध्य' और 'अनन्त' कहलाता हूँ ॥ ९० ॥

शुचीनि श्रवणीयानि शृणोमीह धनंजय ।
न च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवाः ॥ ९१ ॥

धनंजय ! मैं यहाँ पवित्र एवं श्रवण करने योग्य वचनोंको ही सुनता हूँ और पापपूर्ण बातोंको कभी ग्रहण नहीं करता हूँ, इसलिये मेरा नाम 'शुचिश्रवा' है ॥ ९१ ॥

एकशृङ्गः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः ।
इमां चोद्धृतवान् भूमिमेकशृङ्गस्ततो ह्यहम् ॥ ९२ ॥

पूर्वकालमें मैंने एक सींगवाले वराहका रूप धारण करके इस पृथ्वीको पानीसे बाहर निकाला और सारे जगत्‌का आनन्द बढ़ाया; इसलिये मैं 'एकशृङ्ग' कहलाता हूँ ॥ ९२ ॥

---

* 'कृष्ण' नामकी दूसरी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—कृष् नाम है सत्‌का और ण कहते हैं आनन्दको। इन दोनोंसे उपलक्षित सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर गोलोकविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

तथैवास्मं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः ।
त्रिककुत् तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥ ९३ ॥

इसी प्रकार वराहरूप धारण करनेपर गौर शरीरमें तीन ककुद् (ऊँचे स्थान) थे; इसलिये शरीरके मापसे मैं 'त्रिककुद्' नामसे विख्यात हुआ ॥ ९३ ॥

विरिञ्चि इति यत् प्रोक्तं कापिलज्ञानचिन्तकैः ।
स प्रजापतिरेवाहं चेतनात् सर्वलोककृत् ॥ ९४ ॥

कपिल मुनिके द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वानोंने जिसे विरिञ्चि कहा है, यह सर्वलोकस्रष्टा प्रजापति 'विरिञ्चि' मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही सबको चेतना प्रदान करता हूँ ॥ ९४ ॥

विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः ॥ ९५ ॥

तत्त्वका निश्चय करनेवाले सांख्यशास्त्रके आचार्योंने मुझे आदित्य-मण्डलमें स्थित, विद्याशक्तिके साहचर्यसे सम्पन्न सनातन देवता 'कपिल' कहा है । ॥ ९५ ॥

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः ।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः ॥ ९६ ॥

वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है तथा इस जगत्में योगीजन सदा जिनकी पूजा और स्मरण करते हैं, वह तेजस्वी 'हिरण्यगर्भ' मैं ही हूँ ॥ ९६ ॥

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते ।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ ९७ ॥

वेदके विद्वान् मुझे ही इक्कीस हजार ऋचाओंसे युक्त 'ऋग्वेद' और एक हजार शाखाओंवाला 'सामवेद' कहते हैं ॥ ९७ ॥

गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः ।
षट्पञ्चाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत ॥ ९८ ॥
यस्मिञ्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः ।

आरण्यकोंमें ब्राह्मणलोग मेरा ही गान करते हैं । वे मेरे परम भक्त दुर्लभ हैं । जिस यजुर्वेदकी छप्पन + आठ + सैंतीस = एक सौ एक शाखाएँ मौजूद हैं, उस यजुर्वेदमें भी मेरा ही गान किया गया है ॥ ९८½ ॥

पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ ९९ ॥
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा ।

अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगोंसे सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक 'अथर्ववेद' मानते हैं ॥ ९९½ ॥

शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः ॥ १०० ॥
स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान् ।

वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, उन शाखाओंमें जितने गीत हैं तथा उन गीतोंमें स्वर और वर्णके उच्चारण करनेकी जितनी रीतियाँ हैं, उन सबको मेरी बनायी हुई ही समझो ॥ १००½ ॥

यत् तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वरप्रदम् ॥ १०१ ॥
सोऽहमेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित् ।

कुन्तीनन्दन ! सबको वर देनेवाले जो हयग्रीव प्रकट होते हैं, उनके रूपमें मैं ही अवतीर्ण होता हूँ । मैं ही उत्तरभागमें वेद-मन्त्रोंके क्रम-विभाग और अक्षर-विभागका ज्ञाता हूँ* ॥ १०१½ ॥

वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना ॥ १०२ ॥
पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात् ।

महात्मा पाञ्चालने वामदेवके बताये हुए ध्यान-मार्गसे मेरी आराधना करके मुझ सनातन पुरुषके ही कृपाप्रसादसे वेदका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ १०२½ ॥

बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥ १०३ ॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम् ।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥ १०४ ॥

बाभ्रव्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए वे महर्षि गालव भगवान् नारायणसे वर एवं परम उत्तम योग पाकर वेदके क्रमविभाग एवं शिक्षाका प्रणयन करके सबसे पहले क्रमविभागके पारङ्गत विद्वान् हुए थे ॥ १०३-१०४ ॥

कण्डरीकोऽथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान् ।
जातीमरणजं दुःखं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ १०५ ॥
सप्तजातिषु मुख्यत्वाद् योगानां सम्पदं गतः ।

कण्डरीक-कुलमें उत्पन्न हुए प्रतापी राजा ब्रह्मदत्तने सात जन्मोंके जन्म-मृत्युसम्बन्धी दुःखोंका बारंबार स्मरण करके तीव्रतम वैराग्यके कारण शीघ्र ही योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था ॥ १०५½ ॥

पुराहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे ॥ १०६ ॥
धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽहं धर्मजः स्मृतः ।

कुरुश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार ! पूर्वकालमें किसी कारणवश मैं धर्मके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध हुआ था । इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है ॥ १०६½ ॥

नरनारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ॥ १०७ ॥
धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने ।
तत्कालसमये चैव दक्षयज्ञो बभूव ह ॥ १०८ ॥

पहले नर और नारायणने जब धर्ममय रथपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्षका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

न चैवाकल्पयद् भागं दक्षो रुद्रस्य भारत ।
ततो दधीचिवचनाद् दक्षयज्ञमपाहरत् ॥ १०९ ॥

भारत ! उस यज्ञमें दक्षने रुद्रके लिये भाग नहीं दिया

---

*वेदमन्त्रके दो-दो पदका उच्चारण करके पहले-पहलेको छोड़ते जाना और उत्तरोत्तर पदको मिलाकर दो-दो पदोंका एक साथ पाठ करते रहना क्रमविभाग कहलाता है । जैसे—'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मन्त्रका क्रमपाठ इस प्रकार है—'अग्नि मीळे ईळे पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य' इत्यादि । अक्षरविभागका अर्थ है पदविभाग—एक-एक पदको अलग-अलग करके पढ़ना । यथा 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' इत्यादि ।

था; इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ १०९ ॥

ससर्ज शूलं कोपेन प्रज्वलन्तं मुहुर्मुहुः ।
तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् ॥११०॥
आवयोः सहसागच्छद् बदर्याश्रममन्तिकात् ।

रुद्रने क्रोधपूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूलका बारंबार प्रयोग किया । वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा ॥ ११०½ ॥

वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि ॥१११॥
ततस्तत् तेजसाऽऽविष्टाः केशा नारायणस्य ह ।
बभूवुर्मुञ्जवर्णास्तु ततोऽहं मुञ्जकेशवान् ॥११२॥

पार्थ ! उस समय नारायणकी छातीमें वह त्रिशूल बड़े वेगसे जा लगा । उससे निकलते हुए तेजकी लपेटमें आकर नारायणके केश मूँजके समान रंगवाले हो गये । इससे मेरा नाम 'मुञ्जकेश' हो गया ॥ १११-११२ ॥

तच्च शूलं विनिर्धूतं हुंकारेण महात्मना ।
जगाम शंकरकरं नारायणसमाहतम् ॥११३॥

तब महात्मा नारायणने हुंकारध्वनिके द्वारा उस त्रिशूलको पीछे हटा दिया । नारायणके हुंकारसे प्रतिहत होकर वह शङ्करजीके हाथमें चला गया ॥ ११३ ॥

अथ रुद्र उपाधावत् तावृषी तपसान्वितौ ।
तत एनं समुद्भूतं कण्ठे जग्राह पाणिना ॥११४॥
नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता ।

यह देख रुद्र तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंपर टूट पड़े । तब विश्वात्मा नारायणने अपने हाथसे उन आक्रमणकारी रुद्रदेवका गला पकड़ लिया । इसीसे कण्ठ नीला हो जानेके कारण वे 'नीलकण्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ११४½ ॥

अथ रुद्रविघातार्थमिषीकां नर उद्धरन् ॥११५॥
मन्त्रैश्च संयुयोजाशु सोऽभवत् परशुर्महान् ।

इसी समय रुद्रका विनाश करनेके लिये नरने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया । वह सींक एक बहुत बड़े परशुके रूपमें परिणत हो गयी ॥ ११५½ ॥

क्षिप्तश्च सहसा तेन खण्डनं प्राप्तवांस्तदा ॥११६॥
ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात् ।

नरका चलाया हुआ वह परशु सहसा रुद्रके द्वारा खण्डित कर दिया गया । मेरे परशुका खण्डन हो जानेसे मैं 'खण्डपरशु' कहलाया ॥ ११६½ ॥

अर्जुन उवाच

अस्मिन् युद्धे तु वार्ष्णेय त्रैलोक्यशमने तदा ॥११७॥
को जयं प्राप्तवांस्तत्र शंसैतन्मे जनार्दन ।

अर्जुनने पूछा—वृष्णिनन्दन ! त्रिलोकीका संहार करनेवाले उस युद्धके उपस्थित होनेपर वहाँ रुद्र और नारायणमेंसे किसको विजय प्राप्त हुई ? जनार्दन ! आप यह बात मुझे बताइये ॥ ११७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

तयोः संलग्नयोर्युद्धे रुद्रनारायणात्मनोः ॥११८॥
उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्वे लोकास्तदाभवन् ।
नागृह्णात् पावकः शुभ्रं मखेषु सुहुतं हविः ॥११९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! रुद्र और नारायण जब इस प्रकार परस्पर युद्धमें संलग्न हो गये, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके समस्त प्राणी सहसा उद्विग्न हो उठे । अग्निदेव यज्ञोंमें विधिपूर्वक होम किये गये विशुद्ध हविष्यको भी ग्रहण नहीं कर पाते थे ॥ ११८–११९ ॥

वेदा न प्रतिभान्ति स्म ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
देवान् रजस्तमश्चैव समाविविशतुस्तदा ॥१२०॥

पवित्रात्मा ऋषियोंको वेदोंका स्मरण नहीं हो पाता था । उस समय देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया था ॥ १२० ॥

वसुधा संचकम्पे च नभश्च विचचाल ह ।
निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासनच्युतः ॥१२१॥
अगाच्छोषं समुद्रश्च हिमवांश्च व्यशीर्यत ।

पृथ्वी काँपने लगी, आकाश विचलित हो गया । समस्त तेजस्वी पदार्थ (ग्रह-नक्षत्र आदि) निष्प्रभ हो गये । ब्रह्मा अपने आसनसे गिर पड़े । समुद्र सूखने लगा और हिमालय पर्वत विदीर्ण होने लगा ॥ १२१½ ॥

तस्मिन्नेवं समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन ॥१२२॥
ब्रह्मा वृतो देवगणैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ।
आजगामाशु तं देशं यत्र युद्धमवर्तत ॥१२३॥

पाण्डुनन्दन ! ऐसे अपशकुन प्रकट होनेपर ब्रह्माजी देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंको साथ ले शीघ्र उस स्थानपर आये, जहाँ वह युद्ध हो रहा था ॥ १२२-१२३ ॥

सोऽञ्जलिप्रग्रहो भूत्वा चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः ।
उवाच वचनं रुद्रं लोकानामस्तु वै शिवम् ॥१२४॥
न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हितकाम्यया ।

निरुक्तगम्य भगवान् चतुर्मुखने हाथ जोड़कर रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! समस्त लोकोंका कल्याण हो ! विश्वेश्वर ! आप जगत्के हितकी कामनासे अपने हथियार रख दीजिये ॥ १२४½ ॥

यदक्षरमथाव्यक्तमीशं लोकस्य भावनम् ॥१२५॥
कूटस्थं कर्तृ निर्द्वन्द्वमकर्तेति च यं विदुः ।
व्यक्तिभावगतस्यास्य एका मूर्तिरियं शुभा ॥१२६॥

'जो सम्पूर्ण जगत्का उत्पादक, अविनाशी और अव्यक्त ईश्वर हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष कूटस्थ, निर्द्वन्द्व, कर्ता और अकर्ता मानते हैं, व्यक्त-भावको प्राप्त हुए उन्हीं परमेश्वरकी यह एक कल्याणमयी मूर्ति है ॥१२५-१२६॥

नरो नारायणश्चैव जातौ धर्मकुलोद्वहौ ।
तपसा महता युक्तौ देवश्रेष्ठौ महाव्रतौ ॥१२७॥

'धर्मकुलमें उत्पन्न हुए ये दोनों महाव्रती देवश्रेष्ठ नर और नारायण महान् तपस्यासे युक्त हैं ॥ १२७ ॥

अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे ।
त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥१२८॥

'किसी निमित्तसे उन्हीं नारायणके कृपाप्रसादसे मेरा जन्म हुआ है । तात ! आप भी पूर्वसर्गमें उन्हीं भगवान्के क्रोधसे उत्पन्न हुए सनातन पुरुष हैं ॥ १२८ ॥

मया च सार्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः ।
प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥१२९॥

'वरद ! आप देवताओं और महर्षियोंके तथा मेरे साथ शीघ्र इन भगवान्को प्रसन्न कीजिये, जिससे सम्पूर्ण जगत्में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो' ॥ १२९ ॥

ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।
प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ।
शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ॥१३०॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर रुद्रदेवने अपनी क्रोधाग्निका त्याग किया । फिर आदिदेव, वरेण्य, वरदायक, सर्वसमर्थ भगवान् नारायणको प्रसन्न किया और उनकी शरण ली ॥

ततोऽथ वरदो देवो जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
प्रीतिमानभवत् तत्र रुद्रेण सह संगतः ॥१३१॥

तब क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले वरदायक देवता नारायण वहाँ बड़े प्रसन्न हुए और रुद्रदेवसे गले मिले ॥ १३१ ॥

ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः ।
उवाच देवमीशानमीशः स जगतो हरिः ॥१३२॥
यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु ।
नावयोरन्तरं किंचिन्मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥१३३॥

तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और ब्रह्माजीसे अत्यन्त पूजित हो जगदीश्वर श्रीहरिने रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! जो तुम्हें जानता है, वह मुझे भी जानता है। जो तुम्हारा अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है । हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है । तुम्हारे मनमें इसके विपरीत विचार नहीं होना चाहिये ॥१३२-१३३ ॥

अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्वयम् ।
मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥१३४॥

'आजसे तुम्हारे शूलका यह चिह्न मेरे वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्स'के नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम्हारे कण्ठमें मेरे हाथके चिह्नसे अङ्कित होनेके कारण तुम भी 'श्रीकण्ठ' कहलाओगे' ॥ १३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं लक्षणमुत्पाद्य परस्परकृतं तदा ।
सख्यं चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण सहितावृषी ॥१३५॥
तपस्तेपतुरव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौकसः ।
एष ते कथितः पार्थ नारायणजयो मृधे ॥१३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पार्थ ! इस प्रकार अपने-अपने शरीरमें एक दूसरेके द्वारा किये हुए ऐसे लक्षण (चिह्न) उत्पन्न करके वे दोनों ऋषि रुद्रदेवके साथ अनुपम मैत्री स्थापित कर देवताओंको विदा करनेके पश्चात् शान्तचित्त हो पूर्ववत् तपस्या करने लगे । इस प्रकार मैंने तुम्हें युद्धमें नारायणकी विजयका वृत्तान्त बताया है ॥ १३५-१३६ ॥

नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।
ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्तितानि ते ॥१३७॥

भारत ! मेरे जो गोपनीय नाम हैं, उनकी व्युत्पत्ति मैंने बतायी है । ऋषियोंने मेरे जो नाम निश्चित किये हैं, उनका भी मैंने तुमसे वर्णन किया है ॥ १३७ ॥

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ।
ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं च सनातनम् ॥१३८॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार अनेक तरहके रूप धारण करके मैं इस पृथ्वीपर विचरता हूँ, ब्रह्मलोकमें रहता हूँ और सनातन गोलोकमें विहार करता हूँ ॥ १३८ ॥

मया त्वं रक्षितो युद्धे महान्तं प्राप्तवाञ्जयम् ।
यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते॥१३९॥
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम् ।
कालः स एव कथितः क्रोधजेति मया तव ॥१४०॥

मुझसे सुरक्षित होकर तुमने महाभारत युद्धमें महान् विजय प्राप्त की है । कुन्तीनन्दन ! युद्ध उपस्थित होनेपर जो पुरुष तुम्हारे आगे-आगे चलते थे, उन्हें तुम जटाजूटधारी देवाधिदेव रुद्र समझो । उन्हींको मैंने तुमसे क्रोधद्वारा उत्पन्न बताया है । वे ही काल कहे गये हैं ॥ १३९-१४० ॥

निहतास्तेन वै पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् ।
अप्रमेयप्रभावं तं देवदेवमुमापतिम् ।
नमस्व देवं प्रयतो विश्वेशं हरमक्षयम् ॥१४१॥

तुमने जिन शत्रुओंको मारा है, वे पहले ही रुद्रदेवके हाथसे मार दिये गये थे । उनका प्रभाव अप्रमेय है । तुम उन देवाधिदेव, उमावल्लभ विश्वनाथ, पापहारी एवं अविनाशी महादेवजीको संयतचित्त होकर नमस्कार करो ॥ १४१ ॥

यश्च ते कथितः पूर्वं क्रोधजेति पुनः पुनः ।

तस्य प्रभाव एवाग्रे यच्छ्रुतं ते धनंजय ॥१४२॥

धनंजय ! जिन्हें क्रोधज बताकर मैंने तुमसे बारंबार उनका परिचय दिया है और पहले तुमने जो कुछ सुन रक्खा है, वह सब उन रुद्रदेवका ही प्रभाव है ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४२ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनमेजयका प्रश्न, देवर्षि नारदका श्वेतद्वीपसे लौटकर नर-नारायणके पास जाना और उनके पूछनेपर उनसे वहाँके महत्त्वपूर्ण दृश्यका वर्णन करना

शौनक उवाच

सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् ।
यच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! आपने यह बहुत बड़ा आख्यान सुनाया है । इसे सुनकर समस्त ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ १ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा ॥ २ ॥

सूतकुमार ! सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फलदायक नहीं है, जैसी कि भगवान् नारायणकी कथा है ॥ २ ॥

पाविताङ्गाः स्म संवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ ३ ॥

समस्त पापोंसे छुड़ानेवाली नारायणसम्बन्धिनी इस पुण्यमयी कथाको आरम्भसे ही सुनकर हमारे तन-मन पवित्र हो गये ॥ ३ ॥

दुर्दर्शो भगवान् देवः सर्वलोकनमस्कृतः ।
सब्रह्मकैः सुरैः कृत्स्नैरन्यैश्चैव महर्षिभिः ॥ ४ ॥

सर्वलोकवन्दित भगवान् नारायणदेवका दर्शन तो ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा अन्यान्य महर्षियोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ४ ॥

दृष्टवान् नारदो यत्तु देवं नारायणं हरिम् ।
नूनमेतद्ध्यनुमतं तस्य देवस्य सूतज ॥ ५ ॥

सूतनन्दन ! नारदजीने जो देवदेव नारायण हरिका दर्शन कर लिया, यह निश्चय ही उन भगवान्‌की अनुमतिसे ही सम्भव हुआ ॥ ५ ॥

यद् दृष्टवान् जगन्नाथमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
यत् प्राद्रवत् पुनर्भूयो नारदो देवसत्तमौ ॥ ६ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं कारणं तद् ब्रवीहि मे ।

नारदजीने जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित हुए जगन्नाथ श्रीहरिका दर्शन किया और पुनः जो वे वहाँसे देवश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये उनके पास दौड़े गये, इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ६½ ॥

सौतिरुवाच

तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने राज्ञः पारिक्षितस्य वै ॥ ७ ॥
कर्मान्तरेषु विधिवद् वर्तमानेषु शौनक ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषिं वेदनिधिं प्रभुम् ॥ ८ ॥
परिपप्रच्छ राजेन्द्रः पितामहपितामहम् ।

सूतपुत्रने कहा—शौनक ! राजा जनमेजयका वह यज्ञ विधिपूर्वक चल रहा था । उसमें विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलनेपर राजेन्द्र जनमेजयने अपने पितामहोंके पितामह वेदनिधि भगवान् कृष्णद्वैपायन महर्षि व्याससे इस प्रकार पूछा ॥ ७-८½ ॥

जनमेजय उवाच

श्वेतद्वीपान्निवृत्तेन नारदेन सुरर्षिणा ॥ ९ ॥
ध्यायता भगवद्वाक्यं चेष्टितं किमतः परम् ।

जनमेजय बोले—भगवन् ! भगवान् नारायणके कथनपर विचार करते हुए देवर्षि नारद जब श्वेतद्वीपसे लौट आये, तब उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ ९½ ॥

बदर्याश्रममागम्य समागम्य च तावृषी ॥ १० ॥
कियन्तं कालमवसत् कां कथां पृष्टवांश्च सः ।

बदरिकाश्रममें आकर उन दोनों ऋषियोंसे मिलनेके पश्चात् नारदजीने वहाँ कितने समयतक निवास किया और उन दोनोंसे कौन-सी कथा पूछी ? ॥ १०½ ॥

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् ॥ ११ ॥
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् ।

एक लाख श्लोकोंसे युक्त विस्तृत महाभारत इतिहाससे निकालकर जो आपने यह सारभूत कथा सुनायी है, यह बुद्धिरूपी मथानीके द्वारा ज्ञानके उत्तम समुद्रको मथकर निकाले गये अमृतके समान है ॥ ११½ ॥

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्! जैसे दहीसे मक्खन, मलयपर्वतसे चन्दन, वेदोंसे आरण्यक और ओषधियोंसे अमृत निकाला गया है, उसी प्रकार आपने यह कथारूपी अमृत निकालकर रक्खा है ॥ १२-१३ ॥

तपोनिधे त्वयोक्तं हि नारायणकथाश्रयम् ।
स ईशो भगवान् देवः सर्वभूतात्मभावनः ॥ १४ ॥

तपोनिधे! आपने भगवान् नारायणकी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली जो बातें कही हैं, वे सब इस ग्रन्थकी सारभूत हैं। सबके ईश्वर भगवान् नारायणदेव सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ।
यत्राविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ १५ ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा यच्च किंचिच्चराचरम् ।
न ततोऽस्ति परं मन्ये पावनं दिवि चेह च ॥ १६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! उन भगवान् नारायणका तेज अद्भुत है। मनुष्यके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन है। कल्पके अन्तमें जिनके भीतर ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता, ऋषि, गन्धर्व तथा जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब विलीन हो जाता है, उनसे बढ़कर परम पावन एवं महान् इस भूतल और स्वर्गलोकमें मैं दूसरे किसीको नहीं मानता ॥ १५-१६ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं चापि नारायणकथा यथा ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फल देनेवाला नहीं है, जैसा कि भगवान् नारायणकी कथा प्रदान करती है ॥ १७ ॥

सर्वथा पाविताः स्मेह श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
हरेर्विश्वेश्वरस्येह सर्वपापप्रणाशनीम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण विश्वके स्वामी श्रीहरिकी कथा सब पापोंका नाश करनेवाली है। उसे आरम्भसे ही सुनकर हम सब लोग यहाँ सर्वथा पवित्र हो गये हैं ॥ १८ ॥

न चित्रं कृतवांस्तत्र यदार्यो मे धनंजयः ।
वासुदेवसहायो यः प्राप्तवाञ्जयमुत्तमम् ॥ १९ ॥

मेरे पितामह अर्जुनने जो भगवान् वासुदेवकी सहायता पाकर उत्तम विजय प्राप्त कर ली, वह वहाँ उन्होंने कोई अद्भुत कार्य नहीं किया है ॥ १९ ॥

न चास्य किंचिदप्राप्यं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
त्रैलोक्यनाथो विष्णुः स यथाऽऽसीत् साह्यकृत् स वै ॥

त्रिलोकीनाथ भगवान् कृष्ण ही जब उनके सहायक थे, तब उनके लिये तीनों लोकोंमें किसी वस्तुकी प्राप्ति असम्भव रही हो, यह मैं नहीं मानता ॥ २० ॥

धन्याश्च सर्व एवासन् ब्रह्मंस्ते मम पूर्वजाः ।
हिताय श्रेयसे चैव येषामासीज्जनार्दनः ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मेरे सभी पूर्वज धन्य थे, जिनका हित और कल्याण करनेके लिये साक्षात् जनार्दन तैयार रहते थे ॥

तपसाथ सुदृश्यो हि भगवाँल्लोकपूजितः ।
यं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥ २२ ॥

लोकपूजित भगवान् नारायणका दर्शन तो तपस्यासे ही हो सकता है; किंतु मेरे पितामहोंने श्रीवत्सके चिह्नसे विभूषित उन भगवान्‌का साक्षात् दर्शन अनायास ही पा लिया था ॥ २२ ॥

तेभ्यो धन्यतरश्चैव नारदः परमेष्ठिजः ।
न चाल्पतेजसमृषिं वेद्मि नारदमव्ययम् ॥ २३ ॥
श्वेतद्वीपं समासाद्य येन दृष्टः स्वयं हरिः ।
देवप्रसादानुगतं व्यक्तं तत् तस्य दर्शनम् ॥ २४ ॥

उन सबसे भी अधिक धन्यवादके योग्य ब्रह्मपुत्र नारदजी हैं। मैं अविनाशी नारदजीको कम तेजस्वी ऋषि नहीं समझता, जिन्होंने श्वेतद्वीपमें पहुँचकर साक्षात् श्रीहरिका दर्शन प्राप्त कर लिया। उनका वह भगवद्-दर्शन स्पष्ट ही उन भगवान्‌की कृपाका फल है ॥ २३-२४ ॥

तद् दृष्टवांस्तदा देवमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
बदरीमाश्रमं यत् तु नारदः प्राद्रवत् पुनः ॥ २५ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं किं तु तत् कारणं मुने ।

मुने! नारदजीने उस समय श्वेतद्वीपमें जाकर जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित नारायणदेवका साक्षात्कार किया तथा पुनः नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये जो बदरिकाश्रमको प्रस्थान किया, इसका क्या कारण है? ॥ २५½ ॥

श्वेतद्वीपान्निवृत्तश्च नारदः परमेष्ठिजः ॥ २६ ॥
बदरीमाश्रमं प्राप्य समागम्य च तावृषी ।
कियन्तं कालमवसत् प्रश्नान् कान् पृष्टवांश्च ह ॥ २७ ॥

ब्रह्मपुत्र नारदजी श्वेतद्वीपसे लौटनेपर जब बदरिकाश्रममें पहुँचकर उन दोनों ऋषियोंसे मिले, तब वहाँ उन्होंने कितने समयतक निवास किया? और वहाँ उनसे किन-किन प्रश्नोंको पूछा? ॥ २६-२७ ॥

श्वेतद्वीपादुपावृत्ते तस्मिन् वा सुमहात्मनि ।
किमब्रूतां महात्मानौ नरनारायणावृषी ॥ २८ ॥
तदेतन्मे यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

श्वेतद्वीपसे लौटे हुए उन नारदजीसे महात्मा नर-

नारायण ऋषियोंने क्या बात की थी ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ॥ २९ ॥
यस्य प्रसादाद् वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—अमिततेजस्वी भगवान् व्यासको नमस्कार है, जिनके कृपाप्रसादसे मैं भगवान् नारायणकी यह कथा कह रहा हूँ ॥ २९½ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ ३० ॥
निवृत्तो नारदो राजंस्तरसा मेरुमागमत् ।
हृदयेनोद्वहन् भारं यदुक्तं परमात्मना ॥ ३१ ॥

राजन् ! श्वेतनामक महाद्वीपमें जाकर वहाँ अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करके जब नारदजी लौटे, तब बड़े वेगसे मेरुपर्वतपर आ पहुँचे । परमात्मा श्रीहरिने उनसे जो कुछ कहा था, उस कार्यभारको वे हृदयसे ढो रहे थे ॥३०-३१॥

पश्चादस्याभवद् राजन्नात्मनः साध्वसं महत् ।
यद् गत्वा दूरमध्वानं क्षेमी पुनरिहागतः ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् उनके मनमें यह सोचकर बड़ा भारी विस्मय हुआ कि मैं इतनी दूरका मार्ग तै करके पुनः यहाँ सकुशल कैसे लौट आया ? ॥ ३२ ॥

मेरोः प्रचक्राम ततः पर्वतं गन्धमादनम् ।
निपपात च खात् तूर्णं विशालां बदरीमनु ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे मेरुसे गन्धमादन पर्वतकी ओर चले और बदरीविशालतीर्थके समीप तुरंत ही आकाशसे नीचे उतर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः स ददृशे देवौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
तपश्चरन्तौ सुमहदात्मनिष्ठौ महाव्रतौ ॥ ३४ ॥

वहाँ उन्होंने उन दोनों पुरातन देवता ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन किया, जो आत्मनिष्ठ हो महान् व्रत लेकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ३४ ॥

तेजसाभ्यधिकौ सूर्यात् सर्वलोकविरोचनात् ।
श्रीवत्सलक्षणौ पूज्यौ जटामण्डलधारिणौ ॥ ३५ ॥

वे दोनों सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी थे । उन पूज्य महात्माओंके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सके चिह्न सुशोभित हो रहे थे और वे अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण किये हुए थे ॥ ३५ ॥

जालपादभुजौ तौ तु पादयोश्चक्रलक्षणौ ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ तथा मुष्कचतुष्किणौ ॥ ३६ ॥
षष्टिदन्तावष्टदंष्ट्रौ मेघौघसदृशस्वनौ ।
स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रू सुहनुनासिकौ ॥ ३७ ॥

उनके हाथोंमें हंसका और चरणोंमें चक्रका चिह्न था । विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, अण्डकोशमें चार-चार बीज, मुखमें साठ दाँत और आठ दाढ़ें, मेघके समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख, चौड़े ललाट, बाँकी भौंहें, सुन्दर ठोढ़ी और मनोहर नासिकासे उन दोनोंकी अपूर्व शोभा हो रही थी॥ ३६-३७ ॥

आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस्तयोः ।
एवं लक्षणसम्पन्नौ महापुरुषसंज्ञितौ ॥ ३८ ॥
तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस्ताभ्यां च प्रतिपूजितः ।
स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश्चानामयं तथा ॥ ३९ ॥

उन दोनों देवताओंके मस्तक छत्रके समान प्रतीत होते थे । ऐसे शुभलक्षणोंसे सम्पन्न उन दोनों महापुरुषोंका दर्शन करके नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । भगवान् नर और नारायणने भी नारदजीका स्वागत-सत्कार करके उनका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३८-३९ ॥

बभूवान्तर्गतमतिर्निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ ।
सदोगतास्तत्र ये वै सर्वभूतनमस्कृताः ॥ ४० ॥
श्वेतद्वीपे मया दृष्टास्तादृशावृषिसत्तमौ ।

तदनन्तर नारदजीने उन दोनों पुरुषोत्तमोंकी ओर देखकर मन-ही-मन विचार किया, अहो ! मैंने श्वेतद्वीपमें भगवान्‌की सभाके भीतर जिन सर्वभूतवन्दित सदस्योंको देखा था, ये दोनों ऋषिश्रेष्ठ भी वैसे ही हैं ॥ ४०½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ४१ ॥
स चोपविविशे तत्र पीठे कुशमये शुभे ।

मन-ही-मन ऐसा सोचकर वे उन दोनोंकी प्रदक्षिणा करके एक सुन्दर कुशासनपर बैठ गये ॥ ४१½ ॥

ततस्तौ तपसां वासौ यशसां तेजसामपि ॥ ४२ ॥
ऋषी शमदमोपेतौ कृत्वा पौर्वाह्णिकं विधिम् ।
पश्चान्नारदमव्यग्रौ पाद्यार्घ्याभ्यामथार्चतः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर तपस्या, यश और तेजके भी निवासस्थान वे शम-दमसम्पन्न दोनों ऋषि पूर्वाह्णकालका नित्य कर्म पूर्ण करके फिर शान्त-भावसे पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके नारदजीकी पूजा करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

पीठयोश्चोपविष्टौ तौ कृतातिथ्याह्निकौ नृप ।
तेषु तत्रोपविष्टेषु स देशोऽभिव्यराजत ॥ ४४ ॥
आज्याहुतिमहाज्वालैर्यज्ञवाटो यथाग्निभिः ।

नरेश्वर ! अपने नित्यकर्म तथा नारदजीका आतिथ्य-सत्कार करके वे दोनों ऋषि भी कुशासनपर बैठ गये । वहाँ उन तीनोंके बैठ जानेपर वह प्रदेश घीकी आहुतिसे प्रज्वलित विशाल लपटोंवाले तीन अग्नियोंसे प्रकाशित यज्ञमण्डपकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ४४½ ॥

अथ नारायणस्तत्र नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुखोपविष्टं विश्रान्तं कृतातिथ्यं सुखस्थितम् ।

इसके बाद वहाँ आतिथ्य ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करते हुए नारदजीसे नारायणने इस प्रकार कहा ॥

नरनारायणावूचतुः

अपीदानीं स भगवान् परमात्मा सनातनः ॥ ४६ ॥
श्वेतद्वीपे त्वया दृष्ट आवयोः प्रकृतिः परा ।

नर-नारायण बोले—देवर्षे ! क्या तुमने इस समय श्वेतद्वीपमें जाकर हम दोनोंका परम कारणरूप सनातन परमात्मा भगवान्‌का दर्शन कर लिया ? ॥ ४६½ ॥

नारद उवाच

दृष्टो मे पुरुषः श्रीमान् विश्वरूपधरोऽव्ययः ॥ ४७ ॥
सर्वे लोका हि तत्रस्थास्तथा देवाः सहर्षिभिः ।

नारदजीने कहा—भगवन् ! मैंने विश्वरूपधारी उन अविनाशी एवं कान्तिमान् परम पुरुषका दर्शन कर लिया। ऋषियोंसहित देवता तथा सम्पूर्ण लोक उन्हींके भीतर विराजमान हैं ॥ ४७½ ॥

अद्यापि चैनं पश्यामि युवां पश्यन् सनातनौ ॥ ४८ ॥
यैर्लक्षणैरुपेतः स हरिरव्यक्तरूपधृक् ।
तैर्लक्षणैरुपेतौ हि व्यक्तरूपधरौ युवाम् ॥ ४९ ॥

मैं इस समय भी आप दोनों सनातन पुरुषोंको देखकर यहीं श्वेतद्वीपनिवासी भगवान्‌की झाँकी कर रहा हूँ। वहाँ मैंने अव्यक्तरूपधारी श्रीहरिको जिन लक्षणोंसे सम्पन्न देखा था, आप दोनों व्यक्तरूपधारी पुरुष भी उन्हीं लक्षणोंसे सुशोभित हैं ॥ ४८-४९ ॥

दृष्टौ युवां मया तत्र तस्य देवस्य पार्श्वतः ।
इहैव चागतोऽस्म्यद्य विसृष्टः परमात्मना ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, मैंने आप दोनोंको वहाँ भी परमदेवके पास उपस्थित देखा था और उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आज मैं फिर यहाँ आया हूँ ॥ ५० ॥

को हि नाम भवेत् तस्य तेजसा यशसा श्रिया ।
सदृशस्त्रिषु लोकेषु ऋते धर्मात्मजौ युवाम् ॥ ५१ ॥

तीनों लोकोंमें धर्मके पुत्र आप दोनों महापुरुषोंके सिवा दूसरा कौन है, जो तेज, यश और श्रीमें उन्हीं परमेश्वरके समान हो ॥ ५१ ॥

तेन मे कथितः कृत्स्नो धर्मः क्षेत्रज्ञसंज्ञितः ।
प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या इह ये यथा ॥ ५२ ॥

उन भगवान् श्रीहरिने मुझसे सम्पूर्ण धर्मका वर्णन किया था। क्षेत्रज्ञका भी परिचय दिया था और यहाँ भविष्यमें उनके जो अवतार जैसे होनेवाले हैं, उन्हें भी बताया था ॥ ५२ ॥

तत्र ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः ।
प्रतिबुद्धाश्च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तमम् ॥ ५३ ॥

वहाँ जो चन्द्रमाके समान गौरवर्णके पुरुष थे, वे सब-के-सब पाँचों इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरसे शून्य, ज्ञानवान् तथा पुरुषोत्तम श्रीविष्णुके भक्त थे ॥ ५३ ॥

तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः ।
प्रियभक्तो हि भगवान् परमात्मा द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥

वे सदा उन नारायणदेवकी पूजा-अर्चा करते रहते हैं और भगवान् भी सदा उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। भगवान्‌को अपने भक्त बहुत ही प्रिय हैं तथा वे परमात्मा श्रीहरि ब्राह्मणोंके भी प्रेमी हैं ॥ ५४ ॥

रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवतप्रियः ।
विश्वभुक् सर्वगो देवो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ५५ ॥

वे विश्वका पालन करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। भगवद्भक्तोंके प्रेमी और प्रियतम श्रीहरि उनसे पूजित हो वहाँ सदा सुप्रसन्न रहते हैं ॥ ५५ ॥

स कर्ता कारणं चैव कार्यं चातिबलद्युतिः ।
हेतुश्चाज्ञा विधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥ ५६ ॥

वे ही कर्ता, कारण और कार्य हैं। उनका बल और तेज अनन्त है। वे महायशस्वी भगवान् ही हेतु, आज्ञा, विधि और तत्त्वरूप हैं ॥ ५६ ॥

तपसा योज्य सोऽऽत्मानं श्वेतद्वीपात् परं हि यत् ।
तेज इत्यभिविख्यातं स्वयंभासावभासितम् ॥ ५७ ॥

वे अपने आपको तपस्यामें लगाकर श्वेतद्वीपसे भी परे प्रकाशमान तेजोमय स्वरूपसे विख्यात हैं। उनका वह तेज अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है ॥ ५७ ॥

शान्तिः सा त्रिषु लोकेषु विहिता भावितात्मना ।
एतया शुभया बुद्ध्या नैष्ठिकं व्रतमास्थितः ॥ ५८ ॥

उन पूतात्मा परमात्माने तीनों लोकोंमें उस शान्तिका विस्तार किया है। अपनी इस कल्याणमयी बुद्धिके द्वारा वे नैष्ठिक व्रतका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ ५८ ॥

न तत्र सूर्यस्तपति न सोमोऽभिविराजते ।
न वायुर्वाति देवेशे तपश्चरति दुश्चरम् ॥ ५९ ॥

वहाँ सूर्य नहीं तपते, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होते तथा दुष्कर तपस्यामें लगे हुए देवेश्वर श्रीहरिके समीप यह लौकिक वायु भी नहीं चलती है ॥ ५९ ॥

वेदीमष्टनलोत्सेधां भूमावास्थाय विश्वकृत् ।
एकपादस्थितो देव ऊर्ध्वबाहुरुदङ्मुखः ॥ ६० ॥

वहाँकी भूमिपर एक ऊँची वेदी बनी है, जिसकी ऊँचाई आठ अंगुलियोंकी लंबाईके बराबर है। उसपर आरूढ़ हो

वे विश्वकर्ता परमात्मा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये और उत्तरकी ओर मुँह किये एक पैरसे खड़े हैं ॥ ६० ॥

साङ्गानावर्तयन् वेदांस्तपस्तेपे सुदुश्चरम्।
यद् ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् ॥ ६१ ॥
शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्च ये ॥ ६२ ॥
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते।
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठति ॥ ६३ ॥

वे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंकी आवृत्ति करते हुए अत्यन्त कठोर तपस्यामें संलग्न हैं। ब्रह्मा, स्वयं महादेव, सम्पूर्ण ऋषि और शेष श्रेष्ठ देवता तथा दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गरुड़, गन्धर्व, सिद्ध एवं राजर्षिगण सदा विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य अर्पण करते हैं, वह सब कुछ उन्हीं भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित होता है ॥ ६१—६३ ॥

याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतबुद्धिभिः।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ ६४ ॥

जिनकी बुद्धि अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्‌में ही लगी हुई है, उन भक्तोंद्वारा जो क्रियाएँ समर्पित की जाती हैं, उन सबको वे भगवान् स्वयं शिरोधार्य करते हैं ॥ ६४ ॥

न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः।
विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्म्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥

वहाँके ज्ञानी-महात्मा भक्तोंसे बढ़कर भगवान्‌को तीनों लोकोंमें दूसरा कोई प्रिय नहीं है; अतः मैं अनन्य भावसे उन्हींकी शरणमें गया हूँ ॥ ६५ ॥

इह चैवागतस्तेन विसृष्टः परमात्मना।
एवं मे भगवान् देवः स्वयमाख्यातवान् हरिः।
आसिष्ये तत्परो भूत्वा युवाभ्यां सह नित्यशः ॥ ६६ ॥

यहाँ भी मैं उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आया हूँ। स्वयं भगवान् श्रीहरिने मुझसे ऐसा कहा था। अब मैं उन्हींकी आराधनामें तत्पर हो आप दोनोंके साथ यहाँ नित्य निवास करूँगा ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नर-नारायणका नारदजीकी प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य बतलाना

नरनारायणावूचतुः

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत् ते दृष्टः स्वयं प्रभुः।
न हि तं दृष्टवान् कश्चित् पद्मयोनिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

नर-नारायणने कहा—नारद ! तुमने श्वेतद्वीपमें जाकर जो साक्षात् भगवान्‌का दर्शन कर लिया, इससे तुम धन्य हो गये। वास्तवमें भगवान्‌ने तुमपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। तुम्हारे सिवा और किसीने, साक्षात् कमलयोनि ब्रह्माजीने भी भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन नहीं किया ॥ १ ॥

अव्यक्तयोनिर्भगवान् दुर्दर्शः पुरुषोत्तमः।
नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ॥ २ ॥
नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते।
ततः स्वयं दर्शितवान् स्वमात्मानं द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

नारद ! वे भगवान् पुरुषोत्तम अव्यक्त प्रकृतिके मूल कारण हैं। उनका दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। द्विजश्रेष्ठ! हम दोनों तुमसे सच कहते हैं कि भगवान्‌को इस जगत्‌में भक्तसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय नहीं है। इसलिये उन्होंने स्वयं ही तुम्हें अपने स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ २-३ ॥

तपो हि तप्यतस्तस्य यत् स्थानं परमात्मनः।
न तत् सम्प्राप्नुते कश्चिदृते ह्यावां द्विजोत्तम ॥४॥

द्विजोत्तम ! तपस्यामें लगे हुए उन परमात्माका जो स्थान है, वहाँ हम दोनोंके सिवा दूसरा कोई नहीं पहुँच सकता ॥ ४ ॥

या हि सूर्यसहस्रस्य समस्तस्य भवेद् द्युतिः।
स्थानस्य सा भवेत् तस्य स्वयं तेन विराजता ॥ ५ ॥

एक हजार सूर्योंके एकत्र होनेपर जितनी कान्ति हो सकती है, उतनी ही उस स्थानकी भी कान्ति है, जहाँ भगवान् विराज रहे हैं ॥ ५ ॥

तस्मादुत्तिष्ठते विप्र देवाद् विश्वभुवः पतेः।
क्षमा क्षमावतां श्रेष्ठ यया भूमिस्तु युज्यते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! क्षमाशीलोंमें श्रेष्ठ नारद ! विश्वविधाता ब्रह्माजीके भी पति उन परमेश्वरसे ही क्षमाकी उत्पत्ति हुई है, जिससे पृथ्वीका संयोग होता है ॥ ६ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतहिताद् रसः।
आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले उन नारायणदेवसे ही रस प्रकट हुआ है, जिसका जलके साथ संयोग है और जिसके कारण जल द्रवीभूत होता है ॥ ७ ॥

तस्मादेव समुद्भूतं तेजो रूपगुणात्मकम् ।
येन संयुज्यते सूर्यस्ततो लोके विराजते ॥ ८ ॥

उन्हींसे रूप-गुणविशिष्ट तेजका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे सूर्यदेव संयुक्त हुए हैं । इसीलिये वे लोकमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

तस्माद् देवात् समुद्भूतः स्पर्शस्तु पुरुषोत्तमात् ।
येन स्म युज्यते वायुस्ततो लोकान् विवात्यसौ॥ ९ ॥

उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमसे स्पर्शकी उत्पत्ति हुई है, जिससे वायुदेव संयुक्त होते हैं और उससे संयुक्त होनेके कारण ही वे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रवाहित होते हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते शब्दः सर्वलोकेश्वरात् प्रभोः ।
आकाशं युज्यते येन ततस्तिष्ठत्यसंवृतम् ॥ १० ॥

उन्हीं सर्वलोकेश्वर प्रभुसे शब्दका प्रादुर्भाव होता है, जिससे आकाशका नित्य संयोग है और जिसके ही कारण वह निरावृत रहता है ॥ १० ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतं मनः ।
चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥ ११ ॥

उन्हीं नारायणदेवसे सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले मनकी भी उत्पत्ति हुई है । उस मनसे संयुक्त होकर ही चन्द्रमा प्रकाश-गुणको धारण करता है ॥ ११ ॥

सद्भूतोत्पादकं नाम तत् स्थानं वेदसंज्ञितम् ।
विद्यासहायो यत्रास्ते भगवान् हव्यकव्यभुक् ॥ १२ ॥

जहाँ भगवान् श्रीहरि हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करते हुए विद्याशक्तिके साथ विराजमान हैं, वह वेदसंज्ञक स्थान सद्भूतोत्पादक कहलाता है ॥ १२ ॥

ये हि निष्कलुषा लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
सर्वलोकतमोहन्ता आदित्यो द्वारमुच्यते ।

द्विजश्रेष्ठ ! संसारमें जो लोग पुण्य और पापसे रहित एवं निर्मल हैं, वे कल्याणमय मार्गसे भगवद्धामको प्राप्त होते हैं, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके अन्धकारका नाश करनेवाले भगवान् सूर्य ही उनके उस मोक्षधामका द्वार बताये जाते हैं ॥ १३½ ॥

आदित्यदग्धसर्वाङ्गा अदृश्याः केनचित् क्वचित्॥ १४ ॥
परमाणुभूता भूत्वा तु तं देवं प्रविशन्त्युत ।

सूर्यदेव उनके सम्पूर्ण अङ्गोंको जलाकर भस्म कर देते हैं । फिर कहीं कोई उन्हें देख नहीं पाता । वे परमाणुस्वरूप होकर उन्हीं सूर्यदेवमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ १४½ ॥

तस्मादपि च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ॥ १५ ॥
मनोभूतास्ततो भूत्वा प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत ।

फिर उनसे भी मुक्त होकर वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित होते हैं । फिर मनोमय होकर प्रद्युम्नमें प्रवेश करते हैं ॥ १५½ ॥

प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ॥ १६ ॥
विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सह ।

प्रद्युम्नसे भी युक्त होकर वे सांख्यज्ञानसम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवद्भक्तोंके साथ जीवस्वरूप संकर्षणमें प्रविष्ट होते हैं ॥ १६½ ॥

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥ १७ ॥
प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् ।
सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तीनों गुणोंसे मुक्त हो वे श्रेष्ठ द्विज अनायास ही निर्गुणस्वरूप क्षेत्रज्ञ परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं । तुम सबके निवासस्थान भगवान् वासुदेवको ही क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १७-१८ ॥

समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः ।
एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने मनको एकाग्र कर लिया है, जो शौच-संतोष आदि नियमोंसे सम्पन्न और जितेन्द्रिय हैं, वे अनन्य भावसे भगवान्‌की शरणमें गये हुए भक्त साक्षात् वासुदेवमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥

आवामपि च धर्मस्य गृहे जातौ द्विजोत्तम ।
रम्यां विशालामाश्रित्य तप उग्रं समास्थितौ ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों भी धर्मके घरमें अवतीर्ण हो इस रमणीय बदरिकाश्रमतीर्थका आश्रय ले कठोर तपस्यामें संलग्न हैं ॥ २० ॥

ये तु तस्यैव देवस्य प्रादुर्भावाः सुरप्रियाः ।
भविष्यन्ति त्रिलोकस्थास्तेषां स्वतीत्यथो द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! उन्हीं भगवान् परमदेव परमात्माके तीनों लोकोंमें जो देवप्रिय अवतार होनेवाले हैं, उनका सदा ही परम मङ्गल हो—यही हमारी इस तपस्याका उद्देश्य है ॥ २१ ॥

विधिना स्वेन युक्ताभ्यां यथापूर्वं द्विजोत्तम ।
आस्थिताभ्यां सर्वकृच्छ्रं व्रतं सम्यगनुत्तमम् ॥ २२ ॥
आवाभ्यामपि दृष्टस्त्वं श्वेतद्वीपे तपोधन ।
समागतो भगवता संजल्पं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
सर्वं हि नौ संविदितं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
यद् भविष्यति वृत्तं वा वर्तते वा शुभाशुभम् ।
सर्वं स ते कथितवान् देवदेवो महामुने ॥ २४ ॥

द्विजोत्तम ! हम दोनोंने पूर्ववत् अपने कर्ममें संलग्न हो सर्वोत्तम एवं सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे युक्त उत्तम व्रतमें तत्पर रहते हुए ही श्वेतद्वीपमें उपस्थित होकर वहाँ तुम्हें देखा था। तपोधन ! तुम वहाँ भगवान्‌से मिले और उनके साथ वार्तालाप किया। ये सारी बातें हम दोनोंको अच्छी तरह विदित हैं। महामुने ! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो शुभ या अशुभ बात हो चुकी है, हो रही है अथवा होनेवाली है, वह सब उस समय देवदेव भगवान् श्रीहरिने तुमसे कही थी ॥ २२—२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्ततोः।
नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कठोर तपस्यामें लगे हुए भगवान् नर और नारायणकी यह बात सुनकर नारदजीने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और नारायणकी शरण लेकर उन्हींकी आराधनामें लग गये ॥ २५ ॥

जजाप विधिवन्मन्त्रान् नारायणगतान् बहून्।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥ २६ ॥

उन्होंने नारायणसम्बन्धी बहुत-से मन्त्रोंका विधिपूर्वक जप किया और एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे नर-नारायणके आश्रममें टिके रहे ॥ २६ ॥

अवसत् स महातेजा नारदो भगवानृषिः।
तमेवाभ्यर्चयन् देवं नरनारायणौ च तौ ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भगवान् नारद मुनि प्रतिदिन उन्हीं भगवान् वासुदेवकी तथा उन दोनों नर और नारायणकी भी आराधना करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् वराहके द्वारा पितरोंके पूजनकी मर्यादाका स्थापित होना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य नारदः परमेष्ठिजः।
दैवं कृत्वा यथान्यायं पित्र्यं चक्रे ततः परम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! किसी समय ब्रह्मपुत्र नारदजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार पहले देवकार्य (हवन-पूजन) करके फिर पितृकार्य (श्राद्ध-तर्पण) किया ॥ १ ॥

ततस्तं वचनं प्राह ज्येष्ठो धर्मात्मजः प्रभुः।
क इज्यते द्विजश्रेष्ठ दैवे पित्र्ये च कल्पिते ॥ २ ॥
त्वया मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे शंस यथागमम्।
किमेतत् क्रियते कर्म फलं वास्य किमिष्यते ॥ ३ ॥

तब धर्मके ज्येष्ठ पुत्र नरने उनसे इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य हो। तुम्हारे द्वारा देवकार्य और पितृकार्यके सम्पादित होनेपर उन कर्मोंसे किसकी पूजा सम्पन्न होती है ? यह मुझे शास्त्रके अनुसार बताओ। तुम यह कौन-सा कर्म करते हो ? और इसके द्वारा किस फलको प्राप्त करना चाहते हो ?' ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

त्वयैतत् कथितं पूर्वं दैवं कर्तव्यमित्यपि।
दैवतं च परो यज्ञः परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आपने ही पहले यह कहा था कि देवकर्म सबके लिये कर्तव्य है; क्योंकि देवकर्म उत्तम यज्ञ है और यज्ञ सनातन परमात्माका स्वरूप है ॥ ४ ॥

ततस्तद्भावितो नित्यं यजे वैकुण्ठमव्ययम्।
तस्माच्च प्रसृतः पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५ ॥

अतः आपके उस उपदेशसे प्रभावित होकर मैं प्रतिदिन अविनाशी भगवान् वैकुण्ठका यजन करता हूँ। उन्हींसे सर्वप्रथम लोक-पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

मम वै पितरं प्रीतः परमेष्ठ्यप्यजीजनत्।
अहं संकल्पजस्तस्य पुत्रः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने प्रसन्न होकर मेरे पिता प्रजापतिको उत्पन्न किया *। मैं उनका संकल्पजनित प्रथम पुत्र हूँ ॥ ६ ॥

यजामि वै पितॄन् साधो नारायणविधौ कृते।
एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥ ७ ॥

साधो ! मैं पहले नारायणकी आराधनाका कार्य पूर्ण कर लेनेपर पितरोंका पूजन करता हूँ। इस प्रकार वे भगवान् नारायण ही मेरे पिता, माता और पितामह हैं ॥ ७ ॥

---

* यद्यपि नारदजी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं तथापि दक्षके शापवश उन्हें पुनः प्रजापतिसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। यह कथा हरिवंशमें आयी है।

इज्यते पितृयज्ञेषु तथा नित्यं जगत्पतिः ।
श्रुतिश्चाप्यपरा देवी पुत्रान् हि पितरोऽयजन् ॥ ८ ॥

पितृयज्ञोंमें सदा श्रीहरिकी ही आराधना की जाती है। एक दूसरी श्रुति है कि पिताओं (देवताओं) ने पुत्रों (अग्निष्वात्त* आदि) का पूजन किया ॥ ८ ॥

वेदश्रुतिः प्रणष्टा च पुनरध्यापिता सुतैः ।
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे ॥ ९ ॥

देवताओंका वेदज्ञान भूल गया था; फिर उनके पुत्रों-ने ही उन्हें वेदश्रुतियोंको पढ़ाया। इसीसे वे मन्त्रदाता पुत्र पितृभावको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

नूनं पुरैतद् विदितं युवयोर्भावितात्मनोः ।
पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन् ॥ १० ॥

पुत्रों और पिताओंने जो परस्पर एक दूसरेका पूजन किया, यह बात आप दोनों शुद्धात्मा पुरुषोंको निश्चय ही पहलेसे ही ज्ञात रही होगी ॥ १० ॥

त्रीन् पिण्डान् न्यस्य वै पृथ्व्यां पूर्वं दत्त्वा कुशानिति ।
कथं तु पिण्डसंज्ञां ते पितरो लेभिरे पुरा ॥ ११ ॥

देवताओंने पृथ्वीपर पहले कुश बिछाकर उनपर पितरोंके निमित्त तीन पिण्ड रखकर जो उनका पूजन किया था, इसका क्या कारण है ? पूर्वकालमें पितरोंने पिण्डनाम कैसे प्राप्त किया ? ॥ ११ ॥

नरनारायणावूचतुः

इमां हि धरणीं पूर्वं नष्टां सागरमेखलाम् ।
गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः ॥ १२ ॥

नर-नारायण बोले—मुने ! यह समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वी पहले एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी थी। उस समय भगवान् गोविन्दने वाराह-रूप धारण करके शीघ्रता-पूर्वक इसका उद्धार किया था ॥ १२ ॥

स्थापयित्वा तु धरणीं स्वे स्थाने पुरुषोत्तमः ।
जलकर्दमलिप्ताङ्गो लोककार्यार्थमुद्यतः ॥ १३ ॥

वे पुरुषोत्तम पृथ्वीको अपने स्थानपर स्थापित करके जल और कीचड़से लिपटे अङ्गोंसे ही लोकहितका कार्य करनेके लिये उद्यत हुए ॥ १३ ॥

प्राप्ते चाह्निककाले तु मध्यदेशगते रवौ ।
दंष्ट्राविलग्नांस्त्रीन् पिण्डान् विधाय सहसा प्रभुः ॥ १४ ॥

स्थापयामास वै पृथ्व्यां कुशानास्तीर्य नारद ।
स तेष्वात्मानमुद्दिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि ॥ १५ ॥

जब सूर्य दिनके मध्य भागमें आ पहुँचे और तत्कालोचित नित्यकर्मका समय उपस्थित हुआ; तब भगवान्ने अपनी दाढ़ोंमें लगी हुई मिट्टीके सहसा तीन पिण्ड बनाये । नारद ! फिर पृथ्वीपर कुश बिछाकर उन्होंने उन कुशोंपर ही वे पिण्ड रख दिये। इसके बाद अपने ही उद्देश्यसे उन पिण्डोंपर विधिपूर्वक पितृपूजनका कार्य सम्पन्न किया ॥ १४-१५ ॥

संकल्पयित्वा त्रीन् पिण्डान् स्वेनैव विधिना प्रभुः ।
आत्मगात्रोष्मसम्भूतैः स्नेहगर्भैस्तिलैरपि ॥ १६ ॥
प्रोक्ष्यापसव्यं देवेशः प्राङ्मुखः कृतवान् स्वयम् ।
मर्यादास्थापनार्थं च ततो वचनमुक्तवान् ॥ १७ ॥

अपने ही विधानसे प्रभुने वे तीनों पिण्ड संकल्पित किये। फिर अपने शरीरकी ही गर्मीसे उत्पन्न हुए स्नेहयुक्त तिलों-द्वारा अपसव्यभावसे उन पिण्डोंका प्रोक्षण किया। तदनन्तर देवेश्वर श्रीहरिने स्वयं ही पूर्वाभिमुख हो प्रार्थना की और धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिये यह बात कही ॥ १६-१७ ॥

वृषाकपिरुवाच

अहं हि पितरः स्रष्टुमुद्यतो लोककृत् स्वयम् ।
यस्य चिन्तयतः सद्यः पितृकार्यविधीन् परान् ॥ १८ ॥
दंष्ट्राभ्यां प्रविनिर्धूता ममैते दक्षिणां दिशम् ।
आश्रिता धरणीं पिण्डास्तस्मात् पितर एव ते ॥ १९ ॥

भगवान् वराहने कहा—मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका स्रष्टा हूँ। मैं स्वयं ही जब पितरोंकी सृष्टिके लिये उद्यत हो पितृकार्यसम्बन्धी दूसरी विधियोंका चिन्तन करने लगा, उसी क्षण मेरी दो दाढ़ोंसे ये तीन पिण्ड दक्षिण दिशाकी ओर पृथ्वीपर गिर पड़े; अतः ये पिण्ड पितृस्वरूप ही हैं ॥ १८-१९ ॥

त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे ।
भवन्तु पितरो लोके मया सृष्टाः सनातनाः ॥ २० ॥

तीन पितर मूर्तिहीन या अमूर्त होते हैं; जो पिण्ड-रूप मूर्ति धारण करके प्रकट हुए हैं, लोकमें मेरेद्वारा उत्पन्न किये गये ये सनातन पितर हों ॥ २० ॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥ २१ ॥

पिता, पितामह और प्रपितामह—इनके रूपमें मुझे ही इन तीन पिण्डोंमें स्थित जानना चाहिये ॥ २१ ॥

नास्ति मत्तोऽधिकः कश्चित् को वान्योऽर्च्यो मया स्वयम्
को वा मम पिता लोके अहमेव पितामहः ॥ २२ ॥

मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है; फिर दूसरा कौन है जिसका स्वयं मैं पूजन करूँ ? संसारमें मेरा पिता कौन है ? सबका दादा-बाबा तो मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

* अग्निष्वात्त आदि पितृगण देवताओंके ही पुत्र हैं। एक समय देवता दीर्घकालतक असुरोंके साथ युद्धमें लगे रहे, इसलिये उन्हें अपने पढ़े हुए वेद भूल गये। फिर उन पुत्रोंसे ही वेदोंको पढ़कर देवताओंने उनको पितृपदपर प्रतिष्ठित किया।

पितामहपिता चैव अहमेवात्र कारणम् ।
इत्येतदुक्त्वा वचनं देवदेवो वृषाकपिः ॥ २३ ॥
वराहपर्वते विप्र दत्त्वा पिण्डान् सविस्तरान् ।
आत्मानं पूजयित्वैव तत्रैवादर्शनं गतः ॥ २४ ॥

पितामहका पिता—परदादा भी मैं ही हूँ। मैं ही इस जगत्का कारण हूँ। विप्रवर! ऐसी बात कहकर देवाधिदेव भगवान् वराहने वराहपर्वतपर विस्तारपूर्वक पिण्डदान दे पितरोंके रूपमें अपने आपका ही पूजन करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३-२४ ॥

एषा तस्य स्थितिर्विप्र पितरः पिण्डसंज्ञिताः ।
लभन्ते सततं पूजां वृषाकपिवचो यथा ॥ २५ ॥

ब्रह्मन्! यह भगवान्की ही नियत की हुई मर्यादा है। इस प्रकार पितरोंको पिण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है। भगवान् वराहके कथनानुसार वे पितर सदा सबके द्वारा पूजा प्राप्त करते हैं॥२५॥

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा ॥ २६ ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।
अन्तर्गतः स भगवान् सर्वसत्त्वशरीरगः ॥ २७ ॥

जो देवता, पितर, गुरु, अतिथि, गौ, श्रेष्ठ ब्राह्मण, पृथ्वी और माताकी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा पूजा करते हैं, वे वास्तवमें भगवान् विष्णुकी ही आराधना करते हैं; क्योंकि भगवान् विष्णु समस्त प्राणियोंके शरीरमें अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः ।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः ॥ २८ ॥

सुख और दुःखके स्वामी श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं। श्रीनारायण महान् महात्मा एवं सर्वात्मा हैं; ऐसा श्रुतिमें कहा गया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३४५॥

षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारायणकी महिमासम्बन्धी उपाख्यानका उपसंहार

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं नरनारायणेरितम् ।
अत्यन्तं भक्तिमान् देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नर-नारायणका वह कथन सुनकर भगवान्के प्रति नारदजीकी भक्ति बहुत बढ़ गयी। वे उनके अनन्य भक्त हो गये ॥ १ ॥

प्रोष्य वर्षसहस्रं तु नरनारायणाश्रमे ।
श्रुत्वा भगवदाख्यानं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ २ ॥
हिमवन्तं जगामाशु यत्रास्य स्वक आश्रमः ।

नर-नारायणके आश्रममें भगवान्की कथा सुनते और प्रतिदिन अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करते हुए जब नारदजीके एक हजार दिव्य वर्ष पूरे हो गये, तब वे शीघ्र ही हिमालयपर्वतके उस भागमें चले गये, जहाँ उनका अपना आश्रम था ॥ २½ ॥

तावपि ख्याततपसौ नरनारायणावृषी ॥ ३ ॥
तस्मिन्नेवाश्रमे रम्ये तेपतुस्तप उत्तमम् ।

तत्पश्चात् वे विख्यात तपस्वी नर-नारायण ऋषि भी पुनः उसी रमणीय आश्रममें रहते हुए उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ३½ ॥

त्वमप्यमितविक्रान्तः पाण्डवानां कुलोद्वहः ॥ ४ ॥
पावितात्माद्य संवृत्तः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।

जनमेजय! तुम पाण्डवोंके कुलभूषण और अत्यन्त पराक्रमी हो। तुम भी प्रारम्भसे ही इस कथाको सुनकर आज परम पवित्र हो गये हो ॥ ४½ ॥

नैव तस्यापरो लोको नायं पार्थिवसत्तम ॥ ५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम् ।

नृपश्रेष्ठ! जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा अविनाशी भगवान् विष्णुके साथ द्वेष रखता है, उसका न इस लोकमें ठिकाना है और न परलोकमें ॥ ५½ ॥

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥
यो द्विष्याद् विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

जो देवश्रेष्ठ भगवान् नारायण हरिसे द्वेष करता है, उसके पितर सदाके लिये नरकमें डूब जाते हैं ॥ ६½ ॥

कथं नाम भवेद् द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् ॥ ७ ॥
आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति स्थितिः ।

पुरुषसिंह! भगवान् विष्णुको सबका आत्मा जानना चाहिये। यही वास्तविक स्थिति है। कोई भी मनुष्य भला अपने आत्माके साथ द्वेष कैसे कर सकता है? ॥ ७½ ॥

य एष गुरुरस्माकमृषिर्गन्धवतीसुतः ॥ ८ ॥
तेनैतत् कथितं तात माहात्म्यं परमव्ययम् ।
तस्माच्छ्रुतं मया चेदं कथितं च तवानघ ॥ ९ ॥

तात ! ये जो हमलोगोंके गुरु गन्धवतीपुत्र महर्षि व्यास बैठे हैं, इन्होंने ही भगवान्के परम उत्तम अविनाशी माहात्म्यका वर्णन किया है । निष्पाप ! उन्हींसे मैंने यह सब सुना है और मेरेद्वारा तुमको भी कहा गया है ॥ ८-९ ॥

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ १० ॥

नरेश्वर ! देवर्षि नारदने तो रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे ही प्राप्त किया था ॥ १० ॥

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह महान् धर्म मैंने तुम्हें पहले हरिगीतामें संक्षेपसे बताया है ॥ ११ ॥

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि ।
को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत् ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! तुम कृष्णद्वैपायन व्यासको इस भूतलपर नारायणका ही स्वरूप समझो । भला, भगवान्के सिवा दूसरा कौन महाभारतका कर्ता हो सकता है ? ॥ १२ ॥

धर्मान् नानाविधांश्चैव को ब्रूयात् तमृते प्रभुम् ॥ १३ ॥
वर्ततां ते महायज्ञो यथा संकल्पितस्त्वया ।
संकल्पिताश्वमेधस्त्वं श्रुतधर्मश्च तत्त्वतः ॥ १४ ॥

भगवान्के सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो नाना प्रकारके धर्मोंका वर्णन कर सके ? तुम्हारा यह महान् यज्ञ, जैसा कि तुमने संकल्प कर रक्खा है, निरन्तर चालू रहे । तुमने अश्वमेध-यज्ञ करनेका संकल्प लिया है और सब धर्मोंका यथार्थरूपसे श्रवण किया है ॥ १३-१४ ॥

सौतिरुवाच

एतत् तु महदाख्यानं श्रुत्वा पार्थिवसत्तमः ।
ततो यज्ञसमाप्त्यर्थं क्रियाः सर्वाः समारभत् ॥ १५ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—शौनक ! वैशम्पायनजीके मुखसे यह महान् उपाख्यान सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने अपने यज्ञको पूर्ण करनेका सारा कार्य आरम्भ किया ॥ १५ ॥

नारायणीयमाख्यानमेतत् ते कथितं मया ।
पृष्टेन शौनकाद्येह नैमिषारण्यवासिषु ॥ १६ ॥

शौनक ! आज तुम्हारे प्रश्नके अनुसार इन नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंके समीप मैंने यहाँ यह नारायणका माहात्म्यसम्बन्धी उपाख्यान तुम्हें सुनाया है ॥ १६ ॥

नारदेन पुरा राजन् गुरवे मे निवेदितम् ।
ऋषीणां पाण्डवानां च शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ १७ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें नारदजीने ऋषियों, पाण्डवों, श्रीकृष्ण तथा भीष्मके सुनते हुए यह प्रसङ्ग मेरे गुरु व्यासजीको बताया था ॥ १७ ॥

स हि परमगुरुर्जनभुवनपतिः
पृथुधरणिधरः श्रुतिविनयनिधिः ।
शमनियमनिधिर्द्विजपरमहित-
स्तव भवतु गतिर्हरिरमरहितः ॥ १८ ॥

वे परम गुरु, जनपति, भुवनपति, विशाल पृथ्वीको धारण करनेवाले, वेदज्ञान और विनयके भण्डार, शम और नियमकी निधि, ब्राह्मणोंके परम हितैषी तथा देवताओंके हितचिन्तक श्रीहरि तुम्हारे आश्रय हों ॥ १८ ॥

असुरवधकरस्तपसां निधिः
सुमहतां यशसां च भाजनम् ।
मधुकैटभहा कृतधर्मविदां गतिदो-
ऽभयदो मखभागहरोऽस्तु शरणं स ते १९

असुरोंका वध करनेवाले, तपस्याकी निधि, विशाल यशके भाजन, मधु और कैटभके हन्ता, सत्ययुगके धर्मोंका ज्ञान रखकर उनका पालन करनेवालोंको सद्गति प्रदान करनेवाले, अभयदाता तथा यज्ञका भाग ग्रहण करनेवाले भगवान् नारायण तुम्हें शरण दें ॥ १९ ॥

त्रिगुणो विगुणश्चतुरात्मधरः
पूर्तेष्टयोश्च फलभागहरः ।
विदधातु नित्यमजितोऽतिचलो
गतिमात्मगां सुकृतिनामृषीणाम् ॥ २० ॥

जो तीनों गुणोंसे विशिष्ट होते हुए भी निर्गुण हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार विग्रहोंको धारण करनेवाले हैं, इष्ट (यज्ञ-याग आदि), आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग-निर्माण आदि) के फलभागको ग्रहण करनेवाले हैं, जो कभी किसीसे पराजित नहीं होते तथा धैर्य या मर्यादासे विचलित नहीं होते, वे भगवान् श्रीहरि पुण्यात्मा ऋषियोंको आत्मज्ञानजन्य सद्गति प्रदान करें ॥ २० ॥

तं लोकसाक्षिणमजं पुरुषं पुराणं
रविवर्णमीश्वरं गतिं बहुशः ।
प्रणमध्वमेकमनसो यतः
सलिलोद्भवोऽपि तमृषिं प्रणतः ॥ २१ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी, अजन्मा, अन्तर्यामी, पुराणपुरुष, सूर्यके समान तेजस्वी, ईश्वर और सब प्रकारसे सबकी गति हैं, उन परमेश्वरको तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करो; क्योंकि उन वासुदेवस्वरूप नारायण ऋषिको शेषशायी भी प्रणाम करते हैं ॥ २१ ॥

स हि लोकयोनिरमृतस्य पदं
सूक्ष्मं परायणमचलं हि पदम् ।

तत्सांख्ययोगिभिरुदार वृतं
बुद्ध्या यतात्मभिरिदं सनातनम् ॥ २२॥

वे इस जगत्के आदिकारण, अमृतपद (मोक्षके आश्रय), सूक्ष्मस्वरूप, दूसरोंको शरण देनेवाले, अविचल और सनातन पद हैं। उदार शौनक ! अपने मनको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगी बुद्धिके द्वारा उन्हींका वरण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

हयग्रीव-अवतारकी कथा, वेदोंका उद्धार, मधुकैटभका वध तथा नारायणकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः।
जन्म धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकम् ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! हमलोगोंने षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न उन परमात्मा श्रीहरिका माहात्म्य सुना और धर्मके घरमें उन्होंने ही नर-नारायणरूपसे जन्म ग्रहण किया था, इस बातको भी जान लिया ॥ १ ॥

महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥
तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयानघ।

निष्पाप सूतपुत्र ! भगवान् महावराहने जो प्राचीन कालमें पिण्डोंकी उत्पत्ति करके पिण्डदानकी मर्यादा चलायी तथा प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें जिस विधिकी जैसी कल्पना की, वह सब आपके मुखसे हमलोगोंने सुना ॥ २½ ॥

हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥
यच्च तत् कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत्।
तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

समुद्रके उत्तर पूर्वभागमें हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करनेवाले भगवान् विष्णुने महान् हयग्रीवावतार धारण किया था, यह बात आपने पहले मुझसे कही थी। साथ ही यह भी बतायी थी कि भगवान् परमेष्ठी ब्रह्माने उस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन किया था ॥ ३-४ ॥

किं तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा।
रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥

महान् बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र ! सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले श्रीहरिने पूर्वकालमें वह अद्भुत प्रभावशाली रूप क्यों प्रकट किया ? उनका वैसा रूप तो पहले कभी देखनेमें नहीं आया था ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वममितौजसम्।
तदश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ ६ ॥

मुने ! अमित बलशाली एवं अपूर्वरूपधारी उन पुण्यात्मा सुरश्रेष्ठ हयग्रीवका दर्शन करके ब्रह्माजीने क्या किया ? ॥ ६ ॥

एतन्नः संशयं ब्रह्मन् पुराणं ज्ञानसम्भवम्।
कथयस्वोत्तममते महापुरुषनिर्मितम् ॥ ७ ॥
पाविताः स्म त्वया ब्रह्मन् पुण्यां कथयता कथाम्।

सूतनन्दन ! आपकी बुद्धि बड़ी उत्तम है। महापुरुष भगवान्के अवतारसम्बन्धी इस पुरातन ज्ञानके विषयमें हमलोगोंको संशय हो रहा है। आप इसका समाधान कीजिये। आपने यह पुण्यमयी कथा कहकर हमलोगोंको पवित्र कर दिया है ॥ ७½ ॥

सौतिरुवाच

कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसम्मितम् ॥ ८ ॥
जगौ यद् भगवान् व्यासो राज्ञः पारिक्षितस्य वै।

सूतपुत्रने कहा—शौनकजी ! मैं तुमसे वेदतुल्य प्रमाणभूत सारा पुरातन वृत्तान्त कहूँगा, जिसे भगवान् व्यासने* राजा जनमेजयको सुनाया था ॥ ८½ ॥

श्रुत्वाश्वशिरसो मूर्तिं देवस्य हरिमेधसः ॥ ९ ॥
उत्पन्नसंशयो राजा एतदेवमचोदयत्।

भगवान् विष्णुके हयग्रीवावतारकी चर्चा सुनकर तुम्हारी ही तरह राजा जनमेजयको भी संदेह हो गया था। तब उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ९½ ॥

जनमेजय उवाच

यत्तद् दर्शितवान् ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् ॥ १० ॥
किमर्थं तत् समभवत् तन्ममाचक्ष्व सत्तम।

जनमेजय बोले—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मुने ! ब्रह्माजीने भगवान्के जिस हयग्रीवावतारका दर्शन किया था, उसका प्रादुर्भाव किसलिये हुआ था ? यह मुझे बताइये ॥ १०½ ॥

* वैशम्पायनजीने जनमेजयको महाभारतकी कथा वेदव्यासजीकी आज्ञासे सुनायी थी इस कारण यहाँ ऐसा लिखा है।

वैशम्पायन उवाच

यत् किंचिदिह लोके वै देहसत्त्वं विशाम्पते ॥ ११ ॥
सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिभिः ।

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ ! इस जगत्‌में जितने प्राणी हैं, वे सब ईश्वरके संकल्पसे उत्पन्न हुए पाँच महाभूतोंसे युक्त हैं ॥ ११½ ॥

ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ॥ १२ ॥
भूतान्तरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च ।

विराट्स्वरूप भगवान् नारायण इस जगत्‌के ईश्वर और स्रष्टा हैं, वे ही सब जीवोंके अन्तरात्मा, वरदाता, सगुण और निर्गुणरूप हैं ॥ १२½ ॥

भूतप्रलयमत्यन्तं शृणुष्व नृपसत्तम ॥ १३ ॥
धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा ।
ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले ॥ १४ ॥
वायौ चाकाशसंलीने आकाशे च मनोऽनुगे ।
व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ॥ १५ ॥
अव्यक्ते पुरुषं याते पुंसि सर्वगतेऽपि च ।
तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब तुम पञ्चभूतोंके आत्यन्तिक प्रलयकी बात सुनो । पूर्वकालमें जब इस पृथ्वीका एकार्णवके जलमें लय हो गया । जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका मनमें, मनका व्यक्त (महत्तत्व) में, व्यक्तका अव्यक्त प्रकृतिमें, अव्यक्तका पुरुषमें अर्थात् मायाविशिष्ट ईश्वरमें और पुरुषका सर्वव्यापी परमात्मामें लय हो गया, उस समय सब ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया । उसके सिवा और कुछ भी जान नहीं पड़ता था ॥ १३—१६ ॥

तमसो ब्रह्म सम्भूतं तमोमूलामृतात्मकम् ।
तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ॥ १७ ॥

तमसे जगत्‌का कारणभूत ब्रह्म (परम व्योम) प्रकट हुआ है । तमका मूल है अधिष्ठानभूत अमृततत्त्व । वह मूलभूत अमृत ही तमसे युक्त हो सभी नाम-रूपमें प्रपञ्चको प्रकट करता है और विराट् शरीरका आश्रय लेकर रहता है ॥ १७ ॥

सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उसीको अनिरुद्ध कहा गया है । उसीको प्रधान भी कहते हैं तथा उसीको त्रिगुणमय अव्यक्त जानना चाहिये ॥

विद्यासहायवान् देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः ।
अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥

उस अवस्थामें विद्याशक्तिसे सम्पन्न सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिने योगनिद्राका आश्रय लेकर जलमें शयन किया ॥१९॥

जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् ।
तस्य चिन्तयतः सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥ २० ॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा स तु चतुर्मुखः ।
हिरण्यगर्भो भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥

उस समय वे नाना गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली जगत्‌की अद्भुत सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे । सृष्टिके विषयमें विचार करते हुए उन्हें अपने गुण महान् (महत्तत्त्व) का स्मरण हो आया । उससे अहङ्कार प्रकट हुआ । वह अहङ्कार ही चार मुखोंवाले ब्रह्माजी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके पितामह और भगवान् हिरण्यगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ २०-२१ ॥

पद्मेऽनिरुद्धात् सम्भूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः ।
सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टः सनातनः ॥ २२ ॥
ददृशेऽद्भुतसंकाशो लोकानापोमयान् प्रभुः ।
सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान् सृजन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माण्डमें कमलमें अनिरुद्ध (अहङ्कार) से कमलनयन ब्रह्माका उस समय प्रादुर्भाव हुआ था । वे अद्भुत रूपधारी एवं तेजस्वी सनातन भगवान् ब्रह्मा सहस्रदल कमलपर विराजमान हो जब इधर-उधर दृष्टि डालने लगे, तब उन्हें समस्त जगत् जलमय दिखायी दिया । तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणमें स्थित होकर प्राणियोंकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुए ॥ २२-२३ ॥

पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशुसप्रभे ।
नारायणकृतौ विन्दू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥ २४ ॥

वे जिस कमलपर बैठे थे, उसका पत्ता सूर्यके समान देदीप्यमान होता था । उसपर पहलेसे ही भगवान् नारायणकी प्रेरणासे जलकी दो बूँदें पड़ी थीं, जो रजोगुण और तमोगुणकी प्रतीक थीं ॥ २४ ॥

तावपश्यत् स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः ।
एकस्तत्राभवद् विन्दुर्मध्वाभो रुचिरप्रभः ॥ २५ ॥
स तामसो मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया ।
कठिनस्त्वपरो विन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥

आदि-अन्तसे रहित भगवान् अच्युतने उन दोनों बूँदोंकी ओर देखा । उनमेंसे एक बूँद भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही उनकी प्रेरणासे तमोमय मधुनामक दैत्यके आकारमें परिणत हो गयी । उस दैत्यका रंग मधुके समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी । जलकी दूसरी बूँद, जो कुछ कड़ी थी, नारायणकी आज्ञासे रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामक दैत्यके रूपमें प्रकट हुई ॥ २५-२६ ॥

तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ तमसा रजसान्वितौ ।
बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥ २७ ॥

तमोगुण और रजोगुणसे युक्त वे दोनों श्रेष्ठ दैत्य मधु और कैटभ बड़े बलवान् थे । वे अपने हाथोंमें गदा

लिये कमलनालका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ने लगे ॥

ददृशातेऽरविन्दस्थं ब्रह्माणममितप्रभम् ।
सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने कमल-पुष्पके आसनपर बैठकर सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त हुए अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको देखा एवं उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदोंको देखा ॥ २८ ॥

ततो विग्रहवन्तौ तौ वेदान् दृष्ट्वासुरोत्तमौ ।
सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ॥

उन विशालकाय श्रेष्ठ असुरोंने उस समय वेदोंपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें ब्रह्माजीके देखते-देखते सहसा हर लिया ॥

अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान् गृह्य सनातनान् ।
रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥

सनातन वेदोंका अपहरण करके वे दोनों श्रेष्ठ दानव उत्तर-पूर्ववर्ती महासागरमें घुस गये और तुरंत रसातलमें जा पहुँचे ॥ ३० ॥

ततो हृतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् ।
ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विनाकृतः ॥ ३१ ॥

वेदोंका अपहरण हो जानेपर ब्रह्माजीको बड़ा खेद हुआ । उनपर मोह छा गया । वे वेदोंसे वञ्चित होकर मन-ही-मन परमात्मासे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मा बोले—भगवन् ! वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरे परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं ॥ ३२ ॥

मम वेदा हृताः सर्वे दानवाभ्यां बलादितः ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृताः ॥ ३३ ॥

मेरे वे सभी वेद आज दो दानवोंने बलपूर्वक यहाँसे छीन लिये हैं। अब वेदोंके बिना मेरे लिये सम्पूर्ण लोक अन्धकारमय हो गये हैं ॥ ३३ ॥

वेदानृते हि कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् ।
अहो बत महद् दुःखं वेदनाशनजं मम ॥ ३४ ॥
प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रं शोकपरायणम् ।
को हि शोकार्णवे मग्नं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान् कस्य चाहं प्रियो भवे ।

मैं वेदोंके बिना संसारकी उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ ? अहो ! आज वेदोंके नष्ट होनेसे मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा है, जो मेरे शोकमग्न हृदयको दुःसह पीड़ा दे रहा है। आज शोकके समुद्रमें डूबे हुए मुझ असहायका यहाँसे कौन उद्धार करेगा ? उन नष्ट हुए वेदोंको कौन लायेगा ? मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा ?

इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥
हरेः स्तोत्रार्थमुद्भूता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
ततो जगौ परं जप्यं साञ्जलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसी बातें कहते हुए ब्रह्माजीके मनमें भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करनेका विचार उत्पन्न हुआ । बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य नरेश ! तब भगवान् ब्रह्माने हाथ जोड़कर उत्तम एवं जपने योग्य स्तोत्रका गान आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज ।
लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ सांख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! वेद आपका हृदय है, आपको नमस्कार है । मेरे पूर्वज ! आपको प्रणाम है । जगत्के आदि कारण ! भुवनश्रेष्ठ ! सांख्ययोगनिधे ! प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ३८ ॥

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पन्थानमास्थित ।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः ॥ ३९ ॥

व्यक्त जगत् और अव्यक्त प्रकृतिको उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है । आप कल्याणमय मार्गमें स्थित हैं । विश्वपालक ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, किसी योनिसे उत्पन्न न होनेवाले, जगत्के आधार और स्वयम्भू हैं । मैं आपकी कृपासे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम् ॥ ४० ॥

आपसे मेरा प्रथम बार जो जन्म हुआ था, वह द्विजों-द्वारा सम्मानित मानस जन्म कहा गया है अर्थात् प्रथम बार मैं आपके मनसे उत्पन्न हुआ । तदनन्तर पूर्वकालमें मैं आपके नेत्रसे उत्पन्न हुआ । वह मेरा दूसरा जन्म था ॥

त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् ।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् आपके कृपाप्रसादसे मेरा जो तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, वह वाचिक था अर्थात् आपके वचनमात्रसे सुलभ हो गया था । विभो ! उसके बाद आपके कानोंसे मेरा चतुर्थ जन्म हुआ था ॥ ४१ ॥

नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते ।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम् ॥ ४२ ॥

भगवान् हयग्रीव वेदोंको रसातलसे लाकर ब्रह्माजीको लौटा रहे हैं

उसके बाद आपकी नासिकासे मेरा पाँचवाँ उत्तम जन्म बताया जाता है। तदनन्तर मैं आपके द्वारा ब्रह्माण्डसे उत्पन्न किया गया। वह मेरा छठा जन्म था॥ ४२॥

इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित॥ ४३॥

प्रभो! यह मेरा सातवाँ जन्म है, जो कमलसे उत्पन्न हुआ है। त्रिगुणातीत परमेश्वर! मैं प्रत्येक कल्पमें आपका पुत्र होकर प्रकट होता हूँ॥ ४३॥

प्रथितः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः।
त्वमीश्वरः स्वभावश्च स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः॥ ४४॥

कमलनयन! आपका पुत्र मैं शुद्ध सत्त्वमय शरीरसे उत्पन्न हुआ हूँ। आप ईश्वर, स्वभाव, स्वयम्भू एवं पुरुषोत्तम हैं॥ ४४॥

त्वया विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः।
ते मे वेदा हृताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि॥ ४५॥
ददस्व चक्षूंषि मम प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे।

आपने मुझे वेदरूपी नेत्रोंसे युक्त बनाया है। आपकी ही कृपासे कालातीत हूँ—मुझपर कालका जोर नहीं चलता। मेरे नेत्ररूप वे वेद दानवोंद्वारा हर लिये गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो! निद्रा त्यागकर जागिये। मुझे मेरे नेत्र वापस दीजिये; क्योंकि मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं॥ ४५½॥

एवं स्तुतः स भगवान् पुरुषः सर्वतोमुखः॥ ४६॥
जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः।

ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर सब ओर मुखवाले सबके अन्तर्यामी आत्मा भगवान्‌ने उसी क्षण निद्रा त्याग दी और वे वेदोंकी रक्षा करनेके लिये उद्यत हो गये॥ ४६½॥

ऐश्वर्येण प्रयोगेण द्वितीयां तनुमास्थितः॥ ४७॥
सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा।
कृत्वा हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः॥ ४८॥

उन्होंने अपने ऐश्वर्यके योगसे दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था। सुन्दर नासिकावाले शरीरसे युक्त हो वे प्रभु घोड़ेके समान गर्दन और मुख धारण करके स्थित हुए। उनका वह शुद्ध मुख सम्पूर्ण वेदोंका आलय था॥ ४७-४८॥

तस्य मूर्धा समभवद् द्यौः सनक्षत्रतारका।
केशाश्चास्याभवन् दीर्घा रवेरंशुसमप्रभाः॥ ४९॥

नक्षत्रों और ताराओंसे युक्त स्वर्गलोक उनका सिर था। सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बड़े-बड़े बाल थे॥ ४९॥

कर्णावाकाशपाताले ललाटं भूतधारिणी।
गङ्गा सरस्वती श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधी॥ ५०॥

आकाश और पाताल उनके कान थे एवं समस्त भूतोंको धारण करनेवाली पृथ्वी ललाट थी। गङ्गा और सरस्वती उनके नितम्ब तथा दो समुद्र उनकी दोनों भौंहें थे॥ ५०॥

चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा संध्या पुनः स्मृता।
ॐकारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता॥ ५१॥

चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों नेत्र तथा नासिका संध्या थी। ॐकार संस्कार (आभूषण) और विद्युत् जिह्वा बनी हुई थी॥ ५१॥

दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुताः।
गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः॥ ५२॥

राजन्! सोमपान करनेवाले पितर उनके दाँत सुने गये हैं तथा गोलोक और ब्रह्मलोक उन महात्माके ओष्ठ थे॥

ग्रीवा चास्याभवद् राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा।
एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम्॥ ५३॥
अन्तर्दधौ स विश्वेशो विवेश च रसां प्रभुः।

नरेश्वर! तमोमयी कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी। इस प्रकार अनेक मूर्तियोंसे आवृत हयग्रीव रूप धारण करके वे जगदीश्वर श्रीहरि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और रसातलमें जा पहुँचे॥ ५३½॥

रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः॥ ५४॥
शैक्ष्यं स्वरं समास्थाय उद्गीतं प्रासृजत् स्वरम्।

रसातलमें प्रवेश करके परम योगका आश्रय ले शिक्षाके नियमानुसार उदात्त आदि स्वरोंसे युक्त उच्च स्वरसे सामवेदका गान करने लगे॥ ५४½॥

स स्वरः सानुनादी च सर्वशः स्निग्ध एव च॥ ५५॥
बभूवान्तर्महीभूतः सर्वभूतगुणोदितः।

नाद और स्वरसे विशिष्ट सामगानकी वह सर्वथा स्निग्ध एवं मधुर ध्वनि रसातलमें सब ओर फैल गयी, जो समस्त प्राणियोंके लिये गुणकारक थी॥ ५५½॥

ततस्तावसुरौ कृत्वा वेदान् समयबन्धनान्॥ ५६॥
रसातले विनिक्षिप्य यतः शब्दस्ततो द्रुतौ।

उन दोनों असुरोंने वह शब्द सुनकर वेदोंको कालपाशसे आबद्ध करके रसातलमें फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधरसे वह ध्वनि आ रही थी॥ ५६½॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः॥ ५७॥
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः।
प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः॥ ५८॥

राजन्! इसी बीचमें हयग्रीव रूपधारी भगवान् श्रीहरिने रसातलमें पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदोंको ले लिया तथा

ब्रह्माजीको पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूपमें आ गये ॥ ५७-५८ ॥

स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ ।
वेदानामालयं चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ॥ ५९ ॥

भगवान्‌ने महासागरके पूर्वोत्तरभागमें वेदोंके आश्रयभूत अपने हयग्रीव रूपकी स्थापना करके पुनः पूर्वरूप धारण कर लिया । तबसे भगवान् हयग्रीव वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

अथ किंचिदपश्यन्तौ दानवौ मधुकैटभौ ।
पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतां च तौ ॥ ६० ॥
यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत् स्थानं शून्यमेव च ।

इधर वेदध्वनिके स्थानपर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवोंने जब कुछ नहीं देखा, तब वे बड़े वेगसे फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदोंको नीचे डाल रखा था । वहाँ देखनेपर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया ॥ ६०½ ॥

तत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ ॥ ६१ ॥
पुनरुत्तस्थतुः शीघ्रं रसानामालयात् तदा ।
ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६२ ॥
श्वेतं चन्द्रविशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
भूयोऽप्यमितविक्रान्तं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६३ ॥

तब वे बलवानोंमें श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय ले रसातलसे शीघ्र ही ऊपर उठे और ऊपर आकर देखते हैं तो वे ही आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम दृष्टिगोचर हुए । जो चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल प्रभासे विभूषित, गौरवर्णके थे । वे उस समय अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित थे और वे अमित पराक्रमी भगवान् योगनिद्राका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ ६१–६३ ॥

आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते ।
शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६४ ॥
निष्कल्मषेण सत्त्वेन सम्पन्नं रुचिरप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दानवेन्द्रौ तौ महाहासममुञ्चताम् ॥ ६५ ॥

पानीके ऊपर शेषनागके शरीरकी शय्या निर्मित हुई थी, जिसकी लम्बाई भगवान्‌के श्रीविग्रहके अनुरूप ही थी । वह शय्या ज्वालामालाओंसे आवृत जान पड़ती थी । उसके ऊपर विशुद्ध सत्त्वगुणसे सम्पन्न मनोहर कान्तिवाले भगवान् नारायण सो रहे थे । उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ ।
अयं स पुरुषः श्वेतः शेते निद्रामुपागतः ॥ ६६ ॥
अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात् ।
कस्यैष को नु खल्वेष किं च स्वपिति भोगवान् ॥ ६७ ॥

रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हुए वे दोनों असुर परस्पर कहने लगे, 'यह जो श्वेतवर्णवाला पुरुष निद्रामें निमग्न होकर सो रहा है, निश्चय ही इसीने रसातलसे वेदोंका अपहरण किया है । यह किसका पुत्र है ? कौन है ? और क्यों यहाँ सर्पके शरीरकी शय्यापर सो रहा है ?' ॥ ६६-६७ ॥

इत्युच्चारितवाक्यौ तौ बोधयामासतुर्हरिम् ।
युद्धार्थिनौ हि विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ ६८ ॥
निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे ।

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनोंने भगवान्‌को जगाया । उन्हें युद्धके लिये उत्सुक जान भगवान् पुरुषोत्तम जाग उठे । फिर उन दोनों असुरेन्द्रोंका अच्छी तरह निरीक्षण करके उन्होंने मन-ही-मन उनके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया ॥ ६८½ ॥

अथ युद्धं समभवत् तयोर्नारायणस्य वै ॥ ६९ ॥
रजस्तमोविष्टतनू तावुभौ मधुकैटभौ ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान मधुसूदनः ॥ ७० ॥

फिर तो उन दोनों असुरोंका और भगवान् नारायणका युद्ध आरम्भ हो गया । भगवान् मधुसूदनने ब्रह्माजीका मान रखनेके लिये तमोगुण और रजोगुणसे आविष्ट शरीरवाले उन दोनों दैत्यों—मधु और कैटभको मार डाला ॥ ६९-७० ॥

ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च ।
शोकापनयनं चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार वेदोंको वापस लाकर और मधु-कैटभका वध करके भगवान् पुरुषोत्तमने ब्रह्माजीका शोक दूर कर दिया ॥

ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः।
निर्ममे स तदा लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ७२॥

तत्पश्चात् वेदसे सम्मानित और भगवान्‌से सुरक्षित होकर ब्रह्माजीने समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि की ॥ ७२ ॥

दत्त्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम्।
तत्रैवान्तर्दधे देवो यत एवागतो हरिः॥ ७३॥

ब्रह्माजीको लोक-रचनाकी श्रेष्ठ बुद्धि देकर भगवान् नारायणदेव वहीं अन्तर्धान हो गये। वे जहाँसे आये थे, वहीं चले गये ॥ ७३ ॥

तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम्।
पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ ७४ ॥

श्रीहरिने इस प्रकार हयग्रीवरूप धारण करके उन दोनों दानवोंका वध किया था। उन्होंने पुनः प्रवृत्तिधर्मका प्रचार करनेके लिये ही उस शरीरको प्रकट किया था ॥ ७४ ॥

एवमेव महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः।
पौराणमेतत् प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७५ ॥

इस तरह महाभाग श्रीहरिने हयग्रीवरूप धारण किया था। भगवान्‌का यह वरदायक रूप पुरातन एवं पुराण-प्रसिद्ध है॥

यो ह्येतद् ब्राह्मणो नित्यं शृणुयाद् धारयीत वा।
न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत् कदाचन ॥ ७६ ॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन इस अवतार-कथाको सुनता या स्मरण करता है, उसका अध्ययन कभी नष्ट (निष्फल) नहीं होता है ॥ ७६ ॥

आराध्य तपसोग्रेण देवं हयशिरोधरम्।
पञ्चालेन क्रमः प्राप्तो देवेन पथि देशिते ॥ ७७ ॥

महादेवजीके बताये हुए मार्गपर चलकर उग्र तपस्याद्वारा भगवान् हयग्रीवकी आराधना करके पाञ्चालदेशीय गालवमुनिने वेदोंका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥

एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम्।
पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥७८ ॥

राजन्! तुमने जिसके लिये मुझसे पूछा था, यह हयग्रीवावतारकी वेदानुमोदित प्राचीन कथा मैंने तुम्हें सुना दी॥

यां यामिच्छेत् तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित्।
तां तां कुर्याद् विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७९॥

परमात्मा कार्यसाधनके लिये जिस-जिस शरीरको धारण करना चाहते हैं, उसे कार्य करते समय स्वयं ही प्रकट कर लेते हैं ॥ ७९ ॥

एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसो निधिः।
एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हविर्विभुः ॥ ८० ॥

ये श्रीमान् हरि वेद और तपस्याकी निधि हैं। ये ही योग, सांख्य, ब्रह्म, श्रेष्ठ हविष्य और विभु हैं ॥ ८० ॥

नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः।
तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८१ ॥

वेदोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है। यज्ञ नारायणके ही स्वरूप हैं। तपस्याके परम फल भगवान् नारायण ही हैं तथा नारायणकी प्राप्ति ही सर्वोत्तम गति है ॥ ८१ ॥

नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम्।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ ८२ ॥

सत्यके परम लक्ष्य नारायण ही हैं। ऋत नारायणका ही स्वरूप है। जिसके आचरणसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती, उस निवृत्तिप्रधान धर्मके भी चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं ॥ ८२ ॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः।
नारायणात्मको गन्धो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ ८३ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्म भी नारायणका ही स्वरूप है। भूमिका श्रेष्ठतम गुण गन्ध भी नारायणमय ही है ॥ ८३ ॥

अपां चापि गुणा राजन् रसा नारायणात्मकाः।
ज्योतिषां च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम् ॥ ८४ ॥

राजन्! जलका गुण रस भी नारायणका ही स्वरूप है। तेजका उत्तम गुण रूप भी नारायणमय ही है ॥ ८४ ॥

नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणः स्मृतः।
नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसम्भवः ॥ ८५ ॥

वायुका गुण स्पर्श भी नारायणस्वरूप ही है तथा आकाशका गुण शब्द भी नारायणमय ही है ॥ ८५ ॥

मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम्।
नारायणपरः कालो ज्योतिषामयनं च यत् ॥ ८६ ॥

अव्यक्त गुण एवं लक्षणवाला मन नामक भूत, काल और नक्षत्रमण्डल--ये सब नारायणके ही आश्रित हैं ॥ ८६ ॥

नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः।
नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः ॥ ८७ ॥

कीर्ति, श्री और लक्ष्मी आदि देवियाँ नारायणको ही अपना परम आश्रय मानती हैं। सांख्यका परम तात्पर्य भी नारायण ही हैं और योग भी नारायणका ही स्वरूप है ॥

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम्।
स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम् ॥ ८८ ॥

पुरुष, प्रधान, स्वभाव, कर्म तथा दैव—ये जिन वस्तुओंके कारण हैं, वे भी नारायणरूप ही हैं ॥ ८८ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ८९ ॥
पञ्चकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः।

अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकारके करण, नाना

प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव—इन पाँच कारणोंके रूपमें सर्वत्र श्रीहरि ही विराजमान हैं ॥ ८९½ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ॥ ९० ॥
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ।

जो लोग सर्वव्यापक हेतुओंद्वारा तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिये महायोगी भगवान् नारायण हरि ही एकमात्र ज्ञातव्य तत्त्व हैं ॥ ९०½ ॥

ब्रह्मादीनां स लोकानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ९१ ॥
सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनाम् ।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९२ ॥

भगवान् केशव ब्रह्मा आदि देवताओं, सम्पूर्ण लोकों, महात्मा-ऋषियों, सांख्यवेत्ताओं, योगियों और आत्मज्ञानी यतियोंके मनकी बातें भी जानते हैं; परंतु उनके मनमें क्या है ? यह उनमेंसे किसीको पता नहीं है ॥ ९१-९२ ॥

ये केचित् सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते ।
दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ॥ ९३ ॥
सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९४ ॥

समस्त विश्वमें जो कोई देवताओंके लिये यज्ञ और पितरोंके लिये श्राद्ध करते हैं, दान देते हैं और बड़ी भारी तपस्या करते हैं, उन सबके आश्रय भगवान् विष्णु ही हैं । वे अपने ऐश्वर्ययोगमें स्थित रहते हैं । सम्पूर्ण प्राणियोंके आवासस्थान होनेके कारण वे 'वासुदेव' कहे जाते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अयं हि नित्यः परमो महर्षि-
र्महाविभूतिर्गुणवर्जिताख्यः ।
गुणैश्च संयोगमुपैति शीघ्रं
कालो यथर्तावृतुसम्प्रयुक्तः ॥ ९५ ॥

ये परम महर्षि नारायण नित्य, महान् ऐश्वर्यसे युक्त और गुणोंसे रहित हैं तथापि जैसे गुणहीन काल ऋतुके गुणोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वे भी समय-समयपर गुणोंको स्वीकार करके उनसे संयुक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

नैवास्य विन्दन्ति गतिं महात्मनो
न चागतिं कश्चिदिहानुपश्यति ।
ज्ञानात्मकाः सन्ति हि ये महर्षयः
पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९६ ॥

उन महात्माकी गतिको कोई नहीं जानता । उनके आगमनका भी यहाँ किसीको कुछ पता नहीं चलता । जो ज्ञानस्वरूप महर्षि हैं, वे ही उन नित्य, अन्तर्यामी एवं अनन्तगुणविभूषित परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्वत-धर्मकी उपदेश-परम्परा तथा भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावकी महिमा

जनमेजय उवाच

अहो ह्येकान्तिनः सर्वान् प्रीणाति भगवान् हरिः ।
विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान् स्वयम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले सभी भक्तोंको प्रसन्न करते और उनकी विधिवत् की हुई पूजाको स्वयं ग्रहण करते हैं; यह कितने आनन्दकी बात है ॥ १ ॥

ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां त्वयाभिनिर्दिष्टा पारम्पर्यागता गतिः ॥ २ ॥

संसारमें जिन लोगोंकी वासनाएँ दग्ध हो गयी हैं और जो पुण्य-पापसे रहित हो गये हैं, उन्हें परम्परासे जो गति प्राप्त होती है, उसका भी आपने वर्णन किया है ॥ २ ॥

चतुर्थ्यां चैव ते गत्यां गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥

जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, वे साधुपुरुष अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणकी अपेक्षा न रखकर वासुदेवसंज्ञक चौथी गतिमें पहुँचकर भगवान् पुरुषोत्तम एवं उनके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३ ॥

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।
अगत्वा गतयस्तिस्रो यद् गच्छत्यव्ययं हरिम् ॥ ४ ॥

निश्चय ही यह अनन्यभावसे भगवान्‌का भजनरूप धर्म श्रेष्ठ एवं श्रीनारायणको परम प्रिय है; क्योंकि इसका आश्रय लेनेवाले भक्तजन उक्त तीन गतियोंको प्राप्त न होकर सीधे चौथी गतिमें पहुँचकर अविनाशी श्रीहरिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४ ॥

सहोपनिषदान् वेदान् ये विप्राः सम्यगास्थिताः ।
पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः ॥ ५ ॥

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्।

जो ब्राह्मण उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका भलीभाँति आश्रय ले उनका विधिपूर्वक स्वाध्याय करते हैं तथा जो संन्यास-धर्मका पालन करनेवाले हैं, इन सबसे उत्तम गति उन्हींको प्राप्त होती है, जो भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं॥ ५½ ॥

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा ॥ ६ ॥
एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो।
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

भगवन्! इस भक्तिरूप धर्मका किस देवता अथवा ऋषिने उपदेश किया है? अनन्य भक्तोंकी जीवनचर्या क्या है? और वह कबसे प्रचलित हुई? मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जिस समय कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ युद्धके लिये आमने-सामने डटी हुई थीं और अर्जुन युद्धसे अनमने हो रहे थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने उन्हें गीतामें इस धर्मका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव पूर्वं ते कथिता मया।
गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ९ ॥

मैंने पहले तुमसे गति और अगतिका स्वरूप भी बताया था। यह धर्म गहन तथा अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्गम है ॥ ९ ॥

सम्मितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः।
धार्यते स्वयमीशेन राजन् नारायणेन च ॥ १० ॥

राजन्! यह धर्म सामवेदके समान है। प्राचीनकालके सत्ययुगसे ही यह प्रचलित हुआ है। स्वयं जगदीश्वर भगवान् नारायण ही इस धर्मको धारण करते हैं॥ १० ॥

एतदर्थं महाराज पृष्टः पार्थेन नारदः।
ऋषिमध्ये महाभागः शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः॥ ११ ॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ऋषियोंके बीचमें महाभाग नारदजीसे यही विषय पूछा था। उस समय श्रीकृष्ण और भीष्म भी इस विषयको सुन रहे थे॥ ११ ॥

गुरुणा च मयाप्येष कथितो नृपसत्तम।
यथा तत् कथितं तत्र नारदेन तथा शृणु ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ! मेरे गुरु व्यासजीने और मैंने भी यह विषय कहा था; परंतु वहाँ नारदजीने उस विषयका जैसा वर्णन किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम् ॥ १३ ॥
तेन धर्मेण कृतवान् दैवं पित्र्यं च भारत।
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

भूपाल! सृष्टिके आदिमें जब भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीका मानसिक जन्म हुआ था, उस समय साक्षात् नारायणने उन्हें इस धर्मका उपदेश किया था। भरतनन्दन! नारायणने उस धर्मसे देवताओं और पितरोंका पूजनादि कर्म किया था। फिर फेनप ऋषियोंने उस धर्मको ग्रहण किया ॥ १३-१४ ॥

वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे।
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥ १५ ॥

फेनपोंसे वैखानसोंने उस धर्मको उपलब्ध किया। उनसे सोमने उसे ग्रहण किया। तदनन्तर वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥

यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद् धर्मः परिश्रुतः ॥ १६ ॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्।

नरेश्वर! जब ब्रह्माजीका नेत्रजनित द्वितीय जन्म हुआ, तब उन्होंने सोमसे उस नारायण-स्वरूप धर्मको सुना था। राजन्! ब्रह्माजीने रुद्रको इसका उपदेश दिया ॥ १६½ ॥

ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ॥ १७ ॥
वालखिल्यानृषीन् सर्वान् धर्ममेतदपाठयत्।
अन्तर्दधे ततो भूयस्तस्य देवस्य मायया ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् योगनिष्ठ रुद्रने पूर्वकालके कृतयुगमें सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषियोंको इस धर्मसे अवगत कराया; तदनन्तर भगवान् विष्णुकी मायासे वह धर्म फिर लुप्त हो गया॥ १७-१८॥

तृतीयं ब्रह्मणो जन्म यदासीद् वाचिकं महत्।
तत्रैष धर्मः सम्भूतः स्वयं नारायणान्नृप ॥ १९ ॥

राजन्! जब भगवान्‌की वाणीसे ब्रह्माजीका तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, तब फिर साक्षात् नारायणसे ही यह धर्म प्रकट हुआ ॥ १९ ॥

सुपर्णो नाम तमृषिः प्राप्तवान् पुरुषोत्तमात्।
तपसा वै सुतप्तेन दमेन नियमेन च ॥ २० ॥

सुपर्ण नामक ऋषिने इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहपूर्वक भलीभाँति तपस्या करके भगवान् पुरुषोत्तमसे इस धर्मको प्राप्त किया ॥ २० ॥

त्रिः परिक्रान्तवानेतत् सुपर्णो धर्ममुत्तमम्।
यस्मात् तस्माद् व्रतं ह्येतत् त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥ २१ ॥

सुपर्णने प्रतिदिन इस उत्तम धर्मकी तीन आवृत्ति की थी, इसलिये इस व्रत या धर्मको यहाँ 'त्रिसौपर्ण' कहते हैं ॥ २१ ॥

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम्।
सुपर्णाच्चाप्यधिगतो धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥
वायुना द्विपदां श्रेष्ठ कथितो जगदायुषा।

यह दुष्कर धर्म ऋग्वेदके पाठमें स्पष्टरूपसे पढ़ा गया है। नरश्रेष्ठ! सुपर्णसे उस सनातन धर्मको इस जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुने प्राप्त किया ॥ २२½ ॥

वायोः सकाशात् प्राप्तश्च ऋषिभिर्विघसाशिभिः॥ २३॥
ततो महोदधिश्चैव प्राप्तवान् धर्ममुत्तमम्।
अन्तर्दधे ततो भूयो नारायणसमाहितः॥ २४॥

वायुसे विघसाशी ऋषियोंने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया। उनसे महोदधिको इस उत्तम धर्मकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् यह धर्म फिर लुप्त होकर भगवान् नारायणमें विलीन हो गया ॥ २३-२४ ॥

यदा भूयः श्रवणजा सृष्टिरासीन्महात्मनः।
ब्रह्मणः पुरुषव्याघ्र तत्र कीर्तयतः शृणु॥ २५॥

पुरुषसिंह! जब पुनः भगवान्‌के कानोंसे महात्मा ब्रह्माजीकी चौथी बार उत्पत्ति हुई, तब जिस प्रकार इस धर्मका प्रादुर्भाव हुआ था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

जगत्स्रष्टुमना देवो हरिर्नारायणः स्वयम्।
चिन्तयामास पुरुषं जगत्सर्गकरं प्रभुम्॥ २६॥

साक्षात् भगवान् नारायण हरिने जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छासे एक ऐसे पुरुषका चिन्तन किया, जो संसारकी सृष्टि करनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ २६ ॥

अथ चिन्तयतस्तस्य कर्णाभ्यां पुरुषः स्मृतः।
प्रजासर्गकरो ब्रह्मा तमुवाच जगत्पतिः॥ २७॥
सृज प्रजाः पुत्र सर्वा मुखतः पादतस्तथा।

कहा जाता है, चिन्तन करते समय भगवान्‌के दोनों कानोंसे एक पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। वही प्रजाकी सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा हुआ। जगदीश्वर नारायणने ब्रह्मासे कहा—'बेटा! तुम अपने मुखसे लेकर पैरतकके अङ्गोंसे समस्त प्रजाकी सृष्टि करो ॥ २७½ ॥

श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत॥ २८॥
धर्मं च मत्तो गृह्णीष्व सात्वतं नाम नामतः।
तेन सृष्टं कृतयुगं स्थापयस्व यथाविधि॥ २९॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र! मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा और तुम्हारे भीतर तेज एवं बलकी वृद्धि करता रहूँगा। तुम मुझसे इस सात्वत नामक धर्मको ग्रहण करो और उसके द्वारा विधिपूर्वक सत्ययुगकी सृष्टि करके उसकी स्थापना करो' ॥ २९ ॥

ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे।
धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम्॥ ३०॥
आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम्।

तदनन्तर ब्रह्माने भगवान् श्रीहरिको नमस्कार किया और उन्हीं नारायणदेवके मुखसे प्रकट आरण्यक, रहस्य तथा संग्रहसहित उस श्रेष्ठ धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ३०½ ॥

उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसे॥ ३१॥
त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशीःकर्मसंज्ञितम्।

अमिततेजस्वी ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश देकर उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुम निष्कामभावसे सारे कर्म करते हुए युगधर्मोंके प्रवर्तक बनो' ॥ ३१½ ॥

जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम्॥ ३२॥
ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः।
असृजत् स ततो लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान्॥ ३३॥

यह आदेश देकर वे अज्ञानान्धकारसे परे विराजमान अपने परम अव्यक्त धामको चले गये। तदनन्तर वरदायक देवता लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण चराचर लोकोंकी सृष्टि की॥ ३२-३३॥

ततः प्रावर्तत तदा आदौ कृतयुगं शुभम्।
ततो हि सात्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः॥ ३४॥

फिर तो सृष्टिके आरम्भमें कल्याणकारी कृतयुगकी प्रवृत्ति हुई और तबसे सात्वतधर्म सारे संसारमें व्याप्त हो गया ॥ ३४॥

तेनैवाद्येन धर्मेण ब्रह्मा लोकविसर्गकृत्।
पूजयामास देवेशं हरिं नारायणं प्रभुम्॥ ३५॥

लोकस्रष्टा ब्रह्माने उसी आदिधर्मके द्वारा देवेश्वर भगवान् नारायण हरिकी आराधना की ॥ ३५ ॥

धर्मप्रतिष्ठाहेतोश्च मनुं स्वारोचिषं ततः।
अध्यापयामास तदा लोकानां हितकाम्यया॥ ३६॥

फिर इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन्होंने स्वारोचिषमनुको उस समय इस धर्मका उपदेश किया ॥ ३६ ॥

ततः स्वरोचिषः पुत्रं स्वयं शङ्खपदं नृप।
अध्यापयत् पुराव्यग्रः सर्वलोकपतिर्विभुः॥ ३७॥

नरेश्वर! उन दिनों स्वारोचिष मनु ही सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति एवं प्रभु थे। उन्होंने शान्तभावसे पहले अपने पुत्र शङ्खपदको स्वयं इस धर्मका ज्ञान प्रदान किया ॥ ३७ ॥

ततः शङ्खपदश्चापि पुत्रमात्मजमौरसम्।
दिशां पालं सुवर्णाभमध्यापयत भारत।
सोऽन्तर्दधे ततो भूयः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः॥ ३८॥

भारत! फिर शङ्खपदने भी अपने औरस पुत्र दिक्पाल सुवर्णाभको इस धर्मका अध्ययन कराया। इसके बाद त्रेता-युग प्राप्त होनेपर वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ३८ ॥

नासिक्ये जन्मनि पुरा ब्रह्मणः पार्थिवोत्तम।
धर्ममेतं स्वयं देवो हरिर्नारायणः प्रभुः॥ ३९॥
तज्जगादारविन्दाक्षो ब्रह्मणः पश्यतस्तदा।

नृपश्रेष्ठ! फिर पूर्वकालमें ब्रह्माजीने नासिकाके द्वारा

जब पाँचवाँ जन्म ग्रहण किया, तब स्वयं कमलनयन भगवान् नारायण हरिने ब्रह्माजीके सामने इस धर्मका उपदेश दिया ॥

सनत्कुमारो भगवांस्ततः प्राधीतवान् नृप ॥ ४० ॥
सनत्कुमारादपि च वीरणो वै प्रजापतिः ।
कृतादौ कुरुशार्दूल धर्ममेतदधीतवान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान् सनत्कुमारने उनसे उस सात्वत-धर्मका उपदेश ग्रहण किया। कुरुश्रेष्ठ ! सनत्कुमारसे वीरण प्रजापतिने कृतयुगके आदिमें इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ४०-४१ ॥

वीरणश्चाप्यधीत्यैनं रैभ्याय मुनये ददौ ।
रैभ्यः पुत्राय शुद्धाय सुव्रताय सुमेधसे ॥ ४२ ॥
कुक्षिनाम्ने स प्रददौ दिशां पालाय धर्मिणे ।
ततोऽप्यन्तर्दधे भूयो नारायणमुखोद्भवः ॥ ४३ ॥

वीरणने इसका अध्ययन करके रैभ्यमुनिको उपदेश दिया। रैभ्यने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त धर्मात्मा एवं शुद्ध आचार-विचारवाले अपने पुत्र दिक्पाल कुक्षिको इसका उपदेश दिया। तदनन्तर नारायणके मुखसे निकला हुआ यह सात्वत धर्म फिर लुप्त हो गया ॥४२-४३॥

अण्डजे जन्मनि पुनर्ब्रह्मणे हरियोनये ।
एष धर्मः समुद्भूतो नारायणमुखात् पुनः ॥ ४४ ॥

इसके बाद जब ब्रह्माजीका अण्डसे छठा जन्म हुआ, तब भगवान्से उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके लिये पुनः भगवान् नारायणके मुखसे यह धर्म प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥

गृहीतो ब्रह्मणा राजन् प्रयुक्तश्च यथाविधि ।
अध्यापिताश्च मुनयो नाम्ना बर्हिषदो नृप ॥ ४५ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने इस धर्मको ग्रहण किया और वे विधिपूर्वक उसे अपने उपयोगमें लाये। नरेश्वर ! फिर उन्होंने बर्हिषद् नामवाले मुनियोंको इसका अध्ययन कराया ॥ ४५ ॥

बर्हिषद्भ्यश्च सम्प्राप्तः सामवेदान्तगं द्विजम् ।
ज्येष्ठं नामाभिविख्यातं ज्येष्ठसामव्रतो हरिः ॥ ४६ ॥

बर्हिषद् नामक ऋषियोंसे इस धर्मका उपदेश ज्येष्ठ नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मणको मिला, जो सामवेदके पारङ्गत विद्वान् थे। ज्येष्ठसामकी उपासनाका उन्होंने व्रत ले रक्खा था। इसलिये वे ज्येष्ठसामव्रती हरि कहलाते थे ॥ ४६ ॥

ज्येष्ठाच्चाप्यनुसंक्रान्तो राजानमविकम्पनम् ।
अन्तर्दधे ततो राजन्नेष धर्मः प्रभो हरेः ॥ ४७ ॥

राजन् ! ज्येष्ठसे राजा अविकम्पनको इस धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ। प्रभो ! तदनन्तर यह भागवत-धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ४७ ॥

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप ।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥
पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे ।
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! यह जो ब्रह्माजीका भगवान्के नाभिकमलसे सातवाँ जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायणने ही कल्पके आरम्भमें जगद्धाता शुद्धस्वरूप ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश दिया; फिर ब्रह्माजीने सबसे पहले प्रजापति दक्षको इस धर्मकी शिक्षा दी ॥ ४८-४९ ॥

ततो ज्येष्ठे तु दौहित्रे प्रादाद् दक्षो नृपोत्तम ।
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वाञ्जगृहे ततः ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र—अदितिके सवितासे भी बड़े पुत्रको इस धर्मका उपदेश दिया। उन्हींसे विवस्वान् (सूर्य) ने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ५० ॥

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥

फिर त्रेतायुगके आरम्भमें सूर्यने मनुको और मनुने सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया ॥ ५१ ॥

इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥ ५२ ॥

इक्ष्वाकुके उपदेशसे इस सात्वत धर्मका सम्पूर्ण जगत्में प्रचार और प्रसार हो गया। नरेश्वर ! कल्पान्तमें यह धर्म फिर भगवान् नारायणको ही प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यतियोंका जो धर्म है, वह मैंने पहले ही तुम्हें हरिगीतामें संक्षेप शैलीसे बता दिया है ॥ ५३ ॥

नारदेन सुसम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ५४ ॥

महाराज ! नारदजीने रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे भलीभाँति प्राप्त किया था ॥५४॥

एवमेष महान् धर्म आद्यो राजन् सनातनः ।
दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥

राजन् ! इस प्रकार यह आदि एवं महान् धर्म सनातन-कालसे चला आ रहा है। यह दूसरोंके लिये दुर्ज्ञेय और दुष्कर है। भगवान्के भक्त सदा ही इस धर्मको धारण करते हैं ॥५५॥

धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा ।
अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥ ५६ ॥

इस धर्मको जाननेसे और अहिंसाभावसे युक्त इस

सात्वतधर्मको क्रियारूपसे आचरणमें लानेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

एकव्यूहविभागो वा क्वचिद् द्विव्यूहसंज्ञितः ।
त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७ ॥

भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कभी केवल एक व्यूह—भगवान् वासुदेवकी, कभी दो व्यूह-वासुदेव और सङ्कर्षणकी, कभी प्रद्युम्नसहित तीन व्यूहोंकी और कभी अनिरुद्धसहित चार व्यूहोंकी उपासना देखी जाती है ॥ ५७ ॥

हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ।
जीवश्च सर्वभूतेषु पञ्चभूतगुणातिगः ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीहरि ही क्षेत्रज्ञ हैं, ममतारहित और निष्कल हैं । ये ही सम्पूर्ण भूतोंमें पाञ्चभौतिक गुणोंसे अतीत जीवात्मा-रूपसे विराजमान हैं ॥ ५८ ॥

मनश्च प्रथितं राजन् पञ्चेन्द्रियसमीरणम् ।
एष लोकविधिर्धीमानेष लोकविसर्गकृत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! पाँचों इन्द्रियोंका प्रेरक जो विख्यात मन है, वह भी श्रीहरि ही हैं । ये बुद्धिमान् श्रीहरि ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेरक और स्रष्टा हैं ॥ ५९ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च ।
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥ ६० ॥

नरेश्वर ! ये अविनाशी पुरुष नारायण ही अकर्ता, कर्ता, कार्य तथा कारण हैं । ये जैसा चाहते हैं, वैसे ही क्रीडा करते हैं ॥ ६० ॥

एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम ।
मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गुरुकृपासे ज्ञात हुए अनन्य भक्तिरूप धर्मका वर्णन किया है । जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये इस धर्मका ज्ञान होना बहुत ही कठिन है ॥ ६१ ॥

एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप ।
यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात् कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥
अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः ।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! भगवान्‌के अनन्य भक्त दुर्लभ हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष बहुत नहीं हुआ करते । कुरुनन्दन ! यदि सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, आत्मज्ञानी, अहिंसक एवं अनन्य भक्तोंसे जगत् भर जाय तो यहाँ सर्वत्र सत्ययुग ही छा जाय और कहीं भी सकाम कर्मोंका अनुष्ठान न हो ॥ ६२-६३ ॥

एवं स भगवान् व्यासो गुरुर्मम विशाम्पते ।
कथयामास धर्मज्ञो धर्मराज्ञे द्विजोत्तमः ॥ ६४ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजञ्शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार मेरे धर्मज्ञ गुरु द्विजश्रेष्ठ भगवान् व्यासने श्रीकृष्ण और भीष्मके सुनते हुए ऋषि-मुनियोंके समीप धर्मराजको इस धर्मका उपदेश किया था ॥ ६४½ ॥

तस्याप्यकथयत् पूर्वं नारदः सुमहातपाः ॥ ६५ ॥
देवं परमकं ब्रह्म श्वेतं चन्द्राभमच्युतम् ।
यत्र चैकान्तिनो यान्ति नारायणपरायणाः ॥ ६६ ॥

राजन् ! उनसे भी प्राचीनकालमें महातपस्वी नारदजीने इसका प्रतिपादन किया था । नारायणकी आराधनामें लगे हुए अनन्य भक्त चन्द्रमाके समान गौरवर्णवाले उन्हीं परब्रह्मस्वरूप भगवान् अच्युतको प्राप्त होते हैं ॥६५-६६½॥

जनमेजय उवाच

एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।
न कुर्वन्ति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों-द्वारा सेवित जो यह अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न धर्म है, इसे नाना प्रकारके व्रतोंमें लगे हुए दूसरे ब्राह्मण क्यों आचरणमें नहीं लाते हैं ? ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तिस्रः प्रकृतयो राजन् देहबन्धेषु निर्मिताः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव भारत ॥ ६८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतनन्दन ! शरीरके बन्धनमें बँधे हुए जो जीव हैं, उनके लिये ईश्वरने तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ बनायी हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी ॥ ६८ ॥

देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्वह ।
सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥

पुरुषसिंह ! कुरुकुलधुरंधर वीर ! इन तीन प्रकृतियों-वाले जीवोंमें जो सात्त्विकी प्रकृतिसे युक्त सात्त्विक पुरुष है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि वही मोक्षका निश्चित अधिकारी है ॥ ६९ ॥

अत्रापि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मवित्तमम् ।
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ७० ॥

यहाँ भी वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि परमपुरुष नारायण सर्वोत्तम वेदवेत्ता हैं और मोक्षके परम आश्रय भगवान् नारायण ही हैं, इसीलिये वह मनुष्य सात्त्विक माना गया है ॥ ७० ॥

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥

भगवान् नारायणके आश्रित उनका अनन्य भक्त

अपने मनके अभीष्ट भगवान् पुरुषोत्तमका निरन्तर चिन्तन करता हुआ उनको प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२॥

मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो कोई भी मनीषी यति हैं तथा जिनकी तृष्णाका सर्वथा नाश हो गया है, उनके योग-क्षेमका भार स्वयं भगवान् नारायण वहन करते हैं ॥ ७२ ॥

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥ ७३॥

जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जिस पुरुषको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपा-दृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिये । वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है ॥ ७३ ॥

सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः ।
नारायणात्मके मोक्षे ततो यान्ति परां गतिम् ॥ ७४॥

एकान्त भक्तोंद्वारा सेवित धर्म सांख्य और योगके तुल्य है । उसके सेवनसे मनुष्य नारायणस्वरूप मोक्षमें ही परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत् पुमान् ।
एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते ॥ ७५ ॥

राजन् ! जिसपर भगवान् नारायणकी कृपादृष्टि हो जाती है, वह पुरुष ही ज्ञानवान् होता है । इस तरह अपनी इच्छा-मात्रसे कोई ज्ञानी नहीं होता ॥ ७५ ॥

राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती स्मृते ।
तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशाम्पते ॥ ७६ ॥
प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम् ।

प्रजानाथ ! राजसी और तामसी—ये दो प्रकृतियाँ दोषोंसे मिश्रित होती हैं । जो पुरुष राजस और तामस प्रकृतिसे युक्त होकर जन्म धारण करता है, वह प्रायः सकाम कर्ममें प्रवृत्तिके लक्षणोंसे युक्त होता है । अतः भगवान् श्रीहरि उसकी ओर नहीं देखते ॥ ७६½ ॥

पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ७७ ॥
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम् ।

ऐसा पुरुष जब जन्म लेता है, तब उसपर लोकपितामह ब्रह्माकी कृपादृष्टि होती है (और वे उसे प्रवृत्तिमार्गमें नियुक्त कर देते हैं) । उसका मन रजोगुण और तमोगुणके प्रवाहमें डूबा रहता है ॥ ७७½ ॥

कामं देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ॥ ७८ ॥
हीनाः सत्त्वेन शुद्धेन ततो वैकारिकाः स्मृताः ।

नृपश्रेष्ठ ! देवता और ऋषि कामनायुक्त सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं । उनमें भी शुद्ध सत्त्वगुणकी कमी होती है, इसलिये वे वैकारिक माने जाते हैं ॥ ७८½ ॥

जनमेजय उवाच

कथं वैकारिको गच्छेत् पुरुषः पुरुषोत्तमम् ॥ ७९ ॥
वद सर्वं यथादृष्टं प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ।

जनमेजयने पूछा—मुने ! वैकारिक पुरुष भगवान् पुरुषोत्तमको कैसे प्राप्त कर सकता है ? यह सब आप अपने अनुभवके अनुसार बताइये और उसकी प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ ७९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुसूक्ष्मं सत्त्वसंयुक्तं संयुक्तं त्रिभिरक्षरैः ॥ ८० ॥
पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायनजीने कहा—जो अत्यन्त सूक्ष्म, सत्त्वगुणसे संयुक्त तथा अकार, उकार और मकार—इन तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणवस्वरूप है, उस परम पुरुष परमात्माको पचीसवाँ तत्त्वरूप पुरुष (जीवात्मा) कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य होनेपर प्राप्त करता है ॥ ८०½ ॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥ ८१ ॥
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला सांख्य, चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाला वेदोंका आरण्यक-भाग (उपनिषद्) तथा भक्तिमार्गका प्रतिपादन करनेवाला पाञ्चरात्र आगम—ये सब शास्त्र एक लक्ष्यके साधक होनेके कारण एक बताये जाते हैं । ये सब एक-दूसरेके अङ्ग हैं । सारे कर्मोंको भगवान् नारायणके चरणारविन्दोंमें समर्पित कर देना यह एकान्त भक्तोंका धर्म है ॥ ८१-८२ ॥

यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघा-
स्तमेव राजन् पुनराविशन्ति ।
इमे तथा ज्ञानमहाजलौघा
नारायणं वै पुनराविशन्ति ॥ ८३ ॥

राजन् ! जैसे सारे जल-प्रवाह समुद्रसे ही प्रसारको प्राप्त होते हैं और फिर उस समुद्रमें ही आकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके महान् प्रवाह नारायणसे ही प्रकट होकर फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन ।
कुरुष्वैनं यथान्यायं यदि शक्तोऽसि भारत ॥ ८४ ॥

भरतभूषण ! कुरुनन्दन ! यह तुम्हें सात्वत-धर्मका

परिचय दिया गया है। यदि तुमसे हो सके तो यथोचित-रूपसे इस धर्मका पालन करो ॥ ८४ ॥

एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम।
श्वेतानां यतिनां चाह एकान्तगतिमव्ययाम् ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महाभाग नारदजीने मेरे गुरु व्यासजीसे श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों और काषायवस्त्रधारी संन्यासियोंकी अविनश्वर एकान्त गतिका वर्णन किया है ॥ ८५ ॥

व्यासश्चाकथयत् प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते।
स एवायं मया तुभ्यमाख्यातः प्रसृतो गुरोः ॥ ८६ ॥

व्यासजीने भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक इस धर्मका उपदेश दिया। गुरुके मुखसे प्रकट हुए उसी धर्मका मैंने यहाँ तुम्हारे लिये वर्णन किया है ॥ ८६ ॥

इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम।
यथैव त्वं तथैवान्ये भवन्तीह विमोहिताः ॥ ८७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस तरह यह धर्म दुष्कर है। तुम्हारी तरह दूसरे लोग भी इसके विषयमें मोहित हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके पालक, मोहक, संहारक तथा कारण हैं (अतः तुम उन्हींका भक्ति-भावसे भजन करो।) ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ऐकान्तिकभावेऽष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमा एवं उनके प्रति ऐकान्तिकभावविषयक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् नारायणके अंशसे सरस्वतीपुत्र अपान्तरतमाके रूपमें जन्म होनेकी और उनके प्रभावकी कथा

जनमेजय उवाच

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मर्षे ! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदोंके आरण्यकभाग—ये चार प्रकारके ज्ञान सम्पूर्ण लोकोंमें प्रचलित हैं ॥ १ ॥

किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने।
प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ॥ २ ॥

मुने ! क्या ये सब एक ही लक्ष्यका बोध करानेवाले हैं अथवा पृथक्-पृथक् लक्ष्यके प्रतिपादक हैं ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत् उत्तर दें और प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारं
यं द्वीपमध्ये सुतमात्मयोगात्।
पराशरात् सत्यवती महर्षिं
तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! देवी सत्यवतीने यमुनातटवर्ती द्वीपमें पराशर मुनिसे अपने शरीरका संयोग करके जिन बहुज्ञ और अत्यन्त उदार महर्षिको पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले ज्ञानसूर्यस्वरूप उन गुरुदेव व्यासजीको मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

पितामहाद् यं प्रवदन्ति षष्ठं
महर्षिमार्षेयविभूतियुक्तम्।
नारायणस्यांशजमेकपुत्रं
द्वैपायनं वेद महानिधानम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीके आदिपुरुष जो नारायण हैं, उनके स्वरूपभूत जिन महर्षिको पूर्वपुरुष नारायणसे छठी पीढ़ीमें* उत्पन्न बताते हैं, जो ऋषियोंके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, नारायणके अंशसे उत्पन्न हैं, अपने पिताके एक ही पुत्र हैं और द्वीपमें उत्पन्न होनेके कारण द्वैपायन कहलाते हैं, उन वेदके महान् भण्डाररूप व्यासजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

तमादिकालेषु महाविभूति-
र्नारायणो ब्रह्ममहानिधानम्।
ससर्ज पुत्रार्थमुदारतेजा
व्यासं महात्मानमजं पुराणम् ॥ ५ ॥

प्राचीनकालमें उदार तेजस्वी, महान् वैभवसम्पन्न भगवान् नारायणने वैदिक ज्ञानकी महानिधिरूप महात्मा अजन्मा और पुराणपुरुष व्यासजीको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

* १. नारायण, २. ब्रह्मा, ३. वसिष्ठ, ४. शक्ति, ५. पराशर, ६. व्यास—इस प्रकार व्यासजी छठी पीढ़ीमें उत्पन्न हुए हैं।

जनमेजय उवाच

त्वयैव कथितं पूर्वं सम्भवे द्विजसत्तम।
वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तिपुत्रः पराशरः॥ ६ ॥
पराशरस्य दायादः कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
भूयो नारायणसुतं त्वमेवैनं प्रभाषसे॥ ७ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपहीने पहले आदि-पर्वकी कथा सुनाते समय यह कहा था कि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं और अब पुनः आप इन्हें नारायण-का पुत्र बतला रहे हैं ॥ ६-७ ॥

किमतः पूर्वजं जन्म व्यासस्यामिततेजसः।
कथयस्वोत्तममते जन्म नारायणोद्भवम्॥ ८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले मुनीश्वर ! क्या अमिततेजस्वी व्यासजीका इससे पहले भी कोई जन्म हुआ था ? नारायणसे व्यासजीका जन्म कब और कैसे हुआ ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

वेदार्थान् वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः।
गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः॥ ९ ॥
कृत्वा भारतमाख्यानं तपःश्रान्तस्य धीमतः।
शुश्रूषां तत्परा राजन् कृतवन्तो वयं तदा॥ १० ॥
सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः।
अहं चतुर्थः शिष्यो वै शुको व्यासात्मजस्तथा॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मेरे धर्मिष्ठ गुरु वेदव्यास तपस्याकी निधि और ज्ञाननिष्ठ हैं । पहले वे वेदोंके अर्थका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हिमालयके एक शिखरपर रहते थे । ये महाभारत नामक इतिहासकी रचना करके तपस्या करते-करते थक गये थे । उन दिनों इन बुद्धिमान् गुरुकी सेवामें तत्पर हम पाँच शिष्य उनके साथ रहते थे । सुमन्तु, जैमिनि, दृढ़तापूर्वक उत्तम धर्मका पालन करनेवाले पैल, चौथा मैं और पाँचवें व्यासपुत्र शुकदेव थे ॥ ९—११ ॥

एभिः परिवृतो व्यासः शिष्यैः पञ्चभिरुत्तमैः।
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा॥ १२ ॥

इन पाँच उत्तम शिष्योंसे घिरे हुए व्यासजी हिमालयके शिखरपर भूतोंसे परिवेष्टित भूतनाथ भगवान् शिवके समान शोभा पाते थे ॥ १२ ॥

वेदानावर्तयन् साङ्गान् भारतार्थांश्च सर्वशः।
तमेकमनसं दान्तं युक्ता वयमुपास्महे॥ १३ ॥

वहाँ व्यासजी अङ्गोंसहित सब वेदों तथा महाभारतके अर्थोंकी आवृत्ति करते और हम सब शिष्योंको पढ़ाते थे एवं हम सब लोग सदा उद्यत रहकर उन एकाग्रचित्त एवं जितेन्द्रिय गुरुकी सेवा करते थे ॥ १३ ॥

कथान्तरेऽथ कस्मिंश्चित् पृष्टोऽस्माभिर्द्विजोत्तमः।
वेदार्थान् भारतार्थांश्च जन्म नारायणात् तथा॥ १४ ॥

एक दिन किसी बातचीतके प्रसङ्गमें हमलोगोंने द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे वेदों और महाभारतका अर्थ तथा भगवान् नारायणसे उनके जन्म होनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १४ ॥

स पूर्वमुक्त्वा वेदार्थान् भारतार्थांश्च तत्त्ववित्।
नारायणादिदं जन्म व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञानी व्यासजीने पहले हमें वेदों और महाभारतका अर्थ बताया । उसके बाद भगवान् नारायणसे अपने जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार बताना आरम्भ किया—॥ १५ ॥

शृणुध्वमाख्यानवरमिदमार्षेयमुत्तमम्।
आदिकालोद्भवं विप्रास्तपसाधिगतं मया॥ १६ ॥

'विप्रगण ! ऋषिसम्बन्धी यह उत्तम आख्यान सुनो । प्राचीन कालका यह वृत्तान्त मैंने तपस्याके द्वारा जाना है ॥ १६ ॥

प्राप्ते प्रजाविसर्गे वै सप्तमे पद्मसम्भवे।
नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः॥ १७ ॥
ससृजे नाभितः पूर्वं ब्रह्माणममितप्रभः।
ततः स प्रादुरभवदथैनं वाक्यमब्रवीत्॥ १८ ॥

'जब सातवें कल्पके आरम्भमें सातवीं बार ब्रह्माजीके कमलसे जन्म-ग्रहण करनेका अवसर आया, तब शुभ और अशुभसे रहित अमिततेजस्वी महायोगी भगवान् नारायणने सबसे पहले अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया । जब ब्रह्माजी प्रकट हो गये, तब उनसे भगवान्ने यह बात कही—॥ १७-१८ ॥

मम त्वं नाभितो जातः प्रजासर्गकरः प्रभुः।
सृज प्रजास्त्वं विविधा ब्रह्मन् सजडपण्डिताः॥ १९ ॥

''ब्रह्मन् ! तुम मेरी नाभिसे प्रजावर्गकी सृष्टि करनेके लिये उत्पन्न हुए हो और इस कार्यमें समर्थ हो; अतः जड-चेतनसहित नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ १९ ॥

स एवमुक्तो विमुखश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
प्रणम्य वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम्॥ २० ॥

'भगवान्के इस प्रकार आदेश देनेपर ब्रह्माजीका मन चिन्तासे व्याकुल हो उठा । वे सृष्टिकार्यसे विमुख हो वरदायक देवता सर्वेश्वर श्रीहरिको प्रणाम करके इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते।
अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम्॥ २१ ॥

''देवेश्वर ! मुझमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी क्या शक्ति है ! आपको नमस्कार है । देव ! मैं सृष्टिविषयक बुद्धिसे सर्वथा

रहित हूँ—यह जानकर अब आपको जो उचित जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २१ ॥

स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथान्तर्हितस्ततः।
चिन्तयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः ॥ २२ ॥

'ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर भगवान् विष्णुने अदृश्य होकर बुद्धिका चिन्तन किया ॥ २२ ॥

स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम्।
योगेन चैनां निर्योगः स्वयं नियुयुजे तदा ॥ २३ ॥

'उनके चिन्तन करते ही मूर्तिमती बुद्धि उन सामर्थ्यशाली श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हो गयी। तदनन्तर जिनपर दूसरोंका वश नहीं चलता, उन भगवान् नारायणने स्वयं ही उस बुद्धिको उस समय योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया। २३।

स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम्।
उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः ॥ २४ ॥

'अविनाशी प्रभु नारायणदेवने ऐश्वर्ययोगमें स्थित हुई उस सती-साध्वी प्रगतिशील बुद्धिसे कहा—॥ २४ ॥

ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।
ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं विवेश सा ॥ २५ ॥

''तुम संसारकी सृष्टिरूप अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्माजीके भीतर प्रवेश करो।' ईश्वरका यह आदेश पाकर बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माजीमें प्रवेश कर गयी ॥ २५ ॥

अथैनं बुद्धिसंयुक्तं पुनः स ददृशे हरिः।
भूयश्चैव वचः प्राह सृजेमा विविधाः प्रजाः ॥ २६ ॥

'जब ब्रह्माजी सृष्टिविषयक बुद्धिसे संयुक्त हो गये, तब श्रीहरिने पुनः उनकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा और फिर इस प्रकार कहा—'अब तुम इन नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ २६ ॥

बाढमित्येव कृत्वासौ यथाऽऽज्ञां शिरसा हरेः।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने श्रीहरिकी आज्ञा शिरोधार्य की। इस प्रकार उन्हें सृष्टिका आदेश देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

प्राप चैनं मुहूर्तेन संस्थानं देवसंज्ञितम्।
तां चैव प्रकृतिं प्राप्य एकीभावगतोऽभवत् ॥ २८ ॥

'वे एक ही मुहूर्तमें अपने देवधाममें जा पहुँचे और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो उसके साथ एकीभूत हो गये ॥ २८ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् पुनरन्या तदा किल।
सृष्टाः प्रजा इमाः सर्वा ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ २९ ॥

'तदनन्तर कुछ कालके बाद भगवान्‌के मनमें फिर दूसरा विचार उठा। वे सोचने लगे; परमेष्ठी ब्रह्माने इन समस्त प्रजाओंकी सृष्टि तो कर दी ॥ २९ ॥

दैत्यदानवगन्धर्वरक्षोगणसमाकुला।
जाता हीयं वसुमती भाराक्रान्ता तपस्विनी ॥ ३० ॥

'किंतु दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षसोंसे व्याप्त हुई यह तपस्विनी पृथ्वी भारसे पीड़ित हो गयी है ॥ ३० ॥

बहवो बलिनः पृथ्व्यां दैत्यदानवराक्षसाः।
भविष्यन्ति तपोयुक्ता वरान् प्राप्स्यन्ति चोत्तमान् ॥ ३१ ॥

'इस पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे बलवान् दैत्य, दानव और राक्षस होंगे, जो तपस्यामें प्रवृत्त हो उत्तमोत्तम वर प्राप्त करेंगे ॥

अवश्यमेव तैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितैः।
बाधितव्याः सुरगणा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३२ ॥

'वरदानसे घमंडमें आकर वे समस्त दानव निश्चय ही देवसमूहों तथा तपोधन ऋषियोंको बाधा पहुँचायेंगे ॥ ३२ ॥

तत्र न्याय्यमिदं कर्तुं भारावतरणं मया।
अथ नानासमुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

'अतः अब मुझे पृथ्वीपर क्रमशः नाना अवतार धारण करके इसके भारको उतारना उचित होगा ॥ ३३ ॥

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च।
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥ ३४ ॥

'पापियोंको दण्ड देने और साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेसे यह तपस्विनी सत्यस्वरूपा पृथ्वी बलसे टिकी रह सकेगी ॥ ३४ ॥

मया ह्येषा हि ध्रियते पातालस्थेन भोगिना।
मया धृता धारयति जगद् विश्वं चराचरम् ॥ ३५ ॥

'मैं पातालमें शेषनागके रूपसे रहकर इस पृथ्वीको धारण करता हूँ और मेरेद्वारा धारित होकर यह सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को धारण करती है ॥ ३५ ॥

तस्मात् पृथ्व्याः परित्राणं करिष्ये सम्भवं गतः।
एवं स चिन्तयित्वा तु भगवान् मधुसूदनः ॥ ३६ ॥
रूपाण्यनेकान्यसृजत् प्रादुर्भावे भवाय सः।
वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा ॥ ३७ ॥
एभिर्मया निहन्तव्या दुर्विनीताः सुरारयः।

'इसलिये मैं अवतार लेकर इस पृथ्वीकी रक्षा अवश्य करूँगा। ऐसा सोच-विचारकर भगवान् मधुसूदनने जगत्‌के लिये अवतार ग्रहण करनेके निमित्त अपने अनेक रूपोंकी सृष्टि की अर्थात् वाराह, नरसिंह, वामन एवं मनुष्यरूपोंका स्मरण किया। उन्होंने यह निश्चय किया था कि मुझे इन अवतारोंद्वारा उद्दण्ड दैत्योंका वध करना है ॥ ३६-३७½ ॥

अथ भूयो जगत्स्रष्टा भोःशब्देनानुनादयन् ॥ ३८ ॥

सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत् ।
अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवः प्रभुः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर जगत्स्रष्टा श्रीहरिने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए सरस्वती (वाणी) का उच्चारण किया । इससे वहाँ सारस्वतका आविर्भाव हुआ। सरस्वती या वाणीसे उत्पन्न हुए उस शक्तिशाली पुत्रका नाम 'अपान्तरतमा' हुआ ॥ ३८-३९ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ।
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ४० ॥

'वे अपान्तरतमा भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले थे । मस्तक झुकाकर खड़े हुए उस पुत्रसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने कहा—॥ ४० ॥

वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ।
तस्मात् कुरु यथाऽऽज्ञप्तं ममैतद् वचनं मुने ॥ ४१ ॥

''बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुने ! तुम्हें वेदोंकी व्याख्याके लिये ऋक्, साम, यजुष् आदि श्रुतियोंका पृथक्-पृथक् संग्रह करना चाहिये । अतः तुम मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करो। मुझे तुमसे इतना ही कहना है' ॥ ४१ ॥

तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
ततस्तुतोष भगवान् हरिस्तेनास्य कर्मणा ॥ ४२ ॥
तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च ।
मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्तकः ॥ ४३ ॥

'अपान्तरतमाने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार वेदोंका विभाग किया । उनके इस कर्मसे तथा उनके द्वारा की हुई उत्तम तपस्या, यम और नियमसे भी भगवान् श्रीहरि बहुत संतुष्ट हुए और बोले—''बेटा ! तुम सभी मन्वन्तरोंमें इसी प्रकार धर्मके प्रवर्तक होओगे ॥ ४२-४३ ॥

भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नप्रधृष्यश्च नित्यशः ।
पुनस्तिष्ये च सम्प्राप्ते कुरवो नाम भारताः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति महात्मानो राजानः प्रथिता भुवि ।

''ब्रह्मन् ! तुम सदा ही अविचल एवं अजेय बने रहोगे। फिर द्वापर और कलियुगकी संधिका समय आनेपर भरतवंशमें कुरुवंशी क्षत्रिय होंगे । वे महामनस्वी राजा समस्त भूमण्डलमें विख्यात होंगे ॥ ४४½ ॥

तेषां त्वत्तः प्रसूतानां कुलभेदो भविष्यति ॥ ४५ ॥
परस्परविनाशार्थं त्वामृते द्विजसत्तम ।

''द्विजश्रेष्ठ ! उनमेंसे जो लोग तुम्हारी संतानोंके वंशज होंगे, उनमें परस्पर विनाशके लिये फूट हो जायगी । तुम्हारे सहयोगके बिना उनमें विग्रह होगा ॥ ४५½ ॥

तत्राप्यनेकधा वेदान् भेत्स्यसे तपसान्वितः ॥ ४६ ॥
कृष्णे युगे च सम्प्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि ।

''उस समय भी तुम तपोबलसे सम्पन्न हो वेदोंके अनेक विभाग करोगे । उस समय कलियुग आ जानेपर तुम्हारे शरीरका वर्ण काला होगा ॥ ४६½ ॥

धर्माणां विविधानां च कर्ता ज्ञानकरस्तथा ।
भविष्यसि तपोयुक्तो न च रागाद् विमोक्ष्यसे॥ ४७ ॥

''तुम नाना प्रकारके धर्मोंके प्रवर्तक, ज्ञानदाता और तपस्वी होओगे, परंतु रागसे सर्वथा मुक्त नहीं रहोगे ॥ ४७ ॥

वीतरागश्च पुत्रस्ते परमात्मा भविष्यति ।
महेश्वरप्रसादेन नैतद् वचनमन्यथा ॥ ४८ ॥

''तुम्हारा पुत्र भगवान् महेश्वरकी कृपासे वीतराग होकर परमात्मस्वरूप हो जायगा। मेरी यह बात टल नहीं सकती ॥

यं मानसं वै प्रवदन्ति विप्राः
पितामहस्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
वसिष्ठमग्र्यं च तपोनिधानं
यस्यातिसूर्यं व्यतिरिच्यते भाः ॥ ४९ ॥
तस्यान्वये चापि ततो महर्षिः
पराशरो नाम महाप्रभावः ।
पिता स ते वेदनिधिर्वरिष्ठो
महातपा वै तपसो निवासः ॥ ५० ॥

''जिन्हें ब्राह्मणलोग ब्रह्माजीका मानसपुत्र कहते हैं, जो उत्तम बुद्धिसे युक्त, तपस्याकी निधि एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठमुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका तेज भगवान् सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाशित होता है, उन्हीं ब्रह्मर्षि वसिष्ठके वंशमें पराशर नामवाले महान् प्रभावशाली महर्षि होंगे । वे वैदिक ज्ञानके भण्डार, मुनियोंमें श्रेष्ठ, महान् तपस्वी एवं तपस्याके आवासस्थान होंगे । वे ही पराशर मुनि उस समय तुम्हारे पिता होंगे।४९-५०।

कानीनगर्भः पितृकन्यकायां
तस्मादृषेस्त्वं भविता च पुत्रः ॥ ५१ ॥

''उन्हीं ऋषिसे तुम पिताके घरमें रहनेवाली एक कुमारी कन्याके पुत्ररूपसे जन्म लोगे और कानीनगर्भ (कन्याकी संतान) कहलाओगे ॥ ५१ ॥

भूतभव्यभविष्याणां छिन्नसर्वार्थसंशयः ।
ये ह्यतिक्रान्तकाः पूर्वं सहस्रयुगपर्ययाः ॥ ५२ ॥
तांश्च सर्वान् मयोद्दिष्टान् द्रक्ष्यसे तपसान्वितः ।
पुनर्द्रक्ष्यसि चानेकसहस्रयुगपर्ययान् ॥ ५३ ॥

''भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी विषयोंमें तुम्हारा संशय नष्ट हो जायगा । पहले जो सहस्र युगोंके कल्प व्यतीत हो चुके हैं, उन सबको मेरी आज्ञासे तुम देख सकोगे और तपो-

बलसे सम्पन्न बने रहोगे। भविष्यमें होनेवाले अनेक कल्प भी तुम्हें दृष्टिगोचर होंगे ॥ ५२-५३ ॥

अनादिनिधनं लोके चक्रहस्तं च मां मुने।
अनुध्यानान्मम मुने नैतद् वचनमन्यथा ॥ ५४ ॥

''मुने ! तुम निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे जगत्में मुझ अनादि और अनन्त परमेश्वरको चक्र हाथमें लिये देखोगे। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं होगी ॥ ५४ ॥

भविष्यति महासत्त्व ख्यातिश्चाप्यतुला तव।
शनैश्चरः सूर्यपुत्रो भविष्यति मनुर्महान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन्मन्वन्तरे चैव मन्वादिगणपूर्वकः।
त्वमेव भविता वत्स मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ५६ ॥

''महान् शक्तिशाली मुनीश्वर ! जगत्में तुम्हारी अनुपम ख्याति होगी। वत्स ! जब सूर्यपुत्र शनैश्चर मन्वन्तरके प्रवर्तक हो महामनुके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, उस मन्वन्तरमें तुम्हीं मेरे कृपा-प्रसादसे मन्वादि गणोंमें प्रधान होओगे। इसमें संशय नहीं है ॥

यत्किंचिद् विद्यते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम्।
अन्यो ह्यन्यं चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम्॥ ५७ ॥

''संसारमें जो कुछ हो रहा है, वह सब मेरी ही चेष्टाका फल है। दूसरे लोग दूसरी-दूसरी बातें सोचते रहते हैं, परंतु मैं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करता हूँ' ॥

एवं सारस्वतमृषिमपान्तरतमं तथा।
उक्त्वा वचनमीशानः साधयस्वेत्यथाब्रवीत् ॥ ५८ ॥

'सरस्वती-पुत्र अपान्तरतम मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् उन्हें विदा करते हुए बोले—'जाओ, अपना काम करो' ॥५८॥

सोऽहं तस्य प्रसादेन देवस्य हरिमेधसः।
अपान्तरतमा नाम ततो जातोऽऽज्ञया हरेः।
पुनश्च जातो विख्यातो वसिष्ठकुलनन्दनः ॥ ५९ ॥

'इस प्रकार मैं भगवान् विष्णुके कृपा-प्रसादसे पहले अपान्तरतमा नामसे उत्पन्न हुआ था और अब उन्हीं श्रीहरिकी आज्ञासे पुनः वसिष्ठकुलनन्दन व्यासके नामसे उत्पन्न होकर प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५९ ॥

तदेतत् कथितं जन्म मया पूर्वकमात्मनः।
नारायणप्रसादेन तथा नारायणांशजम् ॥ ६० ॥

'नारायणको कृपासे और उन्हींके अंशसे जो पहले मेरा जन्म हुआ था, उसका यह वृत्तान्त मैंने तुम सब लोगोंसे कहा है ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम्।
पुरा मतिमतां श्रेष्ठाः परमेण समाधिना ॥ ६१ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! पूर्वकालमें मैंने उत्तम समाधिके द्वारा अत्यन्त कठोर एवं बड़ी भारी तपस्या की थी ॥

एतद् वः कथितं सर्वं यन्मां पृच्छत पुत्रकाः।
पूर्वजन्म भविष्यं च भक्तानां स्नेहतो मया ॥ ६२ ॥

'पुत्रो ! तुमलोग मुझसे जो कुछ पूछते थे, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। तुम गुरुभक्त शिष्योंके स्नेहवश ही मैंने यह अपने पूर्वजन्म और भविष्यका वृत्तान्त तुम्हें बताया है' ।६२।

वैशम्पायन उवाच

एष ते कथितः पूर्वं सम्भवोऽस्मद्गुरोर्नृप।
व्यासस्याक्लिष्टमनसो यथा पृष्टः पुनः शृणु ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जैसा मुझसे प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने पहले क्लेशरहित चित्त-वाले अपने गुरु व्यासजीके जन्मका वृत्तान्त कहा है। अब दूसरी बातें सुनो ॥ ६३ ॥

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ ६४ ॥

राजर्षे ! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपत-शास्त्र—इन ज्ञानोंको तुम नाना प्रकारके मत समझो ॥ ६४ ॥

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥

सांख्यशास्त्रके वक्ता कपिल हैं। वे परमऋषि कहलाते हैं। योगशास्त्रके पुरातन ज्ञाता हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ही हैं, दूसरा नहीं ॥ ६५ ॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥ ६६ ॥

मुनिवर अपान्तरतमा वेदोंके आचार्य बताये जाते हैं। यहाँ कुछ लोग उन महर्षिको प्राचीनगर्भ कहते हैं ॥ ६६ ॥

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥ ६७ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति भगवान् शिवने शान्तचित्त होकर पाशुपतज्ञानका उपदेश किया है ।६७।

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥ ६८ ॥
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः।
न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण पाञ्चरात्रके ज्ञाता तो साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं। यदि वेदशास्त्र और अनुभवके अनुसार विचार किया जाय तो इन सभी ज्ञानोंमें इनके परम तात्पर्यरूपसे भगवान् नारायण ही स्थित दिखायी देते हैं। प्रजानाथ ! जो अज्ञानमें डूबे हुए हैं, वे लोग भगवान् श्रीहरिको इस रूपमें नहीं जानते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः।
निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥७०॥

शास्त्रके रचयिता ज्ञानीजन उन नारायण ऋषिको ही समस्त शास्त्रोंका परम लक्ष्य बताते हैं; दूसरा कोई उनके समान नहीं है—यह मेरा कथन है ॥ ७० ॥

निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।
ससंशयान् हेतुबलान् नाध्यावसति माधवः ॥ ७१ ॥

ज्ञानके बलसे जिनके संशयका निवारण हो गया है, उन सबके भीतर सदा श्रीहरि निवास करते हैं; परंतु कुतर्कके बलसे जो संशयमें पड़े हुए हैं, उनके भीतर भगवान् माधवका निवास नहीं है ॥ ७१ ॥

पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! जो पाञ्चरात्रके ज्ञाता हैं और उसमें बताये हुए क्रमके अनुसार सेवापरायण हो अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें प्राप्त हैं, वे उन भगवान् श्रीहरिमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ७२ ॥

सांख्यं च योगं च सनातने द्वे
वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन्।
सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो
नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! सांख्य और योग—ये दो सनातन शास्त्र तथा सम्पूर्ण वेद सर्वथा यही कहते हैं और समस्त ऋषियोंने भी यही बताया है कि यह पुरातन विश्व भगवान् नारायण ही हैं ॥ ७३ ॥

शुभाशुभं कर्म समीरितं यत्
प्रवर्तते सर्वलोकेषु किञ्चित्।
तस्मादृषेस्तद्भवतीति विद्याद्
दिव्यन्तरिक्षे भुवि चाप्सु चेति ॥ ७४ ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूतल और जल—इन सभी स्थानोंमें और सम्पूर्ण लोकोंमें जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म होता बताया गया है, वह सब नारायणकी सत्तासे ही हो रहा है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्वैपायनोत्पत्तौ एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्वैपायनकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४९ ॥

पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वैजयन्त पर्वतपर ब्रह्मा और रुद्रका मिलन एवं ब्रह्माजीद्वारा परम पुरुष नारायणकी महिमाका वर्णन

जनमेजय उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु।
को ह्यत्र पुरुषः श्रेष्ठः को वा योनिरिहोच्यते ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुष अनेक हैं या एक ? इस जगत्में कौन पुरुष सबसे श्रेष्ठ है ? अथवा किसे यहाँ सबकी उत्पत्तिका स्थान बताया जाता है ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश ! सांख्य और योगकी विचारधाराके अनुसार इस जगत्में पुरुष अनेक हैं। वे 'एकपुरुषवाद' नहीं स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम्॥ ३ ॥

नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ॥ ४ ॥

बहुत-से पुरुषोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही पुरुष कैसे बताया जाता है ? यह समझानेके लिये आत्मज्ञानी, तपस्वी, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय परमर्षि गुरु व्यासजीको नमस्कार करके मैं तुम्हारे सामने अधिक गुणशाली विश्वात्मा पुरुषकी व्याख्या करूँगा ॥ ३-४ ॥

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम् ॥ ५ ॥

राजन् ! यह पुरुषसम्बन्धी सूक्त तथा ऋत और सत्य सम्पूर्ण वेदोंमें विख्यात है। ऋषिसिंह व्यासने इसका भलीभाँति चिन्तन किया है ॥ ५ ॥

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥ ६ ॥

भारत ! कपिल आदि ऋषियोंने सामान्य और विशेष-

रूपमें अध्यात्म-तत्त्वका चिन्तन करके विभिन्न शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

समासतस्तु यद् व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान्।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥ ७ ॥

परंतु व्यासजीने संक्षेपसे पुरुषकी एकताका जिस तरह प्रतिपादन किया है, उसीको मैं भी उन अमिततेजस्वी गुरुके कृपा-प्रसादसे तुम्हें बताऊँगा ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ब्रह्मणा सह संवादं त्र्यम्बकस्य विशाम्पते ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें जानकार मनुष्य ब्रह्माजीके साथ रुद्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य मध्ये हाटकसप्रभः।
वैजयन्त इति ख्यातः पर्वतप्रवरो नृप ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! क्षीरसागरके मध्यभागमें वैजयन्त नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ पर्वत है, जो सुवर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

तत्राध्यात्मगतिं देव एकाकी प्रविचिन्तयन्।
वैराजसदनान्नित्यं वैजयन्तं निषेवते ॥ १० ॥

वहाँ एकाकी ब्रह्मा अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेके लिये ब्रह्मलोकसे प्रतिदिन आते और उस वैजयन्त पर्वतका सेवन करते थे ॥ १० ॥

अथ तत्रासतस्तस्य चतुर्वक्त्रस्य धीमतः।
ललाटप्रभवः पुत्रः शिव आगाद् यदृच्छया ॥ ११ ॥
आकाशेन महायोगी पुरा त्रिनयनः प्रभुः।
ततः खान्निपपाताशु धरणीधरमूर्धनि ॥ १२ ॥

पहले एक दिन बुद्धिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजी जब वहाँ बैठे हुए थे, उसी समय उनके ललाटसे उत्पन्न हुए पुत्र महायोगी त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव अनायास ही आकाश-मार्गसे घूमते हुए वैजयन्तपर्वतके सामने आये और शीघ्र ही आकाशसे उस पर्वतशिखरपर उतर पड़े ॥ ११-१२ ॥

अग्रतश्चाभवत् प्रीतो ववन्दे चापि पादयोः।
तं पादयोर्निपतितं दृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ १३ ॥
उत्थापयामास तदा प्रभुरेकः प्रजापतिः।
उवाच चैनं भगवांश्चिरस्यागतमात्मजम् ॥ १४ ॥

सामने ब्रह्माजीको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। भगवान् शिवको अपने चरणोंमें पड़ा देख उस समय एकमात्र सर्वसमर्थ भगवान् प्रजापतिने दाहिने हाथसे उन्हें उठाया और दीर्घकालके पश्चात् अपने निकट आये हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मेऽन्तिकम्।
कच्चित् ते कुशलं पुत्र स्वाध्यायतपसोः सदा ॥ १५ ॥
नित्यमुग्रतपास्त्वं हि ततः पृच्छामि ते पुनः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है। सौभाग्यसे मेरे निकट आये हो। बेटा ! तुम्हारा स्वाध्याय और तप सदा सकुशल चल रहा है न ? तुम सर्वदा कठोर तपस्यामें ही लगे रहते हो; इसलिये मैं तुमसे बारंबार तपके विषयमें पूछता हूँ ॥ १५-१६ ॥

रुद्र उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् स्वाध्यायतपसोर्मम।
कुशलं चाव्ययं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १७ ॥

रुद्रने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे स्वाध्याय और तप सकुशल चल रहे हैं; कभी भङ्ग नहीं हुए हैं। सम्पूर्ण जगत् भी कुशल-क्षेमसे है ॥ १७ ॥

चिरदृष्टो हि भगवान् वैराजसदने मया।
ततोऽहं पर्वतं प्राप्तस्त्विमं त्वत्पादसेवितम् ॥ १८ ॥

प्रभो ! बहुत दिन हुए, मैंने ब्रह्मलोकमें आपका दर्शन किया था। इसीलिये आज आपके चरणोंद्वारा सेवित इस पर्वतपर पुनः दर्शनके लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

कौतूहलं चापि हि मे एकान्तगमनेन ते।
नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति पितामह ॥ १९ ॥

पितामह ! आपके एकान्तमें जानेसे मेरे मनमें बड़ा कौतूहल पैदा हुआ। मैंने सोचा, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होगा ॥ १९ ॥

किं नु तत्सदनं श्रेष्ठं क्षुत्पिपासाविवर्जितम्।
सुरासुरैरध्युषितं ऋषिभिश्चामितप्रभैः ॥ २० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सततं संनिषेवितम्।
उत्सृज्येमं गिरिवरमेकाकी प्राप्तवानसि ॥ २१ ॥

क्या कारण है कि क्षुधा-पिपासासे रहित उस श्रेष्ठ धामको, जहाँ निरन्तर देवता, असुर, अमिततेजस्वी ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं, छोड़कर आप अकेले इस श्रेष्ठ पर्वतपर चले आये हैं ? ॥ २०-२१ ॥

ब्रह्मोवाच

वैजयन्तो गिरिवरः सततं सेव्यते मया।
अत्रैकाग्रेण मनसा पुरुषश्चिन्त्यते विराट् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वत्स ! मैं इन दिनों गिरिवर वैजयन्तका जो निरन्तर सेवन कर रहा हूँ, इसका कारण यह है कि यहाँ एकाग्रचित्तसे विराट् पुरुषका चिन्तन किया करता हूँ ॥ २२ ॥

रुद्र उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट् ॥ २३ ॥

रुद्र बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वयम्भू हैं । आपने बहुत-से पुरुषोंकी सृष्टि की है और अभी दूसरे-दूसरे पुरुषोंकी सृष्टि करते जा रहे हैं । वह विराट् भी तो एक पुरुष ही है, फिर उसमें क्या विशेषता है ? ॥ २३ ॥

को ह्यसौ चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ।
एतन्मे संशयं ब्रूहि महत् कौतूहलं हि मे ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप जिन एक पुरुषोत्तमका चिन्तन करते हैं, वे कौन हैं ? मेरे इस संशयका समाधान कीजिये । इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २४ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पुरुषाः पुत्र त्वया ये समुदाहृताः ।
एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्यपि ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! तुमने जिन बहुत-से पुरुषोंका उल्लेख किया है, उनके विषयमें तुम्हारा यह कथन ठीक ही है । जिनकी सृष्टि मैं करता हूँ, उनका चिन्तन मैं क्यों करूँगा ? ॥ २५ ॥

आधारं तु प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य ते ।
बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते ॥ २६ ॥

मैं तुम्हें उस एक पुरुषके सम्बन्धमें बताऊँगा, जो सबका आधार है और जिस प्रकार वह बहुत-से पुरुषोंका एकमात्र कारण बताया जाता है ॥ २६ ॥

तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमहत्तमम् ।
निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम् ॥ २७ ॥

जो लोग साधन करते-करते गुणातीत हो जाते हैं, वे ही उस विश्वरूप, अत्यन्त महान्, सनातन एवं निर्गुण परम पुरुषमें प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ब्रह्मरुद्रसंवादे पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाके प्रसङ्गमें ब्रह्मा तथा रुद्रका संवादविषयक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५० ॥

एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मा और रुद्रके संवादमें नारायणकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन

ब्रह्मोवाच

शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।
अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! यह विराट् पुरुष जिस प्रकार सनातन, अविकारी, अविनाशी, अप्रमेय और सर्वव्यापी बताया जाता है, वह सुनो ॥ १ ॥

न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम ।
सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥

साधुशिरोमणे ! तुम, मैं अथवा दूसरे लोग भी उस सगुण-निर्गुण विश्वात्मा पुरुषको इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकते । वे ज्ञानसे ही देखने योग्य माने गये हैं ॥ २ ॥

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥

वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित होकर भी सम्पूर्ण शरीरोंमें निवास करते हैं और उन शरीरोंमें रहते हुए भी कभी उनके कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ ४ ॥

वे मेरे, तुम्हारे तथा दूसरे जो देहधारी संज्ञावाले जीव हैं, उनके भी अन्तरात्मा हैं । सबके साक्षी वे पुरुषोत्तम श्रीहरि कहीं किसीके द्वारा भी पकड़में नहीं आते ॥ ४ ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विश्व ही उनका मस्तक, भुजा, पैर, नेत्र और नासिका है । वे स्वच्छन्द विचरनेवाले एकमात्र पुरुषोत्तम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ ५ ॥

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् ।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ६ ॥

वे योगात्मा श्रीहरि क्षेत्रसंज्ञक शरीरोंको और शुभाशुभ कर्मरूप उनके कारणको भी जानते हैं, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ॥ ६ ॥

नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेषु केनचित्।
सांख्येन विधिना चैव योगेन च यथाक्रमम्॥ ७ ॥
चिन्तयामि गतिं चास्य न गतिं वेद्मि चोत्तराम्।
यथाज्ञानं तु वक्ष्यामि पुरुषं तु सनातनम्॥ ८ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी यह नहीं जान पाता कि वे किस तरह शरीरोंमें आते और जाते हैं ? मैं क्रमशः सांख्य और योगकी विधिसे उनकी गतिका चिन्तन करता हूँ; परंतु उस उत्कृष्ट गतिको समझ नहीं पाता । तथापि मुझे जैसा अनुभव है, उसके अनुसार उस सनातन पुरुषका वर्णन करता हूँ ॥ ७-८॥

तस्यैकत्वं महत्त्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः॥ ९ ॥

उनमें एकत्व भी है और महत्त्व भी; अतः एकमात्र वे ही पुरुष माने गये हैं। एक सनातन श्रीहरि ही महापुरुष नाम धारण करते हैं ॥ ९ ॥

एको हुताशो बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका।
एको वायुर्बहुधा वाति लोके
महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः ।
पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूप-
स्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति ॥ १० ॥

अग्नि एक ही है; परंतु वह अनेक रूपोंमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित होती है । एक ही सूर्य सारे जगत्‌को ताप एवं प्रकाश देते हैं। तप अनेक प्रकारका है; परंतु उसका मूल एक ही है। एक ही वायु इस जगत्‌में विविध रूपसे प्रवाहित होती है तथा समस्त जलोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान समुद्र भी एक ही है । उसी प्रकार वह निर्गुण विश्वरूप पुरुष भी एक ही है । उसी निर्गुण पुरुषमें सबका लय होता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम्।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः॥ ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदि समस्त गुणमय पदार्थोंकी ममता छोड़कर शुभाशुभ कर्मको त्यागकर तथा सत्य और मिथ्या दोनोंका परित्याग करके ही कोई साधक निर्गुण हो सकता है ॥

अचिन्त्यं चापि तं ज्ञात्वा भावसूक्ष्मं चतुष्टयम्।
विचरेद् योऽसमुन्नद्धः स गच्छेत् पुरुषं शुभम्॥ १२ ॥

जो चारों सूक्ष्म भावोंसे युक्त उस निर्गुण पुरुषको अचिन्त्य जानकर अहङ्कारशून्य होकर विचरण करता है, वही कल्याणमय परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।
एकात्मानं तथाऽऽत्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः॥ १३ ॥

इस प्रकार कुछ विद्वान् (अपनेसे भिन्न) परमात्माको पाना चाहते हैं । कुछ अपनेसे अभिन्न परमात्मा--एकात्माको पानेकी इच्छा रखते हैं तथा दूसरे विचारक केवल आत्माको ही जानना या पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥ १४ ॥

इनमें जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है। उसीको नारायण नामसे जानना चाहिये । वही सर्वात्मा पुरुष है ॥ १४ ॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥ १५॥

जैसे कमलका पत्ता पानीमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा कर्मफलोंसे निर्लिप्त रहता है । परंतु जो कर्मोंका कर्ता है एवं बन्धन और मोक्षसे सम्बन्ध जोड़ता है, वह जीवात्मा उससे भिन्न है ॥ १५ ॥

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः।
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम्॥ १६॥

उसीका पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके राशिभूत सूक्ष्म शरीरसे संयोग होता है। वही कर्मभेदसे देव-तिर्यक् आदि भावोंको प्राप्त होनेके कारण बहुविध बताया गया है। इस प्रकार तुम्हें क्रमशः पुरुषकी एकता और अनेकताकी बात बतायी गयी ॥

यत् तत्कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम
वेद्यं परं बोधनीयं स बोद्धा।
मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं
घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम्॥ १७॥

जो लोकतन्त्रका सम्पूर्ण धाम या प्रकाशक है, वह परम पुरुष ही वेदनीय (जाननेयोग्य) परम तत्त्व है। वही ज्ञाता और वही ज्ञातव्य है। वही मनन करनेवाला और वही मननीय वस्तु है । वही भोक्ता और वही भोज्य पदार्थ है । वही सूँघनेवाला और वही सूँघनेयोग्य वस्तु है। वही स्पर्श करनेवाला तथा वही स्पर्शके योग्य वस्तु है ॥ १७ ॥

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं
ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च।
यद् वै प्रोक्तं तात सम्यक् प्रधानं
नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च॥ १८॥

वही द्रष्टा और द्रष्टव्य है । वही सुनानेवाला और सुनानेयोग्य वस्तु है । वही ज्ञाता और ज्ञेय है तथा वही सगुण और निर्गुण है । तात ! जिसे सम्यक् प्रधान तत्त्व कहा गया है, वह भी यह पुरुष ही है । यह नित्य सनातन और अविनाशी तत्त्व है ॥ १८ ॥

यद् वै सूते धातुराद्यं विधानं
तद् वै विप्राः प्रवदन्तेऽनिरुद्धम् ।
यद् वै लोके वैदिकं कर्म साधु
आशीर्युक्तं तद्धि तस्यैव भाव्यम्॥ १९ ॥

वही मुझ विधाताके आदि विधानको उत्पन्न करता है । विद्वान् ब्राह्मण उसीको अनिरुद्ध कहते हैं । लोकमें सकाम भावसे जो वैदिक सत्कर्म किये जाते हैं, वे उस अनिरुद्धात्मा पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही होते हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ १९ ॥

देवाः सर्वे मुनयः साधु शान्ता-
स्तं प्राग्वंशे यज्ञभागैर्यजन्ते ।
अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां
तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः ॥ २० ॥

सम्पूर्ण देवता और शान्त स्वभाववाले मुनि यज्ञशालामें यज्ञभागोंद्वारा उसीका यजन करते हैं । मैं प्रजाओंका आदि ईश्वर ब्रह्मा उसी परम पुरुषसे उत्पन्न हुआ हूँ और मुझसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है ॥ २० ॥

मत्तो जगज्जङ्गमं स्थावरं च
सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्र ॥ २१ ॥

पुत्र ! मुझसे यह चराचर जगत् तथा रहस्यसहित सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए हैं ॥ २१ ॥

चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति ।
एवं स भगवान् स्वेन ज्ञानेन प्रतिबोधितः ॥ २२ ॥

वासुदेव आदि चार व्यूहोंमें विभक्त हुए वे परम पुरुष ही जैसी इच्छा होती है, वैसी क्रीड़ा करते हैं । इसी तरह वे भगवान् अपने ही ज्ञानसे जाननेमें आते हैं ॥ २२ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः ।
सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम् ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यथावत्‌रूपसे ये सब बातें बतायी हैं । सांख्य और योगमें इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन किया गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीयसमाप्तौ एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका उपसंहारविषयक तीन सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदके द्वारा इन्द्रको उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी कथा सुनानेका उपक्रम

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता मोक्षधर्माश्रिताः शुभाः ।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हति मे भवान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपके बतलाये हुए कल्याणमय मोक्षसम्बन्धी धर्मोंका मैंने श्रवण किया । अब आप आश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले मनुष्योंके लिये जो सबसे उत्तम धर्म हो, उसका उपदेश करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं महत् ।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सभी आश्रमोंमें स्वधर्मपालनका विधान है, सबमें स्वर्गका तथा महान् सत्यफल—मोक्षका भी साधन है । धर्मके यज्ञ, दान, तप आदि बहुत-से द्वार हैं; अतः इस जगत्‌में धर्मकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो मनुष्य जिस-जिस विषय-स्वर्ग या मोक्षके लिये साधन करके उसमें सुनिश्चित सफलताको प्राप्त कर लेता है, उसी साधन या धर्मको वह श्रेष्ठ समझता है, दूसरेको नहीं ॥ ३ ॥

इमां च त्वं नरव्याघ्र श्रोतुमर्हसि मे कथाम् ।
पुरा शक्रस्य कथितां नारदेन महर्षिणा ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, उसे सुनो । पूर्वकालमें महर्षि नारदने इन्द्रको वह कथा सुनायी थी ॥ ४ ॥

महर्षिर्नारदो राजन् सिद्धस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
पर्येति क्रमशो लोकान् वायुरव्याहतो यथा ॥ ५ ॥

राजन् ! महर्षि नारद तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित सिद्ध पुरुष हैं । वायुके समान उनकी सर्वत्र अबाधित गति है । वे क्रमशः सभी लोकोंमें घूमते रहते हैं ॥ ५ ॥

स कदाचिन्महेष्वास देवराजालयं गतः ।
सत्कृतश्च महेन्द्रेण प्रत्यासन्नगतोऽभवत् ॥ ६ ॥

महाधनुर्धर नरेश ! एक समय वे नारदजी देवराज इन्द्रके यहाँ पधारे । इन्द्रने उन्हें अपने समीप ही बिठाकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ६ ॥

तं कृतक्षणमासीनं पर्यपृच्छच्छचीपतिः ।
महर्षे किंचिदाश्चर्यमस्ति दृष्टं त्वयानघ ॥ ७ ॥

जब नारदजी थोड़ी देर बैठकर विश्राम ले चुके, तब शचीपति इन्द्रने पूछा—'निष्पाप महर्षे ! इधर आपने कोई आश्चर्यजनक घटना देखी है क्या ?' ॥ ७ ॥

यदा त्वमपि विप्रर्षे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
जातकौतूहलो नित्यं सिद्धश्चरसि साक्षिवत्॥ ८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सिद्ध पुरुष हैं और कौतूहलवश चराचर प्राणियोंसे युक्त तीनों लोकोंमें सदा साक्षीकी भाँति विचरते रहते हैं ॥ ८ ॥

न ह्यस्त्यविदितं लोके देवर्षे तव किंचन ।
श्रुतं वाप्यनुभूतं वा दृष्टं वा कथयस्व मे ॥ ९ ॥

'देवर्षे ! जगत्में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो । यदि आपने कोई अद्भुत बात देखी हो, सुनी हो अथवा अनुभव की हो तो वह मुझे बताइये' ॥ ९ ॥

तस्मै राजन् सुरेन्द्राय नारदो वदतां वरः ।
आसीनायोपपन्नाय प्रोक्तवान् विपुलां कथाम् ॥ १० ॥

राजन् ! उनके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने अपने पास ही बैठे हुए सुरेन्द्रको एक विस्तृत कथा सुनायी ॥ १० ॥

यथा येन च कल्पेन स तस्मै द्विजसत्तमः ।
कथां कथितवान् पृष्टस्तथा त्वमपि मे शृणु ॥ ११ ॥

इन्द्रके पूछनेपर द्विजश्रेष्ठ नारदने उन्हें जैसे और जिस ढंगसे वह कथा कही थी, वैसे ही मैं भी कहूँगा । तुम भी मेरी कही हुई उस कथाको ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक
तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

महापद्मपुरमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके सदाचारका वर्णन और उसके घरपर अतिथिका आगमन

भीष्म उवाच

आसीत् किल नरश्रेष्ठ महापद्मे पुरोत्तमे ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे कश्चिद् विप्रः समाहितः ॥ १ ॥
सौम्यः सोमान्वये वेदे गताध्वा छिन्नसंशयः ।
धर्मनित्यो जितक्रोधो नित्यतृप्तो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
तपःस्वाध्यायनिरतः सत्यः सज्जनसम्मतः ।
न्यायप्राप्तेन वित्तेन स्वेन शीलेन चान्वितः ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! (नारदजीने जो कथा सुनायी, वह इस प्रकार है—) गङ्गाके दक्षिणतटपर महापद्म नामक कोई श्रेष्ठ नगर है । वहाँ एक ब्राह्मण रहता था । वह एकाग्रचित्त और सौम्य स्वभावका मनुष्य था । उसका जन्म चन्द्रमाके कुलमें—अत्रिगोत्रमें हुआ था । वेदमें उसकी अच्छी गति थी और उसके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वह सदा धर्मपरायण, क्रोधरहित, नित्य संतुष्ट, जितेन्द्रिय, तप और स्वाध्यायमें संलग्न, सत्यवादी और सत्पुरुषोंके सम्मानका पात्र था । न्यायोपार्जित धन और अपने ब्राह्मणोचित शीलसे सम्पन्न था ॥ १—३ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिविपुले सत्त्वाद्याश्रयसम्मिते ।
कुले महति विख्याते विशिष्टां वृत्तिमास्थितः ॥ ४ ॥

उसके कुलमें सगे-सम्बन्धियोंकी संख्या अधिक थी । सभी लोग सत्त्वप्रधान सद्गुणोंका सहारा लेकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे । उस महान् एवं विख्यात कुलमें रहकर वह उत्तम आजीविकाके सहारे जीवन-निर्वाह करता था ॥ ४ ॥

स पुत्रान् बहुलान् दृष्ट्वा विपुले कर्मणि स्थितः ।
कुलधर्माश्रितो राजन् धर्मचर्यास्थितोऽभवत् ॥ ५ ॥

राजन् ! उसने देखा कि मेरे बहुत-से पुत्र हो गये, तब वह लौकिक कार्यसे विरक्त हो महान् कर्ममें संलग्न हो गया

और अपने कुलधर्मका आश्रय ले धर्माचरणमें ही तत्पर रहने लगा ॥ ५ ॥

ततः स धर्मं वेदोक्तं तथा शास्त्रोक्तमेव च ।
शिष्टाचीर्णं च धर्मं च त्रिविधं चिन्त्य चेतसा ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसने वेदोक्त धर्म, शास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म—इन तीन प्रकारके धर्मोंपर मन-ही-मन विचार करना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

किन्नु मे स्याच्छुभं कृत्वा किं कृतं किं परायणम् ।
इत्येवं खिद्यते नित्यं न च याति विनिश्चयम् ॥ ७ ॥

'क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा ? मेरा क्या कर्तव्य है तथा कौन मेरे लिये परम आश्रय है ?' इस प्रकार वह सदा सोचते-सोचते खिन्न हो जाता था; परंतु किसी निर्णयपर नहीं पहुँच पाता था ॥ ७ ॥

तस्यैवं खिद्यमानस्य धर्मं परममास्थितः ।
कदाचिदतिथिः प्राप्तो ब्राह्मणः सुसमाहितः ॥ ८ ॥

एक दिन जब वह इसी तरह सोच-विचारमें पड़ा हुआ कष्ट पा रहा था, उसके यहाँ एक परम धर्मात्मा तथा एकाग्र-चित्त ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ पहुँचा ॥ ८ ॥

स तस्मै सत्क्रियां चक्रे क्रियायुक्तेन हेतुना ।
विश्रान्तं सुसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने उस अतिथिका क्रियायुक्त हेतु (शास्त्रोक्त विधि) से आदर-सत्कार किया और जब वह सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगा, तब उससे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा स्वर्गके विभिन्न मार्गोंका कथन

ब्राह्मण उवाच

समुत्पन्नाभिधानोऽस्मि वाङ्माधुर्येण तेऽनघ ।
मित्रत्वमभिपन्नस्त्वं किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला—निष्पाप ! आपकी मीठी बातें सुनकर ही मैं आपके प्रति स्नेह-बन्धनसे बँध गया हूँ । आपके ऊपर मेरा मित्रभाव हो गया है; अतः आपसे कुछ कह रहा हूँ, मेरी बात सुनिये ॥ १ ॥

गृहस्थधर्मं विप्रेन्द्र कृत्वा पुत्रगतं त्वहम् ।
धर्मं परमकं कुर्यां को हि मार्गो भवेद् द्विज ॥ २ ॥

विप्रवर ! मैं गृहस्थधर्मको अपने पुत्रोंके अधीन करके सर्वश्रेष्ठ धर्मका पालन करना चाहता हूँ । ब्रह्मन् ! बताइये, मेरे लिये कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर होगा ! ॥ २ ॥

अहमात्मानमास्थाय एक एवात्मनि स्थितिम् ।
कर्तुं काङ्क्षामि नेच्छामि बद्धः साधारणैर्गुणैः ॥ ३ ॥

कभी मेरी इच्छा होती है कि अकेला ही रहूँ और आत्माका आश्रय लेकर उसीमें स्थित हो जाऊँ ? परंतु इन तुच्छ विषयोंसे बँधा होनेके कारण वह इच्छा नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यावदेतदतीतं मे वयः पुत्रफलाश्रितम् ।
तावदिच्छामि पाथेयमादातुं पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

अबतककी सारी आयु पुत्रसे फल पानेकी कामनामें ही बीत गयी । अब ऐसे धर्ममय धनका संग्रह करना चाहता हूँ, जो परलोकके मार्गमें पाथेय (राहखर्च) का काम दे सके ॥ ४ ॥

अस्मिन् हि लोकसम्भारे परं पारमभीप्सतः ।
उत्पन्ना मे मतिरियं कुतो धर्ममयः प्लवः ॥ ५ ॥

मुझे इस संसारसागरसे पार जानेकी इच्छा हुई है; अतः मेरे मनमें यह जिज्ञासा हो रही है कि मुझे धर्ममयी नौका कहाँसे प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

संयुज्यमानानि निशम्य लोके
निर्यात्यमानानि च सात्त्विकानि ।
दृष्ट्वा तु धर्मध्वजकेतुमालां
प्रकीर्यमाणामुपरि प्रजानाम् ॥ ६ ॥
न मे मनो रज्यति भोगकाले
दृष्ट्वा यतीन् प्रार्थयतः परत्र ।
तेनातिथे बुद्धिबलाश्रयेण
धर्मेण धर्मे विनियुङ्क्ष्व मां त्वम् ॥ ७ ॥

जब मैं सुनता हूँ कि संसारमें विषयोंके सम्पर्कमें आये हुए सात्त्विक पुरुष भी तरह-तरहकी यातनाएँ भोगते हैं तथा जब देखता हूँ कि समस्त प्रजाके ऊपर यमराजकी

ध्वजाएँ फहरा रही हैं, तब भोगकालमें भोगोंके प्राप्त होनेपर भी उन्हें भोगनेकी रुचि मेरे मनमें नहीं होती है। जब संन्यासियोंको भी दूसरोंके दरवाजोंपर अन्न-वस्त्रकी भीख माँगते देखता हूँ, तब उस संन्यासधर्ममें भी मेरा मन नहीं लगता है; अतः अतिथिदेव ! आप अपनी ही बुद्धिके बलसे अब मुझे धर्मद्वारा धर्ममें लगाइये ॥ ६-७ ॥

सोऽतिथिर्वचनं तस्य श्रुत्वा धर्माभिभाषिणः ।
प्रोवाच वचनं श्लक्ष्णं प्राज्ञो मधुरया गिरा ॥ ८ ॥

धर्मयुक्त वचन बोलनेवाले उस ब्राह्मणकी बात सुनकर उस विद्वान् अतिथिने मधुर वाणीमें यह उत्तम वचन कहा ॥ ८ ॥

अतिथिरुवाच

अहमप्यत्र मुह्यामि ममाप्येष मनोरथः ।
न च संनिश्चयं यामि बहुद्वारे त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरा भी ऐसा ही मनोरथ है। मैं भी आपकी ही भाँति श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ, परंतु मुझे भी इस विषयमें मोह ही बना हुआ है। स्वर्गके अनेक द्वार (साधन) हैं, अतः किसका आश्रय लिया जाय ? इसका निश्चय मैं भी नहीं कर पाता हूँ ॥ ९ ॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् यज्ञफलं द्विजाः ।
वानप्रस्थाश्रयाः केचिद् गार्हस्थ्यं केचिदास्थिताः ॥ १० ॥

कोई द्विज मोक्षकी प्रशंसा करते हैं तो कोई यज्ञफलकी। कोई वानप्रस्थधर्मका आश्रय लेते हैं तो कोई गार्हस्थ्यधर्मका ॥ १० ॥

राजधर्माश्रयं केचित् केचिदात्मफलाश्रयम् ।
गुरुधर्माश्रयं केचित्केचिद् वाक्संयमाश्रयम् ॥ ११ ॥

कोई राजधर्म, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरुशुश्रूषा और कोई मौनव्रतका ही आश्रय लिये बैठे हैं ॥ ११ ॥

मातरं पितरं केचिच्छुश्रूषन्तो दिवं गताः ।
अहिंसया परे स्वर्गं सत्येन च तथा परे ॥ १२ ॥

कुछ लोग माता-पिताकी सेवा करके ही स्वर्गमें चले गये। कोई अहिंसासे और कोई सत्यसे ही स्वर्गलोकके भागी हुए हैं ॥ १२ ॥

आहवेऽभिमुखाः केचिन्निहतास्त्रिदिवं गताः ।
केचिदुञ्छव्रतैः सिद्धाः स्वर्गमार्गं समाश्रिताः ॥ १३ ॥

कुछ वीर पुरुष युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए मारे जाकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं। कितने ही मनुष्य उञ्छवृत्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके स्वर्गगामी हुए हैं ॥ १३ ॥

केचिदध्ययने युक्ता वेदव्रतपराः शुभाः ।
बुद्धिमन्तो गताः स्वर्गं तुष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥

कुछ बुद्धिमान् पुरुष संतुष्टचित्त और जितेन्द्रिय हो वेदोक्त व्रतका पालन तथा स्वाध्याय करते हुए शुभसम्पन्न हो स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर चुके हैं ॥ १४ ॥

आर्जवेनापरे युक्ता निहतानार्जवैर्जनैः ।
ऋजवो नाकपृष्ठे वै शुद्धात्मानः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥

कितने ही सरल और शुद्धात्मा पुरुष सरलतासे ही संयुक्त हो कुटिल मनुष्योंद्वारा मारे गये और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ १५ ॥

एवं बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतैः ।
ममापि मतिराविग्ना मेघलेखेव वायुना ॥ १६ ॥

इस प्रकार लोकमें धर्मके विविध एवं बहुत-से दरवाजे खुले हुए हैं, उनसे मेरी बुद्धि भी उसी प्रकार उद्विग्न एवं चञ्चल हो उठी है, जैसे वायुसे मेघोंकी घटा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा नागराज पद्मनाभके सदाचार और सद्गुणोंका वर्णन तथा ब्राह्मणको उसके पास जानेके लिये प्रेरणा

अतिथिरुवाच

उपदेशं तु ते विप्र करिष्येऽहं यथाक्रमम् ।
गुरुणा मे यथाख्यातमर्थतत्त्वं तु मे शृणु ॥ १ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरे गुरुने इस विषयमें जो तात्त्विक बात बतलायी है, उसीका मैं तुमको क्रमशः उपदेश करूँगा। तुम मेरे इस कथनको सुनो ॥ १ ॥

यत्र पूर्वाभिसर्गे वै धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ।
नैमिषे गोमतीतीरे तत्र नागाह्वयं पुरम् ॥ २ ॥
समग्रैस्त्रिदशैस्तत्र इष्टमासीद् द्विजर्षभ ।
यत्रेन्द्रातिक्रमं चक्रे मान्धाता राजसत्तमः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वकल्पमें जहाँ प्रजापतिने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था, सम्पूर्ण देवताओंने जहाँ यज्ञ किया था तथा जहाँ राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता यज्ञ करनेमें इन्द्रसे भी आगे बढ़ गये थे, उस नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर नागपुर नामक एक नगर है ॥ २-३ ॥

कृताधिवासो धर्मात्मा तत्र चक्षुःश्रवा महान् ।
पद्मनाभो महानागः पद्म इत्येव विश्रुतः ॥ ४ ॥

वहाँ एक महान् धर्मात्मा सर्प निवास करता है । उस महानागका नाम तो है पद्मनाभ; परंतु पद्म नामसे ही उसकी प्रसिद्धि है ॥ ४ ॥

स वाचा कर्मणा चैव मनसा च द्विजर्षभ ।
प्रसादयति भूतानि त्रिविधे वर्त्मनि स्थितः ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पद्म मन, वाणी और क्रियाद्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों मार्गोंका आश्रय लेकर रहता और सम्पूर्ण भूतोंको प्रसन्न रखता है ॥ ५ ॥

साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनेति चतुर्विधम् ।
विषमस्थं समस्थं च चक्षुर्ध्यानेन रक्षति ॥ ६ ॥

वह विषमतापूर्ण बर्ताव करनेवाले पुरुषको साम, दान, दण्ड और भेद-नीतिके द्वारा राहपर लाता है, समदर्शीकी रक्षा करता है और नेत्र आदि इन्द्रियोंको विचारके द्वारा कुमार्गमें जानेसे बचाता है ॥ ६ ॥

तमतिक्रम्य विधिना प्रष्टुमर्हसि काङ्क्षितम् ।
स ते परमकं धर्मं न मिथ्या दर्शयिष्यति ॥ ७ ॥

तुम उसीके पास जाकर विधिपूर्वक अपना मनोवाञ्छित प्रश्न पूछो । वह तुम्हें परम उत्तम धर्मका दर्शन करायेगा; मिथ्या धर्मका उपदेश नहीं करेगा ॥ ७ ॥

स हि सर्वातिथिर्नागो बुद्धिशास्त्रविशारदः ।
गुणैरनुपमैर्युक्तः समस्तैराभिकामिकैः ॥ ८ ॥

वह नाग बड़ा बुद्धिमान् और शास्त्रोंका पण्डित है । सबका अतिथि-सत्कार करता है । समस्त अनुपम तथा वाञ्छनीय सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ८ ॥

प्रकृत्या नित्यसलिलो नित्यमध्ययने रतः ।
तपोदमाभ्यां संयुक्तो वृत्तेनानवरेण च ॥ ९ ॥

स्वभाव तो उसका पानीके समान है । वह सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है । तप, इन्द्रिय-संयम तथा उत्तम आचार-विचारसे संयुक्त है ॥ ९ ॥

यज्वा दानपतिः क्षान्तो वृत्ते च परमे स्थितः ।
सत्यवागनसूयुश्च शीलवान्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

वह यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला, दानियोंका शिरोमणि, क्षमाशील, श्रेष्ठ सदाचारमें संलग्न, सत्यवादी, दोषदृष्टिसे रहित, शीलवान् और जितेन्द्रिय है ॥ १० ॥

शेषान्नभोक्ता वचनानुकूलो
हितार्जवोत्कृष्टकृताकृतज्ञः ।
अवैरकृद् भूतहिते नियुक्तो
गङ्गाह्रदाम्भोऽभिजनोपपन्नः ॥ ११ ॥

यज्ञशेष अन्नका वह भोजन करता है, अनुकूल वचन बोलता है, हित और सरलभावसे रहता है । उत्कृष्ट कर्तव्य और अकर्तव्यको जानता है, किसीसे भी वैर नहीं करता है । समस्त प्राणियोंके हितमें लगा रहता है तथा वह गङ्गाजीके समान पवित्र एवं निर्मल कुलमें उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिके वचनोंसे संतुष्ट होकर ब्राह्मणका उसके कथनानुसार नागराजके घरकी ओर प्रस्थान

ब्राह्मण उवाच

अतिभारोऽद्य तस्यैव भारावतरणं महत् ।
पराश्वासकरं वाक्यमिदं मे भवतः श्रुतम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—अतिथिदेव ! मुझपर बड़ा भारी बोझ-सा लदा हुआ था, उसे आज आपने उतार दिया । यह बहुत बड़ा कार्य हो गया । आपकी यह बात जो मैंने सुनी है, दूसरोंको पूर्ण सान्त्वना प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

अध्वक्लान्तस्य शयनं स्थानक्लान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधार्तस्य च भोजनम् ॥ २ ॥

राह चलनेसे थके हुए बटोहीको शय्या, खड़े-खड़े जिसके

पैर दुख रहे हों, उसके लिये बैठनेका आसन, प्यासेको पानी और भूखसे पीड़ित मनुष्यको भोजन मिलनेसे जितना संतोष होता है, उतनी ही प्रसन्नता मुझे आपकी यह बात सुनकर हुई है ॥ २ ॥

ईप्सितस्येव सम्प्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः।
एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्यैव सुतो यथा ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तितस्येव प्रीतिस्निग्धस्य दर्शनम्।
प्रह्लादयति मां वाक्यं भवता यदुदीरितम् ॥ ४ ॥

भोजनके समय मनोवाञ्छित अन्नकी प्राप्ति होनेसे अतिथिको, समयपर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे अपने मनको, पुत्रकी प्राप्ति होनेसे वृद्धको तथा मनसे जिसका चिन्तन हो रहा हो, उस प्रेमी मित्रका दर्शन होनेसे मित्रको जितना आनन्द प्राप्त होता है, आज आपने जो बात कही है, वह मुझे उतना ही आनन्द दे रही है ॥ ३-४ ॥

दत्तचक्षुरिवाकाशे पश्यामि विमृशामि च।
प्रज्ञानवचनाद्योऽयमुपदेशो हि मे कृतः ॥ ५ ॥

आपने मुझे यह उपदेश क्या दिया, अन्धेको आँख दे दी। आपके इस ज्ञानमय वचनको सुनकर मैं आकाशकी ओर देखता और कर्तव्यका विचार करता हूँ ॥ ५ ॥

बाढमेवं करिष्यामि यथा मे भाषते भवान्।
इमां हि रजनीं साधो निवसस्व मया सह ॥ ६ ॥
प्रभाते यास्यति भवान् पर्याश्वस्तः सुखोषितः।
असौ हि भगवान् सूर्यो मन्दरश्मिरवाङ्मुखः ॥ ७ ॥

विद्वन्! आप मुझे जैसी सलाह दे रहे हैं, अवश्य ऐसा ही करूँगा। साधो! वे भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। उनकी किरणें मन्द हो गयी हैं; अतः आप इस रातमें मेरे साथ यहीं रहिये और सुखपूर्वक विश्राम करके भलीभाँति अपनी थकावट दूर कीजिये; फिर सबेरे अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइयेगा ॥ ६-७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तेन कृतातिथ्यः सोऽतिथिः शत्रुसूदन।
उवास किल तां रात्रिं सह तेन द्विजेन वै ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—शत्रुसूदन! तदनन्तर वह अतिथि उस ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर वहीं उस ब्राह्मणके साथ रहा ॥ ८ ॥

चतुर्थधर्मसंयुक्तं तयोः कथयतोस्तदा।
व्यतीता सा निशा कृत्स्ना सुखेन दिवसोपमा ॥ ९ ॥

मोक्षधर्मके सम्बन्धमें बातें करते हुए उन दोनोंकी वह सारी रात दिनके समान ही बड़े सुखसे बीत गयी ॥ ९ ॥

ततः प्रभातसमये सोऽतिथिस्तेन पूजितः।
ब्राह्मणेन यथाशक्त्या स्वकार्यमभिकाङ्क्षता ॥ १० ॥

फिर सबेरा होनेपर अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले उस ब्राह्मणद्वारा यथाशक्ति सम्मानित हो वह अतिथि चला गया ॥

ततः स विप्रः कृतकर्मनिश्चयः
कृताभ्यनुज्ञः स्वजनेन धर्मकृत्।
यथोपदिष्टं भुजगेन्द्रसंश्रयं
जगाम काले सुकृतैकनिश्चयः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वह धर्मात्मा ब्राह्मण अपने अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेका निश्चय करके स्वजनोंकी अनुमति ले अतिथिके बताये अनुसार यथासमय नागराजके घरकी ओर चल दिया। उसने अपने शुभ कार्यको सिद्ध करनेका एक दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागपत्नीके द्वारा ब्राह्मणका सत्कार और वार्तालापके बाद ब्राह्मणके द्वारा नागराजके आगमनकी प्रतीक्षा

भीष्म उवाच

स वनानि विचित्राणि तीर्थानि च सरांसि च।
अभिगच्छन् क्रमेण स कंचिन्मुनिमुपस्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वह ब्राह्मण क्रमशः अनेकानेक विचित्र वनों, तीर्थों और सरोवरोंको लाँघता हुआ किसी मुनिके आश्रमपर उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

तं स तेन यथोद्दिष्टं नागं विप्रेण ब्राह्मणः।
पर्यपृच्छद् यथान्यायं श्रुत्वैव च जगाम सः ॥ २ ॥

उस मुनिसे ब्राह्मणने अपने अतिथिके बताये हुए नागका पता पूछा। मुनिने जो कुछ बताया, उसे

यथावत्‌रूपसे सुनकर वह पुनः आगे बढ़ा ॥ २ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं नागायतनमर्थवित्।
प्रोक्तवानहमस्मीति भोःशब्दालंकृतं वचः ॥ ३ ॥

अपने उद्देश्यको ठीक-ठीक समझनेवाला वह ब्राह्मण विधिपूर्वक यात्रा करके नागके घरपर जा पहुँचा। घरके द्वारपर पहुँचकर उसने 'भोः' शब्दसे विभूषित वचन बोलते हुए पुकार लगायी—'कोई है ? मैं यहाँ द्वारपर आया हूँ' ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा रूपिणी धर्मवत्सला।
दर्शयामास तं विप्रं नागपत्नी पतिव्रता ॥ ४ ॥

उसकी वह बात सुनकर धर्मके प्रति अनुराग रखनेवाली नागराजकी परम सुन्दरी पतिव्रता पत्नीने उस ब्राह्मणको दर्शन दिया ॥ ४ ॥

सा तस्मै विधिवत् पूजां चक्रे धर्मपरायणा।
स्वागतेनागतं कृत्वा किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस धर्मपरायणा सतीने ब्राह्मणका विधिपूर्वक पूजन किया और स्वागत करते हुए कहा—'ब्राह्मणदेव ! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ५ ॥

ब्राह्मण उवाच

विश्रान्तोऽभ्यर्चितश्चास्मि भवत्या श्लक्ष्णया गिरा।
द्रष्टुमिच्छामि भवति देवं नागमनुत्तमम् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! आपने मधुर वाणीसे मेरा स्वागत और पूजन किया। इससे मेरी सारी थकावट दूर हो गयी। अब मैं परम उत्तम नागदेवका दर्शन करना चाहता हूँ ॥

एतद्धि परमं कार्यमेतन्मे परमेप्सितम्।
अनेन चार्थेनास्म्यद्य सम्प्राप्तः पन्नगाश्रमम् ॥ ७ ॥

यही मेरा सबसे बड़ा कार्य है और यही मेरा महान् मनोरथ है, मैं इसी उद्देश्यसे आज नागराजके इस आश्रमपर आया हूँ ॥ ७ ॥

नागभार्योवाच

आर्यः सूर्यरथं वोढुं गतोऽसौ मासचारिकः।
सप्ताष्टभिर्दिनैर्विप्र दर्शयिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥

नागपत्नीने कहा—विप्रवर ! मेरे माननीय पतिदेव सूर्यदेवका रथ ढोनेके लिये गये हुए हैं। वर्षमें एक बार एक मासतक उन्हें यह कार्य करना पड़ता है। पंद्रह दिनोंमें ही वे यहाँ दर्शन देंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

एतद्विदितमार्यस्य विवासकरणं तव।
भर्तुर्भवतु किं चान्यत् क्रियतां तद् वदस्व मे ॥ ९ ॥

मेरे पतिदेव—आर्यपुत्रके प्रवासका यह कारण आपको विदित हो। उनके दर्शनके सिवा और क्या काम है ? यह मुझे बताइये; जिससे वह पूर्ण किया जाय ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

अनेन निश्चयेनाहं साध्वि सम्प्राप्तवानिह।
प्रतीक्षन्नागमं देवि वत्स्याम्यस्मिन् महावने ॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—सती-साध्वी देवि ! मैं उनके दर्शन करनेका निश्चय करके ही यहाँ आया हूँ; अतः उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं इस महान् वनमें निवास करूँगा ॥ १० ॥

सम्प्राप्तस्यैव चाव्यग्रमावेद्योऽहमिहागतः।
ममाभिगमनं प्राप्तो वाच्यश्च वचनं त्वया ॥ ११ ॥

जब नागराज यहाँ आ जायँ, तब उन्हें शान्तभावसे यह बतला देना चाहिये कि मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें ऐसी बात उनसे कहनी चाहिये, जिससे वे मेरे निकट आकर मुझे दर्शन दें ॥ ११ ॥

अहमप्यत्र वत्स्यामि गोमत्याः पुलिने शुभे।
कालं परिमिताहारो यथोक्तं परिपालयन् ॥ १२ ॥

मैं भी यहाँ गोमतीके सुन्दर तटपर परिमित आहार करके तुम्हारे बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करता हुआ निवास करूँगा ॥ १२ ॥

ततः स विप्रस्तां नागीं समाधाय पुनः पुनः।
तदेव पुलिनं नद्याः प्रययौ ब्राह्मणर्षभः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण नागपत्नीको बारंबार (नागराजको भेजनेके लिये) जताकर गोमती नदीके तटपर ही चला गया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३५७॥

अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजके दर्शनके लिये ब्राह्मणकी तपस्या तथा नागराजके परिवारवालोंका भोजनके लिये ब्राह्मणसे आग्रह करना

भीष्म उवाच

अथ तेन नरश्रेष्ठ ब्राह्मणेन तपस्विना।
निराहारेण वसता दुःखितास्ते भुजङ्गमाः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर गोमतीके

तटपर रहता हुआ वह ब्राह्मण निराहार रहकर तपस्या करने लगा। उसके भोजन न करनेसे वहाँ रहनेवाले नागोंको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

सर्वे सम्भूय सहिता ह्यस्य नागस्य बान्धवाः।
भ्रातरस्तनया भार्या ययुस्तं ब्राह्मणं प्रति ॥ २ ॥

तब नागराजके भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र सब मिलकर उस ब्राह्मणके पास गये ॥ २ ॥

तेऽपश्यन् पुलिने तं वै विविक्ते नियतव्रतम्।
समासीनं निराहारं द्विजं जप्यपरायणम् ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, ब्राह्मण गोमतीके तटपर एकान्त प्रदेशमें व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो निराहार बैठा हुआ है और मन्त्रका जप कर रहा है ॥ ३ ॥

ते सर्वे समतिक्रम्य विप्रमभ्यर्च्य चासकृत्।
ऊचुर्वाक्यमसंदिग्धमातिथेयस्य बान्धवाः ॥ ४ ॥

अतिथि-सत्कारके लिये प्रसिद्ध हुए नागराजके सब भाई-बन्धु ब्राह्मणके पास जा उसकी बारंबार पूजा करके संदेह-रहित वाणीमें बोले—॥ ४ ॥

षष्ठो हि दिवसस्तेऽद्य प्राप्तस्येह तपोधन।
न चाभिभाषसे किंचिदाहारं धर्मवत्सल ॥ ५ ॥

'धर्मवत्सल तपोधन! आपको यहाँ आये आज छः दिन हो गये; किंतु अभीतक आप कुछ भोजन लानेके लिये हमें आज्ञा नहीं दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्मानभिगतश्चासि वयं च त्वामुपस्थिताः।
कार्यं चातिथ्यमस्माभिर्वयं सर्वे कुटुम्बिनः ॥ ६ ॥

'आप हमारे घर अतिथिके रूपमें आये हैं और हम आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं। आपका आतिथ्य करना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि हम सब लोग गृहस्थ हैं ॥ ६ ॥

मूलं फलं वा पर्णं वा पयो वा द्विजसत्तम।
आहारहेतोरन्नं वा भोक्तुमर्हसि ब्राह्मण ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! आप क्षुधाकी निवृत्तिके लिये हमारे लाये हुए फल-मूल, साग, दूध अथवा अन्नको अवश्य ग्रहण करनेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

त्यक्ताहारेण भवता वने निवसता त्वया।
बालवृद्धमिदं सर्वं पीड्यते धर्मसंकटात् ॥ ८ ॥

'इस वनमें रहकर आपने भोजन छोड़ दिया है। इससे हमारे धर्ममें बाधा आती है। बालकसे लेकर वृद्धतक हम सब लोगोंको इस बातसे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ८ ॥

न हि नो भ्रूणहा कश्चिज्जातापत्यनृतोऽपि वा।
पूर्वाशी वा कुले ह्यस्मिन् देवतातिथिबन्धुषु ॥ ९ ॥

'हमारे इस कुलमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने कभी भ्रूणहत्या की हो, जिसकी संतान पैदा होकर मर गयी हो, जिसने मिथ्या भाषण किया हो अथवा जो देवता, अतिथि एवं बन्धुओंको अन्न देनेके पहले ही भोजन कर लेता हो' ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपदेशेन युष्माकमाहारोऽयं कृतो मया।
द्विरूनं दशरात्रं वै नागस्यागमनं प्रति ॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—नागगण! आपलोगोंके इस उपदेशसे ही मैं तृप्त हो गया। आपलोग ऐसा समझें कि मैंने यह आहार ही प्राप्त कर लिया। नागराजके आनेमें केवल आठ रातें बाकी हैं ॥ १० ॥

यद्यष्टरात्रेऽतिक्रान्ते नागमिष्यति पन्नगः।
तदाहारं करिष्यामि तन्निमित्तमिदं व्रतम् ॥ ११ ॥

यदि आठ रात बीत जानेपर भी नागराज नहीं आयेंगे तो मैं भोजन कर लूँगा। उनके आगमनके लिये ही मैंने यह व्रत लिया है ॥ ११ ॥

कर्तव्यो न च संतापो गम्यतां च यथागतम्।
तन्निमित्तमिदं सर्वं नैतद् भेत्तुमिहार्हथ ॥ १२ ॥

आपलोगोंको इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। आप जैसे आये हैं, वैसे ही घर लौट जाइये। नागराजके दर्शनके लिये ही मेरा यह सारा व्रत और नियम है। अतः आपलोग इसे भङ्ग न करें ॥ १२ ॥

ते तेन समनुज्ञाता ब्राह्मणेन भुजङ्गमाः।
स्वमेव भवनं जग्मुरकृतार्था नरर्षभ ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे नाग अपने प्रयत्नमें असफल हो घरको ही लौट गये ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका घर लौटना, पत्नीके साथ उनकी धर्मविषयक बातचीत तथा पत्नीका उनसे ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये अनुरोध

भीष्म उवाच

अथ काले बहुतिथे पूर्णे प्राप्तो भुजङ्गमः।
दत्ताभ्यनुज्ञः स्वं वेश्म कृतकर्मा विवस्वता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कई दिनोंका समय पूरा होनेपर जब नागराजका काम पूरा हो गया, तब सूर्यदेवकी आज्ञा पाकर वे अपने घरको लौटे ॥ १ ॥

तं भार्याप्युपचक्राम पादशौचादिभिर्गुणैः।
उपपन्नां च तां साध्वीं पन्नगः पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

वहाँ नागराजकी पत्नी पैर धोनेके लिये जल—पाद्य आदि उत्तम सामग्रियोंके साथ पतिकी सेवामें उपस्थित हुई। अपनी साध्वी पत्नीको समीप आयी देख नागराजने पूछा—॥

अथ त्वमसि कल्याणि देवतातिथिपूजने।
पूर्वमुक्तेन विधिना युक्ता युक्तेन मत्समम् ॥ ३ ॥

'कल्याणि ! मेरे द्वारा बतायी हुई उपयुक्त विधिसे युक्त हो तुम मेरे ही समान देवताओं और अतिथियोंके पूजनमें तत्पर तो रही हो न ? ॥ ३ ॥

न खल्वस्यकृतार्थेन स्त्रीबुद्ध्या मार्दवीकृता।
मद्वियोगेन सुश्रोणि विमुक्ता धर्मसेतुना ॥ ४ ॥

'सुन्दरि ! मेरे वियोगने तुम्हें शिथिल तो नहीं कर दिया था ? तुम्हारी स्त्री-बुद्धिके कारण कहीं धर्मकी मर्यादा असफल या अरक्षित तो नहीं रह गयी और उसके कारण तुम धर्म-पालनसे विमुख या दूर तो नहीं हो गयीं ?॥ ४॥

नागभार्योवाच

शिष्याणां गुरुशुश्रूषा विप्राणां वेदधारणम्।
भृत्यानां स्वामिवचनं राज्ञो लोकानुपालनम् ॥ ५ ॥

नागपत्नीने कहा—शिष्योंका धर्म है गुरुकी सेवा करना, ब्राह्मणोंका धर्म है वेदोंको धारण करना, सेवकोंका धर्म है स्वामीकी आज्ञाका पालन तथा राजाका धर्म है प्रजावर्गका सतत संरक्षण ॥ ५ ॥

सर्वभूतपरित्राणं क्षत्रधर्म इहोच्यते।
वैश्यानां यज्ञसंवृत्तिरातिथेयसमन्विता ॥ ६ ॥

इस जगत्में समस्त प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रिय-धर्म बताया जाता है। अतिथिसत्कारके साथ-साथ यज्ञोंका अनुष्ठान करना वैश्योंका धर्म कहा गया है ॥ ६ ॥

विप्रक्षत्रियवैश्यानां शुश्रूषा शूद्रकर्म तत्।
गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ॥ ७ ॥

नागराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका कर्तव्य बताया गया है और समस्त प्राणियोंके हितकी इच्छा रखना गृहस्थका धर्म है ॥ ७ ॥

नियताहारता नित्यं व्रतचर्या यथाक्रमम्।
धर्मो हि धर्मसम्बन्धादिन्द्रियाणां विशेषतः ॥ ८ ॥

नियमित आहारका सेवन और विधिवत् व्रतका पालन सबका धर्म है। धर्म-पालनके सम्बन्धसे इन्द्रियोंकी विशेष-रूपसे शुद्धि होती है ॥ ८ ॥

अहं कस्य कुतो वापि कः को मे ह भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत् ॥ ९ ॥

'मैं किसका हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा कौन है ? तथा इस जीवनका प्रयोजन क्या है ?' इत्यादि बातोंका सदा विचार करते हुए ही संन्यासीको संन्यास-आश्रममें रहना चाहिये ॥

पतिव्रतात्वं भार्यायाः परमो धर्म उच्यते।
तवोपदेशान्नागेन्द्र तच्च तत्त्वेन वेद्मि वै ॥ १० ॥

नागराज ! पत्नीके लिये पातिव्रत्य ही सबसे बड़ा धर्म कहा जाता है। आपके उपदेशसे अपने उस धर्मको मैं अच्छी तरह समझती हूँ ॥ १० ॥

साहं धर्मं विजानन्ती धर्मनित्ये त्वयि स्थिते।
सत्पथं कथमुत्सृज्य यास्यामि विपथं पथः ॥ ११ ॥

जब आप—मेरे पतिदेव सदा धर्मपर स्थित रहते हैं, तब धर्मको जानती हुई भी मैं कैसे सन्मार्गका त्याग करके कुमार्गपर पैर रखूँगी ? ॥ ११ ॥

देवतानां महाभाग धर्मचर्या न हीयते।
अतिथीनां च सत्कारे नित्ययुक्तास्म्यतन्द्रिता ॥ १२ ॥

महाभाग ! देवताओंकी आराधनारूप धर्मचर्यामें कोई कमी नहीं आयी है, अतिथियोंके सत्कारमें भी मैं सदा आलस्य छोड़कर लगी रही हूँ ॥ १२ ॥

सप्ताष्टदिवसास्त्वद्य विप्रस्येहागतस्य वै।
तच्च कार्यं न मे ख्याति दर्शनं तव काङ्क्षति ॥ १३ ॥

परंतु आज पंद्रह दिनसे एक ब्राह्मणदेवता यहाँ पधारे हुए हैं। वे मुझसे अपना कोई कार्य नहीं बता रहे हैं। केवल आपका दर्शन चाहते हैं ॥ १३ ॥

गोमत्यास्त्वेष पुलिने त्वद्दर्शनसमुत्सुकः।
आसीनो वर्तयन् ब्रह्म ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ १४ ॥

वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण वेदोंका पारायण करते हुए आपके दर्शनके लिये उत्सुक हो गोमतीके किनारे बैठे हुए हैं ॥ १४ ॥

अहं त्वनेन नागेन्द्र सत्यपूर्वं समाहिता ।
प्रस्थाप्यो मत्सकाशं स सम्प्राप्तो भुजगोत्तमः ॥ १५ ॥

नागराज ! उन्होंने मुझसे पहले सच्ची प्रतिज्ञा करा ली है कि नागराजके आते ही तुम उन्हें मेरे पास भेज देना ॥

एतच्छ्रुत्वा महाप्राज्ञ तत्र गन्तुं त्वमर्हसि ।
दातुमर्हसि वा तस्य दर्शनं दर्शनश्रवः ॥ १६ ॥

महाप्राज्ञ नागराज ! मेरी यह बात सुनकर अब आपको वहाँ जाना चाहिये और ब्राह्मणदेवताको दर्शन देना चाहिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि **उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः** ॥ ३५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५९ ॥

षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पत्नीके धर्मयुक्त वचनोंसे नागराजके अभिमान एवं रोषका नाश और उनका ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये उद्यत होना

नाग उवाच

अथ ब्राह्मणरूपेण कं तं समनुपश्यसि ।
मानुषं केवलं विप्रं देवं वाथ शुचिस्मिते ॥ १ ॥

नागने पूछा—पवित्र मुस्कानवाली देवि ! ब्राह्मणरूपमें तुमने किसका दर्शन किया है ? वे ब्राह्मण कोई मनुष्य हैं या देवता ? ॥ १ ॥

को हि मां मानुषः शक्तो द्रष्टुकामो यशस्विनि ।
संदर्शनरुचिर्वाक्यमाज्ञापूर्वं वदिष्यति ॥ २ ॥

यशस्विनि ! भला, कौन मनुष्य मुझे देखनेकी इच्छा कर सकता है और यदि दर्शनकी इच्छा करे भी तो कौन इस तरह मुझे आज्ञा देकर बुला सकता है ? ॥ २ ॥

सुरासुरगणानां च देवर्षीणां च भाविनि ।
ननु नागा महावीर्याः सौरसेयास्तरस्विनः ॥ ३ ॥
वन्दनीयाश्च वरदा वयमप्यनुयायिनः ।
मनुष्याणां विशेषेण नावेक्ष्या इति मे मतिः ॥ ४ ॥

भाविनि ! सुरसाके वंशज नाग महापराक्रमी और अत्यन्त वेगशाली होते हैं। वे देवताओं, असुरों और देवर्षियोंके लिये भी वन्दनीय हैं। हमलोग भी अपने सेवकको वर देनेवाले हैं। विशेषतः मनुष्योंके लिये हमारा दर्शन सुलभ नहीं है, ऐसी मेरी धारणा है ॥ ३-४ ॥

नागभार्योवाच

आर्जवेन विजानामि नासौ देवोऽनिलाशन ।
एकं तस्मिन् विजानामि भक्तिमानतिरोषण ॥ ५ ॥

नागपत्नी बोली—अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाले वायुभोजी नागराज ! उन ब्राह्मणकी सरलतासे तो मैं यही समझती हूँ कि वे देवता नहीं हैं। मुझे उनमें एक बहुत बड़ी विशेषता यह जान पड़ी है कि वे आपके भक्त हैं ॥ ५ ॥

स हि कार्यान्तराकाङ्क्षी जलेप्सुः स्तोकको यथा ।
वर्षं वर्षप्रियः पक्षी दर्शनं तव काङ्क्षति ॥ ६ ॥

जैसे वर्षाके जलका प्रेमी प्यासा पपीहा पक्षी पानीके लिये वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार वे ब्राह्मण किसी दूसरे कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छासे आपका दर्शन चाहते हैं ॥

हित्वा त्वद्दर्शनं किंचिद् विघ्नं न प्रतिपालयेत् ।
तुल्योऽप्यभिजने जातो न कश्चित् पर्युपासते ॥ ७ ॥

वे आपका दर्शन छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको विघ्न समझते हैं; अतः वह विघ्न उन्हें नहीं प्राप्त होना चाहिये। उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ आपके समान कोई सद्गृहस्थ अतिथिकी उपेक्षा करके घरमें नहीं बैठता है ॥ ७ ॥

तद्रोषं सहजं त्यक्त्वा त्वमेनं द्रष्टुमर्हसि ।
आशाच्छेदेन तस्याद्य नात्मानं दग्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

अतः आप अपने सहज रोषको त्यागकर इन ब्राह्मण-देवताका दर्शन कीजिये। आज इनकी आशा भङ्ग करके अपने-आपको भस्म न कीजिये ॥ ८ ॥

आशया ह्यभिपन्नानामकृत्वाश्रुप्रमार्जनम् ।
राजा वा राजपुत्रो वा भ्रूणहत्यैव युज्यते ॥ ९ ॥

जो आशा लगाकर अपनी शरणमें आये हों, उनके आँसू जो नहीं पोंछता है, वह राजा हो या राजकुमार, उसे भ्रूणहत्याका पाप लगता है ॥ ९ ॥

मौने ज्ञानफलावाप्तिर्दानेन च यशो महत् ।
वाग्मित्वं सत्यवाक्येन परत्र च महीयते ॥ १० ॥

मौन रहनेसे ज्ञानरूपी फलकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे महान् यशकी वृद्धि होती है। सत्य बोलनेसे वाणीकी पटुता और परलोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥ १० ॥

भूप्रदानेन च गतिं लभत्याश्रमसम्मिताम्।
न्याय्यस्यार्थस्य सम्प्राप्तिं कृत्वा फलमुपाश्नुते ॥ ११॥

भूदान करनेसे मनुष्य आश्रम-धर्मके पालनके समान उत्तम गति पाता है। न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करके पुरुष श्रेष्ठ फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अभिप्रेतामसंक्लिष्टां कृत्वा चात्महितां क्रियाम्।
न याति निरयं कश्चिदिति धर्मविदो विदुः ॥ १२ ॥

अपनी रुचिके अनुकूल कर्म भी यदि पापके सम्पर्कसे रहित और अपने लिये हितकर हो तो उसे करके कोई भी नरकमें नहीं पड़ता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १२ ॥

नाग उवाच

अभिमानैर्न मानो मे जातिदोषेण वै महान्।
रोषः संकल्पजः साध्वि दग्धो वागग्निना त्वया॥ १३ ॥

साध्वि! मुझमें अहंकारके कारण अभिमान नहीं है; अपितु जाति-दोषके कारण महान् रोष भरा हुआ है। मेरे उस संकल्पजनित रोषको अब तुमने अपनी वाणीरूप अग्निसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

न च रोषादहं साध्वि पश्येयमधिकं तमः।
तस्य वक्तव्यतां यान्ति विशेषेण भुजङ्गमाः ॥ १४ ॥

पतिव्रते! मैं रोषसे बढ़कर मोहमें डालनेवाला दूसरा कोई दोष नहीं देखता और क्रोधके लिये सर्प ही अधिक बदनाम हैं ॥ १४ ॥

रोषस्य हि वशं गत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
तथा शक्रप्रतिस्पर्धी हतो रामेण संयुगे ॥ १५ ॥

इन्द्रसे भी टक्कर लेनेवाला प्रतापी दशानन रावण रोषके ही अधीन होकर युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मारा गया ॥

अन्तःपुरगतं वत्सं श्रुत्वा रामेण निर्हृतम्।
धर्षणारोषसंविग्नाः कार्तवीर्यसुता हताः ॥ १६ ॥

'होमधेनुके बछड़ेका अपहरण करके उसे राजाके अन्तःपुरमें रख दिया गया है' ऐसा सुनकर परशुरामजीने तिरस्कारजनक रोषसे भरे हुए कार्तवीर्यपुत्रोंको मार डाला ॥

जामदग्न्येन रामेण सहस्रनयनोपमः।
संयुगे निहतो रोषात् कार्तवीर्यो महाबलः ॥ १७ ॥

महाबली राजा कार्तवीर्य अर्जुन इन्द्रके समान पराक्रमी था; परंतु रोषके ही कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा युद्धमें मारा गया ॥ १७ ॥

तदेष तपसां शत्रुः श्रेयसां विनिपातकः।
निगृहीतो मया रोषः श्रुत्वैवं वचनं तव ॥ १८ ॥

इसलिये आज तुम्हारी बात सुनकर ही तपस्याके शत्रु और कल्याणमार्गसे भ्रष्ट करनेवाले इस क्रोधको मैंने काबूमें कर लिया है ॥ १८ ॥

आत्मानं च विशेषेण प्रशंसाम्यनपायिनी।
यस्य मे त्वं विशालाक्षि भार्या गुणसमन्विता ॥ १९ ॥

विशाललोचने! मैं अपनी एवं अपने सौभाग्यकी विशेषरूपसे प्रशंसा करता हूँ, जिसे तुम-जैसी सद्गुणवती तथा कभी विलग न होनेवाली पत्नी प्राप्त हुई है ॥ १९ ॥

एष तत्रैव गच्छामि यत्र तिष्ठत्यसौ द्विजः।
सर्वथा चोक्तवान् वाक्यं स कृतार्थः प्रयास्यति॥ २० ॥

यह लो, अब मैं वहीं जाता हूँ, जहाँ वे ब्राह्मण देवता विराजमान हैं। वे जो कहेंगे वही करूँगा। वे सर्वथा कृतार्थ होकर यहाँसे जायँगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६० ॥

एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराज और ब्राह्मणका परस्पर मिलन तथा बातचीत

भीष्म उवाच

स पन्नगपतिस्तत्र प्रययौ ब्राह्मणं प्रति।
तमेव मनसा ध्यायन् कार्यवत्तां विचारयन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह कहकर नागराज मन-ही-मन उस ब्राह्मणके कार्यका विचार करते हुए उसके पास गये ॥ १ ॥

तमतिक्रम्य नागेन्द्रो मतिमान् स नरेश्वर।
प्रोवाच मधुरं वाक्यं प्रकृत्या धर्मवत्सलः ॥ २ ॥

नरेश्वर! उसके निकट पहुँचकर बुद्धिमान् नागेन्द्र, जो स्वभावसे ही धर्मानुरागी थे, मधुर वाणीमें बोले— ॥ २ ॥

भो भोः क्षाम्याभिभाषे त्वां न रोषं कर्तुमर्हसि।
इह त्वमभिसम्प्राप्तः कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

'हे ब्राह्मणदेव ! आप मेरे अपराधोंको क्षमा करें। मुझपर रोष न करें। मैं आपसे पूछता हूँ कि आप यहाँ किसके लिये आये हैं ? आपका क्या प्रयोजन है ? ॥ ३ ॥

आभिमुख्यादभिक्रम्य स्नेहात् पृच्छामि ते द्विज।
विविक्ते गोमतीतीरे कं वा त्वं पर्युपाससे ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं आपके सामने आकर प्रेमपूर्वक पूछता हूँ कि गोमतीके इस एकान्त तटपर आप किसकी उपासना करते हैं ?' ॥

ब्राह्मण उवाच

धर्मारण्यं हि मां विद्धि नागं द्रष्टुमिहागतम्।
पद्मनाभं द्विजश्रेष्ठ तत्र मे कार्यमाहितम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपको विदित हो कि मेरा नाम धर्मारण्य है। मैं नागराज पद्मनाभका दर्शन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। उन्हींसे मुझे कुछ काम है ॥ ५ ॥

तस्य चाहमसांनिध्ये श्रुतवानस्मि तं गतम्।
स्वजनात् तं प्रतीक्षामि पर्जन्यमिव कर्षकः ॥ ६ ॥

उनके स्वजनोंसे मैंने सुना है कि वे यहाँसे दूर गये हुए हैं, अतः जैसे किसान वर्षाकी राह देखता है, उसी तरह मैं भी उनकी बाट जोहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य चाक्लेशकरणं स्वस्तिकारसमाहितम्।
आवर्तयामि तद् ब्रह्म योगयुक्तो निरामयः ॥ ७ ॥

उन्हें कोई क्लेश न हो। वे सकुशल घर लौटकर आ जायँ, इसके लिये नीरोग एवं योगयुक्त होकर मैं वेदोंका पारायण कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

नाग उवाच

अहो कल्याणवृत्तस्त्वं साधुः सज्जनवत्सलः।
अवाच्यस्त्वं महाभाग परं स्नेहेन पश्यसि ॥ ८ ॥

नागने कहा—महाभाग ! आपका आचरण बड़ा ही कल्याणमय है। आप बड़े ही साधु हैं और सज्जनोंपर स्नेह रखते हैं। किसी भी दृष्टिसे आप निन्दनीय नहीं हैं; क्योंकि दूसरोंको स्नेहदृष्टिसे देखते हैं ॥ ८ ॥

अहं स नागो विप्रर्षे यथा मां विन्दते भवान्।
आज्ञापय यथा स्वैरं किं करोमि प्रियं तव ॥ ९ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं ही वह नाग हूँ, जिससे आप मिलना चाहते हैं। आप मुझे जैसा जानते हैं, मैं वैसा ही हूँ। इच्छानुसार आज्ञा दीजिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥

भवन्तं स्वजनादस्मि सम्प्राप्तं श्रुतवानहम्।
अतस्त्वां स्वयमेवाहं द्रष्टुमभ्यागतो द्विज ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! अपने स्वजन (पत्नी) से मैंने आपके आगमनका समाचार सुना है; इसलिये स्वयं ही आपका दर्शन करनेके लिये चला आया हूँ ॥ १० ॥

सम्प्राप्तश्च भवानद्य कृतार्थः प्रतियास्यति।
विस्रब्धो मां द्विजश्रेष्ठ विषये योक्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब आप यहाँतक आ गये हैं, तब अब कृतार्थ होकर ही यहाँसे लौटेंगे; अतः बेखटके मुझे अपने अभीष्ट कार्यके साधनमें लगाइये ॥ ११ ॥

वयं हि भवता सर्वे गुणक्रीता विशेषतः।
यस्त्वमात्महितं त्यक्त्वा मामेवेहानुरुध्यसे ॥ १२ ॥

आपने हम सब लोगोंको विशेषरूपसे अपने गुणोंसे खरीद लिया है; क्योंकि आप अपने हितकी बातको अलग रखकर मेरे ही कल्याणका चिन्तन कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच

आगतोऽहं महाभाग तव दर्शनलालसः।
कंचिदर्थमनर्थज्ञः प्रष्टुकामो भुजङ्गम ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग नागराज ! मैं आपहीके दर्शनकी लालसासे यहाँ आया हूँ। आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, जिसे मैं स्वयं नहीं जानता हूँ ॥ १३ ॥

अहमात्मानमात्मस्थो मार्गमाणोऽऽत्मनो गतिम्।
वासार्थिनं महाप्राज्ञं चलच्चित्तमुपास्मि ह ॥ १४ ॥

मैं विषयोंसे निवृत्त हो अपने आपमें ही स्थित रहकर जीवात्माओंकी परमगतिस्वरूप परब्रह्म परमात्माकी खोज कर रहा हूँ, तो भी महान् बुद्धियुक्त गृहमें आसक्त हुए इस

चञ्चल चित्तकी उपासना करता हूँ (अतः मैं न तो आसक्त हूँ और न विरक्त ही हूँ) ॥ १४ ॥

प्रकाशितस्त्वं स्वगुणैर्यशोगर्भगभस्तिभिः ।
शशाङ्ककरसंस्पर्शैर्हृद्यैरात्मप्रकाशितैः ॥ १५ ॥

आप चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति सुखद स्पर्शवाले और स्वतः प्रकाशित होनेवाले सुयशरूपी किरणोंसे युक्त अपने मनोरम गुणोंसे ही प्रकाशमान हैं ॥ १५ ॥

तस्य मे प्रश्नमुत्पन्नं छिन्धि त्वमनिलाशन ।
पश्चात् कार्यं वदिष्यामि श्रोतुमर्हति तद् भवान् ॥ १६ ॥

पवनाशन ! इस समय मेरे मनमें एक नया प्रश्न उठा है । पहले इसका समाधान कीजिये । उसके बाद मैं आपसे अपना कार्य निवेदन करूँगा और आप उसे ध्यानसे सुनियेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका ब्राह्मणके पूछनेपर सूर्यमण्डलकी आश्चर्यजनक घटनाओंको सुनाना

ब्राह्मण उवाच

विवस्वतो गच्छति पर्ययेण
वोढुं भवांस्तं रथमेकचक्रम् ।
आश्चर्यभूतं यदि तत्र किंचिद्
दृष्टं त्वया शंसितुमर्हसि त्वम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! आप सूर्यके एक पहियेके रथको खींचनेके लिये बारी-बारीसे जाया करते हैं । यदि वहाँ कोई आश्चर्यजनक बात आपने देखी हो तो उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

नाग उवाच

आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः ।
यतो भूताः प्रवर्तन्ते सर्वे त्रैलोक्यसम्मताः ॥ २ ॥

नागने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् सूर्य तो अनेकानेक आश्चर्योंके स्थान हैं; क्योंकि तीनों लोकोंमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब उन्हींसे प्रेरित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ॥

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥ ३ ॥

जैसे वृक्षकी शाखाओंपर बहुत-से पक्षी बसेरा लेते हैं, उसी प्रकार सूर्यदेवकी सहस्रों किरणोंका आश्रय ले देवताओं-सहित सिद्ध और मुनि निवास करते हैं ॥ ३ ॥

यतो वायुर्विनिःसृत्य सूर्यरश्म्याश्रितो महान् ।
विजृम्भत्यम्बरे तत्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ४ ॥

महान् वायुदेव सूर्यमण्डलसे निकलकर सूर्यकी किरणोंका आश्रय ले समूचे आकाशमें फैल जाते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥ ४ ॥

विभज्य तं तु विप्रर्षे प्रजानां हितकाम्यया ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! प्रजाके हितकी कामनासे भगवान् सूर्य उस वायुको अनेक भागोंमें विभक्त करके वर्षाऋतुमें जो जलकी वृष्टि करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥५॥

यस्य मण्डलमध्यस्थो महात्मा परमत्विषा ।
दीप्तः समीक्षते लोकान् किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ६ ॥

सूर्यमण्डलके मध्यमें उसके अन्तर्यामी महात्मा सूर्यदेव अपनी उत्तम प्रभासे प्रकाशित होते हुए समस्त लोकोंका निरीक्षण करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥

शुक्रो नामासितः पादो यश्च वारिधरोऽम्बरे ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ७ ॥

शुक्र नामक काला मेघ, जो आकाशमें वर्षाके समय जल उत्पन्न करता है, वह इस सूर्यका ही स्वरूप है । इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ? ॥ ७ ॥

योऽष्टमासांस्तु शुचिना किरणेनोक्षितं पयः ।
प्रत्यादत्ते पुनः काले किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ८ ॥

सूर्यदेव बरसातमें पृथ्वीपर जो पानी बरसाते हैं, उसे अपनी विशुद्ध किरणोंद्वारा आठ महीनेमें पुनः खींच लेते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या होगी ? ॥ ८ ॥

यस्य तेजोविशेषेषु स्वयमात्मा प्रतिष्ठितः ।
यतो बीजं मही चेयं धार्यते सचराचरा ॥ ९ ॥
यत्र देवो महाबाहुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ।
अनादिनिधनो विप्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १० ॥

विप्रवर ! जिन सूर्यदेवके विशिष्ट तेजमें साक्षात् परमात्मा-का निवास है, जिनसे नाना प्रकारके बीज उत्पन्न होते हैं, जिनके ही सहारे चराचर प्राणियोंसहित यह समस्त पृथ्वी टिकी हुई है तथा जिनके मण्डलमें आदि-अन्तरहित महाबाहु सनातन पुरुषोत्तम भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनसे बढ़कर आश्चर्यकी वस्तु और क्या हो सकती है ? ॥ ९-१० ॥

आश्चर्याणामिवाश्चर्यमिदमेकं तु मे शृणु ।
विमले यन्मया दृष्टमम्बरे सूर्यसंश्रयात् ॥ ११ ॥

किंतु इन सब आश्चर्योंमें भी एक परम आश्चर्यकी यह बात जो मैंने सूर्यके सहारे निर्मल आकाशमें अपनी आँखों देखी है, उसे बता रहा हूँ—सुनिये ॥ ११ ॥

पुरा मध्याह्नसमये लोकांस्तपति भास्करे ।
प्रत्यादित्यप्रतीकाशः सर्वतः समदृश्यत ॥ १२ ॥

पहलेकी बात है, एक दिन मध्याह्नकालमें भगवान् भास्कर सम्पूर्ण लोकोंको तपा रहे थे । उसी समय दूसरे सूर्यके समान एक तेजस्वी पुरुष दिखायी दिया, जो सब ओरसे प्रकाशित हो रहा था ॥ १२ ॥

स लोकांस्तेजसा सर्वान् स्वभासा निर्विभासयन् ।
आदित्याभिमुखोऽभ्येति गगनं पाटयन्निव ॥ १३ ॥

वह अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता हुआ मानो आकाशको चीरकर सूर्यकी ओर बढ़ा आ रहा था ॥ १३ ॥

हुताहुतिरिव ज्योतिर्व्याप्य तेजोमरीचिभिः ।
अनिर्देश्येन रूपेण द्वितीय इव भास्करः ॥ १४ ॥

घीकी आहुति डालनेसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वह अपनी तेजोमयी किरणोंसे समस्त ज्योतिर्मण्डलको व्याप्त करके अनिर्वचनीयरूपसे द्वितीय सूर्यकी भाँति देदीप्यमान होता था ॥ १४ ॥

तस्याभिगमनप्राप्तौ हस्तौ दत्तौ विवस्वता ।
तेनापि दक्षिणो हस्तो दत्तः प्रत्यर्चितार्थिना ॥ १५ ॥

जब वह निकट आया, तब भगवान् सूर्यने उसके स्वागतके लिये अपनी दोनों भुजाएँ उसकी ओर बढ़ा दीं । उसने भी उनके सम्मानके लिये अपना दाहिना हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया ॥ १५ ॥

ततो भित्त्वैव गगनं प्रविष्टो रश्मिमण्डलम् ।
एकीभूतं च तत् तेजः क्षणेनादित्यतां गतम् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् आकाशको भेदकर वह सूर्यकी किरणोंके समूहमें समा गया और एक ही क्षणमें तेजोराशिके साथ एकाकार होकर सूर्यस्वरूप हो गया ॥ १६ ॥

तत्र नः संशयो जातस्तयोस्तेजःसमागमे ।
अनयोः को भवेत् सूर्यो रथस्थो योऽयमागतः ॥ १७ ॥

उस समय उन दोनों तेजोंके मिल जानेपर हमलोगोंके मनमें यह संदेह हुआ कि इन दोनोंमें असली सूर्य कौन थे ? जो उस रथपर बैठे हुए थे वे, अथवा जो अभी पधारे थे वे ? ॥ १७ ॥

ते वयं जातसंदेहाः पर्यपृच्छामहे रविम् ।
क एष दिवमाक्रम्य गतः सूर्य इवापरः ॥ १८ ॥

ऐसी शङ्का होनेपर हमने सूर्यदेवसे पूछा—'भगवन् ! ये जो दूसरे सूर्यके समान आकाशको लाँघकर यहाँतक आये थे, कौन थे ?' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

उञ्छ एवं शिलवृत्तिसे सिद्ध हुए पुरुषकी दिव्य गति

सूर्य उवाच

नैष देवोऽनिलसखो नासुरो न च पन्नगः ।
उञ्छवृत्तिव्रते सिद्धो मुनिरेष दिवं गतः ॥ १ ॥

सूर्यदेवने कहा—ये न तो वायुके सखा अग्निदेव थे, न कोई असुर थे और न नाग ही थे । ये उञ्छवृत्तिसे[1] जीवन-निर्वाहके व्रतका पालन करनेसे सिद्धिको प्राप्त हुए एक मुनि थे, जो दिव्यधाममें आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

एष मूलफलाहारः शीर्णपर्णाशनस्तथा ।
अब्भक्षो वायुभक्षश्च आसीद् विप्रः समाहितः ॥ २ ॥

ये ब्राह्मणदेवता फल-मूलका आहार करते, सूखे पत्ते चबाते अथवा पानी या हवा पीकर रह जाते थे और सदा एकाग्रचित्त होकर ध्यानमग्न रहते थे ॥ २ ॥

भवश्चानेन विप्रेण संहिताभिरभिष्टुतः ।
स्वर्गद्वारे कृतोद्योगो येनासौ त्रिदिवं गतः ॥ ३ ॥

इन श्रेष्ठ ब्राह्मणने संहिताके मन्त्रोंद्वारा भगवान् शङ्करका स्तवन किया था । इन्होंने स्वर्गलोक पानेकी साधना की थी, इसलिये ये स्वर्गमें गये हैं ॥ ३ ॥

असङ्गतिरनाकाङ्क्षी नित्यमुञ्छशिलाशनः ।
सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजङ्गम ॥ ४ ॥

नागराज ! ये ब्राह्मण असङ्ग रहकर लौकिक कामनाओंका त्याग कर चुके थे और सदा उञ्छ एवं शिल-वृत्तिसे प्राप्त

---

१. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम् ।'

कटे हुए खेतसे वहाँ गिरे हुए अन्नके दाने बीनकर लाना अथवा बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीन लाना 'उञ्छ' कहलाता है । इसी तरह धान, गेहूँ और जौ आदिकी बाल बीनकर लाना 'शिल' कहा गया है ।

हुए अन्नको ही खाते थे। ये निरन्तर समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें संलग्न रहते थे ॥ ४ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा नासुरा न च पन्नगाः।
प्रभवन्तीह भूतानां प्राप्तानामुत्तमां गतिम् ॥ ५ ॥

ऐसे लोगोंको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, उसे न देवता, न गन्धर्व, न असुर और न नाग ही पा सकते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवंविधं दृष्टमाश्चर्यं तत्र मे द्विज।
संसिद्धो मानुषः कामं योऽसौ सिद्धगतिं गतः।
सूर्येण सहितो ब्रह्मन् पृथिवीं परिवर्तते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! सूर्यमण्डलमें मुझे यह ऐसा ही आश्चर्य दिखायी दिया था कि उञ्छवृत्तिसे सिद्ध हुआ वह मनुष्य इच्छानुसार सिद्ध-गतिको प्राप्त हुआ। ब्रह्मन् ! अब वह सूर्यके साथ रहकर समूची पृथ्वीकी परिक्रमा करता है ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणका नागराजसे बातचीत करके और उञ्छव्रतके पालनका निश्चय करके अपने घरको जानेके लिये नागराजसे विदा माँगना

ब्राह्मण उवाच

आश्चर्यं नात्र संदेहः सुप्रीतोऽस्मि भुजङ्गम।
अन्वर्थोपगतैर्वाक्यैः पन्थानं चास्मि दर्शितः ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! इसमें संदेह नहीं कि यह एक आश्चर्यजनक वृत्तान्त है। इसे सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरे मनमें जो अभिलाषा थी, उसके अनुकूल वचन कहकर आपने मुझे रास्ता दिखा दिया ॥ १ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधो भुजगसत्तम।
स्मरणीयोऽस्मि भवता सम्प्रेषणनियोजनैः ॥ २ ॥

भुजङ्गशिरोमणे ! आपका कल्याण हो। अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा, यदि आपको मुझे कहीं भेजना हो या किसी काममें नियुक्त करना हो तो ऐसे अवसरोंपर मेरा अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ २ ॥

नाग उवाच

अनुक्त्वा हृद्गतं कार्यं केदानीं प्रस्थितो भवान्।
उच्यतां द्विज यत् कार्यं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ ३ ॥

नागने कहा—विप्रवर ! आपने अभी अपने मनकी बात तो बतायी ही नहीं, फिर इस समय आप कहाँ चले जा रहे हैं ? आपका जो कार्य है, जिसके लिये आप यहाँ आये हैं, उसे बताइये तो सही ॥ ३ ॥

उक्तानुक्ते कृते कार्ये मामामन्त्र्य द्विजर्षभ।
मया प्रत्यभ्यनुज्ञातस्ततो यास्यसि सुव्रत ॥ ४ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले द्विजश्रेष्ठ ! आप कहें या न कहें। मेरे द्वारा जब आपका कार्य सम्पन्न हो जाय, तब आप मुझसे पूछकर, मेरी अनुमति लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ४ ॥

न हि मां केवलं दृष्ट्वा त्यक्त्वा प्रणयवानिह।
गन्तुमर्हसि विप्रर्षे वृक्षमूलगतो यथा ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! आपका मुझमें प्रेम है; इसलिये वृक्षके नीचे बैठे हुए बटोहीकी तरह केवल मुझे देखकर ही चल देना आपके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

त्वयि चाहं द्विजश्रेष्ठ भवान् मयि न संशयः।
लोकोऽयं भवतः सर्वः का चिन्ता मयि तेऽनघ ॥ ६ ॥

विप्रवर ! आपमें मैं हूँ और मुझमें आप हैं, इसमें संशय नहीं है। निष्पाप ब्राह्मण ! यह समस्त लोक आपका ही है। मेरे रहते हुए आपको किस बातकी चिन्ता है ? ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ विदितात्मन् भुजङ्गम।
नातिक्रान्तास्त्वया देवाः सर्वथैव यथातथम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाप्राज्ञ आत्मज्ञानी नागराज ! यह इसी प्रकार है। देवता भी आपसे बढ़कर नहीं हैं। यह बात सर्वथा यथार्थ है ॥ ७ ॥

स एव त्वं स एवाहं योऽहं स तु भवानपि।
अहं भवांश्च भूतानि सर्वे यत्र गताः सदा ॥ ८ ॥

(आपने सूर्यमण्डलमें जिन पुरुषोत्तम नारायणदेवकी स्थिति बतायी है) मैं, आप तथा समस्त प्राणी सदा जिनमें स्थित हैं वही आप हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही आप भी हैं ॥ ८ ॥

आसीत् तु मे भोगपते संशयः पुण्यसंचये।
सोऽहमुञ्छव्रतं साधो चरिष्याम्यर्थसाधनम् ॥ ९ ॥

नागराज ! मुझे पुण्यसंग्रहके विषयमें संशय हो गया था। मैं यह निश्चय नहीं कर पाता था कि किस साधनको अपनाऊँ ? किंतु अब वह संदेह दूर हो गया है। साधो ! अब मैं अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये उञ्छव्रतका ही आचरण करूँगा ॥ ९ ॥

एष मे निश्चयः साधो कृतं कारणमुत्तमम्।
आमन्त्रयामि भद्रं ते कृतार्थोऽस्मि भुजङ्गम ॥ १० ॥

महात्मन् ! यही मेरा निश्चय है। आपके द्वारा मेरा कार्य बड़े उत्तम ढंगसे सम्पन्न हो गया। भुजङ्गम ! मैं कृतार्थ हो गया। आपका कल्याण हो। अब मैं जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजसे विदा ले ब्राह्मणका च्यवनमुनिसे उञ्छवृत्तिकी दीक्षा लेकर साधनपरायण होना और इस कथाकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

स चामन्त्र्योरगश्रेष्ठं ब्राह्मणः कृतनिश्चयः।
दीक्षाकाङ्क्षी तदा राजंश्च्यवनं भार्गवं श्रितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नागराजकी अनुमति लेकर वह दृढ़ निश्चयवाला ब्राह्मण उञ्छव्रतकी दीक्षा लेनेके लिये भृगुवंशी च्यवन ऋषिके पास गया ॥ १ ॥

स तेन कृतसंस्कारो धर्ममेवाधितस्थिवान्।
तथैव च कथामेतां राजन् कथितवांस्तदा ॥ २ ॥

उन्होंने उसका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया और वह धर्मका ही आश्रय लेकर रहने लगा। राजन्! उसने उञ्छवृत्तिकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको च्यवन मुनिसे भी कहा ॥ २ ॥

भार्गवेणापि राजेन्द्र जनकस्य निवेशने।
कथैषा कथिता पुण्या नारदाय महात्मने ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! च्यवनने भी राजा जनकके दरबारमें महात्मा नारदजीसे यह पवित्र कथा कही ॥ ३ ॥

नारदेनापि राजेन्द्र देवेन्द्रस्य निवेशने।
कथिता भरतश्रेष्ठ पृष्टेनाक्लिष्टकर्मणा ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! फिर अनायास ही उत्तम कर्म करनेवाले नारदजीने भी देवराज इन्द्रके भवनमें उनके पूछनेपर यह कथा सुनायी ॥ ४ ॥

देवराजेन च पुरा कथितैषा कथा शुभा।
समस्तेभ्यः प्रशस्तेभ्यो विप्रेभ्यो वसुधाधिप ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके समक्ष यह शुभ कथा कही ॥ ५ ॥

यदा च मम रामेण युद्धमासीत् सुदारुणम्।
वसुभिश्च तदा राजन् कथेयं कथिता मम ॥ ६ ॥

राजन् ! जब परशुरामजीके साथ मेरा भयङ्कर युद्ध हुआ था, उस समय वसुओंने मुझे यह कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

पृच्छमानाय तत्त्वेन मया चैवोत्तमा तव।
कथेयं कथिता पुण्या धर्म्या धर्मभृतां वर ॥ ७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस समय जब तुमने परम धर्मके सम्बन्धमें मुझसे प्रश्न किया है, तब उसीके उत्तरमें मैंने यथार्थरूपसे यह पुण्यमयी धर्मसम्मत श्रेष्ठ कथा तुमसे कही है ॥ ७ ॥

यदयं परमो धर्मो यन्मां पृच्छसि भारत।
आसीद् धीरो ह्यनाकाङ्क्षी धर्मार्थकरणे नृप ॥ ८ ॥

भरतनन्दन नरेश्वर ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह श्रेष्ठ धर्म यही है। वह धीर ब्राह्मण निष्कामभावसे धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्यमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

स च किल कृतनिश्चयो द्विजो
भुजगपतिप्रतिदेशितात्मकृत्यः।
यमनियमसहो वनान्तरं
परिगणितोञ्छशिलाशनः प्रविष्टः ॥ ९ ॥

नागराजके उपदेशके अनुसार अपने कर्तव्यको समझकर उस ब्राह्मणने उसके पालनका दृढ़ निश्चय कर लिया और दूसरे वनमें जाकर उञ्छशिलवृत्तिसे प्राप्त हुए परिमित अन्नका भोजन करता हुआ यम-नियमका पालन करने लगा ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६५ ॥

शान्तिपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१३२९६॥	(६०९)	८३७।=	१३७॥/-	१४२७१॥≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	४३०॥	(१७)	२३।=		४५३॥।=
				शान्तिपर्वकी कुल श्लोक-संख्या	१४७२५॥-

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(षष्ठ खण्ड)

[अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)

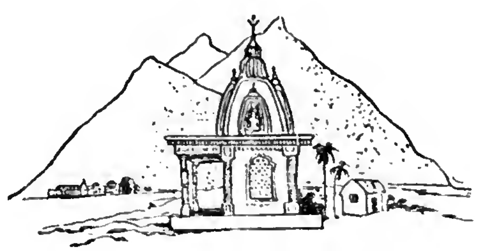

अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १२॥) साढ़े बारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

* श्रीहरिः *

अनुशासनपर्व

(भीष्मस्वर्गारोहणपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

* श्रीहरिः *

आश्वमेधिकपर्व

(वैष्णवधर्मपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

(सादा)

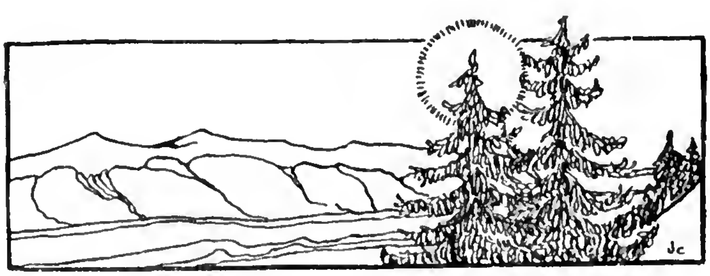

* श्रीहरिः *

आश्रमवासिकपर्व

(नारदागमनपर्व)

चित्र-सूची

(सादा)

॥ श्रीहरिः ॥

मौसलपर्व

चित्र-सूची

महाप्रस्थानिकपर्व

चित्र-सूची

स्वर्गारोहणपर्व

चित्र-सूची

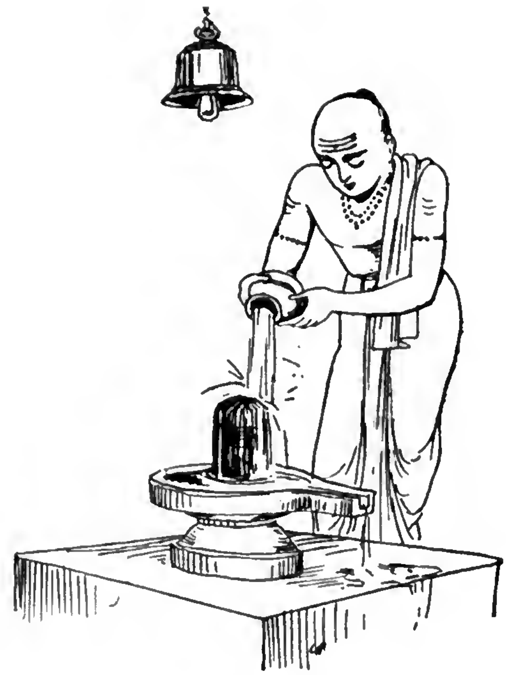

देवाधिदेव भगवान शङ्कर

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

अनुशासनपर्व

(दानधर्मपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको सान्त्वना देनेके लिये भीष्मजीके द्वारा गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादका वर्णन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह ।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने नाना प्रकारसे शान्तिके सूक्ष्म स्वरूपका (शोकसे मुक्त होनेके विविध उपायोंका) वर्णन किया; परंतु आपका यह ऐसा उपदेश सुनकर भी मेरे हृदयमें शान्ति नहीं है ॥ १ ॥

अस्मिन्नर्थे बहुविधा शान्तिरुक्ता पितामह ।
स्वकृते का नु शान्तिः स्याच्छमाद् बहुविधादपि॥ २ ॥

दादाजी ! आपने इस विषयमें शान्तिके बहुत-से उपाय बताये, परंतु इन नाना प्रकारके शान्तिदायक उपायोंको सुनकर भी स्वयं ही किये गये अपराधसे मनको शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ॥ २ ॥

शराचितशरीरं हि तीव्रव्रणमुदीक्ष्य च ।
शर्म नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन् ॥ ३ ॥

वीरवर ! बाणोंसे भरे हुए आपके शरीर और इसके गहरे घावको देखकर मैं बार-बार अपने पापोंका ही चिन्तन करता हूँ; अतः मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता है ॥ ३ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम् ।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम् ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! पर्वतसे गिरनेवाले झरनेकी तरह आपके शरीरसे रक्तकी धारा बह रही है—आपके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे हैं । इस अवस्थामें आपको देखकर मैं वर्षा-कालके कमलकी तरह गला (दुखित होता) जाता हूँ ॥

अतः कष्टतरं किं नु मत्कृते यत् पितामहः ।
इमामवस्थां गमितः प्रत्यमित्रै रणाजिरे ॥ ५ ॥

मेरे ही कारण समराङ्गणमें शत्रुओंने जो पितामहको इस अवस्थामें पहुँचा दिया, इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ५ ॥

तथा चान्ये नृपतयः सहपुत्राः सबान्धवाः ।
मत्कृते निधनं प्राप्ताः किं नु कष्टतरं ततः ॥ ६ ॥

आपके सिवा और भी बहुत-से नरेश मेरे ही कारण अपने पुत्रों और बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये हैं । इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ? ॥ ६ ॥

वयं हि धार्तराष्ट्राश्च कालमन्युवशंगताः ।
कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! हम पाण्डव और धृतराष्ट्रके सभी पुत्र काल और क्रोधके वशीभूत हो यह निन्दित कर्म करके न जाने किस दुर्गतिको प्राप्त होंगे ! ॥ ७ ॥

इदं तु धार्तराष्ट्रस्य श्रेयो मन्ये जनाधिप ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं यदसौ त्वां न पश्यति ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! मैं राजा दुर्योधनके लिये उसकी मृत्युको श्रेष्ठ समझता हूँ, जिससे कि वह आपको इस अवस्थामें पड़ा हुआ नहीं देखता है ॥ ८ ॥

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा ।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ॥ ९ ॥

मैं ही आपके जीवनका अन्त करनेवाला हूँ और मैं ही दूसरे-दूसरे सुहृदोंका भी वध करनेवाला हूँ । आपको इस दुःखमयी दुरवस्थामें भूमिपर पड़ा देख मुझे शान्ति नहीं मिलती है ॥ ९ ॥

दुर्योधनो हि समरे सहसैन्यः सहानुजः ।
निहतः क्षत्रधर्मेऽस्मिन् दुरात्मा कुलपांसनः ॥ १० ॥

दुरात्मा एवं कुलाङ्गार दुर्योधन सेना और बन्धुओंसहित क्षत्रियधर्मके अनुसार होनेवाले इस युद्धमें मारा गया ॥१०॥

न स पश्यति दुष्टात्मा त्वामद्य पतितं क्षितौ ।
अतः श्रेयो मृतं मन्ये नेह जीवितमात्मनः ॥ ११ ॥

वह दुष्टात्मा आज आपको इस तरह भूमिपर पड़ा हुआ नहीं देख रहा है, अतः उसकी मृत्युको ही मैं यहाँ श्रेष्ठ मानता हूँ; किंतु अपने इस जीवनको नहीं ॥ ११ ॥

अहं हि समरे वीर गमितः शत्रुभिः क्षयम् ।
अभविष्यं यदि पुरा सह भ्रातृभिरच्युत ॥ १२ ॥
न त्वामेवं सुदुःखार्तमद्राक्षं सायकार्दितम् ।

अपनी मर्यादासे कभी नीचे न गिरनेवाले वीरवर ! यदि भाइयोंसहित मैं शत्रुओंद्वारा पहले ही युद्धमें मार डाला गया होता तो आपको इस प्रकार सायकोंसे पीड़ित और अत्यन्त दुःखसे आतुर अवस्थामें नहीं देखता ॥ १२½ ॥

नूनं हि पापकर्माणो धात्रा सृष्टाः स्म हे नृप ॥ १३ ॥
अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात् ।
तथा प्रशाधि मां राजन् मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १४ ॥

नरेश्वर ! निश्चय ही विधाताने हमें पापी ही रचा है । राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे परलोकमें भी मुझे इस पापसे छुटकारा मिल सके ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि ।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाभाग ! तुम तो सदा परतन्त्र हो (काल, अदृष्ट और ईश्वरके अधीन हो), फिर अपनेको शुभाशुभ कर्मोंका कारण क्यों समझते हो ? वास्तवमें कर्मोंका कारण क्या है, यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर है ॥ १५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः ॥ १६ ॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १६ ॥

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता ।
सर्पेण दष्टं स्वं पुत्रमपश्यद्गतचेतनम् ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें गौतमी नामवाली एक बूढ़ी ब्राह्मणी थी, जो शान्तिके साधनमें संलग्न रहती थी । एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते बेटेको साँपने डँस लिया और उसकी चेतनाशक्ति लुप्त हो गयी ॥ १७ ॥

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः ।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत् ॥ १८ ॥

इतनेहीमें अर्जुनक नामवाले एक व्याधने उस साँपको ताँतके फाँसमें बाँध लिया और अमर्षवश वह उसे गौतमीके पास ले आया ॥ १८ ॥

स चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः ।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना ॥ १९ ॥

लाकर उसने कहा—'महाभागे ! यही वह नीच सर्प है, जिसने तुम्हारे पुत्रको मार डाला है । जल्दी बताओ, मैं किस तरह इसका वध करूँ ? ॥ १९ ॥

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा ।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति ॥ २० ॥

'मैं इसे आगमें झोंक दूँ या इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ ? बालककी हत्या करनेवाला यह पापी सर्प अब अधिक समयतक जीवित रहने योग्य नहीं है' ॥ २० ॥

गौतम्युवाच

विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया ।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात् प्राप्तव्यमविचिन्तयन् ॥ २१ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! छोड़ दे इस सर्पको । तू अभी नादान है । तुझे इस सर्पको नहीं मारना चाहिये । होनहारको कोई टाल नहीं सकता—इस बातको जानते हुए भी इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पापका भारी बोझ लादेगा ? ॥ २१ ॥

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः ।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके ॥ २२ ॥

संसारमें धर्माचरण करके जो अपनेको हल्के रखते हैं (अपने ऊपर पापका भारी बोझ नहीं लादते हैं), वे पानीके

ऊपर चलनेवाली नौकाके समान भवसागरसे पार हो जाते हैं; परंतु जो पापके बोझसे अपनेको बोझिल बना लेते हैं, वे जलमें फेंके हुए हथियारकी भाँति नरक-समुद्रमें डूब जाते हैं ॥

हत्वा चैनं नामृतः स्यादयं मे
जीवत्यस्मिन् कोऽत्ययः स्यादयं ते।
अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तो-
र्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम् ॥ २३ ॥

इसको मार डालनेसे मेरा यह पुत्र जीवित नहीं हो सकता और इस सर्पके जीवित रहनेपर भी तुम्हारी क्या हानि हो सकती है ! ऐसी दशामें इस जीवित प्राणीके प्राणोंका नाश करके कौन यमराजके अनन्त लोकमें जाय ! ॥ २३ ॥

लुब्धक उवाच

जानाम्यहं देवि गुणागुणज्ञे
सर्वार्तियुक्ता गुरवो भवन्ति।
स्वस्थस्यैते तूपदेशा भवन्ति
तस्मात् क्षुद्रं सर्पमेनं हनिष्ये ॥ २४ ॥

व्याधने कहा—गुण और अवगुणको जाननेवाली देवि ! मैं जानता हूँ कि बड़े-बूढ़े लोग किसी भी प्राणीको कष्टमें पड़ा देख इसी तरह दुखी हो जाते हैं। परंतु ये उपदेश तो स्वस्थ पुरुषके लिये हैं (दुखी मनुष्यके मनपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता)। अतः मैं इस नीच सर्पको अवश्य मार डालूँगा ॥ २४ ॥

शमार्थिनः कालगतिं वदन्ति
सद्यः शुचं त्वर्थविदस्त्यजन्ति।
श्रेयःक्षयं शोचति नित्यमोहात्
तस्माच्छुचं मुञ्च हते भुजङ्गे ॥ २५ ॥

शान्ति चाहनेवाले पुरुष कालकी गति बताते हैं (अर्थात् कालने ही इसका नाश कर दिया है, ऐसा कहते हुए शोकका त्याग करके संतोष धारण करते हैं)। परंतु जो अर्थवेत्ता हैं—बदला लेना जानते हैं, वे शत्रुका नाश करके तुरंत ही शोक छोड़ देते हैं। दूसरे लोग श्रेयका नाश होनेपर मोहवश सदा उसके लिये शोक करते रहते हैं; अतः इस शत्रुभूत सर्पके मारे जानेपर तुम भी तत्काल ही अपने पुत्र-शोकको त्याग देना ॥ २५ ॥

गौतम्युवाच

आर्तिर्नैवं विद्यतेऽस्मद्विधानां
धर्मात्मानः सर्वदा सज्जना हि।
नित्यायस्तो बालकोऽप्यस्य तस्मा-
दीशे नाहं पन्नगस्य प्रमाथे ॥ २६ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! हम-जैसे लोगोंको कभी किसी तरहकी हानिसे भी पीड़ा नहीं होती। धर्मात्मा सज्जन पुरुष सदा धर्ममें ही लगे रहते हैं। मेरा यह बालक सर्वथा मरनेहीवाला था; इसलिये मैं इस सर्पको मारनेमें असमर्थ हूँ ॥ २६ ॥

न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातनाम्।
मार्दवात् क्षम्यतां साधो मुच्यतामेष पन्नगः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं होता; फिर वे क्रोधवश दूसरोंको पीड़ा कैसे दे सकते हैं; अतः साधो ! तू भी कोमलताका आश्रय लेकर इस सर्पके अपराधको क्षमा कर और इसे छोड़ दे ।२७।

लुब्धक उवाच

हत्वा लाभः श्रेय एवाव्ययः स्या-
ल्लभ्यो लाभः स्याद् बलिभ्यः प्रशस्तः।
कालाल्लाभो यस्तु सत्यो भवेत
श्रेयोलाभः कुत्सितेऽस्मिन्न ते स्यात् ॥ २८ ॥

व्याधने कहा—देवि ! इस सर्पको मार डालनेसे जो बहुतोंका भला होगा, यही अक्षय लाभ है। बलवानोंसे बलपूर्वक लाभ उठाना ही उत्तम लाभ है। कालसे जो लाभ होता है, वही सच्चा लाभ है। इस नीच सर्पके जीवित रहनेसे तुम्हें कोई श्रेय नहीं मिल सकता ॥ २८ ॥

गौतम्युवाच

का नु प्राप्तिर्गृह्य शत्रुं निहत्य
का कामाप्तिः प्राप्य शत्रुं न मुक्त्वा।
कस्मात् सौम्याहं न क्षमे नो भुजङ्गे
मोक्षार्थं वा कस्य हेतोर्न कुर्याम् ॥ २९ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! शत्रुको कैद करके उसे मार डालनेसे क्या लाभ होता है तथा शत्रुको अपने हाथमें पाकर उसे न छोड़नेसे किस अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति हो जाती है ? सौम्य ! क्या कारण है कि मैं इस सर्पके अपराधको क्षमा न करूँ ? तथा किसलिये इसको छुटकारा दिलानेका प्रयत्न न करूँ ? ॥ २९ ॥

लुब्धक उवाच

अस्मादेकाद् बहवो रक्षितव्या
नैको बहुभ्यो गौतमि रक्षितव्यः।
कृतागसं धर्मविदस्त्यजन्ति
सरीसृपं पापमिमं जहि त्वम् ॥ ३० ॥

व्याधने कहा—गौतमी ! इस एक सर्पसे बहुतेरे मनुष्योंके जीवनकी रक्षा करनी चाहिये। (क्योंकि यदि यह जीवित रहा तो बहुतोंको काटेगा।) अनेकोंकी जान लेकर एककी रक्षा करना कदापि उचित नहीं है। धर्मज्ञ पुरुष अपराधीको त्याग देते हैं; इसलिये तुम भी इस पापी सर्पको मार डालो ॥

गौतम्युवाच

नास्मिन् हते पन्नगे पुत्रको मे
सम्प्राप्स्यते लुब्धक जीवितं वै।

गुणं चान्यं नास्य वधे प्रपश्ये
तस्मात् सर्पं लुब्धक मुञ्च जीवम्॥ ३१ ॥

गौतमी बोली—व्याध ! इस सर्पके मारे जानेपर मेरा पुत्र पुनः जीवन प्राप्त कर लेगा, ऐसी बात नहीं है। इसका वध करनेसे दूसरा कोई लाभ भी मुझे नहीं दिखायी देता है। इसलिये इस सर्पको तुम जीवित छोड़ दो ॥ ३१ ॥

लुब्धक उवाच

वृत्रं हत्वा देवराट् श्रेष्ठभाग् वै
यज्ञं हत्वा भागमवाप चैव।
शूली देवो देववृत्तं चर त्वं
क्षिप्रं सर्पं जहि मा भूत् ते विशङ्का॥ ३२॥

व्याधने कहा—देवि ! वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्र श्रेष्ठ पदके भागी हुए और त्रिशूलधारी रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस करके उसमें अपने लिये भाग प्राप्त किया। तुम भी देवताओंद्वारा किये गये इस बर्तावका ही पालन करो। इस सर्पको शीघ्र ही मार डालो। इस कार्यमें तुम्हें शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

असकृत् प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम्॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्याधके बार-बार कहने और उकसानेपर भी महाभागा गौतमीने सर्पको मारनेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात् संस्तभ्य पन्नगः।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः॥ ३४ ॥

उस समय बन्धनसे पीड़ित होकर धीरे-धीरे साँस लेता हुआ वह साँप बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर मन्द-स्वरसे मनुष्यकी वाणीमें बोला ॥ ३४ ॥

सर्प उवाच

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत्॥ ३५ ॥

सर्पने कहा—ओ नादान अर्जुनक ! इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं तो पराधीन हूँ। मृत्युने मुझे विवश करके इस कार्यके लिये प्रेरित किया था ॥ ३५ ॥

तस्यायं वचनाद् दष्टो न कोपेन न काम्यया।
तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम्॥ ३६ ॥

उसके कहनेसे ही मैंने इस बालकको डँसा है, क्रोधसे और कामनासे नहीं। व्याध ! यदि इसमें कुछ अपराध है तो वह मेरा नहीं, मृत्युका है ॥ ३६ ॥

लुब्धक उवाच

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम्।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात् त्वमपि किल्बिषी॥ ३७ ॥

व्याधने कहा—ओ सर्प ! यद्यपि तूने दूसरेके अधीन होकर यह पाप किया है तथापि तू भी तो इसमें कारण है ही; इसलिये तू भी अपराधी है ॥ ३७ ॥

मृत्पात्रस्य क्रियायां हि दण्डचक्रादयो यथा।
कारणत्वे प्रकल्प्यन्ते तथा त्वमपि पन्नग॥ ३८ ॥

सर्प ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनाते समय दण्ड और चाक आदिको भी उसमें कारण माना जाता है, उसी प्रकार तू भी इस बालकके वधमें कारण है ॥ ३८ ॥

किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजङ्गम॥ ३९ ॥

भुजङ्गम ! जो भी अपराधी हो, वह मेरे लिये वध्य है; पन्नग ! तू भी अपराधी है ही; क्योंकि तू स्वयं अपने आपको इसके वधमें कारण बताता है ॥ ३९ ॥

सर्प उवाच

सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव॥ ४० ॥

सर्पने कहा—व्याध ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनानेमें ये दण्ड-चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्युके अधीन हूँ; इसलिये तुमने जो मुझपर दोष लगाया है, वह ठीक नहीं है ॥ ४० ॥

अथवा मतमेतत्ते तेऽप्यन्योन्यप्रयोजकाः।
कार्यकारणसंदेहो भवत्यन्योन्यचोदनात्॥ ४१ ॥

अथवा यदि तुम्हारा यह मत हो कि ये दण्ड-चक्र आदि भी एक दूसरेके प्रयोजक होते हैं, इसलिये कारण हैं ही, किंतु ऐसा माननेसे एक दूसरेको प्रेरणा देनेवाला होनेके कारण कार्य-कारणभावके निर्णयमें संदेह हो जाता है ॥ ४१ ॥

एवं सति न दोषो मे नास्मि वध्यो न किल्बिषी।
किल्बिषं समवाये स्यान्मन्यसे यदि किल्बिषम्॥ ४२ ॥

ऐसी दशामें न तो मेरा कोई दोष है और न मैं वध्य अथवा अपराधी ही हूँ। यदि तुम किसीका अपराध समझते हो तो वह सारे कारणोंके समूहपर ही लागू होता है ॥ ४२ ॥

लुब्धक उवाच

कारणं यदि न स्याद् वै न कर्ता स्यास्त्वमप्युत।
विनाशकारणं त्वं च तस्माद् वध्योऽसि मे मतः॥ ४३ ॥

व्याधने कहा—सर्प ! यदि मान भी लें कि तू अपराधका न तो कारण है और न कर्ता ही है तो भी इस बालककी मृत्यु तो तेरे ही कारण हुई है, इसलिये मैं तुझे मारने योग्य समझता हूँ ॥ ४३ ॥

असत्यपि कृते कार्ये नेह पन्नग लिप्यते।
तस्मान्नात्रैव हेतुः स्याद् वध्यः किं बहु भाषसे॥ ४४ ॥

सर्प ! तेरे मतके अनुसार यदि दुष्टतापूर्ण कार्य करके भी कर्ता उस दोषसे लिप्त नहीं होता है, तब तो चोर या हत्यारे

आदि जो अपने अपराधोंके कारण राजाओंके यहाँ वध्य होते हैं, उन्हें भी वास्तवमें अपराधी या दोषका भागी नहीं होना चाहिये। (फिर तो पाप और उसका दण्ड भी व्यर्थ ही होगा) अतः तू क्यों बहुत बकवाद कर रहा है ॥ ४४ ॥

सर्प उवाच

कार्याभावे क्रिया न स्यात् सत्यसत्यपि कारणे।
तस्मात् समेऽस्मिन् हेतौ मे वाच्यो हेतुर्विशेषतः॥ ४५॥
यद्यहं कारणत्वेन मतो लुब्धक तत्त्वतः।
अन्यः प्रयोगे स्यादत्र किल्बिषी जन्तुनाशने ॥ ४६ ॥

सर्पने कहा—व्याध ! प्रयोजक (प्रेरक) कर्ता रहे या न रहे, प्रयोज्य कर्ताके बिना क्रिया नहीं होती; इसलिये यहाँ यद्यपि हमलोग (मैं और मृत्यु) समानरूपसे हेतु हैं तो भी प्रयोजक होनेके कारण मृत्युपर ही विशेषरूपसे यह अपराध लगाया जा सकता है। यदि तुम मुझे इस बालककी मृत्युका वस्तुतः कारण मानते हो तो यह तुम्हारी भूल है। वास्तवमें विचार करनेपर प्रेरणा करनेके कारण दूसरा ही (मृत्यु ही) अपराधी सिद्ध होगा; क्योंकि वही प्राणियोंके विनाशमें अपराधी है ॥ ४५-४६ ॥

लुब्धक उवाच

वध्यस्त्वं मम दुर्बुद्धे बालघाती नृशंसकृत्।
भाषसे किं बहु पुनर्वध्यः सन् पन्नगाधम ॥ ४७ ॥

व्याधने कहा—खोटी बुद्धिवाले नीच सर्प ! तू बाल-हत्यारा और क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला है; अतः निश्चय ही मेरे हाथसे वधके योग्य है। तू वध्य होकर भी अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये क्यों बहुत बातें बना रहा है ?॥४७॥

सर्प उवाच

यथा हवींषि जुह्वाना मखे वै लुब्धकर्त्विजः।
न फलं प्राप्नुवन्त्यत्र फलयोगे तथा ह्यहम् ॥ ४८ ॥

सर्पने कहा—व्याध ! जैसे यजमानके यहाँ यज्ञमें ऋत्विज लोग अग्निमें आहुति डालते हैं; किंतु उसका फल उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार इस अपराधके फल या दण्डको भोगनेमें मुझे नहीं सम्मिलित करना चाहिये (क्योंकि वास्तवमें मृत्यु ही अपराधी है) ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युचोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मृत्युकी प्रेरणासे बालकको डँसनेवाला सर्प जब बारंबार अपनेको निर्दोष और मृत्युको दोषी बताने लगा, तब मृत्यु देवता भी वहाँ आ पहुँचा और सर्पसे इस प्रकार बोला ॥ ४९ ॥

मृत्युरुवाच

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः ॥ ५० ॥

मृत्युने कहा—सर्प ! कालसे प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालकको डँसनेके लिये प्रेरणा दी थी; अतः इस शिशुप्राणीके विनाशमें न तो तू कारण है और न मैं ही कारण हूँ ॥ ५० ॥

यथा वायुर्जलधरान् विकर्षति ततस्ततः।
तद्वज्जलदवत् सर्प कालस्याहं वशानुगः ॥ ५१ ॥

सर्प ! जैसे हवा बादलोंको इधर-उधर उड़ा ले जाती है, उन बादलोंकी ही भाँति मैं भी कालके वशमें हूँ ॥५१॥

सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन।
भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते ह जन्तुषु ॥ ५२ ॥

सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी भाव हैं, वे सब कालात्मक हैं और कालकी ही प्रेरणासे प्राणियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुवि।
सर्वे कालात्मकाः सर्प कालात्मकमिदं जगत् ॥ ५३ ॥

सर्प ! पृथ्वी अथवा स्वर्गलोकमें जितने भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, वे सभी कालके अधीन हैं। यह सारा जगत् ही कालस्वरूप है ॥ ५३ ॥

प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ॥ ५४ ॥

इस लोकमें जितने प्रकारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा उनकी विकृतियाँ (फल) हैं, ये सब कालके ही स्वरूप हैं ॥५४॥

आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः।
अग्निः खं पृथिवी मित्रः पर्जन्यो वसवोऽदितिः ॥ ५५ ॥
सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नग।
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ॥ ५६ ॥

पन्नग ! सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र तथा भाव और अभाव—ये सभी कालके द्वारा ही रचे जाते हैं और काल ही इनका संहार कर देता है ॥ ५५-५६ ॥

एवं ज्ञात्वा कथं मां त्वं सदोषं सर्प मन्यसे।
अथ चैवंगते दोषे मयि त्वमपि दोषवान् ॥ ५७ ॥

सर्प ! यह सब जानकर भी तुम मुझे कैसे दोषी मानते हो ? और यदि ऐसी स्थितिमें भी मुझपर दोषारोपण हो सकता है, तब तो तू भी दोषी ही है ॥ ५७ ॥

सर्प उवाच

निर्दोषं दोषवन्तं वा न त्वां मृत्यो ब्रवीम्यहम्।
त्वयाहं चोदित इति ब्रवीम्येतावदेव तु ॥ ५८ ॥

सर्पने कहा—मृत्यो ! मैं तुम्हें न तो निर्दोष बताता हूँ और न दोषी ही। मैं तो इतना ही कह रहा हूँ कि इस बालकको डँसनेके लिये तूने ही मुझे प्रेरित किया था ॥५८॥

यदि काले तु दोषोऽस्ति यदि तत्रापि नेष्यते।
दोषो नैव परीक्ष्यो मे न ह्यत्राधिकृता वयम् ॥ ५९ ॥

इस विषयमें यदि कालका दोष है अथवा यदि वह भी निर्दोष है तो हो, मुझे किसीके दोषकी जाँच नहीं करनी है और जाँच करनेका मुझे कोई अधिकार भी नहीं है ॥ ५९ ॥

निर्मोक्षस्त्वस्य दोषस्य मया कार्यो यथा तथा।
मृत्योरपि न दोषः स्यादिति मेऽत्र प्रयोजनम् ॥ ६० ॥

परंतु मेरे ऊपर जो दोष लगाया गया है, उसका निवारण तो मुझे जैसे-तैसे करना ही है। मेरे कहनेका यह प्रयोजन नहीं है कि मृत्युका भी दोष सिद्ध हो जाय ॥ ६० ॥

भीष्म उवाच

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम्।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ॥ ६१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सर्पने अर्जुनकसे कहा—'तुमने मृत्युकी बात तो सुन ली न? अब मुझ निरपराधको बन्धनमें बाँधकर कष्ट देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ६१ ॥

लुब्धक उवाच

मृत्योः श्रुतं मे वचनं तव चैव भुजङ्गम।
नैव तावददोषत्वं भवति त्वयि पन्नग ॥ ६२ ॥

व्याधने कहा—पन्नग! मैंने मृत्युकी और तेरी—दोनों-की बातें सुन लीं; किंतु भुजङ्गम! इससे तेरी निर्दोषता नहीं सिद्ध हो रही है ॥ ६२ ॥

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ॥ ६३ ॥

इस बालकके विनाशमें तू और मृत्यु—दोनों ही कारण हो; अतः मैं दोनोंको ही कारण या अपराधी मानता हूँ, किसी एकको अपराधी या निरपराध नहीं मानता ॥ ६३ ॥

धिङ्मृत्युं च दुरात्मानं क्रूरं दुःखकरं सताम्।
त्वां चैवाहं वधिष्यामि पापं पापस्य कारणम् ॥ ६४ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंको दुःख देनेवाले इस क्रूर एवं दुरात्मा मृत्युको धिक्कार है और तू तो इस पापका कारण है ही; इसलिये तुझ पापात्माका वध मैं अवश्य करूँगा ॥ ६४ ॥

मृत्युरुवाच

विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ६५ ॥

मृत्युने कहा—व्याध! हम दोनों कालके अधीन होनेके कारण विवश हैं। हम तो केवल उसके आदेशका पालनमात्र करते हैं। यदि तुम अच्छी तरह विचार करोगे तो हमलोगोंपर दोषारोपण नहीं करोगे ॥ ६५ ॥

लुब्धक उवाच

युवामुभौ कालवशौ यदि मे मृत्युपन्नगौ।
हर्षक्रोधौ यथा स्यातामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ६६ ॥

व्याधने कहा—मृत्यु और सर्प! यदि तुम दोनों कालके अधीन हो तो मुझ तटस्थ व्यक्तिको परोपकारीके प्रति हर्ष और दूसरोंका अपकार करनेवाले तुम दोनोंपर क्रोध क्यों होता है, यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

मृत्युरुवाच

या काचिदेव चेष्टा स्यात् सर्वा कालप्रचोदिता।
पूर्वमेवैतदुक्तं हि मया लुब्धक कालतः ॥ ६७ ॥

मृत्युने कहा—व्याध! जगत्‌में जो कोई भी चेष्टा हो रही है, वह सब कालकी प्रेरणासे ही होती है। यह बात मैंने तुमसे पहले ही बता दी है ॥ ६७ ॥

तस्मादुभौ कालवशावावां निर्दिष्टकारिणौ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ त्वया लुब्धक कर्हिचित् ॥ ६८ ॥

अतः व्याध! हम दोनोंको कालके अधीन और कालके ही आदेशका पालक समझकर तुम्हें कभी हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन् धर्मार्थसंशये।
अब्रवीत् पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा ॥ ६९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धार्मिक विषयमें संदेह उपस्थित होनेपर काल भी वहाँ आ पहुँचा तथा सर्प, मृत्यु एवं अर्जुनक व्याधसे इस प्रकार बोला ॥ ६९ ॥

काल उवाच

न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ॥ ७० ॥

कालने कहा—व्याध! न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही इस जीवकी मृत्युमें अपराधी हैं। हमलोग किसीकी मृत्युमें प्रेरक या प्रयोजक भी नहीं हैं ॥ ७० ॥

अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥ ७१ ॥

अर्जुनक! इस बालकने जो कर्म किया है, वही इसकी मृत्युमें प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाशका कारण नहीं है। यह जीव अपने कर्मसे ही मरता है ॥ ७१ ॥

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ॥ ७२ ॥

इस बालकने जो कर्म किया है, उसीसे यह मृत्युको प्राप्त हुआ है। इसका कर्म ही इसके विनाशका कारण है। हम सब लोग कर्मके ही अधीन हैं ॥ ७२ ॥

कर्मदायादवाँल्लोकः कर्मसम्बन्धलक्षणः।
कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम् ॥ ७३ ॥

संसारमें कर्म ही मनुष्योंका पुत्र-पौत्रके समान अनुगमन करनेवाला है। कर्म ही दुःख-सुखके सम्बन्धका सूचक है।

वृद्धा गौतमीकी आदर्श क्षमा

इस जगत्‌में कर्म ही जैसे परस्पर एक-दूसरेको प्रेरित करते हैं, वैसे ही हम भी कर्मोंसे ही प्रेरित हुए हैं ॥ ७३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

जैसे कुम्हार मिट्टीके लोंदेसे जो-जो बर्तन चाहता है, वही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही सब कुछ पाता है ॥ ७४ ॥

यथा च्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम् ।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥ ७५ ॥

जैसे धूप और छाया दोनों नित्य-निरन्तर एक-दूसरेसे मिले रहते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ता दोनों अपने कर्मानुसार एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं ॥ ७५ ॥

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान् ।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार विचार करनेसे न मैं, न मृत्यु, न सर्प, न तुम (व्याध) और न यह बूढ़ी ब्राह्मणी ही इस बालककी मृत्युमें कारण है । यह शिशु स्वयं ही कर्मके अनुसार अपनी मृत्युमें कारण हुआ है ॥ ७६ ॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप ।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

नरेश्वर ! कालके इस प्रकार कहनेपर गौतमी ब्राह्मणीको यह निश्चय हो गया कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है । फिर वह अर्जुनकसे बोली ॥ ७७ ॥

गौतम्युवाच

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम् ।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥ ७८ ॥

गौतमीने कहा—व्याध ! न यह काल, न सर्प और न मृत्यु ही यहाँ कारण हैं । यह बालक अपने कर्मोंसे ही प्रेरित हो कालके द्वारा विनाशको प्राप्त हुआ है ॥ ७८ ॥

मया च तत् कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः ।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥ ७९ ॥

अर्जुनक ! मैंने भी वैसा कर्म किया था, जिससे मेरा पुत्र मर गया है । अतः काल और मृत्यु अपने-अपने स्थानको पधारें और तू इस सर्पको छोड़ दे ॥ ७९ ॥

भीष्म उवाच

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः ।
अभूद् विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥ ८० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक तथा गौतमी ब्राह्मणीका भी शोक दूर हो गया ॥ ८० ॥

एतच्छ्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप ।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् सर्वे गच्छन्ति वै नृप ॥ ८१ ॥

नरेश्वर ! इस उपाख्यानको सुनकर तुम शान्ति धारण करो, शोकमें न पड़ो । सब मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले लोकोंमें ही जाते हैं ॥ ८१ ॥

नैव त्वया कृतं कर्म नापि दुर्योधनेन वै ।
कालेनैतत् कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥ ८२ ॥

तुमने या दुर्योधनने कुछ नहीं किया है । कालकी ही यह सारी करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः ।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनकर महातेजस्वी धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरकी चिन्ता दूर हो गयी तथा उन्होंने पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गौतमीलुब्धकव्यालमृत्युकालसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालका संवादविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रजापति मनुके वंशका वर्णन, अग्निपुत्र सुदर्शनका अतिथिसत्काररूपी धर्मके पालनसे मृत्युपर विजय पाना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रुतं मे महदाख्यानमिदं मतिमतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सर्वशास्त्र-विशारद महाप्राज्ञ पितामह ! इस महत्त्वपूर्ण उपाख्यानको मैंने बड़े ध्यानसे सुना है ॥ १ ॥

भूयस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मार्थसहितं नृप ।
कथ्यमानं त्वया किञ्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नरेश्वर ! अब मैं पुनः आपके मुखसे कुछ और धर्म और अर्थयुक्त उपदेश सुनना चाहता हूँ, अतः आप मुझे इस विषयको विस्तारपूर्वक बताइये ॥ २ ॥

केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ।

इत्येतत् सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेनापि च पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! किस गृहस्थने केवल धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी है ? यह सब बातें आप यथार्थरूपसे कहिये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! एक गृहस्थने जिस प्रकार धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी थी, उसके विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

मनोः प्रजापते राजन्निक्ष्वाकुरभवत् सुतः ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे नृपतेः सूर्यवर्चसः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! प्रजापति मनुके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था इक्ष्वाकु । राजा इक्ष्वाकु सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्होंने सौ पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ५ ॥

दशमस्तस्य पुत्रस्तु दशाश्वो नाम भारत ।
माहिष्मत्यामभूद् राजा धर्मात्मा सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

भारत ! उनमेंसे दसवें पुत्रका नाम दशाश्व था, जो माहिष्मतीपुरीमें राज्य करता था । वह बड़ा ही धर्मात्मा और सत्यपराक्रमी था ॥ ६ ॥

दशाश्वस्य सुतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सत्ये तपसि दाने च यस्य नित्यं रतं मनः ॥ ७ ॥

दशाश्वका पुत्र भी बड़ा धर्मात्मा राजा था । उसका मन सदा सत्य, तपस्या और दानमें ही लगा रहता था ॥ ७ ॥

मदिराश्व इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
धनुर्वेदे च वेदे च निरतो योऽभवत् सदा ॥ ८ ॥

वह राजा इस भूतलपर मदिराश्वके नामसे विख्यात था और सदा वेद एवं धनुर्वेदके अभ्यासमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

मदिराश्वस्य पुत्रस्तु द्युतिमान् नाम पार्थिवः ।
महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ ९ ॥

मदिराश्वका पुत्र महाभाग, महातेजस्वी, महान् धैर्यशाली और महाबली द्युतिमान् नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥

पुत्रो द्युतिमतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सर्वलोकेषु विख्यातः सुवीरो नाम नामतः ॥ १० ॥
धर्मात्मा कोषवांश्चापि देवराज इवापरः ।

द्युतिमान्का पुत्र परम धर्मात्मा राजा सुवीर हुआ, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात था । वह धर्मात्मा, कोश (धन-भण्डार) से सम्पन्न तथा दूसरे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी था ॥ १०½ ॥

सुवीरस्य तु पुत्रोऽभूत् सर्वसंग्रामदुर्जयः ॥ ११ ॥
स दुर्जय इति ख्यातः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

सुवीरका पुत्र दुर्जय नामसे विख्यात हुआ । वह सभी संग्रामोंमें शत्रुओंके लिये दुर्जय तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ॥ ११½ ॥

दुर्जयस्येन्द्रवपुषः पुत्रोऽश्विसदृशद्युतिः ॥ १२ ॥
दुर्योधनो नाम महान् राजा राजर्षिसत्तमः ।

इन्द्रके समान शरीरवाले राजा दुर्जयके एक पुत्र हुआ, जो अश्विनीकुमारोंके समान कान्तिमान् था । उसका नाम था दुर्योधन । वह राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महान् राजा था ॥१२½॥

तस्येन्द्रसमवीर्यस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ॥ १३ ॥
विषये वासवस्तस्य सम्यगेव प्रवर्षति ।

इन्द्रके समान पराक्रमी और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले राजा दुर्योधनके राज्यमें इन्द्र सदा ठीक समयपर और उचित मात्रामें ही वर्षा करते थे ॥ १३½ ॥

रत्नैर्धनैश्च पशुभिः सस्यैश्चापि पृथग्विधैः ॥ १४ ॥
नगरं विषयश्चास्य प्रतिपूर्णस्तदाभवत् ।

उनका नगर और राज्य रत्न, धन, पशु तथा भाँति-भाँतिके धान्योंसे उन दिनों भरा-पूरा रहता था ॥ १४½ ॥

न तस्य विषये चाभूत् कृपणो नापि दुर्गतः ॥ १५ ॥
व्याधितो वा कृशो वापि तस्मिन् नाभून्नरः क्वचित् ।

उनके राज्यमें कहीं कोई भी कृपण, दुर्गतिग्रस्त, रोगी अथवा दुर्बल मनुष्य नहीं दृष्टिगोचर होता था ॥ १५½ ॥

सुदक्षिणो मधुरवागनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
धर्मात्मा चानृशंसश्च विक्रान्तोऽथाविकत्थनः ॥ १६ ॥

वह राजा अत्यन्त उदार, मधुरभाषी, किसीके दोष न देखनेवाला, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, दयालु और पराक्रमी था । वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता था ॥ १६ ॥

यज्वा च दान्तो मेधावी ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
न चावमन्ता दाता च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १७ ॥

राजा दुर्योधन वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान्, यज्ञकर्ता, जितेन्द्रिय, मेधावी, ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ था । वह सबको दान देता और किसीका भी अपमान नहीं करता था ॥ १७ ॥

तं नर्मदा देवनदी पुण्या शीतजला शिवा ।
चकमे पुरुषव्याघ्रं स्वेन भावेन भारत ॥ १८ ॥

भारत ! एक समय शीतल जलवाली पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी नर्मदा उस पुरुषसिंहको सम्पूर्ण हृदयसे चाहने लगी और उसकी पत्नी बन गयी ॥ १८ ॥

तस्यां जज्ञे तदा नद्यां कन्या राजीवलोचना ।
नाम्ना सुदर्शना राजन् रूपेण च सुदर्शना ॥ १९ ॥

राजन् ! उस नदीके गर्भसे राजाके द्वारा एक कमल-लोचना कन्या उत्पन्न हुई, जो नामसे तो सुदर्शना थी ही, रूपसे भी सुदर्शना (सुन्दर एवं दर्शनीय) थी ॥ १९ ॥

तादृग्रूपा न नारीषु भूतपूर्वा युधिष्ठिर ।
दुर्योधनसुता यादृगभवद् वरवर्णिनी ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनकी वह सुन्दर वर्णवाली पुत्री जैसी रूपवती थी, वैसी रूप-सौन्दर्यशालिनी स्त्री नारियोंमें पहले कभी नहीं हुई थी ॥ २० ॥

तामग्निश्चकमे साक्षाद् राजकन्यां सुदर्शनाम्।
भूत्वा च ब्राह्मणो राजन् वरयामास तं नृपम् ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकन्या सुदर्शनापर साक्षात् अग्निदेव आसक्त हो गये और उन्होंने ब्राह्मणका रूप धारण करके राजासे उस कन्याको माँगा ॥ २१ ॥

दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम् ॥ २२ ॥

राजा यह सोचकर कि एक तो यह दरिद्र है और दूसरे मेरे समान वर्णका नहीं है, अपनी पुत्री सुदर्शनाको उस ब्राह्मणके हाथमें नहीं देना चाहते थे ॥ २२ ॥

ततोऽस्य वितते यज्ञे नष्टोऽभूद्धव्यवाहनः।
ततः सुदुःखितो राजा वाक्यमाह द्विजांस्तदा ॥ २३ ॥

तब अग्निदेव रुष्ट होकर राजाके आरम्भ हुए यज्ञमेंसे अदृश्य हो गये। इससे राजाको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—॥ २३ ॥

दुष्कृतं मम किं नु स्याद् भवतां वा द्विजर्षभाः।
येन नाशं जगामाग्निः कृतं कुपुरुषेष्विव ॥ २४ ॥

'विप्रवरो ! मुझसे या आपलोगोंसे कौन-सा ऐसा दुष्कर्म बन गया है, जिससे अग्निदेव दुष्ट मनुष्योंके प्रति किये गये उपकारके समान नष्ट हो गये हैं ॥ २४ ॥

न ह्यल्पं दुष्कृतं नोऽस्ति येनाग्निर्नाशमागतः।
भवतां चाथवा मह्यं तत्त्वेनैतद् विमृश्यताम् ॥ २५ ॥

'हमलोगोंका थोड़ा-सा अपराध नहीं है, जिससे अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं। वह अपराध आपलोगोंका है या मेरा ? इसका ठीक-ठीक विचार करें ?' ॥ २५ ॥

तत्र राज्ञो वचः श्रुत्वा विप्रास्ते भरतर्षभ।
नियता वाग्यताश्चैव पावकं शरणं ययुः ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजाकी यह बात सुनकर उन ब्राह्मणोंने शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनपूर्वक मौन हो भगवान् अग्निदेवकी शरण ली ॥ २६ ॥

तान् दर्शयामास तदा भगवान् हव्यवाहनः।
स्वं रूपं दीप्तिमत् कृत्वा शरदर्कसमद्युतिः ॥ २७ ॥

तब भगवान् हव्यवाहनने रातमें अपना तेजस्वी रूप प्रकट करके शरत्कालके सूर्यके सदृश द्युतिमान् हो उन ब्राह्मणोंको दर्शन दिया ॥ २७ ॥

ततो महात्मा तानाह दहनो ब्राह्मणर्षभान्।
वरयाम्यात्मनोऽर्थाय दुर्योधनसुतामिति ॥ २८ ॥

उस समय महात्मा अग्निने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा—'मैं दुर्योधनकी पुत्रीका अपने लिये वरण करता हूँ' ॥२८॥

ततस्ते कल्यमुत्थाय तस्मै राज्ञे न्यवेदयन्।
ब्राह्मणा विस्मिताः सर्वे यदुक्तं चित्रभानुना ॥ २९ ॥

यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए सब ब्राह्मणोंने सबेरे उठकर, अग्निदेवने जो कहा था वह सब कुछ राजासे निवेदन किया ॥ २९ ॥

ततः स राजा तच्छ्रुत्वा वचनं ब्रह्मवादिनाम्।
अवाप्य परमं हर्षं तथेति प्राह बुद्धिमान् ॥ ३० ॥

ब्रह्मवादी ऋषियोंका यह वचन सुनकर राजाको बड़ा हर्ष हुआ और उन बुद्धिमान् नरेशने 'तथास्तु' कहकर अग्निदेवका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ॥ ३० ॥

अयाचत च तं शुल्कं भगवन्तं विभावसुम्।
नित्यं सांनिध्यमिह ते चित्रभानो भवेदिति ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्होंने कन्याके शुल्करूपसे भगवान् अग्निसे याचना की—'चित्रभानो ! इस नगरीमें आपका सदा निवास बना रहे' ॥ ३१ ॥

तमाह भगवानग्निरेवमस्त्विति पार्थिवम्।
ततः सांनिध्यमद्यापि माहिष्मत्यां विभावसोः ॥ ३२ ॥

यह सुनकर भगवान् अग्निने राजासे कहा, 'एवमस्तु (ऐसा ही होगा)'। तभीसे आजतक माहिष्मती नगरीमें अग्निदेवका निवास बना हुआ है ॥ ३२ ॥

दृष्टं हि सहदेवेन दिशं विजयता तदा।
ततस्तां समलंकृत्य कन्यामाहतवाससम् ॥ ३३ ॥
ददौ दुर्योधनो राजा पावकाय महात्मने।

सहदेवने दक्षिण दिशाकी विजय करते समय वहाँ अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखा था। अग्निदेवके वहाँ रहना स्वीकार कर लेनेपर राजा दुर्योधनने अपनी कन्याको सुन्दर वस्त्र पहनाकर नाना प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत करके महात्मा अग्निके हाथमें दे दिया ॥ ३३½ ॥

प्रतिजग्राह चाग्निस्तु राजकन्यां सुदर्शनाम् ॥ ३४ ॥
विधिना वेददृष्टेन वसोर्धारामिवाध्वरे।

अग्निने वेदोक्त विधिसे राजकन्या सुदर्शनाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे वे यज्ञमें वसुधारा ग्रहण करते हैं ॥

तस्या रूपेण शीलेन कुलेन वपुषा श्रिया ॥ ३५ ॥
अभवत् प्रीतिमानग्निर्गर्भं चास्या मनो दधे।

सुदर्शनाके रूप, शील, कुल, शरीरकी आकृति और कान्तिको देखकर अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसमें गर्भाधान करनेका विचार किया ॥ ३५½ ॥

तस्याः समभवत् पुत्रो नाम्नाऽऽग्नेयः सुदर्शनः ॥ ३६ ॥
सुदर्शनस्तु रूपेण पूर्णेन्दुसदृशोपमः।
शिशुरेवाध्यगात् सर्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥

कुछ कालके पश्चात् उसके गर्भसे अग्निके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुदर्शन रखा गया। वह रूपमें पूर्ण चन्द्रमाके

समान मनोहर था और उसे बचपनमें ही सर्वस्वरूप सनातन परब्रह्मका ज्ञान हो गया था ॥ ३६-३७ ॥

अथौघवान् नाम नृपो नृगस्यासीत् पितामहः ।
तस्याथौघवती कन्या पुत्रश्चौघरथोऽभवत् ॥ ३८ ॥

उन दिनों राजा नृगके पितामह ओघवान् इस पृथ्वीपर राज्य करते थे । उनके ओघवती नामवाली एक कन्या और ओघरथ नामवाला एक पुत्र था ॥ ३८ ॥

तामोघवान् ददौ तस्मै स्वयमोघवतीं सुताम् ।
सुदर्शनाय विदुषे भार्यार्थे देवरूपिणीम् ॥ ३९ ॥

ओघवती देवकन्याके समान सुन्दरी थी । ओघवान्ने अपनी उस पुत्रीको विद्वान् सुदर्शनको पत्नी बनानेके लिये दे दिया ॥ ३९ ॥

स गृहस्थाश्रमरतस्तया सह सुदर्शनः ।
कुरुक्षेत्रेऽवसद् राजन्नोघवत्या समन्वितः ॥ ४० ॥

राजन् ! सुदर्शन उसके साथ गृहस्थ-धर्मका पालन करने लगे । उन्होंने ओघवतीके साथ कुरुक्षेत्रमें निवास किया ॥४०॥

गृहस्थश्चावजेष्यामि मृत्युमित्येव स प्रभो ।
प्रतिज्ञामकरोद् धीमान् दीप्ततेजा विशाम्पते ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ ! प्रभो ! उद्दीप्त तेजवाले उस बुद्धिमान् सुदर्शनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए ही मृत्युको जीत लूँगा ॥ ४१ ॥

तामथौघवतीं राजन् स पावकसुतोऽब्रवीत् ।
अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४२ ॥

राजन् ! अग्निकुमार सुदर्शनने ओघवतीसे कहा—'देवि ! तुम्हें अतिथिके प्रतिकूल किसी तरह कोई कार्य नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः ।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४३ ॥

'जिस-जिस वस्तुसे अतिथि संतुष्ट हो, वह वस्तु तुम्हें सदा ही उसे देनी चाहिये । यदि अतिथिके संतोषके लिये तुम्हें अपना शरीर भी देना पड़े तो मनमें कभी अन्यथा विचार न करना ॥ ४३ ॥

एतद् व्रतं मम सदा हृदि सम्परिवर्तते ।
गृहस्थानां च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥ ४४ ॥

'सुन्दरी ! अतिथि-सेवाका यह व्रत मेरे हृदयमें सदा स्थित रहता है । गृहस्थोंके लिये अतिथि-सेवासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ४४ ॥

प्रमाणं यदि वामोरु वचस्ते मम शोभने ।
इदं वचनमव्यग्रा हृदि त्वं धारयेः सदा ॥ ४५ ॥

'वामोरु शोभने ! यदि तुम्हें मेरा वचन मान्य हो तो मेरी इस बातको शान्त भावसे सदा अपने हृदयमें धारण किये रहना ॥ ४५ ॥

निष्क्रान्ते मयि कल्याणि तथा संनिहितेऽनघे ।
नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव ॥ ४६ ॥

'कल्याणि ! निष्पाप ! यदि तुम मुझे आदर्श मानती हो तो मैं घरमें रहूँ या घरसे कहीं दूर निकल जाऊँ, तुम्हें किसी भी दशामें अतिथिका अनादर नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तमब्रवीदोघवती तथा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
न मे त्वद्वचनात् किंचिन्न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४७ ॥

यह सुनकर ओघवतीने दोनों हाथ जोड़ मस्तकमें लगाकर कहा—'कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो मैं आपकी आज्ञासे किसी कारणवश न कर सकूँ' ॥ ४७ ॥

जिगीषमाणस्तु गृहे तदा मृत्युः सुदर्शनम् ।
पृष्ठतोऽन्वगमद् राजन् रन्ध्रान्वेषी तदा सदा ॥ ४८ ॥

राजन् ! उन दिनों गृहस्थ-धर्ममें स्थित हुए सुदर्शनको जीतनेकी इच्छासे मृत्यु उनका छिद्र खोजती हुई सदा उनके पीछे लगी रहती थी ॥ ४८ ॥

इध्मार्थं तु गते तस्मिन्नग्निपुत्रे सुदर्शने ।
अतिथिर्ब्राह्मणः श्रीमांस्तामाहौघवतीं तदा ॥ ४९ ॥

एक दिन अग्निपुत्र सुदर्शन जब समिधा लानेके लिये बाहर चले गये, उसी समय उनके घरपर एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि आया और ओघवतीसे बोला—॥ ४९ ॥

आतिथ्यं कृतमिच्छामि त्वयाद्य वरवर्णिनि ।
प्रमाणं यदि धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः ॥ ५० ॥

'वरवर्णिनि ! यदि तुम गृहस्थसम्मत धर्मको मान्य समझती हो तो आज मैं तुम्हारे द्वारा किया गया आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ५० ॥

इत्युक्ता तेन विप्रेण राजपुत्री यशस्विनी ।
विधिना प्रतिजग्राह वेदोक्तेन विशाम्पते ॥ ५१ ॥

प्रजानाथ ! उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर यशस्विनी राजकुमारी ओघवतीने वेदोक्त विधिसे उसका पूजन किया ॥५१॥

आसनं चैव पाद्यं च तस्मै दत्त्वा द्विजातये ।
प्रोवाचौघवती विप्रं केनार्थः किं ददामि ते ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन और पैर धोनेके लिये जल देकर ओघवतीने उससे पूछा—'विप्रवर ! आपको किस वस्तुकी आवश्यकता है ? मैं आपकी सेवामें क्या भेंट करूँ ?' ॥ ५२ ॥

तामब्रवीत् ततो विप्रो राजपुत्रीं सुदर्शनाम् ।
त्वया ममार्थः कल्याणि निर्विशङ्कैतदाचर ॥ ५३ ॥

तब ब्राह्मणने दर्शनीय सौन्दर्यसे सुशोभित राजकुमारी ओघवतीसे कहा—'कल्याणि ! मुझे तुमसे ही काम है । तुम निःशङ्क होकर मेरा यह प्रिय कार्य करो ॥ ५३ ॥

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः ।
प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ ५४ ॥

'रानी ! यदि तुम्हें गृहस्थसम्मत धर्म मान्य है तो मुझे अपना शरीर देकर मेरा प्रिय कार्य करना चाहिये' ॥ ५४ ॥

स तया छन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया।
नान्यमात्मप्रदानात् स तस्या वव्रे वरं द्विजः॥ ५५॥

राजकन्याने दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये उस अतिथिसे बारंबार अनुरोध किया, किंतु उस ब्राह्मणने उसके शरीर-दानके सिवा और कोई अभिलषित पदार्थ उससे नहीं माँगा॥ ५५॥

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम्॥ ५६॥

तब राजकुमारीने पहले कहे हुए पतिके वचनको याद करके लजाते-लजाते उस द्विजश्रेष्ठसे कहा, 'अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है'॥ ५६॥

ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवाथ विवेश ह।
संस्मृत्य भर्तुर्वचनं गृहस्थाश्रमकाङ्क्षिणः॥ ५७॥

गृहस्थाश्रमके धर्मके पालनकी इच्छा रखनेवाले पति-की कही हुई बातको स्मरण करके जब उसने ब्राह्मणके समक्ष 'हाँ' कर दिया, तब उस विप्र ऋषिने मुसकराकर ओघवती-के साथ घरके भीतर प्रवेश किया॥ ५७॥

अथेध्मानमुपादाय स पावकिरुपागमत्।
मृत्युना रौद्रभावेन नित्यं बन्धुरिवान्वितः॥ ५८॥

इतनेहीमें अग्निकुमार सुदर्शन समिधा लेकर लौट आये। मृत्यु क्रूर भावनासे सदा उनके पीछे लगी रहती थी, मानो कोई स्नेही बन्धु अपने प्रिय बन्धुके पीछे-पीछे चल रहा हो॥ ५८॥

ततस्त्वाश्रममागम्य स पावकसुतस्तदा।
तां व्याजहारौघवतीं क्वासि यातेति चासकृत्॥ ५९॥

आश्रमपर पहुँचकर फिर अग्निपुत्र सुदर्शन अपनी पत्नी ओघवतीको बारंबार पुकारने लगे—'देवि! तुम कहाँ चली गयी?'॥ ५९॥

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा।
कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती॥ ६०॥
उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च।
तूष्णीं भूताभवत् साध्वी न चोवाचाथ किंचन॥ ६१॥

परंतु ओघवतीने उस समय अपने पतिको कोई उत्तर नहीं दिया। अतिथिरूपमें आये हुए ब्राह्मणने अपने दोनों हाथोंसे उसे छू दिया था। इससे वह सती-साध्वी पतिव्रता अपनेको दूषित मानकर अपने स्वामीसे भी लज्जित हो गयी थी; इसीलिये वह साध्वी चुप हो गयी। कुछ भी बोल न सकी॥ ६०-६१॥

अथ तां पुनरेवेदं प्रोवाच स सुदर्शनः।
क्व सा साध्वी क्व सा याता गरीयः किमतो मम॥ ६२॥
पतिव्रता सत्यशीला नित्यं चैवार्जवे रता।
कथं न प्रत्युदेत्यद्य स्मयमाना यथा पुरा॥ ६३॥

अब सुदर्शन फिर पुकार-पुकारकर इस प्रकार कहने लगे—'मेरी वह साध्वी पत्नी कहाँ है? वह सुशीला कहाँ चली गयी? मेरी सेवासे बढ़कर कौन गुरुतर कार्य उसपर आ पड़ा। वह पतिव्रता, सत्य बोलनेवाली और सदा सरल-भावसे रहनेवाली है। आज पहलेकी ही भाँति मुसकराती हुई वह मेरी अगवानी क्यों नहीं कर रही है?'॥ ६२-६३॥

उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम्।
अतिथिं विद्धि सम्प्राप्तं ब्राह्मणं पावके च माम्॥ ६४॥

यह सुनकर आश्रमके भीतर बैठे हुए ब्राह्मणने सुदर्शन-को उत्तर दिया—'अग्निकुमार! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं ब्राह्मण हूँ और तुम्हारे घरपर अतिथिके रूपमें आया हूँ॥ ६४॥

अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम।
तैस्तैरतिथिसत्कारैर्ब्रह्मन्नेषा वृता मया॥ ६५॥

'साधुशिरोमणे! तुम्हारी इस पत्नीने अतिथि सत्कारके द्वारा मेरी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया है। ब्रह्मन्! तब मैंने इसे ही वरण कर लिया है॥ ६५॥

अनेन विधिना सेयं मामर्चति शुभानना।
अनुरूपं यदत्रान्यत् तद् भवान् कर्तुमर्हति॥ ६६॥

'इसी विधिके अनुसार यह सुमुखी इस समय मेरी सेवामें उपस्थित हुई है। अब यहाँ तुम्हें दूसरा जो कुछ उचित प्रतीत हो, वह कर सकते हो'॥ ६६॥

कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं वै समन्वगात्।
हीनप्रतिज्ञमत्रैनं वधिष्यामीति चिन्तयन्॥ ६७॥

इसी समय मृत्यु हाथमें लोहदण्ड लिये सुदर्शनके पीछे आ-कर खड़ी हो गयी। वह सोचती थी कि अब तो यह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ बैठेगा। इसलिये इसे यहीं मार डालूँगी॥ ६७॥

सुदर्शनस्तु मनसा कर्मणा चक्षुषा गिरा।
त्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम्॥ ६८॥

परंतु सुदर्शन मन, वाणी, नेत्र और क्रियासे भी ईर्ष्या तथा क्रोधका त्याग कर चुके थे। वे हँसते-हँसते यों बोले—॥

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः सम्प्राप्तातिथिपूजनम्॥ ६९॥

'विप्रवर! आपकी सुरत कामना पूर्ण हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; क्योंकि घरपर आये हुए अतिथिका पूजन करना गृहस्थके लिये सबसे बड़ा धर्म है॥ ६९॥

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः॥ ७०॥

'जिस गृहस्थके घरपर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं॥ ७०॥

प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद् विद्यते वसु।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम्॥ ७१॥

'मेरे प्राण, मेरी पत्नी तथा मेरे पास और जो कुछ धन-दौलत है, वह सब मेरी ओरसे अतिथियोंके लिये निछावर है, ऐसा मैंने व्रत ले रखा है ॥ ७१ ॥

निःसंदिग्धं यथा वाक्यमेतन्मे समुदाहृतम् ।
तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे ॥ ७२ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने जो यह बात कही है, इसमें संदेह नहीं है । इस सत्यको सिद्ध करनेके लिये मैं स्वयं ही अपने शरीरको छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ७२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा मनः कालो दिशश्चैव गुणा दश ॥ ७३ ॥
नित्यमेव हि पश्यन्ति देहिनां देहसंश्रिताः ।
सुकृतं दुष्कृतं चापि कर्म धर्मभृतां वर ॥ ७४ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, नेत्र, बुद्धि, आत्मा, मन, काल और दिशाएँ—ये दस गुण (वस्तुएँ) सदा ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके पुण्य और पापकर्मको देखा करते हैं ॥ ७३-७४ ॥

यथैषा नानृता वाणी मयाद्य समुदीरिता ।
तेन सत्येन मां देवाः पालयन्तु दहन्तु वा ॥ ७५ ॥

'आज मेरी कही हुई यह वाणी यदि मिथ्या नहीं है तो इस सत्यके प्रभावसे देवता मेरी रक्षा करें अथवा मिथ्या होनेपर मुझे जलाकर भस्म कर डालें' ॥ ७५ ॥

ततो नादः समभवद् दिक्षु सर्वासु भारत ।
असकृत् सत्यमित्येवं नैतन्मिथ्येति सर्वतः ॥ ७६ ॥

भरतनन्दन ! सुदर्शनके इतना कहते ही सम्पूर्ण दिशाओंसे बारंबार आवाज आने लगी—'तुम्हारा कथन सत्य है । इसमें झूठका लेश भी नहीं है' ॥ ७६ ॥

उटजात् तु ततस्तस्मान्निश्चक्राम स वै द्विजः ।
वपुषा द्यां च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् वह ब्राह्मण उस आश्रमसे बाहर निकला । वह अपने शरीरसे वायुकी भाँति पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके स्थित हो गया ॥ ७७ ॥

स्वरेण विप्रः शैक्षेण त्रीँल्लोकाननुनादयन् ।
उवाच चैनं धर्मज्ञं पूर्वमामन्त्र्य नामतः ॥ ७८ ॥

शिक्षाके अनुकूल उदात्त आदि स्वरसे तीनों लोकोंको प्रतिध्वनित करते हुए उस ब्राह्मणने पहले धर्मज्ञ सुदर्शनको सम्बोधित करके उससे इस प्रकार कहा—॥ ७८ ॥

धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ ।
प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ ७९ ॥

'निष्पाप सुदर्शन ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं धर्म हूँ

और तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये यहाँ आया हूँ । तुममें सत्य है यह जानकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ७९ ॥

विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति ।
रन्ध्रान्वेषी तव सदा त्वया धृत्या वशी कृतः ॥ ८० ॥

'तुमने इस मृत्युको, जो सदा तुम्हारा छिद्र ढूँढ़ती हुई तुम्हारे पीछे लगी रहती थी, जीत लिया । तुमने अपने धैर्यसे मृत्युको वशमें कर लिया है ॥ ८० ॥

न चास्ति शक्तिस्त्रैलोक्ये कस्यचित् पुरुषोत्तम ।
पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितुमप्युत ॥ ८१ ॥

'पुरुषोत्तम ! तीनों लोकोंमें किसीकी भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो तुम्हारी इस सती-साध्वी पतिव्रता पत्नीकी ओर कलुषित भावनासे आँख उठाकर देख भी सके ॥ ८१ ॥

रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा ।
अधृष्या यदियं ब्रूयात् तथा तन्नान्यथा भवेत् ॥ ८२ ॥

'यह तुम्हारे गुणोंसे तथा अपने पातिव्रत्यके गुणोंद्वारा भी सदा सुरक्षित है । कोई भी इसका पराभव नहीं कर सकता । यह जो बात अपने मुँहसे निकालेगी, वह सत्य ही होगी । मिथ्या नहीं हो सकती ॥ ८२ ॥

एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी ।
पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति ॥ ८३ ॥
अर्धेनौघवती नाम त्वामर्धेनानुयास्यति ।
शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः ॥ ८४ ॥

'अपने तपोबलसे युक्त यह ब्रह्मवादिनी नारी संसारको पवित्र करनेके लिये अपने आधे शरीरसे ओघवती नामवाली श्रेष्ठ नदी होगी और आधे शरीरसे यह परम सौभाग्यवती सती तुम्हारी सेवामें रहेगी । योग सदा इसके वशमें रहेगा ॥

अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसार्जितान्।
यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान्॥ ८५ ॥

'तुम भी इसके साथ अपनी तपस्यासे प्राप्त हुए उन सनातन लोकोंमें जाओगे, जहाँसे फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता ॥ ८५ ॥

अनेन चैव देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे।
निर्जितश्च त्वया मृत्युरैश्वर्यं च तवोत्तमम् ॥ ८६ ॥

'तुम इसी शरीरसे उन दिव्य लोकोंमें जाओगे; क्योंकि तुमने मृत्युको जीत लिया है और तुम्हें उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त है॥

पञ्चभूतान्यतिक्रान्तः स्ववीर्याच्च मनोजवः।
गृहस्थधर्मेणानेन कामक्रोधौ च ते जितौ ॥ ८७ ॥

'अपने पराक्रमसे पञ्चभूतोंको लाँघकर तुम मनके समान वेगवान् हो गये हो। इस गृहस्थ-धर्मके आचरणसे ही तुमने काम और क्रोधपर विजय पा ली है ॥ ८७ ॥

स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः।
तव शुश्रूषया राजन् राजपुत्र्या विनिर्जिताः ॥ ८८ ॥

'राजन्! राजकुमारी ओघवतीने भी तुम्हारी सेवाके बलसे स्नेह (आसक्ति), राग, आलस्य, मोह और द्रोह आदि दोषोंको जीत लिया है' ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच

शुक्लानां तु सहस्रेण वाजिनां रथमुत्तमम्।
युक्तं प्रगृह्य भगवान् वासवोऽभ्याजगाम तम् ॥ ८९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर भगवान् इन्द्र भी श्वेत रंगके एक हजार घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम रथको लेकर उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ८९ ॥

मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥ ९० ॥

इस प्रकार सुदर्शनने अतिथि-सत्कारके पुण्यसे मृत्यु, आत्मा, लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम और क्रोधको भी जीत लिया ॥ ९० ॥

तस्माद् गृहाश्रमस्थस्य नान्यद् दैवतमस्ति वै।
ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद् विचारय ॥ ९१ ॥

पुरुषसिंह! इसलिये तुम अपने मनमें यह निश्चित विचार कर लो कि गृहस्थ पुरुषके लिये अतिथिको छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं है ॥ ९१ ॥

अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम्।
न तत् क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ९२ ॥

यदि अतिथि पूजित होकर मन-ही-मन गृहस्थके कल्याण-का चिन्तन करे तो उससे जो फल मिलता है, उसकी सौ यज्ञोंसे भी तुलना नहीं हो सकती अर्थात् सौ यज्ञोंसे भी बढ़-कर है। ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ९२ ॥

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत्।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ ९३ ॥

जो गृहस्थ सुपात्र और सुशील अतिथिको पाकर उसका यथोचित सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसे अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ ९३ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र मयाऽऽख्यानमनुत्तमम्।
यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराभवत् ॥ ९४ ॥

बेटा! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार पूर्वकालमें गृहस्थने जिस प्रकार मृत्युपर विजय पायी थी, वह उत्तम उपाख्यान मैंने तुमसे कहा ॥ ९४ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्।
बुभूषताभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम् ॥ ९५ ॥

यह उत्तम आख्यान धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है। इससे सब प्रकारके दुष्कर्मोंका नाश हो जाता है, अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको सदा ही इसके प्रति आदरबुद्धि रखनी चाहिये ॥ ९५ ॥

इदं यः कथयेद् विद्वानहन्यहनि भारत।
सुदर्शनस्य चरितं पुण्याँल्लोकानवाप्नुयात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन! जो विद्वान् सुदर्शनके इस चरित्रका प्रतिदिन वर्णन करता है, वह पुण्यलोकोंको प्राप्त होता है* ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुदर्शनोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुदर्शनका उपाख्यानविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

---

* इस अध्यायमें वर्णित चरित्र असाधारण शक्तिसम्पन्न पुरुषोंके हैं। आजकलके साधारण मनुष्योंको इसके उस अंशका अनुकरण नहीं करना चाहिये, जिसमें स्त्रीके लिये अपने शरीर-प्रदानकी बात कही गयी है। अतिथिको अन्न, जल, बैठनेके लिये आसन, रहनेके लिये स्थान, सोनेके लिये बिस्तर और वस्त्र आदि वस्तुएँ अपनी शक्तिके अनुसार समर्पित करनी चाहिये। मीठे वचनोंद्वारा उसका आदर-सत्कार भी करना चाहिये। इतना ही इस अध्यायका तात्पर्य है।

तृतीयोऽध्यायः

विश्वामित्रको ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति कैसे हुई—इस विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना॥ १॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज! नरेश्वर! यदि अन्य तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न महात्मा विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया? धर्मात्मन्! नरश्रेष्ठ पितामह! इस बातको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, आप मुझे बताइये॥ १-२॥

तेन ह्यमितवीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।
हतं पुत्रशतं सद्यस्तपसापि पितामह॥ ३॥

पितामह! अमित पराक्रमी विश्वामित्रने अपनी तपस्याके प्रभावसे महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंको तत्काल नष्ट कर दिया था॥ ३॥

यातुधानाश्च बहवो राक्षसास्तिग्मतेजसः।
मन्युनाऽऽविष्टदेहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः॥ ४॥

उन्होंने क्रोधके आवेशमें आकर बहुत-से प्रचण्ड तेजस्वी यातुधान एवं राक्षस रच डाले थे, जो काल और यमराजके समान भयानक थे॥ ४॥

महान् कुशिकवंशश्च ब्रह्मर्षिशतसंकुलः।
स्थापितो नरलोकेऽस्मिन् विद्वद्ब्राह्मणसंस्तुतः॥ ५॥

इतना ही नहीं, इस मनुष्य-लोकमें उन्होंने उस महान् कुशिक-वंशको स्थापित किया, जो अब सैकड़ों ब्रह्मर्षियोंसे व्याप्त और विद्वान् ब्राह्मणोंसे प्रशंसित है॥ ५॥

ऋचीकस्यात्मजश्चैव शुनःशेपो महातपाः।
विमोक्षितो महासत्रात् पशुतामप्युपागतः॥ ६॥

ऋचीक (अजीगर्त) का महातपस्वी पुत्र शुनःशेप एक यज्ञमें यज्ञ-पशु बनाकर लाया गया था; किंतु विश्वामित्रजीने उस महायज्ञसे उसको छुटकारा दिला दिया॥ ६॥

हरिश्चन्द्रक्रतौ देवांस्तोषयित्वाऽऽत्मतेजसा।
पुत्रतामनुसम्प्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः॥ ७॥

हरिश्चन्द्रके उस यज्ञमें अपने तेजसे देवताओंको संतुष्ट करके विश्वामित्रने शुनःशेपको छुड़ाया था; इसलिये वह बुद्धिमान् विश्वामित्रके पुत्रभावको प्राप्त हो गया॥ ७॥

नाभिवादयते ज्येष्ठं देवरातं नराधिप।
पुत्राः पञ्चाशदेवापि शप्ताः श्वपचतां गताः॥ ८॥

नरेश्वर! शुनःशेप देवताओंके देनेसे देवरात नामसे प्रसिद्ध हो विश्वामित्रका ज्येष्ठ पुत्र हुआ। उसके छोटे भाई—विश्वामित्रके अन्य पचास पुत्र उसे बड़ा मानकर प्रणाम नहीं करते थे; इसलिये विश्वामित्रके शापसे वे सब-के-सब चाण्डाल हो गये॥ ८॥

त्रिशङ्कुर्बन्धुभिर्मुक्त ऐक्ष्वाकः प्रीतिपूर्वकम्।
अवाक्शिरा दिवं नीतो दक्षिणामाश्रितो दिशम्॥ ९॥

जिस इक्ष्वाकुवंशी त्रिशंकुको भाई-बन्धुओंने त्याग दिया था और जब वह स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दक्षिण दिशामें नीचे सिर किये लटक रहा था, तब विश्वामित्रजीने ही उसे प्रेमपूर्वक स्वर्गलोकमें पहुँचाया था॥ ९॥

विश्वामित्रस्य विपुला नदी देवर्षिसेविता।
कौशिकी च शिवा पुण्या ब्रह्मर्षिसुरसेविता॥ १०॥

देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंसे सेवित, पवित्र, मङ्गलकारिणी एवं विशाल कौशिकी नदी विश्वामित्रके ही प्रभावसे प्रकट हुई है॥ १०॥

तपोविघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसम्मता।
रम्भा नामाप्सराः शापाद् यस्य शैलत्वमागता॥ ११॥

पाँच चोटीवाली लोकप्रिय रम्भा नामक अप्सरा विश्वामित्रजीकी तपस्यामें विघ्न डालने गयी थी, जो उनके शापसे पत्थर हो गयी॥ ११॥

तथैवास्य भयाद् बद्ध्वा वसिष्ठः सलिले पुरा।
आत्मानं मज्जयञ्श्रीमान् विपाशः पुनरुत्थितः॥ १२॥
तदाप्रभृति पुण्या हि विपाशाभून्महानदी।
विख्याता कर्मणा तेन वसिष्ठस्य महात्मनः॥ १३॥

पूर्वकालमें विश्वामित्रके ही भयसे अपने शरीरको रस्सीसे बाँधकर श्रीमान् वसिष्ठजी अपने-आपको एक नदीके जलमें डुबो रहे थे; परंतु उस नदीके द्वारा पाशरहित (बन्धनमुक्त) हो पुनः ऊपर उठ आये। महात्मा वसिष्ठके उस महान् कर्मसे विख्यात हो वह पवित्र नदी उसी दिनसे 'विपाशा' कहलाने लगी॥ १२-१३॥

वाग्भिश्च भगवान् येन देवसेनाग्रगः प्रभुः।
स्तुतः प्रीतमनाश्चासीच्छापाच्चैनममुञ्चत॥ १४॥

वाणीद्वारा स्तुति करनेपर उन विश्वामित्रपर सामर्थ्यशाली भगवान् इन्द्र प्रसन्न हो गये थे और उनको शापमुक्त कर दिया था॥ १४॥

ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च।
मध्ये ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम्॥ १५॥
तस्यैतानि च कर्माणि तथान्यानि च कौरव।
क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम॥ १६॥

जो विश्वामित्र उत्तानपादके पुत्र ध्रुव तथा ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियों) के बीचमें उत्तर दिशाके आकाशका आश्रय ले तारारूपसे सदा प्रकाशित होते रहते हैं, वे क्षत्रिय ही रहे हैं। कुरुनन्दन ! उनके ये तथा और भी बहुत-से अद्भुत कर्म हैं, उन्हें याद करके मेरे हृदयमें यह जाननेका कौतूहल उत्पन्न हुआ है कि वे ब्राह्मण कैसे हो गये ? ॥ १५-१६ ॥

किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह क्या बात है ? इसे ठीक-ठीक बताइये। विश्वामित्रजी दूसरा शरीर धारण किये बिना ही कैसे ब्राह्मण हो गये ? ॥ १७ ॥

एतत् तत्त्वेन मे तात सर्वमाख्यातुमर्हसि।
मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैवैतद् वदस्व मे ॥ १८ ॥

तात ! यह सब आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें। जैसे मतङ्गको तपस्या करनेसे भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वैसी ही बात विश्वामित्रके लिये क्यों नहीं हुई ? यह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मतङ्गको जो ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वह उचित ही था; क्योंकि उसका जन्म चाण्डालकी योनिमें हुआ था; परंतु विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वमित्रका उपाख्यानविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

आजमीढके वंशका वर्णन तथा विश्वामित्रके जन्मकी कथा और उनके पुत्रोंके नाम

भीष्म उवाच

श्रूयतां पार्थ तत्त्वेन विश्वामित्रो यथा पुरा।
ब्राह्मणत्वं गतस्तात ब्रह्मर्षित्वं तथैव च ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मर्षित्व प्राप्त किया, वह प्रसङ्ग यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः।
बभूव भरतश्रेष्ठ यज्वा धर्मभृतां वरः ॥ २ ॥

भरतवंशमें अजमीढ नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भरतश्रेष्ठ ! वे राजा अजमीढ यज्ञकर्ता एवं धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे ॥ २ ॥

तस्य पुत्रो महानासीज्जह्नुर्नाम नरेश्वरः।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता गङ्गा यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

उनके पुत्र महाराज जह्नु हुए, जिन महात्मा नरेशके समीप जाकर गङ्गाजी पुत्रीभावको प्राप्त हुई थीं ॥ ३ ॥

तस्यात्मजस्तुल्यगुणः सिन्धुद्वीपो महायशाः।
सिन्धुद्वीपाच्च राजर्षिर्बलाकाश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

जह्नुके पुत्रका नाम सिन्धुद्वीप था, जो पिताके समान ही गुणवान् और महायशस्वी थे। सिन्धुद्वीपसे महाबली राजा बलाकाश्वका जन्म हुआ था ॥ ४ ॥

वल्लभस्तस्य तनयः साक्षाद्धर्म इवापरः।
कुशिकस्तस्य तनयः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ५ ॥

बलाकाश्वका पुत्र वल्लभनामसे प्रसिद्ध हुआ, जो साक्षात् दूसरे धर्मके समान था। वल्लभके पुत्र कुशिक हुए, जो इन्द्रके समान तेजस्वी थे ॥ ५ ॥

कुशिकस्यात्मजः श्रीमान् गाधिर्नाम जनेश्वरः।
अपुत्रः प्रसवेनार्थी वनवासमुपावसत् ॥ ६ ॥

कुशिकके पुत्र महाराज गाधि हुए, जो दीर्घकालतक पुत्रहीन रह गये। तब संतानकी इच्छासे पुण्यकर्म करनेके लिये वे वनमें रहने लगे ॥ ६ ॥

कन्या जज्ञे सुतात् तस्य वने निवसतः सतः।
नाम्ना सत्यवती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ७ ॥

वहाँ रहते समय सोमयाग करनेसे राजाके एक कन्या हुई, जिसका नाम सत्यवती था। भूतलपर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्यकी तुलना नहीं थी ॥ ७ ॥

तां वव्रे भार्गवः श्रीमांश्च्यवनस्यात्मसम्भवः।
ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः ॥ ८ ॥

उन दिनों च्यवनके पुत्र भृगुवंशी श्रीमान् ऋचीक विख्यात तपस्वी थे और बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न रहते थे। उन्होंने राजा गाधिसे उस कन्याको माँगा ॥ ८ ॥

स तां न प्रददौ तस्मै ऋचीकाय महात्मने।
दरिद्र इति मत्वा वै गाधिः शत्रुनिबर्हणः ॥ ९ ॥

शत्रुसूदन गाधिने महात्मा ऋचीकको दरिद्र समझकर उन्हें अपनी कन्या नहीं दी ॥ ९ ॥

प्रत्याख्याय पुनर्यातमब्रवीद् राजसत्तमः।
शुल्कं प्रदीयतां मह्यं ततो वत्स्यसि मे सुताम् ॥ १० ॥

उनके इनकार कर देनेपर जब महर्षि लौटने लगे, तब

नृपश्रेष्ठ गाधिने उनसे कहा, 'महर्षे ! मुझे शुल्क दीजिये, तब आप मेरी पुत्रीको विवाहद्वारा प्राप्त कर सकेंगे' ॥ १० ॥

ऋचीक उवाच

किं प्रयच्छामि राजेन्द्र तुभ्यं शुल्कमहं नृप ।
दुहितुर्ब्रूह्यसंसक्तो माभूत् तत्र विचारणा ॥ ११ ॥

ऋचीकने पूछा—राजेन्द्र ! मैं आपकी पुत्रीके लिये आपको क्या शुल्क दूँ ? आप निस्संकोच होकर बताइये । नरेश्वर ! इसमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

गाधिरुवाच

चन्द्ररश्मिप्रकाशानां हयानां वातरंहसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां सहस्रं देहि भार्गव ॥ १२ ॥

गाधिने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े ला दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और वायुके समान वेगवान् हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

ततः स भृगुशार्दूलश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः ।
अब्रवीद् वरुणं देवमादित्यं पतिमम्भसाम् ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब भृगुश्रेष्ठ च्यवनपुत्र शक्तिशाली महर्षि ऋचीकने जलके स्वामी अदितिनन्दन वरुणदेवके पास जाकर कहा—॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं वातवेगानां भिक्षे त्वां देवसत्तम ॥ १४ ॥

'देवशिरोमणे ! मैं आपसे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा वायुके समान वेगवान् एक हजार ऐसे घोड़ोंकी भिक्षा माँगता हूँ, जिनका एक ओरका कान श्याम रंगका हो' ॥ १४ ॥

तथेति वरुणो देव आदित्यो भृगुसत्तमम् ।
उवाच यत्र ते च्छन्दस्तत्रोत्थास्यन्ति वाजिनः ॥ १५ ॥

तब अदितिनन्दन वरुणदेवने उन भृगुश्रेष्ठ ऋचीकसे कहा—'बहुत अच्छा, जहाँ आपकी इच्छा होगी, वहींसे इस तरहके घोड़े प्रकट हो जायँगे' ॥ १५ ॥

ध्यातमात्रमृचीकेन हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
गङ्गाजलात् समुत्तस्थौ सहस्रं विपुलौजसाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर ऋचीकके चिन्तन करते ही गङ्गाजीके जलसे चन्द्रमाके समान कान्तिवाले एक हजार तेजस्वी घोड़े प्रकट हो गये ॥ १६ ॥

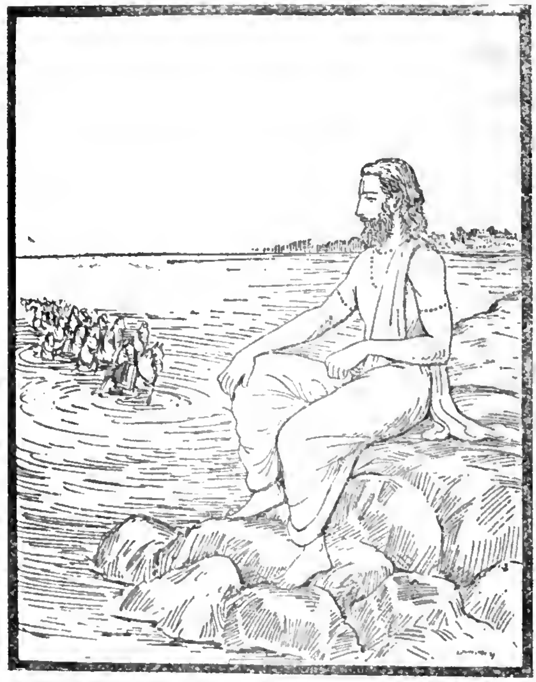

अदूरे कान्यकुब्जस्य गङ्गायास्तीरमुत्तमम् ।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवैः परिचक्ष्यते ॥ १७ ॥

कन्नौजके पास ही गङ्गाजीका वह उत्तम तट आज भी मानवोंद्वारा अश्वतीर्थ कहलाता है ॥ १७ ॥

ततो वै गाधये तात सहस्रं वाजिनां शुभम् ।
ऋचीकः प्रददौ प्रीतः शुल्कार्थं तपतां वरः ॥ १८ ॥

तात ! तब तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ ऋचीक मुनिने प्रसन्न होकर शुल्कके लिये राजा गाधिको वे एक हजार सुन्दर घोड़े दे दिये ॥ १८ ॥

ततः स विस्मितो राजा गाधिः शापभयेन च ।
ददौ तां समलंकृत्य कन्यां भृगुसुताय वै ॥ १९ ॥

तब आश्चर्यचकित हुए राजा गाधिने शापके भयसे डरकर अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके भृगुनन्दन ऋचीकको दे दिया ॥ १९ ॥

जग्राह विधिवत् पाणिं तस्या ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
सा च तं पतिमासाद्य परं हर्षमवाप ह ॥ २० ॥

ब्रह्मर्षिशिरोमणि ऋचीकने उसका विधिवत् पाणिग्रहण किया । वैसे तेजस्वी पतिको पाकर उस कन्याको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ २० ॥

स तुतोष च ब्रह्मर्षिस्तस्या वृत्तेन भारत ।
छन्दयामास चैवैनां वरेण वरवर्णिनीम् ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! अपनी पत्नीके सद्व्यवहारसे ब्रह्मर्षि बहुत संतुष्ट हुए । उन्होंने उस परम सुन्दरी पत्नीको मनोवाञ्छित वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ २१ ॥

मात्रे तत् सर्वमाचख्यौ सा कन्या राजसत्तम ।
अथ तामब्रवीन्माता सुतां किंचिदवाङ्मुखी ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब उस राजकन्याने अपनी मातासे मुनिकी कही हुई सब बातें बतायीं। वह सुनकर उसकी माताने संकोचसे सिर नीचे करके पुत्रीसे कहा—॥ २२ ॥

ममापि पुत्रि भर्ता ते प्रसादं कर्तुमर्हति।
अपत्यस्य प्रदानेन समर्थश्च महातपाः॥ २३॥

'बेटी ! तुम्हारे पतिको पुत्र प्रदान करनेके लिये मुझपर भी कृपा करनी चाहिये, क्योंकि वे महान् तपस्वी और समर्थ हैं' ॥ २३ ॥

ततः सा त्वरितं गत्वा तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
मातुश्चिकीर्षितं राजनृचीकस्तामथाब्रवीत्॥ २४॥

राजन् ! तदनन्तर सत्यवतीने तुरंत जाकर माताकी वह सारी इच्छा ऋचीकसे निवेदन की। तब ऋचीकने उससे कहा—॥ २४ ॥

गुणवन्तमपत्यं सा अचिराज्जनयिष्यति।
मम प्रसादात् कल्याणि माभूत् ते प्रणयोऽन्यथा॥ २५॥

'कल्याणि ! मेरे प्रसादसे तुम्हारी माता शीघ्र ही गुणवान् पुत्रको जन्म देगी। तुम्हारा प्रेमपूर्ण अनुरोध असफल नहीं होगा ॥ २५ ॥

तव चैव गुणश्लाघी पुत्र उत्पत्स्यते महान्।
अस्मद्वंशकरः श्रीमान् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ २६॥

'तुम्हारे गर्भसे भी एक अत्यन्त गुणवान् और महान् तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा, जो हमारी वंशपरम्पराको चलायेगा। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ २६ ॥

ऋतुस्नाता च साश्वत्थं त्वं च वृक्षमुदुम्बरम्।
परिष्वजेथाः कल्याणि तत एवमवाप्स्यथः॥ २७॥

'कल्याणि ! तुम्हारी माता ऋतुस्नानके पश्चात् पीपलके वृक्षका आलिङ्गन करे और तुम गूलरके वृक्षका। इससे तुम दोनोंको अभीष्ट पुत्रकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

चरुद्वयमिदं चैव मन्त्रपूतं शुचिस्मिते।
त्वं च सा चोपभुञ्जीतं ततः पुत्राववाप्स्यथः॥ २८॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! मैंने ये दो मन्त्रपूत चरु तैयार किये हैं। इनमेंसे एकको तुम खा लो और दूसरेको तुम्हारी माता। इससे तुम दोनोंको पुत्र प्राप्त होंगे'॥ २८॥

ततः सत्यवती हृष्टा मातरं प्रत्यभाषत।
यदृचीकेन कथितं तच्चाचख्यौ चरुद्वयम्॥ २९॥

तब सत्यवतीने हर्षमग्न होकर ऋचीकने जो कुछ कहा था, वह सब अपनी माताको बताया और दोनोंके लिये तैयार किये हुए पृथक्-पृथक् चरुओंकी भी चर्चा की ॥ २९ ॥

तामुवाच ततो माता सुतां सत्यवतीं तदा।
पुत्रि पूर्वोपपन्नाया: कुरुष्व वचनं मम॥ ३०॥

उस समय माताने अपनी पुत्री सत्यवतीसे कहा—'बेटी ! माता होनेके कारण पहलेसे मेरा तुमपर अधिकार है; अतः तुम मेरी बात मानो ॥ ३० ॥

भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः।
एनं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च॥ ३१॥

'तुम्हारे पतिने जो मन्त्रपूत चरु तुम्हारे लिये दिया है, वह तुम मुझे दे दो और मेरा चरु तुम ले लो ॥ ३१ ॥

व्यत्यासं वृक्षयोश्चापि करवाव शुचिस्मिते।
यदि प्रमाणं वचनं मम मातुरनिन्दिते॥ ३२॥

'पवित्र हास्यवाली मेरी अच्छी बेटी ! यदि तुम मेरी बात मानने योग्य समझो तो हमलोग वृक्षोंमें भी अदल-बदल कर लें ॥ ३२ ॥

स्वमपत्यं विशिष्टं हि सर्व इच्छत्यनाविलम्।
व्यक्तं भगवता चात्र कृतमेवं भविष्यति॥ ३३॥

'प्रायः सभी लोग अपने लिये निर्मल एवं सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुत्रकी इच्छा करते हैं। अवश्य ही भगवान् ऋचीकने भी चरु निर्माण करते समय ऐसा तारतम्य रक्खा होगा ॥

ततो मे त्वच्चरौ भावः पादपे च सुमध्यमे।
कथं विशिष्टो भ्राता मे भवेदित्येव चिन्तय॥ ३४॥

'सुमध्यमे ! इसीलिये तुम्हारे लिये नियत किये गये चरु और वृक्षमें मेरा अनुराग हुआ है। तुम भी यही चिन्तन करो कि मेरा भाई किसी तरह श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥ ३४॥

तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा।
अथ गर्भावनुप्राप्ते उभे ते वै युधिष्ठिर॥ ३५॥

युधिष्ठिर ! इस तरह सलाह करके सत्यवती और उसकी माताने उसी तरह उन दोनों वस्तुओंका अदल-बदलकर उपयोग किया। फिर तो वे दोनों गर्भवती हो गयीं ॥ ३५॥

दृष्ट्वा गर्भमनुप्राप्तां भार्यां स च महानृषिः।
उवाच तां सत्यवतीं दुर्मना भृगुसत्तमः॥ ३६॥

अपनी पत्नी सत्यवतीको गर्भवती अवस्थामें देखकर भृगुश्रेष्ठ महर्षि ऋचीकका मन खिन्न हो गया ॥ ३६ ॥

व्यत्यासेनोपयुक्तस्ते चरुर्व्यक्तं भविष्यति।
व्यत्यासः पादपे चापि सुव्यक्तं ते कृतः शुभे॥ ३७॥

उन्होंने कहा—'शुभे ! जान पड़ता है, तुमने बदलकर चरुका उपयोग किया है। इसी तरह तुमलोगोंने वृक्षोंके आलिङ्गनमें भी उलट-फेर कर दिया है—ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ॥ ३७ ॥

मया हि विश्वं यद्ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम्।
क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या निवेशितम्॥ ३८॥

'मैंने तुम्हारे चरुमें सम्पूर्ण ब्रह्मतेजका संनिवेश किया था और तुम्हारी माताके चरुमें समस्त क्षत्रियोचित्त शक्तिकी स्थापना की थी ॥ ३८ ॥

त्रैलोक्यविख्यातगुणं त्वं विप्रं जनयिष्यसि।
सा च क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत् कृतं मया॥ ३९॥

'मैंने सोचा था कि तुम त्रिभुवनमें विख्यात गुणवाले ब्राह्मणको जन्म दोगी और तुम्हारी माता सर्वश्रेष्ठ क्षत्रियकी

जननी होगी; इसीलिये मैंने दो तरहके चरुओंका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात् त्वया मात्रा च ते शुभे।
तस्मात् सा ब्राह्मणं श्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि।
न हि ते तत् कृतं साधु मातृस्नेहेन भाविनि ॥ ४१ ॥

'शुभे ! तुमने और तुम्हारी माताने अदला-बदली कर ली है, इसलिये तुम्हारी माता श्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्रको जन्म देगी और भद्रे ! तुम भयंकर कर्म करनेवाले क्षत्रियकी जननी होओगी। भाविनि ! माताके स्नेहमें पड़कर तुमने यह अच्छा काम नहीं किया' ॥ ४०-४१ ॥

सा श्रुत्वा शोकसंतप्ता पपात वरवर्णिनी।
भूमौ सत्यवती राजन् छिन्नेव रुचिरा लता ॥ ४२ ॥

राजन् ! पतिकी यह बात सुनकर सुन्दरी सत्यवती शोकसे संतप्त हो वृक्षसे कटी हुई मनोहर लताके समान मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४२ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां शिरसा प्रणिपत्य च।
उवाच भार्या भर्तारं गाधेयी भार्गवर्षभम् ॥ ४३ ॥
प्रसादयन्त्यां भार्यायां मयि ब्रह्मविदां वर।
प्रसादं कुरु विप्रर्षे न मे स्यात् क्षत्रियः सुतः ॥ ४४ ॥

थोड़ी देरमें जब उसे चेत हुआ, तब वह गाधिकुमारी अपने स्वामी भृगुभूषण ऋचीकके चरणोंमें सिर रखकर प्रणामपूर्वक बोली—'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! मैं आपकी पत्नी हूँ, अतः आपसे कृपा-प्रसादकी भीख चाहती हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे गर्भसे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न न हो ॥

कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितुमर्हति।
न तु मे स्यात् सुतो ब्रह्मन्नेष मे दीयतां वरः ॥ ४५ ॥

'मेरा पौत्र चाहे उग्रकर्मा क्षत्रियस्वभावका हो जाय; परंतु मेरा पुत्र वैसा न हो। ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये' ॥

एवमस्त्विति होवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः।
ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम् ॥ ४६ ॥

तब उन महातपस्वी ऋषिने अपनी पत्नीसे कहा, 'अच्छा, ऐसा ही हो'। तदनन्तर सत्यवतीने जमदग्निनामक शुभ-गुणसम्पन्न पुत्रको जन्म दिया ॥ ४६ ॥

विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी।
ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षेर्ब्रह्मवादिनम् ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! उन्हीं ब्रह्मर्षिके कृपा-प्रसादसे गाधिकी यशस्विनी पत्नीने ब्रह्मवादी विश्वामित्रको उत्पन्न किया ॥ ४७ ॥

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ ४८ ॥

इसीलिये महातपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो ब्राह्मण-वंशके प्रवर्तक हुए ॥ ४८ ॥

तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्तार एव च ॥ ४९ ॥

उन ब्रह्मवेत्ता तपस्वीके महामनस्वी पुत्र भी ब्राह्मणवंशकी वृद्धि करनेवाले और गोत्रकर्ता हुए ॥ ४९ ॥

मधुच्छन्दश्च भगवान् देवरातश्च वीर्यवान्।
अक्षीणश्च शकुन्तश्च बभ्रुः कालपथस्तथा ॥ ५० ॥
याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
उलूको यमदूतश्च तथर्षिः सैन्धवायनः ॥ ५१ ॥
वल्गुजङ्घश्च भगवान् गालवश्च महानृषिः।
ऋषिर्वज्रस्तथा ख्यातः सालंकायन एव च ॥ ५२ ॥
लीलाढ्यो नारदश्चैव तथा कूर्चामुखः स्मृतः।
वादुलिर्मुसलश्चैव वक्षोग्रीवस्तथैव च ॥ ५३ ॥
आंघ्रिको नैकदृक् चैव शिलायूपः शितः शुचिः।
चक्रको मारुतन्तव्यो वातघ्नोऽथाश्वलायनः ॥ ५४ ॥
श्यामायनोऽथ गार्ग्यश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा।
कारीषिरथ संश्रुत्यः परपौरवतन्तवः ॥ ५५ ॥
महानृषिश्च कपिलस्तथर्षिस्ताडकायनः।
तथैव चोपगहनस्तथर्षिश्चासुरायणः ॥ ५६ ॥
मार्दमर्षिर्हिरण्याक्षो जङ्गारिर्बाभ्रवायणिः।
भूतिर्विभूतिः सूतश्च सुरकृत् तु तथैव च ॥ ५७ ॥
अरालिर्नाचिकश्चैव चाम्पेयोज्जयनौ तथा।
नवतन्तुर्बकनखः सेयनो यतिरेव च ॥ ५८ ॥
अम्भोरुहश्चारुमत्स्यः शिरीषी चाथ गार्दभिः।
ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः ॥ ५९ ॥
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।

भगवान् मधुच्छन्दा, शक्तिशाली देवरात, अक्षीण, शकुन्त, बभ्रु, कालपथ, विख्यात याज्ञवल्क्य, महाव्रती स्थूण, उलूक, यमदूत, सैन्धवायन ऋषि, भगवान् वल्गुजङ्घ, महर्षि गालव, वज्रमुनि, विख्यात सालङ्कायन, लीलाढ्य, नारद, कूर्चामुख, वादुलि, मुसल, वक्षोग्रीव, आङ्घ्रिक, नैकदृक्, शिलायूप, शित, शुचि, चक्रक, मारुतन्तव्य, वातघ्न, आश्वलायन, श्यामायन, गार्ग्य, जाबालि, सुश्रुत, कारीषि, संश्रुत्य, पर, पौरव, तन्तु, महर्षि कपिल, मुनिवर ताडकायन, उपगहन, आसुरायण ऋषि, मार्दमर्षि, हिरण्याक्ष, जङ्गारि, बाभ्रवायणि, भूति, विभूति, सूत, सुरकृत्, अरालि, नाचिक, चाम्पेय, उज्जयन, नवतन्तु, बकनख, सेयन, यति, अम्भोरुह, चारुमत्स्य, शिरीषी, गार्दभि, ऊर्जयोनि, उदापेक्षी और महर्षि नारदी—ये सभी विश्वामित्रके पुत्र एवं ब्रह्मवादी ऋषि थे ॥ ५०—५९½ ॥

तथैव क्षत्रियो राजन् विश्वामित्रो महातपाः ॥ ६० ॥

ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद् युधिष्ठिर ।

राजा युधिष्ठिर ! महातपस्वी विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय थे तथापि ऋचीक मुनिने उनमें परम उत्कृष्ट ब्रह्मतेजका आधान किया था ॥ ६०½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
विश्वामित्रस्य वै जन्म सोमसूर्याग्नितेजसः ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सोम, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विश्वामित्रके जन्मका सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताया है ॥ ६१½ ॥

यत्र यत्र च संदेहो भूयस्ते राजसत्तम ।
तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब फिर तुम्हें जहाँ-जहाँ संदेह हो, उस-उस विषयकी बात मुझसे पूछो । मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वामित्रका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

स्वामिभक्त एवं दयालु पुरुषकी श्रेष्ठता बतानेके लिये इन्द्र और तोतेके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं दयालु और भक्त पुरुषोंके गुण सुनना चाहता हूँ; अतः कृपा करके मुझे उनके गुण ही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें भी महामनस्वी तोते और इन्द्रका जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः ।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥ ३ ॥

काशिराजके राज्यकी बात है, एक व्याधा विषमें बुझाया हुआ बाण लेकर गाँवसे निकला और शिकारके लिये किसी मृगको खोजने लगा ॥ ३ ॥

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने ।
अविदूरे मृगान् दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥ ४ ॥

उस महान् वनमें थोड़ी ही दूर जानेपर मांसलोभी व्याधने कुछ मृगोंको देखा और उनपर बाण चला दिया ॥ ४ ॥

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा ।
महान् वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥ ५ ॥

व्याधका वह बाण अमोघ था; परंतु निशाना चूक जानेके कारण मृगको मारनेकी इच्छासे छोड़े गये उस बाणने एक विशाल वृक्षको वेध दिया ॥ ५ ॥

स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः ।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥ ६ ॥

तीखे विषसे पुष्ट हुए उस बाणसे बड़े जोरका आघात लगनेके कारण उस वृक्षमें जहर फैल गया । उसके फल और पत्ते झड़ गये और धीरे-धीरे वह सूखने लगा ॥ ६ ॥

तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः ।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥ ७ ॥

उस वृक्षके खोंखलेमें बहुत दिनोंसे एक तोता निवास करता था । उसका उस वृक्षके प्रति बड़ा प्रेम हो गया था, इसलिये वह उसके सूखनेपर भी वहाँका निवास छोड़ नहीं रहा था ॥

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि ।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा एवं कृतज्ञ तोता कहीं आता-जाता नहीं था। चारा चुगना भी छोड़ चुका था। वह इतना सिथिल हो गया था कि उससे बोला तक नहीं जाता था। इस प्रकार उस वृक्षके साथ वह स्वयं भी सूखता चला जा रहा था॥

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम्।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः॥ ९॥

उसका धैर्य महान् था। उसकी चेष्टा अलौकिक दिखायी देती थी। दुःख और सुखमें समान भाव रखनेवाले उस उदार तोतेको देखकर पाकशासन इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ॥९॥

ततश्चिन्तामुपगतः शक्रः कथमयं द्विजः।
तिर्यग्योनावसम्भाव्यमानृशंस्यमवस्थितः॥ १०॥

इन्द्र यह सोचने लगे कि यह पक्षी कैसे ऐसी अलौकिक दयाको अपनाये बैठा है, जो पक्षीकी योनिमें प्रायः असम्भव है॥ १०॥

अथवा नात्र चित्रं हि अभवद् वासवस्य तु।
प्राणिनामपि सर्वेषां सर्वं सर्वत्र दृश्यते॥ ११॥

अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सब जगह सब प्राणियोंमें सब तरहकी बातें देखनेमें आती हैं—ऐसी भावना मनमें लानेपर इन्द्रका मन शान्त हुआ॥११॥

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह॥ १२॥

तदनन्तर वे ब्राह्मणके वेशमें मनुष्यका रूप धारण करके पृथ्वीपर उतरे और उस शुक पक्षीसे बोले—॥ १२॥

शुक भो पक्षिणां श्रेष्ठ दाक्षेयी सुप्रजा त्वया।
पृच्छे त्वां शुकमेनं त्वं कस्मान्न त्यजसि द्रुमम्॥ १३॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ शुक! तुम्हें पाकर दक्षकी दौहित्री शुकी उत्तम संतानवाली हुई है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि अब इस वृक्षको क्यों नहीं छोड़ देते हो?'॥ १३॥

अथ पृष्टः शुकः प्राह मूर्ध्ना समभिवाद्य तम्।
स्वागतं देवराज त्वं विज्ञातस्तपसा मया॥ १४॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर शुकने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'देवराज! आपका स्वागत है। मैंने तपस्याके बलसे आपको पहचान लिया है'॥ १४॥

ततो दशशताक्षेण साधु साध्विति भाषितम्।
अहो विज्ञानमित्येवं मनसा पूजितस्ततः॥ १५॥

यह सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रने मन-ही-मन कहा—'वाह! वाह! क्या अद्भुत विज्ञान है!' ऐसा कहकर उन्होंने मनसे ही उसका आदर किया॥ १५॥

तमेवं शुभकर्माणं शुकं परमधार्मिकम्।
विजानन्नपि तां प्रीतिं पप्रच्छ बलसूदनः॥ १६॥

'वृक्षके प्रति इस तोतेका कितना प्रेम है' इस बातको जानते हुए भी बलसूदन इन्द्रने शुभकर्म करनेवाले उस परम धर्मात्मा शुकसे पूछा—॥ १६॥

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम्।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम्॥ १७॥

'शुक! इस वृक्षके पत्ते झड़ गये, फल भी नहीं रहे, यह सूख जानेके कारण पक्षियोंके बसेरे लेने योग्य नहीं रह गया है। जब यह विशाल वन पड़ा हुआ है, तब तुम इस ठूँठ वृक्षका सेवन किस लिये करते हो?॥ १७॥

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन् महावने॥ १८॥

'इस विशाल वनमें और भी बहुत-से वृक्ष हैं, जिनके खोखले हरे-हरे पत्तोंसे आच्छादित हैं, जो सुन्दर हैं तथा जिनपर पक्षियोंके संचारके लिये योग्य पर्याप्त स्थान हैं॥१८॥

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम्।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम्॥ १९॥

'धीर शुक! इस वृक्षकी आयु समाप्त हो गयी, शक्ति नष्ट हो गयी। इसका सार क्षीण हो गया और इसकी शोभा भी छिन गयी। अपनी बुद्धिके द्वारा इन सब बातोंपर विचार करके अब इस बूढ़े वृक्षको त्याग दो'॥ १९॥

भीष्म उवाच

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम्।
सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह॥ २०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रकी यह बात सुनकर धर्मात्मा शुकने लंबी साँस खींचकर दीन भावसे यह बात कही—॥

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते।
यत्राभवत् तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप॥ २१॥

'शचीवल्लभ! दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। देवराज! जिसके विषयमें आपने प्रश्न किया है, उसकी बात सुनिये॥ २१॥

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः।
बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः॥ २२॥

'मैंने इसी वृक्षपर जन्म लिया और यहीं रहकर अच्छे-अच्छे गुण सीखे हैं। इस वृक्षने अपने बालककी भाँति मुझे सुरक्षित रखा और मेरे ऊपर शत्रुओंका आक्रमण नहीं होने दिया॥ २२॥

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ।
आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च॥ २३॥

'निष्पाप देवेन्द्र! इन्हीं सब कारणोंसे मेरी इस वृक्षके प्रति भक्ति है। मैं दयारूपी धर्मके पालनमें लगा हूँ और यहाँसे अन्यत्र नहीं जाना चाहता। ऐसी दशामें आप कृपा करके मेरी सद्भावनाको व्यर्थ बनानेकी चेष्टा क्यों करते हैं?॥

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति॥ २४॥

'श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये दूसरोंपर दया करना ही महान् धर्मका सूचक है। दयाभाव श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा ही आनन्द प्रदान करता है॥ २४॥

धर्मात्मा शुक और इन्द्रकी बातचीत

महर्षि वशिष्ठका ब्रह्माजीके साथ प्रश्नोत्तर

त्वमेव दैवतैः सर्वैः पृच्छयसे धर्मसंशयात् ।
अतस्त्वं देवदेवानामाधिपत्ये प्रतिष्ठितः ॥ २५ ॥

'धर्मके विषयमें संशय होनेपर सब देवता आपसे ही अपना संदेह पूछते हैं। इसीलिये आप देवाधिदेवोंके अधिपति पदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ २५ ॥

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात् ।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥ २६ ॥

'सहस्राक्ष! आप इस वृक्षको मुझसे छुड़ानेके लिये प्रयत्न न कीजिये। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकालसे इसीके आश्रयमें रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह शक्तिहीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूँ—यह कैसे हो सकता है?' ॥ २६ ॥

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः ।
शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥ २७ ॥

तोतेकी इस कोमल वाणीसे पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा देवेन्द्रने शुककी दयालुतासे संतुष्ट हो उससे कहा—॥ २७ ॥

वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः ।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥ २८ ॥

'शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो!' तब दयापरायण शुकने यह वर माँगा कि 'यह वृक्ष पहलेकी ही भाँति हरा-भरा हो जाय' ॥ २८ ॥

विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम् ।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥ २९ ॥

तोतेकी इस सुदृढ़ भक्ति और शील-सम्पत्तिको जानकर इन्द्रको और भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तुरंत ही उस वृक्षको अमृतसे सींच दिया ॥ २९ ॥

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः ।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥ ३० ॥

फिर तो उसमें नये-नये पत्ते, फल और मनोहर शाखाएँ निकल आयीं। तोतेकी दृढ़भक्तिके कारण वह वृक्ष पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया ॥ ३० ॥

शुकश्च कर्मणा तेन आनृशंस्यकृतेन वै ।
आयुषोऽन्ते महाराज प्राप शक्रसलोकताम् ॥ ३१ ॥

महाराज! वह शुक भी आयु समाप्त होनेपर अपने उस दयापूर्ण बर्तावके कारण इन्द्रलोकको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र भक्तिमन्तं समाश्रितः ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते शुकं प्राप्य यथा द्रुमः ॥ ३२ ॥

नरेन्द्र! जैसे भक्तिमान् शुकका सहवास पाकर उस वृक्षने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि प्राप्त कर ली, उसी प्रकार अपनेमें भक्ति रखनेवाले पुरुषका सहारा पाकर प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शुकवासवसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शुक और इन्द्रका संवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दैवकी अपेक्षा पुरुषार्थकी श्रेष्ठताका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ महाप्राज्ञ पितामह! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें वसिष्ठ और ब्रह्माजीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

दैवमानुषयोः किंस्वित् कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत ।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है, भगवान् वसिष्ठने लोक-पितामह ब्रह्माजीसे पूछा—'प्रभो! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है?' ॥ ३ ॥

ततः पद्मोद्भवो राजन् देवदेवः पितामहः ।
उवाच मधुरं वाक्यमर्थवद्धेतुभूषितम् ॥ ४ ॥

राजन्! तब कमलजन्मा देवाधिदेव पितामहने मधुर स्वरमें युक्तियुक्त सार्थक वचन कहा ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

(बीजतो ह्यङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसम्भवः ।
पर्णान्नालाः प्रसूयन्ते नालात् स्कन्धः प्रवर्तते ॥
स्कन्धात् प्रवर्तते पुष्पं पुष्पान्निर्वर्तते फलम् ।
फलान्निर्वर्त्यते बीजं बीजं नाफलमुच्यते ॥)

ब्रह्माजीने कहा—मुने! बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, अङ्कुरसे पत्ते होते हैं। पत्तोंसे नाल, नालसे तने और डालियाँ होती हैं। उनसे पुष्प प्रकट होता है। फूलसे फल लगता है और फलसे बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है ॥

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम् ।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ ५ ॥

बीजके बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीजके बिना फल भी नहीं लगता। बीजसे बीज प्रकट होता है और बीजसे ही फलकी उत्पत्ति मानी जाती है ॥ ५ ॥

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम्॥ ६ ॥

किसान खेतमें जाकर जैसा बीज बोता है, उसीके अनुसार उसको फल मिलता है। इसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है॥ ६॥

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥ ७ ॥

जैसे बीज खेतमें बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थके बिना नहीं सिद्ध होता॥ ७॥

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्ध्यते॥ ८ ॥

पुरुषार्थ खेत है और दैवको बीज बताया गया है। खेत और बीजके संयोगसे ही अनाज पैदा होता है॥ ८॥

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च॥ ९ ॥

कर्म करनेवाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्मका फल स्वयं ही भोगता है। यह बात संसारमें प्रत्यक्ष दिखायी देती है॥ ९॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥ १० ॥

शुभ कर्म करनेसे सुख और पाप कर्म करनेसे दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्मका फल कहीं नहीं भोगा जाता॥ १०॥

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम्।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम्॥ ११ ॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाता है; परंतु जो अकर्मण्य है, वह सम्मानसे भ्रष्ट होकर घावपर नमक छिड़कनेके समान असह्य दुःख भोगता है॥ ११॥

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥ १२ ॥

मनुष्यको तपस्यासे रूप, सौभाग्य और नाना प्रकारके रत्न प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कर्मसे सब कुछ मिल सकता है; परंतु भाग्यके भरोसे निकम्मे बैठे रहनेवालेको कुछ नहीं मिलता॥ १२॥

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते॥ १३ ॥

इस जगत्में पुरुषार्थ करनेसे स्वर्ग, भोग, धर्ममें निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है।१३।

ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः।
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद् देवतां गताः॥ १४ ॥

नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्यलोकसे देवलोकको गये हैं॥ १४॥

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥ १५ ॥

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मीका भी उपभोग नहीं कर सकते॥ १५॥

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम्॥ १६ ॥

ब्राह्मण शौचाचारसे, क्षत्रिय पराक्रमसे, वैश्य उद्योगसे तथा शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवासे सम्पत्ति पाता है॥ १६॥

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥ १७ ॥

न तो दान न देनेवाले कंजूसको धन मिलता है, न नपुंसकको, न अकर्मण्यको, न कामसे जी चुरानेवालेको, न शौर्यहीनको और न तपस्या न करनेवालेको ही मिलता है॥ १७॥

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः।
स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः॥ १८ ॥

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओंकी भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान् विष्णु समुद्रमें रहकर तपस्या करते हैं॥ १८॥

स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्नु॥ १९ ॥

यदि अपने कर्मोंका फल न प्राप्त हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाय और सब लोग भाग्यको ही देखते हुए कर्म करनेसे उदासीन हो जायँ॥ १९॥

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना॥ २० ॥

मनुष्यके योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैवका अनुसरण करता है, वह दैवका आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पतिको पाकर भी कष्ट ही भोगती है॥ २०॥

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे।
तथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते॥ २१ ॥

इस मनुष्यलोकमें शुभाशुभ कर्मोंसे उतना भय नहीं प्राप्त होता, जितना कि देव-लोकमें थोड़े-से पापसे भय होता है॥ २१॥

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद् दातुमर्हति॥ २२ ॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवका अनुसरण करता है; परंतु पुरुषार्थ न करनेपर दैव किसीको कुछ नहीं दे सकता।

यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि।
कथं कर्म विना दैवं स्थास्यति स्थापयिष्यति॥ २३ ॥

देवताओंमें भी जो इन्द्रादिके स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं। पुण्यकर्मके बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा और कैसे वह दूसरोंको स्थिर रख सकेगा ॥ २३ ॥

न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारं यान्ति कस्यचित्।
व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ २४ ॥

देवता भी इस लोकमें किसीके पुण्यकर्मका अनुमोदन नहीं करते हैं, अपितु अपनी पराजयकी आशङ्कासे वे पुण्यात्मा पुरुषमें भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं (जिससे उनके धर्ममें विघ्न उपस्थित हो जाय) ॥ २४ ॥

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः।
कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद् यतो दैवं प्रवर्तते ॥ २५ ॥

ऋषियों और देवताओंमें सदा कलह होता रहता है (देवता ऋषियोंकी तपस्यामें विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबलसे देवताओंको स्थानभ्रष्ट कर देते हैं। फिर भी दैवके बिना केवल कथन मात्रसे किसको सुख या दुःख मिल सकता है ? क्योंकि कर्मके मूलमें दैवका ही हाथ है ॥ २५ ॥

कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥ २६ ॥

दैवके बिना पुरुषार्थकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि प्रवृत्तिका मूल कारण दैव ही है (जिन्होंने पूर्वजन्ममें पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्ममें भी पूर्वसंस्कारवश पुण्यमें प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्यकर्मोंमें ही लग जायँ)। देवलोकमें भी दैववश ही बहुत-से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं ॥ २६ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ २७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्मका साक्षी है ॥ २७ ॥

कृतं चाप्यकृतं किंचित् कृते कर्मणि सिद्ध्यति।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

प्रबल पुरुषार्थ करनेसे पहलेका किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पापकर्म अपने यथार्थ फलको नहीं दे पाते हैं ॥ २८ ॥

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ २९ ॥

देवताओंका आश्रय पुण्य ही है। पुण्यसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुषको पाकर दैव क्या करेगा ? ॥

पुरा ययातिर्विभ्रष्टश्च्यावितः पतितः क्षितौ।
पुनरारोपितः स्वर्गं दौहित्रैः पुण्यकर्मभिः ॥ ३० ॥

पूर्वकालमें राजा ययाति पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे च्युत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े थे; परंतु उनके पुण्यकर्मा दौहित्रोंने उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ ३० ॥

पुरूरवाश्च राजर्षिर्द्विजैरभिहितः पुरा।
ऐल इत्यभिविख्यातः स्वर्गं प्राप्तो महीपतिः ॥ ३१ ॥

इसी तरह पूर्वकालमें ऐल नामसे विख्यात राजर्षि पुरूरवा ब्राह्मणोंके आशीर्वाद देनेपर स्वर्गलोकको प्राप्त हुए थे ॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सत्कृतः कोसलाधिपः।
महर्षिशापात् सौदासः पुरुषादत्वमागतः ॥ ३२ ॥

(अब इसके विपरीत दृष्टान्त देते हैं—) अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी कोशलनरेश सौदासको महर्षि वसिष्ठके शापसे नरभक्षी राक्षस होना पड़ा ॥ ३२ ॥

अश्वत्थामा च रामश्च मुनिपुत्रौ धनुर्धरौ।
न गच्छतः स्वर्गलोकं सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार अश्वत्थामा और परशुराम—ये दोनों ही ऋषिपुत्र और धनुर्धर वीर हैं। इन दोनोंने पुण्यकर्म भी किये हैं तथापि उस कर्मके प्रभावसे स्वर्गमें नहीं गये ॥ ३३ ॥

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ ३४ ॥

द्वितीय इन्द्रके समान सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषणके दोषसे रसातलको चले गये ॥ ३४ ॥

बलिर्वैरोचनिर्बद्धो धर्मपाशेन दैवतैः।
विष्णोः पुरुषकारेण पातालसदनः कृतः ॥ ३५ ॥

विरोचनकुमार बलिको देवताओंने धर्मपाशसे बाँध लिया और भगवान् विष्णुके पुरुषार्थसे वे पातालवासी बना दिये गये ॥ ३५ ॥

शक्रस्योद्यम्य चरणं प्रस्थितो जनमेजयः।
द्विजस्त्रीणां वधं कृत्वा किं दैवेन न वारितः ॥ ३६ ॥

राजा जनमेजय द्विज स्त्रियोंका वध करके इन्द्रके चरण-का आश्रय ले जब स्वर्गलोकको प्रस्थित हुए, उस समय दैवने उसे आकर क्यों नहीं रोका ॥ ३६ ॥

अज्ञानाद् ब्राह्मणं हत्वा स्पृष्टो बालवधेन च।
वैशम्पायनविप्रर्षिः किं दैवेन न वारितः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मर्षि वैशम्पायन अज्ञानवश ब्राह्मणकी हत्या करके बाल-वधके पापसे भी लिप्त हो गये थे तो भी दैवने उन्हें स्वर्ग जानेसे क्यों नहीं रोका ॥ ३७ ॥

गोप्रदानेन मिथ्या च ब्राह्मणेभ्यो महामखे।
पुरा नृगश्च राजर्षिः कृकलासत्वमागतः ॥ ३८ ॥

पूर्वकालमें राजर्षि नृग बड़े दानी थे। एक बार किसी महायज्ञमें ब्राह्मणोंको गोदान करते समय उनसे भूल हो गयी अर्थात् एक गऊको दुबारा दानमें दे दिया, जिसके कारण उन्हें गिरगटकी योनिमें जाना पड़ा ॥ ३८ ॥

धुन्धुमारश्च राजर्षिः सत्रेष्वेव जरां गतः।
प्रीतिदायं परित्यज्य सुष्वाप स गिरिव्रजे ॥ ३९ ॥

राजर्षि धुन्धुमार यज्ञ करते-करते बूढ़े हो गये तथापि देवताओंके प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए वरदानको त्यागकर गिरिव्रजमें सो गये (यज्ञका फल नहीं पा सके) ॥ ३९ ॥

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद् भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥

महाबली धृतराष्ट्र-पुत्रोंने पाण्डवोंका राज्य हड़प लिया था। उसे पाण्डवोंने पुनः बाहुबलसे ही वापस लिया। दैवके भरोसे नहीं ॥ ४० ॥

तपोनियमसंयुक्ता मुनयः संशितव्रताः ।
किं ते दैवबलाच्छापमुत्सृजन्ते न कर्मणा ॥ ४१ ॥

तप और नियममें संयुक्त रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि क्या दैवबलसे ही किसीको शाप देते हैं, पुरुषार्थके बलसे नहीं ? ॥ ४१ ॥

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ ४२ ॥

संसारमें समस्त सुदुर्लभ सुख-भोग किसी पापीको प्राप्त हो जाय तो भी वह उसके पास टिकता नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़कर चल देता है। जो मनुष्य लोभ और मोहमें डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकटसे नहीं बचा सकता ॥ ४२ ॥

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ ४३ ॥

जैसे थोड़ी-सी भी आग वायुका सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थका सहारा पाकर दैवका बल विशेष बढ़ जाता है ॥ ४३ ॥

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्रासमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥

जैसे तेल समाप्त हो जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्मके क्षीण हो जानेपर दैव भी नष्ट हो जाता है ॥

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥ ४५ ॥

उद्योगहीन मनुष्य धनका बहुत बड़ा भण्डार, तरह-तरहके भोग और स्त्रियोंको पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता; किंतु सदा उद्योगमें लगा रहनेवाला महामनस्वी पुरुष देवताओंद्वारा सुरक्षित तथा गाड़कर रखे हुए धनको भी प्राप्त कर लेता है ॥ ४५॥

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद् देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥ ४६ ॥

जो दान करनेके कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुषके पास उसके सत्कर्मके कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उसका घर मनुष्यलोककी अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक-सा हो जाता है। परंतु जहाँ दान नहीं होता, वह घर बड़ी भारी समृद्धिसे भरा हो तो भी देवताओंकी दृष्टिमें वह श्मशान-के ही तुल्य जान पड़ता है ॥ ४६ ॥

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम्।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥ ४७ ॥

इस जीव-जगत्में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखायी देता। दैवमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगा दे। जैसे शिष्य गुरुको आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थको ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवको जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है ॥ ४७ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम ।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥ ४८ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! मैंने सदा पुरुषार्थके ही फलको प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूपसे ये सारी बातें तुम्हें बतायी हैं ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा ।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

मनुष्य दैवके उत्थानसे आरम्भ किये हुए पुरुषार्थसे उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्मसे ही स्वर्गलोकका मार्ग पा सकता है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दैवपुरुषकारनिर्देशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दैव और पुरुषार्थका निर्देशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

कर्मोंके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महापुरुषोंमें प्रधान भरतश्रेष्ठ ! अब मैं समस्त शुभ कर्मोंके फल क्या हैं ? यह पूछ रहा हूँ, अत यही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत।
रहस्यं यदृषीणां तु तच्छृणुष्व युधिष्ठिर।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे चिरेप्सिता ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, यह ऋषियोंके लिये भी रहस्यका विषय है, किंतु मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। सुनो, मरनेके बाद जिस मनुष्यको जैसी चिर अभिलषित गति मिलती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ३ ॥

मनुष्य जिस-जिस (स्थूल या सूक्ष्म) शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसी-उसी शरीरसे उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ ३ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥४॥

जिस-जिस अवस्थामें वह जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, प्रत्येक जन्मकी उसी-उसी अवस्थामें वह उसका फल भोगता है ॥ ४ ॥

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥ ५ ॥

पाँचों इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता है। वे पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन—ये उस कर्मके साक्षी होते हैं ॥ ५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६ ॥

अतः मनुष्यको उचित है कि यदि कोई अतिथि घरपर आ जाय तो उसको प्रसन्न दृष्टिसे देखे। उसकी सेवामें मन लगावे। मीठी बोली बोलकर उसे संतुष्ट करे। जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय और जबतक वह रहे, उसके स्वागत-सत्कारमें लगा रहे—ये पाँच काम करना गृहस्थके लिये पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है ॥ ६ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ७ ॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिकको प्रसन्नतापूर्वक अन्न दान करता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

स्थण्डिलेषु शयानानां गृहाणि शयनानि च।
चीरवल्कलसंवीते वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

जो वानप्रस्थी वेदीपर शयन करते हैं, उन्हें जन्मान्तरमें उत्तम गृह और शय्याकी प्राप्ति होती है। जो चीर और वल्कल वस्त्र पहनते हैं, उन्हें दूसरे जन्ममें उत्तम वस्त्र और उत्तम आभूषणोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

वाहनानि च यानानि योगात्मनि तपोधने।
अग्नीनुपशयानस्य राज्ञः पौरुषमेव च ॥ ९ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त होता है, उस तपोधन पुरुषको दूसरे जन्ममें अच्छे-अच्छे वाहन और यान उपलब्ध होते हैं तथा अग्निकी उपासना करनेवाले राजाको जन्मान्तरमें पौरुषकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति।
आमिषप्रतिसंहारे पशून् पुत्रांश्च विन्दति ॥ १० ॥

रसोंका परित्याग करनेसे सौभाग्यकी और मांसका त्याग करनेसे पशुओं तथा पुत्रोंकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अवाक्शिरास्तु यो लम्बेदुदवासं च यो वसेत्।
सततं चैकशायी यः स लभेतेप्सितां गतिम् ॥ ११ ॥

जो तपस्वी नीचे सिर करके लटकता है अथवा जलमें निवास करता है तथा जो सदा ही अकेला सोता (ब्रह्मचर्यका पालन करता) है, वह मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त होता है ॥

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम्।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ १२ ॥

जो अतिथिको पैर धोनेके लिये जल, बैठनेके लिये आसन, प्रकाशके लिये दीपक, खानेके लिये अन्न और ठहरनेके लिये घर देता है, इस प्रकार अतिथिका सत्कार करनेके लिये इन पाँच वस्तुओंका दान 'पञ्चदक्षिण यज्ञ' कहलाता है ॥

वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपागतः।
अक्षयास्तस्य वै लोकाः सर्वकामगमास्तथा ॥ १३ ॥

जो वीरासन रणभूमिमें जाकर वीरशय्या (मृत्यु) को प्राप्त हो वीरस्थान (स्वर्गलोक) में जाता है, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे लोक सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं ॥ १३ ॥

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! मनुष्य दानसे धन पाता है, मौन-व्रतके पालनसे दूसरोंद्वारा आज्ञापालन करानेकी शक्ति प्राप्त करता है, तपस्यासे भोग और ब्रह्मचर्य-पालनसे जीवन (आयु) की उपलब्धि होती है ॥ १४ ॥

रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसाफलमश्नुते।
फलमूलाशिनो राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥ १५ ॥

अहिंसा धर्मके आचरणसे रूप, ऐश्वर्य और आरोग्यरूपी फलकी प्राप्ति होती है। फल-मूल खानेवालेको राज्य और पत्ते चबाकर रहनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

प्रायोपवेशिनो राजन् सर्वत्र सुखमुच्यते।
गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः ॥ १६ ॥

राजन्! जो आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठता है, उसके लिये सर्वत्र सुख बताया गया है। शाकाहारकी दीक्षा लेनेपर गोधनकी प्राप्ति होती है और तृण खाकर रहनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १६ ॥

खियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्।
स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥ १७ ॥

स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग करके त्रिकाल स्नान करते हुए वायु पीकर रहनेसे यज्ञका फल प्राप्त होता है। सत्यसे मनुष्य स्वर्गको और दीक्षासे उत्तम कुलको पाता है ॥

सलिलाशी भवेद् यस्तु सदाग्निः संस्कृतो द्विजः।
मन्त्रं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण सदा जल पीकर रहता है, अग्निहोत्र करता है और मन्त्र-साधनामें संलग्न रहता है, उसे राज्य मिलता है और निराहारव्रत करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥१८॥

उपवासं च दीक्षायामभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥ १९ ॥

पृथ्वीनाथ! जो पुरुष बारह वर्षोंतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेकर अन्नका त्याग करता और तीर्थोंमें स्नान करता रहता है, उसे रणभूमिमें प्राण त्यागनेवाले वीरसे भी बढ़कर उत्तम लोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्यो दुःखाद् विमुच्यते।
मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोकमुपाश्नुते ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर लेता है, वह तत्काल दुःखसे मुक्त हो जाता है तथा जो मनसे धर्मका आचरण करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् २१

खोटी बुद्धिवाले पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणनाशक रोगके समान सदा कष्ट देती रहती है, उस तृष्णाका त्याग कर देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ॥ २१ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ २२ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें अपनी माताको ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार पहलेका किया हुआ कर्म भी कर्ताको पहचानकर उसका अनुसरण करता है ॥ २२ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणा न होनेपर भी अपने समयका उल्लङ्घन नहीं करते—ठीक समयपर फूलने-फलने लग जाते हैं, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी समयपर फल देता ही है ॥ २३ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका न तु जीर्यते ॥ २४ ॥

मनुष्यके जीर्ण (जराग्रस्त) होनेपर उसके केश जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुषके दाँत भी टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण होकर अन्धे-बहरे हो जाते हैं। केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है (वह सदा नयी-नवेली बनी रहती है) ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्।

मनुष्य जिस व्यवहारसे पिताको प्रसन्न करता है, उससे भगवान् प्रजापति प्रसन्न होते हैं। जिस बर्तावसे वह माताको संतुष्ट करता है, उससे पृथ्वी देवीकी भी पूजा हो जाती है तथा जिससे वह उपाध्यायको तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है ॥ २५½ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसके द्वारा सभी धर्मोंका आदर हो गया और जिसने इन तीनोंका अनादर कर दिया, उसकी सम्पूर्ण यज्ञादिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ कुरुवंशी आश्चर्यचकित हो उठे। सबके मनमें हर्षजनित उल्लास भर गया। उस समय सभी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

यन्मन्त्रे भवति वृथोपयुज्यमाने
यत् सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने
तत् सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वेदमन्त्रोंका व्यर्थ (अशुद्ध) उपयोग (उच्चारण) करनेपर जो पाप लगता है, सोमयागको दक्षिणा आदि न देनेके कारण व्यर्थ कर देनेपर जो दोष लगता है तथा विधि और मन्त्रके बिना अग्निमें निरर्थक आहुति देनेपर जो पाप होता है, वह सारा पाप मिथ्या भाषण करनेसे प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद् विभो।
शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥ २९ ॥

राजन्! शुभ और अशुभ फलकी प्राप्तिके विषयमें महर्षि व्यासने ये सब बातें बतायी थीं, जिन्हें मैंने इस समय तुमसे कहा है। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कर्मफलिकोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कर्मफलका उपाख्यानविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्याः के नमस्कार्याः कान् नमस्यसि भारत ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व येभ्यः स्पृहयसे नृप ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! इस जगत्‌में कौन-कौन पुरुष पूजन और नमस्कारके योग्य हैं ? आप किनको प्रणाम करते हैं ? तथा नरेश्वर ! आप किनको चाहते हैं ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

उत्तमापद्गतस्यापि यत्र ते वर्तते मनः ।
मनुष्यलोके सर्वस्मिन् यदमुत्रेह चाच्युत ॥ २ ॥

बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी आपका मन किनका स्मरण किये बिना नहीं रहता ? तथा इस समस्त मानवलोक और परलोकमें हितकारक क्या है ? ये सब बातें बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहयामि द्विजातिभ्यो येषां ब्रह्म परं धनम् ।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपःस्वाध्यायसाधनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जिनका ब्रह्म (वेद) ही परम धन है, आत्मज्ञान ही स्वर्ग है तथा वेदोंका स्वाध्याय करना ही श्रेष्ठ तप है, उन ब्राह्मणोंको मैं चाहता हूँ ॥ ३ ॥

येषां बालाश्च वृद्धाश्च पितृपैतामहीं धुरम् ।
उद्वहन्ति न सीदन्ति तेभ्यो वै स्पृहयाम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनके कुलमें बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक बाप-दादोंकी परम्परासे चले आनेवाले धार्मिक कार्यका भार सँभालते हैं; परंतु उसके लिये मनमें कभी खेदका अनुभव नहीं करते हैं, ऐसे ही लोगोंको मैं चाहता हूँ ॥ ४ ॥

विद्यास्वभिविनीतानां दान्तानां मृदुभाषिणाम् ।
श्रुतवृत्तोपपन्नानां सदाक्षरविदां सताम् ॥ ५ ॥
संसत्सु वदतां तात हंसानामिव संघशः ।
मङ्गल्यरूपा रुचिरा दिव्यजीमूतनिःस्वनाः ॥ ६ ॥
सम्यगुच्चरिता वाचः श्रूयन्ते हि युधिष्ठिर ।
शुश्रूषमाणे नृपतौ प्रेत्य चेह सुखावहाः ॥ ७ ॥

जो विनीत भावसे विद्याध्ययन करते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं और मीठे वचन बोलते हैं, जो शास्त्रज्ञान और सदाचार दोनोंसे सम्पन्न हैं, अविनाशी परमात्माको जाननेवाले सत्पुरुष हैं, तात युधिष्ठिर ! सभाओंमें बोलते समय हंस-समूहोंकी भाँति जिनके मुखसे मेघके समान गम्भीर स्वरसे मनोहर मङ्गलमयी एवं अच्छे ढंगसे कही गयी बातें सुनायी देती हैं, उन ब्राह्मणोंको ही मैं चाहता हूँ । यदि राजा उन महात्माओंकी बातें सुननेकी इच्छा रखे तो वे उसे इहलोक और परलोकमें भी सुख पहुँचानेवाली होती हैं ॥ ५–७ ॥

ये चापि तेषां श्रोतारः सदा सदसि सम्मताः ।
विज्ञानगुणसम्पन्नास्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ॥ ८ ॥

जो प्रतिदिन उन महात्माओंकी बातें सुनते हैं, वे श्रोता विज्ञानगुणसे सम्पन्न हो सभाओंमें सम्मानित होते हैं । मैं ऐसे श्रोताओंकी भी चाह रखता हूँ ॥ ८ ॥

सुसंस्कृतानि प्रयताः शुचीनि गुणवन्ति च ।
ददत्यन्नानि तृप्त्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
ये चापि सततं राजंस्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ।

राजा युधिष्ठिर ! जो पवित्र होकर ब्राह्मणोंको उनकी तृप्तिके लिये शुद्ध और अच्छे ढंगसे तैयार किये हुए पवित्र तथा गुणकारक अन्न परोसते हैं, उनको भी मैं सदा चाहता हूँ ॥ ९½ ॥

शक्यं ह्येवाहवे योद्धुं न दातुमनसूयितम् ॥ १० ॥
शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
येषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! संग्राममें युद्ध करना सहज है । परंतु दोषदृष्टिसे रहित होकर दान देना सहज नहीं है । संसारमें सैकड़ों शूरवीर हैं; परंतु उनकी गणना करते समय जो उनमें दानशूर हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १०-११ ॥

धन्यः स्यां यद्यहं भूयः सौम्य ब्राह्मणकोऽपि वा ।
कुले जातो धर्मगतिस्तपोविद्यापरायणः ॥ १२ ॥

सौम्य ! यदि मैं कुलीन, धर्मात्मा, तपस्वी और विद्वान् अथवा कैसा भी ब्राह्मण होता तो अपनेको धन्य समझता ॥

न मे त्वत्तः प्रियतरो लोकेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।
त्वत्तश्चापि प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस संसारमें मुझे तुमसे अधिक प्रिय कोई नहीं है; परंतु भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंको मैं तुमसे भी अधिक प्रिय मानता हूँ ॥ १३ ॥

यथा मम प्रियतमास्त्वत्तो विप्राः कुरूत्तम ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान् यत्र स शान्तनुः ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! 'ब्राह्मण मुझे तुम्हारी अपेक्षा भी बहुत अधिक प्रिय हैं'—इस सत्यके प्रभावसे मैं उन्हीं पुण्यलोकोंमें जाऊँगा, जहाँ मेरे पिता महाराज शान्तनु गये हैं ॥ १४ ॥

न मे पिता प्रियतरो ब्राह्मणेभ्यस्तथाभवत् ।
न मे पितुः पिता वापि ये चान्येऽपि सुहृज्जनाः ॥ १५ ॥

मेरे पिता भी मुझे ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं रहे हैं । पितामह और अन्य सुहृदोंको भी मैंने कभी ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं समझा है ॥ १५ ॥

न हि मे वृजिनं किंचिद् विद्यते ब्राह्मणेष्विह ।
अणु वा यदि वा स्थूलं विद्यते साधुकर्मसु ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा ब्राह्मणोंके प्रति किन्हीं श्रेष्ठ कर्मोंमें कभी छोटा मोटा किञ्चिन्मात्र भी अपराध नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

कर्मणा मनसा वापि वाचा वापि परंतप।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेभ्यस्तेनाद्य न तपाम्यहम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मैंने मन, वाणी और कर्मसे ब्राह्मणोंका जो थोड़ा-बहुत उपकार किया है, उसीके प्रभावसे आज इस अवस्थामें पड़ जानेपर भी मुझे पीड़ा नहीं होती है ॥ १७ ॥

ब्रह्मण्य इति मामाहुस्तया वाचास्मि तोषितः।
एतदेव पवित्रेभ्यः सर्वेभ्यः परमं स्मृतम् ॥ १८ ॥

लोग मुझे ब्राह्मणभक्त कहते हैं। उनके इस कथनसे मुझे बड़ा संतोष होता है। ब्राह्मणोंकी सेवा ही सम्पूर्ण पवित्र कर्मोंसे बढ़कर परम पवित्र कार्य है ॥ १८ ॥

पश्यामि लोकानमलाञ्छुचीन् ब्राह्मणयायिनः।
तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ १९ ॥

तात ! ब्राह्मणकी सेवामें रहनेवाले पुरुषको जिन पवित्र और निर्मल लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें मैं यहींसे देखता हूँ। अब शीघ्र मुझे चिरकालके लिये उन्हीं लोकोंमें जाना है ॥

यथा भर्त्राश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके युधिष्ठिर।
स देवः सा गतिर्नान्या क्षत्रियस्य तथा द्विजाः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! जैसे स्त्रियोंके लिये पतिकी सेवा ही संसारमें सबसे बड़ा धर्म है, पति ही उनका देवता और वही उनकी परम गति है, उनके लिये दूसरी कोई गति नहीं है; उसी प्रकार क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी सेवा ही परम धर्म है। ब्राह्मण ही उनका देवता और परम गति है, दूसरा नहीं ॥ २० ॥

क्षत्रियः शतवर्षी च दशवर्षी द्विजोत्तमः।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणो गुरुः ॥ २१ ॥

क्षत्रिय सौ वर्षका हो और श्रेष्ठ ब्राह्मण दस वर्षकी अवस्थाका हो तो भी उन दोनोंको परस्पर पुत्र और पिताके समान जानना चाहिये। उनमें ब्राह्मण पिता है और क्षत्रिय पुत्र ॥

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥ २२ ॥

जैसे नारी पतिके अभावमें देवरको पति बनाती है, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके न मिलनेपर ही क्षत्रियको अपना अधिपति बनाती है ॥ २२ ॥

(ब्राह्मणानुज्ञया ग्राह्यं राज्यं च सपुरोहितैः।
तद्रक्षणेन स्वर्गोऽस्य तत्कोपान्नरकोऽक्षयः ॥)

पुरोहितसहित राजाओंको ब्राह्मणकी आज्ञासे राज्य ग्रहण करना चाहिये। ब्राह्मणकी रक्षासे ही राजाको स्वर्ग मिलता है और उसको रुष्ट कर देनेसे वह अनन्तकालके लिये नरकमें गिर जाता है ॥

पुत्रवच्च ततो रक्ष्या उपास्या गुरुवच्च ते।
अग्निवच्चोपचर्या वै ब्राह्मणाः कुरुसत्तम ॥ २३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंकी पुत्रके समान रक्षा, गुरुकी भाँति उपासना और अग्निकी भाँति उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥

ऋजून् सतः सत्यशीलान् सर्वभूतहिते रतान्।
आशीविषानिव क्रुद्धान् द्विजान् परिचरेत् सदा ॥ २४ ॥
(दूरतो मातृवत् पूज्या विप्रदाराः सुरक्षया।)

सरल, साधु, स्वभावतः सत्यवादी तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणोंकी सदा ही सेवा करनी चाहिये और क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान समझकर उनसे भयभीत रहना चाहिये। ब्राह्मणोंकी जो स्त्रियाँ हों, उनकी भी सुरक्षाका ध्यान रखते हुए माताके समान उनका दूरसे ही पूजन करना चाहिये ॥ २४ ॥

तेजसस्तपसश्चैव नित्यं बिभ्येद् युधिष्ठिर।
उभे चैते परित्याज्ये तेजश्चैव तपस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके तेज और तपसे सदा डरना चाहिये तथा उनके सामने अपने तप एवं तेजका अभिमान त्याग देना चाहिये ॥ २५ ॥

व्यवसायस्तयोः शीघ्रमुभयोरेव विद्यते।
हन्युः क्रुद्धा महाराज ब्राह्मणा ये तपस्विनः ॥ २६ ॥

महाराज ! ब्राह्मणके तप और क्षत्रियके तेजका फल शीघ्र ही प्रकट होता है तथापि जो तपस्वी ब्राह्मण हैं, वे कुपित होनेपर तेजस्वी क्षत्रियको अपने तपके प्रभावसे मार सकते हैं ॥

भूयः स्यादुभयं दत्तं ब्राह्मणाद् यदकोपनात्।
कुर्यादुभयतः शेषं दत्तशेषं न शेषयेत् ॥ २७ ॥

क्रोधरहित—क्षमाशील ब्राह्मणको पाकर क्षत्रियकी ओरसे अधिक मात्रामें प्रयुक्त किये गये तप और तेज आगपर रूईके ढेरके समान तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यदि दोनों ओरसे एक-दूसरेपर तेज और तपका प्रयोग हो तो उनका सर्वथा नाश नहीं होता; परंतु क्षमाशील ब्राह्मणके द्वारा खण्डित होनेसे बचा हुआ क्षत्रियका तेज किसी तेजस्वी ब्राह्मणपर प्रयुक्त हो तो वह उससे प्रतिहत होकर सर्वथा नष्ट हो जाता है, थोड़ा-सा भी शेष नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

दण्डपाणिर्यथा गोषु पालो नित्यं हि रक्षयेत्।
ब्राह्मणान् ब्रह्म च तथा क्षत्रियः परिपालयेत् ॥ २८ ॥

जैसे चरवाहा हाथमें डंडा लेकर सदा गौओंकी रखवाली करता है, उसी प्रकार क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणों और वेदोंकी सदा रक्षा करे ॥ २८ ॥

पितेव पुत्रान् रक्षेथा ब्राह्मणान् धर्मचेतसः।
गृहे चैषामवेक्षेथाः किंस्विदस्तीति जीवनम् ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मात्मा ब्राह्मणोंकी उसी तरह रक्षा करे, जैसे पिता पुत्रोंकी करता है। वह सदा इस बातकी देख-भाल करता रहे कि उनके घरमें जीवन-निर्वाहके लिये क्या है और क्या नहीं है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके न देने तथा उसके धनका अपहरण करनेसे दोषकी प्राप्तिके विषयमें सियार और वानरके संवादका उल्लेख एवं ब्राह्मणोंको दान देनेकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणानां तु ये लोकाः प्रतिश्रुत्य पितामह ।
न प्रयच्छन्ति मोहात् ते के भवन्ति महाद्युते ॥ १ ॥
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि धर्मं धर्मभृतां वर ।
प्रतिश्रुत्य दुरात्मानो न प्रयच्छन्ति ये नराः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी पितामह ! जो लोग ब्राह्मणोंको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर मोहवश नहीं देते हैं, जो दुरात्मा दानका सकल्प करके भी दान नहीं देते हैं, वे क्या होते हैं ? यह धर्मका विषय मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

यो न दद्यात् प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीबस्येव प्रजाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो थोड़ा या अधिक देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे नहीं देता है, उसकी सभी आशाएँ वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे नपुंसककी संतानरूपी फलविषयक आशा ॥ ३ ॥

यां रात्रिं जायते जीवो यां रात्रिं च विनश्यति ।
एतस्मिन्नन्तरे यद् यत् सुकृतं तस्य भारत ॥ ४ ॥
यच्च तस्य हुतं किंचिद् दत्तं वा भरतर्षभ ।
तपस्तप्तमथो वापि सर्वं तस्योपहन्यते ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जीव जिस रातको जन्म लेता है और जिस रातको उसकी मौत होती है-इन दोनों रात्रियोंके बीचमें जीवनभर वह जो-जो पुण्यकर्म करता है, भरतश्रेष्ठ ! उसने आजीवन जो कुछ होम, दान तथा तप किया होता है, उसका वह सब कुछ उस प्रतिज्ञा-भङ्गके पापसे नष्ट हो जाता है ॥ ४-५ ॥

अथैतद् वचनं प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
निशम्य भरतश्रेष्ठ बुद्ध्या परमयुक्तया ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्मशास्त्रके ज्ञाता मनुष्य अपनी परम योग-युक्त बुद्धिसे विचार करके यह उपर्युक्त बात कहते हैं ॥ ६ ॥

अपि चोदाहरन्तीमं धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
अश्वानां श्यामकर्णानां सहस्रेण स मुच्यते ॥ ७ ॥

धर्मशास्त्रोंके विद्वान् यह भी कहते हैं कि प्रतिज्ञा-भङ्गका पाप करनेवाला पुरुष एक हजार श्यामकर्ण घोड़ोंका दान करनेसे उस पापसे मुक्त होता है ॥ ७ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शृगालस्य च संवादं वानरस्य च भारत ॥ ८ ॥

भारत ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष सियार और वानरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

तौ सखायौ पुरा ह्यास्तां मानुषत्वे परंतप ।
अन्यां योनिं समापन्नौ शार्गालीं वानरीं तथा ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मनुष्य-जन्ममें जो दोनों पहले एक-दूसरेके मित्र थे, वे ही दूसरे जन्ममें सियार और वानरकी योनिमें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

ततः परासून् खादन्तं शृगालं वानरोऽब्रवीत् ।
श्मशानमध्ये सम्प्रेक्ष्य पूर्वजातिमनुस्मरन् ॥ १० ॥
किं त्वया पापकं पूर्वं कृतं कर्म सुदारुणम् ।
यस्त्वं श्मशाने मृतकान् पूतिकानत्सि कुत्सितान् ॥

तदनन्तर एक दिन सियारको मरघटमें मुर्दे खाता देख वानरने पूर्व-जन्मका स्मरण करके पूछा-'भैया ! तुमने पहले

जन्ममें कौन-सा भयंकर पाप किया था, जिससे तुम मरघटमें घृणित एवं दुर्गन्धयुक्त मुर्दे खा रहे हो ?' ॥ १०-११ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच शृगालो वानरं तदा ।
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य न मया तदुपाहृतम् ॥ १२ ॥
तत्कृते पापकीं योनिमापन्नोऽस्मि प्लवङ्गम ।
तस्मादेवंविधं भक्ष्यं भक्षयामि बुभुक्षितः ॥ १३ ॥

वानरके इस प्रकार पूछनेपर सियारने उसे उत्तर दिया—'भाई वानर ! मैंने ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके वह वस्तु उसे नहीं दी थी । इसीके कारण मैं इस पापयोनिमें आ पड़ा हूँ और उसी पापसे भूखा होनेपर मुझे इस तरहका घृणित भोजन करना पड़ता है' ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

शृगालो वानरं प्राह पुनरेव नरोत्तम ।
किं त्वया पातकं कर्म कृतं येनासि वानरः ॥ १४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! इसके बाद सियारने वानरसे पुनः पूछा—'तुमने कौन-सा पाप किया था ? जिससे वानर हो गये ?' ॥ १४ ॥

वानर उवाच

सदा चाहं फलाहारो ब्राह्मणानां प्लवङ्गमः ।
तस्मान्न ब्राह्मणस्वं तु हर्तव्यं विदुषा सदा ।
समं विवादो मोक्तव्यो दातव्यं च प्रतिश्रुतम् ॥ १५ ॥

वानरने कहा—मैं सदा ब्राह्मणोंका फल चुराकर खाया करता था; इसी पापसे वानर हुआ । अतः विज्ञ पुरुषको कभी ब्राह्मणका धन नहीं चुराना चाहिये । उनके साथ कभी झगड़ा नहीं करना चाहिये और उनके लिये जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह अवश्य दे देनी चाहिये ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् ब्रुवतो राजन् ब्राह्मणस्य मया श्रुतम् ।
कथां कथयतः पुण्यां धर्मज्ञस्य पुरातनीम् ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा मैंने एक धर्मज्ञ ब्राह्मणके मुखसे सुनी है; जो प्राचीनकालकी पवित्र कथाएँ सुनाता था ॥ १६ ॥

श्रुतश्चापि मया भूयः कृष्णस्यापि विशाम्पते ।
कथां कथयतः पूर्वं ब्राह्मणं प्रति पाण्डव ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डुनन्दन ! फिर मैंने यही बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भी सुनी थी; जब कि वे पहले किसी ब्राह्मणसे ऐसी ही कथा कह रहे थे ॥ १७ ॥

न हर्तव्यं विप्रधनं क्षन्तव्यं तेषु नित्यशः ।
बालाश्च नावमन्तव्या दरिद्राः कृपणा अपि ॥ १८ ॥

ब्राह्मणका धन कभी नहीं चुराना चाहिये । वे अपराध करें तो भी सदा उनके प्रति क्षमाभाव ही रखना चाहिये । वे बालक, दरिद्र अथवा दीन हों तो भी उनका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

एवमेव च मां नित्यं ब्राह्मणाः संदिशन्ति वै ।
प्रतिश्रुत्य भवेद् देयं नाशा कार्या द्विजोत्तमे ॥ १९ ॥

ब्राह्मणलोग भी मुझे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि प्रतिज्ञा कर लेनेपर वह वस्तु ब्राह्मणको दे ही देनी चाहिये । किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आशा भङ्ग नहीं करनी चाहिये ॥ १९ ॥

ब्राह्मणो ह्याशया पूर्वं कृतया पृथिवीपते ।
सुसमिद्धो यथा दीप्तः पावकस्तद्विधः स्मृतः ॥ २० ॥

पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणको पहले आशा दे देनेपर वह समिधासे प्रज्वलित हुई अग्निके समान उद्दीप्त हो उठता है ॥ २० ॥

यं निरीक्षेत संक्रुद्ध आशया पूर्वजातया ।
प्रदहेच्च हि तं राजन् कक्षमक्षय्यभुग् यथा ॥ २१ ॥

राजन् ! पहलेकी लगी हुई आशा भङ्ग होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ ब्राह्मण जिसकी ओर देख लेता है, उसे उसी प्रकार जलाकर भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि सूखी लकड़ी अथवा तिनकोंके बोझको जला देती है ॥ २१ ॥

स एव हि यदा तुष्टो वचसा प्रतिनन्दति ।
भवत्यगदसंकाशो विषये तस्य भारत ॥ २२ ॥

भारत ! वही ब्राह्मण जब आशापूर्तिसे संतुष्ट होकर वाणीद्वारा राजाका अभिनन्दन करता है—उसे आशीर्वाद देता है, तब उसके राज्यके लिये वह चिकित्सकके तुल्य हो जाता है ॥ २२ ॥

पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चैव बान्धवान् सचिवांस्तथा ।
पुरं जनपदं चैव शान्तिरूपेण पोषयेत् ॥ २३ ॥

तथा उस दाताके पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव, पशु, मन्त्री, नगर और जनपदके लिये वह शान्तिदायक बनकर उन्हें कल्याणका भागी बनाता और उन सबका पोषण करता है ॥

एतद्धि परमं तेजो ब्राह्मणस्येह दृश्यते ।
सहस्रकिरणस्येव सवितुर्धरणीतले ॥ २४ ॥

इस पृथ्वीपर ब्राह्मणका उत्कृष्ट तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यदेवके समान दृष्टिगोचर होता है ॥ २४ ॥

तस्माद् दातव्यमेवेह प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिर ।
यदीच्छेच्छोभनां जातिं प्राप्तुं भरतसत्तम ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इसलिये जो उत्तम योनिमें जन्म लेना चाहता हो, उसे ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा की हुई वस्तु अवश्य दे डालनी चाहिये ॥ २५ ॥

ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः ।
शक्यः प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया ॥ २६ ॥

ब्राह्मणको दान देनेसे निश्चय ही परम उत्तम स्वर्गलोकको विशेष रूपसे प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि दान महान् पुण्यकर्म है ॥ २६ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।
तस्माद् दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता॥ २७ ॥

इस लोकमें ब्राह्मणको दान देनेसे देवता और पितर तृप्त होते हैं; इसलिये विद्वान् पुरुष ब्राह्मणको अवश्य दान दे ॥

महद्धि भरतश्रेष्ठ ब्राह्मणस्तीर्थमुच्यते ।

वेलायां न तु कस्यांचिद् गच्छेद् विप्रो ह्यपूजितः॥ २८॥

भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण महान् तीर्थ कहे जाते हैं; अतः वे किसी भी समय घरपर आ जायँ तो बिना सत्कार किये उन्हें नहीं जाने देना चाहिये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शृगालवानरसंवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सियार और वानरका संवादविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अनधिकारीको उपदेश देनेसे हानिके विषयमें एक शूद्र और तपस्वी ब्राह्मणकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

मित्रसौहार्दयोगेन उपदेशं करोति यः ।
जात्याधरस्य राजर्षेर्दोषस्तस्य भवेन्न वा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन व्याख्यातुं वै पितामह ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई मित्रता या सौहार्दके सम्बन्धसे किसी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश देता है तो उस राजर्षिको दोष लगेगा या नहीं ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ । आप इसका विशदरूपसे विवेचन करें; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है, जहाँ मनुष्य मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि शृणु राजन् यथाक्रमम् ।
ऋषीणां वदतां पूर्वं श्रुतमासीत् यथा पुरा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें पूर्वकालमें ऋषियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है, उसी क्रमसे बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

उपदेशो न कर्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित् ।
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ॥ ४ ॥

किसी भी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश नहीं देना चाहिये । उसे उपदेश देनेपर उपदेशक आचार्यके लिये महान् दोष बताया जाता है ॥ ४ ॥

निदर्शनमिदं राजञ्शृणु मे भरतर्षभ ।
दुरुक्तवचने राजन् यथापूर्वं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भरतभूषण राजा युधिष्ठिर ! इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो, जो दुःखमें पड़े हुए एक नीच जातिके पुरुषको उपदेश देनेसे सम्बन्धित है ॥ ५ ॥

ब्रह्माश्रमपदे वृत्तं पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
तत्राश्रमपदं पुण्यं नानावृक्षगणायुतम् ॥ ६ ॥

हिमालयके सुन्दर पार्श्वभागमें, जहाँ बहुत-से ब्राह्मणोंके आश्रम बने हुए हैं, यह वृत्तान्त घटित हुआ था । उस प्रदेशमें एक पवित्र आश्रम है, जहाँ नाना प्रकारके हरे-भरे वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

नानागुल्मलताकीर्णं मृगद्विजनिषेवितम् ।
सिद्धचारणसंयुक्तं रम्यं पुष्पितकाननम् ॥ ७ ॥

नाना प्रकारकी लता-बेलें वहाँ छायी हुई हैं । मृग और पक्षी उस आश्रमका सेवन करते हैं । सिद्ध और चारण वहाँ सदा निवास करते हैं । उस रमणीय आश्रमके आस-पासका वन सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित है ॥ ७ ॥

व्रतिभिर्बहुभिः कीर्णं तापसैरुपसेवितम् ।
ब्राह्मणैश्च महाभागैः सूर्यज्वलनसंनिभैः ॥ ८ ॥

बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी उस आश्रमका सेवन करते हैं । कितने ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी महाभाग ब्राह्मण वहाँ भरे रहते हैं ॥ ८ ॥

नियमव्रतसम्पन्नैः समाकीर्णं तपस्विभिः ।
दीक्षितैर्भरतश्रेष्ठ यताहारैः कृतात्मभिः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नियम और व्रतसे सम्पन्न, तपस्वी, दीक्षित, मिताहारी और जितात्मा मुनियोंसे वह आश्रम भरा रहता है ॥

तपोऽध्ययनघोषैश्च नादितं भरतर्षभ ।
वालखिल्यैश्च बहुभिर्यतिभिश्च निषेवितम् ॥ १० ॥

भरतभूषण ! वहाँ सब ओर वेदाध्ययनकी ध्वनि गूँजती रहती है । बहुत-से वालखिल्य एवं संन्यासी उस आश्रमका सेवन करते हैं ॥ १० ॥

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः ।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः ॥ ११ ॥

उसी आश्रममें कोई दयालु शूद्र बड़ा उत्साह करके आया । वहाँ रहनेवाले तपस्वी ऋषियोंने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ११ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा मुनिगणान् देवकल्पान् महौजसः ।
विविधां वहतो दीक्षां सम्प्राहृष्यत भारत ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! उस आश्रमके महातेजस्वी देवोपम मुनियोंको नाना प्रकारकी दीक्षा धारण किये देख उस शूद्रको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् तपस्ये भरतर्षभ ।
ततोऽब्रवीत् कुलपतिं पादौ संगृह्य भारत ॥ १३ ॥

भारत ! भरतभूषण ! उसके मनमें वहाँ तपस्या करनेका विचार उत्पन्न हुआ; अतः उसने कुलपतिके पैर पकड़कर कहा—॥ १३ ॥

भवत्प्रसादादिच्छामि धर्मं वक्तुं द्विजर्षभ ।
तन्मां त्वं भगवन् वक्तुं प्रव्राजयितुमर्हसि ॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपकी कृपासे धर्मका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ । अतः भगवन् ! आप मुझे विधिवत् संन्यासीकी दीक्षा दे दें ॥ १४ ॥

वर्णावरोऽहं भगवञ्शूद्रो जात्यास्मि सत्तम ।
शुश्रूषां कर्तुमिच्छामि प्रपन्नाय प्रसीद मे ॥ १५ ॥

'भगवन् ! साधुशिरोमणे ! मैं वर्णोंमें सबसे छोटा शूद्र जातिका हूँ और यहाँ रहकर संतोंकी सेवा करना चाहता हूँ; अतः मुझ शरणागतपर आप प्रसन्न हों' ॥ १५ ॥

कुलपतिरुवाच

न शक्यमिह शूद्रेण लिङ्गमाश्रित्य वर्तितुम् ।
आस्यतां यदि ते बुद्धिः शुश्रूषानिरतो भव ॥ १६ ॥
शुश्रूषया पराँल्लोकानवाप्स्यसि न संशयः ॥ १७ ॥

कुलपतिने कहा—इस आश्रममें कोई शूद्र संन्यासका चिह्न धारण करके नहीं रह सकता । यदि तुम्हारा विचार यहाँ रहनेका हो तो यों ही रहो और साधु-महात्माओंकी सेवा करो । सेवासे ही तुम उत्तम लोक प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु मुनिना स शूद्रोऽचिन्तयन्नृप ।
कथमत्र मया कार्यं श्रद्धा धर्मपरा च मे ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! मुनिके ऐसा कहनेपर शूद्रने सोचा, यहाँ मुझे क्या करना चाहिये ? मेरी श्रद्धा तो संन्यास-धर्मके अनुष्ठानके लिये ही है ॥ १८ ॥

विज्ञातमेवं भवतु करिष्ये प्रियमात्मनः ।
गत्वाऽऽश्रमपदाद् दूरमुटजं कृतवांस्तु सः ॥ १९ ॥

अच्छा, एक बात समझमें आयी । शूद्रके लिये ऐसा ही विधान हो तो रहे । मैं तो वही करूँगा जो मुझे प्रिय लगता है—ऐसा विचारकर उसने उस आश्रमसे दूर जाकर एक पर्णकुटी बना ली ॥ १९ ॥

तत्र वेदीं च भूमिं च देवतायतनानि च ।
निवेश्य भरतश्रेष्ठ नियमस्थोऽभवन्मुनिः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यज्ञके लिये वेदी, रहनेके लिये स्थान और देवालय बनाकर मुनिकी भाँति नियमपूर्वक रहने लगा ॥

अभिषेकांश्च नियमान देवतायतनेषु च ।
बलिं च कृत्वा हुत्वा च देवतां चाप्यपूजयत् ॥ २१ ॥

वह तीनों समय नहाता, नियमोंका पालन करता, देव-स्थानोंमें पूजा चढ़ाता, अग्निमें आहुति देता और देवताकी पूजा करता था ॥ २१ ॥

संकल्पनियमोपेतः फलाहारो जितेन्द्रियः ।
नित्यं संनिहिताभिस्तु ओषधीभिः फलैस्तथा ॥ २२ ॥
अतिथीन् पूजयामास यथावत् समुपागतान् ।
एवं हि सुमहान् कालो व्यत्यक्रामत तस्य वै ॥ २३ ॥

वह मानसिक संकल्पोंका नियन्त्रण (चित्तवृत्तियोंका निरोध) करते हुए फल खाकर रहता और इन्द्रियोंको काबूमें रखता था । उसके यहाँ जो अन्न और फल उपस्थित रहता, उन्हींके द्वारा प्रतिदिन आये हुए अतिथियोंका यथोचित सत्कार करता था । इस प्रकार रहते हुए उस शूद्र मुनिको बहुत समय बीत गया ॥ २२-२३ ॥

अथास्य मुनिरागच्छत् संगत्या वै तमाश्रमम् ।
सम्पूज्य स्वागतेनर्षिं विधिवत् समतोषयत् ॥ २४ ॥

एक दिन एक मुनि सत्सङ्गकी दृष्टिसे उसके आश्रमपर पधारे । उस शूद्रने विधिवत् स्वागत-सत्कार करके ऋषिका पूजन किया और उन्हें संतुष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

अनुकूलाः कथाः कृत्वा यथागतमपृच्छत ।
ऋषिः परमतेजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ २५ ॥
एवं सुबहुशस्तस्य शूद्रस्य भरतर्षभ ।
सोऽगच्छदाश्रममृषिः शूद्रं द्रष्टुं नरर्षभ ॥ २६ ॥

भरतभूषण नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उसने अनुकूल बातें करके उनके आगमनका वृत्तान्त पूछा । तबसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे परम तेजस्वी धर्मात्मा ऋषि अनेक बार उस शूद्रके आश्रमपर उससे मिलनेके लिये आये ॥ २५-२६ ॥

अथ तं तापसं शूद्रः सोऽब्रवीद् भरतर्षभ ।
पितृकार्यं करिष्यामि तत्र मेऽनुग्रहं कुरु ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिन उस शूद्रने उन तपस्वी मुनिसे कहा—'मैं पितरोंका श्राद्ध करूँगा । आप उसमें मुझपर अनुग्रह कीजिये' ॥ २७ ॥

बाढमित्येव तं विप्र उवाच भरतर्षभ ।
शुचिर्भूत्वा स शूद्रस्तु तस्यर्षेः पाद्यमानयत् ॥ २८ ॥

भरतभूषण नरेश ! तब ब्राह्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया । तत्पश्चात् शूद्र नहा-धोकर शुद्ध हो उन ब्रह्मर्षिके पैर धोनेके लिये जल ले आया ॥

अथ दर्भांश्च वन्यांश्च ओषधीर्भरतर्षभ ।
पवित्रमासनं चैव बृसीं च समुपानयत् ॥ २९ ॥

भरतर्षभ ! तदनन्तर वह जंगली कुशा, अन्न आदि ओषधि, पवित्र आसन और कुशकी चटाई ले आया ॥२९॥

अथ दक्षिणमावृत्य बृसीं चरमशीर्षिकीम् ।
कृतामन्यायतो दृष्ट्वा तं शूद्रमृषिरब्रवीत् ॥ ३० ॥

उसने दक्षिण दिशामें ले जाकर ब्राह्मणके लिये पश्चिमाग्र चटाई बिछा दी । यह शास्त्रके विपरीत अनुचित आचार देखकर ऋषिने शूद्रसे कहा— ॥ ३० ॥

कुरुष्वैतां पूर्वशीर्षां भवांश्चोदङ्मुखः शुचिः ।
स च तत् कृतवान् शूद्रः सर्वं यदृषिरब्रवीत् ॥ ३१ ॥

'तुम इस कुशकी चटाईका अग्रभाग तो पूर्व दिशाकी ओर करो और स्वयं शुद्ध होकर उत्तराभिमुख बैठो ।' ऋषिने जो-जो कहा, शूद्रने वह सब किया ॥ ३१ ॥

यथोपदिष्टं मेधावी दर्भार्घ्यादि यथातथम् ।
हव्यकव्यविधिं कृत्स्नमुक्तं तेन तपस्विना ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् शूद्रने कुश, अर्घ्य आदि तथा हव्य-कव्यकी विधि—सब कुछ उन तपस्वी मुनिके उपदेशके अनुसार ठीक-ठीक किया ॥ ३२ ॥

ऋषिणा पितृकार्ये च स च धर्मपथे स्थितः ।
पितृकार्ये कृते चापि विसृष्टः स जगाम ह ॥ ३३ ॥

ऋषिके द्वारा पितृकार्य विधिवत् सम्पन्न हो जानेपर वे ऋषि शूद्रसे विदा लेकर चले गये और वह शूद्र धर्ममार्गमें स्थित हो गया ॥ ३३ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य स तप्यञ्शूद्रतापसः ।
वने पञ्चत्वमगमत् सुकृतेन च तेन वै ॥ ३४ ॥
अजायत महाराजवंशे स च महाद्युतिः ।

तदनन्तर दीर्घकालतक तपस्या करके वह शूद्र तपस्वी वनमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ और उसी पुण्यके प्रभावसे एक महान् राजवंशमें महातेजस्वी बालकके रूपमें उत्पन्न हुआ ॥

तथैव स ऋषिस्तात कालधर्ममवाप ह ॥ ३५ ॥
पुरोहितकुले विप्र आजातो भरतर्षभ ।
एवं तौ तत्र सम्भूतावुभौ शूद्रमुनी तदा ॥ ३६ ॥
क्रमेण वर्धितौ चापि विद्यासु कुशलावुभौ ॥ ३७ ॥

तात ! इसी प्रकार वे ऋषि भी कालधर्म—मृत्युको प्राप्त हुए । भरतश्रेष्ठ ! वे ही ऋषि दूसरे जन्ममें उसी राजवंशके पुरोहितके कुलमें उत्पन्न हुए । इस प्रकार वह शूद्र और वे मुनि दोनों ही वहाँ उत्पन्न हुए, क्रमशः बढ़े और सब प्रकारकी विद्याओंमें निपुण हो गये ॥ ३५—३७ ॥

अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिष्ठितः ।
कल्पप्रयोगे चोत्पन्ने ज्योतिषे च परं गतः ॥ ३८ ॥
सांख्ये चैव परा प्रीतिस्तस्य चैवं व्यवर्धत ।

वे ऋषि वेद और अथर्ववेदके परिनिष्ठित विद्वान् हो गये । कल्पप्रयोग और ज्योतिषमें भी पारङ्गत हुए। सांख्यमें भी उनका परम अनुराग बढ़ने लगा ॥ ३८½ ॥

पितर्युपरते चापि कृतशौचस्तु पार्थिव ॥ ३९ ॥
अभिषिक्तः प्रकृतिभी राजपुत्रः स पार्थिवः ।

नरेश ! पिताके परलोकवासी हो जानेपर शुद्ध होनेके पश्चात् मन्त्री और प्रजा आदिने मिलकर उस राजकुमारको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३९½ ॥

अभिषिक्तेन स ऋषिरभिषिक्तः पुरोहितः ॥ ४० ॥

राजाने अभिषिक्त होनेके साथ ही उस ऋषिका भी पुरोहितके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ ४० ॥

स तं पुरोधाय सुखमवसद् भरतर्षभ ।
राज्यं शशास धर्मेण प्रजाश्च परिपालयन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऋषिको पुरोहित बनाकर वह राजा सुखपूर्वक रहने और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए राज्यका शासन करने लगा ॥ ४१ ॥

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकार्येषु चासकृत् ।
उत्स्मयन् प्राहसच्चापि दृष्ट्वा राजा पुरोहितम् ॥ ४२ ॥

जब पुरोहितजी प्रतिदिन पुण्याहवाचन करते और निरन्तर धर्मकार्यमें संलग्न रहते, उस समय राजा उन्हें देखकर कभी मुसकराते और कभी जोर-जोरसे हँसने लगते थे ॥ ४२ ॥

एवं स बहुशो राजन् पुरोधसमुपाहसत् ।
लक्षयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ॥ ४३ ॥
उत्स्मयन्तं च सततं दृष्ट्वासौ मन्युमाविशत् ।

राजन् ! इस प्रकार अनेक बार राजाने पुरोहितका उपहास किया । पुरोहितने जब अनेक बार और निरन्तर उस राजाको अपने प्रति हँसते और मुसकराते लक्ष्य किया, तब उनके मनमें बड़ा खेद और क्षोभ हुआ ॥ ४३½ ॥

अथ शून्ये पुरोधास्तु सह राज्ञा समागतः ॥ ४४ ॥
कथाभिरनुकूलाभी राजानं चाभ्यरोचयत् ।

तदनन्तर एक दिन पुरोहितजी राजासे एकान्तमें मिले और मनोनुकूल कथाएँ सुनाकर राजाको प्रसन्न करने लगे ॥

ततोऽब्रवीन्नरेन्द्रं स पुरोधा भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
वरमिच्छाम्यहं त्वेकं त्वया दत्तं महाद्युते ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पुरोहित राजासे इस प्रकार बोले—'महातेजस्वी नरेश ! मैं आपका दिया हुआ एक वर प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ ४५-४६ ॥

राजोवाच

वराणां ते शतं दद्यां किं वतैकं द्विजोत्तम ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च नास्त्यदेयं हि मे तव ॥ ४७ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपको सौ वर दे सकता हूँ । एककी तो बात ही क्या । आपके प्रति मेरा जो स्नेह और विशेष आदर है, उसे देखते हुए मेरे पास आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ४७ ॥

पुरोहित उवाच

एकं वै वरमिच्छामि यदि तुष्टोऽसि पार्थिव ।
प्रतिजानीहि तावत् त्वं सत्यं यद् वद नानृतम् ॥ ४८ ॥

पुरोहितने कहा—पृथ्वीनाथ ! यदि आप प्रसन्न हों तो मैं एक ही वर चाहता हूँ । आप पहले यह प्रतिज्ञा कीजिये कि 'मैं दूँगा ।' इस विषयमें सत्य कहिये, झूठ न बोलिये ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

बाढमित्येव तं राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिर ।
यदि ज्ञास्यामि वक्ष्यामि अजानन् न तु संवदे ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उत्तर

दिया, 'बहुत अच्छा । यदि मैं जानता होऊँगा तो अवश्य बता दूँगा और यदि नहीं जानता होऊँगा तो नहीं बताऊँगा' ॥

पुरोहित उवाच

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकृत्येषु चासकृत् ।
शान्तिहोमेषु च सदा किं त्वं हससि वीक्ष्य माम् ॥५०॥

पुरोहितजीने कहा—महाराज ! प्रतिदिन पुण्याहवाचनके समय तथा बारंबार धार्मिक कृत्य कराते समय एवं शान्तिहोमके अवसरोंपर आप मेरी ओर देखकर क्यों हँसा करते हैं ? ॥ ५० ॥

सव्रीडं वै भवति हि मनो मे हसता त्वया ।
कामया शापितो राजन् नान्यथा वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

आपके हँसनेसे मेरा मन लज्जित-सा हो जाता है । राजन् ! मैं शपथ दिलाकर पूछ रहा हूँ, आप इच्छानुसार सच-सच बताइये । दूसरी बात कहकर बहलाइयेगा मत ॥

सुव्यक्तं कारणं ह्यत्र न ते हास्यमकारणम् ।
कौतूहलं मे सुभृशं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ५२ ॥

आपके इस हँसनेमें स्पष्ट ही कोई विशेष कारण जान पड़ता है । आपका हँसना बिना किसी कारणके नहीं हो सकता । इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; अतः आप यथार्थ रूपसे यह सब कहिये ॥ ५२ ॥

राजोवाच

एवमुक्ते त्वया विप्र यदवाच्यं भवेदपि ।
अवश्यमेव वक्तव्यं शृणुष्वैकमना द्विज ॥ ५३ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! आपके इस प्रकार पूछनेपर तो यदि कोई न कहने योग्य बात हो तो उसे भी अवश्य ही कह देना चाहिये । अतः आप मन लगाकर सुनिये ॥ ५३ ॥

पूर्वदेहे यथा वृत्तं तन्निबोध द्विजोत्तम ।
जातिं स्मराम्यहं ब्रह्मन्नवधानेन मे शृणु ॥ ५४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब हमने पूर्वजन्ममें शरीर धारण किया था, उस समय जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनिये । ब्रह्मन् ! मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण है । आप ध्यान देकर मेरी बात सुनिये ॥ ५४ ॥

शूद्रोऽहमभवं पूर्वं तापसो भृशसंयुतः ।
ऋषिरुग्रतपास्त्वं च तदाभूद् द्विजसत्तम ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! पहले जन्ममें मैं शूद्र था । फिर बड़ा भारी तपस्वी हो गया । उन्हीं दिनों आप उग्र तप करनेवाले श्रेष्ठ महर्षि थे ॥ ५५ ॥

प्रीयता हि तदा ब्रह्मन् ममानुग्रहबुद्धिना ।
पितृकार्ये त्वया पूर्वमुपदेशः कृतोऽनघ ॥ ५६ ॥

निष्पाप ब्रह्मन् ! उन दिनों आप मुझसे बड़ा प्रेम रखते थे; अतः मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे आपने पितृकार्यमें मुझे आवश्यक विधिका उपदेश किया था ॥५६॥

बृस्यां दर्भेषु हव्ये च कव्ये च मुनिसत्तम ।
एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायथाः ॥ ५७ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! कुशके चट कैसे रखे जायँ ? कुशा कैसे बिछायी जाय ? हव्य और कव्य कैसे समर्पित किये जायँ ? इन्हीं सब बातोंका आपने मुझे उपदेश दिया था । इसी कर्म-दोषके कारण आपको इस जन्ममें पुरोहित होना पड़ा ॥५७॥

अहं राजा च विप्रेन्द्र पश्य कालस्य पर्ययम् ।
मत्कृतस्योपदेशस्य त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥ ५८ ॥

विप्रेन्द्र ! यह कालका उलट-फेर तो देखिये कि मैं तो शूद्रसे राजा हो गया और मुझे ही उपदेश करनेके कारण आपको यह फल मिला ॥ ५८ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् प्रहसे त्वां द्विजोत्तम ।
न त्वां परिभवन् ब्रह्मन् प्रहसामि गुरुर्भवान् ॥ ५९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मन् ! इसी कारणसे मैं आपकी ओर देखकर हँसता हूँ । आपका अनादर करनेके लिये मैं आपकी हँसी नहीं उड़ाता हूँ; क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ५९ ॥

विपर्ययेण मे मन्युस्तेन संतप्यते मनः ।
जातिं स्मराम्यहं तुभ्यमतस्त्वां प्रहसामि वै ॥ ६० ॥

यह जो उलट-फेर हुआ है, इससे मुझको बड़ा खेद है और इसीसे मेरा मन संतप्त रहता है । मैं अपनी और आपकी भी पूर्वजन्मकी बातोंको याद करता हूँ; इसीलिये आपकी ओर देखकर हँस देता हूँ ॥ ६० ॥

एवं तवोग्रं हि तप उपदेशेन नाशितम् ।
पुरोहितत्वमुत्सृज्य यतस्व त्वं पुनर्भवे ॥ ६१ ॥

आपकी उग्र तपस्या थी, वह मुझे उपदेश देनेके कारण नष्ट हो गयी । अतः आप पुरोहितका काम छोड़कर पुनः संसारसागरसे पार होनेके लिये प्रयत्न कीजिये ॥ ६१ ॥

इतस्त्वमधमामन्यां मा योनिं प्राप्स्यसे द्विज ।
गृह्यतां द्रविणं विप्र पूतात्मा भव सत्तम ॥ ६२ ॥

ब्रह्मन् ! साधुशिरोमणे ! कहीं ऐसा न हो कि आप इसके बाद दूसरी किसी नीच योनिमें पड़ जायँ । अतः विप्रवर ! जितना चाहिये धन ले लीजिये और अपने अन्तःकरणको पवित्र बनानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

ततो विसृष्टो राज्ञा तु विप्रो दानान्यनेकशः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं भूमिं ग्रामांश्च सर्वशः ॥ ६३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजासे विदा लेकर पुरोहितने बहुत-से ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये । धन, भूमि और ग्राम भी वितरण किये ॥ ६३ ॥

कृच्छ्राणि चीर्त्वा च ततो यथोक्तानि द्विजोत्तमैः ।
तीर्थानि चापि गत्वा वै दानानि विविधानि च ॥ ६४ ॥

उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके बताये अनुसार उन्होंने अनेक प्रकारके कृच्छ्रव्रत किये और तीर्थोंमें जाकर नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान कीं ॥ ६४ ॥

दत्त्वा गाश्चैव विप्रेभ्यः पूतात्माभवदात्मवान्।
तमेव चाश्रमं गत्वा चचार विपुलं तपः॥ ६५॥

ब्राह्मणोंको गोदान करके पवित्रात्मा होकर उन मनस्वी ब्राह्मणने फिर उसी आश्रमपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की॥

ततः सिद्धिं परां प्राप्तो ब्राह्मणो राजसत्तम।
सम्मतश्चाभवत् तेषामाश्रमे तन्निवासिनाम्॥ ६६॥

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर परम सिद्धिको प्राप्त होकर वे ब्राह्मण देवता उस आश्रममें रहनेवाले समस्त साधकोंके लिये सम्माननीय हो गये॥ ६६॥

एवं प्राप्तो महत्कृच्छ्रमृषिः सन्नृपसत्तम।
ब्राह्मणेन न वक्तव्यं तस्माद् वर्णावरे जने॥ ६७॥

नृपशिरोमणे! इस प्रकार वे ऋषि शूद्रको उपदेश देनेके कारण महान् कष्टमें पड़ गये; इसलिये ब्राह्मणको चाहिये कि वह नीच वर्णके मनुष्यको उपदेश न दे॥ ६७॥

(वर्जयेदुपदेशं च सदैव ब्राह्मणो नृप।
उपदेशं हि कुर्वाणो द्विजः कृच्छ्रमवाप्नुयात्॥

नरेश्वर! ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी शूद्रको उपदेश न दे; क्योंकि उपदेश करनेवाला ब्राह्मण स्वयं ही संकटमें पड़ जाता है॥

नेषितव्यं सदा वाचा द्विजेन नृपसत्तम।
न च प्रवक्तव्यमिह किंचिद् वर्णावरे जने॥)

नृपश्रेष्ठ! ब्राह्मणको अपनी वाणीद्वारा कभी उपदेश देनेकी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। यदि करे भी तो नीच वर्णके पुरुषको तो कदापि कुछ उपदेश न दे॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
एतेषु कथयन् राजन् ब्राह्मणो न प्रदुष्यति॥ ६८॥

राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। इन्हें उपदेश देनेवाला ब्राह्मण दोषका भागी नहीं होता है॥ ६८॥

तस्मात् सद्भिर्न वक्तव्यं कस्यचित् किंचिदग्रतः।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः॥ ६९॥

इसलिये सत्पुरुषोंको कभी किसीके सामने कोई उपदेश नहीं देना चाहिये; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है। जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध एवं वशीभूत नहीं कर लिया है, उनके लिये धर्मकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है॥ ६९॥

तस्मान्मौनेन मुनयो दीक्षां कुर्वन्ति चादृताः।
दुरुक्तस्य भयाद् राजन् नाभाषन्ते च किंचन॥ ७०॥

राजन्! इसीलिये ऋषि-मुनि मौनभावमें ही आदरपूर्वक दीक्षा देते हैं। कोई अनुचित बात मुँहसे न निकल जाय, इसीके भयसे वे कोई भाषण नहीं देते हैं॥ ७०॥

धार्मिका गुणसम्पन्नाः सत्यार्जवसमन्विताः।
दुरुक्तवाचाभिहितैः प्राप्नुवन्तीह दुष्कृतम्॥ ७१॥

धार्मिक, गुणवान् तथा सत्य-सरलता आदि गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी शास्त्रविरुद्ध अनुचित वचन कह देनेके कारण यहाँ दुष्कर्मके भागी हो जाते हैं॥ ७१॥

उपदेशो न कर्तव्यः कदाचिदपि कस्यचित्।
उपदेशाद्धि तत् पापं ब्राह्मणः समवाप्नुयात्॥ ७२॥

ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी किसीको उपदेश न करे; क्योंकि उपदेश करनेसे वह शिष्यके पापको स्वयं ग्रहण करता है॥

विमृश्य तस्मात् प्राज्ञेन वक्तव्यं धर्ममिच्छता।
सत्यानृतेन हि कृत उपदेशो हिनस्ति हि॥ ७३॥

अतः धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् पुरुषको बहुत सोच-विचारकर बोलना चाहिये; क्योंकि साँच और झूठ-मिश्रित वाणीसे किया गया उपदेश हानिकारक होता है॥ ७३॥

वक्तव्यमिह पृष्टेन विनिश्चित्य विनिश्चयम्।
स चोपदेशः कर्तव्यो येन धर्ममवाप्नुयात्॥ ७४॥

यहाँ किसीके पूछनेपर बहुत सोच-विचारकर शास्त्रका जो सिद्धान्त हो, वही बताना चाहिये तथा उपदेश वह करना चाहिये, जिससे धर्मकी प्राप्ति हो॥ ७४॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमुपदेशकृते मया।
महान् क्लेशो हि भवति तस्मान्नोपदिशेदिह॥ ७५॥

उपदेशके सम्बन्धमें मैंने ये सब बातें तुम्हें बतायी हैं। अनधिकारीको उपदेश देनेसे महान् क्लेश प्राप्त होता है। इसलिये यहाँ किसीको उपदेश न दे॥ ७५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शूद्रमुनिसंवादे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शूद्र और मुनिका संवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७७ श्लोक हैं)

एकादशोऽध्यायः

लक्ष्मीके निवास करने और न करने योग्य पुरुष, स्त्री और स्थानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! भरतश्रेष्ठ! कैसे पुरुषमें और किस तरहकी स्त्रियोंमें लक्ष्मी नित्य निवास करती हैं? पितामह! यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंनिधौ पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें एक यथार्थ वृत्तान्तको मैंने जैसा सुना है, उसीके अनुसार तुम्हें बता रहा हूँ । देवकीनन्दन श्रीकृष्णके समीप रुक्मिणीदेवीने साक्षात् लक्ष्मीसे जो कुछ पूछा था, वह मुझसे सुनो ॥ २ ॥

नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं
दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम् ।
कौतूहलाद् विस्मितचारुनेत्रा
पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥

भगवान् नारायणके अङ्कमें बैठी हुई कमलके समान कान्तिवाली लक्ष्मीदेवीको अपनी प्रभासे प्रकाशित होती देख जिनके मनोहर नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे थे, उन प्रद्युम्नजननी रुक्मिणीदेवीने कौतूहलवश लक्ष्मीसे पूछा—॥ ३ ॥

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं
संतिष्ठसे कानिव सेवसे त्वम् ।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते
तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकन्ये ॥ ४ ॥

'महर्षि भृगुकी पुत्री तथा त्रिलोकीनाथ भगवान् नारायणकी प्रियतमे ! देवि ! तुम इस जगत्में किन प्राणियोंपर कृपा करके उनके यहाँ रहती हो ? कहाँ निवास करती हो और किन-किनका सेवन करती हो ? उन सबको मुझे यथार्थरूपसे बताओ' ॥ ४ ॥

एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा
देव्या समक्षं गरुडध्वजस्य ।
उवाच वाक्यं मधुराभिधानं
मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ ५ ॥

रुक्मिणीके इस प्रकार पूछनेपर चन्द्रमुखी लक्ष्मीदेवीने प्रसन्न होकर भगवान् गरुडध्वजके सामने ही मीठी वाणीमें यह वचन कहा ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोलीं—देवि ! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुषमें निवास करती हूँ, जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधनतत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुणसे युक्त हो ॥ ६ ॥

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥ ७ ॥

जो पुरुष अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुजनोंके दोष देखनेवाला हो, उसके भीतर मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ७ ॥

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ८ ॥

जिनमें तेज, बल, सत्त्व और गौरवकी मात्रा बहुत थोड़ी है, जो जहाँ-तहाँ हर बातमें खिन्न हो उठते हैं, जो मनमें दूसरा भाव रखते हैं और ऊपरसे कुछ और ही दिखाते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्
यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसंतोषपरेषु नित्यं
नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ९ ॥

जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता, जिसका अन्तःकरण मूढ़तासे आच्छन्न है, जो थोड़ेमें ही संतोष कर लेते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं भलीभाँति नित्य निवास नहीं करती हूँ ॥ ९ ॥

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते ।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे
क्षान्तासु दान्तासु तथाबलासु ॥ १० ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ।

जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले, क्षमाशील और सामर्थ्यशाली हैं, ऐसे पुरुषोंमें तथा क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय अबलाओंमें भी मैं निवास करती हूँ । जो स्त्रियाँ स्वभावतः सत्यवादिनी तथा सरलतासे संयुक्त हैं, जो देवताओं और द्विजोंकी पूजा करनेवाली हैं, उनमें भी मैं निवास करती हूँ ॥

(अवन्ध्यकालेषु सदा दानशौचरतेषु च ।
ब्रह्मचर्यतपोज्ञानगोद्विजातिप्रियेषु च ॥

जो अपने समयको कभी व्यर्थ नहीं जाने देते, सदा दान एवं शौचाचारमें तत्पर रहते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य, तपस्या, ज्ञान, गौ और द्विज परम प्रिय हैं, ऐसे पुरुषोंमें मैं निवास करती हूँ ॥

वसामि स्त्रीषु कान्तासु देवद्विजपरासु च ।
विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिरतासु च ॥)

जो स्त्रियाँ कमनीय गुणोंसे युक्त, देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें तत्पर, घरके बर्तन-भाँड़ोंको शुद्ध तथा स्वच्छ रखने-

वाली एवं गौओंकी सेवा तथा धान्यके संग्रहमें तत्पर होती हैं, उनमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्॥ ११ ॥
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो घरके बर्तनोंको सुव्यवस्थित रूपसे न रखकर इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पतिके प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जाको सर्वथा छोड़ बैठती हैं, उनको मैं त्याग देती हूँ ॥ ११½ ॥

पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ॥ १२ ॥
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचारमें तत्पर रहनेवाली, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय, नींदमें बेसुध होकर सदा खाटपर पड़ी रहनेवाली होती है, ऐसी नारीसे मैं सदा दूर ही रहती हूँ ॥ १२½ ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ॥ १३ ॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ।

जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषाके कारण देखनेमें प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, सद्गुणवती, पतिव्रता एवं कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १३½ ॥

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु
यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥ १४ ॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु
नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु ।
गजेषु गोष्ठेषु तथाऽऽसनेषु
सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥ १५ ॥

सुन्दर सवारियोंमें, कुमारी कन्याओंमें, आभूषणोंमें, यज्ञोंमें, वर्षा करनेवाले मेघोंमें, खिले हुए कमलोंमें, शरद् ऋतुकी नक्षत्र-मालाओंमें, हाथियों और गोशालाओंमें, सुन्दर आसनोंमें तथा खिले हुए उत्पल और कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १४-१५ ॥

नदीषु हंसस्वननादितासु
क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु
तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥ १६ ॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु
सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ।

जहाँ हंसोंकी मधुर ध्वनि गूँजती रहती है, क्रौञ्च पक्षीके कलरव जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, जो अपने तटोंपर फैले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे शोभायमान हैं, जिनके किनारे तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मण निवास करते हैं, जिनमें बहुत जल भरा रहता है तथा सिंह और हाथी जिनके जलमें अवगाहन करते रहते हैं, ऐसी नदियोंमें भी मैं सदा निवास करती रहती हूँ ॥

मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे
सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥ १७ ॥
यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम्॥ १८ ॥

मतवाले हाथी, साँड़, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषोंमें मेरा नित्य निवास है । जिस घरमें लोग अग्निमें आहुति देते हैं, गौ, ब्राह्मण तथा देवताओंकी पूजा करते हैं और समय-समयपर जहाँ फूलोंसे देवताओंको उपहार समर्पित किये जाते हैं, उस घरमें मैं नित्य निवास करती हूँ ॥ १७-१८ ॥

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥ १९ ॥

सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्म-परायण क्षत्रियों, कृषि कर्ममें लगे हुए वैश्यों तथा नित्य सेवा-परायण शूद्रोंके यहाँ भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १९ ॥

नारायणे त्वेकमना वसामि
सर्वेण भावेन शरीरभूता ।
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान् निविष्टो
ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम्॥ २० ॥

मैं मूर्तिमती एवं अनन्यचित्त होकर तो भगवान् नारायणमें ही सम्पूर्ण भावसे निवास करती हूँ; क्योंकि उनमें महान् धर्म संनिहित है । उनका ब्राह्मणोंके प्रति प्रेम है और उनमें स्वयं सर्वप्रिय होनेका गुण भी है ॥ २० ॥

नाहं शरीरेण वसामि देवि
नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन् निवसामि पुंसि
स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ॥ २१ ॥

देवि ! मैं नारायणके सिवा अन्यत्र शरीरसे नहीं निवास

करती हूँ। मैं यहाँ ऐसा नहीं कह सकती कि सर्वत्र इसी रूपमें रहती हूँ। जिस पुरुषमें भावनाद्वारा निवास करती हूँ, वह धर्म, यश, धन और कामसे सम्पन्न होकर सदा बढ़ता रहता है॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्रीरुक्मिणीसंवादे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लक्ष्मी और रुक्मिणीका संवादविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

कृतघ्नकी गति और प्रायश्चित्तका वर्णन तथा स्त्री-पुरुषके संयोगमें स्त्रीको ही अधिक सुख होनेके सम्बन्धमें भंगास्वनका उपाख्यान

(युधिष्ठिर उवाच

प्रायश्चित्तं कृतघ्नानां प्रतिब्रूहि पितामह।
मातापितॄन् गुरूंश्चैव येऽवमन्यन्ति मोहिताः॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो मोहवश माता-पिता तथा गुरुजनोंका अपमान करते हैं, उन कृतघ्नोंके लिये क्या प्रायश्चित्त है? यह बताइये॥

ये चाप्यन्ये परे तात कृतघ्ना निरपत्रपाः।
तेषां गतिं महाबाहो श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

तात! महाबाहो! दूसरे भी जो निर्लज्ज एवं कृतघ्न हैं, उनकी गति कैसी होती है? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ॥

भीष्म उवाच

कृतघ्नानां गतिस्तात नरके शाश्वतीः समाः।
मातापितृगुरूणां च ये न तिष्ठन्ति शासने॥
कृमिकीटपिपीलेषु जायन्ते स्थावरेषु च।
दुर्लभो हि पुनस्तेषां मानुष्ये पुनरुद्भवः॥

भीष्मजीने कहा—तात! कृतघ्नोंकी एक ही गति है, सदाके लिये नरकमें पड़े रहना। जो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी आज्ञाके अधीन नहीं रहते हैं, वे कृमि, कीट, पिपीलिका और वृक्ष आदिकी योनियोंमें जन्म लेते हैं। मनुष्य-योनिमें फिर जन्म होना उनके लिये दुर्लभ हो जाता है॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वत्सनाभो महाप्राज्ञो महर्षिः संशितव्रतः॥
वल्मीकभूतो ब्रह्मर्षिस्तप्यते सुमहत्तपः।

इस विषयमें जानकार मनुष्य इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं। वत्सनाभ नामवाले एक परम बुद्धिमान् महर्षि कठोर व्रतके पालनमें लगे थे। उनके शरीरपर दीमकोंने घर बना लिया था; अतः वे ब्रह्मर्षि बाँबीरूप हो गये थे और उसी अवस्थामें वे बड़ी भारी तपस्या करते थे॥

तस्मिंश्च तप्यति तपो वासवो भरतर्षभ॥
ववर्ष सुमहद् वर्षं सविद्युत्स्तनयित्नुमान्।

भरतश्रेष्ठ! उनके तप करते समय इन्द्रने बिजलीकी चमक और मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ बड़ी भारी वर्षा आरम्भ कर दी॥

तत्र सप्ताहवर्षं तु मुमुचे पाकशासनः।
निर्मीलिताक्षस्तद्वर्षं प्रत्यगृह्णीत वै द्विजः॥

पाकशासन इन्द्रने लगातार एक सप्ताहतक वहाँ जल बरसाया और वे ब्राह्मण वत्सनाभ आँख मूँदकर चुपचाप उस वर्षाका आघात सहन करते रहे॥

तस्मिन् पतति वर्षे तु शीतवातसमन्विते।
विशीर्णध्वस्तशिखरो वल्मीकोऽशनिताडितः॥

सर्दी और हवासे युक्त वह वर्षा हो ही रही थी कि बिजलीसे आहत हो उस वल्मीक (बाँबी) का शिखर टूटकर बिखर गया॥

ताड्यमाने ततस्तस्मिन् वत्सनाभे महात्मनि।
कारुण्यात् तस्य धर्मः स्वमानृशंस्यमथाकरोत्॥

अब महामना वत्सनाभपर उस वर्षाकी चोट पड़ने लगी। यह देख धर्मके हृदयमें करुणा भर आयी और उन्होंने वत्सनाभपर अपनी सहज दया प्रकट की॥

चिन्तयानस्य ब्रह्मर्षिं तपन्तमधिधार्मिकम्।
अनुरूपा मतिः क्षिप्रमुपजाता स्वभावजा॥

तपस्यामें लगे हुए उन अत्यन्त धार्मिक ब्रह्मर्षिकी चिन्ता करतेहुए धर्मके हृदयमें शीघ्र ही स्वाभाविक सुबुद्धिका उदय हुआ, जो उन्हींके अनुरूप थी॥

स्वं रूपं माहिषं कृत्वा सुमहान्तं मनोहरम्।
त्राणार्थं वत्सनाभस्य चतुष्पादुपरि स्थितः॥

वे विशाल और मनोहर भैंसेका-सा अपना स्वरूप बनाकर वत्सनाभकी रक्षाके लिये उनके चारों ओर अपने चारों पैर जमाकर उनके ऊपर खड़े हो गये॥

यदा त्वपगतं वर्षं शीतवातसमन्वितम्।
ततो महिषरूपी स धर्मो धर्मभृतां वर॥
शनैर्वल्मीकमुत्सृज्य प्राद्रवद् भरतर्षभ।
स्थितेऽस्मिन् वृष्टिसम्पाते रक्षितः स महातपाः॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण युधिष्ठिर! जब शीतल

हवासे युक्त वह वर्षा बंद हो गयी, तब भैंसेका रूप धारण करनेवाले धर्म धीरेसे उस वल्मीकको छोड़कर वहाँसे दूर खिसक गये। उस मुसलाधार वर्षामें महिषरूपधारी धर्मके खड़े हो जानेसे महातपस्वी वत्सनाभकी रक्षा हो गयी ॥

दिशः सुविपुलास्तत्र गिरीणां शिखराणि च ॥
दृष्ट्वा च पृथिवीं सर्वां सलिलेन परिप्लुताम्।
जलाशयान् स तान् दृष्ट्वा विप्रः प्रमुदितोऽभवत्॥

तदनन्तर वहाँ सुविस्तृत दिशाओं, पर्वतोंके शिखरों, जलमें डूबी हुई सारी पृथ्वी और जलाशयोंको देखकर ब्राह्मण वत्सनाभ बहुत प्रसन्न हुए ॥

अचिन्तयद् विस्मितश्च वर्षात् केनाभिरक्षितः।
ततोऽपश्यत् तं महिषमवस्थितमदूरतः॥

फिर वे विस्मित होकर सोचने लगे कि 'इस वर्षासे किसने मेरी रक्षा की है। इतनेहीमें पास ही खड़े हुए उस भैंसेपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥

तिर्यग्योनावपि कथं दृश्यते धर्मवत्सलः।
अतो नु भद्रं महिषः शिलापट्ट इव स्थितः।
पीवरश्चैव शूल्यश्च बहुमांसो भवेदयम्॥

'अहो! पशुयोनिमें पैदा होकर भी यह कैसा धर्मवत्सल दिखायी देता है? निश्चय ही यह भैंसा मेरे ऊपर शिलापट्टके समान खड़ा हो गया था। इसीलिये मेरा भला हुआ है। यह बड़ा मोटा और बहुत मांसल है' ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता धर्मसंसक्तिजा मुनेः।
कृतघ्ना नरकं यान्ति ये तु विश्वासघातिनः॥

तदनन्तर धर्ममें अनुराग होनेके कारण मुनिके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'जो विश्वासघाती एवं कृतघ्न मनुष्य हैं, वे नरकमें पड़ते हैं ॥

निष्कृतिं नैव पश्यामि कृतघ्नानां कथंचन।
ऋते प्राणपरित्यागं धर्मज्ञानां वचो यथा॥

'मैं प्राण-त्यागके सिवा कृतघ्नोंके उद्धारका दूसरा कोई उपाय किसी तरह नहीं देख पाता। धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन भी ऐसा ही है ॥

अकृत्वा भरणं पित्रोरदत्त्वा गुरुदक्षिणाम्।
कृतघ्नतां च सम्प्राप्य मरणान्ता च निष्कृतिः॥

'पिता-माताका भरण-पोषण न करके तथा गुरुदक्षिणा न देकर मैं कृतघ्नभावको प्राप्त हो गया हूँ। इस कृतघ्नताका प्रायश्चित्त है स्वेच्छासे मृत्युको वरण कर लेना ॥

आकाङ्क्षायामुपेक्षायां चोपपातकमुत्तमम्।
तस्मात् प्राणान् परित्यक्ष्ये प्रायश्चित्तार्थमित्युत॥

'अपने कृतघ्न जीवनकी आकाङ्क्षा और प्रायश्चित्तकी उपेक्षा करनेपर भी भारी उपपातक भी बढ़ता रहेगा। अतः मैं प्रायश्चित्तके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करूँगा' ॥

स मेरुशिखरं गत्वा निस्सङ्गेनान्तरात्मना।
प्रायश्चित्तं कर्तुकामः शरीरं त्यक्तुमुद्यतः॥
निगृहीतश्च धर्मात्मा हस्ते धर्मेण धर्मवित्॥

अनासक्त चित्तसे मेरु पर्वतके शिखरपर जाकर प्रायश्चित्त करनेकी इच्छासे अपने शरीरका त्याग दनेके लिये उद्यत हो गये। इसी समय धर्मने आकर उन धर्मज्ञ, धर्मात्मा वत्सनाभका हाथ पकड़ लिया ॥

धर्म उवाच

वत्सनाभ महाप्राज्ञ बहुवर्षशतायुषः।
परितुष्टोऽस्मि त्यागेन निःसङ्गेन तथाऽऽत्मनः॥

धर्मने कहा—महाप्राज्ञ वत्सनाभ! तुम्हारी आयु कई सौ वर्षोंकी है। तुम्हारे इस आसक्तिरहित आत्मत्यागके विचारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥

एवं धर्मभृतः सर्वे विमृशन्ति तथा कृतम्।
न स कश्चिद् वत्सनाभ यस्य नापहतं मनः॥
यश्चानवद्यश्चरति शक्तो धर्मं तु सर्वशः।
निवर्तस्व महाप्राज्ञ भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः॥)

इसी प्रकार सभी धर्मात्मा पुरुष अपने किये हुए कर्मकी आलोचना करते हैं। वत्सनाभ! जगत्में कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जिसका मन कभी दूषित न हुआ हो। जो मनुष्य निन्द्य कर्मोंसे दूर रहकर सब तरहसे धर्मका आचरण करता है, वही शक्तिशाली है। महाप्राज्ञ! अब तुम प्राणत्यागके संकल्पसे निवृत्त हो जाओ, क्योंकि तुम सनातन (अजर-अमर) आत्मा हो ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीपुंसयोः सम्प्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्।
एतस्मिन् संशये राजन् यथावद् वक्तुमर्हसि॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! स्त्री और पुरुषके संयोगमें विषयसुखकी अनुभूति किसको अधिक होती है (स्त्रीको या पुरुषको)? इस संशयके विषयमें आप यथावत्‌रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भंगास्वनेन शक्रस्य यथा वैरमभूत् पुरा॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें भी भङ्गास्वनके साथ इन्द्रका पहले जो बैर हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

पुरा भंगास्वनो नाम राजर्षिरतिधार्मिकः।
अपुत्रः पुरुषव्याघ्र पुत्रार्थं यज्ञमाहरत्॥ ३ ॥

पुरुषसिंह! पहलेकी बात है, भङ्गास्वन नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त धर्मात्मा राजर्षि पुत्रहीन होनेके कारण पुत्र-प्राप्तिके लिये यज्ञ करते थे ॥ ३ ॥

अग्निष्टुतं स राजर्षिरिन्द्रद्विष्टं महाबलः।
प्रायश्चित्तेषु मर्त्यानां पुत्रकामेषु चेष्यते॥ ४॥

उन महाबली राजर्षिने अग्निष्टुत नामक यज्ञका आयोजन किया था। उसमें इन्द्रकी प्रधानता न होनेके कारण इन्द्र उस यज्ञसे द्वेष रखते हैं। वह यज्ञ मनुष्योंके प्रायश्चित्तके अवसरपर अथवा पुत्रकी कामना होनेपर अभीष्ट मानकर किया जाता है॥ ४॥

इन्द्रो ज्ञात्वा तु तं यज्ञं महाभागः सुरेश्वरः।
अन्तरं तस्य राजर्षेरन्विच्छन्नियतात्मनः॥ ५॥

महाभाग देवराज इन्द्रको जब उस यज्ञकी बात मालूम हुई, तब वे मनको वशमें रखनेवाले राजर्षि भङ्गास्वनका छिद्र ढूँढ़ने लगे॥ ५॥

न चैवास्यान्तरं राजन् स ददर्श महात्मनः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य मृगयां गतवान् नृपः॥ ६॥

राजन्! बहुत ढूँढ़नेपर भी वे उस महामना नरेशका कोई छिद्र न देख सके। कुछ कालके अनन्तर राजा भङ्गास्वन शिकार खेलनेके लिये वनमें गये॥ ६॥

इदमन्तरमित्येव शक्रो नृपममोहयत्।
एकाश्वेन च राजर्षिर्भ्रान्त इन्द्रेण मोहितः॥ ७॥
न दिशोऽविन्दत नृपः क्षुत्पिपासार्दितस्तदा।
इतश्चेतश्च वै राजञ्श्रमतृष्णान्वितो नृप॥ ८॥

नरेश्वर! 'यही बदला लेनेका अवसर है' ऐसा निश्चय करके इन्द्रने राजाको मोहमें डाल दिया। इन्द्रद्वारा मोहित एवं भ्रान्त हुए राजर्षि भङ्गास्वन एकमात्र घोड़ेके साथ इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें दिशाओंका भी पता नहीं चलता था। वे भूख-प्याससे पीड़ित तथा परिश्रम और तृष्णासे विकल हो इधर-उधर घूमते रहे॥ ७-८॥

सरोऽपश्यत् सुरुचिरं पूर्णं परमवारिणा।
सोऽवगाह्य सरस्तात पाययामास वाजिनम्॥ ९॥

तात! घूमते-घूमते उन्होंने उत्तम जलसे भरा हुआ एक सुन्दर सरोवर देखा। उन्होंने घोड़ेको उस सरोवरमें स्नान कराकर पानी पिलाया॥ ९॥

अथ पीतोदकं सोऽश्वं वृक्षे बद्ध्वा नृपोत्तमः।
अवगाह्य ततः स्नातस्तत्र स्त्रीत्वमवाप्तवान्॥ १०॥

जब घोड़ा पानी पी चुका, तब उसे एक वृक्षमें बाँधकर वे श्रेष्ठ नरेश स्वयं भी जलमें उतरे। उसमें स्नान करते ही वे राजा स्त्रीभावको प्राप्त हो गये॥ १०॥

आत्मानं स्त्रीकृतं दृष्ट्वा व्रीडितो नृपसत्तमः।
चिन्तानुगतसर्वात्मा व्याकुलेन्द्रियचेतनः॥ ११॥

अपनेको स्त्रीरूपमें देखकर राजाको बड़ी लज्जा हुई। उनके सारे अन्तःकरणमें भारी चिन्ता व्याप्त हो गयी। उनकी इन्द्रियाँ और चेतना व्याकुल हो उठीं॥ ११॥

आरोहिष्ये कथं त्वश्वं कथं यास्यामि वै पुरम्।
इष्टेनाग्निष्टुता चापि पुत्राणां शतमौरसम्॥ १२॥
जातं महाबलानां मे तान् प्रवक्ष्यामि किं त्वहम्।
दारेषु चात्मकीयेषु पौरजानपदेषु च॥ १३॥

वे स्त्रीरूपमें इस प्रकार सोचने लगे, 'अब मैं कैसे घोड़ेपर चढ़ूँगी? कैसे नगरको जाऊँगी? मेरे अग्निष्टुत यज्ञके अनुष्ठानसे मुझे सौ महाबलवान् औरस पुत्र प्राप्त हुए हैं। उन सबसे क्या कहूँगी? अपनी स्त्रियों तथा नगर और जनपदके लोगोंमें कैसे जाऊँगी?॥ १२-१३॥

मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥ १४॥

'धर्मके तत्त्वको देखने और जाननेवाले ऋषियोंने मृदुता, कृशता और व्याकुलता—ये स्त्रीके गुण बताये हैं॥ १४॥

व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः।
पौरुषं विप्रणष्टं वै स्त्रीत्वं केनापि मेऽभवत्॥ १५॥

'परिश्रम करनेमें कठोरता और बल-पराक्रम—ये पुरुषके गुण हैं। मेरा पौरुष नष्ट हो गया और किसी अज्ञात कारणसे मुझमें स्त्रीत्व प्रकट हो गया॥ १५॥

स्त्रीभावात् पुनरश्वं तं कथमारोढुमुत्सहे।
महता त्वथ यत्नेन आरुह्याश्वं नराधिपः॥ १६॥
पुनरायात् पुरं तात स्त्रीकृतो नृपसत्तमः।

'अब स्त्रीभाव आ जानेसे उस अश्वपर कैसे चढ़ सकूँगी?' तात! किसी-किसी तरह महान् प्रयत्न करके वे स्त्रीरूपधारी नरेश घोड़ेपर चढ़कर अपने नगरमें आये॥ १६½॥

पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च पौरजानपदाश्च ते॥ १७॥
किंन्त्विदं त्विति विज्ञाय विस्मयं परमं गताः।

राजाके पुत्र, स्त्रियाँ, सेवक तथा नगर और जनपदके लोग, 'यह क्या हुआ?' ऐसी जिज्ञासा करते हुए बड़े आश्चर्यमें पड़ गये॥ १७½॥

अथोवाच स राजर्षिः स्त्रीभूतो वदतां वरः॥ १८॥
मृगयामस्मि निर्यातो बलैः परिवृतो दृढम्।
उद्भ्रान्तः प्राविशं घोरामटवीं दैवचोदितः॥ १९॥

तब स्त्रीरूपधारी, वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजर्षि भङ्गास्वन बोले—'मैं अपनी सेनासे घिरकर शिकार खेलनेके लिये निकला था; परंतु दैवकी प्रेरणासे भ्रान्तचित्त होकर एक भयानक वनमें जा घुसा॥ १८-१९॥

अटव्यां च सुघोरायां तृष्णार्तो नष्टचेतनः।
सरः सुरुचिरप्रख्यमपश्यं पक्षिभिर्वृतम्॥ २०॥

उस घोर वनमें प्याससे पीड़ित एवं अचेत-सा होकर मैंने एक सरोवर देखा, जो पक्षियोंसे घिरा हुआ और मनोहर शोभासे सम्पन्न था॥ २०॥

तत्रावगाढः स्त्रीभूतो दैवेनाहं कृतः पुरा।
नामगोत्राणि चाभाष्य दाराणां मन्त्रिणां तथा॥ २१॥

आह पुत्रांस्ततः सोऽथ स्त्रीभूतः पार्थिवोत्तमः।
सम्प्रीत्या भुज्यतां राज्यं वनं यास्यामि पुत्रकाः ॥ २२ ॥

उस सरोवरमें उतरकर स्नान करते ही दैवने मुझे स्त्री बना दिया। अपनी स्त्रियों और मन्त्रियोंके नाम-गोत्र बताकर उन स्त्रीरूपधारी श्रेष्ठ नरेशने अपने पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! तुमलोग आपसमें प्रेमपूर्वक रहकर राज्यका उपभोग करो। अब मैं वनको चला जाऊँगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा पुत्रशतं वनमेव जगाम ह।
गत्वा चैवाश्रमं सा तु तापसं प्रत्यपद्यत ॥ २३ ॥

अपने सौ पुत्रोंसे ऐसा कहकर राजा वनको चले गये। वह स्त्री किसी आश्रममें जाकर एक तापसके आश्रयमें रहने लगी ॥ २३ ॥

तापसेनास्य पुत्राणामाश्रमेष्वभवच्छतम्।
अथ साऽऽदाय तान् सर्वान् पूर्वपुत्रानभाषत॥ २४ ॥
पुरुषत्वे सुता यूयं स्त्रीत्वे चेमे शतं सुताः।
एकत्र भुज्यतां राज्यं भ्रातृभावेन पुत्रकाः ॥ २५ ॥

उस तपस्वीसे आश्रममें उसके सौ पुत्र हुए। तब वह रानी अपने उन पुत्रोंको लेकर पहलेवाले पुत्रोंके पास गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'पुत्रो! जब मैं पुरुषरूपमें थी, तब तुम मेरे सौ पुत्र हुए थे और जब स्त्रीरूपमें आयी हूँ, तब ये मेरे सौ पुत्र हुए हैं। तुम सब लोग एकत्र होकर साथ-साथ भ्रातृभावसे इस राज्यका उपभोग करो' ॥ २४-२५ ॥

सहिता भ्रातरस्तेऽथ राज्यं बुभुजिरे तदा।
तान् दृष्ट्वा भ्रातृभावेन भुञ्जानान् राज्यमुत्तमम्॥ २६ ॥
चिन्तयामास देवेन्द्रो मन्युनाथ परिप्लुतः।
उपकारोऽस्य राजर्षेः कृतो नापकृतं मया ॥ २७ ॥

तब वे सब भाई एक साथ होकर उस राज्यका उपभोग करने लगे। उन सबको भ्रातृभावसे एक साथ रहकर उस उत्तम राज्यका उपभोग करते देख क्रोधमें भरे हुए देवराज इन्द्रने सोचा कि मैंने तो इस राजर्षिका उपकार ही कर दिया, अपकार तो कुछ किया ही नहीं ॥ २६-२७ ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण देवराजः शतक्रतुः।
भेदयामास तान् गत्वा नगरं वै नृपात्मजान् ॥ २८ ॥

तब देवराज इन्द्रने ब्राह्मणका रूप धारण करके उस नगरमें जाकर उन राजकुमारोंमें फूट डाल दी ॥ २८ ॥

भ्रातॄणां नास्ति सौभ्रात्रं येष्वेकस्य पितुः सुताः।
राज्यहेतोर्विवदिताः कश्यपस्य सुरासुराः ॥ २९ ॥

वे बोले—'राजकुमारो! जो एक पिताके पुत्र हैं, ऐसे भाइयोंमें भी प्रायः उत्तम भ्रातृप्रेम नहीं रहता। देवता और असुर दोनों ही कश्यपजीके पुत्र हैं तथापि राज्यके लिये परस्पर विवाद करते रहते हैं ॥ २९ ॥

यूयं भङ्गास्वनापत्यास्तापसस्येतरे सुताः।
कश्यपस्य सुराश्चैव असुराश्च सुतास्तथा ॥ ३० ॥

'तुमलोग तो भङ्गास्वनके पुत्र हो और दूसरे सौ भाई एक तापसके लड़के हैं। फिर तुममें प्रेम कैसे रह सकता है? देवता और असुर तो कश्यपके ही पुत्र हैं, फिर भी उनमें प्रेम नहीं हो पाता है ॥ ३० ॥

युष्माकं पैतृकं राज्यं भुज्यते तापसात्मजैः।
इन्द्रेण भेदितास्ते तु युद्धेऽन्योन्यमपातयन् ॥ ३१ ॥

'तुमलोगोंका जो पैतृक राज्य है, उसे तापसके लड़के आकर भोग रहे हैं।' इस प्रकार इन्द्रके द्वारा फूट डालनेपर वे आपसमें लड़ पड़े। उन्होंने युद्धमें एक-दूसरेको मार गिराया ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा तापसी चापि संतप्ता प्ररुरोद ह।
ब्राह्मणच्छद्मनाभ्येत्य तामिन्द्रोऽथान्वपृच्छत॥ ३२ ॥

यह समाचार सुनकर तापसीको बड़ा दुःख हुआ। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय ब्राह्मणका वेश धारण करके इन्द्र उसके पास आये और पूछने लगे—॥ ३२ ॥

केन दुःखेन संतप्ता रोदिषि त्वं वरानने।
ब्राह्मणं तं ततो दृष्ट्वा सा स्त्री करुणमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुमुखि! तुम किस दुःखसे संतप्त होकर रो रही हो?' उस ब्राह्मणको देखकर वह स्त्री करुणस्वरमें बोली—॥ ३३॥

पुत्राणां द्वे शते ब्रह्मन् कालेन विनिपातिते।
अहं राजाभवं विप्र तत्र पूर्वं शतं मम ॥ ३४॥
समुत्पन्नं स्वरूपाणां पुत्राणां ब्राह्मणोत्तम।
कदाचिन्मृगयां यात उद्भ्रान्तो गहने वने ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन्! मेरे दो सौ पुत्र कालके द्वारा मारे गये। विप्रवर! मैं पहले राजा था। तब मेरे सौ पुत्र हुए थे। द्विजश्रेष्ठ! वे सभी मेरे अनुरूप थे। एक दिन मैं शिकार खेलनेके लिये गहन वनमें गया और वहाँ अकारण भ्रमित-सा होकर इधर-उधर भटकने लगा ॥ ३४-३५ ॥

अवगाढश्च सरसि स्त्रीभूतो ब्राह्मणोत्तम।
पुत्रान् राज्ये प्रतिष्ठाप्य वनमस्मि ततो गतः ॥ ३६ ॥

'ब्राह्मणशिरोमणे! वहाँ एक सरोवरमें स्नान करते ही मैं पुरुषसे स्त्री हो गया और पुत्रोंको राज्यपर बिठाकर वनमें चला गया ॥ ३६ ॥

स्त्रियाश्च मे पुत्रशतं तापसेन महात्मना।
आश्रमे जनितं ब्रह्मन् नीतं तन्नगरं मया ॥ ३७ ॥

'स्त्रीरूपमें आनेपर महामना तापसने इस आश्रममें मुझसे सौ पुत्र उत्पन्न किये। ब्रह्मन्! मैं उन सब पुत्रोंको नगरमें ले गयी और उन्हें भी राज्यपर प्रतिष्ठित करायी ॥ ३७ ॥

तेषां च वैरमुत्पन्नं कालयोगेन वै द्विज।
एतच्छोचाम्यहं ब्रह्मन् दैवेन समभिप्लुता ॥ ३८ ॥

'विप्रवर! कालकी प्रेरणासे उन सब पुत्रोंमें वैर उत्पन्न हो गया और वे आपसमें ही लड़-भिड़कर नष्ट हो गये। इस प्रकार दैवकी मारी हुई मैं शोकमें डूब रही हूँ' ॥ ३८ ॥

इन्द्रस्तां दुःखितां दृष्ट्वा अब्रवीत् परुषं वचः।
पुरा सुदुःसहं भद्रे मम दुःखं त्वया कृतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्रने उसे दुखी देख कठोर वाणीमें कहा--भद्रे ! जब पहले तुम राजा थीं, तब तुमने भी मुझे दुःसह दुःख दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रद्विष्टेन यजता मामनाहूय धिष्ठितम्।
इन्द्रोऽहमस्मि दुर्बुद्धे वैरं ते पातितं मया ॥ ४० ॥

'तुमने उस यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसका मुझसे वैर है। मेरा आवाहन न करके तुमने वह यज्ञ पूरा कर लिया। खोटी बुद्धिवाली स्त्री ! मैं वही इन्द्र हूँ और तुमसे मैंने ही अपने वैरका बदला लिया है' ॥ ४० ॥

इन्द्रं दृष्ट्वा तु राजर्षिः पादयोः शिरसा गतः।
प्रसीद त्रिदशश्रेष्ठ पुत्रकामेन स क्रतुः ॥ ४१ ॥
इष्टस्त्रिदशशार्दूल तत्र मे क्षन्तुमर्हसि।

इन्द्रको देखकर वे स्त्री रूपधारी राजर्षि उनके चरणोंमें सिर रखकर बोले—'सुरश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न हों। मैंने पुत्रकी इच्छासे वह यज्ञ किया था। देवेश्वर ! उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥ ४१½ ॥

प्रणिपातेन तस्येन्द्रः परितुष्टो वरं ददौ ॥ ४२ ॥
पुत्रास्ते कतमे राजन् जीवन्त्वेतत् प्रचक्ष्व मे।
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः पुरुषस्याथ येऽभवन् ॥ ४३ ॥

इनके इस प्रकार प्रणाम करनेपर इन्द्र संतुष्ट हो गये और वर देनेके लिये उद्यत होकर बोले—राजन् ! तुम्हारे कौन-से पुत्र जीवित हो जायँ ? तुमने स्त्री होकर जिन्हें उत्पन्न किया था, वे अथवा पुरुषावस्थामें जो तुमसे उत्पन्न हुए थे ?' ॥ ४२-४३॥

तापसी तु ततः शक्रमुवाच प्रयताञ्जलिः।
स्त्रीभूतस्य हि ये पुत्रास्ते मे जीवन्तु वासव ॥ ४४ ॥

तब तापसीने इन्द्रसे हाथ जोड़कर कहा--'देवेन्द्र ! स्त्रीरूप हो जानेपर मुझसे जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वे ही जीवित हो जायँ' ॥ ४४ ॥

इन्द्रस्तु विस्मितो दृष्ट्वा स्त्रियं पप्रच्छ तां पुनः।
पुरुषोत्पादिता ये ते कथं द्वेष्याः सुतास्तव ॥ ४५ ॥
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः स्नेहस्तेभ्योऽधिकः कथम्।
कारणं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ ४६ ॥

तब इन्द्रने विस्मित होकर उस स्त्रीसे पूछा---'तुमने पुरुषरूपसे जिन्हें उत्पन्न किया था, वे पुत्र तुम्हारे द्वेषके पात्र क्यों हो गये ? तथा स्त्रीरूप होकर तुमने जिनको जन्म दिया है, उनपर तुम्हारा अधिक स्नेह क्यों है ? मैं इसका कारण सुनना चाहता हूँ; तुम्हें मुझसे यह बताना चाहिये' ॥

स्त्र्युवाच

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।
तस्मात् ते शक्र जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै॥४७॥

स्त्रीने कहा—इन्द्र ! स्त्रीका अपने पुत्रोंपर अधिक स्नेह होता है, वैसा स्नेह पुरुषका नहीं होता है। अतः इन्द्र ! स्त्रीरूपमें आनेपर मुझसे जिनका जन्म हुआ है, वे ही जीवित हो जायँ ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततस्त्विन्द्रः प्रीतो वाक्यमुवाच ह।
सर्वे एवेह जीवन्तु पुत्रास्ते सत्यवादिनि ॥ ४८॥

भीष्मजी कहते हैं--राजन् ! तापसीके यों कहनेपर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले— 'सत्यवादिनि ! तुम्हारे सभी पुत्र जीवित हो जायँ ॥ ४८ ॥

वरं च वृणु राजेन्द्र यं त्वमिच्छसि सुव्रत।
पुरुषत्वमथ स्त्रीत्वं मत्तो यदभिकाङ्क्षते ॥ ४९ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र ! तुम मुझसे अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा वर भी माँग लो। बोलो, फिरसे पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही रहनेकी इच्छा है ? जो चाहो वह मुझसे ले लो' ॥ ४९ ॥

स्त्र्युवाच

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र पुंस्त्वं नेच्छामि वासव।
एवमुक्तस्तु देवेन्द्रस्तां स्त्रियं प्रत्युवाच ह ॥ ५० ॥

स्त्रीने कहा—इन्द्र ! मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ। वासव ! अब मैं पुरुष होना नहीं चाहती। उसके ऐसा कहनेपर देवराजने उस स्त्रीसे पूछा—॥ ५० ॥

पुरुषत्वं कथं त्यक्त्वा स्त्रीत्वं चोदयसे विभो।
एवमुक्तः प्रत्युवाच स्त्रीभूतो राजसत्तमः ॥ ५१ ॥

'प्रभो ! तुम्हें पुरुषत्वका त्याग करके स्त्री बने रहनेकी इच्छा क्यों होती है ?'

इन्द्रके यों पूछनेपर उन स्त्रीरूपधारी नृपश्रेष्ठने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५१ ॥

स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात् कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम् ॥ ५२॥

'देवेन्द्र ! स्त्रीका पुरुषके साथ संयोग होनेपर स्त्रीको ही पुरुषकी अपेक्षा अधिक विषयसुख प्राप्त होता है, इसी कारणसे मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ ॥ ५२ ॥

रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ॥ ५३ ॥

'देवश्रेष्ठ ! सुरेश्वर ! मैं सच कहती हूँ, स्त्रीरूपमें मैंने अधिक रति-सुखका अनुभव किया है, अतः स्त्रीरूपसे ही संतुष्ट हूँ। आप पधारिये' ॥ ५३ ॥

एवमस्त्विति चोक्त्वा तामापृच्छ्य त्रिदिवं गतः।

एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते ॥ ५४ ॥

महाराज ! तब 'एवमस्तु' कहकर उस तापसीसे विदा ले इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये । इस प्रकार स्त्रीको विषय-भोगमें पुरुषकी अपेक्षा अधिक सुख-प्राप्ति बतायी जाती है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भङ्गास्वनोपाख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भङ्गास्वनका उपाख्यानविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं)

त्रयोदशोऽध्यायः

शरीर, वाणी और मनसे होनेवाले पापोंके परित्यागका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! लोकयात्राका भलीभाँति निर्वाह करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये ? कैसा स्वभाव बनाकर किस प्रकार लोकमें जीवन बिताना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथांस्त्यजेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! शरीरसे तीन प्रकारके कर्म, वाणीसे चार प्रकारके कर्म और मनसे भी तीन प्रकारके कर्म—इस तरह कुल दस तरहके कर्मोंका त्याग कर दे ॥ २ ॥

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

दूसरोंके प्राणनाश करना, चोरी करना और परायी स्त्रीसे संसर्ग रखना—ये तीन शरीरसे होनेवाले पाप हैं । इन सबका परित्याग कर देना उचित है ॥ ३ ॥

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥ ४ ॥

मुँहसे बुरी बातें निकालना, कठोर बोलना, चुगली खाना और झूठ बोलना—ये चार वाणीसे होनेवाले पाप हैं । राजेन्द्र ! इन्हें न तो कभी जबानपर लाना चाहिये और न मनमें ही सोचना चाहिये ॥ ४ ॥

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥ ५ ॥

दूसरेके धनको लेनेका उपाय न सोचना, समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखना और कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, इस बातपर विश्वास रखना—ये तीन मनसे आचरण करने योग्य कार्य हैं । इन्हें सदा करना चाहिये । (इनके विपरीत दूसरोंके धनका लालच करना, समस्त प्राणियोंसे वैर रखना और कर्मोंके फलपर विश्वास न करना—ये तीन मानसिक पाप हैं—इनसे सदा बचे रहना चाहिये) ॥

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः ।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

इसलिये मनुष्यका कर्तव्य है कि वह मन, वाणी या शरीरसे कभी अशुभ कर्म न करे; क्योंकि वह शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ६ ॥

[ब्रह्माजीका देवताओंसे गरुड-कश्यप-संवादका प्रसंग सुनाना, गरुडजीका ऋषियोंके समाजमें नारायणकी महिमाके सम्बन्धमें अपना अनुभव सुनाना तथा इस प्रसंगके पाठ और श्रवणकी महिमा]

अमृतस्य समुत्पत्तौ देवानामसुरैः सह ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि देवासुरमवर्तत ॥

एक समय अमृतकी उत्पत्ति हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिये देवताओंका असुरोंके साथ साठ हजार वर्षोंतक युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्रामके नामसे प्रसिद्ध है ॥

तत्र देवास्तु दैतेयैर्वध्यन्ते भृशदारुणैः ।
त्रातारं नाधिगच्छन्ति वध्यमाना महासुरैः ॥

उस युद्धमें अत्यन्त भयंकर दैत्यों एवं बड़े-बड़े असुरोंकी मार खाकर देवता किसी रक्षकको नहीं पाते थे ॥

आर्तास्ते देवदेवेशं प्रपन्नाः शरणैषिणः ।
पितामहं महाप्राज्ञं वध्यमानाः सुरेतरैः ॥

दैत्योंद्वारा सताये जानेवाले देवता दुखी होकर अपने लिये आश्रय ढूँढ़ते हुए देवदेवेश्वर महाज्ञानी ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥

वैकुण्ठं शरणं देवं प्रतिपेदे च तैः सह ॥

तब ब्रह्माजी उन सबके साथ भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥

ततः स देवैः सहितः पद्मयोनिर्नरेश्वर ।
तुष्टाव प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणमनामयम् ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर देवताओंसहित कमलयोनि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर रोग-शोकसे रहित भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे ॥

ब्रह्मोवाच

त्वद्रूपचिन्तनान्नाम्नां स्मरणादर्चनादपि ।
तपोयोगादिभिश्चैव श्रेयो यान्ति मनीषिणः ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! आपके रूपका चिन्तन करनेसे, नामोंके स्मरण और जपसे, पूजनसे तथा तप और योग आदिसे मनीषी पुरुष कल्याणको प्राप्त होते हैं ॥

भक्तवत्सल पद्माक्ष परमेश्वर पापहन् ।
परमात्मविकाराद्य नारायण नमोऽस्तु ते ॥

भक्तवत्सल ! कमलनयन ! परमेश्वर ! पापहारी परमात्मन् ! निर्विकार ! आदिपुरुष ! नारायण ! आपको नमस्कार है ॥

नमस्ते सर्वलोकादे सर्वात्मामितविक्रम ।
सर्वभूतभविष्येश सर्वभूतमहेश्वर ॥

सम्पूर्ण लोकोंके आदिकारण ! सर्वात्मन् ! अमित पराक्रमी नारायण ! सम्पूर्ण भूत और भविष्यके स्वामी ! सर्वभूतमहेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

देवानामपि देवस्त्वं सर्वविद्यापरायणः ।
जगद्बीजसमाहार जगतः परमो ह्यसि ॥

प्रभो ! आप देवताओंके भी देवता और समस्त विद्याओंके परम आश्रय हैं । जगत्के जितने भी बीज हैं, उन सबका संग्रह करनेवाले आप ही हैं । आप ही जगत्के परम कारण हैं ॥

त्रायस्व देवता वीर दानवाद्यैः सुपीडिताः ।
लोकांश्च लोकपालांश्च ऋषींश्च जयतां वर ॥

वीर ! ये देवता दानव, दैत्य आदिसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं । आप इनकी रक्षा कीजिये । विजयशीलोंमें सबसे श्रेष्ठ नारायणदेव ! आप लोकों, लोकपालों तथा ऋषियोंका संरक्षण कीजिये ॥

वेदाः साङ्गोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः ।
सोङ्काराः सवषट्काराः प्राहुस्त्वां यज्ञमुत्तमम् ॥

सम्पूर्ण अङ्गों और उपनिषदोंसहित वेद, उनके रहस्य, संग्रह, ॐकार और वषट्कार आपहीको उत्तम यज्ञका स्वरूप बताते हैं ॥

पवित्राणां पवित्रं च मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
तपस्विनां तपश्चैव दैवतं देवतास्वपि ॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र, मङ्गलोंके भी मङ्गल, तपस्वियोंके तप और देवताओंके भी देवता हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमादिपुरस्कारैर्ऋक्सामयजुषां गणैः ।
वैकुण्ठं तुष्टुवुर्देवाः समेत्य ब्रह्मणा सह ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार ब्रह्मासहित देवताओंने एकत्र होकर ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति की ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीन्मेघगम्भीरनिःस्वना ।
जेष्यध्वं दानवान् यूयं मयैव सह सङ्गरे ॥

तब मेघके समान गम्भीर स्वरमें आकाशवाणी हुई—'देवताओ ! तुम युद्धमें मेरे साथ रहकर दानवोंको अवश्य जीत लोगे' ॥

ततो देवगणानां च दानवानां च युध्यताम् ।
प्रादुरासीन्महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ॥

तत्पश्चात् परस्पर युद्ध करनेवाले देवताओं और दानवोंके बीच शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी भगवान् विष्णु प्रकट हुए ॥

सुपर्णपृष्ठमास्थाय तेजसा प्रदहन्निव ।
व्यधमद् दानवान् सर्वान् बाहुद्रविणतेजसा ॥

उन्होंने गरुडकी पीठपर बैठकर तेजसे विरोधियोंको दग्ध करते हुए-से अपनी भुजाओंके तेज और वैभवसे समस्त दानवोंका संहार कर डाला ॥

तं समासाद्य समरे दैत्यदानवपुङ्गवाः ।
व्यनश्यन्त महाराज पतङ्गा इव पावकम् ॥

महाराज ! समरभूमिमें दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर भगवान्से टक्कर लेकर वैसे ही नष्ट हो गये, जैसे पतङ्गे आगमें कूदकर अपने प्राण दे देते हैं ॥

स विजित्यासुरान् सर्वान् दानवांश्च महामतिः ।
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥

परम बुद्धिमान् श्रीहरि समस्त असुरों और दानवोंको परास्त करके देवताओंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥

तं दृष्ट्वान्तर्हितं देवं विष्णुं देवामितद्युतिम् ।
विस्मयोत्फुल्लनयना ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥

अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुदेवको अदृश्य हुआ देख आश्चर्यसे चकित नेत्रवाले देवता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले— ॥

देवा ऊचुः

भगवन् सर्वलोकेश सर्वलोकपितामह ।
इदमत्यद्भुतं वृत्तं त्वं नः शंसितुमर्हसि ॥

देवताओंने पूछा—सर्वलोकेश्वर ! सम्पूर्ण जगत्के पितामह ! भगवन् ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त हमें बतानेकी कृपा करें ॥

कोऽयमस्मान् परित्राय तूष्णीमेव यथागतम् ।
प्रतिप्रयातो दिव्यात्मा तं नः शंसितुमर्हसि ॥

कौन दिव्यात्मा पुरुष हमारी रक्षा करके चुपचाप जैसे आया था, वैसे लौट गया ? यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्वचनं वचनार्थवित् ।
उवाच पद्मनाभस्य पूर्वरूपं प्रति प्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो ! सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर वचनके तात्पर्यको समझनेवाले ब्रह्माजीने भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के पूर्वरूपके विषयमें इस प्रकार कहा— ॥

ब्रह्मोवाच

न ह्येनं वेद तत्त्वेन भुवनं भुवनेश्वरम् ।
संख्यातुं नैव चात्मानं निर्गुणं गुणिनां वरम् ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! ये भगवान् सम्पूर्ण भुवनोंके अधीश्वर हैं । इन्हें जगत्का कोई भी प्राणी यथार्थरूपसे नहीं जानता । गुणवानोंमें श्रेष्ठ निर्गुण परमात्माकी महिमाका कोई पूर्णतः वर्णन नहीं कर सकता ॥

अत्र वो वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
सुपर्णस्य च संवादमृषीणां चापि देवताः ॥

देवगण ! इस विषयमें मैं तुमलोगोंको गरुड और ऋषियोंका संवादरूप प्राचीन इतिहास बता रहा हूँ ॥

पुरा ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धाश्च भुवनेश्वरम् ।
आश्रित्य हिमवत्पृष्ठे चक्रिरे विविधाः कथाः ॥

पूर्वकालकी बात है, हिमालयके शिखरपर ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जगदीश्वर श्रीहरिकी शरण ले उन्हींके विषयमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥

तेषां कथयतां तत्र कथान्ते पततां वरः ।
प्रादुरासीन्महातेजा वाहश्चक्रगदाभृतः ॥

उनकी बातचीत पूरी होते ही चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुके वाहन महातेजस्वी पक्षिराज गरुड वहाँ आ पहुँचे ॥

स तानृषीन् समासाद्य विनयावनताननः ।
अवतीर्य महावीर्यस्तानृषीनभिजग्मिवान् ॥

उन ऋषियोंके पास पहुँचकर महापराक्रमी गरुड नीचे उतर पड़े और विनयसे मस्तक झुकाकर उनके समीप गये ॥

अभ्यर्चितः स ऋषिभिः स्वागतेन महाबलः ।
उपाविशत तेजस्वी भूमौ वेगवतां वरः ॥

ऋषियोंने स्वागतपूर्वक वेगवानोंमें श्रेष्ठ महान् बलवान् एवं तेजस्वी गरुडका पूजन किया । उनसे पूजित होकर वे पृथ्वीपर बैठे ॥

तमासीनं महात्मानं वैनतेयं महाद्युतिम् ।
ऋषयः परिपप्रच्छुर्महात्मानं तपस्विनः ॥

बैठ जानेपर उन महाकाय, महामना और महातेजस्वी विनतानन्दन गरुडसे वहाँ बैठे हुए तपस्वी ऋषियोंने पूछा ॥

ऋषय ऊचुः

कौतूहलं वैनतेय परं नो हृदि वर्तते ।
तस्य नान्योऽस्ति वक्तेह त्वामृते पन्नगाशन ॥
तदाख्यातमिहेच्छामो भवता प्रश्नमुत्तमम् ।

ऋषि बोले--विनतानन्दन गरुड ! हमारे हृदयमें एक प्रश्नको लेकर बड़ा कौतूहल उत्पन्न हो गया है । उसका समाधान करनेवाला यहाँ आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, अतः हम आपके द्वारा अपने उस उत्तम प्रश्नका विवेचन कराना चाहते हैं ॥

गरुड उवाच

किं मया ब्रूत वक्तव्यं कार्यं च वदतां वराः ॥
यूयं हि मां यथायुक्तं सर्वे वै देष्टुमर्हथ ।

गरुड बोले--वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो ! मेरे द्वारा किस विषयमें आप प्रवचन कराना चाहते हैं ? यह बताइये । आप मुझे सभी यथोचित कार्योंके लिये आज्ञा दे सकते हैं ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्कृत्वा ह्यनन्ताय ततस्ते हृदि सत्तमाः ।
प्रष्टुं प्रचक्रमुस्तत्र वैनतेयं महाबलम् ॥

ब्रह्माजी कहते हैं--देवताओ ! तदनन्तर उन श्रेष्ठतम ऋषियोंने अन्तरहित भगवान् नारायणको नमस्कार करके महाबली गरुडसे वहाँ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥

ऋषय ऊचुः

देवदेवं महात्मानं नारायणमनामयम् ।
भवानुपास्ते वरदं कुतोऽसौ कश्च तत्त्वतः ॥

ऋषि बोले--विनतानन्दन ! जिस रोग-शोकसे रहित वरदायक देवाधिदेव महात्मा नारायणकी आप उपासना करते हैं, उनका प्राकट्य कहाँसे हुआ है ? तथा वे वास्तवमें कौन हैं ? ॥

प्रकृतिर्विकृतिर्वास्य कीदृशी क नु संस्थितिः ।
एतद् भवन्तं पृच्छामो देवोऽयं क कृतालयः ॥

उनकी प्रकृति अथवा विकृति कैसी है ? उनकी स्थिति कहाँ है ? तथा वे नारायणदेव कहाँ अपना घर बनाये हुए हैं ? ये सब बातें हमलोग आपसे पूछते हैं ॥

एष भक्तप्रियो देवः प्रियभक्तस्तथैव च ।
त्वं प्रियश्चास्य भक्तश्च नान्यः काश्यप विद्यते ॥

कश्यपकुमार ! ये भगवान् नारायण भक्तोंके प्रिय हैं तथा भक्त भी उन्हें बहुत प्रिय हैं और आप भी उनके प्रिय एवं भक्त हैं । आपके समान दूसरा कोई उन्हें प्रिय नहीं है ॥

मुष्णन्निव मनश्चक्षूंष्यविभाव्यतनुर्विभुः ।
अनादिमध्यनिधनो न विद्मेनं कुतो ह्यसौ ॥

उनका विग्रह इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य नहीं है । वे सबके मन और नेत्रोंको मानो चुराये लेते हैं । उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है । हम इनके विषयमें यह नहीं समझ पाते कि ये कहाँसे प्रकट हुए हैं ? ॥

वेदेष्वपि च विश्वात्मा गीयते न च विद्महे ।
तत्त्वतस्तत्त्वभूतात्मा विभुर्नित्यः सनातनः ॥

वेदोंमें भी विश्वात्मा कहकर इनकी महिमाका गान किया गया है, परंतु हम यह नहीं जानते कि वे तत्त्वभूतस्वरूप नित्य सनातन प्रभु वस्तुतः कैसे हैं ? ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
गुणाश्चैषां यथासंख्यं भावाभावौ तथैव च ॥
तमः सत्त्वं रजश्चैव भावाश्चैव तदात्मकाः ।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च बुद्धिगम्यानि तत्त्वतः ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच भूत; क्रमशः इन भूतोंके गुण; भाव-अभाव; सत्त्व, रज, तम, सात्त्विक, राजस और तामस भाव; मन, बुद्धि और तेज—ये वास्तवमें बुद्धिगम्य हैं ॥

जायन्ते तात तस्माद्धि तिष्ठते तेष्वसौ विभुः ।
संचिन्त्य बहुधा बुद्ध्या नाध्यवस्यामहे परम् ॥

तस्य देवस्य तत्त्वेन तन्नः शंस यथातथम् ।

तात ! ये सब उन्हीं श्रीहरिसे उत्पन्न होते हैं और वे भगवान् इन सबमें व्यापकरूपसे स्थित हैं । हम उनके विषयमें अपनी बुद्धिके द्वारा नाना प्रकारसे विचार करते हैं तथापि किसी उत्तम निश्चयपर नहीं पहुँच पाते, अतः आप यथार्थ रूपसे हमें उनका तत्त्व बताइये ॥

सुपर्ण उवाच

स्थूलतो यस्तु भगवांस्तेनैव स्वेन हेतुना ।
त्रैलोक्यस्य तु रक्षार्थं दृश्यते रूपमास्थितः ॥

गरुडजीने कहा—महात्माओ ! जो स्थूलस्वरूप भगवान् हैं, वे तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये उसी कारणभूत अपने स्वरूपसे लोगोंको दृष्टिगोचर होते हैं ॥

मया तु महदाश्चर्यं पुरा दृष्टं सनातने ।
देवे श्रीवत्सनिलये तच्छृणुध्वमशेषतः ।

मैंने पूर्वकालमें श्रीवत्सचिह्नके आश्रयभूत सनातनदेव श्रीहरिके विषयमें जो महान् आश्चर्यकी बात देखी है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

न स शक्यो मया वेत्तुं न भवद्भिः कथंचन ॥
यथा मां प्राह भगवांस्तथा तच्छ्रूयतां मम ।

मैं या आपलोग कोई भी किसी तरह भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकते । भगवान्‌ने स्वयं ही अपने विषयमें मुझसे जो कुछ जैसा कहा है, वह उसी रूपमें सुनिये ॥

मयामृतं देवतानां मिषतामृषिसत्तमाः ॥
हृतं विपाट्य तं यन्त्रं विद्राव्यामृतरक्षिणः ।
देवता विमुखीकृत्य सेन्द्राः समरुतो मृधे ॥
तं दृष्ट्वा मम विक्रान्तं वागुवाचाशरीरिणी ।

मुनिश्रेष्ठगण ! मैंने देवताओंके देखते-देखते उनके रक्षा-यन्त्रको विदीर्ण करके अमृतके रक्षकोंको खदेड़कर युद्धमें इन्द्र और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको पराजित करके शीघ्र ही अमृतका अपहरण कर लिया । मेरे उस पराक्रमको देखकर आकाशवाणीने कहा ॥

अशरीरिणी वागुवाच

प्रीतोऽस्मि ते वैनतेय कर्मणानेन सुव्रत ।
अनृथा तेऽस्तु मद्वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥

आकाशवाणी बोली—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले विनतानन्दन ! मैं तुम्हारे इस पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ । मेरी यह वाणी व्यर्थ नहीं जानी चाहिये; इसलिये बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? ॥

सुपर्ण उवाच

तामेवंवादिनीं वाचमहं प्रत्युक्तवांस्तदा ।
ज्ञातुमिच्छामि कस्त्वं हि ततो मे दास्यसे वरम् ॥

गरुड कहते हैं—ऋषिगण ! आकाशवाणीकी ऐसी बात सुनकर मैंने उस समय यों उत्तर दिया—'पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? फिर मुझे वर दीजियेगा' ॥

ततो जलदगम्भीरं प्रहस्य गदतां वरः ।
उवाच वरदः प्रीतः काले त्वं माभिवेत्स्यसि ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ वरदायक भगवान्‌ने बड़े जोरसे हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें प्रसन्नतापूर्वक कहा—'समय आनेपर मेरे विषयमें तुम सब कुछ जान लोगे ॥

वाहनं भव मे साधु वरं दद्मि तवोत्तमम् ।
न ते वीर्येण सदृशः कश्चिल्लोके भविष्यति ॥
पतङ्ग पततां श्रेष्ठ न देवो नापि दानवः ।
मत्सखित्वमनुप्राप्तो दुर्धर्षश्च भविष्यसि ॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! मैं तुम्हें यह उत्तम वर देता हूँ कि देवता हो या दानव, कोई भी इस संसारमें तुम्हारे समान पराक्रमी न होगा । तुम मेरे अच्छे वाहन हो जाओ, मेरे सखा-भावको प्राप्त होनेके कारण तुम सदा दुर्जय बने रहोगे' ॥

तमब्रवं देवदेवं मामेवं वादिनं परम् ।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रणम्य शिरसा विभुम् ॥

तब मैंने हाथ जोड़ पवित्र हो उपर्युक्त बात कहनेवाले सर्वव्यापी देवाधिदेव भगवान् परम पुरुषको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥

एवमेतन्महाबाहो सर्वमेतद् भविष्यति ।
वाहनं ते भविष्यामि यथा वदति मां भवान् ॥
ध्वजस्तेऽहं भविष्यामि रथस्थस्य न संशयः ।

'महाबाहो ! आपका यह कथन ठीक है । यह सब कुछ आपकी आज्ञाके अनुसार ही होगा । आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, उसके अनुसार मैं आपका वाहन अवश्य होऊँगा । आप रथपर विराजमान होंगे, उस समय मैं आपकी ध्वजापर स्थित रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥

तथास्त्विति स मामुक्त्वा यथाभिप्रायतो गतः ॥

तब भगवान्‌ने मुझसे 'तथास्तु' कहकर वे अपनी इच्छाके अनुसार चले गये ॥

ततोऽहं कृतसंवादस्तेन केनापि सत्तमाः ।
कौतूहलसमाविष्टः पितरं काश्यपं गतः ॥

साधुशिरोमणियो ! तदनन्तर उन अनिर्वचनीय देवतासे वार्तालाप करके मैं कौतूहलवश अपने पिता कश्यपजीके पास गया ॥

सोऽहं पितरमासाद्य प्रणिपत्याभिवाद्य च ।
सर्वमेतद् यथातथ्यमुक्तवान् पितुरन्तिके ॥

पिताके पास पहुँचकर मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और यह सारा वृत्तान्त उनसे यथावत्‌रूपसे कह सुनाया ॥

श्रुत्वा तु भगवान् मह्यं ध्यानमेवान्वपद्यत ।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मामाह वदतां वरः ॥

यह सुनकर मेरे पूज्यपाद पिताने ध्यान लगाया। दो घड़ीतक ध्यान करके वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनि मुझसे बोले—॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यत् त्वं तेन महात्मना।
संवादं कृतवांस्तात गुह्येन परमात्मना ॥

'तात ! मैं धन्य हूँ, भगवान्‌की कृपाका पात्र हूँ, जिसके पुत्र होकर तुमने उन महामनस्वी गुह्य परमात्मासे वार्तालाप कर लिया ॥

मया हि स महातेजा नान्ययोगसमाधिना।
तपसोग्रेण तेजस्वी तोषितस्तपसां निधिः ॥

'मैंने अनन्यभावसे मनको एकाग्र करके उग्र तपस्याद्वारा उन महातेजस्वी तपस्याकी निधिरूप (प्रतापी) श्रीहरिको संतुष्ट किया था ॥

ततो मे दर्शयामास तोषयन्निव पुत्रक।
श्वेतपीतारुणनिभः कद्रूकपिलपिङ्गलः ॥

'बेटा ! तब मुझे संतुष्ट करते हुए-से भगवान् श्रीहरिने मुझे दर्शन दिया। उनके विभिन्न अङ्गोंकी कान्ति श्वेत, पीत, अरुण, भूरी, कपिश और पिङ्गल वर्णकी थी ॥

रक्तनीलासितनिभः सहस्रोदरपाणिमान्।
द्विसाहस्रमहावक्त्र एकाक्षः शतलोचनः ॥

'वे लाल, नीले और काले-जैसे भी दीखते थे। उनके सहस्रों उदर और हाथ थे। उनके महान् मुख दो सहस्रकी संख्यामें दिखायी देते थे। वे एक नेत्र तथा सौ नेत्रोंसे युक्त थे ॥

समासाद्य तु तं विश्वमहं मूर्ध्ना प्रणम्य च।
ऋग्यजुःसामभिः स्तुत्वा शरण्यं शरणं गतः ॥

'उन विश्वात्माको निकट पाकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और ऋक्, यजुः तथा साम-मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके मैं उन शरणागतवत्सल देवकी शरणमें गया ॥

तेन त्वं कृतसंवादः स्वतः सर्वहितैषिणा।
विश्वरूपेण देवेन पुरुषेण महात्मना ॥
तमेवाराधय क्षिप्रं तमाराध्य न सीदसि।

'बेटा गरुड ! सबका हित चाहनेवाले उन विश्वरूपधारी अन्तर्यामी परमात्मदेवसे तुमने वार्तालाप किया है; अतः शीघ्र उन्हींकी आराधना करो। उनकी आराधना करके तुम कभी कष्टमें नहीं पड़ोगे' ॥

सोऽहमेवं भगवता पित्रा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥
अनुनीतो यथान्यायं स्वमेव भवनं गतः।
सोऽहमामन्त्र्य पितरं तद्भावगतमानसः ॥
स्वमेवालयमासाद्य तमेवार्थमचिन्तयम्।

ब्रह्मर्षिशिरोमणियो ! इस प्रकार अपने पूज्य पिताके यथोचितरूपसे समझानेपर मैं अपने घरको गया। पितासे विदा ले अपने घर आकर मैं उन्हीं परमात्माके ध्यानमें मन लगाकर उन्हींका चिन्तन करने लगा ॥

तद्भावगतभावात्मा तद्भूतगतमानसः ॥
गोविन्दं चिन्तयन्नास्से शाश्वतं परमव्ययम्।

मेरा भावभक्तिसे युक्त मन उन्हींकी भावनामें लगा हुआ था। मेरा चित्त उनका चिन्तन करते-करते तदाकार हो गया था। इस प्रकार मैं उन सनातन अविनाशी परम पुरुष गोविन्दके चिन्तनमें तत्पर हो बैठा रहा ॥

धृतं बभूव हृदयं नारायणदिदृक्षया ॥
सोऽहं वेगं समास्थाय मनोमारुतवेगवान्।
रम्यां विशालां बदरीं गतो नारायणाश्रमम् ॥

ऐसा करनेसे मेरा हृदय नारायणके दर्शनकी इच्छासे स्थिर हो गया और मैं मन एवं वायुके समान वेगशाली हो महान् वेगका आश्रय ले रमणीय बदरीविशाल तीर्थमें भगवान् नारायणके आश्रमपर जा पहुँचा ॥

ततस्तत्र हरिं दृष्ट्वा जगतः प्रभवं विभुम्।
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं प्रणतः शिरसा हरिम् ॥
ऋग्यजुःसामभिश्चैनं तुष्टाव परया मुदा।

तदनन्तर वहाँ जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत सर्वव्यापी कमलनयन श्रीगोविन्द हरिका दर्शन करके मैं उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और बड़ी प्रसन्नताके साथ ऋक्, यजुः एवं साममन्त्रोंके द्वारा उनका स्तवन किया ॥

सोऽहं प्रपन्नः शरणं देवदेवं सनातनम्।
प्राञ्जलिर्मनसा भूत्वा वाक्यमेतत् तदोक्तवान् ॥

तब मैं मन-ही-मन उन सनातन देवदेवकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥

भगवन् भूतभव्येश भवद्भूतकृदव्यय।
शरणं सम्प्रपन्नं मां त्रातुमर्हस्यरिंदम ॥

'भगवन् ! भूत और भविष्यके स्वामी, वर्तमान भूतोंके निर्माता, शत्रुदमन, अविनाशी ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें ॥

अहं तु तत्त्वजिज्ञासुः कोऽसि कस्यासि कुत्र वा।
सम्प्राप्तः पदवीं देव स मां संत्रातुमर्हसि ॥

'मैं तो 'आप कौन हैं, किसके हैं और कहाँ रहते हैं ?' इस बातको तत्त्वसे जाननेकी इच्छा रखकर आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। देव ! आप मेरी रक्षा करें' ॥

श्रीभगवानुवाच

मम त्वं विदितः सौम्य यथावत् तत्त्वदर्शने।
ज्ञापितश्चापि यत् पित्रा तच्चापि विदितं महत् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सौम्य ! तुम यथावत्‌रूपसे मेरे तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये सचेष्ट होओ। यह बात मुझे पहलेसे ही विदित है। तुम्हारे पिताने तुम्हें मेरे विषयमें जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सब कुछ मुझे ज्ञात है ॥

वैनतेय न कस्यापि अहं वेद्यः कथंचन।
मां हि विन्दन्ति विद्वांसो ये ज्ञाने परिनिष्ठिताः॥

विनतानन्दन ! किसीको भी किसी तरह मेरे स्वरूपका पूर्णतः ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञाननिष्ठ विद्वान् ही मेरे विषयमें कुछ जान पाते हैं॥

निर्ममा निरहङ्कारा निराशीर्बन्धनायुताः।
भवांस्तु सततं भक्तो मन्मनाः पक्षिसत्तम॥
स्थूलं मां वेत्स्यसे तस्माज्जगतः कारणे स्थितम्।

जो ममता और अहंकारसे रहित तथा कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे ही मुझे जान पाते हैं। पक्षिप्रवर ! तुम मेरे भक्त हो और सदा ही मुझमें मन लगाये रखते हो। इसलिये जगत्के कारणरूपमें स्थित मेरे स्थूलस्वरूपका बोध प्राप्त करोगे॥

सुपर्ण उवाच

एवं दत्ताभयस्तेन ततोऽहमृषिसत्तमाः।
नष्टखेदश्रमभयः क्षणेन ह्यभवं तदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषिशिरोमणियो ! इस प्रकार भगवान्के अभय देनेपर क्षणभरमें मेरे खेद, श्रम और भय सब नष्ट हो गये॥

स शनैर्याति भगवान् गत्या लघुपराक्रमः।
अहं तु सुमहावेगमास्थायानुव्रजामि तम्॥

उस समय शीघ्रगामी भगवान् अपनी गतिसे धीरे-धीरे चल रहे थे और मैं महान् वेगका आश्रय लेकर उनका अनुसरण करता था॥

स गत्वा दीर्घमध्वानमाकाशममितद्युतिः।
मनसाप्यगमं देशमाससादात्मतत्त्ववित्॥

वे अमित तेजस्वी एवं आत्मतत्त्वके ज्ञाता भगवान् श्रीहरि आकाशमें बहुत दूरतकका मार्ग तै करके ऐसे देशमें जा पहुँचे, जो मनके लिये भी अगम्य था॥

अथ देवः समासाद्य मनसः सदृशं जवम्।
मोहयित्वा च मां तत्र क्षणेनान्तरधीयत॥

तदनन्तर भगवान् मनके समान वेगको अपनाकर मुझे मोहित करके वहीं क्षणभरमें अदृश्य हो गये॥

तत्राम्बुधरधीरेण भोःशब्देनानुनादिना।
अयं भोऽहमिति प्राह वाक्यं वाक्यविशारदः॥

वहाँ मेघके समान धीर-गम्भीर स्वरमें उच्चारित 'भो' शब्दके द्वारा बोलनेमें कुशल भगवान् इस प्रकार बोले—'हे गरुड ! यह मैं हूँ'॥

शब्दानुसारी तु ततस्तं देशमहमाव्रजम्।
तत्रापश्यं ततश्चाहं श्रीमद्धंसयुतं सरः॥

मैं उसी शब्दका अनुसरण करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा। वहाँ मैंने एक सुन्दर सरोवर देखा, जिसमें बहुत-से हंस शोभा पा रहे थे॥

स तत्सरः समासाद्य भगवानात्मवित्तमः।
भोःशब्दप्रतिसृष्टेन स्वरेणाप्रतिवादिना॥
विवेश देवः स्वां योनिं मामिदं चाभ्यभाषत।

आत्मतत्त्वके ज्ञाताओंमें सर्वोत्तम भगवान् नारायण उस सरोवरके पास पहुँचकर 'भो' शब्दसे युक्त अनुपम गम्भीर स्वरसे मुझे पुकारते हुए अपने शयन-स्थान जलमें प्रविष्ट हो गये और मुझसे इस प्रकार बोले॥

श्रीभगवानुवाच

विशस्व सलिलं सौम्य सुखमत्र वसामहे।

श्रीभगवान्ने कहा—सौम्य ! तुम भी जलमें प्रवेश करो। हम दोनों वहाँ सुखसे रहेंगे॥

सुपर्ण उवाच

ततश्च प्रविशं तत्र सह तेन महात्मना।
दृष्टवानद्भुततरं तस्मिन् सरसि भास्वताम्॥
अग्नीनां सुप्रणीतानामिद्धानामिन्धनैर्विना।
दीप्तानामाज्यसिक्तानां स्थानेष्वर्चिष्मतां सदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषियो तब मैं उन महात्मा श्रीहरिके साथ उस सरोवरमें घुसा। वहाँ मैंने अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखा। भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विधिपूर्वक स्थापित की हुई प्रज्वलित अग्नियाँ बिना ईंधनके ही जल रही थीं और घीकी आहुति पाकर उद्दीप्त हो उठी थीं॥

दीप्तिस्तेषामनाज्यानां प्राप्ताज्यानामिवाभवत्।
अनिद्धानामिव सतामिद्धानामिव भास्वताम्॥

घी न मिलनेपर भी उन अग्नियोंकी दीप्ति घीकी आहुति पायी हुई अग्नियोंके समान थी और बिना ईंधनके भी ईंधनयुक्त आगके तुल्य उनकी प्रभा प्रकाशित होती रहती थी॥

अथाहं वरदं देवं नापश्यं तत्र सङ्गतम्।

वहाँ जानेपर भी उन वरदायक देवता नारायणदेवका मुझे दर्शन न हो सका॥

तेषां तत्राग्निहोत्राणामीडितानां सहस्रशः॥
समीपे त्वद्भुततममपश्यमहमव्ययम्॥

सहस्रों स्थानोंमें प्रशंसित होनेवाले उन अग्निहोत्रोंके समीप मैंने उन अद्भुत एवं अविनाशी श्रीहरिको ढूँढ़ना आरम्भ किया॥

एषु चाग्निसमीपेषु शुश्राव सुपदाक्षराः॥
प्रभावान्तरितानां तु प्रस्पष्टाक्षरभाषिणाम्।
ऋग्यजुःसामगानां च मधुराः सुस्वरा गिरः॥

इन अग्नियोंके समीप अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण करनेवाले तथा अपने प्रभावसे अदृश्य रहनेवाले, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके विद्वानोंकी सुस्वर मधुर वाणी मैंने सुनी। उनके पद और अक्षर बहुत सुन्दर ढंगसे उच्चारित हो रहे थे॥

तान्यनेकसहस्राणि परीयंस्तु महाजवात्।
अपश्यमानस्तं देवं ततोऽहं व्यथितोऽभवम्॥

मैं बड़े वेगसे वहाँके हजारों घरोंमें घूम आया; परंतु कहीं भी अपने उन आराध्यदेवको न देख सका, इससे मुझे बड़ी व्यथा हुई ॥

ततस्तेष्वग्निहोत्रेषु ज्वलत्सु विमलार्चिषु ।
भानुमत्सु न पश्यामि देवदेवं सनातनम् ॥
ततोऽहं तानि दीप्तानि परीय व्यथितेन्द्रियः ।
नान्तं तेषां प्रपश्यामि येनाहमिह चोदितः ॥

निर्मल ज्वालाओंसे युक्त वे अग्निहोत्र पूर्ववत् प्रकाशित हो रहे थे। उनके समीप भी मुझे कहीं सनातन देवाधिदेव श्रीहरि नहीं दिखायी दिये। तब मैं उन प्रदीप्त अग्निहोत्रोंकी परिक्रमा करते-करते थक गया। मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं; परंतु उनका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया। जिन भगवान्ने मुझे यहाँ आनेके लिये प्रेरित किया था, उनका दर्शन नहीं हो सका ॥

एवं चिन्तासमापन्नः प्रध्यातुमुपचक्रमे ।
विनयावनतो भूत्वा नमश्चक्रे महात्मने ॥
अनादिनिधनायैभिर्नामभिः परमात्मने ।

इस तरह चिन्तामें पड़कर मैं भगवान्का ध्यान करने लगा; एवं विनयसे नतमस्तक होकर मैंने निम्नाङ्कित नामों-द्वारा आदि-अन्तसे रहित परमात्मा महामनस्वी नारायण-की वन्दना आरम्भ की—॥

नारायणाय शुद्धाय शाश्वताय ध्रुवाय च ॥
भूतभव्यभवेशाय शिवाय शिवमूर्तये ।
शिवयोनेः शिवाद्याय शिवपूज्यतमाय च ॥

'जो शुद्ध, सनातन, ध्रुव, भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी, शिवस्वरूप और मङ्गलमूर्ति हैं, कल्याणके उत्पत्तिस्थान हैं, शिवके भी आदिकारण तथा भगवान् शिवके भी परम पूजनीय हैं, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

घोररूपाय महते युगान्तकरणाय च ।
विश्वाय विश्वदेवाय विश्वेशाय महात्मने ॥

'जो कल्पका अन्त करनेके लिये अत्यन्त घोर रूप धारण करते हैं, जो विश्वरूप, विश्वदेव, विश्वेश्वर एवं परमात्मा हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सहस्रोदरपादाय सहस्रनयनाय च ।
सहस्रबाहवे चैव सहस्रवदनाय च ॥

'जिनके सहस्रों उदर, सहस्रों पैर और सहस्रों नेत्र हैं, जो सहस्रों भुजाओं और सहस्रों मुखोंसे सुशोभित हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शुचिश्रवाय महते ऋतुसंवत्सराय च ।
ऋग्यजुःसामवक्त्राय अथर्वशिरसे नमः ॥

'जिनका यश पवित्र है, जो महान् तथा ऋतु एवं संवत्सररूप हैं, ऋक्, यजुः और सामवेद जिनके मुख हैं तथा अथर्ववेद जिनका सिर है, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

हृषीकेशाय कृष्णाय द्रुहिणोरुक्रमाय च ।
ब्रह्मेन्द्रकाय तार्क्ष्याय वराहायैकशृङ्गिणे ॥

'जो हृषीकेश (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता), कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप), द्रुहिण (ब्रह्मा), ऊरुक्रम (बहुत बड़े डग भरनेवाले त्रिविक्रम), ब्रह्मा एवं इन्द्ररूप, गरुड-स्वरूप तथा एक सींगवाले वराहरूपधारी हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शिपिविष्टाय सत्याय हरयेऽथ शिखण्डिने ।
हुतायोर्ध्वाय वक्त्राय रौद्रानीकाय साधवे ॥
सिन्धवे सिन्धुवर्षघ्ने देवानां सिन्धवे नमः ।

'जो शिपिविष्ट (तेजसे व्याप्त), सत्य, हरि और शिखण्डी (मोरपंखधारी श्रीकृष्ण) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं, जो हुत (हविष्यको ग्रहण करनेवाले अग्निरूप), ऊर्ध्वमुख, रुद्रकी सेना, साधु, सिन्धु, समुद्रमें वर्षाका हनन करनेवाले तथा देव-सिन्धु (गङ्गास्वरूप) हैं, उन भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥

गरुत्मते त्रिनेत्राय सुधामाय वृषावृषे ॥
सम्राडुग्रे संकृतये विरजे सम्भवे भवे ।

'जो गरुडरूपधारी, तीन नेत्रोंसे युक्त (रुद्ररूप), उत्तम धामवाले, वृषावृष, धर्मपालक, सबके सम्राट्, उग्ररूप-धारी, उत्तम कृतिवाले, रजोगुणरहित, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा भवरूप हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वृषाय वृषरूपाय विभवे भूर्भुवाय च ॥
दीप्तसृष्टाय यज्ञाय स्थिराय स्थविराय च ।

'जो वृष (अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले), वृषरूप (धर्मस्वरूप), विभु (व्यापक) तथा भूर्लोक और भुवर्लोक-मय हैं, जो तेजस्वी पुरुषोंद्वारा सम्पादित यज्ञरूप हैं, स्थिर हैं और स्थविररूप (वृद्ध) हैं, उन भगवान्को नमस्कार है ॥

अच्युताय तुषाराय वीराय च समाय च ॥
जिष्णवे पुरुहूताय वशिष्ठाय वराय च ।

'जो अपनी महिमासे कभी च्युत नहीं होते, हिमके समान शीतल हैं, जिनमें वीरत्व है, जो सर्वत्र समभावसे स्थित हैं, विजयशील हैं, जिन्हें बहुत लोग पुकारते हैं अथवा जो इन्द्र-रूप हैं तथा जो सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ हैं, उन भगवान्को नमस्कार है ॥

सत्येशाय सुरेशाय हरयेऽथ शिखण्डिने ॥
बर्हिषाय वरेण्याय वसवे विश्ववेधसे ।

'जो सत्य और देवताओंके स्वामी हैं, हरि (श्यामसुन्दर) और शिखण्डी (मोरमुकुटधारी) हैं, जो कुशापर बैठनेवाले सर्वश्रेष्ठ वसुरूप हैं, उन विश्वस्रष्टा भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

किरीटिने सुकेशाय वासुदेवाय शुष्मिणे ॥
बृहदुक्थसुषेणाय युग्ये दुन्दुभये तथा ।

'जो किरीटधारी, सुन्दर केशोंसे सुशोभित तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णरूप हैं, बृहदुक्थ साम जिनका स्वरूप है, जो सुन्दर सेनासे युक्त हैं, जुएका भार सँभालनेवाले वृषभ-

रूप हैं तथा दुन्दुभि नामक वाद्यविशेष हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है ॥

भवेसखाय विभवे भरद्वाजाभयाय च ॥
भास्कराय वरेन्द्राय पद्मनाभाय भूरिणे ।

'जो इस जगत्‌में जीवमात्रके सखा हैं, व्यापकरूप हैं, भरद्वाजको अभय देनेवाले हैं, सूर्यरूपसे प्रभाका विस्तार करनेवाले हैं, श्रेष्ठ पुरुषोंके स्वामी हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है और जो महान् हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पुनर्वसुभृतत्वाय जीवप्रभविषाय च ॥
वषट्‌काराय स्वाहायै स्वधायै निधनाय च ।
ऋचे च यजुषे साम्ने त्रैलोक्यपतये नमः ॥

'जो पुनर्वसु नामक नक्षत्रसे पालित और जीवमात्रकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वषट्‌कार, स्वाहा, स्वधा और निधन—ये जिनके ही नाम और रूप हैं तथा जो ऋक्, यजुष्, सामवेदस्वरूप हैं और त्रिलोकीके अधिपति हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

श्रीपद्मायात्मसदृशे धरणे धारणे परे ।
सौम्याय सौम्यरूपाय सौम्ये सुमनसे नमः ॥

'जो शोभाशाली कमलको हाथमें लिये रहते हैं, जो अपने समान स्वयं ही हैं, जो धारण करने और करानेवाले परम पुरुष हैं, जो सौम्य, सौम्य रूपधारी तथा सौम्य एवं सुन्दर मनवाले हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

विश्वाय च सुविश्वाय विश्वरूपधराय च ।
केशवाय सुकेशाय रश्मिकेशाय भूरिणे ॥

'जो विश्वरूप, सुन्दर विश्वके निर्माता तथा विश्वरूपधारी हैं, जो केशव, सुन्दर केशोंसे युक्त, किरणरूपी केशवाले और अधिक बलशाली हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

हिरण्यगर्भाय नमः सौम्याय वृषरूपिणे ।
नारायणाग्र्यवपुषे पुरुहूताय वज्रिणे ॥
धर्मिणे वृषसेनाय धर्मसेनाय रोधसे ।

'जो हिरण्यगर्भ, सौम्य, वृषरूपधारी, नारायण, श्रेष्ठ शरीरधारी, पुरुहूत (इन्द्र) तथा वज्र धारण करनेवाले हैं, जो धर्मात्मा, वृषसेन, धर्मसेन तथा तटरूप हैं, उन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है ॥

मुनये ज्वरमुक्ताय ज्वराधिपतये नमः ॥
अनेत्राय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय विड्मिणे ।

'जो मननशील मुनि, ज्वर आदि रोगोंसे मुक्त तथा ज्वरके अधिपति हैं, जिनके नेत्र नहीं हैं अथवा जिनके तीन नेत्र हैं, जो पिङ्गलवर्णवाले तथा प्रजारूपी लहरोंकी उत्पत्तिके लिये महासागरके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

तपोब्रह्मनिधानाय युगपर्यायिणे नमः ॥
शरणाय शरण्याय शक्तेष्टशरणाय च ।
नमः सर्वभवेशाय भूतभव्यभवाय च ॥

'जो तप और वेदकी निधि हैं, बारी-बारीसे युगोंका परिवर्तन करनेवाले हैं, सबके शरणदाता, शरणागतवत्सल और शक्तिशाली पुरुषके लिये अभीष्ट आश्रय हैं, सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर एवं भूत, वर्तमान और भविष्यरूप हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पाहि मां देवदेवेश कोऽप्यजोऽसि सनातन ।
एवं गतोऽस्मि शरणं शरण्यं ब्रह्मयोनिनाम् ॥

'देवदेवेश्वर ! आप मेरी रक्षा करें । सनातन परमात्मन् ! आप कोई अनिर्वचनीय अजन्मा पुरुष हैं, ब्राह्मणोंके शरणदाता हैं; मैं इस संकटमें पड़कर आपकी ही शरण लेता हूँ' ॥

स्तव्यं स्तवं स्तुतवतस्तत् तमो मे प्रणश्यत ।
शृणोमि च गिरं दिव्यामन्तर्धानगतां शिवाम् ।

इस प्रकार स्तवनीय परमेश्वरकी स्तुति करते ही मेरा वह सारा दुःख नष्ट हो गया । तत्पश्चात् मुझे किसी अदृश्य शक्तिके द्वारा कही हुई यह मङ्गलमयी दिव्य वाणी सुनायी दी ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्गरुत्मन् दान्तोऽसि पुनः सेन्द्रान् दिवौकसः ॥
स्वं चैव भवनं गत्वा द्रक्ष्यसे पुत्रबान्धवान् ।

श्रीभगवान् बोले—गरुड ! तुम डरो मत । तुमने मन और इन्द्रियोंको जीत लिया है । अब तुम पुनः इन्द्र आदि देवताओंके सहित अपने घरमें जाकर पुत्रों और भाई-बन्धुओंको देखोगे ॥

सुपर्ण उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणेनैव सहसैव महाद्युतिः ॥
प्रत्यदृश्यत तेजस्वी पुरस्तात् स ममान्तिके ।

गरुडजी कहते हैं—मुनियो ! तदनन्तर उसी क्षण वे परम कान्तिमान् तेजस्वी नारायण सहसा मेरे सामने अत्यन्त निकट दिखायी दिये ॥

समागम्य ततस्तेन शिवेन परमात्मना ॥
अपश्यं चाहमायान्तं नरनारायणाश्रमे ।
चतुर्द्विगुणविन्यासं तं च देवं सनातनम् ॥

तब उन मङ्गलमय परमात्मासे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर मैंने देखा, वे आठ भुजाओंवाले सनातनदेव पुनः नर-नारायणके आश्रमकी ओर आ रहे हैं ॥

यजतस्तानृषीन् देवान् वदतो ध्यायतो मुनीन् ।
युक्तान् सिद्धान् नैष्ठिकांश्च जपतो यजतो गृहीन् ॥

वहाँ मैंने देखा, ऋषि यज्ञ कर रहे हैं, देवता बातें कर रहे हैं, मुनिलोग ध्यानमें मग्न हैं, योगयुक्त सिद्ध और नैष्ठिक ब्रह्मचारी जप करते हैं तथा गृहस्थलोग यज्ञोंके अनुष्ठानमें संलग्न हैं ॥

पुष्पपूरपरिक्षिप्तं धूपितं दीपितं हितम् ।
वन्दितं सिक्तसम्मृष्टं नरनारायणाश्रमम् ॥

नर-नारायणका आश्रम धूपसे सुगन्धित और दीपसे प्रकाशित हो रहा था। वहाँ चारों ओर ढेर-के-ढेर फूल बिखरे हुए थे। वह आश्रम सबके लिये हितकर एवं सत्पुरुषोंद्वारा वन्दित था। झाड़-बुहारकर स्वच्छ बनाया और सींचा गया था॥

तदद्भुतमहं दृष्ट्वा विस्मितोऽस्मि तदानघाः।
जगाम शिरसा देवं प्रयतेनान्तरात्मना॥

निष्पाप मुनियो! उस अद्भुत दृश्यको देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ और मैंने पवित्र एवं एकाग्र हृदयसे मस्तक झुकाकर उन भगवान्‌की शरण ली॥

तदत्यद्भुतसंकाशं किमेतदिति चिन्तयन्।
नाध्यगच्छं परं दिव्यं तस्य सर्वभवात्मनः॥

वह सब अद्भुत-सा दृश्य क्या था, यह बहुत सोचनेपर भी मेरी समझमें नहीं आया। सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन परमात्माके परम दिव्य भावको मैं नहीं समझ सका॥

प्रणिपत्य सुदुर्धर्षं पुनः पुनरुदीक्ष्य च।
शिरस्यञ्जलिमाधाय विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥
अवोचं तमदीनार्थं श्रेष्ठानां श्रेष्ठमुत्तमम्।

उन दुर्जय परमात्माको बारंबार प्रणाम करके उनकी ओर देखकर मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और मैंने मस्तकपर अञ्जलि बाँधे उन श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी सर्वश्रेष्ठ एवं उदार पुरुषोत्तमसे कहा—॥

नमस्ते भगवन् देव भूतभव्यभवत्प्रभो॥
यदेतदद्भुतं देव मया दृष्टं त्वदाश्रयम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं किं तच्छंसितुमर्हसि॥

'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् नारायण-देव! आपको नमस्कार है। देव! मैंने आपके आश्रित जो यह अद्भुत दृश्य देखा है, इसका कहीं आदि, मध्य और अन्त नहीं है। वह सब क्या है, यह बतानेकी कृपा करें॥

यदि जानासि मां भक्तं यदि वानुग्रहो मयि।
शंस सर्वमशेषेण श्रोतव्यं यदि चेन्मया॥

'यदि आप मुझे अपना भक्त समझते हैं अथवा यदि आपका मुझपर अनुग्रह है तो यह सब यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो पूर्णरूपसे बताइये॥

स्वभावस्तव दुर्ज्ञेयः प्रादुर्भावोऽभवस्य च।
भवद्भूतभविष्येश सर्वथा गहनो भवान्॥

'आपका स्वभाव दुर्ज्ञेय है। आप अजन्मा परमेश्वरका प्रादुर्भाव भी समझमें आना कठिन है। भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी नारायण! आप सर्वथा गहन (अगम्य) हैं॥

ब्रूहि सर्वमशेषेण तदाश्चर्यं महामुने।
किं तदत्यद्भुतं वृत्तं तेष्वग्निषु समन्ततः॥

'महामुने! वह सारा आश्चर्यजनक एवं अद्भुत वृत्तान्त, जो उन अग्नियोंके चारों ओर देखा गया, क्या था? यह पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें॥

कानि तान्यग्निहोत्राणि केषां शब्दः श्रुतो मया।
शृण्वतां ब्रह्म सततमदृश्यानां महात्मनाम्॥

'वे अग्निहोत्र कौन थे? निरन्तर वेदोंका श्रवण और पाठ करनेवाले वे अदृश्य महात्मा कौन थे, जिनका शब्दमात्र मैंने सुना था?॥

एतन्मे भगवन् कृष्ण ब्रूहि सर्वमशेषतः।
गृणन्त्यग्निसमीपेषु के च ते ब्रह्मराशयः॥

'भगवान् श्रीकृष्ण! यह सब आप पूर्णरूपसे मुझे बताइये। जो लोग अग्निके समीप वेदोंका पारायण कर रहे थे, वे ब्राह्मणसमूह महात्मा कौन थे?'॥

श्रीभगवानुवाच

मां न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
विदुस्तत्त्वेन तत्त्वस्थं सूक्ष्मात्मानमवस्थितम्॥

श्रीभगवान् बोले—गरुड! मुझे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस ही तत्त्वसे जानते हैं। मैं सम्पूर्ण तत्त्वोंमें उनके सूक्ष्म आत्मारूपसे अवस्थित हूँ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा लोकानां हितकाम्यया।
भूतभव्यभविष्यादिरनादिर्विश्वकृत्तमः॥

लोकोंके हितकी कामनासे मैंने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त कर रक्खा है। मैं भूत, वर्तमान और भविष्यका आदि हूँ। मेरा आदि कोई नहीं है। मैं ही सबसे बड़ा विश्वस्रष्टा हूँ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
प्रकृतिर्विकृतिश्चेति विद्याविद्ये शुभाशुभे।
मत्त एतानि जायन्ते नाहमेभ्यः कथंचन॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, बुद्धि, तेज (अहंकार), सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, प्रकृति, विकृति, विद्या, अविद्या तथा शुभ और अशुभ—ये सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। मैं इनसे किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होता॥

यत् किंचिच्छ्रेयसा युक्तः श्रेष्ठभावं व्यवस्यति।
धर्मयुक्तं च पुण्यं च सोऽहमस्मि निरामयः॥

मनुष्य कल्याणभावनासे युक्त हो जिस-किसी पवित्र, धर्मयुक्त एवं श्रेष्ठ भावका निश्चय करता है, वह सब मैं निरामय परमेश्वर ही हूँ॥

यः स्वभावात्मतत्त्वज्ञैः कारणैरुपलक्ष्यते।
अनादिमध्यनिधनः सोऽन्तरात्मास्मि शाश्वतः॥

स्वभाव एवं आत्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष विभिन्न हेतुओंद्वारा जिसका साक्षात्कार करते हैं, वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित सर्वान्तरात्मा सनातन पुरुष मैं ही हूँ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं रूपं सूक्ष्मार्थदर्शिभिः।
गृह्यते सूक्ष्मभावज्ञैः स विभाव्योऽस्मि शाश्वतः॥

सूक्ष्म अर्थको देखने और समझनेवाले तथा सूक्ष्मभावको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष मेरे जिस परम गुह्य रूपको ग्रहण करते हैं, वह चिन्तनीय सनातन परमात्मा मैं ही हूँ ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं येन व्याप्तमिदं जगत् ।
सोऽहं गतः सर्वसत्त्वः सर्वस्य प्रभवोऽव्ययः ॥

जो मेरा परम गुह्य रूप है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह सर्वसत्त्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सबका अविनाशी कारण हूँ ॥

मत्तो जातानि भूतानि मया धार्यन्त्यहर्निशम् ।
मय्येव विलयं यान्ति प्रलये पन्नगाशन ॥

गरुड ! सम्पूर्ण भूत प्राणी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मेरे ही द्वारा वे अहर्निश जीवन धारण करते हैं और प्रलयके समय सब-के-सब मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥

यो मां यथा वेदयति तस्य तस्यास्मि काश्यप ।
मनोबुद्धिगतः श्रेयो विदधामि विहङ्गम ॥

काश्यप ! जो मुझे जैसा जानता है, उसके लिये मैं वैसा ही हूँ । विहङ्गम ! मैं सभीके मन और बुद्धिमें रहकर सबका कल्याण करता हूँ ॥

मां तु ज्ञातुं कृता बुद्धिर्भवता पक्षिसत्तम ।
शृणु योऽहं यतश्चाहं यदर्थं चाहमुद्यतः ॥

पक्षिप्रवर ! तुमने मेरे तत्त्वको जाननेका विचार किया था; अतः मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? और किस उद्देश्य-की सिद्धिके लिये उद्यत हुआ हूँ ? यह सब बताता हूँ, सुनो ॥

ये केचिन्नियतात्मानस्त्रेताग्निपरमा द्विजाः ।
अग्निकार्यपरा नित्यं जपहोमपरायणाः ॥
आत्मन्यग्नीन् समाधाय नियता नियतेन्द्रियाः ।
अनन्यमनसस्ते मां सर्वे वै समुपासते ॥
यजन्तो जपयज्ञैर्मां मानसैश्च सुसंयताः ।
अग्नीनभ्युद्ययुः शश्वदग्निष्वेवाभिसंस्थिताः ॥
अनन्यकार्याः शुचयो नित्यमग्निपरायणाः ।
य एवंबुद्धयो धीरास्ते मां गच्छन्ति तादृशाः ॥

जो कोई ब्राह्मण अपने मनको वशमें करके त्रिविध अग्नियोंकी उपासना करते हैं, नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जप-होममें संलग्न हैं, जो नियमपूर्वक रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके अपने-आपमें ही अग्नियोंका आधान कर लेते हैं तथा सब-के-सब अनन्यचित्त होकर मेरी ही उपासना करते हैं, जो अपनेको पूर्ण संयममें रखकर जप, यज्ञ और मानसयज्ञों-द्वारा मेरी आराधना करते हैं, जो सदा अग्निहोत्रमें ही तत्पर रहकर अग्नियोंका स्वागत करते हैं तथा अन्य कार्यमें रत न होकर शुद्धभावसे सदा अग्निकी परिचर्या करते हैं; ऐसी बुद्धिवाले धीर पुरुष वैसे भक्तिभावसे सम्पन्न होते हैं, वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥

अकामहतसंकल्पा ज्ञाने नित्यं समाहिताः ।
आत्मन्यग्नीन् समाधाय निराहारा निराशिषः ॥
विषयेषु निरारम्भा विमुक्ता ज्ञानचक्षुषः ।
अनन्यमनसो धीराः स्वभावनियमान्विताः ॥

जिन्होंने निष्कामभावके द्वारा अपने सारे संकल्पोंको नष्ट कर दिया है, जो सदा ज्ञानमें ही चित्तको एकाग्र किये रहते हैं और अग्नियोंको अपने आत्मामें ही स्थापित करके आहार (भोग) और कामनाओंका त्याग कर देते हैं, विषयों-की उपलब्धिके लिये जिनकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जो सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हैं, वे स्वभावतः नियमपरायण एवं अनन्यचित्तसे मेरा चिन्तन करनेवाले धीर पुरुष मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

यत् तद् वियति दृष्टं तत् सरः पद्मोत्पलायुतम् ।
तत्राग्नयः संनिहिता दीप्यन्ते स्म निरिन्धनाः ॥

तुमने जो आकाशमें कमल और उत्पलसे भरा हुआ सुन्दर सरोवर देखा था, उसके समीप स्थापित हुई अग्नियाँ बिना ईंधनके ही प्रज्वलित होती हैं ॥

ज्ञानामलाशयास्तस्मिन् ये च चन्द्रांशुनिर्मलाः ।
उपासीना गृणन्तोऽग्निं प्रस्पष्टाक्षरभाषिणः ॥
आकाङ्क्षमाणाः शुचयस्तेष्वग्निषु विहङ्गम ।

जिनके अन्तःकरण ज्ञानके प्रकाशसे निर्मल हो गये हैं, जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल हैं, वे ही वहाँ स्पष्ट अक्षरका उच्चारण करते हुए वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक अग्निकी उपासना करते हैं । विहङ्गम ! वे पवित्रभावसे रहकर उन अग्नियोंकी परिचर्याकी ही इच्छा रखते हैं ॥

ये मया भावितात्मानो मय्येवाभिरताः सदा ॥
उपासते च मामेव ज्योतिर्भूता निरामयाः ।
तैर्हि तत्रैव वस्तव्यं नीरागात्मभिरच्युतैः ॥

मेरा चिन्तन करनेके कारण जिनका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, जो सदा मेरी ही उपासनामें रत हैं, वे ही वहाँ रोग-शोकसे रहित एवं ज्योतिःस्वरूप होकर मेरी ही उपासना किया करते हैं । वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होकर वीतराग हृदयसे सदा वहीं निवास करेंगे ॥

निराहारा ह्यनिष्यन्दाश्चन्द्रांशुसदृशप्रभाः ।
निर्मला निरहंकारा निरालम्बा निराशिषः ॥
मद्भक्ताः सततं ते वै भक्तस्तानपि चाप्यहम् ।

उनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है । वे निराहार, श्रमविन्दुओंसे रहित, निर्मल, अहंकारशून्य, आलम्बनरहित और निष्काम हैं । उनकी सदा मुझमें भक्ति बनी रहती है तथा मैं भी उनका भक्त (प्रेमी) बना रहता हूँ ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा चरामि जगतो हितः ॥
लोकानां धारणार्थाय विधानं विदधामि च ।

यथावत्तदशेषेण श्रोतुमर्हति मे भवान् ॥

मैं अपनेको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके जगत्‌के हित-साधनमें तत्पर हो विचरता रहता हूँ। सम्पूर्ण लोक जीवित एवं सुरक्षित रहें, इसके लिये मैं विधान बनाता हूँ। वह सब तुम यथार्थरूपसे सुननेके अधिकारी हो ॥

एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या योगं परममास्थिता ।
द्वितीया सृजते तात भूतग्रामं चराचरम् ॥

तात ! मेरी एक निर्गुण मूर्ति है, जो परम योगका आश्रय लेकर रहती है। दूसरी वह मूर्ति है, जो चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करती है ॥

सृष्टं संहरते चैका जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
जातात्मनिष्ठा क्षपयन् मोहयन्निव मायया ॥

तीसरी मूर्ति स्थावर-जङ्गम जगत्‌का संहार करती है और चौथी मूर्ति आत्मनिष्ठ है, जो आसुरी शक्तियोंको मायासे मोहित-सी करके उन्हें नष्ट कर देती है ॥

क्षिपन्ती मोहयन्ती च ह्यात्मनिष्ठा स्वमायया ।
चतुर्थी मे महामूर्तिर्जगद्वृद्धिं ददाति सा ॥
रक्षते चापि नियता सोऽहमस्मि नभश्चर ।

अपनी मायासे दुष्टोंको मोहित और नष्ट करनेवाली जो मेरी चौथी आत्मनिष्ठ महामूर्ति है, वह नियमपूर्वक रहकर जगत्‌की वृद्धि और रक्षा करती है। गरुड ! वही मैं हूँ ॥

मया सर्वमिदं व्याप्तं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
अहं सर्वजगद्बीजं सर्वत्रगतिरव्ययः ।

मैंने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है। सारा जगत् मुझमें ही प्रतिष्ठित है। मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌का बीज हूँ। मेरी सर्वत्र गति है और मैं अविनाशी हूँ ॥

यानि तान्यग्निहोत्राणि ये च चन्द्रांशुराशयः ।
गृणन्ति वेद सततं तेष्वग्निषु विहङ्गम ॥
क्रमेण मां समायान्ति सुखिनो ज्ञानसंयुताः ।
तेषामहं तपो दीप्तं तेजः सम्यक् समाहितम् ।
नित्यं ते मयि वर्तन्ते तेषु चाहमतन्द्रितः ॥

विहङ्गम ! वे जो अग्निहोत्र थे तथा जो चन्द्रमाकी किरणोंके पुञ्ज-जैसी कान्तिवाले पुरुष निरन्तर उन अग्नियोंके समीप बैठकर वेदोंका पाठ करते थे, वे ज्ञानसम्पन्न एवं सुखी होकर क्रमशः मुझे प्राप्त होते हैं। मैं ही उनका उद्दीप्त तप और सम्यक् रूपसे संचित तेज हूँ। वे सदा मुझमें विद्यमान हैं और मैं उनमें सावधान हुआ रहता हूँ ॥

सर्वतो मुक्तसङ्गेन मय्यनन्यसमाधिना ।
शक्यः समासादयितुमहं वै ज्ञानचक्षुषा ॥

जो सब ओरसे आसक्तिशून्य है, वह मुझमें अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र करके ज्ञानदृष्टिसे मेरा साक्षात्कार कर सकता है ॥

एकान्तिनो ध्यानपरा यतिभावाद् व्रजन्ति माम् ।

जो संन्यासका आश्रय लेकर अनन्यभावसे मेरे ध्यानमें तत्पर रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

सत्त्वयुक्ता मतिर्येषां केवलाऽऽत्मविनिश्चिता ॥
ते पश्यन्ति स्वमात्मानं परमात्मानमव्ययम् ।

जिनकी बुद्धि सत्त्वगुणसे युक्त है और केवल आत्मतत्त्वका निश्चय करके उसीके चिन्तनमें लगी हुई है, वे अपने आत्मरूप अविनाशी परमात्माका दर्शन करते हैं ॥

अहिंसा सर्वभूतेषु तेष्ववस्थितमार्जवम् ॥
तेष्वेव च समाधाय सम्यगेति स मामजम् ।

उन्हींका समस्त प्राणियोंके प्रति अहिंसा भाव होता है, उन्हींमें 'सरलता' नामक सद्गुणकी स्थिति होती है और उन्हीं गुणोंमें स्थित हुआ जो चित्तको मुझ परमात्मामें भलीभाँति समाहित कर देता है, वह मुझ अजन्मा परमेश्वरको प्राप्त होता है ॥

यदेतत् परमं गुह्यमाख्यानं परमाद्भुतम् ॥
यत्नेन तदशेषेण यथावच्छ्रोतुमर्हसि ।

यह जो परम गोपनीय एवं अत्यन्त अद्भुत आख्यान है, इसे पूर्णतः यत्नपूर्वक यथावत् रूपसे श्रवण करो ॥

ये त्वग्निहोत्रनियता जपयज्ञपरायणाः ॥
ये मामुपासते शश्वदेतांस्त्वं दृष्टवानसि ।

जो अग्निहोत्रमें संलग्न और जप-यज्ञपरायण होते हैं, जो निरन्तर मेरी उपासना करते रहते हैं; उन्हींका तुमने प्रत्यक्ष दर्शन किया है ॥

शास्त्रदृष्टविधानज्ञा असक्ताः क्वचिदन्यथा ॥
शक्योऽहं वेदितुं तैस्तु यन्मे परममव्ययम् ।

जो शास्त्रोक्त विधिके ज्ञाता होकर अनासक्तभावसे सत्कर्म करते हैं, कभी शास्त्रविपरीत—असत्-कर्ममें नहीं लगते, उनके द्वारा ही मैं जाना जा सकता हूँ। मेरा जो अविनाशी परम तत्त्व है, उसे भी वे ही जान सकते हैं।

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रसन्नात्मात्मविच्छुचिः ॥
आसादयति तद् ब्रह्म यत्र गत्वा न शोचति ।

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त प्रसन्न (निर्मल) है, जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता और पवित्र है, वह ज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्मको प्राप्त होता है, जहाँ जाकर कोई शोकमें नहीं पड़ता ॥

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः श्रद्धायुक्तेन चेतसा ॥
मद्भक्त्या च द्विजश्रेष्ठा गच्छन्ति परमां गतिम् ।

जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न हैं, जो श्रेष्ठ द्विज श्रद्धायुक्त चित्तसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी भक्तिद्वारा परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

यद् गुह्यं परमं बुद्धेरलिङ्गग्रहणं च यत् ॥
तत् सूक्ष्मं गृह्यते विप्रैर्यतिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।

जो बुद्धिके लिये परम गुह्य रहस्य है, जो किसी आकृतिसे गृहीत नहीं होता—अनुभवमें नहीं आता, उस सूक्ष्म परब्रह्मका तत्त्वदर्शी यति ब्राह्मण साक्षात्कार कर लेते हैं ॥

न वायुः पवते तत्र न तस्मिञ्ज्योतिषां गतिः ॥
न चापः पृथिवी नैव नाकाशं न मनोगतिः ।

वहाँ यह वायु नहीं चलती, ग्रहों और नक्षत्रोंकी पहुँच नहीं होती तथा जल, पृथ्वी, आकाश और मनकी भी गति नहीं हो पाती है ॥

तस्माच्चैतानि सर्वाणि प्रजायन्ते विहङ्गम ॥
सर्वेभ्यश्च स तेभ्यश्च प्रभवत्यमलो विभुः ।

विहङ्गम ! उसी ब्रह्मसे ये सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। वह निर्मल एवं सर्वव्यापी परमात्मा उन सबके द्वारा ही सबको उत्पन्न करनेमें समर्थ है ॥

स्थूलदर्शनमेतन्मे यद् दृष्टं भवतानघ ॥
एतत् सूक्ष्मस्य च द्वारं कार्याणां कारणं त्वहम् ।

अनघ ! तुमने जो मेरा यह स्थूल रूप देखा है, यही मेरे सूक्ष्म स्वरूपमें प्रवेश करनेका द्वार है । समस्त कार्योंका कारण मैं ही हूँ ॥

दृष्टो वै भवता तस्मात् सरस्यमितविक्रम ॥

अमित पराक्रमी गरुड ! इसीलिये तुमने उस सरोवरमें मेरा दर्शन किया है ॥

मां यज्ञमाहुर्यज्ञज्ञा वेदं वेदविदो जनाः ।
मुनयश्चापि मामेव जपयज्ञं प्रचक्षते ॥

यज्ञके ज्ञाता मुझे यज्ञ कहते हैं । वेदोंके विद्वान् मुझे ही वेद बताते हैं और मुनि भी मुझे ही जप-यज्ञ कहते हैं ॥

वक्ता मन्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा प्रदर्शकः ।
बोद्धा बोद्धयिता चाहं गन्ता श्रोता चिदात्मकः ॥

मैं ही वक्ता, मनन करनेवाला, रस लेनेवाला, सूँघनेवाला, देखने और दिखानेवाला, समझने और समझानेवाला तथा जाने और सुननेवाला चेतन आत्मा हूँ ॥

मामिष्ट्वा स्वर्गमायान्ति तथा चाप्नुवते महत् ।
ज्ञात्वा मामेव चैवं ते निःसङ्गेनान्तरात्मना ॥

मेरा ही यजन करके यजमान स्वर्गमें आते और महान् पद पाते हैं । इसी प्रकार जो अनासक्त हृदयसे मुझे ही जान लेते हैं, वे मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥

अहं तेजो द्विजातीनां मम तेजो द्विजातयः ।
मम यस्तेजसा देहः सोऽग्निरित्यवगम्यताम् ॥

मैं ब्राह्मणोंका तेज हूँ और ब्राह्मण मेरे तेज हैं । मेरे तेजसे जो शरीर प्रकट हुआ है, उसीको तुम अग्नि समझो ॥

प्राणपालः शरीरेऽहं योगिनामहमीश्वरः ।
सांख्यानामिदमेवाग्रे मयि सर्वमिदं जगत् ॥

मैं ही शरीरमें प्राणोंका रक्षक हूँ । मैं ही योगियोंका ईश्वर हूँ । सांख्योंका जो यह प्रधान तत्त्व है, वह भी मैं ही हूँ । मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥

धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं चैवार्जवं जपम् ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव कर्मजं च भवाप्ययम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सरलता, जप, सत्त्वगुण, तमोगुण, रजोगुण तथा कर्मजनित जन्म-मरण—सब मेरे ही स्वरूप हैं ॥

स तदाहं तथारूपस्त्वया दृष्टः सनातनः ।
ततस्त्वहं परतरः शक्यः कालेन वेदितुम् ॥
मम यत् परमं गुह्यं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
तदेवं परमो गुह्यो देवो नारायणो हरिः ॥

उस समय तुमने मुझ सनातन पुरुषका उस रूपमें दर्शन किया था । उससे भी उत्कृष्ट जो मेरा स्वरूप है, उसे तुम समयानुसार जान सकते हो । मेरा जो परम गोपनीय, शाश्वत, ध्रुव एवं अव्यय पद है, उसका ज्ञान भी तुम्हें समयानुसार हो सकता है । इस प्रकार मैं नारायणदेव एवं हरिनामसे प्रसिद्ध परमेश्वर परम गोपनीय माना गया हूँ ॥

न तच्छक्यं भुजङ्गारे वेत्तुमभ्युदयान्वितैः ।
निरारम्भनमस्कारा निराशीर्बन्धनास्तथा ॥
गच्छन्ति तं महात्मानं परं ब्रह्म सनातनम् ।

गरुड ! जो लौकिक अभ्युदयमें आसक्त हैं, वे मेरे उस स्वरूपको नहीं जान सकते । जो कर्मोंके आरम्भका मार्ग छोड़ चुके हैं, नमस्कारसे दूर हो गये हैं और कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे यतिजन उन सनातन परमात्मा परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

स्थूलोऽहमेवं विहग त्वया दृष्टस्तथानघ ॥
एतच्चापि न वेत्त्यन्यस्त्वामृते पन्नगाशन ।

निष्पाप पक्षिराज गरुड ! इस प्रकार तुमने मेरे स्थूल स्वरूपका दर्शन किया है । परंतु तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इस स्वरूपको भी नहीं जानता ॥

मा मतिस्तव गान्नाशमेषा गतिरनुत्तमा ॥
मद्भक्तो भव नित्यं त्वं ततो वेत्स्यसि मे पदम् ।

तुम्हारी बुद्धिका नाश न हो—यही सर्वोत्तम गति है । तुम नित्य-निरन्तर मेरी भक्तिमें लगे रहो । इससे तुम्हें मेरे स्वरूपका यथार्थ बोध हो जायगा ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रहस्यं दिव्यमानुषम् ॥
एतच्छ्रेयः परं चैतत् पन्थानं विद्धि मोक्षिणाम् ।

यह सब तुम्हें बताया गया । यह देवताओं और मनुष्योंके लिये भी रहस्यकी बात है । यही परम कल्याण है । तुम इसे मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंका मार्ग समझो ॥

सुपर्ण उवाच

एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

पश्यतो मे महायोगी जगामात्मगतिर्गतिम् ।

गरुड कहते हैं—ऋषियो ! ऐसा कहकर वे भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये । वे महायोगी तथा आत्मगतिरूप परमेश्वर मेरे देखते-देखते अदृश्य हो गये ॥

एतदेवंविधं तस्य महिमानं महात्मनः ॥
अच्युतस्याप्रमेयस्य दृष्टवानस्मि यत् पुरा ।

इस प्रकार मैंने पूर्वकालमें अप्रमेय महात्मा अच्युतकी महिमाका साक्षात्कार किया था ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं चेष्टितं तस्य धीमतः ॥
मयानुभूतं प्रत्यक्षं दृष्ट्वा चाद्भुतकर्मणः ।

अद्भुतकर्मा परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीहरिकी यह सारी लीला जो मैंने प्रत्यक्ष देखकर अनुभव की है, आपको बता दी ॥

ऋषय ऊचुः

अहो श्रावितमाख्यानं भवतात्यद्भुतं महत् ॥
पुण्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।

ऋषियोंने कहा—अहो ! आपने यह बड़ा अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण आख्यान सुनाया । यह परम पवित्र प्रसङ्ग यश, आयु एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा महान् मङ्गलकारी है ॥

एतत् पवित्रं देवानामेतद् गुह्यं परंतप ॥
एतज्ज्ञानवतां ज्ञेयमेषा गतिरनुत्तमा ।

परंतप गरुडजी ! यह पवित्र विषय देवताओंके लिये भी गुह्य रहस्य है । यही ज्ञानियोंका ज्ञेय है और यही सर्वोत्तम गति है ॥

य इमां श्रावयेद् विद्वान् कथां पर्वसु पर्वसु ॥
स लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यान् देवर्षिभिरभिष्टुतान् ।

जो विद्वान् प्रत्येक पर्वके अवसरपर इस कथाको सुनायेगा, वह देवर्षियोंद्वारा प्रशंसित पुण्यलोकोंको प्राप्त होगा ॥

श्राद्धकाले च विप्राणां य इमां श्रावयेच्छुचिः ॥
न तत्र रक्षसां भागो नासुराणां च विद्यते ।

जो श्राद्धके समय पवित्रभावसे ब्राह्मणोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, उस श्राद्धमें राक्षसों और असुरोंको भाग नहीं मिलेगा ॥

अनसूयुर्जितक्रोधः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥
यः पठेत् सततं युक्तः स व्रजेत् तत्सलोकताम् ।

जो दोषदृष्टिसे रहित हो क्रोधको जीतकर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर हो सदा योगयुक्त रहकर इसका पाठ करेगा, वह भगवान् विष्णुके लोकमें जायगा ॥

वेदान् पारयते विप्रो राजा विजयवान् भवेत् ॥
वैश्यस्तु धनधान्याढ्यः शूद्रः सुखमवाप्नुयात् ।

इसका पाठ करनेवाला ब्राह्मण वेदोंका पारंगत विद्वान् होगा । क्षत्रियको इसका पाठ करनेसे युद्धमें विजयकी प्राप्ति होगी । वैश्य धन-धान्यसे सम्पन्न और शूद्र सुखी होगा ॥

भीष्म उवाच

ततस्ते मुनयः सर्वे सम्पूज्य विनतासुतम् ।
स्वानेव चाश्रमाञ्जग्मुर्बभूवुः शान्तितत्पराः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सम्पूर्ण महर्षि विनतानन्दन गरुडकी पूजा करके अपने-अपने आश्रमको चले गये और वहाँ शम दमके साधनमें तत्पर हो गये ॥

स्थूलदर्शिभिराक्रुष्टो दुर्ज्ञेयो ह्यकृतात्मभिः ।
एषा श्रुतिर्महाराज धर्म्या धर्मभृतां वर ॥
सुराणां ब्रह्मणा प्रोक्ता विस्मितानां परंतप ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ! जिनका मन अपने वशमें नहीं है, उन स्थूलदर्शी पुरुषोंके लिये भगवान् श्रीहरिके तत्त्वका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । यह धर्म-सम्मत श्रुति है । परंतप ! इसे ब्रह्माजीने आश्चर्यचकित हुए देवताओंको सुनाया था ॥

ममाप्येषा कथा तात कथिता मातुरन्तिके ॥
वसुभिः सत्त्वसम्पन्नैः तवाप्येषा मयोच्यते ।

तात ! तत्त्वज्ञानी वसुओंने मेरी माता गङ्गाजीके निकट मुझसे यह कथा कही थी और अब तुमसे मैंने कही है ॥

तदग्निहोत्रपरमा जपयज्ञपरायणाः ॥
निराशीर्बन्धनाः सन्तः प्रयान्त्यक्षरसात्मताम् ।

जो अग्निहोत्रमें तत्पर, जप-यज्ञमें संलग्न तथा कामनाओंके बन्धनसे मुक्त होते हैं, वे अविनाशी परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं ॥

आरम्भयज्ञानुत्सृज्य जपहोमपरायणाः ।
ध्यायन्तो मनसा विष्णुं गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

जो क्रियात्मक यज्ञोंका परित्याग करके जप और होममें तत्पर हो मन-ही-मन भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

तदेव परमो मोक्षो मोक्षद्वारं च भारत ।
यदा विनिश्चितात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

भरतनन्दन ! जब निश्चित बुद्धिवाले पुरुष परमात्म-तत्त्वको जानकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, वही परम मोक्ष या मोक्षद्वार कहलाता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोकयात्राकथने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोकयात्राके निर्वाहकी विधिका वर्णनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०४½ श्लोक मिलाकर कुल २१०½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

भीष्मजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे महादेवजीके माहात्म्यकी कथामें उपमन्युद्वारा महादेवजीकी स्तुति-प्रार्थना, उनके दर्शन और वरदान पानेका तथा अपनेको दर्शन प्राप्त होनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

त्वयाऽऽपगेय नामानि श्रुतानीह जगत्पतेः।
पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शम्भवे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—गङ्गानन्दन ! आपने ब्रह्माजीके भी ईश्वर कल्याणकारी जगदीश्वर भगवान् शिवके जो नाम सुने हों, उन्हें यहाँ बताइये ॥ १ ॥

बभ्रवे विश्वरूपाय महाभाग्यं च तत्त्वतः।
सुरासुरगुरौ देवे शंकरेऽव्यक्तयोनये ॥ २ ॥

जो विराट् विश्वरूपधारी हैं, अव्यक्तके भी कारण हैं, उन सुरासुरगुरु भगवान् शङ्करके माहात्म्यका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च।
ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते ॥ ४ ॥
प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः।
चिन्त्यते यो योगविद्भिर्ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः ॥ ५ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षोभयित्वा स्वतेजसा।
ब्रह्माणमसृजत् तस्माद् देवदेवः प्रजापतिः ॥ ६ ॥
को हि शक्तो गुणान् वक्तुं देवदेवस्य धीमतः।
गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मैं परम बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ । जो भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, किन्तु (सबके आत्मा होनेके कारण) सर्वत्र देखनेमें नहीं आते हैं, ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्रके भी स्रष्टा तथा प्रभु हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंसे लेकर पिशाचतक जिनकी उपासना करते हैं, जो प्रकृतिसे भी परे और पुरुषसे भी विलक्षण हैं, योगवेत्ता तत्त्वदर्शी ऋषि जिनका चिन्तन करते हैं, जो अविनाशी परम ब्रह्म एवं सदसत्स्वरूप हैं, जिन देवाधिदेव प्रजापति शिवने अपने तेजसे प्रकृति और पुरुषको क्षुब्ध करके ब्रह्माजीकी सृष्टि की, उन्हीं देवदेव बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें गर्भ, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? ॥ ३—७ ॥

को हि शक्तो भवं ज्ञातुं मद्विधः परमेश्वरम्।
ऋते नारायणात् पुत्र शङ्खचक्रगदाधरात् ॥ ८ ॥

बेटा ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् नारायणको छोड़कर मेरे-जैसा कौन पुरुष परमेश्वर शिवके तत्त्वको जान सकता है ? ॥ ८ ॥

एष विद्वान् गुणश्रेष्ठो विष्णुः परमदुर्जयः।
दिव्यचक्षुर्महातेजा वीक्षते योगचक्षुषा ॥ ९ ॥

ये भगवान् विष्णु सर्वज्ञ, गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ, अत्यन्त दुर्जय, दिव्य नेत्रधारी तथा महातेजस्वी हैं । ये योगदृष्टिसे सब कुछ देखते हैं ॥ ९ ॥

रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद् व्याप्तं महात्मना।
तं प्रसाद्य तदा देवं बदर्यां किल भारत ॥ १० ॥
अर्थात् प्रियतरत्वं च सर्वलोकेषु वै तदा।
प्राप्तवानेव राजेन्द्र सुवर्णाक्षान्महेश्वरात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! रुद्रदेवके प्रति भक्तिके कारण ही महात्मा श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है । राजन् ! कहते हैं कि पूर्वकालमें महादेवजीको बदरिकाश्रममें प्रसन्न करके उन दिव्यदृष्टि महेश्वरसे श्रीकृष्णने सब पदार्थोंकी अपेक्षा प्रियतर-भावको प्राप्त कर लिया अर्थात् वे सम्पूर्ण लोकोंके प्रियतम बन गये ॥ १०-११ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं तु तप्तवानेष माधवः।
प्रसाद्य वरदं देवं चराचरगुरुं शिवम् ॥ १२ ॥

इन माधवने वरदायक देवता चराचरगुरु भगवान् शिवको प्रसन्न करते हुए पूर्वकालमें पूरे एक हजार वर्षतक तपस्या की थी ॥ १२ ॥

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णने प्रत्येक युगमें महेश्वरको संतुष्ट किया है । महात्मा श्रीकृष्णकी परम भक्तिसे वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्योनेर्महात्मनः।
तदयं दृष्टवान् साक्षात् पुत्रार्थे हरिरच्युतः ॥ १४ ॥

जगत्‌के कारणभूत परमात्मा शिवका ऐश्वर्य जैसा है, उसे पुत्रके लिये तपस्या करते हुए इन अच्युत श्रीहरिने प्रत्यक्ष देखा है ॥ १४ ॥

यस्मात् परतरं चैव नान्यं पश्यामि भारत।
व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥ १५ ॥

भारत ! उसी ऐश्वर्यके कारण मैं परात्पर श्रीकृष्णके सिवा किसी दूसरेको ऐसा नहीं देखता, जो देवाधिदेव महादेवजीके नामोंकी पूर्णरूपसे व्याख्या कर सके ॥ १५ ॥

एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान् ।
विभूतिं चैव कार्त्स्न्येन सत्यां माहेश्वरीं नृप ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही भगवान् महेश्वरके गुणों तथा उनके यथार्थ ऐश्वर्यका पूर्णतः वर्णन करनेमें समर्थ हैं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तदा भीष्मो वासुदेवं महायशाः ।
भवमाहात्म्यसंयुक्तमिदमाह पितामहः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महायशस्वी पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवके प्रति शङ्करजीकी महिमासे युक्त यह बात कही॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि ।
शिवाय विश्वरूपाय यन्मां पृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

भीष्मजी बोले—देवासुरगुरो ! विष्णुदेव ! राजा युधिष्ठिरने मुझसे जो पूछा है, उस विश्वरूप शिवके माहात्म्यको बतानेके योग्य आप ही हैं ॥ १८ ॥

नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना ।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत् पुराभवत् ॥ १९ ॥
द्वैपायनप्रभृतयस्तथा चेमे तपोधनाः ।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥ २० ॥

पूर्वकालमें ब्रह्मपुत्र तण्डीमुनिके द्वारा ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके समक्ष जिस शिव-सहस्रनामका निरूपण किया गया था, उसीका आप वर्णन करें और ये उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्यास आदि तपोधन एवं जितेन्द्रिय महर्षि आपके मुखसे इसका श्रवण करें ॥ १९-२० ॥

ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये ।
महाभाग्यं विभोर्ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥ २१ ॥

जो ध्रुव (कूटस्थ), नन्दी (आनन्दमय), होता, गोप्ता (रक्षक), विश्वस्रष्टा, गार्हपत्य आदि अग्नि, मुण्डी (चूड़ारहित) और कपर्दी (जटाजूटधारी) हैं, उन भगवान् शङ्करके महान् सौभाग्यका आप वर्णन कीजिये ॥ २१ ॥

वासुदेव उवाच

न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः ।
हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ॥ २२ ॥
न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः ।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवान् शङ्करके कर्मोंकी गतिका यथार्थरूपसे ज्ञान होना अशक्य है । ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता, महर्षि तथा सूक्ष्मदर्शी आदित्य भी जिनके निवासस्थानको नहीं जानते, सत्पुरुषोंके आश्रयभूत उन भगवान् शिवके तत्त्वका ज्ञान मनुष्यमात्रको कैसे हो सकता है ? ॥ २२-२३ ॥

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद् भगवतो गुणान् ।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ २४ ॥

अतः मैं उन असुरविनाशक व्रतेश्वर भगवान् शङ्करके कुछ गुणोंका आपलोगोंके समक्ष यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवान् गुणांस्तस्य महात्मनः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आचमन करके पवित्र हो बुद्धिमान् परमात्मा शिवके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ २५ ॥

वासुदेव उवाच

शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर ।
त्वं चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिने ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—यहाँ बैठे हुए ब्राह्मणशिरोमणियो ! सुनो, तात युधिष्ठिर ! और गङ्गानन्दन भीष्म ! आपलोग भी यहाँ भगवान् शङ्करके नामोंका श्रवण करें ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथावद् भगवान् दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ २७ ॥

पूर्वकालमें साम्बकी उत्पत्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तप करके मैंने जिस दुर्लभ नामसमूहका ज्ञान प्राप्त किया था और समाधिके द्वारा भगवान् शङ्करका जिस प्रकार यथावत्-रूपसे साक्षात्कार किया था, वह सब प्रसङ्ग सुना रहा हूँ ॥ २७ ॥

शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता ।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥ २८ ॥
प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान् ।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके द्वारा पूर्वकालमें जब शम्बरासुर मारा गया और वे द्वारकामें आये, तबसे बारह वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् रुक्मिणीके प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि पुत्रोंको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली जाम्बवती मेरे पास आकर इस प्रकार बोली—॥ २८-२९ ॥

शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम् ।
आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाच्युत माचिरम् ॥ ३० ॥

'अच्युत ! आप मुझे अपने ही समान शूरवीर, बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा कमनीय रूप-सौन्दर्यसे युक्त निष्पाप पुत्र प्रदान कीजिये । इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किंचन ।
लोकान् सृजेस्त्वमपरानिच्छन् यदुकुलोद्वह ॥ ३१ ॥

'यदुकुलधुरन्धर ! आपके लिये तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है । आप चाहें तो दूसरे-दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

त्वया द्वादशवर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता ।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः ॥ ३२ ॥

'आपने बारह वर्षोंतक व्रतपरायण हो अपने शरीरको सुखाकर भगवान् पशुपतिकी आराधना की और रुक्मिणीदेवीके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३२ ॥

चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेशो यशोधरः ।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शम्भुरेव च ॥ ३३ ॥
यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः ।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ मधुसूदन ॥ ३४ ॥

'मधुसूदन ! चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेश, यशोधर, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु—इन सुन्दर पराक्रमी पुत्रोंको जिस प्रकार आपने रुक्मिणीदेवीके गर्भसे उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मुझे भी पुत्र प्रदान कीजिये' ॥ ३३-३४ ॥

इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम् ।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव ॥ ३५ ॥

देवी जाम्बवतीके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर मैंने उस सुन्दरीसे कहा—'रानी ! मुझे जानेकी अनुमति दो । मैं तुम्हारी प्रार्थना सफल करूँगा' ॥ ३५ ॥

सा च मामब्रवीद् गच्छ शिवाय विजयाय च ।
ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोऽनुगाः ॥ ३६ ॥
क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणाध्वराः ।
समुद्रा दक्षिणास्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः ॥ ३७ ॥
देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च ।
मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः ॥ ३८ ॥
सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सरास्तथा ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः ॥ ३९ ॥
रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादव सुखाय च ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ ॥ ४० ॥

उसने कहा—'प्राणनाथ ! आप कल्याण और विजय पानेके लिये जाइये । यदुनन्दन ! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियाँ, मनोऽनुकूल देवगण, क्षेत्र, ओषधियाँ, यज्ञवाह (मन्त्र), छन्द, ऋषिगण, यज्ञ, समुद्र, दक्षिणा, स्तोभ (सामगानपूरक 'हाउ' 'हायि' आदि शब्द), नक्षत्र, पितर, ग्रह, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ और देवमाताएँ, मन्वन्तर, गौ, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, सावित्री, ब्रह्मविद्या, ऋतु, वर्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, निमेष और युग—ये सर्वत्र आपकी रक्षा करें । आप अपने मार्गपर निर्विघ्न यात्रा करें और अनघ ! आप सतत सावधान रहें' ॥ ३६–४० ॥

एवं कृतस्वस्त्ययनस्तयाहं
ततोऽभ्यनुज्ञाय नरेन्द्रपुत्रीम् ।
पितुः समीपं नरसत्तमस्य
मातुश्च राज्ञश्च तथाऽऽहुकस्य ॥ ४१ ॥

गत्वा समावेद्य यदब्रवीन्मां
विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता ।
तानभ्यनुज्ञाय तदातिदुःखाद्
गदं तथैवातिबलं च रामम् ।
अथोचतुः प्रीतियुतौ तदानीं
तपःसमृद्धिर्भवतोऽस्त्वविघ्नम् ॥ ४२ ॥

इस तरह जाम्बवतीके द्वारा स्वस्तिवाचनके पश्चात् मैं उस राजकुमारीकी अनुमति ले नरश्रेष्ठ पिता वसुदेव, माता देवकी तथा राजा उग्रसेनके समीप गया । वहाँ जाकर विद्याधरराज-कुमारी जाम्बवतीने अत्यन्त आर्त होकर मुझसे जो प्रार्थना की थी, वह सब मैंने बताया और उन सबसे तपके लिये जानेकी आज्ञा ली । गद और अत्यन्त बलवान् बलराम-जीसे विदा माँगी । उन दोनोंने बड़े दुःखसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उस समय मुझसे कहा—'भाई ! तुम्हारी तपस्या निर्विघ्न पूर्ण हो' ॥ ४१-४२ ॥

प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम् ।
सोऽवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम् ॥ ४३ ॥

गुरुजनोंकी आज्ञा पाकर मैंने गरुडका चिन्तन किया । उसने (आकर) मुझे हिमालयपर पहुँचा दिया । वहाँ पहुँचकर मैंने गरुडको विदा कर दिया ॥ ४३ ॥

तत्राहमद्भुतान् भावानपश्यं गिरिसत्तमे ।
क्षेत्रं च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्यद्भुतमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

मैंने उस श्रेष्ठ पर्वतपर वहाँ अद्भुत भाव देखे । मुझे वहाँका स्थान तपस्याके लिये अद्भुत, उत्तम और श्रेष्ठ क्षेत्र दिखायी दिया ॥ ४४ ॥

दिव्यं वैयाघ्रपद्यस्य उपमन्योर्महात्मनः ।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम् ॥ ४५ ॥

वह व्याघ्रपादके पुत्र महात्मा उपमन्युका दिव्य आश्रम था, जो ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न तथा देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सम्मानित था ॥ ४५ ॥

धवककुभकदम्बनारिकेलैः
कुरवककेतकजम्बुपाटलाभिः ।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः
सरलकपित्थप्रियालसालतालैः ॥ ४६ ॥
बदरीकुन्दपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः ।
मधूकैः कोविदारैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा ॥ ४७ ॥
वन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम् ।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम् ॥ ४८ ॥

धव, ककुभ (अर्जुन), कदम्ब, नारियल, कुरबक, केतक, जामुन, पाटल, बड़, वरुणक, वत्सनाभ, बिल्व, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, ताल, बेर, कुन्द, पुन्नाग, अशोक, आम्र, अतिमुक्त, महुआ, कोविदार, चम्पा तथा कटहल आदि बहुत-से फल-फूल देनेवाले विविध वन्य वृक्ष उस

आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। फूलों, गुल्मों और लताओंसे वह व्याप्त था। केलेके कुञ्ज उसकी शोभाको और भी बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४८ ॥

नानाशकुनिसम्भोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं भस्मराशिभिः ॥ ४९ ॥

नाना प्रकारके पक्षियोंके खाने योग्य फल और वृक्ष उस आश्रमके अलंकार थे । यथास्थान रखी हुई भस्मराशिसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४९॥

रुरुवानरशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ।
पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ॥ ५० ॥

रुरु, वानर, शार्दूल, सिंह, चीते, मृग, मयूर, बिल्ली, सर्प, विभिन्न जातिके मृगोंके झुंड, भैंस तथा रीछोंसे उस आश्रमका निकटवर्ती वन भरा हुआ था ॥ ५० ॥

सकृत्प्रभिन्नैश्च गजैर्विभूषितं
प्रहृष्टनानाविधपक्षिसेवितम् ।
सुपुष्पितैरम्बुधरप्रकाशै-
र्महीरुहाणां च वनैर्विचित्रैः ॥ ५१ ॥

जिनके मस्तकसे पहली बार मदकी धारा फूटकर बही थी, ऐसे हाथी वहाँके उपवनकी शोभा बढ़ाते थे। हर्षमें भरे हुए नाना प्रकारके विहंगम वहाँके वृक्षोंपर बसेरे लेते थे। अनेकानेक वृक्षोंके विचित्र वन सुन्दर फूलोंसे सुशोभित हो मेघोंके समान प्रतीत होते थे और उन सबके द्वारा उस आश्रमकी अनुपम शोभा हो रही थी ॥ ५१ ॥

नानापुष्परजोमिश्रो गजदानाधिवासितः।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखो ववौ ॥ ५२ ॥

सामनेसे नाना प्रकारके पुष्पोंके परागपुञ्जसे पूरित तथा हाथियोंके मदकी सुगन्धसे सुवासित मन्द-मन्द अनुकूल वायु आ रही थी; जिसमें दिव्य रमणियोंके मधुर गीतोंकी मनोरम ध्वनि विशेषरूपसे व्याप्त थी ॥ ५२ ॥

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः
शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैः
शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥ ५३ ॥

वीर ! पर्वतशिखरोंसे झरते हुए झरनोंकी झर-झर ध्वनि, विहंगमोंके सुन्दर कलरव, हाथियोंकी गर्जना, किन्नरोंके उदार (मनोहर) गीत तथा सामगान करनेवाले सामवेदी विद्वानोंके मङ्गलमय शब्द उस वन-प्रान्तको संगीतमय बना रहे थे ॥

अचिन्त्यं मनसाप्यन्यैः सरोभिः समलंकृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुसुमावृतैः ॥ ५४ ॥

जिसके विषयमें दूसरे लोग मनसे सोच भी नहीं सकते, ऐसी अचिन्त्य शोभासे सम्पन्न वह पर्वतीय भाग अनेकानेक सरोवरोंसे अलंकृत तथा फूलोंसे आच्छादित विशाल अग्निशालाओंद्वारा विभूषित था ॥ ५४ ॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया
सदा च जुष्टं नृप जह्नुकन्यया।
विभूषितं धर्मभृतां वरिष्ठै-
र्महात्मभिर्वह्निसमानकल्पैः ॥ ५५ ॥

नरेश्वर ! पुण्यसलिला जाह्नवी सदा उस क्षेत्रकी शोभा बढ़ाती हुई मानो उसका सेवन करती थीं । अग्निके समान तेजस्वी तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अनेकानेक महात्माओंसे वह स्थान विभूषित था ॥ ५५ ॥

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्यनित्यैः
सम्प्रक्षालैर्योगिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमप्राशैरूष्मपैः क्षीरपैश्च
संजुष्टं च ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥ ५६ ॥

वहाँ चारों ओर श्रेष्ठ ब्राह्मण निवास करते थे। उनमेंसे कुछ लोग केवल वायु पीकर रहते थे। कुछ लोग जल पीकर जीवन धारण करते थे। कुछ लोग निरन्तर जपमें संलग्न रहते थे। कुछ साधक मैत्री-मुदिता आदि साधनाओंद्वारा अपने चित्तका शोधन करते थे। कुछ योगी निरन्तर ध्यानमग्न रहते थे। कोई अग्निहोत्रका धूआँ, कोई गरम-गरम सूर्यकी किरणें और कोई दूध पीकर रहते थे ॥ ५६ ॥

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥ ५७ ॥

कुछ लोग गोसेवाका व्रत लेकर गौओंके ही साथ रहते और विचरते थे । कुछ लोग खाद्य वस्तुओंको पत्थरसे पीसकर खाते थे और कुछ लोग दाँतोंसे ही ओखली-मूसलका काम लेते थे। कुछ लोग किरणों और फेनोंका पान करते थे तथा कितने ही ऋषि मृगचर्याका व्रत लेकर मृगोंके ही साथ रहते और विचरते थे ॥ ५७ ॥

अश्वत्थफलभक्षाश्च तथा ह्युदकशायिनः ।
चीरचर्माम्बरधरास्तथा वल्कलधारिणः ॥ ५८ ॥

कोई पीपलके फल खाकर रहते, कोई जलमें ही सोते तथा कुछ लोग चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण करते थे ॥

सुदुःखान् नियमांस्तांस्तान् वहतः सुतपोधनान् ।
पश्यन् मुनीन् बहुविधान् प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥ ५९ ॥

अत्यन्त कष्टसाध्य नियमोंका निर्वाह करते हुए विविध तपस्वी मुनियोंका दर्शन करते हुए मैंने उस महान् आश्रममें प्रवेश करनेका उपक्रम किया ॥ ५९ ॥

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः
शिवादिभिर्भारत पुण्यकर्मभिः ।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा
दिवीव राजञ्शशिमण्डलं यथा ॥६०॥

भरतवंशी नरेश ! महात्मा तथा पुण्यकर्मा शिव आदि

देवताओंसे समादृत हो वह आश्रममण्डल सदा ही आकाशमें चन्द्रमण्डलकी भाँति शोभा पाता था ॥ ६० ॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत् ।
प्रभावाद् दीप्ततपसां संनिकर्षान्महात्मनाम् ॥ ६१ ॥

वहाँ तीव्र तपस्यावाले महात्माओंके प्रभाव तथा सांनिध्यसे प्रभावित हो नेवले साँपोंके साथ खेलते थे और व्याघ्र मृगोंके साथ मित्रकी भाँति रहते थे ॥ ६१ ॥

तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ६२ ॥
नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिः सुमहात्मभिः ।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथानलम् ।
शिष्यैरनुगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६४ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण जिसका सेवन करते थे तथा नाना प्रकारके नियमोंद्वारा विख्यात हुए महात्मा महर्षि जिसकी शोभा बढ़ाते थे, समस्त प्राणियोंके लिये मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करते ही मैंने जटावल्कलधारी, प्रभावशाली, तेज और तपस्यासे अग्निके समान देदीप्यमान, शान्तस्वभाव और युवावस्थासे सम्पन्न ब्राह्मणशिरोमणि उपमन्युको शिष्योंसे घिरकर बैठा देखा ॥ ६२–६४ ॥

शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ॥ ६५ ॥
स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः ।
यः पूज्यः पूजयसि मां द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ६६ ॥

मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया । मुझे वन्दना करते देख उपमन्यु बोले—'पुण्डरीकाक्ष ! आपका स्वागत है । आप पूजनीय होकर मेरी पूजा करते हैं और दर्शनीय होकर मेरा दर्शन चाहते हैं, इससे हमलोगोंकी तपस्या सफल हो गयी' ॥ ६५-६६ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु ।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ६७ ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर आश्रमके मृग, पक्षी, अग्निहोत्र, धर्माचरण तथा शिष्यवर्गका कुशल-समाचार पूछा ॥ ६७ ॥

ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना ।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ६८ ॥

तब भगवान् उपमन्युने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वाणीमें मुझसे कहा—श्रीकृष्ण ! आप अपने समान पुत्र प्राप्त करेंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम् ।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ६९ ॥

अधोक्षज ! आप महान् तपका आश्रय लेकर यहाँ सर्वेश्वर भगवान् शिवको संतुष्ट कीजिये । यहाँ महादेवजी अपनी पत्नी भगवती उमाके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ६९ ॥

इहैनं दैवतश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ ७० ॥
तोषयित्वा शुभान् कामान् प्राप्तवन्तो जनार्दन ।

जनार्दन ! यहाँ सुरश्रेष्ठ महादेवजीको तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमद्वारा संतुष्ट करके पहले कितने ही देवता और महर्षि अपने शुभ मनोरथ प्राप्त कर चुके हैं ॥

तेजसां तपसां चैव निधिः स भगवानिह ॥ ७१½ ॥
शुभाशुभान्वितान् भावान् विसृजन् संक्षिपन्नपि ।
आस्ते देव्या सदाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ७२ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! आप जिनकी प्रार्थना करते हैं, वे तेज और तपस्याकी निधि अचिन्त्य भगवान् शङ्कर यहाँ शम आदि शुभभावोंकी सृष्टि और काम आदि अशुभ भावोंका संहार करते हुए देवी पार्वतीके साथ सदा विराजमान रहते हैं ॥

हिरण्यकशिपुर्योऽभूद् दानवो मेरुकम्पनः ।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात् प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ७३ ॥

पहले जो मेरुपर्वतको भी कम्पित कर देनेवाला हिरण्यकशिपु नामक दानव हुआ था, उसने भगवान् शङ्करसे एक अर्बुद (दस करोड़) वर्षोंतकके लिये सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दारो नाम विश्रुतः ।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत् ॥ ७४ ॥

उसीका श्रेष्ठ पुत्र मन्दार नामसे विख्यात हुआ, जो महादेवजीके वरसे एक अर्बुद वर्षोंतक इन्द्रके साथ युद्ध करता रहा ॥ ७४ ॥

विष्णोश्चक्रं च तद् घोरं वज्रमाखण्डलस्य च ।
शीर्णं पुराभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७५ ॥

तात केशव ! भगवान् विष्णुका वह भयंकर चक्र तथा इन्द्रका वज्र भी पूर्वकालमें उस ग्रहके अङ्गोंपर पुराने तिनकोंके समान जीर्ण-शीर्ण-सा हो गया था ॥ ७५ ॥

यत् तद् भगवता पूर्वं दत्तं चक्रं तवानघ ।
जलान्तरचरं हत्वा दैत्यं च बलगर्वितम् ॥ ७६ ॥
उत्पादितं वृषाङ्केन दीप्तज्वलनसंनिभम् ।
दत्तं भगवता तुभ्यं दुर्धर्षं तेजसाद्भुतम् ॥ ७७ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें जलके भीतर रहनेवाले गर्वीले दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने आपको जो चक्र प्रदान किया था, उस अग्निके समान तेजस्वी शस्त्रको स्वयं भगवान् वृषध्वजने ही उत्पन्न किया और आपको दिया था, वह अस्त्र अद्भुत तेजसे युक्त एवं दुर्धर्ष है ॥ ७६-७७ ॥

न शक्यं द्रष्टुमन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम् ।
सुदर्शनं भवत्येवं भवेनोक्तं तदा तु तत् ॥ ७८ ॥
सुदर्शनं तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम् ।
तज्जीर्णमभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७९ ॥

पिनाकपाणि भगवान् शङ्करको छोड़कर दूसरा कोई उसको

देख नहीं सकता था। उस समय भगवान् शङ्करने कहा, 'यह अस्त्र सुदर्शन (देखनेमें सुगम) हो जाय।' तभीसे संसारमें उसका सुदर्शन नाम प्रचलित हो गया। तात केशव! ऐसा प्रसिद्ध अस्त्र भी उस ग्रहके अङ्गोंपर जीर्ण-सा हो गया॥

ग्रहस्यातिवलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः।
न शस्त्राणि वहन्त्यङ्गे चक्रवज्रशतान्यपि॥ ८०॥

भगवान् शङ्करसे उसको वर मिला था। उस अत्यन्त बलशाली बुद्धिमान् ग्रहके अङ्गमें चक्र और वज्र-जैसे सैकड़ों शस्त्र भी काम नहीं देते थे॥ ८०॥

अर्द्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा।
शिवदत्तवरान् जघ्नुरसुरेन्द्रान् सुरा भृशम्॥ ८१॥

जब उस बलवान् ग्रहने देवताओंको सताना आरम्भ कर दिया, तब देवताओंने भी भगवान् शङ्करसे वर पाये हुए उन असुरेन्द्रोंको बहुत पीटा। (इस प्रकार उनमें दीर्घकालतक युद्ध होता रहा)॥ ८१॥

तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतां ददौ।
शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत्॥ ८२॥

इसी तरह विद्युत्प्रभ नामक दैत्यपर भी संतुष्ट होकर रुद्रदेवने उसे तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर दिया। इस प्रकार वह एक लाख वर्षोंतक सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर बना रहा॥ ८२॥

ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत्।
तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः॥ ८३॥

भगवान्ने उसे यह भी वर दिया था कि 'तुम मेरे नित्य पार्षद हो जाओगे' साथ ही उन प्रभुने उसे सहस्र अयुत (एक करोड़) पुत्र प्रदान किये॥ ८३॥

कुशद्वीपं च स ददौ राज्येन भगवानजः।
तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः॥ ८४॥
येन वर्षशतं साग्रमात्ममांसैर्हुतोऽनलः।

अजन्मा भगवान् शिवने उसे राज्य करनेके लिये कुशद्वीप दिया था। इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने एक समय शतमुख नामक महान् असुरकी सृष्टि की थी, जिसने सौ वर्षसे अधिक कालतक अग्निमें अपने ही मांसकी आहुति दी थी॥

तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शंकरः॥ ८५॥
तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः।
बलं च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं सम्प्रयच्छ मे॥ ८६॥

उससे संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने पूछा—'बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ?' तब शतमुखने उनसे कहा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे अद्भुत योगशक्ति प्राप्त हो। साथ ही आप मुझे सदा बना रहनेवाला बल प्रदान कीजिये'। ८५-८६।

तथेति भगवानाह तस्य तद् वचनं प्रभुः।
स्वायम्भुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत् पुरा॥ ८७॥
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि।
तस्य चोपददौ पुत्रान् सहस्रं क्रतुसम्मितान्॥ ८८॥

उसकी वह बात सुनकर शक्तिशाली भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार कर लिया। इसी तरह पूर्वकालमें स्वयम्भूके पुत्र क्रतुने पुत्र-प्राप्तिके लिये तीन सौ वर्षोंतक योगके द्वारा अपने आपको भगवान् शिवके चिन्तनमें लगा रखा था; अतः क्रतुको भी भगवान् शङ्करने उन्हींके समान एक हजार पुत्र प्रदान किये॥ ८७-८८॥

योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः।
याज्ञवल्क्य इति ख्यात ऋषिः परमधार्मिकः॥ ८९॥
आराध्य स महादेवं प्राप्तवानतुलं यशः।

श्रीकृष्ण! देवता जिनकी महिमाका गान करते हैं, उन योगेश्वर शिवको आप भलीभाँति जानते हैं, इसमें संशय नहीं है। याज्ञवल्क्य नामसे विख्यात परम धर्मात्मा ऋषिने महादेवजीकी आराधना करके अनुपम यश प्राप्त किया॥ ८९½॥

वेदव्यासश्च योगात्मा पराशरसुतो मुनिः॥ ९०॥
सोऽपि शङ्करमाराध्य प्राप्तवानतुलं यशः।

पराशरजीके पुत्र मुनिवर वेदव्यास तो योगके स्वरूप ही हैं। उन्होंने भी शङ्करजीकी आराधना करके वह महान् यश पा लिया, जिसकी कहीं तुलना नहीं है॥ ९०½॥

बालखिल्या मघवता ह्यवज्ञाताः पुरा किल॥ ९१॥
तैः क्रुद्धैर्भगवान् रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत्।

कहते हैं, पूर्वकालमें किसी समय इन्द्रने बालखिल्य नामक ऋषियोंका अपमान कर दिया था। उन ऋषियोंने कुपित होकर तपस्या की और उसके द्वारा भगवान् रुद्रको संतुष्ट किया॥ ९१½॥

तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः॥ ९२॥
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथ।

तब सुरश्रेष्ठ विश्वनाथ शिवने प्रसन्न होकर उनसे कहा—'तुम अपनी तपस्याके बलसे गरुडको उत्पन्न करोगे, जो इन्द्रका अमृत छीन लायेगा'॥ ९२½॥

महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराभवन्॥ ९३॥
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः।
ततः पानीयमभवत् प्रसन्ने त्र्यम्बके भुवि॥ ९४॥

पहलेकी बात है, महादेवजीके रोषसे जल नष्ट हो गया था। तब देवताओंने, जिसके स्वामी रुद्र हैं, उस सप्त कपाल-यागके द्वारा दूसरा जल प्राप्त किया। इस प्रकार त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवके प्रसन्न होनेपर ही भूतलपर जलकी उपलब्धि हुई॥ ९३-९४॥

अत्रेर्भार्यापि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन॥ ९५॥
इत्युक्त्वा सा महादेवमगच्छच्छरणं किल।

अत्रिकी पत्नी ब्रह्मवादिनी अनसूया भी किसी समय रुष्ट हो अपने पतिको त्यागकर चली गयीं और मनमें यह संकल्प

करके कि 'अब मैं किसी तरह भी पुनः अत्रिमुनिके वशीभूत नहीं होऊँगी' महादेवजीकी शरणमें गयीं ॥ ९५½ ॥

निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥ ९६ ॥
अशेत मुसलेष्वेव प्रसादार्थं भवस्य सा ।

वे अत्रिमुनिके भयसे तीन सौ वर्षोंतक निराहार रहकर मुसलोंपर ही सोयीं और भगवान् शङ्करकी प्रसन्नताके लिये तपस्या करती रहीं ॥ ९६½ ॥

तामब्रवीद्धसन् देवो भविता वै सुतस्तव ॥ ९७ ॥
विना भर्त्रा च रुद्रेण भविष्यति न संशयः ।
वंशे तथैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥९८॥

तब महादेवजीने उनसे हँसते हुए कहा—'देवि ! मेरी कृपासे केवल यज्ञसम्बन्धी चरुका द्रव पीनेमात्रसे तुम्हें पतिके सहयोगके बिना ही एक पुत्र प्राप्त होगा—इसमें संशय नहीं है । वह तुम्हारे वंशमें तुम्हारे ही नामसे इच्छानुसार ख्याति प्राप्त करेगा' ॥ ९७-९८ ॥

विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।
प्रसाद्य भगवान् सिद्धिं प्राप्तवान् मधुसूदन ॥ ९९ ॥

मधुसूदन ! ऐश्वर्यशाली विकर्णने भक्तसुखदायक महादेवजीको प्रसन्न करके मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ९९ ॥

शाकल्यः संशितात्मा वै नववर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥१००॥

केशव ! शाकल्य ऋषिके मनमें सदा संशय बना रहता था । उन्होंने मनोमय यज्ञ (ध्यान) के द्वारा भगवान् शिवकी नौ सौ वर्षोंतक आराधना की ॥ १०० ॥

तं चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि ।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ॥१०१॥

तब उनसे भी संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने कहा—'वत्स ! तुम ग्रन्थकार होओगे तथा तीनों लोकोंमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति फैल जायगी ॥ १०१ ॥

अक्षयं च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्ता सुतस्तव ॥१०२॥

'तुम्हारा कुल अक्षय एवं महर्षियोंसे अलंकृत होगा । तुम्हारा पुत्र एक श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं सूत्रकार होगा' ॥ १०२ ॥

सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत् कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिवर्षशतान्यथ ॥१०३॥

सत्ययुगमें सावर्णिनामसे विख्यात एक ऋषि थे । उन्होंने यहाँ आकर छः हजार वर्षोंतक तपस्या की ॥ १०३ ॥

तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात् तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥१०४॥

तब भगवान् रुद्रने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कहा—'अनघ ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । तुम विश्वविख्यात ग्रन्थकार और अजर-अमर होओगे' ॥ १०४ ॥

शक्रेण तु पुरा देवो वाराणस्यां जनार्दन ।
आराधितोऽभूद् भक्तेन दिग्वासा भस्मगुण्ठितः ॥१०५॥
आराध्य स महादेवं देवराजमवाप्तवान् ।

जनार्दन ! पहलेकी बात है, इन्द्रने भक्तिभावके साथ काशीपुरीमें भस्मभूषित दिगम्बर महादेवजीकी आराधना की । महादेवजीकी आराधना करके ही उन्होंने देवराजपद प्राप्त किया ॥ १०५½ ॥

नारदेन तु भक्त्यासौ भव आराधितः पुरा ॥१०६॥
तस्य तुष्टो महादेवो जगौ देवगुरुर्गुरुः ।
तेजसा तपसा कीर्त्या त्वत्समो न भविष्यति ॥१०७॥
गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यसि ।

देवर्षि नारदने भी पहले भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी । इससे संतुष्ट होकर गुरुस्वरूप देवगुरु महादेवजीने उन्हें यह वरदान दिया कि 'तेज, तप और कीर्तिमें कोई तुम्हारी समता करनेवाला नहीं होगा । तुम गीत और वीणावादनके द्वारा सदा मेरा अनुसरण करोगे' ॥ १०६-१०७½ ॥

मयापि च यथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभो ॥१०८॥
साक्षात् पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ।

प्रभो ! तात माधव ! मैंने भी पूर्वकालमें साक्षात् देवाधिदेव पशुपतिका जिस प्रकार दर्शन किया था, वह प्रसङ्ग सुनिये ॥ १०८½ ॥

यदर्थं च मया देवः प्रयतेन तथा विभो ॥१०९॥
प्रबोधितो महातेजास्तं चापि शृणु विस्तरम् ।

भगवन् ! मैंने जिस उद्देश्यसे प्रयत्नपूर्वक महातेजस्वी महादेवजीको संतुष्ट किया था, वह सब विस्तारपूर्वक सुनिये ॥ १०९½ ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं देवदेवान्महेश्वरात् ॥११०॥
तत् सर्वं निखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ।

अनघ ! पूर्वकालमें मुझे देवाधिदेव महेश्वरसे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सब आज पूर्णरूपसे तुम्हें बताऊँगा ॥

पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ॥१११॥
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।

तात ! पहले सत्ययुगमें एक महायशस्वी ऋषि हो गये हैं, जो व्याघ्रपादनामसे प्रसिद्ध थे । वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे ॥ १११½ ॥

तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ॥११२॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ।
आगच्छमाश्रमं क्रीडन् मुनीनां भावितात्मनाम् ॥११३॥

उन्हींका मैं पुत्र हूँ । मेरे छोटे भाईका नाम धौम्य है । माधव ! किसी समय मैं धौम्यके साथ खेलता हुआ पवित्रात्मा मुनियोंके आश्रमपर आया ॥ ११२-११३ ॥

तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ।
लक्षितं च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥११४॥

वहाँ मैंने देखा, एक दुधारू गाय दुही जा रही थी ।

वहीं मैंने दूध देखा, जो स्वादमें अमृतके समान होता है ॥

ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तथा ।
क्षीरोदनसमायुक्तं भोजनं हि प्रयच्छ मे ॥११५॥

तब मैंने बालस्वभाववश अपनी मातासे कहा—'माँ ! मुझे खानेके लिये दूध-भात दो' ॥ ११५ ॥

अभावाच्चैव दुग्धस्य दुःखिता जननी तदा ।
ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ॥११६॥
आवयोः क्षीरमित्येव पानार्थं समुपानयत् ।

घरमें दूधका अभाव था; इसलिये मेरी माताको उस समय बड़ा दुःख हुआ । माधव ! तब वह पानीमें आटा घोलकर ले आयी और दूध कहकर दोनों भाइयोंको पीनेके लिये दे दिया ॥ ११६½ ॥

अथ गव्यं पयस्तात कदाचित् प्राशितं मया ॥११७॥
पित्राहं यज्ञकाले हि नीतो ज्ञातिकुलं महत् ।
तत्र सा क्षरते देवी दिव्या गौः सुरनन्दिनी ॥११८॥

तात ! उसके पहले एक दिन मैंने गायका दूध पीया था । पिताजी यज्ञके समय एक बड़े भारी धनी कुटुम्बीके घर मुझे ले गये थे । वहाँ दिव्य सुरभी गाय दूध दे रही थी ॥

तस्याहं तत् पयः पीत्वा रसेन ह्यमृतोपमम् ।
ज्ञात्वा क्षीरगुणांश्चैव उपलभ्य हि सम्भवम् ॥११९॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट दूधको पीकर मैं यह जान गया था कि दूधका स्वाद कैसा होता है और उसकी उपलब्धि किस प्रकार होती है ॥ ११९ ॥

स च पिष्टरसस्तात न मे प्रीतिमुपावहत् ।
ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ॥१२०॥

तात ! इसीलिये वह आटेका रस मुझे प्रिय नहीं लगा; अतः मैंने बालस्वभाववश ही अपनी मातासे कहा—॥१२०॥

नेदं क्षीरोदनं मातर्यत् त्वं मे दत्तवत्यसि ।
ततो मामब्रवीन्माता दुःखशोकसमन्विता ॥१२१॥
पुत्रस्नेहात् परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२२॥
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम् ।

'माँ ! तुमने मुझे जो दिया है, यह दूध-भात नहीं है ।' माधव ! तब मेरी माता दुःख और शोकमें मग्न हो पुत्र-स्नेहवश मुझे हृदयसे लगाकर मेरा मस्तक सूँघती हुई मुझसे बोली—'बेटा ! जो सदा वनमें रहकर कन्द, मूल और फल खाकर निर्वाह करते हैं, उन पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंको भला दूध-भात कहाँसे मिल सकता है ! ॥१२१-१२२½॥

आस्थितानां नदीं दिव्यां वालखिल्यैर्निषेविताम् ॥१२३॥
कुतः क्षीरं वनस्थानां मुनीनां गिरिवासिनाम् ।

'जो बालखिल्योंद्वारा सेवित दिव्य नदी गङ्गाका सहारा लिये बैठे हैं, पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले उन मुनियोंको दूध कहाँसे मिलेगा ? ॥ १२३½ ॥

पावनानां वनाशानां वनाश्रमनिवासिनाम् ॥१२४॥
ग्राम्याहारनिवृत्तानामारण्यफलभोजिनाम् ।

'जो पवित्र हैं, वनमें ही होनेवाली वस्तुएँ खाते हैं, वनके आश्रमोंमें ही निवास करते हैं, ग्रामीण आहारसे निवृत्त होकर जंगलके फल-मूलोंका ही भोजन करते हैं, उन्हें दूध कैसे मिल सकता है ? ॥ १२४½ ॥

नास्ति पुत्र पयोऽरण्ये सुरभीगोत्रवर्जिते ॥१२५॥
नदीगह्वरशैलेषु तीर्थेषु विविधेषु च ।
तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः ॥१२६॥

'बेटा ! यहाँ सुरभी गायकी कोई संतान नहीं है; अतः इस जंगलमें दूधका सर्वथा अभाव है । नदी, कन्दरा, पर्वत और नाना प्रकारके तीर्थोंमें तपस्यापूर्वक जपमें तत्पर रहनेवाले हम ऋषि-मुनियोंके भगवान् शङ्कर ही परम आश्रय हैं। १२५-१२६।

अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥१२७॥

'वत्स ! जो सबको वर देनेवाले, नित्य स्थिर रहनेवाले और अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् विरूपाक्षको प्रसन्न किये बिना दूध-भात और सुखदायक वस्त्र कैसे मिल सकते हैं ! ॥

तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शङ्करम् ।
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥१२८॥

'बेटा ! सदा सर्वतोभावसे उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरण लेकर उनकी कृपासे ही इच्छानुसार फल पा सकोगे' ॥१२८॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा इदमम्बामचोदयम् ॥१२९॥

शत्रुसूदन ! जननीकी वह बात सुनकर उसी समय मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर माताजीसे यह पूछा—॥ १२९ ॥

कोऽयमम्ब महादेवः स कथं च प्रसीदति ।
कुत्र वा वसते देवो द्रष्टव्यो वा कथंचन ॥१३०॥

'अम्ब ! ये महादेवजी कौन हैं ? और कैसे प्रसन्न होते हैं ? वे शिव देवता कहाँ रहते हैं और कैसे उनका दर्शन किया जा सकता है ? ॥ १३० ॥

तुष्यते वा कथं शर्वो रूपं तस्य च कीदृशम् ।
कथं ज्ञेयः प्रसन्नो वा दर्शयेज्जननि मम ॥१३१॥

'मेरी माँ ! यह बताओ कि शिवजीका रूप कैसा है ? वे कैसे संतुष्ट होते हैं ? उन्हें किस तरह जाना जाय अथवा वे कैसे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दे सकते हैं ?' ॥ १३१ ॥

एवमुक्ता तदा कृष्ण माता मे सुतवत्सला ।
मूर्धन्याघ्राय गोविन्द सबाष्पाकुललोचना ॥१३२॥
प्रमार्जन्ती च गात्राणि मम वै मधुसूदन ।
दैन्यमालम्ब्य जननी इदमाह सुरोत्तम ॥१३३॥

सच्चिदानन्दस्वरूप गोविन्द ! सुरश्रेष्ठ मधुसूदन ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर मेरी पुत्रवत्सला माताके नेत्रोंमें आँसू भर

आये। वह मेरा मस्तक सूँघकर मेरे सभी अङ्गोंपर हाथ फेरने लगी और कुछ दीन-सी होकर यों बोली ॥१३२-१३३॥

अम्बोवाच

दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः।
दुराबाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृश्यो ह्यकृतात्मभिः ॥१३४॥

माताने कहा—जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे लोगोंके लिये महादेवजीका ज्ञान होना बहुत कठिन है। उनका मनसे धारण करनेमें आना मुश्किल है। उनकी प्राप्तिके मार्गमें बड़े-बड़े विघ्न हैं। दुस्तर बाधाएँ हैं। उनका ग्रहण और दर्शन होना भी अत्यन्त कठिन है॥ १३४ ॥

यस्य रूपाण्यनेकानि प्रवदन्ति मनीषिणः।
स्थानानि च विचित्राणि प्रसादाश्चाप्यनेकशः ॥१३५॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि भगवान् शङ्करके अनेक रूप हैं। उनके रहनेके विचित्र स्थान हैं और उनका कृपाप्रसाद भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता है ॥ १३५ ॥

को हि तत्त्वेन तद् वेद ईशस्य चरितं शुभम्।
कृतवान् यानि रूपाणि देवदेवः पुरा किल।
क्रीडते च तथा शर्वः प्रसीदति यथा च वै ॥१३६॥

पूर्वकालमें देवाधिदेव महादेवने जो-जो रूप धारण किये हैं, ईश्वरके उस शुभ चरित्रको कौन यथार्थरूपसे जानता है ? वे कैसे क्रीडा करते हैं और किस तरह प्रसन्न होते हैं ? यह कौन समझ सकता है ॥ १३६ ॥

हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः।
भक्तानामनुकम्पार्थं दर्शनं च यथाश्रुतम् ॥१३७॥
मुनीनां ब्रुवतां दिव्यमीशानचरितं शुभम्।

वे विश्वरूपधारी महेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान हैं। वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये किस प्रकार दर्शन देते हैं ? यह शङ्करजीके दिव्य एवं कल्याणमय चरित्रका वर्णन करनेवाले मुनियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है वह बताऊँगी ॥ १३७½ ॥

कृतवान् यानि रूपाणि कथितानि दिवौकसैः ॥१३८॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां शृणु वत्स समासतः।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥१३९॥

वत्स ! उन्होंने ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेके लिये देवताओं-द्वारा कथित जो-जो रूप ग्रहण किये हैं, उन्हें संक्षेपसे सुनो। वत्स ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वे सारी बातें मैं तुम्हें बताऊँगी ॥ १३८–१३९ ॥

अम्बोवाच

ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥१४०॥

ऐसा कहकर माता फिर कहने लगी—भगवान् शिव ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार तथा सम्पूर्ण देवताओंका शरीर धारण करते हैं ॥ १४० ॥

नराणां देवनारीणां तथा प्रेतपिशाचयोः।
किरातशबराणां च जलजानामनेकशः ॥१४१॥
करोति भगवान् रूपमाटव्यशबराण्यपि।

वे भगवान् पुरुषों, देवाङ्गनाओं, प्रेतों, पिशाचों, किरातों, शबरों, अनेकानेक जलजन्तुओं तथा जंगली भीलोंके भी रूप ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४१½ ॥

कूर्मो मत्स्यस्तथा शङ्खः प्रवालाङ्कुरभूषणः ॥१४२॥
यक्षराक्षससर्पाणां दैत्यदानवयोरपि।
वपुर्धारयते देवो भूयश्च बिलवासिनाम् ॥१४३॥

कूर्म, मत्स्य, शङ्ख, नये-नये पल्लवोंके अङ्कुरसे सुशोभित होनेवाले वसंत आदिके रूपोंमें भी वे ही प्रकट होते हैं। वे महादेवजी यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य, दानव और पाताल-वासियोंका भी रूप धारण करते हैं ॥ १४२-१४३ ॥

व्याघ्रसिंहमृगाणां च तरक्ष्वृक्षपतत्रिणाम्।
उलूकश्वशृगालानां रूपाणि कुरुतेऽपि च ॥१४४॥

वे व्याघ्र, सिंह, मृग, तरक्षु, रीछ, पक्षी, उल्लू, कुत्ते और सियारोंके भी रूप धारण कर लेते हैं ॥ १४४ ॥

हंसकाकमयूराणां कृकलासकसारसाम्।
रूपाणि च बलाकानां गृध्रचक्राङ्गयोरपि ॥१४५॥
करोति वा स रूपाणि धारयत्यपि पर्वतम्।
गोरूपं च महादेवो हस्त्यश्वोष्ट्रखराकृतिः ॥१४६॥

हंस, काक, मोर, गिरगिट, सारस, बगले, गीध और चक्राङ्ग (हंसविशेष) के भी रूप वे महादेवजी धारण करते हैं। पर्वत, गाय, हाथी, घोड़े, ऊँट और गदहेके आकारमें भी वे प्रकट हो जाते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

छागशार्दूलरूपश्च अनेकमृगरूपधृक्।
अण्डजानां च दिव्यानां वपुर्धारयते भवः ॥१४७॥

वे बकरे और शार्दूलके रूपमें भी उपलब्ध होते हैं। नाना प्रकारके मृगों—वन्य पशुओंके भी रूप धारण करते हैं तथा भगवान् शिव दिव्य पक्षियोंके भी रूप धारण कर लेते हैं ॥ १४७ ॥

दण्डी छत्री च कुण्डी च द्विजानां धारणस्तथा।
षण्मुखो वै बहुमुखस्त्रिनेत्रो बहुशीर्षकः ॥१४८॥

वे द्विजोंके चिह्न दण्ड, छत्र और कुण्ड (कमण्डलु) धारण करते हैं। कभी छः मुख और कभी बहुत-से मुखवाले हो जाते हैं। कभी तीन नेत्र धारण करते हैं। कभी बहुत-से मस्तक बना लेते हैं ॥ १४८ ॥

अनेककटिपादश्च अनेकोदरवक्त्रधृक्।
अनेकपाणिपार्श्वश्च अनेकगणसंवृतः ॥१४९॥

उनके पैर और कटिभाग अनेक हैं। वे बहुसंख्यक पेट और मुख धारण करते हैं। उनके हाथ और पार्श्वभाग भी अनेकानेक हैं। अनेक पार्षदगण उन्हें सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ १४९ ॥

ऋषिगन्धर्वरूपश्च सिद्धचारणरूपधृक् ।
भस्मपाण्डुरगात्रश्च चन्द्रार्धकृतभूषणः ॥१५०॥

वे ऋषि और गन्धर्वरूप हैं। सिद्ध और चारणोंके भी रूप धारण करते हैं। उनका सारा शरीर भस्म रमाये रहनेसे सफेद जान पड़ता है। वे ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं ॥ १५० ॥

अनेकरावसंघुष्टश्चानेकस्तुतिसंस्कृतः ।
सर्वभूतान्तकः सर्वः सर्वलोकप्रतिष्ठितः ॥१५१॥

उनके पास अनेक प्रकारके शब्दोंका घोष होता रहता है। वे अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे सम्मानित होते हैं, समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, स्वयं सर्वस्वरूप हैं तथा सबके अन्तरात्मारूपसे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १५१ ॥

सर्वलोकान्तरात्मा च सर्वगः सर्ववाद्यपि ।
सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम् ॥१५२॥

वे सम्पूर्ण जगत्के अन्तरात्मा, सर्वव्यापी और सर्ववादी हैं, उन भगवान् शिवको सर्वत्र और सम्पूर्ण देहधारियोंके हृदयमें विराजमान जानना चाहिये ॥ १५२ ॥

यो हि यं कामयेत् कामं यस्मिन्नर्थेऽर्च्यते पुनः ।
तत् सर्वं वेत्ति देवेशस्तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥१५३॥

जो जिस मनोरथको चाहता है और जिस उद्देश्यसे उसके द्वारा भगवान्की अर्चना की जाती है, देवेश्वर भगवान् शिव वह सब जानते हैं। इसलिये यदि तुम कोई वस्तु चाहते हो तो उन्हींकी शरण लो ॥१५३ ॥

नन्दते कुप्यते चापि तथा हुंकारयत्यपि ।
चक्री शूली गदापाणिर्मुसली खड्गपट्टिशी ॥१५४॥

वे कभी आनन्दित रहकर आनन्द देते, कभी कुपित होकर कोप प्रकट करते और कभी हुंकार करते हैं, अपने हाथोंमें चक्र, शूल, गदा, मुसल, खड्ग और पट्टिश धारण करते हैं ॥ १५४ ॥

भूधरो नागमौञ्जी च नागकुण्डलकुण्डली ।
नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः ॥१५५॥

वे धरणीधर शेषनागरूप हैं। वे नागकी मेखला धारण करते हैं। नागमय कुण्डलसे कुण्डलधारी होते हैं। नागोंका ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं तथा नागचर्मका ही उत्तरीय (चादर) लिये रहते हैं ॥ १५५ ॥

हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम् ।
वादयत्यपि वाद्यानि विचित्राणि गणैर्युतः ॥१५६॥

वे अपने गणोंके साथ रहकर हँसते हैं, गाते हैं, मनोहर नृत्य करते हैं और विचित्र बाजे भी बजाते हैं ॥ १५६ ॥

वल्गते जृम्भते चैव रुदते रोदयत्यपि ।
उन्मत्तमत्तरूपं च भाषते चापि सुस्वरः ॥१५७॥

भगवान् रुद्र उछलते-कूदते हैं। जँभाई लेते हैं। रोते हैं, रुलाते हैं। कभी पागलों और मतवालोंकी तरह बातें करते हैं और कभी मधुर स्वरसे उत्तम वचन बोलते हैं ॥ १५७ ॥

अतीव हसते रौद्रस्त्रासयन् नयनैर्जनम् ।
जागर्ति चैव स्वपिति जृम्भते च यथासुखम् ॥१५८॥

कभी भयंकर रूप धारण करके अपने नेत्रोंद्वारा लोगोंमें त्रास उत्पन्न करते हुए जोर-जोरसे अट्टहास करते, जागते, सोते और मौजसे अँगड़ाई लेते हैं ॥ १५८ ॥

जपते जप्यते चैव तपते तप्यते पुनः ।
ददाति प्रतिगृह्णाति युञ्जते ध्यायतेऽपि च ॥१५९॥

वे जप करते हैं और वे ही जपे जाते हैं; तप करते हैं और तपे जाते हैं (उन्हींके उद्देश्यसे तप किया जाता है)। वे दान देते और दान लेते हैं तथा योग और ध्यान करते हैं ॥

वेदीमध्ये तथा यूपे गोष्ठमध्ये हुताशने ।
दृश्यते दृश्यते चापि बालो वृद्धो युवा तथा ॥१६०॥

यज्ञकी वेदीमें, यूपमें, गोशालामें तथा प्रज्वलित अग्निमें वे ही दिखायी देते हैं। बालक, वृद्ध और तरुणरूपमें भी उनका दर्शन होता है ॥ १६० ॥

क्रीडते ऋषिकन्याभिर्ऋषिपत्नीभिरेव च ।
ऊर्ध्वकेशो महाशेफो नग्नो विकृतलोचनः ॥१६१॥

वे ऋषिकन्याओं तथा मुनिपत्नियोंके साथ खेला करते हैं। कभी ऊर्ध्वकेश (ऊपर उठे हुए बालवाले), कभी महालिङ्ग, कभी नंग-धड़ंग और कभी विकराल नेत्रोंसे युक्त हो जाते हैं ॥ १६१ ॥

गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डुरो धूमलोहितः ।
विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः ॥१६२॥

कभी गोरे, कभी साँवले, कभी काले, कभी सफेद, कभी धूएँके समान रंगवाले एवं लोहित दिखायी देते हैं। कभी विकृत नेत्रोंसे युक्त होते हैं। कभी सुन्दर विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होते हैं। कभी दिगम्बर दिखायी देते हैं और कभी सब प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होते हैं ॥ १६२ ॥

अरूपस्याद्यरूपस्य अतिरूपाद्यरूपिणः ।
अनाद्यन्तमजस्यान्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥१६३॥

वे रूपरहित हैं। उनका स्वरूप ही सबका आदिकारण है। वे रूपसे अतीत हैं। सबसे पहले जिसकी सृष्टि हुई है, जल उन्हींका रूप है। इन अजन्मा महादेवजीका स्वरूप आदि-अन्तसे रहित है। उसे कौन ठीक-ठीक जान सकता है॥

हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योगसंज्ञितः ।
ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥१६४॥

भगवान् शङ्कर प्राणियोंके हृदयमें प्राण, मन एवं जीवात्मारूपसे विराजमान हैं। वे ही योगस्वरूप, योगी, ध्यान तथा परमात्मा हैं। भगवान् महेश्वर भक्तिभावसे ही गृहीत होते हैं ॥ १६४ ॥

वादको गायनश्चैव सहस्रशतलोचनः ।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च त्रिवक्त्रोऽनेकवक्त्रकः ॥१६५॥

वे बाजा बजानेवाले और गीत गानेवाले हैं। उनके लाखों नेत्र हैं। वे एकमुख, द्विमुख, त्रिमुख और अनेक मुखवाले हैं ॥ १६५ ॥

तद्भक्तस्तद्गतो नित्यं तन्निष्ठस्तत्परायणः।
भज पुत्र महादेवं ततः प्राप्स्यसि चेप्सितम् ॥१६६॥

बेटा! तुम उन्हींके भक्त बनकर उन्हींमें आसक्त रहो। सदा उन्हींपर निर्भर रहो और उन्हींके शरणागत होकर महादेवजीका निरन्तर भजन करते रहो। इससे तुम्हें मनोवाञ्छित वस्तुकी प्राप्ति होगी ॥ १६६ ॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन्।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥१६७॥

शत्रुसूदन श्रीकृष्ण! माताका वह उपदेश सुनकर तभीसे महादेवजीके प्रति मेरी सुदृढ़ भक्ति हो गयी ॥ १६७ ॥

ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शङ्करम्।
एकं वर्षसहस्रं तु वामाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥१६८॥

तदनन्तर मैंने तपस्याका आश्रय ले भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। एक हजार वर्षतक केवल बायें पैरके अँगूठेके अग्रभागके बलपर मैं खड़ा रहा ॥ १६८ ॥

एकं वर्षशतं चैव फलाहारस्ततोऽभवम्।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ॥१६९॥

पहले तो एक सौ वर्षोंतक मैं फलाहारी रहा। दूसरे शतकमें गिरे-पड़े सूखे पत्ते चबाकर रहा और तीसरे शतकमें केवल जल पीकर ही प्राण धारण करता रहा ॥ १६९ ॥

शतानि सप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम्।
एकं वर्षसहस्रं तु दिव्यमाराधितो मया ॥१७०॥

फिर शेष सात सौ वर्षोंतक केवल हवा पीकर रहा। इस प्रकार मैंने एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक उनकी आराधना की॥

ततस्तुष्टो महादेवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
एकभक्त इति ज्ञात्वा जिज्ञासां कुरुते तदा ॥१७१॥

तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् महादेव मुझे अपना अनन्यभक्त जानकर संतुष्ट हुए और मेरी परीक्षा लेने लगे ॥ १७१ ॥

शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥१७२॥

उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रका रूप धारण करके पदार्पण किया। उस समय उनके सहस्र नेत्र शोभा पा रहे थे। उन महायशस्वी इन्द्रके हाथमें वज्र प्रकाशित हो रहा था ॥ १७२ ॥

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं मदोत्कटम्।
आवेष्टितकरं घोरं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥१७३॥
समास्थितः स भगवान् दीप्यमानः स्वतेजसा।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥१७४॥

वे भगवान् इन्द्र लाल नेत्र और खड़े कानवाले, सुधाके समान उज्ज्वल, मुड़ी हुई सूँड़से सुशोभित, चार दाँतोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर मदसे उन्मत्त महान् गजराज ऐरावतकी पीठपर बैठकर अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए वहाँ पधारे। उनके मस्तकपर मुकुट, गलेमें हार और भुजाओंमें केयूर शोभा दे रहे थे ॥ १७३-१७४ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥१७५॥

सिरपर श्वेत छत्र तना हुआ था। अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही थीं और दिव्य गन्धर्वोंके संगीतकी मनोरम ध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी ॥ १७५ ॥

ततो मामाह देवेन्द्रस्तुष्टस्तेऽहं द्विजोत्तम।
वरं वृणीष्व मत्तस्त्वं यत् ते मनसि वर्तते ॥१७६॥
शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाभवम्।
अब्रुवं च तदा हृष्टो देवराजमिदं वचः ॥१७७॥

उस समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे मनमें जो वर लेनेकी इच्छा हो, वही मुझसे माँग लो।' इन्द्रकी बात सुनकर मेरा मन प्रसन्न नहीं हुआ। मैंने ऊपरसे हर्ष प्रकट करते हुए देवराजसे यह कहा—॥ १७६-१७७ ॥

नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात्।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१७८॥

'सौम्य! मैं महादेवजीके सिवा तुमसे या दूसरे किसी देवतासे वर लेना नहीं चाहता। यह मैं सच्ची बात कहता हूँ

सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत् सुनिश्चितम्।
न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥१७९॥

'इन्द्र! हमारा यह कथन सत्य है, सत्य है और सुनिश्चित है। मुझे महादेवजीको छोड़कर और कोई बात अच्छी ही नहीं लगती है ॥ १७९ ॥

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः
कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे
त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥१८०॥

'मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ; परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है ॥ १८० ॥

जन्म श्वपाकमध्येऽपि
मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य।
मा वानीश्वरभक्तो
भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥१८१॥

'यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी

हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है। परंतु भगवान् शिवकी अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता ॥ १८१ ॥

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो
नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य।
भवति हि सुरासुरगुरौ
यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥१८२॥

'कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुरगुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

अलमन्याभिस्तेषां
कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो
हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥१८३॥

'जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं ॥

हरचरणनिरतमतिना
भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति
हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥१८४॥

'कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है ॥ १८४ ॥

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥१८५॥

'जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है ॥ १८५ ॥

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया ।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥१८६॥

श्वापि महेश्वरवचनाद्
भवामि स हि नः परः कामः ।
त्रिदशगणराज्यमपि खलु
नेच्छाम्यमहेश्वराज्ञप्तम् ॥१८७॥

'शक्र ! मैं भगवान् शङ्करकी आज्ञासे कीट या पतंग भी हो सकता हूँ, परंतु तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका राज्य भी नहीं लेना चाहता । महेश्वरके कहनेसे यदि मैं कुत्ता भी हो जाऊँ तो उसे मैं सर्वोत्तम मनोरथकी पूर्ति समझूँगा; परंतु महादेवजीके सिवा दूसरे किसीसे प्राप्त हुए देवताओंके राज्यको लेनेकी भी मुझे इच्छा नहीं है ॥ १८६-१८७ ॥

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं
न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम् ।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि
हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥१८८॥

'न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ । न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ । भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है । मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ ॥ १८८ ॥

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलि-
र्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातै-
र्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

'जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातोंसे प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा ॥१८९॥

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं
त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभते शान्तिम् ॥१९०॥

'जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सारतत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है ॥ १९० ॥

यदि नाम जन्म भूयो
भवति मदीयैः पुनर्दोषैः ।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि
भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥१९१॥

'यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें मेरी अक्षय भक्ति हो' ॥ १९१ ॥

शक्र उवाच

कः पुनर्भवने हेतुरीशे कारणकारणे ।
येन शर्वादृतेऽन्यस्मात् प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥१९२॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन् ! कारणके भी कारण जगदीश्वर शिवकी सत्तामें क्या प्रमाण है, जिससे तुम शिवके अतिरिक्त दूसरे किसी देवताका कृपा-प्रसाद ग्रहण करना नहीं चाहते ?॥

उपमन्युरुवाच

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं यमाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
नित्यमेकमनेकं च वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९३॥

उपमन्युने कहा—देवराज ! ब्रह्मवादी महात्मा जिन्हें विभिन्न मतोंके अनुसार सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, नित्य, एक और अनेक कहते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वर माँगेंगे ॥१९३॥

अनादिमध्यपर्यन्तं ज्ञानैश्वर्यमचिन्तितम् ।
आत्मानं परमं यस्माद् वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९४॥

जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, ज्ञान ही जिनका ऐश्वर्य है तथा जो चित्तकी चिन्तनशक्तिसे भी परे हैं और इन्हीं कारणोंसे जिन्हें परमात्मा कहा जाता है, उन्हीं महादेवजीसे हम वर प्राप्त करेंगे ॥ १९४ ॥

ऐश्वर्यं सकलं यस्मादनुत्पादितमव्ययम् ।
अबीजाद् बीजसम्भूतं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९५॥

योगीलोग महादेवजीके समस्त ऐश्वर्यको ही नित्य सिद्ध और अविनाशी बताते हैं। वे कारणरहित हैं और उन्हींसे समस्त कारणोंकी उत्पत्ति हुई है। अतः महादेवजीकी ऐसी महिमा है, इसलिये हम उन्हींसे वर माँगते हैं ॥ १९५ ॥

तमसः परमं ज्योतिस्तपस्तद्वृत्तिनां परम् ।
यं ज्ञात्वा नानुशोचन्ति वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९६॥

जो अज्ञानान्धकारसे परे चिन्मय परमज्योतिःस्वरूप हैं, तपस्वीजनोंके परम तप हैं तथा जिनका ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं, उन्हीं भगवान् शिवसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १९६ ॥

भूतभावनभावज्ञं सर्वभूताभिभावनम् ।
सर्वगं सर्वदं देवं पूजयामि पुरन्दर ॥ १९७॥

पुरंदर ! जो सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक तथा उनके मनोभावोंको जाननेवाले हैं, समस्त प्राणियोंके पराभव (विलय) के भी जो एकमात्र स्थान हैं तथा जो सर्वव्यापी और सब कुछ देनेमें समर्थ हैं, उन्हीं महादेवजीकी मैं पूजा करता हूँ ।१९७।

हेतुवादैर्विनिर्मुक्तं सांख्ययोगार्थदं परम् ।
यमुपासन्ति तत्त्वज्ञा वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९८॥

जो युक्तिवादसे दूर हैं, जो अपने भक्तोंको सांख्य और योगका परम प्रयोजन (आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और ब्रह्मसाक्षात्कार) प्रदान करनेवाले हैं, तत्त्वज्ञ पुरुष जिनकी सदा उपासना करते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वरके लिये प्रार्थना करते हैं ॥ १९८ ॥

मघवन् मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९९॥

मघवन् ! ज्ञानी पुरुष जिन्हें देवेश्वर इन्द्ररूप तथा सम्पूर्णभूतोंके गुरुदेव बताते हैं, उन्हींसे हम वर लेना चाहते हैं।१९९।

यः पूर्वमसृजद् देवं ब्रह्माणं लोकभावनम् ।
अण्डमाकाशमापूर्य वरं तस्माद् वृणीमहे ॥२००॥

जिन्होंने पूर्वकालमें आकाशव्यापी ब्रह्माण्ड एवं लोकस्रष्टा देवेश्वर ब्रह्माको उत्पन्न किया, उन्हीं महादेवजीसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २०० ॥

अग्निरापोऽनिलः पृथ्वी खं बुद्धिश्च मनो महान् ।
स्रष्टा चैषां भवेद् योऽन्यो ब्रूहि कः परमेश्वरात्॥२०१॥

देवराज ! जो अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबका स्रष्टा हो, वह परमेश्वरसे भिन्न दूसरा कौन पुरुष है ? यह बताओ ॥ २०१ ॥

मनो मतिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रूहि चैषां भवेच्छक्र कोऽन्योऽस्ति परमं शिवात्॥२०२॥

शक्र ! जो मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और दस इन्द्रिय—इन सबकी सृष्टि कर सके, ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान् शिवसे भिन्न अथवा उत्कृष्ट हो ? यह बताओ।२०२।

स्रष्टारं भुवनस्येह वदन्तीह पितामहम् ।
आराध्य स तु देवेशमश्नुते महतीं श्रियम् ॥२०३॥

ज्ञानी महात्मा ब्रह्माजीको ही सम्पूर्ण विश्वका स्रष्टा बताते हैं। परंतु वे देवेश्वर महादेवजीकी आराधना करके ही महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २०३ ॥

भगवत्युत्तमैश्वर्यं ब्रह्मविष्णुपुरोगमम् ।
विद्यते वै महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०४॥

जिस भगवान्में ब्रह्मा और विष्णुसे भी उत्तम ऐश्वर्य है, वह परमेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन है ? यह बताओ तो सही ॥ २०४ ॥

दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनात् ।
कोऽन्यः शक्नोति देवेशाद् दितेः सम्पादितुं सुतान् ॥

दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर हिरण्यकशिपु आदिमें जो तीनों लोकोंपर आधिपत्य स्थापित करने और अपने शत्रुओंको कुचल देनेकी शक्ति सुनी गयी है, उसपर दृष्टिपात करके मैं यह पूछ रहा हूँ कि देवेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो दितिके पुत्रोंको इस प्रकार अनुपम ऐश्वर्यसे सम्पन्न कर सके ? ॥ २०५ ॥

दिक्कालसूर्यतेजांसि ग्रहवाय्विन्दुतारकाः ।
विद्धि त्वेते महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०६॥

दिशा, काल, सूर्य, अग्नि, अन्य ग्रह, वायु, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये महादेवजीकी कृपासे ही ऐसे प्रभावशाली हुए हैं। इस बातको तुम जानते हो, अतः तुम्हीं बताओ, परमेश्वर महादेवजीके सिवा दूसरा कौन ऐसी अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न है ? ॥ २०६ ॥

अथोत्पत्तिविनाशे वा यज्ञस्य त्रिपुरस्य वा ।
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनः ॥२०७॥

यज्ञकी उत्पत्ति और त्रिपुरका विनाश भी उन्हींके द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्रधान-प्रधान दैत्यों और दानवोंको आधिपत्य प्रदान करने और शत्रुमर्दनकी शक्ति देनेवाले भी वे ही हैं ॥

किं चात्र बहुभिः सूक्तैर्हेतुवादैः पुरंदर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥२०८॥
पूजितं सिद्धगन्धर्वैर्देवैश्च ऋषिभिस्तथा ।
देवदेवप्रसादेन तत् सर्वं कुशिकोत्तम ॥२०९॥

सुरश्रेष्ठ पुरंदर ! कौशिकवंशावतंस इन्द्र ! यहाँ बहुत-सी युक्तियुक्त सूक्तियोंको सुनानेसे क्या लाभ ? आप जो सहस्र

नेत्रोंसे सुशोभित हैं तथा आपको देखकर सिद्ध, गन्धर्व, देवता और ऋषि जो सम्मान प्रदर्शित करते हैं, वह सब देवाधिदेव महादेवके प्रसादसे ही सम्भव हुआ है ॥ २०८-२०९ ॥

अव्यक्तमुक्तकेशाय सर्वगस्येदमात्मकम् ।
चेतनाचेतनाद्येषु शक्र विद्धि महेश्वरात् ॥२१०॥

इन्द्र ! चेतन और अचेतन आदि समस्त पदार्थोंमें 'यह ऐसा है' इस प्रकारका जो लक्षण देखा जाता है, वह सब अव्यक्त, मुक्तकेश एवं सर्वव्यापी महादेवजीके ही प्रभावसे प्रकट है; अतएव सब कुछ महेश्वरसे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा समझो ॥ २१० ॥

भुवाद्येषु महान्तेषु लोकालोकान्तरेषु च ।
द्वीपस्थानेषु मेरोश्च विभवेष्वन्तरेषु च ॥२११॥
भगवन् मघवन् देवं वदन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

भगवान् देवराज ! भूलोकसे लेकर महर्लोकतक समस्त लोक-लोकान्तरोंमें, पर्वतके मध्यभागमें, सम्पूर्ण द्वीपस्थानोंमें, मेरुपर्वतके वैभवपूर्ण प्रान्तोंमें सर्वत्र ही तत्त्वदर्शी पुरुष महादेवजीकी स्थिति बताते हैं ॥ २११½ ॥

यदि देवाः सुराः शक्र पश्यन्त्यन्यां भवाद् गतिम्॥२१२॥
किं न गच्छन्ति शरणं मर्दिताश्चासुरैः सुराः ।

शक्र ! यदि तेजस्वी देवगण महादेवजीके सिवा दूसरा कोई सहारा देखते हैं तो असुरोंद्वारा कुचले जानेपर वे उसीकी शरणमें क्यों नहीं जाते हैं ? ॥ २१२½ ॥

अभिघातेषु देवानां सयक्षोरगरक्षसाम् ॥२१३॥
परस्परविनाशेषु स्वस्थानैश्वर्यदो भवः ।

देवता, यक्ष, नाग और राक्षस—इनमें जब संघर्ष होता और परस्पर एक-दूसरेसे विनाशका अवसर उपस्थित होता है, तब उन्हें अपने स्थान और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले भगवान् शिव ही हैं ॥ २१३½ ॥

अन्धकस्याथ शुक्रस्य दुन्दुभेर्महिषस्य च ॥२१४॥
यक्षेन्द्रबलरक्षःसु निवातकवचेषु च ।
वरदानावघाताय ब्रूहि कोऽन्यो महेश्वरात् ॥२१५॥

बताओ तो सही, अन्धकको, शुक्रको, दुन्दुभिको, महिषको, यक्षराज कुबेरकी सेनाके राक्षसोंको तथा निवातकवच नामक दानवोंको वरदान देने और उनका विनाश करनेमें भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरा कौन समर्थ है ? ।२१४-२१५।

सुरासुरगुरोर्वक्त्रे कस्य रेतः पुरा हुतम् ।
कस्य वान्यस्य रेतस्तद् येन हैमो गिरिः कृतः ॥२१६॥

पूर्वकालमें महादेवजीके सिवा दूसरे किस देवताके वीर्यकी देवासुरगुरु अग्निके मुखमें आहुति दी गयी थी ? जिसके द्वारा सुवर्णमय मेरुगिरिका निर्माण हुआ, वह भगवान् शिवके सिवा और किस देवताका वीर्य था ? ॥ २१६ ॥

दिग्वासाः कीर्त्यते कोऽन्यो लोके कश्चोर्ध्वरेतसः।
कस्य चार्धे स्थिता कान्ता अनङ्गः केन निर्जितः ॥२१७॥

दूसरा कौन दिगम्बर कहलाता है ? संसारमें दूसरा कौन ऊर्ध्वरेता है ? किसके आधे शरीरमें धर्मपत्नी स्थित रहती है तथा किसने कामदेवको परास्त किया है ? ॥ २१७ ॥

ब्रूहीन्द्र परमं स्थानं कस्य देवैः प्रशस्यते ।
श्मशाने कस्य क्रीडार्थं नृत्ते वा कोऽभिभाष्यते॥२१८॥

इन्द्र ! बताओ तो सही, किसके उत्कृष्ट स्थानकी देवताओंद्वारा प्रशंसा की जाती है ? किसकी क्रीड़ाके लिये श्मशानभूमिमें स्थान नियत किया गया है ? तथा ताण्डव-नृत्यमें कौन सर्वोपरि बताया जाता है ॥ २१८ ॥

कस्यैश्वर्यं समानं च भूतैः को वापि क्रीडते ।
कस्य तुल्यबला देव गणाश्चैश्वर्यदर्पिताः ॥२१९॥

भगवान् शङ्करके समान दूसरे किसका ऐश्वर्य है ? कौन भूतोंके साथ क्रीड़ा करता है ? देव ! किसके पार्षदगण स्वामीके समान ही बलवान् और ऐश्वर्यपर अभिमान करनेवाले हैं ? ॥

घुष्यते ह्यचलं स्थानं कस्य त्रैलोक्यपूजितम् ।
वर्षते तपते कोऽन्यो ज्वलते तेजसा च कः ॥२२०॥

किसका स्थान तीनों लोकोंमें पूजित और अविचल बताया जाता है। भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कौन वर्षा करता है ? कौन तपता है ? और कौन अपने तेजसे प्रज्वलित होता है ? ॥

कस्मादोषधिसम्पत्तिः को वा धारयते वसु ।
प्रकामं क्रीडते को वा त्रैलोक्ये सचराचरे ॥२२१॥

किससे ओषधियाँ—खेती-बारी या शस्य-सम्पत्ति बढ़ती है ? कौन धनका धारण-पोषण करता है ? कौन चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता है ? ।२२१।

ज्ञानसिद्धिक्रियायोगैः सेव्यमानश्च योगिभिः ।
ऋषिगन्धर्वसिद्धैश्च विहितं कारणं परम् ॥२२२॥

योगीजन ज्ञान, सिद्धि और क्रिया-योगद्वारा भगवान् शिवकी ही सेवा करते हैं तथा ऋषि, गन्धर्व और सिद्धगण उन्हें ही परम कारण मानकर उनका आश्रय लेते हैं ॥२२२॥

कर्मयज्ञक्रियायोगैः सेव्यमानः सुरासुरैः ।
नित्यं कर्मफलैर्हीनं तमहं कारणं वदे ॥२२३॥

देवता और असुर सब लोग कर्म, यज्ञ और क्रियायोगद्वारा सदा जिनकी सेवा करते हैं, उन कर्मफलरहित महादेवजीको मैं सबका कारण कहता हूँ ॥ २२३ ॥

स्थूलं सूक्ष्ममनौपम्यमग्राह्यं गुणगोचरम् ।
गुणहीनं गुणाध्यक्षं परं माहेश्वरं पदम् ॥२२४॥

महादेवजीका परमपद स्थूल, सूक्ष्म, उपमारहित, इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य, सगुण, निर्गुण तथा गुणोंका नियामक है।२२४।

विश्वेशं कारणगुरुं लोकालोकान्तकारणम् ।
भूताभूतभविष्यच्च जनकं सर्वकारणम् ॥२२५॥
अक्षराक्षरमव्यक्तं विद्याविद्ये कृताकृते ।
धर्माधर्मौ यतः शक्र तमहं कारणं ब्रुवे ॥२२६॥

इन्द्र ! जो सम्पूर्ण विश्वके अधीश्वर, प्रकृतिके भी नियामक,

लोक (जगत्की सृष्टि) तथा सम्पूर्ण लोकोंके संहारके भी कारण हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य–तीनों काल जिनके ही स्वरूप हैं, जो सबके उत्पादक एवं कारण हैं, क्षर अक्षर, अव्यक्त, विद्या-अविद्या, कृत-अकृत तथा धर्म और अधर्म जिनसे ही प्रकट हुए हैं, उन महादेवजीको ही मैं सबका परम कारण बताता हूँ ॥ २२५-२२६ ॥

प्रत्यक्षमिह देवेन्द्र पश्य लिङ्गं भगाङ्कितम् ।
देवदेवेन रुद्रेण सृष्टिसंहारहेतुना ॥२२७॥

देवेन्द्र ! सृष्टि और संहारके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् रुद्रने जो भग-चिह्नित लिङ्गमूर्ति धारण की है, उसे आप यहाँ प्रत्यक्ष देख लें । यह उनके कारण-स्वरूपका परिचायक है ॥ २२७ ॥

मात्रा पूर्वं ममाख्यातं कारणं लोकलक्षणम् ।
नास्ति चेशात् परं शक्र तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥२२८॥

इन्द्र ! मेरी माताने पहले कहा था कि महादेवजीके अतिरिक्त अथवा उनसे बढ़कर कोई लोकरूपी कार्यका कारण नहीं है; अतः यदि किसी अभीष्ट वस्तुके पानेकी तुम्हारी इच्छा हो तो भगवान् शङ्करकी ही शरण लो ॥ २२८ ॥

प्रत्यक्षं ननु ते सुरेश विदितं संयोगलिङ्गोद्भवं
त्रैलोक्यं सविकारनिर्गुण गणं ब्रह्मादिरेतोद्भवम् ।
यद्ब्रह्मेन्द्रहुताशविष्णुसहिता देवाश्च दैत्येश्वरा
नान्यत् कामसहस्रकल्पितधियः शंसन्ति ईशात् परम्॥
तं देवं सचराचरस्य जगतो व्याख्यातवेद्योत्तमं
कामार्थी वरयामि संयतमना मोक्षाय सद्यः शिवम्॥२२९

सुरेश्वर ! तुम्हें प्रत्यक्ष विदित है कि ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंके संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह बद्ध और मुक्त जीवोंसे युक्त त्रिभुवन भग और लिङ्गसे प्रकट हुआ है तथा सहस्रों कामनाओंसे युक्त बुद्धिवाले तथा ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि एवं विष्णुसहित सम्पूर्ण देवता और दैत्यराज महादेवजीसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं बताते हैं । जो सम्पूर्ण चराचर जगत्के लिये वेद-विख्यात सर्वोत्तम जाननेयोग्य तत्त्व हैं, उन्हीं कल्याणमय देव भगवान् शङ्करका कामनापूर्तिके लिये वरण करता हूँ तथा संयतचित्त होकर सद्यःमुक्तिके लिये भी उन्हींसे प्रार्थना करता हूँ ॥ २२९ ॥

हेतुभिर्वा किमन्यैस्तैरीशः कारणकारणम् ।
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरैः ॥२३०॥

दूसरे-दूसरे कारणोंको बतलानेसे क्या लाभ ? भगवान् शङ्कर इसलिये भी समस्त कारणोंके भी कारण सिद्ध होते हैं कि हमने देवताओंद्वारा दूसरे किसीके लिङ्गको पूजित होते नहीं सुना है ॥ २३० ॥

कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥२३१॥

भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरे किसके लिङ्गकी सम्पूर्ण देवता पूजा करते हैं अथवा पहले कभी उन्होंने पूजा की है ? यदि तुम्हारे सुननेमें आया हो तो बताओ ॥ २३१ ॥

यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः ।
अर्चयध्वं सदा लिङ्गं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः ॥२३२॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा सम्पूर्ण देवताओंसहित तुम सदा ही शिवलिङ्गकी पूजा करते आये हो; इसलिये भगवान् शिव ही सबसे श्रेष्ठतम देवता हैं ॥ २३२ ॥

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥२३३॥

प्रजाओंके शरीरमें न तो पद्मका चिह्न है, न चक्रका चिह्न है और न वज्रका ही चिह्न उपलक्षित होता है । सभी प्रजा लिङ्ग और भगके चिह्नसे युक्त हैं, इसलिये यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है (महादेवजीसे ही उत्पन्न हुई है) ॥ २३३ ॥

देव्याः कारणरूपभावजनिताः
सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो
लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः
प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते
देव्या च यन्नाङ्कितं
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान्
बाह्यो भवेद् दुर्मतिः ॥२३४॥

देवी पार्वतीके कारणस्वरूप भावसे संसारकी समस्त स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं; इसलिये भगके चिह्नसे अङ्कित हैं और भगवान् शिवसे उत्पन्न होनेके कारण सभी पुरुष लिङ्गके चिह्नसे चिह्नित हैं—यह सबको प्रत्यक्ष है; ऐसी दशामें जो शिव और पार्वतीके अतिरिक्त अन्य किसीको कारण बताता है, जिससे कि प्रजा चिह्नित नहीं है, वह अन्य कारणवादी दुर्बुद्धि पुरुष चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंसे बाहर कर देने योग्य है ॥ २३४ ॥

पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥२३५॥

जितना भी पुँलिङ्ग है, वह सब शिवस्वरूप है और जो भी स्त्रीलिङ्ग है उसे उमा समझो । महेश्वर और उमा—इन दो शरीरोंसे ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है ॥२३५॥

(दिवसकरशशाङ्कवह्निनेत्रं
त्रिभुवनसारमपारमीशमाद्यम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥)

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जिनके नेत्र हैं, जो त्रिभुवनके सारतत्त्व, अपार, ईश्वर, सबके आदिकारण तथा अजर-अमर हैं, उन रुद्रदेवको प्रसन्न किये बिना इस संसारमें कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ॥

तस्माद् वरमहं काङ्क्षे निधनं वापि कौशिक ।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदन ॥२३६॥

अतः कौशिक ! मैं भगवान् शङ्करसे ही वर अथवा मृत्यु पानेकी इच्छा रखता हूँ । बलसूदन इन्द्र ! तुम जाओ या खड़े रहो, जैसी इच्छा हो करो ॥ २३६ ॥

काममेष वरो मेऽस्तु शापो वाथ महेश्वरात् ।
न चान्यां देवतां काङ्क्षे सर्वकामफलामपि ॥२३७॥

मुझे महेश्वरसे चाहे वर मिले, चाहे शाप प्राप्त हो, स्वीकार है, परंतु दूसरा देवता यदि सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला हो तो भी मैं उसे नहीं चाहता ॥ २३७ ॥

एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः ।
न प्रसीदति मे देवः किमेतदिति चिन्तयन् ॥२३८॥

देवराज इन्द्रसे ऐसा कहकर मेरी इन्द्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो उठीं और मैं सोचने लगा कि यह क्या कारण हो गया कि महादेवजी मुझपर प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ॥ २३८ ॥

अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः ।
हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालरजतप्रभम् ॥२३९॥
वृषरूपधरं साक्षात् क्षीरोदमिव सागरम् ।
कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ॥२४०॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें मैंने देखा कि वही ऐरावत हाथी अब वृषभरूप धारण करके स्थित है । उसका वर्ण हंस, कुन्द और चन्द्रमाके समान श्वेत है । उसकी अङ्गकान्ति मृणालके समान उज्ज्वल और चाँदीके समान चमकीली है । जान पड़ता था, साक्षात् क्षीरसागर ही वृषभरूप धारण करके खड़ा हो । काली पूँछ, विशाल शरीर और मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले नेत्र शोभा पा रहे थे ॥ २३९-२४० ॥

वज्रसारमयैः शृङ्गैर्निष्टप्तकनकप्रभैः ।
सुतीक्ष्णैर्मृदुरक्ताग्रैरुत्किरन्तमिवावनिम् ॥२४१॥

उसके सींग ऐसे जान पड़ते थे मानो वज्रके सारतत्त्वसे बने हों । उनसे तपाये हुए सुवर्णकी-सी प्रभा फैल रही थी । उन सींगोंके अग्रभाग अत्यन्त तीखे, कोमल तथा लाल रंगके थे । ऐसा लगता था मानो उन सींगोंके द्वारा वह इस पृथ्वीको विदीर्ण कर डालेगा ॥ २४१ ॥

जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम् ।
सुवक्त्रखुरनासं च सुकर्णं सुकटीतटम् ॥२४२॥

उसके शरीरको सब ओरसे जाम्बूनद नामक सुवर्णकी लड़ियोंसे सजाया गया था । उसके मुख, खुर, नासिका (नथुने), कान और कटिप्रदेश—सभी बड़े सुन्दर थे ॥

सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम् ।
ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य धिष्ठितम् ॥२४३॥

उसके अगल-बगलका भाग भी बड़ा मनोहर था। कंधे चौड़े और रूप सुन्दर था । वह देखनेमें बड़ा मनोहर जान पड़ता था । उसका ककुद् समूचे कंधेको घेरकर ऊँचे उठा था । उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २४३ ॥

तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम् ।
तमास्थितश्च भगवान् देवदेवः सहोमया ॥२४४॥
अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट् ।

हिमालय पर्वतके शिखर अथवा श्वेत बादलोंके विशाल खण्डके समान प्रतीत होनेवाले उस नन्दिकेश्वरपर देवाधिदेव भगवान् महादेव भगवती उमाके साथ आरूढ़ हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २४४½ ॥

तस्य तेजोभवो वह्निः समेघः स्तनयित्नुमान् ॥२४५॥
सहस्रमिव सूर्याणां सर्वमापूर्य धिष्ठितः ।

उनके तेजसे प्रकट हुई अग्निकी-सी प्रभा गर्जना करनेवाले मेघोंसहित सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करके सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ २४५½ ॥

ईश्वरः सुमहातेजाः संवर्तक इवानलः ॥२४६॥
युगान्ते सर्वभूतानां दिधक्षुरिव चोद्यतः ।

वे महातेजस्वी महेश्वर ऐसे दिखायी देते थे, मानो कल्पान्तके समय सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देनेकी इच्छासे उद्यत हुई प्रलयकालीन अग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥२४६½॥

तेजसा तु तदा व्याप्तं दुर्निरीक्ष्यं समन्ततः ॥२४७॥
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिन्तयम् ।

वे अपने तेजसे सब ओर व्याप्त हो रहे थे, अतः उनकी ओर देखना कठिन था । तब मैं उद्विग्नचित्त होकर फिर इस चिन्तामें पड़ गया कि यह क्या है ? ॥ २४७½ ॥

मुहूर्तमिव तत् तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ॥२४८॥
प्रशान्तं दिक्षु सर्वासु देवदेवस्य मायया ।

इतनेहीमें एक मुहूर्त बीतते-बीतते वह तेज सम्पूर्ण दिशाओंमें फैलकर देवाधिदेव महादेवजीकी मायासे सब ओर शान्त हो गया ॥ २४८½ ॥

अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ॥२४९॥
नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम् ।
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूषितम् ॥२५०॥

तत्पश्चात् मैंने देखा, भगवान् महेश्वर स्थिर भावसे खड़े हैं । उनके कण्ठमें नील चिह्न शोभा पा रहा था । वे महात्मा कहीं भी आसक्त नहीं थे । वे तेजकी निधि जान पड़ते थे । उनके अठारह भुजाएँ थीं । वे भगवान् स्थाणु समस्त आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २४९-२५० ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।
शुक्लध्वजमनाधृष्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥२५१॥

महादेवजीने श्वेत वस्त्र धारण कर रखा था । उनके श्रीअङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप लगा था । उनकी ध्वजा भी श्वेत वर्णकी ही थी । वे श्वेत रंगका यज्ञोपवीत धारण करनेवाले और अजेय थे ॥ २५१ ॥

गायद्भिर्नृत्यमानैश्च वादयद्भिश्च सर्वशः ।
वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥२५२॥

वे अपने ही समान पराक्रमी दिव्य पार्षदोंसे घिरे हुए थे। उनके वे पार्षद सब ओर गाते, नाचते और बाजे बजाते थे॥

बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम्।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥२५३॥

भगवान् शिवके मस्तकपर बाल चन्द्रमाका मुकुट सुशोभित था। उनकी अङ्ग-कान्ति श्वेतवर्णकी थी। वे शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाके समान उदित हुए थे। उनके तीनों नेत्रोंसे ऐसा प्रकाश-पुञ्ज छा रहा था, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों॥ २५३॥

(सर्वविद्याधिपं देवं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
नयनाह्लादसौभाग्यमपश्यं परमेश्वरम् ॥)

जो सम्पूर्ण विद्याओंके अधिपति, शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति कान्तिमान् तथा नेत्रोंके लिये परमानन्ददायक सौभाग्य प्रदान करनेवाले थे। इस प्रकार मैंने परमेश्वर महादेवजीके मनोहर रूपको देखा॥

अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभे।
जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥२५४॥

भगवान्‌के उज्ज्वल प्रभावाले गौर विग्रहपर सुवर्णमय कमलोंसे गुँथी हुई रत्नभूषित माला बड़ी शोभा पा रही थी॥

मूर्तिमन्ति तथास्त्राणि सर्वतेजोमयानि च।
मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः ॥२५५॥

गोविन्द! मैंने अमित तेजस्वी महादेवजीके सम्पूर्ण तेजोमय आयुधोंको मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित देखा था॥ २५५॥

इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः।
पिनाकमिति विख्यातमभवत् पन्नगो महान् ॥२५६॥

उन महात्मा रुद्रदेवका इन्द्रधनुषके समान रंगवाला जो पिनाक नामसे विख्यात धनुष है, वह विशाल सर्पके रूपमें प्रकट हुआ था॥ २५६॥

सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः।
ज्यावेष्टितमहाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः ॥२५७॥

उसके सात फन थे। उसका डीलडौल भी विशाल था। तीखी दाढ़ें दिखायी देती थीं। वह अपने प्रचण्ड विषके कारण मतवाला हो रहा था। उसकी विशाल ग्रीवा प्रत्यञ्चासे आवेष्टित थी। वह पुरुष-शरीर धारण करके खड़ा था॥

शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः।
एतदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महत् ॥२५८॥

भगवान्‌का जो बाण था, वह सूर्य और प्रलयकालीन अग्निके समान प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित होता था। यही अत्यन्त भयंकर एवं महान् दिव्य पाशुपत अस्त्र था॥२५८॥

अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम्।
सस्फुलिङ्गं महाकायं विसृजन्तमिवानलम् ॥२५९॥

उसकी जोड़का दूसरा अस्त्र नहीं था। समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला वह विशालकाय अस्त्र अनिर्वचनीय जान पड़ता था और अपने मुखसे चिनगारियोंसहित अग्निकी वर्षा कर रहा था॥ २५९॥

एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम्।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम् ॥२६०॥

वह भी सर्पके ही आकारमें दृष्टिगोचर होता था। उसके एक पैर, बहुत बड़ी दाढ़ें, सहस्रों सिर, सहस्रों पेट, सहस्रों भुजा, सहस्रों जिह्वा और सहस्रों नेत्र थे। वह आग-सा उगल रहा था॥ २६०॥

ब्राह्मान्नारायणाच्चैन्द्रादाग्नेयादपि वारुणात्।
यद् विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम् ॥२६१॥

महाबाहो! सम्पूर्ण शस्त्रोंका विनाश करनेवाला वह पाशुपत अस्त्र ब्राह्म, नारायण, ऐन्द्र, आग्नेय और वारुण अस्त्रसे भी बढ़कर शक्तिशाली था॥ २६१॥

येन तत् त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद् भस्मीकृतं पुरा।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया ॥२६२॥

गोविन्द! उसीके द्वारा महादेवजीने लीलापूर्वक एक ही बाण मारकर क्षणभरमें दैत्योंके तीनों पुरोंको जलाकर भस्म कर दिया था॥ २६२॥

निर्ददेत च यत् कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्धान्न संशयः ॥२६३॥

भगवान् महेश्वरकी भुजाओंसे छूटनेपर वह अस्त्र चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको आधे निमेषमें ही भस्म कर देता है—इसमें संशय नहीं है॥ २६३॥

नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन् ब्रह्मविष्णुसुरेष्वपि।
तदहं दृष्टवांस्तत्र आश्चर्यमिदमुत्तमम् ॥२६४॥
गुह्यमस्त्रवरं नान्यत् तत्तुल्यमधिकं हि वा।

इस लोकमें जिस अस्त्रके लिये ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंमेंसे भी कोई अवध्य नहीं है, उस परम उत्तम आश्चर्यमय पाशुपतास्त्रको मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देखा था। वह श्रेष्ठ अस्त्र परम गोपनीय है। उसके समान अथवा उससे बढ़कर भी दूसरा कोई श्रेष्ठ अस्त्र नहीं है॥ २६४½॥

यत् तच्छूलमिति ख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः ॥२६५॥
दारयेद् यां महीं कृत्स्नां शोषयेद् वा महोदधिम्।
संहरेद् वा जगत् कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना ॥२६६॥

त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करका सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात जो वह त्रिशूल नामक अस्त्र है, वह शूलपाणि शङ्करके द्वारा छोड़े जानेपर इस सारी पृथ्वीको विदीर्ण कर सकता है, महासागरको सुखा सकता है अथवा समस्त संसारका संहार कर सकता है॥ २६५-२६६॥

यौवनाश्वो हतो येन मान्धाता सबलः पुरा।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः ॥२६७॥
महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह रक्षसः ॥२६८॥

श्रीकृष्ण! पूर्वकालमें त्रिलोकविजयी, महातेजस्वी, महाबली, महान् वीर्यशाली, इन्द्रतुल्य पराक्रमी चक्रवर्ती राजा मान्धाता लवणासुरके द्वारा प्रयुक्त हुए उस शूलसे ही सेनासहित नष्ट हो गये थे। अभी वह अस्त्र उस असुरके हाथसे छूटने भी नहीं पाया था कि राजाका सर्वनाश हो गया! ॥ २६७-२६८ ॥

तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम्।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा तर्जमानमिव स्थितम् ॥२६९॥

उस शूलका अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण है। वह बहुत ही भयंकर और रोमाञ्चकारी है, मानो वह अपनी भौंहें तीन जगहसे टेढ़ी करके विरोधीको डाँट बता रहा हो, ऐसा जान पड़ता है ॥ २६९ ॥

विधूमं सार्चिषं कृष्णं कालसूर्यमिवोदितम्।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥२७०॥
दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसंनिधौ।

गोविन्द! धूमरहित आगकी ज्वालाओंसहित वह काला त्रिशूल प्रलयकालके सूर्यके समान उदित हुआ था और हाथमें सर्प लिये अवर्णनीय शक्तिशाली पाशधारी यमराजके समान जान पड़ता था। भगवान् रुद्रके निकट मैंने उसका भी दर्शन किया था ॥ २७०½ ॥

परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ॥२७१॥
महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥२७२॥

पूर्वकालमें महादेवजीने संतुष्ट होकर परशुरामको जिसका दान किया था और जिसके द्वारा महासमरमें चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य अर्जुन मारा गया था, क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला वह तीखी धारसे युक्त परशु मुझे भगवान् रुद्रके निकट दिखायी दिया था ॥ २७१-२७२ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥२७३॥

गोविन्द! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले जमदग्नि-नन्दन परशुरामने उसी परशुके द्वारा इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया था ॥ २७३ ॥

दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रधिष्ठितः।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशतोपमः ॥२७४॥

उसकी धार चमक रही थी, उसका मुखभाग बड़ा भयंकर जान पड़ता था। वह सर्पयुक्त कण्ठवाले महादेवजीके कण्ठके अग्रभागमें स्थित था। इस प्रकार शूलधारी भगवान् शिवके समीप वह परशु सैकड़ों प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान होता था ॥ २७४ ॥

असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥२७५॥

निष्पाप श्रीकृष्ण! बुद्धिमान् भगवान् शिवके असंख्य दिव्यास्त्र हैं। मैंने यहाँ आपके सामने इन प्रमुख अस्त्रोंका वर्णन किया है ॥ २७५ ॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥२७६॥
वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥२७७॥

उस समय महादेवजीके दाहिने भागमें लोकपितामह ब्रह्मा मनके समान वेगशाली हंसयुक्त दिव्य विमानपर बैठे हुए शोभा पा रहे थे और बायें भागमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये भगवान् नारायण गरुडपर विराजमान थे ॥२७६-२७७॥

स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः।
शक्तिघण्टे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥२७८॥

कुमार स्कन्द मोरपर चढ़कर हाथमें शक्ति और घंटा लिये पार्वतीदेवीके पास ही खड़े थे। वे दूसरे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७८ ॥

पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम्।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम् ॥२७९॥

महादेवजीके आगे मैंने नन्दीको उपस्थित देखा, जो शूल उठाये दूसरे शङ्करके समान खड़े थे ॥ २७९ ॥

स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्व एव समभ्ययुः ॥२८०॥

स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि तथा इन्द्र आदि देवता—ये सभी वहाँ पधारे थे ॥ २८० ॥

सर्वभूतगणाश्चैव मातरो विविधाः स्थिताः।
तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥२८१॥
अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा।

समस्त भूतगण और नाना प्रकारकी मातृकाएँ उपस्थित थीं। वे सब देवता महात्मा महादेवजीको चारों ओरसे घेरकर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे ॥२८१½॥

ब्रह्मा भवं तदास्तौषीद् रथन्तरमुदीरयन् ॥२८२॥
ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ॥२८३॥

ब्रह्माजीने रथन्तर सामका उच्चारण करके उस समय भगवान् शङ्करकी स्तुति की। नारायणने ज्येष्ठसामद्वारा देवेश्वर शिवकी महिमाका गान किया ॥ २८२-२८३ ॥

गृणन् ब्रह्म परं शक्रः शतरुद्रियमुत्तमम्।
ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ॥२८४॥
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः।

इन्द्रने उत्तम शतरुद्रियका सस्वर पाठ करते हुए परब्रह्म शिवका स्तवन किया। ब्रह्मा, नारायण और देवराज इन्द्र—ये तीनों महात्मा तीन अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥

तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्छिवः ॥२८५॥
शरदभ्रविनिर्मुक्तः परिधिस्थ इवांशुमान्।

इन तीनोंके बीचमें विराजमान भगवान् शिव शरद्-ऋतु-

के बादलोंके आवरणसे मुक्त हो परिधि (घेरे) में स्थित हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ २८५½ ॥

अयुतानि च चन्द्रार्कानपश्यं दिवि केशव ॥२८६॥
ततोऽहमस्तुवं देवं विश्वस्य जगतः पतिम् ।

केशव ! उस समय मैंने आकाशमें सहस्रों चन्द्रमा और सूर्य देखे । तदनन्तर मैं सम्पूर्ण जगत्के पालक महादेवजीकी स्तुति करने लगा ॥ २८६½ ॥

उपमन्युरुवाच

नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नमः ॥२८७॥
शक्ररूपाय शक्राय शक्रवेषधराय च ।
नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ॥२८८॥

उपमन्यु बोले—प्रभो ! आप देवताओंके भी अधिदेवता हैं । आपको नमस्कार है । आप ही महान् देवता हैं, आपको नमस्कार है । इन्द्र आपके ही रूप हैं । आप ही साक्षात् इन्द्र हैं तथा आप इन्द्रका-सा वेश धारण करनेवाले हैं । इन्द्रके रूपमें आप ही अपने हाथमें वज्र लिये रहते हैं । आपका वर्ण पिङ्गल और अरुण है, आपको नमस्कार है ॥

पिनाकपाणये नित्यं शङ्खशूलधराय च ।
नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ॥२८९॥

आपके हाथमें पिनाक शोभा पाता है । आप सदा शङ्ख और त्रिशूल धारण करते हैं । आपके वस्त्र काले हैं तथा आप मस्तकपर काले घुँघराले केश धारण करते हैं, आपको नमस्कार है ॥ २८९ ॥

कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च ।
शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ॥२९०॥

काला मृगचर्म आपका दुपट्टा है । आप श्रीकृष्णाष्टमी-व्रतमें तत्पर रहते हैं । आपका वर्ण शुक्ल है । आप स्वरूपसे भी शुक्ल (शुद्ध) है तथा आप श्वेत वस्त्र धारण करते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९० ॥

शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च ।
नमोऽस्तु रक्तवर्णाय रक्ताम्बरधराय च ॥२९१॥

आप अपने सारे अङ्गोंमें श्वेत भस्म लपेटे रहते हैं । विशुद्ध कर्ममें अनुरक्त हैं । कभी-कभी आप रक्त वर्णके हो जाते हैं और लाल वस्त्र ही धारण कर लेते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९१ ॥

रक्तध्वजपताकाय रक्तस्रगनुलेपिने ।
नमोऽस्तु पीतवर्णाय पीताम्बरधराय च ॥२९२॥

रक्ताम्बरधारी होनेपर आप अपनी ध्वजा-पताका भी लाल ही रखते हैं । लाल फूलोंकी माला पहनकर अपने श्रीअङ्गोंमें लाल चन्दनका ही लेप लगाते हैं । किसी समय आपकी अङ्गकान्ति पीले रंगकी हो जाती है । ऐसे समयमें आप पीताम्बर धारण करते हैं । आपको नमस्कार है ॥२९२॥

नमोऽस्तूच्छ्रितच्छत्राय किरीटवरधारिणे ।
अर्धहारार्धकेयूर अर्धकुण्डलकर्णिने ॥२९३॥

आपके मस्तकपर ऊँचा छत्र तना है । आप सुन्दर किरीट धारण करते हैं । अर्द्धनारीश्वररूपमें आपके आधे अङ्गमें ही हार, आधेमें ही केयूर और आधे अङ्गके ही कानमें कुण्डल शोभा पाता है । आपको नमस्कार है ॥ २९३ ॥

नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः ।
सुरेन्द्राय मुनीन्द्राय महेन्द्राय नमोऽस्तु ते ॥२९४॥

आप वायुके समान वेगशाली हैं । आपको नमस्कार है । आप ही मेरे आराध्यदेव हैं । आपको बारंबार नमस्कार है । आप ही सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और महेन्द्र हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९४ ॥

नमः पद्मार्धमालाय उत्पलैर्मिश्रिताय च ।
अर्धचन्दनलिप्ताय अर्धस्रगनुलेपिने ॥२९५॥

आप अपने आधे अङ्गको कमलोंकी मालासे अलंकृत करते हैं और आधेमें उत्पलोंसे विभूषित होते हैं । आधे अङ्गमें चन्दनका लेप लगाते हैं तो आधे शरीरमें फूलोंका गजरा और सुगन्धित अङ्गराग धारण करते हैं । ऐसे अर्द्धनारीश्वररूपमें आपको नमस्कार है ॥ २९५ ॥

नम आदित्यवक्त्राय आदित्यनयनाय च ।
नम आदित्यवर्णाय आदित्यप्रतिमाय च ॥२९६॥

आपके मुख सूर्यके समान तेजस्वी हैं । सूर्य आपके नेत्र हैं । आपकी अङ्गकान्ति भी सूर्यके ही समान है तथा आप अधिक सादृश्यके कारण सूर्यकी प्रतिमा-से जान पड़ते हैं ।२९६।

नमः सोमाय सौम्याय सौम्यवक्त्रधराय च ।
सौम्यरूपाय मुख्याय सौम्यदंष्ट्राविभूषिणे ॥२९७॥

आप सोमस्वरूप हैं । आपकी आकृति बड़ी सौम्य है । आप सौम्य मुख धारण करते हैं । आपका रूप भी सौम्य है । आप प्रमुख देवता हैं और सौम्य दन्तावलीसे विभूषित होते हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९७ ॥

नमः श्यामाय गौराय अर्धपीतार्धपाण्डवे ।
नारीनरशरीराय स्त्रीपुंसाय नमोऽस्तु ते ॥२९८॥

आप हरिहररूप होनेके कारण आधे शरीरसे साँवले और आधेसे गोरे हैं । आधे शरीरमें पीताम्बर धारण करते हैं और आधेमें श्वेत वस्त्र पहनते हैं । आपको नमस्कार है । आपके आधे शरीरमें नारीके अवयव हैं और आधेमें नरके । आप स्त्री-पुरुषरूप हैं । आपको नमस्कार है ॥ २९८ ॥

नमो वृषभवाहाय गजेन्द्रगमनाय च ।
दुर्गमाय नमस्तुभ्यमगम्यगमनाय च ॥२९९॥

आप कभी बैलपर सवार होते हैं और कभी गजराजकी पीठपर बैठकर यात्रा करते हैं । आप दुर्गम हैं । आपको नमस्कार है । जो दूसरोंके लिये अगम्य है, वहाँ भी आपकी गति है । आपको नमस्कार है ॥ २९९ ॥

नमोऽस्तु गणगीताय गणवृन्दरताय च ।

गणानुयातमार्गाय गणनित्यव्रताय च ॥३००॥

प्रमथगण आपकी महिमाका गान करते हैं। आप अपने पार्षदोंकी मण्डलीमें रत रहते हैं। आपके प्रत्येक मार्गपर प्रमथगण आपके पीछे-पीछे चलते हैं। आपकी सेवा ही गणोंका नित्य-व्रत है। आपको नमस्कार है ॥ ३०० ॥

नमः श्वेताभ्रवर्णाय संध्यारागप्रभाय च।
अनुद्दिष्टाभिधानाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥३०१॥

आपकी कान्ति श्वेत बादलोंके समान है। आपकी प्रभा संध्याकालीन अरुणरागके समान है। आपका कोई निश्चित नाम नहीं है। आप सदा स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०१ ॥

नमो रक्ताग्रवासाय रक्तसूत्रधराय च।
रक्तमालाविचित्राय रक्ताम्बरधराय च ॥३०२॥

आपका सुन्दर वस्त्र लाल रंगका है। आप लाल सूत्र धारण करते हैं। लाल रंगकी मालासे आपकी विचित्र शोभा होती है। आप रक्त वस्त्रधारी रुद्रदेवको नमस्कार है ॥ ३०२ ॥

मणिभूषितमूर्धाय नमश्चन्द्रार्धभूषिणे।
विचित्रमणिमूर्धाय कुसुमाष्टधराय च ॥३०३॥

आपका मस्तक दिव्य मणिसे विभूषित है। आप अपने ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं। आपका सिर विचित्र मणिकी प्रभासे प्रकाशमान है और आप आठ पुष्प धारण करते हैं ॥ ३०३ ॥

नमोऽग्निमुखनेत्राय सहस्रशशिलोचने।
अग्निरूपाय कान्ताय नमोऽस्तु गहनाय च ॥३०४॥

आपके मुख और नेत्रमें अग्निका निवास है। आपके नेत्र सहस्रों चन्द्रमाओंके समान प्रकाशित हैं। आप अग्निस्वरूप, कमनीयविग्रह और दुर्गम गहन (वन) रूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०४ ॥

खचराय नमस्तुभ्यं गोचराभिरताय च।
भूचराय भुवनाय अनन्ताय शिवाय च ॥३०५॥

चन्द्रमा और सूर्यके रूपमें आप आकाशचारी देवताको नमस्कार है। जहाँ गौएँ चरती हैं, उस स्थानसे आप विशेष प्रेम रखते हैं। आप पृथ्वीपर विचरनेवाले और त्रिभुवनरूप हैं। अनन्त एवं शिवस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥३०५॥

नमो दिग्वाससे नित्यमधिवाससुवाससे।
नमो जगन्निवासाय प्रतिपत्तिसुखाय च ॥३०६॥

आप दिगम्बर हैं। आपको नमस्कार है। आप सबके आवास-स्थान और सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण जगत् आपमें ही निवास करता है। आपको सम्पूर्ण सिद्धियोंका सुख सुलभ है। आपको नमस्कार है ॥ ३०६ ॥

नित्यमुद्बद्धमुकुटे महाकेयूरधारिणे।
सर्पकण्ठोपहाराय विचित्राभरणाय च ॥ ३०७॥

आप मस्तकपर सदा मुकुट बाँधे रहते हैं। भुजाओंमें विशाल केयूर धारण करते हैं। आपके कण्ठमें सर्पोंका हार शोभा पाता है तथा आप विचित्र आभूषणोंसे विभूषित होते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०७ ॥

नमस्त्रिनेत्रनेत्राय सहस्रशतलोचने।
स्त्रीपुंसाय नपुंसाय नमः सांख्याय योगिने ॥३०८॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये तीन नेत्ररूप होकर आपको त्रिनेत्रधारी बना देते हैं। आपके लाखों नेत्र हैं। आप स्त्री हैं, पुरुष हैं और नपुंसक हैं। आप ही सांख्यवेत्ता और योगी हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०८ ॥

शंयोरभिस्रवन्ताय अथर्वाय नमो नमः।
नमः सर्वार्तिनाशाय नमः शोकहराय च ॥३०९॥

आप यज्ञपूरक 'शंयु' नामक देवताके प्रसादरूप हैं और अथर्ववेदस्वरूप हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। जो सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले और शोकहारी हैं, उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३०९ ॥

नमो मेघनिनादाय बहुमायाधराय च।
बीजक्षेत्राभिपालाय स्रष्टाराय नमो नमः ॥३१०॥

जो मेघके समान गम्भीर नाद करनेवाले तथा बहुसंख्यक मायाओंके आधार हैं, जो बीज और क्षेत्रका पालन करते हैं और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको बारंबार नमस्कार है ॥ ३१० ॥

नमः सुरासुरेशाय विश्वेशाय नमो नमः।
नमः पवनवेगाय नमः पवनरूपिणे ॥३११॥

आप देवताओं और असुरोंके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण विश्वके ईश्वर हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आप वायुके समान वेगशाली तथा वायुरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३११ ॥

नमः काञ्चनमालाय गिरिमालाय वै नमः।
नमः सुरारिमालाय चण्डवेगाय वै नमः ॥३१२॥

आप सुवर्णमालाधारी तथा पर्वत-मालाओंमें विहार करनेवाले हैं। देवशत्रुओंके मुण्डोंकी माला धारण करनेवाले प्रचण्ड वेगशाली आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३१२ ॥

ब्रह्मशिरोपहर्ताय महिषघ्नाय वै नमः।
नमः स्त्रीरूपधाराय यज्ञविध्वंसनाय च ॥३१३॥

ब्रह्माजीके मस्तकका उच्छेद और महिषका विनाश करनेवाले आपको नमस्कार है। आप स्त्रीरूप धारण करनेवाले तथा यज्ञके विध्वंसक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३१३ ॥

नमस्त्रिपुरहर्ताय यज्ञविध्वंसनाय च।
नमः कामाङ्गनाशाय कालदण्डधराय च ॥३१४॥

असुरोंके तीनों पुरोंका विनाश और दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले आपको नमस्कार है। कामके शरीरका नाश तथा कालदण्डको धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३१४ ॥

नमः स्कन्दविशाखाय ब्रह्मदण्डाय वै नमः।
नमो भवाय शर्वाय विश्वरूपाय वै नमः ॥३१५॥

स्कन्द और विशाखरूप आपको नमस्कार है। ब्रह्मदण्डस्वरूप आपको नमस्कार है। भव (उत्पादक) और शर्व (संहारक) रूप आपको नमस्कार है। विश्वरूपधारी प्रभुको नमस्कार है॥ ३१५ ॥

ईशानाय भवघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने।
नमो विश्वाय मायाय चिन्त्याचिन्त्याय वै नमः ॥३१६॥

आप सबके ईश्वर, संसार-बन्धनका नाश करनेवाले तथा अन्धकासुरके घातक हैं। आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण मायास्वरूप तथा चिन्त्य और अचिन्त्यरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३१६ ॥

त्वं नो गतिश्च श्रेष्ठश्च त्वमेव हृदयं तथा।
त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ॥३१७॥

आप ही हमारी गति हैं, श्रेष्ठ हैं और आप ही हमारे हृदय हैं। आप सम्पूर्ण देवताओंमें ब्रह्मा तथा रुद्रोंमें नीललोहित हैं॥ ३१७ ॥

आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते।
ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ॥३१८॥

आप समस्त प्राणियोंमें आत्मा और सांख्यशास्त्रमें पुरुष कहलाते हैं। आप पवित्रोंमें ऋषभ तथा योगियोंमें निष्कल शिवरूप हैं॥ ३१८ ॥

गृहस्थस्त्वमाश्रमिणामीश्वराणां महेश्वरः।
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यते ॥३१९॥

आप आश्रमियोंमें गृहस्थ, ईश्वरोंमें महेश्वर, सम्पूर्ण यक्षोंमें कुबेर तथा यज्ञोंमें विष्णु कहलाते हैं॥ ३१९ ॥

पर्वतानां भवान् मेरुर्नक्षत्राणां च चन्द्रमाः।
वसिष्ठस्त्वमृषीणां च ग्रहाणां सूर्य उच्यते ॥३२०॥

पर्वतोंमें आप मेरु हैं। नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हैं। ऋषियोंमें वसिष्ठ हैं तथा ग्रहोंमें सूर्य कहलाते हैं॥ ३२०॥

आरण्यानां पशूनां च सिंहस्त्वं परमेश्वरः।
ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भवाँल्लोकप्रपूजितः ॥३२१॥

आप जंगली पशुओंमें सिंह हैं। आप ही परमेश्वर हैं। ग्रामीण पशुओंमें आप ही लोकसम्मानित साँड़ हैं॥ ३२१ ॥

आदित्यानां भवान् विष्णुर्वसूनां चैव पावकः।
पक्षिणां वैनतेयस्त्वमनन्तो भुजगेषु च ॥३२२॥

आप ही आदित्योंमें विष्णु हैं। वसुओंमें अग्नि हैं। पक्षियोंमें आप विनतानन्दन गरुड और सर्पोंमें अनन्त (शेषनाग) हैं॥ ३२२ ॥

सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्।
सनत्कुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ॥३२३॥

आप वेदोंमें सामवेद, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें शतरुद्रिय, योगियोंमें सनत्कुमार और सांख्यवेत्ताओंमें कपिल हैं॥३२३॥

शक्रोऽसि मरुतां देव पितॄणां हव्यवाडसि।
ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ॥३२४॥

देव ! आप मरुद्गणोंमें इन्द्र, पितरोंमें हव्यवाहन अग्नि, लोकोंमें ब्रह्मलोक और गतियोंमें मोक्ष कहलाते हैं॥ ३२४ ॥

क्षीरोदः सागराणां च शैलानां हिमवान् गिरिः।
वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ॥३२५॥

आप समुद्रोंमें क्षीरसागर, पर्वतोंमें हिमालय, वर्णोंमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें भी दीक्षित ब्राह्मण (यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले) हैं॥ ३२५ ॥

आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च।
यच्चान्यदपि लोके वै सर्वतेजोऽधिकं स्मृतम् ॥३२६॥
तत् सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः।

आप ही सम्पूर्ण लोकोंके आदि हैं। आप ही संहार करनेवाले काल हैं। संसारमें और भी जो-जो वस्तुएँ सर्वथा तेजमें बढ़ी-चढ़ी हैं, वे सभी आप भगवान् ही हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है॥ ३२६½ ॥

नमस्ते भगवन् देव नमस्ते भक्तवत्सल ॥३२७॥
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसम्भव।

भगवन् ! देव ! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है। योगेश्वर ! आपको नमस्कार है। विश्वकी उत्पत्तिके कारण ! आपको नमस्कार है॥ ३२७½ ॥

प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ॥३२८॥
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन।

सनातन परमेश्वर ! आप मुझ दीन-दुखी भक्तपर प्रसन्न होइये। मैं ऐश्वर्यसे रहित हूँ। आप ही मेरे आश्रयदाता हों॥ ३२८½ ॥

यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर ॥३२९॥
मद्भक्त इति देवेश तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि।

परमेश्वर देवेश ! मैंने अनजानमें जो अपराध किये हों, वह सब यह समझकर क्षमा कीजिये कि यह मेरा अपना ही भक्त है॥ ३२९½ ॥

मोहितश्चासि देवेश त्वया रूपविपर्ययात् ॥३३०॥
नार्घ्यं ते न मया दत्तं पाद्यं चापि महेश्वर।

देवेश्वर ! आपने अपना रूप बदलकर मुझे मोहमें डाल दिया। महेश्वर ! इसीलिये न तो मैंने आपको अर्घ्य दिया और न पाद्य ही समर्पित किया॥ ३३०½ ॥

एवं स्तुत्वाहमीशानं पाद्यमर्घ्यं च भक्तितः ॥३३१॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम्।

इस प्रकार भगवान् शिवकी स्तुति करके मैंने उन्हें भक्तिभावसे पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया। फिर दोनों हाथ जोड़कर उन्हें अपना सब कुछ समर्पित कर दिया॥ ३३१½॥

ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ॥३३२॥
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्धनि।

दुन्दुभिश्च तदा दिव्यस्ताडितो देवकिङ्करैः ।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः ॥३३३॥

तात ! तदनन्तर मेरे मस्तकपर शीतल जल और दिव्य सुगन्धसे युक्त फूलोंकी शुभ वृष्टि होने लगी । उसी समय देवकिंकरोंने दिव्य दुन्दुभि बजाना आरम्भ किया और पवित्र गन्धसे युक्त पुण्यमयी सुखद वायु चलने लगी ॥ ३३२-३३३ ॥

ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः ।
अब्रवीत् त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥३३४॥

तब पत्नीसहित प्रसन्न हुए वृषभध्वज महादेवजीने मेरा हर्ष बढ़ाते हुए-से वहाँ सम्पूर्ण देवताओंसे कहा—॥ ३३४ ॥

पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः ।
मयि भक्तिं परां नित्यमेकभावादवस्थिताम् ॥३३५॥

'देवताओ ! तुम सब लोग देखो कि महात्मा उपमन्युकी मुझमें नित्य एकभावसे बनी रहनेवाली कैसी उत्तम भक्ति है' ॥ ३३५ ॥

एवमुक्तास्तदा कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥३३६॥

श्रीकृष्ण ! शूलपाणि महादेवजीके ऐसा कहनेपर वे सब देवता हाथ जोड़ उन वृषभध्वज शिवजीको नमस्कार करके बोले—॥ ३३६ ॥

भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते ।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥३३७॥

'भगवन् ! देवदेवेश्वर ! लोकनाथ ! जगत्पते ! ये द्विजश्रेष्ठ उपमन्यु आपसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंके अनुसार अभीष्ट फल प्राप्त करें' ॥ ३३७ ॥

एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा ।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥३३८॥

ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर सबके ईश्वर और कल्याणकारी भगवान् शिवने मुझसे हँसते हुए-से कहा ॥ ३३८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वत्सोपमन्यो तुष्टोऽस्मि पश्य मां मुनिपुङ्गव ।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥३३९॥

भगवान् शिवजी बोले—वत्स उपमन्यो ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । मुनिपुङ्गव ! तुम मेरी ओर देखो । ब्रह्मर्षे ! मुझमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति है । मैंने तुम्हारी परीक्षा कर ली है ॥ ३३९ ॥

अनया चैव भक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम् ।
तस्मात् सर्वान् ददाम्यद्य कामांस्तव यथेप्सितान् ॥३४०॥

तुम्हारी इस भक्तिसे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, अतः मैं तुम्हें आज तुम्हारी सभी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण किये देता हूँ ॥ ३४० ॥

एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन धीमता ।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥३४१॥

परम बुद्धिमान् महादेवजीके इस प्रकार कहनेपर मेरे नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहने लगे और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३४१ ॥

अब्रुवं च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥३४२॥

तब मैंने धरतीपर घुटने टेककर भगवान्‌को बारंबार प्रणाम किया और हर्षगद्गद वाणीद्वारा महादेवजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३४२ ॥

अद्य जातो ह्यहं देव सफलं जन्म चाद्य मे ।
सुरासुरगुरुर्देवो यत् तिष्ठति ममाग्रतः ॥३४३॥

'देव ! आज ही मैंने वास्तवमें जन्म ग्रहण किया है । आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि इस समय मेरे सामने देवताओं और असुरोंके गुरु आप साक्षात् महादेवजी खड़े हैं ॥ ३४३ ॥

यं न पश्यन्ति चैवाद्धा देवा ह्यमितविक्रमम् ।
तमहं दृष्टवान् देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥३४४॥

'जिन अमित पराक्रमी महादेवजीको देवता भी सुगमतापूर्वक देख नहीं पाते हैं, उन्हींका मुझे प्रत्यक्ष दर्शन मिला है; अतः मुझसे बढ़कर धन्यवादका भागी दूसरा कौन हो सकता है ? ॥ ३४४ ॥

एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम् ।
तद् विशेषमिति ख्यातं यदजं ज्ञानमक्षरम् ॥३४५॥

'अजन्मा, अविनाशी, ज्ञानमय तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसे विख्यात जो सनातन परम तत्त्व है, उसका ज्ञानी पुरुष इसी रूपमें ध्यान करते हैं (जैसा कि आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ) ॥ ३४५ ॥

स एष भगवान् देवः सर्वसत्त्वादिरव्ययः ।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः परः ॥३४६॥

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आदिकारण, अविनाशी, समस्त तत्त्वोंके विधानका ज्ञाता तथा प्रधान परम पुरुष है, वह ये भगवान् महादेवजी ही हैं ॥ ३४६ ॥

योऽसृजद् दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम् ।
वामपार्श्वात् तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥३४७॥

'इन्हीं जगदीश्वरने अपने दाहिने अङ्गसे लोकस्रष्टा ब्रह्माको और बायें अङ्गसे जगत्‌की रक्षाके लिये विष्णुको उत्पन्न किया है ॥ ३४७ ॥

युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत् प्रभुः ।
स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥३४८॥

'प्रलयकाल प्राप्त होनेपर इन्हीं भगवान् शिवने रुद्रकी रचना की थी । वे ही रुद्र सम्पूर्ण चराचर जगत्‌का संहार करते हैं ॥ ३४८ ॥

कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः ।

युगान्ते सर्वभूतानि ग्रसन्निव व्यवस्थितः ॥३४९॥

'वे ही महातेजस्वी काल होकर कल्पके अन्तमें समस्त प्राणियोंको अपना ग्रास बनाते हुए-से प्रलयकालीन अग्निके सदृश स्थित होते हैं ॥ ३४९ ॥

एष देवो महादेवो जगत् सृष्ट्वा चराचरम्।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥३५०॥

'ये ही देवदेव महादेव चराचर जगत्‌की सृष्टि करके कल्पान्तमें सबकी स्मृति-शक्तिको मिटाकर स्वयं ही स्थित रहते हैं ॥ ३५० ॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥३५१॥

'ये सर्वत्र गमन करनेवाले, सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा तथा समस्त भूतोंके जन्म और वृद्धिके हेतु हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सदा सम्पूर्ण देवताओंसे अदृश्य रहते हैं ॥ ३५१ ॥

यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो।
भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥३५२॥

'प्रभो ! यदि आप मुझपर संतुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो हे देव ! हे सुरेश्वर ! मेरी सदा आपमें भक्ति बनी रहे ॥ ३५२ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च यद् विभो।
जानीयामिति मे बुद्धिः प्रसादात् सुरसत्तम ॥३५३॥

'सुरश्रेष्ठ ! विभो ! आपकी कृपासे मैं भूत, वर्तमान और भविष्यको जान सकूँ; ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ३५३ ॥

क्षीरोदनं च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः।
आश्रमे च सदास्माकं सांनिध्यं परमस्तु ते ॥३५४॥

'मैं अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा अक्षय दूध-भातका भोजन प्राप्त करूँ और हमारे इस आश्रममें सदा आपका निकट निवास रहे' ॥ ३५४ ॥

एवमुक्तः स मां प्राह भगवाँल्लोकपूजितः।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः शिवः ॥३५५॥

मेरे ऐसा कहनेपर लोकपूजित चराचरगुरु महातेजस्वी महेश्वर भगवान् शिव मुझसे यों बोले ॥ ३५५ ॥

श्रीभगवानुवाच

अजरश्चामरश्चैव भव त्वं दुःखवर्जितः।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥३५६॥

भगवान् शिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम दुःखसे रहित अजर-अमर हो जाओ। यशस्वी, तेजस्वी तथा दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न बने रहो ॥ ३५६ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च मत्प्रसादाद् भविष्यसि।
शीलवान् गुणसम्पन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥३५७॥

मेरी कृपासे तुम ऋषियोंके भी दर्शनीय एवं आदरणीय होओगे तथा सदा शीलवान्, गुणवान्, सर्वज्ञ एवं प्रियदर्शन बने रहोगे ॥ ३५७ ॥

अक्षयं यौवनं तेऽस्तु तेजश्चैवानलोपमम्।
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसि प्रियम् ॥३५८॥
तत्र ते भविता कामं सांनिध्यं पयसो निधेः।

तुम्हें अक्षय यौवन और अग्निके समान तेज प्राप्त हो। तुम्हारे लिये क्षीरसागर सुलभ हो जायगा। तुम जहाँ-जहाँ प्रिय वस्तुकी इच्छा करोगे, वहाँ-वहाँ तुम्हारी सारी कामना सफल होगी और तुम्हें क्षीरसागरका सांनिध्य प्राप्त होगा ॥ ३५८½ ॥

क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥३५९॥
बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि।
अक्षया बान्धवाश्चैव कुलं गोत्रं च ते सदा ॥३६०॥

तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ एक कल्पतक अमृतसहित दूध-भातका भोजन पाते रहो। तत्पश्चात् तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारे बन्धु-बान्धव, कुल तथा गोत्रकी परम्परा सदा अक्षय बनी रहेगी ॥ ३५९-३६० ॥

भविष्यति द्विजश्रेष्ठ मयि भक्तिश्च शाश्वती।
सांनिध्यं चाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥३६१॥

द्विजश्रेष्ठ ! मुझमें तुम्हारी सदा अचल भक्ति होगी तथा द्विजप्रवर ! तुम्हारे इस आश्रमके निकट मैं सदा अदृश्य रूपसे निवास करूँगा ॥ ३६१ ॥

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठां च करिष्यसि।
स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र करिष्यामि च दर्शनम् ॥३६२॥

बेटा ! तुम इच्छानुसार यहाँ रहो। कभी किसी बातके लिये चिन्ता न करना। विप्रवर ! तुम्हारे स्मरण करनेपर मैं पुनः तुम्हें दर्शन दूँगा ॥ ३६२ ॥

एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः।
ईशानः स वरान् दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥३६३॥

ऐसा कहकर वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी भगवान् शङ्कर उपर्युक्त वर प्रदान करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३६३ ॥

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना।
तदवाप्तं च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥३६४॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मैंने समाधिके द्वारा देवाधिदेव भगवान् शङ्करका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया। उन बुद्धिमान् महादेवजीने जो कुछ कहा था, वह सब मुझे प्राप्त हो गया है ॥ ३६४ ॥

प्रत्यक्षं चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान् व्यवस्थितान्।
ऋषीन् विद्याधरान् यक्षान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥३६५॥

श्रीकृष्ण ! यह सब आप प्रत्यक्ष देख लें। यहाँ सिद्ध महर्षि, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराएँ विद्यमान हैं ॥

पश्य वृक्षलतागुल्मान् सर्वपुष्पफलप्रदान्।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान् सुखपत्रान् सुगन्धिनः ॥३६६॥

देखिये, यहाँके वृक्ष, लता और गुल्म सब प्रकारके फूल और फल देनेवाले हैं। ये सभी ऋतुओंके फूलोंसे युक्त,

सुखदायक पल्लवोंसे सम्पन्न और सुगन्धसे परिपूर्ण हैं ॥

सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ।
प्रसादाद् देवदेवस्य ईश्वरस्य महात्मनः ॥३६७॥

महाबाहो! देवताओंके भी देवता तथा सबके ईश्वर महात्मा शिवके प्रसादसे ही यहाँ सब कुछ दिव्य भावसे सम्पन्न दिखायी देता है ॥ ३६७ ॥

वासुदेव उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रत्यक्षमिव दर्शनम् ।
विस्मयं परमं गत्वा अब्रुवं तं महामुनिम् ॥३६८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! उनकी यह बात सुनकर मानो मुझे भगवान् शिवका प्रत्यक्ष दर्शन हो गया हो, ऐसा प्रतीत हुआ। फिर बड़े विस्मयमें पड़कर मैंने उन महामुनिसे पूछा—॥ ३६८ ॥

धन्यस्त्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वदन्योऽसि पुण्यकृत् ।
यस्य देवाधिदेवस्ते सांनिध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥३६९॥

'विप्रवर! आप धन्य हैं। आपसे बढ़कर पुण्यात्मा पुरुष दूसरा कौन है? क्योंकि आपके इस आश्रममें साक्षात् देवाधिदेव महादेव निवास करते हैं ॥ ३६९ ॥

अपि तावन्ममाप्येवं दद्यात् स भगवाञ्छिवः ।
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादं चापि शंकरः ॥३७०॥

'मुनिश्रेष्ठ! क्या कल्याणकारी भगवान् शिव मुझे भी इसी प्रकार दर्शन देंगे? मुझपर भी कृपा करेंगे?' ॥३७०॥

उपमन्युरुवाच

द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष महादेवं न संशयः ।
अचिरेणैव कालेन यथा दृष्टो मयानघ ॥३७१॥

उपमन्यु बोले—निष्पाप कमलनयन! जैसे मैंने भगवान्‌का दर्शन किया है, उसी प्रकार आप भी थोड़े ही समयमें महादेवजीका दर्शन प्राप्त करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥

चक्षुषा चैव दिव्येन पश्याम्यमितविक्रमम् ।
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥३७२॥

पुरुषोत्तम! मैं दिव्य दृष्टिसे देख रहा हूँ। आप आजसे छठे महीनेमें अमित पराक्रमी महादेवजीका दर्शन करेंगे ॥ ३७२ ॥

षोडशाष्टौ वरांश्चापि प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्नीकाद् यदुश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३७३॥

यदुश्रेष्ठ! पत्नीसहित महादेवजीसे आप सोलह और आठ वर प्राप्त करेंगे। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च नित्यशः ।
विदितं मे महाबाहो प्रसादात् तस्य धीमतः ॥३७४॥

महाबाहो! बुद्धिमान् महादेवजीके कृपा-प्रसादसे मुझे सदा ही भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालका ज्ञान प्राप्त है ॥ ३७४ ॥

एतान् सहस्रशश्चान्यान् समनुध्यातवान् हरः ।
कस्मात् प्रसादं भगवान् न कुर्यात् तव माधव ॥३७५॥

माधव! भगवान् हरने यहाँ रहनेवाले इन सहस्रों मुनियोंको कृपापूर्ण हृदयसे अनुगृहीत किया है। फिर आपपर वे अपना कृपाप्रसाद क्यों नहीं प्रकट करेंगे ॥ ३७५ ॥

त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ।
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ॥३७६॥
जप्यं तु ते प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शंकरम् ।

आप-जैसे ब्राह्मणभक्त, कोमलस्वभाव और श्रद्धालु पुरुषका समागम देवताओंके लिये भी प्रशंसनीय है। मैं आपको जपनेयोग्य मन्त्र प्रदान करूँगा, जिससे आप भगवान् शङ्करका दर्शन करेंगे ॥३७६½॥

श्रीकृष्ण उवाच

अब्रुवं तमहं ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ॥३७७॥
द्रक्ष्ये दितिजसंघानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ।

श्रीकृष्ण कहते हैं—तब मैंने उनसे कहा—ब्रह्मन्! महामुने! मैं आपके कृपाप्रसादसे दैत्यदलोंका दलन करनेवाले देवेश्वर महादेवजीका दर्शन अवश्य करूँगा ॥ ३७७½ ॥

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रितां कथाम् ॥३७८॥
दिनान्यष्टौ ततो जग्मुर्मुहूर्तमिव भारत ।
दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ॥३७९॥

भरतनन्दन! इस प्रकार महादेवजीकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहते हुए उन मुनीश्वरके आठ दिन एक मुहूर्तके समान बीत गये। आठवें दिन विप्रवर उपमन्युने विधिपूर्वक मुझे दीक्षा दी ॥ ३७८-३७९ ॥

दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखली कृतः ।
मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ॥३८०॥

उन्होंने मेरा सिर मुड़ा दिया। मेरे शरीरमें घी लगाया तथा मुझसे दण्ड, कुशा, चीर एवं मेखला धारण कराया। मैं एक महीनेतक फलाहार करके रहा और दूसरे महीनेमें केवल जलका आहार किया ॥ ३८० ॥

तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ।
एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ॥३८१॥

तीसरे, चौथे और पाँचवें महीनेमें मैं दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा रहा। आलस्यको अपने पास नहीं आने दिया। उन दिनों वायुमात्र ही मेरा आहार रहा ॥३८१॥

तेजः सूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ।
तस्य मध्यगतं चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ॥३८२॥
इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।
नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषिताम्बरम् ॥३८३॥

भारत! पाण्डुनन्दन! छठे महीनेमें आकाशके भीतर मुझे सहस्रों सूर्योंका-सा तेज दिखायी दिया। उस तेजके भीतर एक और तेजोमण्डल दृष्टिगोचर हुआ, जिसका सर्वाङ्ग

इन्द्रधनुषसे परिवेष्टित था। विद्युन्माला उसमें झरोखेके समान प्रतीत होती थी। वह तेज नील पर्वतमालाके समान प्रकाशित होता था। उस द्विविध तेजके कारण वहाँका आकाश बक-पंक्तियोंसे विभूषित-सा जान पड़ता था ॥ ३८२-३८३ ॥

तत्र स्थितश्च भगवान् देव्या सह महाद्युतिः।
तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥३८४॥

उस नील तेजके भीतर महातेजस्वी भगवान् शिव तप, तेज, कान्ति तथा अपनी तेजस्विनी पत्नी उमादेवीके साथ विराजमान थे ॥ ३८४ ॥

रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥३८५॥

उस नील तेजमें पार्वती देवीके साथ स्थित हुए भगवान् महेश्वर ऐसी शोभा पा रहे थे मानो चन्द्रमाके साथ सूर्य श्याम मेघके भीतर विराज रहे हों ॥ ३८५ ॥

संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥३८६॥

कुन्तीनन्दन! जो सम्पूर्ण देवसमुदायकी गति हैं तथा सबकी पीड़ा हर लेते हैं, उन भगवान् हरको जब मैंने देखा, तब मेरे रोंगटे खड़े हो गये और मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे ॥

किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं
व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम्।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं
शुभाङ्गदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥३८७॥

भगवान्‌के मस्तकपर मुकुट था। उनके हाथमें गदा, त्रिशूल और दण्ड शोभा पाते थे। सिरपर जटा थी। उन्होंने व्याघ्रचर्म धारण कर रखा था। पिनाक और वज्र भी उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनकी दाढ़ तीखी थी। उन्होंने सुन्दर बाजूबंद पहनकर सर्पमय यज्ञोपवीत धारण कर रखा था ॥

दिव्यां मालामुरसानेकवर्णां
समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बाम्।
चन्द्रं यथा परिविष्टं ससंध्यं
वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥३८८॥

वे अपने वक्षःस्थलपर अनेक रंगवाली दिव्य माला धारण किये हुए थे, जो गुल्फदेश (घुटनों) तक लटक रही थी। जैसे शरद्‌ऋतुमें संध्याकी लालीसे युक्त और घेरेसे घिरे हुए चन्द्रमाका दर्शन होता हो, उसी प्रकार मैंने मालावेष्टित उन भगवान् महादेवजीका दर्शन किया था ॥ ३८८ ॥

प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात् परिवारितम्।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिविष्टं दिवाकरम् ॥३८९॥

प्रमथगणोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए महातेजस्वी महादेव परिधिसे घिरे हुए शरत्कालके सूर्यकी भाँति बड़ी कठिनाई-से देखे जाते थे ॥ ३८९ ॥

एकादशशतान्येवं रुद्राणां वृषवाहनम्।
अस्तुवं नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥३९०॥

इस प्रकार मनको वशमें रखनेवाले और कर्मेन्द्रियोंद्वारा शुभकर्मका ही अनुष्ठान करनेवाले महादेवजीकी, जो ग्यारह सौ रुद्रोंसे घिरे हुए थे, मैंने स्तुति की ॥ ॥ ३९० ॥

आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
विश्वाभिःस्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥३९१॥

बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार—ये भी सम्पूर्ण स्तुतियोंद्वारा सबके देवता महादेवजीकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३९१ ॥

शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके ॥३९२॥

इन्द्र तथा वामनरूपधारी भगवान् विष्णु—ये दोनों अदितिकुमार और ब्रह्माजी भगवान् शिवके निकट रथन्तर सामका गान कर रहे थे ॥ ३९२ ॥

योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम्।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥३९३॥

बहुत-से योगीश्वर, पुत्रोंसहित ब्रह्मर्षि तथा देवर्षिगण भी योगसिद्धि प्रदान करनेवाले, पिता एवं गुरुरूप महादेवजी-की स्तुति करते थे ॥ ३९३ ॥

(महाभूतानि च्छन्दांसि प्रजानां पतयो मखाः।
सरितः सागरा नागा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
विद्याधराश्च गीतेन वाद्यनृत्तादिनार्चयन्।
तेजस्विनां मध्यगतं तेजोराशिं जगत्पतिम् ॥)

महाभूत, छन्द, प्रजापति, यज्ञ, नदी, समुद्र, नाग, गन्धर्व, अप्सरा तथा विद्याधर—ये सब गीत, वाद्य तथा नृत्य आदिके द्वारा तेजस्वियोंके मध्यभागमें विराजमान तेजो-राशि जगदीश्वर शिवकी पूजा-अर्चा करते थे ॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
मासार्धमासा ऋतवो रात्रिः संवत्सराः क्षणाः ॥३९४॥
मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः।
दिव्या राजन् नमस्यन्ति विद्याः सत्त्वविदस्तथा ॥३९५॥

राजन्! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, ऋतु, रात्रि, संवत्सर, क्षण, मुहूर्त, निमेष, युगचक्र तथा दिव्य विद्याएँ—ये सब (मूर्तिमान् होकर) शिवजीको नमस्कार कर रहे थे। वैसे ही सत्त्ववेत्ता पुरुष भी भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९४-३९५ ॥

सनत्कुमारो देवाश्च इतिहासास्तथैव च।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥३९६॥
मनवः सप्त सोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च ॥३९७॥

दण्ड-मेखलाधारी भगवान् श्रीकृष्णको शिव-पार्वतीके दर्शन

छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः ।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥३९८॥
प्रजानां पालकाः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः ।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥३९९॥
सहस्राणि मुनीनां च अयुतान्यर्बुदानि च ।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥४००॥

युधिष्ठिर ! सनत्कुमार, देवगण, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सात मनु, सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य, छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य, यज्ञोपयोगी मूर्तिमान् द्रव्य, समस्त प्रजापालकगण, नदी, नग, नाग, सम्पूर्ण देवमाताएँ, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ, सहस्रों, लाखों, अरबों महर्षि, पर्वत, समुद्र और दिशाएँ—ये सब-के-सब शान्तस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९६–४०० ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः ।
दिव्यतालेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ॥४०१॥

गीत और वाद्यकी कलामें कुशल अप्सराएँ तथा गन्धर्व दिव्य तालपर गाते हुए अद्भुत शक्तिशाली भगवान् भवकी स्तुति करते थे ॥ ४०१ ॥

विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा ।
सर्वाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ॥४०२॥

महाराज ! विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस तथा समस्त चराचर प्राणी मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ४०२ ॥

पुरस्ताद् धिष्ठितः शर्वो ममासीत् त्रिदशेश्वरः ।
पुरस्ताद् धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानं च भारत ॥४०३॥
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत ।
ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत् तदा ॥४०४॥

देवेश्वर शिव मेरे सामने खड़े थे । भारत ! मेरे सामने महादेवजीको खड़ा देख प्रजापतियोंसे लेकर इन्द्रतक सारा जगत् मेरी ओर देखने लगा । किंतु उस समय महादेवजीको देखनेकी मुझमें शक्ति नहीं रह गयी थी ॥ ४०३-४०४ ॥

ततो मामब्रवीद् देवः पश्य कृष्ण वदस्व च ।
त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः ॥४०५॥

तब भगवान् शिवने मुझसे कहा—'श्रीकृष्ण ! मुझे देखो, मुझसे वार्तालाप करो । तुमने पहले भी सैकड़ों और हजारों बार मेरी आराधना की है ॥ ४०५ ॥

त्वत्समो नास्ति मे कश्चित् त्रिषु लोकेषु वै प्रियः ।
शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्युमा तदा ।
ततोऽहमब्रुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥४०६॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है ।' जब मैंने मस्तक झुकाकर महादेवजीको प्रणाम किया, तब देवी उमाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उस समय मैंने ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा प्रशंसित भगवान् शिवसे इस प्रकार कहा ।४०६।

श्रीकृष्ण उवाच

नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने
ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति ।
तपश्च सत्त्वं च रजस्तमश्च
त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥४०७॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—सबके कारणभूत सनातन परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । ऋषि आपको ब्रह्माजीका भी अधिपति बताते हैं । साधु पुरुष आपको ही तप, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा सत्यस्वरूप कहते हैं ॥ ४०७ ॥

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः ।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥४०८॥

आप ही ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, शिव, धाता, विधाता और त्वष्टा हैं । आप ही सब ओर मुखवाले परमेश्वर हैं ॥ ४०८ ॥

त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४०९॥

समस्त चराचर प्राणी आपहीसे उत्पन्न हुए हैं । आपने ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंसहित इस समस्त त्रिलोकीकी सृष्टि की है ॥ ४०९ ॥

यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं
ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः ।
ये देवसंस्थास्तवदेवताश्च
तस्मात् परं त्वामृषयो वदन्ति ॥४१०॥

यहाँ जो-जो इन्द्रियाँ, जो सम्पूर्ण मन, जो समस्त वायु और सात अग्नियाँ[1] हैं, जो देवसमुदायके अंदर रहनेवाले स्तवनके योग्य देवता हैं, उन सबसे परे आपकी स्थिति है । ऋषिगण आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं ॥ ४१० ॥

वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः ।
यज्ञोपगं च यत् किंचिद् भगवांस्तदसंशयम् ॥४११॥

वेद, यज्ञ, सोम, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य तथा जो कुछ भी यज्ञोपयोगी सामग्री है, वह सब आप भगवान् ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४११ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये ।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥४१२॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत और नियम, लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि तथा सिद्धि—ये सब आपके स्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ ४१२ ॥

१. गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य—ये पाँच वैदिक अग्नियाँ हैं । स्मार्त छठी और लौकिक सातवीं अग्नि है ।

कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनवस्तव ॥४१३॥

भगवन् ! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तब्धता, मात्सर्य, आधि और व्याधि-ये सब आपके ही शरीर हैं।४१३।

कृतिर्विकारः प्रणयः प्रधानं बीजमव्ययम्।
मनसः परमा योनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥४१४॥

क्रिया, विकार, प्रणय, प्रधान, अविनाशी बीज, मनका परम कारण और सनातन प्रभाव-ये भी आपके ही स्वरूप हैं ॥

अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः।
आदिर्गणानां सर्वेषां भवान् वै जीविताश्रयः ॥४१५॥

अव्यक्त, पावन, अचिन्त्य, हिरण्मय सूर्यस्वरूप आप ही समस्त गणोंके आदिकारण तथा जीवनके आश्रय हैं।४१५।

महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयम्भुवः।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित् ख्यातिर्धृतिःस्मृतिः॥४१६॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।
त्वां बुद्ध्वा ब्राह्मणो वेदात् प्रमोहं विनियच्छति॥४१७॥

महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, विश्व, शम्भु, स्वयम्भू, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्, ख्याति, धृति और स्मृति–इन चौदह पर्यायवाची शब्दोंद्वारा आप परमात्मा ही प्रकाशित होते हैं। वेदसे आपका बोध प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण मोहका सर्वथा नाश कर देता है ॥ ४१६-४१७ ॥

हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः।
सर्वतःपाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ॥४१८॥

ऋषियोंद्वारा प्रशंसित आप ही सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें स्थित क्षेत्रज्ञ हैं। आपके सब ओर हाथ-पैर हैं। सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥ ४१८ ॥

सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि।
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्मसु ॥४१९॥

आपके सब ओर कान हैं और जगत्में आप सबको व्याप्त करके स्थित हैं। जीवके आँख मीजने और खोलनेसे लेकर जितने कर्म हैं, उनके फल आप ही हैं ॥ ४१९ ॥

त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः।
अणिमा महिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥४२०॥

आप अविनाशी परमेश्वर ही सूर्यकी प्रभा और अग्निकी ज्वाला हैं। आप ही सबके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं। अणिमा, महिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ तथा ज्योति भी आप ही हैं ॥ ४२० ॥

त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्त्वा जितेन्द्रियाः॥४२१॥

आपमें बोध और मननकी शक्ति विद्यमान है। जो लोग आपकी शरणमें आकर सर्वथा आपके आश्रित रहते हैं, वे ध्यानपरायण, नित्य योगयुक्त, सत्यसंकल्प तथा जितेन्द्रिय होते हैं ॥ ४२१ ॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं
प्रभुं पुराणं पुरुषं च विग्रहम्।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति॥४२२॥

जो आपको अपनी हृदयगुहामें स्थित आत्मा, प्रभु, पुराण-पुरुष, मूर्तिमान् परब्रह्म, हिरण्मय पुरुष और बुद्धिमानोंकी परम गतिरूपमें निश्चित भावसे जानता है, वही बुद्धिमान् लौकिक बुद्धिका उल्लङ्घन करके परमात्मभावमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४२२ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥४२३॥

विद्वान् पुरुष महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा— इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको जानकर आपके स्वरूपभूत छः[1] अङ्गोंका बोध प्राप्त करके प्रमुख विधियोगका आश्रय ले आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४२३ ॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने।
चराचरं जगत् सर्वं सिंहनादं तदाकरोत् ॥४२४॥

कुन्तीनन्दन ! जब मैंने सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले महादेवजीकी इस प्रकार स्तुति की, तब यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सिंहनाद कर उठा ॥ ४२४ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव तदा प्रणेमुः ॥४२५॥

ब्राह्मणोंके समुदाय, देवता, असुर, नाग, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षसगण, समस्त भूतगण तथा महर्षि भी उस समय भगवान् शिवको प्रणाम करने लगे ॥ ४२५ ॥

मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम्।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥४२६॥

मेरे मस्तकपर ढेर-के-ढेर दिव्य सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी तथा अत्यन्त सुखदायक हवा चलने लगी ॥४२६॥

निरीक्ष्य भगवान् देवीं ह्युमां मां च जगद्धितः।
शतक्रतुं चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शङ्करः ॥४२७॥

जगत्के हितैषी भगवान् शङ्करने उमादेवीकी ओर देखकर मेरी ओर देखा और फिर इन्द्रपर दृष्टिपात करके स्वयं मुझसे कहा— ॥ ४२७ ॥

विदुः कृष्ण परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन्।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि त्वयि मे परा ॥४२८॥

---

१. सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त शक्ति और अनन्त शक्ति—ये महेश्वरके स्वरूपभूत छः अङ्ग बताये गये हैं।

'शत्रुहन् श्रीकृष्ण ! मुझमें जो तुम्हारी पराभक्ति है, उसे सब लोग जानते हैं, अब तुम अपना कल्याण करो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर मेरा विशेष प्रेम है ॥ ४२८ ॥

वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छसि सुदुर्लभान् ॥४२९॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! यदुकुलसिंह श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हें आठ वर देता हूँ। तुम जिन परम दुर्लभ वरोंको पाना चाहते हो, उन्हें बताओ' ॥ ४२९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वका आख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ४३३ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

शिव और पार्वतीका श्रीकृष्णको वरदान और उपमन्युके द्वारा महादेवजीकी महिमा

श्रीकृष्ण उवाच

मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजःसंनिचये ततः।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत ! तदनन्तर मनको वशमें करके तेजोराशिमें स्थित महादेवजीको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर बड़े हर्षमें भरकर मैंने उन भगवान् शिवसे कहा—॥

धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं
यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च।
योगप्रियत्वं तव संनिकर्षं
वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥

'धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थिति, युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेकी क्षमता, श्रेष्ठ यश, उत्तम बल, योगबल, सबका प्रिय होना, आपका सांनिध्य तथा दस हजार पुत्र—ये ही आठ वर मैं माँग रहा हूँ' ॥ २ ॥

एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शङ्करः।
ततो मां जगतो माता धारिणी सर्वपावनी ॥ ३ ॥
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः।
दत्तो भगवता पुत्रः साम्बो नाम तवानघ ॥ ४ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भगवान् शङ्करने कहा, 'एवमस्तु—ऐसा ही हो।' तब सबका धारण-पोषण करनेवाली सर्वपावनी तपोनिधि रुद्रपत्नी जगदम्बा उमादेवी एकाग्रचित्त होकर बोलीं—'निष्पाप श्यामसुन्दर ! भगवान्ने तुम्हें साम्ब नामक पुत्र दिया है ॥ ३-४ ॥

मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान् गृहाण त्वं ददामि ते।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥ ५ ॥

'अब मुझसे भी अभीष्ट आठ वर माँग लो। मैं तुम्हें वे वर प्रदान करती हूँ।' पाण्डुनन्दन ! तब मैंने जगदम्बाके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करके उनसे कहा—॥ ५ ॥

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं
शतं सुतानां परमं च भोगम्।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं
शमप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणोंपर कभी मेरे मनमें क्रोध न हो। मेरे पिता मुझपर प्रसन्न रहें। मुझे सैकड़ों पुत्र प्राप्त हों। उत्तम भोग सदा उपलब्ध रहें। हमारे कुलमें प्रसन्नता बनी रहे। मेरी माता भी प्रसन्न रहें। मुझे शान्ति मिले और प्रत्येक कार्यमें कुशलता प्राप्त हो—ये आठ वर और माँगता हूँ' ॥ ६ ॥

उमोवाच

एवं भविष्यत्यमरप्रभाव
नाहं मृषा जातु वदे कदाचित्।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव
तासु प्रियत्वं च तथाक्षयं च ॥ ७ ॥
प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद्
ददामि तेऽहं वपुषः काम्यतां च।
भोक्ष्यन्ते वै सप्ततिं वै शतानि
गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥ ८ ॥

भगवती उमाने कहा—अमरोंके समान प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! ऐसा ही होगा। मैं कभी झूठ नहीं बोलती हूँ। तुम्हें सोलह हजार रानियाँ होंगी। उनका तुम्हारे प्रति प्रेम रहेगा। तुम्हें अक्षय धनधान्यकी प्राप्ति होगी। बन्धु-बान्धवोंकी ओरसे तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त होगी। मैं तुम्हारे इस शरीरके सदा कमनीय बने रहनेका वर देती हूँ और तुम्हारे घरमें प्रतिदिन सात हजार अतिथि भोजन करेंगे* ॥ ७-८ ॥

* यहाँ श्रीकृष्णके माँगे हुए आठ वरोंको एवं 'भविष्यति' इस वाक्यके द्वारा देनेके पश्चात् पार्वतीजी अपनी ओरसे आठ वर और देती हैं। इनमें 'अमरप्रभाव' इस सम्बोधनके द्वारा देवोपम प्रभावका दान ही पहला वरदान सूचित किया गया है। 'मैं कभी झूठ नहीं बोलती' इस कथनके द्वारा 'तुम भी कभी झूठ नहीं बोलोगे' यह दूसरा वर सूचित होता है। सोलह हजारके प्राप्त होनेका वर तीसरा है। उनका प्रिय होना चौथा वर है। अक्षय धन-धान्यकी प्राप्ति पाँचवाँ वर है। बान्धवोंकी प्रीति छठा, शरीरकी कमनीयता सातवाँ और सात हजार अतिथियोंका भोजन आठवाँ वर है। इससे पहले जो सोलह और आठ वरके प्राप्त होनेकी बात कही गयी थी, उसकी सङ्गति लग जाती है।

वासुदेव उवाच

एवं दत्त्वा वरान् देवो मम देवी च भारत ।
अन्तर्हितः क्षणे तस्मिन् सगणो भीमपूर्वज ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतनन्दन ! भीमसेनके बड़े भैया ! इस प्रकार महादेवजी तथा देवी पार्वती मुझे वरदान देकर अपने गणोंके साथ उसी क्षण अन्तर्धान हो गये ॥ ९ ॥

एतदत्यद्भुतं पूर्वं ब्राह्मणायातितेजसे ।
उपमन्यवे मया कृत्स्नं व्याख्यातं पार्थिवोत्तम ।
नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ॥ १० ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त मैंने पहले महातेजस्वी ब्राह्मण उपमन्युको पूर्णरूपसे बताया था । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! उपमन्युने देवाधिदेव महादेवजीको नमस्कार करके इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

उपमन्युरुवाच

नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥ ११ ॥

उपमन्यु बोले—महादेवजीके समान कोई देवता नहीं है । महादेवजीके समान कोई गति नहीं है । दानमें शिवजीकी समानता करनेवाला कोई नहीं है तथा युद्धमें भी भगवान् शङ्करके समान दूसरा कोई वीर नहीं है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहन (इन्द्ररूपधारी महादेव) की महिमाके प्रतिपादक पर्वकी कथामें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

उपमन्यु-श्रीकृष्ण-संवाद—महात्मा तण्डिद्वारा की गयी महादेवजीकी स्तुति, प्रार्थना और उसका फल

उपमन्युरुवाच

ऋषिरासीत् कृते तात तण्डिरित्येव विश्रुतः ।
दशवर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ॥ १ ॥
आराधितोऽभूद् भक्तेन तस्योदर्कं निशामय ।
स दृष्टवान् महादेवमस्तौषीच्च स्तवैर्विभुम् ॥ २ ॥

उपमन्यु कहते हैं—तात ! सत्ययुगमें तण्डि नामसे विख्यात एक ऋषि थे, जिन्होंने भक्तिभावसे ध्यानके द्वारा दस हजार वर्षोंतक महादेवजीकी आराधना की थी । उन्हें जो फल प्राप्त हुआ था, उसे बता रहा हूँ, सुनिये । उन्होंने महादेवजीका दर्शन किया और स्तोत्रोंद्वारा उन प्रभुकी स्तुति की ॥

इति तण्डिस्तपोयोगात् परमात्मानमव्ययम् ।
चिन्तयित्वा महात्मानमिदमाह सुविस्मितः ॥ ३ ॥

इस तरह तण्डिने तपस्यामें संलग्न होकर अविनाशी परमात्मा महामना शिवका चिन्तन करके अत्यन्त विस्मित हो इस प्रकार कहा था—॥ ३ ॥

यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः ।
परं प्रधानं पुरुषमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥ ४ ॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः ।
देवासुरमुनीनां च परं यस्मान्न विद्यते ॥ ५ ॥
अजं तमहमीशानमनादिनिधनं प्रभुम् ।
अत्यन्तसुखिनं देवमनघं शरणं व्रजे ॥ ६ ॥

'सांख्यशास्त्रके विद्वान् पर, प्रधान, पुरुष, अधिष्ठाता और ईश्वर कहकर सदा जिनका गुणगान करते हैं, योगीजन जिनके चिन्तनमें लगे रहते हैं, विद्वान् पुरुष जिन्हें जगत्‌की उत्पत्ति और विनाशका कारण समझते हैं, देवताओं, असुरों और मुनियोंमें भी जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, उन अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनघ और अत्यन्त सुखी, प्रभावशाली ईश्वर महादेवजीकी मैं शरण लेता हूँ' ॥ ४–६ ॥

एवं ब्रुवन्नेव तदा ददर्श तपसां निधिम् ।
तमव्ययमनौपम्यमचिन्त्यं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम् ।
योगिनां परमानन्दमक्षरं मोक्षसंज्ञितम् ॥ ८ ॥

इतना कहते ही तण्डिने उन तपोनिधि, अविकारी, अनुपम, अचिन्त्य, शाश्वत, ध्रुव, निष्कल, सकल, निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मका दर्शन प्राप्त किया, जो योगियोंके परमानन्द, अविनाशी एवं मोक्षस्वरूप हैं ॥ ७-८ ॥

मनोरिन्द्राग्निमरुतां विश्वस्य ब्रह्मणो गतिम् ।
अग्राह्यमचलं शुद्धं बुद्धिग्राह्यं मनोमयम् ॥ ९ ॥

वे ही मनु, इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, सम्पूर्ण विश्व तथा ब्रह्माजीकी भी गति हैं । मन और इन्द्रियोंके द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता । वे अग्राह्य, अचल, शुद्ध, बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य तथा मनोमय हैं ॥ ९ ॥

दुर्विज्ञेयमसंख्येयं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
योनिं विश्वस्य जगतस्तमसः परतः परम् ॥ १० ॥

उनका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । वे अप्रमेय हैं । जिन्होंने अपने अन्तःकरणको पवित्र एवं वशीभूत नहीं किया है, उनके लिये वे सर्वथा दुर्लभ हैं । वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के कारण हैं । अज्ञानमय अन्धकारसे अत्यन्त परे हैं ॥ १० ॥

यः प्राणवन्तमात्मानं ज्योतिर्जीवस्थितं मनः ।
तं देवं दर्शनाकाङ्क्षी बहून् वर्षगणानृषिः ॥ ११ ॥
तपस्युग्रे स्थितो भूत्वा दृष्ट्वा तुष्टाव चेश्वरम् ॥

जो देवता अपनेको प्राणवान्—जीवस्वरूप बनाकर उसमें मनोमय ज्योति बनकर स्थित हुए थे, उन्हींके दर्शनकी अभिलाषासे तण्डि मुनि बहुत वर्षोंतक उग्र तपस्यामें लगे रहे। जब उनका दर्शन प्राप्त कर लिया, तब उन मुनीश्वरने जगदीश्वर शिवकी इस प्रकार स्तुति की ॥ ११½ ॥

तण्डिरुवाच

पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ॥ १२ ॥
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः ।

तण्डिने कहा—सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! आप पवित्रोंमें भी परम पवित्र तथा गतिशील प्राणियोंकी उत्तम गति हैं। तेजोंमें अत्यन्त उग्र तेज और तपस्याओंमें उत्कृष्ट तप हैं ॥

विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ॥ १३ ॥
भूरिकल्याणद विभो परं सत्यं नमोऽस्तु ते ।

गन्धर्वराज विश्वावसु, दैत्यराज हिरण्याक्ष और देवराज इन्द्र भी आपकी वन्दना करते हैं। सबको महान् कल्याण प्रदान करनेवाले प्रभो ! आप परम सत्य हैं। आपको नमस्कार है ॥ १३½ ॥

जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ॥ १४ ॥
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय ।

विभो ! जो जन्म-मरणसे भयभीत हो संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं, उन यतियोंको निर्वाण (मोक्ष) प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप ही सहस्रों किरणोंवाले सूर्य होकर तप रहे हैं। सुखके आश्रयरूप महेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥ १४½ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ॥ १५ ॥
न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ।
त्वत्तः प्रवर्तते सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव तथा महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं। फिर हम कैसे जान सकते हैं। आपसे ही सबकी उत्पत्ति होती है तथा आपमें ही यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है ॥ १५-१६ ॥

कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि ।
तनवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ॥ १७ ॥

काल, पुरुष और ब्रह्म—इन तीन नामोंद्वारा आप ही प्रतिपादित होते हैं। पुराणवेत्ता देवर्षियोंने आपके ये तीन रूप बताये हैं ॥ १७ ॥

अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम् ।
अधिलोकाधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥ १८ ॥

अधिपौरुष, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधिलोक, अधिविज्ञान और अधियज्ञ आप ही हैं ॥ १८ ॥

त्वां विदित्वात्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि ।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥ १९ ॥

आप देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय हैं। विद्वान् पुरुष आपको अपने ही शरीरमें स्थित अन्तर्यामी आत्माके रूपमें जानकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो रोग-शोकसे रहित परमभावको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकतः ।
द्वारं तु स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥ २० ॥

प्रभो ! यदि आप स्वयं ही कृपा करके जीवका उद्धार करना न चाहें तो उसके बारंबार जन्म और मृत्यु होते रहते हैं। आप ही स्वर्ग और मोक्षके द्वार हैं। आप ही उनकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले हैं तथा आप ही ये दोनों वस्तुएँ प्रदान करते हैं ॥ २० ॥

त्वं वै स्वर्गश्च मोक्षश्च कामः क्रोधस्त्वमेव च ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्ध्वं त्वमेव हि ॥ २१ ॥

आप ही स्वर्ग और मोक्ष हैं। आप ही काम और क्रोध हैं तथा आप ही सत्त्व, रज, तम, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक हैं ॥

ब्रह्मा भवश्च विष्णुश्च स्कन्देन्द्रौ सविता यमः ।
वरुणेन्दू मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, इन्द्र, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और धनाध्यक्ष कुबेर भी आप ही हैं ॥ २२ ॥

भूर्वायुः सलिलाग्निश्च खं वाग्बुद्धिः स्थितिर्मतिः ।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥ २३ ॥

पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, वाणी, बुद्धि, स्थिति, मति, कर्म, सत्य, असत्य तथा अस्ति और नास्ति भी आप ही हैं ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च प्रकृतिभ्यः परं ध्रुवम् ।
विश्वाविश्वपरो भावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥ २४ ॥

आप ही इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय हैं। आप ही प्रकृतिसे परे निश्चल एवं अविनाशी तत्त्व हैं। आप ही विश्व और अविश्व—दोनोंसे परे विलक्षण भाव हैं तथा आप ही चिन्त्य और अचिन्त्य हैं ॥ २४ ॥

यच्चैतत् परमं ब्रह्म यच्च तत् परमं पदम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां स भवान् नात्र संशयः ॥ २५ ॥

जो यह परम ब्रह्म है, जो वह परमपद है तथा जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंकी गति है, वह आप ही हैं— इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

नूनमद्य कृतार्थाः स्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्रार्थयन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥ २६ ॥

ज्ञानसे निर्मल बुद्धिवाले ज्ञानी पुरुष यहाँ जिस गतिको

प्राप्त करना चाहते हैं, सत्पुरुषोंकी उसी गतिको निश्चित रूपसे हम प्राप्त हो गये हैं; अतः आज हम निश्चय ही कृतार्थ हो गये ॥ २६ ॥

अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसा।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥ २७ ॥

अहो, हम अज्ञानवश इतने दीर्घकालतक मोहमें पड़े रहे हैं, क्योंकि जिन्हें विद्वान् पुरुष जानते हैं, उन्हीं सनातन परमदेवको हम अबतक नहीं जान सके थे ॥ २७ ॥

सेयमासादिता साक्षात् त्वद्भक्तिर्जन्मभिर्मया।
भक्तानुग्रहकृद् देवो यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २८ ॥

अब अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मैंने यह साक्षात् आपकी भक्ति प्राप्त की है। आप ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले महान् देवता हैं, जिन्हें जानकर ज्ञानी पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ २८ ॥

देवासुरमुनीनां तु यच्च गुह्यं सनातनम्।
गुहायां निहितं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं मुनेरपि ॥ २९ ॥
स एष भगवान् देवः सर्वकृत् सर्वतोमुखः।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥ ३० ॥

जो सनातन ब्रह्म देवताओं, असुरों और मुनियोंके लिये भी गुह्य है, जो हृदयगुहामें स्थित रहकर मननशील मुनिके लिये भी दुर्विज्ञेय बने हुए हैं, वही ये भगवान् हैं। ये ही सबकी सृष्टि करनेवाले देवता हैं। इनके सब ओर मुख हैं। ये सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं ॥ २९-३० ॥

देहकृद् देहभृद् देही देहभुग्देहिनां गतिः।
प्राणकृत् प्राणभृत् प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ॥ ३१ ॥

आप शरीरके निर्माता और शरीरधारी हैं, इसीलिये देही कहलाते हैं। देहके भोक्ता और देहधारियोंकी परम गति हैं। आप ही प्राणोंके उत्पादक, प्राणधारी, प्राणी, प्राणदाता तथा प्राणियोंकी गति हैं ॥ ३१ ॥

अध्यात्मगतिरिष्टानां ध्यायिनामात्मवेदिनाम्।
अपुनर्भवकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥ ३२ ॥

ध्यान करनेवाले प्रियभक्तोंकी जो अध्यात्मगति हैं तथा पुनर्जन्मकी इच्छा न रखनेवाले आत्मज्ञानी पुरुषोंकी जो गति बतायी गयी है, वह ये ईश्वर ही हैं ॥ ३२ ॥

अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः।
अयं च जन्ममरणे विदध्यात् सर्वजन्तुषु ॥ ३३ ॥

ये ही समस्त प्राणियोंको शुभ और अशुभ गति प्रदान करनेवाले हैं। ये ही समस्त प्राणियोंको जन्म और मृत्यु प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

अयं संसिद्धिकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः।
भूराद्यान् सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः।
दधाति देवस्तनुभिरष्टाभिर्यो बिभर्ति च ॥ ३४ ॥

संसिद्धि (मुक्ति) की इच्छा रखनेवाले पुरुषोंकी जो परम गति है, वह ये ईश्वर ही हैं। देवताओंसहित भू आदि समस्त लोकोंको उत्पन्न करके ये महादेव ही (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान—इन) अपनी आठ मूर्तियोंद्वारा उनका धारण और पोषण करते हैं ॥ ३४ ॥

अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥ ३५ ॥

इन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है और इन्हींमें सारा जगत् प्रतिष्ठित है और इन्हींमें सबका लय होता है। ये ही एक सनातन पुरुष हैं ॥ ३५ ॥

अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परं सताम्।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवेदिनाम् ॥ ३६ ॥

ये ही सत्यकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये सर्वोत्तम सत्यलोक हैं। ये ही मुक्त पुरुषोंके अपवर्ग (मोक्ष) और आत्मज्ञानियोंके कैवल्य हैं ॥ ३६ ॥

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः।
देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेदिति ॥ ३७ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंको इनका पता न लगने पाये, मानो इसीलिये ब्रह्मा आदि सिद्ध पुरुषोंने इन परमेश्वरको अपनी हृदयगुफामें छिपा रखा है ॥ ३७ ॥

तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम्।
मोहिताः खल्वनेनैव हृदिस्थेनाप्रकाशिना ॥ ३८ ॥

हृदयमन्दिरमें गूढ़भावसे रहकर प्रकाशित न होनेवाले इन परमात्मदेवने सबको अपनी मायासे मोहित कर रखा है। इसीलिये देवता, असुर और मनुष्य आप महादेवको यथार्थ रूपसे नहीं जान पाते हैं ॥ ३८ ॥

ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥ ३९ ॥

जो लोग भक्तियोगसे भावित होकर उन परमेश्वरकी शरण लेते हैं, उन्हींको यह हृदय-मन्दिरमें शयन करनेवाले भगवान् स्वयं अपना दर्शन देते हैं ॥ ३९ ॥

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं चापि विद्यते।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥ ४० ॥
यं लब्ध्वा परमं लाभं नाधिकं मन्यते बुधः।
यां सूक्ष्मां परमां प्राप्तिं गच्छन्नव्ययमक्षयम् ॥ ४१ ॥
यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः।
सूक्ष्मज्ञानतराः सूक्ष्मं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥ ४२ ॥
यं च वेदविदो वेद्यं वेदान्ते च प्रतिष्ठितम्।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥ ४३ ॥
ओंकाररथमारुह्य ते विशन्ति महेश्वरम्।
अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ॥ ४४ ॥

जिन्हें जान लेनेपर फिर जन्म और मरणका बन्धन नहीं रह जाता है तथा जिनका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर दूसरे किसी उत्कृष्ट ज्ञेय तत्त्वका जानना शेष नहीं रहता है, जिन्हें

प्राप्त कर लेनेपर विद्वान् पुरुष बड़े-से-बड़े लाभको भी उनसे अधिक नहीं मानता है, जिस सूक्ष्म परम पदार्थको पाकर ज्ञानी मनुष्य ह्रास और नाशसे रहित परमपदको प्राप्त कर लेता है, सत्त्व आदि तीन गुणों तथा चौबीस तत्त्वोंको जाननेवाले सांख्यज्ञानविशारद सांख्ययोगी विद्वान् जिस सूक्ष्म तत्त्वको जानकर उस सूक्ष्मज्ञानरूपी नौकाके द्वारा संसारसमुद्रसे पार होते और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं, प्राणायामपरायण पुरुष वेदवेत्ताओंके जानने योग्य तथा वेदान्तमें प्रतिष्ठित जिस नित्य तत्त्वका ध्यान और जप करते हैं और उसीमें प्रवेश कर जाते हैं; वही ये महेश्वर हैं। ॐकाररूपी रथपर आरूढ़ होकर वे सिद्ध पुरुष इन्हींमें प्रवेश करते हैं। ये ही देवयानके द्वाररूप सूर्य कहलाते हैं ।४०–४४।

अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते ।
एष काष्ठा दिशश्चैव संवत्सरयुगादि च ॥ ४५ ॥
दिव्यादिव्यः परो लाभ अयने दक्षिणोत्तरे ।

ये ही पितृयान-मार्गके द्वार चन्द्रमा कहलाते हैं। काष्ठा, दिशा, संवत्सर और युग आदि भी ये ही हैं। दिव्य लाभ (देवलोकका सुख), अदिव्य लाभ (इस लोकका सुख), परम लाभ (मोक्ष), उत्तरायण और दक्षिणायन भी ये ही हैं ॥ ४५½ ॥

एनं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ॥ ४६ ॥
प्रजार्थं वरयामास नीललोहितसंज्ञितम् ।

पूर्वकालमें प्रजापतिने नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा इन्हीं नीललोहित नामवाले भगवान्‌की आराधना करके प्रजाकी सृष्टिके लिये वर प्राप्त किया था ॥ ४६½ ॥

ऋग्भिर्यमनुशासन्ति तत्त्वे कर्मणि बह्वृचाः ॥ ४७ ॥
यजुर्भिर्यत्त्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्यवोऽध्वरे ।
सामभिर्यं च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ॥ ४८ ॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म स्तुवन्त्याथर्वणा द्विजाः ।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ॥ ४९ ॥

ऋग्वेदके विद्वान् तात्त्विक यज्ञकर्ममें ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा जिनकी महिमाका गान करते हैं, यजुर्वेदके ज्ञाता द्विज यज्ञमें यजुर्मन्त्रोंद्वारा दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय—इन त्रिविध रूपोंसे जाननेयोग्य जिन महादेवजीके उद्देश्यसे आहुति देते हैं तथा शुद्ध बुद्धिसे युक्त सामवेदके गानेवाले विद्वान् साम-मन्त्रोंद्वारा जिनकी स्तुति गाते हैं, अथर्ववेदी ब्राह्मण ऋत, सत्य एवं परब्रह्मनामसे जिनकी स्तुति करते हैं, जो यज्ञके परम कारण हैं, वे ही ये परमेश्वर समस्त यज्ञोंके परमपति माने गये हैं ॥ ४७–४९ ॥

रात्र्यहःश्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः ।
ऋतुवीर्यस्तपोधैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ॥ ५० ॥

रात और दिन इनके कान और नेत्र हैं, पक्ष और मास इनके मस्तक और भुजाएँ हैं, ऋतु वीर्य है, तपस्या धैर्य है तथा वर्ष गुह्य-इन्द्रिय, ऊरु और पैर हैं ॥ ५० ॥

मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान् ।
कालस्य परमा योनिः कालश्चायं सनातनः ॥ ५१ ॥

मृत्यु, यम, अग्नि, संहारके लिये वेगशाली काल, कालके परम कारण तथा सनातन काल भी—ये महादेव ही हैं ॥ ५१ ॥

चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ ग्रहाश्च सह वायुना ।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ॥ ५२ ॥
प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं भूतादि सदसच्च यत् ॥ ५३ ॥
अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यः परः ।

चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, वायु, ध्रुव, सप्तर्षि; सात भुवन, मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, विकारोंके सहित विशेषपर्यन्त समस्त तत्त्व, ब्रह्माजीसे लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्, भूतादि, सत् और असत् आठ प्रकृतियाँ तथा प्रकृतिसे परे जो पुरुष है, इन सबके रूपमें ये महादेवजी ही विराजमान हैं ॥ ५२-५३½ ॥

अस्य देवस्य यद् भागं कृत्स्नं सम्परिवर्तते ॥ ५४ ॥
एतत् परममानन्दं यत् तच्छाश्वतमेव च ।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥ ५५ ॥

इन महादेवजीका अंशभूत जो सम्पूर्ण जगत् चक्रकी भाँति निरन्तर चलता रहता है, वह भी ये ही हैं। ये परमानन्दस्वरूप हैं। जो शाश्वत ब्रह्म है, वह भी ये ही हैं। ये ही विरक्तोंकी गति हैं और ये ही सत्पुरुषोंके परमभाव हैं ॥५४-५५॥

एतत् पदमनुद्विग्नमेतद् ब्रह्म सनातनम् ।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद् ध्यानं परं पदम् ॥ ५६ ॥

ये ही उद्वेगरहित परमपद हैं। ये ही सनातन ब्रह्म हैं। शास्त्रों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता पुरुषोंके लिये ये ही ध्यान करनेके योग्य परमपद हैं ॥ ५६ ॥

इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला ।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥ ५७ ॥
इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा ।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त योगिनः ॥ ५८ ॥

यही वह पराकाष्ठा, यही वह परम कला, यही वह परम सिद्धि और यही वह परम गति हैं एवं यही वह परम शान्ति और वह परम आनन्द भी हैं, जिसको पाकर योगीजन अपनेको कृतकृत्य मनाते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः ।
अध्यात्मगतिरिष्टानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥ ५९ ॥

यह तुष्टि, यह सिद्धि, यह श्रुति, यह स्मृति, भक्तोंकी यह अध्यात्मगति तथा ज्ञानी पुरुषोंकी यह अक्षय प्राप्ति (पुनरावृत्तिरहित मोक्षलाभ) आप ही हैं ॥ ५९ ॥

यजतां कामयानानां मखैर्विपुलदक्षिणैः ।
या गतिर्यज्ञशीलानां सा गतिस्त्वं न संशयः ॥ ६० ॥

प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा सकाम भावसे यजन करनेवाले यजमानोंकी जो गति होती है, वह गति आप ही हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ६० ॥

सम्यग् योगजपैः शान्तिर्नियमैर्देहतापनैः ।
तप्यतां या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६१ ॥

देव ! उत्तम योग-जप तथा शरीरको सुखा देनेवाले नियमोंद्वारा जो शान्ति मिलती है और तपस्या करनेवाले पुरुषोंको जो दिव्य गति प्राप्त होती है, वह परम गति आप ही हैं ॥ ६१ ॥

कर्मन्यासकृतानां च विरक्तानां ततस्ततः ।
या गतिर्ब्रह्मसदने सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६२ ॥

सनातन देव ! कर्म-संन्यासियोंको और विरक्तोंको ब्रह्मलोकमें जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥६२॥

अपुनर्भवकामानां वैराग्ये वर्ततां च या ।
प्रकृतीनां लयानां च सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६३ ॥

सनातन परमेश्वर ! जो मोक्षकी इच्छा रखकर वैराग्यके मार्गपर चलते हैं उन्हें, और जो प्रकृतिमें लयको प्राप्त होते हैं उन्हें, जो गति उपलब्ध होती है, वह आप ही हैं ॥ ६३ ॥

ज्ञानविज्ञानयुक्तानां निरुपाख्या निरञ्जना ।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६४ ॥

देव ! ज्ञान और विज्ञानसे युक्त पुरुषोंको जो सारूप्य आदि नामसे रहित, निरञ्जन एवं कैवल्यरूप परमगति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥ ६४ ॥

वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः ।
त्वत्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो॥६५ ॥

प्रभो ! वेद-शास्त्र और पुराणोंमें जो ये पाँच गतियाँ बतायी गयी हैं, ये आपकी कृपासे ही प्राप्त होती हैं, अन्यथा नहीं ॥ ६५ ॥

इति तण्डिस्तपोराशिस्तुष्टावेशानमात्मना ।
जगौ च परमं ब्रह्म यत् पुरा लोककृज्जगौ ॥ ६६ ॥

इस प्रकार तपस्याकी निधिरूप तण्डिने अपने मनसे महादेवजीकी स्तुति की और पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिस परम ब्रह्मस्वरूप स्तोत्रका गान किया था, उसीका स्वयं भी गान किया ॥ ६६ ॥

उपमन्युरुवाच

एवं स्तुतो महादेवस्तण्डिना ब्रह्मवादिना ।
उवाच भगवान् देव उमया सहितः प्रभुः ॥ ६७ ॥

उपमन्यु कहते हैं—ब्रह्मवादी तण्डिके इस प्रकार स्तुति करनेपर पार्वतीसहित प्रभावशाली भगवान् महादेव उनसे बोले ॥ ६७ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥ ६८ ॥

तण्डिने स्तुति करते हुए यह बात कही थी कि 'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव और महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं', इससे भगवान् शङ्कर बहुत संतुष्ट हुए और बोले ॥ ६८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ६९ ॥

भगवान् श्रीशिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम अक्षय, अविकारी, दुःखरहित, यशस्वी, तेजस्वी एवं दिव्यज्ञानसे सम्पन्न होओगे ॥ ६९ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव ।
मत्प्रसादाद् द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥ ७० ॥
कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद् वत्स काङ्क्षसे ।

द्विजश्रेष्ठ ! मेरी कृपासे तुम्हें एक विद्वान् पुत्र प्राप्त होगा, जिसके पास ऋषिलोग भी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये जायँगे । वह कल्पसूत्रका निर्माण करेगा, इसमें संशय नहीं है। वत्स ! बोलो, तुम क्या चाहते हो ? अब मैं तुम्हें कौन-सा मनोवाञ्छित वर प्रदान करूँ ? ॥ ७०½ ॥

प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥ ७१ ॥

तब तण्डिने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो ! आपके चरणारविन्दमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो' ॥ ७१ ॥

उपमन्युरुवाच

एतान् दत्त्वा वरान् देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः ।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७२ ॥

उपमन्युने कहा—देवर्षियोंद्वारा वन्दित और देवताओंद्वारा प्रशंसित होते हुए महादेवजी इन वरोंको देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७२ ॥

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर ।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत् प्रोक्तवानिह ॥ ७३ ॥

यादवेश्वर ! जब पार्षदोंसहित भगवान् अन्तर्धान हो गये, तब ऋषिने मेरे आश्रमपर आकर यहाँ मुझसे ये सब बातें बतायीं ॥ ७३ ॥

यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान् मम ।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥ ७४ ॥

मानवश्रेष्ठ ! तण्डिमुनिने जिन आदिकालके प्रसिद्ध नामोंका मेरे सामने वर्णन किया, उन्हें आप भी सुनिये । वे सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं ॥ ७४ ॥

दशनामसहस्राणि देवेष्वाह पितामहः ।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दशनामशतानि च ॥ ७५ ॥

पितामह ब्रह्माने पूर्वकालमें देवताओंके निकट महादेव-

जीके दस हजार नाम बताये थे और शास्त्रोंमें भी उनके सहस्र नाम वर्णित हैं ॥ ७५ ॥

गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत।
देवप्रसादाद् देवेशः पुरा प्राह महात्मने ॥ ७६ ॥

अच्युत ! पहले देवेश्वर ब्रह्माजीने महादेवजीकी कृपासे महात्मा तण्डिके निकट जिन नामोंका वर्णन किया था, महर्षि तण्डिने भगवान् महादेवके उन्हीं समस्त गोपनीय नामोंका मेरे समक्ष प्रतिपादन किया था ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामस्तोत्र और उसके पाठका फल

वासुदेव उवाच

ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिर।
प्राञ्जलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंग्रहमादितः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—तात युधिष्ठिर ! तदनन्तर ब्रह्मर्षि उपमन्युने मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके पवित्र हो हाथ जोड़ मेरे समक्ष वह नाम-संग्रह आदिसे ही कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

उपमन्युरुवाच

ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसम्भवैः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्तुत्यं स्तोष्यामि नामभिः ॥ २ ॥

उपमन्यु बोले—मैं ब्रह्माजीके कहे हुए, ऋषियोंके बताये हुए तथा वेद-वेदाङ्गोंसे प्रकट हुए नामोंद्वारा सर्वलोकविख्यात एवं स्तुतिके योग्य भगवान्‌की स्तुति करूँगा ॥ २ ॥

महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः ।
ऋषिणा तण्डिना भक्त्या कृतैर्वेदकृतात्मना ॥ ३ ॥
यथोक्तैः साधुभिः ख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ४ ॥
श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः ।
सत्यैस्तत् परमं ब्रह्म ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥ ५ ॥
वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम ।
वरयैनं भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ॥ ६ ॥

इन सब नामोंका आविष्कार महापुरुषोंने किया है तथा वेदोंमें दत्तचित्त रहनेवाले महर्षि तण्डिने भक्तिपूर्वक इनका संग्रह किया है । इसलिये ये सभी नाम सत्य, सिद्ध तथा सम्पूर्ण मनोरथोंके साधक हैं। विख्यात श्रेष्ठ पुरुषों तथा तत्त्वदर्शी मुनियोंने इन सभी नामोंका यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है। महर्षि तण्डिने ब्रह्मलोकसे मर्त्यलोकमें इन नामोंको उतारा है; इसलिये ये सत्यनाम सम्पूर्ण जगत्‌में आदरपूर्वक सुने गये हैं । यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! यह ब्रह्माजीका कहा हुआ सनातन शिव-स्तोत्र अन्य स्तोत्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और उत्तम वेदमय है। सब स्तोत्रोंमें इसका प्रथम स्थान है। यह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर एवं शुभकारक है। इसका मैं आपसे वर्णन करूँगा । आप सावधान होकर मेरे मुखसे इसका श्रवण करें । आप परमेश्वर महादेवजीके भक्त हैं; अतः इस शिवस्वरूप स्तोत्रका वरण करें ॥ ३–६ ॥

तेन ते श्रावयिष्यामि यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
न शक्यं विस्तरात् कृत्स्नं वक्तुं सर्वस्य केनचित् ॥ ७ ॥
युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ।
यस्यादिर्मध्यमन्तं च सुरैरपि न गम्यते ॥ ८ ॥
कस्तस्य शक्नुयाद् वक्तुं गुणान् कार्त्स्न्येन माधव ।

शिवभक्त होनेके ही कारण मैं यह सनातन वेदस्वरूप स्तोत्र आपको सुनाता हूँ । महादेवजीके इस सम्पूर्ण नामसमूहका पूर्णरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता। कोई व्यक्ति योगयुक्त होनेपर भी भगवान् शिवकी विभूतियोंका सैकड़ों वर्षोंमें भी वर्णन नहीं कर सकता। माधव ! जिनके आदि, मध्य और अन्तका पता देवता भी नहीं पाते हैं, उनके गुणोंका पूर्णरूपसे वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ७-८½ ॥

किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ॥ ९ ॥
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात् तस्य धीमतः ।
अप्राप्य तु ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ॥ १० ॥

परंतु मैं अपनी शक्तिके अनुसार उन बुद्धिमान् महादेवजीकी ही कृपासे संक्षिप्त अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त उनके चरित्र एवं स्तोत्रका वर्णन करूँगा । उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उन महेश्वरकी स्तुति नहीं की जा सकती है ॥ ९-१० ॥

यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतो वै स तदा मया ।
अनादिनिधनस्याहं जगद्योनेर्महात्मनः ॥ ११ ॥
नाम्नां कंचित् समुद्देशं वक्ष्याम्यव्यक्तयोनिनः ।

जब उनकी आज्ञा प्राप्त हुई है, तभी मैंने उनकी स्तुति की है । आदि-अन्तसे रहित तथा जगत्‌के कारणभूत अव्यक्तयोनि महात्मा शिवके नामोंका कुछ संक्षिप्त संग्रह मैं बता रहा हूँ ॥ ११½ ॥

वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ १२ ॥
शृणु नाम्नां चयं कृष्ण यदुक्तं पद्मयोनिना ।

श्रीकृष्ण ! जो वरदायक, वरेण्य (सर्वश्रेष्ठ), विश्वरूप

और बुद्धिमान् हैं, उन भगवान् शिवका पद्मयोनि ब्रह्माजीके द्वारा वर्णित नाम-संग्रह श्रवण करो ॥ १२½ ॥

दशनामसहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ॥ १३ ॥
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।

प्रपितामह ब्रह्माजीने जो दस हजार नाम बताये थे, उन्हींको मनरूपी मथानीसे मथकर मथे हुए दहीसे घीकी भाँति यह सहस्रनामस्तोत्र निकाला गया है ॥ १३½ ॥

गिरेः सारं यथा हेम पुष्पसारं यथा मधु ॥ १४ ॥
घृतात् सारं यथा मण्डस्तथैतत् सारमुद्धृतम् ।

जैसे पर्वतका सार सुवर्ण, फूलका सार मधु और घीका सार मण्ड है, उसी प्रकार यह दस हजार नामोंका सार उद्धृत किया गया है ॥ १४½ ॥

सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥ १५ ॥
प्रयत्नेनाधिगन्तव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।
माङ्गल्यं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥ १६ ॥

यह सहस्रनाम सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और चारों वेदोंके समन्वयसे युक्त है । मनको वशमें करके प्रयत्नपूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करे और सदा अपने मनमें इसको धारण करे । यह मङ्गलजनक, पुष्टिकारक, राक्षसोंका विनाशक तथा परम पावन है ॥ १५-१६ ॥

इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्दधानास्तिकाय च ।
नाश्रद्दधानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥ १७ ॥

जो भक्त हो, श्रद्धालु और आस्तिक हो, उसीको इसका उपदेश देना चाहिये । अश्रद्धालु, नास्तिक और अजितात्मा पुरुषको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ १७ ॥

यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जगत्के कारणरूप ईश्वर महादेवके प्रति दोषदृष्टि रखता है, वह पूर्वजों और अपनी संतानके सहित नरकमें पड़ता है ॥ १८ ॥

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमनुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ १९ ॥

यह सहस्रनामस्तोत्र ध्यान है, यह योग है, यह सर्वोत्तम ध्येय है, यह जपनीय मन्त्र है, यह ज्ञान है और यह उत्तम रहस्य है ॥ १९ ॥

यं ज्ञात्वा अन्तकालेऽपि गच्छेत परमां गतिम् ।
पवित्रं मङ्गलं मेध्यं कल्याणमिदमुत्तमम् ॥ २० ॥
इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां राजत्वे दिव्यानां समकल्पयत् ॥ २१ ॥
तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराज इति ख्यातो जगत्यमरपूजितः ॥ २२ ॥

जिसको अन्तकालमें भी जान लेनेपर मनुष्य परमगतिको पा लेता है, वह यह सहस्रनामस्तोत्र परम पवित्र, मङ्गलकारक, बुद्धिवर्द्धक, कल्याणमय तथा उत्तम है । सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने पूर्वकालमें इस स्तोत्रका आविष्कार करके इसे समस्त दिव्यस्तोत्रोंके राजाके पदपर प्रतिष्ठित किया था । तबसे महात्मा ईश्वर महादेवका यह देवपूजित स्तोत्र संसारमें 'स्तवराज' के नामसे विख्यात हुआ ॥ २०—२२ ॥

ब्रह्मलोकादयं स्वर्गे स्तवराजोऽवतारितः ।
यतस्तण्डिः पुरा प्राप तेन तण्डिकृतोऽभवत् ॥ २३ ॥

ब्रह्मलोकसे यह स्तवराज स्वर्गलोकमें उतारा गया । पहले इसे तण्डिमुनिने प्राप्त किया था, इसलिये यह 'तण्डिकृत सहस्रनामस्तवराज' के रूपमें प्रसिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

स्वर्गाच्चैवात्र भूर्लोकं तण्डिना ह्यवतारितः ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २४ ॥
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ।

तण्डिने स्वर्गसे उसे इस भूतलपर उतारा था । यह सम्पूर्ण मङ्गलोंका भी मङ्गल तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । महाबाहो ! सब स्तोत्रोंमें उत्तम इस सहस्रनामस्तोत्रका मैं आपसे वर्णन करूँगा ॥ २४½ ॥

ब्रह्मणामपि यद् ब्रह्म पराणामपि यत् परम् ॥ २५ ॥
तेजसामपि यत् तेजस्तपसामपि यत् तपः ।
शान्तानामपि यः शान्तो द्युतीनामपि या द्युतिः ॥ २६ ॥
दान्तानामपि यो दान्तो धीमतामपि या च धीः ।
देवानामपि यो देव ऋषीणामपि यस्त्वृषिः ॥ २७ ॥
यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ।
रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभा प्रभवतामपि ॥ २८ ॥
योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ।
यतो लोकाः सम्भवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ॥ २९ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजव्याघ्र सर्वान् कामानवाप्स्यसि ॥ ३० ॥

जो वेदोंके भी वेद, उत्तम वस्तुओंमें भी परम उत्तम, तेजके भी तेज, तपके भी तप, शान्त पुरुषोंमें भी परम शान्त, कान्तिकी भी कान्ति, जितेन्द्रियोंमें भी परम जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंकी भी बुद्धि, देवताओंके भी देवता, ऋषियोंके भी ऋषि, यज्ञोंके भी यज्ञ, कल्याणोंके भी कल्याण, रुद्रोंके भी रुद्र, प्रभावशाली ईश्वरोंकी भी प्रभा (ऐश्वर्य), योगियोंके भी योगी तथा कारणोंके भी कारण हैं । जिनसे सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं, उन्हीं अमित तेजस्वी भगवान् शिवके एक हजार आठ नामोंका वर्णन मुझसे सुनिये । पुरुषसिंह ! इसका श्रवणमात्र करके आप अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २५—३० ॥

स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भीमः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥ ३१ ॥

१ **स्थिरः**–चञ्चलतारहित, कूटस्थ एवं नित्य, २ **स्थाणुः**–गृहके आधारभूत खम्भके समान समस्त जगत्‌के आधारस्तम्भ, ३ **प्रभुः**– समर्थ ईश्वर, ४ **भीमः**–संहारकारी होनेके कारण भयंकर, ५ **प्रवरः**– सर्वश्रेष्ठ, ६ **वरदः**–अभीष्ट वर देनेवाले, ७ **वरः**–वरण करने योग्य, वरस्वरूप, ८ **सर्वात्मा**–सबके आत्मा, ९ **सर्वविख्यातः**–सर्वत्र प्रसिद्ध, १० **सर्वः**–विश्वात्मा होनेके कारण सर्वस्वरूप, ११ **सर्वकरः**–सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा, १२ **भवः**– सबकी उत्पत्तिके स्थान ॥ ३१ ॥

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः।
हरश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥ ३२ ॥

१३ **जटी**–जटाधारी, १४ **चर्मी**–व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले, १५ **शिखण्डी**–शिखाधारी, १६ **सर्वाङ्गः**–सम्पूर्ण अङ्गोंसे सम्पन्न, १७ **सर्वभावनः**–सबके उत्पादक, १८ **हरः**–पापहारी, १९ **हरिणाक्षः**–मृगके समान विशाल नेत्रवाले, २० **सर्वभूतहरः**–सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाले, २१ **प्रभुः**–स्वामी ॥ ३२ ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः।
श्मशानवासी भगवान् खचरो गोचरोऽर्दनः ॥ ३३ ॥

२२ **प्रवृत्तिः**–प्रवृत्तिमार्ग, २३ **निवृत्तिः**–निवृत्तिमार्ग, २४ **नियतः**–नियमपरायण, २५ **शाश्वतः**–नित्य, २६ **ध्रुवः**–अचल, २७ **श्मशानवासी**–श्मशानभूमिमें निवास करनेवाले, २८ **भगवान्**–सम्पूर्ण ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, वैराग्य और धर्मसे सम्पन्न, २९ **खचरः**–आकाशमें विचरनेवाले, ३० **गोचरः**–पृथ्वीपर विचरनेवाले, ३१ **अर्दनः**–पापियोंको पीड़ा देनेवाले ॥ ३३ ॥

अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥ ३४ ॥

३२ **अभिवाद्यः**–नमस्कारके योग्य, ३३ **महाकर्मा**–महान् कर्म करनेवाले, ३४ **तपस्वी**–तपस्यामें संलग्न, ३५ **भूतभावनः**–संकल्पमात्रसे आकाश आदि भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, ३६ **उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः**–उन्मत्त वेषमें छिपे रहनेवाले, ३७ **सर्वलोकप्रजापतिः**–सम्पूर्ण लोकोंकी प्रजाओंके पालक ॥ ३४ ॥

महारूपो महाकायो वृषरूपो महायशाः।
महात्मा सर्वभूतात्मा विश्वरूपो महाहनुः ॥ ३५ ॥

३८ **महारूपः**–महान् रूपवाले, ३९ **महाकायः**–विराट्‌रूप, ४० **वृषरूपः**–धर्मस्वरूप, ४१ **महायशाः**–महान् यशस्वी, ४२ **महात्मा**–, ४३ **सर्वभूतात्मा**–सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, ४४ **विश्वरूपः**–सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है वे, ४५ **महाहनुः**–विशाल ठोढ़ीवाले ॥ ३५ ॥

लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः।
पवित्रं च महांश्चैव नियमो नियमाश्रितः ॥ ३६ ॥

४६ **लोकपालः**–लोकरक्षक, ४७ **अन्तर्हितात्मा**–अदृश्य स्वरूपवाले, ४८ **प्रसादः**–प्रसन्नतासे परिपूर्ण, ४९ **हयगर्दभिः**–खच्चर जुते रथपर चलनेवाले, ५० **पवित्रम्**–शुद्ध वस्तुरूप, ५१ **महान्**–पूजनीय, ५२ **नियमः**–शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनसे प्राप्त होने योग्य, ५३ **नियमाश्रितः**–नियमोंके आश्रयभूत ॥ ३६ ॥

सर्वकर्मा स्वयम्भूत आदिरादिकरो निधिः।
सहस्राक्षो विशालाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥ ३७ ॥

५४ **सर्वकर्मा**–सारा जगत् जिनका कर्म है वे, ५५ **स्वयम्भूतः**–नित्यसिद्ध, ५६ **आदिः**–सबसे प्रथम, ५७ **आदिकरः**–आदि पुरुष हिरण्यगर्भकी सृष्टि करनेवाले, ५८ **निधिः**–अक्षय ऐश्वर्यके भण्डार, ५९ **सहस्राक्षः**–सहस्रों नेत्रवाले, ६० **विशालाक्षः**–विशाल नेत्रवाले, ६१ **सोमः**–चन्द्रस्वरूप, ६२ **नक्षत्रसाधकः**–नक्षत्रोंके साधक ॥ ३७ ॥

चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः।
अत्रिरत्र्या नमस्कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥ ३८ ॥

६३ **चन्द्रः**–चन्द्रमारूपसे आह्लादकारी, ६४ **सूर्यः**–सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत सूर्य, ६५ **शनिः**–, ६६ **केतुः**–, ६७ **ग्रहः**–चन्द्रमा और सूर्यपर ग्रहण लगानेवाला राहु, ६८ **ग्रहपतिः**–ग्रहोंके पालक, ६९ **वरः**–वरणीय, ७० **अत्रिः**–अत्रि ऋषिस्वरूप, ७१ **अत्र्या नमस्कर्ता**–अत्रिपत्नी अनसूयाको दुर्वासारूपसे नमस्कार करनेवाले, ७२ **मृगबाणार्पणः**–मृगरूपधारी यज्ञपर बाण चलानेवाले, ७३ **अनघः**–पापरहित ॥ ३८ ॥

महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः।
संवत्सरकरो मन्त्रः प्रमाणं परमं तपः ॥ ३९ ॥

७४ **महातपाः**–महान् तपस्वी, ७५ **घोरतपाः**–भयंकर तपस्या करनेवाले, ७६ **अदीनः**–उदार, ७७ **दीनसाधकः**–शरणमें आये हुए दीन-दुखियोंका मनोरथ सिद्ध करनेवाले, ७८ **संवत्सरकरः**–संवत्सरका निर्माता, ७९ **मन्त्रः**–प्रणव आदि मन्त्ररूप, ८० **प्रमाणम्**–प्रमाणस्वरूप, ८१ **परमं तपः**–उत्कृष्ट तपःस्वरूप ॥ ३९ ॥

योगी योज्यो महाबीजो महारेता महाबलः।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः ॥ ४० ॥

८२ **योगी**–योगनिष्ठ, ८३ **योज्यः**–मनोयोगके आश्रय, ८४ **महाबीजः**–महान् कारणरूप, ८५ **महारेताः**–महावीर्यशाली, ८६ **महाबलः**–महान् शक्तिसे सम्पन्न, ८७ **सुवर्णरेताः**–अग्निरूप, ८८ **सर्वज्ञः**–सब कुछ जाननेवाले, ८९ **सुबीजः**–उत्तम बीजरूप, ९० **बीजवाहनः**–जीवोंके संस्काररूप बीजको वहन करनेवाले ॥ ४० ॥

दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः।
विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरोऽबलो गणः ॥ ४१ ॥

९१ **दशबाहुः**–दस भुजाओंसे युक्त, ९२ **अनिमिषः**–कभी पलक न गिरानेवाले, ९३ **नीलकण्ठः**–जगत्‌की रक्षाके

लिये हालाहल विषका पान करके उसके नील चिह्नको कण्ठमें धारण करनेवाले, ९४ **उमापतिः**—गिरिराजकुमारी उमाके पतिदेव, ९५ **विश्वरूपः**—जगत्स्वरूप, ९६ **स्वयं श्रेष्ठः**—स्वतःसिद्ध श्रेष्ठतासे सम्पन्न, ९७ **बलवीरः**—बलके द्वारा वीरता प्रकट करनेवाले, ९८ **अबलो गणः**—निर्बल समुदायरूप ॥

गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च ।
मन्त्रवित् परमो मन्त्रः सर्वभावकरो हरः ॥ ४२ ॥

९९ **गणकर्ता**—अपने पार्षदगणोंका संघटन करनेवाले, १०० **गणपतिः**—प्रमथगणोंके स्वामी, १०१ **दिग्वासाः**—दिगम्बर, १०२ **कामः**—कमनीय, १०३ **मन्त्रवित्**—मन्त्रवेत्ता, १०४ **परमो मन्त्रः**—उत्कृष्ट मन्त्ररूप, १०५ **सर्वभावकरः**—समस्त पदार्थोंकी सृष्टि करनेवाले, १०६ **हरः**—दुःख हरण करनेवाले ॥ ४२ ॥

कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान् ।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥ ४३ ॥

१०७ **कमण्डलुधरः**—एक हाथमें कमण्डलु धारण करनेवाले, १०८ **धन्वी**—दूसरे हाथमें धनुष धारण करनेवाले, १०९ **बाणहस्तः**—तीसरे हाथमें बाण लिये रहनेवाले, ११० **कपालवान्**—चौथे हाथमें कपालधारी, १११ **अशनी**—पाँचवें हाथमें वज्र धारण करनेवाले, ११२ **शतघ्नी**—छठे हाथमें शतघ्नी रखनेवाले, ११३ **खड्गी**—सातवेंमें खड्गधारी, ११४ **पट्टिशी**—आठवेंमें पट्टिश धारण करनेवाले, ११५ **आयुधी**—नवें हाथमें अपने सामान्य आयुध त्रिशूलको लिये रहनेवाले, ११६ **महान्**—सर्वश्रेष्ठ ॥ ४३ ॥

स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः ।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥ ४४ ॥

११७ **स्रुवहस्तः**—दसवें हाथमें स्रुवा धारण करनेवाले, ११८ **सुरूपः**—सुन्दर रूपवाले, ११९ **तेजः**—तेजस्वी, १२० **तेजस्करो निधिः**—भक्तोंके तेजकी वृद्धि करनेवाले निधिरूप, १२१ **उष्णीषी**—सिरपर साफा धारण करनेवाले, १२२ **सुवक्त्रः**—सुन्दर मुखवाले, १२३ **उदग्रः**—ओजस्वी, १२४ **विनतः**—विनयशील ॥ ४४ ॥

दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च ।
शृगालरूपः सिद्धार्थो मुण्डः सर्वशुभङ्करः ॥ ४५ ॥

१२५ **दीर्घः**—ऊँचे कदवाले, १२६ **हरिकेशः**—ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप, १२७ **सुतीर्थः**—उत्तम तीर्थस्वरूप, १२८ **कृष्णः**—सच्चिदानन्दस्वरूप, १२९ **शृगालरूपः**—सियारका रूप धारण करनेवाले, १३० **सिद्धार्थः**—जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, १३१ **मुण्डः**—मूँड़ मुड़ाये हुए, भिक्षुस्वरूप, १३२ **सर्वशुभंकरः**—समस्त प्राणियोंका हित करनेवाले ॥ ४५ ॥

अजश्च बहुरूपश्च गन्धधारी कपर्द्यपि ।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः ॥ ४६ ॥

१३३ **अजः**—अजन्मा, १३४ **बहुरूपः**—बहुत-से रूप धारण करनेवाले, १३५ **गन्धधारी**—कुंकुम और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ धारण करनेवाले, १३६ **कपर्दी**—जटाजूटधारी, १३७ **ऊर्ध्वरेताः**—अखण्डित ब्रह्मचर्यवाले, १३८ **ऊर्ध्वलिङ्गः**—, १३९ **ऊर्ध्वशायी**—आकाशमें शयन करनेवाले, १४० **नभःस्थलः**—आकाश जिनका वासस्थान है वे ॥ ४६ ॥

त्रिजटी चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः ।
अहश्चरो नक्तंचरस्तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥ ४७ ॥

१४१ **त्रिजटी**—तीन जटा धारण करनेवाले, १४२ **चीरवासाः**—वल्कल वस्त्र पहननेवाले, १४३ **रुद्रः**—दुःखको दूर भगानेवाले, १४४ **सेनापतिः**—सेनानायक, १४५ **विभुः**—सर्वव्यापी, १४६ **अहश्चरः**—दिनमें विचरनेवाले, १४७ **नक्तंचरः**—रातमें विचरनेवाले, १४८ **तिग्ममन्युः**—तीखे क्रोधवाले, १४९ **सुवर्चसः**—सुन्दर तेजवाले ॥ ४७ ॥

गजहा दैत्यहा कालो लोकधाता गुणाकरः ।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥ ४८ ॥

१५० **गजहा**—गजरूपधारी महान् असुरको मारनेवाले, १५१ **दैत्यहा**—अन्धक आदि दैत्योंका वध करनेवाले, १५२ **कालः**—मृत्यु अथवा संवत्सर आदि समय, १५३ **लोकधाता**—समस्त जगत्‌का धारण-पोषण करनेवाले, १५४ **गुणाकरः**—सद्गुणोंकी खान, १५५ **सिंहशार्दूलरूपः**-सिंह-व्याघ्र आदिका रूप धारण करनेवाले, १५६ **आर्द्रचर्माम्बरावृतः**—गजासुरके गीले चर्मको ही वस्त्र बनाकर उससे अपने-आपको आच्छादित करनेवाले ॥ ४८ ॥

कालयोगी महानादः सर्वकामश्चतुष्पथः ।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥ ४९ ॥

१५७ **कालयोगी**—कालको भी योगबलसे जीतनेवाले, १५८ **महानादः**—अनाहत ध्वनिरूप, १५९ **सर्वकामः**—सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न, १६० **चतुष्पथः**—जिनकी प्राप्तिके ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और अष्टाङ्गयोग—ये चार मार्ग हैं वे महादेव, १६१ **निशाचरः**—रात्रिके समय विचरनेवाले, १६२ **प्रेतचारी**—प्रेतोंके साथ विचरण करनेवाले, १६३ **भूतचारी**—भूतोंके साथ विचरनेवाले, १६४ **महेश्वरः**—इन्द्र आदि लोकेश्वरोंसे भी महान् ॥ ४९ ॥

बहुभूतो बहुधरः स्वर्भानुरमितो गतिः ।
नृत्यप्रियो नित्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥ ५० ॥

१६५ **बहुभूतः**—सृष्टिकालमें एकसे अनेक होनेवाले, १६६ **बहुधरः**—बहुतोंको धारण करनेवाले, १६७ **स्वर्भानुः**—, १६८ **अमितः**—अनन्त, १६९ **गतिः**—भक्तों और मुक्तात्माओंके प्राप्त होने योग्य, १७० **नृत्यप्रियः**—ताण्डव नृत्य जिन्हें प्रिय है वे शिव, १७१ **नित्यनर्तः**—निरन्तर नृत्य करनेवाले, १७२ **नर्तकः**—नाचने-नचानेवाले, १७३ **सर्वलालसः**—सबपर प्रेम रखनेवाले ॥ ५० ॥

घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिरुहो नभः ।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यतन्द्रितः ॥ ५१ ॥

१७४ **घोरः**–भयंकर रूपधारी, १७५ **महातपाः**–महान् तप करनेवाले, १७६ **पाशः**–अपनी मायारूपी पाशसे बाँधनेवाले, १७७ **नित्यः**–विनाशरहित, १७८ **गिरिरुहः**–पर्वतपर आरूढ़—कैलाशवासी, १७९ **नभः**–आकाशके समान असङ्ग, १८० **सहस्रहस्तः**–हजारों हाथोंवाले, १८१ **विजयः**–विजेता, १८२ **व्यवसायः**–दृढ़-निश्चयी, १८३ **अतन्द्रितः**–आलस्यरहित ॥ ५१ ॥

अधर्षणो धर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशकः ।
दक्षयागापहारी च सुसहो मध्यमस्तथा ॥ ५२ ॥

१८४ **अधर्षणः**–अजेय, १८५ **धर्षणात्मा**–भयरूप, १८६ **यज्ञहा**–दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले, १८७ **कामनाशकः**=कामदेवको नष्ट करनेवाले, १८८ **दक्षयागापहारी**–दक्षके यज्ञका अपहरण करनेवाले, १८९ **सुसहः**–अति सहनशील, १९० **मध्यमः**–मध्यस्थ ॥ ५२ ॥

तेजोऽपहारी बलहा मुदितोऽर्थोऽजितोऽवरः ।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गम्भीरबलवाहनः ॥ ५३ ॥

१९१ **तेजोपहारी**–दूसरोंके तेजको हर लेनेवाले, १९२ **बलहा**–बलनामक दैत्यका वध करनेवाले, १९३ **मुदितः**–आनन्दस्वरूप, १९४ **अर्थः**–अर्थस्वरूप, १९५ **अजितः**–अपराजित, १९६ **अवरः**–जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है वे भगवान् शिव, १९७ **गम्भीरघोषः**–गम्भीर घोष करनेवाले, १९८ **गम्भीरः**–गाम्भीर्ययुक्त, १९९ **गम्भीरबलवाहनः**-अगाध बलशाली वृषभपर सवारी करनेवाले ॥

न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः ।
सुतीक्ष्णदशनश्चैव महाकायो महाननः ॥ ५४ ॥

२०० **न्यग्रोधरूपः**–वटवृक्षस्वरूप, २०१ **न्यग्रोधः**–वटनिकटनिवासी, २०२ **वृक्षकर्णस्थितिः**–वटवृक्षके पत्तेपर शयन करनेवाले बालमुकुन्दरूप, २०३ **विभुः**–विविध रूपोंसे प्रकट होनेवाले, २०४ **सुतीक्ष्णदशनः**–अत्यन्त तीखे दाँतवाले, २०५ **महाकायः**–बड़े डीलडौलवाले, २०६ **महाननः**–विशाल मुखवाले ॥ ५४ ॥

विष्वक्सेनो हरिर्यज्ञः संयुगापीडवाहनः ।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् ॥ ५५ ॥

२०७ **विष्वक्सेनः**–दैत्योंकी सेनाको सब ओर भगा देनेवाले, २०८ **हरिः**–आपत्तियोंको हर लेनेवाले, २०९ **यज्ञः**–यज्ञरूप, २१० **संयुगापीडवाहनः**–युद्धमें पीड़ारहित वाहनवाले, २११ **तीक्ष्णतापः**–दुःसह तापरूप, सूर्य, २१२ **हर्यश्वः**–हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त, २१३ **सहायः**–जीवमात्रके सखा, २१४ **कर्मकालवित्**–कर्मोंके कालको ठीक-ठीक जाननेवाले ॥ ५५ ॥

विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः ।
हुताशनसहायश्च प्रशान्तात्मा हुताशनः ॥ ५६ ॥

२१५ **विष्णुप्रसादितः**–भगवान् विष्णुने जिन्हें आराधना करके प्रसन्न किया था वे शिव, २१६ **यज्ञः**–विष्णुस्वरूप (यज्ञो वै विष्णुः), २१७ **समुद्रः**–महासागररूप, २१८ **वडवामुखः**–समुद्रमें स्थित वड़वानलरूप, २१९ **हुताशनसहायः**–अग्निके सखा वायुरूप, २२० **प्रशान्तात्मा**–शान्तचित्त, २२१ **हुताशनः**–अग्नि ॥५६॥

उग्रतेजा महातेजा जन्यो विजयकालवित् ।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः सर्वविग्रह एव च ॥ ५७ ॥

२२२ **उग्रतेजाः**–भयंकर तेजवाले, २२३ **महातेजाः**–महान् तेजसे सम्पन्न, २२४ **जन्यः**–संसारके जन्मदाता, २२५ **विजयकालवित्**–विजयके समयका ज्ञान रखनेवाले, २२६ **ज्योतिषामयनम्**–ज्योतिर्षोका स्थान, २२७ **सिद्धिः**–सिद्धिस्वरूप, २२८ **सर्वविग्रहः**–सर्वस्वरूप ॥

शिखी मुण्डी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्द्धगो बली ।
वेणवी पणवी ताली खली कालकटंकटः ॥ ५८ ॥

२२९ **शिखी**–शिखाधारी गृहस्थस्वरूप, २३० **मुण्डी**–शिखारहित संन्यासी, २३१ **जटी**–जटाधारी वानप्रस्थ, २३२ **ज्वाली**–अग्निकी प्रज्वलित ज्वालामें समिधाकी आहुति देनेवाले ब्रह्मचारी, २३३ **मूर्तिजः**–शरीर रूपसे प्रकट होनेवाले, २३४ **मूर्द्धगः**–मूर्द्धा—सहस्रार चक्रमें ध्येय रूपसे विद्यमान, २३५ **बली**–बलिष्ठ, २३६ **वेणवी**–वंशी बजानेवाले श्रीकृष्ण, २३७ **पणवी**–पणव नामक वाद्य बजानेवाले, २३८ **ताली**–ताल देनेवाले, २३९ **खली**–खलिहानके स्वामी, २४० **कालकटंकटः**–यमराजके मायाको आवृत करनेवाले ॥ ५८ ॥

नक्षत्रविग्रहमतिर्गुणबुद्धिर्लयोऽगमः ।
प्रजापतिर्विश्वबाहुर्विभागः सर्वगोऽमुखः ॥ ५९ ॥

२४१ **नक्षत्रविग्रहमतिः**–नक्षत्र—ग्रह-तारा आदिकी गतिको जाननेवाले, २४२ **गुणबुद्धिः**–गुणोंमें बुद्धि लगानेवाले, २४३ **लयः**–प्रलयके स्थान, २४४ **अगमः**–जाननेमें न आनेवाला, २४५ **प्रजापतिः**–प्रजाके स्वामी, २४६ **विश्वबाहुः**–सब ओर भुजावाले, २४७ **विभागः**–विभागस्वरूप, २४८ **सर्वगः**–सर्वव्यापी, २४९ **अमुखः**–बिना मुखवाला ॥ ५९ ॥

विमोचनः सुसरणो हिरण्यकवचोद्भवः ।
मेढ्रजो बलचारी च महीचारी स्रुतस्तथा ॥ ६० ॥

२५० **विमोचनः**–संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाले, २५१ **सुसरणः**–श्रेष्ठ आश्रय, २५२ **हिरण्यकवचोद्भवः**–हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिका स्थान, २५३ **मेढ्रजः**–, २५४ **बलचारी**–बलका संचार करनेवाले, २५५ **महीचारी**–सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले, २५६ **स्रुतः**–सर्वत्र पहुँचे हुए॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वातोद्यपरिग्रहः ।
व्यालरूपो गुहावासी गुहो माली तरङ्गवित् ॥ ६१ ॥

२५७ **सर्वतूर्यनिनादी**–सब प्रकारके बाजे बजानेवाले, २५८ **सर्वातोद्यपरिग्रहः**–सम्पूर्ण वाद्योंका संग्रह करनेवाले, २५९ **व्यालरूपः**–शेषनागस्वरूप, २६० **गुहावासी**–सबकी हृदयगुफामें निवास करनेवाले, २६१ **गुहः**–कार्तिकेयस्वरूप, २६२ **माली**–मालाधारी, २६३ **तरङ्गवित्**–क्षुधा-पिपासा आदि छहों ऊर्मियोंके ज्ञाता साक्षी ॥ ६१ ॥

त्रिदशस्त्रिकालधृक् कर्मसर्वबन्धविमोचनः ।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥ ६२ ॥

२६४ **त्रिदशः**–प्राणियोंकी तीन दशाओं—जन्म, स्थिति और विनाशके हेतुभूत, २६५ **त्रिकालधृक्**–भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंको धारण करनेवाले, २६६ **कर्मसर्वबन्धविमोचनः**–कर्मोंके समस्त बन्धनोंको काटनेवाले, २६७ **असुरेन्द्राणां बन्धनः**–बलि आदि असुरपतियोंको बाँध लेनेवाले, २६८ **युधि शत्रुविनाशनः**–युद्धमें शत्रुओंका विनाश करनेवाले ॥ ६२ ॥

सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः ।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञोऽतुल्यो यज्ञविभागवित् ॥ ६३ ॥

२६९ **सांख्यप्रसादः**–आत्मा और अनात्माके विवेकरूप सांख्यज्ञानसे प्रसन्न होनेवाले, २७० **दुर्वासाः**–अत्रि और अनसूयाके पुत्र रुद्रावतार दुर्वासा मुनि, २७१ **सर्वसाधुनिषेवितः**–समस्त साधुपुरुषोंद्वारा सेवित, २७२ **प्रस्कन्दनः**–ब्रह्मादिको भी स्थानभ्रष्ट करनेवाले, २७३ **विभागज्ञः**–प्राणियोंके कर्म और फलोंके विभागको यथोचितरूपसे जाननेवाले, २७४ **अतुल्यः**–तुलनारहित, २७५ **यज्ञविभागवित्**–यज्ञसम्बन्धी हविष्यके विभिन्न भागोंका ज्ञान रखनेवाले ॥ ६३ ॥

सर्ववासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः ।
हैमो हेमकरोऽयज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥ ६४ ॥

२७६ **सर्ववासः**–सर्वत्र निवास करनेवाले, २७७ **सर्वचारी**–सर्वत्र विचरनेवाले, २७८ **दुर्वासाः**–अनन्त और अपार होनेके कारण जिनको वस्त्रसे आच्छादित करना दुर्लभ है, २७९ **वासवः**–इन्द्रस्वरूप, २८० **अमरः**–अविनाशी, २८१ **हैमः**–हिमसमूह—हिमालयरूप, २८२ **हेमकरः**–सुवर्णके उत्पादक, २८३ **अयज्ञः**–कर्मरहित, २८४ **सर्वधारी**–सबको धारण करनेवाले, २८५ **धरोत्तमः**–धारण करनेवालोंमें सबसे उत्तम—अखिल ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले ॥ ६४ ॥

लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः ।
संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥ ६५ ॥

२८६ **लोहिताक्षः**–रक्तनेत्र, २८७ **महाक्षः**–बड़े नेत्रवाले, २८८ **विजयाक्षः**–विजयशील रथवाले, २८९ **विशारदः**–विद्वान्, २९० **संग्रहः**–संग्रह करनेवाले, २९१ **निग्रहः**–उद्दण्डोंको दण्ड देनेवाले, २९२ **कर्ता**–सबके उत्पादक, २९३ **सर्पचीरनिवासनः**–सर्पमय चीर धारण करनेवाले ॥ ६५ ॥

मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च काहलिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृक् ॥ ६६ ॥
सर्वकामवरश्चैव सर्वदः सर्वतोमुखः ।
आकाशनिर्विरूपश्च निपाती ह्यवशः खगः ॥ ६७ ॥

२९४ **मुख्यः**–सर्वश्रेष्ठ, २९५ **अमुख्यः**–जिससे बढ़कर मुख्य दूसरा कोई न हो वह, २९६ **देहः**–देहस्वरूप, २९७ **काहलिः**–काहल नामक वाद्यविशेषको बजानेवाले, २९८ **सर्वकामदः**–सम्पूर्ण कामनाओंके दाता, २९९ **सर्वकालप्रसादः**–सर्वदा कृपा करनेवाले, ३०० **सुबलः**–उत्तम बलसे सम्पन्न, ३०१ **बलरूपधृक्**–बल और रूपके आधार, ३०२ **सर्वकामवरः**–सम्पूर्ण कमनीय पदार्थोंमें श्रेष्ठ—मोक्षस्वरूप, ३०३ **सर्वदः**–सब कुछ देनेवाले, ३०४ **सर्वतोमुखः**–सब ओर मुखवाले, ३०५ **आकाशनिर्विरूपः**–आकाशकी भाँति जिनसे नाना प्रकारके रूप प्रकट होते हैं वे, ३०६ **निपाती**–पापियोंको नरकमें गिरानेवाले, ३०७ **अवशः**–जिनके ऊपर किसीका वश नहीं चलता वे, ३०८ **खगः**–आकाशगामी ॥ ६६-६७ ॥

रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो बहुरश्मिः सुवर्चसी ।
वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ॥ ६८ ॥

३०९ **रौद्ररूपः**–भयंकर रूपधारी, ३१० **अंशुः**–किरणस्वरूप, ३११ **आदित्यः**–अदितिपुत्र, ३१२ **बहुरश्मिः**–असंख्य किरणोंवाले, सूर्यरूप, ३१३ **सुवर्चसी**–उत्तम तेजसे सम्पन्न, ३१४ **वसुवेगः**–वायुके समान वेगवाले, ३१५ **महावेगः**–वायुसे भी अधिक वेगशाली, ३१६ **मनोवेगः**–मनके समान वेगवाले, ३१७ **निशाचरः**–रात्रिमें विचरनेवाले ॥ ६८ ॥

सर्ववासी श्रियावासी उपदेशकरोऽकरः ।
मुनिरात्मनिरालोकः सम्भग्नश्च सहस्रदः ॥ ६९ ॥

३१८ **सर्ववासी**–सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे निवास करनेवाले, ३१९ **श्रियावासी**–लक्ष्मीके साथ निवास करनेवाले विष्णुरूप, ३२० **उपदेशकरः**– जिज्ञासुओंको तत्त्वका और काशीमें मरे हुए जीवोंको तारकमन्त्रका उपदेश करनेवाले, ३२१ **अकरः**–कर्तृत्वके अभिमानसे रहित, ३२२ **मुनिः**–मननशील, ३२३ **आत्मनिरालोकः**–देह आदिकी उपाधिसे अलग होकर आलोचना करनेवाले, ३२४ **सम्भग्नः**–सम्यक् रूपसे सेवित, ३२५ **सहस्रदः**–हजारोंका दान करनेवाले ॥

पक्षी च पक्षरूपश्च अतिदीप्तो विशाम्पतिः ।
उन्मादो मदनः कामो ह्यश्वत्थोऽर्थकरो यशः ॥ ७० ॥

३२६ **पक्षी**–गरुडरूपधारी, ३२७ **पक्षरूपः**–शुक्ल-

रक्षस्वरूप, ३२८ **अतिदीप्तः**–अत्यन्त तेजस्वी, ३२९ **विशाम्पतिः**–प्रजाओंके स्वामी, ३३० **उन्मादः**–प्रेममें उन्मत्त, ३३१ **मदनः**–कामदेवरूप, ३३२ **कामः**–कमनीय विषय, ३३३ **अश्वत्थः**–संसार-वृक्षरूप, ३३४ **अर्थकरः**–धन आदि देनेवाले, ३३५ **यशः**–यशस्वरूप ॥ ७० ॥

वामदेवश्च वामश्च प्राग् दक्षिणश्च वामनः।
सिद्धयोगी महर्षिश्च सिद्धार्थः सिद्धसाधकः ॥ ७१॥

३३६ **वामदेवः**–वामदेव ऋषिस्वरूप, ३३७ **वामः**–पापियोंके प्रतिकूल, ३३८ **प्राक्**–सबके आदि, ३३९ **दक्षिणः**–कुशल, ३४० **वामनः**–बलिको बाँधनेवाले वामन रूपधारी, ३४१ **सिद्धयोगी**–सनत्कुमार आदि सिद्ध महात्मा, ३४२ **महर्षिः**–वसिष्ठ आदि, ३४३ **सिद्धार्थः**–आप्तकाम, ३४४ **सिद्धसाधकः**–सिद्ध और साधकरूप ॥ ७१ ॥

भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विपणो मृदुरव्ययः।
महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ॥ ७२ ॥

३४५ **भिक्षुः**–संन्यासी, ३४६ **भिक्षुरूपः**–श्रीरामकृष्ण आदिकी बालछविका दर्शन करनेके लिये भिक्षुरूप धारण करनेवाले, ३४७ **विपणः**–व्यवहारसे अतीत, ३४८ **मृदुः**–कोमल स्वभाववाले, ३४९ **अव्ययः**–अविनाशी, ३५० **महासेनः**–देव-सेनापति कार्तिकेयरूप, ३५१ **विशाखः**–कार्तिकेयके सहायक, ३५२ **षष्टिभागः**–प्रभव आदि साठ भागोंमें विभक्त संवत्सररूप, ३५३ **गवाम्पतिः**–इन्द्रियोंके स्वामी ॥ ७२ ॥

वज्रहस्तश्च विष्कम्भी चमूस्तम्भन एव च।
वृत्तावृत्तकरस्तालो मधुर्मधुकलोचनः ॥ ७३ ॥

३५४ **वज्रहस्तः**–हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्ररूप, ३५५ **विष्कम्भी**–विस्तारयुक्त, ३५६ **चमूस्तम्भनः**–दैत्यसेनाको स्तब्ध करनेवाले, ३५७ **वृत्तावृत्तकरः**–युद्धमें रथके द्वारा मण्डल बनाना वृत्त कहलाता है और शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अक्षत शरीरसे लौट आना आवृत्त कहलाता है। इन दोनोंको कुशलतापूर्वक करनेवाले, ३५८ **तालः**–संसारसागरके तल प्रदेश—आधार-स्थान अर्थात् शुद्ध ब्रह्मको जाननेवाले, ३५९ **मधुः**–वसन्त ऋतुरूप, ३६० **मधुकलोचनः**–मधुके समान पिङ्गल नेत्रवाले ॥ ७३ ॥

वाचस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः।
ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी विचारवित् ॥ ७४ ॥

३६१ **वाचस्पत्यः**–पुरोहितका काम करनेवाले, ३६२ **वाजसनः**–शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखाके प्रवर्तक, ३६३ **नित्यमाश्रमपूजितः**–सदा आश्रमोंद्वारा पूजित होनेवाले, ३६४ **ब्रह्मचारी**–ब्रह्मनिष्ठ, ३६५ **लोकचारी**–सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले, ३६६ **सर्वचारी**–सर्वत्र गमन करनेवाले, ३६७ **विचारवित्**–विचारोंके ज्ञाता ॥ ७४ ॥

ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकवान्।
निमित्तस्थो निमित्तं च नन्दिर्नन्दिकरो हरिः ॥ ७५ ॥

३६८ **ईशानः**–नियन्ता, ३६९ **ईश्वरः**–सबके शासक, ३७० **कालः**–कालस्वरूप, ३७१ **निशाचारी**–प्रलयकालकी रातमें विचरनेवाले, ३७२ **पिनाकवान्**–पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले, ३७३ **निमित्तस्थः**–अन्तर्यामी, ३७४ **निमित्तम्**–निमित्त कारणरूप, ३७५ **नन्दिः**–ज्ञानसम्पत्तिरूप, ३७६ **नन्दिकरः**–ज्ञानरूपी सम्पत्ति देनेवाले, ३७७ **हरिः**–विष्णुस्वरूप ॥ ७५ ॥

नन्दीश्वरश्च नन्दी च नन्दनो नन्दिवर्द्धनः।
भगहारी निहन्ता च कालो ब्रह्मा पितामहः ॥ ७६ ॥

३७८ **नन्दीश्वरः**–नन्दी नामक पार्षदके स्वामी, ३७९ **नन्दी**–नन्दी नामक गणरूप, ३८० **नन्दनः**–परम आनन्द प्रदान करनेवाले, ३८१ **नन्दिवर्धनः**–समृद्धि बढ़ानेवाले, ३८२ **भगहारी**–ऐश्वर्यका अपहरण करनेवाले, ३८३ **निहन्ता**–मृत्युरूपसे सबको मारनेवाले, ३८४ **कालः**–चौसठ कलाओंके निवासस्थान, ३८५ **ब्रह्मा**–लोकस्रष्टा ब्रह्मा, ३८६ **पितामहः**–प्रजापतिके भी पिता ॥ ७६ ॥

चतुर्मुखो महालिङ्गश्चारुलिङ्गस्तथैव च।
लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षो योगाध्यक्षो युगावहः ॥ ७७ ॥

३८७ **चतुर्मुखः**–चार मुखवाले, ३८८ **महालिङ्गः**–महालिंगस्वरूप, ३८९ **चारुलिङ्गः**–रमणीय वेषधारी, ३९० **लिङ्गाध्यक्षः**–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अध्यक्ष, ३९१ **सुराध्यक्षः**–देवताओंके अधिपति, ३९२ **योगाध्यक्षः**–योगके अध्यक्ष, ३९३ **युगावहः**–चारों युगोंके निर्वाहक ॥७७॥

बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः।
इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः ॥ ७८ ॥

३९४ **बीजाध्यक्षः**–कारणोंके अध्यक्ष, ३९५ **बीजकर्ता**–कारणोंके उत्पादक, ३९६ **अध्यात्मानुगतः**–अध्यात्मशास्त्रका अनुसरण करनेवाले, ३९७ **बलः**–बलवान्, ३९८ **इतिहासः**–महाभारत आदि इतिहासरूप, ३९९ **सकल्पः**–कल्प—यज्ञोंके प्रयोग और विधिके विचारके साथ मीमांसा और न्यायका समूह, ४०० **गौतमः**–तर्कशास्त्रके प्रणेता मुनिस्वरूप, ४०१ **निशाकरः**–चन्द्रमारूप ॥७८॥

दम्भो ह्यदम्भो वैदम्भो वश्यो वशकरः कलिः।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता ह्यनौषधः ॥ ७९ ॥

४०२ **दम्भः**–शत्रुओंका दमन करनेवाले, ४०३ **अदम्भः**–दम्भरहित, ४०४ **वैदम्भः**–दम्भरहित पुरुषोंके आत्मीय, ४०५ **वश्यः**–भक्तपराधीन, ४०६ **वशकरः**–दूसरोंको वशमें करनेकी शक्ति रखनेवाले, ४०७ **कलिः**–कलि नामक युग, ४०८ **लोककर्ता**–जगत्की सृष्टि करनेवाले, ४०९ **पशुपतिः**–पशुओं—जीवोंके स्वामी, ४१० **महाकर्ता**–पञ्च महाभूतादि सृष्टिकी रचना करनेवाले, ४११

अनौषधः–अन्न आदि ओषधियोंके सेवनसे रहित ॥ ७९ ॥

अक्षरं परमं ब्रह्म बलवच्छक्र एव च ।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो गतागतः ॥ ८० ॥

४१२ **अक्षरम्**–अविनाशी ब्रह्म, ४१३ **परमं ब्रह्म**–सर्वोत्कृष्ट परमात्मा, ४१४ **बलवत्**–शक्तिशाली, ४१५ **शक्रः**–इन्द्र, ४१६ **नीतिः**–न्यायस्वरूप, ४१७ **अनीतिः**–साम, दाम, दण्ड, भेदसे रहित, ४१८ **शुद्धात्मा**–शुद्धस्वरूप, ४१९ **शुद्धः**–परम पवित्र, ४२० **मान्यः**–सम्मानके योग्य, ४२१ **गतागतः**–गमनागमनशील संसारस्वरूप ॥ ८० ॥

बहुप्रसादः सुस्वप्नो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित् ।
वेदकारो मन्त्रकारो विद्वान् समरमर्दनः ॥ ८१ ॥

४२२ **बहुप्रसादः**–भक्तोंपर अधिक कृपा करनेवाले, ४२३ **सुस्वप्नः**–सुन्दर स्वप्नवाले, ४२४ **दर्पणः**–दर्पणके समान स्वच्छ, ४२५ **अमित्रजित्**–बाहर-भीतरके शत्रुओंको जीतनेवाले, ४२६ **वेदकारः**–वेदोंका कर्त्ता, ४२७ **मन्त्रकारः**–मन्त्रोंका आविष्कार करनेवाले, ४२८ **विद्वान्**–सर्वज्ञ, ४२९ **समरमर्दनः**–समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करनेवाले ॥ ८१ ॥

महामेघनिवासी च महाघोरो वशी करः ।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥ ८२ ॥

४३० **महामेघनिवासी**–प्रलयकालिक महामेघोंमें निवास करनेवाले, ४३१ **महाघोरः**–प्रलय करनेवाले, ४३२ **वशी**–सबको वशमें रखनेवाले, ४३३ **करः**–संहारकारी, ४३४ **अग्निज्वालः**–अग्निकी ज्वालाके समान तेजवाले, ४३५ **महाज्वालः**–अग्निसे भी महान् तेजवाले, ४३६ **अतिधूम्रः**–कालाग्निरूपसे सबके दाहकालमें अत्यन्त धूम्र वर्णवाले, ४३७ **हुतः**–आहुति पाकर प्रसन्न होनेवाले अग्निरूप, ४३८ **हविः**–घी-दूध आदि हवनीय पदार्थरूप ॥ ८२ ॥

वृषणः शङ्करो नित्यं वर्चस्वी धूमकेतनः ।
नीलस्तथाङ्गलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥ ८३ ॥

४३९ **वृषणः**–कर्मफलकी वर्षा करनेवाले धर्मस्वरूप, ४४० **शङ्करः**–कल्याणकारी, ४४१ **नित्यं वर्चस्वी**–सदा तेजसे जगमगाते रहनेवाले, ४४२ **धूमकेतनः**–अग्निस्वरूप, ४४३ **नीलः**–श्यामवर्ण श्रीहरि, ४४४ **अङ्गलुब्धः**–अपने श्रीअङ्गके सौन्दर्यपर स्वयं ही लुभाये रहनेवाले, ४४५ **शोभनः**–शोभाशाली, ४४६ **निरवग्रहः**–प्रतिबन्धरहित ॥ ८३ ॥

स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः ।
उत्सङ्गश्च महाङ्गश्च महागर्भपरायणः ॥ ८४ ॥

४४७ **स्वस्तिदः**–कल्याणदायक, ४४८ **स्वस्तिभावः**–कल्याणमयी सत्ता, ४४९ **भागी**–यज्ञमें भाग लेनेवाले, ४५० **भागकरः**–यज्ञके हविष्यका विभाजन करनेवाले, ४५१ **लघुः**–शीघ्रकारी, ४५२ **उत्सङ्गः**–सङ्गरहित, ४५३ **महाङ्गः**–महान् अङ्गवाले, ४५४ **महागर्भपरायणः**–हिरण्यगर्भके परम आश्रय ॥ ८४ ॥

कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियं सर्वदेहिनाम् ।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥ ८५ ॥

४५५ **कृष्णवर्णः**–श्यामवर्ण विष्णुस्वरूप, ४५६ **सुवर्णः**–उत्तम वर्णवाले, ४५७ **सर्वदेहिनाम् इन्द्रियम्**–समस्त देहधारियोंके इन्द्रियसमुदायरूप, ४५८ **महापादः**–लंबे पैरोंवाले त्रिविक्रमस्वरूप, ४५९ **महाहस्तः**–लंबे हाथवाले, ४६० **महाकायः**–विश्वरूप, ४६१ **महायशाः**–महान् सुयशवाले ॥ ८५ ॥

महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो निशालयः ।
महान्तको महाकर्णो महोष्ठश्च महाहनुः ॥ ८६ ॥

४६२ **महामूर्धा**–महान् मस्तकवाले, ४६३ **महामात्रः**–विशाल नापवाले, ४६४ **महानेत्रः**–विशाल नेत्रोंवाले, ४६५ **निशालयः**–निशा अर्थात् अविद्याके लयस्थान, ४६६ **महान्तकः**–मृत्युकी भी मृत्यु, ४६७ **महाकर्णः**–बड़े-बड़े कानवाले, ४६८ **महोष्ठः**- लंबे ओठवाले, ४६९ **महाहनुः**–पुष्ट एवं बड़ी ठोड़ीवाले ॥ ८६ ॥

महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानभाक् ।
महावक्षा महोरस्को ह्यन्तरात्मा मृगालयः ॥ ८७ ॥

४७० **महानासः**–बड़ी नासिकावाले, ४७१ **महाकम्बुः**–बड़े कण्ठवाले, ४७२ **महाग्रीवः**–विशाल ग्रीवासे युक्त, ४७३ **श्मशानभाक्**–श्मशानभूमिमें क्रीड़ा करनेवाले, ४७४ **महावक्षाः**–विशाल वक्षःस्थलवाले, ४७५ **महोरस्कः**–चौड़ी छातीवाले, ४७६ **अन्तरात्मा**–सबके अन्तरात्मा, ४७७ **मृगालयः**–मृग-शिशुको अपनी गोदमें लिये रहनेवाले ॥ ८७ ॥

लम्बनो लम्बितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः ।
महादन्तो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥ ८८ ॥

४७८ **लम्बनः**–अनेक ब्रह्माण्डोंके आश्रय, ४७९ **लम्बितोष्ठः**–प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अपना ग्रास बनानेके लिये ओठोंको फैलाये रखनेवाले, ४८० **महामायः**–महामायावी, ४८१ **पयोनिधिः**–क्षीरसागररूप, ४८२ **महादन्तः**–बड़े-बड़े दाँतवाले, ४८३ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले, ४८४ **महाजिह्वः**–विशाल जिह्वावाले, ४८५ **महामुखः**–बहुत बड़े मुखवाले ॥ ८८ ॥

महानखो महारोमा महाकोशो महाजटः ।
प्रसन्नश्च प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥ ८९ ॥

४८६ **महानखः**–बड़े-बड़े नखवाले नृसिंह, ४८७ **महारोमा**–विशाल रोमवाले वराहरूप, ४८८ **महाकोशः**–बहुत बड़े पेटवाले, ४८९ **महाजटः**–बड़ी-बड़ी जटावाले, ४९० **प्रसन्नः**–आनन्दमग्न, ४९१ **प्रसादः**–प्रसन्नताकी मूर्ति, ४९२ **प्रत्ययः**–ज्ञानस्वरूप, ४९३ **गिरिसाधनः**–पर्वतको युद्धका साधन बनानेवाले ॥ ८९ ॥

स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥ ९० ॥

४९४ **स्नेहनः**–प्रजाओंके प्रति पिताकी भाँति स्नेह रखनेवाले, ४९५ **अस्नेहनः**–आसक्तिसे रहित, ४९६ **अजितः**–किसीसे पराजित न होनेवाले, ४९७ **महामुनिः**–अत्यन्त मननशील, ४९८ **वृक्षाकारः**–संसारवृक्षस्वरूप, ४९९ **वृक्षकेतुः**–वृक्षके समान ऊँची ध्वजावाले, ५०० **अनलः**–अग्निस्वरूप, ५०१ **वायुवाहनः**–वायुका वाहनके रूपमें उपयोग करनेवाले ॥ ९० ॥

गण्डली मेरुधामा च देवाधिपतिरेव च।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥ ९१ ॥

५०२ **गण्डली**–पहाड़ोंकी गुफाओंमें छिपकर रहनेवाले, ५०३ **मेरुधामा**–मेरु-पर्वतको अपना निवासस्थान बनानेवाले, ५०४ **देवाधिपतिः**–देवताओंके स्वामी, ५०५ **अथर्वशीर्षः**–अथर्ववेद जिनका मस्तक है वे, ५०६ **सामास्यः**–सामवेद जिनका मुख है वे, ५०७ **ऋक्सहस्रामितेक्षणः**–सहस्रों ऋचाओं जिनके नेत्र हैं ॥ ९१ ॥

यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जङ्गमस्तथा।
अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥ ९२ ॥

५०८ **यजुःपादभुजः**–यजुर्वेद जिनके हाथ-पैर हैं, ५०९ **गुह्यः**–गोपनीयस्वरूप, ५१० **प्रकाशः**–भक्तोंपर कृपा करके स्वयं ही उनके समक्ष अपनेको प्रकाशित कर देनेवाले, ५११ **जङ्गमः**–चलने-फिरनेवाले, ५१२ **अमोघार्थः**–किसी वस्तुके लिये याचना करनेपर उसे अवश्य सफल बनानेवाले, ५१३ **प्रसादः**–दया करके शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, ५१४ **अभिगम्यः**–सुगमतासे प्राप्त होने योग्य, ५१५ **सुदर्शनः**–सुन्दर दर्शनवाले ॥ ९२ ॥

उपकारः प्रियः सर्वः कनकः काञ्चनच्छविः।
नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥ ९३ ॥

५१६ **उपकारः**–उपकार करनेवाले, ५१७ **प्रियः**–भक्तोंके प्रेमास्पद, ५१८ **सर्वः**–सर्वस्वरूप, ५१९ **कनकः**–सुवर्णस्वरूप, ५२० **काञ्चनच्छविः**–काञ्चनके समान कमनीय कान्तिवाले, ५२१ **नाभिः**–समस्त भुवनका मध्यदेशरूप, ५२२ **नन्दिकरः**–आनन्द देनेवाले, ५२३ **भावः**–श्रद्धा-भक्तिस्वरूप, ५२४ **पुष्करस्थपतिः**–ब्रह्माण्डरूपी पुष्करका निर्माण करनेवाले, ५२५ **स्थिरः**–स्थिरस्वरूप ॥

द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥ ९४ ॥

५२६ **द्वादशः**–ग्यारह रुद्रोंसे श्रेष्ठ बारहवें रुद्र, ५२७ **त्रासनः**–संहारकारी होनेके कारण भयजनक, ५२८ **आद्यः**–सबके आदि कारण, ५२९ **यज्ञः**–यज्ञपुरुष, ५३० **यज्ञसमाहितः**–यज्ञमें उपस्थित रहनेवाले, ५३१ **नक्तम्**–प्रलयकालकी रात्रिस्वरूप, ५३२ **कलिः**–कलिके स्वरूप, ५३३ **कालः**–सबको अपना ग्रास बनानेवाले कालरूप, ५३४ **मकरः**–मकराकार शिशुमार चक्र, ५३५ **कालपूजितः**–काल अर्थात् मृत्युके द्वारा पूजित ॥ ९४ ॥

सगणो गणकारश्च भूतवाहनसारथिः।
भस्मशयो भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥ ९५ ॥

५३६ **सगणः**–प्रमथ आदि गणोंसे युक्त, ५३७ **गणकारः**–बाणासुर आदि भक्तोंको अपने गणमें सम्मिलित करनेवाले, ५३८ **भूतवाहनसारथिः**–त्रिपुर-विनाशके लिये समस्त प्राणियोंके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले ब्रह्माजीको सारथि बनानेवाले, ५३९ **भस्मशयः**–भस्मपर शयन करनेवाले, ५४० **भस्मगोप्ता**=भस्मद्वारा रक्षा करनेवाले, ५४१ **भस्मभूतः**–भस्मस्वरूप, ५४२ **तरुः**–कल्पवृक्षस्वरूप, ५४३ **गणः**–भृङ्गिरिटि और नन्दिकेश्वर आदि पार्षदरूप ॥

लोकपालस्तथालोको महात्मा सर्वपूजितः।
शुक्लस्त्रिशुक्लः सम्पन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥ ९६ ॥

५४४ **लोकपालः**–चतुर्दश भुवनोंका पालन करनेवाले, ५४५ **अलोकः**–लोकातीत, ५४६ **महात्मा**–, ५४७ **सर्वपूजितः**–सबके द्वारा पूजित, ५४८ **शुक्लः**–शुद्धस्वरूप, ५४९ **त्रिशुक्लः**–मन, वाणी और शरीर ये तीनों, ५५० **सम्पन्नः**–सम्पूर्ण सम्पदाओंसे युक्त, ५५१ **शुचिः**–परम पवित्र, ५५२ **भूतनिषेवितः**–समस्त प्राणियोंद्वारा सेवित ॥

आश्रमस्थः क्रियावस्थो विश्वकर्ममतिर्वरः।
विशालशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चलः ॥ ९७ ॥

५५३ **आश्रमस्थः**–चारों आश्रमोंमें धर्मरूपसे स्थित रहनेवाले, ५५४ **क्रियावस्थः**–यज्ञादि क्रियाओंमें संलग्न, ५५५ **विश्वकर्ममतिः**–संसारकी रचनारूप कर्ममें कुशल, ५५६ **वरः**–सर्वश्रेष्ठ, ५५७ **विशालशाखः**–लंबी भुजाओंवाले, ५५८ **ताम्रोष्ठः**–लाल-लाल ओठवाले, ५५९ **अम्बुजालः**–जलसमूह—सागररूप, ५६० **सुनिश्चलः**–सर्वथा निश्चलरूप ॥

कपिलः कपिशः शुक्ल आयुश्चैव परोऽपरः।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुशारदः ॥ ९८ ॥

५६१ **कपिलः**–कपिल वर्ण, ५६२ **कपिशः**–पीले वर्णवाले, ५६३ **शुक्लः**–श्वेत वर्णवाले, ५६४ **आयुः**–जीवनरूप, ५६५ **परः**–प्राचीन, ५६६ **अपरः**–अर्वाचीन, ५६७ **गन्धर्वः**–चित्ररथ आदि गन्धर्वरूप, ५६८ **अदितिः**–देवमाता अदितिस्वरूप, ५६९ **तार्क्ष्यः**–विनतानन्दन गरुडरूप, ५७० **सुविज्ञेयः**–सुगमतापूर्वक जानने योग्य, ५७१ **सुशारदः**—उत्तम वाणी बोलनेवाले ॥ ९८ ॥

परश्वधायुधो देवो अनुकारी सुबान्धवः।
तुम्बवीणो महाक्रोध ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥ ९९ ॥

५७२ **परश्वधायुधः**–फरसेका आयुधके रूपमें उपयोग करनेवाले परशुरामरूप, ५७३ **देवः**–महादेवस्वरूप, ५७४ **अनुकारी**–भक्तोंका अनुकरण करनेवाले, ५७५ **सुबान्धवः**–

उत्तम गन्धवरूप, ५७६ **तुम्ववीणः**–तूँबीकी वीणा बजानेवाले, ५७७ **महाक्रोधः**–प्रलयकालमें महान् क्रोध प्रकट करनेवाले, ५७८ **ऊर्ध्वरेताः**–अस्खलितवीर्य, ५७९ **जलेशयः**–विष्णुरूपसे जलमें शयन करनेवाले ॥ ९९ ॥

उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः ।
सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥१००॥

५८० **उग्रः**–प्रलयकालमें भयंकर रूप धारण करनेवाले, ५८१ **वंशकरः**–वंशप्रवर्तक, ५८२ **वंशः**–वंशस्वरूप, ५८३ **वंशनादः**–श्रीकृष्णरूपसे वंशी बजानेवाले, ५८४ **अनिन्दितः**–निन्दारहित, ५८५ **सर्वाङ्गरूपः**–सर्वाङ्ग पूर्णरूपवाले, ५८६ **मायावी**–, ५८७ **सुहृदः**–हेतुरहित दयालु, ५८८ **अनिलः**–वायुस्वरूप, ५८९ **अनलः**–अग्निस्वरूप ॥१००॥

बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः ।
सयज्ञारिः सकामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥१०१॥

५९० **बन्धनः**–स्नेहबन्धनमें बाँधनेवाले, ५९१ **बन्धकर्ता**–बन्धनरूप संसारके निर्माता, ५९२ **सुबन्धनविमोचनः**–मायाके सुदृढ़ बन्धनसे छुड़ानेवाले, ५९३ **सयज्ञारिः**–दक्षयज्ञ-शत्रुओंके साथी, ५९४ **सकामारिः**–कामविजयी योगियोंके साथी, ५९५ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले नरसिंहरूप, ५९६ **महायुधः**–विशाल आयुधधारी ॥

बहुधा निन्दितः शर्वः शङ्करः शङ्करोऽधनः ।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥ १०२ ॥

५९७ **बहुधा निन्दितः**–दक्ष और उनके समर्थकोंद्वारा अनेक प्रकारसे निन्दित, ५९८ **शर्वः**–प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाले, ५९९ **शङ्करः**–कल्याणकारी, ६०० **शंकरः**–भक्तोंको आनन्द देनेवाले, ६०१ **अधनः**–सांसारिक धनसे रहित, ६०२ **अमरेशः**–देवताओंके भी ईश्वर, ६०३ **महादेवः**–देवताओंके भी पूजनीय, ६०४ **विश्वदेवः**–सम्पूर्ण विश्वके आराध्यदेव, ६०५ **सुरारिहा**–देवशत्रुओंका वध करनेवाले ॥ १०२ ॥

अहिर्बुध्न्योऽनिलाभश्च चेकितानो हविस्तथा ।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशंकुरजितः शिवः १०३ ॥

६०६ **अहिर्बुध्न्यः**–शेषनागस्वरूप, ६०७ **अनिलाभः**–वायुके समान वेगवान्, ६०८ **चेकितानः**–अतिशय ज्ञानसम्पन्न, ६०९ **हविः**–हविष्यरूप, ६१० **अजैकपाद्**–ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक, ६११ **कापाली**–दो कपालोंसे निर्मित कपालरूप अखिल ब्रह्माण्डके अधीश्वर, ६१२ **त्रिशंकुः**–त्रिशंकुरूप, ६१३ **अजितः**–किसीके द्वारा पराजित न होनेवाले, ६१४ **शिवः**–कल्याणस्वरूप ॥ १०३ ॥

धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा ।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥१०४॥

६१५ **धन्वन्तरिः**–महावैद्य धन्वन्तरिरूप, ६१६ **धूमकेतुः**–अग्निस्वरूप, ६१७ **स्कन्दः**–स्वामी कार्तिकेयस्वरूप, ६१८ **वैश्रवणः**–कुबेरस्वरूप, ६१९ **धाता**–सबको धारण करनेवाले, ६२० **शक्रः**–इन्द्रस्वरूप, ६२१ **विष्णुः**–सर्वव्यापी नारायणदेव, ६२२ **मित्रः**–बारह आदित्योंमेंसे एक, ६२३ **त्वष्टा**–प्रजापति विश्वकर्मा, ६२४ **ध्रुवः**–नित्यस्वरूप, ६२५ **धरः**–आठ वसुओंमेंसे एक वसु धरस्वरूप ॥

प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः ।
उषङ्गुश्च विधाता च मान्धाता भूतभावनः ॥१०५॥

६२६ **प्रभावः**–उत्कृष्टभावसे सम्पन्न, ६२७ **सर्वगो वायुः**–सर्वव्यापी वायु—सूत्रात्मा, ६२८ **अर्यमा**–बारह आदित्योंमें एक आदित्य अर्यमारूप, ६२९ **सविता**–सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति करनेवाले, ६३० **रविः**–सूर्य, ६३१ **उषङ्गुः**–सर्वदाहक किरणोंवाले सूर्यरूप, ६३२ **विधाता**–प्रजाका विशेषरूपसे धारण-पोषण करनेवाले, ६३३ **मान्धाता**–जीवको तृप्ति प्रदान करनेवाले, ६३४ **भूतभावनः**–समस्त प्राणियोंके उत्पादक ॥ १०५ ॥

विभुर्वर्णविभावी च सर्वकामगुणावहः ।
पद्मनाभो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रोऽनिलोऽनलः ॥१०६॥

६३५ **विभुः**–विविधरूपसे विद्यमान, ६३६ **वर्णविभावी**–श्वेत-पीत आदि वर्णोंको विविधरूपसे व्यक्त करनेवाले, ६३७ **सर्वकामगुणावहः**–समस्त भोगों और गुणोंकी प्राप्ति करानेवाले, ६३८ **पद्मनाभः**–अपनी नाभिसे कमलको प्रकट करनेवाले विष्णुरूप, ६३९ **महागर्भः**–विशाल ब्रह्माण्डको उदरमें धारण करनेवाले, ६४० **चन्द्रवक्त्रः**–चन्द्रमा-जैसे मनोहर मुखवाले, ६४१ **अनिलः**–वायुदेव, ६४२ **अनलः**–अग्निदेव ॥ १०६ ॥

बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचञ्चुरी ।
कुरुकर्ता कुरुवासी कुरुभूतो गुणौषधः ॥१०७॥

६४३ **बलवान्**–शक्तिशाली, ६४४ **उपशान्तः**–शान्तस्वरूप, ६४५ **पुराणः**–पुराणपुरुष, ६४६ **पुण्यचञ्चुः**–पुण्यके द्वारा जाननेमें आनेवाले, ६४७ **ई**–दयास्वरूप, ६४८ **कुरुकर्ता**–कुरुक्षेत्रके निर्माता, ६४९ **कुरुवासी**–कुरुक्षेत्रनिवासी, ६५० **कुरुभूतः**–कुरुक्षेत्रस्वरूप, ६५१ **गुणौषधः**–गुणोंको उत्पन्न करनेवाली ओषधिके समान ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोंके उत्पादक ॥ १०७ ॥

सर्वाशयो दर्भचारी सर्वेषां प्राणिनां पतिः ।
देवदेवः सुखासक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥१०८॥

६५२ **सर्वाशयः**–सबके आश्रय, ६५३ **दर्भचारी**–वेदीपर बिछे हुए—कुशोंपर रखे हुए हविष्यको भक्षण करनेवाले, ६५४ **सर्वेषां प्राणिनां पतिः**–समस्त प्राणियोंके स्वामी, ६५५ **देवदेवः**–देवताओंके भी देवता, ६५६ **सुखासक्तः**–अपने परमानन्दमय स्वरूपमें ही रत रहनेवाले, ६५७ **सत्**–सत्स्वरूप, ६५८ **असत्**–असत्स्वरूप, ६५९ **सर्वरत्नवित्**–सम्पूर्ण रत्नोंके ज्ञाता ॥ १०८ ॥

कैलासगिरिवासी च हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥१०९॥

६६० **कैलासगिरिवासी**-कैलास पर्वतपर निवास करनेवाले, ६६१ **हिमवद्गिरिसंश्रयः**-हिमालयपर्वतके निवासी, ६६२ **कूलहारी**-प्रबल प्रवाहरूपसे नदियोंके तटोंका अपहरण करनेवाले, ६६३ **कूलकर्ता**-पुष्कर आदि बड़े-बड़े सरोवरोंका निर्माण करनेवाले, ६६४ **बहुविद्यः**-बहुत-सी विद्याओंके ज्ञाता, ६६५ **बहुप्रदः**-बहुत अधिक देनेवाले ॥ १०९ ॥

वणिजो वर्धकी वृक्षो बकुलश्चन्दनश्छदः ।
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥११०॥

६६६ **वणिजो**-वैश्यरूप, ६६७ **वर्धकी**-संसाररूपी वृक्षको काटनेवाले बढ़ई, ६६८ **वृक्षः**-संसाररूप वृक्षस्वरूप, ६६९ **वकुलः**-मौलसिरी वृक्षस्वरूप, ६७० **चन्दनः**-चन्दन वृक्षस्वरूप, ६७१ **छदः**-छितवन वृक्षस्वरूप, ६७२ **सारग्रीवः**-सुदृढ़ कण्ठवाले, ६७३ **महाजत्रुः**-बहुत बड़ी हँसुलीवाले, ६७४ **अलोलः**-अचञ्चल, ६७५ **महौषधः**-महान् औषधस्वरूप ॥ ११० ॥

सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥१११॥

६७६ **सिद्धार्थकारी**-आश्रितजनोंको सफलमनोरथ करनेवाले, ६७७ **सिद्धार्थः**-वेदकी व्याख्यासे निर्णीत उत्कृष्ट सिद्धान्तस्वरूप, ६७८ **सिंहनादः**-सिंहके समान गर्जना करनेवाले, ६७९ **सिंहदंष्ट्रः**-सिंहके समान दाढ़वाले, ६८० **सिंहगः**-सिंहपर आरूढ़ होकर चलनेवाले, ६८१ **सिंहवाहनः**-सिंहपर सवारी करनेवाले ॥ १११ ॥

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्राङ्गः केतुमाली सभावनः ॥११२॥

६८२ **प्रभावात्मा**-उत्कृष्ट सत्तास्वरूप, ६८३ **जगत्कालस्थालः**-प्रलयकालमें जगत्का संहार करनेवाले कालके स्थान, ६८४ **लोकहितः**-लोकहितैषी, ६८५ **तरुः**-तारनेवाले, ६८६ **सारङ्गः**-चातकस्वरूप, ६८७ **नवचक्राङ्गः**-नूतन हंसरूप, ६८८ **केतुमाली**-ध्वजा-पताकाओंकी मालाओंसे अलंकृत, ६८९ **सभावनः**-धर्मस्थानकी रक्षा करनेवाले ॥

भूतालयो भूतपतिरहोरात्रमनिन्दितः ॥११३॥

६९० **भूतालयः**-सम्पूर्ण भूतोंके घर, ६९१ **भूतपतिः**-सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी, ६९२ **अहोरात्रम्**-दिन-रात्रिस्वरूप, ६९३ **अनिन्दितः**-निन्दारहित ॥ ११३ ॥

वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ।
अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ॥११४॥

६९४ **सर्वभूतानां वाहिता**-सम्पूर्ण भूतोंका भार वहन करनेवाले, ६९५ **सर्वभूतानां निलयः**-समस्त प्राणियोंके निवासस्थान, ६९६ **विभुः**-सर्वव्यापी, ६९७ **भवः**-सत्तारूप, ६९८ **अमोघः**-कभी असफल न होनेवाले, ६९९ **संयतः**-संयमशील, ७०० **अश्वः**-उच्चैःश्रवा आदि उत्तम अश्वरूप, ७०१ **भोजनः**-अन्नदाता, ७०२ **प्राणधारणः**-सबके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले ॥ ११४ ॥

धृतिमान् मतिमान् दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ।
गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरिः ॥११५॥

७०३ **धृतिमान्**-धैर्यशाली, ७०४ **मतिमान्**-बुद्धिमान्, ७०५ **दक्षः**-चतुर, ७०६ **सत्कृतः**-सबके द्वारा सम्मानित, ७०७ **युगाधिपः**-युगके स्वामी, ७०८ **गोपालिः**-इन्द्रियोंके पालक, ७०९ **गोपतिः**-गौओंके स्वामी, ७१० **ग्रामः**-समूहरूप, ७११ **गोचर्मवसनः**-गोचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले, ७१२ **हरिः**-भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥११५॥

हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ।
प्रकृष्टारिर्महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ॥११६॥

७१३ **हिरण्यबाहुः**-सुनहरी कान्तिवाली सुन्दर भुजाओंसे सुशोभित, ७१४ **गुहापालः प्रवेशिनाम्**-गुफाके भीतर प्रवेश करनेवाले योगियोंकी गुफाके रक्षक, ७१५ **प्रकृष्टारिः**-काम, क्रोध आदि शत्रुओंको क्षीण कर देनेवाले, ७१६ **महाहर्षः**-परमानन्दस्वरूप, ७१७ **जितकामः**-कामविजयी, ७१८ **जितेन्द्रियः**-इन्द्रियविजयी ॥ ११६ ॥

गान्धारश्च सुवासश्च तपःसक्तो रतिर्नरः ।
महागीतो महानृत्यो ह्यप्सरोगणसेवितः ॥११७॥

७१९ **गान्धारः**-गान्धार नामक स्वररूप, ७२० **सुवासः**-कैलास नामक सुन्दर स्थानमें वास करनेवाले, ७२१ **तपःसक्तः**-तपस्यामें संलग्न, ७२२ **रतिः**-प्रीतिरूप, ७२३ **नरः**-विराट् पुरुष, ७२४ **महागीतः**-जिनके माहात्म्यका वेद-शास्त्रोंद्वारा गान किया गया है, ऐसे महान् देव, ७२५ **महानृत्यः**-प्रकाण्ड ताण्डव करनेवाले, ७२६ **अप्सरोगणसेवितः**-अप्सराओंके समुदायसे सेवित ॥ ११७ ॥

महाकेतुर्महाधातुर्नैकसानुचरश्चलः ।
आवेदनीय आदेशः सर्वगन्धसुखावहः ॥११८॥

७२७ **महाकेतुः**-धर्मरूप महान् ध्वजावाले, ७२८ **महाधातुः**-सुवर्णस्वरूप, ७२९ **नैकसानुचरः**-मेरुगिरिके अनेक शिखरोंपर विचरण करनेवाले, ७३० **चलः**-किसीकी पकड़में नहीं आनेवाले, ७३१ **आवेदनीयः**-प्रार्थना करनेयोग्य, ७३२ **आदेशः**-आज्ञा प्रदान करनेवाले, ७३३ **सर्वगन्धसुखावहः**-सम्पूर्ण गन्धादि विषयोंके सुखकी प्राप्ति करानेवाले ॥ ११८ ॥

तोरणस्तारणो वातः परिधी पतिखेचरः ।
संयोगो वर्धनो वृद्धो अतिवृद्धो गुणाधिकः ॥११९॥

७३४ **तोरणः**-मुक्तिद्वारस्वरूप, ७३५ **तारणः**-तारनेवाले, ७३६ **वातः**-वायुरूप, ७३७ **परिधीः**-ब्रह्माण्डका घेरारूप, ७३८ **पतिखेचरः**-आकाशचारीका स्वामी, ७३९ **वर्धनः संयोगः**-वृद्धिका हेतुभूत स्त्री-पुरुषका संयोग,

७४० वृद्धः—गुणोंमें बढ़ा-चढ़ा, ७४१ अतिवृद्धः—सबसे पुरातन होनेके कारण अतिवृद्ध, ७४२ गुणाधिकः—ज्ञान-ऐश्वर्य आदि गुणोंके द्वारा सबसे अधिकतर ॥ ११९ ॥

नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः।
युक्तश्च युक्तबाहुश्च देवो दिविसुपर्वणः ॥१२०॥

७४३ नित्य आत्मसहायः—आत्माकी सदा सहायता करनेवाले, ७४४ देवासुरपतिः—देवताओं और असुरोंके स्वामी, ७४५ पतिः—सबके स्वामी, ७४६ युक्तः—भक्तोंके उद्धारके लिये सदा उद्यत रहनेवाले, ७४७ युक्तबाहुः—सबकी रक्षाके लिये उपयुक्त भुजाओंवाले, ७४८ देवो दिविसुपर्वणः—स्वर्गमें जो महान् देवता इन्द्र हैं, उनके भी आराध्यदेव ॥ १२० ॥

आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवोऽथ हरिणो हरः।
वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ॥१२१॥

७४९ आषाढः—भक्तोंको सब कुछ सहन करनेकी शक्ति देनेवाले, ७५० सुषाढः—उत्तम सहनशील, ७५१ ध्रुवः—अविचलस्वरूप, ७५२ हरिणः—शुद्धस्वरूप, ७५३ हरः—पापहारी, ७५४ आवर्तमानेभ्यो वपुः—स्वर्गलोकसे लौटनेवालेको नूतन शरीर देनेवाले, ७५५ वसुश्रेष्ठः—श्रेष्ठ धनस्वरूप अर्थात् मुक्तिस्वरूप, ७५६ महापथः—सर्वोत्तम मार्गस्वरूप ॥ १२१ ॥

शिरोहारी विमर्शश्च सर्वलक्षणलक्षितः।
अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ॥१२२॥

७५७ विमर्शः शिरोहारी—विवेकपूर्वक दुष्टोंका शिरश्छेद करनेवाले, ७५८ सर्वलक्षणलक्षितः—समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, ७५९ अक्षः रथयोगी—रथसे सम्बन्ध रखनेवाला धुरीस्वरूप, ७६० सर्वयोगी—सभी समयमें योगयुक्त, ७६१ महाबलः—अनन्त शक्तिसे सम्पन्न ॥ १२२ ॥

समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः।
निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ॥१२३॥

७६२ समाम्नायः—वेदस्वरूप, ७६३ असमाम्नायः—वेदभिन्न स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमरूप, ७६४ तीर्थदेवः—सम्पूर्ण तीर्थोंके देवस्वरूप, ७६५ महारथः—त्रिपुरदाहके समय पृथ्वीरूपी विशाल रथपर आरूढ़ होनेवाले, ७६६ निर्जीवः—जड-प्रपञ्चस्वरूप, ७६७ जीवनः—जीवनदाता, ७६८ मन्त्रः—प्रणव आदि मन्त्रस्वरूप, ७६९ शुभाक्षः—मङ्गलमयी दृष्टिवाले, ७७० बहुकर्कशः—संहारकालमें अत्यन्त कठोर स्वभाववाले ॥ १२३ ॥

रत्नप्रभूतो रत्नाङ्गो महार्णवनिपानवित्।
मूलं विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ॥१२४॥

७७१ रत्नप्रभूतः—अनेक रत्नोंके भण्डाररूप, ७७२ रत्नाङ्गः—रत्नमय अङ्गवाले, ७७३ महार्णवनिपानवित्—महासागररूपी निपानों (हौजों) को जाननेवाले, ७७४ मूलम्—संसाररूपी वृक्षके कारण, ७७५ विशालः—अत्यन्त शोभायमान, ७७६ अमृतः—अमृतस्वरूप मुक्तिस्वरूप, ७७७ व्यक्ताव्यक्तः—साकार-निराकार स्वरूप, ७७८ तपोनिधिः—तपस्याके भण्डार ॥ १२४ ॥

आरोहणोऽधिरोहश्च शीलधारी महायशाः।
सेनाकल्पो महाकल्पो योगो युगकरो हरिः ॥१२५॥

७७९ आरोहणः—परम पदपर आरूढ़ होनेके द्वारस्वरूप, ७८० अधिरोहः—परमपदपर आरूढ़, ७८१ शीलधारी—सुशीलसम्पन्न, ७८२ महायशाः—महान् यशसे सम्पन्न, ७८३ सेनाकल्पः—सेनाके आभूषणरूप, ७८४ महाकल्पः—बहुमूल्य अलंकारोंसे अलंकृत, ७८५ योगः—चित्तवृत्तियोंके निरोधस्वरूप, ७८६ युगकरः—युगप्रवर्तक, ७८७ हरिः—भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥ १२५ ॥

युगरूपो महारूपो महानागहनोऽवधः।
न्यायनिर्वपणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ॥१२६॥

७८८ युगरूपः—युगस्वरूप, ७८९ महारूपः—महान् रूपवाले, ७९० महानागहनः—विशालकाय गजासुरका वध करनेवाले, ७९१ अवधः—मृत्युरहित, ७९२ न्यायनिर्वपणः—न्यायोचित दान करनेवाले, ७९३ पादः—शरण लेनेयोग्य (पद्यते भक्तैः इति पादः), ७९४ पण्डितः—ज्ञानी, ७९५ अचलोपमः—पर्वतके समान अविचल ॥ १२६ ॥

बहुमालो महामालः शशी हरसुलोचनः।
विस्तारो लवणः कूपस्त्रियुगः सफलोदयः ॥१२७॥

७९६ बहुमालः—बहुत-सी मालाएँ धारण करनेवाले, ७९७ महामालः—महती—पैरोंतक लटकनेवाली माला धारण करनेवाले, ७९८ शशी हरसुलोचनः—चन्द्रमाके समान सौम्य दृष्टियुक्त महादेव, ७९९ विस्तारो लवणः कूपः—विस्तृत क्षारसमुद्रस्वरूप, ८०० त्रियुगः—सत्ययुग, त्रेता और द्वापर त्रिविध युगस्वरूप, ८०१ सफलोदयः—जिसका अवताररूपमें प्रकट होना सफल है ॥ १२७ ॥

त्रिलोचनो विषण्णाङ्गो मणिविद्धो जटाधरः।
बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ॥१२८॥

८०२ त्रिलोचनः—त्रिनेत्रधारी, ८०३ विषण्णाङ्गः—अङ्गरहित अर्थात् सर्वथा निराकार, ८०४ मणिविद्धः—मणिका कुण्डल पहिननेके लिये छिदे हुए कर्णवाले, ८०५ जटाधरः—जटाधारी, ८०६ विन्दुः—अनुस्वाररूप, ८०७ विसर्गः—विसर्जनीयस्वरूप, ८०८ सुमुखः—सुन्दर मुखवाले, ८०९ शरः—बाणस्वरूप, ८१० सर्वायुधः—सम्पूर्ण आयुधोंसे युक्त, ८११ सहः—सहनशील ॥ १२८ ॥

निवेदनः सुखाजातः सुगन्धारो महाधनुः।
गन्धपाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ॥१२९॥

८१२ निवेदनः—सब प्रकारकी वृत्तिसे रहित ज्ञानवाले, ८१३ सुखाजातः—सब वृत्तियोंका लय होनेपर सुखरूपसे प्रकट

होनेवाले, ८१४ **सुगन्धारः**–उत्तम गन्धसे युक्त, ८१५ **महाधनुः**–पिनाक नामक विशाल धनुष धारण करनेवाले, ८१६ **भगवान् गन्धपाली**–उत्तम गन्धकी रक्षा करनेवाले भगवान्, ८१७ **सर्वकर्मणामुत्थानः**–समस्त कर्मोंके उत्थानस्थान ॥ १२९ ॥

मन्थानो बहुलो वायुः सकलः सर्वलोचनः ।
तलस्तालः करस्थाली ऊर्ध्वसंहननो महान् ॥१३०॥

८१८ **मन्थानो बहुलो वायुः**–विश्वको मथ डालनेमें समर्थ प्रलयकालकी महान् वायुस्वरूप, ८१९ **सकलः**–सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, ८२० **सर्वलोचनः**–सबके द्रष्टा, ८२१ **तलस्तालः**–हाथपर ही ताल देनेवाले, ८२२ **करस्थाली**–हाथोंसे ही भोजनपात्रका काम लेनेवाले, ८२३ **ऊर्ध्वसंहननः**–सुदृढ़ शरीरवाले, ८२४ **महान्**–श्रेष्ठतम ॥ १३० ॥

छत्रं सुच्छत्रो विख्यातो लोकः सर्वाश्रयः क्रमः ।
मुण्डो विरूपो विकृतो दण्डी कुण्डी विकुर्वणः ॥१३१॥

८२५ **छत्रम्**–छत्रके समान पाप-तापसे सुरक्षित रखनेवाले, ८२६ **सुच्छत्रः**–उत्तम छत्रस्वरूप, ८२७ **विख्यातो लोकः**–सुप्रसिद्ध लोकस्वरूप, ८२८ **सर्वाश्रयः क्रमः**–सबके आधारभूत गति, ८२९ **मुण्डः**–मुण्डित-मस्तक, ८३० **विरूपः**–विकट रूपवाले, ८३१ **विकृतः**–सम्पूर्ण विपरीत क्रियाओंको धारण करनेवाले, ८३२ **दण्डी**–दण्डधारी, ८३३ **कुण्डी**–खप्परधारी, ८३४ **विकुर्वणः**–क्रियाद्वारा अलभ्य ॥

हर्यक्षः ककुभो वज्री शतजिह्वः सहस्रपात् ।
सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥१३२॥

८३५ **हर्यक्षः**–सिंहस्वरूप, ८३६ **ककुभः**–सम्पूर्ण दिशास्वरूप, ८३७ **वज्री**–वज्रधारी, ८३८ **शतजिह्वः**–सैकड़ों जिह्वावाले, ८३९ **सहस्रपात् सहस्रमूर्धा**–सहस्रों पैर और मस्तकवाले, ८४० **देवेन्द्रः**–देवताओंके राजा, ८४१ **सर्वदेवमयः**–सम्पूर्ण देवस्वरूप, ८४२ **गुरुः**–सबके ज्ञानदाता ॥

सहस्रबाहुः सर्वाङ्गः शरण्यः सर्वलोककृत् ।
पवित्रं त्रिककुन्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिङ्गलः ॥१३३॥

८४३ **सहस्रबाहुः**–सहस्रों भुजाओंवाले, ८४४ **सर्वाङ्गः**–समस्त अङ्गोंसे सम्पन्न, ८४५ **शरण्यः**–शरण लेनेके योग्य, ८४६ **सर्वलोककृत्**–सम्पूर्ण लोकोंके उत्पन्न करनेवाले, ८४७ **पवित्रम्**–परम पावन, ८४८ **त्रिककुन्मन्त्रः**–त्रिपदा गायत्रीरूप, ८४९ **कनिष्ठः**–अदितिके पुत्रोंमें छोटे, वामनरूपधारी विष्णु, ८५० **कृष्णपिङ्गलः**–श्याम-गौर हरि-हर-मूर्ति ॥ १३३ ॥

ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नीपाशशक्तिमान् ।
पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ॥१३४॥

८५१ **ब्रह्मदण्डविनिर्माता**–ब्रह्मदण्डका निर्माण करनेवाले, ८५२ **शतघ्नीपाशशक्तिमान्**–शतघ्नी, पाश और शक्तिसे युक्त, ८५३ **पद्मगर्भः**–ब्रह्मास्वरूप, ८५४ **महागर्भः**–जगत्‌रूप गर्भको धारण करनेवाले होनेसे महागर्भ, ८५५ **ब्रह्मगर्भः**–वेदको उदरमें धारण करनेवाले, ८५६ **जलोद्भवः**–एकार्णवके जलमें प्रकट होनेवाले ॥ १३४ ॥

गभस्तिर्ब्रह्मकृद् ब्रह्मी ब्रह्मविद् ब्राह्मणो गतिः ।
अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः ॥१३५॥

८५७ **गभस्तिः**–सूर्यस्वरूप, ८५८ **ब्रह्मकृत्**–वेदोंका आविष्कार करनेवाले, ८५९ **ब्रह्मी**–वेदाध्यायी, ८६० **ब्रह्मवित्**–वेदार्थवेत्ता, ८६१ **ब्राह्मणः**–ब्रह्मनिष्ठ, ८६२ **गतिः**–ब्रह्मनिष्ठोंकी परमगति, ८६३ **अनन्तरूपः**–अनन्त रूपवाले, ८६४ **नैकात्मा**–अनेक शरीरधारी, ८६५ **तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः**–ब्रह्माजीकी अपेक्षा प्रचण्ड तेजस्वी॥१३५॥

ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः ।
चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ॥१३६॥

८६६ **ऊर्ध्वगात्मा**–देश-काल-वस्तुकृत उपाधिसे अतीत स्वरूपवाले, ८६७ **पशुपतिः**–जीवोंके स्वामी, ८६८ **वातरंहाः**–वायुके समान वेगशाली, ८६९ **मनोजवः**–मनके समान वेगशाली, ८७० **चन्दनी**–चन्दनचर्चित अङ्गवाले, ८७१ **पद्मनालाग्रः**–पद्मनालके मूल विष्णुस्वरूप, ८७२ **सुरभ्युत्तरणः**–सुरभिको नीचे उतारनेवाले, ८७३ **नरः**–पुरुषरूप ॥ १३६ ॥

कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृत् ।
उमापतिरुमाकान्तो जाह्नवीधृदुमाधवः ॥१३७॥

८७४ **कर्णिकारमहास्रग्वी**–कनेरकी बहुत बड़ी माला धारण करनेवाले, ८७५ **नीलमौलिः**–मस्तकपर नीलमणिमय मुकुट धारण करनेवाले, ८७६ **पिनाकधृत्**–पिनाक धनुषको धारण करनेवाले, ८७७ **उमापतिः**–उमा—ब्रह्मविद्याके स्वामी, ८७८ **उमाकान्तः**–पार्वतीके प्राण-प्रियतम, ८७९ **जाह्नवीधृत्**–गङ्गाको मस्तकपर धारण करनेवाले, ८८० **उमाधवः**–पार्वतीपति ॥ १३७ ॥

वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः ।
महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः ॥१३८॥

८८१ **वरो वराहः**–श्रेष्ठ वराहरूपधारी भगवान्, ८८२ **वरदः**–वरदाता, ८८३ **वरेण्यः**–स्वामी बनाने योग्य, ८८४ **सुमहास्वनः**–महान् गर्जना करनेवाले, ८८५ **महाप्रसादः**–भक्तोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले,८८६ **दमनः**–दुष्टोंका दमन करनेवाले, ८८७ **शत्रुहा**–शत्रुनाशक, ८८८ **श्वेतपिङ्गलः**–अर्धनारीनरेश्वर-वेशमें श्वेत-पिङ्गल वर्णवाले ॥

पीतात्मा परमात्मा च प्रयतात्मा प्रधानधृत् ।
सर्वपार्श्वमुखस्त्र्यक्षो धर्मसाधारणो वरः ॥१३९॥

८८९ **पीतात्मा**–हिरण्मय पुरुष, ८९० **परमात्मा**–परब्रह्म परमेश्वर, ८९१ **प्रयतात्मा**–विशुद्ध-चित्त, ८९२ **प्रधानधृत्**–जगत्‌के कारणभूत त्रिगुणमय प्रधानके अधिष्ठानस्वरूप, ८९३ **सर्वपार्श्वमुखः**–सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर मुखवाले, ८९४ **त्र्यक्षः**–त्रिनेत्रधारी, ८९५ **धर्मसाधारणो वरः**–धर्म-पालनके अनुसार वर देनेवाले ॥ १३९ ॥

चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा अमृतो गोवृषेश्वरः ।
साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान् सवितामृतः ॥१४०॥

८९६ चराचरात्मा–चराचर प्राणियोंके आत्मा, ८९७ सूक्ष्मात्मा–अति सूक्ष्मस्वरूप, ८९८ अमृतो गोवृषेश्वरः–निष्काम धर्मके स्वामी, ८९९ साध्यर्षिः–साध्य देवताओंके आचार्य, ९०० आदित्यो वसुः–अदितिकुमार वसु, ९०१ विवस्वान् सवितामृतः–किरणोंसे सुशोभित एवं जगत्को उत्पन्न करनेवाले अमृतस्वरूप सूर्य ॥ १४० ॥

व्यासः सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः पर्ययो नरः ।
ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ॥१४१॥

९०२ व्यासः–पुराण-इतिहास आदिके स्रष्टा वेदव्यासस्वरूप, ९०३ सर्गःसुसंक्षेपो विस्तरः–संक्षिप्त और विस्तृत सृष्टिस्वरूप, ९०४ पर्ययो नरः–सब ओरसे व्याप्त करनेवाले वैश्वानरस्वरूप, ९०५ ऋतुः–ऋतुरूप, ९०६ संवत्सरः–संवत्सररूप, ९०७ मासः–मासरूप, ९०८ पक्षः–पक्षरूप, ९०९ संख्यासमापनः–पूर्वोक्त ऋतु आदिकी संख्या समाप्त करनेवाले पर्व (संक्रान्ति, दर्श, पूर्णमासादि) रूप ॥१४१॥

कलाः काष्ठा लवा मात्रा मुहूर्ताहःक्षपाः क्षणाः ।
विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिङ्गमाद्यस्तु निर्गमः ॥१४२॥

९१० कलाः, ९११ काष्ठाः, ९१२ लवाः, ९१३ मात्राः–(इत्यादि कालावयवस्वरूप), ९१४ मुहूर्ताहः-क्षपाः– मुहूर्त, दिन और रात्रिरूप, ९१५ क्षणाः–क्षणरूप, ९१६ विश्वक्षेत्रम्–ब्रह्माण्डरूपी वृक्षके आधार, ९१७ प्रजाबीजम्–प्रजाओंके कारणरूप, ९१८ लिङ्गम्–महत्तत्त्वस्वरूप, ९१९ आद्यो निर्गमः–सबसे पहले प्रकट होनेवाले ॥१४२॥

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥१४३॥

९२० सत्–सत्स्वरूप, ९२१ असत्–असत्स्वरूप, ९२२ व्यक्तम्–साकाररूप, ९२३ अव्यक्तम्–निराकाररूप, ९२४ पिता, ९२५ माता, ९२६ पितामहः, ९२७ स्वर्गद्वारम्–स्वर्गके साधनस्वरूप, ९२८प्रजाद्वारम्–प्रजाके कारण, ९२९ मोक्षद्वारम्–मोक्षके साधनस्वरूप, ९३० त्रिविष्टपम्–स्वर्गके साधनस्वरूप ॥ १४३ ॥

निर्वाणं ह्लादनश्चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ॥१४४॥

९३१ निर्वाणम्–मोक्षस्वरूप, ९३२ ह्लादनः–आनन्द प्रदान करनेवाले, ९३३ ब्रह्मलोकः–ब्रह्मलोकस्वरूप, ९३४ परा गतिः–सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप, ९३५ देवासुरविनिर्माता–देवताओं और असुरोंके जन्मदाता, ९३६ देवासुरपरायणः–देवताओं तथा असुरोंके परम आश्रय ॥ १४४ ॥

देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ।
देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ॥१४५॥

९३७ देवासुरगुरुः–देवताओं और असुरोंके गुरु, ९३८ देवः–परम देवस्वरूप, ९३९ देवासुरनमस्कृतः–देवताओं और असुरोंसे वन्दित, ९४० देवासुरमहामात्रः–देवताओं और असुरोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ, ९४१ देवासुरगणाश्रयः–देवताओं तथा असुरगणोंके आश्रय लेने योग्य ॥१४५॥

देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ।
देवातिदेवो देवर्षिर्देवासुरवरप्रदः ॥१४६॥

९४२ देवासुरगणाध्यक्षः–देवताओं तथा असुरगणोंके अध्यक्ष, ९४३ देवासुरगणाग्रणीः–देवताओं तथा असुरोंके अगुआ, ९४४ देवातिदेवः–देवताओंसे बढ़कर महादेव, ९४५ देवर्षिः–नारदस्वरूप, ९४६ देवासुरवरप्रदः–देवताओं और असुरोंको भी वरदान देनेवाले ॥ १४६ ॥

देवासुरेश्वरो विश्वो देवासुरमहेश्वरः ।
सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्माऽऽत्मसम्भवः ॥१४७॥

९४७ देवासुरेश्वरः–देवताओं और असुरोंके ईश्वर, ९४८ विश्वः–विराट् स्वरूप, ९४९ देवासुरमहेश्वरः–देवताओं और असुरोंके महान् ईश्वर, ९५० सर्वदेवमयः–सम्पूर्ण देवस्वरूप, ९५१ अचिन्त्यः–अचिन्त्यस्वरूप, ९५२ देवतात्मा–देवताओंके अन्तरात्मा, ९५३ आत्मसम्भवः–स्वयम्भू ॥ १४७ ॥

उद्भित् त्रिविक्रमो वैद्यो विरजो नीरजोऽमरः ।
ईड्यो हस्तीश्वरो व्याघ्रो देवसिंहो नरर्षभः ॥१४८॥

९५४ उद्भित्–वृक्षादिस्वरूप, ९५५ त्रिविक्रमः–तीनों लोकोंको तीन चरणोंसे नाप लेनेवाले भगवान् वामन, ९५६ वैद्यः–वैद्यस्वरूप, ९५७ विरजः–रजोगुणरहित, ९५८ नीरजः–निर्मल, ९५९ अमरः–नाशरहित, ९६० ईड्यः–स्तुतिके योग्य, ९६१ हस्तीश्वरः–ऐरावत हस्तीके ईश्वर इन्द्रस्वरूप, ९६२ व्याघ्रः–सिंहस्वरूप, ९६३ देवसिंहः–देवताओंमें सिंहके समान पराक्रमी, ९६४ नरर्षभः–मनुष्योंमें श्रेष्ठ ॥ १४८ ॥

विबुधोऽग्रवरः सूक्ष्मः सर्वदेवस्तपोमयः ।
सुयुक्तः शोभनो वज्री प्रासानां प्रभवोऽव्ययः ॥१४९॥

९६५ विबुधः–विशेष ज्ञानवान्, ९६६ अग्रवरः–यज्ञमें सबसे प्रथम भाग लेनेके अधिकारी, ९६७ सूक्ष्मः–अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप, ९६८ सर्वदेवः–सर्वदेवस्वरूप, ९६९ तपोमयः–तपोमयस्वरूप, ९७० सुयुक्तः–भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सब तरहसे सदा सावधान रहनेवाले, ९७१ शोभनः–कल्याणस्वरूप, ९७२ वज्री–वज्रायुधधारी, ९७३ प्रासानां प्रभवः–प्रास नामक अस्त्रकी उत्पत्तिके स्थान, ९७४ अव्ययः–विनाशरहित ॥ १४९ ॥

गुहः कान्तो निजः सर्गः पवित्रं सर्वपावनः ।
शृङ्गी शृङ्गप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ॥१५०॥

९७५ गुहः–कुमार कार्तिकेयस्वरूप ९७६ कान्तः–आनन्दकी पराकाष्ठारूप, ९७७ निजः सर्गः–सृष्टिसे अभिन्न, ९७८ पवित्रम्–परम पवित्र, ९७९ सर्वपावनः–सबको पवित्र करनेवाले, ९८० शृङ्गी–सिंगी नामक बाजा अपने

पास रखनेवाले, ९८१ **शृङ्गप्रियः**–पर्वत-शिखरको पसंद करनेवाले, ९८२ **बभ्रुः**–विष्णुस्वरूप, ९८३ **राजराजः**–राजाओंके राजा, ९८४ **निरामयः**–सर्वथा दोषरहित ॥१५०॥

अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः।
ललाटाक्षो विश्वदेवो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ॥१५१॥

९८५ **अभिरामः**–आनन्ददायक, ९८६ **सुरगणः**–देवसमुदायरूप, ९८७ **विरामः**–सबसे उपरत, ९८८ **सर्वसाधनः**–सभी साधनोंद्वारा साध्य, ९८९ **ललाटाक्षः**–ललाटमें तीसरा नेत्र धारण करनेवाले, ९९० **विश्वदेवः**–सम्पूर्ण विश्वके द्वारा क्रीड़ा करनेवाले, ९९१ **हरिणः**–मृगरूप, ९९२ **ब्रह्मवर्चसः**–ब्रह्मतेजसे सम्पन्न ॥ १५१ ॥

स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः।
सिद्धार्थः सिद्धभूतार्थोऽचिन्त्यः सत्यव्रतः शुचिः १५२

९९३ **स्थावराणां पतिः**–पर्वतोंके स्वामी हिमाचलादिरूप, ९९४ **नियमेन्द्रियवर्धनः**–नियमोंद्वारा मनसहित इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, ९९५ **सिद्धार्थः**–आप्तकाम, ९९६ **सिद्धभूतार्थः**–जिसके समस्त प्रयोजन सिद्ध हैं, ९९७ **अचिन्त्यः**–चित्तकी पहुँचसे परे, ९९८ **सत्यव्रतः**–सत्यप्रतिज्ञ, ९९९ **शुचिः**–सर्वथा शुद्ध ॥ १५२ ॥

व्रताधिपः परं ब्रह्म भक्तानां परमा गतिः।
विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमाञ्छ्रीवर्धनो जगत् ॥१५३॥

१००० **व्रताधिपः**–व्रतोंके अधिपति— १००१ **परम्**–सर्वश्रेष्ठ, १००२ **ब्रह्म**–देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न चिन्मयतत्त्व, १००३ **भक्तानां परमा गतिः**–भक्तोंके लिये परम गतिस्वरूप, १००४ **विमुक्तः**–नित्य मुक्त, १००५ **मुक्ततेजाः**–शत्रुओंपर तेज छोड़नेवाले, १००६ **श्रीमान्**–योगैश्वर्यसे सम्पन्न, १००७ **श्रीवर्धनः**–भक्तोंकी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले, १००८ **जगत्**–जगत्स्वरूप ॥ १५३ ॥

यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया।
यन्न ब्रह्मादयो देवा विदुस्तत्त्वेन नर्षयः ॥१५४॥
स्तोतव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम्।

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार बहुत-से नामोंमेंसे प्रधान-प्रधान नाम चुनकर मैंने उनके द्वारा भक्तिपूर्वक भगवान् शङ्करका स्तवन किया। जिन्हें ब्रह्मा आदि देवता तथा ऋषि भी तत्त्वसे नहीं जानते, उन्हीं स्तवनके योग्य, अर्चनीय और वन्दनीय जगत्पति शिवकी कौन स्तुति करेगा ? ॥ १५४½ ॥

भक्त्या त्वेवं पुरस्कृत्य मया यज्ञपतिर्विभुः ॥१५५॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य स्तुतो मतिमतां वरः।

इस तरह भक्तिके द्वारा भगवान्‌को सामने रखते हुए मैंने उन्हींसे आज्ञा लेकर उन बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् यज्ञपतिकी स्तुति की ॥ १५५½ ॥

शिवमेभिः स्तुवन् देवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ॥१५६॥
नित्ययुक्तः शुचिर्भक्तः प्राप्नोत्यात्मानमात्मना॥१५७॥

जो सदा योगयुक्त एवं पवित्रभावसे रहनेवाला भक्त इन पुष्टिवर्धक नामोंद्वारा भगवान् शिवकी स्तुति करता है, वह स्वयं ही उन परमात्मा शिवको प्राप्त कर लेता है। १५६-१५७।

एतद्धि परमं ब्रह्म परं ब्रह्माधिगच्छति।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येतेन तत्परम् ॥१५८॥

यह उत्तम वेदतुल्य स्तोत्र परब्रह्म परमात्मस्वरूप शिवको अपना लक्ष्य बनाता है। ऋषि और देवता भी उसके द्वारा उन परमात्मा शिवकी स्तुति करते हैं ॥ १५८ ॥

स्तूयमानो महादेवस्तुष्यते नियतात्मभिः।
भक्तानुकम्पी भगवानात्मसंस्थाकरो विभुः ॥१५९॥

जो लोग मनको संयममें रखकर इन नामोंद्वारा भक्तवत्सल तथा आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले भगवान् महादेवकी स्तुति करते हैं, उनपर वे बहुत संतुष्ट होते हैं ॥ १५९ ॥

तथैव च मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥१६०॥
भक्त्या ह्यनन्यमीशानं परं देवं सनातनम्।
कर्मणा मनसा वाचा भावेनामिततेजसः ॥१६१॥
शयाना जाग्रमाणाश्च व्रजन्नुपविशंस्तथा।
उन्मिषन् निमिषंश्चैव चिन्तयन्तः पुनः पुनः ॥१६२॥
शृण्वन्तः श्रावयन्तश्च कथयन्तश्च ते भवम्।
स्तुवन्तः स्तूयमानाश्च तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१६३॥

इसी प्रकार मनुष्योंमें जो प्रधानतः आस्तिक और श्रद्धालु हैं तथा अनेक जन्मतक की हुई स्तुति एवं भक्तिके प्रभावसे मन, वाणी, क्रिया तथा प्रेमभावके द्वारा सोते-जागते चलते-बैठते और आँखोंके खोलते-मीचते समय भी सदा अनन्यभावसे उन परम सनातनदेव जगदीश्वर शिवका बारंबार ध्यान करते हैं, वे अमित तेजसे सम्पन्न हो जाते हैं तथा जो उन्हींके विषयमें सुनते-सुनाते एवं उन्हींकी महिमाका कथोपकथन करते हुए इस स्तोत्रद्वारा सदा उनकी स्तुति करते हैं, वे स्वयं भी स्तुत्य होकर सदा संतुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ १६०–१६३ ॥

जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु।
जन्तोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥१६४॥

कोटि सहस्र जन्मोंतक नाना प्रकारकी संसारी योनियोंमें भटकते-भटकते जब कोई जीव सर्वथा पापोंसे रहित हो जाता है, तब उसकी भगवान् शिवमें भक्ति होती है ॥ १६४ ॥

उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः।
भाविनः कारणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥१६५॥

भाग्यसे जो सर्वसाधनसम्पन्न हो गया है, उसको जगत्‌के कारण भगवान् शिवमें सम्पूर्णभावसे सर्वथा अनन्य भक्ति प्राप्त होती है ॥ १६५ ॥

एतद् देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते।
निर्विघ्ना निश्चला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ॥१६६॥

रुद्रदेवमें निश्चल एवं निर्विघ्नरूपसे अनन्यभक्ति हो

जाय—यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, मनुष्योंमें तो प्रायः ऐसी भक्ति स्वतः नहीं उपलब्ध होती है ॥ १६६ ॥

तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।
येन यान्ति परां सिद्धिं तद्भागवतचेतसः ॥१६७॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे ही मनुष्योंके हृदयमें उनकी अनन्यभक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वे अपने चित्तको उन्हींके चिन्तनमें लगाकर परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१६७॥

ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम् ।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात् तान् समुद्धरेत् ॥१६८॥

जो सम्पूर्ण भावसे अनुगत होकर महेश्वरकी शरण लेते हैं, शरणागतवत्सल महादेवजी इस संसारसे उनका उद्धार कर देते हैं ॥ १६८ ॥

एवमन्ये विकुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम् ।
मनुष्याणामृते देवं नान्या शक्तिस्तपोबलम् ॥१६९॥

इसी प्रकार भगवान्‌की स्तुतिद्वारा अन्य देवगण भी अपने संसारबन्धनका नाश करते हैं; क्योंकि महादेवजीकी शरण लेनेके सिवा ऐसी दूसरी कोई शक्ति या तपका बल नहीं है, जिससे मनुष्योंका संसारबन्धनसे छुटकारा हो सके ॥

इति तेनेन्द्रकल्पेन भगवान् सदसत्पतिः ।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तण्डिना शुभबुद्धिना ॥१७०॥

श्रीकृष्ण ! यह सोचकर उन इन्द्रके समान तेजस्वी एवं कल्याणमयी बुद्धिवाले तण्डि मुनिने गजचर्मधारी एवं समस्त कार्यकारणके स्वामी भगवान् शिवकी स्तुति की ॥ १७० ॥

स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत् ।
गीयते च स बुद्ध्येत ब्रह्मा शंकरसंनिधौ ॥१७१॥

भगवान् शङ्करके इस स्तोत्रको ब्रह्माजीने स्वयं अपने हृदयमें धारण किया है। वे भगवान् शिवके समीप इस वेद-तुल्य स्तुतिका गान करते रहते हैं; अतः सबको इस स्तोत्रका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १७१ ॥

इदं पुण्यं पवित्रं च सर्वदा पापनाशनम् ।
योगदं मोक्षदं चैव स्वर्गदं तोषदं तथा ॥१७२॥

यह परम पवित्र, पुण्यजनक तथा सर्वदा सब पापोंका नाश करनेवाला है। यह योग, मोक्ष, स्वर्ग और संतोष—सब कुछ देनेवाला है ॥ १७२ ॥

एवमेतत् पठन्ते य एकभक्त्या तु शङ्करम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां व्रजन्त्येतां गतिं तदा ॥१७३॥

जो लोग अनन्यभक्तिभावसे भगवान् शिवके स्वरूपभूत इस स्तोत्रका पाठ करते हैं, उन्हें वही गति प्राप्त होती है, जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंको मिलती है ॥ १७३ ॥

स्तवमेतं प्रयत्नेन सदा रुद्रस्य संनिधौ ।
अब्दमेकं चरेद् भक्तः प्राप्नुयादीप्सितं फलम् ॥१७४॥

जो भक्त भगवान् शङ्करके समीप एक वर्षतक सदा प्रयत्नपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है ॥ १७४ ॥

एतद् रहस्यं परमं ब्रह्मणो हृदि संस्थितम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥१७५॥

यह परम रहस्यमय स्तोत्र ब्रह्माजीके हृदयमें स्थित है। ब्रह्माजीने इन्द्रको इसका उपदेश दिया और इन्द्रने मृत्युको ॥

मृत्युः प्रोवाच रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्तण्डिमागमत् ।
महता तपसा प्राप्तस्तण्डिना ब्रह्मसद्मनि ॥१७६॥

मृत्युने एकादश रुद्रोंको इसका उपदेश किया। रुद्रोंसे तण्डिको इसकी प्राप्ति हुई। तण्डिने ब्रह्मलोकमें ही बड़ी भारी तपस्या करके इसे प्राप्त किया था ॥ १७६ ॥

तण्डिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः ।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥१७७॥

माधव ! तण्डिने शुक्रको, शुक्रने गौतमको और गौतमने वैवस्वतमनुको इसका उपदेश दिया ॥ १७७ ॥

नारायणाय साध्याय समाधिष्ठाय धीमते ।
यमाय प्राह भगवान् साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥१७८॥

वैवस्वत मनुने समाधिनिष्ठ और ज्ञानी नारायण नामक किसी साध्यदेवताको यह स्तोत्र प्रदान किया। धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले उन पूजनीय नारायण नामक साध्यदेवने यमको इसका उपदेश किया ॥ १७८ ॥

नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः ।
मार्कण्डेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥१७९॥

वृष्णिनन्दन ! ऐश्वर्यशाली वैवस्वत यमने नाचिकेताको और नाचिकेतने मार्कण्डेय मुनिको यह स्तोत्र प्रदान किया।

मार्कण्डेयान्मया प्राप्तो नियमेन जनार्दन ।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्यां ह्यविश्रुतम् ॥१८०॥

शत्रुसूदन जनार्दन ! मार्कण्डेयजीसे मैंने नियमपूर्वक यह स्तोत्र ग्रहण किया था। अभी इस स्तोत्रकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई है, अतः मैं तुम्हें इसका उपदेश देता हूँ।

स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं वेदेन सम्मितम् ।
नास्य विघ्नं विकुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः ।
पिशाचा यातुधाना वा गुह्यका भुजगा अपि ॥१८१॥

यह वेदतुल्य स्तोत्र स्वर्ग, आरोग्य, आयु तथा धन धान्य प्रदान करनेवाला है। यक्ष, राक्षस, दानव, पिशाच, यातुधान, गुह्यक और नाग भी इसमें विघ्न नहीं डाल पाते हैं ॥ १८१ ॥

यः पठेत शुचिः पार्थ ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१८२॥

(श्रीकृष्ण कहते हैं—) कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! जो मनुष्य पवित्रभावसे ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक इन्द्रियोंको संयममें रखकर एक वर्षतक योगयुक्त रहते हुए इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवसहस्रनामस्तोत्रे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवसहस्रनामस्तोत्रविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण एवं विभिन्न महर्षियोंका युधिष्ठिरको उपदेश

अष्टादशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामके पाठकी महिमा तथा ऋषियोंका भगवान् शङ्करकी कृपासे अभीष्ट सिद्धि होनेके विषयमें अपना-अपना अनुभव सुनाना और श्रीकृष्णके द्वारा भगवान् शिवजीकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महायोगी श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिवर व्यासने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम भी इस स्तोत्रका पाठ करो, जिससे तुम्हारे ऊपर भी महेश्वर प्रसन्न हों॥ १॥

पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः॥ २॥

'पुत्र! महाराज! पूर्वकालकी बात है, मैंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये मेरुपर्वतपर बड़ी भारी तपस्या की थी। उस समय मैंने इस स्तोत्रका अनेक बार पाठ किया था॥ २॥

लब्धवानीप्सितान् कामानहं वै पाण्डुनन्दन।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान् कामानवाप्स्यसि॥ ३॥

'पाण्डुनन्दन! इसके पाठसे मैंने अपनी मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लिया था। उसी प्रकार तुम भी शङ्करजीसे सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे'॥ ३॥

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसम्मतः।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः॥ ४॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम्।

'तत्पश्चात् वहाँ सांख्यके आचार्य देवसम्मानित कपिलने कहा—'मैंने भी अनेक जन्मोंतक भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी। इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने मुझे भवभयनाशक ज्ञान प्रदान किया था'॥ ४½॥

चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा।
आलम्बायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः॥ ५॥

तदनन्तर इन्द्रके प्रिय सखा आलम्बगोत्रीय चारुशीर्षने जो आलम्बायन नामसे ही प्रसिद्ध तथा परम दयालु हैं, इस प्रकार कहा—॥ ५॥

मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः।
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम्॥ ६॥
अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम्।
लब्धं पुत्रशतं शर्वात् पुरा पाण्डुनृपात्मज॥ ७॥

'पाण्डुनन्दन! पूर्वकालमें गोकर्णतीर्थमें जाकर मैंने सौ वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। इससे भगवान् शङ्करकी ओरसे मुझे सौ पुत्र प्राप्त हुए, जो अयोनिज, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, परम तेजस्वी, जरारहित, दुःखहीन और एक लाख वर्षकी आयुवाले थे'॥ ६-७॥

वाल्मीकिश्चाह भगवान् युधिष्ठिरमिदं वचः।
विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति॥ ८॥
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत।
सोऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः॥ ९॥
मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति॥ १०॥

इसके बाद भगवान् वाल्मीकिने राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—'भारत! एक समय अग्निहोत्री मुनियोंके साथ मेरा विवाद हो रहा था। उस समय उन्होंने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया कि 'तुम ब्रह्महत्यारे हो जाओ।' उनके इतना कहते ही मैं क्षणभरमें उस अधर्मसे व्याप्त हो गया। तब मैं पापरहित एवं अमोघ शक्तिवाले भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। इससे मैं उस पापसे मुक्त हो गया। फिर उन दुःखनाशन त्रिपुरहन्ता रुद्रने मुझसे कहा, 'तुम्हें सर्वश्रेष्ठ सुयश प्राप्त होगा'॥ ८—१०॥

जामदग्न्यश्च कौन्तेयमिदं धर्मभृतां वरः।
ऋषिमध्ये स्थितः प्राह ज्वलन्निव दिवाकरः॥ ११॥

इसके बाद धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजी ऋषियोंके बीचमें खड़े होकर सूर्यके समान प्रकाशित होते हुए वहाँ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पाण्डवाग्रज।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतोऽस्मि शरणं नृप॥ १२॥
नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद् भवः।
परशुं च ततो देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे॥ १३॥
पापं च ते न भविता अजेयश्च भविष्यसि।
न ते प्रभविता मृत्युरजरश्च भविष्यसि॥ १४॥

'ज्येष्ठ पाण्डव! नरेश्वर! मैंने पितृतुल्य बड़े भाइयोंको मारकर पितृवध और ब्राह्मणवधका पाप कर डाला था। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ और मैं पवित्र भावसे महादेवजीकी शरणमें गया। शरणागत होकर मैंने इन्हीं नामोंसे रुद्रदेवकी स्तुति की। इससे भगवान् महादेव मुझपर बहुत संतुष्ट हुए और मुझे अपना परशु एवं दिव्यास्त्र देकर बोले—'तुम्हें पाप नहीं लगेगा। तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे। तुमपर मृत्युका वश नहीं चलेगा तथा तुम अजर-अमर बने रहोगे'॥ १२—१४॥

आह मां भगवानेवं शिखण्डी शिवविग्रहः।
तदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात् तस्य धीमतः॥ १५॥

'इस प्रकार कल्याणमय विग्रहवाले जटाधारी भगवान् शिवने मुझसे जो कुछ कहा, वह सब कुछ उन ज्ञानी महेश्वरके कृपाप्रसादसे मुझे प्राप्त हो गया'॥ १५॥

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम्।
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः॥ १६॥

तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।

तदनन्तर विश्वामित्रजीने कहा, 'राजन् ! जिस समय मैं क्षत्रिय था, उन दिनोंकी बात है, मेरे मनमें यह दृढ़ संकल्प हुआ कि मैं ब्राह्मण हो जाऊँ—यही उद्देश्य लेकर मैंने भगवान् शङ्करकी आराधना की और उनकी कृपासे मैंने अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया' ॥ १६½ ॥

असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम् ॥ १७ ॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत् तदा ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत् प्रभुः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् असित देवलने पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! प्रभो ! इन्द्रके शापसे मेरा धर्म नष्ट हो गया था; किंतु भगवान् शङ्करने ही मुझे धर्म, उत्तम यश तथा दीर्घ आयु प्रदान की'॥ १७-१८ ॥

ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान् बृहस्पतिसमद्युतिः ॥ १९ ॥

इसके बाद इन्द्रके प्रिय सखा और बृहस्पतिके समान तेजस्वी मुनिवर भगवान् गृत्समदने अजमीढवंशी युधिष्ठिरसे कहा—॥ १९ ॥

वरिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ॥ २० ॥
वर्तमानेऽब्रवीद् वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ।
रथन्तरे द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ॥ २१ ॥

"चाक्षुष मनुके पुत्र भगवान् वरिष्ठके नामसे प्रसिद्ध हैं। एक समय अचिन्त्य शक्तिशाली शतक्रतु इन्द्रका एक यज्ञ हो रहा था, जो एक हजार वर्षोंतक चलनेवाला था; उसमें मैं रथन्तर सामका पाठ कर रहा था। मेरे द्वारा उस सामका उच्चारण होनेपर वरिष्ठने मुझसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे द्वारा रथन्तर सामका पाठ ठीक नहीं हो रहा है ॥२०-२१॥

समीक्षस्व पुनर्बुद्ध्या पापं त्यक्त्वा द्विजोत्तम ।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥ २२ ॥

"विप्रवर ! तुम पापपूर्ण आग्रह छोड़कर फिर अपनी बुद्धिसे विचार करो। सुदुर्मते ! तुमने ऐसा पाप कर डाला है, जिससे यह यज्ञ ही निष्फल हो गया है' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा महाक्रोधः प्राह शम्भुं पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यभीतो वनेचरः ॥ २३ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च ।
नष्टपानीयपवने मृगैरन्यैश्च वर्जिते ॥ २४ ॥
अयज्ञीयद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते ।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥ २५ ॥

"ऐसा कहकर महाक्रोधी वरिष्ठने भगवान् शङ्करकी ओर देखते हुए फिर कहा—'तुम ग्यारह हजार आठ सौ वर्षोंतक जल और वायुसे रहित तथा अन्य पशुओंसे परित्यक्त केवल रुरु तथा सिंहोंसे सेवित जो यज्ञोंके लिये उचित नहीं है ऐसे वृक्षोंसे भरे हुए विशालवनमें बुद्धिशून्य, दुखी, सर्वदा भयभीत, वनचारी और महान् कष्टमें मग्न क्रूर स्वभाववाले पशु होकर रहोगे' ॥ २३-२५ ॥

तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः ।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥ २६ ॥

"कुन्तीनन्दन ! उनका यह वाक्य पूरा होते ही मैं क्रूर पशु हो गया। तब मैं भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। अपनी शरणमें आये हुए मुझ सेवकसे योगी महेश्वर इस प्रकार बोले—॥

अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
साम्यं ममास्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥ २७ ॥

"मुने ! तुम अजर-अमर और दुःखरहित हो जाओगे। तुम्हें मेरी समानता प्राप्त हो और तुम दोनों यजमान और पुरोहितका यह यज्ञ सदा बढ़ता रहे' ॥ २७ ॥

अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान् विभुः ।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥ २८ ॥

"इस प्रकार सर्वव्यापी भगवान् शङ्कर सबके ऊपर अनुग्रह करते हैं। ये ही सबका अच्छे ढंगसे धारण-पोषण करते हैं और सर्वदा सबके सुख-दुःखका भी विधान करते हैं" ॥२८॥

अचिन्त्य एष भगवान् कर्मणा मनसा गिरा ।
न मे तात युधिश्रेष्ठ विद्यया पण्डितः समः ॥ २९ ॥

"तात ! समरभूमिके श्रेष्ठ वीर ! ये अचिन्त्य भगवान् शिव मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा आराधना करने योग्य हैं। उनकी आराधनाका ही यह फल है कि पाण्डित्यमें मेरी समानता करनेवाला आज कोई नहीं है" ॥ २९ ॥

वासुदेवस्ततोवाच पुनर्मतिमतां वरः ।
सुवर्णाक्षो महादेवस्तपसा तोषितो मया ॥ ३० ॥

उस समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण फिर इस प्रकार बोले—"मैंने सुवर्ण-जैसे नेत्रवाले महादेवजीको अपनी तपस्यासे संतुष्ट किया ॥ ३० ॥

ततोऽथ भगवानाह प्रीतो मां वै युधिष्ठिर ।
अर्थात् प्रियतरः कृष्ण मत्प्रसादाद् भविष्यसि॥ ३१ ॥
अपराजितश्च युद्धेषु तेजश्चैवानलोपमम् ।

"युधिष्ठिर ! तब भगवान् शिवने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मेरी कृपासे प्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्रिय होओगे। युद्धमें तुम्हारी कभी पराजय नहीं होगी तथा तुम्हें अग्निके समान दुस्सह तेजकी प्राप्ति होगी' ॥

एवं सहस्रशश्चान्यान् महादेवो वरं ददौ ॥ ३२ ॥
मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा सम्पूजितो मया ।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च ॥ ३३ ॥

"इस तरह महादेवजीने मुझे और भी सहस्रों वर दिये। पूर्वकालमें अन्य अवतारोंके समय मणिमन्थ पर्वतपर मैंने लाखों-करोड़ों वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की थी ॥

ततो मां भगवान् प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते ॥ ३४ ॥

"इससे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने मुझसे कहा—'कृष्ण !

तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जैसी रुचि हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो' ॥३४॥

ततः प्रणम्य शिरसा इदं वचनमब्रुवम्।
यदि प्रीतो महादेवो भक्त्या परमया प्रभुः ॥ ३५ ॥
नित्यकालं तवेशान भक्तिर्भवतु मे स्थिरा।
एवमस्त्विति भगवांस्तत्रोक्त्वान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

"यह सुनकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कहा—'यदि मेरी परम भक्तिसे भगवान् महादेव प्रसन्न हों तो ईशान ! आपके प्रति नित्य-निरन्तर मेरी स्थिर भक्ति बनी रहे ।' तब 'एवमस्तु' कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये" ॥ ३५-३६ ॥

जैगीषव्य उवाच

ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा।
यत्नेनान्येन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥ ३७ ॥

जैगीषव्य बोले—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें भगवान् शिवने काशीपुरीके भीतर अन्य प्रबल प्रयत्नसे संतुष्ट हो मुझे अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान की थीं ॥ ३७ ॥

गर्ग उवाच

चतुःषष्ट्यङ्गमददत् कलाज्ञानं ममाद्भुतम्।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ॥ ३८ ॥
तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम्।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥ ३९ ॥

गर्गने कहा—पाण्डुनन्दन ! मैंने सरस्वतीके तटपर मानस यज्ञ करके भगवान् शिवको संतुष्ट किया था । इससे प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे चौंसठ कलाओंका अद्भुत ज्ञान प्रदान किया । मुझे मेरे ही समान एक सहस्र ब्रह्मवादी पुत्र दिये तथा पुत्रोंसहित मेरी दस लाख वर्षकी आयु नियत कर दी॥

पराशर उवाच

प्रसाद्येह पुरा शर्वं मनसाचिन्तयं नृप।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ॥ ४० ॥
वेदव्यासः श्रियावासो ब्राह्मणः करुणान्वितः।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद् वै महेश्वरात्॥४१॥

पराशरजीने कहा—नरेश्वर ! पूर्वकालमें यहाँ मैंने महादेवजीको प्रसन्न करके मन-ही-मन उनका चिन्तन आरम्भ किया । मेरी इस तपस्याका उद्‌देश्य यह था कि मुझे महेश्वर-की कृपासे महातपस्वी, महातेजस्वी, महायोगी, महायशस्वी, दयालु, श्रीसम्पन्न एवं ब्रह्मनिष्ठ वेदव्यासनामक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त हो ॥ ४०-४१ ॥

इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः।
मयि सम्भावना यास्याः फलात्कृष्णो भविष्यति ॥ ४२ ॥

मेरा ऐसा मनोरथ जानकर सुरश्रेष्ठ शिवने मुझसे कहा—'मुने ! तुम्हारी मेरे प्रति जो सम्भावना है अर्थात् जिस वरको पानेकी लालसा है, उसीसे तुम्हें कृष्ण नामक पुत्र प्राप्त होगा ॥

सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति ।
वेदानां च स वै वक्ता कुरुवंशकरस्तथा ॥ ४३ ॥
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः ।
भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ॥ ४४ ॥
अजरश्चामरश्चैव पराशर सुतस्तव ।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः ।

'सावर्णिक मन्वन्तरके समय जो सृष्टि होगी, उसमें तुम्हारा यह पुत्र सप्तर्षिके पदपर प्रतिष्ठित होगा तथा इस वैवस्वत मन्वन्तरमें वह वेदोंका वक्ता, कौरव-वंशका प्रवर्तक, इतिहासका निर्माता, जगत्‌का हितैषी तथा देवराज इन्द्रका परमप्रिय महामुनि होगा । पराशर ! तुम्हारा वह पुत्र सदा अजर-अमर रहेगा ।' युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महायोगी, शक्तिशाली, अविनाशी और निर्विकार भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४३—४५½ ॥

माण्डव्य उवाच

अचौरश्चौरशङ्कायां शूले भिन्नो ह्यहं तदा ॥ ४६ ॥
तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै नरेश्वर ।
मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ॥ ४७ ॥
रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥ ४८ ॥

माण्डव्य बोले—नरेश्वर ! मैं चोर नहीं था तो भी चोरीके संदेहमें मुझे शूलीपर चढ़ा दिया गया । वहींसे मैंने महादेवजीकी स्तुति की । तब उन्होंने मुझसे कहा—'विप्रवर ! तुम शूलसे छुटकारा पा जाओगे और दस करोड़ वर्षोंतक जीवित रहोगे । तुम्हारे शरीरमें इस शूलके धँसनेसे कोई पीड़ा नहीं होगी । तुम आधि-व्याधिसे मुक्त हो जाओगे ॥४६—४८॥

पादाच्चतुर्थात् सम्भूत आत्मा यस्मान्मुने तव ।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जन्म वै सफलं कुरु ॥ ४९ ॥

'मुने ! तुम्हारा यह शरीर धर्मके चौथे पाद सत्यसे उत्पन्न हुआ है । अतः तुम अनुपम सत्यवादी होओगे । जाओ, अपना जन्म सफल करो ॥ ४९ ॥

तीर्थाभिषेकं सकलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि ।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥ ५० ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हें बिना किसी विघ्न बाधाके सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नानका सौभाग्य प्राप्त होगा । मैं तुम्हारे लिये अक्षय एवं तेजस्वी स्वर्गलोक प्रदान करता हूँ' ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु भगवान् वरेण्यो वृषवाहनः ।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ॥ ५१ ॥
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।

महाराज ! ऐसा कहकर कृत्तिवासा, महातेजस्वी, वृषभ-वाहन तथा वरणीय सुरश्रेष्ठ भगवान् महेश्वर अपने गणोंके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५१½ ॥

गालव उवाच

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ॥ ५२ ॥
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम् ।
कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ॥ ५३ ॥
न तात तरुणं दान्तं पिता त्वां पश्यतेऽनघ ।

गालवजीने कहा—राजन् ! विश्वामित्र मुनिकी आज्ञा पाकर मैं अपने पिताजीका दर्शन करनेके लिये घरपर आया। उस समय मेरी माता वैधव्यके दुःखसे दुखी हो जोर-जोरसे रोती हुई मुझसे बोली—'तात ! अनघ ! कौशिक मुनिकी आज्ञा लेकर घरपर आये हुए वेदविद्यासे विभूषित तुझ तरुण एवं जितेन्द्रिय पुत्रको तुम्हारे पिता नहीं देख सके' ।५२-५३½।

श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ॥ ५४ ॥
नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच्च माम् ।
पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ॥ ५५ ॥
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये ।

माताकी बात सुनकर मैं पिताके दर्शनसे निराश हो गया और मनको संयममें रखकर महादेवजीकी आराधना करके उनका दर्शन किया। उस समय वे मुझसे बोले—'वत्स ! तुम्हारे पिता, माता और तुम तीनों ही मृत्युसे रहित हो जाओगे। अब तुम अपने घरमें शीघ्र प्रवेश करो। वहाँ तुम्हें पिताका दर्शन प्राप्त होगा' ॥ ५४-५५½ ॥

अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ॥ ५६ ॥
अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम् ।
उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणाद्रुमान् ॥ ५७ ॥

तात युधिष्ठिर ! भगवान् शिवकी आज्ञासे मैंने पुनः घर जाकर वहाँ यज्ञ करके यज्ञशालासे निकले हुए पिताका दर्शन किया। वे उस समय समिधा, कुश और वृक्षोंसे अपने-आप गिरे हुए पके फल आदि हव्य पदार्थ लिये हुए थे।५६—५७।

तान् विसृज्य च मां प्राह पिता सास्राविलेक्षणः ।
प्रणमन्तं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डव ॥ ५८ ॥
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः ।

पाण्डुनन्दन ! उन्हें देखते ही मैं उनके चरणोंमें पड़ गया; फिर पिताजीने भी उन समिधा आदि वस्तुओंको अलग रखकर मुझे हृदयसे लगा लिया और मेरा मस्तक सूँघकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए मुझसे कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विद्वान् होकर घर आ गये और मैंने तुम्हें भर आँख देख लिया' ॥ ५८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ॥ ५९ ॥
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पाण्डवः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ॥ ६० ॥
युधिष्ठिरं धर्मनिधिं पुरुहूतमिवेश्वरः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मुनियोंके कहे हुए महादेवजीके ये अद्भुत चरित्र सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ा विस्मय हुआ। फिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने धर्मनिधि युधिष्ठिरसे उसी प्रकार कहा जैसे श्रीविष्णु देवराज इन्द्रसे कोई बात कहा करते हैं ॥ ५९-६०½ ॥

वासुदेव उवाच

उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥ ६१ ॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः ।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥ ६२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! सूर्यके समान तपते हुए-से तेजस्वी उपमन्युने मेरे समीप कहा था कि 'जो पापकर्मी मनुष्य अपने अशुभ आचरणोंसे कलुषित हो गये हैं, वे तमोगुणी या रजोगुणी वृत्तिके लोग भगवान् शिवकी शरण नहीं लेते हैं ॥ ६१-६२ ॥

ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥ ६३ ॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम् ।

'जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे ही द्विज महादेवजीकी शरण लेते हैं। जो परमेश्वर शिवका भक्त है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पवित्र अन्तःकरणवाले वनवासी मुनियोंके समान है ॥ ६३½ ॥

ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥ ६४ ॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति ।

'भगवान् रुद्र संतुष्ट हो जायँ तो वे ब्रह्मपद, विष्णुपद, देवताओंसहित देवेन्द्रपद अथवा तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर सकते हैं ॥ ६४½ ॥

मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः ॥ ६५ ॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते ।

'तात ! जो मनुष्य मनसे भी भगवान् शिवकी शरण लेते हैं, वे सब पापोंका नाश करके देवताओंके साथ निवास करते हैं॥

भित्त्वा भित्त्वा च कूलानि हुत्वा सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥
यजेद् देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते ।

'बारंबार तालाबके तटभूमिको खोद-खोदकर उन्हें चौपट कर देनेवाला और इस सारे जगत्को जलती आगमें झोंक देनेवाला पुरुष भी यदि महादेवजीकी आराधना करता है तो वह पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ ६६½ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥ ६७ ॥
सर्वं तुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना ।

'समस्त लक्षणोंसे हीन अथवा सब पापोंसे युक्त मनुष्य भी यदि अपने हृदयसे भगवान् शिवका ध्यान करता है तो वह अपने सारे पापोंको नष्ट कर देता है ॥ ६७½ ॥

कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ॥ ६८ ॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित् ।

'केशव ! कीट, पतंग, पक्षी तथा पशु भी यदि महादेवजीकी शरणमें आ जायँ तो उन्हें भी कहीं किसीका भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ६८½ ॥

एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥ ६९ ॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥

'इसी प्रकार इस भूतलपर जो मानव महादेवजीके भक्त हैं, वे संसारके अधीन नहीं होते—यह मेरा निश्चित विचार है।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी धर्मपुत्र युधिष्ठिर-से कहा ॥ ६९-७० ॥

विष्णुरुवाच

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे ।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च
रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपः ॥ ७१ ॥
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं
वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः ।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च
रक्षा दीक्षा संयमा ये च केचित् ॥ ७२ ॥
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी
धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च ।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च
शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त ॥ ७३ ॥
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च
स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः ।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च
लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः ॥ ७४ ॥
आभासुरा गन्धपा धूमपाश्च
वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः ।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥ ७५ ॥
चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या
ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा
यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च ॥ ७६ ॥
स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं
दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च ।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च
शर्वाज्जातं विद्धि यत् कीर्तितं मे ॥ ७७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अजमीढवंशी धर्मराज ! जो सूर्य, [चन्]द्रमा, वायु, अग्नि, स्वर्ग, भूमि, जल, वसु, विश्वदेव, [धा]ता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्यगण, राजा [वरु]ण, ब्रह्मा, इन्द्र, वायुदेव, ॐकार, सत्य, वेद, यज्ञ, [द]क्षिणा, वेदपाठी ब्राह्मण, सोमरस, यजमान, हवनीय हविष्य, [रक्ष]ा, दीक्षा, सब प्रकारके संयम, स्वाहा, वौषट्, ब्राह्मणगण, [गौ], श्रेष्ठ धर्म, कालचक्र, बल, यश, दम, बुद्धिमानोंकी [स्थि]ति, शुभाशुभ कर्म, सप्तर्षि, श्रेष्ठ बुद्धि, मन, दर्शन, श्रेष्ठ स्पर्श, कर्मोंकी सिद्धि, ऊष्मप, सोमप, लेख, याम तथा तुषित आदि देवगण, ब्राह्मण-शरीर, दीप्तिशाली गन्धप, धूमप ऋषि, वाग्विरुद्ध और मनोविरुद्ध भाव, शुद्धभाव, निर्माण-कार्यमें तत्पर रहनेवाले देवता, स्पर्शमात्रसे भोजन करनेवाले, दर्शनमात्रसे पेय रसका पान करनेवाले, घृत पीने-वाले हैं, जिनके संकल्प करनेमात्रसे अभीष्ट वस्तु नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित होने लगती है, ऐसे जो देवताओंमें मुख्य गण हैं, जो दूसरे दूसरे देवता हैं, जो सुपर्ण, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, चारण तथा नाग हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म, कोमल, असूक्ष्म, सुख, इस लोकके दुःख, परलोकके दुःख, सांख्य, योग एवं पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षरूप परम पुरुषार्थ बताया गया है; इन सबको तुम महादेवजीसे ही उत्पन्न हुआ समझो ॥

तत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्याः
सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥ ७८ ॥

जो इस भूतलमें प्रवेश करके महादेवजीकी पूर्वकृत सृष्टि-की रक्षा करते हैं, जो समस्त जगत्के रक्षक, विभिन्न प्राणियों-की सृष्टि करनेवाले और श्रेष्ठ हैं, वे सम्पूर्ण देवता भगवान् शिवसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ७८ ॥

विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः
किंचित् तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टा-
नाभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥ ७९ ॥

ऋषि-मुनि तपस्याद्वारा जिसका अन्वेषण करते हैं, उस सदा स्थिर रहनेवाले अनिर्वचनीय परम सूक्ष्म तत्त्वस्वरूप सदा-शिवको मैं जीवन-रक्षाके लिये नमस्कार करता हूँ। जिन अविनाशी प्रभुकी मेरेद्वारा सदा ही स्तुति की गयी है, वे महादेव यहाँ मुझे अभीष्ट वरदान दें ॥ ७९ ॥

इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च
भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं
सम्प्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥ ८० ॥

जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके पवित्र होकर इस स्तोत्रका पाठ करेगा और नियमपूर्वक एक मासतक अखण्ड-रूपसे इसे पाठको चलाता रहेगा, वह अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेगा ॥ ८० ॥

वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात् तु
जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च
शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥ ८१ ॥

कुन्तीनन्दन ! ब्राह्मण इसके पाठसे सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल पाता है। क्षत्रिय समस्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेता है। वैश्य व्यापारकुशलता एवं महान् लाभका

भागी होता है और शूद्र इहलोकमें सुख तथा परलोकमें सद्गति पाता है ॥ ८१ ॥

स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥ ८२ ॥

जो लोग सम्पूर्ण दोषोंका नाश करनेवाले इस पुण्यजनक पवित्र स्तवराजका पाठ करके भगवान् रुद्रके चिन्तनमें मन लगाते हैं, वे यशस्वी होते हैं ॥ ८२ ॥

यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥ ८३

भरतनन्दन ! मनुष्यके शरीरमें जितने रोमकूप होते इस स्तोत्रका पाठ करनेवाला मनुष्य उतने ही हजार वर्षों स्वर्गमें निवास करता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र मुनिका वदान्य ऋषिके कहनेसे उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान, मार्गमें कुबेरके द्वारा उनका स्वागत तथा स्त्रीरूपधारिणी उत्तरदिशाके साथ उनका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं सहधर्मेति प्रोच्यते भरतर्षभ ।
पाणिग्रहणकाले तु स्त्रीणामेतत् कथं स्मृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो यह स्त्रियोंके लिये विवाहकालमें सहधर्मकी बात कही जाती है, वह किस प्रकार बतायी गयी है ? ॥ १ ॥

आर्ष एष भवेद् धर्मः प्राजापत्योऽथवाऽऽसुरः ।
यदेतत् सहधर्मेति पूर्वमुक्तं महर्षिभिः ॥ २ ॥

महर्षियोंने पूर्वकालमें जो यह स्त्री-पुरुषोंके सहधर्मकी बात कही है, यह आर्ष धर्म है या प्राजापत्य धर्म है अथवा आसुर धर्म है ? ॥ २ ॥

संदेहः सुमहानेष विरुद्ध इति मे मतिः ।
इह यः सहधर्मो वै प्रेत्यायं विहितः क नु ॥ ३ ॥

मेरे मनमें यह महान् संदेह पैदा हो गया है । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यह सहधर्मका कथन विरुद्ध है । यहाँ जो सहधर्म है, वह मृत्युके पश्चात् कहाँ रहता है ? ॥ ३ ॥

स्वर्गो मृतानां भवति सहधर्मः पितामह ।
पूर्वमेकस्तु म्रियते क चैकस्तिष्ठते वद ॥ ४ ॥

पितामह ! जबकि मरे हुए मनुष्योंका स्वर्गवास हो जाता है एवं पति और पत्नीमेंसे एककी पहले मृत्यु हो जाती है, तब एक व्यक्तिमें सहधर्म कहाँ रहता है ? यह बताइये ॥४॥

नानाधर्मफलोपेता नानाकर्मनिवासिताः ।
नानानिरयनिष्ठान्ता मानुषा बहवो यदा ॥ ५ ॥

जब बहुत-से मनुष्य नाना प्रकारके धर्मफलसे संयुक्त होते हैं, नाना प्रकारके कर्मवश विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हैं और शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग-नरक आदि नाना अवस्थाओंमें पड़ते हैं, तब वे सहधर्मका निर्वाह किस प्रकार कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति ।
यदानृताः स्त्रियस्तात सहधर्मः कुतः स्मृतः ॥ ६ ॥

धर्मसूत्रकार यह निश्चितरूपसे कहते हैं कि स्त्रियाँ असत परायण होती हैं । तात ! जब स्त्रियाँ असत्यवादिनी ही तब उन्हें साथ रखकर सहधर्मका अनुष्ठान कैसे किया सकता है ? ॥ ६ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते ।
धर्मोऽयं पूर्विका संज्ञा उपचारः क्रियाविधिः ॥ ७

वेदोंमें भी यह बात पढ़ी गयी है कि स्त्रियाँ असत्यभाषि होती हैं, ऐसी दशामें उनका वह असत्य भी सहधर्मके अन गंत आ सकता है, किंतु असत्य कभी धर्म नहीं हो सकता; अ दाम्पत्यधर्मको जो सहधर्म कहा गया है, यह उसकी गौ संज्ञा है । वे पति-पत्नी साथ रहकर जो भी कार्य करते उसीको उपचारतः धर्म नाम दे दिया गया है ॥ ७ ॥

गह्वरं प्रतिभात्येतन्मम चिन्तयतोऽनिशम् ।
निःसंदेहमिदं सर्वं पितामह यथाश्रुति ॥ ८

पितामह ! मैं ज्यों-ज्यों इस विषयपर विचार करता हूँ त्यों-त्यों यह बात मुझे अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत होती है; अ आपने इस विषयमें जो कुछ श्रुतिका विधान हो, उसके अ सार यह सब समझाइये, जिससे मेरा संदेह दूर हो जाय ॥८

यदेतद् यादृशं चैतद् यथा चैतत् प्रवर्तितम् ।
निखिलेन महाप्राज्ञ भवानेतद् ब्रवीतु मे ॥ ९

महामते ! यह सहधर्म जबसे प्रचलित हुआ, जिस रूप सामने आया और जिस प्रकार इसकी प्रवृत्ति हुई, ये स बातें आप मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अष्टावक्रस्य संवादं दिशया सह भारत ॥ १०

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें अष्टाव मुनिका उत्तर दिशाकी अधिष्ठात्रीदेवीके साथ जो संवाद हुअ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥१०

निर्वेष्टुकामस्तु पुरा अष्टावक्रो महातपाः ।
ऋषेरथ वदान्यस्य वव्रे कन्यां महात्मनः ॥ ११

पूर्वकालकी बात है, महातपस्वी अष्टावक्र विवाह करना ाहते थे, उन्होंने इसके लिये महात्मा वदान्य ऋषिसे उनकी न्या माँगी ॥ ११ ॥

ुप्रभां नाम वै नाम्ना रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
ुणप्रभावशीलेन चारित्रेण च शोभनाम् ॥ १२ ॥

उस कन्याका नाम था सुप्रभा। इस पृथ्वीपर उसके पकी कहीं तुलना नहीं थी। गुण, प्रभाव, शील और चरित्र भी दृष्टियोंसे वह परम सुन्दर थी ॥ १२ ॥

ा तस्य दृष्ट्वैव मनो जहार शुभलोचना ।
नराजी यथा चित्रा वसन्ते कुसुमाचिता ॥ १३ ॥

जैसे वसंतऋतुमें सुन्दर फूलोंसे सजी हुई विचित्र वन-णी मनुष्यके मनको लुभा लेती है, उसी प्रकार उस शुभ-ोचना मुनिकुमारीने दर्शनमात्रसे अष्टावक्रका मन चुरा ज्या था ॥ १३ ॥

ृषिस्तमाह देया मे सुता तुभ्यं हि तच्छृणु ।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ह्यप्रवासी प्रियंवदः ।
ुरूपः सम्मतो वीरः शीलवान् भोगभुक्छविः॥
ारानुमतयज्ञश्च सुनक्षत्रामथोद्वहेत् ।
वभर्त्रा स्वजनोपेत इह प्रेत्य च मोदते ॥)
ाच्छ तावद् दिशं पुण्यामुत्तरां द्रक्ष्यसे ततः ॥ १४ ॥

वदान्य ऋषिने अष्टावक्रके माँगनेपर इस प्रकार उत्तर या—'विप्रवर ! जिसके दूसरी कोई स्त्री न हो, जो परदेशमें रहता हो, विद्वान्, प्रिय वचन बोलनेवाला, लोकसम्मा-नत, वीर, सुशील, भोग भोगनेमें समर्थ, कान्तिमान् और ुन्दर पुरुष हो, उसीके साथ मुझे अपनी पुत्रीका विवाह रना है। जो स्त्रीकी अनुमतिसे यज्ञ करता और उत्तम क्षत्रवाली कन्याको व्याहता है, वह पुरुष अपनी पत्नीके ाथ तथा पत्नी अपने पतिके साथ रहकर दोनों ही इहलोक ौर परलोकमें आनन्द भोगते हैं। मैं तुम्हें अपनी कन्या अवश्य दे दूँगा, परंतु पहले एक बात सुनो, यहाँसे परम ावित्र उत्तर दिशाकी ओर चले जाओ। वहाँ तुम्हें उसका र्शन होगा' ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

किं द्रष्टव्यं मया तत्र वक्तुमर्हति मे भवान् ।
तथेदानीं मया कार्यं यथा वक्ष्यति मां भवान् ॥ १५ ॥

अष्टावक्रने पूछा—महर्षे ! उत्तर दिशामें जाकर मुझे किसका दर्शन करना होगा ? आप यह बतानेकी कृपा करें तथा उस समय मुझे क्या और किस प्रकार करना चाहिये, यह भी आप ही बतायेंगे ॥ १५ ॥

वदान्य उवाच

धनदं समतिक्रम्य हिमवन्तं च पर्वतम् ।
रुद्रस्यायतनं दृष्ट्वा सिद्धचारणसेवितम् ॥ १६ ॥

वदान्यने कहा—वत्स ! तुम कुबेरकी अलकापुरीको लाँघकर जब हिमालय पर्वतको भी लाँघ जाओगे, तब तुम्हें सिद्धों और चारणोंसे सेवित रुद्रके निवासस्थान कैलास पर्वतका दर्शन होगा ॥ १६ ॥

संहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्भिर्विविधाननैः ।
दिव्याङ्गरागैः पैशाचैरन्यैर्नानाविधैः प्रभोः ॥ १७ ॥

वहाँ नाना प्रकारके मुखवाले भाँति-भाँतिके दिव्य अङ्ग-राग लगाये अनेकानेक पिशाच तथा अन्य भूत-वैताल आदि भगवान् शिवके पार्षदगण हर्ष और उल्लासमें भरकर नाच रहे होंगे ॥ १७ ॥

पाणितालसुतालैश्च शम्पातालैः समैस्तथा ।
सम्प्रहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ १८ ॥

वे करताल और सुन्दर ताल बजाकर शम्पा ताल देते हुए समभावसे हर्षविभोर हो जोर-जोरसे नृत्य करते हुए वहाँ भगवान् शङ्करकी सेवा करते हैं ॥ १८ ॥

इष्टं किल गिरौ स्थानं तद्दिव्यमिति शुश्रुम ।
नित्यं संनिहितो देवस्तथा ते पार्षदाः स्मृताः ॥ १९ ॥

उस पर्वतका वह दिव्य स्थान भगवान् शङ्करको बहुत प्रिय है। यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वहाँ महादेवजी तथा उनके पार्षद नित्य निवास करते हैं ॥ १९ ॥

तत्र देव्या तपस्तप्तं शङ्करार्थं सुदुश्चरम् ।
अतस्तदिष्टं देवस्य तथोमाया इति श्रुतिः ॥ २० ॥

वहाँ देवी पार्वतीने भगवान् शङ्करकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी, इसीलिये वह स्थान भगवान् शिव और पार्वतीको अधिक प्रिय है, ऐसा सुना जाता है ॥ २० ॥

पूर्वे तत्र महापार्श्वे देवस्योत्तरतस्तथा ।
ऋतवः कालरात्रिश्च ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ २१ ॥
देवं चोपासते सर्वे रूपिणः किल तत्र ह ।
तदतिक्रम्य भवनं त्वया यातव्यमेव हि ॥ २२ ॥

महादेवजीके पूर्व तथा उत्तर भागमें महापार्श्व नामक पर्वत है, जहाँ ऋतु, कालरात्रि तथा दिव्य और मानुषभाव सब-के-सब मूर्तिमान् होकर महादेवजीकी उपासना करते हैं। उस स्थानको लाँघकर तुम आगे बढ़ते ही चले जाना ॥ २१-२२ ॥

ततो नीलं वनोद्देशं द्रक्ष्यसे मेघसंनिभम् ।
रमणीयं मनोग्राहि तत्र वै द्रक्ष्यसे स्त्रियम् ॥ २३ ॥
तपस्विनीं महाभागां वृद्धां दीक्षामनुष्ठिताम् ।
द्रष्टव्या सा त्वया तत्र सम्पूज्या चैव यत्नतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर तुम्हें मेघोंकी घटाके समान नीला एक वन्य प्रदेश दिखायी देगा। वह बड़ा ही मनोरम और रमणीय है। उस वनमें तुम एक स्त्रीको देखोगे, जो तपस्विनी, महान् सौभाग्यवती, वृद्धा और दीक्षापरायण है। तुम यत्नपूर्वक वहाँ उसका दर्शन और पूजन करना ॥ २३-२४ ॥

तां दृष्ट्वा विनिवृत्तस्त्वं ततः पाणिं ग्रहीष्यसि ।
यद्येष समयः सर्वः साध्यतां तत्र गम्यताम् ॥ २५ ॥

उसे देखकर लौटनेपर ही तुम मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कर सकोगे। यदि यह सारी शर्त स्वीकार हो तो इसे पूरी करनेमें लग जाओ और अभी वहाँकी यात्रा आरम्भ कर दो ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

तथास्तु साधयिष्यामि तत्र यास्याम्यसंशयम्।
यत्र त्वं वदसे साधो भवान् भवतु सत्यवाक् ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—ऐसा ही होगा, मैं यह शर्त पूरी करूँगा। श्रेष्ठ पुरुष! आप जहाँ कहते हैं, वहाँ अवश्य जाऊँगा। आपकी वाणी सत्य हो ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽगच्छत् स भगवानुत्तरामुत्तरां दिशम्।
हिमवन्तं गिरिश्रेष्ठं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २७ ॥
स गत्वा द्विजशार्दूलो हिमवन्तं महागिरिम्।
अभ्यगच्छन्नदीं पुण्यां बाहुदां धर्मशालिनीम् ॥२८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् अष्टावक्र उत्तरोत्तर दिशाकी ओर चल दिये। सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिश्रेष्ठ महापर्वत हिमालयपर पहुँचकर वे श्रेष्ठ द्विज धर्मसे शोभा पानेवाली पुण्यमयी बाहुदा नदीके तटपर गये ॥ २७-२८ ॥

अशोके विमले तीर्थे स्नात्वा वै तर्प्य देवताः।
तत्र वासाय शयने कौशे सुखमुवास ह ॥ २९ ॥

वहाँ निर्मल अशोक तीर्थमें स्नान करके देवताओंका तर्पण करनेके पश्चात् उन्होंने कुशकी चटाईपर सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय स द्विजः।
स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निं स्तुत्वा चैनं प्रधानतः ॥ ३० ॥
रुद्राणीं रुद्रमासाद्य ह्रदे तत्र समाश्वसत्।
विश्रान्तश्च समुत्थाय कैलासमभितो ययौ ॥ ३१ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर वे द्विज प्रातःकाल उठे और उन्होंने स्नान करके अग्निदेवको प्रज्वलित किया। फिर मुख्य-मुख्य वैदिक मन्त्रोंसे अग्निदेवकी स्तुति करके 'रुद्राणी रुद्र' नामक तीर्थमें गये और वहाँ सरोवरके तटपर कुछ कालतक विश्राम करते रहे। विश्रामके पश्चात् उठकर वे कैलासकी ओर चल दिये ॥ ३०-३१ ॥

सोऽपश्यत् काञ्चनद्वारं दीप्यमानमिव श्रिया।
मन्दाकिनीं च नलिनीं धनदस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्होंने कुबेरकी अलकापुरीका सुवर्णमय द्वार देखा, जो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान हो रहा था। वहीं महात्मा कुबेरकी कमलपुष्पोंसे सुशोभित एक बावड़ी देखी, जो गङ्गाजीके जलसे परिपूर्ण होनेके कारण मन्दाकिनी नामसे विख्यात थी ॥ ३२ ॥

अथ ते राक्षसाः सर्वे येऽभिरक्षन्ति पद्मिनीम्।
प्रत्युत्थिता भगवन्तं मणिभद्रपुरोगमाः ॥ ३३ ॥

वहाँ जो उस पद्मपूर्ण पुष्करिणीकी रक्षा कर रहे थे, सब मणिभद्र आदि राक्षस भगवान् अष्टावक्रको देखकर उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

स तान् प्रत्यर्चयामास राक्षसान् भीमविक्रमान्।
निवेदयत मां क्षिप्रं धनदायेति चाब्रवीत् ॥ ३४ ॥

मुनिने भी उन भयंकर पराक्रमी राक्षसोंके प्रति सम्मान प्रकट किया और कहा, 'आपलोग शीघ्र ही धनपति कुबेरको मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ३४ ॥

ते राक्षसास्तथा राजन् भगवन्तमथाब्रुवन्।
असौ वैश्रवणो राजा स्वयमायाति तेऽन्तिकम् ॥ ३५ ॥

राजन्! वे राक्षस वैसा करके भगवान् अष्टावक्रसे बोले—'प्रभो! राजा कुबेर स्वयं ही आपके निकट पधार रहे हैं ॥ ३५ ॥

विदितो भगवानस्य कार्यमागमनस्य यत्।
पश्यैनं त्वं महाभागं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ३६ ॥

'आपका आगमन और इस आगमनका जो उद्देश्य है, वह सब कुछ कुबेरको पहलेसे ही ज्ञात है। देखिये, ये महाभाग धनाध्यक्ष अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए आ रहे हैं' ॥ ३६ ॥

ततो वैश्रवणोऽभ्येत्य अष्टावक्रमनिन्दितम्।
विधिवत्कुशलं पृष्ट्वा ततो ब्रह्मर्षिमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर विश्रवाके पुत्र कुबेरने निकट आकर निन्दारहित ब्रह्मर्षि अष्टावक्रसे विधिपूर्वक कुशल-समाचार पूछते हुए कहा—॥ ३७ ॥

सुखं प्राप्तो भवान् कच्चित् किं वा मत्तश्चिकीर्षति।
ब्रूहि सर्वं करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि वै द्विज ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन्! आप सुखपूर्वक यहाँ आये हैं न? बताइये, मुझसे किस कार्यकी सिद्धि चाहते हैं? आप मुझसे जो-जो कहेंगे, वह सब पूर्ण करूँगा ॥ ३८ ॥

भवनं प्रविश त्वं मे यथाकामं द्विजोत्तम।
सत्कृतः कृतकार्यश्च भवान् यास्यत्यविघ्नतः ॥ ३९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! आप इच्छानुसार मेरे भवनमें प्रवेश कीजिये और यहाँका सत्कार ग्रहण करके कृतकृत्य हो आप यहाँसे निर्विघ्न यात्रा कीजियेगा ॥ ३९ ॥

प्राविशद् भवनं स्वं वै गृहीत्वा तं द्विजोत्तमम्।
आसनं स्वं ददौ चैव पाद्यमर्घ्यं तथैव च ॥ ४० ॥

ऐसा कहकर कुबेरने विप्रवर अष्टावक्रको साथ लेकर अपने भवनमें प्रवेश किया और उन्हें पाद्य, अर्घ्य तथा अपना आसन दिया ॥ ४० ॥

अथोपविष्टयोस्तत्र मणिभद्रपुरोगमाः।
निषेदुस्तत्र कौबेरा यक्षगन्धर्वकिन्नराः ॥ ४१ ॥

जब कुबेर और अष्टावक्र दोनों वहाँ आरामसे बैठ गये

तब कुबेरके सेवक मणिभद्र आदि यक्ष, गन्धर्व और किन्नर भी नीचे बैठ गये ॥ ४१ ॥

ततस्तेषां निषण्णानां धनदो वाक्यमब्रवीत् ।
भवच्छन्दं समाज्ञाय नृत्येरन्नप्सरोगणाः ॥ ४२ ॥
आतिथ्यं परमं कार्यं शुश्रूषा भवतस्तथा ।
संवर्ततामित्युवाच मुनिर्मधुरया गिरा ॥ ४३ ॥

उन सबके बैठ जानेपर कुबेरने कहा—'आपकी इच्छा हो तो उसे जानकर यहाँ अप्सराएँ नृत्य करें; क्योंकि आपका आतिथ्य-सत्कार और सेवा करना हमलोगोंका परम कर्तव्य है।' तब मुनिने मधुर वाणीमें कहा, 'तथास्तु—ऐसा ही हो' ॥ ४२-४३ ॥

अथोर्वरा मिश्रकेशी रम्भा चैवोर्वशी तथा ।
अलम्बुषा घृताची च चित्रा चित्राङ्गदा रुचिः ॥ ४४ ॥
मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा ।
विद्युता प्रशमी दान्ता विद्योता रतिरेव च ॥ ४५ ॥
एताश्चान्याश्च वै बह्व्यः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः ।
अवादयंश्च गन्धर्वा वाद्यानि विविधानि च ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उर्वरा, मिश्रकेशी, रम्भा, उर्वशी, अलम्बुषा, घृताची, चित्रा, चित्राङ्गदा, रुचि, मनोहरा, सुकेशी, सुमुखी, हासिनी, प्रभा, विद्युता, प्रशमी, दान्ता, विद्योता और रति—ये तथा और भी बहुत-सी शुभलक्षणा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्वगण नाना प्रकारके बाजे बजाने लगे ॥ ४४—४६ ॥

अथ प्रवृत्ते गान्धर्वे दिव्ये ऋषिरुपाविशत् ।
दिव्यं संवत्सरं तत्रारमतैव महातपाः ॥ ४७ ॥

वह दिव्य नृत्य-गीत आरम्भ होनेपर महातपस्वी ऋषि अष्टावक्र भी दर्शक-मण्डलीमें आ बैठे और वे देवताओंके वर्षसे एक वर्षतक इसी आमोद-प्रमोदमें रमते रहे ॥ ४७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा भगवन्तमुवाच ह ।
साग्रः संवत्सरो जातो विप्रेह तव पश्यतः ॥ ४८ ॥

तब राजा वैश्रवण (कुबेर) ने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'विप्रवर ! यहाँ नृत्य देखते हुए आपका एक वर्षसे कुछ अधिक समय व्यतीत हो गया है ॥ ४८ ॥

हार्योऽयं विषयो ब्रह्मन् गान्धर्वो नाम नामतः ।
छन्दतो वर्ततां विप्र यथा वदति वा भवान् ॥ ४९ ॥

'ब्रह्मन् ! यह नृत्य-गीतका विषय जिसे 'गान्धर्व' नाम दिया गया है, बड़ा मनोहारी है; अतः यदि आपकी इच्छा हो तो यह आयोजन कुछ दिन और इसी तरह चलता रहे अथवा विप्रवर ! आप जैसी आज्ञा दें वैसा किया जाय ॥

अतिथिः पूजनीयस्त्वमिदं च भवतो गृहम् ।
सर्वमाज्ञाप्यतामाशु परवन्तो वयं त्वयि ॥ ५० ॥

'आप मेरे पूजनीय अतिथि हैं। यह घर आपका ही है। आप निस्संकोच भावसे शीघ्र ही सभी कार्योंके लिये हमें आज्ञा दें। हम आपके वशवर्ती किङ्कर हैं' ॥ ५० ॥

अथ वैश्रवणं प्रीतो भगवान् प्रत्यभाषत ।
अर्चितोऽस्मि यथान्यायं गमिष्यामि धनेश्वर ॥ ५१ ॥

तब अत्यन्त प्रसन्न हुए भगवान् अष्टावक्रने कुबेरसे कहा—'धनेश्वर ! आपने यथोचित रूपसे मेरा सत्कार किया है। अब आज्ञा दें, मैं यहाँसे जाऊँगा ॥ ५१ ॥

प्रीतोऽस्मि सदृशं चैव तव सर्वं धनाधिप ।
तव प्रसादाद् भगवन् महर्षेश्च महात्मनः ॥ ५२ ॥
नियोगादद्य यास्यामि वृद्धिमानृद्धिमान् भव ।
अथ निष्क्रम्य भगवान् प्रययावुत्तरामुखः ॥ ५३ ॥

'धनाधिप ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपकी सारी बातें आपके अनुरूप ही हैं। भगवन् ! अब मैं आपकी कृपासे उन महात्मा महर्षि वदान्यकी आज्ञाके अनुसार आगे जाऊँगा। आप अभ्युदयशील एवं समृद्धिशाली हों।' इतना कहकर भगवान् अष्टावक्र उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये ॥

कैलासं मन्दरं हैमं सर्वाननुचचार ह ।

एवं समूचे कैलास, मन्दराचल और हिमालयपर विचरण करने लगे ॥ ५३½ ॥

तानतीत्य महाशैलान् कैरातं स्थानमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
प्रदक्षिणं तथा चक्रे प्रयतः शिरसा नतः ।
धरणीमवतीर्याथ पूतात्मासौ तदाभवत् ॥ ५५ ॥

उन बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघकर यतचित्त हो उन्होंने किरातवेषधारी महादेवजीके उत्तम स्थानकी परिक्रमा की और उसे मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर नीचे पृथ्वीपर उतरकर वे उस स्थानके माहात्म्यसे तत्काल पवित्रात्मा हो गये ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा त्रिः शैलं चोत्तरामुखः ।
समेन भूमिभागेन ययौ प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ५६ ॥

तीन बार उस पर्वतकी परिक्रमा करके वे उत्तराभिमुख हो समतल भूमिसे प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ५६ ॥

ततोऽपरं वनोद्देशं रमणीयमपश्यत ।
सर्वर्तुभिर्मूलफलैः पक्षिभिश्च समन्वितैः ॥ ५७ ॥
रमणीयैर्वनोद्देशैस्तत्र तत्र विभूषितम् ।

आगे जानेपर उन्हें एक दूसरी रमणीय वनस्थली दिखायी दी, जो सभी ऋतुओंके फल-मूलों, पक्षिसमूहों और मनोरम वनप्रान्तोंसे जहाँ-तहाँ शोभासम्पन्न हो रही थी ॥

तत्राश्रमपदं दिव्यं ददर्श भगवानथ ॥ ५८ ॥
शैलांश्च विविधाकारान् काञ्चनान् रत्नभूषितान् ।
मणिभूमौ निविष्टाश्च पुष्करिण्यस्तथैव च ॥ ५९ ॥

वहाँ भगवान् अष्टावक्रने एक दिव्य आश्रम देखा। उस आश्रमके चारों ओर नाना प्रकारके सुवर्णमय एवं रत्न-भूषित पर्वत शोभा पा रहे थे। वहाँकी मणिमयी भूमिपर कई सुन्दर बावड़ियाँ बनी थीं ॥ ५८-५९ ॥

अन्यान्यपि सुरम्याणि पश्यतः सुबहून्यथ ।

भृशं तस्य मनो रेमे महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ६० ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से सुरम्य दृश्य वहाँ दिखायी देते थे। उन सबको देखते हुए उन भावितात्मा महर्षिका मन वहाँ विशेष आनन्दका अनुभव करने लगा ॥ ६० ॥

स तत्र काञ्चनं दिव्यं सर्वरत्नमयं गृहम्।
ददर्शाद्भुतसंकाशं धनदस्य गृहाद् वरम् ॥ ६१ ॥

महर्षिने उस प्रदेशमें एक दिव्य सुवर्णमय भवन देखा, जिसमें सब प्रकारके रत्न जड़े गये थे। वह मनोहर गृह कुबेरके राजभवनसे भी सुन्दर, श्रेष्ठ एवं अद्भुत था ॥६१॥

महान्तो यत्र विविधा मणिकाञ्चनपर्वताः।
विमानानि च रम्याणि रत्नानि विविधानि च ॥ ६२ ॥

वहाँ भाँति-भाँतिके मणिमय और सुवर्णमय विशाल पर्वत शोभा पाते थे। अनेकानेक सुरम्य विमान तथा नाना प्रकारके रत्न दृष्टिगोचर होते थे ॥ ६२ ॥

मन्दारपुष्पैः संकीर्णा तथा मन्दाकिनीं नदीम्।
स्वयंप्रभाश्च मणयो वज्रैर्भूमिश्च भूषिता ॥ ६३ ॥

उस प्रदेशमें मन्दाकिनी नदी प्रवाहित होती थी, जिसके स्रोतमें मन्दारके पुष्प बह रहे थे। वहाँ स्वयं प्रकाशित होनेवाली मणियाँ अपनी अद्भुत छटा बिखेर रही थीं। वहाँकी भूमि हीरोंसे जड़ी गयी थी ॥ ६३ ॥

नानाविधैश्च भवनैर्विचित्रमणितोरणैः।
मुक्ताजालविनिक्षिप्तैर्मणिरत्नविभूषितैः ॥ ६४ ॥
मनोदृष्टिहरै रम्यैः सर्वतः संवृतं शुभैः।
ऋषिभिश्चावृतं तत्र आश्रमं तं मनोहरम् ॥ ६५ ॥

उस आश्रमके चारों ओर विचित्र मणिमय तोरणोंसे सुशोभित, मोतीकी झालरोंसे अलंकृत तथा मणि एवं रत्नोंसे विभूषित सुन्दर भवन शोभा पा रहे थे। वे मनको मोह लेनेवाले तथा दृष्टिको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले थे। उन मङ्गलमय भवनोंसे घिरा और ऋषि-मुनियोंसे भरा हुआ वह आश्रम बड़ा मनोहर जान पड़ता था ॥

ततस्तस्याभवच्चिन्ता कुत्र वासो भवेदिति।
अथ द्वारं समभितो गत्वा स्थित्वा ततोऽब्रवीत्॥ ६६ ॥

वहाँ पहुँचकर अष्टावक्रके मनमें यह चिन्ता हुई कि अब कहाँ ठहरा जाय। यह विचार उठते ही वे प्रमुख द्वारके समीप गये और खड़े होकर बोले—॥ ६६ ॥

अतिथिं समनुप्राप्तमभिजानन्तु येऽत्र वै।
अथ कन्याः परिवृता गृहात् तस्माद् विनिर्गताः ॥६७॥
नानारूपाः सप्त विभो कन्याः सर्वा मनोहराः।
यां यामपश्यत् कन्यां वै सा सा तस्य मनोऽहरत्॥६८॥

'इस घरमें जो लोग रहते हों, उन्हें यह विदित होना चाहिये कि मैं एक अतिथि यहाँ आया हूँ।' उनके इस प्रकार कहते ही उस घरसे एक साथ सात कन्याएँ निकलीं। वे सब-की-सब भिन्न-भिन्न रूपवाली तथा बड़ी मनोहर थीं। विभो! अष्टावक्र मुनि उनमेंसे जिस-जिस कन्याकी ओर देखते वही-वही उनका मन हर लेती थी ॥ ६७-६८ ॥

न च शक्तो वारयितुं मनोऽस्याथावसीदति।
ततो धृतिः समुत्पन्ना तस्य विप्रस्य धीमतः ॥ ६९ ॥

वे अपने मनको रोक नहीं पाते थे। बलपूर्वक रोकनेपर उनका मन शिथिल होता जाता था। तदनन्तर उन बुद्धिमान् ब्राह्मणके हृदयमें किसी तरह धैर्य उत्पन्न हुआ ॥ ६९ ॥

अथ तं प्रमदाः प्राहुर्भगवान् प्रविशत्विति।
स च तासां सुरूपाणां तस्यैव भवनस्य हि ॥ ७० ॥
कौतूहलं समाविष्टः प्रविवेश गृहं द्विजः।

तत्पश्चात् वे सातों तरुणी स्त्रियाँ बोलीं—'भगवन्! आप घरके भीतर प्रवेश करें।' ऋषिके मनमें उन सुन्दरियों के तथा उस घरके विषयमें कौतूहल पैदा हो गया था; अतः उन्होंने उस घरमें प्रवेश किया ॥ ७०½ ॥

तत्रापश्यज्जरायुक्तामरजोऽम्बरधारिणीम् ॥ ७१ ॥
वृद्धां पर्यङ्कमासीनां सर्वाभरणभूषिताम्।

वहाँ उन्होंने एक जराजीर्ण वृद्धा स्त्रीको देखा, जो निर्मल वस्त्र धारण किये समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो पलँगपर बैठी हुई थी ॥ ७१½ ॥

स्वस्तीति तेन चैवोक्ता सा स्त्री प्रत्यवदत् तदा॥ ७२ ॥
प्रत्युत्थाय च तं विप्रमास्यतामित्युवाच ह।

अष्टावक्रने 'स्वस्ति' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। वह स्त्री उनके स्वागतके लिये पलँगसे उठकर खड़ी हो गयी और इस प्रकार बोली—'विप्रवर! बैठिये' ॥ ७२½ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वाः स्वानालयान् यान्तु एका मामुपतिष्ठतु ॥ ७३ ॥
प्रज्ञाता या प्रशान्ता या शेषा गच्छन्तु च्छन्दतः।

अष्टावक्रने कहा—सारी स्त्रियाँ अपने-अपने घरको चली जायँ। केवल एक ही मेरे पास रह जाय। जो ज्ञानवती तथा मन और इन्द्रियोंको शान्त रखनेवाली हो, उसीको यहाँ रहना चाहिये। शेष स्त्रियाँ अपनी इच्छाके अनुसार जा सकती हैं ॥ ७३½ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य कन्यास्तास्तमृषिं तदा ॥ ७४ ॥
निश्चक्रमुर्गृहात् तस्मात् सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत।

तदनन्तर वे सब कन्याएँ उस समय ऋषिकी परिक्रमा करके उस घरसे निकल गयीं। केवल वह वृद्धा ही वहाँ ठहरी रही ॥ ७४½ ॥

अथ तां संविशन् प्राह शयने भास्वरे तदा ॥ ७५ ॥
त्वयापि सुप्यतां भद्रे रजनी ह्यतिवर्तते।

तत्पश्चात् उज्ज्वल एवं प्रकाशमान शय्यापर सोते हुए ऋषिने उस वृद्धासे कहा—'भद्रे! अब तुम भी सो जाओ, रात अधिक बीत चली है' ॥ ७५½ ॥

संलापात् तेन विप्रेण तथा सा तत्र भाषिता ॥ ७६ ॥

द्वितीये शयने दिव्ये संविवेश महाप्रभे ।

बातचीतके प्रसङ्गमें उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर वह भी [द]ूसरे अत्यन्त प्रकाशमान दिव्य पलँगपर सो रही ॥ ७६½ ॥

[अ]थ सा वेपमानाङ्गी निमित्तं शीतजं तदा ॥ ७७ ॥
[व्]यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं व्यवरोहत ।
[स्]वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत ॥ ७८ ॥

थोड़ी ही देरमें वह सरदी लगनेका बहाना करके थरथर काँपती हुई आयी और महर्षिकी शय्यापर आरूढ़ हो गयी । [प]ास आनेपर भगवान् अष्टावक्रने 'आइये, स्वागत है' ऐसा कहकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया ॥ ७७-७८ ॥

सोपागूहद् भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ ।
निर्विकारमृषिं चापि काष्ठकुड्योपमं तदा ॥ ७९ ॥

नरश्रेष्ठ ! उसने प्रेमपूर्वक दोनों भुजाओंसे ऋषिका आलिङ्गन कर लिया तो भी उसने देखा, ऋषि अष्टावक्र सूखे काठ और दीवारके समान विकारशून्य हैं ॥ ७९ ॥

दुःखिता प्रेक्ष्य संजल्पमकार्षीदृषिणा सह ।
ब्रह्मन्नकामतोऽन्यास्ति स्त्रीणां पुरुषतो धृतिः ॥ ८० ॥
कामेन मोहिता चाहं त्वां भजन्तीं भजस्व माम् ।
प्रहृष्टो भव विप्रर्षे समागच्छ मया सह ॥ ८१ ॥

उनकी ऐसी स्थिति देख वह बहुत दुखी हो गयी और मुनिसे इस प्रकार बोली—'ब्रह्मन् ! पुरुषको अपने समीप पाकर उसके काम-व्यवहारको छोड़कर और किसी बातसे स्त्री-को धैर्य नहीं रहता । मैं कामसे मोहित होकर आपकी सेवामें आयी हूँ । आप मुझे स्वीकार कीजिये । ब्रह्मर्षे ! आप प्रसन्न हों और मेरे साथ समागम करें ॥ ८०-८१ ॥

उपगूह च मां विप्र कामार्ताहं भृशं त्वयि ।
एतद्धि तव धर्मात्मंस्तपसः पूज्यते फलम् ॥ ८२ ॥

'विप्रवर ! आप मेरा आलिङ्गन कीजिये । मैं आपके प्रति अत्यन्त कामातुर हूँ । धर्मात्मन् ! यही आपकी तपस्याका प्रशस्त फल है ॥ ८२॥

प्रार्थितं दर्शनादेव भजमानां भजस्व माम् ।
मम चेदं धनं सर्वं यच्चान्यदपि पश्यसि ॥ ८३ ॥
प्रभुस्त्वं भव सर्वत्र मयि चैव न संशयः ।
सर्वान् कामान् विधास्यामि रमस्व सहितो मया ॥ ८४ ॥

'मैं आपको देखते ही आपके प्रति अनुरक्त हो गयी हूँ; अतः आप मुझ सेविकाको अपनाइये । मेरा यह सारा धन तथा और जो कुछ आप देख रहे हैं, उस सबके तथा मेरे भी आप ही स्वामी हैं—इसमें संशय नहीं है । आप मेरे साथ रमण कीजिये । मैं आपकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करूँगी ॥

रमणीये वने विप्र सर्वकामफलप्रदे ।
त्वद्वशाहं भविष्यामि रंस्यसे च मया सह ॥ ८५ ॥

'ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलको देनेवाले इस रमणीय वनमें मैं आपके अधीन होकर रहूँगी । आप मेरे साथ रमण कीजिये ॥ ८५ ॥

सर्वान् कामानुपाश्नीमो ये दिव्या ये च मानुषाः ।
नातः परं हि नारीणां विद्यते च कदाचन ॥ ८६ ॥
यथा पुरुषसंसर्गः परमेतद्धि नः फलम् ।

'हमलोग यहाँ दिव्य और मनुष्यलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करेंगे । स्त्रियोंके लिये पुरुषसंसर्ग जितना प्रिय है, उससे बढ़कर दूसरा कोई फल कदापि प्रिय नहीं होता । यही हमारे लिये सर्वोत्तम फल है ॥ ८६½ ॥

आत्मच्छन्देन वर्तन्ते नार्यो मन्मथचोदिताः ॥ ८७ ॥
न च दह्यन्ति गच्छन्त्यः सुतप्तैरपि पांसुभिः ।

'कामसे प्रेरित हुई नारियाँ सदा अपनी इच्छाके अनुसार बर्ताव करती हैं । कामसे संतप्त होनेपर वे तपी हुई धूलमें भी चलती हैं; परंतु इससे उनके पैर नहीं जलते हैं' ॥८७½॥

अष्टावक्र उवाच

परदारानहं भद्रे न गच्छेयं कथंचन ॥ ८८ ॥
दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम् ।

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! मैं परायी स्त्रीके साथ किसी तरह संसर्ग नहीं कर सकता; क्योंकि धर्मशास्त्रके विद्वानोंने परस्त्रीसमागमकी निन्दा की है ॥ ८८½ ॥

भद्रे निवेष्टुकामं मां विद्धि सत्येन वै शपे ॥ ८९ ॥
विषयेष्वनभिज्ञोऽहं धर्मार्थं किल संततिः ।
एवं लोकान् गमिष्यामि पुत्रैरिति न संशयः ॥ ९० ॥
भद्रे धर्मं विजानीहि ज्ञात्वा चोपरमस्व ह ।

भद्रे ! मैं सत्यकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि एक मनो-नीत मुनिकुमारीके साथ विवाह करना चाहता हूँ । तुम इसे ठीक समझो । मैं विषयोंसे अनभिज्ञ हूँ । केवल धर्मके लिये संतानकी प्राप्ति मुझे अभीष्ट है; अतः यही मेरे विवाहका उद्देश्य है । ऐसा होनेपर मैं पुत्रोंद्वारा अभीष्ट लोकोंमें जाऊँगा । इसमें संशय नहीं है । भद्रे ! तुम धर्मको समझो और उसे समझकर इस स्वेच्छाचारसे निवृत्त हो जाओ ॥ ८९-९०½ ॥

स्त्र्युवाच

नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज ॥ ९१ ॥
प्रियाः स्त्रीणां यथा कामो रतिशीला हि योषितः ।
सहस्रे किल नारीणां प्राप्येतैका कदाचन ॥ ९२ ॥
तथा शतसहस्रेषु यदि काचित् पतिव्रता ।

स्त्री बोली—ब्रह्मन् ! वायु, अग्नि, वरुण तथा अन्य देवता भी स्त्रियोंको वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसा उन्हें काम प्रिय लगता है; क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः रतिकी इच्छुक होती हैं । सहस्रों नारियोंमें कभी कोई एक ऐसी स्त्री मिलती है, जो

रतिलोलुप न हो तथा लाखों स्त्रियोंमें शायद ही कोई एक पतिव्रता मिल सके ॥ ९१-९२½ ॥

नैता जानन्ति पितरं न कुलं न च मातरम् ॥ ९३ ॥
न भ्रातॄन् न च भर्तारं न च पुत्रान् न देवरान् ।
लीलायन्त्यः कुलं घ्नन्ति कूलानीव सरिद्वराः ।
दोषान् सर्वांश्च मत्वाऽऽशु प्रजापतिरभाषत ॥ ९४ ॥

ये स्त्रियाँ न पिताको जानती हैं न माताको, न कुलको समझती हैं न भाइयोंको । पति, पुत्र तथा देवरोंकी भी ये परवा नहीं करती हैं । अपने लिये रतिकी इच्छा रखकर ये समस्त कुलकी मर्यादाका नाश कर डालती हैं, ठीक उसी तरह जैसे बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तटोंको ही तोड़-फोड़ देती हैं । इन सब दोषोंको समझकर ही प्रजापतिने स्त्रियोंके विषयमें उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ९३-९४ ॥

भीष्म उवाच

ततः स ऋषिरेकाग्रस्तां स्त्रियं प्रत्यभाषत ।
आस्यतां रुचितश्छन्दः किं च कार्यं ब्रवीहि मे ॥ ९५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब ऋषिने एकाग्रचित्त होकर उस स्त्रीसे कहा—'चुप रहो । मनमें भोगकी रुचि होनेपर स्वेच्छाचार होता है । मेरी रुचि नहीं है, अतः मुझसे यह काम नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त यदि मुझसे कोई काम हो तो बताओ' ॥ ९५ ॥

सा स्त्री प्रोवाच भगवन् द्रक्ष्यसे देशकालतः ।
वस तावन्महाभाग कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ९६ ॥

उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! महाभाग ! देश और कालके अनुसार आपको अनुभव हो जायगा । आप यहाँ रहिये, कृतकृत्य हो जाइयेगा' ॥ ९६ ॥

ब्रह्मर्षिस्तामथोवाच स तथेति युधिष्ठिर ।
वत्स्येऽहं यावदुत्साहो भवत्या नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर ! तब ब्रह्मर्षिने उससे कहा—'ठीक है, जबतक मेरे मनमें यहाँ रहनेका उत्साह होगा, तबतक आपके साथ रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ९७ ॥

अथर्षिरभिसम्प्रेक्ष्य स्त्रियं तां जरयार्दिताम् ।
चिन्तां परमिकां भेजे संतप्त इव चाभवत् ॥ ९८ ॥

इसके बाद ऋषि उस स्त्रीको जरावस्थासे पीड़ित देख बड़ी चिन्तामें पड़ गये और संतप्त-से हो उठे ॥ ९८ ॥

यद् यदङ्गं हि सोऽपश्यत् तस्या विप्रर्षभस्तदा ।
नारमत् तत्र तत्रास्य दृष्टी रूपविरागिता ॥ ९९ ॥

विप्रवर अष्टावक्र उसका जो-जो अङ्ग देखते थे, वहाँ-वहाँ उनकी दृष्टि रमती नहीं थी, अपितु उसके रूपसे विरक्त हो उठती थी ॥ ९९ ॥

देवतेयं गृहस्यास्य शापात् किं नु विरूपिता ।
अस्याश्च कारणं वेत्तुं न युक्तं सहसा मया ॥१००॥

वे सोचने लगे 'यह नारी तो इस घरकी अधिष्ठात्री देवी है । फिर इसे इतना कुरूप किसने बना दिया ? इसकी कुरूपताका कारण क्या है ? इसे किसीका शाप तो नहीं लग गया । इसकी कुरूपताका कारण जाननेके लिये सहसा चेष्टा करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥ १०० ॥

इति चिन्ताविविक्तस्य तमर्थं ज्ञातुमिच्छतः ।
व्यगच्छत् तदहःशेषं मनसा व्याकुलेन तु ॥१०१॥

इस प्रकार व्याकुल चित्तसे एकान्तमें बैठकर चिन्ता करते और उसकी कुरूपताका कारण जाननेकी इच्छा रखते हुए महर्षिका वह सारा दिन बीत चला ॥ १०१ ॥

अथ सा स्त्री तथोवाच भगवन् पश्य वै रवेः ।
रूपं संध्याभ्रसंरक्तं किमुपस्थाप्यतां तव ॥१०२॥

तब उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! देखिये, सूर्यका रूप संध्याकी लालीसे लाल हो गया है । इस समय आपके लिये कौन-सी वस्तु प्रस्तुत की जाय ?' ॥ १०२ ॥

स उवाच ततस्तां स्त्रीं स्नानोदकमिहानय ।
उपासिष्ये ततः संध्यां वाग्यतो नियतेन्द्रियः ॥१०३॥

तब ऋषिने उस स्त्रीसे कहा—'मेरे नहानेके लिये यहाँ जल ले आओ । स्नानके पश्चात् मैं मौन होकर इन्द्रियसंयमपूर्वक संध्योपासना करूँगा' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १०५ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवाद

भीष्म उवाच

अथ सा स्त्री तमुवाच बाढमेवं भवत्विति ।
तैलं दिव्यमुपादाय स्नानशाटीमुपानयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऋषिकी बात सुनकर उस स्त्रीने कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यों कहकर वह दिव्य तेल और स्नानोपयोगी वस्त्र ले आयी ॥ १ ॥

अनुज्ञाता च मुनिना सा स्त्री तेन महात्मना ।
अथास्य तैलेनाङ्गानि सर्वाण्येवाभ्यमृक्षत ॥ २ ॥

फिर उन महात्मा मुनिकी आज्ञा लेकर उस स्त्रीने उनके सारे अङ्गोंमें तेलकी मालिश की ॥ २ ॥

शनैश्चोत्सादितस्तत्र स्नानशालामुपागमत् ।
भद्रासनं ततश्चित्रमृषिरन्वगमन्नवम् ॥ ३ ॥

फिर उसके उठानेपर वे धीरेसे वहाँ स्नानगृहमें गये। वहाँ ऋषिको एक विचित्र एवं नूतन चौकी प्राप्त हुई ॥३॥

अथोपविष्टश्च यदा तस्मिन् भद्रासने तदा ।
स्नापयामास शनकैस्तमृषिं सुखहस्तवत् ॥ ४ ॥

जब वे उस सुन्दर चौकीपर बैठ गये, तब उस स्त्रीने धीरे-धीरे हाथोंके कोमल स्पर्शसे उन्हें नहलाया ॥ ४ ॥

दिव्यं च विधिवच्चक्रे सोपचारं मुनेस्तदा ।
स तेन सुसुखोष्णेन तस्या हस्तसुखेन च ॥ ५ ॥
व्यतीतां रजनीं कृत्स्नां नाजानात् स महाव्रतः ।

उसने मुनिके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण दिव्य सामग्री प्रस्तुत की। वे महाव्रतधारी मुनि उसके दिये हुए कुछ-कुछ गरम होनेके कारण सुखदायक जलसे नहाकर उसके हाथोंके सुखद स्पर्शसे सेवित होकर इतने आनन्दविभोर हो गये कि कब सारी रात बीत गयी ? इसका उन्हें ज्ञान ही नहीं हुआ।५½।

तत उत्थाय स मुनिस्तदा परमविस्मितः ॥ ६ ॥
पूर्वस्यां दिशि सूर्यं च सोऽपश्यदुदितं दिवि ।
तस्य बुद्धिरियं किं नु मोहस्तत्त्वमिदं भवेत् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे मुनि अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उठ बैठे। उन्होंने देखा कि पूर्व-दिशाके आकाशमें सूर्यदेवका उदय हो गया है। वे सोचने लगे, क्या यह मेरा मोह है या वास्तवमें सूर्योदय हो गया है ॥ ६-७ ॥

अथोपास्य सहस्रांशुं किं करोमीत्युवाच ताम् ।
सा चामृतरसप्रख्यं ऋषेरन्नमुपाहरत् ॥ ८ ॥

फिर तो तत्काल स्नान, संध्योपासना और सूर्योपस्थान करके उससे बोले, 'अब क्या करूँ ?' तब उस स्त्रीने ऋषिके समक्ष अमृतरसके समान मधुर अन्न परोसकर रक्खा ॥ ८॥

तस्य स्वादुतयान्नस्य न प्रभूतं चकार सः ।
व्यगमच्चाप्यहःशेषं ततः संध्यागमत् पुनः ॥ ९ ॥

उस अन्नके स्वादसे वे इतने आकृष्ट हो गये कि उसे पर्याप्त न मान सके—'बस अब पूरा हो गया' यह बात न कह सके। इसीमें सारा दिन निकल गया और पुनः संध्याकाल आ पहुँचा ॥ ९ ॥

अथ सा स्त्री भगवन्तं सुप्यतामित्यचोदयत् ।
तत्र वै शयने दिव्ये तस्य तस्याश्च कल्पिते ॥ १० ॥

इसके बाद उस स्त्रीने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'अब आप सो जाइये।' फिर वहीं उनके और उस स्त्रीके लिये दो शय्याएँ बिछायी गयीं ॥ १० ॥

पृथक् चैव तथा सुप्तौ सा स्त्री स च मुनिस्तदा ।
तथार्धरात्रे सा स्त्री तु शयनं तदुपागमत् ॥ ११ ॥

उस समय वह स्त्री और मुनि दोनों अलग-अलग सो गये। जब आधी रात हुई, तब वह स्त्री उठकर मुनिकी शय्यापर आ बैठी ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच

न भद्रे परदारेषु मनो मे सम्प्रसज्जति ।
उत्तिष्ठ भद्रे भद्रं ते स्वयं वै विरमस्व च ॥ १२ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! मेरा मन परायी स्त्रियोंमें आसक्त नहीं होता है। तुम्हारा भला हो, यहाँसे उठो और स्वयं ही इस पापकर्मसे विरत हो जाओ ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

सा तदा तेन विप्रेण तथा तेन निवर्तिता ।
स्वतन्त्रास्मीत्युवाचर्षिं न धर्मच्छलमस्ति ते ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिके लौटानेपर उसने कहा—'मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मेरे साथ समागम करनेसे आपके धर्मकी छलना नहीं होगी' ॥ १३॥

अष्टावक्र उवाच

नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणामस्वतन्त्रा हि योषितः ।
प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता नहीं सिद्ध होती; क्योंकि वे परतन्त्र मानी गयी हैं। प्रजापतिका यह मत है कि स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है ॥ १४ ॥

स्त्र्युवाच

बाधते मैथुनं विप्र मम भक्तिं च पश्य वै ।
अधर्मं प्राप्स्यसे विप्र यन्मां त्वं नाभिनन्दसि ॥ १५ ॥

स्त्री बोली—ब्रह्मन् ! मुझे मैथुनकी भूख सता रही है। आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, इसपर भी तो दृष्टिपात कीजिये। विप्रवर ! यदि आप मुझे संतुष्ट नहीं करते हैं तो आपको पाप लगेगा ॥ १५ ॥

अष्टावक्र उवाच

हरन्ति दोषजातानि नरं जातं यथेच्छकम् ।
प्रभवामि सदा धृत्या भद्रे स्वशयनं व्रज ॥ १६ ॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! स्वेच्छाचारी मनुष्यको ही सब प्रकारके पापसमूह अपनी ओर खींचते हैं। मैं धैर्यके द्वारा सदा अपने मनको काबूमें रखता हूँ; अतः तुम अपनी शय्यापर लौट जाओ ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

शिरसा प्रणमे विप्र प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
भूमौ निपतमानायाः शरणं भव मेऽनघ ॥ १७ ॥

स्त्री बोली—अनघ ! विप्रवर ! मैं सिर झुकाकर प्रणाम करती हूँ और आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आप मुझपर कृपा करें और मुझे शरण दें ॥ १७ ॥

यदि वा दोषजातं त्वं परदारेषु पश्यसि ।
आत्मानं स्पर्शयाम्यद्य पाणिं गृह्णीष्व मे द्विज ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! यदि आप परायी स्त्रियोंके साथ समागममें दोष देखते हैं तो मैं स्वयं आपको अपना दान करती हूँ । आप मेरा पाणिग्रहण कीजिये ॥ १८ ॥

न दोषो भविता चैव सत्येनैतद् ब्रवीम्यहम् ।
स्वतन्त्रां मां विजानीहि योऽधर्मः सोऽस्तु वै मयि ।
त्वय्यावेशितचित्ता च स्वतन्त्रास्मि भजस्व माम् ॥१९॥

मैं सच कहती हूँ, आपको कोई दोष नहीं लगेगा। आप मुझे स्वतन्त्र समझिये । इसमें जो पाप होता हो, वह मुझे ही लगे । मेरा चित्त आपके ही चिन्तनमें लगा है । मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मुझे स्वीकार कीजिये ॥ १९ ॥

अष्टावक्र उवाच

स्वतन्त्रा त्वं कथं भद्रे ब्रूहि कारणमत्र वै ।
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचिद् या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ॥२०॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! तुम स्वतन्त्र कैसे हो ? इसमें जो कारण हो, वह बताओ ! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी स्त्री नहीं है, जो स्वतन्त्र रहने योग्य हो ॥ २० ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे काले नास्ति स्त्रीणां स्वतन्त्रता ॥ २१ ॥

कुमारावस्थामें पिता इसकी रक्षा करते हैं, जवानीमें वह पतिके संरक्षणमें रहती है और बुढ़ापेमें पुत्र उसकी देखभाल करते हैं । इस प्रकार स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता नहीं है ।२१।

स्त्र्युवाच

कौमारं ब्रह्मचर्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः ।
पत्नीं कुरुष्व मां विप्र श्रद्धां विजहि मा मम ॥ २२ ॥

स्त्री बोली—विप्रवर ! मैं कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचारिणी हूँ; अतः कन्या ही हूँ—इसमें संशय नहीं है । अब आप मुझे पत्नी बनाइये । मेरी श्रद्धाका नाश न कीजिये ॥

अष्टावक्र उवाच

यथा मम तथा तुभ्यं यथा तुभ्यं तथा मम ।
जिज्ञासेयमृषेस्तस्य विघ्नः सत्यं न किं भवेत् ॥ २३ ॥

अष्टावक्रने कहा—जैसी मेरी दशा है, वैसी तुम्हारी है और जैसी तुम्हारी दशा है, वैसी मेरी है । यह वास्तवमें वदान्य ऋषिके द्वारा परीक्षा ली जा रही है या सचमुच यह कोई विघ्न तो नहीं है ? ॥ २३ ॥

आश्चर्यं परमं हीदं किं नु श्रेयो हि मे भवेत् ।
दिव्याभरणवस्त्रा हि कन्येयं मामुपस्थिता ॥ २४ ॥

(वे मन-ही-मन सोचने लगे—) यह पहले वृद्धा थी और अब दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्यारूप होकर मेरी सेवामें उपस्थित है । यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है । क्या यह मेरे लिये कल्याणकारी होगा ? ॥ २४ ॥

किं त्वस्याः परमं रूपं जीर्णमासीत् कथं पुनः ।
कन्यारूपमिहाद्यैवं किमिवात्रोत्तरं भवेत् ॥ २५ ॥

परंतु इसका यह परम सुन्दर रूप पहले जराजीर्ण कैसे हो गया था और अब यहाँ यह कन्यारूप कैसे प्रकट हो गया ? ऐसी दशामें यहाँ उसके लिये क्या उत्तर हो सकता है ? ॥

यथा परं शक्तिधृतेर्न व्युत्थास्ये कथंचन ।
न रोचते हि व्युत्थानं सत्येनासादयाम्यहम् ॥ २६ ॥

मुझमें कामको दमन करनेकी शक्ति है और पूर्वप्राप्त मुनि-कन्याको किसी तरह भी प्राप्त करनेका धैर्य बना हुआ है । इस शक्ति और धृतिके ही सहारे मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा । मुझे धर्मका उल्लङ्घन अच्छा नहीं लगता है । मैं सत्यके सहारेसे ही पत्नीको प्राप्त करूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवाद, अष्टावक्रका अपने घर लौटकर वदान्य ऋषिकी कन्याके साथ विवाह करना

युधिष्ठिर उवाच

न बिभेति कथं सा स्त्री शापाच्च परमद्युतेः ।
कथं निवृत्तो भगवांस्तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! वह स्त्री उन महातेजस्वी ऋषिके शापसे डरती कैसे नहीं थी ? और वे भगवान् अष्टावक्र किस तरह वहाँसे लौटे थे ? यह सब मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रोऽन्वपृच्छत् तां रूपं विकुरुषे कथम् ।
न चानृतं ते वक्तव्यं ब्रूहि ब्राह्मणकाम्यया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सुनो, अष्टावक्रने उस स्त्रीसे पूछा, 'तुम अपना रूप बदलती क्यों रहती हो ? बताओ, यदि मुझ-जैसे ब्राह्मणसे सम्मान पानेकी इच्छा हो तो झूठ न बोलना' ॥ २ ॥

स्त्र्युवाच

द्यावापृथिव्योर्यत्रैषा काम्या ब्राह्मणसत्तम ।
शृणुष्वावहितः सर्वं यदिदं सत्यविक्रम ॥ ३ ॥

स्त्री बोली—ब्राह्मणशिरोमणे ! स्वर्गलोक हो या मर्त्यलोक, जिस किसी भी स्थानमें स्त्री और पुरुष निवास करते हैं, वहाँ उनमें परस्पर संयोगकी यह कामना सदा बनी रहती है। सत्यपराक्रमी विप्र ! यह सब जो रूपपरिवर्तनकी लीला की गयी है, उसका कारण बताती हूँ, सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

जिज्ञासेयं प्रयुक्ता मे स्थिरीकर्तुं तवानघ।
अभ्युत्थानेन ते लोका जिताः सत्यपराक्रम ॥ ४ ॥

निर्दोष ब्राह्मण ! आपको दृढ़ करनेके लिये आपकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे ही मैंने यह कार्य किया है। सत्यपराक्रमी द्विज ! आपने अपने धर्मसे विचलित न होकर समस्त पुण्यलोकोंको जीत लिया है ॥ ४ ॥

उत्तरां मां दिशं विद्धि दृष्टं स्त्रीचापलं च ते।
स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥ ५ ॥

आप मुझे उत्तरदिशा समझें। स्त्रीमें कितनी चपलता होती है—यह आपने प्रत्यक्ष देखा है। बूढ़ी स्त्रियोंको भी मैथुनके लिये होनेवाला कामजनित संताप कष्ट देता रहता है ॥ ५ ॥

(अविश्वासान्न व्यसनी नातिसक्तोऽप्रवासकः।
विद्वान् सुशीलः पुरुषः सदारः सुखमश्नुते॥)

जो कहीं भी विश्वास न करनेके कारण किसी व्यसनमें नहीं फँसता, कहीं भी अधिक आसक्त नहीं होता, परदेशमें नहीं रहता तथा जो विद्वान् और सुशील है, वही पुरुष स्त्रीके साथ रहकर सुख भोगता है ॥

तुष्टः पितामहस्तेऽद्य तथा देवाः सवासवाः।
स त्वं येन च कार्येण सम्प्राप्तो भगवानिह ॥ ६ ॥
प्रेषितस्तेन विप्रेण कन्यापित्रा द्विजर्षभ।
तवोपदेशं कर्तुं वै तच्च सर्वं कृतं मया ॥ ७ ॥

आज आपके ऊपर ब्रह्माजी तथा इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हैं। भगवन् द्विजश्रेष्ठ ! आप यहाँ जिस कार्यसे आये हैं, वह सफल हो गया। उस कन्याके पिता वदान्य ऋषिने मेरे पास आपको उपदेश देनेके लिये भेजा था। वह सब मैंने कर दिया ॥ ६-७ ॥

क्षेमैर्गमिष्यसि गृहं श्रमश्च न भविष्यति।
कन्यां प्राप्स्यसि तां विप्र पुत्रिणी च भविष्यति ॥ ८ ॥

विप्रवर ! अब आप कुशलपूर्वक अपने घरको जायँगे और मार्गमें आपको कोई श्रम अथवा कष्ट नहीं होगा। उस मनोनीत कन्याको आप प्राप्त कर लेंगे और आपके द्वारा वह पुत्रवती भी होगी ही ॥ ८ ॥

काम्यया पृष्टवांस्त्वं मां ततो व्याहृतमुत्तमम्।
अनतिक्रमणीया सा कृत्स्नैर्लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ९ ॥

आपने जाननेकी इच्छासे मुझसे यह बात पूछी थी, इसलिये मैंने अच्छे ढंगसे सब कुछ बता दिया। तीनों लोकोंके सम्पूर्ण निवासियोंके लिये भी ब्राह्मणकी आज्ञा कदापि उल्लङ्घनीय नहीं होती ॥ ९ ॥

गच्छस्व सुकृतं कृत्वा किं चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि।
यावद् ब्रवीमि विप्रर्षे अष्टावक्र यथातथम् ॥ १० ॥

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ! आप पुण्यका उपार्जन करके जाइये। और क्या सुनना चाहते हैं ? कहिये, मैं वह सब कुछ यथार्थरूपसे बताऊँगी ॥ १० ॥

ऋषिणा प्रसादिता चास्मि तव हेतोर्द्विजर्षभ।
तस्य सम्माननार्थं मे त्वयि वाक्यं प्रभाषितम् ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वदान्य मुनिने आपके लिये मुझे प्रसन्न किया था; अतः उनके सम्मानके लिये ही मैंने ये सारी बातें कही हैं ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः स विप्रः प्राञ्जलिः स्थितः।
अनुज्ञातस्तया चापि स्वगृहं पुनराव्रजत् ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! उस स्त्रीकी बात सुनकर विप्रवर अष्टावक्र उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उसकी आज्ञा ले पुनः अपने घरको लौट आये ॥ १२ ॥

गृहमागत्य विश्रान्तः स्वजनं परिपृच्छ्य च।
अभ्यगच्छच्च तं विप्रं न्यायतः कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! घर आकर उन्होंने विश्राम किया और स्वजनोंसे पूछकर वे न्यायानुसार फिर ब्राह्मण वदान्यके घर गये ॥

पृष्टश्च तेन विप्रेण दृष्टं त्वेतन्निदर्शनम्।
प्राह विप्रं तदा विप्रः सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ १४ ॥

ब्राह्मणने उनकी यात्राके विषयमें पूछा, तब उन्होंने प्रसन्नचित्तसे जो कुछ वहाँ देखा था, सब बताना आरम्भ किया—॥ १४ ॥

भवता समनुज्ञातः प्रस्थितो गन्धमादनम्।
तस्य चोत्तरतो देशे दृष्टं मे दैवतं महत् ॥ १५ ॥
तया चाहमनुज्ञातो भवांश्चापि प्रकीर्तितः।
श्रावितश्चापि तद्वाक्यं गृहं चाभ्यागतः प्रभो ॥ १६ ॥

'महर्षे ! आपकी आज्ञा पाकर मैं उत्तर दिशामें गन्धमादनपर्वतकी ओर चल दिया। उससे भी उत्तर जानेपर मुझे एक महती देवीका दर्शन हुआ। उसने मेरी परीक्षा ली और आपका भी परिचय दिया। प्रभो ! फिर उसने अपनी बात सुनायी और उसकी आज्ञा लेकर मैं अपने घर आ गया' ॥ १५-१६ ॥

तमुवाच तदा विप्रः सुतां प्रतिगृहाण मे।
नक्षत्रविधियोगेन पात्रं हि परमं भवान् ॥ १७ ॥

तब ब्राह्मण वदान्यने कहा—'आप उत्तम नक्षत्रमें विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कीजिये; क्योंकि आप अत्यन्त सुयोग्य पात्र हैं' ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रस्तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्य च तां प्रभो।
कन्यां परमधर्मात्मा प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर परम धर्मात्मा अष्टावक्रने उस कन्याका पाणिग्रहण किया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

कन्यां तां प्रतिगृह्यैव भार्यां परमशोभनाम्।
उवास मुदितस्तत्र स्वाश्रमे विगतज्वरः ॥ १९ ॥

उस परम सुन्दरी कन्याका पत्नीरूपमें दान पाकर अष्टावक्र मुनिकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे अपने आश्रममें उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके विविध धर्मयुक्त प्रश्नोंका उत्तर तथा श्राद्ध और दानके उत्तम पात्रोंका लक्षण

[मार्कण्डेयजीके द्वारा विविध प्रश्न और नारदजीके द्वारा उनका उत्तर]

(युधिष्ठिर उवाच

पुत्रैः कथं महाराज पुरुषस्तरितो भवेत्।
यावन्न लब्धवान् पुत्रमफलः पुरुषो नृप ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर! महाराज! पुत्रोंद्वारा पुरुषका कैसे उद्धार होता है? जबतक पुत्रकी प्राप्ति न हो, तबतक पुरुषका जीवन निष्फल क्यों माना जाता है? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदेन पुरा गीतं मार्कण्डेयाय पृच्छते ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। पूर्वकालमें मार्कण्डेयके पूछनेपर देवर्षि नारदने जो उपदेश दिया था, उसीका इस इतिहासमें उल्लेख हुआ है ॥

पर्वतं नारदं चैवमसितं देवलं च तम्।
आरुणेयं च रैभ्यं च एतानत्रागतान् पुरा ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये भोगवत्याः समागमे।
दृष्ट्वा पूर्वं समासीनान् मार्कण्डेयोऽभ्यगच्छत ॥

पहलेकी बात है, गङ्गा-यमुनाके मध्यभागमें जहाँ भोगवतीका समागम हुआ है, वहीं पर्वत, नारद, असित, देवल, आरुणेय और रैभ्य—ये ऋषि एकत्र हुए थे। इन सब ऋषियोंको वहाँ पहलेसे विराजमान देख मार्कण्डेयजी भी गये ॥

ऋषयस्तु मुनिं दृष्ट्वा समुत्थायोन्मुखाः स्थिताः।
अर्चयित्वार्हतो विप्रं किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥

ऋषियोंने जब मुनिको आते देखा, तब वे सब-के-सब उठकर उनकी ओर मुख करके खड़े हो गये और उन ब्रह्मर्षिकी उनके योग्य पूजा करके सबने पूछा—'हम आपकी क्या सेवा करें?' ॥

मार्कण्डेय उवाच

अयं समागमः सद्भिर्यत्नेनासादितो मया।
अत्र प्राप्स्यामि धर्माणामाचारस्य च निश्चयम् ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—मैंने बड़े यत्नसे सत्पुरुषोंका यह सङ्ग प्राप्त किया है। मुझे आशा है, यहाँ धर्म और आचारका निर्णय प्राप्त होगा ॥

ऋजुः कृतयुगे धर्मस्तस्मिन् क्षीणे विमुह्यति।
युगे युगे महर्षिभ्यो धर्ममिच्छामि वेदितुम् ॥

सत्ययुगमें धर्मका अनुष्ठान सरल होता है। उस युगके समाप्त हो जानेपर धर्मका स्वरूप मनुष्योंके मोहसे आच्छन्न हो जाता है; अतः प्रत्येक युगके धर्मका क्या स्वरूप है? इसे मैं आप सब महर्षियोंसे जानना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

ऋषिभिर्नारदः प्रोक्तो ब्रूहि यत्रास्य संशयः।
धर्माधर्मेषु तत्त्वज्ञ त्वं विच्छेत्तासि संशयान् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब सब ऋषियोंने मिलकर नारदजीसे कहा—'तत्त्वज्ञ देवर्षे! मार्कण्डेयजीको जिस विषयमें संदेह है, उसका आप निरूपण कीजिये; क्योंकि धर्म और अधर्मके विषयमें होनेवाले समस्त संशयोंका निवारण करनेमें आप समर्थ हैं' ॥

ऋषिभ्योऽनुमतो वाक्यं नियोगान्नारदोऽब्रवीत्।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञं मार्कण्डेयं ततोऽब्रवीत् ॥

ऋषियोंकी यह अनुमति और आदेश पाकर नारदजीने सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले मार्कण्डेयजीसे पूछा ॥

नारद उवाच

दीर्घायो तपसा दीप्त वेदवेदाङ्गतत्त्ववित्।
यत्र ते संशयो ब्रह्मन् समुत्पन्नः स उच्यताम् ॥

नारदजी बोले—तपस्यासे प्रकाशित होनेवाले दीर्घायु मार्कण्डेयजी! आप तो स्वयं ही वेदों और वेदाङ्गोंके तत्त्वको जाननेवाले हैं, तथापि ब्रह्मन्! जहाँ आपको संशय उत्पन्न हुआ हो, वह विषय उपस्थित कीजिये ॥

धर्मं लोकोपकारं वा यच्चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि।
तदहं कथयिष्यामि ब्रूहि त्वं सुमहातपाः॥

महातपस्वी महर्षे! धर्म, लोकोपकार अथवा और जिस किसी विषयमें आप सुनना चाहते हों, उसे कहिये। मैं उस विषयका निरूपण करूँगा॥

मार्कण्डेय उवाच

युगे युगे व्यतीतेऽस्मिन् धर्मसेतुः प्रणश्यति।
कथं धर्मच्छलेनाहं प्राप्नुयामिति मे मतिः॥

मार्कण्डेयजी बोले—प्रत्येक युगके बीत जानेपर धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। फिर धर्मके बहानेसे अधर्म करनेपर मैं उस धर्मका फल कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? मेरे मनमें यही प्रश्न उठता है॥

नारद उवाच

आसीद् धर्मः पुरा विप्र चतुष्पादः कृते युगे।
ततो ह्यधर्मः कालेन प्रवृत्तः किञ्चिदुन्नतः॥

नारदजीने कहा—विप्रवर! पहले सत्ययुगमें धर्म अपने चारों पैरोंसे युक्त होकर सबके द्वारा पालित होता था। तदनन्तर समयानुसार अधर्मकी प्रवृत्ति हुई और उसने अपना सिर कुछ ऊँचा किया॥

ततस्त्रेतायुगं नाम प्रवृत्तं धर्मदूषणम्।
तस्मिन् व्यतीते सम्प्राप्तं तृतीयं द्वापरं युगम्॥
तदा धर्मस्य द्वौ पादावधर्मो नाशयिष्यति।

तदनन्तर धर्मको अंशतः दूषित करनेवाले त्रेतानामक दूसरे युगकी प्रवृत्ति हुई। जब वह भी बीत गया, तब तीसरे युग द्वापरका पदार्पण हुआ। उस समय धर्मके दो पैरोंको अधर्म नष्ट कर देता है॥

द्वापरे तु परिक्षीणे नन्दिके समुपस्थिते॥
लोकवृत्तं च धर्मं च उच्यमानं निबोध मे।

द्वापरके नष्ट होनेपर जब नन्दिक (कलियुग) उपस्थित होता है, उस समय लोकाचार और धर्मका जैसा स्वरूप रह जाता है, उसे बताता हूँ, सुनिये॥

चतुर्थं नन्दिकं नाम धर्मः पादावशेषितः॥
ततः प्रभृति जायन्ते क्षीणप्रज्ञायुषो नराः।
क्षीणप्राणधना लोके धर्माचारबहिष्कृताः॥

चौथे युगका नाम है नन्दिक। उस समय धर्मका एक ही पाद (अंश) शेष रह जाता है। तभीसे मन्दबुद्धि और अल्पायु मनुष्य उत्पन्न होने लगते हैं। लोकमें उनकी प्राण-शक्ति बहुत कम हो जाती है। वे निर्धन तथा धर्म और सदा-चारसे बहिष्कृत होते हैं॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं विलुलिते धर्मे लोके चाधर्मसंयुते।
किं चतुर्वर्णनियतं हव्यं कव्यं न नश्यति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जब इस प्रकार धर्मका लोप होकर जगत्में अधर्म छा जाता है, तब चारों वर्णोंके लिये नियत हव्य और कव्यका नाश क्यों नहीं हो जाता है?॥

नारद उवाच

मन्त्रपूतं सदा हव्यं कव्यं चैव न नश्यति।
प्रतिगृह्णन्ति तद् देवा दातुर्न्यायात् प्रयच्छतः॥

नारदजीने कहा—वेदमन्त्रसे सदा पवित्र होनेके कारण हव्य और कव्य नहीं नष्ट होते हैं। यदि दाता न्यायपूर्वक उनका दान करते हैं तो देवता और पितर उन्हें सादर ग्रहण करते हैं॥

सत्त्वयुक्तश्च दाता च सर्वान् कामानवाप्नुयात्।
अवाप्तकामः स्वर्गे च महीयेत यथेप्सितम्॥

जो दाता सात्त्विक भावसे युक्त होता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। यहाँ आप्तकाम होकर वह स्वर्गमें भी अपनी इच्छाके अनुसार सम्मानित होता है॥

मार्कण्डेय उवाच

चत्वारो ह्यथ ये वर्णा हव्यं कव्यं प्रदास्यते।
मन्त्रहीनमवज्ञातं तेषां दत्तं क गच्छति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—यहाँ जो चार वर्णके लोग हैं, उनके द्वारा यदि मन्त्ररहित और अवहेलनापूर्वक हव्य-कव्य-का दान दिया जाय तो उनका वह दान कहाँ जाता है?॥

नारद उवाच

असुरान् गच्छते दत्तं विप्रै रक्षांसि क्षत्रियैः।
वैश्यैः प्रेतानि वै दत्तं शूद्रैर्भूतानि गच्छति॥

नारदजीने कहा—यदि ब्राह्मणोंने वैसा दान किया है तो वह असुरोंको प्राप्त होता है, क्षत्रियोंने किया है तो उसे राक्षस ले जाते हैं, वैश्योंद्वारा किये गये वैसे दानको प्रेत ग्रहण करते हैं और शूद्रोंद्वारा किया गया अवज्ञापूर्वक दान भूतोंको प्राप्त होता है॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ वर्णावरे जाताश्चातुर्वर्ण्योपदेशिनः।
दास्यन्ति हव्यकव्यानि तेषां दत्तं क गच्छति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो नीच वर्णमें उत्पन्न होकर चारों वर्णोंको उपदेश देते और हव्य-कव्यका दान देते हैं, उनका दिया हुआ दान कहाँ जाता है?॥

नारद उवाच

वर्णावराणां भूतानां हव्यकव्यप्रदातृणाम्।
नैव देवा न पितरः प्रतिगृह्णन्ति तत् स्वयम्॥

नारदजीने कहा—जब नीच वर्णके लोग हव्य-कव्यका दान करते हैं, तब उनके उस दानको न देवता ग्रहण करते हैं न पितर॥

यातुधानाः पिशाचाश्च भूता ये चापि नैर्ऋताः।

तेषां सा विहिता वृत्तिः पितृदैवतनिर्गता ॥

जो यातुधान, पिशाच, भूत और राक्षस हैं, उन्हींके लिये उस वृत्तिका विधान किया गया है। पितरों और देवताओंने वैसी वृत्तिका परित्याग कर दिया है ॥

तेषां सर्वप्रदातॄणां हव्यकव्यं समाहिताः।
यत् प्रयच्छन्ति विधिवत् तद् वै भुञ्जन्ति देवताः॥

जो सब कुछ देनेवाले और उस कर्मके अधिकारी हैं, वे एकाग्रचित्त होकर विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य समर्पित करते हैं, उसे देवता और पितर ग्रहण करते हैं ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुतं वर्णावरैर्दत्तं हव्यं कव्यं च नारद।
सम्प्रयोगे च पुत्राणां कन्यानां च ब्रवीहि मे ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—नारदजी ! नीच वर्णके दिये हुए हव्य और कव्योंकी जो दशा होती है, उसे मैंने सुन ली। अब पुत्रों और कन्याओंके विषयमें एवं इनके संयोगके विषयमें मुझे कुछ बातें बताइये ॥

नारद उवाच

कन्याप्रदानं पुत्राणां स्त्रीणां संयोगमेव च।
आनुपूर्व्यान्मया सम्यगुच्यमानं निबोध मे ॥

नारदजीने कहा—अब मैं कन्या-विवाहके और पुत्रोंके विषयमें एवं स्त्रियोंके संयोगके विषयमें क्रमशः बता रहा हूँ, उसे सुनो ॥

जातमात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे वरे।
काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते ॥

जो कन्या उत्पन्न हो जाती है; उसे किसी योग्य वरको सौंप देना आवश्यक होता है। यदि ठीक समयपर कन्याओंका दान हो गया तो पिता धर्मफलका भागी होता है ॥

यस्तु पुष्पवतीं कन्यां बान्धवो न प्रयच्छति।
मासि मासि गते बन्धुस्तस्या भ्रौणघ्न्यमाप्नुते ॥

जो भाई-बन्धु रजस्वलावस्थामें पहुँच जानेपर भी कन्याका किसी योग्य वरके साथ विवाह नहीं कर देता, वह उसके एक-एक मास बीतनेपर भ्रूणहत्याके फलका भागी होता है ॥

यस्तु कन्यां गृहे रुन्ध्याद् ग्राम्यैर्भोगैर्विवर्जिताम्।
अवध्यातः स कन्याया बन्धुः प्राप्नोति भ्रूणहाम्॥

जो भाई-बन्धु कन्याको विषय-भोगोंसे वञ्चित करके घरमें रोके रखता है, वह उस कन्याके द्वारा अनिष्ट चिन्तन किये जानेके कारण भ्रूणहत्याके पापका भागी होता है ॥

मार्कण्डेय उवाच

केन मङ्गलकृत्येषु विनियुज्यन्ति कन्यकाः।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेनेह महामुने ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—महामुने ! किस कारणसे कन्याओंको माङ्गलिक कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ॥

नारद उवाच

नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता।
शोभना शुभयोग्या च पूज्या मङ्गलकर्मसु ॥

नारदजीने कहा—कन्याओंमें सदा लक्ष्मी निवास करती हैं। वे उनमें नित्य प्रतिष्ठित होती हैं; इसलिये प्रत्येक कन्या शोभासम्पन्न, शुभ कर्मके योग्य तथा मङ्गल कर्मोंमें पूजनीय होती है ॥

आकरस्थं यथा रत्नं सर्वकामफलोपगम्।
तथा कन्या महालक्ष्मीः सर्वलोकस्य मङ्गलम् ॥

जैसे खानमें स्थित हुआ रत्न सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है, उसी प्रकार महालक्ष्मीस्वरूपा कन्या सम्पूर्ण जगत्‌के लिये मङ्गलकारिणी होती है ॥

एवं कन्या परा लक्ष्मी रतिस्तोषश्च देहिनाम्।
महाकुलानां चारित्रं वृत्तेन निकषोपलम् ॥

इस तरह कन्याको लक्ष्मीका सर्वोत्कृष्ट रूप जानना चाहिये। उससे देहधारियोंको सुख और संतोषकी प्राप्ति होती है। वह अपने सदाचारके द्वारा उच्च कुलोंके चरित्रकी कसौटी समझी जाती है ॥

आनयित्वा स्वकाद् वर्णात् कन्यकां यो भजेन्नरः।
दातारं हव्यकव्यानां पुत्रकं या प्रसूयते ॥

जो मनुष्य अपने ही वर्णकी कन्याको विवाहके द्वारा लाकर उसे पत्नीके स्थानपर प्रतिष्ठित करता है, उसकी वह साध्वी पत्नी हव्य-कव्य प्रदान करनेवाले पुत्रको जन्म देती है ॥

साध्वी कुलं वर्धयति साध्वी पुष्टिर्गृहे परा।
साध्वी लक्ष्मी रतिः साक्षात् प्रतिष्ठा संततिस्तथा ॥

साध्वी स्त्री कुलकी वृद्धि करती है। साध्वी स्त्री घरमें परम पुष्टिरूप है तथा साध्वी स्त्री घरकी लक्ष्मी है, रति है, मूर्तिमती प्रतिष्ठा है तथा संतान-परम्पराकी आधार है ॥

मार्कण्डेय उवाच

कानि तीर्थानि भगवन् नृणां देहाश्रितानि वै।
तानि वै शंस भगवन् याथातथ्येन पृच्छतः ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंके शरीरमें कौन-कौन-से तीर्थ हैं ? मैं यह जानना चाहता हूँ। अतः आप यथार्थरूपसे मुझे बताइये ॥

नारद उवाच

देवर्षिपितृतीर्थानि ब्राह्मं मध्येऽथ वैष्णवम्।
नृणां तीर्थानि पञ्चाहुः पाणौ संनिहितानि वै ॥

नारदजीने कहा—मनीषी पुरुष कहते हैं, मनुष्योंके हाथमें ही पाँच तीर्थ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—देवतीर्थ, ऋषितीर्थ, पितृतीर्थ, ब्राह्मतीर्थ और वैष्णवतीर्थ। (अङ्गुलियोंके अग्रभागमें देवतीर्थ है । कनिष्ठा और अनामिका

अङ्गुलिके मूलभागमें आर्षतीर्थ है। इसीको कायतीर्थ और प्राजापत्यतीर्थ भी कहते हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मध्यभागमें पितृतीर्थ है। अङ्गुष्ठके मूलभागमें ब्राह्मतीर्थ है और हथेलीके मध्यभागमें वैष्णवतीर्थ है।) ॥

आद्यतीर्थं तु तीर्थानां वैष्णवो भाग उच्यते।
यत्रोपस्पृश्य वर्णानां चतुर्णां वर्धते कुलम्॥
पितृदैवतकार्याणि वर्धन्ते प्रेत्य चेह च।

हाथमें जो वैष्णवतीर्थका भाग है, उसे सब तीर्थोंमें प्रधान कहा जाता है। जहाँ जल रखकर आचमन करनेसे चारों वर्णोंके कुलकी वृद्धि होती है तथा देवता और पितरोंके कार्यकी इहलोक और परलोकमें वृद्धि होती है॥

मार्कण्डेय उवाच

धर्मेष्वधिकृतानां तु नराणां मुह्यते मनः।
कथं न विघ्नं भवति एतदिच्छामि वेदितुम्॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो धर्मके अधिकारी हैं, ऐसे मनुष्योंका मन कभी-कभी धर्मके विषयमें संशयापन्न हो जाता है। क्या करनेसे उनके धर्माचरणमें विघ्न न पड़े? यह मैं जानना चाहता हूँ॥

नारद उवाच

अर्थाश्च नार्यश्च समानमेत-
च्छ्रेयांसि पुंसामिह मोहयन्ति।
रतिप्रमोदात् प्रमदा हरन्ति
भोगैर्धनं चाप्युपहन्ति धर्मान्॥

नारदजीने कहा—धन और नारी दोनोंकी अवस्था एक-सी है। दोनों ही मनुष्योंको कल्याणके पथपर जानेमें बाधा देते हैं—उन्हें मोहित कर लेते हैं। रतिजनित आमोद-प्रमोदसे स्त्रियाँ मनको हर लेती हैं और धन-भोगोंके द्वारा धर्मको चौपट कर देता है॥

हव्यं कव्यं च धर्मात्मा सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलिताग्नाविवाहुतिः॥

धर्मात्मा श्रोत्रिय ब्राह्मण समस्त हव्य और कव्यको पानेका अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ हव्य-कव्य प्रज्वलित अग्निमें डाली हुई आहुतिके समान सफल होता है॥

भीष्म उवाच

इति सम्भाष्य ऋषिभिर्मार्कण्डेयो महातपाः।
नारदं चापि सत्कृत्य तेन चैवाभिसत्कृतः॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार ऋषियोंके साथ बातचीत करके महातपस्वी मार्कण्डेयने नारदजीका सत्कार किया और स्वयं भी वे उनके द्वारा सम्मानित हुए॥

आमन्त्रयित्वा ऋषिभिः प्रययावाश्रमं मुनिः।
ऋषयश्चापि तीर्थानां परिचर्यां प्रचक्रमुः॥)

तत्पश्चात् ऋषियोंसे विदा लेकर मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमको चले गये तथा वे ऋषि भी तीर्थोंमें भ्रमण करने लगे॥

[दाक्षिणात्य अध्याय समाप्त]

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्राः सनातनाः।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाप्यलिङ्गिनम्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! प्राचीन ब्राह्मण किसको दानका श्रेष्ठ पात्र बताते हैं? दण्ड-कमण्डलु आदि चिह्न धारण करनेवाले ब्रह्मचारी ब्राह्मणको अथवा चिह्नरहित गृहस्थ ब्राह्मणको?॥ १॥

भीष्म उवाच

स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने चेतराय च।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ॥ २॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! जीवन-रक्षाके लिये अपनी वर्णाश्रमोचित वृत्तिका आश्रय लेनेवाले चिह्नधारी या चिह्नरहित किसी भी ब्राह्मणको दान दिया जाना उचित बताया गया है; क्योंकि स्वधर्मका आश्रय लेनेवाले ये दोनों ही तपस्वी एवं दानपात्र हैं॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रद्धया परया पूतो यः प्रयच्छेद् द्विजातये।
हव्यं कव्यं तथा दानं को दोषः स्यात् पितामह॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो केवल उत्कृष्ट श्रद्धासे ही पवित्र होकर ब्राह्मणको हव्य-कव्य तथा अन्य वस्तुका दान देता है, उसे अन्य प्रकारकी पवित्रता न होनेके कारण किस दोषकी प्राप्ति होती है?॥ ३॥

भीष्म उवाच

श्रद्धापूतो नरस्तात दुर्दान्तोऽपि न संशयः।
पूतो भवति सर्वत्र किमुत त्वं महाद्युते॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—तात! मनुष्य जितेन्द्रिय न होनेपर भी केवल श्रद्धामात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें संशय नहीं है। महातेजस्वी नरेश! श्रद्धापूत मनुष्य सर्वत्र पवित्र होता है, फिर तुम-जैसे धर्मात्माके पवित्र होनेमें तो संदेह ही क्या है?॥ ४॥

युधिष्ठिर उवाच

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवेषु सततं नरः।
कव्यप्रदाने तु बुधाः परीक्ष्यं ब्राह्मणं विदुः॥ ५॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! विद्वानोंका कहना है

कि देवकार्यमें कभी ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, किंतु श्राद्धमें अवश्य उसकी परीक्षा करे; इसका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न ब्राह्मणः साधयते हव्यं दैवात् प्रसिद्ध्यति।
देवप्रसादादिज्यन्ते यजमानैर्न संशयः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! यज्ञ-होम आदि देवकार्यकी सिद्धि ब्राह्मणके अधीन नहीं है, वह दैवसे सिद्ध होता है। देवताओंकी कृपासे ही यजमान यज्ञ करते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणान् भरतश्रेष्ठ सततं ब्रह्मवादिनः।
मार्कण्डेयः पुरा प्राह इति लोकेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने बहुत पहलेसे ही यह बता रखा है कि श्राद्धमें सदा वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको ही निमन्त्रित करना चाहिये (क्योंकि उसकी सिद्धि सुपात्र ब्राह्मणके ही अधीन है) ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽप्यथवा विद्वान् सम्बन्धी वा यथा भवेत्।
तपस्वी यज्ञशीलो वा कथं पात्रं भवेत् तु सः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो अपरिचित, विद्वान्, सम्बन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील हों, इनमेंसे कौन किस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न होनेपर श्राद्ध एवं दानका उत्तम पात्र हो सकता है ?॥

भीष्म उवाच

कुलीनः कर्मकृद् वैद्यस्तथैवाप्यानृशंस्यवान्।
ह्रीमानृजुः सत्यवादी पात्रं पूर्वे च ये त्रयः ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—कुलीन, कर्मठ, वेदोंके विद्वान्, दयालु, सलज्ज, सरल और सत्यवादी—इन सात प्रकारके गुणवाले जो पूर्वोक्त तीन (अपरिचित विद्वान्, सम्बन्धी और तपस्वी) ब्राह्मण हैं, वे उत्तम पात्र माने गये हैं ॥ ९ ॥

तत्रेमं शृणु मे पार्थ चतुर्णां तेजसां मतम्।
पृथिव्याः काश्यपस्याग्नेर्मार्कण्डेयस्य चैव हि ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! इस विषयमें तुम मुझसे पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय—इन चार तेजस्वी व्यक्तियोंका मत सुनो॥

पृथिव्युवाच

यथा महार्णवे क्षिप्तः क्षिप्रं लेष्टुर्विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं त्रिवृत्यां च निमज्जति ॥ ११ ॥

पृथ्वी कहती है—जिस प्रकार महासागरमें फेंका हुआ ढेला तुरंत गलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह—इन तीन वृत्तियोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणमें सारे दुष्कर्मोंका लय हो जाता है ॥ ११ ॥

काश्यप उवाच

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः
सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति
शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥ १२ ॥

काश्यप कहते हैं—नरेश्वर ! जो ब्राह्मण शीलसे रहित हैं, उसे छहों अङ्गोंसहित वेद, सांख्य और पुराणका ज्ञान तथा उत्तम कुलमें जन्म—ये सब मिलकर भी उत्तम गति नहीं प्रदान कर सकते ॥ १२ ॥

अग्निरुवाच

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
प्रभ्रश्यतेऽसौ चरते न सत्यं
लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥ १३ ॥

अग्नि कहते हैं—जो ब्राह्मण अध्ययन करके अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्वत्तापर गर्व करने लगता है तथा जो अपनी विद्याके बलसे दूसरोंके यशका नाश करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट होकर सत्यका पालन नहीं करता; अतः उसे नाशवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—यदि तराजूके एक पलड़ेमें एक हजार अश्वमेध-यज्ञको और दूसरेमें सत्यको रखकर तौला जाय तो भी न जाने वे सारे अश्वमेध-यज्ञ इस सत्यके आधेके बराबर भी होंगे या नहीं ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा ते जग्मुराशु चत्वारोऽमिततेजसः।
पृथिवी काश्यपोऽग्निश्च प्रकृष्टायुश्च भार्गवः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार अपना मत प्रकट करके वे चारों अमिततेजस्वी व्यक्ति—पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय शीघ्र ही चले गये ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि ते ब्राह्मणा लोके व्रतिनो भुञ्जते हविः।
दत्तं ब्राह्मणकामाय कथं तत् सुकृतं भवेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें हविष्यान्नका भोजन करते हैं तो श्रेष्ठ ब्राह्मणकी कामनासे उन्हें दिया हुआ दान कैसे सफल हो सकता है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

आदिष्टिनो ये राजेन्द्र ब्राह्मणा वेदपारगाः।
भुञ्जते ब्रह्मकामाय व्रतलुप्ता भवन्ति ते ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! (जिन्हें गुरुने नियत वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेका आदेश दे रखा है, वे आदिष्टी कहलाते हैं।) ऐसे वेदके पारङ्गत आदिष्टी ब्राह्मण

यदि यजमानकी ब्राह्मणको दान देनेकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धमें भोजन करते हैं तो उनका अपना ही व्रत नष्ट होता है (इससे दाताका दान दूषित नहीं होता है) * ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
किंनिमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! विद्वानोंका कहना है कि धर्मके साधन और फल अनेक प्रकारके हैं। पात्रके कौन-से गुण उसकी दानपात्रतामें कारण होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, इन्द्रियसंयम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं ॥ १९ ॥

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
अनाचरन्तस्तद् धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ॥ २० ॥

प्रभो ! जो लोग इस पृथ्वीपर धर्मकी प्रशंसा करते हुए घूमते-फिरते हैं; परंतु स्वयं उस धर्मका आचरण नहीं करते, वे ढोंगी हैं और धर्मसंकरता फैलानेमें लगे हैं ॥ २० ॥

तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमास्थितः ॥ २१ ॥

ऐसे लोगोंको जो सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा अश्व आदि वस्तुओंका दान करता है, वह नरकमें पड़कर दस वर्षोंतक विष्ठा खाता है ॥ २१ ॥

मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तेवसायिनाम्।
कृतं कर्माकृतं वापि रागमोहेन जल्पताम् ॥ २२ ॥

जो उच्चवर्णके लोग राग और मोहके वशीभूत हो अपने किये अथवा बिना किये शुभ कर्मका जनसमुदायमें वर्णन करते हैं, वे मेद, पुल्कस तथा अन्त्यजोंके तुल्य माने जाते हैं ॥

वैश्वदेवं च ये मूढा विप्राय ब्रह्मचारिणे।
ददते नेह राजेन्द्र ते लोकान् भुञ्जतेऽशुभान् ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! जो मूढ़ मानव ब्रह्मचारी ब्राह्मणको बलिवैश्वदेवसम्बन्धी अन्न (अतिथियोंको देनेयोग्य हन्तकार) नहीं देते हैं, वे अशुभ लोकोंका उपभोग करते हैं ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं परं ब्रह्मचर्यं च किं परं धर्मलक्षणम्।
किं च श्रेष्ठतमं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उत्तम ब्रह्मचर्य क्या है ? धर्मका सबसे श्रेष्ठ लक्षण क्या है ? तथा सर्वोत्तम पवित्रता किसे कहते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

ब्रह्मचर्यात् परं तात मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥ २५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! मांस और मदिराका त्याग ब्रह्मचर्यसे भी श्रेष्ठ है—वही उत्तम ब्रह्मचर्य है। वेदोक्त मर्यादामें स्थित रहना सबसे श्रेष्ठ धर्म है तथा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना ही सर्वोत्तम पवित्रता है ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् काले चरेद् धर्मं कस्मिन् कालेऽर्थमाचरेत्।
कस्मिन् काले सुखी च स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य किस समय धर्मका आचरण करे ? कब अर्थोपार्जनमें लगे तथा किस समय सुखभोगमें प्रवृत्त हो ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

कल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम्।
पश्चात् कामं निषेवेत न च गच्छेत् प्रसङ्गिताम् ॥ २७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पूर्वाह्णमें धनका उपार्जन करे, तदनन्तर धर्मका और उसके बाद कामका सेवन करे; परंतु काममें आसक्त न हो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत्।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २८ ॥

ब्राह्मणोंका सम्मान करे। गुरुजनोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहे। सब प्राणियोंके अनुकूल रहे। नम्रताका बर्ताव करे और सबसे मीठे वचन बोले ॥ २८ ॥

---

* श्राद्धमें भोजन कराने योग्य ब्राह्मणोंके विषयमें स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—'कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निब्रह्मचारिणः। पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः॥ तथा—'व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।' तात्पर्य यह है कि क्रियानिष्ठ, तपस्वी, पञ्चाग्निका सेवन करनेवाले, ब्रह्मचारी तथा पिता-माताके भक्त—ये पाँच प्रकारके ब्राह्मण श्राद्धकी सम्पत्ति हैं। इन्हें भोजन करानेसे श्राद्धकर्मका पूर्णतया सम्पादन होता है।' तथा 'अपनी कन्याका बेटा ब्रह्मचारी हो तो भी यत्नपूर्वक उसे श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये।' ऐसा करनेसे श्राद्धकर्ता पुण्यका भागी होता है। केवल श्राद्धमें ही ऐसी छूट दी गयी है। श्राद्धके अतिरिक्त और किसी कर्ममें ब्रह्मचारीको लोभ आदि दिखाकर जो उसके व्रतको भङ्ग करता है, उसे दोषका भागी होना पड़ता है और अपने किये हुए दानका भी पूरा-पूरा फल नहीं मिलता। इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि 'मनसा पात्रमुद्दिश्य जलमध्ये जलं क्षिपेत्। दाता तत्फलमाप्नोति प्रतिग्राही न दोषभाक् ॥' अर्थात् 'यदि किसी सुपात्र (ब्रह्मचारी आदि) को दान देना हो तो उसका मनमें ध्यान करे और उसे दान देनेके उद्देश्यसे हाथमें संकल्पका जल लेकर उसे जलहीमें छोड़ दे। इससे दाताको दानका फल मिल जाता है और दान लेनेवालेको दोषका भागी नहीं होना पड़ता।' यह बात सत्पात्रका आदर करनेके लिये बतायी गयी है। (नीलकण्ठी)

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम् ।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया ॥ २९ ॥

न्यायका अधिकार पाकर झूठा फैसला देना अथवा न्यायालयमें जाकर झूठ बोलना, राजाओंके पास किसीकी चुगली करना और गुरुके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्याके समान पाप हैं ॥ २९ ॥

प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न हन्याद् गां तथैव च ।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥ ३० ॥

राजाओंपर प्रहार न करे और गायको न मारे। जो राजा और गौपर प्रहाररूप द्विविध दुष्कर्मका सेवन करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप लगता है ॥ ३० ॥

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत् ।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत् समं तद् ब्रह्महत्यया ॥ ३१ ॥

अग्निहोत्रका कभी त्याग न करे। वेदोंका स्वाध्याय न छोड़े तथा ब्राह्मणकी निन्दा न करे; क्योंकि ये तीनों दोष ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम् ।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! कैसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये? किनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है? तथा कैसे ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये? यह मुझे बताइये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ और इन्द्रियसंयममें तत्पर हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये और उन्हींको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है (अतः उन्हींको श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये) ॥

अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अभिमानका नाम नहीं है, जो सब कुछ सह लेते हैं, जिनका विचार दृढ़ है, जो जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है ॥ ३४ ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, संकोची, सत्यवादी और अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान भी महान् फलदायक होता है ॥ ३५ ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः ।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदोंका अध्ययन करता और ब्राह्मणोचित छः कर्मों (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह) में प्रवृत्त रहता है, उसे ऋषिलोग दानका उत्तम पात्र समझते हैं ॥ ३६ ॥

ये त्वेवंगुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥

जो ब्राह्मण ऊपर बताये हुए गुणोंसे युक्त होते हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है। गुणवान् एवं सुयोग्य पात्रको दान देनेवाला दाता सहस्रगुना फल पाता है ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥

यदि उत्तम बुद्धि, शास्त्रकी विद्वत्ता, सदाचार और सुशीलता आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी दान स्वीकार कर ले तो वह दाताके सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर देता है ॥ ३८ ॥

गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥ ३९ ॥

अतः ऐसे गुणवान् पुरुषको ही गाय, घोड़ा, अन्न, धन तथा दूसरे पदार्थ देने चाहिये। ऐसा करनेसे दाताको मरनेके बाद पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ३९ ॥

तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः ।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात् पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥
(तृप्ते तृप्ताः सर्वदेवाः पितरो मुनयोऽपि च ।)

एक भी उत्तम ब्राह्मण श्राद्धकर्ताके समस्त कुलको तार सकता है। यदि उपर्युक्त बहुत-से ब्राह्मण तार दें इसमें तो कहना ही क्या है। अतः सुपात्रकी खोज करनी चाहिये। उससे तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता, पितर और ऋषि भी तृप्त हो जाते हैं ॥ ४० ॥

निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम् ।
दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥ ४१ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित गुणवान् ब्राह्मण यदि कहीं दूर भी सुनायी पड़े तो उसको वहाँसे अपने यहाँ बुलाकर उसका हर प्रकारसे पूजन और सत्कार करना चाहिये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बहुप्राश्निके द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बहुत-से प्रश्नोंका निर्णयविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४६ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

देवता और पितरोंके कार्यमें निमन्त्रण देने योग्य पात्रों तथा नरकगामी और स्वर्गगामी मनुष्योंके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

श्राद्धकाले च दैवे च पित्र्येऽपि च पितामह ।
इच्छामीह त्वयाऽऽख्यातं विहितं यत् सुरर्षिभिः॥१॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवता और ऋषियोंने श्राद्धके समय देवकार्य तथा पितृकार्यमें जिस-जिस कर्मका विधान किया है, उसका वर्णन मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दैवं पौर्वाह्णिकं कुर्यादपराह्णे तु पैतृकम् ।
मङ्गलाचारसम्पन्नः कृतशौचः प्रयत्नवान् ॥ २ ॥
मनुष्याणां तु मध्याह्ने प्रदद्यादुपपत्तिभिः ।
कालहीनं तु यद् दानं तं भागं रक्षसां विदुः॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह स्नान आदिसे शुद्ध हो, माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न करके प्रयत्नशील हो पूर्वाह्णमें देव-सम्बन्धी दान, अपराह्णमें पैतृक दान और मध्याह्नकालमें मनुष्यसम्बन्धी दान आदरपूर्वक करे । असमयमें किया हुआ दान राक्षसोंका भाग माना गया है ॥ २-३ ॥

लङ्घितं चावलीढं च कलिपूर्वं च यत् कृतम् ।
रजस्वलाभिदृष्टं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ४ ॥

जिस भोज्य पदार्थको किसीने लाँघ दिया हो, चाट लिया हो, जो लड़ाई-झगड़ा करके तैयार किया गया हो तथा जिसपर रजस्वला स्त्रीकी दृष्टि पड़ी हो, उसे भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ४ ॥

अवघुष्टं च यद् भुक्तमव्रतेन च भारत ।
परामृष्टं शुना चैव तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिसके लिये लोगोंमें घोषणा की गयी हो, जिसे व्रतहीन मनुष्यने भोजन किया हो अथवा जो कुत्तेसे छू गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग समझा गया है ॥

केशकीटावपतितं क्षुतं श्वभिरवेक्षितम् ।
रुदितं चावधूतं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ६ ॥

जिसमें केश या कीड़े पड़ गये हों, जो छींकसे दूषित हो गया हो, जिसपर कुत्तोंकी दृष्टि पड़ गयी हो तथा जो रोकर और तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ६ ॥

निरोङ्कारेण यद् भुक्तं सशस्त्रेण च भारत ।
दुरात्मना च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! जिस अन्नमेंसे पहले ऐसे व्यक्तिने खा लिया हो, जिसे खानेकी अनुमति नहीं दी गयी है अथवा जिसमेंसे पहले प्रणव आदि वेदमन्त्रोंके अनधिकारी शूद्र आदिने भोजन कर लिया हो अथवा किसी शस्त्रधारी या दुराचारी पुरुषने जिसका उपयोग कर लिया हो, उस अन्नको भी राक्षसोंका ही भाग बताया गया है ॥ ७ ॥

परोच्छिष्टं च यद् भुक्तं परिभुक्तं च यद् भवेत् ।
दैवे पित्र्ये च सततं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ८ ॥

जिसे दूसरोंने उच्छिष्ट कर दिया हो, जिसमेंसे किसीने भोजन कर लिया हो तथा जो देवता, पितर, अतिथि एवं बालक आदिको दिये बिना ही अपने उपभोगमें लाया गया हो, वह अन्न देवकर्म तथा पितृकर्ममें सदा राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ८ ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यच्छ्राद्धं परिविष्यते ।
त्रिभिर्वर्णैर्नरश्रेष्ठ तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! तीनों वर्णोंके लोग वैदिक मन्त्र एवं उसके विधि-विधानसे रहित जो श्राद्धका अन्न परोसते हैं, उसे राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ९ ॥

आज्याहुतिं विना चैव यत्किंचित् परिविष्यते ।
दुराचारैश्च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ १० ॥
ये भागा रक्षसां प्राप्तास्त उक्ता भरतर्षभ ।

घीकी-आहुति दिये बिना ही जो कुछ परोसा जाता है तथा जिसमेंसे पहले कुछ दुराचारी मनुष्योंको भोजन करा दिया गया हो, वह राक्षसोंका भाग माना गया है। भरतश्रेष्ठ ! अन्नके जो भाग राक्षसोंको प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन यहाँ किया गया ॥ १०½ ॥

अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे शृणु ॥ ११ ॥
यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तास्तथैव च ।
दैवे वाप्यथ पित्र्ये वा राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥१२॥

अब दान और भोजनके लिये ब्राह्मणकी परीक्षा करनेके विषयमें जो बात बतायी जाती है, उसे सुनो । राजन् ! जो ब्राह्मण पतित, जड या उन्मत्त हो गये हों, वे देवकार्य या पितृकार्यमें निमन्त्रण पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ११-१२ ॥

श्वित्री क्लीबश्च कुष्ठी च तथा यक्ष्महतश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चान्धो राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १३ ॥

राजन् ! जिसके शरीरमें सफेद दाग हो, जो कोढ़ी, नपुंसक, राजयक्ष्मासे पीड़ित, मृगीका रोगी और अन्धा हो, ऐसे लोग श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥१३॥

चिकित्सका देवलका वृथा नियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! चिकित्सक या वैद्य, देवालयके पुजारी, पाखण्डी और सोमरस बेचनेवाले ब्राह्मण निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥

गायना नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका योधकाश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १५ ॥

राजन् ! जो गाते-बजाते, नाचते, खेल-कूदकर तमाशा दिखाते, व्यर्थकी बातें बनाते और पहलवानी करते हैं, वे भी निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १५ ॥

होतारो वृषलानां च वृषलाध्यापकास्तथा ।
तथा वृषलशिष्याश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! जो शूद्रोंका यज्ञ कराते, उनको पढ़ाते अथवा स्वयं उनके शिष्य बनकर उनसे शिक्षा लेते या उनकी दासता करते हैं, वे भी निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥ १६ ॥

अनुयोक्ता च यो विप्रो अनुयुक्तश्च भारत ।
नार्हतस्तावपि श्राद्धं ब्रह्मविक्रयिणौ हि तौ ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो ब्राह्मण वेतन लेकर पढ़ाता और वेतन देकर पढ़ता है, वे दोनों ही वेदको बेचनेवाले हैं; अतः वे श्राद्धमें सम्मिलित करने योग्य नहीं हैं ॥ १७ ॥

अग्रणीर्यः कृतः पूर्वं वर्णावरपरिग्रहः ।
ब्राह्मणः सर्वविद्योऽपि राजन् नार्हति केतनम् ॥ १८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण पहले समाजका अगुआ रहा हो और पीछे उसने शूद्र-स्त्रीसे विवाह कर लिया हो, वह ब्राह्मण सम्पूर्ण विद्याओंका ज्ञाता होनेपर भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

अनग्नयश्च ये विप्रा मृतनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्च पतिताश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करते, जो मुर्दा ढोते, चोरी करते और जो पापोंके कारण पतित हो गये हैं, वे भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ १९ ॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपूर्वाश्च भारत ।
पुत्रिकापूर्वपुत्राश्च श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २० ॥

भारत ! जिनके विषयमें पहलेसे कुछ ज्ञात न हो, जो गाँवके अगुआ हों तथा पुत्रिका-धर्मके[1] अनुसार ब्याही गयी स्त्रीके गर्भमें उत्पन्न होकर नानाके घरमें निवास करते हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ २० ॥

ऋणकर्ता च यो राजन् यश्च वार्धुषिको नरः ।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ २१ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण रुपया-पैसा बढ़ानेके लिये लोगोंको ब्याजपर ऋण देता हो अथवा जो सस्ता अन्न खरीदकर उसे महँगे भावपर बेचता और उसका मुनाफा खाता हो अथवा प्राणियोंके क्रय-विक्रयसे जीविका चलाता हो, ऐसे ब्राह्मण श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

स्त्रीपूर्वाः काण्डपृष्ठाश्च यावन्तो भरतर्षभ ।
अजपा ब्राह्मणाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २२ ॥

जो स्त्रीकी कमाई खाते हों, वेश्याके पति हों और गायत्री-जप एवं संध्या-वन्दनसे हीन हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें सम्मिलित होने योग्य नहीं हैं ॥ २२ ॥

श्राद्धे दैवे च निर्दिष्टो ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
दातुः प्रतिग्रहीतुश्च शृणुष्वानुग्रहं पुनः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवयज्ञ और श्राद्धकर्ममें वर्जित ब्राह्मणका निर्देश किया गया । अब दान देने और लेनेवाले ऐसे पुरुषोंका वर्णन करता हूँ, जो श्राद्धमें निषिद्ध होनेपर भी किसी विशेष गुणके कारण अनुग्रहपूर्वक ग्राह्य माने गये हैं। उनके विषयमें सुनो ॥ २३ ॥

चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्येऽपि कर्षकाः ।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन् केतनक्षमाः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण व्रतका पालन करनेवाले, सद्गुणसम्पन्न, क्रियानिष्ठ और गायत्रीमन्त्रके ज्ञाता हों, वे खेती करनेवाले होनेपर भी उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २४ ॥

क्षात्रधर्मिणमप्याजौ केतयेत् कुलजं द्विजम् ।
न त्वेव वणिजं तात श्राद्धे च परिकल्पयेत् ॥ २५ ॥

तात ! जो कुलीन ब्राह्मण युद्धमें क्षत्रियधर्मका पालन करता हो, उसे भी श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये; परंतु जो वाणिज्य करता हो, उसे कभी श्राद्धमें सम्मिलित न करें ॥ २५ ॥

अग्निहोत्री च यो विप्रो ग्रामवासी च यो भवेत् ।
अस्तेनश्चातिथिज्ञश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २६ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्री हो, अपने ही गाँवका निवासी हो, चोरी न करता हो और अतिथिसत्कारमें प्रवीण हो, उसे भी निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २६ ॥

सावित्रीं जपते यस्तु त्रिकालं भरतर्षभ ।
भिक्षावृत्तिः क्रियावांश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २७ ॥

भरतभूषण नरेश ! जो तीनों समय गायत्री-मन्त्रका जप करता है, भिक्षासे जीविका चलाता है, और क्रियानिष्ठ है, वह श्राद्धमें निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २७ ॥

उदितास्तमितो यश्च तथैवास्तमितोदितः ।
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण उन्नत होकर तत्काल ही अवनत और अवनत होकर उन्नत हो जाता है एवं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है, वह थोड़ा दोषी हो तो भी उसे श्राद्धमें निमन्त्रण देना उचित है ॥ २८ ॥

---

१ जब कोई अपनी कन्याको इस शर्तपर ब्याहता है कि 'इससे जो पहला पुत्र होगा, उसे मैं गोद ले लूँगा और अपना पुत्र मानूँगा ।' तो उसे 'पुत्रिकाधर्मके अनुसार विवाह' कहते हैं । इस नियमसे प्राप्त होनेवाला पुत्र श्राद्धका अधिकारी नहीं है ।

अकल्कको ह्यतर्कश्च ब्राह्मणो भरतर्षभ।
संसर्गे भैक्ष्यवृत्तिश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो दम्भरहित, व्यर्थ तर्क-वितर्क न करनेवाला तथा सम्पर्क स्थापित करनेके योग्य घरसे भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करनेवाला है, वह ब्राह्मण निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २९ ॥

अव्रती कितवः स्तेनः प्राणिविक्रयिको वणिक्।
पश्चाच्च पीतवान् सोमं स राजन् केतनक्षमः ॥ ३० ॥

राजन् ! जो व्रतहीन, धूर्त, चोर, प्राणियोंका क्रय-विक्रय करनेवाला तथा वणिक्-वृत्तिसे जीविका चलानेवाला होकर भी पीछे यज्ञका अनुष्ठान करके उसमें सोमरसका पान कर चुका है, वह भी निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥३०॥

अर्जयित्वा धनं पूर्वं दारुणैरपि कर्मभिः।
भवेत् सर्वातिथिः पश्चात् स राजन् केतनक्षमः॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! जो पहले कठोर कर्मोंद्वारा भी धनका उपार्जन करके पीछे सब प्रकारसे अतिथियोंका सेवक हो जाता है, वह श्राद्धमें बुलाने योग्य है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मविक्रयनिर्दिष्टं स्त्रिया यच्चार्जितं धनम्।
अदेयं पितृविप्रेभ्यो यच्च क्लैब्यादुपार्जितम् ॥ ३२ ॥

जो धन वेद बेचकर लाया गया हो या स्त्रीकी कमाईसे प्राप्त हुआ हो अथवा लोगोंके सामने दीनता दिखाकर माँग लाया गया हो, वह श्राद्धमें ब्राह्मणोंको देने योग्य नहीं है ॥

क्रियमाणेऽपवर्गे च यो द्विजो भरतर्षभ।
न व्याहरति यद्युक्तं तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मण श्राद्धकी समाप्ति होनेपर 'अस्तु स्वधा' आदि तत्कालोचित वचनोंका प्रयोग नहीं करता है, उसे गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥३३॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा।
सोमक्षयश्च मांसं च यदारण्यं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! जिस दिन भी सुपात्र ब्राह्मण, दही, घी, अमावास्या तिथि तथा जंगली कन्द, मूल और फलोंका गूदा प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल है ॥३४॥

(मुहूर्तानां त्रयं पूर्वमह्नः प्रातरिति स्मृतम्।
जपध्यानादिभिस्तस्मिन् विप्रैः कार्यं शुभव्रतम् ॥

दिनका प्रथम तीन मुहूर्त प्रातःकाल कहलाता है। उसमें ब्राह्मणोंको जप और ध्यान आदिके द्वारा अपने लिये कल्याणकारी व्रत आदिका पालन करना चाहिये ॥

सङ्गवाख्यं त्रिभागं तु मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तकः।
लौकिकं सङ्गवेऽर्थ्यं च स्नानादि ह्यथ मध्यमे ॥

उसके बादका तीन मुहूर्त सङ्गव कहलाता है तथा सङ्गवके बादका तीन मुहूर्त मध्याह्न कहलाता है। सङ्गव कालमें लौकिक कार्य देखना चाहिये और मध्याह्नकालमें स्नान-संध्यावन्दन आदि करना उचित है ॥

चतुर्थमपराह्णं तु त्रिमुहूर्तं तु पित्र्यकम्।
सायाह्नस्त्रिमुहूर्तं च मध्यमं कविभिः स्मृतम् ॥)

मध्याह्नके बादका तीन मुहूर्त अपराह्ण कहलाता है। यह दिनका चौथा भाग पितृकार्यके लिये उपयोगी है। उसके बादका तीन मुहूर्त सायाह्न कहा गया है। इसे विद्वानोंने दिन और रातके बीचका समय माना है ॥

श्राद्धापवर्गे विप्रस्य स्वधा वै मुदिता भवेत्।
क्षत्रियस्यापि यो ब्रूयात् प्रीयन्तां पितरस्त्विति ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणके यहाँ श्राद्ध समाप्त होनेपर 'स्वधा सम्पद्यताम्' इस वाक्यका उच्चारण करनेपर पितरोंको प्रसन्नता होती है। क्षत्रियके यहाँ श्राद्धकी समाप्तिमें 'पितरः प्रीयन्ताम्' (पितर तृप्त हो जायँ) इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये ॥३५॥

अपवर्गे तु वैश्यस्य श्राद्धकर्मणि भारत।
अक्षय्यमभिधातव्यं स्वस्ति शूद्रस्य भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! वैश्यके घर श्राद्धकर्मकी समाप्तिपर 'अक्षय्यमस्तु' (श्राद्धका दान अक्षय हो) कहना चाहिये और शूद्रके श्राद्धकी समाप्तिके अवसरपर 'स्वस्ति' (कल्याण हो) इस वाक्यका उच्चारण करना उचित है ॥ ३६ ॥

पुण्याहवाचनं दैवं ब्राह्मणस्य विधीयते।
एतदेव निरोङ्कारं क्षत्रियस्य विधीयते ॥ ३७ ॥

इसी तरह जब ब्राह्मणके यहाँ देवकार्य होता हो, तब उसमें ॐकारसहित पुण्याहवाचनका विधान है (अर्थात् 'पुण्या भवन्तो ब्रुवन्तु—आपलोग पुण्याहवाचन करें' ऐसा यजमानके कहनेपर ब्राह्मणोंको 'ॐ पुण्याहम् ॐ पुण्याहम्' इस प्रकार कहना चाहिये)। यही वाक्य क्षत्रियके यहाँ बिना ॐकारके उच्चारण करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वैश्यस्य दैवे वक्तव्यं प्रीयन्तां देवता इति।
कर्मणामानुपूर्व्येण विधिपूर्वं कृतं शृणु ॥ ३८ ॥

वैश्यके घर देवकर्ममें 'प्रीयन्तां देवताः' इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये। अब क्रमशः तीनों वर्णोंके कर्मानुष्ठानकी विधि सुनो ॥ ३८ ॥

जातकर्मादिकाः सर्वास्त्रिषु वर्णेषु भारत।
ब्रह्मक्षत्रे हि मन्त्रोक्ता वैश्यस्य च युधिष्ठिर ॥ ३९ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! तीनों वर्णोंमें जातकर्म आदि समस्त संस्कारोंका विधान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंके सभी संस्कार वेद-मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक होने चाहिये ॥३९॥

विप्रस्य रशना मौञ्जी मौर्वी राजन्यगामिनी।
बाल्वजी ह्येव वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! उपनयनके समय ब्राह्मणको मूँजकी, क्षत्रियको प्रत्यञ्चाकी और वैश्यको शणकी मेखला धारण करनी चाहिये। यही धर्म है ॥ ४० ॥

(पालाशो द्विजदण्डः स्यादश्वत्थः क्षत्रियस्य तु ।
औदुम्बरश्च वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥)

ब्राह्मणका दण्ड पलाशका, क्षत्रियके लिये पीपलका और वैश्यके लिये गूलरका होना चाहिये । युधिष्ठिर ! ऐसा ही धर्म है॥

दातुः प्रतिग्रहीतुश्च धर्माधर्माविमौ शृणु ।
ब्राह्मणस्यानृतेऽधर्मः प्रोक्तः पातकसंज्ञितः ।
चतुर्गुणः क्षत्रियस्य वैश्यस्याष्टगुणः स्मृतः ॥ ४१ ॥

अब दान देने और दान लेनेवालेके धर्माधर्मका वर्णन सुनो । ब्राह्मणको झूठ बोलनेसे जो अधर्म या पातक बताया गया है, उससे चौगुना क्षत्रियको और आठगुना वैश्यको लगता है ॥ ४१ ॥

नान्यत्र ब्राह्मणोऽश्नीयात् पूर्वं विप्रेण केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां तुल्यधर्मो भवेत् स हि॥ ४२ ॥

यदि किसी ब्राह्मणने पहलेसे ही श्राद्धका निमन्त्रण दे रखा हो तो निमन्त्रित ब्राह्मणको दूसरी जगह जाकर भोजन नहीं करना चाहिये । यदि वह करता है तो छोटा समझा जाता है और उसे पशुहिंसाके समान पाप लगता है ॥ ४२ ॥

तथा राजन्यवैश्याभ्यां यद्यश्नीयात्तु केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां भागार्धं समवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

यदि उस क्षत्रिय या वैश्यने पहलेसे निमन्त्रण दे रखा हो और वह कहीं अन्यत्र जाकर भोजन कर ले तो छोटा समझे जानेके साथ ही वह पशुहिंसाके आधे पापका भागी होता है ॥ ४३ ॥

दैवं वाप्यथवा पित्र्यं योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
अस्नातो ब्राह्मणो राजंस्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४४ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंके यहाँ देवयज्ञ अथवा श्राद्धमें स्नान किये बिना ही भोजन करता है, उसे गौकी झूठी शपथ खानेके समान पाप लगता है ॥ ४४ ॥

आशौचो ब्राह्मणो राजन् योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात् तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४५ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अपने घरमें अशौच रहते हुए भी लोभवश जान-बूझकर दूसरे ब्राह्मण आदिके यहाँ श्राद्धका अन्न ग्रहण करता है, उसे भी गौकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४५ ॥

अर्थेनान्येन यो लिप्सेत् कर्मार्थं चैव भारत ।
आमन्त्रयति राजेन्द्र तस्याधर्मोऽनृतं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जो तीर्थयात्रा आदि दूसरा प्रयोजन बताकर उसीके बहाने अपनी जीविकाके लिये धन माँगता है अथवा 'मुझे अमुक (यज्ञादि) कर्म करनेके लिये धन दीजिये' ऐसा कहकर जो दाताको अपनी ओर अभिमुख करता है, उसके लिये भी वही झूठी शपथ खानेका पाप बताया गया है ॥

अवेदव्रतचारित्रास्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर ।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदव्रतका पालन न करनेवाले ब्राह्मणोंको श्राद्धमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक अन्न परोसते हैं, उन्हें भी गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पित्र्यं वाप्यथवा दैवं दीयते यत् पितामह ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं दत्तं केषु महाफलम् ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवयज्ञ अथवा श्राद्ध कर्ममें जो दान दिया जाता है, वह कैसे पुरुषोंको देनेसे महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ? मैं इस बातको जानना चाहता हूँ ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
उच्छेषपरिशेषं हि तान् भोजय युधिष्ठिर ॥ ४९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जैसे किसान वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार जिनके घरोंकी स्त्रियाँ अपने स्वामीके खा लेनेपर बचे हुए अन्नकी प्रतीक्षा करती रहती हैं (अर्थात् जिनके घरमें बनी हुई रसोईके सिवा और कोई अन्नका संग्रह न हो), उन निर्धन ब्राह्मणोंको तुम अवश्य भोजन कराओ ॥ ४९ ॥

चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः ।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५० ॥

राजन् ! जो सदाचारपरायण हों, जिनकी जीविकाका साधन नष्ट हो गया हो और इसीलिये भोजन न मिलनेके कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गये हों, ऐसे लोग यदि याचक होकर दाताके पास आते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५० ॥

तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्बलास्तदपाश्रयाः ।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! जो सदाचारके ही भक्त हैं, जिनके घरमें सदाचारका ही पालन होता है, जिन्हें सदाचारका ही बल है तथा जिन्होंने सदाचारका ही आश्रय ले रखा है, वे यदि आवश्यकता पड़नेपर याचना करते हैं तो उनको दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५१ ॥

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर ।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर ! चोरों और शत्रुओंके भयसे पीड़ित होकर आये हुए जो याचक केवल भोजन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५२ ॥

अकल्ककस्य विप्रस्य रौक्ष्यात् करकृतात्मनः ।
वटवो यस्य भिक्षन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥

जिसके मनमें किसी तरहका कपट नहीं है, अत्यन्त

दरिद्रताके कारण जिसके हाथमें अन्न आते ही उसके भूखे बच्चे 'मुझे दो, मुझे दो' ऐसा कहकर माँगने लगते हैं; ऐसे निर्धन ब्राह्मण और उसके उन बच्चोंको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५३ ॥

हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसम्प्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥

देशमें विप्लव होनेके समय जिनके धन और स्त्रियाँ छिन गयी हों, वे ब्राह्मण यदि धनकी याचनाके लिये आयें तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५४ ॥

व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्राः श्रुतसम्मताः ।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥ ५५ ॥

जो व्रत और नियममें लगे हुए ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंकी सम्मतिके अनुसार चलते हैं और अपने व्रतकी समाप्तिके लिये धन चाहते हैं, उन्हें देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

अत्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाषण्डसमयेषु च ।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥

जो पाखण्डियोंके धर्मसे दूर रहते हैं, जिनके पास धनका अभाव है तथा जो अन्न न मिलनेके कारण दुर्बल हो गये हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५६ ॥

(व्रतानां पारणार्थाय गुर्वर्थे यज्ञदक्षिणाम् ।
निवेशार्थं च विद्वांसस्तेषां दत्तं महाफलम् ॥

जो विद्वान् पुरुष व्रतोंका पारण, गुरुदक्षिणा, यज्ञदक्षिणा तथा विवाहके लिये धन चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

पित्रोश्च रक्षणार्थाय पुत्रदारार्थमेव वा ।
महाव्याधिविमोक्षाय तेषु दत्तं महाफलम् ॥

जो माता-पिताकी रक्षाके लिये, स्त्री-पुत्रोंके पालन तथा महान् रोगोंसे छुटकारा पानेके लिये धन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

बालाः स्त्रियश्च वाञ्छन्ति सुभक्तं चाप्यसाधनाः ।
स्वर्गमायान्ति दत्त्वैषां निरयान् नोपयान्ति ते ॥)

जो बालक और स्त्रियाँ सब प्रकारके साधनोंसे रहित होनेके कारण केवल भोजन चाहती हैं, उन्हें भोजन देकर दाता स्वर्गमें जाते हैं । वे नरकमें नहीं पड़ते हैं ॥

कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः ।
स्पृहयन्ति च भुक्त्वान्नं तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥

प्रभावशाली डाकुओंने जिन निर्दोष मनुष्योंका सर्वस्व छीन लिया हो, अतः जो खानेके लिये अन्न चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५७ ॥

तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये ।
अर्थिनः किञ्चिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥

जो तपस्वी और तपोनिष्ठ हैं तथा तपस्वी जनोंके लिये ही भीख माँगते हैं, ऐसे याचक यदि कुछ चाहते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५८ ॥

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! किनको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, यह विषय मैंने तुम्हें सुना दिया । अब जिन कर्मोंसे मनुष्य नरक या स्वर्गमें जाते हैं, उन्हें सुनो ॥ ५९ ॥

गुर्वर्थमभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर ।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर ! गुरुकी भलाईके लिये तथा दूसरेको भयसे मुक्त करनेके लिये जो झूठ बोलनेका अवसर आता है, उसे छोड़कर अन्यत्र जो झूठ बोलते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६० ॥

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ६१ ॥

जो दूसरोंकी स्त्री चुरानेवाले, परायी स्त्रीका सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा दूत बनकर परस्त्रीको दूसरोंसे मिलानेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६१ ॥

ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः ।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६२ ॥

जो दूसरोंके धनको हड़पनेवाले और नष्ट करनेवाले हैं तथा दूसरोंकी चुगली खानेवाले हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ६२ ॥

प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां च भारत ।
अगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ६३ ॥

भरतनन्दन ! जो पौसलों, सभाओं, पुलों और किसीके घरोंको नष्ट करनेवाले हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं।६३।

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम् ।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६४ ॥

जो लोग अनाथ, बूढ़ी, तरुणी, बालिका, भयभीत और तपस्विनी स्त्रियोंको धोखेमें डालते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६४ ॥

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत ।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६५ ॥

भरतनन्दन ! जो दूसरोंकी जीविका नष्ट करते, घर उजाड़ते, पति-पत्नीमें विछोह डालते, मित्रोंमें विरोध पैदा करते और किसीकी आशा भङ्ग करते हैं, वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं ॥ ६५ ॥

सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्त्युपजीवकाः ।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥ ६६ ॥

जो चुगली खानेवाले, कुल या धर्मकी मर्यादा नष्ट करनेवाले, दूसरोंकी जीविकापर गुजारा करनेवाले तथा मित्रोंद्वारा

किये गये उपकारको भुला देनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ६६ ॥

पाषण्डा दूषकाश्चैव समयानां च दूषकाः ।
ये प्रत्यवसिताश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६७ ॥

जो पाखण्डी, निन्दक, धार्मिक नियमोंके विरोधी तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें लौट आनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६७ ॥

विषमव्यवहाराश्च विषमाश्चैव वृद्धिषु ।
लाभेषु विषमाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६८ ॥

जिनका व्यवहार सबके प्रति समान नहीं है तथा जो लाभ और वृद्धिमें विषम दृष्टि रखते हैं—ईमानदारीसे उसका वितरण नहीं करते हैं, वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं।६८।

दूतसंव्यवहाराश्च निष्परीक्षाश्च मानवाः ।
प्राणिहिंसाप्रवृत्ताश्च ते वै निरयगामिनः ॥ ६९ ॥

जो किसी मनुष्यकी परख करनेमें समर्थ नहीं हैं और दूतका काम करते हैं, जिनकी सदा जीवहिंसामें प्रवृत्ति होती है, वे निश्चय ही नरकमें गिरते हैं ॥ ६९ ॥

कृताशं कृतनिर्देशं कृतभक्तं कृतश्रमम् ।
भेदैर्ये व्यपकर्षन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७० ॥

जो वेतनपर रखे हुए परिश्रमी नौकरको कुछ देनेकी आशा देकर और देनेका समय नियत करके उसके पहले ही भेदनीतिके द्वारा उसे मालिकके यहाँसे निकलवा देते हैं, वे अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥ ७० ॥

पर्यश्नन्ति च ये दारानग्निभृत्यातिथींस्तथा ।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ७१॥

जो पितरों और देवताओंके यजन-पूजनका त्याग करके अग्निमें आहुति दिये बिना तथा अतिथि, पोष्यवर्ग और स्त्री-बच्चोंको अन्न दिये बिना ही भोजन कर लेते हैं, वे निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥ ७१ ॥

वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७२ ॥

जो वेद बेचते हैं, वेदोंकी निन्दा करते हैं और विक्रयके लिये ही वेदोंके मन्त्र लिखते हैं, वे भी निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ७२ ॥

चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः ।
विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य चारों आश्रमों और वेदोंकी मर्यादासे बाहर हैं तथा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे ही जीविका चलाते हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ७३ ॥

केशविक्रयिका राजन् विषविक्रयिकाश्च ये ।
क्षीरविक्रयिकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७४ ॥

राजन्! जो (ब्राह्मण) केश, विष और दूध बेचते हैं, वे भी नरकमें ही जाते हैं ॥ ७४ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर ।
येऽन्तरं यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर! जो ब्राह्मण, गौ तथा कन्याओंके लिये हितकर कार्यमें विघ्न डालते हैं, वे भी अवश्य ही नरकगामी होते हैं ॥ ७५ ॥

शस्त्रविक्रयिकाश्चैव कर्तारश्च युधिष्ठिर ।
शल्यानां धनुषां चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७६ ॥

राजा युधिष्ठिर! जो (ब्राह्मण) हथियार बेचते और धनुष-बाण आदि शस्त्रोंको बनाते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ७६ ॥

शिलाभिः शङ्कुभिर्वापि श्वभ्रैर्वा भरतर्षभ ।
ये मार्गमनुरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो पत्थर रखकर, काँटे बिछाकर और गड्ढे खोदकर रास्ता रोकते हैं, वे भी नरकमें ही गिरते हैं ॥७७॥

उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च भक्तांश्च भरतर्षभ ।
ये त्यजन्त्यविकारांस्त्रींस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७८ ॥

भरतभूषण! जो अध्यापकों, सेवकों तथा अपने भक्तों-को बिना किसी अपराधके ही त्याग देते हैं, उन्हें भी नरकमें ही गिरना पड़ता है ॥ ७८ ॥

अप्राप्तदमकाश्चैव नासानां वेधकाश्च ये ।
बन्धकाश्च पशूनां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७९ ॥

जो काबूमें न आनेवाले पशुओंका दमन करते, नाथते अथवा कटघरेमें बंद करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥७९॥

अगोप्तारश्च राजानो बलिषड्भागतस्कराः ।
समर्थाश्चाप्यदातारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ८० ॥

जो राजा होकर भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते और उसकी आमदनीके छठे भागको लगानके रूपमें लूटते रहते हैं तथा जो समर्थ होनेपर भी दान नहीं करते, उन्हें भी निःसंदेह नरकमें जाना पड़ता है ॥ ८० ॥

(संश्रुत्य चाप्रदातारो दरिद्राणां विनिन्दकाः ।
श्रोत्रियाणां विनीतानां दरिद्राणां विशेषतः ॥
क्षमिणां निन्दकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ।)

जो देनेकी प्रतिज्ञा करके भी नहीं देते, दरिद्रोंकी ए[illegible] विनयशील निर्धन श्रोत्रियोंकी और क्षमाशीलोंकी निन्दा कर[illegible] हैं, वे भी अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥

क्षान्तान् दान्तांस्तथा प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ८१ ॥

जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा दीर्घकालतक साथ र[illegible] हुए विद्वानोंको अपना काम निकल जानेके बाद त्याग दे[illegible] हैं, वे नरकमें गिरते हैं ॥ ८१ ॥

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः ।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ ८२ ॥

जो बालकों, बूढ़ों और सेवकोंको दिये बिना ही पहले स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे भी निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥

एते पूर्वं विनिर्दिष्टाः प्रोक्ता निरयगामिनः ।
भागिनः स्वर्गलोकस्य वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके संकेतके अनुसार यहाँ नरकगामी मनुष्योंका वर्णन किया गया है । अब स्वर्गलोकमें जानेवालोंका परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८३ ॥

सर्वेष्वेव तु कार्येषु दैवपूर्वेषु भारत ।
हन्ति पुत्रान् पशून् कृत्स्नान् ब्राह्मणातिक्रमः कृतः॥८४॥

भरतनन्दन ! जिनमें पहले देवताओंकी पूजा की जाती है, उन समस्त कार्योंमें यदि ब्राह्मणका अपमान किया जाय तो वह अपमान करनेवालेके समस्त पुत्रों और पशुओंका नाश कर देता है ॥ ८४ ॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर ।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८५ ॥

जो दान, तपस्या और सत्यके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८५ ॥

शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च विद्यामादाय भारत ।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८६ ॥

भारत ! जो गुरुशुश्रूषा और तपस्यापूर्वक वेदाध्ययन करके प्रतिग्रहमें आसक्त नहीं होते, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं ॥८६॥

भयात्पापात्तथा बाधाद् दारिद्र्याद् व्याधिधर्षणात् ।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८७ ॥

जिनके प्रयत्नसे मनुष्य भय, पाप, बाधा, दरिद्रता तथा व्याधिजनित पीड़ासे छुटकारा पा जाते हैं, वे लोग स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८७ ॥

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः ।
मङ्गलाचारसम्पन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ८८ ॥

जो क्षमावान्, धीर, धर्मकार्यके लिये उद्यत रहनेवाले और माङ्गलिक आचारसे सम्पन्न हैं, वे पुरुष भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८८ ॥

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च ।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८९ ॥

जो मद, मांस, मदिरा और परस्त्रीसे दूर रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ८९ ॥

आश्रमाणां च कर्तारः कुलानां चैव भारत ।
देशानां नगराणां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९० ॥

भारत ! जो आश्रम, कुल, देश और नगरके निर्माता तथा संरक्षक हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९० ॥

वस्त्राभरणदातारो भक्तपानान्नदास्तथा ।
कुटुम्बानां च दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९१ ॥

जो वस्त्र, आभूषण, भोजन, पानी तथा अन्न दान करते हैं एवं दूसरोंके कुटुम्बकी वृद्धिमें सहायक होते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९१ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९२ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाओंसे अलग रहते हैं, सब कुछ सहते हैं और सबको आश्रय देते रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९२ ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः ।
भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९३ ॥

जो जितेन्द्रिय होकर माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंपर स्नेह रखते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत ।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९४ ॥

भारत ! जो धनी, बलवान् और नौजवान होकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे धीर पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९४ ॥

अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः ।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९५ ॥

जो अपराधियोंके प्रति भी दया करते हैं, जिनका स्वभाव मृदुल होता है, जो मृदुल स्वभाववाले व्यक्तियोंपर प्रेम रखते हैं तथा जिन्हें दूसरोंकी आराधना (सेवा) करनेमें ही सुख मिलता है, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९५ ॥

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः ।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९६ ॥

जो मनुष्य सहस्रों मनुष्योंको भोजन परोसते, सहस्रोंको दान देते तथा सहस्रोंकी रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९६ ॥

सुवर्णस्य च दातारो गवां च भरतर्षभ ।
यानानां वाहनानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो सुवर्ण, गौ, पालकी और सवारीका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९७ ॥

वैवाहिकानां द्रव्याणां प्रेष्याणां च युधिष्ठिर ।
दातारो वाससां चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर ! जो वैवाहिक द्रव्य, दास-दासी तथा वस्त्र दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९८ ॥

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः ।
वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९९ ॥

जो दूसरोंके लिये आश्रम, गृह, उद्यान, कुआँ, बगीचा, धर्मशाला, पौंसला तथा चहारदीवारी बनवाते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९९ ॥

निवेशनानां क्षेत्राणां वसतीनां च भारत ।
दातारः प्रार्थितानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१००॥

भरतनन्दन ! जो याचकोंकी याचनाके अनुसार घर, खेत और गाँव प्रदान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०० ॥

रसानां चाथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर ।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! जो स्वयं ही पैदा करके रस, बीज और अन्नका दान करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ १०१ ॥

यस्मिंस्तस्मिन् कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः ।
सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०२॥

जो किसी भी कुलमें उत्पन्न हो बहुत-से पुत्रों और सौ वर्षकी आयुसे युक्त होते हैं, दूसरोंपर दया करते हैं और क्रोधको काबूमें रखते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥१०२॥

एतदुक्तममुत्रार्थं दैवं पित्र्यं च भारत ।
दानधर्मं च दानस्य यत् पूर्वमृषिभिः कृतम् ॥१०३॥

भारत ! यह मैंने तुमसे परलोकमें कल्याण करनेवाले देवकार्य और पितृकार्यका वर्णन किया तथा प्राचीनकालमें ऋषियोंद्वारा बतलाये हुए दानधर्म और दानकी महिमाका भी निरूपण किया है ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्वर्गनरकगामिवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्वर्ग और नरकमें जानेवालोंका वर्णनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल १११½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके समान पापोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वापि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतवंशी नरेश ! अब आप मुझे यह ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप कैसे लगता है ? ॥१॥

भीष्म उवाच

व्यासमामन्त्र्य राजेन्द्र पुरा यत् पृष्टवानहम् ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! पूर्वकालमें मैंने एक बार व्यासजीको बुलाकर उनसे जो प्रश्न किया था (तथा उन्होंने मुझे उसका जो उत्तर दिया था), वह सब तुम्हें बता रहा हूँ । तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

चतुर्थस्त्वं वसिष्ठस्य तत्त्वमाख्याहि मे मुने ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते ॥ ३ ॥

मैंने पूछा था, 'मुने ! आप वसिष्ठजीके वंशजोंमें चौथी पीढ़ीके पुरुष हैं । कृपया मुझे यह ठीक-ठीक बताइये कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी किन कर्मोंके करनेसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ?' ॥ ३ ॥

इति पृष्टो मया राजन् पराशरशरीरजः ।
अब्रवीन्निपुणो धर्मे निःसंशयमनुत्तमम् ॥ ४ ॥

राजन् ! मेरे द्वारा इस प्रकार पूछनेपर पराशर-पुत्र धर्मनिपुण व्यासजीने यह संदेहरहित परम उत्तम बात कही—॥४॥

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ५ ॥

'भीष्म ! जिसकी जीविकावृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेके लिये स्वयं बुलाकर जो पीछे देनेसे इनकार कर देता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझो ॥ ५ ॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य तटस्थ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जो प्याससे पीड़ित हुई गौओंके पानी पीनेमें विघ्न डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती जाने ॥ ७ ॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ८ ॥

'जो मनुष्य उत्तम कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियों और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसको भी ब्रह्मघाती ही समझो ॥ ८ ॥

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ९ ॥

जो अपनी रूपवती कन्याकी बड़ी उम्र हो जानेपर भी उसका योग्य वरके साथ विवाह नहीं करता, उसे ब्रह्महत्यारा जाने ॥ ९ ॥

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ १० ॥

'जो पापपरायण मूढ़ मनुष्य ब्राह्मणोंको अकारण ही मर्मभेदी शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ १० ॥

चक्षुषा विप्रहीणस्य पंगुलस्य जडस्य वा ।
हरेत यो वै सर्वस्वं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ११ ॥

'जो अन्धे, लूले और गूँगे मनुष्योंका सर्वस्व हर लेता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ ११ ॥

आश्रमे वा वने वापि ग्रामे वा यदि वा पुरे ।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ १२ ॥

'जो मोहवश आश्रम, वन, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही समझना चाहिये' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्रह्मघ्नकथने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्महत्यारोंका कथनविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंके माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्नानं च भरतर्षभ ।
श्रवणं च महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाज्ञानी भरतश्रेष्ठ ! तीर्थोंका दर्शन, उनमें किया जानेवाला स्नान और उनकी महिमाका श्रवण श्रेयस्कर बताया गया है । अतः मैं तीर्थोंका यथावत् रूपसे वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि भरतर्षभ ।
वक्तुमर्हसि मे तानि श्रोतास्मि नियतं प्रभो ॥ २ ॥

भरतभूषण ! इस पृथ्वीपर जो-जो पवित्र तीर्थ हैं, उन्हें मैं नियमपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप उन्हें बतलानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इममङ्गिरसा प्रोक्तं तीर्थवंशं महाद्युते ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महातेजस्वी नरेश ! पूर्वकालमें अङ्गिरामुनिने तीर्थसमुदायका वर्णन किया था । तुम्हारा भला हो, तुम उसीको सुनो । इससे तुम्हें उत्तम धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ ३ ॥

तपोवनगतं विप्रमभिगम्य महामुनिम् ।
पप्रच्छाङ्गिरसं धीरं गौतमः संशितव्रतः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, महामुनि विप्रवर धैर्यवान् अङ्गिरा अपने तपोवनमें विराजमान थे । उस समय कठिन व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गौतमने उनके पास जाकर पूछा—॥४॥

अस्ति मे भगवन् कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंस महामुने ॥ ५ ॥

'भगवन् ! महामुने ! मुझे तीर्थोंके सम्बन्धमें कुछ धर्मविषयक संदेह है । वह सब मैं सुनना चाहता हूँ । आप कृपया मुझे बताइये ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य फलं किं स्यात्तेषु तीर्थेषु वै मुने ।
प्रेत्यभावे महाप्राज्ञ तद् यथास्ति तथा वद ॥ ६ ॥

'महाज्ञानी मुनीश्वर ! उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मृत्युके बाद किस फलकी प्राप्ति होती है ? इस विषयमें जैसी वस्तुस्थिति है, वह बताइये' ॥ ६ ॥

अङ्गिरा उवाच

सप्ताहं चन्द्रभागां वै वितस्तामूर्मिमालिनीम् ।
विगाह्य वै निराहारो निर्मलो मुनिवद् भवेत् ॥ ७ ॥

अङ्गिराने कहा—मुने ! मनुष्य उपवास करके चन्द्रभागा (चनाव) और तरङ्गमालिनी वितस्ता (झेलम) में सात दिनतक स्नान करे तो मुनिके समान निर्मल हो जाता है ॥ ७ ॥

काश्मीरमण्डले नद्यो याः पतन्ति महानदम् ।
ता नदीः सिन्धुमासाद्य शीलवान् स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ८ ॥

काश्मीर प्रान्तकी जो-जो नदियाँ महानद सिन्धुमें मिलती हैं, उनमें तथा सिन्धुमें स्नान करके शीलवान् पुरुष मरनेके बाद स्वर्गमें जाता है ॥ ८ ॥

पुष्करं च प्रभासं च नैमिषं सागरोदकम् ।
देविकामिन्द्रमार्गं च स्वर्णबिन्दुं विगाह्य च ॥ ९ ॥
विबोध्यते विमानस्थः सोऽप्सरोभिरभिष्टुतः ।

पुष्कर, प्रभास, नैमिषारण्य, सागरोदक (समुद्रजल), देविका, इन्द्रमार्ग तथा स्वर्णबिन्दु—इन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विमानपर बैठकर स्वर्गमें जाता है और अप्सराएँ उसकी स्तुति करती हुई उसे जगाती हैं ॥ ९½ ॥

हिरण्यबिन्दुं विक्षोभ्य प्रयतश्चाभिवाद्य च ॥ १० ॥
कुशेशयं च देवं तं धूयते तस्य किल्बिषम् ।

जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हिरण्यबिन्दु तीर्थमें स्नान करके वहाँके प्रमुख देवता भगवान् कुशेशयको प्रणाम करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं ॥

इन्द्रतोयां समासाद्य गन्धमादनसंनिधौ ॥ ११ ॥
करतोयां कुरङ्गे च त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति विगाह्य प्रयतः शुचिः ॥ १२ ॥

गन्धमादन पर्वतके निकट इन्द्रतोया नदीमें और कुरङ्ग-क्षेत्रके भीतर करतोया नदीमें संयतचित्त एवं शुद्धभावसे स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ११-१२ ॥

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते।
तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत्॥ १३॥

गङ्गाद्वार, कुशावर्त, बिल्वक तीर्थ, नील पर्वत तथा कनखलमें स्नान करके पापरहित हुआ मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है ॥ १३ ॥

अपां ह्रद उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत्।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधस्त्वहिंसकः॥ १४॥

यदि कोई क्रोधहीन, सत्यप्रतिज्ञ और अहिंसक होकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक सलिलह्रद नामक तीर्थमें डुबकी लगाये तो उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १४ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा पतते दिशमुत्तराम्।
महेश्वरस्य त्रिस्थाने यो नरस्त्वभिषिच्यते॥ १५॥
एकमासं निराहारः स पश्यति हि देवताः।

जहाँ उत्तर दिशामें भागीरथी गङ्गा गिरती हैं और वहाँ उनका स्रोत तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है, वह भगवान् महेश्वरका त्रिस्थान नामक तीर्थ है। जो मनुष्य एक मासतक निराहार रहकर वहाँ स्नान करता है, उसे देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ १५½ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च इन्द्रमार्गे च तर्पयन्॥ १६॥
सुधां वै लभते भोक्तुं यो नरो जायते पुनः।

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और इन्द्रमार्गमें पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य यदि पुनर्जन्म लेता है तो उसे अमृत भोजन मिलता है (अर्थात् वह देवता हो जाता है।) ॥१६½॥

महाश्रम उपस्पृश्य योऽग्निहोत्रपरः शुचिः॥ १७॥
एकमासं निराहारः सिद्धिं मासेन स व्रजेत्।

महाश्रम तीर्थमें स्नान करके प्रतिदिन पवित्र भावसे अग्निहोत्र करते हुए जो एक महीनेतक उपवास करता है, वह उतने ही समयमें सिद्ध हो जाता है ॥ १७½ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य भृगुतुङ्गे त्वलोलुपः॥ १८॥
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया।

जो लोभका त्याग करके भृगुतुङ्ग-क्षेत्रके महाह्रद नामक तीर्थमें स्नान करता है और तीन राततक भोजन छोड़ देता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १८½ ॥

कन्याकूप उपस्पृश्य बलाकायां कृतोदकः॥ १९॥
देवेषु लभते कीर्तिं यशसा च विराजते॥ २०॥

कन्याकूपमें स्नान करके बलाका तीर्थमें तर्पण करनेवाला पुरुष देवताओंमें कीर्ति पाता है और अपने यशसे प्रकाशित होता है ॥ १९-२० ॥

देविकायामुपस्पृश्य तथा सुन्दरिकाह्रदे।
अश्विन्यां रूपवर्चस्कं प्रेत्य वै लभते नरः॥ २१॥

देविकामें स्नान करके सुन्दरिकाकुण्ड और अश्विनीतीर्थमें स्नान करनेपर मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें मनुष्यको रूप और तेजकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

महागङ्गामुपस्पृश्य कृत्तिकाङ्गारके तथा।
पक्षमेकं निराहारः स्वर्गमाप्नोति निर्मलः॥ २२॥

महागङ्गा और कृत्तिकाङ्गारक तीर्थमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य निर्मल—निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २२ ॥

वैमानिक उपस्पृश्य किङ्किणीकाश्रमे तथा।
निवासेऽप्सरसां दिव्ये कामचारी महीयते॥ २३॥

जो वैमानिक और किङ्किणीकाश्रमतीर्थमें स्नान करता है वह अप्सराओंके दिव्यलोकमें जाकर सम्मानित होता और इच्छानुसार विचरता है ॥ २३ ॥

कालिकाश्रममासाद्य विपाशायां कृतोदकः।
ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं मुच्यते भवात्॥ २४॥

जो कालिकाश्रममें स्नान करके विपाशा (व्यास) नदीमें पितरोंका तर्पण करता है और क्रोधको जीतकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तीन रात वहाँ निवास करता है, वह जन्म मरणके बन्धनसे छूट जाता है ॥ २४ ॥

आश्रमे कृत्तिकानां तु स्नात्वा यस्तर्पयेत् पितॄन्।
तोषयित्वा महादेवं निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥ २५॥

जो कृत्तिकाश्रममें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता है और महादेवजीको संतुष्ट करता है, वह पापमुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २५ ॥

महापुर उपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितः शुचिः।
त्रसानां स्थावराणां च द्विपदानां भयं त्यजेत्॥ २६॥

महापुरतीर्थमें स्नान करके पवित्रतापूर्वक तीन रात उपवास करनेसे मनुष्य चराचर प्राणियों तथा मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले भयको त्याग देता है ॥ २६ ॥

देवदारुवने स्नात्वा धूतपाप्मा कृतोदकः।
देवलोकमवाप्नोति सप्तरात्रोषितः शुचिः॥ २७॥

जो देवदारुवनमें स्नान करके तर्पण करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं तथा जो वहाँ सात राततक निवास करता है, वह पवित्र हो, मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥२७॥

शरस्तम्बे कुशस्तम्बे द्रोणशर्मपदे तथा।
अपां प्रपतनासेवी सेव्यते सोऽप्सरोगणैः॥ २८॥

जो शरस्तम्ब, कुशस्तम्ब और द्रोणशर्मपदतीर्थके झरनोंमें स्नान करता है, वह स्वर्गमें अप्सराओंद्वारा सेवित होता है ॥

चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले।
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेव्यते॥ २९॥

जो चित्रकूटमें मन्दाकिनीके जलमें तथा जनस्थानमें गोदावरीके जलमें स्नान करके उपवास करता है, वह पुरुष राजलक्ष्मीसे सेवित होता है ॥ २९ ॥

श्यामायास्त्वाश्रमं गत्वा उषित्वा चाभिषिच्य च ।
एकपक्षं निराहारस्त्वन्तर्धानफलं लभेत् ॥ ३० ॥

श्यामाश्रममें जाकर वहाँ स्नान, निवास तथा एक पक्षतक उपवास करनेवाला पुरुष अन्तर्धानके फलको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

कौशिकीं तु समासाद्य वायुभक्षस्त्वलोलुपः ।
एकविंशतिरात्रेण स्वर्गमारोहते नरः ॥ ३१ ॥

जो कौशिकी नदीमें स्नान करके लोलुपता त्यागकर इक्कीस रातोंतक केवल हवा पीकर रह जाता है, वह मनुष्य स्वर्गको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मतङ्गवाप्यां यः स्नायादेकरात्रेण सिद्ध्यति ।
विगाहति ह्यनालम्बमन्धकं वै सनातनम् ॥ ३२ ॥
नैमिषे स्वर्गतीर्थे च उपस्पृश्य जितेन्द्रियः ।
फलं पुरुषमेधस्य लभेन्मासं कृतोदकः ॥ ३३ ॥

जो मतङ्गवापी तीर्थमें स्नान करता है, उसे एक रातमें सिद्धि प्राप्त होती है । जो अनालम्ब, अन्धक और सनातन तीर्थमें गोता लगाता है तथा नैमिषारण्यके स्वर्गतीर्थमें स्नान करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक मासतक पितरोंको जलाञ्जलि देता है, उसे पुरुषमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ३२-३३ ॥

गङ्गाह्रद उपस्पृश्य तथा चैवोत्पलावने ।
अश्वमेधमवाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३४ ॥

जो गङ्गाह्रद और उत्पलावनतीर्थमें स्नान करके एक मासतक वहाँ पितरोंका तर्पण करता है, वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ३४ ॥

गङ्गायमुनयोस्तीर्थे तथा कालञ्जरे गिरौ ।
दशाश्वमेधानाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३५ ॥

गङ्गा-यमुनाके सङ्गमतीर्थमें तथा कालञ्जरतीर्थमें एक मासतक स्नान और तर्पण करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

षष्टिह्रद उपस्पृश्य चान्नदानाद् विशिष्यते ।
दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथा पराः ॥ ३६ ॥
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! षष्टिह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे अन्नदानसे भी अधिक फल प्राप्त होता है । माघ मासकी अमावास्याको प्रयागराजमें तीन करोड़ दस हजार अन्य तीर्थोंका समागम होता है ॥ ३६½ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ॥ ३७ ॥
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ।

भरतश्रेष्ठ ! जो नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते हुए माघके महीनेमें प्रयागमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गमें जाता है ॥ ३७½ ॥

मरुद्गण उपस्पृश्य पितॄणामाश्रमे शुचिः ॥ ३८ ॥
वैवस्वतस्य तीर्थे च तीर्थभूतो भवेन्नरः ।

जो पवित्र भावसे मरुद्गण तीर्थ, पितरोंके आश्रम तथा वैवस्वततीर्थमें स्नान करता है, वह मनुष्य स्वयं तीर्थरूप हो जाता है ॥ ३८ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ ३९ ॥
एकमासं निराहारः सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥

जो ब्रह्मसरोवर (पुष्करतीर्थ) और भागीरथी गङ्गामें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता और वहाँ एक मासतक निराहार रहता है, उसे चन्द्रलोककी प्राप्ति होती है । ३९-४० ।

उत्पातके नरः स्नात्वा अष्टावक्रे कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारो नरमेधफलं लभेत् ॥ ४१ ॥

उत्पातक तीर्थमें स्नान और अष्टावक्र तीर्थमें तर्पण करके बारह दिनोंतक निराहार रहनेसे नरमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

अश्मपृष्ठे गयायां च निरविन्दे च पर्वते ।
तृतीयां क्रौञ्चपद्यां च ब्रह्महत्यां विशुध्यते ॥ ४२ ॥

गयामें अश्मपृष्ठ (प्रेतशिला) पर पितरोंको पिण्ड देनेसे पहली, निरविन्द पर्वतपर पिण्डदान करनेसे दूसरी तथा क्रौञ्चपदी नामक तीर्थमें पिण्ड अर्पित करनेसे तीसरी ब्रह्महत्याको दूर करके मनुष्य सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

कलविङ्क उपस्पृश्य विद्याच्च बहुशो जलम् ।
अग्नेः पुरे नरः स्नात्वा अग्निकन्यापुरे वसेत् ॥ ४३ ॥

कलविङ्क तीर्थमें स्नान करनेसे अनेक तीर्थोंमें गोते लगानेका फल मिलता है । अग्निपुर तीर्थमें स्नान करनेसे अग्निकन्यापुरका निवास प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

करवीरपुरे स्नात्वा विशालायां कृतोदकः ।
देवह्रद उपस्पृश्य ब्रह्मभूतो विराजते ॥ ४४ ॥

करवीरपुरमें स्नान, विशालामें तर्पण और देवह्रदमें मज्जन करनेसे मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

पुनरावर्तनन्दां च महानन्दां च सेव्य वै ।
नन्दने सेव्यते दान्तस्त्वप्सरोभिरहिंसकः ॥ ४५ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग करके जितेन्द्रियभावसे आवर्तनन्दा और महानन्दा तीर्थका सेवन करता है, उसकी स्वर्गस्थ नन्दनवनमें अप्सराएँ सेवा करती हैं ॥ ४५ ॥

उर्वशीं कृत्तिकायोगे गत्वा चैव समाहितः ।
लौहित्ये विधिवत् स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ४६ ॥

जो कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिकाका योग होनेपर एकाग्र-

चित्त हो उर्वशी तीर्थ और लौहित्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करता है, उसे पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है ॥ ४६ ॥

रामह्रद उपस्पृश्य विपाशायां कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारः कल्मषाद् विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥

रामह्रद (परशुराम-कुण्ड) में स्नान और विपाशा नदीमें तर्पण करके बारह दिनोंतक उपवास करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४७ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य शुद्धेन मनसा नरः ।
एकमासं निराहारो जमदग्निगतिं लभेत् ॥ ४८ ॥

महाह्रदमें स्नान करके यदि मनुष्य शुद्ध-चित्तसे वहाँ एक मासतक निराहार रहे तो उसे जमदग्निके समान सद्गति प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

विन्ध्ये संताप्य चात्मानं सत्यसंधस्त्वहिंसकः ।
विनयात्तप आस्थाय मासेनैकेन सिध्यति ॥ ४९ ॥

जो हिंसाका त्याग करके सत्यप्रतिज्ञ होकर विन्ध्याचलमें अपने शरीरको कष्ट दे विनीतभावसे तपस्याका आश्रय लेकर रहता है, उसे एक महीनेमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४९ ॥

नर्मदायामुपस्पृश्य तथा शूर्पारकोदके ।
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते ॥ ५० ॥

नर्मदा नदी और शूर्पारक क्षेत्रके जलमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य दूसरे जन्ममें राजकुमार होता है ॥ ५० ॥

जम्बूमार्गे त्रिभिर्मासैः संयतः सुसमाहितः ।
अहोरात्रेण चैकेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५१ ॥

साधारण भावसे तीन महीनेतक जम्बूमार्गमें स्नान करनेसे तथा इन्द्रियसंयमपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक ही दिन स्नान करनेसे भी मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

कोकामुखे विगाह्याथ गत्वा चाञ्जलिकाश्रमम् ।
शाकभक्षश्चीरवासाः कुमारीर्विन्दते दश ॥ ५२ ॥
वैवस्वतस्य सदनं न स गच्छेत् कदाचन ।
यस्य कन्याह्रदे वासो देवलोकं स गच्छति ॥ ५३ ॥

जो कोकामुख तीर्थमें स्नान करके अञ्जलिकाश्रमतीर्थमें जाकर सागका भोजन करता हुआ चीरवस्त्र धारण करके कुछ कालतक निवास करता है, उसे दस बार कन्याकुमारी तीर्थके सेवनका फल प्राप्त होता है तथा उसे कभी यमराजके घर नहीं जाना पड़ता। जो कन्याकुमारी तीर्थमें निवास करता है, वह मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥५२-५३॥

प्रभासे त्वेकरात्रेण अमावास्यां समाहितः ।
सिध्यते तु महाबाहो यो नरो जायतेऽमरः ॥ ५४ ॥

महाबाहो! जो एकाग्रचित्त होकर अमावास्याको प्रभासतीर्थका सेवन करता है, उसे एक ही रातमें सिद्धि मिल जाती है तथा वह मृत्युके पश्चात् देवता होता है ॥ ५४ ॥

उज्जानक उपस्पृश्य आर्ष्टिषेणस्य चाश्रमे ।
पिङ्गायाश्चाश्रमे स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥

उज्जानकतीर्थमें स्नान करके आर्ष्टिषेणके आश्रम तथा पिङ्गाके आश्रममें गोता लगानेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५५ ॥

कुल्यायां समुपस्पृश्य जप्त्वा चैवाघमर्षणम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य कुल्यामें स्नान करके अघमर्षण मन्त्रका जप करता है तथा तीन राततक वहाँ उपवासपूर्वक रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

पिण्डारक उपस्पृश्य एकरात्रोषितो नरः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५७ ॥

जो मानव पिण्डारक तीर्थमें स्नान करके वहाँ एक रात निवास करता है, वह प्रातःकाल होते ही पवित्र होकर अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति उपस्पृश्य नरः शुचिः ॥ ५८ ॥

धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करके पवित्र हुआ मनुष्य पुण्डरीक यज्ञका फल पाता है ॥५८॥

मैनाके पर्वते स्नात्वा तथा संध्यामुपास्य च ।
कामं जित्वा च वै मासं सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ ५९ ॥

मैनाक पर्वतपर एक महिनेतक स्नान और संध्योपासन करनेसे मनुष्य कामको जीतकर समस्त यज्ञोंका फल पा लेता है ॥ ५९ ॥

कालोदकं नन्दिकुण्डं तथा चोत्तरमानसम् ।
अभ्येत्य योजनशताद् भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ ६० ॥

सौ योजन दूरसे आकर कालोदक, नन्दिकुण्ड तथा उत्तरमानस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य यदि भ्रूणहत्यारा भी हो तो वह उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

नन्दीश्वरस्य मूर्तिं तु दृष्ट्वा मुच्येत किल्बिषैः ।
स्वर्गमार्गे नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ६१ ॥

वहाँ नन्दीश्वरकी मूर्तिका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। स्वर्गमार्गमें स्नान करनेसे वह ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ६१ ॥

विख्यातो हिमवान् पुण्यः शङ्करश्वशुरो गिरिः ।
आकरः सर्वरत्नानां सिद्धचारणसेवितः ॥ ६२ ॥

भगवान् शङ्करका श्वशुर हिमवान् पर्वत परम पवित्र और संसारमें विख्यात है। वह सब रत्नोंकी खान तथा सिद्ध और चारणोंसे सेवित है ॥ ६२ ॥

शरीरमुत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः ॥ ६३ ॥
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ६४ ॥

जो वेदान्तका ज्ञाता द्विज इस जीवनको नाशवान् समझकर उस पर्वतपर रहता और देवताओंका पूजन तथा मुनियोंको प्रणाम करके विधिपूर्वक अनशनके द्वारा अपने प्राणोंको त्याग देता है, वह सिद्ध होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है ॥ ६३-६४ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमावसेत्।
न तेन किञ्चिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत् ॥ ६५ ॥

जो काम, क्रोध और लोभको जीतकर तीर्थोंमें स्नान करता है, उसे उस तीर्थयात्राके पुण्यसे कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती ॥ ६५ ॥

यान्यगम्यानि तीर्थानि दुर्गाणि विषमाणि च।
मनसा तानि गम्यानि सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ ६६ ॥

जो समस्त तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा रखता हो, वह दुर्गम और विषम होनेके कारण जिन तीर्थोंमें शरीरसे न जा सके, वहाँ मनसे यात्रा करे ॥ ६६ ॥

इदं मेध्यमिदं पुण्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम्।
इदं रहस्यं वेदानामाप्लाव्यं पावनं तथा ॥ ६७ ॥

यह तीर्थ-सेवनका कार्य परम पवित्र, पुण्यप्रद, स्वर्गकी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन और वेदोंका गुप्त रहस्य है। प्रत्येक तीर्थ पावन और स्नानके योग्य होता है ॥ ६७ ॥

इदं दद्याद् द्विजातीनां साधोरात्महितस्य च।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ६८ ॥

तीर्थोंका यह माहात्म्य द्विजातियोंके, अपने हितैषी श्रेष्ठ पुरुषके, सुहृदोंके तथा अनुगत शिष्यके ही कानमें डालना चाहिये ॥ ६८ ॥

दत्तवान् गौतमस्यैतदङ्गिरा वै महातपाः।
अङ्गिराः समनुज्ञातः काश्यपेन च धीमता ॥ ६९ ॥

सबसे पहले महातपस्वी अङ्गिराने गौतमको इसका उपदेश दिया। अङ्गिराको बुद्धिमान् काश्यपजीसे इसका ज्ञान प्राप्त हुआ था ॥ ६९ ॥

महर्षीणामिदं जप्यं पावनानां तथोत्तमम्।
जपंश्चाभ्युत्थितः शश्वन्निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥ ७० ॥

यह कथा महर्षियोंके पढ़ने योग्य और पावन वस्तुओंमें परम पवित्र है। जो सावधान एवं उत्साहयुक्त होकर सदा इसका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७० ॥

इदं यश्चापि शृणुयाद् रहस्यं त्वङ्गिरोमतम्।
उत्तमे च कुले जन्म लभेज्जातीश्च संस्मरेत् ॥ ७१ ॥

जो अङ्गिरामुनिके इस रहस्यमय मतको सुनता है, वह उत्तम कुलमें जन्म पाता और पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करता है ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आङ्गिरसतीर्थयात्रायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें आङ्गिरसतीर्थयात्राविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

श्रीगङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम्।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥
गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरितेजसम्।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥ २ ॥
शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम्।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो बुद्धिमें बृहस्पतिके, क्षमामें ब्रह्माजीके, पराक्रममें इन्द्रके और तेजमें सूर्यके समान थे, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले वे महातेजस्वी गङ्गानन्दन भीष्मजी जब अर्जुनके हाथसे मारे जाकर युद्धमें वीरशय्यापर पड़े हुए कालकी बाट जोह रहे थे और भाइयों तथा अन्य लोगोंसहित राजा युधिष्ठिर उनसे तरह-तरहके प्रश्न कर रहे थे, उसी समय बहुत-से दिव्य महर्षि भीष्मजीको देखनेके लिये आये ॥ १–३ ॥

अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः सुयतात्मवान्॥ ४ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः।
बृहस्पत्युशनोव्यासाश्च्यवनः काश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः।
भरद्वाजोऽथ रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥
स्थूलाक्षः शबलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाथैकतो द्विजः ॥ ७ ॥

नितम्भूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दोऽकृतव्रणः ।
जामदग्न्यस्तथा रामः कचश्चेत्येवमादयः ॥ ८ ॥

उनके नाम ये हैं—अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, गौतम, अगस्त्य, संयतचित्त सुमति, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रमति, दम, बृहस्पति, शुक्राचार्य, व्यास, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित, स्थूलाक्ष, शबलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृश, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण, जमदग्निनन्दन परशुराम और कच ॥ ४-८ ॥

समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः ।
तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः ।

ये सभी महात्मा महर्षि जब भीष्मजीको देखनेके लिये वहाँ पधारे, तब भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने उनकी क्रमशः विधिवत् पूजा की ॥ ९½ ॥

ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥ १० ॥
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः ।

पूजनके पश्चात् वे महर्षि सुखपूर्वक बैठकर भीष्मजीसे सम्बन्ध रखनेवाली मधुर एवं मनोहर कथाएँ कहने लगे । उनकी वे कथाएँ सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनको मोह लेती थीं ॥ १०½ ॥

भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥
मेने दिविष्टमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः ।

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन ऋषि-मुनियोंकी बातें सुनकर भीष्मजी बहुत संतुष्ट हुए और अपनेको स्वर्गमें ही स्थित मानने लगे ॥ ११½ ॥

ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः ॥ १२ ॥
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम् ।

तदनन्तर वे महर्षिगण भीष्मजी और पाण्डवोंकी अनुमति लेकर सबके देखते-देखते ही वहाँसे अदृश्य हो गये ॥१२½॥

तानृषीन् सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि ॥ १३ ॥
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः ।

उन महाभाग मुनियोंके अदृश्य हो जानेपर भी समस्त पाण्डव बारंबार उनकी स्तुति और उन्हें प्रणाम करते रहे ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमम् ॥ १४ ॥
उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः ।

जैसे वेदमन्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण उगते हुए सूर्यका उपस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न चित्त हुए समस्त पाण्डव कुरुश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मको प्रणाम करने लगे ॥ १४½ ॥

प्रभावात् तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ॥ १५ ॥
प्रकाशन्तो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः ।

उन ऋषियोंकी तपस्याके प्रभावसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित होती देख पाण्डवोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १५½ ॥

महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते ।
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

उन महर्षियोंके महान् सौभाग्यका चिन्तन करके पाण्डव भीष्मजीके साथ उन्हींके सम्बन्धमें बातें करने लगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः ।
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बातचीतके अन्तमें भीष्मके चरणोंमें सिर रखकर धर्मपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने यह धर्मानुकूल प्रश्न पूछा—॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! कौन-से देश, कौन-से प्रान्त, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक पुरुषका किसी सिद्ध पुरुषके साथ जो संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास सुनो ॥१९॥

इमां कश्चित् परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषणाम् ।
असकृद् द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ॥ २० ॥
शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनार्चितः ।
उवास रजनीं तत्र सुमुखः सुखभागृषिः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कोई सिद्ध पुरुष शैलमालाओंसे अलंकृत इस समूची पृथ्वीकी अनेक बार परिक्रमा करनेके पश्चात् शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक श्रेष्ठ गृहस्थके घर गया । उस गृहस्थने उसकी विधिपूर्वक पूजा की । वह समागत ऋषि वहाँ बड़े सुखसे रातभर रहा । उसके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ २०-२१ ॥

शिलवृत्तिस्तु यत् कृत्यं प्रातस्तत् कृतवाञ्छुचिः ।
कृतकृत्यमुपातिष्ठत् सिद्धं तमतिथिं तदा ॥ २२

सबेरा होनेपर वह शिलवृत्तिवाला गृहस्थ स्नान आदिसे पवित्र होकर प्रातःकालीन नित्यकर्ममें लग गया । नित्यकर्म पूर्ण करके वह उस सिद्ध अतिथिकी सेवामें उपस्थित हुआ ।

इसी बीचमें अतिथिने भी प्रातःकालके स्नान-पूजन आदि आवश्यक कृत्य पूर्ण कर लिये थे ॥ २२ ॥

तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः ।
चक्रतुर्वेदसम्बद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ॥ २३ ॥

वे दोनों महात्मा एक दूसरेसे मिलकर सुखपूर्वक बैठे तथा वेदोंसे सम्बद्ध और वेदान्तसे उपलक्षित शुभ चर्चाएँ करने लगे ॥ २३ ॥

शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः ।
प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २४ ॥

बातचीत पूरी होनेपर शिलोञ्छवृत्तिवाले बुद्धिमान् गृहस्थ ब्राह्मणने सिद्धको सम्बोधित करके यत्नपूर्वक वही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ २४ ॥

शिलवृत्तिरुवाच

के देशाः के जनपदाः केऽऽश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ॥२५॥

शिलवृत्तिवाले ब्राह्मणने पूछा—ब्रह्मन् ! कौन-से देश, कौन-से जनपद, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २५ ॥

सिद्ध उवाच

ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः ।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा ॥ २६ ॥

सिद्धने कहा—ब्रह्मन् ! वे ही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें उत्तम भागीरथी गङ्गा बहती हैं ॥ २६ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ।
गतिं तां न लभेज्जन्तुर्गङ्गां संसेव्य यां लभेत् ॥ २७॥

गङ्गाजीका सेवन करनेसे जीव जिस उत्तम गतिको प्राप्त करता है, उसे वह तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ अथवा त्यागसे भी नहीं पा सकता ॥ २७ ॥

स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम् ।
न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद् विधीयते ॥ २८ ॥

जिन देहधारियोंके शरीर गङ्गाजीके जलसे भीगते हैं अथवा मरनेपर जिनकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें डाली जाती हैं, वे कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिरते ॥ २८ ॥

सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कार्याणि देहिनाम् ।
गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति ते जनाः ।२९।

विप्रवर ! जिन देहधारियोंके सम्पूर्ण कार्य गङ्गाजलसे ही सम्पन्न होते हैं, वे मानव मरनेके बाद पृथ्वीका निवास छोड़कर स्वर्गमें विराजमान होते हैं ॥ २९ ॥

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः ।
पश्चाद् गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जीवनकी पहली अवस्थामें पापकर्म करके भी पीछे गङ्गाजीका सेवन करने लगते हैं, वे भी उत्तम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम् ।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ ३१ ॥

गङ्गाजीके पवित्र जलसे स्नान करके जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन पुरुषोंके पुण्यकी जैसी वृद्धि होती है, वैसी सैकड़ों यज्ञ करनेसे भी नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ३२ ॥

मनुष्यकी हड्डी जितने समयतक गङ्गाजीके जलमें पड़ी रहती है, उतने हजार वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३२ ॥

अपहत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः ।
तथापहत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य उदयकालमें घने अन्धकारको विदीर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजलमें स्नान करनेवाला पुरुष अपने पापोंको नष्ट करके सुशोभित होता है ॥ ३३ ॥

विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा ।
तद्वद् देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शिवैः ॥ ३४ ॥

जैसे बिना चाँदनीकी रात और बिना फूलोंके वृक्ष शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार गङ्गाजीके कल्याणमय जलसे वञ्चित हुए देश और दिशाएँ भी शोभा एवं सौभाग्यसे हीन हैं ।३४।

वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः।
क्रतवश्च यथासोमास्तथा गङ्गां विना जगत्॥ ३५॥

जैसे धर्म और ज्ञानसे रहित होनेपर सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमोंकी शोभा नहीं होती है तथा जैसे सोमरसके बिना यज्ञ सुशोभित नहीं होते, उसी प्रकार गङ्गाके बिना जगत्की शोभा नहीं है॥ ३५॥

यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना।
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः॥ ३६॥

जैसे सूर्यके बिना आकाश, पर्वतोंके बिना पृथ्वी और वायुके बिना अन्तरिक्षकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार जो देश और दिशाएँ गङ्गाजीसे रहित हैं, उनकी भी शोभा नहीं होती—इसमें संशय नहीं है॥ ३६॥

त्रिषु लोकेषु ये केचित् प्राणिनः सर्व एव ते।
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गङ्गाजलैः शुभैः॥ ३७॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी प्राणी हैं, उन सबका गङ्गाजीके शुभ जलसे तर्पण करनेपर वे सब परम तृप्ति लाभ करते हैं॥

यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम्।
गवां निर्हारनिर्मुक्ताद् यावकात् तद् विशिष्यते॥३८॥

जो मनुष्य सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए गङ्गाजलका पान करता है, उसका वह जलपान गायके गोबरसे निकले हुए जौकी लप्सी खानेसे अधिक पवित्रकारक है॥ ३८॥

इन्दुव्रतसहस्रं तु यश्चरेत् कायशोधनम्।
पिबेद् यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ॥३९॥

जो शरीरको शुद्ध करनेवाले एक सहस्र चान्द्रायण व्रतोंका अनुष्ठान करता है और जो केवल गङ्गाजल पीता है, वे दोनों समान ही हैं अथवा यह भी हो सकता है कि दोनों समान न हों (गङ्गाजल पीनेवाला बढ़ जाय)॥ ३९॥

तिष्ठेद् युगसहस्रं तु पदेनैकेन यः पुमान्।
मासमेकं तु गङ्गायां समौ स्यातां न वा समौ॥ ४०॥

जो पुरुष एक हजार युगोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तपस्या करता है और जो एक मासतक गङ्गातटपर निवास करता है, वे दोनों समान हो सकते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि समान न हों॥ ४०॥

लंबतेऽवाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान्।
तिष्ठेद् यथेष्टं यश्चापि गङ्गायां स विशिष्यते॥ ४१॥

जो मनुष्य दस हजार युगोंतक नीचे सिर करके वृक्षमें लटका रहे और जो इच्छानुसार गङ्गाजीके तटपर निवास करे, उन दोनोंमें गङ्गाजीपर निवास करनेवाला ही श्रेष्ठ है॥ ४१॥

अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते॥ ४२॥

द्विजश्रेष्ठ! जैसे आगमें डाली हुई रूई तुरंत जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार गङ्गामें गोता लगानेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ४२॥

भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः॥ ४३॥

इस संसारमें दुःखसे व्याकुलचित्त होकर अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़नेवाले समस्त प्राणियोंके लिये गङ्गाजीके समान कोई दूसरा सहारा नहीं है॥ ४३॥

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात्।
गङ्गाया दर्शनात् तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ४४॥

जैसे गरुड़को देखते ही सारे सर्पोंके विष झड़ जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥ ४४॥

अप्रतिष्ठाश्च ये केचिदधर्मशरणाश्च ये।
तेषां प्रतिष्ठा गङ्गेह शरणं शर्म वर्म च॥ ४५॥

जगत्में जिनका कहीं आधार नहीं है तथा जिन्होंने धर्मकी शरण नहीं ली है, उनका आधार और उन्हें शरण देनेवाली श्रीगङ्गाजी ही हैं। वे ही उसका कल्याण करनेवाली तथा कवचकी भाँति उसे सुरक्षित रखनेवाली हैं॥ ४५॥

प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्तानेकैः पुरुषाधमान्।
पततो नरके गङ्गा संश्रितान् प्रेत्य तारयेत्॥ ४६॥

जो नीच मानव अनेक बड़े-बड़े अमङ्गलकारी पापकर्मोंसे ग्रस्त होकर नरकमें गिरनेवाले हैं, वे भी यदि गङ्गाजीकी शरणमें आ जाते हैं तो ये मरनेके बाद उनका उद्धार कर देती हैं॥

ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः।
येऽभिगच्छन्ति सततं गङ्गां मतिमतां वर॥ ४७॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! जो लोग सदा गङ्गाजीकी यात्रा करते हैं, उनपर निश्चय ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता तथा मुनिलोग पृथक्-पृथक् कृपा करते आये हैं॥ ४७॥

विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः।
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गङ्गामुपाश्रिताः॥ ४८॥

विप्रवर! विनय और सदाचारसे हीन अमङ्गलकारी नीच मनुष्य भी गङ्गाजीकी शरणमें जानेपर कल्याणस्वरूप हो जाते हैं॥ ४८॥

यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा।
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम्॥ ४९॥

जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंको सुधा तृप्त करती है, उसी प्रकार मनुष्योंके लिये गङ्गाजल ही पूर्ण तृप्तिका साधन है॥ ४९॥

उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयार्दिताः।

श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ॥ ५० ॥

जैसे भूखसे पीड़ित हुए बच्चे माताके पास जाते हैं, उसी प्रकार कल्याणकी इच्छा रखनेवाले प्राणी इस जगत्‌में गङ्गाजीकी उपासना करते हैं ॥ ५० ॥

स्वायम्भुवं यथा स्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ।
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गङ्गा तद्वदिहोच्यते ॥ ५१ ॥

जैसे ब्रह्मलोक सब लोकोंसे श्रेष्ठ बताया जाता है, वैसे ही स्नान करनेवाले पुरुषोंके लिये गङ्गाजी ही सब नदियोंमें श्रेष्ठ कही गयी हैं ॥ ५१ ॥

यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां धरा स्मृता ।
तथोपजीविनां गङ्गा सर्वप्राणभृतामिह ॥ ५२ ॥

जैसे धेनुस्वरूपा पृथ्वी उपजीवी देवता आदिके लिये आदरणीय है, उसी प्रकार इस जगत्‌में गङ्गा समस्त उपजीवी प्राणियोंके लिये आदरणीय हैं ॥ ५२ ॥

देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ।
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गङ्गाजलं नराः ॥ ५३ ॥

जैसे देवता सत्र आदि यज्ञोंद्वारा चन्द्रमा और सूर्यमें स्थित अमृतसे आजीविका चलाते हैं, उसी प्रकार संसारके मनुष्य गङ्गाजलका सहारा लेते हैं ॥ ५३ ॥

जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितम् ।
आत्मानं मन्यते लोको दिविष्ठमिव शोभितम् ॥ ५४ ॥

गङ्गाजीके तटसे उड़े हुए बालुका-कणोंसे अभिषिक्त हुए अपने शरीरको ज्ञानी पुरुष स्वर्गलोकमें स्थित हुआ-सा शोभासम्पन्न मानता है ॥ ५४ ॥

जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय निर्मलम् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाके तीरकी मिट्टी अपने मस्तकमें लगाता है, वह अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये सूर्यके समान निर्मल स्वरूप धारण करता है ॥ ५५ ॥

गङ्गोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ।
स्पृशते सोऽस्य पाप्मानं सद्य एवापकर्षति ॥ ५६ ॥

गङ्गाकी तरङ्गमालाओंसे भीगकर बहनेवाली वायु जब मनुष्यके शरीरका स्पर्श करती है, उसी समय वह उसके सारे पापोंको नष्ट कर देती है ॥ ५६ ॥

व्यसनैरभितप्तस्य नरस्य विनशिष्यतः ।
गङ्गादर्शनजा प्रीतिर्व्यसनान्यपकर्षति ॥ ५७ ॥

दुर्व्यसनजनित दुःखोंसे संतप्त होकर मरणासन्न हुआ मनुष्य भी यदि गङ्गाजीका दर्शन करे तो उसे इतनी प्रसन्नता होती है कि उसकी सारी पीड़ा तत्काल नष्ट हो जाती है ॥

हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ।
पस्पर्ध गङ्गा गन्धर्वान् पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ॥ ५८ ॥

हंसोंकी मीठी वाणी, चक्रवाकोंके सुमधुर शब्द तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवोंद्वारा गङ्गाजी गन्धर्वोंसे होड़ लगाती हैं तथा अपने ऊँचे-ऊँचे तटोंद्वारा पर्वतोंके साथ स्पर्धा करती हैं ॥

हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ।
गङ्गां गोकुलसम्बाधां दृष्ट्वा स्वर्गोऽपि विस्मृतः॥ ५९ ॥

हंस आदि बहुसंख्यक एवं विविध पक्षियोंसे घिरी हुई तथा गौओंके समुदायसे व्याप्त हुई गङ्गाजीको देखकर मनुष्य स्वर्गलोकको भी भूल जाता है ॥ ५९ ॥

न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपाश्नतः ।
सम्भवेद् या परा प्रीतिर्गङ्गायाः पुलिने नृणाम् ॥ ६० ॥

गङ्गाजीके तटपर निवास करनेसे मनुष्योंको जो परम प्रीति—अनुपम आनन्द मिलता है, वह स्वर्गमें रहकर सम्पूर्ण भोगोंका अनुभव करनेवाले पुरुषको भी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ६० ॥

वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ।
वीक्ष्य गङ्गां भवेत् पूतो अत्र मे नास्ति संशयः॥ ६१॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा होनेवाले पापोंसे ग्रस्त मनुष्य भी गङ्गाजीका दर्शन करने मात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६१ ॥

सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ।
पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च ॥ ६२ ॥

गङ्गाजीका दर्शन, उनके जलका स्पर्श तथा उस जलके भीतर स्नान करके मनुष्य सात पीढ़ी पहलेके पूर्वजोंका और सात पीढ़ी आगे होनेवाली संतानोंका तथा इनसे भी ऊपरके पितरों और संतानोंका उद्धार कर देता है ॥ ६२ ॥

श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता ।
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ ६३ ॥

जो पुरुष गङ्गाजीका माहात्म्य सुनता, उनके तटपर जानेकी अभिलाषा रखता, उनका दर्शन करता, जल पीता, स्पर्श करता तथा उनके भीतर गोते लगाता है, उसके दोनों कुलोंका भगवती गङ्गा विशेषरूपसे उद्धार कर देती हैं ॥ ६३॥

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेति कीर्तनात् ।
पुनात्यपुण्यान् पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६४ ॥

गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा अपने गङ्गा-नामके कीर्तनसे सैकड़ों और हजारों पापियोंको तार देती हैं ॥

य इच्छेत् सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ।
स पितॄंस्तर्पयेद् गाङ्गमभिगम्य सुरांस्तथा ॥ ६५ ॥

जो अपने जन्म, जीवन और वेदाध्ययनको सफल बनाना चाहता हो, वह गङ्गाजीके पास जाकर उनके जलसे देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६५ ॥

न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ।
प्राप्नुयात् पुरुषोऽत्यन्तं गङ्गां प्राप्य यदाप्नुयात्॥ ६६॥

मनुष्य गङ्गास्नान करके जिस अक्षय फलको प्राप्त करता है, उसे पुत्रोंसे, धनसे तथा किसी कर्मसे भी नहीं पा सकता ॥

जात्यन्धैरिह तुल्यास्ते मृतैः पङ्गुभिरेव च ।
समर्था ये न पश्यन्ति गङ्गां पुण्यजलां शिवाम् ॥ ६७ ॥

जो सामर्थ्य होते हुए भी पवित्र जलवाली कल्याणमयी गङ्गाका दर्शन नहीं करते, वे जन्मके अन्धों, पंगुओं और मुर्दोंके समान हैं ॥ ६७ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ।
देवैः सेन्द्रैश्च को गङ्गां नोपसेवेत मानवः ॥ ६८ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता महर्षि तथा इन्द्र आदि देवता भी जिनकी उपासना करते हैं, उन गङ्गाजीका सेवन कौन मनुष्य नहीं करेगा ? ॥ ६८ ॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
विद्यावद्भिः श्रितां गङ्गां पुमान् को नाम नाश्रयेत् ॥ ६९॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी और विद्वान् पुरुष भी जिनकी शरण लेते हैं, ऐसी गङ्गाजीका कौन मनुष्य आश्रय नहीं लेगा ? ॥ ६९ ॥

उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसम्मतः ।
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत् ॥ ७० ॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा संयतचित्त मनुष्य प्राण निकलते समय मन-ही-मन गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह परम उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७० ॥

न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ।
आ देहपतनाद् गङ्गामुपास्ते यः पुमानिह ॥ ७१ ॥

जो पुरुष यहाँ जीवनपर्यन्त गङ्गाजीकी उपासना करता है, उसे भयदायक वस्तुओंसे, पापोंसे तथा राजासे भी भय नहीं होता ॥ ७१ ॥

महापुण्यां च गगनात् पतन्तीं वै महेश्वरः ।
दधार शिरसा गङ्गां तामेव दिवि सेवते ॥ ७२ ॥

भगवान् महेश्वरने आकाशसे गिरती हुई परम पवित्र गङ्गाजीको सिरपर धारण किया, उन्हींका वे स्वर्गमें सेवन करते हैं ॥ ७२ ॥

अलंकृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ।
यस्तु तस्या जलं सेवेत् कृतकृत्यः पुमान् भवेत् ॥ ७३ ॥

जिन्होंने तीन निर्मल मार्गोंद्वारा आकाश, पाताल तथा भूतल—इन तीन लोकोंको अलंकृत किया है, उन गङ्गाजीके जलका जो मनुष्य सेवन करेगा, वह कृतकृत्य हो जायगा ॥

दिवि ज्योतिर्यथाऽऽदित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः ।
देवेशश्च तथा नृणां गङ्गा च सरितां तथा ॥ ७४ ॥

स्वर्गवासी देवताओंमें जैसे सूर्यका तेज श्रेष्ठ है, जैसे पितरोंमें चन्द्रमा तथा मनुष्योंमें राजाधिराज श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त सरिताओंमें गङ्गाजी उत्तम हैं ॥ ७४ ॥

मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्विमुक्तस्य धनेन वा ।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गङ्गावियोगजम् ॥ ७५ ॥

(गङ्गाजीमें भक्ति रखनेवाले पुरुषको) माता, पिता, पुत्र, स्त्री और धनका वियोग होनेपर भी उतना दुःख नहीं होता, जितना गङ्गाके बिछोहसे होता है ॥ ७५ ॥

नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः ।
तथा प्रसादो भवति गङ्गां वीक्ष्य यथा भवेत् ॥ ७६ ॥

इसी प्रकार उसे गङ्गाजीके दर्शनसे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी वनके दर्शनोंसे, अभीष्ट विषयसे, पुत्रोंसे तथा धनकी प्राप्तिसे भी नहीं होती ॥ ७६ ॥

पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ।
तथा त्रिपथगां दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७७ ॥

जैसे पूर्ण चन्द्रमाका दर्शन करके मनुष्योंकी दृष्टि प्रसन्न हो जाती है, उसी तरह त्रिपथगा गङ्गाका दर्शन करके मनुष्योंके नेत्र आनन्दसे खिल उठते हैं ॥ ७७ ॥

तद्भावस्तद्गतमनास्तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
गङ्गां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥ ७८॥

जो गङ्गाजीमें श्रद्धा रखता, उन्हींमें मन लगाता, उन्हींके पास रहता, उन्हींका आश्रय लेता तथा भक्तिभावसे उन्हींका अनुसरण करता है, वह भगवती भागीरथीका स्नेह-भाजन होता है ॥ ७८ ॥

भूस्थैः खःस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि ।
गङ्गा विगाह्या सततमेतत् कार्यतमं सताम् ॥ ७९ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गमें रहनेवाले छोटे-बड़े सभी प्राणियोंको चाहिये कि वे निरन्तर गङ्गाजीमें स्नान करें। यही सत्पुरुषोंका सबसे उत्तम कार्य है ॥ ७९ ॥

विश्वलोकेषु पुण्यत्वाद् गङ्गायाः प्रथितं यशः ।
यत्पुत्रान्सगरस्येतो भस्माख्याननयद् दिवम् ॥ ८० ॥

सम्पूर्ण लोकोंमें परम पवित्र होनेके कारण गङ्गाजीका यश विख्यात है; क्योंकि उन्होंने भस्मीभूत होकर पड़े हुए सगर-पुत्रोंको यहाँसे स्वर्गमें पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

वाय्वीरिताभिः सुमनोहराभि-
र्द्रुताभिरत्यर्थसमुत्थिताभिः ।
गङ्गोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धाः
सहस्ररश्मिप्रतिमा भवन्ति ॥ ८१ ॥

वायुसे प्रेरित हो बड़े वेगसे अत्यन्त ऊँचे उठनेवाली

गङ्गाजीकी परम मनोहर एवं कान्तिमती तरंगमालाओंसे नहाकर प्रकाशित होनेवाले पुरुष परलोकमें सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं ॥ ८१ ॥

पयस्विनीं घृतिनीमत्युदारां
समृद्धिनीं वेगिनीं दुर्विगाह्याम्।
गङ्गां गत्वा यैः शरीरं विसृष्टं
गता धीरास्ते विबुधैः समत्वम् ॥ ८२ ॥

दुग्धके समान उज्ज्वल और घृतके समान स्निग्ध जलसे भरी हुई, परम उदार, समृद्धिशालिनी, वेगवती तथा अगाध जलराशिवाली गङ्गाजीके समीप जाकर जिन्होंने अपना शरीर त्याग दिया है, वे धीर पुरुष देवताओंके समान हो गये ॥

अन्धान् जडान् द्रव्यहीनांश्च गङ्गा
यशस्विनी बृहती विश्वरूपा।
देवैः सेन्द्रैर्मुनिभिर्मानवैश्च
निषेविता सर्वकामैर्युनक्ति ॥ ८३ ॥

इन्द्र आदि देवता, मुनि और मनुष्य जिनका सदा सेवन करते हैं, वे यशस्विनी, विशालकलेवरा, विश्वरूपा गङ्गादेवी अपनी शरणमें आये हुए अन्धों, जडों और धनहीनोंको भी सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंसे सम्पन्न कर देती हैं ॥८३॥

ऊर्जावतीं महापुण्यां मधुमतीं त्रिवर्त्मगाम्।
त्रिलोकगोप्त्रीं ये गङ्गां संश्रितास्ते दिवं गताः ॥ ८४ ॥

गङ्गाजी ओजस्विनी, परम पुण्यमयी, मधुर जलराशिसे परिपूर्ण तथा भूतल, आकाश और पाताल—इन तीन मार्गोंपर विचरनेवाली हैं। जो लोग तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाली गङ्गाजीकी शरणमें आये हैं, वे स्वर्गलोकको चले गये ॥८४॥

यो वत्स्यति द्रक्ष्यति वापि मर्त्य-
स्तस्मै प्रयच्छन्ति सुखानि देवाः।
तद्भाविताः स्पर्शनदर्शनेन
इष्टां गतिं तस्य सुरा दिशन्ति ॥ ८५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाजीके तटपर निवास और उनका दर्शन करता है, उसे सब देवता सुख देते हैं। जो गङ्गाजीके स्पर्श और दर्शनसे पवित्र हो गये हैं, उन्हें गङ्गाजीसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए देवता मनोवाञ्छित गति प्रदान करते हैं ॥ ८५ ॥

दक्षां पृश्निं बृहतीं विप्रकृष्टां
शिवामृद्धां भागिनीं सुप्रसन्नाम्।
विभावरीं सर्वभूतप्रतिष्ठां
गङ्गां गता ये त्रिदिवं गतास्ते ॥ ८६ ॥

गङ्गा जगत्‌का उद्धार करनेमें समर्थ हैं। भगवान् पृश्निगर्भकी जननी 'पृश्नि' के तुल्य हैं, विशाल हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, मङ्गलकारिणी हैं, पुण्यराशिसे समृद्ध हैं, शिवजीके द्वारा मस्तकपर धारित होनेके कारण सौभाग्यशालिनी तथा भक्तोंपर अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाली हैं। इतना ही नहीं, पापोंका विनाश करनेके लिये वे कालरात्रिके समान हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी आश्रयभूत हैं। जो लोग गङ्गाजीकी शरणमें गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ८६ ॥

ख्यातिर्यस्याः खं दिवं गां च नित्यं
पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे।
तस्या जलं सेव्य सरिद्वरायाः
मर्त्याः सर्वे कृतकृत्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, दिशा और विदिशाओंमें भी जिनकी ख्याति फैली हुई है, सरिताओंमें श्रेष्ठ उन भगवती भागीरथीके जलका सेवन करके सभी मनुष्य कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

इयं गङ्गेति नियतं प्रतिष्ठा
गुहस्य रुक्मस्य च गर्भयोषा।
प्रातस्त्रिवर्गा घृतवहा विपाप्मा
गङ्गावतीर्णा वियतो विश्वतोया ॥ ८८ ॥

'ये गङ्गाजी हैं'—ऐसा कहकर जो दूसरे मनुष्योंको उनका दर्शन कराता है, उसके लिये भगवती भागीरथी सुनिश्चित प्रतिष्ठा (अक्षय पद प्रदान करनेवाली) हैं। वे कार्तिकेय और सुवर्णको अपने गर्भमें धारण करनेवाली, पवित्र जलकी धारा बहानेवाली और पाप दूर करनेवाली हैं। वे आकाशसे पृथ्वीपर उतरी हुई हैं। उनका जल सम्पूर्ण विश्वके लिये पीने योग्य है। उनमें प्रातःकाल स्नान करनेसे धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गोंकी सिद्धि होती है ॥ ८८ ॥

(नारायणादक्षयात् पूर्वजाता
विष्णोः पादाच्छिशुमाराद् ध्रुवाच्च।
सोमात् सूर्यान्मेरुरूपाच्च विष्णोः
समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिम् ॥)

भगवती गङ्गा पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् नारायणसे प्रकट हुई हैं। वे भगवान् विष्णुके चरण, शिशुमार चक्र, ध्रुव, सोम, सूर्य तथा मेरुरूप विष्णुसे अवतरित हो भगवान् शिवके मस्तकपर आयी हैं और वहाँसे हिमालय पर्वतपर गिरी हैं ॥

सुतावनीध्रस्य हरस्य भार्या
दिवो भुवश्चापि कृतानुरूपा।
भव्या पृथिव्यां भागिनी चापि राजन्
गङ्गा लोकानां पुण्यदा वै त्रयाणाम् ॥ ८९ ॥

गङ्गाजी गिरिराज हिमालयकी पुत्री, भगवान् शङ्करकी पत्नी तथा स्वर्ग और पृथ्वीकी शोभा हैं। राजन्! वे भूमण्डलपर निवास करनेवाले प्राणियोंका कल्याण करनेवाली, परम सौभाग्यवती तथा तीनों लोकोंको पुण्य प्रदान करनेवाली हैं ॥

मधुस्रवा घृतधारा घृतार्चि-
मंहोर्मिभिः शोभिता ब्राह्मणैश्च ।
दिवश्च्युता शिरसाऽऽत्ता शिवेन
गङ्गावनीध्रात् त्रिदिवस्य माता ॥ ९० ॥

श्रीभागीरथी मधुका स्रोत एवं पवित्र जलकी धारा बहाती हैं। जलती हुई घीकी ज्वालाके समान उनका उज्ज्वल प्रकाश है। वे अपनी उत्ताल तरङ्गों तथा जलमें स्नान-संध्या करनेवाले ब्राह्मणोंसे सुशोभित होती हैं। वे जब स्वर्गसे नीचेकी ओर चलीं, तब भगवान् शिवने उन्हें अपने सिरपर धारण किया। फिर हिमालय पर्वतपर आकर वहाँसे वे इस पृथ्वीपर उतरी हैं। श्रीगङ्गाजी स्वर्गलोककी जननी हैं ॥ ९० ॥

योनिर्वरिष्ठा विरजा वितन्वी
शय्याचिरा वारिवहा यशोदा ।
विश्वावती चाकृतिरिष्टसिद्धा
गङ्गोक्षितानां भुवनस्य पन्थाः ॥ ९१ ॥

सबका कारण, सबसे श्रेष्ठ, रजोगुणरहित, अत्यन्त सूक्ष्म, मरे हुए प्राणियोंके लिये सुखद शय्या, तीव्र वेगसे बहनेवाली, पवित्र जलका स्रोत बहानेवाली, यश देनेवाली, जगत्की रक्षा करनेवाली, सत्स्वरूपा तथा अभीष्टको सिद्ध करनेवाली भगवती गङ्गा अपने भीतर स्नान करनेवालोंके लिये स्वर्गका मार्ग बन जाती हैं ॥ ९१ ॥

क्षान्त्या मह्या गोपने धारणे च
दीप्त्या कृशानोस्तपनस्य चैव ।
तुल्या गङ्गा सम्मता ब्राह्मणानां
गुहस्य ब्रह्मण्यतया च नित्यम् ॥ ९२ ॥

क्षमा, रक्षा तथा धारण करनेमें पृथ्वीके समान और तेजमें अग्नि एवं सूर्यके समान शोभा पानेवाली गङ्गाजी ब्राह्मण-जातिपर सदा अनुग्रह करनेके कारण सुब्रह्मण्य कार्तिकेय तथा ब्राह्मणोंके लिये भी प्रिय एवं सम्मानित हैं ॥ ९२ ॥

ऋषिष्टुतां विष्णुपदीं पुराणां
सुपुण्यतोयां मनसापि लोके ।
सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्ना-
स्ते ब्रह्मणः सदनं सम्प्रयाताः ॥ ९३ ॥

ऋषियोंद्वारा जिनकी स्तुति होती है, जो भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न, अत्यन्त प्राचीन तथा परम पावन जलसे भरी हुई हैं, उन गङ्गाजीकी जगत्में जो लोग मनके द्वारा भी सब प्रकारसे शरण लेते हैं, वे देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

लोकानवेक्ष्य जननीव पुत्रान्
सर्वात्मना सर्वगुणोपपन्नान् ।
तत्स्थानकं ब्राह्ममभीप्समानै-
र्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥ ९४ ॥

जैसे माता अपने पुत्रोंको स्नेहभरी दृष्टिसे देखती है और उनकी रक्षा करती है, उसी प्रकार गङ्गाजी सर्वात्मभावसे अपने आश्रयमें आये हुए सर्वगुणसम्पन्न लोकोंको कृपादृष्टिसे देखकर उनकी रक्षा करती हैं; अतः जो ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें अपने मनको वशमें करके सदा मातृभावसे गङ्गाजीकी उपासना करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

उस्रां पुष्टां मिषतीं विश्वभोज्या-
मिरावतीं धारिणीं भूधराणाम् ।
शिष्टाश्रयाममृतां ब्रह्मकान्तां
गङ्गां श्रयेदात्मवान् सिद्धिकामः ॥ ९५ ॥

जो अमृतमय दूध देनेवाली, गौके समान सबको पुष्ट करनेवाली, सब कुछ देखनेवाली, सम्पूर्ण जगत्के उपयोगमें आनेवाली, अन्न देनेवाली तथा पर्वतोंको धारण करनेवाली हैं, श्रेष्ठ पुरुष जिनका आश्रय लेते हैं और जिन्हें ब्रह्माजी भी प्राप्त करना चाहते हैं तथा जो अमृतस्वरूप हैं, उन भगवती गङ्गाजीका सिद्धिकामी जितात्मा पुरुषोंको अवश्य आश्रय लेना चाहिये ॥ ९५ ॥

प्रसाद्य देवान् सविभून् समस्तान्
भगीरथस्तपसोग्रेण गङ्गाम् ।
गामानयत् तामभिगम्य शश्वत्
पुंसां भयं नेह चामुत्र विद्यात् ॥ ९६ ॥

राजा भगीरथ अपनी उग्र तपस्यासे भगवान् शङ्करसहित सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न करके गङ्गाजीको इस पृथ्वीपर ले आये। उनकी शरणमें जानेसे मनुष्यको इहलोक और परलोकमें भय नहीं रहता ॥ ९६ ॥

उदाहृतः सर्वथा ते गुणानां
मयैकदेशः प्रसमीक्ष्य बुद्ध्या ।
शक्तिर्न मे काचिदिहास्ति वक्तुं
गुणान् सर्वान् परिमातुं तथैव ॥ ९७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने अपनी बुद्धिसे सर्वथा विचारकर यहाँ गङ्गाजीके गुणोंका एक अंशमात्र बताया है। मुझमें कोई इतनी शक्ति नहीं है कि मैं यहाँ उनके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन कर सकूँ ॥ ९७ ॥

मेरोः समुद्रस्य च सर्वयत्नैः
संख्योपलानामुदकस्य वापि ।
शक्यं वक्तुं नेह गङ्गाजलानां
गुणाख्यानं परिमातुं तथैव ॥ ९८ ॥

कदाचित् सब प्रकारके यत्न करनेसे मेरु गिरिके प्रस्तर-कणों और समुद्रके जलबिन्दुओंकी गणना की जा सके; परंतु यहाँ गङ्गाजलके गुणोंका वर्णन तथा गणना करना कदापि सम्भव नहीं है ॥ ९८ ॥

तस्मादेतान् परया श्रद्धयोक्तान्
गुणान् सर्वान् जाह्नवीयान् सदैव ।
भवेद् वाचा मनसा कर्मणा च
भक्त्या युक्तः श्रद्धया श्रद्दधानः॥ ९९ ॥

अतः मैंने बड़ी श्रद्धाके साथ जो ये गङ्गाजीके गुण बताये हैं, उन सबपर विश्वास करके मन, वाणी, क्रिया, भक्ति और श्रद्धाके साथ आप सदा ही उनकी आराधना करें ॥९९॥

लोकानिमांस्त्रीन् यशसा वितत्य
सिद्धिं प्राप्य महतीं तां दुरापाम् ।
गङ्गाकृतानचिरेणैव लोकान्
यथेष्टमिष्टान् विहरिष्यसि त्वम् ॥१००॥

इससे आप परम दुर्लभ उत्तम सिद्धि प्राप्त करके इन तीनों लोकोंमें अपने यशका विस्तार करते हुए शीघ्र ही गङ्गाजीकी सेवासे प्राप्त हुए अभीष्ट लोकोंमें इच्छानुसार विचरेंगे ॥

तव मम च गुणैर्महानुभावा
जुषतु मतिं सततं स्वधर्मयुक्तैः ।
अभिमतजनवत्सला हि गङ्गा
जगति युनक्ति सुखैश्च भक्तिमन्तम् ॥

महान् प्रभावशाली भगवती भागीरथी आपकी और मेरी बुद्धिको सदा स्वधर्मानुकूल गुणोंसे युक्त करें। श्रीगङ्गाजी बड़ी भक्तवत्सला हैं। वे संसारमें अपने भक्तोंको सुखी बनाती हैं ॥ १०१ ॥

भीष्म उवाच

इति परममतिर्गुणानशेषा-
ञ्शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान् ।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान्
गगनतलं द्युतिमान् विवेश सिद्धः ॥१०२॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वह उत्तम बुद्धिवाला परम तेजस्वी सिद्ध शिलोञ्छवृत्तिद्वारा जीविका चलानेवाले उस ब्राह्मणसे त्रिपथगा गङ्गाजीके उपर्युक्त सभी यथार्थ गुणोंका नाना प्रकारसे वर्णन करके आकाशमें प्रविष्ट हो गया ॥१०२॥

शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः सम्बोधितस्तदा ।
गङ्गामुपास्य विधिवत् सिद्धिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥१०३॥

वह शिलोञ्छवृत्तिवाला ब्राह्मण सिद्धके उपदेशसे गङ्गाजीके माहात्म्यको जानकर उनकी विधिवत् उपासना करके परम दुर्लभ सिद्धिको प्राप्त हुआ ॥ १०३ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः ।
गङ्गामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥१०४॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार तुम भी पराभक्तिके साथ सदा गङ्गाजीकी उपासना करो। इससे तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १०४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गङ्गायाः स्तवसंयुतम् ।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद् भ्रातृभिः सह ॥१०५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा कहे हुए श्रीगङ्गाजीकी स्तुतिसे युक्त इस इतिहासको सुनकर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १०५ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद् यः पठेत वा ।
गङ्गायाः स्तवसंयुक्तं स मुच्येत् सर्वकिल्बिषैः ॥१०६॥

जो गङ्गाजीके स्तवनसे युक्त इस पवित्र इतिहासका श्रवण अथवा पाठ करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥१०६॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गङ्गामाहात्म्यकथने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १०७ श्लोक हैं)

सप्तविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्वके लिये तपस्या करनेवाले मतङ्गकी इन्द्रसे बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च यथा भवान् ।
गुणैश्च विविधैः सर्वैर्वयसा च समन्वितः ॥ १ ॥
भवान् विशिष्टो बुद्ध्या च प्रज्ञया तपसा तथा ।
तस्माद् भवन्तं पृच्छामि धर्मं धर्मभृतां वर ।
नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! आप बुद्धि, विद्या, सदाचार, शील और विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं। आपकी अवस्था भी सबसे बड़ी है। आप बुद्धि, प्रज्ञा और तपस्यासे विशिष्ट हैं; अतः मैं आपसे धर्मकी बात पूछता हूँ। संसारमें आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिससे सब प्रकारके प्रश्न पूछे जा सकें ॥१-२॥

क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद् येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यदि क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे तो वह किस उपायसे उसे पा सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

पितामह ! यदि कोई ब्राह्मणत्व पानेकी इच्छा करे तो वह उसे तपस्या, महान् कर्म अथवा वेदोंके स्वाध्याय आदि किस उपायसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः ।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर ! क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह समस्त प्राणियोंके लिये सर्वोत्तम स्थान है ॥ ५ ॥

बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥ ६ ॥

तात ! बहुत-सी योनियोंमें बारंबार जन्म लेते-लेते कभी किसी समय संसारी जीव ब्राह्मणकी योनिमें जन्म लेता है ॥६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मतङ्गस्य च संवादं गर्दभ्याश्च युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य मतङ्ग और गर्दभीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

द्विजातेः कस्यचित् तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत् ।
मतङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ८ ॥

तात ! पूर्वकालमें किसी ब्राह्मणके एक मतङ्ग नामक पुत्र हुआ, जो (अन्य वर्णके पुरुषसे उत्पन्न होनेपर भी ब्राह्मणोचित्त संस्कारोंके प्रभावसे) उनके समान वर्णका ही समझा जाता था, वह समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न था ॥ ८ ॥

स यज्ञकारः कौन्तेय पित्रोत्सृष्टः परंतप ।
प्रायाद् गर्दभयुक्तेन रथेनाप्याशुगामिना ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार ! एक दिन अपने पिताके भेजनेपर मतङ्ग किसी यजमानका यज्ञ करानेके लिये गधोंसे जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर चला ॥ ९ ॥

स बालं गर्दभं राजन् वहन्तं मातुरन्तिके ।
निरविध्यत् प्रतोदेन नासिकायां पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन् ! रथका बोझ ढोते हुए एक छोटी अवस्थाके गधेको उसकी माताके निकट ही मतङ्गने बारंबार चाबुकसे मारकर उसकी नाकमें घाव कर दिया ॥ १० ॥

तत्र तीव्रं व्रणं दृष्ट्वा गर्दभी पुत्रगृद्धिनी ।
उवाच मा शुचः पुत्र चाण्डालस्त्वधितिष्ठति ॥ ११ ॥

पुत्रका भला चाहनेवाली गधी उस गधेकी नाकमें दुस्सह घाव हुआ देख उसे समझाती हुई बोली—'बेटा ! शोक न करो । तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण नहीं, चाण्डाल सवार है ॥११॥

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति ॥ १२ ॥

'ब्राह्मणमें इतनी क्रूरता नहीं होती । ब्राह्मण सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला बताया जाता है । जो समस्त प्राणियोंको उपदेश देनेवाला आचार्य है, वह कैसे किसीपर प्रहार करेगा ? ॥ १२ ॥

अयं तु पापप्रकृतिर्बाले न कुरुते दयाम् ।
स्वयोनिं मानयत्येष भावो भावं नियच्छति ॥ १३ ॥

'यह स्वभावसे ही पापात्मा है; इसीलिये दूसरेके बच्चे पर दया नहीं करता है । यह अपने इस कुकृत्यद्वारा अपनी चाण्डाल योनिका ही सम्मान बढ़ा रहा है । जातिगत स्वभाव ही मनोभावपर नियन्त्रण करता है' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा मतङ्गस्तु दारुणं रासभीवचः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णं रासभीं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

गधीका यह दारुण वचन सुनकर मतङ्ग तुरंत रथसे उतर पड़ा और गधीसे इस प्रकार बोला—॥ १४ ॥

ब्रूहि रासभि कल्याणि माता मे येन दूषिता ।
कथं मां वेत्सि चण्डालं क्षिप्रं रासभि शंस मे ॥ १५ ॥

'कल्याणमयी गर्दभी ! बता, मेरी माता किससे कलङ्कित हुई है ? तू मुझे चाण्डाल कैसे समझती है ? शीघ्र मुझसे सारी बात बता ॥ १५ ॥

कथं मां वेत्सि चण्डालं ब्राह्मण्यं येन नश्यते ।
तत्त्वेनैतन्महाप्राज्ञे ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥

'गधी ! तुझे कैसे मालूम हुआ कि मैं चाण्डाल हूँ ? किस कर्मसे मेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ है ? तू बड़ी समझदार है; अतः ये सारी बातें मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ १६ ॥

गर्दभ्युवाच

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वं मत्तायां नापितेन ह ।
जातस्त्वमसि चाण्डालो ब्राह्मण्यं तेन तेऽनशत् ॥१७॥

गदही बोली—मतङ्ग ! तू यौवनके मदसे मतवाली हुई एक ब्राह्मणीके पेटसे शूद्रजातीय नाईद्वारा पैदा किया गया, इसीलिये तू चाण्डाल है और तेरी माताके इसी व्यभिचार कर्मसे तेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है ॥ १७ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु प्रतिप्रायाद् गृहं प्रति ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य पिता वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

गदहीके ऐसा कहनेपर मतङ्ग फिर अपने घरको लौ

गया। उसे लौटकर आया देख पिताने इस प्रकार कहा—॥ १८॥

मया त्वं यज्ञसंसिद्धौ नियुक्तो गुरुकर्मणि।
कस्मात् प्रतिनिवृत्तोऽसि कच्चिन्न कुशलं तव ॥ १९ ॥

'बेटा ! मैंने तो तुम्हें यज्ञ करानेके भारी कार्यपर लगा रखा था, फिर तुम लौट कैसे आये ? तुम कुशलसे तो हो न ?' ॥ १९ ॥

मतङ्ग उवाच

अन्त्ययोनिरयोनिर्वा कथं स कुशली भवेत्।
कुशलं तु कुतस्तस्य यस्येयं जननी पितः ॥ २० ॥

मतङ्गने कहा—पिताजी ! जो चाण्डाल योनिमें उत्पन्न हुआ है अथवा उससे भी नीच योनिमें पैदा हुआ है, वह कैसे सकुशल रह सकता है । जिसे ऐसी माता मिली हो, उसे कहाँसे कुशल प्राप्त होगी ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यां वृषलाज्जातं पितर्वेदयतीव माम्।
अमानुषी गर्दभीयं तस्मात् तप्स्ये तपो महत् ॥ २१ ॥

पिताजी ! यह मानवेतर योनिमें उत्पन्न हुई गदही मुझे ब्राह्मणीके गर्भसे शूद्रद्वारा पैदा हुआ बता रही है; इसलिये अब मैं महान् तपमें लग जाऊँगा ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा स पितरं प्रतस्थे कृतनिश्चयः।
ततो गत्वा महारण्यमतपत् सुमहत् तपः ॥ २२ ॥

पितासे ऐसा कहकर मतङ्ग तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके घरसे निकल पड़ा और एक महान् वनमें जाकर वहाँ बड़ी भारी तपस्या करने लगा ॥ २२ ॥

ततः स तापयामास विबुधांस्तपसान्वितः।
मतङ्गः सुखसम्प्रेप्सुः स्थानं सुचरितादपि ॥ २३ ॥

तपस्यामें संलग्न हो मतङ्गने देवताओंको संतप्त कर दिया। वह भलीभाँति तपस्या करके सुखसे ही ब्राह्मणत्वरूपी अभीष्ट स्थानको प्राप्त करना चाहता था ॥ २३ ॥

तं तथा तपसा युक्तमुवाच हरिवाहनः।
मतङ्ग तप्स्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ २४ ॥

उसे इस प्रकार तपस्यामें संलग्न देख इन्द्रने कहा—'मतङ्ग ! तुम क्यों मानवीय भोगोंका परित्याग करके तपस्या कर रहे हो ? ॥ २४ ॥

वरं ददामि ते हन्त वृणीष्व त्वं यदिच्छसि।
यच्चाप्यवाप्यं हृदि ते सर्वं तद् ब्रूहि माचिरम् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हें वर देता हूँ । तुम जो चाहते हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक माँग लो । तुम्हारे हृदयमें जो कुछ पानेकी अभिलाषा हो, वह सब शीघ्र बताओ' ॥ २५ ॥

मतङ्ग उवाच

ब्राह्मण्यं कामयानोऽहमिदमारब्धवांस्तपः।
गच्छेयं तदवाप्येह वर एष वृतो मया ॥ २६ ॥

मतङ्गने कहा—मैंने ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे यह तपस्या प्रारम्भ की है । उसे पा करके ही यहाँसे जाऊँ, मैं यही वर चाहता हूँ ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तमुवाच पुरंदरः।
मतङ्ग दुर्लभमिदं विप्रत्वं प्रार्थ्यते त्वया ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! मतङ्गकी यह बात सुनकर इन्द्रदेवने कहा—'मतङ्ग ! तुम जो ब्राह्मणत्व माँग रहे हो, यह तुम्हारे लिये दुर्लभ है ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम माचिरम् ॥ २८ ॥

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अथवा जो पुण्यात्मा नहीं हैं, उनके लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव है । दुर्बुद्धे ! तुम ब्राह्मणत्व माँगते-माँगते मर जाओगे तो भी वह नहीं मिलेगा; अतः इस दुराग्रहसे जितना शीघ्र सम्भव हो निवृत्त हो जाओ ॥ २८ ॥

श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्तते।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥ २९ ॥

'सम्पूर्ण भूतोंमें श्रेष्ठता ही ब्राह्मणत्व है और यही तुम्हारा अभीष्ट प्रयोजन है, परंतु यह तप उस प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकता; अतः इस श्रेष्ठ पदकी अभिलाषा रखते हुए तुम शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २९ ॥

देवतासुरमर्त्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम्।
चण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथंचन ॥ ३० ॥

'देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें भी जो परम पवित्र माना गया है, उस ब्राह्मणत्वको चाण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य किसी तरह नहीं पा सकता' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका आग्रह छोड़कर दूसरा वर माँगनेके लिये इन्द्रका मतङ्गको समझाना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शतमच्युतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर

मतङ्गका मन और भी दृढ़ हो गया। वह संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करने लगा। अपने धैर्यसे च्युत न होनेवाला मतङ्ग सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा ॥ १ ॥

तमुवाच ततः शक्रः पुनरेव महायशाः।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं तात प्रार्थयानो न लप्स्यसे ॥ २ ॥

तब महायशस्वी इन्द्रने पुनः आकर उससे कहा—'तात! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। उसे माँगनेपर भी पा न सकोगे ॥ २ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं प्रार्थयन् विनशिष्यसि।
मा कृथाः साहसं पुत्र नैष धर्मपथस्तव ॥ ३ ॥

'मतङ्ग! तुम इस उत्तम स्थानको माँगते-माँगते मर जाओगे। बेटा! दुःसाहस न करो। तुम्हारे लिये यह धर्मका मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥

न हि शक्यं त्वया प्राप्तुं ब्राह्मण्यमिह दुर्मते।
अप्राप्यं प्रार्थयानो हि नचिराद् विनशिष्यसि ॥ ४ ॥

'दुर्मते! तुम इस जीवनमें ब्राह्मणत्व नहीं पा सकते। उस अप्राप्य वस्तुके लिये प्रार्थना करते-करते शीघ्र ही कालके गालमें चले जाओगे ॥ ४ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं वार्यमाणोऽसकृन्मया।
चिकीर्षस्येव तपसा सर्वथा न भविष्यसि ॥ ५ ॥

'मतङ्ग! मैं तुम्हें बार-बार मना करता हूँ तो भी उस उत्कृष्ट स्थानको तुम तपस्याद्वारा प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते ही जाते हो। ऐसा करनेसे सर्वथा तुम्हारी सत्ता मिट जायगी ॥ ५ ॥

तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति।
स जायते पुल्कसो वा चण्डालो वाप्यसंशयः ॥ ६ ॥

'पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए सभी प्राणी यदि कभी मनुष्ययोनिमें जाते हैं तो पहले पुल्कस या चाण्डालके रूपमें जन्म लेते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते।
स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते ॥ ७ ॥

'मतङ्ग! पुल्कस या जो कोई भी पापयोनि पुरुष यहाँ दिखायी देता है, वह सुदीर्घकालतक अपनी उसी योनिमें चक्कर लगाता रहता है ॥ ७ ॥

ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि।
शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते ॥ ८ ॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर वह चाण्डाल या पुल्कस शूद्र-योनिमें जन्म लेता है और उसमें भी अनेक जन्मोंतक चक्कर लगाता रहता है ॥ ८ ॥

ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि।
वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् तीस गुना समय बीतनेपर वह वैश्ययोनिमें आता है और चिरकालतक उसीमें चक्कर काटता रहता है ॥ ९ ॥

ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते।
ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम् ॥ १० ॥

'इसके बाद साठगुना समय बीतनेपर वह क्षत्रियकी योनिमें जन्म लेता है। फिर उससे भी साठगुना समय बीतनेपर वह गिरे हुए ब्राह्मणके घरमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं ततस्तु परिवर्तते।
ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम् ॥ ११ ॥

'दीर्घकालतक ब्राह्मणाधम रहकर जब उसकी अवस्था परिवर्तित होती है, तब वह अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ ११ ॥

काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते।
ततस्तु त्रिशते काले लभते जपतामपि ॥ १२ ॥

'फिर चिरकालतक वह उसी योनिमें पड़ा रहता है। तदनन्तर तीन सौ वर्षका समय व्यतीत होनेपर वह गायत्री-मात्रका जप करनेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ १२ ॥

तं च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते।
ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते।
श्रोत्रियत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १३ ॥

'उस जन्मको पाकर वह चिरकालतक उसी योनिमें जन्मता-मरता रहता है। फिर चार सौ वर्षोंका समय व्यतीत होनेपर वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) ब्राह्मणके कुलमें जन्म लेता है और उसी कुलमें चिरकालतक उसका आवागमन होता रहता है ॥ १३ ॥

तदेवं शोकहर्षौ तु कामद्वेषौ च पुत्रक।
अतिमानातिवादौ च प्रविशेते द्विजाधमम् ॥ १४ ॥

'बेटा! इस प्रकार शोक-हर्ष, राग-द्वेष, अतिमान और अतिवाद आदि दोषोंका अधम द्विजके भीतर प्रवेश होता है ॥ १४ ॥

तांश्चेज्जयति शत्रून् स तदा प्राप्नोति सद्गतिम्।
अथ ते वै जयन्त्येनं तालाग्रादिव पात्यते ॥ १५ ॥

'यदि वह इन शत्रुओंको जीत लेता है तो सद्गतिको प्राप्त होता है और यदि वे शत्रु ही उसे जीत लेते हैं तो ताड़के वृक्षके ऊपरसे गिरनेवाले फलकी भाँति वह नीचे गिरा दिया जाता है ॥ १५ ॥

मतङ्ग सम्प्रधार्यैवं यदहं त्वामचूचुदम्।

वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् ॥ १६ ॥

'मतङ्ग ! यही सोचकर मैंने तुमसे कहा था कि तुम कोई दूसरी अभीष्ट वस्तु माँग लो; क्योंकि ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

मतङ्गकी तपस्या और इन्द्रका उसे वरदान देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः ।
सहस्रमेकपादेन ततो ध्याने व्यतिष्ठत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अपने मनको और भी दृढ़ और संयमशील बनाकर एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे ध्यान लगाये खड़ा रहा ॥ १ ॥

तं सहस्रावरे काले शक्रो द्रष्टुमुपागमत् ।
तदेव च पुनर्वाक्यमुवाच बलवृत्रहा ॥ २ ॥

जब एक हजार वर्ष पूरे होनेमें कुछ ही बाकी था, उस समय बल और वृत्रासुरके शत्रु देवराज इन्द्र फिर मतङ्गको देखनेके लिये आये और पुनः उससे उन्होंने पहलेकी कही हुई बात ही दुहरायी ॥ २ ॥

मतङ्ग उवाच

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं प्राप्नुयां कथम् ॥ ३ ॥

मतङ्गने कहा—देवराज ! मैंने ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तप किया है। फिर मुझे ब्राह्मणत्व कैसे नहीं प्राप्त हो सकता ? ॥

शक्र उवाच

चण्डालयोनौ जातेन नावाप्यं वै कथंचन ।
अन्यं कामं वृणीष्व त्वं मा वृथा तेऽस्त्वयं श्रमः॥ ४ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! चाण्डालकी योनिमें जन्म लेनेवालेको किसी तरह ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता; इसलिये तुम दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँग लो । जिससे तुम्हारा यह परिश्रम व्यर्थ न जाय ॥ ४ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु भृशं शोकपरायणः ।
अध्यतिष्ठद् गयां गत्वा सोऽङ्गुष्ठेन शतं समाः ॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अत्यन्त शोकमग्न हो गयामें जाकर अंगूठेके बलपर सौ वर्षोंतक खड़ा रहा ॥ ५ ॥

सुदुर्वहं वहन् योगं कृशो धमनिसंततः ।
त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

उसने दुर्धर योगका अनुष्ठान किया । उसका सारा शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया । नस-नाड़ियाँ उघड़ आयीं । धर्मात्मा मतङ्गका शरीर चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया । उस अवस्थामें अपनेको न सँभाल सकनेके कारण वह गिर पड़ा, यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ ६ ॥

तं पतन्तमभिद्रुत्य परिजग्राह वासवः ।
वराणामीश्वरो दाता सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

उसे गिरते देख सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले वर देनेमें समर्थ इन्द्रने दौड़कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

शक्र उवाच

मतङ्ग ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभतरं संवृतं परिपन्थिभिः ॥ ८ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! इस जन्ममें तुम्हारे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव दिखायी देती है । ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है; साथ ही वह काम-क्रोध आदि लुटेरोंसे घिरा हुआ है ॥ ८ ॥

पूजयन् सुखमाप्नोति दुःखमाप्नोत्यपूजयन् ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां योगक्षेमसमर्पिता ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मणका आदर करता है, वह सुख पाता है और जो अनादर करता है, वह दुःख पाता है । ब्राह्मण समस्त प्राणियोंको योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽनुतृप्यन्ते पितरो देवतास्तथा ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां मतङ्ग पर उच्यते ॥ १० ॥

मतङ्ग ! ब्राह्मणोंके तृप्त होनेसे ही देवता और पितर भी तृप्त होते हैं। ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है ॥

ब्राह्मणः कुरुते तद्धि यथा यद् यच्च वाञ्छति ।
बह्वीस्तु संविशन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मण्यमिह विन्दति ।

ब्राह्मण जो-जो जिस प्रकार करना चाहता है, अपने तपके

प्रभावसे वैसा ही कर सकता है। तात ! जीव इस जगत्के भीतर अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ बारंबार जन्म लेता है । इसी तरह जन्म लेते-लेते कभी किसी समयमें वह ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर लेता है ॥ ११½ ॥

तदुत्सृज्येह दुष्प्रापं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः ।

अतः जिनका मन अपने वशमें नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य ब्राह्मणत्वको पानेका आग्रह छोड़कर तुम कोई दूसरा ही वर माँगो । यह वर तो तुम्हारे लिये दुर्लभ ही है ॥ १२½ ॥

मतङ्ग उवाच

किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम्॥ १३ ॥
त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे ।

मतङ्गने कहा—देवराज ! मैं तो यों ही दुःखसे आतुर हो रहा हूँ, फिर तुम भी क्यों मुझे पीड़ा दे रहे हो ? मुझ मरे हुएको क्यों मारते हो ? मैं तो तुम्हारे लिये शोक करता हूँ, जो जन्मसे ही ब्राह्मणत्वको पाकर भी तुम उसे अपना नहीं रहे हो ॥ १३½ ॥

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ॥ १४ ॥
सुदुर्लभं सदावाप्य नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

शतक्रतो ! यदि क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व दुर्लभ है तो उस परम दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर भी मनुष्य ब्राह्मणोचित शम-दमका अनुष्ठान नहीं करते हैं । यह कितने दुःखकी बात है !॥ १४½ ॥

यः पापेभ्यः पापतमस्तेषामधम एव सः ॥ १५ ॥
ब्राह्मण्यं यो न जानीते धनं लब्ध्वेव दुर्लभम् ।

वह पापियोंसे भी बढ़कर अत्यन्त पापी और उनमें भी अधम ही है, जो दुर्लभ धनकी भाँति ब्राह्मणत्वको पाकर भी उसके महत्त्वको नहीं समझता है ॥ १५½ ॥

दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम् ॥ १६ ॥
दुरावापमवाप्यैतन्नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

पहले तो ब्राह्मणत्वका प्राप्त होना ही कठिन है । यदि वह प्राप्त हो जाय तो उसका पालन करना और भी कठिन हो जाता है; किंतु बहुत-से मनुष्य इस दुर्लभ वस्तुको पाकर भी तदनुकूल आचरण नहीं करते हैं ॥ १६½ ॥

एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १७ ॥
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

शक्र ! मैं एकान्तमें आनन्दपूर्वक रहता हूँ तथा द्वन्द्वों और परिग्रहोंसे दूर हूँ । अहिंसा और दमका पालन किया करता हूँ । ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणत्व पाने योग्य क्यों नहीं हूँ ? ॥

दैवं तु कथमेतद् वै यदहं मातृदोषतः ॥ १८ ॥
एतामवस्थां सम्प्राप्तो धर्मज्ञः सन् पुरंदर ।

पुरंदर ! मैं धर्मज्ञ होकर भी केवल माताके दोषसे इस अवस्थामें आ पहुँचा हूँ । यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है ! ।१८½।

नूनं दैवं न शक्यं हि पौरुषेणातिवर्तितुम् ॥ १९ ॥
यदर्थं यत्नवानेव न लभे विप्रतां विभो ।

प्रभो ! निश्चय ही पुरुषार्थके द्वारा दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं जिसके लिये ऐसा प्रयत्नशील हूँ, उस ब्राह्मणत्वको नहीं उपलब्ध कर पाता हूँ ॥

एवंगते तु धर्मज्ञ दातुमर्हसि मे वरम् ॥ २० ॥
यदि तेऽहमनुग्राह्यः किंचिद् वा सुकृतं मम ।

धर्मज्ञ देवराज ! यदि ऐसी अवस्थामें मैं आपका कृपापात्र हूँ अथवा यदि मेरा कुछ भी पुण्य शेष हो तो आप मुझे वर प्रदान कीजिये ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

वृणीष्वेति तदा प्राह ततस्तं बलवृत्रहा ॥ २१ ॥
चोदितस्तु महेन्द्रेण मतङ्गः प्राब्रवीदिदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रने मतङ्गसे कहा—'तुम मुझसे वर माँगो।' महेन्द्रसे प्रेरित होकर मतङ्गने इस प्रकार कहा—॥२१½॥

यथा कामविहारी स्यां कामरूपी विहङ्गमः ॥ २२ ॥
ब्रह्मक्षत्राविरोधेन पूजां च प्राप्नुयामहम् ।
यथा ममाक्षया कीर्तिर्भवेच्चापि पुरंदर ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि तद् देव शिरसा त्वां प्रसादये ।

'देव पुरंदर ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं इच्छानुसार विचरनेवाला तथा अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाला आकाशचारी देवता होऊँ । ब्राह्मण और क्षत्रियोंके विरोधसे रहित हो मैं सर्वत्र पूजा एवं सत्कार प्राप्त करूँ तथा मेरी अक्षय कीर्तिका विस्तार हो । मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ । आप मेरी इस प्रार्थनाको सफल बनाइये' ॥ २२-२३½ ॥

शक्र उवाच

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि ॥ २४ ॥
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति ।

इन्द्रने कहा—वत्स ! तुम स्त्रियोंके पूजनीय होओगे । 'छन्दोदेव' के नामसे तुम्हारी ख्याति होगी और तीनों लोकोंमें तुम्हारी अनुपम कीर्तिका विस्तार होगा ॥ २४½ ॥

एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत ॥ २५ ॥
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम् ।

इस प्रकार उसे वर देकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। मतङ्ग भी अपने प्राणोंका परित्याग करके उत्तम स्थान (ब्रह्मलोक) को प्राप्त हुआ ॥ २५½ ॥

एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत।
तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा ॥ २६ ॥

भारत ! इस तरह यह ब्राह्मणत्व परम उत्तम स्थान है। जैसा कि इन्द्रका कथन है, उसके अनुसार यह इस जीवनमें दूसरे वर्णके लोगोंके लिये दुर्लभ है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

वीतहव्यके पुत्रोंसे काशी-नरेशोंका घोर युद्ध, प्रतर्दनद्वारा उनका वध और राजा वीतहव्यको भृगुके कथनसे ब्राह्मणत्व प्राप्त होनेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे महदाख्यानमेतत् कुरुकुलोद्वह।
सुदुष्प्रापं यद् ब्रवीषि ब्राह्मण्यं वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलमें उत्पन्न ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपके मुखसे यह महान् उपाख्यान मैंने सुन लिया। आप कह रहे हैं कि अन्य वर्णोंके लिये इसी शरीरसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है ॥ १ ॥

विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत।
श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥ २ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! परंतु सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने इसी शरीरसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था और आप जो उसे सर्वथा दुर्लभ बता रहे हैं (ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध-सी जान पड़ती हैं) ॥ २ ॥

वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः।
तदेव तावद् गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ॥ ३ ॥

मेरे सुननेमें यह भी आया है कि राजा वीतहव्य क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे। गङ्गानन्दन ! प्रभो ! अब मैं पहले उसी प्रसङ्गको सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

स केन कर्मणा प्राप्तो ब्राह्मण्यं राजसत्तमः।
वरेण तपसा वापि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

वे नृपशिरोमणि वीतहव्य किस कर्मसे, किस वर अथवा तपस्यासे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः।
राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महायशस्वी राजर्षि राजा वीतहव्यने जिस प्रकार लोकसम्मानित दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

मनोर्महात्मनस्तात प्रजा धर्मेण शासतः।
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः ॥ ६ ॥

तात ! पूर्वकालमें धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाले महामनस्वी राजा मनुके एक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था शर्याति ॥ ६ ॥

तस्यान्ववाये द्वौ राजन् राजानौ सम्बभूवतुः।
हैहयस्तालजंघश्च वत्सस्य जयतां वर ॥ ७ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! राजा शर्यातिके वंशमें दो राजा बड़े विख्यात हुए—हैहय और तालजङ्घ। ये दोनों ही राजा वत्सके पुत्र थे ॥ ७ ॥

हैहयस्य तु राजेन्द्र दशसु स्त्रीषु भारत।
शतं बभूव पुत्राणां शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र ! उन दोनोंमें हैहयके (जिसका दूसरा नाम वीतहव्य भी था) दस स्त्रियाँ थीं। उन स्त्रियोंके गर्भसे सौ शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए, जो युद्धसे पीछे हटनेवाले नहीं थे ॥ ८ ॥

तुल्यरूपप्रभावाणां बलिनां युद्धशालिनाम्।
धनुर्वेदे च वेदे च सर्वत्रैव कृतश्रमाः ॥ ९ ॥

उन सबके रूप और प्रभाव एक समान थे, वे सभी बलवान् तथा युद्धमें शोभा पानेवाले थे। उन्होंने धनुर्वेद और वेदके सभी विषयोंमें परिश्रम किया था ॥ ९ ॥

काशिष्वपि नृपो राजन् दिवोदासपितामहः।
हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः ॥ १० ॥

उन्हीं दिनों काशी प्रान्तमें हर्यश्व नामके राजा राज्य करते थे, जो दिवोदासके पितामह थे। वे विजयशील वीरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे ॥ १० ॥

स वीतहव्यदायादैरागत्य पुरुषर्षभ ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये संग्रामे विनिपातितः ॥ ११ ॥

पुरुषप्रवर ! वीतहव्यके पुत्रोंने हर्यश्वके राज्यपर चढ़ाई की उन्हें गङ्गा-यमुनाके बीच युद्धमें मार गिराया ॥ ११ ॥

तं तु हत्वा नरपतिं हैहयास्ते महारथाः ।
प्रतिजग्मुः पुरीं रम्यां वत्सानामकुतोभयाः ॥ १२ ॥

राजा हर्यश्वको मारकर वे महारथी हैहय-राजकुमार निर्भय हो वत्सवंशी राजाओंकी सुरम्य पुरीको लौट गये ॥ १२ ॥

हर्यश्वस्य च दायादः काशिराजोऽभ्यषिच्यत ।
सुदेवो देवसंकाशः साक्षाद् धर्म इवापरः ॥ १३ ॥

हर्यश्वके पुत्र सुदेव जो देवताके तुल्य तेजस्वी और साक्षात् दूसरे धर्मराजके समान न्यायशील थे, पिताके बाद काशिराजके पदपर अभिषिक्त किये गये ॥ १३ ॥

स पालयामास महीं धर्मात्मा काशिनन्दनः ।
तैर्वीतहव्यैरागत्य युधि सर्वैर्विनिर्जितः ॥ १४ ॥

धर्मात्मा काशिनन्दन सुदेव धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे । इसी बीचमें वीतहव्यके सभी पुत्रोंने आक्रमण करके युद्धमें उन्हें भी परास्त कर दिया ॥ १४ ॥

तमथाजौ विनिर्जित्य प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत॥१५ ॥

समराङ्गणमें सुदेवको धराशायी करके वे हैहयराजकुमार जैसे आये थे, वैसे लौट गये । तत्पश्चात् सुदेवके पुत्र दिवोदासका काशिराजके पदपर अभिषेक किया गया ॥ १५ ॥

दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥ १६ ॥

दिवोदास बड़े तेजस्वी राजा थे । उन्होंने जब मनको वशमें रखनेवाले हैहयराजकुमारोंके पराक्रमपर विचार किया, तब इन्द्रकी आज्ञासे वाराणसी नामवाली नगरी बसायी ॥ १६ ॥

विप्रक्षत्रियसम्बाधां वैश्यशूद्रसमाकुलाम् ।
नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ १७ ॥

वह पुरी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंसे भरी हुई थी, नाना प्रकारके द्रव्योंके संग्रहसे सम्पन्न थी तथा उसके बाजार-हाट और दूकानें धन-वैभवसे भरपूर थीं ॥ १७ ॥

गङ्गाया उत्तरे कूले वप्रान्ते राजसत्तम ।
गोमत्या दक्षिणे कूले शक्रस्येवामरावतीम् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस नगरीके घेरेका एक छोर गङ्गाजीके उत्तर तटतक दूसरा छोर गोमतीके दक्षिण किनारेतक फैला हुआ था । वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीपुरीके समान जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

तत्र तं राजशार्दूलं निवसन्तं महीपतिम् ।
आगत्य हैहया भूयः पर्यधावन्त भारत ॥ १९ ॥

भारत ! उस नगरीमें निवास करते हुए राजसिंह भूपाल दिवोदासपर पुनः हैहयराजकुमारोंने धावा किया ॥ १९ ॥

स निष्क्रम्य ददौ युद्धं तेभ्यो राजा महाबलः ।
देवासुरसमं घोरं दिवोदासो महाद्युतिः ॥ २० ॥

महातेजस्वी महाबली राजा दिवोदासने पुरीसे बाहर निकलकर उन राजकुमारोंके साथ युद्ध किया । उनका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ २० ॥

स तु युद्धे महाराज दिनानां दशतीर्दश ।
हतवाहनभूयिष्ठस्ततो दैन्यमुपागमत् ॥ २१ ॥
हतयोधस्ततो राजन् क्षीणकोशश्च भूमिपः ।
दिवोदासः पुरीं त्यक्त्वा पलायनपरोऽभवत् ॥ २२ ॥

महाराज ! काशिनरेशने एक हजार दिन (दो वर्ष नौ महीने दस दिन) तक शत्रुओंके साथ युद्ध किया । इस युद्धमें दिवोदासके बहुत-से सिपाही और हाथी, घोड़े आदि वाहन मारे गये । उनका खजाना खाली हो गया और वे बड़ी दयनीय दशामें पड़ गये । अन्तमें अपनी राजधानी छोड़कर भाग निकले ॥ २१-२२ ॥

गत्वाऽऽश्रमपदं रम्यं भरद्वाजस्य धीमतः ।
जगाम शरणं राजा कृताञ्जलिररिंदम ॥ २३ ॥

शत्रुदमन नरेश ! बुद्धिमान् भरद्वाजके रमणीय आश्रमपर जाकर राजा दिवोदास हाथ जोड़े हुए वहाँ मुनिकी शरणमें गये ॥ २३ ॥

तमुवाच भरद्वाजो ज्येष्ठः पुत्रो बृहस्पतेः ।
पुरोधाः शीलसम्पन्नो दिवोदासं महीपतिम् ॥ २४ ॥
किमागमनकृत्यं ते सर्वं प्रब्रूहि मे नृप ।
यत् ते प्रियं तत् करिष्ये न मेऽत्रास्ति विचारणा॥ २५ ॥

बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र भरद्वाजजी बड़े शीलवान् और दिवोदासके पुरोहित थे । उन्होंने राजाको उपस्थित देखकर पूछा—'नरेश्वर ! तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ? मुझे अपना सब समाचार बता दो । तुम्हारा जो भी प्रिय कार्य होगा, उसे मैं करूँगा । इसके लिये मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होगा' ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् वैतहव्यैर्मे युद्धे वंशः प्रणाशितः ।
अहमेकः परिद्यूनो भवन्तं शरणं गतः ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! संग्राममें वीतहव्यके पुत्रोंने मेरे संग्राममें कुलका विनाश कर डाला । मैं अकेला ही अत्यन्त संतप्त हो आपकी शरणमें आया हूँ ॥ २६ ॥

शिष्यस्नेहेन भगवंस्त्वं मां रक्षितुमर्हसि ।
एकशेषः कृतो वंशो मम तैः पापकर्मभिः ॥ २७ ॥

भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ और आप मेरे गुरु हैं। शिष्यके प्रति गुरुका जो सहज स्नेह होता है, उसीके द्वारा आप मेरी रक्षा कीजिये। उन पापकर्मियोंने मेरे कुलमें केवल मुझ एक ही व्यक्तिको शेष छोड़ा है ॥ २७ ॥

तमुवाच महाभागो भरद्वाजः प्रतापवान्।
न भेतव्यं न भेतव्यं सौदेव व्येतु ते भयम् ॥ २८ ॥

यह सुनकर प्रतापी महर्षि महाभाग भरद्वाजने कहा—'सुदेवनन्दन! तुम न डरो, न डरो। तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये ॥ २८ ॥

अहमिष्टिं करिष्यामि पुत्रार्थं ते विशाम्पते।
वीतहव्यसहस्राणि येन त्वं प्रहरिष्यसि ॥ २९ ॥

'प्रजानाथ! मैं तुम्हारी पुत्र-प्राप्तिके लिये एक यज्ञ करूँगा। जिसकी सहायतासे तुम हजारों वीतहव्य-पुत्रोंको मार गिराओगे' ॥ २९ ॥

तत इष्टिं चकारर्षिस्तस्य वै पुत्रकामिकीम्।
अथास्य तनयो जज्ञे प्रतर्दन इति श्रुतः ॥ ३० ॥

तब ऋषिने राजासे पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इससे उनके प्रतर्दन नामसे विख्यात पुत्र हुआ ॥ ३० ॥

स जातमात्रो ववृधे समाः सद्यस्त्रयोदश।
वेदं चापि जगौ कृत्स्नं धनुर्वेदं च भारत ॥ ३१ ॥

भारत! वह पैदा होते ही इतना बढ़ गया कि तुरंत तेरह वर्षकी अवस्थाका-सा दिखायी देने लगा। उसी समय उसने अपने मुखसे सम्पूर्ण वेद और धनुर्वेदका गान किया ॥ ३१ ॥

योगेन च समाविष्टो भरद्वाजेन धीमता।
तेजो लोक्यं स संगृह्य तस्मिन् देशे समाविशत् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजमुनिने उसे योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया और उसके शरीरमें सम्पूर्ण जगत्का तेज भर दिया ॥ ३२ ॥

ततः स कवची धन्वी स्तूयमानः सुरर्षिभिः।
वन्दिभिर्वन्द्यमानश्च बभौ सूर्य इवोदितः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राजकुमार प्रतर्दनने अपने शरीरपर कवच धारण किया और हाथमें धनुष ले लिया। उस समय देवर्षिगण उसका यश गाने लगे। वन्दीजनोंसे वन्दित हो वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ३३ ॥

स रथी बद्धनिस्त्रिंशो बभौ दीप्त इवानलः।
प्रययौ स धनुर्धुन्वन् खड्गी चर्मी शरासनी ॥ ३४ ॥

वह रथपर बैठ गया और कमरमें तलवार बाँधकर प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होने लगा। ढाल, तलवार और धनुषसे सम्पन्न हो वह धनुषकी टङ्कार करता हुआ आगे बढ़ा ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा परमं हर्षं सुदेवतनयो ययौ।
मेने च मनसा दग्धान् वैतहव्यान् स पार्थिवः ॥ ३५ ॥

उसे देखकर सुदेव-पुत्र राजा दिवोदासको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मन-ही-मन वीतहव्यके पुत्रोंको अपने पुत्रके तेजसे दग्ध हुआ ही समझा ॥ ३५ ॥

ततोऽसौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा प्रतर्दनम्।
कृतकृत्यं तदाऽऽत्मानं स राजा अभ्यनन्दत ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् राजा दिवोदासने प्रतर्दनको युवराजके पदपर स्थापित करके अपने आपको कृतकृत्य माना और बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ ३६ ॥

ततस्तु वैतहव्यानां वधाय स महीपतिः।
पुत्रं प्रस्थापयामास प्रतर्दनमरिंदमम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद राजाने अपने पुत्र शत्रुदमन प्रतर्दनको वीतहव्यके पुत्रोंका वध करनेके लिये भेजा ॥ ३७ ॥

सरथः स तु संतीर्य गङ्गामाशु पराक्रमी।
प्रययौ वीतहव्यानां पुरीं परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

पिताकी आज्ञा पाकर वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला पराक्रमी वीर शीघ्र ही रथसहित गङ्गापार करके वीतहव्य-पुत्रोंकी राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ३८ ॥

वैतहव्यास्तु संश्रुत्य रथघोषं समुद्धतम्।
निर्ययुर्नगराकारै रथैः पररथारुजैः ॥ ३९ ॥
निष्क्रम्य ते नरव्याघ्रा दंशिताश्चित्रयोधिनः।
प्रतर्दनं समाजग्मुः शरवर्षैरुदायुधाः ॥ ४० ॥

उसके रथकी घोर घरघराहट सुनकर विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले पुरुषसिंह हैहयराजकुमार कवचसे सुसज्जित होकर शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले नगराकार विशाल रथोंपर बैठे हुए पुरीसे बाहर निकले और धनुष उठाये बाणोंकी वर्षा करते हुए प्रतर्दनपर चढ़ आये ॥ ३९-४० ॥

शस्त्रैश्च विविधाकारै रथौघैश्च युधिष्ठिर।
अभ्यवर्षन्त राजानं हिमवन्तमिवाम्बुदाः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर! जैसे बादल हिमालयपर जल बरसाते हैं, उसी प्रकार हैहयराजकुमारोंने रथसमूहोंद्वारा आकर राजा प्रतर्दनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४१ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां राजा प्रतर्दनः।
जघान तान् महातेजा वज्रानलसमैः शरैः ॥ ४२ ॥

तब महातेजस्वी राजा प्रतर्दनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्रोंका निवारण करके वज्र और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे उन सबको मार डाला ॥ ४२ ॥

कृत्तोत्तमाङ्गास्ते राजन् भल्लैः शतसहस्रशः।
अपतन् रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ४३ ॥

राजन्! भल्लोंकी मारसे उनके मस्तकोंके सैकड़ों और

हजारों टुकड़े हो गये थे। उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये और वे कटे हुए पलाशके वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ॥ ४३ ॥

हतेषु तेषु सर्वेषु वीतहव्यः सुतेष्वथ।
प्राद्रवन्नगरं हित्वा भृगोराश्रममप्युत ॥ ४४ ॥

उन सब पुत्रोंके मारे जानेपर राजा वीतहव्य अपना नगर छोड़कर महर्षि भृगुके आश्रममें भाग गये ॥ ४४ ॥

ययौ भृगुं च शरणं वीतहव्यो नराधिपः।
अभयं च ददौ तस्मै राज्ञे राजन् भृगुस्तदा ॥ ४५ ॥

राजन्! वहाँ नरेश्वर वीतहव्यने महर्षि भृगुकी शरण ली। तब भृगुने राजाको अभयदान दे दिया ॥ ४५ ॥

अथानुपदमेवाशु तत्रागच्छत् प्रतर्दनः।
स प्राप्य चाश्रमपदं दिवोदासात्मजोऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इतनेहीमें उनके पीछे लगा हुआ दिवोदासकुमार प्रतर्दन भी शीघ्र ही वहाँ पहुँचा। आश्रममें पहुँचकर उसने इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

भो भोः केऽत्राश्रमे सन्ति भृगोः शिष्या महात्मनः।
द्रष्टुमिच्छे मुनिमहं तस्याचक्षत मामिति ॥ ४७ ॥

'भाइयो! इस आश्रममें महात्मा भृगुके शिष्य कौन-कौन हैं? मैं महर्षिका दर्शन करना चाहता हूँ। आपलोग उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ४७ ॥

स तं विदित्वा तु भृगुर्निश्चक्रामाश्रमात् तदा।
पूजयामास च ततो विधिना नृपसत्तमम् ॥ ४८ ॥

प्रतर्दनको आया जान भृगुजी आश्रमसे निकले। उन्होंने नृपश्रेष्ठ प्रतर्दनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥

उवाच चैनं राजेन्द्र किं कार्यं ब्रूहि पार्थिव।
स चोवाच नृपस्तस्मै यदागमनकारणम् ॥ ४९ ॥

और इस प्रकार पूछा—'राजेन्द्र! पृथ्वीनाथ! मुझसे आपका क्या काम है, बताइये।' तब राजाने उनसे अपने आगमनका जो कारण था, उसे इस प्रकार बताया ॥ ४९ ॥

राजोवाच

अयं ब्रह्मन्नितो राजा वीतहव्यो विसर्ज्यताम्।
तस्य पुत्रैर्हि मे कृत्स्नो ब्रह्मन् वंशः प्रणाशितः॥ ५० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! राजा वीतहव्यको आप यहाँसे बाहर निकाल दीजिये। विप्रवर! इनके पुत्रोंने मेरे सम्पूर्ण कुलका विनाश कर डाला है ॥ ५० ॥

उत्सादितश्च विषयः काशीनां रत्नसंचयः।
एतस्य वीर्यदृप्तस्य हतं पुत्रशतं मया ॥ ५१ ॥
अस्येदानीं वधादद्य भविष्याम्यनृणः पितुः।

इतना ही नहीं, उनके पुत्रोंने काशिप्रान्तका सारा राज्य

उजाड़ डाला और रत्नोंका संग्रह लूट लिया है। बलके घमंडमें भरे हुए इन राजाके सौ पुत्रोंको तो मैंने मार डाला; अब केवल ये ही रह गये हैं। इस समय इनका भी वध करके मैं पिताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा ॥ ५१½ ॥

तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः ॥ ५२ ॥
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुने दयासे द्रवित होकर उनसे कहा—'राजन्! यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है। ये सब-के-सब ब्राह्मण हैं' ॥ ५२½ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः ॥ ५३ ॥
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।
एवमप्यस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः ॥ ५४ ॥

महर्षि भृगुका यह यथार्थ वचन सुनकर प्रतर्दन बहुत प्रसन्न हुआ और धीरेसे उनके दोनों चरण छूकर बोला—'भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मैं कृतकृत्य हो गया, इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४ ॥

य एष राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया।
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् ध्यायस्व च शिवेन माम् ॥ ५५ ॥

'क्योंकि इन राजाको मैंने अपने पराक्रमसे अपनी जाति त्याग देनेके लिये विवश कर दिया। ब्रह्मन्! मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरा कल्याण-चिन्तन कीजिये ॥ ५५ ॥

त्याजितो हि मया जातिमेष राजा भृगूद्वह।
ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः ॥ ५६ ॥
यथागतं महाराज मुक्त्वा विषमिवोरगः।

भृगुवंशी महर्षे ! मैंने इन राजासे अपनी जातिका त्याग करवा दिया ।' महाराज ! तदनन्तर महर्षिकी आज्ञा लेकर राजा प्रतर्दन जैसे साँप अपने विषको त्याग देता है, उसी प्रकार क्रोध छोड़कर जैसे आया था, वैसे लौट गया ॥५६½॥

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ॥ ५७ ॥
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ।

नरेश्वर ! इस प्रकार राजा वीतहव्य भृगुजीके कथनमात्रसे ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मवादी हो गये ॥ ५७½ ॥

तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ५८ ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत् ।

उनके पुत्र गृत्समद हुए, जो रूपमें दूसरे इन्द्रके समान थे । कहते हैं, किसी समय दैत्योंने उन्हें यह कहते हुए पकड़ लिया था कि 'तुम इन्द्र हो' ॥ ५८½ ॥

ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणैः स महीयते ।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥ ६० ॥

ऋग्वेदमें महामना गृत्समदकी श्रेष्ठ श्रुति विद्यमान है । राजन् ! वहाँ ब्राह्मणलोग गृत्समदका बड़ा सम्मान करते हैं । ब्रह्मर्षि गृत्समद बड़े तेजस्वी और ब्रह्मचारी थे ॥ ५९-६० ॥

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुचेता अभवद् द्विजः ।
वर्चाः सुचेतसः पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः ॥ ६१ ॥

गृत्समदके पुत्र सुचेता नामके ब्राह्मण हुए । सुचेताके पुत्र वर्चा और वर्चाके पुत्र विहव्य हुए ॥ ६१ ॥

विहव्यस्य तु पुत्रस्तु वितत्यस्तस्य चात्मजः ।
वितत्यस्य सुतः सत्यः संतः सत्यस्य चात्मजः ॥ ६२ ॥

विहव्यके पुत्रका नाम वितत्य था । वितत्यके पुत्र सत्य और सत्यके पुत्र सन्त हुए ॥ ६२ ॥

श्रवास्तस्य सुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत् तमः ।
तमसश्च प्रकाशोऽभूत् तनयो द्विजसत्तमः ।
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः ॥ ६३ ॥

सन्तके पुत्र महर्षि श्रवा, श्रवाके तम और तमके पुत्र द्विजश्रेष्ठ प्रकाश हुए । प्रकाशका पुत्र विजयशीलोंमें श्रेष्ठ वागिन्द्र था ॥ ६३ ॥

तस्यात्मजश्च प्रमितिर्वेदवेदाङ्गपारगः ।
घृताच्यां तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत ॥ ६४ ॥

वागिन्द्रके पुत्र प्रमिति हुए, जो वेदों और वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे । प्रमितिके घृताची अप्सरासे रुरुनामक पुत्र हुआ ॥ ६४ ॥

प्रमद्वरायां तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत ।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ॥ ६५ ॥

रुरुसे प्रमद्वराके गर्भसे ब्रह्मर्षि शुनकका जन्म हुआ, जिनके पुत्र शौनक मुनि हैं ॥ ६५ ॥

एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः ।
भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! इस प्रकार राजा वीतहव्य क्षत्रिय होकर भी भृगुके प्रसादसे ब्राह्मण हो गये ॥ ६६ ॥

तथैव कथितो वंशो मया गार्त्समदस्तव ।
विस्तरेण महाराज किमन्यदनुपृच्छसि ॥ ६७ ॥

महाराज ! इसी तरह मैंने गृत्समदके वंशका भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । अब और क्या पूछ रहे हो ? ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि वीतहव्योपाख्यानं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वीतहव्यका उपाख्याननामक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पूजनीय पुरुषोंके लक्षण तथा उनके आदर-सत्कार और पूजनसे प्राप्त होनेवाले लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! इन तीनों लोकोंमें कौन-कौन-से मनुष्य पूज्य होते हैं ? यह विस्तारपूर्वक बताइये । आपकी बातें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान् नमस्यसि ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवर्षि नारदजी हाथ जोड़कर उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा कर रहे थे । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'भगवन् ! आप किनको नमस्कार कर रहे हैं ?' ॥ ३ ॥

बहुमानपरस्तेषु भगवन् यान् नमस्यसि ।
शक्यं चेच्छ्रोतुमस्माभिर्ब्रूह्येतद् धर्मवित्तम ॥ ४ ॥

'प्रभो ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नारदजी ! आपके हृदयमें जिनके प्रति बहुत बड़ा आदर है तथा आप भी जिनके सामने मस्तक झुकाते हैं, वे कौन हैं ? यदि हमें सुनाना उचित समझें तो आप उन पूज्य पुरुषोंका परिचय दीजिये' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—शत्रुमर्दन गोविन्द ! मैं जिनका पूजन करता हूँ, उनका परिचय सुननेके लिये इस संसारमें आपसे बढ़कर दूसरा कौन पुरुष अधिकारी है ? ॥ ५ ॥

वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥ ६ ॥
वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान् नमस्याम्यहं विभो ॥ ७ ॥

जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि, रुद्र, स्वामी कार्तिकेय, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, बृहस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी और सरस्वतीको सदा प्रणाम करते हैं, प्रभो ! मैं उन्हीं पूज्य पुरुषोंको मस्तक झुकाता हूँ ॥ ६-७ ॥

तपोधनान् वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान् वृष्णिशार्दूल सदा सम्पूजयाम्यहम् ॥ ८ ॥

वृष्णिसिंह ! तपस्या ही जिनका धन है, जो वेदोंके ज्ञाता तथा वेदोक्त धर्मका ही आश्रय लेनेवाले हैं, उन परम पूजनीय पुरुषोंकी ही मैं सदा पूजा करता रहता हूँ ॥ ८ ॥

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
संतुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान् नमस्याम्यहं विभो॥ ९ ॥

प्रभो ! जो भोजनसे पहले देवताओंकी पूजा करते, अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते, संतुष्ट रहते और क्षमाशील होते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

सम्यग् यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान् नमस्यामि यादव॥ १० ॥

यदुनन्दन ! जो विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय और मनको वशमें करनेवाले हैं और सत्य, धर्म, पृथ्वी तथा गौओंकी पूजा करते हैं, उन्हींको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ ११ ॥

यादव ! जो लोग वनमें फल-मूल खाकर तपस्यामें लगे रहते हैं, किसी प्रकारका संग्रह नहीं रखते और क्रियानिष्ठ होते हैं, उन्हींको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ ११ ॥

ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान् नमस्यामि यादव ॥ १२ ॥

जो माता-पिता, कुटुम्बीजन एवं सेवक आदि भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने सदा अतिथिसेवाका व्रत ले रखा है तथा जो देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको ही भोजन करते हैं, मैं उन्हींके सामने नतमस्तक होता हूँ ॥ १२ ॥

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम्॥ १३ ॥

जो वेदका अध्ययन करके दुर्धर्ष और बोलनेमें कुशल हो गये हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और यज्ञ कराने तथा वेद पढ़ानेमें लगे रहते हैं, उनकी मैं सदा पूजा किया करता हूँ ॥ १३ ॥

प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः ।
आपृष्ठतापात् स्वाध्याये युक्तास्तान् पूजयाम्यहम्॥ १४ ॥

जो नित्य-निरन्तर समस्त प्राणियोंपर प्रसन्नचित्त रहते और सबेरेसे दोपहरतक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, उनका मैं पूजन करता हूँ ॥ १४ ॥

गुरुप्रसादे स्वाध्याये यतन्तो ये स्थिरव्रताः ।
शुश्रूषवोऽनसूयन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ १५ ॥

यदुकुलतिलक ! जो गुरुको प्रसन्न रखने और स्वाध्याय करनेके लिये सदा यत्नशील रहते हैं, जिनका व्रत कभी भंग नहीं होने पाता, जो गुरुजनोंकी सेवा करते और किसीके भी दोष नहीं देखते, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

सुव्रता मुनयो ये च ब्राह्मणाः सत्यसंगराः ।
वोढारो हव्यकव्यानां तान् नमस्यामि यादव ॥ १६ ॥

यदुनन्दन ! जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, मनन-शील, सत्यप्रतिज्ञ तथा हव्य-कव्यको नियमितरूपसे चलानेवाले ब्राह्मण हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ १६ ॥

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये तु तान् नमस्यामि यादव ॥ १७ ॥

यदुकुलभूषण ! जो गुरुकुलमें रहकर भिक्षासे जीवन निर्वाह करते हैं, तपस्यासे जिनका शरीर दुर्बल हो गया है

और जो कभी धन तथा सुखकी चिन्ता नहीं करते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

निर्ममा निष्प्रतिद्वन्द्वा निर्ह्रीका निष्प्रयोजनाः।
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मवादिनः ॥ १८ ॥
अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः।
दान्ताः शमपराश्चैव तान् नमस्यामि केशव ॥ १९ ॥

केशव ! जिनके मनमें ममता नहीं है, जो प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित, लज्जासे ऊपर उठे हुए तथा कहीं भी कोई प्रयोजन न रखनेवाले हैं, जो वेदोंके ज्ञानका बल पाकर दुर्धर्ष हो गये हैं, प्रवचन-कुशल और ब्रह्मवादी हैं, जिन्होंने अहिंसामें तत्पर रहकर सदा सत्य बोलनेका व्रत ले रखा है तथा जो इन्द्रिय-संयम एवं मनोनिग्रहके साधनमें संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८-१९ ॥

देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान् नमस्यामि यादव ॥ २० ॥

यादव ! जो गृहस्थ ब्राह्मण सदा कपोतवृत्तिसे रहते हुए देवता और अतिथियोंकी पूजामें संलग्न रहते हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ २० ॥

येषां त्रिवर्गः कृत्येषु वर्तते नोपहीयते।
शिष्टाचारप्रवृत्ताश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २१ ॥

जिनके कार्योंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका निर्वाह होता है, किसी एककी भी हानि नहीं होने पाती तथा जो सदा शिष्टाचारमें ही संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

ब्राह्मणाः श्रुतसम्पन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान् नमस्यामि केशव॥ २२ ॥

केशव ! जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न, धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले, लोलुपतासे रहित और स्वभावतः पुण्यात्मा हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च सुधाभक्षाश्च ये सदा।
व्रतैश्च विविधैर्युक्तास्तान् नमस्यामि माधव ॥ २३ ॥

माधव ! जो नाना प्रकारके व्रतोंका पालन करते हुए केवल पानी या हवा पीकर ही रह जाते हैं तथा जो सदा यज्ञशेष अन्नका ही भोजन करते हैं, उनके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २३ ॥

अयोनीनग्नियोनींश्च ब्रह्मयोनींस्तथैव च।
सर्वभूतात्मयोनींश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २४ ॥

जो स्त्री नहीं रखते अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, जो अग्निहोत्रसे युक्त हैं तथा जो वेदोंको धारण करनेवाले हैं और समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्माको ही सबका कारण माननेवाले हैं, उनकी मैं सदा वन्दना करता हूँ ॥

नित्यमेतान् नमस्यामि कृष्ण लोककरानृषीन् ।
लोकज्येष्ठान् कुलज्येष्ठांस्तमोघ्नाँल्लोकभास्करान् ॥२५॥

श्रीकृष्ण ! जो लोकोंकी सृष्टि करनेवाले, संसारमें सबसे श्रेष्ठ, उत्तम कुलमें उत्पन्न, अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाले तथा सूर्यके समान जगत्को ज्ञानालोक प्रदान करनेवाले हैं, उन ऋषियोंको मैं सदा मस्तक झुकाता हूँ ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ॥ २६ ॥

वार्ष्णेय ! अतः आप भी सदा ब्राह्मणोंका पूजन करें। निष्पाप श्रीकृष्ण ! वे पूजनीय ब्राह्मण पूजित होनेपर आपको अपने आशीर्वादसे सुख प्रदान करेंगे ॥ २६ ॥

अस्मिँल्लोके सदा ह्येते परत्र च सुखप्रदाः।
चरन्ते मान्यमाना वै प्रदास्यन्ति सुखं तव ॥ २७ ॥

ये ब्राह्मण सदा इहलोक और परलोकमें भी सुख प्रदान करते हुए विचरते हैं। ये सम्मानित होनेपर आपको अवश्य ही सुख प्रदान करेंगे ॥ २७ ॥

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥

जो सबका अतिथि सत्कार करते तथा गौ-ब्राह्मण और सत्यपर प्रेम रखते हैं, वे बड़े-बड़े संकटसे पार हो जाते हैं ॥

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो सदा मनको वशमें रखते, किसीके दोषपर दृष्टि नहीं डालते और प्रतिदिन स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं वेदमाश्रिताः।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३० ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते हैं, एकमात्र वेदका आश्रय लेते, श्रद्धा रखते और इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे भी दुस्तर संकटसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

तथैव विप्रप्रवरान् नमस्कृत्य यतव्रताः।
भवन्ति ये दानरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार जो नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करते हैं और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उन्हें दान देते हैं, वे दुस्तर विपत्ति लाँघ जाते हैं ॥ ३१ ॥

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३२ ॥

जो तपस्वी, आबालब्रह्मचारी और तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चार्चने रताः ।
शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३३ ॥

जो देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहते हैं और यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करते हैं, वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अग्निमाधाय विधिवत् प्रणता धारयन्ति ये ।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३४ ॥

जो विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके सदा अग्निदेवकी उपासना और वन्दना करते हुए सर्वदा उस अग्निकी रक्षा करते हैं तथा उसमें सोमरसकी आहुति देते हैं, वे दुस्तर विपत्तिसे पार हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग् वर्तन्ति ये सदा ।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥ ३५ ॥

वृष्णिसिंह ! जो आपकी ही भाँति माता-पिता और गुरुके प्रति पूर्णतः न्याययुक्त बर्ताव करते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं—ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये ॥ ३५ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन् ।
सम्यक् पूजयसे नित्यं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ ३६ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! यदि तुम भी सदा देवताओं, पितरों, ब्राह्मणों और अतिथियोंका भलीभाँति पूजन एवं सत्कार करते रहोगे तो अभीष्ट गति प्राप्त कर लोगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कृष्णनारदसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

राजर्षि वृषदर्भ (या उशीनर) के द्वारा शरणागत कपोतकी रक्षा तथा उस पुण्यके प्रभावसे अक्षयलोककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि धर्मं भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह ! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः भरतसत्तम ! मैं आपसे ही धर्मविषयक उपदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब यह बतानेकी कृपा कीजिये कि जो लोग शरणमें आए हुए अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, उनको वास्तवमें क्या फल मिलता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः ।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ, महायशस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! शरणागतकी रक्षा करनेसे जो महान् फल प्राप्त होता है, उसके विषयमें तुम यह एक प्राचीन इतिहास सुनो ॥

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः ।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, एक बाज किसी सुन्दर कबूतरको मार रहा था । वह कबूतर बाजके डरसे भागकर महाभाग राजा वृषदर्भ (उशीनर) की शरणमें गया ॥ ४ ॥

स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम् ।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज॥ ५ ॥

भयके मारे अपनी गोदमें आये हुए उस कबूतरको देखकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले राजा उशीनरने उस पक्षीको आश्वासन देकर कहा—'अण्डज ! शान्त रह । यहाँ तुझे कोई भय नहीं है ॥ ५ ॥

भयं ते सुमहत् कस्मात् कुत्र किं वा कृतं त्वया ।
येन त्वमिह सम्प्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥ ६ ॥

'बता, तुझे यह महान् भय कहाँ और किससे प्राप्त हुआ है ? तूने क्या अपराध किया है ? जिससे तेरी चेतना भ्रान्त सी हो रही है तथा तू यहाँ बेसुध-सा होकर आया है ॥ ६ ॥

नवनीलोत्पलापीडचारुवर्ण सुदर्शन ।
दाडिमाशोकपुष्पाक्ष मा त्रसस्वाभयं तव ॥ ७ ॥

'नूतन नील-कमलके हारकी भाँति तेरी मनोहर कान्ति है । तू देखनेमें बड़ा सुन्दर है । तेरी आँखें अनार और अशोकके फूलोंकी भाँति लाल हैं । तू भयभीत न हो । मैं तुझे अभय दान देता हूँ ॥ ७ ॥

भयभीत कबूतर महाराज शिविकी गोदमें

त्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित् समुत्सहेत् ।
नसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥ ८ ॥

'अब तू मेरे पास आ गया है; अतः रक्षाध्यक्षके सामने । यहाँ तुझे कोई मनसे भी पकड़नेका साहस नहीं कर कता ॥ ८ ॥

ाशिराज्यं तदद्यैव त्वदर्थे जीवितं तथा ।
रजेयं भव विश्रब्धः कपोत न भयं तव ॥ ९ ॥

'कबूतर ! आज ही मैं तेरी रक्षाके लिये यह काशिराज्य र्थात् प्रकाशमान उशीनर देशका राज्य तथा अपना वन भी निछावर कर दूँगा । तू इस बातपर विश्वास करके श्चिन्त हो जा । अब तुझे कोई भय नहीं है' ॥ ९ ॥

श्येन उवाच

मैतद् विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि ।
तिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ॥ १० ॥

इतनेहीमें बाज भी वहाँ आ गया और बोला— जन् ! विधाताने इस कबूतरको मेरा भोजन नियत किया । आप इसकी रक्षा न करें । इसका जीवन गया हुआ ही क्योंकि अब यह मुझे मिल गया है । इसे मैंने बड़े प्रयत्नसे प्त किया है ॥ १० ॥

ांसं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मे हितम् ।
रितोषकरो ह्येष मम मास्याग्रतो भव ॥ ११ ॥

इसके रक्त, मांस, मज्जा और मेदा सभी मेरे लिये हित- र हैं । यह कबूतर मेरी क्षुधा मिटाकर मुझे पूर्णतः तृप्त कर गा; अतः आप इस मेरे आहारके आगे आकर विघ्न न लिये ॥ ११ ॥

ृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम् ।
ञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन् मन्दयितुं क्षुधाम् ॥ १२ ॥

मुझे बड़े जोरकी प्यास सता रही है । भूखकी ज्वाला झे दग्ध-सा किये देती है । राजन् ! उसे छोड़ दीजिये । मैं पनी भूखको दबा नहीं सकूँगा ॥ १२ ॥

या ह्यनुसृतो ह्येष मत्पक्षनखविक्षतः ।
किंचिदुच्छ्वासनिःश्वासं न राजन् गोप्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

मैं बड़ी दूरसे इसके पीछे पड़ा हुआ हूँ । यह मेरे पंखों र पंजोंसे घायल हो चुका है । अब इसकी कुछ-कुछ साँस की रह गयी है । राजन् ! ऐसी दशामें आप इसकी रक्षा न ें ॥ १३ ॥

दे स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम् ।
चरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ नरेश्वर ! अपने देशमें रहनेवाले मनुष्योंकी ही रक्षा करनेके लिये आप राजा बनाये गये हैं । भूख-प्याससे पीड़ित हुए पक्षीके आप स्वामी नहीं हैं ॥ १४ ॥

यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः ।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ॥ १५ ॥

यदि आपमें शक्ति है तो वैरियों, सेवकों, स्वजनों, वादी-प्रतिवादीके व्यवहारों (मुद्दई-मुद्दालहोंके मामलों) तथा इन्द्रियोंके विषयोंपर पराक्रम प्रकट कीजिये । आकाशमें रहनेवालोंपर अपने बलका प्रयोग न कीजिये ॥ १५ ॥

प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते ।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ॥ १६ ॥

जो लोग आपकी आज्ञाभङ्ग करनेवाले शत्रुकोटिके अन्तर्गत हैं, उनपर पराक्रम करके अपनी प्रभुता प्रकट करना आपके लिये उचित हो सकता है । यदि धर्मके लिये आप यहाँ कबूतरकी रक्षा करते हों तो मुझ भूखे पक्षीपर भी आपको दृष्टि डालनी चाहिये ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा श्येनस्य तद् वाक्यं राजर्षिर्विस्मयं गतः ।
सम्भाव्य चैनं तद्वाक्यं तदर्थी प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! बाजकी यह बात सुनकर राजर्षि उशीनरको बड़ा विस्मय हुआ । वे उसके कथनकी प्रशंसा करके कपोतकी रक्षाके लिये इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

राजोवाच

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ॥ १८ ॥

राजाने कहा—बाज ! तुम चाहो तो तुम्हारी भूख मिटानेके लिये आज तुम्हारे भोजनके निमित्त बैल, भैंसा, सूअर अथवा मृग प्रस्तुत कर दिया जाय ॥ १८ ॥

शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ॥ १९ ॥

विहंगम ! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा व्रत है । देखो, यह पक्षी भयके मारे मेरे अङ्गोंको छोड़ नहीं रहा है ॥ १९ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न चान्यान् विविधान् द्विजान् ।
भक्षयामि महाराज किमन्याद्येन तेन मे ॥ २० ॥

बाजने कहा—महाराज ! मैं न तो सूअर, न बैल और न दूसरे ही नाना प्रकारके पक्षियोंका मांस खाऊँगा । जो दूसरोंका भोजन है, उसे लेकर मैं क्या करूँगा ॥ २० ॥

यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः ।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ॥ २१ ॥

साक्षात् देवताओंने सनातनकालसे मेरे लिये जो खाद्य नियत कर दिया है, वही मुझे मिलना चाहिये । प्राचीनकालसे लोग इस बातको जानते हैं कि बाज कबूतर खाते हैं ॥२१॥

उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २२ ॥

निष्पाप महाराज उशीनर ! यदि आपको इस कबूतरपर बड़ा स्नेह है तो आप मुझे इसके बराबर अपना ही मांस तराजूपर तौलकर दे दीजिये ॥ २२ ॥

राजोवाच

महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम् ।
बाढमेव करिष्यामीत्युक्त्वासौ राजसत्तमः ॥ २३ ॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत् ।

राजाने कहा—'बाज ! तुमने ऐसी बात कहकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया । बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा ।' यों कहकर नृपश्रेष्ठ उशीनरने अपना मांस काट-काटकर तराजूपर रखना आरम्भ किया ॥ २३½ ॥

अन्तःपुरे ततस्तस्य स्त्रियो रत्नविभूषिताः ॥ २४ ॥
हाहाभूता विनिष्क्रान्ताः श्रुत्वा परमदुःखिताः ।

यह समाचार सुनकर अन्तःपुरकी रत्नविभूषित रानियाँ बहुत दुखी हुईं और हाहाकार करती हुई बाहर निकल आयीं ॥ २४½ ॥

तासां रुदितशब्देन मन्त्रिभृत्यजनस्य च ॥ २५ ॥
बभूव सुमहान् नादो मेघगम्भीरनिःस्वनः ।

उनके रोनेके शब्दसे तथा मन्त्रियों और भृत्यजनोंके हाहाकारसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥ २५½ ॥

निरुद्धं गगनं सर्वं शुभ्रं मेघैः समन्ततः ॥ २६ ॥
मही प्रचलिता चासीत् तस्य सत्येन कर्मणा ।

सारा शुभ्र आकाश सब ओरसे मेघोंद्वारा आच्छादित हो गया । उनके सत्यकर्मके प्रभावसे पृथ्वी काँपने लगी ॥२६½॥

स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥ २७ ॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः ।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥ २८ ॥

राजा अपनी पसलियों, भुजाओं और जाँघोंसे मांस काटकर जल्दी-जल्दी तराजू भरने लगे । तथापि वह मांसराशि उस कबूतरके बराबर नहीं हुई ॥ २७-२८ ॥

अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः ।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥ २९

जब राजाके शरीरका मांस चुक गया और रक्तकी धा बहाता हुआ हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया, तब वे मां काटनेका काम बंद करके स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥२९

ततः सेन्द्रास्त्रयो लोकास्तं नरेन्द्रमुपस्थिताः ।
भेर्यश्चाकाशगैस्तत्र वादिता देवदुन्दुभिः ॥ ३०

फिर तो इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोकोंके प्रा उन नरेन्द्रके पास आ पहुँचे । कुछ देवता आकाशमें ही ख होकर दुन्दुभियाँ बजाने लगे ॥ ३० ॥

अमृतेनावसिक्तश्च वृषदर्भो नरेश्वरः ।
दिव्यैश्च सुसुखैर्माल्यैरभिवृष्टः पुनः पुनः ॥ ३१

कुछ देवताओंने राजा वृषदर्भको अमृतसे नहलाया औ उनके ऊपर अत्यन्त सुखदायक दिव्य पुष्पोंकी बारंब वर्षा की ॥ ३१ ॥

देवगन्धर्वसंघातैरप्सरोभिश्च सर्वतः ।
नृत्तश्चैवोपगीतश्च पितामह इव प्रभुः ॥ ३२

देव-गन्धर्वोंके समुदाय और अप्सराएँ सब ओरसे उ घेरकर गाने और नाचने लगीं । वे उनके बीचमें भ वान् ब्रह्माजीके समान शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

हेमप्रासादसम्बाधं मणिकाञ्चनतोरणम् ।
स वैदूर्यमणिस्तम्भं विमानं समधिष्ठितः ॥ ३३

इतनेहीमें एक दिव्य विमान उपस्थित हुआ, जिस सुवर्णके महल बने हुए थे, सोने और मणियोंकी बन्दनवा लगी थीं और वैदूर्यमणिके खम्भे शोभा पा रहे थे ॥ ३३ ॥

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम् ।

राजर्षि उशीनर उस विमानमें बैठकर उस पुण्यकर्मके प्रभावसे सनातन दिव्यलोकको प्राप्त हुए ॥ ३३½ ॥

शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता ।
दयावान् सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर ! तुम भी शरणागतोंके लिये इसी प्रकार अपन सर्वस्व निछावर कर दो । जो मनुष्य अपने भक्त, प्रेमी औ शरणागत पुरुषोंकी रक्षा करता है तथा सब प्राणियोंपर दय रखता है, वह परलोकमें सुख पाता है ॥ ३४-३५ ॥

साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति ।
किं न प्राप्तं भवेत् तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥ ३६ ॥

जो राजा सदाचारी होकर सबके साथ सद्बर्ताव करत

है, वह अपने निश्छल कर्मसे किस वस्तुको नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ३६ ॥

स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥ ३७ ॥

सत्य पराक्रमी, धीर और शुद्ध हृदयवाले काशी-नरेश राजर्षि उशीनर अपने पुण्यकर्मसे तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये ॥ ३७ ॥

योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम्।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि दूसरा कोई भी पुरुष इसी प्रकार शरणागतकी रक्षा करेगा तो वह भी उसी गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥

इदं वृत्तं हि राजर्षेर्वृषदर्भस्य कीर्तयन्।
पूतात्मा वै भवेल्लोके शृणुयाद् यश्च नित्यशः ॥ ३९ ॥

राजर्षि वृषदर्भ (उशीनर) के इस चरित्रका जो सदा श्रवण और वर्णन करता है, वह संसारमें पुण्यात्मा होता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्येनकपोतसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बाज और कबूतरका संवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणके महत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किं राज्ञः सर्वकृत्यानां गरीयः स्यात् पितामह।
कुर्वन् किं कर्म नृपतिरुभौ लोकौ समश्नुते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके सम्पूर्ण कृत्योंमें किसका महत्त्व सबसे अधिक है ? किस कर्मका अनुष्ठान करनेवाला राजा इसलोक और परलोक दोनोंमें सुखी होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

एतद् राज्ञः कृत्यतममभिषिक्तस्य भारत।
ब्राह्मणानामनुष्ठानमत्यन्तं सुखमिच्छता ॥ २ ॥
कर्तव्यं पार्थिवेन्द्रेण तथैव भरतर्षभ।

भीष्मजीने कहा—भारत ! राजसिंहासनपर अभिषिक्त होकर राज्यशासन करनेवाले राजाका सबसे प्रधान कर्तव्य यही है कि वह ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करे। भरतश्रेष्ठ ! अक्षय सुखकी इच्छा रखनेवाले नरेशको ऐसा ही करना चाहिये ॥

श्रोत्रियान् ब्राह्मणान् वृद्धान् नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ ३ ॥
पौरजानपदांश्चापि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्।
सान्त्वेन भोगदानेन नमस्कारैस्तथार्चयेत् ॥ ४ ॥

राजा वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा बड़े-बूढ़ोंका सदा ही आदर करे। नगर और जनपदमें रहनेवाले बहुश्रुत ब्राह्मणोंको मधुर वचन बोलकर, उत्तम भोग प्रदानकर तथा सादर शीश झुकाकर सम्मानित करे ॥ ३-४ ॥

एतत् कृत्यतमं राज्ञो नित्यमेवोपलक्षयेत्।
यथाऽऽत्मानं यथा पुत्रांस्तथैतान् प्रतिपालयेत् ॥ ५ ॥

राजा जिस प्रकार अपनी तथा अपने पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन ब्राह्मणोंकी भी करे। यही राजाका प्रधान कर्तव्य है, जिसपर उसे सदा ही दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

ये चाप्येषां पूज्यतमास्तान् दृढं प्रतिपूजयेत्।
तेषु शान्तेषु तद् राष्ट्रं सर्वमेव विराजते ॥ ६ ॥

जो इन ब्राह्मणोंके भी पूजनीय हों, उन पुरुषोंका भी सुस्थिर चित्तसे पूजन करे; क्योंकि उनके शान्त रहनेपर ही सारा राष्ट्र शान्त एवं सुखी रह सकता है ॥ ६ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या मान्यास्ते पितरो यथा।
तेष्वेव यात्रा लोकानां भूतानामिव वासवे ॥ ७ ॥

राजाके लिये ब्राह्मण ही पिताकी भाँति पूजनीय, वन्दनीय और माननीय है। जैसे प्राणियोंका जीवन वर्षा करनेवाले इन्द्रपर निर्भर है, उसी प्रकार जगत्‌की जीवन-यात्रा ब्राह्मणों-पर ही अवलम्बित है ॥ ७ ॥

अभिचारैरुपायैश्च दहेयुरपि चेतसा।
निःशेषं कुपिताः कुर्युरुग्राः सत्यपराक्रमाः ॥ ८ ॥

ये सत्य-पराक्रमी ब्राह्मण जब कुपित होकर उग्ररूप धारण कर लेते हैं, उस समय अभिचार या अन्य उपायोंद्वारा संकल्पमात्रसे अपने विरोधियोंको भस्म कर सकते हैं और

उनका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ ८ ॥

नान्तमेषां प्रपश्यामि न दिशश्चाप्यपावृताः ।
कुपिताः समुदीक्षन्ते दावेष्वग्निशिखा इव ॥ ९ ॥

मुझे इनका अन्त दिखायी नहीं देता । इनके लिये किसी भी दिशाका द्वार बंद नहीं है । ये जिस समय क्रोधमें भर जाते हैं, उस समय दावानलकी लपटोंके समान हो जाते हैं और वैसी ही दाहक दृष्टिसे देखने लगते हैं ॥ ९ ॥

बिभ्यत्येषां साहसिका गुणास्तेषामतीव हि ।
कूपा इव तृणच्छन्ना विशुद्धा द्यौरिवापरे ॥ १० ॥

बड़े-बड़े साहसी भी इनसे भय मानते हैं; क्योंकि इनके भीतर गुण ही अधिक होते हैं । इन ब्राह्मणोंमेंसे कुछ तो घास-फूससे ढके हुए कूपकी तरह अपने तेजको छिपाये रखते हैं और कुछ निर्मल आकाशकी भाँति प्रकाशित होते रहते हैं ॥ १० ॥

प्रसह्यकारिणः केचित् कार्पासमृदवो परे ।
(मान्यास्तेषां साधवो ये न निन्द्याश्चाप्यसाधवः ।)
सन्ति चैषामतिशठास्तथैवान्ये तपस्विनः ॥ ११ ॥

कुछ हठी होते हैं और कुछ रूईकी तरह कोमल । इनमें जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उनका सम्मान करना चाहिये; परंतु जो श्रेष्ठ न हों, उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । इन ब्राह्मणोंमें कुछ तो अत्यन्त शठ होते हैं और दूसरे महान् तपस्वी ॥ ११ ॥

कृषिगोरक्ष्यमप्येके भैक्ष्यमन्येऽप्यनुष्ठिताः ।
चौराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तकाः ॥ १२ ॥

कोई-कोई ब्राह्मण खेती और गोरक्षासे जीवन चलाते हैं, कोई भिक्षापर जीवन-निर्वाह करते हैं, कितने ही चोरी करते हैं, कोई झूठ बोलते हैं और दूसरे कितने ही नटोंका तथा नाचनेका कार्य करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वकर्मसहाश्चान्ये पार्थिवेष्वितरेषु च ।
विविधाकारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कितने ही ब्राह्मण राजाओं तथा अन्य लोगों-के यहाँ सब प्रकारके कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और अनेक ब्राह्मण नाना प्रकारके आकार धारण करते हैं ॥ १३ ॥

नानाकर्मसु रक्तानां बहुकर्मोपजीविनाम् ।
धर्मज्ञानां सतां तेषां नित्यमेवानुकीर्तयेत् ॥ १४ ॥

नाना प्रकारके कर्मोंमें संलग्न तथा अनेक कर्मोंसे जीविका चलानेवाले उन धर्मज्ञ एवं सत्पुरुष ब्राह्मणोंका सदा ही गुण गाना चाहिये ॥ १४ ॥

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! प्राचीनकालसे ही ये महाभाग ब्राह्मणलो[ग] देवता, पितर, मनुष्य, नाग और राक्षसोंके पूजनी[य] हैं ॥ १५ ॥

नैते देवैर्न पितृभिर्न गन्धर्वैर्न राक्षसैः ।
नासुरैर्न पिशाचैश्च शक्या जेतुं द्विजातयः ॥ १६ ॥

ये द्विज न तो देवताओं, न पितरों, न गन्धर्वों, [न] राक्षसों, न असुरों और न पिशाचोंद्वारा ही जीते जा स[कते] हैं ॥ १६ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
यमिच्छेयुः स राजा स्याद् यो नेष्टः स पराभवेत् ॥ १७ ॥

ये चाहें तो जो देवता नहीं है, उसे देवता बना दें अ[ौर] जो देवता हैं, उन्हें भी देवत्वसे गिरा दें । ये जिसे रा[जा] बनाना चाहें, वही राजा रह सकता है । जिसे राजाके रू[प में] ये न देखना चाहें, उसका पराभव हो जाता है ॥ १७ ॥

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः ॥ १८ ॥

राजन् ! मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि [जो] मूढ़ मानव ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं-इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

निन्दाप्रशंसाकुशलाः कीर्त्यकीर्तिपरायणाः ।
परिकुप्यन्ति ते राजन् सततं द्विषतां द्विजाः ॥ १९ ॥

निन्दा और प्रशंसामें निपुण तथा लोगोंके यश अ[ौर] अपयशको बढ़ानेमें तत्पर रहनेवाले द्विज अपने प्रति स[दा] द्वेष रखनेवालोंपर कुपित हो उठते हैं ॥ १९ ॥

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते ।
ब्राह्मणैर्यः पराकृष्टः पराभूयात् क्षणाद्धि सः ॥ २० ॥

ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस पुरुषका अभ्युद[य] होता है और जिसको वे शाप देते हैं, उसका एक क्षणमें परा[-]भव हो जाता है ॥ २० ॥

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ २१ ॥

शक, यवन और काम्बोज आदि जातियाँ पहले क्षत्रि[य] ही थीं; किंतु ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टिसे वञ्चित होनेके कारण उ[न्हें] वृषल (शूद्र एवं म्लेच्छ) होना पड़ा ॥ २१ ॥

द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।

कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥ २२ ॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्।
श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥ २३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! द्राविड़, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प और माहिषक आदि क्षत्रिय जातियाँ भी ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टि न मिलनेसे ही शूद्र हो गयीं । ब्राह्मणोंसे हार मान लेनेमें ही कल्याण है, उन्हें हराना अच्छा नहीं है ॥ २२-२३ ॥

यस्तु सर्वमिदं हन्याद् ब्राह्मणं च न तत्समम्।
ब्रह्मवध्या महान् दोष इत्याहुः परमर्षयः ॥ २४ ॥

जो इस सम्पूर्ण जगत्को मार डाले तथा जो ब्राह्मणका वध करे, उन दोनोंका पाप समान नहीं है। महर्षियोंका कहना है कि ब्रह्महत्या महान् दोष है ॥ २४ ॥

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा ॥ २५ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा किसी तरह नहीं सुननी चाहिये। जहाँ उनकी निन्दा होती हो, वहाँ नीचे मुँह करके चुपचाप बैठे रहना या वहाँसे उठकर चल देना चाहिये ॥ २५ ॥

न स जातो जनिष्यद् वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ २६ ॥

इस पृथ्वीपर ऐसा कोई मनुष्य न तो पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ही, जो ब्राह्मणके साथ विरोध करके सुखपूर्वक जीवित रहनेका साहस करे ॥ २६ ॥

दुर्ग्राह्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी।
दुर्धरा पृथिवी राजन् दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! हवाको मुट्ठीमें पकड़ना, चन्द्रमाको हाथसे छूना और पृथ्वीको उठा लेना जैसे अत्यन्त कठिन काम है, उसी तरह इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंको जीतना दुष्कर है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसा नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसा नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर २७½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सततं भृशं सम्परिपूजयेत्।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंका सदा ही भलीभाँति पूजन करना चाहिये। चन्द्रमा इनके राजा हैं। ये मनुष्यको सुख और दुःख देनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

एते भोगैरलङ्कारैरन्यैश्चैव किमिच्छकैः।
सदा पूज्या नमस्कारै रक्ष्याश्च पितृवन्नृपैः ॥ २ ॥
ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।

राजाओंको चाहिये कि वे उत्तम भोग, आभूषण तथा पूछकर प्रस्तुत किये गये दूसरे मनोवाञ्छित पदार्थ देकर नमस्कार आदिके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करें और पिताके समान उनके पालन-पोषणका ध्यान रखें। तभी इन ब्राह्मणोंसे राष्ट्रमें शान्ति रह सकती है। ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रसे वृष्टि प्राप्त होनेपर समस्त प्राणियोंको सुख-शान्ति मिलती है ॥

जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः ॥ ३ ॥
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः।

सबको यह इच्छा करनी चाहिये कि राष्ट्रमें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हो और शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियकी उत्पत्ति हो ॥ ३½ ॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
वासयेत गृहे राजन् न तस्मात् परमस्ति वै।

राजन् ! विशुद्ध जातिसे युक्त तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ ब्राह्मणको अपने घरमें ठहराना चाहिये। इससे बढ़कर दूसरा कोई पुण्यकर्म नहीं है ॥ ४½ ॥

ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्तं प्रतिगृह्णन्ति देवताः ॥ ५ ॥
पितरः सर्वभूतानां नैतेभ्यो विद्यते परम्।

ब्राह्मणोंको जो हविष्य अर्पित किया जाता है, उसे देवता ग्रहण करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके पिता हैं। इनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ ५½ ॥

आदित्यश्चन्द्रमा वायुरापो भूरम्बरं दिशः ॥ ६ ॥
सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदान्नमुपभुञ्जते ।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश और दिशा—इन सबके अधिष्ठाता देवता सदा ब्राह्मणके शरीरमें प्रवेश करके अन्न भोजन करते हैं ॥ ६½ ॥

न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते ॥ ७ ॥
देवाश्चाप्यस्य नाश्नन्ति पापस्य ब्राह्मणद्विषः ।

ब्राह्मण जिसका अन्न नहीं खाते, उसके अन्नको पितर भी नहीं स्वीकार करते । उस ब्राह्मणद्रोही पापात्माका अन्न देवता भी नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ७½ ॥

ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा ॥ ८ ॥
तथैव देवता राजन् नात्र कार्या विचारणा ।

राजन् ! यदि ब्राह्मण संतुष्ट हो जायँ तो पितर तथा देवता भी सदा प्रसन्न रहते हैं । इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ८½ ॥

तथैव तेऽपि प्रीयन्ते येषां भवति तद्धविः ॥ ९ ॥
न च प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति च परां गतिम् ।

इसी प्रकार वे यजमान भी प्रसन्न होते हैं, जिनकी दी हुई हवि ब्राह्मणोंके उपयोगमें आती है । वे मरनेके बाद नष्ट नहीं होते हैं, उत्तम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९½ ॥

येन येनैव हविषा ब्राह्मणांस्तर्पयेन्नरः ॥ १० ॥
तेन तेनैव प्रीयन्ते पितरो देवतास्तथा ।

मनुष्य जिस-जिस हविष्यसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, उसी-उसीसे देवता और पितर भी तृप्त होते हैं ॥ १०½ ॥

ब्राह्मणादेव तद् भूतं प्रभवन्ति यतः प्रजाः ॥ ११ ॥
यतश्चायं प्रभवति प्रेत्य यत्र च गच्छति ।
वेदैष मार्गं स्वर्गस्य तथैव नरकस्य च ॥ १२ ॥
आगतानागते चोभे ब्राह्मणो द्विपदां वरः ।
ब्राह्मणो भरतश्रेष्ठ स्वधर्मं चैव वेद यः ॥ १३ ॥

जिससे समस्त प्रजा उत्पन्न होती है, वह यज्ञ आदि कर्म ब्राह्मणोंसे ही सम्पन्न होता है । जीव जहाँसे उत्पन्न होता है और मृत्युके पश्चात् जहाँ जाता है, उस तत्त्वको, स्वर्ग और नरकके मार्गको तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको ब्राह्मण ही जानता है । ब्राह्मण मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ है । भरतश्रेष्ठ ! जो अपने धर्मको जानता है और उसका पालन करता है, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ११–१३ ॥

ये चैनमनुवर्तन्ते ते न यान्ति पराभवम् ।
न ते प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति न पराभवम् ॥ १४ ॥

जो लोग ब्राह्मणोंका अनुसरण करते हैं, उनकी कभी पराजय नहीं होती तथा मृत्युके पश्चात् उनका पतन नहीं होता । वे अपमानको भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

यद् ब्राह्मणमुखात् प्राप्तं प्रतिगृह्णन्ति वै वचः ।
भूतात्मानो महात्मानस्ते न यान्ति पराभवम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मणके मुखसे जो वाणी निकलती है, उसे जो शिरोधार्य करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंको आत्मभावसे देखनेवाले महात्मा कभी पराभवको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च बलानि च ॥ १६ ॥

अपने तेज और बलसे तपते हुए क्षत्रियोंके तेज और बल ब्राह्मणोंके सामने आनेपर ही शान्त होते हैं ॥ १६ ॥

भृगवस्तालजंघांश्च नीपानाङ्गिरसोऽजयन् ।
भरद्वाजो वैहतव्यानैलांश्च भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भृगुवंशी ब्राह्मणोंने तालजङ्घोंको, अङ्गिराकी संतानोंने नीपवंशी राजाओंको तथा भरद्वाजने हैहयोंको और इलाके पुत्रोंको पराजित किया था ॥ १७ ॥

चित्रायुधांश्चाप्यजयन्नेते कृष्णाजिनध्वजाः ।
प्रक्षिप्याथ च कुम्भान् वै पारगामिनमारभेत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियोंके पास अनेक प्रकारके विचित्र आयुध थे तो भी कृष्णमृगचर्म धारण करनेवाले इन ब्राह्मणोंने उन्हें हरा दिया । क्षत्रियको चाहिये कि ब्राह्मणोंको जलपूर्ण कलश दान करके पारलौकिक कार्य आरम्भ करे ॥ १८ ॥

यत् किंचित् कथ्यते लोके श्रूयते पठ्यतेऽपि वा ।
सर्वं तद् ब्राह्मणेष्वेव गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १९ ॥

संसारमें जो कुछ कहा-सुना या पढ़ा जाता है, वह सब काठमें छिपी हुई आगकी तरह ब्राह्मणोंमें ही स्थित है ॥ १९ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य पृथिव्याश्च भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें जानकार लोग भगवान् श्रीकृष्ण और पृथ्वीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

मातरं सर्वभूतानां पृच्छे त्वां संशयं शुभे ।
केनस्वित् कर्मणा पापं व्यपोहति नरो गृही ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—शुभे ! तुम सम्पूर्ण भूतोंकी माता

पृथ्वी और श्रीकृष्णका संवाद

हो, इसलिये मैं तुमसे एक संदेह पूछ रहा हूँ। गृहस्थ मनुष्य किस कर्मके अनुष्ठानसे अपने पापका नाश कर सकता है ? ॥

पृथिव्युवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत पवित्रं ह्येतदुत्तमम्।
ब्राह्मणान् सेवमानस्य रजः सर्वं प्रणश्यति।
अतो भूतिरतः कीर्तिरतो बुद्धिः प्रजायते॥ २२॥

पृथ्वीने कहा—भगवन् ! इसके लिये मनुष्यको ब्राह्मणोंकी ही सेवा करनी चाहिये। यही सबसे पवित्र और उत्तम कार्य है। ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाले पुरुषका समस्त रजोगुण नष्ट हो जाता है। इसीसे ऐश्वर्य, इसीसे कीर्ति और इसीसे उत्तम बुद्धि भी प्राप्त होती है॥ २२॥

महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः।
इति मां नारदः प्राह सततं सर्वभूतये॥ २३॥

सदा सब प्रकारकी समृद्धिके लिये नारदजीने मुझसे कहा कि शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियके उत्पन्न होनेकी कामना करनी चाहिये॥ २३॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितं शुचिम्।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव येऽपरे॥ २४॥
ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति स मनुष्यः प्रवर्धते।
अथ यो ब्राह्मणान् क्रुष्टः पराभवति सोऽचिरात्॥ २५॥

उत्तम जातिसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तथा पवित्र ब्राह्मणके उत्पन्न होनेकी भी इच्छा रखनी चाहिये। छोटे-बड़े सब लोगोंसे जो बड़े हैं, उनसे भी ब्राह्मण बड़े माने गये हैं। ऐसे ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस मनुष्यकी वृद्धि होती है और जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, वह शीघ्र ही पराभवको प्राप्त होता है॥ २४-२५॥

यथा महार्णवे क्षिप्त आमलोष्टो विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं पराभावाय कल्पते॥ २६॥

जैसे महासागरमें फेंका हुआ कच्ची मिट्टीका ढेला तुरंत गल जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंका सङ्ग प्राप्त होते ही सारा दुष्कर्म नष्ट हो जाता है॥ २६॥

पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रो लवणोदकः।
तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः॥ २७॥
तेषामेव प्रभावेण सहस्रनयनो ह्यसौ।
शतक्रतुः समभवत् पश्य माधव यादृशम्॥ २८॥

माधव ! देखिये, ब्राह्मणोंका कैसा प्रभाव है, उन्होंने चन्द्रमामें कलङ्क लगा दिया, समुद्रका पानी खारा बना दिया तथा देवराज इन्द्रके शरीरमें एक हजार भगके चिह्न उत्पन्न कर दिये और फिर उन्हींके प्रभावसे वे भग नेत्रके रूपमें परिणत हो गये; जिनके कारण शतक्रतु इन्द्र 'सहस्राक्ष' नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २७-२८॥

इच्छन् कीर्तिं च भूतिं च लोकांश्च मधुसूदन।
ब्राह्मणानुमते तिष्ठेत् पुरुषः शुचिरात्मवान्॥ २९॥

मधुसूदन ! जो कीर्ति, ऐश्वर्य और उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहता हो, वह मनको वशमें रखनेवाला पवित्र पुरुष ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहे॥ २९॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा मेदिन्या मधुसूदनः।
साधु साध्विति कौरव्य मेदिनीं प्रत्यपूजयत्॥ ३०॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! पृथ्वीके ये वचन सुनकर भगवान् मधुसूदनने कहा, 'वाह-वाह, तुमने बहुत अच्छी बात बतायी।' ऐसा कहकर उन्होंने भूदेवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ ३०॥

एतां श्रुत्वोपमां पार्थ प्रयतो ब्राह्मणर्षभान्।
सततं पूजयेथास्त्वं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे॥ ३१॥

कुन्तीनन्दन ! इस दृष्टान्त एवं ब्राह्मण-माहात्म्यको सुनकर तुम सदा पवित्रभावसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन करते रहो। इससे तुम कल्याणके भागी होओगे॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पृथ्वीवासुदेवसंवादे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पृथ्वी और वासुदेवका संवादविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा ब्राह्मणोंकी महत्ताका वर्णन

भीष्म उवाच

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण जन्मसे ही महान्

भाग्यशाली, समस्त प्राणियोंका वन्दनीय, अतिथि और प्रथम भोजन पानेका अधिकारी है ॥ १ ॥

सर्वार्थाः सुहृदस्तात ब्राह्मणाः सुमनामुखाः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरनुध्यायन्ति पूजिताः ॥ २ ॥

तात ! ब्राह्मण सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले, सबके सुहृद् तथा देवताओंके मुख हैं । वे पूजित होनेपर अपनी मङ्गलयुक्त वाणीसे आशीर्वाद देकर मनुष्यके कल्याणका चिन्तन करते हैं ॥ २ ॥

सर्वान्नो द्विषतस्तात ब्राह्मणा जातमन्यवः ।
गीर्भिर्दारुणयुक्ताभिरभिहन्युरपूजिताः ॥ ३ ॥

तात ! हमारे शत्रुओंके द्वारा पूजित न होनेपर उनके प्रति कुपित हुए ब्राह्मण उन सबको अभिशापयुक्त कठोर वाणी-द्वारा नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः पुरागीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
सृष्ट्वा द्विजातीन् धाता हि यथापूर्वं समादधत् ॥ ४ ॥
न चान्यदिह कर्तव्यं किञ्चिदूर्ध्वं यथाविधि ।
गुप्तो गोपायते ब्रह्मा श्रेयो वस्तेन शोभनम् ॥ ५ ॥

इस विषयमें पुराणवेत्ता पुरुष पहलेकी गायी हुई कुछ गाथाओंका वर्णन करते हैं—प्रजापतिने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको पूर्ववत् उत्पन्न करके उनको समझाया, 'तुमलोगोंके लिये विधिपूर्वक स्वधर्मपालन और ब्राह्मणोंकी सेवाके सिवा और कोई कर्तव्य नहीं है । ब्राह्मणकी रक्षा की जाय तो वह स्वयं भी अपने रक्षककी रक्षा करता है; अतः ब्राह्मण-की सेवासे तुमलोगोंका परम कल्याण होगा ॥ ४-५ ॥

स्वमेव कुर्वतां कर्म श्रीर्वो ब्राह्मी भविष्यति ।
प्रमाणं सर्वभूतानां प्रग्रहाश्च भविष्यथ ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणकी रक्षारूप अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही तुम लोगोंको ब्राह्मी लक्ष्मी प्राप्त होगी । तुम सम्पूर्ण भूतोंके लिये प्रमाणभूत तथा उनको वशमें करनेवाले बन जाओगे ॥ ६ ॥

न शौद्रं कर्म कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
शौद्रं हि कुर्वतः कर्म धर्मः समुपरुध्यते ॥ ७ ॥

'विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रोचित कर्म नहीं करना चाहिये । शूद्रके कर्म करनेसे उसका धर्म नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

श्रीश्च बुद्धिश्च तेजश्च विभूतिश्च प्रतापिनी ।
स्वाध्याये चैव माहात्म्यं विपुलं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

'स्वधर्मका पालन करनेसे लक्ष्मी, बुद्धि, तेज और प्रताप-युक्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है तथा स्वाध्यायका अत्यधिक माहात्म्य उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

हुत्वा चाहवनीयस्थं महाभाग्ये प्रतिष्ठिताः ।
अग्रभोज्याः प्रसूतीनां श्रिया ब्राह्म्यानुकल्पिताः ॥ ९ ॥

'ब्राह्मण आहवनीय अग्निमें स्थित देवतागणोंको हवन-तृप्त करके महान् सौभाग्यपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होते हैं । ब्राह्मी विद्यासे उत्तम पात्र बनकर बालकोंसे भी पहले भोजन पानेके अधिकारी होते हैं ॥ ९ ॥

श्रद्धया परया युक्ता ह्यनभिद्रोहलब्धया ।
दमस्वाध्यायनिरताः सर्वान् कामानवाप्स्यथ ॥ १० ॥

'द्विजगण ! यदि तुमलोग किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करनेके कारण प्राप्त हुई परम श्रद्धासे सम्पन्न हो इन्द्रिय-संयम और स्वाध्यायमें लगे रहोगे तो सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे ॥ १० ॥

यच्चैव मानुषे लोके यच्च देवेषु किञ्चन ।
सर्वं तु तपसा साध्यं ज्ञानेन नियमेन च ॥ ११ ॥

'मनुष्यलोकमें तथा देवलोकमें जो कुछ भी भोग्य वस्तु हैं, वे सब ज्ञान, नियम और तपस्यासे प्राप्त होनेवाली हैं ॥ ११ ॥

(युष्मत्सम्माननात् प्रीतिं पावनाः क्षत्रियाः श्रियम् ।
अमुत्रेह समायान्ति वैश्यशूद्रादिकास्तथा ॥
अरक्षिताश्च युष्माभिर्विरुद्धा यान्ति विप्लवम् ।
युष्मत्तेजोधृता लोकास्तद् रक्षथ जगत्त्रयम् ॥)

'आपलोगोंके समादरसे पवित्र हुए क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि प्राणी इहलोक और परलोकमें भी प्रीति एवं सम्पत्ति पाते हैं । जो आपके विरोधी हैं, वे आपसे अरक्षित होनेके कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । आपके तेजसे ही ये सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं; अतः आप तीनों लोकोंकी रक्षा करें' ।

इत्येवं ब्रह्मगीतास्ते समाख्याता मयानघ ।
विप्राणामनुकम्पार्थं तेन प्रोक्तं हि धीमता ॥ १२ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथा मैंने तुम्हें बतायी है । उन परम बुद्धिमान् धाताने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये ही ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

भूयस्तेषां बलं मन्ये यथा राज्ञस्तपस्विनः ।
दुरासदाश्च चण्डाश्च रभसाः क्षिप्रकारिणः ॥ १३ ॥

मैं ब्राह्मणोंका बल तपस्वी राजाके समान बहुत बड़ा मानता हूँ । वे दुर्जय, प्रचण्ड, वेगशाली और शीघ्रकारी होते हैं ॥ १३

सन्त्येषां सिंहसत्त्वाश्च व्याघ्रसत्त्वास्तथापरे ।
वराहमृगसत्त्वाश्च जलसत्त्वास्तथापरे ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंमें कुछ सिंहके समान शक्तिशाली होते हैं और कुछ व्याघ्रके समान। कितनोंकी शक्ति बाराह और मृगके समान होती है। कितने ही जल-जन्तुओंके समान होते हैं ॥ १४ ॥

सर्पस्पर्शसमाः केचित् तथान्ये मकरस्पृशः।
विभाष्यघातिनः केचित् तथा चक्षुर्हणोऽपरे ॥ १५ ॥

किन्हींका स्पर्श सर्पके समान होता है तो किन्हींका घड़ियालोंके समान। कोई शाप देकर मारते हैं तो कोई क्रोधभरी दृष्टिसे देखकर ही भस्म कर देते हैं ॥ १५ ॥

सन्ति चाशीविषसमाः सन्ति मन्दास्तथापरे।
विविधानीह वृत्तानि ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

कुछ ब्राह्मण विषधर सर्पके समान भयंकर होते हैं और कुछ मन्द स्वभावके भी होते हैं। युधिष्ठिर ! इस जगत्में ब्राह्मणोंके स्वभाव और आचार-व्यवहार अनेक प्रकारके हैं ॥ १६ ॥

मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः कान्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥ १७ ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥ १८ ॥

मेकल, द्राविड़, लाट, पौण्ड्र, कान्वशिरा, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर, किरात और यवन—ये सब पहले क्षत्रिय थे; किंतु ब्राह्मणोंके साथ ईर्ष्या करनेसे नीच हो गये ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां परिभवादसुराः सलिलेशयाः।
ब्राह्मणानां प्रसादाच्च देवाः स्वर्गनिवासिनः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंके तिरस्कारसे ही असुरोंको समुद्रमें रहना पड़ा और ब्राह्मणोंके कृपाप्रसादसे देवता स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥ १९ ॥

अशक्यं स्प्रष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान् गिरिः।
अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २० ॥

जैसे आकाशको छूना, हिमालयको विचलित करना और बाँध बाँधकर गङ्गाके प्रवाहको रोक देना असम्भव है, उसी प्रकार इस भूतलपर ब्राह्मणोंको जीतना सर्वथा असम्भव है ॥ २० ॥

न ब्राह्मणविरोधेन शक्या शास्तुं वसुन्धरा।
ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंसे विरोध करके भूमण्डलका राज्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि महात्मा ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं ॥ २१ ॥

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! यदि तुम इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य भोगना चाहते हो तो दान और सेवाके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करते रहो ॥ २२ ॥

प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ।
प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ॥ २३ ॥

निष्पाप नरेश ! दान लेनेसे ब्राह्मणोंका तेज शान्त हो जाता है; इसलिये जो दान नहीं लेना चाहते, उन ब्राह्मणोंसे तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके दो श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणकी प्रशंसाके विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवाद

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शक्रशम्बरसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, इसे सुनो ॥ १ ॥

शक्रो ह्यज्ञातरूपेण जटी भूत्वा रजोगुणः।
विरूपं रथमास्थाय प्रश्नं पप्रच्छ शम्बरम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, देवराज इन्द्र अज्ञातरूपसे रजोगुणसम्पन्न जटाधारी तपस्वी बनकर एक बेडौल रथपर सवार हो शम्बरासुरके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उससे पूछा ॥ २ ॥

शक्र उवाच

केन शम्बर वृत्तेन स्वजात्यानधितिष्ठसि।
श्रेष्ठं त्वां केन मन्यन्ते तद् वै प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—शम्बरासुर ! किस बर्तावसे अपनी जातिवालोंपर शासन करते हो ? वे किस कारण तुम्हें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ? यह ठीक-ठीक बतलाओ ॥ ३ ॥

शम्बर उवाच

नासूयामि यदा विप्रान् ब्राह्ममेव च मे मतम्।
शास्त्राणि वदतो विप्रान् सम्मन्यामि यथासुखम्॥ ४ ॥

शम्बरासुरने कहा—मैं ब्राह्मणोंमें कभी दोष नहीं देखता। उनके मतको ही अपना मत समझता हूँ और शास्त्रोंकी बात बतानेवाले विप्रोंका सदा सम्मान करता हूँ—उन्हें यथासाध्य सुख देनेकी चेष्टा करता हूँ ॥ ४ ॥

श्रुत्वा च नावजानामि नापराध्यामि कर्हिचित्।
अभ्यर्च्याभ्यनुपृच्छामि पादौ गृह्णामि धीमताम् ॥५॥

सुनकर उनके वचनोंकी अवहेलना नहीं करता। कभी उनका अपराध नहीं करता। उनकी पूजा करके कुशल पूछता हूँ और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके पाँव पकड़ता हूँ ॥ ५ ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते सम्पृच्छन्ते च मां सदा।
प्रमत्तेष्वप्रमत्तोऽस्मि सदा सुप्तेषु जागृमि ॥ ६ ॥

ब्राह्मण भी अत्यन्त विश्वस्त होकर मेरे साथ बातचीत करते और मेरी कुशल पूछते हैं। ब्राह्मणोंके असावधान रहनेपर भी मैं सदा सावधान रहता हूँ। उनके सोते रहनेपर भी मैं जागता रहता हूँ ॥ ६ ॥

ते मां शास्त्रपथे युक्तं ब्रह्मण्यमनसूयकम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥ ७ ॥

मुझे शास्त्रीय मार्गपर चलनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा अदोषदर्शी जानकर वे उपदेशक ब्राह्मण मुझे उसी प्रकार सदुपदेशके अमृतसे सींचते रहते हैं, जैसे मधुमक्खियाँ मधुके छत्तेको ॥ ७ ॥

यच्च भाषन्ति संतुष्टास्तच्च गृह्णामि मेधया।
समाधिमात्मनो नित्यमनुलोममचिन्तयम् ॥ ८ ॥

संतुष्ट होकर वे मुझसे जो कुछ कहते हैं, उसे मैं अपनी बुद्धिके द्वारा ग्रहण करता हूँ। सदा ब्राह्मणोंमें अपनी निष्ठा बनाये रखता हूँ और नित्यप्रति उनके अनुकूल विचार रखता हूँ ॥ ८ ॥

सोऽहं वागग्रमृष्टानां रसानामवलेहकः।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

उनकी वाणीसे जो उपदेशका मधुर रस प्रवाहित होता है, उसका मैं आस्वादन करता रहता हूँ; इसीलिये नक्षत्रोंपर चन्द्रमाकी भाँति मैं अपनी जातिवालोंपर शासन करता हूँ ॥ ९ ॥

एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद् ब्राह्मणमुखाच्छास्त्रमिह श्रुत्वा प्रवर्तते ॥ १० ॥

ब्राह्मणके मुखसे शास्त्रका उपदेश सुनकर इस जीवनमें उसके अनुसार बर्ताव करना ही पृथ्वीपर सर्वोत्तम अमृत और सर्वोत्तम दृष्टि है ॥ १० ॥

एतत् कारणमाज्ञाय दृष्ट्वा देवासुरं पुरा।
युद्धं पिता मे हृष्टात्मा विस्मितः समपद्यत ॥ ११ ॥

इस कारणको जानकर अर्थात् ब्राह्मणके उपदेशके अनुसार चलना ही अमृत है—इस बातको भलीभाँति समझकर पूर्वकालमें देवासुरसंग्रामको उपस्थित हुआ देख मेरे पिता मन-ही-मन प्रसन्न और विस्मित हुए थे ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च ब्राह्मणानां तु महिमानं महात्मनाम्।
पर्यपृच्छत् कथममी सिद्धा इति निशाकरम् ॥ १२ ॥

महात्मा ब्राह्मणोंकी इस महिमाको देखकर उन्होंने चन्द्रमासे पूछा—'निशाकर ! इन ब्राह्मणोंको किस प्रकार सिद्धि प्राप्त हुई ?' ॥ १२ ॥

सोम उवाच

ब्राह्मणास्तपसा सर्वे सिध्यन्ते वाग्बलाः सदा।
भुजवीर्याश्च राजानो वागस्त्राश्च द्विजातयः ॥ १३ ॥

चन्द्रमाने कहा—दानवराज ! सम्पूर्ण ब्राह्मण तपस्यासे ही सिद्ध हुए हैं। इनका बल सदा इनकी वाणीमें ही होता है। राजाओंका बल उनकी भुजाएँ हैं और ब्राह्मणोंका बल उनकी वाणी ॥ १३ ॥

प्रणवं चाप्यधीयीत ब्राह्मीर्दुर्वसतीर्वसन्।
निर्मन्युरपि निर्वाणो यदि स्यात् समदर्शनः ॥ १४ ॥

पहले गुरुके घरमें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्लेशसहनपूर्वक निवास करके प्रणवसहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। फिर अन्तमें क्रोध त्यागकर शान्तभावसे संन्यास

ग्रहण करना चाहिये । यदि संन्यासी हो तो सर्वत्र समान दृष्टि रखे ॥ १४ ॥

अपि च ज्ञानसम्पन्नः सर्वान् वेदान् पितुर्गृहे ।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ १५ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंको पिताके घरमें रहकर पढ़ता है, वह ज्ञानसम्पन्न और प्रशंसनीय होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा ग्रामीण (गँवार) ही समझा जाता है । (वास्तवमें गुरुके घरमें क्लेश-सहनपूर्वक रहकर वेद पढ़नेवाला ही श्रेष्ठ है) ॥ १५ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १६ ॥

जैसे साँप बिलमें रहनेवाले छोटे जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार युद्ध न करनेवाले क्षत्रिय और विद्याके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मणको यह पृथ्वी निगल जाती है ॥ १६ ॥

अभिमानः श्रियं हन्ति पुरुषस्याल्पमेधसः ।
गर्भेण दुष्यते कन्या गृहवासेन च द्विजः ॥ १७ ॥

मन्दबुद्धि पुरुषके भीतर जो अभिमान होता है, वह उसकी लक्ष्मीका नाश करता है । गर्भ धारण करनेसे कन्या दूषित हो जाती है और सदा घरमें रहनेसे ब्राह्मण दूषित समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

(विद्याविदो लोकविदः तपोबलसमन्विताः ।
नित्यपूज्याश्च वन्द्याश्च द्विजा लोकद्वयेच्छुभिः ॥)

जो इहलोक और परलोक दोनोंको सुधारना चाहते हों, उन्हें विद्वान्, लौकिक बातोंके ज्ञाता, तपस्वी और शक्तिशाली ब्राह्मणोंकी सदा पूजा और वन्दना करनी चाहिये ॥

इत्येतन्मे पिता श्रुत्वा सोमादद्भुतदर्शनात् ।
ब्राह्मणान् पूजयामास तथैवाहं महाव्रतान् ॥ १८ ॥

अद्भुत दर्शनवाले चन्द्रमासे यह बात सुनकर मेरे पिताजीने महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंका पूजन किया । वैसे ही मैं भी करता हूँ ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम् ।
द्विजान् सम्पूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! दानवराज शम्बरके मुखसे यह वचन सुनकर इन्द्रने ब्राह्मणोंका पूजन किया, इससे उन्हें महेन्द्रपदकी प्राप्ति हुई ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायामिन्द्रशम्बरसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

दानपात्रकी परीक्षा

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वश्च भवेत् पात्रमथवापि चिरोषितः ।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! दानका पात्र कौन होता है ? अपरिचित पुरुष या बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हुआ पुरुष अथवा किसी दूर देशसे आया हुआ मनुष्य ? इनमेंसे किसको दानका उत्तम पात्र समझना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम् ।
यो यो याचेत यत् किञ्चित् सर्वं दद्याम इत्यपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कितने ही याचकोंका तो यज्ञ, गुरुदक्षिणा या कुटुम्बका भरण-पोषण आदि कार्य ही मनोरथ होता है और किन्हींका उत्तम मौनव्रतसे रहकर निर्वाह करना प्रयोजन होता है । इनमेंसे जो-जो याचक जिस किसी वस्तुकी याचना करे, उन सबके लिये यही कहना चाहिये कि 'हम देंगे' (किसीको निराश नहीं करना चाहिये) ॥

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम ।
पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥ ३ ॥

परंतु हमने सुना है कि 'जिनके भरण-पोषणका अपने ऊपर भार है, उस समुदायको कष्ट दिये बिना ही दाताको दान करना चाहिये । जो पोष्यवर्गको कष्ट देकर या भूखे मारकर दान करता है, वह अपने आपको नीचे गिराता है' ॥ ३ ॥

अपूर्वं भावयेत् पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम्।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

इस दृष्टिसे विचार करनेपर जो पहलेसे परिचित नहीं है या जो चिरकालसे साथ रह चुका है, अथवा जो दूर देशसे आया हुआ है—इन तीनोंको ही विद्वान् पुरुष दान-पात्र समझते हैं ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा।
पात्रं विद्यात् तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसी प्राणीको पीड़ा न दी जाय और धर्ममें भी बाधा न आने पाये, इस प्रकार दान देना उचित है; परंतु पात्रकी यथार्थ पहचान कैसे हो ! जिससे दिया हुआ दान पीछे संतापका कारण न बने ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसम्बन्धिबान्धवाः।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, विद्वान् और दोष-दृष्टिसे रहित पुरुष—ये सभी पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम्।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान् प्रणिधाय वै ॥ ७ ॥

इनसे भिन्न प्रकारके तथा भिन्न बर्ताववाले जो लोग हैं, वे सब सत्कारके पात्र नहीं हैं; अतः एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सुपात्र पुरुषोंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥

भारत ! क्रोधका अभाव, सत्य-भाषण, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, सरलता, द्रोहहीनता, अभिमानशून्यता, लज्जा, सहनशीलता, दम और मनोनिग्रह—ये गुण जिनमें स्वभावतः दिखायी दें और धर्मविरुद्ध कार्य दृष्टिगोचर न हों, वे ही दानके उत्तम पात्र और सम्मानके अधिकारी हैं ॥ ८-९ ॥

तथा चिरोषितं चापि सम्प्रत्यागतमेव च।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥ १० ॥

जो पुरुष बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हो, एवं जो कहींसे तत्काल आया हो, वह पहलेका परिचित हो या अपरिचित, वह दानका पात्र और सम्मानका अधिकारी है ॥ १० ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥ ११ ॥

वेदोंको अप्रामाणिक मानना, शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था फैलाना—ये सब अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

भवेत् पण्डितमानी यो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ १२ ॥
हेतुवादान् ब्रुवन् सत्सु विजेताहेतुवादिकः।
आक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि ॥ १३ ॥
सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण अपने पाण्डित्यका अभिमान करके व्यर्थके तर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता है, आन्वीक्षिकी निरर्थक तर्कविद्यामें अनुराग रखता है, सत्पुरुषोंकी सभामें कोरी तर्ककी बातें कहकर विजय पाता, शास्त्रानुकूल युक्तियों-का प्रतिपादन नहीं करता, जोर-जोरसे हल्ला मचाता और ब्राह्मणोंके प्रति सदा अतिवाद (अमर्यादित वचन) का प्रयोग करता है, जो सबपर संदेह करता है, जो बालकों और मूर्खोंका-सा व्यवहार करता तथा कटुवचन बोलता है, तात ! ऐसे मनुष्यको अस्पृश्य समझना चाहिये । विद्वान् पुरुषोंने ऐसे पुरुषको कुत्ता माना है ॥ १२–१४ ॥

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते।
एवं सम्भाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥ १५ ॥

जैसे कुत्ता भूँकने और काटनेके लिये निकट आ जाता है, उसी प्रकार वह बहस करने और शास्त्रोंका खण्डन करनेके लिये इधर-उधर दौड़ता-फिरता है (ऐसा व्यक्ति दानका पात्र नहीं है) ॥ १५ ॥

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च।
एवं नरो वर्तमानः शाश्वतीर्वर्धते समाः ॥ १६ ॥

मनुष्यको जगत्के व्यवहारपर दृष्टि डालनी चाहिये। धर्म और अपने कल्याणके उपायोंपर भी विचार करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य सदा ही अभ्युदयशील होता है ॥ १६ ॥

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥ १७ ॥
पर्यायेण विशुद्धेन सुविनीतेन कर्मणा।
एवं गृहस्थः कर्माणि कुर्वन् धर्मान्न हीयते ॥ १८ ॥

जो यज्ञ-यागादि करके देवताओंके ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके ऋणसे, श्रेष्ठ पुत्रकी उत्पत्ति तथा श्राद्ध करके पितरोंके ऋणसे, दान देकर ब्राह्मणोंके ऋणसे और आतिथ्य-सत्कार करके अतिथियोंके ऋणसे मुक्त होता है तथा क्रमशः विशुद्ध और विनययुक्त प्रयत्नसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह गृहस्थ कभी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता ॥१७-१८॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पात्रपरीक्षायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पात्रकी परीक्षाविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

पञ्चचूड़ा अप्सराका नारदजीसे स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन करना

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि श्रोतुं भरतसत्तम ।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः॥१॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! मैं स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि सारे दोषोंकी जड़ स्त्रियाँ ही हैं। वे ओछी बुद्धिवाली मानी गयी हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पञ्चचूडया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें देवर्षि नारदका अप्सरा पञ्चचूड़ाके साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

लोकाननुचरन् सर्वान् देवर्षिर्नारदः पुरा ।
ददर्शाप्सरसं ब्राह्मीं पञ्चचूडामनिन्दिताम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए देवर्षि नारदने एक दिन ब्रह्मलोककी अनिन्द्य सुन्दरी अप्सरा पञ्चचूड़ाको देखा ॥ ३ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं पप्रच्छाप्सरसं मुनिः ।
संशयो हृदि कश्चिन्मे ब्रूहि तन्मे सुमध्यमे ॥ ४ ॥

मनोहर अङ्गोंसे युक्त उस अप्सराको देखकर मुनिने उसके सामने अपना प्रश्न रखा—'सुमध्यमे ! मेरे हृदयमें एक महान् संदेह है। उसके विषयमें मुझे यथार्थ बात बताओ' ।४।

भीष्म उवाच

एवमुक्ताथ सा विप्रं प्रत्युवाचाथ नारदम् ।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थं मन्यसे च माम् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीके ऐसा कहनेपर पञ्चचूड़ा अप्सराने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'यदि आप मुझे उस प्रश्नका उत्तर देनेके योग्य मानते हैं और वह बताने योग्य है तो अवश्य बताऊँगी' ॥ ५ ॥

नारद उवाच

न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथंचन ।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतुं वरानने॥ ६ ॥

नारदजीने कहा—भद्रे ! मैं तुम्हें ऐसी बात बतानेके लिये नहीं कहूँगा जो कहने योग्य न हो अथवा तुम्हारा विषय न हो। सुमुखि ! मैं तुम्हारे मुँहसे स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा ।
प्रत्युवाच न शक्ष्यामि स्त्री सती निन्दितुं स्त्रियः॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीका यह वचन सुनकर वह उत्तम अप्सरा बोली—'देवर्षे ! मैं स्त्री होकर स्त्रियोंकी निन्दा नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृशाश्च स्वभावतः ।
न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं कार्य ईदृशे ॥ ८ ॥

'संसारमें जैसी स्त्रियाँ हैं और उनके जैसे स्वभाव हैं, वे सब आपको विदित हैं; अतः देवर्षे ! आप मुझे ऐसे कार्यमें न लगावें' ॥ ८ ॥

तामुवाच स देवर्षिः सत्यं वद सुमध्यमे ।
मृषावादे भवेद् दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ॥ ९ ॥

तब देवर्षिने उससे कहा—'सुमध्यमे ! तुम सच्ची बात

बताओ। झूठ बोलनेमें दोष लगता है। सच कहनेमें कोई दोष नहीं है' ॥ ९ ॥

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी।
स्त्रीदोषाञ्छाश्वतान् सत्यान् भाषितुं सम्प्रचक्रमे॥१०॥

उनके इस प्रकार समझानेपर उस मनोहर हास्यवाली अप्सराने कहनेके लिये दृढ़ निश्चय करके स्त्रियोंके सच्चे और स्वाभाविक दोषोंको बताना आरम्भ किया ॥ १० ॥

पञ्चचूडोवाच

कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च योषितः।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥ ११ ॥

पञ्चचूड़ा बोली—नारदजी! कुलीन, रूपवती और सनाथ युवतियाँ भी मर्यादाके भीतर नहीं रहती हैं। यह स्त्रियोंका दोष है ॥ ११ ॥

न स्त्रीभ्यः किञ्चिदन्यद् वै पापीयस्तरमस्ति वै।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥ १२ ॥

स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। स्त्रियाँ सारे दोषोंकी जड़ हैं, इस बातको आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ १२ ॥

समाज्ञातानृद्धिमतः प्रतिरूपान् वशे स्थितान्।
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥ १३ ॥

यदि स्त्रियोंको दूसरोंसे मिलनेका अवसर मिल जाय तो वे सद्गुणोंमें विख्यात, धनवान्, अनुपम रूप-सौन्दर्यशाली तथा अपने वशमें रहनेवाले पतियोंकी भी प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं ॥ १३ ॥

असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो।
पापीयसो नरान् यद् वै लज्जां त्यक्त्वा भजामहे॥१४॥

प्रभो! हम स्त्रियोंमें यह सबसे बड़ा पातक है कि हम पापीसे पापी पुरुषोंको भी लाज छोड़कर स्वीकार कर लेती हैं ॥ १४ ॥

स्त्रियं हि यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५ ॥

जो पुरुष किसी स्त्रीको चाहता है, उसके निकटतक पहुँचता है और उसकी थोड़ी-सी सेवा कर देता है, उसीको वे युवतियाँ चाहने लगती हैं ॥ १५ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात् परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १६ ॥

स्त्रियोंमें स्वयं मर्यादाका कोई ध्यान नहीं रहता। जब उनको कोई चाहनेवाला पुरुष न मिले और परिजनोंका भय बना रहे तथा पति पास हों, तभी ये नारियाँ मर्यादाके भीतर रह पाती हैं ॥ १६ ॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि निश्चयः।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १७ ॥

इनके लिये कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो अगम्य हो। उनका किसी अवस्था-विशेषपर भी निश्चय नहीं रहता। कोई रूपवान् हो या कुरूप; पुरुष है—इतना ही समझकर स्त्रियाँ उसका उपभोग करती हैं ॥ १७ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थहेतोः कथंचन।
न ज्ञातिकुलसम्बन्धात् स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १८ ॥

स्त्रियाँ न तो भयसे, न दयासे, न धनके लोभसे और न जाति या कुलके सम्बन्धसे ही पतियोंके पास टिकती हैं ॥

यौवने वर्तमानानां मृष्टाभरणवाससाम्।
नारीणां स्वैरवृत्तीनां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥ १९ ॥

जो जवान हैं, सुन्दर गहने और अच्छे कपड़े पहनती हैं, ऐसी स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके चरित्रको देखकर कितनी ही कुलवती स्त्रियाँ भी वैसी ही बननेकी इच्छा करने लगती हैं ॥ १९ ॥

याश्च शश्वद् बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः।
अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥ २० ॥

जो बहुत सम्मानित और पतिकी प्यारी स्त्रियाँ हैं, जिनकी सदा अच्छी तरह रखवाली की जाती है, वे भी घरमें आने जानेवाले कुबड़ों, अन्धों, गूँगों और बौनोंके साथ भी फँस जाती हैं ॥ २० ॥

पङ्गुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः।
स्त्रीणामगम्यो लोकेऽस्मिन् नास्ति कश्चिन्महामुने॥२१॥

महामुनि देवर्षे! जो पङ्गु हैं अथवा जो अत्यन्त घृणित मनुष्य हैं, उनमें भी स्त्रियोंकी आसक्ति हो जाती है। इस संसारमें कोई भी पुरुष स्त्रियोंके लिये अगम्य नहीं है ॥२१॥

यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन् कथंचिन्नोपपद्यते।
अप्यन्योन्यं प्रवर्तन्ते न हि तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्! यदि स्त्रियोंको पुरुषकी प्राप्ति किसी प्रकार भी सम्भव न हो और पति भी दूर गये हों तो वे आपसमें ही कृत्रिम उपायोंसे ही मैथुनमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ २२ ॥

अलाभात् पुरुषाणां हि भयात् परिजनस्य च।
वधबन्धभयाच्चापि स्वयं गुप्ता भवन्ति ताः ॥ २३ ॥

पुरुषोंके न मिलनेसे, घरके दूसरे लोगोंके भयसे तथा
व और बन्धनके डरसे ही स्त्रियाँ सुरक्षित रहती हैं ॥ २३ ॥

लस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा ।
ाज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥ २४ ॥

स्त्रियोंका स्वभाव चञ्चल होता है। उनका सेवन बहुत
कठिन काम है। इनका भाव जल्दी किसीके समझमें नहीं
ाता; ठीक उसी तरह, जैसे विद्वान् पुरुषकी वाणी दुर्बोध
ती है ॥ २४ ॥

ाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
न्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ २५ ॥

अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती, समुद्र कभी नदियों-
तृप्त नहीं होता, मृत्यु समस्त प्राणियोंको एक साथ पा
य तो भी उनसे तृप्त नहीं होती; इसी प्रकार सुन्दर नेत्रों-
ली युवतियाँ पुरुषोंसे कभी तृप्त नहीं होतीं ॥ २५ ॥

दमन्यच्च देवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
ष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥ २६ ॥

देवर्षे ! सम्पूर्ण रमणियोंके सम्बन्धमें दूसरी भी रहस्यकी
त यह है कि किसी मनोरम पुरुषको देखते ही स्त्रीकी योनि
ली हो जाती है ॥ २६ ॥

ामानामपि दातारं कर्तारं मनसां प्रियम् ।
क्षितारं न मृष्यन्ति स्वभर्तारमलं स्त्रियः ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंके दाता तथा मनचाही करनेवाला
पति भी यदि उनकी रक्षामें तत्पर रहनेवाला हो तो वे अपने
पतिके शासनको भी सहन नहीं कर सकतीं ॥ २७ ॥

न कामभोगान् विपुलान् नालंकारान् न संश्रयान् ।
तथैव बहु मन्यन्ते यथा रत्यामनुग्रहम् ॥ २८ ॥

वे न तो काम-भोगकी प्रचुर सामग्रीको, न अच्छे-अच्छे
गहनोंको और न उत्तम घरोंको ही उतना अधिक महत्त्व
देती हैं, जैसा कि रतिके लिये किये गये अनुग्रहको ॥ २८ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥ २९ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु, पाताल, बड़वानल, क्षुरेकी धार,
विष, सर्प और अग्नि—ये सब विनाशके हेतु एक तरफ और
स्त्रियाँ अकेली एक तरफ बराबर हैं ॥ २९ ॥

यतश्च भूतानि महान्ति पञ्च
यतश्च लोका विहिता विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मिता-
स्तदैव दोषाः प्रमदासु नारद ॥ ३० ॥

नारद ! जहाँसे पाँचों महाभूत उत्पन्न हुए हैं, जहाँसे
विधाताने सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है तथा जहाँसे पुरुषों और
स्त्रियोंका निर्माण हुआ है, वहींसे स्त्रियोंमें ये दोष भी रचे गये
हैं (अर्थात् ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं) ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चचूडानारदसंवादे
अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पञ्चचूडा और नारदका संवादविषयक
अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंकी रक्षाके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

मे वै मानवा लोके स्त्रीषु सज्जन्त्यभीक्ष्णशः ।
ाहेन परमाविष्टा देवसृष्टेन पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पृथ्वीनाथ ! संसारके ये मनुष्य
धाताद्वारा उत्पन्न किये गये महान् मोहसे आविष्ट हो सदा
स्त्रियोंमें आसक्त होते हैं ॥ १ ॥

रियश्च पुरुषेष्वेव प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ।
त्र मे संशयस्तीव्रो हृदि सम्परिवर्तते ॥ २ ॥

इसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषोंमें ही आसक्त होती हैं। यह
बात प्रत्यक्ष देखी जाती है और लोग इसके साक्षी हैं। इस
बातको लेकर मेरे मनमें भारी संदेह खड़ा हो गया है ॥ २ ॥

कथमासां नराः सङ्गं कुर्वते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो वा केषु रज्यन्ते विरज्यन्ते च ताः पुनः ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन ! पुरुष क्यों इन स्त्रियोंका सङ्ग करते हैं ?
अथवा स्त्रियाँ भी किस निमित्तसे पुरुषोंमें अनुरक्त एवं विरक्त
होती हैं ? ॥ ३ ॥

इति ताः पुरुषव्याघ्र कथं शक्यास्तु रक्षितुम् ।
प्रमदाः पुरुषेणेह तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! पुरुष यौवनसे उन्मत्त स्त्रियोंकी रक्षा कैसे कर सकता है ? यह विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

एता हि रममाणास्तु वञ्चयन्तीह मानवान् ।
न चासां मुच्यते कश्चित् पुरुषो हस्तमागतः ॥ ५ ॥

ये रमण करती हुई भी यहाँ पुरुषोंको ठगती रहती हैं । इनके हाथमें आया हुआ कोई भी पुरुष इनसे बचकर नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ।
शम्बरस्य च या माया माया या नमुचेरपि ॥ ६ ॥
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ।

जैसे गौएँ नयी-नयी घास चरती हैं, उसी प्रकार ये नारियाँ नये-नये पुरुषको अपनाती रहती हैं । शम्बरासुरकी जो माया है तथा नमुचि, बलि और कुम्भीनसीकी जो मायाएँ हैं, उन सबको ये युवतियाँ जानती हैं ॥ ६½ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्ति च ॥ ७ ॥
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णते कालयोगतः ।

पुरुषको हँसते देख ये स्त्रियाँ जोर-जोरसे हँसती हैं । उसे रोते देख स्वयं भी फूट-फूटकर रोने लगती हैं और अवसर आनेपर अप्रिय पुरुषको प्रिय वचनोंद्वारा अपना लेती हैं ॥ ७½ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ॥ ८ ॥
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ।

जिस नीतिशास्त्रको शुक्राचार्य जानते हैं, जिसे बृहस्पति जानते हैं, वह भी स्त्रीकी बुद्धिसे बढ़कर नहीं है । ऐसी स्त्रियों-की रक्षा पुरुष कैसे कर सकते हैं ॥ ८½ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ॥ ९ ॥
इति यास्ताः कथं वीर संरक्ष्याः पुरुषैरिह ।

वीर ! जिनके झूठको भी सच और सचको भी झूठ बताया गया है, ऐसी स्त्रियोंकी रक्षा पुरुष यहाँ कैसे कर सकते हैं ? ॥ ९½ ॥

स्त्रीणां बुद्ध्यर्थनिष्कर्षादर्थशास्त्राणि शत्रुहन् ॥ १० ॥
बृहस्पतिप्रभृतिभिर्मन्ये सद्भिः कृतानि वै ।

शत्रुघाती नरेश ! मुझे तो ऐसा लगता है कि स्त्रियोंकी बुद्धिमें जो अर्थ भरा है, उसीका निष्कर्ष (सारांश) लेकर बृहस्पति आदि सत्पुरुषोंने नीतिशास्त्रोंकी रचना की है ॥ १०½ ॥

सम्पूज्यमानाः पुरुषैर्विकुर्वन्ति मनो नृप ॥ ११ ॥
अपास्ताश्च तथा राजन् विकुर्वन्ति मनः स्त्रियः ।

नरेश्वर ! पुरुषोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी ये रमणियाँ उनका मन विकृत कर देती हैं और उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी इनके मनमें विकार उत्पन्न कर देती हैं ॥ ११½ ॥

इमाः प्रजा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
सत्कृतासत्कृताश्चापि विकुर्वन्ति मनः सदा ।
कस्ताः शक्तो रक्षितुं स्यादिति मे संशयो महान् ॥ १३ ॥

महाबाहो ! हमने सुन रक्खा है कि ये स्त्रीरूपिणी प्रजाएँ बड़ी धार्मिक होती हैं (जैसा कि सावित्री आदिके जीवनसे प्रत्यक्ष हो चुका है); फिर भी ये स्त्रियाँ सम्मानित हों या असम्मानित, सदा ही पुरुषोंके मनमें विकार उत्पन्न करती रहती हैं । उनकी रक्षा कौन कर सकता है ? यही मेरे मनमें महान् संशय है ॥ १२-१३ ॥

तथा ब्रूहि महाभाग कुरूणां वंशवर्धन ।
यदि शक्या कुरुश्रेष्ठ रक्षा तासां कदाचन ॥
कर्तुं वा कृतपूर्वं वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १४ ॥

महाभाग ! कुरुकुलवर्धन ! कुरुश्रेष्ठ ! यदि किसी प्रकार कभी भी उनकी रक्षा की जा सके तो वह बताइये । यदि किसीने पहले कभी किसी स्त्रीकी रक्षा की हो तो वह कथा भी मुझे विस्तारके साथ बताइये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्त्रीस्वभावकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्त्रियोंके स्वभावका वर्णनविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भृगुवंशी विपुलके द्वारा योगबलसे गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश करके उसकी रक्षा करना

भीष्म उवाच

वमेव महाबाहो नात्र मिथ्यास्ति किंचन।
था ब्रवीषि कौरव्य नारीं प्रति जनाधिप॥ १॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो! कुरुनन्दन! ऐसी ही त है। नरेश्वर! नारियोंके सम्बन्धमें तुम जो कुछ कह रहे , उसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है॥ १॥

त्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
था रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन महात्मना॥ २॥

इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास बताऊँगा कि र्वकालमें महात्मा विपुलने किस प्रकार एक स्त्री (गुरुपत्नी) रक्षा की थी॥ २॥

मदाश्च यथा सृष्टा ब्रह्मणा भरतर्षभ।
दर्थं तच्च ते तात प्रवक्ष्यामि नराधिप॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! तात! नरेश्वर! ब्रह्माजीने जिस प्रकार और स उद्देश्यसे युवतियोंकी सृष्टि की है, वह सब मैं तुम्हें ताऊँगा॥ ३॥

हि स्त्रीभ्यः परं पुत्र पापीयः किंचिदस्ति वै।
ग्निर्हि प्रमदा दीप्तो मायाश्च मयजा विभो॥ ४॥

बेटा! स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। वन-मदसे उन्मत्त रहनेवाली स्त्रियाँ वास्तवमें प्रज्वलित ग्निके समान हैं। प्रभो! वे मयदानवकी रची हुई या हैं॥ ४॥

रधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः।
जा इमा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम्॥ ५॥
यं गच्छन्ति देवत्वं ततो देवानियाद् भयम्।

छुरेकी धार, विष, सर्प और आग—ये सब विनाशके हेतु क ओर और तरुणी स्त्रियाँ एक ओर। महाबाहो! पहले सारी प्रजा धार्मिक थी। यह हमने सुन रक्खा है। प्रजाएँ स्वयं देवत्वको प्राप्त हो जाती थीं। इससे देवताओं- बड़ा भय हुआ॥ ५½॥

ाभ्यगच्छन् देवास्ते पितामहमरिंदम॥ ६॥
विद्य मानसं चापि तूष्णीमासन्नधोमुखाः।

शत्रुदमन! तब वे देवता ब्रह्माजीके पास गये और उनसे ने मनकी बात निवेदन करके मुँह नीचे किये चुपचाप बैठ ॥ ६½॥

तेषामन्तर्गतं ज्ञात्वा देवानां स पितामहः॥ ७॥
मानवानां प्रमोहार्थं कृत्या नार्योऽसृजत् प्रभुः।

उन देवताओंके मनकी बात जानकर भगवान् ब्रह्माने मनुष्यों- को मोहमें डालनेके लिये कृत्यारूप नारियोंकी सृष्टि की॥ ७½॥

पूर्वसर्गे तु कौन्तेय साध्व्यो नार्य इहाभवन्॥ ८॥
असाध्व्यस्तु समुत्पन्नाः कृत्याः सर्गात् प्रजापतेः।
ताभ्यः कामान् यथाकामं प्रादाद्धि स पितामहः॥ ९॥

कुन्तीनन्दन! सृष्टिके प्रारम्भमें यहाँ सब स्त्रियाँ पति- व्रता ही थीं। कृत्यारूप दुष्ट स्त्रियाँ तो प्रजापतिकी इस नूतन सृष्टिसे ही उत्पन्न हुई हैं। प्रजापतिने उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार कामभाव प्रदान किया॥ ८-९॥

ताः कामलुब्धाः प्रमदाः प्रबाधन्ते नरान् सदा।
क्रोधं कामस्य देवेशः सहायं चासृजत् प्रभुः॥ १०॥
असज्जन्त प्रजाः सर्वाः कामक्रोधवशं गताः।

वे मतवाली युवतियाँ कामलोलुप होकर पुरुषोंको सदा बाधा देती रहती हैं। देवेश्वर भगवान् ब्रह्माने कामकी सहा- यताके लिये क्रोधको उत्पन्न किया। इन्हीं काम और क्रोधके वशीभूत होकर स्त्री और पुरुषरूप सारी प्रजा परस्पर आसक्त होती है॥ १०½॥

(द्विजानां च गुरूणां च महागुरुनृपादिनाम्।
क्षणात् स्त्रीसङ्गकामोत्था यातनाहो निरन्तरा॥

ब्राह्मण, गुरु, महागुरु और राजा—इन सबको स्त्रीके क्षणिक सङ्गसे निरन्तर कामजनित यातना सहनी पड़ती है॥

अरक्तमनसां नित्यं ब्रह्मचर्यामलात्मनाम्।
तपोदमार्चनध्यानयुक्तानां शुद्धिरुत्तमा॥)

जिनका मन कहीं आसक्त नहीं है, जिन्होंने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने अन्तःकरणको निर्मल बना लिया है तथा जो तपस्या, इन्द्रियसंयम और ध्यान-पूजनमें संलग्न हैं, उन्हीं- की उत्तम शुद्धि होती है॥

न च स्त्रीणां क्रियाः काश्चिदिति धर्मो व्यवस्थितः॥ ११॥
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः।
शय्यासनमलंकारमन्नपानमनार्यताम्॥ १२॥
दुर्वाग्भावं रतिं चैव ददौ स्त्रीभ्यः प्रजापतिः।

स्त्रियोंके लिये किन्हीं वैदिक कर्मोंके करनेका विधान नहीं है। यही धर्मशास्त्रकी व्यवस्था है। स्त्रियाँ इन्द्रियशून्य हैं अर्थात् वे अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेमें असमर्थ हैं।

शास्त्रज्ञानसे रहित हैं और असत्यकी मूर्ति हैं। ऐसा उनके विषयमें श्रुतिका कथन है। प्रजापतिने स्त्रियोंको शय्या, आसन, अलंकार, अन्न, पान, अनार्यता, दुर्वचन, प्रियता तथा रति प्रदान की है ॥ ११-१२½ ॥

न तासां रक्षणं शक्यं कर्तुं पुंसां कथंचन ॥ १३ ॥
अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ।

तात! लोकस्रष्टा ब्रह्मा-जैसा पुरुष भी स्त्रियोंकी किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकता, फिर साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या ॥ १३½ ॥

वाचा च वधबन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा ॥ १४ ॥
न शक्या रक्षितुं नार्यस्ता हि नित्यमसंयताः ।

वाणीके द्वारा एवं वध और बन्धनके द्वारा रोककर अथवा नाना प्रकारके क्लेश देकर भी स्त्रियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सदा असंयमशील होती हैं ॥ १४½ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्र पुरस्ताच्छ्रुतवानहम् ॥ १५ ॥
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन गुरुस्त्रियाः ।

पुरुषसिंह! पूर्वकालमें मैंने यह सुना था कि प्राचीन-कालमें महात्मा विपुलने अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा की थी। कैसे की? यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १५½ ॥

ऋषिरासीन्महाभागो देवशर्मेति विश्रुतः ॥ १६ ॥
तस्य भार्या रुचिर्नाम रूपेणासदृशी भुवि ।

पहलेकी बात है, देवशर्मा नामके एक महाभाग्यशाली ऋषि थे। उनके रुचि नामवाली एक स्त्री थी, जो इस पृथ्वी-पर अद्वितीय सुन्दरी थी ॥ १६½ ॥

तस्या रूपेण सम्मत्ता देवगन्धर्वदानवाः ॥ १७ ॥
विशेषेण तु राजेन्द्र वृत्रहा पाकशासनः ।

उसका रूप देखकर देवता, गन्धर्व और दानव भी मत-वाले हो जाते थे। राजेन्द्र! वृत्रासुरका वध करनेवाले पाक-शासन इन्द्र उस स्त्रीपर विशेषरूपसे आसक्त थे ॥ १७½ ॥

नारीणां चरितज्ञश्च देवशर्मा महामुनिः ॥ १८ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं भार्यां तामभ्यरक्षत ।

महामुनि देवशर्मा नारियोंके चरित्रको जानते थे; अतः वे यथाशक्ति उत्साहपूर्वक उसकी रक्षा करते थे ॥ १८½ ॥

पुरन्दरं च जानीते परस्त्रीकामचारिणम् ॥ १९ ॥
तस्माद् बलेन भार्याया रक्षणं स चकार ह ।

वे यह भी जानते थे कि इन्द्र बड़ा ही पर-स्त्रीलम्पट है, इसलिये वे अपनी स्त्रीकी उनसे यत्नपूर्वक रक्षा करते थे ॥ १९½ ॥

स कदाचिदृषिस्तात यज्ञं कर्तुमनास्तदा ॥ २० ॥
भार्यासंरक्षणं कार्यं कथं स्यादित्यचिन्तयत् ।

तात! एक समय ऋषिने यज्ञ करनेका विचार किया उस समय वे यह सोचने लगे कि 'यदि मैं यज्ञमें लग जाऊँ तो मेरी स्त्रीकी रक्षा कैसे होगी' ॥ २०½ ॥

रक्षाविधानं मनसा स संचिन्त्य महातपाः ॥ २१ ॥
आहूय दयितं शिष्यं विपुलं प्राह भार्गवम् ।

फिर उन महातपस्वीने मन-ही-मन उसकी रक्षाका उपाय सोचकर अपने प्रिय शिष्य भृगुवंशी विपुलको बुलाकर कहा।

देवशर्मोवाच

यज्ञकारो गमिष्यामि रुचिं चेमां सुरेश्वरः ॥ २२ ॥
यतः प्रार्थयते नित्यं तां रक्षस्व यथाबलम् ।

देवशर्मा बोले—वत्स! मैं यज्ञ करनेके लिये जाऊँगा तुम मेरी इस पत्नी रुचिकी यत्नपूर्वक रक्षा करना; क्योंकि देवराज इन्द्र सदा इसे प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगा रहता है।

अप्रमत्तेन ते भाव्यं सदा प्रति पुरन्दरम् ॥ २३ ॥
स हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम ।

भृगुश्रेष्ठ! तुम्हें इन्द्रकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह अनेक प्रकारके रूप धारण करता है॥२३½

भीष्म उवाच

इत्युक्तो विपुलस्तेन तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ २४ ॥
सदैवोग्रतपा राजन्नग्न्यर्कसदृशद्युतिः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च तथेति प्रत्यभाषत ।
पुनश्चेदं महाराज पप्रच्छ प्रस्थितं गुरुम् ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! गुरुके ऐसा कहनेपर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, जितेन्द्रिय तथा सदा कठोर तपमें लगे रहनेवाले धर्मज्ञ एवं सत्यवादी विपुलने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। महाराज! फिर जब गुरुजी प्रस्थान करने लगे, तब उसने पुनः इस प्रकार पूछा ॥ २४-२५ ॥

विपुल उवाच

कानि रूपाणि शक्रस्य भवन्त्यागच्छतो मुने ।
वपुस्तेजश्च कीदृग् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २६ ॥

विपुलने पूछा—मुने! इन्द्र जब आता है, तब उसके कौन-कौन-से रूप होते हैं तथा उस समय उसका शरीर और तेज कैसा होता है? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥२६॥

भीष्म उवाच

ततः स भगवांस्तस्मै विपुलाय महात्मने ।
आचचक्षे यथातत्त्वं मायां शक्रस्य भारत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं--भरतनन्दन ! तदनन्तर भगवान् वशर्माने महात्मा विपुलसे इन्द्रकी मायाको यथार्थरूपसे ाना आरम्भ किया ॥ २७ ॥

देवशर्मोवाच

हुमायः स विप्रर्षे भगवान् पाकशासनः ।
ांस्तान् विकुरुते भावान् बहूनथ मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥

देवशर्माने कहा--ब्रह्मर्षे ! भगवान् पाकशासन इन्द्र हुत-सी मायाओंके जानकार हैं । वे बारंबार बहुत-से रूप बदलते ते हैं ॥ २८ ॥

ीरीटी वज्रधृग् धन्वी मुकुटी बद्धकुण्डलः ॥ २९ ॥
वत्यथ मुहूर्तेन चाण्डालसमदर्शनः ।
ाखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक ॥ ३० ॥

बेटा ! वे कभी तो मस्तकपर किरीट-मुकुट, कानोंमें कुण्डल था हाथोंमें वज्र एवं धनुष धारण किये आते हैं और कभी क ही मुहूर्तमें चाण्डालके समान दिखायी देते हैं; फिर कभी खा, जटा और चीर वस्त्र धारण करनेवाले ऋषि बन ते हैं ॥ २९-३० ॥

हच्छरीरश्च पुनश्चीरवासाः पुनः कृशः ।
ौरं श्यामं च कृष्णं च वर्णं विकुरुते पुनः ॥ ३१ ॥

कभी विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर धारण करते हैं तो भी दुर्बल शरीरमें चिथड़े लपेटे दिखायी देते हैं । कभी रे, कभी साँवले और कभी काले रंगके रूप बदलते ते हैं ॥ ३१ ॥

रूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च ।
ह्मणः क्षत्रियश्चैव वैश्यः शूद्रस्तथैव च ॥ ३२ ॥

वे एक ही क्षणमें कुरूप और दूसरे ही क्षणमें रूपवान् जाते हैं । कभी जवान और कभी बूढ़े बन जाते हैं । भी ब्राह्मण बनकर आते हैं तो कभी क्षत्रिय, वैश्य और द्रका रूप बना लेते हैं ॥ ३२ ॥

तिलोमोऽनुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः ।
ुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् ॥ ३३ ॥

वे इन्द्र कभी अनुलोम संकरका रूप धारण करते हैं कभी विलोम संकरका । वे तोते, कौए, हंस और कोयल-रूपमें भी दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

हव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः ।
ां दैत्यमथो राज्ञां वपुर्धारयतेऽपि च ॥ ३४ ॥

सिंह, व्याघ्र और हाथीके भी रूप बारंबार धारण करते हैं । देवताओं, दैत्यों तथा राजाओंके शरीर भी धारण कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

अकृशो वायुभग्नाङ्गः शकुनिर्विकृतस्तथा ।
चतुष्पाद् बहुरूपश्च पुनर्भवति बालिशः ॥ ३५ ॥

वे कभी हृष्ट-पुष्ट, कभी वातरोगसे भग्न शरीरवाले और कभी पक्षी बन जाते हैं । कभी विकृत वेष बना लेते हैं । फिर कभी चौपाया (पशु), कभी बहुरूपिया और कभी गँवार बन जाते हैं ॥ ३५ ॥

मक्षिकामशकादीनां वपुर्धारयतेऽपि च ।
न शक्यमस्य ग्रहणं कर्तुं विपुल केनचित् ॥ ३६ ॥
अपि विश्वकृता तात येन सृष्टमिदं जगत् ।
पुनरन्तर्हितः शक्रो दृश्यते ज्ञानचक्षुषा ॥ ३७ ॥

वे मक्खी और मच्छर आदिके भी रूप धारण करते हैं । विपुल ! कोई भी उन्हें पकड़ नहीं सकता । तात ! औरोंकी तो बात ही क्या है ! जिन्होंने इस संसारको बनाया है, वे विधाता भी उन्हें अपने काबूमें नहीं कर सकते । अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र केवल ज्ञानदृष्टिसे दिखायी देते हैं ॥ ३६-३७ ॥

वायुभूतश्च स पुनर्देवराजो भवत्युत ।
एवं रूपाणि सततं कुरुते पाकशासनः ॥ ३८ ॥

फिर वे वायुरूप होकर तुरंत ही देवराजके रूपमें प्रकट हो जाते हैं । इस तरह पाकशासन इन्द्र सदा नये-नये रूप धारण करता और बदलता रहता है ॥ ३८ ॥

तस्माद् विपुल यत्नेन रक्षेमां तनुमध्यमाम् ।
यथा रुचिं नावलिहेद् देवेन्द्रो भृगुसत्तम ॥ ३९ ॥
क्रतावुपहिते न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान् ।

भृगुश्रेष्ठ विपुल ! इसलिये तुम यत्नपूर्वक इस तनु-मध्यमा रुचिकी रक्षा करना, जिससे दुरात्मा देवराज इन्द्र यज्ञमें रखे हुए हविष्यको चाटनेकी इच्छावाले कुत्तेकी भाँति मेरी पत्नी रुचिका स्पर्श न कर सके ॥ ३९½ ॥

एवमाख्याय स मुनिर्यज्ञकारोऽगमत् तदा ॥ ४० ॥
देवशर्मा महाभागस्ततो भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाभाग देवशर्मा मुनि यज्ञ करनेके लिये चले गये ॥ ४०½ ॥

विपुलस्तु वचः श्रुत्वा गुरोश्चिन्तामुपेयिवान् ॥ ४१ ॥
रक्षां च परमां चक्रे देवराजान्महाबलात् ।

गुरुकी बात सुनकर विपुल बड़ी चिन्तामें पड़ गये और महाबली देवराजसे उस स्त्रीकी बड़ी तत्परताके साथ रक्षा करने लगे ॥ ४१½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गुरुदाराभिरक्षणे ॥ ४२ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसौ दुर्धर्षश्चापि वीर्यवान् ।

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'मैं गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये क्या कर सकता हूँ, क्योंकि वह देवराज इन्द्र मायावी होनेके साथ ही बड़ा दुर्धर्ष और पराक्रमी है ॥ ४२½ ॥

नापिधायाश्रमं शक्यो रक्षितुं पाकशासनः ॥ ४३ ॥
उटजं वा तथा ह्यस्य नानाविधसरूपता ।

'कुटी या आश्रमके दरवाजोंको बंद करके भी पाकशासन इन्द्रका आना नहीं रोका जा सकता; क्योंकि वे कई प्रकारके रूप धारण करते हैं ॥ ४३½ ॥

वायुरूपेण वा शक्रो गुरुपत्नीं प्रधर्षयेत् ॥ ४४ ॥
तस्मादिमां सम्प्रविश्य रुचिं स्थास्येऽहमद्य वै ।

'सम्भव है, इन्द्र वायुका रूप धारण करके आये और गुरुपत्नीको दूषित कर डाले; इसलिये आज मैं रुचिके शरीरमें प्रवेश करके रहूँगा ॥ ४४½ ॥

अथवा पौरुषेणेयं न शक्या रक्षितुं मया ॥ ४५ ॥
बहुरूपो हि भगवाञ्छ्रूयते पाकशासनः ।
सोऽहं योगबलादेनां रक्षिष्ये पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

'अथवा पुरुषार्थके द्वारा मैं इसकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पाकशासन इन्द्र बहुरूपिया सुने जाते हैं । अतः योगबलका आश्रय लेकर ही मैं इन्द्रसे इसकी रक्षा करूँगा ॥ ४५-४६ ॥

गात्राणि गात्रैरस्याहं सम्प्रवेक्ष्ये हि रक्षितुम् ।
यद्युच्छिष्टामिमां पत्नीमद्य पश्यति मे गुरुः ॥ ४७ ॥
शप्स्यत्यसंशयं कोपाद् दिव्यज्ञानो महातपाः ।

'मैं गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे इसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें समा जाऊँगा । यदि आज मेरे गुरुजी अपनी इस पत्नीको किसी पर-पुरुषद्वारा दूषित हुई देख लेंगे तो कुपित होकर मुझे निस्संदेह शाप दे देंगे; क्योंकि वे महातपस्वी गुरु दिव्यज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ ४७½ ॥

न चेयं रक्षितुं शक्या यथान्या प्रमदा नृभिः ॥ ४८ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसावहो प्राप्तोऽस्मि संशयम् ।

'दूसरी युवतियोंकी तरह इस गुरुपत्नीकी भी मनुष्योंद्वारा रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि देवराज इन्द्र बड़े मायावी हैं । अहो ! मैं बड़ी संशयजनित अवस्थामें पड़ गया ॥

अवश्यं करणीयं हि गुरोरिह हि शासनम् ॥ ४९ ॥
यदि त्वेतदहं कुर्यामाश्चर्यं स्यात् कृतं मया ।

'यहाँ गुरुने जो आज्ञा दी है, उसका पालन मुझे अवश्य करना चाहिये । यदि मैं ऐसा कर सका तो मेरे द्वारा यह एक आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४९½ ॥

योगेनाथ प्रवेशो हि गुरुपत्न्याः कलेवरे ॥ ५० ॥
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ।
असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिन्दुर्यथाचलः ॥ ५१ ॥

'अतः मुझे गुरुपत्नीके शरीरमें योगबलसे प्रवेश करना चाहिये । जिस प्रकार कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद उसपर निर्लिप्त भावसे स्थिर रहती है, उसी प्रकार मैं भी अनासक्त भावसे गुरुपत्नीके भीतर निवास करूँगा ॥५०-५१॥

निर्मुक्तस्य रजोरूपान्नापराधो भवेन्मम ।
यथा हि शून्यां पथिकः सभामध्यावसेत् पथि ॥ ५२ ॥
तथाद्यावासयिष्यामि गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५३ ॥

'मैं रजोगुणसे मुक्त हूँ; अतः मेरे द्वारा कोई अपराध नहीं हो सकता, जैसे राह चलनेवाला बटोही कभी किसी सूनी धर्मशालामें ठहर जाता है, उसी प्रकार आज मैं सावधान होकर गुरुपत्नीके शरीरमें निवास करूँगा । इसी तरह इसके शरीरमें मेरा निवास हो सकेगा' ॥ ५२-५३ ॥

इत्येवं धर्ममालोक्य वेदवेदांश्च सर्वशः ।
तपश्च विपुलं दृष्ट्वा गुरोरात्मन एव च ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य मनसा रक्षां प्रति स भार्गवः ।
अन्वतिष्ठत् परं यत्नं यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ५५ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस तरह धर्मपर दृष्टि डाल, सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंपर विचार करके अपनी तथा गुरुकी प्रचुर तपस्याको दृष्टिमें रखते हुए भृगुवंशी विपुलने गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये अपने मनसे उपर्युक्त उपाय ही निश्चित किया और इसके लिये जो महान् प्रयत्न किया, वह बताता हूँ, सुनो—॥

गुरुपत्नीं समासीनो विपुलः स महातपाः ।
उपासीनामनिन्द्याङ्गीं कथाभिः समलोभयत् ॥ ५६ ॥

'महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीके पास बैठ गये और पास ही बैठी हुई निर्दोष अङ्गोंवाली उस रुचिको अनेक प्रकारकी कथा-वार्ता सुनाकर अपनी बातोंमें लुभाने लगे ॥ ५६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मिं संयोज्य रश्मिभिः ।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा ॥ ५७ ॥

'फिर अपने दोनों नेत्रोंको उन्होंने उसके नेत्रोंकी ओर लगाया और अपने नेत्रोंकी किरणोंको उसके नेत्रोंकी किरणोंके साथ जोड़ दिया । फिर उसी मार्गसे आकाशमें प्रविष्ट होनेवाली वायुकी भाँति रुचिके शरीरमें प्रवेश किया ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
अविचेष्टन्नतिष्ठद् वै छायेवान्तर्हितो मुनिः ॥ ५८ ॥

'वे लक्षणोंसे लक्षणोंमें और मुखके द्वारा मुखमें प्रविष्ट कोई चेष्टा न करते हुए स्थिर भावसे स्थित हो गये। स समय अन्तर्हित हुए विपुल मुनि छायाके समान प्रतीत ते थे ॥ ५८ ॥

तो विष्टभ्य विपुलो गुरुपत्न्याः कलेवरम्।
वास रक्षणे युक्तो न च सा तमबुद्ध्यत ॥ ५९ ॥

'विपुल गुरुपत्नीके शरीरको स्तम्भित करके उसकी रक्षामें संलग्न हो वहीं निवास करने लगे। परंतु रुचिको अपने शरीरमें उनके आनेका पता न चला ॥ ५९ ॥

यं कालं नागतो राजन् गुरुस्तस्य महात्मनः।
क्रतुं समाप्य स्वगृहं तं कालं सोऽभ्यरक्षत ॥ ६० ॥

'राजन्! जबतक महात्मा विपुलके गुरु यज्ञ पूरा करके अपने घर नहीं लौटे, तबतक विपुल इसी प्रकार अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा करते रहे' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका देवराज इन्द्रसे गुरुपत्नीको बचाना और गुरुसे वरदान प्राप्त करना

भीष्म उवाच

तः कदाचिद् देवेन्द्रो दिव्यरूपवपुर्धरः।
दमन्तरमित्येवमभ्यगात् तमथाश्रमम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर किसी समय वराज इन्द्र 'यही ऋषिपत्नी रुचिको प्राप्त करनेका अच्छा वसर है' ऐसा सोचकर दिव्य रूप एवं शरीर धारण ये उस आश्रममें आये ॥ १ ॥

पमप्रतिमं कृत्वा लोभनीयं जनाधिप।
र्शनीयतमो भूत्वा प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २ ॥

नरेश्वर! वहाँ इन्द्रने अनुपम लुभावना रूप धारण रके अत्यन्त दर्शनीय होकर उस आश्रममें प्रवेश किया ॥

ददर्श तमासीनं विपुलस्य कलेवरम्।
श्चेष्टं स्तब्धनयनं यथा लेख्यगतं तथा ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि विपुलका शरीर त्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट पड़ा है और उनके स्थिर हैं ॥ ३ ॥

चं च रुचिरापाङ्गीं पीनश्रोणिपयोधराम्।
पत्रविशालाक्षीं सम्पूर्णेन्दुनिभाननाम् ॥ ४ ॥

दूसरी ओर स्थूल नितम्ब एवं पीन पयोधरोंसे सुशोभित, कसित कमलदलके समान विशाल नेत्र एवं मनोहर कटाक्ष-ली पूर्णचन्द्रानना रुचि बैठी हुई दिखायी दी ॥ ४ ॥

तमालोक्य सहसा प्रत्युत्थातुमियेष ह।
रेण विस्मिता कोऽसीत्यथ वक्तुमिवेच्छती ॥ ५ ॥

इन्द्रको देखकर वह सहसा उनकी अगवानीके लिये उठनेकी इच्छा करने लगी। उनका सुन्दर रूप देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ था, मानो वह उनसे पूछना चाहती थी कि आप कौन हैं? ॥ ५ ॥

उत्थातुकामा तु सती विष्टब्धा विपुलेन सा।
निगृहीता मनुष्येन्द्र न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! उसने ज्यों ही उठनेका विचार किया त्यों ही विपुलने उसके शरीरको स्तब्ध कर दिया। उनके काबूमें आ जानेके कारण वह हिल भी न सकी ॥ ६ ॥

तामाबभाषे देवेन्द्रः साम्ना परमवल्गुना।
त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ॥ ७ ॥

तब देवराज इन्द्रने बड़ी मधुर वाणीमें उसे समझाते हुए कहा—'पवित्र मुसकानवाली देवि! मुझे देवताओंका राजा इन्द्र समझो! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँतक आया हूँ ॥

क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्संकल्पभवेन ह।
तत् सम्प्राप्तं हि मां सुभ्रु पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ८ ॥

'तुम्हारा चिन्तन करनेसे मेरे हृदयमें जो काम उत्पन्न हुआ है, वह मुझे बड़ा कष्ट दे रहा है। इसीसे मैं तुम्हारे निकट उपस्थित हुआ हूँ। सुन्दरी! अब देर न करो, समय बीता जा रहा है' ॥ ८ ॥

तमेवंवादिनं शक्रं शुश्राव विपुलो मुनिः।
गुरुपत्न्याः शरीरस्थो ददर्श त्रिदशाधिपम् ॥ ९ ॥

देवराज इन्द्रकी यह बात गुरुपत्नीके शरीरमें बैठे हुए विपुल मुनिने भी सुनी और उन्होंने इन्द्रको देख भी लिया ॥ ९ ॥

न शशाक च सा राजन् प्रत्युत्थातुमनिन्दिता ।
वक्तुं च नाशकद् राजन् विष्टब्धा विपुलेन सा ॥ १० ॥

राजन् ! वह अनिन्द्य सुन्दरी रुचि विपुलके द्वारा स्तम्भित होनेके कारण न तो उठ सकी और न इन्द्रको कोई उत्तर ही दे सकी ॥ १० ॥

आकारं गुरुपत्न्यास्तु स विज्ञाय भृगूद्वहः ।
निजग्राह महातेजा योगेन बलवत् प्रभो ॥ ११ ॥

प्रभो ! गुरुपत्नीका आकार एवं चेष्टा देखकर भृगुश्रेष्ठ विपुल उसका मनोभाव ताड़ गये थे; अतः उन महातेजस्वी मुनिने योगद्वारा उसे बलपूर्वक काबूमें रखा ॥ ११ ॥

बबन्ध योगबन्धैश्च तस्याः सर्वेन्द्रियाणि सः ।
तां निर्विकारां दृष्ट्वा तु पुनरेव शचीपतिः ॥ १२ ॥
उवाच व्रीडितो राजंस्तां योगबलमोहिताम् ।
एह्येहीति ततः सा तु प्रतिवक्तुमियेष तम् ॥ १३ ॥

उन्होंने गुरुपत्नी रुचिकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको योगसम्बन्धी बन्धनोंसे बाँध लिया था । राजन् ! योगबलसे मोहित हुई रुचिको काम-विकारसे शून्य देख शचीपति इन्द्र लज्जित हो गये और फिर उससे बोले—'सुन्दरी ! आओ, आओ ।' उनका आवाहन सुनकर वह फिर उन्हें कुछ उत्तर देनेकी इच्छा करने लगी ॥ १२-१३ ॥

स तां वाचं गुरोः पत्न्या विपुलः पर्यवर्तयत् ।
भोः किमागमने कृत्यमिति तस्यास्तु निःसृता ॥ १४ ॥

यह देख विपुलने गुरुपत्नीकी उस वाणीको जिसे वह कहना चाहती थी, बदल दिया । उसके मुँहसे सहसा यह निकल पड़ा, 'अजी ! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है ?' ॥ १४ ॥

वक्त्राच्छशाङ्कसदृशाद् वाणी संस्कारभूषणा ।
व्रीडिता सा तु तद्वाक्यमुक्त्वा परवशा तदा ॥ १५ ॥

उस चन्द्रोपम मुखसे जब यह संस्कृत वाणी प्रकट हुई, तब वह पराधीन हुई रुचि वह वाक्य कह देनेके कारण बहुत लज्जित हुई ॥ १५ ॥

पुरन्दरश्च तत्रस्थो बभूव विमना भृशम् ।
स तद्वैकृतमालक्ष्य देवराजो विशाम्पते ॥ १६ ॥
अवैक्षत सहस्राक्षस्तदा दिव्येन चक्षुषा ।
स ददर्श मुनिं तस्याः शरीरान्तरगोचरम् ॥ १७ ॥

वहाँ खड़े हुए इन्द्र उसकी पूर्वोक्त बात सुनकर मन-ही-मन बहुत दुखी हुए । प्रजानाथ ! उसके मनोविकार एवं भाव-परिवर्तनको लक्ष्य करके सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रने दिव्य दृष्टिसे उसकी ओर देखा । फिर तो उसके शरीरके भीतर विपुल मुनिपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ १६-१७ ॥

प्रतिबिम्बमिवादर्शे गुरुपत्न्याः शरीरगम् ।
स तं घोरेण तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरन्दरः ॥ १८ ॥
प्रावेपत सुसंत्रस्तः शापभीतस्तदा विभो ।

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसी प्रकार वे गुरुपत्नीके शरीरमें परिलक्षित हो रहे थे । प्रभो ! घोर तपस्यासे युक्त विपुल मुनिको देखते ही इन्द्र शापके भयसे संत्रस्त हो थर-थर काँपने लगे ॥ १८½ ॥

विमुच्य गुरुपत्नीं तु विपुलः सुमहातपाः ।
स्वकलेवरमाविश्य शक्रं भीतमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

इसी समय महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीको छोड़कर अपने शरीरमें आ गये और डरे हुए इन्द्रसे बोले ॥ १९ ॥

विपुल उवाच

अजितेन्द्रिय दुर्बुद्धे पापात्मक पुरन्दर ।
न चिरं पूजयिष्यन्ति देवास्त्वां मानुषास्तथा ॥ २० ॥

विपुलने कहा—पापात्मा पुरन्दर ! तेरी बुद्धि बड़ी खोटी है । तू सदा इन्द्रियोंका गुलाम बना रहता है । यदि यही दशा रही तो अब देवता तथा मनुष्य अधिक कालतक तेरी पूजा नहीं करेंगे ॥ २० ॥

किं नु तद्विस्मृतं शक्र न तन्मनसि ते स्थितम् ।
गौतमेनासि यन्मुक्तो भगाङ्कपरिचिह्नितः ॥ २१ ॥

इन्द्र ! क्या तू उस घटनाको भूल गया ? क्या तेरे मनमें उसकी याद नहीं रह गयी है ? जब कि महर्षि गौतमने तेरे सारे शरीरमें भगके (हजार) चिह्न बनाकर तुझे जीवित छोड़ा था ? ॥ २१ ॥

जाने त्वां बालिशमतिमकृतात्मानमस्थिरम् ।
मयेयं रक्ष्यते मूढ गच्छ पाप यथागतम् ॥ २२ ॥

मैं जानता हूँ कि तू मूर्ख है, तेरा मन वशमें नहीं और तू महाचञ्चल है । पापी मूढ़ ! यह स्त्री मेरे द्वारा सुरक्षित है । तू जैसे आया है, उसी तरह लौट जा ॥ २२ ॥

नाहं त्वामद्य मूढात्मन् दहेयं हि स्वतेजसा ।
कृपायमानस्तु न ते दग्धुमिच्छामि वासव ॥ २३ ॥

मूढचित्त इन्द्र ! मैं अपने तेजसे तुझे जलाकर भस्म कर सकता हूँ । केवल दया करके ही तुझे इस समय जलाना नहीं चाहता ॥ २३ ॥

स च घोरतमो धीमान् गुरुर्मे पापचेतसम् ।
दृष्ट्वा त्वां निर्दहेदद्य क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ॥ २४ ॥

मेरे बुद्धिमान् गुरु बड़े भयंकर हैं । वे तुझ पापात्माको देखते ही आज क्रोधसे उद्दीप्त हुई दृष्टिद्वारा दग्ध कर डालेंगे ॥

नैवं तु शक्र कर्तव्यं पुनर्मान्याश्च ते द्विजाः ।
मा गमः ससुतामात्यः क्षयं ब्रह्मबलार्दितः ॥ २५ ॥

इन्द्र ! आजसे फिर कभी ऐसा काम न करना। तुझे ब्राह्मणोंका सम्मान करना चाहिये, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि तुझे ब्रह्मतेजसे पीड़ित होकर पुत्रों और मन्त्रियोंसहित कालके गालमें जाना पड़े ॥ २५ ॥

अमरोऽस्मीति यद्बुद्धिं समास्थाय प्रवर्तसे ।
मावमंस्था न तपसा नसाध्यं नाम किंचन ॥ २६ ॥

मैं अमर हूँ—ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर यदि तू स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो रहा है तो (मैं तुझे सचेत किये देता हूँ) यों किसी तपस्वीका अपमान न किया कर; क्योंकि तपस्यासे कोई भी कार्य असाध्य नहीं है (तपस्वी अमरोंको भी मार सकता है)॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो विपुलस्य महात्मनः ।
अकिंचिदुक्त्वा व्रीडार्तस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महात्मा विपुलका वह कथन सुनकर इन्द्र बहुत लज्जित हुए और कुछ भी उत्तर न देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु देवशर्मा महातपाः ।
कृत्वा यज्ञं यथाकाममाजगाम स्वमाश्रमम् ॥ २८ ॥

उनके गये अभी एक ही मुहूर्त बीतने पाया था कि महातपस्वी देवशर्मा इच्छानुसार यज्ञ पूर्ण करके अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २८ ॥

आगतेऽथ गुरौ राजन् विपुलः प्रियकर्मकृत् ।
रक्षितां गुरवे भार्यां न्यवेदयदनिन्दिताम् ॥ २९ ॥

राजन् ! गुरुके आनेपर उनका प्रिय कार्य करनेवाले विपुलने अपने द्वारा सुरक्षित हुई उनकी सती-साध्वी भार्या रुचिको उन्हें सौंप दिया ॥ २९ ॥

अभिवाद्य च शान्तात्मा स गुरुं गुरुवत्सलः ।
विपुलः पर्युपातिष्ठद् यथापूर्वमशङ्कितः ॥ ३० ॥

शान्त चित्तवाले गुरुप्रेमी विपुल गुरुदेवको प्रणाम करके पहलेकी ही भाँति निर्भीक होकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३० ॥

विश्रान्ताय ततस्तस्मै सहासीनाय भार्यया ।
निवेदयामास तदा विपुलः शक्रकर्म तत् ॥ ३१ ॥

जब गुरुजी विश्राम करके अपनी पत्नीके साथ बैठे, तब विपुलने इन्द्रकी वह सारी करतूत उन्हें बतायी ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टो विपुलस्य प्रतापवान् ।
बभूव शीलवृत्ताभ्यां तपसा नियमेन च ॥ ३२ ॥

यह सुनकर प्रतापी मुनि देवशर्मा विपुलके शील, सदाचार, तप और नियमसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३२ ॥

विपुलस्य गुरौ वृत्तिं भक्तिमात्मनि तत्प्रभुः ।
धर्मे च स्थिरतां दृष्ट्वा साधु साध्वित्यभाषत ॥ ३३ ॥

विपुलकी गुरुसेवावृत्ति, अपने प्रति भक्ति और धर्मविषयक दृढ़ता देखकर गुरुने 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

प्रतिलभ्य च धर्मात्मा शिष्यं धर्मपरायणम् ।
वरेणच्छन्दयामास देवशर्मा महामतिः ॥ ३४ ॥

परम बुद्धिमान् धर्मात्मा देवशर्माने अपने धर्मपरायण शिष्य विपुलको पाकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ ३४ ॥

स्थितिं च धर्मे जग्राह स तस्माद् गुरुवत्सलः ।
अनुज्ञातश्च गुरुणा चचारानुत्तमं तपः ॥ ३५ ॥

गुरुवत्सल विपुलने गुरुसे यही वर माँगा कि 'मेरी धर्ममें निरन्तर स्थिति बनी रहे ।' फिर गुरुकी आज्ञा लेकर उन्होंने सर्वोत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ३५ ॥

तथैव देवशर्मापि सभार्यः स महातपाः ।
निर्भयो बलवृत्रघ्नाच्चचार विजने वने ॥ ३६ ॥

महातपस्वी देवशर्मा भी बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रसे निर्भय हो पत्नीसहित उस निर्जन वनमें विचरने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका गुरुकी आज्ञासे दिव्य पुष्प लाकर उन्हें देना और अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मका स्मरण करना

भीष्म उवाच

विपुलस्त्वकरोत् तीव्रं तपः कृत्वा गुरोर्वचः ।
तपोयुक्तमथात्मानममन्यत स वीर्यवान् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! विपुलने गुरुकी आज्ञाका पालन करके बड़ी कठोर तपस्या की । इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी और वे अपनेको बड़ा भारी तपस्वी मानने लगे ।१।

स तेन कर्मणा स्पर्धन् पृथिवीं पृथिवीपते ।
चचार गतभीः प्रीतो लब्धकीर्तिवरो नृप ॥ २ ॥

पृथ्वीनाथ ! विपुल उस तपस्याद्वारा मन-ही-मन गर्वका अनुभव करके दूसरोंसे स्पर्धा रखने लगे । नरेश्वर ! उन्हें गुरुसे कीर्ति और वरदान दोनों प्राप्त हो चुके थे; अतः वे निर्भय एवं संतुष्ट होकर पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २ ॥

उभौ लोकौ जितौ चापि तथैवामन्यत प्रभुः ।
कर्मणा तेन कौरव्य तपसा विपुलेन च ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन ! शक्तिशाली विपुल उस गुरुपत्नी-संरक्षणरूपी कर्म तथा प्रचुर तपस्याद्वारा ऐसा समझने लगे कि मैंने दोनों लोक जीत लिये ॥ ३ ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते कस्मिंश्चित् कुरुनन्दन ।
रुच्या भगिन्या आदानं प्रभूतधनधान्यवत् ॥ ४ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! तदनन्तर कुछ समय बीत जानेपर गुरुपत्नी रुचिकी बड़ी बहिनके यहाँ विवाहोत्सवका अवसर उपस्थित हुआ, जिसमें प्रचुर धनधान्यका व्यय होनेवाला था ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु दिव्या काचिद् वराङ्गना ।
बिभ्रती परमं रूपं जगामाथ विहायसा ॥ ५ ॥

उन्हीं दिनों एक दिव्य लोककी सुन्दरी दिव्याङ्गना परम मनोहर रूप धारण किये आकाशमार्गसे कहीं जा रही थी ॥ ५ ॥

तस्याः शरीरात् पुष्पाणि पतितानि महीतले ।
तस्याश्रमस्याविदूरे दिव्यगन्धानि भारत ॥ ६ ॥

भारत ! उसके शरीरसे कुछ दिव्य पुष्प, जिनसे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी, देवशर्माके आश्रमके पास ही पृथ्वीपर गिरे ॥

तान्यगृह्णात् ततो राजन् रुचिर्ललितलोचना ।
तदा निमन्त्रकस्तस्या अङ्गेभ्यः क्षिप्रमागमत् ॥ ७ ॥

राजन् ! तब मनोहर नेत्रोंवाली रुचिने वे फूल ले लिये । इतनेमें ही अङ्गदेशसे उसका शीघ्र ही बुलावा आ गया ॥ ७ ॥

तस्या हि भगिनी तात ज्येष्ठा नाम्ना प्रभावती ।
भार्या चित्ररथस्याथ बभूवाङ्गेश्वरस्य वै ॥ ८ ॥

तात ! रुचिकी बड़ी बहिन, जिसका नाम प्रभावती था, अङ्गराज चित्ररथको ब्याही गयी थी ॥ ८ ॥

पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी ।
आमन्त्रिता ततोऽगच्छद् रुचिरङ्गपतेर्गृहम् ॥ ९ ॥

उन दिव्य फूलोंको अपने केशोंमें गूँथकर सुन्दरी रुचि अङ्गराजके घर आमन्त्रित होकर गयी ॥ ९ ॥

पुष्पाणि तानि दृष्ट्वा तु तदाङ्गेन्द्रवराङ्गना ।
भगिनीं चोदयामास पुष्पार्थे चारुलोचना ॥ १० ॥

उस समय सुन्दर नेत्रोंवाली अङ्गराजकी सुन्दरी रानी प्रभावतीने उन फूलोंको देखकर अपनी बहिनसे वैसे ही फूल मँगवा देनेका अनुरोध किया ॥ १० ॥

सा भर्त्रे सर्वमाचष्ट रुचिः सुरुचिरानना ।
भगिन्या भाषितं सर्वमृषिस्तच्चाभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

आश्रममें लौटनेपर सुन्दर मुखवाली रुचिने बहिनकी कही हुई सारी बातें अपने स्वामीसे कह सुनायीं । सुनकर ऋषिने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ ११ ॥

ततो विपुलमानाय्य देवशर्मा महातपाः ।
पुष्पार्थे चोदयामास गच्छ गच्छेति भारत ॥ १२ ॥

भारत ! तब महातपस्वी देवशर्माने विपुलको बुलवाकर उन्हें फूल लानेके लिये आदेश दिया और कहा, 'जाओ, जाओ' ॥ १२ ॥

विपुलस्तु गुरोर्वाक्यमविचार्य महातपाः ।
स तथेत्यब्रवीद् राजंस्तं च देशं जगाम ह ॥ १३ ॥
यस्मिन् देशे तु तान्यासन् पतितानि नभस्तलात् ।
अम्लानान्यपि तत्रासन् कुसुमान्यपराण्यपि ॥ १४ ॥

राजन् ! गुरुकी आज्ञा पाकर महातपस्वी विपुल उसपर कोई अन्यथा विचार न करके 'बहुत अच्छा' कहते हुए उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ आकाशसे वे फूल गिरे थे । वहाँ और भी बहुत-से फूल पड़े हुए थे, जो कुम्हलाये नहीं थे ॥

स ततस्तानि जग्राह दिव्यानि रुचिराणि च ।
प्राप्तानि स्वेन तपसा दिव्यगन्धानि भारत ॥ १५ ॥

भारत ! तदनन्तर अपने तपसे प्राप्त हुए उन दिव्य सुगन्धसे क मनोहर दिव्य पुष्पोंको विपुलने उठा लिया ॥ १५ ॥

म्प्राप्य तानि प्रीतात्मा गुरोर्वचनकारकः ।
दा जगाम तूर्णं च चम्पां चम्पकमालिनीम् ॥ १६ ॥

गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाले विपुल उन फूलोंको कर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और तुरंत ही चम्पाके वृक्षोंसे री हुई चम्पा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

वने निर्जने तात ददर्श मिथुनं नृणाम् ।
कवत् परिवर्तन्तं गृहीत्वा पाणिना करम् ॥ १७ ॥

तात ! एक निर्जन वनमें आनेपर उन्होंने स्त्री-पुरुषके एक ड़ेको देखा, जो एक दूसरेका हाथ पकड़कर कुम्हारके चाकके ान घूम रहे थे ॥ १७ ॥

त्रैकस्तूर्णमगमत् तत्पदे च विवर्तयन् ।
कस्तु न तदा राजंश्चक्रतुः कलहं ततः ॥ १८ ॥

राजन् ! उनमेंसे एकने अपनी चाल तेज कर दी और रेने वैसा नहीं किया । इसपर दोनों आपसमें झगड़ने लगे ॥

ं शीघ्रं गच्छसीत्येकोऽब्रवीन्नेति तथा परः ।
ति नेति च तौ राजन् परस्परमथोचतुः ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! एकने कहा, 'तुम जल्दी-जल्दी चलते हो ।' रेने कहा, 'नहीं ।' इस प्रकार दोनों एक-दूसरेपर दोषारोपण ते हुए एक-दूसरेको 'नहीं-नहीं' कह रहे थे ॥ १९ ॥

ोर्विस्पर्धतोरेवं शपथोऽयमभूत् तदा ।
हसोद्दिश्य विपुलं ततो वाक्यमथोचतुः ॥ २० ॥

इस प्रकार एक-दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए उन दोनोंमें शपथ नेकी नौबत आ गयी । फिर तो सहसा विपुलको लक्ष्य करके दोनों इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

वयोरनृतं प्राह यस्तस्याभूद् द्विजस्य वै ।
पुलस्य परे लोके या गतिः सा भवेदिति ॥ २१ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो भी झूठ बोलता है, उसकी वही गति गी, जो परलोकमें ब्राह्मण विपुलके लिये नियत हुई है'॥२१॥

तच्छ्रुत्वा तु विपुलो विषण्णवदनोऽभवत् ।
ं तीव्रतपाश्चाहं कष्टश्चायं परिश्रमः ॥ २२ ॥

यह सुनकर विपुलके मुँहपर विषाद छा गया । 'मैं ऐसी ोर तपस्या करनेवाला हूँ तो भी मेरी दुर्गति होगी । तब तो स्या करनेका वह घोर परिश्रम कष्टदायक ही सिद्ध हुआ ॥

थुनस्यास्य किं मे स्यात् कृतं पापं यथा गतिः ।
निष्टा सर्वभूतानां कीर्तितानेन मेऽद्य वै ॥ २३ ॥

'मेरा ऐसा कौन-सा पाप है, जिसके अनुसार मेरी वह ाति होगी, जो समस्त प्राणियोंके लिये अनिष्ट है एवं इस स्त्री-पुरुषके जोड़ेको मिलनेवाली है, जिसका इन्होंने आज मेरे समक्ष वर्णन किया है' ॥ २३ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव विपुलो राजसत्तम ।
अवाङ्मुखो दीनमना दध्यौ दुष्कृतमात्मनः ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा सोचते हुए ही विपुल नीचे मुँह किये दीनचित्त हो अपने दुष्कर्मका स्मरण करने लगे ॥ २४ ॥

ततः षडन्यान् पुरुषानक्षैः काञ्चनराजतैः ।
अपश्यद् दीव्यमानान् वै लोभहर्षान्वितांस्तथा ॥ २५ ॥
कुर्वतः शपथं तेन यः कृतो मिथुनेन तु ।
विपुलं वै समुद्दिश्य तेऽपि वाक्यमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥

तदनन्तर विपुलको दूसरे छः पुरुष दिखायी पड़े, जो सोने-चाँदीके पासे लेकर जूआ खेल रहे थे और लोभ तथा

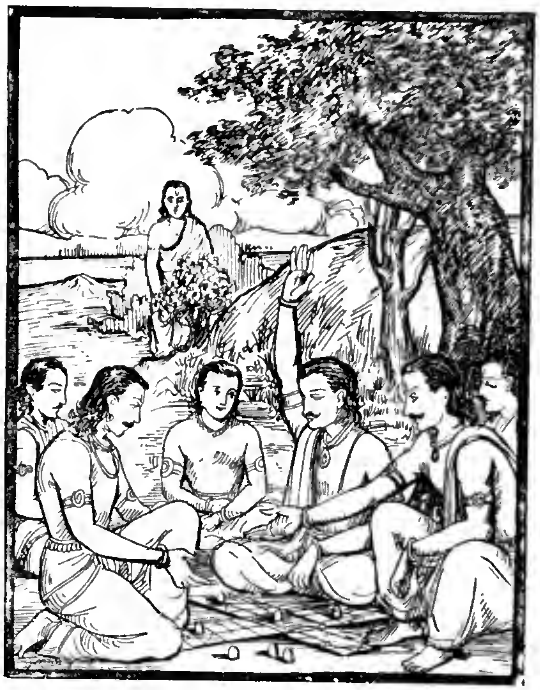

हर्षमें भरे हुए थे । वे भी वही शपथ कर रहे थे, जो पहले स्त्री-पुरुषके जोड़ेने की थी । उन्होंने विपुलको लक्ष्य करके कहा—॥ २५-२६ ॥

लोभमास्थाय योऽस्माकं विषमं कर्तुमुत्सहेत् ।
विपुलस्य परे लोके या गतिस्तामवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो लोभका आश्रय लेकर बेईमानी करने-का साहस करेगा, उसको वही गति मिलेगी, जो परलोकमें विपुलको मिलनेवाली है' ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो नापश्यद् धर्मसंकरम् ।
जन्मप्रभृति कौरव्य कृतपूर्वमथात्मनः ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! यह सुनकर विपुलने जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके अपने समस्त कर्मोंका स्मरण किया; किंतु कभी कोई धर्मके साथ पापका मिश्रण हुआ हो, ऐसा नहीं दिखायी दिया ॥ २८ ॥

सम्प्रदध्यौ तथा राजन्नग्नावग्निरिवाहितः ।
दह्यमानेन मनसा शापं श्रुत्वा तथाविधम् ॥ २९ ॥

राजन् ! परंतु अपने विषयमें वैसा शाप सुनकर जैसे एक आगमें दूसरी आग रख दी गयी हो और उसकी ज्वाला और भी बढ़ गयी हो, उसी प्रकार विपुलका हृदय शोकाग्निसे दग्ध होने लगा और उसी अवस्थामें वे पुनः अपने कार्यों-पर विचार करने लगे ॥ २९ ॥

तस्य चिन्तयतस्तात बह्वयो दिननिशा ययुः ।
इदमासीन्मनसि स रुच्या रक्षणकारितम् ॥ ३० ॥

तात ! इस प्रकार चिन्ता करते हुए उनके कई दिन और कई रातें बीत गयीं । तब गुरुपत्नी रुचिकी रक्षाके कारण उनके मनमें ऐसा विचार उठा— ॥ ३० ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद् गुरोस्तथा ॥ ३१ ॥

'मैंने जब गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये उनके शरीरमें सूक्ष्म रूपसे प्रवेश किया था, तब मेरी लक्षणेन्द्रिय उनकी लक्षणेन्द्रियसे और मुख उनके मुखसे संयुक्त हुआ था । ऐसा अनुचित कार्य करके भी मैंने गुरुजीको यह सच्ची बात नहीं बतायी' ॥ ३१ ॥

एतदात्मनि कौरव्य दुष्कृतं विपुलस्तदा ।
अमन्यत महाभाग तथा तच्च न संशयः ॥ ३२ ॥

महाभाग कुरुनन्दन ! उस समय विपुलने अपने मनमें इसीको पाप माना और निस्संदेह बात भी ऐसी ही थी ॥ ३२ ॥

स चम्पां नगरीमेत्य पुष्पाणि गुरवे ददौ ।
पूजयामास च गुरुं विधिवत् स गुरुप्रियः ॥ ३३ ॥

चम्पानगरीमें जाकर गुरुप्रेमी विपुलने वे फूल गुरुजीको अर्पित कर दिये और उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

देवशर्माका विपुलको निर्दोष बताकर समझाना और भीष्मका युधिष्ठिरको स्त्रियोंकी रक्षाके लिये आदेश देना

भीष्म उवाच

तमागतमभिप्रेक्ष्य शिष्यं वाक्यमथाब्रवीत् ।
देवशर्मा महातेजा यत् तच्छृणु जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! अपने शिष्य विपुलको आया हुआ देख महातेजस्वी देवशर्माने उनसे जो बात कही, वही बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

देवशर्मोवाच

किं ते विपुल दृष्टं वै तस्मिन् शिष्य महावने ।
ते त्वां जानन्ति विपुल आत्मा च रुचिरेव च ॥ २ ॥

देवशर्माने पूछा—मेरे प्रिय शिष्य विपुल ! तुमने उस महान् वनमें क्या देखा था ? वे लोग तो तुम्हें जानते हैं । उन्हें तुम्हारी अन्तरात्माका तथा मेरी पत्नी रुचिका भी पूरा परिचय प्राप्त है ॥ २ ॥

विपुल उवाच

ब्रह्मर्षे मिथुनं किं तत् के च ते पुरुषा विभो ।
ये मां जानन्ति तत्त्वेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३ ॥

विपुलने कहा—ब्रह्मर्षे ! मैंने जिसे देखा था, वह स्त्री-पुरुषका जोड़ा कौन था ? तथा वे छः पुरुष भी कौन थे, जो मुझे अच्छी तरह जानते थे और जिनके विषयमें आप भी मुझसे पूछ रहे हैं ? ॥ ३ ॥

देवशर्मोवाच

यद् वै तन्मिथुनं ब्रह्मन्नहोरात्रं हि विद्धि तत् ।
चक्रवत् परिवर्तेत तत् ते जानाति दुष्कृतम् ॥ ४ ॥
ये च ते पुरुषा विप्र अक्षैर्दीव्यन्ति हृष्टवत् ।
ऋतूंस्तानभिजानीहि ते ते जानन्ति दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

देवशर्माने कहा—ब्रह्मन् ! तुमने जो स्त्री-पुरुषका जोड़ा देखा था, उसे दिन और रात्रि समझो । वे दोनों चक्र

त् घूमते रहते हैं, अतः उन्हें तुम्हारे पापका पता है ! विप्र- र ! तथा जो अत्यन्त हर्षमें भरकर जूआ खेलते हुए छः रुष दिखायी दिये, उन्हें छः ऋतु जानो; वे भी तुम्हारे पाप- ो जानते हैं ॥ ४-५ ॥

मां कश्चिद् विजानीत इति कृत्वा न विश्वसेत् ।
रो रहसि पापात्मा पापकं कर्म वै द्विज ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! पापात्मा मनुष्य एकान्तमें पापकर्म करके ऐसा श्वास न करे कि कोई मुझे इस पापकर्ममें लिप्त नहीं ानता है ॥ ६ ॥

र्वाणं हि नरं कर्म पापं रहसि सर्वदा ।
श्यन्ति ऋतवश्चापि तथा दिननिशेऽप्युत ॥ ७ ॥

एकान्तमें पापकर्म करते हुए पुरुषको ऋतुएँ तथा रात- दिन सदा देखते रहते हैं ॥ ७ ॥

थैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
त्वा नाचक्षतः कर्म मम तच्च यथाकृतम् ॥ ८ ॥

तुमने मेरी स्त्रीकी रक्षा करते समय जिस प्रकार वह पाप- र्म किया था, उसे करके भी मुझे बताया नहीं था; अतः तुम्हें ही पापाचारियोंके लोक मिल सकते थे ॥ ८ ॥

त्वां हर्षस्मितं दृष्ट्वा गुरोः कर्मानिवेदकम् ।
मारयन्तस्तथा प्राहुस्ते यथा श्रुतवान् भवान् ॥ ९ ॥

गुरुको अपना पापकर्म न बताकर हर्ष और अभिमानमें रा देख वे पुरुष तुम्हें अपने कर्मकी याद दिलाते हुए वैसी ातें बोल रहे थे, जिन्हें तुमने अपने कानों सुना है ॥ ९ ॥

होरात्रं विजानाति ऋतवश्चापि नित्यशः ।
रुषे पापकं कर्म शुभं वा शुभकर्मिणः ॥ १० ॥

पापीमें जो पापकर्म है और शुभकर्मी मनुष्यमें जो शुभ- र्म है, उन सबको दिन, रात और ऋतुएँ सदा जानती हती हैं ॥ १० ॥

त् त्वया मम यत् कर्म व्यभिचाराद् भयात्मकम् ।
ाख्यातमिति जानन्तस्ते त्वामाहुस्तथा द्विज ॥ ११ ॥

ब्रह्मन् ! तुमने मुझसे अपना वह कर्म नहीं बताया, जो यभिचार-दोषके कारण भयरूप था । वे जानते थे, इस- लये उन्होंने तुम्हें बता दिया ॥ ११ ॥

नैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
त्वा नाचक्षतः कर्म मम यच्च त्वया कृतम् ॥ १२ ॥

पापकर्म करके न बतानेवाले पुरुषको, जैसा कि तुमने रे साथ किया है, वे ही पापाचारियोंके लोक प्राप्त होते हैं ॥

वयाशक्या च दुर्वृत्या रक्षितुं प्रमदा द्विज ।
च त्वं कृतवान् किंचिदतः प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १३ ॥

ब्रह्मन् ! यौवनमदसे उन्मत्त रहनेवाली उस स्त्रीकी (उसके शरीरमें प्रवेश किये बिना) रक्षा करना तुम्हारे वशकी बात नहीं थी । अतः तुमने अपनी ओरसे कोई पाप नहीं किया; इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

(मनोदोषविहीनानां न दोषः स्यात् तथा तव ।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता स्नेहेन दुहितान्यथा ॥

जो मानसिक दोषसे रहित हैं, उन्हें पाप नहीं लगता । यही बात तुम्हारे लिये भी हुई है । अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका आलिङ्गन और भावसे किया जाता है और अपनी पुत्रीका और भावसे अर्थात् उसे वात्सल्यस्नेहसे गले लगाया जाता है ॥

निष्कषायो विशुद्धस्त्वं रुच्यावेशान्न दूषितः ।)

तुम्हारे मनमें राग नहीं है । तुम सर्वथा विशुद्ध हो, इस- लिये रुचिके शरीरमें प्रवेश करके भी दूषित नहीं हुए हो ॥

यदि त्वहं त्वां दुर्वृत्तमद्राक्षं द्विजसत्तम ।
शपेयं त्वामहं क्रोधान्न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यदि मैं इस कर्ममें तुम्हारा दुराचार देखता तो कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता और ऐसा करके मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार या पश्चात्ताप नहीं होता ॥ १४ ॥

सज्जन्ति पुरुषे नार्यः पुंसां सोऽर्थश्च पुष्कलः ।
अन्यथारक्षतः शापोऽभविष्यत् ते मतिश्च मे ॥ १५ ॥

स्त्रियाँ पुरुषमें आसक्त होती हैं और पुरुषोंका भी इसमें पूर्णतः वैसा ही भाव होता है । यदि तुम्हारा भाव उसकी रक्षा करनेके विपरीत होता तो तुम्हें शाप अवश्य प्राप्त होता और मेरा विचार तुम्हें शाप देनेका अवश्य हो जाता ॥ १५ ॥

रक्षिता च त्वया पुत्र मम चापि निवेदिता ।
अहं ते प्रीतिमांस्तात स्वस्थः स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

बेटा ! तुमने यथाशक्ति मेरी स्त्रीकी रक्षा की है और यह बात मुझे बतायी है, अतः मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तात ! तुम स्वस्थ रहकर स्वर्गलोकमें जाओगे ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा विपुलं प्रीतो देवशर्मा महानृषिः ।
मुमोद स्वर्गमास्थाय सहभार्यः सशिष्यकः ॥ १७ ॥

विपुलसे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए महर्षि देवशर्मा अपनी पत्नी और शिष्यके साथ स्वर्गमें जाकर वहाँका सुख भोगने लगे ॥ १७ ॥

इदमाख्यातवांश्चापि ममाख्यानं महामुनिः ।
मार्कण्डेयः पुरा राजन् गङ्गाकूले कथान्तरे ॥ १८ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें गङ्गाके तटपर कथा-वार्ताके बीचमें ही महामुनि मार्कण्डेयने मुझे यह आख्यान सुनाया था ॥ १८ ॥

तस्माद् ब्रवीमि पार्थ त्वां स्त्रियो रक्ष्याः सदैव च।
उभयं दृश्यते तासु सततं साध्वसाधु च ॥ १९ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें स्त्रियों-की सदा ही रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियोंमें भली और बुरी दोनों बातें हमेशा देखी जाती हैं ॥ १९ ॥

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः सम्मता लोकमातरः।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ॥ २० ॥

राजन् ! यदि स्त्रियाँ साध्वी एवं पतिव्रता हों तो बड़ी सौभाग्यशालिनी होती हैं। संसारमें उनका आदर होता है और वे सम्पूर्ण जगत्‌की माता समझी जाती हैं। इतना ही नहीं, वे अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे वन और काननोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको धारण करती हैं ॥ २० ॥

असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्नाः पापनिश्चयाः।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥ २१ ॥

किंतु दुराचारिणी असती स्त्रियाँ कुलका नाश करनेवाली होती हैं, उनके मनमें सदा पाप ही बसता है। नरेश्वर ! फिर ऐसी स्त्रियोंको उनके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए बुरे लक्षणों-से पहचाना जा सकता है ॥ २१ ॥

एवमेतासु रक्षा वै शक्या कर्तुं महात्मभिः।
अन्यथा राजशार्दूल न शक्या रक्षितुं स्त्रियः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महामनस्वी पुरुषोंद्वारा ही ऐसी स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा की जा सकती है; अन्यथा स्त्रियोंकी रक्षा असम्भव है ॥ २२ ॥

एता हि मनुजव्याघ्र तीक्ष्णास्तीक्ष्णपराक्रमाः।
नासामस्ति प्रियो नाम मैथुने सङ्गमेति यः ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह ! ये स्त्रियाँ तीखे स्वभावकी तथा दुस्सह शक्ति-वाली होती हैं। कोई भी पुरुष इनका प्रिय नहीं है। मैथुन-कालमें जो इनका साथ देता है, वही उतने ही समयके लिये प्रिय होता है ॥ २३ ॥

एताः कृत्याश्च कार्याश्च कृताश्च भरतर्षभ।
न चैकस्मिन् रमन्त्येताः पुरुषे पाण्डुनन्दन ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन ! ये स्त्रियाँ कृत्याओंके समान मनुष्योंके प्राण लेनेवाली होती हैं। उन्हें जब पहले पुरुष स्वीकार कर लेता है, तब आगे चलकर वे दूसरेके स्वीकार करने योग्य भी बन जाती हैं अर्थात् व्यभिचारदोषके कारण एक पुरुषको छोड़कर दूसरेपर आसक्त हो जाती हैं। किसी एक ही पुरुषमें इनका सदा अनुराग नहीं बना रहता है ॥२४॥

नासां स्नेहो नरैः कार्यस्तथैवेर्ष्या जनेश्वर।
खेदमास्थाय भुञ्जीत धर्ममास्थाय चैव ह ॥ २५ ॥
(अनृताविह पर्वादिदोषवर्जं नराधिप।)

नरेश्वर ! मनुष्योंको स्त्रियोंके प्रति न तो विशेष आसक्त होना चाहिये और न उनसे ईर्ष्या ही करनी चाहिये। वैराग्य-पूर्वक धर्मका आश्रय लेकर पर्व आदि दोषका त्याग करते हुए ऋतुस्नानके पश्चात् उनका उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

निहन्यादन्यथाकुर्वन् नरः कौरवनन्दन।
सर्वथा राजशार्दूल मुक्तिः सर्वत्र पूज्यते ॥ २६ ॥

कौरवनन्दन ! इसके विपरीत बर्ताव करनेवाला मनुष्य विनाशको प्राप्त होता है। नृपश्रेष्ठ ! सर्वत्र सब प्रकारसे मोक्षका ही सम्मान किया जाता है ॥ २६ ॥

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम् ॥२७॥

नरेश्वर ! एकमात्र विपुलने ही स्त्रीकी रक्षा की थी। इस त्रिलोकीमें दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो युवती स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा कर सके ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कन्या-विवाहके सम्बन्धमें पात्रविषयक विभिन्न विचार

युधिष्ठिर उवाच

यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च।
पितृदेवातिथीनां च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो समस्त धर्मोंका, कुटुम्बीजनोंका, घरका तथा देवता, पितर और अतिथियोंका मूल है, उस कन्यादानके विषयमें मुझे कुछ उपदेश कीजिये।

अयं हि सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः।
कीदृशाय प्रदेया स्यात् कन्येति वसुधाधिप ॥ २ ॥

पृथ्वीनाथ ! सब धर्मोंसे बढ़कर यही चिन्तन करने योग्य धर्म माना गया है कि कैसे पात्रको कन्या देनी चाहिये ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! सत्पुरुषोंको चाहिये कि वे पहले वरके शील-स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्योंकी जाँच करें । फिर यदि वह सभी दृष्टियोंसे गुणवान् प्रतीत हो तो उसे कन्या प्रदान करें ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर ।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ॥ ४ ॥
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार व्याहने योग्य वरको बुलाकर उसके साथ कन्याका विवाह करना उत्तम ब्राह्मणोंका धर्म—ब्राह्म-विवाह है । जो धन आदिके द्वारा वरपक्षको अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है, वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियोंका सनातन धर्म कहा जाता है । (इसीको प्राजापत्य विवाह कहते हैं) ॥ ४½ ॥

आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ॥ ५ ॥
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! जब कन्याके माता-पिता अपने पसंद किये हुए वरको छोड़कर जिसे कन्या पसंद करती हो तथा जो कन्याको चाहता हो ऐसे वरके साथ उस कन्याका विवाह करते हैं, तब वेदवेत्ता पुरुष उस विवाहको गान्धर्व धर्म (गान्धर्व विवाह) कहते हैं ॥ ५-६ ॥

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! कन्याके बन्धु-बान्धवोंको लोभमें डालकर उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्याको खरीद लिया जाता है, इसे मनीषी पुरुष असुरोंका धर्म (आसुर विवाह) कहते हैं ॥७॥

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ८ ॥

तात ! इसी प्रकार कन्याके रोते हुए अभिभावकोंको मारकर, उनके मस्तक काटकर रोती हुई कन्याको उसके घरसे बलपूर्वक हर लाना राक्षसोंका काम (राक्षस विवाह) बताया जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यो कथंचन ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! इन पाँच (ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस) विवाहोंमेंसे पूर्वकथित तीन विवाह धर्मानुकूल हैं और शेष दो पापमय हैं । आसुर और राक्षस विवाह किसी प्रकार भी नहीं करने चाहिये* ॥ ९ ॥

ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ ।
पृथग् वा यदि वा मिश्राः कर्तव्या नात्र संशयः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्म, क्षात्र (प्राजापत्य) तथा गान्धर्व—ये तीन विवाह धर्मानुकूल बताये गये हैं । ये पृथक् हों या अन्य विवाहोंसे मिश्रित, करने ही योग्य हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणके लिये तीन भार्याएँ बतायी गयी हैं (ब्राह्मण-कन्या, क्षत्रियकन्या और वैश्य-कन्या) । क्षत्रियके लिये दो भार्याएँ कही गयी हैं (क्षत्रिय-कन्या और वैश्य-कन्या) । वैश्य केवल अपनी ही जातिकी कन्याके साथ विवाह करे । इन स्त्रियोंसे जो संतानें उत्पन्न होती हैं, वे पिताके समान वर्णवाली होती हैं (माताओंके कुल या वर्णके कारण उनमें कोई तारतम्य नहीं होता) ॥ ११ ॥

ब्राह्मणी तु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु ।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणकी पत्नियोंमें ब्राह्मण-कन्या श्रेष्ठ मानी जाती है, क्षत्रियके लिये क्षत्रिय-कन्या श्रेष्ठ है (वैश्यकी तो एक ही पत्नी होती है, अतः वह श्रेष्ठ है ही) । कुछ लोगोंका मत है कि रतिके लिये शूद्र-जातिकी कन्यासे भी विवाह किया जा सकता है परंतु और लोग ऐसा नहीं मानते (वे शूद्र-कन्याको त्रैवर्णिकोंके लिये अग्राह्य बतलाते हैं) ॥ १२ ॥

अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः ।
शूद्रायां जनयन् विप्रः प्रायश्चित्ती विधीयते ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ पुरुष ब्राह्मणका शूद्र-कन्याके गर्भसे संतान उत्पन्न करना अच्छा नहीं मानते । शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करनेवाला ब्राह्मण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १३ ॥

---

*स्मृतियोंमें निम्नलिखित आठ विवाह बतलाये गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच । किंतु यहाँ १ ब्राह्म, २ प्राजापत्य, ३ गान्धर्व, ४ आसुर और ५ राक्षस—इन्हीं पाँच विवाहोंका उल्लेख किया गया है; अतः यहाँ जो ब्राह्म विवाह है, उसीमें स्मृतिकथित दैव और आर्ष विवाहोंका भी अन्तर्भाव समझना चाहिये । इसी प्रकार यहाँ बताये हुए राक्षस विवाहमें उपर्युक्त पैशाच विवाहका समावेश कर लेना चाहिये । प्राजापत्यको ही 'क्षात्र' विवाह भी कहा गया है ।

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

तीस वर्षका पुरुष दस वर्षकी कन्याको, जो रजस्वला न हुई हो, पत्नीरूपमें प्राप्त करे। अथवा इक्कीस वर्षका पुरुष सात वर्षकी कुमारीके साथ विवाह करे ॥ १४ ॥

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता पिता वा भरतर्षभ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिकाधर्मिणी हि सा ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस कन्याके पिता अथवा भाई न हों, उसके साथ कभी विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह पुत्रिका-धर्मवाली मानी जाती है ॥ १५ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत् ॥ १६ ॥

(यदि पिता, भ्राता आदि अभिभावक ऋतुमती होनेके पहले कन्याका विवाह न कर दें तो) ऋतुमती होनेके पश्चात् तीन वर्षतक कन्या अपने विवाहकी बाट देखे। चौथा वर्ष लगनेपर वह स्वयं ही किसीको अपना पति बना ले ॥१६॥

प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद् वाच्या प्रजापतेः॥१७॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा करनेपर उस कन्याका उस पुरुषके साथ किया हुआ सम्बन्ध तथा उससे होनेवाली संतान निम्न श्रेणीकी नहीं समझी जाती। इसके विपरीत बर्ताव करनेवाली स्त्री प्रजापतिकी दृष्टिमें निन्दनीय होती है ॥ १७ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥

जो कन्या माताकी सपिण्ड और पिताके गोत्रकी न हो, उसीका अनुगमन करे। इसे मनुजीने धर्मानुकूल बताया है* ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शुल्कमन्येन दत्तं स्याद् ददानीत्याह चापरः।
बलादन्यः प्रभाषेत धनमन्यः प्रदर्शयेत् ॥ १९ ॥
पाणिग्रहीता चान्यः स्यात् कस्य भार्या पितामह।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि एक मनुष्यने विवाह पक्का करके कन्याका मूल्य दे दिया हो, दूसरेने मूल्य देनेका वादा करके विवाह पक्का किया हो, तीसरा उसी कन्याको बलपूर्वक ले जानेकी बात कर रहा हो, चौथा उसके भाई-बन्धुओंको विशेष धनका लोभ दिखाकर ब्याह करनेको तैयार हो और पाँचवाँ उसका पाणिग्रहण कर चुका हो तो धर्मतः उसकी कन्या किसकी पत्नी मानी जायगी ? हमलोग इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये नेत्र (पथ-प्रदर्शक) हों ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

यत् किंचित् कर्म मानुष्यं संस्थानाय प्रदृश्यते।
मन्त्रवन्मन्त्रितं तस्य मृषावादस्तु पातकः ॥ २१ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! मनुष्योंके हितसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कोई भी कर्म है, वह व्यवस्थाके लिये देखा जाता है। समस्त विचारवान् पुरुष एकत्र होकर जब यह विचार कर लें कि 'अमुक कन्या अमुक पुरुषको देनी चाहिये' तो यह व्यवस्था ही विवाहका निश्चय करनेवाली होती है। जो झूठ बोलकर इस व्यवस्थाको उलट देता है, वह पापका भागी होता है ॥ २१ ॥

भार्यापत्यृत्विगाचार्याः शिष्योपाध्याय एव च।
मृषोक्ते दण्डमर्हन्ति नेत्याहुरपरे जनाः ॥ २२ ॥

भार्या, पति, ऋत्विज, आचार्य, शिष्य और उपाध्याय भी यदि उपर्युक्त व्यवस्थाके विरुद्ध झूठ बोलें तो दण्डके भागी होते हैं। परंतु दूसरे लोग उन्हें दण्डके भागी नहीं मानते हैं ॥ २२ ॥

न ह्यकामेन संवासं मनुरेवं प्रशंसति।
अयशस्यमधर्म्यं च यन्मृषा धर्मकोपनम् ॥ २३ ॥

अकाम पुरुषके साथ सकामा कन्याका सहवास हो, इसे मनु अच्छा नहीं मानते हैं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चित किये हुए विवाहको मिथ्या करनेका प्रयत्न अयश और अधर्मका कारण होता है। वह धर्मको नष्ट करनेवाला माना गया है ॥ २३ ॥

नैकान्तो दोष एकस्मिंस्तदा केनोपपद्यते।
धर्मतो यां प्रयच्छन्ति यां च क्रीणन्ति भारत ॥ २४ ॥

भारत ! कन्याके भाई-बन्धु जिस कन्याको धर्मपूर्वक पाणिग्रहणकी विधिसे दान कर देते हैं अथवा जिसे मूल्य लेकर दे डालते हैं, उस कन्याको धर्मपूर्वक विवाह करनेवाला

* सापिण्ड्य-निवृत्तिके सम्बन्धमें स्मृतिका वचन है—वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद् यदि सप्तमः। पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्तते ॥ अर्थात् 'यदि वर अथवा कन्याका पिता मूल पुरुषसे सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ है तथा माता पाँचवी पीढ़ीमें पैदा हुई है तो वर और कन्याके लिये सापिण्ड्यकी निवृत्ति हो जाती है।' पिताकी ओरका सापिण्ड्य सात पीढ़ीतक चलता है और माताका सापिण्ड्य पाँच पीढ़ीतक। सात पीढ़ीमें एक तो पिण्ड देनेवाला होता है, तीन पिण्डभागी होते हैं और तीन लेप-भागी होते हैं।

अथवा मूल्य देकर खरीदनेवाला यदि अपने घर ले जाय तो इसमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता। भला उस दशामें दोषकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? ॥ २४ ॥

बन्धुभिः समनुज्ञाते मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत्।
तथा सिद्ध्यन्ति ते मन्त्रा नादत्तायाः कथंचन॥२५॥

कन्याके कुटुम्बीजनोंकी अनुमति मिलनेपर वैवाहिक मन्त्र और होमका प्रयोग करना चाहिये, तभी वे मन्त्र सिद्ध (सफल) होते हैं अर्थात् वह मन्त्रोंद्वारा विवाह किया हुआ माना जाता है। जिस कन्याका माता-पिताके द्वारा दान नहीं किया गया, उसके लिये किये गये मन्त्र-प्रयोग किसी तरह सिद्ध नहीं होते अर्थात् वह विवाह मन्त्रोंद्वारा किया हुआ नहीं माना जाता ॥ २५ ॥

यस्त्वत्र मन्त्रसमयो भार्यापत्योर्मिथः कृतः।
तमेवाहुर्गरीयांसं यश्चासौ ज्ञातिभिः कृतः ॥ २६ ॥

पति और पत्नीमें भी परस्पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है, वही श्रेष्ठ मानी जाती है और यदि उसके लिये बन्धु-बान्धवोंका समर्थन प्राप्त हो तब तो और उत्तम बात है ॥२६॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां वेत्ति धर्मस्य शासनात्।
स दैवीं मानुषीं वाचमनृतां पर्युदस्यति ॥ २७ ॥

धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायतः प्राप्त हुई पत्नीको पति अपने प्रारब्धकर्मके अनुसार मिली हुई भार्या समझता है। इस प्रकार वह दैवयोगसे प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण करता है। तथा मनुष्योंकी झूठी बातको—उस विवाहको अयोग्य बतानेवाली वार्ताको अग्राह्य कर देता है ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायां प्राप्तशुल्कायां ज्यायांश्चेदाव्रजेद् वरः।
धर्मकामार्थसम्पन्नो वाच्यमत्रानृतं न वा ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि एक वरसे कन्याका विवाह पक्का करके उसका मूल्य ले लिया गया हो और पीछे उससे भी श्रेष्ठ धर्म, अर्थ और कामसे सम्पन्न अत्यन्त योग्य वर मिल जाय तो पहले जिससे मूल्य लिया गया है, उससे झूठ बोलना—उसको कन्या देनेसे इनकार कर देना चाहिये या नहीं? ॥ २८ ॥

तस्मिन्नुभयतोदोषे कुर्वञ्छ्रेयः समाचरेत्।
अयं नः सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः ॥ २९ ॥

इसमें दोनों दशाओंमें दोष प्राप्त होता है—यदि बन्धु-जनोंकी सम्मतिसे मूल्य लेकर निश्चित किये हुए विवाहको उलट दिया जाय तो वचन-भङ्गका दोष लगता है और श्रेष्ठ वरका उल्लङ्घन करनेसे कन्याके हितको हानि पहुँचानेका दोष प्राप्त होता है। ऐसी दशामें कन्यादाता क्या करे? जिससे वह कल्याणका भागी हो? हम तो सम्पूर्ण धर्मोंमें इस कन्यादानरूप धर्मको ही अधिक चिन्तन अर्थात् विचारके योग्य मानते हैं ॥ २९ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तदेतत् सर्वमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ ३० ॥

हम इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे पथप्रदर्शक होइये। इन सब बातोंको स्पष्टरूपसे बताइये। मैं आपकी बातें सुननेसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ। अतः आप इस विषयका प्रतिपादन कीजिये ॥ ३० ॥

भीष्म उवाच

नैव निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वाऽऽसीत् तेन नाहृतम्।
न हि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित्॥ ३१ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! मूल्य दे देनेसे ही विवाहका अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता (उसमें परिवर्तनकी सम्भावना रहती ही है)। यह समझकर ही मूल्य देनेवाला मूल्य देता है और फिर उसे वापस नहीं माँगता। सज्जन पुरुष कभी-कभी मूल्य लेकर भी किसी विशेष कारणवश कन्यादान नहीं करते हैं ॥ ३१ ॥

अन्यैर्गुणैरुपेतं तु शुल्कं याचन्ति बान्धवाः।
अलंकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलतः ॥ ३२ ॥

कन्याके भाई-बन्धु किसीसे मूल्य तभी माँगते हैं, जब वह विपरीत गुण (अधिक अवस्था आदि) से युक्त होता है। यदि वरको बुलाकर कहा जाय कि 'तुम मेरी कन्याको आभूषण पहनाकर इसके साथ विवाह कर लो' और ऐसा कहनेपर वह उसके लिये आभूषण देकर विवाह करे तो यह धर्मानुकूल ही है ॥ ३२ ॥

यच्च तां च ददत्येवं न शुल्कं विक्रयो न सः।
प्रतिगृह्य भवेद् देयमेष धर्मः सनातनः ॥ ३३ ॥

क्योंकि इस प्रकार जो कन्याके लिये आभूषण लेकर कन्यादान किया जाता है, वह न तो मूल्य है और न विक्रय ही; इसलिये कन्याके लिये कोई वस्तु स्वीकार करके कन्याका दान करना सनातन धर्म है ॥ ३३ ॥

दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भाषितम्।
ये चाहुर्ये च नाहुर्ये ये चावश्यं वदन्त्युत ॥ ३४ ॥

जो लोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे कहते हैं कि 'मैं आपको अपनी कन्या दूँगा', जो कहते हैं 'नहीं दूँगा' और जो कहते हैं 'अवश्य दूँगा' उनकी ये सभी बातें कन्या देनेके पहले नहीं कही हुईके ही तुल्य हैं ॥ ३४ ॥

तस्मादा ग्रहणात् पाणेर्याचयन्ति परस्परम् ।
कन्यावरः पुरा दत्तो मरुद्भिरिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥

जबतक कन्याका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न न हो जाय तबतक कन्याको माँगना चाहिये। ऐसा कन्याओंके लिये मरुद्गणोंने पहले वर दिया है अर्थात् अधिकार दिया है—यह हमारे सुननेमें आया है। इसलिये पाणिग्रहण होनेके पहलेतक वर और कन्या आपसमें एक दूसरेके लिये प्रार्थना कर सकते हैं ॥ ३५ ॥

नानिष्टाय प्रदातव्या कन्या इत्यृषिचोदितम् ।
तन्मूलं काममूलस्य प्रजनस्येति मे मतिः ॥ ३६ ॥

महर्षियोंका मत है कि अयोग्य वरको कन्या नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सुयोग्य पुरुषको कन्यादान करना ही कामसम्बन्धी सुख और सुयोग्य संतानकी उत्पत्तिका कारण है। ऐसा मेरा विचार है ॥ ३६ ॥

समीक्ष्य च बहून् दोषान् संवासाद् विद्धि पाणयोः ।
यथा निष्ठाकरं शुल्कं न आत्वासीत् तथा शृणु ॥ ३७ ॥

कन्याके क्रय-विक्रयमें बहुत-से दोष हैं। इस बातको तुम अधिक कालतक सोचने-विचारनेके बाद स्वयं समझ लोगे। केवल मूल्य दे देनेसे विवाहका अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता है। पहले भी कभी ऐसा नहीं हुआ था, इस विषयमें तुम सुनो ॥ ३७ ॥

अहं विचित्रवीर्यस्य द्वे कन्ये समुदावहम् ।
जित्वा च मागधान् सर्वान् काशीनथ च कोसलान् ।३८।

मैं विचित्रवीर्यके विवाहके लिये मगध, काशी तथा कोशलदेशके समस्त वीरोंको पराजित करके काशिराजकी दो* कन्याओंको हर लाया था ॥ ३८ ॥

गृहीतपाणिरेकाऽऽसीत् प्राप्तशुल्का पराभवत् ।
कन्या गृहीता तत्रैव विसर्ज्या इति मे पिता ॥ ३९ ॥
अब्रवीदितरां कन्यामावहेति स कौरवः ।
अप्यन्याननुपप्रच्छ शङ्कमानः पितुर्वचः ॥ ४० ॥

उनमेंसे एक कन्या अम्बा अपना हाथ शाल्वराजके हाथमें दे चुकी थी अर्थात् मन-ही-मन उनको अपना पति मान चुकी थी। दूसरी (दो कन्याओं) का काशिराजको शुल्क प्राप्त हो गया था। इसलिये मेरे पिता (चाचा) कुरुवंशी बाह्लीकने वहीं कहा कि 'जो कन्या पाणिगृहीत हो चुकी है, उसका त्याग कर दो और दूसरी कन्याका (जिनके लिये शुल्कमात्र लिया गया है) विवाह करो।' मुझे चाचाजीके इस कथनमें संदेह था, इसलिये मैंने दूसरोंसे भी इसके विषयमें पूछा ॥ ३९-४० ॥

अतीव ह्यस्य धर्मेच्छा पितुर्मेऽभ्यधिकाभवत् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन्नाचारेप्सुरिदं वचः ।
आचारं तत्त्वतो वेत्तुमिच्छामि च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥

परंतु इस विषयमें मेरे चाचाजीकी बहुत प्रबल इच्छा थी कि धर्मका पालन हो (अतः वे पाणिगृहीता कन्याके त्यागपर अधिक जोर दे रहे थे)। राजन्! तदनन्तर मैं आचार जाननेकी इच्छासे बोला—'पिताजी! मैं इस विषयमें यह ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ कि परम्परागत आचार क्या है?' ॥ ४१ ॥

ततो मयैवमुक्ते तु वाक्ये धर्मभृतां वरः ।
पिता मम महाराज बाह्लीको वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

महाराज! मेरे ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मेरे चाचा बाह्लीक इस प्रकार बोले— ॥ ४२ ॥

यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा ।
लाभान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्क इति स्मृतिः ॥ ४३ ॥

'यदि तुम्हारे मतमें मूल्य देनेमात्रसे ही विवाहका पूर्ण निश्चय हो जाता है, पाणिग्रहणसे नहीं, तब तो स्मृतिका यह कथन ही व्यर्थ होगा कि कन्याका पिता एक वरसे शुल्क ले लेनेपर भी दूसरे किसी गुणवान् वरका आश्रय ले सकता है। अर्थात् पहलेको छोड़कर दूसरे गुणवान् वरसे अपनी कन्याका विवाह कर सकता है ॥ ४३ ॥

न हि धर्मविदः प्राहुः प्रमाणं वाक्यतः स्मृतम् ।
येषां वै शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा ॥ ४४ ॥

'जिनका यह मत है कि शुल्कसे ही विवाहका निश्चय होता है, पाणिग्रहणसे नहीं, उनके इस कथनको धर्मज्ञ पुरुष प्रमाण नहीं मानते हैं ॥ ४४ ॥

प्रसिद्धं भाषितं दाने नैषां प्रत्यायकं पुनः ।
ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नराः ॥ ४५ ॥

'कन्यादानके विषयमें तो लोगोंका कथन भी प्रसिद्ध है अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि कन्यादान हुआ है। अतः जो शुल्कसे ही विवाहका निश्चय मानते हैं, उनके कथनकी प्रतीति करानेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जो क्रय और शुल्कको मान्यता देते हैं, वे मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हैं ॥४५॥

न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा ।
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन ॥ ४६ ॥

---

* भीष्मजी काशिराजकी तीन कन्याओंको हरकर लाये थे, उनमेंसे दोको एक श्रेणीमें रखकर एकवचनका प्रयोग किया गया है, यह मानना चाहिये; तभी आदिपर्व अध्याय १०२ के वर्णनकी संगति ठीक लग सकती है।

'ऐसे लोगोंको कन्या नहीं देनी चाहिये और जो बेची जा रही हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि भार्या किसी प्रकार भी खरीदने या विक्रय करनेकी वस्तु नहीं है ॥ ४६ ॥

ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च ।
भवेत् तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम् ॥ ४७ ॥

'जो दासियोंको खरीदते और बेचते हैं, वे बड़े लोभी और पापात्मा हैं। ऐसे ही लोगोंमें पत्नीको भी खरीदने-बेचनेकी निष्ठा होती है ॥ ४७ ॥

अस्मिन्नर्थे सत्यवन्तं पर्यपृच्छन्त वै जनाः ।
कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः शुल्कदः प्रशमं गतः ॥ ४८ ॥
पाणिग्रहीता चान्यः स्यादत्र नो धर्मसंशयः ।
तन्नश्छिन्धि महाप्राज्ञ त्वं हि वै प्राज्ञसम्मतः ॥ ४९ ॥

'इस विषयमें पहलेके लोगोंने सत्यवान्‌से पूछा था कि 'महाप्राज्ञ ! यदि कन्याका शुल्क देनेके पश्चात् शुल्क देनेवालेकी मृत्यु हो जाय तो उसका पाणिग्रहण दूसरा कोई कर सकता है या नहीं ? इसमें हमें धर्मविषयक संदेह हो गया है । आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आप ज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्मानित हैं ॥ ४८-४९ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ।
तानेवं ब्रुवतः सर्वान् सत्यवान् वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥

'हमलोग इस विषयमें यथार्थ बात जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये पथप्रदर्शक होइये।' उन लोगोंके इस प्रकार कहनेपर सत्यवान्‌ने कहा– ॥ ५० ॥

यत्रेष्टं तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।
कुर्वते जीवतोऽप्येवं मृते नैवास्ति संशयः ॥ ५१ ॥

'जहाँ उत्तम पात्र मिलता हो, वहीं कन्या देनी चाहिये। इसके विपरीत कोई विचार मनमें नहीं लाना चाहिये। मूल्य देनेवाला यदि जीवित हो तो भी सुयोग्य वरके मिलनेपर सज्जन पुरुष उसीके साथ कन्याका विवाह करते हैं। फिर उसके मर जानेपर अन्यत्र करें—इसमें तो संदेह ही नहीं है ॥ ५१ ॥

देवरं प्रविशेत् कन्या तप्येद् वापि तपः पुनः ।
तमेवानुगता भूत्वा पाणिग्राहस्य काम्यया ॥ ५२ ॥

'शुल्क देनेवालेकी मृत्यु हो जानेपर उसके छोटे भाईको वह कन्या पतिरूपमें ग्रहण करे अथवा जन्मान्तरमें उसी पतिको पानेकी इच्छासे उसीका अनुसरण (चिन्तन) करती हुई आजीवन कुमारी रहकर तपस्या करे ॥ ५२ ॥

लिखन्त्येव तु केषांचिदपरेषां शनैरपि ।
इति ये संवदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५३ ॥
तत्पाणिग्रहणात् पूर्वमन्तरं यत्र वर्तते ।
सर्वमङ्गलमन्त्रं वै मृषावादस्तु पातकः ॥ ५४ ॥

'किन्हींके मतमें अक्षतयोनि कन्याको स्वीकार करनेका अधिकार है। दूसरोंके मतमें यह मन्दप्रवृत्ति–अवैध कार्य है। इस प्रकार जो विवाद करते हैं, वे अन्तमें इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि कन्याका पाणिग्रहण होनेसे पहलेका वैवाहिक मङ्गलाचार और मन्त्रप्रयोग हो जानेपर भी जहाँ अन्तर या व्यवधान पड़ जाय अर्थात् अयोग्य वरको छोड़कर किसी दूसरे योग्य वरके साथ कन्या ब्याह दी जाय तो दाताको केवल मिथ्याभाषणका पाप लगता है (पाणिग्रहणसे पूर्व कन्या विवाहित नहीं मानी जाती है ।) ॥ ५३-५४ ॥

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे ।
पाणिग्रहस्य भार्या स्याद् यस्य चाद्भिः प्रदीयते ।
इति देयं वदन्त्यत्र त एनं निश्चयं विदुः ॥ ५५ ॥

'सप्तपदीके सातवें पदमें पाणिग्रहणके मन्त्रोंकी सफलता होती है (और तभी पति-पत्नीभावका निश्चय होता है) । जिस पुरुषको जलसे संकल्प करके कन्याका दान दिया जाता है, वही उसका पाणिग्रहीता पति होता है और उसीकी वह पत्नी मानी जाती है। विद्वान् पुरुष इसी प्रकार कन्यादानकी विधि बताते हैं। वे इसी निश्चयपर पहुँचे हुए हैं ॥ ५५ ॥

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम् ।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ॥ ५६ ॥

'जो अनुकूल हो, अपने वंशके अनुरूप हो, अपने पिता-माता या भाईके द्वारा दी गयी हो और प्रज्वलित अग्निके समीप बैठी हो, ऐसी पत्नीको श्रेष्ठ द्विज अग्निकी परिक्रमा करके शास्त्रविधिके अनुसार ग्रहण करे' ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मकथने चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मका वर्णनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

कन्याके विवाहका तथा कन्या और दौहित्र आदिके उत्तराधिकारका विचार

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः पतिश्चेन्नास्ति कश्चन ।
तत्र का प्रतिपत्तिः स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जिस कन्याका मूल्य

ले लिया गया हो, उसका ब्याह करनेके लिये यदि कोई उपस्थित न हो, अर्थात् मूल्य देनेवाला परदेश चला गया हो और उसके भयसे दूसरा पुरुष भी उस कन्यासे विवाह करनेको तैयार न हो तो उसके पिताको क्या करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

यापुत्रकस्य ऋद्धस्य प्रतिपाल्या तदा भवेत् ।
अथ चेन्नाहरेच्छुल्कं क्रीता शुल्कप्रदस्य सा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! यदि संतानहीन धनीसे कन्याका मूल्य लिया गया है तो पिताका कर्तव्य है कि वह उसके लौटनेतक कन्याकी हर तरहसे रक्षा करे । खरीदी हुई कन्याका मूल्य जबतक लौटा नहीं दिया जाता, तबतक वह कन्या मूल्य देनेवालेकी ही मानी जाती है ॥ २ ॥

तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात् ।
न तस्मान्मन्त्रवत्कार्यं कश्चित् कुर्वीत किंचन ॥ ३ ॥

जिस न्यायोचित उपायसे सम्भव हो, उसीके द्वारा वह कन्या अपने मूल्यदाता पतिके लिये ही संतान उत्पन्न करनेकी इच्छा करे । अतः दूसरा कोई पुरुष वैदिक मन्त्रयुक्त विधिसे उसका पाणिग्रहण या और कोई कार्य नहीं कर सकता ॥

स्वयंवृतेन साऽऽज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत ।
तत् तस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥ ४ ॥

सावित्रीने पिताकी आज्ञा लेकर स्वयं चुने हुए पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया था । उसके इस कार्यकी दूसरे धर्मज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं; परंतु कुछ लोग नहीं भी करते हैं ॥ ४ ॥

एतत् तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधवः ।
साधूनां पुनराचारो गरीयान् धर्मलक्षणः ॥ ५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि दूसरे सत्पुरुषोंने ऐसा नहीं किया है और कुछ कहते हैं कि अन्य सत्पुरुषोंने भी कभी-कभी ऐसा किया है । अतः श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार ही धर्मका सर्वश्रेष्ठ लक्षण है ॥ ५ ॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे सुक्रतुर्वाक्यमब्रवीत् ।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

इसी प्रसंगमें विदेहराज महात्मा जनकके नाती सुक्रतुने ऐसा कहा है ॥ ६ ॥

असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ।
अत्र प्रश्नः संशयो वा सतामेवमुपालभेत् ॥ ७ ॥

दुराचारियोंके मार्गका शास्त्रोंद्वारा कैसे अनुमोदन किया जा सकता है ? इस विषयमें सत्पुरुषोंके समक्ष प्रश्न, संशय अथवा उपालम्भ कैसे उपस्थित किया जा सकता है ? ॥७॥

असदेव हि धर्मस्य प्रदानं धर्म आसुरः ।
नानुशुश्रुम जात्वेतामिमां पूर्वेषु कर्मसु ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ सदा पिता, पति या पुत्रोंके संरक्षणमें ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं होतीं । यह पुरातन धर्म है । इस धर्मका खण्डन करना असत् कर्म या आसुर धर्म है । पूर्वकालके बड़े-बूढ़ोंमें विवाहके अवसरोंपर कभी इस आसुरी पद्धतिका अपनाया जाना हमने नहीं सुना है ॥ ८ ॥

भार्यापत्योर्हि सम्बन्धः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एव तु ।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः ॥ ९ ॥

पति और पत्नीका अथवा स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ एवं सूक्ष्म है । रति उनका साधारण धर्म है । यह बात भी राजा सुक्रतुने कही थी ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ केन प्रमाणेन पुंसामादीयते धनम् ।
पुत्रवद्धि पितुस्तस्य कन्या भवितुमर्हति ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पिताके लिये पुत्री भी तो पुत्रके ही समान होती है; फिर उसके रहते हुए किस प्रमाणसे केवल पुरुष ही धनके अधिकारी होते हैं ? ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! पुत्र अपने आत्माके समान है और कन्या भी पुत्रके ही तुल्य है, अतः आत्मस्वरूप पुत्रके रहते हुए दूसरा कोई उसका धन कैसे ले सकता है ? ॥११॥

मातुश्च यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव तद् रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥ १२ ॥

माताको दहेजमें जो धन मिलता है, उसपर कन्याका ही अधिकार है; अतः जिसके कोई पुत्र नहीं है, उसके धनको पानेका अधिकारी उसका दौहित्र (नाती) ही है । वही उस धनको ले सकता है ॥ १२ ॥

ददाति हि स पिण्डान् वै पितुर्मातामहस्य च ।
पुत्रदौहित्रयोरेव विशेषो नास्ति धर्मतः ॥ १३ ॥

दौहित्र अपने पिता और नानाको भी पिण्ड देता है । धर्मकी दृष्टिसे पुत्र और दौहित्रमें कोई अन्तर नहीं है ॥१३॥

अन्यत्र जामया सार्धं प्रजानां पुत्र ईहते ।
दुहितान्यत्र जातेन पुत्रेणापि विशिष्यते ॥ १४ ॥

अन्यत्र अर्थात् यदि पहले कन्या उत्पन्न हुई और वह पुत्ररूपमें स्वीकार कर ली गयी तथा उसके बाद पुत्र भी पैदा हुआ तो वह पुत्र उस कन्याके साथ ही पिताके धनका अधिकारी होता है । यदि दूसरेका पुत्र गोद लिया गया हो तो उस दत्तक पुत्रकी अपेक्षा अपनी सगी बेटी ही श्रेष्ठ मानी

जाती है (अतः वह पैतृक धनके अधिक भागकी अधिकारिणी है) ॥ १४ ॥

दौहित्रकेण धर्मेण नात्र पश्यामि कारणम् ।
विक्रीतासु हि ये पुत्रा भवन्ति पितुरेव ते ॥ १५ ॥

जो कन्याएँ मूल्य लेकर बेच दी गयी हों, उनसे उत्पन्न होनेवाले पुत्र केवल अपने पिताके ही उत्तराधिकारी होते हैं। उन्हें दौहित्रक धर्मके अनुसार नानाके धनका अधिकारी बनानेके लिये कोई युक्तिसंगत कारण मैं नहीं देखता ॥१५॥

असूयवस्त्वधर्मिष्ठाः परस्वादायिनः शठाः ।
आसुरादधिसम्भूता धर्माद् विषमवृत्तयः ॥ १६ ॥

आसुर विवाहसे जिन पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है, वे दूसरोंके दोष देखनेवाले, पापाचारी, पराया धन हड़पनेवाले, शठ तथा धर्मके विपरीत बर्ताव करनेवाले होते हैं ॥ १६ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥ १७ ॥

इस विषयमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले तथा धर्मशास्त्रों और धर्ममर्यादाओंमें स्थित रहनेवाले धर्मज्ञ पुरुष यमकी गायी हुई गाथाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—॥ १७ ॥

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति ।
कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥ १८ ॥
सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये ।
स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूढः समश्नुते ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य अपने पुत्रको बेचकर धन पाना चाहता है अथवा जीविकाके लिये मूल्य लेकर कन्याको बेच देता है, वह मूढ़ कुम्भीपाक आदि सात नरकोंसे भी निकृष्ट कालसूत्र नामक नरकमें पड़कर अपने ही मल-मूत्र और पसीनेका भक्षण करता है' ॥ १८-१९ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पो वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः ॥ २० ॥

राजन् ! कुछ लोग आर्ष विवाहमें एक गाय और एक बैल—इन दो पशुओंको मूल्यके रूपमें लेनेका विधान बताते हैं, परंतु यह भी मिथ्या ही है; क्योंकि मूल्य थोड़ा लिया जाय या बहुत, उतनेहीसे वह कन्याका विक्रय हो जाता है ॥

यद्यप्याचरितः कैश्चिन्नैष धर्मः सनातनः ।
अन्येषामपि दृश्यन्ते लोकतः सम्प्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

यद्यपि कुछ पुरुषोंने ऐसा आचरण किया है; परंतु यह सनातन धर्म नहीं है। दूसरे लोगोंमें भी लोकाचारवश बहुत-सी प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं ॥ २१ ॥

वश्यां कुमारीं बलतो ये तां समुपभुञ्जते ।
एते पापस्य कर्तारस्तमस्यन्धे च शेरते ॥ २२ ॥

जो किसी कुमारी कन्याको बलपूर्वक अपने वशमें करके उसका उपभोग करते हैं, वे पापाचारी मनुष्य अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हैं ॥ २२ ॥

अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः ।
अधर्ममूलैर्हि धनैस्तैर्न धर्मोऽथ कश्चन ॥ २३ ॥

किसी दूसरे मनुष्यको भी नहीं बेचना चाहिये; फिर अपनी संतानको बेचनेकी तो बात ही क्या ? अधर्ममूलक धनसे किया हुआ कोई भी धर्म सफल नहीं होता ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे यमगाथा नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मसम्बन्धी यमगाथानामक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंसे सत्कार करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः ॥ १ ॥
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत् ।
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात् कन्यायै तदशेषतः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्राचीन इतिहासके जाननेवाले विद्वान् दक्षप्रजापतिके वचनोंको इस प्रकार उद्धृत करते हैं। कन्याके भाई-बन्धु यदि उसके वस्त्र-आभूषणके लिये धन ग्रहण करते हैं और स्वयं उसमेंसे कुछ भी नहीं लेते हैं तो वह कन्याका विक्रय नहीं है। वह तो उन कन्याओंका सत्कारमात्र है। वह परम दयालुतापूर्ण कार्य है। वह सारा धन जो कन्याके लिये ही प्राप्त हुआ हो, सब-का-सब कन्याको ही अर्पित कर देना चाहिये ॥ १-२ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३ ॥

बहुविध कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पिता, भाई, श्वशुर और देवरोंको उचित है कि वे नववधूका पूजन—वस्त्राभूषणोंद्वारा सत्कार करें ॥ ३ ॥

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥ ४ ॥
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप ।

नरेश्वर ! यदि स्त्रीकी रुचि पूर्ण न की जाय तो वह अपने

पतिको प्रसन्न नहीं कर सकती और उस अवस्थामें उस पुरुष-की संतानवृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये सदा ही स्त्रियोंका सत्कार और दुलार करना चाहिये ॥ ४½ ॥

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥ ५ ॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।

जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवतालोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ ५½ ॥

तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥ ६ ॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया ।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव ॥ ७ ॥

जब कुलकी बहू-बेटियाँ दुःख मिलनेके कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुलका नाश हो जाता है। वे खिन्न होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। पृथ्वीनाथ ! वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है ॥ ६-७ ॥

स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम् ।
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ॥ ८ ॥
ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः ।
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः ॥ ९ ॥
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः ।
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः ॥ १० ॥

महाराज मनु जब स्वर्गको जाने लगे, तब उन्होंने स्त्रियोंको पुरुषोंके हाथमें सौंप दिया और कहा—'मनुष्यो ! स्त्रियाँ अबला, थोड़ेसे वस्त्रोंसे काम चलानेवाली, अकारण हितसाधन करने-वाली, सत्यलोकको जीतनेकी इच्छावाली (सत्यपरायणा), ईर्ष्यालु, मान चाहनेवाली, अत्यन्त कोप करनेवाली, पुरुषके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाली और भोलीभाली होती हैं। स्त्रियाँ सम्मान पानेके योग्य हैं, अतः तुम सब लोग उनका सम्मान करो; क्योंकि स्त्री-जाति ही धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। तुम्हारे रतिभोग, परिचर्या और नमस्कार स्त्रियोंके ही अधीन होंगे ॥ ८-१० ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ॥ ११ ॥
सम्मान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ ।

'संतानकी उत्पत्ति, उत्पन्न हुए बालकका लालन-पालन तथा लोकयात्राका प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह—इन सबको स्त्रियोंके ही अधीन समझो। यदि तुमलोग स्त्रियोंका सम्मान करोगे तो तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे' ॥ ११½ ॥

विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥ १२ ॥
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥ १३ ॥

(स्त्रियोंके कर्तव्यके विषयमें) विदेहराज जनककी पुत्रीने एक श्लोकका गान किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—स्त्रीके लिये कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है। उसका धर्म है अपने पतिकी सेवा। उसीसे स्त्रियाँ स्वर्गलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ १२-१३ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

कुमारावस्थामें स्त्रीकी रक्षा उसका पिता करता है, जवानी-में पति उसका रक्षक है और वृद्धावस्थामें पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! स्त्रियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहने-वाले पुरुषको उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करनेसे स्त्री श्री (लक्ष्मी) का स्वरूप बन जाती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे स्त्रीप्रशंसा नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसंगमें स्त्रीकी प्रशंसानामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्राह्मण आदि वर्णोंकी दायभाग-विधिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सर्वशास्त्रविधानज्ञ राजधर्मविदुत्तम ।
अतीव संशयच्छेत्ता भवान् वै प्रथितः क्षितौ ॥ १ ॥
कश्चित्तु संशयो मेऽस्ति तन्मे ब्रूहि पितामह ।
जातेऽस्मिन् संशये राजन् नान्यं पृच्छेम कंचन ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विधानके ज्ञाता तथा राजधर्मके विद्वानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! आप इस भूमण्डल-में सम्पूर्ण संशयोंका सर्वथा निवारण करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। मेरे हृदयमें एक संशय और है, उसका मेरे लिये समाधान कीजिये। राजन् ! इस उत्पन्न हुए संशयके विषयमें मैं दूसरे किसीसे नहीं पूछूँगा ॥ १-२ ॥

यथा नरेण कर्तव्यं धर्ममार्गानुवर्तिना ।

[सर्वं महाबाहो भवान् व्याख्यातुमर्हति ॥ ३ ॥

महाबाहो ! धर्ममार्गका अनुसरण करनेवाले मनुष्यका बेषयमें जैसा कर्तव्य हो, इस सबकी आप स्पष्टरूपसे या करें ॥ ३ ॥

त्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह ।
णी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छतः ॥ ४ ॥

पितामह ! ब्राह्मणके लिये चार स्त्रियाँ शास्त्रविहित हैं—ी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा । इनमेंसे शूद्रा केवल ी इच्छावाले कामी पुरुषके लिये विहित है ॥ ४ ॥

जातेषु पुत्रेषु सर्वासां कुरुसत्तम ।
पूर्व्येण कस्तेषां पित्र्यं दायादमर्हति ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इन सबके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हुए नमेंसे कौन क्रमशः पैतृक धनको पानेका अधिकारी है ? ॥

या किं ततो हार्यं पितृवित्तात् पितामह ।
इच्छामि कथितं विभागस्तेषु यः स्मृतः ॥ ६ ॥

पितामह ! किस पुत्रको पिताके धनमेंसे कौन सा भाग ा चाहिये ? उनके लिये जो विभाग नियत किया गया सका वर्णन मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

णः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
[विहितो धर्मो ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और —ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं; अतः इन तीन ी ब्राह्मणका विवाह धर्मतः विहित है ॥ ७ ॥

ादथवा लोभात् कामाद् वापि परंतप ।
णस्य भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ८ ॥

रंतप नरेश ! अन्यायसे, लोभसे अथवा कामनासे ातिकी कन्या भी ब्राह्मणकी भार्या होती है; परंतु में इसका कहीं विधान नहीं मिलता ॥ ८ ॥

शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
श्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥
जातेष्वपत्येषु द्विगुणं स्याद् युधिष्ठिर ।

ूद्रजातिकी स्त्रीको अपनी शय्यापर सुलाकर ब्राह्मण ातिको प्राप्त होता है । साथ ही शास्त्रीय विधिके अनुसार ायश्चित्तका भागी होता है । युधिष्ठिर ! शूद्राके गर्भसे उत्पन्न करनेपर ब्राह्मणको दूना पाप लगता है और ुने प्रायश्चित्तका भागी होना पड़ता है ॥ ९½ ॥

प्रमानमृक्थं तु सम्प्रवक्ष्यामि भारत ॥ १० ॥
यं गोवृषो यानं यत् प्रधानतमं भवेत् ।
ायास्तद्धरेत् पुत्र एकांशं वै पितुर्धनात् ॥ ११ ॥
तु दशधा कार्यं ब्राह्मणस्वं युधिष्ठिर ।
तेनैव हर्तव्याश्चत्वारोऽशाः पितुर्धनात् ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं ब्राह्मण आदि वर्णोंकी कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रोंको पैतृक धनका जो भाग प्राप्त होता है, उसका वर्णन करूँगा । ब्राह्मणकी ब्राह्मणी पत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न गृह आदि, बैल, सवारी तथा अन्य जो-जो श्रेष्ठतम पदार्थ हों, उन सबको अर्थात् पैतृक धनके प्रधान अंशको पहले ही अपने अधिकारमें कर ले । युधिष्ठिर ! फिर ब्राह्मणका जो शेष धन हो, उसके दस भाग करने चाहिये । पिताके उस धनमें-से पुनः चार भाग ब्राह्मणीके पुत्रको ही ले लेने चाहिये ॥

क्षत्रियायास्तु यः पुत्रो ब्राह्मणः सोऽप्यसंशयः ।
स तु मातुर्विशेषेण त्रीनंशान् हर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

क्षत्रियाका जो पुत्र है, वह भी ब्राह्मण ही होता है—इसमें संशय नहीं है । वह माताकी विशिष्टताके कारण पैतृक धनका तीन भाग ले लेनेका अधिकारी है ॥ १३ ॥

वर्णे तृतीये जातस्तु वैश्यायां ब्राह्मणादपि ।
द्विरंशस्तेन हर्तव्यो ब्राह्मणस्वाद् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! तीसरे वर्णकी कन्या वैश्यामें जो ब्राह्मणसे पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मणके धनमेंसे दो भाग लेने चाहिये ॥ १४ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो नित्यादेयधनः स्मृतः ।
अल्पं चापि प्रदातव्यं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ब्राह्मणसे शूद्रामें जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे तो धन न देनेका ही विधान है तो भी शूद्राके पुत्रको पैतृक धनका स्वल्पतम भाग—एक अंश दे देना चाहिये ॥ १५ ॥

दशधा प्रविभक्तस्य धनस्यैष भवेत् क्रमः ।
सवर्णासु तु जातानां समान् भागान् प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥

दस भागोंमें विभक्त हुए बँटवारेका यही क्रम होता है । परंतु जो समान वर्णकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं, उन सबके लिये बराबर भागोंकी कल्पना करनी चाहिये ॥

अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात् ।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणसे शूद्राके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मण नहीं मानते हैं; क्योंकि उसमें ब्राह्मणोचित निपुणता नहीं पायी जाती । शेष तीन वर्णकी स्त्रियोंसे ब्राह्मणद्वारा जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मण होता है ॥ १७ ॥

स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते ।
हरेच्च दशमं भागं शूद्रापुत्रः पितुर्धनात् ॥ १८ ॥

चार ही वर्ण बताये हैं, पाँचवाँ वर्ण नहीं मिलता । शूद्राका पुत्र ब्राह्मण पिताके धनसे उसका दसवाँ भाग ले सकता है ॥ १८ ॥

तत्तु दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।
अवश्यं हि धनं देयं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १९ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये, बिना दिये उसे लेनेका कोई अधिकार नहीं है। भरतनन्दन! किंतु शूद्राके पुत्रको भी धनका भाग अवश्य दे देना चाहिये॥

आनृशंस्यं परो धर्म इति तस्मै प्रदीयते।
यत्र तत्र समुत्पन्नं गुणायैवोपपद्यते॥ २०॥

दया सबसे बड़ा धर्म है। यह समझकर ही उसे धनका भाग दिया जाता है। दया जहाँ भी उत्पन्न हो, वह गुणकारक ही होती है॥ २०॥

यद्यप्येष सपुत्रः स्यादपुत्रो यदि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद् दद्याच्छूद्रापुत्राय भारत॥ २१॥

भारत! ब्राह्मणके अन्य वर्णकी स्त्रियोंसे पुत्र हों या न हों, वह शूद्राके पुत्रको दसवें भागसे अधिक धन न दे॥

त्रैवार्षिकाद् यदा भक्तादधिकं स्याद् द्विजस्य तु।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद् धनम्॥ २२॥

जब ब्राह्मणके पास तीन वर्षतक निर्वाह होनेसे अधिक धन एकत्र हो जाय, तब वह उस धनसे यज्ञ करे। धनका व्यर्थ संग्रह न करे॥ २२॥

त्रिसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य वै।
भर्त्रा तच्च धनं दत्तं यथार्हं भोक्तुमर्हति॥ २३॥

स्त्रीको तीन हजारसे अधिक लागतका धन नहीं देना चाहिये। पतिके देनेपर ही उस धनको वह यथोचित रूपसे उपभोगमें ला सकती है॥ २३॥

स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम्।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात् कथंचन॥ २४॥

स्त्रियोंको पतिके धनसे जो हिस्सा मिलता है, उसका उपभोग ही (उसके लिये) फल माना गया है। पतिके दिये हुए स्त्रीधनसे पुत्र आदिको कुछ नहीं लेना चाहिये॥२४॥

स्त्रियास्तु यद् भवेद् वित्तं पित्रा दत्तं युधिष्ठिर।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत् कन्या यथा पुत्रस्तथा हि सा॥ २५॥

युधिष्ठिर! ब्राह्मणीको पिताकी ओरसे जो धन मिला हो, उस धनको उसकी पुत्री ले सकती है; क्योंकि जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है॥ २५॥

सा हि पुत्रसमा राजन् विहिता कुरुनन्दन।
एवमेव समुद्दिष्टो धर्मो वै भरतर्षभ।
एवं धर्ममनुस्मृत्य न वृथा साधयेद् धनम्॥ २६॥

कुरुनन्दन! भरतकुलभूषण नरेश! पुत्री पुत्रके समान ही है—ऐसा शास्त्रका विधान है। इस प्रकार यही धनके विभाजनकी धर्मयुक्त प्रणाली बतायी गयी है। इस तरह धर्मका चिन्तन एवं अनुसरण करते हुए ही धनका उपार्जन एवं संग्रह करे। परंतु उसे व्यर्थ न होने दे—यज्ञ-यागादिके द्वारा सफल कर ले॥ २६॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यद्यदेयधनः स्मृतः।
केन प्रतिविशेषेण दशमोऽप्यस्य दीयते॥ २

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! यदि ब्राह्मणसे उत्पन्न हुए पुत्रको धन न देने योग्य बताया गया किस विशेषताके कारण उसको पैतृक धनका दसवाँ भ दिया जाता है?॥ २७॥

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।
क्षत्रियायां तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि॥

ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उपन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण हो— कोई संशय ही नहीं है; वैसे ही क्षत्रिया और वैश्याके उत्पन्न हुए पुत्र भी ब्राह्मण ही होते हैं॥ २८॥

कस्मात् तु विषमं भागं भजेरन् नृपसत्तम।
यदा सर्वे त्रयो वर्णास्त्वयोक्ता ब्राह्मणा इति॥

नृपश्रेष्ठ! जब आपने ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंको ब्राह्मण ही बताया है, पैतृक धनका समान भाग क्यों नहीं पाते हैं? क्यों वे भाग ग्रहण करें?॥ २९॥

भीष्म उवाच

दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परंतप।
प्रोक्तेन चैव नाम्नायं विशेषः सुमहान् भवेत्॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले न लोकमें सब स्त्रियोंका 'दारा' इस एक नामसे ही परिचय जाता है। इस तथाकथित नामसे ही चारों वर्णोंकी उत्पन्न हुए पुत्रोंमें महान् अन्तर हो जाता है*॥ ३

तिस्रः कृत्वा पुरो भार्याः पश्चाद् विन्देत ब्राह्मणीम्
सा ज्येष्ठा सा च पूज्या स्यात् सा च भार्या गरीय

ब्राह्मण पहले अन्य तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको ब्याह पश्चात् भी यदि ब्राह्मणकन्यासे विवाह करे तो वही स्त्रियोंकी अपेक्षा ज्येष्ठ, अधिक आदर-सत्कारके योग्य विशेष गौरवकी अधिकारिणी होगी॥ ३१॥

स्नानं प्रसाधनं भर्तुर्दन्तधावनमञ्जनम्।
हव्यं कव्यं च यच्चान्यद् धर्मयुक्तं गृहे भवेत्॥ ३

* 'दार' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'आ त्रिवर्गार्थिभिः इति दारा' धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा रख पुरुषोंद्वारा जिनका आदर किया जाता है, वे दारा हैं। ज भोगविषयक आदर है, वह तो सभी स्त्रियोंके साथ समान परंतु व्यावहारिक जगत्‌में जो पतिके द्वारा आदर प्राप्त होता वह वर्णक्रमसे यथायोग्य न्यूनाधिक मात्रामें ही उपलब्ध होता यही बात उनके पुत्रोंके सम्बन्धमें भी लागू होती है। इसीलिये पुत्रोंको पैतृक धनके विषयमें कम और अधिक भाग ग्रहण अधिकार है।

स्यां जातु तिष्ठन्त्यामन्या तत् कर्तुमर्हति ।
णी त्वेव कुर्याद् वा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! पतिको स्नान कराना, उनके लिये शृङ्गार-
ी प्रस्तुत करना, दाँतकी सफाईके लिये दातौन और
देना, पतिके नेत्रोंमें आँजन या सुरमा लगाना, प्रति-
हवन और पूजनके समय हव्य और कव्यकी सामग्री
ा तथा घरमें और भी जो धार्मिक कृत्य हो, उसके
दनमें योग देना—ये सब कार्य ब्राह्मणके लिये ब्राह्मणीको
रने चाहिये । उसके रहते हुए दूसरे किसी वर्णवाली
यह सब करनेका अधिकार नहीं है ॥ ३२-३३ ॥

पानं च माल्यं च वासांस्याभरणानि च ।
ण्यैतानि देयानि भर्तुः सा हि गरीयसी ॥ ३४ ॥

पतिको अन्न, पान, माला, वस्त्र और आभूषण—ये
स्तुएँ ब्राह्मणी ही समर्पित करे; क्योंकि वही उसके लिये
त्रयोंसे अधिक गौरवकी अधिकारिणी है ॥ ३४ ॥

ाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ।
ऽयेष महाराज दृष्टो धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! मनुने भी जिस धर्मशास्त्रका
दन किया है, उसमें भी यही सनातन धर्म देखा
है ॥ ३५ ॥

चेदन्यथा कुर्याद् यदि कामाद् युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ३६ ॥

ुधिष्ठिर ! यदि ब्राह्मण कामके वशीभूत होकर इस
य पद्धतिके विपरीत बर्ताव करता है, वह ब्राह्मण-
ल समझा जाता है जैसा कि पहले कहा गया है ॥३६॥

ण्याः सदृशः पुत्रः क्षत्रियायाश्च यो भवेत् ।
विशेषो यस्त्वत्र वर्णयोरुभयोरपि ॥ ३७ ॥

ाजन् ! ब्राह्मणके समान ही जो क्षत्रियाका पुत्र होगा,
भी उभयवर्णसम्बन्धी अन्तर तो रहेगा ही ॥ ३७ ॥

ात्या समा लोके ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ।
याः प्रथमः पुत्रो भूयान् स्याद् राजसत्तम ॥ ३८ ॥
भूयोऽपि संहार्यः पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ।

ात्रियकन्या संसारमें अपनी जातिद्वारा ब्राह्मणकन्याके
नहीं हो सकती । नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार ब्राह्मणीका
त्रियाके पुत्रसे प्रथम एवं ज्येष्ठ होगा । युधिष्ठिर !
पिताके धनमेंसे ब्राह्मणीके पुत्रको अधिक-अधिक भाग
ाहिये ॥ ३८½ ॥

सदृशी जातु ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ॥ ३९ ॥
ायास्तथा वैश्या न जातु सदृशी भवेत् ।

से क्षत्रिया कभी ब्राह्मणीके समान नहीं हो सकती,
वैश्या भी कभी क्षत्रियाके तुल्य नहीं हो सकती ॥

श्रीश्च राज्यं च कोशश्च क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ॥ ४० ॥
विहितं दृश्यते राजन् सागरान्तां च मेदिनीम् ।
क्षत्रियो हि स्वधर्मेण श्रियं प्राप्नोति भूयसीम् ।
राजा दण्डधरो राजन् रक्षा नान्यत्र क्षत्रियात् ॥ ४१ ॥

राजा युधिष्ठिर ! लक्ष्मी, राज्य और कोष—यह सब शास्त्र-
में क्षत्रियोंके लिये ही विहित देखा जाता है । राजन् ! क्षत्रिय
अपने धर्मके अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तथा बहुत बड़ी
सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है । नरेश्वर ! राजा (क्षत्रिय) दण्ड
धारण करनेवाला होता है । क्षत्रियके सिवा और किसीसे
रक्षाका कार्य नहीं हो सकता ॥ ४०-४१ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागा देवानामपि देवताः ।
तेषु राजन् प्रवर्तेत पूजया विधिपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! महाभाग ! ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं; अतः
उनका विधिपूर्वक पूजन—आदर-सत्कार करते हुए ही उनके
साथ बर्ताव करे ॥ ४२ ॥

प्रणीतमृषिभिर्ज्ञात्वा धर्मं शाश्वतमव्ययम् ।
लुप्यमानं स्वधर्मेण क्षत्रियो ह्येष रक्षति ॥ ४३ ॥

ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित अविनाशी सनातन धर्मको लुप्त
होता जानकर क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार उसकी रक्षा
करता है ॥ ४३ ॥

दस्युभिर्ह्रियमाणं च धनं दारांश्च सर्वशः ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

डाकुओंद्वारा लूटे जाते हुए सभी वर्णोंके धन और
स्त्रियोंका राजा ही रक्षक होता है ॥ ४४ ॥

भूयान् स्यात् क्षत्रियापुत्रो वैश्यापुत्रान्न संशयः ।
भूयस्तेनापि हर्तव्यं पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ॥ ४५ ॥

इन सब दृष्टियोंसे क्षत्रियाका पुत्र वैश्याके पुत्रसे श्रेष्ठ
होता है—इसमें संशय नहीं है । युधिष्ठिर ! इसलिये शेष
पैतृक धनमेंसे उसको भी विशेष भाग लेना ही चाहिये ॥४५॥

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं ते विधिवद् राजन् ब्राह्मणस्य पितामह ।
इतरेषां तु वर्णानां कथं वै नियमो भवेत् ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने ब्राह्मणके धनका
विभाजन विधिपूर्वक बता दिया । अब यह बताइये कि अन्य
वर्णोंके धनके बँटवारेका कैसा नियम होना चाहिये ? ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

क्षत्रियस्यापि भार्ये द्वे विहिते कुरुनन्दन ।
तृतीया च भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ४७ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! क्षत्रियके लिये भी
दो वर्णोंकी भार्याएँ शास्त्रविहित हैं । तीसरी शूद्रा भी उसकी
भार्या हो सकती है । परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता ॥

एष एव क्रमो हि स्यात् क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।

अष्टधा तु भवेत् कार्यं क्षत्रियस्वं जनाधिप ॥ ४८ ॥

राजा युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंके लिये भी बँटवारेका यही क्रम है। क्षत्रियके धनको आठ भागोंमें विभक्त करना चाहिये ॥४८॥

क्षत्रियाया हरेत् पुत्रश्चतुरोंऽशान् पितुर्धनात्।
युद्धावहारिकं यच्च पितुः स्यात् स हरेत् तु तत् ॥ ४९ ॥

क्षत्रियाका पुत्र उस पैतृक धनमेंसे चार भाग स्वयं ग्रहण कर ले तथा पिताकी जो युद्धसामग्री है, उसको भी वही ले ले ॥ ४९ ॥

वैश्यापुत्रस्तु भागांस्त्रीञ्शूद्रापुत्रस्तथाष्टमम्।
सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ॥ ५० ॥

शेष धनमेंसे तीन भाग वैश्याका पुत्र ले ले और अवशिष्ट आठवाँ भाग शूद्राका पुत्र प्राप्त करे। वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये। बिना दिया हुआ धन ले जानेका उसे अधिकार नहीं है ॥ ५० ॥

एकैव हि भवेद् भार्या वैश्यस्य कुरुनन्दन।
द्वितीया तु भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ५१ ॥

कुरुनन्दन ! वैश्यकी एक ही वैश्यकन्या ही धर्मानुसार भार्या हो सकती है। दूसरी शूद्रा भी होती है, परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता है ॥ ५१ ॥

वैश्यस्य वर्तमानस्य वैश्यायां भरतर्षभ।
शूद्रायां चापि कौन्तेय तयोर्विनियमः स्मृतः ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार ! वैश्यके वैश्या और शूद्रा दोनोंके गर्भसे पुत्र हों तो उनके लिये भी धनके बँटवारेका वैसा ही नियम है ॥ ५२ ॥

पञ्चधा तु भवेत् कार्यं वैश्यस्वं भरतर्षभ।
तयोरपत्ये वक्ष्यामि विभागं च जनाधिप ॥ ५३ ॥

भरतभूषण नरेश ! वैश्यके धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये। फिर वैश्या और शूद्राके पुत्रोंमें उस धनका विभाजन कैसे करना चाहिये, यह बताता हूँ ॥ ५३ ॥

वैश्यापुत्रेण हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात्।
पञ्चमस्तु स्मृतो भागः शूद्रापुत्राय भारत ॥ ५४ ॥

भरतनन्दन ! उस पैतृक धनमेंसे चार भाग तो वैश्याके पुत्रको ले लेने चाहिये और पाँचवाँ अंश शूद्राके पुत्रका भाग बताया गया है ॥ ५४ ॥

सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति।
त्रिभिर्वर्णैः सदा जातः शूद्रोऽदेयधनो भवेत् ॥ ५५ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उस धनको ले सकत[ा है।] बिना दिया हुआ धन लेनेका उसे कोई अधिकार न[हीं।] तीनों वर्णोंसे उत्पन्न हुआ शूद्र सदा धन न देनेके यो[ग्य] होता है ॥ ५५ ॥

शूद्रस्य स्यात् सवर्णैव भार्या नान्या कथंचन।
समभागाश्च पुत्राः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ [५६ ॥]

शूद्रकी एक ही अपनी जातिकी ही स्त्री भार्या हो[ती है,] दूसरी किसी प्रकार नहीं। उसके सभी पुत्र, वे सौ भा[ई भी] न हों, पैतृक धनमेंसे समान भागके अधिकारी होते हैं ॥ [५६ ॥]

जातानां समवर्णायाः पुत्राणामविशेषतः।
सर्वेषामेव वर्णानां समभागो धनात् स्मृतः ॥ [५७ ॥]

समस्त वर्णोंके सभी पुत्रोंका, जो समान वर्णकी [स्त्रीसे] उत्पन्न हुए हैं, सामान्यतः पैतृक धनमें समान भाग [माना] गया है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठस्य भागो ज्येष्ठः स्यादेकांशो यः प्रधानतः।
एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ [५८ ॥]

कुन्तीनन्दन ! ज्येष्ठ पुत्रका भाग भी ज्येष्ठ हो[ता है,] उसे प्रधानतः एक अंश अधिक मिलता है। पूर्व[कालमें] स्वयम्भू ब्रह्माजीने पैतृक धनके बँटवारेकी यह विधि बतायी [है ॥ ५८ ॥]

समवर्णासु जातानां विशेषोऽस्त्यपरो नृप।
विवाहवैशिष्ट्यकृतः पूर्वपूर्वो विशिष्यते ॥ [५९ ॥]

नरेश्वर ! समान वर्णकी स्त्रियोंमें जो पुत्र उत्पन्न हु[ए हैं,] उनमें यह दूसरी विशेषता ध्यान देने योग्य है। विव[ाहकी] विशिष्टताके कारण उन पुत्रोंमें भी विशिष्टता आ जात[ी है,] अर्थात् पहले विवाहकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र श्रेष्ठ [और] दूसरे विवाहकी स्त्रीसे पैदा हुआ पुत्र कनिष्ठ होता है ॥[५९ ॥]

हरेज्ज्येष्ठः प्रधानांशमेकं तुल्यासु तेष्वपि।
मध्यमो मध्यमं चैव कनीयांस्तु कनीयसम् ॥ [६० ॥]

तुल्य वर्णवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए उन पुत्रोंमें भ[ी जो] ज्येष्ठ है, वह एक भाग ज्येष्ठांश ले सकता है। मध्यम [पुत्र]को मध्यम और कनिष्ठ पुत्रको कनिष्ठ भाग लेना चाहि[ये ॥ ६० ॥]

एवं जातिषु सर्वासु सवर्णः श्रेष्ठतां गतः।
महर्षिरपि चैतद् वै मारीचः काश्यपोऽब्रवीत् ॥ [६१ ॥]

इस प्रकार सभी जातियोंमें समान वर्णकी स्त्रीसे उ[त्पन्न] हुआ पुत्र ही श्रेष्ठ होता है। मरीचि-पुत्र महर्षि कश्यपने [भी] यही बात बतायी है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे रिक्थविभागो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके अन्तर्गत पैतृक धनका विभागनामक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

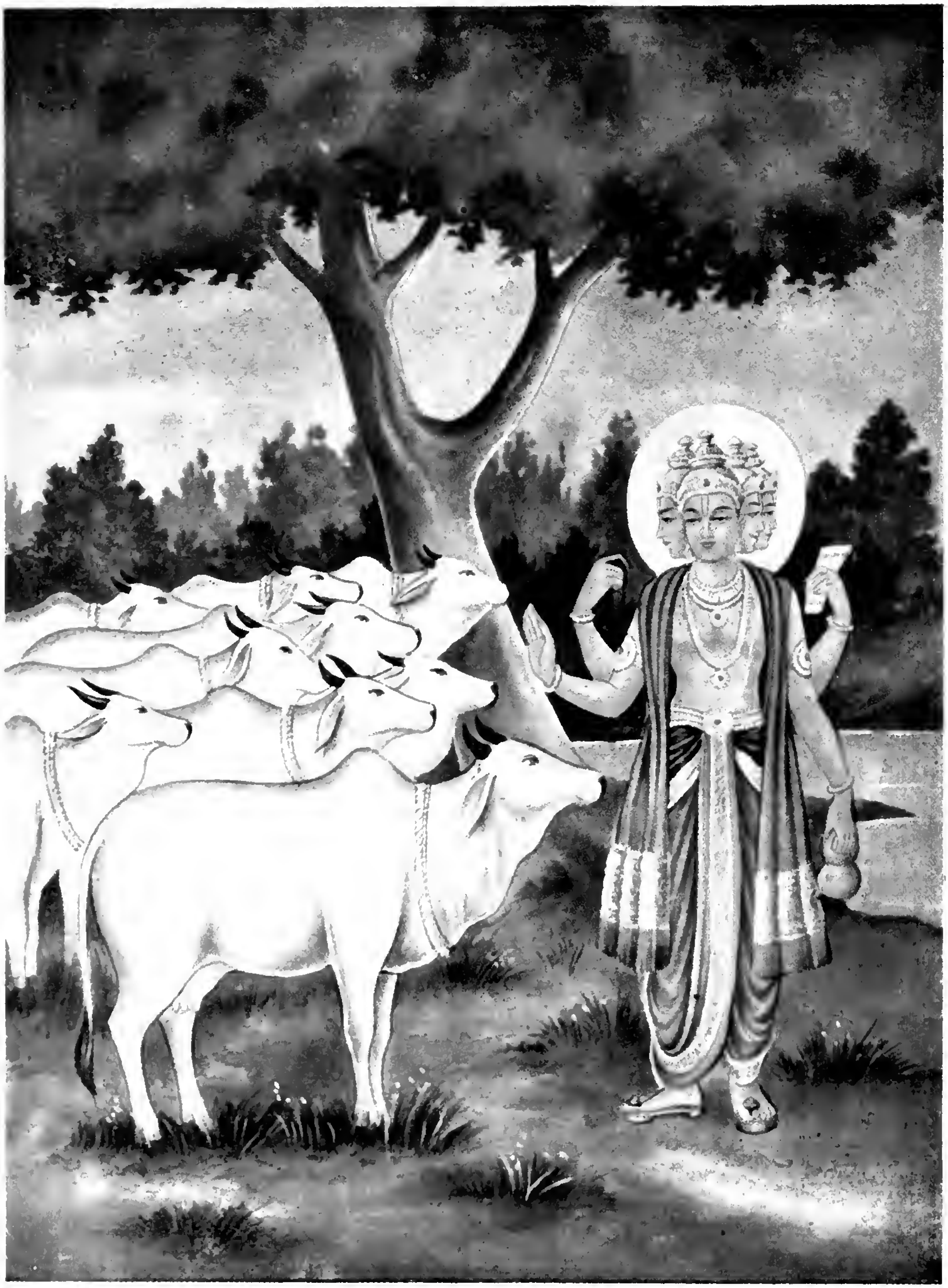

ब्रह्माजीका गौओंको वरदान

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वर्णसंकर संतानोंकी उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अर्थाल्लोभाद् वा कामाद् वा वर्णानां चाप्यनिश्चयात्।
अज्ञानाद् वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः ॥ १ ॥
तेषामेतेन विधिना जातानां वर्णसंकरे।
को धर्मः कानि कर्माणि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धन पाकर या धनके लोभमें आकर अथवा कामनाके वशीभूत होकर जब उच्च वर्णकी स्त्री नीच वर्णके पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तब वर्णसंकर संतान उत्पन्न होती है। वर्णोंका निश्चय अथवा ज्ञान न होनेसे भी वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है। इस रीतिसे जो वर्णोंके मिश्रणद्वारा उत्पन्न हुए मनुष्य हैं, उनका क्या धर्म है ? और कौन-कौन-से कर्म हैं ? यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम्।
असृजत् स हि यज्ञार्थे पूर्वमेव प्रजापतिः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें प्रजापतिने यज्ञके लिये केवल चार वर्णों और उनके पृथक्-पृथक् कर्मोंकी ही रचना की थी॥ ३॥

भार्याश्चतस्रो विप्रस्य द्वयोरात्मा प्रजायते।
आनुपूर्व्याद् द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी जो चार भार्याएँ बतायी गयी हैं, उनमेंसे दो स्त्रियों—ब्राह्मणी और क्षत्रियाके गर्भसे ब्राह्मण ही उत्पन्न होता है और शेष दो वैश्या और शूद्रा स्त्रियोंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे ब्राह्मणत्वसे हीन क्रमशः माताकी जातिके समझे जाते हैं॥ ४॥

परं शवाद् ब्राह्मणस्यैव पुत्रः
शूद्रापुत्रं पारशवं तमाहुः।
शुश्रूषकः स्वस्य कुलस्य स स्यात्
स्वचारित्रं नित्यमथो न जह्यात् ॥ ५ ॥

शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ ब्राह्मणका ही जो पुत्र है, वह शवसे अर्थात् शूद्रसे पर—उत्कृष्ट बताया गया है; इसीलिये ऋषिगण उसे पारशव कहते हैं। उसे अपने कुलकी सेवा करनी चाहिये और अपने इस सेवारूप आचारका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये॥ ५॥

सर्वानुपायानथ सम्प्रधार्य
समुद्धरेत् स्वस्य कुलस्य तन्त्रम्।
ज्येष्ठो यवीयानपि यो द्विजस्य
शुश्रूषया दानपरायणः स्यात् ॥ ६ ॥

शूद्रापुत्र सभी उपायोंका विचार करके अपनी कुल-परम्पराका उद्धार करे। वह अवस्थामें ज्येष्ठ होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी अपेक्षा छोटा ही समझा जाता है; अतः उसे त्रैवर्णिकोंकी सेवा करते हुए दानपरायण होना चाहिये॥ ६॥

तिस्रः क्षत्रियसम्बन्धाद् द्वयोरात्मास्य जायते।
हीनवर्णास्तृतीयायां शूद्रा उग्रा इति स्मृतिः ॥ ७ ॥

क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा—ये तीन भार्याएँ होती हैं। इनमेंसे क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे क्षत्रियके सम्पर्कसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह क्षत्रिय ही होता है। तीसरी शूद्राके गर्भसे हीन वर्णवाले शूद्र ही उत्पन्न होते हैं; जिनकी उग्र संज्ञा है। ऐसा धर्मशास्त्रका कथन है॥ ७॥

द्वे चापि भार्ये वैश्यस्य द्वयोरात्मास्य जायते।
शूद्रा शूद्रस्य चाप्येका शूद्रमेव प्रजायते ॥ ८ ॥

वैश्यकी दो भार्याएँ होती हैं—वैश्या और शूद्रा। उन दोनोंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह वैश्य ही होता है। शूद्रकी एक ही भार्या होती है शूद्रा, जो शूद्रको ही जन्म देती है॥ ८॥

अतोऽविशिष्टस्त्वधमो गुरुदारप्रधर्षकः।
बाह्यं वर्णं जनयति चातुर्वर्ण्यविगर्हितम् ॥ ९ ॥

अतः वर्णोंमें नीचे दर्जेका शूद्र यदि गुरुजनों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंके साथ समागम करता है तो वह चारों वर्णोंद्वारा निन्दित वर्णबहिष्कृत (चाण्डाल आदि) को जन्म देता है॥ ९॥

विप्रायां क्षत्रियो बाह्यं सूतं स्तोमक्रियापरम्।
वैश्यो वैदेहकं चापि मौद्गल्यमपवर्जितम् ॥ १० ॥

क्षत्रिय ब्राह्मणीके साथ समागम करनेपर उसके गर्भसे 'सूत' जातिका पुत्र उत्पन्न करता है, जो वर्णबहिष्कृत और स्तुति-कर्म करनेवाला (एवं रथीका काम करनेवाला) होता है। उसी प्रकार वैश्य यदि ब्राह्मणीके साथ समागम करे तो वह संस्कारभ्रष्ट 'वैदेहक' जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है, जिससे अन्तःपुरकी रक्षा आदिका काम लिया जाता है और इसीलिये जिसको 'मौद्गल्य' भी कहते हैं॥ १०॥

शूद्रश्चाण्डालमत्युग्रं वध्यघ्नं बाह्यवासिनम्।
ब्राह्मण्यां सम्प्रजायन्त इत्येते कुलपांसनाः।
एते मतिमतां श्रेष्ठ वर्णसंकरजाः प्रभो ॥ ११ ॥

इसी तरह शूद्र ब्राह्मणीके साथ समागम करके अत्यन्त भयंकर चाण्डालको जन्म देता है, जो गाँवके बाहर बसता है

और वध्यपुरुषोंको प्राणदंण्ड आदि देनेका काम करता है । प्रभो ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! ब्राह्मणीके साथ नीच पुरुषोंका संसर्ग होनेपर ये सभी कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते हैं और वर्णसंकर कहलाते हैं ॥ ११ ॥

बन्दी तु जायते वैश्यान्मागधो वाक्यजीवनः ।
शूद्रान्निषादो मत्स्यघ्नः क्षत्रियायां व्यतिक्रमात् ॥ १२ ॥

वैश्यके द्वारा क्षत्रिय जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र वन्दी और मागध कहलाता है । वह लोगोंकी प्रशंसा करके अपनी जीविका चलाता है । इसी प्रकार यदि शूद्र क्षत्रिय जातिकी स्त्रीके साथ प्रतिलोम समागम करता है तो उससे मछली मारनेवाले निषाद जातिकी उत्पत्ति होती है ॥

शूद्रादायोगवश्चापि वैश्यायां ग्राम्यधर्मिणः ।
ब्राह्मणैरप्रतिग्राह्यस्तक्षा स्वधनजीवनः ॥ १३ ॥

और शूद्र यदि वैश्य जातिकी स्त्रीके साथ ग्राम्यधर्म (मैथुन) का आश्रय लेता है तो उससे 'आयोगव' जातिका पुत्र उत्पन्न होता है, जो बढ़ईका काम करके अपने कमाये हुए धनसे जीवन निर्वाह करता है । ब्राह्मणोंको उससे दान नहीं लेना चाहिये ॥ १३ ॥

एतेऽपि सदृशान् वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्याः प्रसूयन्ते ह्यवरा हीनयोनिषु ॥ १४ ॥

ये वर्णसंकर भी जब अपनी ही जातिकी स्त्रीके साथ समागम करते हैं, तब अपने ही समान वर्णवाले पुत्रोंको जन्म देते हैं और जब अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीसे संसर्ग करते हैं, तब नीच संतानोंकी उत्पत्ति होती है । ये संतानें अपनी माताकी जातिकी समझी जाती हैं ॥ १४ ॥

यथा चतुर्षु वर्णेषु द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात् प्रजायन्ते तथा बाह्याः प्रधानतः ॥ १५ ॥

जैसे चार वर्णोंमेंसे अपने और अपनेसे एक वर्ण नीचेकी स्त्रियोंसे जो पुत्र उत्पन्न किया जाता है, वह अपने ही वर्णका माना जाता है और एक वर्णका व्यवधान देकर नीचेके वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न किये जानेवाले पुत्र प्रधान वर्णसे बाह्य—माताकी जातिवाले होते हैं, उसी प्रकार ये **नौ**—अम्बष्ठ, पारशव, उग्र, सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, निषाद और आयोगव—अपनी जातिमें और अपनेसे नीचेवाली जातिमें जब संतान उत्पन्न करते हैं, तब वह संतान पिताकी ही जातिवाली होती है और जब एक जातिका अन्तर देकर नीचेकी जातियोंमें संतान उत्पन्न करते हैं, तब वे संतानें पिताकी जातिसे हीन माताओंकी जातिवाली होती हैं ॥ १५ ॥

ते चापि सदृशं वर्णं जनयन्ति स्वयोनिषु ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ १६ ॥

इस प्रकार वर्णसंकर मनुष्य भी समान जातिकी स्त्रियोंमें अपने ही समान वर्णवाले पुत्रोंकी उत्पत्ति करते हैं और यदि परस्पर विभिन्न जातिकी स्त्रियोंसे उनका संसर्ग होता है तो वे अपनी अपेक्षा भी निन्दनीय संतानोंको ही जन्म देते हैं ॥ १६ ॥

यथा शूद्रोऽपि ब्राह्मण्यां जन्तुं बाह्यं प्रसूयते ।
एवं बाह्यतराद् बाह्यश्चातुर्वर्ण्यात् प्रजायते ॥ १७ ॥

जैसे शूद्र ब्राह्मणीके गर्भसे चाण्डाल नामक बाह्य (वर्णबहिष्कृत) पुत्र उत्पन्न करता है, उसी प्रकार उस बाह्य जातिका मनुष्य भी ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी एवं बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करके अपनी अपेक्षा भी नीच जातिवाला पुत्र पैदा करता है ॥ १७ ॥

प्रतिलोमं तु वर्धन्ते बाह्याद् बाह्यतरात् पुनः ।
हीनाद्धीनाः प्रसूयन्ते वर्णाः पञ्चदशैव तु ॥ १८ ॥

इस तरह बाह्य और बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करनेपर प्रतिलोम वर्णसंकरोंकी सृष्टि बढ़ती जाती है । क्रमशः हीन-से-हीन जातिके बालक जन्म लेने लगते हैं । इन संकर जातियोंकी संख्या सामान्यतः पंद्रह है ॥ १८ ॥

अगम्यागमनाच्चैव जायते वर्णसंकरः ।
बाह्यानामनुजायन्ते सैरन्ध्र्यां मागधेषु च ।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ॥ १९ ॥

अगम्या स्त्रीके साथ समागम करनेपर वर्णसंकर संतानकी उत्पत्ति होती है । मागध जातिकी सैरन्ध्री स्त्रियोंसे यदि बाह्यजातीय पुरुषोंका संसर्ग हो तो उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह राजा आदि पुरुषोंके शृंगार करने तथा उनके शरीरमें अङ्गराग लगाने आदिकी सेवाओंका जानकार होता है और दास न होकर भी दासवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १९ ॥

अतश्चायोगवं सूते वागुराबन्धजीवनम् ।
मैरेयकं च वैदेहः सम्प्रसूतेऽथ माधुकम् ॥ २० ॥

मागधोंके आवान्तर भेद सैरन्ध्र जातिकी स्त्रीसे यदि आयोगव जातिका पुरुष समागम करे तो वह आयोगव जातिका पुत्र उत्पन्न करता है, जो जंगलोंमें जाल बिछाकर पशुओंको फँसानेका काम करके जीवन निर्वाह करता है । उसी जातिकी स्त्रीके साथ यदि वैदेह जातिका पुरुष समागम करता है तो वह मदिरा बनानेवाले मैरेयक जातिके पुत्रको जन्म देता है ॥ २० ॥

निषादो मद्गुरं सूते दासं नावोपजीविनम् ।
मृतपं चापि चाण्डालः श्वपाकमिति विश्रुतम् ॥ २१ ॥

निषादके वीर्य और मागधसैरन्ध्रीके गर्भसे मद्गुर जातिका पुरुष उत्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम दास भी है । वह नावसे अपनी जीविका चलाता है । चाण्डाल और मागधी

सैरन्ध्रीके संयोगसे श्वपाक नामसे प्रसिद्ध अधम चाण्डालकी उत्पत्ति होती है। वह मुर्दोंकी रखवालीका काम करता है ॥

चतुरो मागधी सूते क्रूरान् मायोपजीविनः।
मांसं स्वादुकरं क्षौद्रं सौगन्धमिति विश्रुतम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार मागध जातिकी सैरन्ध्री स्त्री आयोगव आदि चार जातियोंसे समागम करके मायासे जीविका चलानेवाले पूर्वोक्त चार प्रकारके क्रूर पुत्रोंको उत्पन्न करती है। इनके सिवा दूसरे भी चार प्रकारके पुत्र मागधी सैरन्ध्रीसे उत्पन्न होते हैं, जो उसके सजातीय अर्थात् मागध-सैरन्ध्रसे ही उत्पन्न होते हैं। उनकी मांस, स्वादुकर, क्षौद्र और सौगन्ध–इन चार नामोंसे प्रसिद्धि होती है ॥ २२ ॥

वैदेहकाच्च पापिष्ठा क्रूरं मायोपजीविनम्।
निषादान्मद्रनाभं च खरयानप्रयायिनम् ॥ २३ ॥

आयोगव जातिकी पापिष्ठा स्त्री वैदेह जातिके पुरुषसे समागम करके अत्यन्त क्रूर, मायाजीवी पुत्र उत्पन्न करती है। वही निषादके संयोगसे मद्रनाभ नामक जातिको जन्म देती है, जो गदहेकी सवारी करनेवाली होती है ॥ २३ ॥

चाण्डालात् पुल्कसं चापि खराश्वगजभोजिनम्।
मृतचैलप्रतिच्छन्नं भिन्नभाजनभोजिनम् ॥ २४ ॥

वही पापिष्ठा स्त्री जब चाण्डालसे समागम करती है, तब पुल्कस जातिको जन्म देती है। पुल्कस गधे, घोड़े और हाथीके मांस खाते हैं। वे मुर्दोंपर चढ़े हुए कफन लेकर पहनते और फूटे बर्तनमें भोजन करते हैं ॥ २४ ॥

आयोगवीषु जायन्ते हीनवर्णास्तु ते त्रयः।
क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः ॥ २५ ॥
कारावरो निषाद्यां तु चर्मकारः प्रसूयते।

इस प्रकार ये तीन नीच जातिके मनुष्य आयोगवीकी संतानें हैं। निषाद जातिकी स्त्रीका यदि वैदेहक जातिके पुरुषसे संसर्ग हो तो क्षुद्र, अन्ध्र और कारावर नामक जाति-वाले पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है। इनमेंसे क्षुद्र और अन्ध्र तो गाँवसे बाहर रहते हैं और जंगली पशुओंकी हिंसा करके जीविका चलाते हैं तथा कारावर मृत पशुओंके चमड़ेका कारबार करता है। इसलिये चर्मकार या चमार कहलाता है ॥

चाण्डालात् पाण्डुसौपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्॥२६॥
आहिण्डको निषादेन वैदेह्यां सम्प्रसूयते।
चण्डालेन तु सौपाकश्चण्डालसमवृत्तिमान् ॥ २७ ॥

चाण्डाल पुरुष और निषाद जातिकी स्त्रीके संयोगसे पाण्डुसौपाक जातिका जन्म होता है। यह जाति बाँसकी डलिया आदि बनाकर जीविका चलाती है। वैदेह जातिकी स्त्रीके साथ निषादका सम्पर्क होनेपर आहिण्डकका जन्म होता है, किंतु वही स्त्री जब चाण्डालके साथ सम्पर्क करती है, तब उससे सौपाककी उत्पत्ति होती है। सौपाककी जीविका वृत्ति चाण्डालके ही तुल्य है ॥ २६-२७ ॥

निषादी चापि चाण्डालात् पुत्रमन्तेवसायिनम्।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यैरपि बहिष्कृतम् ॥ २८ ॥

निषाद जातिकी स्त्रीमें चाण्डालके वीर्यसे अन्तेवसायीका जन्म होता है। इस जातिके लोग सदा श्मशानमें ही रहते हैं। निषाद आदि बाह्यजातिके लोग भी उसे बहिष्कृत या अछूत समझते हैं ॥ २८ ॥

इत्येते संकरे जाताः पितृमातृव्यतिक्रमात्।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ २९ ॥

इस प्रकार माता-पिताके व्यतिक्रम (वर्णान्तरके संयोग) से ये वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमेंसे कुछकी जातियाँ तो प्रकट होती हैं और कुछकी गुप्त। इन्हें इनके कर्मोंसे ही पहचानना चाहिये ॥ २९ ॥

चतुर्णामेव वर्णानां धर्मो नान्यस्य विद्यते।
वर्णानां धर्महीनेषु संख्या नास्तीह कस्यचित् ॥ ३० ॥

शास्त्रोंमें चारों वर्णोंके धर्मोंका निश्चय किया गया है औरोंके नहीं। धर्महीन वर्णसंकर जातियोंमेंसे किसीके वर्ण-सम्बन्धी भेद और उपभेदोंकी भी यहाँ कोई नियत संख्या नहीं है ॥ ३० ॥

यदृच्छयोपसम्पन्नैर्यज्ञसाधुबहिष्कृतैः।
बाह्या बाह्यैश्च जायन्ते यथावृत्ति यथाश्रयम् ॥ ३१ ॥

जो जातिका विचार न करके स्वेच्छानुसार अन्य वर्णकी स्त्रियोंके साथ समागम करते हैं तथा जो यज्ञोंके अधिकार और साधु पुरुषोंसे बहिष्कृत हैं, ऐसे वर्णबाह्य मनुष्योंसे ही वर्णसंकर संतानें उत्पन्न होती हैं और वे अपनी रुचिके अनुकूल कार्य करके भिन्न-भिन्न प्रकारकी आजीविका तथा आश्रयको अपनाती हैं ॥ ३१ ॥

चतुष्पथश्मशानानि शैलांश्चान्यान् वनस्पतीन्।
कार्ष्णायसमलंकारं परिगृह्य च नित्यशः ॥ ३२ ॥

ऐसे लोग सदा लोहेके आभूषण पहनकर चौराहोंमें, मरघटमें, पहाड़ोंपर और वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं ॥

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः।
युञ्जन्तो वाप्यलंकारांस्तथोपकरणानि च ॥ ३३ ॥

इन्हें चाहिये कि गहने तथा अन्य उपकरणोंको बनायें तथा अपने उद्योग-धंधोंसे जीविका चलाते हुए प्रकटरूपसे निवास करें ॥ ३३ ॥

गोब्राह्मणाय साहाय्यं कुर्वाणा वै न संशयः।
आनृशंस्यमनुक्रोशः सत्यवाक्यं तथा क्षमा ॥ ३४ ॥
स्वशरीरैरपि त्राणं बाह्यानां सिद्धिकारणम्।
भवन्ति मनुजव्याघ्र तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! यदि ये गौ और ब्राह्मणोंकी सहायता करें, क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग दें, सबपर दया करें, सत्य बोलें, दूसरोंके अपराध क्षमा करें और अपने शरीरको कष्टमें डालकर भी दूसरोंकी रक्षा करें तो इन वर्णसंकर मनुष्योंकी भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है—इसमें संशय नहीं है ॥३४-३५॥

यथोपदेशं परिकीर्तितासु
नरः प्रजायेत विचार्य बुद्धिमान् ।
निहीनयोनिर्हि सुतोऽवसादयेत्
तितीर्षमाणं हि यथोपलो जले ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसा ऋषि-मुनियोंने उपदेश किया है, उसके अनुसार बतायी हुई वर्ण एवं बाह्यजातिकी स्त्रियोंमें बुद्धिमान् मनुष्यको अपने हिताहितका भलीभाँति विचार करके ही संतान उत्पन्न करनी चाहिये; क्योंकि नीच योनिमें उत्पन्न हुआ पुत्र भवसागरसे पार जानेकी इच्छावाले पिताको उसी प्रकार डुबोता है, जैसे गलेमें बँधा हुआ पत्थर तैरनेवाले मनुष्यको पानीके अतलगर्तमें निमग्न कर देता है ॥ ३६ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
नयन्ति ह्युत्पथं नार्यः कामक्रोधवशानुगम् ॥ ३७ ॥

संसारमें कोई मूर्ख हो या विद्वान्, काम और क्रोधके वशीभूत हुए मनुष्यको नारियाँ अवश्य ही कुमार्गपर पहुँचा देती हैं ॥ ३७ ॥

स्वभावश्चैव नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अत्यर्थं न प्रसज्जन्ते प्रमदासु विपश्चितः ॥ ३८ ॥

इस जगत्‌में मनुष्योंको कलङ्कित कर देना नारियोंका स्वभाव है; अतः विवेकी पुरुष युवती स्त्रियोंमें अधिक आसक्त नहीं होते हैं ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्णापेतमविज्ञाय नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कथं विद्यामहे वयम् ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो चारों वर्णोंसे बहिष्कृत, वर्णसंकर मनुष्यसे उत्पन्न और अनार्य होकर भी ऊपरसे देखनेमें आर्य-सा प्रतीत हो रहा हो, उसे हमलोग कैसे पहचान सकते हैं ? ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच

योनिसंकलुषे जातं नानाभावसमन्वितम् ।
कर्मभिः सज्जनाचीर्णैर्विज्ञेया योनिशुद्धता ॥ ४० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो कलुषित योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह ऐसी नाना प्रकारकी चेष्टाओंसे युक्त होता है, जो सत्पुरुषोंके आचारसे विपरीत हैं; अतः उसके कर्मोंसे ही उसकी पहचान होती है । इसी प्रकार सज्जनोचित आचरणोंसे योनिकी शुद्धताका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥

अनार्यत्वमनाचारः क्रूरत्वं निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ४१ ॥

इस जगत्‌में अनार्यता, अनाचार, क्रूरता और अकर्मण्यता आदि दोष मनुष्यको कलुषित योनिसे उत्पन्न (वर्णसंकर) सिद्ध करते हैं ॥ ४१ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातृजं वा तथोभयम् ।
न कथंचन संकीर्णः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर पुरुष अपने पिता या माताके अथवा दोनोंके ही स्वभावका अनुसरण करता है । वह किसी तरह अपनी प्रकृतिको छिपा नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यथैव सदृशो रूपे मातापित्रोर्हि जायते ।
व्याघ्रश्चित्रैस्तथा योनिं पुरुषः स्वां नियच्छति ॥ ४३ ॥

जैसे बाघ अपनी चित्र-विचित्र खाल और रूपके द्वारा माता-पिताके समान ही होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी योनिका ही अनुसरण करता है ॥ ४३ ॥

कुले स्रोतसि संच्छन्ने यस्य स्याद् योनिसंकरः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमथवा बहु ॥४४॥

यद्यपि कुल और वीर्य गुप्त रहते हैं अर्थात् कौन किस कुलमें और किसके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, यह बात ऊपरसे प्रकट नहीं होती है तो भी जिसका जन्म संकर-योनिसे हुआ है, वह मनुष्य थोड़ा-बहुत अपने पिताके स्वभावका आश्रय लेता ही है ॥ ४४ ॥

आर्यरूपसमाचारं चरन्तं कृतके पथि ।
सुवर्णमन्यवर्णं वा स्वशीलं शास्ति निश्चये ॥ ४५ ॥

जो कृत्रिम मार्गका आश्रय लेकर श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुरूप आचरण करता है, वह सोना है या काँच—शुद्ध वर्णका है या संकर वर्णका ? इसका निश्चय करते समय उसका स्वभाव ही सब कुछ बता देता है ॥ ४५ ॥

नानावृत्तेषु भूतेषु नानाकर्मरतेषु च ।
जन्मवृत्तसमं लोके सुश्लिष्टं न विरज्यते ॥ ४६ ॥

संसारके प्राणी नाना प्रकारके आचार-व्यवहारमें लगे हुए हैं, भाँति-भाँतिके कर्मोंमें तत्पर हैं; अतः आचरणके सिवा ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो जन्मके रहस्यको साफ तौरपर प्रकट कर सके ॥ ४६ ॥

शरीरमिह सत्त्वेन न तस्य परिकृष्यते ।
ज्येष्ठमध्यावरं सत्त्वं तुल्यसत्त्वं प्रमोदते ॥ ४७ ॥

वर्णसंकरको शास्त्रीय बुद्धि प्राप्त हो जाय तो भी वह उसके शरीरको स्वभावसे नहीं हटा सकती । उत्तम, मध्यम या निकृष्ट जिस प्रकारके स्वभावसे उसके शरीरका निर्माण हुआ है, वैसा ही स्वभाव उसे आनन्ददायक जान पड़ता है ॥

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।

अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ॥ ४८ ॥

ऊँची जातिका मनुष्य भी यदि उत्तम शील अर्थात् आचरणसे हीन हो तो उसका सत्कार न करे और शूद्र भी यदि धर्मज्ञ एवं सदाचारी हो तो उसका विशेष आदर करना चाहिये ॥ ४८ ॥

आत्मानमाख्याति हि कर्मभिर्नरः
सुशीलचारित्रकुलैः शुभाशुभैः ।
प्रणष्टमप्याशु कुलं तथा नरः
पुनः प्रकाशं कुरुते स्वकर्मतः ॥ ४९ ॥

मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्म, शील, आचरण और कुलके द्वारा अपना परिचय देता है। यदि उसका कुल नष्ट हो गया हो तो भी वह अपने कर्मोंद्वारा उसे फिर शीघ्र ही प्रकाशमें ला देता है ॥ ४९ ॥

योनिष्वेतासु सर्वासु संकीर्णास्वितरासु च ।
यत्रात्मानं न जनयेद् बुधस्तां परिवर्जयेत् ॥ ५० ॥

इन सभी ऊपर बतायी हुई नीच योनियोंमें तथा अन्य नीच जातियोंमें भी विद्वान् पुरुषको संतानोत्पत्ति नहीं करनी चाहिये। उनका सर्वथा परित्याग करना ही उचित है ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे वर्णसंकरकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसंगमें वर्णसंकरकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नाना प्रकारके पुत्रोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तात कुरुश्रेष्ठ वर्णानां त्वं पृथक् पृथक् ।
कीदृश्यां कीदृशाश्चापि पुत्राः कस्य च के च ते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! कुरुश्रेष्ठ ! आप वर्णोंके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् यह बताइये कि कैसी स्त्रीके गर्भसे कैसे पुत्र उत्पन्न होते हैं ? और कौन-से पुत्र किसके होते हैं ? ॥ १ ॥

विप्रवादाः सुबहवः श्रूयन्ते पुत्रकारिताः ।
अत्र नो मुह्यतां राजन् संशयं छेत्तुमर्हसि ॥ २ ॥

पुत्रोंके निमित्त बहुत-सी विभिन्न बातें सुनी जाती हैं। राजन् ! इस विषयमें हम मोहित होनेके कारण कुछ निश्चय नहीं कर पाते; अतः आप हमारे इस संशयका निवारण करें ॥

भीष्म उवाच

आत्मा पुत्रश्च विज्ञेयस्तस्यानन्तरजश्च यः ।
निरुक्तजश्च विज्ञेयः सुतः प्रसृतजस्तथा ॥ ३ ॥

जहाँ पति-पत्नीके संयोगमें किसी तीसरेका व्यवधान नहीं है अर्थात् जो पतिके वीर्यसे ही उत्पन्न हुआ है, उस 'अनन्तज' अर्थात् 'औरस' पुत्रको अपना आत्मा ही समझना चाहिये। दूसरा पुत्र 'निरुक्तज' होता है। तीसरा 'प्रसृतज' होता है (निरुक्तज और प्रसृतज दोनों क्षेत्रजके ही दो भेद हैं) ॥ ३ ॥

पतितस्य तु भार्याया भर्त्रा सुसमवेतया ।
तथा दत्तकृतौ पुत्रावध्यूढश्च तथापरः ॥ ४ ॥

पतित पुरुषका अपनी स्त्रीके गर्भसे स्वयं ही उत्पन्न किया हुआ पुत्र चौथी श्रेणीका पुत्र है। इसके सिवा 'दत्तक' और 'क्रीत' पुत्र भी होते हैं। ये कुल मिलाकर छः हुए। सातवाँ है 'अध्यूढ' पुत्र (जो कुमारी-अवस्थामें ही माताके पेटमें आ गया और विवाह करनेवालेके घरमें आकर जिसका जन्म हुआ) ॥ ४ ॥

षडपध्वंसजाश्चापि कानीनापसदास्तथा ।
इत्येते वै समाख्यातास्तान् विजानीहि भारत ॥ ५ ॥

आठवाँ 'कानीन' पुत्र होता है। इनके अतिरिक्त छः 'अपध्वंसज' (अनुलोम) पुत्र होते हैं तथा छः 'अपसद' (प्रतिलोम) पुत्र होते हैं। इस तरह इन सबकी संख्या बीस हो जाती है। भारत ! इस प्रकार ये पुत्रोंके भेद बताये गये। तुम्हें इन सबको पुत्र ही जानना चाहिये ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

षडपध्वंसजाः के स्युः के वाप्यपसदास्तथा ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं व्याख्यातुं मे त्वमर्हसि ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! छः प्रकारके अपध्वंसज पुत्र कौन-से हैं तथा अपसद किन्हें कहा गया है ? यह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

त्रिषु वर्णेषु ये पुत्रा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ।
वर्णयोश्च द्वयोः स्यातां यौ राजन्यस्य भारत ॥ ७ ॥
एको विड्वर्ण एवाथ तथात्रैवोपलक्षितः ।
षडपध्वंसजास्ते हि तथैवापसदाञ्शृणु ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे तीन प्रकारके अपध्वंसज कहे गये हैं। भारत! क्षत्रियके वैश्य और

शूद्र जातिकी स्त्रियोंसे जो पुत्र होते हैं, वे दो प्रकारके अपध्वंसज हैं तथा वैश्यके शूद्र-जातिकी स्त्रीसे जो पुत्र होता है, वह भी एक अपध्वंसज है। इन सबका इसी प्रकरणमें दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार ये छः अपध्वंसज अर्थात् अनुलोम पुत्र कहे गये हैं। अब 'अपसद अर्थात् प्रतिलोम' पुत्रोंका वर्णन सुनो ॥ ७-८ ॥

चाण्डालो व्रात्यवैद्यौ च ब्राह्मण्यां क्षत्रियासु च।
वैश्यायां चैव शूद्रस्य लक्ष्यन्तेऽपसदास्त्रयः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा वैश्या—इन वर्णकी स्त्रियोंके गर्भसे शूद्रद्वारा जो पुत्र उत्पन्न किये जाते हैं, वे क्रमशः चाण्डाल, व्रात्य और वैद्य कहलाते हैं। ये अपसदोंके तीन भेद हैं ॥९॥

मागधो वामकश्चैव द्वौ वैश्यस्योपलक्षितौ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियायां च क्षत्रियस्यैक एव तु ॥ १० ॥
ब्राह्मण्यां लक्ष्यते सूत इत्येतेऽपसदाः स्मृताः।
पुत्रा ह्येते न शक्यन्ते मिथ्याकर्तुं नराधिप ॥ ११ ॥

ब्राह्मणी और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्यद्वारा जो पुत्र उत्पन्न किये जाते हैं, वे क्रमशः मागध और वामक नामवाले दो प्रकारके अपसद देखे गये हैं। क्षत्रियके एक ही वैसा पुत्र देखा जाता है, जो ब्राह्मणीसे उत्पन्न होता है। उसकी सूत संज्ञा है। ये छः अपसद अर्थात् प्रतिलोम पुत्र माने गये हैं। नरेश्वर ! इन पुत्रोंको मिथ्या नहीं बताया जा सकता ।१०-११।

युधिष्ठिर उवाच

क्षेत्रजं केचिदेवाहुः सुतं केचित्तु शुक्रजम्।
तुल्यावेतौ सुतौ कस्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कुछ लोग अपनी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए किसी भी प्रकारके पुत्रको अपना ही पुत्र मानते हैं और कुछ लोग अपने वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्रको ही सगा पुत्र समझते हैं, क्या ये दोनों समान कोटिके पुत्र हैं ? इनपर किसका अधिकार है ? इन्हें जन्म देनेवाली स्त्रीके पतिका या गर्भाधान करनेवाले पुरुषका ? यह मुझे बताइये ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

रेतजो वा भवेत् पुत्रस्त्यक्तो वा क्षेत्रजो भवेत्।
अध्यूढः समयं भित्त्वेत्येतदेव निबोध मे ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! अपने वीर्यसे उत्पन्न हुआ पुत्र तो सगा पुत्र है ही, क्षेत्रज पुत्र भी यदि गर्भस्थापन करनेवाले पिताके द्वारा छोड़ दिया गया हो तो वह अपना ही होता है। यही बात समय-भेदन करके अध्यूढ पुत्रके विषयमें भी समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि वीर्य डालनेवाले पुरुषने यदि अपना स्वत्व हटा लिया हो तब तो वे क्षेत्रज और अध्यूढ पुत्र क्षेत्रपतिके ही माने जाते हैं। अन्यथा उनपर वीर्यदाताका ही स्वत्व है ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रेतजं विद्म वै पुत्रं क्षेत्रजस्यागमः कथम्।
अध्यूढं विद्म वै पुत्रं भित्त्वा तु समयं कथम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! हम तो वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रको ही पुत्र समझते हैं। वीर्यके बिना क्षेत्रज पुत्रका आगमन कैसे हो सकता है ? तथा अध्यूढको हम किस प्रकार समय-भेदन करके पुत्र समझें ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

आत्मजं पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत् कारणान्तरे।
न तत्र कारणं रेतः स क्षेत्रस्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—जो बेटा ! लोग अपने वीर्यसे पुत्र उत्पन्न करके अन्यान्य कारणोंसे उसका परित्याग कर देते हैं, उनका उसपर केवल वीर्य-स्थापनके कारण अधिकार नहीं रह जाता। वह पुत्र उस क्षेत्रके स्वामीका हो जाता है ॥ १५ ॥

पुत्रकामो हि पुत्रार्थे यां वृणीते विशाम्पते।
क्षेत्रजं तु प्रमाणं स्यान्न वै तत्रात्मजः सुतः ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष पुत्रके लिये ही जिस गर्भवती कन्याको भार्यारूपसे ग्रहण करता है, उसका क्षेत्रज पुत्र उस विवाह करनेवाले पतिका ही माना जाता है। वहाँ गर्भ-स्थापन करनेवालेका अधिकार नहीं रह जाता है ॥

अन्यत्र क्षेत्रजः पुत्रो लक्ष्यते भरतर्षभ।
न ह्यात्मा शक्यते हन्तुं दृष्टान्तोपगतो ह्यसौ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दूसरेके क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ पुत्र विभिन्न लक्षणोंसे लक्षित हो जाता है कि किसका पुत्र है। कोई भी अपनी असलियतको छिपा नहीं सकता, वह स्वतः प्रत्यक्ष हो जाती है ॥ १७ ॥

क्वचिच्च कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
न तत्र रेतः क्षेत्रं वा यत्र लक्ष्येत भारत ॥ १८ ॥

भरतनन्दन ! कहीं-कहीं कृत्रिम पुत्र भी देखा जाता है। वह ग्रहण करने या अपना मान लेने मात्रसे ही अपना हो जाता है। वहाँ वीर्य या क्षेत्र कोई भी उसके पुत्रत्व-निश्चयमें कारण होता दिखायी नहीं देता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
शुक्रं क्षेत्रं प्रमाणं वा यत्र लक्ष्यं न भारत ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! जहाँ वीर्य या क्षेत्र पुत्रत्वके निश्चयमें प्रमाण नहीं देखा जाता, जो संग्रह करने मात्रसे ही अपने पुत्रके रूपमें दिखायी देने लगता है, वह कृत्रिम पुत्र कैसा होता है ? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

मातापितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत्।

न चास्य मातापितरौ ज्ञायेतां स हि कृत्रिमः ॥ २० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! माता-पिताने जिसे रास्तेपर त्याग दिया हो और पता लगानेपर भी जिसके माता-पिताका ज्ञान न हो सके, उस बालकका जो पालन करता है, उसीका वह कृत्रिम पुत्र माना जाता है ॥ २० ॥

अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन् सम्प्रति लक्ष्यते ।
यो वर्णः पोषयेत् तं च तद्वर्णस्तस्य जायते ॥ २१ ॥

वर्तमान समयमें जो उस अनाथ बच्चेका स्वामी दिखायी देता है और उसका पालन-पोषण करता है, उसका जो वर्ण है, वही उस बच्चेका भी वर्ण हो जाता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथमस्य प्रयोक्तव्यः संस्कारः कस्य वा कथम् ।
देया कन्या कथं चेति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ऐसे बालकका संस्कार कैसे और किस जातिके अनुसार करना चाहिये ? तथा वास्तवमें वह किस वर्णका है, यह कैसे जाना जाय ? एवं किस तरह और किस जातिकी कन्याके साथ उसका विवाह करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

आत्मवत् तस्य कुर्वीत संस्कारं स्वामिवत् तथा ।
त्यक्तो मातापितृभ्यां यः सवर्णं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जिसको माता-पिताने त्याग दिया है, वह अपने स्वामी (पालक) पिताके वर्णको प्राप्त होता है । इसलिये उसके पालन करनेवालेको चाहिये कि वह अपने ही वर्णके अनुसार उसका संस्कार करे ॥ २३ ॥

तद्गोत्रबन्धुजं तस्य कुर्यात् संस्कारमच्युत ।
अथ देया तु कन्या स्यात् तद्वर्णस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर ! पालक पिताके सगोत्र बन्धुओंका जैसा संस्कार होता हो, वैसा ही उसका भी करना चाहिये तथा उसी वर्णकी कन्याके साथ उसका विवाह भी कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

संस्कर्तुं वर्णगोत्रं च मातृवर्णविनिश्चये ।
कानीनाध्यूढजौ वापि विज्ञेयौ पुत्र किल्बिषौ ॥ २५ ॥

बेटा ! यदि उसकी माताके वर्ण और गोत्रका निश्चय हो जाय तो उस बालकका संस्कार करनेके लिये माताके ही वर्ण और गोत्रको ग्रहण करना चाहिये । कानीन और अध्यूढज—ये दोनों प्रकारके पुत्र निकृष्ट श्रेणीके ही समझे जाने योग्य हैं ॥ २५ ॥

तावपि स्वाविव सुतौ संस्कार्याविति निश्चयः ।
क्षेत्रजो वाप्यपसदो येऽध्यूढास्तेषु चाप्युत ॥ २६ ॥
आत्मवद् वै प्रयुञ्जीरन् संस्कारान् ब्राह्मणादयः ।
धर्मशास्त्रेषु वर्णानां निश्चयोऽयं प्रदृश्यते ॥ २७ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इन दोनों प्रकारके पुत्रोंका भी अपने ही समान संस्कार करे—ऐसा शास्त्रका निश्चय है । ब्राह्मण आदिको चाहिये कि वे क्षेत्रज, अपसद तथा अध्यूढ—इन सभी प्रकारके पुत्रोंका अपने ही समान संस्कार करें । वर्णोंके संस्कारके सम्बन्धमें धर्मशास्त्रोंका ऐसा ही निश्चय देखा जाता है । इस प्रकार मैंने ये सारी बातें तुम्हें बतायीं । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २६—२८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे पुत्रप्रतिनिधिकथने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसङ्गमें पुत्रप्रतिनिधिकथनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

गौओंकी महिमाके प्रसङ्गमें च्यवन मुनिके उपाख्यानका आरम्भ, मुनिका मत्स्योंके साथ जालमें फँसकर जलसे बाहर आना

युधिष्ठिर उवाच

दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसीको देखने और उसके साथ रहनेपर कैसा स्नेह होता है ? तथा गौओंका माहात्म्य क्या है ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महातेजस्वी नरेश ! इस विषयमें मैं तुमसे महर्षि च्यवन और नहुषके संवादरूप प्राचीन इतिहासका वर्णन करूँगा ॥ २ ॥

पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव स महाव्रतः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालकी बात है, भृगुके पुत्र महर्षि च्यवनने महान् व्रतका आश्रय ले जलके भीतर रहना आरम्भ किया ॥

निहत्य मानं क्रोधं च प्रहर्षं शोकमेव च ।
वर्षाणि द्वादश मुनिर्जलवासे धृतव्रतः ॥ ४ ॥

वे अभिमान, क्रोध, हर्ष और शोकका परित्याग करके दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक जलके भीतर रहे ॥ ४ ॥

आदधत् सर्वभूतेषु विश्रम्भं परमं शुभम् ।
जलेचरेषु सर्वेषु शीतरश्मिरिव प्रभुः ॥ ५ ॥

शीतल किरणोंवाले चन्द्रमाके समान उन शक्तिशाली मुनिने सम्पूर्ण प्राणियों, विशेषतः सारे जलचर जीवोंपर अपना परम मङ्गलकारी पूर्ण विश्वास जमा लिया था ॥ ५ ॥

स्थाणुभूतः शुचिर्भूत्वा दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये जलं सम्प्रविवेश ह ॥ ६ ॥

एक समय वे देवताओंको प्रणामकर अत्यन्त पवित्र होकर गङ्गा-यमुनाके सङ्गममें जलके भीतर प्रविष्ट हुए और वहाँ काष्ठकी भाँति स्थिर भावसे बैठ गये ॥ ६ ॥

गङ्गायमुनयोर्वेगं सुभीमं भीमनिःस्वनम् ।
प्रतिजग्राह शिरसा वातवेगसमं जवे ॥ ७ ॥

गङ्गा-यमुनाका वेग बड़ा भयंकर था । उससे भीषण गर्जना हो रही थी । वह वेग वायुवेगकी भाँति दुःसह था तो भी वे मुनि अपने मस्तकपर उसका आघात सहने लगे ॥

गङ्गा च यमुना चैव सरितश्च सरांसि च ।
प्रदक्षिणमृषिं चक्रुर्न चैनं पर्यपीडयन् ॥ ८ ॥

परंतु गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ और सरोवर ऋषिकी केवल परिक्रमा करते थे, उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाते थे ॥ ८ ॥

अन्तर्जलेषु सुष्वाप काष्ठभूतो महामुनिः ।
ततश्चोर्ध्वस्थितो धीमानभवद् भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे बुद्धिमान् महामुनि कभी पानीमें काठकी भाँति सो जाते और कभी उसके ऊपर खड़े हो जाते थे ॥ ९ ॥

जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः ।
उपाजिघ्रन्त च तदा तस्योष्ठं हृष्टमानसाः ॥ १० ॥

वे जलचर जीवोंके बड़े प्रिय हो गये थे । जलजन्तु प्रसन्नचित्त होकर उनका ओठ सूँघा करते थे ॥ १० ॥

तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान् ।
ततः कदाचित् समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ॥ ११ ॥
तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ।
निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चयाः ॥ १२ ॥

महातेजस्वी नरेश ! इस तरह उन्हें पानीमें रहते बहुत दिन बीत गये । तदनन्तर एक समय मछलियोंसे जीविका चलानेवाले बहुत-से मल्लाह मछली पकड़नेका निश्चय करके जाल हाथमें लिये हुए उस स्थानपर आये ॥ ११-१२ ॥

व्यायता बलिनः शूराः सलिलेष्वनिवर्तिनः ।
अभ्याययुश्च तं देशं निश्चिता जालकर्मणि ॥ १३ ॥

वे मल्लाह बड़े परिश्रमी, बलवान्, शौर्यसम्पन्न और पानीसे कभी पीछे न हटनेवाले थे । वे जाल बिछानेका दृढ़ निश्चय करके उस स्थानपर आये थे ॥ १३ ॥

जालं ते योजयामासुर्निःशेषेण जनाधिप ।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ १४ ॥

भरतवंशशिरोमणि नरेश ! उस समय जहाँ मछलियाँ रहती थीं, उतने गहरे जलमें जाकर उन्होंने अपने जालको पूर्णरूपसे फैला दिया ॥ १४ ॥

ततस्ते बहुभिर्योगैः कैवर्ता मत्स्यकाङ्क्षिणः ।
गङ्गायमुनयोर्वारि जालैरभ्यकिरंस्ततः ॥ १५ ॥

मछली प्राप्त करनेकी इच्छावाले केवटोंने बहुत-से उपाय करके गङ्गा-यमुनाके जलको जालोंसे आच्छादित कर दिया ।

जालं सुविततं तेषां नवसूत्रकृतं तथा ।
विस्तारायामसम्पन्नं यत् तत्र सलिलेऽक्षिपन् ॥ १६ ॥
ततस्ते सुमहच्चैव बलवच्च सुवर्तितम् ।
अवतीर्य ततः सर्वे जालं चकृषिरे तदा ॥ १७ ॥
अभीतरूपाः संहृष्टा अन्योन्यवशवर्तिनः ।
बबन्धुस्तत्र मत्स्यांश्च तथान्यान् जलचारिणः ॥ १८ ॥

उनका वह जाल नये सूतका बना हुआ और विशाल था तथा उसकी लंबाई-चौड़ाई भी बहुत थी एवं वह अच्छी तरहसे बनाया हुआ और मजबूत था । उसीको उन्होंने वहाँ जलपर बिछाया था । थोड़ी देर बाद वे सभी मल्लाह निडर होकर पानीमें उतर गये । वे सभी प्रसन्न और एक-दूसरेके अधीन रहनेवाले थे । उन सबने मिलकर जालको खींचना आरम्भ किया । उस जालमें उन्होंने मछलियोंके साथ ही दूसरे जल-जन्तुओंको भी बाँध लिया था ॥ १६—१८ ॥

तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम् ।
आकर्षयन्महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥ १९ ॥

महाराज ! जाल खींचते समय मल्लाहोंने दैवेच्छासे उस जालके द्वारा मत्स्योंसे घिरे हुए भृगुके पुत्र महर्षि च्यवनको भी खींच लिया ॥ १९ ॥

नदीशैवलदिग्धाङ्गं हरिश्मश्रुजटाधरम् ।
लग्नैः शङ्खनखैर्गात्रे क्रोडैश्चित्रैरिवार्पितम् ॥ २० ॥

उनका सारा शरीर नदीके सेवारसे लिपटा हुआ था । उनकी मूँछ-दाढ़ी और जटाएँ हरे रंगकी हो गयी थीं और उनके अङ्गोंमें शङ्ख आदि जलचरोंके नख लगनेसे चित्र बन गया था । ऐसा जान पड़ता था मानो उनके अङ्गोंमें शूकरके विचित्र रोम लग गये हों ॥ २० ॥

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम् ।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन् भुवि ॥ २१ ॥

वेदोंके पारंगत उन विद्वान् महर्षिको जालके साथ खिंचा देख सभी मल्लाह हाथ जोड़ मस्तक झुका पृथ्वीपर पड़ गये॥

परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च ।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शनेन च ॥ २२ ॥
स मुनिस्तत् तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम् ।
बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

उधर जालके आकर्षणसे अत्यन्त खेद, त्रास और स्थलका संस्पर्श होनेके कारण बहुत-से मत्स्य मर गये । मुनिने जब मत्स्योंका यह संहार देखा, तब उन्हें बड़ी दया आयी और वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे ॥ २२-२३ ॥

निषादा ऊचुः

अज्ञानाद् यत् कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु ।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥ २४ ॥

यह देख निषाद बोले—महामुने ! हमने अनजानमें जो पाप किया है, उसके लिये हमें क्षमा कर दें और हमपर प्रसन्न हों । साथ ही यह भी बतावें कि हमलोग आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें ? ॥ २४ ॥

इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत् ।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥ २५ ॥

मल्लाहोंके ऐसा कहनेपर मछलियोंके बीचमें बैठे हुए महर्षि च्यवनने कहा— 'मल्लाहो ! इस समय जो मेरी सबसे बड़ी इच्छा है, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ २५ ॥

प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह ।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलेऽध्युषितानहम् ॥ २६ ॥

'मैं इन मछलियोंके साथ ही अपने प्राणोंका त्याग या रक्षण करूँगा । ये मेरे सहवासी रहे हैं । मैं बहुत दिनोंतक इनके साथ जलमें रह चुका हूँ; अतः मैं इन्हें त्याग नहीं सकता' ॥ २६ ॥

इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः ।
सर्वे विवर्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥ २७ ॥

मुनिकी यह बात सुनकर निषादोंको बड़ा भय हुआ । वे थर-थर काँपने लगे । उन सबके मुखका रंग फीका पड़ गया और उसी अवस्थामें राजा नहुषके पास जाकर उन्होंने यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवनमुनिका उपाख्यानविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा नहुषका एक गौके मोलपर च्यवन मुनिको खरीदना, मुनिके द्वारा गौओंका माहात्म्य-कथन तथा मत्स्यों और मल्लाहोंकी सद्गति

भीष्म उवाच

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम् ।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! च्यवनमुनिको ऐसी अवस्थामें अपने नगरके निकट आया जान राजा नहुष अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको साथ ले शीघ्र वहाँ आ पहुँचे ॥१॥

शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥ २ ॥

उन्होंने पवित्रभावसे हाथ जोड़कर मनको एकाग्र रखते हुए न्यायोचित रीतिसे महात्मा च्यवनको अपना परिचय दिया ॥ २ ॥

अर्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः ।
सत्यव्रतं महात्मानं देवकल्पं विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्रजानाथ ! राजाके पुरोहितने देवताओंके समान तेजस्वी सत्यव्रती महात्मा च्यवनमुनिका विधिपूर्वक पूजन किया ॥

नहुष उवाच

करवाणि प्रियं किं ते तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ।
सर्वं कर्तास्मि भगवन् यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजा नहुष बोले—द्विजश्रेष्ठ ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? भगवन् ! आपकी आज्ञासे कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो, मैं सब पूरा करूँगा ॥ ४ ॥

च्यवन उवाच

श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ॥ ५ ॥

च्यवनने कहा—राजन् ! मछलियोंसे जीविका चलानेवाले इन मल्लाहोंने आज बड़े परिश्रमसे मुझे अपने जालमें फँसाकर निकाला है; अतः आप इन्हें इन मछलियोंके साथ-साथ मेरा भी मूल्य चुका दीजिये ॥ ५ ॥

नहुष उवाच

सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।

निष्क्रयार्थे भगवतो यथाऽऽह भृगुनन्दनः ॥ ६ ॥

तब नहुषने अपने पुरोहितसे कहा—पुरोहितजी! भृगुनन्दन च्यवनजी जैसी आज्ञा दे रहे हैं, उसके अनुसार इन पूज्यपाद महर्षिके मूल्यके रूपमें मल्लाहोंको एक हजार अशर्फियाँ दे दीजिये ॥ ६ ॥

च्यवन उवाच

सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप ।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुद्ध्या निश्चयं कुरु ॥ ७ ॥

च्यवनने कहा—नरेश्वर! मैं एक हजार मुद्राओंपर बेचने योग्य नहीं हूँ। क्या आप मेरा इतना ही मूल्य समझते हैं, मेरे योग्य मूल्य दीजिये और वह मूल्य कितना होना चाहिये—यह अपनी ही बुद्धिसे विचार करके निश्चित कीजिये॥

नहुष उवाच

सहस्राणां शतं विप्र निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
स्यादिदं भगवन् मूल्यं किं वान्यन्मन्यते भवान् ॥ ८ ॥

नहुष बोले—विप्रवर! इन निषादोंको एक लाख मुद्रा दीजिये। (यों पुरोहितको आज्ञा देकर वे मुनिसे बोले—) भगवन्! क्या यह आपका उचित मूल्य हो सकता है या अभी आप कुछ और देना चाहते हैं? ॥ ८ ॥

च्यवन उवाच

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥ ९ ॥

च्यवनने कहा—नृपश्रेष्ठ! मुझे एक लाख रुपयेके मूल्यमें ही सीमित न कीजिये। उचित मूल्य चुकाइये। इस विषयमें अपने मन्त्रियोंके साथ विचार कीजिये ॥ ९ ॥

नहुष उवाच

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
यदेतदपि नो मूल्यमतो भूयः प्रदीयताम् ॥ १० ॥

नहुषने कहा—पुरोहितजी! आप इन निषादोंको एक करोड़ मुद्रा मूल्यके रूपमें दीजिये और यदि यह भी ठीक मूल्य न हो तो और अधिक दीजिये ॥ १० ॥

च्यवन उवाच

राजन् नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वापि महाद्युते ।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥ ११ ॥

च्यवनने कहा—महातेजस्वी नरेश! मैं एक करोड़ या उससे भी अधिक मुद्राओंमें बेचने योग्य नहीं हूँ। जो मेरे लिये उचित हो, वही मूल्य दीजिये और इस विषयमें ब्राह्मणों-के साथ विचार कीजिये ॥ ११ ॥

नहुष उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वान्यन्मन्यसे द्विज ॥ १२ ॥

नहुष बोले—ब्रह्मन्! यदि ऐसी बात है तो इन मल्लाहोंको मेरा आधा या सारा राज्य दे दिया जाय। इसे ही मैं आपके लिये उचित मूल्य मानता हूँ। आप इसके अतिरिक्त और क्या चाहते हैं? ॥ १२ ॥

च्यवन उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ॥ १३ ॥

च्यवनने कहा—पृथ्वीनाथ! आपका आधा या सारा राज्य भी मेरा उचित मूल्य नहीं है। आप उचित मूल्य दीजिये और वह मूल्य आपके ध्यानमें न आता हो तो ऋषियोंके साथ विचार कीजिये ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः ।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥ १४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षिका यह वचन सुनकर राजा नहुष दुःखसे कातर हो उठे और मन्त्री तथा पुरोहितके साथ इस विषयमें विचार करने लगे ॥ १४ ॥

तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥ १५ ॥
स तमाभाष्य राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः ।

इतनेहीमें फल-मूलका भोजन करनेवाले एक दूसरे वनवासी मुनि, जिनका जन्म गायके पेटसे हुआ था, राजा नहुषके समीप आये और वे द्विजश्रेष्ठ उन्हें सम्बोधित करके कहने लगे—

तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं यथा तुष्टो भविष्यति ॥ १६ ॥
नाहं मिथ्यावचो ब्रूयां स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ॥ १७ ॥

'राजन्! ये मुनि कैसे संतुष्ट होंगे—इस बातको मैं जानता हूँ। मैं इन्हें शीघ्र संतुष्ट कर दूँगा। मैंने कभी हँसी-परिहासमें भी झूठ नहीं कहा है; फिर ऐसे समयमें असत्य कैसे बोल सकता हूँ? मैं आपसे जो कहूँ, वह आपको निःशङ्क होकर करना चाहिये' ॥ १६-१७ ॥

नहुष उवाच

ब्रवीतु भगवान् मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः ।
परित्रायस्व मामस्माद्विषयं च कुलं च मे ॥ १८ ॥

नहुषने कहा—भगवन्! आप मुझे भृगुपुत्र महर्षि च्यवनका मूल्य, जो इनके योग्य हो, बता दीजिये और ऐसा करके मेरा, मेरे कुलका तथा समस्त राज्यका संकटसे उद्धार कीजिये।

हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम् ।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्यपरायणम् ॥ १९ ॥

ये भगवान् च्यवन मुनि यदि कुपित हो जायँ तो तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं; फिर मुझ-जैसे तपोबल

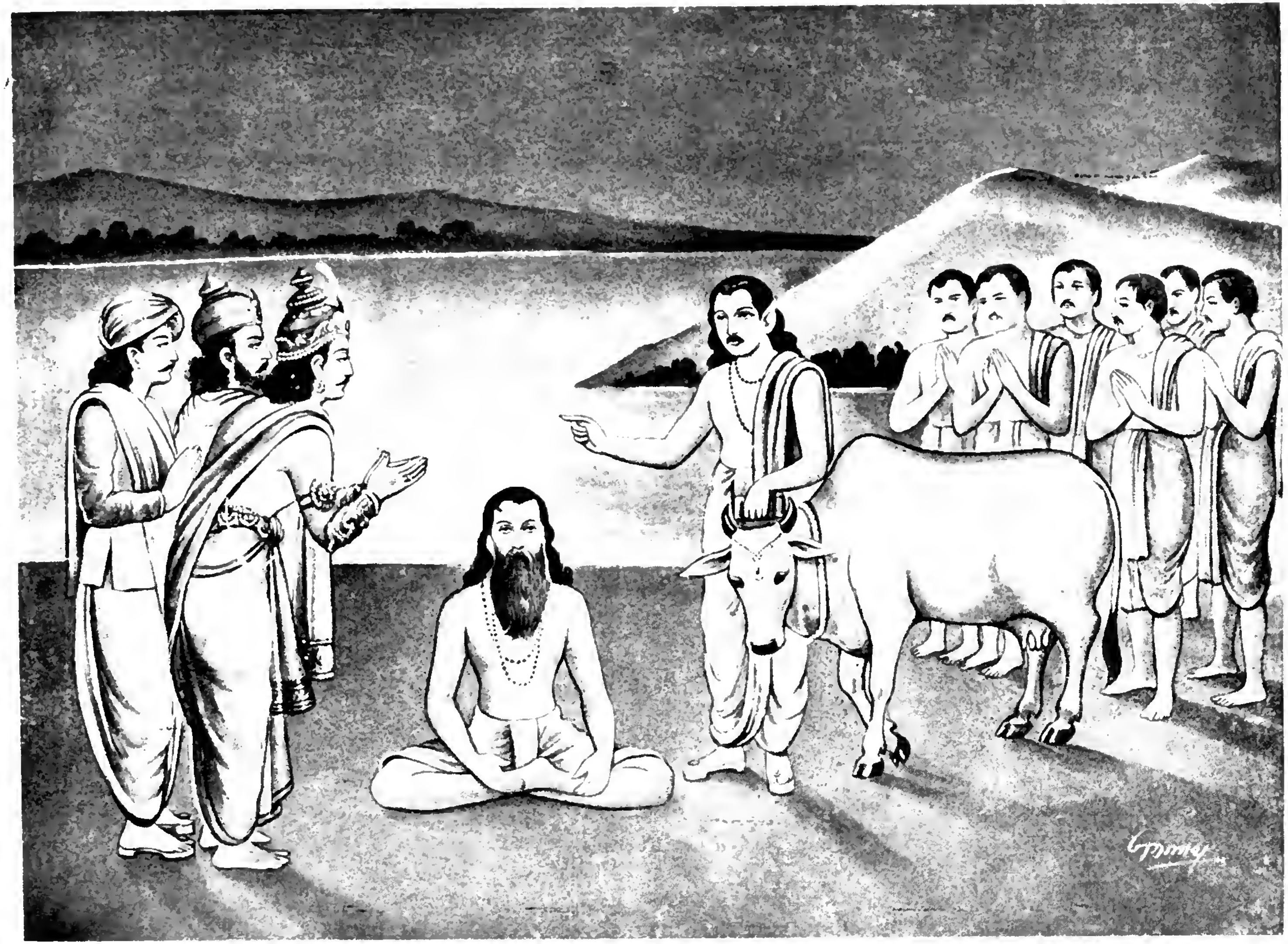

शून्य केवल बाहुबलका भरोसा रखनेवाले नरेशको नष्ट करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १९ ॥

अगाधाम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य सऋत्विजः।
प्लवो भव महर्षे त्वं कुरु मूल्यविनिश्चयम् ॥ २० ॥

महर्षे ! मैं अपने मन्त्री और पुरोहितके साथ संकटके अगाध महासागरमें डूब रहा हूँ। आप नौका बनकर मुझे पार लगाइये। इनके योग्य मूल्यका निर्णय कर दीजिये ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान्।
उवाच हर्षयन् सर्वानमात्यान् पार्थिवं च तम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नहुषकी बात सुनकर गायके पेटसे उत्पन्न हुए वे प्रतापी महर्षि राजा तथा उनके समस्त मन्त्रियोंको आनन्दित करते हुए बोले—॥ २१ ॥

(ब्राह्मणानां गवां चैव कुलमेकं द्विधा कृतम्।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति ॥)
अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः।
गावश्च पुरुषव्याघ्र गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! ब्राह्मणों और गौओंका कुल एक है, पर ये दो रूपोंमें विभक्त हो गये हैं। एक जगह मन्त्र स्थित होते हैं और दूसरी जगह हविष्य। पुरुषसिंह ! ब्राह्मण सब वर्णोंमें उत्तम हैं। उनका और गौओंका कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता; इसलिये आप इनकी कीमतमें एक गौ प्रदान कीजिये' ॥ २२ ॥

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! महर्षिका यह वचन सुनकर मन्त्री और पुरोहितसहित राजा नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २३ ॥

अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम्।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा संतर्पयन्निव ॥ २४ ॥

राजन् ! वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले भृगुपुत्र महर्षि च्यवनके पास जाकर उन्हें अपनी वाणीद्वारा तृप्त करते हुए-से बोले ॥ २४ ॥

नहुष उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥ २५ ॥

नहुषने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! भृगुनन्दन ! मैंने एक गौ देकर आपको खरीद लिया; अतः उठिये, उठिये, मैं यही आपका उचित मूल्य मानता हूँ ॥ २५ ॥

च्यवन उवाच

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥ २६ ॥

च्यवनने कहा—निष्पाप राजेन्द्र ! अब मैं उठता हूँ। आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं देखता हूँ ॥ २६ ॥

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥

वीर भूपाल ! गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन तथा श्रवण करना, गौओंका दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गयी है। ये सब कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥ २८ ॥

गौएँ सदा लक्ष्मीकी जड़ है। उनमें पापका लेशमात्र भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्योंको सर्वदा अन्न और देवताओंको हविष्य देनेवाली हैं ॥ २८ ॥

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥ २९ ॥

स्वाहा और वषट्कार सदा गौओंमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। गौएँ ही यज्ञका संचालन करनेवाली तथा उसका मुख हैं ॥

अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥ ३० ॥

वे विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती और दुहनेपर अमृत ही देती हैं। वे अमृतकी आधारभूत हैं। सारा संसार उनके सामने नतमस्तक होता है ॥ ३० ॥

तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि।
गावो हि सुमहत् तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः ॥ ३१ ॥

इस पृथ्वीपर गौएँ अपनी काया और कान्तिसे अग्निके समान हैं। वे महान् तेजकी राशि और समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाली हैं ॥ ३१ ॥

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥ ३२ ॥

गौओंका समुदाय जहाँ बैठकर निर्भयतापूर्वक साँस लेता है, उस स्थानकी शोभा बढ़ा देता है और वहाँके सारे पापोंको खींच लेता है ॥ ३२ ॥

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किंचित् परं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

गौएँ स्वर्गकी सीढ़ी हैं। गौएँ स्वर्गमें भी पूजी जाती हैं। गौएँ समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं। उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ ३३ ॥

इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने गौओंका माहात्म्य बताया है। इसमें उनके गुणोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। गौओंके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता ॥ ३४ ॥

निषादा ऊचुः

दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने।
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ॥ ३५ ॥

इसके बाद निषादोंने कहा—मुने ! सज्जनोंके साथ सात पग चलनेमात्रसे मित्रता हो जाती है। हमने तो आपका दर्शन किया और हमारे साथ आपकी इतनी देरतक बातचीत भी हुई; अतः प्रभो ! आप हमलोगोंपर कृपा कीजिये ॥ ३५ ॥

हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः।
एवं त्वमपि धर्मात्मन् पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥

धर्मात्मन् ! जैसे अग्निदेव सम्पूर्ण हविष्योंको आत्मसात् कर लेते हैं, उसी प्रकार आप भी हमारे दोष-दुर्गुणोंको दग्ध करनेवाले प्रतापी अग्निरूप हैं ॥ ३६ ॥

प्रसादयामहे विद्वन् भवन्तं प्रणता वयम्।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥ ३७ ॥

विद्वन् ! हम आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करना चाहते हैं। आप हमलोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये हमारी दी हुई यह गौ स्वीकार कीजिये ॥ ३७ ॥

(अत्यन्तापदि मग्नानां परित्राणं हि कुर्वताम्।
या गतिर्विदिता त्वद्य नरके शरणं भवान् ॥)

अत्यन्त आपत्तिमें डूबे हुए जीवोंका उद्धार करनेवाले पुरुषोंको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वह आपको विदित है। हमलोग नरकमें डूबे हुए हैं। आज आप ही हमें शरण देनेवाले हैं ॥

च्यवन उवाच

कृपणस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ३८ ॥

च्यवन बोले—निषादगण ! किसी दीन-दुखियाकी, ऋषिकी तथा विषधर सर्पकी रोषपूर्ण दृष्टि मनुष्यको उसी प्रकार जड़मूलसहित जलाकर भस्म कर देती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखे घास-फूसके ढेरको ॥ ३८ ॥

प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः।
दिवं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैः सह जलोद्भवैः ॥ ३९ ॥

मल्लाहो ! मैं तुम्हारी दी हुई गौ स्वीकार करता हूँ। इस गोदानके प्रभावसे तुम्हारे सारे पाप दूर हो गये। अब तुमलोग जलमें पैदा हुई इन मछलियोंके साथ ही शीघ्र स्वर्गको जाओ ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तस्य प्रभावात् ते महर्षेर्भावितात्मनः।
निषादास्तेन वाक्येन सह मत्स्यैर्दिवं ययुः ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर विशुद्ध अन्तःकरणवाले उन महर्षि च्यवनके पूर्वोक्त बात कहते ही उनके प्रभावसे वे मल्लाह उन मछलियोंके साथ ही स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४० ॥

ततः स राजा नहुषो विस्मितः प्रेक्ष्य धीवरान्।
आरोहमाणांस्त्रिदिवं मत्स्यांश्च भरतर्षभ ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय उन मल्लाहों और मत्स्योंको स्वर्गलोककी ओर जाते देख राजा नहुषको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥

ततस्तौ गविजश्चैव च्यवनश्च भृगूद्वहः।
वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् गौसे उत्पन्न महर्षि और भृगुनन्दन च्यवन दोनोंने राजा नहुषसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा ॥ ४२ ॥

ततो राजा महावीर्यो नहुषः पृथिवीपतिः।
परमित्यब्रवीत् प्रीतस्तदा भरतसत्तम ॥ ४३ ॥

भरतभूषण ! तब वे महापराक्रमी भूपाल राजा नहुष प्रसन्न होकर बोले—'बस, आपलोगोंकी कृपा ही बहुत है' ॥ ४३ ॥

ततो जग्राह धर्मे स स्थितिमिन्द्रनिभो नृपः।
तथेति चोदितः प्रीतस्तावृषी प्रत्यपूजयत् ॥ ४४ ॥

फिर दोनोंके आग्रहसे उन इन्द्रके समान तेजस्वी नरेशने धर्ममें स्थित रहनेका वरदान माँगा और उनके तथास्तु कहने पर राजाने उन दोनों ऋषियोंका विधिवत् पूजन किया ॥ ४४ ॥

समाप्तदीक्षश्च्यवनस्ततोऽगच्छत् स्वमाश्रमम्।
गविजश्च महातेजाः स्वमाश्रमपदं ययौ ॥ ४५ ॥

उसी दिन महर्षि च्यवनकी दीक्षा समाप्त हुई और वे अपने आश्रमपर चले गये। इसके बाद महातेजस्वी गोजात मुनि भी अपने आश्रमको पधारे ॥ ४५ ॥

निषादाश्च दिवं जग्मुस्ते च मत्स्या जनाधिप।
नहुषोऽपि वरं लब्ध्वा प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! वे मल्लाह और मत्स्य तो स्वर्गलोकमें चले गये और राजा नहुष भी वर पाकर अपनी राजधानीको लौट आये ॥ ४६ ॥

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ॥ ४७ ॥
महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्मविनिश्चयम्।
किं भूयः कथ्यतां वीर किं ते हृदि विवक्षितम्॥ ४८ ॥

तात युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यह सारा प्रसंग सुनाया है। दर्शन और सहवाससे कैसा स्नेह होता

है ? गौओंका माहात्म्य क्या है ? तथा इस विषयमें धर्मका निश्चय क्या है ? ये सारी बातें इस प्रसङ्गसे स्पष्ट हो जाती हैं। अब मैं तुम्हें कौन-सी बात बताऊँ ? वीर ! तुम्हारे मनमें क्या सुननेकी इच्छा है ? ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनोपाख्याने एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवनका उपाख्यानविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा कुशिक और उनकी रानीके द्वारा महर्षि च्यवनकी सेवा

युधिष्ठिर उवाच

संशयो मे महाप्राज्ञ सुमहान् सागरोपमः।
तं मे शृणु महाबाहो श्रुत्वा व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाबाहो ! मेरे मनमें एक महासागरके समान महान् संदेह खड़ा हो गया है। महाप्राज्ञ ! उसे सुनिये और सुनकर उसकी व्याख्या कीजिये ॥ १ ॥

कौतूहलं मे सुमहज्जामदग्न्यं प्रति प्रभो।
रामं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

प्रभो ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजीके विषयमें मेरा कौतूहल बढ़ा हुआ है; अतः आप मेरे प्रश्नका विशद विवेचन कीजिये ॥ २ ॥

कथमेष समुत्पन्नो रामः सत्यपराक्रमः।
कथं ब्रह्मर्षिवंशोऽयं क्षत्रधर्मा व्यजायत ॥ ३ ॥

ये सत्यपराक्रमी परशुरामजी कैसे उत्पन्न हुए ! ब्रह्मर्षियोंका यह वंश क्षत्रियधर्मसे सम्पन्न कैसे हो गया ? ॥

तदस्य सम्भवं राजन् निखिलेनानुकीर्तय।
कौशिकाच्च कथं वंशात् क्षत्राद् वै ब्राह्मणो भवेत् ॥४॥

अतः राजन् ! आप परशुरामजीकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग पूर्णरूपसे बताइये। राजा कुशिकका वंश तो क्षत्रिय था, उससे ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति कैसे हुई ? ॥ ४ ॥

अहो प्रभावः सुमहानासीद् वै सुमहात्मनः।
रामस्य च नरव्याघ्र विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ ५ ॥

पुरुषसिंह ! महात्मा परशुराम और विश्वामित्रका महान् प्रभाव अद्भुत था ॥ ५ ॥

कथं पुत्रानतिक्रम्य तेषां नप्तृष्वथाभवत्।
एष दोषः सुतान् हित्वा तत्त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

राजा कुशिक और महर्षि ऋचीक—ये ही अपने-अपने वंशके प्रवर्तक थे। उनके पुत्र गाधि और जमदग्निको लाँघकर उनके पौत्र विश्वामित्र और परशुराममें ही यह विजातीयताका दोष क्यों आया ? इसमें जो यथार्थ कारण हो, उसकी व्याख्या कीजिये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
च्यवनस्य च संवादं कुशिकस्य च भारत ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें महर्षि च्यवन और राजा कुशिकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

एतं दोषं पुरा दृष्ट्वा भार्गवश्च्यवनस्तदा।
आगामिनं महाबुद्धिः स्ववंशे मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥
निश्चित्य मनसा सर्वं गुणदोषबलाबलम्।
दग्धुकामः कुलं सर्वं कुशिकानां तपोधनः ॥ ९ ॥
च्यवनः समनुप्राप्य कुशिकं वाक्यमब्रवीत्।
वस्तुमिच्छा समुत्पन्ना त्वया सह ममानघ ॥ १० ॥

पूर्वकालमें भृगुपुत्र च्यवनको यह बात मालूम हुई कि हमारे वंशमें कुशिक-वंशकी कन्याके सम्बन्धसे क्षत्रियत्वका महान् दोष आनेवाला है। यह जानकर उन परम बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठने मन-ही-मन सारे गुण-दोष और बलाबलका विचार किया। तत्पश्चात् कुशिकोंके समस्त कुलको भस्म कर डालनेकी इच्छासे तपोधन च्यवन राजा कुशिकके पास गये और इस प्रकार बोले—'निष्पाप नरेश ! मेरे मनमें कुछ कालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा हुई है' ॥ ८—१० ॥

कुशिक उवाच

भगवन् सहधर्मोऽयं पण्डितैरिह धार्यते।
प्रदानकाले कन्यानामुच्यते च सदा बुधैः ॥ ११ ॥

कुशिकने कहा—भगवन् ! यह अतिथिसेवारूप सह-धर्म विद्वान् पुरुष यहाँ सदा धारण करते हैं और कन्याओंके प्रदानकाल अर्थात् कन्याके विवाहके समयमें सदा पण्डितजन इसका उपदेश देते हैं ॥ ११ ॥

यत्तु तावदतिक्रान्तं धर्मद्वारं तपोधन।
तत्कार्यं प्रकरिष्यामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

तपोधन ! अबतक तो इस धर्मके मार्गका पालन नहीं हुआ और समय निकल गया, परंतु अब आपके सहयोग और कृपासे इसका पालन करूँगा। अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान करें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अथासनमुपादाय च्यवनस्य महामुनेः।
कुशिको भार्यया सार्धमाजगाम यतो मुनिः ॥ १३ ॥

इतना कहकर राजा कुशिकने महामुनिच्यवनको बैठनेके लिये आसन दिया और स्वयं अपनी पत्नीके साथ उस स्थानपर आये, जहाँ वे मुनि विराजमान थे ॥ १३ ॥

प्रगृह्य राजा भृङ्गारं पाद्यमस्मै न्यवेदयत्।
कारयामास सर्वाश्च क्रियास्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

राजाने स्वयं गड़ुआ हाथमें लेकर मुनिको पैर धोनेके लिये जल निवेदन किया। इसके बाद उन महात्माको अर्घ्य आदि देनेकी सम्पूर्ण क्रियाएँ पूर्ण करायीं ॥ १४ ॥

ततः स राजा च्यवनं मधुपर्कं यथाविधि।
ग्राहयामास चाव्यग्रो महात्मा नियतव्रतः ॥ १५ ॥

इसके बाद नियमतः व्रत पालन करनेवाले महामनस्वी राजा कुशिकने शान्तभावसे च्यवन मुनिको विधिपूर्वक मधुपर्क भोजन कराया ॥ १५ ॥

सत्कृत्य तं तथा विप्रमिदं पुनरथाब्रवीत्।
भगवन् परवन्तौ स्वो ब्रूहि किं करवावहे ॥ १६ ॥

इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिका यथावत् सत्कार करके वे फिर उनसे बोले—'भगवन्! हम दोनों पति-पत्नी आपके अधीन हैं। बताइये, हम आपकी क्या सेवा करें ॥ १६ ॥

यदि राज्यं यदि धनं यदि गाः संशितव्रत।
यज्ञदानानि च तथा ब्रूहि सर्वं ददामि ते ॥ १७ ॥
इदं गृहमिदं राज्यमिदं धर्मासनं च ते।
राजा त्वमसि शाध्युर्वीमहं तु परवांस्त्वयि ॥ १८ ॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! यदि आप राज्य, धन, गौ एवं यज्ञके निमित्त दान लेना चाहते हों तो बतावें। वह सब मैं आपको दे सकता हूँ। यह राजभवन, यह राज्य और यह धर्मानुकूल राज्यसिंहासन-सब आपका है। आप ही राजा हैं, इस पृथ्वीका पालन कीजिये। मैं तो सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला सेवक हूँ' ॥ १७-१८ ॥

एवमुक्ते ततो वाक्ये च्यवनो भार्गवस्तदा।
कुशिकं प्रत्युवाचेदं मुदा परमया युतः ॥ १९ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भृगुपुत्र च्यवन मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और कुशिकसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

न राज्यं कामये राजन् न धनं न च योषितः।
न च गा न च वै देशान् न यज्ञं श्रूयतामिदम् ॥ २० ॥

'राजन्! न मैं राज्य चाहता हूँ न धन। न युवतियोंकी इच्छा रखता हूँ न गौओं, देशों और यज्ञकी ही। आप मेरी यह बात सुनिये ॥ २० ॥

नियमं किंचिदारप्स्ये युवयोर्यदि रोचते।
परिचर्योऽस्मि यत्ताभ्यां युवाभ्यामविशङ्कया ॥ २१ ॥

'यदि आपलोगोंको जँचे तो मैं एक नियम आरम्भ करूँगा। उसमें आप दोनों पति-पत्नीको सर्वथा सावधान रहकर बिना किसी हिचकके मेरी सेवा करनी होगी' ॥ २१ ॥

एवमुक्ते तदा तेन दम्पती तौ जहर्षतुः।
प्रत्यब्रूतां च तमृषिमेवमस्त्विति भारत ॥ २२ ॥

मुनिकी यह बात सुनकर राजदम्पतिको बड़ा हर्ष हुआ। भारत! उन दोनोंने उन्हें उत्तर दिया, 'बहुत अच्छा, हम आपकी सेवा करेंगे' ॥ २२ ॥

अथ तं कुशिको हृष्टः प्रावेशयदनुत्तमम्।
गृहोद्देशं ततस्तस्य दर्शनीयमदर्शयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर राजा कुशिक महर्षि च्यवनको बड़े आनन्दके साथ अपने सुन्दर महलके भीतर ले गये। वहाँ उन्होंने मुनिको एक सजा-सजाया कमरा दिखाया, जो देखने योग्य था।

इयं शय्या भगवतो यथाकाममिहोष्यताम्।
प्रयतिष्यावहे प्रीतिमाहर्तुं ते तपोधन ॥ २४ ॥

उस घरको दिखाकर वे बोले—'तपोधन! यह आपके लिये शय्या बिछी हुई है। आप इच्छानुसार यहाँ आराम कीजिये। हमलोग आपको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करेंगे'

अथ सूर्योऽतिचक्राम तेषां संवदतां तथा।
अथर्षिश्चोदयामास पानमन्नं तथैव च ॥ २५ ॥

इस प्रकार उनमें बातें होते-होते सूर्यास्त हो गया। तब महर्षिने राजाको अन्न और जल ले आनेकी आज्ञा दी ॥ २५ ॥

तमपृच्छत् ततो राजा कुशिकः प्रणतस्तदा।
किमन्नजातमिष्टं ते किमुपस्थापयाम्यहम् ॥ २६ ॥

उस समय राजा कुशिकने उनके चरणोंमें प्रणाम करके पूछा—'महर्षे! आपको कौन-सा भोजन अभीष्ट है? आपकी सेवामें क्या-क्या सामान लाऊँ?' ॥ २६ ॥

ततः स परया प्रीत्या प्रत्युवाच नराधिपम्।
औपपत्तिकमाहारं प्रयच्छस्वेति भारत ॥ २७ ॥

भरतनन्दन! यह सुनकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ राजासे बोले—'तुम्हारे यहाँ जो भोजन तैयार हो, वही ला दो'

तद्वचः पूजयित्वा तु तथेत्याह स पार्थिवः।
यथोपपन्नमाहारं तस्मै प्रादाज्जनाधिप ॥ २८ ॥

नरेश्वर! राजा मुनिके उस कथनका आदर करते हुए 'जो आज्ञा' कहकर गये और जो भोजन तैयार था, उसे लाकर उन्होंने मुनिके सामने प्रस्तुत कर दिया ॥ २८ ॥

ततः स भुक्त्वा भगवान् दम्पती प्राह धर्मवित्।
स्वप्तुमिच्छाम्यहं निद्रा बाधते मामिति प्रभो ॥ २९ ॥

प्रभो ! तदनन्तर भोजन करके धर्मज्ञ भगवान् च्यवनने राजदम्पतिसे कहा—'अब मैं सोना चाहता हूँ, मुझे नींद सता रही है' ॥ २९ ॥

ततः शय्यागृहं प्राप्य भगवानृषिसत्तमः ।
संविवेश नरेशस्तु सपत्नीकः स्थितोऽभवत् ॥ ३० ॥

इसके बाद मुनिश्रेष्ठ भगवान् च्यवन शयनागारमें जाकर सो गये और पत्नीसहित राजा कुशिक उनकी सेवामें खड़े रहे ॥

न प्रबोध्योऽस्मि संसुप्त इत्युवाचाथ भार्गवः ।
संवाहितव्यौ मे पादौ जागृतव्यं च तेऽनिशम् ॥ ३१ ॥

उस समय भृगुपुत्रने उन दोनोंसे कहा—'तुमलोग सोते समय मुझे जगाना मत । मेरे दोनों पैर दबाते रहना और स्वयं भी निरन्तर जागते रहना' ॥ ३१ ॥

अविशङ्कस्तु कुशिकस्तथेत्येवाह धर्मवित् ।
न प्रबोधयतां तौ च दम्पती रजनीक्षये ॥ ३२ ॥

धर्मज्ञ राजा कुशिकने निःशङ्क होकर कहा, 'बहुत अच्छा'। रात बीती, सवेरा हुआ, किंतु उन पति-पत्नीने मुनिको जगाया नहीं ॥ ३२ ॥

यथादेशं महर्षेस्तु शुश्रूषापरमौ तदा ।
बभूवतुर्महाराज प्रयतावथ दम्पती ॥ ३३ ॥

महाराज ! वे दोनों दम्पति मन और इन्द्रियोंको वशमें करके महर्षिके आज्ञानुसार उनकी सेवामें लगे रहे ॥ ३३ ॥

ततः स भगवान् विप्रः समादिश्य नराधिपम् ।
सुष्वापैकेन पार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम् ॥ ३४ ॥

उधर ब्रह्मर्षि भगवान् च्यवन राजाको सेवाका आदेश देकर इक्कीस दिनोंतक एक ही करवटसे सोते रह गये ॥ ३४ ॥

स तु राजा निराहारः सभार्यः कुरुनन्दन ।
पर्युपासत तं हृष्टश्च्यवनाराधने रतः ॥ ३५ ॥

कुरुनन्दन ! राजा और रानी बिना कुछ खाये-पीये हर्षपूर्वक महर्षिकी उपासना और आराधनामें लगे रहे ॥ ३५ ॥

भार्गवस्तु समुत्तस्थौ स्वयमेव तपोधनः ।
अकिंचिदुक्त्वा तु गृहान्निश्चक्राम महातपाः ॥ ३६ ॥

बाईसवें दिन तपस्याके धनी महातपस्वी च्यवन अपने आप उठे और राजासे कुछ कहे बिना ही महलसे बाहर निकल गये ॥ ३६ ॥

तमन्वगच्छतां तौ च क्षुधितौ श्रमकर्शितौ ।
भार्यापती मुनिश्रेष्ठस्तावेतौ नावलोकयत् ॥ ३७ ॥

राजा-रानी भूखसे पीड़ित और परिश्रमसे दुर्बल हो गये थे । तो भी वे मुनिके पीछे-पीछे गये, परंतु उन मुनिश्रेष्ठने इन दोनोंकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं ॥ ३७ ॥

तयोस्तु प्रेक्षतोरेव भार्गवाणां कुलोद्वहः ।
अन्तर्हितोऽभूद् राजेन्द्र ततो राजापतत् क्षितौ ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! वे भृगुकुलशिरोमणि राजा-रानीके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये । इससे अत्यन्त दुखी हो राजा पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य सह देव्या महाद्युतिः ।
पुनरन्वेषणे यत्नमकरोत् परमं तदा ॥ ३९ ॥

दो घड़ीमें किसी तरह अपनेको सँभालकर वे महातेजस्वी राजा उठे और महारानीको साथ लेकर पुनः मुनिको ढूँढ़नेका महान् प्रयत्न करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवन मुनिके द्वारा राजा-रानीके धैर्यकी परीक्षा और उनकी सेवासे प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद देना

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते विप्रे राजा किमकरोत् तदा ।
भार्या चास्य महाभागा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! च्यवन मुनिके अन्तर्धान हो जानेपर राजा कुशिक और उनकी महान् सौभाग्यशालिनी पत्नीने क्या किया ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अदृष्ट्वा स महीपालस्तमृषिं सह भार्यया ।
परिश्रान्तो निववृते व्रीडितो नष्टचेतनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पत्नीसहित भूपालने बहुत ढूँढ़नेपर भी जब ऋषिको नहीं देखा, तब वे थककर लौट आये । उस समय उन्हें बड़ा संकोच हो रहा था । वे अचेत-से हो गये थे ॥ २ ॥

स प्रविश्य पुरीं दीनो नाभ्यभाषत किंचन ।
तदेव चिन्तयामास च्यवनस्य विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

वे दीनभावसे पुरीमें प्रवेश करके किसीसे कुछ बोले नहीं। केवल च्यवन मुनिके चरित्रपर मन-ही-मन विचार करने लगे॥

अथ शून्येन मनसा प्रविश्य स्वगृहं नृपः ।
ददर्श शयने तस्मिन् शयानं भृगुनन्दनम् ॥ ४ ॥

राजाने सूने मनसे जब घरमें प्रवेश किया, तब भृगुनन्दन महर्षि च्यवनको पुनः उसी शय्यापर सोते देखा ॥ ४ ॥

विस्मितौ तमृषिं दृष्ट्वा तदाश्चर्यं विचिन्त्य च ।
दर्शनात् तस्य तु तदा विश्रान्तौ सम्बभूवतुः ॥ ५ ॥

उन महर्षिको देखकर उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ । वे उस आश्चर्यजनक घटनापर विचार करके चकित हो गये । मुनिके दर्शनसे उन दोनोंकी सारी थकावट दूर हो गयी॥५॥

यथास्थानं च तौ स्थित्वा भूयस्तं संववाहतुः ।
अथापरेण पार्श्वेन सुष्वाप स महामुनिः ॥ ६ ॥

वे फिर यथास्थान खड़े रहकर मुनिके पैर दबाने लगे । अबकी बार वे महामुनि दूसरी करवटसे सोये थे ॥ ६ ॥

तेनैव च स कालेन प्रत्यबुद्ध्यत वीर्यवान् ।
न च तौ चक्रतुः किंचिद् विकारं भयशङ्कितौ ॥ ७ ॥

शक्तिशाली च्यवन मुनि फिर उतने ही समयमें सोकर उठे । राजा और रानी उनके भयसे शङ्कित थे, अतः उन्होंने अपने मनमें तनिक भी विकार नहीं आने दिया ॥ ७॥

प्रतिबुद्धस्तु स मुनिस्तौ प्रोवाच विशाम्पते ।
तैलाभ्यङ्गो दीयतां मे स्नास्येऽहमिति भारत ॥ ८ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! जब वे मुनि जागे, तब राजा और रानीसे इस प्रकार बोले—'तुमलोग मेरे शरीरमें तेलकी मालिश करो; क्योंकि अब मैं स्नान करूँगा' ॥ ८ ॥

तौ तथेति प्रतिश्रुत्य क्षुधितौ श्रमकर्शितौ ।
शतपाकेन तैलेन महार्हेणोपतस्थतुः ॥ ९ ॥

यद्यपि राजा-रानी भूख-प्याससे पीड़ित और अत्यन्त दुर्बल हो गये थे तो भी 'बहुत अच्छा' कहकर वे राजदम्पति सौ बार पकाकर तैयार किये हुए बहुमूल्य तेलको लेकर उनकी सेवामें जुट गये ॥ ९ ॥

ततः सुखासीनमृषिं वाग्यतौ संववाहतुः ।
न च पर्याप्तमित्याह भार्गवः सुमहातपाः ॥ १० ॥

ऋषि आनन्दसे बैठ गये और वे दोनों दम्पति मौन हो उनके शरीरमें तेल मलने लगे । परंतु महातपस्वी भृगुपुत्र च्यवनने अपने मुँहसे एक बार भी नहीं कहा कि 'बस, अब रहने दो, तेलकी मालिश पूरी हो गयी' ॥ १० ॥

यदा तौ निर्विकारौ तु लक्षयामास भार्गवः ।
तत उत्थाय सहसा स्नानशालां विवेश ह ॥ ११ ॥

भृगुपुत्रने इतनेपर भी जब राजा और रानीके मनमें कोई विकार नहीं देखा, तब सहसा उठकर वे स्नानागारमें चले गये ॥ ११ ॥

क्लृप्तमेव तु तत्रासीत् स्नानीयं पार्थिवोचितम् ।
असत्कृत्य च तत् सर्वं तत्रैवान्तरधीयत ॥ १२ ॥
स मुनिः पुनरेवाथ नृपतेः पश्यतस्तदा ।
नासूयां चक्रतुस्तौ च दम्पती भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ स्नानके लिये राजोचित सामग्री पहलेसे ही तैयार करके रखी गयी थी; किंतु उस सारी सामग्रीकी अवहेलना करके—उसका किंचित् भी उपयोग न करके वे मुनि पुनः राजाके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये; तो भी उन पति-पत्नीने उनके प्रति दोष-दृष्टि नहीं की ॥ १२-१३ ॥

अथ स्नातः स भगवान् सिंहासनगतः प्रभुः ।
दर्शयामास कुशिकं सभार्यं कुरुनन्दन ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर शक्तिशाली भगवान् च्यवन मुनि पत्नीसहित राजा कुशिकको स्नान करके सिंहासनपर बैठे दिखायी दिये ॥ १४ ॥

संहृष्टवदनो राजा सभार्यः कुशिको मुनिम् ।
सिद्धमन्नमिति प्रह्वो निर्विकारो न्यवेदयत् ॥ १५ ॥

उन्हें देखते ही पत्नीसहित राजाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । उन्होंने निर्विकारभावसे मुनिके पास जाकर विनयपूर्वक यह निवेदन किया कि 'भोजन तैयार है' ॥ १५ ॥

आनीयतामिति मुनिस्तं चोवाच नराधिपम् ।
स राजा समुपाजह्रे तदन्नं सह भार्यया ॥ १६ ॥

तब मुनिने राजासे कहा, 'ले आओ ।' आज्ञा पाकर पत्नीसहित नरेशने मुनिके सामने भोजन-सामग्री प्रस्तुत की ॥

मांसप्रकारान् विविधाञ्शाकानि विविधानि च ।
वेसवारविकारांश्च पानकानि लघूनि च ॥ १७ ॥
रसालापूपकांश्चित्रान् मोदकानथ खाण्डवान् ।
रसान् नानाप्रकारांश्च वन्यं च मुनिभोजनम् ॥ १८ ॥
फलानि च विचित्राणि राजभोज्यानि भूरिशः ।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यभल्लातकफलानि च ॥ १९ ॥
गृहस्थानां च यद् भोज्यं यच्चापि वनवासिनाम् ।
सर्वमाहारयामास राजा शापभयात् ततः ॥ २० ॥

नाना प्रकारके फलोंके गूदे, भाँति भाँतिके साग, अनेक प्रकारके व्यञ्जन, हल्के पेय पदार्थ, स्वादिष्ट पूए, विचित्र मोदक (लड्डू), खाँड, नाना प्रकारके रस, मुनियोंके खाने योग्य जंगली कंद मूल, विचित्र फल, राजाओंके उपभोगमें आनेवाले अनेक प्रकारके पदार्थ, बेर, इङ्गुद, काश्मर्य, भल्लातक फल तथा गृहस्थों और वानप्रस्थोंके खाद्य पदार्थ—सब कुछ राजाने शापके डरसे मँगाकर प्रस्तुत कर दिया था॥

अथ सर्वमुपन्यस्तमग्रतश्च्यवनस्य तत्।
ततः सर्वं समानीय तच्च शय्यासनं मुनिः ॥ २१ ॥
वस्त्रैः शुभैरवच्छाद्य भोजनोपस्करैः सह।
सर्वमादीपयामास च्यवनो भृगुनन्दनः ॥ २२ ॥

यह सब सामग्री च्यवन मुनिके आगे परोसकर रखी गयी। मुनिने वह सब लेकर उसको तथा शय्या और आसनको भी सुन्दर वस्त्रोंसे ढक दिया। इसके बाद भृगुनन्दन च्यवनने भोजन-सामग्रीके साथ उन वस्त्रोंमें भी आग लगा दी।२१-२२।

न च तौ चक्रतुः क्रोधं दम्पती सुमहामती।
तयोः सम्प्रेक्षतोरेव पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २३ ॥

परंतु उन परम बुद्धिमान् दम्पतिने उनपर क्रोध नहीं प्रकट किया। उन दोनोंके देखते ही-देखते वे मुनि फिर अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

तथैव च स राजर्षिस्तस्थौ तां रजनीं तदा।
सभार्यो वाग्यतः श्रीमान् न च कोपं समाविशत्॥२४॥

वे श्रीमान् राजर्षि अपनी स्त्रीके साथ उसी तरह वहाँ रातभर चुपचाप खड़े रह गये; किंतु उनके मनमें क्रोधका आवेश नहीं हुआ ॥ २४ ॥

नित्यसंस्कृतमन्नं तु विविधं राजवेश्मनि।
शयनानि च मुख्यानि परिषेकाश्च पुष्कलाः ॥ २५ ॥

प्रतिदिन भाँति-भाँतिका भोजन तैयार करके राजभवनमें मुनिके लिये परोसा जाता, अच्छे-अच्छे पलंग बिछाये जाते तथा स्नानके लिये बहुत-से पात्र रखे जाते थे ॥ २५॥

वस्त्रं च विविधाकारमभवत् समुपार्जितम्।
न शशाक ततो द्रष्टुमन्तरं च्यवनस्तदा ॥ २६ ॥
पुनरेव च विप्रर्षिः प्रोवाच कुशिकं नृपम्।
सभार्यो मां रथेनाशु वह यत्र ब्रवीम्यहम् ॥ २७ ॥

अनेक प्रकारके वस्त्र ला-लाकर उनकी सेवामें समर्पित किये जाते थे। जब ब्रह्मर्षि च्यवन मुनि इन सब कार्योंमें कोई छिद्र न देख सके, तब फिर राजा कुशिकसे बोले—'तुम रानीसहित रथमें जुत जाओ और मैं जहाँ कहूँ, वहाँ मुझे शीघ्र ले चलो' ॥ २६-२७ ॥

तथेति च प्राह नृपो निर्विशङ्कस्तपोधनम्।
क्रीडारथोऽस्तु भगवन्नुत सांग्रामिको रथः ॥ २८ ॥

तब राजाने निःशङ्क होकर उन तपोधनसे कहा—'बहुत अच्छा, भगवन्! क्रीड़ाका रथ तैयार किया जाय या युद्धके उपयोगमें आनेवाला रथ?' ॥ २८ ॥

इत्युक्तः स मुनी राज्ञा तेन हृष्टेन तद्वचः।
च्यवनः प्रत्युवाचेदं हृष्टः परपुरंजयम् ॥ २९ ॥

हर्षमें भरे हुए राजाके इस प्रकार पूछनेपर च्यवन मुनिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उन नरेशसे कहा—॥ २९ ॥

सज्जीकुरु रथं क्षिप्रं यस्ते सांग्रामिको मतः।
सायुधः सपताकश्च शक्तीकनकयष्टिमान् ॥ ३० ॥

'राजन्! तुम्हारा जो युद्धोपयोगी रथ है, उसीको शीघ्र तैयार करो। उसमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र रखे रहें। पताका, शक्ति और सुवर्णदण्ड विद्यमान हों ॥ ३० ॥

किङ्किणीस्वननिर्घोषो युक्तस्तोरणकल्पनैः।
जाम्बूनदनिबद्धश्च परमेषुशतान्वितः ॥ ३१ ॥

'उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटियोंके मधुर शब्द सब ओर फैलते रहें। वह रथ वन्दनवारोंसे सजाया गया हो। उसके ऊपर जाम्बूनद नामक सुवर्ण जड़ा हुआ हो तथा उसमें अच्छे-अच्छे सैकड़ों बाण रखे गये हों' ॥ ३१ ॥

ततः स तं तथेत्युक्त्वा कल्पयित्वा महारथम्।
भार्यां वामे धुरि तदा चात्मानं दक्षिणे तथा ॥ ३२ ॥

तब राजा 'जो आज्ञा' कहकर गये और एक विशाल रथ तैयार करके ले आये। उसमें बायीं ओरका बोझ ढोनेके लिये रानीको लगाकर स्वयं वे दाहिनी ओर जुट गये ॥ ३२ ॥

त्रिदण्डं वज्रसूच्यग्रं प्रतोदं तत्र चादधत्।
सर्वमेतत् तथा दत्त्वा नृपो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

उस रथपर उन्होंने एक ऐसा चाबुक भी रख दिया, जिसमें आगेकी ओर तीन दण्ड थे और जिसका अग्रभाग सूईकी नोंकके समान तीखा था। यह सब सामान प्रस्तुत करके राजाने पूछा—॥ ३३ ॥

भगवन् क्व रथो यातु ब्रवीतु भृगुनन्दन।
यत्र वक्ष्यसि विप्रर्षे तत्र यास्यति ते रथः ॥ ३४ ॥

'भगवन्! भृगुनन्दन! बताइये, यह रथ कहाँ जाय? ब्रह्मर्षे! आप जहाँ कहेंगे, वहीं आपका रथ चलेगा' ॥३४॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाचाथ तं नृपम्।
इतः प्रभृति यातव्यं पदकं पदकं शनैः ॥ ३५ ॥
श्रमो मम यथा न स्यात् तथा मच्छन्दचारिणौ।
सुसुखं चैव वोढव्यो जनः सर्वश्च पश्यतु ॥ ३६ ॥

राजाके ऐसा पूछनेपर भगवान् च्यवन मुनिने उनसे कहा—'यहाँसे तुम बहुत धीरे-धीरे एक-एक कदम उठाकर चलो। यह ध्यान रखो कि मुझे कष्ट न होने पाये। तुम

दोनोंको मेरी मर्जीके अनुसार चलना होगा । तुमलोग इस प्रकार इस रथको ले चलो, जिससे मुझे अधिक आराम मिले और सब लोग देखें ॥ ३५-३६ ॥

नोत्सार्याः पथिकाः केचित् तेभ्यो दास्ये वसु ह्यहम् ।
ब्राह्मणेभ्यश्च ये कामानर्थयिष्यन्ति मां पथि ॥ ३७ ॥

'रास्तेसे किसी राहगीरको हटाना नहीं चाहिये, मैं उन सबको धन दूँगा । मार्गमें जो ब्राह्मण मुझसे जिस वस्तुकी प्रार्थना करेंगे, मैं उनको वही वस्तु प्रदान करूँगा ॥ ३७ ॥

सर्वान् दास्याम्यशेषेण धनं रत्नानि चैव हि ।
क्रियतां निखिलेनैतन्मा विचारय पार्थिव ॥ ३८ ॥

'मैं सबको उनकी इच्छाके अनुसार धन और रत्न बाँटूँगा । अतः इन सबके लिये पूरा-पूरा प्रबन्ध कर लो । पृथ्वीनाथ ! इसके लिये मनमें कोई विचार न करो' ॥ ३८ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा भृत्यांस्तथाब्रवीत् ।
यद् यद् ब्रूयान्मुनिस्तत्तत् सर्वं देयमशङ्कितैः ॥ ३९ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर राजाने अपने सेवकोंसे कहा— 'ये मुनि जिस-जिस वस्तुके लिये आज्ञा दें, वह सब निःशङ्क होकर देना' ॥ ३९ ॥

ततो रत्नान्यनेकानि स्त्रियो युग्यमजाविकम् ।
कृताकृतं च कनकं गजेन्द्राश्चाचलोपमाः ॥ ४० ॥
अन्वगच्छन्त तमृषिं राजामात्याश्च सर्वशः ।
हाहाभूतं च तत् सर्वमासीन्नगरमार्तवत् ॥ ४१ ॥

राजाकी इस आज्ञाके अनुसार नाना प्रकारके रत्न, स्त्रियाँ, वाहन, बकरे, भेड़ें, सोनेके अलंकार, सोना और पर्वतोपम गजराज—ये सब मुनिके पीछे-पीछे चले । राजाके सम्पूर्ण मन्त्री भी इन वस्तुओंके साथ थे । उस समय सारा नगर आर्त होकर हाहाकार कर रहा था ॥ ४०-४१ ॥

तौ तीक्ष्णाग्रेण सहसा प्रतोदेन प्रतोदितौ ।
पृष्ठे विद्धौ कटे चैव निर्विकारौ तमूहतुः ॥ ४२ ॥

इतनेहीमें मुनिने सहसा चाबुक उठाया और उन दोनों-की पीठपर जोरसे प्रहार किया । उस चाबुकका अग्रभाग बड़ा तीखा था । उसकी करारी चोट पड़ते ही राजा-रानीकी पीठ और कमरमें घाव हो गया । फिर भी वे निर्विकारभावसे रथ ढोते रहे ॥ ४२ ॥

वेपमानौ निराहारौ पञ्चाशद्रात्रकर्शितौ ।
कथंचिदूहतुर्वीरौ दम्पती तं रथोत्तमम् ॥ ४३ ॥

पचास राततक उपवास करनेके कारण वे बहुत दुबले हो गये थे, उनका सारा शरीर काँप रहा था; तथापि वे वीर दम्पति किसी प्रकार साहस करके उस विशाल रथका बोझ ढो रहे थे ॥

बहुशो भृशविद्धौ तौ स्रवन्तौ च क्षतोद्भवम् ।
ददृशाते महाराज पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४४ ॥

महाराज ! वे दोनों बहुत घायल हो गये थे । उनकी पीठपर जो अनेक घाव हो गये थे, उनसे रक्त बह रहा था । खूनसे लथपथ होनेके कारण वे खिले हुए पलाशके फूलोंके समान दिखायी देते थे ॥ ४४ ॥

तौ दृष्ट्वा पौरवर्गस्तु भृशं शोकसमाकुलः ।
अभिशापभयत्रस्तो न च किंचिदुवाच ह ॥ ४५ ॥

पुरवासियोंका समुदाय उन दोनोंकी यह दुर्दशा देखकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । सब लोग मुनिके शापसे डरते थे; इसलिये कोई कुछ बोल नहीं रहा था ॥ ४५ ॥

द्वन्द्वशश्चाब्रुवन् सर्वे पश्यध्वं तपसो बलम् ।
क्रुद्धा अपि मुनिश्रेष्ठं वीक्षितुं नेह शक्नुमः ॥ ४६ ॥

दो-दो आदमी अलग-अलग खड़े होकर आपसमें कहने लगे—'भाइयो ! सब लोग मुनिकी तपस्याका बल तो देखो, हमलोग क्रोधमें भरे हुए हैं तो भी मुनिश्रेष्ठकी ओर यहाँ आँख उठाकर देख भी नहीं सकते ॥ ४६ ॥

अहो भगवतो वीर्यं महर्षेर्भावितात्मनः ।
राज्ञश्चापि सभार्यस्य धैर्यं पश्यत यादृशम् ॥ ४७ ॥

'इन विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि भगवान् च्यवनकी तपस्याका बल अद्भुत है । तथा महाराज और महारानीका धैर्य भी कैसा अनूठा है । यह अपनी आँखों देख लो ॥४७॥

श्रान्तावपि हि कृच्छ्रेण रथमेनं समूहतुः ।
न चैतयोर्विकारं वै ददर्श भृगुनन्दनः ॥ ४८ ॥

'ये इतने थके होनेपर भी कष्ट उठाकर इस रथको खींचे जा रहे हैं । भृगुनन्दन च्यवन अभीतक इनमें कोई विकार नहीं देख सके हैं' ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

ततः स निर्विकारौ तु दृष्ट्वा भृगुकुलोद्वहः ।
वसु विश्राणयामास यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भृगुकुलशिरोमणि मुनिवर च्यवनने जब इतनेपर भी राजा और रानीके मनमें कोई विकार नहीं देखा, तब वे कुबेरकी तरह उनका सारा धन लुटाने लगे ॥ ४९ ॥

तत्रापि राजा प्रीतात्मा यथादिष्टमथाकरोत् ।
ततोऽस्य भगवान् प्रीतो बभूव मुनिसत्तमः ॥ ५० ॥

परंतु इस कार्यमें भी राजा कुशिक बड़ी प्रसन्नताके साथ ऋषिकी आज्ञाका पालन करने लगे । इससे मुनिश्रेष्ठ भगवान् च्यवन बहुत संतुष्ट हुए ॥ ५० ॥

अवतीर्य रथश्रेष्ठाद् दम्पती तौ मुमोच ह ।
विमोच्य चैतौ विधिवत् ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ५१

उस उत्तम रथसे उतरकर उन्होंने दोनों पति-पत्नीको भार ढोनेके कार्यसे मुक्त कर दिया। मुक्त करके इन दोनोंसे विधिपूर्वक वार्तालाप किया ॥ ५१ ॥

स्निग्धगम्भीरया वाचा भार्गवः सुप्रसन्नया।
ददानि वां वरं श्रेष्ठं तं ब्रूतामिति भारत ॥ ५२ ॥

भारत ! भृगुपुत्र च्यवन उस समय स्नेह और प्रसन्नता-से युक्त गम्भीर वाणीमें बोले—'मैं तुम दोनोंको उत्तम वर देना चाहता हूँ, बतलाओ क्या दूँ ?' ॥ ५२ ॥

सुकुमारौ च तौ विद्धौ कराभ्यां मुनिसत्तमः।
पस्पर्शामृतकल्पाभ्यां स्नेहाद् भरतसत्तम ॥ ५३ ॥

भरतभूषण ! यह कहते-कहते मुनिश्रेष्ठ च्यवन चाबुकसे घायल हुए उन दोनों सुकुमार राजदम्पतिकी पीठपर स्नेहवश अमृतके समान कोमल हाथ फेरने लगे ॥ ५३ ॥

अथाब्रवीन्नृपो वाक्यं श्रमो नास्त्यावयोरिह।
विश्रान्तौ च प्रभावात् ते ऊचतुस्तौ तु भार्गवम् ॥ ५४ ॥
अथ तौ भगवान् प्राह प्रहृष्टश्च्यवनस्तदा।
न वृथा व्याहृतं पूर्वं यन्मया तद् भविष्यति ॥ ५५ ॥

उस समय राजाने भृगुपुत्र च्यवनसे कहा—'अब हम दोनोंको यहाँ तनिक भी थकावटका अनुभव नहीं हो रहा है। हम दोनों आपके प्रभावसे पूर्ण विश्राम-सुखका अनुभव करने लगे हैं।' जब दोनोंने इस प्रकार कहा, तब भगवान् च्यवन पुनः हर्षमें भरकर बोले—'मैंने पहले जो कुछ कहा है, वह व्यर्थ नहीं होगा, पूर्ण होकर ही रहेगा ॥ ५४-५५ ॥

रमणीयः समुद्देशो गङ्गातीरमिदं शुभम्।
किंचित्कालं व्रतपरो निवत्स्यामीह पार्थिव ॥ ५६ ॥

'पृथ्वीनाथ ! यह गङ्गाका सुन्दर तट बड़ा ही रमणीय स्थान है। मैं कुछ कालतक व्रतपरायण होकर यहीं रहूँगा ॥

गम्यतां स्वपुरं पुत्र विश्रान्तः पुनरेष्यसि।
इहस्थं मां सभार्यस्त्वं द्रष्टासि श्वो नराधिप ॥ ५७ ॥

'बेटा ! इस समय तुम अपने नगरमें जाओ और अपनी थकावट दूर करके कल सबेरे अपनी पत्नीके साथ फिर यहाँ आना। नरेश्वर ! कल पत्नीसहित तुम मुझे यहीं देखोगे ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः श्रेयस्ते समुपस्थितम्।
यत् काङ्क्षितं हृदिस्थं ते तत् सर्वं हि भविष्यति ॥ ५८ ॥

'तुम्हें अपने मनमें खेद नहीं करना चाहिये। अब तुम्हारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है। तुम्हारे मनमें जो-जो अभिलाषा होगी, वह सब पूर्ण हो जायगी' ॥ ५८ ॥

इत्येवमुक्तः कुशिकः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
प्रोवाच मुनिशार्दूलमिदं वचनमर्थवत् ॥ ५९ ॥
न मे मन्युर्महाभाग पूतौ स्वो भगवंस्त्वया।
संवृत्तौ यौवनस्थौ स्वो वपुष्मन्तौ बलान्वितौ ॥ ६० ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा कुशिकने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर उन मुनिश्रेष्ठसे यह अर्थयुक्त वचन कहा—'भगवन् ! महाभाग ! आपने हमलोगोंको पवित्र कर दिया। हमारे मनमें तनिक भी खेद या रोष नहीं है। हम दोनोंकी तरुण अवस्था हो गयी तथा हमारा शरीर सुन्दर और बलवान् हो गया ॥ ५९-६० ॥

प्रतोदेन व्रणा ये मे सभार्यस्य त्वया कृताः।
तान् न पश्यामि गात्रेषु स्वस्थोऽस्मि सह भार्यया ॥ ६१ ॥

'आपने पत्नीसहित मेरे शरीरपर चाबुक मार-मारकर जो घाव कर दिये थे, उन्हें भी अब मैं अपने अङ्गोंमें नहीं देख रहा हूँ। मैं पत्नीसहित पूर्ण स्वस्थ हूँ ॥ ६१ ॥

इमां च देवीं पश्यामि वपुषाप्सरसोपमाम्।
श्रिया परमया युक्तां यथा दृष्टा पुरा मया ॥ ६२ ॥

'मैं अपनी इन महारानीको परम उत्तम कान्तिसे युक्त तथा अप्सराके समान मनोहर देख रहा हूँ। ये पहले मुझे जैसी दिखायी देती थीं वैसी ही हो गयी हैं ॥ ६२ ॥

तव प्रसादसंवृत्तमिदं सर्वं महामुने।
नैतच्चित्रं तु भगवंस्त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ६३ ॥

'महामुने ! यह सब आपके कृपाप्रसादसे सम्भव हुआ है। भगवन् ! आप सत्यपराक्रमी हैं। आप-जैसे तपस्वियोंमें ऐसी शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है' ॥ ६३ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं कुशिकं च्यवनस्तदा।
आगच्छेथाः सभार्यश्च त्वमिहेति नराधिप ॥ ६४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिवर च्यवन पुनः राजा कुशिकसे बोले—'नरेश्वर ! तुम पुनः अपनी पत्नीके साथ कल यहाँ आना' ॥ ६४ ॥

इत्युक्तः समनुज्ञातो राजर्षिरभिवाद्य तम्।
प्रययौ वपुषा युक्तो नगरं देवराजवत् ॥ ६५ ॥

महर्षिकी यह आज्ञा पाकर राजर्षि कुशिक उन्हें प्रणाम करके विदा ले देवराजके समान तेजस्वी शरीरसे युक्त हो अपने नगरकी ओर चल दिये ॥ ६५ ॥

तत एनमुपाजग्मुरमात्याः सपुरोहिताः।
बलस्था गणिकायुक्ताः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ ६६ ॥

तदनन्तर उनके पीछे-पीछे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, नर्तकियाँ तथा समस्त प्रजावर्गके लोग चले ॥ ६६ ॥

तैर्वृतः कुशिको राजा श्रिया परमया ज्वलन्।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूज्यमानोऽथ बन्दिभिः ॥ ६७ ॥

उनसे घिरे हुए राजा कुशिक उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने बड़े हर्षके साथ नगरमें प्रवेश किया। उस समय बन्दीजन उनके गुण गा रहे थे ॥ ६७ ॥

ततः प्रविश्य नगरं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।

भुक्त्वा सभार्यो रजनीमुवास स महाद्युतिः ॥ ६८ ॥

नगरमें प्रवेश करके उन्होंने पूर्वाह्णकालकी सम्पूर्ण क्रियाएँ सम्पन्न कीं। फिर पत्नीसहित भोजन करके उन महातेजस्वी नरेशने रातको महलमें निवास किया ॥ ६८ ॥

ततस्तु तौ नवमभिवीक्ष्य यौवनं
परस्परं विगतरुजाविवामरौ ।
ननन्दतुः शयनगतौ वपुर्धरौ
श्रिया युतौ द्विजवरदत्तया तदा॥ ६९ ॥

वे दोनों पति-पत्नी नीरोग देवताओंके समान दिखायी देते थे। वे एक दूसरेके शरीरमें नयी जवानीका प्रवेश हुआ देखकर शय्यापर सोये-सोये बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे। द्विजश्रेष्ठ च्यवनकी दी हुई उत्तम शोभासे सम्पन्न नूतन शरीर धारण किये वे दोनों दम्पति बहुत प्रसन्न थे ॥ ६९ ॥

अथाप्यृषिर्भृगुकुलकीर्तिवर्धन-
स्तपोधनो वनमभिराममृद्धिमत् ।
मनीषया बहुविधरत्नभूषितं
ससर्ज यन्न पुरि शतक्रतोरपि ॥ ७० ॥

इधर भृगुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले, तपस्याके धनी महर्षि च्यवनने गङ्गातटके तपोवनको अपने संकल्पद्वारा नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित करके समृद्धिशाली एवं नयनाभिराम बना दिया। वैसा कमनीय कानन इन्द्रपुरी अमरावतीमें भी नहीं था ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनके प्रभावसे राजा कुशिक और उनकी रानीको अनेक आश्चर्यमय दृश्योंका दर्शन एवं च्यवन मुनिका प्रसन्न होकर राजाको वर माँगनेके लिये कहना

भीष्म उवाच

ततः स राजा राज्यन्ते प्रतिबुद्धो महामनाः ।
कृतपूर्वाह्णिकः प्रायात् सभार्यस्तद् वनं प्रति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् रात्रि व्यतीत होनेपर महामना राजा कुशिक जागे और पूर्वाह्ण कालके नैत्यिक नियमोंसे निवृत्त होकर अपनी रानीके साथ उस तपोवनकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

ततो ददर्श नृपतिः प्रासादं सर्वकाञ्चनम् ।
मणिस्तम्भसहस्राढ्यं गन्धर्वनगरोपमम् ॥ २ ॥

वहाँ पहुँचकर नरेशने एक सुन्दर महल देखा, जो सारा-का-सारा सोनेका बना हुआ था। उसमें मणियोंके हजारों खम्भे लगे हुए थे और वह अपनी शोभासे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ॥ २ ॥

तत्र दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुशिकस्तदा ।
पर्वतान् रूप्यसानूंश्च नलिनीश्च सपङ्कजाः ॥ ३ ॥
चित्रशालाश्च विविधास्तोरणानि च भारत ।
शाद्वलोपचितां भूमिं तथा काञ्चनकुट्टिमाम् ॥ ४ ॥

भारत! उस समय राजा कुशिकने वहाँ शिल्पियोंके अभिप्रायके अनुसार निर्मित और भी बहुत-से दिव्य पदार्थ देखे। कहीं चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित पर्वत, कहीं कमलोंसे भरे सरोवर, कहीं भाँति-भाँतिकी चित्रशालाएँ तथा तोरण शोभा पा रहे थे। भूमिपर कहीं सोनेसे मढ़ा हुआ पक्का फर्श और कहीं हरी-हरी घासकी बहार थी ॥ ३-४ ॥

सहकारान् प्रफुल्लांश्च केतकोद्दालकान् वरान् ।
अशोकान् सहकुन्दांश्च फुल्लांश्चैवातिमुक्तकान्॥ ५ ॥
चम्पकांस्तिलकान् भव्यान् पनसान् वञ्जुलानपि ।
पुष्पितान् कर्णिकारांश्च तत्र तत्र ददर्श ह ॥ ६ ॥

अमराइयोंमें बौर लगे थे। जहाँ-तहाँ केतक, उद्दालक, अशोक, कुन्द, अतिमुक्तक, चम्पा, तिलक, कटहल, बेंत और कनेर आदिके सुन्दर वृक्ष खिले हुए थे। राजा और रानीने उन सबको देखा ॥ ५-६ ॥

श्यामान् वारणपुष्पांश्च तथाष्टपदिका लताः ।
तत्र तत्र परिक्लृप्ता ददर्श स महीपतिः ॥ ७ ॥

राजाने विभिन्न स्थानोंमें निर्मित श्याम तमाल, वारण-पुष्प तथा अष्टपदिका लताओंका दर्शन किया ॥ ७ ॥

रम्यान् पद्मोत्पलधरान् सर्वर्तुकुसुमांस्तथा ।
विमानप्रतिमांश्चापि प्रासादान् शैलसंनिभान्॥ ८ ॥

कहीं कमल और उत्पलसे भरे हुए रमणीय सरोवर शोभा पाते थे। कहीं पर्वत-सदृश ऊँचे ऊँचे महल दिखायी देते थे, जो विमानके आकारमें बने हुए थे। वहाँ सभी ऋतुओंके फूल खिले हुए थे ॥ ८ ॥

शीतलानि च तोयानि क्वचिदुष्णानि भारत ।
आसनानि विचित्राणि शयनप्रवराणि च ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! कहीं शीतल जल थे तो कहीं उष्ण, उन महलोंमें विचित्र आसन और उत्तमोत्तम शय्याएँ बिछी हुई थीं ॥ ९ ॥

पर्यङ्कान् रत्नसौवर्णान् परार्ध्यास्तरणावृतान् ।
भक्ष्यं भोज्यमनन्तं च तत्र तत्रोपकल्पितम् ॥ १० ॥

सोनेके बने हुए रत्नजटित पलंगोंपर बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे । विभिन्न स्थानोंमें अनन्त भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे गये थे ॥ १० ॥

वाणीवादाञ्छुकांश्चैव सारिकान् भृङ्गराजकान् ।
कोकिलाञ्छतपत्रांश्च सकोयष्टिककुक्कुभान् ॥ ११ ॥
मयूरान् कुक्कुटांश्चापि दात्यूहान् जीवजीवकान् ।
चकोरान् वानरान् हंसान् सारसांश्चक्रसाह्वयान् ॥ १२ ॥
समन्ततः प्रमुदितान् ददर्श सुमनोहरान् ।

राजाने देखा, मनुष्योंकी-सी वाणी बोलनेवाले तोते और सारिकाएँ चहक रही हैं । भृङ्गराज, कोयल, शतपत्र, कोयष्टि, कुक्कुभ, मोर, मुर्गे, दात्यूह, जीवजीवक, चकोर, वानर, हंस, सारस और चक्रवाक आदि मनोहर पशु-पक्षी चारों ओर सानन्द विचर रहे हैं ॥ ११-१२½ ॥

क्वचिदप्सरसां संघान् गन्धर्वाणां च पार्थिव ॥ १३ ॥
कान्ताभिरपरांस्तत्र परिष्वक्तान् ददर्श ह ।
न ददर्श च तान् भूयो ददर्श च पुनर्नृपः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! कहीं झुंड-की-झुंड अप्सराएँ विहार कर रही थीं । कहीं गन्धर्वोंके समुदाय अपनी प्रियतमाओंके आलिङ्गन-पाशमें बँधे हुए थे । इन सबको राजाने देखा । वे कभी उन्हें देख पाते थे और कभी नहीं देख पाते थे ॥

गीतध्वनिं सुमधुरं तथैवाध्यापनध्वनिम् ।
हंसान् सुमधुरांश्चापि तत्र शुश्राव पार्थिवः ॥ १५ ॥

राजा कभी संगीतकी मधुर ध्वनि सुनते, कभी वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष उनके कानोंमें पड़ता और कभी हंसोंकी मीठी वाणी उन्हें सुनायी देती थी ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वात्यद्भुतं राजा मनसाचिन्तयत् तदा ।
स्वप्नोऽयं चित्तविभ्रंश उताहो सत्यमेव तु ॥ १६ ॥

उस अति अद्भुत दृश्यको देखकर राजा मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो ! यह स्वप्न है या मेरे चित्तमें भ्रम हो गया है अथवा यह सब कुछ सत्य ही है ॥ १६ ॥

अहो सह शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ।
उत्तरान् वा कुरून् पुण्यानथवाप्यमरावतीम् ॥ १७ ॥

'अहो ! क्या मैं इसी शरीरसे परम गतिको प्राप्त हो गया हूँ अथवा पुण्यमय उत्तरकुरु या अमरावतीपुरीमें आ पहुँचा हूँ ॥ १७ ॥

किं त्विदं महदाश्चर्यं सम्पश्यामीत्यचिन्तयत् ।
एवं संचिन्तयन्नेव ददर्श मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥

'यह महान् आश्चर्यकी बात जो मुझे दिखायी दे रही है, क्या है ?' इस तरह वे बारंबार विचार करने लगे । राजा इस प्रकार सोच ही रहे थे कि उनकी दृष्टि मुनिप्रवर च्यवनपर पड़ी ॥ १८ ॥

तस्मिन् विमाने सौवर्णे मणिस्तम्भसमाकुले ।
महार्हे शयने दिव्ये शयानं भृगुनन्दनम् ॥ १९ ॥

मणिमय खम्भोंसे युक्त सुवर्णमय विमानके भीतर बहुमूल्य दिव्य पर्यङ्कपर वे भृगुनन्दन च्यवन लेटे हुए थे ॥ १९ ॥

तमभ्ययात् प्रहर्षेण नरेन्द्रः सह भार्यया ।
अन्तर्हितस्ततो भूयश्च्यवनः शयनं च तत् ॥ २० ॥

उन्हें देखते ही पत्नीसहित महाराज कुशिक बड़े हर्षके साथ आगे बढ़े । इतनेहीमें फिर महर्षि च्यवन अन्तर्धान हो गये । साथ ही उनका वह पलंग भी अदृश्य हो गया ॥ २० ॥

ततोऽन्यस्मिन् वनोद्देशे पुनरेव ददर्श तम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं जपमानं महाव्रतम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वनके दूसरे प्रदेशमें राजाने फिर उन्हें देखा, उस समय वे महान् व्रतधारी महर्षि कुशकी चटाईपर बैठकर जप कर रहे थे ॥ २१ ॥

एवं योगबलाद् विप्रो मोहयामास पार्थिवम् ।
क्षणेन तद् वनं चैव ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ २२ ॥
गन्धर्वाः पादपाश्चैव सर्वमन्तरधीयत ।
निःशब्दमभवच्चापि गङ्गाकूलं पुनर्नृप ॥ २३ ॥

इस प्रकार ब्रह्मर्षि च्यवनने अपनी योगशक्तिसे राजा कुशिकको मोहमें डाल दिया । एक ही क्षणमें वह वन, वे अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व और वृक्ष सब-के-सब अदृश्य हो गये । नरेश्वर ! गङ्गाका वह तट पुनः शब्द-रहित हो गया ॥ २२-२३ ॥

कुशवल्मीकभूयिष्ठं बभूव च यथा पुरा ।
ततः स राजा कुशिकः सभार्यस्तेन कर्मणा ॥ २४ ॥
विस्मयं परमं प्राप्तस्तद् दृष्ट्वा महदद्भुतम् ।
ततः प्रोवाच कुशिको भार्यां हर्षसमन्वितः ॥ २५ ॥

वहाँ पहलेके ही समान कुश और बाँबीकी अधिकता हो गयी । तत्पश्चात् पत्नीसहित राजा कुशिक ऋषिका वह महान् अद्भुत प्रभाव देखकर उनके उस कार्यसे बड़े विस्मयको प्राप्त हुए । इसके बाद हर्षमग्न हुए कुशिकने अपनी पत्नीसे कहा—॥ २४-२५ ॥

पश्य भद्रे यथा भावाश्चित्रा दृष्टाः सुदुर्लभाः ।
प्रसादाद् भृगुमुख्यस्य किमन्यत्र तपोबलात् ॥ २६ ॥

'कल्याणी ! देखो, हमने भृगुकुलतिलक च्यवन मुनिकी

कृपासे कैसे-कैसे अद्भुत और परम दुर्लभ पदार्थ देखे हैं। भला, तपोबलसे बढ़कर और कौन-सा बल है? ॥ २६ ॥

तपसा तदवाप्यं हि यत् तु शक्यं मनोरथैः।
त्रैलोक्यराज्यादपि हि तप एव विशिष्यते ॥ २७ ॥

'जिसकी मनके द्वारा कल्पना मात्र की जा सकती है, वह वस्तु तपस्यासे साक्षात् सुलभ हो जाती है। त्रिलोकीके राज्यसे भी तप ही श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

तपसा हि सुतप्तेन शक्यो मोक्षस्तपोबलात्।
अहो प्रभावो ब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

'अच्छी तरह तपस्या करनेपर उसकी शक्तिसे मोक्षतक मिल सकता है। इन ब्रह्मर्षि महात्मा च्यवनका प्रभाव अद्भुत है॥

इच्छन्नेव तपोवीर्यादन्याँल्लोकान् सृजेदपि।
ब्राह्मणा एव जायेरन् पुण्यवाग्बुद्धिकर्मणः ॥ २९ ॥

'ये इच्छा करते ही अपनी तपस्याकी शक्तिसे दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं। इस पृथ्वीपर ब्राह्मण ही पवित्र-वाक्, पवित्रबुद्धि और पवित्र कर्मवाले होते हैं ॥२९॥

उत्सहेदिह कृत्वैव कोऽन्यो वै च्यवनादृते।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं लोके राज्यं हि सुलभं नरैः ॥ ३० ॥

'महर्षि च्यवनके सिवा दूसरा कौन है, जो ऐसा महान् कार्य कर सके? संसारमें मनुष्योंको राज्य तो सुलभ हो सकता है, परंतु वास्तविक ब्राह्मणत्व परम दुर्लभ है ॥ ३० ॥

ब्राह्मण्यस्य प्रभावाद्धि रथे युक्तौ स्वधुर्यवत्।
इत्येवं चिन्तयानः स विदितश्च्यवनस्य वै ॥ ३१ ॥

'ब्राह्मणत्वके प्रभावसे ही महर्षिने हम दोनोंको अपने वाहनोंकी भाँति रथमें जोत दिया था।' इस तरह राजा सोच-विचार कर ही रहे थे कि महर्षि च्यवनको उनका आना ज्ञात हो गया ॥ ३१ ॥

सम्प्रेक्ष्योवाच नृपतिं क्षिप्रमागम्यतामिति।
इत्युक्तः सहभार्यस्तु सोऽभ्यगच्छन्महामुनिम् ॥३२॥
शिरसा वन्दनीयं तमवन्दत च पार्थिवः।

उन्होंने राजाकी ओर देखकर कहा—'भूपाल! शीघ्र यहाँ आओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर पत्नीसहित राजा उनके पास गये तथा उन वन्दनीय महामुनिको उन्होंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तस्याशिषः प्रयुज्याथ स मुनिस्तं नराधिपम् ॥ ३३ ॥
निषीदेत्यब्रवीद् धीमान् सान्त्वयन् पुरुषर्षभः।

तब उन पुरुषप्रवर बुद्धिमान् मुनिने राजाको आशीर्वाद देकर सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—'आओ बैठो' ॥

ततः प्रकृतिमापन्नो भार्गवो नृपते नृपम् ॥ ३४ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा तर्पयन्निव भारत।

भरतवंशी नरेश! तदनन्तर स्वस्थ होकर भृगुपु च्यवन मुनि अपनी स्निग्ध मधुर वाणीद्वारा राजाको तृ करते हुए-से बोले—॥ ३४½ ॥

राजन् सम्यग् जितानीह पञ्च पञ्च स्वयं त्वया ॥ ३५
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कृच्छ्रान्मुक्तोऽसि तेन वै।

'राजन्! तुमने पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रि और छठे मनको अच्छी तरह जीत लिया है। इसीलिये तु महान् संकटसे मुक्त हुए हो ॥ ३५½ ॥

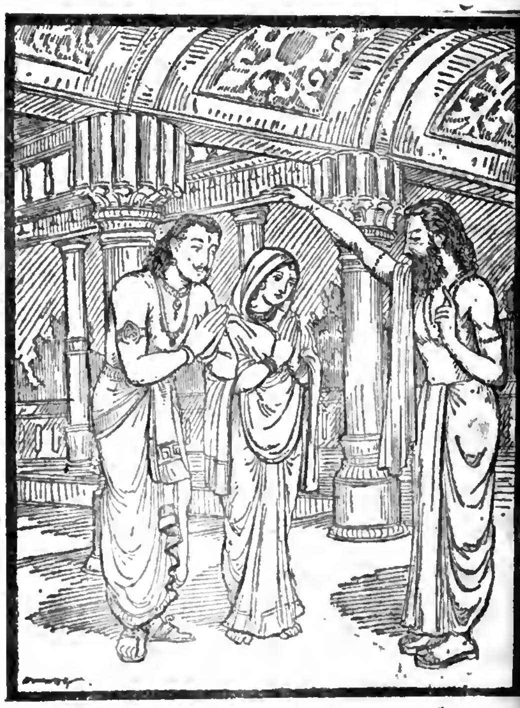

सम्यगाराधितः पुत्र त्वया प्रवदतां वर ॥ ३६
न हि ते वृजिनं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ पुत्र! तुमने भलीभाँति मेरी आराध की है। तुम्हारे द्वारा कोई छोटे-से-छोटा या सूक्ष्म-से-सू अपराध भी नहीं हुआ है॥ ३६½ ॥

अनुजानीहि मां राजन् गमिष्यामि यथागतम् ॥ ३७
प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र वरश्च प्रतिगृह्यताम्।

'राजन्! अब मुझे विदा दो। मैं जैसे आया था, वै ही लौट जाऊँगा। राजेन्द्र! मैं तुमपर बहुत प्रस हूँ; अतः तुम कोई वर माँगो' ॥ ३७½ ॥

कुशिक उवाच

अग्निमध्ये गतेनेव भगवन् संनिधौ मया ॥ ३८
वर्तितं भृगुशार्दूल यन्न दग्धोऽस्मि तद् बहु।
एष एव वरो मुख्यः प्राप्तो मे भृगुनन्दन ॥ ३९

कुशिक बोले—भगवन्! भृगुश्रेष्ठ! मैं आप निकट उसी प्रकार रहा हूँ, जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि बीचमें खड़ा हो। उस अवस्थामें रहकर भी मैं जल

नस नहीं हुआ, यही मेरे लिये बहुत बड़ी बात है। भृगुनन्दन ! यही मैंने महान् वर प्राप्त कर लिया ॥३८-३९॥

यत् प्रीतोऽसि मया ब्रह्मन् कुलं त्रातं च मेऽनघ।
एष मेऽनुग्रहो विप्र जीविते च प्रयोजनम् ॥ ४० ॥

निष्पाप ब्रह्मर्षे ! आप जो प्रसन्न हुए हैं तथा आपने जो मेरे कुलको नष्ट होनेसे बचा दिया, यही मुझपर आपका भारी अनुग्रह है। और इतनेसे ही मेरे जीवनका सारा प्रयोजन सफल हो गया ॥ ४० ॥

एतद् राज्यफलं चैव तपसश्च फलं मम।
यदि त्वं प्रीतिमान् विप्र मयि वै भृगुनन्दन ॥ ४१ ॥
अस्ति मे संशयः कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

भृगुनन्दन ! यही मेरे राज्यका और यही मेरी तपस्याका भी फल है। विप्रवर ! यदि आपका मुझपर प्रेम हो तो मेरे मनमें एक संदेह है, उसका समाधान करनेकी कृपा करें ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवनका कुशिकके पूछनेपर उनके घरमें अपने निवासका कारण बताना और उन्हें वरदान देना

च्यवन उवाच

वरश्च गृह्यतां मत्तो यश्च ते संशयो हृदि।
तं प्रब्रूहि नरश्रेष्ठ सर्वं सम्पादयामि ते ॥ १ ॥

च्यवन बोले—नरश्रेष्ठ ! तुम मुझसे वर भी माँग लो और तुम्हारे मनमें जो संदेह हो, उसे भी कहो। मैं तुम्हारा सब कार्य पूर्ण कर दूँगा ॥ १ ॥

कुशिक उवाच

यदि प्रीतोऽसि भगवंस्ततो मे वद भार्गव।
कारणं श्रोतुमिच्छामि मद्गृहे वासकारितम् ॥ २ ॥

कुशिकने कहा—भगवन् ! भृगुनन्दन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो मुझे यह बताइये कि आपने इतने दिनोंतक मेरे घरपर क्यों निवास किया था ? मैं इसका कारण सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

शयनं चैकपार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम्।
अकिंचिदुक्त्वा गमनं बहिश्च मुनिपुङ्गव ॥ ३ ॥
अन्तर्धानमकस्माच्च पुनरेव च दर्शनम्।
पुनश्च शयनं विप्र दिवसानेकविंशतिम् ॥ ४ ॥
तैलाभ्यक्तस्य गमनं भोजनं च गृहे मम।
समुपानीय विविधं यद् दग्धं जातवेदसा ॥ ५ ॥
निर्याणं च रथेनाशु सहसा यत् कृतं त्वया।
धनानां च विसर्गस्य वनस्यापि च दर्शनम् ॥ ६ ॥
प्रासादानां बहूनां च काञ्चनानां महामुने।
मणिविद्रुमपादानां पर्यङ्काणां च दर्शनम् ॥ ७ ॥
पुनश्चादर्शनं तस्य श्रोतुमिच्छामि कारणम्।
अतीव ह्यत्र मुह्यामि चिन्तयानो भृगूद्वह ॥ ८ ॥

मुनिपुङ्गव ! इक्कीस दिनोंतक एक करवटसे सोते रहना, फिर उठनेपर बिना कुछ बोले बाहर चल देना, सहसा अन्तर्धान हो जाना, पुनः दर्शन देना, फिर इक्कीस दिनोंतक दूसरी करवटसे सोते रहना, उठनेपर तेलकी मालिश कराना, मालिश कराकर चल देना, पुनः मेरे महलमें जाकर नाना प्रकारके भोजनको एकत्र करना और उसमें आग लगाकर जला देना, फिर सहसा रथपर सवार हो बाहर नगरकी यात्रा करना, धन लुटाना, दिव्य वनका दर्शन कराना, वहाँ बहुत-से सुवर्णमय महलोंको प्रकट करना, मणि और मूँगोंके पायेवाले पलंगोंको दिखाना और अन्तमें सबको पुनः अदृश्य कर देना—महामुने ! आपके इन कार्योंका यथार्थ कारण मैं सुनना चाहता हूँ। भृगुकुलरत्न ! इस बातपर जब मैं विचार करने लगता हूँ, तब मुझपर अत्यन्त मोह छा जाता है ॥३–८॥

न चैवात्राधिगच्छामि सर्वस्यास्य विनिश्चयम्।
एतदिच्छामि कार्त्स्न्येन सत्यं श्रोतुं तपोधन ॥ ९ ॥

तपोधन ! इन सब बातोंपर विचार करके भी मैं किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता हूँ, अतः इन बातोंको मैं पूर्ण एवं यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच

शृणु सर्वमशेषेण यदिदं येन हेतुना।
न हि शक्यमनाख्यातुमेवं पृष्टेन पार्थिव ॥ १० ॥

च्यवनने कहा—भूपाल ! जिस कारणसे मैंने यह सब कार्य किया था, वह सारा वृत्तान्त तुम पूर्णरूपसे सुनो। तुम्हारे इस प्रकार पूछनेपर मैं इस रहस्यको बताये बिना नहीं रह सकता ॥ १० ॥

पितामहस्य वदतः पुरा देवसमागमे।
श्रुतवानस्मि यद् राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११ ॥

राजन् ! पूर्वकालकी बात है, एक दिन देवताओंकी सभामें ब्रह्माजी एक बात कह रहे थे, जिसे मैंने सुना था, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ११ ॥

ब्रह्मक्षत्रविरोधेन भविता कुलसंकरः।
पौत्रस्ते भविता राजंस्तेजोवीर्यसमन्वितः ॥ १२ ॥

नरेश्वर! ब्रह्माजीने कहा था कि ब्राह्मण और क्षत्रियमें विरोध होनेके कारण दोनों कुलोंमें संकरता आ जायगी। (उन्हींके मुँहसे मैंने यह भी सुना था कि तुम्हारे वंशकी कन्यासे मेरे वंशमें क्षत्रिय तेजका संचार होगा और) तुम्हारा एक पौत्र ब्राह्मण-तेजसे सम्पन्न तथा पराक्रमी होगा ॥ १२ ॥

ततस्ते कुलनाशार्थमहं त्वां समुपागतः।
चिकीर्षन् कुशिकोच्छेदं संदिधक्षुः कुलं तव ॥ १३ ॥

यह सुनकर मैं तुम्हारे कुलका विनाश करनेके लिये तुम्हारे यहाँ आया था। मैं कुशिकका मूलोच्छेद कर डालना चाहता था। मेरी प्रबल इच्छा थी कि तुम्हारे कुलको जलाकर भस्म कर डालूँ ॥ १३ ॥

ततोऽहमागम्य पुरे त्वामवोचं महीपते।
नियमं कंचिदारप्स्ये शुश्रूषा क्रियतामिति ॥ १४ ॥
न च ते दुष्कृतं किंचिदहमासादयं गृहे।
तेन जीवसि राजर्षे न भवेथास्त्वमन्यथा ॥ १५ ॥

भूपाल! इसी उद्देश्यसे तुम्हारे नगरमें आकर मैंने तुमसे कहा कि मैं एक व्रतका आरम्भ करूँगा। तुम मेरी सेवा करो (इसी अभिप्रायसे मैं तुम्हारा दोष ढूँढ़ रहा था); किंतु तुम्हारे घरमें रहकर भी मैंने आजतक तुममें कोई दोष नहीं पाया। राजर्षे! इसीलिये तुम जीवित हो, अन्यथा तुम्हारी सत्ता मिट गयी होती ॥ १४-१५ ॥

एवं बुद्धिं समास्थाय दिवसानेकविंशतिम्।
सुप्तोऽस्मि यदि मां कश्चिद् बोधयेदिति पार्थिव ॥ १६ ॥

भूपते! यही विचार मनमें लेकर मैं इक्कीस दिनोंतक एक करवटसे सोता रहा कि कोई मुझे बीचमें आकर जगावे॥

यदा त्वया सभार्येण संसुप्तो न प्रबोधितः।
अहं तदैव ते प्रीतो मनसा राजसत्तम ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ! जब पत्नीसहित तुमने मुझे सोते समय नहीं जगाया, तभी मैं तुम्हारे ऊपर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ था ॥ १७ ॥

उत्थाय चास्मि निष्क्रान्तो यदि मां त्वं महीपते।
पृच्छेः क्व यास्यसीत्येवं शपेयं त्वामिति प्रभो ॥ १८ ॥

भूपते! प्रभो! जिस समय मैं उठकर घरसे बाहर जाने लगा, उस समय यदि तुम मुझसे पूछ देते कि 'कहाँ जाइयेगा' तो इतनेसे ही मैं तुम्हें शाप दे देता ॥ १८ ॥

अन्तर्हितः पुनश्चास्मि पुनरेव च ते गृहे।
योगमास्थाय संसुप्तो दिवसानेकविंशतिम् ॥ १९ ॥

फिर मैं अन्तर्धान हुआ और पुनः तुम्हारे घरमें आकर योगका आश्रय ले इक्कीस दिनोंतक सोया ॥ १९ ॥

क्षुधितौ मामसूयेथां श्रमाद् वेति नराधिप।
एवं बुद्धिं समास्थाय कर्शितौ वां क्षुधा मया ॥ २० ॥

नरेश्वर! मैंने सोचा था कि तुम दोनों भूखसे पीड़ित होकर या परिश्रमसे थककर मेरी निन्दा करोगे। इसी उद्देश्यसे मैंने तुमलोगोंको भूखे रखकर क्लेश पहुँचाया ॥ २० ॥

न च तेऽभूत् सुसूक्ष्मोऽपि मन्युर्मनसि पार्थिव।
सभार्यस्य नरश्रेष्ठ तेन ते प्रीतिमानहम् ॥ २१ ॥

भूपते! नरश्रेष्ठ! इतनेपर भी स्त्रीसहित तुम्हारे मनमें तनिक भी क्रोध नहीं हुआ। इससे मैं तुमलोगोंपर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २१ ॥

भोजनं च समानाय्य यत् तदा दीपितं मया।
क्रुद्ध्येथा यदि मात्सर्यादिति तन्मर्षितं च मे ॥ २२ ॥

इसके बाद जो मैंने भोजन मँगाकर जला दिया, उसमें भी यही उद्देश्य छिपा था कि तुम डाहके कारण मुझपर क्रोध करोगे; परंतु मेरे उस बर्तावको भी तुमने सह लिया ॥ २२ ॥

ततोऽहं रथमारुह्य त्वामवोचं नराधिप।
सभार्यो मां वहस्वेति तच्च त्वं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
अविशङ्को नरपते प्रीतोऽहं चापि तेन ह।

नरेन्द्र! इसके बाद मैं रथपर आरूढ़ होकर बोला, तुम स्त्रीसहित आकर मेरा रथ खींचो। नरेश्वर! इस कार्यको भी तुमने निःशङ्क होकर पूर्ण किया। इससे भी मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २३½ ॥

धनोत्सर्गेऽपि च कृते न त्वां क्रोधः प्रधर्षयत् ॥ २४ ॥
ततः प्रीतेन ते राजन् पुनरेतत् कृतं तव।
सभार्यस्य वनं भूयस्तद् विद्धि मनुजाधिप ॥ २५ ॥
प्रीत्यर्थं तव चैतन्मे स्वर्गसंदर्शनं कृतम्।

फिर जब मैं तुम्हारा धन लुटाने लगा, उस समय भी तुम क्रोधके वशीभूत नहीं हुए। इन सब बातोंसे मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! मनुजेश्वर! अतः मैंने पत्नीसहित तुम्हें संतुष्ट करनेके लिये ही इस वनमें स्वर्गका दर्शन कराया है। पुनः यह सब कार्य करनेका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना ही था, इस बातको अच्छी तरह जान लो॥

यत् ते वनेऽस्मिन् नृपते दृष्टं दिव्यं निदर्शनम् ॥ २६ ॥
स्वर्गोद्देशस्त्वया राजन् सशरीरेण पार्थिव।
मुहूर्तमनुभूतोऽसौ सभार्येण नृपोत्तम ॥ २७ ॥

नरेश्वर! राजन्! इस वनमें तुमने जो दिव्य दृश्य देखे हैं, वह स्वर्गकी एक झाँकी थी। नृपश्रेष्ठ! भूपाल! तुमने अपनी रानीके साथ इसी शरीरसे कुछ देरतक स्वर्गीय सुखका अनुभव किया है ॥ २६-२७ ॥

निदर्शनार्थं तपसो धर्मस्य च नराधिप।
तत्र याऽऽसीत् स्पृहा राजंस्तच्चापि विदितं मया ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! यह सब मैंने तुम्हें तप और धर्मका प्रभाव दिखलानेके लिये ही किया है। राजन् ! इन सब बातोंको देखनेपर तुम्हारे मनमें जो इच्छा हुई है, वह भी मुझे ज्ञात हो चुकी है ॥ २८ ॥

ब्राह्मण्यं काङ्क्षसे हि त्वं तपश्च पृथिवीपते ।
अवमन्य नरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं च पार्थिव ॥ २९ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम सम्राट् और देवराजके पदकी भी अवहेलना करके ब्राह्मणत्व पाना चाहते हो और तपकी भी अभिलाषा रखते हो ॥ २९ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं ब्राह्मण्यं तात दुर्लभम् ।
ब्राह्मणे सति चर्षित्वमृषित्वे च तपस्विता ॥ ३० ॥

तात ! तप और ब्राह्मणत्वके सम्बन्धमें तुम जैसा उद्गार प्रकट कर रहे थे, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। ब्राह्मण होनेपर भी ऋषि होना और ऋषि होनेपर भी तपस्वी होना तो और भी कठिन है ॥ ३० ॥

भविष्यत्येष ते कामः कुशिकात् कौशिको द्विजः ।
तृतीयं पुरुषं तुभ्यं ब्राह्मणत्वं गमिष्यति ॥ ३१ ॥

तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण होगी। कुशिकसे कौशिक नामक ब्राह्मणवंश प्रचलित होगा तथा तुम्हारी तीसरी पीढ़ी ब्राह्मण हो जायगी ॥ ३१ ॥

वंशस्ते पार्थिवश्रेष्ठ भृगूणामेव तेजसा ।
पौत्रस्ते भविता विप्रस्तपस्वी पावकद्युतिः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भृगुवंशियोंके ही तेजसे तुम्हारा वंश ब्राह्मणत्वको प्राप्त होगा। तुम्हारा पौत्र अग्निके समान तेजस्वी और तपस्वी ब्राह्मण होगा ॥ ३२ ॥

यः स देवमनुष्याणां भयमुत्पादयिष्यति ।
त्रयाणामेव लोकानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३३ ॥

तुम्हारा वह पौत्र अपने तपके प्रभावसे देवताओं, मनुष्यों तथा तीनों लोकोंके लिये भय उत्पन्न कर देगा। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३३ ॥

वरं गृहाण राजर्षे यत् ते मनसि वर्तते ।
तीर्थयात्रां गमिष्यामि पुरा कालोऽभिवर्तते ॥ ३४ ॥

राजर्षे ! तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसे वरके रूपमें माँग लो। मैं तीर्थयात्राको जाऊँगा। अब देर हो रही है ॥

कुशिक उवाच

एष एव वरो मेऽद्य यस्त्वं प्रीतो महामुने ।
भवत्वेतद् यथाऽऽत्थ त्वं भवेत् पौत्रो ममानघ ॥ ३५ ॥

कुशिकने कहा—महामुने ! आज आप प्रसन्न हैं, यही मेरे लिये बहुत बड़ा वर है। अनघ ! आप जैसा कह रहे हैं, वह सत्य हो—मेरा पौत्र ब्राह्मण हो जाय ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण्यं मे कुलस्यास्तु भगवन्नेष मे वरः ।
पुनश्चाख्यातुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण वै ॥ ३६ ॥

भगवन् ! मेरा कुल ब्राह्मण हो जाय, यही मेरा अभीष्ट वर है। प्रभो ! मैं इस विषयको पुनः विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

कथमेष्यति विप्रत्वं कुलं मे भृगुनन्दन ।
कश्चासौ भविता बन्धुर्मम कश्चापि सम्मतः ॥ ३७ ॥

भृगुनन्दन ! मेरा कुल किस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त होगा ? मेरा वह बन्धु, वह सम्मानित पौत्र कौन होगा, जो सर्वप्रथम ब्राह्मण होनेवाला है ? ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादो नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवन ऋषिका भृगुवंशी और कुशिकवंशियोंके सम्बन्धका कारण बताकर तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

च्यवन उवाच

अवश्यं कथनीयं मे तवैतन्नरपुङ्गव ।
यदर्थं त्वाहमुच्छेत्तुं सम्प्राप्तो मनुजाधिप ॥ १ ॥

च्यवन कहते हैं—नरपुङ्गव ! मनुजेश्वर ! मैं जिस उद्देश्यसे तुम्हारा मूलोच्छेद करनेके लिये यहाँ आया था, वह मुझे तुमसे अवश्य बता देना चाहिये ॥ १ ॥

भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेतज्जनाधिप ।
ते च भेदं गमिष्यन्ति दैवयुक्तेन हेतुना ॥ २ ॥
क्षत्रियाश्च भृगून् सर्वान् वधिष्यन्ति नराधिप ।
आ गर्भादनुकृन्तन्तो दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! क्षत्रियलोग सदासे ही भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान हैं; किंतु प्रारब्धवश आगे चलकर उनमें फूट हो जायगी। इसलिये वे दैवकी प्रेरणासे समस्त भृगुवंशियोंका संहार कर डालेंगे। नरेश्वर ! वे दैवदण्डसे पीड़ित हो गर्भके बच्चेतकको काट डालेंगे ॥ २-३ ॥

तत उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुले गोत्रविवर्धनः ।
ऊर्वो नाम महातेजा ज्वलनार्कसमद्युतिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर मेरे वंशमें ऊर्व नामक एक महातेजस्वी बालक

उत्पन्न होगा, जो भार्गव गोत्रकी वृद्धि करेगा। उसका तेज अग्नि और सूर्यके समान दुर्धर्ष होगा ॥ ४ ॥

स त्रैलोक्यविनाशाय कोपाग्निं जनयिष्यति।
महीं सपर्वतवनां यः करिष्यति भस्मसात्॥ ५ ॥

वह तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिये क्रोधजनित अग्निकी सृष्टि करेगा। वह अग्नि पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको भस्म कर डालेगी ॥ ५ ॥

कंचित् कालं तु वह्निं च स एव शमयिष्यति।
समुद्रे वडवावक्त्रे प्रक्षिप्य मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

कुछ कालके बाद मुनिश्रेष्ठ और्व ही उस अग्निको समुद्रमें स्थित हुई बड़वानलमें डालकर बुझा देंगे ॥ ६ ॥

पुत्रं तस्य महाराज ऋचीकं भृगुनन्दनम्।
साक्षात् कृत्स्नो धनुर्वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ ॥ ७ ॥

निष्पाप महाराज! उन्हीं और्वके पुत्र भृगुकुलनन्दन ऋचीक होंगे, जिनकी सेवामें सम्पूर्ण धनुर्वेद मूर्तिमान् होकर उपस्थित होगा ॥ ७ ॥

क्षत्रियाणामभावाय दैवयुक्तेन हेतुना।
स तु तं प्रतिगृह्यैव पुत्रे संक्रामयिष्यति ॥ ८ ॥
जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि।
स चापि भृगुशार्दूलस्तं वेदं धारयिष्यति ॥ ९ ॥

वे क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये दैववश उस धनुर्वेदको ग्रहण करके तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले अपने पुत्र महाभाग जमदग्निको उसकी शिक्षा देंगे। भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि उस धनुर्वेदको धारण करेंगे ॥ ८-९ ॥

कुलात् तु तव धर्मात्मन् कन्यां सोऽधिगमिष्यति।
उद्भावनार्थं भवतो वंशस्य नृपसत्तम ॥ १० ॥

धर्मात्मन्! नृपश्रेष्ठ! वे ऋचीक तुम्हारे कुलकी उन्नतिके लिये तुम्हारे वंशकी कन्याका पाणिग्रहण करेंगे ॥ १० ॥

गाधेर्दुहितरं प्राप्य पौत्रीं तव महातपाः।
ब्राह्मणं क्षत्रधर्माणं पुत्रमुत्पादयिष्यति ॥ ११ ॥

तुम्हारी पौत्री एवं गाधिकी पुत्रीको पाकर महातपस्वी ऋचीक क्षत्रियधर्मवाले ब्राह्मणजातीय पुत्रको उत्पन्न करेंगे (अपनी पत्नीकी प्रार्थनासे ऋचीक क्षत्रियत्वको अपने पुत्रसे हटाकर भावी पौत्रमें स्थापित कर देंगे) ॥ ११ ॥

क्षत्रियं विप्रकर्माणं बृहस्पतिमिवौजसा।
विश्वामित्रं तव कुले गाधेः पुत्रं सुधार्मिकम् ॥ १२ ॥
तपसा महता युक्तं प्रदास्यति महाद्युते।

महान् तेजस्वी नरेश! वे ऋचीक मुनि तुम्हारे कुलमें राजा गाधिको एक महान् तपस्वी और परम धार्मिक पुत्र प्रदान करेंगे, जिसका नाम होगा विश्वामित्र। वह बृहस्पतिके समान तेजस्वी तथा ब्राह्मणोचित कर्म करनेवाला क्षत्रिय होगा॥

स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्ते भविष्यतः ॥ १३ ॥
पितामहनियोगाद् वै नान्यथैतद् भविष्यति।

ब्रह्माजीकी प्रेरणासे गाधिकी पत्नी और पुत्री—ये स्त्रियाँ इस महान् परिवर्तनमें कारण बनेंगी, यह अवश्यम्भावी है, इसे कोई पलट नहीं सकता ॥ १३½ ॥

तृतीये पुरुषे तुभ्यं ब्राह्मणत्वमुपैष्यति ॥ १४ ॥
भविता त्वं च सम्बन्धी भृगूणां भावितात्मनाम्।

तुमसे तीसरी पीढ़ीमें तुम्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जायगा और तुम शुद्ध अन्तःकरणवाले भृगुवंशियोंके सम्बन्धी होओगे ॥ १४½ ॥

भीष्म उवाच

कुशिकस्तु मुनेर्वाक्यं च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हृष्टोऽभवद् राजा वाक्यं चेदमुवाच ह।
एवमस्त्विति धर्मात्मा तदा भरतसत्तम ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! महात्मा च्यवन मुनिका यह वचन सुनकर धर्मात्मा राजा कुशिक बड़े प्रसन्न हुए और बोले, 'भगवन्! ऐसा ही हो' ॥ १५-१६ ॥

च्यवनस्तु महातेजाः पुनरेव नराधिपम्।
वरार्थं चोदयामास तमुवाच स पार्थिवः ॥ १७ ॥

महातेजस्वी च्यवनने पुनः राजा कुशिकको वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। तब वे भूपाल इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

बाढमेवं करिष्यामि कामं त्वत्तो महामुने।
ब्रह्मभूतं कुलं मेऽस्तु धर्मे चास्य मनो भवेत् ॥ १८ ॥

'महामुने! बहुत अच्छा, मैं आपसे अपना मनोरथ प्रकट करूँगा। मुझे यही वर दीजिये कि मेरा कुल ब्राह्मण हो जाय और उसका धर्ममें मन लगा रहे' ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तथेत्येवं प्रत्युक्त्वा च्यवनो मुनिः।
अभ्यनुज्ञाय नृपतिं तीर्थयात्रां ययौ तदा ॥ १९ ॥

कुशिकके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनि बोले 'तथास्तु' फिर वे राजासे विदा ले वहाँसे तत्काल तीर्थयात्राके लिये चले गये ॥ १९ ॥

एतत् ते कथितं सर्वमशेषेण मया नृप।
भृगूणां कुशिकानां च अभिसम्बन्धकारणम् ॥ २० ॥

नरेश्वर! इस प्रकार मैंने तुमसे भृगुवंशी और कुशिकवंशियोंके परस्पर सम्बन्धका सब कारण पूर्णरूपसे बताया है।

यथोक्तमृषिणा चापि तदा तदभवन्नृप।
जन्म रामस्य च मुनेर्विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! उस समय च्यवन ऋषिने जैसा कहा था, उसके अनुसार ही आगे चलकर भृगुकुलमें परशुरामका और कुशिकवंशमें विश्वामित्रका जन्म हुआ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विविध प्रकारके तप और दानोंका फल

युधिष्ठिर उवाच

मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम्॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! इस पृथ्वीको जब मैं उन सम्पत्तिशाली नरेशोंसे हीन देखता हूँ, तब भारी चिन्तामें पड़कर बारंबार मूर्च्छित-सा होने लगता हूँ ॥ १ ॥

प्राप्य राज्यानि शतशो महीं जित्वाथ भारत।
कोटिशः पुरुषान् हत्वा परितप्ये पितामह॥ २ ॥

भरतनन्दन ! पितामह ! यद्यपि मैंने इस पृथ्वीको जीतकर सैकड़ों देशोंके राज्योंपर अधिकार पाया है तथापि इसके लिये जो करोड़ों पुरुषोंकी हत्या करनी पड़ी है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ॥ २ ॥

का नु तासां वरस्त्रीणां समवस्था भविष्यति।
या हीनाः पतिभिः पुत्रैर्मातुलैर्भ्रातृभिस्तथा॥ ३ ॥

हाय ! उन बेचारी सुन्दरी स्त्रियोंकी क्या दशा होगी, जो आज अपने पति, पुत्र, भाई और मामा आदि सम्बन्धियोंसे सदाके लिये बिछुड़ गयी हैं ! ॥ ३ ॥

वयं हि तान् कुरून् हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि वा।
अवाक्शीर्षाः पतिष्यामो नरके नात्र संशयः॥ ४ ॥

हमलोग अपने ही कुटुम्बीजन कौरवों तथा अन्य सुहृदोंका वध करके नीचे मुँह किये नरकमें गिरेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत।
उपदिष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशाम्पते॥ ५ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं अपने शरीरको कठोर तपस्याके द्वारा सुखा डालना चाहता हूँ और इसके विषयमें आपका यथार्थ उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा भीष्मो महामनाः।
परीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या युधिष्ठिरमभाषत॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर महामनस्वी भीष्मजीने अपनी बुद्धिके द्वारा उसपर भलीभाँति विचार करके उनसे इस प्रकार कहा—॥

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत् त्वयि।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे विशाम्पते॥ ७ ॥

'प्रजानाथ ! मैं तुम्हें एक अद्भुत रहस्यकी बात बताता हूँ। मनुष्यको मरनेपर किस कर्मसे कौन-सी गति मिलती है—इस विषयको सुनो ॥ ७ ॥

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः।
आयुः प्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो॥ ८ ॥

'प्रभो ! तपस्यासे स्वर्ग मिलता है, तपस्यासे सुयशकी प्राप्ति होती है तथा तपस्यासे बड़ी आयु, ऊँचा पद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत् तथैव च।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ॥ ९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! ज्ञान, विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्यासे प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

धनं प्राप्नोति तपसा मौनेनाज्ञां प्रयच्छति।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम्॥ १० ॥

'मनुष्य तप करनेसे धन पाता है। मौन-व्रतके पालनसे दूसरोंपर हुक्म चलाता है। दानसे उपभोग और ब्रह्मचर्यके पालनसे दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ १० ॥

अहिंसायाः फलं रूपं दीक्षाया जन्म वै कुले।
फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत्॥ ११ ॥

'अहिंसाका फल है रूप और दीक्षाका फल है उत्तम कुलमें जन्म। फल-मूल खाकर रहनेवालोंको राज्य और पत्ता चबाकर तप करनेवालोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥११॥

पयोभक्षो दिवं याति दानेन द्रविणाधिकः।
गुरुशुश्रूषया विद्या नित्यश्राद्धेन संततिः॥ १२ ॥

'दूध पीकर रहनेवाला मनुष्य स्वर्गको जाता है और दान देनेसे वह अधिक धनवान् होता है। गुरुकी सेवा करनेसे विद्या और नित्य श्राद्ध करनेसे संतानकी प्राप्ति होती है ॥१२॥

गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशिनाम्।
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्॥ १३ ॥

'जो केवल साग खाकर रहनेका नियम लेता है, वह गोधनसे सम्पन्न होता है। तृण खाकर रहनेवाले मनुष्योंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। तीनों कालमें स्नान करनेसे बहुतेरी स्त्रियोंकी प्राप्ति होती है और हवा पीकर रहनेसे मनुष्यको यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

नित्यस्नायी भवेद् दक्षः संध्ये तु द्वे जपन् द्विजः।
मरुं साधयतो राजन् नाकपृष्ठमनाशके॥ १४ ॥

'राजन् ! जो द्विज नित्य स्नान करके दोनों समय संध्योपासना और गायत्री-जप करता है, वह चतुर होता है। मरुकी साधना—जलका परित्याग करनेवाले तथा निराहार रहनेवालेको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

स्थण्डिले शयमानानां गृहाणि शयनानि च ।
चीरवल्कलवासोभिर्वासांस्याभरणानि च ॥ १५ ॥

'मिट्टीकी वेदी या चबूतरोंपर सोनेवालोंको घर और शय्याएँ प्राप्त होती हैं। चीर और वल्कलके वस्त्र पहननेसे उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

शय्यासनानि यानानि योगयुक्ते तपोधने ।
अग्निप्रवेशे नियतं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

'योगयुक्त तपोधनको शय्या, आसन और वाहन प्राप्त होते हैं। नियमपूर्वक अग्निमें प्रवेश कर जानेपर जीवको ब्रह्मलोकमें सम्मान प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

रसानां प्रतिसंहारात् सौभाग्यमिह विन्दति ।
आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्यायुष्मती भवेत् ॥ १७ ॥

'रसोंका परित्याग करनेसे मनुष्य यहाँ सौभाग्यका भागी होता है। मांस-भक्षणका त्याग करनेसे दीर्घायु संतान उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

उदवासं वसेद् यस्तु स नराधिपतिर्भवेत् ।
सत्यवादी नरश्रेष्ठ दैवतैः सह मोदते ॥ १८ ॥

'जो जलमें निवास करता है, वह राजा होता है। नरश्रेष्ठ ! सत्यवादी मनुष्य स्वर्गमें देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥

कीर्तिर्भवति दानेन तथाऽऽरोग्यमहिंसया ।
द्विजशुश्रूषया राज्यं द्विजत्वं चापि पुष्कलम् ॥ १९ ॥

'दानसे यश, अहिंसासे आरोग्य तथा ब्राह्मणोंकी सेवासे राज्य एवं अतिशय ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

पानीयस्य प्रदानेन कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
अन्नस्य तु प्रदानेन तृप्यन्ते कामभोगतः ॥ २० ॥

'जल दान करनेसे मनुष्यको अक्षय कीर्ति प्राप्त होती है तथा अन्न-दान करनेसे मनुष्यको काम और भोगसे पूर्णतः तृप्ति मिलती है ॥ २० ॥

सान्त्वदः सर्वभूतानां सर्वशोकैर्विमुच्यते ।
देवशुश्रूषया राज्यं दिव्यं रूपं नियच्छति ॥ २१ ॥

'जो समस्त प्राणियोंको सान्त्वना देता है, वह सम्पूर्ण शोकोंसे मुक्त हो जाता है। देवताओंकी सेवासे राज्य और दिव्य रूप प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

दीपालोकप्रदानेन चक्षुष्मान् भवते नरः ।
प्रेक्षणीयप्रदानेन स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ २२ ॥

'मन्दिरमें दीपकका प्रकाश दान करनेसे मनुष्यका नेत्र नीरोग होता है। दर्शनीय वस्तुओंका दान करनेसे मनुष्य स्मरणशक्ति और मेधा प्राप्त कर लेता है ॥ २२

गन्धमाल्यप्रदानेन कीर्तिर्भवति पुष्कला ।
केशश्मश्रु धारयतामग्र्या भवति संततिः ॥ २३ ॥

'गन्ध और पुष्प-माला दान करनेसे प्रचुर यशकी प्राप्ति होती है। सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ धारण करनेवालोंको श्रेष्ठ संतानकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव ।
कृत्वा द्वादशवर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥ २४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! बारह वर्षोंतक सम्पूर्ण भोगोंका त्याग, दीक्षा (जप आदि नियमोंका ग्रहण) तथा तीनों समय स्नान करनेसे वीर पुरुषोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

दासीदासमलङ्कारान् क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
ब्रह्मदेयां सुतां दत्त्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! जो अपनी पुत्रीका ब्राह्मविवाहकी विधिसे सुयोग्य वरको दान करता है, उसे दास-दासी, अलंकार, क्षेत्र और घर प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

क्रतुभिश्चोपवासैश्च त्रिदिवं याति भारत ।
लभते च शिवं ज्ञानं फलपुष्पप्रदो नरः ॥ २६ ॥

'भारत ! यज्ञ और उपवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है तथा फल-फूलका दान करनेवाला मानव कल्याणमय मोक्षस्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

सुवर्णशृङ्गैस्तु विराजितानां
गवां सहस्रस्य नरः प्रदानात् ।
प्राप्नोति पुण्यं दिवि देवलोक-
मित्येवमाहुर्दिवि देवसंघाः ॥ २७ ॥

'सोनेसे मढ़े हुए सींगोंद्वारा सुशोभित होनेवाली एक हजार गौओंका दान करनेसे मनुष्य स्वर्गमें पुण्यमय देवलोकको प्राप्त होता है—ऐसा स्वर्गवासी देववृन्द कहते हैं ॥ २७ ॥

प्रयच्छते यः कपिलां सवत्सां
कांस्योपदोहां कनकाग्रशृङ्गीम् ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहास्य भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ २८ ॥

'जिसके सींगोंके अग्रभागमें सोना मढ़ा हुआ हो, ऐसी गायका काँसके बने हुए दुग्धपात्र और बछड़ेसमेत जो दान करता है, उस पुरुषके पास वह गौ उन्हीं गुणोंसे युक्त कामधेनु होकर आती है ॥ २८ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावत् कालं प्राप्य स गोप्रदानात् ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र ॥ २९ ॥

'उस गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक मनुष्य गोदानके पुण्यसे स्वर्गीय सुख भोगता है। इतना ही नहीं, वह गौ उसके पुत्र-पौत्र आदि सात पीढ़ियोंतक समस्त कुलका परलोकमें उद्धार कर देती है ॥ २९ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं
कांस्योपदोहां द्रविणोत्तरीयाम्।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय
लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥ ३० ॥

'जो मनुष्य सोनेके सुन्दर सींग बनवाकर और द्रव्यमय उत्तरीय देकर कांस्यमय दुग्धपात्र तथा दक्षिणासहित तिलकी धेनुका ब्राह्मणको दान करता है, उसे वसुओंके लोक सुलभ होते हैं ॥ ३० ॥

स्वकर्मभिर्मानवं संनिरुद्धं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम्।
महार्णवे नौरिव वायुयुक्ता
दानं गवां तारयते परत्र ॥ ३१ ॥

'जैसे महासागरके बीचमें पड़ी हुई नाव वायुका सहारा पाकर पार पहुँचा देती है, उसी प्रकार अपने कर्मोंसे बँधकर घोर अन्धकारमय नरकमें गिरते हुए मनुष्यको गोदान ही परलोकमें पार लगाता है ॥ ३१ ॥

यो ब्रह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
ददाति चान्नं विधिवच्च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ ३२ ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मविधिसे अपनी कन्याका दान करता है, ब्राह्मणको भूमिदान देता है तथा विधिपूर्वक अन्नका दान करता है, उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

नैवेशिकं सर्वगुणोपपन्नं
ददाति वै यस्तु नरो द्विजाय।
स्वाध्यायचारित्र्यगुणान्विताय
तस्यापि लोकाः कुरुषूत्तरेषु ॥ ३३ ॥

'जो मनुष्य स्वाध्यायशील और सदाचारी ब्राह्मणको सर्वगुणसम्पन्न गृह और शय्या आदि गृहस्थीके सामान देता है, उसे उत्तर कुरुदेशमें निवास प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

धुर्यप्रदानेन गवां तथा वै
लोकानवाप्नोति नरो वसूनाम्।
स्वर्गाय चाहुस्तु हिरण्यदानं
ततो विशिष्टं कनकप्रदानम् ॥ ३४ ॥

'भार ढोनेमें समर्थ बैल और गायोंका दान करनेसे मनुष्यको वसुओंके लोक प्राप्त होते हैं। सुवर्णमय आभूषणोंका दान स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है और विशुद्ध पक्के सोनेका दान उससे भी उत्तम फल देता है ॥

छत्रप्रदानेन गृहं वरिष्ठं
यानं तथोपानहसम्प्रदाने।
वस्त्रप्रदानेन फलं सुरूपं
गन्धप्रदानात् सुरभिर्नरः स्यात् ॥ ३५ ॥

'छाता देनेसे उत्तम घर, जूता दान करनेसे सवारी, वस्त्र देनेसे सुन्दर रूप और गन्ध दान करनेसे सुगन्धित शरीरकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

पुष्पोपगं वाथ फलोपगं वा
यः पादपं स्पर्शयते द्विजाय।
सस्त्रीकमृद्धं बहुरत्नपूर्णं
लभत्ययत्नोपगतं गृहं वै ॥ ३६ ॥

'जो ब्राह्मणको फल अथवा फूलोंसे भरे हुए वृक्षका दान करता है, वह अनायास ही नाना प्रकारके रत्नोंसे परिपूर्ण, धनसम्पन्न समृद्धिशाली घर प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

भक्ष्यान्नपानीयरसप्रदाता
सर्वान् समाप्नोति रसान् प्रकामम्।
प्रतिश्रयाच्छादनसम्प्रदाता
प्राप्नोति तान्येव न संशयोऽत्र ॥ ३७ ॥

'अन्न, जल और रस प्रदान करनेवाला पुरुष इच्छानुसार सब प्रकारके रसोंको प्राप्त करता है तथा जो रहनेके लिये घर और ओढ़नेके लिये वस्त्र देता है, उसे भी इन्हीं वस्तुओंकी उपलब्धि होती है। इसमें संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

स्रग्धूपगन्धाननुलेपनानि
स्नानानि माल्यानि च मानवो यः।
दद्याद् द्विजेभ्यः स भवेदरोग-
स्तथाभिरूपश्च नरेन्द्र लोके ॥ ३८ ॥

'नरेन्द्र! जो मनुष्य ब्राह्मणोंको फूलोंकी माला, धूप, चन्दन, उबटन, नहानेके लिये जल और पुष्प दान करता है, वह संसारमें नीरोग और सुन्दर रूपवाला होता है ॥ ३८ ॥

बीजैरशून्यं शयनैरुपेतं
दद्याद् गृहं यः पुरुषो द्विजाय।
पुण्याभिरामं बहुरत्नपूर्णं
लभत्यधिष्ठानवरं स राजन् ॥ ३९ ॥

'राजन्! जो पुरुष ब्राह्मणको अन्न और शय्यासे सम्पन्न गृह दान करता है, उसे अत्यन्त पवित्र, मनोहर और नाना प्रकारके रत्नोंसे भरा हुआ उत्तम घर प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

सुगन्धचित्रास्तरणोपधानं
दद्यान्नरो यः शयनं द्विजाय।
रूपान्वितां पक्षवतीं मनोज्ञां
भार्यामयत्नोपगतां लभेत् सः ॥ ४० ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मणको सुगन्धयुक्त विचित्र बिछौने और तकियेसे युक्त शय्याका दान करता है, वह बिना यत्नके ही उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा सुन्दर केशपाशवाली, रूपवती एवं मनोहारिणी भार्या प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

पितामहस्थानवरो वीरशायी भवेन्नरः ।
नाधिकं विद्यते यस्मादित्याहुः परमर्षयः ॥ ४१ ॥

'संग्रामभूमिमें वीरशय्यापर शयन करनेवाला पुरुष ब्रह्माजी-के समान हो जाता है । ब्रह्माजीसे बढ़कर कुछ भी नहीं है—ऐसा महर्षियोंका कथन है' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतात्मा कुरुनन्दनः ।
नाश्रमेऽरोचयद् वासं वीरमार्गाभिकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहका यह वचन सुनकर युधिष्ठिरका मन प्रसन्न हो उठा । एवं वीरमार्गकी अभिलाषा उत्पन्न हो जानेके कारण उन्होंने आश्रममें निवास करनेकी इच्छाका त्याग कर दिया ॥ ४२ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्राह पाण्डवान् पुरुषर्षभ ।
पितामहस्य यद् वाक्यं तद् वो रोचत्विति प्रभुः ॥ ४३ ॥

पुरुषप्रवर ! तब शक्तिशाली राजा युधिष्ठिरने पाण्डवोंसे कहा—'वीरमार्गके विषयमें पितामहका जो कथन है, उसीमें तुम सब लोगोंकी रुचि होनी चाहिये' ॥ ४३ ॥

ततस्तु पाण्डवाः सर्वे द्रौपदी च यशस्विनी ।
युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं बाढमित्यभ्यपूजयन् ॥ ४४ ॥

तब समस्त पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदी देवीने 'बहुत अच्छा' कहकर युधिष्ठिरके उस वचनका आदर किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जलाशय बनानेका तथा बगीचे लगानेका फल

युधिष्ठिर उवाच

आरामाणां तडागानां यत् फलं कुरुपुङ्गव ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कुरुकुलपुङ्गव ! भरतश्रेष्ठ ! बगीचे लगाने और जलाशय बनवानेका जो फल होता है, उसीको अब मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सुप्रदर्शा बलवती चित्रा धातुविभूषिता ।
उपेता सर्वभूतैश्च श्रेष्ठा भूमिरिहोच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो देखनेमें सुन्दर हो, जहाँकी मिट्टी प्रबल, अधिक अन्न उपजानेवाली हो, जो विचित्र एवं अनेक धातुओंसे विभूषित हो तथा समस्त प्राणी जहाँ निवास करते हों, वही भूमि यहाँ श्रेष्ठ बतायी जाती है ॥ २ ॥

तस्याः क्षेत्रविशेषाश्च तडागानां च बन्धनम् ।
औदकानि च सर्वाणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

उस भूमिसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष-विशेष क्षेत्र, उनमें पोखरोंके निर्माण तथा अन्य सब जलाशय—कूप आदि—इन सबके विषयमें मैं क्रमशः आवश्यक बातें बताऊँगा ॥

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजनीयस्तडागवान् ॥ ४ ॥

पोखरे बनवानेसे जो लाभ होते हैं, उनका भी मैं वर्णन करूँगा । पोखरे बनवानेवाला मनुष्य तीनों लोकोंमें सर्वत्र पूजनीय होता है ॥ ४ ॥

अथवा मित्रसदनं मैत्रं मित्रविवर्धनम् ।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तडागानां निवेशनम् ॥ ५ ॥

अथवा पोखरोंका बनवाना मित्रके घरकी भाँति उपकारी मित्रताका हेतु और मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला तथा कीर्तिके विस्तारका सर्वोत्तम साधन है ॥ ५ ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः ।
तडागसुकृतं देशे क्षेत्रमेकं महाश्रयम् ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि देश या गाँवमें एक तालाबका निर्माण धर्म, अर्थ और काम तीनोंका फल देनेवाला है तथा पोखरेसे सुशोभित होनेवाला स्थान समस्त प्राणियोंके लिये एक महान् आश्रय है ॥ ६ ॥

चतुर्विधानां भूतानां तडागमुपलक्षयेत् ।
तडागानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तालाबको चारों प्रकारके प्राणियोंके लिये बहुत बड़ा आधार समझना चाहिये । सभी प्रकारके जलाशय उत्तम सम्पत्ति प्रदान करते हैं ॥ ७ ॥

देवा मनुष्यगन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः ।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥ ८ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस तथा समस्त स्थावर प्राणी जलाशयका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तस्मात् तांस्ते प्रवक्ष्यामि तडागे ये गुणाः स्मृताः ।
या च तत्र फलावाप्तिर्ऋषिभिः समुदाहृता ॥ ९ ॥

अतः ऋषियोंने तालाब बनवानेसे जिन फलोंकी प्राप्ति

बतलायी है तथा तालाबसे जो लाभ होते हैं, उन सबको मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ ९ ॥

वर्षाकाले तडागे तु सलिलं यस्य तिष्ठति।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥

जिसके खोदवाये हुए तालाबमें बरसात भर पानी रहता है, उसके लिये मनीषी पुरुष अग्निहोत्रके फलकी प्राप्ति बताते हैं ॥ १० ॥

शरत्काले तु सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति।
गोसहस्रस्य स प्रेत्य लभते फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥

जिसके तालाबमें शरत्कालतक पानी ठहरता है, वह मृत्युके पश्चात् एक हजार गोदानका उत्तम फल पाता है ॥ ११ ॥

हेमन्तकाले सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति।
स वै बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १२ ॥

जिसके तालाबमें हेमन्त (अगहन-पौष) तक पानी रुकता है, वह बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणासे युक्त महान् यज्ञके फलका भागी होता है ॥ १२ ॥

यस्य वै शैशिरे काले तडागे सलिलं भवेत्।
तस्याग्निष्टोमयज्ञस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

जिसके जलाशयमें शिशिरकाल (माघ-फाल्गुन) तक जल रहता है, उसके लिये मनीषी पुरुषोंने अग्निष्टोमनामक यज्ञके फलकी प्राप्ति बतायी है ॥ १३ ॥

तडागं सुकृतं यस्य वसन्ते तु महाश्रयम्।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं स समुपाश्नुते ॥ १४ ॥

जिसका खोदवाया हुआ पोखरा वसन्त ऋतुतक अपने भीतर जल रखनेके कारण प्यासे प्राणियोंके लिये महान् आश्रय बना रहता है, उसे 'अतिरात्र' यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

निदाघकाले पानीयं तडागे यस्य तिष्ठति।
वाजिमेधफलं तस्य फलं वै मुनयो विदुः ॥ १५ ॥

जिसके तालाबमें ग्रीष्म ऋतुतक पानी रुका रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है—ऐसा मुनियोंका मत है ॥ १५ ॥

स कुलं तारयेत् सर्वं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च नराः सदा ॥ १६ ॥

जिसके खोदवाये हुए जलाशयमें सदा साधु पुरुष और गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने समस्त कुलका उद्धार कर देता है ॥ १६ ॥

तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम्।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥

जिसके तालाबमें प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा मृग, पक्षी और मनुष्योंको भी जल सुलभ होता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ १७ ॥

यत् पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च।
तडागे यस्य तत् सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥ १८ ॥

यदि किसीके तालाबमें लोग स्नान करते, पानी पीते और विश्राम करते हैं तो इन सबका पुण्य उस पुरुषको मरनेके बाद अक्षय सुख प्रदान करता है ॥ १८ ॥

दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परत्र वै।
पानीयस्य प्रदानेन प्रीतिर्भवति शाश्वती ॥ १९ ॥

तात ! जल दुर्लभ पदार्थ है। परलोकमें तो उसका मिलना और भी कठिन है। जो जलका दान करते हैं, वे ही वहाँ जलदानके पुण्यसे सदा तृप्त रहते हैं ॥ १९ ॥

तिलान् ददत पानीयं दीपान् ददत जाग्रत।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत् प्रेत्य सुदुर्लभम् ॥ २० ॥

बन्धुओ ! तिलका दान करो, जल-दान करो, दीप-दान करो, सदा धर्म करनेके लिये सजग रहो तथा कुटुम्बीजनोंके साथ सर्वदा धर्मपालनपूर्वक रहकर आनन्दका अनुभव करो। मृत्युके बाद इन सत्कर्मोंसे परलोकमें अत्यन्त दुर्लभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥ २१ ॥

पुरुषसिंह ! जलदान सब दानोंसे महान् और समस्त दानोंसे बढ़कर है; अतः उसका दान अवश्य करना चाहिये ॥

एवमेतत् तडागस्य कीर्तितं फलमुत्तमम्।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार यह मैंने तालाब बनवानेके उत्तम फलका वर्णन किया। इसके बाद वृक्ष लगानेका माहात्म्य बतलाऊँगा ॥

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ २३ ॥

स्थावर भूतोंकी छः जातियाँ बतायी गयी हैं—वृक्ष (बड़-पीपल आदि), गुल्म (कुश आदि), लता (वृक्षपर फैलनेवाली बेल), वल्ली (जमीनपर फैलनेवाली बेल), त्वक्सार (बाँस आदि) और तृण (घास आदि) ॥

एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥ २४ ॥

ये वृक्षोंकी जातियाँ हैं। अब इनके लगानेसे जो लाभ हैं, वे यहाँ बताये जाते हैं। वृक्ष लगानेवाले मनुष्यकी इस लोकमें कीर्ति बनी रहती है और मरनेके बाद उसे उत्तम शुभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

लभते नाम लोके च पितृभिश्च महीयते।

देवलोके गतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ॥ २५ ॥

संसारमें उसका नाम होता है, परलोकमें पितर उसका सम्मान करते हैं तथा देवलोकमें चले जानेपर भी यहाँ उसका नाम नष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत ।
तारयेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांश्च रोपयेत् ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! वृक्ष लगानेवाला पुरुष अपने मरे हुए पूर्वजों और भविष्यमें होनेवाली संतानोंका तथा पितृकुलका भी उद्धार कर देता है, इसलिये वृक्षोंको अवश्य लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः ।
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ॥२७॥

जो वृक्ष लगाता है, उसके लिये ये वृक्ष पुत्ररूप होते हैं, इसमें संशय नहीं है । उन्हींके कारण परलोकमें जानेपर उसे स्वर्ग तथा अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

पुष्पैः सुरगणान् वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन् ।
छायया चातिथिं तात पूजयन्ति महीरुहः ॥ २८ ॥

तात ! वृक्षगण अपने फूलोंसे देवताओंकी, फलोंसे पितरोंकी और छायासे अतिथियोंकी पूजा करते हैं ॥ २८ ॥

किन्नरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः ।
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ति महीरुहान् ॥ २९ ॥

किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, मनुष्य और ऋषियोंके समुदाय—ये सभी वृक्षोंका आश्रय लेते हैं ॥२९॥

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु ॥ ३० ॥

फूले-फले वृक्ष इस जगत्में मनुष्योंको तृप्त करते हैं। जो वृक्षका दान करता है, उसको वे वृक्ष पुत्रकी भाँति परलोकमें तार देते हैं ॥ ३० ॥

तस्मात् तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ॥ ३१ ॥

इसलिये अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा ही उचित है कि वह अपने खोदवाये हुए तालाबके किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष लगाये और उनका पुत्रोंके समान पालन करे; क्योंकि वे वृक्ष धर्मकी दृष्टिसे पुत्र ही माने गये हैं।

तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

जो तालाब बनवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञोंका अनुष्ठान करता तथा सत्य बोलता है, ये सभी द्विज स्वर्गलोकमें सम्मानित होते हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात् तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत् ।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ॥ ३३ ॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह तालाब खोदाये, बगीचे लगाये, भाँति-भाँतिके यज्ञोंका अनुष्ठान करे तथा सदा सत्य बोले ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आरामतडागवर्णनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बगीचा लगाने और तालाब बनानेका वर्णन नामक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा उत्तम दान तथा उत्तम ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करते हुए उनके सत्कारका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते ।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुश्रेष्ठ ! वेदीके बाहर जो ये दान बताये जाते हैं, उन सबकी अपेक्षा आपके मतमें कौन दान श्रेष्ठ है ? ॥ १ ॥

कौतूहलं हि परमं तत्र मे विद्यते प्रभो ।
दातारं दत्तमन्वेति यद् दानं तत् प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

प्रभो ! इस विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो रहा है; अतः जिस दानका पुण्य दाताका अनुसरण करता हो, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः ।
यच्चाभिलषितं दद्यात् तृषितायाभियाचते ॥ ३ ॥
दत्तं मन्येत यद् दत्त्वा तद् दानं श्रेष्ठमुच्यते ।
दत्तं दातारमन्वेति यद् दानं भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देना, संकटके समय उनपर अनुग्रह करना, याचकको उसकी अभीष्ट वस्तु देना तथा प्याससे पीड़ित होकर पानी माँगनेवालेको पानी पिलाना उत्तम दान है और जिसे देकर दिया हुआ मान लिया जाय अर्थात् जिसमें कहीं भी ममताकी गन्ध न रह जाय, वह दान श्रेष्ठ कहलाता है। भरतश्रेष्ठ ! वही दान दाताका अनुसरण करता है ॥ ३-४ ॥

[हि]रण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च।
[ए]तानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान—ये तीन पवित्र दान [हैं,] जो पापीको भी तार देते हैं ॥ ५ ॥

[ए]तानि पुरुषव्याघ्र साधुभ्यो देहि नित्यदा।
[द]नानि हि नरं पापान्मोक्षयन्ति न संशयः ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह ! तुम श्रेष्ठ पुरुषोंको ही सदा उपर्युक्त पवित्र [व]स्तुओंका दान किया करो। ये दान मनुष्यको पापसे मुक्त [क]र देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

[य]द् यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
[त]त् तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥

संसारमें जो-जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय माना जाता है तथा [अ]पने घरमें भी जो प्रिय वस्तु मौजूद हो, वही-वही वस्तु [गु]णवान् पुरुषको देनी चाहिये। जो अपने दानको अक्षय [ब]नाना चाहता हो, उसके लिये ऐसा करना आवश्यक है॥७॥

[प्रि]याणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत् तथा।
[प्रि]यो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥ ८ ॥

जो दूसरोंको प्रिय वस्तुका दान देता है और उनका [प्रि]य कार्य ही करता है, वह सदा प्रिय वस्तुओंको ही पाता [है] तथा इहलोक और परलोकमें भी वह समस्त प्राणियोंका [प्रि]य होता है ॥ ८ ॥

[या]चमानमभीमानादनासक्तमकिंचनम् ।
[यो] नार्चति यथाशक्ति स नृशंसो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! जो आसक्तिरहित अकिंचन याचकका अहं[का]रवश अपनी शक्तिके अनुसार सत्कार नहीं करता है, वह [म]नुष्य निर्दयी है ॥ ९ ॥

[अ]मित्रमपि चेद् दीनं शरणैषिणमागतम्।
[व्य]सने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥ १० ॥

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पानेकी इच्छासे घरपर [आ] जाय तो संकटके समय जो उसपर दया करता है, वही [मन]ुष्योंमें श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

[कृ]शाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
[अ]पहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ ११ ॥

विद्वान् होनेपर भी जिसकी आजीविका क्षीण हो गयी [है] तथा जो दीन, दुर्बल और दुखी है, ऐसे मनुष्यकी जो [भू]ख मिटा देता है, उस पुरुषके समान पुण्यात्मा कोई [न]हीं है ॥ ११ ॥

[क्रि]यानियमितान् साधून् पुत्रदारैश्च कर्शितान्।
[अ]याचमानान् कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो स्त्री-पुत्रोंके पालनमें असमर्थ होनेके कारण विशेष कष्ट उठाते हैं; परंतु किसीसे याचना नहीं करते और सदा सत्कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रत्येक उपायसे सहायता देनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये ॥ १२ ॥

आशिषं ये न देवेषु न च मर्त्येषु कुर्वते।
अर्हन्तो नित्यसंतुष्टास्तथा लब्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
आशीविषसमेभ्यश्च तेभ्यो रक्षस्व भारत।
तान् युक्तैरुपजिज्ञास्यस्तथा द्विजवरोत्तमान् ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्नित्यं सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः।
निमन्त्रयेथाः कौरव्य सर्वकामसुखावहैः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! जो देवताओं और मनुष्योंसे किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, सदा सतुष्ट रहते और जो कुछ मिल जाय, उसीपर निर्वाह करते हैं, ऐसे पूज्य द्विजवरोंका दूतोंद्वारा पता लगाओ और उन्हें निमन्त्रित करो। भारत ! वे दुखी होनेपर विषधर सर्पके समान भयंकर हो जाते हैं; अतः उनसे अपनी रक्षा करो। कुरुनन्दन ! सेवकों और आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेके कारण सुखद गृह निवेदन करके उनका नित्यप्रति पूर्ण सत्कार करो ॥

यदि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर।
कार्यमित्येव मन्वाना धार्मिकाः पुण्यकर्मिणः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! यदि तुम्हारा दान श्रद्धासे पवित्र और कर्तव्य-बुद्धिसे ही किया हुआ होगा तो पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले वे धर्मात्मा पुरुष उसे उत्तम मानकर स्वीकार कर लेंगे ॥ १६ ॥

विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्य जीविनः।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १७ ॥
तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारपरितोषिषु।
यत् करिष्यसि कल्याणं तत् ते लोके युधाम्पते ॥ १८ ॥

युद्धविजयी युधिष्ठिर ! विद्वान्, व्रतका पालन करनेवाले, किसी धनीका आश्रय लिये बिना ही जीवन निर्वाह करनेवाले, अपने स्वाध्याय और तपको गुप्त रखनेवाले तथा कठोर व्रतके पालनमें तत्पर जो ब्राह्मण हैं, जो शुद्ध, जितेन्द्रिय तथा अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहनेवाले हैं, उनके लिये तुम जो कुछ करोगे, वह जगत्में तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा। १७-१८।

यथाग्निहोत्रं सुहुतं सायंप्रातर्द्विजातिना।
तथा दत्तं द्विजातिभ्यो भवत्यथ यतात्मसु ॥ १९ ॥

द्विजके द्वारा सायं और प्रातःकाल विधिपूर्वक किया हुआ अग्निहोत्र जो फल प्रदान करता है, वही फल संयमी ब्राह्मणोंको दान देनेसे मिलता है ॥ १९ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्तताम् ॥ २० ॥

तात ! तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला विशाल दान-यज्ञ

श्रद्धासे पवित्र एवं दक्षिणासे युक्त है। वह सब यज्ञोंसे बढ़कर है। तुझ दाताका वह यज्ञ सदा चालू रहे ॥ २० ॥

निवापदानसलिलस्तादृशेषु युधिष्ठिर।
निवसन् पूजयंश्चैव तेष्वानृण्यं नियच्छति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! पूर्वोक्त ब्राह्मणोंको पितरोंके लिये किये जानेवाले तर्पणकी भाँति दानरूपी जलसे तृप्त करके उन्हें निवास और आदर देते रहो। ऐसा करनेवाला पुरुष देवता आदिके ऋणसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

य एवं नैव कुप्यन्ते न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि।
त एव नः पूज्यतमा ये चापि प्रियवादिनः ॥ २२ ॥

जो ब्राह्मण कभी क्रोध नहीं करते, जिनके मनमें एक तिनके भरका लोभ नहीं होता तथा जो प्रिय वचन बोलनेवाले हैं, वे ही हमलोगोंके परम पूज्य हैं ॥ २२ ॥

एते न बहु मन्यन्ते न प्रवर्तन्ति चापरे।
पुत्रवत् परिपाल्यास्ते नमस्तेभ्यस्तथाभयम् ॥ २३ ॥

उपर्युक्त ब्राह्मण निःस्पृह होनेके कारण दाताके प्रति विशेष आदर नहीं प्रकट करते। इनमेंसे तो कितने ही धनोपार्जनके कार्यमें तो प्रवृत्त ही नहीं होते हैं। ऐसे ब्राह्मणोंका पुत्रवत् पालन करना चाहिये। उन्हें बारंबार नमस्कार है। उनकी ओरसे हमें कोई भय न हो ॥ २३ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या मृदुब्रह्मधरा हि ते।
क्षात्रेणापि हि संसृष्टं तेजः शाम्यति वै द्विजे ॥ २४ ॥

ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य—ये प्रायः कोमल स्वभाववाले और वेदोंका धारण करनेवाले होते हैं। क्षत्रियका तेज ब्राह्मणके पास जाते ही शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अस्ति मे बलवानस्मि राजास्मीति युधिष्ठिर।
ब्राह्मणान् मा च पर्यश्नीर्वासोभिरशनेन च ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! 'मेरे पास धन है, मैं बलवान् हूँ और राजा हूँ' ऐसा समझते हुए तुम ब्राह्मणोंकी उपेक्षा करके स्वयं ही अन्न और वस्त्रका उपभोग न करना ॥ २५ ॥

यच्छोभार्थं बलार्थं वा वित्तमस्ति तवानघ।
तेन ते ब्राह्मणाः पूज्याः स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ २६ ॥

अनघ ! तुम्हारे पास शरीर और घरकी शोभा बढ़ाने अथवा बलकी वृद्धि करनेके लिये जो धन है, उसके द्वारा स्वधर्मका अनुष्ठान करते हुए तुम्हें ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ २६ ॥

नमस्कार्यास्तथा विप्रा वर्तमाना यथातथम्।
यथासुखं यथोत्साहं ललन्तु त्वयि पुत्रवत् ॥ २७ ॥

इतना ही नहीं, तुम्हें उन ब्राह्मणोंको सदा नमस्कार करना चाहिये। वे अपनी रुचिके अनुसार जैसे चाहें रहें। तुम्हारे पास पुत्रकी भाँति उन्हें स्नेह प्राप्त होना चा[हिये] तथा वे सुख और उत्साहके साथ आनन्दपूर्वक रहें, [ऐसी] चेष्टा करनी चाहिये ॥ २७ ॥

को ह्यक्षयप्रसादानां सुहृदामल्पतोषिणाम्।
वृत्तिमर्हत्यवक्षेप्तुं त्वदन्यः कुरुसत्तम ॥ २८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जिनकी कृपा अक्षय है, जो अकारण ही स[बका] हित करनेवाले और थोड़ेमें ही संतुष्ट रहनेवाले हैं, उन ब्राह्म[णों]को तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीविका दे सकता है ॥ २८ ॥

यथा पत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके सनातनः।
सदैव सा गतिर्नान्या तथास्माकं द्विजातयः ॥ २९ ॥

जैसे इस संसारमें स्त्रियोंका सनातन धर्म सदा पति[-]सेवापर ही अवलम्बित है, उसी प्रकार ब्राह्मण ही सदैव ह[मारे] आश्रय हैं। हमलोगोंके लिये उनके सिवा दूसरा कोई स[हारा] नहीं है ॥ २९ ॥

यदि नो ब्राह्मणास्तात संत्यजेयुरपूजिताः।
पश्यन्तो दारुणं कर्म सततं क्षत्रिये स्थितम् ॥ ३० ॥
अवेदानामयज्ञानामलोकानामवर्तिनाम्।
कस्तेषां जीवितेनार्थस्त्वां विना ब्राह्मणाश्रयम् ॥ ३१ ॥

तात ! यदि ब्राह्मण क्षत्रियोंके द्वारा सम्मानित न[हों] तथा क्षत्रियमें सदा रहनेवाले निष्ठुर कर्मको देखकर ब्रा[ह्मण] भी उनका परित्याग कर दें तो वे क्षत्रिय वेद, यज्ञ, उ[त्तम] लोक और आजीविकासे भी भ्रष्ट हो जायँ। उस द[शामें] ब्राह्मणोंका आश्रय लेनेवाले तुम्हारे सिवा उन दूसरे क्षत्रि[योंके] जीवित रहनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ३०-३१ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मं सनातनम्।
राजन्यो ब्राह्मणान् राजन् पुरा परिचचार ह ॥ ३२ ॥
वैश्यो राजन्यमित्येव शूद्रो वैश्यमिति श्रुतिः।

राजन् ! अब मैं तुम्हें सनातन कालका धार्मिक व्यवहार [बताता] है, यह बताऊँगा। हमने सुना है, पूर्व कालमें क्षत्रिय ब्राह्मणोंकी, [वैश्य] क्षत्रियोंकी और शूद्र वैश्योंकी सेवा किया करते थे ॥ ३२ ॥

दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३३ ॥
संस्पर्शपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च।

ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी हैं; अतः शूद्रको दू[रसे] ही उनकी सेवा करनी चाहिये। उनके शरीरके स्पर्श[पूर्वक] सेवा करनेका अधिकार केवल क्षत्रिय और वैश्यको ही है।

मृदुभावान् सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालकान् ॥ ३४ ॥
आशीविषानिव क्रुद्धांस्तानुपाचरत द्विजान्।

ब्राह्मण स्वभावतः कोमल, सत्यवादी और सत्यध[र्मका] पालन करनेवाले होते हैं, परंतु जब वे कुपित होते हैं, [तब] विषैले सर्पके समान भयंकर हो जाते हैं। अतः तुम स[दा] ब्राह्मणोंकी सेवा करते रहो ॥ ३४½ ॥

अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चापि ये परे ॥ ३५ ॥
क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च तपांसि च ॥ ३६ ॥

छोटे-बड़े और बड़ोंसे भी बड़े जो क्षत्रिय तेज और बलसे तप रहे हैं, उन सबके तेज और तप ब्राह्मणोंके पास जाते ही शान्त हो जाते हैं ॥ ३५-३६ ॥

न मे पिता प्रियतरो न त्वं तात तथा प्रियः ।
न मे पितुः पिता राजन् न चात्मा न च जीवितम्॥३७॥

तात ! मुझे ब्राह्मण जितने प्रिय हैं, उतने मेरे पिता, तुम, पितामह, यह शरीर और जीवन भी प्रिय नहीं हैं ॥ ३७ ॥

त्वत्तश्च मे प्रियतरः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
त्वत्तोऽपि मे प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस पृथ्वीपर तुमसे अधिक प्रिय मेरे लिये दूसरा कोई नहीं है; परंतु ब्राह्मण तुमसे भी बढ़कर प्रिय हैं ॥

ब्रवीमि सत्यमेतच्च यथाहं पाण्डुनन्दन ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान् यत्र च शान्तनुः ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ' मैं यह सच्ची बात कह रहा हूँ और चाहता हूँ कि इस सत्यके प्रभावसे मैं उन्हीं लोकोंमें जाऊँ, जहाँ मेरे पिता शान्तनु गये हैं ॥ ३९ ॥

पश्येयं च सतां लोकाञ्छुचीन् ब्रह्मपुरस्कृतान् ।
तत्र मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ ४० ॥

इस सत्यके प्रभावसे ही मैं सत्पुरुषोंके उन पवित्र लोकोंका दर्शन कर रहा हूँ, जहाँ ब्राह्मणों और ब्रह्माजीकी प्रधानता है। तात ! मुझे शीघ्र ही चिरकालके लिये उन लोकोंमें जाना है ॥ ४० ॥

सोऽहमेतादृशाँल्लोकान् दृष्ट्वा भरतसत्तम ।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेषु न तप्ये तेन पार्थिव ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणोंके लिये मैंने जो कुछ किया है, उसके फलस्वरूप ऐसे पुण्यलोकोंका दर्शन करके मुझे संतोष हो गया है। अब मैं इस बातके लिये संतप्त नहीं हूँ कि दूसरा कोई पुण्य क्यों नहीं किया ! ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

श्रेष्ठ अयाचक, धर्मात्मा, निर्धन एवं गुणवान्‌को दान देनेका विशेष फल

युधिष्ठिर उवाच

यौ च स्यातां चरणेनोपपन्नौ
यौ विद्यया सदृशौ जन्मना च ।
ताभ्यां दानं कतमस्मै विशिष्ट-
मयाचमानाय च याचते च ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उत्तम आचरण, विद्या और कुलमें एक समान प्रतीत होनेवाले दो ब्राह्मणोंमेंसे यदि एक याचक हो और दूसरा अयाचक तो किसको दान देनेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते ।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! याचना करनेवालेकी अपेक्षा याचना न करनेवालेको दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी बताया गया है तथा अधीर हृदयवाले कृपण मनुष्यकी अपेक्षा धैर्य धारण करनेवाला ही विशेष रूपसे दानका पात्र है ॥ २ ॥

क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः ।
ब्राह्मणो धृतिमान् विद्वान् देवान् प्रीणाति तुष्टिमान्॥३॥

रक्षाके कार्यमें धैर्य धारण करनेवाला क्षत्रिय और याचना न करनेमें दृढ़ता रखनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। जो ब्राह्मण धीर, विद्वान् और संतोषी होता है, वह देवताओंको अपने व्यवहारसे संतुष्ट करता है ॥ ३ ॥

याच्यमाहुरनीशस्य अभिहारं च भारत ।
उद्वेजयन्ति याचन्ति सदा भूतानि दस्युवत् ॥ ४ ॥

भारत ! दरिद्रकी याचना उसके लिये तिरस्कारका कारण मानी गयी है; क्योंकि याचक प्राणी लुटेरोंकी भाँति सदा लोगोंको उद्विग्न करते रहते हैं ॥ ४ ॥

म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत्।
ददत् संजीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

याचक मर जाता है, किंतु दाता कभी नहीं मरता । युधिष्ठिर ! दाता इस याचकको और अपनेको भी जीवित रखता है ॥ ५ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते ।
अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ ६ ॥

याचकको जो दान दिया जाता है, वह दयारूप परम धर्म है, परंतु जो लोग क्लेश उठाकर भी याचना नहीं करते,

उन ब्राह्मणोंको प्रत्येक उपायसे अपने पास बुलाकर दान देना चाहिये ॥ ६ ॥

यदि वै तादृशा राष्ट्रान् वसेयुस्ते द्विजोत्तमाः ।
भस्मच्छन्नानिवाग्नींस्तान् बुध्येथास्त्वं प्रयत्नतः॥ ७ ॥

यदि तुम्हारे राज्यके भीतर वैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते हों तो वे राखमें छिपी हुई आगके समान हैं। तुम्हें प्रयत्नपूर्वक ऐसे ब्राह्मणोंका पता लगाना चाहिये ॥ ७ ॥

तपसा दीप्यमानास्ते दहेयुः पृथिवीमपि ।
अपूज्यमानाः कौरव्य पूजार्हास्तु तथाविधाः ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! तपस्यासे देदीप्यमान होनेवाले वे ब्राह्मण पूजित न होनेपर यदि चाहें तो सारी पृथ्वीको भी भस्म कर सकते हैं; अतः वैसे ब्राह्मण सदा ही पूजा करनेके योग्य हैं ॥ ८ ॥

पूज्या हि ज्ञानविज्ञानतपोयोगसमन्विताः ।
तेभ्यः पूजां प्रयुञ्जीथा ब्राह्मणेभ्यः परंतप ॥ ९ ॥

परंतप ! जो ब्राह्मण ज्ञान-विज्ञान, तपस्या और योगसे युक्त हैं, वे पूजनीय होते हैं। उन ब्राह्मणोंकी तुम्हें सदा पूजा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

ददद् बहुविधान् दायानुपागच्छन्नयाचताम् ।
यदग्निहोत्रे सुहुते सायंप्रातर्भवेत् फलम् ॥ १० ॥
विद्यावेदव्रतवति तद्दानफलमुच्यते ।

जो याचना नहीं करते, उनके पास तुम्हें स्वयं जाकर नाना प्रकारके पदार्थ देने चाहिये। सायं और प्रातःकाल विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेसे जो फल मिलता है, वही वेदके विद्वान् और व्रतधारी ब्राह्मणको दान देनेसे भी मिलता है ॥

विद्यावेदव्रतस्नातानव्यपाश्रयजीविनः ॥ ११ ॥
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणान् संशितव्रतान् ।
कृतैरावसथैर्हृद्यैः सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः ॥ १२ ॥
निमन्त्रयेथाः कौरव्य कामैश्चान्यैर्द्विजोत्तमान् ।

कुरुनन्दन! जो विद्या और वेदव्रतमें निष्णात हैं, जो किसीके आश्रित होकर जीविका नहीं चलाते, जिनका स्वाध्याय और तपस्या गुप्त है तथा जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, ऐसे उत्तम ब्राह्मणोंको तुम अपने यहाँ निमन्त्रित करो और उन्हें सेवक, आवश्यक सामग्री तथा अन्यान्य उपभोगकी वस्तुओंसे सम्पन्न मनोरम गृह बनवाकर दो ॥ ११-१२½ ॥

अपि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धोपेतं युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कार्यमित्येव मन्वाना धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ।

युधिष्ठिर ! वे धर्मज्ञ तथा सूक्ष्मदर्शी ब्राह्मण तुम्हारे श्र[द्धा]युक्त दानको कर्तव्यबुद्धिसे किया हुआ मानकर अव[श्य] स्वीकार करेंगे ॥ १३½ ॥

अपि ते ब्राह्मणा भुक्त्वा गताः सोद्धरणान् गृहान् ।१[४]
येषां दाराः प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ।

जैसे किसान वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार जि[न] घरकी स्त्रियाँ अन्नकी प्रतीक्षामें बैठी हों और बालकोंको कहकर बहला रही हों कि 'अब तुम्हारे बाबूजी भोजन ले[कर] आते ही होंगे'; क्या ऐसे ब्राह्मण तुम्हारे यहाँ भोजन क[रके] अपने घरोंको गये हैं ? ॥ १४½ ॥

अन्नानि प्रातःसवने नियता ब्रह्मचारिणः ॥ १५
ब्राह्मणास्तात भुञ्जानास्त्रेताग्निं प्रीणयन्त्युत ।

तात ! नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्[मण] यदि प्रातःकाल घरमें भोजन करते हैं तो तीनों अग्नियोंको [तृप्त] कर देते हैं ॥ १५½ ॥

माध्यन्दिनं ते सवनं ददतस्तात वर्तताम् ॥ १६
गोहिरण्यानि वासांसि तेनेन्द्रः प्रीयतां तव ।

बेटा ! दोपहरके समय जो तुम ब्राह्मणोंको भोज[न] कराकर उन्हें गौ, सुवर्ण और वस्त्र प्रदान करते हो, इ[ससे] तुम्हारे ऊपर इन्द्रदेव प्रसन्न हों ॥ १६½ ॥

तृतीयं सवनं ते वै वैश्वदेवं युधिष्ठिर ॥ १७
यद् देवेभ्यः पितृभ्यश्च विप्रेभ्यश्च प्रयच्छसि ।

युधिष्ठिर ! तीसरे समयमें जो तुम देवताओं, पितरों [और] ब्राह्मणोंके उद्देश्यसे दान करते हो, वह विश्वेदेवोंको [तृप्त] करनेवाला होता है ॥ १७½ ॥

अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च भागशः ॥ १८
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्यवभृथाय ते ।

सब प्राणियोंके प्रति अहिंसाका भाव रखना, स[बको] यथायोग्य भाग अर्पण करना, इन्द्रियसंयम, त्याग, धैर्य [और] सत्य—ये सब गुण तुम्हें यज्ञान्तमें किये जानेवाले अव[भृथ] स्नानका फल देंगे ॥ १८½ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ॥ १९
विशिष्टः सर्वयज्ञानां नित्यं तात प्रवर्तताम् ॥ २०

इस प्रकार जो तुम्हारे श्रद्धासे पवित्र एवं दक्षिणा[यु]क्त यज्ञका विस्तार हो रहा है; यह सभी यज्ञोंसे बढ़कर है। तात युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह यज्ञ सदा चालू रहना चाहि[ये] ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

राजाके लिये यज्ञ, दान और ब्राह्मण आदि प्रजाकी रक्षाका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

दानं यज्ञः क्रिया चेह किंस्वित् प्रेत्य महाफलम् ।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि विज्ञातुं याथातथ्येन भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय दानधर्मान् प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! दान और यज्ञकर्म—इन दोनोंमेंसे कौन मृत्युके पश्चात् महान् फल देनेवाला होता है ? किसका फल श्रेष्ठ बताया गया है ? कैसे ब्राह्मणोंको कब दान देना चाहिये और किस प्रकार कब यज्ञ करना चाहिये ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। विद्वन् ! आप मुझ जिज्ञासुको दानसम्बन्धी धर्म विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १-२ ॥

अन्तर्वेद्यां च यद् दत्तं श्रद्धया चानृशंस्यतः ।
किंस्विन्निःश्रेयसं तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

तात पितामह ! जो दान वेदीके भीतर श्रद्धापूर्वक दिया जाता है और जो वेदीके बाहर दयाभावसे प्रेरित होकर दिया जाता है; इन दोनोंमें कौन विशेष कल्याणकारी होता है ? ॥३॥

भीष्म उवाच

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते ।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! क्षत्रियको सदा कठोर कर्म करने पड़ते हैं, अतः यहाँ यज्ञ और दान ही उसे पवित्र करनेवाले कर्म हैं ॥ ४ ॥

न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
एतस्मात् कारणाद् यज्ञैर्यजेद् राजाऽऽप्तदक्षिणैः॥ ५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष पाप करनेवाले राजाका दान नहीं लेते हैं; इसलिये राजाको पर्याप्त दक्षिणा देकर यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ५ ॥

अथ चेत् प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः ।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ६ ॥

श्रेष्ठ पुरुष यदि दान स्वीकार करें तो राजाको उन्हें प्रतिदिन बड़ी श्रद्धाके साथ दान देना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान आत्मशुद्धिका सर्वोत्तम साधन है॥

ब्राह्मणांस्तर्पयन् द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः ।
मैत्रान् साधून् वेदविदः शीलवृत्ततपोर्जितान् ॥ ७ ॥

तुम नियमपूर्वक यज्ञमें सुशील, सदाचारी, तपस्वी, वेदवेत्ता, सबसे मैत्री रखनेवाले तथा साधु स्वभाववाले ब्राह्मणोंको धन देकर संतुष्ट करो ॥ ७ ॥

यत् ते ते न करिष्यन्ति कृतं ते न भविष्यति ।
यज्ञान् साधय साधुभ्यः स्वाद्वन्नान् दक्षिणावतः॥ ८ ॥

यदि वे तुम्हारा दान स्वीकार नहीं करेंगे तो तुम्हें पुण्य नहीं होगा; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये स्वादिष्ट अन्न और दक्षिणासे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करो ॥ ८ ॥

इष्टं दत्तं च मन्येथा आत्मानं दानकर्मणा ।
पूजयेथा यायजूकांस्तवाप्यंशो भवेद् यथा ॥ ९ ॥

याज्ञिक पुरुषोंको दान करके ही तुम अपनेको यज्ञ और दानके पुण्यका भागी समझ लो । यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंका सदा सम्मान करो । इससे तुम्हें भी यज्ञका आंशिक फल प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

(विद्वद्भ्यः सम्प्रदानेन तत्राप्यंशोऽस्य पूजया।
यज्वभ्यश्चाथ विद्वद्भ्यो दत्त्वा लोकं प्रदापयेत् ॥
प्रदद्याज्ज्ञानदातॄणां ज्ञानदानांशभाग् भवेत् ।)

विद्वानोंको दान देनेसे, उनकी पूजा करनेसे दाता और पूजकको यज्ञका आंशिक फल प्राप्त होता है । यज्ञकर्ताओं तथा ज्ञानी पुरुषोंको दान देनेसे वह दान उत्तम लोककी प्राप्ति कराता है । जो दूसरोंको ज्ञानदान करते हैं, उन्हें भी अन्न और धनका दान करे । इससे दाता उनके ज्ञानदानके आंशिक पुण्यका भागी होता है ॥

प्रजावतो भरेथाश्च ब्राह्मणान् बहुकारिणः ।
प्रजावांस्तेन भवति यथा जनयिता तथा ॥ १० ॥

जो बहुतोंका उपकार करनेवाले और बाल-बच्चेवाले ब्राह्मणोंका पालन-पोषण करता है, वह उस शुभ कर्मके प्रभावसे प्रजापतिके समान संतानवान् होता है ॥ १० ॥

यावतः साधुधर्मान् वै सन्तः संवर्धयन्त्युत ।
सर्वस्वैश्चापि भर्तव्या नरा ये बहुकारिणः ॥ ११ ॥

जो संत पुरुष सदा समस्त सद्धर्मोंका प्रचार और विस्तार करते रहते हैं, अपना सर्वस्व देकर भी उनका भरण-पोषण करना चाहिये; क्योंकि वे राजाके अत्यन्त उपकारी होते हैं ॥

समृद्धः सम्प्रयच्छ त्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ।
धेनूरनडुहोऽन्नानि च्छत्रं वासांस्युपानहौ ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम समृद्धिशाली हो, इसलिये ब्राह्मणोंको गाय, बैल, अन्न, छाता, जूता और वस्त्र दान करते रहो ॥

आज्यानि यजमानेभ्यस्तथान्नानि च भारत ।
अश्ववन्ति च यानानि वेश्मानि शयनानि च ॥ १३ ॥
एते देया व्युष्टिमन्तो लघूपायाश्च भारत ।

भारत ! जो ब्राह्मण यज्ञ करते हों, उन्हें घी, अन्न, घोड़े जुते हुए रथ आदिकी सवारियाँ, घर और शय्या आदि

वस्तुएँ देनी चाहिये । भरतनन्दन ! राजाके लिये ये दान सरलतासे होनेवाले और समृद्धिको बढ़ानेवाले हैं ॥ १३½ ॥

अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान्॥ १४ ॥
उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान् प्रतिपालयेत् ।

जिन ब्राह्मणोंका आचरण निन्दित न हो, वे यदि जीविकाके बिना कष्ट पा रहे हों तो उनका पता लगाकर गुप्त या प्रकट रूपमें जीविकाका प्रबन्ध करके सदा उनका पालन करते रहना चाहिये ॥ १४½ ॥

राजसूयाश्वमेधाभ्यां श्रेयस्तत् क्षत्रियान् प्रति॥ १५ ॥
एवं पापैर्विनिर्मुक्तस्त्वं पूतः स्वर्गमाप्स्यसि ।

क्षत्रियोंके लिये यह कार्य राजसूय और अश्वमेघ यज्ञोंसे भी अधिक कल्याणकारी है । ऐसा करनेसे तुम सब पापोंसे मुक्त एवं पवित्र होकर स्वर्गलोकमें जाओगे ॥ १५½ ॥

संचयित्वा पुनः कोशं यद् राष्ट्रं पालयिष्यसि ॥ १६ ॥
तेन त्वं ब्रह्मभूयत्वमवाप्स्यसि धनानि च ।

कोषका संग्रह करके यदि तुम उसके द्वारा राष्ट्रकी रक्षा करोगे तो तुम्हें दूसरे जन्मोंमें धन और ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होगी ॥ १६½ ॥

आत्मनश्च परेषां च वृत्तिं संरक्ष भारत ॥ १७ ॥
पुत्रवच्चापि भृत्यान् स्वान् प्रजाश्च परिपालय ।

भरतनन्दन ! तुम अपनी और दूसरोंकी भी जीविकाकी रक्षा करो तथा अपने सेवकों और प्रजाजनोंका पुत्रकी भाँति पालन करो ॥ १७½ ॥

योगः क्षेमश्च ते नित्यं ब्राह्मणेष्वस्तु भारत ॥ १८ ॥
तदर्थं जीवितं तेऽस्तु मा तेभ्योऽप्रतिपालनम् ।

भारत ! ब्राह्मणोंके पास जो वस्तु न हो, उसे उनको देना और जो हो उसकी रक्षा करना भी तुम्हारा नित्य कर्तव्य है । तुम्हारा जीवन उन्हींकी सेवामें लग जाना चाहिये । उनकी रक्षासे तुम्हें कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिये ॥ १८½ ॥

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद् वित्तनिचयो महान् ॥ १९ ॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत् सम्प्रमोहयेत् ।

ब्राह्मणोंके पास यदि बहुत धन इकट्ठा हो जाय तो यह उनके लिये अनर्थका ही कारण होता है; क्योंकि लक्ष्मीका निरन्तर सहवास उन्हें दर्प और मोहमें डाल देता है ॥

ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम् ।
धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यान्न संशयः ॥ २० ॥

ब्राह्मण जब मोहग्रस्त होते हैं, तब निश्चय ही धर्मका नाश हो जाता है और धर्मका नाश होनेपर प्राणियोंका भी विनाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

यो रक्षिभ्यः सम्प्रदाय राजा राष्ट्रं विलुम्पति ।
यज्ञे राष्ट्राद् धनं तस्मादानयध्वमिति ब्रुवन् ॥ २१ ॥
यच्चादाय तदाज्ञप्तं भीतं दत्तं सुदारुणम् ।
यजेद् राजा न तं यज्ञं प्रशंसन्त्यस्य साधवः ॥ २२ ॥

जो राजा प्रजासे करके रूपमें प्राप्त हुए धनको कोषकी रक्षा करनेवाले कोषाध्यक्ष आदिको देकर खजानेमें रखवा लेता है और अपने कर्मचारियोंको यह आज्ञा देता है कि 'तुम लोग यज्ञके लिये राज्यसे धन वसूलकर ले आओ', इस प्रकार यज्ञके नामपर जो राज्यकी प्रजाको लूटता है तथा उसकी आज्ञाके अनुसार लोगोंको डरा-धमकाकर निष्ठुरतापूर्वक लाये हुए धनको लेकर जो उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान करता है, उस राजाके ऐसे यज्ञकी श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं ॥

अपीडिताः सुसंवृद्धा ये ददत्यनुकूलतः ।
तादृशेनाप्युपायेन यष्टव्यं नोद्यमाहृतैः ॥ २३ ॥

इसलिये जो लोग बहुत धनी हों और बिना पीड़ा दिये ही अनुकूलतापूर्वक धन दे सकें, उनके दिये हुए अथवा वैसे ही मृदु उपायसे प्राप्त हुए धनके द्वारा यज्ञ करना चाहिये; प्रजापीड़नरूप कठोर प्रयत्नसे लाये हुए धनके द्वारा नहीं ॥ २३ ॥

यदा परिनिषिच्येत निहितो वै यथाविधि ।
तदा राजा महायज्ञैर्यजेत बहुदक्षिणैः ॥ २४ ॥

जब राजाका विधिपूर्वक राज्याभिषेक हो जाय और वह राज्यासनपर बैठ जाय, तब राजा बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त महान् यज्ञका अनुष्ठान करे ॥ २४ ॥

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च ।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्ती धनं हरेत् ॥ २५ ॥

राजा वृद्ध, बालक, दीन और अन्धे मनुष्यके धनकी रक्षा करे । पानी न बरसनेपर जब प्रजा कुआँ खोदकर किसी तरह सिंचाई करके कुछ अन्न पैदा करे और उसीसे जीविका चलाती हो तो राजाको वह धन नहीं लेना चाहिये तथा किसी क्लेशमें पड़कर रोती हुई स्त्रीका भी धन न ले ॥ २५ ॥

हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम् ।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम्॥ २६ ॥

यदि किसी दरिद्रका धन छीन लिया जाय तो वह राजाके राज्यका और लक्ष्मीका विनाश कर देता है । अतः राजाको चाहिये कि दीनोंका धन न लेकर उन्हें महान् भोग अर्पित करे और श्रेष्ठ पुरुषोंको भूखका कष्ट न होने दे ॥२६॥

येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः ।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः ॥ २७ ॥

जिसके स्वादिष्ट भोजनकी ओर छोटे-छोटे बच्चे तरसती आँखोंसे देखते हों और वह उन्हें न्यायतः खानेको न मिलता हो, उस पुरुषके द्वारा इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है ? ॥

यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान् सीदेत् क्षुधा द्विजः ।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम् ॥ २८ ॥

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें कोई वैसा विद्वान् ब्राह्मण भूखसे कष्ट पा रहा हो तो तुम्हें भ्रूण-हत्याका पाप लगेगा और कोई बड़ा भारी पाप करनेसे मनुष्यकी जो दुर्गति होती है, वही तुम्हारी भी होगी ॥ २८ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥ २९ ॥

राजा शिबिका कथन है कि 'जिसके राज्यमें ब्राह्मण या कोई और मनुष्य क्षुधासे पीड़ित हो रहा हो, उस राजाके जीवनको धिक्कार है ॥ २९ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा ।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सहराजकम् ॥ ३० ॥

जिस राजाके राज्यमें स्नातक ब्राह्मण भूखसे कष्ट पाता है, उसके राज्यकी उन्नति रुक जाती है; साथ ही वह राज्य शत्रु राजाओंके हाथमें चला जाता है ॥ ३० ॥

क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद्ध्रियन्ते तरसा स्त्रियः ।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति ॥ ३१ ॥

जिसके राज्यमें रोती-बिलखती स्त्रियोंका बलपूर्वक अपहरण हो जाता हो और उनके पति-पुत्र रोते-पीटते रह जाते हों, वह राजा नहीं, मुर्दा है अर्थात् वह जीवित रहते हुए मुर्देके समान है ॥ ३१ ॥

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥ ३२ ॥

जो प्रजाकी रक्षा नहीं करता, केवल उसके धनको लूटता-खसोटता रहता है तथा जिसके पास कोई नेतृत्व करनेवाला मन्त्री नहीं है, वह राजा नहीं, कलियुग है। समस्त प्रजाको चाहिये कि ऐसे निर्दयी राजाको बाँधकर मार डाले ॥

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ ३३ ॥

जो राजा प्रजासे यह कहकर कि 'मैं तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा' उनकी रक्षा नहीं करता, वह पागल और रोगी कुत्तेकी तरह सबके द्वारा मार डालने योग्य है ॥ ३३ ॥

पापं कुर्वन्ति यत् किंचित् प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन! राजासे अरक्षित होकर प्रजा जो कुछ भी पाप करती है, उस पापका एक चौथाई भाग राजाको भी प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

अथाहुः सर्वमेवैति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
चतुर्थं मतमस्माकं मनोः श्रुत्वानुशासनम् ॥ ३५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि सारा पाप राजाको ही लगता है। दूसरे लोगोंका यह निश्चय है कि राजा आधे पापका भागी होता है। परंतु मनुका उपदेश सुनकर हमारा मत यही है कि राजाको उस पापका एक चतुर्थांश ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

शुभं वा यच्च कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥ ३६ ॥

भारत! राजासे भलीभाँति सुरक्षित होकर प्रजा जो भी शुभ कर्म करती है, उसके पुण्यका चौथाई भाग राजा प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

जीवन्तं त्वानुजीवन्तु प्रजाः सर्वा युधिष्ठिर ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिवाण्डजाः ॥ ३७ ॥
कुबेरमिव रक्षांसि शतक्रतुमिवामराः ।
ज्ञातयस्त्वानुजीवन्तु सुहृदश्च परंतप ॥ ३८ ॥

परंतप युधिष्ठिर! जैसे सब प्राणी मेघके सहारे जीवन धारण करते हैं, जैसे पक्षी महान् वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं तथा जिस प्रकार राक्षस कुबेरके और देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे जीते-जी सारी प्रजा तुमसे ही अपनी जीविका चलाये तथा तुम्हारे सुहृद् एवं भाई-बन्धु भी तुमपर ही अवलम्बित होकर जीवन निर्वाह करें ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

सब दानोंसे बढ़कर भूमिदानका महत्त्व तथा उसीके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिरादरात् ।
बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद् दानमनुत्तमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यह देना चाहिये, वह देना चाहिये, ऐसा कहकर यह श्रुति बड़े आदरके साथ दानका विधान करती है तथा शास्त्रोंमें राजाओंके लिये बहुत कुछ दान करनेके लिये बात कही गयी है; परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि सब दानोंमें सर्वोत्तम दान कौन-सा है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अतिदानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! सब दानोंसे बढ़कर पृथ्वी-दान बताया गया है। पृथ्वी अचल और अक्षय है। वह इस लोकमें समस्त उत्तम भोगोंको देनेवाली है॥ २॥

दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून् व्रीहियवांस्तथा।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः॥ ३॥

वस्त्र, रत्न, पशु और धान-जौ आदि नाना प्रकारके अन्न—इन सबको देनेवाली पृथ्वी ही है; अतः पृथ्वीका दान करनेवाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक अभ्युदयशील होता है॥ ३॥

यावद् भूमेरायुरिह तावद् भूमिद एधते।
न भूमिदानादस्तीह परं किंचिद् युधिष्ठिर॥ ४॥

युधिष्ठिर ! इस जगत्में जबतक पृथ्वीकी आयु है, तबतक भूमिदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली रहकर सुख भोगता है। अतः यहाँ भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥ ४॥

अप्यल्पं प्रददुः सर्वे पृथिव्या इति नः श्रुतम्।
भूमिमेव ददुःसर्वे भूमिं ते भुञ्जते जनाः॥ ५॥

हमने सुना है कि जिन लोगोंने थोड़ी-सी भी पृथ्वी दान की है, वे सब लोग भूमिदानका ही पूर्ण फल पाकर उसका उपभोग करते हैं॥ ५॥

स्वकर्मैवोपजीवन्ति नरा इह परत्र च।
भूमिर्भूतिर्महादेवी दातारं कुरुते प्रियम्॥ ६॥

मनुष्य इहलोक और परलोकमें अपने कर्मके अनुसार ही जीवन-निर्वाह करते हैं। भूमि ऐश्वर्यस्वरूपा महादेवी है। वह दाताको अपना प्रिय बना लेती है॥ ६॥

य एतां दक्षिणां दद्यादक्षयां राजसत्तम।
पुनर्नरत्वं सम्प्राप्य भवेत् स पृथिवीपतिः॥ ७॥

नृपश्रेष्ठ ! जो इस अक्षय भूमिका दान करता है, वह दूसरे जन्ममें मनुष्य होकर पृथ्वीका स्वामी होता है॥ ७॥

यथा दानं तथा भोग इति धर्मेषु निश्चयः।
संग्रामे वा तनुं जह्याद् दद्याच्च पृथिवीमिमाम्॥ ८॥
इत्येतत् क्षत्रबन्धूनां वदन्ति परमां श्रियम्।

धर्मशास्त्रोंका सिद्धान्त है कि जैसा दान किया जाता है, वैसा ही भोग मिलता है। संग्राममें शरीरका त्याग करना तथा इस पृथ्वीका दान करना—ये दोनों ही कार्य क्षत्रियोंको उत्तम लक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं॥ ८½॥

पुनाति दत्ता पृथिवी दातारमिति शुश्रुम॥ ९॥
अपि पापसमाचारं ब्रह्मघ्नमपि चानृतम्।
सैव पापं प्लावयति सैव पापात् प्रमोचयेत्॥ १०॥

दानमें दी हुई पृथ्वी दाताको पवित्र कर देती है—यह हमने सुना है। कितना ही बड़ा पापाचारी, ब्रह्महत्यारा और असत्यवादी क्यों न हो, दानमें दी हुई पृथ्वी ही दाताके पापको धो बहा देती है और वही उसे सर्वथा पापमुक्त कर देती है॥ ९-१०॥

अपि पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
पृथिवीं नान्यदिच्छन्ति पावनं जननी यथा॥ ११॥

श्रेष्ठ पुरुष पापाचारी राजाओंसे भी पृथ्वीका दान तो ले लेते हैं, किंतु और किसी वस्तुका दान नहीं लेना चाहते। पृथ्वी वैसी ही पावन वस्तु है जैसी माता॥ ११॥

नामास्याः प्रियदत्तेति गुह्यं देव्याः सनातनम्।
दानं वाप्यथवाऽऽदानं नामास्याः प्रथमं प्रियम्॥ १२॥

इस पृथ्वी देवीका सनातन गोपनीय नाम 'प्रियदत्ता' है। इसका दान अथवा ग्रहण दोनों ही दाता और प्रतिग्रहीताको प्रिय हैं; इसीलिये इसका यह प्रथम नाम सबको प्रिय है॥ १२॥

य एतां विदुषे दद्यात् पृथिवीं पृथिवीपतिः।
पृथिव्यामेतदिष्टं स राजा राज्यमितो व्रजेत्॥ १३॥

जो पृथ्वीपति विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पृथ्वीका दान देता है, वह राजा इस दानके प्रभावसे पुनः राज्य प्राप्त करता है। भूमण्डलमें यह पृथ्वीदान सबको प्रिय है॥ १३॥

पुनश्चासौ जनिं प्राप्य राजवत् स्यान्न संशयः।
तस्मात् प्राप्यैव पृथिवीं दद्याद् विप्राय पार्थिवः॥ १४॥

वह पुनर्जन्म पाकर राजाके समान ही होता है, इसमें संशय नहीं है। अतः राजाको चाहिये कि वह पृथ्वीपर अधिकार पाते ही उसमेंसे कुछ ब्राह्मणको दान करे॥ १४॥

नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथंचन।
न चापात्रेण वा ग्राह्या दत्तदाने न चाचरेत्॥ १५॥

जो जिस भूमिका स्वामी नहीं है, उसे उसपर किसी तरह अधिकार नहीं करना चाहिये तथा अयोग्य पात्रको भूमि-दान नहीं ग्रहण करना चाहिये। जिस भूमिको दानमें दे दिया गया हो, उसे अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये॥ १५॥

ये चान्ये भूमिमिच्छेयुः कुर्युरेवं न संशयः।
यः साधोर्भूमिमादत्ते न भूमिं विन्दते तु सः॥ १६॥

दूसरे भी जो लोग भावी जन्ममें भूमि पानेकी इच्छा करें, उन्हें भी इस जन्ममें इसी तरह भूमिदान करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। जो छल-बलसे श्रेष्ठ पुरुषकी भूमिका अपहरण कर लेता है, उसे भूमिकी प्राप्ति नहीं होती॥ १६॥

भूमिं दत्त्वा तु साधुभ्यो विन्दते भूमिमुत्तमाम्।
प्रेत्य चेह च धर्मात्मा सम्प्राप्नोति महद् यशः॥ १७॥

श्रेष्ठ पुरुषोंको भूमिदान देनेसे दाताको उत्तम भूमिकी प्राप्ति होती है तथा वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है॥ १७॥

(एकागारकरीं दत्त्वा षष्टिसाहस्रमूर्ध्वगः ।
तावत्या हरणे पृथ्व्या नरकं द्विगुणोत्तरम् ॥)

जो एक घर बनाने भरके लिये भूमि दान करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक ऊर्ध्वलोकमें निवास करता है तथा जो उतनी ही पृथिवीका हरण कर लेता है, उसे उससे दूने अधिक कालतक नरकमें रहना पड़ता है ॥

यस्य विप्रास्तु शंसन्ति साधोर्भूमिं सदैव हि ।
न तस्य शत्रवो राजन् प्रशंसन्ति वसुन्धराम् ॥ १८ ॥

राजन् ! ब्राह्मण जिस श्रेष्ठ पुरुषकी दी हुई भूमिकी सदा ही प्रशंसा करते हैं, उसकी उस भूमिकी राजाके शत्रु प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

यत् किंचित् पुरुषः पापं कुरुते वृत्तिकर्शितः ।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन पूयते ॥ १९ ॥

जीविका न होनेके कारण मनुष्य क्लेशमें पड़कर जो कुछ पाप कर डालता है, वह सारा पाप गोचर्मके बराबर भूमि-दान करनेसे धुल जाता है ॥ १९ ॥

येऽपि संकीर्णकर्माणो राजानो रौद्रकर्मिणः ।
तेभ्यः पवित्रमाख्येयं भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २० ॥

जो राजा कठोर कर्म करनेवाले तथा पापपरायण हैं, उन्हें पापोंसे मुक्त होनेके लिये परम पवित्र एवं सबसे उत्तम भूमिदानका उपदेश देना चाहिये ॥ २० ॥

अल्पान्तरमिदं शश्वत् पुराणा मेनिरे जनाः ।
यो यजेताश्वमेधेन दद्याद् वा साधवे महीम् ॥ २१ ॥

प्राचीनकालके लोग सदा यह मानते रहे हैं कि जो अश्वमेधयज्ञ करता है अथवा जो श्रेष्ठ पुरुषको पृथ्वीदान करता है, इन दोनोंमें बहुत कम अन्तर है ॥ २१ ॥

अपि चेत्सुकृतं कृत्वा शङ्केरन्नपि पण्डिताः ।
अशङ्क्यमेकमेवैतद् भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २२ ॥

दूसरा कोई पुण्यकर्म करके उसके फलके विषयमें विद्वान् पुरुषोंको भी शङ्का हो जाय, यह सम्भव है; किंतु एकमात्र यह सर्वोत्तम भूमिदान ही ऐसा सत्कर्म है, जिसके फलके विषयमें किसीको शङ्का नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च ।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञो ददाति वसुधां ददत् ॥ २३ ॥

जो महाबुद्धिमान् पुरुष पृथ्वीका दान करता है, वह सोना, चाँदी, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान कर देता है (अर्थात् इन सभी दानोंका फल प्राप्त कर लेता है।)॥

तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता ।
गुरुदैवतपूजा च एता वर्तन्ति भूमिदम् ॥ २४ ॥

पृथ्वीका दान करनेवाले पुरुषको तप, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, लोभका अभाव, सत्यवादिता, गुरुशुश्रूषा और देवाराधन—इन सबका फल प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भर्तृनिःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगताः सिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ २५ ॥

जो अपने स्वामीका भला करनेके लिये रणभूमिमें मारे जाकर शरीर त्याग देते हैं और जो सिद्ध होकर ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं, वे भी भूमिदान करनेवाले पुरुषको लाँघकर आगे नहीं बढ़ने पाते ॥ २५ ॥

यथा जनित्री स्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा ।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥ २६ ॥

जैसे माता अपने बच्चेको सदा दूध पिलाकर पालती है, उसी प्रकार पृथ्वी सब प्रकारके रस देकर भूमिदातापर अनुग्रह करती है ॥ २६ ॥

मृत्युर्वै किङ्करो दण्डस्तमो वह्निः सुदारुणः ।
घोराश्च दारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥ २७ ॥

कालकी भेजी हुई मौत, दण्ड, तमोगुण, दारुण अग्नि और अत्यन्त भयङ्कर पाश—ये भूमिदान करनेवाले पुरुषका स्पर्श नहीं कर सकते हैं ॥ २७ ॥

पितॄंश्च पितृलोकस्थान् देवलोकाच्च देवताः ।
संतर्पयति शान्तात्मा यो ददाति वसुन्धराम् ॥ २८ ॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वह शान्तचित्त पुरुष पितृ-लोकमें रहनेवाले पितरों तथा देवलोकसे आये हुए देवताओंको भी तृप्त कर देता है ॥ २८ ॥

कृशाय म्रियमाणाय वृत्तिग्लानाय सीदते ।
भूमिं वृत्तिकरीं दत्त्वा सत्री भवति मानवः ॥ २९ ॥

दुर्बल, जीविकाके बिना दुखी और भूखके कष्टसे मरते हुए ब्राह्मणको उपजाऊ भूमि दान करनेवाला मनुष्य यज्ञका फल पाता है ॥ २९ ॥

यथा धावति गौर्वत्सं स्रवन्ती वत्सला पयः ।
एवमेव महाभाग भूमिर्भवति भूमिदम् ॥ ३० ॥

महाभाग ! जैसे बछड़ेके प्रति वात्सल्यभावसे भरी हुई गौ अपने थनोंसे दूध बहाती हुई उसे पिलानेके लिये दौड़ती है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भूमिदान करनेवालेको सुख पहुँचानेके लिये दौड़ती है ॥ ३० ॥

फालकृष्टां महीं दत्त्वा सबीजां सफलामपि ।
उदीर्णं वापि शरणं यथा भवति कामदः ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य जोती-बोयी और उपजी हुई खेतीसे भरी भूमिका दान करता है अथवा विशाल भवन बनवाकर देता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणं वृत्तिसम्पन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम् ।
नरः प्रतिग्राह्य महीं न याति परमापदम् ॥ ३२ ॥

जो सदाचारी, अग्निहोत्री और उत्तम व्रतमें संलग्न ब्राह्मणको पृथ्वीका दान करता है, वह कभी भारी विपत्तिमें नहीं पड़ता है ॥ ३२ ॥

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते ।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ३३ ॥

जैसे चन्द्रमाकी कला प्रतिदिन बढ़ती है, उसी प्रकार दान की हुई पृथ्वीमें जितनी बार फसल पैदा होती है, उतना ही उसके पृथ्वी-दानका फल बढ़ता जाता है ॥ ३३ ॥

अत्र गाथा भूमिगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
याः श्रुत्वा जामदग्न्येन दत्ता भूः काश्यपाय वै ॥ ३४ ॥

प्राचीन बातोंको जाननेवाले लोग भूमिकी गायी हुई गाथाओंका वर्णन किया करते हैं, जिन्हें सुनकर जमदग्नि-नन्दन परशुरामने काश्यपजीको सारी पृथ्वी दान कर दी थी॥

मामेवादत्त मां दत्त मां दत्त्वा मामवाप्स्यथ ।
अस्मिँल्लोके परे चैव तद् दत्तं जायते पुनः ॥ ३५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—(पृथ्वी कहती है—) 'मुझे ही दानमें दो, मुझे ही ग्रहण करो। मुझे देकर ही मुझे पाओगे; क्योंकि मनुष्य इस लोकमें जो कुछ दान करता है, वही उसे इहलोक और परलोकमें भी प्राप्त होता है' ॥३५॥

य इमां व्याहृतिं वेद ब्राह्मणो वेदसम्मिताम् ।
श्राद्धस्य क्रियमाणस्य ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ३६ ॥

जो ब्राह्मण श्राद्धकालमें पृथ्वीकी गायी हुई वेद-सम्मत इस गाथाका पाठ करता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

कृत्यानामभिशस्तानामरिष्टशमनं महत् ।
प्रायश्चित्तं महीं दत्त्वा पुनात्युभयतो दश ॥ ३७ ॥

अत्यन्त प्रबल कृत्या (मारणशक्ति) के प्रयोगसे जो भय प्राप्त होता है, उसको शान्त करनेका सबसे महान् साधन पृथ्वीका दान ही है। भूमिदानरूप प्रायश्चित्त करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ॥ ३७ ॥

पुनाति य इदं वेद वेदवादं तथैव च ।
प्रकृतिः सर्वभूतानां भूमिर्वैश्वानरी मता ॥ ३८ ॥

जो वेदवाणीरूप इस भूमिगाथाको जानता है, वह भी अपनी दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिस्थान है और अग्नि इसका अधिष्ठाता देवता है ॥ ३८ ॥

अभिषिच्यैव नृपतिं श्रावयेदिममागमम् ।
यथा श्रुत्वा महीं दद्यान्नादद्यात् साधुतश्च ताम्॥ ३९ ॥

राजाको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करनेके बाद उसे तत्काल ही पृथ्वीकी गायी हुई यह गाथा सुना देनी चाहिये; जिससे वह भूमिका दान करे और सत्पुरुषोंके हाथसे उन्हें दी हुई भूमि छीन न ले ॥ ३९ ॥

सोऽयं कृत्स्नो ब्राह्मणार्थो राजार्थश्चाप्यसंशयः ।
राजा हि धर्मकुशलः प्रथमं भूतिलक्षणम् ॥ ४० ॥

यह सारी कथा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये है। इस विषयमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि राजा धर्ममें कुशल हो, यह प्रजाके ऐश्वर्य (वैभव) को सूचित करनेवाला प्रथम लक्षण है ॥ ४० ॥

अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः ।
न ते सुखं प्रबुध्यन्ति न सुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४१ ॥
सदा भवन्ति चोद्विग्नास्तस्य दुश्चरितैर्नराः ।
योगक्षेमा हि बहवो राष्ट्रं नास्याविशन्ति तत् ॥ ४२ ॥

जिनका राजा धर्मको न जाननेवाला और नास्तिक होता है, वे लोग न तो सुखसे सोते हैं और न सुखसे जागते ही हैं; अपितु उस राजाके दुराचारसे सदैव उद्विग्न रहते हैं। ऐसे राजाके राज्यमें बहुधा योगक्षेम नहीं प्राप्त होते॥

अथ येषां पुनः प्राज्ञो राजा भवति धार्मिकः ।
सुखं ते प्रतिबुध्यन्ते सुसुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४३ ॥

किंतु जिनका राजा बुद्धिमान् और धार्मिक होता है, वे सुखसे सोते और सुखसे जागते हैं ॥ ४३ ॥

तस्य राज्ञः शुभै राज्यैः कर्मभिर्निर्वृता नराः ।
योगक्षेमेण वृष्ट्या च विवर्धन्ते स्वकर्मभिः ॥ ४४ ॥

उस राजाके शुभ राज्य और शुभ कर्मोंसे प्रजावर्गके लोग संतुष्ट रहते हैं। उस राज्यमें सबके योगक्षेमका निर्वाह होता है, समयपर वर्षा होती है और प्रजा अपने शुभ कर्मोंसे समृद्धिशालिनी होती है ॥ ४४ ॥

स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत् ।
स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुन्धराम् ॥४५॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वही कुलीन, वही पुरुष, वही बन्धु, वही पुण्यात्मा, वही दाता और वही पराक्रमी है॥

आदित्या इव दीप्यन्ते तेजसा भुवि मानवाः ।
ददन्ति वसुधां स्फीतां ये वेदविदुषि द्विजे ॥ ४६ ॥

जो वेदवेत्ता ब्राह्मणको धन-धान्यसे सम्पन्न भूमिदान करते हैं, वे मनुष्य इस पृथ्वीपर अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ४६ ॥

यथा सस्यानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले ।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानसमार्जिताः ॥ ४७ ॥

जैसे भूमिमें बोये हुए बीज खेतीके रूपमें अङ्कुरित होते और अधिक अन्न पैदा करते हैं, उसी प्रकार भूमिदान करनेसे सम्पूर्ण कामनाएँ सफल होती हैं ॥ ४७ ॥

आदित्यो वरुणो विष्णुर्ब्रह्मा सोमो हुताशनः ।
शूलपाणिश्च भगवान् प्रतिनन्दन्ति भूमिदम् ॥ ४८ ॥

सूर्य, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और भगवान् शङ्कर—ये सभी भूमि-दान करनेवाले पुरुषका अभिनन्दन करते हैं ॥ ४८ ॥

भूमौ जायन्ति पुरुषा भूमौ निष्ठां व्रजन्ति च ।
चतुर्विधो हि लोकोऽयं योऽयं भूमिगुणात्मकः ॥ ४९ ॥

सब लोग, पृथ्वीपर ही जन्म लेते और पृथ्वीमें ही लीन हो जाते हैं। अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चारों प्रकारके प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका ही कार्य है ॥ ४९ ॥

एषा माता पिता चैव जगतः पृथिवीपते ।
नानया सदृशं भूतं किंचिदस्ति जनाधिप ॥ ५० ॥

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! यह पृथ्वी ही जगत्‌की माता और पिता है । इसके समान दूसरा कोई भूत नहीं है ॥ ५० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और बृहस्पति-के संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ५१ ॥

इष्ट्वा क्रतुशतेनाथ महता दक्षिणावता ।
मघवा वाग्विदां श्रेष्ठं पप्रच्छेदं बृहस्पतिम् ॥ ५२ ॥

इन्द्रने महान् दक्षिणाओंसे युक्त सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीसे इस प्रकार पूछा ॥ ५२ ॥

मघवोवाच

भगवन् केन दानेन स्वर्गतः सुखमेधते ।
यदक्षयं महार्घं च तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ ५३ ॥

इन्द्र बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन् ! किस दानके प्रभावसे दाताको स्वर्गसे भी अधिक सुखकी प्राप्ति होती है ? जिसका फल अक्षय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो, उस दानको ही मुझे बताइये ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स सुरेन्द्रेण ततो देवपुरोहितः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः प्रत्युवाच शतक्रतुम् ॥ ५४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! देवराज इन्द्रके ऐसा कहनेपर देवताओंके पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पतिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं च वृत्रहन् ।
(विद्यादानं च कन्यानां दानं पापहरं परम् ।)
ददेतान् महाप्राज्ञः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्र ! सुवर्णदान, गोदान, भूमिदान, विद्यादान और कन्यादान—ये अत्यन्त पापहारी माने गये हैं । जो परम बुद्धिमान् पुरुष इन सब वस्तुओंका दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

न भूमिदानाद् देवेन्द्र परं किंचिदिति प्रभो ।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ५६ ॥

प्रभो ! देवेन्द्र ! जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, मैं भूमिदानसे बढ़कर दूसरे किसी दानको नहीं मानता हूँ ॥५६॥

(ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा राष्ट्रघातेऽथ स्वामिनः ।
कुलस्त्रीणां परिभवे मृतास्ते भूमिदैः समाः ॥)

जो ब्राह्मणोंके लिये, गौओंके लिये, राष्ट्रके विनाशके अवसरपर स्वामीके लिये तथा जहाँ कुलाङ्गनाओंका अपमान होता हो, वहाँ उन सबकी रक्षाके लिये युद्धमें प्राण त्याग करते हैं, वे ही भूमिदान करनेवालोंके समान पुण्यके भागी होते हैं ॥

ये शूरा निहता युद्धे स्वर्याता रणगृद्धिनः ।
सर्वे ते विबुधश्रेष्ठ नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५७ ॥

विबुधश्रेष्ठ ! मनमें युद्धके लिये उत्साह रखनेवाले जो शूरवीर रणभूमिमें मारे जाकर स्वर्गलोकमें जाते हैं, वे सब-के-सब भूमिदाताका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगता मुक्ता नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५८ ॥

स्वामीकी भलाईके लिये उद्यत हो रणभूमिमें मारे जाकर अपने शरीरका परित्याग करनेवाले पुरुष पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं; परंतु वे भी भूमिदातासे आगे नहीं बढ़ पाते हैं ॥ ५८ ॥

पञ्च पूर्वा हि पुरुषाः षडन्ये वसुधां गताः ।
एकादश ददद्भूमिं परित्रातीह मानवः ॥ ५९ ॥

इस जगत्‌में भूमिदान करनेवाला मनुष्य अपनी पाँच पीढ़ी-तकके पूर्वजोंका और अन्य छः पीढ़ियोंतक पृथ्वीपर आनेवाली संतानोंका—इस प्रकार कुल ग्यारह पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ५९ ॥

रत्नोपकीर्णां वसुधां यो ददाति पुरंदर ।
स मुक्तः सर्वकलुषैः स्वर्गलोके महीयते ॥ ६० ॥

पुरंदर ! जो रत्नयुक्त पृथ्वीका दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥

महीं स्फीतां ददद् राजन् सर्वकामगुणान्विताम् ।
राजाधिराजो भवति तद्धि दानमनुत्तमम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! धन-धान्यसे सम्पन्न तथा समस्त मनोवाञ्छित

गुणोंसे युक्त पृथ्वीका दान करनेवाला पुरुष दूसरे जन्ममें राजाधिराज होता है; क्योंकि वह सर्वोत्तम दान है ॥ ६१ ॥

सर्वकामसमायुक्तां काश्यपीं यः प्रयच्छति ।
सर्वभूतानि मन्यन्ते मां ददातीति वासव ॥ ६२ ॥

इन्द्र ! जो सम्पूर्ण भोगोंसे युक्त पृथ्वीका दान करता है, उसे सब प्राणी यही समझते हैं कि यह मेरा दान कर रहा है ॥ ६२ ॥

सर्वकामदुघां धेनुं सर्वकामगुणान्विताम् ।
ददाति यः सहस्राक्ष स्वर्गं याति स मानवः ॥ ६३ ॥

सहस्राक्ष ! जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली और समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न कामधेनुस्वरूपा पृथ्वीका दान करता है, वह मानव स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ६३ ॥

मधुसर्पिःप्रवाहिण्यः पयोदधिवहास्तथा ।
सरितस्तर्पयन्तीह सुरेन्द्र वसुधाप्रदम् ॥ ६४ ॥

देवेन्द्र ! यहाँ पृथ्वी-दान करनेवाले पुरुषको परलोकमें मधु, घी, दूध और दहीकी धारा बहानेवाली नदियाँ तृप्त करती हैं ॥ ६४ ॥

भूमिप्रदानान्नृपतिर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ।
न हि भूमिप्रदानेन दानमन्यद् विशिष्यते ॥ ६५ ॥

राजा भूमिदान करनेसे समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है। भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है ॥ ६५ ॥

ददाति यः समुद्रान्तां पृथिवीं शस्त्रनिर्जिताम् ।
तं जनाः कथयन्तीह यावद् भवति गौरियम् ॥ ६६ ॥

जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको शस्त्रोंसे जीतकर दान देता है, उसकी कीर्ति संसारके लोग तबतक गाया करते हैं, जबतक यह पृथ्वी कायम रहती है ॥ ६६ ॥

पुण्यामृद्धिरसां भूमिं यो ददाति पुरंदर ।
न तस्य लोकाः क्षीयन्ते भूमिदानगुणान्विताः ॥ ६७ ॥

पुरंदर ! जो परम पवित्र और समृद्धिरूपी रससे भरी हुई पृथ्वीका दान करता है, उसे उस भूदानसम्बन्धी गुणोंसे युक्त अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥

सर्वदा पार्थिवेनेह सततं भूतिमिच्छता ।
भूर्देया विधिवच्छक्र पात्रे सुखमभीप्सुना ॥ ६८ ॥

इन्द्र ! जो राजा सदा ऐश्वर्य चाहता हो और सुख पानेकी इच्छा रखता हो, वह विधिपूर्वक सुपात्रको भूमिदान दे ॥ ६८ ॥

अपि कृत्वा नरः पापं भूमिं दत्त्वा द्विजातये ।
समुत्सृजति तत् पापं जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ६९ ॥

पाप करके भी यदि मनुष्य ब्राह्मणको भूमिदान कर देता है तो वह उस पापको उसी प्रकार त्याग देता है, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको ॥ ६९ ॥

सागरान् सरितः शैलान् काननानि च सर्वशः ।
सर्वमेतन्नरः शक्र ददाति वसुधां ददत् ॥ ७० ॥

इन्द्र ! मनुष्य पृथ्वीका दान करनेके साथ ही समुद्र, नदी, पर्वत और सम्पूर्ण वन—इन सबका दान कर देता है (अर्थात् इन सबके दानका फल प्राप्त कर लेता है) ॥

तडागान्युदपानानि स्रोतांसि च सरांसि च ।
स्नेहान् सर्वरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥ ७१ ॥

इतना ही नहीं, पृथ्वीका दान करनेवाला पुरुष तालाब, कुआँ, झरना, सरोवर, स्नेह (घृत आदि) और सब प्रकारके रसोंके दानका भी फल प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥

ओषधीर्वीर्यसम्पन्ना नगान् पुष्पफलान्वितान् ।
काननोपलशैलांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥ ७२ ॥

पृथ्वीका दान करते समय मनुष्य शक्तिशाली ओषधियों, फल और फूलोंसे भरे हुए वृक्षों, वन, प्रस्तर और पर्वतोंका भी दान कर देता है ॥ ७२ ॥

अग्निष्टोमप्रभृतिभिरिष्ट्वा च स्वाप्तदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति भूमिदानाद् यदश्नुते ॥ ७३ ॥

बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी मनुष्य उस फलको नहीं पाता, जो उसे भूमिदानसे मिल जाता है ॥ ७३ ॥

दाता दशानुगृह्णाति दश हन्ति तथा क्षिपन् ।
पूर्वदत्तां हरन् भूमिं नरकायोपगच्छति ॥ ७४ ॥
न ददाति प्रतिश्रुत्य दत्त्वापि च हरेत् तु यः ।
स बद्धो वारुणैः पाशैस्तप्यते मृत्युशासनात् ॥ ७५ ॥

भूमिका दान करनेवाला मनुष्य अपनी दस पीढ़ियोंका उद्धार करता है तथा देकर छीन लेनेवाला अपनी दस पीढ़ियोंको नरकमें ढकेलता है। जो पहलेकी दी हुई भूमिका अपहरण करता है, वह स्वयं भी नरकमें जाता है। जो देनेकी प्रतिज्ञा करके नहीं देता है तथा जो देकर भी फिर ले लेता है, वह मृत्युकी आज्ञासे वरुणके पाशमें बँधकर तरह-तरहके कष्ट भोगता है ॥ ७४-७५ ॥

आहिताग्निं सदायज्ञं कृशवृत्तिं प्रियातिथिम् ।
ये भजन्ति द्विजश्रेष्ठं नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥ ७६ ॥

जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, सदा यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता और अतिथियोंको प्रिय मानता है तथा जिसकी जीविका-वृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे श्रेष्ठ द्विजकी जो सेवा करते हैं, वे यमराजके पास नहीं जाते ॥ ७६ ॥

ब्राह्मणेष्वनृणीभूतः पार्थिवः स्यात् पुरंदर ।
इतरेषां तु वर्णानां तारयेत् कृशदुर्बलान् ॥ ७७ ॥

पुरंदर ! राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंके प्रति उऋण रहे अर्थात् उनकी सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखे

तथा अन्य वर्णोंमें भी जो लोग दीन-दुर्बल हों, उनका संकटसे उद्धार करे ॥ ७७ ॥

नाच्छिन्द्यात् स्पर्शितां भूमिं परेण त्रिदशाधिप ।
ब्राह्मणस्य सुरश्रेष्ठ कृशवृत्तेः कदाचन ॥ ७८ ॥

सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! जिसकी जीविका-वृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ब्राह्मणको दूसरेके द्वारा दानमें मिली हुई जो भूमि है, उसको कभी नहीं छीनना चाहिये ॥ ७८ ॥

यथाश्रु पतितं तेषां दीनानामथ सीदताम् ।
ब्राह्मणानां हृते क्षेत्रे हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ७९ ॥

अपना खेत छिन जानेसे दुखी हुए दीन ब्राह्मण जो आँसू बहाते हैं, वह छीननेवालेकी तीन पीढ़ियोंका नाश कर देता है ॥ ७९ ॥

भूमिपालं च्युतं राष्ट्राद् यस्तु संस्थापयेन्नरः ।
तस्य वासः सहस्राक्ष नाकपृष्ठे महीयते ॥ ८० ॥

इन्द्र ! जो मनुष्य राज्यसे भ्रष्ट हुए राजाको फिर राज-सिंहासनपर बैठा देता है, उसका स्वर्गलोकमें निवास होता है तथा वह वहाँ बड़ा सम्मान पाता है ॥ ८० ॥

इक्षुभिः संततां भूमिं यवगोधूमशालिनीम् ।
गोऽश्ववाहनपूर्णां वा बाहुवीर्यादुपार्जिताम् ॥ ८१ ॥
निधिगर्भां ददद् भूमिं सर्वरत्नपरिच्छदाम् ।
अक्षयाँल्लभते लोकान् भूमिसत्रं हि तस्य तत् ॥ ८२ ॥

जो भूमि गन्नेके वृक्षोंसे आच्छादित हो, जिसपर जौ और गेहूँकी खेती लहलहा रही हो अथवा जहाँ बैल और घोड़े आदि वाहन भरे हों, जिसके नीचे खजाना गड़ा हो तथा जो सब प्रकारके रत्नमय उपकरणोंसे अलंकृत हो, ऐसी भूमिको अपने बाहुबलसे जीतकर जो राजा दान कर देता है, उसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं। उसका वह दान भूमियज्ञ कहलाता है ॥ ८१-८२ ॥

विधूय कलुषं सर्वं विरजाः सम्मतः सताम् ।
लोके महीयते सद्भिर्यो ददाति वसुन्धराम् ॥ ८३ ॥

जो वसुधाका दान करता है, वह अपने सब पापोंका नाश करके निर्मल एवं सत्पुरुषोंके आदरका पात्र हो जाता है तथा लोकमें सज्जन पुरुष सदा ही उसका सत्कार करते हैं॥

यथाप्सु पतितः शक्र तैलबिन्दुर्विसर्पति ।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ८४ ॥

इन्द्र ! जैसे जलमें गिरी हुई तेलकी एक बूँद सब ओर फैल जाती है; उसी प्रकार दान की हुई भूमिमें जितना-जितना अन्न पैदा होता है, उतना-ही-उतना उसके दानका महत्त्व बढ़ता जाता है ॥ ८४ ॥

ये रणाग्रे महीपालाः शूराः समितिशोभनाः ।
वध्यन्तेऽभिमुखाः शक्र ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ ८५ ॥

देवराज ! युद्धमें शोभा पानेवाले जो शूरवीर भूपाल युद्धके मुहानेपर शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए मारे जाते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ८५ ॥

नृत्यगीतपरा नार्यो दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र तथा भूमिप्रदं दिवि ॥ ८६ ॥

देवेन्द्र ! दिव्य मालाओंसे विभूषित हो नाच और गानमें लगी हुई देवाङ्गनाएँ स्वर्गमें भूमिदाताकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ ८६ ॥

मोदते च सुखं स्वर्गे देवगन्धर्वपूजितः ।
यो ददाति महीं सम्यग् विधिनेह द्विजातये ॥ ८७ ॥

जो यहाँ उत्तम विधिसे ब्राह्मणको भूमिका दान करता है, वह स्वर्गमें देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित हो सुख और आनन्द भोगता है ॥ ८७ ॥

शतमप्सरसश्चैव दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र ब्रह्मलोके धराप्रदम् ॥ ८८ ॥

देवराज ! भूदान करनेवाले पुरुषकी सेवामें ब्रह्मलोकमें दिव्य मालाओंसे विभूषित सैकड़ों अप्सराएँ उपस्थित होती हैं॥

उपतिष्ठन्ति पुण्यानि सदा भूमिप्रदं नरम् ।
शङ्खभद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवाहनम् ॥ ८९ ॥

भूमिदान करनेवाले मनुष्यके यहाँ सदा पुण्यके फल-स्वरूप शङ्ख, सिंहासन, छत्र, उत्तम घोड़े और श्रेष्ठ वाहन उपस्थित होते हैं ॥ ८९ ॥

भूमिप्रदानात् पुष्पाणि हिरण्यनिचयास्तथा ।
आज्ञा सदाप्रतिहता जयशब्दा वसूनि च ॥ ९० ॥

भूमिदान करनेसे पुरुषको सुन्दर पुष्प, सोनेके भण्डार, कभी प्रतिहत न होनेवाली आज्ञा, जयसूचक शब्द तथा भाँति-भाँतिके धन-रत्न प्राप्त होते हैं ॥ ९० ॥

भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरंदर ।
हिरण्यपुष्पाश्चौषध्यः कुशकाञ्चनशाद्वलाः ॥ ९१ ॥

पुरंदर ! भूमिदानके जो पुण्य हैं, उनके फलरूपमें स्वर्ग, सुवर्णमय फूल देनेवाली ओषधियाँ तथा सुनहरे कुश और घाससे ढकी हुई भूमि प्राप्त होती हैं ॥ ९१ ॥

अमृतप्रसवां भूमिं प्राप्नोति पुरुषो ददत् ।
नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः॥९२॥

भूमिदान करनेवाला पुरुष अमृत पैदा करनेवाली भूमि पाता है, भूमिके समान कोई दान नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, सत्यके समान कोई धर्म नहीं है और दानके समान कोई निधि नहीं है ॥ ९२॥

भीष्म उवाच

एतदाङ्गिरसाच्छ्रुत्वा वासवो वसुधामिमाम् ।

वसुरत्नसमाकीर्णां ददावाङ्गिरसे तदा ॥ ९३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! बृहस्पतिजीके मुँहसे भूमिदानका यह माहात्म्य सुनकर इन्द्रने धन और रत्नोंसे भरी हुई यह पृथ्वी उन्हें दान कर दी ॥ ९३ ॥

य इदं श्रावयेच्छ्राद्धे भूमिदानस्य सम्भवम्।
न तस्य रक्षसां भागो नासुराणां भवत्युत ॥ ९४ ॥

जो पुरुष श्राद्धके समय पृथ्वीदानके इस माहात्म्यको सुनता है, उसके श्राद्धकर्ममें अर्पण किये हुए भाग राक्षस और असुर नहीं लेने पाते ॥ ९४ ॥

अक्षयं च भवेद् दत्तं पितृभ्यस्तत्र संशयः।
तस्माच्छ्राद्धेष्विदं विद्वान् भुञ्जतः श्रावयेद् द्विजान्॥९५

पितरोंके निमित्त उसका दिया हुआ सारा दान अक्षय होता है, इसमें संशय नहीं है; इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह श्राद्धमें भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको यह भूमिदानका माहात्म्य अवश्य सुनाये ॥ ९५ ॥

इत्येतत् सर्वदानानां श्रेष्ठमुक्तं तवानघ।
मया भरतशार्दूल किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९६ ॥

निष्पाप भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार मैंने सब दानोंमें श्रेष्ठ पृथ्वीदानका माहात्म्य तुम्हें बताया है, अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अन्नदानका विशेष माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

कानि दानानि लोकेऽस्मिन् दातुकामो महीपतिः।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद् भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जिस राजाको दान करनेकी इच्छा हो, वह इस लोकमें गुणवान् ब्राह्मणोंको किन-किन वस्तुओंका दान करे? ॥ १ ॥

केन तुष्यन्ति ते सद्यः किं तुष्टाः प्रदिशन्ति च।
शंस मे तन्महाबाहो फलं पुण्यकृतं महत् ॥ २ ॥

किस वस्तुके देनेसे ब्राह्मण तुरंत प्रसन्न हो जाते हैं? और प्रसन्न होकर क्या देते हैं? महाबाहो! अब मुझे दान-जनित महान् पुण्यका फल बताइये ॥ २ ॥

दत्तं किं फलवद् राजन्निह लोके परत्र च।
भवतः श्रोतुमिच्छामि तन्मे विस्तरतो वद ॥ ३ ॥

राजन्! इहलोक और परलोकमें कौन-सा दान विशेष फल देनेवाला होता है? यह मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ। आप इस विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! यही बात मैंने पहले एक बार देवदर्शी नारदजीसे पूछी थी। उस समय उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा था, वही तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥४॥

नारद उवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—देवता और ऋषि अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं, अन्नसे ही लोकयात्राका निर्वाह होता है। उसीसे बुद्धिको स्फूर्ति प्राप्त होती है तथा उस अन्नमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ ५ ॥

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ६ ॥

अन्नके समान न कोई दान था और न होगा। इसलिये मनुष्य अधिकतर अन्नका ही दान करना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥ ७ ॥

प्रभो! संसारमें अन्न ही शरीरके बलको बढ़ानेवाला है। अन्नके ही आधारपर प्राण टिके हुए हैं और इस सम्पूर्ण जगत्को अन्नने ही धारण कर रखा है ॥ ७ ॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तापसास्तथा।
अन्नाद् भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः॥ ८ ॥

इस जगत्में गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षा माँगनेवाले भी अन्नसे ही जीते हैं। अन्नसे ही सबके प्राणोंकी रक्षा होती है। इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, इसमें संशय नहीं है॥

कुटुम्बिने सीदते च ब्राह्मणाय महात्मने।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥ ९ ॥

अतः अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह अन्नके लिये दुखी, बाल-बच्चोंवाले, महामनस्वी ब्राह्मणको और भिक्षा माँगनेवालेको भी अन्न-दान करे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥ १० ॥

जो याचना करनेवाले सुपात्र ब्राह्मणको अन्नदान देता है, वह परलोकमें अपने लिये एक अच्छी निधि (खजाना) बना लेता है ॥ १० ॥

श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद् भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम्॥ ११ ॥

रास्तेका थका-माँदा बूढ़ा राहगीर यदि घरपर आ जाय तो अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थको उस आदरणीय अतिथिका आदर करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अन्नदः प्राप्नुते राजन् दिवि चेह च यत्सुखम् ॥ १२ ॥

राजन् ! जो पुरुष मनमें उठे हुए क्रोधको दबाकर और ईर्ष्याको त्यागकर अच्छे शील-स्वभावका परिचय देता हुआ अन्नदान करता है, वह इहलोक और परलोकमें भी सुख पाता है ॥ १२ ॥

नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात् कदाचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥ १३ ॥

अपने घरपर कोई भी आ जाय, उसका न तो कभी अपमान करना चाहिये और न उसे ताड़ना ही देनी चाहिये; क्योंकि चाण्डाल अथवा कुत्तेको भी दिया हुआ अन्नदान कभी नष्ट नहीं होता (व्यर्थ नहीं जाता) ॥ १३ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो मनुष्य कष्टमें पड़े हुए अपरिचित राहीको प्रसन्नतापूर्वक अन्न देता है, उसे महान् धर्मकी प्राप्ति होती है ॥१४॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च जनाधिप ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! जो देवताओं, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों और अतिथियोंको अन्न देकर संतुष्ट करता है, उसके पुण्यका फल महान् है ॥ १५ ॥

कृत्वातिपातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन मुह्यते ॥ १६ ॥

जो महान् पाप करके भी याचक मनुष्यको, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मणको अन्न देता है, वह अपने पापके कारण मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १६ ॥

ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।
अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ॥ १७ ॥

ब्राह्मणको अन्नका दान दिया जाय तो अक्षय फल प्राप्त होता है और शूद्रको भी देनेसे महान् फल होता है; क्योंकि अन्नका दान शूद्रको दिया जाय या ब्राह्मणको, उसका विशेष फल होता है ॥ १७ ॥

न पृच्छेद् गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं प्रयाचितः ॥ १८ ॥

यदि ब्राह्मण अन्नकी याचना करे तो उससे गोत्र, शाखा, वेदाध्ययन और निवासस्थान आदिका परिचय न पूछे; तुरंत ही उसकी सेवामें अन्न उपस्थित कर दे ॥ १८ ॥

अन्नदस्यान्नवृक्षाश्च सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति चेह चामुत्र नृपतेर्नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो राजा अन्नका दान करता है, उसके लिये अन्नके पौधे इहलोक और परलोकमें भी सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥ २० ॥

जैसे किसान अच्छी वृष्टि मनाया करते हैं, उसी प्रकार पितर भी यह आशा लगाये रहते हैं कि कभी हमलोगोंका पुत्र या पौत्र भी हमारे लिये अन्न प्रदान करेगा ॥ २० ॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं स्वयं देहीति याचति ।
अकामो वा सकामो वा दत्त्वा पुण्यमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

ब्राह्मण एक महान् प्राणी है । यदि वह 'मुझे अन्न दो' इस प्रकार स्वयं अन्नकी याचना करता है तो मनुष्यको चाहिये कि सकामभावसे या निष्कामभावसे उसे अन्नदान देकर पुण्य प्राप्त करे ॥ २१ ॥

ब्राह्मणः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ।
विप्रा यदधिगच्छन्ति भिक्षमाणा गृहं सदा ॥ २२ ॥
सत्कृताश्च निवर्तन्ते तदतीव प्रवर्धते ।
महाभागे कुले प्रेत्य जन्म चाप्नोति भारत ॥ २३ ॥

भारत ! ब्राह्मण सब मनुष्योंका अतिथि और सबसे पहले भोजन पानेका अधिकारी है । ब्राह्मण जिस घरपर सदा भिक्षा माँगनेके लिये जाते हैं और वहाँसे सत्कार पाकर लौटते हैं, उस घरकी सम्पत्ति अधिक बढ़ जाती है तथा उस घरका मालिक मरनेके बाद महान् सौभाग्यशाली कुलमें जन्म पाता है ॥

दत्त्वा त्वन्नं नरो लोके तथा स्थानमनुत्तमम् ।
नित्यं मिष्टान्नदायी तु स्वर्गे वसति सत्कृतः ॥ २४ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें सदा अन्न, उत्तम स्थान और मिष्टान्नका दान करता है, वह देवताओंसे सम्मानित होकर स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ २४ ॥

अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥ २५ ॥
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! अन्न ही मनुष्योंके प्राण हैं, अन्नमें ही सब प्रतिष्ठित है, अतः अन्न दान करनेवाला मनुष्य पशु, पुत्र, धन, भोग, बल और रूप भी प्राप्त कर लेता है। जगत्‌में अन्न दान करनेवाला पुरुष प्राणदाता और सर्वस्व देनेवाला कहलाता है ॥ २५-२६ ॥

अन्नं हि दत्त्वातिथये ब्राह्मणाय यथाविधि।
प्रदाता सुखमाप्नोति दैवतैश्चापि पूज्यते ॥ २७ ॥

अतिथि ब्राह्मणको विधिपूर्वक अन्नदान करके दाता परलोकमें सुख पाता है और देवता भी उसका आदर करते हैं॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं क्षेत्रभूतं युधिष्ठिर।
उप्यते तत्र यद् बीजं तद्धि पुण्यफलं महत् ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मण महान् प्राणी एवं उत्तम क्षेत्र है। उसमें जो बीज बोया जाता है, वह महान् पुण्यफल देनेवाला होता है ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥ २९ ॥

अन्नका दान ही एक ऐसा दान है, जो दाता और भोक्ता, दोनोंको प्रत्यक्षरूपसे संतुष्ट करनेवाला होता है। इसके सिवा अन्य जितने दान हैं, उन सबका फल परोक्ष है ॥ २९ ॥

अन्नाद्धि प्रसवं यान्ति रतिरन्नाद्धि भारत।
धर्मार्थावन्नतो विद्धि रोगनाशं तथान्नतः ॥ ३० ॥

भारत ! अन्नसे ही संतानकी उत्पत्ति होती है। अन्नसे ही रतिकी सिद्धि होती है। अन्नसे ही धर्म और अर्थकी सिद्धि समझो। अन्नसे ही रोगोंका नाश होता है ॥ ३० ॥

अन्नं ह्यमृतमित्याह पुराकल्पे प्रजापतिः।
अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

पूर्वकल्पमें प्रजापतिने अन्नको अमृत बतलाया है। भूलोक, स्वर्ग और आकाश अन्नरूप ही हैं; क्योंकि अन्न ही सबका आधार है ॥ ३१ ॥

अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः।
बलं बलवतोऽपीह प्रणश्यत्यन्नहानितः ॥ ३२ ॥

अन्नका आहार न मिलनेपर शरीरमें रहनेवाले पाँचों तत्त्व अलग-अलग हो जाते हैं। अन्नकी कमी हो जानेसे बड़े-बड़े बलवानोंका बल भी क्षीण हो जाता है ॥ ३२ ॥

आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥ ३३ ॥

निमन्त्रण, विवाह और यज्ञ भी अन्नके बिना बंद हो जाते हैं। नरश्रेष्ठ ! अन्न न हो तो वेदोंका ज्ञान भी भूल जाता है ॥ ३३ ॥

अन्नतः सर्वमेतद्धि यत् किंचित् स्थाणु जङ्गमम्।
त्रिषु लोकेषु धर्मार्थमन्नं देयमतो बुधैः ॥ ३४ ॥

यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप जगत् है, सब-का-सब अन्नके ही आधारपर टिका हुआ है। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि तीनों लोकोंमें धर्मके लिये अन्नका दान अवश्य करें॥

अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत् त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥ ३५ ॥

पृथ्वीनाथ ! अन्नदान करनेवाले मनुष्यके बल, ओज, यश और कीर्तिका तीनों लोकोंमें सदा ही विस्तार होता रहता है॥

मेघेषूर्ध्वं संनिधत्ते प्राणानां पवनः पतिः।
तच्च मेघगतं वारि शक्रो वर्षति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! प्राणोंका स्वामी पवन मेघोंके ऊपर स्थित होता है और मेघमें जो जल है, उसे इन्द्र धरतीपर बरसाते हैं।३६।

आदत्ते च रसान् भौमानादित्यः स्वगभस्तिभिः।
वायुरादित्यतस्तांश्च रसान् देवः प्रवर्षति ॥ ३७ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके रसोंको ग्रहण करते हैं। वायुदेव सूर्यसे उन रसोंको लेकर फिर भूमिपर बरसाते हैं॥३७॥

तद् यदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षितौ।
तदा वसुमती देवी स्निग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जब मेघसे पृथ्वीपर जल गिरता है, तब पृथ्वीदेवी स्निग्ध (गीली) होती है ॥ ३८ ॥

ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत्।
मांसमेदोऽस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥

फिर उस गीली धरतीसे अनाजके अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, जिससे जगत्‌के जीवोंका निर्वाह होता है। अन्नसे ही शरीरमें मांस, मेदा, अस्थि और वीर्यका प्रादुर्भाव होता है ॥ ३९ ॥

सम्भवन्ति ततः शुक्रात् प्राणिनः पृथिवीपते।
अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं सृजतः पुष्यतश्च ह ॥ ४० ॥

पृथ्वीनाथ ! उस वीर्यसे प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अग्नि और सोम उस वीर्यकी सृष्टि और पुष्टि करते हैं।

एवमन्नाद्धि सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च।
एक एव स्मृतो राशिस्ततो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४१ ॥

इस तरह सूर्य, वायु और वीर्य एक ही राशि हैं, जो अन्नसे प्रकट हुए हैं। उन्हींसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है।

प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो घरपर आये हुए याचकको अन्न देता है, वह सब प्राणियोंको प्राण और तेजका दान करता है ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद् देहि गतज्वरः ॥ ४३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! जब नारदजीने मुझे इस प्रकार अन्न-दानका माहात्म्य बतलाया, तबसे मैं नित्य अन्नका दान किया करता था। अतः तुम भी दोषदृष्टि और जलन छोड़कर सदा अन्न-दान करते रहना ॥ ४३ ॥

दत्त्वान्नं विधिवद् राजन् विप्रेभ्यस्त्वमिति प्रभो।
यथावदनुरूपेभ्यस्ततः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ४४ ॥

राजन् ! प्रभो ! तुम सुयोग्य ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक अन्नका दान करके उसके पुण्यसे स्वर्गलोकको प्राप्त कर लोगे॥

अन्नदानां हि ये लोकास्तांस्त्वं शृणु जनाधिप।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! अन्न-दान करनेवालोंको जो लोक प्राप्त होते हैं, उनका परिचय देता हूँ, सुनो। स्वर्गमें उन महामनस्वी अन्नदाताओंके घर प्रकाशित होते रहते हैं ॥ ४५ ॥

तारासंस्थानि रूपाणि नानास्तम्भान्वितानि च।
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किंकिणीजालवन्ति च ॥ ४६ ॥

उन गृहोंकी आकृति तारोंके समान उज्ज्वल और अनेकानेक खम्भोंसे सुशोभित होती है। वे गृह चन्द्रमण्डलके समान उज्ज्वल प्रतीत होते हैं। उनपर छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी हैं॥ ४६ ॥

तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलचराणि च ॥ ४७ ॥

उनमेंसे कितने ही भवन प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल प्रभासे युक्त हैं, कितने ही स्थावर हैं और कितने ही विमानोंके रूपमें विचरते रहते हैं। उनमें सैकड़ों कक्षाएँ और मंजिलें होती हैं। उन घरोंके भीतर जलचर जीवोंसहित जलाशय होते हैं ॥ ४७ ॥

वैदूर्यार्कप्रकाशानि रौप्यरुक्ममयानि च।
सर्वकामफलाश्चापि वृक्षा भवनसंस्थिताः ॥ ४८ ॥

कितने ही घर वैदूर्यमणिमय (नील) सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं। कितने ही चाँदी और सोनेके बने हुए हैं। उन भवनोंमें अनेकानेक वृक्ष शोभा पाते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले हैं ॥ ४८ ॥

वाप्यो वीथ्यः सभाः कूपा दीर्घिकाश्चैव सर्वशः।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ ४९ ॥

उन गृहोंमें अनेक प्रकारकी बावड़ियाँ, गलियाँ, सभा-भवन, कूप, तालाब और गम्भीर घोष करनेवाले सहस्रों जुते हुए रथ आदि वाहन होते हैं ॥ ४९ ॥

भक्ष्यभोज्यमयाः शैला वासांस्याभरणानि च।
क्षीरं स्रवन्ति सरितस्तथा चैवान्नपर्वताः ॥ ५० ॥

वहाँ भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंके पर्वत, वस्त्र और आभूषण हैं। वहाँकी नदियाँ दूध बहाती हैं। अन्नके पर्वतोपम ढेर लगे रहते हैं ॥ ५० ॥

प्रासादाः पाण्डुराभ्राभाः शय्याश्च काञ्चनोज्ज्वलाः।
तान्यन्नदाः प्रपद्यन्ते तस्मादन्नप्रदो भव ॥ ५१ ॥

उन भवनोंमें सफेद बादलोंके समान अट्टालिकाएँ और सुवर्णनिर्मित प्रकाशपूर्ण शय्याएँ शोभा पाती हैं। वे महल अन्नदाता पुरुषोंको प्राप्त होते हैं; इसलिये तुम भी अन्नदान करो॥

एते लोकाः पुण्यकृता अन्नदानां महात्मनाम्।
तस्मादन्नं प्रयत्नेन दातव्यं मानवैर्भुवि ॥ ५२ ॥

ये पुण्यजनित लोक अन्नदान करनेवाले महामनस्वी पुरुषोंको प्राप्त होते हैं। अतः इस पृथ्वीपर सभी मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अन्नका दान करना चाहिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अन्नदानप्रशंसायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अन्नदानकी प्रशंसाविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विभिन्न नक्षत्रोंके योगमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे भवतो वाक्यमन्नदानस्य यो विधिः।
नक्षत्रयोगस्येदानीं दानकल्पं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मैंने आपका उपदेश सुना। अन्नदानका जो विधान है, वह ज्ञात हुआ। अब मुझे यह बताइये कि किस नक्षत्रका योग प्राप्त होनेपर किस-किस वस्तुका दान करना उत्तम है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
देवक्याश्चैव संवादं महर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य देवकी देवी और महर्षि नारदके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

द्वारकामनुसम्प्राप्तं नारदं देवदर्शनम्।
पप्रच्छेदं वचः प्रश्नं देवकी धर्मदर्शनम् ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, धर्मदर्शी देवर्षि नारदजी द्वारकामें आये थे। उस समय वहाँ देवकी देवीने उनके सामने यही प्रश्न उपस्थित किया ॥ ३ ॥

तस्याः सम्पृच्छमानाया देवर्षिर्नारदस्ततः ।
आचष्ट विधिवत् सर्वं तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! देवकीके इस प्रकार पूछनेपर देवर्षि नारदने उस समय विधिपूर्वक सब बातें बतायीं । वे ही बातें मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

कृत्तिकासु महाभागे पायसेन ससर्पिषा ।
संतर्प्य ब्राह्मणान् साधूँल्लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—महाभागे ! कृत्तिका नक्षत्र आनेपर मनुष्य घृतयुक्त खीरके द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त करे । इससे वह सर्वोत्तम लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

रोहिण्यां प्रसृतैर्मार्गैर्मांसैरन्नेन सर्पिषा ।
पयोऽनुपानं दातव्यमनृणार्थं द्विजातये ॥ ६ ॥

रोहिणी नक्षत्रमें पके हुए फलके गूदे, अन्न, घी, दूध तथा पीनेयोग्य पदार्थ ब्राह्मणको दान करने चाहिये । इससे उनके ऋणसे छुटकारा मिलता है ॥ ६ ॥

दोग्ध्रीं दत्त्वा सवत्सां तु नक्षत्रे सोमदैवते ।
गच्छन्ति मानुषाल्लोकात् स्वर्गलोकमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

मृगशिरा नक्षत्रमें दूध देनेवाली गौका बछड़ेसहित दान करके दाता मृत्युके पश्चात् इस लोकसे सर्वोत्तम स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ७ ॥

आर्द्रायां कृसरं दत्त्वा तिलमिश्रमुपोषितः ।
नरस्तरति दुर्गाणि क्षुरधारांश्च पर्वतान् ॥ ८ ॥

आर्द्रा नक्षत्रमें उपवासपूर्वक तिलमिश्रित खिचड़ी दान करनेवाला मनुष्य बड़े-बड़े दुर्गम संकटोंसे तथा क्षुरकी-सी धारवाले पर्वतोंसे भी पार हो जाता है ॥ ८ ॥

पूपान् पुनर्वसौ दत्त्वा तथैवान्नानि शोभने ।
यशस्वी रूपसम्पन्नो बह्वन्नो जायते कुले ॥ ९ ॥

शोभने ! पुनर्वसु नक्षत्रमें पूआ और अन्न-दान करके मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेता है तथा वहाँ यशस्वी, रूपवान् एवं प्रचुर अन्नसे सम्पन्न होता है ॥ ९ ॥

पुष्येण कनकं दत्त्वा कृतं वाकृतमेव च ।
अनालोकेषु लोकेषु सोमवत् स विराजते ॥ १० ॥

पुष्य नक्षत्रमें सोनेका आभूषण अथवा केवल सोना ही दान करनेसे दाता प्रकाशशून्य लोकोंमें भी चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

आश्लेषायां तु यो रूप्यमृषभं वा प्रयच्छति ।
स सर्वभयनिर्मुक्तः सम्भवानधितिष्ठति ॥ ११ ॥

जो आश्लेषा नक्षत्रमें चाँदी अथवा बैल दान करता है, वह इस जन्ममें सब प्रकारके भयसे मुक्त हो दूसरे जन्ममें उत्तम कुलमें जन्म लेता है ॥ ११ ॥

मघासु तिलपूर्णानि वर्धमानानि मानवः ।
प्रदाय पुत्रपशुमानिह प्रेत्य च मोदते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य मघा नक्षत्रमें तिलसे भरे हुए वर्धमान पात्रोंका दान करता है, वह इहलोकमें पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ १२ ॥

फल्गुनीपूर्वसमये ब्राह्मणानामुपोषितः ।
भक्ष्यान् फाणितसंयुक्तान् दत्त्वा सौभाग्यमृच्छति ॥ १३ ॥

पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें उपवास करके जो मनुष्य ब्राह्मणोंको मक्खनमिश्रित भक्ष्य पदार्थ देता है, वह सौभाग्यशाली होता है ॥ १३ ॥

घृतक्षीरसमायुक्तं विधिवत् षष्टिकौदनम् ।
उत्तराविषये दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ १४ ॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें विधिपूर्वक घृत और दुग्धसे युक्त साठीके चावलके भातका दान करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

यद् यत् प्रदीयते दानमुत्तराविषये नरैः ।
महाफलमनन्तं तद् भवतीति विनिश्चयः ॥ १५ ॥

उत्तरा नक्षत्रमें मनुष्य जो-जो दान देते हैं वह महान् फलसे युक्त एवं अनन्त होता है—यह शास्त्रोंका निश्चय है ॥ १५ ॥

हस्ते हस्तिरथं दत्त्वा चतुर्युक्तमुपोषितः ।
प्राप्नोति परमाँल्लोकान् पुण्यकामसमन्वितान् ॥ १६ ॥

हस्तनक्षत्रमें उपवास करके ध्वजा, पताका चँदोवा और किङ्किणीजाल—इन चार वस्तुओंसे युक्त हाथी जुते हुए रथका दान करनेवाला मनुष्य पवित्र कामनाओंसे युक्त उत्तम लोकोंमें जाता है ॥ १६ ॥

चित्रायां वृषभं दत्त्वा पुण्यगन्धांश्च भारत ।
चरन्त्यप्सरसां लोके रमन्ते नन्दने तथा ॥ १७ ॥

भारत ! जो लोग चित्रा नक्षत्रमें वृषभ एवं पवित्र गन्धका दान करते हैं, वे अप्सराओंके लोकमें विचरते और नन्दनवनमें रमण करते हैं ॥ १७ ॥

स्वात्यामथ धनं दत्त्वा यदिष्टतममात्मनः ।
प्राप्नोति लोकान् स शुभानिह चैव महद् यशः ॥ १८ ॥

स्वाती नक्षत्रमें अपनी अधिक-से-अधिक प्रिय वस्तुका दान करके मनुष्य शुभ लोकोंमें जाता है और इस जगत्में भी महान् यशका भागी होता है ॥ १८ ॥

विशाखायामनड्वाहं धेनुं दत्त्वा च दुग्धदाम् ।
सप्रासङ्गं च शकटं सधान्यं वस्त्रसंयुतम् ॥ १९ ॥
पितॄन् देवांश्च प्रीणाति प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।
न च दुर्गाण्यवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ २० ॥

जो विशाखा नक्षत्रमें गाड़ी ढोनेवाले बैल, दूध देनेवाली गाय, धान्य, वस्त्र और प्रासङ्गसहित शकट दान करता है

वह देवताओं और पितरोंको तृप्त कर देता है तथा मृत्युके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है। वह जीते जी कभी संकटमें नहीं पड़ता और मरनेके बाद स्वर्गलोकमें जाता है॥

दत्त्वा यथोक्तं विप्रेभ्यो वृत्तिमिष्टां स विन्दति।
नरकादींश्च संक्लेशान् नाप्नोतीति विनिश्चयः॥ २१॥

पूर्वोक्त वस्तुओंका ब्राह्मणोंको दान करके मनुष्य इच्छित जीविका-वृत्ति पा लेता है और नरक आदिके कष्ट भी कभी नहीं भोगता। ऐसा शास्त्रोंका निश्चय है॥ २१॥

अनुराधासु प्रावारं वरान्नं समुपोषितः।
दत्त्वा युगशतं चापि नरः स्वर्गे महीयते॥ २२॥

जो मनुष्य अनुराधा नक्षत्रमें उपवास करके ओढ़नेका वस्त्र और उत्तम अन्न दान करता है, वह सौ युगोंतक स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है॥ २२॥

कालशाकं तु विप्रेभ्यो दत्त्वा मर्त्यः समूलकम्।
ज्येष्ठायामृद्धिमिष्टां वै गतिमिष्टां स गच्छति॥ २३॥

जो मनुष्य ज्येष्ठा नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको समयोचित शाक और मूली दान करता है, वह अभीष्ट समृद्धि और सद्गतिको प्राप्त होता है॥ २३॥

मूले मूलफलं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
पितॄन् प्रीणयते चापि गतिमिष्टां च गच्छति॥ २४॥

मूल नक्षत्रमें एकाग्रचित्त हो ब्राह्मणोंको मूल-फल दान करनेवाला मनुष्य पितरोंको तृप्त करता और अभीष्ट गतिको पाता है॥ २४॥

अथ पूर्वास्वषाढासु दधिपात्राण्युपोषितः।
कुलवृत्तोपसम्पन्ने ब्राह्मणे वेदपारगे॥ २५॥
पुरुषो जायते प्रेत्य कुले सुबहुगोधने।

पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें उपवास करके कुलीन, सदाचारी एवं वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको दहीसे भरे हुए पात्रका दान करनेवाला मनुष्य मृत्युके पश्चात् ऐसे कुलमें जन्म लेता है, जहाँ गोधनकी अधिकता होती है॥ २५½॥

उदमन्थं ससर्पिष्कं प्रभूतमधिफाणितम्।
दत्त्वोत्तरास्वषाढासु सर्वकामानवाप्नुयात्॥ २६॥

जो उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें जलपूर्ण कलशसहित सत्तूकी बनी हुई खाद्य वस्तु, घी और प्रचुर माखन दान करता है, वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है॥ २६॥

दुग्धं त्वभिजिते योगे दत्त्वा मधुघृतप्लुतम्।
धर्मनित्यो मनीषिभ्यः स्वर्गलोके महीयते॥ २७॥

जो नित्य धर्मपरायण पुरुष अभिजित् नक्षत्रके योगमें मनीषी ब्राह्मणोंको मधु और घीसे युक्त दूध देता है, वह स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है॥ २७॥

श्रवणे कम्बलं दत्त्वा वस्त्रान्तरितमेव वा।
श्वेतेन याति यानेन स्वर्गलोकानसंवृतान्॥ २८॥

जो श्रवण नक्षत्रमें वस्त्रवेष्टित कम्बल दान करता है, वह श्वेत विमानके द्वारा खुले हुए स्वर्गलोकमें जाता है॥२८॥

गोप्रयुक्तं धनिष्ठासु यानं दत्त्वा समाहितः।
वस्त्रराशिधनं सद्यः प्रेत्य राज्यं प्रपद्यते॥ २९॥

जो धनिष्ठा नक्षत्रमें एकाग्रचित्त होकर बैलगाड़ी, वस्त्र-समूह तथा धन दान करता है, वह मृत्युके पश्चात् शीघ्र ही राज्य पाता है॥ २९॥

गन्धाञ्छतभिषायोगे दत्त्वा सागुरुचन्दनान्।
प्राप्नोत्यप्सरसां संघान् प्रेत्य गन्धांश्च शाश्वतान्॥३०॥

जो शतभिषा नक्षत्रके योगमें अगुरु और चन्दनसहित सुगन्धित पदार्थोंका दान करता है, वह परलोकमें अप्सराओंके समुदाय तथा अक्षय गन्धको पाता है॥ ३०॥

पूर्वाभाद्रपदायोगे राजमाषान् प्रदाय तु।
सर्वभक्षफलोपेतः स वै प्रेत्य सुखी भवेत्॥ ३१॥

पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें बड़ी उड़द या सफेद मटरका दान करके मनुष्य परलोकमें सब प्रकारकी खाद्य वस्तुओंसे सम्पन्न हो सुखी होता है॥ ३१॥

औरभ्रमुत्तरायोगे यस्तु मांसं प्रयच्छति।
स पितॄन् प्रीणयति वै प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते॥ ३२॥

जो उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें औरभ्र फलका गूदा दान करता है, वह पितरोंको तृप्त करता और परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है॥ ३२॥

कांस्योपदोहनां धेनुं रेवत्यां यः प्रयच्छति।
सा प्रेत्य कामानादाय दातारमुपतिष्ठति॥ ३३॥

जो रेवती नक्षत्रमें कांस्के दुग्धपात्रसे युक्त धेनुका दान करता है, वह धेनु परलोकमें सम्पूर्ण भोगोंको लेकर उस दाताकी सेवामें उपस्थित होती है॥ ३३॥

रथमश्वसमायुक्तं दत्त्वाश्विन्यां नरोत्तमः।
हस्त्यश्वरथसम्पन्ने वर्चस्वी जायते कुले॥ ३४॥

जो नरश्रेष्ठ अश्विनी नक्षत्रमें घोड़े जुते हुए रथका दान करता है, वह हाथी, घोड़े और रथसे सम्पन्न कुलमें तेजस्वी पुत्ररूपसे जन्म लेता है॥ ३४॥

भरणीषु द्विजातिभ्यस्तिलधेनुं प्रदाय वै।
गाः सुप्रभूताः प्राप्नोति नरः प्रेत्य यशस्तथा॥ ३५॥

जो भरणी नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको तिलमयी धेनुका दान करता है, वह इस लोकमें बहुत-सी गौओंको तथा परलोकमें महान यशको प्राप्त करता है॥ ३५॥

भीष्म उवाच

इत्येष लक्षणोद्देशः प्रोक्तो नक्षत्रयोगतः।
देवक्या नारदेनेह सा स्नुषाभ्योऽब्रवीदिदम्॥ ३६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार नक्षत्रोंके योगमें किये जानेवाले विविध वस्तुओंके दानका संक्षेपसे यहाँ वर्णन किया गया है । नारदजीने देवकीसे और देवकीजीने अपनी पुत्रवधुओंसे यह विषय सुनाया था ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि नक्षत्रयोगदानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें नक्षत्रयोगसम्बन्धी दान नामक चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

सुवर्ण और जल आदि विभिन्न वस्तुओंके दानकी महिमा

भीष्म उवाच

सर्वान् कामान् प्रयच्छन्ति ये प्रयच्छन्ति काञ्चनम् ।
इत्येवं भगवानत्रिः पितामहसुतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके पुत्र भगवान् अत्रिका प्राचीन वचन है कि 'जो सुवर्णका दान करते हैं, वे मानो याचककी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं' ॥ १ ॥

पवित्रमथ चायुष्यं पितृणामक्षयं च तत् ।
सुवर्णं मनुजेन्द्रेण हरिश्चन्द्रेण कीर्तितम् ॥ २ ॥

राजा हरिश्चन्द्रने कहा है कि 'सुवर्ण परम पवित्र, आयु बढ़ानेवाला और पितरोंको अक्षय गति प्रदान करनेवाला है' ॥ २ ॥

पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत् ।
तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत् ॥ ३ ॥

मनुजीने कहा है कि 'जलका दान सब दानोंसे बढ़कर है ।' इसलिये कुएँ, बावड़ी और पोखरे खोदवाने चाहिये ॥ ३ ॥

अर्धं पापस्य हरति पुरुषस्येह कर्मणः ।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सुप्रवृत्तश्च नित्यशः ॥ ४ ॥

जिसके खोदवाये हुए कुएँमें अच्छी तरह पानी निकलकर यहाँ सदा सब लोगोंके उपयोगमें आता है, वह उस मनुष्यके पापकर्मका आधा भाग हर लेता है ॥ ४ ॥

सर्वं तारयते वंशं यस्य खाते जलाशये ।
गावः पिबन्ति विप्राश्च साधवश्च नराः सदा ॥ ५ ॥

जिसके खोदवाये हुए जलाशयमें गौ, ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ पुरुष सदा जल पीते हैं, वह जलाशय उस मनुष्यके समूचे कुलका उद्धार कर देता है ॥ ५ ॥

निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठत्यवारितम् ।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुते ॥ ६ ॥

जिसके बनवाये हुए तालाबमें गरमीके दिनोंमें भी पानी मौजूद रहता है, कभी घटता नहीं है, वह पुरुष कभी अत्यन्त विषम संकटमें नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

बृहस्पतेर्भगवतः पूष्णश्चैव भगस्य च ।
अश्विनोश्चैव वह्नेश्च प्रीतिर्भवति सर्पिषा ॥ ७ ॥

घी दान करनेसे भगवान् बृहस्पति, पूषा, भग, अश्विनीकुमार और अग्निदेव प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥

परमं भेषजं ह्येतद् यज्ञानामेतदुत्तमम् ।
रसानामुत्तमं चैतत् फलानां चैतदुत्तमम् ॥ ८ ॥

घी सबसे उत्तम औषध और यज्ञ करनेकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है । वह रसोंमें उत्तम रस है और फलोंमें सर्वोत्तम फल है ॥ ८ ॥

फलकामो यशस्कामः पुष्टिकामश्च नित्यदा ।
घृतं दद्याद् द्विजातिभ्यः पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ ९ ॥

जो सदा फल, यश और पुष्टि चाहता हो, वह पुरुष पवित्र हो मनको वशमें करके द्विजातियोंको घृत दान करे ॥ ९ ॥

घृतं मासे आश्वयुजि विप्रेभ्यो यः प्रयच्छति ।
तस्मै प्रयच्छतो रूपं प्रीतौ देवाविहाश्विनौ ॥ १० ॥

जो आश्विन मासमें ब्राह्मणोंको घृत दान करता है, उसपर देववैद्य अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर यहाँ उसे रूप प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

पायसं सर्पिषा मिश्रं द्विजेभ्यो यः प्रयच्छति ।
गृहं तस्य न रक्षांसि धर्षयन्ति कदाचन ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मणोंको घृतमिश्रित खीर देता है, उसके घरपर कभी राक्षसोंका आक्रमण नहीं होता ॥ ११ ॥

पिपासया न म्रियते सोपच्छन्दश्च जायते ।
न प्राप्नुयाच्च व्यसनं करकान् यः प्रयच्छति ॥ १२ ॥

जो पानीसे भरा हुआ कमण्डलु दान करता है, वह कभी प्याससे नहीं मरता । उसके पास सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री मौजूद रहती है और वह संकटमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

प्रयतो ब्राह्मणाग्रे यः श्रद्धया परया युतः ।
उपस्पर्शनषड्भागं लभते पुरुषः सदा ॥ १३ ॥

जो पुरुष सदा एकाग्रचित्त हो ब्राह्मणके आगे बड़ी श्रद्धाके साथ विनययुक्त व्यवहार करता है, वह पुरुष सदा दानके छठे भागका पुण्य प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

यः साधनार्थं काष्ठानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
प्रतापनार्थं राजेन्द्र वृत्तवद्भ्यः सदा नरः ॥ १४ ॥

सिद्ध्यन्त्यर्थाः सदा तस्य कार्याणि विविधानि च ।
उपर्युपरि शत्रूणां वपुषा दीप्यते च सः ॥ १५ ॥

राजेन्द्र! जो मनुष्य सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणोंको भोजन बनाने और तापनेके लिये सदा लकड़ियाँ देता है, उसकी सभी कामनाएँ तथा नाना प्रकारके कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं और वह शत्रुओंके ऊपर-ऊपर रहकर अपने तेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान होता है ॥ १४-१५ ॥

भगवांश्चापि सम्प्रीतो वह्निर्भवति नित्यशः ।
न तं त्यजन्ति पशवः संग्रामे च जयत्यपि ॥ १६ ॥

इतना ही नहीं, उसके ऊपर सदा भगवान् अग्निदेव प्रसन्न रहते हैं । उसके पशुओंकी हानि नहीं होती तथा वह संग्राममें विजयी होता है ॥ १६ ॥

पुत्राञ्छ्रियं च लभते यश्छत्रं सम्प्रयच्छति ।
न चक्षुर्व्याधिं लभते यज्ञभागमथाश्नुते ॥ १७ ॥

जो पुरुष छाता दान करता है, उसे पुत्र और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है । उसके नेत्रमें कोई रोग नहीं होता और उसे सदा यज्ञका भाग मिलता है ॥ १७ ॥

निदाघकाले वर्षे वा यश्छत्रं सम्प्रयच्छति ।
नास्य कश्चिन्मनोदाहः कदाचिदपि जायते ।
कृच्छ्रात् स विषमाच्चैव क्षिप्रं मोक्षमवाप्नुते ॥ १८ ॥

जो गर्मी और बरसातके महीनोंमें छाता दान करता है, उसके मनमें कभी संताप नहीं होता । वह कठिन-से-कठिन संकटसे शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है ॥ १८ ॥

प्रदानं सर्वदानानां शकटस्य विशाम्पते ।
एवमाह महाभागः शाण्डिल्यो भगवानृषिः ॥ १९ ॥

प्रजानाथ ! महाभाग भगवान् शाण्डिल्य ऋषि ऐसा कहते हैं कि 'शकट (बैलगाड़ी) का दान उपर्युक्त सब दानोंके बराबर है' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

जूता, शकट, तिल, भूमि, गौ और अन्नके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ ।
यत्फलं तस्य भवति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! गर्मीके दिनोंमें जिसके पैर जल रहे हों, ऐसे ब्राह्मणको जो जूते पहनाता है, उसको जो फल मिलता है, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

उपानहौ प्रयच्छेद् यो ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ।
मर्दते कण्टकान् सर्वान् विषमान्निस्तरत्यपि ॥ २ ॥
स शत्रूणामुपरि च संतिष्ठति युधिष्ठिर ।
यानं चाश्वतरीयुक्तं तस्य शुभ्रं विशाम्पते ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो एकाग्रचित्त होकर ब्राह्मणोंके लिये जूते दान करता है, वह सब कण्टकोंको मसल डालता है और कठिन विपत्तिसे भी पार हो जाता है । इतना ही नहीं, वह शत्रुओंके ऊपर विराजमान होता है । प्रजानाथ ! उसे जन्मान्तरमें खच्चरियोंसे जुता हुआ उज्ज्वल रथ प्राप्त होता है ॥ २-३ ॥

उपतिष्ठति कौन्तेय रौप्यकाञ्चनभूषितम् ।
शकटं दम्यसंयुक्तं दत्तं भवति चैव हि ॥ ४ ॥

कुन्तीकुमार ! जो नये बैलोंसे युक्त शकट दान करता है, उसे चाँदी और सोनेसे जटित रथ प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् फलं तिलदाने च भूमिदाने च कीर्तितम् ।
गोदाने चान्नदाने च भूयस्तद् ब्रूहि कौरव ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन ! तिल, भूमि, गौ और अन्नका दान करनेसे क्या फल मिलता है ? इसका फिरसे वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्व मम कौन्तेय तिलदानस्य यत् फलम् ।
निशम्य च यथान्यायं प्रयच्छ कुरुसत्तम ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! तिल-दानका जो फल है, वह मुझसे सुनो और सुनकर यथोचित-रूपसे उसका दान करो ॥ ६ ॥

पितॄणां परमं भोज्यं तिलाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
तिलदानेन वै तस्मात् पितृपक्षः प्रमोदते ॥ ७ ॥

ब्रह्माजीने जो तिल उत्पन्न किये हैं, वे पितरोंके सर्वश्रेष्ठ खाद्य पदार्थ हैं । इसलिये तिल दान करनेसे पितरोंको बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ ७ ॥

माघमासे तिलान् यस्तु ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
सर्वसत्त्वसमाकीर्णं नरकं स न पश्यति ॥ ८ ॥

जो माघ मासमें ब्राह्मणोंको तिल दान करता है, वह समस्त जन्तुओंसे भरे हुए नरकका दर्शन नहीं करता ॥ ८ ॥

सर्वसत्रैश्च यजते यस्तिलैर्यजते पितॄन् ।
न चाकामेन दातव्यं तिलश्राद्धं कदाचन ॥ ९ ॥

जो तिलोंके द्वारा पितरोंका पूजन करता है, वह मानो सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है । तिल-श्राद्ध कभी निष्काम पुरुषको नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

महर्षेः कश्यपस्यैते गात्रेभ्यः प्रसृतास्तिलाः ।
ततो दिव्यं गता भावं प्रदानेषु तिलाः प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो ! ये तिल महर्षि कश्यपके अङ्गोंसे प्रकट होकर विस्तारको प्राप्त हुए हैं; इसलिये दानके निमित्त इनमें दिव्यता आ गयी है ॥ १० ॥

पौष्टिका रूपदाश्चैव तथा पापविनाशनाः ।
तस्मात् सर्वप्रदानेभ्यस्तिलदानं विशिष्यते ॥ ११ ॥

तिल पौष्टिक पदार्थ हैं । वे सुन्दर रूप देनेवाले और पापनाशक हैं । इसलिये तिल-दान सब दानोंसे बढ़कर है ॥ ११ ॥

आपस्तम्बश्च मेधावी शङ्खश्च लिखितस्तथा ।
महर्षिर्गौतमश्चापि तिलदानैर्दिवं गताः ॥ १२ ॥

परम बुद्धिमान् महर्षि आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित तथा गौतम—ये तिलोंका दान करके दिव्यलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

तिलहोमरता विप्राः सर्वे संयतमैथुनाः ।
समा गव्येन हविषा प्रवृत्तिषु च संस्थिताः ॥ १३ ॥

वे सभी ब्राह्मण स्त्री-समागमसे दूर रहकर तिलोंका हवन किया करते थे, तिल गोघृतके समान हविके योग्य माने गये हैं, इसलिये यज्ञोंमें गृहीत होते हैं एवं हरेक कर्मोंमें उनकी आवश्यकता है ॥ १३ ॥

सर्वेषामिति दानानां तिलदानं विशिष्यते ।
अक्षयं सर्वदानानां तिलदानमिहोच्यते ॥ १४ ॥

अतः तिलदान सब दानोंमें बढ़कर है । तिलदान यहाँ सब दानोंमें अक्षय फल देनेवाला बताया जाता है ॥ १४ ॥

उच्छिन्ने तु पुरा हव्ये कुशिकर्षिः परंतपः ।
तिलैरग्नित्रयं हुत्वा प्राप्तवान् गतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें परंतप राजर्षि कुशिकने हविष्य समाप्त हो जानेपर तिलोंसे ही हवन करके तीनों अग्नियोंको तृप्त किया था; इससे उन्हें उत्तम गति प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

इति प्रोक्तं कुरुश्रेष्ठ तिलदानमनुत्तमम् ।
विधानं येन विधिना तिलानामिह शस्यते ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार जिस विधिके अनुसार तिलदान करना उत्तम माना गया है, वह सर्वोत्तम तिलदानका विधान यहाँ बताया गया ॥ १६ ॥

अत ऊर्ध्वं निबोधेदं देवानां यष्टुमिच्छताम् ।
समागमे महाराज ब्रह्मणा वै स्वयम्भुवा ॥ १७ ॥

महाराज ! इसके बाद यज्ञकी इच्छावाले देवताओं और स्वयम्भू ब्रह्माजीका समागम होनेपर उनमें परस्पर जो बातचीत हुई थी, उसे बता रहा हूँ, इसपर ध्यान दो ॥ १७ ॥

देवाः समेत्य ब्रह्माणं भूमिभागे यियक्षवः ।
शुभं देशमयाचन्त यजेम इति पार्थिव ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! भूतलके किसी भागमें यज्ञ करनेकी इच्छावाले देवता ब्रह्माजीके पास जाकर किसी शुभ देशकी याचना करने लगे, जहाँ यज्ञ कर सकें ॥ १८ ॥

देवा ऊचुः

भगवंस्त्वं प्रभुर्भूमेः सर्वस्य त्रिदिवस्य च ।
यजेमहि महाभाग यज्ञं भवदनुज्ञया ॥ १९ ॥

देवता बोले—भगवन् ! महाभाग ! आप पृथ्वी और सम्पूर्ण स्वर्गके भी स्वामी हैं; अतः हम आपकी आज्ञा लेकर पृथ्वीपर यज्ञ करेंगे ॥ १९ ॥

नाननुज्ञातभूमिर्हि यज्ञस्य फलमश्नुते ।
त्वं हि सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ २० ॥
प्रभुर्भवसि तस्मात्त्वं समनुज्ञातुमर्हसि ।

क्योंकि भूस्वामी जिस भूमिपर यज्ञ करनेकी अनुमति नहीं देता, उस भूमिपर यदि यज्ञ किया जाय तो उसका फल नहीं होता । आप सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी हैं; अतः पृथ्वीपर यज्ञ करनेके लिये हमें आज्ञा दीजिये ॥ २०½ ॥

ब्रह्मोवाच

ददानि मेदिनीभागं भवद्भ्योऽहं सुरर्षभाः ॥ २१ ॥
यस्मिन् देशे करिष्यध्वं यज्ञान् काश्यपनन्दनाः ।

ब्रह्माजीने कहा—काश्यपनन्दन सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग पृथ्वीके जिस प्रदेशमें यज्ञ करोगे, वही भूभाग मैं तुम्हें दे रहा हूँ ॥ २१½ ॥

देवा ऊचुः

भगवन् कृतकार्याः स्म यक्ष्महे स्वाप्तदक्षिणैः ॥ २२ ॥
इमं तु देशं मुनयः पर्युपासन्ति नित्यदा ।

देवताओंने कहा—भगवन् ! हमारा कार्य हो गया । अब हम पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञपुरुषका यजन करेंगे । यह जो हिमालयके पासका प्रदेश है, इसका ऋषि-मुनि सदासे आश्रय लेते हैं (अतः हमारा यज्ञ भी यहीं होगा) ॥ २२½ ॥

ततोऽगस्त्यश्च कण्वश्च भृगुरत्रिर्वृषाकपिः ॥ २३ ॥
असितो देवलश्चैव देवयज्ञमुपागमन् ।
ततो देवा महात्मान ईजिरे यज्ञमच्युतम् ॥ २४ ॥
तथा समापयामासुर्यथाकालं सुरर्षभाः ।

तदनन्तर अगस्त्य, कण्व, भृगु, अत्रि, वृषाकपि, असित

और देवल देवताओंके उस यज्ञमें उपस्थित हुए। तब महामनस्वी देवताओंने यज्ञपुरुष अच्युतका यजन आरम्भ किया और उन श्रेष्ठ देवगणोंने यथासमय उस यज्ञको समाप्त भी कर दिया ॥ २३-२४½ ॥

त इष्टयज्ञास्त्रिदशा हिमवत्यचलोत्तमे ॥ २५ ॥
षष्ठमंशं क्रतोस्तस्य भूमिदानं प्रचक्रिरे ।

पर्वतराज हिमालयके पास यज्ञ पूरा करके देवताओंने भूमिदान भी किया, जो उस यज्ञके छठे भागके बराबर पुण्यका जनक था ॥ २५½ ॥

प्रादेशमात्रं भूमेस्तु यो दद्यादनुपस्कृतम् ॥ २६ ॥
न सीदति स कृच्छ्रेषु न च दुर्गाण्यवाप्नुते ।

जिसको खोदखादकर खराब न कर दिया गया हो, ऐसे प्रादेशमात्र भूभागका भी जो दान करता है, वह न तो कभी दुर्गम संकटोंमें पड़ता है और न पड़नेपर कभी दुखी ही होता है ॥ २६½ ॥

शीतवातातपसहां गृहभूमिं सुसंस्कृताम् ॥ २७ ॥
प्रदाय सुरलोकस्थः पुण्यान्तेऽपि न चाल्यते ।

जो सर्दी, गर्मी और हवाके वेगको सहन करनेयोग्य सजी-सजायी गृहभूमि दान करता है, वह देवलोकमें निवास करता है। पुण्यका भोग समाप्त होनेपर भी वहाँसे हटाया नहीं जाता ॥ २७½ ॥

मुदितो वसति प्राज्ञः शक्रेण सह पार्थिव ॥ २८ ॥
प्रतिश्रयप्रदानाच्च सोऽपि स्वर्गे महीयते ।

पृथ्वीनाथ ! जो विद्वान् गृहदान करता है, वह भी उसके पुण्यसे इन्द्रके साथ आनन्दपूर्वक निवास करता और स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥ २८½ ॥

अध्यापककुले जातः श्रोत्रियो नियतेन्द्रियः ॥ २९ ॥
गृहे यस्य वसेत् तुष्टः प्रधानं लोकमश्नुते ।

अध्यापक-वंशमें उत्पन्न श्रोत्रिय एवं जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिसके दिये हुए घरमें प्रसन्नतासे रहता है, उसे श्रेष्ठ लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९½ ॥

तथा गवार्थे शरणं शीतवर्षसहं दृढम् ॥ ३० ॥
आसप्तमं तारयति कुलं भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! जो गौओंके लिये सर्दी और वर्षासे बचानेवाला सुदृढ़ निवासस्थान बनवाता है, वह अपनी सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ३०½ ॥

क्षेत्रभूमिं ददल्लोके शुभां श्रियमवाप्नुयात् ॥ ३१ ॥
रत्नभूमिं प्रदद्यात् तु कुलवंशं प्रवर्धयेत् ।

खेतके योग्य भूमि दान करनेवाला मनुष्य जगत्में शुभ सम्पत्ति प्राप्त करता है और जो रत्नयुक्त भूमिका दान करता है, वह अपने कुलकी वंश-परम्पराको बढ़ाता है ॥ ३१½ ॥

न चोषरां न निर्दग्धां महीं दद्यात् कथंचन ॥ ३२ ॥
न श्मशानपरीतां च न च पापनिषेविताम् ।

जो भूमि ऊसर, जली हुई और श्मशानके निकट हो तथा जहाँ पापी पुरुष निवास करते हों, उसे ब्राह्मणको नहीं देना चाहिये ॥ ३२½ ॥

पारक्ये भूमिदेशे तु पितॄणां निर्वपेत् तु यः ॥ ३३ ॥
तद्भूमिं वापि पितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते ।

जो परायी भूमिमें पितरोंके लिये श्राद्ध करता है, अथवा जो उस भूमिको पितरोंके लिये दानमें देता है, उसके वे श्राद्ध-कर्म और दान दोनों ही नष्ट होते (निष्फल हो जाते) हैं ॥

तस्मात् क्रीत्वा महीं दद्यात् स्वल्पामपि विचक्षणः॥३४॥
पिण्डः पितृभ्यो दत्तो वै तस्यां भवति शाश्वतः ।

अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह थोड़ी-सी भी भूमि खरीदकर उसका दान करे। खरीदकर अपनी की हुई भूमिमें ही पितरोंको दिया हुआ पिण्ड सदा स्थिर रहनेवाला होता है॥

अटवीपर्वताश्चैव नद्यस्तीर्थानि यानि च ॥ ३५ ॥
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तत्र परिग्रहः ।
इत्येतद् भूमिदानस्य फलमुक्तं विशाम्पते ॥ ३६ ॥

वन, पर्वत, नदी और तीर्थ—ये सब स्थान किसी स्वामीके अधीन नहीं होते हैं (इन्हें सार्वजनिक माना जाता है)। इसलिये वहाँ श्राद्ध करनेके लिये भूमि खरीदनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रजानाथ ! इस प्रकार यह भूमिदानका फल बताया गया है ॥ ३५-३६ ॥

अतः परं तु गोदानं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ।
गावोऽधिकास्तपस्विभ्यो यस्मात् सर्वेभ्य एव च॥३७॥
तस्मान्महेश्वरो देवस्तपस्ताभिः सहास्थितः ।

अनघ ! इसके बाद मैं तुम्हें गोदानका माहात्म्य बताऊँगा। गौएँ समस्त तपस्वियोंसे बढ़कर हैं; इसलिये भगवान् शङ्करने गौओंके साथ रहकर तप किया था ॥ ३७½ ॥

ब्राह्मे लोके वसन्त्येताः सोमेन सह भारत ॥ ३८ ॥
यां तां ब्रह्मर्षयः सिद्धाः प्रार्थयन्ति परां गतिम् ।

भारत ! ये गौएँ चन्द्रमाके साथ उस ब्रह्मलोकमें निवास करती हैं, जो परमगतिरूप है और जिसे सिद्ध ब्रह्मर्षि भी प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ ३८½ ॥

पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा ॥ ३९ ॥
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत ।

भरतनन्दन ! ये गौएँ अपने दूध, दही, घी, गोबर, चमड़ा, हड्डी, सींग और बालोंसे भी जगत्का उपकार करती रहती हैं ॥ ३९½ ॥

नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म कुर्वते ॥ ४० ॥

न वर्षविषयं वापि दुःखमासां भवत्युत।
ब्राह्मणैः सहिता यान्ति तस्मात् पारमकं पदम्॥ ४१ ॥

इन्हें सर्दी, गर्मी और वर्षाका भी कष्ट नहीं होता है। ये सदा ही अपना काम किया करती हैं। इसलिये ये ब्राह्मणों-के साथ परमपदस्वरूप ब्रह्मलोकमें चली जाती हैं ॥४०-४१॥

एकं गोब्राह्मणं तस्मात् प्रवदन्ति मनीषिणः।
रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः॥ ४२ ॥
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता।
पशुत्वाच्च विनिर्मुक्ताः प्रदानायोपकल्पिताः॥ ४३ ॥

इसीसे गौ और ब्राह्मणको मनस्वी पुरुष एक बताते हैं। राजन्! राजा रन्तिदेवके यज्ञमें वे पशुरूपसे दान देनेके लिये निश्चित की गयी थीं; अतः गौओंके चमड़ोंसे वह चर्मण्वती नामक नदी प्रवाहित हुई थी। वे सभी गौएँ पशुत्वसे विमुक्त थीं और दान देनेके लिये नियत की गयी थीं॥ ४२-४३॥

ता इमा विप्रमुख्येभ्यो यो ददाति महीपते।
निस्तरेदापदं कृच्छ्रां विषमस्थोऽपि पार्थिव॥ ४४ ॥

भूपाल! पृथ्वीनाथ! जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको इन गौओंका दान करता है, वह संकटमें पड़ा हो तो भी उस भारी विपत्ति-से उद्धार पा लेता है॥ ४४ ॥

गवां सहस्रदः प्रेत्य नरकं न प्रपद्यते।
सर्वत्र विजयं चापि लभते मनुजाधिप॥ ४५ ॥

जो एक सहस्र गोदान कर देता है, वह मरनेके बाद नरकमें नहीं पड़ता। नरेश्वर! उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है॥

अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः।
तस्माद् ददाति यो धेनुममृतं स प्रयच्छति॥ ४६ ॥

देवराज इन्द्रने कहा है कि 'गौओंका दूध अमृत है'; अतः जो दूध देनेवाली गौका दान करता है, वह अमृत दान करता है॥ ४६ ॥

अग्नीनामव्ययं ह्येतद्धौम्यं वेदविदो विदुः।
तस्माद् ददाति यो धेनुं स हौम्यं सम्प्रयच्छति॥ ४७ ॥

वेदवेत्ता पुरुषोंका अनुभव है कि 'गोदुग्धरूप हविष्यका यदि अग्निमें हवन किया जाय तो वह अविनाशी फल देता है।' अतः जो धेनु दान करता है, वह हविष्यका ही दान करता है॥ ४७ ॥

स्वर्गो वै मूर्तिमानेष वृषभं यो गवां पतिम्।
विप्रे गुणयुते दद्यात् स वै स्वर्गे महीयते॥ ४८ ॥

बैल स्वर्गका मूर्तिमान् स्वरूप है। जो गौओंके पति-साँड़का गुणवान् ब्राह्मणको दान करता है, वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ४८ ॥

प्राणा वै प्राणिनामेते प्रोच्यन्ते भरतर्षभ।
तस्माद् ददाति यो धेनुं प्राणानेष प्रयच्छति॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ! ये गौएँ प्राणियों (को दूध पिलाकर पालनेके कारण उन) के प्राण कहलाती हैं; इसलिये जो दूध देनेवाली गौका दान करता है, वह मानो प्राण दान देता है॥ ४९ ॥

गावः शरण्या भूतानामिति वेदविदो विदुः।
तस्माद् ददाति यो धेनुं शरणं सम्प्रयच्छति॥ ५० ॥

वेदवेत्ता विद्वान् ऐसा मानते हैं कि 'गौएँ समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाली हैं।' इसलिये जो धेनु दान करता है, वह सबको शरण देनेवाला है॥ ५० ॥

न वधार्थं प्रदातव्या न कीनाशे न नास्तिके।
गोजीविने न दातव्या तथा गौर्भरतर्षभ॥ ५१ ॥
(गोरसानां न विक्रेतुरपञ्चयजनस्य च।)

भरतश्रेष्ठ! जो मनुष्य वध करनेके लिये गौ माँग रहा हो, उसे कदापि गाय नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार कसाईको, नास्तिकको, गायसे ही जीविका चलानेवालेको, गोरस बेचनेवाले और पञ्चयज्ञ न करनेवालेको भी गाय नहीं देनी चाहिये॥ ५१ ॥

ददत् स तादृशानां वै नरो गां पापकर्मणाम्।
अक्षयं नरकं यातीत्येवमाहुर्महर्षयः॥ ५२ ॥

ऐसे पापकर्मी मनुष्योंको जो गाय देता है, वह मनुष्य अक्षय नरकमें गिरता है, ऐसा महर्षियोंका कथन है॥ ५२ ॥

न कृशां नापवत्सां वा वन्ध्यां रोगान्वितां तथा।
न व्यङ्गां न परिश्रान्तां दद्याद् गां ब्राह्मणाय वै॥ ५३ ॥

जो दुबली हो, जिसका बछड़ा मर गया हो तथा जो ठाँठ, रोगिणी, किसी अङ्गसे हीन और थकी हुई (बूढ़ी) हो, ऐसी गौ ब्राह्मणको नहीं देनी चाहिये॥ ५३ ॥

दशगोसहस्रदो हि शक्रेण सह मोदते।
अक्षयाँल्लभते लोकान् नरः शतसहस्रशः॥ ५४ ॥

दस हजार गोदान करनेवाला मनुष्य इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगता है और जो लाख गौओंका दान कर देता है, उस मनुष्यको अक्षय लोक प्राप्त होते हैं॥ ५४ ॥

इत्येतद् गोप्रदानं च तिलदानं च कीर्तितम्।
तथा भूमिप्रदानं च शृणुष्वान्ने च भारत॥ ५५ ॥

भारत! इस प्रकार गोदान, तिलदान और भूमिदानका महत्त्व बतलाया गया। अब पुनः अन्नदानकी महिमा सुनो॥

अन्नदानं प्रधानं हि कौन्तेय परिचक्षते।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन! विद्वान् पुरुष अन्नदानको सब दानोंमें प्रधान बताते हैं। अन्नदान करनेसे ही राजा रन्तिदेव स्वर्गलोकमें गये थे॥ ५६ ॥

श्रान्ताय क्षुधितायान्नं यः प्रयच्छति भूमिपः।
स्वायम्भुवं महत् स्थानं स गच्छति नराधिप॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! जो भूमिपाल थके-माँदे और भूखे मनुष्यको अन्न देता है, वह ब्रह्माजीके परमधाममें जाता है ॥ ५७ ॥

न हिरण्यैर्न वासोभिर्नान्यदानेन भारत ।
प्राप्नुवन्ति नराः श्रेयो यथा ह्यन्नप्रदाः प्रभो ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! प्रभो ! अन्नदान करनेवाले मनुष्य जिस तरह कल्याणके भागी होते हैं, वैसा कल्याण उन्हें सुवर्ण, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओंके दानसे नहीं प्राप्त होता है ॥५८॥

अन्नं वै प्रथमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता ।
अन्नात् प्राणः प्रभवति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥ ५९ ॥

अन्न प्रथम द्रव्य है । वह उत्तम लक्ष्मीका स्वरूप माना गया है । अन्नसे ही प्राण, तेज, वीर्य और बलकी पुष्टि होती है॥

सद्यो ददाति यश्चान्नं सदैकाग्रमना नरः ।
न स दुर्गाण्यवाप्नोतीत्येवमाह पराशरः ॥ ६० ॥

पराशर मुनिका कथन है कि 'जो मनुष्य सदा एकाग्रचित्त होकर याचकको तत्काल अन्नका दान करता है, उसपर कभी दुर्गम संकट नहीं पड़ता' ॥ ६० ॥

अर्चयित्वा यथान्यायं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत् ।
यदन्ना हि नरा राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ६१ ॥

राजन् ! मनुष्यको प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिसे देवताओंकी पूजा करके उन्हें अन्न निवेदन करना चाहिये । जो पुरुष जिस अन्नका भोजन करता है, उसके देवता भी वही अन्न ग्रहण करते हैं ॥ ६१ ॥

कौमुदे शुक्लपक्षे तु योऽन्नदानं करोत्युत ।
स संतरति दुर्गाणि प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ६२ ॥

जो कार्तिक मासके शुक्लपक्षमें अन्नका दान करता है, वह दुर्गम संकटसे पार हो जाता है और मरकर अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ६२ ॥

अभुक्त्वातिथये चान्नं प्रयच्छेद् यः समाहितः ।
स वै ब्रह्मविदां लोकान् प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ॥ ६३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पुरुष एकाग्रचित्त हो स्वयं भूखा रहकर अतिथिको अन्नदान करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओंके लोकोंमें जाता है ॥ ६३ ॥

सुकृच्छ्रामापदं प्राप्तश्चान्नदः पुरुषस्तरेत् ।
पापं तरति चैवेह दुष्कृतं चापकर्षति ॥ ६४ ॥

अन्नदाता मनुष्य कठिन-से-कठिन आपत्तिमें पड़नेपर भी उस आपत्तिसे पार हो जाता है । वह पापसे उद्धार पा जाता है और भविष्यमें होनेवाले दुष्कर्मोंका भी नाश कर देता है ॥ ६४ ॥

इत्येतदन्नदानस्य तिलदानस्य चैव ह ।
भूमिदानस्य च फलं गोदानस्य च कीर्तितम् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार मैंने यह अन्नदान, तिलदान, भूमिदान और गोदानका फल बताया है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६५½ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

अन्न और जलके दानकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं दानफलं तात यत् त्वया परिकीर्तितम् ।
अन्नदानं विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! भरतनन्दन ! आपने जो दानोंका फल बताया है, उसे मैंने सुन लिया । यहाँ अन्नदानकी विशेषरूपसे प्रशंसा की गयी है ॥ १ ॥

पानीयदानमेवैतत् कथं चेह महाफलम् ।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! अब जलदान करनेसे कैसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, इस विषयको मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद् भरतर्षभ ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी भरतश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सब कुछ यथार्थ रूपसे बताऊँगा । तुम आज यहाँ मेरे मुँहसे इन सब बातोंको सुनो ॥ ३ ॥

पानीयदानात् प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ ।
यदन्नं यच्च पानीयं सम्प्रदायाश्नुते नरः ॥ ४ ॥

अनघ ! जलदानसे लेकर सब प्रकारके दानोंका फल मैं तुम्हें बताऊँगा । मनुष्य अन्न और जलका दान करके जिस फलको पाता है, वह सुनो ॥ ४ ॥

न तस्मात् परमं दानं किंचिदस्तीति मे मनः ।
अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः ॥ ५ ॥

तात ! मेरे मनमें यह धारणा है कि अन्न और जलके दानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते और जीवन धारण करते हैं ॥

तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते।
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ॥ ६ ॥
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः।

इसलिये लोकमें तथा सम्पूर्ण मनुष्योंमें अन्नको ही सबसे उत्तम बताया गया है। अन्नसे ही सदा प्राणियोंके तेज और बलकी वृद्धि होती है; अतः प्रजापतिने अन्नके दानको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है ॥ ६½ ॥

सावित्र्या ह्यपि कौन्तेय श्रुतं ते वचनं शुभम् ॥ ७ ॥
यतश्च यद् यथा चैव देवसत्रे महामते।

कुन्तीनन्दन ! तुमने सावित्रीके शुभ वचनको भी सुना है। महामते ! देवताओंके यज्ञमें जिस हेतुसे और जिस प्रकार जो वचन सावित्रीने कहा था, वह इस प्रकार है—॥ ७½ ॥

अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत ॥ ८ ॥
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते।
श्रुतं हि ते महाबाहो लोमशस्यापि तद्वचः ॥ ९ ॥

'जिस मनुष्यने यहाँ किसीको अन्न दिया, उसने मानो प्राण दे दिये और प्राणदानसे बढ़कर इस संसारमें दूसरा कोई दान नहीं है।' महाबाहो ! इस विषयमें तुमने लोमशका भी वह वचन सुना ही है ॥ ८-९ ॥

प्राणान् दत्त्वा कपोताय यत् प्राप्तं शिबिना पुरा।
तां गतिं लभते दत्त्वा द्विजस्यान्नं विशाम्पते ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! पूर्वकालमें राजा शिबिने कबूतरके लिये प्राणदान देकर जो उत्तम गति प्राप्त की थी, ब्राह्मणको अन्न देकर दाता उसी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

तस्माद् विशिष्टां गच्छन्ति प्राणदा इति नः श्रुतम्।
अन्नं वापि प्रभवति पानीयात् कुरुसत्तम।
नीरजातेन हि विना न किंचित् सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अतः प्राणदान करनेवाले पुरुष श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होते हैं—ऐसा हमने सुना है। किंतु अन्न भी जलसे ही पैदा होता है। जलराशिसे उत्पन्न हुए धान्यके विना कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

नीरजातश्च भगवान् सोमो ग्रहगणेश्वरः।
अमृतं च सुधा चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा ॥ १२ ॥
अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः।
यतः प्राणभृतां प्राणाः सम्भवन्ति विशाम्पते ॥ १३ ॥

महाराज ! ग्रहोंके अधिपति भगवान् सोम जलसे ही प्रकट हुए हैं। प्रजानाथ ! अमृत, सुधा, स्वाहा, स्वधा, अन्न, ओषधि, तृण और लताएँ भी जलसे उत्पन्न हुई हैं, जिनसे समस्त प्राणियोंके प्राण प्रकट एवं पुष्ट होते हैं ॥ १२-१३ ॥

देवानाममृतं ह्यन्नं नागानां च सुधा तथा।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ॥ १४ ॥

देवताओंका अन्न अमृत, नागोंका अन्न सुधा, पितरोंका अन्न स्वधा और पशुओंका अन्न तृण-लता आदि है ॥ १४ ॥

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्तते ॥ १५ ॥
तस्मात् पानीयदानाद् वै न परं विद्यते क्वचित्।

मनीषी पुरुषोंने अन्नको ही मनुष्योंका प्राण बताया है। पुरुषसिंह ! सब प्रकारका अन्न (खाद्यपदार्थ) जलसे ही उत्पन्न होता है; अतः जलदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान कहीं नहीं है ॥ १५½ ॥

तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे प्रतिदिन जलदान करना चाहिये। जलदान इस जगत्में धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला बताया जाता है। कुन्तीनन्दन ! जलदान करनेवाला पुरुष सदा अपने शत्रुओंसे भी ऊपर रहता है ॥ १६-१७ ॥

सर्वकामानवाप्नोति कीर्तिं चैव हि शाश्वतीम्।
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

वह इस जगत्में सम्पूर्ण कामनाओं तथा अक्षय कीर्तिको प्राप्त करता है और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। मृत्युके पश्चात् वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १८ ॥

तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते।
अक्षयान् समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ॥ १९ ॥

महातेजस्वी पुरुषसिंह ! जलदान करनेवाला पुरुष स्वर्गमें जाकर वहाँके अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है—ऐसा मनुने कहा है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पानीयदानमाहात्म्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें जलदानका माहात्म्यविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

तिल, जल, दीप तथा रत्न आदिके दानका माहात्म्य—धर्मराज और ब्राह्मणका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

तिलानां कीदृशं दानमथ दीपस्य चैव हि।
अन्नानां वाससां चैव भूय एव ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! तिलोंके दानका कैसा फल होता है ? दीप, अन्न और वस्त्रके दानकी महिमाका भी पुनः मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं यमस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें ब्राह्मण और यमके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

मध्यदेशे महान् ग्रामो ब्राह्मणानां बभूव ह ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये यामुनस्य गिरेरधः ॥ ३ ॥
पर्णशालेति विख्यातो रमणीयो नराधिप ।
विद्वांसस्तत्र भूयिष्ठा ब्राह्मणाश्चावसंस्तथा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! मध्यदेशमें गङ्गा-यमुनाके मध्यभागमें यामुन पर्वतके निम्न स्थलमें ब्राह्मणोंका एक विशाल एवं रमणीय ग्राम था, जो लोगोंमें पर्णशालानामसे विख्यात था । वहाँ बहुत-से विद्वान् ब्राह्मण निवास करते थे ॥ ३-४ ॥

अथ प्राह यमः कंचित् पुरुषं कृष्णवाससम् ।
रक्ताक्षमूर्ध्वरोमाणं काकजङ्घाक्षिनासिकम् ॥ ५ ॥

एक दिन यमराजने काला वस्त्र धारण करनेवाले अपने एक दूतसे, जिसकी आँखें लाल, रोएँ ऊपरको उठे हुए और पैरोंकी पिण्डली, आँख एवं नाक कौएके समान थीं, कहा—॥

गच्छ त्वं ब्राह्मणग्रामं ततो गत्वा तमानय ।
अगस्त्यं गोत्रतश्चापि नामतश्चापि शर्मिणम् ॥ ६ ॥
शमे निविष्टं विद्वांसमध्यापकमनावृतम् ।

'तुम ब्राह्मणोंके उस ग्राममें चले जाओ और जाकर अगस्त्यगोत्री शर्मी नामक शमपरायण विद्वान् अध्यापक ब्राह्मणको, जो आवरणरहित है, यहाँ ले आओ ॥ ६½ ॥

मा चान्यमानयेथास्त्वं सगोत्रं तस्य पार्श्वतः ॥ ७ ॥
स हि तादृग्गुणस्तेन तुल्योऽध्ययनजन्मना ।
अपत्येषु तथा वृत्ते समस्तेनैव धीमता ॥ ८ ॥

'उसी गाँवमें उसीके समान एक दूसरा ब्राह्मण भी रहता है । वह शर्मीके ही गोत्रका है । उसके अगल-बगलमें ही निवास करता है । गुण, वेदाध्ययन और कुलमें भी वह शर्मीके ही समान है । संतानोंकी संख्या तथा सदाचारके पालनमें भी वह बुद्धिमान् शर्मीके ही तुल्य है । तुम उसे यहाँ न ले आना ॥ ७-८ ॥

तमानय यथोद्दिष्टं पूजा कार्या हि तस्य वै ।
स गत्वा प्रतिकूलं तच्चकार यमशासनम् ॥ ९ ॥

'मैंने जिसे बताया है, उसी ब्राह्मणको तुम यहाँ ले आओ; क्योंकि मुझे उसकी पूजा करनी है ।' उस यमदूतने वहाँ जाकर यमराजकी आज्ञाके विपरीत कार्य किया ॥ ९ ॥

तमाक्रम्यानयामास प्रतिषिद्धो यमेन यः ।
तस्मै यमः समुत्थाय पूजां कृत्वा च वीर्यवान् ॥ १० ॥
प्रोवाच नीयतामेष सोऽन्य आनीयतामिति ।

वह आक्रमण करके उसी ब्राह्मणको उठा लाया, जिसके लिये यमराजने मना कर दिया था । शक्तिशाली यमराजने उठकर उसके लाये हुए ब्राह्मणकी पूजा की और दूतसे कहा—'इसको तो तुम ले जाओ और दूसरेको यहाँ ले आओ' ॥ १०½ ॥

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन स द्विजः ॥ ११ ॥
उवाच धर्मराजानं निर्विण्णोऽध्ययनेन वै ।
यो मे कालो भवेच्छेषस्तं वसेयमिहाच्युत ॥ १२ ॥

धर्मराजके इस प्रकार आदेश देनेपर अध्ययनसे ऊबे हुए उस समागत ब्राह्मणने उनसे कहा—'धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले देव ! मेरे जीवनका जो समय शेष रह गया है, उसमें मैं यहीं रहूँगा' ॥ ११-१२ ॥

यम उवाच

नाहं कालस्य विहितं प्राप्नोमीह कथंचन ।
यो हि धर्मं चरति वै तं तु जानामि केवलम् ॥ १३ ॥

यमराजने कहा—ब्रह्मन् ! मैं कालके विधानको किसी तरह नहीं जानता । जगत्‌में जो पुरुष धर्माचरण करता है, केवल उसीको मैं जानता हूँ ॥ १३ ॥

गच्छ विप्र त्वमद्यैव आलयं स्वं महाद्युते ।
ब्रूहि सर्वं यथा स्वैरं करवाणि किमच्युत ॥ १४ ॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महातेजस्वी ब्राह्मण ! तुम अभी अपने घरको चले जाओ और अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ बताओ । मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ ? ॥

ब्राह्मण उवाच

यत् तत्र कृत्वा सुमहत् पुण्यं स्यात् तद् ब्रवीहि मे ।
सर्वस्य हि प्रमाणं त्वं त्रैलोक्यस्यापि सत्तम ॥ १५ ॥

ब्राह्मणने कहा—साधुशिरोमणे ! संसारमें जो कर्म करनेसे महान् पुण्य होता हो, वह मुझे बताइये; क्योंकि समस्त त्रिलोकीके लिये धर्मके विषयमें आप ही प्रमाण हैं ॥

यम उवाच

शृणु तत्त्वेन विप्रर्षे प्रदानविधिमुत्तमम् ।
तिलाः परमकं दानं पुण्यं चैवेह शाश्वतम् ॥ १६ ॥

यमने कहा—ब्रह्मर्षे ! तुम यथार्थरूपसे दानकी उत्तम विधि सुनो । तिलका दान सब दानोंमें उत्तम है । वह यहाँ अक्षय पुण्यजनक माना गया है ॥ १६ ॥

तिलाश्च सम्प्रदातव्या यथाशक्ति द्विजर्षभ ।
नित्यदानात् सर्वकामांस्तिला निर्वर्तयन्त्युत ॥ १७ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! अपनी शक्तिके अनुसार तिलोंका दान अवश्य करना चाहिये । नित्यदान करनेसे तिल दाताकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण कर देते हैं ॥ १७ ॥

तिलाञ्श्राद्धे प्रशंसन्ति दानमेतद्ध्यनुत्तमम्।
तान् प्रयच्छस्व विप्रेभ्यो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

श्राद्धमें विद्वान् पुरुष तिलोंकी प्रशंसा करते हैं। यह तिलदान सबसे उत्तम दान है। अतः तुम शास्त्रीय विधिके अनुसार ब्राह्मणोंको तिलदान देते रहो ॥ १८ ॥

वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु तिलान् दद्याद् द्विजातिषु।
तिला भक्षयितव्याश्च सदा त्वालम्भनं च तैः ॥ १९ ॥

वैशाखकी पूर्णिमाको ब्राह्मणोंके लिये तिलदान दे, तिल खाये और सदा तिलोंका ही उबटन लगाये ॥ १९ ॥

कार्यं सततमिच्छद्भिः श्रेयः सर्वात्मना गृहे।
तथाऽऽपः सर्वदा देयाः पेयाश्चैव न संशयः ॥ २० ॥

जो सदा कल्याणकी इच्छा रखते हैं, उन्हें सब प्रकारसे अपने घरमें तिलोंका दान और उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार सर्वदा जलका दान और पान करना चाहिये—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

पुष्करिण्यस्तडागानि कूपांश्चैवात्र खानयेत्।
एतत् सुदुर्लभतरमिहलोके द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्यको यहाँ पोखरी, तालाब और कुएँ खुदवाने चाहिये। यह इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ—पुण्य कार्य है ॥ २१ ॥

आपो नित्यं प्रदेयास्ते पुण्यं ह्येतदनुत्तमम्।
प्रपाश्च कार्या दानार्थं नित्यं ते द्विजसत्तम।
भुक्तेऽप्यन्नं प्रदेयं तु पानीयं वै विशेषतः ॥ २२ ॥

विप्रवर ! तुम्हें प्रतिदिन जलका दान करना चाहिये। जल देनेके लिये प्याऊ लगाने चाहिये। यह सर्वोत्तम पुण्य कार्य है। (भूखेको अन्न देना तो आवश्यक है ही,) जो भोजन कर चुका हो, उसे भी अन्न देना चाहिये। विशेषतः जलका दान तो सभीके लिये आवश्यक है ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्ते स तदा तेन यमदूतेन वै गृहान्।
नीतश्च कारयामास सर्वं तद् यमशासनम् ॥ २३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यमराजके ऐसा कहनेपर उस समय ब्राह्मण जानेको उद्यत हुआ। यमदूतने उसे उसके घर पहुँचा दिया और उसने यमराजकी आज्ञाके अनुसार वह सब पुण्य-कार्य किया और कराया ॥ २३ ॥

नीत्वा तं यमदूतोऽपि गृहीत्वा शर्मिणं तदा।
ययौ स धर्मराजाय न्यवेदयत चापि तम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् यमदूत शर्मीको पकड़कर वहाँ ले गया और धर्मराजको इसकी सूचना दी ॥ २४ ॥

तं धर्मराजो धर्मज्ञं पूजयित्वा प्रतापवान्।
कृत्वा च संविदं तेन विससर्ज यथागतम् ॥ २५ ॥

प्रतापी धर्मराजने उस धर्मज्ञ ब्राह्मणकी पूजा करके उससे बातचीत की और फिर वह जैसे आया था, उसी प्रकार उसे विदा कर दिया ॥ २५ ॥

तस्यापि च यमः सर्वमुपदेशं चकार ह।
प्रेत्यैत्य च ततः सर्वं चकारोक्तं यमेन तत् ॥ २६ ॥

उसके लिये भी यमराजने सारा उपदेश किया। परलोकमें जाकर जब वह लौटा, तब उसने भी यमराजके बताये अनुसार सब कार्य किया ॥ २६ ॥

तथा प्रशंसते दीपान् यमः पितृहितेप्सया।
तस्माद् दीपप्रदो नित्यं संतारयति वै पितॄन् ॥ २७ ॥

पितरोंके हितकी इच्छासे यमराज दीपदानकी प्रशंसा करते हैं; अतः प्रतिदिन दीपदान करनेवाला मनुष्य पितरोंका उद्धार कर देता है ॥ २७ ॥

दातव्याः सततं दीपास्तस्माद् भरतसत्तम।
देवतानां पितृणां च चक्षुष्यं चात्मनां विभो ॥ २८ ॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! देवता और पितरोंके उद्देश्यसे सदा दीपदान करते रहना चाहिये। प्रभो ! इससे अपने नेत्रोंका तेज बढ़ता है ॥ २८ ॥

रत्नदानं च सुमहत् पुण्यमुक्तं जनाधिप।
यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरम् ॥ २९ ॥

जनेश्वर ! रत्नदानका भी बहुत बड़ा पुण्य बताया गया है। जो ब्राह्मण दानमें मिले हुए रत्नको बेचकर उसके द्वारा यज्ञ करता है, उसके लिये वह प्रतिग्रह भयदायक नहीं होता ॥

यद् वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै।
उभयोः स्यात् तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च ॥ ३० ॥

जो ब्राह्मण किसी दातासे रत्नोंका दान लेकर स्वयं भी उसे ब्राह्मणोंको बाँट देता है तो उस दानके देने और लेनेवाले दोनोंको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

यो ददाति स्थितः स्थित्यां तादृशाय प्रतिग्रहम्।
उभयोरक्षयं धर्मं तं मनुः प्राह धर्मवित् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष स्वयं धर्ममर्यादामें स्थित होकर अपने ही समान स्थितिवाले ब्राह्मणको दानमें मिली हुई वस्तुका दान करता है, उन दोनोंको अक्षय धर्मकी प्राप्ति होती है। यह धर्मज्ञ मनुका वचन है ॥ ३१ ॥

वाससां सम्प्रदानेन स्वदारनिरतो नरः।
सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखता हुआ वस्त्र दान करता है, वह सुन्दर वस्त्र और मनोहर वेषभूषासे सम्पन्न होता है—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ ३२ ॥

गावः सुवर्णं च तथा तिलाश्चैवानुवर्णिताः।

बहुशः पुरुषव्याघ्र वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ ३३ ॥

पुरुषसिंह ! मैंने गौ, सुवर्ण और तिलके दानका माहात्म्य अनेकों बार वेद-शास्त्रके प्रमाण दिखाकर वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च ।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते ॥ ३४ ॥

कुरुनन्दन ! मनुष्य विवाह करे और पुत्र उत्पन्न करे। पुत्रका लाभ सब लाभोंसे बढ़कर है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि यमब्राह्मणसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें यम और ब्राह्मणका संवाद-विषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

गोदानकी महिमा तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षासे पुण्यकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव कुरुश्रेष्ठ दानानां विधिमुत्तमम् ।
कथयस्व महाप्राज्ञ भूमिदानं विशेषतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! आप दानकी उत्तम विधिका फिरसे वर्णन कीजिये । विशेषतः भूमिदानका महत्त्व बताइये ॥ १ ॥

पृथिवीं क्षत्रियो दद्याद् ब्राह्मणायेष्टिकर्मिणे ।
विधिवत् प्रतिगृह्णीयान्न त्वन्यो दातुमर्हति ॥ २ ॥

केवल क्षत्रिय राजा ही यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणको पृथ्वीका दान कर सकता है और उसीसे ब्राह्मण विधिपूर्वक भूमिका प्रतिग्रह ले सकता है । दूसरा कोई यह दान नहीं कर सकता ॥

सर्ववर्णैस्तु यच्छक्यं प्रदातुं फलकाङ्क्षिभिः ।
वेदे वा यत् समाख्यातं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

दानके फलकी इच्छा रखनेवाले सभी वर्णोंके लोग जो दान कर सकें अथवा वेदमें जिस दानका वर्णन हो, उसकी मेरे समक्ष व्याख्या कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

तुल्यनामानि देयानि त्रीणि तुल्यफलानि च ।
सर्वकामफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! गाय, भूमि और सरस्वती—ये तीनों समान नामवाली हैं—इन तीनों वस्तुओंका दान करना चाहिये । इन तीनोंके दानका फल भी समान ही है । ये तीनों वस्तुएँ मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाली हैं ॥ ४ ॥

यो ब्रूयाच्चापि शिष्याय धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम् ।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां तुल्यं स फलमश्नुते ॥ ५ ॥

जो ब्राह्मण अपने शिष्यको धर्मानुकूल ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) का उपदेश करता है, वह भूमिदान और गोदानके समान फलका भागी होता है ॥ ५ ॥

तथैव गाः प्रशंसन्ति न तु देयं ततः परम् ।
संनिकृष्टफलास्ता हि लघ्वर्थाश्च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

इसी प्रकार गोदानकी भी प्रशंसा की गयी है । उससे बढ़कर कोई दान नहीं है । युधिष्ठिर ! गोदानका फल निकट भविष्यमें मिलता है तथा वे गौएँ शीघ्र अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करती हैं ॥

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ॥ ७ ॥

गौएँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता कहलाती हैं । वे सबको सुख देनेवाली हैं । जो अपने अभ्युदयकी इच्छा रखता हो, उसे गौओंको सदा दाहिने करके चलना चाहिये ॥ ७ ॥

संताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत् ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात् पूज्याः सदैव हि ॥ ८ ॥

गौओंको लात न मारे । उनके बीचसे होकर न निकले। वे मङ्गलकी आधारभूत देवियाँ हैं, अतः उनकी सदा ही पूजा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

प्रचोदनं देवकृतं गवां कर्मसु वर्तताम् ।
पूर्वमेवाक्षरं चान्यदभिधेयं ततः परम् ॥ ९ ॥

देवताओंने भी यज्ञके लिये भूमि जोतते समय बैलोंको डंडे आदिसे हाँका था । अतः पहले यज्ञके लिये ही बैलोंको जोतना या हाँकना श्रेयस्कर माना गया है । उससे भिन्न कर्मके लिये बैलोंको जोतना या डंडे आदिसे हाँकना निन्दनीय है ॥ ९ ॥

प्रचारे वा निवाते वा बुधो नोद्वेजयेत गाः ।
तृषिता ह्यभिवीक्षन्त्यो नरं हन्युः सबान्धवम् ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि जब गौएँ स्वच्छन्दतापूर्वक विचर रही हों अथवा किसी उपद्रवशून्य स्थानमें बैठी हों तो उन्हें उद्वेगमें न डाले । जब गौएँ प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने स्वामीकी ओर देखती हैं (और वह उन्हें पानी नहीं पिलाता है), तब वे रोषपूर्ण दृष्टिसे बन्धु-बान्धवोंसहित उसका नाश कर देती हैं ॥ १० ॥

पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च ।
पूयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः ॥ ११ ॥

जिनके गोबरसे लीपनेपर देवताओंके मन्दिर और पितरोंके श्राद्धस्थान पवित्र होते हैं, उनसे बढ़कर पावन और क्या हो सकता है ?॥ ११ ॥

घासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं तु यः।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत् सार्वकामिकम् ॥ १२ ॥

जो एक वर्षतक प्रतिदिन स्वयं भोजनके पहले दूसरेकी गायको एक मुट्ठी घास खिलाता है, उसका वह व्रत समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

स हि पुत्रान् यशोऽर्थं च श्रियं चाप्यधिगच्छति।
नाशयत्यशुभं चैव दुःस्वप्नं चाप्यपोहति ॥ १३ ॥

वह अपने लिये पुत्र, यश, धन और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अशुभ कर्म और दुःस्वप्नका नाश कर देता है।१३।

युधिष्ठिर उवाच

देयाः किंलक्षणा गावः काश्चापि परिवर्जयेत्।
कीदृशाय प्रदातव्या न देयाः कीदृशाय च ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किन लक्षणोंवाली गौओंका दान करना चाहिये और किनका दान नहीं करना चाहिये ? कैसे ब्राह्मणको गाय देनी चाहिये और कैसे ब्राह्मणको नहीं देनी चाहिये ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यवादी तथा देवयज्ञ और श्राद्धकर्म न करनेवाले ब्राह्मणको किसी तरह गौ नहीं देनी चाहिये ॥ १५ ॥

भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥

जिसके बहुत-से पुत्र हों, जो श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) और अग्निहोत्री ब्राह्मण हो और गौके लिये याचना कर रहा हो, ऐसे पुरुषको दस गौओंका दान करनेवाला दाता उत्तम लोकोंको पाता है ॥ १६ ॥

यश्चैव धर्मं कुरुते तस्य धर्मफलं च यत्।
सर्वस्यैवांशभाग् दाता तन्निमित्तं प्रवृत्तयः ॥ १७ ॥

जो गोदान ग्रहण करके धर्माचरण करता है, उसके धर्मका जो कुछ भी फल होता है, उस सम्पूर्ण धर्मके एक अंशका भागी दाता भी होता है, क्योंकि उसीके लिये उसकी गोदानमें प्रवृत्ति हुई थी ॥ १७ ॥

यश्चैवमुत्पादयते यश्चैनं त्रायते भयात्।
यश्चास्य कुरुते वृत्तिं सर्वे ते पितरस्त्रयः ॥ १८ ॥

जो जन्म देता है, जो भयसे बचाता है तथा जो जीविका देता है—ये तीनों ही पिताके तुल्य हैं ॥ १८ ॥

कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद् यशः।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥ १९ ॥

गुरुजनोंकी सेवा सारे पापोंका नाश कर देती है। अभिमान महान् यशको नष्ट कर देता है। तीन पुत्र पुत्रहीनताके दोषका निवारण कर देते हैं और दूध देनेवाली दस गौएँ हों तो ये जीविकाके अभावको दूर कर देती हैं।१९।

वेदान्तनिष्ठस्य बहुश्रुतस्य
प्रज्ञानतृप्तस्य जितेन्द्रियस्य।
शिष्टस्य दान्तस्य यतस्य चैव
भूतेषु नित्यं प्रियवादिनश्च ॥ २० ॥
यः क्षुद्भयाद् वै न विकर्म कुर्या-
न्मृदुश्च शान्तो ह्यतिथिप्रियश्च।
वृत्तिं द्विजायातिसृजेत तस्मै
यस्तुल्यशीलश्च सपुत्रदारः ॥ २१ ॥

जो वेदान्तनिष्ठ, बहुज्ञ, ज्ञानानन्दसे तृप्त, जितेन्द्रिय, शिष्ट, मनको वशमें रखनेवाला, यत्नशील, समस्त प्राणियोंके प्रति सदा प्रिय वचन बोलनेवाला, भूखके भयसे भी अनुचित कर्म न करनेवाला, मृदुल, शान्त, अतिथिप्रेमी, सबपर समान भाव रखनेवाला और स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बसे युक्त हो, उस ब्राह्मणकी जीविकाका अवश्य प्रबन्ध करना चाहिये॥२०-२१॥

शुभे पात्रे ये गुणा गोप्रदाने
तावान् दोषो ब्राह्मणस्वापहारे।
सर्वावस्थं ब्राह्मणस्वापहारो
दाराश्चैषां दूरतो वर्जनीयाः ॥ २२ ॥

शुभ पात्रको गोदान करनेसे जो लाभ होते हैं, उसका धन ले लेनेपर उतना ही पाप लगता है; अतः किसी भी अवस्थामें ब्राह्मणोंके धनका अपहरण न करे तथा उनकी स्त्रियोंका संसर्ग दूरसे ही त्याग दे ॥ २२ ॥

(विप्रदारे परहृते विप्रस्वनिचये तथा।
परित्रायन्ति शक्तास्तु नमस्तेभ्यो मृतास्तु वा ॥
न पालयन्ति चेत् तस्य हन्ता वैवस्वतो यमः।
दण्डयन् भर्त्सयन् नित्यं निरयेभ्यो न मुञ्चति॥
तथा गवां परित्राणे पीडने च शुभाशुभम्।
विप्रगोषु विशेषेण रक्षितेषु हतेषु वा ॥)

जहाँ ब्राह्मणोंकी स्त्रियों अथवा उनके धनका अपहरण होता हो, वहाँ शक्ति रहते हुए जो उन सबकी रक्षा करते हैं, उन्हें नमस्कार है। जो उनकी रक्षा नहीं करते हैं, वे मुर्दोंके समान हैं। सूर्यपुत्र यमराज ऐसे लोगोंका वध कर डालते हैं, प्रतिदिन उन्हें यातना देते और डाँटते-फटकारते

राजा नृगका गिरगिटकी योनिसे उद्धार

हैं और नरकसे उन्हें कभी छुटकारा नहीं देते हैं। इसी प्रकार गौओंके संरक्षण और पीड़नसे भी शुभ और अशुभकी प्राप्ति होती है। विशेषतः ब्राह्मणों और गौओंके अपने द्वारा सुरक्षित होनेपर पुण्य और मारे जानेपर पाप होता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोदानमाहात्म्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानका माहात्म्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेसे होनेवाली हानिके विषयमें दृष्टान्तके रूपमें राजा नृगका उपाख्यान

भीष्म उवाच

अत्रैव कीर्त्यते सद्भिर्ब्राह्मणस्वाभिमर्शने ।
नृगेण सुमहत् कृच्छ्रं यदवाप्तं कुरूद्वह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ ! इस विषयमें श्रेष्ठ पुरुष वह प्रसङ्ग सुनाया करते हैं, जिसके अनुसार एक ब्राह्मणके धनको ले लेनेके कारण राजा नृगको महान् कष्ट उठाना पड़ा था ॥ १ ॥

निविशन्त्यां पुरा पार्थ द्वारवत्यामिति श्रुतिः ।
अदृश्यत महाकूपस्तृणवीरुत्समावृतः ॥ २ ॥

पार्थ ! हमारे सुननेमें आया है कि पूर्वकालमें जब द्वारकापुरी बस रही थी, उसी समय वहाँ घास और लताओंसे ढँका हुआ एक विशाल कूप दिखायी दिया ॥ २ ॥

प्रयत्नं तत्र कुर्वाणास्तस्मात् कूपाज्जलार्थिनः ।
श्रमेण महता युक्तास्तस्मिंस्तोये सुसंवृते ॥ ३ ॥
ददृशुस्ते महाकायं कृकलासमवस्थितम् ।

वहाँ रहनेवाले यदुवंशी बालक उस कुएँका जल पीनेकी इच्छासे बड़े परिश्रमके साथ उस घास-फूसको हटानेके लिये महान् यत्न करने लगे। इतनेहीमें उस कुएँके ढँके हुए जलमें स्थित हुए एक विशालकाय गिरगिटपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ ३½ ॥

तस्य चोद्धरणे यत्नमकुर्वंस्ते सहस्रशः ॥ ४ ॥
प्रग्रहैश्चर्मपट्टैश्च तं बद्ध्वा पर्वतोपमम् ।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं ततो जग्मुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥

फिर तो वे सहस्रों बालक उस गिरगिटको निकालनेका यत्न करने लगे। गिरगिटका शरीर एक पर्वतके समान था। बालकोंने उसे रस्सियों और चमड़ेकी पट्टियोंसे बाँधकर खींचनेके लिये बहुत जोर लगाया परंतु वह टस-से-मस न हुआ। जब बालक उसे निकालनेमें सफल न हो सके, तब भगवान् श्रीकृष्णके पास गये ॥ ४-५ ॥

खमावृत्योदपानस्य कृकलासः स्थितो महान् ।
तस्य नास्ति समुद्धर्तेत्येतत् कृष्णे न्यवेदयन् ॥ ६ ॥

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे निवेदन किया—'भगवन् ! एक बहुत बड़ा गिरगिट कुएँमें पड़ा है, जो उस कुएँके सारे आकाशको घेरकर बैठा है; पर उसे निकालनेवाला कोई नहीं है' ॥ ६ ॥

स वासुदेवेन समुद्धृतश्च
पृष्टश्च कार्यं निजगाद राजा ।
नृगस्तदाऽऽत्मानमथो न्यवेदयत्
पुरातनं यज्ञसहस्रयाजिनम् ॥ ७ ॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण उस कुएँके पास गये। उन्होंने उस गिरगिटको कुएँसे बाहर निकाला और अपने पावन हाथके स्पर्शसे राजा नृगका उद्धार कर दिया। इसके बाद उनसे परिचय पूछा। तब राजाने उन्हें अपना परिचय देते हुए कहा—'प्रभो ! पूर्वजन्ममें मैं राजा नृग था, जिसने एक सहस्र यज्ञोंका अनुष्ठान किया था' ॥ ७ ॥

तथा ब्रुवाणं तु तमाह माधवः
शुभं त्वया कर्म कृतं न पापकम् ।
कथं भवान् दुर्गतिमीदृशीं गतो
नरेन्द्र तद् ब्रूहि किमेतदीदृशम् ॥ ८ ॥

उनकी ऐसी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'राजन् ! आपने तो सदा पुण्यकर्म ही किया था, पापकर्म कभी नहीं किया, फिर आप ऐसी दुर्गतिमें कैसे पड़ गये ? बताइये, क्यों आपको यह ऐसा कष्ट प्राप्त हुआ ?' ॥ ८ ॥

शतं सहस्राणि गवां शतं पुनः
पुनः शतान्यष्टशतायुतानि ।
त्वया पुरा दत्तमितीह शुश्रुम
नृप द्विजेभ्यः क नु तद् गतं तव ॥ ९ ॥

'नरेश्वर ! हमने सुना है कि पूर्वकालमें आपने ब्राह्मणोंको पहले एक लाख गौएँ दान कीं। दूसरी बार सौ गौओंका दान किया। तीसरी बार पुनः सौ गौएँ दानमें दीं। फिर चौथी बार आपने गोदानका ऐसा सिलसिला चलाया कि लगातार अस्सी लाख गौओंका दान कर दिया। (इस प्रकार आपके द्वारा इक्यासी लाख दो सौ गौएँ दानमें दी गयीं।) आपके उन सब दानोंका पुण्यफल कहाँ चला गया ?' ॥ ९ ॥

नृगस्ततोऽब्रवीत् कृष्णं ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ।

प्रोषितस्य परिभ्रष्टा गौरेका मम गोधने ॥ १० ॥

तब राजा नृगने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो ! एक अग्निहोत्री ब्राह्मण परदेश चला गया था। उसके पास एक गाय थी, जो एक दिन अपने स्थानसे भागकर मेरी गौओंके झुंडमें आ मिली ॥ १० ॥

गवां सहस्रे संख्याता तदा सा पशुपैर्मम ।
सा ब्राह्मणाय मे दत्ता प्रेत्यार्थमभिकाङ्क्षता ॥ ११ ॥

'उस समय मेरे ग्वालोंने दानके लिये मँगायी गयी एक हजार गौओंमें उसकी भी गिनती करा दी और मैंने परलोकमें मनोवाञ्छित फलकी इच्छासे वह गौ भी एक ब्राह्मणको दे दी ॥

अपश्यत् परिमार्गंश्च तां गां परगृहे द्विजः ।
ममेयमिति चोवाच ब्राह्मणो यस्य साभवत् ॥ १२ ॥

'कुछ दिनों बाद जब वह ब्राह्मण परदेशसे लौटा, तब अपनी गाय ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब वह गाय उसे दूसरेके घर मिली, तब उस ब्राह्मणने, जिसकी वह गौ पहले थी, उस दूसरे ब्राह्मणसे कहा—''यह गाय तो मेरी है'' ॥१२॥

तावुभौ समनुप्राप्तौ विवदन्तौ भृशज्वरौ ।
भवान् दाता भवान् हर्तेत्यथ तौ मामवोचताम् ॥१३ ॥

'फिर तो वे दोनों आपसमें लड़ पड़े और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए मेरे पास आये। उनमेंसे एकने कहा—''महाराज !

यह गौ आपने मुझे दानमें दी है (और यह ब्राह्मण इसे अपनी बता रहा है।)'' दूसरेने कहा—''महाराज ! वास्तवमें यह मेरी गाय है। आपने उसे चुरा लिया है'' ॥ १३ ॥

शतेन शतसंख्येन गवां विनिमयेन वै ।
याचे प्रतिग्रहीतारं स तु मामब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥

देशकालोपसम्पन्ना दोग्ध्री शान्तातिवत्सला ।
स्वादुक्षीरप्रदा धन्या मम नित्यं निवेशने ॥ १५ ॥

'तब मैंने दान लेनेवाले ब्राह्मणसे प्रार्थनापूर्वक कहा—'मैं इस गायके बदले आपको दस हजार गौएँ देता हूँ (आप इन्हें इनकी गाय वापस दे दीजिये)। यह सुनकर वह यों बोला—'महाराज ! यह गौ देश-कालके अनुरूप, पूरा दूध देनेवाली, सीधी-सादी और अत्यन्त दयालुस्वभावकी है। यह बहुत मीठा दूध देनेवाली है। धन्य भाग्य जो यह मेरे घर आयी। यह सदा मेरे ही यहाँ रहे ॥ १४–१५ ॥

कृशं च भरते सा गौर्मम पुत्रमपस्तनम् ।
न सा शक्या मया दातुमित्युक्त्वा स जगाम ह ॥ १६ ॥

'अपने दूधसे यह गौ मेरे मातृहीन शिशुका प्रतिदिन पालन करती है; अतः मैं इसे कदापि नहीं दे सकता।' यह कहकर वह उस गायको लेकर चला गया ॥ १६ ॥

ततस्तमपरं विप्रं याचे विनिमयेन वै ।
गवां शतसहस्रं हि तत्कृते गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

'तब मैंने उन दूसरे ब्राह्मणसे याचना की—'भगवन् ! उसके बदलेमें आप मुझसे एक लाख गौएँ ले लीजिये'' ॥ १७ ॥

ब्राह्मण उवाच

न राज्ञां प्रतिगृह्णामि शक्तोऽहं स्वस्य मार्गणे ।
सैव गौर्दीयतां शीघ्रं ममेति मधुसूदन ॥ १८ ॥

'मधुसूदन ! तब उस ब्राह्मणने कहा—''मैं राजाओंका दान नहीं लेता। मैं अपने लिये धनका उपार्जन करनेमें समर्थ हूँ। मुझे तो शीघ्र मेरी वही गौ ला दीजिये'' ॥१८॥

रुक्ममश्वांश्च ददतो रजतस्यन्दनांस्तथा ।
न जग्राह ययौ चापि तदा स ब्राह्मणर्षभः ॥ १९ ॥

'मैंने उसे सोना, चाँदी, रथ और घोड़े–सब कुछ देना चाहा; परंतु वह उत्तम ब्राह्मण कुछ न लेकर तत्काल चुपचाप चला गया ॥ १९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चोदितः कालधर्मणा ।
पितृलोकमहं प्राप्य धर्मराजमुपागमम् ॥ २० ॥

'इसी बीचमें कालकी प्रेरणासे मैं मृत्युको प्राप्त हुआ और पितृलोकमें पहुँचकर धर्मराजसे मिला ॥ २० ॥

यमस्तु पूजयित्वा मां ततो वचनमब्रवीत् ।
नान्तः संख्यायते राजंस्तव पुण्यस्य कर्मणः ॥ २१ ॥
अस्ति चैव कृतं पापमज्ञानात् तदपि त्वया ।
चरस्व पापं पश्चाद् वा पूर्वं वा त्वं यथेच्छसि ॥ २२ ॥

'यमराजने मेरा आदर सत्कार करके मुझसे यह बात कही—''राजन् ! तुम्हारे पुण्यकर्मोंकी तो गिनती ही नहीं है। परंतु अनजानमें तुमसे एक पाप भी बन गया

है। उस पापको तुम पीछे भोगो या पहले ही भोग लो, जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करो ॥ २२ ॥

रक्षितास्मीति चोक्तं ते प्रतिज्ञा चानृता तव।
ब्राह्मणस्वस्य चादानं द्विविधस्ते व्यतिक्रमः ॥ २३ ॥

"आपने प्रजाके धन-जनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी; किंतु उस ब्राह्मणकी गाय खो जानेके कारण आपकी वह प्रतिज्ञा झूठी हो गयी। दूसरी बात यह है कि आपने ब्राह्मणके धनका भूलसे अपहरण कर लिया था। इस तरह आपके द्वारा दो तरहका अपराध हो गया है" ॥ २३ ॥

पूर्वं कृच्छ्रं चरिष्येऽहं पश्चाच्छुभमिति प्रभो।
धर्मराजं ब्रुवन्नेवं पतितोऽस्मि महीतले ॥ २४ ॥

'तब मैंने धर्मराजसे कहा—प्रभो! मैं पहले पाप ही भोग लूँगा। उसके बाद पुण्यका उपभोग करूँगा। इतना कहना था कि मैं पृथ्वीपर गिरा ॥ २४ ॥

अश्रौषं पतितश्चाहं यमस्योच्चैः प्रभाषतः।
वासुदेवः समुद्धर्ता भविता ते जनार्दनः ॥ २५ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रान्ते क्षीणे कर्मणि दुष्कृते।
प्राप्स्यसे शाश्वताँल्लोकाञ्जितान् स्वेनैव कर्मणा ॥ २६ ॥

'गिरते समय उच्चस्वरसे बोलते हुए यमराजकी यह बात मेरे कानोंमें पड़ी—'महाराज! एक हजार दिव्य वर्ष पूर्ण होनेपर तुम्हारे पापकर्मका भोग समाप्त होगा। उस समय जनार्दन भगवान् श्रीकृष्ण आकर तुम्हारा उद्धार करेंगे और तुम अपने पुण्यकर्मोंके प्रभावसे प्राप्त हुए सनातन लोकोंमें जाओगे' ॥ २५-२६ ॥

कूपेऽऽत्मानमधःशीर्षमपश्यं पतितश्च ह।
तिर्यग्योनिमनुप्राप्तं न च मामजहात् स्मृतिः ॥ २७ ॥

'कुएँमें गिरनेपर मैंने देखा, मुझे तिर्यग्योनि (गिरगिट-की देह) मिली है और मेरा सिर नीचेकी ओर है। इस योनिमें भी मेरी पूर्वजन्मोंकी स्मरणशक्तिने मेरा साथ नहीं छोड़ा है ॥ २७ ॥

त्वया तु तारितोऽस्म्यद्य किमन्यत्र तपोबलात्।
अनुजानीहि मां कृष्ण गच्छेयं दिवमद्य वै ॥ २८ ॥

'श्रीकृष्ण! आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इसमें आपके तपोबलके सिवा और क्या कारण हो सकता है। अब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं स्वर्गलोकको जाऊँगा' ॥

अनुज्ञातः स कृष्णेन नमस्कृत्य जनार्दनम्।
दिव्यमास्थाय पन्थानं ययौ दिवमरिंदमः ॥ २९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें आज्ञा दे दी और वे शत्रुदमन नरेश उन्हें प्रणाम करके दिव्य मार्गका आश्रय ले स्वर्गलोक-को चले गये ॥ २९ ॥

ततस्तस्मिन् दिवं याते नृगे भरतसत्तम।
वासुदेव इमं श्लोकं जगाद कुरुनन्दन ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ! कुरुनन्दन! राजा नृगके स्वर्गलोकको चले जानेपर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने इस श्लोकका गान किया—॥ ३० ॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं पुरुषेण विजानता।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ३१ ॥

'समझदार मनुष्यको ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये। चुराया हुआ ब्राह्मणका धन चोरका उसी प्रकार नाश कर देता है, जैसे ब्राह्मणकी गौने राजा नृगका सर्वनाश किया था' ॥ ३१ ॥

सतां समागमः सद्भिर्नाफलः पार्थ विद्यते।
विमुक्तं नरकात् पश्य नृगं साधुसमागमात् ॥ ३२ ॥

कुन्तीनन्दन! यदि सज्जन पुरुष सत्पुरुषोंका सङ्ग करें तो उनका वह सङ्ग व्यर्थ नहीं जाता। देखो, श्रेष्ठ पुरुषके समागमके कारण राजा नृगका नरकसे उद्धार हो गया ॥ ३२ ॥

प्रदानफलवत् तत्र द्रोहस्तत्र तथाफलः।
अपचारं गवां तस्माद् वर्जयेत युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर! गौओंका दान करनेसे जैसा उत्तम फल मिलता है, वैसे ही गौओंसे द्रोह करनेपर बहुत बड़ा कुफल भोगना पड़ता है; इसलिये गौओंको कभी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि नृगोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें नृगका उपाख्यानविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

पिताके शापसे नाचिकेतका यमराजके पास जाना और यमराजका नाचिकेतको गोदानकी महिमा बताना

युधिष्ठिर उवाच

दत्तानां फलसम्प्राप्तिं गवां प्रब्रूहि मेऽनघ।
विस्तरेण महाबाहो न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप महाबाहो! गौओंके दानसे

जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह मुझे विस्तारके साथ बताइये। मुझे आपके वचनामृतोंको सुनते-सुनते तृप्ति नहीं होती है, इसलिये अभी और कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऋषेरुद्दालकेर्वाक्यं नाचिकेतस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें विज्ञ पुरुष उद्दालक ऋषि और नाचिकेत दोनोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऋषिरुद्दालकिर्दीक्षामुपगम्य ततः सुतम्।
त्वं मामुपचरस्वेति नाचिकेतमभाषत ॥ ३ ॥

एक समय उद्दालक ऋषिने यज्ञकी दीक्षा लेकर अपने पुत्र नाचिकेतसे कहा—'तुम मेरी सेवामें रहो' ॥ ३ ॥

समाप्ते नियमे तस्मिन् महर्षिः पुत्रमब्रवीत्।
उपस्पर्शनसक्तस्य स्वाध्यायाभिरतस्य च ॥ ४ ॥
इध्मा दर्भाः सुमनसः कलशश्चातिभोजनम्।
विस्मृतं मे तदादाय नदीतीरादिहाव्रज ॥ ५ ॥

उस यज्ञका नियम पूरा हो जानेपर महर्षिने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! मैंने समिधा, कुशा, फूल, जलका घड़ा और प्रचुर भोजन-सामग्री (फल-मूल आदि)—इन सबका संग्रह करके नदीके किनारे रख दिया और स्नान तथा वेदपाठ करने लगा। फिर उन सब वस्तुओंको भूलकर मैं यहाँ चला आया। अब तुम जाकर नदीतटसे वह सब सामान यहाँ ले आओ' ॥ ४-५ ॥

गत्वानवाप्य तत् सर्वं नदीवेगसमाप्लुतम्।
न पश्यामि तदित्येवं पितरं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ६ ॥

नाचिकेत जब वहाँ गया, तब उसे कुछ न मिला। सारा सामान नदीके वेगमें बह गया था। नाचिकेत मुनि लौट आया और पितासे बोला—'मुझे तो वहाँ वह सब सामान नहीं दिखायी दिया' ॥ ६ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमाविष्टो मुनिरुद्दालकिस्तदा।
यमं पश्येति तं पुत्रमशपत् स महातपाः ॥ ७ ॥

महातपस्वी उद्दालक मुनि उस समय भूख-प्याससे कष्ट पा रहे थे, अतः रुष्ट होकर बोले—'अरे! वह सब तुम्हें क्यों दिखायी देगा? जाओ यमराजको देखो।' इस प्रकार उन्होंने उसे शाप दे दिया ॥ ७ ॥

तथा स पित्राभिहतो वाग्वज्रेण कृताञ्जलिः।
प्रसीदेति ब्रुवन्नेव गतसत्त्वोऽपतद् भुवि ॥ ८ ॥

पिताके वाग्वज्रसे पीड़ित हुआ नाचिकेत हाथ जोड़कर बोला—'प्रभो! प्रसन्न होइये।' इतना ही कहते-कहते वह निष्प्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

नाचिकेतं पिता दृष्ट्वा पतितं दुःखमूर्च्छितः।
किं मया कृतमित्युक्त्वा निपपात महीतले ॥ ९ ॥

नाचिकेतको गिरा देख उसके पिता भी दुःखसे मूर्च्छित हो गये और 'अरे, यह मैंने क्या कर डाला!' ऐसा कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९ ॥

तस्य दुःखपरीतस्य स्वं पुत्रमनुशोचतः।
व्यतीतं तदहःशेषं सा चोग्रा तत्र शर्वरी ॥ १० ॥

दुःखमें डूबे और बारंबार अपने पुत्रके लिये शोक करते हुए ही महर्षिका वह शेष दिन व्यतीत हो गया और भयानक रात्रि भी आकर समाप्त हो गयी ॥ १० ॥

पित्र्येणाश्रुप्रपातेन नाचिकेतः कुरूद्वह।
प्रास्पन्दच्छयने कौश्ये वृष्ट्या सस्यमिवाप्लुतम् ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कुशकी चटाईपर पड़ा हुआ नाचिकेत पिताके आँसुओंकी धारासे भीगकर कुछ हिलने-डुलने लगा, मानो वर्षासे सिंचकर अनाजकी सूखी खेती हरी हो गयी हो ॥ ११ ॥

स पर्यपृच्छत् तं पुत्रं क्षीणं पर्यागतं पुनः।
दिव्यैर्गन्धैः समादिग्धं क्षीणस्वप्नमिवोत्थितम् ॥ १२ ॥

महर्षिका वह पुत्र मरकर पुनः लौट आया, मानो नींद टूट जानेसे जाग उठा हो। उसका शरीर दिव्य सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था। उस समय उद्दालकने उससे पूछा— ॥ १२ ॥

अपि पुत्र जिता लोकाः शुभास्ते स्वेन कर्मणा।
दिष्ट्या चासि पुनः प्राप्तो न हि ते मानुषं वपुः ॥ १३ ॥

'बेटा! क्या तुमने अपने कर्मसे शुभ लोकोंपर विजय पायी है? मेरे सौभाग्यसे ही तुम पुनः यहाँ चले आये हो। तुम्हारा यह शरीर मनुष्योंका-सा नहीं है—दिव्य भावको प्राप्त हो गया है' ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पित्रा पृष्टो महात्मना।
स तां वार्तां पितुर्मध्ये महर्षीणां न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

अपने महात्मा पिताके इस प्रकार पूछनेपर परलोककी सब बातोंको प्रत्यक्ष देखनेवाला नाचिकेत महर्षियोंके बीचमें पितासे वहाँका सब वृत्तान्त निवेदन करने लगा— ॥ १४ ॥

कुर्वन् भवच्छासनमाशु यातो
ह्यहं विशालां रुचिरप्रभावाम्।
वैवस्वतीं प्राप्य सभामपश्यं
सहस्रशो योजनहेमभासम् ॥ १५ ॥

'पिताजी! मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये यहाँसे तुरंत प्रस्थित हुआ और मनोहर कान्ति एवं प्रभावसे युक्त विशाल यमपुरीमें पहुँचकर मैंने वहाँकी सभा देखी, जो सुवर्णके समान सुन्दर प्रभासे प्रकाशित हो रही थी। उसका तेज सहस्रों योजन दूरतक फैला हुआ था ॥ १५ ॥

दृष्ट्वैव मामभिमुखमापतन्तं
देहीति स ह्यासनमादिदेश।

वैवस्वतोऽर्घ्यादिभिरर्हणैश्च
भवत्कृते पूजयामास मां सः ॥ १६ ॥

'मुझे सामनेसे आते देख विवस्वान्के पुत्र यमने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि 'इनके लिये आसन दो।' उन्होंने आपके नाते अर्घ्य आदि पूजनसम्बन्धी उपचारोंसे स्वयं ही मेरा पूजन किया ॥ १६ ॥

ततस्त्वहं तं शनकैरवोचं
वृतः सदस्यैरभिपूज्यमानः।
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं धर्मराज
लोकानर्हो यानहं तान् विधत्स्व॥ १७ ॥

'तब सब सदस्योंसे घिरकर उनके द्वारा पूजित होते हुए मैंने वैवस्वत यमसे धीरेसे कहा—'धर्मराज! मैं आपके राज्यमें आया हूँ; मैं जिन लोकोंमें जानेके योग्य होऊँ, उनमें जानेके लिये मुझे आज्ञा दीजिये' ॥ १७ ॥

यमोऽब्रवीन्मां न मृतोऽसि सौम्य
यमं पश्येत्याह स त्वां तपस्वी।
पिता प्रदीप्ताग्निसमानतेजा
न तच्छक्यमनृतं विप्र कर्तुम् ॥ १८ ॥

'तब यमराजने मुझसे कहा—''सौम्य! तुम मरे नहीं हो। तुम्हारे तपस्वी पिताने इतना ही कहा था कि तुम यमराजको देखो। विप्रवर! वे तुम्हारे पिता प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हैं। उनकी बात झूठी नहीं की जा सकती ॥ १८ ॥

दृष्टस्तेऽहं प्रतिगच्छस्व तात
शोचत्यसौ तव देहस्य कर्ता।
ददानि किं चापि मनःप्रणीतं
प्रियातिथेस्तव कामान् वृणीष्व॥ १९ ॥

''तात! तुमने मुझे देख लिया। अब तुम लौट जाओ। तुम्हारे शरीरका निर्माण करनेवाले वे तुम्हारे पिताजी शोक-मग्न हो रहे हैं। वत्स! तुम मेरे प्रिय अतिथि हो। तुम्हारा कौन-सा मनोरथ मैं पूर्ण करूँ। तुम्हारी जिस-जिस वस्तुके लिये इच्छा हो, उसे माँग लो'' ॥ १९ ॥

तेनैवमुक्तस्तमहं प्रत्यवोचं
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं दुर्निवर्त्यम्।
इच्छाम्यहं पुण्यकृतां समृद्धान्
लोकान् द्रष्टुं यदि तेऽहं वरार्हः॥२०॥

'उनके ऐसा कहनेपर मैंने इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! मैं आपके उस राज्यमें आ गया हूँ, जहाँसे लौट-कर जाना अत्यन्त कठिन है। यदि मैं आपकी दृष्टिमें वर पानेके योग्य होऊँ तो पुण्यात्मा पुरुषोंको मिलनेवाले समृद्धि-शाली लोकोंका मैं दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ २० ॥

यानं समारोप्य तु मां स देवो
वाहैर्युक्तं सुप्रभं भानुमत् तत्।
संदर्शयामास तदात्मलोकान्
सर्वांस्तथा पुण्यकृतां द्विजेन्द्र ॥ २१ ॥

'द्विजेन्द्र! तब यम देवताने वाहनोंसे जुते हुए उत्तम प्रकाशसे युक्त तेजस्वी रथपर मुझे बिठाकर पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले अपने यहाँके सभी लोकोंका मुझे दर्शन कराया॥

अपश्यं तत्र वेश्मानि तैजसानि महात्मनाम्।
नानासंस्थानरूपाणि सर्वरत्नमयानि च ॥ २२ ॥

'तब मैंने महामनस्वी पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले वहाँके तेजोमय भवनोंका दर्शन किया। उनके रूप-रंग और आकार-प्रकार अनेक तरहके थे। उन भवनोंका सब प्रकारके रत्नों-द्वारा निर्माण किया गया था ॥ २२ ॥

चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ॥ २३ ॥
वैदूर्यार्कप्रकाशानि रूप्यरुक्ममयानि च।
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥ २४ ॥

'कोई चन्द्रमण्डलके समान उज्ज्वल थे। किन्हींपर क्षुद्रघंटियोंसे युक्त झालरें लगी थीं। उनमें सैकड़ों कक्षाएँ और मंजिलें थीं। उनके भीतर जलाशय और वन-उपवन सुशोभित थे। कितनोंका प्रकाश नीलमणिमय सूर्यके समान था। कितने ही चाँदी और सोनेके बने हुए थे। किन्हीं-किन्हीं भवनोंके रंग प्रातःकालीन सूर्यके समान लाल थे। उनमेंसे कुछ विमान या भवन तो स्थावर थे और कुछ इच्छानुसार विचरनेवाले थे ॥ २३-२४ ॥

भक्ष्यभोज्यमयाञ्शैलान् वासांसि शयनानि च।
सर्वकामफलांश्चैव वृक्षान् भवनसंस्थितान् ॥ २५ ॥

'उन भवनोंमें भक्ष्य और भोज्य पदार्थोंके पर्वत खड़े थे। वस्त्रों और शय्याओंके ढेर लगे थे तथा सम्पूर्ण मनो-वाञ्छित फलोंको देनेवाले बहुत-से वृक्ष उन गृहोंकी सीमाके भीतर लहलहा रहे थे ॥ २५ ॥

नद्यो वीथ्यः सभा वाप्यो दीर्घिकाश्चैव सर्वशः।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ २६ ॥

'उन दिव्य लोकोंमें बहुत-सी नदियाँ, गलियाँ, सभा-भवन, बावड़ियाँ, तालाब और जोतकर तैयार खड़े हुए घोषयुक्त सहस्रों रथ मैंने सब ओर देखे थे ॥ २६ ॥

क्षीरस्रवा वै सरितो गिरींश्च
सर्पिस्तथा विमलं चापि तोयम्।
वैवस्वतस्यानुमतांश्च देशा-
नदृष्टपूर्वान् सुबहूनपश्यम् ॥ २७ ॥

'मैंने दूध बहानेवाली नदियाँ, पर्वत, घी और निर्मल जल भी देखे तथा यमराजकी अनुमतिसे और भी बहुत-से पहलेके न देखे हुए प्रदेशोंका दर्शन किया ॥ २७ ॥

सर्वान् दृष्ट्वा तदहं धर्मराज-
मवोचं वै प्रभविष्णुं पुराणम्।

क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः
शश्वत्स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः॥२८॥

'उन सबको देखकर मैंने प्रभावशाली पुरातन देवता धर्मराजसे कहा—'प्रभो! ये जो घी और दूधकी नदियाँ बहती रहती हैं, जिनका स्रोत कभी सूखता नहीं है, किनके उपभोगमें आती हैं—इन्हें किनका भोजन नियत किया गया है?' ॥ २८ ॥

यमोऽब्रवीद् विद्धि भोज्यास्त्वमेता
ये दातारः साधवो गोरसानाम्।
अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः
समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम् ॥ २९ ॥

'यमराजने कहा—''ब्रह्मन्! तुम इन नदियोंको उन श्रेष्ठ पुरुषोंका भोजन समझो, जो गोरस दान करनेवाले हैं। जो गोदानमें तत्पर हैं, उन पुण्यात्माओंके लिये दूसरे भी सनातन लोक विद्यमान हैं, जिनमें दुःख-शोकसे रहित पुण्यात्मा भरे पड़े हैं ॥ २९ ॥

न त्वेतासां दानमात्रं प्रशस्तं
पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च।
ज्ञात्वा देयं विप्र गवान्तरं हि
दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३० ॥

''विप्रवर! केवल इनका दानमात्र ही प्रशस्त नहीं है; सुपात्र ब्राह्मण, उत्तम समय, विशिष्ट गौ तथा दानकी सर्वोत्तम विधि—इन सब बातोंको जानकर ही गोदान करना चाहिये। गौओंका आपसमें जो तारतम्य है, उसे जानना बहुत कठिन काम है और अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी पात्रको पहचानना भी सरल नहीं है ॥ ३० ॥

स्वाध्यायवान् योऽतिमात्रं तपस्वी
वैतानस्थो ब्राह्मणः पात्रमासाम्।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च
द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ३१ ॥

''जो ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे सम्पन्न, अत्यन्त तपस्वी तथा यज्ञके अनुष्ठानमें लगा हुआ हो, वही इन गौओंके दानका सर्वोत्तम पात्र है। इसके सिवा जो ब्राह्मण कृच्छ्रव्रतसे मुक्त हुए हों और परिवारकी पुष्टिके लिये गोदानके प्रार्थी होकर आये हों, वे भी दानके उत्तम पात्र हैं। इन सुयोग्य पात्रोंको निमित्त बनाकर दानमें दी गयी श्रेष्ठ गौएँ उत्तम मानी गयी हैं ॥ ३१ ॥

तिस्रो रात्र्यस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ
तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः प्रीताः सुप्रजाः सोपचारा-
स्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ३२ ॥

''तीन राततक उपवासपूर्वक केवल जल पीकर धरतीपर शयन करे। तत्पश्चात् खिला-पिलाकर तृप्त की हुई गौओंका भोजन आदिसे संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंको दान करे। वे गौएँ बछड़ोंके साथ रहकर प्रसन्न हों, सुन्दर बच्चे देनेवाली हों तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त हों। ऐसी गौओंका दान करके तीन दिनोंतक केवल गोरसका आहार करके रहना चाहिये ॥ ३२ ॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ ३३ ॥

''उत्तम शील-स्वभाववाली, भले बछड़ेवाली और भागकर न जानेवाली दुधारू गायका कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करके उस गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता स्वर्गलोकका सुख भोगता है ॥ ३३ ॥

तथानड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय
दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम्।
कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं
भुङ्क्ते लोकान् सम्मितान् धेनुदस्य॥३४॥

''इसी प्रकार जो शिक्षा देकर काबूमें किये हुए, बोझ ढोनेमें समर्थ, बलवान्, जवान, कृषक-समुदायकी जीविका चलाने योग्य, पराक्रमी और विशाल डीलडौलवाले बैलका ब्राह्मणोंको दान देता है, वह दुधारू गायका दान करनेवालेके तुल्य ही उत्तम लोकोंका उपभोग करता है ॥ ३४ ॥

गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं
वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृद्धे ग्लाने सम्भ्रमे वा महार्थे
कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम् ॥ ३५ ॥
गुर्वर्थं वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां
गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः।
अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः
प्राणक्रीता निर्जिता यौतकाश्च ॥ ३६ ॥

''जो गौओंके प्रति क्षमाशील, उनकी रक्षा करनेमें समर्थ, कृतज्ञ और आजीविकासे रहित है, ऐसे ब्राह्मणको गोदानका उत्तम पात्र बताया गया है। जो बूढ़ा हो, रोगी होनेके कारण पथ्य-भोजन चाहता हो, दुर्भिक्ष आदिके कारण घबराया हो, किसी महान् यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला हो या जिसके लिये खेतीकी आवश्यकता आ पड़ी हो, होमके लिये हविष्य प्राप्त करनेकी इच्छा हो अथवा घरमें स्त्रीके बच्चा पैदा होनेवाला हो अथवा गुरुके लिये दक्षिणा देनी हो अथवा बालककी पुष्टिके लिये गोदुग्धकी आवश्यकता आ पड़ी हो, ऐसे व्यक्तियोंको ऐसे अवसरोंपर गोदानके लिये सामान्य

देश-काल माना गया है (ऐसे समयमें देश-कालका विचार नहीं करना चाहिये)। जिन गौओंका विशेष भेद जाना हुआ हो, जो खरीदकर लायी गयी हों अथवा ज्ञानके पुरस्काररूपसे प्राप्त हुई हों अथवा प्राणियोंके अदला-बदलीसे खरीदी गयी हों या जीतकर लायी गयी हों अथवा दहेजमें मिली हों, ऐसी गौएँ दानके लिये उत्तम मानी गयी हैं'' ॥

नाचिकेत उवाच

श्रुत्वा वैवस्वतवचस्तमहं पुनरब्रुवम्।
अभावे गोप्रदातॄणां कथं लोकान् हि गच्छति॥ ३७॥

नाचिकेत कहता है—वैवस्वत यमकी बात सुनकर मैंने पुनः उनसे पूछा—'भगवन्! यदि अभाववश गोदान न किया जा सके तो गोदान करनेवालोंको ही मिलनेवाले लोकों- मनुष्य कैसे जा सकता है?' ॥ ३७॥

ततोऽब्रवीद् यमो धीमान् गोप्रदानपरां गतिम्।
गोप्रदानानुकल्पं तु गामृते सन्ति गोप्रदाः॥ ३८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् यमराजने गोदानसम्बन्धी गति या गोदानके समान फल देनेवाले दानका वर्णन किया, जिसके अनुसार बिना गायके भी लोग गोदान करनेवाले हो सकते हैं ॥ ३८॥

अलाभे यो गवां दद्याद् घृतधेनुं यतव्रतः।
तस्यैता घृतवाहिन्यः क्षरन्ते वत्सला इव॥ ३९॥

'जो गौओंके अभावमें संयम-नियमसे युक्त हो घृतधेनुका दान करता है, उसके लिये ये घृतवाहिनी नदियाँ वत्सला गौओंकी भाँति घृत बहाती हैं ॥ ३९॥

घृतालाभे तु यो दद्यात् तिलधेनुं यतव्रतः।
स दुर्गात् तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते॥ ४०॥

'घीके अभावमें जो व्रत-नियमसे युक्त हो तिलमयी धेनुका दान करता है, वह उस धेनुके द्वारा संकटसे उद्धार पाकर दूधकी नदीमें आनन्दित होता है ॥ ४०॥

तिलालाभे तु यो दद्याज्जलधेनुं यतव्रतः।
स कामप्रवहां शीतां नदीमेतामुपाश्नुते॥ ४१॥

'तिलके अभावमें जो व्रतशील एवं नियमनिष्ठ होकर जलमयी धेनुका दान करता है, वह अभीष्ट वस्तुओंको बहानेवाली इस शीतल नदीके निकट रहकर सुख भोगता है' ॥४१॥

एवमेतानि मे तत्र धर्मराजो न्यदर्शयत्।
दृष्ट्वा च परमं हर्षमयापमहमच्युत॥ ४२॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले पूज्य पिताजी! इस प्रकार धर्मराजने मुझे वहाँ ये सब स्थान दिखाये। वह सब देखकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ४२॥

निवेदये चाहमिमं प्रियं ते
क्रतुर्महानल्पधनप्रचारः।
प्राप्तो मया तात स मत्प्रसूतः
प्रपत्स्यते वेदविधिप्रवृत्तः॥ ४३॥

तात! मैं आपके लिये यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करता हूँ कि मैंने वहाँ थोड़े-से ही धनसे सिद्ध होनेवाला यह गोदान-रूप महान् यज्ञ प्राप्त किया है। वह यहाँ वेदविधिके अनुसार मुझसे प्रकट होकर सर्वत्र प्रचलित होगा ॥ ४३॥

शापो ह्ययं भवतोऽनुग्रहाय
प्राप्तो मया यत्र दृष्टो यमो वै।
दानव्युष्टिं तत्र दृष्ट्वा महात्मन्
निःसंदिग्धान् दानधर्मांश्चरिष्ये॥ ४४॥

आपके द्वारा मुझे जो शाप मिला, वह वास्तवमें मुझपर अनुग्रहके लिये ही प्राप्त हुआ था, जिससे मैंने यमलोकमें जाकर वहाँ यमराजको देखा। महात्मन्! वहाँ दानके फलको प्रत्यक्ष देखकर मैं संदेहरहित दानधर्मोंका अनुष्ठान करूँगा ॥

इदं च मामब्रवीद् धर्मराजः
पुनः पुनः सम्प्रहृष्टो महर्षे।
दानेन यः प्रयतोऽभूत् सदैव
विशेषतो गोप्रदानं च कुर्यात्॥ ४५॥

महर्षे! धर्मराजने बारंबार प्रसन्न होकर मुझसे यह भी कहा था कि 'जो लोग दानसे सदा पवित्र होना चाहें, वे विशेषरूपसे गोदान करें ॥ ४५॥

शुद्धो ह्यर्थो नावमन्यस्व धर्मान्
पात्रे देयं देशकालोपपन्ने।
तस्माद् गावस्ते नित्यमेव प्रदेया
मा भूच्च ते संशयः कश्चिदत्र॥ ४६॥

'मुनिकुमार! धर्म निर्दोष विषय है। तुम धर्मकी अवहेलना न करना। उत्तम देश, काल प्राप्त होनेपर सुपात्रको दान देते रहना चाहिये। अतः तुम्हें सदा ही गोदान करना उचित है। इस विषयमें तुम्हारे भीतर कोई संदेह नहीं होना चाहिये॥

एताः पुरा ह्यददन्नित्यमेव
शान्तात्मानो दानपथे निविष्टाः।
तपांस्युग्राण्यप्रतिशङ्कमाना-
स्ते वै दानं प्रददुश्चैव शक्त्या॥ ४७॥

'पूर्वकालमें शान्तचित्तवाले पुरुषोंने दानके मार्गमें स्थित हो नित्य ही गौओंका दान किया था। वे अपनी उग्र तपस्याके विषयमें संदेह न रखते हुए भी यथाशक्ति दान देते ही रहते थे ॥ ४७॥

काले च शक्त्या मत्सरं वर्जयित्वा
शुद्धात्मानः श्रद्धिनः पुण्यशीलाः।

दत्त्वा गा वै लोकममुं प्रपन्ना
देदीप्यन्ते पुण्यशीलास्तु नाके ॥ ४८ ॥

'कितने ही शुद्धचित्त, श्रद्धालु एवं पुण्यात्मा पुरुष ईर्ष्याका त्याग करके समयपर यथाशक्ति गोदान करके परलोकमें पहुँचकर अपने पुण्यमय शील-स्वभावके कारण स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥ ४८ ॥

एतद् दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः
पात्रे दत्तं प्रापणीयं परीक्ष्य।
काम्याष्टम्यां वर्तितव्यं दशाहं
रसैर्गवां शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ ४९ ॥

'न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए इस गोधनका ब्राह्मणोंको दान करना चाहिये तथा पात्रकी परीक्षा करके सुपात्रको दी हुई गाय उसके घर पहुँचा देना चाहिये और किसी भी शुभ अष्टमीसे आरम्भ करके दस दिनोंतक मनुष्यको गोरस, गोबर अथवा गोमूत्रका आहार करके रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

देवव्रती स्याद् वृषभप्रदाने
वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने।
तीर्थावाप्तिर्गोप्रयुक्तप्रदाने
पापोत्सर्गः कपिलायाः प्रदाने ॥ ५० ॥

'एक बैलका दान करनेसे मनुष्य देवताओंका सेवक होता है। दो बैलोंका दान करनेपर उसे वेदविद्याकी प्राप्ति होती है। उन बैलोंसे जुते हुए छकड़ेका दान करनेसे तीर्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है और कपिला गायके दानसे समस्त पापोंका परित्याग हो जाता है ॥ ५० ॥

गामप्येकां कपिलां सम्प्रदाय
न्यायोपेतां कलुषाद् विप्रमुच्येत्।
गवां रसात् परमं नास्ति किंचिद्
गवां प्रदानं सुमहद् वदन्ति ॥ ५१ ॥

'मनुष्य न्यायतः प्राप्त हुई एक भी कपिला गायका दान करके सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। गोरससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; इसीलिये विद्वान् पुरुष गोदानको महादान बतलाते हैं ॥ ५१ ॥

गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो
गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके।
यस्तं जानन्न गवां हार्दमेति
स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥

गौएँ दूध देकर सम्पूर्ण लोकोंका भूखके कष्टसे उद्धार करती हैं। ये लोकमें सबके लिये अन्न पैदा करती हैं। इस बातको जानकर भी जो गौओंके प्रति सौहार्दका भाव नहीं रखता, वह पापात्मा मनुष्य नरकमें पड़ता है ॥ ५२ ॥

यैस्तद् दत्तं गोसहस्रं शतं वा
दशार्धं वा दश वा साधुवत्सम्।
अप्येका वै साधवे ब्राह्मणाय
सास्यामुष्मिन् पुण्यतीर्था नदी वै ॥ ५३ ॥

'जो मनुष्य किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको सहस्र, शत, दस अथवा पाँच गौओंका उनके अच्छे बछड़ोंसहित दान करता है अथवा एक ही गाय देता है, उसके लिये वह गौ परलोकमें पवित्र तीर्थोंवाली नदी बन जाती है ॥ ५३ ॥

प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन
गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम्।
शब्दश्चैकः संततिश्चोपभोगा-
स्तस्माद् गोदः सूर्य इवावभाति ॥ ५४ ॥

'प्राप्ति, पुष्टि तथा लोकरक्षा करनेके द्वारा गौएँ इस पृथ्वीपर सूर्यकी किरणोंके समान मानी गयी हैं। एक ही 'गो' शब्द धेनु और सूर्य-किरणोंका बोधक है। गौओंसे ही संतति और उपभोग प्राप्त होते हैं; अतः गोदान करनेवाला मनुष्य किरणोंका दान करनेवाले सूर्यके ही समान माना जाता है।

गुरुं शिष्यो वरयेद् गोप्रदाने
स वै गन्ता नियतं स्वर्गमेव।
विधिज्ञानां सुमहान् धर्म एष
विधिं ह्याद्यं विधयः संविशन्ति ॥ ५५ ॥

'शिष्य जब गोदान करने लगे, तब उसे ग्रहण करनेके लिये गुरुको चुने। यदि गुरुने वह गोदान स्वीकार कर लिया तो शिष्य निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है। विधिके जाननेवाले पुरुषोंके लिये यह गोदान महान् धर्म है। अन्य सब विधियाँ इस आदि विधिमें ही अन्तर्भूत हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

इदं दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः
पात्रे दत्त्वा प्रापयेथाः परीक्ष्य।
त्वय्याशंसन्त्यमरा मानवाश्च
वयं चापि प्रसृते पुण्यशीले ॥ ५६ ॥

'तुम न्यायके अनुसार गोधन प्राप्त करके पात्रकी परीक्षा करनेके पश्चात् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उनका दान कर देना और दी हुई वस्तुको ब्राह्मणके घर पहुँचा देना। तुम पुण्यात्मा और पुण्यकार्यमें प्रवृत्त रहनेवाले हो; अतः देवता, मनुष्य तथा हमलोग तुमसे धर्मकी ही आशा रखते हैं' ॥ ५६ ॥

इत्युक्तोऽहं धर्मराजं द्विजर्षे
धर्मात्मानं शिरसाभिप्रणम्य।
अनुज्ञातस्तेन वैवस्वतेन
प्रत्यागमं भगवत्पादमूलम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मर्षे! धर्मराजके ऐसा कहनेपर मैंने उन धर्मात्मा देवताको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और फिर उनकी आज्ञा लेकर मैं आपके चरणोंके समीप लौट आया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि यमवाक्यं नाम एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें यमराजका वाक्य नामक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

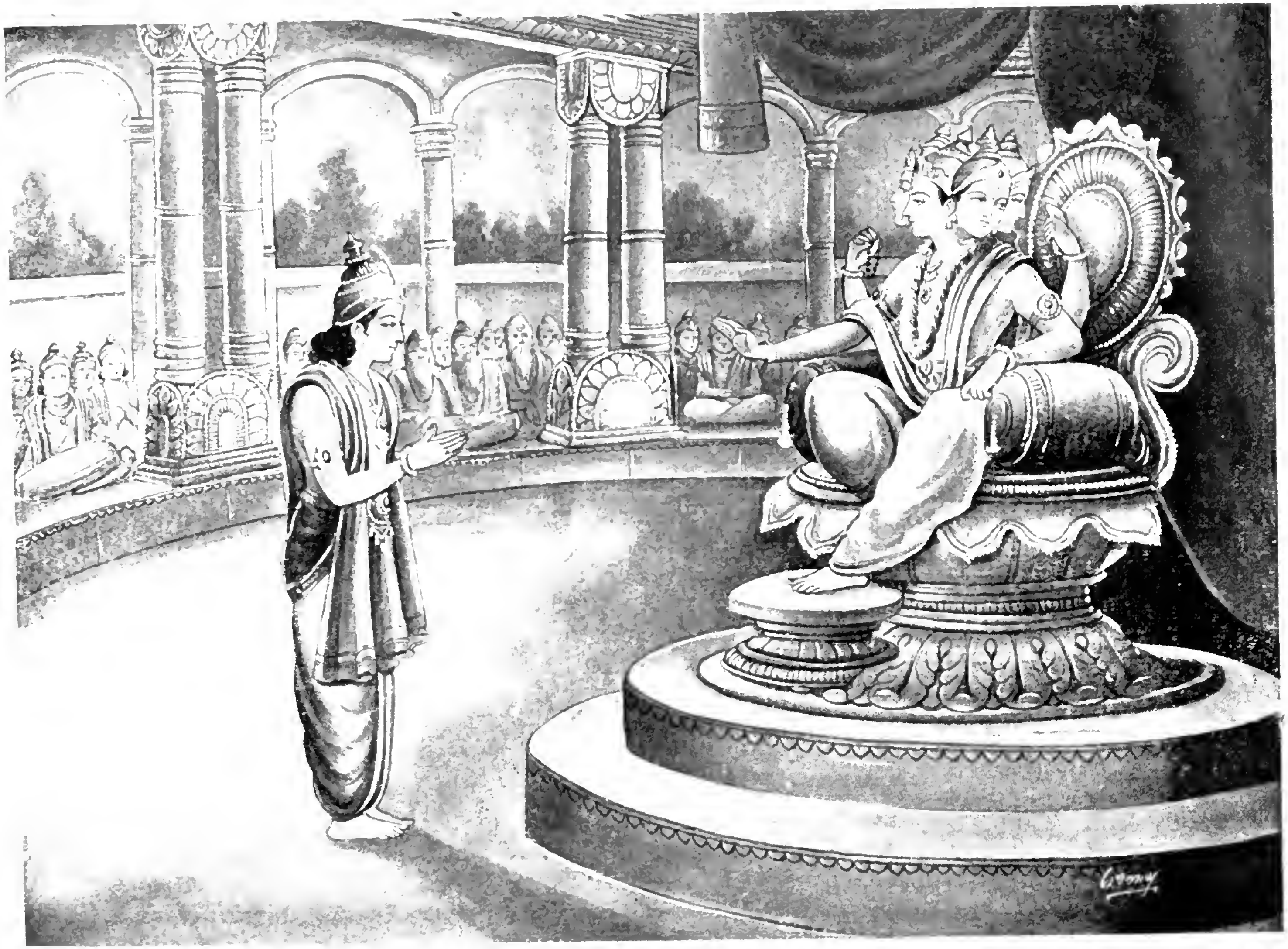

इन्द्रका ब्रह्माजीके साथ गौओंके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

गौओंके लोक और गोदानविषयक युधिष्ठिर और इन्द्रके प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं ते गोप्रदानं वै नाचिकेतमृषिं प्रति ।
माहात्म्यमपि चैवोक्तमुद्देशेन गवां प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा--प्रभो ! आपने नाचिकेत ऋषिके प्रति किये गये गोदानसम्बन्धी उपदेशकी चर्चा की और गौओंके माहात्म्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया ॥ १ ॥

नृगेण च महद्दुःखमनुभूतं महात्मना ।
एकापराधादज्ञानात् पितामह महामते ॥ २ ॥

महामते पितामह ! महात्मा राजा नृगने अनजानमें किये हुए एकमात्र अपराधके कारण महान् दुःख भोगा था ॥२॥

द्वारवत्यां यथा चासौ निविशन्त्यां समुद्धृतः ।
मोक्षहेतुरभूत् कृष्णस्तदप्यवधृतं मया ॥ ३ ॥

जब द्वारकापुरी बसने लगी थी, उस समय उनका उद्धार हुआ और उनके उस उद्धारमें हेतु हुए भगवान् श्रीकृष्ण । ये सारी बातें मैंने ध्यानसे सुनी और समझी हैं ॥

किं त्वस्ति मम संदेहो गवां लोकं प्रति प्रभो ।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामि गोदा यत्र वसन्त्युत ॥ ४ ॥

परंतु प्रभो ! मुझे गोलोकके सम्बन्धमें कुछ संदेह है; अतः गोदान करनेवाले मनुष्य जिस लोकमें निवास करते हैं, उसका मैं यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथापृच्छत् पद्मयोनिमेतदेव शतक्रतुः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा--युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । जैसा कि इन्द्रने किसी समय ब्रह्माजीसे यही प्रश्न किया था ॥

शक्र उवाच

स्वर्लोकवासिनां लक्ष्मीमभिभूय स्वयार्चिषा ।
गोलोकवासिनः पश्ये व्रजतः संशयोऽत्र मे ॥ ६ ॥

इन्द्रने पूछा--भगवन् ! मैं देखता हूँ कि गोलोकवासी पुरुष अपने तेजसे स्वर्गवासियोंकी कान्ति फीकी करते हुए उन्हें लाँघकर चले जाते हैं; अतः मेरे मनमें यहाँ यह संदेह होता है ॥ ६ ॥

कीदृशा भगवँल्लोका गवां तद् ब्रूहि मेऽनघ ।
यानावसन्ति दातार एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ७ ॥

भगवन् ! गौओंके लोक कैसे हैं ? अनघ ! यह मुझे बताइये । गोदान करनेवाले लोग जिन लोकोंमें निवास करते हैं, उनके विषयमें मैं निम्नाङ्कित बातें जानना चाहता हूँ ॥

कीदृशाः किंफलाः किंस्वित् परमस्तत्र को गुणः ।
कथं च पुरुषास्तत्र गच्छन्ति विगतज्वराः ॥ ८ ॥

वे लोक कैसे हैं ? वहाँ क्या फल मिलता है ? वहाँका सबसे महान् गुण क्या है ? गोदान करनेवाले मनुष्य सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर वहाँ किस प्रकार पहुँचते हैं ? ॥ ८ ॥

कियत्कालं प्रदानस्य दाता च फलमश्नुते ।
कथं बहुविधं दानं स्यादल्पमपि वा कथम् ॥ ९ ॥

दाताको गोदानका फल वहाँ कितने समयतक भोगनेको मिलता है ? अनेक प्रकारका दान कैसे किया जाता है ? अथवा थोड़ा-सा भी दान किस प्रकार सम्भव होता है ?॥९॥

बह्वीनां कीदृशं दानमल्पानां वापि कीदृशम् ।
अदत्त्वा गोप्रदाः सन्ति केन वा तच्च शंस मे ॥ १० ॥

बहुत-सी गौओंका दान कैसा होता है ? अथवा थोड़ी-सी गौओंका दान कैसा माना जाता है ? गोदान न करके भी लोग किस उपायसे गोदान करनेवालोंके समान हो जाते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

कथं वा बहुदाता स्यादल्पदात्रा समः प्रभो ।
अल्पप्रदाता बहुदः कथं स्वित् स्यादिहेश्वर ॥ ११ ॥

प्रभो ! बहुत दान करनेवाला पुरुष अल्प दान करनेवालेके समान कैसे हो जाता है ? तथा सुरेश्वर ! अल्प दान करनेवाला पुरुष बहुत दान करनेवालेके तुल्य किस प्रकार हो जाता है ? ॥ ११ ॥

कीदृशी दक्षिणा चैव गोप्रदाने विशिष्यते ।
एतत् तथ्येन भगवन् मम शंसितुमर्हसि ॥ १२ ॥

भगवन् ! गोदानमें कैसी दक्षिणा श्रेष्ठ मानी जाती है ? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानसम्बन्धी बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका इन्द्रसे गोलोक और गोदानकी महिमा बताना

पितामह उवाच

योऽयं प्रश्नस्त्वया पृष्टो गोप्रदानादिकारितः ।
नास्ति प्रष्टास्ति लोकेऽस्मिंस्त्वत्तोऽन्यो हि शतक्रतो॥ १

ब्रह्माजीने कहा--देवेन्द्र ! गोदानके सम्बन्धमें मैंने

जो यह प्रश्न उपस्थित किया है, तुम्हारे सिवा इस जगत्में दूसरा कोई ऐसा प्रश्न करनेवाला नहीं है ॥ १ ॥

सन्ति नानाविधा लोका यांस्त्वं शक्र न पश्यसि ।
पश्यामियानहं लोकानेकपत्न्यश्च याः स्त्रियः ॥२॥

शक्र ! ऐसे अनेक प्रकारके लोक हैं, जिन्हें तुम नहीं देख पाते हो । मैं उन लोकोंको देखता हूँ और पतिव्रता स्त्रियाँ भी उन्हें देख सकती हैं ॥ २ ॥

कर्मभिश्चापि सुशुभैः सुव्रता ऋषयस्तथा ।
सशरीरा हि तान् यान्ति ब्राह्मणाः शुभबुद्धयः ॥ ३ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि तथा शुभ बुद्धि-वाले ब्राह्मण अपने शुभकर्मोंके प्रभावसे वहाँ सशरीर चले जाते हैं ॥ ३ ॥

शरीरन्यासमोक्षेण मनसा निर्मलेन च ।
स्वप्नभूतांश्च ताँल्लोकान् पश्यन्तीहापि सुव्रताः ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ व्रतके आचरणमें लगे हुए योगी पुरुष समाधि-अवस्थामें अथवा मृत्युके समय जब शरीरसे सम्बन्ध त्याग देते हैं, तब अपने शुद्ध चित्तके द्वारा स्वप्नकी भाँति दीखनेवाले उन लोकोंका यहाँसे भी दर्शन करते हैं ॥ ४ ॥

ते तु लोकाः सहस्राक्ष शृणु यादृग्गुणान्विताः ।
न तत्र क्रमते कालो न जरा न च पावकः ॥ ५ ॥

सहस्राक्ष ! वे लोक जैसे गुणोंसे सम्पन्न हैं, उनका वर्णन सुनो । वहाँ काल और बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता । अग्निका भी जोर नहीं चलता ॥ ५ ॥

तथा नास्त्यशुभं किंचिन्न व्याधिस्तत्र न क्लमः ।
यद् यच्च गावो मनसा तस्मिन् वाञ्छन्ति वासव ॥ ६ ॥
तत् सर्वं प्राप्नुवन्ति स्म मम प्रत्यक्षदर्शनात् ।
कामगाः कामचारिण्यः कामात् कामांश्च भुञ्जते ॥ ७ ॥

वहाँ किसीका किञ्चिन्मात्र भी अमङ्गल नहीं होता । उस लोकमें न रोग है न शोक । इन्द्र ! वहाँकी गौएँ अपने मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करती हैं, वे सब उन्हें प्राप्त हो जाती हैं, यह मेरी प्रत्यक्ष देखी हुई बात है । वे जहाँ जाना चाहती हैं, जाती हैं; जैसे चलना चाहती हैं चलती हैं और संकल्पमात्रसे सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्तकर उनका उपभोग करती हैं ॥ ६-७ ॥

वाप्यः सरांसि सरितो विविधानि वनानि च ।
गृहाणि पर्वताश्चैव यावद्द्रव्यं च किंचन ॥ ८ ॥

बावड़ी, तालाब, नदियाँ, नाना प्रकारके वन, गृह और पर्वत आदि सभी वस्तुएँ वहाँ उपलब्ध हैं ॥ ८ ॥

मनोज्ञं सर्वभूतेभ्यः सर्वतन्त्रं प्रदृश्यते ।
ईदृशाद् विपुलाल्लोकान्नास्ति लोकस्तथाविधः ॥ ९ ॥

गोलोक समस्त प्राणियोंके लिये मनोहर है । वहाँ प्रत्येक वस्तुपर सबका समान अधिकार देखा जाता है । इतना विशाल दूसरा कोई लोक नहीं है ॥ ९ ॥

तत्र सर्वसहाः क्षान्ता वत्सला गुरुवर्तिनः ।
अहङ्कारैर्विरहिता यान्ति शक्र नरोत्तमाः ॥ १० ॥

इन्द्र ! जो सब कुछ सहनेवाले, क्षमाशील, दयालु, गुरुजनोंकी आज्ञामें रहनेवाले और अहंकाररहित हैं, वे श्रेष्ठ मनुष्य ही उस लोकमें जाते हैं ॥ १० ॥

यः सर्वमांसानि न भक्षयीत
पुमान् सदा भावितो धर्मयुक्तः ।
मातापित्रोरर्चिता सत्ययुक्तः
शुश्रूषिता ब्राह्मणानामनिन्द्यः ॥ ११ ॥
अक्रोधनो गोषु तथा द्विजेषु
धर्मे रतो गुरुशुश्रूषकश्च ।
यावज्जीवं सत्यवृत्ते रतश्च
दाने रतो यः क्षमी चापराधे ॥ १२ ॥
मृदुर्दान्तो देवपरायणश्च
सर्वातिथिश्चापि तथा दयावान् ।
ईदृग्गुणो मानवस्तं प्रयाति
लोकं गवां शाश्वतं चाव्ययं च ॥ १३ ॥

जो सब प्रकारके मांसोंका भोजन त्याग देता है, सदा भगवच्चिन्तनमें लगा रहता है, धर्मपरायण होता है, माता-पिताकी पूजा करता, सत्य बोलता, ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहता, जिसकी कभी निन्दा नहीं होती, जो गौओं और ब्राह्मणोंपर कभी क्रोध नहीं करता, धर्ममें अनुरक्त रहता, गुरुजनोंकी सेवा करता है, जीवनभरके लिये सत्यका व्रत लेता है, दानमें प्रवृत्त रहकर किसीके अपराध करनेपर उसे क्षमा कर देता है, जिसका स्वभाव मृदुल है, जो जितेन्द्रिय, देवाराधक, सबका आतिथ्य-सत्कार करनेवाला और दयालु है, ऐसे ही गुणोंवाला मनुष्य उस सनातन एवं अविनाशी गोलोकमें जाता है ॥ ११–१३ ॥

न पारदारी पश्यति लोकमेतं
न वै गुरुघ्नो न मृषा सम्प्रलापी ।
सदा प्रवादी ब्राह्मणेष्वात्तवैरो
दोषैरेतैर्यश्च युक्तो दुरात्मा ॥ १४ ॥
न मित्रध्रुङ्नैकृतिकः कृतघ्नः
शठोऽनृजुर्धर्मविद्वेषकश्च ।
न ब्रह्महा मनसापि प्रपश्येद्
गवां लोकं पुण्यकृतां निवासम् ॥ १५ ॥

परस्त्रीगामी, गुरुहत्यारा, असत्यवादी, सदा बकवाद करनेवाला, ब्राह्मणोंसे वैर बाँध रखनेवाला, मित्रद्रोही, ठग, कृतघ्न, शठ, कुटिल, धर्मद्वेषी और ब्रह्महत्यारा—इन सब दोषोंसे युक्त दुरात्मा मनुष्य कभी मनसे भी गोलोकका दर्शन नहीं पा सकता; क्योंकि वहाँ पुण्यात्माओंका निवास है ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं निपुणेन सुरेश्वर।
गोप्रदानरतानां तु फलं शृणु शतक्रतो ॥ १६ ॥

सुरेश्वर ! शतक्रतो ! यह सब मैंने तुम्हें विशेषरूपसे गोलोकका माहात्म्य बताया है। अब गोदान करनेवालोंको जो फल प्राप्त होता है, उसे सुनो ॥ १६ ॥

दायाद्यलब्धैरर्थैर्यो गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति।
धर्मार्जितान् धनैः क्रीतान् स लोकानाप्नुतेऽक्षयान्॥ १७॥

जो पुरुष अपनी पैतृक सम्पत्तिसे प्राप्त हुए धनके द्वारा गौएँ खरीदकर उनका दान करता है, वह उस धनसे धर्मपूर्वक उपार्जित हुए अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

यो वै द्यूते धनं जित्वा गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति।
स दिव्यमयुतं शक्र वर्षाणां फलमश्नुते ॥ १८ ॥

शक्र ! जो जूएमें धन जीतकर उसके द्वारा गायोंको खरीदता और उनका दान करता है, वह दस हजार दिव्य वर्षोंतक उसके पुण्यफलका उपभोग करता है ॥ १८ ॥

दायाद्याः स्म वै गावो न्यायपूर्वैरुपार्जिताः।
प्रदद्यात् ताः प्रदातॄणां सम्भवन्त्यपि च ध्रुवाः ॥ १९॥

जो पैतृक-सम्पत्तिसे न्यायपूर्वक प्राप्त की हुई गौओंका दान करता है, ऐसे दाताओंके लिये वे गौएँ अक्षय फल देनेवाली हो जाती हैं ॥ १९ ॥

प्रतिगृह्य तु यो दद्याद् गाः संशुद्धेन चेतसा।
तस्यापीहाक्षयाँल्लोकान् ध्रुवान् विद्धि शचीपते ॥२०॥

शचीपते ! जो पुरुष दानमें गौएँ लेकर फिर शुद्ध हृदयसे उनका दान कर देता है, उसे भी यहाँ अक्षय एवं अटल लोकोंकी प्राप्ति होती है—यह निश्चितरूपसे समझ लो ॥

जन्मप्रभृति सत्यं च यो ब्रूयान्नियतेन्द्रियः।
गुरुद्विजसहः क्षान्तस्तस्य गोभिः समा गतिः ॥ २१ ॥

जो जन्मसे ही सदा सत्य बोलता, इन्द्रियोंको काबूमें रखता, गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंकी कठोर बातोंको भी सह लेता और क्षमाशील होता है, उसकी गौओंके समान गति होती है अर्थात् वह गोलोकमें जाता है ॥ २१ ॥

न जातु ब्राह्मणो वाच्यो यदवाच्यं शचीपते।
मनसा गोषु न द्रुह्येद् गोवृत्तिर्गोऽनुकम्पकः ॥ २२ ॥
सत्ये धर्मे च निरतस्तस्य शक्र फलं शृणु।
गोसहस्रेण समिता तस्य धेनुर्भवत्युत ॥ २३ ॥

शचीपते शक्र ! ब्राह्मणके प्रति कभी कुवाच्य नहीं बोलना चाहिये और गौओंके प्रति कभी मनसे भी द्रोहका भाव नहीं रखना चाहिये। जो ब्राह्मण गौओंके समान वृत्तिसे रहता है और गौओंके लिये घास आदिकी व्यवस्था करता है, साथ ही सत्य और धर्ममें तत्पर रहता है, उसे प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन सुनो। वह यदि एक गौका भी दान करे तो उसे एक हजार गोदानके समान फल मिलता है ॥ २२-२३ ॥

क्षत्रियस्य गुणैरेतैरपि तुल्यफलं शृणु।
तस्यापि द्विजतुल्या गौर्भवतीति विनिश्चयः ॥ २४ ॥

यदि क्षत्रिय भी इन गुणोंसे युक्त होता है तो उसे भी ब्राह्मणके समान ही (गोदानका) फल मिलता है। इस बातको अच्छी तरह सुन लो। उसकी (दान दी हुई) गौ भी ब्राह्मणकी गौके तुल्य ही फल देनेवाली होती है। यह धर्मात्माओंका निश्चय है ॥ २४ ॥

वैश्यस्यैते यदि गुणास्तस्य पञ्चशतं भवेत्।
शूद्रस्यापि विनीतस्य चतुर्भागफलं स्मृतम् ॥ २५ ॥

यदि वैश्यमें भी उपर्युक्त गुण हों तो उसे भी एक गोदान करनेपर ब्राह्मणकी अपेक्षा (आधे भाग) पाँच सौ गौओंके दानका फल मिलता है और विनयशील शूद्रको ब्राह्मणके चौथाई भाग अर्थात् ढाई सौ गौओंके दानका फल प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

एतच्चैनं योऽनुतिष्ठेत युक्तः
सत्ये रतो गुरुशुश्रूषया च।
दक्षः क्षान्तो देवतार्थी प्रशान्तः
शुचिर्बुद्धो धर्मशीलोऽनहंवाक् ॥ २६ ॥
महत् फलं प्राप्यते स द्विजाय
दत्त्वा दोग्ध्रीं विधिनानेन धेनुम्।

जो पुरुष सदा सावधान रहकर इस उपर्युक्त धर्मका पालन करता है तथा जो सत्यवादी, गुरुसेवापरायण, दक्ष, क्षमाशील, देवभक्त, शान्तचित्त, पवित्र, ज्ञानवान्, धर्मात्मा और अहंकारशून्य होता है, वह यदि पूर्वोक्त विधिसे ब्राह्मणको दूध देनेवाली गायका दान करे तो उसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ २६½ ॥

नित्यं दद्यादेकभक्तः सदा च
सत्ये स्थितो गुरुशुश्रूषिता च ॥ २७ ॥
वेदाध्यायी गोषु यो भक्तिमांश्च
नित्यं दत्त्वा योऽभिनन्देत गाश्च।
आजातितो यश्च गवां नमेत
इदं फलं शक्र निबोध तस्य ॥ २८ ॥

इन्द्र ! जो सदा एक समय भोजन करके नित्य गोदान करता है, सत्यमें स्थित होता है, गुरुकी सेवा और वेदोंका स्वाध्याय करता है, जिसके मनमें गौओंके प्रति भक्ति है, जो गौओंका दान देकर प्रसन्न होता है तथा जन्मसे ही गौओंको प्रणाम करता है, उसको मिलनेवाले इस फलका वर्णन सुनो ॥ २७-२८ ॥

यत् स्यादिष्ट्वा राजसूये फलं तु
यत् स्यादिष्ट्वा बहुना काञ्चनेन ।
एतत् तुल्यं फलमप्याहुरग्र्यं
सर्वे सन्तस्त्वृषयो ये च सिद्धाः॥ २९ ॥

राजसूय यज्ञका अनुष्ठान करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है तथा बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणा देकर यज्ञ करनेसे जो फल मिलता है, उपर्युक्त मनुष्य भी उसके समान ही उत्तम फलका भागी होता है। यह सभी सिद्ध-संत-महात्मा एवं ऋषियोंका कथन है ॥ २९ ॥

योऽग्रं भक्तं किंचिदप्राश्य दद्याद्
गोभ्यो नित्यं गोव्रती सत्यवादी।
शान्तोऽलुब्धो गोसहस्रस्य पुण्यं
संवत्सरेणाप्नुयात् सत्यशीलः ॥ ३० ॥

जो गोसेवाका व्रत लेकर प्रतिदिन भोजनसे पहले गौओंको गोग्रास अर्पण करता है तथा शान्त एवं निर्लोभ होकर सदा सत्यका पालन करता रहता है, वह सत्यशील पुरुष प्रतिवर्ष एक सहस्र गोदान करनेके पुण्यका भागी होता है ॥ ३० ॥

यदेकभक्तमश्नीयाद् दद्यादेकं गवां च यत् ।
दशवर्षाण्यनन्तानि गोव्रती गोऽनुकम्पकः ॥ ३१ ॥

जो गोसेवाका व्रत लेनेवाला पुरुष गौओंपर दया करता और प्रतिदिन एक समय भोजन करके एक समयका अपना भोजन गौओंको दे देता है, इस प्रकार दस वर्षोंतक गोसेवामें तत्पर रहनेवाले पुरुषको अनन्त सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

एकेनैव च भक्तेन यः क्रीत्वा गां प्रयच्छति ।
यावन्ति तस्या रोमाणि सम्भवन्ति शतक्रतो ॥ ३२ ॥
तावत्प्रदानात् स गवां फलमाप्नोति शाश्वतम्।

शतक्रतो ! जो एक समय भोजन करके दूसरे समयके बचाये हुए भोजनसे गाय खरीदकर उसका दान करता है, वह उस गौके जितने रोएँ होते हैं, उतने गौओंके दानका अक्षय फल पाता है ॥ ३२½ ॥

ब्राह्मणस्य फलं हीदं क्षत्रियस्य तु वै शृणु ॥ ३३ ॥
पञ्चवार्षिकमेवं तु क्षत्रियस्य फलं स्मृतम् ।
ततोऽर्धेन तु वैश्यस्य शूद्रो वैश्यार्धतः स्मृतः ॥ ३४ ॥

यह ब्राह्मणके लिये फल बताया गया। अब क्षत्रियको मिलनेवाले फलका वर्णन सुनो। यदि क्षत्रिय इसी प्रकार पाँच वर्षोंतक गौकी आराधना करे तो उसे वही फल प्राप्त होता है। उससे आधे समयमें वैश्यको और उससे भी आधे समयमें शूद्रको उसी फलकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ३३-३४ ॥

यश्चात्मविक्रयं कृत्वा गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति।
यावत् संदर्शयेद् गां वै स तावत् फलमश्नुते ॥ ३५ ॥

जो अपने आपको बेचकर भी गाय खरीदकर उसका दान करता है, वह ब्रह्माण्डमें जबतक गोजातिकी सत्ता देखता है, तबतक उस दानका अक्षय फल भोगता रहता है ॥ ३५ ॥

रोम्णि रोम्णि महाभाग लोकाश्चास्याऽक्षयाः स्मृताः।
संग्रामेष्वर्जयित्वा तु यो वै गाः सम्प्रयच्छति ।
आत्मविक्रयतुल्यास्ताः शाश्वता विद्धि कौशिक ॥३६॥

महाभाग इन्द्र ! गौओंके रोम-रोममें अक्षय लोकोंकी स्थिति मानी गयी है। जो संग्राममें गौओंको जीतकर उनका दान कर देता है, उनके लिये वे गौएँ स्वयं अपनेको बेचकर लेकर दी हुई गौओंके समान अक्षय फल देनेवाली होती हैं—इस बातको तुम जान लो ॥ ३६ ॥

अभावे यो गवां दद्यात् तिलधेनुं यतव्रतः।
दुर्गात् स तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ३७ ॥

जो संयम और नियमका पालन करनेवाला पुरुष गौओंके अभावमें तिलधेनुका दान करता है, वह उस धेनुकी सहायता पाकर दुर्गम संकटसे पार हो जाता है तथा दूधकी धारा बहानेवाली नदीके तटपर रहकर आनन्द भोगता है ॥ ३७ ॥

न त्वेवासां दानमात्रं प्रशस्तं
पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च ।
कालज्ञानं विप्र गवान्तरं हि
दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३८ ॥

केवल गौओंका दानमात्र कर देना प्रशंसाकी बात नहीं है; उसके लिये उत्तम पात्र, उत्तम समय, विशिष्ट गौ, विधि और कालका ज्ञान आवश्यक है। विप्रवर ! गौओंमें जो परस्पर तारतम्य है, उसको तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी पात्रको जानना बहुत ही कठिन है ॥ ३८ ॥

स्वाध्यायाढ्यं शुद्धयोनिं प्रशान्तं
वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम् ।
गोषु क्षान्तं नातितीक्ष्णं शरण्यं
वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ॥ ३९ ॥

जो वेदोंके स्वाध्यायसे सम्पन्न, शुद्ध कुलमें उत्पन्न, शान्तस्वभाव, यज्ञपरायण, पापभीरु और बहुज्ञ है,

गौओंके प्रति क्षमाभाव रखता है, जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा नहीं है, जो गौओंकी रक्षा करनेमें समर्थ और जीविकासे रहित है, ऐसे ब्राह्मणको गोदानका उत्तम पात्र बताया गया है ॥ ३९ ॥

वृत्तिग्लाने सीदति चातिमात्रं
कृष्यर्थे वा होम्यहेतोः प्रसूतेः।
गुर्वर्थे वा बालसंवृद्धये वा
धेनुं दद्याद् देशकालेऽविशिष्टे ॥ ४० ॥

जिसकी जीविका क्षीण हो गयी हो तथा जो अत्यन्त कष्ट पा रहा हो, ऐसे ब्राह्मणको सामान्य देश-कालमें भी दूध देनेवाली गायका दान करना चाहिये। इसके सिवा खेतीके लिये, होम-सामग्रीके लिये, प्रसूता स्त्रीके पोषणके लिये, गुरुदक्षिणाके लिये अथवा शिशुपालनके लिये सामान्य देश-कालमें भी दुधारू गायका दान करना उचित है ॥४०॥

अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः
प्राणैः क्रीतास्तेजसा यौतकाश्च।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च
द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ४१ ॥

गर्भिणी, खरीदकर लायी हुई, ज्ञान या विद्याके बलसे प्राप्त की हुई, दूसरे प्राणियोंके बदलेमें लायी हुई अथवा युद्धमें पराक्रम प्रकट करके प्राप्त की हुई, दहेजमें मिली हुई, पालनमें कष्ट समझकर स्वामीके द्वारा परित्यक्त हुई तथा पालन-पोषणके लिये अपने पास आयी हुई विशिष्ट गौएँ इन उपर्युक्त कारणोंसे ही दानके लिये प्रशंसनीय मानी गयी हैं ॥ ४१ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः
सर्वाः प्रशंसन्ते सुगन्धवत्यः।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा
तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ४२ ॥

हृष्ट-पुष्ट, सीधी-सादी, जवान और उत्तम गन्धवाली सभी गौएँ प्रशंसनीय मानी गयी हैं। जैसे गङ्गा सब नदियोंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कपिला गौ सब गौओंमें उत्तम है ॥४२॥

तिस्रो रात्रीस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ
तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः पुष्टैः क्षीरपैः सुप्रचारा-
स्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ४३ ॥

(गोदानकी विधि इस प्रकार है—) दाता तीन राततक उपवास करके केवल पानीके आधारपर रहे, पृथ्वीपर शयन करे और गौओंको घास-भूसा खिलाकर पूर्ण तृप्त करे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे संतुष्ट करके उन्हें वे गौएँ दे। उन गौओंके साथ दूध पीनेवाले हृष्ट-पुष्ट बछड़े भी होने चाहिये तथा वैसी ही स्फूर्तियुक्त गौएँ भी हों। गोदान करनेके पश्चात् तीन दिनोंतक केवल गोरस पीकर रहना चाहिये ॥ ४३ ॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां साधुदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावन्ति वर्षाणि भवन्त्यमुत्र ॥ ४४ ॥

जो गौ सीधी-सूधी हो, सुगमतासे अच्छी तरह दूध दुहा लेती हो, जिसका बछड़ा भी सुन्दर हो तथा जो बन्धन तुड़ाकर भागनेवाली न हो, ऐसी गौका दान करनेसे उसके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता परलोकमें सुख भोगता है ॥ ४४ ॥

तथानड्वाहं ब्राह्मणाय प्रदाय
धुर्यं युवानं बलिनं विनीतम्।
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यं
प्राप्नोति लोकान् दशधेनुदस्य ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको बोझ उठानेमें समर्थ, जवान, बलिष्ठ, विनीत—सीधा-सादा, हल खींचनेवाला और अधिक शक्तिशाली बैल दान करता है, वह दस धेनु दान करनेवालेके लोकोंमें जाता है ॥ ४५ ॥

कान्तारे ब्राह्मणान् गाश्च यः परित्राति कौशिक।
क्षणेन विप्रमुच्येत तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४६ ॥

इन्द्र! जो दुर्गम वनमें फँसे हुए ब्राह्मण और गौओंका उद्धार करता है, वह एक ही क्षणमें समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा उसे जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होती है, वह भी सुन लो ॥ ४६ ॥

अश्वमेधक्रतोस्तुल्यं फलं भवति शाश्वतम्।
मृत्युकाले सहस्राक्ष यां वृत्तिमनुकाङ्क्षते ॥ ४७ ॥

सहस्राक्ष! उसे अश्वमेध यज्ञके समान अक्षय फल सुलभ होता है। वह मृत्युकालमें जिस स्थितिकी आकांक्षा करता है, उसे भी पा लेता है ॥ ४७ ॥

लोकान् बहुविधान् दिव्यान् यच्चास्य हृदि वर्तते।
तत् सर्वं समवाप्नोति कर्मणैतेन मानवः ॥ ४८ ॥

नाना प्रकारके दिव्य लोक तथा उसके हृदयमें जो-जो कामना होती है, वह सब कुछ मनुष्य उपर्युक्त सत्कर्मके प्रभावसे प्राप्त कर लेता है ॥ ४८ ॥

गोभिश्च समनुज्ञातः सर्वत्र च महीयते।
यस्त्वेतेनैव कल्पेन गां वनेष्वनुगच्छति ॥ ४९ ॥
तृणगोमयपर्णाशी निःस्पृहो नियतः शुचिः।
अकामं तेन वस्तव्यं मुदितेन शतक्रतो ॥ ५० ॥
मम लोके सुरैः सार्धं लोके यत्रापि चेच्छति ॥ ५१ ॥

इतना ही नहीं, वह गौओंसे अनुगृहीत होकर सर्वत्र पूजित होता है । शतक्रतो ! जो मनुष्य उपर्युक्त विधिसे वनमें रहकर गौओंका अनुसरण करता है तथा निःस्पृह, संयमी और पवित्र होकर घास पत्ते एवं गोबर खाता हुआ जीवन व्यतीत करता है, वह मनमें कोई कामना न होनेपर मेरे लोकमें देवताओंके साथ आनन्दपूर्वक निवास करता है । अथवा उसकी जहाँ इच्छा होती है, उन्हीं लोकोंमें चला जाता है ॥ ४९–५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पितामहेन्द्रसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्माजी और इन्द्रका संवादविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दूसरोंकी गायको चुराकर देने या बेचनेसे दोष, गोहत्याके भयंकर परिणाम तथा गोदान एवं सुवर्ण-दक्षिणाका माहात्म्य

इन्द्र उवाच

जानन् यो गामपहरेद् विक्रीयाच्चार्थकारणात् ।
एतद् विज्ञातुमिच्छामि क नु तस्य गतिर्भवेत् ॥ १ ॥

इन्द्रने पूछा—पितामह ! यदि कोई जान-बूझकर दूसरेकी गौका अपहरण करे और धनके लोभसे उसे बेच डाले, उसकी परलोकमें क्या गति होती है ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पितामह उवाच

भक्षार्थं विक्रयार्थं वा येऽपहारं हि कुर्वते ।
दानार्थं ब्राह्मणार्थाय तत्रेदं श्रूयतां फलम् ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र ! जो खाने, बेचने या ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये दूसरेकी गाय चुराते हैं, उन्हें क्या फल मिलता है, यह सुनो ॥ २ ॥

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद् भक्षयेद् वा निरङ्कुशः ।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः ॥ ३ ॥

जो उच्छृङ्खल मनुष्य मांस बेचनेके लिये गौकी हिंसा करता या गोमांस खाता है तथा जो स्वार्थवश घातक पुरुषको गाय मारनेकी सलाह देते हैं, वे सभी महान् पापके भागी होते हैं ॥ ३ ॥

घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते ।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद् वर्षाणि मज्जति ॥ ४ ॥

गौकी हत्या करनेवाले, उसका मांस खानेवाले तथा गोहत्याका अनुमोदन करनेवाले लोग गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें डूबे रहते हैं ॥ ४ ॥

ये दोषा यादृशाश्चैव द्विजयज्ञोपघातके ।
विक्रये चापहारे च ते दोषा वै स्मृताः प्रभो ॥ ५ ॥

प्रभो ! ब्राह्मणके यज्ञका नाश करनेवाले पुरुषको जैसे और जितने पाप लगते हैं, दूसरोंकी गाय चुराने और बेचनेमें भी वे ही दोष बताये गये हैं ॥ ५ ॥

अपहृत्य तु यो गां वै ब्राह्मणाय प्रयच्छति ।
यावद् दानफलं तस्यास्तावन्निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो दूसरेकी गाय चुराकर ब्राह्मणको दान करता है, वह गोदानका पुण्य भोगनेके लिये जितना समय शास्त्रोंमें बताया गया है, उतने ही समयतक नरक भोगता है ॥ ६ ॥

सुवर्णं दक्षिणामाहुर्गोप्रदाने महाद्युते ।
सुवर्णं परमित्युक्तं दक्षिणार्थमसंशयम् ॥ ७ ॥

महातेजस्वी इन्द्र ! गोदानमें कुछ सुवर्णकी दक्षिणा देनेका विधान है । दक्षिणाके लिये सुवर्ण सबसे उत्तम बताया गया है । इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

गोप्रदानात् तारयते सप्त पूर्वांस्तथा परान् ।
सुवर्णं दक्षिणां कृत्वा तावद्द्विगुणमुच्यते ॥ ८ ॥

मनुष्य गोदान करनेसे अपनी सात पीढ़ी पहलेके पितरोंका और सात पीढ़ी आगे आनेवाली संतानोंका उद्धार करता है; किंतु यदि उसके साथ सोनेकी दक्षिणा भी दी जाय तो उस दानका फल दूना बताया गया है ॥ ८ ॥

सुवर्णं परमं दानं सुवर्णं दक्षिणा परा ।
सुवर्णं पावनं शक्र पावनानां परं स्मृतम् ॥ ९ ॥

क्योंकि इन्द्र ! सुवर्णका दान सबसे उत्तम दान है । सुवर्णकी दक्षिणा सबसे श्रेष्ठ है तथा पवित्र करनेवाली वस्तुओंमें सुवर्ण ही सबसे अधिक पावन माना गया है ॥

कुलानां पावनं प्राहुर्जातरूपं शतक्रतो ।
एषा मे दक्षिणा प्रोक्ता समासेन महाद्युते ॥ १० ॥

महातेजस्वी शतक्रतो ! सुवर्ण सम्पूर्ण कुलोंको पवित्र करनेवाला बताया गया है । इस प्रकार मैंने तुमसे संक्षेपमें यह दक्षिणाकी बात बतायी है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

एतत् पितामहेनोक्तमिन्द्राय भरतर्षभ ।
इन्द्रो दशरथायाह रामायाह पिता तथा ॥ ११ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यह उपर्युक्त उपदेश ब्रह्माजीने इन्द्रको दिया। इन्द्रने राजा दशरथको तथा पिता दशरथने अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको दिया ॥

राघवोऽपि प्रियभ्रात्रे लक्ष्मणाय यशस्विने।
ऋषिभ्यो लक्ष्मणेनोक्तमरण्ये वसता प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! श्रीरामचन्द्रजीने भी अपने प्रिय एवं यशस्वी भ्राता लक्ष्मणको इसका उपदेश दिया। फिर लक्ष्मणने भी वनवासके समय ऋषियोंको यह बात बतायी ॥ १२ ॥

पारम्पर्यागतं चेदमृषयः संशितव्रताः।
दुर्धरं धारयामासू राजानश्चैव धार्मिकाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस दुर्धर उपदेशको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि और धर्मात्मा राजालोग धारण करते आ रहे हैं ॥ १३ ॥

उपाध्यायेन गदितं मम चेदं युधिष्ठिर।
य इदं ब्राह्मणो नित्यं वदेद् ब्राह्मणसंसदि ॥ १४ ॥
यज्ञेषु गोप्रदानेषु द्वयोरपि समागमे।
तस्य लोकाः किलाक्षय्या दैवतैः सह नित्यदा ॥ १५ ॥
(इति ब्रह्मा स भगवान् उवाच परमेश्वरः)

युधिष्ठिर ! मुझसे मेरे उपाध्याय (परशुरामजी) ने इस विषयका वर्णन किया था। जो ब्राह्मण अपनी मण्डलीमें बैठकर प्रतिदिन इस उपदेशको दुहराता है और यज्ञमें, गोदानके समय तथा दो व्यक्तियोंके भी समागममें इसकी चर्चा करता है, उसको सदा देवताओंके साथ अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। यह बात भी परमेश्वर भगवान् ब्रह्माने स्वयं ही इन्द्रको बतायी है ॥ १४-१५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १५½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

व्रत, नियम, दम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता, गुरु आदिकी सेवाकी महत्ता

युधिष्ठिर उवाच

विस्रम्भितोऽहं भवता धर्मान् प्रवदता विभो।
प्रक्ष्यामि तु संदेहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—प्रभो ! आपने धर्मका उपदेश करके उसमें मेरा दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर दिया है। पितामह ! अब मैं आपसे एक और संदेह पूछ रहा हूँ, उसके विषयमें मुझे बताइये ॥ १ ॥

व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥ २ ॥

महाद्युते ! व्रतोंका क्या और कैसा फल बताया गया है? नियमोंके पालन और स्वाध्यायका भी क्या फल है ? ॥

दत्तस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम्।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

दान देने, वेदोंको धारण करने और उन्हें पढ़ानेका क्या फल होता है ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यस्तु प्रयच्छति ॥ ४ ॥

पितामह ! संसारमें जो प्रतिग्रह नहीं लेता, उसे क्या फल मिलता है ? तथा जो वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उसके लिये कौन-सा फल देखा गया है ॥ ४ ॥

स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम्।
शौचे च किं फलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥ ५ ॥

अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहनेवाले शूरवीरोंको भी किस फलकी प्राप्ति होती है ? शौचाचारका तथा ब्रह्मचर्यके पालनका क्या फल बताया गया है ? ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥ ६ ॥

पिता और माताकी सेवासे कौन-सा फल प्राप्त होता है ? आचार्य एवं गुरुकी सेवासे तथा प्राणियोंपर अनुग्रह एवं दयाभाव बनाये रखनेसे किस फलकी प्राप्ति होती है ? ॥

एतत् सर्वमशेषेण पितामह यथातथम्।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

धर्मज्ञ पितामह ! यह सब मैं यथावत् रूपसे जानना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा सम्प्रतिपद्यते।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे किसी व्रतको आरम्भ करके उसे अखण्डरूपसे निभा देते हैं, उन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

नियमानां फलं राजन् प्रत्यक्षमिह दृश्यते।
नियमानां क्रतूनां च त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥ ९ ॥

राजन् ! संसारमें नियमोंके पालनका फल तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। तुमने भी यह नियमों और यज्ञोंका ही फल प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च ।
इहलोकेऽथवा नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते ॥ १० ॥

वेदोंके स्वाध्यायका फल भी इहलोक और परलोकमें भी देखा जाता है । स्वाध्यायशील द्विज इहलोक और ब्रह्मलोकमें भी सदा आनन्द भोगता है ॥ १० ॥

दमस्य तु फलं राजञ्छृणु त्वं विस्तरेण मे ।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः॥ ११ ॥

राजन् ! अब तुम मुझसे विस्तारपूर्वक दम (इन्द्रिय-संयम) के फलका वर्णन सुनो । जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सुखी और सर्वत्र संतुष्ट रहते हैं ॥ ११ ॥

यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिषूदनाः ।
प्रार्थयन्ति च यद् दान्ता लभन्ते तन्न संशयः ॥ १२ ॥

वे जहाँ चाहते हैं, वहीं चले जाते हैं और जिस वस्तुकी इच्छा करते हैं, वही उन्हें प्राप्त हो जाती है । वे सम्पूर्ण शत्रुओंका अन्त कर देते हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

युज्यन्ते सर्वकामैर्हि दान्ताः सर्वत्र पाण्डव ।
स्वर्गे यथा प्रमोदन्ते तपसा विक्रमेण च ॥ १३ ॥
दानैर्यज्ञैश्च विविधैस्तथा दान्ताः क्षमान्विताः ।

पाण्डुनन्दन ! जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सम्पूर्ण मनचाही वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं । वे अपनी तपस्या, पराक्रम, दान तथा नाना प्रकारके यज्ञोंसे स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं । इन्द्रियोंका दमन करनेवाले पुरुष क्षमाशील होते हैं ॥१३½॥

दानाद् दमो विशिष्टो हि ददत्किंचिद् द्विजातये॥ १४ ॥
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद् दानात् परं दमः।
यस्तु दद्यादकुप्यन् हि तस्य लोकाः सनातनाः॥ १५ ॥

दानसे दमका स्थान ऊँचा है । दानी पुरुष ब्राह्मणको कुछ दान करते समय कभी क्रोध भी कर सकता है; परंतु दमनशील या जितेन्द्रिय पुरुष कभी क्रोध नहीं करता; इसलिये दम (इन्द्रिय-संयम) दानसे श्रेष्ठ है । जो दाता बिना क्रोध किये दान करता है, उसे सनातन (नित्य) लोक प्राप्त होते हैं ॥ १४-१५ ॥

क्रोधो हन्ति हि यद् दानं तस्माद् दानात् परं दमः।
अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि ॥ १६ ॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु यानीतो यान्ति देवताः ।
दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः ॥ १७ ॥
कामयाना महत्स्थानं तस्माद् दानात् परं दमः ।

दान करते समय यदि क्रोध आ जाय तो वह दानके फलको नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोधको दबानेवाला जो दमनामक गुण है, वह दानसे श्रेष्ठ माना गया है । महाराज ! नरेश्वर ! संम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले ऋषियोंके स्वर्गमें सहस्रों अदृश्य स्थान हैं, जिनमें दमके पालनद्वारा महान् लोककी इच्छा रखनेवाले महर्षि और देवता इस लोकसे जाते हैं; अतः 'दम' दानसे श्रेष्ठ है ॥ १६-१७½ ॥

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते ॥ १८ ॥
विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप ।

नरेन्द्र ! शिष्योंको वेद पढ़ानेवाला अध्यापक क्लेश सहन करनेके कारण अक्षय फलका भागी होता है । अग्निमें विधिपूर्वक हवन करके ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति॥ १९ ॥
गुरुकर्मप्रशंसी तु सोऽपि स्वर्गे महीयते ।

जो वेदोंका अध्ययन करके न्यायपरायण शिष्योंको विद्यादान करता है तथा गुरुके कर्मोंकी प्रशंसा करनेवाला है, वह भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १९½ ॥

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि ।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥ २० ॥

वेदाध्ययन, यज्ञ और दानकर्ममें तत्पर रहनेवाला तथा युद्धमें दूसरोंकी रक्षा करनेवाला क्षत्रिय भी स्वर्गलोकमें पूजित होता है ॥ २० ॥

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत् ।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छति ॥ २१ ॥

अपने कर्ममें लगा हुआ वैश्य दान देनेसे महत्-पदको प्राप्त होता है । अपने कर्ममें तत्पर रहनेवाला शूद्र सेवा करनेसे स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २१ ॥

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांस्तु मे शृणु ।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव हि ॥ २२ ॥

शूरवीरोंके अनेक भेद बताये गये हैं । उन सबके तात्पर्य मुझसे सुनो । उन शूरोंके वंशजों तथा शूरोंके लिये जो फल बताया गया है, उसे बता रहा हूँ ॥ २२ ॥

यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथापरे ।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः ॥ २३ ॥
(बुद्धिशूरास्तथा चान्ये क्षमाशूरास्तथा परे।)

कुछ लोग यज्ञशूर हैं । कुछ इन्द्रियसंयममें शूर होनेके कारण दमशूर कहलाते हैं । इसी प्रकार कितने ही मानव सत्यशूर, युद्धशूर, दानशूर, बुद्धिशूर तथा क्षमाशूर कहे गये हैं ॥ २३ ॥

सांख्यशूराश्च बहवो योगशूरास्तथापरे ।
अरण्ये गृहवासे च त्यागे शूरास्तथापरे ॥ २४ ॥

बहुत-से मनुष्य सांख्यशूर, योगशूर, वनवासशूर, गृहवासशूर तथा त्यागशूर हैं ॥ २४ ॥

आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः ।
तैस्तैश्च नियमैः शूरा बहवः सन्ति चापरे ।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः ॥ २५ ॥

गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयापरे।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे॥ २६॥

कितने मानव सरलता दिखानेमें शूरवीर हैं। बहुत-से शम (मनोनिग्रह) में ही शूरता प्रकट करते हैं। विभिन्न नियमोंद्वारा अपना शौर्य सूचित करनेवाले और भी बहुत-से शूरवीर हैं। कितने ही वेदाध्ययनशूर, अध्यापनशूर, गुरुशुश्रूषाशूर, पितृसेवाशूर, मातृसेवाशूर तथा भिक्षाशूर हैं॥

अरण्ये गृहवासे च शूराश्चातिथिपूजने।
सर्वे यान्ति परांल्लोकान् स्वकर्मफलनिर्जितान्॥ २७॥

कुछ लोग वनवासमें, कुछ गृहवासमें और कुछ लोग अतिथियोंकी सेवा-पूजामें शूरवीर होते हैं। ये सब-के-सब अपने कर्मफलोंद्वारा उपार्जित उत्तम लोकोंमें जाते हैं॥ २७॥

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥ २८॥

सम्पूर्ण वेदोंको धारण करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना—इन सत्कर्मोंका पुण्य सदा सत्य बोलनेवाले पुरुषके पुण्यके बराबर हो सकता है या नहीं; इसमें सन्देह है अर्थात् इनसे सत्य श्रेष्ठ है॥ २८॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ २९॥

यदि तराजूके एक पलड़ेपर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका पुण्य और दूसरे पलड़ेपर केवल सत्य रखा जाय तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही पलड़ा भारी होगा॥

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ ३०॥

सत्यके प्रभावसे सूर्य तपते हैं, सत्यसे अग्नि प्रज्वलित होती है और सत्यसे ही वायुका सर्वत्र संचार होता है; क्योंकि सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है॥ ३०॥

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लङ्घयेत्॥ ३१॥

देवता, पितर और ब्राह्मण सत्यसे ही प्रसन्न होते हैं। सत्यको ही परम धर्म बताया गया है; अतः सत्यका कभी उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये॥ ३१॥

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात् सत्यं विशिष्यते॥ ३२॥

ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है॥ ३२॥

सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ।
दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया॥ ३३॥

भरतश्रेष्ठ! सत्य बोलनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं। किंतु इन्द्रियसंयम—दम उस सत्यके फलकी प्राप्तिमें कारण है। यह बात मैंने सम्पूर्ण हृदयसे कही है॥

असंशयं विनीतात्मा स वै स्वर्गे महीयते।
ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप॥ ३४॥

जिसने अपने मनको वशमें करके विनयशील बना दिया है, वह निश्चय ही स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। पृथ्वीनाथ! अब तुम ब्रह्मचर्यके गुणोंका वर्णन सुनो॥ ३४॥

आजन्ममरणाद् यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप॥ ३५॥

नरेश्वर! जो जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त यहाँ ब्रह्मचारी ही रह जाता है, उसके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं है, इस बातको जान लो॥ ३५॥

बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां तु ब्रह्मलोके वसन्त्युत।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्॥ ३६॥

ब्रह्मलोकमें ऐसे करोड़ों ऋषि निवास करते हैं, जो इस लोकमें सदा सत्यवादी, जितेन्द्रिय और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहे हैं॥ ३६॥

ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम्।
ब्राह्मणेन विशेषेण ब्राह्मणो ह्यग्निरुच्यते॥ ३७॥

राजन्! यदि ब्राह्मण विशेषरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करे तो वह सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है; क्योंकि ब्रह्मचारी ब्राह्मण अग्निस्वरूप कहा जाता है॥ ३७॥

प्रत्यक्षं हि तथा ह्येतद् ब्राह्मणेषु तपस्विषु।
बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः॥ ३८॥
तद् ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते।
मातापित्रोः पूजने यो धर्मस्तमपि मे शृणु॥ ३९॥

तपस्वी ब्राह्मणोंमें यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है; क्योंकि ब्रह्मचारीके आक्रमण करनेपर साक्षात् इन्द्र भी डरते हैं। ब्रह्मचर्यका वह फल यहाँ ऋषियोंमें दृष्टिगोचर होता है। अब तुम माता-पिता आदिके पूजनसे जो धर्म होता है, उसके विषयमें भी मुझसे सुनो॥ ३८-३९॥

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥ ४०॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान्॥ ४१॥

राजन्! जो पिता-माता, बड़े भाई, गुरु और आचार्यकी सेवा करता है और कभी उनके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं करता है, उसको मिलनेवाला फलको जान लो। उसे स्वर्गलोकमें सर्वसम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मनको वशमें रखनेवाला वह पुरुष गुरुशुश्रूषाके प्रभावसे कभी नरकका दर्शन नहीं करता॥ ४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

गोदानकी विधि, गौओंसे प्रार्थना, गौओंके निष्क्रय और गोदान करनेवाले नरेशोंके नाम

युधिष्ठिर उवाच

विधिं गवां परं श्रोतुमिच्छामि नृप तत्त्वतः।
येन तान्शाश्वताँल्लोकानर्थिनां प्राप्नुयादिह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—नरेश्वर ! अब मैं गोदानकी उत्तम विधिका यथार्थरूपसे श्रवण करना चाहता हूँ; जिससे प्रार्थी पुरुषोंके लिये अभीष्ट सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

न गोदानात् परं किंचिद् विद्यते वसुधाधिप।
गौर्हि न्यायागता दत्ता सद्यस्तारयते कुलम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—पृथ्वीनाथ ! गोदानसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि न्यायपूर्वक प्राप्त हुई गौका दान किया जाय तो वह समस्त कुलका तत्काल उद्धार कर देती है ॥२॥

सतामर्थे सम्यगुत्पादितो यः
स वै क्लृप्तः सम्यगाभ्यः प्रजाभ्यः।
तस्मात् पूर्वं ह्यादिकालप्रवृत्तं
गोदानार्थं शृणु राजन् विधिं मे ॥ ३ ॥

राजन् ! ऋषियोंने सत्पुरुषोंके लिये समीचीन भावसे जिस विधिको प्रकट किया है, वही इन प्रजाजनोंके लिये भलीभाँति निश्चित किया गया है। इसलिये तुम आदिकालसे प्रचलित हुई गोदानकी उस उत्तम विधिका मुझसे श्रवण करो॥

पुरा गोषूपनीतासु गोषु संदिग्धदर्शिना।
मान्धात्रा प्रकृतं प्रश्नं बृहस्पतिरभाषत ॥ ४ ॥

पूर्वकालकी बात है, जब महाराज मान्धाताके पास बहुत-सी गौएँ दानके लिये लायी गयीं, तब उन्होंने 'कैसी गौ दान करें ?' इस संदेहमें पड़कर बृहस्पतिजीसे तुम्हारी ही तरह प्रश्न किया। उस प्रश्नके उत्तरमें बृहस्पतिजीने इस प्रकार कहा—॥ ४ ॥

द्विजातिमतिसत्कृत्य श्वः कालमभिवेद्य च।
गोदानार्थे प्रयुञ्जीत रोहिणीं नियतव्रतः ॥ ५ ॥
आह्वानं च प्रयुञ्जीत समङ्गे बहुलेति च।
प्रविश्य च गवां मध्यमिमां श्रुतिमुदाहरेत् ॥ ६ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह नियमपूर्वक व्रतका पालन करे और ब्राह्मणको बुलाकर उसका अच्छी तरह सत्कार करके कहे कि 'मैं कल प्रातःकाल आपको एक गौ दान करूँगा।' तत्पश्चात् गोदानके लिये वह लाल रंगकी (रोहिणी) गौ मँगाये और 'समंगे बहुले' इस प्रकार कहकर गायको सम्बोधित करे, फिर गौओंके बीचमें प्रवेश करके इस निम्नाङ्कित श्रुतिका उच्चारण करे—॥ ५-६ ॥

गौर्मे माता वृषभः पिता मे
दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा।
प्रपद्यैवं शर्वरीमुष्य गोषु
पुनर्वाणीमुत्सृजेद् गोप्रदाने ॥ ७ ॥

"गौ मेरी माता है। वृषभ (बैल) मेरा पिता है। वे दोनों मुझे स्वर्ग तथा ऐहिक सुख प्रदान करें। गौ ही मेरा आधार है।' ऐसा कहकर गौओंकी शरण ले और उन्हींके साथ मौनावलम्बनपूर्वक रात बिताकर सबेरे गोदानकालमें ही मौन भङ्ग करे—बोले ॥ ७ ॥

स तामेकां निशां गोभिः समसख्यः समव्रतः।
ऐकात्म्यगमनात् सद्यः कलुषाद् विप्रमुच्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार गौओंके साथ एक रात रहकर उनके समान व्रतका पालन करते हुए उन्हींके साथ एकात्मभावको प्राप्त होनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ८ ॥

उत्सृष्टवृषवत्सा हि प्रदेया सूर्यदर्शने।
त्रिदिवं प्रतिपत्तव्यमर्थवादाशिषस्तव ॥ ९ ॥

राजन् ! सूर्योदयके समय बछड़ेसहित गौका तुम्हें दान करना चाहिये। इससे स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी और अर्थवाद मन्त्रोंमें जो आशीः (प्रार्थना) की गयी है, वह तुम्हारे लिये सफल होगी ॥ ९ ॥

ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे
गर्भोऽमृतस्य जगतोऽस्य प्रतिष्ठा।
क्षिते रोहः प्रवहः शश्वदेव
प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादाः ॥ १० ॥

(वे मन्त्र इस प्रकार हैं, गोदानके पश्चात् इनके द्वारा प्रार्थना करनी चाहिये—) 'गौएँ उत्साहसम्पन्न, बल और बुद्धिसे युक्त, यज्ञमें काम आनेवाले अमृतस्वरूप हविष्यके उत्पत्तिस्थान, इस जगत्की प्रतिष्ठा (आश्रय), पृथ्वीपर बैलोंके द्वारा खेती उपजानेवाली, संसारके अनादि प्रवाहको प्रवृत्त करनेवाली और प्रजापतिकी पुत्री हैं। यह सब गौओंकी प्रशंसा है ॥ १० ॥

गावो ममैनः प्रणुदन्तु सौर्या-
स्तथा सौम्याः स्वर्गयानाय सन्तु।
आत्मानं मे मातृवच्चाश्रयन्तु
तथानुक्ताः सन्तु सर्वाशिषो मे॥ ११ ॥

'सूर्य और चन्द्रमाके अंशसे प्रकट हुई वे गौएँ हमारे पापोंका नाश करें। हमें स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्तिमें सहायता दें। माताकी भाँति शरण प्रदान करें। जिन

इच्छाओंका इन मन्त्रोंद्वारा उल्लेख नहीं हुआ है और जिनका हुआ है, वे सभी गोमाताकी कृपासे मेरे लिये पूर्ण हों ॥

शोषोत्सर्गे कर्मभिर्देहमोक्षे
सरस्वत्यः श्रेयसे सम्प्रवृत्ताः ।
यूयं नित्यं सर्वपुण्योपवाह्यां
दिशध्वं मे गतिमिष्टां प्रसन्नाः ॥ १२ ॥

'गौओ ! जो लोग तुम्हारी सेवा करते हुए तुम्हारी आराधनामें लगे रहते हैं, उनके उन कर्मोंसे प्रसन्न होकर तुम उन्हें क्षय आदि रोगोंसे छुटकारा दिलाती हो और ज्ञानकी प्राप्ति कराकर उन्हें देहबन्धनसे भी मुक्त कर देती हो। जो मनुष्य तुम्हारी सेवा करते हैं, उनके कल्याणके लिये तुम सरस्वती नदीकी भाँति सदा प्रयत्नशील रहती हो। गोमाताओ ! तुम हमारे ऊपर सदा प्रसन्न रहो और हमें समस्त पुण्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली अभीष्ट गति प्रदान करो ॥

या वै यूयं सोऽहमद्यैव भावो
युष्मान् दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता ।
मनश्च्युता मन एवोपपन्नाः
संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ॥ १३ ॥
एवं तस्याग्रे पूर्वमर्धं वदेत
गवां दाता विधिवत् पूर्वदृष्टः ।
प्रतिब्रूयाच्छेषमर्धं द्विजातिः
प्रतिगृह्णन् वै गोप्रदाने विधिज्ञः ॥ १४ ॥

'इसके बाद प्रथम दृष्टिपथमें आया हुआ दाता पहले विधिपूर्वक निम्नाङ्कित आधे श्लोकका उच्चारण करे 'या वै यूयं सोऽहमद्यैव भावो युष्मान् दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता ।--गौओ ! तुम्हारा जो स्वरूप है, वही मेरा भी है—तुममें और हममें कोई अन्तर नहीं है; अतः आज तुम्हें दानमें देकर हमने अपने आपको ही दान कर दिया है ।' दाताके ऐसा कहनेपर दान लेनेवाला गोदानविधिका ज्ञाता ब्राह्मण शेष आधे श्लोकका उच्चारण करे—'मनश्च्युता मन एवोपपन्नाः संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ।--गौओ ! तुम शान्त और प्रचण्डरूप धारण करनेवाली हो । अब तुम्हारे ऊपर दाताका ममत्व (अधिकार) नहीं रहा, अब तुम मेरे अधिकारमें आ गयी हो; अतः अभीष्ट भोग प्रदान करके तुम मुझे और दाताको भी प्रसन्न करो' ॥ १३-१४ ॥

गोप्रदानीति वक्तव्यमर्घ्यवस्त्रवसुप्रदः ।
ऊर्ध्वास्या भवितव्या च वैष्णवीति च चोदयेत् ॥ १५ ॥
नाम संकीर्तयेत् तस्या यथासंख्योत्तरं स वै ।

'जो गौके निष्क्रयरूपसे उसका मूल्य, वस्त्र अथवा सुवर्ण दान करता है, उसको भी गोदाता ही कहना चाहिये । मूल्य, वस्त्र एवं सुवर्णरूपमें दी जानेवाली गौओंका नाम क्रमशः ऊर्ध्वास्या, भवितव्या और वैष्णवी है । संकल्पके समय इनके इन्हीं नामोंका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'इमां ऊर्ध्वास्यां, 'इमां भवितव्यां' 'इमां वैष्णवीं तुभ्यमहं संप्रददे त्वं गृहाण—मैं यह ऊर्ध्वास्या, भवितव्या या वैष्णवी गौ आपको दे रहा हूँ, आप इसे ग्रहण करें ।'–ऐसा कहकर ब्राह्मणको वह दान ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करना चाहिये ॥ १५½ ॥

फलं षट्त्रिंशदष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १६ ॥
एवमेतान् गुणान् विद्याद् गवादीनां यथाक्रमम् ।
गोप्रदाता समाप्नोति समस्तानष्टमे क्रमे ॥ १७ ॥

'इनके दानका फल क्रमशः इस प्रकार है–गौका मूल्य देनेवाला छत्तीस हजार वर्षोंतक, गौकी जगह वस्त्र दान करनेवाला आठ हजार वर्षोंतक तथा गौके स्थानमें सुवर्ण देनेवाला पुरुष बीस हजार वर्षोंतक परलोकमें सुख भोगता है । इस प्रकार गौओंके निष्क्रय दानका क्रमशः फल बताया गया है । इसे अच्छी तरह जान लेना चाहिये । साक्षात् गौका दान लेकर जब ब्राह्मण अपने घरकी ओर जाने लगता है, उस समय उसके आठ पग जाते-जाते ही दाताको अपने दानका फल मिल जाता है ॥ १६-१७ ॥

गोदः शीली निर्भयश्चार्घदाता
न स्याद् दुःखी वसुदाता च कामम् ।
उपस्योढा भारते यश्च विद्वान्
विख्यातास्ते वैष्णवाश्चन्द्रलोकाः ॥ १८ ॥

'साक्षात् गौका दान करनेवाला शीलवान् और उसका मूल्य देनेवाला निर्भय होता है तथा गौकी जगह इच्छानुसार सुवर्ण दान करनेवाला मनुष्य कभी दुःखमें नहीं पड़ता है । जो प्रातःकाल उठकर नैत्यिक नियमोंका अनुष्ठान करनेवाला और महाभारतका विद्वान् है तथा जो विख्यात वैष्णव हैं, वे सब चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥ १८ ॥

गा वै दत्त्वा गोव्रती स्यात् त्रिरात्रं
निशां चैकां संवसेतेह ताभिः ।
कामाष्टम्यां वर्तितव्यं त्रिरात्रं
रसैर्वा गोः शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ १९ ॥

'गौका दान करनेके पश्चात् मनुष्यको तीन राततक गोव्रतका पालन करना चाहिये और यहाँ एक रात गौओंके साथ रहना चाहिये । कामाष्टमीसे लेकर तीन राततक गोबर, गोदुग्ध अथवा गोरसमात्रका आहार करना चाहिये ॥ १९ ॥

देवव्रती स्याद् वृषभप्रदाने
वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने ।
तथा गवां विधिमासाद्य यज्वा
लोकानग्र्यान् विन्दते नाविधिज्ञः ॥ २० ॥

'जो पुरुष एक बैलका दान करता है, वह देवव्रती (सूर्यमण्डलका भेदन करके जानेवाला ब्रह्मचारी) होता

है। जो एक गाय और एक बैल दान करता है, उसे वेदोंकी प्राप्ति होती है तथा जो विधिपूर्वक गोदान यज्ञ करता है, उसे उत्तम लोक मिलते हैं, परंतु जो विधिको नहीं जानता, उसे उत्तम फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

कामान् सर्वान् पार्थिवानेकसंस्थान्
यो वै दद्यात् कामदुघां च धेनुम्।
सम्यक्ताः स्युर्हव्यकव्यौघवत्य-
स्तासामुक्ष्णां ज्यायसां सम्प्रदानम्॥२१॥

'जो इच्छानुसार दूध देनेवाली धेनुका दान करता है, वह मानो समस्त पार्थिव भोगोंका एक साथ ही दान कर देता है। जब एक गौके दानका ऐसा माहात्म्य है, तब हव्य-कव्यकी राशिसे सुशोभित होनेवाली बहुत-सी गौओंका यदि विधिपूर्वक दान किया जाय तो कितना अधिक फल हो सकता है! नौजवान बैलोंका दान उन गौओंसे भी अधिक पुण्य-दायक होता है ॥ २१॥

न चाशिष्यायाव्रतायोपकुर्या-
न्नाश्रद्दधानाय न वक्रबुद्धये।
गुह्यो ह्ययं सर्वलोकस्य धर्मो
नेमं धर्मं यत्र तत्र प्रजल्पेत् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य अपना शिष्य नहीं है, जो व्रतका पालन नहीं करता, जिसमें श्रद्धाका अभाव है तथा जिसकी बुद्धि कुटिल है, उसे इस गोदान-विधिका उपदेश न दे; क्योंकि यह सबसे गोपनीय धर्म है; अतः इसका यत्र-तत्र सर्वत्र प्रचार नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

सन्ति लोकेऽश्रद्दधाना मनुष्याः
सन्ति क्षुद्रा राक्षसमानुषेषु।
एषामेतद् दीयमानं ह्यनिष्टं
ये नास्तिक्यं चाश्रयन्तेऽल्पपुण्याः ॥२३॥

'संसारमें बहुत-से अश्रद्धालु हैं (जो इन सब बातोंपर विश्वास नहीं करते) तथा राक्षसी प्रकृतिके मनुष्योंमें बहुत-से ऐसे क्षुद्र पुरुष हैं (जिन्हें ये बातें अच्छी नहीं लगतीं), कितने ही पुण्यहीन मानव नास्तिकताका सहारा लिये रहते हैं। उन सबको इसका उपदेश देना अभीष्ट नहीं है, उलटे अनिष्टकारक होता है' ॥ २३ ॥

बार्हस्पत्यं वाक्यमेतन्निशम्य
ये राजानो गोप्रदानानि दत्त्वा।
लोकान् प्राप्ताः पुण्यशीलाः प्रवृत्ता-
स्तान् मे राजन् कीर्त्यमानान् निबोध॥२४॥

राजन्! बृहस्पतिजीके इस उपदेशको सुनकर जिन राजाओंने गोदान करके उसके प्रभावसे उत्तम लोक प्राप्त किये तथा जो सदाके लिये पुण्यात्मा बनकर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त हुए, उनके नामोंका उल्लेख करता हूँ, सुनो ॥ २४ ॥

उशीनरो विष्वगश्वो नृगश्च
भगीरथो विश्रुतो यौवनाश्वः।
मान्धाता वै मुचुकुन्दश्च राजा
भूरिद्युम्नो नैषधः सोमकश्च ॥ २५ ॥
पुरूरवो भरतश्चक्रवर्ती
यस्यान्ववाये भरताः सर्व एव।
तथा वीरो दाशरथिश्च रामो
ये चाप्यन्ये विश्रुताः कीर्तिमन्तः ॥ २६ ॥
तथा राजा पृथुकर्मा दिलीपो
दिवं प्राप्तो गोप्रदानैर्विधिज्ञः।
यज्ञैर्दानैस्तपसा राजधर्मै-
र्मान्धाताभूद् गोप्रदानैश्च युक्तः॥ २७ ॥

उशीनर, विष्वगश्व, नृग, भगीरथ, सुविख्यात युवनाश्वकुमार महाराज मान्धाता, राजा मुचुकन्द, भूरिद्युम्न, निषधनरेश नल, सोमक, पुरूरवा, चक्रवर्ती भरत—जिनके वंशमें होनेवाले सभी राजा भारत कहलाये, दशरथनन्दन वीर श्रीराम, अन्यान्य विख्यात कीर्तिवाले नरेश तथा महान् कर्म करनेवाले राजा दिलीप—इन समस्त विधिज्ञ नरेशोंने गोदान करके स्वर्गलोक प्राप्त किया है। राजा मान्धाता तो यज्ञ, दान, तपस्या, राजधर्म तथा गोदान आदि सभी श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ २५–२७ ॥

तस्मात् पार्थ त्वमपीमां मयोक्तां
बार्हस्पतीं भारतीं धारयस्व।
द्विजाग्र्येभ्यः सम्प्रयच्छस्व प्रीतो
गाः पुण्या वै प्राप्य राज्यं कुरूणाम् ॥ २८ ॥

अतः कुन्तीनन्दन! तुम भी मेरे कहे हुए बृहस्पतिजीके इस उपदेशको धारण करो और कौरव-राज्यपर अधिकार पाकर उत्तम ब्राह्मणको प्रसन्नतापूर्वक पवित्र गौओंका दान करो ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा सर्वं कृतवान् धर्मराजो
भीष्मेणोक्तो विधिवद् गोप्रदाने।
स मान्धातुर्देवदेवोपदिष्टं
सम्यग्धर्मं धारयामास राजा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीने जब इस प्रकार विधिवत् गोदान करनेकी आज्ञा दी, तब धर्मराज युधिष्ठिरने सब वैसा ही किया तथा देवताओंके भी देवता बृहस्पतिजीने मान्धाताके लिये जिस उत्तम धर्मका उपदेश किया था, उसको भी भलीभाँति स्मरण रखा ॥

इति नृप सततं गवां प्रदाने
यवशकलान् सह गोमयैः पिबानः।

क्षितितलशयनः शिखी यतात्मा
वृष इव राजवृषस्तदा बभूव ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उन दिनों सदा गोदानके लिये उद्यत होकर गोबरके साथ जौके कणोंका आहार करते हुए मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक पृथ्वीपर शयन करने लगे। उनके सिरपर जटाएँ बढ़ गयीं और वे साक्षात् धर्मके समान देदीप्यमान होने लगे ॥ ३० ॥

नरपतिरभवत् सदैवताभ्यः
प्रयतमनास्त्वभिसंस्तुवंश्च ताः स्म।
न च धुरि नृप गामयुङ्क भूय
स्तुरगवरैरगमच्च यत्र तत्र ॥ ३१ ॥

नरेन्द्र ! राजा युधिष्ठिर सदा ही गौओंके प्रति विनीत चित्त होकर उनकी स्तुति करते रहते थे। उन्होंने फिर कभी बैलका अपनी सवारीमें उपयोग नहीं किया। वे अच्छे-अच्छे घोड़ोंद्वारा ही इधर-उधरकी यात्रा करते थे॥३१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोदानकथने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानकथनविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

कपिला गौओंकी उत्पत्ति और महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा भूयः शान्तनवं नृपम्।
गोदानविस्तरं धर्मान् पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने पुनः शान्तनुनन्दन भीष्मसे गोदानकी विस्तृत विधि तथा तत्सम्बन्धी धर्मोंके विषयमें विनयपूर्वक जिज्ञासा की ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गोप्रदानगुणान् सम्यक् पुनर्मे ब्रूहि भारत।
न हि तृप्याम्यहं वीर शृण्वानोऽमृतमीदृशम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भारत ! आप गोदानके उत्तम गुणोंका भलीभाँति पुनः मुझसे वर्णन कीजिये। वीर ! ऐसा अमृतमय उपदेश सुनकर मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो धर्मराजेन तदा शान्तनवो नृपः।
सम्यगाह गुणांस्तस्मै गोप्रदानस्य केवलान् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म केवल गोदान-सम्बन्धी गुणोंका भलीभाँति (विधिवत्) वर्णन करने लगे ॥

भीष्म उवाच

वत्सलां गुणसम्पन्नां तरुणीं वस्त्रसंयुताम्।
दत्त्वेदृशीं गां विप्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! वात्सल्य-भावसे युक्त, गुणवती और जवान गायको वस्त्र ओढ़ाकर उसका दान करे। ब्राह्मणको ऐसी गायका दान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

असुर्या नाम ते लोका गां दत्त्वा तान् न गच्छति।
पीतोदकां जग्धतृणां नष्टक्षीरां निरिन्द्रियाम् ॥ ५ ॥
जरारोगोपसम्पन्नां जीर्णां वापीमिवाजलाम्।
दत्त्वा तमः प्रविशति द्विजं क्लेशेन योजयेत् ॥ ६ ॥

असुर्य नामके जो अन्धकारमय लोक (नरक) हैं, उनमें गोदान करनेवाले पुरुषको नहीं जाना पड़ता। जिसका घास खाना और पानी पीना प्रायः समाप्त हो चुका हो, जिसका दूध नष्ट हो गया है, जिसकी इन्द्रियाँ काम न दे सकती हों, जो बुढ़ापा और रोगसे आक्रान्त होनेके कारण शरीरसे जीर्ण-शीर्ण हो बिना पानीकी बावड़ीके समान व्यर्थ हो गयी हो, ऐसी गौका दान करके मनुष्य ब्राह्मणको व्यर्थ कष्टमें डालता है और स्वयं भी घोर नरकमें पड़ता है ॥ ५-६ ॥

रुष्टा दुष्टा व्याधिता दुर्बला वा
नो दातव्या याश्च मूल्यैरदत्तैः।
क्लेशैर्विप्रं योऽफलैः संयुनक्ति
तस्यावीर्याश्चाफलाश्चैव लोकाः ॥ ७ ॥

जो क्रोध करनेवाली, दुष्टा, रोगिणी और दुबली-पतली हो तथा जिसका दाम न चुकाया गया हो, ऐसी गौका दान करना कदापि उचित नहीं है। जो इस तरहकी गाय देकर ब्राह्मणको व्यर्थ कष्टमें डालता है, उसे निर्बल और निष्फल लोक ही प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः
सर्वे प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा
तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ८ ॥

हृष्ट-पुष्ट, सुलक्षणा, जवान तथा उत्तम गन्धवाली गायकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं। जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, वैसे ही गौओंमें कपिला गौ उत्तम मानी गयी है ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मात् समाने बहुलाप्रदाने
सद्भिः प्रशस्तं कपिलाप्रदानम्।
विशेषमिच्छामि महाप्रभावं
श्रोतुं समर्थोऽस्मि भवान् प्रवक्तुम्॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसी भी रंगकी गायका दान किया जाय, गोदान तो एक-सा ही होगा ? फिर सत्पुरुषोंने कपिला गौकी ही अधिक प्रशंसा क्यों की है ? मैं कपिलाके महान् प्रभावको विशेषरूपसे सुनना चाहता हूँ। मैं सुननेमें समर्थ हूँ और आप कहनेमें ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

वृद्धानां ब्रुवतां तात श्रुतं मे यत् पुरातनम्।
वक्ष्यामि तदशेषेण रोहिण्यो निर्मिता यथा ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे रोहिणी (कपिला) की उत्पत्तिका जो प्राचीन वृत्तान्त सुना है, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १० ॥

प्रजाः सृजेति चादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा।
असृजद् वृत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने प्रजापति दक्षको यह आज्ञा दी कि 'तुम प्रजाकी सृष्टि करो,' किंतु प्रजापति दक्षने प्रजाके हितकी इच्छासे सर्वप्रथम उनकी आजीविकाका ही निर्माण किया ॥ ११ ॥

यथा ह्यमृतमाश्रित्य वर्तयन्ति दिवौकसः।
तथा वृत्तिं समाश्रित्य वर्तयन्ति प्रजा विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! जैसे देवता अमृतका आश्रय लेकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजा आजीविकाके सहारे जीवन धारण करती है ॥ १२ ॥

अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठाः सदा नराः।
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १३ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणी सदा श्रेष्ठ हैं। उनमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें यज्ञ प्रतिष्ठित हैं ॥ १३ ॥

यज्ञैरवाप्यते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः।
ततो देवाः प्रमोदन्ते पूर्वं वृत्तिस्ततः प्रजाः ॥ १४ ॥

यज्ञसे सोमकी प्राप्ति होती है और वह यज्ञ गौओंमें प्रतिष्ठित है, जिससे देवता आनन्दित होते हैं; अतः पहले आजीविका है फिर प्रजा ॥ १४ ॥

प्रजातान्येव भूतानि प्राक्रोशन् वृत्तिकाङ्क्षया।
वृत्तिदं चान्वपद्यन्त तृषिताः पितृमातृवत् ॥ १५ ॥

समस्त प्राणी उत्पन्न होते ही जीविकाके लिये कोलाहल करने लगे। जैसे भूखे-प्यासे बालक अपने मा-बापके पास जाते हैं, उसी प्रकार समस्त जीव जीविकादाता दक्षके पास गये ॥ १५ ॥

इतीदं मनसा गत्वा प्रजासर्गार्थमात्मनः।
प्रजापतिस्तु भगवानमृतं प्रापिबत् तदा ॥ १६ ॥

प्रजाजनोंकी इस स्थितिपर मन-ही-मन विचार करके भगवान् प्रजापतिने प्रजावर्गकी आजीविकाके लिये उस समय अमृतका पान किया ॥ १६ ॥

स गतस्तस्य तृप्तिं तु गन्धं सुरभिमुद्गिरन्।
ददर्शोद्गारसंवृत्तां सुरभिं मुखजां सुताम् ॥ १७ ॥

अमृत पीकर जब वे पूर्ण तृप्त हो गये, तब उनके मुखसे सुरभि (मनोहर) गन्ध निकलने लगी। सुरभि गन्धके निकलनेके साथ ही 'सुरभि' नामक गौ प्रकट हो गयी, जिसे प्रजापतिने अपने मुखसे प्रकट हुई पुत्रीके रूपमें देखा ॥

सासृजत् सौरभेयीस्तु सुरभिर्लोकमातृकाः।
सुवर्णवर्णाः कपिलाः प्रजानां वृत्तिधेनवः ॥ १८ ॥

उस सुरभिने बहुत-सी 'सौरभेयी' नामवाली गौओंको उत्पन्न किया, जो सम्पूर्ण जगत्के लिये माताके समान थीं। उन सबका रंग सुवर्णके समान उद्दीप्त हो रहा था। वे कपिला गौएँ प्रजाजनोंके लिये आजीविकारूप दूध देनेवाली थीं ॥ १८ ॥

तासाममृतवर्णानां क्षरन्तीनां समन्ततः।
बभूवामृतजः फेनः स्रवन्तीनामिवोर्मिजः ॥ १९ ॥

जैसे नदियोंकी लहरोंसे फेन उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चारों ओर दूधकी धारा बहाती हुई अमृत (सुवर्ण) के समान वर्णवाली उन गौओंके दूधसे फेन उठने लगा ॥ १९ ॥

स वत्समुखविभ्रष्टो भवस्य भुवि तिष्ठतः।
शिरस्यवाप तत् क्रुद्धः स तदैक्षत च प्रभुः ॥ २० ॥
ललाटप्रभवेणाक्ष्णा रोहिणीं प्रदहन्निव।

एक दिन भगवान् शङ्कर पृथ्वीपर खड़े थे। उसी समय सुरभिके एक बछड़ेके मुँहसे फेन निकलकर उनके मस्तकपर गिर पड़ा। इससे वे कुपित हो उठे और अपने ललाटजनित नेत्रसे, मानो रोहिणीको भस्म कर डालेंगे, इस तरह उसकी ओर देखने लगे ॥ २०½ ॥

तत्तेजस्तु ततो रौद्रं कपिलास्ता विशाम्पते ॥ २१ ॥
नानावर्णत्वमनयन्मेघानिव दिवाकरः।

प्रजानाथ ! रुद्रका वह भयंकर तेज जिन-जिन कपिलाओं पर पड़ा, उनके रंग नाना प्रकारके हो गये। जैसे सूर्य बादलोंको अपनी किरणोंसे बहुरंगा बना देते हैं, उसी प्रकार उस तेजने उन सबको नाना वर्णवाली कर दिया ॥ २१½ ॥

यास्तु तस्मादपक्रम्य सोममेवाभिसंश्रिताः ॥ २२ ॥
यथोत्पन्नाः स्ववर्णास्थास्ता होता नान्यवर्णगाः ।
अथ क्रुद्धं महादेवं प्रजापतिरभाषत ॥ २३ ॥

परंतु जो गौएँ वहाँसे भागकर चन्द्रमाकी ही शरणमें चली गयीं, वे जैसे उत्पन्न हुई थीं, वैसे ही रह गयीं। उनका रंग नहीं बदला। उस समय क्रोधमें भरे हुए महादेवजीसे दक्षप्रजापतिने कहा—॥ २२-२३ ॥

अमृतेनावसिक्तस्त्वं नोच्छिष्टं विद्यते गवाम् ।
यथा ह्यमृतमादाय सोमो विस्यन्दते पुनः ॥ २४ ॥
तथा क्षीरं क्षरन्त्येता रोहिण्योऽमृतसम्भवम् ।

'प्रभो! आपके ऊपर अमृतका छींटा पड़ा है। गौओंका दूध बछड़ोंके पीनेसे जूठा नहीं होता। जैसे चन्द्रमा अमृतका संग्रह करके फिर उसे बरसा देता है, उसी प्रकार ये रोहिणी गौएँ अमृतसे उत्पन्न दूध देती हैं ॥ २४½ ॥

न दुष्यत्यनिलो नाग्निर्न सुवर्णं न चोदधिः ॥ २५ ॥
नामृतेनामृतं पीतं वत्सपीता न वत्सला ।
इमाल्ँलोकान् भरिष्यन्ति हविषा प्रस्रवेण च ॥ २६ ॥
आसामैश्वर्यमिच्छन्ति सर्वेऽमृतमयं शुभम् ।

'जैसे वायु, अग्नि, सुवर्ण, समुद्र और देवताओंका पीया हुआ अमृत—ये वस्तुएँ उच्छिष्ट नहीं होतीं, उसी प्रकार बछड़ोंके पीनेपर उन बछड़ोंके प्रति स्नेह रखनेवाली गौ भी दूषित या उच्छिष्ट नहीं होती। (तात्पर्य यह कि दूध पीते समय बछड़ेके मुँहसे गिरा हुआ झाग अशुद्ध नहीं माना जाता।) ये गौएँ अपने दूध और घीसे इस सम्पूर्ण जगत्का पालन करेंगी। सब लोग चाहते हैं कि इन गौओंके पास मङ्गलकारी अमृतमय दुग्धकी सम्पत्ति बनी रहे'॥

वृषभं च ददौ तस्मै सह गोभिः प्रजापतिः ॥ २७ ॥
प्रसादयामास मनस्तेन रुद्रस्य भारत ।

भरतनन्दन! ऐसा कहकर प्रजापतिने महादेवजीको बहुत-सी गौएँ और एक बैल भेंट किये तथा इसी उपायके द्वारा उनके मनको प्रसन्न किया ॥ २७½ ॥

प्रीतश्चापि महादेवश्चकार वृषभं तदा ॥ २८ ॥
ध्वजं च वाहनं चैव तस्मात् स वृषभध्वजः ।

महादेवजी प्रसन्न हुए। उन्होंने वृषभको अपना वाहन बनाया और उसीकी आकृतिसे अपनी ध्वजाको चिह्नित किया, इसीलिये वे 'वृषभध्वज' कहलाये ॥ २८½ ॥

ततो देवैर्महादेवस्तदा पशुपतिः कृतः ।
ईश्वरः स गवां मध्ये वृषभाङ्कः प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर देवताओंने महादेवजीको पशुओंका अधिपति बना दिया और गौओंके बीचमें उन महेश्वरका नाम 'वृषभाङ्क' रख दिया ॥ २९ ॥

एवमव्यग्रवर्णानां कपिलानां महौजसाम् ।
प्रदाने प्रथमः कल्पः सर्वासामेव कीर्तितः ॥ ३० ॥

इस प्रकार कपिला गौएँ अत्यन्त तेजस्विनी और शान्त वर्णवाली हैं। इसीसे दानमें उन्हें सब गौओंसे प्रथम स्थान दिया गया है ॥ ३० ॥

लोकज्येष्ठा लोकवृत्तिप्रवृत्ता
रुद्रोपेताः सोमविष्यन्दभूताः ।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च
गा वै दत्त्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥ ३१ ॥

गौएँ संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हैं। ये जगत्को जीवन देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई हैं। भगवान् शङ्कर सदा उनके साथ रहते हैं। वे चन्द्रमासे निकले हुए अमृतसे उत्पन्न हुई हैं तथा शान्त, पवित्र, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली और जगत्को प्राणदान देनेवाली हैं; अतः गोदान करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका दाता माना गया है ॥ ३१ ॥

इदं गवां प्रभवविधानमुत्तमं
पठन् सदाशुचिरपि मङ्गलप्रियः ।
विमुच्यते कलिकलुषेण मानवः
श्रियं सुतान् धनपशुमाप्नुयात् सदा ॥३२॥

गौओंकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस उत्तम कथाका सदा पाठ करनेवाला मनुष्य अपवित्र हो तो भी मङ्गलप्रिय हो जाता है और कलियुगके सारे दोषोंसे छूट जाता है। इतना ही नहीं, उसे पुत्र, लक्ष्मी, धन तथा पशु आदिकी सदा प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

हव्यं कव्यं तर्पणं शान्तिकर्म
यानं वासो वृद्धबालस्य तुष्टिः ।
एतान् सर्वान् गोप्रदाने गुणान् वै
दाता राजन्नाप्नुयाद् वै सदैव ॥ ३३ ॥

राजन्! गोदान करनेवालेको हव्य, कव्य, तर्पण और शान्तिकर्मका फल तथा वाहन, वस्त्र एवं बालकों और वृद्धोंको संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार ये सब गोदानके गुण हैं। दाता इन सबको सदा पाता ही है ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितामहस्याथ निशम्य वाक्यं
राजा सह भ्रातृभिराजमीढः ।
सुवर्णवर्णानडुहस्तथा गाः
पार्थो ददौ ब्राह्मणसत्तमेभ्यः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पितामह भीष्मकी ये बातें सुनकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिर और उनके भाइयोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सोनेके समान रंगवाले बैलों और उत्तम गौओंका दान किया ॥ ३४ ॥

तथैव तेभ्योऽपि ददौ द्विजेभ्यो
गवां सहस्राणि शतानि चैव।
यज्ञान् समुद्दिश्य च दक्षिणार्थे
लोकान् विजेतुं परमां च कीर्तिम्॥ ३५ ॥

इसी प्रकार यज्ञोंकी दक्षिणाके लिये, पुण्यलोकोंपर विजय पानेके लिये तथा संसारमें अपनी उत्तम कीर्तिका विस्तार करनेके लिये राजाने उन्हीं ब्राह्मणोंको सैकड़ों और हजारों गौएँ दान कीं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रभवकथने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गौओंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

वसिष्ठका सौदासको गोदानकी विधि एवं महिमा बताना

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
इक्ष्वाकुवंशजो राजा सौदासो वदतां वरः ॥ १ ॥
सर्वलोकचरं सिद्धं ब्रह्मकोशं सनातनम्।
पुरोहितमभिप्रष्टुमभिवाद्योपचक्रमे ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! एक समयकी बात है, वक्ताओंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी राजा सौदासने सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले, वैदिक ज्ञानके भण्डार, सिद्ध सनातन ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठजीसे, जो उन्हींके पुरोहित थे, प्रणाम करके इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥ १-२ ॥

सौदास उवाच

त्रैलोक्ये भगवन् किंस्वित् पवित्रं कथ्यतेऽनघ।
यत् कीर्तयन् सदा मर्त्यः प्राप्नुयात् पुण्यमुत्तमम्॥३॥

सौदास बोले—भगवन्! निष्पाप महर्षे! तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र वस्तु कौन कही जाती है, जिसका नाम लेनेमात्रसे मनुष्यको सदा उत्तम पुण्यकी प्राप्ति हो सके ?॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच वचनं प्रणताय हितं तदा।
गवामुपनिषद्विद्वान् नमस्कृत्य गवां शुचिः ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने चरणोंमें पड़े हुए राजा सौदाससे गवोपनिषद् (गौओंकी महिमाके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाली विद्या) के विद्वान् पवित्र महर्षि वसिष्ठने गौओंको नमस्कार करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

गावः सुरभिगन्धिन्यस्तथा गुग्गुलुगन्धयः।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत्॥ ५ ॥

'राजन्! गौओंके शरीरसे अनेक प्रकारकी मनोरम सुगन्ध निकलती रहती है तथा बहुतेरी गौएँ गुग्गुलके समान गन्धवाली होती हैं। गौएँ समस्त प्राणियोंकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं और गौएँ ही उनके लिये महान् मङ्गलकी निधि हैं॥५॥

गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति॥ ६ ॥

'गौएँ ही भूत और भविष्य हैं। गौएँ ही सदा रहनेवाली पुष्टिका कारण तथा लक्ष्मीकी जड़ हैं। गौओंको जो कुछ दिया जाता है, उसका पुण्य कभी नष्ट नहीं होता ॥ ६ ॥

अन्नं हि परमं गावो देवानां परमं हविः।
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ॥ ७ ॥

'गौएँ ही सर्वोत्तम अन्नकी प्राप्तिमें कारण हैं। वे ही देवताओंको उत्तम हविष्य प्रदान करती हैं। स्वाहाकार (देवयज्ञ) और वषट्कार (इन्द्रयाग)—ये दोनों कर्म सदा गौओंपर ही अवलम्बित हैं ॥ ७ ॥

गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।
गावो भविष्यं भूतं च गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥

'गौएँ ही यज्ञका फल देनेवाली हैं। उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है। गौएँ ही भूत और भविष्य हैं। उन्हींमें यज्ञ प्रतिष्ठित हैं अर्थात् यज्ञ गौओंपर ही निर्भर है ॥ ८ ॥

सायं प्रातश्च सततं होमकाले महाद्युते।
गावो ददति वै हौम्यमृषिभ्यः पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

'महातेजस्वी पुरुषप्रवर! प्रातःकाल और सायंकाल सदा होमके समय ऋषियोंको गौएँ ही हवनीय पदार्थ (घृत आदि) देती हैं ॥ ९ ॥

यानि कानि च दुर्गाणि दुष्कृतानि कृतानि च।
तरन्ति चैव पाप्मानं धेनुं ये ददति प्रभो ॥ १० ॥

'प्रभो! जो लोग (नवप्रसूतिका दूध देनेवाली) गौका दान करते हैं, वे जो कोई भी दुर्गम संकट आनेवाले होते हैं, उन सबसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंसे तथा समस्त पापसमूहसे भी तर जाते हैं ॥ १० ॥

एकां च दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती।
शतं सहस्रगुर्दद्यात् सर्वे तुल्यफला हि ते ॥ ११ ॥

'जिसके पास दस गौएँ हों, वह एक गौका दान करे। जो सौ गायें रखता हो, वह दस गौओंका दान करे और जिसके पास एक हजार गौएँ मौजूद हों, वह सौ गौएँ दानमें दे दे तो इन सबको बराबर ही फल मिलता है ॥ ११ ॥

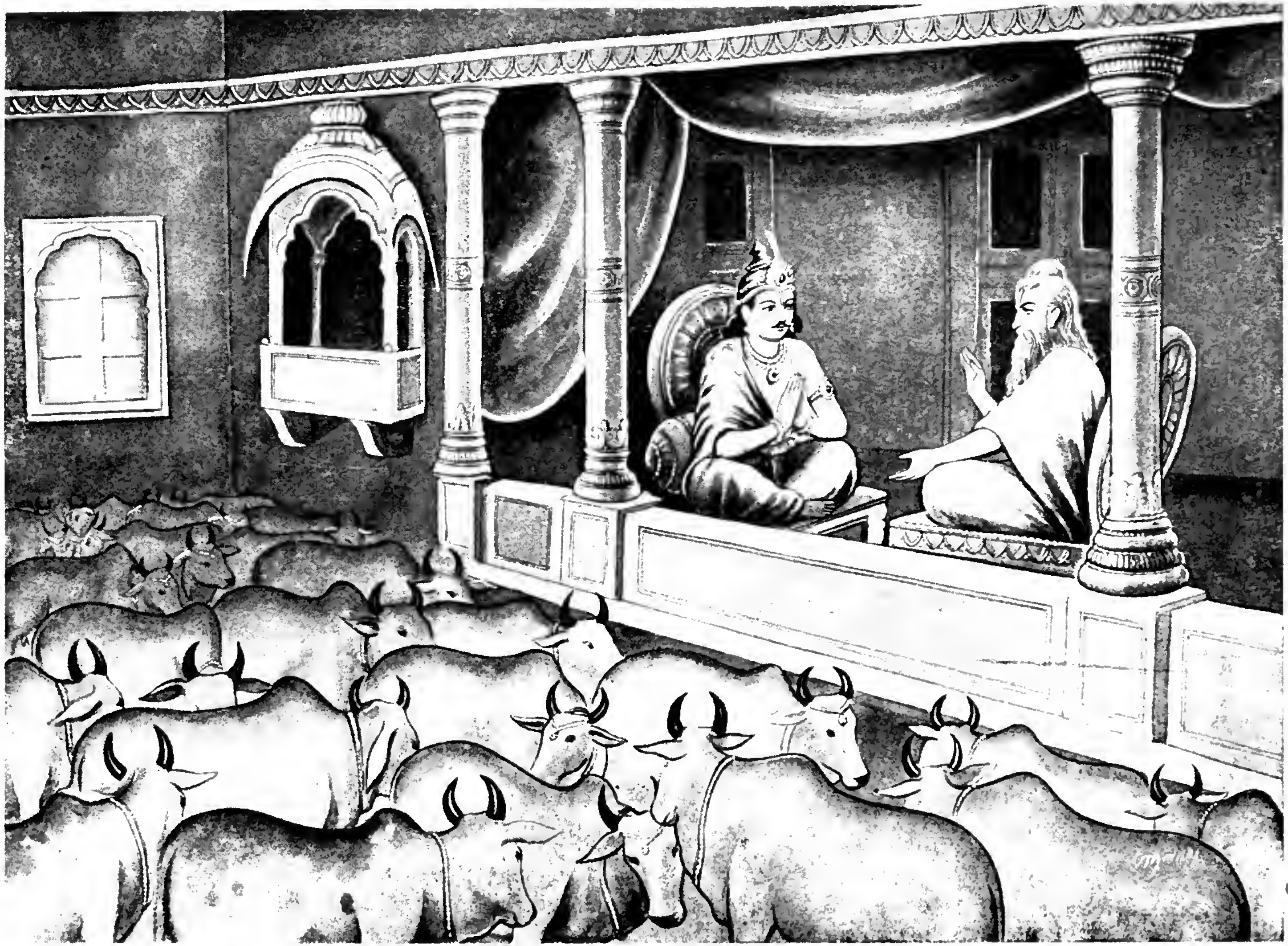

महर्षि वशिष्ठका राजा सौदाससे गौओंका माहात्म्य-कथन

नाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
मृद्धो यश्च कीनाशो नार्घ्यमर्हन्ति ते त्रयः ॥ १२ ॥

'जो सौ गौओंका स्वामी होकर भी अग्निहोत्र नहीं करता, हजार गौएँ रखकर भी यज्ञ नहीं करता तथा जो धनी कर भी कृपणता नहीं छोड़ता—ये तीनों मनुष्य अर्घ्य सम्मान) पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १२ ॥

पिलां ये प्रयच्छन्ति सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
वतां वस्त्रसंवीतामुभौ लोकौ जयन्ति ते ॥ १३ ॥

'जो उत्तम लक्षणोंसे युक्त कपिला गौको वस्त्र ओढ़ाकर ड़ेसहित उसका दान करते हैं और उसके साथ दूध नेके लिये एक काँस्यका पात्र भी देते हैं, वे इहलोक और लोक दोनोंपर विजय पाते हैं ॥ १३ ॥

ानमिन्द्रियोपेतं शतेन शतयूथपम् ।
न्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिशृङ्गमलङ्कृतम् ॥ १४ ॥
र्भं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाय परंतप ।
र्यं तेऽधिगच्छन्ति जायमानाः पुनः पुनः ॥ १५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! जो लोग जवान, इन्द्रियोंसे सम्पन्न, सौ गायोंके यूथपति, बड़ी-बड़ी ींवाले गवेन्द्र वृषभ (साँड़) को सुसज्जित करके सौ ासहित उसे श्रोत्रिय ब्राह्मणको दान करते हैं, वे जब-जब संसारमें जन्म लेते हैं, तब-तब महान् ऐश्वर्यके भागी ते हैं ॥ १४-१५ ॥

ीर्तयित्वा गाः सुप्यात् तासां संस्मृत्य चोत्पतेत् ।
ंप्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥ १६ ॥

'गौओंका नाम-कीर्तन किये बिना न सोये । उनका ग करके ही उठे और सबेरे-शाम उन्हें नमस्कार करे । स मनुष्यको बल एवं पुष्टि प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

ां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथंचन ।
ासां मांसमश्नीयाद् गवां पुष्टिं तथाप्नुयात् ॥ १७ ॥

'गौओंके मूत्र और गोबरसे किसी प्रकार उद्विग्न न हो— ृणा न करे और उनका मांस न खाय । इससे मनुष्यको पुष्टि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

गाः संकीर्तयेन्नित्यं नावमन्येत तास्तथा ।
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः सम्प्रकीर्तयेत् ॥ १८ ॥

'प्रतिदिन गौओंका नाम ले । उनका कभी अपमान न करे यदि बुरे स्वप्न दिखायी दें तो मनुष्य गोमाताका नाम ले ॥ १८ ॥

गोमयेन सदा स्नायात् करीषे चापि संविशेत् ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥ १९ ॥

'प्रतिदिन शरीरमें गोबर लगाकर स्नान करे । सूखे हुए गोबरपर बैठे । उसपर थूक न फेंके, मल-मूत्र न छोड़े तथा गौओंके तिरस्कारसे बचता रहे ॥ १९ ॥

सार्द्रे चर्मणि भुञ्जीत निरीक्षेद् वारुणीं दिशम् ।
वाग्यतः सर्पिषा भूमौ गवां पुष्टिं सदाश्नुते ॥ २० ॥

'भीगे हुए गोचर्मपर बैठकर भोजन करे । पश्चिम दिशाकी ओर देखे और मौन हो भूमिपर बैठकर घीका भक्षण करे । इससे सदा गौओंकी वृद्धि एवं पुष्टि होती है ॥ २० ॥

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं दद्याद् घृतं प्राशेद् गवां पुष्टिं सदाश्नुते ॥ २१ ॥

'अग्निमें घृतसे हवन करे । घृतसे ही स्वस्तिवाचन कराये । घृतका दान करे और स्वयं भी गौका घृत ही खाय । इससे मनुष्य सदा गौओंकी पुष्टि एवं वृद्धिका अनुभव करता है ॥ २१ ॥

गोमत्या विद्यया धेनुं तिलानामभिमन्त्र्य यः ।
सर्वरत्नमयीं दद्यान्न स शोचेत् कृताकृते ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त तिलकी धेनुको 'गोमाँ अग्नेविमाँ अश्वि' इत्यादि गोमती-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उसका ब्राह्मणको दान करता है, वह किये हुए शुभाशुभ कर्मके लिये शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

गावो मामुपतिष्ठन्तु हेमशृङ्ग्यः पयोमुचः ।
सुरभ्यः सौरभेय्यश्च सरितः सागरं यथा ॥ २३ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रके पास जाती हैं, उसी तरह सोनेसे मढ़ी हुई सींगोंवाली, दूध देनेवाली सुरभी और सौरभेयी गौएँ मेरे निकट आयें ॥ २३ ॥

गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा ।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम् ॥ २४ ॥

'मैं सदा गौओंका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि करें । गौएँ हमारी हैं और हम गौओंके हैं । जहाँ गौएँ रहें, वहीं हम रहें ॥ २४ ॥

एवं रात्रौ दिवा चापि समेषु विषमेषु च ।
महाभयेषु च नरः कीर्तयन् मुच्यते भयात् ॥ २५ ॥

'जो मनुष्य इस प्रकार रातमें या दिनमें, सम अवस्थामें या विषम अवस्थामें तथा बड़े-से-बड़े भय आनेपर भी गोमाताका नामकीर्तन करता है, वह भयसे मुक्त हो जाता है' ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

गौओंको तपस्याद्वारा अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उनके दानकी महिमा, विभिन्न प्रकारके गौओंके दानसे विभिन्न उत्तम लोकोंमें गमनका कथन

वसिष्ठ उवाच

शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुष्करम्।
गोभिः पूर्वं विसृष्टाभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति ॥ १ ॥
लोकेऽस्मिन् दक्षिणानां च सर्वासां वयमुत्तमाः।
भवेम न च लिप्येम दोषेणेति परंतप ॥ २ ॥
अस्मत्पुरीषस्नानेन जनः पूयेत सर्वदा।
शकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन् देवमानुषाः ॥ ३ ॥
तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
प्रदातारश्च लोकान् नो गच्छेयुरिति मानद ॥ ४ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—मानद परंतप ! प्राचीन कालमें जब गौओंकी सृष्टि हुई थी, तब उन गौओंने एक लाख वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या की थी। उनकी तपस्याका उद्देश्य यह था कि हम श्रेष्ठता प्राप्त करें। इस जगत्में जितनी दक्षिणा देने योग्य वस्तुएँ हैं, उन सबमें हम उत्तम समझी जायँ। किसी दोषसे लिप्त न हों। हमारे गोबरसे स्नान करनेपर सदा सब लोग पवित्र हों। देवता और मनुष्य पवित्रताके लिये हमेशा हमारे गोबरका उपयोग करें। समस्त चराचर प्राणी भी हमारे गोबरसे पवित्र हो जायँ और हमारा दान करनेवाले मनुष्य हमारे ही लोक (गोलोकधाम) में जायँ ॥ १–४ ॥

ताभ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः।
एवं भवत्विति प्रभुर्लोकांस्तारयतेति च ॥ ५ ॥

जब उनकी तपस्या समाप्त हुई, तब साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन्हें वर दिया—'गौओ ! ऐसा ही हो—तुम्हारे मनमें जो संकल्प है, वह परिपूर्ण हो। तुम सम्पूर्ण जगत्के जीवोंका उद्धार करती रहो' ॥ ५ ॥

उत्तस्थुः सिद्धकामास्ता भूतभव्यस्य मातरः।
प्रातर्नमस्यास्ता गावस्ततः पुष्टिमवाप्नुयात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी समस्त कामनाएँ सिद्ध हो जानेपर गौएँ तपस्यासे उठीं। वे भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंकी जननी हैं; अतः प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गौओंको प्रणाम करना चाहिये। इससे मनुष्योंको पुष्टि प्राप्त होती है ॥

तपसोऽन्ते महाराज गावो लोकपरायणाः।
तस्माद् गावो महाभागाः पवित्रं परमुच्यते ॥ ७ ॥

महाराज ! तपस्या समाप्त होनेपर गौएँ सम्पूर्ण जगत्का आश्रय बन गयीं; इसलिये वे महान् सौभाग्यशालिनी गौएँ परम पवित्र बतायी जाती हैं ॥ ७ ॥

तथैव सर्वभूतानां समतिष्ठन्त मूर्धनि।
समानवत्सां कपिलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां ब्रह्मलोके महीयते ॥ ८ ॥

ये समस्त प्राणियोंके मस्तकपर स्थित हैं (अर्थात् सबसे श्रेष्ठ एवं वन्दनीय हैं)। जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा कपिला गौको वस्त्र ओढ़ाकर कपिल रंगके बछड़ेसहित दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥ ८ ॥

लोहितां तुल्यवत्सां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सूर्यलोके महीयते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा लाल रंगकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर लाल रंगके बछड़ेसहित दान करता है, वह सूर्यलोकमें सम्मानित होता है ॥ ९ ॥

समानवत्सां शबलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सोमलोके महीयते ॥ १० ॥

जो पुरुष दूध देनेवाली सुलक्षणा चितकबरी गौको वस्त्र ओढ़ाकर चितकबरे बछड़ेसहित दान करता है, वह चन्द्रलोकमें पूजित होता है ॥ १० ॥

समानवत्सां श्वेतां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामिन्द्रलोके महीयते ॥ ११ ॥

जो मानव दूध देनेवाली सुलक्षणा श्वेत वर्णकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर श्वेत वर्णके बछड़ेसहित दान करता है, उसे इन्द्रलोकमें सम्मान प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

समानवत्सां कृष्णां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामग्निलोके महीयते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा कृष्ण वर्णकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर कृष्ण वर्णके बछड़ेसहित दान करता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

समानवत्सां धूम्रां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां याम्यलोके महीयते ॥ १३ ॥

जो पुरुष दूध देनेवाली सुलक्षणा धूएँ-जैसे रंगकी गौको वस्त्रओढ़ाकर धूएँके समान रंगके बछड़ेसहित दान करता; वह यमलोकमें सम्मानित होता है ॥ १३ ॥

अपां फेनसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वारुणं लोकमाप्नुते ॥ १४ ॥

जो जलके फेनके समान रंगवाली गौको वस्त्र ओढ़ा

बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

वातरेणुसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वायुलोके महीयते ॥ १५ ॥

जो हवासे उड़ी हुई धूलके समान रंगवाली गौको वस्त्र ओढ़ाकर बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, उसकी वायुलोकमें पूजा होती है ॥ १५ ॥

हिरण्यवर्णां पिंगाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां कौबेरं लोकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो सुवर्णके समान रंग तथा पिङ्गल वर्णके नेत्रवाली गौको वस्त्र ओढ़ाकर बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह कुबेर-लोकको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

पलालधूम्रवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां पितृलोके महीयते ॥ १७ ॥

जो पुआलके धूएँके समान रंगवाली बछड़ेसहित गौको वस्त्रसे आच्छादित करके कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह पितृलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १७ ॥

सवत्सां पीवरीं दत्त्वा दृतिकण्ठामलंकृताम् ।
वैश्वदेवमसम्बाधं स्थानं श्रेष्ठं प्रपद्यते ॥ १८ ॥

जो लटकते हुए गलकम्बलसे युक्त मोटी-ताजी सवत्सा गौको अलङ्कृत करके ब्राह्मणको दान देता है, वह बिना किसी बाधाके विश्वेदेवोंके श्रेष्ठ लोकमें पहुँच जाता है ॥ १८ ॥

समानवत्सां गौरीं तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां वसूनां लोकमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

जो गौर वर्णवाली और दूध देनेवाली शुभलक्षणा गौको वस्त्र ओढ़ाकर समान रंगवाले बछड़ेसहित दान करता है, वह वसुओंके लोकमें जाता है ॥ १९ ॥

पाण्डुकम्बलवर्णाभां सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां साध्यानां लोकमाप्नुते ॥ २० ॥

जो श्वेत कम्बलके समान रंगवाली सवत्सा गौको वस्त्रसे आच्छादित करके कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह साध्योंके लोकमें जाता है ॥ २० ॥

वैराटपृष्ठमुक्षाणं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
प्रददन्मरुतां लोकान् स राजन् प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

राजन् ! जो विशालपृष्ठभागवाले बैलको सब प्रकारके रत्नोंसे अलङ्कृत करके उसका दान करता है, वह मरुद्गणोंके लोकोंमें जाता है ॥ २१ ॥

वयोपपन्नं लीलाङ्गं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
गन्धर्वाप्सरसां लोकान् दत्त्वा प्राप्नोति मानवः ॥ २२ ॥

जो मनुष्य यौवनसे सम्पन्न और सुन्दर अङ्गवाले बैलको सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित करके उसका दान करता है, वह गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

दृतिकण्ठमनड्वाहं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
दत्त्वा प्रजापतेर्लोकान् विशोकः प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जो लटकते हुए गलकम्बलवाले तथा गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ बैलको सम्पूर्ण रत्नोंसे अलङ्कृत करके ब्राह्मणको देता है, वह शोकरहित हो प्रजापतिके लोकोंमें जाता है ॥ २३ ॥

गोप्रदानरतो याति भित्त्वा जलदसंचयान् ।
विमानेनार्कवर्णेन दिवि राजन् विराजते ॥ २४ ॥

राजन् ! गोदानमें अनुरागपूर्वक तत्पर रहनेवाला पुरुष सूर्यके समान देदीप्यमान विमानमें बैठकर मेघमण्डलको भेदता हुआ स्वर्गमें जाकर सुशोभित होता है ॥ २४ ॥

तं चारुवेषाः सुश्रोण्यः सहस्रं सुरयोषितः ।
रमयन्ति नरश्रेष्ठं गोप्रदानरतं नरम् ॥ २५ ॥

उस गोदानपरायण श्रेष्ठ मनुष्यको मनोहर वेष और सुन्दर नितम्बवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ (अपनी सेवासे) रमण कराती हैं ॥ २५ ॥

वीणानां वल्लकीनां च नूपुराणां च सिञ्जितैः ।
हासैश्च हरिणाक्षीणां सुप्तः स प्रतिबोध्यते ॥ २६ ॥

वह वीणा और वल्लकीके मधुर गुंञ्जन, मृगनयनी युवतियोंके नूपुरोंकी मनोहर झनकारों तथा हास-परिहासके शब्दोंको श्रवण करके नींदसे जागता है ॥ २६ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावन्ति वर्षाणि महीयते सः ।
स्वर्गच्युतश्चापि ततो नृलोके
प्रसूयते वै विपुले गृहे सः ॥ २७ ॥

गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है । फिर पुण्यक्षीण होनेपर जब स्वर्गसे नीचे उतरता है, तब इस मनुष्यलोकमें आकर सम्पन्न घरमें जन्म लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

गौओं तथा गोदानकी महिमा

वसिष्ठ उवाच

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः ।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥ १ ॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम् ।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम् ॥ २ ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ ३ ॥
इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा ।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते ॥ ४ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि सदा सबेरे और सायंकाल आचमन करके इस प्रकार जप करे—'घी और दूध देनेवाली, घीकी उत्पत्तिका स्थान, घीको प्रकट करनेवाली, घीकी नदी तथा घीकी भँवररूप गौएँ मेरे घरमें सदा निवास करें । गौका घी मेरे हृदयमें सदा स्थित रहे । घी मेरी नाभिमें प्रतिष्ठित हो । घी मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त रहे और घी मेरे मनमें स्थित हो । गौएँ मेरे आगे रहें । गौएँ मेरे पीछे भी रहें । गौएँ मेरे चारों ओर रहें और मैं गौओंके बीचमें निवास करूँ ।' इस प्रकार प्रतिदिन जप करनेवाला मनुष्य दिनभरमें जो पाप करता है, उससे छुटकारा पा-जाता है ॥ १–४ ॥

प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा ।
गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ५ ॥

सहस्र गौओंका दान करनेवाले मनुष्य जहाँ सोनेके महल हैं, जहाँ स्वर्गगङ्गा बहती हैं तथा जहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ निवास करती हैं, उस स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ५ ॥

नवनीतपङ्काः क्षीरोदा दधिशैवलसंकुलाः ।
वहन्ति यत्र वै नद्यस्तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ६ ॥

सहस्र गौओंका दान करनेवाले पुरुष जहाँ दूधके जलसे भरी हुई, दहीके सेवारसे व्याप्त हुई तथा मक्खनरूपी कीचड़से युक्त हुई नदियाँ बहती हैं, वहीं जाते हैं ॥ ६ ॥

गवां शतसहस्रं तु यः प्रयच्छेद् यथाविधि ।
परां वृद्धिमवाप्याथ स्वर्गलोके महीयते ॥ ७ ॥

जो विधिपूर्वक एक लाख गौओंका दान करता है, वह अत्यन्त अभ्युदयको पाकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥

दश चोभयतः पुत्रो मातापित्रोः पितामहान् ।
दधाति सुकृतान् लोकान् पुनाति च कुलं नरः ॥८॥

वह मनुष्य अपने माता और पिताकी दस-दस पीढ़ियोंको पवित्र करके उन्हें पुण्यमय लोकोंमें भेजता है और अपने कुलको भी पवित्र कर देता है ॥ ८ ॥

धेन्वाः प्रमाणेन समप्रमाणां
धेनुं तिलानामपि च प्रदाय ।
पानीयदाता च यमस्य लोके
न यातनां काञ्चिदुपैति तत्र ॥ ९ ॥

जो गायके बराबर तिलकी गाय बनाकर उसका दान करता है, अथवा जो जलधेनुका दान करता है, उसे यमलोकमें जाकर वहाँकी कोई यातना नहीं भोगनी पड़ती ॥

पवित्रमग्र्यं जगतः प्रतिष्ठा
दिवौकसां मातरोऽथाप्रमेयाः ।
अन्वालभेद् दक्षिणतो व्रजेच्च
दद्याच्च पात्रे प्रसमीक्ष्य कालम् ॥ १० ॥

गौ सबसे अधिक पवित्र, जगत्का आधार और देवताओंकी माता है । उसकी महिमा अप्रमेय है । उसका सादर स्पर्श करे और उसे दाहिने रखकर चले तथा उत्तम समय देखकर उसका सुपात्र ब्राह्मणको दान करे ॥ १० ॥

धेनुं सवत्सां कपिलां भूरिशृङ्गीं
कांस्योपदोहां वसनोत्तरीयाम् ।
प्रदाय तां गाहति दुर्विगाह्यां
याम्यां सभां वीतभयो मनुष्यः ॥ ११ ॥

जो बड़े-बड़े सींगोंवाली कपिला धेनुको वस्त्र ओढ़ाकर उसे बछड़े और काँसीकी दोहनीसहित ब्राह्मणको दान करता है, वह मनुष्य यमराजकी दुर्गम सभामें निर्भय होकर प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
गावो मामुपतिष्ठन्तामिति नित्यं प्रकीर्तयेत् ॥ १२ ॥

प्रतिदिन यह प्रार्थना करनी चाहिये कि सुन्दर एवं अनेक प्रकारके रूप-रंगवाली विश्वरूपिणी गोमाताएँ सदा मेरे निकट आयें ॥ १२ ॥

नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम् ।
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥ १३ ॥

गोदानसे बढ़कर कोई पवित्र दान नहीं है । गोदानके फलसे श्रेष्ठ दूसरा कोई फल नहीं है तथा संसारमें गौसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट प्राणी नहीं है ॥ १३ ॥

त्वचा लोम्नाथ शृङ्गैर्वा वालैः क्षीरेण मेदसा ।
यज्ञं वहति सम्भूय किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

त्वचा, रोम, सींग, पूँछके बाल, दूध और मेदा आदि

ाथ मिलकर गौ (दूध, दही, घी आदिके द्वारा) यज्ञका निर्वाह करती है; अतः उससे श्रेष्ठ दूसरी कौन-सी वस्तु है ॥

या सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
ां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम् ॥ १५ ॥

जिसने समस्त चराचर जगत्को व्याप्त कर रखा है, उस त और भविष्यकी जननी गौको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम रता हूँ ॥ १५ ॥

गुणवचनसमुच्चयैकदेशो
नृवर मयैष गवां प्रकीर्तितस्ते ।
न च परमिह दानमस्ति गोभ्यो
भवति न चापि परायणं तथान्यत्॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गौओंके गुणवर्णनसम्बन्धी हित्यका एक लघु अंशमात्र बताया है—दिग्दर्शनमात्र कराया है । गौओंके दानसे बढ़कर इस संसारमें दूसरा कोई दान नहीं है तथा उनके समान दूसरा कोई आश्रय भी नहीं है ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

वरमिदमिति भूमिदो विचिन्त्य
प्रवरमृषेर्वचनं ततो महात्मा ।
व्यसृजत नियतात्मवान् द्विजेभ्यः
सुबहु च गोधनमाप्तवांश्च लोकान् ॥ १७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महर्षि वसिष्ठके ये वचन सुनकर भूमिदान करनेवाले संयतात्मा महामना राजा सौदासने 'यह बहुत उत्तम पुण्यकार्य है' ऐसा सोचकर ब्राह्मणोंको बहुत-सी गौएँ दान दी । इससे उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

गौओंका माहात्म्य तथा व्यासजीके द्वारा शुकदेवसे गौओंकी, गोलोककी और गोदानकी महत्ताका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

वित्राणां पवित्रं यच्छिष्टं लोके च यद् भवेत्।
वनं परमं चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! संसारमें जो वस्तु पत्रोंमें भी पवित्र तथा लोकमें पवित्र कहकर अनुमोदित ां परम पावन हो, उसका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान् ।
ारयन्ति प्रजाश्चेमा हविषा पयसा तथा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! गौएँ महान् प्रयोजन द्धि करनेवाली तथा परम पवित्र हैं । ये मनुष्योंको तारने-वाली हैं और अपने दूध-घीसे प्रजावर्गके जीवनकी रक्षा करती हैं ॥ २ ॥

न हि पुण्यतमं किंचिद् गोभ्यो भरतसत्तम ।
ताः पुण्याः पवित्राश्च त्रिषु लोकेषु सत्तमाः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गौओंसे बढ़कर परम पवित्र दूसरी कोई वस्तु नहीं है । ये पुण्यजनक, पवित्र तथा तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥

देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै ।
दत्वा चैतास्तारयन्ते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः ॥ ४ ॥

गौएँ देवताओंसे भी ऊपरके लोकोंमें निवास करती हैं । जो मनीषी पुरुष इनका दान करते हैं, वे अपने आपको तारते हैं और स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४ ॥

मान्धाता यौवनाश्वश्च ययातिर्नहुषस्तथा ।
गा वै ददन्तः सततं सहस्रशतसम्मिताः ॥ ५ ॥
गताः परमकं स्थानं देवैरपि सुदुर्लभम् ।

युवनाश्वके पुत्र राजा मान्धाता, (सोमवंशी) नहुष और ययाति—ये सदा लाखों गौओंका दान किया करते थे; इससे वे उन उत्तम स्थानोंको प्राप्त हुए हैं, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ५½ ॥

अपि चात्र पुरागीतां कथयिष्यामि तेऽनघ ॥ ६ ॥
ऋषीणामुत्तमं धीमान् कृष्णद्वैपायनं शुकः ।
अभिवाद्याह्निककृतः शुचिः प्रयतमानसः ॥ ७ ॥
पितरं परिपप्रच्छ दृष्टलोकपरावरम् ।
को यज्ञः सर्वयज्ञानां वरिष्ठोऽभ्युपलक्ष्यते ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक पुराना वृत्तान्त सुना रहा हूँ । एक समयकी बात है, परम बुद्धिमान् शुक-देवजीने नित्यकर्मका अनुष्ठान करके पवित्र एवं शुद्धचित्त होकर अपने पिता—ऋषियोंमें उत्तम श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको, जो लोकके भूत और भविष्यको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं, प्रणाम करके पूछा—'पिताजी ! सम्पूर्ण यज्ञोंमें कौन सा यज्ञ सबसे श्रेष्ठ देखा जाता है ? ॥ ६–८ ॥

किं च कृत्वा परं स्थानं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ।
केन देवाः पवित्रेण स्वर्गमश्नन्ति वा विभो ॥ ९ ॥

'प्रभो ! मनीषी पुरुष कौन-सा कर्म करके उत्तम स्थानको प्राप्त होते हैं तथा किस पवित्र कार्यके द्वारा देवता स्वर्गलोकका उपभोग करते हैं ? ॥ ९ ॥

किं च यज्ञस्य यज्ञत्वं क च यज्ञः प्रतिष्ठितः ।
देवानामुत्तमं किं च किं च सत्रमितः परम् ॥ १० ॥

'यज्ञका यज्ञत्व क्या है ? यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? देवताओंके लिये कौन-सी वस्तु उत्तम है ? इससे श्रेष्ठ यज्ञ क्या है ? ॥ १० ॥

पवित्राणां पवित्रं च यत् तद् ब्रूहि पितर्मम ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः परमधर्मवित् ।
पुत्रायाकथयत् सर्वं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ११ ॥

'पिताजी ! पवित्रोंमें पवित्र वस्तु क्या है ? इन सारी बातोंका मुझसे वर्णन कीजिये ।' भरतश्रेष्ठ ! पुत्र शुकदेवका यह वचन सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासने उससे सब बातें ठीक-ठीक बतायीं ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम् ।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा ॥ १२ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! गौएँ सम्पूर्ण भूतोंकी प्रतिष्ठा हैं । गौएँ परम आश्रय हैं । गौएँ पुण्यमयी एवं पवित्र होती हैं तथा गोधन सबको पवित्र करनेवाला है ॥ १२ ॥

पूर्वमासन्नशृङ्गा वै गाव इत्यनुशुश्रुम ।
शृङ्गार्थे समुपासन्त ताः किल प्रभुमव्ययम् ॥ १३ ॥

हमने सुना है कि गौएँ पहले बिना सींगकी ही थीं । उन्होंने सींगके लिये अविनाशी भगवान् ब्रह्माकी उपासना की॥

ततो ब्रह्मा तु गाः प्रायमुपविष्टाः समीक्ष्य ह ।
ईप्सितं प्रददौ ताभ्यो गोभ्यः प्रत्येकशः प्रभुः ॥ १४ ॥

भगवान् ब्रह्माजीने गौओंको प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) करते देख उन गौओंमेंसे प्रत्येकको उनकी अभीष्ट वस्तु दी ॥ १४ ॥

तासां शृङ्गाण्यजायन्त यस्या यादृङ्मनोगतम् ।
नानावर्णाः शृङ्गवन्त्यस्ता व्यरोचन्त पुत्रक ॥ १५ ॥

बेटा ! वरदान मिलनेके पश्चात् गौओंके सींग प्रकट हो गये । जिसके मनमें जैसे सींगकी इच्छा थी, उसके वैसे ही हो गये । नाना प्रकारके रूप-रंग और सींगसे युक्त हुई उन गौओंकी बड़ी शोभा होने लगी ॥ १५ ॥

ब्रह्मणा वरदत्तास्ता हव्यकव्यप्रदाः शुभाः ।
पुण्याः पवित्राः सुभगा दिव्यसंस्थानलक्षणाः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीका वरदान पाकर गौएँ मङ्गलमयी, हव्य-कव्य प्रदान करनेवाली, पुण्यजनक, पवित्र, सौभाग्यवती तथा दिव्य अङ्गों एवं लक्षणोंसे सम्पन्न हुईं ॥ १६ ॥

गावस्तेजो महद् दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते ।
ये चैताः सम्प्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः ॥ १७ ॥
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते ।
गवां लोकं तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ ॥ १८ ॥

गौएँ दिव्य एवं महान् तेज हैं । उनके दानकी प्रशंसा की जाती है । जो सत्पुरुष मात्सर्यका त्याग करके गौओंका दान करते हैं, वे पुण्यात्मा कहे गये हैं । वे सम्पूर्ण दानोंके दाता माने गये हैं । निष्पाप शुकदेव ! उन्हें पुण्यमय गोलोककी प्राप्ति होती है ॥ १७-१८ ॥

यत्र वृक्षा मधुफला दिव्यपुष्पफलोपगाः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि दिव्यानि द्विजसत्तम ॥ १९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! गोलोकके सभी वृक्ष मधुर एवं सुस्वादु फल देनेवाले हैं । वे दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न होते हैं । उन वृक्षोंके पुष्प दिव्य एवं मनोहर गन्धसे युक्त होते हैं ॥ १९ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सर्वकाञ्चनवालुका ।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का नीरजाः शुभा ॥ २० ॥

वहाँकी भूमि मणिमयी है । वहाँकी बालुका काञ्चनचूर्णरूप है । उस भूमिका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखद होता है । वहाँ धूल और कीचड़का नाम भी नहीं है । वह भूमि सर्वथा मङ्गलमयी है ॥ २० ॥

रक्तोत्पलवनैश्चैव मणिखण्डैर्हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसंकाशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ २१ ॥

वहाँके जलाशय लाल कमलवनोंसे तथा प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रकाशमान मणिजटित सुवर्णमय सोपानोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २१ ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलविमिश्रैश्च सरोभिर्बहुपङ्कजैः ॥ २२ ॥

वहाँकी भूमि कितने ही सरोवरोंसे शोभा पाती है । उन सरोवरोंमें नीलोत्पलमिश्रित बहुत-से कमल खिले रहते हैं । उन कमलोंके दल बहुमूल्य मणिमय होते हैं और उनके केसर अपनी स्वर्णमयी प्रभासे प्रकाशित होते हैं ॥ २२ ॥

करवीरवनैः फुल्लैः सहस्रावर्तसंवृतैः ।
संतानकवनैः फुल्लैर्वृक्षैश्च समलंकृताः ॥ २३ ॥

उस लोकमें बहुत-सी नदियाँ हैं, जिनके तटोंपर खिले हुए कनेरोंके वन तथा विकसितसंतानक (कल्पवृक्ष विशेष) के वन एवं अन्यान्य वृक्ष उनकी शोभा बढ़ाते हैं । वे वृक्ष और वन अपने मूल भागमें सहस्रों आवर्तोंसे घिरे हुए हैं ।

निर्मलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाप्रभैः ।
उद्भूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ २४ ॥

उन नदियोंके तटोंपर निर्मल मोती, अत्यन्त प्रकाशमान मणिरत्न तथा सुवर्ण प्रकट होते हैं ॥ २४ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा द्रुमोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चान्यैर्हुताशनसमप्रभैः ॥ २५ ॥

कितने ही उत्तम वृक्ष अपने मूलभागके द्वारा उन नदियोंके जलमें प्रविष्ट दिखायी देते हैं। वे सर्वरत्नमय विचित्र देखे जाते हैं। कितने ही सुवर्णमय होते हैं और दूसरे बहुत-से वृक्ष प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होते हैं ॥ २५ ॥

सौवर्णा गिरयस्तत्र मणिरत्नशिलोच्चयाः ।
सर्वरत्नमयैर्भान्ति शृङ्गैश्चारुभिरुच्छ्रितैः ॥ २६ ॥

वहाँ सोनेके पर्वत तथा मणि और रत्नोंके शैलसमूह हैं, जो अपने मनोहर, ऊँचे तथा सर्वरत्नमय शिखरोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २६ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसैः पुष्पैः फलैश्च भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फूल और फल लगे रहते हैं। वे वृक्ष पक्षियोंसे भरे होते हैं तथा उनके फूलों और फलोंमें दिव्य रस और दिव्य सुगन्ध होते हैं ॥ २७॥

रमन्ते पुण्यकर्माणस्तत्र नित्यं युधिष्ठिर ।
सर्वकामसमृद्धार्था निःशोका गतमन्यवः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! वहाँ पुण्यात्मा पुरुष ही सदा निवास करते हैं। गोलोकवासी शोक और क्रोधसे रहित, पूर्णकाम एवं सफलमनोरथ होते हैं ॥ २८ ॥

विमानेषु विचित्रेषु रमणीयेषु भारत ।
मोदन्ते पुण्यकर्माणो विहरन्तो यशस्विनः ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! वहाँके यशस्वी एवं पुण्यकर्मा मनुष्य विचित्र एवं रमणीय विमानोंमें बैठकर यथेष्ट विहार करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ २९ ॥

उपक्रीडन्ति तान् राजञ्शुभाश्चाप्सरसां गणाः ।
तानेँल्लोकानवाप्नोति गां दत्त्वा वै युधिष्ठिर ॥ ३० ॥

राजन् ! उनके साथ सुन्दरी अप्सराएँ क्रीड़ा करती हैं। युधिष्ठिर ! गोदान करके मनुष्य इन्हीं लोकोंमें जाते हैं ॥३०॥

येषामधिपतिः पूषा मारुतो बलवान् बली ।
ऐश्वर्ये वरुणो राजा नाममात्रं युगन्धराः ॥ ३१ ॥
सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
प्राजापत्यमिति ब्रह्मन् जपेन्नित्यं यतव्रतः ॥ ३२ ॥

नरेन्द्र ! शक्तिशाली सूर्य और बलवान् वायु जिन लोकोंके अधिपति हैं, एवं राजा वरुण जिन लोकोंके ऐश्वर्यपर प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य गोदान करके उन्हीं लोकोंमें जाता है। गौएँ युगन्धरा, सुरूपा, बहुरूपा, विश्वरूपा तथा सबकी माताएँ हैं। शुकदेव ! मनुष्य संयम-नियमके साथ रहकर गौओंके इन प्रजापतिकथित नामोंका प्रतिदिन जप करे ॥

गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः ।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ॥ ३३ ॥

जो पुरुष गौओंकी सेवा और सब प्रकारसे उनका अनुगमन करता है, उसपर संतुष्ट होकर गौएँ उसे अत्यन्त दुर्लभ वर प्रदान करती हैं ॥ ३३ ॥

द्रुह्येन्न मनसा वापि गोषु नित्यं सुखप्रदः ।
अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत् ॥ ३४ ॥

गौओंके साथ मनसे भी कभी द्रोह न करे, उन्हें सदा सुख पहुँचाये, उनका यथोचित सत्कार करे और नमस्कार आदिके द्वारा उनका पूजन करता रहे ॥ ३४ ॥

दान्तः प्रीतमना नित्यं गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ।
त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं पिबेत् पयः ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य जितेन्द्रिय और प्रसन्नचित्त होकर नित्य गौओंकी सेवा करता है, वह समृद्धिका भागी होता है। मनुष्य तीन दिनोंतक गरम गोमूत्र पीकर रहे, फिर तीन दिनतक गरम गोदुग्ध पीकर रहे ॥ ३५ ॥

गवामुष्णं पयः पीत्वा त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ३६ ॥

गरम गोदुग्ध पीनेके पश्चात् तीन दिनोंतक गरम-गरम गोघृत पीये। तीन दिनतक गरम घी पीकर फिर तीन दिनोंतक वह वायु पीकर रहे ॥ ३६ ॥

येन देवाः पवित्रेण भुञ्जते लोकमुत्तमम् ।
यत् पवित्रं पवित्राणां तद् घृतं शिरसा वहेत् ॥ ३७ ॥

देवगण भी जिस पवित्र घृतके प्रभावसे उत्तम-उत्तम लोकका पालन करते हैं तथा जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे बढ़कर पवित्र है, उससे घृतको शिरोधार्य करे ॥ ३७ ॥

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं प्राशेद् घृतं दद्याद् गवां पुष्टिं तथाश्नुते ॥ ३८ ॥

गायके घीके द्वारा अग्निमें आहुति दे। घृतकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराये। घृत भोजन करे तथा गोघृतका ही दान करे। ऐसा करनेसे मनुष्य गौओंकी समृद्धि एवं अपनी पुष्टिका अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

निर्हृतैश्च यवैर्गोभिर्मासं प्रथितयावकः ।
ब्रह्महत्यासमं पापं सर्वमेतेन शुध्यते ॥ ३९ ॥

गौओंके गोबरसे निकाले हुए जौकी लप्सीका एक मासतक भक्षण करे। इससे मनुष्य ब्रह्महत्या-जैसे पापसे भी छुटकारा पा जाता है ॥ ३९ ॥

पराभवाच्च दैत्यानां देवैः शौचमिदं कृतम् ।
ते देवत्वमपि प्राप्ताः संसिद्धाश्च महाबलाः ॥ ४० ॥

जब दैत्योंने देवताओंको पराजित कर दिया, तब देवताओंने इसी प्रायश्चित्तका अनुष्ठान किया । इससे उन्हें पुनः (नष्ट हुए) देवत्वकी प्राप्ति हुई तथा वे महाबलवान् और परम सिद्ध हो गये ॥ ४० ॥

गावः पवित्राः पुण्याश्च पावनं परमं महत् ।
ताश्च दत्त्वा द्विजातिभ्यो नरः स्वर्गमुपाश्नुते ॥ ४१ ॥

गौएँ परम पावन, पवित्र और पुण्यस्वरूपा हैं । वे महान् देवता हैं । उन्हें ब्राह्मणोंको देकर मनुष्य स्वर्गका सुख भोगता है ॥ ४१ ॥

गवां मध्ये शुचिर्भूत्वा गोमतीं मनसा जपेत् ।
पूताभिरद्भिराचम्य शुचिर्भवति निर्मलः ॥ ४२ ॥

पवित्र जलसे आचमन करके पवित्र होकर गौओंके बीचमें गोमतीमन्त्र (गोमाँ अग्ने विमाँ अश्वी इत्यादि) का मन-ही-मन जप करे । ऐसा करनेसे वह अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल (पापमुक्त) हो जाता है ॥ ४२ ॥

अग्निमध्ये गवां मध्ये ब्राह्मणानां च संसदि ।
विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः पुण्यकर्मिणः ॥ ४३ ॥
अध्यापयेरञ्छिष्यान् वै गोमतीं यज्ञसम्मिताम् ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा गोमतीं लभते वरम् ॥ ४४ ॥

विद्या और वेदव्रतमें निष्णात पुण्यात्मा ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे अग्नियों और गौओंके बीचमें तथा ब्राह्मणोंकी सभामें शिष्योंको यज्ञतुल्य गोमतीविद्याकी शिक्षा दें । जो तीन राततक उपवास करके गोमती-मन्त्रका जप करता है, उसे गौओंका वरदान प्राप्त होता है ॥ ४३-४४ ॥

पुत्रकामश्च लभते पुत्रं धनमथापि वा ।
पतिकामा च भर्तारं सर्वकामांश्च मानवः ।
गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति सेविता वै न संशयः ॥ ४५ ॥

पुत्रकी इच्छावाला पुत्र और धन चाहनेवाला धन पाता है । पतिकी इच्छा रखनेवाली स्त्रीको मनके अनुकूल पति मिलता है । सारांश यह कि गौओंकी आराधना करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है । गौएँ मनुष्यों-द्वारा सेवित और संतुष्ट होकर उन्हें सब कुछ देती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ।
रोहिण्य इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ये महाभाग्यशालिनी गौएँ यज्ञका प्रधान अङ्ग हैं और सबको सम्पूर्ण कामनाएँ देनेवाली हैं । तुम इन्हें रोहिणी समझो । इनसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४६ ॥

इत्युक्तः स महातेजाः शुकः पित्रा महात्मना ।
पूजयामास गां नित्यं तस्मात् त्वमपि पूजय ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर ! अपने महात्मा पिता व्यासजीके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी शुकदेवजी प्रतिदिन गौकी सेवा-पूजा करने लगे; इसलिये तुम भी गौओंकी सेवा-पूजा करो ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

लक्ष्मी और गौओंका संवाद तथा लक्ष्मीकी प्रार्थनापर गौओंके द्वारा गोबर और गोमूत्रमें लक्ष्मीको निवासके लिये स्थान दिया जाना

युधिष्ठिर उवाच

मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं संशयोऽत्र पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! मैंने सुना है कि गौओंके गोबरमें लक्ष्मीका निवास है; किंतु इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः इसके सम्बन्धमें मैं यथार्थ बात सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गोभिर्नृपेह संवादं श्रिया भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष गौ और लक्ष्मीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

श्रीः कृत्वेह वपुः कान्तं गोमध्येषु विवेश ह ।
गावोऽथ विस्मितास्तस्या दृष्ट्वा रूपस्य सम्पदम् ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, लक्ष्मीने मनोहर रूप धारण करके गौओंके झुंडमें प्रवेश किया । उनके रूप-वैभवको देखकर गौएँ आश्चर्यचकित हो उठीं ॥ ३ ॥

गाव ऊचुः

कासि देवि कुतो वा त्वं रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
विस्मिताः स्म महाभागे तव रूपस्य सम्पदा ॥ ४ ॥

गौओंने पूछा—देवि ! तुम कौन हो और कहाँसे आयी हो ? इस पृथ्वीपर तुम्हारे रूपकी कहीं तुलना नहीं है । महाभागे ! तुम्हारी इस रूप-सम्पत्तिसे हमलोग बड़े आश्चर्यमें पड़ गये हैं ॥ ४ ॥

भगवती लक्ष्मीकी गौओंसे आश्रयके लिये प्रार्थना

इच्छाम त्वां वयं ज्ञातुं का त्वं क च गमिष्यसि ।
तत्त्वेन वरवर्णाभे सर्वमेतद् ब्रवीहि नः ॥ ५ ॥

इसलिये हम तुम्हारा परिचय जानना चाहती हैं। तुम कौन हो और कहाँ जाओगी? वरवर्णिनि! ये सारी बातें हमें ठीक-ठीक बताओ ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

लोककान्तास्मि भद्रं वः श्रीर्नामाहं परिश्रुता ।
मया दैत्याः परित्यक्ता विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोलीं—गौओ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं इस जगत्‌में लक्ष्मी नामसे प्रसिद्ध हूँ। सारा जगत् मेरी कामना करता है। मैंने दैत्योंको छोड़ दिया, इसलिये वे सदाके लिये नष्ट हो गये हैं ॥ ६ ॥

मयाभिपन्ना देवाश्च मोदन्ते शाश्वतीः समाः ।
इन्द्रो विवस्वान् सोमश्च विष्णुरापोऽग्निरेव च ॥ ७ ॥

मेरे ही आश्रयमें रहनेके कारण इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, जलके अधिष्ठाता देवता वरुण और अग्नि आदि देवता सदा आनन्द भोग रहे हैं ॥ ७ ॥

मयाभिपन्नाः सिध्यन्ते ऋषयो देवतास्तथा ।
यान् नाविशाम्यहं गावस्ते विनश्यन्ति सर्वशः ॥ ८ ॥

देवताओं तथा ऋषियोंको मुझसे अनुगृहीत होनेपर ही सिद्धि मिलती है। गौओ! जिनके शरीरमें मैं प्रवेश नहीं करती, वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मया जुष्टाः सुखान्विताः ।
एवंप्रभावं मां गावो विजानीत सुखप्रदाः ॥ ९ ॥

धर्म, अर्थ और काम मेरा सहयोग पाकर ही सुखद होते हैं; अतः सुखदायिनी गौओ! मुझे ऐसे ही प्रभावसे सम्पन्न समझो ॥ ९ ॥

इच्छामि चापि युष्मासु वस्तुं सर्वासु नित्यदा ।
आगत्य प्रार्थये युष्माञ्छ्रीजुष्टा भवताऽथ वै ॥ १० ॥

मैं तुम सब लोगोंके भीतर भी सदा निवास करना चाहती हूँ और इसके लिये स्वयं ही तुम्हारे पास आकर प्रार्थना करती हूँ। तुमलोग मेरा आश्रय पाकर श्रीसम्पन्न हो जाओ ॥ १० ॥

गाव ऊचुः

अध्रुवा चपला च त्वं सामान्या बहुभिः सह ।
न त्वामिच्छाम भद्रं ते गम्यतां यत्र रंस्यसे ॥ ११ ॥

गौओंने कहा—देवि! तुम चञ्चला हो। कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहतीं। इसके सिवा तुम्हारा बहुतोंके साथ एक-सा सम्बन्ध है; इसलिये हम तुम्हें नहीं चाहती हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जहाँ आनन्दपूर्वक रह सको, जाओ ॥

वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयाद्य वै ।
यथेष्टं गम्यतां तत्र कृतकार्या वयं त्वया ॥ १२ ॥

हमारा शरीर तो यों ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर है। हमें तुमसे क्या काम? तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। तुमने दर्शन दिया, इतनेहीसे हम कृतार्थ हो गयीं ॥ १२ ॥

श्रीरुवाच

किमेतद् वः क्षमं गावो यन्मां नेहाभिनन्दथ ।
न मां सम्प्रति गृह्णीध्वं कस्माद् वै दुर्लभां सतीम् ॥ १३ ॥

लक्ष्मीने कहा—गौओ! यह क्या बात है? क्या यही तुम्हारे लिये उचित है कि तुम मेरा अभिनन्दन नहीं करती? मैं सती-साध्वी हूँ, दुर्लभ हूँ। फिर भी इस समय तुम मुझे स्वीकार क्यों नहीं करती? ॥ १३ ॥

सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः ।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः ॥ १४ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली गौओ! लोकमें जो यह प्रवाद चल रहा है कि 'बिना बुलाये स्वयं किसीके यहाँ जानेपर निश्चय ही अनादर होता है।' यह ठीक ही जान पड़ता है ॥ १४ ॥

महदुग्रं तपः कृत्वा मां निषेवन्ति मानवाः ।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ १५ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य बड़ी उग्र तपस्या करके मेरी सेवाका सौभाग्य प्राप्त करते हैं ॥

प्रभाव एष वो गावः प्रतिगृह्णीत मामिह ।
नावमन्या ह्यहं सौम्यास्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १६ ॥

सौम्य स्वभाववाली गौओ! यह तुम्हारा प्रभाव है कि मैं स्वयं तुम्हारे पास आयी हूँ। अतः तुम मुझे यहाँ ग्रहण करो। चाराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कहीं भी मैं अपमान पानेके योग्य नहीं हूँ ॥ १६ ॥

गाव ऊचुः

नावमन्यामहे देवि न त्वां परिभवामहे ।
अध्रुवा चलचित्तासि ततस्त्वां वर्जयामहे ॥ १७ ॥

गौओंने कहा—देवि! हम तुम्हारा अपमान या अनादर नहीं करतीं। केवल तुम्हारा त्याग कर रही हैं। वह भी इसलिये कि तुम्हारा चित्त चञ्चल है। तुम कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहती ॥ १७ ॥

बहुना च किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि ।
वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयानघे ॥ १८ ॥

इस विषयमें बहुत बात करनेसे क्या लाभ? तुम जहाँ जाना चाहो-चली जाओ। अनघे! हम सब लोगोंका शरीर तो यों ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर है; अतः तुमसे हमें क्या काम है? ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकस्य मानदाः।
प्रत्याख्यानेन युष्माकं प्रसादः क्रियतां मम ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा—दूसरोंको सम्मान देनेवाली गौओ! तुम्हारे त्याग देनेसे मैं सम्पूर्ण जगत्के लिये अवहेलित और उपेक्षित हो जाऊँगी, इसलिये मुझपर कृपा करो ॥ १९ ॥

महाभागा भवत्यो वै शरण्याः शरणागताम्।
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ॥ २० ॥

तुम महान् सौभाग्यशालिनी और सबको शरण देनेवाली हो। मैं भी तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। तुम्हारी भक्त हूँ। मुझमें कोई दोष भी नहीं है; अतः तुम मेरी रक्षा करो—मुझे अपना लो ॥ २० ॥

माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः।
अप्येकाङ्गेष्वधो वस्तुमिच्छामि च सुकुत्सिते ॥ २१ ॥

गौओ! मैं तुमसे सम्मान चाहती हूँ। तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो। तुम्हारे किसी एक अङ्गमें, नीचेके कुत्सित अङ्गमें भी यदि स्थान मिल जाय तो मैं उसमें रहना चाहती हूँ ॥ २१ ॥

न वोऽस्ति कुत्सितं किंचिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः।
पुण्याः पवित्राः सुभगा ममादेशं प्रयच्छथ ॥ २२ ॥
वसेयं यत्र वो देहे तन्मे व्याख्यातुमर्हथ।

निष्पाप गौओ! वास्तवमें तुम्हारे अङ्गोंमें कहीं कोई कुत्सित स्थान नहीं दिखायी देता। तुम परम पुण्यमयी, पवित्र और सौभाग्यशालिनी हो। अतः मुझे आज्ञा दो। तुम्हारे शरीरमें जहाँ मैं रह सकूँ, उसके लिये मुझे स्पष्ट बताओ ॥ २२½ ॥

एवमुक्तास्ततो गावः शुभाः करुणवत्सलाः।
सम्मन्त्र्य सहिताः सर्वाः श्रियमूचुर्नराधिप ॥ २३ ॥

नरेश्वर! लक्ष्मीके ऐसा कहनेपर करुणा और वात्सल्यकी मूर्ति शुभस्वरूपा गौओंने एक साथ मिलकर सलाह की; फिर सबने लक्ष्मीसे कहा—॥ २३ ॥

अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि।
शकृन्मूत्रे निवस त्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे ॥ २४ ॥

'शुभे! यशस्विनि! अवश्य ही हमें तुम्हारा सम्मान करना चाहिये। तुम हमारे गोबर और मूत्रमें निवास करो; क्योंकि हमारी ये दोनों वस्तुएँ परम पवित्र हैं' ॥ २४ ॥

श्रीरुवाच

दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ॥ २५ ॥

लक्ष्मीने कहा—सुखदायिनी गौओ! धन्यभाग्य जो तुमलोगोंने मुझपर अपना कृपापूर्ण प्रसाद प्रकट किया। ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारे गोबर और मूत्रमें ही निवास करूँगी। तुमने मेरा मान रख लिया, अतः तुम्हारा कल्याण हो ॥

एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन! इस प्रकार गौओंके साथ प्रतिज्ञा करके लक्ष्मीजी उनके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं ॥ २६ ॥

एवं गोशकृतः पुत्र माहात्म्यं तेऽनुवर्णितम्।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रूयतां गदतो मम ॥ २७ ॥

बेटा! इस तरह मैंने तुमसे गोबरका माहात्म्य बतलाया है। अब पुनः गौओंका माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्रीगोसंवादो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लक्ष्मी और गौओंका संवादनामक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका इन्द्रसे गोलोक और गौओंका उत्कर्ष बताना और गौओंको वरदान देना

भीष्म उवाच

ये च गां सम्प्रयच्छन्ति हुतशिष्टाशिनश्च ये।
तेषां सत्राणि यज्ञाश्च नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जो मनुष्य सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन और गोदान करते हैं, उन्हें प्रतिदिन अन्नदान और यज्ञ करनेका फल मिलता है ॥ १ ॥

ऋते दधि घृतेनेह न यज्ञः सम्प्रवर्तते।
तेन यज्ञस्य यज्ञत्वमतो मूलं च कथ्यते ॥ २ ॥

दही और गोघृतके बिना यज्ञ नहीं होता। उन्हींसे यज्ञका यज्ञत्व सफल होता है। अतः गौओंको यज्ञका मूल कहते हैं ॥ २ ॥

दानानामपि सर्वेषां गवां दानं प्रशस्यते।
गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सब प्रकारके दानोंमें गोदान ही उत्तम माना जाता है; इसलिये गौएँ श्रेष्ठ, पवित्र तथा परम पावन हैं ॥ ३ ॥

पुष्ट्यर्थमेताः सेवेत शान्त्यर्थमपि चैव ह।
पयोदधिघृतं चासां सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ४ ॥

मनुष्यको अपने शरीरकी पुष्टि तथा सब प्रकारके विघ्नों

की शान्तिके लिये भी गौओंका सेवन करना चाहिये। इनके दूध, दही और घी सब पापोंसे छुड़ानेवाले हैं ॥ ४ ॥

गावस्तेजः परं प्रोक्तमिह लोके परत्र च।
न गोभ्यः परमं किंचित् पवित्रं भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! गौएँ इहलोक और परलोकमें भी महान् तेजोरूप मानी गयी हैं। गौओंसे बढ़कर पवित्र कोई वस्तु नहीं है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितामहस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इन्द्र और ब्रह्माजीके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६ ॥

पराभूतेषु दैत्येषु शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः।
प्रजाः समुदिताः सर्वाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें देवताओंद्वारा दैत्योंके परास्त हो जानेपर जब इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर हुए, तब समस्त प्रजा मिलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सत्य और धर्ममें तत्पर रहने लगी ॥

अथर्षयः सगन्धर्वाः किंनरोरगराक्षसाः।
देवासुरसुपर्णाश्च प्रजानां पतयस्तथा ॥ ८ ॥
पर्युपासन्त कौन्तेय कदाचिद् वै पितामहम्।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ९ ॥
दिव्यतानेषु गायन्तः पर्युपासन्त तं प्रभुम्।
तत्र दिव्यानि पुष्पाणि प्रावहत् पवनस्तदा ॥ १० ॥
आजह्रुर्ऋतवश्चापि सुगन्धीनि पृथक् पृथक्।
तस्मिन् देवसमावाये सर्वभूतसमागमे ॥ ११ ॥
दिव्यवादित्रसंघुष्टे दिव्यस्त्रीचारणावृते।
इन्द्रः पप्रच्छ देवेशमभिवाद्य प्रणम्य च ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर एक दिन जब ऋषि, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, असुर, गरुड़ और प्रजापतिगण ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित थे, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व जब दिव्य तान छेड़कर गाते हुए वहाँ उन भगवान् ब्रह्माजीकी उपासना करते थे, वायुदेव दिव्य पुष्पोंकी सुगन्ध लेकर बह रहे थे, पृथक्-पृथक् ऋतुएँ भी उत्तम सौरभसे युक्त दिव्य पुष्प भेंट कर रही थीं, देवताओंका समाज जुटा था, समस्त प्राणियोंका समागम हो रहा था, दिव्य वाद्योंकी मनोरम ध्वनि गूँज रही थी तथा दिव्यांगनाओं और चारणोंसे वह समुदाय घिरा हुआ था, उसी समय देवराज इन्द्रने देवेश्वर ब्रह्माजीको प्रणाम करके पूछा—॥ ८–१२ ॥

देवानां भगवन् कस्माल्लोकेशानां पितामह।
उपरिष्टाद् गवां लोक एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १३ ॥

'भगवन्! पितामह! गोलोक समस्त देवताओं और लोकपालोंके ऊपर क्यों है? मैं इसे जानना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

किं तपो ब्रह्मचर्यं वा गोभिः कृतमिहेश्वर।
देवानामुपरिष्टाद् यद् वसन्त्यरजसः सुखम् ॥ १४ ॥

'प्रभो! गौओंने यहाँ किस तपस्याका अनुष्ठान अथवा ब्रह्मचर्यका पालन किया है, जिससे वे रजोगुणसे रहित होकर देवताओंसे भी ऊपर स्थानमें सुखपूर्वक निवास करती हैं?' ॥

ततः प्रोवाच ब्रह्मा तं शक्रं बलनिषूदनम्।
अवज्ञातास्त्वया नित्यं गावो बलनिषूदन ॥ १५ ॥
तेन त्वमासां माहात्म्यं न वेत्सि शृणु यत् प्रभो।
गवां प्रभावं परमं माहात्म्यं च सुरर्षभ ॥ १६ ॥

तब ब्रह्माजीने बलसूदन इन्द्रसे कहा—'बलासुरका विनाश करनेवाले देवेन्द्र! तुमने सदा गौओंकी अवहेलना की है। प्रभो! इसीलिये तुम इनका माहात्म्य नहीं जानते। सुरश्रेष्ठ! गौओंका महान् प्रभाव और माहात्म्य मैं बताता हूँ, सुनो ॥ १५-१६ ॥

यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन ॥ १७ ॥

'वासव! गौओंको यज्ञका अङ्ग और साक्षात् यज्ञरूप बतलाया गया है; क्योंकि इनके दूध, दही और घीके विना यज्ञ किसी तरह सम्पन्न नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥ १८ ॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।

'ये अपने दूध-घीसे प्रजाका भी पालन-पोषण करती हैं। इनके पुत्र (बैल) खेतीके काम आते तथा नाना प्रकारके धान्य एवं बीज उत्पन्न करते हैं ॥ १८½ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः ॥ १९ ॥
पयोदधिघृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः ॥ २० ॥

'उन्हींसे यज्ञ सम्पन्न होते और हव्य-कव्यका भी सर्वथा निर्वाह होता है। सुरेश्वर! इन्हीं गौओंसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं। बैल भूख-प्याससे पीड़ित होकर भी नाना प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं ॥ १९-२० ॥

मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा।
वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च ॥ २१ ॥

'इस प्रकार गौएँ अपने कर्मसे ऋषियों तथा प्रजाओंका पालन करती रहती हैं। वासव! इनके व्यवहारमें माया नहीं होती। ये सदा सत्कर्ममें ही लगी रहती हैं ॥ २१ ॥

उपरिष्टात् ततोऽस्माकं वसन्त्येताः सदैव हि।
एवं ते कारणं शक्र निवासकृतमद्य वै ॥ २२ ॥

गवां देवोपरिष्टाद्धि समाख्यातं शतक्रतो।
एता हि वरदत्ताश्च वरदाश्चापि वासव ॥ २३ ॥

'इसीसे ये गौएँ हम सब लोगोंके ऊपर स्थानमें निवास करती हैं। शक्र! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यह बात बतायी कि गौएँ देवताओंके भी ऊपर स्थानमें क्यों निवास करती हैं। शतक्रतु इन्द्र! इसके सिवा ये गौएँ वरदान भी प्राप्त कर चुकी हैं और प्रसन्न होनेपर दूसरोंको वर देनेकी भी शक्ति रखती हैं ॥ २२-२३ ॥

सुरभ्यः पुण्यकर्मिण्यः पावनाः शुभलक्षणाः।
यदर्थं गां गताश्चैव सुरभ्यः सुरसत्तम ॥ २४ ॥
तच्च मे शृणु कार्त्स्न्येन वदतो बलसूदन।

'सुरभी गौएँ पुण्यकर्म करनेवाली और शुभलक्षणा होती हैं। सुरश्रेष्ठ! बलसूदन! वे जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर गयी हैं, उसको भी मैं पूर्णरूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥२४½॥

पुरा देवयुगे तात दैत्येन्द्रेषु महात्मसु ॥ २५ ॥
त्रींल्लोकाननुशासत्सु विष्णौ गर्भत्वमागते।
अदित्यास्तप्यमानायास्तपो घोरं सुदुश्चरम् ॥ २६ ॥
पुत्रार्थममरश्रेष्ठ पादेनैकेन नित्यदा।
तां तु दृष्ट्वा महादेवीं तप्यमानां महत्तपः ॥ २७ ॥
दक्षस्य दुहिता देवी सुरभी नाम नामतः।
अतप्यत तपो घोरं हृष्टा धर्मपरायणा ॥ २८ ॥

'तात! पहले सत्ययुगमें जब महामना देवेश्वरगण तीनों लोकोंपर शासन करते थे और अमरश्रेष्ठ! जब देवी अदिति पुत्रके लिये नित्य एक पैरसे खड़ी रहकर अत्यन्त घोर एवं दुष्कर तपस्या करती थी और उस तपस्यासे संतुष्ट होकर साक्षात् भगवान् विष्णु ही उनके गर्भमें पदार्पण करनेवाले थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, महादेवी अदितिको महान् तप करती देख दक्षकी धर्मपरायणा पुत्री सुरभी देवीने भी बड़े हर्षके साथ घोर तपस्या आरम्भ की ॥ २५—२८ ॥

कैलासशिखरे रम्ये देवगन्धर्वसेविते।
व्यतिष्ठदेकपादेन परमं योगमास्थिता ॥ २९ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
संतप्तास्तपसा तस्या देवाः सर्षिमहोरगाः ॥ ३० ॥

'कैलासके रमणीय शिखरपर जहाँ देवता और गन्धर्व सदा विराजते रहते हैं, वहाँ वह उत्तम योगका आश्रय ले ग्यारह हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़ी रही। उसकी तपस्यासे देवता, ऋषि और बड़े-बड़े नाग भी संतप्त हो उठे ॥

तत्र गत्वा मया सार्धं पर्युपासन्त तां शुभाम्।
अथाहमब्रुवं तत्र देवीं तां तपसान्विताम् ॥ ३१ ॥

'वे सब लोग मेरे साथ ही उस शुभलक्षणा तपस्विनी सुरभी देवीके पास जाकर खड़े हुए। तब मैंने वहाँ उससे कहा—॥ ३१ ॥

किमर्थं तप्यसे देवि तपो घोरमनिन्दिते।
प्रीतस्तेऽहं महाभागे तपसानेन शोभने ॥ ३२ ॥
वरयस्व वरं देवि दातास्मीति पुरंदर ॥ ३३ ॥

'सती-साध्वी देवि! तुम किसलिये यह घोर तपस्या करती हो? शोभने! महाभागे! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ। देवि! तुम इच्छानुसार वर माँगो। पुरंदर! इस तरह मैंने सुरभीको वर माँगनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३२-३३ ॥

सुरभ्युवाच

वरेण भगवन् मह्यं कृतं लोकपितामह।
एष एव वरो मेऽद्य यत् प्रीतोऽसि ममानघ ॥ ३४ ॥

सुरभीने कहा—भगवन्! निष्पाप लोकपितामह! मुझे वर लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे लिये सबसे बड़ा वर यही है कि आज आप मुझपर प्रसन्न हो गये हैं ॥ ३४ ॥

ब्रह्मोवाच

तामेवं ब्रुवतीं देवीं सुरभिं त्रिदशेश्वर।
प्रत्यब्रुवं यद् देवेन्द्र तन्निबोध शचीपते ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवेश्वर! देवेन्द्र! शचीपते! जब सुरभी ऐसी बात कहने लगी, तब मैंने उसे जो उत्तर दिया, वह सुनो ॥ ३५ ॥

अलोभकाम्यया देवि तपसा च शुभानने।
प्रसन्नोऽहं वरं तस्मादमरत्वं ददामि ते ॥ ३६ ॥

(मैंने कहा—) देवि! शुभानने! तुमने लोभ और

मनाको त्याग दिया है। तुम्हारी इस निष्काम तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ; अतः तुम्हें अमरत्वका वरदान देता हूँ ॥

याणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि ।
त्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥ ३७ ॥

तुम मेरी कृपासे तीनों लोकोंके ऊपर निवास करोगी र तुम्हारा वह धाम 'गोलोक' नामसे विख्यात होगा ॥ ३७ ॥

नुषेषु च कुर्वाणाः प्रजाः कर्म शुभास्तव ।
वत्स्यन्ति महाभागे सर्वा दुहितरश्च ते ॥ ३८ ॥

महाभागे ! तुम्हारी सभी शुभ संतानें—समस्त पुत्र और याएँ मानवलोकमें उपयुक्त कर्म करती हुई निवास करेंगी ॥

मसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः ।
च्च स्वर्गे सुखं देवि तत् ते सम्पत्स्यते शुभे ॥ ३९ ॥

देवि ! शुभे ! तुम अपने मनसे जिन दिव्य अथवा मवी भोगोंका चिन्तन करोगी तथा जो स्वर्गीय सुख होगा, वे भी तुम्हें स्वतः प्राप्त होते रहेंगे ॥ ३९ ॥

तया लोकाः सहस्राक्ष सर्वकामसमन्विताः ।
नतत्र क्रमते मृत्युर्न जरा न च पावकः ॥ ४० ॥

सहस्राक्ष ! सुरभीके निवासभूत गोलोकमें सबकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती हैं। वहाँ मृत्यु और बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता। अग्निका भी जोर नहीं चलता ॥ ४० ॥

नदैवं नाशुभं किंचिद् विद्यते तत्र वासव ।
त्र दिव्यान्यरण्यानि दिव्यानि भवनानि च ॥ ४१ ॥
विमानानि सुयुक्तानि कामगानि च वासव ।

वासव ! वहाँ न कोई दुर्भाग्य है और न अशुभ। वहाँ दिव्य वन, दिव्य भवन तथा परम सुन्दर एवं इच्छानुसार विचरनेवाले विमान मौजूद हैं ॥ ४१½ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा यत्नेन च दमेन च ॥ ४२ ॥
दानैश्च विविधैः पुण्यैस्तथा तीर्थानुसेवनात् ।
तपसा महता चैव सुकृतेन च कर्मणा ॥ ४३ ॥
शक्यः समासादयितुं गोलोकः पुष्करेक्षण ।

कमलनयन इन्द्र ! ब्रह्मचर्य, तपस्या, यत्न, इन्द्रिय-संयम, नाना प्रकारके दान, पुण्य, तीर्थसेवन, महान् तप और अन्यान्य शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे ही गोलोककी प्राप्ति हो सकती है ॥ ४२-४३½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया शक्रानुपृच्छते ॥ ४४ ॥
न ते परिभवः कार्यो गवामसुरसूदन ॥ ४५ ॥

असुरसूदन शक्र ! इस प्रकार तुम्हारे पूछनेके अनुसार मैंने सारी बातें बतलायी हैं। अब तुम्हें गौओंका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ४४-४५ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा ।
गाश्चक्रे बहुमानं च तासु नित्यं युधिष्ठिर ॥ ४६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र प्रतिदिन गौओंकी पूजा करने लगे। उन्होंने उनके प्रति बहुत सम्मान प्रकट किया ॥ ४६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं पावनं च महाद्युते ।
पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

महाद्युते ! यह सब मैंने तुमसे गौओंका परम पावन, परम पवित्र और अत्यन्त उत्तम माहात्म्य कहा है ॥ ४७ ॥

कीर्तितं पुरुषव्याघ्र सर्वपापविमोचनम् ।
य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ४८ ॥
हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्येषु चैव ह ।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४९ ॥

पुरुषसिंह ! यदि इसका कीर्तन किया जाय तो यह समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है। जो एकाग्रचित्त हो सदा यज्ञ और श्राद्धमें हव्य और कव्य अर्पण करते समय ब्राह्मणोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, उसका दिया हुआ समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होकर पितरोंको प्राप्त होगा ॥ ४८-४९ ॥

गोषु भक्तश्च लभते यद् यदिच्छति मानवः ।
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च काममवाप्नुयुः ॥ ५० ॥

गोभक्त मनुष्य जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह सब उसे प्राप्त होती है। स्त्रियोंमें भी जो गौओंकी भक्त हैं, वे मनोवाञ्छित कामनाएँ प्राप्त कर लेती हैं ॥ ५० ॥

पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्यार्थी तामवाप्नुयात् ।
धनार्थी लभते वित्तं धर्मार्थी धर्ममाप्नुयात् ॥ ५१ ॥

पुत्रार्थी मनुष्य पुत्र पाता है और कन्यार्थी कन्या। धन चाहनेवालेको धन और धर्म चाहनेवालेको धर्म प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

विद्यार्थी चाप्नुयाद् विद्यां सुखार्थी प्राप्नुयात् सुखम् ।
न किंचिद् दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ॥ ५२ ॥

विद्यार्थी विद्या पाता है और सुखार्थी सुख। भारत ! गोभक्तके लिये यहाँ कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोलोकवर्णने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोलोकका वर्णनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीका अपने पिता शान्तनुके हाथमें पिण्ड न देकर कुशपर देना, सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके दानकी महिमाके सम्बन्धमें वसिष्ठ और परशुरामका संवाद, पार्वतीका देवताओंको शाप, तारकासुरसे डरे हुए देवताओंका ब्रह्माजीकी शरणमें जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं पितामहेनेदं गवां दानमनुत्तमम्।
विशेषेण नरेन्द्राणामिह धर्ममवेक्षताम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने सब मनुष्योंके लिये, विशेषतः धर्मपर दृष्टि रखनेवाले नरेशोंके लिये परम उत्तम गोदानका वर्णन किया है॥ १॥

राज्यं हि सततं दुःखं दुर्धरं चाकृतात्मभिः।
भूयिष्ठं च नरेन्द्राणां विद्यते न शुभा गतिः॥ २॥

राज्य सदा ही दुःखरूप है। जिन्होंने अपना मन वशमें नहीं किया है, उनके लिये राज्यको सुरक्षित रखना बहुत ही कठिन है। इसलिये प्रायः राजाओंको शुभ गति नहीं प्राप्त होती है॥ २॥

पूयन्ते तत्र नियतं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्।
सर्वे च कथिता धर्मास्त्वया मे कुरुनन्दन॥ ३॥

उनमें वे ही पवित्र होते हैं, जो नियमपूर्वक पृथ्वीका दान करते हैं। कुरुनन्दन! आपने मुझसे समस्त धर्मोंका वर्णन किया है॥ ३॥

एवमेव गवामुक्तं प्रदानं ते नृगेण ह।
ऋषिणा नाचिकेतेन पूर्वमेव निदर्शितम्॥ ४॥

इसी तरह राजा नृगने जो गोदान किया था तथा नाचिकेत ऋषिने जो गौओंका दान और पूजन किया था, वह सब आपने पहले ही कहा और निर्देश किया है॥ ४॥

वेदोपनिषदश्चैव सर्वकर्मसु दक्षिणाः।
सर्वक्रतुषु चोदिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम्॥ ५॥

वेद और उपनिषदोंने भी प्रत्येक कर्ममें दक्षिणाका विधान किया है। सभी यज्ञोंमें भूमि, गौ और सुवर्ण-की दक्षिणा बतायी गयी है॥ ५॥

तत्र श्रुतिस्तु परमा सुवर्णं दक्षिणेति वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पितामह यथातथम्॥ ६॥

इनमें सुवर्ण सबसे उत्तम दक्षिणा है—ऐसा श्रुतिका वचन है, अतः पितामह! मैं इस विषयको यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ॥ ६॥

किं सुवर्णं कथं जातं कस्मिन् काले किमात्मकम्।
किं दैवं किं फलं चैव कस्माच्च परमुच्यते॥ ७॥

सुवर्ण क्या है? कब और किस तरहसे इसकी उत्पत्ति हुई है? सुवर्णका उपादान क्या है? इसका देवता कौन है? इसके दानका फल क्या है? सुवर्ण क्यों उत्तम कहलाता है?॥ ७॥

कस्माद् दानं सुवर्णस्य पूजयन्ति मनीषिणः।
कस्माच्च दक्षिणार्थं तद् यज्ञकर्मसु शस्यते॥ ८॥

मनीषी विद्वान् सुवर्णदानका अधिक आदर क्यों करते हैं? तथा यज्ञ-कर्मोंमें दक्षिणाके लिये सुवर्णकी प्रशंसा क्यों की जाती है?॥ ८॥

कस्माच्च पावनं श्रेष्ठं भूमेर्गोभ्यश्च काञ्चनम्।
परमं दक्षिणार्थे च तद् ब्रवीहि पितामह॥ ९॥

पितामह! क्यों सुवर्ण पृथ्वी और गौओंसे भी पावन और श्रेष्ठ है? दक्षिणाके लिये सबसे उत्तम वह क्यों माना गया है? यह मुझे बताइये॥ ९॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितो बहुकारणविस्तरम्।
जातरूपसमुत्पत्तिमनुभूतं च यन्मया॥ १०॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! ध्यान देकर सुनो! सुवर्ण-की उत्पत्तिका कारण बहुत विस्तृत है। इस विषयमें मैंने जो अनुभव किया है, उसके अनुसार तुम्हें सब बातें बता रहा हूँ॥ १०॥

पिता मम महातेजाः शान्तनुर्निधनं गतः।
तस्य दित्सुरहं श्राद्धं गङ्गाद्वारमुपागमम्॥ ११॥

मेरे महातेजस्वी पिता महाराज शान्तनुका जब देहावसान हो गया, तब मैं उनका श्राद्ध करनेके लिये गङ्गाद्वार तीर्थ (हरद्वार) में गया॥ ११॥

तत्रागम्य पितुः पुत्र श्राद्धकर्म समारभम्।
माता मे जाह्नवी चात्र साहाय्यमकरोत् तदा॥ १२॥

बेटा! वहाँ पहुँचकर मैंने पिताका श्राद्धकर्म आरम्भ किया। इस कार्यमें वहाँ उस समय मेरी माता गङ्गाने भी बड़ी सहायता की॥ १२॥

ततोऽग्रतस्ततः सिद्धानुपवेश्य बहून्‌ऋषीन्।
तोयप्रदानात् प्रभृति कार्याण्यहमथारभम्॥ १३॥

तदनन्तर अपने सामने बहुत-से सिद्ध-महर्षियोंको बिठाकर मैंने जलदान आदि सारे कार्य आरम्भ किये॥ १३॥

तत् समाप्य यथोद्दिष्टं पूर्वकर्म समाहितः।

दातुं निर्वपणं सम्यग् यथावदहमारभम् ॥ १४ ॥

एकाग्रचित्त होकर शास्त्रोक्तविधिसे पिण्डदानके पहलेके सब कार्य समाप्त करके मैंने विधिवत् पिण्डदान देना प्रारम्भ किया ॥ १४ ॥

ततस्तं दर्भविन्यासं भित्त्वा सुरुचिराङ्गदः ।
प्रलम्बाभरणो बाहुरुदतिष्ठद् विशाम्पते ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! इसी समय पिण्डदानके लिये जो कुश बिछाये गये थे, उन्हें भेदकर एक बड़ी सुन्दर बाँह बाहर निकली । उस विशाल भुजामें बाजूबंद आदि अनेक आभूषण शोभा पा रहे थे ॥ १५ ॥

तमुत्थितमहं दृष्ट्वा परं विस्मयमागमम् ।
प्रतिग्रहीता साक्षान्मे पितेति भरतर्षभ ॥ १६ ॥
ततो मे पुनरेवासीत् संज्ञा संचिन्त्य शास्त्रतः ।
नायं वेदेषु विहितो विधिर्हस्त इति प्रभो ॥ १७ ॥
पिण्डो देयो नरेणेह ततो मतिरभून्मम ।
साक्षान्नेह मनुष्यस्य पिण्डं हि पितरः क्वचित् ॥ १८ ॥
गृह्णन्ति विहितं चेत्थं पिण्डो देयः कुशेष्विति ।

उसे ऊपर उठी देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । भरतश्रेष्ठ ! साक्षात् मेरे पिता ही पिण्डका दान लेनेके लिये उपस्थित थे । प्रभो ! किंतु जब मैंने शास्त्रीय विधिपर विचार किया, तब मेरे मनमें सहसा यह बात स्मरण हो आयी कि मनुष्यके लिये हाथपर पिण्ड देनेका वेदमें विधान नहीं है । पितर साक्षात् प्रकट होकर कभी मनुष्यके हाथसे पिण्ड लेते भी नहीं हैं । शास्त्रकी आज्ञा तो यही है कि कुशोंपर पिण्डदान करे ॥ १६-१८½ ॥

ततोऽहं तदनादृत्य पितुर्हस्तनिदर्शनम् ॥ १९ ॥
शास्त्रप्रामाण्यसूक्ष्मं तु विधिं पिण्डस्य संस्मरन् ।
ततो दर्भेषु तत् सर्वमददं भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह सोचकर मैंने पिताके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले हाथका आदर नहीं किया। शास्त्रको ही प्रमाण मानकर उसकी पिण्डदानसम्बन्धी सूक्ष्म विधिका ध्यान रखते हुए कुशोंपर ही सब पिण्डोंका दान किया ॥ १९-२० ॥

शास्त्रमार्गानुसारेण तद् विद्धि मनुजर्षभ ।
ततः सोऽन्तर्हितो बाहुः पितुर्मम जनाधिप ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैंने शास्त्रीय मार्गका अनुसरण करके ही सब कुछ किया । नरेश्वर ! तदनन्तर मेरे पिताकी वह बाँह अदृश्य हो गयी ॥ २१ ॥

ततो मां दर्शयामासुः स्वप्नान्ते पितरस्तथा ।
प्रीयमाणास्तु मामूचुः प्रीताः स्म भरतर्षभ ॥ २२ ॥
विज्ञानेन तवानेन यन्न मुह्यसि धर्मतः ।

तदनन्तर स्वप्नमें पितरोंने मुझे दर्शन दिया और प्रसन्नतापूर्वक मुझसे कहा—'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस शास्त्रीय ज्ञानसे हम बहुत प्रसन्न हैं; क्योंकि उसके कारण तुम्हें धर्मके विषयमें मोह नहीं हुआ ॥ २२½ ॥

त्वया हि कुर्वता शास्त्रं प्रमाणमिह पार्थिव ॥ २३ ॥
आत्मा धर्मः श्रुतं वेदाः पितरश्चर्षिभिः सह ।
साक्षात् पितामहो ब्रह्मा गुरवोऽथ प्रजापतिः ॥ २४ ॥
प्रमाणमुपनीता वै स्थिताश्च न विचालिताः ।

'पृथ्वीनाथ ! तुमने यहाँ शास्त्रको प्रमाण मानकर आत्मा, धर्म, शास्त्र, वेद, पितृगण, ऋषिगण, गुरु, प्रजापति और ब्रह्माजी—इन सबका मान बढ़ाया है तथा जो लोग धर्ममें स्थित हैं, उन्हें भी तुमने अपना आदर्श दिखाकर विचलित नहीं होने दिया है ॥ २३-२४½ ॥

तदिदं सम्यगारब्धं त्वयाद्य भरतर्षभ ॥ २५ ॥
किं तु भूमेर्गवां चार्थे सुवर्णं दीयतामिति ।

'भरतश्रेष्ठ ! यह सब कार्य तो तुमने बहुत उत्तम किया है; किंतु अब हमारे कहनेसे भूमिदान और गोदानके निष्क्रयरूपसे कुछ सुवर्णदान भी करो ॥ २५½ ॥

एवं वयं च धर्मज्ञ सर्वे चास्मत्पितामहाः ॥ २६ ॥
पाविता वै भविष्यन्ति पावनं हि परं हि तत् ।

'धर्मज्ञ ! ऐसा करनेसे हम और हमारे सभी पितामह पवित्र हो जायँगे; क्योंकि सुवर्ण सबसे अधिक पावन वस्तु है ॥ २६½ ॥

दशपूर्वान् दशैवान्यांस्तथा संतारयन्ति ते ॥ २७ ॥
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति एवं मत्पितरोऽब्रुवन् ।
ततोऽहं विस्मितो राजन् प्रतिबुद्धो विशाम्पते ॥ २८ ॥

सुवर्णदानेऽकरवं मतिं च भरतर्षभ ।

'जो सुवर्ण दान करते हैं, वे अपने पहले और पीछेकी दस-दस पीढ़ियोंका उद्धार कर देते हैं।' राजन्! जब मेरे पितरोंने ऐसा कहा तो मेरी नींद खुल गयी। उस समय स्वप्नका स्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय हुआ। प्रजानाथ! भरतश्रेष्ठ! तब मैंने सुवर्णदान करनेका निश्चित विचार कर लिया ॥ २७-२८½ ॥

इतिहासमिमं चापि शृणु राजन् पुरातनम् ॥ २९ ॥
जामदग्न्यं प्रति विभो धन्यमायुष्यमेव च ।

राजन्! अब (सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके माहात्म्यके विषयमें)एक प्राचीन इतिहास सुनो,जो जमदग्नि-नन्दन परशुरामजीसे सम्बन्ध रखनेवाला है। विभो! यह आख्यान धन तथा आयुकी वृद्धि करनेवाला है ॥ २९½ ॥

जामदग्न्येन रामेण तीव्ररोषान्वितेन वै ॥ ३० ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।

पूर्वकालकी बात है, जमदग्निकुमार परशुरामजीने तीव्र रोषमें भरकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया था ॥ ३०½ ॥

ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥
आजहार क्रतुं वीरो ब्रह्मक्षत्रेण पूजितम् ।
वाजिमेधं महाराज सर्वकामसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

महाराज! इसके बाद सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतकर वीर कमलनयन परशुरामजीने ब्राह्मणों और क्षत्रियोंद्वारा सम्मानित तथा सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ३१-३२ ॥

पावनं सर्वभूतानां तेजोद्युतिविवर्धनम् ।
विपाप्मा च स तेजस्वी तेन क्रतुफलेन च ॥ ३३ ॥
नैवात्मनोऽथ लघुतां जामदग्न्योऽध्यगच्छत ।

यद्यपि अश्वमेध यज्ञ समस्त प्राणियोंको पवित्र करनेवाला तथा तेज और कान्तिको बढ़ानेवाला है तथापि उसके फलसे तेजस्वी परशुरामजी सर्वथा पापमुक्त न हो सके। इससे उन्होंने अपनी लघुताका अनुभव किया ॥ ३३½ ॥

स तु क्रतुवरेणेष्ट्वा महात्मा दक्षिणावता ॥ ३४ ॥
पप्रच्छागमसम्पन्नानृषीन् देवांश्च भार्गवः ।
पावनं यत् परं नृणामुग्रे कर्मणि वर्तताम् ॥ ३५ ॥
तदुच्यतां महाभागा इति जातघृणोऽब्रवीत् ।
इत्युक्ता वेदशास्त्रज्ञास्तमूचुस्ते महर्षयः ॥ ३६ ॥

प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न उस श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण करके महामना भृगुवंशी परशुरामजीने मनमें दयाभाव लेकर शास्त्रज्ञ ऋषियों और देवताओंसे इस प्रकार पूछा—'महाभाग महात्माओ! उग्र कर्ममें लगे हुए मनुष्योंके लिये जो परम पावन वस्तु हो, वह मुझे बताइये।' उनके इस प्रकार पूछनेपर उन वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता महर्षियोंने इस प्रकार कहा—॥

राम विप्राः सत्क्रियन्तां वेदप्रामाण्यदर्शनात् ।
भूयश्च विप्रर्षिगणाः प्रष्टव्याः पावनं प्रति ॥ ३७ ॥

'परशुराम! तुम वेदोंकी प्रामाणिकतापर दृष्टि रखते हुए ब्राह्मणोंका सत्कार करो और ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे पुनः इस पावन वस्तुके लिये प्रश्न करो ॥ ३७ ॥

ते यद् ब्रूयुर्महाप्राज्ञास्तच्चैव समुदाचर ।
ततो वसिष्ठं देवर्षिमगस्त्यमथ काश्यपम् ॥ ३८ ॥
तमेवार्थं महातेजाः पप्रच्छ भृगुनन्दनः ।
जाता मतिर्मे विप्रेन्द्राः कथं पूयेयमित्युत ॥ ३९ ॥
केन वा कर्मयोगेन प्रदानेनेह केन वा ।

'और वे महाज्ञानी महर्षिगण जो कुछ बतावें, उसीका प्रसन्नतापूर्वक पालन करो।' तब महातेजस्वी भृगुनन्दन परशुरामजीने वसिष्ठ, नारद, अगस्त्य और कश्यपजीके पास जाकर पूछा—'विप्रवरो! मैं पवित्र होना चाहता हूँ।

बताइये, कैसे किस कर्मके अनुष्ठानसे अथवा किस दानसे पवित्र हो सकता हूँ ? ॥ ३८-३९½ ॥

यदि वोऽनुग्रहकृता बुद्धिर्मां प्रति सत्तमाः ।
प्रब्रूत पावनं किं मे भवेदिति तपोधनाः ॥ ४० ॥

'साधुशिरोमणे तपोधनो! यदि आपलोग मुझपर अनुग्रह करना चाहते हों तो बतायें, मुझे पवित्र करनेवाला साधन क्या है ?' ॥ ४० ॥

ऋषय ऊचुः

गाश्च भूमिं च वित्तं च दत्त्वेह भृगुनन्दन।
पापकृत् पूयते मर्त्य इति भार्गव शुश्रुम ॥ ४१ ॥

ऋषियोंने कहा—भृगुनन्दन! हमने सुना है कि पाप करनेवाला मनुष्य यहाँ गाय, भूमि और धनका दान करके पवित्र हो जाता है ॥ ४१ ॥

अन्यद् दानं तु विप्रर्षे श्रूयतां पावनं महत्।
दिव्यमत्यद्भुताकारमपत्यं जातवेदसः ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे! एक दूसरी वस्तुका दान भी सुनो। वह वस्तु सबसे बढ़कर पावन है। उसका आकार अत्यन्त अद्भुत और दिव्य है तथा वह अग्निसे उत्पन्न हुई है ॥ ४२ ॥

दग्ध्वा लोकान् पुरा वीर्यात् सम्भूतमिह शुश्रुम।
सुवर्णमिति विख्यातं तद् ददत् सिद्धिमेष्यसि ॥ ४३ ॥

उस वस्तुका नाम है सुवर्ण। हमने सुना है कि पूर्वकालमें अग्निने सम्पूर्ण लोकोंको भस्म करके अपने वीर्यसे सुवर्णको प्रकट किया था। उसीका दान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४३ ॥

ततोऽब्रवीद् वसिष्ठस्तं भगवान् संशितव्रतः।
शृणु राम यथोत्पन्नं सुवर्णमनलप्रभम् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर कठोर व्रतका पालन करनेवाले भगवान् वसिष्ठने कहा—'परशुराम! अग्निके समान प्रकाशित होनेवाला सुवर्ण जिस प्रकार प्रकट हुआ है, वह सुनो ॥ ४४ ॥

फलं दास्यति ते यत् तु दानं परमिहोच्यते।
सुवर्णं यच्च यस्माच्च यथा च गुणवत्तमम् ॥ ४५ ॥
तन्निबोध महाबाहो सर्वं निगदतो मम।

'सुवर्णका दान तुम्हें उत्तम फल देगा; क्योंकि वह दानके लिये सर्वोत्तम बताया जाता है। महाबाहो! सुवर्णका जो स्वरूप है, जिससे उत्पन्न हुआ है और जिस प्रकार वह विशेष गुणकारी है, वह सब बता रहा हूँ, मुझसे सुनो ॥

अग्नीषोमात्मकमिदं सुवर्णं विद्धि निश्चये ॥ ४६ ॥
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्व इति दर्शनम्।

'यह सुवर्ण अग्नि और सोमरूप है। इस बातको तुम निश्चितरूपसे जान लो। बकरा, अग्नि, भेड़, वरुण तथा घोड़ा सूर्यका अंश है। ऐसी दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

कुञ्जराश्च मृगा नागा महिषाश्चासुरा इति ॥ ४७ ॥
कुक्कुटाश्च वराहाश्च राक्षसा भृगुनन्दन।
इडा गावः पयः सोमो भूमिरित्येव च स्मृतिः ॥ ४८ ॥

'भृगुनन्दन! हाथी और मृग नागोंके अंश हैं। भैंसे असुरोंके अंश हैं। मुर्गा और सूअर राक्षसोंके अंश हैं इडा—गौ, दुग्ध और सोम—ये सब भूमिरूप ही हैं। ऐसी स्मृति है ॥ ४७-४८ ॥

जगत् सर्वं च निर्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः।
सुवर्णमेभ्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम् ॥ ४९ ॥

'सारे जगत्का मन्थन करके जो तेजकी राशि प्रकट हुई है, वही सुवर्ण है। अतः ब्रह्मर्षे! यह अज आदि सभी वस्तुओंसे परम उत्तम रत्न है ॥ ४९ ॥

एतस्मात् कारणाद् देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः।
मनुष्याश्च पिशाचाश्च प्रयता धारयन्ति तत् ॥ ५० ॥

'इसीलिये देवता, गन्धर्व, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—ये सब प्रयत्नपूर्वक सुवर्ण धारण करते हैं ॥ ५० ॥

मुकुटैरङ्गदयुतैरलंकारैः पृथग्विधैः।
सुवर्णविकृतैस्तत्र विराजन्ते भृगूत्तम ॥ ५१ ॥

'भृगुश्रेष्ठ! वे सोनेके बने हुए मुकुट, बाजूबंद तथा अन्य नाना प्रकारके अलंकारोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ५१ ॥

तस्मात् सर्वपवित्रेभ्यः पवित्रं परमं स्मृतम्।
भूमेर्गोभ्योऽथ रत्नेभ्यस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ ५२ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ! जगत्में भूमि, गौ तथा रत्न आदि जितनी पवित्र वस्तुएँ हैं, सुवर्णको उन सबसे पवित्र माना गया है; इस बातको भलीभाँति जान लो ॥ ५२ ॥

पृथिवीं गाश्च दत्त्वेह यच्चान्यदपि किंचन।
विशिष्यते सुवर्णस्य दानं परमकं विभो ॥ ५३ ॥

'विभो! पृथ्वी, गौ तथा और जो कुछ भी दान किया जाता है, उन सबसे बढ़कर सुवर्णका दान है ॥ ५३ ॥

अक्षयं पावनं चैव सुवर्णममरद्युते।
प्रयच्छ द्विजमुख्येभ्यः पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ५४ ॥

'देवोपम तेजस्वी परशुराम! सुवर्ण अक्षय और पावन है, अतः तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको यह उत्तम और पावन वस्तु ही दान करो ॥ ५४ ॥

सुवर्णमेव सर्वासु दक्षिणासु विधीयते।
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति सर्वदास्ते भवन्त्युत ॥ ५५ ॥

'सब दक्षिणाओंमें सुवर्णका ही विधान है; अतः जो सुवर्ण दान करते हैं, वे सब कुछ दान करनेवाले होते हैं ॥

देवतास्ते प्रयच्छन्ति ये सुवर्णं ददत्यथ।
अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं च तदात्मकम् ॥ ५६ ॥

'जो सुवर्ण देते हैं, वे देवताओंका दान करते हैं; क्योंकि अग्नि सर्वदेवतामय हैं और सुवर्ण अग्निका स्वरूप है ॥ ५६ ॥

तस्मात् सुवर्णं ददता दत्ताः सर्वाः स्म देवताः।
भवन्ति पुरुषव्याघ्र न ह्यतः परमं विदुः ॥ ५७ ॥

'पुरुषसिंह! अतः सुवर्णका दान करनेवाले पुरुषोंने सम्पूर्ण देवताओंका ही दान कर दिया। ऐसा माना जाता

है। अतः विद्वान् पुरुष सुवर्णसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं मानते हैं ॥ ५७ ॥

भूय एव च माहात्म्यं सुवर्णस्य निबोध मे।
गदतो मम विप्रर्षे सर्वशस्त्रभृतां वर ॥ ५८ ॥

'सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! मैं पुनः सुवर्णका माहात्म्य बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ५८ ॥

मया श्रुतमिदं पूर्वं पुराणे भृगुनन्दन।
प्रजापतेः कथयतो यथान्यायं तु तस्य वै ॥ ५९ ॥

'भृगुनन्दन! मैंने पहले पुराणमें प्रजापतिकी कही हुई यह न्यायोचित बात सुन रखी है ॥ ५९ ॥

शूलपाणेर्भगवतो रुद्रस्य च महात्मनः।
गिरौ हिमवति श्रेष्ठे तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ६० ॥
देव्या विवाहे निर्वृत्ते रुद्राण्या भृगुनन्दन।
समागमे भगवतो देव्या सह महात्मनः ॥ ६१ ॥

'भृगुकुलरत्न! भृगुनन्दन परशुराम! यह बात उस समयकी है, जब श्रेष्ठ पर्वत हिमालयपर शूलपाणि महात्मा भगवान् रुद्रका देवी रुद्राणीके साथ विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था और महामना भगवान् शिवको उमादेवीके साथ समागम-सुख प्राप्त था ॥ ६०-६१ ॥

ततः सर्वे समुद्विग्ना देवा रुद्रमुपागमन्।
ते महादेवमासीनं देवीं च वरदामुमाम् ॥ ६२ ॥

'उस समय सब देवता उद्विग्न होकर कैलास-शिखरपर बैठे हुए महान् देवता रुद्र और वरदायिनी देवी उमाके पास गये ॥ ६२ ॥

प्रसाद्य शिरसा सर्वे रुद्रमूचुर्भृगूद्वह।
अयं समागमो देव देव्या सह तवानघ ॥ ६३ ॥
तपस्विनस्तपस्विन्या तेजस्विन्याऽतितेजसः।

'भृगुश्रेष्ठ! वहाँ उन सबने उन दोनोंके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन्हें प्रसन्न करके भगवान् रुद्रसे कहा—'पापरहित महादेव! यह जो देवी पार्वतीके साथ आपका समागम हुआ है, यह एक तपस्वीका तपस्विनीके साथ और एक महातेजस्वीका एक तेजस्विनीके साथ संयोग हुआ है ॥

अमोघतेजास्त्वं देव देवी चेयमुमा तथा ॥ ६४ ॥
अपत्यं युवयोर्देव बलवद् भविता विभो।
तन्नूनं त्रिषु लोकेषु न किञ्चिच्छेषयिष्यति ॥ ६५ ॥

'देव! प्रभो! आपका तेज अमोघ है। ये देवी उमा भी ऐसी ही अमोघ तेजस्विनी हैं। आप दोनोंकी जो संतान होगी, वह अत्यन्त प्रबल होगी। निश्चय ही वह तीनों लोकोंमें किसीको शेष नहीं रहने देगी ॥ ६४-६५ ॥

तदेभ्यः प्रणतेभ्यस्त्वं देवेभ्यः पृथुलोचन।
वरं प्रयच्छ लोकेश त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ ६६ ॥

'विशाललोचन! लोकेश्वर! हम सब देवता आपके चरणोंमें पड़े हैं। आप तीनों लोकोंके हितकी इच्छासे हमें वर दीजिये ॥ ६६ ॥

अपत्यार्थं निगृह्णीष्व तेजः परमकं विभो।
त्रैलोक्यसारौ हि युवां लोकं संतापयिष्यथः ॥ ६७ ॥

'प्रभो! संतानके लिये प्रकट होनेवाला जो आपका उत्तम तेज है, उसे आप अपने भीतर ही रोक लीजिये। आप दोनों त्रिलोकीके सारभूत हैं। अतः अपनी संतानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को संतप्त कर डालेंगे ॥ ६७ ॥

तदपत्यं हि युवयोर्देवानभिभवेद् ध्रुवम्।
न हि ते पृथिवी देवी न च द्यौर्न दिवं विभो ॥ ६८ ॥
नेदं धारयितुं शक्ताः समस्ता इति मे मतिः।
तेजःप्रभावनिर्दग्धं तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ ६९ ॥

'आप दोनोंसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह निश्चय ही देवताओंको पराजित कर देगा। प्रभो! हमारा तो ऐसा विश्वास है कि न तो पृथ्वीदेवी, न आकाश और न स्वर्ग ही आपके तेजको धारण कर सकेगा। ये सब मिलकर भी आपके इस तेजको धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं। यह सारा जगत् आपके तेजके प्रभावसे भस्म हो जायगा ॥ ६८-६९ ॥

तस्मात् प्रसादं भगवन् कर्तुमर्हसि नः प्रभो।
न देव्यां सम्भवेत् पुत्रो भवतः सुरसत्तम।
धैर्यादेव निगृह्णीष्व तेजो ज्वलितमुत्तमम् ॥ ७० ॥

'अतः भगवन्! हमपर कृपा कीजिये। प्रभो! सुरश्रेष्ठ! हम यही चाहते हैं कि देवी पार्वतीके गर्भसे आपके कोई पुत्र न हो। आप धैर्यसे ही अपने प्रज्वलित उत्तम तेजको भीतर ही रोक लीजिये' ॥ ७० ॥

इति तेषां कथयतां भगवान् वृषभध्वजः।
एवमस्त्विति देवांस्तान् विप्रर्षे प्रत्यभाषत ॥ ७१ ॥

'विप्रर्षे! देवताओंके ऐसा कहनेपर भगवान् वृषभध्वजने उनसे 'एवमस्तु' कह दिया ॥ ७१ ॥

इत्युक्त्वा चोर्ध्वमनयद् रेतो वृषभवाहनः।
ऊर्ध्वरेताः समभवत् ततः प्रभृति चापि सः ॥ ७२ ॥

'देवताओंसे ऐसा कहकर वृषभवाहन भगवान् शङ्करने अपने 'रेतस्' अर्थात् वीर्यको ऊपर चढ़ा लिया। तभीसे वे 'ऊर्ध्वरेता' नामसे विख्यात हुए ॥ ७२ ॥

रुद्राणीति ततः क्रुद्धा प्रजोच्छेदे तदा कृते।
देवानथाब्रवीत् तत्र स्त्रीभावात् परुषं वचः ॥ ७३ ॥

'देवताओंने मेरी भावी संतानका उच्छेद कर डाला' यह सोचकर उस समय देवी रुद्राणी बहुत कुपित हुईं और स्त्रीस्वभाव होनेके कारण उन्होंने देवताओंसे यह कठोर वचन कहा—॥ ७३ ॥

यस्मादपत्यकामो वै भर्ता मे विनिवर्तितः ।
तस्मात् सर्वे सुरा यूयमनपत्या भविष्यथ ॥ ७४ ॥

'देवताओ ! मेरे पतिदेव मुझसे संतान उत्पन्न करना चाहते थे, किंतु तुमलोगोंने इन्हें इस कार्यसे निवृत्त कर दिया; इसलिये तुम सभी देवता निर्वंश हो जाओगे ॥ ७४ ॥

प्रजोच्छेदो मम कृतो यस्माद् युष्माभिरद्य वै ।
तस्मात् प्रजा वः खगमाः सर्वेषां न भविष्यति ॥ ७५ ॥

'आकाशचारी देवताओ ! आज तुम सब लोगोंने मिलकर मेरी संततिका उच्छेद किया है; अतः तुम सब लोगोंके भी संतान नहीं होगी' ॥ ७५ ॥

पावकस्तु न तत्रासीच्छापकाले भृगूद्वह ।
देवा देव्यास्तथा शापादनपत्यास्ततोऽभवन् ॥ ७६ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! उस शापके समय वहाँ अग्निदेव नहीं थे; अतः उनपर यह शाप लागू नहीं हुआ । अन्य सब देवता देवीके शापसे संतानहीन हो गये ॥ ७६॥

रुद्रस्तु तेजोऽप्रतिमं धारयामास वै तदा ।
प्रस्कन्नं तु ततस्तस्मात् किंचित्तत्रापतद् भुवि ॥ ७७॥

रुद्रदेवने उस समय अपने अनुपम तेज (वीर्य) को यद्यपि रोक लिया था तो भी किञ्चित् स्खलित होकर वहीं पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७७ ॥

उत्पपात तदा वह्नौ ववृधे चाद्भुतोपमम् ।
तेजस्तेजसि संयुक्तमात्मयोनित्वमागतम् ॥ ७८ ॥

वह अद्भुत तेज अग्निमें पड़कर बढ़ने और ऊपरको उठने लगा । तेजसे संयुक्त हुआ वह तेज एक स्वयम्भू पुरुषके रूपमें अभिव्यक्त होने लगा ॥ ७८ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवाः शक्रपुरोगमाः ।
असुरस्तारको नाम तेन संतापिता भृशम् ॥ ७९ ॥

इसी समय तारक नामक एक असुर उत्पन्न हुआ था, जिसने इन्द्र आदि देवताओंको अत्यन्त संतप्त कर दिया था॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतोऽथाश्विनावपि ।
साध्याश्च सर्वे संत्रस्ता दैतेयस्य पराक्रमात् ॥ ८० ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा साध्य--सभी देवता उस दैत्यके पराक्रमसे संत्रस्त हो उठे थे ॥८० ॥

स्थानानि देवतानां हि विमानानि पुराणि च ।
ऋषीणां चाश्रमाश्चैव बभूवुरसुरैर्हृताः ॥ ८१ ॥

असुरोंने देवताओंके स्थान, विमान, नगर तथा ऋषियोंके आश्रम भी छीन लिये थे ॥ ८१ ॥

ते दीनमनसः सर्वे देवता ऋषयश्च ये ।
प्रजग्मुः शरणं देवं ब्रह्माणमजरं विभुम् ॥ ८२ ॥

वे सब देवता और ऋषि दीनचित्त हो अजर-अमर एवं सर्वव्यापी देवता भगवान् ब्रह्माकी शरणमें गये ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णोत्पत्तिर्नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्णकी उत्पत्ति नामक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका देवताओंको आश्वासन, अग्निकी खोज, अग्निके द्वारा स्थापित किये हुए शिवके तेजसे संतप्त हो गङ्गाका उसे मेरुपर्वतपर छोड़ना, कार्तिकेय और सुवर्णकी उत्पत्ति, वरुणरूपधारी महादेवजीके यज्ञमें अग्निसे ही प्रजापतियों और सुवर्णका प्रादुर्भाव, कार्तिकेयद्वारा तारकासुरका वध

देवा ऊचुः

असुरस्तारको नाम त्वया दत्तवरः प्रभो ।
सुरानृषींश्च क्लिश्नाति वधस्तस्य विधीयताम् ॥ १ ॥

देवता बोले—प्रभो ! आपने जिसे वर दे रखा है, वह तारक नामक असुर देवताओं और ऋषियोंको बड़ा कष्ट दे रहा है । अतः उसके वधका कोई उपाय कीजिये ॥ १ ॥

तस्माद् भयं समुत्पन्नमस्माकं वै पितामह ।
परित्रायस्व नो देव न ह्यन्या गतिरस्ति नः ॥ २ ॥

पितामह ! देव ! उस असुरसे हमलोगोंको भारी भय उत्पन्न हो गया है । आप हमारी उससे रक्षा करें; क्योंकि हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २ ॥

ब्रह्मोवाच

समोऽहं सर्वभूतानामधर्मं नेह रोचये ।
हन्यतां तारकः क्षिप्रं सुरर्षिगणबाधिता ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मेरा तो समस्त प्राणियोंके प्रति समान भाव है तथापि मैं अधर्म नहीं पसंद करता; अतः देवताओं तथा ऋषियोंको कष्ट देनेवाले तारकासुरको तुमलोग शीघ्र ही मार डालो ॥ ३ ॥

वेदा धर्माश्च नोच्छेदं गच्छेयुः सुरसत्तमाः ।
विहितं पूर्वमेवात्र मया वै व्येतु वो ज्वरः ॥ ४ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! वेदों और धर्मोंका उच्छेद न हो, इसका

उपाय मैंने पहलेसे ही कर लिया है। अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः

वरदानाद् भगवतो दैतेयो बलगर्वितः।
देवैर्न शक्यते हन्तुं स कथं प्रशमं व्रजेत् ॥ ५ ॥

देवता बोले—भगवन्! आपके ही वरदानसे वह दैत्य बलके घमंडसे भर गया है। देवता उसे नहीं मार सकते। ऐसी दशामें वह कैसे शान्त हो सकता है? ॥

स हि नैव स्म देवानां नासुराणां न रक्षसाम्।
वध्यः स्यामिति जग्राह वरं त्वत्तः पितामह ॥ ६ ॥

पितामह! उसने आपसे यह वरदान प्राप्त कर लिया है कि मैं देवताओं, असुरों तथा राक्षसोंमेंसे किसीके हाथसे भी मारा न जाऊँ ॥ ६ ॥

देवाश्च शप्ता रुद्राण्या प्रजोच्छेदे पुराकृते।
न भविष्यति वोऽपत्यमिति सर्वे जगत्पते ॥ ७ ॥

जगत्पते! पूर्वकालमें जब हमने रुद्राणीकी संततिका उच्छेद कर दिया, तब उन्होंने सब देवताओंको शाप दे दिया कि तुम्हारे कोई संतान नहीं होगी ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

हुताशनो न तत्रासीच्छापकाले सुरोत्तमाः।
स उत्पादयितापत्यं वधाय त्रिदशद्विषाम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—सुरश्रेष्ठगण! उस शापके समय वहाँ अग्निदेव नहीं थे। अतः देवद्रोहियोंके वधके लिये वे ही संतान उत्पन्न करेंगे ॥ ८ ॥

तद् वै सर्वानतिक्रम्य देवदानवराक्षसान्।
मानुषानथ गन्धर्वान् नागानथ च पक्षिणः ॥ ९ ॥
अस्त्रेणामोघपातेन शक्त्या तं घातयिष्यति।
यतो वो भयमुत्पन्नं ये चान्ये सुरशत्रवः ॥ १० ॥

वही समस्त देवताओं, दानवों, राक्षसों, मनुष्यों, गन्धर्वों, नागों तथा पक्षियोंको लाँघकर अपने अचूक अस्त्र-शक्तिके द्वारा उस असुरका वध कर डालेगा, जिससे तुम्हें भय उत्पन्न हुआ है। दूसरे जो देवशत्रु हैं, उनका भी वह संहार कर डालेगा ॥ ९-१० ॥

सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते।
रुद्रस्य तेजः प्रस्कन्नमग्नौ निपतितं च यत् ॥ ११ ॥
तत्तेजोऽग्निर्महद्भूतं द्वितीयमिति पावकम्।
वधार्थं देवशत्रूणां गङ्गायां जनयिष्यति ॥ १२ ॥

सनातन संकल्पको ही काम कहते हैं। उसी कामसे रुद्रका जो तेज स्खलित होकर अग्निमें गिरा था, उसे अग्निने ले रखा है। द्वितीय अग्निके समान उस महान् तेजको वे गङ्गाजीमें स्थापित करके बालकरूपसे उत्पन्न करेंगे। वही बालक देवशत्रुओंके वधका कारण होगा ॥ ११-१२ ॥

स तु नावाप तं शापं नष्टः स हुतभुक् तदा।
तस्माद् वो भयहृद् देवाः समुत्पत्स्यति पावकिः॥१३॥

अग्निदेव उस समय छिपे हुए थे, इसलिये वह शाप उन्हें नहीं प्राप्त हुआ; अतः देवताओ! अग्निके जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह तुमलोगोंका सारा भय हर लेगा ॥ १३ ॥

अन्विष्यतां वै ज्वलनस्तथा चाद्य नियुज्यताम्।
तारकस्य वधोपायः कथितो वै मयानघाः ॥ १४ ॥

तुमलोग अग्निदेवकी खोज करो और उन्हें आज ही इस कार्यमें नियुक्त करो। निष्पाप देवताओ! तारकासुरके वधका यह उपाय मैंने बता दिया ॥ १४ ॥

न हि तेजस्विनां शापास्तेजःसु प्रभवन्ति वै।
बलान्यतिबलं प्राप्य दुर्बलानि भवन्ति वै ॥ १५ ॥

तेजस्वी पुरुषोंके शाप तेजस्वियोंपर अपना प्रभाव नहीं दिखाते। साधारण बली कितने ही क्यों न हों, अत्यन्त बलशालीको पाकर दुर्बल हो जाते हैं ॥ १५ ॥

हन्यादवध्यान् वरदानपि चैव तपस्विनः।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ॥ १६ ॥

तपस्वी पुरुषका जो काम है, वही संकल्प एवं अभिरुचिके नामसे प्रसिद्ध है। वह सनातन या चिरस्थायी होता है। वह वर देनेवाले अवध्य पुरुषोंका भी वध कर सकता है॥

जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ॥ १७ ॥

अग्निदेव इस जगत्के पालक, अनिर्वचनीय, सर्वव्यापी, सबके उत्पादक, समस्त प्राणियोंके हृदयमें शयन करनेवाले, सर्वसमर्थ तथा रुद्रसे भी ज्येष्ठ हैं ॥ १७ ॥

अन्विष्यतां स तु क्षिप्रं तेजोराशिर्हुताशनः।
स वो मनोगतं कामं देवः सम्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

तेजकी राशिभूत अग्निदेवका तुम सब लोग शीघ्र अन्वेषण करो। वे तुम्हारी मनोवाञ्छित कामनाको पूर्ण करेंगे ॥१८॥

एतद् वाक्यमुपश्रुत्य ततो देवा महात्मनः।
जग्मुः संसिद्धसंकल्पाः पर्येषन्तो विभावसुम् ॥ १९ ॥

महात्मा ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर सफलमनोरथ हुए देवता अग्निदेवका अन्वेषण करनेके लिये वहाँसे चले गये॥

ततस्त्रैलोक्यमृषयो व्यचिन्वन्त सुरैः सह।
काङ्क्षन्तो दर्शनं वह्नेः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ २० ॥

तब देवताओंसहित ऋषियोंने तीनों लोकोंमें अग्निकी खोज प्रारम्भ की। उन सबका मन उन्हींमें लगा था और वे—सभी अग्निदेवका दर्शन करना चाहते थे ॥ २० ॥

परेण तपसा युक्ताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः।

लोकानन्वचरन् सिद्धाः सर्व एव भृगूत्तम ॥ २१ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! उत्तम तपस्यासे युक्त, तेजस्वी और लोकविख्यात सभी सिद्ध देवता सभी लोकोंमें अग्निदेवकी खोज करते रहे ॥ २१ ॥

नष्टमात्मनि संलीनं नाधिजग्मुर्हुताशनम् ।
ततः संजातसंत्रासानग्निदर्शनलालसान् ॥ २२ ॥
जलेचरः क्लान्तमनास्तेजसाग्नेः प्रदीपितः ।
उवाच देवान् मण्डूको रसातलतलोत्थितः ॥ २३ ॥

वे छिपकर अपने-आपमें ही लीन थे; अतः देवता उनके पास नहीं पहुँच सके। तब अग्निका दर्शन करनेके लिये उत्सुक और भयभीत हुए देवताओंसे एक जलचारी मेढक, जो अग्निके तेजसे दग्ध एवं क्लान्तचित्त होकर रसातलसे ऊपरको आया था, बोला—॥ २२-२३ ॥

रसातलतले देवा वसत्यग्निरिति प्रभो ।
संतापादिह सम्प्राप्तः पावकप्रभवादहम् ॥ २४ ॥

'देवताओ ! अग्नि रसातलमें निवास करते हैं। प्रभो ! मैं अग्निजनित संतापसे ही घबराकर यहाँ आया हूँ ॥ २४ ॥

स संसुप्तो जले देवा भगवान् हव्यवाहनः ।
अपः संसृज्य तेजोभिस्तेन संतापिता वयम् ॥ २५ ॥

'देवगण ! भगवान् अग्निदेव अपने तेजके साथ जलको संयुक्त करके जलमें ही सोये हैं। हमलोग उन्हींके तेजसे संतप्त हो रहे हैं ॥ २५ ॥

तस्य दर्शनमिष्टं वो यदि देवा विभावसोः ।
तत्रैवमधिगच्छध्वं कार्यं वो यदि वह्निना ॥ २६ ॥

'देवताओ ! यदि आपको अग्निदेवका दर्शन अभीष्ट हो और यदि उनसे आपका कोई कार्य हो तो वहीं जाकर उनसे मिलिये ॥ २६ ॥

गम्यतां साधयिष्यामो वयं ह्यग्निभयात् सुराः ।
एतावदुक्त्वा मण्डूकस्त्वरितो जलमाविशत् ॥ २७ ॥

'देवगण ! आप जाइये। हम भी अग्निके भयसे अन्यत्र जायँगे।' इतना ही कहकर वह मेढक तुरंत ही जलमें घुस गया ॥ २७ ॥

हुताशनस्तु बुबुधे मण्डूकस्य च पैशुनम् ।
शशाप स तमासाद्य न रसान् वेत्स्यसीति वै ॥ २८ ॥

अग्निदेव समझ गये कि मेढकने मेरी चुगली खायी है; अतः उन्होंने उसके पास पहुँचकर यह शाप दे दिया कि 'तुम्हें रसका अनुभव नहीं होगा' ॥ २८ ॥

तं वै संयुज्य शापेन मण्डूकं त्वरितो ययौ ।
अन्यत्र वासाय विभुर्न चात्मानमदर्शयत् ॥ २९ ॥

मेढकको शाप देकर वे तुरंत दूसरी जगह निवास करनेके लिये चले गये। सर्वव्यापी अग्निने अपने-आपको प्रकट नहीं किया ॥ २९ ॥

देवास्त्वनुग्रहं चक्रुर्मण्डूकानां भृगूत्तम ।
यत्तच्छृणु महाबाहो गदतो मम सर्वशः ॥ ३० ॥

भृगुश्रेष्ठ ! महाबाहो ! उस समय देवताओंने मेढकोंपर जो कृपा की, वह सब बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

देवा ऊचुः

अग्निशापादजिह्वापि रसज्ञानबहिष्कृताः ।
सरस्वतीं बहुविधां यूयमुच्चारयिष्यथ ॥ ३१ ॥

देवता बोले—मेढको ! अग्निदेवके शापसे तुम्हारे जिह्वा नहीं होगी; अतः तुम रसोंके ज्ञानसे शून्य रहोगे तथापि हमारी कृपासे तुम नाना प्रकारकी वाणीका उच्चारण कर सकोगे ॥ ३१ ॥

बिलवासं गतांश्चैव निराहारानचेतसः ।
गतासूनपि संशुष्कान् भूमिः संधारयिष्यति ॥ ३२ ॥
तमोघनायामपि वै निशायां विचरिष्यथ ।

बिलमें रहते समय तुम आहार न मिलनेके कारण अचेत और निष्प्राण होकर सूख जाओगे तो भी भूमि तुम्हें धारण किये रहेगी—वर्षाका जल मिलनेपर तुम पुनः जी उठोगे। घने अन्धकारसे भरी हुई रात्रिमें भी तुम विचरते रहोगे ३२½

इत्युक्त्वा तांस्ततो देवाः पुनरेव महीमिमाम् ॥ ३३ ॥
परीयुर्ज्वलनस्यार्थे न चाविन्दन् हुताशनम् ।

मेढकोंसे ऐसा कहकर देवता पुनः अग्निकी खोजके लिये इस पृथ्वीपर विचरने लगे; किंतु वे अग्निदेवको कहीं उपलब्ध न कर सके ॥ ३३½ ॥

अथ तान् द्विरदः कश्चित् सुरेन्द्रद्विरदोपमः ॥ ३४ ॥
अश्वत्थस्थोऽग्निरित्येवमाह देवान् भृगूद्वह ।

भृगुश्रेष्ठ ! तदनन्तर देवराज इन्द्रके ऐरावतकी भाँति कोई विशालकाय गजराज देवताओंसे बोला—'अश्वत्थ अग्निरूप है' ॥ ३४½ ॥

शशाप ज्वलनः सर्वान् द्विरदान् क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३५ ॥
प्रतीपा भवतां जिह्वा भवित्रीति भृगूद्वह ।

भृगुकुलभूषण ! यह सुनकर अग्निदेव क्रोधसे विह्वल हो उठे और उन्होंने समस्त हाथियोंको शाप देते हुए कहा—'तुमलोगोंकी जिह्वा उलटी हो जायगी' ॥ ३५½ ॥

इत्युक्त्वा निःसृतोऽश्वत्थादग्निर्वारणसूचितः ।
प्रविवेश शमीगर्भमथ वह्निः सुषुप्सया ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर हाथीद्वारा सूचित किये गये अग्निदेव अश्वत्थसे निकलकर शमीके भीतर प्रविष्ट हो गये। वे वहाँ अच्छी तरह सोना चाहते थे ॥ ३६ ॥

अनुग्रहं तु नागानां यं चक्रुः शृणु तं प्रभो ।
देवा भृगुकुलश्रेष्ठ प्रीत्या सत्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥

प्रभो ! भृगुकुलश्रेष्ठ ! तब सत्यपराक्रमी देवताओंने प्रसन्न हो नागोंपर जिस प्रकार अपना अनुग्रह प्रकट किया, उसे सुनो ॥ ३७ ॥

देवा ऊचुः

प्रतीपया जिह्वयापि सर्वाहारं करिष्यथ ।
वाचं चोच्चारयिष्यध्वमुच्चैरव्यञ्जिताक्षराम् ॥ ३८ ॥

देवता बोले—हाथियो ! तुम अपनी उलटी जिह्वासे भी सब प्रकारके आहार ग्रहण कर सकोगे तथा उच्चस्वरसे वाणीका उच्चारण कर सकोगे; किंतु उससे किसी अक्षरकी अभिव्यक्ति नहीं होगी ॥ ३८ ॥

इत्युक्त्वा पुनरेवाग्निमनुसस्रुर्दिवौकसः ।
अश्वत्थान्निःसृतश्चाग्निः शमीगर्भमुपाविशत् ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर देवताओंने पुनः अग्निका अनुसरण किया । उधर अग्निदेव अश्वत्थसे निकलकर शमीके भीतर जा बैठे ॥

शुकेन ख्यापितो विप्र तं देवाः समुपाद्रवन् ।
शशाप शुकमग्निस्तु वाग्विहीनो भविष्यसि ॥ ४० ॥

विप्रवर ! तदनन्तर तोतेने अग्निका पता बता दिया । फिर तो देवता शमीवृक्षकी ओर दौड़े । यह देख अग्निने तोतेको शाप दे दिया—'तू वाणीसे रहित हो जायगा' ॥४०॥

जिह्वामावर्तयामास तस्यापि हुतभुक् तथा ।
दृष्ट्वा तु ज्वलनं देवाः शुकमूचुर्दयान्विताः ॥ ४१ ॥
भविता न त्वमत्यन्तं शुकत्वे नष्टवागिति ।
आवृत्तजिह्वस्य सतो वाक्यं कान्तं भविष्यति ॥ ४२ ॥

अग्निदेवने उसकी भी जिह्वा उलट दी । अब अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखकर देवताओंने दयायुक्त होकर शुकसे कहा—'तू शुक-योनिमें रहकर अत्यन्त वाणीरहित नहीं होगा—कुछ-कुछ बोल सकेगा । जीभ उलट जानेपर भी तेरी बोली बड़ी मधुर एवं कमनीय होगी ॥ ४१-४२ ॥

बालस्येव प्रवृद्धस्य कलमव्यक्तमद्भुतम् ।

'जैसे बड़े-बूढ़े पुरुषको बालककी समझमें न आनेवाली अद्भुत तोतली बोली बड़ी मीठी लगती है, उसी प्रकार तेरी बोली भी सबको प्रिय लगेगी'॥ ४२½ ॥

इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ॥ ४३ ॥
तदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि ।
ततः प्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर शमीके गर्भमें अग्निदेवका दर्शन करके देवताओंने सभी कर्मोंके लिये शमीको ही अग्निका पवित्र स्थान नियत किया । तबसे अग्निदेव शमीके भीतर दृष्टिगोचर होने लगे ॥ ४३-४४ ॥

उत्पादने तथोपायमभिजग्मुश्च मानवाः ।
आपो रसातले यास्तु संस्पृष्टाश्चित्रभानुना ॥ ४५ ॥
ताः पर्वतप्रस्रवणैरूष्मां मुञ्चन्ति भार्गव ।
पावकेनाधिशयता संतप्तास्तस्य तेजसा ॥ ४६ ॥

भार्गव ! मनुष्योंने अग्निको प्रकट करनेके लिये शमीका मन्थन ही उपाय जाना । अग्निने रसातलमें जिस जलका स्पर्श किया था और वहाँ शयन करनेवाले अग्निदेवके तेजसे जो संतप्त हो गया था, वह जल पर्वतीय झरनोंके रूपमें अपनी गरमी निकालता है ॥ ४५-४६ ॥

अथाग्निर्देवता दृष्ट्वा बभूव व्यथितस्तदा ।
किमागमनमित्येवं तानपृच्छत पावकः ॥ ४७ ॥

उस समय देवताओंको देखकर अग्निदेव व्यथित हो गये और उनसे पूछने लगे—'किस उद्देश्यसे यहाँ आप-लोगोंका शुभागमन हुआ है ?' ॥ ४७ ॥

तमूचुर्विबुधाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ।
त्वां नियोक्ष्यामहे कार्ये तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ४८ ॥
कृते च तस्मिन् भविता तवापि सुमहान् गुणः ॥ ४९ ॥

तब सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनसे बोले—'हम तुम्हें एक कार्यमें नियुक्त करेंगे । उसे तुम्हें करना चाहिये । उस कार्यको सम्पन्न कर देनेपर तुम्हें भी बहुत बड़ा लाभ होगा'॥

अग्निरुवाच

ब्रूत यद् भवतां कार्यं कर्तास्मि तदहं सुराः ।
भवतां तु नियोज्योऽस्मि मा वोऽत्रास्तु विचारणा ॥

अग्निने कहा—देवताओ ! आपलोगोंका जो कार्य है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, अतः उसे कहिये । मैं आप लोगोंका आज्ञापालक हूँ । इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५० ॥

देवा ऊचुः

असुरस्तारको नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः ।
अस्मान् प्रबाधते वीर्याद् वधस्तस्य विधीयताम् ॥ ५१ ॥

देवता बोले—अग्निदेव ! एक तारकनामक असुर है, जो ब्रह्माजीके वरदानसे मदमत्त होकर अपने पराक्रमसे हम सब लोगोंको कष्ट दे रहा है । अतः तुम उसके वधका कोई उपाय करो ॥ ५१ ॥

इमान् देवगणांस्तात प्रजापतिगणांस्तथा ।
ऋषींश्चापि महाभाग परित्रायस्व पावक ॥ ५२ ॥

तात ! महाभाग पावक ! इन देवताओं, प्रजापतियों तथा ऋषियोंकी भी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

अपत्यं तेजसा युक्तं प्रवीरं जनय प्रभो ।
यद् भयं नोऽसुरात् तस्मान्नाशयेद्धव्यवाहन ॥ ५३ ॥

प्रभो ! हव्यवाहन ! तुम एक ऐसा तेजस्वी और महावीर

पुत्र उत्पन्न करो, जो उस असुरसे प्राप्त होनेवाले हमारे भयका नाश करे ॥ ५३ ॥

शप्तानां नो महादेव्या नान्यदस्ति परायणम् ।
अन्यत्र भवतो वीर्यं तस्मात् त्रायस्व नः प्रभो ॥ ५४ ॥

प्रभो ! महादेवी पार्वतीने हमलोगोंको संतानहीन होनेका शाप दे दिया है; अतः तुम्हारे बलवीर्यके सिवा हमारे लिये दूसरा कोई आश्रय नहीं रह गया है, इसलिये हमलोगोंकी रक्षा करो ॥ ५४ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा भगवान् हव्यवाहनः ।
जगामाथ दुराधर्षो गङ्गां भागीरथीं प्रति ॥ ५५ ॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर 'तथास्तु' कहकर दुर्धर्ष भगवान् हव्यवाहन भागीरथी गङ्गाके तटपर गये ॥ ५५ ॥

तया चाप्यभवन्मिश्रो गर्भं चास्यादधे तदा ।
ववृधे स तदा गर्भः कक्षे कृष्णगतिर्यथा ॥ ५६ ॥

वे वहाँ गङ्गाजीसे मिले । गङ्गाजीने उस समय भगवान् शङ्करके उस तेजको गर्भरूपसे धारण किया । जैसे सूखे तिनकों अथवा लकड़ियोंके ढेरमें रक्खी हुई आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वह तेजस्वी गर्भ गङ्गाजीके भीतर बढ़ने लगा ॥ ५६ ॥

तेजसा तस्य देवस्य गङ्गा विह्वलचेतना ।
संतापमगमत् तीव्रं सोढुं सा न शशाक ह ॥ ५७ ॥

अग्निदेवके दिये हुए उस तेजसे गङ्गाजीका चित्त व्याकुल हो गया । वे अत्यन्त संतप्त हो उठीं और उसे सहन करनेमें असमर्थ हो गयीं ॥ ५७ ॥

आहिते ज्वलनेनाथ गर्भे तेजःसमन्विते ।
गङ्गायामसुरः कश्चिद् भैरवं नादमानदत् ॥ ५८ ॥

अग्निके द्वारा गङ्गाजीमें स्थापित किया हुआ वह तेजस्वी गर्भ जब बढ़ रहा था, उसी समय किसी असुरने वहाँ आकर सहसा बड़े जोरसे भयानक गर्जना की ॥ ५८ ॥

अबुद्धिपतितेनाथ नादेन विपुलेन सा ।
वित्रस्तोद्भ्रान्तनयना गङ्गा विप्लुतलोचना ॥ ५९ ॥

उस आकस्मिक महान् सिंहनादसे भयभीत हुई गङ्गाजीकी आँखें घूमने लगीं और उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगा ॥

विसंज्ञा नाशकद् गर्भं वोढुमात्मानमेव च ।
सा तु तेजःपरीताङ्गी कम्पयन्तीव जाह्नवी ॥ ६० ॥
उवाच ज्वलनं विप्र तदा गर्भबलोद्धता ।
ते न शक्तास्मि भगवंस्तेजसोऽस्य विधारणे ॥ ६१ ॥

वे अचेत हो गयी । अतः उस गर्भको और अपने-आपको भी न सम्हाल सकीं । उनके सारे अङ्ग तेजसे व्याप्त हो रहे थे । विप्रवर ! उस समय जाह्नवी देवी उस गर्भकी शक्तिसे अभिभूत हो काँपती हुई-सी अग्निसे बोलीं—'भगवन् ! मैं आपके इस तेजको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ६०-६१ ॥

विमूढास्मि कृतानेन न मे स्वास्थ्यं यथा पुरा ।
विह्वला चास्मि भगवंश्चेतो नष्टं च मेऽनघ ॥ ६२ ॥

'निष्पाप अग्निदेव ! इसने मुझे मूर्च्छित-सी कर दिया है । मेरा स्वास्थ्य अब पहले-जैसा नहीं रह गया है । भगवन् ! मैं बहुत घबरा गयी हूँ । मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है ॥

धारणे नास्य शक्ताहं गर्भस्य तपतां वर ।
उत्स्रक्ष्येऽहमिमं दुःखान्न तु कामात् कथंचन ॥ ६३ ॥

'तपनेवालोंमें श्रेष्ठ पावक ! अब मुझमें इस गर्भको धारण किये रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है । मैं असह्य दुःखसे ही इसे त्यागने जा रही हूँ । स्वेच्छासे किसी प्रकार नहीं ॥ ६३ ॥

न तेजसोऽस्ति संस्पर्शो मम देव विभावसो ।
आपदर्थे हि सम्बन्धः सुसूक्ष्मोऽपि महाद्युते ॥ ६४ ॥

'देव ! विभावसो ! महाद्युते ! इस तेजके साथ मेरा कोई सम्पर्क नहीं है । इस समय जो अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वह भी देवताओंपर आयी हुई विपत्तिको टालनेके उद्देश्यसे ही है ॥ ६४ ॥

यदत्र गुणसम्पन्नमितरद् वा हुताशन ।
त्वय्येव तदहं मन्ये धर्माधर्मौ च केवलौ ॥ ६५ ॥

'हुताशन ! इस कार्यमें यदि कोई गुण या दोषयुक्त परिणाम हो अथवा केवल धर्म या अधर्म हो, उन सबका उत्तरदायित्व आपपर ही है, ऐसा मैं मानती हूँ' ॥ ६५ ॥

तामुवाच ततो वह्निर्धार्यतां धार्यतामिति ।
गर्भो मत्तेजसा युक्तो महागुणफलोदयः ॥ ६६ ॥

तब अग्निने गङ्गाजीसे कहा—'देवि ! यह गर्भ मेरे तेजसे युक्त है, इससे महान् गुणयुक्त फलका उदय होनेवाला है । इसे धारण करो, धारण करो ॥ ६६ ॥

शक्ता ह्यसि महीं कृत्स्नां वोढुं धारयितुं तथा ।
न हि ते किंचिदप्राप्यमन्यतो धारणादृते ॥ ६७ ॥

'देवि ! तुम सारी पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ हो, फिर इस गर्भको धारण करना तुम्हारे लिये कुछ असाध्य नहीं है' ॥ ६७ ॥

सा वह्निना वार्यमाणा देवैरपि सरिद्वरा ।
समुत्ससर्ज तं गर्भं मेरौ गिरिवरे तदा ॥ ६८ ॥

देवताओं तथा अग्निके मना करनेपर भी सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाने उस गर्भको गिरिराज मेरुके शिखरपर छोड़ दिया ॥ ६८ ॥

समर्था धारणे चापि रुद्रतेजःप्रधर्षिता ।
नाशकत् तं तदा गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६९ ॥

यद्यपि गङ्गाजी उस गर्भको धारण करनेमें समर्थ थीं तो भी रुद्रके तेजसे पराभूत होकर बलपूर्वक उसे धारण न कर सकीं ॥ ६९ ॥

सा समुत्सृज्य तं दुःखाद् दीप्तवैश्वानरप्रभम् ।
दर्शयामास चाग्निस्तं तदा गङ्गां भृगूद्वह ॥ ७० ॥
पप्रच्छ सरितां श्रेष्ठां कच्चिद् गर्भः सुखोदयः ।
कीदृग्वर्णोऽपि वा देवि कीदृग्रूपश्च दृश्यते ।
तेजसा केन वा युक्तः सर्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ७१ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! गङ्गाजीने बड़े दुःखसे अग्निके समान तेजस्वी उस गर्भको त्याग दिया । तत्पश्चात् अग्निने उनका दर्शन किया और सरिताओंमें श्रेष्ठ उन गङ्गाजीसे पूछा—'देवि ! तुम्हारा गर्भ सुखपूर्वक उत्पन्न हो गया है न ? उसकी कान्ति कैसी है अथवा उसका रूप कैसा दिखायी देता है, वह कैसे तेजसे युक्त है ? यह सारी बातें मुझसे कहो' ॥ ७०-७१ ॥

गङ्गोवाच

जातरूपः स गर्भो वै तेजसा त्वमिवानघ ।
सुवर्णो विमलो दीप्तः पर्वतं चावभासयत् ॥ ७२ ॥

गङ्गा बोलीं—देव ! वह गर्भ क्या है, सोना है । अनघ ! वह तेजमें हूबहू आपके ही समान है । सुवर्ण-जैसी निर्मल कान्तिसे प्रकाशित होता है और सारे पर्वतको उद्भासित करता है ॥ ७२ ॥

पद्मोत्पलविमिश्राणां ह्रदानामिव शीतलः ।
गन्धोऽस्य स कदम्बानां तुल्यो वै तपतां वर ॥ ७३ ॥

तपनेवालोंमें श्रेष्ठ अग्निदेव ! कमल और उत्पलसे संयुक्त सरोवरोंके समान उसका अङ्ग शीतल है और कदम्ब-पुष्पोंके समान उससे मीठी-मीठी सुगन्ध फैलती रहती है ॥ ७३ ॥

तेजसा तस्य गर्भस्य भास्करस्येव रश्मिभिः ।
यद् द्रव्यं परिसंसृष्टं पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥
तत् सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात् प्रत्यदृश्यत ।

सूर्यकी किरणोंके समान उस गर्भसे वहाँकी भूमि या पर्वतोंपर रहनेवाले जिस किसी द्रव्यका स्पर्श हुआ, वह सब चारों ओरसे सुवर्णमय दिखायी देने लगा ॥ ७४½ ॥

पर्यधावत शैलांश्च नदीः प्रस्रवणानि च ॥ ७५ ॥
व्यादीपयंस्तेजसा च त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

वह बालक अपने तेजसे चराचर प्राणियोंको प्रकाशित करता हुआ पर्वतों, नदियों और झरनोंकी ओर दौड़ने लगा था ॥ ७५½ ॥

एवंरूपः स भगवान् पुत्रस्ते हव्यवाहन ।
सूर्यवैश्वानरसमः कान्त्या सोम इवापरः ॥ ७६ ॥

हव्यवाहन ! आपका ऐश्वर्यशाली पुत्र ऐसे ही रूपवाला है । वह सूर्य तथा आपके समान तेजस्वी और दूसरे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् है ॥ ७६ ॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
पावकश्चापि तेजस्वी कृत्वा कार्यं दिवौकसाम् ॥ ७७ ॥
जगामेष्टं ततो देशं तदा भार्गवनन्दन ।

भार्गवनन्दन ! ऐसा कहकर देवी गङ्गा वहीं अन्तर्धान हो गयीं और तेजस्वी अग्निदेव देवताओंका कार्य सिद्ध करके उस समय वहाँसे अभीष्ट देशको चले गये ॥ ७७½ ॥

एतैः कर्मगुणैर्लोके नामाग्नेः परिगीयते ॥ ७८ ॥
हिरण्यरेता इति वै ऋषिभिर्विबुधैस्तथा ।
पृथिवी च तदा देवी ख्याता वसुमतीति वै ॥ ७९ ॥

इन्हीं समस्त कर्मों और गुणोंके कारण देवता तथा ऋषि संसारमें अग्निको हिरण्यरेताके नामसे पुकारते हैं । उस समय अग्निजनित हिरण्य (वसु) धारण करनेके कारण पृथ्वीदेवी वसुमती नामसे विख्यात हुई ॥ ७८-७९ ॥

स तु गर्भो महातेजा गाङ्गेयः पावकोद्भवः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधेऽद्भुतदर्शनः ॥ ८० ॥

अग्निके अंशसे उत्पन्न हुआ गङ्गाका वह महातेजस्वी गर्भ सरकण्डोंके दिव्य वनमें पहुँचकर बढ़ने और अद्भुत दिखायी देने लगा ॥ ८० ॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालार्कसदृशद्युतिम् ।
पुत्रं वै ताश्च तं बालं पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ ८१ ॥

प्रभातकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिवाले उस तेजस्वी बालकको कृत्तिकाओंने देखा और उसे अपना पुत्र मानकर स्तनोंका दूध पिलाकर उसका पालन-पोषण किया ॥

ततः स कार्तिकेयत्वमवाप परमद्युतिः ।
स्कन्नत्वात् स्कन्दतां चापि गुहावासाद् गुहोऽभवत् ॥ ८२ ॥

इसीलिये वह परम तेजस्वी कुमार 'कार्तिकेय' नामसे प्रसिद्ध हुआ । शिवके स्कन्दित (स्खलित) वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम 'स्कन्द' हुआ और पर्वतकी गुहामें निवास करनेसे वह 'गुह' कहलाया ॥ ८२ ॥

एवं सुवर्णमुत्पन्नमपत्यं जातवेदसः ।
तत्र जाम्बूनदं श्रेष्ठं देवानामपि भूषणम् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार अग्निसे संतानरूपमें सुवर्णकी उत्पत्ति हुई है । उसमें भी जाम्बूनद नामक सुवर्ण श्रेष्ठ है और वह देवताओंका भी भूषण है ॥ ८३ ॥

ततः प्रभृति चाप्येतज्जातरूपमुदाहृतम् ।
रत्नानामुत्तमं रत्नं भूषणानां तथैव च ॥ ८४ ॥

तभीसे सुवर्णका नाम जातरूप हुआ । वह रत्नोंमें उत्तम रत्न और आभूषणोंमें श्रेष्ठ आभूषण है ॥ ८४ ॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
यत् सुवर्णं स भगवानग्निरीशः प्रजापतिः ॥ ८५ ॥

वह पवित्रोंमें भी अधिक पवित्र तथा मङ्गलोंमें भी अधिक मङ्गलमय है। जो सुवर्ण है, वही भगवान् अग्नि हैं, वही ईश्वर और प्रजापति हैं ॥ ८५ ॥

पवित्राणां पवित्रं हि कनकं द्विजसत्तमाः ।
अग्नीषोमात्मकं चैव जातरूपमुदाहृतम् ॥ ८६ ॥

द्विजवरो ! सुवर्ण सम्पूर्ण पवित्र वस्तुओंमें अतिशय पवित्र है; उसे अग्नि और सोमरूप बताया गया है ॥८६॥

वसिष्ठ उवाच

अपि चेदं पुरा राम श्रुतं मे ब्रह्मदर्शनम् ।
पितामहस्य यद् वृत्तं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ८७ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—परशुराम ! परमात्मा पितामह ब्रह्माका जो ब्रह्मदर्शन नामक वृत्तान्त मैंने पूर्वकालमें सुना था, वह तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ८७ ॥

देवस्य महतस्तात वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ।
ऐश्वर्ये वारुणे राम रुद्रस्येशस्य वै प्रभो ॥ ८८ ॥
आजग्मुर्मुनयः सर्वे देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
यज्ञाङ्गानि च सर्वाणि वषट्कारश्च मूर्तिमान् ॥ ८९ ॥
मूर्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्रशः ।
ऋग्वेदश्चागमत् तत्र पदक्रमविभूषितः ॥ ९० ॥

प्रभावशाली तात परशुराम ! एक समयकी बात है, सबके ईश्वर और महान् देवता भगवान् रुद्र वरुणका स्वरूप धारण करके वरुणके साम्राज्यपर प्रतिष्ठित थे। उस समय उनके यज्ञमें अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता और ऋषि पधारे। सम्पूर्ण मूर्तिमान् यज्ञाङ्ग, वषट्कार, साकार साम, सहस्रों यजुर्मन्त्र तथा पद और क्रमसे विभूषित ऋग्वेद भी वहाँ उपस्थित हुए ॥ ८८—९० ॥

लक्षणानि स्वराः स्तोभा निरुक्तं सुरपङ्क्तयः ।
ओङ्कारश्चावसन्नेत्रे निग्रहप्रग्रहौ तथा ॥ ९१ ॥

वेदोंके लक्षण, उदात्त आदि स्वर, स्तोत्र, निरुक्त, सुरपंक्ति, ओङ्कार तथा यज्ञके नेत्रस्वरूप प्रग्रह और निग्रह भी उस स्थानपर स्थित थे ॥ ९१ ॥

वेदाश्च सोपनिषदो विद्या सावित्र्यथापि च ।
भूतं भव्यं भविष्यं च दधार भगवान् शिवः ॥ ९२ ॥

वेद, उपनिषद्, विद्या और सावित्री देवी भी वहाँ आयी थीं। भगवान् शिवने भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंको धारण किया था ॥ ९२ ॥

संजुहावात्मनाऽऽत्मानं स्वयमेव तदा प्रभो ।
यज्ञं च शोभयामास बहुरूपं पिनाकधृत् ॥ ९३ ॥

प्रभो ! पिनाकधारी महादेवजीने अनेक रूपवाले उस यज्ञकी शोभा बढ़ायी और उन्होंने स्वयं ही अपनेद्वारा अपने आपको आहुति प्रदान की ॥ ९३ ॥

द्यौर्नभः पृथिवी खं च तथा चैवैष भूपतिः ।
सर्वविद्येश्वरः श्रीमानेष चापि विभावसुः ॥ ९४ ॥

ये भगवान् शिव ही स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी समस्त शून्य प्रदेश, राजा, सम्पूर्ण विद्याओंके अधीश्वर तथा तेजस्वी अग्निरूप हैं ॥ ९४ ॥

एष ब्रह्मा शिवो रुद्रो वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
कीर्त्यते भगवान् देवः सर्वभूतपतिः शिवः ॥ ९५ ॥

ये ही भगवान् सर्वभूतपति महादेव ब्रह्मा, शिव, रुद्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति तथा कल्याणमय शम्भु आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं ॥ ९५ ॥

तस्य यज्ञः पशुपतेस्तपः क्रतव एव च ।
दीक्षा दीप्तव्रता देवी दिशश्च सदिग्गीश्वराः ॥ ९६ ॥
देवपत्न्यश्च कन्याश्च देवानां चैव मातरः ।
आजग्मुः सहितास्तत्र तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ९७ ॥

भृगुकुलभूषण ! इस प्रकार भगवान् पशुपतिका वह यज्ञ चलने लगा। उसमें सम्मिलित होनेके लिये तप, क्रतु, उद्दीप्त व्रतवाली दीक्षा देवी, दिक्पालोंसहित दिशाएँ, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ तथा देव-माताएँ भी एक साथ आयी थीं ॥ ९६-९७ ॥

यज्ञं पशुपतेः प्रीता वरुणस्य महात्मनः ।
स्वयम्भुवस्तु ता दृष्ट्वा रेतः समपतद् भुवि ॥ ९८ ॥

महात्मा वरुण पशुपतिके यज्ञमें आकर वे देवाङ्गनाएँ बहुत प्रसन्न थीं। उस समय उन्हें देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजीका वीर्य स्खलित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९८ ॥

तस्य शुक्रस्य विस्पन्दान् पांसून् संगृह्य भूमितः ।
प्रास्यत् पूषा कराभ्यां वै तस्मिन्नेव हुताशने ॥ ९९ ॥

तब ब्रह्माजीके वीर्यसे संसिक्त धूलिकणोंको दोनों हाथोंद्वारा भूमिसे उठाकर पूषाने उसी आगमें फेंक दिया ॥ ९९॥

ततस्तस्मिन् सम्प्रवृत्ते सत्रे ज्वलितपावके ।
ब्रह्मणो जुह्वतस्तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह ॥१००॥

तदनन्तर प्रज्वलित अग्निवाले उस यज्ञके चालू होनेपर वहाँ ब्रह्माजीका वीर्य पुनः स्खलित हुआ ॥ १०० ॥

स्कन्नमात्रं च तच्छुक्रं स्रुवेण परिगृह्य सः ।
आज्यवन्मन्त्रतश्चापि सोऽजुहोद् भृगुनन्दन ॥१०१॥

भृगुनन्दन ! स्खलित होते ही उस वीर्यको स्रुवेमें लेकर उन्होंने स्वयं ही मन्त्र पढ़ते हुए घीकी भाँति उसका होम कर दिया ॥ १०१ ॥

ततः स जनयामास भूतग्रामं च वीर्यवान् ।

तस्य तत् तेजसस्तस्माज्जज्ञे लोकेषु तैजसम् ॥१०२॥

शक्तिशाली ब्रह्माजीने उस त्रिगुणात्मक वीर्यसे चतुर्विध प्राणिसमुदायको जन्म दिया। उनके वीर्यका जो रजोमय अंश था, उससे जगत्‌में तैजस प्रवृत्तिप्रधान जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई ॥ १०२ ॥

तमसस्तामसा भावा व्यापि सत्त्वं तथोभयम्।
स गुणस्तेजसो नित्यस्तस्य चाकाशमेव च ॥१०३॥

तमोमय अंशसे तामस पदार्थ—स्थावर वृक्ष आदि प्रकट हुए और जो सात्त्विक अंश था, वह राजस और तामस दोनोंमें अन्तर्भूत हो गया। वह सत्त्वगुण अर्थात् प्रकाशस्वरूपा बुद्धिका नित्यस्वरूप है और आकाश आदि सम्पूर्ण विश्व भी उस बुद्धिका कार्य होनेसे उसका ही स्वरूप है ॥

सर्वभूतेषु च तथा सत्त्वं तेजस्तथोत्तमम्।
शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस्तु प्रादुरासंस्त्रयः प्रभो ॥१०४॥
पुरुषा वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः।

अतः सम्पूर्ण भूतोंमें जो सत्त्वगुण तथा उत्तम तेज है, वह प्रजापतिके उस शुक्रसे ही प्रकट हुआ है। प्रभो! ब्रह्माजीके वीर्यकी जब अग्निमें आहुति दी गयी, तब उससे तीन शरीरधारी पुरुष उत्पन्न हुए, जो अपने-अपने कारण-जनित गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ १०४½ ॥

भृगित्येव भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिराभवत् ॥१०५॥
अङ्गारसंश्रयाच्चैव कविरित्यपरोऽभवत्।
सह ज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुः स्मृतः॥१०६॥

भृग् अर्थात् अग्निकी ज्वालासे उत्पन्न होनेके कारण एक पुरुषका नाम 'भृगु' हुआ। अङ्गारोंसे प्रकट हुए दूसरे पुरुषका नाम 'अङ्गिरा' हुआ और अङ्गारोंके आश्रित जो स्वल्पमात्र ज्वाला या भृगु होती है, उससे 'कवि' नामक तीसरे पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। भृगुजी ज्वालाओंके साथ ही उत्पन्न हुए थे, उससे भृगु कहलाये ॥

मरीचिभ्यो मरीचिस्तु मारीचः कश्यपो ह्यभूत्।
अङ्गारेभ्योऽङ्गिरास्तात वालखिल्याः कुशोच्चयात्।१०७।

उसी अग्निकी मरीचियोंसे मरीचि उत्पन्न हुए; जिनके पुत्र मारीच—कश्यप नामसे विख्यात हैं। तात! अङ्गारोंसे अङ्गिरा और कुशोंके ढेरसे वालखिल्य नामक ऋषि प्रकट हुए थे ॥ १०७ ॥

अत्रैवात्रेति च विभो जातमत्रिं वदन्त्यपि।
तथा भस्मव्यपोहेभ्यो ब्रह्मर्षिगणसम्मताः ॥१०८॥
वैखानसाः समुत्पन्नास्तपःश्रुतगुणेप्सवः।
अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ ॥१०९॥

विभो! अत्रैव—उन्हीं कुशसमूहोंसे एक और ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए, जिन्हें लोग 'अत्रि' कहते हैं। भस्म—राशियोंसे ब्रह्मर्षियोंद्वारा सम्मानित वैखानसोंकी उत्पत्ति हुई, जो तपस्या, शास्त्र-ज्ञान और सद्गुणोंके अभिलाषी होते हैं। अग्निके अश्रुसे दोनों अश्विनीकुमार प्रकट हुए, जो अपनी रूप-सम्पत्तिके द्वारा सर्वत्र सम्मानित हैं ॥ १०८-१०९ ॥

शेषाः प्रजानां पतयः स्रोतोभ्यस्तस्य जज्ञिरे।
ऋषयो रोमकूपेभ्यः स्वेदाच्छन्दो बलान्मनः ॥११०॥

शेष प्रजापतिगण उनके श्रवण आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए। रोमकूपोंसे ऋषि, पसीनेसे छन्द और वीर्यसे मनकी उत्पत्ति हुई ॥ ११० ॥

एतस्मात् कारणादाहुरग्निः सर्वास्तु देवताः।
ऋषयः श्रुतसम्पन्ना वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥१११॥

इस कारणसे शास्त्रज्ञानसम्पन्न महर्षियोंने वेदोंकी प्रामाणिकतापर दृष्टि रखते हुए अग्निको सर्वदेवमय बताया है ॥ १११ ॥

यानि दारुणि निर्यासास्ते मासाः पक्षसंज्ञिताः।
अहोरात्रा मुहूर्ताश्च पित्तं ज्योतिश्च दारुणम् ॥११२॥

उस यज्ञमें जो समिधाएँ काममें ली गयीं तथा उनसे जो रस निकला, वे ही सब मास, पक्ष, दिन, रात एवं मुहूर्तरूप हो गये और अग्निका जो पित्त था, वह उग्र तेज होकर प्रकट हुआ ॥ ११२ ॥

रौद्रं लोहितमित्याहुर्लोहितात् कनकं स्मृतम्।
तन्मैत्रमिति विज्ञेयं धूमाच्च वसवः स्मृताः ॥११३॥

अग्निके तेजको लोहित कहते हैं, उस लोहितसे कनक उत्पन्न हुआ। उस कनकको मैत्र जानना चाहिये तथा अग्निके धूमसे वसुओंकी उत्पत्ति बतायी गयी है ॥ ११३ ॥

अर्चिषो याश्च ते रुद्रास्तथाऽऽदित्या महाप्रभाः।
उद्दिष्टास्ते तथाङ्गारा ये धिष्ण्येषु दिवि स्थिताः॥११४॥

अग्निकी जो लपटें होती हैं, वे ही एकादश रुद्र तथा अत्यन्त तेजस्वी द्वादश आदित्य हैं तथा उस यज्ञमें जो दूसरे-दूसरे अङ्गारे थे, वे ही आकाशस्थित नक्षत्रमण्डलोंमें ज्योतिः-पुञ्जके रूपमें स्थित हैं ॥ ११४ ॥

आदिकर्ता च लोकस्य तत्परं ब्रह्म तद् ध्रुवम्।
सर्वकामदमित्याहुस्तद्रहस्यमुवाच ह ॥११५॥

इस लोकके जो आदि स्रष्टा हैं, उन ब्रह्माजीका कथन है कि अग्नि परब्रह्मस्वरूप है। वही अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है और वही सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है। यह गोपनीय रहस्य ज्ञानी पुरुष बताते हैं ॥ ११५ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवो वरुणः पवनात्मकः।
मम सत्रमिदं दिव्यमहं गृहपतिस्त्विह ॥११६॥

तब वरुण एवं वायुरूप महादेवजीने कहा—'देवताओ! यह मेरा दिव्य यज्ञ है। मैं ही इस यज्ञका गृहस्थ यजमान हूँ ॥ ११६ ॥

त्रीणि पूर्वाण्यपत्यानि मम तानि न संशयः ।
इति जानीत खगमा मम यज्ञफलं हि तत् ॥११७॥

'आकाशचारी देवगण! पहले जो तीन पुरुष प्रकट हुए हैं, वे भृगु, अङ्गिरा और कवि मेरे पुत्र हैं, इसमें संशय नहीं है। इस बातको तुम जान लो; क्योंकि इस यज्ञका जो कुछ फल है, उसपर मेरा ही अधिकार है' ॥ ११७ ॥

अग्निरुवाच

मदङ्गेभ्यः प्रसूतानि मदाश्रयकृतानि च ।
ममैव तान्यपत्यानि वरुणो ह्यवशात्मकः ॥११८॥

अग्नि बोले—ये तीनों संतानें मेरे अङ्गोंसे उत्पन्न हुई हैं और मेरे ही आश्रयमें विधाताने इनकी सृष्टि की है। अतः ये तीनों मेरे ही पुत्र हैं। वरुणरूपधारी महादेवजीका इनपर कोई अधिकार नहीं है ॥ ११८ ॥

अथाब्रवील्लोकगुरुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ममैव तान्यपत्यानि मम शुक्रं हुतं हि तत् ॥११९॥

तदनन्तर लोकपितामह लोकगुरु ब्रह्माजीने कहा—'ये सब मेरी ही संतानें हैं; क्योंकि मेरे ही वीर्यकी आहुति दी गयी है, जिससे इनकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११९ ॥

अहं कर्ता हि सत्रस्य होता शुक्रस्य चैव ह ।
यस्य बीजं फलं तस्य शुक्रं चेत् कारणं मतम् ॥१२०॥

'मैं ही यज्ञका कर्ता और अपने वीर्यका हवन करनेवाला हूँ। जिसका बीज होता है, उसको ही उसका फल मिलता है। यदि इनकी उत्पत्तिमें वीर्यको ही कारण माना जाय तो निश्चय ही ये मेरे पुत्र हैं' ॥ १२० ॥

ततोऽब्रुवन् देवगणाः पितामहमुपेत्य वै ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे शिरोभिरभिवन्द्य च ॥१२१॥

इस प्रकार विवाद उपस्थित होनेपर समस्त देवताओंने ब्रह्माजीके पास जा दोनों हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर उनको प्रणाम किया और कहा—॥ १२१ ॥

वयं च भगवन् सर्वे जगच्च सचराचरम् ।
तवैव प्रसवाः सर्वे तस्मादग्निर्विभावसुः ॥१२२॥
वरुणश्चेश्वरो देवो लभतां काममीप्सितम् ।

'भगवन्! हम सब लोग और चराचरसहित सारा जगत् ये सब-के-सब आपकी ही संतान हैं। अतः अब ये प्रकाशमान अग्नि और ये वरुणरूपधारी ईश्वर महादेव भी अपना मनोवाञ्छित फल प्राप्त करें' ॥ १२२½ ॥

निसर्गाद् ब्रह्मणश्चापि वरुणो यादसाम्पतिः ॥१२३॥
जग्राह वै भृगुं पूर्वमपत्यं सूर्यवर्चसम् ।
ईश्वरोऽङ्गिरसं चाग्नेरपत्यार्थमकल्पयत् ॥१२४॥

तब ब्रह्माजीकी आज्ञासे जलजन्तुओंके स्वामी वरुणरूपी भगवान् शिवने सबसे पहले सूर्यके समान तेजस्वी भृगुको पुत्ररूपमें ग्रहण किया। फिर उन्होंने ही अङ्गिराको अग्निकी संतान निश्चित किया ॥ १२३-१२४ ॥

पितामहस्त्वपत्यं वै कविं जग्राह तत्त्ववित् ।
तदा स वारुणः ख्यातो भृगुः प्रसवकर्मवित् ॥१२५॥
आग्नेयस्त्वङ्गिराः श्रीमान् कविर्ब्राह्मो महायशाः ।
भार्गवाङ्गिरसौ लोके लोकसंतानलक्षणौ ॥१२६॥

तदनन्तर तत्त्वज्ञानी ब्रह्माने कविको अपनी संतानके रूपमें ग्रहण किया। उस समय संतानके कर्तव्यको जाननेवाले महर्षि भृगु वारुण नामसे विख्यात हुए। तेजस्वी अङ्गिरा आग्नेय तथा महायशस्वी कवि ब्राह्म नामसे विख्यात हुए। भृगु और अङ्गिरा—ये दोनों लोकमें जगत्की सृष्टिका विस्तार करनेवाले बतलाये गये हैं ॥ १२५-१२६ ॥

एते हि प्रसवाः सर्वे प्रजानां पतयस्त्रयः ।
सर्वं संतानमेतेषामिदमित्युपधारय ॥१२७॥

इस प्रकार ये तीन प्रजापति हैं और शेष सब लोग इनकी संतानें हैं। यह सारा जगत् इन्हींकी संतति है, इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १२७ ॥

भृगोस्तु पुत्राः सप्तासन् सर्वे तुल्या भृगोर्गुणैः ।
च्यवनो वज्रशीर्षश्च शुचिरौर्वस्तथैव च ॥१२८॥
शुक्रो वरेण्यश्च विभुः सवनश्चेति सप्त ते ।
भार्गवा वारुणाः सर्वे येषां वंशे भवानपि ॥१२९॥

भृगुके सात पुत्र व्यापक हुए, जो उन्हींके समान गुणवान् थे। च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, शुक्र, वरेण्य तथा सवन—ये ही उन सातोंके नाम हैं। सभी भृगुवंशी सामान्यतः वारुण कहलाते हैं। जिनके वंशमें तुम भी उत्पन्न हुए हो ॥ १२८-१२९ ॥

अष्टौ चाङ्गिरसः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च पयस्यः शान्तिरेव च ॥१३०॥
घोरो विरूपः संवर्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः ।
एतेऽष्टौ वह्निजाः सर्वे ज्ञाननिष्ठा निरामयाः ॥१३१॥

अङ्गिराके आठ पुत्र हैं, वे भी वारुण कहलाते हैं (वरुणके यज्ञमें उत्पन्न होनेसे ही उनकी वारुण संज्ञा हुई है)। उनके नाम इस प्रकार हैं—बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, संवर्त और आठवाँ सुधन्वा। ये आठ अग्निके वंशमें उत्पन्न हुए हैं। अतः आग्नेय कहलाते हैं। वे सब-के-सब ज्ञाननिष्ठ एवं निरामय (रोग-शोक से रहित) हैं ॥ १३०-१३१ ॥

ब्रह्मणस्तु कवेः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः।
अष्टौ प्रसवजैर्युक्ता गुणैर्ब्रह्मविदः शुभाः ॥१३२॥

ब्रह्माके पुत्र जो कवि हैं, उनके पुत्रोंकी भी वारुण संज्ञा है। वे आठ हैं और सभी पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं। उन्हें शुभलक्षण एवं ब्रह्मज्ञानी माना गया है ॥ १३२ ॥

कविः काव्यश्च धृष्णुश्च बुद्धिमानूशना तथा।
भृगुश्च विरजाश्चैव काशी चोग्रश्च धर्मवित् ॥१३३॥

उनके नाम ये हैं—कवि, काव्य, धृष्णु, बुद्धिमान् शुक्राचार्य, भृगु, विरजा, काशी तथा धर्मज्ञ उग्र ॥ १३३ ॥

अष्टौ कविसुता ह्येते सर्वमेभिर्जगत् ततम्।
प्रजापतय एते हि प्रजाभागैरिह प्रजाः ॥१३४॥

ये आठ कविके पुत्र हैं। इन सबके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। ये आठों प्रजापति हैं और प्रजाके गुणोंसे युक्त होनेके कारण प्रजा भी कहे गये हैं ॥ १३४ ॥

एवमङ्गिरसश्चैव कवेश्च प्रसवान्वयैः।
भृगोश्च भृगुशार्दूल वंशजैः सततं जगत् ॥१३५॥

भृगुश्रेष्ठ ! इस प्रकार अङ्गिरा, कवि और भृगुके वंशजों तथा संतान-परम्पराओंसे सारा जगत् व्याप्त है ॥ १३५ ॥

वरुणश्चादितो विप्र जग्राह प्रभुरीश्वरः।
कविं तात भृगुं चापि तस्मात् तौ वारुणौ स्मृतौ॥१३६॥

विप्रवर ! तात ! प्रभावशाली जलेश्वर वरुणरूप शिवने पहले कवि और भृगुको पुत्ररूपसे ग्रहण किया था, इसलिये वे वारुण कहलाये ॥ १३६ ॥

जग्राहाङ्गिरसं देवः शिखी तस्माद्धुताशनः।
तस्मादाङ्गिरसा ज्ञेयाः सर्व एव तदन्वयाः ॥१३७॥

ज्वालाओंसे सुशोभित होनेवाले अग्निदेवने वरुणरूप शिवसे अङ्गिराको पुत्ररूपमें प्राप्त किया; इसलिये अङ्गिराके वंशमें उत्पन्न हुए सभी पुत्र अग्निवंशी एवं वारुण नामसे भी जानने योग्य हैं ॥ १३७ ॥

ब्रह्मा पितामहः पूर्वं देवताभिः प्रसादितः।
इमे नः संतरिष्यन्ति प्रजाभिर्जगतीश्वराः ॥१३८॥
सर्वे प्रजानां पतयः सर्वे चातितपस्विनः।
त्वत्प्रसादादिमं लोकं तारयिष्यन्ति साम्प्रतम् ॥१३९॥

पूर्वकालमें देवताओंने पितामह ब्रह्माको प्रसन्न किया और कहा—'प्रभो ! आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे ये भृगु आदिके वंशज इस पृथ्वीका पालन करते हुए अपनी संतानोंद्वारा हमारा संकटसे उद्धार करें। ये सभी प्रजापति हों और सभी अत्यन्त तपस्वी हों। ये आपके कृपाप्रसादसे इस समय इस सम्पूर्ण लोकका संकटसे उद्धार करेंगे ॥

तथैव वंशकर्तारस्तव तेजोविवर्धनाः।
भवेयुर्वेदविदुषः सर्वे च कृतिनस्तथा ॥१४०॥

'आपकी दयासे ये सब लोग वंशप्रवर्तक, आपके तेजकी वृद्धि करनेवाले तथा वेदज्ञ पुण्यात्मा हों ॥ १४० ॥

देवपक्षचराः सौम्याः प्राजापत्या महर्षयः।
आप्नुवन्ति तपश्चैव ब्रह्मचर्यं परं तथा ॥१४१॥

'इन सबका स्वभाव सौम्य हो। प्रजापतियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ये महर्षिगण सदा देवताओंके पक्षमें रहें तथा तप और उत्तम ब्रह्मचर्यका बल प्राप्त करें ॥ १४१ ॥

सर्वे हि वयमेते च तवैव प्रसवः प्रभो।
देवानां ब्राह्मणानां च त्वं हि कर्ता पितामह ॥१४२॥

'प्रभो ! पितामह ! ये सब और हमलोग आपहीकी संतान हैं; क्योंकि देवताओं और ब्राह्मणोंकी सृष्टि करनेवाले आप ही हैं ॥ १४२ ॥

मारीचमादितः कृत्वा सर्वे चैवाथ भार्गवाः।
अपत्यानीति सम्प्रेक्ष्य क्षमयाम पितामह ॥१४३॥

'पितामह ! कश्यपसे लेकर समस्त भृगुवंशियोंतक हम सब लोग आपहीकी संतान हैं—ऐसा सोचकर आपसे अपनी भूलोंके लिये क्षमा चाहते हैं ॥ १४३ ॥

ते त्वनेनैव रूपेण प्रजनिष्यन्ति वै प्रजाः।
स्थापयिष्यन्ति चात्मानं युगादिनिधने तथा ॥१४४॥

'वे प्रजापतिगण इसी रूपसे प्रजाओंको उत्पन्न करेंगे और सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर प्रलयपर्यन्त अपने-आपको मर्यादामें स्थापित किये रहेंगे' ॥ १४४ ॥

इत्युक्तः स तदा तैस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः।
तथेत्येवाब्रवीत् प्रीतस्तेऽपि जग्मुर्यथागतम् ॥१४५॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर लोकपितामह ब्रह्मा प्रसन्न होकर बोले—'तथास्तु (ऐसा ही हो)।' तत्पश्चात् देवता जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये ॥ १४५ ॥

एवमेतत् पुरा वृत्तं तस्य यज्ञे महात्मनः।
देवश्रेष्ठस्य लोकादौ वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ॥१४६॥

इस प्रकार पूर्वकालमें जब कि सृष्टिके प्रारम्भका समय था, वरुण-शरीर धारण करनेवाले सुरश्रेष्ठ महात्मा रुद्रके यज्ञमें पूर्वोक्त वृत्तान्त घटित हुआ था ॥ १४६ ॥

अग्निर्ब्रह्मा पशुपतिः शर्वो रुद्रः प्रजापतिः।
अग्नेरपत्यमेतद् वै सुवर्णमिति धारणा ॥१४७॥

अग्नि ही ब्रह्मा, पशुपति, शर्व, रुद्र और प्रजापतिरूप हैं। यह सुवर्ण अग्निकी ही संतान है—ऐसी सबकी मान्यता है ॥ १४७ ॥

अग्न्यभावे च कुरुते वह्निस्थानेषु काञ्चनम्।
जामदग्न्य प्रमाणज्ञो वेदश्रुतिनिदर्शनात् ॥१४८॥

जमदग्निनन्दन परशुराम ! वेद-प्रमाणका ज्ञाता पुरुष वैदिक श्रुतिके दृष्टान्तके अनुसार अग्निके अभावमें उसके स्थानपर सुवर्णका उपयोग करता है ॥ १४८ ॥

कुशस्तम्बे जुहोत्यग्निं सुवर्णे तत्र च स्थिते ।
वल्मीकस्य वपायां च कर्णे वाजस्य दक्षिणे ॥१४९॥
शकटोर्व्यां परस्याप्सु ब्राह्मणस्य करे तथा ।
हुते प्रीतिकरीमृद्धिं भगवांस्तत्र मन्यते ॥१५०॥

कुशोंके समूहपर, उसपर रखे हुए सुवर्णपर, बाँबीके छिद्रमें, बकरेके दाहिने कानपर, जिस मार्गसे छकड़ा आता-जाता हो उस भूमिपर, दूसरेके जलाशयमें तथा ब्राह्मणके हाथपर वैदिक प्रमाण माननेवाले पुरुष अग्निस्वरूप मानकर होम आदि कर्म करते हैं और वह होमकार्य सम्पन्न होनेपर भगवान् अग्निदेव आनन्ददायिनी समृद्धिका अनुभव करते हैं ॥ १४९-१५० ॥

तस्मादग्निपराः सर्वे देवता इति शुश्रुम ।
ब्रह्मणो हि प्रभूतोऽग्निरग्नेरपि च काञ्चनम् ॥१५१॥

अतः सब देवताओंमें अग्नि ही श्रेष्ठ हैं । यह हमने सुना है । ब्रह्मासे अग्निकी उत्पत्ति भी है और अग्निसे सुवर्णकी ॥

तस्माद् ये वै प्रयच्छन्ति सुवर्णं धर्मदर्शिनः ।
देवतास्ते प्रयच्छन्ति समस्ता इति नः श्रुतम् ॥१५२॥

इसलिये जो धर्मदर्शी पुरुष सुवर्णका दान करते हैं; वे समस्त देवताओंका ही दान करते हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १५२ ॥

तस्य चातमसो लोका गच्छतः परमां गतिम् ।
स्वर्लोके राजराज्येन सोऽभिषिच्येत भार्गव ॥१५३॥

सुवर्णदाता जो परमगतिको प्राप्त होताहै, उसे अन्धकाररहित ज्योतिर्मय लोक मिलते हैं । भृगुनन्दन ! स्वर्गलोकमें उसका राजाधिराज (कुबेर) के पदपर अभिषेक किया जाता है ॥ १५३ ॥

आदित्योदयसम्प्राप्ते विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
ददाति काञ्चनं यो वै दुःस्वप्नं प्रतिहन्ति सः ॥१५४॥

जो सूर्योदय-कालमें विधिपूर्वक मन्त्र पढ़कर सुवर्णका दान करता है, वह अपने पाप और दुःस्वप्नको नष्ट कर डालता है ॥ १५४॥

ददात्युदितमात्रे यस्तस्य पाप्मा विधूयते ।
मध्याह्ने ददतो रुक्मं हन्ति पापमनागतम् ॥१५५॥

सूर्योदयके समय जो सुवर्णदान करता है, उसका सारा पाप धुल जाता है तथा जो मध्याह्नकालमें सोना दान करता है, वह अपने भविष्य पापोंका नाश कर देता है ॥ १५५ ॥

ददाति पश्चिमां संध्यां यः सुवर्णं यतव्रतः ।
ब्रह्मवाय्वग्निसोमानां सालोक्यमुपयाति सः ॥१५६॥

जो सायं संध्याके समय व्रतका पालन करते हुए सुवर्ण दान देता है, वह ब्रह्मा, वायु, अग्नि और चन्द्रमाके लोकोंमें जाता है ॥ १५६ ॥

सेन्द्रेषु चैव लोकेषु प्रतिष्ठां विन्दते शुभाम् ।
इह लोके यशः प्राप्य शान्तपाप्मा च मोदते ॥१५७॥

इन्द्रसहित सभी लोकपालोंके लोकोंमें उसे शुभ सम्मान प्राप्त होता है । साथ ही वह इस लोकमें यशस्वी एवं पापरहित होकर आनन्द भोगता है ॥ १५७ ॥

ततः सम्पद्यतेऽन्येषु लोकेष्वप्रतिमः सदा ।
अनावृतगतिश्चैव कामचारो भवत्युत ॥१५८॥

मृत्युके पश्चात् जब वह परलोकमें जाता है, तब वहाँ अनुपम पुण्यात्मा समझा जाता है । कहीं भी उसकी गतिका प्रतिरोध नहीं होता और वह इच्छानुसार जहाँ चाहता है, विचरता रहता है ॥ १५८ ॥

न च क्षरति तेभ्यश्च यशश्चैवाप्नुते महत् ।
सुवर्णमक्षयं दत्त्वा लोकांश्चाप्नोति पुष्कलान् ॥१५९॥

सुवर्ण अक्षय द्रव्य है, उसका दान करनेवाले मनुष्यको पुण्यलोकोंसे नीचे नहीं आना पड़ता । संसारमें उसे महान् यशकी प्राप्ति होती है तथा परलोकमें उसे अनेक समृद्धिशाली पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ॥ १५९ ॥

यस्तु संजनयित्वाग्निमादित्योदयनं प्रति ।
दद्याद् वै व्रतमुद्दिश्य सर्वकामान् समश्नुते ॥१६०॥

जो मनुष्य सूर्योदयके समय अग्नि प्रकट करके किसी व्रतके उद्देश्यसे सुवर्णदान करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ १६० ॥

अग्निमित्येव तत् प्राहुः प्रदानं च सुखावहम् ।
यथेष्टगुणसंवृत्तं प्रवर्तकमिति स्मृतम् ॥१६१॥

सुवर्णको अग्निस्वरूप ही कहते हैं । उसका दान सुख देनेवाला होता है । वह यथेष्ट पुण्यको उत्पन्न करनेवाला और दानेच्छाका प्रवर्तक माना गया है ॥ १६१ ॥

एषा सुवर्णस्योत्पत्तिः कथिता ते मयानघ ।
कार्तिकेयस्य च विभो तद् विद्धि भृगुनन्दन ॥१६२॥

प्रभो ! निष्पाप भृगुनन्दन ! यह मैंने तुम्हें सुवर्ण और कार्तिकेयकी उत्पत्ति बतायी है । इसे अच्छी तरह समझ लो ॥ १६२ ॥

कार्तिकेयस्तु संवृद्धः कालेन महता तदा ।
देवैः सेनापतित्वेन वृतः सेन्द्रैर्भृगूद्वह ॥१६३॥

भृगुश्रेष्ठ ! कार्तिकेय जब दीर्घकालमें बड़े हुए, तब इन्द्र आदि देवताओंने उनका अपने सेनापतिके पदपर वरण किया ॥ १६३ ॥

जघान तारकं चापि दैत्यमन्यांस्तथासुरान् ।
त्रिदशेन्द्राज्ञया ब्रह्मँल्लोकानां हितकाम्यया ॥१६४॥

ब्रह्मन् ! उन्होंने लोकोंके हितकी कामना एवं देवराज इन्द्रकी आज्ञासे प्रेरित हो तारकासुर तथा अन्य दैत्यों-का संहार कर डाला ॥ १६४ ॥

सुवर्णदाने च मया कथितास्ते गुणा विभो ।
तस्मात् सुवर्णं विप्रेभ्यः प्रयच्छ ददतां वर ॥१६५॥

प्रभो ! दाताओंमें श्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सुवर्णदान-का माहात्म्य बताया है। इसलिये अब तुम ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान करो ॥ १६५ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स वसिष्ठेन जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
ददौ सुवर्णं विप्रेभ्यो व्यमुच्यत च किल्बिषात् ॥१६६॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वसिष्ठजीके ऐसा कहने-पर प्रतापी परशुरामजीने ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान किया। इससे वे सब पापोंसे छुटकारा पा गये ॥ १६६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं सुवर्णस्य महीपते ।
प्रदानस्य फलं चैव जन्म चास्य युधिष्ठिर ॥१६७॥

राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके दानका फल यह सब कुछ बता दिया ॥१६७॥

तस्मात् त्वमपि विप्रेभ्यः प्रयच्छ कनकं बहु ।
ददत्सुवर्णं नृपते किल्बिषाद् विप्रमोक्ष्यसि ॥१६८॥

अतः नरेश्वर ! अब तुम भी ब्राह्मणोंको बहुत-सा सुवर्ण दान करो। सुवर्ण दान करके तुम पापसे मुक्त हो जाओगे ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णोत्पत्तिर्नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्णकी उत्पत्तिविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

कार्तिकेयकी उत्पत्ति, पालन-पोषण और उनका देवसेनापति-पदपर अभिषेक, उनके द्वारा तारकासुरका वध

युधिष्ठिर उवाच

उक्ताः पितामहेनेह सुवर्णस्य विधानतः ।
विस्तरेण प्रदानस्य ये गुणाः श्रुतिलक्षणाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! सुवर्णका विधिपूर्वक दान करनेसे जो वेदोक्त फल प्राप्त होते हैं, यहाँ उनका आपने विस्तारपूर्वक वर्णन किया ॥ १ ॥

यत्तु कारणमुत्पत्तेः सुवर्णस्य प्रकीर्तितम् ।
स कथं तारकः प्राप्तो निधनं तद् ब्रवीहि मे ॥ २ ॥

सुवर्णकी उत्पत्तिका जो कारण है, वह भी आपने बताया। अब मुझे यह बताइये कि वह तारकासुर कैसे मारा गया ? ॥ २ ॥

उक्तं स देवतानां हि अवध्य इति पार्थिव ।
कथं तस्याभवन्मृत्युर्विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३ ॥

पृथ्वीनाथ ! आपने पहले कहा है कि वह देवताओंके लिये अवध्य था, फिर उसकी मृत्यु कैसे हुई ? यह विस्तार-पूर्वक बताइये ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः कुरुकुलोद्वह ।
कार्त्स्न्येन तारकवधं परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥

कुरुकुलका भार वहन करनेवाले पितामह ! मैं आपके मुखसे यह तारक-वधका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

विपन्नकृत्या राजेन्द्र देवता ऋषयस्तथा ।
कृत्तिकाश्चोदयामासुरपत्यभरणाय वै ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! जब गङ्गाजीने अग्नि-द्वारा स्थापित किये हुए उस गर्भको त्याग दिया, तब देवताओं और ऋषियोंका बना-बनाया काम बिगड़नेकी स्थितिमें आ गया। उस दशामें उन्होंने उस गर्भके भरण-पोषणके लिये छहों कृत्तिकाओंको प्रेरित किया ॥ ५ ॥

न देवतानां काचिद्धि समर्था जातवेदसः ।
एता हि शक्तास्तं गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६ ॥

कारण यह था कि देवाङ्गनाओंमें दूसरी कोई स्त्री अग्नि एवं रुद्रके उस तेजका भरण-पोषण करनेमें समर्थ नहीं थी और ये कृत्तिकाएँ अपनी शक्तिसे उस गर्भको भलीभाँति धारण-पोषण कर सकती थीं ॥ ६ ॥

षण्णां तासां ततः प्रीतः पावको गर्भधारणात् ।
स्वेन तेजोविसर्गेण वीर्येण परमेण च ॥ ७ ॥

अपने तेजके स्थापन और उत्तम वीर्यके ग्रहणद्वारा गर्भ धारण करनेके कारण अग्निदेव उन छहों कृत्तिकाओंपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ७ ॥

तास्तु षट् कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः ।
षट्सु वर्त्मसु तेजोऽग्नेः सकलं निहितं प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो ! उन छहों कृत्तिकाओंने अग्निके उस गर्भका

पोषण किया। अग्निका वह सारा तेज छः मार्गोंसे उनके भीतर स्थापित हो चुका था॥ ८॥

ततस्ता वर्धमानस्य कुमारस्य महात्मनः।
तेजसाभिपरीताङ्ग्यो न क्वचिच्छर्म लेभिरे॥ ९॥

गर्भमें जब वह महामना कुमार बढ़ने लगा, तब उसके तेजसे उनका सारा अङ्ग व्याप्त होनेके कारण वे कृत्तिकाएँ कहीं चैन नहीं पाती थीं॥ ९॥

ततस्तेजःपरीताङ्ग्यः सर्वाः काल उपस्थिते।
समं गर्भं सुषुविरे कृत्तिकास्तं नरर्षभ॥ १०॥

नरश्रेष्ठ! तदनन्तर तेजसे व्याप्त अङ्गवाली उन समस्त कृत्तिकाओंने प्रसवकाल उपस्थित होनेपर एक साथ ही उस गर्भको उत्पन्न किया॥ १०॥

ततस्तं षडधिष्ठानं गर्भमेकत्वमागतम्।
पृथिवी प्रतिजग्राह कार्तस्वरसमीपतः॥ ११॥

छः अधिष्ठानोंमें पला हुआ वह गर्भ जब उत्पन्न होकर एकत्वको प्राप्त हो गया, तब सुवर्णके समीप स्थित हुए उस बालकको पृथ्वीने ग्रहण किया॥ ११॥

स गर्भो दिव्यसंस्थानो दीप्तिमान् पावकप्रभः।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधे प्रियदर्शनः॥ १२॥

वह कान्तिमान् शिशु अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उसके शरीरकी आकृति दिव्य थी। वह देखनेमें बहुत ही प्रिय जान पड़ता था। वह दिव्य सरकंडेके वनमें जन्म ग्रहण करके दिनोंदिन बढ़ने लगा॥ १२॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालमर्कसमद्युतिम्।
जातस्नेहाश्च सौहार्दात् पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः॥ १३॥

कृत्तिकाओंने देखा वह बालक अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है। इससे उनके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और वे सौहार्दवश अपने स्तनोंका दूध पिलाकर उसका पोषण करने लगीं॥ १३॥

अभवत् कार्तिकेयः स त्रैलोक्ये सचराचरे।
स्कन्नत्वात् स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद् गुहोऽभवत्॥१४॥

इसीसे चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें वह कार्तिकेयके नामसे प्रसिद्ध हुआ। स्कन्दन (स्खलन) के कारण वह 'स्कन्द' कहलाया और गुहामें वास करनेसे 'गुह' नामसे विख्यात हुआ॥ १४॥

ततो देवास्त्रयस्त्रिंशद् दिशश्च सदिगीश्वराः।
रुद्रो धाता च विष्णुश्च यमः पूषार्यमा भगः॥ १५॥
अंशो मित्रश्च साध्याश्च वासवो वसवोऽश्विनौ।
आपो वायुर्नभश्चन्द्रो नक्षत्राणि ग्रहा रविः॥ १६॥
पृथग्भूतानि चान्यानि यानि देवार्पणानि वै।
आजग्मुस्तेऽद्भुतं द्रष्टुं कुमारं ज्वलनात्मजम्॥ १७॥

तदनन्तर तैंतीस देवता, दसों दिशाएँ, दिक्पाल, रुद्र, धाता, विष्णु, यम, पूषा, अर्यमा, भग, अंश, मित्र, साध्य, वसु, वासव (इन्द्र), अश्विनीकुमार, जल (वरुण), वायु, आकाश, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रहगण, रवि तथा दूसरे-दूसरे विभिन्न प्राणी जो देवताओंके आश्रित थे, सब-के-सब उस अद्भुत अग्निपुत्र 'कुमार' को देखनेके लिये वहाँ आये॥ १५–१७॥

ऋषयस्तुष्टुवुश्चैव गन्धर्वाश्च जगुस्तथा।
षडाननं कुमारं तु द्विषडक्षं द्विजप्रियम्॥ १८॥
पीनांसं द्वादशभुजं पावकादित्यवर्चसम्।
शयानं शरगुल्मस्थं दृष्ट्वा देवाः सहर्षिभिः॥ १९॥
लेभिरे परमं हर्षं मेनिरे चासुरं हतम्।
ततो देवाः प्रियाण्यस्य सर्वे एव समाहरन्॥ २०॥

ऋषियोंने स्तुति की और गन्धर्वोंने उनका यश गाया। ब्राह्मणोंके प्रेमी उस कुमारके छः मुख, बारह नेत्र, बारह भुजाएँ, मोटे कंधे और अग्नि तथा सूर्यके समान कान्ति थी। वे सरकण्डोंके झुरमुटमें सो रहे थे। उन्हें देखकर ऋषियोंसहित देवताओंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ और यह विश्वास हो गया कि अब तारकासुर मारा जायगा। तदनन्तर सब देवता उन्हें उनकी प्रिय वस्तुएँ भेंट करने लगे॥ १८–२०॥

क्रीडतः क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणाश्च ह।
सुपर्णोऽस्य ददौ पुत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम्॥ २१॥

पक्षियोंने खेल-कूदमें लगे हुए कुमारको खिलौने दिये, गरुडने विचित्र पङ्खोंसे सुशोभित अपना पुत्र मयूर भेंट किया॥

राक्षसाश्च ददुस्तस्मै वराहमहिषावुभौ।
कुक्कुटं चाग्निसंकाशं प्रददावरुणः स्वयम्॥ २२॥

राक्षसोंने सूअर और भैंसा—ये दो पशु उन्हें उपहार-रूपमें दिये। गरुडके भाई अरुणने अग्निके समान लाल वर्णवाला एक मुर्गा भेंट किया॥ २२॥

चन्द्रमाः प्रददौ मेषमादित्यो रुचिरां प्रभाम्।
गवां माता च गा देवी ददौ शतसहस्रशः॥ २३॥

चन्द्रमाने भेड़ा दिया, सूर्यने मनोहर कान्ति प्रदान की, गोमाता सुरभि देवीने एक लाख गौएँ प्रदान कीं॥ २३॥

छागमग्निर्गुणोपेतमिला पुष्पफलं बहु।
सुधन्वा शकटं चैव रथं चामितकूबरम्॥ २४॥

अग्निने गुणवान् बकरा, इलाने बहुतसे फल-फूल, सुधन्वाने छकड़ा और विशाल कूबरसे युक्त रथ दिये॥२४॥

वरुणो वारुणान् दिव्यान् सगजान् प्रददौ शुभान्।
सिंहान् सुरेन्द्रो व्याघ्रांश्च द्विपानन्यांश्च पक्षिणः॥२५॥
श्वापदांश्च बहून् घोरांश्छत्राणि विविधानि च।

वरुणने वरुणलोकके अनेक सुन्दर एवं दिव्य हाथी

दिये। देवराज इन्द्रने सिंह, व्याघ्र, हाथी, अन्यान्य पक्षी, बहुत-से भयानक हिंसक जीव तथा नाना प्रकारके छत्र भेंट किये ॥ २५½ ॥

राक्षसासुरसंघाश्च अनुजग्मुस्तमीश्वरम् ॥ २६ ॥
वर्धमानं तु तं दृष्ट्वा प्रार्थयामास तारकः।
उपायैर्बहुभिर्हन्तुं नाशकच्चापि तं विभुम् ॥ २७ ॥

राक्षसों और असुरोंका समुदाय उन शक्तिशाली कुमारके अनुगामी हो गये। उन्हें बढ़ते देख तारकासुरने युद्धके लिये ललकारा; परंतु अनेक उपाय करके भी वह उन प्रभावशाली कुमारको मारनेमें सफल न हो सका ॥ २६-२७ ॥

सैनापत्येन तं देवाः पूजयित्वा गुहालयम्।
शशंसुर्विप्रकारं तं तस्मै तारककारितम् ॥ २८ ॥

देवताओंने गुहावासी कुमारकी पूजा करके उनका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया और तारकासुरने देवताओंपर जो अत्याचार किया था, सो कह सुनाया ॥ २८ ॥

स विवृद्धो महावीर्यो देवसेनापतिः प्रभुः।
जघानामोघया शक्त्या दानवं तारकं गुहः ॥ २९ ॥

महापराक्रमी देवसेनापति प्रभु गुहने वृद्धिको प्राप्त होकर अपनी अमोघ शक्तिसे तारकासुरका वध कर डाला ॥

तेन तस्मिन् कुमारेण क्रीडता निहतेऽसुरे।
सुरेन्द्रः स्थापितो राज्ये देवानां पुनरीश्वरः ॥ ३० ॥

खेल-खेलमें ही उन अग्निकुमारके द्वारा जब तारकासुर मार डाला गया, तब ऐश्वर्यशाली देवेन्द्र पुनः देवताओंके राज्यपर प्रतिष्ठित किये गये ॥ ३० ॥

स सेनापतिरेवाथ बभौ स्कन्दः प्रतापवान्।
ईशो गोप्ता च देवानां प्रियकृच्छङ्करस्य च ॥ ३१ ॥

प्रतापी स्कन्द सेनापतिके ही पदपर रहकर बड़ी शोभा पाने लगे। वे देवताओंके ईश्वर तथा संरक्षक थे और भगवान् शङ्करका सदा ही हित किया करते थे ॥ ३१ ॥

हिरण्यमूर्तिर्भगवानेष एव च पावकिः।
सदा कुमारो देवानां सैनापत्यमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥

ये अग्निपुत्र भगवान् स्कन्द सुवर्णमय विग्रह धारण करते हैं। वे नित्य कुमारावस्थामें ही रहकर देवताओंके सेनापति-पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात् सुवर्णं मङ्गल्यं रत्नमक्षय्यमुत्तमम्।
सहजं कार्तिकेयस्य वह्नेस्तेजः परं मतम् ॥ ३३ ॥

सुवर्ण कार्तिकेयजीके साथ ही उत्पन्न हुआ है और अग्निका उत्कृष्ट तेज माना गया है। इसलिये वह मङ्गलमय, अक्षय एवं उत्तम रत्न है ॥ ३३ ॥

एवं रामाय कौरव्य वसिष्ठोऽकथयत् पुरा।
तस्मात् सुवर्णदानाय प्रयतस्व नराधिप ॥ ३४ ॥

कुरुनन्दन! नरेश्वर! इस प्रकार पूर्वकालमें वसिष्ठजीने परशुरामजीको यह सारा प्रसङ्ग एवं सुवर्णकी उत्पत्ति और माहात्म्य सुनाया था। अतः तुम सुवर्णदानके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

रामः सुवर्णं दत्त्वा हि विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः।
त्रिविष्टपे महत् स्थानमवापासुलभं नरैः ॥ ३५ ॥

परशुरामजी सुवर्णका दान करके सब पापोंसे मुक्त हो गये और स्वर्गमें उस महान् स्थानको प्राप्त हुए, जो दूसरे मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि तारकवधोपाख्यानं नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें तारकवधका उपाख्यान नामक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विविध तिथियोंमें श्राद्ध करनेका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्मात्मन् धर्माः प्रोक्ता यथा त्वया।
तथैव मे श्राद्धविधिं कृत्स्नं प्रब्रूहि पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मात्मन्! पृथ्वीनाथ! आपने जैसे चारों वर्णोंके धर्म बताये हैं, उसी प्रकार अब मेरे लिये श्राद्धविधिका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो भीष्मः शान्तनवस्तदा।
इमं श्राद्धविधिं कृत्स्नं वक्तुं समुपचक्रमे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—(जनमेजय!) राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने इस सम्पूर्ण श्राद्धविधिका इस प्रकार वर्णन आरम्भ किया ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्छ्राद्धकर्मविधिं शुभम्।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयं पितृयज्ञं परंतप ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तुम श्राद्ध-कर्मके शुभ विधिको सावधान होकर सुनो। यह

धन, यश और पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे पितृयज्ञ कहते हैं ॥ ३ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
पिशाचकिन्नराणां च पूज्या वै पितरः सदा ॥ ४ ॥

देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पिशाच और किन्नर—इन सबके लिये पितर सदा ही पूज्य हैं ॥ ४ ॥

पितॄन् पूज्यादितः पश्चाद्देवतास्तर्पयन्ति वै।
तस्मात् तान् सर्वयत्नेन पुरुषः पूजयेत् सदा ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष पहले पितरोंकी पूजा करके पीछे देवताओंकी पूजा करते हैं। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह सदा सम्पूर्ण यत्नोंके द्वारा पितरोंकी पूजा करे ॥ ५ ॥

अन्वाहार्यं महाराज पितॄणां श्राद्धमुच्यते।
तस्माद् विशेषविधिना विधिः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

महाराज! पितरोंके श्राद्धको अन्वाहार्य कहते हैं। अतः विशेष विधिके द्वारा उसका अनुष्ठान पहले करना चाहिये ॥

सर्वेष्वहःसु प्रीयन्ते कृते श्राद्धे पितामहाः।
प्रवक्ष्यामि तु ते सर्वांस्तिथ्यातिथ्यगुणागुणान् ॥ ७ ॥

सभी दिनोंमें श्राद्ध करनेसे पितर प्रसन्न रहते हैं। अब मैं तिथि और अतिथिके सब गुणागुणका वर्णन करूँगा ॥ ७ ॥

येष्वहःसु कृतैः श्राद्धैर्यत् फलं प्राप्यतेऽनघ।
तत् सर्वं कीर्तयिष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश! जिन दिनोंमें श्राद्ध करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह सब मैं यथार्थरूपसे बताऊँगा, ध्यान देकर सुनो ॥ ८ ॥

पितॄनर्च्य प्रतिपदि प्राप्नुयात् सुगृहे स्त्रियः।
अभिरूपप्रजायिन्यो दर्शनीया बहुप्रजाः ॥ ९ ॥

प्रतिपदा तिथिको पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य अपने उत्तम गृहमें मनके अनुरूप सुन्दर एवं बहुसंख्यक संतानोंको जन्म देनेवाली दर्शनीय भार्या प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

स्त्रियो द्वितीयां जायन्ते तृतीयायां तु वाजिनः।
चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवो भवन्ति बहवो गृहे ॥ १० ॥

द्वितीयाको श्राद्ध करनेसे कन्याओंका जन्म होता है। तृतीयाके श्राद्धसे घोड़ोंकी प्राप्ति होती है, चतुर्थीको पितरोंका श्राद्ध किया जाय तो घरमें बहुत-से छोटे-छोटे पशुओंकी संख्या बढ़ती है ॥ १० ॥

पञ्चम्यां बहवः पुत्रा जायन्ते कुर्वतां नृप।
कुर्वाणास्तु नराः षष्ठ्यां भवन्ति द्युतिभागिनः ॥ ११ ॥

नरेश्वर! पञ्चमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषोंके बहुत-से पुत्र होते हैं। षष्ठीको श्राद्ध करनेवाले मनुष्य कान्तिके भागी होते हैं ॥ ११ ॥

कृषिभागी भवेच्छ्राद्धं कुर्वाणः सप्तमीं नृप।
अष्टम्यां तु प्रकुर्वाणो वाणिज्ये लाभमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

राजन्! सप्तमीको श्राद्ध करनेवाला मनुष्य कृषिकर्ममें लाभ उठाता है और अष्टमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषको व्यापारमें लाभ होता है ॥ १२ ॥

नवम्यां कुर्वतः श्राद्धं भवत्येकशफं बहु।
विवर्धन्ते तु दशमीं गावः श्राद्धानि कुर्वतः ॥ १३ ॥

नवमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषके यहाँ एक खुरवाले घोड़े आदि पशुओंकी बहुतायत होती है और दशमीको श्राद्ध करनेवाले मनुष्यके घरमें गौओंकी वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

कुप्यभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वन्नेकादशीं नृप।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते तस्य वेश्मनि ॥ १४ ॥

महाराज! एकादशीको श्राद्ध करनेवाला मानव सोने-चाँदीको छोड़कर शेष सभी प्रकारके धनका भागी होता है। उसके घरमें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पुत्र जन्म लेते हैं ॥ १४ ॥

द्वादश्यामीहमानस्य नित्यमेव प्रदृश्यते।
रजतं बहुवित्तं च सुवर्णं च मनोरमम् ॥ १५ ॥

द्वादशीको श्राद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषको सदा ही मनोरम सुवर्ण, चाँदी तथा बहुत-से धनकी प्राप्ति होती देखी जाती है ॥ १५ ॥

ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठः कुर्वञ्छ्राद्धं त्रयोदशीम्।
अवश्यं तु युवानोऽस्य प्रमीयन्ते नरा गृहे ॥ १६ ॥
युद्धभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं चतुर्दशीम्।
अमावास्यां तु निर्वापात् सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ १७ ॥

त्रयोदशीको श्राद्ध करनेवाला पुरुष अपने कुटुम्बी जनोंमें श्रेष्ठ होता है; परंतु जो चतुर्दशीको श्राद्ध करता है, उसके घरमें नवयुवकोंकी मृत्यु अवश्य होती है तथा श्राद्ध करनेवाला मनुष्य स्वयं भी युद्धका भागी होता है (इसलिये चतुर्दशीको श्राद्ध नहीं करना चाहिये)। अमावास्याको श्राद्ध करनेसे वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धकर्मणि तिथ्यस्तु प्रशस्ता न तथेतराः ॥ १८ ॥

कृष्ण-पक्षमें केवल चतुर्दशीको छोड़कर दशमीसे लेकर अमावास्यातककी सभी तिथियाँ श्राद्धकर्ममें जैसे प्रशस्त मानी गयी हैं, वैसे दूसरी प्रतिपदासे नवमीतक नहीं ॥ १८ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ १९ ॥

जैसे पूर्व (शुक्ल) पक्षकी अपेक्षा अपर (कृष्ण) पक्ष श्राद्धके लिये श्रेष्ठ माना है, उसी प्रकार पूर्वाह्णकी अपेक्षा अपराह्ण उत्तम माना जाता है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

श्राद्धमें पितरोंके तृप्तिविषयका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंस्विद् दत्तं पितृभ्यो वै भवत्यक्षयमीश्वर।
किं हविश्चिररात्राय किमानन्त्याय कल्पते॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पितरोंके लिये दी हुई कौन-सी वस्तु अक्षय होती है? किस वस्तुके दानसे पितर अधिक दिनतक और किसके दानसे अनन्त कालतक तृप्त रहते हैं?॥ १॥

भीष्म उवाच

हवींषि श्राद्धकल्पे तु यानि श्राद्धविदो विदुः।
तानि मे शृणु काम्यानि फलं चैव युधिष्ठिर॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! श्राद्धवेत्ताओंने श्राद्ध-कल्पमें जो हविष्य नियत किये हैं, वे सब-के-सब काम्य हैं। मैं उनका तथा उनके फलका वर्णन करता हूँ, सुनो॥ २॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैस्तथा।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते श्राद्धेन पितरो नृप॥ ३॥

नरेश्वर! तिल, व्रीहि, जौ, उड़द, जल और फल-मूलके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरोंको एक मासतक तृप्ति बनी रहती है॥

वर्धमानतिलं श्राद्धमक्षयं मनुरब्रवीत्।
सर्वेष्वेव तु भोज्येषु तिलाः प्राधान्यतः स्मृताः॥ ४॥

मनुजीका कथन है कि जिस श्राद्धमें तिलकी मात्रा अधिक रहती है, वह श्राद्ध अक्षय होता है। श्राद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण भोज्य-पदार्थोंमें तिलोंका प्रधानरूपसे उपयोग बताया गया है॥ ४॥

गव्येन दत्तं श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते।
यथा गव्यं तथा युक्तं पायसं सर्पिषा सह॥ ५॥

यदि श्राद्धमें गायका दही दान किया जाय तो उससे पितरोंको एक वर्षतक तृप्ति होती बतायी गयी है। गायके दहीका जैसा फल बताया गया है, वैसा ही घृतमिश्रित खीरका भी समझना चाहिये॥ ५॥

गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा मय्यभ्यभाषत॥ ६॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें पितरोंद्वारा गायी हुई गाथाका भी विज्ञ पुरुष गान करते हैं। पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमार-ने मुझे यह गाथा बतायी थी॥ ६॥

अपि नः स्वकुले जायाद् यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
मघासु सर्पिःसंयुक्तं पायसं दक्षिणायने॥ ७॥

पितर कहते हैं—'क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा पुरुष उत्पन्न होगा, जो दक्षिणायनमें आश्विन मासके कृष्णपक्षमें मघा और त्रयोदशी तिथिका योग होनेपर हमारे लिये घृत-मिश्रित खीरका दान करेगा?॥ ७॥

आजेन वापि लौहेन मघास्वेव यतव्रतः।
हस्तिच्छायासु विधिवत् कर्णव्यजनवीजितम्॥ ८॥

'अथवा वह नियमपूर्वक व्रतका पालन करके मघा नक्षत्रमें ही हाथीके शरीरकी छायामें बैठकर उसके कानरूपी व्यजनसे हवा लेता हुआ अन्न-विशेष-चावलका बना हुआ पायस या लौहशाकसे विधिपूर्वक हमारा श्राद्ध करेगा?॥ ८॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वटः॥ ९॥

'बहुत-से पुत्र पानेकी अभिलाषा रखनी चाहिये, उनमेंसे यदि एक भी उस गया-तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात अक्षयवट विद्यमान है, जो श्राद्धके फलको अक्षय बनाने-वाला है॥ ९॥

आपो मूलं फलं मांसमन्नं वापि पितृक्षये।
यत् किंचिन्मधुसम्मिश्रं तदानन्त्याय कल्पते॥ १०॥

'पितरोंकी क्षय-तिथिको जल, मूल, फल, उसका गूदा और अन्न आदि जो कुछ भी मधुमिश्रित करके दिया जाता है, वह उन्हें अनन्तकालतक तृप्ति देनेवाला है'॥ १०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पेऽष्टाशीतितमोऽध्यायः॥ ८८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८८॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

विभिन्न नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेका फल

भीष्म उवाच

यमस्तु यानि श्राद्धानि प्रोवाच शशबिन्दवे।
तानि मे शृणु काम्यानि नक्षत्रेषु पृथक् पृथक्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यमने राजा शशबिन्दुको भिन्न-भिन्न नक्षत्रोंमें किये जानेवाले जो काम्य श्राद्ध बताये हैं; उनका वर्णन मुझसे सुनो॥ १॥

श्राद्धं यः कृत्तिकायोगे कुर्वीत सततं नरः।
अग्नीनाधाय सापत्यो यजेत विगतज्वरः॥ २॥

जो मनुष्य सदा कृत्तिका नक्षत्रके योगमें अग्निकी स्थापना करके पुत्रसहित श्राद्ध या पितरोंका यजन करता है, वह रोग और चिन्तासे रहित हो जाता है॥ २॥

अपत्यकामो रोहिण्यां तेजस्कामो मृगोत्तमे।
क्रूरकर्मा ददच्छ्राद्धमार्द्रायां मानवो भवेत्॥ ३॥

संतानकी इच्छावाला पुरुष रोहिणीमें और तेजकी कामनावाला पुरुष मृगशिरा नक्षत्रमें श्राद्ध करे। आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्धका दान देनेवाला मनुष्य क्रूरकर्मा होता है (इसलिये आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्ध नहीं करना चाहिये)॥ ३॥

धनकामो भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं पुनर्वसौ।
पुष्टिकामोऽथ पुष्येण श्राद्धमीहेत मानवः॥ ४॥

धनकी इच्छावाले पुरुषको पुनर्वसु नक्षत्रमें श्राद्ध करना चाहिये। पुष्टिकी कामनावाला पुरुष पुष्यनक्षत्रमें श्राद्ध करे॥

आश्लेषायां ददच्छ्राद्धं धीरान् पुत्रान् प्रजायते।
ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठो मघासु श्राद्धमावपन्॥ ५॥

आश्लेषामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष धीर पुत्रोंको जन्म देता है। मघामें श्राद्ध एवं पिण्डदान करनेवाला मनुष्य अपने कुटुम्बी जनोंमें श्रेष्ठ होता है॥ ५॥

फल्गुनीषु ददच्छ्राद्धं सुभगः श्राद्धदो भवेत्।
अपत्यभागुत्तरासु हस्तेन फलभाग् भवेत्॥ ६॥

पूर्वाफाल्गुनीमें श्राद्धका दान देनेवाला मानव सौभाग्यशाली होता है। उत्तराफाल्गुनीमें श्राद्ध करनेवाला संतानवान् और हस्तनक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला अभीष्ट फलका भागी होता है॥ ६॥

चित्रायां तु ददच्छ्राद्धं लभेद् रूपवतः सुतान्।
स्वातियोगे पितॄनर्च्य वाणिज्यमुपजीवति॥ ७॥

चित्रामें श्राद्धका दान करनेवाले पुरुषको रूपवान् पुत्र प्राप्त होते हैं। स्वातीके योगमें पितरोंकी पूजा करनेवाला वाणिज्यसे जीवन-निर्वाह करता है॥ ७॥

बहुपुत्रो विशाखासु पुत्रमीहन् भवेन्नरः।
अनुराधासु कुर्वाणो राजचक्रं प्रवर्तयेत्॥ ८॥

विशाखामें श्राद्ध करनेवाला मनुष्य यदि पुत्र चाहता हो तो बहुसंख्यक पुत्रोंसे सम्पन्न होता है। अनुराधामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष दूसरे जन्ममें राजमण्डलका शासक होता है॥ ८॥

आधिपत्यं व्रजेन्मर्त्यो ज्येष्ठायामपवर्जयन्।
नरः कुरुकुलश्रेष्ठ ऋद्धो दमपुरःसरः॥ ९॥

कुरुकुलश्रेष्ठ! ज्येष्ठा नक्षत्रमें इन्द्रियसंयमपूर्वक पिण्डदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली होता है और प्रभुत्व प्राप्त करता है॥ ९॥

मूले त्वारोग्यमृच्छेत यशोऽऽषाढासु चोत्तमम्।
उत्तरासु त्वषाढासु वीतशोकश्चरेन्महीम्॥ १०॥

मूलमें श्राद्ध करनेसे आरोग्यकी प्राप्ति होती है और पूर्वाषाढ़ामें उत्तम यशकी। उत्तराषाढ़ामें पितृयज्ञ करनेवाला पुरुष शोकशून्य होकर पृथ्वीपर विचरण करता है॥ १०॥

श्राद्धं त्वभिजिता कुर्वन् भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात्।
श्रवणेषु ददच्छ्राद्धं प्रेत्य गच्छेत् स सद्गतिम्॥ ११॥

अभिजित् नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला वैद्यविषयक सिद्धि पाता है। श्रवण नक्षत्रमें श्राद्धका दान देनेवाला मानव मृत्युके पश्चात् सद्गतिको प्राप्त होता है॥ ११॥

राज्यभागी धनिष्ठायां भवेत नियतं नरः।
नक्षत्रे वारुणे कुर्वन् भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात्॥ १२॥

धनिष्ठामें श्राद्ध करनेवाला मनुष्य नियमपूर्वक राज्यका भागी होता है। वारुण नक्षत्र—शतभिषामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष वैद्यविषयक सिद्धिको पाता है॥ १२॥

पूर्वप्रोष्ठपदाः कुर्वन् बहून् विन्दत्यजाविकान्।
उत्तरासु प्रकुर्वाणो विन्दते गाः सहस्रशः॥ १३॥

पूर्वभाद्रपदामें श्राद्ध करनेवाला बहुत-से भेड़-बकरोंका लाभ लेता है और उत्तराभाद्रपदामें श्राद्ध करनेवाला सहस्रों गौएँ पाता है॥ १३॥

बहुकुप्यकृतं वित्तं विन्दते रेवतीं श्रितः।
अश्विनीष्वश्वान् विन्देत भरणीष्वायुरुत्तमम्॥ १४॥

श्राद्धमें रेवतीका आश्रय लेनेवाला (अर्थात् रेवतीमें श्राद्ध करनेवाला) पुरुष सोने-चाँदीके सिवा अन्य नाना प्रकारके धन पाता है। अश्विनीमें श्राद्ध करनेसे घोड़ोंकी और भरणीमें श्राद्धका अनुष्ठान करनेसे उत्तम आयुकी प्राप्ति होती है॥ १४॥

इमं श्राद्धविधिं श्रुत्वा शशबिन्दुस्तथाकरोत्।
अक्लेशेनाजयच्चापि महीं सोऽनुशशास ह॥ १५॥

इस श्राद्धविधिका श्रवण करके राजा शशबिन्दुने वही किया। उन्होंने बिना किसी क्लेशके ही पृथ्वीको जीता और उसका शासनसूत्र अपने हाथमें ले लिया॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे एकोननवतितमोऽध्यायः॥ ८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८९॥

नवतितमोऽध्यायः

श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा, पंक्तिदूषक और पंक्तिपावन ब्राह्मणोंका वर्णन, श्राद्धमें लाख मूर्ख ब्राह्मणोंको भोजन करानेकी अपेक्षा एक वेदवेत्ताको भोजन करानेकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशेभ्यः प्रदातव्यं भवेच्छ्राद्धं पितामह ।
द्विजेभ्यः कुरुशार्दूल तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे ब्राह्मणको श्राद्धका दान (अर्थात् निमन्त्रण) देना चाहिये ? कुरुश्रेष्ठ ! आप इसका मेरे लिये स्पष्ट वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणान् न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्यायमाहुः परीक्षणम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दान-धर्मके ज्ञाता क्षत्रियको देवसम्बन्धी कर्म (यज्ञ-यागादि) में ब्राह्मणकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये, किंतु पितृकर्म (श्राद्ध) में उनकी परीक्षा न्यायसंगत मानी गयी है ॥ २ ॥

देवताः पूजयन्तीह दैवेनैवेह तेजसा ।
उपेत्य तस्माद् देवेभ्यः सर्वेभ्यो दापयेन्नरः ॥ ३ ॥

देवता अपने दैव तेजसे ही इस जगत्में ब्राह्मणोंका पूजन (समादर) करते हैं; अतः देवताओंके उद्देश्यसे सभी ब्राह्मणोंके पास जाकर उन्हें दान देना चाहिये ॥ ३ ॥

श्राद्धे त्वथ महाराज परीक्षेद् ब्राह्मणान् बुधः ।
कुलशीलवयोरूपैर्विद्ययाभिजनेन च ॥ ४ ॥

किंतु महाराज ! श्राद्धके समय विद्वान् पुरुष कुल, शील (उत्तम आचरण), अवस्था, रूप, विद्या और पूर्वजोंके निवासस्थान आदिके द्वारा ब्राह्मणकी अवश्य परीक्षा करे ॥

तेषामन्ये पङ्क्तिदूषास्तथान्ये पङ्क्तिपावनाः ।
अपाङ्क्तेयास्तु ये राजन् कीर्तयिष्यामि ताञ्शृणु ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंमें कुछ तो पंक्तिदूषक होते हैं और कुछ पंक्तिपावन । राजन् ! पहले पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंका वर्णन करूँगा, सुनो ॥ ५ ॥

कितवो भ्रूणहा यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः ।
ग्रामप्रेष्यो वार्धुषिको गायनः सर्वविक्रयी ॥ ६ ॥
अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
सामुद्रिको राजभृत्यस्तैलिकः कूटकारकः ॥ ७ ॥
पित्रा विवदमानश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ।
अभिशस्तस्तथा स्तेनः शिल्पं यश्चोपजीवति ॥ ८ ॥
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ।
अव्रतानामुपाध्यायः काण्डपृष्ठस्तथैव च ॥ ९ ॥
श्वभिश्च यः परिक्रामेद् यः शुना दष्ट एव च ।
परिवित्तिश्च यश्च स्याद् दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ १० ॥
कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
ईदृशैर्ब्राह्मणैर्भुक्तमपाङ्क्तेयैर्युधिष्ठिर ॥ ११ ॥
रक्षांसि गच्छते हव्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।

जुआरी, गर्भहत्यारा, राजयक्ष्माका रोगी, पशुपालन करनेवाला, अपढ़, गाँवभरका हरकारा, सूदखोर, गवैया, सब तरहकी चीज बेचनेवाला, दूसरोंका घर फूँकनेवाला, विष देनेवाला, माताद्वारा पतिके जीते-जी दूसरे पतिसे उत्पन्न किये हुए पुत्रके घर भोजन करनेवाला, सोमरस बेचनेवाला, सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा) से जीविका चलानेवाला, राजाका नौकर, तेल बेचनेवाला, झूठी गवाही देनेवाला, पितासे झगड़ा करनेवाला, जिसके घरमें जार पुरुषका प्रवेश हो वह, कलङ्कित, चोर, शिल्पजीवी, बहुरूपिया, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, व्रतरहित मनुष्योंका अध्यापक, हथियार बनाकर जीविका चलानेवाला, कुत्ते साथ लेकर घूमनेवाला, जिसे कुत्तेने काटा हो वह, जिसके छोटे भाईका विवाह हो गया हो ऐसा अविवाहित बड़ा भाई, चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, नटका काम करनेवाला, देवमन्दिरमें पूजासे जीविका चलानेवाला और नक्षत्रोंका फल बताकर जीनेवाला— ये सभी ब्राह्मण पंक्तिसे बाहर रखने योग्य हैं ! युधिष्ठिर ! ऐसे पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंका खाया हुआ हविष्य राक्षसोंको मिलता है, ऐसा ब्रह्मवादी पुरुषोंका कथन है ॥ ६–११½ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा त्वधीयीत वृषलीतल्पगश्च यः ॥ १२ ॥
पुरीषे तस्य ते मासं पितरस्तस्य शेरते ।

जो ब्राह्मण श्राद्धका भोजन करके फिर उस दिन वेद पढ़ता है तथा जो वृषली स्त्रीसे समागम करता है, उसके पितर उस दिनसे लेकर एक मासतक उसीकी विष्ठामें शयन करते हैं ॥ १२½ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ॥ १३ ॥
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं च वार्धुषे ।
यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद् भवेत् ॥ १४ ॥

सोमरस बेचनेवालेको जो श्राद्धका अन्न दिया जाता है, वह पितरोंके लिये विष्ठाके तुल्य है । श्राद्धमें वैद्यको जिमाया हुआ अन्न पीब और रक्तके समान पितरोंको अग्राह्य हो जाता है । देवमन्दिरमें पूजा करके जीविका चलानेवालेको दिया हुआ श्राद्धका दान नष्ट हो जाता है—

उसका कोई फल नहीं मिलता। सूदखोरको दिया हुआ अन्न अस्थिर होता है। वाणिज्यवृत्ति करनेवालेको श्राद्धमें दिये हुए अन्नका दान न इहलोकमें लाभदायक होता है और न परलोकमें ॥ १३-१४ ॥

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे।
ये तु धर्मव्यपेतेषु चारित्रापगतेषु च।
हव्यं कव्यं प्रयच्छन्ति तेषां तत् प्रेत्य नश्यति ॥ १५ ॥

एक पतिको छोड़कर दूसरा पति करनेवाली स्त्रीके पुत्रको दिया हुआ श्राद्धमें अन्नका दान राखमें डाले हुए हविष्यके समान व्यर्थ हो जाता है। जो लोग धर्मरहित और चरित्रहीन द्विजको हव्य-कव्यका दान करते हैं, उनका वह दान परलोकमें नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

ज्ञानपूर्वं तु ये तेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
पुरीषं भुञ्जते तेषां पितरः प्रेत्य निश्चयः ॥ १६ ॥

जो मूर्ख मनुष्य जान-बूझकर वैसे पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंको श्राद्धमें अन्नका दान करते हैं, उनके पितर परलोकमें निश्चय ही उनकी विष्ठा खाते हैं ॥ १६ ॥

एतानिमान् विजानीयादपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्।
शूद्राणामुपदेशं च ये कुर्वन्त्यल्पचेतसः ॥ १७ ॥

इन अधम ब्राह्मणोंको पंक्तिसे बाहर रखने योग्य जानना चाहिये। जो मूढ़ ब्राह्मण शूद्रोंको वेदका उपदेश करते हैं, वे भी अपाङ्क्तेय (अर्थात् पंक्ति-बाहर) ही हैं ॥ १७ ॥

षष्टिं काणः शतं षण्ढः श्वित्री यावत्प्रपश्यति।
पङ्क्त्यां समुपविष्टायां तावद् दूषयते नृप ॥ १८ ॥

राजन्! काना मनुष्य पंक्तिमें बैठे हुए साठ मनुष्योंको दूषित कर देता है। जो नपुंसक है, वह सौ मनुष्योंको अपवित्र बना देता है तथा जो सफेद कोढ़का रोगी है, वह बैठे हुए पंक्तिमें जितने लोगोंको देखता है, उन सबको दूषित कर देता है ॥ १८ ॥

यद् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते सर्वं विद्यात् तदासुरम् ॥ १९ ॥

जो सिरपर पगड़ी और टोपी रखकर भोजन करता है, जो दक्षिणकी ओर मुख करके खाता है तथा जो जूते पहने भोजन करता है, उनका वह सारा भोजन आसुर समझना चाहिये ॥ १९ ॥

असूयता च यद् दत्तं यच्च श्रद्धाविवर्जितम्।
सर्वं तदसुरेन्द्राय ब्रह्मा भागमकल्पयत् ॥ २० ॥

जो दोषदृष्टि रखते हुए दान करता है और जो बिना श्रद्धाके देता है, उस सारे दानको ब्रह्माजीने असुरराज बलिका भाग निश्चित किया है ॥ २० ॥

श्वानश्च पङ्क्तिदूषाश्च नावेक्षेरन् कथंचन।
तस्मात् परिसृते दद्यात् तिलांश्चान्ववकीरयेत् ॥ २१ ॥

कुत्ते और पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंकी किसी तरह दृष्टि न पड़े, इसके लिये सब ओरसे घिरे हुए स्थानमें श्राद्धका दान करे और वहाँ सब ओर तिल छींटे ॥ २१ ॥

तिलैर्विरहितं श्राद्धं कृतं क्रोधवशेन च।
यातुधानाः पिशाचाश्च विप्रलुम्पन्ति तद्धविः ॥ २२ ॥

जो श्राद्ध तिलोंसे रहित होता है, अथवा जो क्रोधपूर्वक किया जाता है, उसके हविष्यको यातुधान (राक्षस) और पिशाच लुप्त कर देते हैं ॥ २२ ॥

अपाङ्क्तो यावतः पाङ्क्तान् भुञ्जानाननुपश्यति।
तावत्फलाद् भ्रंशयति दातारं तस्य बालिशम् ॥ २३ ॥

पंक्तिदूषक पुरुष पंक्तिमें भोजन करनेवाले जितने ब्राह्मणोंको देख लेता है, वह मूर्ख दाताको उतने ब्राह्मणोंके दानजनित फलसे वञ्चित कर देता है ॥ २३ ॥

इमे तु भरतश्रेष्ठ विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः।
ये त्वतस्तान् प्रवक्ष्यामि परीक्षस्वेह तान् द्विजान् ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ! अब जिनका वर्णन किया जा रहा है, इन सबको पंक्तिपावन जानना चाहिये। इनका वर्णन इस लिये करूँगा कि तुम ब्राह्मणोंकी श्राद्धमें परीक्षा कर सको ॥ २४ ॥

विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि।
सदाचारपराश्चैव विज्ञेयाः सर्वपावनाः ॥ २५ ॥

विद्या और वेदव्रतमें स्नातक हुए समस्त ब्राह्मण यदि सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हों तो उन्हें सर्वपावन जानना चाहिये ॥ २५ ॥

पाङ्क्तेयांस्तु प्रवक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पङ्क्तिपावनाः।
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ॥ २६ ॥

अब मैं पाङ्क्तेय ब्राह्मणोंका वर्णन करूँगा। उन्हींको पंक्तिपावन जानना चाहिये। जो त्रिणाचिकेत नामक मन्त्रोंका जप करनेवाला, गार्हपत्य आदि पाँच अग्नियोंका सेवन करनेवाला, त्रिसुपर्ण नामक (त्रिसुपर्णमित्यादि-) मन्त्रोंका पाठ करनेवाला है तथा 'ब्रह्ममेतु माम्' इत्यादि तैत्तिरीयप्रसिद्ध शिक्षा आदि छहों अङ्गोंका ज्ञान रखनेवाला है ये सब पंक्तिपावन हैं ॥ २६ ॥

ब्रह्मदेयानुसंतानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः।
मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ॥ २७ ॥

जो परम्परासे वेद या पराविद्याका ज्ञाता अथवा उपदेशक है, जो वेदके छन्दोग शाखाका विद्वान् है, जो ज्येष्ठ साममन्त्रका गायक, माता-पिताके वशमें रहनेवाला

और दस पीढ़ियोंसे श्रोत्रिय (वेदपाठी) है, वह भी पंक्तिपावन है ॥ २७ ॥

ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा।
वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पङ्क्तिं पुनात्युत ॥ २८ ॥

जो अपनी धर्मपत्नियोंके साथ सदा ऋतुकालमें ही समागम करता है, वेद और विद्याके व्रतमें स्नातक हो चुका है, वह ब्राह्मण पंक्तिको पवित्र कर देता है ॥ २८ ॥

अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः।
सत्यवादी धर्मशीलः स्वकर्मनिरतश्च सः ॥ २९ ॥

जो अथर्ववेदके ज्ञाता, ब्रह्मचारी, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, धर्मशील और अपने कर्तव्य-कर्ममें तत्पर हैं, वे पुरुष पंक्तिपावन हैं ॥ २९ ॥

ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः।
मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृथप्लुताः ॥ ३० ॥
अक्रोधना ह्यचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान् निमन्त्रयेत् ॥ ३१ ॥

जिन्होंने पुण्य तीर्थोंमें गोता लगानेके लिये श्रम—प्रयत्न किया है, वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक अनेकों यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ-स्नान किया है; जो क्रोधरहित, चपलता-रहित, क्षमाशील, मनको वशमें रखनेवाले, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितैषी हैं, उन्हीं ब्राह्मणोंको श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

एतेषु दत्तमक्षय्यमेते वै पङ्क्तिपावनाः।
इमे परे महाभागा विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ ३२ ॥

क्योंकि ये पंक्तिपावन हैं; अतः इन्हें दिया हुआ दान अक्षय होता है। इनके सिवा दूसरे भी महान् भाग्यशाली पंक्तिपावन ब्राह्मण हैं, उन्हें इस प्रकार जानना चाहिये॥३२॥

यतयो मोक्षधर्मज्ञा योगाः सुचरितव्रताः।
(पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तथा भागवताः परे।
वैखानसाः कुलश्रेष्ठा वैदिकाचारचारिणः ॥)
ये चेतिहासं प्रयताः श्रावयन्ति द्विजोत्तमान् ॥ ३३ ॥
ये च भाष्यविदः केचिद् ये च व्याकरणे रताः।
अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्राण्यथापि च ॥ ३४ ॥
अधीत्य च यथान्यायं विधिवत् तस्य कारिणः।
उपपन्नो गुरुकुले सत्यवादी सहस्रशः ॥ ३५ ॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
यावदेते प्रपश्यन्ति पङ्क्त्यास्तावत्पुनन्त्युत ॥ ३६ ॥

जो मोक्ष-धर्मका ज्ञान रखनेवाले संयमी और उत्तम प्रकारसे व्रतका आचरण करनेवाले योगी हैं, पाञ्चरात्र आगमके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, परम भागवत हैं, वानप्रस्थ-धर्मका पालन करनेवाले, कुलमें श्रेष्ठ और वैदिक आचारका अनुष्ठान करनेवाले हैं। जो मनको संयममें रखकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको इतिहास सुनाते हैं, जो महाभाष्य और व्याकरणके विद्वान् हैं तथा जो पुराण और धर्मशास्त्रोंका न्यायपूर्वक अध्ययन करके उनकी आज्ञाके अनुसार विधिवत् आचरण करनेवाले हैं, जिन्होंने नियमित समय-तक गुरुकुलमें निवास करके वेदाध्ययन किया है, जो परीक्षाके सहस्रों अवसरोंपर सत्यवादी सिद्ध हुए हैं तथा जो चारों वेदोंके पढ़ने-पढ़ानेमें अग्रगण्य हैं, ऐसे ब्राह्मण पंक्तिको जितनी दूर देखते हैं उतनी दूरमें बैठे हुए ब्राह्मणों-को पवित्र कर देते हैं ॥ ३३—३६ ॥

ततो हि पावनात्पङ्क्त्याः पङ्क्तिपावन उच्यते।
क्रोशादर्धतृतीयाच्च पावयेदेक एव हि ॥ ३७ ॥
ब्रह्मदेयानुसंतान इति ब्रह्मविदो विदुः।

पंक्तिको पवित्र करनेके कारण ही उन्हें पंक्तिपावन कहा जाता है। ब्रह्मवादी पुरुषोंकी यह मान्यता है कि वेदकी शिक्षा देनेवाले एवं ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंके वंशमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अकेला ही साढ़े तीन कोसतकका स्थान पवित्र कर सकता है ॥ ३७½ ॥

अनृत्विगनुपाध्यायः स चेदग्रासनं व्रजेत् ॥ ३८ ॥
ऋत्विग्भिरभ्यनुज्ञातः पङ्क्त्या हरति दुष्कृतम्।

जो ऋत्विक् या अध्यापक न हो, वह भी यदि ऋत्विजोंकी आज्ञा लेकर श्राद्धमें अग्रासन ग्रहण करता है तो पंक्तिके दोषको हर लेता है अर्थात् दूर कर देता है ॥

अथ चेद् वेदवित् सर्वैः पङ्क्तिदोषैर्विवर्जितः ॥ ३९ ॥
न च स्यात् पतितो राजन् पङ्क्तिपावन एव सः।

राजन् ! यदि कोई वेदज्ञ ब्राह्मण सब प्रकारके पंक्ति-दोषोंसे रहित है और पतित नहीं हुआ है तो वह पंक्ति-पावन ही है ॥ ३९½ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन परीक्ष्यामन्त्रयेद् द्विजान् ॥ ४० ॥
स्वकर्मनिरतानन्यान् कुले जातान् बहुश्रुतान्।

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टाओंसे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करके ही उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये। वे स्वकर्ममें तत्पर रहनेवाले, कुलीन और बहुश्रुत होने चाहिये॥४०½॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ॥ ४१ ॥
न प्रीणन्ति पितॄन् देवान् स्वर्गं च न स गच्छति।

जिसके श्राद्धोंके भोजनमें मित्रोंकी प्रधानता रहती है, उसके वे श्राद्ध एवं हविष्य पितरों और देवताओंको तृप्त नहीं करते हैं तथा वह श्राद्धकर्ता पुरुष स्वर्गमें नहीं जाता है ॥ ४१½ ॥

यश्च श्राद्धे कुरुते सङ्गतानि
न देवयानेन पथा स याति।

स वै मुक्तः पिप्पलं बन्धनाद् वा
स्वर्गाल्लोकाच्च्यवते श्राद्धमित्रः ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य श्राद्धमें भोजन देकर उससे मित्रता जोड़ता है, वह मृत्युके बाद देवमार्गसे नहीं जाने पाता । जैसे पीपलका फल डंठलसे टूटकर नीचे गिर जाता है, वैसे ही श्राद्धको मित्रताका साधन बनानेवाला पुरुष स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

तस्मान्मित्रं श्राद्धकृन्नाद्रियेत
दद्यान्मित्रेभ्यः संग्रहार्थं धनानि ।
यन्मन्यते नैव शत्रुं न मित्रं
तं मध्यस्थं भोजयेद्धव्यकव्ये ॥ ४३ ॥

इसलिये श्राद्धकर्ताको चाहिये कि वह श्राद्धमें मित्रको निमन्त्रण न दे । मित्रोंको संतुष्ट करनेके लिये धन देना उचित है । श्राद्धमें भोजन तो उसे ही कराना चाहिये, जो शत्रु या मित्र न होकर मध्यस्थ हो ॥ ४३ ॥

यथोषरे बीजमुप्तं न रोहे-
न्न चावप्ता प्राप्नुयाद् बीजभागम् ।
एवं श्राद्धं भुक्तमनर्हमाणै-
र्न चेह नामुत्र फलं ददाति ॥ ४४ ॥

जैसे ऊसरमें बोया हुआ बीज न तो जमता है और न बोनेवालेको उसका कोई फल ही मिलता है, उसी प्रकार अयोग्य ब्राह्मणोंको भोजन कराया हुआ श्राद्धका अन्न न इस लोकमें लाभ पहुँचाता है, न परलोकमें ही कोई फल देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो ह्यनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ ४५ ॥

जैसे घास-फूसकी आग शीघ्र ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार स्वाध्यायहीन ब्राह्मण तेजहीन हो जाता है, अतः उसे श्राद्धका दान नहीं देना चाहिये, क्योंकि राखमें कोई भी हवन नहीं करता ॥ ४५ ॥

सम्भोजनी नाम पिशाचदक्षिणा
सा नैव देवान् न पितॄनुपैति ।
इहैव सा भ्राम्यति हीनपुण्या
शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥ ४६ ॥

जो लोग एक-दूसरेके यहाँ श्राद्धमें भोजन करके परस्पर दक्षिणा देते और लेते हैं, उनकी वह दान-दक्षिणा पिशाच-दक्षिणा कहलाती है । वह न देवताओंको मिलती है, न पितरों-को । जिसका बछड़ा मर गया है ऐसी पुण्यहीना गौ जैसे दुखी होकर गोशालामें ही चक्कर लगाती रहती है, उसी प्रकार आपसमें दी और ली हुई दक्षिणा इसी लोकमें रह जाती है, वह पितरोंतक नहीं पहुँचने पाती ॥ ४६ ॥

यथाग्नौ शान्ते घृतमाजुहोति
तन्नैव देवान् न पितॄनुपैति ।
तथा दत्तं नर्तने गायने च
यां चानृते दक्षिणामावृणोति ॥ ४७ ॥
उभौ हिनस्ति न भुनक्ति चैषा
या चानृते दक्षिणा दीयते वै ।
आघातिनी गर्हितैषा पतन्ती
तेषां प्रेतान् पातयेद् देवयानात् ॥ ४८ ॥

जैसे आग बुझ जानेपर जो घृतका हवन किया जाता है, उसे न देवता पाते हैं, न पितर; उसी प्रकार नाचनेवाले, गवैये और झूठ बोलनेवाले अपात्र ब्राह्मणको दिया हुआ दान निष्फल होता है । अपात्र पुरुषको दी हुई दक्षिणा न दाताको तृप्त करती है न दान लेनेवालेको; प्रत्युत दोनोंका ही नाश करती है । यही नहीं, वह विनाशकारिणी निन्दित दक्षिणा दाताके पितरोंको देवयान-मार्गसे नीचे गिरा देती है ॥ ४७-४८ ॥

ऋषीणां समये नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ।
निश्चिताः सर्वधर्मज्ञास्तान् देवा ब्राह्मणान् विदुः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा ऋषियोंके बताये हुए धर्ममार्गपर चलते हैं, जिनकी बुद्धि एक निश्चयपर पहुँची हुई है तथा जो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं, उन्हींको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ४९ ॥

स्वाध्यायनिष्ठा ऋषयो ज्ञाननिष्ठास्तथैव च ।
तपोनिष्ठाश्च बोद्धव्याः कर्मनिष्ठाश्च भारत ॥ ५० ॥

भारत ! ऋषि-मुनियोंमें किन्हींको स्वाध्यायनिष्ठ, किन्हींको ज्ञाननिष्ठ, किन्हींको तपोनिष्ठ और किन्हींको कर्मनिष्ठ जानना चाहिये ॥ ५० ॥

कव्यानि ज्ञाननिष्ठेभ्यः प्रतिष्ठाप्यानि भारत ।
तत्र ये ब्राह्मणान् केचिन्न निन्दन्ति हि ते नराः ॥ ५१ ॥

भरतनन्दन ! उनमें ज्ञाननिष्ठ महर्षियोंको ही श्राद्धका अन्न जिमाना चाहिये । जो लोग ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करते, वे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं ॥ ५१ ॥

ये तु निन्दन्ति जल्पेषु न ताञ्छ्राद्धेषु भोजयेत् ।
ब्राह्मणा निन्दिता राजन् हन्युस्त्रैपुरुषं कुलम् ॥ ५२ ॥
वैखानसानां वचनमृषीणां श्रूयते नृप ।
दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणान् वेदपारगान् ॥ ५३ ॥

राजन् ! जो बातचीतमें ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, उन्हें श्राद्धमें भोजन नहीं कराना चाहिये । नरेश्वर ! वानप्रस्थ ऋषियोंका यह वचन सुना जाता है कि 'ब्राह्मणोंकी निन्दा होनेपर वे निन्दा करनेवालेकी तीन पीढ़ियोंका नाश कर डालते हैं ।' वेदवेत्ता ब्राह्मणोंकी दूरसे ही परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५२-५३ ॥

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यस्तेषां तु श्राद्धमावपेत् ।

यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृतान् नरः ।
एकस्तान्मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति भारत ॥ ५४ ॥

भारत ! वेदज्ञ पुरुष अपना प्रिय हो या अप्रिय—इसका विचार न करके उसे श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये । जो दस लाख अपात्र ब्राह्मणको भोजन कराता है, उसके यहाँ उन सबके बदले एक ही सदा संतुष्ट रहनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण भोजन करनेका अधिकारी है अर्थात् लाखों मूर्खोंकी अपेक्षा एक सत्पात्र ब्राह्मणको भोजन कराना उत्तम है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

शोकातुर निमिका पुत्रके निमित्त पिण्डदान तथा श्राद्धके विषयमें निमिको महर्षि अत्रिका उपदेश, विश्वेदेवोंके नाम एवं श्राद्धमें त्याज्य वस्तुओंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन् काले किमात्मकम् ।
भृग्वङ्गिरसिके काले मुनिना कतरेण वा ॥ १ ॥
कानि श्राद्धानि वर्ज्यानि कानि मूलफलानि च ।
धान्यजात्यश्च का वर्ज्यास्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! श्राद्ध कब प्रचलित हुआ ? सबसे पहले किस महर्षिने इसका संकल्प किया अर्थात् प्रचार किया ? श्राद्धका स्वरूप क्या है ? यदि भृगु और अङ्गिराके समयमें इसका प्रारम्भ हुआ तो किस मुनिने इसको प्रकट किया ? श्राद्धमें कौन-कौनसे कर्म, कौन-कौन फल-मूल और कौन-कौनसे अन्न त्याग देने योग्य हैं ? वह मुझसे कहिये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

यथा श्राद्धं सम्प्रवृत्तं यस्मिन् काले यदात्मकम् ।
येन संकल्पितं चैव तन्मे शृणु जनाधिप ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! श्राद्धका जिस समय और जिस प्रकार प्रचलन हुआ, जो इसका स्वरूप है तथा सबसे पहले जिसने इसका संकल्प किया अर्थात् प्रचार किया, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

स्वायम्भुवोऽत्रिः कौरव्य परमर्षिः प्रतापवान् ।
तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! प्राचीन कालमें ब्रह्माजीसे महर्षि अत्रिकी उत्पत्ति हुई । वे बड़े प्रतापी ऋषि थे । उनके वंशमें दत्तात्रेयजीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४ ॥

दत्तात्रेयस्य पुत्रोऽभून्निमिर्नाम तपोधनः ।
निमेश्चाप्यभवत् पुत्रः श्रीमान्नाम श्रिया वृतः ॥ ५ ॥

दत्तात्रेयके पुत्र निमि हुए, जो बड़े तपस्वी थे । निमिके भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था श्रीमान् । वह बड़ा कान्तिमान् था ॥ ५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते स कृत्वा दुष्करं तपः ।
कालधर्मपरीतात्मा निधनं समुपागतः ॥ ६ ॥

उसने पूरे एक हजार वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या करके अन्तमें काल-धर्मके अधीन होकर प्राण त्याग दिया ॥ ६ ॥

निमिस्तु कृत्वा शौचानि विधिदृष्टेन कर्मणा ।
संतापमगमत् तीव्रं पुत्रशोकपरायणः ॥ ७ ॥

फिर निमि शास्त्रोक्त कर्मद्वारा अशौच निवारण करके पुत्र-शोकमें मग्न हो अत्यन्त संतप्त हो उठे ॥ ७ ॥

अथ कृत्वोपहार्याणि चतुर्दश्यां महामतिः ।
तमेव गणयञ्शोकं विरात्रे प्रत्यबुध्यत ॥ ८ ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् निमि चतुर्दशीके दिन श्राद्धमें देने योग्य सब वस्तुएँ एकत्रित करके पुत्रशोकसे ही चिन्तित हो रात बीतनेपर (अमावास्याको श्राद्ध करनेके लिये) प्रातःकाल उठे ॥ ८ ॥

तस्यासीत् प्रतिबुद्धस्य शोकेन व्यथितात्मनः ।
मनः संवृत्य विषये बुद्धिर्विस्तारगामिनी ॥ ९ ॥
ततः संचिन्तयामास श्राद्धकल्पं समाहितः ।

प्रातःकाल जागनेपर उनका मन पुत्रशोकसे व्यथित होता रहा; किंतु उनकी बुद्धि बड़ी विस्तृत थी । उसके द्वारा उन्होंने मनको शोककी ओरसे हटाया और एकाग्रचित्त होकर श्राद्धविधिका विचार किया ॥ ९½ ॥

यानि तस्यैव भोज्यानि मूलानि च फलानि च ॥ १० ॥
उक्तानि यानि चान्नानि यानि चेष्टानि तस्य ह ।
तानि सर्वाणि मनसा विनिश्चित्य तपोधनः ॥ ११ ॥

फिर श्राद्धके लिये शास्त्रोंमें जो फल-मूल आदि भोज्य पदार्थ बताये गये हैं तथा उनमेंसे जो-जो पदार्थ उनके पुत्रको प्रिय थे, उन सबका मन-ही-मन निश्चय करके उन तपोधनने संग्रह किया ॥ १०-११ ॥

अमावास्यां महाप्राज्ञो विप्रानानाय्य पूजितान् ।

दक्षिणावर्तिकाः सर्वा बृमीः स्वयमथाकरोत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर, उन महान् बुद्धिमान् मुनिने अमावस्याके दिन सात ब्राह्मणोंको बुलाकर उनकी पूजा की और उनके लिये स्वयं ही प्रदक्षिण भावसे मोड़े हुए कुशके आसन बनाकर उन्हें उनपर बिठाया ॥ १२ ॥

सप्त विप्रांस्ततो भोज्ये युगपत् समुपानयत् ।
ऋते च लवणं भोज्यं श्यामाकान्नं ददौ प्रभुः ॥ १३ ॥

प्रभावशाली निमिने उन सातोंको एक ही साथ भोजनके लिये अलोना सावाँ परोसा ॥ १३ ॥

दक्षिणाग्रास्ततो दर्भा विष्टरेषु निवेशिताः ।
पादयोश्चैव विप्राणां ये त्वन्नमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥
कृत्वा च दक्षिणाग्रान् वै दर्भान् स प्रयतः शुचिः ।
प्रददौ श्रीमतः पिण्डान् नामगोत्रमुदाहरन् ॥ १५ ॥

इसके बाद भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके पैरोंके नीचे आसनोंपर उन्होंने दक्षिणाग्र कुश बिछा दिये और (अपने सामने भी) दक्षिणाग्र कुश रखकर पवित्र एवं सावधान हो अपने पुत्र श्रीमान्‌के नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए कुशोंपर पिण्डदान किया ॥ १४-१५ ॥

तत् कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः ।
पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्राद्ध करनेके पश्चात् मुनिश्रेष्ठ निमि अपनेमें धर्मसङ्करताका दोष मानकर (अर्थात् वेदमें पिता-पितामह आदिके उद्देश्यसे जिस श्राद्धका विधान है, उसको मैंने स्वेच्छासे पुत्रके निमित्त किया है—यह सोचकर) महान् पश्चात्तापसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥ १६ ॥

अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम् ।
कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ १७ ॥

'अहो ! मुनियोंने जो कार्य पहले कभी नहीं किया, उसे मैंने ही क्यों कर डाला ? मेरे इस मनमाने बर्तावको देखकर ब्राह्मणलोग मुझे अपने शापसे क्यों नहीं भस्म कर डालेंगे ?'॥

ततः संचिन्तयामास वंशकर्तारमात्मनः ।
ध्यातमात्रस्तथा चात्रिराजगाम तपोधनः ॥ १८ ॥

यह बात ध्यानमें आते ही उन्होंने अपने वंशप्रवर्तक महर्षि अत्रिका स्मरण किया । उनके चिन्तन करते ही तपोधन अत्रि वहाँ आ पहुँचे ॥ १८ ॥

अथात्रिस्तं तथा दृष्ट्वा पुत्रशोकेन कर्षितम् ।
भृशमाश्वासयामास वाग्भिरिष्टाभिरव्ययः ॥ १९ ॥

आनेपर जब अविनाशी अत्रिने निमिको पुत्रशोकसे व्याकुल देखा, तब मधुर वाणीद्वारा उन्हें बहुत आश्वासन दिया—॥

निमे संकल्पितस्तेऽयं पितृयज्ञस्तपोधन ।
मा ते भूद् भीः पूर्वदृष्टो धर्मोऽयं ब्रह्मणा स्वयम् ॥ २० ॥

'तपोधन निमे ! तुमने जो यह पितृयज्ञ किया है, इससे डरो मत । सबसे पहले स्वयं ब्रह्माजीने इस धर्मका साक्षात्कार किया है ॥ २० ॥

सोऽयं स्वयम्भुविहितो धर्मः संकल्पितस्त्वया ।
ऋते स्वयम्भुवः कोऽन्यः श्राद्धेयं विधिमाहरेत् ॥ २१ ॥

'अतः तुमने यह ब्रह्माजीके चलाये हुए धर्मका ही अनुष्ठान किया है । ब्रह्माजीके सिवा दूसरा कौन इस श्राद्ध-विधिका उपदेश कर सकता है ॥ २१ ॥

अथाख्यास्यामि ते पुत्र श्राद्धेयं विधिमुत्तमम् ।
स्वयम्भुविहितं पुत्र तत् कुरुष्व निबोध मे ॥ २२ ॥

'बेटा ! अब मैं तुमसे स्वयम्भू ब्रह्माजीकी बतायी हुई श्राद्धकी उत्तम विधिका वर्णन करता हूँ, इसे सुनो और सुनकर इसी विधिके अनुसार श्राद्धका अनुष्ठान करो ॥ २२ ॥

कृत्वाग्नौकरणं पूर्वं मन्त्रपूर्वं तपोधन ।
ततोऽग्नयेऽथ सोमाय वरुणाय च नित्यशः ॥ २३ ॥
विश्वेदेवाश्च ये नित्यं पितृभिः सह गोचराः ।
तेभ्यः संकल्पिता भागाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

'तब तपोधन ! पहले वेदमन्त्रके उच्चारणपूर्वक अग्नौकरण—अग्निकरणकी क्रिया पूरी करके अग्नि, सोम, वरुण और पितरोंके साथ नित्य रहनेवाले विश्वेदेवोंको उनका भाग सदा अर्पण करे। साक्षात् ब्रह्माजीने इनके भागोंकी कल्पना की है ॥ २३-२४ ॥

स्तोतव्या चेह पृथिवी निवापस्येह धारिणी ।
वैष्णवी काश्यपी चेति तथैवेहाक्षयेति च ॥ २५ ॥

'तदनन्तर श्राद्धकी आधारभूता पृथ्वीकी वैष्णवी, काश्यपी और अक्षया आदि नामोंसे स्तुति करनी चाहिये ॥ २५ ॥

उदकानयने चैव स्तोतव्यो वरुणो विभुः ।
ततोऽग्निश्चैव सोमश्च आप्याय्याविह तेऽनघ ॥ २६ ॥

'अनघ ! श्राद्धके लिये जल लानेके लिये भगवान् वरुणका स्तवन करना उचित है । इसके बाद तुम्हें अग्नि और सोमको भी तृप्त करना चाहिये ॥ २६ ॥

देवास्तु पितरो नाम निर्मिता ये स्वयम्भुवा ।
उष्णपा ये महाभागास्तेषां भागः प्रकल्पितः ॥ २७ ॥

'ब्रह्माजीके ही उत्पन्न किये हुए कुछ देवता पितरोंके नामसे प्रसिद्ध हैं । उन महाभाग पितरोंको उष्णप भी कहते हैं । स्वयम्भूने श्राद्धमें उनका भाग निश्चित किया है ॥२७॥

ते श्राद्धेनार्च्यमाना वै विमुच्यन्ते ह किल्बिषात् ।
सप्तकः पितृवंशस्तु पूर्वदृष्टः स्वयम्भुवा ॥ २८ ॥

'श्राद्धके द्वारा उनकी पूजा करनेसे श्राद्धकर्ताके पितरों-

का पापसे उद्धार हो जाता है । ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन अग्निष्वात्त आदि पितरोंको श्राद्धका अधिकारी बताया है, उनकी संख्या सात है ॥ २८ ॥

विश्वे चाग्निमुखा देवाः संख्याताः पूर्वमेव ते ।
तेषां नामानि वक्ष्यामि भागार्हाणां महात्मनाम् ॥२९॥

'विश्वेदेवोंकी चर्चा तो मैंने पहले ही की है, उन सबका मुख अग्नि है । यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी उन महात्माओंके नामोंको कहता हूँ ॥ २९ ॥

बलं धृतिर्विपाप्मा च पुण्यकृत् पावनस्तथा ।
पार्ष्णिक्षेमा समूहश्च दिव्यसानुस्तथैव च ॥ ३० ॥
विवस्वान् वीर्यवान् ह्रीमान् कीर्तिमान् कृत एव च ।
जितात्मा मुनिवीर्यश्च दीप्तरोमा भयंकरः ॥ ३१ ॥
अनुकर्मा प्रतीतश्च प्रदाताप्यंशुमांस्तथा ।
शैलाभः परमक्रोधी धीरोष्णी भूपतिस्तथा ॥ ३२ ॥
स्रजो वज्री वरी चैव विश्वेदेवाः सनातनाः ।
विद्युद्वर्चाः सोमवर्चाः सूर्यश्रीश्चेति नामतः ॥ ३३ ॥
सोमपः सूर्यसावित्रो दत्तात्मा पुण्डरीयकः ।
उष्णीनाभो नभोदश्च विश्वायुर्दीप्तिरेव च ॥ ३४ ॥
चमूहरः सुरेशश्च व्योमारिः शङ्करो भवः ।
ईशः कर्ता कृतिर्दक्षो भुवनो दिव्यकर्मकृत् ॥ ३५ ॥
गणितः पञ्चवीर्यश्च आदित्यो रश्मिवांस्तथा ।
सप्तकृत् सोमवर्चाश्च विश्वकृत् कविरेव च ॥ ३६ ॥
अनुगोप्ता सुगोप्ता च नप्ता चेश्वर एव च ।
कीर्तितास्ते महाभागाः कालस्य गतिगोचराः ॥ ३७ ॥

'बल, धृति, विपाप्मा, पुण्यकृत्, पावन,पार्ष्णिक्षेमा, समूह, दिव्यसानु, विवस्वान्, वीर्यवान्, ह्रीमान्, कीर्तिमान्, कृत, जितात्मा, मुनिवीर्य, दीप्तरोमा, भयंकर, अनुकर्मा, प्रतीत, प्रदाता, अंशुमान्, शैलाभ, परमक्रोधी, धीरोष्णी, भूपति, स्रज, वज्री, वरी, विश्वेदेव, विद्युद्वर्चा, सोमवर्चा, सूर्यश्री, सोमप, सूर्य सावित्र, दत्तात्मा, पुण्डरीयक, उष्णीनाभ, नभोद, विश्वायु, दीप्ति, चमूहर, सुरेश, व्योमारि, शंकर, भव, ईश, कर्ता कृति, दक्ष, भुवन, दिव्यकर्मकृत्, गणित, पञ्चवीर्य, आदित्य, रश्मिवान्, सप्तकृत्, सोमवर्चा, विश्वकृत्, कवि, अनुगोप्ता, सुगोप्ता, नप्ता और ईश्वर । इस प्रकार सनातन विश्वेदेवोंके नाम बतलाये गये । ये महाभाग कालकी गतिके जाननेवाले कहे गये हैं ॥ ३०—३७ ॥

अश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवाः पुलकास्तथा ।
हिंगुद्रव्येषु शाकेषु पलाण्डुं लसुनं तथा ॥ ३८ ॥
सौभाञ्जनः कोविदारस्तथा गृञ्जनकादयः ।
कूष्माण्डजात्यलावुं च कृष्णं लवणमेव च ॥ ३९ ॥
ग्राम्यवाराहमांसं च यच्चैवाप्रोक्षितं भवेत् ।
कृष्णाजाजी विडश्चैव शीतपाकी तथैव च ।
अङ्कुराद्यास्तथा वर्ज्या इह शृङ्गाटकानि च ॥ ४० ॥

'अब श्राद्धमें निषिद्ध अन्न आदि वस्तुओंका वर्णन करता हूँ । अनाजमें कोदो और पुलक-सरसो, हिंगुद्रव्य-छौंकनेके काम आनेवाले पदार्थोंमें हींग आदि पदार्थ, शाकोंमें प्याज, लहसुन, सहिजन, कचनार, गाजर, कुम्हड़ा और लौकी आदि; कालानमक, गाँवमें पैदा होनेवाले वाराहीकन्द-का गूदा, अप्रोक्षित—जिसका प्रोक्षण नहीं किया गया (संस्कार-हीन), काला जीरा, बीरिया सौंचर नमक, शीतपाकी (शाक-विशेष), जिसमें अङ्कुर उत्पन्न हो गये हों ऐसे मूँग और सिंघाड़ा आदि । ये सब वस्तुएँ श्राद्धमें वर्जित हैं ॥ ३८–४० ॥

वर्जयेल्लवणं सर्वं तथा जम्बूफलानि च ।
अवक्षुतावरुदितं तथा श्राद्धे च वर्जयेत् ॥ ४१ ॥

'सब प्रकारका नमक, जामुनका फल तथा छींक या आँसूसे दूषित हुए पदार्थ भी श्राद्धमें त्याग देने चाहिये॥४०॥

निवापे हव्यकव्ये वा गर्हितं च सुदर्शनम् ।
पितरश्च हि देवाश्च नाभिनन्दन्ति तद्धविः ॥ ४२ ॥

'श्राद्ध-विषयक हव्य-कव्यमें सुदर्शनसोमलता निन्दित है। उस हविको विश्वेदेव एवं पितृगण पसंद नहीं करते हैं ॥

चाण्डालश्वपचौ वर्ज्यौ निवापे समुपस्थिते ।
काषायवासाः कुष्ठी वा पतितो ब्रह्महापि वा ॥ ४३ ॥
संकीर्णयोनिर्विप्रश्च सम्बन्धी पतितश्च यः ।
वर्जनीया बुधैरेते निवापे समुपस्थिते ॥ ४४ ॥

'पिण्डदानका समय उपस्थित होनेपर उस स्थानसे चाण्डालों और श्वपचोंको हटा देना चाहिये । गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाला संन्यासी, कोढ़ी, पतित, ब्रह्महत्यारा, वर्ण-संकर ब्राह्मण तथा धर्मभ्रष्ट सम्बन्धी भी श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर विद्वानोंद्वारा वहाँसे हटा देने योग्य हैं' ॥ ४३-४४॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान् स्ववंश्यं तमृषिं पुरा ।
पितामहसभां दिव्यां जगामात्रिस्तपोधनः ॥ ४५ ॥

पूर्वकालमें अपने वंशज निमि ऋषिको श्राद्धके विषयमें यह उपदेश देकर तपस्याके धनी भगवान् अत्रि ब्रह्माजीकी दिव्य सभामें चले गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

पितर और देवताओंका श्राद्धान्नसे अजीर्ण होकर ब्रह्माजीके पास जाना और अग्निके द्वारा अजीर्णका निवारण, श्राद्धसे तृप्त हुए पितरोंका आशीर्वाद

भीष्म उवाच

तथा निमौ प्रवृत्ते तु सर्व एव महर्षयः।
पितृयज्ञं तु कुर्वन्ति विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार जब महर्षि निमि पहले-पहल श्राद्धमें प्रवृत्त हुए, उसके बाद सभी महर्षि शास्त्रविधिके अनुसार पितृयज्ञका अनुष्ठान करने लगे ॥ १ ॥

ऋषयो धर्मनित्यास्तु कृत्वा निवपनान्युत।
तर्पणं चाप्यकुर्वन्त तीर्थाम्भोभिर्यतव्रताः ॥ २ ॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले और नियमपूर्वक व्रत धारण करनेवाले महर्षि पिण्डदान करनेके पश्चात् तीर्थके जलसे पितरोंका तर्पण भी करते थे ॥ २ ॥

निवापैर्दीयमानैश्च चातुर्वर्ण्येन भारत।
तर्पिताः पितरो देवास्तत्रान्नं जरयन्ति वै ॥ ३ ॥
अजीर्णेनत्वभिहन्यन्ते ते देवाः पितृभिः सह।
सोममेवाभ्यपद्यन्त तदा ह्यन्नाभिपीडिताः ॥ ४ ॥

भारत ! धीरे-धीरे चारों वर्णोंके लोग श्राद्धमें देवताओं और पितरोंको अन्न देने लगे। लगातार श्राद्धमें भोजन करते-करते वे देवता और पितर पूर्ण तृप्त हो गये। अब वे अन्न पचानेके प्रयत्नमें लगे। अजीर्णसे उन्हें विशेष कष्ट होने लगा। तब वे सोम देवताके पास गये ॥ ३-४ ॥

तेऽब्रुवन् सोममासाद्य पितरोऽजीर्णपीडिताः।
निवापान्नेन पीड्यामः श्रेयो नोऽत्र विधीयताम्॥ ५ ॥

सोमके पास जाकर वे अजीर्णसे पीड़ित पितर इस प्रकार बोले—'देव ! हम श्राद्धान्नसे बहुत कष्ट पा रहे हैं। अब आप हमारा कल्याण कीजिये' ॥ ५ ॥

तान् सोमः प्रत्युवाचाथ श्रेयश्चेदीप्सितं सुराः।
स्वयम्भूसदनं यात स वः श्रेयोऽभिधास्यति ॥ ६ ॥

तब सोमने उनसे कहा—'देवताओ ! यदि आप कल्याण चाहते हैं तो ब्रह्माजीकी शरणमें जाइये, वही आपलोगोंका कल्याण करेंगे' ॥ ६ ॥

ते सोमवचनाद् देवाः पितृभिः सह भारत।
मेरुशृङ्गे समासीनं पितामहमुपागमन् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! सोमके कहनेसे वे पितरोंसहित देवता मेरुपर्वतके शिखरपर विराजमान ब्रह्माजीके पास गये ॥ ७ ॥

पितर ऊचुः

निवापान्नेन भगवन् भृशं पीड्यामहे वयम्।
प्रसादं कुरु नो देव श्रेयो नः संविधीयताम् ॥ ८ ॥

पितरोंने कहा—भगवन् ! निरन्तर श्राद्धका अन्न खानेसे हम अजीर्णतावश अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। देव ! हमलोगोंपर कृपा कीजिये और हमें कल्याणके भागी बनाइये ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा स्वयम्भूरिदमब्रवीत्।
एष मे पार्श्वतो वह्निर्युष्मच्छ्रेयोऽभिधास्यति ॥ ९ ॥

पितरोंकी यह बात सुनकर स्वयम्भू ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा—'देवगण ! मेरे निकट ये अग्निदेव विराजमान हैं। ये ही तुम्हारे कल्याणकी बात बतायेंगे' ॥ ९ ॥

अग्निरुवाच

सहितास्तात भोक्ष्यामो निवापे समुपस्थिते।
जरयिष्यथ चाप्यन्नं मया सार्धं न संशयः ॥ १० ॥

अग्नि बोले—देवताओ और पितरो ! अबसे श्राद्धका अवसर उपस्थित होनेपर हमलोग साथ ही भोजन किया करेंगे। मेरे साथ रहनेसे आपलोग उस अन्नको पचा सकेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

एतच्छ्रुत्वा तु पितरस्ततस्ते विज्वराऽभवन्।
एतस्मात् कारणाच्चाग्नेः प्राक् तावद् दीयते नृप॥ ११ ॥

नरेश्वर ! अग्निकी यह बात सुनकर वे पितर निश्चिन्त हो गये; इसीलिये श्राद्धमें पहले अग्निको ही भाग अर्पित किया जाता है ॥ ११ ॥

निवप्ते चाग्निपूर्वे वै निवापे पुरुषर्षभ।
न ब्रह्मराक्षसास्तं वै निवापं धर्षयन्त्युत ॥ १२ ॥

पुरुषप्रवर ! अग्निमें हवन करनेके बाद जो पितरोंके निमित्त पिण्डदान दिया जाता है, उसे ब्रह्मराक्षस दूषित नहीं करते ॥ १२ ॥

रक्षांसि चापवर्तन्ते स्थिते देवे हुताशने।
पूर्वं पिण्डं पितुर्दद्यात् ततो दद्यात् पितामहे ॥ १३ ॥

अग्निदेवके विराजमान रहनेपर राक्षस वहाँसे भाग जाते हैं। सबसे पहले पिताको पिण्ड देना चाहिये, फिर पितामहको ॥ १३ ॥

प्रपितामहाय च तत एष श्राद्धविधिः स्मृतः।
ब्रूयाच्छ्राद्धे च सावित्रीं पिण्डे पिण्डे समाहितः॥ १४॥

तदनन्तर प्रपितामहको पिण्ड देना चाहिये। यह श्राद्धकी विधि बतायी गयी है। श्राद्धमें एकाग्रचित्त हो प्रत्येक पिण्ड देते समय गायत्री-मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ॥ १४ ॥

सोमायेति च वक्तव्यं तथा पितृमतेति च ।
रजस्वला च या नारी व्यङ्गिता कर्णयोश्च या ।
निवापे नोपतिष्ठेत संग्राह्या नान्यवंशजा ॥ १५ ॥

पिण्ड-दानके आरम्भमें पहले अग्नि और सोमके लिये जो दो भाग दिये जाते हैं, उनके मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा,' 'सोमाय पितृमते स्वाहा।' जो स्त्री रजस्वला हो अथवा जिसके दोनों कान बहरे हों, उसको श्राद्धमें नहीं ठहरना चाहिये। दूसरे वंशकी स्त्रीको भी श्राद्धकर्ममें नहीं लेना चाहिये ॥ १५ ॥

जलं प्रतरमाणश्च कीर्तयेत पितामहान् ।
नदीमासाद्य कुर्वीत पितॄणां पिण्डतर्पणम् ॥ १६ ॥

जलको तैरते समय पितामहों (के नामों) का कीर्तन करे। किसी नदीके तटपर जानेके बाद वहाँ पितरोंके लिये पिण्डदान और तर्पण करना चाहिये ॥ १६ ॥

पूर्वं स्ववंशजानां तु कृत्वाद्भिस्तर्पणं पुनः ।
सुहृत्सम्बन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥१७॥

पहले अपने वंशमें उत्पन्न पितरोंका जलके द्वारा तर्पण करके तत्पश्चात् सुहृद् और सम्बन्धियोंके समुदायको जलाञ्जलि देनी चाहिये ॥ १७ ॥

कल्माषगोयुगेनाथ युक्तेन तरतो जलम् ।
पितरोऽभिलषन्ते वै नावं चाप्यधिरोहतः ॥ १८ ॥
सदा नावि जलं तज्ज्ञाः प्रयच्छन्ति समाहिताः ।

जो चितकबरे रंगके बैलोंसे जुती गाड़ीपर बैठकर नदीके जलको पार कर रहा हो, उसके पितर इस समय मानो नावपर बैठकर उससे जलाञ्जलि पानेकी इच्छा रखते हैं।

मासार्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निर्वपणानि वै ॥ १९ ॥
पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृभक्तितः ।

अतः जो इस बातको जानते हैं, वे एकाग्रचित्त हो नावपर बैठनेपर सदा ही पितरोंके लिये जल दिया करते हैं। महीनेका आधा समय बीत जानेपर कृष्णपक्षकी अमावास्या तिथिको अवश्य श्राद्ध करना चाहिये। पितरोंकी भक्तिसे मनुष्यको पुष्टि, आयु, वीर्य और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥१९½॥

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा ॥ २० ॥
अङ्गिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः ।
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः ॥ २१ ॥
एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधिः परः ।

कुरुकुलश्रेष्ठ ! ब्रह्मा, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अङ्गिरा क्रतु और महर्षि कश्यप—ये सात ऋषि महान् योगेश्वर और पितर माने गये हैं। राजन् ! इस प्रकार यह श्राद्धकी उत्तम विधि बतायी गयी॥ २०-२१½ ॥

प्रेतास्तु पिण्डसम्बन्धान्मुच्यन्ते तेन कर्मणा ॥ २२ ॥
इत्येषा पुरुषश्रेष्ठ श्राद्धोत्पत्तिर्यथागमम् ।
व्याख्याता पूर्वनिर्दिष्टा दानं वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २३ ॥

प्रेत (मरे हुए पिता आदि) पिण्डके सम्बन्धसे प्रेतत्व के कष्टसे छुटकारा पा जाते हैं। पुरुषश्रेष्ठ ! यह मैंने शास्त्रके अनुसार तुम्हें पूर्वमें बताये श्राद्धकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक बताया है। अब दानके विषयमें बताऊँगा ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

गृहस्थके धर्मोंका रहस्य, प्रतिग्रहके दोष बतानेके लिये वृषादर्भि और सप्तर्षियोंकी कथा, भिक्षुरूपधारी इन्द्रके द्वारा कृत्याका वध करके सप्तर्षियोंकी रक्षा तथा कमलोंकी चोरीके विषयमें शपथ खानेके बहानेसे धर्मपालनका संकेत

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता हविस्ते यदि भुञ्जते ।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि व्रतधारी विप्र किसी ब्राह्मणकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसके घर श्राद्धका अन्न भोजन कर ले तो इसे आप कैसा मानते हैं ? (अपने व्रतका लोप करना उचित है या ब्राह्मणकी प्रार्थना अस्वीकार करना) ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रताश्चैव भुञ्जानाः कामकारणे ।
वेदोक्तेषु तु भुञ्जाना व्रतलुप्ता युधिष्ठिर ॥ २

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो वेदोक्त व्रतका पालन नहीं करते, वे ब्राह्मणकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धमें भोजन कर सकते हैं; किंतु जो वैदिक व्रतका पालन कर रहे हों, वे यदि किसीके अनुरोधसे श्राद्धका अन्न ग्रहण करते हैं तो उनका व्रत भङ्ग हो जाता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः।
तपः स्यादेतदेवेह तपोऽन्यद् वापि किं भवेत्॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहा करते हैं, उसके सम्बन्धमें आपकी क्या धारणा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि वास्तवमें उपवास ही तप है या उसका और कोई स्वरूप है ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

मासार्धमासोपवासाद् यत् तपो मन्यते जनः।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित्॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो लोग पंद्रह दिन या एक महीनेतक उपवास करके उसे तपस्या मानते हैं, वे व्यर्थ ही अपने शरीरको कष्ट देते हैं । वास्तवमें केवल उपवास करनेवाले न तपस्वी हैं, न धर्मज्ञ ॥ ४ ॥

त्यागस्य चापि सम्पत्तिः शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी तथैव च ॥ ५ ॥
मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो वेदांश्चैव सदा जपेत्।

त्यागका सम्पादन ही सबसे उत्तम तपस्या है । ब्राह्मणको सदा उपवासी (व्रतपरायण), ब्रह्मचारी, मुनि और वेदोंका स्वाध्यायी होना चाहिये ॥ ५½ ॥

कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च मानवः ॥ ६ ॥
अमांसाशी सदा च स्यात् पवित्रं च सदा पठेत्।
ऋतवादी सदा च स्यान्नियतश्च सदा भवेत् ॥ ७ ॥
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः।
अमृताशी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत्॥ ८ ॥

धर्मपालनकी इच्छासे ही उसको स्त्री आदि कुटुम्बका संग्रह करना चाहिये (विषयभोगके लिये नहीं) । ब्राह्मणको उचित है कि वह सदा जाग्रत् रहे, मांस कभी न खाय, पवित्रभावसे सदा वेदका पाठ करे, सदा सत्य भाषण करे और इन्द्रियोंको संयममें रक्खे । उसको सदा अमृताशी, विघसाशी और अतिथिप्रिय तथा सदा पवित्र रहना चाहिये ॥ ६–८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी च पार्थिव।
विघसाशी कथं च स्यात् कथं चैवातिथिप्रियः॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मण कैसे सदा उपवासी और ब्रह्मचारी होवे ? तथा किस प्रकार वह विघसाशी एवं अतिथिप्रिय हो सकता है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं च यो नरः।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य केवल प्रातःकाल और सायंकालमें ही भोजन करता है, बीचमें कुछ नहीं खाता, उसे सदा उपवासी समझना चाहिये ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह।
ऋतवादी सदा च स्याद् दानशीलस्तु मानवः॥ ११ ॥

जो केवल ऋतुकालमें धर्मपत्नीके साथ सहवास करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है । सदा दान देनेवाला पुरुष सत्यवादी ही समझने योग्य है ॥ ११ ॥

अभक्षयन् वृथा मांसममांसाशी भवत्युत।
दानं ददत् पवित्री स्यादस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

जो मांस नहीं खाता, वह अमांसाशी होता है और जो सदा दान देनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है । जो दिनमें नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला माना जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु नरः सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भृत्यों[1] और अतिथियोंके भोजन कर लेनेके बाद ही स्वयं भोजन करता है, उसे केवल अमृत भोजन करनेवाला (अमृताशी) समझना चाहिये ॥ १३ ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नाति ब्राह्मणेषु तु यो नरः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जबतक ब्राह्मण भोजन नहीं कर लें तबतक जो अन्न ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य अपने उस व्रतके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय पाता है ॥ १४ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च संश्रितेभ्यस्तथैव च।
अवशिष्टानि यो भुङ्क्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥
तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणः स्मृताः।
उपस्थिता ह्यप्सरसो गन्धर्वैश्च जनाधिप ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! जो देवताओं, पितरों और आश्रितोंको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको ही स्वयं भोजन करता है, उसे विघसाशी कहते हैं । उन मनुष्योंको ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उनकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ १५-१६ ॥

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभ्यश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रेण तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और अतिथियोंसहित पितरोंके लिये अन्नका भाग देकर स्वयं भोजन करते हैं, वे इस जगत्में पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और मृत्युके पश्चात् उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च।

१. पोष्यवर्ग ।

दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वै को विशेषः पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! लोग ब्राह्मणोंको नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान करते हैं। दान देने और दान लेनेवाले पुरुषोंमें क्या विशेषता होती है ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात् तथैवासाधुतो द्विजः।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो ब्राह्मण साधु अर्थात् उत्तम गुण-आचरणवाले पुरुषसे तथा असाधु अर्थात् दुर्गुण और दुराचारवाले पुरुषसे दान ग्रहण करता है, उनमें सद्गुणी-सदाचारवाले पुरुषसे दान लेना अल्प दोष है। किंतु दुर्गुण और दुराचारवालेसे दान लेनेवाला पापमें डूब जाता है ॥ १९ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वृषादर्भेश्च संवादं सप्तर्षीणां च भारत ॥ २० ॥

भारत ! इस विषयमें राजा वृषादर्भि और सप्तर्षियोंके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २० ॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च भरद्वाजोऽथ गौतमः।
विश्वामित्रो जमदग्निः साध्वी चैवाप्यरुन्धती ॥ २१ ॥
सर्वेषामथ तेषां तु गण्डाभूत् कर्मकारिका।
शूद्रः पशुसखश्चैव भर्ता चास्या बभूव ह ॥ २२ ॥
ते च सर्वे तपस्यन्तः पुरा चेरुर्महीमिमाम्।
समाधिनोपरिक्षन्तो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ २३ ॥

एक समयकी बात है, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि और पतिव्रता देवी अरुन्धती—ये सब लोग समाधिके द्वारा सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी इच्छासे तपस्या करते हुए इस पृथ्वीपर विचर रहे थे। इन सबकी सेवा करनेवाली एक दासी थी, जिसका नाम था 'गण्डा'। वह पशुसख नामक एक शूद्रके साथ ब्याही गयी थी (पशुसख भी इन्हीं महर्षियोंके साथ रहकर सबकी सेवा किया करता था) ॥ २१—२३ ॥

अथाभवदनावृष्टिर्महती कुरुनन्दन।
कृच्छ्रप्राणोऽभवद् यत्र लोकोऽयं वै क्षुधान्वितः ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! एक बार पृथ्वीपर दीर्घकालतक वर्षा नहीं हुई। जिससे अकाल पड़ जानेके कारण यह सारा जगत् भूख-से पीड़ित रहने लगा। लोग बड़ी कठिनाईसे अपने प्राणों-की रक्षा करते थे ॥ २४ ॥

कस्मिंश्चिच्च पुरा यज्ञे शैब्येन शिबिसूनुना।
दक्षिणार्थेऽथ ऋत्विग्भ्यो दत्तः पुत्रः पुरा किल ॥ २५ ॥

पूर्वकालमें शिबिके पुत्र शैब्यने किसी यज्ञमें दक्षिणाके रूपमें अपना एक पुत्र ही ऋत्विजोंको दे दिया था ॥ २५ ॥

अस्मिन् कालेऽथ सोऽल्पायुर्दिष्टान्तमगमत् प्रभुः।
ते तं क्षुधाभिसंतप्ताः परिवार्योपतस्थिरे ॥ २६ ॥

उस दुर्भिक्षके समय वह अल्पायु राजकुमार मृत्युको प्राप्त हो गया। वे सप्तर्षि भूखसे पीड़ित थे, इसलिये उस मरे हुए बालकको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥

वृषादर्भिरुवाच

(प्रतिग्रहो ब्राह्मणानां सृष्टा वृत्तिरनिन्दिता।)
प्रतिग्रहस्तारयति पुष्टिर्वै प्रतिगृह्यताम्।
मयि यद् विद्यते वित्तं तद् वृणुध्वं तपोधनाः ॥ २७ ॥

तब वृषादर्भि बोले—प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके लिये उत्तम वृत्ति नियत किया गया है। तपोधन ! प्रतिग्रह दुर्भिक्ष और भूखके कष्टसे ब्राह्मणकी रक्षा करता है तथा पुष्टिका उत्तम साधन है। अतः मेरे पास जो धन है, उसे आप स्वीकार करें और ले लें ॥ २७ ॥

प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानो
दद्यामहं वोऽश्वतरीसहस्रम्।
एकैकशः सवृषाः सम्प्रसूताः
सर्वेषां वै शीघ्रगाः श्वेतरोमाः ॥ २८ ॥

क्योंकि जो ब्राह्मण मुझसे याचना करता है, वह मुझे बहुत प्रिय लगता है। मैं आपलोगोंमेंसे प्रत्येकको एक हजार खचरियाँ देता हूँ तथा सभीको सफेद रोएँवाली शीघ्रगामिनी एवं ब्यायी हुई गौएँ साँड़ोंसहित देनेको उद्यत हूँ ॥ २८ ॥

कुलंभराननडुहः शतं शतान्
धुर्याञ्छ्वेतान् सर्वशोऽहं ददामि।
प्रष्ठौहीनां पीवराणां च ताव-
दग्र्या गृष्ट्यो धेनवः सुव्रताश्च ॥ २९ ॥

साथ ही एक कुलका भार वहन करनेवाले दस हजार भारवाहक सफेद बैल भी आप सब लोगोंको दे रहा हूँ। इतना ही नहीं, मैं आप सब लोगोंको जवान, मोटी-ताजी, पहली बारकी ब्यायी हुई, अच्छे स्वभाववाली श्रेष्ठ एवं दुधारू गौएँ भी देता हूँ ॥ २९ ॥

वरान् ग्रामान् व्रीहिरसं यवांश्च
रत्नं चान्यद् दुर्लभं किं ददानि।
नास्मिन्नभक्ष्ये भावमेवं कुरुध्वं
पुष्ट्यर्थं वः किं प्रयच्छाम्यहं वै ॥ ३० ॥

इनके सिवा अच्छे-अच्छे गाँव, धान, रस, जौ, रत्न तथा और भी अनेक दुर्लभ वस्तुएँ प्रदान कर सकता हूँ। बतलाइये, मैं आपको क्या दूँ ? आप इस अभक्ष्य वस्तुके भक्षणमें मन न लगावें। कहिये, आपके शरीरकी पुष्टिके लिये मैं क्या दूँ ? ॥ ३० ॥

ऋषय ऊचुः

राजन् प्रतिग्रहो राज्ञां मध्वास्वादो विषोपमः।
तज्जानमानः कस्मात् त्वं कुरुषे नः प्रलोभनम्॥ ३१॥

ऋषि बोले—राजन्! राजाका दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, परंतु परिणाममें विषके समान भयङ्कर हो जाता है। इस बातको जानते हुए भी आप क्यों हमें प्रलोभनमें डाल रहे हैं॥ ३१॥

क्षेत्रं हि दैवतमिदं ब्राह्मणान् समुपाश्रितम्।
अमलो ह्येष तपसा प्रीतः प्रीणाति देवताः॥ ३२॥

ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है, उसमें सभी देवता विद्यमान रहते हैं। यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं संतुष्ट हो तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न करता है॥ ३२॥

अह्नापहि तपो जातु ब्राह्मणस्योपजायते।
तद् दाव इव निर्दह्यात् प्राप्तो राजप्रतिग्रहः॥ ३३॥

ब्राह्मण दिनभरमें जितना तप संग्रह करता है, उसको राजाका दिया हुआ दान वनको दग्ध करनेवाले दावानलकी भाँति नष्ट कर डालता है॥ ३३॥

कुशलं सह दानेन राजन्नस्तु सदा तव।
अर्थिभ्यो दीयतां सर्वमित्युक्त्वान्येन ते ययुः॥ ३४॥

राजन्! इस दानके साथ ही आप सदा सकुशल रहें और यह सारा दान आप उन्हींको दें, जो आपसे इन वस्तुओंको लेना चाहते हों। ऐसा कहकर वे दूसरे मार्गसे चल दिये॥ ३४॥

ततः प्रचोदिता राज्ञा वनं गत्वास्य मन्त्रिणः।
प्रचीयोदुम्बराणि स्म दातुं तेषां प्रचक्रिरे॥ ३५॥

तब राजाकी प्रेरणासे उनके मन्त्री वनमें गये और गूलरके फल तोड़कर उन्हें देनेकी चेष्टा करने लगे॥ ३५॥

उदुम्बराण्यथान्यानि हेमगर्भाण्युपाहरन्।
भृत्यास्तेषां ततस्तानि प्रग्राहितुमुपाद्रवन्॥ ३६॥

मन्त्रियोंने गूलर तथा दूसरे-दूसरे वृक्षोंके फल तोड़कर उनमें स्वर्ण-मुद्राएँ भर दीं। फिर उन फलोंको लेकर राजाके सेवक उन्हें ऋषियोंके हवाले करनेके लिये उनके पीछे दौड़े गये॥ ३६॥

गुरूणीति विदित्वाथ न ग्राह्याण्यत्रिरब्रवीत्।
न स्महे मन्दविज्ञाना न स्महे मन्दबुद्धयः॥ ३७॥
हैमानीमानि जानीमः प्रतिबुद्धाः स्म जागृम।
इह ह्येतदुपादत्तं प्रेत्य स्यात् कटुकोदयम्।
अप्रतिग्राह्यमेवैतत् प्रेत्येह च सुखेप्सुना॥ ३८॥

वे सभी फल भारी हो गये थे, इस बातको महर्षि अत्रि ताड़ गये और बोले—'ये गूलर हमारे लेने योग्य नहीं हैं। हमारी बुद्धि मन्द नहीं हुई है। हमारी ज्ञानशक्ति लुप्त नहीं हुई है। हम सो नहीं रहे हैं, जागते हैं। हमें अच्छी तरह

ज्ञात है कि इनके भीतर सुवर्ण भरा पड़ा है। यदि आज हम इन्हें स्वीकार कर लेते हैं तो परलोकमें हमें इनका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा। जो इहलोक और परलोकमें भी सुख चाहता हो, उसके लिये यह फल अग्राह्य है'॥ ३७-३८॥

वसिष्ठ उवाच

शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च सम्मितम्।
तथा बहु प्रतीच्छन् वै पापिष्ठां पतते गतिम्॥ ३९॥

वसिष्ठ बोले—एक निष्क (स्वर्णमुद्रा) का दान लेनेसे सौ हजार निष्कोंके दान लेनेका दोष लगता है। ऐसी दशामें जो बहुत-से निष्क ग्रहण करता है, उसको तो घोर पापमयी गतिमें गिरना पड़ता है॥ ३९॥

कश्यप उवाच

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं तन्नालमेकस्य तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत्॥ ४०॥

कश्यपने कहा—इस पृथ्वीपर जितने धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब किसी एक पुरुषको मिल जायँ तो भी उसे संतोष न होगा; यह सोचकर विद्वान् पुरुष अपने मनकी तृष्णाको शान्त करे॥ ४०॥

भरद्वाज उवाच

उत्पन्नस्य रुरोः शृङ्गं वर्धमानस्य वर्धते।
प्रार्थना पुरुषस्येव तस्य मात्रा न विद्यते॥ ४१॥

भरद्वाज बोले—जैसे उत्पन्न हुए मृगका सींग उसके बढ़नेके साथ-साथ बढ़ता रहता है, उसी प्रकार मनुष्यकी तृष्णा

सदा बढ़ती ही रहती है, उसकी कोई सीमा नहीं है ॥ ४१ ॥

गौतम उवाच

न तल्लोके द्रव्यमस्ति यल्लोकं प्रतिपूरयेत्।
समुद्रकल्पः पुरुषो न कदाचन पूर्यते ॥ ४२ ॥

गौतमने कहा—संसारमें ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो मनुष्यकी आशाका पेट भर सके। पुरुषकी आशा समुद्रके समान है, वह कभी भरती ही नहीं ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र उवाच

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामस्तृष्णाविध्यति बाणवत् ॥ ४३ ॥

विश्वामित्र बोले—किसी वस्तुकी कामना करनेवाले मनुष्यकी एक इच्छा जब पूरी होती है, तब दूसरी नयी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार तृष्णा तीरकी तरह मनुष्यके मनपर चोट करती ही रहती है ॥ ४३ ॥

(*अत्रिरुवाच*

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥)

अत्रि बोले—भोगोंकी कामना उनके उपभोगसे कभी नहीं शान्त होती है। अपितु घीकी आहुति पड़नेपर प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है ॥

जमदग्निरुवाच

प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम्।
तद् धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत् ॥ ४४ ॥

जमदग्निने कहा—प्रतिग्रह न लेनेसे ही ब्राह्मण अपनी तपस्याको सुरक्षित रख सकता है। तपस्या ही ब्राह्मणका धन है। जो लौकिक धनके लिये लोभ करता है, उसका तपरूपी धन नष्ट हो जाता है ॥ ४४ ॥

अरुन्धत्युवाच

धर्मार्थं संचयो यो वै द्रव्याणां पक्षसम्मतः।
तपःसंचय एवेह विशिष्टो द्रव्यसंचयात् ॥ ४५ ॥

अरुन्धती बोलीं—संसारमें एक पक्षके लोगोंकी राय है कि धर्मके लिये धनका संग्रह करना चाहिये; किंतु मेरी रायमें धन-संग्रहकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥

गण्डोवाच

उग्रादितो भयाद् यस्माद् बिभ्यतीमे ममेश्वराः।
बलीयांसो दुर्बलवद् बिभेम्यहमतः परम् ॥ ४६ ॥

गण्डाने कहा—मेरे ये मालिक लोग अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी जब इस भयंकर प्रतिग्रहके भयसे इतना डरते हैं, तब मेरी क्या सामर्थ्य है? मुझे तो दुर्बल प्राणियोंकी भाँति इससे बहुत बड़ा भय लग रहा है ॥ ४६ ॥

पशुसख उवाच

यद् वै धर्मे परं नास्ति ब्राह्मणास्तद्धनं विदुः।
विनयार्थं सुविद्वांसमुपासेयं यथातथम् ॥ ४७ ॥

पशुसखने कहा—धर्मका पालन करनेपर जिस धनकी प्राप्ति होती है, उससे बढ़कर कोई धन नहीं है। उस धनको ब्राह्मण ही जानते हैं; अतः मैं भी उसी धर्ममय धनकी प्राप्तिका उपाय सीखनेके लिये विद्वान् ब्राह्मणोंकी सेवामें लगा हूँ॥

ऋषय ऊचुः

कुशलं सह दानेन तस्मै यस्य प्रजा इमाः।
फलान्युपधियुक्तानि य एवं नः प्रयच्छति ॥ ४८ ॥

ऋषियोंने कहा—जिसकी प्रजा ये कपटयुक्त फल देनेके लिये ले आयी है तथा जो इस प्रकार फलके व्याजसे हमें सुवर्णदान कर रहा है, वह राजा अपने दानके साथ ही कुशलसे रहे ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा हेमगर्भाणि हित्वा तानि फलानि वै।
ऋषयो जग्मुरन्यत्र सर्व एव धृतव्रताः ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह कहकर उन सुवर्णयुक्त फलोंका परित्याग करके वे समस्त व्रतधारी महर्षि वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ ४९ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

उपधिं शङ्कमानास्ते हित्वा तानि फलानि वै।
ततोऽन्येनैव गच्छन्ति विदितं तेऽस्तु पार्थिव ॥ ५० ॥

तब मन्त्रियोंने शैब्यके पास जाकर कहा—महाराज! आपको विदित हो कि उन फलोंको देखते ही ऋषियोंको यह संदेह हुआ कि हमारे साथ छल किया जा रहा है। इसलिये वे फलोंका परित्याग करके दूसरे मार्गसे चले गये हैं ॥

इत्युक्तः स तु भृत्यैस्तैर्वृषादर्भिश्चुकोप ह।
तेषां वै प्रतिकर्तुं च सर्वेषामगमद् गृहम् ॥ ५१ ॥

सेवकोंके ऐसा कहनेपर राजा वृषादर्भिको बड़ा कोप हुआ और वे उन सप्तर्षियोंसे अपने अपमानका बदला लेनेका विचार करके राजधानीको लौट गये ॥ ५१ ॥

स गत्वा हवनीयेऽग्नौ तीव्रं नियममास्थितः।
जुहाव संस्कृतैर्मन्त्रैरेकैकामाहुतिं नृपः ॥ ५२ ॥

वहाँ जाकर अत्यन्त कठोर नियमोंका पालन करते हुए वे आहवनीय अग्निमें आभिचारिक मन्त्र पढ़कर एक-एक आहुति डालने लगे ॥ ५२ ॥

तस्मादग्नेः समुत्तस्थौ कृत्या लोकभयंकरी।
तस्या नाम वृषादर्भिर्यातुधानीत्यथाकरोत् ॥ ५३ ॥

आहुति समाप्त होनेपर उस अग्निसे एक लोकभयंकर कृत्या प्रकट हुई। राजा वृषादर्भिने उसका नाम यातुधानी रखा ॥ ५३ ॥

सा कृत्या कालरात्रीव कृताञ्जलिरुपस्थिता ।
वृषादर्भि नरपतिं किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ ५४ ॥

कालरात्रिके समान विकराल रूप धारण करनेवाली वह कृत्या हाथ जोड़कर राजाके पास उपस्थित हुई और बोली—'महाराज ! मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ?' ॥५४॥

वृषादर्भिरुवाच

ऋषीणां गच्छ सप्तानामरुन्धत्यास्तथैव च ।
दासीभर्तुश्च दास्याश्च मनसा नाम धारय ॥ ५५ ॥
ज्ञात्वा नामानि चैवैषां सर्वानेतान् विनाशय ।
विनष्टेषु तथा स्वैरं गच्छ यत्रेप्सितं तव ॥ ५६ ॥

वृषादर्भिने कहा—यातुधानी ! तुम यहाँसे वनमें जाओ और वहाँ अरुन्धतीसहित सातों ऋषियोंका, उनकी दासीका और उस दासीके पतिका भी नाम पूछकर उसका तात्पर्य अपने मनमें धारण करो । इस प्रकार उन सबके नामोंका अर्थ समझकर उन्हें मार डालो; उसके बाद जहाँ इच्छा हो चली जाना ॥ ५५-५६ ॥

सा तथेति प्रतिश्रुत्य यातुधानी स्वरूपिणी ।
जगाम तद् वनं यत्र विचेरुस्ते महर्षयः ॥ ५७ ॥

राजाकी यह आज्ञा पाकर यातुधानीने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार किया और जहाँ वे महर्षि विचरा करते थे, उस वनमें चली गयी ॥ ५७ ॥

भीष्म उवाच

अथात्रिप्रमुखा राजन् वने तस्मिन् महर्षयः ।
व्यचरन् भक्षयन्तो वै मूलानि च फलानि च ॥ ५८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उन दिनों वे अत्रि आदि महर्षि उस वनमें फल-मूलका आहार करते हुए घूमा करते थे॥

अथापश्यन् सुपीनांसपाणिपादमुखोदरम् ।
परिव्रजन्तं स्थूलाङ्गं परिव्राजं शुना सह ॥ ५९ ॥

एक दिन उन महर्षियोंने देखा, एक संन्यासी कुत्तेके साथ वहाँ इधर-उधर विचर रहा है । उसका शरीर बहुत मोटा था; उसके मोटे कंधे, हाथ, पैर, मुख और पेट आदि सभी अङ्ग सुन्दर और सुडौल थे ॥ ५९ ॥

अरुन्धती तु तं दृष्ट्वा सर्वाङ्गोपचितं शुभम् ।
भवितारो भवन्तो वै नैवमित्यब्रवीदृषीन् ॥ ६० ॥

अरुन्धतीने सारे अङ्गोंसे हृष्ट-पुष्ट हुए उस सुन्दर संन्यासीको देखकर ऋषियोंसे कहा—'क्या आपलोग कभी ऐसे नहीं हो सकेंगे' ? ॥ ६० ॥

वसिष्ठ उवाच

नैतस्येह यथास्माकमग्निहोत्रमनिर्हुतम् ।
सायं प्रातश्च होतव्यं तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६१ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हमलोगोंकी तरह इसको इस बातकी चिन्ता नहीं है कि आज हमारा अग्निहोत्र नहीं हुआ और सबेरे तथा शामको अग्निहोत्र करना है; इसीलिये यह कुत्तेके साथ खूब मोटा-ताजा हो गया है ॥ ६१ ॥

अत्रिरुवाच

नैतस्येह यथास्माकं क्षुधा वीर्यं समाहतम् ।
कृच्छ्राधीतं प्रणष्टं च तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६२ ॥

अत्रि बोले—हमलोगोंकी तरह भूखके मारे उसकी सारी शक्ति नष्ट नहीं हो गयी है तथा बड़े कष्टसे जो वेदोंका अध्ययन किया गया था, वह भी हमारी तरह इसका नष्ट नहीं हुआ है; इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥

विश्वामित्र उवाच

नैतस्येह यथास्माकं शश्वच्छास्त्रं जरद्गवः ।
अलसः क्षुत्परो मूर्खस्तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६३ ॥

विश्वामित्रने कहा—हमलोगोंका भूखके मारे सनातन शास्त्र विस्मृत हो गया है और शास्त्रोक्त धर्म भी क्षीण हो चला है । ऐसी दशा इसकी नहीं है तथा यह आलसी, केवल पेटकी भूख बुझानेमें ही लगा हुआ और मूर्ख है । इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६३ ॥

जमदग्निरुवाच

नैतस्येह यथास्माकं भक्तमिन्धनमेव च ।
संचिन्त्यं वार्षिकं चित्ते तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६४ ॥

जमदग्नि बोले—हमारी तरह इसके मनमें वर्ष-भरके लिये भोजन और ईंधन जुटानेकी चिन्ता नहीं है, इसीलिये कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥६४॥

कश्यप उवाच

नैतस्येह यथास्माकं चत्वारश्च सहोदराः ।
देहि देहीति भिक्षन्ति तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६५ ॥

कश्यपने कहा—हमलोगोंके चार भाई हमसे प्रतिदिन 'भोजन दो, भोजन दो' कहकर अन्न माँगते हैं, अर्थात् हमलोगोंको एक भारी कुटुम्बके भोजन-वस्त्रकी चिन्ता करनी पड़ती है । इस संन्यासीको यह सब चिन्ता नहीं है । अतः यह कुत्तेके साथ मोटा है ॥ ६५ ॥

भरद्वाज उवाच

नैतस्येह यथास्माकं ब्रह्मबन्धोरचेतसः ।
शोको भार्यापवादेन तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६६ ॥

भरद्वाज बोले—इस विवेकशून्य ब्राह्मणबन्धुको हमलोगोंकी तरह अपनी स्त्रीके कलङ्कित होनेका शोक नहीं है । इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६६ ॥

गौतम उवाच

नैतस्येह यथास्माकं त्रिकौशेयं च राङ्कवम् ।
एकैकं वै त्रिवर्षीयं तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६७ ॥

गौतम बोले—हमलोगोंकी तरह इसे तीन-तीन वर्षोंतक कुशकी रस्सीकी बनी हुई तीन लरवाली मेखला और मृगचर्म धारण करके नहीं रहना पड़ता है। इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

अथ दृष्ट्वा परिव्राट् स तान् महर्षीन् शुना सह ।
अभिगम्य यथान्यायं पाणिस्पर्शमथाचरत् ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कुत्तेसहित आये हुए संन्यासीने जब उन महर्षियोंको देखा, तब उनके पास आकर संन्यासकी मर्यादाके अनुसार उनका हाथसे स्पर्श किया ॥ ६८ ॥

परिचर्यां वने तां तु क्षुत्प्रतीघातकारिकाम् ।
अन्योन्येन निवेद्याथ प्रातिष्ठन्त सहैव ते ॥ ६९ ॥

तदनन्तर वे एक दूसरेको अपना कुशल-समाचार बताते हुए बोले—'हमलोग अपनी भूख मिटानेके लिये इस वनमें भ्रमण कर रहे हैं' ऐसा कहकर वे साथ-ही-साथ वहाँसे चल पड़े ॥ ६९ ॥

एकनिश्चयकार्याश्च व्यचरन्त वनानि ते ।
आददानाः समुद् धृत्य मूलानि च फलानि च ॥ ७० ॥

उन सबके निश्चय और कार्य एक-से थे। वे फल-मूलका संग्रह करके उन्हें साथ लिये उस वनमें विचर रहे थे ॥ ७० ॥

कदाचिद् विचरन्तस्ते वृक्षैरविरलैर्वृताम् ।
शुचिवारिप्रसन्नोदां ददृशुः पद्मिनीं शुभाम् ॥ ७१ ॥

एक दिन घूमते-फिरते हुए उन महर्षियोंको एक सुन्दर सरोवर दिखायी पड़ा; जिसका जल बड़ा ही स्वच्छ और पवित्र था। उसके चारों किनारोंपर सघन वृक्षोंकी पङ्क्ति शोभा पा रही थी ॥ ७१ ॥

बालादित्यवपुःप्रख्यैः पुष्करैरुपशोभिताम् ।
वैदूर्यवर्णसदृशैः पद्मपत्रैरथावृताम् ॥ ७२ ॥

प्रातःकालीन सूर्यके समान अरुण रङ्गके कमलपुष्प उस सरोवरकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वैदूर्यमणिकी-सी कान्तिवाले कमलिनीके पत्ते उसमें चारों ओर छा रहे थे ॥ ७२ ॥

नानाविधैश्च विहगैर्जलप्रकरसेविभिः ।
एकद्वारामनादेयां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ७३ ॥

नाना प्रकारके विहङ्गम कलरव करते हुए उसकी जलराशिका सेवन करते थे। उसमें प्रवेश करनेके लिये एक ही द्वार था। उसकी कोई वस्तु ली नहीं जा सकती थी। उसमें उतरनेके लिये बहुत सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। वहाँ काई और कीचड़का तो नाम भी नहीं था ॥ ७३ ॥

वृषादर्भिप्रयुक्ता तु कृत्या विकृतदर्शना ।
यातुधानीति विख्याता पद्मिनीं तामरक्षत ॥ ७४ ॥

राजा वृषादर्भिकी भेजी हुई भयानक आकारवाली यातुधानी कृत्या उस तालाबकी रक्षा कर रही थी ॥ ७४ ॥

पशुसखसहायास्तु बिसार्थं ते महर्षयः ।
पद्मिनीमभिजग्मुस्ते सर्वे कृत्याभिरक्षिताम् ॥ ७५ ॥

पशुसखके साथ वे सभी महर्षि मृणाल लेनेके लिये उस सरोवरके तटपर गये, जो उस कृत्याके द्वारा सुरक्षित था ॥ ७५ ॥

ततस्ते यातुधानीं तां दृष्ट्वा विकृतदर्शनाम् ।
स्थितां कमलिनीतीरे कृत्यामूचुर्महर्षयः ॥ ७६ ॥

सरोवरके तटपर खड़ी हुई उस यातुधानी कृत्याको, जो बड़ी विकराल दिखायी देती थी, देखकर वे सब महर्षि बोले— ॥ ७६ ॥

एका तिष्ठसि का च त्वं कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ।
पद्मिनीतीरमाश्रित्य ब्रूहि त्वं किं चिकीर्षसि ॥ ७७ ॥

'अरी! तू कौन है और किसलिये यहाँ अकेली खड़ी है? यहाँ तेरे आनेका क्या प्रयोजन है? इस सरोवरके तटपर रहकर तू कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहती है?' ॥ ७७ ॥

यातुधान्युवाच

यास्मि सास्म्यनुयोगो मे न कर्तव्यः कथंचन ।
आरक्षिणीं मां पद्मिन्या वित्त सर्वे तपोधनाः ॥ ७८ ॥

यातुधानी बोली—तपस्वियो! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरे विषयमें पूछ-ताछ करनेका किसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है। तुम इतना ही जान लो कि मैं इस सरोवरका संरक्षण करनेवाली हूँ ॥ ७८ ॥

ऋषय ऊचुः

सर्व एव क्षुधार्ताः स्म न चान्यत् किंचिदस्ति नः।
भवत्याः सम्मते सर्वे गृह्णीयाम बिसान्युत ॥ ७९ ॥

ऋषि बोले—भद्रे ! इस समय हमलोग भूखसे व्याकुल हैं और हमारे पास खानेके लिये दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः यदि तुम अनुमति दो तो हम सब लोग इस सरोवरसे कुछ मृणाल ले लें ॥ ७९ ॥

यातुधान्युवाच

समयेन बिसानीतो गृह्णीध्वं कामकारतः।
एकैको नाम मे प्रोक्त्वा ततो गृह्णीत माचिरम् ॥ ८० ॥

यातुधानीने कहा—ऋषियो ! एक शर्तपर तुम इस सरोवरसे इच्छानुसार मृणाल ले सकते हो। एक-एक करके आओ और मुझे अपना नाम और तात्पर्य बताकर मृणाल ले लो। इसमें विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥८०॥

भीष्म उवाच

विज्ञाय यातुधानीं तां कृत्यामृषिवधैषिणीम्।
अत्रिः क्षुधापरीतात्मा ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसकी यह बात सुनकर महर्षि अत्रि यह समझ गये कि 'यह राक्षसी कृत्या है और हम सब ऋषियोंका वध करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हुई है।' तथापि भूखसे व्याकुल होनेके कारण उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ८१ ॥

अत्रिरुवाच

अरात्रिरत्रिः सा रात्रिर्यां नाधीते त्रिरद्य वै।
अरात्रिरत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने ॥ ८२ ॥

अत्रि बोले—कल्याणी ! काम आदि शत्रुओंसे त्राण करनेवालेको अरात्रि कहते हैं और अत् (मृत्यु) से बचानेवाला अत्रि कहलाता है। इस प्रकार मैं ही अरात्रि होनेके कारण अत्रि हूँ। जबतक जीवको एकमात्र परमात्माका ज्ञान नहीं होता, तबतककी अवस्था रात्रि कहलाती है। उस अज्ञानावस्थासे रहित होनेके कारण भी मैं अरात्रि एवं अत्रि कहलाता हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अज्ञात होनेके कारण जो रात्रिके समान है, उस परमात्मतत्त्वमें मैं सदा जाग्रत् रहता हूँ; अतः वह मेरे लिये अरात्रिके समान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी मैं अरात्रि और अत्रि (ज्ञानी) नाम धारण करता हूँ। यही मेरे नामका तात्पर्य समझो ॥ ८२ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महाद्युते।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८३ ॥

यातुधानीने कहा—तेजस्वी महर्षे ! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बताया है, उसका मेरी समझमें आना कठिन है। अच्छा, अब आप जाइये और तालाबमें उतरिये ॥ ८३ ॥

वसिष्ठ उवाच

वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि।
वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम् ॥ ८४ ॥

वसिष्ठ बोले—मेरा नाम वसिष्ठ है, सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं। मैं गृहस्थ-आश्रममें वास करता हूँ; अतः वसिष्ठता (ऐश्वर्य-सम्पत्ति) और वासके कारण तुम मुझे वसिष्ठ समझो ॥ ८४ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८५ ॥

यातुधानी बोली—मुने ! आपने जो अपने नामकी व्याख्या की है उसके तो अक्षरोंका भी उच्चारण करना कठिन है। मैं इस नामको नहीं याद रख सकती। आप जाइये तालाबमें प्रवेश कीजिये ॥ ८५ ॥

कश्यप उवाच

कुलं कुलं च कुवमः कुवमः कश्यपो द्विजः।
काश्यः काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय ॥ ८६ ॥

कश्यपने कहा—यातुधानी ! कश्य नाम है शरीरका, जो उसका पालन करता है उसे कश्यप कहते हैं। मैं प्रत्येक कुल (शरीर) में अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करके उसकी रक्षा करता हूँ, इसीलिये कश्यप हूँ। कु अर्थात् पृथ्वीपर वम यानी वर्षा करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है, इसलिये मुझे 'कुवम' भी कहते हैं। मेरे देहका रंग काशके फूलकी भाँति उज्ज्वल है, अतः मैं काश्य नामसे भी प्रसिद्ध हूँ। यही मेरा नाम है। इसे तुम धारण करो ॥ ८६ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महाद्युते।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८७ ॥

यातुधानी बोली—महर्षे ! आपके नामका तात्पर्य समझना मेरे लिये बहुत कठिन है। आप भी कमलोंसे भरी हुई बावड़ीमें जाइये ॥ ८७ ॥

भरद्वाज उवाच

भरेऽसुतान् भरेऽशिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्।
भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने ॥ ८८ ॥

भरद्वाजने कहा—कल्याणी ! जो मेरे पुत्र और शिष्य नहीं हैं, उनका भी मैं पालन करता हूँ तथा देवता, ब्राह्मण, अपनी धर्मपत्नी तथा द्वाज (वर्णसंकर) मनुष्योंका भी भरण पोषण करता हूँ, इसलिये भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ८८ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८९ ॥

यातुधानी बोली—मुनिवर ! आपके नामाक्षरका उच्चारण करनेमें भी मुझे क्लेश जान पड़ता है, इसलिये मैं इसे धारण नहीं कर सकती । जाइये, आप भी इस सरोवरमें उतरिये ॥ ८९ ॥

गौतम उवाच

गोदमो दमतोऽधूमोऽदमस्ते समदर्शनात् ।
विद्धि मां गौतमं कृत्ये यातुधानि निबोध माम् ॥ ९० ॥

गौतमने कहा—कृत्ये ! मैंने गो नामक इन्द्रियोंका संयम किया है, इसलिये 'गोदम' नाम धारण करता हूँ । मैं धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी हूँ, सबमें समान दृष्टि रखनेके कारण तुम्हारे या और किसीके द्वारा मेरा दमन नहीं हो सकता । मेरे शरीरकी कान्ति (गो) अन्धकारको दूर भगानेवाली (अतम) है, अतः तुम मुझे गौतम समझो ॥ ९० ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महामुने ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९१ ॥

यातुधानी बोली—महामुने ! आपके नामकी व्याख्या भी मैं नहीं समझ सकती । जाइये, पोखरेमें प्रवेश कीजिये ॥ ९१ ॥

विश्वामित्र उवाच

विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा ।
विश्वामित्रमिति ख्यातं यातुधानि निबोध माम् ॥ ९२ ॥

विश्वामित्रने कहा—यातुधानी ! तू कान खोलकर सुन ले, विश्वेदेव मेरे मित्र हैं तथा गौओं और सम्पूर्ण विश्वका मैं मित्र हूँ । इसलिये संसारमें विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ९२ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९३ ॥

यातुधानी बोली—महर्षे ! आपके नामकी व्याख्याके एक अक्षरका भी उच्चारण करना मेरे लिये कठिन है । इसे याद रखना मेरे लिये असम्भव है । अतः जाइये, सरोवरमें प्रवेश कीजिये ॥ ९३ ॥

जमदग्निरुवाच

जाजमद्यजजानेऽहं जिजाहीह जिजायिषि ।
जमदग्निरिति ख्यातस्ततो मां विद्धि शोभने ॥ ९४ ॥

जमदग्निने कहा—कल्याणी ! मैं जगत् अर्थात् देवताओंके आहवनीय अग्निसे उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिये तुम मुझे जमदग्नि नामसे विख्यात समझो ॥ ९४ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महामुने ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९५ ॥

यातुधानी बोली—महामुने ! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बतलाया है, उसको समझना मेरे लिये बहुत कठिन है । अब आप सरोवरमें प्रवेश कीजिये ॥ ९५ ॥

अरुन्धत्युवाच

धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् ।
मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम् ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीने कहा—यातुधानी ! मैं अरु अर्थात् पर्वत, पृथ्वी और द्युलोकको अपनी शक्तिसे धारण करती हूँ । अपने स्वामीसे कभी दूर नहीं रहती और उनके मनके अनुसार चलती हूँ, इसलिये मेरा नाम अरुन्धती है ॥ ९६ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९७ ॥

यातुधानी बोली—देवि ! आपने जो अपने नामकी व्याख्या की है, उसके एक अक्षरका भी उच्चारण मेरे लिये कठिन है, अतः इसे भी मैं नहीं याद रख सकती । आप तालाबमें प्रवेश कीजिये ॥ ९७ ॥

गण्डोवाच

वक्त्रैकदेशे गण्डेति धातुमेतं प्रचक्षते ।
तेनोन्नतेन गण्डेति विद्धि मानलसम्भवे ॥ ९८ ॥

गण्डाने कहा—अग्निसे उत्पन्न होनेवाली कृत्ये ! गडि धातुसे गण्ड शब्दकी सिद्धि होती है, यह मुखके एक देश—कपोलका वाचक है । मेरा कपोल (गण्ड) ऊँचा है, इसलिये लोग मुझे गण्डा कहते हैं ॥ ९८ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९९ ॥

यातुधानी बोली—तुम्हारे नामकी व्याख्याका भी उच्चारण करना मेरे लिये कठिन है । अतः इसको याद रखना असम्भव है । जाओ, तुम भी बावड़ीमें उतरो ॥ ९९ ॥

पशुसख उवाच

पशून् रञ्जामि दृष्ट्वाहं पशूनां च सदा सखा ।
गौणं पशुसखेत्येवं विद्धि मामग्निसम्भवे ॥ १०० ॥

पशुसखने कहा—आगसे पैदा हुई कृत्ये ! मैं पशुओंको प्रसन्न रखता हूँ और उनका प्रिय सखा हूँ; इस गुणके अनुसार मेरा नाम पशुसख है ॥ १०० ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥१०१॥

यातुधानी बोली—तुमने जो अपने नामकी व्याख्या की है, उसके अक्षरोंका उच्चारण करना भी मेरे लिये कष्टप्रद है। अतः इसको याद नहीं रख सकती; अब तुम भी पोखरेमें जाओ ॥ १०१ ॥

शुनःसख उवाच

यथोक्तं यथा नाम नाहं वक्तुमिहोत्सहे।
शुनःसखसखायं मां यातुधान्युपधारय ॥१०२॥

शुनःसख (संन्यासी) ने कहा—यातुधानी ! इन ऋषियोंने जिस प्रकार अपना नाम बताया है; उस तरह मैं नहीं बता सकता। तू मेरा नाम शुनःसख समझ ॥ १०२ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते वाक्यं संदिग्धया गिरा।
तस्मात् पुनरिदानीं त्वं ब्रूहि यन्नाम ते द्विज ॥१०३॥

यातुधानी बोली—विप्रवर ! आपने संदिग्धवाणीमें अपना नाम बताया है। अतः अब फिर स्पष्टरूपसे अपने नामकी व्याख्या कीजिये ॥ १०३ ॥

शुनःसख उवाच

सकृदुक्तं मया नाम न गृहीतं त्वया यदि।
तस्मात् त्रिदण्डाभिहता गच्छ भस्मेति मा चिरम्॥१०४॥

शुनःसखने कहा—मैंने एक बार अपना नाम बता दिया फिर भी यदि तूने उसे ग्रहण नहीं किया तो इस प्रमादके कारण मेरे इस त्रिदण्डकी मार खाकर अभी भस्म हो जा–इसमें विलम्ब न हो ॥ १०४ ॥

सा ब्रह्मदण्डकल्पेन तेन मूर्ध्नि हता तदा।
कृत्या पपात मेदिन्यां भस्म सा च जगाम ह ॥१०५॥

यह कहकर उस संन्यासीने ब्रह्मदण्डके समान अपने त्रिदण्डसे उसके मस्तकपर ऐसा हाथ जमाया कि वह यातुधानी पृथ्वीपर गिर पड़ी और तुरंत भस्म हो गयी ॥ १०५ ॥

शुनःसखा च हत्वा तां यातुधानीं महाबलाम्।
भुवि त्रिदण्डं विष्टभ्य शाद्वले समुपाविशत् ॥१०६॥

इस प्रकार शुनःसखने उस महाबलवती राक्षसीका वध करके त्रिदण्डको पृथ्वीपर रख दिया और स्वयं भी वे वहीं घाससे ढँकी हुई भूमिपर बैठ गये ॥ १०६ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे पुष्कराणि बिसानि च।
यथाकाममुपादाय समुत्तस्थुर्मुदान्विताः ॥१०७॥

तदनन्तर वे सभी महर्षि इच्छानुसार कमलके फूल और मृणाल लेकर प्रसन्नतापूर्वक सरोवरसे बाहर निकले ॥१०७॥

श्रमेण महता कृत्वा ते बिसानि कलापशः।
तीरे निक्षिप्य पद्मिन्यास्तर्पणं चक्रुरम्भसा ॥१०८॥

फिर बहुत परिश्रम करके उन्होंने अलग-अलग बोझे बाँधे। इसके बाद उन्हें किनारेपर ही रखकर वे सरोवरके जलसे तर्पण करने लगे ॥ १०८ ॥

अथोत्थाय जलात् तस्मात् सर्वे ते समुपागमन्।
नापश्यंश्चापि ते तानि बिसानि पुरुषर्षभाः ॥१०९॥

थोड़ी देर बाद जब वे पुरुषप्रवर पानीसे बाहर निकले तो उन्हें रखे हुए अपने वे मृणाल नहीं दिखायी पड़े ॥ १०९॥

ऋषय ऊचुः

केन क्षुधापरीतानामस्माकं पापकर्मणाम्।
नृशंसेनापनीतानि बिसान्याहारकाङ्क्षिणाम् ॥११०॥

तब वे ऋषि एक दूसरेसे कहने लगे—अरे ! हम सब लोग भूखसे व्याकुल थे और अब भोजन करना चाहते थे। ऐसे समयमें किस निर्दयीने हम पापियोंके मृणाल चुरा लिये ॥ ११० ॥

ते शङ्कमानास्त्वन्योन्यं पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः।
त ऊचुः समयं सर्वे कुर्म इत्यरिकर्शन ॥१११॥

शत्रुसूदन ! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण आपसमें ही एक दूसरेपर संदेह करते हुए पूछ-ताछ करने लगे और अन्तमें बोले—'हम सब लोग मिलकर शपथ करें' ॥ १११ ॥

त उक्त्वा बाढमित्येवं सर्व एव तदा समम्।
क्षुधार्ताः सुपरिश्रान्ताः शपथायोपचक्रमुः ॥११२॥

शपथकी बात सुनकर सब-के-सब बोल उठे—'बहुत अच्छा'। फिर वे भूखसे पीड़ित और परिश्रमसे थके-मादे ब्राह्मण एक साथ ही शपथ खानेको तैयार हो गये ॥ ११२ ॥

अत्रिरुवाच

स गां स्पृशतु पादेन सूर्यं च प्रतिमेहतु।
अनध्यायेष्वधीयीत बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११३॥

अत्रि बोले—जो मृणालकी चोरी करता हो उसे गायको लात मारने, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करने और अनध्यायके समय अध्ययन करनेका पाप लगे ॥ ११३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनध्याये पठेल्लोके शुनः स परिकर्षतु।
परिव्राट् कामवृत्तस्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११४॥
शरणागतं हन्तु स वै स्वसुतां चोपजीवतु।
अर्थान् काङ्क्षतु कीनाशाद् बिसस्तैन्यं करोति यः॥११५॥

वसिष्ठ बोले—जिसने मृणाल चुराये हों उसे निषिद्ध समयमें वेद पढ़ने, कुत्ते लेकर शिकार खेलने, संन्यासी होकर

मनमाना बर्ताव करने, शरणागतको मारने, अपनी कन्या बेचकर जीविका चलाने तथा किसानके धन छीन लेनेका पाप लगे ॥ ११४-११५ ॥

कश्यप उवाच

सर्वत्र सर्वं लपतु न्यासलोपं करोतु च।
कूटसाक्षित्वमभ्येतु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११६॥

कश्यपने कहा—जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसको सब जगह सब तरहकी बातें कहने, दूसरोंकी धरोहर हड़प लेने और झूठी गवाही देनेका पाप लगे ॥ ११६ ॥

वृथामांसाशनश्चास्तु वृथादानं करोतु च।
यातु स्त्रियं दिवा चैव बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११७॥

जो मृणालोंकी चोरी करता हो उसे मांसाहारका पाप लगे। उसका दान व्यर्थ चला जाय तथा उसे दिनमें स्त्रीके साथ समागम करनेका पाप लगे ॥ ११७ ॥

भरद्वाज उवाच

नृशंसस्त्यक्तधर्मास्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
ब्राह्मणं चापि जयतां बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११८॥

भरद्वाज बोले—जिसने मृणाल चुराया हो उस निर्दयीको धर्मके परित्यागका दोष लगे। वह स्त्रियों, कुटुम्बीजनों तथा गौओंके साथ पापपूर्ण बर्ताव करनेका दोषी हो और ब्राह्मणको वाद-विवादमें पराजित करनेका पाप लगे ॥११८॥

उपाध्यायमधः कृत्वा ऋचोऽध्येतु यजूंषि च।
जुहोतु च स कक्षाग्नौ बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११९॥

जो मृणालकी चोरी करता हो, उसे उपाध्याय (अध्यापक या गुरु) को नीचे बैठाकर उनसे ऋग्वेद और यजुर्वेदका अध्ययन करने और घास-फूसकी आगमें आहुति डालनेका पाप लगे ॥ ११९ ॥

जमदग्निरुवाच

पुरीषमुत्सृजत्वप्सु हन्तु गां चैव द्रुह्यतु।
अनृतौ मैथुनं यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२०॥

जमदग्नि बोले—जिसने मृणालोंका अपहरण किया हो, उसे पानीमें मलत्याग करनेका पाप लगे, गाय मारनेका अथवा उसके साथ द्रोह करनेका तथा ऋतुकाल आये बिना ही स्त्रीके साथ समागम करनेका पाप लगे ॥ १२० ॥

द्वेष्यो भार्योपजीवी स्याद् दूरबन्धुश्च वैरवान्।
अन्योन्यस्यातिथिश्चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः॥१२१॥

जिसने मृणाल चुराये हों उसे सबके साथ द्वेष करनेका, स्त्रीकी कमाईपर जीविका चलानेका, भाई-बन्धुओंसे दूर रहनेका, सबसे वैर करनेका और एक दूसरेके घर अतिथि होनेका पाप लगे ॥ १२१ ॥

गौतम उवाच

अधीत्य वेदांस्त्यजतु त्रीनग्नीनपविध्यतु।
विक्रीणातु तथा सोमं बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२२॥

गौतम बोले—जिसने मृणाल चुराये हों उसे वेदोंको पढ़कर त्यागनेका, तीनों अग्नियोंका परित्याग करनेका और सोमरसका विक्रय करनेका पाप लगे ॥ १२२ ॥

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः।
तस्य सालोक्यतां यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२३॥

जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसे वही लोक मिले, जो एक ही कूपमें पानी भरनेवाले, गाँवमें निवास करनेवाले और शूद्रकी पत्नीसे संसर्ग रखनेवाले ब्राह्मणको मिलता है॥

विश्वामित्र उवाच

जीवतो वै गुरून् भृत्यान् भरन्त्वस्य परे जनाः।
अगतिर्बहुपुत्रः स्याद् बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२४॥

विश्वामित्र बोले—जो इन मृणालोंको चुरा ले गया हो, जिस पुरुषके जीवित रहनेपर उसके गुरु और माता तथा पिताका दूसरे पुरुष पोषण करें उसको और जिसकी कुगति हुई हो तथा जिसके बहुत-से पुत्र हों उसको जो पाप लगता है वह पाप उसे लगे ॥ १२४ ॥

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु ऋद्ध्या चैवाप्यहंकृतः।
कर्षको मत्सरी चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२५॥

जिसने मृणालोंका अपहरण किया हो, उसे अपवित्र रहनेका, वेदको मिथ्या माननेका, धनका घमंड करनेका, ब्राह्मण होकर खेत जोतनेका और दूसरोंसे डाह रखनेका पाप लगे ॥ १२५ ॥

वर्षाचरोऽस्तु भृतको राज्ञश्चास्तु पुरोहितः।
अयाज्यस्य भवेदृत्विग् बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२६॥

जिसने मृणाल चुराये हों, उसे वर्षाकालमें परदेशकी यात्रा करनेका, ब्राह्मण होकर वेतन लेकर काम करनेका, राजाके पुरोहित तथा यज्ञके अनधिकारीसे भी यज्ञ करानेका पाप लगे ॥ १२६ ॥

अरुन्धत्युवाच

नित्यं परिभवेच्छ्वश्रूं भर्तुर्भवतु दुर्मनाः।
एका स्वादु समाश्नातु बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२७॥

अरुन्धती बोलीं—जो स्त्री मृणालोंकी चोरी करती हो उसे प्रतिदिन सासका तिरस्कार करनेका, अपने पतिका दिल दुखानेका और अकेली ही स्वादिष्ट वस्तुएँ खानेका पाप लगे ॥ १२७ ॥

ज्ञातीनां गृहमध्यस्था सक्तूनत्तु दिनक्षये।
अभोग्या वीरसूरस्तु बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२८॥

जिसने मृणालोंकी चोरी की हो, उस स्त्रीको कुटुम्बीजनोंका अपमान करके घरमें रहनेका, दिन बीत जानेपर सत्तू खानेका, कलङ्किनी होनेके कारण पतिके उपभोगमें न आनेका और ब्राह्मणी होकर भी क्षत्राणियोंके समान उग्र स्वभाववाले वीर पुत्रकी जननी होनेका पाप लगे ॥ १२८ ॥

गण्डोवाच

अनृतं भाषतु सदा बन्धुभिश्च विरुध्यतु।
ददातु कन्यां शुल्केन बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२९॥

गण्डा बोली—जिस स्त्रीने मृणालकी चोरी की हो उसे सदा झूठ बोलनेका, भाई-बन्धुओंसे लड़ने और विरोध करने और शुल्क लेकर कन्यादान करनेका पाप लगे ॥ १२९ ॥

साधयित्वा स्वयं प्राशेद् दास्ये जीर्यतु चैव ह।
विकर्मणा प्रमीयेत बिसस्तैन्यं करोति या ॥१३०॥

जिस स्त्रीने मृणाल चुराया हो उसे रसोई बनाकर अकेली भोजन करनेका, दूसरोंकी गुलामी करती-करती ही बूढ़ी होनेका और पापकर्म करके मौतके मुखमें पड़नेका पाप लगे ॥

पशुसख उवाच

दास एव प्रजायेतामप्रसूतिरकिंचनः।
दैवतेष्वनमस्कारो बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१३१॥

पशुसख बोला—जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसे दूसरे जन्ममें भी दासके ही घरमें पैदा होने, संतानहीन और निर्धन होने तथा देवताओंको नमस्कार न करनेका पाप लगे ॥ १३१ ॥

शुनःसख उवाच

अध्वर्यवे दुहितरं वा ददातु
च्छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये।
आथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः
स्नायीत वा यो हरते बिसानि ॥१३२॥

शुनःसखने कहा—जिसने मृणालोंको चुराया हो वह ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण करके आये हुए यजुर्वेदी अथवा सामवेदी विद्वान्‌को कन्यादान दे अथवा वह ब्राह्मण अथर्ववेदका अध्ययन पूरा करके शीघ्र ही स्नातक बन जाय ॥ १३२ ॥

ऋषय ऊचुः

इष्टमेतद् द्विजातीनां योऽयं ते शपथः कृतः।
त्वया कृतं बिसस्तैन्यं सर्वेषां नः शुनःसख ॥१३३॥

ऋषियोंने कहा—शुनःसख! तुमने जो शपथ की है, वह तो ब्राह्मणोंको अभीष्ट ही है। अतः जान पड़ता है, हमारे मृणालोंकी चोरी तुमने ही की है ॥ १३३ ॥

शुनःसख उवाच

न्यस्तमद्यं न पश्यद्भिर्यदुक्तं कृतकर्मभिः।
सत्यमेतन्न मिथ्यैतद् बिसस्तैन्यं कृतं मया ॥१३४॥

शुनःसखने कहा—मुनिवरो! आपका कहना ठीक है। वास्तवमें आपका भोजन मैंने ही रख लिया है। आपलोग जब तर्पण कर रहे थे, उस समय आपकी दृष्टि इधर नहीं थी; तभी मैंने वह सब लेकर रख लिया था। अतः आपका यह कथन कि तुमने ही मृणाल चुराये हैं, ठीक है। मिथ्या नहीं है। वास्तवमें मैंने ही उन मृणालोंकी चोरी की है ॥ १३४ ॥

मया ह्यन्तर्हितानीह बिसानीमानि पश्यत।
परीक्षार्थं भगवतां कृतमेवं मयानघाः ॥१३५॥

मैंने उन मृणालोंको यहाँ छिपा दिया था। देखिये, ये रहे आपके मृणाल। निष्पाप मुनियो! मैंने आपलोगोंकी परीक्षाके लिये ही ऐसा किया था ॥ १३५ ॥

रक्षणार्थं च सर्वेषां भवतामहमागतः।
यातुधानी ह्यतिक्रूरा कृत्यैषा वो वधैषिणी ॥१३६॥

मैं आप सब लोगोंकी रक्षाके लिये यहाँ आया था यह यातुधानी अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली कृत्या थी और आपलोगोंका वध करना चाहती थी ॥ १३६ ॥

वृषादर्भिप्रयुक्तैषा निहता मे तपोधनाः।
दुष्टा हिंस्यादियं पापा युष्मान् प्रत्यग्निसम्भवा ॥१३७॥
तस्मादस्म्यागतो विप्रा वासवं मां निबोधत।
अलोभादक्षया लोकाः प्राप्ता वै सार्वकामिकाः ॥१३८॥
उत्तिष्ठध्वमितः क्षिप्रं तानवाप्नुत वै द्विजाः ॥१३९॥

तपोधनो! राजा वृषादर्भिने इसे भेजा था, किंतु यह मेरे द्वारा मारी गयी। ब्राह्मणो! मैंने सोचा कि अग्निसे उत्पन्न यह दुष्ट पापिनी कृत्या कहीं आपलोगोंकी हिंसा न कर डाले; इसलिये मैं यहाँ आ गया। आपलोग मुझे इन्द्र समझें। आपलोगोंने जो लोभका परित्याग किया है, इससे आपको वे अक्षयलोक प्राप्त हुए हैं, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले हैं। अतः ब्राह्मणो! अब आपलोग यहाँसे उठें और शीघ्र उन लोकोंमें पदार्पण करें ॥ १३७—१३९ ॥

भीष्म उवाच

ततो महर्षयः प्रीतास्तथेत्युक्त्वा पुरंदरम्।
सहैव त्रिदशेन्द्रेण सर्वे जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥१४०॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इन्द्रकी बात सुनकर महर्षियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने देवराजसे 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर वे सब-के-सब देवेन्द्रके साथ ही स्वर्गलोक चले गये ॥ १४० ॥

एवमेते महात्मानो भोगैर्बहुविधैरपि।
क्षुधा परमया युक्ताश्छन्द्यमाना महात्मभिः ॥१४१॥
नैव लोभं तदा चक्रुस्ततः स्वर्गमवाप्नुवन् ॥१४२॥

इस प्रकार उन महात्माओंने अत्यन्त भूखे होनेपर और बड़े-बड़े लोगोंके अनेक प्रकारके भोगोंद्वारा लालच देनेपर भी उस समय लोभ नहीं किया। इसीसे उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई ॥ १४१-१४२ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु नरो लोभं विवर्जयेत्।
एष धर्मः परो राजंस्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥१४३॥

राजन्! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सभी दशाओंमें लोभका त्याग करे, क्योंकि यही सबसे बड़ा धर्म है। अतः लोभको अवश्य त्याग देना चाहिये ॥ १४३ ॥

इदं नरः सुचरितं समवायेषु कीर्तयन्।
अर्थभागी च भवति न च दुर्गाण्यवाप्नुते ॥१४४॥

जो मनुष्य जनसमुदायमें इस पवित्र चरित्रका कीर्तन करता है, वह धन एवं मनोवाञ्छित वस्तुका भागी होता है और कभी संकटमें नहीं पड़ता है ॥ १४४ ॥

प्रीयन्ते पितरश्चास्य ऋषयो देवतास्तथा।
यशोधर्मार्थभागी च भवति प्रेत्य मानवः ॥१४५॥

उसके ऊपर देवता, ऋषि और पितर सभी प्रसन्न होते हैं। वह मनुष्य इहलोकमें यश, धर्म एवं धनका भागी होता है। और मृत्युके पश्चात् उसे स्वर्गलोक सुलभ होता है ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बिसस्तैन्योपाख्याने त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मृणालकी चोरीका उपाख्यानविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४६½ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

ब्रह्मसरतीर्थमें अगस्त्यजीके कमलोंकी चोरी होनेपर ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंकी धर्मोपदेशपूर्ण शपथ तथा धर्मज्ञानके उद्देश्यसे चुराये हुए कमलोंका वापस देना

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यद् वृत्तं तीर्थयात्रायां शपथं प्रति तच्छृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इसी विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें इसी तरहकी शपथको लेकर जो एक घटना घटित हुई थी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

पुष्करार्थे कृतं स्तैन्यं पुरा भरतसत्तम।
राजर्षिभिर्महाराज तथैव च द्विजर्षिभिः ॥ २ ॥

भरतवंशशिरोमणे! महाराज! पूर्वकालमें कुछ राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंने भी इसी प्रकार कमलोंके लिये चोरी की थी ॥ २ ॥

ऋषयः समेताः पश्चिमे वै प्रभासे
समागता मन्त्रममन्त्रयन्त।
चराम सर्वां पृथिवीं पुण्यतीर्थां
तन्नः कामं हन्त गच्छाम सर्वे ॥ ३ ॥

पश्चिम समुद्रके तटपर प्रभास तीर्थमें बहुत-से ऋषि एकत्र हुए थे। उन समागत महर्षियोंने आपसमें यह सलाह की कि हमलोग अनेक पुण्यतीर्थोंसे भरी हुई समूची पृथ्वीकी यात्रा करें। यह हम सभी लोगोंकी अभिलाषा है। अतः सब लोग साथ-ही-साथ यात्रा प्रारम्भ कर दें ॥ ३ ॥

शुक्रोऽङ्गिराश्चैव कविश्च विद्वां-
स्तथा ह्यगस्त्यो नारदपर्वतौ च।
भृगुर्वसिष्ठः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निश्च राजन् ॥ ४ ॥
ऋषिस्तथा गालवोऽथाष्टकश्च
भरद्वाजोऽरुन्धती वालखिल्याः।
शिबिर्दिलीपो नहुषोऽम्बरीषो
राजा ययातिर्धुन्धुमारोऽथ पूरुः ॥ ५ ॥
जग्मुः पुरस्कृत्य महानुभावं
शतक्रतुं वृत्रहणं नरेन्द्राः।
तीर्थानि सर्वाणि परिभ्रमन्तो
माघ्यां ययुः कौशिकीं पुण्यतीर्थाम् ॥ ६ ॥

राजन्! ऐसा निश्चय करके शुक्र, अङ्गिरा, विद्वान् कवि, अगस्त्य, नारद, पर्वत, भृगु, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, गालव मुनि, अष्टक, भरद्वाज, अरुन्धती, वालखिल्यगण, शिबि, दिलीप, नहुष, अम्बरीष, राजा ययाति, धुन्धुमार और पूरु—ये सभी राजर्षि तथा ब्रह्मर्षि वज्रधारी महानुभाव वृत्रहन्ता शतक्रतु इन्द्रको आगे करके यात्राके लिये निकले और सभी तीर्थोंमें घूमते हुए माघ मासकी पूर्णिमा तिथिको पुण्यसलिला कौशिकी नदीके तटपर जा पहुँचे ॥ ४-६ ॥

सर्वेषु तीर्थेष्ववधूतपापा
जग्मुस्ततो ब्रह्मसरः सुपुण्यम्।
देवस्य तीर्थे जलमग्निकल्पा
विगाह्य ते भुक्तबिसप्रसूनाः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वहाँके तीर्थोंमें स्नानके द्वारा अपने पाप

धो करके ऋषिगण उस स्थानसे परम पवित्र ब्रह्मसर तीर्थमें गये। उन अग्निके समान तेजस्वी ऋषियोंने वहाँके जलमें स्नान करके कमलके फूलोंका आहार किया ॥ ७ ॥

केचिद् बिसान्यखनंस्तत्र राज-
न्नन्ये मृणालान्यखनंस्तत्र विप्राः।
अथापश्यन् पुष्करं ते ह्रियन्तं
ह्रदादगस्त्येन समुद्धृतं तत् ॥ ८ ॥

राजन्! कुछ ऋषि वहाँ कमल खोदने लगे। कुछ ब्राह्मण मृणाल उखाड़ने लगे। इसी बीचमें अगस्त्यजीके उस पोखरेसे जितना कमल उखाड़कर रक्खा था, वह सब सहसा गायब हो गया। इस बातको सबने देखा ॥ ८ ॥

तानाह सर्वानृषिमुख्यानगस्त्यः
केनादत्तं पुष्करं मे सुजातम्।
युष्मान्शङ्के पुष्करं दीयतां मे
न वै भवन्तो हर्तुमर्हन्ति पद्मम् ॥ ९ ॥

तब अगस्त्यजीने उन समस्त ऋषियोंसे पूछा—'किसने मेरे सुन्दर कमल ले लिये। मैं आप सब लोगोंपर संदेह करता हूँ। मेरे कमल लौटा दीजिये। आप-जैसे साधु पुरुषोंको कमलोंकी चोरी करना कदापि उचित नहीं है ॥ ९ ॥

शृणोमि कालो हिंसते धर्मवीर्यं
सोऽयं प्राप्तो वर्तते धर्मपीडा।
पुराधर्मो वर्तते नेह यावत्
तावद् गच्छामः सुरलोकं चिराय ॥ १० ॥

'सुनता हूँ कि कालधर्मकी शक्तिको नष्ट कर देता है। वही काल इस समय प्राप्त हुआ है। तभी तो धर्मको हानि पहुँचायी जा रही है—अस्तेय-धर्मका हनन हो रहा है। अतः इस जगत्में अधर्मका विस्तार न हो इसके पहले ही हम चिरकालके लिये स्वर्गलोकमें चले जायँ ॥ १० ॥

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये
घुष्टस्वरा वृषलाञ्श्रावयन्ति।
पुरा राजा व्यवहारेण धर्मान्
पश्यत्यहं परलोकं व्रजामि ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणलोग गाँवके बीचमें उच्चस्वरसे वेदपाठ करके शूद्रोंको सुनाने लगें तथा राजा व्यावसायिक दृष्टिसे धर्मको देखने लगें, इसके पहले ही मैं परलोकमें चला जाऊँ ॥ ११ ॥

पुरा वरान् प्रत्यवरान् गरीयसो
यावन्नरा नावमंस्यन्ति सर्वे।
तमोत्तरं यावदिदं न वर्तते
तावद् व्रजामि परलोकं चिराय ॥ १२ ॥

'जबतक सभी श्रेष्ठ मनुष्य महान् पुरुषोंकी नीचोंके समान अवहेलना नहीं करते हैं तथा जबतक इस संसारमें अज्ञान-जनित तमोगुणका बाहुल्य नहीं हो जाता है, इसके पहले ही मैं चिरकालके लिये परलोक चला जाऊँ ॥ १२ ॥

पुरा प्रपश्यामि परेण मर्त्यान्
बलीयसा दुर्बलान् भुज्यमानान्।
तस्माद् यास्यामि परलोकं चिराय
न ह्युत्सहे द्रष्टुमिह जीवलोकम् ॥ १३ ॥

'भविष्यकालमें बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको अपने उपभोग-में लायेंगे, इस बातको मैं अभीसे देख रहा हूँ। इसलिये मैं दीर्घकालके लिये परलोकमें चला जाऊँ। यहाँ रहकर इस जीव-जगत्की ऐसी दुरवस्था मैं नहीं देख सकता' ॥ १३ ॥

तमाहुरार्ता ऋषयो महर्षिं
न ते वयं पुष्करं चोरयामः।
मिथ्याभिषङ्गो भवता न कार्यः
शपाम तीक्ष्णैः शपथैर्महर्षे ॥ १४ ॥

यह सुनकर सभी महर्षि घबरा उठे और अगस्त्यजीसे बोले—'महर्षे! हमने आपके कमल नहीं चुराये हैं। आपको झूठा कलङ्क नहीं लगाना चाहिये। हम अपनी सफाई देनेके लिये कठोर-से-कठोर शपथ खा सकते हैं' ॥ १४ ॥

ते निश्चितास्तत्र महर्षयस्तु
सम्पश्यन्तो धर्ममेतं नरेन्द्राः।
ततोऽशपन्त शपथान् पर्ययेण
सहैव ते पार्थिव पुत्रपौत्रैः ॥ १५ ॥

पृथ्वीनाथ! तदनन्तर वे महर्षि तथा नरेशगण वहाँ कुछ निश्चय करके इस धर्मपर दृष्टि रखते हुए पुत्रों और पौत्रों-सहित बारी-बारीसे शपथ खाने लगे ॥ १५ ॥

भृगुरुवाच

प्रत्याक्रोशेदिहाक्रुष्टस्ताडितः प्रतिताडयेत्।
खादेच्च पृष्ठमांसानि यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १६ ॥

भृगु बोले—मुने! जिसने आपके कमलकी चोरी की है, वह गाली सुनकर बदलेमें गाली दे और मार खाकर बदले-में स्वयं भी मारे तथा दूसरेकी पीठके मांस खाय अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्वाध्यायपरो लोके श्वानं च परिकर्षतु।
पुरे च भिक्षुर्भवतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठने कहा—जिसने आपके कमल चुराये हो, वह स्वाध्यायसे विमुख हो जाय। कुत्ता साथ लेकर शिकार खेले और गाँव-गाँव भीख माँगता फिरे ॥ १७ ॥

कश्यप उवाच

सर्वत्र सर्वं पणतु न्यासे लोभं करोतु च।

कूटसाक्षित्वमभ्येतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १८ ॥

कश्यपने कहा—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह सब जगह सब तरहकी वस्तुओंकी खरीद-बिक्री करे। किसीकी धरोहरको हड़प लेनेका लोभ करे और झूठी गवाही दे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो ॥ १८ ॥

गौतम उवाच

जीवत्वहंकृतो बुद्ध्या विषमेणासमेन सः ।
कर्षको मत्सरी चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १९ ॥

गौतम बोले—जिसने आपके कमलकी चोरी की हो, वह अहंकारी, बेईमान और अयोग्यका साथ करनेवाला, खेती करनेवाला और ईर्ष्यायुक्त होकर जीवन व्यतीत करे ॥ १९ ॥

अङ्गिरा उवाच

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु श्वानं च परिकर्षतु ।
ब्रह्महानिकृतिश्चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २० ॥

अङ्गिराने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह अपवित्र, वेदको मिथ्या बतानेवाला, ब्रह्महत्यारा और अपने पापोंका प्रायश्चित्त न करनेवाला हो। इतना ही नहीं, वह कुत्तोंको साथ लेकर शिकार खेलता फिरे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो॥

धुन्धुमार उवाच

अकृतज्ञस्तु मित्राणां शूद्रायां च प्रजायतु ।
एकः सम्पन्नमश्नातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २१ ॥

धुन्धुमारने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, वह अपने मित्रोंका उपकार न माने। शूद्र-जातिकी स्त्रीसे संतान उत्पन्न करे और अकेला ही स्वादिष्ट अन्न भोजन करे। अर्थात् इन पापोंके फलका भागी बने ॥२१॥

पूरुरुवाच

चिकित्सायां प्रचरतु भार्यया चैव पुष्यतु ।
श्वशुरात्तस्य वृत्तिः स्याद् यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २२ ॥

पूरु बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह चिकित्साका व्यवसाय (वैद्य या डाक्टरका पेशा) करे। स्त्रीकी कमाई खाय और ससुरालके धनपर गुजारा करे ॥२२॥

दिलीप उवाच

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
तस्य लोकान् स व्रजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २३ ॥

दिलीप बोले—जो आपका कमल चुराकर ले गया हो, वह एक कूएँपर सबके साथ पानी भरनेवाले गाँवमें रहकर शूद्र-जातिकी स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मणको मृत्युके पश्चात् जिन दुःखदायी लोकोंमें जाना पड़ता है, उन्हींमें जाय ॥ २३ ॥

शुक्र उवाच

वृथामांसं समश्नातु दिवा गच्छतु मैथुनम् ।
प्रेष्यो भवतु राज्ञश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २४ ॥

शुक्रने कहा—जो आपका कमल चुराकर ले गया हो, उसे मांस खानेका, दिनमें मैथुन करनेका और राजाकी नौकरी करनेका पाप लगे ॥ २४ ॥

जमदग्निरुवाच

अनध्यायेष्वधीयीत मित्रं श्राद्धे च भोजयेत् ।
श्राद्धे शूद्रस्य चाश्नीयाद् यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २५ ॥

जमदग्नि बोले—जिसने आपके कमल लिये हों, वह निषिद्ध कालमें अध्ययन करे। मित्रको ही श्राद्धमें जिमावे तथा स्वयं भी शूद्रके श्राद्धमें भोजन करे ॥ २५ ॥

शिबिरुवाच

अनाहिताग्निर्म्रियतां यज्ञे विघ्नं करोतु च ।
तपस्विभिर्विरुध्येच्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २६ ॥

शिबिने कहा—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह अग्निहोत्र किये बिना ही मर जाय, यज्ञमें विघ्न डाले और तपस्वी जनोंके साथ विरोध करे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २६ ॥

ययातिरुवाच

अनृतौ च व्रती चैव भार्यायां स प्रजायतु ।
निराकरोतु वेदांश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २७ ॥

ययातिने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, वह व्रतधारी होकर भी ऋतुकालसे अतिरिक्त समयमें स्त्री-समागम करे और वेदोंका खण्डन करे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २७ ॥

नहुष उवाच

अतिथिर्गृहसंस्थोऽस्तु कामवृत्तस्तु दीक्षितः ।
विद्यां प्रयच्छतु भृतो यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २८ ॥

नहुष बोले—जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह संन्यासी होकर भी घरमें रहे। यज्ञकी दीक्षा लेकर भी इच्छाचारी हो और वेतन लेकर विद्या पढ़ावे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २८ ॥

अम्बरीष उवाच

नृशंसस्त्यक्तधर्मोऽस्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
निहन्तु ब्राह्मणं चापि यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २९ ॥

अम्बरीषने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह क्रूरस्वभावका हो जाय। स्त्रियों, बन्धु-बान्धवों और गौओंके प्रति अपने धर्मका पालन न करे तथा ब्रह्महत्याके पापका भागी हो ॥ २९ ॥

नारद उवाच

गृहज्ञानी बहिःशास्त्रं पठतां विस्वरं पदम् ।
गरीयसोऽवजानातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३० ॥

नारदजीने कहा—जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह देहरूपी घरको ही आत्मा समझे। मर्यादाका उल्लङ्घन करके शास्त्र पढ़े। स्वरहीन पदका उच्चारण करे और गुरुजनोंका अपमान करता रहे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी बने ॥ ३० ॥

नाभाग उवाच

अनृतं भाषतु सदा सद्भिश्चैव विरुध्यतु।
शुल्केन तु ददत्कन्यां यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३१ ॥

नाभाग बोले—जिसने आपके कमल चुराये हों, उसे सदा झूठ बोलनेका, संतोंके साथ विरोध करनेका और कीमत लेकर कन्या बेचनेका पाप लगे ॥ ३१ ॥

कविरुवाच

पद्भ्यां स गां ताडयतु सूर्यं च प्रतिमेहतु।
शरणागतं संत्यजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३२ ॥

कविने कहा—जिसने आपका कमल लिया हो, उसे गौको लात मारनेका, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करनेका और शरणागतको त्याग देनेका पाप लगे ॥ ३२ ॥

विश्वामित्र उवाच

करोतु भृतकोऽवर्षां राज्ञश्चास्तु पुरोहितः।
ऋत्विगस्तु ह्ययाज्यस्य यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह वैश्यका भृत्य होकर उसीके खेतमें वर्षा होनेमें बाधा उपस्थित करे। राजाका पुरोहित हो और यज्ञके अनधिकारीका यज्ञ करानेके लिये ऋत्विज बने अर्थात् इन पापोंके फलका भागी हो ॥ ३३ ॥

पर्वत उवाच

ग्रामे चाधिकृतः सोऽस्तु खरयानेन गच्छतु।
शुनः कर्षतु वृत्त्यर्थे यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३४ ॥

पर्वतने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह गाँवका मुखिया हो जाय, गधेकी सवारीपर चले तथा पेट भरनेके लिये कुत्तोंको साथ लेकर शिकार खेले ॥ ३४ ॥

भरद्वाज उवाच

सर्वपापसमादानं नृशंसे चानृते च यत्।
तत् तस्यास्तु सदा पापं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३५ ॥

भरद्वाजने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, उस पापीको निर्दयी और असत्यवादी मनुष्योंमें रहनेवाला सारा-का-सारा पाप सदा ही प्राप्त होता रहे ॥ ३५ ॥

अष्टक उवाच

स राजास्त्वकृतप्रज्ञः कामवृत्तश्च पापकृत्।
अधर्मेणाभिशास्तूर्वीं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३६ ॥

अष्टक बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह राजा मन्दबुद्धि, स्वेच्छाचारी और पापात्मा होकर अधर्मपूर्वक इस पृथ्वीका शासन करे ॥ ३६ ॥

गालव उवाच

पापिष्ठेभ्यो ह्यनर्घार्हः स नरोऽस्तु स्वपापकृत्।
दत्त्वा दानं कीर्तयतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३७ ॥

गालव बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह महापापियोंसे भी बढ़कर अनादरणीय हो, स्वजनोंका भी अपकार करे तथा दान देकर अपने ही मुखसे उसका बखान करे ॥ ३७ ॥

अरुन्धत्युवाच

श्वश्रवापवादं वदतु भर्तुर्भवतु दुर्मनाः।
एका स्वादु समश्नातु या ते हरति पुष्करम् ॥ ३८ ॥

अरुन्धती बोलीं—जिस स्त्रीने आपका कमल लिया हो, वह अपने सासकी निन्दा करे, पतिके लिये अपने मनमें दुर्भावना रक्खे और अकेली ही स्वादिष्ट भोजन किया करे अर्थात् इन सब पापोंकी फलभागिनी बने ॥ ३८ ॥

वालखिल्या ऊचुः

एकपादेन वृत्त्यर्थं ग्रामद्वारे स तिष्ठतु।
धर्मज्ञस्त्यक्तधर्मास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३९ ॥

बालखिल्य बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह अपनी जीविकाके लिये गाँवके दरवाजेपर एक पैरसे खड़ा रहे और धर्मको जानते हुए भी उसका परित्याग करे ॥ ३९ ॥

शुनःसख उवाच

अग्निहोत्रमनादृत्य स सुखं स्वपतु द्विजः।
परिव्राट् कामवृत्तोऽस्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४० ॥

शुनःसख बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह द्विज होकर भी सबेरे और शामको अग्निहोत्रकी अवहेलना करके सुखसे सोये तथा संन्यासी होकर भी मनमाना बर्ताव करे अर्थात् उपर्युक्त पापोंके फलका भागी हो ॥ ४० ॥

सुरभ्युवाच

बालजेन निदानेन कांस्यं भवतु दोहनम्।
दुह्येत परवत्सेन या ते हरति पुष्करम् ॥ ४१ ॥

सुरभि बोली—जो गाय आपका कमल ले गयी हो, उसके पैर बालोंकी रस्सीसे बाँधे जायँ, उसके दूधके लिये ताँबे मिले हुए धातुका दोहनपात्र हो और वह दूसरे गायके बछड़ेसे दुही जाय ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तु तैः शपथैः शप्यमानै-
र्नानाविधैर्बहुभिः कौरवेन्द्र ।
सहस्राक्षो देवराट् सम्प्रहृष्टः
समीक्ष्य तं कोपनं विप्रमुख्यम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कौरवेन्द्र ! इस प्रकार जब सब लोग नाना प्रकारकी अनेकानेक शपथ कर चुके, तब सहस्र नेत्रधारी देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन विप्रवर अगस्त्यको कुपित हुआ देख उनके सामने प्रकट हो गये ॥

अथाब्रवीन्मघवा प्रत्ययं स्वं
समाभाष्य तमृषिं जातरोषम् ।
ब्रह्मर्षिदेवर्षिनृपर्षिमध्ये
यं तं निबोधेह ममाद्य राजन् ॥ ४३ ॥

राजन् ! ब्रह्मर्षियों, देवर्षियों तथा राजर्षियोंके बीचमें कुपित हुए महर्षि अगस्त्यको सम्बोधित करके देवराज इन्द्रने जो अपना अभिप्राय व्यक्त किया, उसे आज तुम मेरे मुखसे यहाँ सुनो ॥ ४३ ॥

शक्र उवाच

अध्वर्यवे दुहितरं ददातु
छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये ।
अथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः
स्नायीत यः पुष्करमाददाति ॥ ४४ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मन् ! जो आपका कमल ले गया हो, वह ब्रह्मचर्य व्रतको पूर्ण करके आये हुए यजुर्वेदी अथवा सामवेदी विद्वान्‌को कन्यादान दे । अथवा वह ब्राह्मण अथर्ववेदका अध्ययन पूरा करके शीघ्र ही स्नातक बन जाय ॥ ४४ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत पुण्यशीलोऽस्तु धार्मिकः ।
ब्रह्मणः सदनं यातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४५ ॥

जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे । पुण्यात्मा और धार्मिक हो तथा मृत्युके पश्चात् वह ब्रह्माजीके लोकमें जाय ॥ ४५ ॥

अगस्त्य उवाच

आशीर्वादस्त्वया प्रोक्तः शपथो बलसूदन ।
दीयतां पुष्करं मह्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४६ ॥

अगस्त्यने कहा—बलसूदन ! आपने जो शपथ की है, वह तो आशीर्वादस्वरूप है । अतः आपने ही मेरे कमल लिये हैं, कृपया उन्हें मुझे दे दीजिये । यही सनातन धर्म है ॥ ४६ ॥

इन्द्र उवाच

न मया भगवँल्लोभाद्धृतं पुष्करमद्य वै ।
धर्मांस्तु श्रोतुकामेन हृतं न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४७ ॥

इन्द्र बोले—भगवन् ! मैंने लोभवश कमलोंको नहीं लिया था । आपलोगोंके मुखसे धर्मकी बातें सुनना चाहता

था, इसीलिये इन कमलोंका अपहरण कर लिया था । अतः मुझपर क्रोध न कीजियेगा ॥ ४७ ॥

धर्मश्रुतिसमुत्कर्षो धर्मसेतुरनामयः ।
आर्षो वै शाश्वतो नित्यमव्ययोऽयं मया श्रुतः ॥ ४८ ॥

आज मैंने आपलोगोंके मुखसे उस आर्ष सनातन धर्मका श्रवण किया है, जो नित्य अविकारी, अनामय और संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये पुलके समान है । इससे धार्मिक श्रुतियोंका उत्कर्ष सिद्ध होता है ॥ ४८ ॥

तदिदं गृह्यतां विद्वन् पुष्करं द्विजसत्तम ।
अतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! विद्वन् ! अब आप अपने ये कमल लीजिये । भगवन् ! अनिन्दनीय महर्षे ! मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥

इत्युक्तः स महेन्द्रेण तपस्वी कोपनो भृशम् ।
जग्राह पुष्करं धीमान् प्रसन्नश्चाभवन्मुनिः ॥ ५० ॥

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर वे क्रोधी तपस्वी बुद्धिमान् अगस्त्य मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्द्रके हाथसे अपने कमल ले लिये ॥ ५० ॥

प्रययुस्ते ततो भूयस्तीर्थानि वनगोचराः ।
पुण्येषु तीर्थेषु तथा गात्राण्याप्लावयन्त ते ॥ ५१ ॥

तदनन्तर उन सब लोगोंने वनके मार्गोंसे होते हुए पुनः तीर्थयात्रा आरम्भ की और पुण्यतीर्थोंमें जा-जाकर गोते लगाकर स्नान किया ॥ ५१ ॥

आख्यानं य इदं युक्तः पठेत् पर्वणि पर्वणि ।
न मूर्खं जनयेत् पुत्रं न भवेच्च निराकृतिः ॥ ५२ ॥

जो प्रत्येक पर्वके अवसरपर एकाग्रचित्त हो इस पवित्र आख्यानका पाठ करता है, वह कभी मूर्ख पुत्रको नहीं जन्म देता है तथा स्वयं भी किसी अङ्गसे हीन या असफलमनोरथ नहीं होता है ॥ ५२ ॥

न तमापत् स्पृशेत् काचिद् विज्वरो न जरावहः ।
विरजाः श्रेयसा युक्तः प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

उसके ऊपर कोई आपत्ति नहीं आती । वह चिन्तारहित होता है । उसके ऊपर जरावस्थाका आक्रमण नहीं होता । वह रागशून्य होकर कल्याणका भागी होता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ५३ ॥

यश्च शास्त्रमधीयीत ऋषिभिः परिपालितम् ।
स गच्छेद् ब्रह्मणो लोकमव्ययं च नरोत्तम ॥ ५४ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो ऋषियोंद्वारा सुरक्षित इस शास्त्रका अध्ययन करता है, वह अविनाशी ब्रह्मधामको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शपथविधिर्नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधमपर्वमें शपथविधिनामक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

छत्र और उपानह्की उत्पत्ति एवं दानविषयक युधिष्ठिरका प्रश्न तथा सूर्यकी प्रचण्ड धूपसे रेणुकाका मस्तक और पैरोंके संतप्त होनेपर जमदग्निका सूर्यपर कुपित होना और विप्ररूपधारी सूर्यसे वार्तालाप

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं श्राद्धकृत्येषु दीयते भरतर्षभ ।
छत्रं चोपानहौ चैव केनैतत् सम्प्रवर्तितम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! श्राद्धकर्मोंमें जिनका दान दिया जाता है, उन छत्र और उपानहोंके दानकी प्रथा किसने चलायी है ? ॥ १ ॥

कथं चैतत् समुत्पन्नं किमर्थं चैव दीयते ।
न केवलं श्राद्धकृत्ये पुण्यकेष्वपि दीयते ॥ २ ॥

इनकी उत्पत्ति कैसे हुई और किसलिये इनका दान किया जाता है ? केवल श्राद्धकर्ममें ही नहीं, अनेक पुण्यके अवसरोंपर भी इनका दान होता है ॥ २ ॥

बहुष्वपि निमित्तेषु पुण्यमाश्रित्य दीयते ।
एतद् विस्तरशो राजञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ ३ ॥

बहुत-से निमित्त उपस्थित होनेपर पुण्यके उद्देश्यसे इन वस्तुओंके दानकी प्रथा देखी जाती है । अतः राजन् ! मैं इस विषयको विस्तारके साथ यथावत् रूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितश्छत्रोपानहविस्तरम् ।
यथैतत् प्रथितं लोके यथा चैतत् प्रवर्तितम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! छाते और जूतेकी उत्पत्तिकी वार्ता मैं विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सावधान होकर सुनो । संसारमें किस प्रकार इनके दानका आरम्भ हुआ और कैसे उस दानका प्रचार हुआ, यह सब श्रवण करो ॥ ४ ॥

यथा चाक्षय्यतां प्राप्तं पुण्यतां च यथा गतम् ।
सर्वमेतदशेषेण प्रवक्ष्यामि नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! इन दोनों वस्तुओंका दान किस तरह अक्षय होता है तथा ये किस प्रकार पुण्यकी प्राप्ति करानेवाली मानी गयी हैं, इन सब बातोंका मैं पूर्णरूपसे वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

जमदग्नेश्च संवादं सूर्यस्य च महात्मनः ।
पुरा स भगवान् साक्षाद्धनुषाक्रीडयत् प्रभो ॥ ६ ॥
संधाय संधाय शरांश्चिक्षेप किल भार्गवः ।
तान् क्षिप्तान् रेणुका सर्वांस्तस्येषून्दीप्ततेजसः ॥ ७ ॥
आनीय सा तदा तस्मै प्रादादसकृदच्युत ।

प्रभो ! इस विषयमें महर्षि जमदग्नि और महात्मा भगवान् सूर्यके संवादका वर्णन किया जाता है । पूर्वकालकी बात है, एक दिन भृगुनन्दन भगवान् जमदग्निजी धनुष चलानेकी क्रीड़ा कर रहे थे । धर्मसे च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर ! वे बारंबार धनुषपर बाण रखकर उन्हें चलाते और उन चलाये हुए सम्पूर्ण तेजस्वी बाणोंको उनकी पत्नी रेणुका ला-लाकर दिया करती थीं ॥ ६-७½ ॥

अथ तेन स शब्देन ज्यायाश्चैव शरस्य च ॥ ८ ॥
प्रहृष्टः सम्प्रचिक्षेप सा च प्रत्याजहार तान् ।

धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनि और बाणके छूटनेकी सनसनाहटसे जमदग्नि मुनि बहुत प्रसन्न होते थे । अतः वे बार-बार बाण चलाते और रेणुका उन्हें दूरसे उठा-उठाकर लाया करती थीं ॥ ८½ ॥

ततो मध्याह्नमारूढे ज्येष्ठामूले दिवाकरे ॥ ९ ॥
स सायकान् द्विजो मुक्त्वा रेणुकामिदमब्रवीत् ।
गच्छानय विशालाक्षि शरानेतान् धनुश्च्युतान् ॥ १० ॥
यावदेतान् पुनः सुभ्रु क्षिपामीति जनाधिप ।

जनेश्वर ! इस प्रकार बाण चलानेकी क्रीड़ा करते-करते ज्येष्ठ मासके सूर्य दिनके मध्यभागमें आ पहुँचे । विप्रवर जमदग्निने पुनः बाण छोड़कर रेणुकासे कहा–'सुभ्रु ! विशाल-

लोचने! जाओ, मेरे धनुषसे छूटे हुए इन बाणोंको ले आओ, जिससे मैं पुनः इन सबको धनुषपर रखकर छोड़ूँ' ॥९-१०½॥

सा गच्छन्त्यन्तरा छायां वृक्षमाश्रित्य भामिनी ॥११॥
तस्थौ तस्या हि सन्तप्तं शिरः पादौ तथैव च ।

मानिनी रेणुका वृक्षोंके बीचसे होकर उनकी छायाका आश्रय ले जाती हुई बीच-बीचमें ठहर जाती थी; क्योंकि उसके सिर और पैर तप गये थे ॥ ११½ ॥

स्थिता सा तु मुहूर्तं वै भर्तुः शापभयाच्छुभा ॥ १२ ॥
ययावानयितुं भूयः सायकानसितेक्षणा ।

कजरारे नेत्रोंवाली वह कल्याणमयी देवी एक जगह दो ही घड़ी ठहरकर पतिके शापके भयसे पुनः उन बाणोंको लानेके लिये चल दी ॥ १२½ ॥

प्रत्याजगाम च शरांस्तानादाय यशस्विनी ॥ १३ ॥
सा वै खिन्ना सुचार्वङ्गी पद्भ्यां दुःखं नियच्छती।
उपाजगाम भर्तारं भयाद् भर्तुः प्रवेपती ॥ १४ ॥

उन बाणोंको लेकर सुन्दर अङ्गोंवाली यशस्विनी रेणुका जब लौटी; उस समय वह बहुत खिन्न हो गयी थी। पैरोंके जलनेसे जो दुःख होता था, उसको किसी तरह सहती और पतिके भयसे थर-थर काँपती हुई उनके पास आयी॥१३-१४॥

स तामृषिस्तदा क्रुद्धो वाक्यमाह शुभाननाम् ।
रेणुके किं चिरेण त्वमागतेति पुनः पुनः ॥ १५ ॥

उस समय महर्षि कुपित होकर सुन्दर मुखवाली अपनी पत्नीसे बारंबार पूछने लगे—'रेणुके! तुम्हारे आनेमें इतनी देर क्यों हुई?' ॥ १५ ॥

रेणुकोवाच

शिरस्तावत् प्रदीप्तं मे पादौ चैव तपोधन ।
सूर्यतेजोनिरुद्धाहं वृक्षच्छायां समाश्रिता ॥ १६ ॥

रेणुका बोली—तपोधन! मेरा सिर तप गया, दोनों पैर जलने लगे और सूर्यके प्रचण्ड तेजने मुझे आगे बढ़नेसे रोक दिया। इसलिये थोड़ी देरतक वृक्षकी छायामें खड़ी होकर विश्राम लेने लगी थी ॥ १६ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मंश्चिरायैतत् कृतं मया ।
एतच्छ्रुत्वा मम विभो मा क्रुधस्त्वं तपोधन ॥ १७ ॥

ब्रह्मन्! इसी कारणसे मैंने आपका यह कार्य कुछ विलम्बसे पूरा किया है। तपोधन! प्रभो! मेरे इस बातपर ध्यान देकर आप क्रोध न करें ॥ १७ ॥

जमदग्निरुवाच

अद्यैनं दीप्तकिरणं रेणुके तव दुःखदम् ।
शरैर्निपातयिष्यामि सूर्यमस्त्राग्नितेजसा ॥ १८ ॥

जमदग्निने कहा—रेणुके! जिसने तुझे कष्ट पहुँचाया है, उस उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यको आज मैं अपने बाणोंसे, अपनी अस्त्राग्निके तेजसे गिरा दूँगा ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

स विस्फार्य धनुर्दिव्यं गृहीत्वा च शरान् बहून् ।
अतिष्ठत् सूर्यमभितो यतो याति ततो मुखः ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर महर्षि जमदग्निने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची और बहुत-से बाण हाथमें लेकर सूर्यकी ओर मुँह करके वे खड़े हो गये। जिस दिशाकी ओर सूर्य जा रहे थे, उसी ओर उन्होंने भी अपना मुँह कर लिया था ॥ १९ ॥

अथ तं प्रेक्ष्य सन्नद्धं सूर्योऽभ्येत्य तथाब्रवीत् ।
द्विजरूपेण कौन्तेय किं ते सूर्योऽपराध्यते ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन! उन्हें युद्धके लिये तैयार देख सूर्यदेव ब्राह्मणका रूप धारण करके उनके पास आये और बोले—'ब्रह्मन्! सूर्यने आपका क्या अपराध किया है?' ॥ २० ॥

आदत्ते रश्मिभिः सूर्यो दिवि तिष्ठंस्ततस्ततः ।
रसं हृतं वै वर्षासु प्रवर्षति दिवाकरः ॥ २१ ॥

'सूर्यदेव तो आकाशमें स्थित होकर अपनी किरणोंद्वारा वसुधाका रस खींचते हैं और बरसातमें पुनः उसे बरसा देते हैं॥

ततोऽन्नं जायते विप्र मनुष्याणां सुखावहम् ।
अन्नं प्राणा इति यथा वेदेषु परिपठ्यते ॥ २२ ॥

'विप्रवर! उसी वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है, जो मनुष्योंके लिये सुखदायक है। अन्न ही प्राण है, यह बात वेदमें भी बतायी गयी है ॥ २२ ॥

अथाभ्रेषु निगूढश्च रश्मिभिः परिवारितः ।
सप्तद्वीपानिमान् ब्रह्मन् वर्षेणाभिप्रवर्षति ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! अपने किरणसमूहसे घिरे हुए भगवान् सूर्य बादलोंमें छिपकर सातों द्वीपोंकी पृथ्वीको वर्षाके जलसे आप्लावित करते हैं ॥ २३ ॥

ततस्तदौषधीनां च वीरुधां पुष्पपत्रजम् ।
सर्वं वर्षाभिनिर्वृत्तमन्नं सम्भवति प्रभो ॥ २४ ॥

'उसीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ, लताएँ, पत्र-पुष्प, घास-पात आदि उत्पन्न होते हैं। प्रभो! प्रायः सभी प्रकारके अन्न वर्षाके जलसे उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

जातकर्माणि सर्वाणि व्रतोपनयनानि च ।
गोदानानि विवाहाश्च तथा यज्ञसमृद्धयः ॥ २५ ॥
शास्त्राणि दानानि तथा संयोगा वित्तसंचयाः ।
अन्नतः सम्प्रवर्तन्ते तथा त्वं वेत्थ भार्गव ॥ २६ ॥

'जातकर्म, व्रत, उपनयन, विवाह, गोदान, यज्ञ सम्पत्ति, शास्त्रीय दान, संयोग और धनसंग्रह आदि सारे कार्य

अन्नसे ही सम्पादित होते हैं। भृगुनन्दन! इस बातको आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ २५-२६ ॥

रमणीयानि यावन्ति यावदारम्भकाणि च।
सर्वमन्नात् प्रभवति विदितं कीर्तयामि ते ॥ २७ ॥

'जितने सुन्दर पदार्थ हैं अथवा जो भी उत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अन्नसे ही प्रकट होते हैं। यह सब मैं ऐसी बात बता रहा हूँ, जो आपको पहलेसे ही विदित है ॥ २७ ॥

सर्वं हि वेत्थ विप्र त्वं यदेतत् कीर्तितं मया।
प्रसादये त्वां विप्रर्षे किं ते सूर्यं निपात्य वै ॥ २८ ॥

'विप्रवर! ब्रह्मर्षे! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह सब आप भी जानते हैं। भला, सूर्यको गिरानेसे आपको क्या लाभ होगा? अतः मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ (कृपया सूर्यको नष्ट करनेका संकल्प छोड़ दीजिये)' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि छत्रोपानहोत्पत्तिर्नाम पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छत्र और उपानह्की उत्पत्तिनामक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

छत्र और उपानह्की उत्पत्ति एवं दानकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

एवं प्रयाचति तदा भास्करे मुनिसत्तमः।
जमदग्निर्महातेजाः किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जब सूर्यदेव इस प्रकार याचना कर रहे थे, उस समय महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ जमदग्निने कौन-सा कार्य किया? ॥१॥

भीष्म उवाच

स तथा याचमानस्य मुनिरग्निसमप्रभः।
जमदग्निः शमं नैव जगाम कुरुनन्दन ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन! सूर्यदेवके इस तरह प्रार्थना करनेपर भी अग्निके समान तेजस्वी जमदग्नि मुनिका क्रोध शान्त नहीं हुआ ॥ २ ॥

ततः सूर्यो मधुरया वाचा तमिदमब्रवीत्।
कृताञ्जलिर्विप्ररूपी प्रणम्यैनं विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! तब विप्ररूपधारी सूर्यने हाथ जोड़ प्रणाम करके मधुर वाणीद्वारा यों कहा—॥ ३ ॥

चलं निमित्तं विप्रर्षे सदा सूर्यस्य गच्छतः।
कथं चलं भेत्स्यसि त्वं सदा यान्तं दिवाकरम् ॥ ४ ॥

'विप्रर्षे! आपका लक्ष्य तो चल है, सूर्य भी सदा चलते रहते हैं। अतः निरन्तर यात्रा करते हुए सूर्यरूपी चञ्चल लक्ष्यका आप किस प्रकार भेदन करेंगे?' ॥ ४ ॥

जमदग्निरुवाच

स्थिरं चापि चलं चापि जाने त्वां ज्ञानचक्षुषा।
अवश्यं विनयाधानं कार्यमद्य मया तव ॥ ५ ॥

जमदग्नि बोले—हमारा लक्ष्य चञ्चल हो या स्थिर, हम ज्ञानदृष्टिसे पहचान गये हैं कि तुम्हीं सूर्य हो। अतः आज दण्ड देकर तुम्हें अवश्य ही विनययुक्त बनायेंगे ॥५॥

मध्याह्ने वै निमेषार्धं तिष्ठसि त्वं दिवाकर।
तत्र भेत्स्यामि सूर्य त्वां न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ६ ॥

दिवाकर! तुम दोपहरके समय आधे निमेषके लिये ठहर जाते हो! सूर्य! उसी समय तुम्हें स्थिर पाकर हम अपने बाणोंद्वारा तुम्हारे शरीरका भेदन कर डालेंगे। इस विषयमें मुझे कोई (अन्यथा) विचार नहीं करना है ॥ ६ ॥

सूर्य उवाच

असंशयं मां विप्रर्षे भेत्स्यसे धन्विनां वर।
अपकारिणं मां विद्धि भगवञ्छरणागतम् ॥ ७ ॥

सूर्य बोले—धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! निस्संदेह आप मेरे शरीरका भेदन कर सकते हैं। भगवन्! यद्यपि मैं आपका अपराधी हूँ तो भी आप मुझे अपना शरणागत समझिये ॥७॥

भीष्म उवाच

ततः प्रहस्य भगवान् जमदग्निरुवाच तम्।
न भीः सूर्य त्वया कार्या प्रणिपातगतो ह्यसि ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सूर्यदेवकी यह बात सुनकर भगवान् जमदग्नि हँस पड़े और उनसे बोले—'सूर्यदेव! अब तुम्हें भय नहीं मानना चाहिये; क्योंकि तुम मेरे शरणागत हो गये हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणेष्वार्जवं यच्च स्थैर्यं च धरणीतले।
सौम्यतां चैव सोमस्य गाम्भीर्यं वरुणस्य च ॥ ९ ॥
दीप्तिमग्नेः प्रभां मेरोः प्रतापं तपनस्य च।
एतान्यतिक्रमेद् यो वै स हन्याच्छरणागतम् ॥ १० ॥

'ब्राह्मणोंमें जो सरलता है, पृथ्वीमें जो स्थिरता है, सोमका जो सौम्यभाव, सागरकी जो गम्भीरता, अग्निकी जो दीप्ति, मेरुकी जो चमक और सूर्यका जो प्रताप है—इन सबका वह पुरुष उल्लङ्घन कर जाता है, इन सबकी मर्यादाका नाश

करनेवाला समझा जाता है, जो शरणागतका वध करता है ॥ ९-१० ॥

भवेत् स गुरुतल्पी च ब्रह्महा च स वै भवेत् ।
सुरापानं स कुर्याच्च यो हन्याच्छरणागतम् ॥ ११ ॥

जो शरणागतकी हत्या करता है, उसे गुरुपत्नीगमन, ब्रह्महत्या और मदिरापानका पाप लगता है ॥ ११ ॥

एतस्य त्वपनीतस्य समाधिं तात चिन्तय ।
यथा सुखगमः पन्था भवेत् त्वद्रश्मिभावितः ॥ १२ ॥

तात ! इस समय तुम्हारे द्वारा जो यह अपराध हुआ है, उसका कोई समाधान—उपाय सोचो । जिससे तुम्हारी किरणोंद्वारा तपा हुआ मार्ग सुगमतापूर्वक चलने योग्य हो सके ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

एतावदुक्त्वा स तदा तूष्णीमासीद् भृगूत्तमः ।
अथ सूर्योऽददत् तस्मै छत्रोपानहमाशु वै ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि मुनि चुप हो गये । तब भगवान् सूर्यने उन्हें शीघ्र ही छत्र और उपानह् दोनों वस्तुएँ प्रदान कीं ॥ १३ ॥

सूर्य उवाच

महर्षे शिरसस्त्राणं छत्रं मद्रश्मिवारणम् ।
प्रतिगृह्णीष्व पद्भ्यां च त्राणार्थं चर्मपादुके ॥ १४ ॥

सूर्यदेवने कहा—महर्षे ! यह छत्र मेरी किरणोंका निवारण करके मस्तककी रक्षा करेगा तथा चमड़ेके बने ये एक जोड़े जूते हैं, जो पैरोंको जलनेसे बचानेके लिये प्रस्तुत किये गये हैं । आप इन्हें ग्रहण कीजिये ॥ १४ ॥

अद्यप्रभृति चैवेह लोके सम्प्रचरिष्यति ।
पुण्यकेषु च सर्वेषु परमक्षय्यमेव च ॥ १५ ॥

आजसे इस जगत्में इन दोनों वस्तुओंका प्रचार होगा और पुण्यके सभी अवसरोंपर इनका दान उत्तम एवं अक्षय फल देनेवाला होगा ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

छत्रोपानहमेतत् तु सूर्येणैतत् प्रवर्तितम् ।
पुण्यमेतदभिख्यातं त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! छाता और जूता—इन दोनों वस्तुओंका प्राकट्य—छाता लगाने और जूता पहननेकी प्रथा सूर्यने ही जारी की है । इन वस्तुओंका दान तीनों लोकोंमें पवित्र बताया गया है ॥ १६ ॥

तस्मात् प्रयच्छ विप्रेषु छत्रोपानहमुत्तमम् ।
धर्मस्तेषु महान् भावी न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १७ ॥

इसलिये तुम ब्राह्मणोंको उत्तम छाते और जूते दिया करो । उनके दानसे महान् धर्म होगा । इस विषयमें मुझे भी संदेह नहीं है ॥ १७ ॥

छत्रं हि भरतश्रेष्ठ यः प्रदद्याद् द्विजातये ।
शुभ्रं शतशलाकं वै स प्रेत्य सुखमेधते ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मणको सौ शलाकाओंसे युक्त सुन्दर छाता दान करता है, वह परलोकमें सुखी होता है ॥ १८ ॥

स शक्रलोके वसति पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
अप्सरोभिश्च सततं देवैश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

भरतभूषण ! वह देवताओं, ब्राह्मणों और अप्सराओंद्वारा सतत सम्मानित होता हुआ इन्द्रलोकमें निवास करता है ॥ १९ ॥

दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ ।
स्नातकाय महाबाहो संशिताय द्विजातये ॥ २० ॥
सोऽपि लोकानवाप्नोति दैवतैरभिपूजितान् ।
गोलोके स मुदा युक्तो वसति प्रेत्य भारत ॥ २१ ॥

महाबाहो ! भरतनन्दन ! जिसके पैर जल रहे हों ऐसे कठोर व्रतधारी स्नातक द्विजको जो जूते दान करता है, वह शरीर-त्यागके पश्चात् देववन्दित लोकोंमें जाता है और बड़ी प्रसन्नताके साथ गोलोकमें निवास करता है ॥ २०-२१ ॥

एतत् ते भरतश्रेष्ठ मया कार्त्स्न्येन कीर्तितम् ।
छत्रोपानहदानस्य फलं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भरतसत्तम ! यह मैंने तुमसे छातों और जूतोंके दानका सम्पूर्ण फल बताया है ॥ २२ ॥

[सेवासे शूद्रोंकी परम गति, शौचाचार, सदाचार तथा वर्णधर्मका कथन एवं संन्यासियोंके धर्मोंका वर्णन और उससे उनको परम गतिकी प्राप्ति]

युधिष्ठिर उवाच

शूद्राणामिह शुश्रूषा नित्यमेवानुवर्णिता ।
कैः कारणैः कतिविधा शुश्रूषा समुदाहृता ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस जगत्में शूद्रोंके लिये सदा द्विजातियोंकी सेवाको ही परम धर्म बताया गया है । वह सेवा किन कारणोंसे कितने प्रकारकी कही गयी है ? ॥

के च शुश्रूषया लोका विहिता भरतर्षभ ।
शूद्राणां भरतश्रेष्ठ ब्रूहि मे धर्मलक्षणम् ॥

भरतभूषण ! भरतरत्न ! शूद्रोंको द्विजोंकी सेवासे किन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है ? मुझे धर्मका लक्षण बताइये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शूद्राणामनुकम्पार्थं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें ब्रह्मवादी

पराशरने शूद्रोंपर कृपा करनेके लिये जो कुछ कहा है, उसी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

वृद्धः पराशरः प्राह धर्मं शुभ्रमनामयम् ।
अनुग्रहार्थं वर्णानां शौचाचारसमन्वितम् ॥

बड़े-बूढ़े पराशर मुनिने सब वर्णोंपर कृपा करनेके लिये शौचाचारसे सम्पन्न निर्मल एवं अनामय धर्मका प्रतिपादन किया ॥

धर्मोपदेशमखिलं यथावदनुपूर्वशः ।
शिष्यानध्यापयामास शास्त्रमर्थवदर्थवित् ॥

तत्त्वज्ञ पराशर मुनिने अपने सारे धर्मोपदेशको ठीक-ठीक आनुपूर्वीसहित अपने शिष्योंको पढ़ाया । वह एक सार्थक धर्मशास्त्र था ॥

पराशर उवाच

क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै ।
अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना ।
चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः ।
कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

पराशरने कहा—मनुष्यको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, उत्तरोत्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचारपरायण और सर्वभूतहितैषी होकर सदा अपने ही देहमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते ॥

विधिना धृतिमास्थाय शुश्रूषुरनहंकृतः ।
वर्णत्रयस्यानुमतो यथाशक्ति यथाबलम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा च चतुर्विधम् ।
आस्थाय नियमं धीमाञ्शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ॥

बुद्धिमान् मनुष्य विधिपूर्वक धैर्यका आश्रय ले गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर, अहंकारशून्य तथा तीनों वर्णोंकी सहानुभूतिका पात्र होकर अपनी शक्ति और बलके अनुसार कर्म, मन, वाणी और नेत्र—इन चारोंके द्वारा चार प्रकारके संयमका अवलम्बन ले शान्तचित्त, दमनशील एवं जितेन्द्रिय हो जाय ॥

नित्यं दक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ।
वर्णत्रयान्मधु यथा भ्रमरो धर्ममाचरन् ॥

दक्ष—ज्ञानीजनोंका नित्य अन्वेषण करनेवाला यज्ञशेष अमृतरूप अन्नका भोजन करे । जैसे भौंरा फूलोंसे मधुका संचय करता है, उसी प्रकार तीनों वर्णोंसे मधुकरी भिक्षाका संचय करते हुए ब्राह्मण भिक्षुको धर्मका आचरण करना चाहिये ॥

स्वाध्यायधनिनो विप्राः क्षत्रियाणां बलं धनम् ।
वणिक्कृषिश्च वैश्यानां शूद्राणां परिचारिका ॥
व्युच्छेदात् तस्य धर्मस्य निरयायोपपद्यते ।

ब्राह्मणोंका धन है वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय, क्षत्रियोंका धन है बल, वैश्योंका धन है व्यापार और खेती तथा शूद्रोंका धन है तीनों वर्णोंकी सेवा । इस धर्मरूपी धनका उच्छेद करनेसे मनुष्य नरकमें पड़ता है ॥

ततो म्लेच्छा भवन्त्येते निर्घृणा धर्मवर्जिताः ॥
पुनश्च निरयं तेषां तिर्यग्योनिश्च शाश्वती ।

नरकसे निकलनेपर ये धर्मरहित निर्दय मनुष्य म्लेच्छ होते हैं और म्लेच्छ होनेके बाद फिर पापकर्म करनेसे उन्हें सदाके लिये नरक और पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनिकी प्राप्ति होती है ॥

ये तु सत्पथमास्थाय वर्णाश्रमकृतं पुरा ॥
सर्वान् विमार्गानुत्सृज्य स्वधर्मपथमाश्रिताः ।
सर्वभूतदयावन्तो दैवतद्विजपूजकाः ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना श्रद्धया जितमन्यवः ।
तेषां विधिं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
उपादानविधिं कृत्स्नं शुश्रूषाधिगमं तथा ।

जो लोग प्राचीन वर्णाश्रमोचित सन्मार्गका आश्रय ले सारे विपरीत मार्गोंका परित्याग करके स्वधर्मके मार्गपर चलते हैं, समस्त प्राणियोंके प्रति दया रखते हैं और क्रोधको जीतकर शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धापूर्वक देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, उनके लिये यथावत् रूपसे क्रमशः सम्पूर्ण धर्मोंके ग्रहणकी विधि तथा सेवाभावकी प्राप्ति आदिका वर्णन करता हूँ ॥

शौचकृत्यस्य शौचार्थान् सर्वानेव विशेषतः ॥
महाशौचप्रभृतयो दृष्टास्तत्त्वार्थदर्शिभिः ।

जो विशेषरूपसे शौचका सम्पादन करना चाहते हैं, उनके लिये सभी शौचविषयक प्रयोजनोंका वर्णन करता हूँ । तत्त्वदर्शी विद्वानोंने शास्त्रमें महाशौच आदि विधानोंको प्रत्यक्ष देखा है ॥

तत्रापि शूद्रो भिक्षूणां मृदं शेषं च कल्पयेत् ॥

वहाँ शूद्र भी भिक्षुओंके शौचाचारके लिये मिट्टी तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंका प्रबन्ध करे ॥

भिक्षुभिः सुकृतप्रज्ञैः केवलं धर्ममाश्रितैः ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नैर्गताध्वनि हितार्थिभिः ॥
अवकाशमिदं मेध्यं निर्मितं कामवीरुधम् ।

जो धर्मके ज्ञाता, केवल धर्मके ही आश्रित तथा सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न हैं, उन सर्वहितैषी संन्यासियोंको चाहिये कि वे सज्जनाचरित मार्गपर स्थित हो इस पवित्र कामलतास्वरूप

स्थान (मलत्यागके योग्य क्षेत्र आदि) का निश्चय करे ॥

निर्जनं संवृतं बुद्ध्वा नियतात्मा जितेन्द्रियः ॥
सजलं भाजनं स्थाप्यं मृत्तिकां च परीक्षिताम् ।
परीक्ष्य भूमिं मूत्रार्थी तत आसीत वाग्यतः ॥

मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह निर्जन एवं घिरे हुए स्थानको देखकर वहाँ सजल पात्र और देख-भाल कर ली हुई मृत्तिका रक्खे । फिर उस भूमिका भलीभाँति निरीक्षण करके मौन होकर मूत्र-त्यागके लिये बैठे ॥

उदङ्मुखो दिवा कुर्याद् रात्रौ चेद् दक्षिणामुखः ।
अन्तर्हितायां भूमौ तु अन्तर्हितशिरास्तथा ॥

यदि दिन हो तो उत्तरकी ओर मुँह करके और रात हो तो दक्षिणाभिमुख होकर मल या मूत्रका त्याग करे । मल त्याग करनेके पूर्व उस समय भूमिको तिनके आदिसे ढके रखना चाहिये तथा अपने मस्तकको भी वस्त्रसे आच्छादित किये रहना उचित है ॥

असमाप्ते तथा शौचे न वाचं किंचिदीरयेत् ।
कृतकृत्यस्तथाऽऽचम्य गच्छन्नोदीरयेद् वचः ॥

जबतक शौच-कर्म समाप्त न हो जाय, तबतक मुँहसे कुछ न बोले अर्थात् मौन रहे । शौच-कर्म पूरा करके भी आचमनके अनन्तर जाते समय मौन ही रहे ॥

शौचार्थमुपतिष्ठंस्तु मृद्भाजनपुरस्कृतः ।
स्थाप्यं कमण्डलुं गृह्य पार्श्वोरुभ्यामथान्तरे ॥
शौचं कुर्याच्छनैर्धीरो बुद्धिपूर्वमसंकरम् ।

शौचके लिये बैठा हुआ पुरुष अपने सामने मृत्तिका और जलपात्र रक्खे । धीर पुरुष कमण्डलुको हाथमें लिये हुए दाहिने पार्श्व और ऊरुके मध्यदेशमें रखे और सावधानीके साथ धीरे धीरे मूत्र-त्याग करे, जिससे अपने किसी अङ्गपर उसका छींटा न पड़े ॥

पाणिना शुद्धमुदकं संगृह्य विधिपूर्वकम् ॥
विप्रुषश्च यथा न स्युर्यथा चोरू न संस्पृशेत् ।

तत्पश्चात् हाथसे विधिपूर्वक शुद्ध जल लेकर मूत्रस्थान (उपस्थ) को ऐसी सावधानीके साथ धोये, जिससे उसमें मूत्रकी बूँदें न लगी रह जायँ तथा अशुद्ध हाथसे दोनों जाँघोंका भी स्पर्श न करे ॥

अपाने मृत्तिकास्तिस्रः प्रदेयास्त्वनुपूर्वशः ॥
यथा घातो हि न भवेत् क्लेदजः परिधानके ।

यदि मल त्याग किया गया हो तो गुदाभागको धोते समय उसमें क्रमशः तीन बार मिट्टी लगाये । गुदाको शुद्ध करनेके लिये बारंबार इस प्रकार धोना चाहिये कि जलका आघात कपड़ेमें न लगे ॥

सव्ये द्वादश देयाः स्युस्तिस्रस्तिस्रः पुनः पुनः ।

तत्पश्चात् बायें हाथमें बारह बार और दाहिनेमें कई बार तीन-तीन बार मिट्टी लगावे ॥

मलोपहतचैलस्य द्विगुणं तु विधीयते ॥
सहपादमथोरुभ्यां हस्तशौचमसंशयम् ।

जिसका कपड़ा मलसे दूषित हो गया है ऐसे पुरुषके लिये द्विगुण शौचका विधान है । उसे दोनों पैरों, दोनों जाँघों और दोनों हाथोंकी विशेष शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥

अवधीरयमाणस्य संदेह उपजायते ॥
यथा यथा विशुद्धयेत तत् तथा तदुपक्रमेत् ।

शौचका पालन न करनेसे शरीर-शुद्धिके विषयमें संदेह बना रहता है । अतः जिस-जिस प्रकारसे शरीर-शुद्धि हो वैसे-ही-वैसे कार्य करनेकी चेष्टा करे ॥

क्षारौषराभ्यां वस्त्रस्य कुर्याच्छौचं मृदा सह ॥
लेपगन्धापनयनममेध्यस्य विधीयते ।

मिट्टीके साथ क्षार और रेह मिलाकर उसके द्वारा वस्त्रकी शुद्धि करनी चाहिये । जिसमें कोई अपवित्र वस्तु लग गयी हो, उस वस्त्रसे उस वस्तुका लेप मिट जाय और उसकी दुर्गन्ध दूर हो जाय, ऐसी शुद्धिका सम्पादन आवश्यक होता है ॥

देयाश्चतस्रस्तिस्रो वा द्वे वाप्येकां तथाऽऽपदि ॥
कालमासाद्य देशं च शौचस्य गुरुलाघवम् ।

आपत्तिकालमें चार, तीन, दो अथवा एक बार मृत्तिका लगानी चाहिये । देश और कालके अनुसार शौचाचारमें गौरव अथवा लाघव किया जा सकता है ॥

विधिनानेन शौचं तु नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ॥
अविप्रेक्षन्नसम्भ्रान्तः पादौ प्रक्षाल्य तत्परः ।

इस विधिसे प्रतिदिन आलस्यका परित्याग करके शौच (शुद्धि) का सम्पादन करे तथा शुद्धिका सम्पादन करनेवाला पुरुष दोनों पैरोंको धोकर इधर-उधर दृष्टि न डालता हुआ बिना किसी घबराहटके चला जाय ॥

सुप्रक्षालितपादस्तु पाणिमामणिबन्धनात् ॥
अधस्तादुपरिष्टाच्च ततः पाणिमुपस्पृशेत् ।

पहले पैरोंको भलीभाँति धोकर फिर कलाईसे लेकर समूचे हाथको ऊपरसे नीचेतक धो डाले । इसके बाद हाथमें जल लेकर आचमन करे ॥

मनोगतास्तु निश्शब्दा निश्शब्दं त्रिरपः पिबेत्॥
द्विर्मुखं परिमृज्याच्च खानि चोपस्पृशेद् बुधः ।

आचमनके समय मौन होकर तीन बार जल पीये । उस जलमें किसी प्रकारकी आवाज न हो तथा आचमनके पश्चात्

वह जल हृदयतक पहुँचे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अंगूठेके मूलभागसे दो बार मुँह पोंछे। इसके बाद इन्द्रियोंके छिद्रोंका स्पर्श करे ॥

ऋग्वेदं तेन प्रीणाति प्रथमं यः पिबेदपः ॥
द्वितीयं च यजुर्वेदं तृतीयं साम एव च।

वह प्रथम बार जो जल पीता है, उससे ऋग्वेदको तृप्त करता है, द्वितीय बारका जल यजुर्वेदको और तृतीय बारका जल सामवेदको तृप्त करता है ॥

मृज्यते प्रथमं तेन अथर्वा प्रीतिमाप्नुयात् ॥
द्वितीयेनेतिहासं च पुराणस्मृतिदेवताः।

पहली बार जो मुखका मार्जन किया जाता है, उससे अथर्ववेद तृप्त होता है और द्वितीय बारके मार्जनसे इतिहास-पुराण एवं स्मृतियोंके अधिष्ठाता देवता संतुष्ट होते हैं ॥

यच्चक्षुषि समाधत्ते तेनादित्यं तु प्रीणयेत् ॥
प्रीणाति वायुं घ्राणं च दिशश्चाप्यथ श्रोत्रयोः।

मुखमार्जनके पश्चात् द्विज जो अङ्गुलियोंसे नेत्रोंका स्पर्श करता है, उसके द्वारा वह सूर्यदेवको तृप्त करता है। नासिकाके स्पर्शसे वायुको और दोनों कानोंके स्पर्शसे वह दिशाओंको संतुष्ट करता है ॥

ब्रह्माणं तेन प्रीणाति यन्मूर्धनि समालभेत् ॥
समुत्क्षिपति चापोर्ध्वमाकाशं तेन प्रीणयेत्।

आचमन करनेवाला पुरुष अपने मस्तकपर जो हाथ रखता है, उसके द्वारा वह ब्रह्माजीको तृप्त करता है और ऊपरकी ओर जो जल फेंकता है, उसके द्वारा वह आकाशके अधिष्ठाता देवताको संतुष्ट करता है ॥

प्रीणाति विष्णुः पद्भ्यां तु सलिलं वै समादधत् ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि अन्तर्जानुरुपस्पृशेत्।
सर्वत्र विधिरित्येष भोजनादिषु नित्यशः ॥

वह अपने दोनों पैरोंपर जो जल डालता है, इससे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। आचमन करनेवाला पुरुष पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके अपने हाथको घुटनेके भीतर रखकर जलका स्पर्श करे। भोजन आदि सभी अवसरोंपर सदा आचमन करनेकी यही विधि है ॥

अन्नेषु दन्तलग्नेषु उच्छिष्टः पुनराचमेत्।
विधिरेष समुद्दिष्टः शौचे चाभ्युक्षणं स्मृतम् ॥

यदि दाँतोंमें अन्न लगा हो तो अपनेको जूठा मानकर पुनः आचमन करे, यह शौचाचारकी विधि बतायी गयी। किसी वस्तुकी शुद्धिके लिये उसपर जल छिड़कना भी कर्तव्य माना गया है ॥

शूद्रस्यैष विधिर्दृष्टो गृहान्निष्क्रमतः सतः।
नित्यं चालुप्तशौचेन वर्तितव्यं कृतात्मना ॥
यशस्कामेन भिक्षुभ्यः शूद्रेणात्महितार्थिना ॥

(साधु-सेवाके उद्देश्यसे) घरसे निकलते समय शूद्रके लिये भी यह शौचाचारकी विधि देखी गयी है। जिसने मनको वशमें किया है तथा जो अपने हितकी इच्छा रखता है, ऐसे सुयशकामी शूद्रको चाहिये कि वह सदा शौचाचारसे सम्पन्न होकर ही संन्यासियोंके निकट जाय और उनकी सेवा आदिका कार्य करे ॥

क्षत्रा आरम्भयज्ञास्तु हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
शूद्राः परिचारयज्ञा जपयज्ञास्तु ब्राह्मणाः ॥

क्षत्रिय आरम्भ (उत्साह) रूप यज्ञ करनेवाले होते हैं। वैश्योंके यज्ञमें हविष्य (हवनीय पदार्थ) की प्रधानता होती है, शूद्रोंका यज्ञ सेवा ही है तथा ब्राह्मण जपरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं ॥

शुश्रूषाजीविनः शूद्रा वैश्या विपणजीविनः।
अनिष्टनिग्रहाः क्षत्रा विप्राः स्वाध्यायजीविनः ॥

शूद्र सेवासे जीवननिर्वाह करनेवाले होते हैं, वैश्य व्यापारजीवी हैं, दुष्टोंका दमन करना क्षत्रियोंकी जीवनवृत्ति है और ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे जीवननिर्वाह करते हैं ॥

तपसा शोभते विप्रो राजन्यः पालनादिभिः।
आतिथ्येन तथा वैश्यः शूद्रो दास्येन शोभते ॥

क्योंकि ब्राह्मण तपस्यासे, क्षत्रिय पालन आदिसे, वैश्य अतिथि-सत्कारसे और शूद्र सेवावृत्तिसे शोभा पाते हैं ॥

यतात्मना तु शूद्रेण शुश्रूषा नित्यमेव तु।
कर्तव्या त्रिषु वर्णेषु प्रायेणाश्रमवासिषु ॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले शूद्रको सदा ही तीनों वर्णोंकी विशेषतः आश्रमवासियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥

अशक्तेन त्रिवर्णस्य सेव्या ह्याश्रमवासिनः।
यथाशक्ति यथाप्रज्ञं यथाधर्मं यथाश्रुतम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्या शुश्रूषा भिक्षुकाश्रमे ॥

त्रिवर्णकी सेवामें अशक्त हुए शूद्रको अपनी शक्ति, बुद्धि, धर्म तथा शास्त्रज्ञानके अनुसार आश्रमवासियोंकी सेवा करनी चाहिये। विशेषतः संन्यास-आश्रममें रहनेवाले भिक्षुकी सेवा उसके लिये परम कर्तव्य है ॥

आश्रमाणां तु सर्वेषां चतुर्णां भिक्षुकाश्रमम्।
प्रधानमिति मन्यन्ते शिष्टाः शास्त्रविनिश्चये ॥

शास्त्रोंके सिद्धान्त-ज्ञानमें निपुण शिष्ट पुरुष चारों आश्रमोंमें संन्यासको ही प्रधान मानते हैं ॥

यच्चोपदिश्यते शिष्टैः श्रुतिस्मृतिविधानतः।
तथाऽऽस्थेयमशक्तेन स धर्म इति निश्चितः ॥

शिष्ट पुरुष वेदों और स्मृतियोंके विधानके अनुसार जिस कर्तव्यका उपदेश करें, असमर्थ पुरुषको उसीका अनुष्ठान करना चाहिये; उसके लिये वही धर्म निश्चित किया गया है ॥

अतोऽन्यथा तु कुर्वाणः श्रेयो नाप्नोति मानवः।
तस्माद् भिक्षुषु शूद्रेण कार्यमात्महितं सदा ॥

इसके विपरीत करनेवाला मानव कल्याणका भागी नहीं होता है, अतः शूद्रको संन्यासियोंकी सेवा करके सदा अपना कल्याण करना चाहिये ॥

इह यत् कुरुते श्रेयस्तत् प्रेत्य समुपाश्नुते।
तच्चानसूयता कार्यं कर्तव्यं यद्धि मन्यते ॥
असूयता कृतस्येह फलं दुःखादवाप्यते ॥

मनुष्य इस लोकमें जो कल्याणकारी कार्य करता है, उसका फल मृत्युके पश्चात् उसे प्राप्त होता है। जिसे वह अपना कर्तव्य समझता है, उस कार्यको वह दोषदृष्टि न रखते हुए करे। दोषदृष्टि रखते हुए जो कार्य किया जाता है, उसका फल इस जगत्‌में बड़े दुःखसे प्राप्त होता है ॥

प्रियवादी जितक्रोधो वीततन्द्रिरमत्सरः।
क्षमावाञ्शीलसम्पन्नः सत्यधर्मपरायणः ॥
आपद्भावेन कुर्याद्धि शुश्रूषां भिक्षुकाश्रमे ॥

शूद्रको चाहिये कि वह प्रिय वचन बोले, क्रोधको जीते, आलस्यको दूर भगा दे, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो जाय, क्षमाशील, शीलवान् तथा सत्यधर्ममें तत्पर रहे। आपत्तिकालमें वह संन्यासियोंके आश्रममें (जाकर) उनकी सेवा करे ॥

अयं मे परमो धर्मस्त्वनेनेदं सुदुस्तरम्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यामि न संशयः ॥
निर्भयो देहमुत्सृज्य यास्यामि परमां गतिम्।
नातः परं ममास्त्यन्य एष धर्मः सनातनः ॥
एवं संचिन्त्य मनसा शूद्रो बुद्धिसमाधिना।
कुर्यादविमना नित्यं शुश्रूषाधर्ममुत्तमम् ॥

'यही मेरा परम धर्म है, इसीके द्वारा मैं इस अत्यन्त दुस्तर घोर संसार-सागरसे पार हो जाऊँगा। इसमें संशय नहीं है। मैं निर्भय होकर इस देहका त्याग करके परम गतिको प्राप्त हो जाऊँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। यही सनातन धर्म है।' मन-ही-मन ऐसा विचार करके प्रसन्नचित्त हुआ शूद्र बुद्धिको एकाग्र करके सदा उत्तम शुश्रूषा-धर्मका पालन करे ॥

शुश्रूषानियमेनेह भाव्यं शिष्टाशिना सदा।
शमान्वितेन दान्तेन कार्याकार्यविदा सदा ॥

शूद्रको चाहिये कि वह नियमपूर्वक सेवामें तत्पर रहे, सदा यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करे। मन और इन्द्रियोंको वशमें रक्खे और सदा कर्तव्याकर्तव्यको जाने ॥

सर्वकार्येषु कृत्यानि कृतान्येव च दर्शयेत्।
यथा प्रीतो भवेद् भिक्षुस्तथा कार्यं प्रसाधयेत् ॥
यदकल्यं भवेद् भिक्षोर्न तत् कार्यं समाचरेत्।

सभी कार्योंमें जो आवश्यक कृत्य हों, उन्हें करके ही दिखावे। जैसे-जैसे संन्यासीको प्रसन्नता हो, उसी प्रकार उसका कार्य साधन करे। जो कार्य संन्यासीके लिये हितकर न हो, उसे कदापि न करे ॥

यदाश्रमस्याविरुद्धं धर्ममात्राभिसंहितम् ॥
तत् कार्यमविचारेण नित्यमेव शुभार्थिना।

जो कार्य संन्यास-आश्रमके विरुद्ध न हो तथा जो धर्मके अनुकूल हो, शुभकी इच्छा रखनेवाले शूद्रको वह कार्य सदा बिना विचारे ही करना चाहिये ॥

मनसा कर्मणा वाचा नित्यमेव प्रसादयेत् ॥
स्थातव्यं तिष्ठमानेषु गच्छमानाननुव्रजेत्।
आसीनेष्वासितव्यं च नित्यमेवानुवर्तिना ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा ही उन्हें संतुष्ट रखे। जब वे संन्यासी खड़े हों, तब सेवा करनेवाले शूद्रको स्वयं भी खड़ा रहना चाहिये तथा जब वे कहीं जा रहे हों, तब उसे स्वयं भी उनके पीछे-पीछे जाना चाहिये। यदि वे आसनपर बैठे हों, तब वह स्वयं भी भूमिपर बैठे। तात्पर्य यह कि सदा ही उनका अनुसरण करता रहे ॥

नैशकार्याणि कृत्वा तु नित्यं चैवानुचोदितः।
यथाविधिरुपस्पृश्य संन्यस्य जलभाजनम् ॥
भिक्षूणां निलयं गत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम्।
ब्रह्मपूर्वान् गुरूंस्तत्र प्रणम्य नियतेन्द्रियः ॥
तथाऽऽचार्यपुरोगाणामनुकुर्यान्नमस्क्रियाम्।
स्वधर्मचारिणां चापि सुखं पृष्ट्वाभिवाद्य च ॥
यो भवेत् पूर्वसंसिद्धस्तुल्यधर्मा भवेत् सदा।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतरेषां कदाचन ॥

रात्रिके कार्य पूरे करके प्रतिदिन उनसे आज्ञा लेकर विधिपूर्वक स्नान करके उनके लिये जलसे भरा हुआ कलश ले आकर रक्खे। फिर संन्यासियोंके स्थानपर जाकर उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मण आदि गुरुजनोंको प्रणाम करे। इसी प्रकार स्वधर्मका अनुष्ठान करनेवाले आचार्य आदिको नमस्कार एवं अभिवादन करे। उनका कुशल-समाचार पूछे। पहलेके जो शूद्र आश्रमके कार्यमें सिद्धहस्त हों, उनका स्वयं भी सदा अनुकरण करे, उनके समान कार्यपरायण हो। अपने समानधर्मा शूद्रको प्रणाम करे, दूसरे शूद्रोंको कदापि नहीं ॥

अनुक्त्वा तेषु चोत्थाय नित्यमेव यतव्रतः।
सम्मार्जनमथो कृत्वा कृत्वा चाप्युपलेपनम् ॥

संन्यासियों अथवा आश्रमके दूसरे व्यक्तियोंको कहे बिना

ही प्रतिदिन नियमपूर्वक उठे और झाड़ू देकर आश्रमकी भूमिको लीप-पोत दे ॥

ततः पुष्पबलिं दद्यात् पुष्पाण्याहृत्य धर्मतः ।
निष्क्रम्यावसथात् तूर्णमन्यत् कर्म समाचरेत् ॥

तत्पश्चात् धर्मके अनुसार फूलोंका संग्रह करके पूजनीय देवताओंकी उन फूलोंद्वारा पूजा करे । इसके बाद आश्रमसे निकलकर तुरंत ही दूसरे कार्यमें लग जाय ॥

यथोपघातो न भवेत् स्वाध्याये ऽऽश्रमिणां तथा ।
उपघातं तु कुर्वाण एनसा सम्प्रयुज्यते ॥

आश्रमवासियोंके स्वाध्यायमें विघ्न न पड़े, इसके लिये सदा सचेष्ट रहे । जो स्वाध्यायमें विघ्न डालता है, वह पापका भागी होता है ॥

तथाऽऽत्मा प्रणिधातव्यो यथा ते प्रीतिमाप्नुयुः ।
परिचारिकोऽहं वर्णानां त्रयाणां धर्मतः स्मृतः ॥
किमुताश्रमवृद्धानां यथालब्धोपजीविनाम् ॥

अपने-आपको इस प्रकार सावधानीके साथ सेवामें लगाये रखना चाहिये, जिससे वे साधु पुरुष प्रसन्न हों । शूद्रको सदा इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'मैं तो शास्त्रोंमें धर्मतः तीनों वर्णोंका सेवक बताया गया हूँ । फिर जो संन्यास-आश्रममें रहकर जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करनेवाले बड़े-बूढ़े संन्यासी हैं, उनकी सेवाके विषयमें तो कहना ही क्या है ? (उनकी सेवा करना तो मेरा परम धर्म है ही) ॥

भिक्षूणां गतरागाणां केवलं ज्ञानदर्शिनाम् ।
विशेषेण मया कार्या शुश्रूषा नियतात्मना ॥

'जो केवल ज्ञानदर्शी, वीतराग संन्यासी हैं, उनकी सेवा मुझे विशेषरूपसे मनको वशमें रखते हुए करनी चाहिये ॥

तेषां प्रसादात् तपसा प्राप्स्यामीष्टां शुभां गतिम् ॥
एवमेतद् विनिश्चित्य यदि सेवेत भिक्षुकान् ।
विधिना यथोपदिष्टेन प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

'उनकी कृपा और तपस्यासे मैं मनोवाञ्छित शुभगति प्राप्त कर लूँगा ।' ऐसा निश्चय करके यदि शूद्र पूर्वोक्त विधिसे संन्यासियोंका सेवन करे तो परम गतिको प्राप्त होता है ॥

न तथा सम्प्रदानेन नोपवासादिभिस्तथा ।
इष्टां गतिमवाप्नोति यथा शुश्रूषकर्मणा ॥

शूद्र सेवाकर्मसे जिस मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त कर लेता है, वैसी गति दान तथा उपवास आदिके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥

यादृशेन तु तोयेन शुद्धिं प्रकुरुते नरः ।
तादृग् भवति तद्धौतमुदकस्य स्वभावतः ॥

मनुष्य जैसे जलसे कपड़ा धोता है, उस जलकी स्वच्छताके अनुसार ही वह वस्त्र स्वच्छ होता है ॥

शूद्रोऽप्येतेन मार्गेण यादृशं सेवते जनम् ।
तादृग् भवति संसर्गादचिरेण न संशयः ॥

शूद्र भी इसी मार्गसे चलकर जैसे पुरुषका सेवन करता है, संसर्गवश वह शीघ्र वैसा हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

तस्मात् प्रयत्नतः सेव्या भिक्षवो नियतात्मना ।

अतः शूद्रको चाहिये कि अपने मनको वशमें करके प्रयत्नपूर्वक संन्यासियोंकी सेवा करे ॥

अध्वना कर्शितानां च व्याधितानां तथैव च ॥
शुश्रूषां नियतः कुर्यात् तेषामापदि यत्नतः ।

जो राह चलनेसे थके-माँदे कष्ट पा रहे हों तथा रोगसे पीड़ित हों, उन संन्यासियोंकी उस आपत्तिके समय यत्न और नियमके साथ विशेष सेवा करे ॥

दर्भाजिनान्यवेक्षेत भैक्ष्यभाजनमेव च ॥
यथाकामं च कार्याणि सर्वाण्येवोपसाधयेत् ।

उनके कुशासन, मृगचर्म और भिक्षापात्रकी भी देख-भाल करे तथा उनकी रुचिके अनुसार सारा कार्य करता रहे ॥

प्रायश्चित्तं यथा न स्यात् तथा सर्वं समाचरेत् ॥
व्याधितानां तु प्रयतः चैलप्रक्षालनादिभिः ।
प्रतिकर्मक्रिया कार्या भेषजानयनैस्तथा ।

सब कार्य इस प्रकार सावधानीसे करे, जिससे कोई अपराध न बनने पावे । संन्यासी यदि रोगग्रस्त हो जायँ तो सदा उद्यत रहकर उनके कपड़े धोवे । उनके लिये ओषधि ले आवे तथा उनकी चिकित्साके लिये प्रयत्न करे ॥

भिक्षाटनोऽभिगच्छेत भिषजश्च विपश्चितः ।
ततो विनिष्क्रियार्थानि द्रव्याणि समुपार्जयेत् ॥

भिक्षुक बीमार होनेपर भी भिक्षाटनके लिये जाय । विद्वान् चिकित्सकोंके यहाँ उपस्थित हो तथा रोग-निवारणके लिये उपयुक्त विशुद्ध ओषधियोंका संग्रह करे ॥

यश्च प्रीतमना दद्यादद्याद् भेषजं नरः ।
अश्रद्धया हि दत्तानि तान्यभोज्याणि भिक्षुभिः ॥

जो चिकित्सक प्रसन्नतापूर्वक ओषधि दे, उसीसे संन्यासी-को औषध लेना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक दी हुई ओषधियोंको संन्यासी अपने उपयोगमें न ले ॥

श्रद्धया यदुपादत्तं श्रद्धया चोपपादितम् ।
तस्योपभोगाद् धर्मः स्याद् व्याधिभिश्च निवर्त्यते ॥

जो श्रद्धापूर्वक दी गयी और श्रद्धासे ही ग्रहण की गयी हो, उसी ओषधिके सेवनसे धर्म होता है और रोगोंसे छुटकारा भी मिलता है ॥

आदेहपतनादेवं शुश्रूषेद् विधिपूर्वकम् ।

न त्वेव धर्ममुत्सृज्य कुर्यात् तेषां प्रतिक्रियाम्॥

शूद्रको चाहिये कि जबतक यह शरीर छूट न जाय तबतक इसी प्रकार विधिपूर्वक सेवा करता रहे। धर्मका उल्लङ्घन करके उन साधु-संन्यासियोंके प्रति विपरीत आचरण न करे॥

स्वभावतो हि द्वन्द्वानि विप्रयान्त्युपयान्ति च।
स्वभावतः सर्वभावा भवन्ति न भवन्ति च॥
सागरस्योर्मिसदृशा विज्ञातव्या गुणात्मकाः।

शीत-उष्ण आदि सारे द्वन्द्व स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं, समस्त पदार्थ स्वभावसे ही उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। सारे त्रिगुणमय पदार्थ समुद्रकी लहरोंके समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं॥

विद्यादेवं हि यो धीमांस्तत्त्ववित् तत्त्वदर्शनः॥
न स लिप्येत पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

जो बुद्धिमान् एवं तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसा जानता है, वह जलसे निर्लिप्त रहनेवाले पद्मपत्रके समान पापसे लिप्त नहीं होता॥

एवं प्रयतितव्यं हि शुश्रूषार्थमतन्द्रितैः॥
सर्वाभिरुपसेवाभिस्तुष्यन्ति यतयो यथा।

इस प्रकार शूद्रोंको आलस्यशून्य होकर संन्यासियोंकी सेवाके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह सब प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवाओंद्वारा ऐसी चेष्टा करे, जिससे वे संन्यासी सदा संतुष्ट रहें॥

नापराध्येत भिक्षोस्तु न चैवमवधीरयेत्॥
उत्तरं च न संदध्यात् क्रुद्धं चैव प्रसादयेत्।

भिक्षुका अपराध कभी न करे, उसकी अवहेलना भी न करे, उसकी कड़ी बातका कभी उत्तर न दे और यदि वह कुपित हो तो उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करे॥

श्रेय एवाभिधातव्यं कर्तव्यं च प्रहृष्टवत्॥
तूष्णीम्भावेन वै तत्र न क्रुद्धमभिसंवदेत्।

सदा कल्याणकारी बात ही बोले और प्रसन्नतापूर्वक कल्याणकारी कर्म ही करे। संन्यासी कुपित हो तो उसके सामने चुप ही रहे, बातचीत न करे॥

लब्धालब्धेन जीवेत तथैव परिपोषयेत्।

संन्यासीको चाहिये कि भाग्यसे कोई वस्तु मिले या न मिले, जो कुछ प्राप्त हो उसीसे जीवन-निर्वाह एवं शरीरका पोषण करे॥

कोपिनं तु न याचेत ज्ञानविद्वेषकारितः॥
स्थावरेषु दयां कुर्याज्जङ्गमेषु च प्राणिषु।
यथाऽऽत्मनि तथान्येषु समां दृष्टिं निपातयेत्॥

जो क्रोधी हो, उससे किसी वस्तुकी याचना न करे। जो ज्ञानसे द्वेष रखता हो, उससे भी कोई वस्तु न माँगे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंपर दया करे। जैसे अपने ऊपर उसी प्रकार दूसरोंपर समतापूर्ण दृष्टि डाले॥

पुण्यतीर्थानुसेवी च नदीनां पुलिनाश्रयः।
शून्यागारनिकेतश्च वनवृक्षगुहाशयः॥
अरण्यानुचरो नित्यं वेदारण्यनिकेतनः।
एकरात्रं द्विरात्रं वा न क्वचित् सज्जते द्विजः॥

संन्यासी पुण्यतीर्थोंका निरन्तर सेवन करे, नदियोंके तटपर कुटी बनाकर रहे। अथवा सूने घरमें डेरा डाले। वनमें वृक्षोंके नीचे अथवा पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करे। सदा वनमें विचरण करे। वेदरूपी वनका आश्रय ले, किसी भी स्थानमें एक रात या दो रातसे अधिक न रहे। कहीं भी आसक्त न हो॥

शीर्णपर्णपुटे वापि वन्ये चरति भिक्षुकः।
न भोगार्थमनुप्रेत्य यात्रामात्रं समश्नुते॥

संन्यासी जंगली फल-मूल अथवा सूखे पत्तेका आहार करे। वह भोगके लिये नहीं, शरीरयात्राके निर्वाहके लिये भोजन करे॥

धर्मलब्धं समश्नाति न कामान् किंचिदश्नुते।
युगमात्रदृगध्वानं क्रोशादूर्ध्वं न गच्छति॥

वह धर्मतः प्राप्त अन्नका ही भोजन करे। कामनापूर्वक कुछ भी न खाय। रास्ता चलते समय वह दो हाथ आगे-तककी भूमिपर ही दृष्टि रक्खे और एक दिनमें एक कोससे अधिक न चले॥

समो मानापमानाभ्यां समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सर्वभूताभयकरस्तथैवाभयदक्षिणः॥

मान हो या अपमान—वह दोनों अवस्थाओंमें समान भावसे रहे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको एक समान समझे। समस्त प्राणियोंको निर्भय करे और सबको अभयकी दक्षिणा दे॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निरानन्दपरिग्रहः।
निर्ममो निरहङ्कारः सर्वभूतनिराश्रयः॥

शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंमें निर्विकार रहे, किसीको नमस्कार न करे। सांसारिक सुख और परिग्रहसे दूर रहे। ममता और अहंकारको त्याग दे। समस्त प्राणियोंमेंसे किसीके भी आश्रित न रहे॥

परिसंख्यानतत्त्वज्ञस्तथा सत्यरतिः सदा।
ऊर्ध्वं नाधो न तिर्यक् च न किंचिदभिकामयेत्॥

वस्तुओंके स्वरूपके विषयमें विचार करके उनके तत्त्वको

जाने। सदा सत्यमें अनुरक्त रहे। ऊपर, नीचे या अगल-बगलमें कहीं किसी वस्तुकी कामना न करे ॥

एवं संचरमाणस्तु यतिधर्मं यथाविधि।
कालस्य परिणामात् तु यथा पक्वफलं तथा ॥
स विसृज्य स्वकं देहं प्रविशेद् ब्रह्म शाश्वतम्।

इस प्रकार विधिपूर्वक यतिधर्मका पालन करनेवाला संन्यासी कालके परिणामवश अपने शरीरको पके हुए फलकी भाँति त्यागकर सनातन ब्रह्ममें प्रविष्ट हो जाता है ॥

निरामयमनाद्यन्तं गुणसौम्यमचेतनम् ॥
निरक्षरमबीजं च निरिन्द्रियमजं तथा।
अजय्यमक्षरं यत् तदभेद्यं सूक्ष्ममेव च ॥
निर्गुणं च प्रकृतिमन्निर्विकारं च सर्वशः।
भूतभव्यभविष्यस्य कालस्य परमेश्वरम् ॥
अव्यक्तं पुरुषं क्षेत्रमानन्त्याय प्रपद्यते।

वह ब्रह्म निरामय, अनादि, अनन्त, सौम्यगुणसे युक्त, चेतनासे ऊपर उठा हुआ, अनिर्वचनीय, बीजहीन, इन्द्रियातीत, अजन्मा, अजेय, अविनाशी, अभेद्य, सूक्ष्म, निर्गुण, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, भूत, वर्तमान और भविष्य कालका स्वामी तथा परमेश्वर है। वही अव्यक्त, अन्तर्यामी पुरुष और क्षेत्र भी है। जो उसे जान लेता है, वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥

एवं स भिक्षुर्निर्वाणं प्राप्नुयाद् दग्धकिल्बिषः॥
इहस्थो देहमुत्सृज्य नीडं शकुनिवद् यथा।

इस प्रकार वह भिक्षु घोंसला छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति यहीं इस शरीरको त्यागकर समस्त पापोंको ज्ञानाग्निसे दग्ध कर देनेके कारण निर्वाण—मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्॥
नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्।

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता है तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है ॥

शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम् ॥
तथाशुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते।

जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी ही प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है ॥

तथा शुभसमाचारो ह्यशुभानि विवर्जयेत् ॥
शुभान्येव समादद्याद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।

अतः जो अपना कल्याण चाहता हो, वह शुभकर्मोंका ही आचरण करे। अशुभ कर्मोंको त्याग दे। ऐसा करनेसे वह शुभ फलोंको ही प्राप्त करेगा ॥

तस्मादागमसम्पन्नो भवेत् सुनियतेन्द्रियः ॥
शक्यते ह्यागमादेव गतिं प्राप्तुमनामयाम्।

मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न हो। शास्त्रके ज्ञानसे ही मनुष्यको अनामय गतिकी प्राप्ति हो सकती है ॥

परा चैषा गतिर्दृष्टा यामन्वेषन्ति साधवः ॥
यत्रामृतत्वं लभते त्यक्त्वा दुःखमनन्तकम्।

साधु पुरुष जिसका अन्वेषण करते हैं, वह परमगति शास्त्रोंमें देखी गयी है। जहाँ पहुँचकर मनुष्य अनन्त दुःखका परित्याग करके अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है ॥

इमं हि धर्ममास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ॥
स्त्रियो वैश्यास्च शूद्राश्च प्राप्नुयुः परमां गतिम्।

इस धर्मका आश्रय लेकर पापयोनिमें उत्पन्न हुए पुरुष तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी परमगतिको प्राप्त कर लेते हैं ॥

किं पुनर्ब्राह्मणो विद्वान् क्षत्रियो वा बहुश्रुतः ॥
न चाप्यक्षीणपापस्य ज्ञानं भवति देहिनः।
ज्ञानोपलब्धिर्भवति कृतकृत्यो यदा भवेत् ॥

फिर जो विद्वान् ब्राह्मण अथवा बहुश्रुत क्षत्रिय है, उसकी सद्गतिके विषयमें क्या कहना है। जिस देहधारीके पाप क्षीण नहीं हुए हैं, उसे ज्ञान नहीं होता। जब मनुष्यको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह कृतकृत्य हो जाता है ॥

उपलभ्य तु विज्ञानं ज्ञानं वाप्यनसूयकः।
तथैव वर्तेद् गुरुषु भूयांसं वा समाहितः ॥

ज्ञान या विज्ञानको प्राप्त कर लेनेपर भी दोषदृष्टिसे रहित हो गुरुजनोंके प्रति पहले ही-जैसा सद्भाव रक्खे। अथवा एकाग्रचित्त होकर पहलेसे भी अधिक श्रद्धाभाव रक्खे॥

यथावमन्येत गुरुं तथा तेषु प्रवर्तते।
व्यर्थमस्य श्रुतं भवति ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत् ॥

शिष्य जिस तरह गुरुका अपमान करता है, उसी प्रकार गुरु भी शिष्योंके प्रति बर्ताव करता है। अर्थात् शिष्यको अपने कर्मके अनुसार फल मिलता है। गुरुका अपमान करनेवाले शिष्यका किया हुआ वेद-शास्त्रोंका अध्ययन व्यर्थ हो जाता है। उसका सारा ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणत हो जाता है ॥

गतिं चाप्यशुभां गच्छेन्निरयाय न संशयः।
प्रक्षीयते तस्य पुण्यं ज्ञानमस्य विरुध्यते ॥

वह नरकमें जानेके लिये अशुभ मार्गको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। उसका पुण्य नष्ट हो जाता है और ज्ञान अज्ञान हो जाता है ॥

अदृष्टपूर्वकल्याणो यथादृष्टविधिर्नरः ॥
उत्सेकान्मोहमापन्न तत्त्वज्ञानं न चाप्नुयात्।

जिसने पहले कभी कल्याणका दर्शन नहीं किया है ऐसा मनुष्य शास्त्रोक्त विधिको न देखनेके कारण अभिमानवश मोहको प्राप्त हो जाता है। अतः उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ॥

एवमेव हि नोत्सेकः कर्तव्यो ज्ञानसम्भवः ॥
फलं ज्ञानस्य हि शमः प्रशमाय यतेत् सदा।

अतः किसीको भी ज्ञानका अभिमान नहीं करना चाहिये। ज्ञानका फल है शान्ति, इसलिये सदा शान्तिके लिये ही प्रयत्न करे ॥

उपशान्तेन दान्तेन क्षमायुक्तेन सर्वदा ॥
शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या नित्यमेवानसूयता।

मनका निग्रह और इन्द्रियोंका संयम करके सदा क्षमाशील तथा अदोषदर्शी होकर गुरुजनोंकी सेवा करनी चाहिये॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥
इन्द्रियार्थांश्च मनसा मनो बुद्धौ समादधेत्।

धैर्यके द्वारा उपस्थ और उदरकी रक्षा करे। नेत्रोंके द्वारा हाथ और पैरोंकी रक्षा करे। मनसे इन्द्रियोंके विषयोंको बचावे और मनको बुद्धिमें स्थापित करे ॥

धृत्याऽऽसीत ततो गत्वा शुद्धदेशं सुसंवृतम् ॥
लब्ध्वाऽऽसनं यथादृष्टं विधिपूर्वं समाचरेत्।

पहले शुद्ध एवं घिरे हुए स्थानमें जाकर आसन ले, उसके ऊपर धैर्यपूर्वक बैठे और शास्त्रोक्त विधिके अनुसार ध्यानके लिये प्रयत्न करे ॥

ज्ञानयुक्तस्तथा देवं हृदिस्थमुपलक्षयेत् ॥
आदीप्यमानं वपुषा विधूममनलं यथा।
रश्मिमन्तमिवादित्यं वैद्युताग्निमिवाम्बरे ॥
संस्थितं हृदये पश्येदीशं शाश्वतमव्ययम्।

विवेकयुक्त साधक अपने हृदयमें विराजमान परमात्मदेवका साक्षात्कार करे। जैसे आकाशमें विद्युत्का प्रकाश देखा जाता है तथा जिस प्रकार किरणोंवाले सूर्य प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार उस परमात्मदेवको धूमरहित अग्निकी भाँति तेजस्वी स्वरूपसे प्रकाशित देखे। हृदयदेशमें विराजमान उन अविनाशी सनातन परमेश्वरका बुद्धिरूपी नेत्रोंके द्वारा दर्शन करे ॥

न चायुक्तेन शक्योऽयं द्रष्टुं देहे महेश्वरः ॥
युक्तस्तु पश्यते बुद्ध्या संनिवेश्य मनो हृदि।

जो योगयुक्त नहीं है ऐसा पुरुष अपने हृदयमें विराजमान उस महेश्वरका साक्षात्कार नहीं कर सकता। योगयुक्त पुरुष ही मनको हृदयमें स्थापित करके बुद्धिके द्वारा उस अन्तर्यामी परमात्माका दर्शन करता है ॥

अथ त्वेवं न शक्नोति कर्तुं हृदयधारणम् ॥
यथासांख्यमुपासीत यथावद् योगमास्थितः।

यदि इस प्रकार हृदयदेशमें ध्यान-धारणा न कर सके तो यथावत्‌रूपसे योगका आश्रय ले सांख्यशास्त्रके अनुसार उपासना करे ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीह पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥
पञ्च भूतविशेषाश्च मनश्चैव तु षोडश।

इस शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत और सोलहवाँ मन—ये सोलह विकार हैं ॥

तन्मात्राण्यपि पञ्चैव मनोऽहङ्कार एव च ॥
अष्टमं चाप्यथाव्यक्तमेताः प्रकृतिसंज्ञिताः।

पाँच तन्मात्राएँ, मन, अहंकार और अव्यक्त—ये आठ प्रकृतियाँ हैं ॥

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ॥
एवमेतदिहस्थेन विज्ञेयं तत्त्वबुद्धिना।
एवं वर्ष्म समुत्तीर्य तीर्णो भवति नान्यथा ॥

ये आठ प्रकृतियाँ और पूर्वोक्त सोलह विकार—इन चौबीस तत्त्वोंको यहाँ रहनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषको जानना चाहिये। इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका विवेक हो जानेसे मनुष्य शरीरके बन्धनसे ऊपर उठकर भवसागरसे पार हो जाता है, अन्यथा नहीं ॥

परिसंख्यानमेवैतन्मन्तव्यं ज्ञानबुद्धिना।
अहन्यहनि शान्तात्मा पावनाय हिताय च ॥
एवमेव प्रसंख्याय तत्त्वबुद्धिर्विमुच्यते।

ज्ञानयुक्त बुद्धिवाले पुरुषको यही सांख्ययोग मानना चाहिये। प्रतिदिन शान्तचित्त हो अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाने और अपना हित साधन करनेके लिये इसी प्रकार उपर्युक्त तत्त्वोंका विचार करनेसे मनुष्यको यथार्थ तत्त्वका बोध हो जाता है और वह बन्धनसे छूट जाता है ॥

निष्कलं केवलं भवति शुद्धतत्त्वार्थतत्त्ववित् ॥

शुद्ध तत्त्वार्थको तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष अवयवरहित अद्वितीय ब्रह्म हो जाता है ॥

सत्संनिकर्षे परिवर्तितव्यं
विद्याधिकाश्चापि निषेवितव्याः।
सवर्णतां गच्छति संनिकर्षा-
च्छीलः खगो मेरुमिवाश्रयन् वै ॥

मनुष्यको सदा सत्पुरुषोंके समीप रहना चाहिये। विद्यामें बढ़े-चढ़े पुरुषोंका सेवन करना चाहिये। जो जिसके

निकट रहता है, उसके समान वर्णका हो जाता है। जैसे नील पक्षी मेरु पर्वतका आश्रय लेनेसे सुवर्णके समान रंगका हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

इत्येवमाख्याय महामुनिस्तदा चतुर्षु वर्णेषु विधानमर्थवित्।
शुश्रूषया वृत्तगतिं समाधिना समाधियुक्तः प्रययौ स्वमाश्रमम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले महामुनि पराशर इस प्रकार चारों वर्णोंके लिये कर्तव्यका विधान बताकर तथा शुश्रूषा और समाधिसे प्राप्त होनेवाली गतिका निरूपण करके एकाग्रचित्त हो अपने आश्रमको चले गये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सबके पूजनीय और वन्दनीय कौन हैं—इस विषयमें इन्द्र और मातलिका संवाद]

युधिष्ठिर उवाच

केषां देवा महाभागाः संनमन्ते महात्मनाम्।
लोकेऽस्मिंस्तानृषीन् सर्वाञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! इस लोकमें महाभाग देवता किन महात्माओंको मस्तक झुकाते हैं? मैं उन समस्त ऋषियोंका यथार्थ परिचय सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

इतिहासमिमं विप्राः कीर्तयन्ति पुराविदः।
अस्मिन्नर्थे महाप्राज्ञास्तं निबोध युधिष्ठिर ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले महाज्ञानी ब्राह्मण इस इतिहासका वर्णन करते हैं। तुम उस इतिहासको सुनो ॥

वृत्रं हत्वाप्युपावृत्तं त्रिदशानां पुरस्कृतम्।
महेन्द्रमनुसम्प्राप्तं स्तूयमानं महर्षिभिः ॥
श्रिया परमया युक्तं रथस्थं हरिवाहनम्।
मातलिः प्राञ्जलिर्भूत्वा देवमिन्द्रमुवाच ह ॥

जब इन्द्र वृत्रासुरको मारकर लौटे, उस समय देवता उन्हें आगे करके खड़े थे। महर्षिगण महेन्द्रकी स्तुति करते थे। हरित वाहनोंवाले देवराज इन्द्र रथपर बैठकर उत्तम शोभासे सम्पन्न हो रहे थे। उसी समय मातलिने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रसे कहा ॥

मातलिरुवाच

नमस्कृतानां सर्वेषां भगवंस्त्वं पुरस्कृतः।
येषां लोके नमस्कुर्यात् तान् ब्रवीतु भवान् मम ॥

मातलि बोले—भगवन्! जो सबके द्वारा वन्दित होते हैं, उन समस्त देवताओंके आप अगुआ हैं; परंतु आप भी इस जगत्‌में जिनको मस्तक झुकाते हैं, उन महात्माओंका मुझे परिचय दीजिये ॥

भीष्म उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा देवराजः शचीपतिः।
यन्तारं परिपृच्छन्तं तमिन्द्रः प्रत्युवाच ह ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मातलिकी वह बात सुनकर शचीपति देवराज इन्द्रने उपर्युक्त प्रश्न पूछनेवाले अपने सारथिसे इस प्रकार कहा ॥

इन्द्र उवाच

धर्मं चार्थं च कामं च येषां चिन्तयतां मतिः।
नाधर्मे वर्तते नित्यं तान् नमस्यामि मातले ॥

इन्द्र बोले—मातले! धर्म, अर्थ और कामका चिन्तन करते हुए भी जिनकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती, मैं प्रतिदिन उन्हींको नमस्कार करता हूँ ॥

ये रूपगुणसम्पन्नाः प्रमदाहृदयङ्गमाः।
निवृत्ताः कामभोगेषु तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले! जो रूप और गुणसे सम्पन्न हैं तथा युवतियोंके हृदय-मन्दिरमें हठात् प्रवेश कर जाते हैं—अर्थात् जिन्हें देखते ही युवतियाँ मोहित हो जाती हैं, ऐसे पुरुष यदि काम-भोगसे दूर रहते हैं तो मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥

स्वेषु भोगेषु संतुष्टाः सुवाचो वचनक्षमाः।
अमानकामाश्चार्घ्यार्हास्तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले! जो अपनेको प्राप्त हुए भोगोंमें ही संतुष्ट हैं—दूसरोंसे अधिककी इच्छा नहीं रखते। जो सुन्दर वाणी बोलते हैं और प्रवचन करनेमें कुशल हैं, जिनमें अहंकार और कामनाका सर्वथा अभाव है तथा जो सबसे अर्घ्य पानेके योग्य हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥

धनं विद्यास्तथैश्वर्यं येषां न चलयेन्मतिम्।
चलितां ये निगृह्णन्ति तान् नित्यं पूजयाम्यहम् ॥

धन, विद्या और ऐश्वर्य जिनकी बुद्धिको विचलित नहीं कर सकते तथा जो चञ्चल हुई बुद्धिको भी विवेकसे काबूमें कर लेते हैं, उनकी मैं नित्य पूजा करता हूँ ॥

इष्टैर्दारैरुपेतानां शुचीनामग्निहोत्रिणाम्।
चतुष्पादकुटुम्बानां मातले प्रणमाम्यहम् ॥

मातले! जो प्रिय पत्नीसे युक्त हैं, पवित्र आचार-विचारसे रहते हैं, नित्य अग्निहोत्र करते हैं और जिनके कुटुम्बमें चौपायों (गौ आदि पशुओं) का भी पालन होता है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

येषामर्थस्तथा कामो धर्ममूलविवर्धितः।
धर्मार्थौ यस्य नियतौ तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले ! जिनका अर्थ और काम धर्ममूलक होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ है तथा जिसके धर्म और अर्थ नियत हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥

धर्ममूलार्थकामानां ब्राह्मणानां गवामपि।
पतिव्रतानां नारीणां प्रणामं प्रकरोम्यहम् ॥

धर्ममूलक धनकी कामना रखनेवाले ब्राह्मणोंको तथा गौओं और पतिव्रता नारियोंको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥

ये भुक्त्वा मानुषान् भोगान् पूर्वे वयसि मातले।
तपसा स्वर्गमायान्ति शश्वत् तान् पूजयाम्यहम् ॥

मातले ! जो जीवनकी पूर्व अवस्थामें मानवभोगोंका उपभोग करके तपस्याद्वारा स्वर्गमें आते हैं, उनका मैं सदा ही पूजन करता हूँ ॥

असम्भोगान्न चासक्तान् धर्मनित्याञ्जितेन्द्रियान्।
संन्यस्तानचलप्रख्यान् मनसा पूजयामि तान् ॥

जो भोगोंसे दूर रहते हैं, जिनकी कहीं भी आसक्ति नहीं है, जो सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं, जो सच्चे संन्यासी हैं और पर्वतोंके समान कभी विचलित नहीं होते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंकी मैं मनसे पूजा करता हूँ ॥

ज्ञानप्रसन्नविद्यानां निरूढं धर्ममिच्छताम्।
परैः कीर्तितशौचानां मातले तान् नमाम्यहम् ॥

मातले ! जिनकी विद्या ज्ञानके कारण स्वच्छ है, जो सुप्रसिद्ध धर्मके पालनकी इच्छा रखते हैं तथा जिनके शौचाचारकी प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सरोवर खोदाने और वृक्ष लगानेका माहात्म्य]

युधिष्ठिर उवाच

संस्कृतानां तटाकानां यत् फलं कुरुपुङ्गव।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कुरुपुङ्गव ! भरतश्रेष्ठ ! सरोवरोंके बनानेका जो फल है, उसे आज मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

सुप्रदर्शो धनपतिश्चित्रधातुविभूषितः।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजितो यस्तटाकवान् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो तालाब बनवाता है, वह पुरुष विचित्र धातुओंसे विभूषित धनाध्यक्ष कुबेरके समान दर्शनीय है। वह तीनों लोकोंमें सर्वत्र पूजित होता है ॥

इह चामुत्र सदनं पुत्रीयं वित्तवर्धनम्।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तटाकानां निवेशनम् ॥

तालाबका संस्थापन श्रेष्ठ एवं कीर्तिजनक है। वह इस लोक और परलोकमें भी उत्तम निवासस्थान है। वह पुत्रका घर तथा धनकी वृद्धि करनेवाला है ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः।
तटाकं सुकृतं देशे क्षेत्रे देशसमाश्रयम् ॥

मनीषी पुरुषोंने सरोवरोंको धर्म, अर्थ और काम तीनोंका फल देनेवाला बताया है। तालाब देशमें मूर्तिमान् पुण्य-स्वरूप है और क्षेत्रमें देशका भारी आश्रय है ॥

चतुर्विधानां भूतानां तटाकमुपलक्षये।
तटाकानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥

मैं तालाबको चारों (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज) प्रकारके प्राणियोंके लिये उपयोगी देखता हूँ। जगत्‌में जितने भी सरोवर हैं, वे सभी उत्तम सम्पत्ति प्रदान करते हैं ॥५॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस तथा स्थावर भूत—ये सभी जलाशयका आश्रय लेते हैं ॥

तस्मात्तांस्ते प्रवक्ष्यामि तटाके ये गुणाः स्मृताः।
या च तत्र फलप्राप्तिः ऋषिभिः समुदाहृता ॥

अतः सरोवर खोदवानेमें जो गुण हैं, उन सबका मैं तुमसे वर्णन करूँगा तथा ऋषियोंने तालाब खोदानेसे जिन फलोंकी प्राप्ति बतायी है, उनका भी परिचय दे रहा हूँ ॥

वर्षमात्रं तटाके तु सलिलं यत्र तिष्ठति।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥

जिस सरोवरमें एक वर्षतक पानी ठहरता है, उसका फल मनीषी पुरुषोंने अग्निहोत्र बताया है अर्थात् उसे खोदानेवालेको प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेका पुण्य प्राप्त होता है ॥

निदाघकाले सलिलं तटाके यस्य तिष्ठति।
वाजपेयफलं तस्य फलं वै ऋषयोऽब्रुवन् ॥

जिसके तालाबमें गर्मीभर जल रहता है, उसके लिये ऋषियोंने वाजपेय यज्ञके फलकी प्राप्ति बतायी है ॥

स्वकुलं तारयेद् वंशं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति पानीयं साधवश्च नराः सदा ॥

जिसके खोदवाये हुए सरोवरमें सदा साधुपुरुष तथा गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने कुलको तार देता है ॥

तटाके यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम् ।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

जिसके जलाशयमें प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा तृषित मृग, पक्षी एवं मनुष्य अपनी प्यास बुझाते हैं, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥

यत् पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च ।
तटाककर्तुस्तत् सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥

मनुष्य उस तालावमें जो जल पीते, स्नान करते और तटपर विश्राम लेते हैं, वह सारा पुण्य सरोवर बनवानेवालेको परलोकमें अक्षय होकर मिलता है ॥

दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परंतप ।
पानीयस्य प्रदानेन सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले तात ! जल विशेषरूपसे दुर्लभ वस्तु है; अतः जलदान करनेसे शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है ॥

तिलान् ददत पानीयं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
बान्धवैः सह मोदध्वमेतत् प्रेतेषु दुर्लभम् ॥

तिल, जल, दीप, अन्न और रहनेके लिये घर दान करो तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ सदा आनन्दित रहो, क्योंकि ये सब वस्तुएँ मरे हुओंके लिये दुर्लभ हैं ॥

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥

नरश्रेष्ठ ! जलका दान सभी दानोंसे गुरुतर है । वह समस्त दानोंसे बढ़कर है; अतः उसका दान अवश्य ही करना चाहिये ॥

एवमेतत् तटाकेषु कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामपि रोपणे ॥

इस प्रकार यह सरोवर खोदानेका उत्तम फल बताया गया है । इसके बाद वृक्ष लगानेका फल भली प्रकार बताऊँगा ॥

स्थावराणां तु भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारतृणवीरुधः ॥
एता जात्यस्तु वृक्षाणामेषां रोपगुणास्त्विमे ।

स्थावर भूतोंकी छः जातियाँ बतायी गयी हैं,—वृक्ष गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार तथा तृण, वीरुध—ये वृक्षोंकी जातियाँ हैं । इनके लगानेसे ये-ये गुण बताये गये हैं ॥

पनसाम्रादयो वृक्षा गुल्मा मन्दारपूर्वकाः ॥
नागिकामलियावल्ल्यो मालतीत्यादिका लताः ।
वेणुक्रमुकत्वक्साराः सस्यानि तृणजातयः ॥

कटहल और आम आदि वृक्ष जातिके अन्तर्गत हैं । मन्दार आदि गुल्म कोटिमें माने गये हैं । नागिका, मलिया आदि वल्लीके अन्तर्गत हैं । मालती आदि लताएँ हैं । बाँस और सुपारी आदिके पेड़ त्वक्सार जातिके अन्तर्गत हैं । खेतमें जो घास और अनाज उगते हैं, वे सब तृण जातिमें अन्तर्भूत हैं ॥

कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव शुभं फलम् ।
लभ्यते नाकपृष्ठे च पितृभिश्च महीयते ॥
देवलोकगतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ।
अतीतानागतांश्चैव पितृवंशांश्च भारत ॥
तारयेद् वृक्षरोपी तु तस्माद् वृक्षान् प्ररोपयेत् ।

भरतनन्दन ! वृक्ष लगानेसे मनुष्यलोकमें कीर्ति बनी रहती है और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति होती है । वृक्ष लगानेवाला पुरुष पितरोंद्वारा भी सम्मानित होता है । देवलोकमें जानेपर भी उसका नाम नहीं नष्ट होता । वह अपने बीते हुए पूर्वजों और आनेवाली संतानोंको भी तार देता है । अतः वृक्ष अवश्य लगाने चाहिये ॥

तस्य पुत्रा भवन्त्येव पादपा नात्र संशयः ॥
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ।

जिसके कोई पुत्र नहीं हैं, उसके भी वृक्ष ही पुत्र होते हैं; इसमें संशय नहीं है । वृक्ष लगानेवाला पुरुष परलोकमें जानेपर स्वर्गमें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥

पुष्पैः सुरगणान् वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन् ॥
छायया चातिथीं स्तात पूजयन्ति महीरुहाः ।

तात ! वृक्ष अपने फूलोंसे देवताओंका, फलोंसे पितरोंका तथा छायासे अतिथियोंका सदा पूजन करते रहते हैं ॥

किंनरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः ॥
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ते महीरुहान् ।

किंनर, नाग, राक्षस, देव, गन्धर्व, मनुष्य तथा ऋषिगण भी वृक्षोंका आश्रय लेते हैं ॥

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ॥
वृक्षदान् पुत्रवद् वृक्षाः तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात् तटाके वृक्षा वै रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ॥

फल और फूलोंसे भरे हुए वृक्ष इस जगत्में मनुष्योंको तृप्त करते हैं । जो वृक्ष दान करते हैं, उनके वे वृक्ष परलोकमें पुत्रकी भाँति पार उतारते हैं । अतः कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा ही सरोवरके किनारे वृक्ष लगाना चाहिये ॥

पुत्रवत् परिरक्ष्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।
तटाककृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ॥
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ।

वृक्ष लगाकर उनकी पुत्रोंकी भाँति रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि वे धर्मतः पुत्र माने गये हैं। जो तालाब बनवाता है और जो उसके किनारे वृक्ष लगाता है, जो द्विज यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा दूसरे जो लोग सत्यभाषण करनेवाले हैं—वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं ॥

तस्मात् तटाकं कुर्वीत आरामांश्चापि योजयेत् ॥
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च विधिवद् वदेत् ।

इसलिये सरोवर खोदावे और उसके तटपर बगीचे भी लगावे। सदा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करे और विधिपूर्वक सत्य बोले ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि छत्रोपानद् दानप्रशंसा नाम षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छत्रदान और उपानहद्‌दानकी प्रशंसानामक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १७५½ श्लोक मिलाकर कुल १९७½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

गृहस्थधर्म, पञ्चयज्ञ-कर्मके विषयमें पृथ्वीदेवी और भगवान् श्रीकृष्णका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
ऋद्धिमाप्नोति किं कृत्वा मनुष्य इह पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीनाथ ! अब आप मुझे गृहस्थ-आश्रमके सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश कीजिये। मनुष्य कौन-सा कर्म करके इहलोकमें समृद्धिका भागी होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तं जनाधिप ।
वासुदेवस्य संवादं पृथिव्याश्चैव भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! भरतनन्दन ! इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण और पृथ्वीका संवादरूप एक प्राचीन वृत्तान्त बता रहा हूँ ॥ २ ॥

संस्तुत्य पृथिवीं देवीं वासुदेवः प्रतापवान् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ मां त्वं यत् पृच्छसेऽद्य वै ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने पृथ्वी-देवीकी स्तुति करके उनसे यही बात पूछी थी, जो आज तुम मुझसे पूछते हो ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य मया वा मद्विधेन वा ।
किमवश्यं धरे कार्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—वसुन्धरे ! मुझको या मेरे-जैसे किसी दूसरे मनुष्यको गार्हस्थ्य-धर्मका आश्रय लेकर किस कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ? क्या करनेसे गृहस्थको सफलता मिलती है ? ॥ ४ ॥

पृथिव्युवाच

ऋषयः पितरो देवा मनुष्याश्चैव माधव ।
इज्याश्चैवार्चनीयाश्च यथा चैव निबोध मे ॥ ५ ॥

पृथ्वीने कहा—माधव ! गृहस्थ पुरुषको सदा ही देवताओं, पितरों, ऋषियों और अतिथियोंका पूजन एवं सत्कार करना चाहिये। यह सब कैसे करना चाहिये ! सो बता रही हूँ; सुनिये ॥ ५ ॥

सदा यज्ञेन देवांश्च सदाऽऽतिथ्येन मानुषान् ।
छन्दतश्च यथा नित्यमर्हान् भुञ्जीत नित्यशः ॥ ६ ॥

प्रतिदिन यज्ञ-होमके द्वारा देवताओंका, अतिथि-सत्कारके द्वारा मनुष्योंका (श्राद्ध-तर्पण करके पितरोंका) तथा वेदोंका नित्य स्वाध्याय करके पूजनीय ऋषि-महर्षियोंका यथाविधि पूजन और सत्कार करना चाहिये। इसके बाद नित्य भोजन करना उचित है ॥ ६ ॥

तेन ह्यृषिगणाः प्रीता भवन्ति मधुसूदन ।
नित्यमग्निं परिचरेदभुक्त्वा बलिकर्म च ॥ ७ ॥
कुर्यात् तथैव देवा वै प्रीयन्ते मधुसूदन ।
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ॥ ८ ॥
पयोमूलफलैर्वापि पितॄणां प्रीतिमाहरन् ।

मधुसूदन ! स्वाध्यायसे ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता होती है। प्रतिदिन भोजनके पहले ही अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव कर्म करे। इससे देवता संतुष्ट होते हैं। पितरोंकी प्रसन्नताके लिये प्रतिदिन अन्न, जल, दूध अथवा फल-मूलके द्वारा श्राद्ध करना उचित है ॥ ७-८½ ॥

सिद्धान्नाद् वैश्वदेवं वै कुर्यादग्नौ यथाविधि ॥ ९ ॥

सिद्ध अन्न (तैयार हुई रसोई) मेंसे अन्न लेकर उसके द्वारा विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिये ॥ ९ ॥

अग्नीषोमं वैश्वदेवं धान्वन्तर्यमनन्तरम् ।
प्रजानां पतये चैव पृथग्घोमो विधीयते ॥ १० ॥

पहले अग्नि और सोमको, फिर विश्वेदेवोंको, तदनन्तर धन्वन्तरिको, तत्पश्चात् प्रजापतिको पृथक्-पृथक् आहुति देनेका विधान है ॥ १० ॥

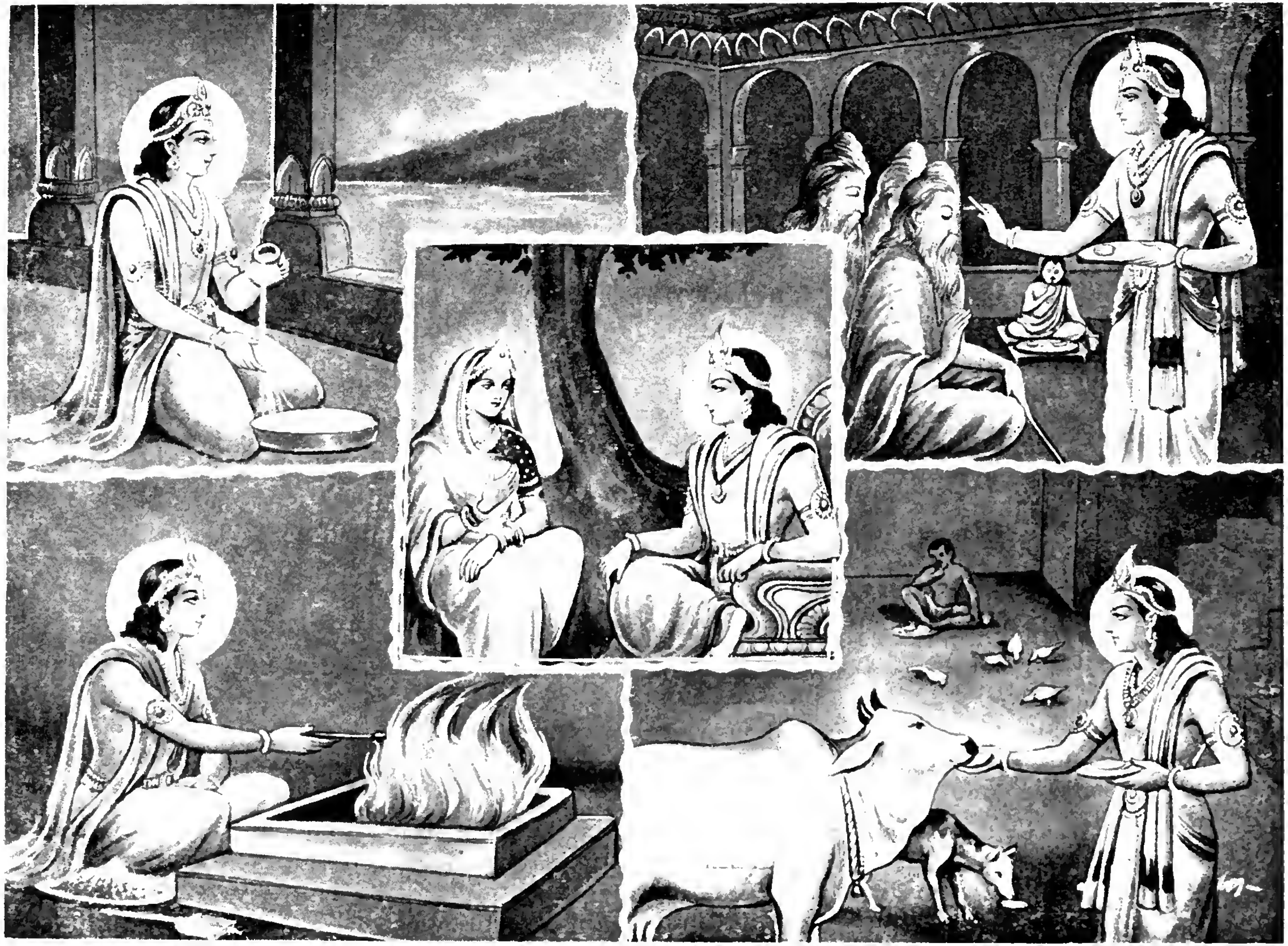

गृहस्थ-धर्मके सम्बन्धमें श्रीकृष्णका पृथ्वीके साथ संवाद

तथैव चानुपूर्व्येण बलिकर्म प्रयोजयेत् ।
दक्षिणायां यमायेति प्रतीच्यां वरुणाय च ॥ ११ ॥
सोमाय चाप्युदीच्यां वै वास्तुमध्ये प्रजापतेः ।
धन्वन्तरेः प्रागुदीच्यां प्राच्यां शक्राय माधव ॥ १२ ॥

इसी प्रकार क्रमशः बलिकर्मका प्रयोग करे । माधव ! दक्षिण दिशामें यमको, पश्चिममें वरुणको, उत्तर दिशामें सोमको, वास्तुके मध्यभागमें प्रजापतिको, ईशानकोणमें धन्वन्तरिको और पूर्वदिशामें इन्द्रको बलि समर्पित करे ॥ ११-१२ ॥

मनुष्येभ्य इति प्राहुर्बलिं द्वारि गृहस्य वै ।
मरुद्भ्यो दैवतेभ्यश्च बलिमन्तर्गृहे हरेत् ॥ १३ ॥

घरके दरवाजेपर सनकादि मनुष्योंके लिये बलि देनेका विधान है । मरुद्गणों तथा देवताओंको घरके भीतर बलि समर्पित करनी चाहिये ॥ १३ ॥

तथैव विश्वेदेवेभ्यो बलिमाकाशतो हरेत् ।
निशाचरेभ्यो भूतेभ्यो बलिं नक्तं तथा हरेत् ॥ १४ ॥

विश्वेदेवोंके लिये आकाशमें बलि अर्पित करे । निशाचरों और भूतोंके लिये रातमें बलि दे ॥ १४ ॥

एवं कृत्वा बलिं सम्यग् दद्याद् भिक्षां द्विजाय वै ।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार बलि समर्पण करके ब्राह्मणको विधिपूर्वक भिक्षा दे । यदि ब्राह्मण न मिले तो अन्नमेंसे थोड़ा-सा अग्रग्रास निकालकर उसका अग्निमें होम कर दे ॥ १५ ॥

यदा श्राद्धं पितृभ्योऽपि दातुमिच्छेत मानवः ।
तदा पश्चात् प्रकुर्वीत निवृत्ते श्राद्धकर्मणि ॥ १६ ॥
पितॄन् संतर्पयित्वा तु बलिं कुर्याद् विधानतः ।
वैश्वदेवं ततः कुर्यात् पश्चाद् ब्राह्मणवाचनम् ॥ १७ ॥

जिस दिन पितरोंका श्राद्ध करनेकी इच्छा हो, उस दिन पहले श्राद्धकी क्रिया पूरी करे । उसके बाद पितरोंका तर्पण करके विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव-कर्म करे । तदनन्तर ब्राह्मणोंको सत्कारपूर्वक भोजन करावे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽन्नेन विशेषेण भोजयेदतिथीनपि ।
अर्चापूर्वं महाराज ततः प्रीणाति मानवान् ॥ १८ ॥

महाराज ! इसके बाद विशेष अन्नके द्वारा अतिथियोंको भी सम्मानपूर्वक भोजन करावे । ऐसा करनेसे गृहस्थ पुरुष सम्पूर्ण मनुष्योंको संतुष्ट करता है ॥ १८ ॥

अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ।
आचार्यस्य पितुश्चैव सख्युराप्तस्य चातिथेः ॥ १९ ॥
इदमस्ति गृहे मह्यमिति नित्यं निवेदयेत् ।
ते यद् वदेयुस्तत् कुर्यादिति धर्मो विधीयते ॥ २० ॥

जो नित्य अपने घरमें स्थित नहीं रहता, वह अतिथि कहलाता है । आचार्य, पिता, विश्वासपात्र मित्र और अतिथिसे सदा यह निवेदन करे कि 'अमुक वस्तु मेरे घरमें मौजूद है, उसे आप स्वीकार करें ।' फिर वे जैसी आज्ञा दें वैसा ही करे । ऐसा करनेसे धर्मका पालन होता है ॥ १९-२० ॥

गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत् ।
राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च ॥ २१ ॥
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान् ।

श्रीकृष्ण ! गृहस्थ पुरुषको सदा यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करना चाहिये । राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुर—ये यदि एक वर्षके बाद घर आवें तो मधुपर्कसे इनकी पूजा करनी चाहिये ॥ २१½ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते ॥ २२ ॥

कुत्तों, चाण्डालों और पक्षियोंके लिये भूमिपर अन्न रख देना चाहिये । यह वैश्वदेव नामक कर्म है । इसका सायंकाल और प्रातःकाल अनुष्ठान किया जाता है ॥ २२ ॥

एतांस्तु धर्मान् गार्हस्थ्यान् यः कुर्यादनसूयकः ।
स इहर्षिवरान् प्राप्य प्रेत्य लोके महीयते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य दोषदृष्टिका परित्याग करके इन गृहस्थोचित धर्मोंका पालन करता है, उसे इस लोकमें ऋषि-महर्षियोंका वरदान प्राप्त होता है और मृत्युके पश्चात् वह पुण्यलोकोंमें सम्मानित होता है ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

इति भूमेर्वचः श्रुत्वा वासुदेवः प्रतापवान् ।
तथा चकार सततं त्वमप्येवं सदाचर ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पृथ्वी देवीके ये वचन सुनकर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हींके अनुसार गृहस्थधर्मोंका विधिवत् पालन किया । तुम भी सदा इन धर्मोंका अनुष्ठान करते रहो ॥ २४ ॥

एतद् गृहस्थधर्मं त्वं चेष्टमानो जनाधिप ।
इहलोके यशः प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

जनेश्वर ! इस गृहस्थ-धर्मका पालन करते रहनेपर तुम इहलोकमें सुयश और परलोकमें स्वर्ग प्राप्त कर लोगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बलिदानविधिर्नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत बलिदानविधि नामक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

तपस्वी सुवर्ण और मनुका संवाद—पुष्प, धूप, दीप और उपहारके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

आलोकदानं नामैतत् कीदृशं भरतर्षभ।
कथमेतत् समुत्पन्नं फलं वा तद् ब्रवीहि मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यह जो दीपदान-नामक कर्म है, यह कैसे किया जाता है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? अथवा इसका फल क्या है? यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मनोः प्रजापतेर्वादं सुवर्णस्य च भारत॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भारत! इस विषयमें प्रजापति मनु और सुवर्णके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

तपस्वी कश्चिदभवत् सुवर्णो नाम भारत।
वर्णतो हेमवर्णः स सुवर्ण इति पप्रथे॥ ३॥

भरतनन्दन! सुवर्णनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी ब्राह्मण थे। उनके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी। इसीलिये वे सुवर्णनामसे विख्यात हुए थे॥ ३॥

कुलशीलगुणोपेतः स्वाध्याये च परंगतः।
बहून् सुवंशप्रभवान् समतीतः स्वकैर्गुणैः॥ ४॥

वे उत्तम कुल, शील और गुणसे सम्पन्न थे। स्वाध्यायमें भी उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अपने गुणोंद्वारा उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए बहुत-से श्रेष्ठ पुरुषोंकी अपेक्षा आगे बढ़े हुए थे॥ ४॥

स कदाचिन्मनुं विप्रो ददर्शोपससर्प च।
कुशलप्रश्नमन्योन्यं तौ चोभौ तत्र चक्रतुः॥ ५॥

एक दिन उन ब्राह्मणदेवताने प्रजापति मनुको देखा। देखकर वे उनके पास चले गये। फिर तो वे दोनों एक-दूसरेसे कुशल-समाचार पूछने लगे॥ ५॥

ततस्तौ सत्यसंकल्पौ मेरौ काञ्चनपर्वते।
रमणीये शिलापृष्ठे सहितौ संन्यषीदताम्॥ ६॥

तदनन्तर वे दोनों सत्यसंकल्प महात्मा सुवर्णमय पर्वत मेरुके एक रमणीय शिलापृष्ठपर एक साथ बैठ गये।६।

तत्र तौ कथयन्तौ स्तां कथा नानाविधाश्रयाः।
ब्रह्मर्षिदेवदैत्यानां पुराणानां महात्मनाम्॥ ७॥

वहाँ वे दोनों ब्रह्मर्षियों, देवताओं, दैत्यों तथा प्राचीन महात्माओंके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी कथा-वार्ता करने लगे॥ ७॥

सुवर्णस्त्वब्रवीद् वाक्यं मनुं स्वायम्भुवं प्रति।
हितार्थं सर्वभूतानां प्रश्नं मे वक्तुमर्हसि॥ ८॥
सुमनोभिर्यदिज्यन्ते दैवतानि प्रजेश्वर।
किमेतत् कथमुत्पन्नं फलं योगं च शंस मे॥ ९॥

उस समय सुवर्णने स्वायम्भुव मनुसे कहा—'प्रजापते! मैं एक प्रश्न करता हूँ, आप समस्त प्राणियोंके हितके लिये मुझे उसका उत्तर दीजिये। फूलोंसे जो देवताओंकी पूजा की जाती है, यह क्या है? इसका प्रचलन कैसे हुआ है? इसका फल क्या है? और इसका उपयोग क्या है? यह सब मुझे बताइये'॥ ८-९॥

मनुरुवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शुक्रस्य च बलेश्चैव संवादं वै महात्मनोः॥ १०॥

मनुजीने कहा—मुने! इस विषयमें विज्ञजन शुक्राचार्य और बलि—इन दोनों महात्माओंके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १०॥

बलेर्वैरोचनस्येह त्रैलोक्यमनुशासतः।
समीपमाजगामाशु शुक्रो भृगुकुलोद्वहः॥ ११॥

पहलेकी बात है, विरोचनकुमार बलि तीनों लोकोंका शासन करते थे। उन दिनों भृगुकुलभूषण शुक्र शीघ्रता-पूर्वक उनके पास आये॥ ११॥

तमर्घ्यादिभिरभ्यर्च्य भार्गवं सोऽसुराधिपः।
निषसादासने पश्चाद् विधिवद् भूरिदक्षिणः॥ १२॥

पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले असुरराज बलिने भृगुपुत्र शुक्राचार्यको अर्घ्य आदि देकर उनकी विधिवत् पूजा की और जब वे आसनपर बैठ गये, तब बलि भी अपने सिंहासनपर आसीन हुए॥ १२॥

कथेयमभवत् तत्र त्वया या परिकीर्तिता।
सुमनोधूपदीपानां सम्प्रदाने फलं प्रति॥ १३॥
ततः पप्रच्छ दैत्येन्द्रः कवीन्द्रं प्रश्नमुत्तमम्॥ १४॥

वहाँ उन दोनोंमें यही बातचीत हुई, जिसे तुमने प्रस्तुत किया है। देवताओंको फूल, धूप और दीप देनेसे क्या फल मिलता है, यही उनकी वार्ताका विषय था। उस समय दैत्यराज बलिने कविवर शुक्रके सामने यह उत्तम प्रश्न उपस्थित किया॥ १३-१४॥

बलिरुवाच

सुमनोधूपदीपानां किं फलं ब्रह्मवित्तम।

प्रदानस्य द्विजश्रेष्ठ तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १५ ॥

बलिने पूछा—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! द्विजशिरोमणे ! फूल, धूप और दीपदान करनेका क्या फल है ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ १५ ॥

शुक्र उवाच

तपः पूर्वं समुत्पन्नं धर्मस्तस्मादनन्तरम् ।
एतस्मिन्नन्तरे चैव वीरुदोषध्य एव च ॥ १६ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन् ! पहले तपस्याकी उत्पत्ति हुई है, तदनन्तर धर्मकी । इसी बीचमें लता और ओषधियोंका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १६ ॥

सोमस्यात्मा च बहुधा सम्भूतः पृथिवीतले ।
अमृतं च विषं चैव ये चान्ये तृणजातयः ॥ १७ ॥

इस भूतलपर अनेक प्रकारकी सोमलता प्रकट हुई । अमृत, विष तथा दूसरी-दूसरी जातिके तृणोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १७ ॥

अमृतं मनसः प्रीतिं सद्यस्तृप्तिं ददाति च ।
मनो ग्लपयते तीव्रं विषं गन्धेन सर्वशः ॥ १८ ॥

अमृत वह है, जिसे देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है । जो तत्काल तृप्ति प्रदान करता है और विष वह है, जो अपनी गन्धसे चित्तमें सर्वथा तीव्र ग्लानि पैदा करता है ॥ १८ ॥

अमृतं मङ्गलं विद्धि महद्विषममङ्गलम् ।
ओषध्यो ह्यमृतं सर्वा विषं तेजोऽग्निसम्भवम् ॥ १९ ॥

अमृतको मङ्गलकारी जानो और विष महान् अमङ्गल करनेवाला है । जितनी ओषधियाँ हैं, वे सब-की-सब अमृत मानी गयी हैं और विष अग्निजनित तेज है ॥ १९ ॥

मनो ह्लादयते यस्माच्छ्रियं चापि दधाति च ।
तस्मात् सुमनसः प्रोक्ता नरैः सुकृतकर्मभिः ॥ २० ॥

फूल मनको आह्लाद प्रदान करता है और शोभा एवं सम्पत्तिका आधान करता है, इसलिये पुण्यात्मा मनुष्योंने उसे सुमन कहा है ॥ २० ॥

देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः ।
तस्य तुष्यन्ति वै देवास्तुष्टाः पुष्टिं ददत्यपि ॥ २१ ॥

जो मनुष्य पवित्र होकर देवताओंको फूल चढ़ाता है, उसके ऊपर सब देवता संतुष्ट होते और उसके लिये पुष्टि प्रदान करते हैं ॥ २१ ॥

यं यमुद्दिश्य दीयेरन् देवं सुमनसः प्रभो ।
मङ्गलार्थं स तेनास्य प्रीतो भवति दैत्यप ॥ २२ ॥

प्रभो ! दैत्यराज ! जिस-जिस देवताके उद्देश्यसे फूल दिये जाते हैं, वह उस पुष्पदानसे दातापर बहुत प्रसन्न होता और उसके मङ्गलके लिये सचेष्ट रहता है ॥ २२ ॥

ज्ञेयास्तूग्राश्च सौम्याश्च तेजस्विन्यश्च ताः पृथक् ।
ओषध्यो बहुवीर्या हि बहुरूपास्तथैव च ॥ २३ ॥

उग्रा, सौम्या, तेजस्विनी, बहुवीर्या और बहुरूपा—अनेक प्रकारकी ओषधियाँ होती हैं । उन सबको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

यज्ञियानां च वृक्षाणामयज्ञीयान् निबोध मे ।
आसुराणि च माल्यानि दैवतेभ्यो हितानि च ॥ २४ ॥

अब यज्ञसम्बन्धी तथा अयज्ञोपयोगी वृक्षोंका वर्णन सुनो । असुरोंके लिये हितकर तथा देवताओंके लिये प्रिय जो पुष्पमालाएँ होती हैं, उनका परिचय सुनो ॥ २४ ॥

रक्षसामुरगाणां च यक्षाणां च तथा प्रियाः ।
मनुष्याणां पितॄणां च कान्तायास्त्वनुपूर्वशः ॥ २५ ॥

राक्षस, नाग, यक्ष, मनुष्य और पितरोंको प्रिय एवं मनोरम लगनेवाली ओषधियोंका भी वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

वन्या ग्राम्याश्चेह तथा कृष्टोप्ताः पर्वताश्रयाः ।
अकण्टकाः कण्टकिनो गन्धरूपरसान्विताः ॥ २६ ॥

फूलोंके बहुत-से वृक्ष गाँवोंमें होते हैं और बहुत-से जंगलोंमें । बहुतेरे वृक्ष जमीनको जोतकर क्यारियोंमें लगाये जाते हैं और बहुत-से पर्वत आदिपर अपने-आप पैदा होते हैं । इन वृक्षोंमें कुछ तो काँटेदार होते हैं और कुछ बिना काँटोंके । इन सबमें रूप, रस और गन्ध विद्यमान रहते हैं ॥ २६ ॥

द्विविधो हि स्मृतो गन्ध इष्टोऽनिष्टश्च पुष्पजः ।
इष्टगन्धानि देवानां पुष्पाणीति विभावय ॥ २७ ॥

फूलोंकी गन्ध दो प्रकारकी होती है—अच्छी और बुरी । अच्छी गन्धवाले फूल देवताओंको प्रिय होते हैं । इस बातको ध्यानमें रक्खो ॥ २७ ॥

अकण्टकानां वृक्षाणां श्वेतप्रायाश्च वर्णतः ।
तेषां पुष्पाणि देवानामिष्टानि सततं प्रभो ॥ २८ ॥
(पद्मं च तुलसी जातिरपि सर्वेषु पूजिता ।)

प्रभो ! जिन वृक्षोंमें काँटे नहीं होते हैं, उनमें जो अधिकांश श्वेतवर्णवाले हैं, उन्हींके फूल देवताओंको सदैव प्रिय हैं । कमल, तुलसी और चमेली—ये सब फूलोंमें अधिक प्रशंसित हैं ॥ २८ ॥

जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि वै ।
गन्धर्वनागयक्षेभ्यस्तानि दद्याद् विचक्षणः ॥ २९ ॥

जलसे उत्पन्न होनेवाले जो कमल-उत्पल आदि पुष्प हैं, उन्हें विद्वान् पुरुष गन्धर्वों, नागों और यक्षोंको समर्पित करे ॥ २९ ॥

ओषध्यो रक्तपुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः।
शत्रूणामभिचारार्थमाथर्वेषु निदर्शिताः ॥ ३० ॥

अथर्ववेदमें बतलाया गया है कि शत्रुओंका अनिष्ट करनेके लिये किये जानेवाले अभिचार कर्ममें लाल फूलोंवाली कड़वी और कण्टकाकीर्ण ओषधियोंका उपयोग करना चाहिये ॥ ३० ॥

तीक्ष्णवीर्यास्तु भूतानां दुरालम्भाः सकण्टकाः।
रक्तभूयिष्ठवर्णाश्च कृष्णाश्चैवोपहारयेत् ॥ ३१ ॥

जिन फूलोंमें काँटे अधिक हों, जिनका हाथसे स्पर्श करना कठिन जान पड़े, जिनका रंग अधिकतर लाल या काला हो तथा जिनकी गन्धका प्रभाव तीव्र हो, ऐसे फूल भूत-प्रेतोंके काम आते हैं। अतः उनको वैसे ही फूल भेंट करने चाहिये ॥ ३१ ॥

मनोहृदयनन्दिन्यो विशेषमधुराश्च याः।
चारुरूपाः सुमनसो मानुषाणां स्मृता विभो ॥ ३२ ॥

प्रभो! मनुष्योंको तो वे ही फूल प्रिय लगते हैं, जिनका रूप-रंग सुन्दर और रस विशेष मधुर हो तथा जो देखनेपर हृदयको आनन्ददायी जान पड़ें ॥ ३२ ॥

न तु श्मशानसम्भूता देवतायतनोद्भवाः।
संनयेत् पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रहःसु च ॥ ३३ ॥

श्मशान तथा जीर्ण-शीर्ण देवालयोंमें पैदा हुए फूलोंका पौष्टिक कर्म, विवाह तथा एकान्त विहारमें उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

गिरिसानुरुहाः सौम्या देवानामुपपादयेत्।
प्रोक्षिताऽभ्युक्षिताः सौम्या यथायोग्यं यथास्मृति॥३४॥

पर्वतोंके शिखरपर उत्पन्न हुए सुन्दर और सुगन्धित पुष्पोंको धोकर अथवा उनपर जलके छींटे देकर धर्मशास्त्रोंमें बताये अनुसार उन्हें यथायोग्य देवताओंपर चढ़ाना चाहिये ॥

गन्धेन देवास्तुष्यन्ति दर्शनाद् यक्षराक्षसाः।
नागाः समुपभोगेन त्रिभिरेतैस्तु मानुषाः ॥ ३५ ॥

देवता फूलोंकी सुगन्धसे, यक्ष और राक्षस उनके दर्शनसे, नागगण उनका भलीभाँति उपभोग करनेसे और मनुष्य उनके दर्शन, गन्ध एवं उपभोग तीनोंसे ही संतुष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

सद्यः प्रीणाति देवान् वै ते प्रीता भावयन्त्युत।
संकल्पसिद्धा मर्त्यानामीप्सितैश्च मनोरमैः ॥ ३६ ॥

फूल चढ़ानेसे मनुष्य देवताओंको तत्काल संतुष्ट करता है और संतुष्ट होकर वे सिद्धसंकल्प देवता मनुष्योंको मनोवाञ्छित एवं मनोरम भोग देकर उनकी भलाई करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रीताः प्रीणन्ति सततं मानिता मानयन्ति च।
अवज्ञातावधूताश्च निर्दहन्त्यधमान् नरान् ॥ ३७ ॥

देवताओंको यदि सदा संतुष्ट और सम्मानित किया जाता है तो वे भी मनुष्योंको संतोष एवं सम्मान देते हैं तथा यदि उनकी अवज्ञा एवं अवहेलना की गयी तो वे अवज्ञा करनेवाले नीच मनुष्यको अपनी क्रोधाग्निसे भस्म कर डालते हैं ॥ ३७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूपदानविधेः फलम्।
धूपांश्च विविधान् साधूनसाधूंश्च निबोध मे ॥ ३८ ॥

इसके बाद अब मैं धूपदानकी विधिका फल बताऊँगा। धूप भी अच्छे और बुरे कई तरहके होते हैं। उनका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३८ ॥

निर्यासाः सारिणश्चैव कृत्रिमाश्चैव ते त्रयः।
इष्टोऽनिष्टो भवेद् गन्धस्तन्मे विस्तरशः शृणु ॥ ३९ ॥

धूपके मुख्यतः तीन भेद हैं—निर्यास, सारी और कृत्रिम। इन धूपोंकी गन्ध भी अच्छी और बुरी दो प्रकारकी होती है। ये सब बातें मुझसे विस्तारपूर्वक सुनो ॥ ३९ ॥

निर्यासाः सल्लकीवर्ज्या देवानां दयितास्तु ते।
गुग्गुलुः प्रवरस्तेषां सर्वेषामिति निश्चयः ॥ ४० ॥

वृक्षोंके रस (गोंद) को निर्यास कहते हैं, सल्लकीनामक वृक्षके सिवा अन्य वृक्षोंसे प्रकट हुए निर्यासमय धूप देवताओं-को बहुत प्रिय होते हैं। उनमें भी गुग्गुल सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा मनीषी पुरुषोंका निश्चय है ॥ ४० ॥

अगुरुः सारिणां श्रेष्ठो यक्षराक्षसभोगिनाम्।
दैत्यानां सल्लकीयश्च काङ्क्षितो यश्च तद्विधः ॥ ४१ ॥

जिन काष्ठोंको आगमें जलानेपर सुगन्ध प्रकट होती है, उन्हें सारी धूप कहते हैं। इनमें अगुरुकी प्रधानता है। सारी धूप विशेषतः यक्ष, राक्षस और नागोंको प्रिय होते हैं। दैत्य लोग सल्लकी तथा उसी तरह अन्य वृक्षोंकी गोंदका बना हुआ धूप पसंद करते हैं ॥ ४१ ॥

अथ सर्जरसादीनां गन्धैः पार्थिव दारवैः।
फाणितासवसंयुक्तैर्मनुष्याणां विधीयते ॥ ४२ ॥

पृथ्वीनाथ! राल आदिके सुगन्धित चूर्ण तथा सुगन्धित काष्ठौषधियोंके चूर्णको घी और शक्करसे मिश्रित करके जो अष्टगन्ध आदि धूप तैयार किया जाता है, वही कृत्रिम है। विशेषतः वही मनुष्योंके उपयोगमें आता है ॥ ४२ ॥

देवदानवभूतानां सद्यस्तुष्टिकरः स्मृतः।
येऽन्ये वैहारिकास्तत्र मानुषाणामिति स्मृताः ॥ ४३ ॥

वैसा धूप देवताओं, दानवों और भूतोंके लिये भी तत्काल संतोष प्रदान करनेवाला माना गया है। इनके सिवा विहार (भोग-विलास) के उपयोगमें आनेवाले और भी

अनेक प्रकारके धूप हैं, जो केवल मनुष्योंके व्यवहारमें आते हैं ॥ ४३ ॥

य एवोक्ताः सुमनसां प्रदाने गुणहेतवः ।
धूपेष्वपि परिज्ञेयास्त एव प्रीतिवर्धनाः ॥ ४४ ॥

देवताओंको पुष्पदान करनेसे जो गुण या लाभ बताये गये हैं, वे ही धूप निवेदन करनेसे भी प्राप्त होते हैं । ऐसा जानना चाहिये । धूप भी देवताओंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाले हैं ॥ ४४ ॥

दीपदाने प्रवक्ष्यामि फलयोगमनुत्तमम् ।
यथा येन यदा चैव प्रदेया यादृशाश्च ते ॥ ४५ ॥

अब मैं दीप-दानका परम उत्तम फल बताऊँगा । कब किस प्रकार किसके द्वारा किसके दीप दिये जाने चाहिये, यह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ४५ ॥

ज्योतिस्तेजः प्रकाशं वाप्यूर्ध्वगं चापि वर्ण्यते ।
प्रदानं तेजसां तस्मात् तेजो वर्धयते नृणाम् ॥ ४६ ॥

दीपक ऊर्ध्वगामी तेज है, वह कान्ति और कीर्तिका विस्तार करनेवाला बताया जाता है । अतः दीप या तेजका दान मनुष्योंके तेजकी वृद्धि करता है ॥ ४६ ॥

अन्धन्तमस्तमिस्रं च दक्षिणायनमेव च ।
उत्तरायणमेतस्माज्ज्योतिर्दानं प्रशस्यते ॥ ४७ ॥

अन्धकार अन्धतामिस्र नामक नरक है । दक्षिणायन भी अन्धकारसे ही आच्छन्न रहता है । इसके विपरीत उत्तरायण प्रकाशमय है । इसलिये वह श्रेष्ठ माना गया है । अतः अन्धकारमय नरककी निवृत्तिके लिये दीपदानकी प्रशंसा की गयी है ॥ ४७ ॥

यस्मादूर्ध्वगमेतत् तु तमसश्चैव भेषजम् ।
तस्मादूर्ध्वगतेर्दाता भवेदत्रेति निश्चयः ॥ ४८ ॥

दीपककी शिखा ऊर्ध्वगामिनी होती है । वह अन्धकार-रूपी रोगको दूर करनेकी दवा है । इसलिये जो दीपदान करता है, उसे निश्चय ही ऊर्ध्वगतिकी प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥

देवास्तेजस्विनो ह्यस्मात् प्रभावन्तः प्रकाशकाः ।
तामसा राक्षसाश्चैव तस्माद् दीपः प्रदीयते ॥ ४९ ॥

देवता तेजस्वी, कान्तिमान् और प्रकाश फैलानेवाले होते हैं और राक्षस अन्धकारप्रिय होते हैं; इसलिये देवताओंकी प्रसन्नताके लिये दीपदान किया जाता है ॥ ४९ ॥

आलोकदानाच्चक्षुष्मान् प्रभायुक्तो भवेन्नरः ।
तान् दत्त्वा नोपहिंसेत न हरेन्नोपनाशयेत् ॥ ५० ॥

दीपदान करनेसे मनुष्यके नेत्रोंका तेज बढ़ता है और वह स्वयं भी तेजस्वी होता है । दान करनेके पश्चात् उन दीपकोंको न तो बुझावे, न उठाकर अन्यत्र ले जाय और न नष्ट ही करे ॥ ५० ॥

दीपहर्ता भवेदन्धस्तमोगतिरसुप्रभः ।
दीपप्रदः स्वर्गलोके दीपमालेव राजते ॥ ५१ ॥

दीपक चुरानेवाला मनुष्य अन्धा और श्रीहीन होता है तथा मरनेके बाद नरकमें पड़ता है, किंतु जो दीपदान करता है, वह स्वर्गलोकमें दीपमालाकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ५१ ॥

हविषा प्रथमः कल्पो द्वितीयश्चौषधीरसैः ।
वसामेदोऽस्थिनिर्यासैर्न कार्यः पुष्टिमिच्छता ॥ ५२ ॥

घीका दीपक जलाकर दान करना प्रथम श्रेणीका दीप-दान है । ओषधियोंके रस अर्थात् तिल-सरसों आदिके तेलसे जलाकर किया हुआ दीप-दान दूसरी श्रेणीका है । जो अपने शरीरकी पुष्टि चाहता हो—उसे चर्बी, मेदा और हड्डियोंसे निकाले हुए तेलके द्वारा कदापि दीपक नहीं जलाना चाहिये ॥ ५२ ॥

गिरिप्रपाते गहने चैत्यस्थाने चतुष्पथे ।
(गोब्राह्मणालये दुर्गे दीपो भूतिप्रदः शुचिः ।)
दीपदानं भवेन्नित्यं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ५३ ॥

जो अपने कल्याणकी इच्छा रखता हो, उसे प्रतिदिन पर्वतीय झरनेके पास, वनमें, देवमन्दिरमें, चौराहेपर, गोशालामें, ब्राह्मणके घरमें तथा दुर्गम स्थानमें प्रतिदिन दीपदान करना चाहिये । उक्त स्थानोंमें दिया हुआ पवित्र दीप ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला होता है ॥ ५३ ॥

कुलोद्योतो विशुद्धात्मा प्रकाशत्वं च गच्छति ।
ज्योतिषां चैव सालोक्यं दीपदाता नरः सदा ॥ ५४ ॥

दीप-दान करनेवाला पुरुष अपने कुलको उद्दीप्त करनेवाला, शुद्धचित्त तथा श्रीसम्पन्न होता है और अन्तमें वह प्रकाशमय लोकोंमें जाता है ॥ ५४ ॥

बलिकर्मसु वक्ष्यामि गुणान् कर्मफलोदयान् ।
देवयक्षोरगनृणां भूतानामथ रक्षसाम् ॥ ५५ ॥

अब मैं देवताओं, यक्षों, नागों, मनुष्यों, भूतों तथा राक्षसोंको बलि समर्पण करनेसे जो लाभ होता है, जिन फलोंका उदय होता है, उनका वर्णन करूँगा ॥ ५५ ॥

येषां नाग्रभुजो विप्रा देवतातिथिबालकाः ।
राक्षसानेव तान् विद्धि निर्विशङ्कानमङ्गलान् ॥ ५६ ॥

जो लोग अपने भोजन करनेसे पहले देवताओं, ब्राह्मणों, अतिथियों और बालकोंको भोजन नहीं कराते, उन्हें भयरहित अमङ्गलकारी राक्षस ही समझो ॥ ५६ ॥

तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम्।
शिरसा प्रयतश्चापि हरेद् बलिमतन्द्रितः ॥ ५७ ॥

अतः गृहस्थ मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह आलस्य छोड़कर देवताओंकी पूजा करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करे और शुद्धचित्त हो सर्वप्रथम उन्हींको आदरपूर्वक अन्नका भाग अर्पण करे ॥ ५७ ॥

गृह्णन्ति देवता नित्यमाशंसन्ति सदा गृहान्।
बाह्याश्चागन्तवो येऽन्ये यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ५८ ॥
इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा।
ते प्रीताः प्रीणयन्त्येनमायुषा यशसा धनैः ॥ ५९ ॥

क्योंकि देवतालोग सदा गृहस्थ मनुष्योंकी दी हुई बलिको स्वीकार करते और उन्हें आशीर्वाद देते हैं। देवता, पितर, यक्ष, राक्षस, सर्प तथा बाहरसे आये हुए अन्य अतिथि आदि गृहस्थके दिये हुए अन्नसे ही जीविका चलाते हैं और प्रसन्न होकर उस गृहस्थको आयु, यश तथा धनके द्वारा संतुष्ट करते हैं ॥ ५८-५९ ॥

बलयः सह पुष्पैस्तु देवानामुपहारयेत्।
दधिदुग्धमयाः पुण्याः सुगन्धाः प्रियदर्शनाः ॥ ६० ॥

देवताओंको जो बलि दी जाय, वह दही-दूधकी बनी हुई, परम पवित्र, सुगन्धित, दर्शनीय और फूलोंसे सुशोभित होनी चाहिये ॥ ६० ॥

कार्या रुधिरमांसाढ्या बलयो यक्षरक्षसाम्।
सुरासवपुरस्कारा लाजोल्लापिकभूषिताः ॥ ६१ ॥

आसुर स्वभावके लोग यक्ष और राक्षसोंको रुधिर और मांससे युक्त बलि अर्पित करते हैं। जिसके साथ सुरा और आसव भी रहता है तथा ऊपरसे धानका लावा छींटकर उस बलिको विभूषित किया जाता है ॥ ६१ ॥

नागानां दयिता नित्यं पद्मोत्पलविमिश्रिताः।
तिलान् गुडसुसम्पन्नान् भूतानामुपहारयेत् ॥ ६२ ॥

नागोंको पद्म और उत्पलयुक्त बलि प्रिय होती है। गुड़मिश्रित तिल भूतोंको भेंट करे ॥ ६२ ॥

अग्रदाताग्रभोगी स्याद् बलवीर्यसमन्वितः।
तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम् ॥ ६३ ॥

जो मनुष्य देवता आदिको पहले बलि प्रदान करके भोजन करता है, वह उत्तम भोगसे सम्पन्न, बलवान् और वीर्यवान् होता है। इसलिये देवताओंको सम्मानपूर्वक अन्न पहले अर्पण करना चाहिये ॥ ६३ ॥

ज्वलन्त्यहरहो वेश्म याश्चास्य गृहदेवताः।
ताः पूज्या भूतिकामेन प्रसृताग्रप्रदायिना ॥ ६४ ॥

गृहस्थके घरकी अधिष्ठातृ देवियाँ उसके घरको सदा प्रकाशित किये रहती हैं, अतः कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि भोजनका प्रथम भाग देकर सदा ही उनकी पूजा किया करे ॥ ६४ ॥

इत्येतदसुरेन्द्राय काव्यः प्रोवाच भार्गवः।
सुवर्णाय मनुः प्राह सुवर्णो नारदाय च ॥ ६५ ॥
नारदोऽपि मयि प्राह गुणानेतान् महाद्युते।
त्वमप्येतद् विदित्वेह सर्वमाचर पुत्रक ॥ ६६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शुक्राचार्यने असुरराज बलिको यह प्रसङ्ग सुनाया और मनुने तपस्वी सुवर्णको इसका उपदेश किया। तत्पश्चात् तपस्वी सुवर्णने नारदजीको और नारदजीने मुझे धूप, दीप आदिके दानके गुण बताये। महातेजस्वी पुत्र! तुम भी इस विधिको जानकर इसीके अनुसार सब काम करो ॥ ६५-६६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णमनुसंवादो नामाष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्ण और मनुका संवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

नहुषका ऋषियोंपर अत्याचार तथा उसके प्रतीकारके लिये महर्षि भृगु और अगस्त्यकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे भरतश्रेष्ठ पुष्पधूपप्रदायिनाम्।
फलं बलिविधाने च तद् भूयो वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! फूल और धूप और

देनेवालोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह मैंने सुन लिया। अब बलि समर्पित करनेका जो फल है, उसे पुनः बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

धूपप्रदानस्य फलं प्रदीपस्य तथैव च।
बलयश्च किमर्थं वै क्षिप्यन्ते गृहमेधिभिः ॥ २ ॥

धूपदान और दीपदानका फल तो ज्ञात हो गया! अब यह बताइये कि गृहस्थ पुरुष बलि किस लिये समर्पित करते हैं? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नहुषस्य च संवादमगस्त्यस्य भृगोस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें भी जानकार मनुष्य राजा नहुष और अगस्त्य एवं भृगुके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ४ ॥

महाराज! राजर्षि नहुष बड़े भारी तपस्वी थे। उन्होंने अपने पुण्यकर्मके प्रभावसे देवराज इन्द्रका पद प्राप्त कर लिया था ॥ ४ ॥

तत्रापि प्रयतो राजन् नहुषस्त्रिदिवे वसन्।
मानुषीश्चैव दिव्याश्च कुर्वाणो विविधाः क्रियाः॥ ५ ॥

राजन्! वहाँ स्वर्गमें रहते हुए भी शुद्धचित्त राजा नहुष नाना प्रकारके दिव्य और मानुष कर्मोंका अनुष्ठान किया करते थे ॥ ५ ॥

मानुष्यस्तत्र सर्वाः स्म क्रियास्तस्य महात्मनः।
प्रवृत्तास्त्रिदिवे राजन् दिव्याश्चैव सनातनाः ॥ ६ ॥

नरेश्वर! स्वर्गमें भी महामना राजा नहुषकी सम्पूर्ण मानुषी क्रियाएँ तथा दिव्य सनातन क्रियाएँ भी सदा चलती रहती थीं ॥ ६ ॥

अग्निकार्याणि समिधः कुशाः सुमनसस्तथा।
बलयश्चान्नलाजाभिर्धूपनं दीपकर्म च ॥ ७ ॥
सर्वं तस्य गृहे राज्ञः प्रावर्तत महात्मनः।
जपयज्ञान्मनोयज्ञांस्त्रिदिवेऽपि चकार सः ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, समिधा, कुशा, फूल, अन्न और लावाकी बलि, धूपदान तथा दीपकर्म—ये सब-के-सब महामना राजा नहुषके घरमें प्रतिदिन होते रहते थे। वे स्वर्गमें रहकर भी जप-यज्ञ एवं मनोयज्ञ (ध्यान) करते रहते थे ॥ ७-८ ॥

देवानभ्यर्चयच्चापि विधिवत् स सुरेश्वरः।
सर्वानेव यथान्यायं यथापूर्वमरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुदमन! वे देवेश्वर नहुष विधिपूर्वक सभी देवताओंका पूर्ववत् यथोचितरूपसे पूजन किया करते थे ॥ ९ ॥

अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।
सर्वाश्चैव क्रियास्तस्य पर्यहीयन्त भूपतेः ॥ १० ॥

किंतु तदनन्तर 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा समझकर वे अहंकारके वशीभूत हो गये। इससे उन भूपालकी सारी क्रियाएँ नष्टप्राय होने लगीं ॥ १० ॥

स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः।
परिहीणक्रियश्चैव दुर्बलत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥

वे वरदानके मदसे मोहित हो ऋषियोंसे अपनी सवारी खिंचवाने लगे। उनका धर्म-कर्म छूट गया। अतः वे दुर्बल हो गये—उनमें धर्मबलका अभाव हो गया ॥ ११ ॥

तस्य वाहयतः कालो मुनिमुख्यांस्तपोधनान्।
अहंकाराभिभूतस्य सुमहानभ्यवर्तत ॥ १२ ॥

वे अहंकारसे अभिभूत होकर क्रमशः सभी श्रेष्ठ तपस्वी मुनियोंको अपने रथमें जोतने लगे। ऐसा करते हुए राजाका दीर्घकाल व्यतीत हो गया ॥ १२ ॥

अथ पर्यायशः सर्वान् वाहनायोपचक्रमे।
पर्यायश्चाप्यगस्त्यस्य समपद्यत भारत ॥ १३ ॥

नहुषने बारी-बारीसे सभी ऋषियोंको अपना वाहन बनानेका उपक्रम किया था। भारत! एक दिन महर्षि अगस्त्यकी बारी आयी ॥ १३ ॥

अथागत्य महातेजा भृगुर्ब्रह्मविदां वरः।
अगस्त्यमाश्रमस्थं वै समुपेत्येदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उसी दिन ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भृगुजी अपने आश्रमपर बैठे हुए अगस्त्यके निकट आये और इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

एवं वयमसत्कारं देवेन्द्रस्यास्य दुर्मतेः।
नहुषस्य किमर्थं वै मर्षयाम महामुने ॥ १५ ॥

'महामुने! देवराज बनकर बैठे हुए इस दुर्बुद्धि नहुषके अत्याचारको हमलोग किस लिये सह रहे हैं?' ॥ १५ ॥

अगस्त्य उवाच

कथमेष मया शक्यः शप्तुं यस्य महामुने।
वरदेन वरो दत्तो भवतो विदितश्च सः ॥ १६ ॥

अगस्त्यजीने कहा—महामुने! मैं इस नहुषको कैसे

शाप दे सकता हूँ, जब कि वरदानी ब्रह्माजीने इसे वर दे रक्खा है। उसे वर मिला है, यह बात आपको भी विदित ही है ॥ १६ ॥

यो मे दृष्टिपथं गच्छेत् स मे वश्यो भवेदिति।
इत्यनेन वरं देवो याचितो गच्छता दिवम् ॥ १७ ॥

स्वर्गलोकमें आते समय इस नहुषने ब्रह्माजीसे यह वर माँगा था कि 'जो मेरे दृष्टिपथमें आ जाय, वह मेरे अधीन हो जाय' ॥ १७ ॥

एवं न दग्धः स मया भवता च न संशयः।
अन्येनाप्यृषिमुख्येन न दग्धो न च पातितः ॥ १८ ॥

ऐसा वरदान प्राप्त होनेके कारण ही मैंने और आपने भी अबतक इसे दग्ध नहीं किया है। इसमें संशय नहीं है। दूसरे किसी श्रेष्ठ ऋषिने भी उसी वरदानके कारण न तो अबतक उसे जलाकर भस्म किया और न स्वर्गसे नीचे ही गिराया ॥ १८ ॥

अमृतं चैव पानाय दत्तमस्मै पुरा विभो।
महात्मना तदर्थं च नास्माभिर्विनिपात्यते ॥ १९ ॥

प्रभो! पूर्वकालमें महात्मा ब्रह्माने इसे पीनेके लिये अमृत प्रदान किया था। इसीलिये हमलोग इस नहुषको स्वर्गसे नीचे नहीं गिरा रहे हैं ॥ १९ ॥

प्रायच्छत वरं देवः प्रजानां दुःखकारणम्।
द्विजेष्वधर्मयुक्तानि स करोति नराधमः ॥ २० ॥

भगवान् ब्रह्माजीने जो इसे वर दिया था, वह प्रजाजनोंके लिये दुःखका कारण बन गया। वह नराधम ब्राह्मणोंके साथ अधर्मयुक्त बर्ताव कर रहा है ॥ २० ॥

तत्र यत्प्राप्तकालं नस्तद् ब्रूहि वदतां वर।
भवांश्चापि यथा ब्रूयात् तत्कर्तास्मि न संशयः ॥ २१॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भृगुजी! इस समय हमारे लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो, वह बताइये। आप जैसा कहेंगे वैसा ही मैं करूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

भृगुरुवाच

पितामहनियोगेन भवन्तं सोऽहमागतः।
प्रतिकर्तुं बलवति नहुषे दैवमोहिते ॥ २२ ॥

भृगु बोले—मुने! ब्रह्माजीकी आज्ञासे मैं आपके पास आया हूँ। बलवान् नहुष दैववश मोहित हो रहा है। आज उससे ऋषियोंपर किये गये अत्याचारका बदला लेना है ॥ २२ ॥

अद्य हि त्वां सुदुर्बुद्धी रथे योक्ष्यति देवराट्।
अद्यैनमहमुद्वृत्तं करिष्येऽनिन्द्रमोजसा ॥ २३ ॥

आज यह महामूर्ख देवराज आपको रथमें जोतेगा। अतः आज ही मैं इस उच्छृङ्खल नहुषको अपने तेजसे इन्द्र-पदसे भ्रष्ट कर दूँगा ॥ २३ ॥

अद्येन्द्रं स्थापयिष्यामि पश्यतस्ते शतक्रतुम्।
संचाल्य पापकर्माणमैन्द्रात् स्थानात् सुदुर्मतिम् ॥ २४ ॥

आज इस पापाचारी दुर्बुद्धिको इन्द्रपदसे गिराकर मैं आपके देखते-देखते पुनः शतक्रतुको इन्द्रपदपर बिठाऊँगा॥२४॥

अद्य चासौ कुदेवेन्द्रस्त्वां पदा धर्षयिष्यति।
दैवोपहतचित्तत्वादात्मनाशाय मन्दधीः ॥ २५ ॥

दैवने इसकी बुद्धिको नष्ट कर दिया है। अतः यह देवराज बना हुआ मन्दबुद्धि नीच नहुष अपने ही विनाशके लिये आज आपको लातसे मारेगा ॥ २५ ॥

व्युत्क्रान्तधर्मं तमहं धर्षणामर्षितो भृशम्।
अहिर्भवस्वेति रुषा शप्स्ये पापं द्विजद्रुहम् ॥ २६ ॥

आपके प्रति किये गये इस अत्याचारसे अत्यन्त अमर्षमें भरकर मैं धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले उस द्विजद्रोही पापीको रोषपूर्वक यह शाप दे दूँगा कि 'तू सर्प हो जा' ॥ २६ ॥

तत एनं सुदुर्बुद्धिं धिक्शब्दाभिहतत्विषम्।
धरण्यां पातयिष्यामि पश्यतस्ते महामुने ॥ २७ ॥
नहुषं पापकर्माणमैश्वर्यबलमोहितम्।
यथा च रोचते तुभ्यं तथा कर्तास्म्यहं मुने ॥ २८ ॥

महामुने! तदनन्तर चारों ओरसे धिक्कारके शब्द सुनकर यह दुर्बुद्धि देवेन्द्र श्रीहीन हो जायगा और मैं ऐश्वर्यबलसे मोहित हुए इस पापाचारी नहुषको आपके देखते-देखते पृथ्वीपर गिरा दूँगा। अथवा मुने! आपको जैसा जँचे वैसा ही करूँगा ॥ २७-२८ ॥

एवमुक्तस्तु भृगुणा मैत्रावरुणिरव्ययः।
अगस्त्यः परमप्रीतो बभूव विगतज्वरः ॥ २९ ॥

भृगुके ऐसा कहनेपर अविनाशी मित्रावरुणकुमार अगस्त्यजी अत्यन्त प्रसन्न और निश्चिन्त हो गये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अगस्त्यभृगुसंवादो नाम नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अगस्त्य और भृगुका संवादनामक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

नहुषका पतन, शतक्रतुका इन्द्रपदपर पुनः अभिषेक तथा दीपदानकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै स विपन्नश्च कथं वै पातितो भुवि।
कथं चानिन्द्रतां प्राप्तस्तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! राजा नहुषपर कैसे विपत्ति आयी? वे कैसे पृथ्वीपर गिराये गये और किस तरह वे इन्द्रपदसे वञ्चित हो गये? इसे आप बतानेकी कृपा करें॥ १॥

भीष्म उवाच

एवं तयोः संवदतोः क्रियास्तस्य महात्मनः।
सर्वा एव प्रवर्तन्ते या दिव्या याश्च मानुषीः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जब महर्षि भृगु और अगस्त्य उपर्युक्त वार्तालाप कर रहे थे। उस समय महामना नहुषके घरमें दैवी और मानुषी सभी क्रियाएँ चल रही थीं॥ २॥

तथैव दीपदानानि सर्वोपकरणानि वै।
बलिकर्म च यच्चान्यदुत्सेकाश्च पृथग्विधाः॥ ३॥
सर्वे तस्य समुत्पन्ना देवेन्द्रस्य महात्मनः।
देवलोके नृलोके च सदाचारा बुधैः स्मृताः॥ ४॥

दीपदान, समस्त उपकरणोंसहित अन्नदान, बलिकर्म एवं नाना प्रकारके स्नान-अभिषेक आदि पूर्ववत् चालू थे। देवलोक तथा मनुष्यलोकमें विद्वानोंने जो सदाचार बताये हैं, वे सब महामना देवराज नहुषके यहाँ होते रहते थे॥ ३–४॥

ते चेद् भवन्ति राजेन्द्र ऋद्ध्यन्ते गृहमेधिनः।
धूपप्रदानैर्दीपैश्च नमस्कारैस्तथैव च॥ ५॥

राजेन्द्र! गृहस्थके घर यदि उन सदाचारोंका पालन हो तो वे गृहस्थ सर्वथा उन्नतिशील होते हैं, धूपदान, दीपदान तथा देवताओंको किये गये नमस्कार आदिसे भी गृहस्थोंकी ऋद्धि-सिद्धि बढ़ती है॥ ५॥

यथा सिद्धस्य चान्नस्य ग्रहायाग्रं प्रदीयते।
बलयश्च गृहोद्देशे अतः प्रीयन्ति देवताः॥ ६॥

जैसे तैयार हुई रसोईमेंसे पहले अतिथिको भोजन दिया जाता है, उसी प्रकार घरमें देवताओंके लिये अन्नकी बलि दी जाती है। जिससे देवता प्रसन्न होते हैं॥ ६॥

यथा च गृहिणस्तोषो भवेद् वै बलिकर्मणि।
तथा शतगुणा प्रीतिर्देवतानां प्रजायते॥ ७॥

बलिकर्म करनेपर गृहस्थको जितना संतोष होता है, उससे सौगुनी प्रीति देवताओंको होती है॥ ७॥

एवं धूपप्रदानं च दीपदानं च साधवः।
प्रयच्छन्ति नमस्कारैर्युक्तमात्मगुणावहम्॥ ८॥

इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये लाभदायक समझकर देवताओंको नमस्कारसहित धूपदान और दीपदान करते हैं॥ ८॥

स्नानेनाद्भिश्च यत् कर्म क्रियते वै विपश्चिता।
नमस्कारप्रयुक्तेन तेन प्रीयन्ति देवताः॥ ९॥
पितरश्च महाभागा ऋषयश्च तपोधनाः।
गृह्याश्च देवताः सर्वाः प्रीयन्ते विधिनार्चिताः॥ १०॥

विद्वान् पुरुष जलसे स्नान करके देवता आदिके लिये नमस्कारपूर्वक जो तर्पण आदि कर्म करते हैं, उससे देवता, महाभाग पितर तथा तपोधन ऋषि संतुष्ट होते हैं तथा विधिपूर्वक पूजित होकर घरके सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होते हैं॥ ९-१०॥

इत्येतां बुद्धिमास्थाय नहुषः स नरेश्वरः।
सुरेन्द्रत्वं महत् प्राप्य कृतवानेतदद्भुतम्॥ ११॥

इसी विचारधाराका आश्रय लेकर राजा नहुषने महान् देवेन्द्रपद पाकर यह अद्भुत पुण्यकर्म सदा चालू रक्खा था॥ ११॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य भाग्यक्षय उपस्थिते।
सर्वमेतदवज्ञाय कृतवानिदमीदृशम्॥ १२॥

किंतु कुछ कालके पश्चात् जब उनके सौभाग्य-नाशका अवसर उपस्थित हुआ, तब उन्होंने इन सब बातोंकी अवहेलना करके ऐसा पापकर्म आरम्भ कर दिया॥ १२॥

ततः स परिहीणोऽभूत् सुरेन्द्रो बलदर्पतः।
धूपदीपोदकविधिं न यथावच्चकार ह॥ १३॥

बलके घमण्डमें आकर देवराज नहुष उन सत्कर्मोंसे भ्रष्ट हो गये। उन्होंने धूपदान, दीपदान और जलदानकी विधिका यथावत्‌रूपसे पालन करना छोड़ दिया॥ १३॥

ततोऽस्य यज्ञविषयो रक्षोभिः पर्यबध्यत।
अथागस्त्यमृषिश्रेष्ठं वाहनायाजुहाव ह॥ १४॥
द्रुतं सरस्वतीकूलात् स्मयन्निव महाबलः।
ततो भृगुर्महातेजा मैत्रावरुणिमब्रवीत्॥ १५॥

उसका फल यह हुआ कि उनके यज्ञस्थलमें राक्षसोंने

डेरा डाल दिया। उन्हींसे प्रभावित होकर महाबली नहुषने मुसकराते हुए-से मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यको सरस्वतीतटसे तुरंत अपना रथ ढोनेके लिये बुलाया। तब महातेजस्वी भृगुने मित्रावरुणकुमार अगस्त्यजीसे कहा—॥ १४-१५ ॥

निमीलय स्वनयने जटां यावद् विशामि ते।
स्थाणुभूतस्य तस्याथ जटां प्राविशदच्युतः ॥१६॥
भृगुः स सुमहातेजाः पातनाय नृपस्य च।
ततः स देवराट् प्राप्तस्तमृषिं वाहनाय वै ॥ १७ ॥

'मुने! आप अपनी आँखें मूँद लें, मैं आपकी जटामें प्रवेश करता हूँ।' महर्षि अगस्त्य आँखें मूँदकर काष्ठकी तरह स्थिर हो गये। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले महातेजस्वी भृगुने राजाको स्वर्गसे नीचे गिरानेके लिये अगस्त्यजीकी जटामें प्रवेश किया। इतनेहीमें देवराज नहुष ऋषिको अपना वाहन बनानेके लिये उनके पास पहुँचे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽगस्त्यः सुरपतिं वाक्यमाह विशाम्पते।
योजयस्वेति मां क्षिप्रं कं च देशं वहामि ते ॥ १८ ॥
यत्र वक्ष्यसि तत्र त्वां नयिष्यामि सुराधिप।
इत्युक्तो नहुषस्तेन योजयामास तं मुनिम् ॥ १९ ॥

प्रजानाथ! तब अगस्त्यने देवराजसे कहा—'राजन्! मुझे शीघ्र रथमें जोतिये और बताइये मैं आपको किस स्थानपर ले चलूँ। देवेश्वर! आप जहाँ कहेंगे, वहीं आपको ले चलूँगा।' उनके ऐसा कहनेपर नहुषने मुनिको रथमें जोत दिया॥ १८-१९ ॥

भृगुस्तस्य जटान्तस्थो बभूव हृषितो भृशम्।
न चापि दर्शनं तस्य चकार स भृगुस्तदा ॥ २० ॥

यह देख उनकी जटाके भीतर बैठे हुए भृगु बहुत प्रसन्न हुए। उस समय भृगुने नहुषका साक्षात्कार नहीं किया॥ २० ॥

वरदानप्रभावज्ञो नहुषस्य महात्मनः।
न चुकोप तदागस्त्यो युक्तोऽपि नहुषेण वै ॥ २१ ॥

अगस्त्यमुनि महामना नहुषको मिले हुए वरदानका प्रभाव जानते थे, इसलिये उसके द्वारा रथमें जोते जानेपर भी वे कुपित नहीं हुए॥ २१ ॥

तं तु राजा प्रतोदेन चोदयामास भारत।
न चुकोप स धर्मात्मा ततः पादेन देवराट् ॥ २२ ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।

भारत! राजा नहुषने चाबुक मारकर हाँकना आरम्भ किया तो भी उन धर्मात्मा मुनिको क्रोध नहीं आया। तब कुपित हुए देवराजने महात्मा अगस्त्यके सिरपर बायें पैरसे प्रहार किया॥ २२½ ॥

तस्मिञ्छिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥ २३ ॥
शशाप बलवत्क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् पदाऽऽहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम्॥२४॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।

उनके मस्तकपर चोट होते ही जटाके भीतर बैठे हुए महर्षि भृगु अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने पापात्मा नहुषको इस प्रकार शाप दिया—'ओ दुर्मते! तुमने इन महामुनिके मस्तकमें क्रोधपूर्वक लात मारी है, इसलिये तू शीघ्र ही सर्प होकर पृथ्वीपर चला जा' ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥ २५ ॥
अदृष्टेनाथ भृगुणा भूतले भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ! भृगु नहुषको दिखायी नहीं दे रहे थे। उनके इस प्रकार शाप देनेपर नहुष सर्प होकर पृथ्वीपर गिरने लगे॥ २५½ ॥

भृगुं हि यदि सोऽद्रक्ष्यन्नहुषः पृथिवीपते ॥ २६ ॥
न च शक्तोऽभविष्यद् वै पातने तस्य तेजसा।

पृथ्वीनाथ! यदि नहुष भृगुको देख लेते तो उनके तेजसे प्रतिहत होकर वे उन्हें स्वर्गसे नीचे गिरानेमें समर्थ न होते॥ २६½ ॥

स तु तैस्तैः प्रदानैश्च तपोभिर्नियमैस्तथा ॥ २७ ॥
पतितोऽपि महाराज भूतले स्मृतिमानभूत्।
प्रसादयामास भृगुं शापान्तो मे भवेदिति ॥ २८ ॥

महाराज! नहुषने जो भिन्न-भिन्न प्रकारके दान किये थे, तप और नियमोंका अनुष्ठान किया था, उनके प्रभावसे वे पृथ्वीपर गिरकर भी पूर्वजन्मकी स्मृतिसे वञ्चित नहीं हुए। उन्होंने भृगुको प्रसन्न करते हुए कहा—'प्रभो! मुझको मिले हुए शापका अन्त होना चाहिये' ॥ २७-२८ ॥

ततोऽगस्त्यः कृपाविष्टः प्रासादयत तं भृगुम्।
शापान्तार्थं महाराज स च प्रादात् कृपान्वितः ॥२९॥

महाराज! तब अगस्त्यने दयासे द्रवित होकर उनके शापका अन्त करनेके लिये भृगुको प्रसन्न किया। तब कृपायुक्त हुए भृगुने उस शापका अन्त इस प्रकार निश्चित किया॥ २९ ॥

भृगुरुवाच

राजा युधिष्ठिरो नाम भविष्यति कुलोद्वहः।
स त्वां मोक्षयिता शापादित्युक्त्वान्तरधीयत॥ ३० ॥

भृगुने कहा—राजन्! तुम्हारे कुलमें सर्वश्रेष्ठ युधिष्ठिर नामसे प्रसिद्ध एक राजा होंगे, जो तुम्हें इस शापसे मुक्त करेंगे—ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये॥ ३० ॥

अगस्त्योऽपि महातेजाः कृत्वा कार्यं शतक्रतोः।
स्वमाश्रमपदं प्रायात् पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ ३१ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य भी शतक्रतु इन्द्रका कार्य सिद्ध करके द्विजातियोंसे पूजित होकर अपने आश्रमको चले गये ॥ ३१ ॥

नहुषोऽपि त्वया राजंस्तस्माच्छापात् समुद्धृतः।
जगाम ब्रह्मभवनं पश्यतस्ते जनाधिप ॥ ३२ ॥

राजन् ! तुमने भी नहुषका उस शापसे उद्धार कर दिया। नरेश्वर ! वे तुम्हारे देखते-देखते ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ३२ ॥

तदा स पातयित्वा तं नहुषं भूतले भृगुः।
जगाम ब्रह्मभवनं ब्रह्मणे च न्यवेदयत् ॥ ३३ ॥

भृगु उस समय नहुषको पृथ्वीपर गिराकर ब्रह्माजीके धाममें गये और उनसे उन्होंने यह सब समाचार निवेदन किया ॥ ३३ ॥

ततः शक्रं समानाय्य देवानाह पितामहः।
वरदानान्मम सुरा नहुषो राज्यमाप्तवान् ॥ ३४ ॥
स चागस्त्येन क्रुद्धेन भ्रंशितो भूतलं गतः।

तब पितामह ब्रह्माने इन्द्र तथा अन्य देवताओंको बुलवाकर उनसे कहा—'देवगण ! मेरे वरदानसे नहुषने राज्य प्राप्त किया था। परंतु कुपित हुए अगस्त्यने उन्हें स्वर्गसे नीचे गिरा दिया। अब वे पृथ्वीपर चले गये ॥ ३४½ ॥

न च शक्यं विना राज्ञा सुरा वर्तयितुं क्वचित् ॥ ३५ ॥
तस्मादयं पुनः शक्रो देवराज्येऽभिषिच्यताम्।

'देवताओ ! बिना राजाके कहीं भी रहना असम्भव है। अतः अपने पूर्व इन्द्रको पुनः देवराजके पदपर अभिषिक्त करो' ॥ ३५½ ॥

एवं सम्भाषमाणं तु देवाः पार्थ पितामहम् ॥ ३६ ॥
एवमस्त्विति संहृष्टाः प्रत्यूचुस्तं नराधिप।

कुन्तीनन्दन ! नरेश्वर ! पितामह ब्रह्माका यह कथन सुनकर सब देवता हर्षसे खिल उठे और बोले—'भगवन् ! ऐसा ही हो' ॥ ३६½ ॥

सोऽभिषिक्तो भगवता देवराज्ये च वासवः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मणा राजशार्दूल यथापूर्वं व्यरोचत।

राजसिंह ! भगवान् ब्रह्माके द्वारा देवराजके पदपर अभिषिक्त हो शतक्रतु इन्द्र फिर पूर्ववत् शोभा पाने लगे ॥ ३७½ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं नहुषस्य व्यतिक्रमात् ॥ ३८ ॥
स च तैरेव संसिद्धो नहुषः कर्मभिः पुनः।

इस प्रकार पूर्वकालमें नहुषके अपराधसे ऐसी घटना घटी कि वे नहुष बार-बार दीपदान आदि पुण्यकर्मोंसे सिद्धिको प्राप्त हुए थे ॥ ३८½ ॥

तस्माद् दीपाः प्रदातव्याः सायं वै गृहमेधिभिः॥ ३९ ॥
दिव्यं चक्षुरवाप्नोति प्रेत्य दीपस्य दायकः।

इसलिये गृहस्थोंको सायंकालमें अवश्य दीपदान करने चाहिये। दीपदान करनेवाला पुरुष परलोकमें दिव्य नेत्र प्राप्त करता है ॥ ३९½ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशा दीपदाश्च भवन्त्युत ॥ ४० ॥
यावदक्षिनिमेषाणि ज्वलन्ते तावतीः समाः।
रूपवान् बलवांश्चापि नरो भवति दीपदः ॥ ४१ ॥

दीपदान करनेवाले मनुष्य निश्चय ही पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् होते हैं। जितने पलकोंके गिरनेतक दीपक जलते हैं, उतने वर्षोंतक दीपदान करनेवाला मनुष्य रूपवान् और बलवान् होता है ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अगस्त्यभृगुसंवादो नाम शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अगस्त्य और भृगुका संवादनामक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करनेसे प्राप्त होनेवाले दोषके विषयमें क्षत्रिय और चाण्डालका संवाद तथा ब्रह्मस्वकी रक्षामें प्राणोत्सर्ग करनेसे चाण्डालको मोक्षकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणस्वानि ये मन्दा हरन्ति भरतर्षभ।
नृशंसकारिणो मूढाः क्व ते गच्छन्ति मानवाः॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो मूर्ख और मन्दबुद्धि मानव क्रूरतापूर्ण कर्ममें संलग्न रहकर ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करते हैं, वे किस लोकमें जाते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

(पातकानां परं ह्येतद् ब्रह्मस्वहरणं बलात्।

सान्वयास्ते विनश्यन्ति चण्डालाः प्रेत्य चेह च ॥)

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मणोंके धनका बलपूर्वक अपहरण—यह सबसे बड़ा पातक है। ब्राह्मणोंका धन लूटनेवाले चाण्डाल-स्वभावयुक्त मनुष्य अपने कुल-परिवार-सहित नष्ट हो जाते हैं ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
चाण्डालस्य च संवादं क्षत्रबन्धोश्च भारत ॥ २ ॥

भारत ! इस विषयमें जानकार मनुष्य एक चाण्डाल और क्षत्रियबन्धुका संवादविषयक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

राजन्य उवाच

वृद्धरूपोऽसि चाण्डाल बालवच्च विचेष्टसे।
श्वखराणां रजःसेवी कस्मादुद्विजसे गवाम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियने पूछा—चाण्डाल ! तू बूढ़ा हो गया है तो भी बालकों-जैसी चेष्टा करता है। कुत्तों और गधोंकी धूलिका सेवन करनेवाला होकर भी तू इन गौओंकी धूलिसे क्यों इतना उद्विग्न हो रहा है ॥ ३ ॥

साधुभिर्गर्हितं कर्म चाण्डालस्य विधीयते।
कस्माद् गोरजसा ध्वस्तमपां कुण्डे निषिञ्चसि ॥ ४ ॥

चाण्डालके लिये विहित कर्मकी श्रेष्ठ पुरुष निन्दा करते हैं। तू गोधूलिसे ध्वस्त हुए अपने शरीरको क्यों जलके कुण्डमें डालकर धो रहा है ? ॥ ४ ॥

चाण्डाल उवाच

ब्राह्मणस्य गवां राजन् ह्रियतीनां रजः पुरा।
सोममुध्वंसयामास तं सोमं येऽपिबन् द्विजाः ॥ ५ ॥
दीक्षितश्च स राजापि क्षिप्रं नरकमाविशत्।
सह तैर्याजकैः सर्वैर्ब्रह्मस्वमुपजीव्य तत् ॥ ६ ॥

चाण्डालने कहा—राजन् ! पहलेकी बात है—एक ब्राह्मणकी कुछ गौओंका अपहरण किया गया था। जिस समय वे गौएँ हरकर ले जायी जा रही थीं, उस समय उनकी दुग्धकणमिश्रित चरणधूलिने सोमरसपर पड़कर उसे दूषित कर दिया। उस सोमरसको जिन ब्राह्मणोंने पीया, वे तथा उस यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले राजा भी शीघ्र ही नरकमें जा गिरे। उन यज्ञ करानेवाले समस्त ब्राह्मणों-सहित राजा ब्राह्मणके अपहृत धनका उपभोग करके नरकगामी हुए ॥ ५-६ ॥

येऽपि तत्रापिबन् क्षीरं घृतं दधि च मानवाः।
ब्राह्मणाः सहराजन्याः सर्वे नरकमाविशन् ॥ ७ ॥

जहाँ वे गौएँ हरकर लायी गयी थीं, वहाँ जिन मनुष्योंने उनके दूध, दही और घीका उपभोग किया, वे सभी ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि नरकमें पड़े ॥ ७ ॥

जघ्नुस्ताः पयसा पुत्रांस्तथा पौत्रान् विधुन्वतीः।
पशूनवेक्षमाणाश्च साधुवृत्तेन दम्पती ॥ ८ ॥

वे अपहृत हुई गौएँ जब दूसरे पशुओंको देखतीं और अपने स्वामी तथा बछड़ोंको नहीं देखती थीं, तब पीड़ासे अपने शरीरको कँपाने लगती थीं। उन दिनों सद्भावसे ही दूध देकर उन्होंने अपहरणकारी पति-पत्नीको तथा उनके पुत्रों और पौत्रोंको भी नष्ट कर दिया ॥ ८ ॥

अहं तत्रावसं राजन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
तासां मे रजसा ध्वस्तं भैक्ष्यमासीन्नराधिप ॥ ९ ॥

राजन् ! मैं भी उसी गाँवमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक जितेन्द्रियभावसे निवास करता था। नरेश्वर ! एक दिन उन्हीं गौओंके दूध एवं धूलके कणसे मेरा भिक्षान्न भी दूषित हो गया ॥ ९ ॥

चाण्डालोऽहं ततो राजन् भुक्त्वा तदभवं नृप।
ब्रह्मस्वहारी च नृपः सोऽप्रतिष्ठां गतिं ययौ ॥ १० ॥

महाराज ! उस भिक्षान्नको खाकर मैं चाण्डाल हो गया और ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेवाले वे राजा भी नरकगामी हो गये ॥ १० ॥

तस्माद्धरेन्न विप्रस्वं कदाचिदपि किंचन।
ब्रह्मस्वं रजसा ध्वस्तं भुक्त्वा मां पश्य यादृशम् ॥ ११ ॥

इसलिये कभी किंचिन्मात्र भी ब्राह्मणके धनका अपहरण न करे। ब्राह्मणके धूल-धूसरित दुग्धरूप धनको खाकर मेरी जो दशा हुई है, उसे आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ ११ ॥

तस्मात् सोमोऽप्यविक्रेयः पुरुषेण विपश्चिता।
विक्रयं त्विह सोमस्य गर्हयन्ति मनीषिणः ॥ १२ ॥

इसीलिये विद्वान् पुरुषको सोमरसका विक्रय भी नहीं करना चाहिये। मनीषी पुरुष इस जगत्‌में सोमरसके विक्रयकी बड़ी निन्दा करते हैं ॥ १२ ॥

ये चैनं क्रीणते तात ये च विक्रीणते जनाः।
ते तु वैवस्वतं प्राप्य रौरवं यान्ति सर्वशः ॥ १३ ॥

तात ! जो लोग सोमरसको खरीदते हैं और जो लोग उसे बेचते हैं, वे सभी यमलोकमें जाकर रौरव नरकमें पड़ते हैं ॥ १३ ॥

सोमं तु रजसा ध्वस्तं विक्रीणन् विधिपूर्वकम्।
श्रोत्रियो वार्धुषी भूत्वा न चिरं स विनश्यति ॥ १४ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण यदि गौओंके चरणोंकी धूलि और दूधसे दूषित सोमको विधिपूर्वक बेचता है अथवा व्याजपर रुपये

चलाता है तो वह जल्दी ही नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

नरकं त्रिंशतं प्राप्य स्वविष्ठामुपजीवति ।
श्वचर्यामभिमानं च सखिदारे च विप्लवम् ॥ १५ ॥
तुलया धारयन् धर्ममभिमान्यतिरिच्यते ।

वह तीस नरकोंमें पड़कर अन्तमें अपनी ही विष्ठापर जीनेवाला कीड़ा होता है। कुत्तोंको पालना, अभिमान तथा मित्रकी स्त्रीसे व्यभिचार—इन तीनों पापोंको तराजूपर रखकर यदि धर्मतः तौला जाय तो अभिमानका ही पलड़ा भारी होगा ॥ १५½ ॥

श्वानं वै पापिनं पश्य विवर्णं हरिणं कृशम् ॥ १६ ॥
अभिमानेन भूतानामिमां गतिमुपागतम् ।

आप मेरे इस पापी कुत्तेको देखिये, यह कान्तिहीन, सफेद और दुर्बल हो गया है। यह पहले मनुष्य था। परंतु समस्त प्राणियोंके प्रति अभिमान रखनेके कारण इस दुर्गतिको प्राप्त हुआ है ॥ १६½ ॥

अहं वै विपुले तात कुले धनसमन्विते ॥ १७ ॥
अन्यस्मिञ्जन्मनि विभो ज्ञानविज्ञानपारगः ।
अभवं तत्र जानानो ह्येतान् दोषान् मदात् सदा ॥ १८ ॥
संरब्ध एव भूतानां पृष्ठमांससमभक्षयम् ।
सोऽहं तेन च वृत्तेन भोजनेन च तेन वै ॥ १९ ॥
इमामवस्थां सम्प्राप्तः पश्य कालस्य पर्ययम् ।

तात! प्रभो! मैं भी दूसरे जन्ममें धनसम्पन्न महान् कुलमें उत्पन्न हुआ था। ज्ञान-विज्ञानमें पारंगत था। इन सब दोषोंको जानता था तो भी अभिमानवश सदा सब प्राणियोंपर क्रोध करता और पशुओंके पृष्ठका मांस खाता था; उसी दुराचार और अभक्ष्य-भक्षणसे मैं इस दुरवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ। कालके इस उलट-फेरको देखिये ॥ १७-१९½ ॥

आदीप्तमिव चैलान्तं भ्रमरैरिव चार्दितम् ॥ २० ॥
धावमानं सुसंरब्धं पश्य मां रजसान्वितम् ।

मेरी दशा ऐसी हो रही है, मानो मेरे कपड़ोंके छोरमें आग लग गयी हो अथवा तीखे मुखवाले भ्रमरोंने मुझे डंक मार-मारकर पीड़ित कर दिया हो। मैं रजोगुणसे युक्त हो अत्यन्त रोष और आवेशमें भरकर चारों ओर दौड़ रहा हूँ। मेरी दशा तो देखिये ॥ २०½ ॥

स्वाध्यायैस्तु महत्पापं हरन्ति गृहमेधिनः ॥ २१ ॥
दानैः पृथग्विधैश्चापि यथा प्राहुर्मनीषिणः ।

गृहस्थ मनुष्य वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा तथा नाना प्रकारके दानोंसे अपने महान् पापको दूर कर देते हैं। जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ २१½ ॥

तथा पापकृतं विप्रमाश्रमस्थं महीपते ॥ २२ ॥
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तं छन्दांस्युत्तारयन्त्युत ।

पृथ्वीनाथ! आश्रममें रहकर सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मणको यदि वह पापाचारी हो तो भी उसके द्वारा पढ़े जानेवाले वेद उसका उद्धार कर देते हैं ॥ २२½ ॥

अहं हि पापयोन्यां वै प्रसूतः क्षत्रियर्षभ ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कथं मुच्येयमित्युत ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! मैं पापयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे यह निश्चय नहीं हो पाता कि मैं किस उपायसे मुक्त हो सकूँगा? ॥ २३ ॥

जातिस्मरत्वं च मम केनचित् पूर्वकर्मणा ।
शुभेन येन मोक्षं वै प्राप्तुमिच्छाम्यहं नृप ॥ २४ ॥

नरेश्वर! पहलेके किसी शुभ कर्मके प्रभावसे मुझे पूर्व-जन्मकी बातोंका स्मरण हो रहा है; जिससे मैं मोक्ष पानेकी इच्छा करता हूँ ॥ २४ ॥

त्वमिमं सम्प्रपन्नाय संशयं ब्रूहि पृच्छते ।
चाण्डालत्वात् कथमहं मुच्येयमिति सत्तम ॥ २५ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! मैं आपकी शरणमें आकर अपना यह संशय पूछ रहा हूँ। आप मुझे इसका समाधान बताइये। मैं चाण्डाल-योनिसे किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ? ॥ २५ ॥

राजन्य उवाच

चाण्डाल प्रतिजानीहि येन मोक्षमवाप्स्यसि ।
ब्राह्मणार्थे त्यजन् प्राणान् गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

क्षत्रियने कहा—चाण्डाल! तू उस उपायको समझ ले, जिससे तुझे मोक्ष प्राप्त होगा। यदि तू ब्राह्मणकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करे तो तुझे अभीष्ट गति प्राप्त होगी ॥ २६ ॥

दत्त्वा शरीरं क्रव्याद्भ्यो रणाग्नौ द्विजहेतुकम् ।
हुत्वा प्राणान् प्रमोक्षस्ते नान्यथा मोक्षमर्हसि ॥ २७ ॥

यदि ब्राह्मणकी रक्षाके लिये तू अपना यह शरीर समराग्निमें होमकर कच्चा मांस खानेवाले जीव-जन्तुओंको बाँट दे तो प्राणोंकी आहुति देनेपर तेरा छुटकारा हो सकता है, अन्यथा तू मोक्ष नहीं पा सकेगा ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन ब्रह्मस्वार्थे परंतप ।
हुत्वा रणमुखे प्राणान् गतिमिष्टामवाप ह ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—परंतप! क्षत्रियके ऐसा कहनेपर उस चाण्डालने ब्राह्मणके धनकी रक्षाके लिये युद्धके मुहानेपर

अपने प्राणोंकी आहुति दे अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ २८ ॥

तस्माद् रक्ष्यं त्वया पुत्र ब्रह्मस्वं भरतर्षभ ।
यदीच्छसि महाबाहो शाश्वतीं गतिमात्मनः ॥ २९ ॥

बेटा ! भरतश्रेष्ठ ! महाबाहो ! यदि तुम सनातन गति पाना चाहते हो तो तुम्हें ब्राह्मणके धनकी पूरी रक्षा करनी चाहिये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि राजन्यचाण्डालसंवादो नामैकोत्तरशततमोऽध्यायः॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें क्षत्रिय और चाण्डालका संवादविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतानेके लिये धृतराष्ट्ररूपधारी इन्द्र और गौतम ब्राह्मणके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

एके लोकाः सुकृतिनः सर्वे त्वाहो पितामह ।
तत्र तत्रापि भिन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! (मृत्युके पश्चात्) सभी पुण्यात्मा एक ही तरहके लोकमें जाते हैं या वहाँ उन्हें प्राप्त होनेवाले लोकोंमें भिन्नता होती है ? दादाजी ! यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

कर्मभिः पार्थ नानात्वं लोकानां यान्ति मानवाः ।
पुण्यान् पुण्यकृतो यान्ति पापान् पापकृतो नराः॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें जाते हैं। पुण्यकर्म करनेवाले पुण्यलोकोंमें जाते हैं और पापाचारी मनुष्य पापमय लोकोंमें ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य मुनेस्तात संवादं वासवस्य च ॥ ३ ॥

तात ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और गौतम मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणो गौतमः कश्चिन्मृदुर्दान्तो जितेन्द्रियः ।
महावने हस्तिशिशुं परिद्यूनममातृकम् ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा जीवयामास सानुक्रोशो धृतव्रतः ।
स तु दीर्घेण कालेन बभूवातिबलो महान् ॥ ५ ॥

पूर्वकालमें गौतम नामवाले एक ब्राह्मण थे, जिनका स्वभाव बड़ा कोमल था। वे मनको वशमें रखनेवाले और जितेन्द्रिय थे। उन व्रतधारी मुनिने विशाल वनमें एक हाथीके बच्चेको अपने माताके बिना बड़ा कष्ट पाते देखकर उसे कृपापूर्वक जिलाया। दीर्घकालके पश्चात् वह हाथी बढ़कर अत्यन्त बलवान् हो गया ॥ ४-५ ॥

तं प्रभिन्नं महानागं प्रस्रुतं पर्वतोपमम् ।
धृतराष्ट्रस्य रूपेण शक्रो जग्राह हस्तिनम् ॥ ६ ॥

उस महानागके कुम्भस्थलसे फूटकर मदकी धारा बहने लगी। मानो पर्वतसे झरना झर रहा हो। एक दिन इन्द्रने राजा धृतराष्ट्रके रूपमें आकर उस हाथीको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ६ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा गौतमः संशितव्रतः ।
अभ्यभाषत राजानं धृतराष्ट्रं महातपाः ॥ ७ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले महातपस्वी गौतमने उस हाथीका अपहरण होता देख राजा धृतराष्ट्रसे कहा—॥ ७ ॥

मा मेऽहार्षीर्हास्तिनं पुत्रमेनं
दुःखात् पुष्टं धृतराष्ट्राकृतज्ञ ।
मैत्रं सतां सप्तपदं वदन्ति
मित्रद्रोहो मैव राजन् स्पृशेत् त्वाम्॥ ८ ॥

'कृतज्ञताशून्य राजा धृतराष्ट्र ! तुम मेरे इस हाथीको न ले जाओ। यह मेरा पुत्र है। मैंने बड़े दुःखसे इसका पालन-पोषण किया है। सत्पुरुषोंमें सात पग साथ चलनेमात्रसे मित्रता हो जाती है। इस नाते हम और तुम दोनों मित्र हैं। मेरे इस हाथीको ले जानेसे तुम्हें मित्रद्रोहका पाप लगेगा। तुम्हें यह पाप न लगे, ऐसी चेष्टा करो ॥ ८ ॥

इध्मोदकप्रदातारं शून्यपालं ममाश्रमे ।
विनीतमाचार्यकुले सुयुक्तं गुरुकर्मणि ॥ ९ ॥
शिष्टं दान्तं कृतज्ञं च प्रियं च सततं मम ।
न मे विक्रोशतो राजन् हर्तुमर्हसि कुञ्जरम् ॥ १० ॥

'राजन् ! यह मुझे समिधा और जल लाकर देता है। मेरे आश्रममें जब कोई नहीं रहता है, तब यही रक्षा करता है। आचार्यकुलमें रहकर इसने विनयकी शिक्षा ग्रहण की है। गुरुसेवाके कार्यमें यह पूर्णरूपसे संलग्न रहता है। यह शिष्ट, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ तथा मुझे सदा ही प्रिय है। मैं

चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, तुम मेरे इस हाथीको न ले जाओ' ॥ ९-१० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गवां सहस्रं भवते ददानि
दासीशतं निष्कशतानि पञ्च ।
अन्यच्च वित्तं विविधं महर्षे
किं ब्राह्मणस्येह गजेन कृत्यम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! मैं आपको एक हजार गौएँ दूँगा । सौ दासियाँ और पाँच सौ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान करूँगा और भी नाना प्रकारका धन समर्पित करूँगा । ब्राह्मणके यहाँ हाथीका क्या काम है ? ॥ ११ ॥

गौतम उवाच

तवैव गावो हि भवन्तु राजन्
दास्यः सनिष्का विविधं च रत्नम् ।
अन्यच्च वित्तं विविधं नरेन्द्र
किं ब्राह्मणस्येह धनेन कृत्यम् ॥ १२ ॥

गौतम बोले—राजन् ! वे गौएँ, दासियाँ, स्वर्णमुद्राएँ, नाना प्रकारके रत्न तथा और भी तरह-तरहके धन तुम्हारे ही पास रहें । नरेन्द्र ! ब्राह्मणके यहाँ धनका क्या काम है ? ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्राह्मणानां हस्तिभिर्नास्ति कृत्यं
राजन्यानां नागकुलानि विप्र ।
स्वं वाहनं नयतो नास्त्यधर्मो
नागश्रेष्ठं गौतमास्मान्निवर्त ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विप्रवर गौतम ! ब्राह्मणोंको हाथियोंसे कोई प्रयोजन नहीं है । हाथियोंके समूह तो राजाओंके ही काम आते हैं । हाथी मेरा वाहन है; अतः इस श्रेष्ठ हाथीको ले जानेमें कोई अधर्म नहीं है । आप इसकी ओरसे अपनी तृष्णा हटा लीजिये ॥ १३ ॥

गौतम उवाच

यत्र प्रेतो नन्दति पुण्यकर्मा
यत्र प्रेतः शोचते पापकर्मा ।
वैवस्वतस्य सदने महात्मं-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १४ ॥

गौतमने कहा—महात्मन् ! जहाँ जाकर पुण्यकर्मा पुरुष आनन्दित होता है और जहाँ जाकर पापकर्मा मनुष्य शोकमें डूब जाता है, उस यमराजके लोकमें मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये निष्क्रिया नास्तिकाश्रद्दधानाः
पापात्मान इन्द्रियार्थे निविष्टाः ।
यमस्य ते यातनां प्राप्नुवन्ति
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो निष्क्रिय, नास्तिक, श्रद्धाहीन, पापात्मा और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, वे ही यमयातनाको प्राप्त होते हैं; परंतु राजा धृतराष्ट्रको वहाँ नहीं जाना है ॥ १५ ॥

गौतम उवाच

वैवस्वती संयमनी जनानां
यत्रानृतं नोच्यते यत्र सत्यम् ।
यत्राबला बलिनं यातयन्ति
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १६ ॥

गौतम बोले—जहाँ कोई भी झूठ नहीं बोलता, जहाँ सदा सत्य ही बोला जाता है और जहाँ निर्बल मनुष्य भी बलवान्से अपने प्रति किये गये अन्यायका बदला लेते हैं, मनुष्योंको संयममें रखनेवाली यमराजकी वही पुरी संयमनी नामसे प्रसिद्ध है । वहीं मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ज्येष्ठां स्वसारं पितरं मातरं च
यथा शत्रुं मदमत्ताश्चरन्ति ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो मदमत्त मनुष्य बड़ी बहिन, माता और पिताके साथ शत्रुके समान बर्ताव करते हैं, उन्हींके लिये यह यमराजका लोक है; परंतु धृतराष्ट्र वहाँ जानेवाला नहीं है ॥ १७ ॥

गौतम उवाच

मन्दाकिनी वैश्रवणस्य राज्ञो
महाभागा भोगिजनप्रवेश्या ।
गन्धर्वयक्षैरप्सरोभिश्च जुष्टा
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १८ ॥

गौतमने कहा—महान् सौभाग्यशालिनी मन्दाकिनी नदी राजा कुबेरके नगरमें विराज रही हैं, जहाँ नागोंका ही प्रवेश होना सम्भव है, गन्धर्व, यक्ष और अप्सराएँ उस मन्दाकिनीका सदा सेवन करती हैं; वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अतिथिव्रताः सुव्रता ये जना वै
प्रतिश्रयं ददति ब्राह्मणेभ्यः ।
शिष्टाशिनः संविभज्याश्रितांश्च
मन्दाकिनीं तेऽपि विभूषयन्ति ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—जो सदा अतिथियोंकी सेवामें तत्पर रहकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं, जो लोग ब्राह्मणको आश्रय-दान करते हैं तथा जो अपने आश्रितोंको बाँटकर शेष अन्नका भोजन करते हैं, वे ही लोग उस मन्दाकिनी-तटकी शोभा बढ़ाते हैं (राजा धृतराष्ट्रको तो वहाँ भी नहीं जाना है) ॥ १९ ॥

गौतम उवाच

मेरोरग्रे यद् वनं भाति रम्यं
सुपुष्पितं किन्नरीगीतजुष्टम् ।
सुदर्शना यत्र जम्बूर्विशाला
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २० ॥

गौतम बोले—मेरुपर्वतके सामने जो रमणीय वन शोभा पाता है, जहाँ सुन्दर फूलोंकी छटा छायी रहती है और किन्नरियोंके मधुर गीत गूँजते रहते हैं, जहाँ देखनेमें सुन्दर विशाल जम्बूवृक्ष शोभा पाता है, वहाँ पहुँचकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये ब्राह्मणा मृदवः सत्यशीला
बहुश्रुताः सर्वभूताभिरामाः ।
येऽधीयते सेतिहासं पुराणं
मध्वाहुत्या जुह्वति वै द्विजेभ्यः ॥ २१ ॥
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ।
यद् विद्यते विदितं स्थानमस्ति
तद् ब्रूहि त्वं त्वरितो ह्येष यामि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महर्षे ! जो ब्राह्मण कोमलस्वभाव, सत्यशील, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंको प्यार करनेवाले हैं, जो इतिहास और पुराणका अध्ययन करते तथा ब्राह्मणोंको मधुर भोजन अर्पित करते हैं; ऐसे लोगोंके लिये ही यह पूर्वोक्त लोक है; परंतु राजा धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है । आपको जो-जो स्थान विदित हैं, उन सबका यहाँ वर्णन कर जाइये । मैं जानेके लिये उतावला हूँ । यह देखिये, मैं चला ॥ २१-२२ ॥

गौतम उवाच

सुपुष्पितं किन्नरराजजुष्टं
प्रियं वनं नन्दनं नारदस्य ।
गन्धर्वाणामप्सरसां च शश्वत्
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २३ ॥

गौतमने कहा—सुन्दर-सुन्दर फूलोंसे सुशोभित, किन्नर-राजोंसे सेवित तथा नारद, गन्धर्व और अप्सराओंको सर्वदा प्रिय जो नन्दननामक वन है, वहाँ जाकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये नृत्यगीते कुशला जनाः सदा
ह्ययाचमानाः सहिताश्चरन्ति ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महर्षे ! जो लोग नृत्य और गीतमें निपुण हैं; कभी किसीसे कुछ याचना नहीं करते हैं तथा सदा सज्जनोंके साथ विचरण करते हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह नन्दनवनका जगत् है; परंतु राजा धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है ॥ २४ ॥

गौतम उवाच

यत्रोत्तराः कुरवो भान्ति रम्या
देवैः सार्धं मोदमाना नरेन्द्र ।
यत्राग्नियौनाश्च वसन्ति लोका
अब्योनयः पर्वतयोनयश्च ॥ २५ ॥
यत्र शक्रो वर्षति सर्वकामान्
यत्र स्त्रियः कामचारा भवन्ति ।
यत्र चेर्ष्या नास्ति नारीनराणां
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २६ ॥

गौतम बोले—नरेन्द्र ! जहाँ रमणीय आकृतिवाले उत्तर कुरुके निवासी अपूर्व शोभा पाते हैं, देवताओंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं, अग्नि, जल और पर्वतसे उत्पन्न हुए दिव्य मानव जिस देशमें निवास करते हैं, जहाँ इन्द्र सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करते हैं, जहाँकी स्त्रियाँ इच्छानुसार विचरनेवाली होती हैं तथा जहाँ स्त्रियों और पुरुषोंमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव है, वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २५-२६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये सर्वभूतेषु निवृत्तकामा
अमांसादा न्यस्तदण्डाश्चरन्ति ।

न हिंसन्ति स्थावरं जङ्गमं च
भूतानां ये सर्वभूतात्मभूताः ॥ २७ ॥
निराशिषो निर्ममा वीतरागा
लाभालाभे तुल्यनिन्दाप्रशंसाः ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो समस्त प्राणियोंमें निष्काम हैं, जो मांसाहार नहीं करते, किसी भी प्राणीको दण्ड नहीं देते, स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी हिंसा नहीं करते, जिनके लिये समस्त प्राणी अपने आत्माके ही तुल्य हैं, जो कामना, ममता और आसक्तिसे रहित हैं, लाभ-हानि, निन्दा तथा प्रशंसामें जो सदा समभाव रखते हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह उत्तर कुरुनामक लोक है; परंतु धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है ॥ २७-२८ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा वीतशोकाः।
सोमस्य राज्ञः सदने महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २९ ॥

गौतमने कहा—राजन् ! उससे भिन्न बहुत-से सनातन लोक हैं, जहाँ पवित्र गन्ध छायी रहती है । वहाँ रजोगुण तथा शोकका सर्वथा अभाव है । महात्मा राजा सोमके लोकमें उनकी स्थिति है। वहाँ पहुँचकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये दानशीला न प्रतिगृह्णते सदा
न चाप्यर्थांश्चाददते परेभ्यः ।
येषामदेयमर्हते नास्ति किंचित्
सर्वातिथ्याः सुप्रसादा जनाश्च ॥ ३० ॥
ये क्षन्तारो नाभिजल्पन्ति चान्यान्
सत्रीभूताः सततं पुण्यशीलाः ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो सदा दान करते हैं, किंतु दान लेते नहीं हैं, जिनकी दृष्टिमें सुयोग्य पात्रके लिये कुछ भी अदेय नहीं है, जो सबका अतिथि-सत्कार करते तथा सबके प्रति कृपाभाव रखते हैं, जो क्षमाशील हैं, दूसरोंसे कभी कुछ नहीं बोलते हैं और जो पुण्यशील महात्मा सदा सबके लिये अन्नसत्ररूप हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह सोमलोक है; परंतु धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है ॥ ३०-३१ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातना
विरजसो वितमस्का विशोकाः ।
आदित्यदेवस्य पदं महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३२ ॥

गौतमने कहा—राजन् ! सोमलोकसे भी ऊपर कितने ही सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, जो रजोगुण, तमोगुण और शोकसे रहित हैं । वे महात्मा सूर्यदेवके स्थान हैं । वहाँ जाकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्वाध्यायशीला गुरुशुश्रूषणे रता-
स्तपस्विनः सुव्रताः सत्यसंधाः ।
आचार्याणामप्रतिकूलभाषिणो
नित्योत्थिता गुरुकर्मस्वचोद्याः॥ ३३ ॥
तथाविधानामेष लोको महर्षे
विशुद्धानां भावितो वाग्यतानाम् ।
सत्ये स्थितानां वेदविदां महात्मनां
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो स्वाध्यायशील, गुरुसेवा-परायण, तपस्वी, उत्तम व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, आचार्योंके प्रतिकूल भाषण न करनेवाले, सदा उद्योगशील तथा बिना कहे ही गुरुके कार्यमें संलग्न रहनेवाले हैं, जिनका भाव विशुद्ध है, जो मौनव्रतावलम्बी, सत्यनिष्ठ और वेदवेत्ता महात्मा हैं, उन्हीं लोगोंके लिये यह सूर्यदेवका लोक है; परंतु धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा विशोकाः ।
वरुणस्य राज्ञः सदने महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३५ ॥

गौतमने कहा—उसके सिवा दूसरे भी बहुत-से सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, जहाँ पवित्र गन्ध छायी रहती है । वहाँ न तो रजोगुण है और न शोक ही । महामना राजा वरुणके लोकमें वे स्थान हैं । वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

चातुर्मास्यैर्ये यजन्ते जनाः सदा
तथेष्टीनां दशशतं प्राप्नुवन्ति ।

ये चाग्निहोत्रं जुह्वति श्रद्दधाना
यथाम्नायं त्रीणि वर्षाणि विप्राः ॥ ३६ ॥
सुधारिणां धर्मधुरे महात्मनां
यथोदिते वर्त्मनि सुस्थितानाम्।
धर्मात्मनामुद्वहतां गतिं तां
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो लोग सदा चातुर्मास्य याग करते हैं, हजारों इष्टियोंका अनुष्ठान करते हैं तथा जो ब्राह्मण तीन वर्षोंतक वैदिक विधिके अनुसार प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करते हैं, धर्मका भार अच्छी तरह वहन करते हैं, वेदोक्त मार्गपर भलीभाँति स्थित होते हैं, वे ही धर्मात्मा महात्मा ब्राह्मण वरुणलोकमें जाते हैं। धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है। यह उससे भी उत्तम लोक प्राप्त करेगा ॥ ३६-३७ ॥

गौतम उवाच

इन्द्रस्य लोका विरजा विशोका
दुरन्वयाः काङ्क्षिता मानवानाम्।
तस्याहं ते भवने भूरितेजसो
राजन्निमं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३८ ॥

गौतमने कहा—राजन्! इन्द्रके लोक रजोगुण और शोकसे रहित हैं। उनकी प्राप्ति बहुत कठिन है। सभी मनुष्य उन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। उन्हीं महातेजस्वी इन्द्रके भवनमें चलकर मैं आपसे अपने इस हाथीको वापस लूँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतवर्षजीवी यश्च शूरो मनुष्यो
वेदाध्यायी यश्च यज्वाप्रमत्तः।
एते सर्वे शक्रलोकं व्रजन्ति
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो सौ वर्षतक जीनेवाला शूरवीर मनुष्य वेदोंका स्वाध्याय करता, यज्ञमें तत्पर रहता और कभी प्रमाद नहीं करता है, ऐसे ही लोग इन्द्रलोकमें जाते हैं। धृतराष्ट्र उससे भी उत्तम लोकमें जायगा। उसे वहाँ भी नहीं जाना है ॥ ३९ ॥

गौतम उवाच

प्राजापत्याः सन्ति लोका महान्तो
नाकस्य पृष्ठे पुष्कला वीतशोकाः।
मनीषिताः सर्वलोकोद्भवानां
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४० ॥

गौतम बोले—राजन्! स्वर्गके शिखरपर प्रजापतिके महान् लोक हैं, जो हृष्ट-पुष्ट और शोकरहित हैं। सम्पूर्ण जगत्के प्राणी उन्हें पाना चाहते हैं। मैं वहीं जाकर तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये राजानो राजसूयाभिषिक्ता
धर्मात्मानो रक्षितारः प्रजानाम्।
ये चाश्वमेधावभृथे प्लुताङ्गा-
स्तेषां लोका धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने! जो धर्मात्मा राजा राजसूय यज्ञमें अभिषिक्त होते हैं, प्रजाजनोंकी रक्षा करते हैं तथा अश्वमेधयज्ञके अवभृथ-स्नानमें जिसके सारे अङ्ग भीग जाते हैं, उन्हींके लिये प्रजापतिलोक हैं। धृतराष्ट्र वहाँ भी नहीं जायगा ॥ ४१ ॥

गौतम उवाच

ततः परं भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा वीतशोकाः।
तस्मिन्नहं दुर्लभे चाप्यधृष्ये
गवां लोके हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४२ ॥

गौतम बोले—उससे परे जो पवित्र गन्धसे परिपूर्ण, रजोगुणरहित तथा शोकशून्य सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, उन्हें गोलोक कहते हैं। उस दुर्लभ एवं दुर्धर्ष गोलोकमें जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यो गोसहस्री शतदः समां समां
गवां शती दश दद्याच्च शक्त्या।
तथा दशभ्यो यश्च दद्यादिहैकां
पञ्चभ्यो वा दानशीलस्तथैकाम्॥ ४३ ॥
ये जीर्यन्ते ब्रह्मचर्येण विप्रा
ब्राह्मीं वाचं परिरक्षन्ति चैव।
मनस्विनस्तीर्थयात्रापरायणा-
स्ते तत्र मोदन्ति गवां निवासे॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो सहस्र गौओंका स्वामी होकर प्रतिवर्ष सौ गौओंका दान करता है, सौ गौओंका स्वामी होकर यथाशक्ति दस गौओंका दान करता है, जिसके पास दस ही गौएँ हैं, वह यदि उनमेंसे एक गायका दान करता है अथवा जो दानशील पुरुष पाँच गौओंमेंसे एक गायका दान कर देता है, वह गोलोकमें जाता है। जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका पालन करते-करते ही बूढ़े हो जाते हैं, जो वेदवाणीकी सदा रक्षा करते हैं तथा जो मनस्वी ब्राह्मण सदा तीर्थयात्रामें ही

तत्पर रहते हैं, वे ही गौओंके निवास-स्थान गोलोकमें आनन्द भोगते हैं ॥ ४३-४४ ॥

प्रभासं मानसं तीर्थं पुष्कराणि महत्सरः ।
पुण्यं च नैमिषं तीर्थं बाहुदां करतोयिनीम् ॥ ४५ ॥
गयां गयशिरश्चैव विपाशां स्थूलवालुकाम् ।
कृष्णां गङ्गां पञ्चनदं महाह्रदमथापि च ॥ ४६ ॥
गोमतीं कौशिकीं पम्पां महात्मानो धृतव्रताः ।
सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां ये तु यान्ति च ॥ ४७ ॥
तत्र ते दिव्यसंस्थाना दिव्यमाल्यधराः शिवाः ।
प्रयान्ति पुण्यगन्धाढ्या धृतराष्ट्रो न तत्र वै ॥ ४८ ॥

प्रभास, मानसरोवर तीर्थ, त्रिपुष्कर नामक महान् सरोवर, पवित्र नैमिषतीर्थ, बाहुदा नदी, करतोया नदी, गया, गयशिर, स्थूल वालुकायुक्त विपाशा (व्यास), कृष्णा, गङ्गा, पञ्चनद, महाह्रद, गोमती, कौशिकी, पम्पासरोवर, सरस्वती, दृषद्वती और यमुना—इन तीर्थोंमें जो व्रतधारी महात्मा जाते हैं, वे ही दिव्य रूप धारण करके दिव्य मालाओंसे अलंकृत हो गोलोकमें जाते हैं और कल्याणमय स्वरूप तथा पवित्र सुगन्धसे व्याप्त होकर वहाँ निवास करते हैं। धृतराष्ट्र उस लोकमें भी नहीं मिलेगा ॥ ४५—४८ ॥

गौतम उवाच

यत्र शीतभयं नास्ति न चोष्णभयमण्वपि ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न दुःखं न सुखं तथा ॥ ४९ ॥
न द्वेष्यो न प्रियः कश्चिन्न बन्धुर्न रिपुस्तथा ।
न जरामरणे तत्र न पुण्यं न च पातकम् ॥ ५० ॥
तस्मिन् विरजसि स्फीते प्रज्ञासत्त्वव्यवस्थिते ।
स्वयम्भुभवने पुण्ये हस्तिनं मे प्रदास्यसि ॥ ५१ ॥

गौतम बोले—जहाँ सर्दीका भय नहीं है, गर्मीका अणुमात्र भी भय नहीं है, जहाँ न भूख लगती है न प्यास, न ग्लानि प्राप्त होती है न दुःख-सुख, जहाँ न कोई द्वेषका पात्र है न प्रेमका, न कोई बन्धु है न शत्रु, जहाँ जरा-मृत्यु, पुण्य और पाप कुछ भी नहीं है, उस रजोगुणसे रहित, समृद्धिशाली, बुद्धि और सत्त्वगुणसे सम्पन्न तथा पुण्यमय ब्रह्मलोकमें जाकर तुम्हें मुझे यह हाथी वापस देना पड़ेगा ॥ ४९—५१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

निर्मुक्ताः सर्वसङ्गेभ्यो कृतात्मानो यतव्रताः ।
अध्यात्मयोगसंस्थानैर्युक्ताः स्वर्गगतिं गताः ॥ ५२ ॥
ते ब्रह्मभवनं पुण्यं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः ।
न तत्र धृतराष्ट्रस्ते शक्यो द्रष्टुं महामुने ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महामुने ! जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त है, जिन्होंने अपने मनको वशमें कर लिया है, जो नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जो अध्यात्मज्ञान और योगसम्बन्धी आसनोंसे युक्त हैं, जो स्वर्गलोकके अधिकारी हो चुके हैं, ऐसे सात्त्विक पुरुष ही पुण्यमय ब्रह्मलोकमें जाते हैं। वहाँ तुम्हें धृतराष्ट्र नहीं दिखायी दे सकता ॥

गौतम उवाच

रथन्तरं यत्र बृहच्च गीयते
यत्र वेदी पुण्डरीकैस्तृणोति ।
यत्रोपयाति हरिभिः सोमपीथी
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ५४ ॥

गौतम बोले—जहाँ रथन्तर और बृहत्सामका गान किया जाता है, जहाँ याज्ञिक पुरुष वेदीको कमलपुष्पोंसे आच्छादित करते हैं तथा जहाँ सोमपान करनेवाला पुरुष दिव्य अश्वोंद्वारा यात्रा करता है, वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ५४ ॥

बुध्यामि त्वां वृत्रहणं शतक्रतुं
व्यतिक्रमन्तं भुवनानि विश्वा ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं कदाचि-
दकार्षं ते मनसोऽभिषङ्गात् ॥ ५५ ॥

मैं जानता हूँ, आप राजा धृतराष्ट्र नहीं, वृत्रासुरका वध करनेवाले शतक्रतु इन्द्र हैं और सम्पूर्ण जगत्का निरीक्षण करनेके लिये सब ओर घूम रहे हैं। मैंने मानसिक आवेशमें आकर कदाचित् वाणीद्वारा आपके प्रति कोई अपराध तो नहीं कर डाला ? ॥ ५५ ॥

शतक्रतुरुवाच

मघवाहं लोकपथं प्रजाना-
मन्वागमं परिवादे गजस्य ।
तस्माद् भवान् प्रणतं मानुशास्तु
ब्रवीषि यत् तत् करवाणि सर्वम् ॥ ५६ ॥

शतक्रतु बोले—मैं इन्द्र हूँ और आपके हाथीके अपहरणके कारण मानव प्रजाके दृष्टिपथमें निन्दित हो गया हूँ। अब मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाता हूँ। आप मुझे कर्तव्यका उपदेश दें। आप जो-जो कहेंगे, वह सब करूँगा ॥

गौतम उवाच

श्वेतं करेणुं मम पुत्रं हि नागं
यं मेऽहार्षीर्दशवर्षाणि बालम् ।
यो मे वने वसतोऽभूद् द्वितीय-
स्तमेव मे देहि सुरेन्द्र नागम् ॥ ५७ ॥

गौतम बोले—देवेन्द्र ! यह श्वेत गजराजकुमार जो इस समय नवजवान हाथीके रूपमें परिणत हो चुका है, मेरा पुत्र है और अभी दस वर्षका बच्चा है। यही इस वनमें रहते हुए मेरा सहचर एवं सहयोगी है। इसे आपने हर लिया है। मेरी प्रार्थना है कि मेरे इसी हाथीको आप मुझे लौटा दें ॥

शतक्रतुरुवाच

अयं सुतस्ते द्विजमुख्य नाग
आगच्छति त्वामभिवीक्षमाणः।
पादौ च ते नासिकयोपजिघ्रते
श्रेयो ममाध्याहि नमश्च तेऽस्तु॥ ५८ ॥

शतक्रतुने कहा—विप्रवर ! आपका पुत्रस्वरूप यह हाथी आपहीकी ओर देखता हुआ आ रहा है और पास आकर आपके दोनों चरणोंको अपनी नासिकासे सूँघता है। अब आप मेरा कल्याण चिन्तन कीजिये, आपको नमस्कार है॥

गौतम उवाच

शिवं सदैवेह सुरेन्द्र तुभ्यं
ध्यायामि पूजां च सदा प्रयुञ्जे।
ममापि त्वं शक्र शिवं ददस्व
त्वया दत्तं प्रतिगृह्णामि नागम्॥ ५९ ॥

गौतम बोले—सुरेन्द्र ! मैं सदा ही यहाँ आपके कल्याणका चिन्तन करता हूँ और सदा आपके लिये अपनी पूजा अर्पित करता हूँ। शक्र ! आप भी मुझे कल्याण प्रदान करें। मैं आपके दिये हुए इस हाथीको ग्रहण करता हूँ ॥

शतक्रतुरुवाच

येषां वेदा निहिता वै गुहायां
मनीषिणां सत्यवतां महात्मनाम्।
तेषां त्वयैकेन महात्मनास्मि
वृद्धस्तस्मात् प्रीतिमांस्तेऽहमद्य॥ ६० ॥
हन्तैहि ब्राह्मण क्षिप्रं सह पुत्रेण हस्तिना।
त्वं हि प्राप्तुं शुभाँल्लोकानह्नाय च चिराय च॥ ६१ ॥

शतक्रतुने कहा—जिन सत्यवादी मनीषी महात्माओंकी हृदय-गुफामें सम्पूर्ण वेद निहित हैं, उनमें आप प्रमुख महात्मा हैं। केवल आपके कल्याण-चिन्तनसे मैं समृद्धिशाली हो गया। इसलिये आज मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण ! मैं बड़े हर्षके साथ कहता हूँ कि आप अपने इस पुत्रभूत हाथीके साथ शीघ्र चलिये। आप अभी चिरकालके लिये कल्याणमय लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी हो गये हैं ॥ ६०-६१ ॥

स गौतमं पुरस्कृत्य सह पुत्रेण हस्तिना।
दिवमाचक्रमे वज्री सद्भिः सह दुरासदम् ॥ ६२ ॥

पुत्रस्वरूप हाथीके साथ गौतमको आगे करके वज्रधारी इन्द्र श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ दुर्गम देवलोकमें चले गये ॥ ६२ ॥

इदं यः शृणुयान्नित्यं यः पठेद् वा जितेन्द्रियः।
स याति ब्रह्मणो लोकं ब्राह्मणो गौतमो यथा॥ ६३ ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर प्रतिदिन इस प्रसङ्गको सुनेगा, अथवा इसका पाठ करेगा, वह गौतम ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्मलोकमें जायगा ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि हस्तिकूटो नाम द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें हस्तिकूट नामक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्माजी और भगीरथका संवाद, यज्ञ, तप, दान आदिसे भी अनशन-व्रतकी विशेष महिमा

युधिष्ठिर उवाच

दानं बहुविधाकारं शान्तिः सत्यमहिंसितम्।
स्वदारतुष्टिश्चोक्ता ते फलं दानस्य चैव यत्॥ १ ॥
पितामहस्य विदितं किमन्यत् तपसो बलात्।
तपसो यत्परं तेऽद्य तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने अनेक प्रकारके दान, शान्ति, सत्य और अहिंसा आदिका वर्णन किया। अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहनेकी बात बतायी और दानके फलका भी निरूपण किया। आपकी जानकारीमें तपोबलसे बढ़कर दूसरा कौन बल है ? यदि आपकी रायमें तपस्यासे भी कोई उत्कृष्ट साधन हो तो हमारे समक्ष उसकी व्याख्या करें ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

तपः प्रचक्षते यावत् तावल्लोको युधिष्ठिर।
मतं ममात्र कौन्तेय तपो नानशनात् परम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मनुष्य जितना तप करता है, उसीके अनुसार उसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं; किंतु कुन्तीकुमार ! मेरी रायमें अनशनसे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भगीरथस्य संवादं ब्रह्मणश्च महात्मनः ॥ ४ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष राजा भगीरथ और महात्मा ब्रह्माजीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

अतीत्य सुरलोकं च गवां लोकं च भारत ।
ऋषिलोकं च सोऽगच्छद् भगीरथ इति श्रुतम्॥ ५ ॥

भारत ! सुननेमें आया है कि राजा भगीरथ देवलोक, गौओंके लोक और ऋषिलोकको भी लाँघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तं तु दृष्ट्वा वचः प्राह ब्रह्मा राजन् भगीरथम् ।
कथं भगीरथागास्त्वमिमं लोकं दुरासदम् ॥ ६ ॥

राजन् ! राजा भगीरथको वहाँ उपस्थित देख ब्रह्माजीने उनसे पूछा—'भगीरथ ! इस लोकमें तो आना बहुत ही कठिन है, तुम कैसे यहाँ आ पहुँचे ॥ ६ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा न मनुष्या भगीरथ ।
आयान्त्यतप्ततपसः कथं वै त्वमिहागतः ॥ ७ ॥

'भगीरथ ! देवता, गन्धर्व और मनुष्य बिना तपस्या किये यहाँ नहीं आ सकते । फिर तुम कैसे यहाँ आ गये ?' ॥७॥

भगीरथ उवाच

निष्काणां वै ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः
शतं सहस्राणि सदैव दानम् ।
ब्राह्मं व्रतं नित्यमास्थाय विद्वन्
न त्वेवाहं तस्य फलादिहागाम् ॥ ८ ॥

भगीरथने कहा—विद्वन् ! मैं ब्रह्मचर्यव्रतका आश्रय लेकर प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण-मुद्राओंका ब्राह्मणोंके लिये दान किया करता था; परंतु उस दानके फलसे मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ८ ॥

दशैकरात्रान् दशपञ्चरात्रा-
नेकादशैकादशकान् क्रतूंश्च ।
ज्योतिष्टोमानां च शतं यदिष्टं
फलेन तेनापि च नागतोऽहम् ॥ ९ ॥

मैंने एक रातमें पूर्ण होनेवाले दस यज्ञ, पाँच रातोंमें पूर्ण होनेवाले दस यज्ञ, ग्यारह रातोंमें समाप्त होनेवाले ग्यारह यज्ञ और ज्योतिष्टोम नामक एक सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया है; परंतु उन यज्ञोंके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ९ ॥

यच्चावसं जाह्नवीतीरनित्यः
शतं समास्तप्यमानस्तपोऽहम् ।
अदां च तत्राश्वतरीसहस्रं
नारीपुरं न च तेनाहमागाम् ॥ १० ॥

मैंने जो घोर तपस्या करते हुए लगातार सौ वर्षोंतक प्रतिदिन गङ्गाजीके तटपर निवास किया है और वहाँ सहस्रों खच्चरियाँ तथा झुंड-की-झुंड कन्याओंका दान किया, उस पुण्यके प्रभावसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १० ॥

दशायुतानि चाश्वानां गोऽयुतानि च विंशतिम् ।
पुष्करेषु द्विजातिभ्यः प्रादां शतसहस्रशः ॥ ११ ॥

सुवर्णचन्द्रोत्तमधारिणीनां
कन्योत्तमानामददं सहस्रम् ।
षष्टिं सहस्राणि विभूषितानां
जाम्बूनदैराभरणैर्न तेन ॥ १२ ॥

पुष्करतीर्थमें जो सैकड़ों-हजारों बार मैंने ब्राह्मणोंको एक लाख घोड़े और दो लाख गौएँ दान कीं तथा सोनेके उत्तम चन्द्रहार धारण करनेवाली जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित हुई साठ हजार सुन्दरी कन्याओंका जो सहस्रों बार दान किया, उस पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ११-१२ ॥

दशार्बुदान्यददं गोसवेज्या-
स्वेकैकशो दश गा लोकनाथ ।
समानवत्साः पयसा समन्विताः
सुवर्णकांस्योपदुहा न तेन ॥ १३ ॥

लोकनाथ ! गोसव नामक यज्ञका अनुष्ठान करके उसमें मैंने दूध देनेवाली सौ करोड़ गौओंका दान किया । उस समय एक-एक ब्राह्मणको दस-दस गायें मिली थीं । प्रत्येक गायके साथ उसीके समान रंगवाले बछड़े और सुवर्णमय दुग्धपात्र भी दिये गये थे; परंतु उस यज्ञके पुण्यसे भी मैं यहाँतक नहीं पहुँचा हूँ ॥ १३ ॥

आप्तोर्यामेषु नियतमेकैकस्मिन् दशाददम् ।
गृष्टीनां क्षीरदात्रीणां रोहिणीनां शतानि च ॥ १४ ॥

अनेक बार सोमयागकी दीक्षा लेकर उन यज्ञोंमें मैंने प्रत्येक ब्राह्मणको पहले बारकी ब्यायी हुई दूध देनेवाली दस-दस गौएँ और रोहिणी जातिकी सौ-सौ गौएँ दान की हैं ॥ १४ ॥

दोग्ध्रीणां वै गवां चापि प्रयुतानि दशैव ह ।
प्रादां दशगुणं ब्रह्मन् न तेनाहमिहागतः ॥ १५ ॥

ब्रह्मन् ! इनके अतिरिक्त भी मैंने दस बार दस-दस लाख दुधारू गौएँ दान की हैं; किंतु उस पुण्यसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ १५ ॥

वाजिनां बाह्लिजातानामयुतान्यददं दश ।
कर्काणां हेममालानां न च तेनाहमागतः ॥ १६ ॥

वाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए श्वेतरंगके एक लाख घोड़ोंको सोनेकी मालाओंसे सजाकर मैंने ब्राह्मणोंको दान किया; किंतु उस पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १६ ॥

कोटीश्च काञ्चनस्याष्टौ प्रादां ब्रह्मन् दशान्वहम् ।
एकैकस्मिन् क्रतौ तेन फलेनाहं न चागतः ॥ १७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने एक-एक यज्ञमें प्रतिदिन अठारह-अठारह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ बाँटी थीं; परंतु उसके पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १७ ॥

वाजिनां श्यामकर्णानां हरितानां पितामह ।
प्रादां हेमस्रजां ब्रह्मन् कोटीर्दश च सप्त च ॥ १८ ॥
ईषादन्तान् महाकायान् काञ्चनस्रग्विभूषितान् ।
पद्मिनो वै सहस्राणि प्रादां दश च सप्त च ॥ १९ ॥
अलंकृतानां देवेश दिव्यैः कनकभूषणैः ।
रथानां काञ्चनाङ्गानां सहस्राण्यददं दश ॥ २० ॥
सप्त चान्यानि युक्तानि वाजिभिः समलंकृतैः ।

ब्रह्मन् ! पितामह ! फिर स्वर्णहारसे विभूषित हरे रंगवाले सत्रह करोड़ श्यामकर्ण घोड़े, ईषादण्ड (हरिस) के समान दाँतोंवाले, स्वर्णमालामण्डित एवं विशाल शरीरवाले सत्रह हजार कमलचिह्नयुक्त हाथी तथा सोनेके बने हुए दिव्य आभूषणोंसे विभूषित स्वर्णमय उपकरणोंसे युक्त और सजे-सजाये घोड़े जुते हुए सत्रह हजार रथ दान किये ॥ १८-२०½ ॥

दक्षिणावयवाः केचिद् वेदैर्ये सम्प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥
वाजपेयेषु दशसु प्रादां तेष्वपि चाप्यहम् ।

इनके अतिरिक्त भी जो वस्तुएँ वेदोंमें दक्षिणाके अवयवरूपसे बतायी गयी हैं, उन सबको मैंने दस वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करके दान किया था ॥ २१½ ॥

शक्रतुल्यप्रभावाणामिज्यया विक्रमेण ह ॥ २२ ॥
सहस्रं निष्ककण्ठानामददं दक्षिणामहम् ।
विजित्य भूपतीन् सर्वानर्थैरिष्ट्वा पितामह ॥ २३ ॥
अष्टभ्यो राजसूयेभ्यो न च तेनाहमागतः ।

पितामह ! यज्ञ और पराक्रममें जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनके कण्ठमें सुवर्णके हार शोभा पा रहे थे, ऐसे हजारों राजाओंको युद्धमें जीतकर प्रचुर धनके द्वारा आठ राजसूययज्ञ करके मैंने उन्हें ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दे दिया; परंतु उस पुण्यसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २२-२३½ ॥

स्रोतश्च यावद्गङ्गायाश्छन्नमासीज्जगत्पते ॥ २४ ॥
दक्षिणाभिः प्रवृत्ताभिर्मम नागां च तत्कृते ।

जगत्पते ! मेरी दी हुई दक्षिणाओंसे गङ्गानदी आच्छादित हो गयी थी; परंतु उसके कारण भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २४½ ॥

वाजिनां च सहस्रे द्वे सुवर्णशतभूषिते ॥ २५ ॥
वरं ग्रामशतं चाहमेकैकस्य त्रिधाददम् ।

उस यज्ञमें मैंने प्रत्येक ब्राह्मणको तीन-तीन बार सोनेके सैकड़ों आभूषणोंसे विभूषित दो-दो हजार घोड़े और एक-एक सौ अच्छे गाँव दिये थे ॥ २५½ ॥

तपस्वी नियताहारः शममास्थाय वाग्यतः ॥ २६ ॥
दीर्घकालं हिमवति गङ्गायाश्च दुरुत्सहाम् ।
मूर्ध्ना धारां महादेवः शिरसा यामधारयत् ।
न तेनाप्यहमागच्छं फलेनेह पितामह ॥ २७ ॥

पितामह ! मिताहारी, मौन और शान्तभावसे रहकर मैंने हिमालय पर्वतपर सुदीर्घ कालतक तपस्या की थी। जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने गङ्गाजीकी दुःसह धाराको अपने मस्तकपर धारण किया; परंतु उस तपस्याके फलसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २६-२७ ॥

शम्याक्षेपैरयजं यच्च देवान्
साद्यस्कानामयुतैश्चापि यत्तत् ।
त्रयोदशद्वादशाहैश्च देव
सपौण्डरीकान्न च तेषां फलेन ॥ २८ ॥

देव ! मैंने अनेक बार 'शम्याक्षेप'[1] याग किये। दस हजार 'साद्यस्क' यागोंका अनुष्ठान किया। कई बार तेरह और बारह दिनोंमें समाप्त होनेवाले याग और 'पुण्डरीक' नामक यज्ञ पूर्ण किये; परंतु उनके फलोंसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ २८ ॥

अष्टौ सहस्राणि ककुद्मिनामहं
शुक्लर्षभाणामददं द्विजेभ्यः ।
एकैकं वै काञ्चनं शृङ्गमेभ्यः
पत्नीश्चैषामददं निष्ककण्ठीः ॥ २९ ॥

इतना ही नहीं, मैंने सफेद रंगके ककुद्वाले आठ हजार वृषभ भी ब्राह्मणोंको दान किये, जिनके एक-एक सींगमें सोना मढ़ा हुआ था तथा उन ब्राह्मणोंको सुवर्णमय हारसे विभूषित गौएँ भी मैंने दी थीं ॥ २९ ॥

हिरण्यरत्ननिचयानददं रत्नपर्वतान् ।
धनधान्यसमृद्धांश्च ग्रामाञ्छान्ये सहस्रशः ॥ ३० ॥
शतं शतानां गृष्टीनामददं चाप्यतन्द्रितः ।
इष्ट्वानेकैर्महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो न तेन च ॥ ३१ ॥

१. यज्ञकर्ता पुरुष 'शम्या' नामक एक काठका डंडा खूब जोर लगाकर फेंकता है, वह जितनी दूरपर जाकर गिरता है, उतने दूरमें यज्ञकी वेदी बनायी जाती है; बस वेदीपर जो यज्ञ किया जाता है, उसे 'शम्याक्षेप' अथवा 'शम्याप्रास' यज्ञ कहते हैं।

मैंने आलस्यरहित होकर अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोने और रत्नोंके ढेर, रत्नमय पर्वत, धनधान्यसे सम्पन्न हजारों गाँव और एक बारकी ब्यायी हुई सहस्रों गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं; किंतु उनके पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३०-३१ ॥

एकादशाहैरयजं सदक्षिणै-
र्द्विर्द्वादशाहैरश्वमेधैश्च देव ।
आर्कायणैः षोडशभिश्च ब्रह्मं-
स्तेषां फलेनेह न चागतोऽस्मि ॥ ३२ ॥

देव ! ब्रह्मन् ! मैंने ग्यारह दिनोंमें होनेवाले और चौबीस दिनोंमें होनेवाले दक्षिणासहित यज्ञ किये । बहुत-से अश्वमेधयज्ञ भी कर डाले तथा सोलह बार आर्कायण-यज्ञोंका अनुष्ठान किया; परंतु उन यज्ञोंके फलसे मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ ३२ ॥

निष्कैककण्ठमददं योजनायतं
तद्विस्तीर्णं काञ्चनपादपानाम् ।
वनं वृतानां रत्नविभूषितानां
न चैव तेषामागतोऽहं फलेन ॥ ३३ ॥

चार कोस लंबा-चौड़ा एक चम्पाके वृक्षोंका वन, जिसके प्रत्येक वृक्षमें रत्न जड़े हुए थे, वस्त्र लपेटा गया था और कण्ठदेशमें स्वर्णमाला पहिनायी गयी थी, मैंने दान किया है; किंतु उस दानके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥३३॥

तुरायणं हि व्रतमप्यधृष्य-
मक्रोधनोऽकरवं त्रिंशतोऽब्दान् ।
शतं गवामष्टशतानि चैव
दिने दिने ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः ॥ ३४ ॥

मैं तीस वर्षोंतक क्रोधरहित होकर तुरायण नामक दुष्कर व्रतका पालन करता रहा, जिसमें प्रतिदिन नौ सौ गायें ब्राह्मणोंको दान देता था ॥ ३४ ॥

पयस्विनीनामथ रोहिणीनां
तथैवान्याननडुहो लोकनाथ ।
प्रादां नित्यं ब्राह्मणेभ्यः सुरेश
नेहागतस्तेन फलेन चाहम् ॥ ३५ ॥

लोकनाथ ! सुरेश्वर ! इनके अतिरिक्त रोहिणी (कपिला) जातिकी बहुत-सी दुधारू गौएँ तथा बहुसंख्यक साँड भी मैं प्रतिदिन ब्राह्मणोंको दान करता था; परंतु उन सब दानोंके फलसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ ३५ ॥

त्रिंशदग्नीनहं ब्रह्मन्नयजं यच्च नित्यदा ।
अष्टाभिः सर्वमेधैश्च नरमेधैश्च सप्तभिः ॥ ३६ ॥
दशभिर्विश्वजिद्भिश्च शतैरष्टादशोत्तरैः ।
न चैव तेषां देवेश फलेनाहमिहागमम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने प्रतिदिन एक-एक करके तीस बार अग्निचयन एवं यजन किया । आठ बार सर्वमेध, सात बार नरमेध और एक सौ अट्ठाईस बार विश्वजित् यज्ञ किया है; परंतु देवेश्वर ! उन यज्ञोंके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३६-३७ ॥

सरय्वां बाहुदायां च गङ्गायामथ नैमिषे ।
गवां शतानामयुतमददं न च तेन वै ॥ ३८ ॥

सरयू, बाहुदा, गङ्गा और नैमिषारण्य तीर्थमें जाकर मैंने दस लाख गोदान किये हैं; परंतु उनके फलसे भी यहाँ आना नहीं हुआ है (केवल अनशनव्रतके प्रभावसे मुझे इस दुर्लभ लोककी प्राप्ति हुई है) ॥ ३८ ॥

इन्द्रेण गुह्यं निहितं वै गुहायां
यद्भार्गवस्तपसेहाभ्यविन्दत् ।
जाज्वल्यमानमुशनस्तेजसेह
तत्साधयामासमहं वरेण्य ॥ ३९ ॥

पहले इन्द्रने स्वयं अनशनव्रतका अनुष्ठान करके इसे गुप्त रक्खा था । उसके बाद शुक्राचार्यने तपस्याके द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया । फिर उन्हींके तेजसे उसका माहात्म्य सर्वत्र प्रकाशित हुआ । सर्वश्रेष्ठ पितामह ! मैंने भी अन्तमें उसी अनशनव्रतका साधन आरम्भ किया ॥३९॥

ततो मे ब्राह्मणास्तुष्टास्तस्मिन् कर्मणि साधिते ।
सहस्रमृषयश्चासन् ये वै तत्र समागताः ॥ ४० ॥
उक्तस्तैरस्मि गच्छ त्वं ब्रह्मलोकमिति प्रभो ।
प्रीतेनोक्तसहस्रेण ब्राह्मणानामहं प्रभो ।
इमं लोकमनुप्राप्तो मा भूत् तेऽत्र विचारणा ॥ ४१ ॥

जब उस कर्मकी पूर्ति हुई, उस समय मेरे पास हजारों ब्राह्मण और ऋषि पधारे । वे सभी मुझपर बहुत संतुष्ट थे । प्रभो ! उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दी कि 'तुम ब्रह्मलोकको जाओ ।' भगवन् ! प्रसन्न हुए उन हजारों ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे मैं इस लोकमें आया हूँ । इसमें आप कोई अन्यथा विचार न करें ॥ ४०-४१ ॥

कामं यथावद्विहितं विधात्रा
पृष्टेन वाच्यं तु मया यथावत् ।
तपो हि नान्यच्चानशनान्मतं मे
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ४२ ॥

देवेश्वर ! मैंने अपनी इच्छाके अनुसार विधिपूर्वक अनशनव्रतका पालन किया । आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं । आपके पूछनेपर मुझे सब बातें यथावत्‌रूपसे बतानी चाहिये, इसलिये सब कुछ कहा है । मेरी समझमें अनशन-व्रतसे बढ़कर दूसरी कोई तपस्या नहीं है । आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तवन्तं ब्रह्मा तु राजानं स भगीरथम् ।
पूजयामास पूजार्हं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथने जब इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने शास्त्रोक्त विधिसे आदरणीय नरेशका विशेष आदर-सत्कार किया ॥ ४३ ॥

तस्मादनशनैर्युक्तो विप्रान् पूजय नित्यदा ।
विप्राणां वचनात् सर्वं परत्रेह च सिध्यति ॥ ४४ ॥

अतः तुम भी अनशनव्रतसे युक्त होकर सदा ब्राह्मणोंका पूजन करो; क्योंकि ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे इहलोक और परलोकमें भी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं ॥

वासोभिरन्नैर्गोभिश्च शुभैर्नैवेशिकैरपि ।
शुभैः सुरगणैश्चापि तोष्या एव द्विजास्तथा ।
एतदेव परं गुह्यमलोभेन समाचर ॥ ४५ ॥

अन्न, वस्त्र, गौ तथा सुन्दर गृह देकर और कल्याणकारी देवताओंकी आराधना करके भी ब्राह्मणोंको ही संतुष्ट करना चाहिये । तुम लोभ छोड़कर इसी परम गोपनीय धर्मका आचरण करो ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्रह्मभगीरथसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्मा और भगीरथका संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

आयुकी वृद्धि और क्षय करनेवाले शुभाशुभ कर्मोंके वर्णनसे गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका विस्तारपूर्वक निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते ।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'मनुष्यकी आयु सौ वर्षोंकी होती है । वह सैकड़ों प्रकारकी शक्ति लेकर जन्म धारण करता है ।' किंतु देखता हूँ कि कितने ही मनुष्य बचपनमें ही मर जाते हैं । ऐसा क्यों होता है ? ॥ १ ॥

आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः ।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥ २ ॥

मनुष्य किस उपायसे दीर्घायु होता है अथवा किस कारणसे उसकी आयु कम हो जाती है ? क्या करनेसे वह कीर्ति पाता है या क्या करनेसे उसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ? ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण जपहोमैस्तथौषधैः ।
कर्मणा मनसा वाचा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीरके द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, जप, होम तथा औषध आदिमेंसे किसका आश्रय ले, जिससे वह श्रेयका भागी हो, वह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ॥ ४ ॥
येन वा लभते कीर्तिं येन वा लभते श्रियम् ।
यथा वर्तयन् पुरुषः श्रेयसा सम्प्रयुज्यते ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम मुझसे जो पूछ रहे हो, इसका उत्तर देता हूँ । मनुष्य जिस कारणसे अल्पायु होता है, जिस उपायसे दीर्घायु होता है, जिससे वह कीर्ति और

सम्पत्तिका भागी होता है तथा जिस बर्तावसे पुरुषको श्रेयका संयोग प्राप्त होता है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ६ ॥

सदाचारसे ही मनुष्यको आयुकी प्राप्ति होती है, सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही उसे इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥ ७ ॥

दुराचारी पुरुष, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें बड़ी आयु नहीं पाता ॥ ७ ॥

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ८ ॥

अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण करना चाहता हो तो उसे इस जगत्‌में सदाचारका पालन करना चाहिये । जिसका सारा शरीर ही पापमय है, वह भी यदि सदाचारका पालन करे तो वह उसके शरीर और मनके बुरे लक्षणोंको दबा देता है ॥ ८ ॥

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः ।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥ ९ ॥

सदाचार ही धर्मका लक्षण है । सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पहचान है । श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं; वही सदाचारका स्वरूप अथवा लक्षण है ॥ ९ ॥

अप्यदृष्टं श्रवादेव पुरुषं धर्मचारिणम् ।
भूतिकर्माणि कुर्वाणं तं जनाः कुर्वते प्रियम् ॥ १० ॥

जो मनुष्य धर्मका आचरण करता और लोककल्याणके कार्यमें लगा रहता है, उसका दर्शन न हुआ हो तो भी मनुष्य केवल नाम सुनकर उससे प्रेम करने लगते हैं ॥ १० ॥

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥

जो नास्तिक, क्रियाहीन, गुरु और शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले, धर्मको न जाननेवाले और दुराचारी हैं; उन मनुष्योंकी आयु क्षीण हो जाती है ॥ ११ ॥

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥

जो मनुष्य शीलहीन, सदा धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले तथा दूसरे वर्णकी स्त्रियोंके साथ सम्पर्क रखनेवाले हैं; वे इस लोकमें अल्पायु होते और मरनेके बाद नरकमें पड़ते हैं ॥ १२ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १३ ॥

सब प्रकारके शुभ लक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोषदृष्टिसे रहित होता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १३ ॥

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥

जो क्रोधहीन, सत्यवादी, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेवाला, अदोषदर्शी और कपटशून्य है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १४ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १५ ॥

जो ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता तथा सदा ही उच्छिष्ट (अशुद्ध) एवं चञ्चल रहता है, ऐसे कुलक्षण-युक्त मनुष्यको दीर्घायु नहीं प्राप्त होती ॥ १५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां संध्यां कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें (अर्थात् सूर्योदयसे दो घड़ी पहले) जागे तथा धर्म और अर्थके विषयमें विचार करे । फिर शय्यासे उठकर शौच-स्नानके पश्चात् आचमन करके हाथ जोड़े हुए प्रातःकालकी संध्या करे ॥ १६ ॥

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः ।
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ॥ १७ ॥

इसी प्रकार सायंकालमें भी मौन होकर संध्योपासना करे । उदय और अस्तके समय सूर्यकी ओर कदापि न देखे ॥ १७ ॥

नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ।
ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ १८ ॥
तस्मात् तिष्ठेत् सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः ।

ग्रहण और मध्याह्नके समय भी सूर्यकी ओर दृष्टिपात न करे तथा जलमें स्थित सूर्यके प्रतिबिम्बकी ओर भी न देखे । ऋषियोंने प्रतिदिन संध्योपासन करनेसे ही दीर्घ आयु प्राप्त की थी । इसलिये सदा मौन रहकर द्विजमात्रको प्रातःकाल

और सायंकालकी संध्या अवश्य करनी चाहिये ॥ १८½ ॥

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः संध्यां न पश्चिमाम्॥१९॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्।

जो द्विज न तो प्रातःकालकी संध्या करते हैं और न सायंकालकी ही; उन सबसे धार्मिक राजा शूद्रोचित कर्म करावे ॥ १९½ ॥

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ॥ २० ॥
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ २१ ॥

किसी भी वर्णके पुरुषको कभी भी परायी स्त्रियोंसे संसर्ग नहीं करना चाहिये । परस्त्री-सेवनसे मनुष्यकी आयु जल्दी ही समाप्त हो जाती है । संसारमें परस्त्रीसमागमके समान पुरुषकी आयुको नष्ट करनेवाला दूसरा कोई कार्य नहीं है ॥ २०-२१ ॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
तावद् वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥ २२ ॥

स्त्रियोंके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक व्यभिचारी पुरुषोंको नरकमें रहना पड़ता है ॥२२॥

प्रसाधनं च केशानामञ्जनं दन्तधावनम् ।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम् ॥ २३ ॥

केशोंको सँवारना, आँखोंमें अञ्जन लगाना, दाँत-मुँह धोना और देवताओंकी पूजा करना—ये सब कार्य दिनके पहले प्रहरमें ही करने चाहिये ॥ २३ ॥

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत् कदाचन ।
नातिकल्यं नातिसायं न च मध्यन्दिने स्थिते ॥ २४ ॥
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह ।

मल-मूत्रकी ओर न देखे, उसपर कभी पैर न रक्खे । अत्यन्त सबेरे, अधिक साँझ हो जानेपर और ठीक दोपहरके समय कहीं बाहर न जाय । न तो अपरिचित पुरुषोंके साथ यात्रा करे, न शूद्रोंके साथ और न अकेला ही ॥ २४½ ॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ॥ २५ ॥
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ।

ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल और भारपीड़ित मनुष्य यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर उन्हें जानेका मार्ग देना चाहिये ॥ २५½ ॥

प्रदक्षिणं च कुर्वीत परिज्ञातान् वनस्पतीन् ॥ २६ ॥
चतुष्पथान् प्रकुर्वीत सर्वानेव प्रदक्षिणान् ।

मार्गमें चलते समय अश्वत्थ आदि परिचित वृक्षों तथा समस्त चौराहोंको दाहिने करके जाना चाहिये ॥ २६½ ॥

मध्यन्दिने निशाकाले अर्धरात्रे च सर्वदा ॥ २७ ॥
चतुष्पथं न सेवेत उभे संध्ये तथैव च ।

दोपहरमें, रातमें, विशेषतः आधी रातके समय और दोनों संध्याओंके समय कभी चौराहोंपर न रहे ॥ २७½ ॥

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥ २८ ॥
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत्।
अमावास्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ॥ २९ ॥
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत्।
आक्रोशं परिवादं च पैशुन्यं च विवर्जयेत् ॥ ३० ॥

दूसरोंके पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने । सदा ब्रह्मचर्यका पालन करे। पैरसे पैरको न दबावे। सभी पक्षोंकी अमावास्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी और अष्टमी तिथिको सदा ब्रह्मचारी रहे—स्त्री-समागम न करे । किसीकी निन्दा, बदनामी और चुगली न करे॥ २८–३० ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥३१॥

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे । क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरोंको नीचा न दिखावे। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो वह रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकमें ले जानेवाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले॥३१॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ३२ ॥

वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके-मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहे ॥ ३२ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ३३ ॥

बाणोंसे बिंधा और फरसेसे कटा हुआ वन पुनः अङ्कुरित

हो जाता है, किंतु दुर्वचनरूपी शस्त्रसे किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता है ॥ ३३ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥ ३४ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच—ये शरीरमें यदि गड़ जायँ तो चिकित्सक मनुष्य इन्हें शरीरसे निकाल देते हैं, किंतु वचनरूपी बाणको निकालना असम्भव होता है; क्योंकि वह हृदयके भीतर चुभा होता है ॥ ३४ ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान्।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ ३५ ॥

हीनाङ्ग (अन्धे-काने आदि), अधिकाङ्ग (छाङ्गुर आदि); विद्याहीन, निन्दित, कुरूप, निर्धन और निर्बल मनुष्योंपर आक्षेप करना उचित नहीं है ॥ ३५ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषस्तम्भोऽभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥

नास्तिकता, वेदोंकी निन्दा, देवताओंको कोसना, द्वेष, उद्दण्डता, अभिमान और कठोरता—इन दुर्गुणोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३६ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्॥ ३७॥

क्रोधमें आकर पुत्र या शिष्यके सिवा दूसरे किसीको न तो डंडा मारे, न उसे पृथ्वीपर ही गिरावे। हाँ, शिक्षाके लिये पुत्र या शिष्यको ताड़ना देना उचित माना गया है ॥ ३७॥

न ब्राह्मणान् परिवदेन्नक्षत्राणि न निर्दिशेत्।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, घर-घर घूम-घूमकर नक्षत्र और किसी पक्षकी तिथि न बताया करे। ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ३८ ॥

(अमावास्यामृते नित्यं दन्तधावनमाचरेत्।
इतिहासपुराणानि दानं वेदं च नित्यशः ॥
गायत्रीमननं नित्यं कुर्यात् संध्यां समाहितः।)

अमावास्याके सिवा प्रतिदिन दन्तधावन करना चाहिये। इतिहास, पुराणोंका पाठ, वेदोंका स्वाध्याय, दान, एकाग्रचित्त होकर संध्योपासना और गायत्रीमन्त्रका जप—ये सब कर्म नित्य करने चाहिये।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् स्वाध्याये भोजने तथा ॥ ३९ ॥

मल-मूत्र त्यागने और रास्ता चलनेके बाद तथा स्वाध्याय और भोजन करनेके पहले पैर धो लेने चाहिये ॥ ३९॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ ४० ॥

जिसपर किसीकी दूषित दृष्टि न पड़ी हो, जो जलसे धोया गया हो तथा जिसकी ब्राह्मणलोग वाणीद्वारा प्रशंसा करते हों—ये ही तीन वस्तुएँ देवताओंने ब्राह्मणोंके उपयोगमें लाने योग्य और पवित्र बतायी हैं ॥ ४० ॥

संयावं कृसरं मांसं शष्कुलीं पायसं तथा।
आत्मार्थं न प्रकर्तव्यं देवार्थं तु प्रकल्पयेत् ॥ ४१ ॥

जौके आटेका हलुवा, खिचड़ी, फलका गूदा, पूड़ी और खीर—ये सब वस्तुएँ अपने लिये नहीं बनानी चाहिये। देवताओंको अर्पण करनेके लिये ही इनको तैयार करना चाहिये ॥ ४१ ॥

नित्यमग्निं परिचरेद् भिक्षां दद्याच्च नित्यदा।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥ ४२ ॥

प्रतिदिन अग्निकी सेवा करे, नित्यप्रति भिक्षुको भिक्षा दे और मौन होकर प्रतिदिन दन्तधावन किया करे ॥ ४२ ॥

(न संध्यायां स्वपेन्नित्यं स्नायाच्छुद्धः सदा भवेत्।)
न चाभ्युदितशायी स्यात् प्रायश्चित्ती तथा भवेत्।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ॥ ४३ ॥
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्।

सायंकालमें न सोये, नित्य स्नान करे और सदा पवित्रतापूर्वक रहे। सूर्योदय होनेतक कभी न सोये। यदि किसी दिन ऐसा हो जाय तो प्रायश्चित्त करे। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठनेके बाद पहले माता-पिताको प्रणाम करे। फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनोंका अभिवादन करे। इससे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ४३½ ॥

वर्जयेद् दन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ॥ ४४ ॥
भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपि विवर्जयेत्।

शास्त्रोंमें जिन काष्ठोंका दाँतन निषिद्ध माना गया है, उन्हें सदा ही त्याग दे—कभी काममें न ले। शास्त्रविहित काष्ठका ही दन्तधावन करे; परंतु पर्वके दिन उसका भी परित्याग कर दे ॥ ४४½ ॥

उदङ्मुखश्च सततं शौचं कुर्यात् समाहितः ॥ ४५ ॥

अकृत्वा देवपूजां च नाचरेद् दन्तधावनम् ।

सदा एकाग्रचित्त हो दिनमें उत्तरकी ओर मुँह करके ही मल-मूत्रका त्याग करे । दन्तधावन किये बिना देवताओंकी पूजा न करे ॥ ४५½ ॥

अकृत्वा देवपूजां च नाभिगच्छेत् कदाचन ।
अन्यत्र तु गुरुं वृद्धं धार्मिकं वा विचक्षणम् ॥ ४६ ॥

देवपूजा किये बिना गुरु, वृद्ध, धार्मिक तथा विद्वान् पुरुषको छोड़कर दूसरे किसीके पास न जाय ॥ ४६ ॥

अवलोक्यो न चादर्शो मलिनो बुद्धिमत्तरैः ।
न चाज्ञातां स्त्रियं गच्छेद् गर्भिणीं वा कदाचन ॥ ४७ ॥

अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुषोंको मलिन दर्पणमें कभी अपना मुँह नहीं देखना चाहिये । अपरिचित तथा गर्भिणी स्त्रीके पास भी न जाय ॥ ४७ ॥

(दारसंग्रहणात् पूर्वं नाचरेन्मैथुनं बुधः ।
अन्यथा त्ववकीर्णः स्यात् प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
नोदीक्षेत् परदारांश्च रहस्येकासनो भवेत् ।
इन्द्रियाणि सदा यच्छेत् स्वप्ने शुद्धमना भवेत् ॥)

विद्वान् पुरुष विवाहसे पहले मैथुन न करे, अन्यथा वह ब्रह्मचर्य-व्रतको भङ्ग करनेका अपराधी माना जाता है । ऐसी दशामें उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये । वह परायी स्त्रीकी ओर न तो देखे और न एकान्तमें उसके साथ एक आसनपर बैठे ही । इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रक्खे । स्वप्नमें भी शुद्ध मनवाला होकर रहे ॥

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद् विद्वानथवा दक्षिणाशिराः ॥ ४८ ॥

उत्तर तथा पश्चिमकी ओर सिर करके न सोये । विद्वान् पुरुषको पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके ही सोना चाहिये ॥ ४८ ॥

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन ॥ ४९ ॥

टूटी और ढीली खाटपर नहीं सोना चाहिये । अँधेरेमें पड़ी हुई शय्यापर भी सहसा शयन करना उचित नहीं है (उजाला करके उसे अच्छी तरह देख लेना चाहिये) । किसी दूसरेके साथ एक खाटपर न सोये । इसी तरह पलंगपर कभी तिरछा होकर नहीं, सदा सीधे ही सोना चाहिये ॥ ४९ ॥

न चापि गच्छेत् कार्येण समयाद् वापि नास्तिकैः ।
आसनं तु पदाऽऽकृष्य न प्रसज्जेत् तथा नरः ॥ ५० ॥

नास्तिकोंके साथ काम पड़नेपर भी न जाय । उनके शपथ खाने या प्रतिज्ञा करनेपर भी उनके साथ यात्रा न करे । आसनको पैरसे खींचकर मनुष्य उसपर न बैठे ॥ ५० ॥

न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ॥ ५१ ॥

विद्वान् पुरुष कभी नग्न होकर स्नान न करे । रातमें भी कभी न नहाय । स्नानके पश्चात् अपने अङ्गोंमें तैल आदिकी मालिश न करावे ॥ ५१ ॥

न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ॥ ५२ ॥

स्नान किये बिना अपने अङ्गोंमें चन्दन या अङ्गराग न लगावे । स्नान कर लेनेपर गीले वस्त्र न झटकारे । मनुष्य भीगे वस्त्र कभी न पहने ॥ ५२ ॥

स्रजश्च नावकृष्येत न बहिर्धारयीत च ।
उदक्यया च सम्भाषां न कुर्वीत कदाचन ॥ ५३ ॥

गलेमें पड़ी हुई मालाको कभी न खींचे । उसे कपड़ेके ऊपर न धारण करे । रजस्वला स्त्रीके साथ कभी बातचीत न करे ॥ ५३ ॥

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन ॥ ५४ ॥

बोये हुए खेतमें, गाँवके आस-पास तथा पानीमें कभी मल-मूत्रका त्याग न करे ॥ ५४ ॥

(देवालयेऽथ गोवृन्दे चैत्ये सस्येषु विश्रमे ।
भक्ष्यान् भुक्त्वा क्षुतेऽध्वानं गत्वा मूत्रपुरीषयोः ॥
द्विराचामेद् यथान्यायं हृद्गतं तु पिबन्नपः ।)

देवमन्दिर, गौओंके समुदाय, देवसम्बन्धी वृक्ष और विश्रामस्थानके निकट तथा बढ़ी हुई खेतीमें भी मल-मूत्रका त्याग नहीं करना चाहिये । भोजन कर लेनेपर, छींक आनेपर, रास्ता चलनेपर तथा मल-मूत्रका त्याग करनेपर यथोचित शुद्धि करके दो बार आचमन करे । आचमनमें इतना जल पीये कि वह हृदयतक पहुँच जाय ॥

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः ।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्विः पुनः परिमार्जयेत् ॥ ५५ ॥

भोजनके करनेकी इच्छावाला पुरुष पहले तीन बार मुँखसे जलका स्पर्श (आचमन) करे । फिर भोजनके पश्चा

भी तीन आचमन करे। फिर अङ्गुष्ठके मूलभागसे दो बार मुँहको पोंछे ॥ ५५ ॥

प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।
प्रस्कन्दयेच्च मनसा भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत्॥ ५६ ॥

भोजन करनेवाला पुरुष प्रतिदिन पूर्वकी ओर मुँह करके मौन भावसे भोजन करे। भोजन करते समय परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। किंचिन्मात्र अन्न थालीमें छोड़ दे और भोजन करके मन-ही-मन अग्निका स्मरण करे ॥ ५६ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
धन्यं पश्चान्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः॥५७॥

जो मनुष्य पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके भोजन करता है, उसे दीर्घायु, जो दक्षिणकी ओर मुँह करके भोजन करता है उसे यश, जो पश्चिमकी ओर मुख करके भोजन करता है उसे धन और जो उत्तराभिमुख होकर भोजन करता है उसे सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५७ ॥

अग्निमालभ्य तोयेन सर्वान् प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितले तथा॥ ५८ ॥

(मनसे) अग्निका स्पर्श करके जलसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका, सब अङ्गोंका, नाभिका और दोनों हथेलियोंका स्पर्श करे ॥ ५८ ॥

नाधितिष्ठेत् तुषं जातु केशभस्मकपालिकाः।
अन्यस्य चाप्यवस्नातं दूरतः परिवर्जयेत्॥ ५९ ॥

भूसी, भस्म, बाल और मुर्देकी खोपड़ी आदिपर कभी न बैठे। दूसरेके नहाये हुए जलका दूरसे ही त्याग कर दे ॥ ५९ ॥

शान्तिहोमांश्च कुर्वीत सावित्राणि च धारयेत्।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन् कदाचन॥ ६० ॥

शान्ति-होम करे, सावित्रसंज्ञक मन्त्रोंका जप और स्वाध्याय करे। बैठकर ही भोजन करे, चलते-फिरते कदापि भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ६० ॥

मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्॥ ६१ ॥

खड़ा होकर पेशाब न करे। राखमें और गोशालामें भी मूत्र त्याग न करे, भीगे पैर भोजन तो करे, परंतु शयन न करे ॥ ६१ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम्।
त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट आलभेत कदाचन॥ ६२ ॥
अग्निं गां ब्राह्मणं चैव तथा ह्यायुर्न रिष्यते।

भीगे पैर भोजन करनेवाला मनुष्य सौ वर्षोंतक जीवन धारण करता है। भोजन करके हाथ-मुँह धोये बिना मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) रहता है। ऐसी अवस्थामें उसे अग्नि, गौ तथा ब्राह्मण—इन तीन तेजस्वियोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करनेसे आयुका नाश नहीं होता ॥ ६२½ ॥

त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट उदीक्षेत कदाचन॥ ६३ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ चैव नक्षत्राणि च सर्वशः।

उच्छिष्ट मनुष्यको सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इन त्रिविध तेजोंकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये ॥ ६३½ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति॥ ६४ ॥
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।

वृद्ध पुरुषके आनेपर तरुण पुरुषके प्राण ऊपरकी ओर उठने लगते हैं। ऐसी दशामें जब वह खड़ा होकर वृद्ध पुरुषोंका स्वागत और उन्हें प्रणाम करता है, तब वे प्राण पुनः पूर्वावस्थामें आ जाते हैं ॥ ६४½ ॥

अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम्॥ ६५ ॥
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्।

इसलिये जब कोई वृद्ध पुरुष अपने पास आवे, तब उसे प्रणाम करके बैठनेको आसन दे और स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवामें उपस्थित रहे। फिर जब वह जाने लगे, तब उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय ॥ ६५½ ॥

न चासीतासने भिन्ने भिन्नकांस्यं च वर्जयेत्॥ ६६ ॥
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यं न नग्नः स्नातुमर्हति।

फटे हुए आसनपर न बैठे। फूटी हुई काँसीकी थालीको काममें न ले। एक ही वस्त्र (केवल धोती) पहनकर भोजन न करे (साथमें गमछा भी लिये रहे)। नग्न होकर स्नान न करे ॥ ६६½ ॥

स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोऽपि संविशेत्॥ ६७ ॥
उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्षं सर्वे प्राणास्तदाश्रयाः।

नंगे होकर न सोये। उच्छिष्ट अवस्थामें भी शयन न करे। जूठे हाथसे मस्तकका स्पर्श न करे; क्योंकि समस्त प्राण मस्तकके ही आश्रित हैं ॥ ६७½ ॥

केशग्रहं प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ॥ ६८ ॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ६९ ॥

सिरके बाल पकड़कर खींचना और मस्तकपर प्रहार करना वर्जित है । दोनों हाथ सटाकर उनसे अपना सिर न खुजलावे । बारंबार मस्तकपर पानी न डाले । इन सब बातोंके पालनसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ६८-६९ ॥

शिरःस्नातस्तु तैलैश्च नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ।
तिलसृष्टं न चाश्नीयात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ७० ॥

सिरपर तेल लगानेके बाद उसी हाथसे दूसरे अङ्गोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये और तिलके बने हुए पदार्थ नहीं खाने चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥

नाध्यापयेत् तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ।
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ७१ ॥

जूठे मुँह न पढ़ावे तथा उच्छिष्ट अवस्थामें स्वयं भी कभी स्वाध्याय न करे । यदि दुर्गन्धयुक्त वायु चले, तब तो मनसे स्वाध्यायका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये ॥ ७१ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
आयुरस्य निकृन्तामि प्रजास्तस्याददे तथा ॥ ७२ ॥
उच्छिष्टो यः प्राद्रवति स्वाध्यायं चाधिगच्छति ।
यश्चानध्यायकालेऽपि मोहादभ्यस्यति द्विजः ॥ ७३ ॥
तस्य वेदः प्रणश्येत आयुश्च परिहीयते ।
तस्माद् युक्तो ह्यनध्याये नाधीयीत कदाचन ॥ ७४ ॥

प्राचीन इतिहासके जानकार लोग इस विषयमें यमराजकी गायी हुई गाथा सुनाया करते हैं । (यमराज कहते हैं—) 'जो मनुष्य जूठे मुँह उठकर दौड़ता और स्वाध्याय करता है, मैं उसकी आयु नष्ट कर देता हूँ और उसकी संतानोंको भी उससे छीन लेता हूँ । जो द्विज मोहवश अनध्यायके समय भी अध्ययन करता है, उसके वैदिक ज्ञान और आयुका भी नाश हो जाता है ।' अतः सावधान पुरुषको निषिद्ध समयमें कभी वेदोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥ ७२–७४ ॥

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रति गां च प्रति द्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ॥ ७५ ॥

जो सूर्य, अग्नि, गौ तथा ब्राह्मणोंकी ओर मुँह करके पेशाब करते हैं और जो बीच रास्तेमें मूतते हैं, वे सब गतायु हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ तथा ह्यायुर्न रिष्यते ॥ ७६ ॥

मल और मूत्र दोनोंका त्याग दिनमें उत्तराभिमुख होकर करे और रातमें दक्षिणाभिमुख । ऐसा करनेसे आयुका नाश नहीं होता ॥ ७६ ॥

त्रीन् कृशान् नावजानीयाद् दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं सर्पं सर्वे ह्याशीविषास्त्रयः ॥ ७७ ॥

जिसे दीर्घ कालतक जीवित रहनेकी इच्छा हो, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और सर्प—इन तीनोंके दुर्बल होनेपर भी इनको न छेड़े; क्योंकि ये सभी बड़े जहरीले होते हैं ॥ ७७ ॥

दहत्याशीविषः क्रुद्धो यावत् पश्यति चक्षुषा ।
क्षत्रियोऽपि दहेत् क्रुद्धो यावत् स्पृशति तेजसा ॥ ७८ ॥
ब्राह्मणस्तु कुलं हन्याद् ध्यानेनावेक्षितेन च ।
तस्मादेतत् त्रयं यत्नादुपसेवेत पण्डितः ॥ ७९ ॥

क्रोधमें भरा हुआ साँप जहाँतक आँखोंसे देख पाता है, वहाँतक धावा करके काटता है । क्षत्रिय भी कुपित होनेपर अपनी शक्तिभर शत्रुको भस्म करनेकी चेष्टा करता है; परंतु ब्राह्मण जब कुपित होता है, तब वह अपनी दृष्टि और संकल्पसे अपमान करनेवाले पुरुषके सम्पूर्ण कुलको दग्ध कर डालता है; इसलिये समझदार मनुष्यको यत्नपूर्वक इन तीनोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

गुरुके साथ कभी हठ नहीं ठानना चाहिये । युधिष्ठिर ! यदि गुरु अप्रसन्न हों तो उन्हें हर तरहसे मान देकर मनाकर प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तेऽपि वर्तितव्यं गुराविह ।
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशयः ॥ ८१ ॥

गुरु प्रतिकूल बर्ताव करते हों तो भी उनके प्रति अच्छा ही बर्ताव करना उचित है; क्योंकि गुरुनिन्दा मनुष्योंकी आयुको दग्ध कर देती है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८१ ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ॥ ८२ ॥

अपना हित चाहनेवाला मनुष्य घरसे दूर जाकर पेशाब

करे, दूर ही पैर धोवे और दूरपर ही जूठे फेंके ॥ ८२ ॥

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः।
वर्जयित्वा तु कमलं तथा कुवलयं प्रभो ॥ ८३ ॥

प्रभो ! विद्वान् पुरुषको लाल फूलोंकी नहीं, श्वेत पुष्पोंकी माला धारण करनी चाहिये; परंतु कमल और कुवलयको छोड़कर ही यह नियम लागू होता है। अर्थात् कमल और कुवलय लाल हों तो भी उन्हें धारण करनेमें कोई हर्ज नहीं है ॥ ८३ ॥

रक्तं शिरसि धार्यं तु तथा वानेयमित्यपि।
काञ्चनीयापि माला या न सा दुष्यति कर्हिचित् ॥८४॥

लाल रंगके फूल तथा वन्य पुष्पको मस्तकपर धारण करना चाहिये। सोनेकी माला पहननेसे कभी अशुद्ध नहीं होती ॥ ८४ ॥

स्नातस्य वर्णकं नित्यमार्द्रं दद्याद् विशाम्पते।
विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान् नरः ॥ ८५ ॥

प्रजानाथ ! स्नानके पश्चात् मनुष्यको अपने ललाटपर गीला चन्दन लगाना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुषको कपड़ोंमें कभी उलट-फेर नहीं करना चाहिये अर्थात् उत्तरीय वस्त्रको अधोवस्त्रके स्थानमें और अधोवस्त्रको उत्तरीयके स्थानमें न पहने ॥ ८५ ॥

तथा नान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च।
अन्यदेव भवेद् वासः शयनीये नरोत्तम ॥ ८६ ॥
अन्यद् रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि।

नरश्रेष्ठ ! दूसरेके पहने हुए कपड़े नहीं पहनने चाहिये। जिसकी कोर फट गयी हो, उसको भी नहीं धारण करना चाहिये। सोनेके लिये दूसरा वस्त्र होना चाहिये। सड़कोंपर घूमनेके लिये दूसरा और देवताओंकी पूजाके लिये दूसरा ही वस्त्र रखना चाहिये ॥ ८६½ ॥

प्रियङ्गुचन्दनाभ्यां च बिल्वेन तगरेण च ॥ ८७ ॥
पृथगेवानुलिम्पेत केसरेण च बुद्धिमान्।

बुद्धिमान् पुरुष राई, चन्दन, बिल्व, तगर तथा केसरके द्वारा पृथक्-पृथक् अपने शरीरमें उबटन लगावे ॥ ८७½ ॥

उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः ॥ ८८ ॥
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत्।

मनुष्य सभी पर्वोंके समय स्नान करके पवित्र हो वस्त्र एवं आभूषणोंसे विभूषित होकर उपवास करे तथा पर्वकालमें सदा ही ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ८८½ ॥

समानमेकपात्रे तु भुञ्जेन्नान्नं जनेश्वर ॥ ८९ ॥
नालीढया परिहतं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोद्धृतसाराणि प्रेक्ष्यते नाप्रदाय च ॥ ९० ॥

जनेश्वर ! किसीके साथ एक पात्रमें भोजन न करे। जिसे रजस्वला स्त्रीने अपने स्पर्शसे दूषित कर दिया हो, ऐसे अन्नका भोजन न करे एवं जिसमेंसे सार निकाल लिया गया हो ऐसे पदार्थको कदापि भक्षण न करे तथा जो तरसती हुई दृष्टिसे अन्नकी ओर देख रहा हो, उसे दिये बिना भोजन न करे ॥ ८९-९० ॥

न संनिकृष्टे मेधावी नाशुचेर्न च सत्सु च।
प्रतिषिद्धान् नधर्मेषु भक्ष्यान् भुञ्जीत पृष्ठतः ॥ ९१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह किसी अपवित्र मनुष्यके निकट अथवा सत्पुरुषोंके सामने बैठकर भोजन न करे। धर्मशास्त्रोंमें जिनका निषेध किया गया हो, ऐसे भोजनको पीठ पीछे छिपाकर भी न खाय ॥ ९१ ॥

पिप्पलं च वटं चैव शणशाकं तथैव च।
उदुम्बरं न खादेच्च भवार्थी पुरुषोत्तमः ॥ ९२ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले श्रेष्ठ पुरुषको पीपल, बड़ और गूलरके फलका तथा सनके सागका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ९२ ॥

न पाणौ लवणं विद्वान् प्राश्नीयान्न च रात्रिषु।
दधिसक्तून् न भुञ्जीत वृथा मांसं च वर्जयेत् ॥९३॥

विद्वान् पुरुष हाथमें नमक लेकर न चाटे। रातमें दही और सत्तू न खाय। मांस अखाद्य वस्तु है, उसका सर्वथा त्याग कर दे ॥ ९३ ॥

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
वालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च ॥ ९४ ॥

प्रतिदिन सबेरे और शामको ही एकाग्र चित्त होकर भोजन करे। बीचमें कुछ भी खाना उचित नहीं है। जिस भोजनमें बाल पड़ गया हो, उसे न खाय तथा शत्रुके श्राद्धमें कभी अन्न न ग्रहण करे ॥ ९४ ॥

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत् ॥ ९५ ॥

भोजनके समय मौन रहना चाहिये। एक ही वस्त्र धारण

करके अथवा सोये-सोये कदापि भोजन न करे। भोजनके पदार्थको भूमिपर रखकर कदापि न खाय। खड़ा होकर या बातचीत करते हुए कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ९५ ॥

तोयपूर्वं प्रदायान्नमतिथिभ्यो विशाम्पते।
पश्चाद् भुञ्जीत मेधावी न चाप्यन्यमना नरः ॥ ९६ ॥

प्रजानाथ! बुद्धिमान् पुरुष पहले अतिथिको अन्न और जल देकर पीछे स्वयं एकाग्रचित्त हो भोजन करे ॥ ९६ ॥

समानमेकपङ्क्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर।
विषं हालाहलं भुङ्क्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ॥ ९७ ॥

नरेश्वर! एक पंक्तिमें बैठनेपर सबको एक समान भोजन करना चाहिये। जो अपने सुहृद्-जनोंको न देकर अकेला ही भोजन करता है, वह हालाहल विष ही खाता है ॥ ९७ ॥

पानीयं पायसं सक्तून् दधिसर्पिर्मधून्यपि।
निरस्य शेषमन्येषां न प्रदेयं तु कस्यचित् ॥ ९८ ॥

पानी, खीर, सत्तू, दही, घी और मधु—इन सबको छोड़कर अन्य भक्ष्य पदार्थोंका अवशिष्ट भाग दूसरे किसीको नहीं देना चाहिये ॥ ९८ ॥

भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शङ्कां समाचरेत्।
दधि चाप्यनुपानं वै न कर्तव्यं भवार्थिना ॥ ९९ ॥

पुरुषसिंह! भोजन करते समय भोजनके विषयमें शंका नहीं करनी चाहिये तथा अपना भला चाहनेवाले पुरुषको भोजनके अन्तमें दही नहीं पीना चाहिये ॥ ९९ ॥

आचम्य चैकहस्तेन परिस्राव्यं तथोदकम्।
अङ्गुष्ठं चरणस्याथ दक्षिणस्यावसेचयेत् ॥१००॥

भोजन करनेके पश्चात् कुल्ला करके मुँह धो ले और एक हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेपर पानी डाले ॥ १०० ॥

पाणिं मूर्ध्नि समाधाय स्पृष्ट्वा चाग्निं समाहितः।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यमवाप्नोति प्रयोगकुशलो नरः ॥१०१॥

फिर प्रयोगकुशल मनुष्य एकाग्रचित्त हो अपने हाथको सिरपर रक्खे। उसके बाद अग्निका मनसे स्पर्श करे। ऐसा करनेसे वह कुटुम्बीजनोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है ॥ १०१ ॥

अद्भिः प्राणान् समालभ्य नाभिं पाणितले तथा।
स्पृशंश्चैव प्रतिष्ठेत न चाप्यार्द्रेण पाणिना ॥१०२॥

इसके बाद जलसे आँख, नाक आदि इन्द्रियों और नाभिका स्पर्श करके दोनों हाथोंकी हथेलियोंको धो डाले। धोनेके पश्चात् गीले हाथ लेकर ही न बैठ जाय (उन्हें कपड़ेसे पोंछकर सुखा दे) ॥ १०२ ॥

अङ्गुष्ठस्यान्तराले च ब्राह्मं तीर्थमुदाहृतम्।
कनिष्ठिकायाः पश्चात् तु देवतीर्थमिहोच्यते ॥१०३॥

अँगूठेका अन्तराल (मूलस्थान) ब्राह्मतीर्थ कहलाता है, कनिष्ठा आदि अँगुलियोंका पश्चाद्भाग (अग्रभाग) देवतीर्थ कहा जाता है ॥ १०३ ॥

अङ्गुष्ठस्य च यन्मध्यं प्रदेशिन्याश्च भारत।
तेन पित्र्याणि कुर्वीत स्पृष्ट्वापो न्यायतः सदा ॥१०४॥

भारत! अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मध्यभागको पितृतीर्थ कहते हैं। उसके द्वारा शास्त्रविधिसे जल लेकर सदा पितृकार्य करना चाहिये ॥ १०४ ॥

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥१०५॥

अपनी भलाई चाहनेवाले पुरुषको दूसरोंकी निन्दा तथा अप्रिय वचन मुँहसे नहीं निकालने चाहिये और किसीको क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिये ॥ १०५ ॥

पतितैस्तु कथां नेच्छेद् दर्शनं च विवर्जयेत्।
संसर्गं च न गच्छेत तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ॥१०६॥

पतित मनुष्योंके साथ वार्तालापकी इच्छा न करे। उनका दर्शन भी त्याग दे और उनके सम्पर्कमें कभी न जाय। ऐसा करनेसे मनुष्य बड़ी आयु पाता है ॥ १०६ ॥

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत् तथायुर्विन्दते महत्॥१०७

दिनमें कभी मैथुन न करे। कुमारी कन्या और कुलटाके साथ कभी समागम न करे। अपनी पत्नी भी जबतक ऋतुस्नाता न हो तबतक उसके साथ समागम न करे। इससे मनुष्यको बड़ी आयु प्राप्त होती है ॥ १०७ ॥

स्वे स्वे तीर्थे समाचम्य कार्ये समुपकल्पिते।
त्रिः पीत्वाऽऽपो द्विः प्रमृज्य कृतशौचो भवेन्नरः॥१०८॥

कार्य उपस्थित होनेपर अपने-अपने तीर्थमें आचमन करके तीन बार जल पीये और दो बार ओठोंको पोंछ ले—ऐसा करनेसे मनुष्य शुद्ध हो जाता है ॥ १०८ ॥

इन्द्रियाणि सकृत्स्पृश्य त्रिरभ्युक्ष्य च मानवः ।
कुर्वीत पित्र्यं दैवं च वेददृष्टेन कर्मणा ॥ १०९॥

पहले नेत्र आदि इन्द्रियोंका एक बार स्पर्श करके तीन बार अपने ऊपर जल छिड़के, इसके बाद वेदोक्त विधिके अनुसार देवयज्ञ और पितृयज्ञ करे ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणार्थे च यच्छौचं तच्च मे शृणु कौरव ।
पवित्रं च हितं चैव भोजनाद्यन्तयोस्तथा ॥११०॥

कुरुनन्दन ! अब ब्राह्मणके लिये भोजनके आदि और अन्तमें जो पवित्र एवं हितकारक शुद्धिका विधान है, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ११० ॥

सर्वशौचेषु ब्राह्मेण तीर्थेन समुपस्पृशेत् ।
निष्ठीव्य तु तथा क्षुत्त्वा स्पृश्यापो हि शुचिर्भवेत्॥१११॥

ब्राह्मणको प्रत्येक शुद्धिके कार्यमें ब्राह्मतीर्थसे आचमन करना चाहिये । थूकने और छींकनेके बाद जलका स्पर्श (आचमन) करनेसे वह शुद्ध होता है ॥ १११ ॥

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि ।
(कुलीनः पण्डित इति रक्ष्या निःस्वाः स्वशक्तितः ।)
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च ॥११२॥

बूढ़े कुटुम्बी, दरिद्र मित्र और कुलीन पण्डित यदि निर्धन हों तो उनकी यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिये । उन्हें अपने घरपर ठहराना चाहिये । इससे धन और आयुकी वृद्धि होती है ॥ ११२ ॥

गृहे पारावता धन्याः शुकाश्च सहसारिकाः ।
गृहेष्वेते न पापाय तथा वै तैलपायिकाः ॥११३॥
(देवता प्रतिमाऽऽदर्शाश्चन्दनाः पुष्पवल्लिकाः ।
शुद्धं जलं सुवर्णं च रजतं गृहमङ्गलम् ॥)

परेवा, तोता और मैना आदि पक्षियोंका घरमें रहना अभ्युदयकारी एवं मङ्गलमय है । ये तैलपायिक पक्षियोंकी भाँति अमङ्गल करनेवाले नहीं होते । देवताकी प्रतिमा, दर्पण, चन्दन, फूलकी लता, शुद्ध जल, सोना और चाँदी-इन सब वस्तुओंका घरमें रहना मङ्गलकारक है ॥ ११३ ॥

उद्दीपकाश्च गृध्राश्च कपोता भ्रमरास्तथा ।
निविशेयुर्यदा तत्र शान्तिमेव तदाऽऽचरेत् ।
अमङ्गल्यानि चैतानि तथाक्रोशो महात्मनाम् ॥११४॥

उद्दीपक, गीध, कपोत (जंगली कबूतर) और भ्रमर नामक पक्षी यदि कभी घरमें आ जायँ तो सदा उसकी शान्ति ही करानी चाहिये; क्योंकि ये अमङ्गलकारी होते हैं । महात्माओंकी निन्दा भी मनुष्यका अकल्याण करनेवाली है ॥ ११४ ॥

महात्मनोऽतिगुह्यानि न वक्तव्यानि कर्हिचित् ।
अगम्याश्च न गच्छेत राज्ञः पत्नीं सखीस्तथा ॥११५॥

महात्मा पुरुषोंके गुप्त कर्म कहीं किसीपर प्रकट नहीं करने चाहिये । परायी स्त्रियाँ सदा अगम्य होती हैं, उनके साथ कभी समागम न करे । राजाकी पत्नी और सखियोंके पास भी कभी न जाय ॥ ११५ ॥

वैद्यानां बालवृद्धानां भृत्यानां च युधिष्ठिर ।
बन्धूनां ब्राह्मणानां च तथा शारणिकस्य च ॥११६॥
सम्बन्धिनां च राजेन्द्र तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ।

राजेन्द्र युधिष्ठिर ! वैद्यों, बालकों, वृद्धों, भृत्यों, बन्धुओं, ब्राह्मणों, शरणार्थियों तथा सम्बन्धियोंकी स्त्रियोंके पास कभी न जाय । ऐसा करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ११६½ ॥

ब्राह्मणस्थपतिभ्यां च निर्मितं यन्निवेशनम् ॥११७॥
तदावसेत् सदा प्राज्ञो भवार्थी मनुजेश्वर ।

मनुजेश्वर ! अपनी उन्नति चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि ब्राह्मणके द्वारा वास्तुपूजनपूर्वक आरम्भ कराये और अच्छे कारीगरके द्वारा बनाये हुए घरमें सदा निवास करे ॥ ११७½ ॥

संध्यायां न स्वपेद् राजन् विद्यां न च समाचरेत्॥११८॥
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत् ।

राजन् ! बुद्धिमान् पुरुष सायंकालमें गोधूलिकी वेलामें न तो सोये, न विद्या पढ़े और न भोजन ही करे । ऐसा करनेसे वह बड़ी आयुको प्राप्त होता है ॥ ११८½ ॥

नक्तं न कुर्यात् पित्र्याणि भुक्त्वा चैव प्रसाधनम्॥११९॥
पानीयस्य क्रिया नक्तं न कार्या भूतिमिच्छता ।

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको रातमें श्राद्धकर्म नहीं करना चाहिये । भोजन करके केशोंका संस्कार (क्षौरकर्म) भी नहीं करना चाहिये तथा रातमें जलसे स्नान करना भी उचित नहीं है ॥ ११९½ ॥

वर्जनीयाश्चैव नित्यं सक्तवो निशि भारत ॥१२०॥
शेषाणि चैव पानानि पानीयं चापि भोजने ।

भरतनन्दन ! रातमें सत्तू खाना सर्वथा वर्जित है । अन्न-

भोजनके पश्चात् जो पीनेयोग्य पदार्थ और जल शेष रह जाते हैं, उनका भी त्याग कर देना चाहिये॥१२०½॥

सौहित्यं न च कर्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत् ॥१२१॥
द्विजच्छेदं न कुर्वीत भुक्त्वा न च समाचरेत् ।

रातमें न स्वयं डटकर भोजन करे और न दूसरेको ही डटकर भोजन करावे। भोजन करके दौड़े नहीं। ब्राह्मणोंका वध कभी न करे॥ १२१½ ॥

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ॥ १२२॥
वयःस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ।

जो श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुई हो, उत्तम लक्षणोंसे प्रशंसित हो तथा विवाहके योग्य अवस्थाको प्राप्त हो गयी हो, ऐसी सुलक्षणा कन्याके साथ श्रेष्ठ बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे॥ १२२½ ॥

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा ॥१२३॥
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ।

भारत! उसके गर्भसे संतान उत्पन्न करके वंशपरम्पराको प्रतिष्ठित करे और ज्ञान तथा कुलधर्मकी शिक्षा पानेके लिये पुत्रोंको गुरुके आश्रममें भेज दे॥ १२३½ ॥

कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते ॥१२४॥
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद् भृत्या लभ्याश्च भारत ।

भरतनन्दन! यदि कन्या उत्पन्न करे तो बुद्धिमान् एवं कुलीन वरके साथ उसका ब्याह कर दे। पुत्रका विवाह भी उत्तम कुलकी कन्याके साथ करे और भृत्य भी उत्तम कुलके मनुष्योंको ही बनावे॥ १२४½ ॥

शिरःस्नातोऽथ कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि च ॥१२५॥
नक्षत्रे न च कुर्वीत यस्मिन् जातो भवेन्नरः ।
न प्रोष्ठपदयोः कार्यं तथाग्नेये च भारत ॥१२६॥

भारत! मस्तकपरसे स्नान करके देवकार्य तथा पितृकार्य करे। जिस नक्षत्रमें अपना जन्म हुआ हो उसमें एवं पूर्वा और उत्तरा दोनों भाद्रपदाओंमें तथा कृत्तिका नक्षत्रमें भी श्राद्धका निषेध है॥ १२५-१२६ ॥

दारुणेषु च सर्वेषु प्रत्यरिं च विवर्जयेत् ।
ज्योतिषे यानि चोक्तानि तानि सर्वाणि वर्जयेत्॥१२७॥

(आश्लेषा, आर्द्रा, ज्येष्ठा और मूल आदि) सम्पूर्ण दारुण नक्षत्रों और प्रत्यरितारा[1] का भी परित्याग कर देना चाहिये। सारांश यह है कि ज्योतिष-शास्त्रके भीतर जिन-जिन नक्षत्रोंमें श्राद्धका निषेध किया गया है, उन सबमें देवकार्य और पितृकार्य नहीं करना चाहिये॥ १२७ ॥

प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयेत् सुसमाहितः ।
उदङ्मुखो वा राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत् ॥१२८॥

राजेन्द्र! मनुष्य एकाग्रचित्त होकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके हजामत बनवाये, ऐसा करनेसे बड़ी आयु प्राप्त होती है॥ १२८ ॥

(सतां गुरूणां वृद्धानां कुलस्त्रीणां विशेषतः ।)
परिवादं न च ब्रूयात् परेषामात्मनस्तथा ।
परिवादो ह्यधर्माय प्रोच्यते भरतर्षभ ॥१२९॥

भरतश्रेष्ठ! सत्पुरुषों, गुरुजनों, वृद्धों और विशेषतः कुलाङ्गनाओंकी, दूसरे लोगोंकी और अपनी भी निन्दा न करे; क्योंकि निन्दा करना अधर्मका हेतु बताया गया है॥ १२९ ॥

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम ।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥१३०॥

नरश्रेष्ठ! जो कन्या किसी अङ्गसे हीन हो अथवा जो अधिक अङ्गवाली हो, जिसके गोत्र और प्रवर अपने ही समान हो तथा जो माताके कुलमें (नानाके वंशमें) उत्पन्न हुई हो, उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये॥ १३० ॥

वृद्धां प्रव्रजितां चैव तथैव च पतिव्रताम् ।
तथा निकृष्टवर्णां च वर्णोत्कृष्टां च वर्जयेत् ॥१३१॥

जो बूढ़ी, संन्यासिनी, पतिव्रता, नीच वर्णकी तथा ऊँचे वर्णकी स्त्री हो, उसके सम्पर्कसे दूर रहना चाहिये॥ १३१ ॥

अयोनिं च वियोनिं च न गच्छेत विचक्षणः ।
पिङ्गलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि ॥१३२॥

जिसकी योनि अर्थात् कुलका पता न हो तथा जो नीच कुलमें पैदा हुई हो, उसके साथ विद्वान् पुरुष समागम न करे। युधिष्ठिर! जिसके शरीरका रंग पीला हो तथा जो कुष्ठ रोगवाली हो, उसके साथ तुम्हें विवाह नहीं करना चाहिये॥

अपस्मारिकुले जातां निहीनां चापि वर्जयेत् ।
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर ॥१३३॥

---

1. अपने जन्मनक्षत्रसे वर्तमान नक्षत्रतक गिने, गिननेपर जितनी संख्या हो उसमें नौका भाग दे। यदि पाँच शेष रहे तो उस दिनके नक्षत्रको प्रत्यरि तारा समझे।

नरेश्वर ! जो मृगीरोगसे दूषित कुलमें उत्पन्न हुई हो, नीच हो, सफेद कोढ़वाले और राजयक्ष्माके रोगी मनुष्यके कुलमें पैदा हुई हो, उसको भी त्याग देना चाहिये ॥ १३३ ॥

लक्षणैरन्विता या च प्रशस्ता या च लक्षणैः ।
मनोज्ञां दर्शनीयां च तां भवान् वोढुमर्हति ॥ १३४ ॥

जो उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, श्रेष्ठ आचरणों द्वारा प्रशंसित, मनोहारिणी तथा दर्शनीय हो, उसीके साथ तुम्हें विवाह करना चाहिये ॥ १३४ ॥

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर ।
अवरा पतिता चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता ॥ १३५ ॥

युधिष्ठिर ! अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अपनी अपेक्षा महान् या समान कुलमें विवाह करना चाहिये । नीच जातिवाली तथा पतिता कन्याका पाणिग्रहण कदापि नहीं करना चाहिये ॥ १३५ ॥

अग्नीनुत्पाद्य यत्नेन क्रियाः सुविहिताश्च याः ।
वेदे च ब्राह्मणैः प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः समाचरेत् ॥ १३६ ॥

(अरणी-मन्थनद्वारा) अग्निका उत्पादन एवं स्थापन करके ब्राह्मणोंद्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण वेदविहित क्रियाओंका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १३६ ॥

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥ १३७ ॥

सभी उपायोंसे अपनी स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये । स्त्रियोंसे ईर्ष्या रखना उचित नहीं है । ईर्ष्या करनेसे आयु क्षीण होती है । इसलिये उसे त्याग देना ही उचित है ॥ १३७ ॥

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥ १३८ ॥

दिनमें एवं सूर्योदयके पश्चात् शयन आयुको क्षीण करनेवाला है । प्रातःकाल एवं रात्रिके आरम्भमें नहीं सोना चाहिये । अच्छे लोग रातमें अपवित्र होकर नहीं सोते हैं ॥ १३८ ॥

पारदार्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा ।
यत्नतो वै न कर्तव्यमभ्यासश्चैव भारत ॥ १३९ ॥

परस्त्रीसे व्यभिचार करना और हजामत बनवाकर बिना नहाये रह जाना भी आयुका नाश करनेवाला है । भारत ! अपवित्रावस्थामें वेदोंका अध्ययन यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिये ॥ १३९ ॥

संध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत् ।
प्रयतश्च भवेत् तस्यां न च किंचित् समाचरेत् ॥ १४० ॥

संध्याकालमें स्नान, भोजन और स्वाध्याय कुछ भी न करे । उस बेलामें शुद्ध चित्त होकर ध्यान एवं उपासना करनी चाहिये । दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिये ॥ १४० ॥

ब्राह्मणान् पूजयेच्चापि तथा स्नात्वा नराधिप ।
देवांश्च प्रणमेत् स्नातो गुरूंश्चाप्यभिवादयेत् ॥ १४१ ॥

नरेश्वर ! ब्राह्मणोंकी पूजा, देवताओंको नमस्कार और गुरुजनोंको प्रणाम स्नानके बाद ही करने चाहिये ॥ १४१ ॥

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥ १४२ ॥

बिना बुलाये कहीं भी न जाय, परंतु यज्ञ देखनेके लिये मनुष्य बिना बुलाये भी जा सकता है । भारत ! जहाँ अपना आदर न होता हो, वहाँ जानेसे आयुका नाश होता है ॥ १४२ ॥

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां संध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥ १४३ ॥

अकेले परदेश जाना और रातमें यात्रा करना मना है । यदि किसी कामके लिये बाहर जाय तो संध्या होनेके पहले ही घर लौट आना चाहिये ॥ १४३ ॥

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥ १४४ ॥

नरश्रेष्ठ ! माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाका अविलम्ब पालन करना चाहिये । इनकी आज्ञा हितकर है या अहितकर, इसका विचार नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

धनुर्वेदे च वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप ।
हस्तिपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु चैव ह ॥ १४५ ॥
यत्नवान् भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते ।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च ॥ १४६ ॥

नरेश्वर ! क्षत्रियको धनुर्वेद और वेदाध्यनके लिये यत्न

करना चाहिये। राजेन्द्र! तुम हाथी-घोड़ेकी सवारी और रथ हाँकनेकी कलामें निपुणता प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील बनो; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। वह शत्रुओं, स्वजनों और भृत्योंके लिये दुर्धर्ष हो जाता है॥ १४५-१४६॥

प्रजापालनयुक्तश्च न क्षतिं लभते क्वचित्।
युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत॥१४७॥

जो राजा सदा प्रजाके पालनमें तत्पर रहता है, उसे कभी हानि नहीं उठानी पड़ती। भरतनन्दन! तुम्हें तर्कशास्त्र और शब्दशास्त्र दोनोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥ १४७॥

गान्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप।
पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च॥१४८॥
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते।

नरेश्वर! गान्धर्वशास्त्र (सङ्गीत) और समस्त कलाओंका ज्ञान प्राप्त करना भी तुम्हारे लिये आवश्यक है। तुम्हें प्रतिदिन पुराण, इतिहास, उपाख्यान तथा महात्माओंके चरित्रका श्रवण करना चाहिये॥ १४८½॥

(मान्यानां माननं कुर्यान्निन्द्यानां निन्दनं तथा।
गोब्राह्मणार्थे युध्येत प्राणानपि परित्यजेत्॥)

राजा माननीय पुरुषोंका सम्मान और निन्दनीय मनुष्योंकी निन्दा करे। वह गौओं तथा ब्राह्मणोंके लिये युद्ध करे। उनकी रक्षाके लिये आवश्यकता हो तो प्राणोंको भी निछावर कर दे॥

पत्नीं रजस्वलां या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत्॥१४९॥
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षणः।
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान् भवेत्॥१५०॥

अपनी पत्नी भी रजस्वला हो तो उसके पास न जाय और न उसे ही अपने पास बुलाये। जब चौथे दिन वह स्नान कर ले, तब रातमें बुद्धिमान् पुरुष उसके पास जाय। पाँचवें दिन गर्भाधान करनेसे कन्याकी उत्पत्ति होती है और छठे दिन पुत्रकी अर्थात् समरात्रिमें गर्भाधानसे पुत्रका और विषमरात्रिमें गर्भाधान होनेसे कन्याका जन्म होता है॥ १४९-१५०॥

एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः॥१५१॥

इसी विधिसे विद्वान् पुरुष पत्नीके साथ समागम करे। भाई-बन्धु, सम्बन्धी और मित्र—इन सबका सब प्रकारसे आदर करना चाहिये॥ १५१॥

यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
अत ऊर्ध्वमरण्यं च सेवितव्यं नराधिप॥१५२॥

अपनी शक्तिके अनुसार भाँति-भाँतिकी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नरेश्वर! तदनन्तर गार्हस्थ्यकी अवधि समाप्त हो जानेपर वानप्रस्थके नियमोंका पालन करते हुए वनमें निवास करना चाहिये॥ १५२॥

एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर॥१५३॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार मैंने तुमसे आयुकी वृद्धि करनेवाले नियमोंका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो नियम बाकी रह गये हैं, उन्हें तुम तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंसे पूछकर जान लेना॥ १५३॥

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥१५४॥

सदाचार ही कल्याणका जनक और सदाचार ही कीर्तिको बढ़ानेवाला है। सदाचारसे आयुकी वृद्धि होती है और सदाचार ही बुरे लक्षणोंका नाश करता है॥ १५४॥

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते॥१५५॥

सम्पूर्ण आगमोंमें सदाचार ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है सदाचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मसे आयु बढ़ती है॥ १५५॥

एतद् यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
अनुकम्प्य सर्ववर्णान् ब्रह्मणा समुदाहृतम्॥१५६॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंके लोगोंपर दया करके ब्रह्माजीने यह सदाचार धर्मका उपदेश दिया था। यह यश, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा कल्याणका परम आधार है॥ १५६॥

(य इमं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
स शुभान् प्राप्नुते लोकान् सदाचारव्रतान्नृप ॥)

नरेश्वर ! जो प्रतिदिन इस प्रसङ्गको सुनता और कहता है, वह सदाचार-व्रतके प्रभावसे शुभ लोकोंमें जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आयुष्याख्याने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें आयु बढ़ानेवाले साधनोंका वर्णनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल १६५½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

बड़े और छोटे भाईके पारस्परिक बर्ताव तथा माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंके गौरवका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

**यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद् ब्रवीहि मे ॥ १ ॥**

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! बड़ा भाई अपने छोटे भाइयोंके साथ कैसा बर्ताव करे ? और छोटे भाइयोंका बड़े भाईके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

**ज्येष्ठवत् तात वर्तस्व ज्येष्ठोऽसि सततं भवान् ।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ २ ॥**

भीष्मजीने कहा—तात भरतनन्दन ! तुम अपने भाइयोंमें सबसे बड़े हो; अतः सदा बड़ेके अनुरूप ही बर्ताव करो । गुरुको अपने शिष्यके प्रति जैसा गौरवयुक्त बर्ताव होता है, वैसा ही तुम्हें भी अपने भाइयोंके साथ करना चाहिये ॥ २ ॥

**न गुरावकृतप्रज्ञे शक्यं शिष्येण वर्तितुम् ।
गुरोर्हि दीर्घदर्शित्वं यत् तच्छिष्यस्य भारत ॥ ३ ॥**

यदि गुरु अथवा बड़े भाईका विचार शुद्ध न हो तो शिष्य या छोटे भाई उसकी आज्ञाके अधीन नहीं रह सकते । भारत ! बड़ेके दीर्घदर्शी होनेपर छोटे भाई भी दीर्घदर्शी होते हैं ॥ ३ ॥

**अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः ।
परिहारेण तद् ब्रूयाद् यस्तेषां स्याद् व्यतिक्रमः ॥ ४ ॥**

बड़े भाईको चाहिये कि वह अवसरके अनुसार अन्ध, जड और विद्वान् बने अर्थात् यदि छोटे भाइयोंसे कोई अपराध हो जाय तो उसे देखते हुए भी न देखे । जानकर भी अनजान बना रहे और उनसे ऐसी बात करे, जिससे उनकी अपराध करनेकी प्रवृत्ति दूर हो जाय ॥

**प्रत्यक्षं भिन्नहृदया भेदयेयुः कृतं नराः ।
श्रियाभितप्ताः कौन्तेय भेदकामास्तथारयः ॥ ५ ॥**

यदि बड़ा भाई प्रत्यक्षरूपसे अपराधका दण्ड देता है तो उसके छोटे भाइयोंका हृदय छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे उस दुर्व्यवहारका लोगोंमें प्रचार कर देते हैं, तब उनके ऐश्वर्यको देखकर जलनेवाले कितने ही शत्रु उनमें मतभेद पैदा करनेकी इच्छा करने लगते हैं ॥ ५ ॥

**ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥ ६ ॥**

जेठा भाई अपनी अच्छी नीतिसे कुलको उन्नतिशील बनाता है; किंतु यदि वह कुनीतिका आश्रय लेता है तो उसे विनाशके गर्तमें डाल देता है ! जहाँ बड़े भाईका विचार खोटा हुआ, वहाँ वह जिसमें उत्पन्न हुआ है, अपने उस समस्त कुलको ही चौपट कर देता है ॥ ६ ॥

**अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥ ७ ॥**

जो बड़ा भाई होकर छोटे भाइयोंके साथ कुटिलतापूर्ण बर्ताव करता है, वह न तो ज्येष्ठ कहलाने योग्य है और न ज्येष्ठांश पानेका ही अधिकारी है । उसे तो राजाओंके द्वारा दण्ड मिलना चाहिये ॥ ७ ॥

**निकृती हि नरो लोकान् पापान् गच्छत्यसंशयम् ।
विदुलस्येव तत् पुष्पं मोघं जनयितुः स्मृतम् ॥ ८ ॥**

कपट करनेवाला मनुष्य निःसंदेह पापमय लोकों (नरक) में जाता है । उसका जन्म पिताके लिये बेतके फूलकी भाँति निरर्थक ही माना गया है ॥ ८ ॥

**सर्वानर्थः कुले यत्र जायते पापपूरुषः ।
अकीर्तिं जनयत्येव कीर्तिमन्तर्दधाति च ॥ ९ ॥**

जिस कुलमें पापी पुरुष जन्म लेता है, उसके लिये वह सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बन जाता है । पापात्मा मनुष्य

कुलमें कलङ्क लगाता और उसके सुयशका नाश करता है ॥ ९ ॥

सर्वे चापि विकर्मस्था भागं नार्हन्ति सोदराः।
नाप्रदाय कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ १० ॥

यदि छोटे भाई भी पापकर्ममें लगे रहते हों तो वे पैतृक धनका भाग पानेके अधिकारी नहीं हैं। छोटे भाइयोंको उनका उचित भाग दिये बिना बड़े भाईको पैतृक-सम्पत्तिका भाग ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

अनुपघ्नन् पितुर्दायं जङ्घाश्रमफलोऽध्वगः।
स्वयमीहितलब्धं तु नाकामो दातुमर्हति ॥ ११ ॥

यदि बड़ा भाई पैतृक धनको हानि पहुँचाये बिना ही केवल जाँघोंके परिश्रमसे परदेशमें जाकर धन पैदा करे तो वह उसके निजी परिश्रमकी कमाई है। अतः यदि उसकी इच्छा न हो तो वह उस धनमेंसे भाइयोंको नहीं दे सकता है ॥ ११ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत् सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात् कदाचन ॥ १२ ॥

यदि भाइयोंके हिस्सेका बटवारा न हुआ हो और सबने साथ-ही-साथ व्यापार आदिके द्वारा धनकी उन्नति की हो, उस अवस्थामें यदि पिताके जीते-जी सब अलग होना चाहें तो पिताको उचित है कि वह कभी किसीको कम और किसीको अधिक धन न दे अर्थात् वह सब पुत्रोंको बराबर-बराबर हिस्सा दे ॥ १२ ॥

न ज्येष्ठो वावमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत् तत् तदाचरेत् ॥ १३ ॥
धर्मं हि श्रेय इत्याहुरिति धर्मविदो जनाः।

बड़ा भाई अच्छा काम करनेवाला हो या बुरा, छोटेको उसका अपमान नहीं करना चाहिये। इसी तरह यदि स्त्री अथवा छोटे भाई बुरे रास्तेपर चल रहे हों तो श्रेष्ठ पुरुषको जिस तरहसे भी उनकी भलाई हो, वही उपाय करना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषोंका कहना है कि धर्म ही कल्याणका सर्वश्रेष्ठ साधन है ॥ १३½ ॥

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ॥ १४ ॥
दश चैव पितॄन् माता सर्वां वा पृथिवीमपि।
गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ॥ १५ ॥

गौरवमें दस आचार्योंसे बढ़कर उपाध्याय, दस उपाध्यायोंसे बढ़कर पिता और दस पिताओंसे बढ़कर माता है। माता अपने गौरवसे समूची पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है। अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १४-१५ ॥

माता गरीयसी यच्च तेनैतां मन्यते जनः।
ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत ॥ १६ ॥

भरतनन्दन! माताका गौरव सबसे बढ़कर है, इसलिये लोग उसका विशेष आदर करते हैं। भारत! पिताकी मृत्यु हो जानेपर बड़े भाईको ही पिताके समान समझना चाहिये ॥ १६ ॥

स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात् स चैतान् प्रतिपालयेत्।
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ॥ १७ ॥
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा।

बड़े भाईको उचित है कि वह अपने छोटे भाइयोंको जीविका प्रदान करे तथा उनका पालन-पोषण करे। छोटे भाइयोंका भी कर्तव्य है कि वे सब-के-सब बड़े भाईके सामने नतमस्तक हों और उसकी इच्छाके अनुसार चलें। बड़े भाईको ही पिता मानकर उनके आश्रयमें जीवन व्यतीत करें ॥ १७½ ॥

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ॥ १८ ॥
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा।

भारत! पिता और माता केवल शरीरकी सृष्टि करते हैं, किंतु आचार्यके उपदेशसे जो ज्ञानरूप नवीन जीवन प्राप्त होता है, वह सत्य, अजर और अमर है ॥ १८½ ॥

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ ॥ १९ ॥
भ्रातुर्भार्या च तद्वत् स्याद् यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ! बड़ी बहिन भी माताके समान है। इसी तरह बड़े भाईकी पत्नी तथा बचपनमें जिसका दूध पिया गया हो, वह धाय भी माताके समान है ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ज्येष्ठकनिष्ठवृत्तिर्नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बड़े और छोटे भाईका पारस्परिक बर्तावनामक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

शिव-पार्वती

षडधिकशततमोऽध्यायः

मास, पक्ष एवं तिथिसम्बन्धी विभिन्न व्रतोपवासके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामेव वर्णानां म्लेच्छानां च पितामह।
उपवासे मतिरियं कारणं च न विद्महे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! सभी वर्णों और म्लेच्छ जातिके लोग भी उपवासमें मन लगाते हैं, किंतु इसका क्या कारण है? यह समझमें नहीं आता ॥ १ ॥

ब्रह्मक्षत्रेण नियमाश्चर्तव्या इति नः श्रुतम्।
उपवासे कथं तेषां कृत्यमस्ति पितामह ॥ २ ॥

पितामह! सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंको नियमोंका पालन करना चाहिये; परंतु उपवास करनेसे किस प्रकार उनके प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह नहीं जान पड़ता है ॥ २ ॥

नियमांश्चोपवासांश्च सर्वेषां ब्रूहि पार्थिव।
आप्नोति कां गतिं तात उपवासपरायणः ॥ ३ ॥

पृथ्वीनाथ! आप कृपा करके हमें सम्पूर्ण नियमों और उपवासोंकी विधि बताइये। तात! उपवास करनेवाला मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है? ॥ ३ ॥

उपवासः परं पुण्यमुपवासः परायणम्।
उपोष्येह नरश्रेष्ठ किं फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ! कहते हैं, उपवास बहुत बड़ा पुण्य है और उपवास सबसे बड़ा आश्रय है; परंतु उपवास करके यहाँ मनुष्य कौन-सा फल पाता है? ॥ ४ ॥

अधर्मान्मुच्यते केन धर्ममाप्नोति वा कथम्।
स्वर्गं पुण्यं च लभते कथं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! मनुष्य किस कर्मके द्वारा पापसे छुटकारा पाता है और क्या करनेसे किस प्रकार उसे धर्मकी प्राप्ति होती है? वह पुण्य और स्वर्ग कैसे पाता है? ॥ ५ ॥

उपोष्य चापि किं तेन प्रदेयं स्यान्नराधिप।
धर्मेण च सुखानर्थांल्लभेद् येन ब्रवीहि तम् ॥ ६ ॥

नरेश्वर! उपवास करके मनुष्यको किस वस्तुका दान करना चाहिये? जिस धर्मसे सुख और धनकी प्राप्ति हो सके, वही मुझे बताइये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं धर्मज्ञं धर्मतत्त्ववित्।
धर्मपुत्रमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मज्ञ धर्मपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर धर्मके तत्त्वको जाननेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा ॥

भीष्म उवाच

इदं खलु मया राजञ्श्रुतमासीत् पुरातनम्।
उपवासविधौ श्रेष्ठा गुणा ये भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भरतश्रेष्ठ! उपवास करनेमें जो श्रेष्ठ गुण हैं, उनके विषयमें मैंने प्राचीन कालमें इस तरह सुन रखा है ॥ ८ ॥

ऋषिमङ्गिरसं पूर्वं पृष्टवानस्मि भारत।
यथा मां त्वं तथैवाहं पृष्टवांस्तं तपोधनम् ॥ ९ ॥

भारत! जिस तरह आज तुमने मुझसे प्रश्न किया है इसी प्रकार मैंने भी पूर्वकालमें तपोधन अङ्गिरा मुनिसे प्रश्न किया था ॥ ९ ॥

प्रश्नमेतं मया पृष्टो भगवानग्निसम्भवः।
उपवासविधिं पुण्यमाचष्ट भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतभूषण! जब मैंने यह प्रश्न पूछा, तब अग्निनन्दन भगवान् अङ्गिराने मुझे उपवासकी पवित्र विधि इस प्रकार बतायी॥

अङ्गिरा उवाच

ब्रह्मक्षत्रे त्रिरात्रं तु विहितं कुरुनन्दन।
द्विस्त्रिरात्रमथैकाहं निर्दिष्टं पुरुषर्षभ ॥ ११ ॥

अङ्गिरा बोले—कुरुनन्दन! ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये तीन रात उपवास करनेका विधान है। कहीं-कहीं दो त्रिरात्र और एक दिन अर्थात् कुल सात दिन उपवास करनेका संकेत मिलता है ॥ ११ ॥

वैश्याः शूद्राश्च यन्मोहादुपवासं प्रचक्रिरे।
त्रिरात्रं वा द्विरात्रं वा तयोर्व्युष्टिर्न विद्यते ॥ १२ ॥

वैश्यों और शूद्रोंने जो मोहवश तीन रात अथवा दो रातका उपवास किया है, उसका उन्हें कोई फल नहीं मिला है ॥

चतुर्थभक्तक्षपणं वैश्ये शूद्रे विधीयते।
त्रिरात्रं न तु धर्मज्ञैर्विहितं धर्मदर्शिभिः ॥ १३ ॥

वैश्य और शूद्रके लिये चौथे समयतकके भोजनका त्याग करनेका विधान है अर्थात् उन्हें केवल दो दिन एवं दो रात्रितक उपवास करना चाहिये; क्योंकि धर्मशास्त्रके ज्ञाता एवं धर्मदर्शी विद्वानोंने उनके लिये तीन राततक उपवास करनेका विधान नहीं किया है ॥ १३ ॥

पञ्चम्यां चापि षष्ठ्यां च पौर्णमास्यां च भारत।
उपोष्य एकभक्तेन नियतात्मा जितेन्द्रियः ॥ १४ ॥
क्षमावान् रूपसम्पन्नः श्रुतवांश्चैव जायते।

नानपत्यो भवेत् प्राज्ञो दरिद्रो वा कदाचन ॥ १५ ॥

भारत ! यदि मनुष्य पञ्चमी, षष्ठी और पूर्णिमाके दिन अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर एक वक्त भोजन करके दूसरे वक्त उपवास करे तो वह क्षमावान्, रूपवान् और विद्वान् होता है। वह बुद्धिमान् पुरुष कभी संतानहीन या दरिद्र नहीं होता ॥ १४-१५ ॥

यजिष्णुः पञ्चमीं षष्ठीं कुले भोजयते द्विजान्।
अष्टमीमथ कौरव्य कृष्णपक्षे चतुर्दशीम् ॥ १६ ॥
उपोष्य व्याधिरहितो वीर्यवानभिजायते।

कुरुनन्दन ! जो पुरुष भगवान्‌की आराधनाका इच्छुक होकर पञ्चमी, षष्ठी, अष्टमी तथा कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको अपने घरपर ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और स्वयं उपवास करता है, वह रोगरहित और बलवान् होता है ॥ १६½ ॥

मार्गशीर्षं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत् ॥ १७ ॥
भोजयेच्च द्विजाञ्शक्त्या स मुच्येद् व्याधिकिल्बिषैः।

जो मार्गशीर्ष मासको एक समय भोजन करके बिताता है और अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह रोग और पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥१७½ ॥

सर्वकल्याणसम्पूर्णः सर्वौषधिसमन्वितः ॥ १८ ॥
उपोष्य व्याधिरहितो वीर्यवानभिजायते।
कृषिभागी बहुधनो बहुधान्यश्च जायते ॥ १९ ॥

वह सब प्रकारके कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा सब तरहकी ओषधियों (अन्न-फल-आदि) से भरा-पूरा होता है। मार्गशीर्ष मासमें उपवास करनेसे मनुष्य दूसरे जन्ममें रोगरहित और बलवान् होता है। उसके पास खेती-बारीकी सुविधा रहती है तथा वह बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न होता है॥

पौषमासं तु कौन्तेय भक्तेनैकेन यः क्षिपेत्।
सुभगो दर्शनीयश्च यशोभागी च जायते ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन ! जो पौष मासको एक वक्त भोजन करके बिताता है, वह सौभाग्यशाली, दर्शनीय और यशका भागी होता है ॥ २० ॥

माघं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
श्रीमत्कुले ज्ञातिमध्ये स महत्त्वं प्रपद्यते ॥ २१ ॥

जो माघमासको नियमपूर्वक एक समयके भोजनसे व्यतीत करता है, वह धनवान् कुलमें जन्म लेकर अपने कुटुम्बीजनोंमें महत्त्वको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

भगदैवतमासं तु एकभक्तेन यः क्षिपेत्।
स्त्रीषु वल्लभतां याति वश्याश्चास्य भवन्ति ताः ॥ २२ ॥

जो फाल्गुन मासको एक समय भोजन करके व्यतीत करता है, वह स्त्रियोंको प्रिय होता है और वे उसके अधीन रहती हैं ॥ २२ ॥

चैत्रं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
सुवर्णमणिमुक्ताढ्ये कुले महति जायते ॥ २३ ॥

जो नियमपूर्वक रहकर चैत्रमासको एक समय भोजन करके बिताता है, वह सुवर्ण, मणि और मोतियोंसे सम्पन्न महान् कुलमें जन्म लेता है ॥ २३ ॥

निस्तरेदेकभक्तेन वैशाखं यो जितेन्द्रियः।
नरो वा यदि वा नारी ज्ञातीनां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥ २४ ॥

जो स्त्री अथवा पुरुष इन्द्रियसंयमपूर्वक एक समय भोजन करके वैशाख मासको पार करता है, वह सजातीय बन्धु बान्धवोंमें श्रेष्ठताको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

ज्येष्ठामूलं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत्।
ऐश्वर्यमतुलं श्रेष्ठं पुमान् स्त्री वा प्रपद्यते ॥ २५ ॥

जो एक समय ही भोजन करके ज्येष्ठ मासको बिताता है; वह स्त्री हो या पुरुष, अनुपम श्रेष्ठ ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ॥

आषाढमेकभक्तेन स्थित्वा मासमतन्द्रितः।
बहुधान्यो बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते ॥ २६ ॥

जो आषाढ़ मासमें आलस्य छोड़कर एक समय भोजन करके रहता है, वह बहुत-से धन-धान्य और पुत्रोंसे सम्पन्न होता है ॥ २६ ॥

श्रावणं नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
यत्र तत्राभिषेकेण युज्यते ज्ञातिवर्धनः ॥ २७ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर एक समय भोजन करते हुए श्रावण मासको बिताता है, वह विभिन्न तीर्थोंमें स्नान करनेके पुण्य-फलसे युक्त होता और अपने कुटुम्बीजनोंकी वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

प्रौष्ठपदं तु यो मासमेकाहारो भवेन्नरः।
गवाढ्यं स्फीतमचलमैश्वर्यं प्रतिपद्यते ॥ २८ ॥

जो मनुष्य भाद्रपद मासमें एक समय भोजन करके रहता है, वह गोधनसे सम्पन्न, समृद्धिशील तथा अविचल ऐश्वर्यका भागी होता है ॥ २८ ॥

तथैवाश्वयुजं मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
मृजावान् वाहनाढ्यश्च बहुपुत्रश्च जायते ॥ २९ ॥

जो आश्विन मासको एक समय भोजन करके बिताता है, वह पवित्र, नाना प्रकारके वाहनोंसे सम्पन्न तथा अनेक पुत्रोंसे युक्त होता है ॥२९ ॥

कार्तिकं तु नरो मासं यः कुर्यादेकभोजनम्।
शूरश्च बहुभार्यश्च कीर्तिमांश्चैव जायते ॥ ३० ॥

जो मनुष्य कार्तिक मासमें एक समय भोजन करता है,

वह शूरवीर, अनेक भार्याओंसे संयुक्त और कीर्तिमान् होता है ॥

इति मासा नरव्याघ्र क्षिपतां परिकीर्तिताः ।
तिथीनां नियमा ये तु शृणु तानपि पार्थिव ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! इस प्रकार मैंने मासपर्यन्त एकभुक्त व्रत करनेवाले मनुष्योंके लिये विभिन्न मासोंके फल बताये हैं। पृथ्वीनाथ ! अब तिथियोंके जो नियम हैं, उन्हें भी सुन लो ॥ ३१ ॥

पक्षे पक्षे गते यस्तु भक्तमश्नाति भारत ।
गवाढ्यो बहुपुत्रश्च बहुभार्यः स जायते ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन! जो पंद्रह पंद्रह दिनपर भोजन करता है, वह गोधनसे सम्पन्न और बहुत-से पुत्र तथा स्त्रियोंसे युक्त होता है॥

मासि मासि त्रिरात्राणि कृत्वा वर्षाणि द्वादश ।
गणाधिपत्यं प्राप्नोति निःसपत्नमनाविलम् ॥ ३३ ॥

जो बारह वर्षोंतक प्रतिमास अनेक त्रिरात्रव्रत करता है, वह भगवान् शिवके गणोंका निष्कण्टक एवं निर्मल आधिपत्य प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

एते तु नियमाः सर्वे कर्तव्याः शरदो दश ।
द्वे चान्ये भरतश्रेष्ठ प्रवृत्तिमनुवर्तता ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेवाले पुरुषको ये सभी नियम बारह वर्षोंतक पालन करने चाहिये ॥ ३४ ॥

यस्तु प्रातस्तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत् ।
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ३५ ॥
षड्भिः स वर्षैर्नृपते सिध्यते नात्र संशयः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन सबेरे और शामको भोजन करता है, बीचमें जलतक नहीं पीता तथा सदा अहिंसापरायण होकर नित्य अग्निहोत्र करता है, उसे छः वर्षोंमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसमें संशय नहीं है तथा नरेश्वर ! वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ३५-३६ ॥

अधिवासे सोऽप्सरसां नृत्यगीतविनादिते ।
रमते स्त्रीसहस्राढ्ये सुकृती विरजो नरः ॥ ३७ ॥

वह पुण्यात्मा एवं रजोगुणरहित पुरुष सहस्रों दिव्य रमणियोंसे भरे हुए अप्सराओंके महलमें, जहाँ नृत्य और गीतकी ध्वनि गूँजती रहती है, रमण करता है ॥ ३७ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभं विमानमधिरोहति ।
पूर्णं वर्षसहस्रं च ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३८ ॥
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ।

इतना ही नहीं, वह तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् विमानपर आरूढ़ होता है और पूरे एक हजार वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है। पुण्यक्षीण होनेपर इस लोकमें आकर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है ॥ ३८½ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णमेकाहारो भवेन्नरः ॥ ३९ ॥
अतिरात्रस्य यज्ञस्य स फलं समुपाश्नुते ।

जो मानव पूरे एक वर्ष तक प्रतिदिन एक बार भोजन करके रहता है, वह अतिरात्रयज्ञका फल भोगता है ॥ ३९½ ॥

दशवर्षसहस्राणि स्वर्गे च स महीयते ॥ ४० ॥
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ।

वह पुरुष दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। फिर पुण्यक्षीण होनेपर इस लोकमें आकर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ४०½ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णं चतुर्थं भक्तमश्नुते ॥ ४१ ॥
अहिंसानिरतो नित्यं सत्यवाग् विजितेन्द्रियः ।
वाजपेयस्य यज्ञस्य स फलं समुपाश्नुते ॥ ४२ ॥
दशवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।

जो पूरे एक वर्षतक दो-दो दिनपर भोजन करके रहता है तथा साथ ही अहिंसा, सत्य और इन्द्रियसंयमका पालन करता है, वह वाजपेय यज्ञका फल पाता है और दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४१-४२½ ॥

षष्ठे काले तु कौन्तेय नरः संवत्सरं क्षिपन् ॥ ४३ ॥
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।

कुन्तीनन्दन ! जो एक साल तक छठे समय अर्थात् तीन-तीन दिनोंपर भोजन करता है, वह मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ४३½ ॥

चक्रवाकप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ॥ ४४ ॥
चत्वारिंशत् सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ।

वह चक्रवाकोंद्वारा वहन किये हुए विमानसे स्वर्गलोकमें जाता है और वहाँ चालीस हजार वर्षोंतक आनन्द भोगता है ॥ ४४½ ॥

अष्टमेन तु भक्तेन जीवन् संवत्सरं नृप ॥ ४५ ॥
गवामयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।

नरेश्वर ! जो मनुष्य चार दिनोंपर भोजन करता हुआ एक वर्षतक जीवन धारण करता है, उसे गवामय यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४५½ ॥

हंससारसयुक्तेन विमानेन स गच्छति ॥ ४६ ॥
पञ्चाशतं सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ।

वह हंस और सारसोंसे जुते हुए विमानद्वारा जाता है और पचास हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥

पक्षे पक्षे गते राजन् योऽश्नीयाद् वर्षमेव तु ॥ ४७ ॥
षण्मासानशनं तस्य भगवानङ्गिराऽब्रवीत् ।

राजन् ! जो एक-एक पक्ष बीतनेपर भोजन करता है और इसी तरह एक वर्ष पूरा कर देता है, उसको छः मासतक

अनशन करनेका फल मिलता है। ऐसा भगवान् अङ्गिरा मुनिका कथन है ॥ ४७½ ॥

षष्टिर्वर्षसहस्राणि दिवमावसते च सः ॥ ४८ ॥
वीणानां वल्लकीनां च वेणूनां च विशाम्पते।
सुघोषैर्मधुरैः शब्दैः सुप्तः स प्रतिबोध्यते ॥ ४९ ॥

प्रजानाथ ! वह साठ हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है और वहाँ वीणा, वल्लकी, वेणु आदि वाद्योंके मनोरम घोष तथा सुमधुर शब्दोंद्वारा उसे सोतेसे जगाया जाता है ॥

संवत्सरमिहैकं तु मासि मासि पिबेदपः।
फलं विश्वजितस्तात प्राप्नोति स नरो नृप ॥ ५० ॥

तात ! नरेश्वर ! जो मनुष्य एक वर्ष तक प्रतिमास एक बार जल पीकर रहता है, उसे विश्वजित् यज्ञका फल मिलता है॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति।
सप्तति च सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ५१ ॥

वह सिंह और व्याघ्र जुते हुए विमानसे यात्रा करता है और सत्तर हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥५१॥

मासादूर्ध्वं नरव्याघ्र नोपवासो विधीयते।
विधिं त्वनशनस्याहुः पार्थ धर्मविदो जनाः ॥ ५२ ॥

पुरुषसिंह! एक माससे अधिक समयतक उपवास करनेका विधान नहीं है। कुन्तीनन्दन ! धर्मज्ञ पुरुषोंने अनशनकी यही विधि बतायी है ॥ ५२ ॥

अनार्तो व्याधिरहितो गच्छेदनशनं तु यः।
पदे पदे यज्ञफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ५३ ॥

जो बिना रोग-व्याधिके अनशन व्रत करता है, उसे पद-पदपर यज्ञका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५३ ॥

दिवं हंसप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति।
शतं वर्षसहस्राणां मोदते स दिवि प्रभो ॥ ५४ ॥
शतं चाप्सरसः कन्या रमयन्त्यपि तं नरम्।

प्रभो ! ऐसा पुरुष हंस जुते हुए दिव्य विमानसे यात्रा करता है और एक लाख वर्षोंतक देवलोकमें आनन्द भोगता है, सैकड़ों कुमारी अप्सराएँ उस मनुष्यका मनोरञ्जन करती हैं ॥ ५४½ ॥

आर्तो वा व्याधितो वापि गच्छेदनशनं तु यः ॥ ५५ ॥
शतं वर्षसहस्राणां मोदते स दिवि प्रभो।

प्रभो ! रोगी अथवा पीड़ित मनुष्य भी यदि उपवास करता है तो वह एक लाख वर्षोंतक स्वर्गमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ५५½ ॥

काञ्चीनूपुरशब्देन सुप्तश्चैव प्रबोध्यते ॥ ५६ ॥
सहस्रहंसयुक्तेन विमानेन तु गच्छति।

वह सो जानेपर दिव्य रमणियोंकी काञ्ची और नूपुरोंकी झनकारसे जागता है और ऐसे विमानसे यात्रा करता है, जिसमें एक हजार हंस जुते रहते हैं ॥ ५६½ ॥

स गत्वा स्त्रीशताकीर्णे रमते भरतर्षभ ॥ ५७ ॥
क्षीणस्याप्यायनं दृष्टं क्षतस्य क्षतरोहणम्।
व्याधितस्यौषधग्रामः क्रुद्धस्य च प्रसादनम् ॥ ५८ ॥
दुःखितस्यार्थमानाभ्यां दुःखानां प्रतिषेधनम्।
न चैते स्वर्गकामस्य रोचन्ते सुखमेधसः ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह स्वर्गमें जाकर सैकड़ों रमणियोंसे भरे हुए महलमें रमण करता है। इस जगत्‌में दुर्बल मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट होते देखा गया है। जिसे घाव हो गया है, उसका घाव भी भर जाता है। रोगीको अपने रोगकी निवृत्तिके लिये औषध-समूह प्राप्त होता है। क्रोधमें भरे हुए पुरुषको प्रसन्न करनेका उपाय भी उपलब्ध होता है। अर्थ और मानके लिये दुखी हुए पुरुषके दुःखोंका निवारण भी देखा गया है; परंतु स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले और दिव्य सुख चाहनेवाले पुरुषको ये सब इस लोकके सुखोंकी बातें अच्छी नहीं लगतीं ॥५७–५९॥

अतः स कामसंयुक्ते विमाने हेमसंनिभे।
रमते स्त्रीशताकीर्णे पुरुषोऽलंकृतः शुचिः ॥ ६० ॥
स्वस्थः सफलसंकल्पः सुखी विगतकल्मषः।

अतः वह पवित्रात्मा पुरुष वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सैकड़ों स्त्रियोंसे भरे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले सुवर्ण-सदृश विमानपर बैठकर रमण करता है। वह स्वस्थ, सफल-मनोरथ, सुखी एवं निष्पाप होता है ॥ ६०½ ॥

अनश्नन् देहमुत्सृज्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ६१॥
बालसूर्यप्रतीकाशे विमाने हेमवर्चसि।
वैदूर्यमुक्ताखचिते वीणामुरजनादिते ॥ ६२ ॥
पताकादीपिकाकीर्णे दिव्यघण्टानिनादिते।
स्त्रीसहस्रानुचरिते स नरः सुखमेधते ॥ ६३ ॥

जो मनुष्य अनशन-व्रत करके अपने शरीरका त्याग कर देता है, वह निम्नाङ्कित फलका भागी होता है। वह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशमान, सुनहरी कान्तिवाले, वैदूर्य और मोतीसे जटित, वीणा और मृदङ्गकी ध्वनिसे निनादित, पताका और दीपकोंसे आलोकित तथा दिव्य घंटानादसे गूँजते हुए, सहस्रों अप्सराओंसे युक्त विमानपर बैठकर दिव्य सुख भोगता है ॥ ६१–६३ ॥

यावन्ति रोमकूपाणि तस्य गात्रेषु पाण्डव।
तावन्त्येव सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ६४ ॥

पाण्डुनन्दन ! उसके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही सहस्र वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ६४ ॥

नास्ति वेदात् परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः।

न धर्मात् परमो लाभस्तपो नानशनात् परम् ॥ ६५ ॥

वेदसे बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, धर्मसे बढ़कर कोई उत्कृष्ट लाभ नहीं है तथा उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ॥ ६५ ॥

ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति पावनं दिवि चेह च ।
उपवासैस्तथा तुल्यं तपःकर्म न विद्यते ॥ ६६ ॥

जैसे इस लोक और परलोकमें ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंसे बढ़कर कोई पावन नहीं है, उसी प्रकार उपवासके समान कोई तप नहीं है ॥ ६६ ॥

उपोष्य विधिवद् देवास्त्रिदिवं प्रतिपेदिरे ।
ऋषयश्च परां सिद्धिमुपवासैरवाप्नुवन् ॥ ६७ ॥

देवताओंने विधिवत् उपवास करके ही स्वर्ग प्राप्त किया है तथा ऋषियोंको भी उपवाससे ही सिद्धि प्राप्त हुई है ॥६७॥

दिव्यवर्षसहस्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।
क्षान्तमेकेन भक्तेन तेन विप्रत्वमागतः ॥ ६८ ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजी एक हजार दिव्य वर्षोंतक प्रतिदिन एक समय भोजन करके भूखका कष्ट सहते हुए तपमें लगे रहे । उससे उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति हुई ॥ ६८ ॥

च्यवनो जमदग्निश्च वसिष्ठो गौतमो भृगुः ।
सर्व एव दिवं प्राप्ताः क्षमावन्तो महर्षयः ॥ ६९ ॥

च्यवन, जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम, भृगु—ये सभी क्षमावान् महर्षि उपवास करके ही दिव्य लोकोंको प्राप्त हुए हैं॥

इदमङ्गिरसा पूर्वं महर्षिभ्यः प्रदर्शितम् ।
यः प्रदर्शयते नित्यं न स दुःखमवाप्नुते ॥ ७० ॥

पूर्वकालमें अङ्गिरा मुनिने महर्षियोंको इस अनशन-व्रतकी महिमाका दिग्दर्शन कराया था । जो सदा इसका लोगोंमें प्रचार करता है, वह कभी दुखी नहीं होता ॥ ७० ॥

इमं तु कौन्तेय यथाक्रमं विधिं
प्रवर्तितं ह्यङ्गिरसा महर्षिणा ।
पठेच्च यो वै शृणुयाच्च नित्यदा
न विद्यते तस्य नरस्य किल्बिषम् ॥ ७१ ॥

कुन्तीनन्दन ! महर्षि अङ्गिराकी बतलायी हुई इस उपवासव्रतकी विधिको जो प्रतिदिन क्रमशः पढ़ता और सुनता है, उस मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

विमुच्यते चापि स सर्वसंकरै-
र्न चास्य दोषैरभिभूयते मनः ।
वियोनिजानां च विजानते रुतं
ध्रुवां च कीर्तिं लभते नरोत्तमः ॥ ७२ ॥

वह सब प्रकारके संकीर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता है तथा उसका मन कभी दोषोंसे अभिभूत नहीं होता । इतना ही नहीं, वह श्रेष्ठ मानव दूसरी योनिमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी बोली समझने लगता है और अक्षय कीर्तिका भागी होता है ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उपवासविधौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उपवासविधिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥१०६॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

दरिद्रोंके लिये यज्ञतुल्य फल देनेवाले उपवास-व्रत और उसके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामहेन विधिवद् यज्ञाः प्रोक्ता महात्मना ।
गुणाश्चैषां यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्मा पितामहने विधिपूर्वक यज्ञोंका वर्णन किया और इहलोक तथा परलोकमें जो उनके सम्पूर्ण गुण हैं, उनका भी यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं पितामह ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥ २ ॥

किंतु पितामह ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका लाभ नहीं उठा सकता; क्योंकि उन यज्ञोंके उपकरण बहुत हैं और अनेक प्रकारके आयोजनोंके कारण उनका विस्तार बहुत बढ़ जाता है ॥ २ ॥

पार्थिवै राजपुत्रैर्वा शक्याः प्राप्तुं पितामह ।
नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥ ३ ॥

दादाजी ! राजा अथवा राजपुत्र ही उन यज्ञोंका लाभ ले सकते हैं । जिनके पास धनकी कमी है, जो गुणहीन, एकाकी और असहाय हैं, वे उस प्रकारके यज्ञ नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं सदा भवेत् ।
अर्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥ ४ ॥
तुल्यो यज्ञफलैरेतैस्तन्मे हि पितामह ।

इसलिये जिस कर्मका अनुष्ठान दरिद्रों, गुणहीनों, एकाकी और असहायोंके लिये भी सुगम तथा बड़े-बड़े यज्ञोंके समान फल देनेवाला हो, उसीका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ ४½ ॥

भीष्म उवाच

इदमङ्गिरसा प्रोक्तमुपवासफलात्मकम् ॥ ५ ॥
विधिं यज्ञफलैस्तुल्यं तन्निबोध युधिष्ठिर ।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! अङ्गिरा मुनिकी बतलायी हुई जो उपवासकी विधि है, वह यज्ञोंके समान ही फल देनेवाली है । उसका पुनः वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ५½ ॥

यस्तु कल्यं तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत्॥ ६ ॥
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ।
षड्भिरेव स वर्षैस्तु सिध्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो सबेरे और शामको ही भोजन करता है, बीचमें जलतक नहीं पीता तथा अहिंसापरायण होकर नित्य अग्निहोत्र करता है, उसे छः वर्षोंमें ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णं च विमानं लभते नरः ।
देवस्त्रीणामधीवासे नृत्यगीतनिनादिते ॥ ८ ॥
प्राजापत्ये वसेत् पद्मं वर्षाणामग्निसंनिभे ।

वह मनुष्य तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् विमान पाता है और अग्नितुल्य तेजस्वी प्रजापतिलोकमें नृत्य तथा गीतोंसे गूँजते हुए देवाङ्गनाओंके महलमें एक पद्म वर्षोंतक निवास करता है ॥ ८½ ॥

त्रीणि वर्षाणि यः प्राशेत् सततं त्वेकभोजनम्॥ ९ ॥
धर्मपत्नीरतो नित्यमग्निष्टोमफलं लभेत् ।

जो अपनी ही धर्मपत्नीमें अनुराग रखते हुए निरन्तर तीन वर्षोंतक प्रतिदिन एक समय भोजन करके रहता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ९½ ॥

यज्ञं बहुसुवर्णं वा वासवप्रियमाचरेत् ॥ १० ॥
सत्यवान् दानशीलश्च ब्रह्मण्यश्चानसूयकः ।
क्षान्तो दान्तो जितक्रोधः स गच्छति परां गतिम्॥ ११॥

जो बहुत-सी सुवर्णकी दक्षिणासे युक्त इन्द्रप्रिय यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा सत्यवादी, दानशील, ब्राह्मणभक्त, अदोषदर्शी, क्षमाशील, जितेन्द्रिय और क्रोधविजयी होता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ १०-११ ॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशे विमाने हंसलक्षणे ।
द्वे समाप्ते ततः पद्मे सोऽप्सरोभिर्वसेत् सह ॥ १२ ॥

वह सफेद बादलोंके समान चमकीले हंसोपलक्षित विमानपर बैठकर दो पद्म वर्षोंका समय समाप्त होनेतक अप्सराओंके साथ वहाँ निवास करता है ॥ १२ ॥

द्वितीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अग्निकार्यपरो नित्यं नित्यं कल्यप्रबोधनः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य नित्य अग्निमें होम करता हुआ एक वर्षतक प्रति दूसरे दिन एक बार भोजन करता है तथा प्रतिदिन अग्निकी उपासनामें तत्पर रहकर नित्य सबेरे जागता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ १३-१४ ॥

हंससारसयुक्तं च विमानं लभते नरः ।
इन्द्रलोके च वसते वरस्त्रीभिः समावृतः ॥ १५ ॥

वह मानव हंस और सारसोंसे जुते हुए विमानको पाता है और इन्द्रलोकमें सुन्दरी स्त्रियोंसे घिरा हुआ निवास करता है ॥ १५ ॥

तृतीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १६ ॥
अग्निकार्यपरो नित्यं नित्यं कल्यप्रबोधनः ।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ १७ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रति तीसरे दिन एक समय भोजन करता, नित्य सबेरे उठता और अग्निकी परिचर्यामें तत्पर हो नित्य अग्निमें आहुति देता है, वह अतिरात्र यागका परम उत्तम फल पाता है ॥ १६-१७ ॥

मयूरहंसयुक्तं च विमानं लभते नरः ।
सप्तर्षीणां सदा लोके सोऽप्सरोभिर्वसेत् सह ॥ १८ ॥
निवर्तनं च तत्रास्य त्रीणि पद्मानि चैव ह ।

उसे मोरोंसे जुता हुआ विमान प्राप्त होता है और वह सदा सप्तर्षियोंके लोकमें अप्सराओंके साथ निवास करता है । वहाँ तीन पद्म वर्षोंतक वह निवास करता है ॥ १८½ ॥

दिवसे यश्चतुर्थे तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ १९ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
वाजपेयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २० ॥

जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ बारह महीनोंतक प्रति चौथे दिन एक बार भोजन करता है, वह वाजपेय यज्ञका परम उत्तम फल पाता है ॥ १९-२० ॥

इन्द्रकन्याभिरूढं च विमानं लभते नरः ।
सागरस्य च पर्यन्ते वासवं लोकमावसेत् ॥ २१ ॥
देवराजस्य च क्रीडां नित्यकालमवेक्षते ।

उस मनुष्यको देवकन्याओंसे आरूढ़ विमान उपलब्ध होता है और वह पूर्वसागरके तटपर इन्द्रलोकमें निवास करता है तथा वहाँ रहकर वह प्रतिदिन देवराजकी क्रीडाओंको देखा करता है ॥ २१½ ॥

दिवसे पञ्चमे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ २२ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ।
अलुब्धः सत्यवादी च ब्रह्मण्यश्चाविहिंसकः ॥ २३ ॥
अनसूयुरपापस्थो द्वादशाहफलं लभेत् ।

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ हर पाँचवें दिन एक समय भोजन करता है और लोभहीन, सत्यवादी, ब्राह्मणभक्त, अहिंसक और अदोषदर्शी होकर सदा पापकर्मोंसे दूर रहता है, उसे द्वादशाह यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ २२-२३½ ॥

जाम्बूनदमयं दिव्यं विमानं हंसलक्षणम् ॥ २४ ॥
सूर्यमालासमाभासमारोहेत् पाण्डुरं गृहम्।
आवर्तनानि चत्वारि तथा पद्मानि द्वादश ॥ २५ ॥
शराग्निपरिमाणं च तत्रासौ वसते सुखम्।

वह सूर्यकी किरणमालाओंके समान प्रकाशमान तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णके बने हुए श्वेतकान्तिवाले हंसलक्षित दिव्य विमानपर आरूढ़ होता तथा चार, बारह एवं पैंतीस (कुल मिलाकर इक्यावन) पद्म वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ २४-२५½ ॥

दिवसे यस्तु षष्ठे वै मुनिः प्राशेत भोजनम् ॥ २६ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
सदा त्रिषवणस्नायी ब्रह्मचार्यनसूयकः ॥ २७ ॥
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम्।

जो बारह महीनेतक सदा अग्निहोत्र करता, तीनों संध्याओंके समय स्नान करता, ब्रह्मचर्यका पालन करता, दूसरोंके दोष नहीं देखता तथा मुनिवृत्तिसे रहकर प्रति छठे दिन एक बार भोजन करता है, वह गोमेध यज्ञका सर्वोत्तम फल पाता है ॥ २६-२७½ ॥

अग्निज्वालासमाभासं हंसबर्हिणसेवितम् ॥ २८ ॥
शातकुम्भसमायुक्तं साधयेद् यानमुत्तमम्।
तथैवाप्सरसामङ्के प्रतिसुप्तः प्रबोध्यते ॥ २९ ॥
नूपुराणां निनादेन मेखलानां च निःस्वनैः।

उसे अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान, हंस और मयूरोंसे सेवित, सुवर्णजटित उत्तम विमान प्राप्त होता है और वह अप्सराओंके अङ्कमें सोकर उन्हींके काञ्चीकलाप तथा नूपुरोंकी मधुर ध्वनिसे जगाया जाता है ॥ २८-२९½ ॥

कोटीसहस्रं वर्षाणां त्रीणि कोटिशतानि च ॥ ३० ॥
पद्मान्यष्टादश तथा पताके द्वे तथैव च।
अयुतानि च पञ्चाशदृक्षचर्मशतस्य च ॥ ३१ ॥
लोम्नां प्रमाणेन समं ब्रह्मलोके महीयते।

वह मनुष्य दो पताका (महापद्म), अठारह पद्म, एक हजार तीन सौ करोड़ और पचास अयुत वर्षोंतक तथा सौ रीछोंके चमड़ोंमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥ ३०-३१½ ॥

दिवसे सप्तमे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ ३२ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
सरस्वतीं गोपयानो ब्रह्मचर्यं समाचरन् ॥ ३३ ॥
सुमनोवर्णकं चैव मधुमांसं च वर्जयन्।
पुरुषो मरुतां लोकमिन्द्रलोकं च गच्छति ॥ ३४ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रति सातवें दिन एक समय भोजन करता, प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता, वाणीको संयममें रखता और ब्रह्मचर्यका पालन करता एवं फूलोंकी माला, चन्दन, मधु और मांसका सदाके लिये त्याग कर देता है, वह पुरुष मरुद्गणों तथा इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ ३२-३४॥

तत्र तत्र हि सिद्धार्थो देवकन्याभिरर्च्यते।
फलं बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते नरः ॥ ३५ ॥
संख्यामतिगुणां चापि तेषु लोकेषु मोदते।

उन सभी स्थानोंमें सफलमनोरथ होकर वह देवकन्याओंद्वारा पूजित होता है तथा जिस यज्ञमें बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणा दी जाती है, उसके फलको वह प्राप्त कर लेता है और असंख्य वर्षोंतक वह उन लोकोंमें आनन्द भोगता है ॥ ३५½ ॥

यस्तु संवत्सरं क्षान्तो भुङ्क्तेऽहन्यष्टमे नरः ॥ ३६ ॥
देवकार्यपरो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम्।
पौण्डरीकस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३७ ॥

जो एक वर्षतक प्रति आठवें दिन एक बार भोजन करता, सबके प्रति क्षमाभाव रखता, देवताओंके कार्यमें तत्पर रहता और नित्यप्रति अग्निहोत्र करता है, उसे पौण्डरीक यागका सर्वश्रेष्ठ फल मिलता है ॥ ३६-३७ ॥

पद्मवर्णनिभं चैव विमानमधिरोहति।
कृष्णाः कनकगौर्यश्च नार्यः श्यामास्तथापराः॥ ३८ ॥
वयोरूपविलासिन्यो लभते नात्र संशयः।

वह कमलके समान वर्णवाले विमानपर चढ़ता है और वहाँ उसे श्यामवर्णा, सुवर्णसदृश गौर वर्णवाली, सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली और नूतन यौवन तथा मनोहर रूप-विलाससे सुशोभित देवाङ्गनाएँ प्राप्त होती हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ३८½ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते नवमे नवमेऽहनि ॥ ३९ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४० ॥

जो एक वर्षतक नौ-नौ दिनपर एक समय भोजन करता है और बारहों महीने प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, उसे एक हजार अश्वमेध यज्ञका परम उत्तम फल प्राप्त होता है ॥ ३९-४० ॥

पुण्डरीकप्रकाशं च विमानं लभते नरः।
दीप्तसूर्याग्नितेजोभिर्दिव्यमालाभिरेव च ॥ ४१ ॥
नीयते रुद्रकन्याभिः सोऽन्तरिक्षं सनातनम्।

अष्टादश सहस्राणि वर्षाणां कल्पमेव च ॥ ४२ ॥
कोटीशतसहस्रं च तेषु लोकेषु मोदते ।

तथा वह पुण्डरीकके समान श्वेत वर्णोंका विमान पाता है। दीप्तिमान् सूर्य और अग्निके समान तेजस्विनी और दिव्यमालाधारिणी रुद्रकन्याएँ उसे सनातन अन्तरिक्षलोकमें ले जाती हैं और वहाँ वह एक कल्प लाख करोड़ एवं अठारह हजार वर्षोंतक सुख भोगता है ॥ ४१-४२½ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते दशाहे वै गते गते ॥ ४३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
ब्रह्मकन्यानिवासे च सर्वभूतमनोहरे ॥ ४४ ॥
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
रूपवत्यश्च तं कन्या रमयन्ति सनातनम् ॥ ४५ ॥

जो एक वर्षतक दस-दस दिन बीतनेपर एक बार भोजन करता है और बारहों महीने प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, वह सम्पूर्ण भूतोंके लिये मनोहर ब्रह्मकन्याओंके निवास-स्थानमें जाकर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका परम उत्तम फल पाता है और उस सनातन पुरुषका वहाँकी रूपवती कन्याएँ मनोरञ्जन करती हैं ॥ ४३–४५ ॥

नीलोत्पलनिभैर्वर्णै रक्तोत्पलनिभैस्तथा ।
विमानं मण्डलावर्तमावर्तगहनाकुलम् ॥ ४६ ॥
सागरोर्मिप्रतीकाशं लभेद् यानमनुत्तमम् ।
विचित्रमणिमालाभिर्नादितं शङ्खनिःस्वनैः ॥ ४७ ॥

वह नीले और लाल कमलके समान अनेक रङ्गोंसे सुशोभित, मण्डलाकार घूमनेवाला, भँवरके समान गहन चक्कर लगानेवाला, सागरकी लहरोंके समान ऊपर नीचे होनेवाला, विचित्र मणिमालाओंसे अलंकृत और शङ्खध्वनिसे परिपूर्ण सर्वोत्तम विमान प्राप्त करता है ॥ ४६-४७ ॥

स्फाटिकैर्वज्रसारैश्च स्तम्भैः सुकृतवेदिकम् ।
आरोहति महद् यानं हंससारसनादितम् ॥ ४८ ॥

उसमें स्फटिक और वज्रसारमणिके खम्भे लगे होते हैं। उसपर सुन्दर ढंगसे बनी हुई वेदी शोभा पाती है तथा वहाँ हंस और सारस पक्षी कलरव करते रहते हैं। ऐसे विशाल विमानपर चढ़ता और स्वच्छन्द घूमता है ॥ ४८ ॥

एकादशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ४९ ॥
परस्त्रियं नाभिलषेद् वाचाथ मनसापि वा ।
अनृतं च न भाषेत मातापित्रोः कृतेऽपि वा ॥ ५० ॥
अभिगच्छेन्महादेवं विमानस्थं महाबलम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ प्रति ग्यारहवें दिन एक बार हविष्यान्न ग्रहण करता है, मन-वाणीसे भी कभी परस्त्रीकी अभिलाषा नहीं करता है और माता-पिताके लिये भी कभी झूठ नहीं बोलता है, वह विमानमें विराजमान परम शक्तिमान् महादेवजीके समीप जाता और हजार अश्वमेध यज्ञोंका सर्वोत्तम फल पाता है ॥ ४९–५१ ॥

स्वायम्भुवं च पश्येत विमानं समुपस्थितम् ।
कुमार्यः काञ्चनाभासा रूपवत्यो नयन्ति तम् ॥ ५२ ॥
रुद्राणां तमधीवासं दिवि दिव्यं मनोहरम् ।

वह अपने पास ब्रह्माजीका भेजा हुआ विमान स्वतः उपस्थित देखता है। सुवर्णके समान रङ्गवाली रूपवती कुमारियाँ उसे उस विमानद्वारा द्युलोकमें दिव्य मनोहर रुद्रलोकमें ले जाती हैं ॥ ५२½ ॥

वर्षाण्यपरिमेयानि युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५३ ॥
कोटीशतसहस्रं च दशकोटिशतानि च ।
रुद्रं नित्यं प्रणमते देवदानवसम्मतम् ॥ ५४ ॥
स तस्मै दर्शनं प्राप्तो दिवसे दिवसे भवेत् ।

वहाँ वह प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी शरीर धारण करके असंख्य वर्षोंतक एक लाख एक हजार करोड़ वर्षोंतक निवास करता हुआ प्रतिदिन देवदानव-सम्मानित भगवान् रुद्रको प्रणाम करता है। वे भगवान् उसे नित्य-प्रति दर्शन देते रहते हैं ॥ ५३-५४½ ॥

दिवसे द्वादशे यस्तु प्राप्ते वै प्राशते हविः ॥ ५५ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सर्वमेधफलं लभेत् ।

जो बारह महीनोंतक प्रति बारहवें दिन केवल हविष्यान्न ग्रहण करता है, उसे सर्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥५५½॥

आदित्यद्वादशं तस्य विमानं संविधीयते ॥ ५६ ॥
मणिमुक्ताप्रवालैश्च महार्हैरुपशोभितम् ।
हंसमालापरिक्षिप्तं नागवीथीसमाकुलम् ॥ ५७ ॥
मयूरैश्चक्रवाकैश्च कूजद्भिरुपशोभितम् ।
अट्टैर्महद्भिः संयुक्तं ब्रह्मलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥
नित्यमावसथं राजन् नरनारीसमावृतम् ।
ऋषिरेवं महाभागस्त्वङ्गिरा प्राह धर्मवित् ॥ ५९ ॥

उसके लिये बारह सूर्योंके समान तेजस्वी विमान प्रस्तुत किया जाता है। बहुमूल्य मणि, मुक्ता और मूँगे उस विमानकी शोभा बढ़ाते हैं। हंसश्रेणीसे परिवेष्टित और नागवीथीसे परिव्याप्त वह विमान कलरव करते हुए मोरों और चक्रवाकोंसे सुशोभित तथा ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित है। उसके भीतर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। राजन्! वह नित्य-निवासस्थान अनेक नर-नारियोंसे भरा हुआ होता है। यह बात महाभाग धर्मज्ञ ऋषि अङ्गिराने कही थी ॥५६–५९॥

त्रयोदशे तु दिवसे प्राप्ते यः प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासान् वै देवसत्रफलं लभेत् ॥ ६० ॥

जो बारह महीनोंतक सदा तेरहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है, उसे देवसत्रका फल प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

रक्तपद्मोदयं नाम विमानं साधयेन्नरः ।
जातरूपप्रयुक्तं च रत्नसंचयभूषितम् ॥ ६१ ॥
देवकन्याभिराकीर्णं दिव्याभरणभूषितम् ।
पुण्यगन्धोदयं दिव्यं वायव्यैरुपशोभितम् ॥ ६२ ॥

उस मनुष्यको रक्तपद्मोदय नामक विमान उपलब्ध होता है, जो सुवर्णसे जटित तथा रत्नसमूहसे विभूषित है। उसमें देवकन्याएँ भरी रहती हैं, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित उस विमानकी बड़ी शोभा होती है। उससे पवित्र सुगन्ध प्रकट होती रहती है तथा वह दिव्य विमान वायव्यास्त्रसे शोभायमान होता है ॥ ६१-६२ ॥

तत्र शङ्खपताके द्वे युगान्तं कल्पमेव च ।
अयुतायुतं तथा पद्मं समुद्रं च तथा वसेत् ॥ ६३ ॥

वह व्रतधारी पुरुष दो शङ्ख, दो पताका (महापद्म), एक कल्प एवं एक चतुर्युग तथा दस करोड़ एवं चार पद्म वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करता है ॥ ६३ ॥

गीतगन्धर्वघोषैश्च भेरीपणवनिःस्वनैः ।
सदा प्रह्लादितस्ताभिर्देवकन्याभिरिज्यते ॥ ६४ ॥

वहाँ देवकन्याएँ गीत और वाद्योंके घोष तथा भेरी और पणवकी मधुर ध्वनिसे उस पुरुषको आनन्द प्रदान करती हुई सदा उसका पूजन करती हैं ॥ ६४ ॥

चतुर्दशे तु दिवसे यः पूर्णे प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासांस्तु महामेधफलं लभेत् ॥ ६५ ॥

जो बारह महीनेतक प्रति चौदहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है, वह महामेध यज्ञका फल पाता है ॥ ६५ ॥

अनिर्देश्यवयोरूपा देवकन्याः स्वलंकृताः ।
मृष्टतप्ताङ्गदधरा विमानैरुपयान्ति तम् ॥ ६६ ॥

जिनके यौवन तथा रूपका वर्णन नहीं हो सकता, ऐसी देवकन्याएँ तपाये हुए शुद्ध स्वर्णके अङ्गद (बाजूबन्द) और अन्यान्य अलङ्कार धारण करके विमानोंद्वारा उस पुरुषकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ ६६ ॥

कलहंसविनिर्घोषैर्नूपुराणां च निःस्वनैः ।
काञ्चीनां च समुत्कर्षैस्तत्र तत्र निबोध्यते ॥ ६७ ॥

वह सो जानेपर कलहंसोंके कलरवों, नूपुरोंकी मधुर झनकारों तथा काञ्चीकी मनोहर ध्वनियोंद्वारा जगाया जाता है ॥ ६७ ॥

देवकन्यानिवासे च तस्मिन् वसति मानवः ।
जाह्नवीवालुकाकीर्णं पूर्णं संवत्सरं नरः ॥ ६८ ॥

वह मानव देवकन्याओंके उस निवासस्थानमें उतने वर्षोंतक निवास करता है, जितने कि गङ्गाजीमें बालूके कण हैं ॥ ६८ ॥

यस्तु पक्षे गते भुङ्क्ते एकभक्तं जितेन्द्रियः ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ६९ ॥
राजसूयसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
यानमारोहते दिव्यं हंसबर्हिणसेवितम् ॥ ७० ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुष बारह महीनोंतक प्रति पंद्रहवें दिन एक बार खाता और प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वह एक हजार राजसूय यज्ञका सर्वोत्तम फल पाता है और हंस तथा मोरोंसे सेवित दिव्य विमानपर आरूढ़ होता है ॥ ६९-७० ॥

मणिमण्डलकैश्चित्रं जातरूपसमावृतम् ।
दिव्याभरणशोभाभिर्वरस्त्रीभिरलंकृतम् ॥ ७१ ॥

वह विमान सुवर्णपत्रसे जटित तथा मणिमय मण्डलाकार चिह्नोंसे विचित्र शोभासम्पन्न है। दिव्य वस्त्राभूषणोंसे शोभायमान सुन्दरी रमणियाँ उसे सुशोभित किये रहती हैं ॥ ७१ ॥

एकस्तम्भं चतुर्द्वारं सप्तभौमं सुमङ्गलम् ।
वैजयन्तीसहस्रैश्च शोभितं गीतनिःस्वनैः ॥ ७२ ॥

उस विमानमें एक ही खम्भा होता है, चार दरवाजे लगे होते हैं। वह सात तल्लोंसे युक्त एवं परममङ्गलमय विमान सहस्रों वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित तथा गीतोंकी मधुर-ध्वनिसे व्याप्त होता है ॥ ७२ ॥

दिव्यं दिव्यगुणोपेतं विमानमधिरोहति ।
मणिमुक्ताप्रवालैश्च भूषितं वैद्युतप्रभम् ॥ ७३ ॥
वसेद् युगसहस्रं च खड्गकुञ्जरवाहनः ।

मणि, मोती और मूँगोंसे विभूषित वह दिव्य विमान विद्युत-की-सी प्रभासे प्रकाशित तथा दिव्य गुणोंसे सम्पन्न होता है। वह व्रतधारी पुरुष उसी विमानपर आरूढ़ होता है। उसमें गेंडे और हाथी जुते होते हैं तथा वहाँ एक सहस्र युगोंतक वह निवास करता है ॥ ७३½ ॥

षोडशे दिवसे प्राप्ते यः कुर्यादेकभोजनम् ॥ ७४ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सोमयज्ञफलं लभेत् ।

जो बारह महीनोंतक प्रति सोलहवें दिन एक बार भोजन करता है, उसे सोमयागका फल मिलता है ॥ ७४½ ॥

सोमकन्यानिवासेषु सोऽध्यावसति नित्यशः ॥ ७५ ॥
सौम्यगन्धानुलिप्तश्च कामकारगतिर्भवेत् ।

वह सोम-कन्याओंके महलोंमें नित्य निवास करता है, उसके अङ्गोंमें सौम्य गन्धयुक्त अनुलेप लगाया जाता है। वह अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहता है, घूमता है ॥ ७५½ ॥

सुदर्शनाभिर्नारीभिर्मधुराभिस्तथैव च ॥ ७६ ॥
अर्च्यते वै विमानस्थः कामभोगैश्च सेव्यते।

वह विमानपर विराजमान होता है और देखनेमें परम सुन्दरी तथा मधुरभाषिणी दिव्य नारियाँ उसकी पूजा करती तथा उसे काम-भोगका सेवन कराती हैं ॥ ७६½ ॥

फलं पद्मशतप्रख्यं महाकल्पं दशाधिकम् ॥ ७७ ॥
आवर्तनानि चत्वारि साधयेच्चाप्यसौ नरः।

वह पुरुष सौ पद्म वर्षोंके समान दस महाकल्प तथा चार चतुर्युगी तक अपने पुण्यका फल भोगता है ॥ ७७½ ॥

दिवसे सप्तदशमे यः प्राप्ते प्राशते हविः ॥ ७८ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
स्थानं वारुणमैन्द्रं च रौद्रं वाप्यधिगच्छति ॥ ७९ ॥
मारुतौशनसे चैव ब्रह्मलोकं स गच्छति।
तत्र दैवतकन्याभिरासनेनोपचर्यते ॥ ८० ॥

जो मनुष्य बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ सोलह दिन उपवास करके सत्रहवें दिन केवल हविष्यान्न भोजन करता है, वह वरुण, इन्द्र, रुद्र, मरुत, शुक्राचार्यजी तथा ब्रह्माजीके लोकमें जाता है और उन लोकोंमें देवताओंकी कन्याएँ आसन देकर उसका पूजन करती हैं ॥ ७८–८० ॥

भूर्भुवं चापि देवर्षिं विश्वरूपमवेक्षते।
तत्र देवाधिदेवस्य कुमार्यो रमयन्ति तम् ॥ ८१ ॥
द्वात्रिंशद् रूपधारिण्यो मधुराः समलंकृताः।

वह पुरुष भूर्लोक, भुवर्लोक तथा विश्वरूपधारी देवर्षिका वहाँ दर्शन करता है और देवाधिदेवकी कुमारियाँ उसका मनोरञ्जन करती हैं। उनकी संख्या बत्तीस है। वे मनोहर रूपधारिणी, मधुरभाषिणी तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलङ्कृत होती हैं ॥ ८१½ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ यावद् गगने चरतः प्रभो ॥ ८२ ॥
तावच्चरत्यसौ धीरः सुधामृतरसाशनः।

प्रभो! जबतक आकाशमें चन्द्रमा और सूर्य विचरते हैं, तबतक वह धीर पुरुष सुधा एवं अमृतरसका भोजन करता हुआ ब्रह्मलोकमें विहार करता है ॥ ८२½ ॥

अष्टादशे यो दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ ८३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सप्तलोकान् स पश्यति।

जो लगातार बारह महीनोंतक प्रति अठारहवें दिन एक बार भोजन करता है, वह भू आदि सातों लोकोंका दर्शन करता है ॥ ८३½ ॥

रथैः सनन्दिघोषैश्च पृष्ठतः सोऽनुगम्यते ॥ ८४ ॥
देवकन्याधिरूढैस्तु भ्राजमानैः स्वलंकृतैः।

उसके पीछे आनन्दपूर्वक जय घोष करते हुए बहुत-से तेजस्वी एवं सजे-सजाये रथ चलते हैं। उन रथोंपर देव-कन्याएँ बैठी होती हैं ॥ ८४½ ॥

व्याघ्रसिंहप्रयुक्तं च मेघस्वननिनादितम् ॥ ८५ ॥
विमानमुत्तमं दिव्यं सुसुखी ह्यधिरोहति।

उसके सामने व्याघ्र और सिंहोंसे जुता हुआ तथा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाला दिव्य एवं उत्तम विमान प्रस्तुत होता है, जिसपर वह अत्यन्त सुखपूर्वक आरोहण करता है ॥ ८५½ ॥

तत्र कल्पसहस्रं स कन्याभिः सह मोदते ॥ ८६ ॥
सुधारसं च भुञ्जीत अमृतोपममुत्तमम्।

उस दिव्य लोकमें वह एक हजार कल्पोंतक देवकन्याओं-के साथ आनन्द भोगता और अमृतके समान उत्तम सुधारस-का पान करता है ॥ ८६½ ॥

एकोनविंशतिदिने यो भुङ्क्ते एकभोजनम् ॥ ८७ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सप्तलोकान् स पश्यति।

जो लगातार बारह महीनोंतक उन्नीसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह भी भू आदि सातों लोकोंका दर्शन करता है ॥ ८७½ ॥

उत्तमं लभते स्थानमप्सरोगणसेवितम् ॥ ८८ ॥
गन्धर्वैरुपगीतं च विमानं सूर्यवर्चसम्।

उसे अप्सराओंद्वारा सेवित उत्तम स्थान—गन्धर्वोंके गीतोंसे गूँजता हुआ सूर्यके समान तेजस्वी विमान प्राप्त होता है ॥ ८८½ ॥

तत्रामरवरस्त्रीभिर्मोदते विगतज्वरः ॥ ८९ ॥
दिव्याम्बरधरः श्रीमानयुतानां शतं शतम्।

उस विमानमें वह सुन्दरी देवाङ्गनाओंके साथ आनन्द भोगता है। उसे कोई चिन्ता तथा रोग नहीं सताते। दिव्य-वस्त्रधारी और श्रीसम्पन्न रूप धारण करके वह दस करोड़ वर्षोंतक वहाँ निवास करता है ॥ ८९½ ॥

पूर्णेऽथ विंशे दिवसे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९० ॥
सदा द्वादशमासांस्तु सत्यवादी धृतव्रतः।
अमांसाशी ब्रह्मचारी सर्वभूतहिते रतः ॥ ९१ ॥
स लोकान् विपुलान् रम्यानादित्यानामुपाश्नुते।

जो लगातार बारह महीनेतक पूरे बीस दिनपर एक बार भोजन करता, सत्य बोलता, व्रतका पालन करता, मांस नहीं खाता, ब्रह्मचर्यका पालन करता तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहता है, वह सूर्यदेवके विशाल एवं रमणीय लोकोंमें जाता है ॥ ९०–९१½ ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च दिव्यमाल्यानुलेपनैः ॥ ९२ ॥

विमानैः काञ्चनैर्हृद्यैः पृष्ठतश्चानुगम्यते ।

उसके पीछे-पीछे दिव्यमाला और अनुलेपन धारण करनेवाले गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे सेवित सोनेके मनोरम विमान चलते हैं ॥ ९२½ ॥

एकविंशे तु दिवसे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
लोकमौशनसं दिव्यं शक्रलोकं च गच्छति ॥ ९४ ॥
अश्विनोर्मरुतां चैव सुखेष्वभिरतः सदा ।
अनभिज्ञश्च दुःखानां विमानवरमास्थितः ॥ ९५ ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीभिः क्रीडत्यमरवत् प्रभुः ।

जो लगातार बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ इक्कीसवें दिनपर एक बार भोजन करता है, वह शुक्राचार्य तथा इन्द्रके दिव्यलोकमें जाता है। इतना ही नहीं, उसे अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंके लोकोंकी भी प्राप्ति होती है। उन लोकोंमें वह सदा सुख भोगनेमें ही तत्पर रहता है। दुःखोंका तो वह नाम भी नहीं जानता है और श्रेष्ठ विमानपर विराजमान हो सुन्दरी स्त्रियोंसे सेवित होता हुआ शक्तिशाली देवताके समान क्रीड़ा करता है ॥ ९३–९५½ ॥

द्वाविंशे दिवसे प्राप्ते यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९६ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
अहिंसानिरतो धीमान् सत्यवागनसूयकः ॥ ९७ ॥
लोकान् वसूनामाप्नोति दिवाकरसमप्रभः ।
कामचारी सुधाहारो विमानवरमास्थितः ॥ ९८ ॥
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः ।

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ बाईसवाँ दिन प्राप्त होनेपर एक बार भोजन करता है तथा अहिंसामें तत्पर, बुद्धिमान्, सत्यवादी और दोषदृष्टिसे रहित होता है, वह सूर्यके समान तेजस्वी रूप धारण करके श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो वसुओंके लोकमें जाता है। वहाँ इच्छानुसार विचरता, अमृत पीकर रहता और दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥९६–९८½॥

त्रयोविंशे तु दिवसे प्राशेद् यस्त्वेकभोजनम् ॥ ९९॥
सदा द्वादशमासांस्तु मिताहारो जितेन्द्रियः।
वायोरुशनसश्चैव रुद्रलोकं च गच्छति ॥१००॥

जो लगातार बारह महीनोंतक मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर तेईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह वायु, शुक्राचार्य तथा रुद्रके लोकमें जाता है ॥ ९९-१०० ॥

कामचारी कामगमः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ।
अनेकगुणपर्यन्तं विमानवरमास्थितः ॥१०१॥
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः ।

वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो इच्छानुसार विचरता, जहाँ इच्छा होती वहाँ जाता और अप्सराओंद्वारा पूजित होता है। उन लोकोंमें वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥ १०१½ ॥

चतुर्विंशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ॥१०२॥
सदा द्वादशमासांश्च जुह्वानो जातवेदसम् ।
आदित्यानामधीवासे मोदमानो वसेच्चिरम् ॥१०३॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ।

जो लगातार बारह महीनोंतक अग्निहोत्र करता हुआ चौबीसवें दिन एक बार हविष्यान्न भोजन करता है, वह दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्यगन्ध तथा दिव्य अनुलेपन धारण करके सुदीर्घकालतक आदित्यलोकमें सानन्द निवास करता है ॥ १०२–१०३½ ॥

विमाने काञ्चने दिव्ये हंसयुक्ते मनोरमे ॥१०४॥
रमते देवकन्यानां सहस्रैरयुतैस्तथा ।

वहाँ हंसयुक्त मनोरम एवं दिव्य सुवर्णमय विमानपर वह सहस्रों तथा अयुतों देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥

पञ्चविंशे तु दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ॥१०५॥
सदा द्वादशमासांस्तु पुष्कलं यानमारुहेत् ।

जो लगातार बारह महीनोंतक पचीसवें दिन एक बार भोजन करता है, उसको सवारीके लिये बहुत-से विमान या वाहन प्राप्त होते हैं ॥ १०५½ ॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तैस्तु मेघनिःस्वननादितैः ॥१०६॥
स रथैर्नन्दिघोषैश्च पृष्ठतो ह्यनुगम्यते ।
देवकन्यासमारूढैः काञ्चनैर्विमलैः शुभैः ॥१०७॥

उसके पीछे सिंहों और व्याघ्रोंसे जुते हुए तथा मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे निनादित बहुसंख्यक रथ सानन्द विजयघोष करते हुए चलते हैं। उन सुवर्णमय, निर्मल एवं मङ्गलकारी रथोंपर देवकन्याएँ आरूढ़ होती हैं ॥ १०६–१०७ ॥

विमानमुत्तमं दिव्यमास्थाय सुमनोहरम् ।
तत्र कल्पसहस्रं वै वसते स्त्रीशतावृते ॥१०८॥
सुधारसं चोपजीवन्नमृतोपममुत्तमम् ।

वह दिव्य, उत्तम एवं मनोहर विमानपर विराजमान हो सैकड़ों सुन्दरियोंसे भरे हुए महलमें सहस्र कल्पोंतक निवास करता है। वहाँ देवताओंके भोज्य अमृतके समान उत्तम सुधारसको पीकर वह जीवन बिताता है ॥ १०८½ ॥

षड्विंशे दिवसे यस्तु प्रकुर्यादेकभोजनम् ॥१०९॥
सदा द्वादशमासांस्तु नियतो नियताशनः ।
जितेन्द्रियो वीतरागो जुह्वानो जातवेदसम् ॥११०॥
स प्राप्नोति महाभागः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः।
सप्तानां मरुतां लोकान् वसूनां चापि सोऽश्नुते॥१११॥

जो लगातार बारह महीनोंतक मन और इन्द्रियों-

को संयममें रखकर मिताहारी हो छब्बीसवें दिन एक बार भोजन करता है तथा वीतराग और जितेन्द्रिय हो प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, वह महाभाग मनुष्य अप्सराओंसे पूजित हो सात मरुद्गणों और आठ वसुओंके लोकोंमें जाता है ॥ १०९—१११ ॥

विमानैः स्फाटिकैर्दिव्यैः सर्वरत्नैरलंकृतैः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पूज्यमानः प्रमोदते ॥११२॥
द्वे युगानां सहस्रे तु दिव्ये दिव्येन तेजसा।

सम्पूर्ण रत्नोंसे अलंकृत स्फटिक मणिमय दिव्य विमानोंसे सम्पन्न हो गन्धर्वों और अप्सराओंद्वारा पूजित होता हुआ दिव्य तेजसे युक्त हो देवताओंके दो हजार दिव्य युगोंतक वह उन लोकोंमें आनन्द भोगता है ॥ ११२½ ॥

सप्तविंशेऽथ दिवसे यः कुर्यादेकभोजनम् ॥११३॥
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम्।
फलं प्राप्नोति विपुलं देवलोके च पूज्यते ॥११४॥

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ हर सत्ताईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह प्रचुर फलका भागी होता और देवलोकमें सम्मान पाता है ।११३-११४।

अमृताशी वसंस्तत्र स वितृष्णः प्रमोदते।
देवर्षिचरितं राजन् राजर्षिभिरनुष्ठितम् ॥११५॥
अध्यावसति दिव्यात्मा विमानवरमास्थितः।
स्त्रीभिर्मनोभिरामाभी रममाणो मदोत्कटः ॥११६॥
युगकल्पसहस्राणि त्रीण्यावसति वै सुखम्।

वहाँ उसे अमृतका आहार प्राप्त होता है तथा वह तृष्णारहित हो वहाँ रहकर आनन्द भोगता है। राजन्! वह दिव्यरूपधारी पुरुष राजर्षियोंद्वारा वर्णित देवर्षियोंके चरित्रका श्रवण-मनन करता है और श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो मनोरम सुन्दरियोंके साथ मदोन्मत्तभावसे रमण करता हुआ तीन हजार युगों एवं कल्पोंतक वहाँ सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ११५-११६½ ॥

योऽष्टाविंशे तु दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥११७॥
सदा द्वादशमासांस्तु जितात्मा विजितेन्द्रियः।
फलं देवर्षिचरितं विपुलं समुपाश्नुते ॥११८॥

जो बारह महीनोंतक सदा अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर अट्ठाईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह देवर्षियोंको प्राप्त होनेवाले महान् फलका उपभोग करता है ॥ ११७-११८ ॥

भोगवांस्तेजसा भाति सहस्रांशुरिवामलः।
सुकुमार्यश्च नार्यस्तं रममाणाः सुवर्चसः ॥११९॥
पीनस्तनोरुजघना दिव्याभरणभूषिताः।
रमयन्ति मनःकान्ते विमाने सूर्यसंनिभे ॥१२०॥
सर्वकामगमे दिव्ये कल्पायुतशतं समाः।

वह भोगसे सम्पन्न हो अपने तेजसे निर्मल सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता है और सुन्दर कान्तिवाली, पीन उरोज, जाँघ और जघन प्रदेशवाली, दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुकुमारी रमणियाँ सूर्यके समान प्रकाशित और सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले मनोरम दिव्य विमानपर बैठकर उस पुण्यात्मा पुरुषका दस लाख कल्पोंके वर्षोंतक मनोरंजन करती हैं ॥ ११९-१२०½ ॥

एकोनत्रिंशे दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ॥१२१॥
सदा द्वादशमासान् वै सत्यव्रतपरायणः।
तस्य लोकाः शुभा दिव्या देवराजर्षिपूजिताः ॥१२२॥

जो बारह महीनोंतक सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर हो उन्तीसवें दिन एक बार भोजन करता है, उसे देवर्षियों तथा राजर्षियोंद्वारा पूजित दिव्य मङ्गलमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ १२१-१२२ ॥

विमानं सूर्यचन्द्राभं दिव्यं समधिगच्छति।
जातरूपमयं युक्तं सर्वरत्नसमन्वितम् ॥१२३॥

वह सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित तथा आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त सुवर्णमय दिव्य विमान प्राप्त करता है ॥ १२३ ॥

अप्सरोगणसम्पूर्णं गन्धर्वैरभिनादितम्।
तत्र चैनं शुभा नार्यो दिव्याभरणभूषिताः ॥१२४॥
मनोऽभिरामा मधुरा रमयन्ति मदोत्कटाः।

उस विमानमें अप्सराएँ भरी रहती हैं, गन्धर्वोंके गीतोंकी मधुर ध्वनिसे वह विमान गूँजता रहता है। उस विमानमें दिव्य आभूषणोंसे विभूषित, शुभ लक्षणसम्पन्न, मनोभिराम, मदमत्त एवं मधुरभाषिणी रमणियाँ उस पुरुषका मनोरंजन करती हैं ॥ १२४½ ॥

भोगवांस्तेजसा युक्तो वैश्वानरसमप्रभः ॥१२५॥
दिव्यो दिव्येन वपुषा भ्राजमान इवामरः।
वसूनां मरुतां चैव साध्यानामश्विनोस्तथा ॥१२६॥
रुद्राणां च तथा लोकं ब्रह्मलोकं च गच्छति।

वह पुरुष भोगसम्पन्न, तेजस्वी, अग्निके समान दीप्तिमान्, अपने दिव्य शरीरसे देवताकी भाँति प्रकाशमान तथा दिव्यभावसे युक्त हो वसुओं, मरुद्गणों, साध्यगणों, अश्विनीकुमारों, रुद्रों तथा ब्रह्माजीके लोकमें भी जाता है ॥ १२५-१२६½ ॥

यस्तु मासे गते भुङ्क्ते एकभक्तं शमात्मकः ॥१२७॥
सदा द्वादशमासान् वै ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।

जो बारह महीनोंतक प्रत्येक मास व्यतीत होनेपर तीसवें दिन एक बार भोजन करता और सदा शान्तभावसे रहता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ १२७½ ॥

सुधारसकृताहारः श्रीमान् सर्वमनोहरः ॥ १२८ ॥
तेजसा वपुषा लक्ष्म्या भ्राजते रश्मिवानिव ।

वह वहाँ सुधारसका भोजन करता और सबके मनको हर लेनेवाला कान्तिमान् रूप धारण करता है। वह अपने तेज, सुन्दर शरीर तथा अङ्गकान्तिसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ १२८½ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥ १२९ ॥
सुखेष्वभिरतो भोगी दुःखानामविजानकः ।

दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्यगन्ध और दिव्य अनुलेपन धारण करके वह भोगकी शक्ति और साधनसे सम्पन्न हो सुख-भोगमें ही रत रहता है। दुःखोंका उसे कभी अनुभव नहीं होता है ॥ १२९½ ॥

स्वयंप्रभाभिर्नारीभिर्विमानस्थो महीयते ॥ १३० ॥
रुद्रदेवर्षिकन्याभिः सततं चाभिपूज्यते ।
नानारमणरूपाभिर्नानारागाभिरेव च ॥ १३१ ॥
नानामधुरभाषाभिर्नानारतिभिरेव च ।

वह विमानपर आरूढ़ हो अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारियोंद्वारा सम्मानित होता है। रुद्रों तथा देवर्षियोंकी कन्याएँ सदा उसकी पूजा करती हैं। वे कन्याएँ नाना प्रकारके रमणीय रूप, विभिन्न प्रकारके राग, भाँति-भाँतिकी मधुर भाषणकला तथा अनेक तरहकी रति-क्रीड़ाओंसे सुशोभित होती हैं ॥ १३०-१३१½ ॥

विमाने गगनाकारे सूर्यवैदूर्यसंनिभे ॥ १३२ ॥
पृष्ठतः सोमसंकाशे उदर्के चाभ्रवन्निभे ।
दक्षिणायां तु रक्ताभे अधस्तान्नीलमण्डले ॥ १३३ ॥
ऊर्ध्वं विचित्रसंकाशे नैको वसति पूजितः ।

जिस विमानपर वह विराजमान होता है, वह आकाशके समान विशाल दिखायी देता है। सूर्य और वैदूर्यमणिके समान तेजस्वी जान पड़ता है। उसका पिछला भाग चन्द्रमाके समान, वामभाग मेघके सदृश, दाहिना भाग लाल प्रभासे युक्त, निचला भाग नीलमण्डलके समान तथा ऊपरका भाग अनेक रंगोंके सम्मिश्रणसे विचित्र-सा प्रतीत होता है। उसमें वह अनेक नर-नारियोंके साथ सम्मानित होकर रहता है ॥ १३२-१३३½ ॥

यावद् वर्षसहस्रं वै जम्बुद्वीपे प्रवर्षति ॥ १३४ ॥
तावत् संवत्सराः प्रोक्ता ब्रह्मलोकेऽस्य धीमतः ।

मेघ जम्बूद्वीपमें जितने जलबिन्दुओंकी वर्षा करता है, उतने हजार वर्षोंतक उस बुद्धिमान् पुरुषका ब्रह्मलोकमें निवास बताया गया है ॥ १३४½ ॥

विप्रुषश्चैव यावन्त्यो निपतन्ति नभस्तलात् ॥ १३५ ॥
वर्षासु वर्षतस्तावन्निवसत्यमरप्रभः ।

वर्षा ऋतुमें आकाशसे धरतीपर जितनी बूँदें गिरती हैं, उतने वर्षोंतक वह देवोपम तेजस्वी पुरुष ब्रह्मलोकमें निवास करता है ॥ १३५½ ॥

मासोपवासी वर्षैस्तु दशभिः स्वर्गमुत्तमम् ॥ १३६ ॥
महर्षित्वमथासाद्य सशरीरगतिर्भवेत् ।

दस वर्षोंतक एक-एक मास उपवास करके एकतीसवें दिन भोजन करनेवाला पुरुष उत्तम स्वर्ग लोकको जाता है। वह महर्षि पदको प्राप्त होकर सशरीर दिव्यलोककी यात्रा करता है ॥ १३६½ ॥

मुनिर्दान्तो जितक्रोधो जितशिश्नोदरः सदा ॥ १३७ ॥
जुह्वन्नग्नींश्च नियतः संध्योपासनसेविता ।
बहुभिर्नियमैरेवं शुचिरश्नाति यो नरः ॥ १३८ ॥
अभ्रावकाशशीलश्च तस्य भानोरिव त्विषः ।

जो मनुष्य सदा मुनि, जितेन्द्रिय, क्रोधको जीतनेवाला, शिश्न और उदरके वेगको सदा काबूमें रखनेवाला, नियमपूर्वक तीनों अग्नियोंमें आहुति देनेवाला और संध्योपासनामें तत्पर रहनेवाला है तथा जो पवित्र होकर इन पहले बताये हुए अनेक प्रकारके नियमोंके पालनपूर्वक भोजन करता है, वह आकाशके समान निर्मल होता है और उसकी कान्ति सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होती है ॥ १३७-१३८½ ॥

दिवं गत्वा शरीरेण स्वेन राजन् यथामरः ॥ १३९ ॥
स्वर्गं पुण्यं यथाकाममुपभुङ्क्ते तथाविधः ।

राजन्! ऐसे गुणोंसे युक्त पुरुष देवताके समान अपने शरीरके साथ ही देवलोकमें जाकर वहाँ इच्छाके अनुसार स्वर्गके पुण्यफलका उपभोग करता है ॥ १३९½ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ यज्ञानां विधिरुत्तमः ॥ १४० ॥
व्याख्यातो ह्यानुपूर्व्येण उपवासफलात्मकः ।
दरिद्रैर्मनुजैः पार्थ प्राप्तं यज्ञफलं यथा ॥ १४१ ॥

भरतश्रेष्ठ! यह तुम्हें यज्ञोंका उत्तम विधान क्रमशः विस्तारपूर्वक बताया गया है। इसमें उपवासके फलपर प्रकाश डाला गया है। कुन्तीनन्दन! दरिद्र मनुष्योंने इन उपवासात्मक व्रतोंका अनुष्ठान करके यज्ञोंका फल प्राप्त किया है ॥

उपवासानिमान् कृत्वा गच्छेच्च परमां गतिम् ।
देवद्विजातिपूजायां रतो भरतसत्तम ॥ १४२ ॥

भरतश्रेष्ठ! देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजामें तत्पर रहकर जो इन उपवासोंका पालन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥

उपवासविधिस्त्वेष विस्तरेण प्रकीर्तितः ।
नियतेष्वप्रमत्तेषु शौचवत्सु महात्मसु ॥ १४३ ॥
दम्भद्रोहनिवृत्तेषु कृतबुद्धिषु भारत ।

अचलेष्वप्रकम्पेषु मा ते भूदत्र संशयः ॥१४४॥

भारत ! नियमशील, सावधान, शौचाचारसे सम्पन्न, महामनस्वी, दम्भ और द्रोहसे रहित, विशुद्ध बुद्धि, अचल और स्थिर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये मैंने यह उपवासकी विधि विस्तारपूर्वक बतायी है। इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १४३-१४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उपवासविधिर्नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उपवासकी विधिनामक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०७॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

मानस तथा पार्थिव तीर्थकी महत्ता

युधिष्ठिर उवाच

यद् वरं सर्वतीर्थानां तन्मे ब्रूहि पितामह।
यत्र चैव परं शौचं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ हो तथा जहाँ जानेसे परम शुद्धि हो जाती हो, उस तीर्थको मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणः।
यत्तु तीर्थं च शौचं च तन्मे शृणु समाहितः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सब मनीषी पुरुषोंके लिये गुणकारी होते हैं; किंतु उन सबमें जो परम पवित्र और प्रधान तीर्थ हैं, उसका वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ ३ ॥

जिसमें धैर्यरूप कुण्ड और सत्यरूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल एवं अत्यन्त शुद्ध है, उस मानस तीर्थमें सदा परमात्माका आश्रय लेकर स्नान करना चाहिये ॥

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम्।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥ ४ ॥

कामना और याचनाका अभाव, सरलता, सत्य, मृदुता, अहिंसा, समस्त प्राणियोंके प्रति क्रूरताका अभाव-दया, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये ही इस मानस तीर्थके सेवनसे प्राप्त होनेवाली पवित्रताके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥ ५ ॥

जो ममता, अहंकार, राग-द्वेषादि द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित एवं भिक्षासे जीवन निर्वाह करते हैं, वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले साधु पुरुष तीर्थस्वरूप हैं ॥ ५ ॥

तत्त्ववित्त्वनहंबुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते।
(नारायणेऽथ रुद्रे वा भक्तिस्तीर्थं परं मता।)
शौचलक्षणमेतत् ते सर्वत्रैवान्ववेक्षतः ॥ ६ ॥

किंतु जिसकी बुद्धिमें अहंकारका नाम भी नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ तीर्थ कहलाता है। भगवान् नारायण अथवा भगवान् शिवमें जो भक्ति होती है, वह भी उत्तम तीर्थ मानी गयी है। पवित्रताका यह लक्षण तुम्हें विचार करनेपर सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होगा ॥ ६ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो येषां निर्धौतमात्मनः।
शौचाशौचसमायुक्ताः स्वकार्यपरिमार्गिणः ॥ ७ ॥
सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः समदर्शिनः।
शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ये ॥ ८ ॥

जिनके अन्तःकरणसे तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण धुल गये हैं अर्थात् जो तीनों गुणोंसे रहित हैं, जो बाह्य पवित्रता और अपवित्रतासे युक्त रहकर भी अपने कर्तव्य (तत्त्व-विचार, ध्यान, उपासना आदि) का ही अनुसंधान करते हैं। जो सर्वस्वके त्यागमें ही अभिरुचि रखते हैं, सर्वज्ञ और समदर्शी होकर शौचाचारके पालनद्वारा आत्मशुद्धिका सम्पादन करते हैं, वे सत्पुरुष ही परम पवित्र तीर्थस्वरूप हैं॥

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ९ ॥

शरीरको केवल पानीसे भिगो लेना ही स्नान नहीं कहलाता है। सच्चा स्नान तो उसीने किया है, जिसने मन-इन्द्रियके संयमरूपी जलमें गोता लगाया है। वही बाहर और भीतरसे भी पवित्र माना गया है ॥ ९ ॥

अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ॥ १० ॥

जो बीते या नष्ट हुए विषयोंकी अपेक्षा नहीं रखते, प्राप्त हुए पदार्थोंमें ममताशून्य होते हैं तथा जिनके मनमें कोई इच्छा पैदा ही नहीं होती, उन्हींमें परम पवित्रता होती है॥

प्रज्ञानं शौचमेवेह शरीरस्य विशेषतः।
तथा निष्किंचनत्वं च मनसश्च प्रसन्नता ॥ ११ ॥

इस जगत्में प्रज्ञान ही शरीर-शुद्धिका विशेष साधन है

इसी प्रकार अकिंचनता और मनकी प्रसन्नता भी शरीरको शुद्ध करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचमतः परम् ।
ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम् ॥ १२ ॥

शुद्धि चार प्रकारकी मानी गयी है—आचारशुद्धि, मनःशुद्धि, तीर्थशुद्धि और ज्ञानशुद्धि; इनमें ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली शुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है ॥ १२ ॥

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥

जो प्रसन्न एवं शुद्ध मनसे ब्रह्मज्ञानरूपी जलके द्वारा मानसतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्त्वदर्शी ज्ञानीका स्नान माना गया है ॥ १३ ॥

समारोपितशौचस्तु नित्यं भावसमाहितः ।
केवलं गुणसम्पन्नः शुचिरेव नरः सदा ॥ १४ ॥

जो सदा शौचाचारसे सम्पन्न, विशुद्ध भावसे युक्त और केवल सद्गुणोंसे विभूषित है, उस मनुष्यको सदा शुद्ध ही समझना चाहिये ॥ १४ ॥

शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तान्येतानि भारत ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि शृणु तान्यपि ॥ १५ ॥

भारत ! यह मैंने शरीरमें स्थित तीर्थोंका वर्णन किया; अब पृथ्वीपर जो पुण्यतीर्थ हैं, उनका महत्त्व भी सुनो ॥१५॥

शरीरस्य यथोद्देशाः शुचयः परिकीर्तिताः ।
तथा पृथिव्या भागाश्च पुण्यानि सलिलानि च ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके विभिन्न स्थान पवित्र बताये गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीके भिन्न-भिन्न भाग भी पवित्र तीर्थ हैं और वहाँका जल पुण्यदायक है ॥ १६ ॥

कीर्तनाच्चैव तीर्थस्य स्नानाच्च पितृतर्पणात् ।
धुनन्ति पापं तीर्थेषु ते प्रयान्ति सुखं दिवम् ॥ १७ ॥

जो लोग तीर्थोंके नाम लेकर तीर्थोंमें स्नान करके तथा उनमें पितरोंका तर्पण करके अपने पाप धो डालते हैं, वे बड़े सुखसे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १७ ॥

परिग्रहाच्च साधूनां पृथिव्याश्चैव तेजसा ।
अतीव पुण्यभागास्ते सलिलस्य च तेजसा ॥ १८ ॥

पृथ्वीके कुछ भाग साधु पुरुषोंके निवाससे तथा स्वयं पृथ्वी और जलके तेजसे अत्यन्त पवित्र माने गये हैं ॥ १८॥

मनसश्च पृथिव्याश्च पुण्यास्तीर्थास्तथापरे ।
उभयोरेव यः स्नायात् स सिद्धिं शीघ्रमाप्नुयात् ॥१९॥

इस प्रकार पृथ्वीपर और मनमें भी अनेक पुण्यमय तीर्थ हैं। जो इन दोनों प्रकारके तीर्थोंमें स्नान करता है, वह शीघ्र ही परमात्मप्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

यथा बलं क्रियाहीनं क्रिया वा बलवर्जिता ।
नेह साधयते कार्यं समायुक्ता तु सिध्यति ॥ २० ॥
एवं शरीरशौचेन तीर्थशौचेन चान्वितः ।
शुचिः सिद्धिमवाप्नोति द्विविधं शौचमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जैसे क्रियाहीन बल अथवा बलरहित क्रिया इस जगत्‌में कार्यका साधन नहीं कर सकती। बल और क्रिया दोनोंके संयुक्त होनेपर ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसी प्रकार शरीर-शुद्धि और तीर्थशुद्धिसे युक्त पुरुष ही पवित्र होकर परमात्म-प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त करता है। अतः दोनों प्रकारकी शुद्धि ही उत्तम मानी गयी है॥२०-२१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शौचानुपृच्छा नामाष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शुद्धिकी जिज्ञासानामक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २१½ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

प्रत्येक मासकी द्वादशी तिथिको उपवास और भगवान् विष्णुकी पूजा करनेका विशेष माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामुपवासानां यच्छ्रेयः सुमहत्फलम् ।
यच्चाप्यसंशयं लोके तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! समस्त उपवासोंमें जो सबसे श्रेष्ठ और महान् फल देनेवाला है तथा जिसके विषयमें लोगोंको कोई संशय नहीं है, वह आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथा गीतं स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यत् कृत्वा निर्वृतो भूयात् पुरुषो नात्र संशयः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! स्वयम्भू भगवान् विष्णुने इस विषयमें जैसा कहा है, उसे बताता हूँ, सुनो। उसका अनुष्ठान करके पुरुष परम सुखी हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

द्वादश्यां मार्गशीर्षे तु अहोरात्रेण केशवम् ।
अर्च्याश्वमेधं प्राप्नोति दुष्कृतं चास्य नश्यति ॥ ३ ॥

मार्गशीर्षमासमें द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् केशवकी पूजा-अर्चा करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पा लेता है और उसका सारा पाप नष्ट हो जाता है॥

तथैव पौषमासे तु पूज्यो नारायणेति च ।

वाजपेयमवाप्नोति सिद्धिं च परमां व्रजेत् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार पौषमासमें द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक भगवान् नारायणकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाले पुरुषको वाजपेय यज्ञका फल मिलता है और वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां माघमासे तु माधवम्।
राजसूयमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५ ॥

माघमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् माधवकी पूजा करनेसे उपासकको राजसूय यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥

तथैव फाल्गुने मासि गोविन्देति च पूजयन्।
अतिरात्रमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ६ ॥

इसी तरह फाल्गुनमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक गोविन्द नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष अतिरात्र यज्ञका फल पाता है और मृत्युके पश्चात् सोमलोकमें जाता है ॥ ६ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां चैत्रे विष्णुरिति स्मरन्।
पौण्डरीकमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

चैत्रमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके विष्णुनामसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला मनुष्य पौण्डरीक यज्ञका फल पाता है और देवलोकमें जाता है ॥ ७ ॥

वैशाखमासे द्वादश्यां पूजयन् मधुसूदनम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ८ ॥

वैशाखमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक भगवान् मधुसूदनका पूजन करनेवाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता और सोमलोकमें जाता है ॥ ८ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां ज्येष्ठे मासि त्रिविक्रमम्।
गवां मेधमवाप्नोति अप्सरोभिश्च मोदते ॥ ९ ॥

ज्येष्ठमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके जो भगवान् त्रिविक्रमकी पूजा करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता और अप्सराओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ९ ॥

आषाढे मासि द्वादश्यां वामनेति च पूजयन्।
नरमेधमवाप्नोति पुण्यं च लभते महत् ॥ १० ॥

आषाढ़मासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक वामन नामसे भगवान्‌का पूजन करनेवाला पुरुष नरमेध यज्ञका फल पाता और महान् पुण्यका भागी होता है ॥ १० ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधरम्।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति विमानस्थश्च मोदते ॥ ११ ॥

श्रावणमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके जो भगवान् श्रीधरकी आराधना करता है, वह पञ्च महायज्ञोंका फल पाता और विमानपर बैठकर सुख भोगता है॥११॥

तथा भाद्रपदे मासि हृषीकेशेति पूजयन्।
सौत्रामणिमवाप्नोति पूतात्मा भवते च हि ॥ १२ ॥

भाद्रपदमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक हृषीकेश नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला मनुष्य सौत्रामणि यज्ञका फल पाता और पवित्रात्मा होता है ॥ १२ ॥

द्वादश्यामाश्विने मासि पद्मनाभेति चार्चयन्।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ १३ ॥

आश्विनमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके पद्मनाभ नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष सहस्र गोदानका पुण्यफल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

द्वादश्यां कार्तिके मासि पूज्य दामोदरेति च।
गवां यज्ञमवाप्नोति पुमान् स्त्री वा न संशयः ॥ १४ ॥

कार्तिकमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् दामोदरकी पूजा करनेसे स्त्री हो या पुरुष गो-यज्ञका फल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

अर्चयेत् पुण्डरीकाक्षमेवं संवत्सरं तु यः।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो एक वर्षतक कमलनयन भगवान् विष्णुका पूजन करता है, वह पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेवाला होता है और उसे बहुत-सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है।

अहन्यहनि तद्भावमुपेन्द्रं योऽधिगच्छति।
समाप्ते भोजयेद् विप्रानथवा दापयेद् घृतम् ॥ १६ ॥

जो प्रतिदिन इसी प्रकार भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह विष्णुभावको प्राप्त होता है। यह व्रत समाप्त होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन करावे अथवा उन्हें घृतदान करे ॥ १६ ॥

अतः परं नोपवासो भवतीति विनिश्चयः।
उवाच भगवान् विष्णुः स्वयमेव पुरातनम् ॥ १७ ॥

इस उपवाससे बढ़कर दूसरा कोई उपवास नहीं है, इसे निश्चय समझना चाहिये। साक्षात् भगवान् विष्णुने ही इस पुरातन व्रतके विषयमें बताया है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विष्णोर्द्वादशकं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भगवान् विष्णुका द्वादशी-व्रत नामक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

रूप-सौन्दर्य और लोकप्रियताकी प्राप्तिके लिये मार्गशीर्षमासमें चन्द्र-व्रत करनेका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

**शरतल्पगतं भीष्मं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाज्ञानी युधिष्ठिरने बाणशय्यापर सोये हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीके निकट जाकर इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

**अङ्गानां रूपसौभाग्यं प्रियं चैव कथं भवेत् ।
धर्मार्थकामसंयुक्तः सुखभागी कथं भवेत् ॥ २ ॥**

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मनुष्यके अङ्गोंको सुन्दर रूपका सौभाग्य कैसे प्राप्त होता है ? मनुष्यमें लोकप्रियता कैसे आती है ? धर्म, अर्थ और कामसे युक्त पुरुष किस प्रकार सुखका भागी हो सकता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

**मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते ।
पादौ मूलेन राजेन्द्र जङ्घायामथ रोहिणीम् ॥ ३ ॥**

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! मार्गशीर्षमासके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको मूल नक्षत्रसे चन्द्रमाका योग होनेपर चन्द्रसम्बन्धी व्रत आरम्भ करे । चन्द्रमाके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये । देवतासहित मूलनक्षत्रके द्वारा उनके दोनों चरणोंकी भावना करे और पिण्डलियोंमें रोहिणीको स्थापित करे ॥ ३ ॥

**अश्विन्यां सक्थिनी चैव ऊरू चापाढयोस्तथा ।
गुह्यं तु फाल्गुनी विद्यात् कृत्तिका कटिकास्तथा ॥ ४ ॥**

जाँघोंमें अश्विनी नक्षत्र, ऊरुओंमें पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र, गुह्य भागमें पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र तथा कटिभागमें कृत्तिकाकी स्थिति समझे ॥ ४ ॥

**नाभिं भाद्रपदे विद्याद् रेवत्यामक्षिमण्डलम् ।
पृष्ठमेव धनिष्ठासु अनुराधोत्तरास्तथा ॥ ५ ॥**

नाभिमें पूर्वाभाद्रपदा और उत्तराभाद्रपदाको जाने, नेत्रमण्डलमें रेवती, पृष्ठभागमें धनिष्ठा, अनुराधा तथा उत्तराको स्थापित समझे ॥ ५ ॥

**बाहुभ्यां तु विशाखासु हस्तौ हस्तेन निर्दिशेत् ।
पुनर्वस्वङ्गुली राजन्नाश्लेषासु नखास्तथा ॥ ६ ॥**

राजन् ! दोनों भुजाओंमें विशाखाका, हाथोंमें हस्तका, अङ्गुलियोंमें पुनर्वसुका तथा नखोंमें आश्लेषाकी स्थापना करे॥

**ग्रीवां ज्येष्ठा च राजेन्द्र श्रवणेन तु कर्णयोः ।
मुखं पुष्येण दानेन दन्तोष्ठौ स्वातिरुच्यते ॥ ७ ॥**

राजेन्द्र ! ज्येष्ठा नक्षत्रसे ग्रीवाकी, श्रवणसे दोनों कानोंकी, पुष्य नक्षत्रकी स्थापनासे मुखकी तथा स्वाती नक्षत्रसे दाँतों और ओठोंकी भावना बतायी जाती है ॥ ७ ॥

**हासं शतभिषां चैव मघां चैवाथ नासिकाम् ।
नेत्रे मृगशिरो विद्याल्ललाटे मित्रमेव तु ॥ ८ ॥**

शतभिषाको हास, मघाको नासिका, मृगशिराको नेत्र और मित्र (अनुराधा) को ललाट समझे ॥ ८ ॥

**भरण्यां तु शिरो विद्यात् केशानार्द्रा नराधिप ।
समाप्ते तु घृतं दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ ९ ॥**

नरेश्वर ! भरणीको सिर और आर्द्राको चन्द्रमाके केश समझे । (इस प्रकार विभिन्न अङ्गोंमें नक्षत्रोंकी स्थापना करके तत्सम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उन-उन अङ्गोंकी पूजा एवं जप) होम आदि प्रतिदिन करे । पौर्णमासीको व्रत समाप्त होनेपर वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको घृत दान करे ॥ ९ ॥

**सुभगो दर्शनीयश्च ज्ञानभागथ जायते ।
जायते परिपूर्णाङ्गः पौर्णमास्येव चन्द्रमाः ॥ १० ॥**

ऐसा करनेसे मनुष्य पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति परिपूर्णाङ्ग, सौभाग्यशाली, दर्शनीय तथा ज्ञानका भागी होता है॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिका युधिष्ठिरसे प्राणियोंके जन्मके प्रकारका और नानाविध पापोंके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति एवं तिर्यग्योनियोंमें जन्म लेनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

**पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥ १ ॥**

युधिष्ठिरने कहा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! अब मैं मनुष्योंकी संसारयात्राके निर्वाहकी उत्तम विधि सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा भुवि।
प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥ २ ॥

राजेन्द्र! पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्य किस बर्तावसे उत्तम स्वर्गलोक पाते हैं? और नरेश्वर! कैसा बर्ताव करनेसे वे नरकमें पड़ते हैं? ॥ २ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
प्रयान्त्यमुं लोकमितः को वै ताननुगच्छति ॥ ३ ॥

लोग अपने मृत शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान छोड़कर जब यहाँसे परलोककी राह लेते हैं, उस समय उनके पीछे कौन जाता है? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

अयमायाति भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
पृच्छैनं सुमहाभागमेतद् गुह्यं सनातनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स! ये उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पतिजी यहाँ पधार रहे हैं। इन्हीं महाभागसे इस सनातन गूढ़ विषयको पूछो ॥ ४ ॥

नैतदन्येन शक्यं हि वक्तुं केनचिदद्य वै।
वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते क्वचित् ॥ ५ ॥

आज दूसरा कोई इस विषयका प्रतिपादन नहीं कर सकता। बृहस्पतिजीके समान वक्ता दूसरा कोई कहीं भी नहीं है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तयोः संवदतोरेवं पार्थगाङ्गेययोस्तदा।
आजगाम विशुद्धात्मा नाकपृष्ठाद् बृहस्पतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर और गङ्गानन्दन भीष्म, इन दोनोंमें इस प्रकार बात हो ही रही थी कि विशुद्ध अन्तःकरणवाले बृहस्पतिजी स्वर्गलोकसे वहाँ आ पहुँचे ॥ ६ ॥

ततो राजा समुत्थाय धृतराष्ट्रपुरोगमः।
पूजामनुपमां चक्रे सर्वे ते च सभासदः ॥ ७ ॥

उन्हें देखते ही राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको आगे करके खड़े हो गये। फिर उन्होंने तथा उन सभी सभासदोंने बृहस्पतिजीकी अनुपम पूजा की ॥ ७ ॥

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम्।
उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ तत्त्वतः ॥ ८ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भगवान् बृहस्पतिजी-के समीप जाकर यथोचित रीतिसे यह तात्त्विक प्रश्न उपस्थित किया ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥ ९ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च।
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ॥ १० ॥
गच्छन्त्यमुत्र लोकं वै क एनमनुगच्छति।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सब शास्त्रोंके विद्वान् हैं; अतः बताइये, पिता, माता, पुत्र, गुरु, सजातीय सम्बन्धी और मित्र आदिमेंसे मनुष्यका सच्चा सहायक कौन है? जब सब लोग अपने मरे हुए शरीरको काठ और ढेलेके समान त्यागकर चले जाते हैं, तब इस जीवके साथ परलोकमें कौन जाता है?॥९-१०½॥

बृहस्पतिरुवाच

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति ॥ ११ ॥
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम्।

बृहस्पतिजीने कहा—राजन्! प्राणी अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही मरता, अकेला ही दुःखसे पार होता तथा अकेला ही दुर्गति भोगता है ॥ ११½ ॥

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः ॥ १२ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च।

पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, जाति, सम्बन्धी तथा मित्रवर्ग—ये कोई भी उसके सहायक नहीं होते ॥ १२½ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ॥ १३ ॥
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः।

लोग उसके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी तरह फेंककर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओरसे मुँह फेरकर चल देते हैं ॥ १३½ ॥

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ॥ १४ ॥
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः।

वे कुटुम्बीजन तो उसके शरीरका परित्याग करके चले जाते हैं, किंतु एकमात्र धर्म ही उस जीवात्माका अनुसरण करता है; इसलिये धर्म ही सच्चा सहायक है। अतः मनुष्योंको सदा धर्मका ही सेवन करना चाहिये ॥ १४½ ॥

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम् ॥ १५ ॥
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते।

धर्मयुक्त प्राणी ही उत्तम स्वर्गमें जाता है और अधर्म-परायण जीव नरकमें पड़ता है ॥ १५½ ॥

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः ॥ १६ ॥
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः।

इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि न्यायसे प्राप्त हुए धनके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करे। एकमात्र धर्म ही परलोकमें मनुष्योंका सहायक है ॥ १६½ ॥

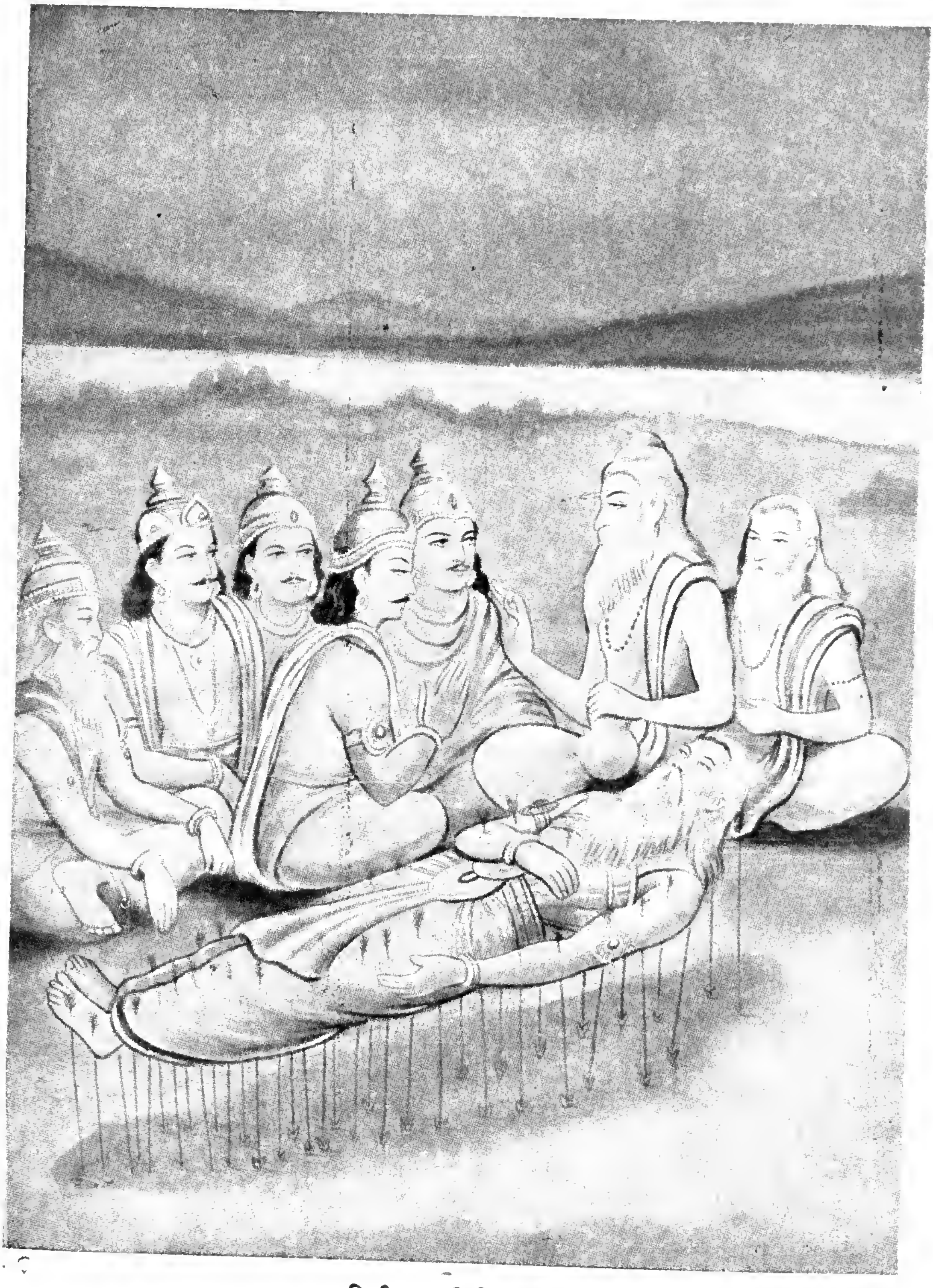

बृहस्पतिजीका युधिष्ठिरको उपदेश

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद् वाप्यबहुश्रुतः॥ १७ ॥
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः।

जो बहुश्रुत नहीं है, वही मनुष्य लोभ और मोहके वशीभूत हो दूसरेके लिये लोभ, मोह, दया अथवा भयसे न करने योग्य पापकर्म कर बैठता है ॥ १७½ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ॥ १८ ॥
एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ।

धर्म, अर्थ और काम–ये तीन जीवनके फल हैं, अतः मनुष्यको अधर्मके त्यागपूर्वक इन तीनोंको उपलब्ध करना चाहिये ॥ १८½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं भगवतो वाक्यं धर्मयुक्तं परं हितम् ॥ १९ ॥
शरीरनिचयं ज्ञातुं बुद्धिस्तु मम जायते।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! आपके मुँहसे मैंने धर्मयुक्त परम हितकर बात सुनी । अब शरीरकी स्थिति जाननेके लिये मेरा विचार हो रहा है ॥ १९½ ॥

मृतं शरीरं हि नृणां सूक्ष्ममव्यक्ततां गतम् ॥ २० ॥
अचक्षुर्विषयं प्राप्तं कथं धर्मोऽनुगच्छति।

मनुष्यका स्थूल शरीर तो मरकर यहीं पड़ा रह जाता है और उसका सूक्ष्म शरीर अव्यक्तभावको प्राप्त हो जाता है–नेत्रोंकी पहुँचसे परे है । ऐसी दशामें धर्म किस प्रकार उसका अनुसरण करता है ? ॥ २०½ ॥

बृहस्पतिरुवाच

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनोऽन्तकः ॥ २१ ॥
बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा।

बृहस्पतिजीने कहा—धर्मराज ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, यम, बुद्धि और आत्मा–ये सब सदा एक साथ मनुष्यके धर्मपर दृष्टि रखते हैं ॥ २१½ ॥

प्राणिनामिह सर्वेषां साक्षिभूता निशानिशम् ॥ २२ ॥
एतैश्च सह धर्मोऽपि तं जीवमनुगच्छति।

दिन और रात भी इस जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मोंके साक्षी हैं । इन सबके साथ धर्म भी जीवका अनुसरण करता है ॥ २२½ ॥

त्वगस्थिमांसं शुक्रं च शोणितं च महामते ॥ २३ ॥
शरीरं वर्जयन्त्येते जीवितेन विवर्जितम्।

महामते ! त्वचा, अस्थि, मांस, शुक्र और शोणित–ये सब धातु निष्प्राण शरीरका परित्याग कर देते हैं अर्थात् ये उस शरीरधारी जीवात्माका साथ छोड़ देते हैं, एक धर्म ही उसके साथ जाता है ॥ २३½ ॥

ततो धर्मसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि ॥ २४ ॥
ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम्।
देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २५ ॥

इसलिये धर्मयुक्त जीव ही परमगति प्राप्त करता है। फिर परलोकमें अपने कर्मोंका भोग समाप्त करके प्राणी जब दूसरा शरीर धारण करता है, उस समय उसके शरीरके पाँचों भूतोंमें स्थित अधिष्ठाता देवता उस जीवके शुभ और अशुभ कर्मोंको देखते हैं। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २४-२५ ॥

ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते।
इहलोके परे चैव किं भूयः कथयामि ते ॥ २६ ॥

तदनन्तर धर्मयुक्त वह जीव इहलोक और परलोकमें सुखका अनुभव करता है। अब तुम्हें और क्या बताऊँ ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

तद् दर्शितं भगवता यथा धर्मोऽनुगच्छति।
एतत् तु ज्ञातुमिच्छामि कथं रेतः प्रवर्तते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! धर्म जिस प्रकार जीवका अनुसरण करता है, वह तो आपने समझा दिया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस शरीरमें वीर्यकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ॥ २७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

अन्नमश्नन्ति यद् देवाः शरीरस्था नरेश्वर।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा ॥ २८ ॥
ततस्तृप्तेषु राजेन्द्र तेषु भूतेषु पञ्चसु।
मनःषष्ठेषु शुद्धात्मन् रेतः सम्पद्यते महत् ॥ २९ ॥

बृहस्पतिजीने कहा–शुद्धात्मन् ! नरेश्वर ! राजेन्द्र ! इस शरीरमें स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मनके अधिष्ठाता देवता जो अन्न भक्षण करते हैं और उस अन्नसे मनसहित वे पाँचों भूत जब पूर्ण तृप्त होते हैं, तब महान् रेतस् (वीर्य) की उत्पत्ति होती है ॥ २८-२९ ॥

ततो गर्भः सम्भवति श्लेषात् स्त्रीपुंसयोर्नृप।
एतत् ते सर्वमाख्यातं भूयः किं श्रोतुमिच्छसि॥ ३०॥

राजन् ! फिर स्त्री-पुरुषका संयोग होनेपर वही वीर्य गर्भका रूप धारण करता है। ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी। अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

आख्यातं मे भगवता गर्भः संजायते यथा।
यथा जातस्तु पुरुषः प्रपद्यति तदुच्यताम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! गर्भ जिस प्रकार उत्पन्न

होता है, वह आपने बताया । अब यह बताइये कि उत्पन्न हुआ पुरुष पुनः किस प्रकार बन्धनमें पड़ता है ॥ ३१ ॥

बृहस्पतिरुवाच

आसन्नमात्रः पुरुषस्तैर्भूतैरभिभूयते ।
विप्रयुक्तश्च तैर्भूतैः पुनर्यात्यपरां गतिम् ॥ ३२ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन् ! जीव उस वीर्यमें प्रविष्ट होकर जब गर्भमें संनिहित होता है, तब वे पाँचों भूत शरीररूपमें परिणत हो उसे बाँध लेते हैं, फिर उन्हीं भूतोंसे विलग होनेपर वह दूसरी गतिको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

सर्वंभूतसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि ।
ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम् ।
देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३३ ॥

शरीरमें सम्पूर्ण भूतोंसे युक्त हुआ वह जीव ही सुख या दुःख पाता है । उस समय पाँचों भूतोंमें स्थित उनके अधिष्ठाता देवता जीवके शुभ या अशुभ कर्मको देखते हैं । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वगस्थिमांसमुत्सृज्य तैश्च भूतैर्विवर्जितः ।
जीवः स भगवन् कस्थः सुखदुःखे समश्नुते ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! जीव त्वचा, अस्थि और मांसमय शरीरका त्याग करके जब पाँचों भूतोंके सम्बन्धसे पृथक् हो जाता है, तब कहाँ रहकर वह सुख-दुःखका उपभोग करता है ? ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः ।
स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत ॥ ३५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—भारत ! जीव अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर शीघ्र ही वीर्यभावको प्राप्त होता है और स्त्रीके रजमें प्रविष्ट होकर समयानुसार जन्म धारण करता है ॥ ३५ ॥

यमस्य पुरुषैः क्लेशं यमस्य पुरुषैर्वधम् ।
दुःखं संसारचक्रं च नरः क्लेशं स विन्दति ॥ ३६ ॥

(गर्भमें आनेके पहले सूक्ष्मशरीरमें स्थित होकर अपने दुष्कर्मोंके कारण) वह यमदूतोंद्वारा नाना प्रकारके क्लेश पाता, उनके प्रहार सहता और दुःखमय संसारचक्रमें भाँति-भाँतिके कष्ट भोगता है ॥ ३६ ॥

इहलोके च स प्राणी जन्मप्रभृति पार्थिव ।
सुकृतं कर्म वै भुङ्क्ते धर्मस्य फलमाश्रितः ॥ ३७ ॥
यदि धर्मं यथाशक्ति जन्मप्रभृति सेवते ।
ततः स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम् ॥ ३८ ॥

पृथ्वीनाथ ! यदि प्राणी इस लोकमें जन्मसे ही पुण्यकर्ममें लगा रहता है तो वह धर्मके फलका आश्रय लेकर उसके अनुसार सुख भोगता है । यदि अपनी शक्तिके अनुसार बाल्यकालसे ही धर्मका सेवन करता है तो वह मनुष्य होकर सदा सुखका अनुभव करता है ॥ ३७-३८ ॥

अथान्तरा तु धर्मस्याप्यधर्ममुपसेवते ।
सुखस्यानन्तरं दुःखं स जीवोऽप्यधिगच्छति ॥३९॥

किंतु धर्मके बीचमें यदि कभी-कभी वह अधर्मका भी आचरण कर बैठता है तो उसे सुखके बाद दुःख भी भोगना पड़ता है ॥ ३९ ॥

अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः ।
महद् दुःखं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥ ४० ॥

अधर्मपरायण मनुष्य यमलोकमें जाता है और वहाँ महान् दुःख भोगकर यहाँ पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है॥

कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते ।
जीवो मोहसमायुक्तस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४१ ॥

जीव मोहके वशीभूत होकर जिस-जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे जैसी-जैसी योनिमें जन्म धारण करता है, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

यदेतदुच्यते शास्त्रे सेतिहासे च च्छन्दसि ।
यमस्य विषयं घोरं मर्त्यो लोकः प्रपद्यते ॥ ४२ ॥

शास्त्र, इतिहास और वेदमें जो यह बात बतायी गयी है कि मनुष्य इस लोकमें पाप करनेपर मृत्युके पश्चात् यमराजके भयंकर लोकमें जाता है, यह सत्य ही है ॥ ४२ ॥

इह स्थानानि पुण्यानि देवतुल्यानि भूपते ।
तिर्यग्योन्यतिरिक्तानि गतिमन्ति च सर्वशः ॥ ४३ ॥

भूपाल ! इस यमलोकमें देवलोकके समान पुण्यमय स्थान भी हैं, जिनमें तिर्यक् (तथा कीट-पतंग आदि) योनिके प्राणियोंको छोड़कर समस्त पुण्यात्मा जङ्गम जीव जाते हैं ॥ ४३ ॥

यमस्य भवने दिव्ये ब्रह्मलोकसमे गुणैः ।
कर्मभिर्नियतैर्बद्धो जन्तुर्दुःखान्युपाश्नुते ॥ ४४ ॥

यमराजका भवन सौन्दर्य आदि गुणोंके कारण ब्रह्मलोकके समान दिव्य भी है । परंतु अपने नियत पापकर्मोंसे बँधा हुआ जीव वहाँ भी नरकमें पड़कर दुःख भोगता है ॥ ४४ ॥

येन येन तु भावेन कर्मणा पुरुषो गतिम् ।
प्रयाति परुषां घोरां तत्ते वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ४५ ॥

मनुष्य जिस-जिस भाव और जिस-जिस कर्मसे निष्ठुरतापूर्ण भयंकर गतिको प्राप्त होता है, अब उसीको बता रहा हूँ॥

अधीत्य चतुरो वेदान् द्विजो मोहसमन्वितः ।
पतितात् प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते ॥ ४६ ॥

जो द्विज चारों वेदोंका अध्ययन करनेके बाद भी मोहवश पतित मनुष्योंसे दान लेता है, उसका गदहेकी योनिमें जन्म होता है ॥ ४६ ॥

खरो जीवति वर्षाणि दस पञ्च च भारत ।
खरो मृतो बलीवर्दः सप्त वर्षाणि जीवति ॥ ४७ ॥

भारत ! गदहेकी योनिमें वह पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है । उसके बाद मरकर बैल होता है । उस योनिमें वह सात वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४७ ॥

बलीवर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः ।
ब्रह्मरक्षश्च मासांस्त्रींस्ततो जायति ब्राह्मणः ॥ ४८ ॥

जब बैलका शरीर छूट जाता है, तब वह ब्रह्मराक्षस होता है । तीन मासतक ब्रह्मराक्षस रहनेके बाद फिर वह ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ४८ ॥

पतितं याजयित्वा तु कृमियोनौ प्रजायते ।
तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ॥ ४९ ॥

भारत ! जो ब्राह्मण पतित पुरुषका यज्ञ कराता है, वह मरनेके बाद कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है और उस योनिमें पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४९ ॥

कृमिभावाद् विमुक्तस्तु ततो जायति गर्दभः ।
गर्दभः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि सूकरः ॥ ५० ॥
कुक्कुटः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि जम्बुकः ।
श्वा वर्षमेकं भवति ततो जायति मानवः ॥ ५१ ॥

कीड़ेकी योनिसे छूटनेपर वह गदहेका जन्म पाता है । पाँच वर्षतक गदहा रहकर पाँच वर्ष सूअर, पाँच वर्ष मुर्गा, पाँच वर्ष सियार और एक वर्ष कुत्ता होता है । उसके बाद वह मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५०-५१ ॥

उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान् ।
स जीव इह संसारांस्त्रीनाप्नोति न संशयः ॥ ५२ ॥
प्राक् श्वा भवति राजेन्द्र ततः क्रव्यात्ततः खरः ।
ततः प्रेतः परिक्लिष्टः पश्चाज्जायति ब्राह्मणः ॥ ५३ ॥

जो मूर्ख शिष्य अपने अध्यापकका अपराध करता है, वह यहाँ निम्नाङ्कित तीन योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है, इसमें संशय नहीं है । राजेन्द्र ! पहले तो वह कुत्ता होता है, फिर राक्षस और गदहा होता है । उसके बाद मरकर प्रेतावस्थामें अनेक कष्ट भोगनेके पश्चात् ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ५२-५३ ॥

मनसापि गुरोर्भार्यां यः शिष्यो याति पापकृत् ।
स उग्रान् प्रैति संसारानधर्मेणेह चेतसा ॥ ५४ ॥

जो पापाचारी शिष्य गुरुपत्नीके साथ समागमका विचार भी मनमें लाता है, वह अपने मानसिक पापके कारण भयंकर योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

श्वयोनौ तु स सम्भूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति ।
तत्रापि निधनं प्राप्तः कृमियोनौ प्रजायते ॥ ५५ ॥
कृमिभावमनुप्राप्तो वर्षमेकं तु जीवति ।
ततस्तु निधनं प्राप्तो ब्रह्मयोनौ प्रजायते ॥ ५६ ॥

पहले कुत्तेकी योनिमें जन्म लेकर वह तीन वर्षतक जीवन धारण करता है । उस योनिमें मृत्युको प्राप्त होकर वह कीड़े-की योनिमें उत्पन्न होता है । कीटयोनिमें जन्म लेकर वह एक वर्षतक जीवित रहता है । फिर मरनेके बाद उसका ब्राह्मण-योनिमें जन्म होता है ॥ ५५-५६ ॥

यदि पुत्रसमं शिष्यं गुरुर्हन्यादकारणे ।
आत्मनः कामकारेण सोऽपि हिंस्रः प्रजायते ॥ ५७ ॥

यदि गुरु अपने पुत्रके समान शिष्यको बिना कारणके ही मारता-पीटता है तो वह अपनी स्वेच्छाचारिताके कारण हिंसक पशुकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ५७ ॥

पितरं मातरं चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते ।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः पूर्वं जायेत गर्दभः ॥ ५८ ॥

राजन् ! जो पुत्र अपने माता-पिताका अनादर करता है, वह भी मरनेके बाद पहले गदहा नामक प्राणी होता है ॥

गर्दभत्वं तु सम्प्राप्य दश वर्षाणि जीवति ।
संवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो जायेत मानवः ॥ ५९ ॥

गदहेका शरीर पाकर वह दस वर्षोंतक जीवित रहता है । फिर एक सालतक घड़ियाल रहनेके बाद मानव-योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५९ ॥

पुत्रस्य मातापितरौ यस्य रुष्टावुभावपि ।
गुर्वपध्यानतः सोऽपि मृतो जायति गर्दभः ॥ ६० ॥

जिस पुत्रके ऊपर माता और पिता दोनों ही रुष्ट होते हैं, वह गुरुजनोंके अनिष्टचिन्तनके कारण मृत्युके बाद गदहा होता है ॥ ६० ॥

खरो जीवति मासांस्तु दश श्वा च चतुर्दश ।
बिडालः सप्तमासांस्तु ततो जायति मानवः ॥ ६१ ॥

गदहेकी योनिमें वह दस मासतक जीवित रहता है । उसके बाद चौदह महीनोंतक कुत्ता और सात मासतक बिलाव होकर अन्तमें वह मनुष्यकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ६१ ॥

मातापितरावाक्रुश्य सारिकः सम्प्रजायते ।
ताडयित्वा तु तावेव जायते कच्छपो नृप ॥ ६२ ॥

माता-पिताकी निन्दा करके अथवा उन्हें गाली देकर मनुष्य दूसरे जन्ममें मैना होता है । नरेश्वर ! जो माता-पिता-को मारता है, वह कछुआ होता है ॥ ६२ ॥

कच्छपो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि शल्यकः ।
व्यालो भूत्वा च षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ६३ ॥

दस वर्षतक कछुआ रहनेके पश्चात् तीन वर्ष साही और छः महीनेतक सर्प होता है। उसके अनन्तर वह मनुष्य-की योनिमें जन्म लेता है ॥ ६३ ॥

भर्तृपिण्डमुपाश्नन् यो राजद्विष्टानि सेवते।
सोऽपि मोहसमापन्नो मृतो जायति वानरः ॥ ६४ ॥

जो पुरुष राजाके टुकड़े खाकर पलता हुआ भी मोहवश उसके शत्रुओंकी सेवा करता है, वह मरनेके बाद वानर होता है ॥ ६४ ॥

वानरो दश वर्षाणि पञ्च वर्षाणि मूषिकः।
श्वाथ भूत्वा तु षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ६५ ॥

दस वर्षोंतक वानर, पाँच वर्षोंतक चूहा और छः महीनों-तक कुत्ता होकर वह मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ६५ ॥

न्यासापहर्ता तु नरो यमस्य विषयं गतः।
संसाराणां शतं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ॥ ६६ ॥

दूसरोंकी धरोहर हड़प लेनेवाला मनुष्य यमलोकमें जाता और क्रमशः सौ योनियोंमें भ्रमण करके अन्तमें कीड़ा होता है ॥ ६६ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत।
दुष्कृतस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥ ६७ ॥

भारत! कीड़ेकी योनिमें वह पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है और अपने पापोंका क्षय करके अन्तमें मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ६७ ॥

असूयको नरश्चापि मृतो जायति शार्ङ्गकः।
विश्वासहर्ता तु नरो मीनो जायति दुर्मतिः ॥ ६८ ॥

दूसरोंके दोष ढूँढ़नेवाला मनुष्य हरिणकी योनिमें जन्म लेता है तथा जो अपनी खोटी बुद्धिके कारण किसीके साथ विश्वासघात करता है, वह मनुष्य मछली होता है ॥ ६८ ॥

भूत्वा मीनोऽष्ट वर्षाणि मृतो जायति भारत।
मृगस्तु चतुरो मासांस्ततश्छागः प्रजायते ॥ ६९ ॥

भारत! आठ वर्षोंतक मछली रहकर मरनेके बाद वह चार मासतक मृग होता है। उसके बाद बकरेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ६९ ॥

छागस्तु निधनं प्राप्य पूर्णे संवत्सरे ततः।
कीटः संजायते जन्तुस्ततो जायति मानुषः ॥ ७० ॥

बकरा पूरे एक वर्षपर मृत्युको प्राप्त होनेके पश्चात् कीड़ा होता है। उसके बाद उस जीवको मनुष्यका जन्म मिलता है॥

धान्यान् यवांस्तिलान् माषान् कुलत्थान् सर्षपांश्चणान्
कलापानथ मुद्गांश्च गोधूमानतसींस्तथा ॥ ७१ ॥
सस्यस्यान्यस्य हर्ता च मोहाज्जन्तुरचेतनः।
स जायते महाराज मूषिको निरपत्रपः ॥ ७२ ॥

महाराज! जो पुरुष लज्जाका परित्याग करके अज्ञान और मोहके वशीभूत होकर धान, जौ, तिल, उड़द, कुलथी, सरसों, चना, मटर, मूँग, गेहूँ और तीसी तथा दूसरे-दूसरे अनाजोंकी चोरी करता है, वह मरनेके बाद पहले चूहा होता है ॥ ७१-७२ ॥

ततः प्रेत्य महाराज मृतो जायति सूकरः।
सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ॥ ७३ ॥

राजन्! फिर वह चूहा मृत्युके पश्चात् सूअर होता है। नरेश्वर! वह सूअर जन्म लेते ही रोगसे मर जाता है ॥७३॥

श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव।
भूत्वा श्वा पञ्च वर्षाणि ततो जायति मानवः ॥ ७४ ॥

पृथ्वीनाथ! फिर उसी कर्मसे वह मूढ़ जीव कुत्ता होता है और पाँच वर्षतक कुत्ता रहकर अन्तमें मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ७४ ॥

परदाराभिमर्शं तु कृत्वा जायति वै वृकः।
श्वा शृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कङ्को बकस्तथा ॥ ७५ ॥

परस्त्रीगमनका पाप करके मनुष्य क्रमशः भेड़िया, कुत्ता, सियार, गीध, साँप, कङ्क और बगुला होता है॥ ७५ ॥

भ्रातुर्भार्यां तु पापात्मा यो धर्षयति मोहितः।
पुंस्कोकिलत्वमाप्नोति सोऽपि संवत्सरं नृप ॥ ७६ ॥

नरेश्वर! जो पापात्मा मोहवश भाईकी स्त्रीके साथ बलात्कार करता है, वह एक वर्षतक कोयलकी योनिमें पड़ा रहता है ॥ ७६ ॥

सखिभार्यां गुरोर्भार्यां राजभार्यां तथैव च।
प्रधर्षयित्वा कामाय मृतो जायति सूकरः ॥ ७७ ॥

जो कामनाकी पूर्तिके लिये मित्र, गुरु और राजाकी स्त्रीका सतीत्व भङ्ग करता है, वह मरनेके बाद सूअर होता है॥

सूकरः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि श्वाविधः।
बिडालः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि कुक्कुटः ॥ ७८ ॥
पिपीलिकस्तु मासांस्त्रीन् कीटः स्यान्मासमेव तु।
एतानासाद्य संसारान् कृमियोनौ प्रजायते ॥ ७९ ॥

पाँच वर्षतक सूअर रहकर दस वर्ष भेड़िया, पाँच वर्ष बिलाव, दस वर्ष मुर्गा, तीन महीने चींटी और एक महीने कीड़ेकी योनिमें रहता है। इन सभी योनियोंमें चक्कर लगानेके बाद वह पुनः कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७८-७९ ॥

तत्र जीवति मासांस्तु कृमियोनौ चतुर्दश।
ततोऽधर्मक्षयं कृत्वा पुनर्जायति मानवः ॥ ८० ॥

उस कीट-योनिमें वह चौदह महीनोंतक जीवन धारण करता है। तदनन्तर पापक्षय करके वह पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ८० ॥

उपस्थिते विवाहे तु यज्ञे दानेऽपि वा विभो ।
मोहात् करोति यो विघ्नं स मृतो जायते कृमिः ॥ ८१ ॥

प्रभो ! जो विवाह, यज्ञ अथवा दानका अवसर आनेपर मोहवश उसमें विघ्न डालता है, वह भी मरनेके बाद कीड़ा ही होता है ॥ ८१ ॥

कृमिर्जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानवः ॥ ८२ ॥

भारत ! वह कीट पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है । फिर पापोंका क्षय करके वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ ८२ ॥

पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये दातुमिच्छति ।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः कृमियोनौ प्रजायते॥ ८३ ॥

राजन् ! जो पहले एक व्यक्तिको कन्यादान करके फिर दूसरेको उसी कन्याका दान करना चाहता है, वह भी मरनेके बाद कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ८३ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि त्रयोदश युधिष्ठिर ।
अधर्मसंक्षये युक्तस्ततो जायति मानवः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर ! उस योनिमें वह तेरह वर्षोंतक जीवन धारण करता है । तदनन्तर पापक्षयके पश्चात् वह पुनः मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ८४ ॥

देवकार्यमकृत्वा तु पितृकार्यमथापि वा ।
अनिर्वाप्य समश्नन् वै मृतो जायति वायसः ॥ ८५ ॥

जो देवकार्य अथवा पितृकार्य न करके बलिवैश्वदेव किये बिना ही अन्न ग्रहण करता है, वह मरनेके बाद कौएकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ८५ ॥

वायसः शतवर्षाणि ततो जायति कुक्कुटः ।
जायते व्यालकश्चापि मासं तस्मात् तु मानुषः ॥८६ ॥

सौ वर्षोंतक कौएके शरीरमें रहकर वह मुर्गा होता है । उसके बाद एक मासतक सर्प रहता है । तत्पश्चात् मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ८६ ॥

ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते ।
सोऽपि मृत्युमुपागम्य क्रौञ्चयोनौ प्रजायते ॥ ८७ ॥

बड़ा भाई पिताके समान आदरणीय है, जो उसका अपमान करता है, उसे मृत्युके बाद क्रौञ्च पक्षीकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ ८७ ॥

क्रौञ्चो जीवति वर्षं तु ततो जायति चीरकः ।
ततो निधनमापन्नो मानुषत्वमुपाश्नुते ॥ ८८ ॥

क्रौञ्च होकर वह एक वर्षतक जीवित रहता है । उसके बाद चीरक जातिका पक्षी होता है और फिर मरनेके बाद मनुष्य-योनिमें जन्म पाता है ॥ ८८ ॥

वृषलो ब्राह्मणीं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ।
ततः सम्प्राप्य निधनं जायते सूकरः पुनः ॥ ८९ ॥

शूद्र-जातिका पुरुष ब्राह्मणजातिकी स्त्रीके साथ समागम करके देहत्यागके पश्चात् पहले कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है । फिर मरनेके बाद सूअर होता है ॥ ८९ ॥

सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ।
श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव ॥ ९० ॥

नरेश्वर ! सूअरकी योनिमें जन्म लेते ही वह रोगसे मर जाता है । पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् वह मूढ़ जीव उसी पाप-कर्मके कारण कुत्ता होता है ॥ ९० ॥

श्वा भूत्वा कृतकर्मासौ जायते मानुषस्ततः ।
तत्रापत्यं समुत्पाद्य मृतो जायति मूषिकः ॥ ९१ ॥

कुत्ता होनेपर पापकर्मका भोग समाप्त करके वह मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है । मनुष्ययोनिमें भी वह एक ही संतान पैदा करके मर जाता और शेष पापका फल भोगनेके लिये चूहा होता है ॥ ९१ ॥

कृतघ्नस्तु मृतो राजन् यमस्य विषयं गतः ।
यमस्य पुरुषैः क्रुद्धैर्वधं प्राप्नोति दारुणम् ॥ ९२ ॥

राजन् ! कृतघ्न मनुष्य मरनेके बाद यमराजके लोकमें जाता है । वहाँ क्रोधमें भरे हुए यमदूत उसके ऊपर बड़ी निर्दयताके साथ प्रहार करते हैं ॥ ९२ ॥

दण्डं समुद्गरं शूलमग्निकुम्भं च दारुणम् ।
असिपत्रवनं घोरवालुकं कूटशाल्मलीम् ॥ ९३ ॥
एताश्चान्याश्च बह्वीश्च यमस्य विषयं गतः ।
यातनाः प्राप्य तत्रोग्रास्ततो वध्यति भारत ॥ ९४ ॥

भारत ! वह दण्ड, मुद्गर और शूलकी चोट खाकर दारुण अग्निकुम्भ (कुम्भीपाक), असिपत्रवन, तपी हुई भयंकर बालू, काँटोंसे भरी हुई शाल्मली आदि नरकोंमें कष्ट भोगता है । यमलोकमें पहुँचकर इन ऊपर बताये हुए तथा और भी बहुत-से नरकोंकी भयंकर यातनाएँ भोगकर वह वहाँ यमदूतोंद्वारा पीटा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

ततो हतः कृतघ्नः स तत्रोग्रैर्भरतर्षभ ।
संसारचक्रमासाद्य कृमियोनौ प्रजायते ॥ ९५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार निर्दयी यमदूतोंसे पीड़ित हुआ कृतघ्न पुरुष पुनः संसारचक्रमें आता और कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ९५ ॥

कृमिर्भवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।
ततो गर्भं समासाद्य तत्रैव म्रियते शिशुः ॥ ९६ ॥

भारत ! पंद्रह वर्षोंतक वह कीड़ेकी योनिमें रहता है । फिर गर्भमें आकर वहीं गर्भस्थ शिशुकी दशामें ही मर जाता है ॥ ९६ ॥

ततो गर्भशतैर्जन्तुर्बहुभिः सम्प्रपद्यते ।
संसारांश्च बहून् गत्वा ततस्तिर्यक्षु जायते ॥ ९७ ॥

इस तरह कई सौ बार वह जीव गर्भकी यन्त्रणा भोगता है। तदनन्तर बहुत बार जन्म लेनेके पश्चात् वह तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ९७ ॥

ततो दुःखमनुप्राप्य बहु वर्षगणानिह ।
अपुनर्भवसंयुक्तस्ततः कूर्मः प्रजायते ॥ ९८ ॥

इन योनियोंमें बहुत वर्षोंतक दुःख भोगनेके पश्चात् वह फिर मनुष्ययोनिमें न आकर दीर्घकालके लिये कछुआ हो जाता है ॥ ९८ ॥

दधि हृत्वा बकश्चापि प्लवो मत्स्यानसंस्कृतान् ।
चोरयित्वा तु दुर्बुद्धिर्मधु दंशः प्रजायते ॥ ९९ ॥

दुर्बुद्धि मनुष्य दहीकी चोरी करके बगला होता है, कच्ची मछलियोंकी चोरी करके वह कारण्डव नामक जलपक्षी होता है और मधुका अपहरण करके वह डाँस (मच्छर) की योनिमें जन्म लेता है ॥ ९९ ॥

फलं वा मूलकं हृत्वा अपूपं वा पिपीलिकाः ।
चोरयित्वा च निष्पावं जायते हलगोलकः ॥१००॥

फल, मूल अथवा पूएकी चोरी करनेपर मनुष्यको चींटीकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है । निष्पाव (मटर या उड़द) की चोरी करनेवाला हलगोलक नामवाला कीड़ा होता है ॥

पायसं चोरयित्वा तु तित्तिरित्वमवाप्नुते ।
हृत्वा पिष्टमयं पूपं कुम्भोलूकः प्रजायते ॥१०१॥

खीरकी चोरी करनेवाला तीतरकी योनिमें जन्म लेता है । आटेका पूआ चुराकर मनुष्य मरनेके बाद उल्लू होता है ॥ १०१ ॥

अयो हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्वायसो जायते नरः ।
कांस्यं हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्हारितो जायते नरः ॥१०२॥

लोहेकी चोरी करनेवाला मूर्ख मानव कौवा होता है । काँसकी चोरी करके खोटी बुद्धिवाला मनुष्य हारीत नामक पक्षी होता है ॥ १०२ ॥

राजतं भाजनं हृत्वा कपोतः सम्प्रजायते ।
हृत्वा तु काञ्चनं भाण्डं कृमियोनौ प्रजायते ॥१०३॥

चाँदीका बर्तन चुरानेवाला कबूतर होता है और सुवर्णमय भाण्डकी चोरी करके मनुष्यको कीड़ेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १०३ ॥

पत्रोर्णं चोरयित्वा तु कृकलत्वं निगच्छति ।
कौशिकं तु ततो हृत्वा नरो जायति वर्तकः ॥१०४॥

ऊनी वस्त्र चुरानेवाला कृकल (गिरगिट) की योनिमें जन्म लेता है । कौशेय (रेशमी) वस्त्रकी चोरी करनेपर मनुष्य बत्तक होता है ॥ १०४ ॥

अंशुकं चोरयित्वा तु शुको जायति मानवः ।
चोरयित्वा दुकूलं तु मृतो हंसः प्रजायते ॥१०५॥

अंशुक (महीन कपड़े) की चोरी करके मनुष्य तोतेका जन्म पाता है तथा दुकूल (उत्तरीय वस्त्र) की चोरी करके मृत्युको प्राप्त हुआ मानव हंसकी योनिमें जन्म लेता है ॥

क्रौञ्चः कार्पासिकं हृत्वा मृतो जायति मानवः ।
चोरयित्वा नरः पट्टं त्वाविकं चैव भारत ॥१०६॥
क्षौमं च वस्त्रमादाय शशो जन्तुः प्रजायते ।

सूती वस्त्रकी चोरी करके मरा हुआ मनुष्य क्रौञ्च पक्षीकी योनिमें जन्म लेता है । भारत ! पाटम्बर, भेड़के ऊनका बना हुआ तथा क्षौम (रेशमी) वस्त्र चुरानेवाला मनुष्य खरगोश नामक जन्तु होता है ॥ १०६½ ॥

वर्णान् हृत्वा तु पुरुषो मृतो जायति बर्हिणः ॥१०७॥
हृत्वा रक्तानि वस्त्राणि जायते जीवजीवकः ।

अनेक प्रकारके रंगोंकी चोरी करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष मोर होता है । लाल कपड़े चुरानेवाला मनुष्य चकोरकी योनिमें जन्म लेता है ॥ १०७½ ॥

वर्णकादींस्तथा गन्धांश्चोरयित्वेह मानवः ॥१०८॥
छुच्छुन्दरित्वमाप्नोति राजँल्लोभपरायणः ।
तत्र जीवति वर्षाणि ततो दश च पञ्च च ॥१०९॥

राजन् ! जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर वर्णक (अनुलेपन) आदि तथा चन्दनकी चोरी करता है, वह छछूँदर होता है । उस योनिमें वह पंद्रह वर्षतक जीवित रहता है ॥ १०८-१०९ ॥

अधर्मस्य क्षयं गत्वा ततो जायति मानुषः ।
चोरयित्वा पयश्चापि बलाका सम्प्रजायते ॥११०॥

फिर अधर्मका क्षय हो जानेपर वह मनुष्यका जन्म पाता है । दूध चुरानेवाली स्त्री बगुली होती है ॥ ११० ॥

यस्तु चोरयते तैलं नरो मोहसमन्वितः ।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुस्तैलपायी प्रजायते ॥१११॥

राजन् ! जो मनुष्य मोहयुक्त होकर तेल चुराता है, वह मरनेपर तेलपायी नामक कीड़ा होता है ॥ १११ ॥

अशस्त्रं पुरुषं हत्वा सशस्त्रः पुरुषाधमः ।
अर्थार्थी यदि वा वैरी स मृतो जायते खरः ॥११२॥

जो नीच मनुष्य धनके लोभसे अथवा शत्रुताके कारण हथियार लेकर निहत्थे पुरुषको मार डालता है, वह अपनी मृत्युके बाद गदहेकी योनिमें जन्म पाता है ॥ ११२ ॥

खरो जीवति वर्षे द्वे ततः शस्त्रेण वध्यते ।
स मृतो मृगयोनौ तु नित्योद्विग्नोऽभिजायते ॥११३॥

गदहा होकर वह दो वर्षोंतक जीवित रहता है। फिर शस्त्रसे उसका वध होता है। इस प्रकार मरकर वह मृगकी योनिमें जन्म लेता और हिंसकोंके भयसे सदा उद्विग्न रहता है ॥ ११३ ॥

मृगो वध्यति शस्त्रेण गते संवत्सरे तु सः ।
हतो मृगस्ततो मीनः सोऽपि जालेन बध्यते ॥११४॥

मृग होकर वह सालभरमें ही शस्त्रद्वारा मारा जाता है। मरनेपर मत्स्य होता है, फिर वह भी जालसे बँधता है॥११४॥

मासे चतुर्थे सम्प्राप्ते श्वापदः सम्प्रजायते ।
श्वापदो दश वर्षाणि द्वीपी वर्षाणि पञ्च च ॥११५॥

वह किसी प्रकार जालसे छूटा हुआ भी चौथे महीनेमें मृत्युको प्राप्त हो हिंसक जन्तु भेड़िया आदि होता है। उस योनिमें दस वर्षोंतक रहकर वह पाँच वर्षोंतक व्याघ्र या चीतेकी योनिमें पड़ा रहता है॥ ११५ ॥

ततस्तु निधनं प्राप्तः कालपर्यायचोदितः ।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥११६॥

तदनन्तर पापका क्षय होनेपर कालकी प्रेरणासे मृत्युको प्राप्त हो वह पुनः मनुष्य होता है ॥ ११६ ॥

स्त्रियं हत्वा तु दुर्बुद्धिर्यमस्य विषयं गतः ।
बहून् क्लेशान् समासाद्य संसारांश्चैव विंशतिम् ११७

जो खोटी बुद्धिवाला पुरुष स्त्रीकी हत्या कर डालता है, वह यमराजके लोकमें जाकर नाना प्रकारके क्लेश भोगनेके पश्चात् बीस बार दुःखद योनियोंमें जन्म लेता है ॥११७॥

ततः पश्चान्महाराज कृमियोनौ प्रजायते ।
कृमिर्विंशतिवर्षाणि भूत्वा जायति मानुषः ॥११८॥

महाराज ! तदनन्तर वह कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है और बीस वर्षोंतक कीट-योनिमें रहकर अन्तमें मनुष्य होता है॥

भोजनं चोरयित्वा तु मक्षिका जायते नरः ।
मक्षिकासंघवशगो बहून् मासान् भवत्युत ॥११९॥
ततः पापक्षयं कृत्वा मानुषत्वमवाप्नुते ।

भोजनकी चोरी करके मनुष्य मक्खी होता है और कई महीनोंतक मक्खियोंके समुदायके अधीन रहता है। तत्पश्चात् पापोंका भोग समाप्त करके वह पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ११९½ ॥

धान्यं हत्वा तु पुरुषो लोमशः सम्प्रजायते ॥१२०॥
तथा पिण्याकसम्मिश्रमशनं चोरयेन्नरः ।
स जायते बभ्रुसमो दारुणो मूषिको नरः ॥१२१॥
दशन् वै मानुषान्नित्यं पापात्मा स विशाम्पते ।

धान्यकी चोरी करनेवाले मनुष्यके शरीरमें दूसरे जन्ममें बहुत-से रोएँ पैदा होते हैं। प्रजानाथ ! जो मानव तिलके चूर्णसे मिश्रित भोजनकी चोरी करता है, वह नेवलेके समान आकारवाला भयानक चूहा होता है तथा वह पापी सदा मनुष्योंको काटा करता है ॥ १२०-१२१½ ॥

घृतं हत्वा तु दुर्बुद्धिः काकमद्गुः प्रजायते ॥१२२॥
मत्स्यमांसमथो हत्वा काको जायति दुर्मतिः ।
लवणं चोरयित्वा तु चिरिकाकः प्रजायते ॥१२३॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य घी चुराता है, वह काकमद्गु (सींगवाला जल-पक्षी) होता है। जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य मत्स्य और मांसकी चोरी करता है, वह कौवा होता है। नमककी चोरी करनेसे मनुष्यको चिरिकाक-योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १२२-१२३ ॥

विश्वासेन तु निक्षिप्तं यो विनिह्नोति मानवः ।
स गतायुर्नरस्तात मत्स्ययोनौ प्रजायते ॥१२४॥

तात ! जो मानव विश्वासपूर्वक रक्खी हुई दूसरेकी धरोहरको हड़प लेता है, वह गतायु होनेपर मत्स्यकी योनिमें जन्म लेता है ॥ १२४ ॥

मत्स्ययोनिमनुप्राप्य मृतो जायति मानुषः ।
मानुषत्वमनुप्राप्य क्षीणायुरुपपद्यते ॥१२५॥

मत्स्ययोनिमें जन्म लेनेके बाद जब मरता है, तब पुनः मनुष्यका जन्म पाता है। मानव-योनिमें आकर उसकी आयु बहुत कम होती है ॥ १२५ ॥

पापानि तु नराः कृत्वा तिर्यग् जायन्ति भारत ।
न चात्मनः प्रमाणं ते धर्मं जानन्ति किंचन ॥१२६॥

भारत ! पाप करके मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। वहाँ उन्हें अपने उद्धार करनेवाले धर्मका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ॥ १२६ ॥

ये पापानि नराः कृत्वा निरस्यन्ति व्रतैः सदा ।
सुखदुःखसमायुक्ता व्यथितास्ते भवन्त्युत ॥१२७॥
असंवासाः प्रजायन्ते म्लेच्छाश्चापि न संशयः ।
नराः पापसमाचारा लोभमोहसमन्विताः ॥१२८॥

जो पापाचारी पुरुष लोभ और मोहके वशीभूत हो पाप करके उसे व्रत आदिके द्वारा दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, वे सदा सुख-दुःख भोगते हुए व्यथित रहते हैं। उन्हें कहीं रहनेको ठौर नहीं मिलता तथा वे म्लेच्छ होकर सदा मारे-मारे फिरते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ १२७-१२८ ॥

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ।
अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ॥१२९॥

जो मनुष्य जन्मसे ही पापका परित्याग कर देते हैं, वे नीरोग, रूपवान् और धनी होते हैं ॥ १२९ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा पापमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥१३०॥

स्त्रियाँ भी यदि पूर्वोक्त पापकर्म करती हैं तो पापकी भागिनी होती हैं और वे उन पापभोगी प्राणियोंकी ही पत्नी होती हैं ॥ १३० ॥

परस्वहरणे दोषाः सर्व एव प्रकीर्तिताः ।
एतद्धि लेशमात्रेण कथितं ते मयानघ ॥१३१॥

निष्पाप नरेश ! पराये धनका अपहरण करनेसे जो दोष होते हैं, वे सब बताये गये । यहाँ मेरे द्वारा संक्षेपसे ही इस विषयका दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १३१ ॥

अपरस्मिन् कथायोगे भूयः श्रोष्यसि भारत ।
एतन्मया महाराज ब्रह्मणो वदतः पुरा ॥१३२॥
सुरर्षीणां श्रुतं मध्ये पृष्टश्चापि यथातथम् ।
मयापि तच्च कार्त्स्न्येन यथावदनुवर्णितम् ।
एतच्छ्रुत्वा महाराज धर्मे कुरु मनः सदा ॥१३३॥

भरतनन्दन ! अब दूसरी बार बातचीतके प्रसङ्गमें फिर कभी इस विषयको सुनना । महाराज ! पूर्वकालमें ब्रह्माजी देवर्षियोंके बीच यह प्रसङ्ग सुना रहे थे । वहाँ उन्हींके मुँहसे मैंने ये सारी बातें सुनी थीं और तुम्हारे पूछनेपर उन्हीं सब बातोंका मैंने भी यथार्थरूपसे वर्णन किया है । राजन् ! यह सुनकर तुम सदा धर्ममें मन लगाओ ॥ १३२-१३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रं नाम एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्र नामक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

पापसे छूटनेके उपाय तथा अन्नदानकी विशेष महिमा

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मस्य गतिर्ब्रह्मन् कथिता मे त्वयानघ ।
धर्मस्य तु गतिं श्रोतुमिच्छामि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन् ! आपने अधर्मकी गति बतायी । पापरहित वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! अब मैं धर्मकी गति सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कृत्वा कर्माणि पापानि कथं यान्ति शुभां गतिम् ।
कर्मणा च कृतेनेह केन यान्ति शुभां गतिम् ॥ २ ॥

मनुष्य पाप कर्म करके कैसे शुभगतिको प्राप्त होते हैं तथा किस कर्मके अनुष्ठानसे उन्हें उत्तम गति प्राप्त होती है ? ॥

बृहस्पतिरुवाच

कृत्वा पापानि कर्माणि अधर्मवशमागतः ।
मनसा विपरीतेन निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन् ! जो मनुष्य पापकर्म करके अधर्मके वशीभूत हो जाता है, उसका मन धर्मके विपरीत मार्गमें जाने लगता है; इसलिये वह नरकमें गिरता है ॥ ३ ॥

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते ।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥ ४ ॥

परंतु जो अज्ञानवश अधर्म बन जानेपर पुनः उसके लिये पश्चात्ताप करता है, उसे चाहिये कि मनको वशमें रखकर वह फिर कभी पापका सेवन न करे ॥ ४ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते ।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ ५ ॥

मनुष्यका मन ज्यों-ज्यों पापकर्मकी निन्दा करता है, त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्मके बन्धनसे मुक्त होता जाता है ॥ ५ ॥

यदि व्याहरते राजन् विप्राणां धर्मवादिनाम् ।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपवादात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

राजन् ! यदि पापी पुरुष धर्मज्ञ ब्राह्मणोंसे अपना पाप बता दे तो वह उस पापके कारण होनेवाली निन्दासे शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है ॥ ६ ॥

यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते ।
समाहितेन मनसा विमुच्येत तथा तथा ।
भुजङ्ग इव निर्मोकात् पूर्वमुक्ताज्जरान्वितात् ॥ ७ ॥

मनुष्य अपने मनको स्थिर करके जैसे-जैसे अपना पाप प्रकट करता है, वैसे-ही-वैसे वह मुक्त होता जाता है । ठीक उसी तरह जैसे सर्प पूर्वमुक्त, जराजीर्ण केचुलसे छूट जाता है ॥

दत्त्वा विप्रस्य दानानि विविधानि समाहितः ।
मनःसमाधिसंयुक्तः सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

मनुष्य एकाग्रचित्त होकर सावधान हो ब्राह्मणको यदि नाना प्रकारके दान करे तो वह उत्तम गतिको पाता है ॥ ८ ॥

प्रदानानि तु वक्ष्यामि यानि दत्त्वा युधिष्ठिर ।
नरः कृत्वाप्यकार्याणि ततो धर्मेण युज्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं उन उत्कृष्ट दानोंका वर्णन करूँगा, जिन्हें देकर मनुष्य यदि उससे न करने योग्य कर्म बन जायँ तो भी धर्मके फलसे संयुक्त होता है ॥ ९ ॥

सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम् ।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥ १० ॥

सब प्रकारके दानोंमें अन्नका दान श्रेष्ठ बताया गया है। अतः धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको सरलभावसे पहले अन्नका ही दान करना चाहिये ॥ १० ॥

प्राणा ह्यन्नं मनुष्याणां तस्माज्जन्तुश्च जायते।
अन्ने प्रतिष्ठितो लोकस्तस्मादन्नं प्रशस्यते ॥ ११ ॥

अन्न मनुष्योंका प्राण है, अन्नसे ही प्राणीका जन्म होता है, अन्नके ही आधारपर सारा-संसार टिका हुआ है। इसलिये अन्न सबसे उत्तम माना गया है ॥ ११ ॥

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवर्षिपितृमानवाः ।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः ॥ १२ ॥

देवता, ऋषि, पितर और मनुष्य अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं। अन्नके ही दानसे राजा रन्तिदेव स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजातिभ्योऽन्नमुत्तमम् ।
स्वाध्यायं समुपेतेभ्यः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १३ ॥

अतः स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणोंके लिये प्रसन्न चित्तसे न्यायोपार्जित उत्तम अन्नका दान करना चाहिये॥१३॥

यस्य ह्यन्नमुपाश्नन्ति ब्राह्मणानां शतं दश ।
हृष्टेन मनसा दत्तं न स तिर्यग्गतिर्भवेत् ॥ १४ ॥

जिस पुरुषके प्रसन्न चित्तसे दिये हुए अन्नको एक हजार ब्राह्मण खा लेते हैं, वह पशु-पक्षीकी योनिमें नहीं जन्म लेता ॥ १४ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि दश भोज्य नरर्षभ ।
नरोऽधर्मात् प्रमुच्येत योगेष्वभिरतः सदा ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो मनुष्य सदा योग-साधनमें संलग्न रहकर दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन करा देता है, वह पापके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

भैक्ष्येणान्नं समाहृत्य विप्रो वेदपुरस्कृतः ।
स्वाध्यायनिरते विप्रे दत्त्वेह सुखमेधते ॥ १६ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण भिक्षासे अन्न लाकर यदि स्वाध्याय-परायण विप्रको दान देता है तो इस लोकमें सुखी होता है ॥

(भैक्ष्येणापि समाहृत्य दद्यादन्नं द्विजेषु वै ।
सुवर्णदानात् पापानि नश्यन्ति सुबहून्यपि ॥

जो भिक्षासे भी अन्न लाकर ब्राह्मणोंको देता है और सुवर्णका दान करता है, उसके बहुत-से पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥

दत्त्वा वृत्तिकरीं भूमिं पातकेनापि मुच्यते ।
पारायणैः पुराणानां मुच्यते पातकैर्द्विजः ॥

जीविका चलानेवाली भूमिका दान करके भी मनुष्य पातकसे मुक्त हो जाता है। पुराणोंके पाठसे भी ब्राह्मण पातकोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

गायत्र्याश्चैव लक्षेण गोसहस्रस्य तर्पणात् ।
वेदार्थं ज्ञापयित्वा तु शुद्धान् विप्रान् यथार्थतः ॥
सर्वत्यागादिभिश्चापि मुच्यते पातकैर्द्विजः ।
सर्वातिथ्यं परं ह्येषां तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥)

एक लाख गायत्री जपनेसे, एक हजार गौओंको तृप्त करनेसे, विशुद्ध ब्राह्मणोंको यथार्थरूपसे वेदार्थका ज्ञान करानेसे तथा सर्वस्वके त्याग आदिसे भी द्विज पापमुक्त हो जाता है। इन सबमें सबका अन्नके द्वारा आतिथ्य-सत्कार करना ही सबसे श्रेष्ठ कर्म है। इसलिये अन्नको सबसे उत्तम माना गया है ॥

अहिंसन् ब्राह्मणस्वानि न्यायेन परिपाल्य च ।
क्षत्रियस्तरसा प्राप्तमन्नं यो वै प्रयच्छति ॥ १७ ॥
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यः प्रयतः सुसमाहितः ।
तेनापोहति धर्मात्मन् दुष्कृतं कर्म पाण्डव ॥ १८ ॥

धर्मात्मा पाण्डुनन्दन ! जो क्षत्रिय ब्राह्मणके धनका अपहरण न करके न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने बाहुबलसे प्राप्त किया हुआ अन्न वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको भलीभाँति शुद्ध एवं समाहित चित्तसे दान करता है, वह उस अन्न-दानके प्रभावसे अपने पूर्वकृत पापोंका नाश कर डालता है ॥ १७-१८ ॥

षड्भागपरिशुद्धं च कृषेर्भागमुपार्जितम् ।
वैश्यो ददद् द्विजातिभ्यः पापेभ्यः परिमुच्यते ॥ १९ ॥

जो वैश्य खेतीसे अन्न पैदा करके उसका छठा भाग राजाको देकर बचे हुएमेंसे शुद्ध अन्नका ब्राह्मणको दान करता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अवाप्य प्राणसंदेहं कार्कश्येन समार्जितम् ।
अन्नं दत्त्वा द्विजातिभ्यः शूद्रः पापात् प्रमुच्यते ॥ २० ॥

शूद्र भी यदि प्राणोंकी परवा न करके कठोर परिश्रमसे कमाया हुआ अन्न ब्राह्मणोंको दान करता है तो पापसे छुटकारा पा जाता है ॥ २० ॥

औरसेन बलेनान्नमर्जयित्वाविहिंसकः ।
यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि पश्यति ॥ २१ ॥

जो किसी प्राणीकी हिंसा न करके अपनी छातीके बलसे पैदा किया हुआ अन्न विप्रोंको दान करता है, वह कभी संकटका अनुभव नहीं करता ॥ २१ ॥

न्यायेनैवाप्तमन्नं तु नरो हर्षसमन्वितः ।
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यो दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते ॥ २२ ॥

न्यायके अनुसार अन्न प्राप्त करके उसे वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको

हर्षपूर्वक दान देनेवाला मनुष्य अपने पापोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः ।
सतां पन्थानमावृत्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

संसारमें अन्न ही बलकी वृद्धि करनेवाला है, अतः अन्नका दान करके मनुष्य बलवान् होता है और सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय लेकर समस्त पापोंसे छूट जाता है ॥ २३ ॥

दानवद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥

दाता पुरुषोंने जिस मार्गको चालू किया है, उसीसे मनीषी पुरुष चलते हैं । अन्नदान करनेवाले मनुष्य वास्तवमें प्राणदान करनेवाले हैं । उन्हीं लोगोंसे सनातन धर्मकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

सर्वावस्थं मनुष्येण न्यायेनान्नमुपार्जितम् ।
कार्यं पात्रागतं नित्यमन्नं हि परमा गतिः ॥ २५ ॥

मनुष्यको प्रत्येक अवस्थामें न्यायतः उपार्जित किया हुआ अन्न सत्पात्रके लिये अर्पित करना चाहिये; क्योंकि अन्न ही सब प्राणियोंका परम आधार है ॥ २५ ॥

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो रौद्रं न सेवते ।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्यायपरिवर्जितम् ॥ २६ ॥

अन्न-दान करनेसे मनुष्यको कभी नरककी भयंकर यातना नहीं भोगनी पड़ती; अतः न्यायोपार्जित अन्नका ही सदा दान करना चाहिये ॥ २६ ॥

यतेद् ब्राह्मणपूर्वं हि भोक्तुमन्नं गृही सदा ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यादन्नदानेन मानवः ॥ २७ ॥

प्रत्येक गृहस्थको उचित है कि वह पहले ब्राह्मणको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करनेका प्रयत्न करे तथा अन्न-दानके द्वारा प्रत्येक दिनको सफल बनावे ॥ २७ ॥

भोजयित्वा दशशतं नरो वेदविदां नृप ।
न्यायविद्धर्मविदुषामितिहासविदां तथा ॥ २८ ॥
न याति नरकं घोरं संसारांश्च न सेवते ।
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम् ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! जो मनुष्य वेद, न्याय, धर्म और इतिहासके जाननेवाले एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह घोर नरक और संसारचक्रमें नहीं पड़ता । इहलोकमें उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और मरनेके बाद वह परलोकमें सुख भोगता है ॥ २८-२९ ॥

एवं खलु समायुक्तो रमते विगतज्वरः ।
रूपवान् कीर्तिमांश्चैव धनवांश्चोपपद्यते ॥ ३० ॥

इस प्रकार अन्न-दानमें संलग्न हुआ पुरुष निश्चिन्त हो सुखका अनुभव करता है और रूपवान्, कीर्तिमान् तथा धनवान् होता है ॥ ३० ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमन्नदानफलं महत् ।
मूलमेतत् तु धर्माणां प्रदानानां च भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! अन्न-दान सब प्रकारके धर्मों और दानोंका मूल है । इस प्रकार मैंने तुम्हें यह अन्नदानका सारा महान् फल बताया है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिजीका युधिष्ठिरको अहिंसा एवं धर्मकी महिमा बताकर स्वर्गलोकको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अहिंसा वैदिकं कर्म ध्यानमिन्द्रियसंयमः ।
तपोऽथ गुरुशुश्रूषा किं श्रेयः पुरुषं प्रति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! अहिंसा, वेदोक्त कर्म, ध्यान, इन्द्रिय-संयम, तपस्या और गुरु-शुश्रूषा—इनमेंसे कौन-सा कर्म मनुष्यका (विशेष) कल्याण कर सकता है ॥

बृहस्पतिरुवाच

सर्वाण्येतानि धर्म्याणि पृथग्द्वाराणि सर्वशः ।
शृणु संकीर्त्यमानानि षडेव भरतर्षभ ॥ २ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! ये छः प्रकारके कर्म ही धर्मजनक हैं तथा सब-के-सब भिन्न-भिन्न कारणोंसे प्रकट हुए हैं । मैं इन छहोंका वर्णन करता हूँ; तुम सुनो ॥

हन्त निःश्रेयसं जन्तोरहं वक्ष्याम्यनुत्तमम् ।
अहिंसापाश्रयं धर्मं यः साधयति वै नरः ॥ ३ ॥
त्रीन् दोषान् सर्वभूतेषु निधाय पुरुषः सदा ।
कामक्रोधौ च संयम्य ततः सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥

अब मैं मनुष्यके लिये कल्याणके सर्वश्रेष्ठ उपायका वर्णन करता हूँ । जो मनुष्य अहिंसायुक्त धर्मका पालन करता

है, वह मोह, मद और मत्सरतारूप तीनों दोषोंको अन्य समस्त प्राणियोंमें स्थापित करके एवं सदा काम-क्रोधका संयम करके सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।
आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अपने सुखकी इच्छा रखकर अहिंसक प्राणियोंको डंडेसे मारता है, वह परलोकमें सुखी नहीं होता है ॥ ५ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सब भूतोंको अपने समान समझता, किसीपर प्रहार नहीं करता (दण्डको हमेशाके लिये त्याग देता है) और क्रोधको अपने काबूमें रखता है, वह मृत्युके पश्चात् सुख भोगता है ॥ ६ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ७ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, अर्थात् सबकी आत्माको अपनी ही आत्मा समझता है तथा जो सब भूतोंको समान भावसे देखता है, उस गमनागमनसे रहित ज्ञानीकी गतिका पता लगाते समय देवता भी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो बात अपनेको अच्छी न लगे, वह दूसरोंके प्रति भी नहीं करनी चाहिये । यही धर्मका संक्षिप्त लक्षण है । इससे भिन्न जो बर्ताव होता है, वह कामनामूलक है ॥ ८ ॥

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ ९ ॥

माँगनेपर देने और इनकार करनेसे, सुख और दुःख पहुँचानेसे तथा प्रिय और अप्रिय करनेसे पुरुषको स्वयं जैसे हर्ष-शोकका अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरोंके लिये भी समझे ॥ ९ ॥

यथा परः प्रक्रमते परेषु
तथापरे प्रक्रमन्ते परस्मिन् ।
तथैव तेऽस्तूपमा जीवलोके
यथा धर्मो नैपुणेनोपदिष्टः ॥ १० ॥

जैसे एक मनुष्य दूसरोंपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार अवसर आनेपर दूसरे भी उसके ऊपर आक्रमण करते हैं । इसीको तुम जगत्‌में अपने लिये भी दृष्टान्त समझो । अतः किसीपर आक्रमण नहीं करना चाहिये । इस प्रकार यहाँ कौशलपूर्वक धर्मका उपदेश किया है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं सुरगुरुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
दिवमाचक्रमे धीमान् पश्यतामेव नस्तदा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहकर परम बुद्धिमान् देवगुरु बृहस्पतिजी उस समय हमलोगोंके देखते-देखते स्वर्गलोकको चले गये ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रसमाप्तौ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्रकी समाप्तिविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

हिंसा और मांसभक्षणकी घोर निन्दा

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शरतल्पे पितामहम् ।
पुनरेव महातेजाः पप्रच्छ वदतां वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महातेजस्वी और वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने बाणशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मसे पुनः प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते ।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ २ ॥
कर्मणा मनुजः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम ।
वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामते ! देवता, ऋषि और ब्राह्मण वैदिक प्रमाणके अनुसार सदा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं । अतः नृपश्रेष्ठ ! मैं पूछता हूँ कि मन, वाणी और क्रियासे भी हिंसाका ही आचरण करनेवाला मनुष्य किस प्रकार उसके दुःखसे छुटकारा पा सकता है ? ॥ २-३ ॥

भीष्म उवाच

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः ।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुसूदन ! ब्रह्मवादी पुरुषोंने (मनसे, वाणीसे तथा कर्मसे हिंसा न करना एवं मांस न खाना—इन) चार उपायोंसे अहिंसाधर्मका पालन बतलाया

है। इनमेंसे किसी एक अंशकी भी कमी रह गयी तो अहिंसा-धर्मका पूर्णतः पालन नहीं होता ॥ ४ ॥

यथा सर्वश्चतुष्पाद् वै त्रिभिः पादैर्न तिष्ठति ।
तथैवेयं महीपाल कारणैः प्रोच्यते त्रिभिः ॥ ५ ॥

महीपाल ! जैसे चार पैरोंवाला पशु तीन पैरोंसे नहीं खड़ा रह सकता, उसी प्रकार केवल तीन ही कारणोंसे पालित हुई अहिंसा पूर्णतः अहिंसा नहीं कही जा सकती ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ ६ ॥
एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः पुरा ।

जैसे हाथीके पैरके चिह्नमें सभी पदगामी प्राणियोंके पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें इस जगत्‌के भीतर धर्मतः अहिंसाका निर्देश किया गया है अर्थात् अहिंसा धर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है । ऐसा माना गया है ॥ ६½ ॥

कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसापि च ॥ ७ ॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाथ कर्मणा ।
न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ॥ ८ ॥

जीव मन, वाणी और क्रियाके द्वारा हिंसाके दोषसे लिप्त होता है, किंतु जो क्रमशः पहले मनसे, फिर वाणीसे और फिर क्रियाद्वारा हिंसाका त्याग करके कभी मांस नहीं खाता, वह पूर्वोक्त तीनों प्रकारकी हिंसाके दोषसे भी मुक्त हो जाता है ॥ ७-८ ॥

त्रिकारणं तु निर्दिष्टं श्रूयते ब्रह्मवादिभिः ।
मनो वाचि तथाऽऽस्वादे दोषा ह्येषु प्रतिष्ठिताः ॥ ९ ॥

ब्रह्मवादी महात्माओंने हिंसादोषके प्रधान तीन कारण बतलाये हैं—मन (मांस खानेकी इच्छा), वाणी (मांस खानेका उपदेश) और आस्वाद (प्रत्यक्षरूपमें मांसका स्वाद लेना)। ये तीनों ही हिंसा-दोषके आधार हैं ॥ ९ ॥

न भक्षयन्त्यतो मांसं तपोयुक्ता मनीषिणः ।
दोषांस्तु भक्षणे राजन् मांसस्येह निबोध मे ॥ १० ॥

इसलिये तपस्यामें लगे हुए मनीषी पुरुष कभी मांस नहीं खाते हैं । राजन् ! अब मैं मांसभक्षणमें जो दोष है, उनको यहाँ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १० ॥

पुत्रमांसोपमं जानन् खादते योऽविचक्षणः ।
मांसं मोहसमायुक्तः पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ ११ ॥

जो मूर्ख यह जानते हुए भी कि पुत्रके मांसमें और दूसरे साधारण मांसोंमें कोई अन्तर नहीं है, मोहवश मांस खाता है, वह नराधम है ॥ ११ ॥

पितृमातृसमायोगे पुत्रत्वं जायते यथा ।
हिंसां कृत्वावशः पापो भूयिष्ठं जायते तथा ॥ १२ ॥

जैसे पिता और माताके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार हिंसा करनेसे पापी पुरुषको विवश होकर बारंबार पापयोनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १२ ॥

रसं च प्रतिजिह्वाया ज्ञानं प्रज्ञायते यथा ।
तथा शास्त्रेषु नियतं रागो ह्यास्वादिताद् भवेत् ॥ १३ ॥

जैसे जीभसे जब रसका ज्ञान होता है, तब उसके प्रति वह आकृष्ट होने लगती है, उसी प्रकार मांसका आस्वादन करनेपर उसके प्रति आसक्ति बढ़ती है । शास्त्रोंमें भी कहा है कि विषयोंके आस्वादनसे उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है ॥ १३ ॥

संस्कृतासंस्कृताः पक्वा लवणालवणास्तथा ।
प्रजायन्ते यथा भावास्तथा चित्तं निरुध्यते ॥ १४ ॥

संस्कृत (मसाले आदि डालकर संस्कृत किया हुआ) असंस्कृत (मसाला आदिके संस्कारसे रहित), पक्व, केवल नमक मिला हुआ और अलोना—ये मांसकी जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं-उन्हींमें रुचिभेदसे मांसाहारी मनुष्यका चित्त आसक्त होता है ॥ १४ ॥

भेरीमृदङ्गशब्दांश्च तन्त्रीशब्दांश्च पुष्कलान् ।
निषेविष्यन्ति वै मन्दा मांसभक्षाः कथं नराः ॥ १५ ॥

मांसभक्षी मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें पूर्णतः सुलभ होनेवाले भेरी, मृदङ्ग और वीणाके दिव्य मधुर शब्दोंका सेवन कैसे कर सकेंगे; क्योंकि वे स्वर्गमें नहीं जा सकते ॥ १५ ॥

(परेषां धनधान्यानां हिंसकास्तावकास्तथा ।
प्रशंसकाश्च मांसस्य नित्यं स्वर्गे बहिष्कृताः ॥)

दूसरोंके धन-धान्यको नष्ट करनेवाले तथा मांसभक्षणकी स्तुति-प्रशंसा करनेवाले मनुष्य सदा ही स्वर्गसे बहिष्कृत होते हैं।

अचिन्तितमनिर्दिष्टमसंकल्पितमेव च ।
रसगृद्ध्याभिभूता ये प्रशंसन्ति फलार्थिनः ॥ १६ ॥

जो मांसके रसमें होनेवाली आसक्तिसे अभिभूत होकर उसी अभीष्ट फल मांसकी अभिलाषा रखते हैं तथा उसके बारंबार गुण गाते हैं, उन्हें ऐसी दुर्गति प्राप्त होती है, जो कभी चिन्तनमें नहीं आयी है । जिसका वाणीद्वारा कहीं निर्देश नहीं किया गया है तथा जो कभी मनकी कल्पनामें भी नहीं आयी है ॥ १६ ॥

(भस्म विष्ठा कृमिर्वापि निष्ठा यस्येदृशी ध्रुवा ।
स कायः परपीडाभिः कथं धार्यो विपश्चिता ॥)
प्रशंसा ह्येव मांसस्य दोषकर्मफलान्विता ॥ १७ ॥

जो मृत्युके पश्चात् चितापर जला देनेसे भस्म हो जाता है अथवा किसी हिंसक प्राणीका खाद्य बनकर उसकी विष्ठाके रूपमें परिणत हो जाता है, या यों ही फेंक देनेसे जिसमें

कीड़े पड़ जाते हैं—इन तीनोंमेंसे यह एक-न-एक परिणाम जिसके लिये सुनिश्चित है, उस शरीरको विद्वान् पुरुष दूसरोंको पीडा देकर उसके मांससे कैसे पोषण कर सकता है ? मांसकी प्रशंसा भी पापमय कर्मफलसे सम्बन्ध कर देती है॥

जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः ॥ १८ ॥

उशीनर शिवि आदि बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण देकर, अपने मांससे दूसरोंके मांसकी रक्षा करके स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ १८ ॥

एवमेषा महाराज चतुर्भिः कारणैर्वृता।
अहिंसा तव निर्दिष्टा सर्वधर्मानुसंहिता ॥ १९ ॥

महाराज ! इस प्रकार चार उपायोंसे जिसका पालन होता है, उस अहिंसा-धर्मका तुम्हारे लिये प्रतिपादन किया गया । यह सम्पूर्ण धर्मोंमें ओतप्रोत है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मांसवर्जनकथने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मांसके परित्यागका उपदेशविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

मद्य और मांसके भक्षणमें महान् दोष, उनके त्यागकी महिमा एवं त्यागमें परम लाभका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया।
जातो नः संशयो धर्मे मांसस्य परिवर्जने।
दोषो भक्षयतः कः स्यात् कश्चाभक्षयतो गुणः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने बहुत बार यह बात कही है कि अहिंसा परम धर्म है; अतः मांसके परित्यागरूप धर्मके विषयमें मुझे संदेह हो गया है । इसलिये मैं यह जानना चाहता हूँ कि मांस खानेवालेकी क्या हानि होती है और जो मांस नहीं खाता उसे कौन-सा लाभ मिलता है ? ॥ १ ॥

हत्वा भक्षयतो वापि परेणोपहृतस्य वा।
हन्याद् वा यः परस्यार्थे क्रीत्वा वा भक्षयेन्नरः ॥ २ ॥

जो स्वयं पशुका वध करके उसका मांस खाता है या दूसरेके दिये हुए मांसका भक्षण करता है या जो दूसरेके खानेके लिये पशुका वध करता है अथवा जो खरीदकर मांस खाता है, उसको क्या दण्ड मिलता है ? ॥ २ ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन कथ्यमानं त्वयानघ।
निश्चयेन चिकीर्षामि धर्ममेतं सनातनम् ॥ ३ ॥

निष्पाप पितामह ! मैं चाहता हूँ कि आप इस विषयका यथार्थरूपसे विवेचन करें । मैं निश्चितरूपसे इस सनातन धर्मके पालनकी इच्छा रखता हूँ ॥ ३ ॥

कथमायुरवाप्नोति कथं भवति सत्त्ववान्।
कथमव्यङ्गतामेति लक्षण्यो जायते कथम् ॥ ४ ॥

मनुष्य किस प्रकार आयु प्राप्त करता है, कैसे बलवान् होता है, किस तरह उसे पूर्णाङ्गता प्राप्त होती है और कैसे वह शुभलक्षणोंसे संयुक्त होता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

मांसस्याभक्षणाद् राजन् यो धर्मः कुरुनन्दन।
तन्मे शृणु यथातत्त्वं यथास्य विधिरुत्तमः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कुरुनन्दन ! मांस न खानेसे जो धर्म होता है, उसका मुझसे यथार्थ वर्णन सुनो तथा उस धर्मकी जो उत्तम विधि है, वह भी जान लो ॥५॥

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम्।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥ ६ ॥

जो सुन्दर रूप, पूर्णाङ्गता, पूर्ण आयु, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरणशक्ति प्राप्त करना चाहते थे, उन महात्मा पुरुषोंने हिंसाका सर्वथा त्याग कर दिया था ॥ ६ ॥

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुनन्दन।
बभूव तेषां तु मतं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस विषयको लेकर ऋषियोंमें अनेक बार प्रश्नोत्तर हो चुका है । अन्तमें उन सबकी रायसे जो सिद्धान्त निश्चित हुआ है, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥७॥

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः।
वर्जयेन्मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो पुरुष नियमपूर्वक व्रतका पालन करता हुआ प्रतिमास अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा जो केवल मद्य और मांसका परित्याग करता है, उन दोनोंको एक-सा ही फल मिलता है ॥ ८ ॥

सप्तर्षयो वालखिल्यास्तथैव च मरीचिपाः।
अमांसभक्षणं राजन् प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ९ ॥

राजन् ! सप्तर्षि, वालखिल्य तथा सूर्यकी किरणोंका पान

करनेवाले अन्यान्य मनीषी महर्षि मांस न खानेकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ९ ॥

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

स्वायम्भुव मनुका कथन है कि जो मनुष्य न मांस खाता और न पशुकी हिंसा करता और न दूसरेसे ही हिंसा कराता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका मित्र है ॥ १० ॥

अधृष्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां सम्मतो नित्यं भवेन्मांसं विवर्जयन् ॥ ११ ॥

जो पुरुष मांसका परित्याग कर देता है, उसका कोई भी प्राणी तिरस्कार नहीं करता है, वह सब प्राणियोंका विश्वास-पात्र हो जाता है तथा श्रेष्ठ पुरुष उसका सदा सम्मान करते हैं ॥ ११ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति ॥ १२ ॥

धर्मात्मा नारदजी कहते हैं—जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह निश्चय ही दुःख उठाता है ॥

ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्त्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥ १३ ॥

बृहस्पतिजीका कथन है—जो मद्य और मांस त्याग देता है, वह दान देता, यज्ञ करता और तप करता है अर्थात् उसे दान, यज्ञ और तपस्याका फल प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम ॥ १४ ॥

जो सौ वर्षोंतक प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है और जो कभी मांस नहीं खाता है—इन दोनोंका समान फल माना गया है ॥ १४ ॥

सदा यजति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसविवर्जनात् ॥ १५ ॥

मद्य और मांसका परित्याग करनेसे मनुष्य सदा यज्ञ करनेवाला, सदा दान देनेवाला और सदा तप करनेवाला होता है ॥ १५ ॥

सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते ॥ १६ ॥

भारत ! जो पहले मांस खाता रहा हो और पीछे उसका सर्वथा परित्याग कर दे, उसको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, उसे सम्पूर्ण वेद और यज्ञ भी नहीं प्राप्त करा सकते ॥ १६ ॥

दुष्करं च रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम् ।
चर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम् ॥ १७ ॥

मांसके रसका आस्वादन एवं अनुभव कर लेनेपर उसे त्यागना और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाले इस सर्वश्रेष्ठ अहिंसाव्रतका आचरण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १७ ॥

सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥ १८ ॥

जो विद्वान् सब जीवोंको अभयदान कर देता है, वह इस संसारमें निःसंदेह प्राणदाता माना जाता है ॥ १८ ॥

एवं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ।
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ॥ १९ ॥

इस प्रकार मनीषी पुरुष अहिंसारूप परमधर्मकी प्रशंसा करते हैं । जैसे मनुष्यको अपने प्राण प्रिय होते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंको अपने-अपने प्राण प्रिय जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः ।
मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम् ॥ २० ॥
किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम् ।
अरोगाणामपापानां पापैर्मांसोपजीविभिः ॥ २१ ॥

अतः जो बुद्धिमान् और पुण्यात्मा हैं, उन्हें चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने समान समझें । जब अपने कल्याण-की इच्छा रखनेवाले विद्वानोंको भी मृत्युका भय बना रहता है, तब जीवित रहनेकी इच्छावाले नीरोग और निर-पराध प्राणियोंको, जो मांसपर जीविका चलानेवाले पापी पुरुषोंद्वारा बलपूर्वक मारे जाते हैं, क्यों न भय प्राप्त होगा ॥ २०-२१ ॥

तस्माद् विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥ २२ ॥

इसलिये महाराज ! तुम्हें यह विदित होना चाहिये कि मांसका परित्याग ही धर्म, स्वर्ग और सुखका सर्वोत्तम आधार है ॥ २२ ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है; क्योंकि उसीसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है ॥ २३ ॥

न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद् वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ॥ २४ ॥

तृणसे, काठसे अथवा पत्थरसे मांस नहीं पैदा होता है, वह जीवकी हत्या करनेपर ही उपलब्ध होता है; अतः उसके खानेमें महान् दोष है ॥ २४ ॥

स्वाहास्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥ २५ ॥

जो लोग स्वाहा (देवयज्ञ) और स्वधा (पितृयज्ञ) का अनुष्ठान करके यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करनेवाले तथा सत्य और सरलताके प्रेमी हैं, वे देवता हैं; किंतु जो कुटिलता और असत्य-भाषणमें प्रवृत्त होकर सदा मांसभक्षण किया करते हैं, उन्हें राक्षस समझो ॥ २५ ॥

कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च।
रात्रावहनि संध्यासु चत्वरेषु सभासु च ॥ २६ ॥
उद्यतेषु च शस्त्रेषु मृगव्यालभयेषु च।
अमांसभक्षणे राजन् भयमन्यैर्न गच्छति ॥ २७ ॥

राजन्! जो मनुष्य मांस नहीं खाता, उसे संकटपूर्ण स्थानों, भयंकर दुर्गों एवं गहन वनोंमें, रात-दिन और दोनों संध्याओंमें, चौराहोंपर तथा सभाओंमें भी दूसरोंसे भय नहीं प्राप्त होता तथा यदि अपने विरुद्ध हथियार उठाये गये हों अथवा हिंसक पशु एवं सर्पोंके भय सामने हों तो भी वह दूसरोंसे नहीं डरता है ॥ २६-२७ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥ २८ ॥

इतना ही नहीं, वह समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाला और उन सबका विश्वासपात्र होता है। संसारमें न तो वह दूसरेको उद्वेगमें डालता है और न स्वयं ही कभी किसीसे उद्विग्न होता है ॥ २८ ॥

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः ॥ २९ ॥

यदि कोई भी मांस खानेवाला न रह जाय तो पशुओंकी हिंसा करनेवाला भी कोई न रहे; क्योंकि हत्यारा मनुष्य मांस खानेवालोंके लिये ही पशुओंकी हिंसा करता है ॥२९॥

अभक्ष्यमेतदिति वै इति हिंसा निवर्तते।
खादकार्थमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥ ३० ॥

यदि मांसको अभक्ष्य समझकर सब लोग उसे खाना छोड़ दें तो पशुओंकी हत्या स्वतः ही बंद हो जाय; क्योंकि मांस खानेवालोंके लिये ही मृग आदि पशुओंकी हत्या होती है ॥ ३० ॥

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ ३१ ॥

महातेजस्वी नरेश! हिंसकोंकी आयुको उनका पाप ग्रस लेता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता हो, वह मनुष्य मांसका सर्वथा परित्याग कर दे ॥ ३१ ॥

त्रातारं नाधिगच्छन्ति रौद्राः प्राणिविहिंसकाः।
उद्वेजनीया भूतानां यथा व्यालमृगास्तथा ॥ ३२ ॥

जैसे यहाँ हिंसक पशुओंका लोग शिकार खेलते हैं और वे पशु अपने लिये कहीं कोई रक्षक नहीं पाते, उसी प्रकार प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले भयंकर मनुष्य दूसरे जन्ममें सभी प्राणियोंके उद्वेगपात्र होते हैं और अपने लिये कोई संरक्षक नहीं पाते हैं ॥ ३२ ॥

लोभाद् वा बुद्धिमोहाद् वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम् ॥ ३३ ॥

लोभसे, बुद्धिके मोहसे, बल-वीर्यकी प्राप्तिके लिये अथवा पापियोंके संसर्गमें आनेसे मनुष्योंकी अधर्ममें रुचि हो जाती है ॥ ३३ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥ ३४ ॥

जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, चैनसे नहीं रहने पाता है ॥३४॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥ ३५ ॥

नियमपरायण महर्षियोंने मांस-भक्षणके त्यागको ही धन, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्तिका प्रधान उपाय और परमकल्याणका साधन बतलाया है ॥ ३५ ॥

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥ ३६ ॥

कुन्तीनन्दन! मांसभक्षणमें जो दोष हैं, उन्हें बतलाते हुए मार्कण्डेयजीके मुखसे मैंने पूर्वकालमें ऐसा सुन रखा है— ॥ ३६ ॥

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम्।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥ ३७ ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंको मारकर अथवा उनके स्वयं मर जानेपर उनका मांस खाता है, वह न मारनेपर भी उन प्राणियोंका हत्यारा ही समझा जाता है ॥

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥ ३८ ॥

खरीदनेवाला धनके द्वारा, खानेवाला उपभोगके द्वारा और घातक वध एवं बन्धनके द्वारा पशुओंकी हिंसा करता है। इस प्रकार यह तीन तरहसे प्राणियोंका वध होता है।३८।

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥ ३९ ॥

'जो मांसको स्वयं नहीं खाता पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है ॥

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥ ४० ॥

'जो मनुष्य मांस नहीं खाता और इस जगत्में सब जीवोंपर दया करता है, उसका कोई भी प्राणी तिरस्कार नहीं करते और वह सदा दीर्घायु एवं नीरोग होता है ॥४०॥

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥ ४१ ॥

'सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करनेसे जो धर्म प्राप्त होता है, मांसका भक्षण न करनेसे उसकी अपेक्षा भी विशिष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है। यह हमारे सुननेमें आया है ॥

खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः।
महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः ॥ ४२ ॥

'जो मांस खानेवालोंके लिये पशुओंकी हत्या करता है, वह मनुष्योंमें अधम है। घातकको बहुत भारी दोष लगता है। मांस खानेवालेको उतना दोष नहीं लगता ॥ ४२ ॥

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥ ४३ ॥

'जो मांसलोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गोंके नामपर प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है ॥ ४३ ॥

भक्षयित्वापि यो मांसं पश्चादपि निवर्तते ।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद् विनिवर्तते ॥ ४४ ॥

'जो पहले मांस खानेके बाद फिर उससे निवृत्त हो जाता है, उसको भी अत्यन्त महान् धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वह पापसे निवृत्त हो गया है ॥ ४४ ॥

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चापभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य हत्याके लिये पशु लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, वे सब-के-सब खानेवाले ही माने जाते हैं। अर्थात् वे सब खानेवालेके समान ही पापके भागी होते हैं' ॥ ४५ ॥

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम् ।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम् ॥ ४६ ॥

अब मैं इस विषयमें एक दूसरा प्रमाण बता रहा हूँ' जो साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा प्रतिपादित, पुरातन, ऋषियोंद्वारा सेवित तथा वेदोंमें प्रतिष्ठित है ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः प्रजार्थिभिरुदाहृतः ।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम्॥ ४७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रजार्थी पुरुषोंने प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है; परंतु वह मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले विरक्त पुरुषोंके लिये अभीष्ट नहीं है ॥ ४७ ॥

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य अपने आपको अत्यन्त उपद्रवरहित बनाये रखना चाहता हो, वह इस जगत्में प्राणियोंके मांसका सर्वथा परित्याग कर दे ॥ ४८ ॥

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ४९ ॥

सुना है, पूर्वकल्पमें मनुष्योंके यज्ञमें पुरोडाश आदिके रूपमें अन्नमय पशुका ही उपयोग होता था। पुण्यलोककी प्राप्तिके साधनोंमें लगे रहनेवाले याज्ञिक पुरुष उस अन्नके द्वारा ही यज्ञ करते थे ॥ ४९ ॥

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा ।
अभक्ष्यमपि मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥ ५० ॥

प्रभो ! प्राचीन कालमें ऋषियोंने चेदिराज वसुसे अपना संदेह पूछा था। उस समय वसुने मांसको भी जो सर्वथा अभक्ष्य है, भक्ष्य बता दिया ॥ ५० ॥

आकाशादवनिं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥ ५१ ॥

उस समय आकाशचारी राजा वसु अनुचित निर्णय देनेके कारण आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े। तदनन्तर पृथ्वीपर भी फिर यही निर्णय देनेके कारण वे पातालमें समा गये ॥ ५१ ॥

इदं तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ॥ ५२ ॥

निष्पाप राजेन्द्र ! मनुजेश्वर ! मेरी कही हुई यह बात भी सुनो—मांस-भक्षण न करनेसे सब प्रकारका सुख मिलता है ॥ ५२ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत् सुदारुणम् ।
यश्चैव वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम ॥ ५३ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक कठोर तपस्या करता है तथा जो केवल मांसका परित्याग कर देता है—ये दोनों मेरी दृष्टिमें एक समान हैं ॥ ५३ ॥

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप ।
वर्जयेन्मधुमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ॥ ५४ ॥

नरेश्वर ! विशेषतः शरद्ऋतु, शुक्लपक्षमें मद्य और मांसका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि ऐसा करनेमें धर्म होता है।

चतुरो वार्षिकान् मासान् यो मांसं परिवर्जयेत् ।
चत्वारि भद्राण्यवाप्नोति कीर्तिमायुर्यशो बलम् ॥५५ ॥

जो मनुष्य वर्षाके चार महीनोंमें मांसका परित्याग क

देता है, वह चार कल्याणमयी वस्तुओं—कीर्ति, आयु, यश और बलको प्राप्त कर लेता है ॥५५॥

अथवा मासमेकं वै सर्वं मांसान्यभक्षयन् ।
अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवेन्निरामयः ॥ ५६ ॥

अथवा एक महीनेतक सब प्रकारके मांसोंका त्याग करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो सुखी एवं नीरोग जीवन व्यतीत करता है ॥ ५६ ॥

वर्जयन्ति हि मांसानि मासशः पक्षशोऽपि वा।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ॥ ५७ ॥

जो एक-एक मास अथवा एक-एक पक्षतक मांस खाना छोड़ देते हैं, हिंसासे दूर हटे हुए उन मनुष्योंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है (फिर जो कभी भी मांस नहीं खाते, उनके लाभकी तो कोई सीमा ही नहीं है) ॥ ५७ ॥

मांसं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्थैर्विदितार्थपरावरैः ॥ ५८ ॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुनाथानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः ॥५९ ॥
कार्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विष्वगश्वेन तथैव शशबिन्दुना ॥ ६० ॥
युवनाश्वेन च तथा शिबिनौशीनरेण च ।
मुचुकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वा विभो ॥ ६१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिन राजाओंने आश्विन मासके दोनों पक्ष अथवा एक पक्षमें मांस-भक्षणका निषेध किया था, वे सम्पूर्ण भूतोंके आत्मरूप हो गये थे और उन्हें परावर तत्त्वका ज्ञान हो गया था। उनके नाम इस प्रकार हैं—नाभाग, अम्बरीष, महात्मा गय, आयु, अनरण्य, दिलीप, रघु, पूरु, कार्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विश्वगश्व, शशबिन्दु, युवनाश्व, उशीनरपुत्र शिबि, मुचुकुन्द, मान्धाता अथवा हरिश्चन्द्र ॥ ५८–६१ ॥

सत्यं वदत मासत्यं सत्यं धर्मः सनातनः ।
हरिश्चन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत् ॥ ६२ ॥

सत्य बोलो, असत्य न बोलो, सत्य ही सनातन धर्म है। राजा हरिश्चन्द्र सत्यके प्रभावसे आकाशमें चन्द्रमाके समान विचरते हैं ॥ ६२ ॥

श्येनचित्रेण राजेन्द्र सोमकेन वृकेण च ।
रैवते रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च ॥ ६३ ॥
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र कृपेण भरतेन च ।
दुष्यन्तेन करूषेण रामालर्कनरैस्तथा ॥ ६४ ॥
विरूपाश्वेन निमिना जनकेन च धीमता ।
ऐलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह ॥ ६५ ॥
इक्ष्वाकुणा शम्भुना च श्वेतेन सगरेण च ।
अजेन धुन्धुना चैव तथैव च सुबाहुना ॥ ६६ ॥
हर्यश्वेन च राजेन्द्र क्षुपेण भरतेन च ।
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ॥ ६७ ॥

राजेन्द्र ! श्येनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, सृञ्जय, अन्यान्य नरेश, कृप, भरत, दुष्यन्त, करूष, राम, अलर्क, नर, विरूपाश्व, निमि, बुद्धिमान् जनक, पुरूरवा, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शम्भु, श्वेतसागर, अज, धुन्धु, सुबाहु, हर्यश्व, क्षुप, भरत—इन सबने तथा अन्यान्य राजाओंने भी कभी मांस नहीं खाया था ॥ ६३—६७ ॥

ब्रह्मलोके च तिष्ठन्ति ज्वलमानाः श्रियान्विताः।
उपास्यमाना गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसमन्विताः ॥ ६८ ॥

वे सब नरेश अपनी कान्तिसे प्रज्वलित होते हुए वहाँ ब्रह्मलोकमें विराज रहे हैं, गन्धर्व उनकी उपासना करते हैं और सहस्रों दिव्याङ्गनाएँ उन्हें घेरे रहती हैं ॥ ६८ ॥

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसाधर्मलक्षणम् ।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥ ६९ ॥

अतः यह अहिंसारूप धर्म सब धर्मोंसे उत्तम है। जो महात्मा इसका आचरण करते हैं, वे स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥ ६९ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥ ७० ॥

जो धर्मात्मा पुरुष जन्मसे ही इस जगत्में शहद, मद्य और मांसका सदाके लिये परित्याग कर देते हैं, वे सब-के-सब मुनि माने गये हैं ॥ ७० ॥

इमं धर्मममांसादं यश्चरेच्छ्रावयीत वा ।
अपि चेत् सुदुराचारो न जातु निरयं व्रजेत् ॥ ७१ ॥

जो मांस-भक्षणके परित्यागरूप इस धर्मका आचरण करता अथवा इसे दूसरोंको सुनाता है, वह कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, नरकमें नहीं पड़ता ॥ ७१ ॥

पठेद् वा य इदं राजञ्छृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः।
अमांसभक्षणविधिं पवित्रमृषिपूजितम् ॥ ७२ ॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वकामैर्महीयते ।
विशिष्टतां ज्ञातिषु च लभते नात्र संशयः ॥ ७३ ॥

राजन् ! जो ऋषियोंद्वारा सम्मानित एवं पवित्र इस मांस-भक्षणके त्यागके प्रकरणको पढ़ता अथवा बारंबार सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंद्वारा सम्मानित होता है और अपने सजातीय बन्धुओंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७२-७३ ॥

आपन्नश्चापदो मुच्येद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
मुच्येत्तथाऽऽतुरो रोगाद् दुःखान्मुच्येत दुःखितः ७४

इतना ही नहीं, इसके श्रवण अथवा पठनसे आपत्तिमें पड़ा हुआ आपत्तिसे, बन्धनमें बँधा हुआ बन्धनसे, रोगी रोगसे और दुखी दुःखसे छुटकारा पा जाता है ॥ ७४ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेत रूपवांश्च भवेन्नरः ।
ऋद्धिमान् वै कुरुश्रेष्ठ प्राप्नुयाच्च महद् यशः ॥ ७५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इसके प्रभावसे मनुष्य तिर्यग्योनिमें नहीं पड़ता तथा उसे सुन्दर रूप, सम्पत्ति और महान् यशकी प्राप्ति होती है ॥ ७५ ॥

एतत्ते कथितं राजन् मांसस्य परिवर्जने ।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च विधानमृषिनिर्मितम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! यह मैंने तुम्हें ऋषियोंद्वारा निर्मित मांस-त्यागका विधान तथा प्रवृत्तिविषयक धर्म भी बताया है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मांसभक्षणनिषेधे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मांसभक्षणका निषेधविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

मांस न खानेसे लाभ और अहिंसाधर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः ।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर कहते हैं—पितामह ! बड़े खेदकी बात है कि संसारके ये निर्दयी मनुष्य अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थोंका परित्याग करके महान् राक्षसोंके समान मांसका स्वाद लेना चाहते हैं ॥ १ ॥

अपूपान् विविधाकाराञ्छाकानि विविधानि च ।
खाण्डवान् रसयोगाँश्च तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम् ॥ २ ॥

भाँति-भाँतिके मालपूओं, नाना प्रकारके शाकों तथा रसीली मिठाइयोंकी भी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी रुचि मांसके लिये रखते हैं ॥ २ ॥

तदिच्छामि गुणाञ्छ्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो ।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

प्रभो ! पुरुषप्रवर ! अतः मैं मांस न खानेसे होनेवाले लाभ और उसे खानेसे होनेवाली हानियोंको पुनः सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ यथावदिह धर्मतः ।
किं च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

धर्मज्ञ पितामह ! इस समय धर्मके अनुसार यथावत्‌रूपसे यहाँ सब बातें ठीक-ठीक बताइये। इसके सिवा यह भी कहिये कि भोजन करने योग्य क्या वस्तु है और भोजन न करने योग्य क्या वस्तु है ॥ ४ ॥

यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने ।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! मांसका जो स्वरूप है, यह जैसा है, इसका त्याग कर देनेमें जो लाभ है और इसे खानेवाले पुरुषको जो दोष प्राप्त होते हैं—ये सब बातें मुझे बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणु ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! भरतनन्दन ! तुम जैसा कहते हो ठीक वैसी ही बात है। कौरवनन्दन ! मांस न खानेमें बहुत-से लाभ हैं, जो वैसे मनुष्योंको सुलभ होते हैं; मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥ ७ ॥

जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है ॥ ७ ॥

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ ८ ॥

जगत्‌में अपने प्राणोंसे अधिक प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिये मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरोंपर भी दया करे ॥ ८ ॥

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥ ९ ॥

तात ! मांस-भक्षण करनेमें महान् दोष है; क्योंकि मांसकी उत्पत्ति वीर्यसे होती है, इसमें संशय नहीं है। अतः उससे निवृत्त होनेमें ही पुण्य बताया गया है ॥ ९ ॥

न ह्यतः सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च ।
यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ॥ १० ॥

कौरवनन्दन ! इस लोक और परलोकमें इसके समान दूसरा कोई पुण्यकार्य नहीं है कि इस जगत्‌में समस्त प्राणियोंपर दया की जाय ॥ १० ॥

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम् ॥ ११ ॥

इस जगत्में दयालु मनुष्यको कभी भयका सामना नहीं करना पड़ता। दयालु और तपस्वी पुरुषोंके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद होते हैं ॥ ११ ॥

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
यदहिंसात्मकं कर्म तत् कुर्यादात्मवान् नरः ॥ १२ ॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्मका लक्षण है। मनस्वी पुरुष वही कर्म करे, जो अहिंसात्मक हो ॥१२॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥ १३ ॥

जो दयापरायण पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं। ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ १३ ॥

क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम्।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च ॥ १४ ॥

वह घायल हो, लड़खड़ाता हो, गिर पड़ा हो, पानीके बहावमें खिंचकर बहा जाता हो, आहत हो अथवा किसी भी सम विषम अवस्थामें पड़ा हो, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं॥

नैनं व्यालमृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः।
मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद् यो भये परान् ॥ १५ ॥

जो दूसरोंको भयसे छुड़ाता है, उसे न हिंसक पशु मारते हैं और न पिशाच तथा राक्षस ही उसपर प्रहार करते हैं। वह भयका अवसर आनेपर उससे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम् ॥ १६ ॥

प्राणदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मासे बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है। यह निश्चित बात है ॥ १६ ॥

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः ॥ १७ ॥

भरतनन्दन! किसी भी प्राणीको मृत्यु अभीष्ट नहीं है; क्योंकि मृत्युकालमें सभी प्राणियोंका शरीर तुरंत काँप उठता है ॥ १७ ॥

जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च ॥ १८ ॥

इस संसार-समुद्रमें समस्त प्राणी सदा गर्भवास, जन्म और बुढ़ापा आदिके दुःखोंसे दुखी होकर चारों ओर भटकते रहते हैं। साथ ही मृत्युके भयसे उद्विग्न रहा करते हैं ॥१८॥

गर्भवासेषु पच्यन्ते क्षाराम्लकटुकै रसैः।
मूत्रस्वेदपुरीषाणां परुषैर्भृशदारुणैः ॥ १९ ॥

गर्भमें आये हुए प्राणी मल मूत्र और पसीनोंके बीचमें रहकर खारे, खट्टे और कड़वे आदि रसोंसे, जिनका स्पर्श अत्यन्त कठोर और दुःखदायी होता है, पकते रहते हैं, जिससे उन्हें बड़ा भारी कष्ट होता है ॥ १९ ॥

जाताश्चाप्यवशास्तत्र छिद्यमानाः पुनः पुनः।
पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः ॥ २० ॥

मांसलोलुप जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह बेबसी प्रत्यक्ष देखी जाती है ॥ २० ॥

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः ॥ २१ ॥

वे अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें राँधे जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें बारंबार संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है ॥ २१ ॥

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात् प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत् ॥ २२ ॥

इस भूमण्डलपर अपने आत्मासे बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपना आत्मा ही समझे ॥ २२ ॥

सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ २३ ॥

राजन्! जो जीवनभर किसी भी प्राणीका मांस नहीं खाता, वह स्वर्गमें श्रेष्ठ एवं विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥ २४ ॥

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंद्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ २४ ॥

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) 'मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है—इसे ही मांस शब्दका तात्पर्य समझो॥

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षिता।
आक्रोष्टा क्रुध्यते राजंस्तथा द्वेष्यत्वमाप्नुते ॥ २६ ॥

राजन्! इस जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने घातकका वध करता है। फिर

भक्षण करनेवालेको भी मार डालता है। जो दूसरोंकी निन्दा करता है, वह स्वयं भी दूसरोंके क्रोध और द्वेषका पात्र होता है॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते ॥ २७ ॥

जो जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, वह उस-उस शरीरसे भी उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ २७ ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ २८ ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है ॥ २८ ॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥ २९ ॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है ॥ २९ ॥

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण यज्ञोंमें जो दान किया जाता है, समस्त तीर्थोंमें जो गोता लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण दानोंका जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसाके बराबर नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता ॥ ३१ ॥

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है ॥ ३१ ॥

एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥ ३२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! यह अहिंसाका फल है। यही क्या, अहिंसाका तो इससे भी अधिक फल है। अहिंसासे होनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अहिंसाफलकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्म पर्वमें अहिंसाके फलका वर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

शुभ कर्मसे एक कीड़ेको पूर्व-जन्मकी स्मृति होना और कीट-योनिमें भी मृत्युका भय एवं सुखकी अनुभूति बताकर कीड़ेका अपने कल्याणका उपाय पूछना

युधिष्ठिर उवाच

अकामाश्च सकामाश्च ये हताः स्म महामृधे।
कां गतिं प्रतिपन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो योद्धा महासमरमें इच्छा या अनिच्छासे मारे गये हैं, वे किस गतिको प्राप्त हुए हैं? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

दुःखं प्राणपरित्यागः पुरुषाणां महामृधे।
जानासि त्वं महाप्राज्ञ प्राणत्यागं सुदुष्करम् ॥ २ ॥

महाप्राज्ञ! आप तो जानते ही हैं कि महासंग्राममें मनुष्योंके लिये प्राणोंका परित्याग करना कितना दुःखदायक होता है। प्राणोंका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ २ ॥

समृद्धौ वासमृद्धौ वा शुभे वा यदि वाशुभे।
कारणं तत्र मे ब्रूहि सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ३ ॥

प्राणी उन्नति या अवनति, शुभ या अशुभ किसी भी अवस्थामें मरना नहीं चाहते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये; क्योंकि मेरी दृष्टिमें आप सर्वज्ञ हैं ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

समृद्धौ वासमृद्धौ वा शुभे वा यदि वाशुभे।
संसारेऽस्मिन् समायाताः प्राणिनः पृथिवीपते ॥ ४ ॥
निरता येन भावेन तत्र मे शृणु कारणम्।
सम्यक् चायमनुप्रश्नस्त्वयोक्तस्तु युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—पृथ्वीनाथ! इस संसारमें आये हुए प्राणी उन्नतिमें या अवनतिमें तथा शुभ या अशुभ अवस्थामें ही सुख मानते हैं। मरना नहीं चाहते। इसका क्या कारण है, यह बताता हूँ, सुनो। युधिष्ठिर! यह तुमने बहुत अच्छा प्रश्न उपस्थित किया है ॥ ४-५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तमिदं नृप।
द्वैपायनस्य संवादं कीटस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

नरेश्वर! युधिष्ठिर! इस विषयमें द्वैपायन व्यास और एक कीड़ेका संवादरूप जो यह प्राचीन वृत्तान्त प्रसिद्ध है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६ ॥

ब्रह्मभूतश्चरन् विप्रः कृष्णद्वैपायनः पुरा।
ददर्श कीटं धावन्तं शीघ्रं शकटवर्त्मनि ॥ ७ ॥

पहलेकी बात है, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायन विप्रवर व्यासजी कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक कीड़ेको गाड़ीकी लीक-से बड़ी तेजीके साथ भागते देखा ॥ ७ ॥

गतिज्ञः सर्वभूतानां भाषाज्ञश्च शरीरिणाम्।
सर्वज्ञः स तदा दृष्ट्वा कीटं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ व्यासजी सम्पूर्ण प्राणियोंकी गतिके ज्ञाता तथा सभी देहधारियोंकी भाषाको समझनेवाले हैं। उन्होंने उस कीड़ेको देखकर उससे इस प्रकारकी बातचीत की ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

कीट संत्रस्तरूपोऽसि त्वरितश्चैव लक्ष्यसे।
क धावसि तदाचक्ष्व कुतस्ते भयमागतम् ॥ ९ ॥

व्यासजीने पूछा—कीट ! आज तुम बहुत डरे हुए और उतावले दिखायी दे रहे हो, बताओ तो सही—कहाँ भागे जा रहे हो ? कहाँसे तुम्हें भय प्राप्त हुआ है ? ॥ ९ ॥

कीट उवाच

शकटस्यास्य महतो घोषं श्रुत्वा भयं मम।
आगतं वै महाबुद्धे स्वन एष हि दारुणः ॥ १० ॥

कीड़ेने कहा—महामते ! यह जो बहुत बड़ी बैलगाड़ी आ रही है, इसीकी घर्घराहट सुनकर मुझे भय हो गया है; क्योंकि उसकी यह आवाज बड़ी भयंकर है ॥ १० ॥

श्रूयते न च मां हन्यादिति ह्यस्मादपक्रमे।
श्वसतां च शृणोम्येनं गोपुत्राणां प्रतोद्यताम् ॥ ११ ॥
वहतां सुमहाभारं संनिकर्षे स्वनं प्रभो।
नृणां च संवाहयतां श्रूयते विविधः स्वनः ॥ १२ ॥

यह आवाज जब कानोंमें पड़ती है, तब यह संदेह होता है कि कहीं गाड़ी आकर मुझे कुचल न डाले। इसीलिये यहाँसे जल्दी-जल्दी भाग रहा हूँ। यह देखिये बैलोंपर चाबुक-की मार पड़ रही है और वे बहुत भारी बोझ लिये हाँफते हुए इधर आ रहे हैं। प्रभो ! मुझे उनकी आवाज बहुत निकट सुनायी पड़ती है। गाड़ीपर बैठे हुए मनुष्योंके भी नाना प्रकारके शब्द कानोंमें पड़ रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

श्रोतुमस्मद्विधेनैव न शक्यः कीटयोनिना।
तस्मादतिक्रमाम्येष भयादस्मात् सुदारुणात् ॥ १३ ॥

मेरे-जैसे कीड़ेके लिये इस भयंकर शब्दको धैर्यपूर्वक सुन सकना असम्भव है। अतः इस अत्यन्त दारुण भयसे अपनी रक्षा करनेके लिये मैं यहाँसे भाग रहा हूँ ॥ १३ ॥

दुःखं हि मृत्युर्भूतानां जीवितं च सुदुर्लभम्।
अतो भीतः पलायामि गच्छेयं नासुखं सुखात् ॥ १४ ॥

प्राणियोंके लिये मृत्यु बड़ी दुःखदायिनी होती है। अपना जीवन सबको अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ता है। अतः डरकर भागा जा रहा हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मैं सुखसे दुःखमें पड़ जाऊँ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तु तं प्राह कुतः कीट सुखं तव।
मरणं ते सुखं मन्ये तिर्यग्योनौ तु वर्तसे ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कीड़के ऐसा कहनेपर व्यासजीने उससे पूछा—'कीट ! तुम्हें सुख कहाँ है ? मेरी समझमें तो तुम्हारा मर जाना ही तुम्हारे लिये सुखकी बात है; क्योंकि तुम तिर्यक् योनि—अधम कीट-योनिमें पड़े हो ॥ १५ ॥

शब्दं स्पर्शं रसं गन्धं भोगांश्चोच्चावचान् बहून्।
नाभिजानासि कीट त्वं श्रेयो मरणमेव ते ॥ १६ ॥

'कीट ! तुम्हें शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा बहुत-से छोटे-बड़े भोगोंका अनुभव नहीं होता है। अतः तुम्हारा तो मर जाना ही अच्छा है' ॥ १६ ॥

कीट उवाच

सर्वत्र निरतो जीव इतश्चापि सुखं मम।
चिन्तयामि महाप्राज्ञ तस्मादिच्छामि जीवितुम् ॥ १७ ॥

कीड़ेने कहा—महाप्राज्ञ ! जीव सभी योनियोंमें सुख-का अनुभव करते हैं। मुझे भी इस योनिमें सुख मिलता है और यही सोचकर जीवित रहना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

इहापि विषयः सर्वो यथादेहं प्रवर्तितः।
मानुषाः स्थावरजाश्चैव पृथग्भोगा विशेषतः ॥ १८ ॥

यहाँ भी इस शरीरके अनुसार सारे विषय उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों और स्थावर प्राणियोंके भोग अलग अलग हैं ॥

अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो।
अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो वृद्धिजीवनः ॥ १९ ॥

प्रभो ! पहले जन्ममें मैं एक मनुष्य, उसमें भी बहुत धनी शूद्र हुआ था। ब्राह्मणोंके प्रति मेरे मनमें आदरका भाव न था। मैं कंजूस, क्रूर और व्याजखोर था ॥ १९ ॥

वाक्तीक्ष्णो निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा विश्वस्य सर्वशः।
मिथ्याकृतोऽपि विधिना परस्वहरणे रतः ॥ २० ॥

सबसे तीखे वचन बोलना, बुद्धिमानीके साथ लोगोंको ठगना और संसारके सभी लोगोंसे द्वेष रखना, यह मेरा स्वभाव हो गया था। झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देना और दूसरोंके मालको हड़प लेनेमें संलग्न रहना—यही मेरा काम था ॥ २० ॥

भृत्यातिथिजनश्चापि गृहे पर्यशितो मया।
मात्सर्यात् स्वादुकामेन नृशंसेन बुभुक्षता ॥ २१ ॥

मैं इतना निर्दयी था कि केवल स्वाद लेनेकी कामनासे अकेला ही भोजनकी इच्छा रखता और ईर्ष्यावश घरपर आये हुए अतिथियों और आश्रितजनोंको भोजन कराये बिना ही भोजन कर लेता था ॥ २१ ॥

देवार्थं पितृयज्ञार्थमन्नं श्रद्धाऽऽहृतं मया।
न दत्तमर्थकामेन देयमन्नं पुरा किल ॥ २२ ॥

पूर्वजन्ममें मैं देवताओं और पितरोंके यजनके लिये श्रद्धापूर्वक अन्न एकत्र करता; परंतु धन-संग्रहकी कामनासे उस देनेयोग्य अन्नका भी दान नहीं करता था ॥ २२ ॥

गुप्तं शरणमाश्रित्य भयेषु शरणागताः।
अकस्मात् ते मया त्यक्ता न त्राता अभयैषिणः ॥ २३ ॥

भयके समय अभय पानेकी इच्छासे कितने ही शरणार्थी मेरे पास आते, किंतु मैं उन्हें शरण लेनेयोग्य सुरक्षित स्थानमें पहुँचाकर भी अकस्मात् वहाँसे निकाल देता। उनकी रक्षा नहीं करता था ॥ २३ ॥

धनं धान्यं प्रियान् दारान् यानं वासस्तथाद्भुतम्।
श्रियं दृष्ट्वा मनुष्याणामसूयामि निरर्थकम् ॥ २४ ॥

दूसरे मनुष्योंके पास धन-धान्य, सुन्दरी स्त्री, अच्छी-अच्छी सवारियाँ, अद्भुत वस्त्र और उत्तम लक्ष्मी देखकर मैं अकारण ही उनसे कुढ़ता रहता था ॥ २४ ॥

ईर्ष्युः परसुखं दृष्ट्वा अन्यस्य न बुभूषकः।
त्रिवर्गहन्ता चान्येषामात्मकामानुवर्तकः ॥ २५ ॥

दूसरोंका सुख देखकर मुझे ईर्ष्या होती थी, दूसरे किसीकी उन्नति हो यह मैं नहीं चाहता था, औरोंके धर्म, अर्थ और काममें बाधा डालता और अपनी ही इच्छाका अनुसरण करता था ॥ २५ ॥

नृशंसगुणभूयिष्ठं पुरा कर्म कृतं मया।
स्मृत्वा तदनुतप्येऽहं हित्वा प्रियमिवात्मजम् ॥ २६ ॥

पूर्वजन्ममें प्रायः मैंने वे ही कर्म किये हैं, जिनमें निर्दयता अधिक थी। उनकी याद आनेसे मुझे उसी तरह पश्चात्ताप होता है, जैसे कोई अपने प्यारे पुत्रको त्यागकर पछताता है ॥ २६ ॥

शुभानां नाभिजानामि कृतानां कर्मणां फलम्।
माता च पूजिता वृद्धा ब्राह्मणश्चार्चितो मया ॥ २७ ॥
सकृज्जातिगुणोपेतः सङ्गत्या गृहमागतः।
अतिथिः पूजितो ब्रह्मंस्तेन मां नाजहात् स्मृतिः ॥ २८ ॥

मुझे पहलेके अपने किये हुए शुभकर्मोंके फलका अबतक अनुभव नहीं हुआ है। पूर्वजन्ममें मैंने केवल अपनी बूढ़ी माताकी सेवा की थी तथा एक दिन किसीके साथ हो जानेसे अपने घरपर आये हुए ब्राह्मण अतिथिका जो अपने जातीय गुणोंसे सम्पन्न थे, स्वागत-सत्कार किया था। ब्रह्मन्! उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे आजतक पूर्वजन्मकी स्मृति छोड़ न सकी है ॥ २७-२८ ॥

कर्मणा पुनरेवाहं सुखमागामि लक्षये।
तच्छ्रोतुमहमिच्छामि त्वत्तः श्रेयस्तपोधन ॥ २९ ॥

तपोधन! अब मैं पुनः किसी शुभकर्मके द्वारा भविष्यमें सुख पानेकी आशा रखता हूँ। वह कल्याणकारी कर्म क्या है, इसे मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीटका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका क्रमशः क्षत्रिययोनिमें जन्म लेकर व्यासजीका दर्शन करना और व्यासजीका उसे ब्राह्मण होने तथा स्वर्गसुख और अक्षय सुखकी प्राप्ति होनेका वरदान देना

व्यास उवाच

शुभेन कर्मणा यद् वै तिर्यग्योनौ न मुह्यसे।
ममैव कीट तत् कर्म येन त्वं न प्रमुह्यसे ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—कीट! तुम जिस शुभकर्मके प्रभावसे तिर्यग् योनिमें जन्म लेकर भी मोहित नहीं हुए हो, वह मेरा ही कर्म है। मेरे दर्शनके प्रभावसे ही तुम्हें मोह नहीं हो रहा है॥

अहं त्वां दर्शनादेव तारयामि तपोबलात्।
तपोबलाद्धि बलवद् बलमन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥

मैं अपने तपोबलसे केवल दर्शनमात्र देकर तुम्हारा उद्धार कर दूँगा; क्योंकि तपोबलसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ बल नहीं है ॥ २ ॥

जानामि पापैः स्वकृतैर्गतं त्वां कीट कीटताम्।
अवाप्स्यसि पुनर्धर्मं धर्मं तु यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

कीट! मैं जानता हूँ, अपने पूर्वकृत पापोंके कारण तुम्हें कीटयोनिमें आना पड़ा है। यदि इस समय तुम्हारी धर्मके प्रति श्रद्धा है तो तुम्हें धर्म अवश्य प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

कर्म भूमिकृतं देवा भुञ्जते तिर्यगाश्च ये।
धर्मोऽपि हि मनुष्येषु कामार्थश्च तथा गुणाः ॥ ४ ॥

देवता, मनुष्य और तिर्यग् योनिमें पड़े हुए प्राणी इस कर्मभूमिमें किये हुए कर्मोंका ही फल भोगते हैं। अज्ञानी मनुष्यका धर्म भी कामनाको लेकर ही होता है तथा वे कामनाकी सिद्धिके लिये ही गुणोंको अपनाते हैं ॥ ४ ॥

वाग्बुद्धिपाणिपादैश्च व्यपेतस्य विपश्चितः।
किं हास्यति मनुष्यस्य मन्दस्यापि हि जीवतः॥ ५ ॥

मनुष्य मूर्ख हो या विद्वान्, यदि वह वाणी, बुद्धि और हाथ-पैरसे रहित होकर जीवित है तो उसे कौन-सी वस्तु त्यागेगी, वह तो सभी पुरुषार्थोंसे स्वयं ही परित्यक्त है ॥५॥

जीवन् हि कुरुते पूजां विप्राग्र्यः शशिसूर्ययोः।
ब्रुवन्नपि कथां पुण्यां तत्र कीट त्वमेष्यसि॥ ६ ॥

कीट ! एक जगह एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते हैं। वे जीवनमें सदा सूर्य और चन्द्रमाकी पूजा किया करते हैं तथा लोगोंको पवित्र कथाएँ सुनाया करते हैं। उन्हींके यहाँ तुम (क्रमशः) पुत्ररूपसे जन्म लोगे ॥ ६ ॥

गुणभूतानि भूतानि तत्र त्वमुपभोक्ष्यसे।
तत्र तेऽहं विनेष्यामि ब्रह्म त्वं यत्र वैष्यसि॥ ७ ॥

वहाँ विषयोंको पञ्चभूतोंका विकार मानकर अनासक्तभावसे उपभोग करोगे। उस समय मैं तुम्हारे पास आकर ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा तथा तुम जिस लोकमें जाना चाहोगे, वहीं तुम्हें पहुँचा दूँगा ॥ ७ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य कीटो वर्त्मन्यतिष्ठत।
शकटो व्रजंश्च सुमहानागतश्च यदृच्छया॥ ८ ॥
चक्राक्रमेण भिन्नश्च कीटः प्राणान् मुमोच ह।

व्यासजीके इस प्रकार कहनेपर उस कीड़ेने बहुत अच्छा कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और बीच रास्तेमें जाकर वह ठहर गया। इतनेहीमें वह विशाल छकड़ा अकस्मात् वहाँ आ पहुँचा और उसके पहियेसे दबकर चूर-चूर हो कीड़ेने प्राण त्याग दिये ॥ ८½ ॥

सम्भूतः क्षत्रियकुले प्रसादादमितौजसः॥ ९ ॥
तमृषिं द्रष्टुमगमत् सर्वास्वन्यासु योनिषु।
श्वाविद्गोधावराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम्॥ १० ॥
श्वपाकशूद्रवैश्यानां क्षत्रियाणां च योनिषु।

तत्पश्चात् वह क्रमशः शाही, गोधा, सूअर, मृग, पक्षी, चाण्डाल, शूद्र और वैश्यकी योनिमें जन्म लेता हुआ क्षत्रिय-जातिमें उत्पन्न हुआ। अन्य सारी योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद अमित तेजस्वी व्यासजीकी कृपासे क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर वह उन महर्षिका दर्शन करनेके लिये उनके पास गया ॥ ९-१०½ ॥

स कीट एवमाभाष्य ऋषिणा सत्यवादिना।
प्रतिस्मृत्याथ जग्राह पादौ मूर्ध्ना कृताञ्जलिः॥ ११ ॥

वह कीट-योनिमें उन सत्यवादी महर्षि वेदव्यासजीके साथ बातचीत करके जो इस प्रकार उन्नतिशील हुआ था, उसकी याद करके उस क्षत्रियने हाथ जोड़कर ऋषिके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया ॥ ११ ॥

कीट उवाच

इदं तदतुलं स्थानमीप्सितं दशभिर्गुणैः।
यदहं प्राप्य कीटत्वमागतो राजपुत्रताम्॥ १२ ॥

कीट (क्षत्रिय) ने कहा—भगवन् ! आज मुझे वह स्थान मिला है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। इसे मैं दस जन्मोंसे पाना चाहता था। यह आपहीकी कृपा है कि मैं अपने दोषसे कीड़ा होकर भी आज राजकुमार हो गया हूँ ॥ १२ ॥

वहन्ति माममतिबलाः कुञ्जरा हेममालिनः।
स्यन्दनेषु च काम्बोजा युक्ताः परमवाजिनः॥ १३ ॥

अब सोनेकी मालाओंसे सुशोभित अत्यन्त बलवान् गजराज मेरी सवारीमें रहते हैं। उत्तम जातिके काबुली घोड़े मेरे रथोंमें जोते जाते हैं ॥ १३ ॥

उष्ट्राश्वतरयुक्तानि यानानि च वहन्ति माम्।
सबान्धवः सहामात्यश्चाश्नामि पिशितौदनम्॥ १४ ॥

ऊँटों और खच्चरोंसे जुती हुई गाड़ियाँ मुझे ढोती हैं। मैं भाई-बन्धुओं और मन्त्रियोंके साथ मांस-भात खाता हूँ ॥१४॥

गृहेषु स्वनिवासेषु सुखेषु शयनेषु च।
वरार्हेषु महाभाग स्वपामि च सुपूजितः॥ १५ ॥

महाभाग ! श्रेष्ठ पुरुषोंके रहने योग्य अपने निवासभूत सुन्दर महलोंके भीतर सुखद शय्याओंपर मैं बड़े सम्मानके साथ शयन करता हूँ ॥ १५ ॥

सर्वेष्वपररात्रेषु सूतमागधबन्दिनः।
स्तुवन्ति मां यथा देवा महेन्द्रं प्रियवादिनः॥ १६ ॥

प्रतिदिन रातके पिछले पहरोंमें सूत, मागध और वन्दीजन मेरी स्तुति करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे देवता प्रिय वचन बोलकर महेन्द्रके गुण गाते हैं ॥ १६ ॥

प्रसादात् सत्यसंधस्य भवतोऽमिततेजसः।
यदहं कीटतां प्राप्य सम्प्राप्तो राजपुत्रताम्॥ १७ ॥

आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, अमित तेजस्वी हैं, आपके प्रसादसे ही आज मैं कीड़ेसे राजपूत हो गया हूँ ॥ १७ ॥

नमस्तेऽस्तु महाप्राज्ञ किं करोमि प्रशाधि माम्।
त्वत्तपोबलनिर्दिष्टमिदं ह्यधिगतं मया॥ १८ ॥

महाप्राज्ञ ! आपको नमस्कार है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; आपके तपोबलसे ही मुझे राजपद प्राप्त हुआ है ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अर्चितोऽहं त्वया राजन् वाग्भिरद्य यदृच्छया।
अद्य ते कीटतां प्राप्य स्मृतिर्जाता जुगुप्सिता॥ १९ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! आज तुमने अपनी वाणीसे मेरा भलीभाँति स्तवन किया है। अभीतक तुम्हें अपनी कीट-

योनिकी घृणित स्मृति अर्थात् मांस खानेकी वृत्ति बनी हुई है॥

न तु नाशोऽस्ति पापस्य यस्त्वयोपचितः पुरा।
शूद्रेणार्थप्रधानेन नृशंसेनाततायिना ॥ २० ॥

तुमने पूर्वजन्ममें अर्थपरायण, नृशंस और आततायी शूद्र होकर जो पाप संचय किया था, उसका सर्वदा नाश नहीं हुआ है ॥ २० ॥

मम ते दर्शनं प्राप्तं तच्च वै सुकृतं त्वया।
तिर्यग्योनौ स्म जातेन मम चाभ्यर्चनात् तथा ॥ २१ ॥
इतस्त्वं राजपुत्रत्वाद् ब्राह्मण्यं समवाप्स्यसि।

कीट-योनिमें जन्म लेकर भी जो तुमने मेरा दर्शन किया, उसी पुण्यका यह फल है कि तुम राजपूत हुए और आज जो तुमने मेरी पूजा की, इसके फलस्वरूप तुम इस क्षत्रिय-योनिके पश्चात् ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे ॥ २१½ ॥

गोब्राह्मणकृते प्राणान् हुत्वाऽऽत्मानं रणाजिरे ॥ २२ ॥
राजपुत्र सुखं प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
अथ मोदिष्यसे स्वर्गे ब्रह्मभूतोऽव्ययः सुखी ॥ २३ ॥

राजकुमार! तुम नाना प्रकारके सुख भोगकर अन्तमें गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये संग्रामभूमिमें अपने प्राणोंकी आहुति दोगे। तदनन्तर ब्राह्मणरूपमें पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गसुखका उपभोग करोगे। तत्पश्चात् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप होकर अक्षय आनन्दका अनुभव करोगे ॥ २२-२३ ॥

तिर्यग्योन्याः शूद्रतामभ्युपैति
शूद्रो वैश्यं क्षत्रियत्वं च वैश्यः।
वृत्तश्लाघी क्षत्रियो ब्राह्मणत्वं
स्वर्गं पुण्यं ब्राह्मणः साधुवृत्तः ॥ २४ ॥

तिर्यग्-योनिमें पड़ा हुआ जीव जब ऊपरकी ओर उठता है, तब वहाँसे पहले शूद्र-भावको प्राप्त होता है। शूद्र वैश्ययोनिको, वैश्य क्षत्रिययोनिको और सदाचारसे सुशोभित क्षत्रिय ब्राह्मणयोनिको प्राप्त होता है। फिर सदाचारी ब्राह्मण पुण्यमय स्वर्गलोकको जाता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका ब्राह्मणयोनिमें जन्म लेकर ब्रह्मलोकमें जाकर सनातनब्रह्मको प्राप्त करना

भीष्म उवाच

क्षत्रधर्ममनुप्राप्तः स्मरन्नेव च वीर्यवान्।
त्यक्त्वा स कीटतां राजंश्चचार विपुलं तपः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार कीटयोनिका त्याग करके अपने पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाला वह जीव अब क्षत्रिय-धर्मको प्राप्त हो विशेष शक्तिशाली हो गया और बड़ी भारी तपस्या करने लगा ॥ १ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो दृष्ट्वा तद् विपुलं तपः।
आजगाम द्विजश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ २ ॥

तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उस राजकुमारकी उग्र तपस्या देखकर विप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी उसके पास आये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

क्षात्रं देवव्रतं कीट भूतानां परिपालनम्।
क्षात्रं देवव्रतं ध्यायंस्ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—पूर्वजन्मके कीट! प्राणियोंकी रक्षा करना देवताओंका व्रत है और यही क्षात्रधर्म है। इसका चिन्तन और पालन करके तुम अगले जन्ममें ब्राह्मण हो जाओगे ॥ ३ ॥

पाहि सर्वाः प्रजाः सम्यक् शुभाशुभविदात्मवान्।
शुभैः संविभजन् कामैरशुभानां च पावनैः ॥ ४ ॥
आत्मवान् भव सुप्रीतः स्वधर्माचरणे रतः।
क्षात्रीं तनुं समुत्सृज्य ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ५ ॥

तुम शुभ और अशुभका ज्ञान प्राप्त करो तथा अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करके भलीभाँति प्रजाका पालन करो। उत्तम भोगोंका दान करते हुए अशुभ दोषोंका मार्जन करके प्रजाको पावन बनाकर आत्मज्ञानी एवं सुप्रसन्न हो जाओ तथा सदा स्वधर्मके आचरणमें तत्पर रहो। तदनन्तर क्षत्रिय-शरीरका त्याग करके ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे ॥ ४-५ ॥

भीष्म उवाच

सोऽप्यरण्यमनुप्राप्य पुनरेव युधिष्ठिर।
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रजा धर्मेण पाल्य च ॥ ६ ॥
अचिरेणैव कालेन कीटः पार्थिवसत्तम।
प्रजापालनधर्मेण प्रेत्य विप्रत्वमागतः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह भूतपूर्व

कीट महर्षि वेदव्यासका वचन सुनकर धर्मके अनुसार प्रजाका पालन करने लगा। तत्पश्चात् वह पुनः वनमें जाकर थोड़े ही समयमें परलोकवासी हो प्रजापालनरूप धर्मके प्रभावसे ब्राह्मण-कुलमें जन्म पा गया ॥ ६-७ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा पुनरेव महायशाः।
आजगाम महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ८ ॥

उसे ब्राह्मण हुआ जान महायशस्वी महाज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पुनः उसके पास आये ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

भो भो ब्रह्मर्षभ श्रीमन् मा व्यथिष्ठाः कथंचन।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ॥ ९ ॥

व्यासजीने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! अब तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम योनियोंमें और पाप करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ ९ ॥

उपपद्यति धर्मज्ञ यथापापफलोपगम्।
तस्मान्मृत्युभयात् कीट मा व्यथिष्ठाः कथंचन ॥ १० ॥
धर्मलोपभयं ते स्यात् तस्माद् धर्मं चरोत्तमम्।

धर्मज्ञ! मनुष्य जैसा पाप करता है, उसके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है। अतः भूतपूर्व कीट! अब तुम मृत्युके भयसे किसी प्रकार व्यथित न होओ। हाँ, तुम्हें धर्मके लोपका भय अवश्य होना चाहिये, इसलिये उत्तम धर्मका आचरण करते रहो ॥ १०½ ॥

कीट उवाच

सुखात् सुखतरं प्राप्तो भगवंस्त्वत्कृते ह्यहम् ॥ ११ ॥
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य पाप्मा नष्ट इहाद्य मे।

भूतपूर्व कीटने कहा—भगवन्! आपके ही प्रयत्नसे मैं अधिकाधिक सुखकी अवस्थाको प्राप्त होता गया हूँ। अब इस जन्ममें धर्ममूलक सम्पत्ति पाकर मेरा सारा पाप नष्ट हो गया ॥ ११½ ॥

भीष्म उवाच

भगवद्वचनात् कीटो ब्राह्मण्यं प्राप्य दुर्लभम् ॥ १२ ॥
अकरोत् पृथिवीं राजन् यज्ञयूपशताङ्किताम्।
ततः सालोक्यमगमद् ब्रह्मणो ब्रह्मवित्तमः ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भगवान् व्यासके कथनानुसार उस भूतपूर्व कीटने दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर पृथ्वीको सैकड़ों यज्ञयूपोंसे अङ्कित कर दिया। तदनन्तर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होकर उसने ब्रह्मसालोक्य प्राप्त किया अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त किया ॥

अवाप च पदं कीटः पार्थ ब्रह्म सनातनम्।
स्वकर्मफलनिर्वृत्तं व्यासस्य वचनात् तदा ॥ १४ ॥

पार्थ! व्यासजीके कथनानुसार उसने स्वधर्मका पालन किया था। उसीका यह फल हुआ कि उस कीटने सनातन ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया ॥ १४ ॥

तेऽपि यस्मात् प्रभावेण हताः क्षत्रियपुङ्गवाः।
सम्प्राप्तास्ते गतिं पुण्यां तस्मान्मा शोच पुत्रक ॥ १५ ॥

बेटा! (क्षत्रिययोनिमें उस कीटने युद्ध करके प्राण त्याग किया था, इसलिये उसे उत्तम गतिकी प्राप्ति हुई।) इसी प्रकार जो प्रधान-प्रधान क्षत्रिय अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस रणभूमिमें मारे गये हैं, वे भी पुण्यमयी गतिको प्राप्त हुए हैं। अतः उसके लिये तुम शोक न करो ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास और मैत्रेयका संवाद—दानकी प्रशंसा और कर्मका रहस्य

युधिष्ठिर उवाच

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! विद्या, तप और दान—इनमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है? यह मैं आपसे पूछता हूँ, मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और मैत्रेयके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन्।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले ॥ ३ ॥

नरेश्वर! एक समयकी बात है—भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी गुप्तरूपसे विचरते हुए वाराणसीपुरीमें जा पहुँचे। वहाँ मुनियोंकी मण्डलीमें बैठे हुए मुनिवर मैत्रेयजीके यहाँ वे उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तम।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम्॥ ४ ॥

पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजीको पहचानकर मैत्रेयजीने उनका पूजन किया और उन्हें उत्तम अन्न भोजन कराया ॥ ४ ॥

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत् सार्वकामिकम्।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः ॥ ५ ॥

वह उत्तम लाभदायक और सबकी रुचिके अनुकूल अन्न भोजन करके महामना व्यासजी बहुत संतुष्ट हुए। फिर जब वे वहाँसे चलने लगे तो मुस्कराये ॥ ५ ॥

तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत्।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन् व्यस्मयिष्ठाः कुतश्च ते ॥ ६ ॥
तपस्विनो धृतिमतः प्रमोदः समुपागतः।
एतत् पृच्छामि ते विद्वन्नभिवाद्य प्रणम्य च ॥ ७ ॥

उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजीने व्यासजीसे पूछा—'धर्मात्मन्! विद्वन्! मैं आपको अभिवादन एवं प्रणाम[1] करके यह पूछता हूँ कि आप अभी-अभी जो मुस्कराए हैं, उसका क्या कारण है? आपको हँसी कैसे आयी? आप तो तपस्वी और धैर्यवान् हैं। आपको कैसे सहसा उल्लास हो आया? यह मुझे बताइये ॥ ६-७ ॥

आत्मनश्च तपोभाग्यं महाभाग्यं तवेह च।
पृथगाचरतस्तात पृथगात्मसुखात्मनोः।
अल्पान्तरमहं मन्ये विशिष्टमपि चान्वयात्॥ ८ ॥

'तात! मैं अपनेमें तपस्याजनित सौभाग्य देखता हूँ और आपमें यहाँ सहज महाभाग्य प्रतिष्ठित है (क्योंकि आप मेरे गुरुपुत्र हैं)। जीवात्मा और परमात्मामें मैं बहुत थोड़ा अन्तर मानता हूँ। परमात्माका सभी पदार्थोंके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है। इसीलिये मैं उसे जीवात्माकी अपेक्षा श्रेष्ठ भी मानता हूँ, किंतु आप तो जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न जाननेवाले हैं, फिर आपका आचरण इस मान्यतासे भिन्न हो रहा है; क्योंकि आपको कुछ विस्मय हुआ है और मुझे नहीं हुआ है' ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत्॥ ९ ॥

व्यासजीने कहा—ब्रह्मन्! अतिथिको अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छाके अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है और वाणीद्वारा अतिथिके गौरवका जो प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अतिवाद' कहते हैं। मुझे यहाँ अतिच्छन्द और अतिवाद दोनों प्राप्त हुए हैं, इसीलिये मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। (दान और आतिथ्य आदिका महत्त्व वेदोंके द्वारा प्रतिपादित हुआ है।) वेदोंका वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद क्यों असत्य कहेगा? ॥ ९ ॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥ १० ॥

वेद मनुष्यके लिये तीन बातोंको उत्तम व्रत बताते हैं—(१) किसीके प्रति द्रोह न करे, (२) दान दे तथा (३) दूसरोंसे सदा सत्य बोले ॥ १० ॥

इति वेदोक्तमृषिभिः पुरस्तात् परिकल्पितम्।
इदानीं चैव नः कृत्यं पुरस्ताच्च परिश्रुतम्॥ ११ ॥

वेदके इस कथनका सबसे पहले ऋषियोंने पालन किया। हमने भी बहुत पहलेसे इसे सुन रखा है और इस समय भी वेदकी इस आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है ॥ ११ ॥

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः।
तृषिताय च ते दत्तं हृदयेनानसूयता ॥ १२ ॥

शास्त्रविधिके अनुसार दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् फल देनेवाला होता है। तुमने ईर्ष्यारहित हृदयसे भूखे-प्यासे अतिथिको अन्न-जलका दान किया है ॥ १२ ॥

तृषितस्तृषिताय त्वं दत्त्वैतद् दर्शनं मम।
अजैषीर्महतो लोकान् महायज्ञैरिव प्रभो ॥ १३ ॥

प्रभो! मैं भूखा और प्यासा था। तुमने मुझ भूखे-प्यासेको अन्न-जल देकर तृप्त किया। इस पुण्यके प्रभावसे महान् यज्ञोंद्वारा प्राप्त होनेवाले बड़े-बड़े लोकोंपर तुमने विजय पायी है—यह मुझे प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ १३ ॥

ततो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च।
पुण्यस्यैव हि ते सत्त्वं पुण्यस्यैव च दर्शनम्॥ १४ ॥

इस दानके द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्यासे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्यका ही बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्यका ही दर्शन है ॥ १४ ॥

पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते मन्ये कर्मविधानजम्।
अधिकं मार्जनात् तात तथा चैवानुलेपनात्॥ १५ ॥

तुम्हारे शरीरसे जो सदा पुण्यकी ही सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं इस दानरूप पुण्यकर्मके अनुष्ठानका ही फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक व्रतकी पूर्तिसे भी बढ़कर है ॥ १५ ॥

शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज।

१. आदरणीय पुरुषके चरणोंको हाथसे पकड़कर जो नमस्कार किया जाता है, उसे अभिवादन कहते हैं और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर उसे अपने ललाटसे लगाकर जो वन्दनीय पुरुषको मस्तक झुकाया जाता है, उसका नाम प्रणाम है।

नो चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत् ॥ १६ ॥

ब्रह्मन् ! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओंसे श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रोंमें उसकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती ॥ १६ ॥

यानीमान्युत्तमानीह वेदोक्तानि प्रशंससि।
तेषां श्रेष्ठतरं दानमिति मे नात्र संशयः ॥ १७ ॥

तुम जिन-जिन वेदोक्त उत्तम कर्मोंकी यहाँ प्रशंसा करते हो, उन सबमें दान ही श्रेष्ठतर है, इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ १७ ॥

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥ १८ ॥

दाताओंने जो मार्ग बना दिया है, उसीसे मनीषी पुरुष चलते हैं। दान करनेवाले प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हींमें धर्म प्रतिष्ठित है ॥ १८ ॥

यथा वेदाः स्वधीताश्च यथा चेन्द्रियसंयमः।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम् ॥ १९ ॥

जैसे वेदोंका स्वाध्याय, इन्द्रियोंका संयम और सर्वस्वका त्याग उत्तम है, उसी प्रकार इस संसारमें दान भी अत्यन्त उत्तम माना गया है ॥ १९ ॥

त्वं हि तात महाबुद्धे सुखमेष्यसि शोभनम्।
दुःखात् सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ॥ २० ॥

तात ! महाबुद्धे ! तुमको इस दानके कारण उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमान् मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[illegible]ः प्रत्यक्षमेवेदमुपलभ्यमसंशयम्।
[illegible]मन्तः प्राप्नुवन्त्यर्थान् दानं यज्ञं तथा सुखम् ॥ २१ ॥

यह बात हमलोगोंके सामने प्रत्यक्ष है। हमें निःसंदेह [illegible]ा ही समझना चाहिये। तुम-जैसे श्रीसम्पन्न पुरुष जब [illegible] पाते हैं, तब उससे दान, यज्ञ और सुख भोग करते हैं ॥

[illegible]खादेव परं दुःखं दुःखादप्यपरं सुखम्।
[illegible]यते हि महाप्राज्ञ नियतं वै स्वभावतः ॥ २२ ॥

महाप्राज्ञ ! किंतु जो लोग विषयसुखोंमें आसक्त हैं, वे सुखसे ही महान् दुःखमें पड़ते हैं और जो तपस्या आदिके द्वारा दुःख उठाते हैं, उन्हें दुःखसे ही सुखकी प्राप्ति होती देखी जाती है। सुख और दुःख मनुष्यके स्वभावके अनुसार नियत हैं ॥ २२ ॥

त्रिविधानीह वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः।
पुण्यमन्यत् पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम् ॥ २३ ॥

इस जगत्में मनीषी पुरुषोंने मनुष्यके तीन प्रकारके आचरण बतलाये हैं—पुण्यमय, पापमय तथा पुण्य-पाप दोनोंसे रहित ॥ २३ ॥

न वृत्तं मन्यते तस्य मन्यते न च पातकम्।
तथा स्वकर्मनिर्वृत्तं न पुण्यं न च पापकम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है। अतः उसके किये हुए कर्मको न पुण्य माना जाता है न पाप। उसे अपने कर्मजनित पुण्य और पापकी प्राप्ति होती ही नहीं है ॥ २४ ॥

यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः ॥ २५ ॥

जो यज्ञ, दान और तपस्यामें प्रवीण रहते हैं, वे ही मनुष्य पुण्य कर्म करनेवाले हैं तथा जो प्राणियोंसे द्रोह करते हैं, वे ही पापाचारी समझे जाते हैं ॥ २५ ॥

द्रव्याण्याददते चैव दुःखं यान्ति पतन्ति च।
ततोऽन्यत् कर्म यत्किंचिन्न पुण्यं न च पातकम् ॥ २६ ॥

जो मनुष्य दूसरोंके धन चुराते हैं, वे दुःख पाते और नरकमें पड़ते हैं। इन उपर्युक्त शुभाशुभ कर्मोंसे भिन्न जो साधारण चेष्टा है, वह न तो पुण्य है और न तो पाप ही है ॥

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च।
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः ॥ २७ ॥

महर्षे ! तुम आनन्दपूर्वक स्वधर्म-पालनमें रत रहो, तुम्हारी निरन्तर उन्नति हो, तुम प्रसन्न रहो, दान दो और यज्ञ करो। विद्वान् और तपस्वी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मणको अन्नदानकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

[illegible]मुक्तः प्रत्युवाच मैत्रेयः कर्मपूजकः।
अत्यन्तश्रीमति कुले जातः प्राज्ञो बहुश्रुतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजीके ऐसा कहने-

पर कर्मपूजक मैत्रेयने जो अत्यन्त श्रीसम्पन्न कुलमें उत्पन्न हुए बहुश्रुत विद्वान् थे, उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १॥

मैत्रेय उवाच

असंशयं महाप्राज्ञ यथैवात्थ तथैव तत्।
अनुज्ञातश्च भवता किंचिद् ब्रूयामहं विभो ॥ २ ॥

मैत्रेय बोले—महाप्राज्ञ ! आप जैसा कहते हैं ठीक वैसी ही बात है, इसमें संशय नहीं है। प्रभो ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं कुछ कहूँ ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यद् यदिच्छसि मैत्रेय यावद् यावद् यथा यथा।
ब्रूहि तत्त्वं महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ मैत्रेय ! तुम जो-जो, जितनी-जितनी और जैसी-जैसी बातें कहना चाहो, कहो। मैं तुम्हारी बातें सुनूँगा ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

निर्दोषं निर्मलं चैवं वचनं दानसंहितम्।
विद्यातपोभ्यां हि भवान् भावितात्मा न संशयः॥ ४ ॥

मैत्रेय बोले—मुने ! आपने दानके सम्बन्धमें जो बातें बतायी हैं, वे दोषरहित और निर्मल हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपने विद्या और तपस्यासे अपने अन्तःकरणको परम पवित्र बना लिया है ॥ ४ ॥

भवतो भावितात्मत्वाल्लाभोऽयं सुमहान् मम।
भूयो बुद्ध्यानुपश्यामि सुसमृद्धतपा इव ॥ ५ ॥

आप शुद्धचित्त हैं, इसलिये आपके समागमसे मुझे यह महान् लाभ पहुँचा है। यह बात मैं समृद्धिशाली तपवाले महर्षिके समान बुद्धिसे बारंबार विचारकर प्रत्यक्ष देखता हूँ॥

अपि नो दर्शनादेव भवतोऽभ्युदयो भवेत्।
मन्ये भवत्प्रसादोऽयं तद्धि कर्म स्वभावतः ॥ ६ ॥

आपके दर्शनसे ही हमलोगोंका महान् अभ्युदय हो सकता है। आपने जो दर्शन दिया, यह आपकी बहुत बड़ी कृपा है। मैं ऐसा ही मानता हूँ। यह कर्म भी आपकी कृपासे ही स्वभावतः बन गया है ॥६॥

तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणत्वके तीन कारण माने गये हैं—तपस्या, शास्त्रज्ञान और विशुद्ध ब्राह्मणकुलमें जन्म। जो इन तीनों गुणोंसे सम्पन्न है, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ७ ॥

अस्मिंस्तृप्ते च तृप्यन्ते पितरो दैवतानि च।
न हि श्रुतवतां किंचिदधिकं ब्राह्मणादृते ॥ ८ ॥

ऐसे ब्राह्मणके तृप्त होनेपर देवता और पितर भी तृप्त हो जाते हैं। विद्वानोंके लिये ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई मान्य नहीं है ॥ ८ ॥

अन्धं स्यात् तम एवेदं न प्रज्ञायेत किंचन।
चातुर्वर्ण्यं न वर्तेत धर्माधर्मावृतानृते ॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मण न हों तो यह सारा जगत् अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न हो जाय। किसीको कुछ सूझ न पड़े तथा चारों वर्णोंकी स्थिति, धर्म-अधर्म और सत्यासत्य कुछ भी न रह जाय ॥ ९ ॥

यथा हि सुकृते क्षेत्रे फलं विन्दति मानवः।
एवं दत्त्वा श्रुतवति फलं दाता समश्नुते ॥ १० ॥

जैसे मनुष्य अच्छी तरह जोतकर तैयार किये हुए खेतमें बीज डालनेपर उसका फल पाता है, उसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मणको दान देकर दाता निश्चय ही उसके फलका भागी होता है ॥ १० ॥

ब्राह्मणश्चेन्न विन्देत श्रुतवृत्तोपसंहितः।
प्रतिग्रहीता दानस्य मोघं स्याद् धनिनां धनम् ॥ ११ ॥

यदि विद्या और सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मण जो दान लेनेका प्रधान अधिकारी है, धन न पा सके तो धनियोंका धन व्यर्थ हो जाय ॥ ११ ॥

अदन्नविद्वान् हन्त्यन्नमद्यमानं च हन्ति तम्।
तं चान्नं पाति यश्चान्नं स हन्ता हन्यतेऽबुधः ॥ १२ ॥

मूर्ख मनुष्य यदि किसीका अन्न खाता है तो वह उस अन्नको नष्ट करता है (अर्थात् कर्ताको उसका कुछ फल नहीं मिलता)। इसी प्रकार वह अन्न भी उस मूर्खको नष्ट कर डालता है। जो सुपात्र होनेके कारण अन्न और दाताकी रक्षा करता है, उसकी भी वह अन्न रक्षा करता है। मूर्ख दानके फलका हनन करता है, वह स्वयं भी मारा जाता है ॥ १२ ॥

प्रभुर्ह्यन्नमदन् विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः।
स चान्नाज्जायते तस्मात् सूक्ष्म एष व्यतिक्रमः ॥ १३ ॥

प्रभाव और शक्तिसे सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण यदि अन्न भोजन करता है तो वह पुनः अन्नका उत्पादन करता है; किंतु वह स्वयं अन्नसे उत्पन्न होता है, इसलिये यह व्यतिक्रम सूक्ष्म (दुर्विज्ञेय) है अर्थात् यद्यपि वृष्टिसे अन्नकी और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है; किंतु यह प्रजा (विद्वान् ब्राह्मण)-से अन्नकी उत्पत्तिका विषय दुर्विज्ञेय है ॥ १३ ॥

यदेव ददतः पुण्यं तदेव प्रतिगृह्णतः।
न ह्येकचक्रं वर्तेत इत्येवमृषयो विदुः ॥ १४ ॥

'दान देनेवालेको जो पुण्य होता है, वही दान लेनेवालेको भी (यदि वह योग्य अधिकारी है तो) होता है। (क्योंकि दोनों एक दूसरेके उपकारक होते हैं) एक पहियेसे गाड़ी

हीं चलती—प्रतिग्रहीताके बिना दाताका दान सफल नहीं सकता।' ऐसी ऋषियोंकी मान्यता है ॥ १४ ॥

त्र वै ब्राह्मणाः सन्ति श्रुतवृत्तोपसंहिताः।
त्र दानफलं पुण्यमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ १५ ॥

जहाँ विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण रहते हैं, वहीं दिये ए दानका फल इहलोक और परलोकमें मनुष्य भोगता है॥

योनिशुद्धाः सततं तपस्यभिरता भृशम्।
ानाध्ययनसम्पन्नास्ते वै पूज्यतमाः सदा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण विशुद्ध कुलमें उत्पन्न, निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले, बहुत दानपरायण तथा अध्ययनसम्पन्न हैं, वे ही सदा पूज्य माने गये हैं ॥ १६ ॥

तैर्हि सद्भिः कृतः पन्थास्तेन यातो न मुह्यते।
ते हि स्वर्गस्य नेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ॥ १७ ॥

ऐसे सत्पुरुषोंने जिस मार्गका निर्माण किया है, उससे चलनेवालेको कभी मोह नहीं होता; क्योंकि वे मनुष्योंको स्वर्गलोकमें ले जानेवाले तथा सनातन यज्ञनिर्वाहक हैं॥१७॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायामेकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—तपकी प्रशंसा तथा गृहस्थके उत्तम कर्तव्यका निर्देश

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् मैत्रेयं प्रत्यभाषत।
दिष्ट्यैवं त्वं विजानासि दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मैत्रेयके इस प्रकार कहनेपर भगवान् वेदव्यास उनसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, जो ऐसी बातोंका ज्ञान रखते हो। भाग्यसे ही तुमको ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है ॥ १ ॥

लोको ह्यार्यगुणानेव भूयिष्ठं तु प्रशंसति।
रूपमानवयोमानश्रीमानाश्चाप्यसंशयम् ॥ २ ॥
दिष्ट्या नाभिभवन्ति त्वां दैवस्तेऽयमनुग्रहः।

'संसारके लोग उत्तम गुणवाले पुरुषकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं। सौभाग्यकी बात है कि रूप, अवस्था और सम्पत्तिके अभिमान तुम्हारे ऊपर प्रभाव नहीं डालते हैं। यह तुमपर देवताओंका महान् अनुग्रह है। इसमें संशय नहीं है ॥ २½ ॥

त्त् ते भृशतरं दानाद् वर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥
ानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
ानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

'अस्तु, अब मैं दानसे भी उत्तम धर्मका तुमसे वर्णन करता हूँ, सुनो। इस जगत्में जितने शास्त्र और जो कोई भी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब वेदको ही सामने रखकर क्रमशः प्रचलित हुए हैं॥ ३-४ ॥

हं दानं प्रशंसामि भवानपि तपःश्रुते।
पः पवित्रं वेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम् ॥ ५ ॥

'मैं दानकी प्रशंसा करता हूँ, तुम भी तपस्या और शास्त्रज्ञानकी प्रशंसा करते हो, वास्तवमें तपस्या पवित्र और वेदाध्ययन एवं स्वर्गका उत्तम साधन है ॥ ५ ॥

तपसा महदाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम्।
तपसैव चापनुदेद् यच्चान्यदपि दुष्कृतम् ॥ ६ ॥

'मैंने सुना है कि तपस्या और विद्या दोनोंसे ही मनुष्य महान् पदको प्राप्त करता है। अन्यान्य जो पाप हैं, उन्हें भी तपस्यासे ही वह दूर कर सकता है ॥ ६ ॥

यद् यद्धि किंचित् संधाय पुरुषस्तप्यते तपः।
सर्वमेतदवाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

'जो कोई भी उद्देश्य लेकर पुरुष तपस्यामें प्रवृत्त होता है, वह सब उसे तप और विद्यासे प्राप्त हो जाता है; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ७ ॥

दुरन्वयं दुष्प्रधर्षं दुरापं दुरतिक्रमम्।
सर्वं वै तपसाभ्येति तपो हि बलवत्तरम् ॥ ८ ॥

'जिससे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है, जो दुर्धर्ष, दुर्लभ और दुर्लङ्घ्य है, वह सब तपस्यासे सुलभ हो जाता है; क्योंकि तपस्याका बल सबसे बड़ा है ॥ ८ ॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसा तरते सर्वमेनसश्च प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

'शराबी, चोर, गर्भहत्यारा, गुरुकी शय्यापर शयन करनेवाला पापी भी तपस्याद्वारा सम्पूर्ण संसारसे पार हो जाता है और अपने पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ९ ॥

सर्वविद्यस्तु चक्षुष्मानपि यादृशतादृशम्।
तपस्विनं तथैवाहुस्ताभ्यां कार्यं सदा नमः ॥ १० ॥

'जो सब प्रकारकी विद्याओंमें प्रवीण है, वही नेत्रवान्

है और तपस्वी, चाहे जैसा हो उसे भी नेत्रवान् ही कहा जाता है। इन दोनोंको सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ १० ॥

सर्वे पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
दानप्रदाः सुखं प्रेत्य प्राप्नुवन्तीह च श्रियम् ॥ ११ ॥

'जो विद्याके धनी और तपस्वी हैं, वे सब पूजनीय हैं तथा दान देनेवाले भी इस लोकमें धन-सम्पत्ति और परलोकमें सुख पाते हैं ॥ ११ ॥

इमं च ब्रह्मलोकं च लोकं च बलवत्तरम्।
अन्नदानैः सुकृतिनः प्रतिपद्यन्ति लौकिकाः ॥ १२ ॥

संसारके पुण्यात्मा पुरुष अन्न-दान देकर इस लोकमें भी सुखी होते हैं और मृत्युके बाद ब्रह्मलोक तथा दूसरे शक्तिशाली लोकको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च।
स दाता यत्र यत्रैति सर्वतः सम्प्रणूयते ॥ १३ ॥

'दानी स्वयं पूजित और सम्मानित होकर दूसरोंका पूजन और सम्मान करते हैं। दाता जहाँ-जहाँ जाते हैं, सब ओर उनकी स्तुति की जाती है ॥ १३ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च लभते यस्य यादृशम्।
यदि चोर्ध्वं यद्यधो वा स्वाल्ँलोकानभियास्यति ॥ १४ ॥

'मनुष्य दान करता हो या न करता हो, वह ऊपरके लोकमें रहता हो या नीचेके लोकमें, जिसे कर्मानुसार जैसा लोक प्राप्त होगा, वह अपने उसी लोकमें जायगा ॥ १४ ॥

प्राप्स्यसि त्वन्नपानानि यानि वाञ्छसि कानिचित्।
मेधाव्यसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ॥ १५ ॥
कौमारचारी व्रतवान् मैत्रेय निरतो भव।
एतद् गृहाण प्रथमं प्रशस्तं गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

'मैत्रेयजी! तुम जो कुछ चाहोगे, उसके अनुसार तुमको अन्न-पानकी सामग्री प्राप्त होगी। तुम बुद्धिमान्, कुलीन, शास्त्रज्ञ और दयालु हो। तुम्हारी तरुण अवस्था है और तुम व्रतधारी हो। अतः सदा धर्म-पालनमें लगे रहो और गृहस्थोंके लिये जो सबसे उत्तम एवं मुख्य कर्तव्य है, उसे ग्रहण करो—ध्यान देकर सुनो ॥ १५-१६ ॥

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।
यस्मिन्नेवं कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते ॥ १७ ॥

'जिस कुलमें पति अपनी पत्नीसे और पत्नी अपने पतिसे संतुष्ट रहती हो, वहाँ सदा कल्याण होता है ॥ १७ ॥

अद्भिर्गात्रान्मलमिव तमोऽग्निप्रभया यथा।
दानेन तपसा चैव सर्वपापमपोहति ॥ १८ ॥

'जिस प्रकार जलसे शरीरका मल धुल जाता है और अग्निकी प्रभासे अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार दान और तपस्यासे मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

(दानेन तपसा चैव विष्णोरभ्यर्चनेन च।
ब्राह्मणः स महाभाग तरेत् संसारसागरात् ॥
स्वकर्मशुद्धसत्त्वानां तपोभिर्निर्मलात्मनाम्।
विद्यया गतमोहानां तारणाय हरिः स्मृतः ॥
तदर्चनपरो नित्यं तद्भक्तस्तं नमस्कुरु।
तद्भक्ता न विनश्यन्ति ह्यष्टाक्षरपरायणाः ॥
प्रणवोपासनपराः परमार्थपरास्त्विह।
एतैः पावय चात्मानं सर्वपापमपोह्य च ॥)

'महाभाग! ब्राह्मण दान, तपस्या और भगवान् विष्णुकी आराधनाके द्वारा संसारसागरसे पार हो जाता है। जिन्होंने अपने वर्णोचित्त कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तःकरणको शुद्ध बना लिया है, तपस्याद्वारा जिनका चित्त निर्मल हो गया है तथा विद्याके प्रभावसे जिनका मोह दूर हो गया है, ऐसे मनुष्योंके उद्धारके लिये भगवान् श्रीहरि माने गये हैं अर्थात् उनका स्मरण करते ही वे अवश्य उद्धार करते हैं। अतः तुम भगवान् विष्णुकी आराधनामें तत्पर हो सदा उनके भक्त बने रहो और निरन्तर उन्हें नमस्कार करो। अष्टाक्षर मन्त्रके जपमें तत्पर रहनेवाले भगवद्भक्त कभी नष्ट नहीं होते। जो इस जगत्में प्रणवोपासनामें संलग्न और परमार्थ-साधनमें तत्पर हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके सङ्गसे सारा पाप दूर करके अपने आपको पवित्र करो ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि मैत्रेय गृहान् साधु व्रजाम्यहम्।
एतन्मनसि कर्तव्यं श्रेय एवं भविष्यति ॥ १९ ॥

'मैत्रेय! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं सावधानीके साथ अपने आश्रमको जा रहा हूँ। मैंने जो कुछ बताया है, उसे याद रखना; इससे तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ १९ ॥

तं प्रणम्याथ मैत्रेयः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
स्वस्ति प्राप्नोतु भगवानित्युवाच कृताञ्जलिः ॥ २० ॥

तब मैत्रेयजीने व्यासजीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप मङ्गल प्राप्त करें' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

देवलोकमें पतिव्रता शाण्डिली और सुमनाकी बातचीत

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शाण्डिली और सुमनाका संवाद—पतिव्रता स्त्रियोंके कर्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मविदां वर ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ पितामह ! साध्वी स्त्रियोंके सदाचारका क्या स्वरूप है ? यह मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ। उसे मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम् ।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! देवलोककी बात है—सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली सर्वज्ञा एवं मनस्विनी शाण्डिलीदेवीसे केकयराजकी पुत्री सुमनाने इस प्रकार प्रश्न किया—॥ २ ॥

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा ।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥ ३ ॥

'कल्याणि ! तुमने किस बर्ताव अथवा किस सदाचारके प्रभावसे समस्त पापोंका नाश करके देवलोकमें पदार्पण किया है ? ॥ ३ ॥

हुताशनशिखेव त्वं ज्वलमाना स्वतेजसा ।
सुता ताराधिपस्येव प्रभया दिवमागता ॥ ४ ॥

'तुम अपने तेजसे अग्निकी ज्वालाके समान प्रज्वलित हो रही हो और चन्द्रमाकी पुत्रीके समान अपनी उज्ज्वल-प्रभासे प्रकाशित होती हुई स्वर्गलोकमें आयी हो ॥ ४ ॥

अरजांसि च वस्त्राणि धारयन्ती गतक्लमा ।
विमानस्था शुभा भासि सहस्रगुणमोजसा ॥ ५ ॥

'निर्मल वस्त्र धारण किये थकावट और परिश्रमसे रहित होकर विमानपर बैठी हो । तुम्हारी मङ्गलमयी आकृति है, तुम अपने तेजसे सहस्रगुनी शोभा पा रही हो ॥ ५ ॥

न त्वमल्पेन तपसा दानेन नियमेन वा ।
इमं लोकमनुप्राप्ता त्वं हि तत्त्वं वदस्व मे ॥ ६ ॥

'थोड़ी-सी तपस्या, थोड़े-से दान या छोटे-मोटे नियमोंका पालन करके तुम इस लोकमें नहीं आयी हो । अतः अपनी साधनाके सम्बन्धमें सच्ची-सच्ची बात बताओ' ॥ ६ ॥

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी ।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सुमनाके इस प्रकार मधुर वाणीमें पूछनेपर मनोहर मुसकानवाली शाण्डिलीने उससे नम्रतापूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार कहा— ॥ ७ ॥

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी ।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥ ८ ॥

'देवि ! मैंने गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया, वल्कलवस्त्र नहीं पहना, मूँड़ नहीं मुड़ाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ नहीं रखायीं । वह सब करके मैं देवलोकमें नहीं आयी हूँ ॥ ८ ॥

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥ ९ ॥

'मैंने सदा सावधान रहकर अपने पतिदेवके प्रति मुँहसे कभी अहितकर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं ॥ ९ ॥

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ॥ १० ॥

'मैं सदा सास-ससुरकी आज्ञामें रहती और देवता, पितर तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें सदा सावधान होकर संलग्न रहती थी ॥ १० ॥

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ॥ ११ ॥

'किसीकी चुगली नहीं खाती थी । चुगली करना मेरे मनको बिल्कुल नहीं भाता था । मैं घरका दरवाजा छोड़कर अन्यत्र नहीं खड़ी होती और देरतक किसीसे बात नहीं करती थी ॥ ११ ॥

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ॥ १२ ॥

'मैंने कभी एकान्तमें या सबके सामने किसीके साथ अश्लील परिहास नहीं किया तथा मेरी किसी क्रियाद्वारा किसीका अहित भी नहीं हुआ । मैं ऐसे कार्योंमें कभी प्रवृत्त नहीं होती थी ॥ १२ ॥

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ॥ १३ ॥

'यदि मेरे स्वामी किसी कार्यसे बाहर जाकर फिर घरको लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठनेके लिये आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी ॥ १३ ॥

यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ॥ १४ ॥

'मेरे स्वामी जिस अन्नको ग्रहण करने योग्य नहीं समझते थे तथा जिस भक्ष्य, भोज्य या लेह्य आदिको वे नहीं पसंद करते थे, उन सबको मैं भी त्याग देती थी ॥ १४ ॥

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु ।

प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ॥ १५ ॥

'सारे कुटुम्बके लिये जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं सबेरे ही उठकर कर-करा लेती थी ॥ १५ ॥

(अग्निसंरक्षणपरा गृहशुद्धिं च कारये ।
कुमारान् पालये नित्यं कुमारीं परिशिक्षये ॥
आत्मप्रियाणि हित्वापि गर्भसंरक्षणे रता ।
बालानां वर्जये नित्यं शापं कोपं प्रतापनम् ॥
अविक्षिप्तानि धान्यानि नान्नविक्षेपणं गृहे ।
रत्नवत् स्पृहये गेहे गावः सयवसोदकाः ॥
समुद्गम्य च शुद्धाहं भिक्षां दद्यां द्विजातिषु ।)

'मैं अग्निहोत्रकी रक्षा करती और घरको लीप-पोतकर शुद्ध रखती थी । बच्चोंका प्रतिदिन पालन करती और कन्याओंको नारीधर्मकी शिक्षा देती थी । अपनेको प्रिय लगनेवाली खाद्य वस्तुएँ त्यागकर भी गर्भकी रक्षामें ही सदा संलग्न रहती थी । बच्चोंको शाप (गाली) देना, उनपर क्रोध करना अथवा उन्हें सताना आदि मैं सदाके लिये त्याग चुकी थी । मेरे घरमें कभी अनाज छींटे नहीं जाते थे । किसी भी अन्नको बिखेरा नहीं जाता था । मैं अपने घरमें गौओंको घास-भूसा खिलाकर, पानी पिलाकर तृप्त करती थी और रत्नकी भाँति उन्हें सुरक्षित रखनेकी इच्छा करती थी तथा शुद्ध अवस्थामें मैं आगे बढ़कर ब्राह्मणोंको भिक्षा देती थी ॥

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा ॥ १६ ॥

'यदि मेरे पति किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियमसे रहकर उनके कल्याणके लिये नाना प्रकारके माङ्गलिक कार्य किया करती थी ॥ १६ ॥

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥ १७ ॥

'स्वामीके बाहर चले जानेपर मैं आँखोंमें आँजन लगाना, ललाटमें गोरोचनका तिलक करना, तैलाभ्यङ्गपूर्वक स्नान करना, फूलोंकी माला पहनना, अङ्गोंमें अङ्गराग लगाना तथा शृङ्गार करना पसंद नहीं करती थी ॥ १७ ॥

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ॥ १८ ॥

'जब स्वामी सुखपूर्वक सो जाते उस समय आवश्यक कार्य आ जानेपर भी मैं उन्हें कभी नहीं जगाती थी । इससे मेरे मनको विशेष संतोष प्राप्त होता था ॥ १८ ॥

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशना ॥ १९ ॥

'परिवारके पालन-पोषणके कार्यके लिये भी मैं उन्हें कभी नहीं तंग करती थी । घरकी गुप्त बातोंको सदा छिपाये रखती और घर-आँगनको सदा झाड़-बुहारकर साफ रखती थी ॥ १९ ॥

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ॥ २० ॥

'जो स्त्री सदा सावधान रहकर इस धर्ममार्गका पालन करती है, वह नारियोंमें अरुन्धतीके समान आदरणीय होती है और स्वर्गलोकमें भी उसकी विशेष प्रतिष्ठा होती है' ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

एतदाख्याय सा देवी सुमनायै तपस्विनी ।
पतिधर्मं महाभागा जगामादर्शनं तदा ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुमनाको इस प्रकार पातिव्रत्य धर्मका उपदेश देकर तपस्विनी महाभाग शाण्डिली देवी तत्काल वहाँ अदृश्य हो गयीं ॥ २१ ॥

यश्चेदं पाण्डवाख्यानं पठेत् पर्वणि पर्वणि ।
स देवलोकं सम्प्राप्य नन्दने स सुखी वसेत् ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! जो प्रत्येक पर्वके दिन इस आख्यानका पाठ करता है, वह देवलोकमें पहुँचकर नन्दनवनमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शाण्डिलीसुमनासंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शाण्डिली और सुमनाका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारदका पुण्डरीकको भगवान् नारायणकी आराधनाका उपदेश तथा उन्हें भगवद्धामकी प्राप्ति, सामगुणकी प्रशंसा, ब्राह्मणका राक्षसके सफेद और दुर्बल होनेका कारण बताना

(युधिष्ठिर उवाच

यज्ज्ञेयं परमं कृत्यमनुष्ठेयं महात्मभिः ।
सारं मे सर्वशास्त्राणां वक्तुमर्हस्यनुग्रहात् ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! जो सर्वोत्तम कर्तव्य

रूपसे जानने योग्य है, महात्मा पुरुष जिसका अनुष्ठान करना अपना धर्म समझते हैं तथा जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है, उस श्रेयका कृपापूर्वक वर्णन कीजिये ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतामिदमत्यन्तं गूढं संसारमोचनम् ।
श्रोतव्यं च त्वया सम्यग् ज्ञातव्यं च विशाम्पते॥

भीष्मजीने कहा—प्रजानाथ ! जो अत्यन्त गूढ़, संसारबन्धनसे मुक्त करनेवाला और तुम्हारे द्वारा श्रवण करने एवं भलीभाँति जाननेके योग्य है, उस परम श्रेयका वर्णन सुनो ॥

पुण्डरीकः पुरा विप्रः पुण्यतीर्थे जपान्वितः ।
नारदं परिपप्रच्छ श्रेयो योगपरं मुनिम् ॥
नारदश्चाब्रवीदेनं ब्रह्मणोक्तं महात्मना ॥

प्राचीन कालकी बात है, पुण्डरीक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण किसी पुण्यतीर्थमें सदा जप किया करते थे । उन्होंने योगपरायण मुनिवर नारदजीसे श्रेय (कल्याणकारी साधन) के विषयमें पूछा । तब नारदजीने महात्मा ब्रह्माजीके द्वारा बताये हुए श्रेयका उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया ॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहितस्तात ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
अप्रभूतं प्रभूतार्थं वेदशास्त्रार्थसारकम् ॥

नारदजीने कहा—तात ! तुम सावधान होकर परम उत्तम ज्ञानयोगका वर्णन सुनो । यह किसी व्यक्तिविशेषसे नहीं प्रकट हुआ है—अनादि है, प्रचुर अर्थका साधक है तथा वेदों और शास्त्रोंके अर्थका सारभूत है ॥

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः ।
स एव सर्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते ॥

जो चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिसे उसका साक्षिभूत पचीसवाँ तत्त्व पुरुष कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, उसीको नर कहते हैं ॥

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः ।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥

नरसे सम्पूर्ण तत्त्व प्रकट हुए हैं, इसलिये उन्हें नार कहते हैं । नार ही भगवान्‌का अयन—निवासस्थान है, इसलिये वे नारायण कहलाते हैं ॥

नारायणाज्जगत् सर्वं सर्गकाले प्रजायते ।
तस्मिन्नेव पुनस्तच्च प्रलये सम्प्रलीयते ॥

सृष्टिकालमें यह सारा जगत् नारायणसे ही प्रकट होता है और प्रलयकालमें फिर उन्हींमें इसका लय होता है ॥

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परात् परम् ॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, परमपुरुष नारायण ही सम्पूर्ण तत्त्व हैं, वे ही परसे भी परे हैं । उनके सिवा दूसरा कोई परात्पर तत्त्व नहीं है ॥

वासुदेवं तथा विष्णुमात्मानं च तथा विदुः ।
संज्ञाभेदैः स एवैकः सर्वशास्त्राभिसंस्कृतः ॥

उन्हींको वासुदेव, विष्णु तथा आत्मा कहते हैं । संज्ञा-भेदसे एकमात्र नारायण ही सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा वर्णित होते हैं ॥

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

समस्त शास्त्रोंका आलोडन करके बारंबार विचार करने-पर एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये ॥

तस्मात्त्वं गहनान् सर्वांस्त्यक्त्वा शास्त्रार्थविस्तरान् ।
अनन्यचेता ध्यायस्व नारायणमजं विभुम् ॥

अतः तुम शास्त्रार्थके सम्पूर्ण गहन विस्तारका त्याग करके अनन्यचित्त होकर सर्वव्यापी अजन्मा भगवान् नारायणका ध्यान करो ॥

मुहूर्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः ।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः ॥

जो आलस्य छोड़कर दो घड़ी भी नारायणका ध्यान करता है, वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है । फिर जो निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें तत्पर रहता है, उसकी तो बात ही क्या है ॥

नमो नारायणायेति यो वेद ब्रह्म शाश्वतम् ।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

जो 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रको सनातन ब्रह्मरूप जानता है और अन्तकालमें इसका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥

श्रवणान्मननाच्चैव गीतिस्तुत्यर्चनादिभिः ।
आराध्यं सर्वदा ब्रह्म पुरुषेण हितैषिणा ॥

जो मनुष्य अपना हित चाहता हो, वह सदा श्रवण, मनन, गीत, स्तुति और पूजन आदिके द्वारा सर्वदा ब्रह्मस्वरूप नारायणकी आराधना करे ॥

लिप्यते न स पापेन नारायणपरायणः ।
पुनाति सकलं लोकं सहस्रांशुरिवोदितः ॥

नारायणके भजनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता । वह उदित हुए सहस्र किरणोंवाले सूर्यकी भाँति समस्त लोकको पवित्र कर देता है ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
केशवाराधनं हित्वा नैव यान्ति परां गतिम् ॥

ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थ हो या संन्यासी, भगवान् विष्णुकी आराधना छोड़ देनेपर ये कोई भी परम गतिको नहीं प्राप्त होते हैं ॥

जन्मान्तरसहस्रेषु दुर्लभा तद्गता मतिः ।
तद्भक्तवत्सलं देवं समाराधय सुव्रत ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुण्डरीक! सहस्रों जन्म धारण करनेपर भी भगवान् विष्णुमें मन और बुद्धिका लगना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम उन भक्तवत्सल नारायणदेवकी भलीभाँति आराधना करो ॥

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तस्तु स विप्रोऽभ्यर्चयद्धरिम् ।
स्वप्नेऽपि पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
किरीटकुण्डलधरं लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभम् ।
तं दृष्ट्वा देवदेवेशं प्राणमत् सम्भ्रमान्वितः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! नारदजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर विप्रवर पुण्डरीक भगवान् श्रीहरिकी आराधना करने लगे। वे स्वप्नमें भी शङ्ख-चक्र-गदाधारी, किरीट और कुण्डलसे सुशोभित, सुन्दर श्रीवत्स-चिह्न एवं कौस्तुभ मणि धारण करनेवाले कमलनयन नारायण देवका दर्शन करते थे और उन देवदेवेश्वरको देखते ही बड़े वेगसे उठकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे ॥

अथ कालेन महता तथा प्रत्यक्षतां गतः ।
संस्तुतः स्तुतिभिर्वेदैर्देवगन्धर्वकिन्नरैः ॥

तदनन्तर दीर्घकालके बाद भगवान्ने उसी रूपमें पुण्डरीकको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस समय सम्पूर्ण वेद तथा देवता, गन्धर्व और किन्नर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते थे ॥

अथ तेनैव भगवानात्मलोकमधोक्षजः ।
गतः सम्पूजितः सर्वैः स योगनिलयो हरिः ॥

योग ही जिनका निवासस्थान है, वे भगवान् अधोक्षज श्रीहरि सबके द्वारा पूजित हो उस भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर ही पुनः अपने धामको चले गये ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र तद्भक्तस्तत्परायणः ।
अर्चयित्वा यथायोगं भजस्व पुरुषोत्तमम् ॥

राजेन्द्र! इसलिये तुम भी भगवान्के भक्त एवं शरणागत होकर उनकी यथायोग्य पूजा करके उन्हीं पुरुषोत्तमके भजनमें लगे रहो ॥

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।
निरुपममुपमेयं योगिविज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं सम्प्रपद्यस्व विष्णुम् ॥)

जो अजर, अमर, एक (अद्वितीय), ध्येय, अनादि, अनन्त, सगुण, निर्गुण, सबके आदि कारण, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, उपमारहित, उपमाके योग्य तथा योगियोंके लिये ज्ञान-गम्य हैं, उन त्रिभुवनगुरु भगवान् विष्णुकी शरण लो ॥

युधिष्ठिर उवाच

साम्नि चापि प्रदाने च ज्यायः किं भवतो मतम्।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! आपके मतमें साम और दानमें कौन-सा श्रेष्ठ है? इनमें जो उत्कृष्ट हो, उसे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

साम्ना प्रसाद्यते कश्चिद् दानेन च तथा परः।
पुरुषप्रकृतिं ज्ञात्वा तयोरेकतरं भजेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! कोई मनुष्य सामसे प्रसन्न होता है और कोई दानसे। अतः पुरुषके स्वभावको समझकर दोनोंमेंसे एकको अपनाना चाहिये ॥ २ ॥

गुणांस्तु शृणु मे राजन् सान्त्वस्य भरतर्षभ ।
दारुणान्यपि भूतानि सान्त्वेनाराधयेद् यथा ॥ ३ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! अब तुम सामके गुणोंको सुनो। सामके द्वारा मनुष्य भयानक-से-भयानक प्राणीको वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गृहीत्वा रक्षसा मुक्तो द्विजातिः कानने यथा॥ ४ ॥

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जिसके अनुसार कोई ब्राह्मण किसी जङ्गलमें किसी राक्षसके चङ्गुलमें फँसकर भी सामनीतिके द्वारा उससे मुक्त हो गया था ॥ ४ ॥

कश्चिद् वाग्बुद्धिसम्पन्नो ब्राह्मणो विजने वने ।
गृहीतः कृच्छ्रमापन्नो रक्षसा भक्षयिष्यता ॥ ५ ॥

एक बुद्धिमान् एवं वाचाल ब्राह्मण किसी निर्जन वनमें घूम रहा था। उसी समय किसी राक्षसने आकर उसे खानेकी इच्छासे पकड़ लिया। बेचारा ब्राह्मण बड़े कष्टमें पड़ गया ॥ ५ ॥

स बुद्धिश्रुतिसम्पन्नस्तं दृष्ट्वातीव भीषणम् ।
सामैवास्मिन् प्रयुयुजे न मुमोह न विव्यथे ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकी बुद्धि तो अच्छी थी ही, वह शास्त्रोंका विद्वान् भी था। इसलिये उस अत्यन्त भयानक राक्षसको देखकर भी वह न तो घबराया और न व्यथित ही हुआ। बल्कि

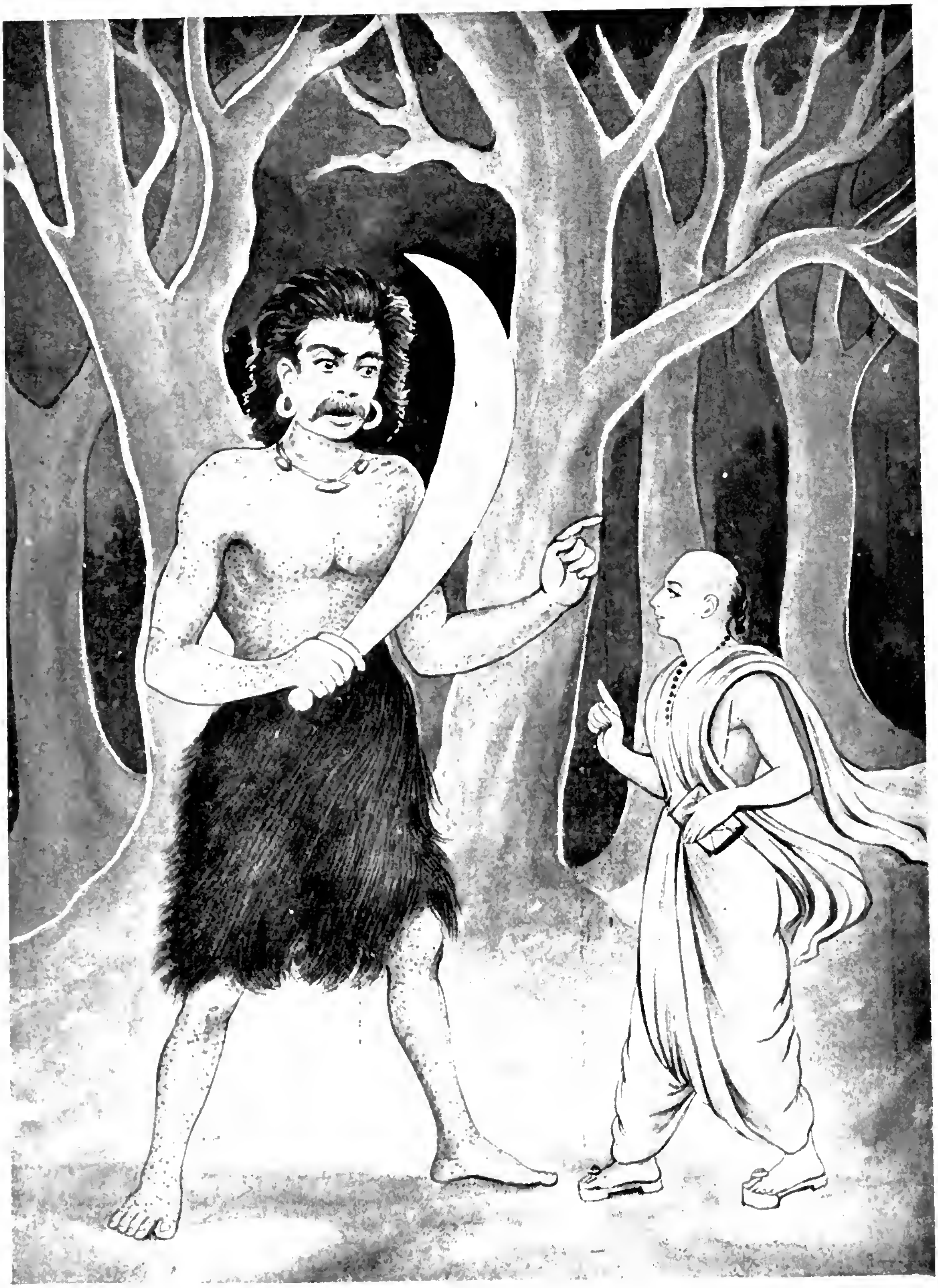

सामनीतिकी विजय

उसके प्रति उसने साम नीतिका ही प्रयोग किया ॥ ६ ॥

रक्षस्तु वाचं सम्पूज्य प्रश्नं पप्रच्छ तं द्विजम्।
मोक्ष्यसे ब्रूहि मे प्रश्नं केनास्मि हरिणः कृशः॥ ७ ॥

राक्षसने ब्राह्मणके शान्तिमय वचनोंकी प्रशंसा करके उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया और कहा—'यदि मेरे प्रश्नका उत्तर दे दोगे तो तुम्हें छोड़ दूँगा! बताओ, मैं किस कारणसे अत्यन्त दुर्बल और सफेद (पाण्डु) हो गया हूँ' ॥ ७ ॥

मुहूर्तमथ संचिन्त्य ब्राह्मणस्तस्य रक्षसः।
आभिर्गाथाभिरव्यग्रः प्रश्नं प्रतिजगाद ह ॥ ८ ॥

यह सुनकर ब्राह्मणने दो घड़ीतक विचार करके शान्तभावसे निम्नाङ्कित गाथाओं (वचनोंद्वारा) उस राक्षसके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

विदेशस्थो विलोकस्थो विना नूनं सुहृज्जनैः।
विषयानतुलान् भुङ्क्षे तेनासि हरिणः कृशः॥ ९ ॥

ब्राह्मण बोला—राक्षस! निश्चय ही तुम सुहृद्जनोंसे अलग होकर परदेशमें दूसरे लोगोंके साथ रहते और अनुपम विषयोंका उपभोग करते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण तुम दुबले एवं सफेद होते जा रहे हो ॥ ९ ॥

नूनं मित्राणि ते रक्षः साधूपचरितान्यपि।
स्वदोषादपरज्यन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥

निशाचर! तुम्हारे मित्र तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सम्मानित होनेपर भी अपने स्वभावदोषके कारण तुमसे विमुख रहते हैं; इसीलिये तुम चिन्तावश दुबले होकर सफेद पड़ते जा रहे हो ॥१०॥

धनैश्वर्याधिकाः स्तब्धास्त्वद्गुणैः परमावराः।
अवजानन्ति नूनं त्वां तेनासि हरिणः कृशः ॥ ११ ॥

जो गुणोंमें तुम्हारी अपेक्षा निम्नश्रेणीके हैं, वे जड मनुष्य भी धन और ऐश्वर्यमें अधिक होनेके कारण निश्चय ही सदा तुम्हारी अवहेलना किया करते हैं; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद (पीले) होते जा रहे हो ॥ ११ ॥

गुणवान् विगुणानन्यान् नूनं पश्यसि सत्कृतान्।
प्राज्ञोऽप्राज्ञान् विनीतात्मा तेनासि हरिणःकृशः॥१२॥

तुम गुणवान्, विद्वान् एवं विनीत होनेपर भी सम्मान नहीं पाते और गुणहीन तथा मूढ़ व्यक्तियोंको सम्मानित होते देखते हो; इसीलिये तुम्हारे शरीरका रंग फीका पड़ गया और तुम दुर्बल हो गये हो ॥ १२ ॥

अवृत्त्या क्लिश्यमानोऽपि वृत्त्युपायान् विगर्हयन्।
माहात्म्याद् व्यथसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १३ ॥

जीवन-निर्वाहका कोई उपाय न होनेसे तुम क्लेश उठाते होगे, किंतु अपने गौरवके कारण जीविकाके प्रतिग्रह आदि उपायोंकी निन्दा करते हुए उन्हें स्वीकार नहीं करते होगे। यही तुम्हारी उदासी और दुर्बलताका कारण है ॥१३॥

सम्पीड्यात्मानमार्यत्वात् त्वया कश्चिदुपस्कृतः।
जितं त्वां मन्यते साधो तेनासि हरिणः कृशः॥ १४ ॥

साधो! तुम सज्जनताके कारण अपने शरीरको कष्ट देकर भी जब किसीका उपकार करते हो, तब वह तुम्हें अपनी शक्तिसे पराजित समझता है; इसीलिये तुम कृशकाय और सफेद होते जा रहे हो ॥ १४ ॥

क्लिश्यमानान् विमार्गेषु कामक्रोधावृतात्मनः।
मन्ये त्वं ध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ १५ ॥

जिनका चित्त काम और क्रोधसे आक्रान्त है, अतएव जो कुमार्गपर चलकर कष्ट भोग रहे हैं। सम्भवतः ऐसे ही लोगोंके लिये तुम सदा चिन्तित रहते हो; इसीलिये दुर्बल होकर सफेद (पीले)पड़ते जा रहे हो ॥ १५ ॥

प्राज्ञासम्भावितो नूनमप्राज्ञैरुपसंहितः।
ह्रीयमाणोऽसि दुर्वृत्तैस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ १६ ॥

यद्यपि तुम अपनी उत्तम बुद्धिके द्वारा सम्मानके योग्य हो तो भी अज्ञानी पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ाते हैं और दुराचारी मनुष्य तुम्हारा तिरस्कार करते हैं। इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर सूखकर पीला पड़ता जा रहा है ॥ १६ ॥

नूनं मित्रमुखः शत्रुः कश्चिदार्यवदाचरन्।
वञ्चयित्वा गतस्त्वां वै तेनासि हरिणः कृशः॥ १७ ॥

निश्चय ही कोई शत्रु मुँहसे मित्रताकी बातें करता हुआ आया, श्रेष्ठ पुरुषके समान बर्ताव करने लगा और तुम्हें ठगकर चला गया; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद होते जा रहे हो ॥ १७ ॥

प्रकाशार्थगतिर्नूनं रहस्यकुशलः कृती।
तज्ज्ञैर्न पूज्यसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १८ ॥

तुम्हारी अर्थगति—कार्यपद्धति सबको विदित है, तुम रहस्यकी बातें समझानेमें कुशल और विद्वान् हो तो भी गुणज्ञ पुरुष तुम्हारा आदर नहीं करते हैं; इसीसे तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो ॥ १८ ॥

असत्स्वपि निविष्टेषु ब्रुवतो मुक्तसंशयम्।
गुणास्ते न विराजन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १९ ॥

तुम दुराग्रही दुष्ट पुरुषोंके बीचमें ही संशयरहित होकर उत्तम बात कहते हो, तो भी तुम्हारे गुण वहाँ प्रकाशित नहीं होते; इसीलिये तुम दुर्बल होते और फीके पड़ते जा रहे हो ॥१९॥

धनबुद्धिश्रुतैर्हीनः केवलं तेजसान्वितः।

महत् प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २० ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम धन, बुद्धि और विद्यासे हीन होकर भी केवल शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होकर ऊँचा पद चाहते रहे हो और इसमें तुम्हें सफलता न मिली हो; इसीलिये तुम पाण्डुवर्णके हो गये हो और तुम्हारा शरीर भी सूखता जा रहा है ॥ २० ॥

तपःप्रणिहितात्मानं मन्ये त्वारण्यकाङ्क्षिणम् ।
बान्धवा नाभिनन्दन्ति तेनासि हरिणः कृशः ॥ २१ ॥

मुझे यह भी जान पड़ता है कि तुम्हारा मन तपस्यामें लगा है और इसीलिये तुम जंगलमें रहना चाहते हो, परंतु तुम्हारे भाई-बन्धु इस बातको पसंद नहीं करते हैं; इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो गये हो ॥ २१ ॥

(सुदुर्विनीतः पुत्रो वा जामाता वा प्रमार्जकः ।
दारा वा प्रतिकूलास्ते तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुम्हारा पुत्र दुर्विनीत—उद्दण्ड हो, या दामाद घरकी सारी सम्पत्ति झाड़-पोंछकर ले जानेवाला हो या तुम्हारी पत्नी प्रतिकूल स्वभावकी हो; इसीसे तुम कृशकाय और पीले होते जा रहे हो ॥

भ्रातरोऽतीव विषमाः पिता वा क्षुत्क्षतो मृतः ।
माता ज्येष्ठो गुरुर्वापि तेनासि हरिणः कृशः ॥

तुम्हारे भाई बड़े बेईमान हों अथवा तुम्हारे पिता, माता या ज्येष्ठ भाई एवं गुरुजन भूखसे दुर्बल होकर मर गये हों, इस बातकी भी सम्भावना है। शायद इसीसे तुम्हारे शरीरका रंग सफेद हो गया है और तुम सूखते चले जा रहे हो ॥

ब्राह्मणो वा हतो गौर्वा ब्रह्मस्वं वा हृतं पुरा ।
देवस्वं वाधिकं काले तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी अनुमान होता है कि पहले तुमने किसी ब्राह्मण या गौकी हत्या की हो, किसी ब्राह्मण या देवताका किसी समय अधिक-से-अधिक धन चुरा लिया हो, इसीलिये तुम कृशकाय और पीले हो रहे हो ॥

हृतदारोऽथ वृद्धो वा लोके द्विष्टोऽथ वा नरैः ।
अविज्ञानेन वा वृद्धस्तेनासि हरिणः कृशः ॥

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्रीका किसीने अपहरण कर लिया हो । अथवा तुम बूढ़े हो चले हो या जगत्के मनुष्य तुमसे द्वेष करने लगे हों। अथवा अज्ञानके द्वारा ही तुम बढ़े-चढ़े हो और इसीलिये चिन्ताके कारण तुम्हारा शरीर सफेद तथा दुर्बल हो गया हो ॥

वार्धक्यार्थं धनं दृष्ट्वा स्वा र्थावापि परैर्हृता ।
वृत्तिर्वा दुर्जनापेक्षा तेनासि हरिणः कृशः ॥)

बुढ़ापेके लिये तुम्हारे पास धनका संग्रह देखकर दूसरोंने तुम्हारी उस निजी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया हो अथवा जीविकाके लिये दुष्ट पुरुषोंकी अपेक्षा रखनी पड़ती हो, इसकी भी सम्भावना जान पड़ती है। शायद इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर दुबला होता और पीला पड़ता जा रहा हो ॥

इष्टभार्यस्य ते नूनं प्रातिवेश्यो महाधनः ।
युवा सुललितः कामी तेनासि हरिणः कृशः ॥ २२

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्री परम सुन्दरी होने कारण तुम्हें बहुत प्रिय हो और तुम्हारे पड़ोसमें ही को बहुत सुन्दर, महाधनी और कामी नवयुवक निवास करत हो ! इसी चिन्तासे तुम दुबले और पीले पड़ते जा रहे हो ॥ २२

नूनमर्थवतां मध्ये तव वाक्यमनुत्तमम् ।
न भाति कालेऽभिहितं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २३

निश्चय ही तुम धनवानोंके बीच परम उत्तम औ समयोचित बात कहते होगे, किंतु वह उन्हें पसंद न आ होगी। इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो ॥ २३

दृढपूर्वं श्रुतं मूर्खे कुपितं हृदयप्रियम् ।
अनुनेतुं न शक्नोपि तेनासि हरिणः कृशः ॥ २४

तुम्हारा कोई पहलेका दृढ़ निश्चयवाला प्रिय व्यक्ति मूर्खताके कारण तुमपर कुपित हो गया होगा और तुम उ किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त नहीं कर पाते होगे। इस लिये तुम दुर्बल और फीके पड़ते जा रहे हो ॥ २४ ॥

नूनमासंजयित्वा त्वां कृत्ये कस्मिंश्चिदीप्सिते ।
कश्चिदर्थयते नित्यं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २५

निश्चय ही कोई मनुष्य तुम्हें अपनी इच्छाके अनुस किसी अभीष्ट कार्यमें नियुक्त करके सदा अपना स्वार्थ सि करना चाहता है; इसीलिये तुम श्वेत (पीत) वर्णके औ दुबले हो रहे हो ॥ २५ ॥

नूनं त्वां सुगुणैर्युक्तं पूजयानं सुहृद्ध्रुवम् ।
ममार्थ इति जानीते तेनासि हरिणः कृशः ॥ २६

अवश्य ही तुम सद्गुणोंसे युक्त होनेके कारण दु लोगोंद्वारा पूजित होते हो; परंतु तुम्हारा मित्र समझता कि यह मेरे ही प्रभावसे आदर पा रहा है। इसीलिये इ चिन्तासे दुर्बल एवं पीले होते जा रहे हो ॥ २६ ॥

अन्तर्गतमभिप्रायं नूनं नेच्छसि लज्जया ।
विवेक्तुं प्राप्तिशैथिल्यात् तेनासि हरिणः कृशः॥ २७

निश्चय ही तुम लज्जावश किसीपर अपना आन्तरि अभिप्राय नहीं प्रकट करना चाहते, क्योंकि तुम्हें अप अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके विषयमें संदेह है, इसीलिये चि वश सूखते और पीले पड़ते जा रहे हो ॥ २७ ॥

नानाबुद्धिरुचो लोके मनुष्यान् नूनमिच्छसि ।
ग्रहीतुं स्वगुणैः सर्वांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ २८

निश्चय ही संसारमें नाना प्रकारकी बुद्धि और भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले लोग रहते हैं। उन सबको तुम अपने गुणोंसे वशमें करना चाहते हो। इसीलिये क्षीणकाय और पाण्डुवर्णके हो रहे हो ॥ २८ ॥

अविद्वान् भीरुरल्पार्थो विद्याविक्रमदानजम्।
यशः प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २९ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम विद्वान् न होकर भी विद्यासे मिलनेवाले यशको पाना चाहते हो। डरपोक और कायर होनेपर भी पराक्रमजनित कीर्ति पानेकी अभिलषा रखते हो और अपने पास बहुत थोड़ा धन होनेपर भी दानवीर होनेका यश पानेके लिये उत्सुक हो। इसीलिये कृशकाय और पीले हो रहे हो ॥ २९ ॥

चिराभिलषितं किंचित्फलमप्राप्तमेव ते।
कृतमन्यैरपहृतं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३० ॥

तुमने कोई कार्य किया, जिसका चिरकालसे अभिलषित कोई फल तुम्हें प्राप्त होनेवाला था, किंतु तुम्हें तो वह प्राप्त हुआ नहीं और दूसरे लोग उसे हर ले गये। इसीलिये तुम्हारे शरीरकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और दिनोंदिन दुबले होते जा रहे हो ॥ ३० ॥

नूनमात्मकृतं दोषमपश्यन् किंचिदात्मनः।
अकारणेऽभिशप्तोऽसि तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३१ ॥

एक बात यह भी ध्यानमें आती है कि तुम्हें तो अपना कोई दोष दिखायी नहीं देता तथापि दूसरे लोग अकारण ही तुम्हें कोसते रहते हैं। शायद इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल होते जा रहे हो ॥ ३१ ॥

साधून् गृहस्थान् दृष्ट्वा च तथा साधून् वनेचरान्।
मुक्तांश्चावसथे सक्तांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३२ ॥

तुम विरक्त साधुओंको गृहस्थ, दुर्जनोंको वनवासी तथा संन्यासियोंको मठ-मन्दिरमें आसक्त देखते हो; इसीलिये सफेद और दुर्बल होते जा रहे हो ॥ ३२ ॥

सुहृदां दुःखमार्तानां न प्रमोक्ष्यसि चार्तिजम्।
अलमर्थगुणैर्हीनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३३ ॥

तुम्हारे स्नेही बन्धु-बान्धव रोग आदिसे पीड़ित होकर महान् दुःख भोगते हैं और तुम उन्हें उस पीडाजनित कष्टसे मुक्त नहीं कर पाते हो तथा अपने आपको भी तुम अर्थलाभसे हीन पाते हो; शायद इसीलिये तुम सफेद और दुबले-पतले हो गये हो ॥ ३३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं च काम्यं च काले चाभिहितं वचः।
न प्रतीयन्ति ते नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३४ ॥

तुम्हारी बातें धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल एवं सामयिक होती हैं, तो भी दूसरे लोग उनपर ठीक विश्वास नहीं करते हैं। इसलिये तुम कान्तिहीन एवं कृशकाय हो रहे हो ॥ ३४ ॥

दत्तानकुशलैरर्थान् मनीषी संजिजीविषुः।
प्राप्य वर्तयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३५ ॥

मनीषी होनेपर भी तुम जीवन-निर्वाहकी इच्छासे ही अज्ञानी पुरुषोंके दिये हुए धनको लेकर उसीपर गुजारा करते हो; इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल हो ॥३५॥

पापान् प्रवर्धतो दृष्ट्वा कल्याणानावसीदतः।
ध्रुवं गर्हयसे नित्यं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३६ ॥

पापियोंको आगे बढ़ते और कल्याणकारी कर्मोंमें लगे हुए पुण्यात्मा पुरुषोंको दुःख उठाते देखकर अवश्य ही तुम सदा इस परिस्थितिकी निन्दा करते हो; इसीलिये दुर्बल और पाण्डुवर्णके हो गये हो ॥ ३६ ॥

परस्परविरुद्धानां प्रियं नूनं चिकीर्षसि।
सुहृदामुपरोधेन तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३७॥

एक दूसरेसे विरोध रखनेवाले अपने सुहृदोंको रोककर तुम निश्चय ही उनका प्रिय करना चाहते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण श्रीहीन और दुर्बल हो गये हो ॥ ३७ ॥

श्रोत्रियांश्च विकर्मस्थान् प्राज्ञांश्चाप्यजितेन्द्रियान्।
मन्येऽनुध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ ३८॥

वेदज्ञ ब्राह्मणोंको वेदविरुद्ध कर्ममें तत्पर और विद्वानोंको इन्द्रियोंके अधीन देखकर मेरी समझमें तुम निरन्तर चिन्तित रहते हो। सम्भवतः इसीलिये तुम्हारा शरीर सफेद (पीला) पड़ गया है और तुम दुर्बल हो गये हो ॥ ३८ ॥

एवं सम्पूजितं रक्षो विप्रं तं प्रत्यपूजयत्।
सखायमकरोच्चैनं संयोज्यार्थैर्मुमोच ह ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर जब उस ब्राह्मणने राक्षसका समादर किया, तब राक्षसने भी ब्राह्मणका विशेष सत्कार किया। उसने ब्राह्मणको अपना मित्र बना लिया और उसे धन देकर छोड़ दिया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि हरिणकृशकाख्याने चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्म पर्वमें दुर्बल और पाण्डुवर्णके राक्षसका आख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २८½ श्लोक मिलाकर कुल ६७½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्राद्धके विषयमें देवदूत और पितरोंका, पापोंसे छूटनेके विषयमें महर्षि विद्युत्प्रभ और इन्द्रका, धर्मके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका तथा वृषोत्सर्ग आदिके विषयमें देवताओं, ऋषियों और पितरोंका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

जन्म मानुष्यकं प्राप्य कर्मक्षेत्रं सुदुर्लभम्।
श्रेयोऽर्थिना दरिद्रेण किं कर्तव्यं पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्यकुलमें जन्म और परम दुर्लभ कर्मक्षेत्र पाकर अपना कल्याण चाहनेवाले दरिद्र पुरुषको क्या करना चाहिये?॥ १॥

दानानामुत्तमं यच्च देयं यच्च यथा यथा।
मान्यान् पूज्यांश्च गाङ्गेय रहस्यं वक्तुमर्हसि॥ २॥

गङ्गानन्दन! सब दानोंमें जो उत्तम दान है, जिस वस्तुका जिस-जिस प्रकारसे दान करना उचित है तथा जो माननीय और पूजनीय हैं—इन सब रहस्यमय (गोपनीय) विषयोंका वर्णन कीजिये॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टो नरेन्द्रेण पाण्डवेन यशस्विना।
धर्माणां परमं गुह्यं भीष्मः प्रोवाच पार्थिवम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यशस्वी पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भीष्मजीने उनसे धर्मका परम गुह्य रहस्य बताना आरम्भ किया॥ ३॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् धर्मगुह्यानि भारत।
यथा हि भगवान् व्यासः पुरा कथितवान् मयि॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भरतनन्दन! पूर्वकालमें भगवान् वेदव्यासने मुझसे धर्मके जो गूढ़ रहस्य बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ ४॥

देवगुह्यमिदं राजन् यमेनाक्लिष्टकर्मणा।
नियमस्थेन युक्तेन तपसो महतः फलम्॥ ५॥

राजन्! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले यमने नियमपरायण और योगयुक्त होकर महान् तपके फलस्वरूप इस देवगुह्य रहस्यको प्राप्त किया था॥ ५॥

येन यः प्रीयते देवः प्रीयन्ते पितरस्तथा।
ऋषयः प्रमथाः श्रीश्च चित्रगुप्तो दिशां गजाः॥ ६॥

जिससे देवता, पितर, ऋषि, प्रमथगण, लक्ष्मी, चित्रगुप्त और दिग्गज प्रसन्न होते हैं॥ ६॥

ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः।
महादानफलं चैव सर्वयज्ञफलं तथा॥ ७॥

जिसमें महान् फल देनेवाले ऋषिधर्मका रहस्यसहित समावेश हुआ है तथा जिसके अनुष्ठानसे बड़े-बड़े दानों और सम्पूर्ण यज्ञोंका फल मिलता है॥ ७॥

यश्चैतदेवं जानीयाज्ज्ञात्वा वा कुरुतेऽनघ।
सदोषोऽदोषवांश्चेह तैर्गुणैः सह युज्यते॥ ८॥

निष्पाप नरेश! जो उस धर्मको इस प्रकार जानता और जानकर इसके अनुसार आचरण करता है, वह सदोष (पापी) रहा हो भी तो उस दोषसे मुक्त होकर उन सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है॥ ८॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः॥ ९॥

दस कसाइयोंके समान एक तेली, दस तेलियोंके समान एक कलवार, दस कलवारोंके समान एक वेश्या और दस वेश्याओंके समान एक राजा है॥ ९॥

अर्धेनैतानि सर्वाणि नृपतिः कथ्यतेऽधिकः।
त्रिवर्गसहितं शास्त्रं पवित्रं पुण्यलक्षणम्॥ १०॥

राजा इन सबकी अपेक्षा अधिक दोषयुक्त बताया जाता है, इसलिये ये सब पाप राजाके आधेसे भी कम हैं। (अतः राजाका दान लेना निषिद्ध है।) धर्म, अर्थ और कामका प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र है, वह पवित्र एवं पुण्यका परिचय करानेवाला है॥ १०॥

धर्मव्याकरणं पुण्यं रहस्यश्रवणं महत्।
श्रोतव्यं धर्मसंयुक्तं विहितं त्रिदशैः स्वयम्॥ ११॥

उसमें धर्म और उसके रहस्योंकी व्याख्या है वह परम पवित्र, महान् रहस्यमय तत्त्वका श्रवण करानेवाला, धर्मयुक्त और साक्षात् देवताओंद्वारा निर्मित है। उसका श्रवण करना चाहिये॥ ११॥

पितॄणां यत्र गुह्यानि प्रोच्यन्ते श्राद्धकर्मणि।
देवतानां च सर्वेषां रहस्यं कथ्यतेऽखिलम्॥ १२॥

ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः।
महायज्ञफलं चैव सर्वदानफलं तथा ॥ १३ ॥

जिसमें पितरोंके श्राद्धके विषयमें गूढ़ बातें बतायी गयी हैं, जहाँ सम्पूर्ण देवताओंके रहस्यका पूरा-पूरा वर्णन है तथा जिसमें रहस्यसहित महान् फलदायी ऋषिधर्मका एवं बड़े-बड़े यज्ञों और सम्पूर्ण दानोंके फलका प्रतिपादन किया गया है ॥ १२-१३ ॥

ये पठन्ति सदा मर्त्या येषां चैवोपतिष्ठति।
श्रुत्वा च फलमाचष्टे स्वयं नारायणः प्रभुः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य उस शास्त्रको सदा पढ़ते हैं, जिन्हें उसका तत्त्व हृदयङ्गम हो जाता है तथा जो उसका फल सुनकर दूसरोंके सामने व्याख्या करते हैं, वे साक्षात् भगवान् नारायणस्वरूप हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गवां फलं तीर्थफलं यज्ञानां चैव यत् फलम्।
एतत् फलमवाप्नोति यो नरोऽतिथिपूजकः ॥ १५ ॥

जो मानव अतिथियोंकी पूजा करता है, वह गोदान, तीर्थस्नान और यज्ञानुष्ठानका फल पा लेता है ॥ १५ ॥

श्रोतारः श्रद्दधानाश्च येषां शुद्धं च मानसम्।
तेषां व्यक्तं जिता लोकाः श्रद्दधानेन साधुना ॥ १६ ॥

जो श्रद्धापूर्वक धर्मशास्त्रका श्रवण करते हैं तथा जिनका हृदय शुद्ध हो गया है, वे श्रद्धालु एवं श्रेष्ठ मनके द्वारा अवश्य ही पुण्यलोकपर विजय प्राप्त कर लेते हैं ॥ १६ ॥

मुच्यते किल्बिषाच्चैव न स पापेन लिप्यते।
धर्मं च लभते नित्यं प्रेत्य लोकगतो नरः ॥ १७ ॥

शुद्धचित्त पुरुष श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करनेसे पूर्व पापसे मुक्त हो जाता है तथा वह भविष्यमें भी पापसे लिप्त नहीं होता है। नित्य-प्रति धर्मका अनुष्ठान करता है और मरनेके बाद उसे उत्तम लोककी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य देवदूतो यदृच्छया।
स्थितो ह्यन्तर्हितो भूत्वा पर्यभाषत वासवम् ॥ १८ ॥

एक समयकी बात है, एक देवदूतने अकस्मात् पहुँचकर आकाशमें स्थित हो इन्द्रसे कहा— ॥ १८ ॥

यौ तौ कामगुणोपेतावश्विनौ भिषजां वरौ।
आज्ञयाहं तयोः प्राप्तः सनरान् पितृदैवतान् ॥ १९ ॥

'वे जो कमनीय गुणोंसे सम्पन्न वैद्यप्रवर अश्विनीकुमार हैं, उन दोनोंकी आज्ञासे मैं यहाँ देवताओं, पितरों और मनुष्योंके पास आया हूँ ॥ १९ ॥

कस्माद्धि मैथुनं श्राद्धे दातुर्भोक्तुश्च वर्जितम्।
किमर्थं च त्रयः पिण्डाः प्रविभक्ताः पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

'मेरे मनमें यह जिज्ञासा हुई है कि श्राद्धके दिन श्राद्धकर्ता और श्राद्धान्न भोजन करनेवाले ब्राह्मणके लिये जो मैथुनका निषेध किया गया है, उसका क्या कारण है? तथा श्राद्धमें पृथक्-पृथक् तीन पिण्ड किसलिये दिये जाते हैं? ॥ २० ॥

प्रथमः कस्य दातव्यो मध्यमः क्व च गच्छति।
उत्तरश्च स्मृतः कस्य एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २१ ॥

'प्रथम पिण्ड किसे देना चाहिये? दूसरा पिण्ड किसे प्राप्त होता तथा तीसरे पिण्डपर किसका अधिकार माना गया है? यह सब कुछ मैं जानना चाहता हूँ' ॥ २१ ॥

श्रद्दधानेन दूतेन भाषितं धर्मसंहितम्।
पूर्वस्थास्त्रिदशाः सर्वे पितरः पूज्य खेचरम् ॥ २२ ॥

उस श्रद्धालु देवदूतके इस प्रकार धर्मयुक्त भाषण करनेपर पूर्वदिशामें स्थित हुए सभी देवताओं और पितरोंने उस आकाशचारी पुरुषकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ २२ ॥

पितर ऊचुः

स्वागतं तेऽस्तु भद्रं ते श्रूयतां खेचरोत्तम।
गूढार्थः परमः प्रश्नो भवता समुदीरितः ॥ २३ ॥

पितर बोले—आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत! तुम्हारा स्वागत है। तुम कल्याणके भागी होओ। तुमने गूढ़ अभिप्रायसे युक्त बहुत उत्तम प्रश्न उपस्थित किया है। इसका उत्तर सुनो ॥ २३ ॥

श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत्।

पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते ॥ २४ ॥

जो पुरुष श्राद्धका दान और भोजन करके स्त्रीके साथ समागम करता है, उसके पितर उस महीनेभर उसीवीर्यमें शयन करते हैं ॥ २४ ॥

प्रविभागं तु पिण्डानां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
पिण्डो ह्यधस्ताद् गच्छंस्तु अप आविश्य भावयेत् ।२५।
पिण्डं तु मध्यमं तत्र पत्नी त्वेका समश्नुते ।
पिण्डस्तृतीयो यस्तेषां तं दद्याज्जातवेदसि ॥ २६ ॥

अब मैं पिण्डोंका क्रमशः विभाग बताऊँगा । श्राद्धमें जो तीन पिण्डोंका विधान है, उनमें पहला पिण्ड जलमें डाल देना चाहिये । मध्यम पिण्ड केवल श्राद्धकर्ताकी पत्नीको भोजन करना चाहिये और उनमें जो तीसरा पिण्ड है, उसे आगमें डाल देना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

एष श्राद्धविधिः प्रोक्तो यथा धर्मो न लुप्यते ।
पितरस्तस्य तुष्यन्ति प्रहृष्टमनसः सदा ॥ २७ ॥
प्रजा विवर्धते चास्य अक्षयं चोपतिष्ठति ।

यही श्राद्धकी विधि बतायी गयी है, जिसके अनुसार चलनेपर धर्मका लोप नहीं होता । जो इस धर्मका पालन करता है, उसके पितर सदा प्रसन्नचित्त एवं संतुष्ट रहते हैं । उसकी संतति बढ़ती है और कभी क्षीण नहीं होती ॥२७½॥

देवदूत उवाच

आनुपूर्व्येण पिण्डानां प्रविभागः पृथक् पृथक् ॥ २८ ॥
पितॄणां त्रिषु सर्वेषां निरुक्तं कथितं त्वया ।

देवदूतने पूछा—पितृगण ! आपलोगोंने क्रमशः पिण्डोंका विभाग बतलाया और तीनों लोकोंमें जो समस्त पितर हैं, उनको पिण्डदान करनेका शास्त्रोक्त प्रकार भी बतला दिया ॥ २८½ ॥

एकः समुद्धृतः पिण्डो ह्यधस्तात् कस्य गच्छति ॥२९॥
कं वा प्रीणयते देवं कथं तारयते पितॄन् ।

किंतु पहले पिण्डको उठाकर जो नीचे जलमें डाल देने की बात कही गयी है, उसके अनुसार यदि वह जलमें डाला जाय तो वह किसको प्राप्त होता है ? किस देवताको तृप्त करता है ? और किस प्रकार पितरोंको तारता है ? ॥ २९½॥

मध्यमं तु तदा पत्नी भुङ्क्तेऽनुज्ञातमेव हि ॥ ३० ॥
किमर्थं पितरस्तस्य कव्यमेव च भुञ्जते ।

इसी प्रकार यदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार मध्यम पिण्ड पत्नी ही खाती है तो उसके पितर किस प्रकार उस पिण्डका उपभोग करते हैं ? ॥३०½ ॥

अथ यस्त्वन्तिमः पिण्डो गच्छते जातवेदसम् ॥ ३१ ॥
भवते का गतिस्तस्य कं वा समनुगच्छति ।

तथा अन्तिम पिण्ड जब अग्निमें डाल दिया जाता है, तब उसकी क्या गति होती है ? वह किस देवताको प्राप्त होता है ? ॥ ३१½ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पिण्डेषु त्रिषु या गतिः ॥ ३२ ॥
फलं वृत्तिं च मार्गं च यश्चैनं प्रतिपद्यते ।

यह सब मैं सुनना चाहता हूँ । तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका जो फल, वृत्ति और मार्ग है तथा जो देवता उस पिण्डको पाता है, उन सबपर प्रकाश डालिये३२½

पितर ऊचुः

सुमहानेष प्रश्नो वै यस्त्वया समुदीरितः ॥ ३३ ॥
रहस्यमद्भुतं चापि पृष्टाः स्म गगनेचर ।
एतदेव प्रशंसन्ति देवाश्च मुनयस्तथा ॥ ३४ ॥

पितरोंने कहा—आकाशचारी देवदूत ! तुमने यह महान् प्रश्न उपस्थित किया है और हमलोगोंसे अद्भुत रहस्य-की बात पूछी है । देवता और मुनि भी इस पितृकर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

तेऽप्येवं नाभिजानन्ति पितृकार्यविनिश्चयम् ।
वर्जयित्वा महात्मानं चिरजीविनमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
पितृभक्तस्तु यो विप्रो वरलब्धो महायशाः ।

परंतु वे भी इस प्रकार पितृकार्यके रहस्यको निश्चित -रूपसे नहीं जानते हैं । जो पिताके भक्त हैं और जिन महा-यशस्वी ब्राह्मणको वर प्राप्त हुआ है, उन सर्वश्रेष्ठ चिरजीवी महात्मा मार्कण्डेयको छोड़कर और किसीको उसका पता नहीं है ॥ ३५½ ॥

त्रयाणामपि पिण्डानां श्रुत्वा भगवतो गतिम् ॥ ३६ ॥
देवदूतेन यः पृष्टः श्राद्धस्य विधिनिश्चयः ।
गतिं त्रयाणां पिण्डानां शृणुष्वावहितो मम ॥ ३७ ॥

उन्होंने भगवान् विष्णुसे तीनों पिण्डोंकी गति सुनकर श्राद्धका रहस्य जान लिया है । देवदूत ! तुमने जो श्राद्धविधि-का निर्णय पूछा है, उसके अनुसार तीनों पिण्डोंकी गति बतायी जा रही है । सावधान होकर मुझसे सुनो ॥ ३६-३७॥

अपो गच्छति यो ह्यत्र शशिनं ह्येष प्रीणयन् ।
शशी प्रीणयते देवान् पितॄंश्चैव महामते ॥ ३८ ॥

महामते ! इस श्राद्धमें जो पहला पिण्ड पानीके भीतर चला जाता है, वह चन्द्रमाको तृप्त करता है और चन्द्रमा स्वयं देवता तथा पितरोंको तृप्त करते हैं ॥ ३८ ॥

भुङ्क्ते तु पत्नी यं चैषामनुज्ञाता तु मध्यमम् ।
पुत्रकामाय पुत्रं तु प्रयच्छन्ति पितामहाः ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार श्राद्धकर्ताकी पत्नी गुरुजनोंकी आज्ञासे जो मध्यम पिण्डका भक्षण करती है, उससे प्रसन्न हुए पितामह पुत्रकी कामनावाले पुरुषको पुत्र प्रदान करते हैं ॥ ३९ ॥

हव्यवाहे तु यः पिण्डो दीयते तन्निबोध मे।
पितरस्तेन तृप्यन्ति प्रीताः कामान् दिशन्ति च॥ ४०॥

अग्निमें जो पिण्ड डाला जाता है, उसके विषयमें भी मुझसे समझ लो। उससे पितर तृप्त होते हैं और तृप्त होकर वे मनुष्यकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं॥ ४०॥

एतत् ते कथितं सर्वं त्रिषु पिण्डेषु या गतिः।
ऋत्विग्यो यजमानस्य पितृत्वमनुगच्छति॥ ४१॥
तस्मिन्नहनि मन्यन्ते परिहार्यं हि मैथुनम्।
शुचिना तु सदा श्राद्धं भोक्तव्यं खेचरोत्तम॥ ४२॥

इस प्रकार तुम्हें यह सब कुछ बताया गया। तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका भी प्रतिपादन किया गया। श्राद्धमें भोजनके लिये निमन्त्रित हुआ ब्राह्मण उस दिनके लिये यजमानके पितृभावको प्राप्त हो जाता है; अतः उस दिन उसके लिये मैथुनको त्याज्य मानते हैं। आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत! ब्राह्मणको स्नान आदिसे पवित्र होकर सदा श्राद्धमें भोजन करना चाहिये॥ ४१-४२॥

ये मया कथिता दोषास्ते तथा स्युर्न चान्यथा।
तस्मात् स्नातः शुचिः क्षान्तः श्राद्धं भुञ्जीत वै द्विजः॥४३॥

मैंने जो दोष बताये हैं, वे वैसे ही प्राप्त होते हैं। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; अतः ब्राह्मण स्नान करके पवित्र एवं क्षमाशील हो श्राद्धमें भोजन करे॥ ४३॥

प्रजा विवर्धते चास्य यश्चैवं सम्प्रयच्छति।
ततो विद्युत्प्रभो नाम ऋषिराह महातपाः॥ ४४॥

जो इस प्रकार श्राद्धका दान देता है, उसकी संतति बढ़ती है। पितरोंके इस प्रकार कहनेके बाद विद्युत्प्रभ नामवाले एक महातपस्वी महर्षिने अपना प्रश्न उपस्थित किया॥ ४४॥

आदित्यतेजसा तस्य तुल्यं रूपं प्रकाशते।
स च धर्मरहस्यानि श्रुत्वा शक्रमथाब्रवीत्॥ ४५॥

उनका रूप सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने धर्मके रहस्यको सुनकर इन्द्रसे पूछा—॥ ४५॥

तिर्यग्योनिगतान् सत्त्वान् मर्त्या हिंसन्ति मोहिताः।
कीटान् पिपीलिकान् सर्पान् मेषान् समृगपक्षिणः॥
किल्बिषं सुबहु प्राप्ताः किंस्विदेषां प्रतिक्रिया।

'देवराज! मनुष्य मोहवश जो तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियों, मृग, पक्षी और भेड़ आदिको तथा कीड़ों, चींटे-चींटियों एवं सर्पोंकी हिंसा करते हैं, इससे वे बहुत-सा पाप बटोर लेते हैं। उनके लिये इन पापोंसे छूटनेका क्या उपाय है?'॥ ४६½॥

ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः॥ ४७॥
पितरश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म तं मुनिम्।

उनका यह प्रश्न सुनकर सम्पूर्ण देवता, तपोधन ऋषि तथा महाभाग पितर विद्युत्प्रभ मुनिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ४७½॥

शक्र उवाच

कुरुक्षेत्रं गयां गङ्गां प्रभासं पुष्कराणि च॥ ४८॥
एतानि मनसा ध्यात्वा अवगाहेत् ततो जलम्।
तथा मुच्यति पापेन राहुणा चन्द्रमा यथा॥ ४९॥

इन्द्र बोले—मुने! मनुष्यको चाहिये कि कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, प्रभास और पुष्करक्षेत्रका मन-ही-मन चिन्तन करके जलमें स्नान करे। ऐसा करनेसे वह पापसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे ४८-४९

त्र्यहं स्नातः स भवति निराहारश्च वर्तते।
स्पृशते यो गवां पृष्ठं वालधिं च नमस्यति॥ ५०॥

जो मनुष्य गायकी पीठ छूता और उसकी पूँछको नमस्कार करता है, वह मानो उपर्युक्त तीर्थोंमें तीन दिन-तक उपवासपूर्वक रहकर स्नान कर लेता है॥ ५०॥

ततो विद्युत्प्रभो वाक्यमभ्यभाषत वासवम्।
अयं सूक्ष्मतरो धर्मस्तं निबोध शतक्रतो॥ ५१॥

तदनन्तर विद्युत्प्रभने इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! यह सूक्ष्मतर धर्म मैं बता रहा हूँ। इसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥

घृष्टो वटकषायेण अनुलिप्तः प्रियंगुणा।
क्षीरेण षष्टिकान् भुक्त्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५२॥

'बरगदकी जटासे अपने शरीरको रगड़, राईका उबटन लगाये और दूधके साथ साठीके चावलोंकी खीर बनाकर भोजन करे तो मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ५२॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यमृषिचिन्तितम्।
श्रुतं मे भाषमाणस्य स्थाणोः स्थाने बृहस्पतेः॥ ५३॥
रुद्रेण सह देवेश तन्निबोध शचीपते।

'एक दूसरा गूढ़ रहस्य, जिसका ऋषियोंने चिन्तन किया है, सुनिये। इसे मैंने भगवान् शङ्करके स्थानमें भाषण करते हुए बृहस्पतिजीके मुखसे भगवान् रुद्रके साथ ही सुना था। देवेश! शचीपते! उसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥ ५३½॥

पर्वतारोहणं कृत्वा एकपादो विभावसुम्॥ ५४॥
निरीक्षेत निराहार ऊर्ध्वबाहुः कृताञ्जलिः।
तपसा महता युक्त उपवासफलं लभेत्॥ ५५॥

'जो पर्वतपर चढ़कर भोजनसे पूर्व एक पैरसे खड़ा हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये हाथ जोड़े वहाँ अग्निदेवकी ओर देखता है, वह महान् तपस्यासे युक्त होकर उपवास करनेका फल पाता है॥ ५४-५५॥

रश्मिभिस्तापितोऽर्कस्य सर्वपापमपोहति।
ग्रीष्मकालेऽथ वा शीते एवं पापमपोहति॥ ५६॥

ततः पापात् प्रमुक्तस्य द्युतिर्भवति शाश्वती ।
तेजसा सूर्यवद् दीप्तो भ्राजते सोमवत् पुनः ॥ ५७ ॥

'जो ग्रीष्म अथवा शीतकालमें सूर्यकी किरणोंसे तापित होता है, वह अपने सारे पापोंका नाश कर देता है। इस प्रकार मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। पापसे मुक्त हुए पुरुषको सनातन कान्ति प्राप्त होती है। वह अपने तेजसे सूर्यके समान देदीप्यमान और चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है' ॥ ५६-५७ ॥

मध्ये त्रिदशवर्गस्य देवराजः शतक्रतुः ।
उवाच मधुरं वाक्यं बृहस्पतिमनुत्तमम् ॥ ५८ ॥

तत्पश्चात् देवराज शतक्रतु इन्द्रने देवमण्डलीके बीचमें अपने सर्वश्रेष्ठ गुरु बृहस्पतिजीसे मधुर वाणीमें कहा—॥५८॥

धर्मगुह्यं तु भगवन् मानुषाणां सुखावहम् ।
सरहस्यांश्च ये दोषास्तान् यथावदुदीरय ॥ ५९ ॥

'भगवन्! मनुष्योंको सुख देनेवाले धर्मके गूढ़स्वरूपका तथा रहस्योंसहित जो दोष हैं, उनका भी यथावत्‌रूपसे वर्णन कीजिये' ॥५९॥

बृहस्पतिरुवाच

प्रतिमेहन्ति ये सूर्यमनिलं द्विषते च ये ।
हव्यवाहे प्रदीप्ते च समिधं ये न जुह्वति ॥ ६० ॥
बालवत्सां च ये धेनुं दुहन्ति क्षीरकारणात् ।
तेषां दोषान् प्रवक्ष्यामि तान् निबोध शचीपते ॥ ६१ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—शचीपते! जो सूर्यकी ओर मुँह करके मूत्र त्याग करते हैं, वायुदेवसे द्वेष रखते हैं अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्र त्याग करते हैं, जो प्रज्वलित अग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते तथा जो दूधके लोभसे बहुत छोटे बछड़ेवाली धेनुको भी दुह लेते हैं, उन सबके दोषोंका वर्णन करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ६०-६१ ॥

भानुमाननिलश्चैव हव्यवाहश्च वासव ।
लोकानां मातरश्चैव गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥ ६२ ॥

वासव! साक्षात् ब्रह्माजीने सूर्य, वायु, अग्नि तथा लोकमाता गौओंकी सृष्टि की है ॥ ६२ ॥

लोकांस्तारयितुं शक्ता मर्त्येष्वेतेषु देवताः ।
सर्वे भवन्तः शृण्वन्तु एकैकं धर्मनिश्चयम् ॥ ६३ ॥

ये मर्त्यलोकके देवता हैं तथा सम्पूर्ण जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति रखते हैं। आप सब लोग सुनें, मैं एक-एक धर्मका निश्चय बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

वर्षाणि षडशीतिं तु दुर्वृत्ताः कुलपांसनाः ।
स्त्रियः सर्वाश्च दुर्वृत्ताः प्रतिमेहन्ति या रविम् ॥ ६४ ॥
अनिलद्वेषिणः शक्र गर्भस्था च्यवते प्रजा ।

इन्द्र! जो दुराचारी और कुलाङ्गार पुरुष तथा जो समस्त दुराचारिणी स्त्रियाँ सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करती हैं और जो लोग वायुसे द्वेष रखते अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्र-त्याग करते हैं, उन सबकी छियासी वर्षोंतक गर्भमें आयी हुई संतान गिर जाती है ॥ ६४½ ॥

हव्यवाहस्य दीप्तस्य समिधं ये न जुह्वति ॥ ६५ ॥
अग्निकार्येषु वै तेषां हव्यं नाश्नाति पावकः ।

जो प्रज्वलित यज्ञाग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते, उनके अग्निहोत्रमें अग्निदेव हविष्य ग्रहण नहीं करते हैं (अतः अग्नि प्रज्वलित किये बिना उसे आहुति नहीं देनी चाहिये)॥ ६५½ ॥

क्षीरं तु बालवत्सानां ये पिबन्तीह मानवाः ॥ ६६ ॥
न तेषां क्षीरपाः केचिज्जायन्ते कुलवर्धनाः ।
प्रजाक्षयेण युज्यन्ते कुलवंशक्षयेण च ॥ ६७ ॥

जो मानव छोटे बछड़ेवाली गौओंके दूध दुहकर पी जाते हैं, उनके वंशमें दूध पीनेवाले और कुलकी वृद्धि करनेवाले कोई बालक नहीं उत्पन्न होते हैं। उनकी संतान नष्ट हो जाती है तथा उनके कुल एवं वंशका क्षय हो जाता है ॥ ६६-६७ ॥

एवमेतत् पुरा दृष्टं कुलवृद्धैर्द्विजातिभिः ।
तस्माद् वर्ज्यानि वर्ज्यानि कार्यं कार्यं च नित्यशः॥ ६८ ॥
भूतिकामेन मर्त्येन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

इस प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंने पूर्वकालमें यह प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया है; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको शास्त्रमें जिन्हें त्याज्य बतलाया है, उन कर्मोंको त्याग देना चाहिये और जो कर्तव्य कर्म है, उसका सदा अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यह मैं तुम्हें सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ६८½ ॥

ततः सर्वा महाभाग देवताः समरुद्गणाः ॥ ६९ ॥
ऋषयश्च महाभागाः पृच्छन्ति स्म पितॄंस्ततः ।

तब मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण महाभाग देवता और परम सौभाग्यशाली ऋषियोंने पितरोंसे पूछा— ॥ ६९½ ॥

पितरः केन तुष्यन्ति मर्त्यानामल्पचेतसाम् ॥ ७० ॥
अक्षयं च कथं दानं भवेच्चैवौर्ध्वदेहिकम् ।
आनृण्यं वा कथं मर्त्या गच्छेयुः केन कर्मणा ॥ ७१ ॥
एतदिच्छामहे श्रोतुं परं कौतूहलं हि नः ।

'मनुष्योंकी बुद्धि थोड़ी होती है; अतः वे कौन-सा कर्म करें, जिससे आप सम्पूर्ण पितर उनके ऊपर संतुष्ट होंगे? श्राद्धमें दिया हुआ दान किस प्रकार अक्षय हो सकता है? अथवा मनुष्य किस कर्मसे किस प्रकार पितरोंके ऋणसे छुटकारा पा सकते हैं? हम यह सुनना चाहते हैं। यह सब सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ ७०-७१½ ॥

पितर ऊचुः

न्यायतो वै महाभागाः संशयः समुदाहृतः ॥ ७२ ॥
श्रूयतां येन तुष्यामो मर्त्यानां साधुकर्मणाम् ।

पितरोंने कहा—महाभाग देवताओ ! आपने न्यायतः अपना संदेह उपस्थित किया है । उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्योंके जिस कार्यसे हम संतुष्ट होते हैं, उसको सुनिये ॥

नीलषण्डप्रमोक्षेण अमावास्यां तिलोदकैः ॥ ७३ ॥
वर्षासु दीपकैश्चैव पितॄणामनृणो भवेत् ।

नीले रंगके साँड़ छोड़नेसे, अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे और वर्षा ऋतुमें पितरोंके लिये दीप देनेसे मनुष्य उनके ऋणसे मुक्त हो सकता है ॥७३½ ॥

अक्षयं निर्व्यलीकं च दानमेतन्महाफलम् ॥ ७४ ॥
अस्माकं परितोषश्च अक्षयः परिकीर्त्यते ।

इस तरह निष्कपट भावसे किया हुआ दान अक्षय एवं महान् फलदायक होता है और उससे हमें भी अक्षय संतोष प्राप्त होता है—ऐसा शास्त्रका कथन है ॥७४½॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या आहरिष्यन्ति संततिम् ॥ ७५ ॥
दुर्गात् ते तारयिष्यन्ति नरकात् प्रपितामहान् ।

जो मनुष्य पितरोंमें श्रद्धा रखकर संतान उत्पन्न करेंगे, वे अपने प्रपितामहोंका दुर्गम नरकसे उद्धार कर देंगे ७५½

पितॄणां भाषितं श्रुत्वा हृष्टरोमा तपोधनः ॥ ७६ ॥
वृद्धगार्ग्यो महातेजास्तानेवं वाक्यमब्रवीत् ।

पितरोंका यह भाषण सुनकर तपस्याके धनी महातेजस्वी वृद्धगार्ग्यके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और उनसे इस प्रकार पूछा–॥ ७६½॥

के गुणा नीलषण्डस्य प्रमुक्तस्य तपोधनाः ॥ ७७ ॥
वर्षासु दीपदानेन तथैव च तिलोदकैः ।

'तपोधनो ! नीले रंगके साँड़ छोड़ने, वर्षा ऋतुमें दीप देने और अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे क्या लाभ होते हैं ?' ॥ ७७½ ॥

पितर ऊचुः

नीलषण्डस्य लाङ्गूलं तोयमभ्युद्धरेद् यदि ॥ ७८ ॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः ।

पितरोंने कहा—मुने ! छोड़े हुए नीले रंगके साँड़की पूँछ यदि नदी आदिके जलमें भीगकर उस जलको ऊपर उछालती है तो जिसने उस साँड़को छोड़ा है, उसके पितर साठ हजार वर्षोंतक उस जलसे तृप्त रहते हैं ॥ ७८½ ॥

यस्तु शृङ्गगतं पङ्कं कूलादुद्धृत्य तिष्ठति ॥ ७९ ॥
पितरस्तेन गच्छन्ति सोमलोकमसंशयम् ।

जो नदी या तालाबके तटसे अपने सींगोंद्वारा कीचड़ उछालकर खड़ा होता है, उससे वृषोत्सर्ग करनेवालेके पितर निस्संदेह चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥ ७९½ ॥

वर्षासु दीपदानेन शशिवच्छोभते नरः ॥ ८० ॥
तमोरूपं न तस्यास्ति दीपकं यः प्रयच्छति ।

वर्षा ऋतुमें दीपदान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान शोभा पाता है । जो दीपदान करता है, उसके लिये नरकका अन्धकार है ही नहीं ॥ ८०½ ॥

अमावास्यां तु ये मर्त्याः प्रयच्छन्ति तिलोदकम् ॥ ८१ ॥
पात्रमौदुम्बरं गृह्य मधुमिश्रं तपोधन ।
कृतं भवति तैः श्राद्धं सरहस्यं यथार्थवत् ॥ ८२ ॥

तपोधन ! जो मनुष्य अमावास्याके दिन ताँबेके पात्रमें मधु एवं तिलसे मिश्रित जल लेकर उसके द्वारा पितरोंका तर्पण करते हैं, उनके द्वारा रहस्यसहित श्राद्धकर्म यथार्थरूपसे सम्पादित हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥

हृष्टपुष्टमनास्तेषां प्रजा भवति नित्यदा ।
कुलवंशस्य वृद्धिस्तु पिण्डदस्य फलं भवेत् ।
श्रद्दधानस्तु यः कुर्यात् पितॄणामनृणो भवेत् ॥ ८३ ॥

उनकी प्रजा सदा हृष्ट-पुष्ट मनवाली होती है । कुल और वंश-परम्पराकी वृद्धि श्राद्धका फल है । पिण्डदान करनेवालेको यह फल सुलभ होता है । जो श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, वह उनके ऋणसे छुटकारा पा जाता है ॥ ८३ ॥

एवमेव समुद्दिष्टः श्राद्धकालक्रमस्तथा ।
विधिः पात्रं फलं चैव यथावदनुकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार यह श्राद्धके काल, क्रम, विधि, पात्र और फलका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया गया है ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पितृरहस्यं नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पितरोंका रहस्य नामक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

विष्णु, बलदेव, देवगण, धर्म, अग्नि, विश्वामित्र, गोसमुदाय और ब्रह्माजीके द्वारा धर्मके गूढ़ रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

केन ते च भवेत् प्रीतिः कथं तुष्टिं तु गच्छसि ।
इति पृष्टः सुरेन्द्रेण प्रोवाच हरिरीश्वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्राचीन कालकी बात है, एक बार देवराज इन्द्रने भगवान् विष्णुसे पूछा—'भगवन् ! आप किस कर्मसे प्रसन्न होते हैं ? किस प्रकार आपको संतुष्ट किया जा सकता है ?' सुरेन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर जगदीश्वर श्रीहरिने कहा ॥ १ ॥

विष्णुरुवाच

ब्राह्मणानां परीवादो मम विद्वेषणं महत् ।
ब्राह्मणैः पूजितैर्नित्यं पूजितोऽहं न संशयः ॥ २ ॥

भगवान् विष्णु बोले—इन्द्र ! ब्राह्मणोंकी निन्दा करना मेरे साथ महान् द्वेष करनेके समान है तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे सदा मेरी भी पूजा हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

नित्याभिवाद्या विप्रेन्द्रा भुक्त्वा पादौ तथात्मनः ।
तेषां तुष्यामि मर्त्यानां यश्चक्रे च बलिं हरेत् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये । भोजनके पश्चात् अपने दोनों पैरोंकी भी सेवा करे अर्थात् पैरोंको भलीभाँति धो ले तथा तीर्थकी मृत्तिकासे सुदर्शन चक्र बनाकर उसपर मेरी पूजा करे और नाना प्रकारकी भेंट चढ़ावे । जो ऐसा करते हैं, उन मनुष्योंपर मैं संतुष्ट होता हूँ ॥ ३ ॥

वामनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा वराहं च जलोत्थितम् ।
उद्धृतां धरणीं चैव मूर्ध्ना धारयते तु यः ॥ ४ ॥
न तेषामशुभं किंचित् कल्मषं चोपपद्यते ।

जो मनुष्य बौने ब्राह्मण और पानीसे निकले हुए वराहको देखकर नमस्कार करता और उनकी उठायी मृत्तिकाको मस्तकसे लगाता है, ऐसे लोगोंको कभी कोई अशुभ या पाप नहीं प्राप्त होता ॥ ४½ ॥

अश्वत्थं रोचनां गां च पूजयेद् यो नरः सदा ॥ ५ ॥
पूजितं च जगत् तेन सदेवासुरमानुषम् ।

जो मनुष्य अश्वत्थ वृक्ष, गोरोचना और गौकी सदा पूजा करता है, उसके द्वारा देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्‌की पूजा हो जाती है ॥ ५½ ॥

तेन रूपेण तेषां च पूजां गृह्णामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥
पूजा ममैषा नास्त्यन्या यावल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ।

उस रूपमें उनके द्वारा की हुई पूजाको मैं यथार्थ रूपसे अपनी पूजा मानकर ग्रहण करता हूँ । जबतक ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं, तबतक यह पूजा ही मेरी पूजा है इससे भिन्न दूसरे प्रकारकी पूजा मेरी पूजा नहीं है ॥ ६½ ॥

अन्यथा हि वृथा मर्त्याः पूजयन्त्यल्पबुद्धयः ॥ ७ ॥
नाहं तत् प्रतिगृह्णामि न सा तुष्टिकरी मम ॥ ८ ॥

अल्पबुद्धि मानव अन्य प्रकारसे मेरी व्यर्थ पूजा करते हैं । मैं उसे ग्रहण नहीं करता हूँ । वह पूजा मुझे संतोष प्रदान करनेवाली नहीं है ॥ ७-८ ॥

इन्द्र उवाच

चक्रं पादौ वराहं च ब्राह्मणं चापि वामनम् ।
उद्धृतां धरणीं चैव किमर्थं त्वं प्रशंससि ॥ ९ ॥

इन्द्रने पूछा—भगवन् ! आप चक्र, दोनों पैर, बौने ब्राह्मण, वराह और उनके द्वारा उठायी हुई मिट्टीकी प्रशंसा किस लिये करते हैं ? ॥ ९ ॥

भवान् सृजति भूतानि भवान् संहरति प्रजाः ।
प्रकृतिः सर्वभूतानां समर्त्यानां सनातनी ॥ १० ॥

आप ही प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं, आप ही समस्त प्रजाका संहार करते हैं और आप ही मनुष्योंसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी सनातन प्रकृति (मूल कारण) हैं ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

सम्प्रहस्य ततो विष्णुरिदं वचनमब्रवीत् ।
चक्रेण निहता दैत्याः पद्भ्यां क्रान्ता वसुन्धरा ॥ ११ ॥
वाराहं रूपमास्थाय हिरण्याक्षो निपातितः ।
वामनं रूपमास्थाय जितो राजा मया बलिः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब भगवान् विष्णुने हँसकर इस प्रकार कहा—'देवराज ! मैंने चक्रसे दैत्योंको मारा है । दोनों पैरोंसे पृथ्वीको आक्रान्त किया है । वाराहरूप धारण करके हिरण्याक्ष दैत्यको धराशायी किया है और बौने ब्राह्मणका रूप ग्रहण करके मैंने राजा बलिको जीता है ॥

परितुष्टो भवाम्येवं मानुषाणां महात्मनाम् ।
तन्मां ये पूजयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः ॥ १३ ॥

'इस तरह इन सबकी पूजा करनेसे मैं महामना मनुष्योंपर संतुष्ट होता हूँ । जो मेरी पूजा करेंगे, उनका कभी पराभव नहीं होगा ॥ १३ ॥

अपि वा ब्राह्मणं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमागतम् ।

इन्द्रका भगवान् विष्णुके साथ प्रश्नोत्तर

ब्राह्मणाग्र्याहुतिं दत्त्वा अमृतं तस्य भोजनम् ॥ १४ ॥

'ब्रह्मचारी ब्राह्मणको घरपर आया देख गृहस्थ पुरुष ब्राह्मणको प्रथम भोजन कराये, तत्पश्चात् स्वयं अवशिष्ट अन्नको ग्रहण करे तो उसका वह भोजन अमृतके समान माना गया है ॥ १४ ॥

ऐन्द्रीं संध्यामुपासित्वा आदित्याभिमुखः स्थितः ।
सर्वतीर्थेषु स स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १५ ॥

'जो प्रातःकालकी संध्या करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होता है, उसे समस्त तीर्थोंमें स्नानका फल मिलता है और वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १५ ॥

एतद् वः कथितं गुह्यमखिलेन तपोधनाः ।
संशयं पृच्छमानानां किं भूयः कथयाम्यहम् ॥ १६ ॥

'तपोधनो ! तुमलोगोंने जो संशय पूछा है, उसके समाधानके लिये मैंने यह सारा गूढ़ रहस्य तुम्हें बताया है। बताओ और क्या कहूँ' ॥ १६ ॥

बलदेव उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं मानुषाणां सुखावहम् ।
अजानन्तो यदबुधाः क्लिश्यन्ते भूतपीडिताः ॥ १७ ॥

बलदेवजीने कहा—जो मनुष्योंको सुख देनेवाला है तथा मूर्ख मानव जिसे न जाननेके कारण भूतोंसे पीड़ित हो नाना प्रकारके कष्ट उठाते रहते हैं, वह परम गोपनीय विषय मैं बता रहा हूँ; उसे सुनो ॥ १७ ॥

कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि ।
सर्षपं च प्रियङ्गुं च कल्मषात् प्रतिमुच्यते ॥ १८ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गाय, घी, दही, सरसों और राईका स्पर्श करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

भूतानि चैव सर्वाणि अग्रतः पृष्ठतोऽपि वा ।
उच्छिष्टं वापि च्छिद्रेषु वर्जयन्ति तपोधनाः ॥ १९ ॥

तपस्वी पुरुष आगे या पीछेसे आनेवाले सभी हिंसक जन्तुओंको त्याग देते—उन्हें छोड़कर दूर हट जाते हैं। इसी प्रकार संकटके समय भी वे उच्छिष्ट वस्तुका सदा परित्याग ही करते हैं ॥ १९ ॥

देवा ऊचुः

गृह्यौदुम्बरं पात्रं तोयपूर्णमुदङ्मुखः ।
उपवासं तु गृह्णीयाद् यद् वा संकल्पयेद् व्रतम् ॥ २० ॥

देवता बोले—मनुष्य जलसे भरा हुआ ताँबेका पात्र लेकर उत्तराभिमुख हो उपवासका नियम ले अथवा और किसी व्रतका संकल्प करे ॥ २० ॥

देवतास्तस्य तुष्यन्ति कामिकं चापि सिध्यति ।
अन्यथा हि वृथा मर्त्याः कुर्वते स्वल्पबुद्धयः ॥ २१ ॥

जो ऐसा करता है, उसके ऊपर देवता संतुष्ट होते हैं और उसकी सारी मनोवाञ्छा सिद्ध हो जाती है; परंतु मन्दबुद्धि मानव ऐसा न करके व्यर्थ दूसरे-दूसरे कार्य किया करते हैं ॥ २१ ॥

उपवासे बलौ चापि ताम्रपात्रं विशिष्यते ।
बलिर्भिक्षा तथार्घ्यं च पितॄणां च तिलोदकम् ॥ २२ ॥
ताम्रपात्रेण दातव्यमन्यथाल्पफलं भवेत् ।
गुह्यमेतत् समुद्दिष्टं यथा तुष्यन्ति देवताः ॥ २३ ॥

उपवासका संकल्प लेने और पूजाका उपचार समर्पित करनेमें ताम्रपात्रको उत्तम माना गया है। पूजन-सामग्री, भिक्षा, अर्घ्य तथा पितरोंके लिये तिलमिश्रित जल ताम्रपात्रके द्वारा देने चाहिये अन्यथा उनका फल बहुत थोड़ा होता है। यह अत्यन्त गोपनीय बात बतायी गयी है। इसके अनुसार कार्य करनेसे देवता संतुष्ट होते हैं ॥ २२-२३ ॥

धर्म उवाच

राजपौरुषिके विप्रे घाण्टिके परिचारिके ।
गोरक्षके वाणिजके तथा कारुकुशीलवे ॥ २४ ॥
मित्रद्रुह्यनधीयाने यश्च स्याद् वृषलीपतिः ।
एतेषु दैवं पित्र्यं वा न देयं स्यात् कथंचन ॥ २५ ॥
पिण्डदास्तस्य हीयन्ते न च प्रीणाति वै पितॄन् ।

धर्मने कहा—ब्राह्मण यदि राजाका कर्मचारी हो, वेतन लेकर घण्टा बजानेका काम करता हो, दूसरोंका सेवक हो, गोरक्षा एवं वाणिज्यका व्यवसाय करता हो, शिल्पी या नट हो, मित्रद्रोही हो, वेद न पढ़ा हो, अथवा शूद्र जातिकी स्त्रीका पति हो, ऐसे लोगोंको किसी तरह भी देवकार्य (यज्ञ) और पितृकार्य (श्राद्ध) का अन्न आदि नहीं देना चाहिये। जो इन्हें पिण्ड या अन्न देते हैं, उनकी अवनति होती है तथा उनके पितरोंको भी तृप्ति नहीं होती ॥ २४-२५½ ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ॥ २६ ॥
पितरस्तस्य देवाश्च अग्नयश्च तथैव हि ।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति अतिथेरप्रतिग्रहात् ॥ २७ ॥

जिसके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है, उसके यहाँसे अतिथिका सत्कार न होनेके कारण देवता, पितर तथा अग्नि भी निराश लौट जाते हैं ॥ २६-२७ ॥

स्त्रीघ्नैर्गोघ्नैः कृतघ्नैश्च ब्रह्मघ्नैर्गुरुतल्पगैः ।
तुल्यदोषो भवत्येभिर्यस्यातिथिरनर्चितः ॥ २८ ॥

जिसके यहाँ अतिथिका सत्कार नहीं होता, उस पुरुषको स्त्रीहत्यारों, गोघातकों, कृतघ्नों, ब्रह्मघातियों और गुरुपत्नी-गामियोंके समान पाप लगता है ॥ २८ ॥

अग्निरुवाच

पादमुद्यम्य यो मर्त्यः स्पृशेद् गाश्च सुदुर्मतिः ।
ब्राह्मणं वा महाभागं दीप्यमानं तथानलम् ॥ २९ ॥
तस्य दोषान् प्रवक्ष्यामि तच्छृणुध्वं समाहिताः ।

अग्नि बोले—जो दुर्बुद्धि मनुष्य लात उठाकर उससे गौका, महाभाग ब्राह्मणका अथवा प्रज्वलित अग्निका स्पर्श करता है, उसके दोष बता रहा हूँ, सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २९½ ॥

दिवं स्पृशत्यशब्दोऽस्य त्रस्यन्ति पितरश्च वै ॥ ३० ॥
वैमनस्यं च देवानां कृतं भवति पुष्कलम् ।
पावकश्च महातेजा हव्यं न प्रतिगृह्णति ॥ ३१ ॥

ऐसे मनुष्यकी अपकीर्ति स्वर्गतक फैल जाती है । उसके पितर भयभीत हो उठते हैं । देवताओंमें भी उसके प्रति भारी वैमनस्य हो जाता है तथा महातेजस्वी पावक उसके दिये हुए हविष्यको नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ३०-३१ ॥

आजन्मनां शतं चैव नरके पच्यते तु सः ।
निष्कृतिं च न तस्यापि अनुमन्यन्ति कर्हिचित् ॥ ३२ ॥

वह सौ जन्मोंतक नरकमें पकाया जाता है । ऋषिगण कभी उसके उद्धारका अनुमोदन नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

तस्माद् गावो न पादेन स्प्रष्टव्या वै कदाचन ।
ब्राह्मणश्च महातेजा दीप्यमानस्तथानलः ॥ ३३ ॥
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता ।
एते दोषा मया प्रोक्तास्त्रिषु यः पादमुत्सृजेत् ॥ ३४ ॥

इसलिये अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु पुरुषको गौओंका, महातेजस्वी ब्राह्मणका तथा प्रज्वलित अग्निका भी कभी पैरसे स्पर्श नहीं करना चाहिये । जो इन तीनोंपर पैर उठाता है, उसे प्राप्त होनेवाले इन दोषोंका मैंने वर्णन किया है ॥

विश्वामित्र उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम् ।
परमान्नेन यो दद्यात् पितृणामौपहारिकम् ॥ ३५ ॥
गजच्छायायां पूर्वस्यां कुतपे दक्षिणामुखः ।
यदा भाद्रपदे मासि भवते बहुले मघा ॥ ३६ ॥
श्रूयतां तस्य दानस्य यादृशो गुणविस्तरः ।
कृतं तेन महच्छ्राद्धं वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र बोले—देवताओ ! यह धर्मसम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य सुनो, जब भाद्रपदमासके कृष्णपक्षमें त्रयोदशी तिथिको मघा नक्षत्रका योग हो, उस समय जो मनुष्य दक्षिणाभिमुख हो कुतप कालमें (मध्याह्नके बाद आठवें मुहूर्तमें) जब कि हाथीकी छाया पूर्व दिशाकी ओर पड़ रही हो, उस छायामें ही स्थित हो पितरोंके निमित्त उपहारके रूपमें उत्तम अन्नका दान करता है, उस दानका जैसा विस्तृत फल बताया गया है, वह सुनो । दान करनेवाले उस पुरुषने इस जगत्‌में तेरह वर्षोंके लिये पितरोंका महान् श्राद्ध सम्पन्न कर दिया, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५-३७ ॥

गाव ऊचुः

बहुले समंगे ह्यकुतोऽभये च
क्षेमे च सख्येव हि भूयसी च ।
यथा पुरा ब्रह्मपुरे सवत्सा
शतक्रतोर्वज्रधरस्य यज्ञे ॥ ३८ ॥
भूयश्च या विष्णुपदे स्थिता या
विभावसोश्चापि पथे स्थिता या ।
देवाश्च सर्वे सह नारदेन
प्रकुर्वते सर्वसहेति नाम ॥ ३९ ॥

गौओंने कहा—पूर्वकालमें ब्रह्मलोकके भीतर व्रजधारी इन्द्रके यज्ञमें 'बहुले ! समङ्गे ! अकुतोभये ! क्षेमे ! सखी! भूयसी' इन नामोंका उच्चारण करके बछड़ोंसहित गौओंकी स्तुति की गयी थी, फिर जो-जो गौएँ आकाशमें स्थित थीं और जो सूर्यके मार्गमें विद्यमान थीं, नारदसहित सम्पूर्ण देवताओंने उनका 'सर्वसहा' नाम रख दिया ॥ ३८-३९ ॥

मन्त्रेणैतेनाभिवन्देत यो वै
विमुच्यते पापकृतेन कर्मणा ।
लोकानवाप्नोति पुरंदरस्य
गवां फलं चन्द्रमसो द्युतिं च ॥ ४० ॥

ये दोनों श्लोक मिलकर एक मन्त्र है । उस मन्त्रसे जो गौओंकी वन्दना करता है, वह पापकर्मसे मुक्त हो जाता है । गोसेवाके फलस्वरूप उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है तथा वह चन्द्रमाके समान कान्तिलाभ करता है ॥ ४० ॥

एतं हि मन्त्रं त्रिदशाभिजुष्टं
पठेत यः पर्वसु गोष्ठमध्ये ।
न तस्य पापं न भयं न शोकः
सहस्रनेत्रस्य च याति लोकम् ॥ ४१ ॥

जो पर्वके दिन गोशालामें इस देवसेवित मन्त्रका पाठ करता है, उसे न पाप होता है, न भय होता है और न शोक ही प्राप्त होता है । वह सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके लोकमें जाता है ॥

भीष्म उवाच

अथ सप्त महाभागा ऋषयो लोकविश्रुताः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ब्रह्माणं पद्मसम्भवम् ॥ ४२ ॥
प्रदक्षिणमभिक्रम्य सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महान् सौभाग्यशाली विश्वविख्यात वसिष्ठ आदि सभी सप्तर्षियोंने कमलयोनि ब्रह्माजीकी प्रदक्षिणा की और सब-के-सब हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये ॥ ४२½ ॥

उवाच वचनं तेषां वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः॥ ४३ ॥
सर्वप्राणिहितं प्रश्नं ब्रह्मक्षत्रे विशेषतः।

उनमेंसे ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिने समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रियजातिके लिये लाभदायक प्रश्न उपस्थित किया—॥ ४३½ ॥

द्रव्यहीनाः कथं मर्त्या दरिद्राः साधुवर्तिनः॥ ४४ ॥
प्राप्नुवन्तीह यज्ञस्य फलं केन च कर्मणा।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां ब्रह्मा वचनमब्रवीत्॥ ४५ ॥

'भगवन्! इस संसारमें सदाचारी मनुष्य प्रायः दरिद्र एवं द्रव्यहीन हैं। वे किस कर्मसे किस तरह यहाँ यज्ञका फल पा सकते हैं?' उनकी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा॥

ब्रह्मोवाच

अहो प्रश्नो महाभागा गूढार्थः परमः शुभः।
सूक्ष्मः श्रेयांश्च मर्त्यानां भवद्भिः समुदाहृतः॥ ४६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महान् भाग्यशाली सप्तर्षियो! तुम लोगोंने परम शुभकारक, गूढ़ अर्थसे युक्त, सूक्ष्म एवं मनुष्योंके लिये कल्याणकारी प्रश्न सामने रखा है॥ ४६ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये निखिलेन तपोधनाः।
यथा यज्ञफलं मर्त्यो लभते नात्र संशयः॥ ४७ ॥

तपोधनो! मनुष्य जिस प्रकार बिना किसी संशयके यज्ञका फल पाता है, वह सब पूर्णरूपसे बताऊँगा, सुनो॥ ४७ ॥

पौषमासस्य शुक्ले वै यदा युज्येत रोहिणी।
तेन नक्षत्रयोगेन आकाशशयनो भवेत्॥ ४८ ॥
एकवस्त्रः शुचिः स्नातः श्रद्दधानः समाहितः।
सोमस्य रश्मयः पीत्वा महायज्ञफलं लभेत्॥ ४९ ॥

पौषमासके शुक्ल पक्षमें जिस दिन रोहिणी नक्षत्रका योग हो, उस दिनकी रातमें मनुष्य स्नान आदिसे शुद्ध हो एक वस्त्र धारण करके श्रद्धा और एकाग्रताके साथ खुले मैदानमें आकाशके नीचे शयन करे और चन्द्रमाकी किरणोंका ही पान करता रहे। ऐसा करनेसे उसको महान् यज्ञका फल मिलता है॥

एतद् वः परमं गुह्यं कथितं द्विजसत्तमाः।
यन्मां भवन्तः पृच्छन्ति सूक्ष्मतत्त्वार्थदर्शिनः॥ ५० ॥

विप्रवरो! तुमलोग सूक्ष्मतत्त्व एवं अर्थके ज्ञाता हो। तुमने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसके अनुसार मैंने तुम्हें यह परम गूढ़ रहस्य बताया है॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अग्नि, लक्ष्मी, अङ्गिरा, गार्ग्य, धौम्य तथा जमदग्निके द्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

विभावसुरुवाच

सलिलस्याञ्जलिं पूर्णमक्षताश्च घृतोत्तराः।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य तज्जलं चाक्षतांश्च तान्॥ १ ॥
स्थितो ह्यभिमुखो मर्त्यः पौर्णमास्यां बलिं हरेत्।
अग्निकार्यं कृतं तेन हुताश्चास्याग्नयस्त्रयः॥ २ ॥

अग्निदेवने कहा—जो मनुष्य पूर्णिमा तिथिको चन्द्रोदयके समय चन्द्रमाकी ओर मुँह करके उन्हें जलकी भरी हुई एक अञ्जलि घी और अक्षतके साथ भेंट करता है, उसने अग्निहोत्रका कार्य सम्पन्न कर लिया। उसके द्वारा गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियोंको भलीभाँति आहुति दे दी गयी॥ १-२ ॥

वनस्पतिं च यो हन्यादमावास्यामबुद्धिमान्।
अपि ह्येकेन पत्रेण लिप्यते ब्रह्महत्यया॥ ३ ॥

जो मूर्ख अमावास्याके दिन किसी वनस्पतिका एक पत्ता भी तोड़ता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है॥ ३ ॥

दन्तकाष्ठं तु यः खादेदमावास्यामबुद्धिमान्।
हिंसितश्चन्द्रमास्तेन पितरश्चोद्विजन्ति च॥ ४ ॥

जो बुद्धिहीन मानव अमावास्या तिथिको दन्तधावन काष्ठ चबाता है, उसके द्वारा चन्द्रमाकी हिंसा होती है और पितर भी उससे उद्विग्न हो उठते हैं॥ ४ ॥

हव्यं न तस्य देवाश्च प्रतिगृह्णन्ति पर्वसु।
कुप्यन्ते पितरश्चास्य कुले वंशोऽस्य हीयते॥ ५ ॥

पर्वके दिन उसके दिये हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं। उसके पितर भी कुपित हो जाते हैं और उसके कुलमें वंशकी हानि होती है॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

प्रकीर्णं भाजनं यत्र भिन्नभाण्डमथासनम्।
योषितश्चैव हन्यन्ते कश्मलोपहते गृहे॥ ६ ॥
देवताः पितरश्चैव उत्सवे पर्वणीषु वा।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति कश्मलोपहताद् गृहात्॥ ७ ॥

लक्ष्मी बोलीं—जिस घरमें सब पात्र इधर-उधर बिखरे पड़े हों, बर्तन फूटे और आसन फटे हों तथा जहाँ स्त्रियाँ मारी-पीटी जाती हों, वह घर पापके कारण दूषित होता है। पापसे दूषित हुए उस गृहसे उत्सव और पर्वके

अवसरोंपर देवता और पितर निराश लौट जाते हैं—उस घरकी पूजा नहीं स्वीकार करते ॥ ६-७ ॥

अङ्गिरा उवाच

यस्तु संवत्सरं पूर्णं दद्याद् दीपं करञ्जके।
सुवर्चलामूलहस्तः प्रजा तस्य विवर्धते ॥ ८ ॥

अङ्गिराने कहा—जो पूरे एक वर्षतक करंज (करज) वृक्षके नीचे दीपदान करे और ब्राह्मीबूटीकी जड़ हाथमें लिये रहे, उसकी संतति बढ़ती है ॥ ८ ॥

गार्ग्य उवाच

आतिथ्यं सततं कुर्याद् दीपं दद्यात् प्रतिश्रये।
वर्जयानो दिवा स्वापं न च मांसानि भक्षयेत् ॥ ९ ॥
गोब्राह्मणं न हिंस्याच्च पुष्कराणि च कीर्तयेत्।
एष श्रेष्ठतमो धर्मः सरहस्यो महाफलः ॥ १० ॥

गार्ग्यने कहा—सदा अतिथियोंका सत्कार करे, घरमें दीपक जलाये, दिनमें सोना छोड़ दे। मांस कभी न खाय। गौ और ब्राह्मणकी हत्या न करे तथा तीनों पुष्कर तीर्थोंका प्रतिदिन नाम लिया करे। यह रहस्यसहित श्रेष्ठतम धर्म महान् फल देनेवाला है ॥ ९-१० ॥

अपि क्रतुशतैरिष्ट्वा क्षयं गच्छति तद्धविः।
न तु क्षीयन्ति ते धर्माः श्रद्दधानैः प्रयोजिताः ॥ ११ ॥

सैकड़ों बार किये हुए यज्ञका फल भी क्षीण हो जाता है; किंतु श्रद्धालु पुरुषोंद्वारा उपर्युक्त धर्मोंका पालन किया जाय तो वे कभी क्षीण नहीं होते ॥ ११ ॥

इदं च परमं गुह्यं सरहस्यं निबोधत।
श्राद्धकल्पे च दैवे च तैर्थिके पर्वणीषु च ॥ १२ ॥
रजस्वला च या नारी श्वित्रिकापुत्रिका च या।
एताभिश्चक्षुषा दृष्टं हविर्नाश्नन्ति देवताः ॥ १३ ॥
पितरश्च न तुष्यन्ति वर्षाण्यपि त्रयोदश।

यह परम गोपनीय रहस्यकी बात सुनो। श्राद्धमें, यज्ञमें, तीर्थमें और पर्वोंके दिन देवताओंके लिये जो हविष्य तैयार किया जाता है, उसे यदि रजस्वला, कोढ़ी अथवा वन्ध्या स्त्री देख ले तो उनके नेत्रोंद्वारा देखे हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं तथा पितर भी तेरह वर्षोंतक असंतुष्ट रहते हैं ॥ १२-१३½ ॥

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्।
कीर्तयेद् भारतं चैव तथा स्यादक्षयं हविः ॥ १४ ॥

श्राद्ध और यज्ञके दिन मनुष्य स्नान आदिसे पवित्र होकर श्वेत वस्त्र धारण करे। ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराये तथा महाभारत (गीता आदि) का पाठ करे। ऐसा करनेसे उसका हव्य और कव्य अक्षय होता है ॥ १४ ॥

धौम्य उवाच

भिन्नभाण्डं च खट्वां च कुक्कुटं शुनकं तथा।
अप्रशस्तानि सर्वाणि यश्च वृक्षो गृहेरुहः ॥ १५ ॥

धौम्य बोले—घरमें फूटे बर्तन, टूटी खाट, मुर्गा, कुत्ता और अश्वत्थादि वृक्षका होना अच्छा नहीं माना गया है ॥ १५ ॥

भिन्नभाण्डे कलिं प्राहुः खट्वायां तु धनक्षयः।
कुक्कुटे शुनके चैव हविर्नाश्नन्ति देवताः।
वृक्षमूले ध्रुवं सत्त्वं तस्माद् वृक्षं न रोपयेत् ॥ १६ ॥

फूटे बर्तनमें कलियुगका वास कहा गया है। टूटी खाट रहनेसे धनकी हानि होती है। मुर्गे और कुत्तेके रहनेपर देवता उस घरमें हविष्य नहीं ग्रहण करते तथा मकानके अंदर कोई बड़ा वृक्ष होनेपर उसकी जड़के अंदर साँप, बिच्छू आदि जन्तुओंका रहना अनिवार्य हो जाता है; इसलिये घरके भीतर पेड़ न लगावे ॥ १६ ॥

जमदग्निरुवाच

यो यजेदश्वमेधेन वाजपेयशतेन ह।
अवाक्शिरा वा लम्बेत सत्रं वा स्फीतमाहरेत् ॥ १७ ॥
न यस्य हृदयं शुद्धं नरकं स ध्रुवं व्रजेत्।
तुल्यं यज्ञश्च सत्यं च हृदयस्य च शुद्धता ॥ १८ ॥

जमदग्नि बोले—कोई अश्वमेध या सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करे, नीचे मस्तक करके वृक्षमें लटके अथवा समृद्धिशाली सत्र खोल दे; किंतु जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, वह पापी निश्चय ही नरकमें जाता है; क्योंकि यज्ञ, सत्य और हृदयकी शुद्धि तीनों बराबर हैं (फिर भी हृदयकी शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है) ॥ १७-१८ ॥

शुद्धेन मनसा दत्त्वा सक्तुप्रस्थं द्विजातये।
ब्रह्मलोकमनुप्राप्तः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १९ ॥

(प्राचीन समयमें एक ब्राह्मण) शुद्ध हृदयसे ब्राह्मणको सेरभर सत्तू दान करके ही ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ था। हृदयकी शुद्धिका महत्त्व बतानेके लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

वायुके द्वारा धर्माधर्मके रहस्यका वर्णन

वायुरुवाच

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि मानुषाणां सुखावहम्।
सरहस्याश्च ये दोषास्ताञ्शृणुध्वं समाहिताः॥ १ ॥

वायुदेवने कहा—मैं मनुष्योंके लिये सुखदायक धर्मका किंचित् वर्णन करता हूँ और रहस्यसहित जो दोष हैं, उन्हें भी बतलाता हूँ। तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो॥

अग्निकार्यं च कर्तव्यं परमान्नेन भोजनम्।
दीपकश्चापि कर्तव्यः पितॄणां सतिलोदकः॥ २ ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिये। श्राद्धके दिन उत्तम अन्नके द्वारा ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। पितरोंके लिये दीप-दान तथा तिलमिश्रित जलसे तर्पण करना चाहिये॥

एतेन विधिना मर्त्यः श्रद्दधानः समाहितः।
चतुरो वार्षिकान् मासान् यो ददाति तिलोदकम्॥ ३ ॥
भोजनं च यथाशक्त्या ब्राह्मणे वेदपारगे।
पशुबन्धशतस्येह फलं प्राप्नोति पुष्कलम्॥ ४ ॥

जो मनुष्य श्रद्धा और एकाग्रताके साथ इस विधिसे वर्षाके चार महीनोंतक पितरोंको तिलमिश्रित जलकी अञ्जलि देता है और वेद-शास्त्रके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको यथाशक्ति भोजन कराता है, वह सौ यज्ञोंका पूरा फल प्राप्त कर लेता है॥ ३-४॥

इदं चैवापरं गुह्यमप्रशस्तं निबोधत।
अग्नेस्तु वृषलो नेता हविर्मूढाश्च योषितः॥ ५ ॥
मन्यते धर्म एवेति स चाधर्मेण लिप्यते।
अग्नयस्तस्य कुप्यन्ति शूद्रयोनिं स गच्छति॥ ६ ॥

अब यह दूसरी उस गोपनीय बातको सुनो, जो उत्तम नहीं है अर्थात् निन्दनीय है। यदि शूद्र किसी द्विजके अग्निहोत्रकी अग्निको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाता है तथा मूर्ख स्त्रियाँ यज्ञसम्बन्धी हविष्यको ले जाती हैं—इस कार्यको जो धर्म ही समझता है, वह अधर्मसे लिप्त होता है। उसके ऊपर अग्नियोंका कोप होता है और वह शूद्रयोनिमें जन्म लेता है॥ ५-६॥

पितरश्च न तुष्यन्ति सह देवैर्विशेषतः।
प्रायश्चित्तं तु यत् तत्र ब्रुवतस्तन्निबोध मे॥ ७ ॥

उसके ऊपर देवताओंसहित पितर भी विशेष संतुष्ट नहीं होते हैं। ऐसे स्थलोंपर जो प्रायश्चित्तका विधान है, उसे बताता हूँ, सुनो॥ ७॥

यत् कृत्वा तु नरः सम्यक् सुखी भवति विज्वरः।
गवां मूत्रपुरीषेण पयसा च घृतेन च॥ ८ ॥
अग्निकार्यं त्र्यहं कुर्यान्निराहारः समाहितः।
ततः संवत्सरे पूर्णे प्रतिगृह्णन्ति देवताः॥ ९ ॥
हृष्यन्ति पितरश्चास्य श्राद्धकाल उपस्थिते।

उसका भलीभाँति अनुष्ठान करके मनुष्य सुखी और निश्चिन्त हो जाता है। द्विजको चाहिये कि वह निराहार एवं एकाग्रचित्त होकर तीन दिनोंतक गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध और गोघृतसे अग्निमें आहुति दे। तत्पश्चात् एक वर्ष पूर्ण होनेपर देवता उसकी पूजा ग्रहण करते हैं और पितर भी उसके यहाँ श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर प्रसन्न होते हैं॥ ८—९½॥

एष ह्यधर्मो धर्मश्च सरहस्यः प्रकीर्तितः॥ १० ॥
मर्त्यानां स्वर्गकामानां प्रेत्य स्वर्गसुखावहः॥ ११ ॥

इस प्रकार मैंने रहस्यसहित धर्म और अधर्मका वर्णन किया। यह स्वर्गकी कामनावाले मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् स्वर्गीय सुखकी प्राप्ति करानेवाला है॥ १०-११॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लोमशद्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

लोमश उवाच

परदारेषु ये सक्ता अकृत्वा दारसंग्रहम्।
निराशाः पितरस्तेषां श्राद्धकाले भवन्ति वै॥ १ ॥

लोमशजीने कहा—जो स्वयं विवाह न करके परायी स्त्रियोंमें आसक्त हैं, उनके यहाँ श्राद्ध-काल आनेपर पितर निराश हो जाते हैं॥ १॥

परदाररतिर्यश्च यश्च वन्ध्यामुपासते।
ब्रह्मस्वं हरते यश्च समदोषा भवन्ति ते॥ २ ॥

जो परायी स्त्रीमें आसक्त है, जो वन्ध्या स्त्रीका सेवन करता है तथा जो ब्राह्मणका धन हर लेता है—ये तीनों समान दोषके भागी होते हैं ॥ २ ॥

असम्भाष्या भवन्त्येते पितॄणां नात्र संशयः ।
देवताः पितरश्चैषां नाभिनन्दन्ति तद्धविः ॥ ३ ॥

ये पितरोंकी दृष्टिमें बात करनेके योग्य नहीं रह जाते हैं, इसमें संशय नहीं है और देवता तथा पितर उसके हविष्यको आदर नहीं देते हैं ॥ ३ ॥

तस्मात् परस्य वै दारांस्त्यजेद् वन्ध्यां च योषितम्।
ब्रह्मस्वं हि न हर्तव्यमात्मनो हितमिच्छता ॥ ४ ॥

अतः अपना हित चाहनेवाले पुरुषको परायी स्त्री और वन्ध्या स्त्रीका त्याग कर देना चाहिये तथा ब्राह्मणके धनका कभी अपहरण नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम् ।
श्रद्दधानेन कर्तव्यं गुरूणां वचनं सदा ॥ ५ ॥

अब दूसरी धर्मयुक्त गोपनीय रहस्यकी बात सुनो । सदा श्रद्धापूर्वक गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

द्वादश्यां पौर्णमास्यां च मासि मासि घृताक्षतम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छेत तस्य पुण्यं निबोधत ॥ ६ ॥

प्रत्येक मासकी द्वादशी और पूर्णिमाके दिन ब्राह्मणोंको घृतसहित चावलोंका दान करे । इसका जो पुण्य है, उसे सुनो ॥ ६ ॥

सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः ।
अश्वमेधचतुर्भागं फलं सृजति वासवः ॥ ७ ॥

उस दानसे चन्द्रमा तथा महोदधि समुद्रकी वृद्धि होती है और उस दाताको इन्द्र अश्वमेध यज्ञका चतुर्थांश फल देते हैं ॥ ७ ॥

दानेनैतेन तेजस्वी वीर्यवांश्च भवेन्नरः ।
प्रीतश्च भगवान् सोम इष्टान् कामान् प्रयच्छति॥ ८ ॥

उस दानसे मनुष्य तेजस्वी और बलवान् होता है और भगवान् सोम प्रसन्न होकर उसे अभीष्ट कामनाएँ प्रदान करते हैं ॥ ८ ॥

श्रूयतां चापरो धर्मः सरहस्यो महाफलः ।
इदं कलियुगं प्राप्य मनुष्याणां सुखावहः ॥ ९ ॥

अब दूसरे महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका वर्णन सुनो । जो इस कलियुगको पाकर मनुष्योंके लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ९ ॥

कल्यमुत्थाय यो मर्त्यः स्नातः शुक्लेन वाससा।
तिलपात्रं प्रयच्छेत ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ १० ॥
तिलोदकं च यो दद्यात् पितॄणां मधुना सह ।
दीपकं कृसरं चैव श्रूयतां तस्य यत् फलम् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर स्नान करके पवित्र सफेद वस्त्रसे युक्त हो मनको एकाग्र करके ब्राह्मणोंको तिल-पात्रका दान करता है और पितरोंके लिये मधुयुक्त तिलोदक, दीपक एवं खिचड़ी देता है, उसको जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो ॥ १०-११ ॥

तिलपात्रे फलं प्राह भगवान् पाकशासनः ।
गोप्रदानं च यः कुर्याद् भूमिदानं च शाश्वतम्॥ १२ ॥
अग्निष्टोमं च यो यज्ञं यजेत बहुदक्षिणम् ।
तिलपात्रं सहैतेन समं मन्यन्ति देवताः ॥ १३ ॥

भगवान् इन्द्रने तिल-पात्रके दानका फल इस प्रकार बतलाया है—जो सदा गो-दान और भूमि-दान करता है तथा जो बहुत-सी दक्षिणावाले अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसके इन पुण्य-कर्मोंके समान ही देवतालोग तिल-पात्रके दानको भी मानते हैं ॥ १२-१३ ॥

तिलोदकं सदा श्राद्धे मन्यन्ते पितरोऽक्षयम् ।
दीपे च कृसरे चैव तुष्यन्तेऽस्य पितामहाः ॥ १४॥

पितरलोग सदा श्राद्धमें तिलसहित जलका दान करना अक्षय मानते हैं । दीपदान और खिचड़ीके दानसे उसके पितामह संतुष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

स्वर्गे च पितृलोके च पितृदेवाभिपूजितम् ।
एवमेतन्मयोद्दिष्टमृषिदृष्टं पुरातनम् ॥ १५ ॥

यह पुरातन धर्म-रहस्य ऋषियोंद्वारा देखा गया है । स्वर्गलोक और पितृलोकमें भी देवताओं तथा पितरोंने इसका समादर किया है । इस प्रकार इस धर्मका मैंने वर्णन किया है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोमशरहस्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोमशवर्णित धर्मका रहस्यविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अरुन्धती, धर्मराज और चित्रगुप्तद्वारा धर्मसम्बन्धी रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

ततस्त्वृषिगणाः सर्वे पितरश्च सदेवताः।
[अ]रुन्धतीं तपोवृद्धामपृच्छन्त समाहिताः॥ १ ॥
[स]मानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।
[त्व]त्तो धर्मरहस्यानि श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
[य]त्ते गुह्यतमं भद्रे तत् प्रभाषितुमर्हसि॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी ऋषियों, [पि]तरों और देवताओंने तपस्यामें बढ़ी-चढ़ी हुई अरुन्धती [दे]वीसे, जो शील और शक्तिमें महात्मा वसिष्ठजीके ही समान [थीं], एकाग्रचित्त होकर पूछा—'भद्रे! हम आपके मुँहसे धर्म[का] रहस्य सुनना चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें जो गुह्यतम धर्म [हो], उसे बतानेकी कृपा करें' ॥ १-२ ॥

अरुन्धत्युवाच

[त]पोवृद्धिर्मया प्राप्ता भवतां स्मरणेन वै।
[भ]वतां च प्रसादेन धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ३ ॥
[स]गुह्यान् सरहस्यांश्च ताञ्शृणुध्वमशेषतः।
[श्र]द्धधाने प्रयोक्तव्या यस्य शुद्धं तथा मनः॥ ४ ॥

अरुन्धती बोली—देवगण! आपलोगोंने मुझे स्मरण [कि]या, इससे मेरे तपकी वृद्धि हुई है। अब मैं आप ही [लो]गोंकी कृपासे गोपनीय रहस्योंसहित सनातन धर्मोंका [व]र्णन करती हूँ, आपलोग वह सब सुनें। जिसका मन शुद्ध [हो], उस श्रद्धालु पुरुषको ही इन धर्मोंका उपदेश करना [चा]हिये ॥ ३-४ ॥

[अ]श्रद्दधानो मानी च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
[अ]सम्भाष्या हि चत्वारो नैषां धर्मः प्रकाशयेत्॥ ५ ॥

जो श्रद्धासे रहित, अभिमानी, ब्रह्महत्यारे और गुरुस्त्री[गा]मी हैं, इन चार प्रकारके मनुष्योंसे बात भी नहीं करनी [चा]हिये। इनके सामने धर्मके रहस्यको प्रकाशित न करे ॥५॥

[अ]हन्यहनि यो दद्यात् कपिलां द्वादशीः समाः।
[मा]सि मासि च सत्रेण यो यजेत सदा नरः॥ ६ ॥
[ग]वां शतसहस्रं च यो दद्याज्ज्येष्ठपुष्करे।
[न] तद्धर्मफलं तुल्यमतिथिर्यस्य तुष्यति॥ ७ ॥

जो मनुष्य बारह वर्षोंतक प्रतिदिन एक-एक कपिला [गौ]का दान करता, हर महीनेमें निरन्तर सत्रयाग चलाता [औ]र ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें जाकर एक लाख गोदान करता है, [उस]के धर्मका फल उस मनुष्यके बराबर नहीं हो सकता, [जि]सके द्वारा की हुई सेवासे अतिथि संतुष्ट हो जाता है ॥

[श्रू]यतां चापरो धर्मो मनुष्याणां सुखावहः।
श्रद्दधानेन कर्तव्यः सरहस्यो महाफलः॥ ८ ॥

अब मनुष्योंके लिये सुखदायक तथा महान् फल देनेवाले दूसरे धर्मका रहस्यसहित वर्णन सुनो। श्रद्धापूर्वक इसका पालन करना चाहिये ॥ ८ ॥

कल्यमुत्थाय गोमध्ये गृह्य दर्भान् सहोदकान्।
निषिञ्चेत गवां शृङ्गे मस्तकेन च तज्जलम्॥ ९ ॥
प्रतीच्छेत निराहारस्तस्य धर्मफलं शृणु।

सबेरे उठकर कुश और जल हाथमें ले गौओंके बीचमें जाय। वहाँ गौओंके सींगपर जल छिड़के और सींगसे गिरे हुए जलको अपने मस्तकपर धारण करे। साथ ही उस दिन निराहार रहे। ऐसे पुरुषको जो धर्मका फल मिलता है, उसे सुनो ॥ ९½ ॥

श्रूयन्ते यानि तीर्थानि त्रिषु लोकेषु कानिचित्॥ १० ॥
सिद्धचारणजुष्टानि सेवितानि महर्षिभिः।
अभिषेकः समस्तेषां गवां शृङ्गोदकस्य च॥ ११ ॥

तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंसे सेवित जो कोई भी तीर्थ सुने जाते हैं, उन सबमें स्नान करनेसे जो फल मिलता है, वही गायोंके सींगके जलसे अपने मस्तकको सींचनेसे प्राप्त होता है ॥ १०-११ ॥

साधु साध्विति चोद्दिष्टं दैवतैः पितृभिस्तथा।
भूतैश्चैव सुसंहृष्टैः पूजिता साप्यरुन्धती॥ १२ ॥

यह सुनकर देवता, पितर और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। उन सबने उन्हें साधुवाद दिया और अरुन्धती देवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १२ ॥

पितामह उवाच

अहो धर्मो महाभागे सरहस्य उदाहृतः।
वरं ददामि ते धन्ये तपस्ते वर्धतां सदा॥ १३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महाभागे! तुम धन्य हो, तुमने रहस्यसहित अद्भुत धर्मका वर्णन किया है। मैं तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम्हारी तपस्या सदा बढ़ती रहे ॥ १३ ॥

यम उवाच

रमणीया कथा दिव्या युष्मत्तो या मया श्रुता।
श्रूयतां चित्रगुप्तस्य भाषितं मम च प्रियम्॥ १४ ॥

यमराजने कहा—देवताओ और महर्षियो! मैंने आपलोगोंके मुखसे दिव्य एवं मनोरम कथा सुनी है। अब आपलोग चित्रगुप्तका तथा मेरा भी प्रिय भाषण सुनिये ॥

रहस्यं धर्मसंयुक्तं शक्यं श्रोतुं महर्षिभिः।
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता॥ १५ ॥

इस धर्मयुक्त रहस्यको महर्षि भी सुन सकते हैं । अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु मनुष्यको भी इसे श्रवण करना चाहिये ॥ १५ ॥

न हि पुण्यं तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति ।
पर्वकाले च यत् किंचिदादित्यं चाधितिष्ठति॥ १६ ॥

मनुष्यका किया हुआ कोई भी पुण्य तथा पाप भोगके बिना नष्ट नहीं होता । पर्वकालमें जो कुछ भी दान किया जाता है, वह सब सूर्यदेवके पास पहुँचता है ॥ १६ ॥

प्रेतलोकं गते मर्त्ये तत् तत् सर्वं विभावसुः ।
प्रतिजानाति पुण्यात्मा तच्च तत्रोपयुज्यते ॥ १७ ॥

जब मनुष्य प्रेतलोकको जाता है, उस समय सूर्यदेव वे सारी वस्तुएँ उसे अर्पित कर देते हैं और पुण्यात्मा पुरुष परलोकमें उन वस्तुओंका उपभोग करता है ॥ १७ ॥

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि चित्रगुप्तमतं शुभम् ।
पानीयं चैव दीपं च दातव्यं सततं तथा ॥ १८ ॥

अब मैं चित्रगुप्तके मतके अनुसार कुछ कल्याणकारी धर्मका वर्णन करता हूँ । मनुष्यको जलदान और दीपदान सदा ही करने चाहिये ॥ १८ ॥

उपानहौ च च्छत्रं च कपिला च यथातथम् ।
पुष्करे कपिला देया ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ १९ ॥
अग्निहोत्रं च यत्नेन सर्वशः प्रतिपालयेत् ।

उपानह (जूता), छत्र तथा कपिला गौका भी यथोचित रीतिसे दान करना चाहिये । पुष्कर तीर्थमें वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको कपिला गाय देनी चाहिये और अग्निहोत्रके नियमका सब तरहसे प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ॥

अयं चैवापरो धर्मश्चित्रगुप्तेन भाषितः ॥ २० ॥
फलमस्य पृथक्त्वेन श्रोतुमर्हन्ति सत्तमाः ।
प्रलयं सर्वभूतैस्तु गन्तव्यं कालपर्ययात् ॥ २१ ॥

इसके सिवा यह एक दूसरा धर्म भी चित्रगुप्तने बताया है । उसके पृथक्-पृथक् फलका वर्णन सभी साधु पुरुष सुनें । समस्त प्राणी कालक्रमसे प्रलयको प्राप्त होते हैं ॥ २०-२१॥

तत्र दुर्गमनुप्राप्ताः क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः ।
दह्यमाना विपच्यन्ते न तत्रास्ति पलायनम् ॥ २२ ॥

पापोंके कारण दुर्गम नरकमें पड़े हुए प्राणी भूख-प्याससे पीड़ित हो आगमें जलते हुए पकाये जाते हैं । वहाँ उस यातनासे निकल भागनेका कोई उपाय नहीं है ॥ २२ ॥

अन्धकारं तमो घोरं प्रविशन्त्यल्पबुद्धयः ।
तत्र धर्मं प्रवक्ष्यामि येन दुर्गाणि संतरेत् ॥ २३ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही नरकके घोर दुःखमय अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । उस अवसरके लिये मैं धर्मका उपदेश करता हूँ, जिससे मनुष्य दुर्गम नरकसे पार हो सकता है ॥ २३ ॥

अल्पव्ययं महार्थं च प्रेत्य चैव सुखोदयम् ।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोके विशेषतः ॥ २४ ॥

उस धर्ममें व्यय बहुत थोड़ा है, परंतु लाभ महान् है उससे मृत्युके पश्चात् भी उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है जलके गुण दिव्य हैं । प्रेतलोकमें ये गुण विशेषरूपसे लक्षि होते हैं ॥ २४ ॥

तत्र पुण्योदका नाम नदी तेषां विधीयते ।
अक्षयं सलिलं तत्र शीतलं ह्यमृतोपमम् ॥ २५

वहाँ पुण्योदका नामसे प्रसिद्ध नदी है, जो यमलोकनिवा योंके लिये विहित है । उसमें अमृतके समान मधुर, शीत एवं अक्षय जल भरा रहता है ॥ २५ ॥

स तत्र तोयं पिबति पानीयं यः प्रयच्छति ।
प्रदीपस्य प्रदानेन श्रूयतां गुणविस्तरः ॥ २६

जो यहाँ जलदान करता है, वही परलोकमें जानेपर उ नदीका जल पीता है । अब दीपदानसे जो अधिकाधिक ल होता है, उसको सुनो ॥ २६ ॥

तमोऽन्धकारं नियतं दीपदो न प्रपश्यति ।
प्रभां चास्य प्रयच्छन्ति सोमभास्करपावकाः ॥ २७

दीपदान करनेवाला मनुष्य नरकके नियत अन्धकार दर्शन नहीं करता । उसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि प्रका देते रहते हैं ॥ २७ ॥

देवताश्चानुमन्यन्ते विमलाः सर्वतो दिशः ।
द्योतते च यथाऽऽदित्यः प्रेतलोकगतो नरः ॥ २८

देवता भी दीपदान करनेवालेका आदर करते हैं । उस लिये सम्पूर्ण दिशाएँ निर्मल होती हैं तथा प्रेतलोकमें जानेप वह मनुष्य सूर्यके समान प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

तस्माद् दीपः प्रदातव्यः पानीयं च विशेषतः ।
कपिलां ये प्रयच्छन्ति ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ २९
पुष्करे च विशेषेण श्रूयतां तस्य यत् फलम् ।
गोशतं सवृषं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ॥ ३०

इसलिये विशेष यत्न करके दीप और जलका दान करन चाहिये । विशेषतः पुष्कर तीर्थमें जो वेदोंके पारङ्गत विद्वा ब्राह्मणको कपिला दान करते हैं, उन्हें उस दानका जो फ मिलता है, उसे सुनो । उसे साँड़ोंसहित सौ गौओंके दान शाश्वत फल प्राप्त होता है ॥ २९-३० ॥

पापं कर्म च यत् किंचिद् ब्रह्महत्यासमं भवेत् ।
शोधयेत् कपिला ह्येका प्रदत्तं गोशतं यथा ॥ ३१
तस्मात्तु कपिला देया कौमुद्यां ज्येष्ठपुष्करे ।

ब्रह्महत्याके समान जो कोई पाप होता है, उसे एकम

कपिलाका दान शुद्ध कर देता है। वह एक ही गोदान सौ गोदानोंके बराबर है। इसलिये ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें कार्तिककी पूर्णिमाको अवश्य कपिला गौका दान करना चाहिये॥३१½॥

न तेषां विषमं किंचिन्न दुःखं न च कण्टकाः॥ ३२ ॥
उपानहौ च यो दद्यात् पात्रभूते द्विजोत्तमे।
छत्रदाने सुखां छायां लभते परलोकगः॥ ३३ ॥

जो श्रेष्ठ एवं सुपात्र ब्राह्मणको उपानह् (जूता) दान करता है, उसके लिये कहीं कोई विषम स्थान नहीं है। न उसे दुःख उठाना पड़ता है और न काँटोंका ही सामना करना पड़ता है। छत्र-दान करनेसे परलोकमें जानेपर दाताको सुखदायिनी छाया सुलभ होती है॥३२-३३॥

न हि दत्तस्य दानस्य नाशोऽस्तीह कदाचन।
चित्रगुप्तमतं श्रुत्वा हृष्टरोमा विभावसुः॥ ३४ ॥
उवाच देवताः सर्वाः पितॄंश्चैव महाद्युतिः।
श्रुतं हि चित्रगुप्तस्य धर्मगुह्यं महात्मनः॥ ३५ ॥

इस लोकमें दिये हुए दानका कभी नाश नहीं होता। चित्रगुप्तका यह मत सुनकर भगवान् सूर्यके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन महातेजस्वी सूर्यने सम्पूर्ण देवताओं और पितरोंसे कहा—'आपलोगोंने महामना चित्रगुप्तके धर्मविषयक गुप्त रहस्यको सुन लिया॥ ३४-३५ ॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या ब्राह्मणेषु महात्मसु।
दानमेतत् प्रयच्छन्ति न तेषां विद्यते भयम्॥ ३६ ॥

'जो मनुष्य महामनस्वी ब्राह्मणोंपर श्रद्धा करके यह दान देते हैं, उन्हें भय नहीं होता'॥ ३६ ॥

धर्मदोषास्त्विमे पञ्च येषां नास्तीह निष्कृतिः।
असम्भाष्या अनाचारा वर्जनीया नराधमाः॥ ३७ ॥

आगे बताये जानेवाले पाँच धर्मविषयक दोष जिनमें विद्यमान हैं, उनका यहाँ कभी उद्धार नहीं होता। ऐसे अनाचारी नराधमोंसे बात नहीं करनी चाहिये। उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये॥ ३७ ॥

ब्रह्महा चैव गोघ्नश्च परदाररतश्च यः।
अश्रद्दधानश्च नरः स्त्रियं यश्चोपजीवति॥ ३८ ॥

ब्रह्महत्यारा, गोहत्या करनेवाला, परस्त्रीलम्पट, अश्रद्धालु तथा जो स्त्रीपर निर्भर रहकर जीविका चलाता है—ये ही पूर्वोक्त पाँच प्रकारके दुराचारी हैं॥ ३८ ॥

प्रेतलोकगता ह्येते नरके पापकर्मिणः।
पच्यन्ते वै यथा मीनाः पूयशोणितभोजनाः॥ ३९ ॥

ये पापकर्मी मनुष्य प्रेतलोकमें जाकर नरककी आगमें मछलियोंकी तरह पकाये जाते हैं और पीब तथा रक्त भोजन करते हैं॥ ३९ ॥

असम्भाष्याः पितॄणां च देवानां चैव पञ्च ते।
स्नातकानां च विप्राणां ये चान्ये च तपोधनाः॥ ४० ॥

इन पाँचों पापाचारियोंसे देवताओं, पितरों, स्नातक ब्राह्मणों तथा अन्यान्य तपोधनोंको बातचीत भी नहीं करनी चाहिये॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अरुन्धतीचित्रगुप्तरहस्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अरुन्धती और चित्रगुप्तका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

प्रमथगणोंके द्वारा धर्माधर्मसम्बन्धी रहस्यका कथन

भीष्म उवाच

ततः सर्वे महाभागा देवाश्च पितरश्च ह।
ऋषयश्च महाभागाः प्रमथान् वाक्यमब्रुवन्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी महाभाग देवता, पितर तथा महान् भाग्यशाली महर्षि प्रमथगणोंसे बोले—॥ १ ॥

भवन्तो वै महाभागा अपरोक्षनिशाचराः।
उच्छिष्टानशुचीन् क्षुद्रान् कथं हिंसथ मानवान्॥ २ ॥

'महाभागगण! आपलोग प्रत्यक्ष निशाचर हैं। बताइये, अपवित्र, उच्छिष्ट और क्षुद्र मनुष्योंकी किस तरह और क्यों हिंसा करते हैं?॥ २ ॥

के च स्मृताः प्रतीघाता येन मर्त्यान् न हिंसथ।
रक्षोघ्नानि च कानि स्युर्यैर्गृहेषु प्रणश्यथ।
श्रोतुमिच्छाम युष्माकं सर्वमेतन्निशाचराः॥ ३ ॥

'वे कौन-से प्रतिघात (शत्रुके आघातको रोक देनेवाले उपाय) हैं, जिनका आश्रय लेनेसे आपलोग उन मनुष्योंकी हिंसा नहीं करते। वे रक्षोघ्न मन्त्र कौन-से हैं, जिनका उच्चारण करनेसे आपलोग घरमें ही नष्ट हो जायँ या भाग जायँ? निशाचरो! ये सारी बातें हम आपके मुखसे सुनना चाहते हैं'॥ ३ ॥

प्रमथा ऊचुः

मैथुनेन सदोच्छिष्टाः कृते चैवाधरोत्तरे।

मोहान्मांसानि खादेत वृक्षमूले च यः स्वपेत्॥ ४ ॥
आमिषं शीर्षतो यस्य पादतो यश्च संविशेत्।
तत उच्छिष्टकाः सर्वे बहुच्छिद्राश्च मानवाः॥ ५ ॥
उदके चाप्यमेध्यानि श्लेष्माणं च प्रमुञ्चति।
एते भक्ष्याश्च वध्याश्च मानुषा नात्र संशयः॥ ६ ॥

प्रमथ बोले—जो मनुष्य सदा स्त्री-सहवासके कारण दूषित रहते, बड़ोंका अपमान करते, मूर्खतावश मांस खाते, वृक्षकी जड़में सोते, सिरपर मांसका बोझा ढोते, बिछौनोंपर पैर रखनेकी जगह सिर रखकर सोते, वे सब-के-सब मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) तथा बहुत-से छिद्रोंवाले माने गये हैं। जो पानीमें मल मूत्र एवं थूक फेंकते हैं, वे भी उच्छिष्टकी ही कोटिमें आते हैं। ये सभी मानव हमारी दृष्टिमें भक्षण और वधके योग्य हैं। इसमें संशय नहीं है॥ ४–६ ॥

एवंशीलसमाचारान धर्षयामो हि मानवान्।
श्रूयतां च प्रतीघातान् यैर्न शक्नुम हिंसितुम्॥ ७ ॥

जिनके ऐसे शील और आचार हैं, उन मनुष्योंको हम धर दबाते हैं। अब उन प्रतिरोधक उपायोंको सुनिये, जिनके कारण हम मनुष्योंकी हिंसा नहीं कर पाते॥ ७ ॥

गोरोचनासमालम्भो वचाहस्तश्च यो भवेत्।
घृताक्षतं च यो दद्यान्मस्तके तत्परायणः॥ ८ ॥
ये च मांसं न खादन्ति तान् न शक्नुम हिंसितुम्।

जो अपने शरीरमें गोरोचन लगाता, हाथमें वच नामक औषध लिये रहता, ललाटमें घी और अक्षत धारण करता तथा मांस नहीं खाता—ऐसे मनुष्योंकी हिंसा हम न कर सकते॥ ८½ ॥

यस्य चाग्निर्गृहे नित्यं दिवारात्रौ च दीप्यते॥ ९ ॥
तरक्षोश्चर्म दंष्ट्राश्च तथैव गिरिकच्छपः।
आज्यधूमो बिडालश्च च्छागः कृष्णोऽथ पिङ्गलः॥ १०
येषामेतानि तिष्ठन्ति गृहेषु गृहमेधिनाम्।
तान्यधृष्याण्यगाराणि पिशिताशैः सुदारुणैः॥ ११

जिसके घरमें अग्निहोत्रकी अग्नि नित्य-दिन-रात देदीप्यमान रहती है, छोटे जातिके बाघ (जरख)का चमड़ा, उसीकी दाढ़ें तथा पहाड़ी कछुआ मौजूद रहता है, घीकी आहुतिसे सुगन्धित धूम निकलता रहता है, बिलाव तथा काला या पीला बकरा रहता है, जिन गृहस्थोंके घरोंमें ये सभी वस्तुएँ स्थित होती हैं, उन घरोंपर भयङ्कर मांसभक्षी निशाचर आक्रमण नहीं करते हैं॥ ९–११ ॥

लोकानस्मद्विधा ये च विचरन्ति यथासुखम्।
तस्मादेतानि गेहेषु रक्षोघ्नानि विशाम्पते।
एतद् वः कथितं सर्वं यत्र वः संशयो महान्॥ १२

हमारे-जैसे जो भी निशाचर अपनी मौजसे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हैं,वे उपर्युक्त घरोंको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। अतः प्रजानाथ ! अपने घरोंमें इन रक्षोघ्न वस्तुओंको अवश्य रखना चाहिये। यह सब विषय, जिसमें आपलोगोंको महान् संदेह था, मैंने कह सुनाया॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रमथरहस्ये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रमथगणोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्य एवं प्रभाव

भीष्म उवाच

ततः पद्मप्रतीकाशः पद्मोद्भूतः पितामहः।
उवाच वचनं देवान् वासवं च शचीपतिम्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कमलके समान कान्तिमान् कमलोद्भव ब्रह्माजीने देवताओं तथा शचीपति इन्द्रसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अयं महाबलो नागो रसातलचरो बली।
तेजस्वी रेणुको नाम महासत्त्वपराक्रमः॥ २ ॥
अतितेजस्विनः सर्वे महावीर्या महागजाः।
धारयन्ति महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्॥ ३ ॥

'यह रसातलमें विचरनेवाला, महाबली, शक्तिशाली, महान् सत्त्व और पराक्रमसे युक्त तेजस्वी रेणुक नामवाला नाग यहाँ उपस्थित है। सब-के-सब महान् गजराज(दिग्गज) अत्यन्त तेजस्वी और महापराक्रमी होते हैं। वे पर्वत, वन और काननोंसहित समूची पृथ्वीको धारण करते हैं॥ २-३ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो रेणुकस्तान् महागजान्।
धर्मगुह्यानि सर्वाणि गत्वा पृच्छतु तत्र वै॥ ४

'यदि आपलोग आज्ञा दें तो रेणुक उन महान् गजराजोंके पास जाकर धर्मके समस्त गोपनीय रहस्योंको पूछे'॥ ४

पितामहवचः श्रुत्वा ते देवा रेणुकं तदा।
प्रेषयामासुरव्यग्रा यत्र ते धरणीधराः॥ ५

पितामह ब्रह्माजीकी बात सुनकर शान्त चित्तवाले देवताओंने उस समय रेणुकको उस स्थानपर भेजा, जहाँ पृथ्वीको धारण करनेवाले वे दिग्गज मौजूद थे ॥ ५ ॥

रेणुक उवाच

अनुज्ञातोऽस्मि देवैश्च पितृभिश्च महाबलाः ।
धर्मगुह्यानि युष्माकं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथयध्वं महाभागा यद् वस्तत्त्वं मनीषितम् ॥ ६ ॥

रेणुकने कहा—महाबली दिग्गजो ! मुझे देवताओं और पितरोंने आज्ञा दी है, इसलिये यहाँ आया हूँ और आपलोगोंके जो धर्मविषयक गूढ़ विचार हैं, उन्हें मैं यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ । महाभाग दिग्गजो ! आपकी बुद्धिमें जो धर्मका तत्त्व निहित हो, उसे कहिये ॥ ६ ॥

दिग्गजा ऊचुः

कार्तिके मासि चाश्लेषा बहुलस्याष्टमी शिवा ।
तेन नक्षत्रयोगेन यो ददाति गुडौदनम् ॥ ७ ॥
इमं मन्त्रं जपञ्छ्राद्धे यताहारो ह्यकोपनः ।

दिग्गजोंने कहा—कार्तिक मासके कृष्णपक्षमें आश्लेषा नक्षत्र और मङ्गलमयी अष्टमी तिथिका योग होनेपर जो मनुष्य आहार-संयमपूर्वक क्रोधशून्य हो निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करते हुए श्राद्धके अवसरपर हमारे लिये गुड़मिश्रित भात देता है (वह महान् फलका भागी होता है) ॥ ७½ ॥

बलदेवप्रभृतयो ये नागा बलवत्तराः ॥ ८ ॥
अनन्ता ह्यक्षया नित्यं भोगिनः सुमहाबलाः ।
तेषां कुलोद्भवा ये च महाभूता भुजङ्गमाः ॥ ९ ॥
ते मे बलिं प्रतीच्छन्तु बलतेजोऽभिवृद्धये ।
यदा नारायणः श्रीमानुज्जहार वसुंधराम् ॥ १० ॥
तद् बलं तस्य देवस्य धरामुद्धरतस्तथा ।

'बलदेव (शेष या अनन्त) आदि जो अत्यन्त बलशाली नाग हैं, वे अनन्त, अक्षय, नित्य फनधारी और महाबली हैं। वे तथा उनके कुलमें उत्पन्न हुए जो अन्य विशाल भुजंगम हों, वे भी मेरे तेज और बलकी वृद्धिके लिये मेरी दी हुई इस बलिको ग्रहण करें । जब श्रीमान् भगवान् नारायणने इस पृथ्वीका एकार्णवके जलसे उद्धार किया था, उस समय इस वसुन्धराका उद्धार करते हुए उन भगवान्के श्रीविग्रहमें जो बल था, वह मुझे प्राप्त हो' ॥ ८–१०½ ॥

एवमुक्त्वा बलिं तत्र वल्मीके तु निवेदयेत् ॥ ११ ॥
गजेन्द्रकुसुमाकीर्णं नीलवस्त्रानुलेपनम् ।
निर्वपेत् तं तु वल्मीके अस्तं याते दिवाकरे ॥ १२ ॥

इस प्रकार कहकर किसी बाँबीपर बलि निवेदन करे । उसपर नागकेसर बिखेर दे, चन्दन चढ़ा दे और उसे नीले कपड़ेसे ढक दे तथा सूर्यास्त होनेपर उस बलिको बाँबीके पास रख दे ॥ ११-१२ ॥

एवं तुष्टास्ततः सर्वे अधस्ताद्भारपीडिताः ।
श्रमं तं नावबुध्यामो धारयन्तो वसुंधराम् ॥ १३ ॥
एवं मन्यामहे सर्वे भारार्ता निरपेक्षिणः ।

इस प्रकार संतुष्ट होकर पृथ्वीके नीचे भारसे पीड़ित होनेपर भी हम सब लोगोंको वह परिश्रम प्रतीत नहीं होता है और हमलोग सुखपूर्वक वसुधाका भार वहन करते हैं । भारसे पीड़ित होनेपर भी किसीसे कुछ न चाहनेवाले हम सब लोग ऐसा ही मानते हैं ॥ १३½ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यद्युपोषितः ॥ १४ ॥
एवं संवत्सरं कृत्वा दानं बहुफलं लभेत् ।
वल्मीके बलिमादाय तन्नो बहुफलं मतम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र यदि उपवासपूर्वक एक वर्षतक इस प्रकार हमारे लिये बलिदान करे तो उसका महान् फल होता है । बाँबीके निकट बलि अर्पित करनेपर वह हमारे लिये अधिक फल देनेवाला माना गया है । १४-१५ ।

ये च नागा महावीर्यास्त्रिषु लोकेषु कृत्स्नशः ।
कृतातिथ्या भवेयुस्ते शतं वर्षाणि तत्त्वतः ॥ १६ ॥

तीनों लोकोंमें जो समस्त महापराक्रमी नाग हैं, वे इस बलिदानसे सौ वर्षोंके लिये यथार्थरूपसे सत्कृत हो जाते हैं ॥

दिग्गजानां च तच्छ्रुत्वा देवताः पितरस्तथा ।
ऋषयश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म रेणुकम् ॥ १७ ॥

दिग्गजोंके मुखसे यह बात सुनकर महाभाग देवता, पितर और ऋषि रेणुक नागकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दिग्गजानां रहस्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्य

महेश्वर उवाच

सारमुद्धृत्य युष्माभिः साधुधर्म उदाहृतः ।
धर्मगुह्यमिदं मत्तः शृणुध्वं सर्व एव ह ॥ १ ॥

(ऋषि, मुनि, देवता और पितरोंसे) महेश्वर

बोले—तुमलोगोंने धर्मशास्त्रका सार निकालकर उत्तम धर्मका वर्णन किया है। अब सब लोग मुझसे धर्म-सम्बन्धी इस गूढ़ रहस्यका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

येषां धर्माश्रिता बुद्धिः श्रद्दधानाश्च ये नराः।
तेषां स्यादुपदेष्टव्यः सरहस्यो महाफलः ॥ २ ॥

जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है और जो मनुष्य परम श्रद्धालु हैं, उन्हींको इस महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका उपदेश देना चाहिये ॥ २ ॥

निरुद्विग्नस्तु यो दद्यान्मासमेकं गवाह्निकम्।
एकभक्तं तथाश्नीयाच्छ्रूयतां तस्य यत् फलम् ॥ ३ ॥

जो उद्वेगरहित होकर एक मासतक प्रतिदिन गौको भोजन देता है और स्वयं एक ही समय खाता है, उसे जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो ॥ ३ ॥

इमा गावो महाभागाः पवित्रं परमं स्मृताः।
त्रीँल्लोकान् धारयन्ति स्म सदेवासुरमानुषान् ॥ ४ ॥

ये गौएँ परम सौभाग्यशालिनी और अत्यन्त पवित्र मानी गयी हैं। ये देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोकोंको धारण करती हैं ॥ ४ ॥

तासु चैव महापुण्यं शुश्रूषा च महाफलम्।
अहन्यहनि धर्मेण युज्यते वै गवाह्निकः ॥ ५ ॥

इनकी सेवा करनेसे बहुत बड़ा पुण्य और महान् फल प्राप्त होता है। प्रतिदिन गौओंको भोजन देनेवाला मनुष्य नित्य महान् धर्मका उपार्जन करता है ॥ ५ ॥

मया ह्येता ह्यनुज्ञाताः पूर्वमासन् कृते युगे।
ततोऽहमनुनीतो वै ब्रह्मणा पद्मयोनिना ॥ ६ ॥

मैंने पहले सत्ययुगमें गौओंको अपने पास रहनेकी आज्ञा दी थी। पद्मयोनि ब्रह्माजीने इसके लिये मुझसे बहुत अनुनय-विनय की थी ॥ ६ ॥

तस्माद् व्रजस्थानगतस्तिष्ठत्युपरि मे वृषः।
रमेऽहं सह गोभिश्च तस्मात् पूज्याः सदैव ताः ॥ ७ ॥

इसलिये मेरी गौओंके झुंडमें रहनेवाला वृषभ मुझसे ऊपर मेरे रथकी ध्वजामें विद्यमान है। मैं सदा गौओंके साथ रहनेमें ही आनन्दका अनुभव करता हूँ। अतः उन गौओंकी सदा ही पूजा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

महाप्रभावा वरदा वरं दद्युरुपासिताः।
ता गावोऽस्यानुमन्यन्ते सर्वकर्मसु यत् फलम् ॥ ८ ॥
तस्य तत्र चतुर्भागो यो ददाति गवाह्निकम् ॥ ९ ॥

गौओंका प्रभाव बहुत बड़ा है। वे वरदायिनी हैं। इसलिये उपासना करनेपर अभीष्ट वर देती हैं। उसे सम्पूर्ण कर्मोंमें जो फल अभीष्ट होता है, उसके लिये वे गौएँ अनुमोदन करती—उसकी सिद्धिके लिये वरदान देती हैं। जो पूर्वोक्त रूपसे गौको नित्य भोजन देता है, उसे सदा की जानेवाली गोसेवाके फलका एक चौथाई पुण्य प्राप्त होता है ८-९

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवरहस्ये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्कन्ददेवका धर्मसम्बन्धी रहस्य तथा भगवान् विष्णु और भीष्मजीके द्वारा माहात्म्यका वर्णन

स्कन्द उवाच

ममाप्यनुमतो धर्मस्तं शृणुध्वं समाहिताः।
नीलषण्डस्य शृङ्गाभ्यां गृहीत्वा मृत्तिकां तु यः ॥ १ ॥
अभिषेकं त्र्यहं कुर्यात् तस्य धर्मं निबोधत।

स्कन्दने कहा—देवताओ! अब एकाग्रचित्त होकर मेरी मान्यताके अनुसार भी धर्मका गोपनीय रहस्य सुनो। जो मनुष्य नीले रंगके साँडकी सींगोंमें लगी हुई मिट्टी लेकर उससे तीन दिनोंतक स्नान करता है, उसे प्राप्त होनेवाले पुण्यका वर्णन सुनो ॥ १½ ॥

शोधयेदशुभं सर्वमाधिपत्यं परत्र च ॥ २ ॥
यावच्च जायते मर्त्यस्तावच्छूरो भविष्यति।

वह अपने सारे पापोंको धो डालता है और परलोकमें आधिपत्य प्राप्त करता है। फिर जब वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है, तब शूरवीर होता है ॥ २½ ॥

इदं चाप्यपरं गुह्यं सरहस्यं निबोधत ॥ ३ ॥
प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं पक्वान्नं मधुना सह।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य पौर्णमास्यां बलिं हरेत् ॥ ४ ॥
तस्य धर्मफलं नित्यं श्रद्दधाना निबोधत।
साध्या रुद्रास्तथादित्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ ॥ ५ ॥
मरुतो वसवश्चैव प्रतिगृह्णन्ति तं बलिम्।
सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः ॥ ६ ॥
एष धर्मो मयोद्दिष्टः सरहस्यः सुखावहः ॥ ७ ॥

अब धर्मका यह दूसरा गुप्त रहस्य सुनो। पूर्णमासी तिथिको चन्द्रोदयके समय ताँबेके बर्तनमें मधु मिलाया हुआ पकवान लेकर जो चन्द्रमाके लिये बलि अर्पण करता है, उसे जिस नित्य धर्म-फलकी प्राप्ति होती है, उसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। उस पुरुषकी दी हुई उस बलिको साध्य, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण और वसुदेवता भी ग्रहण करते हैं तथा उससे चन्द्रमा और समुद्रकी वृद्धि होती है। इस प्रकार मैंने रहस्यसहित सुखदायक धर्मका वर्णन किया है ॥ ३–७ ॥

विष्णुरुवाच

धर्मगुह्यानि सर्वाणि देवतानां महात्मनाम्।
ऋषीणां चैव गुह्यानि यः पठेदाह्निकं सदा ॥ ८ ॥
शृणुयाद् वानसूयुर्यः श्रद्दधानः समाहितः।
नास्य विघ्नः प्रभवति भयं चास्य न विद्यते ॥ ९ ॥

भगवान् विष्णु बोले—जो देवताओं तथा महात्मा

ऋषियोंके बताये हुए धर्मसम्बन्धी इन सभी गूढ़ रहस्योंका प्रतिदिन पाठ करेगा अथवा दोषदृष्टिसे रहित हो सदा एकाग्रचित्त रहकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करेगा, उसपर किसी विघ्नका प्रभाव नहीं पड़ेगा तथा उसे कोई भय भी नहीं प्राप्त होगा ८-९

ये च धर्माः शुभाः पुण्याः सरहस्या उदाहृताः।
तेषां धर्मफलं तस्य यः पठेत जितेन्द्रियः ॥ १० ॥

यहाँ जिन-जिन पवित्र एवं कल्याणकारी धर्मोंका रहस्योंसहित वर्णन किया गया है, उन सबका जो इन्द्रियसंयमपूर्वक पाठ करेगा, उसे उन धर्मोंका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा। १०।

नास्य पापं प्रभवति न च पापेन लिप्यते।
पठेद् वा श्रावयेद् वापि श्रुत्वा वा लभते फलम् ॥ ११ ॥
भुञ्जते पितरो देवा हव्यं कव्यमथाक्षयम्।

उसके ऊपर कभी पापका प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होगा। जो इस प्रसङ्गको पढ़ेगा, दूसरोंको सुनायेगा अथवा स्वयं सुनेगा, उसे भी उन धर्मोंके आचरणका फल मिलेगा। उसका दिया हुआ हव्य-कव्य अक्षय होगा तथा उसे देवता और पितर बड़ी प्रसन्नतासे ग्रहण करेंगे ॥ ११½ ॥

श्रावयंश्चापि विप्रेन्द्रान् पर्वसु प्रयतो नरः ॥ १२ ॥
ऋषीणां देवतानां च पितॄणां चैव नित्यदा।
भवत्यभिमतः श्रीमान् धर्मेषु प्रयतः सदा ॥ १३ ॥

जो मनुष्य पर्वके दिन शुद्धचित्त होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धर्मके इन रहस्योंका श्रवण करायेगा, वह सदा देवता, ऋषि और पितरोंके आदरका पात्र एवं श्रीसम्पन्न होगा। उसकी सदा धर्मोंमें प्रवृत्ति बनी रहेगी ॥ १२-१३ ॥

कृत्वापि पापकं कर्म महापातकवर्जितम्।
रहस्यधर्मं श्रुत्वेमं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १४ ॥

मनुष्य महापातकको छोड़कर अन्य पापोंका आचरण करके भी यदि इस रहस्य-धर्मको सुन लेगा तो उन सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

एतद् धर्मरहस्यं वै देवतानां नराधिप।
व्यासोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! देवताओंके बताये हुए इस धर्मरहस्यको व्यासजीने मुझसे कहा था। उसीको मैंने तुम्हें बताया है। यह सब देवताओंद्वारा समादृत है ॥ १५ ॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा ज्ञानं चेदमनुत्तमम्।
इदमेव ततः श्राव्यमिति मन्येत धर्मवित् ॥ १६ ॥

एक ओर रत्नोंसे भरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त होती हो और दूसरी ओर यह सर्वोत्तम ज्ञान मिल रहा हो तो उस पृथ्वीको छोड़कर इस सर्वोत्तम ज्ञानको ही श्रवण एवं ग्रहण करना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही माने ॥ १६ ॥

नाश्रद्दधानाय न नास्तिकाय
न नष्टधर्माय न निर्घृणाय।
न हेतुदुष्टाय गुरुद्विषे वा
नानात्मभूताय निवेद्यमेतत् ॥ १७ ॥

न श्रद्धाहीनको, न नास्तिकको, न धर्म नष्ट करनेवाले-को, न निर्दयीको, न युक्तिवादका सहारा लेकर दुष्टता करने-वालेको, न गुरुद्रोहीको और न देहाभिमानी व्यक्तिको ही इस धर्मका उपदेश देना चाहिये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्कन्ददेवरहस्ये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्कन्ददेवका रहस्यविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

जिनका अन्न ग्रहण करने योग्य है और जिनका ग्रहण करने योग्य नहीं है, उन मनुष्योंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के भोज्या ब्राह्मणस्येह के भोज्याः क्षत्रियस्य ह ।
तथा वैश्यस्य के भोज्याः के शूद्रस्य च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! इस जगत्‌में ब्राह्मणको किनके यहाँ भोजन करना चाहिये, क्षत्रियको किनके घरका अन्न ग्रहण करना चाहिये तथा वैश्य और शूद्रको किन-किन लोगोंके घर भोजन करना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणा ब्राह्मणस्येह भोज्या ये चैव क्षत्रियाः ।
वैश्याश्चापि तथा भोज्याः शूद्राश्च परिवर्जिताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस लोकमें ब्राह्मणको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर भोजन करना चाहिये । शूद्रके घर भोजन करना उसके लिये निषिद्ध है ॥ २ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या भोज्या वै क्षत्रियस्य ह ।
वर्जनीयास्तु वै शूद्राः सर्वभक्षा विकर्मिणः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार क्षत्रियको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर ही भोजन ग्रहण करना चाहिये । भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके सब कुछ खानेवाले और शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्रोंका अन्न उसके लिये भी त्याज्य है ॥ ३ ॥

वैश्यास्तु भोज्या विप्राणां क्षत्रियाणां तथैव च ।
नित्याग्नयो विविक्ताश्च चातुर्मास्यरताश्च ये ॥ ४ ॥

वैश्योंमें भी जो नित्य अग्निहोत्र करनेवाले, पवित्रतासे रहनेवाले और चातुर्मास्य-व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन्हींका अन्न ब्राह्मण और क्षत्रियोंके लिये ग्राह्य है ॥ ४ ॥

शूद्राणामथ यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
मलं नृणां स पिबति मलं भुङ्क्ते जनस्य च ॥ ५ ॥

जो द्विज शूद्रोंके घरका अन्न खाता है, वह समस्त पृथ्वी और सम्पूर्ण मनुष्योंके मलका ही पान और भक्षण करता है ॥ ५ ॥

शूद्राणां यस्तथा भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
पृथिवीमलमश्नन्ति ये द्विजाः शूद्रभोजिनः ॥ ६ ॥

जो शूद्रोंका अन्न खाता है, वह पृथ्वीका मल खाता है । शूद्रान्न भोजन करनेवाले सभी द्विज पृथ्वीका मल ही खाते हैं ॥ ६ ॥

शूद्रस्य कर्मनिष्ठायां विकर्मस्थोऽपि पच्यते ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो विकर्मस्थश्च पच्यते ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रके कर्मोंमें संलग्न रहनेवाला हो, वह यदि विशिष्ट कर्म—संध्या-वन्दन आदिमें संलग्न रहनेवाला हो, तो भी नरकमें पकाया जाता है । यदि शूद्रके कर्म न करके भी वह शास्त्र-विरुद्ध कर्ममें संलग्न रहता हो तो भी उसे नरककी यातना भोगनी पड़ती है ॥ ७ ॥

स्वाध्यायनिरता विप्रास्तथा स्वस्त्ययने नृणाम् ।
रक्षणे क्षत्रियं प्राहुर्वैश्यं पुष्ट्यर्थमेव च ॥ ८ ॥

ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और मनुष्योंके लिये मङ्गलकारी कार्यमें लगे रहनेवाले होते हैं । क्षत्रियको सबकी रक्षामें तत्पर बताया गया है और वैश्यको प्रजाकी पुष्टिके लिये कृषि, गोरक्षा आदि कार्य करने चाहिये ॥ ८ ॥

करोति कर्म यद् वैश्यस्तद् गत्वा ह्युपजीवति ।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमकुत्सा वैश्यकर्मणि ॥ ९ ॥

वैश्य जो कर्म करता है, उसका आश्रय लेकर सब लोग जीविका चलाते हैं । कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—ये वैश्यके अपने कर्म हैं । इससे उसको घृणा नहीं होनी चाहिये ॥ ९ ॥

शूद्रकर्म तु यः कुर्यादवहाय स्वकर्म च ।
स विज्ञेयो यथा शूद्रो न च भोज्यः कदाचन ॥ १० ॥

जो वैश्य अपना कर्म छोड़कर शूद्रका कर्म करता है उसे शूद्रके समान ही जानना चाहिये और उसके यहाँ कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

चिकित्सकः काण्डपृष्ठः पुराध्यक्षः पुरोहितः ।
सांवत्सरो वृथाध्यायी सर्वे ते शूद्रसम्मिताः ॥ ११ ॥

जो चिकित्सा करनेवाला, शस्त्र बेचकर जीविका चलानेवाला, ग्रामाध्यक्ष, पुरोहित, वर्षफल बतानेवाला ज्योतिषी और वेद-शास्त्रसे भिन्न व्यर्थकी पुस्तकें पढ़नेवाला है, ये सबके सब ब्राह्मण शूद्रके समान हैं ॥ ११ ॥

शूद्रकर्मस्वथैतेषु यो भुङ्क्ते निरपत्रपः।
अभोज्यभोजनं भुक्त्वा भयं प्राप्नोति दारुणम्॥ १२॥

जो निर्लज्ज मनुष्य शूद्रोचित कर्म करनेवाले इन द्विजोंके घर भोजन करता है, वह अभक्ष्य-भक्षणका पाप करके दारुण भयको प्राप्त होता है॥ १२॥

कुलं वीर्यं च तेजश्च तिर्यग्योनित्वमेव च।
स प्रयाति यथा श्वा वै निष्क्रियो धर्मवर्जितः॥ १३॥

उसके कुल, वीर्य और तेज नष्ट हो जाते हैं तथा वह धर्म-कर्मसे हीन होकर कुत्तेकी भाँति तिर्यक् योनिमें पड़ जाता है॥ १३॥

भुङ्क्ते चिकित्सकस्यान्नं तदन्नं च पुरीषवत्।
पुंश्चल्यन्नं च मूत्रं स्यात् कारुकान्नं च शोणितम्॥ १४॥

जो चिकित्सा करनेवाले वैद्यका अन्न खाता है, उसका वह अन्न विष्ठाके समान है। व्यभिचारिणी स्त्री या वेश्याका अन्न मूत्रके समान है। कारीगरका अन्न रक्तके तुल्य है॥

विद्योपजीविनोऽन्नं च यो भुङ्क्ते साधुसम्मतः।
तदप्यन्नं यथा शौद्रं तत् साधुः परिवर्जयेत्॥ १५॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित पुरुष विद्या बेचकर जीविका चलानेवाले ब्राह्मणका अन्न खाता है, उसका वह अन्न भी शूद्रान्नके ही समान है। अतः साधु पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये॥ १५॥

वचनीयस्य यो भुङ्क्ते तमाहुः शोणितं ह्रदम्।
पिशुनं भोजनं भुङ्क्ते ब्रह्महत्यासमं विदुः॥ १६॥
असत्कृतमवज्ञातं न भोक्तव्यं कदाचन॥ १७॥

जो कलङ्कित मनुष्यका अन्न ग्रहण करता है, उसे रक्तका कुण्ड कहते हैं। जो चुगुलखोरके यहाँ भोजन करता है, उसका वह भोजन करना ब्रह्महत्याके समान माना गया है। असत्कार और अवहेलनापूर्वक मिले हुए भोजनको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये॥ १६-१७॥

व्याधिं कुलक्षयं चैव क्षिप्रं प्राप्नोति ब्राह्मणः।
नगरीरक्षिणो भुङ्क्ते श्वपचप्रवणो भवेत्॥ १८॥

जो ब्राह्मण ऐसे अन्नको भोजन करता है, वह रोगी होता है और शीघ्र ही उसके कुलका संहार हो जाता है। जो नगररक्षकका अन्न खाता है, वह चाण्डालके समान होता है॥ १८॥

गोघ्ने च ब्राह्मणघ्ने च सुरापे गुरुतल्पगे।
भुक्त्वान्नं जायते विप्रो रक्षसां कुलवर्धनः॥ १९॥

गोवध, ब्राह्मणवध, सुरापान और गुरुपत्नीगमन करनेवाले मनुष्यके यहाँ भोजन कर लेनेपर ब्राह्मण राक्षसोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होता है॥ १९॥

न्यासापहारिणो भुक्त्वा कृतघ्ने क्लीबवर्तिनि।
जायते शबरावासे मध्यदेशबहिष्कृते॥ २०॥

धरोहर हड़पनेवाले, कृतघ्न तथा नपुंसकका अन्न खा लेनेसे मनुष्य मध्यदेशबहिष्कृत भीलोंके घरमें जन्म लेता है॥ २०॥

अभोज्याश्चैव भोज्याश्च मया प्रोक्ता यथाविधि।
किमन्यदद्य कौन्तेय मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! जिनके यहाँ खाना चाहिये और जिनके यहाँ नहीं खाना चाहिये, ऐसे लोगोंका मैंने विधिवत् परिचय दे दिया। अब मुझसे और क्या सुनना चाहते हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भोज्याभोज्यान्नकथनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भोज्याभोज्यान्नकथन नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३५॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दान लेने और अनुचित भोजन करनेका प्रायश्चित्त

युधिष्ठिर उवाच

उक्तास्तु भवता भोज्यास्तथाभोज्याश्च सर्वशः।
अत्र मे प्रश्नसंदेहस्तन्मे वद पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने भोज्यान्न और अभोज्यान्न सभी तरहके मनुष्योंका वर्णन किया; किंतु इस विषयमें मुझे पूछनेयोग्य एक संदेह उत्पन्न हो गया। उसका मेरे लिये समाधान कीजिये॥ १॥

ब्राह्मणानां विशेषेण हव्यकव्यप्रतिग्रहे।
नानाविधेषु भोज्येषु प्रायश्चित्तानि शंस मे॥ २॥

प्रायः ब्राह्मणोंको ही हव्य और कव्यका प्रतिग्रह लेना पड़ता है और उन्हें ही नाना प्रकारके अन्न ग्रहण करनेका अवसर आता है। ऐसी दशामें उन्हें पाप लगते हैं, उनका क्या प्रायश्चित्त है? यह मुझे बतावें॥ २॥

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते राजन् ब्राह्मणानां महात्मनाम्।
प्रतिग्रहेषु भोज्ये च मुच्यते येन पाप्मनः॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! महात्मा ब्राह्मणोंको प्रति-

ग्रह लेने और भोजन करनेके पापसे जिस प्रकार छुटकारा मिलता है, वह प्रायश्चित्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

घृतप्रतिग्रहे चैव सावित्री समिदाहुतिः ।
तिलप्रतिग्रहे चैव सममेतद् युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मण यदि घीका दान ले तो गायत्री मन्त्र पढ़कर अग्निमें समिधाकी आहुति दे ! तिलका दान लेनेपर भी यही प्रायश्चित्त करना चाहिये । ये दोनों कार्य समान हैं ॥

मांसप्रतिग्रहे चैव मधुनो लवणस्य च ।
आदित्योदयनं स्थित्वा पूतो भवति ब्राह्मणः ॥ ५ ॥

फलका गुदा, मधु और नमकका दान लेनेपर उस समयसे लेकर सूर्योदयतक खड़े रहनेसे ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है ॥ ५ ॥

काञ्चनं प्रतिगृह्याथ जपमानो गुरुश्रुतिम् ।
कृष्णायसं च विवृतं धारयन् मुच्यते द्विजः ॥ ६ ॥

सुवर्णका दान लेकर गायत्री-मन्त्रका जप करने और खुले तौरपर काले लोहेका दंड धारण करनेसे ब्राह्मण उसके दोषसे छुटकारा पाता है ॥ ६ ॥

एवं प्रतिगृहीतेऽथ धने वस्त्रे तथा स्त्रियाम् ।
एवमेव नरश्रेष्ठ सुवर्णस्य प्रतिग्रहे ॥ ७ ॥
अन्नप्रतिग्रहे चैव पायसेक्षुरसे तथा ।

नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार धन, वस्त्र, कन्या, अन्न, खीर और ईखके रसका दान ग्रहण करनेपर भी सुवर्ण-दानके समान ही प्रायश्चित्त करे ॥ ७½ ॥

इक्षुतैलपवित्राणां त्रिसंध्येऽप्सु निमज्जनम् ॥ ८ ॥
व्रीहौ पुष्पे फले चैव जले पिष्टमये तथा ।
यावके दधिदुग्धे च सावित्रीं शतशोऽन्विताम् ॥ ९ ॥

गन्ना, तेल और कुशोंका प्रतिग्रह स्वीकार करनेपर त्रिकाल स्नान करना चाहिये । धान, फूल, फल, जल, पूआ, जौकी लपसी और दही-दूधका दान लेनेपर सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

उपानहौ च च्छत्रं च प्रतिगृह्यौर्ध्वदेहिके ।
जपेच्छतं समायुक्तस्तेन मुच्येत पाप्मना ॥ १० ॥

श्राद्धमें जूता और छाता ग्रहण करनेपर एकाग्रचित्त हो यदि सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करे तो उस प्रतिग्रहके दोष-से छुटकारा मिल जाता है ॥ १० ॥

क्षेत्रप्रतिग्रहे चैव ग्रहसूतकयोस्तथा ।
त्रीणि रात्राण्युपोषित्वा तेन पापाद् विमुच्यते ॥ ११ ॥

ग्रहणके समय अथवा अशौचमें किसीके दिये हुए खेतका दान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे उसके दोषसे छुटकारा मिलता है ॥ ११ ॥

कृष्णपक्षे तु यः श्राद्धं पितॄणामश्नुते द्विजः ।
अन्नमेतदहोरात्रात् पूतो भवति ब्राह्मणः ॥ १२ ॥

जो द्विज कृष्णपक्षमें किये हुए पितृश्राद्धका अन्न भोजन करता है, वह एक दिन और एक रात बीत जानेपर शुद्ध होता है ॥ १२ ॥

न च संध्यामुपासीत न च जाप्यं प्रवर्तयेत् ।
न संकिरेत् तदन्नं च ततः पूयेत ब्राह्मणः ॥ १३ ॥

ब्राह्मण जिस दिन श्राद्धका अन्न भोजन करे, उस दिन संध्या, गायत्री-जप और दुबारा भोजन त्याग दे । इससे उसकी शुद्धि होती है ॥ १३ ॥

इत्यर्थमपराह्णे तु पितॄणां श्राद्धमुच्यते ।
यथोक्तानां यदश्नीयुर्ब्राह्मणाः पूर्वकीर्तिताः ॥ १४ ॥

इसीलिये अपराह्णकालमें पितरोंके श्राद्धका विधान किया गया है । (जिससे सबेरेकी संध्योपासना हो जाय और शामको पुनर्भोजनकी आवश्यकता ही न पड़े) ब्राह्मणों-को एक दिन पहले श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहिये । जिससे वे पूर्वोक्त प्रकारसे विशुद्ध पुरुषोंके यहाँ यथावत् रूपसे भोजन कर सकें ॥ १४ ॥

मृतकस्य तृतीयाहे ब्राह्मणो योऽन्नमश्नुते ।
स त्रिवेलं समुन्मज्ज्य द्वादशाहेन शुध्यति ॥ १५ ॥

जिसके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, उसके यहाँ मरणाशौच-के तीसरे दिन अन्न ग्रहण करनेवाला ब्राह्मण बारह दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है ॥ १५ ॥

द्वादशाहे व्यतीते तु कृतशौचो विशेषतः ।
ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्त्वा मुच्यते तेन पाप्मना ॥ १६ ॥

बारह दिनोंतक स्नानका नियम पूर्ण हो जानेपर तेरहवें दिन वह विशेषरूपसे स्नान आदिके द्वारा पवित्र हो ब्राह्मणों-को हविष्य भोजन करावे । तब उस पापसे मुक्त हो सकता है ॥ १६ ॥

मृतस्य दशरात्रेण प्रायश्चित्तानि दापयेत् ।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम् ॥ १७ ॥

जो मनुष्य किसीके यहाँ मरणाशौचमें दस दिन तक अन्न खाता है, उसे गायत्री-मन्त्र, रैवत साम, पवित्रेष्टि कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षणका जप करके उस दोषका प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ १७ ॥

१. कुछ लोग 'ग्रहसूतकयोः'का अर्थ करते हैं 'कारागारस्थाशौच-वतो' इसके अनुसार जो जेलमें रह आया हो तथा जो जनन-मरण-सम्बन्धी अशौचसे युक्त हो ऐसे लोगोंका दिया हुआ क्षेत्रदान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे प्रतिग्रह-दोषसे छुटकारा मिलता है ।

मृतकस्य त्रिरात्रे यः समुद्दिष्टे समश्नुते।
सप्त त्रिषवणं स्नात्वा पूतो भवति ब्राह्मणः॥ १८॥

इसी प्रकार जो मरणाशौचवाले घरमें लगातार तीन रात भोजन करता है, वह ब्राह्मण सात दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है॥ १८॥

सिद्धिमाप्नोति विपुलामापदं चैव नाप्नुयात्॥ १९॥

यह प्रायश्चित्त करनेके बाद उसे सिद्धि प्राप्त होती है और वह भारी आपत्तिमें कभी नहीं पड़ता है॥ १९॥

यस्तु शूद्रैः समश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
अशौचं विधिवत् तस्य शौचमत्र विधीयते॥ २०॥

जो ब्राह्मण शूद्रोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन कर लेता है, वह अशुद्ध हो जाता है। अतः उसकी शुद्धिके लिये शास्त्रीय विधिके अनुसार यहाँ शौचका विधान है॥ २०॥

यस्तु वैश्यैः सहाश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
स वै त्रिरात्रं दीक्षित्वा मुच्यते तेन कर्मणा॥ २१॥

जो ब्राह्मण वैश्योंके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन करता है, वह तीन राततक व्रत करनेपर उस कर्मदोषसे मुक्त होता है॥ २१॥

क्षत्रियैः सह योऽश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
आप्लुतः सह वासोभिस्तेन मुच्येत पाप्मना॥ २२॥

जो ब्राह्मण क्षत्रियोंके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन करता है, वह वस्त्रोंसहित स्नान करनेसे पापमुक्त होता है॥ २२॥

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान्।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम्॥ २३॥

ब्राह्मणका तेज उसके साथ भोजन करनेवाले शूद्रके कुलका, वैश्यके पशु और बान्धवोंका तथा क्षत्रियकी सम्पत्तिका नाश कर डालता है॥ २३॥

प्रायश्चित्तं च शान्तिं च जुहुयात् तेन मुच्यते।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम्॥ २४॥

इसके लिये प्रायश्चित्त और शान्तिहोम करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र, रैवत साम, पवित्रेष्टि, कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षण मन्त्रका जप भी आवश्यक है॥ २४॥

तथोच्छिष्टमथान्योन्यं सम्प्राशेन्नात्र संशयः।
रोचना विरजा रात्रिर्मङ्गलालम्भनानि च॥ २५॥

किसीका जूठा अथवा उसके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन नहीं करना चाहिये। उपर्युक्त प्रायश्चित्तके विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर गोरोचन, दूर्वा और हल्दी आदि माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रायश्चित्तविधिर्नाम षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रायश्चित्तविधि नामक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३६॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दानसे स्वर्गलोकमें जानेवाले राजाओंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानेन वर्ततेत्याह तपसा चैव भारत।
तदेतन्मे मनोदुःखं व्यपोह त्वं पितामह।
किंस्वित् पृथिव्यां ह्येतन्मे भवाञ्छंसितुमर्हति॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! पितामह! आप कहते हैं कि दान और तप दोनोंसे ही मनुष्य स्वर्गमें जाता है, परंतु मेरे मनमें संशयजनित दुःख हो रहा है। आप इसका निवारण कीजिये। इस पृथ्वीपर दान और तपमेंसे कौन-सा साधन श्रेष्ठ है, यह बतानेकी कृपा करें?॥ १॥

भीष्म उवाच

शृणु यैर्धर्मनिरतैस्तपसा भावितात्मभिः।
लोका ह्यसंशयं प्राप्ता दानपुण्यरतैर्नृपैः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले जिन धर्मात्मा राजाओंने दान-पुण्यमें तत्पर रहकर निःसंदेह बहुत-से उत्तम लोक प्राप्त किये हैं, उनके नाम बता रहा हूँ, सुनो॥ २॥

सत्कृतश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम्।
उपदिश्य तदा राजन् गतो लोकाननुत्तमान्॥ ३॥

राजन्! लोकसम्मानित महर्षि आत्रेय अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंमें गये हैं॥ ३॥

शिबिरौशीनरः प्राणान् प्रियस्य तनयस्य च।
ब्राह्मणार्थमुपाकृत्य नाकपृष्ठमितो गतः॥ ४॥

उशीनरकुमार शिबि अपने प्यारे पुत्रके प्राणोंको ब्राह्मणके लिये निछावर करके यहाँसे स्वर्गलोकमें चले गये॥ ४॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय तनयं स्वकम्।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते॥ ५॥

काशीके राजा प्रतर्दनने अपने प्यारे पुत्रको ब्राह्मणकी सेवामें अर्पित कर दिया, जिसके कारण उन्हें इस लोकमें

अनुपम कीर्ति मिली और परलोकमें भी वे अक्षय आनन्दका उपभोग कर रहे हैं ॥ ५ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अर्घ्यं प्रदाय विधिवल्लेभे लोकाननुत्तमान्॥ ६ ॥

सङ्कृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठ मुनिको विधिवत् अर्घ्यदान किया, जिससे उन्हें श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥ ६ ॥

दिव्यं शतशलाकं च यज्ञार्थं काञ्चनं शुभम्।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा ब्राह्मणायास्थितो दिवम्॥ ७ ॥

देवावृध नामक राजा यज्ञमें सोनेकी सौ तीलियोंवाले सुन्दर दिव्य छत्रका ब्राह्मणको दान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

भगवानम्बरीषश्च ब्राह्मणायामितौजसे।
प्रदाय सकलं राष्ट्रं सुरलोकमवाप्तवान्॥ ८ ॥

ऐश्वर्यशाली राजा अम्बरीष अमित तेजस्वी ब्राह्मणको अपना सारा राज्य सौंपकर देवलोकको प्राप्त हुए ॥ ८॥

सावित्रः कुण्डलं दिव्यं यानं च जनमेजयः।
ब्राह्मणाय च गा दत्त्वा गतो लोकाननुत्तमान्॥ ९ ॥

सूर्यपुत्र कर्ण अपना दिव्य कुण्डल देकर तथा महाराज जनमेजय ब्राह्मणको सवारी और गौ दान करके उत्तम लोकों-में गये हैं ॥ ९ ॥

वृषादर्भिश्च राजर्षी रत्नानि विविधानि च।
रम्यांश्चावसथान् दत्त्वा द्विजेभ्यो दिवमागतः॥ १० ॥

राजर्षि वृषादर्भिने ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न तथा रमणीय गृह प्रदान करके स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त किया है ॥

निमी राष्ट्रं च वैदर्भिः कन्यां दत्त्वा महात्मने।
अगस्त्याय गतः स्वर्गं सपुत्रपशुबान्धवः॥ ११ ॥

विदर्भके पुत्र राजा निमि अगस्त्य मुनिको अपनी कन्या और राज्यका दान करके पुत्र, पशु और बान्धवोंसहित स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ११ ॥

जामदग्न्यश्च विप्राय भूमिं दत्त्वा महायशाः।
रामोऽक्षयांस्तथा लोकान् जगाम मनसोऽधिकान्॥ १२॥

महायशस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामजीने ब्राह्मणको भूमिदान करके उन अक्षय लोकोंको प्राप्त किया है, जिन्हें पानेकी मनमें कल्पना भी नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि देवराट्।
वसिष्ठो जीवयामास येन यातोऽक्षयां गतिम्॥ १३ ॥

एक बार संसारमें वर्षा न होनेपर मुनिवर वसिष्ठजीने समस्त प्राणियोंको जीवन दान दिया था, जिससे उन्हें अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥ १३ ॥

रामो दाशरथिश्चैव हुत्वा यज्ञेषु वै वसु।
स गतो ह्यक्षयाँल्लोकान् यस्य लोके महद् यशः॥ १४ ॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यज्ञोंमें प्रचुर धन-की आहुति देकर संसारमें अपने महान् यशकी स्थापना करके अक्षय लोकोंमें चले गये ॥ १४ ॥

कक्षसेनश्च राजर्षिर्वसिष्ठाय महात्मने।
न्यासं यथावत् संन्यस्य जगाम सुमहायशाः॥ १५ ॥

महायशस्वी राजर्षि कक्षसेन महात्मा वसिष्ठको अपना सर्वस्व समर्पण करके स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ १५ ॥

करन्धमस्य पौत्रस्तु मरुत्तोऽविक्षितः सुतः।
कन्यामाङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम सः॥ १६ ॥

करन्धमके पौत्र, अविक्षित्के पुत्र महाराज मरुत्तने अङ्गिराके पुत्र संवर्तको कन्यादान करके शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया ॥ १६ ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वरः।
निधिं शङ्खमनुज्ञाप्य जगाम परमां गतिम्॥ १७ ॥

पाञ्चालदेशके राजा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मदत्तने ब्राह्मण-को शङ्खनामक निधि प्रदान करके परम गति प्राप्त कर ली थी ॥ १७ ॥

राजा मित्रसहश्चैव वसिष्ठाय महात्मने।
मदयन्तीं प्रियां भार्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः॥ १८ ॥

राजा मित्रसह महात्मा वसिष्ठ मुनिको अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती सेवाके लिये देकर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १८ ॥

मनोः पुत्रश्च सुद्युम्नो लिखिताय महात्मने।
दण्डमुद्धृत्य धर्मेण गतो लोकाननुत्तमान्॥ १९ ॥

मनुपुत्र राजा सुद्युम्न महात्मा लिखितको धर्मतः दण्ड देकर परम उत्तम लोकोंमें गये ॥१९ ॥

सहस्रचित्यो राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान्॥ २० ॥

महान् यशस्वी राजर्षि सहस्रचित्य ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंकी बलि देकर श्रेष्ठ लोकोंमें गये हैं ॥ २० ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम्।
मौद्गल्याय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः॥ २१ ॥

महाराजा शतद्युम्नने मौद्गल्य नामक ब्राह्मणको समस्त कामनाओंसे परिपूर्ण सुवर्णमय गृह दान देकर स्वर्ग प्राप्त किया है ॥ २१ ॥

भक्ष्यभोज्यस्य च कृतान् राशयः पर्वतोपमान्।
शाण्डिल्याय पुरा दत्त्वा सुमन्युर्दिवमास्थितः॥ २२ ॥

राजा सुमन्युने भक्ष्य, भोज्य पदार्थोंके पर्वत-जैसे कितने

ो ढेर लगाकर उन्हें शाण्डिल्यको दान दिया था। जिससे न्होंने स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया ॥ २२ ॥

ाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजो महाद्युतिः।
त्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २३ ॥

महातेजस्वी शाल्वराज द्युतिमान् महर्षि ऋचीकको राज्य ेकर सर्वोत्तम लोकोंमें चले गये ॥ २३ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम्।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरधिष्ठितान् ॥ २४ ॥

राजर्षि मदिराश्व अपनी सुन्दरी कन्या विप्रवर हिरण्य-स्तको देकर देवताओंके लोकमें चले गये ॥ २४ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः।
ऋष्यश्रृङ्गाय विपुलैः सर्वैः कामैरयुज्यत ॥ २५ ॥

प्रभावशाली राजर्षि लोमपादने मुनिवर ऋष्यश्रृंगको अपनी शान्ता नामवाली कन्या दान की थी, इससे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्णरूपसे सफल हुईं ॥ २५ ॥

कौत्साय दत्त्वा कन्यां तु हंसीं नाम यशस्विनीम्।
गतोऽक्षयानतो लोकान् राजर्षिश्च भगीरथः ॥ २६ ॥

राजर्षि भगीरथ अपनी यशस्विनी कन्या हंसीका कौत्स ऋषिको दान करके अक्षय लोकोंमें गये हैं ॥ २६ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा भगीरथः।
सवत्सानां कोहलाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २७ ॥

राजा भगीरथने कोहल नामक ब्राह्मणको एक लाख सवत्सा गौएँ दान कीं, जिससे उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसा च ह।
युधिष्ठिर गताः स्वर्गं विवर्तन्ते पुनः पुनः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! ये तथा और भी बहुत-से राजा दान और तपस्याके प्रभावसे बारंबार स्वर्गलोकको जाते और पुनः वहाँसे इस लोकमें लौट आते हैं ॥ २८ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी।
गृहस्थैर्दानतपसा यैर्लोका वै विनिर्जिताः ॥ २९ ॥

जिन गृहस्थोंने दान और तपस्याके बलसे उत्तम लोकों-पर विजय पायी है, उनकी कीर्ति इस लोकमें तबतक प्रतिष्ठित रहेगी, जबतक कि यह पृथ्वी स्थिर रहेगी ॥ २९ ॥

शिष्टानां चरितं ह्येतत् कीर्तितं मे युधिष्ठिर।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमास्थिताः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! यह शिष्ट पुरुषोंका चरित्र बताया गया है। ये सब नरेश दान, यज्ञ और संतानोत्पादन करके स्वर्गमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ ३० ॥

दत्त्वा तु सततं तेऽस्तु कौरवाणां धुरन्धर।
दानयज्ञक्रियायुक्ता बुद्धिर्धर्मोपचायिनी ॥ ३१ ॥

कौरवधुरंधर ! तुम भी सदा दान करते रहो। तुम्हारी बुद्धि दान और यज्ञकी क्रियामें संलग्न हो धर्मकी उन्नति करती रहे ॥ ३१ ॥

यत्र ते नृपशार्दूल संदेहो वै भविष्यति।
श्वः प्रभाते हि वक्ष्यामि संध्या हि समुपस्थिता॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब तुम्हें जिस विषयमें संदेह होगा, उसे मैं कल सबेरे बताऊँगा; क्योंकि इस समय संध्याकाल उपस्थित है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाँच प्रकारके दानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

ुतं मे भवतस्तात सत्यव्रतपराक्रम।
ानधर्मेण महता ये प्राप्तास्त्रिदिवं नृपाः ॥ १ ॥

(दूसरे दिन प्रातःकाल) युधिष्ठिरने पूछा—त्यव्रती और पराक्रमसम्पन्न तात ! दानजनित महान् र्मके प्रभावसे जो-जो नरेश स्वर्गलोकमें गये हैं, उन सबका रिचय मैंने आपके मुखसे सुना है ॥ १ ॥

मांस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मान् धर्मभृतां वर।
ानं कतिविधं देयं किं तस्य च फलं लभेत् ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह ! अब मैं दानके सम्बन्धमें इन धर्मोंको सुनना चाहता हूँ कि दानके कितने भेद हैं ? और जो दान दिया जाता है, उसका क्या फल मिलता है ? ॥

कथं केभ्यश्च धर्म्यं च दानं दातव्यमिष्यते।
कैः कारणैः कतिविधं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

कैसे और किन लोगोंको धर्मके अनुसार दान देना अभीष्ट है ? किन कारणोंसे देना चाहिये ? और दानके कितने भेद हो जाते हैं ? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

श्रृणु तत्त्वेन कौन्तेय दानं प्रति ममानघ।

यथा दानं प्रदातव्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप कुन्तीकुमार! भरतनन्दन! दानके सम्बन्धमें मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, सुनो। सभी वर्णोंके लोगोंको दान किस प्रकार करना चाहिये—यह बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

धर्मादर्थाद् भयात् कामात् कारुण्यादिति भारत।
दानं पञ्चविधं ज्ञेयं कारणैर्यैर्निबोध तत् ॥ ५ ॥

भारत! धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया—इन पाँच हेतुओंसे दानको पाँच प्रकारका जानना चाहिये। अब जिन कारणोंसे दान देना उचित है, उनको सुनो ॥ ५ ॥

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।
इति दानं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्योऽनसूयता ॥ ६ ॥

दान करनेवाला मनुष्य इहलोकमें कीर्ति और परलोकमें सर्वोत्तम सुख पाता है। इसलिये ईर्ष्यारहित होकर मनुष्य ब्राह्मणोंको अवश्य दान दे (यह धर्ममूलक दान है) ॥ ६ ॥

ददाति वा दास्यति वा मह्यं दत्तमनेन वा।
इत्यर्थिभ्यो निशम्यैव सर्वं दातव्यमर्थिने ॥ ७ ॥

'ये दान देते हैं, ये दान देंगे अथवा इन्होंने मुझे दान दिया है' याचकोंके मुखसे ये बातें सुनकर अपनी कीर्तिकी इच्छासे प्रत्येक याचकको उसकी इच्छाके अनुसार सब कुछ देना चाहिये (यह अर्थमूलक दान है) ॥ ७ ॥

नास्याहं न मदीयोऽयं पापं कुर्याद् विमानितः।
इति दद्याद् भयादेव दृढं मूढाय पण्डितः ॥ ८ ॥

'न मैं इसका हूँ न यह मेरा है तो भी यदि इसको कुछ न दूँ तो अपमानित होकर मेरा अनिष्ट कर डालेगा।' इस भयसे ही विद्वान् पुरुष जब किसी मूर्खको दान दे तो यह भयमूलक दान है ॥ ८ ॥

प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहमिति सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान्।
वयस्यायैवमक्लिष्टं दानं दद्यादतन्द्रितः ॥ ९ ॥

'यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ' यह विचार कर बुद्धिमान् मनुष्य आलस्य छोड़कर अपने मित्रको प्रसन्नतापूर्वक दान दे (यह कामनामूलक दान है) ॥ ९ ॥

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ॥ १० ॥

'यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझसे याचना कर रहा है। थोड़ा देनेसे भी संतुष्ट हो जायगा।' यह सोचकर दरिद्र मनुष्यके लिये सर्वथा दयावश दान देना चाहिये ॥ १० ॥

इति पञ्चविधं दानं पुण्यकीर्तिविवर्धनम्।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः ॥ ११ ॥

यह पाँच प्रकारका दान पुण्य और कीर्तिको बढ़ानेवाला है। यथाशक्ति सबको दान देना चाहिये। ऐसा प्रजापतिका कथन है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी श्रीकृष्णके पास ऋषियोंका आना, उनका प्रभाव देखना और उनसे वार्तालाप करना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
आगमैर्बहुभिः स्फीतो भवान् नः प्रवरे कुले ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह! आप हमारे श्रेष्ठ कुलमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् और अनेक आगमोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

त्वत्तो धर्मार्थसंयुक्तमायत्यां च सुखोदयम्।
आश्चर्यभूतं लोकस्य श्रोतुमिच्छाम्यरिंदम ॥ २ ॥

शत्रुदमन! मैं आपके मुखसे अब ऐसे विषयका वर्णन सुनना चाहता हूँ, जो धर्म और अर्थसे युक्त, भविष्यमें सुख देनेवाला और संसारके लिये अद्भुत हो ॥ २ ॥

अयं च कालः सम्प्राप्तो दुर्लभो ज्ञातिबान्धवैः।
शास्ता च न हि नः कश्चित् त्वामृते पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

पुरुषप्रवर! हमारे बन्धु-बान्धवोंको यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। हमारे लिये आपके सिवा दूसरा कोई समस्त धर्मोंका उपदेश करनेवाला नहीं है ॥ ३ ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
वक्तुमर्हसि नः प्रश्नं यत् त्वां पृच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

अनघ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो पृथ्वीनाथ! मैं आपसे जो प्रश्न पूछता हूँ, उसका हम सब लोगोंके लिये उत्तर दीजिये ॥ ४ ॥

अयं नारायणः श्रीमान् सर्वपार्थिवसम्मतः।
भवन्तं बहुमानेन प्रश्रयेण च सेवते ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण नरेशोंद्वारा सम्मानित ये श्रीमान् भगवान् नारायण श्रीकृष्ण बड़े आदर और विनयके साथ आपकी सेवा करते हैं।

अस्य चैव समक्षं त्वं पार्थिवानां च सर्वशः।

भगवान् श्रीकृष्णकी तपस्या

भ्रातॄणां च प्रियार्थं मे स्नेहाद् भाषितुमर्हसि॥ ६ ॥

इनके तथा इन भूपतियोंके सामने मेरा और मेरे भाइयों-का सब प्रकारसे प्रिय करनेके लिये इस पूछे हुए विषयका स्नेह वर्णन कीजिये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भीष्मो भागीरथीपुत्र इदं वचनमब्रवीत्॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर स्नेहके आवेशसे युक्त हो गङ्गापुत्र भीष्मने यह बात कही ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अहं ते कथयिष्यामि कथामतिमनोहराम्।
अस्य विष्णोः पुरा राजन् प्रभावो यो मया श्रुतः॥ ८ ॥
यश्च गोवृषभाङ्कस्य प्रभावस्तं च मे शृणु।
रुद्राण्याः संशयो यश्च दम्पत्योस्तं च मे शृणु॥ ९ ॥

भीष्मजी बोले—बेटा ! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त मनोहर कथा सुना रहा हूँ। राजन् ! पूर्वकालमें इन भगवान् नारायण और महादेवजीका जो प्रभाव मैंने सुन रक्खा है, उसको तथा पार्वतीजीके संदेह करनेपर शिव और पार्वतीमें जो संवाद हुआ था, उसको भी बता रहा हूँ, सुनो ॥८-९॥

व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्।
दीक्षितं चागतौ द्रष्टुमुभौ नारदपर्वतौ॥ १० ॥

पहलेकी बात है, धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले व्रतकी दीक्षा लेकर (एक पर्वतके ऊपर) कठोर तपस्या कर रहे थे। उस समय उनका दर्शन करनेके लिये नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि वहाँ पधारे ॥ १०॥

कृष्णद्वैपायनश्चैव धौम्यश्च जपतां वरः।
देवलः काश्यपश्चैव हस्तिकाश्यप एव च॥ ११ ॥
अपरे चर्षयः सन्तो दीक्षादमसमन्विताः।
शिष्यैरनुगताः सिद्धैर्देवकल्पैस्तपोधनैः॥ १२ ॥

इनके सिवा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्य, देवल, काश्यप, हस्तिकाश्यप तथा अन्य साधु-महर्षि जो दीक्षा और इन्द्रियसंयमसे सम्पन्न थे, अपने देवो-पम, तपस्वी एवं सिद्ध शिष्योंके साथ वहाँ आये ॥ ११-१२॥

तेषामतिथिसत्कारमर्चनीयं कुलोचितम्।
देवकीतनयः प्रीतो देवकल्पमकल्पयत्॥ १३ ॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ कुलोचित उपचारोंसे उन महर्षियोंका अपने कुलके अनुरूप आतिथ्य-सत्कार किया ॥ १३ ॥

हरितेषु सुवर्णेषु बर्हिष्केषु नवेषु च।
उपोपविविशुः प्रीता विष्टरेषु महर्षयः॥ १४ ॥

भगवान्‌के दिये हुए हरे और सुनहरे रंगवाले कुशोंके नवीन आसनोंपर वे महर्षि प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हुए ॥

कथाश्चक्रुस्ततस्ते तु मधुरा धर्मसंहिताः।
राजर्षीणां सुराणां च ये वसन्ति तपोधनाः॥ १५ ॥

तदनन्तर वे राजर्षियों, देवताओं और जो तपस्वी मुनि वहाँ रहते थे, उनके सम्बन्धमें धर्मयुक्त मधुर कथाएँ कहने लगे ॥ १५ ॥

ततो नारायणं तेजो व्रतचर्येन्धनोत्थितम्।
वक्त्रान्निःसृत्य कृष्णस्य वह्निरद्भुतकर्मणः॥१६॥
सोऽग्निर्ददाह तं शैलं सद्रुमं सलताक्षुपम्।
सपक्षिमृगसंघातं सश्वापदसरीसृपम्॥ १७ ॥

तत्पश्चात् व्रतचर्यारूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ भगवान् नारायणका तेज अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकल-कर अग्निरूपमें प्रकट हो वृक्ष, लता, झाड़ी, पक्षी, मृग-समुदाय, हिंसक जन्तु तथा सर्पोंसहित उस पर्वतको जलाने लगा ॥ १६-१७ ॥

मृगैश्च विविधाकारैर्हाहाभूतमचेतनम्।
शिखरं तस्य शैलस्य मथितं दीनदर्शनम्॥ १८ ॥

उस समय नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंका आर्तनाद चारों ओर फैल रहा था, मानो पर्वतका वह अचेतन शिखर स्वयं ही हाहाकार कर रहा हो। उस तेजसे दग्ध हो जानेके कारण वह पर्वतशिखर बड़ा दयनीय दिखायी देता था ॥

स तु वह्निर्महाज्वालो दग्ध्वा सर्वमशेषतः।
विष्णोः समीपमागम्य पादौ शिष्यवदस्पृशत्॥ १९ ॥

बड़ी-बड़ी लपटोंवाली उस आगने समस्त पर्वतशिखर-को दग्ध करके भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण)के समीप आकर जैसे शिष्य गुरुके चरण छूता है, उसी प्रकार उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया और उन्हींमें वह विलीन हो गयी ॥

ततो विष्णुर्गिरिं दृष्ट्वा निर्दग्धमरिकर्शनः।
सौम्यैर्दृष्टिनिपातैस्तं पुनः प्रकृतिमानयत्॥ २० ॥

तदनन्तर शत्रुसूदन श्रीकृष्णने उस पर्वतको दग्ध हुआ देखकर अपनी सौम्य दृष्टि डाली और उसे पुनः प्रकृतावस्थामें पहुँचा दिया—पहलेकी भाँति हरा-भरा कर दिया ॥ २० ॥

तथैव स गिरिर्भूयः प्रपुष्पितलताद्रुमः।
सपक्षिगणसंघुष्टः सश्वापदसरीसृपः॥ २१ ॥

वह पर्वत फिर पहलेकी ही भाँति खिली हुई लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित होने लगा। वहाँ पक्षी चहचहाने लगे। वहाँ हिंसक पशु और सर्प आदि जीव-जन्तु जी उठे ॥ २१ ॥

(सिद्धचारणसंघैश्च प्रसन्नैरुपशोभितः।
मत्तवारणसंयुक्तो नानापक्षिगणैर्युतः॥)

सिद्धों और चारणोंके समुदाय प्रसन्न होकर उस पर्वतकी शोभा बढ़ाने लगे। वह स्थान पुनः मतवाले हाथियों और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सम्पन्न हो गया॥

तमद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा मुनिगणस्तदा।
विस्मितो हृष्टरोमा च बभूवास्राविलेक्षणः॥ २२॥

इस अद्भुत और अचिन्त्य घटनाको देखकर ऋषियोंका समुदाय विस्मित और रोमाञ्चित हो उठा। उन सबके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आये॥ २२॥

ततो नारायणो दृष्ट्वा तानृषीन् विस्मयान्वितान्।
प्रश्रितं मधुरं स्निग्धं पप्रच्छ वदतां वरः॥ २३॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने उन ऋषियोंको विस्मयविमुग्ध हुआ देख विनय और स्नेहसे युक्त मधुर वाणीमें पूछा—॥ २३॥

किमर्थमृषिपूगस्य त्यक्तसङ्गस्य नित्यशः।
निर्ममस्यागमवतो विस्मयः समुपागतः॥ २४॥

'महर्षियो! ऋषिसमुदाय तो आसक्ति और ममतासे रहित है! सबको शास्त्रोंका ज्ञान है, फिर भी आपलोगोंको आश्चर्य क्यों हो रहा है?॥ २४॥

एतन्मे संशयं सर्वे याथातथ्यमनिन्दिताः।
ऋषयो वक्तुमर्हन्ति निश्चितार्थं तपोधनाः॥ २५॥

'तपोधन ऋषियो! आप सब लोग सबके द्वारा प्रशंसित हैं, अतः मेरे इस संशयको निश्चित एवं यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें'॥ २५॥

ऋषय ऊचुः

भवान् विसृजते लोकान् भवान् संहरते पुनः।
भवान् शीतं भवानुष्णं भवानेव च वर्षति॥ २६॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आप ही संसारको बनाते और आप ही पुनः उसका संहार करते हैं। आप ही सर्दी, आप ही गर्मी और आप ही वर्षा करते हैं॥ २६॥

पृथिव्यां यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
तेषां पिता त्वं माता त्वं प्रभुः प्रभव एव च॥ २७॥

इस पृथ्वीपर जो भी चराचर प्राणी हैं, उनके पिता-माता, प्रभु और उत्पत्तिस्थान भी आप ही हैं॥ २७॥

एवं नो विस्मयकरं संशयं मधुसूदन।
त्वमेवार्हसि कल्याण वक्तुं वह्नेर्विनिर्गमम्॥ २८॥

मधुसूदन! आपके मुखसे अग्निका प्रादुर्भाव हमारे लिये इस प्रकार विस्मयजनक हुआ है। हम संशयमें पड़ गये हैं। कल्याणमय श्रीकृष्ण! आप ही इसका कारण बताकर हमारे संदेह और विस्मयका निवारण कर सकते हैं॥ २८॥

ततो विगतसंत्रासा वयमप्यरिकर्शन।
यच्छ्रुतं यच्च दृष्टं नस्तत् प्रवक्ष्यामहे हरे॥ २९॥

शत्रुसूदन हरे! उसे सुनकर हम भी निर्भय हो जायँगे और हमने जो आश्चर्यकी बात देखी या सुनी है, उसका हम आपके सामने वर्णन करेंगे॥ २९॥

वासुदेव उवाच

एतद् वै वैष्णवं तेजो मम वक्त्राद् विनिःसृतम्।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो येनायं मथितो गिरिः॥ ३०॥

श्रीकृष्ण बोले—मुनिवरो! मेरे मुखसे यह मेरा वैष्णव तेज प्रकट हुआ था; जिसने प्रलयकालकी अग्निके समान रूप धारण करके इस पर्वतको दग्ध कर डाला था॥ ३०॥

ऋषयश्चार्तिमापन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
भवन्तो व्यथिताश्चासन् देवकल्पास्तपोधनाः॥ ३१॥

उसी तेजसे आप-जैसे तपस्याके धनी, देवोपम शक्तिशाली, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय ऋषि भी पीड़ित और व्यथित हो गये थे॥ ३१॥

व्रतचर्यापरीतस्य तपस्विव्रतसेवया।
मम वह्निः समुद्भूतो न वै व्यथितुमर्हथ॥ ३२॥

मैं व्रतचर्यामें लगा हुआ था, तपस्वी जनोंके उस व्रतका सेवन करनेसे मेरा तेज ही अग्निरूपमें प्रकट हुआ था। अतः आपलोग उससे व्यथित न हों॥ ३२॥

व्रतं चर्तुमिहायातस्त्वहं गिरिमिमं शुभम्।
पुत्रं चात्मसमं वीर्ये तपसा लब्धुमागतः॥ ३३॥

मैं तपस्याद्वारा अपने ही समान वीर्यवान् पुत्र पानेकी इच्छासे व्रत करनेके लिये इस मङ्गलकारी पर्वतपर आया हूँ।

ततो ममात्मा यो देहे सोऽग्निर्भूत्वा विनिःसृतः।
गतश्च वरदं द्रष्टुं सर्वलोकपितामहम्॥ ३४॥

मेरे शरीरमें स्थित प्राण ही अग्निके रूपमें बाहर निकलकर सबको वर देनेवाले सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये उनके लोकमें गया था॥ ३४॥

तेन चात्मानुशिष्टो मे पुत्रत्वे मुनिसत्तमाः।
तेजसोऽर्धेन पुत्रस्ते भवितेति वृषध्वजः॥ ३५॥

मुनिवरो! उन ब्रह्माजीने मेरे प्राणको यह संदेश देकर भेजा है कि साक्षात् भगवान् शंकर अपने तेजके आधे भागसे आपके पुत्र होंगे॥ ३५॥

सोऽयं वह्निरुपागम्य पादमूले ममान्तिकम्।
शिष्यवत् परिचर्यार्थं शान्तः प्रकृतिमागतः॥ ३६॥

वही यह अग्निरूपी प्राण मेरे पास लौटकर आया और निकट पहुँचनेपर शिष्यकी भाँति परिचर्या करनेके लिये उसने मेरे चरणोंमें प्रणाम किया है। इसके बाद शान्त होकर वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो गया है॥ ३६॥

एतदेव रहस्यं वः पद्मनाभस्य धीमतः ।
मया प्रोक्तं समासेन न भीः कार्या तपोधनाः॥ ३७ ॥

तपोधनो ! यह मैंने आपलोगोंके निकट बुद्धिमान् भगवान् विष्णुका गुप्त रहस्य संक्षेपसे बताया है । आपलोगोंको भय नहीं मानना चाहिये ॥ ३७ ॥

सर्वत्र गतिरव्यग्रा भवतां दीर्घदर्शनात् ।
तपस्विव्रतसंदीप्ता ज्ञानविज्ञानशोभिताः ॥ ३८ ॥

आपलोगोंकी गति सर्वत्र है, उसका कहीं भी प्रतिरोध नहीं है; क्योंकि आपलोग दूरदर्शी हैं । तपस्वी जनोंके योग्य व्रतका आचरण करनेसे आपलोग देदीप्यमान हो रहे हैं तथा ज्ञान और विज्ञान आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३८ ॥

यच्छ्रुतं यच्च वो दृष्टं दिवि वा यदि वा भुवि ।
आश्चर्यं परमं किंचित् तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे ॥ ३९ ॥

इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि आपलोगोंने इस पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई महान् आश्चर्यकी बात देखी या सुनी हो तो उसको मुझे बतलाइये ॥ ३९ ॥

तस्यामृतनिकाशस्य वाङ्मधोरस्ति मे स्पृहा ।
भवद्भिः कथितस्येह तपोवननिवासिभिः ॥ ४० ॥

आपलोग तपोवनमें निवास करनेवाले हैं, इस जगत्में आपके द्वारा कथित अमृतके समान मधुर वचन सुननेकी इच्छा मुझे सदा बनी रहती है ॥ ४० ॥

यद्यप्यहमदृष्टं वो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।
दिवि वा भुवि वा किंचित् पश्याम्यमरदर्शनाः ॥ ४१ ॥
प्रकृतिः सा मम परा न क्वचित् प्रतिहन्यते ।
न चात्मगतमैश्वर्यमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४२ ॥
श्रद्धेयः कथितो ह्यर्थः सज्जनश्रवणं गतः ।
चिरं तिष्ठति मेदिन्यां शैले लेख्यामिवार्पितम्॥ ४३ ॥

महर्षियो ! आपका दर्शन देवताओंके समान दिव्य है । यद्यपि द्युलोक अथवा पृथिवीमें जो दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देनेवाली वस्तु है, जिसे आपलोगोंने भी नहीं देखा है, वह सब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ । सर्वज्ञता मेरा उत्तम स्वभाव है । वह कहीं भी प्रतिहत नहीं होता तथा मुझमें जो ऐश्वर्य है, वह मुझे आश्चर्यरूप नहीं जान पड़ता तथापि सत्पुरुषोंके कानोंमें पड़ा हुआ कथित विषय विश्वासके योग्य होता है और वह पत्थरपर खिंची हुई लकीरकी भाँति इस पृथ्वीपर बहुत दिनोंतक कायम रहता है ॥ ४१-४३ ॥

तदहं सज्जनमुखान्निःसृतं तत्समागमे ।
कथयिष्याम्यहमहो बुद्धिदीपकरं नृणाम् ॥ ४४ ॥

अतः मैं आप साधु-संतोंके मुखसे निकले हुए वचनको मनुष्योंकी बुद्धिका उद्दीपक (प्रकाशक) मानकर उसे सत्पुरुषोंके समाजमें कहूँगा ॥ ४४ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे विस्मिताः कृष्णसंनिधौ ।
नेत्रैः पद्मदलप्रख्यैरपश्यंस्तं जनार्दनम् ॥ ४५ ॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप बैठे हुए सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ । वे कमलदलके समान खिले हुए नेत्रोंसे उनकी ओर देखने लगे ॥ ४५ ॥

वर्धयन्तस्तथैवान्ये पूजयन्तस्तथापरे ।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तुवन्तो मधुसूदनम्॥ ४६ ॥

कोई उन्हें बधाई देने लगा, कोई उनकी पूजा-प्रशंसा करने लगा और कोई ऋग्वेदकी अर्थयुक्त ऋचाओंद्वारा उन मधुसूदनकी स्तुति करने लगा ॥ ४६ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे नारदं देवदर्शनम् ।
तदा नियोजयामासुर्वचने वाक्यकोविदम् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर उन सभी मुनियोंने बातचीत करनेमें कुशल देवदर्शी नारदको भगवान्की बातचीतका उत्तर देनेके लिये नियुक्त किया ॥ ४७ ॥

मुनय ऊचुः

यदाश्चर्यमचिन्त्यं च गिरौ हिमवति प्रभो ।
अनुभूतं मुनिगणैस्तीर्थयात्रापरैर्मुने ॥ ४८ ॥
तद् भवानृषिसंघस्य हितार्थं सर्वमादितः ।
यथा दृष्टं हृषीकेशे सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ ४९ ॥

मुनि बोले—प्रभो ! मुने ! तीर्थयात्रापरायण मुनियोंने हिमालय पर्वतपर जिस अचिन्त्य आश्चर्यका दर्शन एवं अनुभव किया है, वह सब आप आरम्भसे ही ऋषिसमूहके हितके लिये भगवान् श्रीकृष्णको बताइये ॥ ४८-४९ ॥

एवमुक्तः स मुनिभिर्नारदो भगवान् मुनिः ।
कथयामास देवर्षिः पूर्ववृत्तामिमां कथाम् ॥ ५० ॥

मुनियोंके ऐसा कहनेपर देवर्षि भगवान् नारदमुनिने यह पूर्वघटित कथा कही ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा हिमालय पर्वतपर भूतगणोंके सहित शिवजीकी शोभाका विस्तृत वर्णन, पार्वतीका आगमन, शिवजीकी दोनों आँखोंको अपने हाथोंसे बंद करना और तीसरे नेत्रका प्रकट होना, हिमालयका भस्म होना और पुनः प्राकृत अवस्थामें हो जाना तथा शिव-पार्वतीके धर्मविषयक संवादकी उत्थापना

भीष्म उवाच

ततो नारायणसुहृन्नारदो भगवानृषिः ।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर श्रीनारायणके सुहृद् भगवान् नारदमुनिने शंकरजीका पार्वतीके साथ जो संवाद हुआ था, उसे बताना आरम्भ किया ॥ १ ॥

नारद उवाच

तपश्चचार धर्मात्मा वृषभाङ्कः सुरेश्वरः ।
पुण्ये गिरौ हिमवति सिद्धचारणसेविते ॥ २ ॥
नानौषधियुते रम्ये नानापुष्पसमाकुले ।
अप्सरोगणसंकीर्णे भूतसंघनिषेविते ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—भगवन् ! जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जो नाना प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न तथा भाँति-भाँतिके फूलोंसे व्याप्त होनेके कारण रमणीय जान पड़ता है, जहाँ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ भरी रहती हैं और भूतोंकी टोलियाँ निवास करती हैं; उस परम पवित्र हिमालयपर्वतपर धर्मात्मा देवाधिदेव भगवान् शङ्कर तपस्या कर रहे थे ॥२-३॥

तत्र देवो मुदा युक्तो भूतसंघशतैर्वृतः ।
नानारूपैर्विरूपैश्च दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ ४ ॥

उस स्थानपर महादेवजी सैकड़ों भूतसमुदायोंसे घिरे रहकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। उन भूतोंके रूप नाना प्रकारके एवं विकृत थे, किन्हीं-किन्हींके रूप दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

सिंहव्याघ्रगजप्रख्यैः सर्वजातिसमन्वितैः ।
क्रोष्टुकद्वीपिवदनैर्ऋक्षर्षभमुखैस्तथा ॥ ५ ॥

कुछ भूतोंकी आकृति सिंहों, व्याघ्रों एवं गजराजोंके समान थी। उनमें सभी जातियोंके प्राणी सम्मिलित थे। कितने ही भूतोंके मुख सियारों, चीतों, रीछों और बैलोंके समान थे॥

उलूकवदनैर्भीमैर्वृकश्येनमुखैस्तथा ।
नानावर्णैर्मृगमुखैः सर्वजातिसमन्वितैः ॥ ६ ॥

कितने ही उल्लू-जैसे मुखवाले थे। बहुत-से भयंकर भूत भेड़ियों और बाजोंके समान मुख धारण करते थे। और कितनोंके मुख हरिणोंके समान थे। उन सबके वर्ण अनेक प्रकारके थे तथा वे सभी जातियोंसे सम्पन्न थे ॥ ६ ॥

किंनरैर्यक्षगन्धर्वै रक्षोभूतगणैस्तथा ।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णं दिव्यज्वालासमाकुलम् ॥ ७ ॥
दिव्यचन्दनसंयुक्तं दिव्यधूपेन धूपितम् ।
तत् सदो वृषभाङ्कस्य दिव्यवादित्रनादितम् ॥ ८ ॥
मृदङ्गपणवोद्घुष्टं शङ्खभेरीनिनादितम् ।
नृत्यद्भिर्भूतसंघैश्च बर्हिणैश्च समन्ततः ॥ ९ ॥

इनके सिवा बहुत-से किन्नरों, यक्षों, गन्धर्वों, राक्षसों तथा भूतगणोंने भी महादेवजीको घेर रक्खा था। भगवान् शङ्करकी वह सभा दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित, दिव्य तेजसे व्याप्त, दिव्य चन्दनसे चर्चित और दिव्य धूपकी सुगन्धसे सुवासित थी। वहाँ दिव्य वाद्योंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। मृदङ्ग और पणवका घोष छाया रहता था। शङ्ख और भेरियोंके नाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे। चारों ओर नाचते हुए भूतसमुदाय और मयूर उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥७-९॥

प्रनृत्ताप्सरसं दिव्यं देवर्षिगणसेवितम् ।
दृष्टिकान्तमनिर्देश्यं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १० ॥

वहाँ अप्सराएँ नृत्य करती थीं, वह दिव्य सभा देवर्षियों-के समुदायोंसे शोभित, देखनेमें मनोहर, अनिर्वचनीय, अलौकिक और अद्भुत थी ॥ १० ॥

स गिरिस्तपसा तस्य गिरिशस्य व्यरोचत ।
स्वाध्यायपरमैर्विप्रैर्ब्रह्मघोषो निनादितः ॥ ११ ॥

भगवान् शङ्करकी तपस्यासे उस पर्वतकी बड़ी शोभा हो रही थी। स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी ॥ ११ ॥

षट्पदैरुपगीतैश्च माधवाप्रतिमो गिरिः ।
तन्महोत्सवसंकाशं भीमरूपधरं ततः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा मुनिगणस्यासीत् परा प्रीतिर्जनार्दन ।

माधव ! वह अनुपम पर्वत भ्रमरोंके गीतोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। जनार्दन ! वह स्थान अत्यन्त भयंकर होनेपर भी महान् उत्सवसे सम्पन्न-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर मुनियोंके समुदायको बड़ी प्रसन्नता हुई॥१२½॥

मुनयश्च महाभागाः सिद्धाश्चैवोर्ध्वरेतसः ॥ १३ ॥
मरुतो वसवः साध्या विश्वेदेवाः सवासवाः ।
यक्षा नागाः पिशाचाश्च लोकपाला हुताशनाः ॥ १४ ॥

वाताः सर्वे महाभूतास्तत्रैवासन् समागताः।

महान् सौभाग्यशाली मुनि, ऊर्ध्वरेता सिद्धगण, मरुद्गण, वसुगण, साध्यगण, इन्द्रसहित विश्वेदेवगण, यक्ष और नाग, पिशाच, लोकपाल, अग्नि, समस्त वायु और प्रधान भूतगण वहाँ आये हुए थे ॥ १३-१४½ ॥

ऋतवः सर्वपुष्पैश्च व्यकिरन्त महाद्भुतैः ॥ १५ ॥
ओषध्यो ज्वलमानाश्च द्योतयन्ति स्म तद् वनम्।

ऋतुएँ वहाँ उपस्थित हो सब प्रकारके अत्यन्त अद्भुत पुष्प बिखेर रही थीं। ओषधियाँ प्रज्वलित हो उस वनको प्रकाशित कर रही थीं ॥ १५½ ॥

विहङ्गाश्च मुदा युक्ताः प्रानृत्यन् व्यनदंश्च ह ॥ १६ ॥
गिरिपृष्ठेषु रम्येषु व्याहरन्तो जनप्रियाः।

वहाँके रमणीय पर्वतशिखरोंपर लोगोंको प्रिय लगनेवाली बोली बोलते हुए पक्षी प्रसन्नतासे युक्त हो नाचते और कलरव करते थे ॥ १६½ ॥

तत्र देवो गिरितटे दिव्यधातुविभूषिते ॥ १७ ॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो महामनाः।

दिव्य धातुओंसे विभूषित पर्यङ्कके समान उस पर्वत-शिखरपर बैठे हुए महामना महादेवजी बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १७½ ॥

व्याघ्रचर्माम्बरधरः सिंहचर्मोत्तरच्छदः ॥ १८ ॥
व्यालयज्ञोपवीती च लोहिताङ्गदभूषणः।
हरिश्मश्रुर्जटी भीमो भयकर्ता सुरद्विषाम् ॥ १९ ॥
अभयः सर्वभूतानां भक्तानां वृषभध्वजः।

उन्होंने व्याघ्रचर्मको ही वस्त्रके रूपमें धारण कर रक्खा था। सिंहका चर्म उनके लिये उत्तरीय वस्त्र (चादर) का काम देता था। उनके गलेमें सर्पमय यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। वे लाल रंगके बाजूबंदसे विभूषित थे। उनकी मूँछ काली थी, मस्तकपर जटाजूट शोभा पाता था। वे भीमस्वरूप रुद्र देवद्रोहियोंके मनमें भय उत्पन्न करते थे। अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण करनेवाले वे भगवान् शिव भक्तों तथा सम्पूर्ण भूतोंके भयका निवारण करते थे ॥

दृष्ट्वा महर्षयः सर्वे शिरोभिरवनिं गताः ॥ २० ॥
(गीर्भिः परमशुद्धाभिस्तुष्टुवुश्च मनोहरम् ॥)
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः क्षान्ता विगतकल्मषाः।

भगवान् शङ्करका दर्शन करके उन सभी महर्षियोंने पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया और परम शुद्ध वाणीद्वारा उनकी मनोहर स्तुति की। वे सभी ऋषि सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, क्षमाशील और कल्मषरहित थे ॥२०½॥

तस्य भूतपतेः स्थानं भीमरूपधरं बभौ ॥ २१ ॥
अप्रधृष्यतरं चैव महोरगसमाकुलम्।

भगवान् भूतनाथका वह भयानक स्थान बड़ी शोभा पा रहा था। वह अत्यन्त दुर्धर्ष और बड़े-बड़े सर्पोंसे भरा हुआ था ॥ २१½ ॥

क्षणेनैवाभवत् सर्वमद्भुतं मधुसूदन ॥ २२ ॥
तत् सदो वृषभाङ्कस्य भीमरूपधरं बभौ।

मधुसूदन! वृषभध्वजका वह भयानक सभास्थल क्षणभरमें अद्भुत शोभा पाने लगा ॥ २२½ ॥

तमभ्ययाच्छैलसुता भूतस्त्रीगणसंवृता ॥ २३ ॥
हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतधारिणी।
बिभ्रती कलशं रौक्मं सर्वतीर्थजलोद्भवम् ॥ २४ ॥

उस समय भूतोंकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गिरिराजनन्दिनी उमा सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे भरा हुआ सोनेका कलश लिये उनके पास आयीं। उन्होंने भी भगवान् शङ्करके समान ही वस्त्र धारण किया था। वे भी उन्हींकी भाँति उत्तम व्रतका पालन करती थीं ॥ २३-२४ ॥

गिरिस्रवाभिः सर्वाभिः पृष्ठतोऽनुगता शुभा।
पुष्पवृष्ट्याभिवर्षन्ती गन्धैर्बहुविधैस्तथा।
सेवन्ती हिमवत् पार्श्वं हरपार्श्वमुपागमत् ॥ २५ ॥

उनके पीछे-पीछे उस पर्वतसे गिरनेवाली सभी नदियाँ चल रही थीं। शुभलक्षणा पार्वती फूलोंकी वर्षा करती और नाना प्रकारकी सुगन्ध बिखेरती हुई भगवान् शिवके पास आयीं। वे भी हिमालयके पार्श्वभागका ही सेवन करती थीं ॥ २५ ॥

ततः स्मयन्ती पाणिभ्यां नर्मार्थं चारुहासिनी।
हरनेत्रे शुभे देवी सहसा सा समावृणोत् ॥ २६ ॥

आते ही मनोहर हास्यवाली देवी उमाने मनोरञ्जन या हास-परिहासके लिये मुसकराकर अपने दोनों हाथोंसे सहसा भगवान् शङ्करके दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ २६ ॥

संवृताभ्यां तु नेत्राभ्यां तमोभूतमचेतनम्।
निर्होमं निर्वषट्कारं जगद् वै सहसाभवत् ॥ २७ ॥

उनके दोनों नेत्रोंके आच्छादित होते ही सारा जगत् सहसा अन्धकारमय, चेतनाशून्य तथा होम और वषट्कार-से रहित हो गया ॥ २७ ॥

जनश्च विमनाः सर्वोऽभवत् त्राससमन्वितः।
निमीलिते भूतपतौ नष्टसूर्य इवाभवत् ॥ २८ ॥

सब लोग अनमने हो गये, सबके ऊपर त्रास छा गया। भूतनाथके नेत्र बंद कर लेनेपर इस संसारकी वैसी ही दशा हो गयी, मानो सूर्यदेव नष्ट हो गये हैं ॥ २८ ॥

ततो वितिमिरो लोकः क्षणेन समपद्यत।
ज्वाला च महती दीप्ता ललाटात् तस्य निःसृता॥ २९ ॥

तदनन्तर क्षणभरमें सारे जगत्‌का अन्धकार दूर हो

गया। भगवान् शिवके ललाटसे अत्यन्त दीप्तिशालिनी महाज्वाला प्रकट हो गयी ॥ २९ ॥

तृतीयं चास्य सम्भूतं नेत्रमादित्यसंनिभम्।
युगान्तसदृशं दीप्तं येनासौ मथितो गिरिः ॥ ३० ॥

उनके ललाटमें आदित्यके समान तेजस्वी तीसरे नेत्रका आविर्भाव हो गया। वह नेत्र प्रलयाग्निके समान देदीप्यमान हो रहा था। उस नेत्रसे प्रकट हुई ज्वालाने उस पर्वतको जलाकर मथ डाला ॥ ३० ॥

ततो गिरिसुता दृष्ट्वा दीप्ताग्निसदृशेक्षणम्।
हरं प्रणम्य शिरसा ददर्शायतलोचना ॥ ३१ ॥

तब महादेवजीको प्रज्वलित अग्निके सदृश तीसरे नेत्रसे युक्त हुआ देख गिरिराजनन्दिनी विशाललोचना उमाने सिरसे प्रणाम करके उनकी ओर चकित दृष्टिसे देखा॥ ३१ ॥

दह्यमाने वने तस्मिन् ससालसरलद्रुमे।
सचन्दनवरे रम्ये दिव्यौषधिविदीपिते ॥ ३२ ॥

साल और सरल आदि वृक्षोंसे युक्त, श्रेष्ठ चन्दन-वृक्षसे सुशोभित तथा दिव्य ओषधियोंसे प्रकाशित उस रमणीय वनमें आग लग गयी थी और वह सब ओरसे जल रहा था ॥ ३२ ॥

मृगयूथैर्द्रुतैर्भीतैर्हरपार्श्वमुपागतैः ।
शरणं चाप्यविन्दद्भिस्तत् सदः संकुलं बभौ ॥३३ ॥

भयभीत मृगोंके झुंडोंको जब कहीं भी शरण न मिली, तब वे भागते हुए महादेवजीके पास आ पहुँचे। उनसे वह सारा सभास्थल भर गया और उसकी अपूर्व शोभा होने लगी॥

ततो नभस्पृशज्ज्वालो विद्युल्लोलाग्निरुल्बणः।
द्वादशादित्यसदृशो युगान्ताग्निरिवापरः ॥ ३४ ॥

वहाँ लगी हुई आगकी लपटें आकाशको चूम रही थीं। विद्युत्के समान चञ्चल हुई वह आग बड़ी भयानक प्रतीत हो रही थी, वह बारह सूर्योंके समान प्रकाशित होकर दूसरी प्रलयाग्निके समान प्रतीत होती थी ॥ ३४ ॥

क्षणेन तेन निर्दग्धो हिमवानभवन्नगः।
सधातुशिखराभोगो दीप्तदग्धलतौषधिः ॥ ३५ ॥

उसने क्षणभरमें हिमालय पर्वतको धातु और विशाल शिखरोंसहित दग्ध कर डाला। उसकी लताएँ और ओषधियाँ प्रज्वलित हो जलकर भस्म हो गयीं ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा मथितं शैलं शैलराजसुता ततः।
भगवन्तं प्रपन्ना वै साञ्जलिप्रग्रहा स्थिता ॥ ३६ ॥

उस पर्वतको दग्ध हुआ देख गिरिराजकुमारी उमा दोनों हाथ जोड़कर भगवान् शङ्करकी शरणमें गयीं ॥ ३६ ॥

उमां शर्वस्तदा दृष्ट्वा स्त्रीभावगतमार्दवाम्।
पितुर्दैन्यमनिच्छन्तीं प्रीत्यापश्यत् तदा गिरिम्॥ ३७॥

उस समय उमामें नारी-स्वभाववश मृदुता (कातरता) आ गयी थी। वे पिताकी दयनीय अवस्था नहीं देखना चाहती थीं। उनकी ऐसी दशा देख भगवान् शङ्करने हिमवान् पर्वतकी ओर प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे देखा ॥ ३७ ॥

क्षणेन हिमवान् सर्वः प्रकृतिस्थः सुदर्शनः।
प्रहृष्टविहगश्चैव सुपुष्पितवनद्रुमः ॥ ३८ ॥

उनकी दृष्टि पड़नेपर क्षणभरमें सारा हिमालय पर्वत पहली स्थितिमें आ गया। देखनेमें परम सुन्दर हो गया। वहाँ हर्षमें भरे हुए पक्षी कलरव करने लगे। उस वनके वृक्ष सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित हो गये ॥ ३८ ॥

प्रकृतिस्थं गिरिं दृष्ट्वा प्रीता देवं महेश्वरम्।
उवाच सर्वलोकानां पतिं शिवमनिन्दिता ॥ ३९ ॥

पर्वतको पूर्वावस्थामें स्थित हुआ देख पतिव्रता पार्वती देवी बहुत प्रसन्न हुईं। फिर उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी कल्याणस्वरूप महेश्वरदेवसे पूछा ॥ ३९ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश शूलपाणे महाव्रत।
संशयो मे महान् जातस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४० ॥

उमा बोलीं—भगवन्! सर्वभूतेश्वर! शूलपाणे! महान् व्रतधारी महेश्वर! मेरे मनमें एक महान् संशय उत्पन्न हुआ है। आप मुझसे उसकी व्याख्या कीजिये ॥ ४० ॥

किमर्थं ते ललाटे वै तृतीयं नेत्रमुत्थितम्।
किमर्थं च गिरिर्दग्धः सपक्षिगणकाननः ॥ ४१ ॥
किमर्थं च पुनर्देव प्रकृतिस्थस्त्वया कृतः।
तथैव द्रुमसंच्छन्नः कृतोऽयं ते पिता मम ॥ ४२ ॥

क्यों आपके ललाटमें तीसरा नेत्र प्रकट हुआ? किसलिये आपने पक्षियों और वनोंसहित पर्वतको दग्ध किया और देव! फिर किसलिये आपने उसे पूर्वावस्थामें ला दिया। मेरे इन पिताको आपने जो पूर्ववत् वृक्षोंसे आच्छादित कर दिया, इसका क्या कारण है? ॥ ४१-४२ ॥

(एष मे संशयो देव हृदि मे सम्प्रवर्तते।
देवदेव नमस्तुभ्यं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

देवदेव! मेरे हृदयमें यह संदेह विद्यमान है। आप इसका समाधान करनेकी कृपा करें। आपको मेरा सादर नमस्कार है ॥

नारद उवाच

एवमुक्तस्तथा देव्या प्रीयमाणोऽब्रवीद् भवः ॥)

नारदजी कहते हैं—देवी पार्वतीके ऐसा कहनेपर भगवान् शंकर प्रसन्न होकर बोले ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(स्थाने संशयितुं देवि धर्मज्ञे प्रियभाषिणि ॥
त्वदृते मां हि वै प्रष्टुं न शक्यं केनचित् प्रिये ।

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मको जानने तथा प्रिय वचन बोलनेवाली देवि ! तुमने जो संशय उपस्थित किया है, वह उचित ही है । प्रिये ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मुझसे ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥

प्रकाशं यदि वा गुह्यं प्रियार्थं प्रब्रवीम्यहम् ॥
शृणु तत् सर्वमखिलमस्यां संसदि भामिनि ।

भामिनि ! प्रकट या गुप्त जो भी बात होगी, तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं सब कुछ बताऊँगा । तुम इस सभामें मुझसे सारी बातें सुनो ॥

सर्वेषामेव लोकानां कूटस्थं विद्धि मां प्रिये ॥
मदधीनास्त्रयो लोका यथा विष्णौ तथा मयि ।
स्रष्टा विष्णुरहं गोप्ता इत्येतद् विद्धि भामिनि ॥

प्रिये ! सभी लोकोंमें मुझे कूटस्थ समझो । तीनों लोक मेरे अधीन हैं । ये जैसे भगवान् विष्णुके अधीन हैं, उसी प्रकार मेरे भी अधीन हैं । भामिनि ! तुम यही जान लो कि भगवान् विष्णु जगत्के स्रष्टा हैं और मैं इसकी रक्षा करनेवाला हूँ ॥

तस्माद् यदा मां स्पृशति शुभं वा यदि वेतरत् ।
तथैवेदं जगत् सर्वं तत्तद् भवति शोभने ॥)

शोभने ! इसीलिये जब मुझसे शुभ या अशुभका स्पर्श होता है, तब यह सारा जगत् वैसा ही शुभ या अशुभ हो जाता है ॥

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते ।
नष्टालोकस्तदा लोकः क्षणेन समपद्यत ॥ ४३ ॥

देवि ! अनिन्दिते ! तुमने अपने भोलेपनके कारण मेरी दोनों आँखें बंद कर दीं । इससे क्षणभरमें समस्त संसारका प्रकाश तत्काल नष्ट हो गया ॥ ४३ ॥

नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे ।
तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं मे रक्षता प्रजाः ॥ ४४ ॥

गिरिराजकुमारी ! संसारमें जब सूर्य अदृश्य हो गये और सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया, तब मैंने प्रजाकी रक्षाके लिये अपने तीसरे तेजस्वी नेत्रकी सृष्टि की है ॥४४॥

तस्य चाक्ष्णो महत् तेजो येनायं मथितो गिरिः ।
त्वत्प्रियार्थं च मे देवि प्रकृतिस्थः पुनः कृतः ॥ ४५ ॥

उसी तीसरे नेत्रका यह महान् तेज था, जिसने इस पर्वतको मथ डाला । देवि ! फिर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैंने इस गिरिराज हिमवान्को पुनः प्रकृतिस्थ कर दिया है ॥

उमोवाच

भगवन् केन ते वक्त्रं चन्द्रवत् प्रियदर्शनम् ।
पूर्वं तथैव श्रीकान्तमुत्तरं पश्चिमं तथा ॥ ४६ ॥
दक्षिणं च मुखं रौद्रं केनोर्ध्वं कपिला जटाः ।
केन कण्ठश्च ते नीलो बर्हिबर्हनिभः कृतः ॥ ४७ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! (आपके चार मुख क्यों हैं ।) आपका पूर्व दिशावाला मुख चन्द्रमाके समान कान्तिमान् एवं देखनेमें अत्यन्त प्रिय है। उत्तर और पश्चिम दिशाके मुख भी पूर्वकी ही भाँति कमनीय कान्तिसे युक्त हैं । परंतु दक्षिण दिशावाला मुख बड़ा भयंकर है । यह अन्तर क्यों ? तथा आपके सिरपर कपिल वर्णकी जटाएँ कैसे हुईं? क्या कारण है कि आपका कण्ठ मोरकी पाँखके समान नीला हो गया ? ॥४६-४७॥

हस्ते देव पिनाकं ते सततं केन तिष्ठति ।
जटिलो ब्रह्मचारी च किमर्थमसि नित्यदा ॥ ४८ ॥

देव ! आपके हाथमें पिनाक क्यों सदा विद्यमान रहता है ? आप किसलिये नित्य जटाधारी ब्रह्मचारीके वेशमें रहते हैं ? ॥ ४८ ॥

एतन्मे संशयं सर्वं वक्तुमर्हसि वै प्रभो ।
सधर्मचारिणी चाहं भक्ता चेति वृषध्वज ॥ ४९ ॥

प्रभो ! वृषध्वज ! मेरे इस सारे संशयका समाधान कीजिये; क्योंकि मैं आपकी सहधर्मिणी और भक्त हूँ ॥ ४९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् शैलपुत्र्या पिनाकधृत् ।
तस्या धृत्या च बुद्ध्या च प्रीतिमानभवत् प्रभुः ॥ ५० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! गिरिराजकुमारी उमाके इस प्रकार पूछनेपर पिनाकधारी भगवान् शिव उनके धैर्य और बुद्धिसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

ततस्तामब्रवीद् देवः सुभगे श्रूयतामिति ।
हेतुभिर्यैर्ममैतानि रूपाणि रुचिरानने ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पार्वतीजीसे कहा—'सुभगे ! रुचिरानने ! जिन हेतुओंसे मेरे ये रूप हुए हैं, उन्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादनामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ५७½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शिव-पार्वतीका धर्मविषयक संवाद—वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी आचार एवं प्रवृत्ति-निवृत्तरूप धर्मका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

तिलोत्तमा नाम पुरा ब्रह्मणा योषिदुत्तमा ।
तिलं तिलं समुद्धृत्य रत्नानां निर्मिता शुभा ॥ १ ॥

भगवान् शिवने कहा—प्रिये ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने एक सर्वोत्तम नारीकी सृष्टि की थी । उन्होंने सम्पूर्ण रत्नोंका तिल-तिलभर सार उद्धृत करके उस शुभलक्षणा सुन्दरीके अङ्गोंका निर्माण किया था; इसलिये वह तिलोत्तमा नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ १ ॥

साभ्यगच्छत मां देवि रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
प्रदक्षिणं लोभयन्ती मां शुभे रुचिरानना ॥ २ ॥

देवि ! शुभे ! इस पृथ्वीपर तिलोत्तमाके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी । वह सुमुखी बाला मुझे लुभाती हुई मेरी परिक्रमा करनेके लिये आयी ॥ २ ॥

यतो यतः सा सुदती मामुपाधावदन्तिके ।
ततस्ततो मुखं चारु मम देवि विनिर्गतम् ॥ ३ ॥

देवि ! वह सुन्दर दाँतोंवाली सुन्दरी निकटसे मेरी परिक्रमा करती हुई जिस-जिस दिशाकी ओर गयी, उस-उस दिशाकी ओर मेरा मनोरम मुख प्रकट होता गया ॥ ३ ॥

तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः ।
चतुर्मुखश्च संवृत्तो दर्शयन् योगमुत्तमम् ॥ ४ ॥

तिलोत्तमाके रूपको देखनेकी इच्छासे मैं योगबलसे चतुर्मूर्ति एवं चतुर्मुख हो गया। इस प्रकार मैंने लोगोंको उत्तम योगशक्तिका दर्शन कराया ॥ ४ ॥

पूर्वेण वदनेनाहमिन्द्रत्वमनुशास्मि ह ।
उत्तरेण त्वया सार्धं रमाम्यहमनिन्दिते ॥ ५ ॥

मैं पूर्व दिशावाले मुखके द्वारा इन्द्रपदका अनुशासन करता हूँ । अनिन्दिते ! मैं उत्तरवर्ती मुखके द्वारा तुम्हारे साथ वार्तालापके सुखका अनुभव करता हूँ ॥ ५ ॥

पश्चिमं मे मुखं सौम्यं सर्वप्राणिसुखावहम् ।
दक्षिणं भीमसंकाशं रौद्रं संहरति प्रजाः ॥ ६ ॥

मेरा पश्चिमवाला मुख सौम्य है और सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाला है तथा दक्षिण दिशावाला भयानक मुख रौद्र है, जो समस्त प्रजाका संहार करता है ॥ ६ ॥

जटिलो ब्रह्मचारी च लोकानां हितकाम्यया ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं पिनाकं मे करे स्थितम् ॥ ७ ॥

लोगोंके हितकी कामनासे ही मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके वेषमें रहता हूँ । देवताओंका हित करनेके लिये पिनाक सदा मेरे हाथमें रहता है ॥ ७ ॥

इन्द्रेण च पुरा वज्रं क्षिप्तं श्रीकाङ्क्षिणा मम ।
दग्ध्वा कण्ठं तु तद् यातं तेन श्रीकण्ठता मम ॥ ८ ॥

पूर्वकालमें इन्द्रने मेरी श्री प्राप्त करनेकी इच्छासे मुझपर वज्रका प्रहार किया था । वह वज्र मेरा कण्ठ दग्ध करके चला गया । इससे मेरी श्रीकण्ठ नामसे ख्याति हुई ॥ ८ ॥

(पुरा युगान्तरे यत्नादमृतार्थं सुरासुरैः ।
बलवद्भिर्विमथितश्चिरकालं महोदधिः ॥

प्राचीन कालके दूसरे युगकी बात है, बलवान् देवताओं और असुरोंने मिलकर अमृतकी प्राप्तिके लिये महान् प्रयास करते हुए चिरकालतक महासागरका मन्थन किया था ॥

रज्जुना नागराजेन मथ्यमाने महोदधौ ।
विषं तत्र समुद्भूतं सर्वलोकविनाशनम् ॥

नागराज वासुकिकी रस्सीसे बँधी हुई मन्दराचलरूपी मथानीद्वारा जब महासागर मथा जाने लगा, तब उससे सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेवाला विष प्रकट हुआ ॥

तद् दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे तदा विमनसोऽभवन् ।
ग्रस्तं हि तन्मया देवि लोकानां हितकारणात् ॥

उसे देखकर सब देवताओंका मन उदास हो गया । देवि ! तब मैंने तीनों लोकोंके हितके लिये उस विषको स्वयं पी लिया ॥

तत्कृता नीलता चासीत् कण्ठे बर्हिनिभा शुभे ।
तदाप्रभृति चैवाहं नीलकण्ठ इति स्मृतः ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।

शुभे ! उस विषके ही कारण मेरे कण्ठमें मोरपङ्खके समान नीले रंगका चिह्न बन गया । तभीसे मैं नीलकण्ठ कहा जाने लगा । ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दीं । अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

नीलकण्ठ नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखावह ॥
बहूनामायुधानां त्वं पिनाकं धर्तुमिच्छसि ।
किमर्थं देवदेवेश तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले नीलकण्ठ ! आपको नमस्कार है । देवदेवेश्वर ! बहुतसे आयुधोंके होते हुए भी आप पिनाकको ही किस लिये धारण करना चाहते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शस्त्रागमं ते वक्ष्यामि शृणु धर्म्यं शुचिस्मिते।
युगान्तरे महादेवि कण्वो नाम महामुनिः ॥
स हि दिव्यां तपश्चर्यां कर्तुमेवोपचक्रमे ।

श्रीमहेश्वरने कहा—पवित्र मुसकानवाली महादेवि ! सुनो । मुझे जिस प्रकार धर्मानुकूल शस्त्रोंकी प्राप्ति हुई है, उसे बता रहा हूँ । युगान्तरमें कण्वनामसे प्रसिद्ध एक महामुनि हो गये हैं । उन्होंने दिव्य तपस्या करनी आरम्भ की ॥

तथा तस्य तपो घोरं चरतः कालपर्ययात् ॥
वल्मीकं पुनरुद्भूतं तस्यैव शिरसि प्रिये ।
धरमाणश्च तत् सर्वं तपश्चर्यां तथाकरोत् ।

प्रिये ! उसके अनुसार घोर तपस्या करते हुए मुनिके मस्तकपर कालक्रमसे बाँबी जम गयी । वह सब अपने मस्तकपर लिये-दिये वे पूर्ववत् तपश्चर्यामें लगे रहे ॥

तस्मै ब्रह्मा वरं दातुं जगाम तपसार्चितः ॥
दत्त्वा तस्मै वरं देवो वेणुं दृष्ट्वा त्वचिन्तयत् ।

मुनिकी तपस्यासे पूजित हुए ब्रह्माजी उन्हें वर देनेके लिये गये । वर देकर भगवान् ब्रह्माने वहाँ एक बाँस देखा और उसके उपयोगके लिये कुछ विचार किया ॥

लोककार्यं समुद्दिश्य वेणुनानेन भामिनि ॥
चिन्तयित्वा तमादाय कार्मुकार्थे न्ययोजयत् ।

भामिनि ! उस बाँसके द्वारा जगत्का उपकार करनेके उद्देश्यसे कुछ सोचकर ब्रह्माजीने उस वेणुको हाथमें ले लिया और उसे धनुषके उपयोगमें लगाया ॥

विष्णोर्मम च सामर्थ्यं ज्ञात्वा लोकपितामहः ॥
धनुषी द्वे तदा प्रादाद् विष्णवे मम चैव तु ।

लोकपितामह ब्रह्माने भगवान् विष्णुकी और मेरी शक्ति जानकर उनके और मेरे लिये तत्काल दो धनुष बनाकर दिये ॥

पिनाकं नाम मे चापं शार्ङ्गं नाम हरेर्धनुः ॥
तृतीयमवशेषेण गाण्डीवमभवद् धनुः ।

मेरे धनुषका नाम पिनाक हुआ और श्रीहरिके धनुषका नाम शार्ङ्ग । उस वेणुके अवशेष भागसे एक तीसरा धनुष बनाया गया, जिसका नाम गाण्डीव हुआ ॥

तच्च सोमाय निर्दिश्य ब्रह्मा लोकं गतः पुनः ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं शस्त्रागममनिन्दिते ।)

गाण्डीव धनुष सोमको देकर ब्रह्माजी फिर अपने लोकको चले गये । अनिन्दिते ! शस्त्रोंकी प्राप्तिका यह सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥

उमोवाच

वाहनेष्वत्र सर्वेषु श्रीमत्स्वन्येषु सत्तम ।
कथं च वृषभो देव वाहनत्वमुपागतः ॥ ९ ॥

उमाने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महादेव ! इस जगत्में अन्य सब सुन्दर वाहनोंके होते हुए क्यों वृषभ ही आपका वाहन बना है ? ॥ ९ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

सुरभीमसृजद् ब्रह्मा देवधेनुं पयोमुचम् ।
सा सृष्टा बहुधा जाता क्षरमाणा पयोऽमृतम्॥ १० ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! ब्रह्माजीने देवताओंके लिये दूध देनेवाली सुरभि नामक गायकी सृष्टि की, जो मेघके समान दूधरूपी जलकी वर्षा करनेवाली थी । उत्पन्न हुई सुरभि अमृतमय दूध बहाती हुई अनेक रूपोंमें प्रकट हो गयी ॥ १० ॥

तस्या वत्समुखोत्सृष्टः फेनो मद्गात्रमागतः।
ततो दग्धा मया गावो नानावर्णत्वमागताः ॥ ११ ॥

एक दिन उसके बछड़ेके मुखसे निकला हुआ फेन मेरे शरीरपर पड़ गया । इससे मैंने कुपित होकर गौओंको ताप देना आरम्भ किया । मेरे रोषसे दग्ध हुई गौओंके रंग नाना प्रकारके हो गये ॥ ११ ॥

ततोऽहं लोकगुरुणा शमं नीतोऽर्थवेदिना ।
वृषं चैनं ध्वजार्थं मे ददौ वाहनमेव च ॥ १२ ॥

तब अर्थनीतिके ज्ञाता लोकगुरु ब्रह्माने मुझे शान्त किया तथा ध्वज-चिह्न और वाहनके रूपमें यह वृषभ मुझे प्रदान किया ॥ १२ ॥

उमोवाच

निवासा बहुरूपास्ते दिवि सर्वगुणान्विताः ।
तांश्च संत्यज्य भगवञ्श्मशाने रमसे कथम् ॥ १३ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! स्वर्गलोकमें अनेक प्रकारके सर्वगुणसम्पन्न निवासस्थान हैं, उन सबको छोड़कर आप श्मशान-भूमिमें कैसे रमते हैं ? ॥ १३ ॥

केशास्थिकलिले भीमे कपालघटसंकुले ।
गृध्रगोमायुबहुले चिताग्निशतसंकुले ॥ १४ ॥
अशुचौ मांसकलिले वसाशोणितकर्दमे ।
विकीर्णान्त्रास्थिनिचये शिवानादविनादिते ॥ १५ ॥

श्मशानभूमि तो केशों और हड्डियोंसे भरी होती है । उस भयानक भूमिमें मनुष्योंकी खोपड़ियाँ और घड़े पड़े रहते हैं । गीधों और गीदड़ोंकी जमातें जुटी रहती हैं । वहाँ सब ओर चिताएँ जला करती हैं । मांस, वसा और रक्तकी कीच-सी मची रहती है । बिखरी हुई आँतोंवाली हड्डियोंके ढेर पड़े रहते हैं और सियारिनोंकी हुआँ-हुआँ-

की ध्वनि वहाँ गूँजती रहती है, ऐसे अपवित्र स्थानमें आप क्यों रहते हैं ? ॥ १४-१५ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मेध्यान्वेषी महीं कृत्स्नां विचराम्यनिशं सदा।
न च मेध्यतरं किंचिच्छ्मशानादिह लक्ष्यते॥ १६ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! मैं पवित्र स्थान ढूँढ़नेके लिये सदा सारी पृथ्वीपर दिन-रात विचरता रहता हूँ, परंतु श्मशानसे बढ़कर दूसरा कोई पवित्रतर स्थान यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रहा है ॥ १६ ॥

तेन मे सर्ववासानां श्मशाने रमते मनः।
न्यग्रोधशाखासंछन्ने निर्भुग्नस्रग्विभूषिते ॥ १७ ॥

इसलिये सम्पूर्ण निवासस्थानोंमेंसे श्मशानमें ही मेरा मन अधिक रमता है। वह श्मशान-भूमि बरगदकी डालियोंसे आच्छादित और मुर्दोंके शरीरसे टूटकर गिरी हुई पुष्प-मालाओंके द्वारा विभूषित होती है ॥ १७ ॥

तत्र चैव रमन्तीमे भूतसंघाः शुचिस्मिते।
न च भूतगणैर्देवि विनाहं वस्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥

पवित्र मुसकानवाली देवि ! ये मेरे भूतगण श्मशानमें ही रमते हैं। इन भूतगणोंके बिना मैं कहीं भी रह नहीं सकता ॥ १८ ॥

एष वासो हि मे मेध्यः स्वर्गीयश्च मतः शुभे।
पुण्यः परमकश्चैव मेध्यकामैरुपास्यते ॥ १९ ॥

शुभे ! यह श्मशानका निवास ही मैंने अपने लिये पवित्र और स्वर्गीय माना है। यही परम पुण्यस्थली है। पवित्र वस्तुकी कामना रखनेवाले उपासक इसीकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥

(अस्माच्छ्मशानमेध्यं तु नास्ति किंचिदनिन्दिते।
निस्सम्पातान्मनुष्याणां तस्माच्छुचितमं स्मृतम्॥

अनिन्दिते! इस श्मशानभूमिसे अधिक पवित्र दूसरा कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वहाँ मनुष्योंका अधिक आना-जाना नहीं होता। इसीलिये वह स्थान पवित्रतम माना गया है॥

स्थानं मे तत्र विहितं वीरस्थानमिति प्रिये।
कपालशतसम्पूर्णमभिरूपं भयानकम् ॥

प्रिये ! वह वीरोंका स्थान है, इसलिये मैंने वहाँ अपना निवास बनाया है। वह मृतकोंकी सैकड़ों खोपड़ियोंसे भरा हुआ भयानक स्थान भी मुझे सुन्दर लगता है॥

मध्याह्ने संध्ययोस्तत्र नक्षत्रे रुद्रदैवते।
आयुष्कामैरशुद्धैर्वा न गन्तव्यमिति स्थितिः ॥

दोपहरके समय, दोनों संध्याओंके समय तथा आर्द्रा नक्षत्रमें दीर्घायुकी कामना रखनेवाले अथवा अशुद्ध पुरुषोंको वहाँ नहीं जाना चाहिये, ऐसी मर्यादा है ॥

मदन्येन न शक्यं हि निहन्तुं भूतजं भयम्।
तत्रस्थोऽहं प्रजाः सर्वाः पालयामि दिने दिने॥

मेरे सिवा दूसरा कोई भूतजनित भयका नाश नहीं कर सकता। इसलिये मैं श्मशानमें रहकर समस्त प्रजाओंका प्रतिदिन पालन करता हूँ ॥

मन्नियोगाद् भूतसंघा न च घ्नन्तीह कंचन।
तांस्तु लोकहितार्थाय श्मशाने रमयाम्यहम्॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।

मेरी आज्ञा मानकर ही भूतोंके समुदाय अब इस जगत्में किसीकी हत्या नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये मैं उन भूतोंको श्मशान-भूमिमें रमाये रखता हूँ। श्मशान-भूमिमें रहनेका यह सारा रहस्य मैंने तुमको बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश त्रिनेत्र वृषभध्वज।
पिङ्गलं विकृतं भाति रूपं ते तु भयानकम् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! त्रिनेत्र ! वृषभध्वज ! आपका रूप पिङ्गल, विकृत और भयानक प्रतीत होता है ॥

भस्मदिग्धं विरूपाक्षं तीक्ष्णदंष्ट्रं जटाकुलम्।
व्याघ्रोदरत्वक्संवीतं कपिलश्मश्रुसंततम् ॥

आपके सारे शरीरमें भभूति पुती हुई है, आपकी आँख विकराल दिखायी देती है, दाढ़ें तीखी हैं और सिरपर जटाओंका भार लदा हुआ है, आप बाघम्बर लपेटे हुए हैं और आपके मुखपर कपिल रंगकी दाढ़ी-मूँछ फैली हुई है ॥

रौद्रं भयानकं घोरं शूलपट्टिशसंयुतम्।
किमर्थं त्वीदृशं रूपं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

आपका रूप ऐसा रौद्र, भयानक, घोर तथा शूल और पट्टिश आदिसे युक्त किसलिये है ! यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता।
द्विविधो लौकिको भावः शीतमुष्णमिति प्रिये॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! मैं इसका भी यथार्थ कारण बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। जगत्के सारे पदार्थ दो भागोंमें विभक्त हैं—शीत और उष्ण (अग्नि और सोम) ॥

१ यहाँ आचार्य नीलकण्ठके मतमें श्मशान शब्दसे काशीका महाश्मशान ही गृहीत होता है। इसीलिये वहाँ शवके दर्शनसे शिवके दर्शनका फल माना जाता है।

तयोर्हि ग्रथितं सर्वं सौम्याग्नेयमिदं जगत्।
सौम्यत्वं सततं विष्णौ मय्याग्नेयं प्रतिष्ठितम्॥
अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् बिभर्म्यहम्।

अग्नि-सोम-रूप यह सम्पूर्ण जगत् उन शीत और उष्ण तत्त्वोंमें गुँथा हुआ है। सौम्य गुणकी स्थिति सदा भगवान् विष्णुमें है और मुझमें आग्नेय (तैजस) गुण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इस विष्णु और शिवरूप शरीरसे मैं सदा समस्त लोकोंकी रक्षा करता हूँ॥

रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टिशसंयुतम्।
आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहिते रतम्॥

देवि! यह जो विकराल नेत्रोंसे युक्त और शूल-पट्टिशसे सुशोभित भयानक आकृतिवाला मेरा रूप है, यही आग्नेय है। यह सम्पूर्ण जगत्के हितमें तत्पर रहता है॥

यद्यहं विपरीतः स्यामेतत् त्यक्त्वा शुभानने।
तदैव सर्वलोकानां विपरीतं प्रवर्तते॥

शुभानने! यदि मैं इस रूपको त्यागकर इसके विपरीत हो जाऊँ तो उसी समय सम्पूर्ण लोकोंकी दशा विपरीत हो जायगी॥

तस्मान्मयेदं ध्रियते रूपं लोकहितैषिणा।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

देवि! इसलिये लोकहितकी इच्छासे ही मैंने यह रूप धारण किया है। अपने रूपका यह सारा रहस्य बता दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवति देवेशे विस्मिता परमर्षयः।
वाग्भिः साञ्जलिमालाभिरभितुष्टुवुरीश्वरम्॥

नारदजी कहते हैं—देवेश्वर भगवान् शङ्करके ऐसा कहनेपर सभी महर्षि बड़े विस्मित हुए और हाथ जोड़कर अपनी वाणीद्वारा उन महादेवजीकी स्तुति करने लगे॥

ऋषय ऊचुः

नमः शङ्कर सर्वेश नमः सर्वजगद्गुरो।
नमो देवादिदेवाय नमः शशिकलाधर॥

ऋषि बोले— सर्वेश्वर शङ्कर! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्के गुरुदेव! आपको नमस्कार है। देवताओंके भी आदि देवता! आपको नमस्कार है। चन्द्रकलाधारी शिव! आपको नमस्कार है॥

नमो घोरतराद् घोर नमो रुद्राय शङ्कर।
नमः शान्ततराच्छान्त नमश्चन्द्रस्य पालक॥

अत्यन्त घोरसे भी घोर रुद्रदेव! शङ्कर! आपको बारम्बार नमस्कार है। अत्यन्त शान्तसे भी शान्त शिव! आपको नमस्कार है। चन्द्रमाके पालक! आपको नमस्कार है॥

नमः सोमाय देवाय नमस्तुभ्यं चतुर्मुख।
नमो भूतपते शम्भो जह्नुकन्याम्बुशेखर॥

उमासहित महादेवजीको नमस्कार है। चतुर्मुख! आपको नमस्कार है। गङ्गाजीके जलको सिरपर धारण करनेवाले भूतनाथ शम्भो! आपको नमस्कार है॥

नमस्त्रिशूलहस्ताय पन्नगाभरणाय च।
नमोऽस्तु विषमाक्षाय दक्षयज्ञप्रदाहक॥

हाथोंमें त्रिशूल धारण करनेवाले तथा सर्पमय आभूषणोंसे विभूषित आप महादेवको नमस्कार है। दक्षयज्ञको दग्ध करनेवाले त्रिलोचन! आपको नमस्कार है॥

नमोऽस्तु बहुनेत्राय लोकरक्षणतत्पर।
अहो देवस्य माहात्म्यमहो देवस्य वै कृपा॥
एवं धर्मपरत्वं च देवदेवस्य चार्हति।

लोकरक्षामें तत्पर रहनेवाले शंकर! आपके बहुतसे नेत्र हैं, आपको नमस्कार है। अहो! महादेवजीका कैसा माहात्म्य है। अहो! रुद्रदेवकी कैसी कृपा है। ऐसी धर्मपरायणता देवदेव महादेवके ही योग्य है॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवत्सु मुनिषु वचो देव्यब्रवीद्धरम्।
सम्प्रीत्यर्थं मुनीनां सा क्षणज्ञा परमं हितम्॥)

नारदजी कहते हैं—जब मुनि इस प्रकार स्तुति कर रहे थे, उसी समय अवसरको जाननेवाली देवी पार्वती मुनियोंकी प्रसन्नताके लिये भगवान् शंकरसे परम हितकी बात बोलीं॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वधर्मविदां वर।
पिनाकपाणे वरद संशयो मे महानयम्॥ २०॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ! सर्वभूतेश्वर! भगवन्! वरदायक! पिनाकपाणे! मेरे मनमें यह एक और महान् संशय है॥ २०॥

अयं मुनिगणः सर्वस्तपस्तेप इति प्रभो।
तपोवेषकरो लोके भ्रमते विविधाकृतिः॥ २१॥
अस्य चैवर्षिसंघस्य मम च प्रियकाम्यया।
एतं ममेह संदेहं वक्तुमर्हस्यरिंदम॥ २२॥

प्रभो! यह जो मुनियोंका सारा समुदाय यहाँ उपस्थित है, सदा तपस्यामें संलग्न रहा है और तपस्वीका वेष धारण किये लोकमें भ्रमण कर रहा है; इन सबकी आकृति भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। शत्रुदमन शिव! इस ऋषिसमुदायका तथा मेरा भी प्रिय करनेकी इच्छासे आप मेरे इस संदेहका समाधान करें॥ २१-२२॥

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं वा चरितुं नरैः।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! धर्मज्ञ ! धर्मका क्या लक्षण बताया गया है ? तथा जो धर्मको नहीं जानते हैं ऐसे मनुष्य उस धर्मका आचरण कैसे कर सकते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २३ ॥

नारद उवाच

ततो मुनिगणः सर्वस्तां देवीं प्रत्यपूजयत्।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तवैश्चार्थविशारदैः॥ २४ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर समस्त मुनिसमुदायने देवी पार्वतीकी ऋग्वेदके मन्त्रार्थोंसे सुशोभित वाणी तथा उत्तम अर्थयुक्त स्तोत्रोंद्वारा स्तुति एवं प्रशंसा की ॥ २४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥ २५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! किसी भी जीवकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियोंपर दया करना, मन और इन्द्रियोंपर काबू रखना तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान देना गृहस्थ-आश्रमका उत्तम धर्म है ॥ २५ ॥

परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥ २६ ॥
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ॥ २७ ॥

(उक्त गृहस्थ धर्मका पालन करना,) परायी स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना, धरोहर और स्त्रीकी रक्षा करना, बिना दिये किसीकी वस्तु न लेना तथा मांस और मदिराको त्याग देना—ये धर्मके पाँच भेद हैं, जो सुखकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इनमेंसे एक-एक धर्मकी अनेक शाखाएँ हैं। धर्मको श्रेष्ठ माननेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे पुण्यप्रद धर्मका पालन अवश्य करें ॥ २६-२७ ॥

उमोवाच

भगवन् संशयः पृष्टस्तन्मे शंसितुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य यो धर्मः स्वे स्वे वर्णे गुणावहः॥ २८ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मैं एक और संशय उपस्थित करती हूँ; चारों वर्णोंका जो-जो धर्म अपने-अपने वर्णके लिये विशेष लाभकारी हो, वह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये॥२८॥

ब्राह्मणे कीदृशो धर्मः क्षत्रिये कीदृशोऽभवत्।
वैश्ये किंलक्षणो धर्मः शूद्रे किंलक्षणो भवेत् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणके लिये धर्मका स्वरूप कैसा है, क्षत्रियके लिये कैसा है, वैश्यके लिये उपयोगी धर्मका क्या लक्षण है तथा शूद्रके धर्मका भी क्या लक्षण है ? ॥ २९ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(एतत्ते कथयिष्यामि यत्ते देवि मनःप्रियम्।
शृणु तत् सर्वमखिलं धर्मं वर्णाश्रमाश्रितम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारे मनको प्रिय लगनेवाला जो यह धर्मका विषय है, उसे बताऊँगा। तुम वर्णों और आश्रमोंपर अवलम्बित समस्त धर्मका पूर्णरूपसे वर्णन सुनो ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधम्।
ब्रह्मणा विहिताः पूर्वं लोकतन्त्रमभीप्सता ॥
कर्माणि च तदर्हाणि शास्त्रेषु विहितानि वै।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये वर्णोंके चार भेद हैं। लोकतन्त्रकी इच्छा रखनेवाले विधाताने सबसे पहले ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है और शास्त्रोंमें उनके योग्य कर्मोंका विधान किया है ॥

यदीदमेकवर्णं स्याज्जगत् सर्वं विनश्यति ॥
सहैव देवि वर्णानि चत्वारि विहितान्यतः।

देवि ! यदि यह सारा जगत् एक ही वर्णका होता तो सब साथ ही नष्ट हो जाता। इसलिये विधाताने चार वर्ण बनाये हैं ॥

मुखतो ब्राह्मणाः सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदाः॥
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् ते बाहुगर्विताः।

ब्राह्मणोंकी सृष्टि विधाताके मुखसे हुई है, इसीलिये वे वाणीविशारद होते हैं। क्षत्रियोंकी सृष्टि दोनों भुजाओंसे हुई है, इसीलिये उन्हें अपने बाहुबलपर गर्व होता है ॥

उदरादुद्गता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः ॥
शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारकाः।
तेषां धर्मांश्च कर्माणि शृणु देवि समाहिता ॥

वैश्योंकी उत्पत्ति उदरसे हुई है, इसीलिये वे उदरपोषणके निमित्त कृषि, वाणिज्यादि वार्तावृत्तिका आश्रय ले जीवन-निर्वाह करते हैं। शूद्रोंकी सृष्टि पैरसे हुई है, इसलिये वे परिचारक होते हैं। देवि ! अब तुम एकाग्रचित्त होकर चारों वर्णोंके धर्म और कर्मोंका वर्णन सुनो ॥

विप्राः कृता भूमिदेवा लोकानां धारणे कृताः।
ते कैश्चिन्नावमन्तव्या ब्राह्मणा हितमिच्छुभिः॥

ब्राह्मणको इस भूमिका देवता बनाया गया है। वे सब लोकोंकी रक्षाके लिये उत्पन्न किये गये हैं। अतः अपने हितकी इच्छा रखनेवाले किसी भी मनुष्यको ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्दानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात् समासतः ॥

देवि ! यदि दान और योगका वहन करनेवाले वे ब्राह्मण

न हों तो लोक और परलोक दोनोंकी स्थिति कदापि नहीं रह सकती ॥

ब्राह्मणान् योऽवमन्येत निन्देच्च क्रोधयेच्च वा।
प्रहरेत हरेद् वापि धनं तेषां नराधमः ॥
कारयेद्धीनकर्माणि कामलोभविमोहनात्।
स च मामवमन्येत मां क्रोधयति निन्दति ॥
मामेव प्रहरेन्मूढो मद्धनस्यापहारकः।
मामेव प्रेषणं कृत्वा निन्दते मूढचेतनः ॥

जो ब्राह्मणोंका अपमान और निन्दा करता अथवा उन्हें क्रोध दिलाता या उनपर प्रहार करता, अथवा उनका धन हर लेता है या काम, लोभ एवं मोहके वशीभूत होकर उनसे नीच कर्म कराता है, वह नराधम मेरा ही अपमान या निन्दा करता है। मुझे ही क्रोध दिलाता है, मुझपर ही प्रहार करता है, वह मूढ़ मेरे ही धनका अपहरण करता है तथा वह मूढ़-चित्त मानव मुझे ही इधर-उधर भेजकर नीच कर्म कराता और निन्दा करता है ॥

स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः ॥
सत्यं शान्तिस्तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः।

वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मणका धर्म है, यह शास्त्रका निर्णय है। वेदोंको पढ़ाना, यजमानका यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी जीविकाके साधनभूत कर्म हैं। सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचारका पालन—यह उसका सनातन धर्म है ॥

विक्रयो रसधान्यानां ब्राह्मणस्य विगर्हितः ॥

रस और धान्य (अनाज) का विक्रय करना ब्राह्मणके लिये निन्दित है ॥

तप एव सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
स तु धर्मार्थमुत्पन्नः पूर्वं धात्रा तपोबलात् ॥

सदा तप करना ही ब्राह्मणका धर्म है, इसमें संशय नहीं है। विधाताने पूर्वकालमें धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये ही अपने तपोबलसे ब्राह्मणको उत्पन्न किया था ॥

धर्मायतस्ते महाभागे सर्वशः समुदीरितः।
भूमिदेवा महाभागाः सदा लोके द्विजातयः ॥ ३० ॥

महाभागे ! मैंने तुम्हारे निकट सब प्रकारसे धर्मका निर्णय किया है। महाभाग ब्राह्मण इस लोकमें सदा भूमिदेव माने गये हैं ॥ ३० ॥

उपवासः सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
स हि धर्मार्थसम्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥

इसमें संशय नहीं कि उपवास (इन्द्रियसंयम) व्रतका आचरण करना ब्राह्मणके लिये सदा धर्म बतलाया गया है। धर्मार्थसम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

तस्य धर्मक्रिया देवि ब्रह्मचर्या च न्यायतः।
व्रतोपनयनं चैव द्विजो येनोपपद्यते ॥ ३२ ॥

देवि ! उसे धर्मका अनुष्ठान और न्यायतः ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। व्रतके पालनपूर्वक उपनयन-संस्कारका होना उसके लिये परम आवश्यक है, क्योंकि उसीसे वह द्विज होता है ॥ ३२ ॥

गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ॥ ३३ ॥

गुरु और देवताओंकी पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यास-रूप धर्मका पालन ब्राह्मणको अवश्य करना चाहिये। धर्म-परायण देहधारियोंको उचित है कि वे पुण्यप्रद धर्मका आचरण अवश्य करें ॥ ३३ ॥

उमोवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं वै नैपुण्येन प्रकीर्तय ॥ ३४ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! मेरे मनमें अभी संशय रह गया है। अतः उसकी व्याख्या करके मुझे समझाइये। चारों वर्णोंका जो धर्म है, उसका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कीजिये ॥ ३४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम् ॥ ३५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मका रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रतका पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रमका धर्म है ॥ ३५ ॥

भैक्षचर्या परो धर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा ॥ ३६ ॥

ब्रह्मचारीके लिये भैक्षचर्या (गाँवोंमेंसे भिक्षा माँगकर लाना और गुरुको समर्पित करना) परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेदका स्वाध्याय करना और ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंके पालनमें लगे रहना, ब्रह्मचारीका प्रधान धर्म है ॥ ३६ ॥

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यकी अवधि समाप्त होनेपर द्विज अपने गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्तन करे और घर आकर अनुरूप स्त्रीसे विधिपूर्वक विवाह करे ॥ ३७ ॥

शूद्रान्नवर्जनं धर्मस्तथा सत्पथसेवनम्।
धर्मो नित्योपवासित्वं ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणको शूद्रका अन्न नहीं खाना चाहिये, यह उसका धर्म है। सन्मार्गका सेवन, नित्य उपवास-व्रत और ब्रह्मचर्यका पालन भी धर्म है ॥ ३८ ॥

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक् शुचिः॥ ३९ ॥

गृहस्थको अग्निस्थापनपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला, स्वाध्यायशील, होमपरायण, जितेन्द्रिय, विघसाशी, मिताहारी सत्यवादी और पवित्र होना चाहिये ॥ ३९ ॥

अतिथिव्रतता धर्मो धर्मस्त्रेताग्निधारणम्।
इष्टीश्च पशुबन्धांश्च विधिपूर्वं समाचरेत्॥ ४०॥

अतिथि सत्कार करना और गार्हपत्य आदि त्रिविध अग्नियोंकी रक्षा करना उसके लिये धर्म है। वह नाना प्रकारकी इष्टियों और पशुरक्षाकर्मका भी विधिपूर्वक आचरण करे ॥ ४० ॥

यज्ञश्च परमो धर्मस्तथाहिंसा च देहिषु।
अपूर्वभोजनं धर्मो विघसाशित्वमेव च ॥ ४१ ॥

यज्ञ करना तथा किसी भी जीवकी हिंसा न करना उसके लिये परम धर्म है। घरमें पहले भोजन न करना तथा विघसाशी होना—कुटुम्बके लोगोंके भोजन करानेके बाद ही अवशिष्ट अन्नका भोजन करना—यह भी उसका धर्म है ॥ ४१ ॥

भुक्ते परिजने पश्चाद् भोजनं धर्म उच्यते।
ब्राह्मणस्य गृहस्थस्य श्रोत्रियस्य विशेषतः ॥ ४२ ॥

जब कुटुम्बीजन भोजन कर लें उसके पश्चात् स्वयं भोजन करना—यह गृहस्थ ब्राह्मणका विशेषतः श्रोत्रियका मुख्य धर्म बताया गया है ॥ ४२ ॥

दम्पत्योः समशीलत्वं धर्मः स्याद् गृहमेधिनः।
गृह्याणां चैव देवानां नित्यपुष्पबलिक्रिया ॥ ४३ ॥
नित्योपलेपनं धर्मस्तथा नित्योपवासिता।

पति और पत्नीका स्वभाव एक-सा होना चाहिये। यह गृहस्थका धर्म है। घरके देवताओंकी प्रतिदिन पुष्पोंद्वारा पूजा करना, उन्हें अन्नकी बलि समर्पित करना, रोज-रोज घर लीपना और प्रतिदिन व्रत रखना भी गृहस्थका धर्म है ॥ ४३½ ॥

सुसम्मृष्टोपलिप्ते च साज्यधूमो भवेद् गृहे ॥ ४४ ॥
एष द्विजजने धर्मो गार्हस्थ्यो लोकधारणः।
द्विजानां च सतां नित्यं सदैवैष प्रवर्तते ॥ ४५ ॥

झाड़-बुहार, लीप-पोतकर स्वच्छ किये हुए घरमें घृतयुक्त आहुति करके उसका धुआँ फैलाना चाहिये। यह ब्राह्मणोंका गार्हस्थ्य धर्म बतलाया, जो संसारकी रक्षा करनेवाला है। अच्छे ब्राह्मणोंके यहाँ सदा ही इस धर्मका पालन किया जाता है ॥ ४४-४५ ॥

यस्तु क्षत्रगतो देवि मया धर्म उदीरितः।
तमहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे शृणु समाहिता ॥ ४६ ॥

देवि! मेरे द्वारा जो क्षत्रिय-धर्म बताया गया है, उसीका अब तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ, तुम मुझसे एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४६ ॥

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ ४७ ॥

क्षत्रियका सबसे पहला धर्म है प्रजाका पालन करना। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है ॥ ४७ ॥

(क्षत्रियास्तु ततो देवि द्विजानां पालने स्मृताः।
यदि न क्षत्रियो लोके जगत् स्यादधरोत्तरम् ॥
रक्षणात् क्षत्रियैरेव जगद् भवति शाश्वतम्।

देवि! क्षत्रिय ब्राह्मणोंके पालनमें तत्पर रहते हैं। यदि संसारमें क्षत्रिय न होता तो इस जगत्‌में भारी उलट-फेर या विप्लव मच जाता। क्षत्रियोंद्वारा रक्षा होनेसे ही यह जगत् सदा टिका रहता है ॥

सम्यग्गुणहितो धर्मो धर्मः पौरहितक्रिया।
व्यवहारस्थितिर्नित्यं गुणयुक्तो महीपतिः ॥)

उत्तम गुणोंका सम्पादन और पुरवासियोंका हित-साधन उसके लिये धर्म है। गुणवान् राजा सदा न्याययुक्त व्यवहारमें स्थित रहे ॥

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः।
तस्य धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः ॥ ४८ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसे उसके प्रजापालनरूपी धर्मके प्रभावसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥ ४९ ॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥ ५० ॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥ ५१ ॥

राजाका परम धर्म है—इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्यका सम्पादन, पोष्यवर्गका भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना, अपराधके अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना, व्यवहारमें न्यायकी रक्षा करना और सत्यभाषणमें अनुरक्त होना। ये सभी कर्म राजाके लिये धर्म ही हैं ॥ ४९—५१ ॥

आर्तहस्तप्रदो राजा प्रेत्य चेह महीयते।
गोब्राह्मणार्थे विक्रान्तः संग्रामे निधनं गतः ॥ ५२ ॥
अश्वमेधजितॉंल्लोकानाप्नोति त्रिदिवालये ॥ ५३ ॥

जो राजा दुखी मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, वह इस लोक और परलोकमें भी सम्मानित होता है। गौओं और ब्राह्मणोंको संकटसे बचानेके लिये जो पराक्रम दिखाकर संग्राममें मृत्युको प्राप्त होता है, वह स्वर्गमें अश्वमेध यज्ञोंद्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार जमा लेता है ॥ ५२-५३ ॥

(तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते ॥
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।)

देवि ! इसी प्रकार वैश्य भी लोगोंकी जीवन-यात्राके निर्वाहमें सहायक माने गये हैं। दूसरे वर्णोंके लोग उन्हींके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं। यदि वैश्य न हों तो दूसरे वर्णके लोग भी न रहें ॥

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥ ५४ ॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥

पशुओंका पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्गका आश्रय लेकर सदाचारका पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत और त्याग—ये सब वैश्योंके सनातन धर्म हैं ॥ ५४-५५ ॥

तिलान् गन्धान् रसांश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्यः सत्पथमाश्रितः ॥ ५६ ॥
सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।

व्यापार करनेवाले सदाचारी वैश्यको तिल, चन्दन और रसकी विक्री नहीं करनी चाहिये तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इस त्रिवर्गका सब प्रकारसे यथाशक्ति यथायोग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिये ॥ ५६½ ॥

शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु ॥ ५७ ॥
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत् ॥ ५८ ॥

शूद्रका परम धर्म है तीनों वर्णोंकी सेवा। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा करनेवाला है, वह महान् तपका संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिये कठोर तप है ॥ ५७-५८ ॥

नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान् ॥ ५९ ॥

नित्य सदाचारका पालन और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाले बुद्धिमान् शूद्रको धर्मका मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

(तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः।
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते ॥

इसी प्रकार शूद्र भी सम्पूर्ण धर्मोंके साधक बताये गये हैं। यदि शूद्र न हों तो सेवाका कार्य करनेवाला कोई नहीं है ॥

त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः ॥

पहलेके जो तीन वर्ण हैं, वे सब शूद्रमूलक ही हैं, क्योंकि शूद्र ही सेवाका कर्म करनेवाले माने गये हैं। ब्राह्मण आदिकी सेवा ही दास या शूद्रका धर्म माना गया है ॥

वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो दैवतद्विजवन्दकः ॥

वाणिज्य, कारीगरके कार्य, शिल्प तथा नाट्य भी शूद्रका धर्म है। उसे अहिंसक, सदाचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये ॥

शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपयुज्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः ॥)

ऐसा शूद्र अपने धर्मसे सम्पन्न और उसके अभीष्ट फलोंका भागी होता है। यह तथा और भी शूद्र-धर्म कहा गया है ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं चातुर्वर्ण्यस्य शोभने।
एकैकस्येह सुभगे किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ६० ॥

शोभने ! इस प्रकार मैंने तुम्हें एक-एक करके चारों वर्णोंका सारा धर्म बतलाया। सुभगे ! अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥ ६० ॥

उमोवाच

(भगवन् देवदेवेश नमस्ते वृषभध्वज।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव धर्ममाश्रमिणां विभो ॥

उमा बोलीं—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! वृषभध्वज ! देव ! आपको नमस्कार है। प्रभो ! अब मैं आश्रमियोंका धर्म सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तथाश्रमगतं धर्मं शृणु देवि समाहिता।
आश्रमाणां तु यो धर्मः क्रियते ब्रह्मवादिभिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! एकाग्रचित्त होकर आश्रम-धर्मका वर्णन सुनो। ब्रह्मवादी मुनियोंने आश्रमोंका जो धर्म निश्चित किया है, वही यहाँ बताया जा रहा है ॥

गृहस्थः प्रवरस्तेषां गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रितः ।
पञ्चयज्ञक्रिया शौचं दारतुष्टिरतन्द्रिता ॥
ऋतुकालाभिगमनं दानयज्ञतपांसि च ।
अविप्रवासस्तस्येष्टः स्वाध्यायश्चाग्निपूर्वकम् ॥

आश्रमोंमें गृहस्थ-आश्रम सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह गार्हस्थ्य धर्मपर प्रतिष्ठित है। पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान, बाहर-भीतरकी पवित्रता, अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहना, आलस्यको त्याग देना, ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करना, दान, यज्ञ और तपस्यामें लगे रहना, परदेश न जाना और अग्निहोत्रपूर्वक वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना—ये गृहस्थके अभीष्ट धर्म हैं ॥

तथैव वानप्रस्थस्य धर्माः प्रोक्ताः सनातनाः ।
गृहवासं समुत्सृज्य निश्चित्यैकमनाः शुभैः ॥
वन्यैरेव सदाहारैर्वर्तयेदिति च स्थितिः ।

इसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रमके सनातन धर्म बताये गये हैं। वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छावाला पुरुष एकचित्त होकर निश्चय करनेके पश्चात् घरका रहना छोड़कर वनमें चला जाय और वनमें प्राप्त होनेवाले उत्तम आहारोंसे ही जीवन-निर्वाह करे। यही उसके लिये शास्त्र-विहित मर्यादा है ॥

भूमिशय्या जटाश्मश्रुचर्मवल्कलधारणम् ॥
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम् ।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते ॥
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः ।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते ॥

पृथ्वीपर सोना, जटा और दाढ़ी-मूँछ रखना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करना, महान् कष्ट सहकर भी देवताओंकी पूजा आदिका निर्वाह करना—यह वानप्रस्थका नियम है। उसके लिये प्रतिदिन अग्निहोत्र और त्रिकाल-स्नानका विधान है। ब्रह्मचर्य, क्षमा और शौच आदि उसका सनातन धर्म है। ऐसा करनेवाला वानप्रस्थ प्राणत्यागके पश्चात् देवलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥

यतिधर्मास्तथा देवि गृहांस्त्यक्त्वा यतस्ततः ।
आकिञ्चन्यमनारम्भः सर्वतः शौचमार्जवम् ॥
सर्वत्र भैक्षचर्या च सर्वत्रैव विवासनम् ।
सदा ध्यानपरत्वं च दोषशुद्धिः क्षमा दया ॥
तत्त्वानुगतबुद्धित्वं तस्य धर्मविधिर्भवेत् ।

देवि ! यतिधर्म इस प्रकार है। संन्यासी घर छोड़कर इधर-उधर विचरता रहे। वह अपने पास किसी वस्तुका संग्रह न करे। कर्मोंके आरम्भ या आयोजनसे दूर रहे। सब ओरसे पवित्रता और सरलताको वह अपने भीतर स्थान दे। सर्वत्र भिक्षासे जीविका चलावे। सभी स्थानोंसे वह विलग रहे। सदा ध्यानमें तत्पर रहना, दोषोंसे शुद्ध होना, सबपर क्षमा और दयाका भाव रखना तथा बुद्धिको तत्त्वके चिन्तनमें लगाये रखना—ये सब संन्यासीके लिये धर्मकार्य हैं ॥

बुभुक्षितं पिपासार्तमतिथिं श्रान्तमागतम् ।
अर्चयन्ति वरारोहे तेषामपि फलं महत् ॥

वरारोहे ! जो भूख-प्याससे पीड़ित और थके-मादे आये हुए अतिथिकी सेवा-पूजा करते हैं, उन्हें भी महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

पात्रमित्येव दातव्यं सर्वस्मै धर्मकाङ्क्षिभिः ।
आगमिष्यति यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति ॥

धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि अपने घरपर आये हुए सभी अतिथियोंको दानका उत्तम पात्र समझकर दान दें। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि आज जो पात्र आयेगा, वह हमारा उद्धार कर देगा ॥

काले सम्प्राप्तमतिथिं भोक्तुकाममुपस्थितम् ।
यस्तं सम्भावयेत् तत्र व्यासोऽयं समुपस्थितः ॥

समयपर भोजनकी इच्छासे आये अथवा उपस्थित हुए अतिथिका जो समादर करता है, वहाँ ये साक्षात् भगवान् व्यास उपस्थित होते हैं ॥

तस्य पूजां यथाशक्त्या सौम्यचित्तः प्रयोजयेत् ।
चित्तमूलो भवेद् धर्मो धर्ममूलं भवेद् यशः ॥

अतः कोमलचित्त होकर उस अतिथिकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये; क्योंकि धर्मका मूल है चित्तका विशुद्ध भाव और यशका मूल है धर्म ॥

तस्मात् सौम्येन चित्तेन दातव्यं देवि सर्वथा ।
सौम्यचित्तस्तु यो दद्यात् तद्धि दानमनुत्तमम् ॥

अतः देवि ! सर्वथा सौम्य चित्तसे दान देना चाहिये; क्योंकि जो सौम्यचित्त होकर दान देता है, उसका वह दान सर्वोत्तम है ॥

यथाम्बुबिन्दुभिः सूक्ष्मैः पतद्भिर्मेदिनीतले ।
केदाराश्च तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ॥
तोयपूर्णानि दृश्यन्ते अप्रतर्क्याणि शोभने ।
अल्पमल्पमपि ह्येकं दीयमानं विवर्धते ॥

शोभने ! जैसे भूतलपर वर्षाके समय गिरती हुई जलकी छोटी-छोटी बूँदोंसे ही खेतोंकी क्यारियाँ, तालाब, सरोवर और सरिताएँ अतर्क्य भावसे जलपूर्ण दिखायी देती हैं, उसी प्रकार एक-एक करके थोड़ा-थोड़ा दिया हुआ दान भी बढ़ जाता है ॥

पीडयापि च भृत्यानां दानमेव विशिष्यते ।
पुत्रदारधनं धान्यं न मृताननुगच्छति ॥

भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंको थोड़ा-सा कष्ट देकर भी यदि दान किया जा सके तो दान ही श्रेष्ठ माना गया है। स्त्री-पुत्र, धन और धान्य—ये वस्तुएँ मरे हुए पुरुषोंके साथ नहीं जाती हैं ॥

श्रेयो दानं च भोगश्च धनं प्राप्य यशस्विनि ।
दानेन हि महाभागा भवन्ति मनुजाधिपाः ॥
नास्ति भूमौ दानसमं नास्ति दानसमो निधिः ।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥

यशस्विनि ! धन पाकर उसका दान और भोग करना भी श्रेष्ठ है; परंतु दान करनेसे मनुष्य महान् सौभाग्यशाली नरेश होते हैं। इस पृथ्वीपर दानके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। दानके समान कोई निधि नहीं है। सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पातक नहीं है ॥

आश्रमे यस्तु तप्येत तपो मूलफलाशनः ।
आदित्याभिमुखो भूत्वा जटावल्कलसंवृतः ॥
मण्डूकशायी हेमन्ते ग्रीष्मे पञ्चतपा भवेत् ।
सम्यक् तपश्चरन्तीह श्रद्दधाना वनाश्रमे ॥
गृहाश्रमस्य ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

जो वानप्रस्थ आश्रममें फल-मूल खाकर जटा बढ़ाये, वल्कल पहने, सूर्यकी ओर मुँह करके तपस्या करता है, हेमन्त ऋतुमें मेढककी भाँति जलमें सोता है और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्निका ताप सहन करता है। इस प्रकार जो लोग वानप्रस्थ आश्रममें रहकर श्रद्धापूर्वक उत्तम तप करते हैं, वे भी गृहस्थाश्रमके पालनसे होनेवाले धर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते ॥

उमोवाच

गृहाश्रमस्य या चर्या व्रतानि नियमाश्च ये ॥
यथा च देवताः पूज्याः सततं गृहमेधिना ।
यद् यच्च परिहर्तव्यं गृहिणा तिथिपर्वसु ॥
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि कथ्यमानं त्वया विभो ।

उमाने कहा—प्रभो ! गृहस्थाश्रमका जो आचार है, जो व्रत और नियम हैं, गृहस्थको सदा जिस प्रकारसे देवताओंकी पूजा करनी चाहिये तथा तिथि और पर्वोंके दिन उसे जिस-जिस वस्तुका त्याग करना चाहिये, वह सब मैं आपके मुखसे सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

गृहाश्रमस्य यन्मूलं फलं धर्मोऽयमुत्तमः ॥
पादैश्चतुर्भिः सततं धर्मो यत्र प्रतिष्ठितः ।
सारभूतं वरारोहे दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥
तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रूयतां धर्मचारिणि ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! गृहस्थ-आश्रमका जो मूल और फल है, यह उत्तम धर्म जहाँ अपने चारों चरणोंसे सदा विराजमान रहता है, वरारोहे ! जैसे दहीसे घी निकाला जाता है, उसी प्रकार जो सब धर्मोंका सारभूत है, उसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ। धर्मचारिणि ! सुनो ॥

शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे ॥
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः ।
तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते ।

जो लोग गृहस्थाश्रममें रहकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है तथा जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र कर्म करते हैं, उन सबपर इन्द्र आदि देवता, पितृलोकनिवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्मसे आनन्दित होता है ॥

उमोवाच

मातापितृवियुक्तानां का चर्या गृहमेधिनाम् ॥
विधवानां च नारीणां भवानेतद् ब्रवीतु मे ।

उमाने पूछा—जिन गृहस्थोंके माता-पिता न हों, उनकी अथवा विधवा स्त्रियोंकी जीवनचर्या क्या होनी चाहिये ! यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवतातिथिशुश्रूषा गुरुवृद्धाभिवादनम् ॥
अहिंसा सर्वभूतानामलोभः सत्यसंधता ।
ब्रह्मचर्यं शरण्यत्वं शौचं पूर्वाभिभाषणम् ॥
कृतज्ञत्वमपैशुन्यं सततं धर्मशीलता ।
दिने द्विरभिषेकं च पितृदैवतपूजनम् ॥
गवाह्निकप्रदानं च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
दीपं प्रतिश्रयं चैव दद्यात् पाद्यासनं तथा ॥
पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा द्वादशेऽप्यष्टमेऽपि वा ।
चतुर्दशे पञ्चदशे ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥
श्मश्रुकर्म शिरोऽभ्यङ्गमञ्जनं दन्तधावनम् ।
नैतेष्वहस्सु कुर्वीत तेषु लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवता और अतिथियोंकी सेवा, गुरुजनों तथा वृद्ध पुरुषोंका अभिवादन, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, लोभको त्याग देना, सत्यप्रतिज्ञ होना, ब्रह्मचर्य, शरणागतवत्सलता, शौचाचार, पहले बातचीत करना, उपकारीके प्रति कृतज्ञ होना, किसीकी चुगली न खाना, सदा धर्मशील रहना, दिनमें दो बार स्नान करना, देवता और पितरोंका पूजन करना, गौओंको प्रतिदिन अन्नका ग्रास और घास देना, अतिथियोंको विभागपूर्वक भोजन देना, दीप, ठहरनेके लिये स्थान तथा पाद्य और

आसन देना, पञ्चमी, षष्ठी, द्वादशी, अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमाको सदा ब्रह्मचर्यका पालन करना, इन तिथियोंपर मूँछ मुड़ाने, सिरमें तेल लगाने, आँखमें अञ्जन करने तथा दाँतुन करने एवं दाँत धोने आदिका कार्य न करे। जो इन विधि-निषेधोंका पालन करते हैं, उनके यहाँ लक्ष्मी प्रतिष्ठित होती है ॥

व्रतोपवासनियमस्तपो दानं च शक्तितः।
भरणं भृत्यवर्गस्य दीनानामनुकम्पनम् ॥
परदारनिवृत्तिश्च स्वदारेषु रतिः सदा।

व्रत और उपवासका नियम पालना, तपस्या करना, यथाशक्ति दान देना, पोष्यवर्गका पोषण करना, दीनोंपर कृपा रखना, परायी स्त्रीसे दूर रहना तथा सदा ही अपनी स्त्रीसे प्रेम रखना गृहस्थका धर्म है ॥

शरीरमेकं दम्पत्योर्विधात्रा पूर्वनिर्मितम् ॥
तस्मात् स्वदारनिरतो ब्रह्मचारी विधीयते।

विधाताने पूर्व कालमें पति-पत्नीका एक ही शरीर बनाया था; अतः अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी माना जाता है ॥

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च ॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च ॥
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।

जो शील और सदाचारसे विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें कर रक्खा है, जो सरलतापूर्ण बर्ताव करता है और समस्त प्राणियोंका हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थके लिये अन्य आश्रमोंकी क्या आवश्यकता है ? ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं ॥

राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रङ्गोपजीविनः ॥
व्यालग्राहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः ॥
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम् ॥

राजा, पाखण्डी, नट, सपेरा, दम्भ, चोर, राजपुरुष, विद्वान्, सम्पूर्ण शीलोंके जानकार, सभी संशयालु तथा दूरके रास्तेपर आये हुए पाथेयरहित राही—ये तथा और भी बहुत-से मनुष्य गृहस्थाश्रमपर ही ताक लगाये रहते हैं ॥

मार्जारा मूषिकाः श्वानः सूकराश्च शुकास्तथा।
कपोतका कर्कटकाः सरीसृपनिषेवणाः ॥
अरण्यवासिनश्चान्ये सङ्घा ये मृगपक्षिणाम्।
एवं बहुविधा देवि लोकेऽस्मिन् सचराचराः ॥
गृहे क्षेत्रे बिले चैव शतशोऽथ सहस्रशः।
गृहस्थेन कृतं कर्म सर्वैस्तैरिह भुज्यते ॥

देवि ! चूहे, बिल्ली, कुत्ते, सूअर, तोते, कबूतर, कर्कटक (काक आदि), सरीसृपसेवी—ये तथा और भी बहुत-से मृग-पक्षियोंके वनवासी समुदाय हैं तथा इसी तरह इस जगत्‌में जो नाना प्रकारके सैकड़ों और हजारों चराचर प्राणी घर, क्षेत्र और बिलमें निवास करते हैं, वे सब-के-सब यहाँ गृहस्थके किये हुए कर्मको ही भोगते हैं ॥

उपयुक्तं च यत् तेषां मतिमान् नानुशोचति।
धर्म इत्येव संकल्प्य यस्तु तस्य फलं शृणु ॥

जो वस्तु उनके उपयोगमें आ गयी, उसके लिये जो बुद्धिमान् पुरुष कभी शोक नहीं करता, इन सबका पालन करना धर्म ही है, ऐसा समझकर संतुष्ट रहता है, उसे मिलनेवाले फलका वर्णन सुनो ॥

सर्वयज्ञप्रणीतस्य हयमेधेन यत् फलम्।
वर्षे स द्वादशे देवि फलेनैतेन युज्यते ॥)

देवि ! जो सम्पूर्ण यज्ञोंका सम्पादन कर चुका है, उसे अश्वमेधयज्ञसे जो फल मिलता है, वही फल इस गृहस्थको बारह वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमोंका पालन करनेसे प्राप्त हो जाता है ॥

उमोवाच

उक्तस्त्वया पृथग्धर्मश्चातुर्वर्ण्यहितः शुभः।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ॥ ६१ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आपने चारों वर्णोंके लिये हितकारी एवं शुभ धर्मका पृथक्-पृथक् वर्णन किया। अब मुझे वह धर्म बतलाइये, जो सब वर्णोंके लिये समानरूपसे उपयोगी हो ॥ ६१ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणा लोकसारेण सृष्टा धात्रा गुणार्थिना।
लोकांस्तारयितुं कृत्स्नान् मर्त्येषु क्षितिदेवताः ॥ ६२ ॥
तेषामपि प्रवक्ष्यामि धर्मकर्मफलोदयम्।
ब्राह्मणेषु हि यो धर्मः स धर्मः परमो मतः ॥ ६३ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! गुणोंकी अभिलाषा रखनेवाले जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने समस्त लोकोंका उद्धार करनेके लिये जगत्‌की सार वस्तुद्वारा मृत्युलोकमें ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है। ब्राह्मण इस भूमण्डलके देवता हैं, अतः पहले

उनके ही धर्म-कर्म और उनके फलोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि ब्राह्मणोंमें जो धर्म होता है, उसे ही परम धर्म माना जाता है ॥ ६२-६३ ॥

इमे ते लोकधर्मार्थं त्रयः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
पृथिव्यां सर्जने नित्यं सृष्टांस्तानपि मे शृणु ॥ ६४ ॥

ब्रह्माजीने सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके लिये तीन प्रकारके धर्मका विधान किया है । पृथ्वीकी सृष्टिके साथ ही इन तीनों धर्मोंकी सृष्टि हो गयी है, इनको भी तुम मुझसे सुनो॥

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः ।
शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः ॥ ६५॥

पहला है वेदोक्त धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट धर्म है। दूसरा है वेदानुकूल स्मृति-शास्त्रमें वर्णित—स्मार्तधर्म और तीसरा है शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म (शिष्टाचार) । ये तीनों धर्म सनातन हैं ॥ ६५ ॥

त्रैविद्यो ब्राह्मणो विद्वान् न चाध्ययनजीवकः ।
त्रिकर्मा त्रिपरिक्रान्तो मैत्र एष स्मृतो द्विजः ॥ ६६ ॥

जो तीनों वेदोंका ज्ञाता और विद्वान् हो; पढ़ने-पढ़ानेका काम करके जीविका न चलाता हो; दान, धर्म और यज्ञ—इन तीन कर्मोंका सदा अनुष्ठान करता हो; काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों दोषोंका त्याग कर चुका हो और सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखता हो—ऐसा पुरुष ही वास्तवमें ब्राह्मण माना गया है॥ ६६ ॥

षडिमानि तु कर्माणि प्रोवाच भुवनेश्वरः ।
वृत्त्यर्थं ब्राह्मणानां वै शृणु धर्मान् सनातनान् ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण भुवनोंके स्वामी ब्रह्माजीने ब्राह्मणोंकी जीविकाके लिये ये छः कर्म बताये हैं; जो उनके लिये सनातन धर्म हैं । इनके नाम सुनो ॥ ६७ ॥

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ।
अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग् द्विजः ॥ ६८ ॥

यजन-याजन (यज्ञ करना-कराना) दान देना दान लेना, वेद पढ़ना और वेद पढ़ाना । इन छः कर्मोंका आश्रय लेनेवाला ब्राह्मण धर्मका भागी होता है ॥ ६८ ॥

नित्यः स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः ।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि ॥ ६९ ॥

इनमें भी सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसके लिये प्रशस्त धर्म है ॥ ६९ ॥

शमस्तुपरमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः ।
गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान् ॥ ७० ॥

सब प्रकारके विषयोंसे उपरत होना शम कहलाता है । यह सत्पुरुषोंमें सदा दृष्टिगोचर होता है । इसका पालन करनेसे शुद्धचित्तवाले गृहस्थोंको महान् धर्मराशिकी प्राप्ति होती है ॥

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः ।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंसृष्टनिवेशनः ॥ ७१ ॥
अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा ।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः ॥ ७२ ॥
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा ।
दीपं प्रतिश्रयं चैव यो ददाति स धार्मिकः ॥ ७३ ॥

गृहस्थ पुरुषको पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने मनको शुद्ध बनाना चाहिये । जो गृहस्थ सदा सत्य बोलता, किसीके दोष नहीं देखता, दान देता, ब्राह्मणोंका सत्कार करता, अपने घरको झाड़-बुहारकर साफ रखता, अभिमानको त्याग देता, सदा सरल भावसे रहता, स्नेहयुक्त वचन बोलता, अतिथि और अभ्यागतोंकी सेवामें मन लगाता, यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता और अतिथिको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक तथा ठहरनेके लिये गृह प्रदान करता है, उसे धार्मिक समझना चाहिये ॥ ७१–७३ ॥

प्रातरुत्थाय चाचम्य भोजनेनोपमन्त्र्य च ।
सत्कृत्यानुव्रजेद् यस्तु तस्य धर्मः सनातनः ॥ ७४ ॥

जो प्रातःकाल उठकर आचमन करके ब्राह्मणको भोजनके लिये निमन्त्रण देता और उसे ठीक समयपर सत्कारपूर्वक भोजन करानेके बाद कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाता है, उसके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है ॥ ७४ ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति निशानिशम् ।
शूद्रधर्मः समाख्यातस्त्रिवर्गपरिचारणम् ॥ ७५ ॥

शूद्र गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार तीनों वर्णोंका निरन्तर सब प्रकारसे आतिथ्य-सत्कार करना चाहिये । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंकी परिचर्यामें रहना उसके लिये प्रधान धर्म बतलाया गया है ॥ ७५ ॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते ।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ७६ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्मका विधान गृहस्थोंके लिये किया गया है । वह सब प्राणियोंका हितकारी और शुभ है । अब मैं उसीका वर्णन करता हूँ ॥ ७६ ॥

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत् तथा ।
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ७७ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको सदा अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये । सदा यज्ञ करना चाहिये और सदा ही पुष्टिजनक कर्म करते रहना चाहिये ॥ ७७ ॥

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम् ।

कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः ॥ ७८ ॥

मनुष्यको धर्मके द्वारा धनका उपार्जन करना चाहिये। धर्मसे उपार्जित हुए धनके तीन भाग करने चाहिये और प्रयत्नपूर्वक धर्मप्रधान कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ॥७८॥

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत् ॥ ७९ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको धनके उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भागके द्वारा धर्म और अर्थकी सिद्धि करनी चाहिये। दूसरे भागको उपभोगमें लगाना चाहिये और तीसरे अंशको बढ़ाना चाहिये (प्रवृत्तिधर्मका वर्णन किया गया है) ॥७९ ॥

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे देवि तत्त्वतः ॥ ८० ॥

इससे भिन्न निवृत्तिरूप धर्म है। वह मोक्षका साधन है। देवि ! मैं यथार्थरूपसे उसका स्वरूप बताता हूँ, उसे सुनो ॥ ८० ॥

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ ८१ ॥

मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सम्पूर्ण प्राणियों-पर दया करनी चाहिये। यही उनका धर्म है। उन्हें सदा एक ही गाँवमें नहीं रहना चाहिये और अपने आशारूपी बन्धनोंको तोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये। यही मुमुक्षुके लिये प्रशंसाकी बात है ॥ ८१ ॥

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये ॥ ८२ ॥

मोक्षाभिलाषी पुरुषको न तो कुटीमें आसक्ति रखनी चाहिये न जलमें, न वस्त्रमें, न आसनमें; न त्रिदण्डमें, न शय्यामें; न अग्निमें और न किसी निवासस्थानमें ही आसक्त होना चाहिये ॥ ८२ ॥

अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च ॥ ८३ ॥

मुमुक्षुको अध्यात्मज्ञानका ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसे उसीमें सदा स्थित रहना चाहिये। निरन्तर योगाभ्यासमें प्रवृत्त होकर तत्त्वका विचार करते रहना चाहिये ॥ ८३ ॥

वृक्षमूलपरो नित्यं शून्यागारनिवेशनः।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः ॥ ८४ ॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्जेत वै द्विजः ॥ ८५ ॥

संन्यासी द्विजको उचित है कि वह सब प्रकारकी आसक्तियों और स्नेहबन्धनोंसे मुक्त होकर सर्वदा वृक्षके नीचे, सूने घरमें अथवा नदीके किनारे रहता हुआ अपने अन्तःकरण-में ही परमात्माका ध्यान करे ॥ ८४-८५ ॥

स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा।
परिव्रजेति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः ॥ ८६ ॥

जो युक्तचित्त होकर संन्यासी होता है और मोक्षोपयोगी कर्म श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा समय व्यतीत करता हुआ निराहार (विषयसेवनसे रहित) और ठूठे काठ-की भाँति स्थिर रहता है, उसको सनातन धर्मका मोक्षरूप धर्म प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

न चैकत्र समासक्तो न चैकग्रामगोचरः।
मुक्तो ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः ॥ ८७ ॥

संन्यासी किसी एक स्थानमें आसक्ति न रखे, एक ही ग्राममें न रहे तथा किसी एक ही किनारेपर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिये ॥ ८७ ॥

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते ॥ ८८ ॥

यह मोक्षधर्मके ज्ञाता सत्पुरुषोंका वेदप्रतिपादित धर्म एवं सन्मार्ग है। जो इस मार्गपर चलता है, उसको ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ ८८ ॥

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः ॥ ८९ ॥

संन्यासी चार प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥ ८९ ॥

अतः परतरं नास्ति नावरं न तिरोऽग्रतः।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम् ॥ ९० ॥

इस परमहंस धर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानसे बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। यह परमहंस-ज्ञान किसीसे निष्कृष्ट नहीं है। परमहंस-ज्ञानके सम्मुख परमात्मा तिरोहित नहीं है। यह दुःख-सुखसे रहित सौम्य अजर-अमर और अविनाशी पद है ॥ ९० ॥

उमोवाच

गार्हस्थ्यो मोक्षधर्मश्च सज्जनाचरितस्त्वया।
भाषितो जीवलोकस्य मार्गः श्रेयस्करो महान् ॥ ९१ ॥

उमा बोलीं—भगवन् ! आपने सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए गार्हस्थ्यधर्म और मोक्षधर्मका वर्णन किया। ये दोनों ही मार्ग जीवजगत्‌का महान् कल्याण करनेवाले हैं ॥ ९१ ॥

ऋषिधर्मं तु धर्मज्ञ श्रोतुमिच्छाम्यतः परम्।
स्पृहा भवति मे नित्यं तपोवननिवासिषु ॥ ९२ ॥

धर्मज्ञ ! अब मैं ऋषिधर्म सुनना चाहती हूँ । तपोवन-निवासी मुनियोंके प्रति सदा ही मेरे मनमें स्नेह बना रहता है ॥ ९२ ॥

आज्यधूमोद्भवो गन्धो रुणद्धीव तपोवनम् ।
तं दृष्ट्वा मे मनः प्रीतं महेश्वर सदा भवेत् ॥ ९३ ॥

महेश्वर ! ये ऋषिलोग जब अग्निमें घीकी आहुति देते हैं, उस समय उसके धूमसे प्रकट हुई सुगन्ध मानो सारे तपोवनमें छा जाती है ।उसे देखकर मेरा चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥ ९३ ॥

एतन्मे संशयं देव मुनिधर्मकृतं विभो ।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञ देवदेव वदस्व मे ।
निखिलेन मया पृष्टं महादेव यथातथम् ॥ ९४ ॥

विभो ! देव ! यह मैंने मुनिधर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट की है । देवदेव ! आप सम्पूर्ण धर्मोंका तत्त्व जाननेवाले हैं, अतः महादेव ! मैंने जो कुछ पूछा है, उसका पूर्णरूपसे यथावत् वर्णन कीजिये ॥ ९४ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि मुनिधर्ममनुत्तमम् ।
यं कृत्वा मुनयो यान्ति सिद्धिं स्वतपसा शुभे॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—शुभे ! तुम्हारे इस प्रश्नसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । अब मैं मुनियोंके सर्वोत्तम धर्मका वर्णन करता हूँ, जिसका पालन करके वे अपनी तपस्याके द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ९५ ॥

फेनपानामृषीणां यो धर्मो धर्मविदां सताम् ।
तन्मे शृणु महाभागे धर्मज्ञे धर्ममादितः ॥ ९६ ॥

महाभागे ! धर्मज्ञे ! सबसे पहले धर्मवेत्ता साधुपुरुष फेनप ऋषियोंका जो धर्म है, उसीका मुझसे वर्णन सुनो ॥

उञ्छन्ति सततं ये ते ब्राह्मयं फेनोत्करं शुभम् ।
अमृतं ब्रह्मणा पीतमध्वरे प्रसृतं दिवि ॥ ९७ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने यज्ञ करते समय जिसका पान किया था तथा जो स्वर्गमें फैला हुआ है, वह अमृत (ब्रह्माजीके द्वारा पीया गया इसलिये) ब्राह्म कहलाता है । उसके फेनको जो थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सदा पान करते हैं (और उसीके आधारपर जीवन-निर्वाह करके तपस्यामें लगे रहते हैं,) वे फेनप[1] कहलाते हैं ॥ ९७ ॥

एष तेषां विशुद्धानां फेनपानां तपोधने ।
धर्मचर्याकृतो मार्गो बालखिल्यगणैः शृणु ॥ ९८ ॥

तपोधने ! यह धर्माचरणका मार्ग उन विशुद्ध फेनप महात्माओंका ही मार्ग है । अब बालखिल्य नामवाले ऋषिगणोंद्वारा जो धर्मका मार्ग बताया गया है, उसको सुनो॥

बालखिल्यास्तपःसिद्धा मुनयः सूर्यमण्डले ।
उञ्छे तिष्ठन्ति धर्मज्ञाः शाकुनीं वृत्तिमास्थिताः ॥ ९९ ॥

बालखिल्यगण तपस्यासे सिद्ध हुए मुनि हैं । वे सब धर्मोंके ज्ञाता हैं और सूर्यमण्डलमें निवास करते हैं । वहाँ वे उञ्छवृत्तिका आश्रय ले पक्षियोंकी भाँति एक-एक दाना बीनकर उसीसे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ९९ ॥

मृगनिर्मोकवसनाश्चीरवल्कलवाससः ।
निर्द्वन्द्वाः सत्पथं प्राप्ता बालखिल्यास्तपोधनाः ॥१००॥

मृगछाला, चीर और वल्कल—ये ही उनके वस्त्र हैं । वे बालखिल्य शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, सन्मार्गपर चलनेवाले और तपस्याके धनी हैं ॥ १०० ॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्रा ये भूत्वा स्वे स्वे व्यवस्थिताः ।
तपश्चरणमीहन्ते तेषां धर्मफलं महत् ॥१०१॥

उनमेंसे प्रत्येकका शरीर अङ्गूठेके सिरेके बराबर है । इतने लघुकाय होनेपर भी वे अपने-अपने कर्तव्यमें स्थित हो सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं । उनके धर्मका फल महान् है॥

ते सुरैः समतां यान्ति सुरकार्यार्थसिद्धये ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वास्तपसा दग्धकिल्बिषाः॥१०२॥

वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उनके समान रूप धारण करते हैं। वे तपस्यासे सम्पूर्ण पापोंको दग्ध करके अपने तेजसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं ॥ १०२॥

ये त्वन्ये शुद्धमनसो दयाधर्मपरायणाः ।
सन्तश्चक्रचराः पुण्याः सोमलोकचराश्च ये ॥१०३॥
पितृलोकसमीपस्थास्त उञ्छन्ति यथाविधि ।

इनके अतिरिक्त दूसरे भी बहुत-से शुद्धचित्त, दयाधर्मपरायण एवं पुण्यात्मा संत हैं, जिनमें कुछ चक्रचर (चक्रके समान विचरनेवाले), कुछ सोमलोकमें रहनेवाले तथा कुछ पितृलोकके निकट निवास करनेवाले हैं । ये सब शास्त्रीय विधिके अनुसार उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥ १०३½॥

सम्प्रक्षालाश्मकुट्टाश्च दन्तोलूखलिकाश्च ते ॥१०४॥
सोमपानां च देवानामूष्मपाणां तथैव च ।
उञ्छन्ति ये समीपस्थाः सदारा नियतेन्द्रियाः ॥१०५॥

कोई ऋषि सम्प्रक्षाल[1], कोई अश्मकुट्ट[2] और कोई दन्तो-

---

१. कुछ लोग दूध पीनेके समय बछड़ोंके मुँहमें लगे हुए फेनको ही वह अमृत मानते हैं, उसीका पान करनेवाले उनके मतमें फेनप हैं । आचार्य नीलकण्ठ अन्नके अग्रभाग (रसोईसे निकाले गये अग्राशन) को फेन और उसका उपयोग करनेवालेको फेनप कहते हैं ।

१. जो भोजनके पश्चात् पात्रको धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे दिनके लिये कुछ भी नहीं बचाते हैं, उन्हें सम्प्रक्षाल कहते हैं ।

२. पत्थरसे फोड़कर खानेवालेको अश्मकुट्ट कहते हैं ।

लूखलिक[1] हैं। ये लोग सोमप (चन्द्रमाकी किरणोंका पान करनेवाले) और उष्णप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) देवताओंके निकट रहकर अपनी स्त्रियोंसहित उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते और इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं ॥

तेषामग्निपरिस्पन्दः पितॄणां चार्चनं तथा ।
यज्ञानां चैव पञ्चानां यजनं धर्म उच्यते ॥१०६॥

अग्निहोत्र, पितरोंका पूजन (श्राद्ध) और पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान यह उनका मुख्य धर्म कहा जाता है॥१०६॥

एष चक्रचरैर्देवि देवलोकचरैर्द्विजैः ।
ऋषिधर्मः सदा चीर्णो योऽन्यस्तमपि मे शृणु ॥१०७॥

देवि ! चक्रकी तरह विचरनेवाले और देवलोकमें निवास करनेवाले पूर्वोक्त ब्राह्मणोंने इस ऋषिधर्मका सदा ही अनुष्ठान किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा भी जो ऋषियोंका धर्म है, उसे मुझसे सुनो ॥ १०७॥

सर्वेष्वेवर्षिधर्मेषु ज्ञेयोऽऽत्मा संयतेन्द्रियैः ।
कामक्रोधौ ततः पश्चाज्जेतव्याविति मे मतिः ॥१०८॥

सभी आर्षधर्मोंमें इन्द्रियसंयमपूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। फिर काम और क्रोधको भी जीतना चाहिये। ऐसा मेरा मत है ॥ १०८ ॥

अग्निहोत्रपरिस्पन्दो धर्मरात्रिसमासनम् ।
सोमयज्ञाभ्यनुज्ञानं पञ्चमी यज्ञदक्षिणा ॥१०९॥

प्रत्येक ऋषिके लिये अग्निहोत्रका सम्पादन, धर्मसत्रमें स्थिति, सोमयज्ञका अनुष्ठान, यज्ञविधिका ज्ञान और यज्ञमें दक्षिणा देना—इन पाँच कर्मोंका विधान आवश्यक है॥१०९॥

नित्यं यज्ञक्रिया धर्मः पितृदेवार्चने रतिः ।
सर्वातिथ्यं च कर्तव्यमन्नेनोञ्छार्जितेन वै ॥११०॥

नित्य यज्ञका अनुष्ठान और धर्मका पालन करना चाहिये। देवपूजा और श्राद्धमें प्रीति रखना चाहिये। उञ्छवृत्तिसे उपार्जित किये हुए अन्नके द्वारा सबका आतिथ्य-सत्कार करना ऋषियोंका परम कर्तव्य है ॥ ११० ॥

निवृत्तिरुपभोगेषु गोरसानां शमे रतिः ।
स्थण्डिले शयने योगः शाकपर्णनिषेवणम् ॥१११॥
फलमूलाशनं वायुरापः शैवलभक्षणम् ।
ऋषीणां नियमा ह्येते यैर्जयन्त्यजितां गतिम् ॥११२॥

विषयभोगोंसे निवृत्त रहना, गोरसका आहार करना, शमके साधनमें प्रेम रखना, खुले मैदान चबूतरेपर सोना, योगका अभ्यास करना, साग-पातका सेवन करना, फल-मूल खाकर रहना, वायु, जल और सेवारका आहार करना—ये ऋषियोंके नियम हैं। इनका पालन करनेसे वे अजित—सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं ॥ १११-११२ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके ॥११३॥
अतिथिं काङ्क्षमाणो वै शेषान्नकृतभोजनः ।
सत्यधर्मरतः शान्तो मुनिधर्मेण युज्यते ॥११४॥
न स्तम्भी न च मानी स्यान्नाप्रसन्नो न विस्मितः।
मित्रामित्रसमो मैत्रो यः स धर्मविदुत्तमः ॥११५॥

जब गृहस्थोंके यहाँ रसोईघरका धुआँ निकलना बंद हो जाय, मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न आये—सन्नाटा छाया रहे, चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर चुकें, बर्तनोंका इधर-उधर ले जाया जाना रुक जाय और भिक्षुक भीख माँगकर लौट गये हों, ऐसे समयतक ऋषिको अतिथियोंकी बाट जोहनी चाहिये और उसके बचे-खुचे अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेसे सत्यधर्ममें अनुराग रखनेवाला शान्त पुरुष मुनिधर्मसे युक्त होता है अर्थात् उसे मुनिधर्मके पालनका फल मिलता है। जिसे गर्व और अभिमान नहीं है, जो अप्रसन्न और विस्मित नहीं होता, शत्रु और मित्रको समान समझता तथा सबके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, वही धर्मवेत्ताओंमें उत्तम ऋषि है ११३–११५

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०६½ श्लोक मिलाकर कुल २२१½ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

उमा-महेश्वर-संवाद, वानप्रस्थ धर्म तथा उसके पालनकी विधि और महिमा

उमोवाच

देशेषु रमणीयेषु नदीनां निर्झरेषु च ।
स्रवन्तीनां निकुञ्जेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १ ॥
देशेषु च पवित्रेषु फलवत्सु समाहिताः ।
मूलवत्सु च मध्येषु वसन्ति नियतव्रताः ॥ २ ॥

पार्वतीने कहा—भगवन् ! नियमपूर्वक व्रतका पालन

[1] १. जो दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं अर्थात् अन्नको ओखलीमें न कूटकर दाँतोंसे ही चबाकर खाते हैं। वे दन्तोलूखलिक कहलाते हैं।

करनेवाले एकाग्रचित्त वानप्रस्थी महात्मा नदियोंके रमणीय तटप्रदेशोंमें, झरनोंमें, सरिताओंके तटवर्ती निकुञ्जोंमें, पर्वतोंपर, वनोंमें और फल-मूलसे सम्पन्न पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं ॥ १-२ ॥

तेषामपि विधिं पुण्यं श्रोतुमिच्छामि शङ्कर ।
वानप्रस्थेषु देवेश स्वशरीरोपजीविषु ॥ ३ ॥

कल्याणकारी देवेश्वर ! वानप्रस्थी महात्मा अपने शरीरको ही कष्ट पहुँचाकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः उनके पालन करने योग्य जो पवित्र कर्तव्य या नियम है, उसीको मैं सुनना चाहती हूँ ॥ ३ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

वानप्रस्थेषु यो धर्मस्तं मे शृणु समाहिता ।
श्रुत्वा चैकमना देवि धर्मबुद्धिपरा भव ॥ ४ ॥

भगवान् महेश्वरने कहा—देवि ! (गृहस्थ एवं) वानप्रस्थोंका जो धर्म है, उसको मुझसे एकाग्रचित होकर सुनो और सुनकर एकचित्त हो अपनी बुद्धिको धर्ममें लगाओ ॥ ४ ॥

संसिद्धैर्नियमैः सद्भिर्वनवासमुपागतैः ।
वानप्रस्थैरिदं कर्म कर्तव्यं शृणु यादृशम् ॥ ५ ॥

नियमोंका पालन करके सिद्ध हुए वनवासी साधु वानप्रस्थोंको यह कर्म करना चाहिये । कैसा कर्म ? यह बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

(भूत्वा पूर्वं गृहस्थस्तु पुत्रानृण्यमवाप्य च ।
कलत्रकार्यं संतृप्य कारणात् संत्यजेद् गृहम् ॥

मनुष्य पहले गृहस्थ होकर पुत्रोंके उत्पादनद्वारा पितरोंके ऋणसे उऋण हो पत्नीसे सम्पन्न होनेवाले कार्यकी पूर्ति करके धर्मसम्पादनके लिये गृहका परित्याग कर दे ॥

अवस्थाप्य मनो धृत्या व्यवसायपुरस्सरः ।
निर्द्वन्द्वो वा सदारो वा वनवासाय सव्रजेत् ॥

मनको धैर्यपूर्वक स्थिर करके मनुष्य दृढ़ निश्चयके साथ निर्द्वन्द्व (एकाकी) होकर अथवा स्त्रीको साथ रखकर वनवासके लिये प्रस्थान करे ॥

देशाः परमपुण्या ये नदीवनसमन्विताः ।
अबोधमुक्ताः प्रायेण तीर्थायतनसंयुताः ॥
तत्र गत्वा विधिं ज्ञात्वा दीक्षां कुर्याद् यथाक्रमम् ।
दीक्षित्वैकमना भूत्वा परिचर्यां समाचरेत् ॥

नदी और वनसे युक्त जो परम पुण्यमय प्रदेश हैं, वे प्रायः अज्ञानसे मुक्त और तीर्थों तथा देवस्थानोंसे सुशोभित हैं । उनमें जाकर विधिका ज्ञान प्राप्त करके क्रमशः ऋषिधर्मकी दीक्षा ग्रहण करे और दीक्षित होनेके पश्चात् एकचित्त हो परिचर्या आरम्भ करे ॥

कल्योत्थानं च शौचं च सर्वदेवप्रणामनम् ।
शकृदालेपनं काये त्यक्तदोषप्रमादता ॥
सायम्प्रातश्चाभिषेकं चाग्निहोत्रं यथाविधि ।
काले शौचं च कार्यं च जटावल्कलधारणम् ॥
सततं वनचर्या च समित्कुसुमकारणात् ।
नीवाराग्रयणं काले शाकमूलोपचायनम् ॥
सदायतनशौचं च तस्य धर्माय चेष्यते ।

सबेरे उठना, शौचाचारका पालन करना, सब देवताओंको मस्तक झुकाना, शरीरमें गायका गोबर लगाकर नहाना, दोष और प्रमादका त्याग करना, सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं विधिवत् अग्निहोत्र करना, ठीक समयपर शौचाचारका पालन करना, सिरपर जटा और कटिप्रदेशमें वल्कल धारण करना, समिधा और पुष्पका संग्रह करनेके लिये सदा वनमें विचरना, समयपर नीवारसे आग्रयण कर्म (नवशस्येष्टि यज्ञका सम्पादन) करना, साग और मूलका संकलन करना तथा सदा अपने घरको शुद्ध रखना–आदि कार्य वानप्रस्थ मुनिके लिये अभीष्ट है । इनसे उसके धर्मकी सिद्धि होती है ॥

अतिथीनामाभिमुख्यं तत्परत्वं च सर्वदा ॥
पाद्यासनाभ्यां सम्पूज्य तथाहारनिमन्त्रणम् ।
अग्राम्यपचनं काले पितृदेवार्चनं तथा ॥
पश्चादतिथिसत्कारस्तस्य धर्माः सनातनाः ।

पहले अतिथियोंके सम्मुख जाय, फिर सदा उनकी सेवामें तत्पर रहे । पाद्य और आसन आदिके द्वारा उनकी पूजा करके उन्हें भोजनके लिये बुलावे । समयपर ऐसी वस्तुओंसे रसोई बनावे, जो गाँवमें पैदा न हुई हों । उस रसोईके द्वारा पहले देवताओं और पितरोंका पूजन करे । तत्पश्चात् अतिथिको सत्कारपूर्वक भोजन करावे । ऐसा करनेवाले वानप्रस्थको सनातन धर्मकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥

शिष्टैर्धर्मासने चैव धर्मार्थसहिताः कथाः ॥
प्रतिश्रयविभागश्च भूमिशय्या शिलासु वा ।

धर्मासनपर बैठे हुए शिष्ट पुरुषोंद्वारा उसे धर्मार्थयुक्त कथाएँ सुननी चाहिये । उसे अपने लिये पृथक् आश्रम बना लेना चाहिये । वह पृथ्वी अथवा प्रस्तरकी शय्यापर सोये ॥

व्रतोपवासयोगश्च क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ॥
दिवारात्रं यथायोगं शौचं धर्मस्य चिन्तनम् ।)

वानप्रस्थ मुनि व्रत और उपवासमें तत्पर रहे, दूसरोंपर क्षमाका भाव रक्खे, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे । दिन-रात यथासम्भव शौचाचारका पालन करके धर्मका चिन्तन करे ॥

त्रिकालमभिषेकं च पितृदेवार्चनं तथा ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्द इष्टिहोमविधिस्तथा ॥ ६ ॥

उन्हें दिनमें तीन बार स्नान, पितरों और देवताओंका पूजन, अग्निहोत्र तथा विधिवत् यज्ञ करने चाहिये ॥ ६ ॥

नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम्।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थे च निषेवणम्॥ ७ ॥

वानप्रस्थको जीविकाके लिये नीवार (तिन्नीका चावल) और फल-मूलका सेवन करना चाहिये तथा शरीरमें स्निग्धता लाने या तेलसे होनेवाले कार्योंके निर्वाहके लिये इंगुद और रेड़ीके तेलका सेवन करना उचित है ॥ ७ ॥

योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोधविवर्जितैः।
वीरशय्यामुपासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः ॥ ८ ॥

उन्हें योगका अभ्यास करके उसमें सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। काम और क्रोधको त्याग देना चाहिये। वीरासनसे बैठकर वीरस्थान (विशाल और घने जंगल) में निवास करने चाहिये ॥ ८ ॥

युक्तैर्योगवहैः सद्भिर्ग्रीष्मे पञ्चतपैस्तथा।
मण्डूकयोगनियतैर्यथान्यायं निषेविभिः ॥ ९ ॥

मनको एकाग्र रखकर योगसाधनमें तत्पर रहना चाहिये। श्रेष्ठ वानप्रस्थको गर्मीमें पञ्चाग्नि सेवन करना चाहिये। हठ-योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अभ्यासमें नियमपूर्वक लगे रहना चाहिये । किसी भी वस्तुका न्यायानुकूल सेवन करना चाहिये ॥ ९ ॥

वीरासनरतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनं तथा।
शीततोयाग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ १० ॥

सदा वीरासनसे बैठना और वेदी या चबूतरेपर सोना चाहिये। धर्ममें बुद्धि रखनेवाले वानस्थ मुनियोंको शीत-तोयाग्नियोगका आचरण करना चाहिये अर्थात् उन्हें सर्दीकी मौसममें रातको जलके भीतर बैठना या खड़े रहना, बरसात-में खुले मैदानमें सोना और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्निका सेवन करना चाहिये ॥ १० ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शैवलोत्तरभोजनैः।
अश्मकुट्टैस्तथा दान्तैः सम्प्रक्षालैस्तथापरैः ॥ ११ ॥

वे वायु अथवा जल पीकर रहें। सेवारका भोजन करें। पत्थरसे अन्न या फलको कूँचकर खायँ अथवा दाँतोंसे चबाकर ही भक्षण करें। सम्प्रक्षालके नियमसे रहें अर्थात् दूसरे दिनके लिये आहार संग्रह करके न रक्खें ॥ ११ ॥

चीरवल्कलसंवीतैर्मृगचर्मनिवासिभिः ।
कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मं यथाविधि ॥ १२ ॥

अधोवस्त्रकी जगह चीर और वल्कल पहनें,उत्तरीयके स्थानमें मृगछालेसे ही अपने अङ्गोंको आच्छादित करें। उन्हें समयके अनुसार धर्मके उद्देश्यसे विधिपूर्वक तीर्थ आदि स्थानोंकी ही यात्रा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः ॥ १३ ॥

वानप्रस्थको सदा वनमें ही रहना, वनमें ही विचरना, वनमें ही ठहरना, वनके ही मार्गपर चलना और गुरुकी भाँति वनकी शरण लेकर वनमें ही जीवन-निर्वाह करना चाहिये ॥ १३ ॥

तेषां होमक्रिया धर्मः पञ्चयज्ञनिषेवणम्।
भागं च पञ्चयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम् ॥ १४ ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र और पञ्चमहायज्ञोंका सेवन वानप्रस्थोंका धर्म है। उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पञ्चयज्ञोंका निरन्तर पालन करना चाहिये ॥ १४ ॥

अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम्।
पौर्णमासादयो यज्ञा नित्ययज्ञस्तथैव च ॥ १५ ॥

अष्टमी तिथिको होनेवाले अष्टका श्राद्धरूप यज्ञमें तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रतका सेवन करना, पौर्णमास और दर्शादि यज्ञ तथा नित्ययज्ञका अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनिका धर्म है ॥ १५ ॥

विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरैः।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने ॥ १६ ॥

वानप्रस्थ मुनि स्त्री-समागम, सब प्रकारके संकर तथा सम्पूर्ण पापोंसे दूर रहकर वनमें विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥

स्रुग्भाण्डपरमा नित्यं त्रेताग्निशरणाः सदा।
सन्तः सत्पथनित्या ये ते यान्ति परमां गतिम्॥ १७ ॥

स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञपात्र ही उनके लिये उत्तम उपकरण हैं। वे सदा आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियोंकी शरण लेकर सदा उन्हींकी परिचर्यामें लगे रहते हैं और नित्य सन्मार्गपर चलते हैं। इस प्रकार अपने धर्ममें तत्पर रहनेवाले वे श्रेष्ठ पुरुष परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकं महापुण्यं सोमलोकं च शाश्वतम्।
गच्छन्ति मुनयः सिद्धाः सत्यधर्मव्यपाश्रयाः ॥ १८ ॥

वे मुनि सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले और सिद्ध होते हैं, अतः महान् पुण्यमय ब्रह्मलोक तथा सनातन सोमलोकमें जाते हैं ॥ १८ ॥

एष धर्मो मया देवि वानप्रस्थाश्रितः शुभः।
विस्तरेणाथ सम्पन्नो यथास्थूलमुदाहृतः ॥ १९ ॥

देवि ! यह मैंने तुम्हारे निकट विस्तारयुक्त एवं मङ्गलमय वानप्रस्थधर्मका स्थूलभावसे वर्णन किया है ॥ १९ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वभूतनमस्कृत।
यो धर्मो मुनिसंघस्य सिद्धिवादेषु तं वद ॥ २० ॥

उमादेवी बोलीं—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! समस्त प्राणियोंद्वारा वन्दित महेश्वर ! ज्ञानगोष्ठियोंमें मुनिसमुदायका जो धर्म निश्चित किया गया है, उसे बताइये ॥ २० ॥

सिद्धिवादेषु संसिद्धास्तथा वननिवासिनः ।
स्वैरिणो दारसंयुक्तास्तेषां धर्मः कथं स्मृतः ॥ २१॥

ज्ञानगोष्ठियोंमें जो सम्यक् सिद्ध बताये गये हैं, वे वनवासी मुनि कोई तो एकाकी ही स्वच्छन्द विचरते हैं, कोई पत्नीके साथ रहते हैं। उनका धर्म कैसा माना गया है ? ॥ २१ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्वैरिणस्तपसा देवि सर्वे दारविहारिणः ।
तेषां मौण्ड्यं कषायश्च वासे रात्रिश्च कारणम् ॥ २२ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! सभी वानप्रस्थ तपस्यामें संलग्न रहते हैं, उनमेंसे कुछ तो स्वच्छन्द विचरनेवाले होते हैं (स्त्रीको साथ नहीं रखते) और कुछ अपनी-अपनी स्त्रीके साथ रहते हैं। स्वच्छन्द विचरनेवाले मुनि सिर मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहनते हैं; (उनका कोई एक स्थान नहीं होता) किंतु जो स्त्रीके साथ रहते हैं, वे रात्रिको अपने आश्रममें ही ठहरते हैं ॥ २२ ॥

त्रिकालमभिषेकश्च होत्रं त्वृषिकृतं महत् ।
समाधिसत्पथस्थानं यथोद्दिष्टनिषेवणम् ॥ २३ ॥

दोनों प्रकारके ही ऋषियोंका यह महान् कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन तीनों समय जलमें स्नान करें और अग्निमें आहुति डालें। समाधि लगावें, सन्मार्गपर चलें और शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करें ॥ २३ ॥

ये च ते पूर्वकथिता धर्मास्ते वनवासिनाम् ।
यदि सेवन्ति धर्मांस्तानाप्नुवन्ति तपःफलम् ॥ २४ ॥

पहले जो तुम्हारे समक्ष वनवासियोंके धर्म बताये गये हैं, उन सबका यदि वे पालन करते हैं तो उन्हें अपनी तपस्याका पूर्ण फल मिलता है ॥ २४ ॥

ये च दम्पतिधर्माणः स्वदारनियतेन्द्रियाः ।
चरन्ति विधिवद् दृष्टं तदनुकालाभिगामिनः ॥ २५ ॥
तेषामृषिकृतो धर्मो धर्मिणामुपपद्यते ।
न कामकारात् कामोऽन्यः संसेव्यो धर्मदर्शिभिः॥२६॥

जो गृहस्थ दाम्पत्य धर्मका पालन करते हुए स्त्रीको अपने साथ रखते हैं, उसके साथ ही इन्द्रियसंयमपूर्वक वेदविहित धर्मका आचरण करते हैं और केवल ऋतुकालमें ही स्त्री-समागम करते हैं, उन धर्मात्माओंको ऋषियोंके बताये हुए धर्मोंके पालन करनेका फल मिलता है। धर्मदर्शी पुरुषोंको कामनावश किसी भोगका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

सर्वभूतेषु यः सम्यग् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
हिंसादोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते ॥ २७ ॥

जो हिंसा दोषसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसीको धर्मका फल प्राप्त होता है ॥२७॥

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः ।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते ॥ २८ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता, सबके साथ सरलताका बर्ताव करता और समस्त भूतोंको आत्मभावसे देखता है, वही धर्मके फलसे युक्त होता है ॥ २८ ॥

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे एते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २९ ॥

चारों वेदोंमें निष्णात होना और सब जीवोंके प्रति सरलताका बर्ताव करना—ये दोनों एक समान समझे जाते हैं। अथवा सरलताका ही महत्त्व अधिक माना जाता है ॥

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते ।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३० ॥

सरलताको धर्म कहते हैं और कुटिलताको अधर्म। सरलभावसे युक्त मनुष्य ही यहाँ धर्मके फलका भागी होता है॥

आर्जवे तु रतो नित्यं वसत्यमरसंनिधौ ।
तस्मादार्जवयुक्तः स्याद् य इच्छेद् धर्ममात्मनः॥ ३१ ॥

जो सदा सरल बर्तावमें तत्पर रहता है, वह देवताओंके समीप निवास करता है। इसलिये जो अपने धर्मका फल पाना चाहता हो, उसे सरलतापूर्ण बर्तावसे युक्त होना चाहिये ॥ ३१ ॥

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतो विहिंसकः ।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३२ ॥

क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, धर्मनिष्ठ, अहिंसक और सदा धर्मपरायण मनुष्य ही धर्मके फलका भागी होता है ॥

व्यपेततन्द्रिर्धर्मात्मा शक्त्या सत्पथमाश्रितः ।
चारित्रपरमो बुद्धो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३३ ॥

जो पुरुष आलस्यरहित, धर्मात्मा, शक्तिके अनुसार श्रेष्ठ मार्गपर चलनेवाला, सच्चरित्र और ज्ञानी होता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

उमोवाच

(एषां यायावराणां तु धर्ममिच्छामि मानद ।
कृपया परयाऽऽविष्टस्तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥

सबको मान देनेवाले महेश्वर ! मैं यायावरोंके धर्मको सुनना चाहती हूँ, आप महान् अनुग्रह करके मुझे यह बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मं यायावराणां त्वं शृणु भामिनि तत्परा ॥
व्रतोपवासशुद्धाङ्गास्तीर्थस्नानपरायणाः ।

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि ! तुम तत्पर होकर यायावरोंके धर्म सुनो। व्रत और उपवाससे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शुद्ध हो जाते हैं तथा वे तीर्थ-स्नानमें तत्पर रहते हैं ॥

धृतिमन्तः क्षमायुक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ॥
पक्षमासोपवासैश्च कर्शिता धर्मदर्शिनः ।

उनमें धैर्य और क्षमाका भाव होता है। वे सत्यव्रत-परायण होकर एक एक पक्ष और एक-एक मासका उपवास करके अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। उनकी दृष्टि सदा धर्मपर ही रहती है ॥

वर्षैः शीतातपैरेव कुर्वन्तः परमं तपः ॥
कालयोगेन गच्छन्ति शक्रलोकं शुचिस्मिते ।

पवित्र मुसकानवाली देवि ! वे सर्दी, गर्मी और वर्षाका कष्ट सहन करते हुए बड़ी भारी तपस्या करते हैं और काल-योगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

तत्र ते भोगसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विताः ॥
दिव्यभूषणसंयुक्ता विमानवरसंयुताः ।
विचरन्ति यथाकामं दिव्यस्त्रीगणसंयुताः ॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

वहाँ भी नाना प्रकारके भोगोंसे संयुक्त और दिव्यगन्धसे सम्पन्न हो दिव्य आभूषण धारण करके सुन्दर विमानोंपर बैठते और दिव्याङ्गनाओंके साथ इच्छानुसार विहार करते हैं। देवि ! यह सब यायावरोंका धर्म मैंने तुम्हें बताया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

तेषां चक्रचराणां च धर्ममिच्छामि वै प्रभो ॥

उमाने कहा—प्रभो ! वानप्रस्थ ऋषियोंमें जो चक्रचर (छकड़ेसे यात्रा करनेवाले) हैं, उनके धर्मको मैं जानना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

एतत् ते कथयिष्यामि शृणु शाकटिकं शुभे ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभे ! यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ। चक्रचारी या शाकटिक मुनियोंका धर्म सुनो ॥

संवहन्तो धुरं दारैः शकटानां तु सर्वदा ।
प्रार्थयन्ते यथाकालं शकटैर्भैक्षचर्यया ॥
तपोऽर्जनपरा धीरास्तपसा क्षीणकल्मषाः ।
पर्यटन्तो दिशः सर्वाः कामक्रोधविवर्जिताः ॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ सदा छकड़ोंके बोझ ढोते हुए यथासमय छकड़ोंद्वारा ही जाकर भिक्षाकी याचना करते हैं। सदा तपस्याके उपार्जनमें लगे रहते हैं। वे धीर मुनि तपस्याद्वारा अपने सारे पापोंका नाश कर डालते हैं तथा काम और क्रोधसे रहित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें पर्यटन करते हैं ॥

तेनैव कालयोगेन त्रिदिवं यान्ति शोभने ।
तत्र प्रमुदिता भोगैर्विचरन्ति यथासुखम् ॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

शोभने ! उसी जीवनचर्यासे रहते हुए वे कालयोगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गमें जाते हैं और वहाँ दिव्य भोगोंसे आनन्दित हो अपने मौजसे घूमते-फिरते हैं। देवि ! तुम्हारे इस प्रश्नका भी उत्तर दे दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो ॥

उमोवाच

वैखानसानां वै धर्मं श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥

उमाने कहा—प्रभो ! अब मैं वैखानसोंका धर्म सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ते वै वैखानसा नाम वानप्रस्थाः शुभेक्षणे ।
तीव्रेण तपसा युक्ता दीप्तिमन्तः स्वतेजसा ॥
सत्यव्रतपरा धीरास्तेषां निष्कल्मषं तपः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभेक्षणे ! वे जो वैखानस नाम-वाले वानप्रस्थ हैं, बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। अपने तेजसे देदीप्यमान होते हैं। सत्यव्रतपरायण और धीर होते हैं। उनकी तपस्यामें पापका लेश भी नहीं होता है॥

अश्मकुट्टास्तथान्ये च दन्तोलूखलिनस्तथा ।
शीर्णपर्णाशिनश्चान्ये उञ्छवृत्तास्तथा परे ॥
कपोतवृत्तयश्चान्ये कापोतीं वृत्तिमास्थिताः ।
पशुप्रचारनिरताः फेनपाश्च तथा परे ॥
मृगवन्मृगचर्यायां संचरन्ति तथा परे ।

उनमेंसे कुछ लोग अश्मकुट्ट (पत्थरसे ही अन्न या फलको कूँचकर खानेवाले) होते हैं। दूसरे दाँतोंसे ही ओखली-का काम लेते हैं, तीसरे सूखे पत्ते चबाकर रहते हैं, चौथे उञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले होते हैं। कुछ कापोती वृत्तिका आश्रय लेकर कबूतरोंके समान अन्नके एक-एक दाने बीनते हैं। कुछ लोग पशुचर्याको अपनाकर पशुओंके साथ ही चलते और उन्हींकी भाँति तृण खाकर रहते हैं। दूसरे लोग फेन चाटकर रहते हैं तथा अन्य बहुतेरे वैखानस मृगचर्याका आश्रय लेकर मृगोंके समान उन्हींके साथ विचरते हैं ॥

म्भक्षा वायुभक्षाश्च निराहारास्तथैव च ॥
केचिच्चरन्ति सद्विष्णोः पादपूजनमुत्तमम् ।

कुछ लोग जल पीकर रहते, कुछ लोग हवा खाकर निर्वाह करते और कितने ही निराहार रह जाते हैं। कुछ लोग भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंका उत्तम रीतिसे पूजन करते हैं ॥

संचरन्ति तपो घोरं व्याधिमृत्युविवर्जिताः ॥
स्ववशादेव ते मृत्युं भीषयन्ति च नित्यशः ॥
इन्द्रलोके तथा तेषां निर्मिता भोगसंचयाः ।
अमरैः समतां यान्ति देववद्भोगसंयुताः ॥

वे रोग और मृत्युसे रहित हो घोर तपस्या करते हैं और अपनी ही शक्तिसे प्रतिदिन मृत्युको डराया करते हैं। उनके लिये इन्द्रलोकमें ढेर-के-ढेर भोग संचित रहते हैं। वे देवतुल्य भोगोंसे सम्पन्न हो देवताओंकी समानता प्राप्त कर लेते हैं ॥

वराप्सरोभिः संयुक्ताश्चिरकालमनिन्दिते ।
एतत् ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

सती साध्वी देवि! वे चिरकालतक श्रेष्ठ अप्सराओंके साथ रहकर सुखका अनुभव करते हैं। यह तुमसे वैखानसोंका धर्म बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो? ॥

उमोवाच

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि वालखिल्यांस्तपोधनान् ॥

उमाने कहा—भगवन्! अब मैं तपस्याके धनी वालखिल्योंका परिचय सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मचर्या तथा देवि वालखिल्यगतां शृणु ॥
मृगनिर्मोकवसना निर्द्वन्द्वास्ते तपोधनाः ।
अङ्गुष्ठमात्राः सुश्रोणि तेष्वेवाङ्गेषु संयुताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! वालखिल्योंकी धर्मचर्याका वर्णन सुनो। वे मृगछाला पहनते हैं, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तपस्या ही उनका धन है। सुश्रोणि! उनके शरीरकी लंबाई एक अँगूठेके बराबर है, उन्हीं शरीरोंमें वे सब एक साथ रहते हैं ॥

उद्यन्तं सततं सूर्यं स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ।
भास्करस्येव किरणैः सहसा यान्ति नित्यदा ॥
द्योतयन्तो दिशः सर्वा धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥

वे प्रतिदिन नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा निरन्तर उगते हुए सूर्यकी स्तुति करते हुए सहसा आगे बढ़ते जाते हैं और अपनी सूर्यतुल्य किरणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं। वे सब-के-सब धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं ॥

तेष्वेव निर्मलं सत्यं लोकार्थं तु प्रतिष्ठितम् ।
लोकोऽयं धार्यते देवि तेषामेव तपोबलात् ॥
महात्मनां तु तपसा सत्येन च शुचिस्मिते ।
क्षमया च महाभागे भूतानां संस्थितिं विदुः ॥

उन्हींमें लोकरक्षाके लिये निर्मल सत्य प्रतिष्ठित है। देवि! उन वालखिल्योंके ही तपोबलसे यह सारा जगत् टिका हुआ है। पवित्र मुसकानवाली महाभागे! उन्हीं महात्माओंकी तपस्या, सत्य और क्षमाके प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति बनी हुई है, ऐसा मनीषी पुरुष मानते हैं ॥

प्रजार्थमपि लोकार्थं महद्भिः क्रियते तपः ।
तपसा प्राप्यते सर्वं तपसा प्राप्यते फलम् ॥
दुष्प्रापमपि यल्लोके तपसा प्राप्यते हि तत् ॥)

महान् पुरुष समस्त प्रजावर्ग तथा सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये तपस्या करते हैं। तपस्यासे सब कुछ प्राप्त होता है। तपस्यासे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। लोकमें जो दुर्लभ वस्तु है, वह भी तपस्यासे सुलभ हो जाती है ॥

उमोवाच

आश्रमाभिरता देव तापसा ये तपोधनाः ।
दीप्तिमन्तः कया चैव चर्ययाथ भवन्ति ते ॥ ३४ ॥

उमाने पूछा—देव! जो तपस्याके धनी तपस्वी अपने आश्रमधर्ममें ही रम रहे हैं, वे किस आचरणसे तपस्वी होते हैं? ॥ ३४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च निर्धना ये महाधनाः ।
कर्मणा केन भगवन् प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥ ३५ ॥

भगवन्! जो राजा या राजकुमार हैं अथवा जो निर्धन या महाधनी हैं, वे किस कर्मके प्रभावसे महान् फलके भागी होते हैं? ॥ ३५ ॥

नित्यं स्थानमुपागम्य दिव्यचन्दनभूषिताः ।
केन वा कर्मणा देव भवन्ति वनगोचराः ॥ ३६ ॥

देव! वनवासी मुनि किस कर्मसे दिव्य स्थानको पाकर दिव्य चन्दनसे विभूषित होते हैं? ॥ ३६ ॥

एतन्मे संशयं देव तपश्चर्याऽऽश्रितं शुभम् ।
शंस सर्वमशेषेण त्र्यक्ष त्रिपुरनाशन ॥ ३७ ॥

देव! त्रिपुरनाशन त्रिलोचन! तपस्याके आश्रित शुभ फलके विषयमें मेरा यही संदेह है। इस सारे संदेहका उत्तर आप पूर्णरूपसे प्रदान करें ॥ ३७ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

उपवासव्रतैर्दान्ता ह्यहिंस्राः सत्यवादिनः ।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः ॥ ३८ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो उपवास व्रतसे सम्पन्न, जितेन्द्रिय, हिंसारहित और सत्यवादी होकर सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं, वे मृत्युके पश्चात् रोग-शोकसे रहित हो गन्धर्वोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३८ ॥

मण्डूकयोगशयनो यथान्यायं यथाविधि।
दीक्षां चरति धर्मात्मा स नागैः सह मोदते ॥ ३९ ॥

जो धर्मात्मा पुरुष न्यायानुसार विधिपूर्वक हठयोग-प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अनुसार शयन करता और यज्ञकी दीक्षा लेता है, वह नागलोकमें नागोंके साथ सुख भोगता है ॥ ३९ ॥

शष्पं मृगमुखोच्छिष्टं यो मृगैः सह भक्षति।
दीक्षितो वै मुदा युक्तः स गच्छत्यमरावतीम् ॥ ४० ॥

जो मृगचर्या-व्रतकी दीक्षा ले मृगोंके मुखसे उच्छिष्ट हुई घासको प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके साथ रहकर भक्षण करता है, वह मृत्युके पश्चात् अमरावती पुरीमें जाता है ॥ ४० ॥

शैवालं शीर्णपर्णं वा तद्व्रती यो निषेवते।
शीतयोगवहो नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

जो व्रतधारी वानप्रस्थ मुनि सेवार अथवा जीर्ण-शीर्ण पत्तेका आहार करता तथा जाड़ेमें प्रतिदिन शीतका कष्ट सहन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा फलमूलाशनोऽपि वा।
यक्षेष्वैश्वर्यमाधाय मोदतेऽप्सरसां गणैः ॥ ४२ ॥

जो वायु, जल, फल अथवा मूल खाकर रहता है, वह यक्षोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अप्सराओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ४२ ॥

अग्नियोगवहो ग्रीष्मे विधिदृष्टेन कर्मणा।
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि राजा भवति पार्थिवः ॥ ४३ ॥

जो गर्मीमें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पञ्चाग्नि सेवन करता है, वह बारह वर्षोंतक उक्त व्रतका पालन करके जन्मान्तरमें भूमण्डलका राजा होता है ॥ ४३ ॥

आहारनियमं कृत्वा मुनिर्द्वादशवार्षिकम्।
मरुं संसाध्य यत्नेन राजा भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

जो मुनि बारह वर्षोंतक आहारका संयम करता हुआ यत्नपूर्वक मरु-साधना करके अर्थात् जलको भी त्यागकर तप करता है, वह भी इस पृथ्वीका राजा होता है ॥ ४४ ॥

स्थण्डिले शुद्धमाकाशं परिगृह्य समन्ततः।
प्रविश्य च मुदा युक्तो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४५ ॥
देहं चानशने त्यक्त्वा स स्वर्गे सुखमेधते।

जो वानप्रस्थ अपने चारों ओर विशुद्ध आकाशको ग्रहण करता हुआ खुले मैदानमें वेदीपर सोता और बारह वर्षोंके लिये प्रसन्नतापूर्वक व्रतकी दीक्षा ले उपवास करके अपना शरीर त्याग देता है, वह स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥ ४५½ ॥

स्थण्डिलस्य फलान्याहुर्यानानि शयनानि च ॥ ४६ ॥
गृहाणि च महार्हाणि चन्द्रशुभ्राणि भामिनि।

भामिनि! वेदीपर शयन करनेसे प्राप्त होनेवाले फल इस प्रकार बताये गये हैं—सवारी, शय्या और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल बहुमूल्य गृह ॥ ४६½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो नियतो नियताशनः ॥ ४७ ॥
देहं वानशने त्यक्त्वा स स्वर्गं समुपाश्नुते।

जो केवल अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ नियमपूर्वक रहता और नियमित भोजन करता है अथवा अनशन व्रतका आश्रय ले शरीरको त्याग देता है, वह स्वर्गका सुख भोगता है ॥ ४७½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४८ ॥
त्यक्त्वा महार्णवे देहं वारुणं लोकमश्नुते।

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ बारह वर्षोंकी दीक्षा ले महासागरमें अपने शरीरका त्याग कर देता है, वह वरुणलोकमें सुख भोगता है ॥ ४८½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४९ ॥
अश्मना चरणौ भित्त्वा गुह्यकेषु स मोदते।
साधयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ५० ॥

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ निर्द्वन्द्व और परिग्रहशून्य हो बारह वर्षोंके लिये व्रतकी दीक्षा ले अन्तमें पत्थरसे अपने पैरोंको विदीर्ण करके स्वयं ही अपने शरीरको त्याग देता है, वह गुह्यकलोकमें आनन्द भोगता है ॥ ४९-५० ॥

चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम्।
स्वर्गलोकमवाप्नोति देवैश्च सह मोदते ॥ ५१ ॥

जो बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करता है, वह स्वर्गलोकमें जाता और देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ५१ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्।
हुत्वाग्नौ देहमुत्सृज्य वह्निलोके महीयते ॥ ५२ ॥

जो बारह वर्षोंके लिये व्रत-पालनकी दीक्षा ले अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ अपने शरीरको अग्निमें होम देता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ५२ ॥

यस्तु देवि यथान्यायं दीक्षितो नियतो द्विजः।
आत्मन्यात्मानमाधाय निर्ममो धर्मलालसः ॥ ५३ ॥
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम्।
अरणीसहितं स्कन्धे बद्ध्वा गच्छत्यनावृतः ॥ ५४ ॥

वीराध्वानगतो नित्यं वीरासनरतस्तथा।
वीरस्थायी च सततं स वीरगतिमाप्नुयात्॥ ५५॥

देवि! जो ब्राह्मण नियमपूर्वक रहकर यथोचित रीतिसे वनवास-व्रतकी दीक्षा ले अपने मनको परमात्मचिन्तनमें लगाकर ममताशून्य और धर्मका अभिलाषी होकर बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करके अरणीसहित अग्निको वृक्षकी डालीमें बाँधकर अर्थात् अग्निका परित्याग करके अनावृत भावसे यात्रा करता है, सदा वीर मार्गसे चलता है, वीरासनपर बैठता है और वीरकी भाँति खड़ा होता है, वह वीरगतिको प्राप्त होता है॥ ५३—५५॥

स शक्रलोकगो नित्यं सर्वकामपुरस्कृतः।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णो दिव्यचन्दनभूषितः॥ ५६॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर सदा सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न होता है। उसके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होती है तथा वह दिव्य चन्दनसे विभूषित होता है॥ ५६॥

सुखं वसति धर्मात्मा दिवि देवगणैः सह।
वीरलोकगतो नित्यं वीरयोगसहः सदा॥ ५७॥

वह धर्मात्मा देवलोकमें देवताओंके साथ सुखपूर्वक निवास करता है और निरन्तर वीरलोकमें रहकर वीरोंके साथ संयुक्त होता है॥ ५७॥

सत्त्वस्थः सर्वमुत्सृज्य दीक्षितो नियतः शुचिः।
वीराध्वानं प्रपद्येद् यस्तस्य लोकाः सनातनाः॥ ५८॥

जो सब कुछ त्यागकर वनवासकी दीक्षा ले सत्त्वगुणमें स्थित नियमपरायण एवं पवित्र हो वीरपथका आश्रय लेता है, उसे सनातन लोक प्राप्त होते हैं॥ ५८॥

कामगेन विमानेन स वै चरति छन्दतः।
शक्रलोकगतः श्रीमान् मोदते च निरामयः॥ ५९॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर नीरोग और दिव्य शोभासे सम्पन्न हो आनन्द भोगता है और इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा स्वच्छन्द विचरता रहता है॥ ५९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३७½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणादि वर्णोंकी प्राप्तिमें मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंकी प्रधानताका प्रतिपादन

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न पूष्णो दन्तनिपातन।
दक्षक्रतुहर त्र्यक्ष संशयो मे महानयम्॥ १॥

पार्वतीजीने पूछा—भगदेवताकी आँख फोड़कर पूषाके दाँत तोड़ डालनेवाले दक्षयज्ञविध्वंसी भगवान् त्रिलोचन! मेरे मनमें यह एक महान् संशय है॥ १॥

चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा।
केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम्॥ २॥

भगवान् ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन चार वर्णोंकी सृष्टि की है, उनमेंसे वैश्य किस कर्मके परिणामसे शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है?॥ २॥

वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत्।
प्रतिलोमः कथं देव शक्यो धर्मो निवर्तितुम्॥ ३॥

अथवा क्षत्रिय किस कर्मसे वैश्य होता है और ब्राह्मण किस कर्मसे क्षत्रिय हो जाता है? देव! प्रतिलोम धर्मको कैसे निवृत्त किया जा सकता है?॥ ३॥

केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते।
क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विभो॥ ४॥

प्रभो! कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण शूद्र-योनिमें जन्म लेता है? अथवा किस कर्मसे क्षत्रिय शूद्र हो जाता है?॥ ४॥

एतन्मे संशयं देव वद भूतपतेऽनघ।
त्रयो वर्णाः प्रकृत्येह कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः॥ ५॥

देव! पापरहित भूतनाथ! मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय—इन तीन वर्णोंके लोग किस प्रकार स्वभावतः ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकते हैं?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे।
क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः॥ ६॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। शुभे! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण मेरे विचारसे नैसर्गिक (प्राकृतिक या स्वभावसिद्ध) हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ६॥

कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद् भ्रश्यति वै द्विजः।
ज्येष्ठं वर्णमनुप्राप्य तस्माद् रक्षेद् वै द्विजः॥ ७॥

इतना अवश्य है कि यहाँ पापकर्म करनेसे द्विज अपने स्थानसे—अपनी महत्तासे नीचे गिर जाता है। अतः द्विजको उत्तम वर्णमें जन्म पाकर अपनी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये॥

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति ।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ८ ॥

यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्राह्मण-धर्मका पालन करते हुए ब्राह्मणत्वका सहारा लेता है तो वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते ।
ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मण ब्राह्मणत्वका त्याग करके क्षत्रिय-धर्मका सेवन करता है, वह अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर क्षत्रिय योनिमें जन्म लेता है ॥ ९ ॥

वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ॥ १० ॥
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् ।
स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ११ ॥

जो विप्र दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर लोभ और मोहके वशीभूत हो अपनी मन्दबुद्धिताके कारण वैश्यका कर्म करता है, वह वैश्ययोनिमें जन्म लेता है । अथवा यदि वैश्य शूद्रके कर्मको अपनाता है, तो वह भी शूद्रत्वको प्राप्त होता है । शूद्रोचित कर्म करके अपने धर्मसे भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ १०-११ ॥

तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः ।
ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण-जातिका पुरुष शूद्र-कर्म करनेके कारण अपने वर्णसे भ्रष्ट होकर जातिसे बहिष्कृत हो जाता है और मृत्युके पश्चात् वह ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नरकमें पड़ता है । इसके बाद वह शूद्रकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥

क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि ।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्म निषेवते ॥ १३ ॥
स्वस्थानात् स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः ॥ १४ ॥

महाभागे ! धर्मचारिणि ! क्षत्रिय अथवा वैश्य भी अपने-अपने कर्मोंको छोड़कर यदि शूद्रका काम करने लगता है तो वह अपनी जातिसे भ्रष्ट होकर वर्णसंकर हो जाता है और दूसरे जन्ममें शूद्रकी योनिमें जन्म पाता है । ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कोई भी क्यों न हो, वह शूद्रभावको प्राप्त होता है ॥ १३-१४ ॥

यस्तु शुद्धः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवाञ्शुचिः ।
धर्मज्ञो धर्मनिरतः स धर्मफलमश्नुते ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने वर्णधर्मका पालन करते हुए बोध प्राप्त करता है और ज्ञानविज्ञानसे सम्पन्न, पवित्र तथा धर्मज्ञ होकर धर्ममें ही लगा रहता है, वही धर्मके वास्तविक फलका उपभोग करता है ॥ १५ ॥

इदं चैवापरं देवि ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
अध्यात्मं नैष्ठिकं सद्भिर्धर्मकामैर्निषेव्यते ॥ १६ ॥

देवि ! ब्रह्माजीने यह एक बात और बतायी है—धर्मकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंको आजीवन अध्यात्मतत्त्वका ही सेवन करना चाहिये ॥ १६ ॥

उग्रान्नं गर्हितं देवि गणान्नं श्राद्धसूतकम् ।
दुष्टान्नं नैव भोक्तव्यं शूद्रान्नं नैव कर्हिचित् ॥ १७ ॥

देवि ! उग्रस्वभावके मनुष्यका अन्न निन्दित माना गया है। किसी समुदायका, श्राद्धका, जननाशौचका, दुष्ट पुरुषका और शूद्रका अन्न भी निषिद्ध है—उसे कभी नहीं खाना चाहिये ॥ १७ ॥

शूद्रान्नं गर्हितं देवि सदा देवैर्महात्मभिः ।
पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः ॥ १८ ॥

देवताओं और महात्मा पुरुषोंने शूद्रके अन्नकी सदा ही निन्दा की है । इस विषयमें पितामह ब्रह्माजीके श्रीमुखका वचन प्रमाण है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १८ ॥

शूद्रान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः ।
आहिताग्निस्तथा यज्वा स शूद्रगतिभाग् भवेत् ॥ १९ ॥

जो ब्राह्मण पेटमें शूद्रका अन्न लिये मर जाता है, वह अग्निहोत्री अथवा यज्ञ करनेवाला ही क्यों न रहा हो, उसे शूद्रकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १९ ॥

तेन शूद्रान्नशेषेण ब्रह्मस्थानादपाकृतः ।
ब्राह्मणः शूद्रतामेति नास्ति तत्र विचारणा ॥ २० ॥

उदरमें शूद्रान्नका शेषभाग स्थित होनेके कारण ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे वञ्चित हो शूद्रभावको प्राप्त होता है; इसमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

यस्यान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः ।
तां तां योनिं व्रजेद् विप्रो यस्यान्नमुपजीवति ॥ २१ ॥

उदरमें जिसके अन्नका अवशेष लेकर जो ब्राह्मण मृत्युको प्राप्त होता है, वह उसीकी योनिमें जाता है । जिसके अन्नसे जीवन-निर्वाह करता है, उसीकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणत्वं शुभं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते ।
अभोज्यान्यन्नानि चाश्नाति स द्विजत्वात् पतेत वै ॥ २२ ॥

जो शुभ एवं दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर उसकी अवहेलना करता है और नहीं खानेयोग्य अन्न खाता है, वह निश्चय ही ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है ॥ २२ ॥

सुरापो ब्रह्महा क्षुद्रश्चोरो भग्नव्रतोऽशुचिः ।
स्वाध्यायवर्जितः पापो लुब्धो नैकृतिकः शठः ॥ २३ ॥
अव्रती वृषलीभर्ता कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
निहीनसेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः ॥ २४ ॥

शराबी, ब्रह्महत्यारा, नीच, चोर, व्रतभङ्ग करनेवाला, अपवित्र, स्वाध्यायहीन, पापी, लोभी, कपटी, शठ, व्रतका पालन न करनेवाला, शूद्रजातिकी स्त्रीका स्वामी, कुण्डाशी (पतिके जीते-जी उत्पन्न किये हुए जारज पुत्रके घरमें खानेवाला अथवा पाकपात्रमें ही भोजन करनेवाला), सोमरस बेचनेवाला और नीचसेवी ब्राह्मण ब्राह्मणकी योनिसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २३-२४ ॥

गुरुतल्पी गुरुद्रोही गुरुकुत्सारतिश्च यः ।
ब्रह्मविच्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः ॥ २५ ॥

जो गुरुकी शय्यापर सोनेवाला, गुरुद्रोही और गुरुनिन्दामें अनुरक्त है, वह ब्राह्मण वेदवेत्ता होनेपर भी ब्रह्मयोनिसे नीचे गिर जाता है ॥ २५ ॥

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा ।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ॥ २६ ॥

देवि ! इन्हीं शुभ कर्मों और आचरणोंसे शूद्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है और वैश्य क्षत्रियत्वको ॥ २६ ॥

शूद्रकर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि ।
शुश्रूषां परिचर्यां च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः ॥ २७ ॥
कुर्यादविमनाः शूद्रः सततं सत्पथे स्थितः ।
देवद्विजातिसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः ॥ २८ ॥
ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः ।
चोक्षश्चोक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ॥ २९ ॥
वृथामांसं न भुञ्जीत शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति ।

शूद्र अपने सभी कर्मोंको न्यायानुसार विधिपूर्वक सम्पन्न करे। अपनेसे ज्येष्ठ वर्णकी सेवा और परिचर्यामें प्रयत्नपूर्वक लगा रहे। अपने कर्तव्यपालनसे कभी ऊबे नहीं। सदा सन्मार्गपर स्थित रहे। देवताओं और द्विजोंका सत्कार करे। सबके आतिथ्यका व्रत लिये रहे। ऋतुकालमें ही स्त्रीके साथ समागम करे। नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। स्वयं शुद्ध रहकर शुद्ध पुरुषोंका ही अन्वेषण करे। अतिथि-सत्कार और कुटुम्बी जनोंके भोजनसे बचे हुए अन्नका ही आहार करे और मांस न खाय। इस नियमसे रहनेवाला शूद्र (मृत्युके पश्चात् पुण्यकर्मोंका फल भोगकर) वैश्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ २७–२९½ ॥

ऋतवागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः ॥ ३० ॥
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
दान्तो ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णबुभूषकः ॥ ३१ ॥
गृहस्थव्रतमातिष्ठन् द्विकालकृतभोजनः ।
शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः ॥ ३२ ॥
अग्निहोत्रमुपासंश्च जुह्वानश्च यथाविधि ।
सर्वातिथ्यमुपातिष्ठञ्शेषान्नकृतभोजनः ॥ ३३ ॥
त्रेताग्निमन्त्रविहितो वैश्यो भवति वै द्विजः ।
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते ॥ ३४ ॥

वैश्य सत्यवादी, अहंकारशून्य, निर्द्वन्द्व, शान्तिके साधनोंका ज्ञाता, स्वाध्यायपरायण और पवित्र होकर नित्य यज्ञोंद्वारा यजन करे। जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणोंका सत्कार करते हुए समस्त वर्णोंकी उन्नति चाहे। गृहस्थके व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन दो ही समय भोजन करे। यज्ञशेष अन्नका ही आहार करे। आहारपर काबू रक्खे। सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग दे। अहंकारशून्य होकर विधिपूर्वक आहुति देते हुए अग्निहोत्र कर्मका सम्पादन करे। सबका आतिथ्य-सत्कार करके अवशिष्ट अन्नका स्वयं भोजन करे। त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रोच्चारणपूर्वक परिचर्या करे। ऐसा करनेवाला वैश्य द्विज होता है। वह वैश्य पवित्र एवं महान् क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेता है ॥ ३०—३४ ॥

स वैश्यः क्षत्रियो जातो जन्मप्रभृति संस्कृतः ।
उपनीतो व्रतपरो द्विजो भवति सत्कृतः ॥ ३५ ॥
ददाति यजते यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
अधीत्य स्वर्गमन्विच्छंस्त्रेताग्निशरणः सदा ॥ ३६ ॥
आर्तहस्तप्रदो नित्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
सत्यः सत्यानि कुरुते नित्यं यः सुखदर्शनः ॥ ३७ ॥

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ वह वैश्य जन्मसे ही क्षत्रियोचित संस्कारसे सम्पन्न हो उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें तत्पर हो सर्वसम्मानित द्विज होता है। वह दान देता है, पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करता है, वेदोंका अध्ययन करके स्वर्गकी इच्छा रखकर सदा त्रिविध अग्नियोंकी शरण ले उनकी आराधना करता है, दुखी एवं पीड़ित मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, प्रतिदिन प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है, स्वयं सत्यपरायण होकर सत्यपूर्ण व्यवहार करता है तथा दर्शनसे ही सबके लिये सुखद होता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय अथवा राजा है ॥ ३५–३७ ॥

धर्मदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासकः ।
यन्त्रितः कार्यकरणैः षड्भागकृतलक्षणः ॥ ३८ ॥

धर्मानुसार अपराधीको दण्ड दे। दण्डका त्याग न करे। प्रजाको धर्मकार्यका उपदेश दे। राजकार्य करनेके लिये नियम और विधानसे बँधा रहे। प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

ग्राम्यधर्मं न सेवेत स्वच्छन्देनार्थकोविदः ।
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीमुपशयेत् सदा ॥ ३९ ॥

कार्यकुशल धर्मात्मा क्षत्रिय स्वच्छन्दतापूर्वक ग्राम्य धर्म (मैथुन)का सेवन न करे। केवल ऋतुकालमें ही सदा पत्नीके निकट शयन करे ॥ ३९ ॥

सदोपवासी नियतः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
बर्हिष्कान्तरिते नित्यं शयानोऽग्निगृहे सदा ॥ ४० ॥

सदा उपवास करे अर्थात् एकादशी आदिके दिन उपवास करे और दूसरे दिन भी सदा दो ही समय भोजन करे। बीचमें कुछ न खाय। नियमपूर्वक रहे, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहे, पवित्र हो प्रतिदिन अग्निशालामें कुशकी चटाईपर शयन करे ॥ ४० ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य कुर्वाणः सुमनाः सदा।
शूद्राणां चान्नकामानां नित्यं सिद्धमिति ब्रुवन् ॥ ४१ ॥

क्षत्रिय सदा प्रसन्नतापूर्वक सबका आतिथ्य-सत्कार करते हुए धर्म, अर्थ और कामका सेवन करें। शूद्र भी यदि अन्नकी इच्छा रखकर उसके लिये प्रार्थना करे तो क्षत्रिय उनके लिये सदा यही उत्तर दे कि तुम्हारे लिये भोजन तैयार है, चलो कर लो ॥ ४१ ॥

अर्थाद् वा यदि वा कामान्न किंचिदुपलक्षयेत्।
पितृदेवातिथिकृते साधनं कुरुते च यः ॥ ४२ ॥

वह स्वार्थ या कामनावश किसी वस्तुका प्रदर्शन न करे। जो पितरों, देवताओं तथा अतिथियोंकी सेवाके लिये चेष्टा करता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय है ॥ ४२ ॥

स्ववेश्मनि यथान्यायमुपास्ते भैक्ष्यमेव च।
त्रिकालमग्निहोत्रं च जुह्वानो वै यथाविधि ॥ ४३ ॥

क्षत्रिय अपने ही घरमें न्यायपूर्वक भिक्षा(भोजन) करे। तीनों समय विधिवत् अग्निहोत्र करता रहे ॥ ४३ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय रणे चाभिमुखो हतः।
त्रेताग्निमन्त्रपूतात्मा समाविश्य द्विजो भवेत् ॥ ४४ ॥

वह धर्ममें स्थित हो त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रपूर्वक परिचर्यासे पवित्रचित्त हो यदि गौओं तथा ब्राह्मणोंके हितके लिये समरमें शत्रुका सामना करते हुए मारा जाय तो दूसरे जन्ममें ब्राह्मण होता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः संस्कृतो वेदपारगः।
विप्रो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय अपने कर्मसे जन्मान्तरमें ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, संस्कारयुक्त तथा वेदोंका पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण होता है ॥ ४५ ॥

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः ॥ ४६ ॥

देवि ! इन कर्मफलोंके प्रभावसे नीच जाति एवं हीन कुलमें उत्पन्न हुआ शूद्र भी जन्मान्तरमें शास्त्रज्ञानसम्पन्न और संस्कारयुक्त ब्राह्मण होता है ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः ॥ ४७ ॥

ब्राह्मण भी यदि दुराचारी होकर सम्पूर्ण संकर जातियोंके घर भोजन करने लगे तो वह ब्राह्मणत्वका परित्याग करके वैसा ही शूद्र बन जाता है ॥ ४७ ॥

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम् ॥४८॥

देवि! शूद्र भी यदि जितेन्द्रिय होकर पवित्र कर्मोंके अनुष्ठानसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह द्विजकी ही भाँति सेव्य होता है—यह साक्षात् ब्रह्माजीका कथन है ॥४८॥

स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ॥ ४९ ॥

मेरा तो ऐसा विचार है कि यदि शूद्रके स्वभाव और कर्म दोनों ही उत्तम हों तो वह द्विजातिसे भी बढ़कर मानने योग्य है ॥ ४९ ॥

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ ५० ॥

ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिमें न तो केवल योनि, न संस्कार, न शास्त्रज्ञान और न संतति ही कारण है। ब्राह्मणत्वका प्रधान हेतु तो सदाचार ही है ॥ ५० ॥

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥ ५१ ॥

लोकमें यह सारा ब्राह्मणसमुदाय सदाचारसे ही अपने पदपर बना हुआ है। सदाचारमें स्थित रहनेवाला शूद्र भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकता है ॥ ५१ ॥

ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि समः सर्वत्र मे मतिः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः ॥ ५२ ॥

सुश्रोणि ! ब्रह्मका स्वभाव सर्वत्र समान है। जिसके भीतर उस निर्गुण और निर्मल ब्रह्मका ज्ञान है, वही वास्तवमें ब्राह्मण है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ५२ ॥

एते योनिफला देवि स्थानभागनिदर्शकाः।
स्वयं च वरदेनोक्ता ब्रह्मणा सृजता प्रजाः ॥ ५३ ॥

देवि ! ये जो चारों वर्णोंके स्थान और विभाग बतलाये गये हैं, ये उस-उस जातिमें जन्म ग्रहण करनेके फल हैं। प्रजाकी सृष्टि करते समय वरदाता ब्रह्माजीने स्वयं ही यह बात कही है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणोऽपि महत् क्षेत्रं लोके चरति पादवत्।
यत् तत्र बीजं वपति सा कृषिः प्रेत्य भाविनि ॥ ५४ ॥

भामिनि ! ब्राह्मण संसारमें एक महान् क्षेत्र है। दूसरे क्षेत्रोंकी अपेक्षा इसमें विशेषता इतनी ही है कि यह पैरोंसे युक्त चलता-फिरता खेत है। इस क्षेत्रमें जो बीज डाला जाता है, वह परलोकके लिये जीविकाकी साधनरूप खेतीके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ ५४ ॥

विघसाशिना सदा भाव्यं सत्पथालम्बिना तथा।
ब्राह्मं हि मार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता ॥ ५५ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले ब्राह्मणको उचित है कि वह सज्जनोंके मार्गका अवलम्बन करके सदा अतिथि और पोष्यवर्गको भोजन करानेके बाद अन्न ग्रहण करे, वेदोक्त पथका आश्रय लेकर उत्तम बर्ताव करे ॥ ५५ ॥

संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना।
नित्यं स्वाध्यायिना भाव्यं न चाध्ययनजीविना॥ ५६ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण घरमें रहकर प्रतिदिन संहिताका पाठ और शास्त्रोंका स्वाध्याय करे। अध्ययनको जीविकाका साधन न बनावे ॥ ५६ ॥

एवंभूतो हि यो विप्रः सत्पथं सत्पथे स्थितः।
आहिताग्निरधीयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५७ ॥

इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्मार्गपर स्थित हो सत्पथका ही अनुसरण करता है तथा अग्निहोत्र एवं स्वाध्यायपूर्वक जीवन बिताता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण्यं देवि सम्प्राप्य रक्षितव्यं यतात्मना।
योनिप्रतिग्रहादानैः कर्मभिश्च शुचिस्मिते ॥ ५८ ॥

देवि ! शुचिस्मिते ! मनुष्यको चाहिये कि वह ब्राह्मणत्वको पाकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए योनि, प्रतिग्रह और दानकी शुद्धि एवं सत्कर्मोंद्वारा उसकी रक्षा करे ॥ ५८ ॥

एतत् ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद् द्विजः।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद् यथा शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ५९ ॥

गिरिराजकुमारी ! शूद्र धर्माचरण करनेसे जिस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त करता है तथा ब्राह्मण स्वधर्मका त्याग करके जातिसे भ्रष्ट होकर जिस प्रकार शूद्र हो जाता है, यह गूढ़ रहस्यकी बात मैंने तुम्हें बतला दी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्धन-मुक्ति, स्वर्ग, नरक एवं दीर्घायु और अल्पायु प्रदान करनेवाले शरीर, वाणी और मनद्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

[भ]गवन् सर्वभूतेश देवासुरनमस्कृत।
[ध]र्माधर्मौ नृणां देव ब्रूहि मेऽसंशयं विभो ॥ १ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! देवासुरवन्दित [दे]व ! विभो ! अब मुझे धर्म और अधर्मका स्वरूप बताइये; [ज]िससे उनके विषयमें मेरा संदेह दूर हो जाय ॥ १ ॥

[क]र्मणा मनसा वाचा त्रिविधं हि नरः सदा।
[ब]ध्यते बन्धनैः पाशैर्मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ॥ २ ॥

मनुष्य मन, वाणी और क्रिया—इन तीन प्रकारके बन्धनों[से] सदा बँधता है और फिर उन बन्धनोंसे मुक्त होता है ॥

[के]न शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
[स]माचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥ ३ ॥

प्रभो ! किस शील-स्वभावसे, किस बर्तावसे, कैसे कर्मसे [तथ]ा किन सदाचारों अथवा गुणोंद्वारा मनुष्य बँधते, मुक्त होते एवं स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्धनः ॥ ४ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाली, सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली, इन्द्रियसंयमपरायणे देवि ! तुम्हारा प्रश्न समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा बुद्धिको बढ़ानेवाला है, इसका उत्तर सुनो ॥ ४ ॥

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य धर्मसे उपार्जित किये हुए धनको भोगते हैं, सम्पूर्ण आश्रमसम्बन्धी चिह्नोंसे बिलग रहकर भी सत्य, धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ५ ॥

नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ॥ ६ ॥

जिनके सब प्रकारके संदेह दूर हो गये हैं, जो प्रलय

और उत्पत्तिके तत्त्वको जाननेवाले, सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा हैं, वे महात्मा न तो धर्मसे बँधते हैं और न अधर्मसे ॥ ६ ॥

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन॥ ७ ॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसीकी हिंसा नहीं करते हैं और जिनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी है, वे पुरुष कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित् ते न बद्ध्यन्ति कर्मभिः ।
प्राणातिपाताद् विरताः शीलवन्तो दयान्विताः ॥ ८ ॥
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ।

जो कहीं आसक्त नहीं होते, किसीके प्राणोंकी हत्यासे दूर रहते हैं तथा जो सुशील और दयालु हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनोंमें नहीं पड़ते, जिनके लिये शत्रु और प्रिय मित्र दोनों समान हैं, वे जितेन्द्रिय पुरुष कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ८½ ॥

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ॥ ९ ॥
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो सब प्राणियोंपर दया करनेवाले, सब जीवोंके विश्वासपात्र तथा हिंसामय आचरणोंको त्याग देनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९½ ॥

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः ॥ १० ॥
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो दूसरोंके धनपर ममता नहीं रखते, परायी स्त्रीसे सदा दूर रहते और धर्मके द्वारा प्राप्त किये अन्नको ही भोजन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०½ ॥

मातृवत् स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये ॥ ११ ॥
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो मानव परायी स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर तदनुरूप बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ११½ ॥

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेन च॥ १२ ॥
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो सदा अपने ही धनसे संतुष्ट रहकर चोरी-चमारीसे अलग रहते हैं तथा जो अपने भाग्यपर ही भरोसा रखकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥१२½॥

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ॥ १३ ॥
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहकर ऋतुकालमें ही उसके साथ समागम करते हैं और ग्राम्य सुख-भोगोंमें आसक्त नहीं होते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १३½ ॥

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः ॥ १४ ॥
जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो अपने सदाचारके द्वारा सदा ही परायी स्त्रियोंकी ओरसे अपनी आँखें बंद किये रहते हैं, वे जितेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ १४½ ॥

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः ॥ १५ ॥
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ।

यह देवताओंका बनाया हुआ मार्ग है। राग और द्वेषको दूर करनेके लिये इस मार्गकी प्रवृत्ति हुई है। अतः साधारण मनुष्यों तथा विद्वान् पुरुषोंको भी सदा ही इसका सेवन करना चाहिये ॥ १५½ ॥

दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ॥ १६ ॥
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः ।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥ १७ ॥

यह दान, धर्म और तपस्यासे युक्त तथा शील, शौच और दयामय मार्ग है। मनुष्यको जीविका एवं धर्मके लिये सदा ही इस मार्गका सेवन करना चाहिये। जो स्वर्गलोकमें निवास करना चाहते हों, उनके लिये सेवन करने योग्य इससे बढ़कर उत्कृष्ट मार्ग नहीं है ॥ १६-१७ ॥

उमोवाच

वाचा तु बद्ध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥ १८ ॥

उमाने पूछा—निष्पाप भूतनाथ! महादेव! कैसी वाणी बोलने अथवा उस वाणीद्वारा कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता या उस बन्धनसे छुटकारा पा जाता है? उन वाचिक कर्मोंका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात् तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १९ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो हँसी और परिहासका सहारा लेकर भी अपने या दूसरेके लिये कभी झूठ नहीं बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २० ॥

जो आजीविका अथवा धर्मके लिये तथा स्वेच्छाचारसे भी कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २० ॥

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २१ ॥

जो स्निग्ध, मधुर, बाधारहित और पापशून्य तथा स्वागत-

सत्कारके भावसे युक्त वाणी बोलते हैं, वे मानव स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ २१ ॥

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २२ ॥

जो किसीकी चुगली नहीं खाते और कभी किसीसे रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात मुँहसे नहीं निकालते, वे सज्जन पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ २२ ॥

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २३ ॥

जो दो मित्रोंमें फूट डालनेवाली चुगलीकी बातें नहीं करते हैं, सत्य और मैत्रीभावसे युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २४ ॥

जो मानव दूसरोंसे तीखी बातें बोलना और द्रोह करना छोड़ देते हैं, सब प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ २४ ॥

शठप्रलापाद् विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २५ ॥

जिनके मुँहसे कभी शठतापूर्ण बात नहीं निकलती, जो विरोधयुक्त वाणीका परित्याग करते हैं और सदा सौम्य (कोमल) वाणी बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

न कोपाद् व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २६ ॥

जो क्रोधमें आकर भी हृदयको विदीर्ण करनेवाली बात मुँहसे नहीं निकालते हैं तथा कुद्ध होनेपर भी सान्त्वनापूर्ण बचन ही बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २६ ॥

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः ॥ २७ ॥

देवि ! यह वाणीजनित धर्म बताया गया है। मनुष्योंको सदा इसका सेवन करना चाहिये। विद्वानोंको उचित है कि वे सदा शुभ और सत्य वचन बोलें तथा मिथ्याका परित्याग करें * ॥ २७ ॥

उमोवाच

मनसा बद्ध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृत् ॥ २८ ॥

उमाने पूछा—महाभाग ! पिनाकधारी देवदेव ! जिस मानसिक कर्मसे मनुष्य सदा बन्धनमें पड़ता है, उसको मुझे बताइये ॥ २८ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु॥ २९ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! जो सदा मानसिक धर्मसे युक्त हैं अर्थात् मनसे धर्मका ही चिन्तन और आचरण करते हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं। मैं इस विषयमें जो बताता हूँ, उसे सुनो ॥ २९ ॥

दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततरा कृतिः।
मनो बद्ध्यति येनेह शृणु वाक्यं शुभानने ॥ ३० ॥

शुभानने ! मनमें दुर्विचार आनेसे मनुष्यके कार्य भी दुर्नीतिपूर्ण एवं दूषित होते हैं, जिससे मन बन्धनमें पड़ जाता है। इस विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ३० ॥

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३१ ॥

जब दूसरेका धन निर्जन वनमें पड़ा हुआ दिखायी दे, उस समय भी जो उसकी ओर मन ललचाकर किसीकी हिंसा नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३१ ॥

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३२ ॥

गाँव या घरके एकान्त स्थानमें पड़े हुए पराये धनका जो कभी अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३२ ॥

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार जो मनुष्य एकान्तमें प्राप्त हुई कामासक्त परायी स्त्रियोंको मनसे भी उनके साथ अन्याय करनेका विचार नहीं करते, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३३ ॥

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३४ ॥

जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखकर सबसे मिलते तथा शत्रु और मित्रको भी सदा समान हृदयसे अपनाते हैं, वे मानव स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३४ ॥

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३५ ॥

जो शास्त्रज्ञ, दयालु, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ और अपने ही धनसे संतुष्ट होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३५ ॥

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३६ ॥

---

* उपर्युक्त कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले पुरुषको परमात्मपदकी प्राप्ति हो जाती है।

जिनके मनमें किसीके प्रति वैर नहीं है, जो आयासरहित, मैत्रीभावसे पूर्ण हृदयवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियों-के प्रति सदा ही दयाभाव रखनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३६ ॥

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३७ ॥

जो श्रद्धालु, दयालु, शुद्ध, शुद्धजनोंके प्रेमी तथा धर्म और अधर्मके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३७ ॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३८ ॥

देवि ! जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फल-संचयके विषयमें परिणामके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३९ ॥

जो न्यायशील, गुणवान, देवताओं और द्विजोंके भक्त तथा उत्थानको प्राप्त हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं ॥३९॥

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः।
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि ॥ ४० ॥

देवि ! जो शुभ कर्मोंके फलोंसे स्वर्गलोकके मार्गमें स्थित हैं, उनका वर्णन मैंने यहाँ किया है। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ? ॥ ४० ॥

उमोवाच

महान् मे संशयः कश्चिन्मर्त्यान् प्रति महेश्वर।
तस्मात् त्वं नैपुणेनाद्य मम व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४१ ॥

उमाने पूछा—महेश्वर ! मुझे मनुष्योंके विषयमें एक महान् संशय है। आप अच्छी तरह उस संशयका समाधान करें ॥ ४१ ॥

केनायुर्लभते दीर्घं कर्मणा पुरुषः प्रभो।
तपसा वापि देवेश केनायुर्लभते महत् ॥ ४२ ॥

प्रभो ! मनुष्य किस कर्मसे दीर्घायु प्राप्त करता है?तथा देवेश्वर ! किस तपस्यासे मनुष्यको बड़ी आयु प्राप्त होती है ?॥

क्षीणायुः केन भवति कर्मणा भुवि मानवः।
विपाकं कर्मणां देव वक्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४३ ॥

अनिन्द्य महादेव ! इस भूतलपर कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण हो जाती है ? आप मुझसे कर्म-विपाक-का वर्णन करें ॥ ४३ ॥

अपरे च महाभाग्या मन्दभाग्यास्तथापरे।
अकुलीनास्तथा चान्ये कुलीनाश्च तथापरे ॥ ४४ ॥

इस जगत्में कुछ लोग महान् भाग्यशाली हैं तो कुछ लोग मन्दभाग्य हैं, कुछ लोग निन्दित कुलमें उत्पन्न हैं तो दूसरे लोग उच्चकुलमें ॥ ४४ ॥

दुर्दर्शाः केचिदाभान्ति नराः काष्ठमया इव।
प्रियदर्शास्तथा चान्ये दर्शनादेव मानवाः ॥ ४५ ॥

कुछ मनुष्य दुर्दशाके मारे काष्ठमय (जडवत्) प्रतीत हो रहे हैं, उनकी ओर देखना कठिन जान पड़ता है और दूसरे कितने ही मनुष्य दर्शनमात्रसे मन प्रसन्न कर देते हैं, उनकी ओर देखना प्रिय लगता है ॥ ४५ ॥

दुष्प्रज्ञाः केचिदाभान्ति केचिदाभान्ति पण्डिताः।
महाप्राज्ञास्तथैवान्ये ज्ञानविज्ञानभाविनः ॥ ४६ ॥

कुछ लोग दुर्बुद्धि जान पड़ते हैं और कुछ विद्वान् तथा कितने ही ज्ञान-विज्ञानशाली महाप्राज्ञ प्रतीत होते हैं ॥ ४६ ॥

अल्पाबाधास्तथा केचिन्महाबाधास्तथापरे।
दृश्यन्ते पुरुषा देव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४७ ॥

देव ! कुछ लोग साधारण एवं स्वल्प बाधाओंसे ग्रस्त होते हैं और कुछ लोगोंको बड़ी-बड़ी बाधाएँ घेरे रहती हैं। इस तरह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी विषम अवस्थामें पड़े हुए पुरुष दिखायी देते हैं, उनकी इस विषमताका क्या कारण है ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ४७ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि देवि कर्मफलोदयम्।
मर्त्यलोके नरः सर्वो येन स्वफलमश्नुते ॥ ४८ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्मके फलका उदय किस प्रकार होता है और मर्त्यलोकके सभी मनुष्य किस प्रकार अपनी-अपनी करनीका फल भोगते हैं ॥ ४८ ॥

प्राणातिपाते यो रौद्रो दण्डहस्तोद्यतः सदा।
नित्यमुद्यतशस्त्रश्च हन्ति भूतगणान् नरः ॥ ४९ ॥
निर्दयः सर्वभूतानां नित्यमुद्वेगकारकः।
अपि कीटपिपीलानामशरण्यः सुनिर्घृणः ॥ ५० ॥
एवंभूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते।

देवि ! जो मनुष्य दूसरोंका प्राण लेनेके लिये हाथमें डंडा लेकर सदा भयंकर रूप धारण किये रहता है, जो प्रतिदिन हथियार उठाये जगत्के प्राणियोंकी हत्या किया करता है, जिसके भीतर किसीके प्रति दया नहीं होती, जो समस्त प्राणियोंको सदा उद्वेगमें डाले रहता है और जो अत्यन्त क्रूर होनेके कारण चींटी और कीड़ोंको भी शरण नहीं देता, ऐसा मानव घोर नरकमें पड़ता है ॥ ४९-५०½ ॥

विपरीतस्तु धर्मात्मा रूपवानभिजायते ॥ ५१ ॥
पापेन कर्मणा देवि वध्यो हिंसारतिर्नरः।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥ ५२ ॥

जिसका स्वभाव इसके विपरीत है, वह धर्मात्मा और रूपवान् होता है। देवि! हिंसाप्रेमी मनुष्य अपने पापकर्मके कारण दूसरोंका वध्य, सब प्राणियोंका अप्रिय तथा अल्पायु होता है ॥ ५१-५२ ॥

निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः।
यातनां निरये रौद्रां स कृच्छ्रां लभते नरः ॥ ५३ ॥

जिसका चित्त हिंसामें लगा होता है, वह नरकमें गिरता है और जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह स्वर्गमें जाता है। नरकमें पड़े हुए जीवको बड़ी कष्टदायक और भयङ्कर यातना भोगनी पड़ती है ॥ ५३ ॥

यः कश्चिन्निरयात् तस्मात् समुत्तरति कर्हिचित्।
मानुष्यं लभते चापि हीनायुस्तत्र जायते ॥ ५४ ॥

यदि कभी कोई उस नरकसे छुटकारा पाता है तो मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है, किंतु वहाँ उसकी आयु बहुत थोड़ी होती है ॥ ५४ ॥

पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नरः।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥ ५५ ॥

देवि! पापकर्मसे बँधा हुआ हिंसापरायण मनुष्य समस्त प्राणियोंका अप्रिय होनेके कारण अल्पायु हो जाता है ॥५५॥

यस्तु शुक्लाभिजातीयः प्राणिघातविवर्जकः।
निक्षिप्तशस्त्रो निर्दण्डो न हिंसति कदाचन ॥ ५६ ॥
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथापरे ॥ ५७ ॥
ईदृशः पुरुषोत्कर्षो देवि देवत्वमश्नुते।
उपपन्नान् सुखान् भोगानुपाश्नाति मुदा युतः॥ ५८ ॥

इसके विपरीत जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न और जीवहिंसासे अलग रहनेवाला है, जिसने शस्त्र और दण्डका परित्याग कर दिया है, जिसके द्वारा कभी किसीकी हिंसा नहीं होती, जो न मारता है, न मारनेकी आज्ञा देता है और न मारनेवालेका अनुमोदन ही करता है। जिसके मनमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह बना रहता है तथा जो अपने ही समान दूसरोंपर भी दयादृष्टि रखता है। देवि! ऐसा श्रेष्ठ पुरुष देवत्वको प्राप्त होता है और देवलोकमें प्रसन्नतापूर्वक स्वतः उपलब्ध हुए सुखद भोगोंका अनुभव करता है ॥ ५६-५८॥

अथ चेन्मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते।
तत्र दीर्घायुरुत्पन्नः स नरः सुखमेधते ॥ ५९ ॥

अथवा यदि कदाचित् वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है तो वह मनुष्य दीर्घायु और सुखी होता है ॥ ५९ ॥

एष दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मिणाम्।
प्राणिहिंसाविमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः ॥ ६० ॥

यह सत्कर्मका अनुष्ठान करनेवाले सदाचारी एवं दीर्घ-जीवी मनुष्योंका लक्षण है। स्वयं ब्रह्माजीने इस मार्गका उपदेश किया है। समस्त प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग करनेसे ही इसकी उपलब्धि होती है ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वर संवादे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्ग और नरक तथा उत्तम और अधम कुलमें जन्मकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

केशीलः किंसमाचारः पुरुषः कैश्च कर्मभिः।
स्वर्गं समभिपद्येत सम्प्रदानेन केन वा ॥ १ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन्! मनुष्य किस प्रकारके शील, कैसे सदाचार और किन कर्मोंसे युक्त होकर अथवा किस दानके द्वारा स्वर्गमें जाता है? ॥ १ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता दीनार्तकृपणादिषु।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानां वाससां च प्रदायकः ॥ २ ॥
प्रतिश्रयान् सभाः कूपान् प्रपाः पुष्करिणीस्तथा।
नैत्यकानि च सर्वाणि किमिच्छकमतीव च ॥ ३ ॥
आसनं शयनं यानं गृहं रत्नं धनं तथा।
सस्यजातानि सर्वाणि गाः क्षेत्राण्यथ योषितः ॥ ४ ॥
सुप्रतीतमना नित्यं यः प्रयच्छति मानवः।
एवंभूतो नरो देवि देवलोकेऽभिजायते ॥ ५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य ब्राह्मणोंका सम्मान और दान करता है, दीन, दुखी और दरिद्र आदि मनुष्योंको भक्ष्य-भोज्य, अन्न-पान और वस्त्र प्रदान करता है, ठहरनेके स्थान, धर्मशाला, कुआँ, प्याऊ, पोखरी या बावड़ी आदि बनवाता है, लेनेवाले लोगोंकी इच्छा पूछ-पूछकर नित्य देनेयोग्य वस्तुएँ दान करता है, समस्त नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता है, आसन, शय्या, सवारी, गृह, रत्न, धन, धान्य, गौ, खेत और कन्याओंका प्रसन्नतापूर्वक

दान करता है, देवि! ऐसा मनुष्य देवलोकमें जन्म लेता है ॥ २–५ ॥

तत्रोष्य सुचिरं कालं भुक्त्वा भोगाननुत्तमान्।
सहाप्सरोभिर्मुदितो रमते नन्दनादिषु ॥ ६ ॥

वहाँ चिरकालतक निवास करके उत्तम भोगोंका भोग करते हुए नन्दन आदि वनोंमें अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रमण करता है ॥ ६ ॥

तस्मात् स्वर्गाच्च्युतो लोकान् मानुषेषु प्रजायते।
महाभोगकुले देवि धनधान्यसमन्वितः ॥ ७ ॥

देवि! फिर वह स्वर्गलोकसे नीचे आनेपर मनुष्यजातिके भीतर महान् भोगोंसे सम्पन्न कुलमें जन्म लेता है और धन-धान्यसे सम्पन्न होता है ॥ ७ ॥

तत्र कामगुणैः सर्वैः समुपेतो मुदा युतः।
महाभोगो महाकोशो धनी भवति मानवः ॥ ८ ॥

मानव-योनिमें वह समस्त कमनीय गुणोंसे सम्पन्न एवं प्रसन्न होता है। उसके पास महान् भोगसामग्री संचित रहती है। उसका खजाना भी विशाल होता है। वह मनुष्य सभी दृष्टियोंसे धनवान् होता है ॥ ८ ॥

एते देवि महाभागाः प्राणिनो दानशीलिनः।
ब्रह्मणा वै पुरा प्रोक्ताः सर्वस्य प्रियदर्शनाः ॥ ९ ॥

देवि! ये दानशील प्राणी ही ऐसे महान् सौभाग्यसे सम्पन्न होते हैं। पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनका ऐसा ही परिचय दिया है। दाता मनुष्य सभीकी दृष्टिमें प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

अपरे मानवा देवि प्रदानकृपणा द्विजैः।
याचिता न प्रयच्छन्ति विद्यमानेऽप्यबुद्धयः ॥ १० ॥

देवि! दूसरे बहुत-से मनुष्य दान देनेमें कृपण होते हैं। वे मन्दबुद्धि मानव ब्राह्मणोंके माँगनेपर अपने पास धन होते हुए भी उन्हें कुछ नहीं देते ॥ १० ॥

दीनान्धकृपणान् दृष्ट्वा भिक्षुकानतिथीनपि।
याच्यमाना निवर्तन्ते जिह्वालोभसमन्विताः ॥ ११ ॥

वे दीनों, अन्धों, दरिद्रों, भिखमंगों और अतिथियोंको देखते ही हट जाते हैं। उनके याचना करनेपर भी जिह्वाकी लोलुपताके कारण उन्हें अन्न नहीं देते ॥ ११ ॥

न धनानि न वासांसि न भोगान् न च काञ्चनम्।
न गावो नान्नविकृतिं प्रयच्छन्ति कदाचन ॥ १२ ॥

वे न धन, न वस्त्र, न भोग, न सुवर्ण, न गौ और न अन्नकी बनी हुई नाना प्रकारकी खाद्य वस्तुओंका कभी दान करते हैं ॥ १२ ॥

अप्रवृत्ताश्च ये लुब्धा नास्तिका दानवर्जिताः।
एवंभूता नरा देवि निरयं यान्त्यबुद्धयः ॥ १३ ॥

देवि! ऐसे अकर्मण्य, लोभी, नास्तिक तथा दानधर्मसे दूर रहनेवाले बुद्धिहीन मनुष्य नरकमें पड़ते हैं ॥ १३ ॥

ते वै मनुष्यतां यान्ति यदा कालस्य पर्ययात्।
धनरिक्ते कुले जन्म लभन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ १४ ॥

यदि कालचक्रके फेरसे वे मन्दबुद्धि मानव पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेते हैं तो निर्धन कुलमें ही उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

क्षुत्पिपासापरीताश्च सर्वलोकबहिष्कृताः।
निराशाः सर्वभोगेभ्यो जीवन्त्यधर्मजीविकाम् ॥ १५ ॥

वहाँ सदा भूख-प्यासका कष्ट सहते हैं। सब लोग उन्हें समाजसे बाहर कर देते हैं तथा वे सब प्रकारके भोगोंसे निराश होकर पापाचारसे जीविका चलाते हैं ॥ १५ ॥

अल्पभोगकुले जाता अल्पभोगरता नराः।
अनेन कर्मणा देवि भवन्त्यधनिनो नराः ॥ १६ ॥

देवि! इस पापकर्मसे ही मनुष्य अल्प भोगवाले कुलमें जन्म लेते, थोड़े-से ही भोग भोगते और सदा निर्धन रहते हैं ॥ १६ ॥

अपरे स्तम्भिनो नित्यं मानिनः पापतो रताः।
आसनार्हस्य ये पीठं न प्रयच्छन्त्यचेतसः ॥ १७ ॥

इनके सिवा दूसरे भी ऐसे मनुष्य हैं, जो सदा गर्व और अभिमानमें फूले तथा पापमें रत रहते हैं। वे मूर्ख आसन देने योग्य पूज्य पुरुषको बैठनेके लिये कोई पीढ़ा या चौकीतक नहीं देते हैं ॥ १७ ॥

मार्गार्हस्य च ये मार्गं न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
पाद्यार्हस्य च ये पाद्यं न ददत्यल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥

वे बुद्धिहीन अथवा मन्दबुद्धि पुरुष मार्ग देने योग्य पुरुषोंको जानेके लिये मार्ग नहीं देते और पाद्य अर्पण करने योग्य पूजनीय पुरुषोंको पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) नहीं देते हैं ॥ १८ ॥

अर्घ्यार्हान् न च सत्कारैरर्चयन्ति यथाविधि।
अर्घ्यमाचमनीयं वा न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः ॥ १९ ॥

इतना ही नहीं, वे अर्घ्य देने योग्य माननीय व्यक्तियोंका नाना प्रकारके सत्कारोंद्वारा विधिपूर्वक पूजन नहीं करते अथवा वे मूर्ख उन्हें अर्घ्य या आचमनीय नहीं देते हैं ॥ १९ ॥

गुरुं चाभिगतं प्रेम्णा गुरुवन्न बुभूषते।
अभिमानप्रवृत्तेन लोभेन समवस्थिताः ॥ २० ॥
सम्मान्यांश्चावमन्यन्ते वृद्धान् परिभवन्ति च।
एवंविधा नरा देवि सर्वे निरयगामिनः ॥ २१ ॥

गुरुके आनेपर प्रेमपूर्वक उनकी पूजा नहीं करते—उन्हें गुरुवत् सम्मान नहीं देना चाहते, अभिमान और

[ल]ोभके वशीभूत होकर वे सम्माननीय मनुष्योंका अपमान और बड़े-बूढ़ोंका तिरस्कार करते हैं। देवि! ऐसा करनेवाले सभी मनुष्य नरकगामी होते हैं॥ २०-२१॥

[य]दि वै यदि नरास्तस्मान्निरयादुत्तरन्ति वै।
[व]र्षपूगैस्ततो जन्म लभन्ते कुत्सिते कुले॥ २२॥
[श्]वपाकपुल्कसादीनां कुत्सितानामचेतसाम्।
कुलेषु तेषु जायन्ते गुरुवृद्धापचायिनः॥ २३॥

बहुत वर्षोंके बाद जब वे उस नरकसे छुटकारा पाते [हैं] तो श्वपाक और पुल्कस आदि निन्दित और मूढ़ मनुष्योंके कुत्सित कुलमें जन्म लेते हैं। गुरुजनों और वृद्धोंका तिरस्कार करनेवाले वे अधम मानव चाण्डालोंके उन्हीं निन्दित कुलोंमें उत्पन्न होते हैं॥ २२-२३॥

न स्तम्भी न च मानी यो देवताद्विजपूजकः।
लोकपूज्यो नमस्कर्ता प्रश्रितो मधुरं वचः॥ २४॥
सर्ववर्णप्रियकरः सर्वभूतहितः सदा।
अद्वेषी सुमुखः श्लक्ष्णःस्निग्धवाणीप्रदः सदा॥ २५॥
स्वागतेनैव सर्वेषां भूतानामविहिंसकः।
यथार्हसत्क्रियापूर्वमर्चयन्नवतिष्ठति॥ २६॥
मार्गार्हाय ददन्मार्गं गुरुं गुरुवदर्चयन्।
अतिथिप्रग्रहरतस्तथाभ्यागतपूजकः॥ २७॥
एवंभूतो नरो देवि स्वर्गतिं प्रतिपद्यते।
ततो मानुषतां प्राप्य विशिष्टकुलजो भवेत्॥ २८॥

देवि! जो न तो उद्दण्ड है, न अभिमानी है तथा जो [दे]वताओं और द्विजोंकी पूजा करता है, संसारके लोग जिसे [पू]ज्य मानते हैं, जो बड़ोंको प्रणाम करनेवाला, विनयी, [म]ीठे वचन बोलनेवाला, सब वर्णोंका प्रिय और सम्पूर्ण [प्र]ाणियोंका हित करनेवाला है, जिसका किसीके साथ द्वेष [न]हीं है, जिसका मुख प्रसन्न और स्वभाव कोमल है, जो [स]दा स्वागतपूर्वक स्नेहभरी वाणी बोलता है, किसी भी प्राणी[क]ी हिंसा नहीं करता तथा सबका यथायोग्य सत्कारपूर्वक पूजन [क]रता रहता है, जो मार्ग देने योग्य पुरुषोंको मार्ग देता और [गु]रुका उसके योग्य समादर करता है, अतिथियोंको आमन्त्रित [क]रके उनकी सेवामें लगा रहता तथा स्वयं आये हुए [अ]तिथियोंका भी पूजन करता है, ऐसा मनुष्य स्वर्गलोकमें [जा]ता है। तत्पश्चात् मानवयोनिमें आकर विशिष्ट कुलमें [ज]न्म लेता है॥ २४-२८॥

[त]त्रासौ विपुलैर्भोगैः सर्वरत्नसमायुतः।
[य]थार्हदाता चार्हेषु धर्मचर्यापरो भवेत्॥ २९॥

उस जन्ममें वह महान् भोगों और सम्पूर्ण रत्नोंसे [स]म्पन्न हो सुयोग्य ब्राह्मणोंको यथायोग्य दान देता और [ध]र्मानुष्ठानमें तत्पर रहता है॥ २९॥

[सं]मतः सर्वभूतानां सर्वलोकनमस्कृतः।
स्वकर्मफलमाप्नोति स्वयमेव नरः सदा॥ ३०॥

वहाँ सब प्राणी उसका सम्मान करते हैं और सब लोग उसके सामने नतमस्तक होते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने कर्मोंका फल सदा स्वयं ही भोगता है॥ ३०॥

उदात्तकुलजातीय उदात्ताभिजनः सदा।
एष धर्मो मया प्रोक्तो विधात्रा स्वयमीरितः॥ ३१॥

धर्मात्मा मनुष्य सर्वदा उत्तम कुल, उत्तम जाति और उत्तम स्थानमें जन्म धारण करता है। यह साक्षात् ब्रह्माजीके बताये हुए धर्मका मैंने वर्णन किया है॥ ३१॥

यस्तु रौद्रसमाचारः सर्वसत्त्वभयंकरः।
हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्ज्वा दण्डेन वा पुनः॥ ३२॥
लोष्टैः स्तम्भैरायुधैर्वा जन्तून् बाधति शोभने।
हिंसार्थं निकृतिप्रज्ञः प्रोद्वेजयति चैव ह॥ ३३॥
उपक्रामति जन्तूंश्च उद्वेगजननः सदा।
एवंशीलसमाचारो निरयं प्रतिपद्यते॥ ३४॥

शोभने! जिस मनुष्यका आचरण क्रूरतासे भरा हुआ है, जिससे समस्त जीवोंको भय प्राप्त होता है, जो हाथ, पैर, रस्सी, डंडे और ढेलेसे मारकर, खम्भोंमें बाँधकर तथा घातक शस्त्रोंका प्रहार करके जीव-जन्तुओंको सताता है, छल-कपटमें प्रवीण होकर हिंसाके लिये उन जीवोंमें उद्वेग पैदा करता है तथा उद्वेगजनक होकर सदा उन जन्तुओंपर आक्रमण करता है, ऐसे स्वभाव और आचारवाले मनुष्यको नरकमें गिरना पड़ता है॥ ३२-३४॥

स वै मनुष्यतां गच्छेद् यदि कालस्य पर्ययात्।
बह्वाबाधपरिक्लिष्टे जायते सोऽधमे कुले॥ ३५॥

यदि वह कालचक्रके फेरसे फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे कष्ट उठानेवाले अधम कुलमें उत्पन्न होता है॥ ३५॥

लोकद्वेष्योऽधमः पुंसां स्वयं कर्मफलैः कृतैः।
एष देवि मनुष्येषु बोद्धव्यो ज्ञातिबन्धुषु॥ ३६॥

देवि! ऐसा मनुष्य अपने ही किये हुए कर्मोंके फलके अनुसार मनुष्योंमें तथा जाति-बन्धुओंमें नीच समझा जाता है और सब लोग उससे द्वेष रखते हैं॥ ३६॥

अपरः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति।
मैत्रदृष्टिः पितृसमो निर्वैरो नियतेन्द्रियः॥ ३७॥
नोद्वेजयति भूतानि न विघातयते तथा।
हस्तपादैः सुनियतैर्विश्वास्यः सर्वजन्तुषु॥ ३८॥
न रज्ज्वा न च दण्डेन न लोष्टैर्नायुधेन च।
उद्वेजयति भूतानि श्लक्ष्णकर्मा दयापरः॥ ३९॥
एवंशीलसमाचारः स्वर्गे समुपजायते।
तत्रासौ भवने दिव्ये मुदा वसति देववत्॥ ४०॥

इसके विपरीत जो मनुष्य सब प्राणियोंके प्रति दया-दृष्टि रखता है, सबको मित्र समझता है, सबके ऊपर पिताके समान स्नेह रखता है, किसीके साथ वैर नहीं करता और इन्द्रियोंको वशमें किये रहता है, जो हाथ-पैर आदिको अपने अधीन रखकर किसी भी जीवको न तो उद्वेगमें डालता और न मारता ही है, जिसपर सब प्राणी विश्वास करते हैं, जो रस्सी, डंडे, ढेले और घातक अस्त्र-शस्त्रोंसे प्राणियोंको कष्ट नहीं पहुँचाता, जिसके कर्म कोमल एवं निर्दोष होते हैं तथा जो सदा ही दयापरायण होता है, ऐसे स्वभाव और आचरण-वाला पुरुष स्वर्गलोकमें दिव्य शरीर धारण करता है और वहाँके दिव्य भवनमें देवताओंके समान आनन्दपूर्वक निवास करता है ॥ ३७–४० ॥

स चेत् कर्मक्षयान्मर्त्यो मनुष्येषूपजायते ।
अल्पाबाधो निरातङ्कः स जातः सुखमेधते ॥ ४१ ॥
सुखभागी निरायासो निरुद्वेगः सदा नरः ।
एष देवि सतां मार्गो बाधा यत्र न विद्यते ॥ ४२ ॥

फिर पुण्यकर्मोंके क्षीण होनेपर यदि वह मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तो उसके ऊपर बाधाओंका आक्रमण कम होता है। वह निर्भय हो सुखसे अपनी उन्नति करता है। सुखका भागी होकर आयास और उद्वेगसे रहित जीवन व्यतीत करता है। देवि ! यह सत्पुरुषोंका मार्ग है, जहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा नहीं आने पाती है ॥ ४१-४२ ॥

उमोवाच

इमे मनुष्या दृश्यन्ते ऊहापोहविशारदाः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः प्रज्ञावन्तोऽर्थकोविदाः ॥ ४३ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन् ! इन मनुष्योंमेंसे कुछ तो ऊहापोहमें कुशल, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, बुद्धिमान् और अर्थनिपुण देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

दुष्प्रज्ञाश्चापरे देव ज्ञानविज्ञानवर्जिताः ।
केन कर्मविशेषेण प्रज्ञावान् पुरुषो भवेत् ॥ ४४ ॥

देव ! कुछ दूसरे मानव ज्ञान-विज्ञानसे शून्य और दुर्बुद्धि दिखायी देते हैं। ऐसी दशामें मनुष्य कौन-सा विशेष कर्म करनेसे बुद्धिमान् हो सकता है ? ॥ ४४ ॥

अल्पप्रज्ञो विरूपाक्ष कथं भवति मानवः ।
एतन्मे संशयं छिन्धि सर्वधर्मविदां वर ॥ ४५ ॥

विरूपाक्ष ! मनुष्य मन्दबुद्धि कैसे होता है ? सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महादेव ! आप मेरे इस संदेहका निवारण कीजिये ॥ ४५ ॥

जात्यन्धाश्चापरे देव रोगार्ताश्चापरे तथा ।
नराः क्लीबाश्च दृश्यन्ते कारणं ब्रूहि तत्र वै ॥ ४६ ॥

देव ! कुछ लोग जन्मान्ध, कुछ रोगसे पीडित और कितने ही नपुंसक देखे जाते हैं। इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ४६ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणान् वेदविदुषः सिद्धान् धर्मविदस्तथा ।
परिपृच्छन्त्यहरहः कुशलाः कुशलं तथा ॥ ४७ ॥
वर्जयन्तोऽशुभं कर्म सेवमानाः शुभं तथा ।
लभन्ते स्वर्गतिं नित्यमिहलोके तथा सुखम् ॥ ४८ ॥

श्रीमहादेवजीने कहा—देवि ! जो कुशल मनुष्य सिद्ध, वेदवेत्ता और धर्मज्ञ ब्राह्मणोंसे प्रतिदिन उनकी कुशल पूछते हैं और अशुभ कर्मका परित्याग करके शुभकर्मका सेवन करते हैं, वे परलोकमें स्वर्ग और इहलोकमें सदा सुख पाते हैं ॥ ४७-४८ ॥

स चेन्मानुषतां याति मेधावी तत्र जायते ।
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य कल्याणमुपजायते ॥ ४९ ॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष यदि स्वर्गसे लौटकर फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो वह मेधावी होता है। शास्त्र उसकी बुद्धिका अनुसरण करता है, अतः वह सदा कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

परदारेषु ये चापि चक्षुर्दुष्टं प्रयुञ्जते ।
तेन दुष्टस्वभावेन जात्यन्धास्ते भवन्ति ह ॥ ५० ॥

जो परायी स्त्रियोंके प्रति सदा दोषभरी दृष्टि डालते हैं, उस दुष्ट स्वभावके कारण वे जन्मान्ध होते हैं ॥ ५० ॥

मनसा तु प्रदुष्टेन नग्नां पश्यन्ति ये स्त्रियम् ।
रोगार्तास्ते भवन्तीह नरा दुष्कृतकर्मिणः ॥ ५१ ॥

जो दूषित हृदयसे किसी नंगी स्त्रीकी ओर निहारते हैं, वे पापकर्मी मनुष्य इस लोकमें रोगसे पीड़ित होते हैं ॥ ५१ ॥

ये तु मूढा दुराचारा वियोनौ मैथुने रताः ।
पुरुषेषु सुदुष्प्रज्ञाः क्लीबत्वमुपयान्ति ते ॥ ५२ ॥

जो दुराचारी, दुर्बुद्धि एवं मूढ़ मनुष्य पशु आदिकी योनिमें मैथुन करते हैं, वे पुरुषोंमें नपुंसक होते हैं ॥ ५२ ॥

पशूंश्च ये घातयन्ति ये चैव गुरुतल्पगाः ।
प्रकीर्णमैथुना ये च क्लीबा जायन्ति ते नराः ॥ ५३ ॥

जो पशुओंकी हत्या कराते, गुरुकी शय्यापर सोते और वर्णसंकर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करते हैं, वे मनुष्य नपुंसक होते हैं ॥ ५३ ॥

उमोवाच

सावद्यं किन्नु वै कर्म निरवद्यं तथैव च ।
श्रेयः कुर्वन्नवाप्नोति मानवो देवसत्तम ॥ ५४ ॥

पार्वतीने पूछा—देवश्रेष्ठ ! कौन सदोष कर्म है और

कौन निर्दोष, कौन-सा कर्म करके मनुष्य कल्याणका भागी होता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

श्रेयांसं मार्गमन्विच्छन् सदा यः पृच्छति द्विजान्।
धर्मान्वेषी गुणाकाङ्क्षी स स्वर्गं समुपाश्नुते ॥ ५५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो श्रेष्ठ मार्गको पानेकी इच्छा रखकर सदा ही ब्राह्मणोंसे उसके विषयमें पूछता है, धर्मका अन्वेषण करता और सद्गुणोंकी अभिलाषा रखता है, वही स्वर्गलोकके सुखका अनुभव करता है ॥ ५५ ॥

यदि मानुषतां देवि कदाचित् स निगच्छति ।
मेधावी धारणायुक्तः प्रायस्तत्राभिजायते ॥ ५६ ॥

देवि ! ऐसा मनुष्य यदि कभी मानवयोनिको प्राप्त होता है तो वहाँ प्रायः मेधावी एवं धारणा शक्तिसे सम्पन्न होता है ॥

एष देवि सतां धर्मो मन्तव्यो भूतिकारकः ।
नृणां हितार्थाय मया तव वै समुदाहृतः ॥ ५७ ॥

देवि ! यह सत्पुरुषोंका धर्म है, उसे कल्याणकारी मानना चाहिये । मैंने मनुष्योंके हितके लिये इस धर्मका तुम्हें भलीभाँति उपदेश किया है ॥ ५७ ॥

उमोवाच

अपरे स्वल्पविज्ञाना धर्मविद्वेषिणो नराः ।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो नेच्छन्ति परिसर्पितुम् ॥ ५८ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन् ! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो अल्पबुद्धि होनेके कारण धर्मसे द्वेष करते हैं । वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पास नहीं जाना चाहते हैं ॥ ५८ ॥

व्रतवन्तो नराः केचिच्छ्रद्धाधर्मपरायणाः ।
अव्रता भ्रष्टनियमास्तथान्ये राक्षसोपमाः ॥ ५९ ॥

कुछ मनुष्य व्रतधारी, श्रद्धालु और धर्मपरायण होते हैं तथा दूसरे व्रतहीन, नियमभ्रष्ट तथा राक्षसोंके समान होते हैं ॥ ५९ ॥

यज्वानश्च तथैवान्ये निर्होमाश्च तथापरे ।
केन कर्मविपाकेन भवन्तीह वदस्व मे ॥ ६० ॥

कितने ही यज्ञशील होते हैं और दूसरे मनुष्य होम और यज्ञसे दूर ही रहते हैं । किस कर्मविपाकसे मनुष्य इस प्रकार परस्परविरोधी स्वभावके हो जाते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ६० ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आगमा लोकधर्माणां मर्यादाः सर्वनिर्मिताः ।
प्रामाण्येनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते च दृढव्रताः ॥ ६१ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! शास्त्र लोकधर्मोंकी उन मर्यादाओंको स्थापित करते हैं, जो सबके हितके लिये निर्मित हुई हैं । जो उन शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं, वे दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते देखे जाते हैं ॥ ६१ ॥

अधर्मं धर्ममित्याहुर्ये च मोहवशं गताः ।
अव्रता नष्टमर्यादास्ते प्रोक्ता ब्रह्मराक्षसाः ॥ ६२ ॥

जो मोहके वशीभूत होकर अधर्मको धर्म कहते हैं, वे व्रतहीन मर्यादाको नष्ट करनेवाले पुरुष ब्रह्मराक्षस कहे गये हैं ॥ ६२ ॥

ते चेत्कालकृतोद्योगात् सम्भवन्तीह मानुषाः ।
निर्होमा निर्वषट्कारास्ते भवन्ति नराधमाः ॥ ६३ ॥

वे मनुष्य यदि कालयोगसे इस संसारमें मनुष्य होकर जन्म लेते हैं तो होम और वषट्कारसे रहित तथा नराधम होते हैं ॥

एष देवि मया सर्वः संशयच्छेदनाय ते ।
कुशलाकुशलो नृणां व्याख्यातो धर्मसागरः ॥ ६४ ॥

देवि ! यह धर्मका समुद्र, धर्मात्माओंके लिये प्रिय और पापात्माओंके लिये अप्रिय है । मैंने तुम्हारे संदेहका निवारण करनेके लिये यह सब विस्तारपूर्वक बताया है ॥ ६४ ॥

[राजधर्मका वर्णन]

(उमोवाच

देवदेव नमस्तुभ्यं त्रियक्ष वृषभध्वज ।
श्रुतं मे भगवन् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥

उमाने कहा—देवदेव ! त्रिलोचन ! वृषभध्वज ! भगवन् ! महेश्वर ! आपकी कृपासे मैंने पूर्वोक्त सब विषयोंको सुना है ॥

संगृहीतं मया तच्च तव वाक्यमनुत्तमम् ।
इदानीमस्ति संदेहो मानुषेष्विह कश्चन ॥

सुनकर आपके उस परम उत्तम उपदेशको मैंने बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया है । इस समय मनुष्योंके विषयमें एक संदेह ऐसा रह गया है, जिसका समाधान आवश्यक है ॥

तुल्यप्राणशिरःकायो राजायमिति दृश्यते ।
केन कर्मविपाकेन सर्वप्राधान्यमर्हति ॥

मनुष्योंमें यह जो राजा दिखायी देता है, उसके भी प्राण, सिर और धड़ दूसरे मनुष्योंके समान ही हैं; फिर किस कर्मके फलसे यह सबमें प्रधान पद पानेका अधिकारी हुआ है ? ॥

स चापि दण्डयन् मर्त्यान् भर्त्सयन् विविधानपि।
प्रेत्यभावे कथं लोकाँल्लभते पुण्यकर्मणाम् ॥
राजवृत्तमहं तस्माच्छ्रोतुमिच्छामि मानद ।

यह राजा नाना प्रकारके मनुष्योंको दण्ड देता और उन्हें डाँटता-फटकारता है। यह मृत्युके पश्चात् कैसे पुण्यात्माओंके लोक पाता है ? मानद ! अतः मैं राजाके आचार-व्यवहारका वर्णन सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि राजधर्मं शुभानने ॥
राजायत्तं हि यत् सर्वं लोकवृत्तं शुभाशुभम् ।
महतस्तपसो देवि फलं राज्यमिति स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभानने ! अब मैं तुम्हें राजधर्मकी बात बताऊँगा; क्योंकि जगत्का सारा शुभाशुभ आचार-व्यवहार राजाके ही अधीन है। देवि ! राज्यको बहुत बड़ी तपस्याका फल माना गया है ॥

अराजके पुरा त्वासीत् प्रजानां संकुलं महत् ।
तद् दृष्ट्वा संकुलं ब्रह्मा मनुं राज्ये न्यवेशयत् ॥

प्राचीन कालकी बात है, सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। प्रजापर महान् संकट आ गया। प्रजाकी यह संकटापन्न अवस्था देख ब्रह्माजीने मनुको राजसिंहासनपर बिठाया ॥

तदाप्रभृति संदृष्टं राज्ञां वृत्तं शुभाशुभम् ।
तन्मे शृणु वरारोहे तस्य पथ्यं जगद्धितम् ॥

तभीसे राजाओंका शुभाशुभ बर्ताव देखनेमें आया है। वरारोहे ! राजाका जो आचरण जगत्के लिये हितकर और लाभदायक है, वह मुझसे सुनो ॥

यथा प्रेत्य लभेत् स्वर्गं यथा वीर्यं यशस्तथा ।
पित्र्यं वा भूतपूर्वं वा स्वयमुत्पाद्य वा पुनः ॥
राज्यधर्ममनुष्ठाय विधिवद् भोक्तुमर्हति ॥

जिस बर्तावके कारण वह मृत्युके पश्चात् स्वर्गका भागी हो सकता है, वही बता रहा हूँ। उसमें जैसा पराक्रम और जैसा यश होना चाहिये, वह भी सुनो। पिताकी ओरसे प्राप्त हुए अथवा और पहलेसे चले आते हुए अथवा स्वयं ही पराक्रमद्वारा प्राप्त करके वशमें किये हुए राज्यको राजा धर्मका आश्रय ले विधिपूर्वक उपभोगमें लाये ॥

आत्मानमेव प्रथमं विनयैरुपपादयेत् ।
अनुभृत्यान् प्रजाः पश्चादित्येष विनयक्रमः ॥

पहले अपने आपको ही विनयसे सम्पन्न करे। तत्पश्चात् सेवकों और प्रजाओंको विनयकी शिक्षा दे। यही विनयका क्रम है ॥

स्वामिनं चोपमां कृत्वा प्रजास्तद्वृत्तकाङ्क्षया ।
स्वयं विनयसम्पन्ना भवन्तीह शुभेक्षणे ॥

शुभेक्षणे ! राजाको ही आदर्श मानकर उसके आचरण सीखनेकी इच्छासे प्रजावर्गके लोग स्वयं भी विनयसे सम्पन्न होते हैं ॥

स्वस्मात् पूर्वतरं राजा विनयत्येव वै प्रजाः ।
अपहास्यो भवेत्तादृक् स्वदोषस्यानवेक्षणात् ॥

जो राजा स्वयं विनय सीखनेके पहले प्रजाको ही विनय सिखाता है, वह अपने दोषोंपर दृष्टि न डालनेके कारण उपहासका पात्र होता है ॥

विद्याभ्यासैर्वृद्धयोगैरात्मानं विनयं नयेत् ।
विद्या धर्मार्थफलिनी तद्विदो वृद्धसंज्ञिताः ॥

विद्याके अभ्यास और वृद्ध पुरुषोंके सङ्गसे अपने आपको विनयशील बनाये। विद्या धर्म और अर्थरूप फल देनेवाली है। जो उस विद्याके ज्ञाता हैं, उन्हींको वृद्ध कहते हैं ॥

इन्द्रियाणां जयो देवि अत ऊर्ध्वमुदाहृतः ।
अजये सुमहान् दोषो राजानं विनिपातयेत् ॥

देवि ! इसके बाद राजाको अपनी इन्द्रियोंपर विजय पाना चाहिये—यह बात बतायी गयी। इन्द्रियोंको काबूमें न करनेसे जो महान् दोष प्राप्त होता है, वह राजाको नीचे गिरा देता है ॥

पञ्चैव स्ववशे कृत्वा तदर्थान् पञ्च शोषयेत् ।
षडुत्सृज्य यथायोगं ज्ञानेन विनयेन च ॥
शास्त्रचक्षुर्नयपरो भूत्वा भृत्यान् समाहरेत् ॥

पाँचों इन्द्रियोंको अपने अधीन करके उनके पाँचों विषयोंको सुखा डाले। ज्ञान और विनयके द्वारा आवश्यक प्रयत्न करके काम-क्रोध आदि छः दोषोंको त्याग दे तथा शास्त्रीय दृष्टिका सहारा लेकर न्यायपरायण हो सेवकोंका संग्रह करे ॥

वृत्तश्रुतकुलोपेतानुपधाभिः परीक्षितान् ।
अमात्यानुपधातीतान् सापसर्पान् जितेन्द्रियान् ॥
योजयेत यथायोगं यथार्हं स्वेषु कर्मसु ॥

जो सदाचार, शास्त्रज्ञान और उत्तम कुलसे सम्पन्न हों, जिनकी सचाई और ईमानदारीकी परीक्षा ले ली गयी हो, जो उस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हों, जिनके साथ बहुत-से जासूस हों और जो जितेन्द्रिय हों—ऐसे अमात्योंको यथायोग्य अपने कर्मोंमें उनकी योग्यताके अनुसार नियुक्त करे ॥

अमात्या बुद्धिसम्पन्ना राष्ट्रं बहुजनप्रियम् ।
दुराधर्षं पुरश्रेष्ठं कोशः कृच्छ्रसहः स्मृतः ॥
अनुरक्तं बलं साम्नामद्वैधं मित्रमेव च ।
एताः प्रकृतयः स्वेषु स्वामी विनयतत्त्ववित् ॥

बुद्धिमान् मन्त्री, बहुजनप्रिय राष्ट्र, दुर्धर्ष श्रेष्ठ नगर या दुर्ग, कठिन अवसरोंपर काम देनेवाला कोष, सामनीतिके द्वारा राजामें अनुराग रखनेवाली सेना, दुविधेमें न पड़ा हुआ मित्र और विनयके तत्त्वको जाननेवाला राज्यका स्वामी—ये सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥

जानां रक्षणार्थाय सर्वमेतद् विनिर्मितम् ।
ाभिः करणभूताभिः कुर्याल्लोकहितं नृपः ॥

प्रजाकी रक्षाके लिये ही यह सारा प्रबन्ध किया गया है। क्षाकी हेतुभूत जो ये प्रकृतियाँ हैं, इनके सहयोगसे राजा ोकहितका सम्पादन करे ॥

ात्मरक्षा नरेन्द्रस्य प्रजारक्षार्थमिष्यते ।
स्मात् सततमात्मानं संरक्षेदप्रमादवान् ॥

राजाको प्रजाकी रक्षाके लिये ही अपनी रक्षा अभीष्ट ोती है, अतः वह सदा सावधान होकर आत्मरक्षा करे ॥

ोजनाच्छादनस्नानाद् बहिर्निष्क्रमणादपि ।
नेत्यं स्त्रीगणसंयोगाद् रक्षेदात्मानमात्मवान्॥

मनको वशमें रखनेवाला राजा भोजन-आच्छादन- नान, बाहर निकलना तथा सदा स्त्रियोंके समुदायसे संयोग खना—इन सबसे अपनी रक्षा करे ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च शस्त्रादपि विषादपि ।
सततं पुत्रदारेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ॥

वह मनको सदा अपने अधीन रखकर स्वजनोंसे, दूसरोंसे, शस्त्रसे, विषसे तथा स्त्री-पुत्रोंसे भी निरन्तर अपनी क्षा करे ॥

सर्वेभ्य एव स्थानेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ।
जानां रक्षणार्थाय प्रजाहितकरो भवेत् ॥

आत्मवान् राजा प्रजाकी रक्षाके लिये सभी स्थानोंसे अपनी क्षा करे और सदा प्रजाके हितमें संलग्न रहे ॥

रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्यं तु तत्सुखम्।
रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं तु प्रजाहितम् ॥
जार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते ॥

प्रजाका कार्य ही राजाका कार्य है, प्रजाका सुख ही उसका सुख है, प्रजाका प्रिय ही उसका प्रिय है तथा प्रजाके हितमें ही उसका अपना हित है। प्रजाके हितके लिये ही उसका सर्वस्व है, अपने लिये कुछ भी नहीं है ॥

कृतीनां हि रक्षार्थं रागद्वेषौ व्युदस्य च ।
भयोः पक्षयोर्वादं श्रुत्वा चैव यथातथम् ॥
ामर्थं विमृशेद् बुद्ध्या स्वयमातत्त्वदर्शनात् ॥

प्रकृतियोंकी रक्षाके लिये राग-द्वेष छोड़कर किसी विवादके निर्णयके लिये पहले दोनों पक्षोंकी यथार्थ बातें सुन े। फिर अपनी बुद्धिके द्वारा स्वयं उस मामलेपर तबतक विचार करे, जबतक कि उसे यथार्थताका सुस्पष्ट ज्ञान न ो जाय ॥

त्त्वविद्भिश्च बहुभिः सहासीनो नरोत्तमैः ।
र्तारमपराधं च देशकालौ नयानयौ ॥
ज्ञात्वा सम्यग्यथाशास्त्रं ततो दण्डं नयेन्नृपु ॥

तत्त्वको जाननेवाले अनेक श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ बैठकर परामर्श करनेके बाद अपराधी, अपराध, देश, काल, न्याय और अन्यायका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके फिर शास्त्रके अनुसार राजा अपराधी मनुष्योंको दण्ड दे ॥

एवं कुर्वल्लभेद् धर्मं पक्षपातविवर्जनात् ॥
प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामनुमानेन वा पुनः ।
बोद्धव्यं सततं राज्ञा देशवृत्तं शुभाशुभम् ॥

पक्षपात छोड़कर ऐसा करनेवाला राजा धर्मका भागी होता है। प्रत्यक्ष देखकर, माननीय पुरुषोंके उपदेश सुनकर अथवा युक्तियुक्त अनुमान करके राजाको सदा ही अपने देश- के शुभाशुभ वृत्तान्तको जानना चाहिये ॥

चारैः कर्मप्रवृत्त्या च तद् विज्ञाय विचारयेत् ।
अशुभं निर्हरेत् सद्यो जोषयेच्छुभमात्मनः ॥

गुप्तचरोंद्वारा और कार्यकी प्रवृत्तिसे देशके शुभाशुभ वृत्तान्तको जानकर उसपर विचार करे। तत्पश्चात् अशुभका तत्काल निवारण करे और अपने लिये शुभका सेवन करे ॥

गर्ह्यान् विगर्हयेदेव पूज्यान् सम्पूजयेत् तथा ।
दण्ड्यांश्च दण्डयेद् देवि नात्र कार्या विचारणा॥

देवि ! राजा निन्दनीय मनुष्योंकी निन्दा ही करे, पूजनीय पुरुषोंका पूजन करे और दण्डनीय अपराधियोंको दण्ड दे। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥

पञ्चापेक्षं सदा मन्त्रं कुर्याद् बुद्धियुतैर्नरैः ।
कुलवृत्तश्रुतोपेतैर्नित्यं मन्त्रपरो भवेत् ॥

पाँच व्यक्तियोंकी अपेक्षा रखकर अर्थात् पाँच मन्त्रियोंके साथ बैठकर सदा ही राज-कार्यके विषयमें गुप्त मन्त्रणा करे। जो बुद्धिमान्, कुलीन, सदाचारी और शास्त्रज्ञानसम्पन्न हों, उन्हींके साथ राजाको सदा मन्त्रणा करनी चाहिये ॥

कामकारेण वैमुख्यैर्नैव मन्त्रमना भवेत् ।
राजा राष्ट्रहितापेक्षं सत्यधर्माणि कारयेत् ॥

जो इच्छानुसार राजकार्यसे विमुख हो जाते हों, ऐसे लोगोंके साथ मन्त्रणा करनेका विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये। राजाको राष्ट्रके हितका ध्यान रखकर सत्य-धर्मका पालन करना और कराना चाहिये ॥

सर्वोद्योगं स्वयं कुर्याद् दुर्गादिषु सदा नृपु ।
देशवृद्धिकरान् भृत्यानप्रमादेन कारयेत् ॥
देशक्षयकरान् सर्वानप्रियांश्च विसर्जयेत् ।
अहन्यहनि सम्पश्येदनुजीविगणं स्वयम् ॥

दुर्ग आदि तथा मनुष्योंकी देखभालके लिये राजा

सम्पूर्ण उद्योग सदा स्वयं ही करे । वह देशकी उन्नति करनेवाले भृत्योंको सावधानीके साथ कार्यमें नियुक्त करे और देशको हानि पहुँचानेवाले समस्त अप्रियजनोंका परित्याग कर दे । जो राजाके आश्रित होकर जीविका चला रहे हों, ऐसे लोगोंकी देख-भाल भी राजा प्रतिदिन स्वयं ही करे ॥

सुमुखः सुप्रियो दत्त्वा सम्यग्वृत्तं समाचरेत् ।
अधर्म्यं परुषं तीक्ष्णं वाक्यं वक्तुं न चार्हति॥

वह प्रसन्नमुख और सबका परम प्रिय होकर लोगोंको जीविका दे, उनके साथ उत्तम बर्ताव करे । किसीसे पापपूर्ण, रूखा और तीखा वचन बोलना उसके लिये कदापि उचित नहीं ॥

अविश्वास्यं हि वचनं वक्तुं सत्सु न चार्हति ।
नरे नरे गुणान् दोषान् सम्यग्वेदितुमर्हति ॥

सत्पुरुषोंके बीचमें वह कभी ऐसी बात न कहे, जो विश्वासके योग्य न हो । प्रत्येक मनुष्यके गुणों और दोषोंको उसे अच्छी तरह समझना चाहिये ॥

स्वेङ्गितं वृणुयाद् धैर्यान्न कुर्यात् क्षुद्रसंविदम् ।
परेङ्गितज्ञो लोकेषु भूत्वा संसर्गमाचरेत् ॥

अपनी चेष्टाको धैर्यपूर्वक छिपाये रखे । क्षुद्र बुद्धिका प्रदर्शन न करे अथवा मनमें क्षुद्र विचार न लाये । दूसरेकी चेष्टाको अच्छी तरह समझकर संसारमें उनके साथ सम्पर्क स्थापित करे ॥

स्वतश्च परतश्चैव परस्परभयादपि ।
अमानुषभयेभ्यश्च स्वाः प्रजाः पालयेन्नृपः ॥

राजाको चाहिये कि वह अपने भयसे, दूसरोंके भयसे, पारस्परिक भयसे तथा अमानुष भयोंसे अपनी प्रजाको सुरक्षित रखे ॥

लुब्धाः कठोराश्चाप्यस्य मानवा दस्युवृत्तयः ।
निग्राह्या एव ते राज्ञा संगृहीत्वा यतस्ततः ॥

जो लोभी, कठोर तथा डाका डालनेवाले मनुष्य हों, उन्हें जहाँ-तहाँसे पकड़वाकर राजा कैदमें डाल दे ॥

कुमारान् विनयैरेव जन्मप्रभृति योजयेत् ।
तेषामात्मगुणोपेतं यौवराज्येन योजयेत् ॥

राजकुमारोंको जन्मसे ही विनयशील बनावे । उनमेंसे जो भी अपने अनुरूप गुणोंसे युक्त हो, उसे युवराज-पदपर नियुक्त करे ॥

अराजकं क्षणमपि राज्यं न स्याद्धि शोभने ।
आत्मनोऽनुविधानाय यौवराज्यं सदेष्यते ॥

शोभने ! एक क्षणके लिये भी बिना राजाका राज्य नहीं रहना चाहिये । अतः अपने पीछे राजा होनेके लिये एक युवराजको नियत करना सदा ही आवश्यक है ॥

कुलजानां च वैद्यानां श्रोत्रियाणां तपस्विनाम् ।
अन्येषां वृत्तियुक्तानां विशेषं कर्तुमर्हति ॥
आत्मार्थं राज्यतन्त्रार्थं कोशार्थं च समाचरेत्॥

कुलीन पुरुषों, वैद्यों, श्रोत्रिय ब्राह्मणों, तपस्वी मुनियों तथा वृत्तियुक्त दूसरे पुरुषोंका भी राजा विशेष सत्कार करे । अपने लिये, राज्यके हितके लिये तथा कोष-संग्रहके लिये ऐसा करना आवश्यक है ॥

चतुर्धा विभजेत् कोशं धर्मभृत्यात्मकारणात् ।
आपदर्थं च नीतिज्ञो देशकालवशेन तु ॥

नीतिज्ञ पुरुष अपने कोषको चार भागोंमें विभक्त करे—धर्मके लिये, पोष्य वर्गके पोषणके लिये, अपने लिये तथा देश-कालवश आनेवाली आपत्तिके लिये ॥

अनाथान् व्याधितान् वृद्धान् स्वदेशे पोषयेन्नृपः॥
सन्धिं च विग्रहं चैव तद्विशेषांस्तथा परान् ।
यथावत् संविमृश्यैव बुद्धिपूर्वं समाचरेत् ॥

राजाको चाहिये कि अपने देशमें जो अनाथ, रोगी और वृद्ध हों, उनका स्वयं पोषण करे । संधि, विग्रह तथा अन्य नीतियोंका बुद्धिपूर्वक भलीभाँति विचार करके प्रयोग करे ॥

सर्वेषां सम्प्रियो भूत्वा मण्डलं सततं चरेत् ।
शुभेष्वपि च कार्येषु न चैकान्तः समाचरेत् ॥

राजा सबका प्रिय होकर सदा अपने मण्डल (देशके भिन्न-भिन्न भाग) में विचरे । शुभ कार्योंमें भी वह अकेला कुछ न करे ॥

स्वतश्च परतश्चैव व्यसनानि विमृश्य सः ।
परेण धार्मिकान् योगान् नातीयाद् द्वेषलोभतः॥

अपने और दूसरोंसे संकटकी सम्भावनाका विचार करके द्वेष या लोभवश धार्मिक पुरुषोंके साथ सम्बन्धका त्याग न करे ॥

रक्ष्यत्वं वै प्रजाधर्मः क्षत्रधर्मस्तु रक्षणम् ।
कुनृपैः पीडितास्तस्मात् प्रजाः सर्वत्र पालयेत् ॥

प्रजाका धर्म है रक्षणीयता और क्षत्रिय राजाका धर्म है रक्षा; अतः दुष्ट राजाओंसे पीड़ित हुई प्रजाकी सर्वत्र रक्षा करे ॥

व्यसनेभ्यो बलं रक्षेन्नयतो व्ययतोऽपि वा ।
प्रायशो वर्जयेद् युद्धं प्राणरक्षणकारणात् ॥

सेनाको संकटोंसे बचावे, नीतिसे अथवा धन खर्च करके भी प्रायः युद्धको टाले । सैनिकों तथा प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही ऐसा करना चाहिये ॥

कारणादेव योद्धव्यं नात्मनः परदोषतः ।
सुयुद्धे प्राणमोक्षश्च तस्य धर्माय इष्यते ॥

अनिवार्य कारण उपस्थित होनेपर ही युद्ध करना चाहिये, अपने या पराये दोषसे नहीं । उत्तम युद्धमें प्राण-विसर्जन करना वीर योद्धाके लिये धर्मकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥

अभियुक्तो बलवता कुर्यादापद्विधिं नृपः ।
अनुनीय तथा सर्वान् प्रजानां हितकारणात् ॥
एष देवि समासेन राजधर्मः प्रकीर्तितः ॥

किसी बलवान् शत्रुके आक्रमण करनेपर राजा उस आपत्तिसे बचनेका उपाय करे । प्रजाके हितके लिये समस्त विरोधियोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल बना ले । देवि ! यह संक्षेपसे राजधर्म बताया गया है ॥

एवं संवर्तमानस्तु दण्डयन् भर्त्सयन् प्रजाः ।
निष्कल्मषमवाप्नोति पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

इस प्रकार बर्ताव करनेवाला राजा प्रजाको दण्ड देता और फटकारता हुआ भी जलसे लिप्त न होनेवाले कमलदलके समान पापसे अछूता ही रहता है ॥

एवं संवर्तमानस्य कालधर्मो यदा भवेत् ।
स्वर्गलोके तदा राजा त्रिदशैः सह तोष्यते ॥

इस बर्तावसे रहनेवाले राजाकी जब मृत्यु होती है, तब वह स्वर्गलोकमें जाकर देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥

(दाक्षिणात्यप्रतिमें अध्याय समाप्त)

[योद्धाओंके धर्मका वर्णन तथा रणयज्ञमें प्राणोत्सर्गकी महिमा]

श्रीमहेश्वर उवाच

अथ यस्तु सहायार्थमुक्तः स्यात् पार्थिवैर्नरैः ॥
भोगानां संविभागेन वस्त्राभरणभूषणैः ।
सहभोजनसम्बन्धैः सत्कारैर्विविधैरपि ॥
सहायकाले सम्प्राप्ते संग्रामे शस्त्रमुद्धरेत् ॥

भगवान् महेश्वर कहते हैं—राजा भाँति-भाँतिके भोग, वस्त्र और आभूषण देकर जिन लोगोंको अपनी सहायताके लिये बुलाता और रखता है, उनके साथ भोजन करके घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है और नाना प्रकारके सत्कारोंद्वारा उन्हें संतुष्ट करता है, ऐसे योद्धाओंको उचित है कि युद्ध छिड़ जानेपर सहायताके समय उस राजाके लिये शस्त्र उठावें ॥

हन्यमानेष्वभिघ्नत्सु शूरेषु रणसंकटे ।
पृष्ठं दत्त्वा च ये तत्र नायकस्य नराधमाः ॥
अनाहता निवर्तन्ते नायके चाप्यनीप्सति ।
ते दुष्कृतं प्रपद्यन्ते नायकस्याखिलं नराः ॥
यदास्ति सुकृतं तेषां युज्यते तेन नायकः ॥

जब घोर संग्राममें शूरवीर एक-दूसरेको मारते और मारे जाते हों, उस अवसरपर जो नराधम सैनिक पीठ देकर सेनानायककी इच्छा न होते हुए भी बिना घायल हुए ही युद्धसे मुँह मोड़ लेते हैं, वे सेनापतिके सम्पूर्ण पापोंको स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं और उन भगेड़ोंके पास जो कुछ भी पुण्य होता है, वह सेनानायकको प्राप्त हो जाता है ॥

अहिंसा परमो धर्म इति येऽपि नरा विदुः ।
संग्रामेषु न युध्यन्ते भृत्याश्चैवानुरूपतः ॥
नरकं यान्ति ते घोरं भर्तृपिण्डापहारिणः ॥

'अहिंसा परम धर्म है,' ऐसी जिनकी मान्यता है, वे भी यदि राजाके सेवक हैं, उनसे भरण-पोषणकी सुविधा एवं भोजन पाते हैं, ऐसी दशामें भी वे अपनी शक्तिके अनुरूप संग्रामोंमें जूझते नहीं हैं तो घोर नरकमें पड़ते हैं; क्योंकि वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले हैं ॥

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः ।
संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः ॥
स्वर्गमाविशते ज्ञात्वा योधस्य गतिनिश्चयम् ॥

जो अपने प्राणोंकी परवाह छोड़कर पतंगकी भाँति निर्भय हो हाथमें हथियार उठाये अग्निके समान विनाशकारी संग्राममें प्रवेश कर जाता है और योद्धाको मिलनेवाली निश्चित गतिको जानकर उत्साहपूर्वक जूझता है, वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥

यस्तु स्वं नायकं रक्षेदतिघोरे रणाङ्गणे ।
तापयन्नरिसैन्यानि सिंहो मृगगणानिव ॥
आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यो रणाजिरे ॥
निर्दयो यस्तु संग्रामे प्रहरन्नुद्यतायुधः ।
यजते स तु पूतात्मा संग्रामेण महाक्रतुम् ॥

जो अत्यन्त घोर समराङ्गणमें मृगोंके झुंडोंको संतप्त करनेवाले सिंहके समान शत्रुसैनिकोंको ताप देता हुआ अपने नायक (राजा या सेनापति) की रक्षा करता है, मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति रणक्षेत्रमें जिसकी ओर देखना शत्रुओंके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा जो संग्राममें शस्त्र उठाये निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है, वह शुद्धचित्त होकर उस युद्धके द्वारा ही मानो महान् यज्ञका अनुष्ठान करता है ॥

वर्म कृष्णाजिनं तस्य दन्तकाष्ठं धनुः स्मृतम् ।
रथो वेदिर्ध्वजो यूपः कुशाश्च रथरश्मयः ॥
मानो दर्पस्त्वहङ्कारस्त्रयस्त्रेताग्नयः स्मृताः ।
प्रतोदश्च स्रुवस्तस्य उपाध्यायो हि सारथिः ॥
स्रुग्भाण्डं चापि यत् किंचिद् यज्ञोपकरणानि च ॥
आयुधान्यस्य तत् सर्वं समिधः सायकाः स्मृताः ॥

उस समय कवच ही उसका काला मृगचर्म है, धनुष ही दाँतुन या दन्तकाष्ठ है, रथ ही वेदी है, ध्वज यूप है और रथकी

रस्सियाँ ही बिछे हुए कुशोंका काम देती हैं। मान, दर्प और अहंकार—ये त्रिविध अग्नियाँ हैं, चाबुक स्रुवा है, सारथि उपाध्याय है, स्रुक्-भाण्ड आदि जो कुछ भी यज्ञकी सामग्री है, उसके स्थानमें उस योद्धाके भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्र हैं। सायकोंको ही समिधा माना गया है ॥

स्वेदस्रवश्च गात्रेभ्यः क्षौद्रं तस्य यशस्विनः।
पुरोडाशा नृशीर्षाणि रुधिरं चाहुतिः स्मृता॥
तूणाश्चैव चरुर्ज्ञेया वसोर्धारा वसाः स्मृताः॥
क्रव्यादा भूतसंघाश्च तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः।
तेषां भक्तान्नपानानि हता नृगजवाजिनः॥

उस यशस्वी वीरके अङ्गोंसे जो पसीने ढलते हैं, वे ही मानो मधु हैं। मनुष्योंके मस्तक पुरोडाश हैं, रुधिर आहुति है, तूणीरोंको चरु समझना चाहिये। वसाको ही वसुधारा माना गया है, मांसभक्षी भूतोंके समुदाय ही उस यज्ञमें द्विज हैं। मारे गये मनुष्य, हाथी और घोड़े ही उनके भोजन और अन्नपान हैं ॥

निहतानां तु योधानां वस्त्राभरणभूषणम्।
हिरण्यं च सुवर्णं च यद् वै यज्ञस्य दक्षिणा॥

मारे गये योद्धाओंके जो वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण हैं, वे ही मानो उस रणयज्ञकी दक्षिणा हैं ॥

यस्तत्र हन्यते देवि गजस्कन्धगतो नरः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति रणेष्वभिमुखो हतः॥

देवि! जो संग्राममें हाथीकी पीठपर बैठा हुआ युद्धके मुहानेपर मारा जाता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।

रथमध्यगतो वापि हयपृष्ठगतोऽपि वा।
हन्यते यस्तु संग्रामे शक्रलोके महीयते॥

रथके बीचमें बैठा हुआ या घोड़ेकी पीठपर चढ़ा हुआ जो वीर युद्धमें मारा जाता है, वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है ॥

स्वर्गे हताः प्रपूज्यन्ते हन्ता त्वत्रैव पूज्यते।
द्वावेतौ सुखमेधेते हन्ता यश्चैव हन्यते॥

मारे गये योद्धा स्वर्गमें पूजित होते हैं; किंतु मारनेवाला इसी लोकमें प्रशंसित होता है। अतः युद्धमें दोनों ही सुखी होते हैं—जो मारता है वह और जो मारा जाता है वह ॥

तस्मात् संग्राममासाद्य प्रहर्तव्यमभीतवत्॥
निर्भयो यस्तु संग्रामे प्रहरेदुद्यतायुधः॥
यथा नदीसहस्राणि प्रविष्टानि महोदधिम्।
तथा सर्वे न संदेहो धर्मा धर्मभृतां वरम्॥

अतः संग्रामभूमिमें पहुँच जानेपर निर्भय होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये। जो हथियार उठाकर संग्राममें निर्भय होकर प्रहार करता है, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उस वीरको निस्संदेह सभी धर्म प्राप्त होते हैं। ठीक उसी तरह जैसे महासागरमें सहस्रों नदियाँ आकर मिलती हैं ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यः पार्थिवेन विशेषतः॥

धर्म ही, यदि उसका हनन किया जाय तो मारता है और धर्म ही सुरक्षित होनेपर रक्षा करता है; अतः प्रत्येक मनुष्यको, विशेषतः राजाको धर्मका हनन नहीं करना चाहिये ॥

प्रजाः पालयते यत्र धर्मेण वसुधाधिपः।
षट्कर्मनिरता विप्राः पूज्यन्ते पितृदैवतैः॥
नैव तस्मिन्ननावृष्टिर्न रोगा नाप्युपद्रवाः।
धर्मशीलाः प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरते नृपे॥

जहाँ राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है तथा जहाँ पितरों और देवताओंके साथ षट्कर्मपरायण ब्राह्मणोंकी पूजा होती है, उस देशमें न तो कभी अनावृष्टि होती है, न रोगोंका आक्रमण होता है और न किसी तरहके उपद्रव ही होते हैं। राजाके स्वधर्मपरायण होनेपर वहाँकी सारी प्रजा धर्मशील होती है ॥

एष्टव्यः सततं देवि युक्ताचारो नराधिपः।
छिद्रज्ञश्चैव शत्रूणामप्रमत्तः प्रतापवान्॥

देवि! प्रजाको सदा ऐसे नरेशकी इच्छा रखनी चाहिये, जो सदाचारी तो हो ही, देशमें सब ओर गुप्तचर नियुक्त करके शत्रुओंके छिद्रोंकी जानकारी रखता हो। सदा ही प्रमादशून्य और प्रतापी हो ॥

क्षुद्राः पृथिव्यां बहवो राज्ञां बहुविनाशकाः।
तस्मात् प्रमादं सुश्रोणि न कुर्यात् पण्डितो नृपः॥

सुश्रोणि! पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे क्षुद्र मनुष्य हैं, जो राजाओंका महान् विनाश करनेपर तुले रहते हैं; अतः विद्वान् राजाको कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये (आत्मरक्षाके लिये सदा सावधान रहना चाहिये।) ॥

तेषु मित्रेषु त्यक्तेषु तथा मर्त्येषु हस्तिषु।
विस्रम्भो नोपगन्तव्यः स्नानपानेषु नित्यशः॥

पहलेके छोड़े हुए मित्रोंपर, अन्यान्य मनुष्योंपर, हाथियोंपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। प्रतिदिनके स्नान और खानपानमें भी किसीका पूर्णतः विश्वास करना उचित नहीं है ॥

राज्ञो वल्लभतामेति कुलं भावयते स्वकम्।
यस्तु राष्ट्रहितार्थाय गोब्राह्मणकृते तथा॥
बन्दीग्रहाय मित्रार्थे प्राणांस्त्यजति दुस्त्यजान्॥

जो राष्ट्रके हितके लिये, गौ और ब्राह्मणोंके उपकारके लिये, किसीको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये और मित्रोंकी

सहायताके निमित्त अपने दुस्त्यज प्राणोंका परित्याग कर देता है, वह राजाको प्रिय होता है और अपने कुलको उन्नति-के शिखरपर पहुँचा देता है ॥

सर्वकामदुघां धेनुं धरणीं लोकधारिणीम् ।
समुद्रान्तां वरारोहे सशैलवनकाननाम् ॥
दद्याद् देवि द्विजातिभ्यो वसुपूर्णां वसुन्धराम् ॥
न तत्समं वरारोहे प्राणत्यागी विशिष्यते ॥

वरारोहे ! यदि कोई सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनुको तथा पर्वत और वनोंसहित समुद्रपर्यन्त लोक-धारिणी पृथ्वीको धनसे परिपूर्ण करके द्विजोंको दान कर देता है, उसका वह दान भी पूर्वोक्त प्राणत्यागी योद्धाके त्यागके समान नहीं है । वह प्राणत्यागी ही उस दातासे बढ़कर है ॥

सहस्रमपि यज्ञानां यजते च धनर्द्धिमान् ।
यज्ञैस्तस्य किमाश्चर्यं प्राणत्यागः सुदुष्करः ॥

जिसके पास धन और सम्पत्ति है, वह सहस्रों यज्ञ कर सकता है । उसके उन यज्ञोंसे कौन-सी आश्चर्यकी बात हो गयी ! प्राणोंका परित्याग करना तो सभीके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥

तस्मात् सर्वेषु यज्ञेषु प्राणयज्ञो विशिष्यते ।
एवं संग्रामयज्ञास्ते यथार्थं समुदाहृताः ॥

अतः सम्पूर्ण यज्ञोंमें प्राणयज्ञ ही बढ़कर है । देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष रणयज्ञका यथार्थरूपसे वर्णन किया है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[संक्षेपसे राजधर्मका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सम्प्रहासश्च भृत्येषु न कर्तव्यो नराधिपैः ।
लघुत्वं चैव प्राप्नोति आज्ञा चास्य निवर्तते ॥

श्रीमहादेवजी कहते हैं—देवि ! राजाओंको अपने सेवकोंके साथ हास-परिहास नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे उन्हें लघुता प्राप्त होती है और उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया जाता है ॥

भृत्यानां सम्प्रहासेन पार्थिवः परिभूयते ।
अयाच्यानि च याचन्ति अवक्तव्यं ब्रुवन्ति च ॥

सेवकोंके साथ हँसी-परिहास करनेसे राजाका तिरस्कार होता है । वे धृष्ट सेवक न माँगने योग्य वस्तुओंको भी माँग बैठते हैं और न कहने योग्य बातें भी कह डालते हैं ॥

पूर्वमप्युचितैर्लाभैः परितोषं न यान्ति ते ।
तस्माद् भृत्येषु नृपतिः सम्प्रहासं विवर्जयेत् ॥

पहलेसे ही उचित लाभ मिलनेपर भी वे संतुष्ट नहीं होते; इसलिये राजा सेवकोंके साथ हँसी-मजाक करना छोड़ दे ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते न च विश्वसेत् ।
सगोत्रेषु विशेषेण सर्वोपायैर्न विश्वसेत् ॥

राजा अविश्वस्त पुरुषपर कभी विश्वास न करे । जो विश्वस्त हो, उसपर भी पूरा विश्वास न करे; विशेषतः अपने समान गोत्रवाले भाई-बन्धुओंपर किसी भी उपायसे कदापि विश्वास न करे ॥

विश्वासाद् भयमुत्पन्नं हन्याद् वृक्षमिवाशनिः ।
प्रमादाद्धन्यते राजा लोभेन च वशीकृतः ॥
तस्मात् प्रमादं लोभं च न च कुर्यान्न विश्वसेत् ॥

जैसे वज्र वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय राजाको नष्ट कर डालता है । प्रमादवश लोभके वशीभूत हुआ राजा मारा जाता है । अतः प्रमाद और लोभको अपने भीतर न आने दे तथा किसीपर भी विश्वास न करे ॥

भयार्तानां भयात् त्राता दीनानुग्रहकारणात् ।
कार्याकार्यविशेषज्ञो नित्यं राष्ट्रहिते रतः ॥

राजा भयातुर मनुष्योंकी भयसे रक्षा करे, दीन-दुखियों-पर अनुग्रह करे, कर्तव्य और अकर्तव्यको विशेषरूपसे समझे और सदा राष्ट्रके हितमें संलग्न रहे ॥

सत्यः संधस्थितो राज्ये प्रजापालनतत्परः ।
अलुब्धो न्यायवादी च षड्भागमुपजीवति ॥

अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखावे । राज्यमें स्थित रहकर प्रजाके पालनमें तत्पर रहे । लोभशून्य होकर न्याययुक्त बात कहे और प्रजाकी आयका छठा भागमात्र लेकर जीवन-निर्वाह करे ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
स्वराष्ट्रेषु दयां कुर्यादकार्ये न प्रवर्तते ॥

कर्तव्य-अकर्तव्यको समझे । सबको धर्मकी दृष्टिसे देखे ! अपने राष्ट्रके निवासियोंपर दया करे और कभी न करने योग्य कर्ममें प्रवृत्त न हो ॥

ये चैवैनं प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ।
शत्रुं च मित्रवत् पश्येदपराधविवर्जितम् ॥

जो मनुष्य राजाकी प्रशंसा करते हैं और जो उसकी निन्दा करते हैं, इनमेंसे शत्रु भी यदि निरपराध हो तो उसे मित्रके समान देखे ॥

अपराधानुरूपेण दुष्टं दण्डेन शासयेत् ।
धर्मः प्रवर्तते तत्र यत्र दण्डरुचिर्नृपः ॥

दुष्टको अपराधके अनुसार दण्ड देकर उसका शासन करे । जहाँ राजा न्यायोचित दण्डमें रुचि रखता है, वहाँ धर्मका पालन होता है ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र यत्र राजाक्षमान्वितः ॥
अशिष्टशासनं धर्मः शिष्टानां परिपालनम् ।

जहाँ राजा क्षमाशील न हो, वहाँ अधर्म नहीं होता। अशिष्ट पुरुषोंको दण्ड देना और शिष्ट पुरुषोंका पालन करना राजाका धर्म है ॥

वध्यांश्च घातयेद् यस्तु अवध्यान् परिरक्षति ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो दूताश्चैव पिता तथा ।
विद्यां ग्राहयते यश्च ये च पूर्वोपकारिणः ॥
स्त्रियश्चैव न हन्तव्या यश्च सर्वातिथिर्नरः ॥

राजा वधके योग्य पुरुषोंका वध करे और जो वधके योग्य न हों, उनकी रक्षा करे। ब्राह्मण, गौ, दूत, पिता, जो विद्या पढ़ाता है वह अध्यापक तथा जिन्होंने पहले कभी उपकार किये हैं वे मनुष्य—ये सब-के-सब अवध्य माने गये हैं। स्त्रियोंका तथा जो सबका अतिथि-सत्कार करनेवाला हो, उस मनुष्यका भी वध नहीं करना चाहिये ॥

धरणीं गां हिरण्यं च सिद्धान्नं च तिलान् घृतम् ।
ददन्नित्यं द्विजातिभ्यो मुच्यते राजकिल्बिषात् ॥

पृथ्वी, गौ, सुवर्ण, सिद्धान्न, तिल और घी—इन वस्तुओंका ब्राह्मणके लिये प्रतिदिन दान करनेवाला राजा पापसे मुक्त हो जाता है ॥

एवं चरति यो नित्यं राजा राष्ट्रहिते रतः ।
तस्य राष्ट्रं धनं धर्मो यशः कीर्तिश्च वर्धते ॥

जो राजा इस प्रकार राष्ट्रके हितमें तत्पर हो प्रतिदिन ऐसा वर्ताव करता है, उसके राष्ट्र, धन, धर्म, यश और कीर्तिका विस्तार होता है ॥

न च पापैर्न चानर्थैर्युज्यते स नराधिपः ॥
षड्भागमुपयुञ्जन् यः प्रजा राजा न रक्षति ॥
स्वचक्रपरचक्राभ्यां धर्मैर्वा विक्रमेण वा ।
निरुद्योगो नृपो यश्च परराष्ट्रविघातने ॥
स्वराष्ट्रं निष्प्रतापस्य परचक्रेण हन्यते ॥

ऐसा राजा पाप और अनर्थका भागी नहीं होता। जो नरेश प्रजाकी आयके छठे भागका उपयोग तो करता है; परंतु धर्म या पराक्रमद्वारा स्वचक्र (अपनी मण्डलीके लोगों) तथा परचक्र (शत्रुमण्डलीके लोगों) से प्रजाकी रक्षा नहीं करता एवं जो राजा दूसरेके राष्ट्रपर आक्रमण करनेके विषयमें सदा उद्योगहीन बना रहता है, उस प्रतापहीन राजाका राज्य शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है ॥

यत् पापं परचक्रस्य परराष्ट्राभिघातने ।
तत् पापं सकलं राजा हतराष्ट्रः प्रपद्यते ॥

दूसरे चक्रके राजाके लिये दूसरेके राष्ट्रका विनाश करनेपर जो पाप लागू होता है, वह समूचा पाप उस राजाको भी प्राप्त होता है, जिसका राज्य उसीकी दुर्बलताके कारण शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है ॥

मातुलं भागिनेयं वा मातरं श्वशुरं गुरुम् ।
पितरं वर्जयित्वैकं हन्याद् घातकमागतम् ॥

मामा, भानजा, माता, श्वशुर, गुरु तथा पिता—इनमेंसे प्रत्येकको छोड़कर यदि दूसरा कोई मनुष्य मारनेकी नीयतसे आ जाय तो उसे (आततायी समझकर) मार डालना चाहिये ॥

स्वस्य राष्ट्रस्य रक्षार्थं युध्यमानस्तु यो हतः ।
संग्रामे परचक्रेण श्रूयतां तस्य या गतिः ॥

जो राजा अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्धमें जूझता हुआ शत्रुमण्डलके द्वारा मारा जाता है, उसे जो गति मिलती है, उसको श्रवण करो ॥

विमाने तु वरारोहे अप्सरोगणसेविते ।
शक्रलोकमितो याति संग्रामे निहतो नृपः ॥

वरारोहे ! संग्राममें मारा गया नरेश अप्सराओंसे सेवित विमानपर आरूढ़ हो इस लोकसे इन्द्रलोकमें जाता है ॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युस्तस्य गात्रेषु सुन्दरि ।
तावद्वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

सुन्दरि ! उसके अङ्गोंमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है ॥

यदि वै मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते ।
राजा वा राजमात्रो वा भूयो भवति वीर्यवान् ॥

यदि कदाचित् वह फिर मनुष्यलोकमें आता है तो पुनः राजा या राजाके तुल्य ही शक्तिशाली पुरुष होता है ॥

तस्माद् यत्नेन कर्तव्यं स्वराष्ट्रपरिपालनम् ।
व्यवहाराश्च चारश्च सततं सत्यसंधता ॥
अप्रमादः प्रमोदश्च व्यवसायेऽप्यचण्डता ।
भरणं चैव भृत्यानां वाहनानां च पोषणम् ॥
योधानां चैव सत्कारः कृते कर्मण्यमोघता ।
श्रेय एव नरेन्द्राणामिह चैव परत्र च ॥

इसलिये राजाको यत्नपूर्वक अपने राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। राजोचित व्यवहारोंका पालन, गुप्तचरोंकी नियुक्ति, सदा सत्यप्रतिज्ञ होना, प्रमाद न करना, प्रसन्न रहना, व्यवसायमें अत्यन्त कुपित न होना, भृत्यवर्गका भरण और वाहनोंका पोषण करना, योद्धाओंका सत्कार करना और किये हुए कार्यमें सफलता लाना—यह सब राजाओंका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे उन्हें इहलोक और परलोकमें भी श्रेयकी प्राप्ति होती है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अहिंसाकी और इन्द्रिय-संयमकी प्रशंसा तथा दैवकी प्रधानता]

उमोवाच

देवदेव महादेव सर्वदेवनमस्कृत।
यानि धर्मरहस्यानि श्रोतुमिच्छामि तान्यहम्॥

उमाने कहा—सर्वदेववन्दित देवाधिदेव महादेव! अब मैं धर्मके रहस्योंको सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा परम सुख है। सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको परमपद बताया गया है॥

देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातं परमार्चितम्॥

वरारोहे! देवताओं और अतिथियोंकी सेवा, निरन्तर धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, दम, गुरु और आचार्यकी सेवा तथा तीर्थोंकी यात्रा—ये सब अहिंसाधर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं। यह मैंने तुम्हें धर्मका परम गुह्य रहस्य बताया है, जिसकी शास्त्रोंमें भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है॥

निरुणद्धीन्द्रियाण्येव स सुखी स विचक्षणः॥
इन्द्रियाणां निरोधेन दानेन च दमेन च।
नरः सर्वमवाप्नोति मनसा यद् यदिच्छति॥

जो अपनी इन्द्रियोंका निरोध करता है, वही सुखी है और वही विद्वान् है। इन्द्रियोंके निरोधसे, दानसे और इन्द्रिय-संयमसे मनुष्य मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह सब पा लेता है॥

यतो यतो महाभागे हिंसा स्यान्महती ततः।
निवृत्तो मधुमांसाभ्यां हिंसा त्वल्पतरा भवेत्॥

महाभागे! जिस-जिस ओरसे भारी हिंसाकी सम्भावना हो, उससे तथा मद्य और मांससे मनुष्यको निवृत्त हो जाना चाहिये। इससे हिंसाकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है॥

निवृत्तिः परमो धर्मो निवृत्तिः परमं सुखम्।
मनसा विनिवृत्तानां धर्मस्य निचयो महान्॥

निवृत्ति परम धर्म है, निवृत्ति परम सुख है, जो मनसे विषयोंकी ओरसे निवृत्त हो गये हैं, उन्हें विशाल धर्मराशिकी प्राप्ति होती है॥

मनःपूर्वागमा धर्मा अधर्माश्च न संशयः।
मनसा बद्ध्यते चापि मुच्यते चापि मानवः॥
निगृहीते भवेत् स्वर्गो विसृष्टे नरको ध्रुवः।

इसमें संदेह नहीं कि धर्म और अधर्म पहले मनमें ही आते हैं। मनसे ही मनुष्य बँधता है और मनसे ही मुक्त होता है। यदि मनको वशमें कर लिया जाय, तब तो स्वर्ग मिलता है और यदि उसे खुला छोड़ दिया जाय तो नरककी प्राप्ति अवश्यम्भावी है॥

जीवाः पुराकृतेनैव तिर्यग्योनिसरीसृपाः।
नानायोनिषु जायन्ते स्वकर्मपरिवेष्टिताः॥

जीव अपने पूर्वकृत कर्मके ही फलसे पशु-पक्षी एवं कीट आदि होते हैं। अपने-अपने कर्मोंसे बँधे हुए प्राणी ही भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते हैं॥

जायमानस्य जीवस्य मृत्युः पूर्वं प्रजायते।
सुखं वा यदि वा दुःखं यथापूर्वं कृतं तु वा॥

जो जीव जन्म लेता है, उसकी मृत्यु पहले ही पैदा हो जाती है। मनुष्यने पूर्व जन्ममें जैसा कर्म किया है, तदनुसार ही उसे सुख या दुःख प्राप्त होता है॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु विधिर्जागर्ति जन्तुषु।
न हि तस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यो न च मध्यमः॥

प्राणी प्रमादमें पड़कर भले ही सो जायँ, परंतु उनका प्रारब्ध या दैव प्रमादशून्य—सावधान होकर सदा जागता रहता है। उसका न कोई प्रिय है, न द्वेषपात्र है और न कोई मध्यस्थ ही है॥

समः सर्वेषु भूतेषु कालः कालं निरीक्षते।
गतायुषो ह्याक्षिपते जीवः सर्वस्य देहिनः॥

काल समस्त प्राणियोंके प्रति समान है। वह अवसरकी प्रतीक्षा करता रहता है। जिनकी आयु समाप्त हो गयी है, उन्हीं प्राणियोंका वह संहार करता है। वही समस्त देहधारियोंका जीवन है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[त्रिवर्गका निरूपण तथा कल्याणकारी आचार-व्यवहारका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

विद्या वार्ता च सेवा च कारुत्वं नाट्यता तथा।
इत्येते जीवनार्थाय मर्त्यानां विहिताः प्रिये॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! विद्या, वार्ता, सेवा, शिल्पकला और अभिनय-कला—ये मनुष्योंके जीवन-निर्वाहके लिये पाँच वृत्तियाँ बनायी गयी हैं॥

विद्यायोगस्तु सर्वेषां पूर्वमेव विधीयते।
कार्याकार्यं विजानन्ति विद्यया देवि नान्यथा॥

देवि ! सभी मनुष्योंके लिये विद्याका योग पहले ही निश्चित कर दिया जाता है । विद्यासे लोग कर्तव्य और अकर्तव्यको जानते हैं, अन्यथा नहीं ॥

विद्यया स्फीयते ज्ञानं ज्ञानात् तत्त्वविदर्शनम्।
दृष्टतत्त्वो विनीतात्मा सर्वार्थस्य च भाजनम् ॥

विद्यासे ज्ञान बढ़ता है, ज्ञानसे तत्त्वका दर्शन होता है और तत्त्वका दर्शन कर लेनेके पश्चात् मनुष्य विनीतचित्त होकर समस्त पुरुषार्थोंका भाजन हो जाता है ॥

शक्यं विद्याविनीतेन लोके संजीवनं शुभम् ॥
आत्मानं विद्यया तस्मात् पूर्वं कृत्वा तु भाजनम्।
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो भूतात्मानं तु भावयेत् ॥

विद्यासे विनीत हुआ पुरुष संसारमें शुभ जीवन बिता सकता है; अतः अपने आपको पहले विद्याद्वारा पुरुषार्थका भाजन बनाकर क्रोधविजयी एवं जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा—परमात्माका चिन्तन करे ॥

भावयित्वा तदाऽऽत्मानं पूजनीयः सतामपि ॥
कुलानुवृत्तं वृत्तं वा पूर्वमात्मा समाश्रयेत्।

परमात्माका चिन्तन करके मनुष्य सत्पुरुषोंके लिये भी पूजनीय बन जाता है । जीवात्मा पहले कुलपरम्परासे चले आते हुए सदाचारका ही आश्रय ले ॥

यदि चेद् विद्यया चैव वृत्तिं काङ्क्षेदथात्मनः ॥
राजविद्यां तु वा देवि लोकविद्यामथापि वा।
तीर्थतश्चापि गृह्णीयाच्छुश्रूषादिगुणैर्युतः ॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव दृढं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥

देवि ! यदि विद्यासे अपनी जीविका चलानेकी इच्छा हो तो शुश्रूषा आदि गुणोंसे सम्पन्न हो किसी गुरुसे राजविद्या अथवा लोकविद्याकी शिक्षा ग्रहण करे और उसे ग्रन्थ एवं अर्थ-के अभ्यासद्वारा प्रयत्नपूर्वक दृढ़ करे ॥

एवं विद्याफलं देवि प्राप्नुयान्नान्यथा नरः।
न्यायाद् विद्याफलानीच्छेदधर्मं तत्र वर्जयेत् ॥

देवि ! ऐसा करनेसे मनुष्य विद्याका फल पा सकता है, अन्यथा नहीं । न्यायसे ही विद्याजनित फलोंको पानेकी इच्छा करे । वहाँ अधर्मको सर्वथा त्याग दे ॥

यदिच्छेद् वार्तया वृत्तिं काङ्क्षेत विधिपूर्वकम्।
क्षेत्रे जलोपपन्ने च तद्योग्यं कृषिमाचरेत् ॥

यदि वार्तावृत्तिके द्वारा जीविका चलानेकी इच्छा हो तो जहाँ सींचनेके लिये जलकी व्यवस्था हो, ऐसे खेतमें तदनुरूप कार्य विधिपूर्वक करे ॥

वाणिज्यं वा यथाकालं कुर्यात् तद्देशयोगतः।
मूल्यमर्थं प्रयासं च विचार्यैव व्ययोदयौ।

अथवा यथासमय उस देशकी आवश्यकताके अनुसार वस्तु, उसके मूल्य, व्यय, लाभ और परिश्रम आदिका भली-भाँति विचार करके व्यापार करे ॥

पशुसंजीवनं चैव देशगः पोषयेद् ध्रुवम् ॥
बहुप्रकारा बहवः पशवस्तस्य साधकाः ॥

देशवासी पुरुषको पशुओंका पालन-पोषण भी अवश्य करना चाहिये । अनेक प्रकारके बहुसंख्यक पशु भी उसके लिये अर्थप्राप्तिके साधक हो सकते हैं ॥

यः कश्चित् सेवया वृत्तिं काङ्क्षेत मतिमान् नरः।
यतात्मा श्रवणीयानां भवेद् वै सम्प्रयोजकः ॥

जो कोई बुद्धिमान् मनुष्य सेवाद्वारा जीवननिर्वाह करना चाहे तो वह मनको संयममें रखकर श्रवण करनेयोग्य मीठे वचनोंका प्रयोग करे ॥

यथा यथा स तुष्येत तथा संतोषयेत् तु तम्।
अनुजीविगुणोपेतः कुर्यादात्मानमाश्रितम् ॥

जैसे-जैसे सेव्य स्वामी संतुष्ट रहे, वैसे ही वैसे उसे संतोष दिलावे । सेवकके गुणोंसे सम्पन्न हो अपने-आपको स्वामीके आश्रित रखे ॥

विप्रियं नाचरेत् तस्य एषा सेवा समासतः ॥
विप्रयोगात् पुरा तेन गतिमन्यां न लक्षयेत् ॥

स्वामीका कभी अप्रिय न करे, यही संक्षेपसे सेवाका स्वरूप है । उसके साथ वियोग होनेसे पहले अपने लिये दूसरी कोई गति न देखे ॥

कारुकर्म च नाट्यं च प्रायशो नीचयोनिषु।
तयोरपि यथायोगं न्यायतः कर्मवेतनम् ॥

शिल्पकर्म अथवा कारीगरी और नाट्यकर्म प्रायः निम्न जातिके लोगोंमें चलते हैं । शिल्प और नाट्यमें भी यथायोग्य न्यायानुसार कार्यका वेतन लेना चाहिये ॥

आर्जवेभ्योऽपि सर्वेभ्यः स्वार्जवाद् वेतनं हरेत्।
अनार्जवादाहरतस्तत् तु पापाय कल्पते ॥

सरल व्यवहारवाले सभी मनुष्योंसे सरलतासे ही वेतन लेना चाहिये । कुटिलतासे वेतन लेनेवालेके लिये वह पापका कारण बनता है ॥

सर्वेषां पूर्वमारम्भांश्चिन्तयेन्नयपूर्वकम्।
आत्मशक्तिमुपायांश्च देशकालौ च युक्तितः ॥
कारणानि प्रवासं च प्रक्षेपं च फलोदयम् ॥
एवमादीनि संचिन्त्य दृष्ट्वा दैवानुकूलताम्।
अतः परं समारम्भेद् यत्रात्महितमाहितम् ॥

जीविका-साधनके जितने उपाय हैं, उन सबके आरम्भमें पर पहले न्यायपूर्वक विचार करे । अपनी शक्ति, उपाय

देश, काल, कारण, प्रवास, प्रक्षेप और फलोदय आदिके विषयमें युक्तिपूर्वक विचार एवं चिन्तन करके दैवकी अनुकूलता देखकर जिसमें अपना हित निहित दिखायी दे, उसी उपायका आलम्बन करे ॥

वृत्तिमेवं समासाद्य तां सदा परिपालयेत्।
दैवमानुषविघ्नेभ्यो न पुनर्भ्रश्यते यथा ॥

इस प्रकार अपने लिये जीविकावृत्ति चुनकर उसका सदा ही पालन करे और ऐसा प्रयत्न करे, जिससे वह दैव और मानुष विघ्नोंसे पुनः उसे छोड़ न बैठे ॥

पालयन् वर्धयन् भुञ्जंस्तां प्राप्य न विनाशयेत्।
क्षीयते गिरिसंकाशमश्नतो ह्यनपेक्षया ॥

रक्षा, वृद्धि और उपभोग करते हुए उस वृत्तिको पाकर नष्ट न करे। यदि रक्षा आदिकी चिन्ता छोड़कर केवल उपभोग ही किया जाय तो पर्वत-जैसी धनराशि भी नष्ट हो जाती है ॥

आजीवेभ्यो धनं प्राप्य चतुर्धा विभजेद् बुधः।
धर्मायार्थाय कामाय आपत्प्रशमनाय च ॥

आजीविकाके उपायोंसे धनका उपार्जन करके विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ, काम तथा संकट-निवारण—इन चारोंके उद्देश्यसे उस धनके चार भाग करे ॥

चतुर्ष्वपि विभागेषु विधानं शृणु भामिनि ॥
यज्ञार्थं चान्नदानार्थं दीनानुग्रहकारणात्।
देवब्राह्मणपूजार्थं पितृपूजार्थमेव च ॥
मूलार्थं संनिवासार्थं क्रियानित्यैश्च धार्मिकैः।
एवमादिषु चान्येषु धर्मार्थं संत्यजेद् धनम् ॥

भामिनि! इन चारों विभागोंमें भी जैसा विधान है, उसे सुनो। यज्ञ करने, दीन दुखियोंपर अनुग्रह करके अन्न देने, देवताओं, ब्राह्मणों तथा पितरोंकी पूजा करने, मूलधनकी रक्षा करने,, सत्पुरुषोंके रहने तथा क्रियापरायण धर्मात्मा पुरुषोंके सहयोगके लिये तथा इसी प्रकार अन्यान्य सत्कर्मोंके उद्देश्यसे धर्मार्थ धनका दान करे ॥

धर्मकार्ये धनं दद्यादनवेक्ष्य फलोदयम्।
ऐश्वर्यस्थानलाभार्थं राजवाल्लभ्यकारणात् ॥
वार्तायां च समारम्भेऽमात्यमित्रपरिग्रहे।
आवाहे च विवाहे च पूर्णानां वृत्तिकारणात् ॥
अर्थोदयसमावापावनर्थस्य विघातने।
एवमादिषु चान्येषु अर्थार्थं विसृजेद् धनम् ॥

फलकी प्राप्तिका विचार न करके धर्मके कार्यमें धन देना चाहिये। ऐश्वर्यपूर्ण स्थानकी प्राप्तिके लिये, राजाका प्रिय होनेके लिये, कृषि, गोरक्षा अथवा वाणिज्यके आरम्भके लिये, मन्त्रियों और मित्रोंके संग्रहके लिये, आमन्त्रण और विवाहके लिये, पूर्ण पुरुषोंकी वृत्तिके लिये, धनकी उत्पत्ति एवं प्राप्तिके लिये तथा अनर्थके निवारण और ऐसे ही अन्य कार्योंके लिये अर्थार्थ धनका त्याग करना चाहिये ॥

अनुबन्धं हेतुयुक्तं दृष्ट्वा वित्तं परित्यजेत्।
अनर्थं बाधते ह्यर्थो अर्थं चैव फलान्युत ॥

हेतुयुक्त अनुबन्ध (सकारण सम्बन्ध) देखकर उसके लिये धनका त्याग करना चाहिये। अर्थ अनर्थका निवारण करता है तथा धन एवं अभीष्ट फलकी प्राप्ति कराता है ॥

नाधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थं नरा यत्नशतैरपि।
तस्माद् धनं रक्षितव्यं दातव्यं च विधानतः ॥

निर्धन मनुष्य सैकड़ों यत्न करके भी धन नहीं पा सकते। अतः धनकी रक्षा करनी चाहिये तथा विधिपूर्वक उसका दान करना चाहिये ॥

शरीरपोषणार्थाय आहारस्य विशेषणे।
एवमादिषु चान्येषु कामार्थं विसृजेद् धनम् ॥

शरीरके पोषणके लिये विशेष प्रकारके आहारकी व्यवस्था तथा ऐसे ही अन्य कार्योंके निमित्त कामार्थ धनका व्यय करना उचित है ॥

विचार्य गुणदोषौ तु त्रयाणां तत्र संत्यजेत्।
चतुर्थं संनिदध्याच्च आपदर्थं शुचिस्मिते ॥

गुण-दोषका विचार करके धर्म, अर्थ और काम-सम्बन्धी धनोंका तत्तत् कार्योंमें व्यय करना चाहिये। शुचिस्मिते! धनका जो चौथा भाग है, उसे आपत्तिकालके लिये सदा सुरक्षित रखे ॥

राज्यभ्रंशविनाशार्थं दुर्भिक्षार्थं च शोभने।
महाव्याधिविमोक्षार्थं वार्धकस्यैव कारणात्॥
शत्रूणां प्रतिकाराय साहसैश्चाप्यमर्षणात्।
प्रस्थाने चान्यदेशार्थमापदां विप्रमोक्षणे ॥
एवमादि समुद्दिश्य संनिदध्यात् स्वकं धनम् ॥

शोभने! राज्य विध्वंसका निवारण करने, दुर्भिक्षके समय काम आने, बड़े-बड़े रोगोंसे छुटकारा पाने, बुढ़ापेमें जीवन-निर्वाह करने, साहस और अमर्षपूर्वक शत्रुओंसे बदला लेने, विदेश-यात्रा करने तथा सब प्रकारकी आपत्तियोंसे छुटकारा पाने आदिके उद्देश्यसे अपने धनको अपने निकट बचाये रखना चाहिये ॥

सुखमर्थवतां लोके कृच्छ्राणां विप्रमोक्षणम्।

धन संकटोंसे छुड़ानेवाला है, इसलिये इस जगत्में धनवानोंको सुख होता है ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं च परमं यशः।
त्रिवर्गो हि वशे युक्तः सर्वेषां शं विधीयते ॥
तथा संवर्तमानास्तु लोकयोर्हितमाप्नुयुः ॥

वह धन यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। इतना ही नहीं, वह परम यशस्वरूप है। धर्म, अर्थ

और काम यह त्रिवर्ग कहलाता है। वह जिनके वशमें होता है, उन सबके लिये कल्याणकारी होता है। ऐसा बर्ताव करनेवाले लोग उभय लोकमें अपना हित साधन करते हैं ॥

काल्योत्थानं च शौचं च देवब्राह्मणभक्तितः।
गुरूणामेव शुश्रूषा ब्राह्मणेष्वभिवादनम् ॥
प्रत्युत्थानं च वृद्धानां देवस्थानप्रणामनम्।
आभिमुख्यं पुरस्कृत्य अतिथीनां च पूजनम् ॥
वृद्धोपदेशकरणं श्रवणं हितपथ्ययोः।
पोषणं भृत्यवर्गस्य सान्त्वदानपरिग्रहैः ॥
न्यायतः कर्मकरणमन्यायाहितवर्जितम्।
सम्यग्वृत्तं स्वदारेषु दोषाणां प्रतिषेधनम् ॥
पुत्राणां विनयं कुर्यात् तत्तत्कार्यनियोजनम्।
वर्जनं चाशुभार्थानां शुभानां जोषणं तथा ॥
कुलोचितानां धर्माणां यथावत् परिपालनम्।
कुलसंधारणं चैव पौरुषेणैव सर्वशः ॥
एवमादि शुभं सर्वं तस्य वृत्तमिति स्थितम् ॥

प्रातःकाल उठना, शौच-स्नान करके शुद्ध होना, देवताओं और ब्राह्मणोंमें भक्ति रखते हुए गुरुजनोंकी सेवा तथा ब्राह्मण-वर्गको प्रणाम करना, बड़े-बूढ़ोंके आनेपर उठकर उनका स्वागत करना, देवस्थानमें मस्तक झुकाना, अतिथियोंके सम्मुख होकर उनका उचित आदर-सत्कार करना, बड़े-बूढ़ोंके उपदेशको मानना और आचरणमें लाना, उनके हितकर और लाभदायक वचनोंको सुनना, भृत्यवर्गको सान्त्वना और अभीष्ट वस्तुका दान देकर अपनाते हुए उसका पालन-पोषण करना, न्याययुक्त कर्म करना, अन्याय और अहितकर कार्यको त्याग देना, अपनी स्त्रीके साथ अच्छा बर्ताव करना, दोषोंका निवारण करना, पुत्रोंको विनय सिखाना, उन्हें भिन्न-भिन्न आवश्यक कार्योंमें लगाना, अशुभ पदार्थोंको त्याग देना, शुभ पदार्थोंका सेवन करना, कुलोचित धर्मोंका यथावत् रूपसे पालन करना और अपने ही पुरुषार्थसे सर्वथा अपने कुलकी रक्षा करना इत्यादि सारे शुभ व्यवहार वृत्त कहे गये हैं ॥

वृद्धसेवी भवेन्नित्यं हितार्थं ज्ञानकाङ्क्षया।
परार्थं नाहरेद् द्रव्यमनामन्त्र्य तु सर्वदा ॥

प्रतिदिन अपने हितके लिये और ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे वृद्ध पुरुषोंका सेवन करे। दूसरेके द्रव्यको उससे पूछे बिना कदापि न ले ॥

न याचेत परान् धीरः स्वबाहुबलमाश्रयेत् ॥
स्वशरीरं सदा रक्षेदाहाराचारयोरपि।
हितं पथ्यं सदाहारं जीर्णं भुञ्जीत मात्रया ॥

धीर पुरुष दूसरेसे याचना न करे। अपने बाहुबलका भरोसा रक्खे। आहार और आचार-व्यवहारमें भी सदा अपने शरीरकी रक्षा करे। जो भोजन हितकर एवं लाभदायक हो तथा अच्छी तरह पक गया हो, उसीको नियत मात्रामें ग्रहण करे ॥

देवतातिथिसत्कारं कृत्वा सर्वं यथाविधि।
शेषं भुञ्जेच्छुचिर्भूत्वा न च भाषेत विप्रियम्॥

देवताओं और अतिथियोंको पूर्णरूपसे विधिपूर्वक सत्कार करके शेष अन्नका पवित्र होकर भोजन करे और कभी किसीसे अप्रिय वचन न बोले ॥

प्रतिश्रयं च पानीयं बलिं भिक्षां च सर्वतः।
गृहस्थवासी व्रतवान् दद्याद् गाश्चैव पोषयेत् ॥

गृहस्थ पुरुष धर्मपालनका व्रत लेकर अतिथिके लिये ठहरनेका स्थान, जल, उपहार और भिक्षा दे तथा गौओंका पालन-पोषण करे ॥

बहिर्निष्क्रमणं चैव कुर्यात् कारणतोऽपि वा।
मध्याह्ने वार्धरात्रे वा गमनं नैव रोचयेत् ॥

वह किसी विशेष कारणसे बाहरकी यात्रा भी कर सकता है, परंतु दोपहर या आधी रातके समय उसे प्रस्थान करनेका विचार नहीं करना चाहिये ॥

विषयान् नावगाहेत स्वशक्त्या तु समाचरेत्।
यथाऽऽयव्ययता लोके गृहस्थानां प्रपूजिता ॥

विषयोंमें डूबा न रहे। अपनी शक्तिके अनुसार धर्माचरण करे। गृहस्थ पुरुषकी जैसी आय हो, उसके अनुसार ही यदि उसका व्यय हो तो लोकमें उसकी प्रशंसा की जाती है ॥

अयशस्करमर्थघ्नं कर्म यत् परपीडनम्।
भयाद् वा यदि वा लोभान्न कुर्वीत कदाचन ॥

भय अथवा लोभवश कभी ऐसा कर्म न करे जो यश और अर्थका नाशक तथा दूसरोंको पीड़ा देनेवाला हो ॥

बुद्धिपूर्वं समालोक्य दूरतो गुणदोषतः।
आरभेत तदा कर्म शुभं वा यदि वेतरत् ॥

किसी कर्मके गुण और दोषको दूरसे ही बुद्धिपूर्वक देखकर तदनन्तर उस शुभ कर्मको लाभदायक समझे तो आरम्भ करे या अशुभका त्याग करे ॥

आत्मसाक्षी भवेन्नित्यमात्मनस्तु शुभाशुभे।
मनसा कर्मणा वाचा न च काङ्क्षेत पातकम् ॥

अपने शुभ और अशुभ कर्ममें सदा अपने-आपको ही साक्षी माने और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी पाप करनेकी इच्छा न करे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[विविध प्रकारके कर्मफलोंका वर्णन]

उमोवाच

सुरासुरपते देव वरद प्रीतिवर्धन ।
मानुषेष्वेव ये केचिदाढ्याः क्लेशविवर्जिताः ॥
भुञ्जाना विविधान् भोगान् दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ॥
अपरे क्लेशसंयुक्ता दरिद्रा भोगवर्जिताः ॥
किमर्थं मानुषे लोके न समत्वेन कल्पिताः ।
एतच्छ्रोतुं महादेव कौतूहलमतीव मे ॥

उमाने पूछा—सुरासुरपते ! सबकी प्रीति बढ़ानेवाले वरदायक देव ! मनुष्योंमें ही कितने ही लोग क्लेशशून्य, उपद्रवरहित एवं धन-धान्यसे सम्पन्न होकर भाँति-भाँतिके भोग भोगते देखे जाते हैं और दूसरे बहुत-से मनुष्य क्लेशयुक्त, दरिद्र एवं भोगोंसे वञ्चित पाये जाते हैं। महादेव ! मनुष्य-लोकमें सब लोग समान क्यों नहीं बनाये गये (वहाँ इतनी विषमता क्यों है) ? यह सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ।
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति॥

श्रीमहेश्वर कहते हैं—देवि ! जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। वह अपने किये हुएका फल स्वयं ही भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं है ॥

अपरे धर्मकामेभ्यो निवृत्ताश्च शुभेक्षणे ।
कदर्या निरनुक्रोशाः प्रायेणात्मपरायणाः ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
दरिद्राः क्लेशभूयिष्ठा भवन्त्येव न संशयः ॥

शुभेक्षणे ! जो लोग धर्म और कामसे निवृत्त हो लोभी, निर्दयी और प्रायः अपने ही शरीरके पोषक हो जाते हैं, शोभने ! ऐसे लोग मृत्युके पश्चात् जब पुनः जन्म लेते हैं, तब दरिद्र और अधिक क्लेशके भागी होते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥

उमोवाच

मानुषेष्वथ ये केचिद् धनधान्यसमन्विताः ।
भोगहीनाः प्रदृश्यन्ते सर्वभोगेषु सत्स्वपि ॥
न भुञ्जते किमर्थं ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंमें जो लोग धन-धान्यसे सम्पन्न हैं, उनमेंसे भी कितने ही ऐसे हैं, जो सम्पूर्ण भोगोंके होनेपर भी भोगहीन देखे जाते हैं। वे उन भोगोंको क्यों नहीं भोगते ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

परैः संचोदिता धर्मं कुर्वते न स्वकामतः ।
धर्मश्रद्धां बहिष्कृत्य कुर्वन्ति च रुदन्ति च ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
फलानि तानि सम्प्राप्य भुञ्जते न कदाचन ॥
रक्षन्तो वर्धयन्तश्च आसते निधिपालवत् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो दूसरोंसे प्रेरित होकर धर्म करते हैं, स्वेच्छासे नहीं तथा धर्मविषयक श्रद्धाको दूर करके अश्रद्धासे दान या धर्म करते हैं और उसके लिये रोते या पछताते हैं; शोभने ! ऐसे लोग जब मृत्युको प्राप्त होकर फिर जन्म लेते हैं तो धर्मके उन फलोंको पाकर कभी भोगते नहीं हैं। केवल खजानेकी रक्षा करनेवाले सिपाहीकी भाँति उस धनकी रखवाली करते हुए उसे बढ़ाते रहते हैं ॥

उमोवाच

केचिद् धनवियुक्ताश्च भोगयुक्ता महेश्वर ।
मानुषाः सम्प्रदृश्यन्ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—महेश्वर ! कितने ही मनुष्य धनहीन होनेपर भी भोगयुक्त दिखायी देते हैं। इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नित्यं ये दातुमनसो नरा वित्तेष्वसत्स्वपि ॥
कालधर्मवशं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
एते धनविहीनाश्च भोगयुक्ता भवन्त्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो धन न होनेपर भी सदा दान देनेकी इच्छा रखते हैं, वे मनुष्य मृत्युके पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं, तब निर्धन होनेके साथ ही भोगयुक्त होते हैं (धर्मके प्रभावसे उनके योगक्षेमकी व्यवस्था होती रहती है)॥

धर्मदानोपदेशं वा कर्तव्यमिति निश्चयः ।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

अतः धर्म और दानका उपदेश करना चाहिये—यह विद्वानोंका निश्चय है। देवि ! तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर तो दे दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश त्रियक्ष वृषभध्वज ।
मानुषास्त्रिविधा देव दृश्यन्ते सततं विभो ॥

उमाने कहा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! त्रिलोचन ! वृषभध्वज ! देव ! विभो ! मनुष्य तीन प्रकारके दिखायी देते हैं ॥

आसीना एव भुञ्जन्ते स्थानैश्वर्यपरिग्रहैः ।
अपरे यत्नपूर्वं तु लभन्ते भोगसंग्रहम् ॥
अपरे यतमानाश्च न लभन्ते तु किंचन ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कुछ लोग बैठे-बैठे ही उत्तम स्थान, ऐश्वर्य और विविध भोगोंका संग्रह पाकर उनका उपभोग करते हैं। दूसरे लोग यत्नपूर्वक भोगोंका संग्रह कर पाते हैं, और तीसरे ऐसे हैं, जो

यत्न करनेपर भी कुछ नहीं पाते। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

न्यायतस्त्वं महाभागे श्रोतुकामासि भामिनि ॥
ये लोके मानुषा देवि दानधर्मपरायणाः।
पात्राणि विधिवज्ज्ञात्वा दूरतोऽप्यनुमानतः ॥
अभिगम्य स्वयं तत्र ग्राहयन्ति प्रसाद्य च।
दानादि चेङ्गितैरेव तैरविज्ञातमेव वा ॥
पुनर्जन्मनि ते देवि तादृशाः शोभना नराः।
अयत्नतस्तु तान्येव फलानि प्राप्नुवन्त्युत ॥
आसीना एव भुञ्जन्ते भोगान् सुकृतभागिनः।

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे ! भामिनि ! तुम न्यायतः मेरा उपदेश सुनना चाहती हो, अतः सुनो। देवि ! दानधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो मनुष्य संसारमें दानके सुयोग्य पात्रोंका विधिवत् ज्ञान प्राप्त करके अथवा अनुमानसे भी उन्हें जानकर दूरसे भी स्वयं उनके पास चले जाते और उन्हें प्रसन्न करके अपनी दी हुई वस्तुएँ उन्हें स्वीकार करवाते हैं, उनके दान आदि कर्म संकेतसे ही होते हैं; अतः दान-पात्रोंको जनाये बिना ही जो उनके लिये दानकी वस्तुएँ दे देते हैं; देवि ! वे ही पुनर्जन्ममें वैसे श्रेष्ठ पुरुष होते हैं तथा वे बिना यत्नके ही उन कर्मोंके फलोंको प्राप्त कर लेते हैं और पुण्यके भागी होनेके कारण बैठे-बैठाये ही सब तरहके भोग भोगते हैं ॥

अपरे ये च दानानि ददत्येव प्रयाचिताः ॥
यदा यदार्थिने दत्त्वा पुनर्दानं च याचिताः।
तावत्कालं ततो देवि पुनर्जन्मनि ते नराः।
यत्नतः श्रमसंयुक्ताः पुनस्तान् प्राप्नुवन्ति च ॥

दूसरे जो लोग याचकोंके माँगनेपर दान देते ही हैं और जब-जब याचकने माँगा, तब-तब उसे दान देकर उसके पुनः याचना करनेपर फिर दान दे देते हैं; देवि ! वे मनुष्य पुनर्जन्म पानेपर यत्न और परिश्रमसे बारंबार उन दान-कर्मोंके फल पाते रहते हैं ॥

याचिता अपि केचित् तु न ददत्येव किंचन।
अभ्यसूयापरा मर्त्या लोभोपहतचेतसः ॥

कुछ लोग ऐसे हैं, जो याचना करनेपर भी याचकको कुछ नहीं देते। उनका चित्त लोभसे दूषित होता है और वे सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं ॥

ते पुनर्जन्मनि शुभे यतन्तो बहुधा नराः।
न प्राप्नुवन्ति मनुजा मार्गन्तस्तेऽपि किंचन ॥

शुभे ! ऐसे लोग फिर जन्म लेनेपर बहुत यत्न करते रहते हैं तो भी कुछ नहीं पाते। बहुत ढूँढ़नेपर भी उन्हें कोई भोग सुलभ नहीं होता ॥

नानुप्तं रोहते सस्यं तद्वद् दानफलं विदुः।
यद् यद् ददाति पुरुषस्तत् तत् प्राप्नोति केवलम् ॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

जैसे बीज बोये बिना खेती नहीं उपजती, यही बात दानके फलके विषयमें भी समझनी चाहिये—दिये बिना किसीको कुछ नहीं मिलता। मनुष्य जो-जो देता है, केवल उसीको पाता है। देवि ! यह विषय तुम्हें बताया गया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न केचिद् वार्धकश्यसंयुताः।
अभोगयोग्यकाले तु भोगांश्चैव धनानि च ॥
लभन्ते स्थविरा भूता भोगैश्वर्यं यतस्ततः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा— भगवन् ! भगदेवताका नेत्र नष्ट करनेवाले महादेव ! कुछ लोग बूढ़े हो जानेपर, जब कि उनके लिये भोग भोगने योग्य समय नहीं रह जाता, बहुत-से भोग और धन पा जाते हैं। वे वृद्ध होनेपर भी जहाँ-तहाँसे भोग और ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं; ऐसा किस कर्म-विपाकसे सम्भव होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता ॥
धर्मकार्यं चिरं कालं विस्मृत्य धनसंयुताः।
प्राणान्तकाले सम्प्राप्ते व्याधिभिश्च निपीडिताः ॥
आरभन्ते पुनर्धर्मान् दातुं दानानि वा नराः ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे भूत्वा दुःखपरिप्लुताः।
अतीतयौवने काले स्थविरत्वमुपागताः ॥
लभन्ते पूर्वदत्तानां फलानि शुभलक्षणे ॥
एतत् कर्मफलं देवि कालयोगाद् भवत्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे इसका उत्तर देता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर इसका तात्त्विक विषय सुनो। जो लोग धनसे सम्पन्न होनेपर भी दीर्घकालतक धर्मकार्यको भूले रहते हैं और जब रोगोंसे पीड़ित होते हैं, तब प्राणान्त-काल निकट आनेपर धर्म करना या दान देना आरम्भ करते हैं, शुभे ! वे पुनर्जन्म लेनेपर दुःखमें मग्न हो यौवनका समय बीत जानेपर जब बूढ़े होते हैं, तब पहलेके दिये हुए दानोंके फल पाते हैं। शुभलक्षणे ! देवि ! यह कर्म-फल काल-योगसे प्राप्त होता है ॥

उमोवाच

भोगयुक्ता महादेव केचिद् व्याधिपरिप्लुताः।
असमर्थाश्च तान् भोक्तुं भवन्ति किल कारणम् ॥

उमाने पूछा—महादेव ! कुछ लोग युवावस्थामें ह[illegible] भोगसे सम्पन्न होनेपर भी रोगोंसे पीड़ित होनेके कार[illegible] उन्हें भोगनेमें असमर्थ हो जाते हैं, इसका क्या कारण है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

व्याधियोगपरिक्लिष्टा ये निराशाः स्वजीविते ।
आरभन्ते तदा कर्तुं दानानि शुभलक्षणे ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्य तानि फलान्युत ।
असमर्थाश्च तान् भोक्तुं व्याधितास्ते भवन्त्युत॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभलक्षणे ! जो रोगोंसे कष्टमें पड़ जानेपर जब जीवनसे निराश हो जाते हैं, तब दान करना आरम्भ करते हैं । शुभे ! वे ही पुनर्जन्म लेनेपर उन फलोंको पाकर रोगोंसे आक्रान्त हो उन्हें भोगनेमें असमर्थ हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वेव केचन ।
रूपयुक्ताः प्रदृश्यन्ते शुभाङ्गाः प्रियदर्शनाः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें कुछ ही लोग रूपवान्, शुभ लक्षणसम्पन्न और प्रिय-दर्शन (परम मनोहर) देखे जाते हैं, किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता ॥
ये पुरा मानुषा देवि लज्जायुक्ताः प्रियंवदाः ।
शक्ताः सुमधुरा नित्यं भूत्वा चैव स्वभावतः ॥
अमांसभोजिनश्चैव सदा प्राणिदयायुताः ।
प्रतिकर्मप्रदा वापि वस्त्रदा धर्मकारणात् ॥
भूमिशुद्धिकरा वापि कारणादग्निपूजकाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
रूपेण स्पृहणीयास्तु भवन्त्येव न संशयः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक इसका रहस्य बताता हूँ । तुम एकाग्रचित होकर सुनो । जो मनुष्य पूर्वजन्ममें लज्जायुक्त, प्रिय वचन बोलनेवाले, शक्तिशाली और सदा स्वभावतः मधुर स्वभाववाले होकर सर्वदा समस्त प्राणियोंपर दया करते हैं, कभी मांस नहीं खाते हैं, धर्मके उद्देश्यसे वस्त्र और आभूषणोंका दान करते हैं, भूमिकी शुद्धि करते हैं, कारणवश अग्निकी पूजा करते हैं; ऐसे सदाचारसम्पन्न मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर रूप-सौन्दर्यकी दृष्टिसे स्पृहणीय होते ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

उमोवाच

विरूपाश्च प्रदृश्यन्ते मानुषेष्वेव केचन ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंमें ही कुछ लोग बड़े कुरूप दिखायी देते हैं, इसमें कौन-सा कर्मविपाक कारण है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
रूपयोगात् पुरा मर्त्या दर्पाहंकारसंयुताः ।
विरूपहासकाश्चैव स्तुतिनिन्दादिभिर्भृशम् ॥
परोपतापिनश्चैव मांसादाश्च तथैव च ।
अभ्यसूयापराश्चैव अशुद्धाश्च तथा नराः ॥
एवंयुक्तसमाचारा यमलोके सुदण्डिताः ।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते रूपवर्जिताः ॥
विरूपाः सम्भवन्त्येव नास्ति तत्र विचारणा ।

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! सुनो, मैं तुमको इसका कारण बताता हूँ । पूर्वजन्ममें सुन्दर रूप पाकर जो मनुष्य दर्प और अहंकारसे युक्त हो स्तुति और निन्दा आदिके द्वारा कुरूप मनुष्योंकी बहुत हँसी उड़ाया करते हैं, दूसरोंको सताते, मांस खाते, पराया दोष देखते और सदा अशुद्ध रहते हैं, ऐसे अनाचारी मनुष्य यमलोकमें भलीभाँति दण्ड पाकर जब फिर किसी प्रकार मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं, तब रूपहीन और कुरूप होते ही हैं । इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश केचित् सौभाग्यसंयुताः ।
रूपभोगविहीनाश्च दृश्यन्ते प्रमदाप्रियाः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! कुछ मनुष्य सौभाग्यशाली होते हैं, जो रूप और भोगसे हीन होनेपर भी नारीको प्रिय लगते हैं । किस कर्म-विपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मानुषा देवि सौम्यशीलाः प्रियंवदाः ।
स्वदारैरेव संतुष्टा दारेषु समवृत्तयः ॥
दाक्षिण्येनैव वर्तन्ते प्रमदास्वप्रियास्वपि ।
न तु प्रत्यादिशन्त्येव स्त्रीदोषान् गुणसंश्रितान् ॥
अन्नपानीयदाः काले नृणां स्वादुप्रदाश्च ये ।
स्वदारव्रतिनश्चैव धृतिमन्तो निरत्ययाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
मानुषास्ते भवन्त्येव सततं सुभगा भृशम् ॥
अर्थाहतेऽपि ते देवि भवन्ति प्रमदाप्रियाः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले सौम्य-स्वभावके तथा प्रिय वचन बोलनेवाले होते हैं, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहते हैं, यदि कई पत्नियाँ हों तो उन सबपर समान भाव रखते हैं, अपने स्वभावके कारण अप्रिय लगने-वाली स्त्रियोंके प्रति भी उदारतापूर्ण बर्ताव करते हैं, स्त्रियोंके

दोषोंकी चर्चा नहीं करते, उनके गुणोंका ही बखान करते हैं, समयपर अन्न और जलका दान करते हैं, अतिथियोंको स्वादिष्ट अन्न भोजन कराते हैं, अपनी पत्नीके प्रति ही अनुरक्त रहनेका नियम लेते हैं, धैर्यवान् और दुःखरहित होते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर सदा सौभाग्यशाली होते ही हैं। देवि ! वे धनहीन होनेपर भी अपनी पत्नीके प्रीतिपात्र होते हैं ॥

उमोवाच

दुर्भगाः सम्प्रदृश्यन्ते आर्या भोगयुता अपि।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष भोगोंसे सम्पन्न होनेपर भी दुर्भाग्यके मारे दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा सम्भव होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सर्वं समाहिता ॥
ये पुरा मनुजा देवि स्वदारेष्वनपेक्षया।
यथेष्टवृत्तयश्चैव निर्लज्जा वीतसम्भ्रमाः ॥
परेषां विप्रियकरा वाङ्मनःकायकर्मभिः।
निराश्रया निराहाराः स्त्रीणां हृदयकोपनाः ॥
एवं युक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि ते नराः।
दुर्भगास्तु भवन्त्येव स्त्रीणां हृदयविप्रियाः ॥
नास्ति तेषां रतिसुखं स्वदारेष्वपि किंचन ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! इस बातको मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सारी बातें सुनो। जो मनुष्य पहले अपनी पत्नीकी उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, लज्जा और भयको छोड़ देते हैं, मन, वाणी और शरीर तथा क्रियाद्वारा दूसरोंकी बुराई करते हैं और आश्रयहीन एवं निराहार रहकर पत्नीके हृदयमें क्रोध उत्पन्न करते हैं; ऐसे दूषित आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर दुर्भाग्ययुक्त और नारी जातिके लिये अप्रिय ही होते हैं। ऐसे भाग्यहीनोंको अपनी पत्नीसे भी अनुरागजनित सुख नहीं सुलभ होता ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वपि केचन।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना बुद्धिमन्तो विचक्षणाः ॥
दुर्गतास्तु प्रदृश्यन्ते यतमाना यथाविधि।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमेंसे कुछ लोग ज्ञान विज्ञानमें सम्पन्न, बुद्धिमान् और विद्वान् होनेपर भी दुर्गतिमें पड़े दिखायी देते हैं। वे विधिपूर्वक यत्न करके भी उस दुर्गतिसे नहीं छूट पाते। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि श्रुतवन्तोऽपि केवलम्।
निराश्रया निराहारा भृशमात्मपरायणाः ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे ज्ञानबुद्धियुता अपि।
निष्किंचना भवन्त्येव अनुप्तं हि न रोहति ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! सुनो, मैं इसका कारण तुम्हें बताता हूँ। देवि ! जो मनुष्य पहले केवल विद्वान् होनेपर भी आश्रयहीन और भोजन-सामग्रीसे वञ्चित होकर केवल अपने ही उदर-पोषणके प्रयत्नमें लगे रहते हैं, शुभे ! वे पुनर्जन्म लेनेपर ज्ञान और बुद्धिसे युक्त होनेपर भी अकिञ्चन ही रह जाते हैं, क्योंकि बिना बोया हुआ बीज नहीं जमता है ॥

उमोवाच

मूर्खा लोके प्रदृश्यन्ते दृढमूला विचेतसः।
ज्ञानविज्ञानरहिताः समृद्धाश्च समन्ततः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस जगत्में मूर्ख, अचेत तथा ज्ञान-विज्ञानसे रहित मनुष्य भी सब ओरसे समृद्धिशाली और दृढ़मूल दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि बालिशा अपि सर्वतः।
समाचरन्ति दानानि दीनानुग्रहकारणात् ॥
अबुद्धिपूर्वं वा दानं ददत्येव ततस्ततः।
ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्नुवन्त्येव तत् तथा ॥
पण्डितोऽपण्डितो वापि भुङ्क्ते दानफलं नरः।
बुद्ध्याऽनपेक्षितं दानं सर्वथा तत् फलत्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले मूर्ख होनेपर भी सब ओर दीन-दुखियोंपर अनुग्रह करके उन्हें दान देते रहे हैं, जो पहलेसे दानके महत्त्वको न समझकर भी जहाँ-तहाँ दान देते ही रहे हैं, शुभे ! वे मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त होनेपर वैसी अवस्थाको प्राप्त होते ही हैं। कोई मूर्ख हो या पण्डित, प्रत्येक मनुष्य दानका फल भोगता है। बुद्धिसे अनपेक्षित दान भी सर्वथा फल देता ही है ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेषु च केचन।
मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें ह कुछ लोग बड़े मेधावी, किसी बातको एक बार सुनकर ह

उसे याद कर लेनेवाले और विशद अक्षर-ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि गुरुशुश्रूषका भृशम् ।
ज्ञानार्थं ते तु संगृह्य तीर्थं ते विधिपूर्वकम् ॥
विधिनैव परांश्चैव ग्राहयन्ति च नान्यथा ।
अश्लाघमाना ज्ञानेन प्रशान्ता यतवाचकाः ॥
विद्यास्थानानि ये लोके स्थापयन्ति च यत्नतः ।
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले गुरुकी अत्यन्त सेवा करनेवाले रहे हैं और ज्ञानके लिये विधिपूर्वक गुरुका आश्रय लेकर स्वयं भी दूसरोंको विधिसे ही अपनी विद्या ग्रहण कराते रहे हैं, अविधिसे नहीं । अपने ज्ञानके द्वारा जो कभी अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते रहे हैं, अपितु शान्त और मौन रहे हैं तथा जो जगत्में यत्नपूर्वक विद्यालयों-की स्थापना करते रहे हैं, शोभने ! ऐसे पुरुष जब मृत्युको प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेते हैं, तब मेधावी, किसी बातको एक बार ही सुनकर उसे याद कर लेनेवाले और विशद अक्षर-ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं ॥

उमोवाच

अपरे मानुषा देव यतन्तोऽपि यतस्ततः ।
बहिष्कृताः प्रदृश्यन्ते श्रुतविज्ञानबुद्धितः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—देव ! दूसरे मनुष्य यत्न करनेपर भी जहाँ-तहाँ शास्त्रज्ञान और बुद्धिसे बहिष्कृत दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि ज्ञानदर्पसमन्विताः ।
श्लाघमानाश्च तत् प्राप्य ज्ञानाहङ्कारमोहिताः ॥
वदन्ति ये परान् नित्यं ज्ञानाधिक्येन दर्पिताः ।
ज्ञानादसूयां कुर्वन्ति न सहन्ते हि चापरान् ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य तत्र बोधविवर्जिताः ॥
भवन्ति सततं देवि यतन्तो हीनमेधसः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य ज्ञानके घमंडमें आकर अपनी झूठी प्रशंसा करते हैं और ज्ञान पाकर उस-के अहंकारसे मोहित हो दूसरोंपर आक्षेप करते हैं, जिन्हें सदा अपने अधिक ज्ञानका गर्व रहता है, जो ज्ञानसे दूसरोंके दोष प्रकट किया करते हैं और दूसरे ज्ञानियोंको नहीं सहन कर पाते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म लेनेपर चिरकालके बाद मनुष्य-योनि पाते हैं । देवि ! उस जन्ममें वे सदा यत्न करनेपर भी बोधहीन और बुद्धिरहित होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् सर्वकल्याणसंयुताः ।
पुत्रैर्दारैर्गुणयुतैर्दासीदासपरिच्छदैः ॥
परस्परर्द्धिसंयुक्ताः स्थानैश्वर्यमनोहरैः ।
व्याधिहीना निराबाधा रूपारोग्यबलैर्युताः ॥
धनधान्येन सम्पन्नाः प्रसादैर्यानवाहनैः ।
सर्वोपभोगसंयुक्ता नानाचित्रैर्मनोहरैः ॥
ज्ञातिभिः सह मोदन्ते अविघ्नं तु दिने दिने ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कितने ही मनुष्य समस्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त होते हैं । वे गुणवान् स्त्री-पुत्र, दास-दासी तथा अन्य उपकरणोंसे सम्पन्न होते हैं । स्थान, ऐश्वर्य तथा मनोहर भोगों और पारस्परिक समृद्धिसे संयुक्त होते हैं । रोगहीन, बाधाओंसे रहित, रूप-आरोग्य और बलसे सम्पन्न, धन-धान्यसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके विचित्र एवं मनोहर महल, यान और वाहनोंसे युक्त एवं सब प्रकारके भोगोंसे संयुक्त हो वे प्रतिदिन जाति-भाइयोंके साथ निर्विघ्न आनन्द भोगते हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सर्वं समाहिता ॥
ये पुरा मनुजा देवि आढ्या वा इतरेऽपि वा ।
श्रुतवृत्तसमायुक्ता दानकामाः श्रुतप्रियाः ॥
परेङ्गितपरा नित्यं दातव्यमिति निश्चिताः ।
सत्यसंधाः क्षमाशीला लोभमोहविवर्जिताः ॥
दातारः पात्रतो दानं व्रतैर्नियमसंयुताः ।
स्वदुःखमिव संस्मृत्य परदुःखविवर्जिताः ॥
सौम्यशीलाः शुभाचारा देवब्राह्मणपूजकाः ॥
एवंशीलसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
दिवि वा भुवि वा देवि जायन्ते कर्मभोगिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सब बातें सुनो । जो धनाढ्य या निर्धन मनुष्य पहले शास्त्रज्ञान और सदाचारसे युक्त, दान करनेके इच्छुक, शास्त्रप्रेमी, दूसरोंके इशारेको समझकर सदा दान देनेके लिये दृढ़ विचार रखनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ, क्षमाशील, लोभ-मोहसे रहित, सुपात्रको दान देनेवाले, व्रत और नियमों-से युक्त तथा अपने दुःखके समान ही दूसरोंके भी दुःखको समझकर किसीको दुःख न देनेवाले होते हैं, जिनका शील-स्वभाव सौम्य होता है, आचार-व्यवहार शुभ होते हैं, जो

देवताओं तथा ब्राह्मणोंके पूजक होते हैं, शोभामयी देवि ! ऐसे शील-सदाचारवाले मानव पुनर्जन्म पानेपर स्वर्गमें या पृथ्वीपर अपने सत्कर्मोंके फल भोगते हैं ॥

मानुषेष्वपि ये जातास्तादृशाः सम्भवन्ति ते ।
यादृशास्तु त्वया प्रोक्ताः सर्वे कल्याणसंयुताः॥
रूपं द्रव्यं बलं चायुर्भोगैश्वर्यं कुलं श्रुतम् ।
इत्येतत् सर्वसाद्गुण्यं दानाद् भवति नान्यथा ॥
तपोदानमयं सर्वमिति विद्धि शुभानने ॥

वैसे पुरुष जब मनुष्योंमें जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे सभी तुम्हारे बताये अनुसार कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न होते हैं । उन्हें रूप, द्रव्य, बल, आयु, भोग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल और शास्त्रज्ञान प्राप्त होते हैं । इन सभी सद्गुणोंकी प्राप्ति दानसे ही होती है, अन्यथा नहीं । शुभानने ! तुम यह जान लो कि सब कुछ तपस्या और दानका ही फल है ॥

उमोवाच

अथ केचित् प्रदृश्यन्ते मानुषेष्वेव मानुषाः ।
दुर्गताः क्लेशभूयिष्ठा दानभोगविवर्जिताः ॥
भयैस्त्रिभिः समायुक्ता व्याधिक्षुद्भयसंयुताः ।
दुष्कलत्राभिभूताश्च सततं विघ्नदर्शकाः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—प्रभो ! मनुष्योंमें ही कुछ लोग दुर्गति-युक्त, अधिक क्लेशसे पीड़ित, दान और भोगसे वञ्चित, तीन प्रकारके भयोंसे युक्त, रोग और भोगके भयसे पीड़ित, दुष्ट पत्नीसे तिरस्कृत तथा सदा सभी कार्योंमें विघ्नका ही दर्शन करनेवाले होते हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि आसुरं भावमाश्रिताः ।
क्रोधलोभसमायुक्ता निराहाराश्च निष्क्रियाः ॥
नास्तिकाश्चैव धूर्ताश्च मूर्खाश्चात्मपरायणाः ।
परोपतापिनो देवि प्रायशः प्राणिनिर्दयाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते दुःखपीडिताः॥
सर्वतः सम्भवन्त्येव पूर्वमात्मप्रमादतः ।
यथा ते पूर्वकथितास्तथा ते सम्भवन्त्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले आसुर-भावके आश्रित, क्रोध और लोभसे युक्त, भोजनसामग्रीसे वञ्चित, अकर्मण्य, नास्तिक, धूर्त, मूर्ख, अपना ही पेट पालनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले तथा प्रायः सभी प्राणियोंके प्रति निर्दय होते हैं । शोभने ! ऐसे आचार-व्यवहारसे युक्त मनुष्य पुनर्जन्मके समय किसी प्रकार मनुष्ययोनिको पाकर जहाँ-कहीं भी उत्पन्न होते हैं, सर्वत्र अपने ही प्रमादके कारण दुःखसे पीड़ित होते हैं और जैसा तुमने बताया है, वैसे ही अवाञ्छनीय दोषसे युक्त होते हैं ॥

शुभाशुभं कृतं कर्म सुखदुःखफलोदयम् ।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

देवि ! मनुष्यका किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म ही उसे सुख या दुःखरूप फलकी प्राप्ति करानेवाला है । यह बात मैंने तुम्हें बता दी । अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अन्धत्व और पंगुत्व आदि नाना प्रकारके दोषों और रोगोंके कारणभूत दुष्कर्मोंका वर्णन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मम प्रीतिविवर्धन ।
जात्यन्धाश्चैव दृश्यन्ते जाता वा नष्टचक्षुषः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ।

उमाने कहा—भगवन् ! मेरी प्रीति बढ़ानेवाले देव-देवेश्वर ! इस संसारमें कुछ लोग जन्मसे ही अन्धे दिखायी देते हैं और कुछ लोगोंके जन्म लेनेके पश्चात् उनकी आँखें नष्ट हो जाती हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा कामकारेण परवेश्मसु लोलुपाः ।
परस्त्रियोऽभिवीक्षन्ते दुष्टेनैव स्वचक्षुषा ॥
अन्धीकुर्वन्ति ये मर्त्याः क्रोधलोभसमन्विताः ।
लक्षणज्ञाश्च रूपेषु अयथावत्प्रदर्शकाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मवशास्तु ते ।
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! जो पूर्वजन्ममें काम या स्वेच्छाचारवश पराये घरोंमें अपनी लोलुपताका परिचय देते हैं और परायी स्त्रियोंपर अपनी दूषित दृष्टि डालते हैं तथा जो मनुष्य क्रोध और लोभके वशीभूत होकर दूसरोंको अन्धा बना देते हैं, अथवा रूपविषयक लक्षणोंको जानकर उसका मिथ्या प्रदर्शन करते हैं । ऐसे आचारवाले मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर यमदण्डसे दण्डित हो चिरकाल-तक नरकोंमें पड़े रहते हैं ॥

यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथापि वा ।
स्वभावतो वा जाता वा अन्धा एव भवन्ति ते ॥
अक्षिरोगयुता वापि नास्ति तत्र विचारणा ॥

उसके बाद यदि वे मनुष्ययोनिमें जन्म लेते हैं, तब स्वभावतः अन्धे होते हैं अथवा जन्म लेनेके बाद अन्धे हो

जाते हैं या सदा ही नेत्ररोगसे पीड़ित रहते हैं। इस विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

उमोवाच

मुखरोगयुताः केचिद् दृश्यन्ते सततं नराः।
दन्तकण्ठकपोलस्थैर्व्याधिभिर्बहुपीडिताः ॥
आदिप्रभृति वै मर्त्या जाता वाप्यथ कारणात्।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—प्रभो! कुछ मनुष्य सदा मुखके रोगसे व्यथित रहते हैं, दाँत, कण्ठ और कपोलोंके रोगसे अत्यन्त कष्ट भोगते हैं, कुछ तो जन्मसे ही रोगी होते हैं और कुछ जन्म लेनेके बाद कारणवश उन रोगोंके शिकार हो जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु देवि समाहिता ॥
कुवक्तारस्तु ये देवि जिह्वया कटुकं भृशम्।
असत्यं परुषं घोरं गुरून् प्रति परान् प्रति ॥
जिह्वाबाधां तदान्येषां कुर्वते कोपकारणात्।
प्रायशोऽनृतभूयिष्ठा नराः कार्यवशेन वा ॥
तेषां जिह्वाप्रदेशस्था व्याधयः सम्भवन्ति ते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! एकाग्रचित्त होकर सुनो, मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें सब कुछ बताता हूँ। जो कुवाक्य बोलनेवाले मनुष्य अपनी जिह्वासे गुरुजनों या दूसरोंके प्रति अत्यन्त कड़वे, झूठे, रूखे तथा घोर वचन बोलते हैं, जो क्रोधके कारण दूसरोंकी जीभ काट लेते हैं अथवा जो कार्यवश प्रायः अधिकाधिक झूठ ही बोलते हैं, उनके जिह्वाप्रदेशमें ही रोग होते हैं ॥

कुश्रोतारस्तु ये चार्थं परेषां कर्णनाशकाः।
कर्णरोगान् बहुविधाँल्लभन्ते ते पुनर्भवे ॥

जो परदोष और निन्दादियुक्त कुवचन सुनते हैं तथा जो दूसरोंके कानोंको हानि पहुँचाते हैं, वे दूसरे जन्ममें कर्णसम्बन्धी नाना प्रकारके रोगोंका कष्ट भोगते हैं ॥

दन्तरोगशिरोरोगकर्णरोगास्तथैव च।
अन्ये मुखाश्रिता दोषाः सर्वे चात्मकृतं फलम् ॥

ऐसे ही लोगोंको दन्तरोग, शिरोरोग, कर्णरोग तथा अन्य सभी मुखसम्बन्धी दोष अपनी करनीके फलरूपसे प्राप्त होते हैं ॥

उमोवाच

पीड्यन्ते सततं देव मानुषेष्वेव केचन।
कुक्षिपक्षाश्रितैर्दोषैर्व्याधिभिश्चोदराश्रितैः ॥

उमाने पूछा—देव! मनुष्योंमें कुछ लोग सदा कुक्षि और पक्षसम्बन्धी दोषों तथा उदरसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित रहते हैं ॥

तीक्ष्णशूलैश्च पीड्यन्ते नरा दुःखपरिप्लुताः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कुछ लोगोंके उदरमें तीखे शूल-से उठते हैं, जिनसे वे बहुत पीड़ित होते और दुःखमें डूब जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि कामक्रोधवशा भृशम्।
आत्मार्थमेव चाहारं भुञ्जन्ते निरपेक्षकाः ॥
अभक्ष्याहारदानैश्च विश्वस्तानां विषप्रदाः।
अभक्ष्यभक्षदाश्चैव शौचमङ्गलवर्जिताः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते व्याधिपीडिताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! पहले जो मनुष्य काम और क्रोधके अत्यन्त वशीभूत हो दूसरोंकी परवा न करके केवल अपने ही लिये आहार जुटाते और खाते हैं, अभक्ष्य भोजनका दान करते हैं, विश्वस्त मनुष्योंको जहर दे देते हैं, न खानेयोग्य वस्तुएँ खिला देते हैं, शौच और मङ्गलाचारसे रहित होते हैं; शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्म लेनेपर किसी तरह मानवशरीरको पाकर उन्हीं रोगोंसे पीड़ित होते हैं ॥

तैस्तैर्बहुविधाकारैर्व्याधिभिर्दुःखसंधिताः।
भवन्त्येव तथा देवि यथा चैव कृतं पुरा ॥

देवि! नाना प्रकारके रूपवाले उन रोगोंसे पीड़ित हो वे दुःखमें निमग्न हो जाते हैं। पूर्वजन्ममें जैसा किया था वैसा भोगते हैं ॥

उमोवाच

दृश्यन्ते सततं देव व्याधिभिर्मेहनाश्रितैः।
पीड्यमानास्तथा मर्त्या अश्मरीशर्करादिभिः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—देव! बहुत-से मनुष्य प्रमेहसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित देखे जाते हैं, कितने ही पथरी और शर्करा (पेशाबसे चीनी आना) आदि रोगोंके शिकार हो जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि परदारप्रधर्षकाः।
तिर्यग्योनिषु धूर्ता वै मैथुनार्थं चरन्ति च ॥
कामदोषेण ये धूर्ताः कन्यासु विधवासु च।
बलात्कारेण गच्छन्ति रूपदर्पसमन्विताः ॥

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः॥
मेहनस्थैस्ततो घोरैः पीड्यन्ते व्याधिभिः प्रिये।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पूर्वजन्ममें परायी स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेवाले होते हैं, जो धूर्त मानव पशुयोनिमें मैथुनके लिये चेष्टा करते हैं, रूपके घमंडमें भरे हुए जो धूर्त काम-दोषसे कुमारी कन्याओं और विधवाओंके साथ बलात्कार करते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं, तब मनुष्ययोनिमें आनेके बाद वैसे ही रोगी होते हैं। प्रिये ! वे प्रमेहसम्बन्धी भयङ्कर रोगोंसे पीड़ित रहते हैं॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते शोषिणः कृशाः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा— भगवन् ! कुछ मनुष्य सूखारोग (जिसमें शरीर सूख जाता है) से पीड़ित एवं दुर्बल दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि मांसलुब्धाः सुलोलुपाः।
आत्मार्थं स्वादुगृद्धाश्च परभोगोपतापिनः॥
अभ्यसूयापराश्चापि परभोगेषु ये नराः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
शोषव्याधियुतास्तत्र नरा धमनिसंतताः॥
भवन्त्येव नरा देवि पापकर्मोपभोगिनः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य मांसपर लुभाये रहते हैं, अत्यन्त लोलुप हैं, अपने लिये स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं, दूसरोंकी भोगसामग्री देखकर जलते हैं तथा जो दूसरोंके भोगोंमें दोषदृष्टि रखते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर सूखारोगसे पीड़ित हो इतने दुर्बल हो जाते हैं कि उनके शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँतक दिखायी देती हैं। देवि ! वे पापकर्मोंका फल भोगनेवाले मनुष्य वैसे ही होते हैं॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् क्लिश्यन्ते कुष्ठरोगिणः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कुछ मनुष्य कोढ़ी होकर कष्ट पाते हैं, यह किस कर्मविपाकका फल है ? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि परेषां रूपनाशनाः।
आघातवधबन्धैश्च वृथा दण्डेन मोहिताः॥
इष्टनाशकरा ये तु अपथ्याहारदा नराः।
चिकित्सका वा दुष्टाश्च द्वेषलोभसमन्विताः॥
निर्दयाः प्राणिहिंसायां मलदाश्चित्तनाशनाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि वै मानुषं जन्म लभेरंस्तेषु दुःखिताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले मोहवश आघात, वध, बन्धन तथा व्यर्थ दण्डके द्वारा दूसरोंके रूपका नाश करते हैं, किसीकी प्रिय वस्तु नष्ट कर देते हैं, चिकित्सक होकर दूसरोंको अपथ्य भोजन देते हैं, द्वेष और लोभके वशीभूत होकर दुष्टता करते हैं, प्राणियोंकी हिंसाके लिये निर्दय बन जाते हैं, मल देते और दूसरोंकी चेतनाका नाश करते हैं, शोभने ! ऐसे आचरणवाले पुरुष पुनर्जन्मके समय यदि मनुष्य-जन्म पाते हैं तो मनुष्योंमें सदा दुखी ही रहते हैं॥

अत्र ते क्लेशसंयुक्ताः कुष्ठरोगशतैर्वृताः॥
केचित् त्वग्दोषसंयुक्ता व्रणकुष्ठैश्च संयुताः।
श्वित्रकुष्ठयुता वापि बहुधा कुष्ठसंयुताः॥
भवन्त्येव नरा देवि यथा येन कृतं फलम्॥

उस जन्ममें वे सैकड़ों कुष्ठ रोगोंसे घिरकर क्लेशसे पीड़ित होते हैं। कोई चर्मदोषसे युक्त होते हैं, कोई व्रणकुष्ठ (कोढ़के घाव) से पीड़ित होते हैं अथवा कोई सफेद कोढ़से लाञ्छित दिखायी देते हैं। देवि ! जिसने जैसा किया है उसके अनुसार फल पाकर वे सब मनुष्य नाना प्रकारके कुष्ठ रोगोंके शिकार हो जाते हैं॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिदङ्गहीनाश्च पङ्गवः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! किस कर्मके विपाकसे कुछ मनुष्य अङ्गहीन एवं पङ्गु हो जाते हैं, यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि लोभमोहसमावृताः।
प्राणिनां प्राणहिंसार्थमङ्गविघ्नं प्रकुर्वते॥
शस्त्रेणोत्कृत्य वा देवि प्राणिनां चेष्टनाशकाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
तदङ्गहीना वै प्रेत्य भवन्त्येव न संशयः॥
स्वभावतो वा जाता वा पङ्गवस्ते भवन्ति वै॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले लोभ और मोहसे आच्छादित होकर प्राणियोंके प्राणोंकी हिंसा करनेके लिये उनके अङ्ग-भङ्ग कर देते हैं, शस्त्रोंसे काटकर उन प्राणियोंको निश्चेष्ट बना देते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले पुरुष मरनेके बाद पुनर्जन्म लेनेपर अङ्गहीन

होते हैं; इसमें संशय नहीं है। वे स्वभावतः पङ्गुरूपमें उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेनेके बाद पङ्गु हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् ग्रन्थिभिः पिलुकैस्तथा।
क्लिश्यमानाः प्रदृश्यन्ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! कुछ मनुष्य ग्रन्थि (गठिया), पिल्लक (फीलपाँव) आदि रोगोंसे कष्ट पाते देखे जाते हैं, इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि ग्रन्थिभेदकरा नृणाम्।
मुष्टिप्रहारपरुषा नृशंसाः पापकारिणः ॥
पाटकास्तोटकाश्चैव शूलतुन्दास्तथैव च।
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
ग्रन्थिभिः पिलुकैश्चैव क्लिश्यन्ते भृशदुःखिताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि जो मनुष्य पहले लोगोंकी ग्रन्थियोंका भेदन करनेवाले रहे हैं; जो मुष्टि प्रहार करनेमें निर्दय, नृशंस, पापाचारी, तोड़-फाड़ करनेवाले और शूल चुभाकर पीड़ा देनेवाले रहे हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग फिर जन्म लेनेपर गठिया और फीलपाँवसे कष्ट पाते तथा अत्यन्त दुखी होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् पादरोगसमन्विताः।
दृश्यन्ते सततं देव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! देव! कुछ मनुष्य सदा पैरोंके रोगोंसे पीड़ित दिखायी देते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि क्रोधलोभसमन्विताः।
मनुजा देवतास्थानं स्वपादैर्भ्रंशयन्त्युत ॥
जानुभिः पार्ष्णिभिश्चैव प्राणिहिंसां प्रकुर्वते ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
पादरोगैर्बहुविधैर्बाध्यन्ते श्वपदादिभिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले क्रोध और लोभके वशीभूत होकर देवताके स्थानको अपने पैरोंसे भ्रष्ट करते, घुटनों और एड़ियोंसे मारकर प्राणियोंकी हिंसा करते हैं; शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्म लेनेपर श्वपद आदि नाना प्रकारके पाद-रोगोंसे पीड़ित होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते बहवो भुवि।
वातजैः पित्तजै रोगैर्युगपत् संनिपातकैः ॥
रोगैर्बहुविधैर्देव क्लिश्यमानाः सुदुःखिताः।
असमस्तैः समस्तैश्च आढ्या वा दुर्गतास्तथा ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! देव! इस भूतलपर कुछ ऐसे लोगोंकी बहुत बड़ी संख्या दिखायी देती है, जो वात, पित्त और कफजनित रोगोंसे तथा एक ही साथ इन तीनोंके संनिपातसे तथा दूसरे-दूसरे अनेक रोगोंसे कष्ट पाते हुए बहुत दुखी रहते हैं ॥

वे धनी हों या दरिद्र, पूर्वोक्त रोगोंमेंसे कुछके द्वारा अथवा समस्त रोगोंके द्वारा कष्ट पाते रहते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि त्वासुरं भावमाश्रिताः।
स्ववशाः कोपनपरा गुरुविद्वेषिणस्तथा ॥
परेषां दुःखजनका मनोवाक्कायकर्मभिः।
छिन्दन् भिन्दंस्तुदन्नेव नित्यं प्राणिषु निर्दयाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि वै मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि! इसका कारण मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो। देवि! जो मनुष्य पूर्वजन्ममें आसुरभावका आश्रय ले स्वच्छन्दचारी, क्रोधी और गुरुद्रोही हो जाते हैं, मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा दूसरोंको दुःख देते हैं, काटते, विदीर्ण करते और पीड़ा देते हुए सदा ही प्राणियोंके प्रति निर्दयता दिखाते हैं। शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्मके समय यदि मनुष्य जन्म पाते हैं तो वे वैसे ही होते हैं ॥

तत्र ते बहुभिर्घोरैस्तप्यन्ते व्याधिभिः प्रिये ॥
केचिच्च छर्दिसंयुक्ताः केचित्कासमन्विताः।
ज्वरातिसारतृष्णाभिः पीड्यमानास्तथा परे ॥
पादगुल्मैश्च बहुभिः श्लेष्मदोषसमन्विताः।
पादरोगैश्च विविधैर्व्रणकुष्ठभगन्दरैः ॥
आढ्या वा दुर्गता वापि दृश्यन्ते व्याधिपीडिताः ॥

प्रिये! उस शरीरमें वे बहुतेरे भयंकर रोगोंसे संतप्त होते हैं। किसीको उलटी होती है तो कोई खाँसीसे कष्ट पाते हैं। दूसरे बहुत-से मनुष्य ज्वर, अतिसार और तृष्णासे पीड़ित रहते हैं। किन्हींको अनेक प्रकारके पादगुल्म सताते हैं। कुछ लोग कफदोषसे पीड़ित होते हैं। कितने ही नाना प्रकारके पादरोग, व्रणकुष्ठ और भगन्दर रोगोंसे रुग्ण रहते हैं। वे धनी हों या दरिद्र सब लोग रोगोंसे पीड़ित दिखायी देते हैं ॥

एवमात्मकृतं कर्म भुञ्जते तत्र तत्र ते।

ग्रहीतुं न च शक्यं हि केनचिद्ध्यकृतं फलम्॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

इस प्रकार उन-उन शरीरोंमें वे अपने किये हुए कर्मका ही फल भोगते हैं। कोई भी बिना किये हुए कर्मके फलको नहीं पा सकता। देवि! इस प्रकार यह विषय मैंने तुम्हें बताया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश भूतपाल नमोऽस्तु ते।
ह्रस्वाङ्गाश्चैव वक्राङ्गाः कुब्जा वामनकास्तथा॥
अपरे मानुषा देव दृश्यन्ते कुणिबाहवः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! भूतनाथ! आपको नमस्कार है। देव! दूसरे मनुष्य छोटे शरीरवाले, टेढ़े-मेढ़े अङ्गोंवाले, कुबड़े, बौने और लूले दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि लोभमोहसमन्विताः।
धान्यमानान् विकुर्वन्ति क्रयविक्रयकारणात्॥
तुलादोषं तदा देवि धृतमानेषु नित्यशः।
अर्धापकर्षणाच्चैव सर्वेषां क्रयविक्रये॥
अङ्गदोषकरा ये तु परेषां कोपकारणात्।
मांसादाश्चैव ये मूर्खा अयथावत्प्रथाः सदा॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
ह्रस्वाङ्गा वामनाश्चैव कुब्जाश्चैव भवन्ति ते॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले लोभ और मोहसे युक्त हो खरीद-बिक्रीके लिये अनाज तौलनेके बाटोंको तोड़-फोड़कर छोटे कर देते हैं, तराजूमें भी कुछ दोष रख लेते हैं और प्रतिदिन क्रय-विक्रयके समय जब उन बाटोंको रखकर अनाज तौलते हैं, तब सभीके मालमेंसे आधेकी चोरी कर लेते हैं। जो क्रोध करते, दूसरोंके शरीरपर चोट करके उसके अङ्गोंमें दोष उत्पन्न कर देते हैं, जो मूर्ख मांस खाते और सदा झूठ बोलते हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर छोटे शरीरवाले बौने और कुबड़े होते हैं॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते मानुषेषु वै।
उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च पर्यटन्तो यतस्ततः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! मनुष्योंमेंसे कुछ लोग उन्मत्त और पिशाचोंके समान इधर-उधर घूमते दिखायी देते हैं। उनकी ऐसी अवस्थामें कौन-सा कर्म-फल कारण है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि दर्पाहङ्कारसंयुताः।
बहुधा प्रलपन्त्येव हसन्ति च परान् भृशम्॥
मोहयन्ति परान् भोगैर्मदनैर्लोभकारणात्।
वृद्धान् गुरूंश्च ये मूर्खा वृथैवापहसन्ति च॥
शौण्डा विदग्धाः शास्त्रेषु तथैवानृतवादिनः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च भवन्त्येव न संशयः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले दर्प और अहंकारसे युक्त हो नाना प्रकारकी अंटशंट बातें करते हैं, दूसरोंकी खूब हँसी उड़ाते हैं, लोभवश, उन्मत्त बना देनेवाले भोगोंद्वारा दूसरोंको मोहित करते हैं, जो मूर्ख बूढ़ों और गुरुजनोंका व्यर्थ ही उपहास करते हैं तथा शास्त्रज्ञानमें चतुर एवं प्रवीण होनेपर भी सदा झूठ बोलते हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर उन्मत्तों और पिशाचोंके समान भटकते फिरते हैं; इसमें संशय नहीं है॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिन्निरपत्याः सुदुःखिताः।
यतन्तो न लभन्त्येव अपत्यानि यतस्ततः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! कुछ मनुष्य संतानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुखी रहते हैं। वे जहाँ-तहाँसे प्रयत्न करनेपर भी संतानलाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि सर्वप्राणिषु निर्दयाः।
घ्नन्ति बालांश्च भुञ्जन्ते मृगाणां पक्षिणामपि॥
गुरुविद्वेषिणश्चैव परपुत्राभ्यसूयकाः।
पितृपूजां न कुर्वन्ति यथोक्तां चाष्टकादिभिः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य निरपत्या भवन्ति ते।
पुत्रशोकयुताश्चापि नास्ति तत्र विचारणा॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले समस्त प्राणियोंके प्रति निर्दयताका बर्ताव करते हैं, मृगों और पक्षियोंके भी बच्चोंको मारकर खा जाते हैं, गुरुसे द्वेष रखते, दूसरोंके पुत्रोंके दोष देखते हैं, पार्वण आदि श्राद्धोंके द्वारा शास्त्रोक्त रीतिसे पितरोंकी पूजा नहीं करते; शोभने! ऐसे आचरणवाले जीव फिर जन्म लेनेपर दीर्घकालके पश्चात् मानवयोनि पाकर संतानहीन तथा पुत्रशोकसे संतप्त होते हैं; इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् प्रदृश्यन्ते सुदुःखिताः।
उद्वेगवासनिरताः सोद्वेगाश्च यतव्रताः॥
नित्यं शोकसमाविष्टा दुर्गताश्च तथैव च।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने कहा—भगवन्! मनुष्योंमें कुछ लोग अत्यन्त दुखी दिखायी देते हैं। उनके निवासस्थानमें उद्वेगका वातावरण छाया रहता है। वे उद्विग्न रहकर संयमपूर्वक व्रतका पालन करते हैं। नित्य शोकमग्न तथा दुर्गतिग्रस्त रहते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा नित्यमुत्कोचनपरायणाः।
भीषयन्ति परान् नित्यं विकुर्वन्ति तथैव च॥
ऋणवृद्धिकराश्चैव दरिद्रेभ्यो यथेष्टतः।
ये श्वभिः क्रीडमानाश्च त्रासयन्ति वने मृगान्।
प्राणिहिंसां तथा देवि कुर्वन्ति च यतस्ततः॥
येषां गृहेषु वै श्वानः त्रासयन्ति वृथा नरान्॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मगताः पुनः।
पीडिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये॥
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते दुःखसंयुताः॥
कुदेशे दुःखभूयिष्ठे व्याघातशतसंकुले।
जायन्ते तत्र शोचन्तः सोद्वेगाश्च यतस्ततः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले प्रतिदिन घूस लेते हैं, दूसरोंको डराते और उनके मनमें विकार उत्पन्न कर देते हैं, अपने इच्छानुसार दरिद्रोंका ऋण बढ़ाते हैं, जो कुत्तोंसे खेलते और वनमें मृगोंको त्रास पहुँचाते हैं, जहाँ-तहाँ प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, जिनके घरोंमें पले हुए कुत्ते व्यर्थ ही लोगोंको डराते रहते हैं, प्रिये! ऐसे आचरणवाले मनुष्य मृत्युको प्राप्त होकर यमदण्डसे पीड़ित हो चिरकालतक नरकमें पड़े रहते हैं। फिर किसी प्रकार मनुष्यका जन्म पाकर अधिक दुःखसे भरे हुए सैकड़ों बाधाओंसे व्याप्त कुत्सित देशमें उत्पन्न हो वहाँ दुखी, शोकमग्न और सब ओरसे उद्विग्न बने रहते हैं॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न मानुषेषु च केचन।
क्लीबा नपुंसकाश्चैव दृश्यन्ते षण्डकास्तथा॥
नीचकर्मरता नीचा नीचसख्यास्तथा भुवि।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! भगदेवताके नेत्रको नष्ट करनेवाले महादेव! मनुष्योंमें कुछ लोग कायर, नपुंसक और हीजड़े देखे जाते हैं, जो इस भूतलपर स्वयं तो नीच हैं ही, नीच कर्मोंमें तत्पर रहते और नीचोंका ही साथ करते हैं। उनके नपुंसक होनेमें कौन-सा कर्मविपाक कारण होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम्।
ये पुरा मनुजा भूत्वा घोरकर्मरतास्तथा।
पशुपुंस्त्वोपघातेन जीवन्ति च रमन्ति च॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मं गतास्तु ते॥
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये॥
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः।
क्लीबा वर्षवराश्चैव षण्डकाश्च भवन्ति ते॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि! मैं वह कारण तुम्हें बताता हूँ, सुनो। जो मनुष्य पहले भयंकर कर्ममें तत्पर होकर पशुके पुरुषत्वका नाश करने अर्थात् पशुओंको बधिया करनेके कार्यद्वारा जीवननिर्वाह करते और उसीमें सुख मानते हैं, प्रिये! ऐसे आचरणवाले मनुष्य मृत्युको पाकर यमदण्डसे दण्डित हो चिरकालतक नरकमें निवास करते हैं। यदि मनुष्यजन्म धारण करते हैं तो वैसे ही कायर, नपुंसक और हीजड़े होते हैं॥

स्त्रीणामपि तथा देवि यथा पुंसां तु कर्मजम्।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

देवि! जैसे पुरुषोंको कर्मजनित फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्त्रियोंको भी अपने-अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यह विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो!॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[उमा-महेश्वर-संवादमें कितने ही महत्त्वपूर्ण विषयोंका विवेचन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश प्रमदा विधवा भृशम्।
दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्वकल्याणवर्जिताः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! मनुष्यलोकमें बहुत-सी युवती स्त्रियाँ समस्त कल्याणोंसे रहित विधवा दिखायी देती हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

याः पुरा मनुजा देवि बुद्धिमोहसमन्विताः।
कुटुम्बं तत्र वै पत्युर्नाशयन्ति वृथा तथा॥
विषदाश्चाग्निदाश्चैव पतीन् प्रति सुनिर्दयाः।
अन्यासां हि पतीन् यान्ति स्वपतीन् द्वेष्यकारणात्॥
एवंयुक्तसमाचारा यमलोके सुदण्डिताः॥

निरयस्थाश्चिरं कालं कथंचित् प्राप्य मानुषम् ॥
तत्र ता भोगरहिता विधवाश्च भवन्ति वै ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो स्त्रियाँ पहले जन्ममें बुद्धिमें मोह छा जानेके कारण पतिके कुटुम्बका व्यर्थ नाश करती हैं, विष देती, आग लगाती और पतियोंके प्रति अत्यन्त निर्दय होती हैं, अपने पतियोंसे द्वेष रखनेके कारण दूसरी स्त्रियोंके पतियोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, ऐसे आचरण-वाली नारियाँ यमलोकमें भलीभाँति दण्डित हो चिरकालतक नरकमें पड़ी रहती हैं। फिर किसी तरह मनुष्य-योनि पाकर वे भोगरहित विधवा हो जाती हैं॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वेव केचन।
दासभूताः प्रदृश्यन्ते सर्वकर्मपरा भृशम् ॥
आघातभर्त्सनसहाः पीड्यमानाश्च सर्वशः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें ही कोई दासभावको प्राप्त दिखायी देते हैं, जो सब प्रकारके कर्मोंमें सर्वथा संलग्न रहते हैं। वे पीटे जाते हैं, डाँट-फटकार सहते हैं और सब तरहसे सताये जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि परेषां वित्तहारकाः ॥
ऋणवृद्धिकरं क्रौर्यान्न्यासदत्तं तथैव च।
निक्षेपकारणाद् दत्तपरद्रव्यापहारिणः ॥
प्रमादाद् विस्मृतं नष्टं परेषां धनहारकाः।
वधबन्धपरिक्लेशैर्दासत्वं कुर्वते परान् ॥
तादृशा मरणं प्राप्ता दण्डिता यमशासनैः।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते देवि सर्वथा ॥
दासभूता भविष्यन्ति जन्मप्रभृति मानवाः ॥
तेषां कर्माणि कुर्वन्ति येषां ते धनहारकाः।
आसमाप्तेः स्वपापस्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! वह कारण मैं बताता हूँ, सुनो। देवि ! जो मनुष्य पहले दूसरोंके धनका अपहरण करते हैं, जो क्रूरतावश किसीके ऐसे धनको हड़प लेते हैं, जिसके कारण उसके ऊपर ऋण बढ़ जाता है, जो रखनेके लिये दिये हुए या धरोहरके तौरपर रखे हुए पराये धनको दबा लेते हैं अथवा प्रमादवश दूसरोंके भूले या खोये हुए धनको हर लेते हैं, दूसरोंको वध-बन्धन और क्लेशमें डालकर उनसे अपनी दासता कराते हैं; देवि ! ऐसे लोग मृत्युको प्राप्त हो यमदण्डसे दण्डित होकर जब किसी तरह मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं, तब जन्मसे ही दास होते हैं और उन्हीं-की सेवा करते हैं, जिनका धन उन्होंने पूर्वजन्ममें हर लिया है। जबतक उनके पापका भोग समाप्त नहीं हो जाता, तबतक वे दासकर्म ही करते रहते हैं, यही शास्त्रका निश्चय है ॥

पशुभूतास्तथा चान्ये भवन्ति धनहारकाः।
तत् तथा क्षीयते कर्म तेषां पूर्वापराधजम् ॥

पराये धनका अपहरण करनेवाले दूसरे लोग पशु होकर भी धनीकी सेवा करते हैं। ऐसा करनेसे उनका पूर्वापराध-जनित कर्म क्षीण होता है ॥

किंतु मोक्षविधिस्तेषां सर्वथा तत्प्रसादनम्।
अयथावन्मोक्षकामः पुनर्जन्मनि चेष्यते ॥

सब प्रकारसे उस धनके स्वामीको प्रसन्न कर लेना ही उसके ऋणसे छुटकारा पानेका उपाय है, किंतु जो यथावत् रूपसे उस ऋणसे छूटना नहीं चाहता, उसे पुनर्जन्म लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है ॥

मोक्षकामी यथान्यायं कुर्वन् कर्माणि सर्वशः।
भर्तुः प्रसादमाकाङ्क्षेदायासान् सर्वथा सहन् ॥

जो उस बन्धनसे छूटना चाहता हो, वह यथोचित रूपसे सारे काम करता और परिश्रमको सर्वथा सहता हुआ स्वामीको प्रसन्न करनेकी आकाङ्क्षा रखे ॥

प्रीतिपूर्वं तु यो भर्त्रा मुक्तो मुक्तः स पावनः।
तथाभूतान् कर्मकरान् सदा संतोषयेत् पतिः ॥

जिसे स्वामी प्रसन्नतापूर्वक दासताके बन्धनसे मुक्त कर देता है, वह मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है। स्वामीको भी चाहिये कि वह ऐसे सेवकोंको सदा संतुष्ट रखे ॥

यथार्हं कारयेत् कर्म दण्डं कारणतः क्षिपेत्।
वृद्धान् बालांस्तथा क्षीणान् पालयन् धर्ममाप्नुयात् ॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

उनसे यथायोग्य कार्य कराये और विशेष कारणसे ही उन्हें दण्ड दे। जो वृद्धों, बालकों और दुर्बल मनुष्योंका पालन करता है, वह धर्मका भागी होता है। देवि ! यह विषय तुम्हें बताया गया। अब और क्या सुनना चाहती हो ॥

उमोवाच

भगवन् भुवि मर्त्यानां दण्डितानां नरेश्वरैः।
दण्डेनैव कृतेनेह पापनाशो भवेन्न वा ॥
एतन्मया संशयितं तद् भवांश्छेत्तुमर्हति ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस भूतलपर राजा लोग जिन मनुष्योंको दण्ड दे देते हैं, अब उस दण्डसे ही उनके पापोंका नाश हो जाता है या नहीं ? यह मेरा संदेह है आप इसका निवारण करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वं समाहिता ॥
ये नृपैर्दण्डिता भूमावपराधापदेशतः ।
यमलोके न दण्ड्यन्ते तत्र ते यमदण्डनैः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारा संदेह ठीक है, तुम एकाग्रचित्त होकर इसका यथार्थ उत्तर सुनो। इस भूमिपर राजालोग जिस अपराधका नाम लेकर जिन मनुष्योंको दण्ड दे देते हैं, उसके लिये वे यमलोकमें यमराजके दण्डद्वारा दण्डित नहीं होते हैं ॥

अदण्डिता वा ये तथ्या मिथ्या वा दण्डिता भुवि ।
तान् यमो दण्डयत्येव स हि वेद कृताकृतम् ॥

इस पृथ्वीपर जो वास्तविक अपराधी बिना दण्ड पाये रह जाते हैं अथवा झूठे ही दूसरे लोग दण्डित हो जाते हैं, उस दशामें यमराज उन वास्तविक अपराधियोंको अवश्य दण्ड देते हैं; क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि किसने अपराध किया है और किसने नहीं किया है ॥

नातिक्रमेद् यमं कश्चित् कर्म कृत्वेह मानुषः ।
राजा यमश्च कुर्वाते दण्डमात्रं तु शोभने ॥

कोई भी मनुष्य इस लोकमें कर्म करके यमराजको नहीं लाँघ सकता, उसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ता है। शोभने! राजा और यम सबको भरपूर दण्ड देते हैं ॥

नास्ति कर्मफलच्छेत्ता कश्चिल्लोकत्रयेऽपि च ।
इति ते कथितं सर्वं निर्विशङ्का भव प्रिये ॥

तीनों लोकोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो कर्मोंके फलका बिना भोगे नाश कर सके। प्रिये! इस विषयमें तुम्हें सारी बातें बता दीं। अब संदेहरहित हो जाओ ॥

उमोवाच

किमर्थं दुष्कृतं कृत्वा मानुषा भुवि नित्यशः ।
पुनस्तत्कर्मनाशाय प्रायश्चित्तानि कुर्वते ॥

उमाने पूछा—भगवन्! यदि ऐसी बात है तो भूमण्डलके मनुष्य पाप-कर्म करके उसके निवारणके लिये प्रायश्चित्त क्यों करते हैं? ॥

सर्वपापहरं चेति हयमेधं वदन्ति च ।
प्रायश्चित्तानि चान्यानि पापनाशाय कुर्वते ॥
तस्मान्मया संशयितं त्वं तच्छेत्तुमिहार्हसि ।

कहते हैं कि अश्वमेधयज्ञ सम्पूर्ण पापोंको हर लेनेवाला है। लोग दूसरे-दूसरे प्रायश्चित्त भी पापोंका नाश करनेके लिये ही करते हैं। (इधर आप कहते हैं कि तीनों लोकोंमें कोई कर्मफलका नाश करनेवाला है ही नहीं) अतः इस विषयमें मुझे संदेह हो गया है। आप मेरे इस संदेहका निवारण करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वं समाहिता ।
संशयो हि महानेव पूर्वेषां च मनीषिणाम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! तुमने ठीक संशय उपस्थित किया है। अब एकाग्रचित्त होकर इसका वास्तविक उत्तर सुनो। पहलेके महर्षियोंके मनमें भी यह महान् संदेह बना रहा है ॥

द्विधा तु क्रियते पापं सद्भिश्चासद्भिरेव च ।
अभिसंधाय वा नित्यमन्यथा वा यदृच्छया ॥

सज्जन हों या असज्जन, सभीके द्वारा दो प्रकारका पाप बनता है, एक तो वह पाप है, जिसे सदा किसी उद्देश्यको मनमें लेकर जान-बूझकर किया जाता है और दूसरा वह है, जो अकस्मात् दैवेच्छासे बिना जाने ही बन जाता है ॥

केवलं चाभिसंधाय संरम्भाच्च करोति यत् ।
कर्मणस्तस्य नाशस्तु न कथंचन विद्यते ॥

जो उद्देश्य-सिद्धिकी कामना रखकर क्रोधपूर्वक कोई असत् कर्म करता है, उसके उस कर्मका किसी तरह नाश नहीं होता है ॥

अभिसंधिकृतस्यैव नैव नाशोऽस्ति कर्मणः ।
अश्वमेधसहस्रैश्च प्रायश्चित्तशतैरपि ॥
अन्यथा यत् कृतं पापं प्रमादाद् वा यदृच्छया ।
प्रायश्चित्ताश्वमेधाभ्यां श्रेयसा तत् प्रणश्यति ॥

फलाभिसन्धिपूर्वक किये गये कर्मोंका नाश सहस्रों अश्वमेध यज्ञों और सैकड़ों प्रायश्चित्तोंसे भी नहीं होता। इसके सिवा और प्रकारसे—असावधानी या दैवेच्छासे जो पाप बन जाता है, वह प्रायश्चित्त और अश्वमेधयज्ञसे तथा दूसरे किसी श्रेष्ठ कर्मसे नष्ट हो जाता है ॥

विद्ध्येवं पापके कार्ये निर्विशंका भव प्रिये ।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

प्रिये! इस प्रकार पाप कर्मके विषयमें तुम्हारा यह संदेह अब दूर हो जाना चाहिये। देवि! यह विषय मैंने तुम्हें बताया। अब और क्या सुनना चाहती हो? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषाश्चेतरा अपि ।
म्रियन्ते मानुषा लोके कारणाकारणादपि ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! जगत्के मनुष्य तथा दूसरे प्राणी, जो किसी कारणसे या अकारण भी मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं, इसमें कौन-सा कर्मविपाक कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि कारणाकारणादपि।
यथासुभिर्वियुज्यन्ते प्राणिनः प्राणिनिर्दयाः॥
तथैव ते प्राप्नुवन्ति यथैवात्मकृतं फलम्।
विषदास्तु विषेणैव शस्त्रैः शस्त्रेण घातकाः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो निर्दयी मनुष्य पहले किसी कारणसे या अकारण भी दूसरे प्राणियोंके प्राण लेते हैं, वे उसी प्रकार अपनी करनीका फल पाते हैं। विष देनेवाले विषसे ही मरते हैं और शस्त्रद्वारा दूसरोंकी हत्या करनेवाले लोग स्वयं भी जन्मान्तरमें शस्त्रोंके आघातसे ही मारे जाते हैं॥

इति सत्यं प्रजानीहि लोके तत्र विधिं प्रति।
कर्मकर्ता नरोऽभोक्ता स नास्ति दिवि वा भुवि।

तुम इसीको सत्य समझो। कर्म करनेवाला मनुष्य उन कर्मोंका फल न भोगे, ऐसा कोई पुरुष न इस पृथ्वीपर है न स्वर्गमें॥

न शक्यं कर्म चाभोक्तुं सदेवासुरमानुषैः॥
कर्मणा प्रथितो लोक आदिप्रभृति वर्तते।

देवता, असुर और मनुष्य कोई भी अपने कर्मोंका फल भोगे बिना नहीं रह सकता। आदिकालसे ही यह संसार कर्मसे गुँथा हुआ है॥

एतदुद्देशतः प्रोक्तं कर्मपाकफलं प्रति॥
यदन्यच्च मया नोक्तं यस्मिंस्ते कर्मसंग्रहे।
बुद्धितर्केण तत् सर्वं तथा वेदितुमर्हसि॥
कथितं श्रोतुकामाया भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

कर्मोंके परिणामके विषयमें ये बातें संक्षेपसे बतायी गयी हैं। कर्मसंचयके विषयमें जो बात मैंने अबतक नहीं कही हो, उसे भी तुम्हें अपनी बुद्धिद्वारा तर्क—ऊहापोह करके जान लेना चाहिये। तुम्हें सुननेकी इच्छा थी, इसलिये मैंने ये सारी बातें बतायीं। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न मानुषाणां विचेष्टितम्।
सर्वमात्मकृतं चेति श्रुतं मे भगवन्मतम्॥
लोके ग्रहकृतं सर्वं मत्वा कर्म शुभाशुभम्।
तदेव ग्रहनक्षत्रं प्रायशः पर्युपासते॥
एष मे संशयो देव तं मे त्वं छेत्तुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! भगनेत्रनाशन! आपका मत है कि मनुष्योंकी जो भली-बुरी अवस्था है, वह सब उनकी अपनी ही करनीका फल है। आपके इस मतको मैंने अच्छी तरह सुना; परंतु लोकमें यह देखा जाता है कि लोग समस्त शुभाशुभ कर्मफलको ग्रहजनित मानकर प्रायः उन ग्रह-नक्षत्रोंकी ही आराधना करते रहते हैं। क्या उनकी यह मान्यता ठीक है? देव! यही मेरा संशय है। आप मेरे इस संदेहका निवारण कीजिये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वविनिश्चयम्॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः।
मानवानां महाभागे न तु कर्मकराः स्वयम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! तुमने उचित संदेह उपस्थित किया है। इस विषयमें जो सिद्धान्त मत है, उसे सुनो। महाभागे! ग्रह और नक्षत्र मनुष्योंके शुभ और अशुभकी सूचनामात्र देनेवाले हैं। वे स्वयं कोई काम नहीं करते हैं॥

प्रजानां तु हितार्थाय शुभाशुभविधिं प्रति।
अनागतमतिक्रान्तं ज्योतिश्चक्रेण बोध्यते॥

प्रजाके हितके लिये ज्योतिषचक्र (ग्रह-नक्षत्र मण्डल) के द्वारा भूत और भविष्यके शुभाशुभ फलका बोध कराया जाता है॥

किंतु तत्र शुभं कर्म सुग्रहैस्तु निवेद्यते।
दुष्कृतस्याशुभैरेव समवायो भवेदिति॥

किंतु वहाँ शुभ कर्मफलकी सूचना उत्तम (शुभ) ग्रहोंद्वारा प्राप्त होती है और दुष्कर्मके फलकी सूचना अशुभ ग्रहोंद्वारा॥

केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्।
सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादो ग्रहा इति॥

केवल ग्रह और नक्षत्र ही शुभाशुभ कर्मफलको उपस्थित नहीं करते हैं। सारा अपना ही किया हुआ कर्म शुभाशुभ फलका उत्पादक होता है। ग्रहोंने कुछ किया है—यह कथन लोगोंका प्रवादमात्र है॥

उमोवाच

भगवन् विविधं कर्म कृत्वा जन्तुः शुभाशुभम्।
किं तयोः पूर्वकतरं भुङ्क्ते जन्मान्तरे पुनः॥
एष मे संशयो देव तं मे त्वं छेत्तुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! जीव नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करके जब दूसरा जन्म धारण करता है, तब दोनोंमेंसे पहले किसका फल भोगता है, शुभका या अशुभका? देव! यह मेरा संशय है। आप इसे मिटा दीजिये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि तत् ते वक्ष्यामि तत्त्वतः॥
अशुभं पूर्वमित्याहुरपरे शुभमित्यपि।
मिथ्या तदुभयं प्रोक्तं केवलं तद् ब्रवीमि ते॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारा संदेह उचित ही है, अब मैं तुम्हें इसका यथार्थ उत्तर देता हूँ। कुछ लोगोंका कहना है कि पहले अशुभ कर्मका फल मिलता है, दूसरे कहते हैं कि पहले शुभ कर्मका फल प्राप्त होता है। परंतु ये दोनों ही बातें मिथ्या कही गयी हैं। सच्ची बात क्या है ? यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥

भुञ्जानाश्चापि दृश्यन्ते क्रमशो भुवि मानवाः।
ऋद्धिं हानिं सुखं दुःखं तत् सर्वमभयं भयम् ॥

इस पृथ्वीपर मनुष्य क्रमशः दोनों प्रकारके फल भोगते देखे जाते हैं। कभी धनकी वृद्धि होती है कभी हानि, कभी सुख मिलता है कभी दुःख, कभी निर्भयता रहती है और कभी भय प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी फल क्रमशः भोगने पड़ते हैं ॥

दुःखान्यनुभवन्त्याढ्या दरिद्राश्च सुखानि च।
यौगपद्याद्धि भुञ्जाना दृश्यन्ते लोकसाक्षिकम् ॥

कभी धनाढ्य लोग दुःखका अनुभव करते हैं और कभी दरिद्र भी सुख भोगते हैं। इस प्रकार एक ही साथ लोग शुभ और अशुभका भोग करते देखे जाते हैं। सारा जगत् इस बातका साक्षी है ॥

नरके स्वर्गलोके च न तथा संस्थितिः प्रिये।
नित्यं दुःखं हि नरके स्वर्गे नित्यं सुखं तथा ॥

प्रिये ! किंतु नरक और स्वर्गलोकमें ऐसी स्थिति नहीं है। नरकमें सदा दुःख ही दुःख है और स्वर्गमें सदा सुख ही सुख ॥

तत्रापि सुमहद् भुक्त्वा पूर्वमल्पं पुनः शुभे।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

शुभे ! वहाँ भी शुभ या अशुभमेंसे जो बहुत अधिक होता है, उसका भोग पहले और जो बहुत कम होता है, उसका भोग पीछे होता है। ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दीं, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् प्राणिनो लोके म्रियन्ते केन हेतुना।
जाता जाता न तिष्ठन्ति तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस लोकमें प्राणी किस कारणसे मर जाते हैं ? जन्म ले-लेकर वे यहीं बने क्यों नहीं रहते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सत्यं समाहिता।
आत्मा कर्मक्षयाद् देहं यथा मुञ्चति तच्छृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! इस विषयमें जो यथार्थ बात है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ। कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर आत्मा इस शरीरको कैसे छोड़ता है ? यह एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

शरीरात्मसमाहारो जन्तुरित्यभिधीयते।
तत्रात्मानं नित्यमाहुरनित्यं क्षेत्रमुच्यते ॥

शरीर और आत्माका (जड और चेतनका) जो संयोग है, उसीको जीव या प्राणी कहते हैं। इनमें आत्माको नित्य और शरीरको अनित्य बताया जाता है ॥

एवं कालेन संक्रान्तं शरीरं जर्जरीकृतम्।
अकर्मयोग्यं संशीर्णं त्यक्त्वा देही ततो व्रजेत् ॥

जब कालसे आक्रान्त होकर शरीर जरावस्थासे जर्जर हो जाता है, कोई कर्म करने योग्य नहीं रह जाता और सर्वथा गल जाता है, तब देहधारी जीव उसे त्यागकर चल देता है ॥

नित्यस्यानित्यसंत्यागाल्लोके तन्मरणं विदुः।
कालं नातिक्रमेरन् हि सदेवासुरमानवाः ॥

नित्य जीवात्मा जब अनित्य शरीरको त्यागकर चला जाता है, तब लोकमें उस प्राणीकी मृत्यु हुई मानी जाती है। देवता, असुर और मनुष्य कोई भी कालका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥

यथाऽऽकाशे न तिष्ठेत द्रव्यं किंचिदचेतनम्।
तथा धावति कालोऽयं क्षणं किंचिन्न तिष्ठति ॥

जैसे आकाशमें कोई भी जड द्रव्य स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार यह काल निरन्तर दौड़ लगाता रहता है। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता ॥

स पुनर्जायतेऽन्यत्र शरीरं नवमाविशन्।
एवं लोकगतिर्नित्यमादिप्रभृति वर्तते ॥

वह जीव फिर किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश करके अन्यत्र जन्म लेता है। इस प्रकार आदि कालसे ही लोककी सदा ऐसी ही गति चल रही है ॥

उमोवाच

भगवन् प्राणिनो बाला दृश्यन्ते मरणं गताः।
अतिवृद्धाश्च जीवन्तो दृश्यन्ते चिरजीविनः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस संसारमें बाल्यावस्थामें भी प्राणियोंकी मृत्यु होती देखी जाती है और अत्यन्त वृद्ध मनुष्य भी चिरजीवी होकर जीवित दिखायी देते हैं ॥

केवलं कालमरणं न प्रमाणं महेश्वर।
तस्मान्मे संशयं ब्रूहि प्राणिनां जीवकारणम् ॥

महेश्वर ! केवल काल-मृत्यु अर्थात् वृद्धावस्थामें ही मृत्यु होनेकी बात प्रमाणभूत नहीं रह गयी है; अतः प्राणियोंके जीवनके लिये उठे हुए मेरे इस संदेहका आप निवारण कीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु तत् कारणं देवि निर्णयस्त्वेक एव सः।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! इसका कारण सुनो। इस विषयमें एक ही निर्णय है ॥

यावत् पूर्वकृतं कर्म तावज्जीवति मानवः।
तत्र कर्मवशाद् बाला म्रियन्ते कालसंक्षयात्॥
चिरं जीवन्ति वृद्धाश्च तथा कर्मप्रमाणतः।
इति ते कथितं देवि निर्विशङ्का भव प्रिये॥

जबतक पूर्वकृत कर्म (प्रारब्ध) शेष है, तबतक मनुष्य जीवित रहता है। उसी कर्मके अधीन होकर प्रारब्ध भोगका काल समाप्त होनेपर बालक भी मर जाते हैं और उसी कर्मकी मात्राके अनुसार वृद्ध पुरुष भी दीर्घकालतक जीवित रहते हैं। देवि ! यह सब विषय तुम्हें बताया गया। प्रिये ! इस विषयमें अब तुम संशयरहित हो जाओ ॥

उमोवाच

भगवन् केन वृत्तेन भवन्ति चिरजीविनः।
अल्पायुषो नराः केन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! किस आचरणसे मनुष्य चिरजीवी होते हैं और किससे अल्पायु हो जाते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु तत् सर्वमखिलं गुह्यं पथ्यतरं नृणाम्।
येन वृत्तेन सम्पन्ना भवन्ति चिरजीविनः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह सारा गूढ़ रहस्य मनुष्योंके लिये परम लाभदायक है। जिस आचरणसे सम्पन्न मनुष्य चिरजीवी होते हैं, वह सब सुनो ॥

अहिंसा सत्यवचनमक्रोधः क्षान्तिरार्जवम्।
गुरूणां नित्यशुश्रूषा वृद्धानामपि पूजनम्॥
शौचादकार्यसंत्यागः सदा पथ्यस्य भोजनम्।
एवमादिगुणं वृत्तं नराणां दीर्घजीविनाम्॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधका त्याग, क्षमा, सरलता, गुरुजनोंकी नित्य सेवा, बड़े-बूढ़ोंका पूजन, पवित्रताका ध्यान रखकर न करनेयोग्य कर्मोंका त्याग, सदा ही पथ्य भोजन इत्यादि गुणोंवाला आचार दीर्घजीवी मनुष्योंका है ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण रसायननिषेवणात्।
उदग्रसत्त्वा बलिनो भवन्ति चिरजीविनः॥

तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा रसायनके सेवनसे मनुष्य अधिक धैर्यशाली, बलवान् और चिरजीवी होते हैं ॥

स्वर्गे वा मानुषे वापि चिरं तिष्ठन्ति धार्मिकाः॥
अपरे पापकर्माणः प्रायशोऽनृतवादिनः।
हिंसाप्रिया गुरुद्विष्टा निष्क्रियाः शौचवर्जिताः॥
नास्तिका घोरकर्माणः सततं मांसपानपाः।
पापाचारा गुरुद्विष्टाः कोपनाः कलहप्रियाः॥
एवमेवाशुभाचारास्तिष्ठन्ति निरये चिरम्।
तिर्यग्योनौ तथात्यन्तमल्पास्तिष्ठन्ति मानवाः॥

धर्मात्मा पुरुष स्वर्गमें हो या मनुष्यलोकमें, वे दीर्घकालतक अपने पदपर बने रहते हैं। इनके सिवा दूसरे जो पापकर्मी प्रायः झूठ बोलनेवाले, हिंसाप्रेमी, गुरुद्रोही, अकर्मण्य, शौचाचारसे रहित, नास्तिक, घोरकर्मी, सदा मांस खाने और मद्य पीनेवाले, पापाचारी, गुरुसे द्वेष रखनेवाले, क्रोधी और कलहप्रेमी हैं, ऐसे असदाचारी पुरुष चिरकालतक नरकमें पड़े रहते हैं तथा तिर्यग्योनिमें स्थित होते हैं, वे मनुष्य शरीरमें अत्यन्त अल्प समयतक ही रहते हैं ॥

तस्मादल्पायुषो मर्त्यास्तादृशाः सम्भवन्ति ते॥
अगम्यदेशगमनादपथ्यानां च भोजनात्।
आयुःक्षयो भवेन्नृणामायुःक्षयकरा हि ते॥

इसीलिये ऐसे मनुष्य अल्पायु होते हैं। अगम्य स्थानोंमें जानेसे, अपथ्य वस्तुओंका भोजन करनेसे मनुष्योंकी आयु क्षीण होती है, क्योंकि वे आयुका नाश करनेवाले हैं ॥

भवन्त्यल्पायुषस्तैस्तैरन्यथा चिरजीविनः।
एतत् ते कथितं सर्वं भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

ऊपर बताये हुए कारणोंसे मनुष्य अल्पायु होते हैं, अन्यथा चिरजीवी होते हैं। यह सारा विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

देवदेव महादेव श्रुतं मे भगवन्निदम्।
आत्मनो जातिसम्बन्धं ब्रूहि स्त्रीपुरुषान्तरे॥

उमाने पूछा—देवदेव ! महादेव ! भगवन् ! यह विषय तो मैंने अच्छी तरह सुन लिया। अब यह बताइये कि आत्माका स्त्री या पुरुषमेंसे किस जातिके साथ सम्बन्ध है ? ॥

स्त्रीप्राणः पुरुषप्राण एकः स पृथगेव वा।
एष मे संशयो देव तं मे छेत्तुं त्वमर्हसि॥

जीवात्मा स्त्री-रूप है या पुरुषरूप ? एक है या अलग-अलग ? देव ! यह मेरा संशय है। आप इसका निवारण करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

निर्विकारः सदैवात्मा स्त्रीत्वं पुंस्त्वं न चात्मनि।
कर्मप्रकारेण तथा जात्यां जात्यां प्रजायते॥
कृत्वा तु पौरुषं कर्म स्त्री पुमानपि जायते।
स्त्रीभावयुक् पुमान् कृत्वा कर्मणा प्रमदा भवेत्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जीवात्मा सदा ही निर्विकार है! वह न स्त्री है न पुरुष। वह कर्मके अनुसार विभिन्न जातियोंमें जन्म लेता है। पुरुषोचित कर्म करके स्त्री भी पुरुष हो सकती है और स्त्री-भावनासे युक्त पुरुष तदनुरूप कर्म करके उस कर्मके अनुसार स्त्री हो सकता है॥

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश कर्मात्मा न करोति चेत्।
कोऽन्यः कर्मकरो देहे तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥

उमाने पूछा-भगवन्! सर्वलोकेश्वर! यदि आत्मा कर्म नहीं करता तो शरीरमें दूसरा कौन कर्म करनेवाला है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु भामिनि कर्तारमात्मा हि न च कर्मकृत्।
प्रकृत्या गुणयुक्तेन क्रियते कर्म नित्यशः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि! कर्ता कौन है? यह सुनो। आत्मा कर्म नहीं करता है। प्रकृतिके गुणोंसे युक्त प्राणीद्वारा ही सदा कर्म किया जाता है॥

शरीरं प्राणिनां लोके यथा पित्तकफानिलैः।
व्याप्तमेभिस्त्रिभिर्दोषैस्तथा व्याप्तं त्रिभिर्गुणैः॥

जगत्में प्राणियोंका शरीर जैसे वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषोंसे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार प्राणी सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंसे व्याप्त होता है॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्त्वेते शरीरिणः।
प्रकाशात्मकमेतेषां सत्त्वं सततमिष्यते॥
रजो दुःखात्मकं तत्र तमो मोहात्मकं स्मृतम्।
त्रिभिरेतैर्गुणैर्युक्तं लोके कर्म प्रवर्तते॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों शरीरधारीके गुण हैं। इनमेंसे सत्त्व सदा प्रकाशस्वरूप माना गया है। रजोगुण दुःखरूप और तमोगुण मोहरूप बताया गया है। लोकमें इन तीनों गुणोंसे युक्त कर्मकी प्रवृत्ति होती है॥

सत्यं प्राणिदया शौचं श्रेयः प्रीतिः क्षमा दमः।
एवमादि तथान्यच्च कर्म सात्त्विकमुच्यते॥

सत्यभाषण, प्राणियोंपर दया, शौच, श्रेय, प्रीति, क्षमा और इन्द्रिय-संयम—ये तथा ऐसे ही अन्य कर्म भी सात्त्विक कहलाते हैं॥

दाक्ष्यं कर्मपरत्वं च लोभो मोहो विधिं प्रति।
कलत्रसङ्गो माधुर्यं नित्यमैश्वर्यलुब्धता॥
राजसश्चोद्भवं चैतत् कर्म नानाविधं सदा॥

दक्षता, कर्मपरायणता, लोभ, विधिके प्रति मोह, स्त्री-सङ्ग, माधुर्य तथा सदा ऐश्वर्यका लोभ—ये नाना प्रकारके भाव और कर्म रजोगुणसे प्रकट होते हैं॥

अनृतं चैव पारुष्यं धृतिविद्वेषिता भृशम्।
हिंसासत्यं च नास्तिक्यं निद्रालस्यभयानि च॥
तमसश्चोद्भवं चैतत् कर्म पापयुतं तथा॥

असत्यभाषण, रूखापन, अत्यन्त अधीरता, हिंसा, असत्य, नास्तिकता, निद्रा, आलस्य और भय—ये तथा पापयुक्त कर्म तमोगुणसे प्रकट होते हैं॥

तस्माद् गुणमयः सर्वः कार्यारम्भः शुभाशुभः।
तस्मादात्मानमव्यग्रं विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

इसलिये समस्त शुभाशुभ कार्यारम्भ गुणमय है, अतः आत्माको व्यग्रतारहित, अकर्ता और अविनाशी समझो॥

सात्त्विकाः पुण्यलोकेषु राजसा मानुषे पदे।
तिर्यग्योनौ च नरके तिष्ठेयुस्तामसा नराः॥

सात्त्विक मनुष्य पुण्यलोकोंमें जाते हैं। राजस जीव मनुष्यलोकमें स्थित होते हैं तथा तमोगुणी मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिमें और नरकमें स्थित होते हैं॥

उमोवाच

किमर्थमात्मा भिन्नेऽस्मिन् देहे शस्त्रेण वा हते।
स्वयं प्रयास्यति तदा तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—इस शरीरके भेदनसे अथवा शस्त्रद्वारा मारे जानेसे आत्मा स्वयं ही क्यों चला जाता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम्।
एतन्नैर्मापिकैश्चापि मुह्यन्ते सूक्ष्मबुद्धिभिः॥

श्रीमहेश्वरने कहा-कल्याणि! इसका कारण मैं बताता हूँ, सुनो। इस विषयमें सूक्ष्म बुद्धिवाले विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

कर्मक्षये तु सम्प्राप्ते प्राणिनां जन्मधारिणाम्।
उपद्रवो भवेद् देहे येन केनापि हेतुना॥
तन्निमित्तं शरीरी तु शरीरं प्राप्य संक्षयम्।
अपयाति परित्यज्य ततः कर्मवशेन सः॥

जन्मधारी प्राणियोंके कर्मोंका क्षय हो जानेपर इस देहमें जिस किसी भी कारणसे उपद्रव होने लगता है। उसके कारण शरीरका क्षय हो जानेपर देहाभिमानी जीव कर्मके अधीन हो उस शरीरको त्यागकर चला जाता है॥

देहः क्षयति नैवात्मा वेदनाभिर्न चाल्यते।
तिष्ठेत् कर्मफलं यावद् व्रजेत् कर्मक्षये पुनः॥

शरीर क्षीण होता है, आत्मा नहीं। वह वेदनाओंसे भी विचलित नहीं होता। जबतक कर्मफल शेष रहता है, तबतक

जीवात्मा इस शरीरमें स्थित रहता है और कर्मोंका क्षय होनेपर पुनः चला जाता है ॥

आदिप्रभृति लोकेऽस्मिन्नेवमात्मगतिः स्मृता ।
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

आदिकालसे ही इस जगत्में आत्माकी ऐसी ही गति मानी गयी है। देवि ! यह सब विषय तुम्हें बताया गया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[प्राणियोंके चार भेदोंका निरूपण, पूर्वजन्मकी स्मृतिका रहस्य, मरकर फिर लौटनेमें कारण स्वप्नदर्शन, दैव और पुरुषार्थ तथा पुनर्जन्मका विवेचन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश कर्मणैव शुभाशुभम् ।
यथायोगं फलं जन्तुः प्राप्नोतीति विनिश्चयः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! जीव अपने कर्मसे ही यथायोग्य शुभाशुभ फल पाता है- यह निश्चय हुआ ॥

परेषां विप्रियं कुर्वन् यथा सम्प्राप्नुयाच्छुभम् ।
यदेतदस्मिंश्चेद् देहे तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

दूसरोंका अप्रिय करके भी इस शरीरमें स्थित हुआ जीवात्मा किस प्रकार शुभ फल पाता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदप्यस्ति महाभागे अभिसंधिबलान्नृणाम् ।
हितार्थं दुःखमन्येषां कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे ! ऐसा भी होता है कि शुभ संकल्पके बलसे मनुष्योंके हितके लिये उन्हें दुःख देकर भी पुरुष सुख प्राप्त कर सके ॥

दण्डयन् भर्त्सयन् राजा प्रजाः पुण्यमवाप्नुयात् ।
गुरुः संतर्जयञ्शिष्यान् भर्ता भृत्यजनान् स्वकान् ॥

राजा प्रजाको अपराधके कारण दण्ड देता और फटकारता है तो भी वह पुण्यका ही भागी होता है। गुरु अपने शिष्योंको और स्वामी अपने सेवकोंको उनके सुधारके लिये यदि डाँटता-फटकारता है तो इससे सुखका ही भागी होता है ॥

उन्मार्गप्रतिपन्नांश्च शास्ता धर्मफलं लभेत् ॥
चिकित्सकश्च दुःखानि जनयन् हितमाप्नुयात् ।

जो कुमार्गपर चल रहे हों, उनका शासन करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है। चिकित्सक रोगीकी चिकित्सा करते समय उसे कष्ट ही देता है तथापि रोग मिटानेका प्रयत्न करनेके कारण वह हितका ही भागी होता है ॥

एवमन्ये सुमनसो हिंसकाः स्वर्गमाप्नुयुः ॥
एकस्मिन् निहते भद्रे बहवः सुखमाप्नुयुः ।
तस्मिन् हते भवेद् धर्मः कुत एव तु पातकम् ॥

इस प्रकार दूसरे लोग भी यदि शुद्ध हृदयसे किसीको कष्ट पहुँचाते हैं तो स्वर्गलोकमें जाते हैं। भद्रे ! जहाँ किसी एक दुष्टके मारे जानेपर बहुत-से सत्पुरुषोंको सुख प्राप्त होता हो तो उसके मारनेपर पातक क्या लगेगा, उलटे धर्म होता है ॥

अभिसंधेरजिह्मत्वाच्छुद्धे धर्मस्य गौरवात् ।
एतत् कृत्वा तु पापेभ्यो न दोषं प्राप्नुयुः क्वचित् ॥

यदि उद्देश्य कुटिलतापूर्ण न हो, अपितु धर्मके गौरवसे शुद्ध हो तो पापियोंके प्रति ऐसा व्यवहार करके भी कहीं दोषकी प्राप्ति नहीं होती ॥

उमोवाच

चतुर्विधानां जन्तूनां कथं ज्ञानमिह स्मृतम् ।
कृत्रिमं तत्स्वभावं वा तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—इस जगत्में रहनेवाले चार प्रकारके प्राणियोंको कैसे ज्ञान प्राप्त होता है ? वह कृत्रिम है या स्वाभाविक ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थावरं जङ्गमं चेति जगद् द्विविधमुच्यते ।
चतस्रो योनयस्तत्र प्रजानां क्रमशो यथा ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह जगत् स्थावर और जङ्गमके भेदसे दो प्रकारका पाया जाता है ! इसमें प्रजाकी क्रमशः चार योनियाँ हैं–जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ॥

तेषामुद्भिदजा वृक्षा लतावल्ल्यश्च वीरुधः ।
दंशयूकादयश्चान्ये स्वेदजाः कृमिजातयः ॥

इनमेंसे वृक्ष, लता, वल्ली और तृण आदि उद्भिज कहलाते हैं। डाँस और जूँ आदि कीट जातिके प्राणी स्वेदज कहे गये हैं ॥

पक्षिणश्छिद्रकर्णाश्च प्राणिनस्त्वण्डजा मताः ।
मृगव्यालमनुष्यांश्च विद्धि तेषां जरायुजान् ॥

जिनके पंख होते हैं और कानके स्थानमें एक छिद्र मात्र होता है, ऐसे प्राणी अण्डज माने गये हैं । पशु, व्याल (हिंसक जन्तु बाघ, चीते आदि)और मनुष्य–इनको जरायुज समझो ॥

एवं चतुर्विधां जातिमात्मा संसृत्य तिष्ठति ॥

इस तरह आत्मा इन चार प्रकारकी जातियोंका आश्रय लेकर रहता है ॥

तथा भूम्यम्बुसंयोगाद् भवन्त्युद्भिदजाः प्रिये ।
शीतोष्णयोस्तु संयोगाज्जायन्ते स्वेदजाः प्रिये॥

प्रिये ! पृथ्वी और जलके संयोगसे उद्भिज्ज प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है तथा स्वेदज जीव सर्दी और गर्मीके संयोगसे जीवन ग्रहण करते हैं ॥

अण्डजाश्चापि जायन्ते संयोगात् क्लेदबीजयोः ।
शुक्रशोणितसंयोगात् सम्भवन्ति जरायुजाः ॥
जरायुजानां सर्वेषां मानुषं पदमुत्तमम् ॥

क्लेद और बीजके संयोगसे अण्डज प्राणियोंका जन्म होता है और जरायुज प्राणी रज-वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होते हैं । समस्त जरायुजोंमें मनुष्यका स्थान सबसे ऊँचा है ॥

अतः परं तमोत्पत्तिं शृणु देवि समाहिता ।
द्विविधं हि तमो लोके शार्वरं देहजं तथा ॥

देवि ! अब एकाग्रचित्त होकर तमकी उत्पत्ति सुनो । लोकमें दो प्रकारका तम बताया गया है—रात्रिका और देहजनित ॥

ज्योतिर्भिश्च तमो लोके नाशं गच्छति शार्वरम् ।
देहजं तु तमो लोके तैः समस्तैर्न शाम्यति ॥

लोकमें ज्योति या तेजके द्वारा रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है; परंतु जो देहजनित तम है, वह सम्पूर्ण ज्योतियोंके प्रकाशित होनेपर भी नहीं शान्त होता ॥

तमसस्तस्य नाशार्थं नोपायमधिजग्मिवान् ।
तपश्चचार विपुलं लोककर्ता पितामहः ॥

लोककर्ता पितामह ब्रह्माजीको जब उस तमका नाश करनेके लिये कोई उपाय नहीं सूझा, तब वे बड़ी भारी तपस्या करने लगे ॥

तपतस्तु समुद्भूता वेदाः साङ्गाः सहोत्तराः ।
तॉंल्लब्ध्वा मुमुदे ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥
देहजं तत् तमो घोरं वेदैरेव विनाशितम् ॥

तपस्या करते समय उनके मुखसे छहों अङ्गों और उपनिषदोंसहित चारों वेद प्रकट हुए । उन्हें पाकर ब्रह्माजी बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने लोकोंके हितकी कामनासे वेदोंके ज्ञानद्वारा ही उस देहजनित घोर तमका नाश किया ॥

कार्याकार्यमिदं चेति वाच्यावाच्यमिदं त्विति ।
यदि चेन्न भवेल्लोके श्रुतं चारित्रदैशिकम् ॥
पशुभिर्निर्विशेषं तु चेष्टन्ते मानुषा अपि ॥

यह वेदज्ञान कर्तव्य और अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाला, वाच्य और अवाच्यका बोध करानेवाला है । यदि संसारमें सदाचारकी शिक्षा देनेवाली श्रुति न हो तो मनुष्य भी पशुओंके समान ही मनमानी चेष्टा करने लगें ॥

यज्ञादीनां समारम्भः श्रुतेनैव विधीयते ।
यज्ञस्य फलयोगेन देवलोकः समृद्ध्यते ॥

वेदोंके द्वारा ही यज्ञ आदि कर्मोंका आरम्भ किया जाता है । यज्ञफलके संयोगसे देवलोककी समृद्धि बढ़ती है ॥

प्रीतियुक्ताः पुनर्देवा मानुषाणां भवन्त्युत ।
एवं नित्यं प्रवर्धेते रोदसी च परस्परम् ॥

इससे देवता मनुष्योंपर प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार पृथ्वी और स्वर्गलोक दोनों एक-दूसरेकी उन्नतिमें सदा सहयोगी होते हैं ॥

लोकसंधारणं तस्माच्छ्रुतमित्यवधारय ।
ज्ञानाद् विशिष्टं जन्तूनां नास्ति लोकत्रयेऽपि च ॥

अतः तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि वेद ही धर्मकी प्रवृत्तिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाला है । जीवोंके लिये इस त्रिलोकीमें ज्ञानसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥

सम्प्रगृह्य श्रुतं सर्वं कृतकृत्यो भवत्युत ।
उपर्युपरि मर्त्यानां देववत् सम्प्रकाशते ॥

सम्पूर्ण वेदोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य हो जाता है और साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा ऊँची स्थितिमें पहुँचकर देवताके समान प्रकाशित होने लगता है ॥

कामं क्रोधं भयं दर्पमज्ञानं चैव बुद्धिजम् ।
तच्छ्रुतं नुदति क्षिप्रं यथा वायुर्बलाहकान् ॥

जैसे हवा बादलोंको उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार वेदशास्त्रजनित ज्ञान काम, क्रोध, भय, दर्प और बौद्धिक अज्ञानको भी शीघ्र ही दूर कर देता है ॥

अल्पमात्रं कृतो धर्मो भवेज्ज्ञानवता महान् ।
महानपि कृतो धर्मो ह्यज्ञानान्निष्फलो भवेत् ॥

ज्ञानवान् पुरुषके द्वारा किया हुआ थोड़ा-सा धर्म भी महान् बन जाता है और अज्ञानपूर्वक किया हुआ महान् धर्म भी निष्फल हो जाता है ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिज्जातिस्मरणसंयुताः ।
किमर्थमभिजायन्ते जानन्तः पौर्वदैहिकम् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कुछ मनुष्योंको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण होता है । वे किसलिये पूर्व शरीरके वृत्तान्तको जानते हुए जन्म लेते हैं ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता ॥
ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः ।
तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कंचित् कालं हि तिष्ठति ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं तुम्हें तत्त्वकी बात बता रहा हूँ; एकाग्रचित्त होकर सुनो। जो मनुष्य सहसा मृत्युको प्राप्त होकर फिर कहीं सहसा जन्म ले लेते हैं, उनका पुराना अभ्यास या संस्कार कुछ कालतक बना रहता है ॥

तस्माज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः।
तेषां विवर्धतां संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति ॥
परलोकस्य चास्तित्वे मूढानां कारणं त्विदम् ॥

इसलिये वे लोकमें पूर्वजन्मकी बातोंके ज्ञानसे युक्त होकर जन्म लेते हैं और जातिस्मर (पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाले) कहलाते हैं। फिर ज्यों-ज्यों वे बढ़ने लगते हैं, त्यों-त्यों उनकी स्वप्न-जैसी वह पुरानी स्मृति नष्ट होने लगती है। ऐसी घटनाएँ मूर्ख मनुष्योंको परलोककी सत्तापर विश्वास करानेमें कारण बनती हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिन्मृता भूत्वापि सम्प्रति।
निवर्तमाना दृश्यन्ते देहेष्वेव पुनर्नराः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कई मनुष्य मरनेके बाद भी फिर उसी शरीरमें लौटते देखे जाते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि कारणं शृणु शोभने ॥
प्राणैर्वियुज्यमानानां बहुत्वात् प्राणिनां क्षये।
तथैव नामसामान्याद् यमदूता नृणां प्रति ॥
वहन्ति ते कचिन्मोहादन्यं मर्त्यं तु धार्मिकाः।
निर्विकारं हि तत् सर्वं यमो वेद कृताकृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने ! वह कारण मैं बताता हूँ, सुनो। प्राणी बहुत हैं और मृत्युकाल आनेपर सभीका अपने प्राणोंसे वियोग हो जाता है। धार्मिक यमदूत कभी-कभी कई मनुष्योंके एक ही नाम होनेके कारण मोहवश एकके बदले दूसरे मनुष्यको पकड़ ले जाते हैं, परंतु यमराज निर्विकार भावसे दूतोंके द्वारा किये गये और नहीं किये गये, सभी कार्योंको जानते हैं ॥

तस्मात् संयमनीं प्राप्य यमेनैकेन मोक्षिताः।
पुनरेवं निवर्तन्ते शेषं भोक्तुं स्वकर्मणः ॥
स्वकर्मण्यसमाप्ते तु निवर्तन्ते हि मानवाः ॥

अतः संयमनीपुरीमें जानेपर भूलसे गये हुए मनुष्यको एकमात्र यमराज फिर छोड़ देते हैं; अतः वे अपने प्रारब्ध कर्मका शेष भाग भोगनेके लिये पुनः लौट आते हैं। वे ही मनुष्य लौटते हैं, जिनका कर्म-भोग समाप्त नहीं हुआ होता है ॥

उमोवाच

भगवन् सुप्तमात्रेण प्राणिनां स्वप्नदर्शनम्।
किं तत् स्वभावमन्यद् वा तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! सोनेमात्रसे प्राणियोंको स्वप्नका दर्शन होने लगता है। यह उनका स्वभाव है, या और कोई बात है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

सुप्तानां तु मनश्चेष्टा स्वप्न इत्यभिधीयते।
अनागतमतिक्रान्तं पश्यते संचरन्मनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! सोये हुए प्राणियोंके मनकी जो चेष्टा है, उसीको स्वप्न कहते हैं। स्वप्नमें विचरता हुआ मन भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखता है ॥

निमित्तं च भवेत् तस्मात् प्राणिनां स्वप्नदर्शनम्।
एतत् ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

अतः उन घटनाओंके देखनेमें प्राणियोंके लिये स्वप्न-दर्शन निमित्त बनता है। देवि ! तुम्हें स्वप्नका विषय बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश लोके कर्मक्रियापथे।
दैवात् प्रवर्तते सर्वमिति केचिद् व्यवस्थिताः ॥

उमाने कहा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! जगत्में दैवकी प्रेरणासे ही सबकी कर्ममार्गमें प्रवृत्ति होती है। ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है ॥

अपरे चेष्टया चेति दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः क्रियाम्।
पक्षभेदे द्विधा चास्मिन् संशयस्थं मनो मम ॥
तत्त्वं वद महादेव श्रोतुं कौतूहलं हि मे ॥

दूसरे लोग क्रियाको प्रत्यक्ष देखकर ऐसा मानते हैं कि चेष्टासे ही सबकी प्रवृत्ति होती है, दैवसे नहीं। ये दो पक्ष हैं। इनमें मेरा मन संशयमें पड़ जाता है; अतः महादेव ! यथार्थ बात बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं तुम्हें तत्त्वकी बात बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

लक्ष्यते द्विविधं कर्म मानुषेष्वेव तच्छृणु।
पुराकृतं तयोरेकमैहिकं त्वितरत् तथा ॥

मनुष्योंमें दो प्रकारका कर्म देखा जाता है, उसे सुनो। इनमें एक तो पूर्वकृत कर्म है और दूसरा इहलोकमें किया गया है ॥

लौकिकं तु प्रवक्ष्यामि दैवमानुषनिर्मितम्।
कृषौ तु दृश्यते कर्म कर्षणं वपनं तथा ॥
रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम्।
दैवादसिद्धिश्च भवेद् दुष्कृतं चास्ति पौरुषे ॥

अब मैं दैव और मनुष्य दोनोंसे सम्पादित होनेवाले लौकिक कर्मका वर्णन करता हूँ। कृषिमें जो जुताई, बोवाई, रोपनी, कटनी तथा ऐसे ही और भी जो कार्य देखे जाते हैं, वे सब मानुष कहे गये हैं। दैवसे उस कर्ममें सफलता और असफलता होती है। मानुष कर्ममें बुराई भी सम्भव है ॥

सुयत्नाल्लभ्यते कीर्तिर्दुर्यत्नादयशस्तथा।
एवं लोकगतिर्देवि आदिप्रभृति वर्तते ॥

उत्तम प्रयत्न करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है और बुरे उपायोंके अवलम्बनसे अपयश। देवि! आदिकालसे ही जगत्की ऐसी ही अवस्था है ॥

रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम् ॥
काले वृष्टिः सुवापं च प्ररोहः पंक्तिरेव च।
एवमादि तु यच्चान्यत् तद् दैवतमिति स्मृतम् ॥

बीजका रोपना और काटना आदि मनुष्यका काम है; परंतु समयपर वर्षा होना, बोवाईका सुन्दर परिणाम निकलना, बीजमें अङ्कुर उत्पन्न होना और शस्यका श्रेणीबद्ध होकर प्रकट होना इत्यादि कार्य दैवसम्बन्धी बताये गये हैं। दैवकी अनुकूलतासे ही इन कार्योंका सम्पादन होता है ॥

पञ्चभूतस्थितिश्चैव ज्योतिषामयनं तथा।
अबुद्धिगम्यं यन्मर्त्यैर्हेतुभिर्वा न विद्यते ॥
तादृशं कारणं दैवं शुभं वा यदि वेतरत्।
यादृशं चात्मना शक्यं तत् पौरुषमिति स्मृतम् ॥

पञ्चभूतोंकी स्थिति, ग्रहनक्षत्रोंका चलना-फिरना तथा जहाँ मनुष्योंकी बुद्धि न पहुँच सके अथवा किन्हीं कारणों या युक्तियोंसे भी समझमें न आ सके—ऐसा कर्म शुभ हो या अशुभ दैव माना जाता है और जिस बातको मनुष्य स्वयं कर सके, उसे पौरुष कहा गया है ॥

केवलं फलनिष्पत्तिरेकेन तु न शक्यते।
पौरुषेणैव दैवेन युगपद् ग्रथितं प्रिये ॥

केवल दैव या पुरुषार्थसे फलकी सिद्धि नहीं होती। प्रिये! प्रत्येक वस्तु या कार्य एक ही साथ पुरुषार्थ और दैव दोनोंसे ही गुँथा हुआ है ॥

तयोः समाहितं कर्म शीतोष्णं युगपत् तथा।
पौरुषं तु तयोः पूर्वमारब्धव्यं विजानता ॥
आत्मना तु न शक्यं हि तथा कीर्तिमवाप्नुयात् ॥

दैव और पुरुषार्थ दोनोंके समानकालिक सहयोगसे कर्म सम्पन्न होता है। जैसे एक ही कालमें सर्दी और गर्मी दोनों होती हैं, उसी प्रकार एक ही समय दैव और पुरुषार्थ दोनों काम करते हैं। इन दोनोंमें जो पुरुषार्थ है, उसका आरम्भ विज्ञ पुरुषको पहले करना चाहिये। जो अपने-आप होना सम्भव नहीं है, उसको आरम्भ करनेसे मनुष्य कीर्तिका भागी होता है ॥

खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा।
तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता ॥

जैसे लोकमें भूमि खोदनेसे जल तथा काष्ठका मन्थन करनेसे अग्निकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करनेपर दैवका सहयोग स्वतः प्राप्त हो जाता है ॥

नरस्याकुर्वतः कर्म दैवसम्पन्न लभ्यते।
तस्मात् सर्वसमारम्भो दैवमानुषनिर्मितः ॥

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, उसको दैवी सहायता नहीं प्राप्त होती; अतः समस्त कार्योंका आरम्भ दैव और पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश लोकनाथ वृषध्वज।
नास्त्यात्मा कर्मभोक्तेति मृतो जन्तुर्न जायते ॥

उमाने पूछा—भगवन्! सर्वलोकेश्वर! लोकनाथ! वृषध्वज! कर्मोंका फल भोगनेवाले जीवात्मा नामक किसी द्रव्यकी सत्ता नहीं है; इसलिये मरा हुआ जीव फिर जन्म नहीं लेता है ॥

स्वभावाज्जायते सर्वं यथा वृक्षफलं तथा।
यथोर्मयः सम्भवन्ति तथैव जगदाकृतिः ॥

जैसे वृक्षसे फल पैदा होता है, उसी प्रकार स्वभावसे ही सब कुछ उत्पन्न होता है और जैसे समुद्रसे लहरें प्रकट होती हैं, उसी प्रकार स्वभावसे ही जगत्की आकृति प्रकट होती है ॥

तपोदानानि यत् कर्म तत्र तद् दृश्यते वृथा।
नास्ति पौनर्भवं जन्म इति केचिद् व्यवस्थिताः ॥

तप और दान आदि जो कर्म हैं, वे सब व्यर्थ दिखायी देते हैं, किंतु जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है ॥

परोक्षवचनं श्रुत्वा न प्रत्यक्षस्य दर्शनात्।
तत् सर्वं नास्ति नास्तीति संशयस्थास्तथा परे ॥
पक्षभेदान्तरे चास्मिंस्तत्त्वं मे वक्तुमर्हसि।
उक्तं भगवता यत् तु तत् तु लोकस्य संस्थितिः ॥

शास्त्रोंके परोक्षवादी वचन सुनकर और प्रत्यक्ष दर्शन न होनेसे कितने ही लोग इस संशयमें पड़े रहते हैं कि वह

सब (परलोक) नहीं है, नहीं है। इस पक्षभेदके भीतर यथार्थवाद क्या है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें। भगवन्! आपने जो कुछ बताया है, वही लोककी स्थिति है ॥

नारद उवाच

प्रश्नमेतत् तु पृच्छन्त्या रुद्राण्या परिषत् तदा।
कौतूहलयुता श्रोतुं समाहितमनाभवत् ॥

नारदजी कहते हैं—रुद्राणीके यह प्रश्न उपस्थित करनेपर सारी मुनिमण्डली एकाग्रचित्त होकर इसका उत्तर सुननेके लिये उत्कण्ठित हो गयी ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नैतदस्ति महाभागे यद् वदन्तीह नास्तिकाः।
एतदेवाभिशस्तानां श्रुतविद्वेषिणां मतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे! इस विषयमें नास्तिक लोग जो कुछ कहते हैं, वह ठीक नहीं है। यह तो कलङ्कित शास्त्रद्रोही पुरुषोंका मत है ॥

सर्वमर्थं श्रुतं दृष्टं यत् प्रागुक्तं मया तव।
तदाप्रभृति मर्त्यानां श्रुतमाश्रित्य पण्डिताः ॥
कामान् संछिद्य परिघान् धृत्या वै परमासनाः।
अभियान्त्येव ते स्वर्गं पश्यन्तः कर्मणः फलम् ॥

मैंने पहले तुमसे जो कुछ कहा है, वह सारा विषय शास्त्रसम्मत तथा अनुभूत है। तभीसे मनुष्योंमें जो विद्वान् पुरुष हैं, वे वेद-शास्त्रका आश्रय ले परिघ-जैसी कामनाओंका उच्छेद करके धैर्यपूर्वक उत्तम आसन लगाये ध्यानमग्न रहते हैं, वे कर्मोंका फल प्रत्यक्ष देखते हुए स्वर्ग (ब्रह्म) लोकको ही जाते हैं ॥

एवं श्रद्धाभवं लोके परतः सुमहत् फलम्।
बुद्धिः श्रद्धा च विनयः करणानि हितैषिणाम् ॥

इस प्रकार परलोकमें श्रद्धाजनित महान् फलकी प्राप्ति होती है। जो अपना हित चाहते हैं, उन पुरुषोंके लिये बुद्धि, श्रद्धा और विनय—ये करण (उन्नतिके साधन) हैं ॥

तस्मात् स्वर्गाभिगन्तारः कतिचित् त्वभवन् नराः।
अन्ये करणहीनत्वान्नास्तिक्यं भावमाश्रिताः ॥

अतः कुछ ही लोग उक्त साधनसे सम्पन्न होनेके कारण स्वर्ग आदि पुण्यलोकोंमें जाते हैं। दूसरे लोग उन साधनोंसे हीन होनेके कारण नास्तिकभावका अवलम्बन लेते हैं ॥

श्रुतविद्वेषिणो मूर्खा नास्तिकादृढनिश्चयाः।
निष्क्रियास्तु निरन्नादाः पतन्त्येवाधमां गतिम् ॥

वेदविद्वेषी मूर्ख, नास्तिक, अदृढ़निश्चयवाले, क्रियाहीन तथा अन्नार्थियोंको बिना कुछ दिये ही घरसे निकाल देनेवाले पापी मनुष्य अधम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

नास्त्यस्तीति पुनर्जन्म कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
नाधिगच्छन्ति तन्नित्यं हेतुवादशतैरपि ॥

पुनर्जन्म नहीं होता है या होता है, इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। वे सैकड़ों युक्तिवादोंद्वारा भी उसे सर्वथा नहीं समझ पाते हैं ॥

एषा ब्रह्मकृता माया दुर्विज्ञेया सुरासुरैः।
किं पुनर्मानवैर्लोके ज्ञातुकामैः कुबुद्धिभिः ॥

यह ब्रह्माजीके द्वारा रची माया है, जिसे देवता और असुर भी बड़ी कठिनाईसे समझ पाते हैं; फिर दूषित बुद्धिवाले मानव यदि लोकमें इस विषयको जानना चाहें तो कैसे जान सकते हैं ॥

केवलं श्रद्धया देवि श्रुतिमात्रनिविष्टया।
ततोऽस्तीत्येव मन्तव्यं तथा हितमवाप्नुयात् ॥

देवि! केवल वेदमें पूर्णतः श्रद्धा करके 'परलोक एवं पुनर्जन्म होता है' ऐसा मानना चाहिये। इससे आस्तिक मनुष्यका हित होता है ॥

दैवगुह्येषु चान्येषु हेतुर्देवि निरर्थकः।
बधिरान्धवदेवात्र वर्तितव्यं हितैषिणा ॥
एतत् ते कथितं देवि ऋषिगुह्यं प्रजाहितम् ॥

देवि! देवसम्बन्धी जो दूसरे-दूसरे गुह्य विषय हैं, उनमें युक्तिवाद काम नहीं देता। जो अपना हित चाहनेवाले हैं, उन्हें इस विषयमें अन्धे और बहरेके समान बर्ताव करना चाहिये। अर्थात् नास्तिकोंकी ओर न तो देखे और न उनकी बातें ही सुने। देवि! यह ऋषियोंके लिये गोपनीय तथा प्रजाके लिये हितकर विषय तुम्हें बताया गया है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[यमलोक तथा वहाँके मार्गोंका वर्णन, पापियोंकी नरकयातनाओं तथा कर्मानुसार विभिन्न योनियोंमें उनके जन्मका उल्लेख]

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश त्रिपुरार्दन शङ्कर।
कीदृशा यमदण्डास्ते कीदृशाः परिचारकाः ॥

उमाने पूछा—भगवन्! सर्वलोकेश्वर! त्रिपुरनाशन शङ्कर! यमदण्ड कैसे होते हैं? तथा यमराजके सेवक किस तरहके होते हैं? ॥

कथं मृतास्ते गच्छन्ति प्राणिनो यमसादनम्।
कीदृशं भवनं तस्य कथं दण्डयति प्रजाः ॥
एतत् सर्वं महादेव श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥

मृत प्राणी यमलोकको कैसे जाते हैं? यमराजका भवन कैसा है? तथा वे प्रजावर्गको किस तरह दण्ड देते हैं? प्रभो! महादेव! मैं यह सब सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु कल्याणि तत् सर्वं यत् ते देवि मनःप्रियम् ।
दक्षिणस्यां दिशि शुभे यमस्य सदनं महत् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! देवि ! तुम्हारे मनमें जो-जो पूछने योग्य बातें हैं, उन सबका उत्तर सुनो । शुभे ! दक्षिणदिशामें यमराजका विशाल भवन है ॥

विचित्रं रमणीयं च नानाभावसमन्वितम् ।
पितृभिः प्रेतसंघैश्च यमदूतैश्च संततम् ॥

वह बहुत ही विचित्र, रमणीय एवं नाना प्रकारके भावोंसे युक्त है । पितरों, प्रेतों और यमदूतोंसे व्याप्त है ॥

प्राणिसंघैश्च बहुभिः कर्मवश्यैश्च पूरितम् ।
तत्रास्ते दण्डयन् नित्यं यमो लोकहिते रतः ॥

कर्मोंके अधीन हुए बहुत-से प्राणियोंके समुदाय उस यमलोकको भरे हुए हैं । वहाँ लोकहितमें तत्पर रहनेवाले यम पापियोंको सदा दण्ड देते हुए निवास करते हैं ॥

मायया सततं वेत्ति प्राणिनां यच्छुभाशुभम् ।
मायया संहरंस्तत्र प्राणिसङ्घान् यतस्ततः ॥

वे अपनी मायाशक्तिसे ही सदा प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मको जानते हैं और मायाद्वारा ही जहाँ-तहाँसे प्राणि-समुदायका संहार कर लाते हैं ॥

तस्य मायामयाः पाशा न वेद्यन्ते सुरासुरैः ।
को हि मानुषमात्रस्तु देवस्य चरितं महत् ॥

उनके मायामय पाश हैं, जिन्हें न देवता जानते हैं, न असुर । फिर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो उन यमदेवके महान् चरित्रको जान सके ॥

एवं संवसतस्तस्य यमस्य परिचारकाः ।
गृहीत्वा संनयन्त्येव प्राणिनः क्षीणकर्मणः ॥

इस प्रकार यमलोकमें निवास करते हुए यमराजके दूत जिनके प्रारब्धकर्म क्षीण हो गये हैं, उन प्राणियोंको पकड़कर उनके पास ले जाते हैं ॥

येन केनापदेशेन त्वपदेशस्तदुद्भवः ।
कर्मणा प्राणिनो लोके उत्तमाधममध्यमाः ॥
यथार्हं तान् समादाय नयन्ति यमसादनम् ।

जिस किसी निमित्तसे वे प्राणियोंको ले जाते हैं, वह निमित्त वे स्वयं बना लेते हैं । जगत्‌में कर्मानुसार उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके प्राणी होते हैं । यथायोग्य उन सभी प्राणियोंको लेकर वे यमलोकमें पहुँचाते हैं ॥

धार्मिकानुत्तमान् विद्धि स्वर्गिणस्ते यथामराः॥
नृषु जन्म लभन्ते ये कर्मणा मध्यमाः स्मृताः ।

धार्मिक पुरुषोंको उत्तम समझो । वे देवताओंके समान स्वर्गके अधिकारी होते हैं । जो अपने कर्मके अनुसार मनुष्योंमें जन्म लेते हैं, वे मध्यम माने गये हैं ॥

तिर्यङ्नरकगन्तारो ह्यधमास्ते नराधमाः ॥
पन्थानस्त्रिविधा दृष्टाः सर्वेषां गतजीविनाम् ।
रमणीयं निराबाधं दुर्दर्शमिति नामतः ॥

जो नराधम पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकमें जानेवाले हैं, वे अधमकोटिके अन्तर्गत हैं । सभी मरे हुए प्राणियोंके लिये तीन प्रकारके मार्ग देखे गये हैं—एक रमणीय, दूसरा निराबाध और तीसरा दुर्दर्श ॥

रमणीयं तु यन्मार्गं पताकाध्वजसङ्कुलम् ।
धूपितं सिक्तसम्मृष्टं पुष्पमालाभिसङ्कुलम् ॥
मनोहरं सुखस्पर्शं गच्छतामेव तद् भवेत् ।
निराबाधं यथालोकं सुप्रशस्तं कृतं भवेत् ॥

जो रमणीय मार्ग है, वह ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित और फूलोंकी मालाओंसे अलंकृत है । उसे झाड़-बुहारकर उसके ऊपर जलका छिड़काव किया गया होता है । वहाँ धूपकी सुगन्ध छायी रहती है । उसका स्पर्श चलनेवालोंके लिये सुखद और मनोहर होता है । निराबाध वह मार्ग है, जो लौकिक मार्गोंके समान सुन्दर एवं प्रशस्त बनाया गया है । वहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ॥

तृतीयं यत् तु दुर्दर्शं दुर्गन्धि तमसा वृतम् ।
परुषं शर्कराकीर्णं श्वदंष्ट्राबहुलं भृशम् ॥
कृमिकीटसमाकीर्णं भजतामतिदुर्गमम् ।

जो तीसरा मार्ग है, वह देखनेमें भी दुःखद होनेके कारण दुर्दर्श कहलाता है । वह दुर्गन्धयुक्त एवं अन्धकारसे आच्छन्न है । कंकड़-पत्थरोंसे व्याप्त और कठोर जान पड़ता है । वहाँ कुत्ते और दाढ़ोंवाले हिंसक जन्तु अधिक रहते हैं । कृमि और कीट सब ओर छाये रहते हैं । उस मार्गसे चलनेवालोंको वह अत्यन्त दुर्गम प्रतीत होता है ॥

मार्गैरेवं त्रिभिर्नित्यमुत्तमाधममध्यमान् ॥
संनयन्ति यथा काले तन्मे शृणु शुचिस्मिते ।

शुचिस्मिते ! इस प्रकार तीन मार्गोंद्वारा वे सदा यथासमय उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंको जिस प्रकार ले जाते हैं, वह मुझसे सुनो ॥

उत्तमानन्तकाले तु यमदूताः सुसंवृताः ।
नयन्ति सुखमादाय रमणीयपथेन वै ॥

उत्तम पुरुषोंको अन्तके समय ले जानेके लिये जो यमदूत आते हैं, वे सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होते हैं और उन पुरुषोंको साथ ले रमणीय मार्गद्वारा सुखपूर्वक ले जाते हैं ॥

मध्यमान् योधवेषेण मध्यमेन पथा तथा ॥

चण्डालवेषास्त्वधमान् गृहीत्वा भर्त्सतर्जनैः।
आकर्षन्तस्तथा पाशैर्दुर्दर्शेन नयन्ति तान् ॥
त्रिविधानेवमादाय नयन्ति यमसादनम् ॥

मध्यमकोटिके प्राणियोंको मध्यम मार्गके द्वारा योद्धाका वेष धारण किये हुए यमदूत अपने साथ ले जाते हैं तथा चाण्डालका वेष धारण करके अधमकोटिके प्राणियोंको पकड़कर उन्हें डाँटते-फटकारते तथा पाशोंद्वारा बाँधकर घसीटते हुए दुर्दर्श नामक मार्गसे ले जाते हैं । इस प्रकार त्रिविध प्राणियोंको लेकर वे उन्हें यमलोकमें पहुँचाते हैं ॥

धर्मासनगतं दक्षं भ्राजमानं स्वतेजसा।
लोकपालं सभाध्यक्षं तथैव परिषद्गतम् ॥
दर्शयन्ति महाभागे यामिकास्तं निवेद्य ते।

महाभागे ! वहाँ धर्मके आसनपर अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए अपनी सभाके सभापतिके रूपमें चतुर लोकपाल यम बैठे होते हैं। यमदूत उन्हें सूचना देकर अपने साथ लाये हुए प्राणीको दिखाते हैं ॥

पूजयन् दण्डयन् कांश्चित् तेषां शृण्वञ्शुभाशुभम्।
व्यावृतो बहुसाहस्रैस्तत्रास्ते सततं यमः ॥

यमराज कई सहस्र सदस्योंसे घिरे हुए अपनी सभामें विराजमान होते हैं। वे वहाँ आये हुए प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरेवार वर्णन सुनकर उनमेंसे किन्हींका आदर करते हैं और किन्हींको दण्ड देते हैं ॥

गतानां तु यमस्तेषामुत्तमानभिपूजयेत्।
अभिसंगृह्य विधिवत् पृष्ट्वा स्वागतकौशलम् ॥

यमलोकमें गये हुए प्राणियोंमेंसे जो उत्तम होते हैं, उन्हें विधिपूर्वक अपनाकर स्वागतपूर्वक उनका कुशल-समाचार पूछकर यमराज उनकी पूजा करते हैं ॥

प्रस्तुत्य तत् कृतं तेषां लोकं संदिशते यमः ॥
यमेनैवमनुज्ञाता यान्ति पश्चात् त्रिविष्टपम् ॥

उनके सत्कर्मोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके यमराज उन्हें यह संदेश देते हैं कि 'आपको अमुक पुण्य लोकमें जाना है।' यमराजकी ऐसी आज्ञा पानेके पश्चात् वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

मध्यमानां यमस्तेषां श्रुत्वा कर्म यथातथम्।
जायन्तां मानुषेष्वेव इति संदिशते च तान् ॥

मध्यम कोटिके पुरुषोंके कर्मोंका यथावत् वर्णन सुनकर यमराज उनके लिये यह आज्ञा देते हैं कि 'ये लोग फिर मनुष्योंमें ही जन्म लें' ॥

अधमान् पाशसंयुक्तान् यमो नावेक्षते गतान्।
यमस्य पुरुषा घोराश्चण्डालसमदर्शनाः ॥
यातनाः प्रापयन्त्येताँल्लोकपालस्य शासनात् ॥

पाशोंमें बँधे हुए जो अधम कोटिके प्राणी आते हैं, यमराज उनकी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं हैं। चाण्डालके समान दिखायी देनेवाले भयङ्कर यमदूत ही लोकपाल यमकी आज्ञासे उन पापियोंको यातनाके स्थानोंमें ले जाते हैं ॥

भिन्दन्तश्च तुदन्तश्च प्रकर्षन्तो यतस्ततः।
क्रोशन्तः पातयन्त्येतान् मिथो गर्तेष्ववाङ्मुखान् ॥

वे उन्हें विदीर्ण किये डालते हैं, भाँति-भाँतिकी पीड़ाएँ देते हैं, जहाँ-तहाँ घसीटकर ले जाते हैं तथा उन्हें कोसते हुए नीचे मुँह करके नरकके गड्ढोंमें गिरा देते हैं ॥

संयामिन्यः शिलाश्चैषां पतन्ति शिरसि प्रिये।
अयोमुखाः कङ्कवला भक्षयन्ति सुदारुणाः ॥

प्रिये ! फिर उनके सिरपर ऊपरसे संयामिनी शिलाएँ गिरायी जाती हैं तथा लोहेकी-सी चोंचवाले अत्यन्त भयङ्कर कौए और बगले उन्हें नोच खाते हैं ॥

असिपत्रवने घोरे चारयन्ति तथा परान्।
तीक्ष्णदंष्ट्रास्तथा श्वानः कांश्चित् तत्र ह्यदन्ति वै ॥

दूसरे पापियोंको यमदूत घोर असिपत्रवनमें घुमाते हैं। वहाँ तीखी दाढ़ोंवाले कुत्ते कुछ पापियोंको काट खाते हैं ॥

तत्र वैतरणी नाम नदी ग्राहसमाकुला।
दुष्प्रवेशा च घोरा च मूत्रशोणितवाहिनी ॥

यमलोकमें वैतरणी नामवाली एक नदी है, जो पानीकी जगह मूत और रक्त बहाती है। ग्राहोंसे भरी होनेके कारण वह बड़ी भयङ्कर जान पड़ती है। उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है ॥

तस्यां सम्मज्जयन्त्येते तृषितान् पाययन्ति तान्।
आरोपयन्ति वै कांश्चित् तत्र कण्टकशाल्मलीम् ॥

यमदूत इन पापियोंको उसी नदीमें डुबो देते हैं। प्यासे प्राणियोंको उस वैतरणीका ही जल पिलाते हैं। वहाँ कितने ही काँटेदार सेमलके वृक्ष हैं। यमदूत कुछ पापियोंको उन्हीं वृक्षोंपर चढ़ाते हैं ॥

यन्त्रचक्रेषु तिलवत् पीड्यन्ते तत्र केचन।
अङ्गारेषु च दह्यन्ते तथा दुष्कृतकारिणः ॥

जैसे कोल्हूमें तिल पेरे जाते हैं, उसी प्रकार कितने ही पापी मशीनके चक्कोंमें पेरे जाते हैं। कितने ही अङ्गारोंमें डालकर जलाये जाते हैं ॥

कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते पच्यन्ते सिकतासु वै।
पाट्यन्ते तरुवच्छस्त्रैः पापिनः क्रकचादिभिः ॥

कुछ कुम्भीपाकोंमें पकाये जाते हैं, कुछ तपी हुई बालुकाओंमें भूने जाते हैं और कितने ही पापी आरे आदि शस्त्रोंद्वारा वृक्षकी भाँति चीरे जाते हैं ॥

भिद्यन्ते भागशः शूलैस्तुद्यन्ते सूक्ष्मसूचिभिः ॥
एवं त्वया कृतो दोषस्तदर्थं दण्डनं त्विति ।
वाचैवं घोषयन्ति स्म दण्डमानाः समन्ततः ॥

कितनोंके शूलोंद्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। कुछ पापियोंके शरीरोंमें महीन सूइयाँ चुभोयी जाती हैं। दण्ड देनेवाले यमदूत अपनी वाणीद्वारा सब ओर यह घोषित करते रहते हैं कि तूने अमुक पाप किया है, जिसके लिये यह दण्ड तुझे मिल रहा है ॥

एवं ते यातनां प्राप्य शरीरैर्यातनाशयैः ।
प्रसहन्तश्च तद् दुःखं स्मरन्तः स्वापराधजम् ॥
क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च न मुच्यन्ते कथंचन ।
स्मरन्तस्तत्र तप्यन्ते पापमात्मकृतं भृशम् ॥

इस प्रकार यातनाधीन शरीरोंद्वारा यातना पाकर नारकी जीव उसके दुःखको सहते और अपने पापको स्मरण करते हुए चीखते-चिल्लाते एवं रोते रहते हैं, किंतु किसी तरह उस यातनासे छुटकारा नहीं पाते हैं। अपने किये हुए पापको याद करके वे अत्यन्त संतप्त हो उठते हैं ॥

एवं बहुविधा दण्डा भुज्यन्ते पापकारिभिः ।
यातनाभिश्च पच्यन्ते नरकेषु पुनः पुनः ॥

इस प्रकार पापाचारी प्राणियोंको नाना प्रकारके दण्ड भोगने पड़ते हैं। वे बारंबार नरकोंमें विविध यातनाओं-द्वारा पकाये जाते हैं ॥

अपरे यातना भुक्त्वा मुच्यन्ते तत्र किल्बिषात् ॥
पापदोषक्षयकरा यातना संस्मृता नृणाम् ।
बहु तप्तं यथा लोहममलं तत् तथा भवेत् ॥

दूसरे लोग वहाँ यातनाएँ भोगकर उस पापसे मुक्त हो जाते हैं। जैसे अधिक तपाया हुआ लोहा निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंको जो नरकोंमें यातनाएँ प्राप्त होती हैं, वे उनके पाप-दोषका विनाश करनेवाली मानी गयी हैं ॥

उमोवाच

भगवंस्ते कथं तत्र दण्ड्यन्ते नरकेषु वै ।
कति ते नरका घोराः कीदृशास्ते महेश्वर ॥

उमाने पूछा—भगवन्! महेश्वर! नरकोंमें पापियोंको किस प्रकार दण्ड दिया जाता है? वे भयानक नरक कितने और कैसे हैं? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु भामिनि तत् सर्वं पञ्चैते नरकाः स्मृताः ।
भूमेरधस्ताद् विहिता घोरा दुष्कृतकर्मणाम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि! तुमने जो पूछा है, वह सब सुनो। पापाचारी प्राणियोंके लिये भूमिके नीचे जो भयानक नरक बनाये गये हैं, वे मुख्यतः पाँच माने गये हैं ॥

प्रथमं रौरवं नाम शतयोजनमायतम् ।
तावत्प्रमाणविस्तीर्णं तामसं पापपीडितम् ॥

उनमें पहला रौरव नामक नरक है, जिसकी लंबाई सौ योजन है। उसकी चौड़ाई भी उतनी ही है। वह तमोमय नरक पापके कारण प्राप्त होनेवाली पीड़ाओंसे परिपूर्ण है ॥

भृशं दुर्गन्धि परुषं कृमिभिर्दारुणैर्युतम् ।
अतिघोरमनिर्देश्यं प्रतिकूलं ततस्ततः ॥

उससे बड़ी दुर्गन्ध निकलती है, वह कठोर नरक क्रूर स्वभाववाले कीटोंसे भरा हुआ है। वह अत्यन्त घोर, अवर्णनीय और सर्वथा प्रतिकूल है ॥

ते चिरं तत्र तिष्ठन्ति न तत्र शयनासने ।
कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च विष्ठागन्धसमायुताः ॥

वे पापी उस नरकमें सुदीर्घकालतक खड़े रहते हैं। वहाँ सोने और बैठनेकी सुविधा नहीं है। विष्ठाकी दुर्गन्धमें सने हुए उन पापियोंको वहाँके कीड़े खाते रहते हैं ॥

एवं प्रमाणमुद्विग्ना यावत् तिष्ठन्ति तत्र ते ।
यातनाभ्यो दशगुणं नरके दुःखमिष्यते ॥

ऐसे विशाल नरकमें वे जबतक रहते हैं, उद्विग्न भाव-से खड़े रहते हैं। साधारण यातनाओंकी अपेक्षा नरकमें दसगुना दुःख होता है ॥

तत्र चात्यन्तिकं दुःखमिष्यते च शुभेक्षणे ।
क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनास्तत्र भुञ्जते ॥

शुभेक्षणे! वहाँ आत्यन्तिक दुःखकी प्राप्ति होती है। पापी जीव चीखते-चिल्लाते और रोते हुए वहाँकी यातनाएँ भोगते हैं ॥

भ्रमन्ति दुःखमोक्षार्थं ज्ञाता कश्चिन्न विद्यते ।
दुःखस्यान्तरमात्रं तु ज्ञानं वा न च लभ्यते ॥

वे दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये चारों ओर चक्कर काटते हैं; परंतु कोई भी उन्हें जाननेवाला वहाँ नहीं होता। उस दुःखमें तनिक भी अन्तर नहीं होता और न उसे छुड़ानेवाला ज्ञान ही उपलब्ध होता है ॥

महारौरवसंज्ञं तु द्वितीयं नरकं प्रिये ।
तस्माद् द्विगुणितं विद्धि माने दुःखे च रौरवात् ॥

प्रिये! दूसरे नरकका नाम है महारौरव। वह लंबाई, चौड़ाई और दुःखमें रौरवसे दूना बड़ा है ॥

तृतीयं नरकं तत्र कण्टकावनसंज्ञितम् ।
ततो द्विगुणितं तच्च पूर्वाभ्यां दुःखमानयोः ॥

महापातकसंयुक्ता घोरास्तस्मिन् विशन्ति हि ॥

वहाँ तीसरा नरक है कण्टकावन, जो दुःख और लंबाई-चौड़ाईमें पहलेके दोनों नरकोंसे दुगुना बड़ा है। उसमें घोर महापातकयुक्त प्राणी प्रवेश करते हैं ॥

अग्निकुण्डमिति ख्यातं चतुर्थं नरकं प्रिये।
एतद् द्विगुणितं तस्माद् यथानिष्टसुखं तथा ॥
ततो दुःखं हि सुमहदमानुषमिति स्मृतम्।
भुञ्जते तत्र तत्रैव दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

प्रिये! चौथा नरक अग्निकुण्डके नामसे विख्यात है। यह पहलेकी अपेक्षा दूना दुःख देनेवाला है। वहाँ महान् अमानुषिक दुःख भोगने पड़ते हैं। उन सभीमें पापाचारी प्राणी दुःख भोगते हैं ॥

पञ्चकष्टमिति ख्यातं नरकं पञ्चमं प्रिये।
तत्र दुःखमनिर्देश्यं महाघोरं यथातथम् ॥

प्रिये! पाँचवें नरकका नाम पञ्चकष्ट है। वहाँ जो महाघोर दुःख प्राप्त होता है, उसका यथावत् वर्णन नहीं किया जा सकता ॥

पञ्चेन्द्रियैरसह्यत्वात् पञ्चकष्टमिति स्मृतम्।
भुञ्जते तत्र तत्रैवं दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

पाँचों इन्द्रियोंसे असह्य होनेके कारण उसका नाम 'पञ्चकष्ट' है। पापी पुरुष उन-उन नरकोंमें महान् दुःख भोगते हैं ॥

अमानुषार्हजं दुःखं महाभूतैश्च भुज्यते।
अतिघोरं चिरं कृत्वा महाभूतानि यान्ति तम् ॥

वहाँ बड़े-बड़े जीव चिरकालतक अत्यन्त घोर अमानुषिक दुःख भोगते हैं और महान् भूतोंके समुदाय उस पापी पुरुषका अनुसरण करते हैं ॥

पञ्चकष्टेन हि समं नास्ति दुःखं तथा परम्।
दुःखस्थानमिति प्राहुः पञ्चकष्टमिति प्रिये ॥

प्रिये! पञ्चकष्टके समान या उससे बढ़कर दुःख कोई नहीं है। पञ्चकष्टको समस्त दुःखोंका निवासस्थान बताया गया है ॥

एवं त्वेतेषु तिष्ठन्ति प्राणिनो दुःखभागिनः।
अन्ये च नरकाः सन्त्यवीचिप्रमुखाः प्रिये ॥

इस प्रकार इन नरकोंमें दुःख भोगनेवाले प्राणी निवास करते हैं। प्रिये! इन नरकोंके सिवा और भी बहुत-से अवीचि आदि नरक हैं ॥

क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनार्ता भृशातुराः।
केचिद् भ्रमन्तश्चेष्टन्ते केचिद् धावन्ति चातुराः ॥

वेदनासे पीड़ित हो अत्यन्त आतुर हुए नरकनिवासी जीव रोते-चिल्लाते रहते हैं। कोई चारों ओर चक्कर काटते हैं, कोई पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटाते हैं और कोई आतुर होकर दौड़ते रहते हैं ॥

आधावन्तो निवार्यन्ते शूलहस्तैर्यतस्ततः।
रुजार्दितास्तृषायुक्ताः प्राणिनः पापकारिणः ॥

कोई दौड़ते हुए प्राणी हाथमें त्रिशूल लिये हुए यमदूतों द्वारा जहाँ-तहाँ रोके जाते हैं। वहाँ पापाचारी जीव रोगोंसे व्यथित और प्याससे पीड़ित रहते हैं ॥

यावत् पूर्वकृतं तावन्न मुच्यन्ते कथंचन।
कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च वेदनार्तास्तृषान्विताः ॥

जबतक पूर्वकृत पापका भोग शेष है, तबतक किसी तरह उन्हें नरकोंसे छुटकारा नहीं मिलता है। उनको कीड़े काटते रहते हैं तथा वे वेदनासे पीड़ित और प्याससे व्याकुल होते हैं ॥

संस्मरन्तः स्वकं पापं कृतमात्मापराधजम्।
शोचन्तस्तत्र तिष्ठन्ति यावत् पापक्षयं प्रिये ॥
एवं भुक्त्वा तु नरकं मुच्यन्ते पापसंक्षयात् ॥

प्रिये! जबतक सारे पापोंका क्षय नहीं हो जाता तबतक वे अपने ही किये हुए अपराधजनित पापको याद करके वहाँ शोकमग्न होते रहते हैं। इस प्रकार नरक भोगकर पापोंका नाश करनेके पश्चात् वे उस कष्टसे मुक्त हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् कति कालं ते तिष्ठन्ति नरकेषु वै।
एतद् वेदितुमिच्छामि तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥

उमाने पूछा—भगवन्! महेश्वर! पापी जीव कितने समयतक नरकोंमें रहते हैं, यह मैं जानना चाहती हूँ! अतः मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शतवर्षसहस्राणामादिं कृत्वा हि जन्तवः।
तिष्ठन्ति नरकावासाः प्रलयान्तमिति स्थितिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्राणी अपने पापोंके अनुसार एक लाख वर्षोंसे लेकर महाप्रलयकालतक नरकोंमें निवास करते हैं, ऐसा शास्त्रोंका निश्चय है ॥

उमोवाच

भगवंस्तेषु के तत्र तिष्ठन्तीति वद प्रभो ॥

उमाने पूछा—भगवन्! प्रभो! उन नरकोंमें किस-किस तरहके पापी निवास करते हैं? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

रौरवे शतसाहस्रं वर्षाणामिति संस्थितिः।
मानुषघ्नाः कृतघ्नाश्च तथैवानृतवादिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—रौरव नरकमें एक लाख वर्षों-तक रहनेका नियम है। उसमें मनुष्योंकी हत्या करनेवाले, कृतघ्न तथा असत्यवादी मनुष्य जाते हैं ॥

द्वितीये द्विगुणं कालं पच्यन्ते तादृशा नराः।
महापातकयुक्तास्तु तृतीये दुःखमाप्नुयुः ॥

दूसरे नरक (महारौरव) में वैसे ही पापी मनुष्य दूने काल (दो लाख वर्ष) तक पकाये जाते हैं। तीसरे (कण्टकावन) में महापातकी मनुष्य कष्ट भोगते हैं ॥

चतुर्थे परितप्यन्ते यावद् युगविपर्ययः ॥

चौथे नरकमें पापी लोग तबतक संतप्त होते हैं, जब-तक कि महाप्रलय नहीं हो जाता ॥

सहन्तस्तादृशं घोरं पञ्चकष्टे तु यादृशम्।
तत्रास्य चिरदुःखस्य ह्यधोऽन्यान् विद्धि मानुषान् ॥

पञ्चकष्ट नरकमें जैसा घोर दुःख होता है, उसको भी यहाँ सहन करते हैं। दीर्घकालतक दुःख देनेवाले इस घोर नरकसे नीचे मानवसम्बन्धी अन्य नरकोंकी स्थिति समझो॥

एवं ते नरकान् भुक्त्वा तत्र क्षपितकल्मषाः।
नरकेभ्यो विमुक्ताश्च जायन्ते कृमिजातिषु ॥

इस प्रकार नरकोंका कष्ट भोग लेनेके बाद पाप कट जानेपर मनुष्य उन नरकोंसे छूटकर कीट-योनिमें जन्म लेते हैं ॥

उद्भेदजेषु वा केचित्तत्रापि क्षीणकल्मषाः।
पुनरेव प्रजायन्ते मृगपक्षिषु शोभने ॥
मृगपक्षिषु तद् भुक्त्वा लभन्ते मानुषं पदम् ॥

शोभने! अथवा कोई-कोई उद्भिज योनिमें जन्म लेते हैं। उसमें भी कुछ पापोंका क्षय होनेके बाद वे पुनः पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म पाते हैं। वहाँ कर्मफल भोग लेनेपर उन्हें मनुष्यशरीरकी प्राप्ति होती है ॥

उमोवाच

नानाजातिषु केनैव जायन्ते पापकारिणः ॥

उमाने पूछा—प्रभो! पापाचारी मनुष्य किस प्रकारसे नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेते हैं?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि यत् त्वमिच्छसि शोभने।
सर्वदाऽऽत्मा कर्मवशो नानाजातिषु जायते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने! तुम जो चाहती हो, उसे बता रहा हूँ। जीवात्मा सदा कर्मके अधीन होकर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है ॥

यश्च मांसप्रियो नित्यं काकगृध्रान् स संस्पृशेत्।
सुरापः सततं मर्त्यः सूकरत्वं व्रजेद् ध्रुवम् ॥

जो प्रतिदिन मांसके लिये लालायित रहता है, वह कौओं और गीधोंकी योनिमें जन्म लेता है। सदा शराब पीनेवाला मनुष्य निश्चय ही सूअर होता है ॥

अभक्ष्यभक्षणो मर्त्यः काकजातिषु जायते।
आत्मघ्नो यो नरः कोपात् प्रेतजातिषु तिष्ठति ॥

अभक्ष्य भक्षण करनेवाला मनुष्य कौएके कुलमें उत्पन्न होता है तथा क्रोधपूर्वक आत्महत्या करनेवाला पुरुष प्रेत-योनिमें पड़ा रहता है ॥

पैशुन्यात् परिवादाच्च कुक्कुटत्वमवाप्नुयात्।
नास्तिकश्चैव यो मूर्खो मृगजातिं स गच्छति ॥

दूसरोंकी चुगली और निन्दा करनेसे मुर्गेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो मूर्ख नास्तिक होता है, वह मृग-जातिमें जन्म ग्रहण करता है ॥

हिंसाविहारस्तु नरः कृमिकीटेषु जायते।
अतिमानयुतो नित्यं प्रेत्य गर्दभतां व्रजेत् ॥

हिंसा या शिकारके लिये भ्रमण करनेवाला मानव कीड़ोंकी योनिमें जन्म लेता है। अत्यन्त अभिमानयुक्त पुरुष सदा मृत्युके पश्चात् गदहेकी योनिमें जन्म पाता है ॥

अगम्यागमनाच्चैव परदारनिषेवणात्।
मूषिकत्वं व्रजेन्मर्त्यो नास्ति तत्र विचारणा ॥

अगम्या-गमन और परस्त्रीसेवन करनेसे मनुष्य चूहा होता है, इसमें शङ्का करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु।
कृतघ्नः पुत्रघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति ॥

कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियोंकी योनिमें जन्म लेता है। दूसरोंके किये हुए उपकारको न माननेवाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावरयोनिमें जन्म लेता है ॥

एवमाद्यशुभं कृत्वा नरा निरयगामिनः।
तां तां योनिं प्रपद्यन्ते स्वकृतस्यैव कारणात् ॥

इत्यादि प्रकारके अशुभ कर्म करके मनुष्य नरकगामी होते हैं और अपनी ही करनीके कारण पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥

एवं जातिषु निर्देश्याः प्राणिनः पापकारिणः।
कथंचित् पुनरुत्पद्य लभन्ते मानुषं पदम् ॥

इसी तरह विभिन्न जातियोंमें जन्म लेनेवाले पापाचारी प्राणियोंका निर्देश करना चाहिये। ये किसी तरह उन योनियों-से छूटकर जब पुनः जन्म लेते हैं, तब मनुष्यका पद पाते हैं ॥

बहुशश्चाग्निसंक्रान्तं लोहं शुचिमयं यथा।
बहुदुःखाभिसंतप्तस्तथाऽऽत्मा शोध्यते बलात् ॥
तस्मात् सुदुर्लभं चेति विद्धि जन्मसु मानुषम् ॥

जैसे लोहेको बार-बार आगमें तपानेसे वह शुद्ध होता है, उसी प्रकार बहुत दुःखसे संतप्त हुआ जीवात्मा बलात् शुद्ध हो जाता है। अतः सभी जन्मोंमें मानव-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ समझो ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[शुभाशुभ मानस आदि तीन प्रकारके कर्मोंका स्वरूप और उनके फलका एवं मद्यसेवनके दोषोंका वर्णन, आहार-शुद्धि, मांसभक्षणसे दोष, मांस न खानेसे लाभ, जीवदयाके महत्त्व, गुरुपूजाकी विधि, उपवास-विधि, ब्रह्मचर्यपालन, तीर्थचर्चा, सर्वसाधारण द्रव्यके दानसे पुण्य, अन्न, सुवर्ण, गौ, भूमि, कन्या और विद्यादानका माहात्म्य, पुण्यतम देश-काल, दिये हुए दान और धर्मकी निष्फलता, विविध प्रकारके दान, लौकिक-वैदिक यज्ञ तथा देवताओंकी पूजाका निरूपण]

उमोवाच

श्रोतुं भूयोऽहमिच्छामि प्रजानां हितकारणात् ।
शुभाशुभमिति प्रोक्तं कर्म स्वं स्वं समासतः ॥

उमाने पूछा—भगवन्! अब मैं पुनः प्रजावर्गके हितके लिये शुभ और अशुभ कहे जानेवाले अपने-अपने कर्मका संक्षेपसे वर्णन सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं शृणु शोभने ।
सुकृतं दुष्कृतं चेति द्विविधं कर्मविस्तरम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने ! वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो । जहाँतक कर्मोंका विस्तार है, उसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है । पहला भाग सुकृत (पुण्य) और दूसरा दुष्कृत (पाप) ॥

तयोर्यद् दुष्कृतं कर्म तच्च संजायते त्रिधा ।
मनसा कर्मणा वाचा बुद्धिमोहसमुद्भवात् ॥

उन दोनोंमें जो दुष्कृत कर्म है, वह तीन प्रकारका होता है । एक मनसे, दूसरा क्रियासे और तीसरा वाणीसे होनेवाला दुष्कर्म है । बुद्धिमें मोहका प्रादुर्भाव होनेसे ही ये पाप बनते हैं ॥

मनःपूर्वं तु वा कर्म वर्तते वाङ्मयं ततः ।
जायते वै क्रियायोगमनु चेष्टाक्रमः प्रिये ॥

प्रिये ! पहले मनके द्वारा कर्मका चिन्तन होता है, फिर वाणीद्वारा उसे प्रकाशमें लाया जाता है । तदनन्तर क्रियाद्वारा उसे सम्पन्न किया जाता है । इसके साथ चेष्टाका क्रम चलता रहता है ॥

अभिद्रोहोऽभ्यसूया च परार्थेषु च स्पृहा ।
धर्मकार्ये यदाश्रद्धा पापकर्मणि हर्षणम् ॥
एवमाद्यशुभं कर्म मनसा पापमुच्यते ।

अभिद्रोह, असूया, पराये अर्थकी अभिलाषा—ये मानसिक अशुभ कर्म हैं । जब धर्म-कार्यमें अश्रद्धा हो, पापकर्ममें हर्ष और उत्साह बढ़े तो इस तरहके अशुभ कर्म मानसिक पाप कहलाते हैं ॥

अनृतं यच्च परुषमबद्धं यच्च शंकरि ।
असत्यं परिवादश्च पापमेतत् तु वाङ्मयम् ॥

कल्याण करनेवाली देवि ! जो झूठ, कठोर तथा असम्बद्ध वचन बोला जाता है, असत्य भाषण तथा दूसरोंकी निन्दा की जाती है—यह सब वाणीसे होनेवाला पाप है ॥

अगम्यागमनं चैव परदारनिषेवणम् ।
वधबन्धपरिक्लेशैः परप्राणोपतापनम् ॥
चौर्यं परेषां द्रव्याणां हरणं नाशनं तथा ।
अभक्ष्यभक्षणं चैव व्यसनेष्वभिषङ्गता ॥
दर्पात् स्तम्भाभिमानाच्च परेषामुपतापनम् ।
अकार्याणां च करणमशौचं पानसेवनम् ॥
दौःशील्यं पापसम्पर्कं साहाय्यं पापकर्मणि ।
अधर्म्यमयशस्यं च कार्यं तस्य निषेवणम् ॥
एवमाद्यशुभं चान्यच्छारीरं पापमुच्यते ॥

अगम्या स्त्रीके साथ समागम, परायी स्त्रीका सेवन, प्राणियोंका वध, बन्धन तथा नाना प्रकारके क्लेशोंद्वारा दूसरे प्राणियोंको सताना, पराये धनकी चोरी, अपहरण तथा नाश करना, अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण, दुर्व्यसनोंमें आसक्ति, दर्प, उद्दण्डता और अभिमानसे दूसरोंको सताना, न करने योग्य काम करना, अपवित्र वस्तुको पीना अथवा उसका सेवन करना, पापियोंके सम्पर्कमें रहकर दुराचारी होना, पापकर्ममें सहायता करना, अधर्म और अपयश बढ़ानेवाले कार्योंको अपनाना इत्यादि जो दूसरे-दूसरे अशुभ कर्म हैं, वे शारीरिक पाप कहलाते हैं ॥

मानसाद् वाङ्मयं पापं विशिष्टमिति लक्ष्यते ।
वाङ्मयादपि वै पापाच्छारीरं गण्यते बहु ॥

मानस पापसे वाणीका पाप बढ़कर समझा जाता है । वाचिक पापसे शारीरिक पापको अधिक गिना जाता है ॥

एवं पापयुतं कर्म त्रिविधं पातयेन्नरम् ।
परोपतापजननमत्यन्तं पातकं स्मृतम् ॥

इस प्रकार जो तीन तरहका पापकर्म है, वह मनुष्यको नीचे गिराता है । दूसरोंको संताप देना अत्यन्त पातक माना गया है ॥

त्रिविधं तत् कृतं पापं कर्तारं पापकं नयेत् ।
पातकं चापि यत् कर्म कर्मणा बुद्धिपूर्वकम् ॥
सापदेशमवश्यं तु कर्तव्यमिति तत् कृतम् ।
कथंचित् तत् कृतमपि कर्ता तेन न लिप्यते ॥

अपना किया हुआ त्रिविध पाप कर्ताको पापमय योनिमें ले जाता है । पातकरूप कर्म भी यदि बुद्धिपूर्वक किसीके प्राण बचाने आदिके उद्देश्यसे अवश्यकर्तव्य मानकर क्रिया (शरीर) द्वारा किसी प्रकार किया गया हो तो उससे कर्ता लिप्त नहीं होता ॥

उमोवाच

भगवन् पापकं कर्म यथा कृत्वा न लिप्यते ॥

उमाने पूछा—भगवन्! किस तरह पापकर्म कर मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

यो नरोऽनपराधी च स्वात्मप्राणस्य रक्षणात् ।
शत्रुमुद्यतशस्त्रं वा पूर्वं तेन हतोऽपि वा ॥
प्रतिहन्यान्नरो हिंस्यान्न स पापेन लिप्यते ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो निरपराध मनुष्य शस्त्र उठाकर मारनेके लिये आये हुए शत्रुको पहले उसके

द्वारा आघात होनेपर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये उसपर बदलेमें प्रहार करे और मार डाले, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥

चोरादधिकसंत्रस्तस्तत्प्रतीकारचेष्टया ।
यः प्रजघ्नन् नरो हन्यान्न स पापेन लिप्यते ॥

जो चोरसे अधिक भयभीत हो उससे बदला लेनेकी चेष्टा करते हुए उसपर प्रहार करता और उसे मार डालता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥

ग्रामार्थे भर्तृपिण्डार्थं दीनानुग्रहकारणात् ।
वधबन्धपरिक्लेशान् कुर्वन् पापात् प्रमुच्यते ॥

जो ग्रामरक्षाके लिये, स्वामीके अन्नका बदला चुकानेके लिये अथवा दीन-दुखियोंपर अनुग्रह करके किसी शत्रुका वध करता या उसे बन्धनमें डालकर क्लेश पहुँचाता है, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥

दुर्भिक्षे चात्मवृत्त्यर्थमेकायनगतस्तथा ।
अकार्यं वाप्यभक्ष्यं वा कृत्वा पापान्न लिप्यते॥

जो अकालमें अपनी जीविका चलानेके लिये तथा दूसरा कोई मार्ग न रह जानेपर अकार्य या अभक्ष्य भक्षण करता है, वह उसके पापसे लिप्त नहीं होता ॥

केचिद्धसन्ति तत् पीत्वा प्रवदन्ति तथा परे ।
नृत्यन्ति मुदिताः केचिद् गायन्ति च शुभाशुभान्॥

(अब मदिरा पीनेके दोष बताता हूँ) मदिरा पीनेवाले उसे पीकर नशेमें अट्टहास करते हैं, अंट-संट बातें बकते हैं, कितने ही प्रसन्न होकर नाचते हैं और भले-बुरे गीत गाते हैं ॥

कलिं ते कुर्वतेऽभीष्टं प्रहरन्ति परस्परम् ।
क्वचिद् धावन्ति सहसा प्रस्खलन्ति पतन्ति च ॥

वे आपसमें इच्छानुसार कलह करते और एक दूसरेको मारते-पीटते हैं । कभी सहसा दौड़ पड़ते हैं, कभी लड़खड़ाते और गिरते हैं ॥

अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्र क्वचन शोभने ।
नग्ना विक्षिप्य गात्राणि नष्टज्ञाना इवासते ॥

शोभने ! वहाँ जहाँ कहीं भी अनुचित बातें बकने लगते हैं और कभी नंग-धड़ंग हो हाथ-पैर पटकते हुए अचेत-से हो जाते हैं ॥

एवं बहुविधान् भावान् कुर्वन्ति भ्रान्तचेतनाः ।
ये पिबन्ति महामोहं पानं पापयुता नराः ॥

इस प्रकार भ्रान्तचित्त होकर वे नाना प्रकारके भाव प्रकट करते हैं । जो महामोहमें डालनेवाली मदिरा पीते हैं, वे मनुष्य पापी होते हैं ॥

धृतिं लज्जां च बुद्धिं च पानं पीतं प्रणाशयेत् ।
तस्मान्नराः सम्भवन्ति निर्लज्जा निरपत्रपाः ॥

पी हुई मदिरा मनुष्यके धैर्य, लज्जा और बुद्धिको नष्ट कर देती है । इससे मनुष्य निर्लज्ज और बेहया हो जाते हैं ॥

पानपस्तु सुरां पीत्वा तदा बुद्धिप्रणाशनात् ।
कार्याकार्यस्य चाज्ञानाद् यथेष्टकरणात् स्वयम् ॥
विदुषामविधेयत्वात् पापमेवाभिपद्यते ॥

शराब पीनेवाला मनुष्य उसे पीकर बुद्धिका नाश हो जानेसे कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रह जानेसे, इच्छानुसार कार्य करनेसे तथा विद्वानोंकी आज्ञाके अधीन न रहनेसे पापको ही प्राप्त होता है ॥

परिभूतो भवेल्लोके मद्यपो मित्रभेदकः ।
सर्वकालमशुद्धश्च सर्वभक्षस्तथा भवेत् ॥

मदिरा पीनेवाला पुरुष जगत्‌में अपमानित होता है। मित्रोंमें फूट डालता है, सब कुछ खाता और हर समय अशुद्ध रहता है ॥

विनष्टो ज्ञानविद्वद्भ्यः सततं कलिभावगः ।
परुषं कटुकं घोरं वाक्यं वदति सर्वशः ॥

वह स्वयं हर प्रकारसे नष्ट होकर विद्वान् विवेकी पुरुषोंसे झगड़ा किया करता है । सर्वथा रूखा, कड़वा और भयंकर वचन बोलता रहता है ॥

गुरूनतिवदेन्मत्तः परदारान् प्रधर्षयेत् ।
संविदं कुरुते शौण्डैर्न शृणोति हितं क्वचित् ॥

वह मतवाला होकर गुरुजनोंसे बहकी-बहकी बातें करता है, परायी स्त्रियोंसे बलात्कार करता है, धूर्तों और जुआरियोंके साथ बैठकर सलाह करता है और कभी किसीकी कही हुई हितकर बात भी नहीं सुनता है ॥

एवं बहुविधा दोषाः पानपे सन्ति शोभने ।
केवलं नरकं यान्ति नास्ति तत्र विचारणा ॥

शोभने ! इस प्रकार मदिरा पीनेवालेमें बहुत-से दोष हैं । वे केवल नरकमें जाते हैं, इस विषयमें कोई विचार करनेकी बात नहीं है ॥

तस्मात् तद् वर्जितं सद्भिः पानमात्महितैषिभिः ।
यदि पानं न वर्जेरन् सन्तश्चारित्रकारणात् ।
भवेदेतज्जगत् सर्वममर्यादं च निष्क्रियम् ॥

इसलिये अपना हित चाहनेवाले सत्पुरुषोंने मदिरापानका सर्वथा त्याग किया है । यदि सदाचारकी रक्षाके लिये सत्पुरुष मदिरा पीना न छोड़े तो यह सारा जगत् मर्यादारहित और अकर्मण्य हो जाय (यह शरीरसम्बन्धी महापाप है) ॥

तस्माद् बुद्धेर्हि रक्षार्थं सद्भिः पानं विवर्जितम् ।

अतः श्रेष्ठ पुरुषोंने बुद्धिकी रक्षाके लिये मद्यपानको त्याग दिया है ॥

विधानं सुकृतस्यापि भूयः शृणु शुचिस्मिते ।
प्रोच्यते तत् त्रिधा देवि सुकृतं च समासतः ॥

शुचिस्मिते ! अब पुण्यका भी विधान सुनो । देवि ! थोड़ेमें तीन प्रकारका पुण्य भी बताया गया है ॥

त्रैविध्यदोषोपरमे यस्तु दोषव्यपेक्षया ।
स हि प्राप्नोति सकलं सर्वदुष्कृतवर्जनात् ॥

मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों दोषोंकी निवृत्ति हो जानेपर जो दोषकी उपेक्षा करके सम्पूर्ण दुष्कर्मोंका त्याग कर देता है, वही समस्त शुभ कर्मोंका फल पाता है ॥

प्रथमं वर्जयेद् दोषान् युगपत् पृथगेव वा ।

तथा धर्ममवाप्नोति दोषत्यागो हि दुष्करः ॥

पहले सब दोषोंको एक साथ या बारी-बारीसे त्याग देना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यको धर्माचरणका फल प्राप्त होता है; क्योंकि दोषोंका परित्याग करना बहुत ही कठिन है ॥

दोषसाकल्यसंत्यागान्मुनिर्भवति मानवः ॥
सौकर्यं पश्य धर्मस्य कार्यारम्भादृतेऽपि च।
आत्मोपलब्धोपरमाल्लभन्ते सुकृतं परम् ॥

समस्त दोषोंका त्याग कर देनेसे मनुष्य मुनि हो जाता है। देखो, धर्म करनेमें कितनी सुविधा या सुगमता है कि कोई कार्य किये बिना ही अपनेको प्राप्त हुए दोषोंका त्याग कर देनेमात्रसे मनुष्य परम पुण्य प्राप्त कर लेते हैं ॥

अहो नृशंसाः पच्यन्ते मानुषाः स्वल्पबुद्धयः।
ये तादृशं न बुध्यन्ते आत्माधीनं च निर्वृताः ॥
दुष्कृतत्यागमात्रेण पदमूर्ध्वं हि लभ्यते ॥

अहो! अल्पबुद्धि मानव कैसे क्रूर हैं कि पाप कर्म करके अपने-आपको नरककी आगमें पकाते हैं। वे संतोषपूर्वक यह नहीं समझ पाते कि वैसा पुण्यकर्म सर्वथा अपने अधीन है। दुष्कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे ऊर्ध्वपद (स्वर्गलोक) की प्राप्ति होती है ॥

पापभीरुत्वमात्रेण दोषाणां परिवर्जनात्।
सुशोभनो भवेद् देवि ऋजुर्धर्मव्यपेक्षया ॥

देवि! पापसे डरने, दोषोंको त्यागने और निष्कपट धर्म-की अपेक्षा रखनेसे मनुष्य उत्तम परिणामका भागी होता है ॥

श्रुत्वा च बुद्धसंयोगादिन्द्रियाणां च निग्रहात्।
संतोषाच्च धृतेश्चैव शक्यते दोषवर्जनम् ॥

ज्ञानी पुरुषोंके सम्पर्कसे धर्मोपदेश सुनकर इन्द्रियोंका निग्रह करने तथा संतोष और धैर्य धारण करनेसे दोषोंका परित्याग किया जा सकता है ॥

तदेव धर्ममित्याहुर्दोषसंयमनं प्रिये।
यमधर्मेण धर्मोऽस्ति नान्यः शुभतरः प्रिये ॥

प्रिये! दोष-संयमको धर्म कहा गया है। संयमरूप धर्म-का पालन करनेसे जो धर्म होता है, वही सबसे अधिक कल्याणकारी है, दूसरा नहीं ॥

यमधर्मेण यतयः प्राप्नुवन्त्युत्तमां गतिम् ॥
ईश्वराणां प्रभवतां दरिद्राणां च वै नृणाम्।
सफलो दोषसंत्यागो दानादपि शुभादपि ॥

संयमधर्मके पालनसे यतिजन उत्तम गतिको पाते हैं। प्रभावशाली धनियोंके दान करनेसे और दरिद्र मनुष्योंके शुभकर्मोंके आचरणसे भी दोषोंका त्याग क्षणिक फल देनेवाला है ॥

तपो दानं महादेवि दोषमल्पं हि निर्हरेत्।
सुकृतं यामिकं चोक्तं वक्ष्ये निरुपसाधनम् ॥

महादेवि! तप और दान अल्प दोषको हर लेते हैं। यहाँ संयमसम्बन्धी सुकृत बताया गया। अब सहायक साधनों-के बिना होनेवाले सुकृतका वर्णन करूँगा ॥

सुखाभिसंधिर्लोकानां सत्यं शौचमथार्जवम्।
व्रतोपवासः प्रीतिश्च ब्रह्मचर्यं दमः शमः ॥
एवमादि शुभं कर्म सुकृतं नियमाश्रितम्।
शृणु तेषां विशेषांश्च कीर्तयिष्यामि भामिनि ॥

जगत्के लोगोंके सुखी होनेकी कामना, सत्य, शौच, सरलता, व्रतसम्बन्धी उपवास, प्रीति, ब्रह्मचर्य, दम और शम—इत्यादि शुभ कर्म नियमोंपर अवलम्बित सुकृत हैं। भामिनि! अब उनके विशेष भेदोंका वर्णन करूँगा, सुनो ॥

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव।
नास्ति सत्यात् परं दानं नास्ति सत्यात् परं तपः ॥

जैसे नौका या जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीका काम देता है। सत्यसे बढ़कर दान नहीं है और सत्यसे बढ़कर तप नहीं है ॥

यथा श्रुतं यथा दृष्टमात्मना यद् यथा कृतम्।
तथा तस्याविकारेण वचनं सत्यलक्षणम् ॥

जो जैसा सुना गया हो, जैसा देखा गया हो और अपने द्वारा जैसा किया गया हो, उसको बिना किसी परिवर्तनके वाणीद्वारा प्रकट करना सत्यका लक्षण है ॥

यच्छलेनाभिसंयुक्तं सत्यरूपं मृषैव तत्।
सत्यमेव प्रवक्तव्यं पारावर्यं विजानता ॥

जो सत्य छलसे युक्त हो, वह मिथ्या ही है। अतः सत्यासत्यके भले-बुरे परिणामको जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि वह सदा सत्य ही बोले ॥

दीर्घायुश्च भवेत् सत्यात् कुलसंतानपालकः।
लोकसंस्थितिपालश्च भवेत् सत्येन मानवः ॥

सत्यके पालनसे मनुष्य दीर्घायु होता है। सत्यसे कुल-परम्पराका पालक होता है और सत्यका आश्रय लेनेसे वह लोक-मर्यादाका संरक्षक होता है ॥

उमोवाच

कथं संधारयन् मर्त्यो व्रतं शुभमवाप्नुयात् ॥

उमाने पूछा—भगवन्! मनुष्य किस प्रकार व्रत धारण करके शुभ फलको पाता है? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

पूर्वमुक्तं तु यत् पापं मनोवाक्कायकर्मभिः।
व्रतवत् तस्य संत्यागस्तपोव्रतमिति स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! पहले जो मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाले पापोंका वर्णन किया गया है, व्रतकी भाँति उनके त्यागका नियम लेना तपोव्रत कहा गया है ॥

शुद्धकायो नरो भूत्वा स्नात्वा तीर्थे यथाविधि।
पञ्चभूतानि चन्द्रार्कौ संध्ये धर्मयमौ पितॄन् ॥
आत्मनैव तथाऽऽत्मानं निवेद्य व्रतवच्चरेत्।

मनुष्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके शुद्धशरीर हो स्वयं ही अपने आपको पञ्च महाभूत, चन्द्रमा, सूर्य, दोनों

कालकी संध्या, धर्म, यम तथा पितरोंकी सेवामें निवेदन करके व्रत लेकर धर्माचरण करे ॥

व्रतमामरणाद् वापि कालच्छेदेन वा हरेत् ॥
शाकादिषु व्रतं कुर्यात् तथा पुष्पफलादिषु ।
ब्रह्मचर्यव्रतं कुर्यादुपवासव्रतं तथा ॥

अपने व्रतको मृत्युपर्यन्त निभावे अथवा समयकी सीमा बाँधकर उतने समयतक उसका निर्वाह करे । शाक आदि तथा फल-फूल आदिका आहार करके व्रत करे। उस समय ब्रह्मचर्यका पालन तथा उपवास भी करना चाहिये ॥

एवमन्येषु बहुषु व्रतं कार्यं हितैषिणा ।
व्रतभङ्गो यथा न स्याद् रक्षितव्यं तथा बुधैः ॥

अपना हित चाहनेवाले पुरुषको दुग्ध आदि अन्य बहुत-सी वस्तुओंमेंसे किसी एकका उपयोग करके व्रतका पालन करना चाहिये । विद्वानोंको उचित है कि वे अपने व्रतको भङ्ग न होने दें । सब प्रकारसे उसकी रक्षा करें ॥

व्रतभङ्गे महत् पापमिति विद्धि शुभेक्षणे ॥
औषधार्थे यदज्ञानाद् गुरूणां वचनादपि ।
अनुग्रहार्थं बन्धूनां व्रतभङ्गो न दुष्यते ॥

शुभेक्षणे ! तुम यह जान लो कि व्रत भङ्ग करनेसे महान् पाप होता है, परंतु ओषधिके लिये, अनजानमें, गुरुजनोंकी आज्ञासे तथा बन्धुजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये यदि व्रतभङ्ग हो जाय तो वह दूषित नहीं होता ॥

व्रतापवर्गकाले तु दैवब्राह्मणपूजनम् ।
नरेण तु यथावद्धि कार्यसिद्धिं यथाप्नुयात् ॥

व्रतकी समाप्तिके समय मनुष्यको देवताओं और ब्राह्मणोंकी यथावत् पूजा करनी चाहिये । इससे उसे अपने कार्यमें सफलता प्राप्त होती है ॥

उमोवाच

कथं शौचविधिस्तत्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! व्रत ग्रहण करनेके समय शौचाचारका विधान कैसा है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौचमिष्यते ।
मानसं सुकृतं यत् तच्छौचमाभ्यन्तरं स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! शौच दो प्रकारका माना गया है—एक बाह्य शौच, दूसरा आभ्यन्तर शौच । जिसे पहले मानसिक सुकृत बताया गया है, उसीको यहाँ आभ्यन्तर शौच कहा गया है ॥

सदाऽऽहारविशुद्धिश्च कायप्रक्षालनं तु यत् ।
बाह्यशौचं भवेदेतत् तथैवाचमनादिना ॥

सदा ही विशुद्ध आहार ग्रहण करना, शरीरको धो-पोंछकर साफ रखना तथा आचमन आदिके द्वारा भी शरीरको शुद्ध बनाये रखना, यह बाह्य शौच है ॥

मृच्चैव शुद्धदेशस्था गोशकृन्मूत्रमेव च ।
द्रव्याणि गन्धयुक्तानि यानि पुष्टिकराणि च ॥
एतैः सम्मार्जनैः कायमम्भसा च पुनः पुनः ।

अच्छे स्थानकी मिट्टी, गोबर, गोमूत्र, सुगन्धित द्रव्य तथा पौष्टिक पदार्थ—इन सब वस्तुओंसे मिश्रित जलके द्वारा मार्जन करके शरीरको बारंबार जलसे प्रक्षालित करे ॥

अक्षोभ्यं यत् प्रकीर्णं च नित्यस्रोतश्च यज्जलम् ॥
प्रायशस्तादृशे मज्जेदन्यथा च विवर्जयेत् ॥

जहाँका जल अक्षोभ्य (नहानेसे गँदला न होनेवाला) और फैला हुआ हो, जिसका प्रवाह कभी टूटता न हो । प्रायः ऐसे ही जलमें गोता लगाना चाहिये । अन्यथा उस जलको त्याग देना चाहिये ॥

त्रिस्त्रिराचमनं श्रेष्ठं निर्मलैरुद्धृतैर्जलैः ।
तथा विण्मूत्रयोः शुद्धिरद्भिर्बहुमृदा भवेत् ॥

निर्मल जलको हाथमें लेकर उसके द्वारा तीन-तीन बार आचमन करना श्रेष्ठ माना गया है । मल और मूत्रके स्थानोंकी शुद्धि बहुत-सी मिट्टी लगाकर जलके द्वारा धोनेसे होती है ॥

तथैव जलसंशुद्धिर्यत् संशुद्धं तु संस्पृशेत् ॥

इसी प्रकार जलकी शुद्धिका भी ध्यान रखना आवश्यक है । जो शुद्ध जल हो उसीका स्पर्श करे—उसीसे हाथ-मुँह धोकर कुल्ला करे और नहाये ॥

शकृता भूमिशुद्धिः स्याल्लौहानां भस्मना स्मृतम् ।
तक्षणं घर्षणं चैव दारवाणां विशोधनम् ॥

गोबरसे लीपनेपर भूमिकी शुद्धि होती है, राखसे मलनेपर धातुके पात्रोंकी शुद्धि होती है । लकड़ीके बने हुए पात्रोंकी शुद्धि छीलने, काटने और रगड़नेसे होती है ॥

दहनं मृण्मयानां च मर्त्यानां कृच्छ्रधारणम् ।
शेषाणां देवि सर्वेषामातपेन जलेन च ॥
ब्राह्मणानां च वाक्येन सदा संशोधनं भवेत् ।

मिट्टीके पात्रोंकी शुद्धि आगमें जलानेसे होती है, मनुष्योंकी शुद्धि कृच्छ्र सांतपन आदि व्रत धारण करनेसे होती है । देवि ! शेष सब वस्तुओंकी शुद्धि सदा धूपमें तपाने, जलके द्वारा धोने और ब्राह्मणोंके वचनसे होती है ॥

अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ।
एवमापदि संशुद्धिरेवं शौचं विधीयते ॥

जिसका दोष देखा न गया हो ऐसी वस्तुको जलसे धो दिया जाय तो वह शुद्ध हो जाता है । जिसकी वाणीद्वारा प्रशंसा की जाती है, वह भी शुद्ध ही समझना चाहिये । इसी प्रकार आपत्तिकालमें शुद्धिकी व्यवस्था है और इसी तरह शौचका विधान है ॥

उमोवाच

आहारशुद्धिस्तु कथं देवदेव महेश्वर ॥

उमाने पूछा—देवदेव ! महेश्वर ! आहारकी शुद्धि कैसे होती है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अमांसमद्यमक्लेद्यमपर्युषितमेव च ।
अतिकट्वम्ललवणहीनं च शुभगन्धि च ॥
कृमिकेशमलैर्हीनं संवृतं शुद्धदर्शनम् ।

एवंविधं सदाऽऽहार्यं देवब्राह्मणसत्कृतम् ॥
श्रेष्ठमित्येव तज्ज्ञेयमन्यथा मन्यतेऽशुभम्।

श्रीमहेश्वरने कहा--देवि ! जिसमें मांस और मद्य न हो, जो सड़ा हुआ या पसीजा न हो, बासी न हो, अधिक कड़वा, अधिक खट्टा और अधिक नमकीन न हो, जिससे उत्तम गन्ध आती हो, जिसमें कीड़े या केश न पड़े हों, जो निर्मल हो, ढका हुआ हो और देखनेमें भी शुद्ध हो, जिसका देवताओं और ब्राह्मणोंद्वारा सत्कार किया गया हो, ऐसे अन्नको सदा भोजन करना चाहिये । उसे श्रेष्ठ ही जानना चाहिये । इसके विपरीत जो अन्न है, उसे अशुभ माना गया है ॥

ग्राम्यादारण्यकैः सिद्धं श्रेष्ठमित्यवधारय ॥
अतिमात्रगृहीतात् तु अल्पदत्तं भवेच्छुचि ।

ग्राम्य अन्नकी अपेक्षा वनमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे बना हुआ अन्न श्रेष्ठ होता है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो । अधिक-से-अधिक ग्रहण किये हुए अन्नकी अपेक्षा थोड़ा-सा दिया हुआ अन्न पवित्र होता है ॥

यज्ञशेषं हविःशेषं पितृशेषं च निर्मलम् ॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

यज्ञशेष (देवताओंको अर्पण करनेसे बचा हुआ), हविःशेष (अग्निमें आहुति देनेसे बचा हुआ) तथा पितृशेष (श्राद्धसे अवशिष्ट) अन्न निर्मल माना गया है । देवि ! यह विषय तुम्हें बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भक्षयन्त्यपरे मांसं वर्जयन्त्यपरे विभो ।
तन्मे वद महादेव भक्ष्याभक्ष्यविनिर्णयम् ॥

उमाने पूछा--प्रभो ! कुछ लोग तो मांस खाते हैं और दूसरे लोग उसका त्याग कर देते हैं । महादेव ! ऐसी दशामें मुझे भक्ष्य-अभक्ष्यका निर्णय करके बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मांसस्य भक्षणे दोषो यश्चास्याभक्षणे गुणः ।
तदहं कीर्तयिष्यामि तन्निबोध यथातथम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा--देवि ! मांस खानेमें जो दोष है और उसे न खानेमें जो गुण है, उसका मैं यथार्थ रूपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनो ॥

इष्टं दत्तमधीतं च क्रतवश्च सदक्षिणाः ।
अमांसभक्षणस्यैव कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

यज्ञ, दान, वेदाध्ययन तथा दक्षिणासहित अनेकानेक क्रतु--ये सब मिलकर मांस भक्षणके परित्यागकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं होते ॥

आत्मार्थं यः परप्राणान् हिंस्यात् स्वादुफलेप्सया ।
व्याघ्रगृध्रशृगालैश्च राक्षसैश्च समस्तु सः ॥

जो स्वादकी इच्छासे अपने लिये दूसरेके प्राणोंकी हिंसा करता है, वह बाघ, गीध, सियार और राक्षसोंके समान है ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासं लभते यत्र यत्रोपजायते ॥

जो पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ-कहीं भी जन्म लेता है वहीं उद्वेगमें पड़ा रहता है ॥

संछेदनं स्वमांसस्य यथा संजनयेद् रुजम् ।
तथैव परमांसेऽपि वेदितव्यं विजानता ॥

जैसे अपने मांसको काटना अपने लिये पीड़ाजनक होता है, उसी तरह दूसरेका मांस काटनेपर उसे भी पीड़ा होती है । यह प्रत्येक विज्ञ पुरुषको समझना चाहिये ॥

यस्तु सर्वाणि मांसानि यावज्जीवं न भक्षयेत् ।
स स्वर्गे विपुलं स्थानं लभते नात्र संशयः ॥

जो जीवनभर सब प्रकारके मांस त्याग देता है--कभी मांस नहीं खाता, वह स्वर्गमें विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

यत् तु वर्षशतं पूर्णं तप्यते परमं तपः ।
यच्चापि वर्जयेन्मांसं सममेतन्न वा समम् ॥

मनुष्य जो पूरे सौ वर्षोंतक उत्कृष्ट तपस्या करता है और जो वह सदाके लिये मांसका परित्याग कर देता है--उसके ये दोनों कर्म समान हैं अथवा समान नहीं भी हो सकते हैं [मांसका त्याग तपस्यासे भी उत्कृष्ट है] ॥

न हि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते ।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे॥

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है । अतः समस्त प्राणियोंपर दया करनी चाहिये । जैसे अपने ऊपर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरोंपर भी होनी चाहिये ॥

इत्येवं मुनयः प्राहुर्मांसस्याभक्षणे गुणान् ।

इस प्रकार मुनियोंने मांस न खानेमें गुण बताये हैं ।

उमोवाच

गुरुपूजा कथं देव क्रियते धर्मचारिभिः ॥

उमाने पूछा--देव ! धर्मचारी मनुष्य गुरुजनोंकी पूजा कैसे करते हैं ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

गुरुपूजां प्रवक्ष्यामि यथावत् तव शोभने ।
कृतज्ञानां परो धर्म इति वेदानुशासनम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा--शोभने ! अब मैं तुम्हें यथावत् रूपसे गुरुजनोंकी पूजाकी विधि बता रहा हूँ । वेदकी यह आज्ञा है कि कृतज्ञ पुरुषोंके लिये गुरुजनोंकी पूजा परम धर्म है ।

तस्मात् स्वगुरवः पूज्यास्ते हि पूर्वोपकारिणः ।
गुरूणां च गरीयांसस्त्रयो लोकेषु पूजिताः ॥
उपाध्यायः पिता माता सम्पूज्यास्ते विशेषतः ।

अतः सबको अपने-अपने गुरुजनोंका पूजन करना चाहिये; क्योंकि वे गुरुजन संतान और शिष्यपर पहले उपकार करनेवाले हैं । गुरुजनोंमें उपाध्याय (अध्यापक), पिता और माता--ये तीन अधिक गौरवशाली हैं । इनका

तीनों लोकोंमें पूजा होती है; अतः इन सबका विशेषरूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये ॥

ये पितुर्भ्रातरो ज्येष्ठा ये च तस्यानुजास्तथा ॥
पितुः पिता च सर्वे ते पूजनीयाः पिता तथा ॥

जो पिताके बड़े तथा छोटे भाई हों, वे तथा पिताके भी पिता—ये सब-के-सब पिताके ही तुल्य पूजनीय हैं ॥

मातुर्या भगिनी ज्येष्ठा मातुर्या च यवीयसी।
मातामही च धात्री च सर्वास्ता मातरः स्मृताः ॥

माताकी जो जेठी बहिन तथा छोटी बहिन हैं, वे और नानी एवं धाय—इन सबको माताके ही तुल्य माना गया है ॥

उपाध्यायस्य यः पुत्रो यश्च तस्य भवेद् गुरुः।
ऋत्विग् गुरुः पिता चेति गुरवः सम्प्रकीर्तिताः ॥

उपाध्यायका जो पुत्र है वह गुरु है, उसका जो गुरु है वह भी अपना गुरु है, ऋत्विक् गुरु है और पिता भी गुरु हैं—ये सब-के-सब गुरु कहे गये हैं ॥

ज्येष्ठो भ्राता नरेन्द्रश्च मातुलः श्वशुरस्तथा।
भयत्राता च भर्ता च गुरवस्ते प्रकीर्तिताः ॥

बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वशुर, भयसे रक्षा करनेवाला तथा भर्ता (स्वामी)—ये सब गुरु कहे गये हैं ॥

इत्येष कथितः साध्वि गुरूणां सर्वसंग्रहः।
अनुवृत्तिं च पूजां च तेषामपि निबोध मे ॥

पतिव्रते ! यह गुरु-कोटिमें जिनकी गणना है, उन सबका संग्रह करके यहाँ बताया गया है। अब उनकी अनुवृत्ति और पूजाकी भी बात सुनो ॥

आराध्या मातापितरावुपाध्यायस्तथैव च।
कथंचिन्नावमन्तव्या नरेण हितमिच्छता ॥

अपना हित चाहनेवाले पुरुषको माता, पिता और उपाध्याय—इन तीनोंकी आराधना करनी चाहिये। किसी तरह भी इनका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

तेन प्रीणन्ति पितरस्तेन प्रीतः प्रजापतिः।
येन प्रीणाति चेन्माता प्रीताः स्युर्देवमातरः ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायो ब्रह्मा तेनाभिपूजितः।
अप्रीतेषु पुनस्तेषु नरो नरकमेति हि ॥

इससे पितर प्रसन्न होते हैं। प्रजापतिको प्रसन्नता होती है। जिस आराधनाके द्वारा वह माताको प्रसन्न करता है, उससे देवमाताएँ प्रसन्न होती हैं। जिससे वह उपाध्यायको संतुष्ट करता है, उससे ब्रह्माजी पूजित होते हैं। यदि मनुष्य आराधनाद्वारा इन सबको संतुष्ट न करे तो वह नरकमें जाता है॥

गुरूणां वैरनिर्बन्धो न कर्तव्यः कथंचन।
नरकं स्वगुरुप्रीत्या मनसापि न गच्छति ॥

गुरुजनोंके साथ कभी वैर नहीं बाँधना चाहिये। अपने गुरुजनके प्रसन्न होनेपर मनुष्य कभी मनसे भी नरकमें नहीं पड़ता ॥

न ब्रूयाद् विप्रियं तेषामनिष्टं न प्रवर्तयेत्।
विगृह्य न वदेत् तेषां समीपे स्पर्धया क्वचित् ॥

उन्हें जो अप्रिय लगे, ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिये, जिससे उनका अनिष्ट हो, ऐसा काम भी नहीं करना चाहिये। उनसे झगड़कर नहीं बोलना चाहिये और उनके समीप कभी किसी बातके लिये होड़ नहीं लगानी चाहिये ॥

यद् यदिच्छन्ति ते कर्तुमस्वतन्त्रस्तदाचरेत्।
वेदानुशासनसमं गुरुशासनमिष्यते ॥

वे जो-जो काम कराना चाहें, उनकी आज्ञाके अधीन रहकर वह सब कुछ करना चाहिये। वेदोंकी आज्ञाके समान गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन अभीष्ट माना गया है ॥

कलहांश्च विवादांश्च गुरुभिः सह वर्जयेत्।
कैतवं परिहासांश्च मन्युकामाश्रयांस्तथा ॥

गुरुजनोंके साथ कलह और विवाद छोड़ दे, उनके साथ छल-कपट, परिहास तथा काम-क्रोधके आधारभूत बर्ताव भी न करे ॥

गुरूणां योऽनहंवादी करोत्याज्ञामतन्द्रितः।
न तस्मात् सर्वमर्त्येषु विद्यते पुण्यकृत्तमः ॥

जो आलस्य और अहंकार छोड़कर गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करता है, समस्त मनुष्योंमें उससे बढ़कर पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं है ॥

असूयामपवादं च गुरूणां परिवर्जयेत्।
तेषां प्रियहितान्वेषी भूत्वा परिचरेत् सदा ॥

गुरुजनोंके दोष देखना और उनकी निन्दा करना छोड़ दे, उनके प्रिय और हितका ध्यान रखते हुए सदा उनकी परिचर्या करे ॥

न तद् यज्ञफलं कुर्यात् तपो वाऽऽचरितं महत्।
यत् कुर्यात् पुरुषस्येह गुरुपूजा सदा कृता ॥

यज्ञोंका फल और किया हुआ महान् तप भी इस जगत्में मनुष्यको वैसा लाभ नहीं पहुँचा सकता, जैसा सदा किया हुआ गुरुपूजन पहुँचा सकता है ॥

अनुवृत्तेर्विना धर्मो नास्ति सर्वाश्रमेष्वपि।
तस्मात् क्षमावृतः क्षान्तो गुरुवृत्तिं समाचरेत् ॥

सभी आश्रमोंमें अनुवृत्ति (गुरुसेवा) के बिना कोई भी धर्म सफल नहीं हो सकता। इसलिये क्षमासे युक्त और सहनशील होकर गुरुसेवा करे ॥

स्वमर्थं स्वशरीरं च गुर्वर्थे संत्यजेद् बुधः।
विवादं धनहेतोर्वा मोहाद् वा तैर्न रोचयेत् ॥

विद्वान् पुरुष गुरुके लिये अपने धन और शरीरको समर्पण कर दे। धनके लिये अथवा मोहवश उनके साथ विवाद न करे॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च दानानि विविधानि च।
गुरुभिः प्रतिषिद्धस्य सर्वमेतदपार्थकम् ॥

जो गुरुजनोंसे अभिशप्त है, उसके किये हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा और नाना प्रकारके दान—ये सब व्यर्थ हो जाते हैं ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्युर्मनसा कर्मणा वा।

तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तेभ्यो नान्यः पापकृदस्ति लोके॥

जो लोग उपाध्याय, पिता और माताके साथ मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा द्रोह करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी बड़ा पाप लगता है। उनसे बढ़कर पापाचारी इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है ॥

उमोवाच

उपवासविधिं तत्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—प्रभो ! अब आप मुझे उपवासकी विधि बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शरीरमलशान्त्यर्थमिन्द्रियोच्छोषणाय च ।
एकभुक्तोपवासैस्तु धारयन्ते व्रतं नराः ॥
लभन्ते विपुलं धर्मं तथाऽऽहारपरिक्षयात् ।

श्रीमहेश्वर बोले—प्रिये ! शारीरिक दोषकी शान्तिके लिये और इन्द्रियोंको सुखाकर वशमें करनेके लिये मनुष्य एक समय भोजन अथवा दोनों समय उपवासपूर्वक व्रत धारण करते हैं और आहार क्षीण कर देनेके कारण महान् धर्मका फल पाते हैं ॥

बहूनामुपरोधं तु न कुर्यादात्मकारणात् ॥
जीवोपघातं च तथा स जीवन् धन्य इष्यते ।

जो अपने लिये बहुतसे प्राणियोंको बन्धनमें नहीं डालता और न उनका वध ही करता है, वह जीवन भर धन्य माना जाता है ॥

तस्मात् पुण्यं लभेन्मर्त्यः स्वयमाहारकर्शनात् ॥
तद् गृहस्थैर्यथाशक्ति कर्तव्यमिति निश्चयः ॥

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वयं आहारको घटा देनेसे मनुष्य अवश्य पुण्यका भागी होता है। इसलिये गृहस्थोंको यथाशक्ति आहार-संयम करना चाहिये, यह शास्त्रोंका निश्चित आदेश है ॥

उपवासार्दिते काये आपदर्थं पयो जलम् ।
भुञ्जन्नप्रतिघाती स्याद् ब्राह्मणाननुमान्य च ॥

उपवाससे जब शरीरको अधिक पीड़ा होने लगे, तब उस आपत्तिकालमें ब्राह्मणोंसे आज्ञा लेकर यदि मनुष्य दूध अथवा जल ग्रहण कर ले तो इससे उसका व्रत भङ्ग नहीं होता ॥

उमोवाच

ब्रह्मचर्यं कथं देव रक्षितव्यं विजानता ॥

उमाने पूछा—देव ! विज्ञ पुरुषको ब्रह्मचर्यकी रक्षा कैसे करनी चाहिये ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता ॥
ब्रह्मचर्यं परं शौचं ब्रह्मचर्यं परं तपः ।
केवलं ब्रह्मचर्येण प्राप्यते परमं पदम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह विषय मैं तुम्हें बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो । ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम शौचाचार है, ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तपस्या है तथा केवल ब्रह्मचर्यसे भी परमपदकी प्राप्ति होती है ॥

संकल्पाद् दर्शनाच्चैव तद्युक्तवचनादपि ।
संस्पर्शादथ संयोगात् पञ्चधा रक्षितं व्रतम् ॥

संकल्पसे, दृष्टिसे, न्यायोचित वचनसे, स्पर्शसे और संयोगसे—इन पाँच प्रकारोंसे व्रतकी रक्षा होती है ॥

व्रतवद्धारितं चैव ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ।
नित्यं संरक्षितं तस्य नैष्ठिकानां विधीयते ॥

व्रतपूर्वक धारण किया हुआ निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य सदा सुरक्षित रहे, ऐसा नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके लिये विधान है ॥

तदिष्यते गृहस्थानां कालमुद्दिश्य कारणम् ॥
जन्मनक्षत्रयोगेषु पुण्यवासेषु पर्वसु ।
देवताधर्मकार्येषु ब्रह्मचर्यव्रतं चरेत् ॥

वही ब्रह्मचर्य गृहस्थोंके लिये भी अभीष्ट है, इसमें काल ही कारण है । जन्म-नक्षत्रका योग आनेपर पवित्र स्थानोंमें पर्वोंके दिन तथा देवतासम्बन्धी धर्म-कृत्योंमें गृहस्थोंको ब्रह्मचर्य व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये ॥

ब्रह्मचर्यव्रतफलं लभेद् दारव्रती सदा ।
शौचमायुस्तथाऽऽरोग्यं लभ्यते ब्रह्मचारिभिः॥

जो सदा एकपत्नीव्रती रहता है, वह ब्रह्मचर्य व्रतके पालनका फल पाता है । ब्रह्मचारियोंको पवित्रता, आयु तथा आरोग्यकी प्राप्ति होती है ॥

उमोवाच

तीर्थचर्याव्रतं देव क्रियते धर्मकाङ्क्षिभिः ।
कानि तीर्थानि लोकेषु तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—देव ! बहुत-से धर्माभिलाषी पुरुष तीर्थयात्राका व्रत धारण करते हैं; अतः लोकोंमें कौन-कौनसे तीर्थ हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि तीर्थस्नानविधिं प्रिये ।
पावनार्थं च शौचार्थं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें तीर्थस्नानकी विधि बताता हूँ, सुनो । पूर्वकालमें ब्रह्माजीने दूसरोंको पवित्र करने तथा स्वयं भी पवित्र होनेके लिये इस विधिका निर्माण किया था ॥

यास्तु लोके महानद्यस्ताः सर्वास्तीर्थसंज्ञिकाः ।
तासां प्राक्स्रोतसः श्रेष्ठाः सङ्गमश्च परस्परम् ॥

लोकमें जो बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, उन सबका नाम तीर्थ है । उनमें भी जिनका प्रवाह पूरबकी ओर है, वे श्रेष्ठ हैं और जहाँ दो नदियाँ परस्पर मिलती हैं, वह स्थान भी उत्तम तीर्थ कहा गया है ॥

तासां सागरसंयोगो वरिष्ठश्चेति विद्यते ॥
तासामुभयतः कूलं तत्र तत्र मनीषिभिः ।
देवैर्वा सेवितं देवि तत् तीर्थं परमं स्मृतम् ॥

और उन नदियोंका जहाँ समुद्रके साथ संयोग हुआ है, वह स्थान सबसे श्रेष्ठ तीर्थ बताया गया है । देवि ! उन

नदियोंके दोनों तटोंपर मनीषी पुरुषोंने जिस स्थानका सेवन किया है, वह उत्कृष्ट तीर्थ माना गया है ॥

समुद्रश्च महातीर्थं पावनं परमं शुभम् ।
तस्य कूलगतास्तीर्था महद्भिश्च समाप्लुताः ॥

समुद्र भी परम पावन एवं शुभ महातीर्थ है। उसके तट-पर जो तीर्थ हैं, उनमें महात्मा पुरुषोंने गोता लगाया है ॥

स्रोतसां पर्वतानां च जोषितानां महर्षिभिः ।
अपि कूलं तटाकं वा सेवितं मुनिभिः प्रिये ॥

प्रिये ! महर्षियोंद्वारा सेवित जो जलस्रोत और पर्वत हैं, उनके तटों और तड़ागोंपर भी बहुतसे मुनि निवास करते हैं॥

तत् तु तीर्थमिति ज्ञेयं प्रभावात् तु तपस्विनाम् ॥
तदाप्रभृति तीर्थत्वं लभेल्लोकहिताय वै ।
एवं तीर्थं भवेद् देवि तस्य स्नानविधिं शृणु ॥

उन तपस्वी मुनियोंके प्रभावसे उस स्थानको तीर्थ समझना चाहिये। ऋषियोंके निवासकालसे ही वह स्थान जगत्के हितके लिये तीर्थत्व प्राप्त कर लेता है। देवि ! इस प्रकार स्थानविशेष तीर्थ बन जाता है। अब उसकी स्नानविधि सुनो॥

जन्मना व्रतभूयिष्ठो गत्वा तीर्थानि काङ्क्षया ।
उपवासत्रयं कुर्यादेकं वा नियमान्वितः ॥

जो जन्मकालसे ही बहुत-से व्रत करता आया हो, वह पुरुष तीर्थोंके सेवनकी इच्छासे यदि वहाँ जाय तो नियमसे रहकर तीन या एक उपवास करे ॥

पुण्यमासयुते काले पौर्णमास्यां यथाविधि ।
बहिरेव शुचिर्भूत्वा तत् तीर्थं मन्मना विशेत् ॥

पवित्र माससे युक्त समयमें पूर्णिमाको विधिपूर्वक बाहर ही पवित्र हो मुझमें मन लगाकर उस तीर्थके भीतर प्रवेश करे॥

त्रिराप्लुत्य जलाभ्याशे दत्त्वा ब्राह्मणदक्षिणाम् ।
अभ्यर्च्य देवायतनं ततः प्रायाद् यथागतम् ॥

उसमें तीन बार गोता लगाकर जलके निकट ही ब्राह्मण-को दक्षिणा दे, फिर देवालयमें देवताकी पूजा करके जहाँ इच्छा हो, वहाँ जाय ॥

एतद् विधानं सर्वेषां तीर्थं तीर्थमिति प्रिये ।
समीपतीर्थस्नानात् तु दूरतीर्थं सुपूजितम् ॥

प्रिये ! प्रत्येक तीर्थमें सबके लिये स्नानका यही विधान है। निकटवर्ती तीर्थमें स्नान करनेकी अपेक्षा दूरवर्ती तीर्थमें स्नान आदि करना अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है ॥

आदिप्रभृति शुद्धस्य तीर्थस्नानं शुभं भवेत् ।
तपोऽर्थं पापनाशार्थं शौचार्थं तीर्थगाहनम् ॥

जो पहलेसे ही शुद्ध हो, उसके लिये तीर्थस्नान शुभकारक माना जाता है। तपस्या, पापनाश और बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये तीर्थोंमें स्नान किया जाता है ॥

एवं पुण्येषु तीर्थेषु तीर्थस्नानं शुभं भवेत् ।
एतन्नैयमिकं सर्वं सुकृतं कथितं तव ॥

इस प्रकार पुण्यतीर्थोंमें स्नान करना कल्याणकारी होता है। यह सब नियमपूर्वक सम्पादित होनेवाले पुण्यका तुम्हारे सामने वर्णन किया गया है ॥

उमोवाच

लोकसिद्धं तु यद् द्रव्यं सर्वसाधारणं भवेत् ।
तद् ददत् सर्वसामान्यं कथं धर्मं लभेन्नरः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! जो द्रव्य लोकमें सबको प्राप्त है, जो सर्वसाधारणकी वस्तु है, उस सर्वसामान्य वस्तुका दान करनेवाला मनुष्य कैसे धर्मका भागी होता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

लोके भूतमयं द्रव्यं सर्वसाधारणं तथा ।
तथैव तद् ददन्मर्त्यो लभेत् पुण्यं स तच्छृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! लोकमें जो भौतिक द्रव्य हैं, वे सबके लिये साधारण हैं; उन वस्तुओंका दान करनेवाला मनुष्य किस तरह पुण्यका भागी होता है, यह बताता हूँ, सुनो ॥

दाता प्रतिग्रहीता च देयं सोपक्रमं तथा ।
देशकालौ च यत् त्वेतद् दानं षड्गुणमुच्यते॥

दान देनेवाला, उसे ग्रहण करनेवाला, देय वस्तु, उप-क्रम (उसे देनेका प्रयत्न), देश और काल—इन छः वस्तुओं-के गुणोंसे युक्त दान उत्तम बताया जाता है ॥

तेषां सम्पद्विशेषांश्च कीर्त्यमानान् निबोध मे ।
आदिप्रभृति यः शुद्धो मनोवाक्कायकर्मभिः ।
सत्यवादी जितक्रोधस्त्वलुब्धो नाभ्यसूयकः ॥
श्रद्धावानास्तिकश्चैव एवं दाता प्रशस्यते ॥

अब मैं इन छहोंके विशेष गुणोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। जो आदिकालसे ही मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा शुद्ध हो, सत्यवादी, क्रोधविजयी, लोभहीन, अदोषदर्शी, श्रद्धालु और आस्तिक हो, ऐसा दाता उत्तम बताया गया है॥

शुद्धो दान्तो जितक्रोधस्तथादीनकुलोद्भवः ।
श्रुतचारित्रसम्पन्नस्तथा बहुकलत्रवान् ॥
पञ्चयज्ञपरो नित्यं निर्विकारशरीरवान् ।
एतान् पात्रगुणान् विद्धि तादृक् पात्रं प्रशस्यते ॥

जो शुद्ध, जितेन्द्रिय, क्रोधको जीतनेवाला, उदार एवं उच्च कुलमें उत्पन्न, शास्त्रज्ञान एवं सदाचारसे सम्पन्न, बहुतसे स्त्री-पुत्रोंसे संयुक्त, पञ्चयज्ञपरायण तथा सदा नीरोग शरीरसे युक्त हो, वही दान लेनेका उत्तम पात्र है। उपर्युक्त गुणोंको ही दानपात्रके उत्तम गुण समझो। ऐसे पात्रकी ही प्रशंसा की जाती है ॥

पितृदेवाग्निकार्येषु तस्य दत्तं महत् फलम् ।
यद् यदर्हति यो लोके पात्रं तस्य भवेच्च सः ॥

देवता, पितर और अग्निहोत्रसम्बन्धी कार्योंमें उसको दिये हुए दानका महान् फल होता है। लोकमें जो जिस वस्तुके योग्य हो, वही उस वस्तुको पानेका पात्र होता है ॥

मुच्येदापदमापन्नो येन पात्रं तदस्य तु ।
अन्नस्य क्षुधितं पात्रं तृषितं तु जलस्य वै ॥

एवं पात्रेषु नानात्वमिष्यते पुरुषं प्रति ।

जिस वस्तुके पानेसे आपत्तिमें पड़ा हुआ मनुष्य आपत्तिसे छूट जाय, उस वस्तुका वही पात्र है । भूखा मनुष्य अन्नका और प्यासा जलका पात्र है । इस प्रकार प्रत्येक पुरुषके लिये दानके भिन्न-भिन्न पात्र होते हैं ॥

जारश्चोरश्च षण्ढश्च हिंस्रः समयभेदकः ।
लोकविघ्नकराश्चान्ये वर्जिताः सर्वशः प्रिये ॥

प्रिये ! चोर, व्यभिचारी, नपुंसक, हिंसक, मर्यादा-भेदक और लोगोंके कार्यमें विघ्न डालनेवाले अन्यान्य पुरुष सब प्रकारसे दानमें वर्जित हैं अर्थात् उन्हें दान नहीं देना चाहिये ॥

परोपघाताद् यद् द्रव्यं चौर्याद् वा लभ्यते नृभिः ।
निर्दयाल्लभ्यते यच्च धूर्तभावेन वै तथा ॥
अधर्मादर्थमोहाद् वा बहूनामुपरोधनात् ।
लभ्यते यद् धनं देवि तदत्यन्तविगर्हितम् ॥

देवि ! दूसरोंका वध या चोरी करनेसे मनुष्योंको जो धन मिलता है, निर्दयता तथा धूर्तता करनेसे जो प्राप्त होता है, अधर्मसे, धनविषयक मोहसे तथा बहुत-से प्राणियोंकी जीविकाका अवरोध करनेसे जो धन प्राप्त होता है, वह अत्यन्त निन्दित है ॥

तादृशेन कृतं धर्मं निष्फलं विद्धि भामिनि ।
तस्मान्न्यायागतेनैव दातव्यं शुभमिच्छता ॥

भामिनि ! ऐसे धनसे किये हुए धर्मको निष्फल समझो । अतः शुभकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको न्यायतः प्राप्त हुए धनके द्वारा ही दान करना चाहिये ॥

यद् यदात्मप्रियं नित्यं तत् तद् देयमिति स्थितिः ।
उपक्रममिमं विद्धि दातॄणां परमं हितम् ॥

जो-जो अपनेको प्रिय लगे, उसी-उसी वस्तुका सदा दान करना चाहिये; यही मर्यादा है । इस प्रयत्न या चेष्टाको ही उपक्रम समझो । यह दाताओंके लिये परम हितकारक है ॥

पात्रभूतं तु दूरस्थमभिगम्य प्रसाद्य च ।
दाता दानं तथा दद्याद् यथा तुष्येत तेन सः ॥

दानका सुयोग्य पात्र ब्राह्मण यदि दूरका निवासी हो तो उसके पास जाकर उसे प्रसन्न करके दाता इस प्रकार दान दे, जिससे वह संतुष्ट हो जाय ॥

एष दानविधिः श्रेष्ठः समाहूय तु मध्यमः ॥
पूर्वं च पात्रतां ज्ञात्वा समाहूय निवेद्य च ।
शौचाचमनसंयुक्तं दातव्यं श्रद्धया प्रिये ॥

यह दानकी श्रेष्ठ विधि है । दानपात्रको जो अपने घर बुलाकर दान दिया जाता है, वह मध्यम श्रेणीका दान है । प्रिये ! पहले पात्रताका ज्ञान प्राप्त करके फिर उस सुपात्र ब्राह्मणको घर बुलावे । उसके सामने अपना दानविषयक विचार प्रस्तुत करे । पश्चात् स्वयं ही स्नान आदिसे पवित्र हो आचमन करके श्रद्धापूर्वक अभीष्ट वस्तुका दान करे ॥

याचितॄणां तु परममाभिमुख्यं पुरस्कृतम् ।
सम्मानपूर्वं संग्राह्यं दातव्यं देशकालयोः ॥
अपात्रेभ्योऽपि चान्येभ्यो दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

याचकोंको सामने पाकर उन्हें सम्मानपूर्वक अपनाना और देश-कालके अनुसार दान देना चाहिये । ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे दूसरे अपात्र पुरुषोंको भी आवश्यकता होनेपर अन्न-वस्त्र आदिका दान करें ॥

पात्राणि सम्परीक्ष्यैव दात्रा वै दानमात्रया ।
अतिशक्त्या परं दानं यथाशक्त्या तु मध्यमम् ॥
तृतीयं चापरं दानं नानुरूपमिवात्मनः ॥

पात्रोंकी परीक्षा करके दाता यदि दानकी मात्रा अपनी शक्तिसे भी अधिक करे तो वह उत्तम दान है । यथाशक्ति किया हुआ दान मध्यम है और तीसरा अधम श्रेणीका दान है, जो अपनी शक्तिके अनुरूप न हो ॥

यथा सम्भावितं पूर्वं दातव्यं तत् तथैव च ।
पुण्यक्षेत्रेषु यद् दत्तं पुण्यकालेषु वा तथा ॥
तच्छोभनतरं विद्धि गौरवाद् देशकालयोः ।

पहले जैसा बताया गया है, उसी प्रकार दान देना चाहिये । पुण्य क्षेत्रोंमें तथा पुण्यके अवसरोंपर जो कुछ दिया जाता है, उसे देश और कालके गौरवसे अत्यन्त शुभ-कारक समझो ॥

उमोवाच

यश्च पुण्यतमो देशस्तथा कालश्च शंस मे ॥

उमाने पूछा—प्रभो ! पवित्रतम देश और काल क्या है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

कुरुक्षेत्रं महानद्यो यच्च देवर्षिसेवितम् ।
गिरिर्वरश्च तीर्थानि देशभागेषु पूजितः ॥
ग्रहीतुमीप्सते यत्र तत्र दत्तं महाफलम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! कुरुक्षेत्र, गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ, देवताओं तथा ऋषियोंद्वारा सेवित स्थान एवं श्रेष्ठ पर्वत—ये सब-के-सब तीर्थ हैं । जहाँ देशके सभी भागोंमें पूजित श्रेष्ठ पुरुष दान ग्रहण करना चाहता हो, वहाँ दिये हुए दानका महान् फल होता है ॥

शरद्वसन्तकालश्च पुण्यमासस्तथैव च ।
शुक्लपक्षश्च पक्षाणां पौर्णमासी च पर्वसु ॥
पितृदैवतनक्षत्रनिर्मलो दिवसस्तथा ।
तच्छोभनतरं विद्धि चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ॥

शरद् और वसन्तका समय, पवित्र मास, पक्षोंमें शुक्ल पक्ष, पर्वोंमें पौर्णमासी, मघानक्षत्रयुक्त निर्मल दिवस, चन्द्र ग्रहण और सूर्यग्रहण—इन सबको अत्यन्त शुभकारक काल समझो ॥

दाता देयं च पात्रं च उपक्रमयुता क्रिया ।
देशकालं तथेत्येषां सम्पच्छुद्धिः प्रकीर्तिता ॥

दाता हो, देनेकी वस्तु हो, दान लेनेवाला पात्र हो, उपक्रमयुक्त क्रिया हो और उत्तम देश-काल हो—इन सबका सम्पन्न होना शुद्धि कही गयी है ॥

यदैव युगपत् सम्पत् तत्र दानं महद् भवेत् ॥
अत्यल्पमपि यद् दानमेभिः षड्भिर्गुणैर्युतम् ।
भूत्वानन्तं नयेत् स्वर्गं दातारं दोषवर्जितम् ॥

जब कभी एक समय इन सबका संयोग जुट जाय तभी दान देना महान् फलदायक होता है। इन छः गुणोंसे युक्त जो दान है, वह अत्यन्त अल्प होनेपर भी अनन्त होकर निर्दोष दाताको स्वर्गलोकमें पहुँचा देता है ॥

उमोवाच

एवंगुणयुतं दानं दत्तं चाफलतां व्रजेत् ।

उमाने पूछा—प्रभो! इन गुणोंसे युक्त दान दिया गया हो तो क्या वह भी निष्फल हो सकता है?

श्रीमहेश्वर उवाच

तदप्यस्ति महाभागे नराणां भावदोषतः ॥
कृत्वा धर्मं तु विधिवत् पश्चात्तापं करोति चेत् ।
श्लाघया वा यदि ब्रूयाद् वृथा संसदि यत् कृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे! मनुष्योंके भाव-दोषसे ऐसा भी होता है। यदि कोई विधिपूर्वक धर्मका सम्पादन करके फिर उसके लिये पश्चात्ताप करने लगता है अथवा भरी सभामें उसकी प्रशंसा करते हुए बड़ी-बड़ी बातें बनाने लगता है, उसका वह धर्म व्यर्थ हो जाता है ॥

एते दोषा विवर्ज्याश्च दातृभिः पुण्यकाङ्क्षिभिः ॥
सनातनमिदं वृत्तं सद्भिराचरितं तथा ।

पुण्यकी अभिलाषा रखनेवाले दाताओंको चाहिये कि वे इन दोषोंको त्याग दें। यह दानसम्बन्धी आचार सनातन है। सत्पुरुषोंने सदा इसका आचरण किया है ॥

अनुग्रहात् परेषां तु गृहस्थानामृणं हि तत् ॥
इत्येवं मन आविश्य दातव्यं सततं बुधैः ॥

दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये दान किया जाता है। गृहस्थोंपर तो दूसरे प्राणियोंका ऋण होता है, जो दान करनेसे उतरता है, ऐसा मनमें समझकर विद्वान् पुरुष सदा दान करता रहे ॥

एवमेव कृतं नित्यं सुकृतं तद् भवेन्महत् ।
सर्वसाधारणं द्रव्यमेवं दत्त्वा महत् फलम् ॥

इस तरह दिया हुआ सुकृत सदा महान् होता है। सर्व-साधारण द्रव्यका भी इसी तरह दान करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

उमोवाच

भगवन् कानि देयानि धर्ममुद्दिश्य मानवैः ।
तान्यहं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! मनुष्योंको धर्मके उद्देश्यसे किन-किन वस्तुओंका दान करना चाहिये? यह मैं सुनना चाहती हूँ। आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अजस्रं धर्मकार्यं च तथा नैमित्तिकं प्रिये ।
अन्नं प्रतिश्रयो दीपः पानीयं तृणमिन्धनम् ॥
स्नेहो गन्धश्च भैषज्यं तिलाश्च लवणं तथा ।
एवमादि तथान्यच्च दानमाजस्रमुच्यते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! निरन्तर धर्मकार्य तथा नैमित्तिक कर्म करने चाहिये। अन्न, निवासस्थान, दीप, जल, तृण, ईंधन, तेल, गन्ध, ओषधि, तिल और नमक—ये तथा और भी बहुत-सी वस्तुएँ निरन्तर दान करनेकी वस्तुएँ बतायी गयी हैं ॥

अन्नं प्राणो मनुष्याणामन्नदः प्राणदो भवेत् ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छति मानवः ॥

अन्न मनुष्योंका प्राण है। जो अन्न दान करता है, वह प्राणदान करनेवाला होता है। अतः मनुष्य विशेषरूपसे अन्नका दान करना चाहता है ॥

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमीप्सितम् ।
निदधाति निधिश्रेष्ठं सोऽनन्तं पारलौकिकम् ॥

अनुरूप ब्राह्मणको जो अभीष्ट अन्न प्रदान करता है, वह परलोकमें अपने लिये अनन्त एवं उत्तम निधिकी स्थापना करता है ॥

श्रान्तमध्वपरिश्रान्तमतिथिं गृहमागतम् ।
अर्चयीत प्रयत्नेन स हि यज्ञो वरप्रदः ॥

रास्तेका थका-माँदा अतिथि यदि घरपर आ जाय तो यत्नपूर्वक उसका आदर-सत्कार करे; क्योंकि वह अतिथि-सत्कार मनोवाञ्छित फल देनेवाला यज्ञ है ॥

पितरस्तस्य नन्दन्ति सुवृष्ट्या कर्षका इव ।
पुत्रो यस्य तु पौत्रो वा श्रोत्रियं भोजयिष्यति ॥

जिसका पुत्र अथवा पौत्र किसी श्रोत्रिय ब्राह्मणको भोजन कराता है, उसके पितर उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जैसे अच्छी वर्षा होनेसे किसान ॥

अपि चाण्डालशूद्राणामन्नदानं न गर्ह्यते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दद्यादन्नममत्सरः ॥

चाण्डाल और शूद्रोंको भी दिया हुआ अन्नदान निन्दित नहीं होता। अतः ईर्ष्या छोड़कर सब प्रकारके प्रयत्नद्वारा अन्नदान करना चाहिये ॥

अन्नदानाच्च लोकांस्तान् सम्प्रवक्ष्याम्यनिन्दिते ।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ॥

अनिन्दिते! अन्नदानसे जो लोक प्राप्त होते हैं उनका वर्णन करता हूँ। उन महामना दानी पुरुषोंको मिले हुए भवन देवलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥

अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ।
वैडूर्यार्चिःप्रकाशानि हेमरूप्यनिभानि च ॥
नानारूपाणि संस्थानां नानारत्नमयानि च ।
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किंकिणीजालवन्ति च ॥
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ।
यथेष्टभक्ष्यभोज्यानि शयनासनवन्ति च ॥
सर्वकामफलाश्चात्र वृक्षा भवनसंस्थिताः ।
वाप्यो बह्व्यश्च कूपाश्च दीर्घिकाश्च सहस्रशः ॥

उन भव्य भवनोंमें सैकड़ों तल्ले हैं। उनके भीतर जल और वन हैं। वे वैदूर्यमणिके तेजसे प्रकाशित होते हैं। उनमें सोने और चाँदी-जैसी चमक है। उन गृहोंके अनेक रूप हैं। नाना प्रकारके रत्नोंसे उनका निर्माण हुआ है। वे चन्द्र-मण्डलके समान उज्ज्वल और क्षुद्र घण्टिकाओंकी झालरोंसे सुशोभित हैं। किन्हीं-किन्हींकी कान्ति प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होती है। उन महात्माओंके वे भवन स्थावर भी हैं और जङ्गम भी। उनमें इच्छानुसार भक्ष्य-भोज्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। उत्तम शय्या और आसन बिछे रहते हैं। वहाँ सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले कल्पवृक्ष प्रत्येक घरमें विराजमान हैं। वहाँ बहुत-सी बावड़ियाँ, कुएँ और सहस्रों जलाशय हैं॥

अरुजानि विशोकानि नित्यानि विविधानि च।
भवनानि विचित्राणि प्राणदानां त्रिविष्टपे॥

प्राणस्वरूप अन्न-दान करनेवाले लोगोंको स्वर्गमें जो भाँति-भाँतिके विचित्र भवन प्राप्त होते हैं, वे रोग-शोकसे रहित और नित्य (चिरस्थायी) हैं॥

विवस्वतश्च सोमस्य ब्रह्मणश्च प्रजापतेः।
विशन्ति लोकांस्ते नित्यं जगत्यन्नोदकप्रदाः॥

जगत्‌में सदा अन्न और जलका दान करनेवाले मनुष्य सूर्य, चन्द्रमा तथा प्रजापति ब्रह्माजीके लोकोंमें जाते हैं॥

तत्र ते सुचिरं कालं विहृत्याप्सरसां गणैः।
जायन्ते मानुषे लोके सर्वकल्याणसंयुताः॥

वे वहाँ चिरकालतक अप्सराओंके साथ विहार करके पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लेते और समस्त कल्याणकारी गुणोंसे संयुक्त होते हैं॥

बलसंहननोपेता नीरोगाश्चिरजीविनः।
कुलीना मतिमन्तश्च भवन्त्यन्नप्रदा नराः॥

वे सबल शरीरसे सम्पन्न, नीरोग, चिरजीवी, कुलीन, बुद्धिमान् तथा अन्नदाता होते हैं॥

तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता।
सर्वकालं च सर्वस्य सर्वत्र च सदैव च॥

अतः अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा, सर्वत्र, सबके लिये, सब समय विशेषरूपसे अन्नदान करना चाहिये॥

सुवर्णदानं परमं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
तस्मात् ते वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
अपि पापकृतं क्रूरं दत्तं रुक्मं प्रकाशयेत्॥

सुवर्णदान परम उत्तम, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और महान् कल्याणकारी है। इसलिये तुमसे क्रमशः उसीका यथावत्‌रूपसे वर्णन करूँगा। दिया हुआ सुवर्णका दान क्रूर और पापाचारीको भी प्रकाशित कर देता है॥

सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियेभ्यः सुचेतसः।
देवतास्ते तर्पयन्ति समस्ता इति वैदिकम्॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान करते हैं, वे समस्त देवताओंको तृप्त कर देते हैं। यह वेदका मत है॥

अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं चाग्निरुच्यते।
तस्मात् सुवर्णदानेन तृप्ताः स्युः सर्वदेवताः॥

अग्नि सम्पूर्ण देवताओंके स्वरूप हैं और सुवर्णको भी अग्निरूप ही बताया जाता है। इसलिये सुवर्णके दानसे समस्त देवता तृप्त होते हैं॥

अग्न्यभावे तु कुर्वन्ति वह्निस्थानेषु काञ्चनम्।
तस्मात् सुवर्णदातारः सर्वान् कामानवाप्नुयुः॥

अग्निके अभावमें उसकी जगह सुवर्णको स्थापित करते हैं। अतः सुवर्णका दान करनेवाले पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेते हैं॥

आदित्यस्य हुताशस्य लोकान् नानाविधाञ्शुभान्।
काञ्चनं सम्प्रदायाशु प्रविशन्ति न संशयः॥

सुवर्णका दान करके मनुष्य शीघ्र ही सूर्य एवं अग्निके नाना प्रकारके मङ्गलकारी लोकोंमें प्रवेश करते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

अलंकारं कृतं चापि केवलात् प्रविशिष्यते।
सौवर्णैर्ब्राह्मणं काले तैरलंकृत्य भोजयेत्॥
य एतत् परमं दानं दत्त्वा सौवर्णमद्भुतम्।
द्युतिं मेधां वपुः कीर्तिं पुनर्जाते लभेद् ध्रुवम्॥

केवल सुवर्णकी अपेक्षा उसका आभूषण बनवाकर दान देना श्रेष्ठ माना गया है। अतः दानकालमें ब्राह्मणको सोनेके आभूषणोंसे विभूषित करके भोजन करावे। जो यह अद्भुत एवं उत्कृष्ट सुवर्ण-दान करता है, वह पुनर्जन्म लेनेपर निश्चय ही सुन्दर शरीर, कान्ति, बुद्धि और कीर्ति पाता है॥

तस्मात् स्वशक्त्या दातव्यं काञ्चनं भुवि मानवैः।
न ह्येतस्मात् परं लोकेष्वन्यत् पापात् प्रमुच्यते॥

अतः मनुष्योंको अपनी शक्तिके अनुसार पृथ्वीपर सुवर्ण-दान अवश्य करना चाहिये। संसारमें इससे बढ़कर कोई दान नहीं है। सुवर्णदान करके मनुष्य पापसे मुक्त हो जाता है॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गवां दानमनिन्दिते।
न हि गोभ्यः परं दानं विद्यते जगति प्रिये॥

अनिन्दिते! इसके बाद मैं गोदानका वर्णन करूँगा। प्रिये! इस संसारमें गौओंके दानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥

लोकान् सिसृक्षुणा पूर्वं गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा।
वृत्त्यर्थं सर्वभूतानां तस्मात् ता मातरः स्मृताः॥

पूर्वकालमें लोकसृष्टिकी इच्छावाले स्वयम्भू ब्रह्माजीने समस्त प्राणियोंकी जीवन-वृत्तिके लिये गौओंकी सृष्टि की थी। इसलिये वे सबकी माताएँ मानी गयी हैं॥

लोकज्येष्ठा लोकवृत्त्यां प्रवृत्ता
मय्यायत्ताः सोमनिष्यन्दभूताः।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च
तस्मात् पूज्याः पुण्यकामैर्मनुष्यैः॥

गौएँ सम्पूर्ण जगत्‌में ज्येष्ठ हैं। वे लोगोंको जीविका देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई हैं। मेरे अधीन हैं और चन्द्रमाके अमृतमय द्रवसे प्रकट हुई हैं। वे सौम्य, पुण्यमयी, कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली तथा प्राणदायिनी हैं। इसलिये पुण्याभिलाषी मनुष्योंके लिये पूजनीय हैं॥

धेनुं दत्त्वा निभृतां सुशीलां
कल्याणवत्सां च पयस्विनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावत्समाः स्वर्गफलानि भुङ्क्ते॥

जो हृष्ट-पुष्ट, अच्छे स्वभाववाली, उत्तम बछड़ेसे युक्त एवं दूध देनेवाली गायका दान करता है, वह उस गायके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक स्वर्गीय फल भोगता है॥

प्रयच्छते यः कपिलां सचैलां
सकांस्यदोहां कनकाग्र्यशृङ्गीम्।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र॥

जो काँसके दुग्धपात्र और सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली कपिला गौका वस्त्रसहित दान करता है, वह अपने पुत्रों, पौत्रों तथा सातवीं पीढ़ीतकके समस्त कुलका परलोकमें उद्धार कर देता है॥

अन्तर्जाताः क्रीतका द्यूतलब्धाः
प्राणक्रीताः सोदकाश्चौजसा वा।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणार्थागताश्च
द्वारैरेतैस्ताः प्रलब्धाः प्रदद्यात्॥

जो अपने ही यहाँ पैदा हुई हों, खरीदकर लायी गयी हों, जुएमें जीत ली गयी हों, बदलेमें दूसरा कोई प्राणी देकर खरीदी गयी हों, जल हाथमें लेकर संकल्पपूर्वक दी गयी हों, अथवा युद्धमें बलपूर्वक जीती गयी हों, संकटसे छुड़ाकर लायी गयी हों, या पालन-पोषणके लिये आयी हों—इन द्वारोंसे प्राप्त हुई गौओंका दान करना चाहिये॥

कृशाय बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
प्रदाय नीरुजां धेनुं लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान्॥

जीविकाके बिना दुर्बल, अनेक पुत्रवाले, अग्निहोत्री, श्रोत्रिय ब्राह्मणको दूध देनेवाली नीरोग गायका दान करके दाता सर्वोत्तम लोकोंको प्राप्त होता है॥

नृशंसस्य कृतघ्नस्य लुब्धस्यानृतवादिनः।
हव्यकव्यव्यपेतस्य न दद्याद् गाः कथंचन॥

जो क्रूर, कृतघ्न, लोभी, असत्यवादी और हव्य-कव्यसे दूर रहनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको किसी तरह गौएँ नहीं देनी चाहिये॥

समानवत्सां यो दद्याद् धेनुं विप्रे पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नां सोमलोके महीयते॥

जो मनुष्य समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी एवं दूध देनेवाली गायको वस्त्र ओढ़ाकर ब्राह्मणको दान करता है, वह सोमलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

समानवत्सां यो दद्यात् कृष्णां धेनुं पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नां लोकान् प्राप्नोत्यपाम्पतेः॥

जो समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी एवं दूध देनेवाली काली गौको वस्त्र ओढ़ाकर उसका ब्राह्मणको दान करता है, वह जलके स्वामी वरुणके लोकोंमें जाता है॥

हिरण्यवर्णां पिङ्गाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंछन्नां यान्ति कौबेरसद्मनः॥

जिसके शरीरका रंग सुनहरा, आँखें भूरी, साथमें बछड़ा और काँसकी दुहानी हो, उस गौको वस्त्र ओढ़ाकर दान करनेसे मनुष्य कुबेरके धाममें जाते हैं॥

वायुरेणुसवर्णां च सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंछन्नां वायुलोके महीयते॥

वायुसे उड़ी हुई धूलिके समान रंगवाली, बछड़ेसहित, दूध देनेवाली गायको कपड़ा ओढ़ाकर काँसेके दुहानीके साथ दान देकर दाता वायुलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

समानवत्सां यो धेनुं दत्त्वा गौरीं पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नामग्निलोके महीयते॥

जो समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी, धौरी एवं दूध देनेवाली धेनुको वस्त्रसे आच्छादित करके उसका दान करता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

युवानं बलिनं श्यामं शतेन सह यूथपम्।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिशृङ्गमलंकृतम्॥
ऋषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाणां महात्मनाम्।
ऐश्वर्यमभिजायन्ते जायमानाः पुनः पुनः॥

जो लोग महामनस्वी श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको नौजवान, बड़े सींगवाले, बलवान्, श्यामवर्ण, एक सौ गौओंसहित यूथपति गवेन्द्र (साँड़) को पूर्णतः अलंकृत करके उसे श्रेष्ठ ब्राह्मणके हाथमें दे देते हैं, वे बारंबार जन्म लेनेपर ऐश्वर्यके साथ ही जन्म लेते हैं॥

गवां मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासां मांसमश्नीयाद् गोषु भक्तः सदा भवेत्॥

गौओंके मल-मूत्रसे कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये और उनका मांस कभी नहीं खाना चाहिये। सदा गौओंका भक्त होना चाहिये॥

ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं शुचिः।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत् सार्वकामिकम्॥

जो पवित्र भावसे रहकर एक वर्षतक दूसरेकी गायको एक मुट्ठी ग्रास खिलाता है और स्वयं आहार नहीं करता, उसका वह व्रत सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला होता है॥

गवामुभयतः काले नित्यं स्वस्त्ययनं वदेत्।
न चासां चिन्तयेत् पापमिति धर्मविदो विदुः॥

गौओंके पास प्रतिदिन दोनों समय उनके कल्याणकी बात कहनी चाहिये। कभी उनका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करना चाहिये। ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है॥

गावः पवित्रं परमं गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
कथंचिन्नावमन्तव्या गावो लोकस्य मातरः ॥

गौएँ परम पवित्र वस्तु हैं, गौओंमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। अतः किसी तरह गौओंका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सम्पूर्ण जगत्की माताएँ हैं॥

तस्मादेव गवां दानं विशिष्टमिति कथ्यते।
गोषु पूजा च भक्तिश्च नरस्यायुष्यतां वहेत् ॥

इसीलिये गौओंका दान सबसे उत्कृष्ट बताया जाता है। गौओंकी पूजा तथा उनके प्रति की हुई भक्ति मनुष्यकी आयु बढ़ानेवाली होती है॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानं महाफलम्।
भूमिदानसमं दानं लोके नास्तीति निश्चयः ॥

इसके बाद मैं भूमिदानका महत्त्व बतलाऊँगा। भूमिदानका महान् फल है। संसारमें भूमिदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है। यही धर्मात्मा पुरुषोंका निश्चय है॥

गृहयुक् क्षेत्रयुग् वापि भूमिभागः प्रदीयते।
सुखभोगं निराक्रोशं वास्तुपूर्वं प्रकल्प्य च ॥
ग्रहीतारमलंकृत्य वस्त्रपुष्पानुलेपनैः।
सभृत्यं सपरीवारं भोजयित्वा यथेष्टतः ॥
यो दद्याद् दक्षिणां काले त्रिरद्भिर्गृह्यतामिति ॥

गृह अथवा क्षेत्रसे युक्त भू-भागका दान करना चाहिये। जहाँ सुख भोगनेकी सुविधा हो, जो अनिन्दनीय स्थान हो, वहाँ वास्तुपूजनपूर्वक गृह बनाकर दान लेनेवालेको वस्त्र, पुष्पमाला तथा चन्दनसे अलंकृत करके सेवक और परिवारसहित उसे यथेष्ट भोजन करावे। तत्पश्चात् यथासमय तीन बार हाथमें जल लेकर 'दान ग्रहण कीजिये' ऐसा कहकर उसे उस भूमिका दान एवं दक्षिणा दे॥

एवं भूम्यां प्रदत्तायां श्रद्धया वीतमत्सरैः।
यावत् तिष्ठति सा भूमिस्तावत् तस्य फलं विदुः।

इस प्रकार ईर्ष्यारहित पुरुषोंद्वारा श्रद्धापूर्वक भूदान दिये जानेपर जबतक वह भूमि रहती है, तबतक दाता उसके दानजनित फलका उपभोग करते हैं॥

भूमिदः स्वर्गमारुह्य रमते शाश्वतीः समाः।
अचला ह्यक्षया भूमिः सर्वकामान् दुधुक्षति ॥

भूमिदान देनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें जाकर सदा ही सुख भोगता है; क्योंकि यह अचल एवं अक्षय भूमि सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करती है॥

यत् किंचित् कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः।
अपि गोकर्णमात्रेण भूमिदानेन मुच्यते ॥

जीविकाके लिये कष्ट पानेवाला पुरुष जो कोई भी पाप करता है, गायके कान बराबर भूमिका दान करनेसे भी मुक्त हो जाता है॥

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च।
सर्वमेतन्महाभागे भूमिदाने प्रतिष्ठितम् ॥

महाभागे! भूमिदानमें सुवर्ण, रजत, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान प्रतिष्ठित है॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः।
ब्रह्मलोकाय संसिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥

स्वामीके कल्याण-साधनमें तत्पर हो युद्धमें मारे जाकर अपने शरीरका परित्याग करनेवाले शूरवीर योद्धा उत्तम सिद्धि पाकर ब्रह्मलोककी यात्रा करते हैं; परंतु वे भी भूमिदान करनेवालेको लाँघ नहीं पाते हैं॥

हलकृष्टां महीं दद्यात् सबीजफलान्विताम्।
सुकूपशरणां वापि सा भवेत् सर्वकामदा ॥

जहाँ सुन्दर कूआँ और रहनेके लिये घर बना हो, जो हलसे जोती गयी हो और जिसमें बीजसहित फल लगे हों, ऐसी भूमिका दान करना चाहिये। वह सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली होती है॥

निष्पन्नसस्यां पृथिवीं यो ददाति द्विजन्मनाम्।
विमुक्तः कलुषैः सर्वैः शक्रलोकं स गच्छति ॥

जो उपजी हुई खेतीसे युक्त भूमिका ब्राह्मणोंके लिये दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो इन्द्रलोकमें जाता है॥

यथा जनित्री क्षीरेण स्वपुत्रमभिवर्धयेत्।
एवं सर्वफलैर्भूमिर्दातारमभिवर्धयेत् ॥

जैसे माता दूध पिलाकर अपने पुत्रका पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार भूमि सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देकर दाताको अभ्युदयशील बनाती है॥

ब्राह्मणं वृत्तसम्पन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम्।
ग्राहयित्वा निजां भूमिं न यान्ति यमसादनम् ॥

जो लोग उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, अग्निहोत्री एवं सदाचारी ब्राह्मणको अपनी भूमि देते हैं, वे यमलोकमें कभी नहीं जाते हैं॥

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि दृश्यते।
तथा भूमेः कृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥

जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमाकी प्रतिदिन वृद्धि होती देखी जाती है, उसी प्रकार किये हुए भूमिदानका महत्त्व प्रत्येक नयी फसल पैदा होनेपर बढ़ता जाता है॥

यथा बीजानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानगुणार्जिताः ॥

जैसे पृथ्वीपर बिखेरे हुए बीज अंकुरित हो जाते हैं, उसी प्रकार भूमिदानके गुणोंसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग अंकुरित होते और बढ़ते हैं॥

पितरः पितृलोकस्था देवताश्च दिवि स्थिताः।
संतर्पयन्ति भोगैस्तं यो ददाति वसुंधराम् ॥

जो भूमिका दान करता है, उसे पितृलोकनिवासी पितर और स्वर्गवासी देवता अभीष्ट भोगोंद्वारा तृप्त करते हैं॥

दीर्घायुष्यं वराङ्गत्वं स्फीतां च श्रियमुत्तमाम्।
परत्र लभते मर्त्यः सम्प्रदाय वसुंधराम् ॥

भूमिदान करके मनुष्य परलोकमें दीर्घायु, सुन्दर शरीर और बढ़ी-चढ़ी उत्तम सम्पत्ति पाता है॥

एतत् सर्वं मयोद्दिष्टं भूमिदानस्य यत् फलम्।
श्रद्दधानैर्नरैर्नित्यं श्राव्यमेतत् सनातनम्॥

यह सब मैंने भूमिदानका फल बताया है। श्रद्धालु पुरुषोंको प्रतिदिन यह सनातन दानमाहात्म्य सुनना चाहिये॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कन्यादानं यथाविधि।
कन्या देया महादेवि परेषामात्मनोऽपि वा॥

अब मैं विधिपूर्वक कन्यादानका माहात्म्य बताऊँगा। महादेवि! दूसरोंकी और अपनी भी कन्याका दान करना चाहिये॥

कन्यां शुद्धव्रताचारां कुलरूपसमन्विताम्।
यस्मै दित्सति पात्राय तेनापि भृशकामिताम्॥

जो शुद्ध व्रत एवं आचारवाली, कुलीन एवं सुन्दर रूपवाली कन्याका किसी सुपात्र पुरुषको दान करना चाहता है, उसे इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि वह सुपात्र व्यक्ति उस कन्याको बहुत चाहता है या नहीं (वह पुरुष उसे चाहता हो तभी उसके साथ उस कन्याका विवाह करना चाहिये)॥

प्रथमं तां समाकल्प्य बन्धुभिः कृतनिश्चयाम्।
कारयित्वा गृहं पूर्वं दासीदासपरिच्छदैः॥
गृहोपकरणैश्चैव पशुधान्येन संयुताम्।
तदर्थिने तदर्हाय कन्यां तां समलङ्कृताम्॥
सविवाहं यथान्यायं प्रयच्छेदग्निसाक्षिकम्॥

पहले बन्धुओंके साथ सलाह करके कन्याके विवाहका निश्चय करे, तत्पश्चात् उसे वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित करे। फिर उसके लिये मण्डप बनाकर दास-दासी, अन्यान्य सामग्री, घरके आवश्यक उपकरण, पशु और धान्यसे सम्पन्न एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुई उस कन्याका उसे चाहनेवाले योग्य वरको अग्निदेवकी साक्षितामें यथोचित रीतिसे विवाह-पूर्वक दान करे॥

वृत्त्यायतीं यथा कृत्वा सद्गृहे तौ निवेशयेत्॥
एवं कृत्वा वधूदानं तस्य दानस्य गौरवात्।
प्रेत्यभावे महीयेत स्वर्गलोके यथासुखम्॥
पुनर्जातश्च सौभाग्यं कुलवृद्धिं तथाऽऽप्नुयात्॥

भविष्यमें जीवन-निर्वाहके लिये पूर्ण व्यवस्था करके उन दोनों दम्पतिको उत्तम गृहमें ठहरावे। इस प्रकार वधूवेषमें कन्या-का दान करके उस दानकी महिमासे दाता मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें सुख और सम्मानके साथ रहता है। फिर जन्म लेनेपर उसे सौभाग्य प्राप्त होता है तथा वह अपने कुलको बढ़ाता है॥

विद्यादानं तथा देवि पात्रभूताय वै ददत्।
प्रेत्यभावे लभेन्मर्त्यो मेधां वृद्धिं धृतिं स्मृतिम्॥

देवि! सुपात्र शिष्यको विद्यादान देनेवाला मनुष्य मृत्युके पश्चात् वृद्धि, बुद्धि, धृति और स्मृति प्राप्त करता है॥

अनुरूपाय शिष्याय यश्च विद्यां प्रयच्छति।
यथोक्तस्य प्रदानस्य फलमानन्त्यमश्नुते॥

जो सुयोग्य शिष्यको विद्या दान करता है, उसे शास्त्रोक्त दानका अक्षय फल प्राप्त होता है॥

दापनं त्वथ विद्यानां दरिद्रेभ्योऽर्थवेदनैः।
स्वयं दत्तेन तुल्यं स्यादिति विद्धि शुभानने॥

शुभानने! निर्धन छात्रोंको धनकी सहायता देकर विद्या प्राप्त कराना भी स्वयं किये हुए विद्यादानके समान है, ऐसा समझो॥

एवं ते कथितान्येव महादानानि मानिनि।
त्वत्प्रियार्थं मया देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

मानिनि! देवि! इस प्रकार मैंने तुम्हारी प्रसन्नताके लिये ये बड़े-बड़े दान बताये हैं। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश कथं देयं तिलान्वितम्।
तस्य तस्य फलं ब्रूहि दत्तस्य च कृतस्य च॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! तिलका दान कैसे करना चाहिये? और करनेका क्या फल होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तिलकल्पविधिं देवि तन्मे शृणु समाहिता॥
समृद्धैरसमृद्धैर्वा तिला देया विशेषतः।
तिलाः पवित्राः पापघ्नाः सुपुण्या इति संस्मृताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे तिलकल्पकी विधि सुनो। मनुष्य धनी हों या निर्धन, उन्हें विशेषरूपसे तिलोंका दान करना चाहिये; क्योंकि तिल पवित्र, पापनाशक और पुण्यमय माने गये हैं॥

न्यायतस्तु तिलाञ्शुद्धान् संहृत्याथ स्वशक्तितः।
तिलराशिं पुनः कुर्यात् पर्वताभं सरत्नकम्॥
महान्तं यदि वा स्तोकं नानाद्रव्यसमन्वितम्॥
सुवर्णरजताभ्यां च मणिमुक्ताप्रवालकैः।
अलंकृत्य यथायोगं सपताकं सवेदिकम्॥
सभूषणं सवस्त्रं च शयनासनसम्मितम्॥
प्रायशः कौमुदीमासे पौर्णमास्यां विशेषतः।
भोजयित्वा च विधिवद् ब्राह्मणानर्हतो बहून्॥
स्वयं कृतोपवासश्च वृत्तशौचसमन्वितः।
दद्यात् प्रदक्षिणीकृत्य तिलराशिं सदक्षिणम्॥

अपनी शक्तिके अनुसार न्यायपूर्वक शुद्ध तिलोंका संग्रह करके उनकी पर्वताकार राशि बनावे। वह राशि छोटी हो या बड़ी उसे नाना प्रकारके द्रव्यों तथा रत्नोंसे युक्त करे। फिर यथाशक्ति सोना, चाँदी, मणि, मोती और मूँगोंसे अलंकृत करके पताका, वेदी, भूषण, वस्त्र, शय्या और आसनसे सुशोभित करे। प्रायः आश्विन मासमें विशेषतः पूर्णिमा तिथिको बहुत-से सुयोग्य ब्राह्मणोंको विधिवत् भोजन कराकर स्वयं उपवास करके शौचाचारसम्पन्न हो उन

ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके दक्षिणासहित उस तिलराशिका दान करे ॥

एकस्यापि बहूनां वा दातव्यं भूतिमिच्छता ।
तस्य दानफलं देवि अग्निष्टोमेन संयुतम् ॥

कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह एक ही पुरुषको या अनेक व्यक्तियोंको दान दे। देवि ! उसके दानका फल अग्निष्टोम यज्ञके समान होता है ॥

केवलं वा तिलैरेव भूमौ कृत्वा गवाकृतिम् ।
सवत्सकं सरत्नं च पुंसा गोदानकाङ्क्षिणा ॥
तदर्हाय प्रदातव्यं तस्य गोदानतः फलम् ॥

अथवा पृथ्वीपर केवल तिलोंसे ही गौकी आकृति बनाकर गोदानके फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य रत्न और वस्त्रसहित उस तिल-धेनुका सुयोग्य ब्राह्मणको दान करे। इससे दाताको गोदान करनेका फल मिलता है ॥

शरावांस्तिलसम्पूर्णान् सहिरण्यान् सचम्पकान् ।
नृपो ददद् ब्राह्मणाय स पुण्यफलभाग् भवेत् ॥

जो राजा सुवर्ण और चम्पासे युक्त तथा तिलसे भरे हुए शरावों (पुरवों) का ब्राह्मणको दान करता है, वह पुण्य-फलका भागी होता है ॥

एवं तिलमयं देयं नरेण हितमिच्छता ।
नानादानफलं भूयः शृणु देवि समाहिता ॥

देवि ! अपना हित चाहनेवाले मनुष्यको इसी प्रकार तिलमयी धेनुका दान करना चाहिये। अब पुनः एकाग्रचित्त होकर नाना प्रकारके दानोंका फल सुनो ॥

बलमायुष्यमारोग्यमन्नदानाल्लभेन्नरः ।
पानीयदस्तु सौभाग्यं रसज्ञानं लभेन्नरः ॥

अन्नदान करनेसे मनुष्यको बल, आयु और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। जलदान करनेवाला पुरुष सौभाग्य तथा रसका ज्ञान प्राप्त करता है ॥

वस्त्रदानाद् वपुःशोभामलंकारं लभेन्नरः ।
दीपदो बुद्धिवैशद्यं द्युतिशोभां लभेन्नरः ॥

वस्त्रदान करनेसे मनुष्य शारीरिक शोभा और आभूषण लाभ करता है। दीपदान करनेवालेकी बुद्धि निर्मल होती है तथा उसे द्युति एवं शोभाकी प्राप्ति होती है ॥

राजपीडाविमोक्षं तु छत्रदो लभते फलम् ।
दासीदासप्रदानात् तु भवेत् कर्मान्तभाङ् नरः ॥
दासीदासं च विविधं लभेत् प्रेत्य गुणान्वितम् ॥

छत्रदान करनेवाला पुरुष किसी भी जन्ममें राजवंशसे अलग नहीं होता। दासी और दासोंका दान करनेसे मनुष्य कर्मोंका अन्त कर देता है और मृत्युके पश्चात् उत्तम गुणोंसे युक्त भाँति-भाँतिके दासों और दासियोंको प्राप्त करता है ॥

यानानि वाहनं चैव तदर्हाय ददन्नरः ।
पादरोगपरिक्लेशान्मुक्तः श्वसनवाहवान् ॥
विचित्रं रमणीयं च लभते यानवाहनम् ॥

जो मनुष्य सुयोग्य ब्राह्मणको रथ आदि यानों और वाहनोंका दान करता है, वह पैरसम्बन्धी रोगों और क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। उसकी सवारीमें वायुके समान वेगशाली घोड़े मिलते हैं। वह विचित्र एवं रमणीय यान और वाहन पाता है ॥

सेतुकूपतटाकानां कर्ता तु लभते नरः ।
दीर्घायुष्यं च सौभाग्यं तथा प्रेत्य गतिं शुभाम् ॥

पुल, कुआँ और पोखरा बनवानेवाला मानव दीर्घायु, सौभाग्य तथा मृत्युके पश्चात् शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥

वृक्षसंरोपको यस्तु छायापुष्पफलप्रदः ।
प्रेत्यभावे लभेत् पुण्यमभिगम्यो भवेन्नरः ॥

जो वृक्ष लगानेवाला तथा छाया, फूल और फल प्रदान करनेवाला है, वह मृत्युके पश्चात् पुण्यलोक पाता है और सबके लिये मिलनेके योग्य हो जाता है ॥

यस्तु संक्रमकृल्लोके नदीषु जलहारिणाम् ।
लभेत् पुण्यफलं प्रेत्य व्यसनेभ्यो विमोक्षणम् ॥

जो मनुष्य इस जगत्में नदियोंपर जल ले जानेवाले पुरुषोंकी सुविधाके लिये पुल निर्माण कराता है, वह मृत्युके पश्चात् उसका पुण्यफल पाता है और सब प्रकारके सङ्कटोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

मार्गकृत् सततं मर्त्यो भवेत् संतानवान् पुनः ।
कायदोषविमुक्तस्तु तीर्थकृत् सततं भवेत् ॥

जो मनुष्य सदा मार्गका निर्माण करता है, वह संतानवान् होता है। तथा जो जलमें उतरनेके लिये सीढ़ी एवं पक्के घाट बनवाता है, वह शारीरिक दोषसे मुक्त हो जाता है ॥

औषधानां प्रदानात् तु सततं कृपयान्वितः ।
भवेद् व्याधिविहीनश्च दीर्घायुश्च विशेषतः ॥

जो सदा कृपापूर्वक रोगियोंको औषध प्रदान करता है, वह रोगहीन और विशेषतः दीर्घायु होता है ॥

अनाथान् पोषयेद् यस्तु कृपणान्धकपङ्गुकान् ।
स तु पुण्यफलं प्रेत्य लभते कृच्छ्रमोक्षणम् ॥

जो अनाथों, दीन-दुखियों, अन्धों और पङ्गु मनुष्योंका पोषण करता है, वह मृत्युके पश्चात् उसका पुण्यफल पाता और सङ्कटसे मुक्त हो जाता है ॥

वेदगोष्ठाः सभाः शाला भिक्षूणां च प्रतिश्रयम् ।
यः कुर्याल्लभते नित्यं नरः प्रेत्य शुभं फलम् ॥

जो मनुष्य वेदविद्यालय, सभाभवन, धर्मशाला तथा भिक्षुओंके लिये आश्रम बनाता है, वह मृत्युके पश्चात् शुभ फल पाता है ॥

विविधं विविधाकारं भक्ष्यभोज्यगुणान्वितम् ।
रम्यं सदैव गोवाटं यः कुर्याल्लभते नरः ॥
प्रेत्यभावे शुभां जातिं व्याधिमोक्षं तथैव च ।
एवं नानाविधं द्रव्यं दानकर्ता लभेत् फलम् ॥

जो मानव उत्तम भक्ष्य-भोज्यसम्बन्धी गुणोंसे युक्त तथा नाना प्रकारकी आकृतिवाली भाँति-भाँतिकी रमणीय गोशालाओंका सदैव निर्माण करता है, वह मृत्युके पश्चात्

उत्तम जन्म पाता और रोगमुक्त होता है। इस प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंका दान करनेवाला मनुष्य पुण्यफलका भागी होता है ॥

बुद्धिमायुष्यमारोग्यं बलं भाग्यं तथाऽऽगमम्।
रूपेण सप्तधा भूत्वा मानुष्यं फलति ध्रुवम् ॥

बुद्धि, आयुष्य, आरोग्य, बल, भाग्य, आगम तथा रूप—इन सात भागोंमें प्रकट होकर मनुष्यका पुण्यकर्म अवश्य अपना फल देता है ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश विशिष्टं यज्ञमुच्यते।
लौकिकं वैदिकं चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—भगवन्! देवदेवेश्वर! लौकिक और वैदिक यज्ञको उत्तम बताया जाता है। अतः इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवतानां तु पूजा या यज्ञेष्वेव समाहिता।
यज्ञा वेदेष्वधीताश्च वेदा ब्राह्मणसंयुताः ॥

श्रीमहेश्वर बोले—देवि! देवताओंकी जो पूजा है, वह यज्ञोंके ही अन्तर्गत है। यज्ञोंका वेदोंमें वर्णन है और वेद ब्राह्मणोंके साथ हैं ॥

इदं तु सकलं द्रव्यं दिवि वा भुवि वा प्रिये।
यज्ञार्थं विद्धि तत् सृष्टं लोकानां हितकाम्यया ॥

प्रिये! स्वर्गलोकमें या पृथ्वीपर जो द्रव्य दृष्टिगोचर होता है, इस सबकी सृष्टि विधाताद्वारा लोकहितकी कामनासे यज्ञके लिये की गयी है, ऐसा समझो ॥

एवं विज्ञाय तत् कर्ता सदारः सततं द्विजः।
प्रेत्यभावे लभेल्लोकान् ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

ऐसा समझकर जो द्विज सदा अपनी स्त्रीके साथ रहकर यज्ञ-कर्म करता है, वह ब्रह्मकर्ममें तत्पर रहनेके कारण मृत्युके पश्चात् पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥

ब्राह्मणेष्वेव तद् ब्रह्म नित्यं देवि समाहितम् ॥
तस्माद् विप्रैर्यथाशास्त्रं विधिदृष्टेन कर्मणा।
यज्ञकर्म कृतं सर्वं देवता अभितर्पयेत् ॥

देवि! वह ब्रह्म (वेद) सदा ब्राह्मणोंमें ही स्थित है, अतः शास्त्र-विधिके अनुसार ब्राह्मणोंद्वारा किया हुआ सम्पूर्ण यज्ञकर्म देवताओंको तृप्त करता है ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव यज्ञार्थं प्रायशः स्मृताः ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्वेदेषु परिकल्पितैः।
सुशुद्धैर्यजमानैश्च ऋत्विग्भिश्च यथाविधि ॥
शुद्धैर्द्रव्योपकरणैर्यष्टव्यमिति निश्चयः ॥

ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी उत्पत्ति प्रायः यज्ञके लिये ही मानी गयी है। शुद्ध यजमानों तथा ऋत्विजोंद्वारा किये गये वेदवर्णित अग्निष्टोम आदि यज्ञों एवं विशुद्ध द्रव्योपकरणोंसे यजन करना चाहिये, यह शास्त्रका निश्चय है ॥

तथा कृतेषु यज्ञेषु देवानां तोषणं भवेत्।
तुष्टेषु सर्वदेवेषु यज्वा यज्ञफलं लभेत् ॥

इस प्रकार किये गये यज्ञोंमें देवताओंको संतोष होता है और सम्पूर्ण देवताओंके संतुष्ट होनेपर यजमानको यज्ञका पूरा-पूरा फल मिलता है ॥

देवाः संतोषिता यज्ञैर्लोकान् संवर्धयन्त्युत।

यज्ञोंद्वारा संतुष्ट किये हुए देवता सम्पूर्ण लोकोंकी वृद्धि करते हैं।

तस्माद् यज्वा दिवं गत्वामरैः सह मोदते।
नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो निधिः ॥
सर्वधर्मसमुद्देशो देवि यज्ञे समाहितः।

इसलिये यजमान स्वर्गलोकमें जाकर देवताओंके साथ आनन्द भोगता है। यज्ञके समान कोई दान नहीं है और यज्ञके समान कोई निधि नहीं है। देवि! सम्पूर्ण धर्मोंका उद्देश्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥

एषा यज्ञकृता पूजा लौकिकीमपरां शृणु ॥
देवसत्कारमुद्दिश्य क्रियते लौकिकोत्सवः ॥

यह यज्ञद्वारा की गयी देवपूजा वैदिकी है। इससे भिन्न जो दूसरी लौकिकी पूजा है, उसका वर्णन सुनो। देवताओंके सत्कारके लिये लोकमें समय-समयपर उत्सव किया जाता है ॥

देवगोष्ठेऽधिसंस्कृत्य चोत्सवं यः करोति वै।
यागान् देवोपहारांश्च शुचिर्भूत्वा यथाविधि ॥
देवान् संतोषयित्वा स देवि धर्ममवाप्नुयात् ॥

देवि! जो देवालयमें देवताका संस्कार करके उत्सव मनाता है और पवित्र होकर विधिपूर्वक यज्ञ एवं देवताओंको उपहार समर्पित करके उन्हें संतुष्ट करता है, वह धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त करता है ॥

गन्धमाल्यैश्च विविधैः परमान्नेन धूपनैः।
बह्वीभिः स्तुतिभिश्चैव स्तुवद्भिः प्रयतैर्नरैः ॥
नृत्तैर्वाद्यैश्च गान्धर्वैरन्यैर्दृष्टिविलोभनैः।
देवसत्कारमुद्दिश्य कुर्वते ये नरा भुवि ॥
तेषां भक्तिकृतेनैव सत्कारेणैव पूजिताः।
तेनैव तोषं संयान्ति देवि देवास्त्रिविष्टपे ॥

देवि! इस भूतलपर जो मनुष्य देवताओंके सत्कारके उद्देश्यसे नाना प्रकारके गन्ध, माल्य, उत्तम अन्न, धूपदान तथा बहुत-सी स्तुतियोंद्वारा स्तवन करते हैं और शुद्धचित्त हो नृत्य, वाद्य, गान तथा दृष्टिको लुभानेवाले अन्यान्य कार्यक्रमोंद्वारा देवाराधन करते हैं, उनके भक्तिजनित सत्कारसे ही पूजित हो देवता स्वर्गमें उतनेसे ही संतुष्ट हो जाते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[श्राद्धविधान आदिका वर्णन, दानकी त्रिविधतासे उसके फलकी भी त्रिविधताका उल्लेख, दानके पाँच फल, नाना प्रकारके धर्म और उनके फलोंका प्रतिपादन]

उमोवाच

पितृमेधः कथं देव तन्मे शंसितुमर्हसि।
सर्वेषां पितरः पूज्याः सर्वसम्पत्प्रदायिनः ॥

उमाने पूछा—देव ! पितृमेध (श्राद्ध) कैसे किया जाता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें । सम्पूर्ण सम्पदाओंके दाता पितर सभीके लिये पूजनीय होते हैं ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

पितृमेधं प्रवक्ष्यामि यथावत् तन्मनाः शृणु ।
देशकालौ विधानं च तत्क्रियायाः शुभाशुभम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं पितृमेधका यथावत्-रूपमें वर्णन करता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । देश, काल, विधान तथा क्रियाके शुभाशुभ फलका भी वर्णन करूँगा ॥

लोकेषु पितरः पूज्या देवतानां च देवताः ।
शुचयो निर्मलाः पुण्या दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥

सभी लोकोंमें पितर पूजनीय होते हैं । वे देवताओंके भी देवता हैं । उनका स्वरूप शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र है । वे दक्षिणदिशामें निवास करते हैं ॥

यथा वृष्टिं प्रतीक्षन्ते भूमिष्ठाः सर्वजन्तवः ।
पितरश्च तथा लोके पितृमेधं शुभेक्षणे ॥

शुभेक्षणे ! जैसे भूमिपर रहनेवाले सभी प्राणी वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार पितृलोकमें रहनेवाले पितर श्राद्धकी प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥

तस्य देशाः कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा सरस्वती ।
प्रभासं पुष्करं चेति तेषु दत्तं महाफलम् ॥

श्राद्धके लिये पवित्र देश हैं—कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, सरस्वती, प्रभास और पुष्कर—इन तीर्थस्थानोंमें दिया गया श्राद्धका दान महान् फलदायक होता है ॥

तीर्थानि सरितः पुण्या विविक्तानि वनानि च ।
नदीनां पुलिनानीति देशाः श्राद्धस्य पूजिताः ॥

तीर्थ, पवित्र नदियाँ, एकान्त वन तथा नदियोंके तट—ये श्राद्धके लिये प्रशंसित देश हैं ॥

माघप्रोष्ठपदौ मासौ श्राद्धकर्मणि पूजितौ ।
पक्षयोः कृष्णपक्षश्च पूर्वपक्षात् प्रशस्यते ॥

श्राद्ध कर्ममें माघ और भाद्रपदमास प्रशंसित हैं । दोनों पक्षोंमें पूर्वपक्ष (शुक्ल) की अपेक्षा कृष्णपक्ष उत्तम बताया जाता है।

अमावास्यां त्रयोदश्यां नवम्यां प्रतिपत्सु च ।
तिथिष्वेतासु तुष्यन्ति दत्तेनेह पितामहाः ॥

अमावास्या, त्रयोदशी, नवमी और प्रतिपदा—इन तिथियोंमें यहाँ श्राद्धका दान करनेसे पितृगण संतुष्ट होते हैं ॥

पूर्वाह्णे शुक्लपक्षे च रात्रौ जन्मदिनेषु वा ।
युग्मेष्वहस्सु च श्राद्धं न च कुर्वीत पण्डितः ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि पूर्वाह्णमें, शुक्लपक्षमें, रात्रिमें, अपने जन्मके दिनमें और युग्म दिनोंमें श्राद्ध न करे ॥

एष कालो मया प्रोक्तः पितृमेधस्य पूजितः ।
यस्मिंश्च ब्राह्मणं पात्रं पश्येत् कालः स च स्मृतः ॥

यह मैंने श्राद्धका प्रशस्त समय बताया है । जिस दिन सुपात्र ब्राह्मणका दर्शन हो, वह भी श्राद्धका उत्तम समय माना गया है ॥

अपाङ्क्तेया द्विजा वर्ज्या ग्राह्यास्ते पङ्क्तिपावनाः ।
भोजयेद् यदि पापिष्ठाञ्श्राद्धेषु नरकं व्रजेत् ॥

श्राद्धमें अपाङ्क्तेय ब्राह्मणोंका त्याग और पङ्क्तिपावन ब्राह्मणोंको ग्रहण करना चाहिये । यदि कोई श्राद्धमें पापिष्ठोंको भोजन कराता है तो वह नरकमें पड़ता है ॥

वृत्तश्रुतकुलोपेतान् सकलत्रान् गुणान्वितान् ।
तदर्हाञ्श्रोत्रियान् विद्धि ब्राह्मणानयुजः शुभे ॥

शुभे ! जो सदाचार, शास्त्रज्ञान और उत्तम कुलसे सम्पन्न, सपत्नीक तथा सद्गुणी हों, ऐसे श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको तुम श्राद्धके योग्य समझो । श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी संख्या विषम होनी चाहिये ॥

एतान् निमन्त्रयेद् विद्वान् पूर्वेद्युः प्रातरेव वा ।
ततः श्राद्धक्रियां पश्चादारभेत यथाविधि ॥

विद्वान् पुरुष इन ब्राह्मणोंको श्राद्धके पहले ही दिन अथवा श्राद्धके ही दिन प्रातःकाल निमन्त्रण दे । तत्पश्चात् विधिपूर्वक श्राद्धकर्म आरम्भ करे ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र हैं—दौहित्र, कुतपकाल (दिनके पंद्रह भागमेंसे आठवाँ भाग) तथा तिल । इस कार्यमें तीन गुणोंकी प्रशंसा की जाती है । पवित्रता, क्रोधहीनता और अत्वरा (जल्दीबाजी न करना) ॥

कुतपः खड्गपात्रं च कुशा दर्भास्तिला मधु ।
कालशाकं गजच्छाया पवित्रं श्राद्धकर्मसु ॥

कुतप, खड्गपात्र, कुश, दर्भ, तिल, मधु, कालशाक और गजच्छाया—ये वस्तुएँ श्राद्धकर्ममें पवित्र मानी गयी हैं ॥

तिलानवकिरेत् तत्र नानावर्णान् समन्ततः ।
अशुद्धमपवित्रं च तिलैः शुध्यति शोभने ॥

श्राद्धके स्थानमें चारों ओर अनेक वर्णवाले तिल बिखेरने चाहिये । शोभने ! तिलोंसे अशुद्ध और अपवित्र स्थान शुद्ध हो जाता है ॥

नीलकाषायवस्त्रं च भिन्नवर्णं नवव्रणम् ।
हीनाङ्गमशुचिं वापि वर्जयेत् तत्र दूरतः ॥

श्राद्धमें नीला और गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाले, विभिन्न वर्णवाले, नये घाववाले, किसी अङ्गसे हीन और अपवित्र मनुष्यको दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥

उपकल्प्य तदाहारं ब्राह्मणानर्चयेत् ततः ॥
श्मश्रुकर्मशिरस्स्नातान् समारोप्यासनं क्रमात् ।
सुगन्धमाल्याभरणैः स्रग्भिरेतान् विभूषयेत् ॥

श्राद्धकी रसोई तैयार करके ब्राह्मणोंकी पूजा करे । हजामत बनवाकर सिरसे नहाये हुए उन ब्राह्मणोंको क्रमशः आसनपर बिठाकर सुगन्ध, माला, आभूषणों तथा पुष्पहारोंसे विभूषित करे ॥

अलंकृत्योपविष्टांस्तान् पिण्डावापं निवेदयेत् ॥
ततः प्रस्तीर्य दर्भाणां प्रस्तरं दक्षिणामुखम् ।

तत्समीपेऽग्निमिद्ध्वा च स्वधां च जुहुयात् ततः॥

अलंकृत होकर बैठे हुए उन ब्राह्मणोंको यह निवेदन करे कि अब मैं पिण्डदान करूँगा। तदनन्तर दक्षिणाभिमुख कुश बिछाकर उनके समीप अग्नि प्रज्वलित करके उसमें श्राद्धान्नकी आहुति दे (आहुतिके मन्त्र इस प्रकार हैं—अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा)॥

समीपे त्वग्नीषोमाभ्यां पितृभ्यो जुहुयात् तदा॥
तथा दर्भेषु पिण्डांस्त्रीन् निर्वपेद् दक्षिणामुखः।
अपसव्यमपाङ्गुष्ठं नामधेयपुरस्कृतम्॥

इस प्रकार अग्नि और सोमके लिये आहुति देकर उनके समीप पितरोंके निमित्त होम करे तथा दक्षिणाभिमुख हो अपसव्य होकर अर्थात् जनेऊको दाहिने कंधेपर रखकर पितरोंके नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए कुशोंपर तीन पिण्ड दे। उन पिण्डोंका अङ्गुष्ठसे स्पर्श न हो॥

एतेन विधिना दत्तं पितृणामक्षयं भवेत्।
ततो विप्रान् यथाशक्ति पूजयेन्नियतः शुचिः॥
सदक्षिणं ससम्भारं यथा तुष्यन्ति ते द्विजाः॥

इस विधिसे दिया हुआ पिण्डदान पितरोंके लिये अक्षय होता है। तत्पश्चात् मनको वशमें रखकर पवित्र हो यथाशक्ति दक्षिणा और सामग्री देकर ब्राह्मणोंकी यथाशक्ति पूजा करे। जिससे वे संतुष्ट हो जायँ॥

यत्र तत् क्रियते तत्र न जल्पेन्न जपेन्मिथः।
नियम्य वाचं देहं च श्राद्धकर्म समारभेत्॥

जहाँ यह श्राद्ध या पूजन किया जाता है, वहाँ न तो कुछ बोले और न आपसमें ही कुछ दूसरी बात करे। वाणी और शरीरको संयममें रखकर श्राद्धकर्म आरम्भ करे॥

ततो निर्वपने वृत्ते तान् पिण्डांस्तदनन्तरम्।
ब्राह्मणोऽग्निरजो गौर्वा भक्षयेदप्सु वा क्षिपेत्॥

पिण्डदानका कार्य पूर्ण हो जानेपर उन पिण्डोंको ब्राह्मण, अग्नि, बकरा अथवा गौ भक्षण कर ले या उन्हें जलमें डाल दिया जाय॥

पत्नीं वा मध्यमं पिण्डं पुत्रकामां हि प्राशयेत्।
आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्॥

यदि श्राद्धकर्ताकी पत्नीको पुत्रकी कामना हो, तो वह मध्यम पिण्ड अर्थात् पितामहको अर्पित किये हुए पिण्डको खा ले और प्रार्थना करे कि 'पितरो! आपलोग मेरे गर्भमें कमलोंकी मालासे अलंकृत एक सुन्दर कुमारकी स्थापना करें॥'

तृप्तानुत्थाप्य तान् विप्रानन्नशेषं निवेदयेत्।
तच्छेषं बहुभिः पश्चात् सभृत्यो भक्षयेन्नरः॥

जब ब्राह्मणलोग भोजन करके तृप्त हो जायँ, तब उन्हें उठाकर शेष अन्न दूसरोंको निवेदन करे। तत्पश्चात् बहुत-से लोगोंके साथ मनुष्य भृत्यवर्गसहित शेष अन्नका स्वयं भोजन करे॥

एष प्रोक्तः समासेन पितृयज्ञः सनातनः।
पितरस्तेन तुष्यन्ति कर्ता च फलमाप्नुयात्॥

यह सनातन पितृयज्ञका संक्षेपमें वर्णन किया गया। इससे पितर संतुष्ट होते हैं और श्राद्धकर्ताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है॥

अहन्यहनि वा कुर्यान्मासे मासेऽथवा पुनः।
संवत्सरं द्विः कुर्याच्च चतुर्वापि स्वशक्तितः॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन, प्रतिमास, सालमें दो बार अथवा चार बार भी श्राद्ध करे॥

दीर्घायुश्च भवेत् स्वस्थः पितृमेधेन वा पुनः।
सपुत्रो बहुभृत्यश्च प्रभूतधनधान्यवान्॥

श्राद्ध करनेसे मनुष्य दीर्घायु एवं स्वस्थ होता है। वह बहुत-से पुत्र, सेवक तथा धन-धान्यसे सम्पन्न होता है॥

श्राद्धदः स्वर्गमाप्नोति निर्मलं विविधात्मकम्।
अप्सरोगणसंघुष्टं विरजस्कमनन्तरम्॥

श्राद्धका दान करनेवाला पुरुष विविध आकृतियोंवाले, निर्मल, रजोगुणरहित और अप्सराओंसे सेवित स्वर्गलोकमें निरन्तर निवास पाता है॥

श्राद्धानि पुष्टिकामा वै ये प्रकुर्वन्ति पण्डिताः।
तेषां पुष्टिं प्रजां चैव दास्यन्ति पितरः सदा॥

जो पुष्टिकी इच्छा रखनेवाले पण्डित श्राद्ध करते हैं, उन्हें पितर सदा पुष्टि एवं संतान प्रदान करते हैं॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं शत्रुविनाशनम्।
कुलसंधारकं चेति श्राद्धमाहुर्मनीषिणः॥

मनीषी पुरुष श्राद्धको धन, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, शत्रुनाशक एवं कुलधारक बताते हैं॥

प्रमाणकल्पनां देवि दानस्य शृणु भामिनि॥
यत्सारस्तु नरो लोके तद् दानं चोत्तमं स्मृतम्।
सर्वदानविधिं प्राहुस्तदेव भुवि शोभने॥

देवि! भामिनि! दानके फलका जो प्रमाण माना गया है, उसे सुनो। जगत्‌में मनुष्यके पास जो सार वस्तु है, उसका दान उसके लिये उत्तम माना गया है। शोभने! इस पृथ्वीपर उसीको सम्पूर्ण दानकी विधि कही गयी है॥

प्रस्थं सारं दरिद्रस्य सारं कोटिधनस्य च।
प्रस्थसारस्तु तत् प्रस्थं ददन्महदवाप्नुयात्॥
कोटिसारस्तु तां कोटिं ददन्महदवाप्नुयात्।
उभयं तन्महत् तच्च फलेनैव समं स्मृतम्॥

दरिद्रका सार है सेरभर अन्न और जो करोड़पति है उसका सार है करोड़। जिसका सेरभर अनाज ही सार है, वह उसीका दान करके महान् फल प्राप्त कर लेता है और जिसका सार एक करोड़ मुद्रा है, वह उसीका दान कर दे तो महान् फलका भागी होता है। ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण दान हैं और दोनोंका फल महान् माना गया है॥

धर्मार्थकामभोगेषु शक्त्यभावस्तु मध्यमम्।
स्वद्रव्यादतिहीनं तु तद् दानमधमं स्मृतम्॥

धर्म, अर्थ और काम भोगमें शक्तिका अभाव हो जाय और उस अवस्थामें कुछ दान किया जाय तो वह दान मध्यम कोटिका है और अपने धन एवं शक्तिसे अत्यन्त हीन

कोटिका दान अधम माना गया है ॥

शृणु दत्तस्य वै देवि पञ्चधा फलकल्पनाम्।
आनन्त्यं च महच्चैव समं हीनं हि पातकम् ॥

देवि ! दानके फलकी पाँच प्रकारसे कल्पना की गयी है, उसको सुनो। अनन्त, महान्, सम, हीन और पाप—ये पाँच तरहके फल होते हैं ॥

तेषां विशेषं वक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता।
दुस्त्यजस्य च वै दानं पात्र आनन्त्यमुच्यते ॥

देवि ! इन पाँचोंकी जो विशेषता है, उसे बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो। जिस धनका त्याग करना अत्यन्त कठिन हो, उसे सुपात्रको देना 'आनन्त्य' कहलाता है अर्थात् उस दानका फल अनन्त—अक्षय होता है ॥

दानं षड्गुणयुक्तं तु महदित्यभिधीयते।
यथाश्रद्धं तु वै दानं यथार्हं सममुच्यते ॥

पूर्वोक्त छः गुणोंसे युक्त जो दान है, उसीको 'महान्' कहा गया है। जैसी अपनी श्रद्धा हो उसीके अनुसार यथायोग्य दान देना 'सम' कहलाता है ॥

गुणतस्तु तथा हीनं दानं हीनमिति स्मृतम्।
दानं पातकमित्याहुः षड्गुणानां विपर्यये ॥

गुणहीन दानको 'हीन' कहा गया है। यदि पूर्वोक्त छः गुणोंके विपरीत दान किया जाय तो वह 'पातक'रूप कहा गया है ॥

देवलोके महत् कालमानन्त्यस्य फलं विदुः।
महतस्तु तथा कालं स्वर्गलोके तु पूज्यते ॥

आनन्त्य या 'अनन्त' नामक दानका फल देवलोकमें दीर्घ कालतक भोगा जाता है। महद् दानका फल यह है कि मनुष्य स्वर्गलोकमें अधिक कालतक पूजित होता है ॥

समस्य तु तदा दानं मानुष्यं भोगमावहेत्।
दानं निष्फलमित्याहुर्विहीनं क्रियया शुभे ॥

सम-दान मनुष्यलोकका भोग प्रस्तुत करता है। शुभे ! क्रियासे हीन दान निष्फल बताया गया है ॥

अथवा म्लेच्छदेशेषु तत्र तत्फलतां व्रजेत्।
नरकं प्रेत्य तिर्यक्षु गच्छेदशुभदानतः ॥

अथवा म्लेच्छ देशोंमें जन्म लेकर मनुष्य वहाँ उसका फल पाता है। अशुभदानसे पाप लगता है और उसका फल भोगनेके लिये वह दाता मृत्युके पश्चात् नरक या तिर्यक् योनियोंमें जाता है ॥

उमोवाच

अशुभस्यापि दानस्य शुभं स्याच्च फलं कथम्।

उमाने पूछा—भगवन् ! अशुभदानका भी फल शुभ कैसे होता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मनसा तत्त्वतः शुद्धमानृशंस्यपुरस्सरम्।
प्रीत्या तु सर्वदानानि दत्त्वा फलमवाप्नुयात् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! जो दान शुद्ध हृदयसे अर्थात् निष्काम भावसे दिये जानेके कारण तत्त्वतः शुद्ध हो, जिसमें क्रूरताका अभाव हो, जो दयापूर्वक दिया गया हो, वह शुभ फल देनेवाला है। सभी प्रकारके दानोंको प्रसन्नताके साथ देकर दाता शुभ फलका भागी होता है ॥

रहस्यं सर्वदानानामेतद् विद्धि शुभेक्षणे।
अन्यानि धर्मकार्याणि शृणु सद्भिः कृतानि च ॥

शुभेक्षणे ! इसीको तुम सम्पूर्ण दानोंका रहस्य समझो। अब सत्पुरुषोंद्वारा किये गये अन्य धर्म-कार्योंका वर्णन सुनो ॥

आरामदेवगोष्ठानि संक्रमाः कूप एव च।
गोवाटश्च तटाकश्च सभा शाला च सर्वशः ॥
पाषण्डावसथश्चैव पानीयं गोतृणानि च।
व्याधितानां च भैषज्यमनाथानां च पोषणम् ॥
अनाथशवसंस्कारस्तीर्थमार्गविशोधनम् ।
व्यसनाभ्यवपत्तिश्च सर्वेषां च स्वशक्तितः ॥
एतत् सर्वं समासेन धर्मकार्यमिति स्मृतम्।
तत् कर्तव्यं मनुष्येण स्वशक्त्या श्रद्धया शुभे ॥

बगीचा लगाना, देवस्थान बनाना, पुल और कुआँका निर्माण करना, गोशाला, पोखरा, धर्मशाला, सबके लिये घर, पाखण्डीतकको भी आश्रय देना, पानी पिलाना, गौओंको घास देना, रोगियोंके लिये दवा और पथ्यकी व्यवस्था करना, अनाथ बालकोंका पालन-पोषण करना, अनाथ मुर्दोंका दाह-संस्कार कराना, तीर्थ-मार्गका शोधन करना, अपनी शक्तिके अनुसार सभीके संकटको दूर करनेका प्रयत्न करना—यह सब संक्षेपसे धर्मकार्य बताया गया। शुभे ! मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यह धर्मकार्य करना चाहिये ॥

प्रेत्यभावे लभेत् पुण्यं नास्ति तत्र विचारणा।
रूपं सौभाग्यमारोग्यं बलं सौख्यं लभेन्नरः ॥
स्वर्गे वा मानुषे वापि तैस्तैराप्यायते हि सः ॥

यह सब करनेसे मृत्युके पश्चात् मनुष्यको पुण्य प्राप्त होता है, इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह धर्मात्मा पुरुष रूप, सौभाग्य, आरोग्य, बल और सुख पाता है। वह स्वर्गलोकमें रहे या मनुष्यलोकमें, उन-उन पुण्य-फलोंसे तृप्त होता रहता है ॥

उमोवाच

भगवँल्लोकपालेश धर्मस्तु कतिभेदकः।
दृश्यते परितः सद्भिस्तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—भगवन् ! लोकपालेश्वर ! धर्मके कितने भेद हैं ? साधु पुरुष सब ओर उसके कितने भेद देखते हैं ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्मृतिधर्मश्च बहुधा सद्भिराचार इष्यते ॥
देशधर्माश्च दृश्यन्ते कुलधर्मास्तथैव च।
जातिधर्माश्च वै धर्मा गणधर्माश्च शोभने ॥

स्मृतिकथित धर्म अनेक प्रकारका है। श्रेष्ठ पुरुषोंको आचार-धर्म अभीष्ट होता है। शोभने ! देश-धर्म, कुल-

धर्म, जाति-धर्म तथा समुदाय-धर्म भी दृष्टिगोचर होते हैं ॥

शरीरकालवैषम्यादापद्धर्मश्च दृश्यते ।
एतद् धर्मस्य नानात्वं क्रियते लोकवासिभिः ॥

शरीर और कालकी विषमतासे आपद्धर्म भी देखा जाता है । इस जगत्‌में रहनेवाले मनुष्य ही धर्मके ये नाना भेद करते हैं ॥

तत्कारणसमायोगे लभेत् कुर्वन् फलं नरः ॥

कारणका संयोग होनेपर धर्माचरण करनेवाला मनुष्य उस धर्मके फलको प्राप्त करता है ॥

श्रौतस्मार्तस्तु धर्माणां प्रकृतो धर्म उच्यते ।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

धर्मोंमें जो श्रौत (वेद-कथित) और स्मार्त (स्मृति-कथित) धर्म है, उसे प्रकृत धर्म कहते हैं । देवि ! इस प्रकार तुम्हें धर्मकी बात बतायी गयी । अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[प्राणियोंकी शुभ और अशुभ गतिका निश्चय करानेवाले लक्षणोंका वर्णन, मृत्युके दो भेद और यत्नसाध्य मृत्युके चार भेदोंका कथन, कर्तव्य-पालनपूर्वक शरीरत्यागका महान् फल और काम, क्रोध आदिद्वारा देहत्याग करनेसे नरककी प्राप्ति]

उमोवाच

मानुषेष्वेव जीवत्सु गतिर्विज्ञायते न वा ।
यथा शुभगतिर्जीवन् नासौ त्वशुभभागिति ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे शंसितुमर्हसि ।

उमाने पूछा—प्रभो ! मनुष्योंके जीते-जी उनकी गतिका ज्ञान होता है या नहीं ? शुभगतिवाले मनुष्यका जैसा जीवन है, वैसा ही अशुभ गतिवालेका नहीं हो सकता । इस विषयको मैं सुनना चाहती हूँ, आप मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि जीवितं विद्यते यथा ।
द्विविधाः प्राणिनो लोके दैवासुरसमाश्रिताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! प्राणियोंका जीवन जैसा होता है, वह मैं तुम्हें बताऊँगा । संसारमें दो प्रकारके प्राणी होते हैं—एक दैवभावके आश्रित और दूसरे आसुर भावके आश्रित ॥

मनसा कर्मणा वाचा प्रतिकूला भवन्ति ये ।
तादृशानासुरान् विद्धि मर्त्यास्ते नरकालयाः ॥

जो मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, उनको आसुर समझो । उन्हें नरकमें निवास करना पड़ता है ॥

हिंस्राश्चोराश्च धूर्ताश्च परदाराभिमर्शकाः ।
नीचकर्मरता ये च शौचमङ्गलवर्जिताः ॥
शुचिविद्वेषिणः पापा लोकचारित्रदूषकाः ।
एवंयुक्तसमाचारा जीवन्तो नरकालयाः ॥

जो हिंसक, चोर, धूर्त, परस्त्रीगामी, नीचकर्मपरायण, शौच और मङ्गलाचारसे रहित, पवित्रतासे द्वेष रखनेवाले, पापी और लोगोंके चरित्रपर कलङ्क लगानेवाले हैं, ऐसे आचारवाले अर्थात् आसुरी स्वभाववाले मनुष्य जीते-जी ही नरकमें पड़े हुए हैं ॥

लोकोद्वेगकराश्चान्ये पशवश्च सरीसृपाः ।
वृक्षाः कण्टकिनो रूक्षास्तादृशान् विद्धि चासुरान् ॥

जो लोगोंको उद्वेगमें डालनेवाले पशु, साँप-बिच्छू आदि जन्तु तथा रूखे और कँटीले वृक्ष हैं, वे सब पहले आसुर स्वभावके मनुष्य ही थे, ऐसा समझो ॥

अपरान् देवपक्षांस्तु शृणु देवि समाहिता ॥
मनोवाक्कर्मभिर्नित्यमनुकूला भवन्ति ये ।
तादृशानमरान् विद्धि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

देवि ! अब तुम एकाग्रचित्त होकर दूसरे देवपक्षीय अर्थात् दैवी प्रकृतिवाले मनुष्योंका परिचय सुनो । जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके अनुकूल होते हैं, ऐसे मनुष्योंको अमर (देवता) समझो । वे स्वर्गगामी होते हैं ॥

शौचार्जवपरा धीराः परार्थान् न हरन्ति ये ।
ये समाः सर्वभूतेषु ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो शौच और सरलतामें तत्पर तथा धीर हैं, जो दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करते हैं और समस्त प्राणियोंके प्रति समानभाव रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

धार्मिकाः शौचसम्पन्नाः शुक्ला मधुरवादिनः ।
नाकार्यं मनसेच्छन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो धार्मिक, शौचाचारसम्पन्न, शुद्ध और मधुरभाषी होकर कभी मनसे भी न करने योग्य कार्य करना नहीं चाहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

दरिद्रा अपि ये केचिद् याचिताः प्रीतिपूर्वकम् ।
ददत्येव च यत् किंचित् ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो कोई दरिद्र होनेपर भी किसी याचकके माँगनेपर उसे प्रसन्नतापूर्वक कुछ न-कुछ देते ही हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥

आस्तिका मङ्गलपराः सततं वृद्धसेविनः ।
पुण्यकर्मपरा नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो आस्तिक, मङ्गलपरायण, सदा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाले और प्रतिदिन पुण्यकर्ममें संलग्न रहनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

निर्ममा निरहंकाराः सानुक्रोशाः स्वबन्धुषु ।
दीनानुकम्पिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो ममता और अहङ्कारसे शून्य, अपने बन्धुजनोंपर अनुग्रह रखनेवाले और सदा दीनोंपर दया करनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

स्वदुःखमिव मन्यन्ते परेषां दुःखवेदनम् ।
गुरुशुश्रूषणपरा देवब्राह्मणपूजकाः ॥
कृतज्ञाः कृतविद्याश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो दूसरोंकी दुःख-वेदनाको अपने दुःखके समान ही मानते हैं, गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहते हैं, देवताओं और

ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, कृतज्ञ तथा विद्वान् हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

जितेन्द्रिया जितक्रोधा जितमानमदास्तथा ।
लोभमात्सर्यहीना ये ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
शक्त्या चाभ्यवपद्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो जितेन्द्रिय, क्रोधपर विजय पानेवाले और मान तथा मदको परास्त करनेवाले हैं तथा जिनमें लोभ और मात्सर्यका अभाव है, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं; जो यथाशक्ति परोपकारमें तत्पर रहते हैं, वे मनुष्य भी स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

व्रतिनो दानशीलाश्च धर्मशीलाश्च मानवाः ।
ऋजवो मृदवो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो व्रती, दानशील, धर्मशील, सरल और सदा कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले हैं, वे मनुष्य सदा स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

ऐहिकेन तु वृत्तेन पारत्रमनुमीयते ।
एवंविधा नरा लोके जीवन्तः स्वर्गगामिनः ॥

इस लोकके आचारसे परलोकमें प्राप्त होनेवाली गतिका अनुमान किया जाता है । जगत्में ऐसा जीवन बितानेवाले मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

यदन्यच्च शुभं लोके प्रजानुग्रहकारि च ।
पशवश्चैव वृक्षाश्च प्रजानां हितकारिणः ॥
तादृशान् देवपक्षस्थानिति विद्धि शुभानने ॥

लोकमें और भी जो शुभ एवं प्रजापर अनुग्रह करनेवाला कर्म है, वह स्वर्गकी प्राप्तिका साधन है । शुभानने ! जो प्रजाका हित करनेवाले पशु एवं वृक्ष हैं, उन सबको देवपक्षीय जानो ॥

शुभाशुभमयं लोके सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
दैवं शुभमिति प्राहुरासुरं चाशुभं प्रिये ॥

जगत्में सारा चराचरसमुदाय शुभाशुभमय है । प्रिये ! इनमें जो शुभ है, उसे दैव और जो अशुभ है, उसे आसुर समझो ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् कालधर्ममुपस्थिताः ।
प्राणमोक्षं कथं कृत्वा परत्र हितमाप्नुयुः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! जो कोई मनुष्य मृत्युके निकट पहुँचे हुए हैं, वे किस प्रकार अपने प्राणोंका परित्याग करें, जिससे परलोकमें उन्हें कल्याणकी प्राप्ति हो ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु देवि समाहिता ।
द्विविधं मरणं लोके स्वभावाद् यत्नतस्तथा ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे इस विषयका वर्णन करता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । लोकमें दो प्रकारकी मृत्यु होती है, एक स्वाभाविक और दूसरी यत्नसाध्य ॥

तयोः स्वभावं नापायं यत्नतः करणोद्भवम् ।
एतयोरुभयोर्देवि विधानं शृणु शोभने ॥

देवि ! इन दोनोंमें जो स्वाभाविक मृत्यु है, वह अटल है, उसमें कोई बाधा नहीं है । परंतु जो यत्नसाध्य मृत्यु है, वह साधनसामग्रीद्वारा सम्भव होती है । शोभने ! इन दोनोंमें जो विधान है, वह मुझसे सुनो ॥

कल्याकल्यशरीरस्य यत्नजं द्विविधं स्मृतम् ।
यत्नजं नाम मरणमात्मत्यागो मुमूर्षया ॥

जो यत्नसाध्य मृत्यु है, वह समर्थ और असमर्थ शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण दो प्रकारकी मानी गयी है । मरनेकी इच्छासे जो जान-बूझकर अपने शरीरका परित्याग किया जाता है, उसीका नाम है यत्नसाध्य मृत्यु ॥

तत्राकल्यशरीरस्य जरा व्याधिश्च कारणम् ।
महाप्रस्थानगमनं तथा प्रायोपवेशनम् ॥
जलावगाहनं चैव अग्निचित्याप्रवेशनम् ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्त आत्मत्यागो मुमूर्षताम् ॥

जो असमर्थ शरीरसे युक्त है अर्थात् बुढ़ापेके कारण या रोगके कारण असमर्थ हो गया है, उसकी मृत्युमें कारण है महाप्रस्थानगमन, आमरण उपवास, जलमें प्रवेश अथवा चिताकी आगमें जल मरना । यह चार प्रकारका देहत्याग बताया गया है, जिसे मरनेकी इच्छावाले पुरुष करते हैं ॥

एतेषां क्रमयोगेन विधानं शृणु शोभने ॥
स्वधर्मयुक्तं गार्हस्थ्यं चिरमूढ्वा विधानतः ।
तत्रानृण्यं च सम्प्राप्य वृद्धो वा व्याधितोऽपि वा ॥
दर्शयित्वा स्वदौर्बल्यं सर्वानेवानुमान्य च ।
सर्वं विहाय बन्धूंश्च कर्मणां भरणं तथा ॥
दानानि विधिवत् कृत्वा धर्मकार्यार्थमात्मनः ।
अनुज्ञाप्य जनं सर्वं वाचा मधुरया ब्रुवन् ॥
अहतं वस्त्रमाच्छाद्य बद्ध्वा तत् कुशरज्जुना ।
उपस्पृश्य प्रतिज्ञाय व्यवसायपुरस्सरम् ॥
परित्यज्य ततो ग्राम्यं धर्मं कुर्याद् यथेप्सितम् ॥

शोभने ! अब क्रमशः इनकी विधि सुनो—मनुष्य स्वधर्मयुक्त गार्हस्थ्य-आश्रमका दीर्घकालतक विधिपूर्वक निर्वाह करके उससे उऋण हो वृद्ध अथवा रोगी हो जानेपर अपनी दुर्बलता दिखा सभी लोगोंसे गृहत्यागके लिये अनुमति ले फिर समस्त भाई-बन्धुओं और कर्मानुष्ठानोंका त्याग करके अपने धर्मकार्यके लिये विधिवत् दान करनेके पश्चात् मीठी वाणी बोलकर सब लोगोंसे आज्ञा ले नूतन वस्त्र धारण करे। उसे कुशकी रस्सीसे बाँध ले । इसके बाद आचमनपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ आत्मत्यागकी प्रतिज्ञा करके ग्राम्यधर्मको छोड़कर इच्छानुसार कार्य करे ॥

महाप्रस्थानमिच्छेच्चेत् प्रतिष्ठेतोत्तरां दिशम् ॥
भूत्वा तावन्निराहारो यावत् प्राणविमोक्षणम् ।
नेष्टाहानो शयित्वापि तन्मनाः प्राणमुत्सृजेत् ॥
एवं पुण्यकृतां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥

यदि महाप्रस्थानकी इच्छा हो तो निराहार रहकर जबतक प्राण निकल न जायँ तबतक उत्तर दिशाकी ओर निरन्तर

प्रस्थान करे। जब शरीर निश्चेष्ट हो जाय, तब वहीं सोकर उस परमेश्वरमें मन लगाकर प्राणोंका परित्याग कर दे। ऐसा करनेसे वह पुण्यात्माओंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है॥

प्रायोपवेशनं चेच्छेत् तेनैव विधिना नरः।
देशे पुण्यतमे श्रेष्ठे निराहारस्तु संविशेत्॥

यदि मनुष्य प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) करना चाहे तो पूर्वोक्त विधिसे ही घर छोड़कर परम पवित्र श्रेष्ठतम देशमें निराहार होकर बैठ जाय॥

आप्राणान्तं शुचिर्भूत्वा कुर्वन् दानं स्वशक्तितः।
हरिं स्मरंस्त्यजेत् प्राणानेष धर्मः सनातनः॥

जबतक प्राणोंका अन्त न हो तबतक शुद्ध होकर अपनी शक्तिके अनुसार दान करते हुए भगवान्‌के स्मरणपूर्वक प्राणोंका परित्याग करे। यह सनातन धर्म है॥

एवं कलेवरं त्यक्त्वा स्वर्गलोके महीयते॥
अग्निप्रवेशनं चेच्छेत् तेनैव विधिना शुभे।
कृत्वा काष्ठमयं चित्यं पुण्यक्षेत्रे नदीषु वा॥
दैवतेभ्यो नमस्कृत्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
भूत्वा शुचिर्व्यवसितः स्मरन् नारायणं हरिम्॥
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्वा प्रविशेदग्निसंस्तरम्॥

शुभे! इस प्रकार शरीरका त्याग करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। यदि मनुष्य अग्निमें प्रवेश करना चाहे तो उसी विधिसे विदा लेकर किसी पुण्यक्षेत्रमें अथवा नदियोंके तटपर काठकी चिता बनावे। फिर देवताओंको नमस्कार और परिक्रमा करके शुद्ध एवं दृढ़निश्चयसे युक्त हो श्रीनारायण हरिका स्मरण करते हुए ब्राह्मणोंको मस्तक नवाकर उस प्रज्वलित चिताग्निमें प्रवेश कर जाय॥

सोऽपि लोकान् यथान्यायं प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥
जलावगाहनं चेच्छेत् तेनैव विधिना शुभे।
ख्याते पुण्यतमे तीर्थे निमज्जेत् सुकृतं स्मरन्॥
सोऽपि पुण्यतमाँल्लोकान् निसर्गात् प्रतिपद्यते॥

ऐसा पुरुष भी यथोचितरूपसे उक्त कार्य करके पुण्यात्माओंके लोक प्राप्त कर लेता है। शुभे! यदि कोई जलमें प्रवेश करना चाहे तो उसी विधिसे किसी विख्यात पवित्रतम तीर्थमें पुण्यका चिन्तन करते हुए डूब जाय। ऐसा मनुष्य भी स्वभावतः पुण्यतम लोकोंमें जाता है॥

ततः कल्यशरीरस्य संत्यागं शृणु तत्त्वतः॥
रक्षार्थं क्षत्रियस्येष्टः प्रजापालनकारणात्॥
योधानां भर्तृपिण्डार्थं गुर्वर्थं ब्रह्मचारिणाम्॥
गोब्राह्मणार्थं सर्वेषां प्राणत्यागो विधीयते॥

इसके बाद समर्थ शरीरवाले पुरुषके आत्मत्यागकी तात्त्विक विधि बताता हूँ, सुनो। क्षत्रियके लिये दीन-दुखियोंकी रक्षा और प्रजापालनके निमित्त प्राणत्याग अभीष्ट बताया गया है। योद्धा अपने स्वामीके अन्नका बदला चुकानेके लिये, ब्रह्मचारी गुरुके हितके लिये तथा सब लोग गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंको निछावर कर दें, यह शास्त्रका विधान है॥

स्वराज्यरक्षणार्थं वा कुनृपैः पीडिताः प्रजाः।
मोक्तुकामस्त्यजेत् प्राणान् युद्धमार्गे यथाविधि॥

राजा अपने राज्यकी रक्षाके लिये, अथवा दुष्ट नरेशोंद्वारा पीड़ित हुई प्रजाको सङ्कटसे छुड़ानेके लिये विधिपूर्वक युद्धके मार्गपर चलकर प्राणोंका परित्याग करे॥

सुसन्नद्धो व्यवसितः सम्प्रविश्यापराङ्मुखः॥
एवं राजा मृतः सद्यः स्वर्गलोके महीयते।
तादृशी सुगतिर्नास्ति क्षत्रियस्य विशेषतः॥

जो राजा कवच बाँधकर मनमें दृढ़ निश्चय ले युद्धमें प्रवेश करके पीठ नहीं दिखाता और शत्रुओंका सामना करता हुआ मारा जाता है, वह तत्काल स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। सामान्यतः सबके लिये और विशेषतः क्षत्रियके लिये वैसी उत्तम गति दूसरी नहीं है॥

भृत्यो वा भर्तृपिण्डार्थं भर्तृकर्मण्युपस्थिते।
कुर्वंस्तत्र तु साहाय्यमात्मप्राणानपेक्षया॥
स्वाम्यर्थं संत्यजेत् प्राणान् पुण्याँल्लोकान् स गच्छति
स्पृहणीयः सुरगणैस्तत्र नास्ति विचारणा।

जो भृत्य स्वामीके अन्नका बदला देनेके लिये उनका कार्य उपस्थित होनेपर अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी सहायता करता है और स्वामीके लिये प्राण त्याग देता है, वह देवसमूहोंके लिये स्पृहणीय हो पुण्यलोकोंमें जाता है। इस विषयमें कोई विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥

एवं गोब्राह्मणार्थं वा दीनार्थं वा त्यजेत् तनुम्॥
सोऽपि पुण्यमवाप्नोति आनृशंस्यव्यपेक्षया॥
इत्येते जीवितत्यागे मार्गास्ते समुदाहृताः॥

इस प्रकार जो गौओं, ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंकी रक्षाके लिये शरीरका त्याग करता है, वह भी दयाधर्मको अपनानेके कारण पुण्यलोकोंमें जाता है। इस तरह ये प्राणत्यागके समुचित मार्ग तुम्हें बताये गये हैं॥

कामात् क्रोधाद् भयाद् वापि यदि चेत् संत्यजेत् तनुम्।
सोऽनन्तं नरकं याति आत्महन्तृत्वकारणात्॥

यदि कोई काम, क्रोध अथवा भयसे शरीरका त्याग करे तो वह आत्महत्या करनेके कारण अनन्त नरकमें जाता है॥

स्वभावं मरणं नाम न तु चात्मेच्छया भवेत्।
यथा मृतानां यत् कार्यं तन्मे शृणु यथाविधि॥

स्वाभाविक मृत्यु वह है, जो अपनी इच्छासे नहीं होती, स्वतः प्राप्त हो जाती है। उसमें जिस प्रकार मरे हुए लोगोंके लिये जो कर्तव्य है, वह मुझसे विधिपूर्वक सुनो॥

तत्रापि मरणं त्यागो मूढत्यागाद् विशिष्यते।
भूमौ संवेशयेद् देहं नरस्य विनशिष्यतः॥
निर्जीवं वृणुयात् सद्यो वाससा तु कलेवरम्।
माल्यगन्धैरलङ्कृत्य सुवर्णेन च भामिनि॥
श्मशाने दक्षिणे देशे चिताग्नौ प्रदहेन्मृतम्।
अथवा निक्षिपेद् भूमौ शरीरं जीववर्जितम्॥

उसमें भी जो मरण या त्याग होता है, वह किसी मूर्खके

देहत्यागसे बढ़कर है। मरनेवाले मनुष्यके शरीरको पृथ्वीपर लिटा देना चाहिये और जब प्राण निकल जाय, तब तत्काल उसके शरीरको नूतन वस्त्रसे ढक देना चाहिये। भामिनि! फिर उसे माला, गन्ध और सुवर्णसे अलङ्कृत करके श्मशान-भूमिमें दक्षिण दिशाकी ओर चिताकी आगमें उस शवको जला देना चाहिये। अथवा निर्जीव शरीरको वहाँ भूमिपर ही डाल दे॥

दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च।
मुमूर्षूणां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्॥

दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणका समय मुमूर्षुओंके लिये उत्तम है। इसके विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन निन्दित हैं॥

औदकं चाष्टकाश्राद्धं बहुभिर्बहुभिः कृतम्।
आप्यायनं मृतानां तत् परलोके भवेच्छुभम्॥
एतत् सर्वं मया प्रोक्तं मानुषाणां हितं वचः॥

बहुत-से पुरुषोंद्वारा किया गया जलदान और अष्टका-श्राद्ध परलोकमें मृत पुरुषोंको तृप्त करनेवाला और शुभ होता है। यह सब मैंने मनुष्योंके लिये हितकारक बात बतायी है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[मोक्षधर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन, मोक्षसाधक ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय और मोक्षकी प्राप्तिमें वैराग्यकी प्रधानता]

उमोवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु कालसूदन शंकर।
लोकेषु विविधा धर्मास्त्वत्प्रसादान्मया श्रुताः॥
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यः शाश्वतं ध्रुवमव्ययम्।

उमाने कहा—देवदेव! कालसूदन शंकर! आपको नमस्कार है। आपकी कृपासे मैंने अनेक प्रकारके धर्म सुने। अब यह बताइये कि सम्पूर्ण धर्मोंमें श्रेष्ठ, सनातन, अटल और अविनाशी धर्म क्या है?॥

नारद उवाच

एवं पृष्टस्त्वया देव्या महादेवः पिनाकधृक्।
प्रोवाच मधुरं वाक्यं सूक्ष्ममध्यात्मसंश्रितम्॥

नारदजीने कहा—देवी पार्वतीके इस प्रकार पूछनेपर पिनाकधारी महादेवजीने सूक्ष्म अध्यात्म-भावसे युक्त मधुरवाणीमें इस प्रकार कहा॥

श्रीमहेश्वर उवाच

न्यायतस्त्वं महाभागे श्रोतुकामासि निश्चयम्।
एतदेव विशिष्टं ते यत् त्वं पृच्छसि मां प्रिये॥

श्रीमहेश्वर बोले—महाभागे! तुमने न्यायतः सुननेकी निश्चित इच्छा प्रकट की है, प्रिये! तुम मुझसे जो पूछती हो, यही तुम्हारा विशिष्ट गुण है॥

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्गलोकफलाश्रितः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥

सर्वत्र स्वर्गलोकरूपी फलके आश्रयभूत धर्मका विधान किया गया है। धर्मके बहुत-से द्वार हैं और उसकी कोई क्रिया यहाँ निष्फल नहीं होती॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
तं तमेवाभिजानाति नान्यं धर्मं शुचिस्मिते॥

शुचिस्मिते! जो-जो जिस-जिस विषयमें निश्चयको प्राप्त होता है, वह-वह उसी-उसीको धर्म समझता है, दूसरेको नहीं॥

शृणु देवि समासेन मोक्षद्वारमनुत्तमम्।
एतद्धि सर्वधर्माणां विशिष्टं शुभमव्ययम्॥

देवि! अब तुम संक्षेपसे परम उत्तम मोक्ष-द्वारका वर्णन सुनो। यही सब धर्मोंमें उत्तम, शुभ और अविनाशी है॥

नास्ति मोक्षात् परं देवि नास्ति मोक्षात् परा गतिः।
सुखमात्यन्तिकं श्रेष्ठमनिवृत्तं च तद् विदुः॥

देवि! मोक्षसे उत्तम कोई तत्त्व नहीं है और मोक्षसे श्रेष्ठ कोई गति नहीं है। ज्ञानी पुरुष मोक्षको कभी निवृत्त न होनेवाला, श्रेष्ठ एवं आत्यन्तिक सुख मानते हैं॥

नात्र देवि जरा मृत्युः शोको वा दुःखमेव वा।
अनुत्तममचिन्त्यं च तद् देवि परमं सुखम्॥

देवि! इसमें जरा, मृत्यु, शोक अथवा दुःख नहीं है। वह सर्वोत्तम अचिन्त्य परमसुख है॥

ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानं मोक्षज्ञानं विदुर्बुधाः।
ऋषिभिर्देवसङ्घैश्च प्रोच्यते परमं पदम्॥

विद्वान् पुरुष मोक्षज्ञानको सब ज्ञानोंमें उत्तम मानते हैं। ऋषि और देवसमुदाय उसे परमपद कहते हैं॥

नित्यमक्षरमक्षोभ्यमजेयं शाश्वतं शिवम्।
विशन्ति तत् परं प्राज्ञाः स्पृहणीयं सुरासुरैः॥

नित्य, अविनाशी, अक्षोभ्य, अजेय, शाश्वत और शिव स्वरूप वह मोक्षपद देवताओं और असुरोंके लिये भी स्पृहणीय है। ज्ञानी पुरुष उसमें प्रवेश करते हैं॥

दुःखादिश्च दुरन्तश्च संसारोऽयं प्रकीर्तितः।
शोकव्याधिजरादोषैर्मरणेन च संयुतः॥

यह संसार आदि और अन्तमें दुःखमय कहा गया है। यह शोक, व्याधि, जरा और मृत्युके दोषोंसे युक्त है॥

यथा ज्योतिर्गणा व्योम्नि निवर्तन्ते पुनः पुनः।
एवं जीवा अमी लोके निवर्तन्ते पुनः पुनः॥
तस्य मोक्षस्य मार्गोऽयं श्रूयतां शुभलक्षणे॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तश्च संसारो यः प्रकीर्तितः।
संसारे प्राणिनः सर्वे निवर्तन्ते यथा पुनः॥

जैसे आकाशमें नक्षत्रगण बारंबार आते और निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ये जीव लोकमें बारंबार लौटते रहते हैं। शुभलक्षणे! उसके मोक्षका यह मार्ग सुनो। ब्रह्माजीसे लेकर स्थावर वृक्षोंतक जो संसार बताया गया है, इसमें सब प्राणी बारंबार लौटते हैं॥

तत्र संसारचक्रस्य मोक्षो ज्ञानेन दृश्यते।
अध्यात्मतत्त्वविज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते॥

ज्ञानस्य ग्रहणोपायमाचारं ज्ञानिनस्तथा।
यथावत् सम्प्रवक्ष्यामि तत् त्वमेकमनाः शृणु॥

वहाँ संसार-चक्रका ज्ञानके द्वारा मोक्ष देखा जाता है। अध्यात्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लेना ही ज्ञान कहलाता है। प्रिये! उस ज्ञानको ग्रहण करनेका जो उपाय है तथा ज्ञानीका जो आचार है, उसका मैं यथावत् रूपसे वर्णन करूँगा। तुम एकचित्त होकर इसे सुनो॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि भूत्वा पूर्वं गृहे स्थितः।
आनृण्यं सर्वतः प्राप्य ततस्तान् संत्यजेद् गृहान्॥
ततः संत्यज्य गार्हस्थ्यं निश्चितो वनमाश्रयेत्॥
वने गुरुं समाज्ञाय दीक्षितो विधिपूर्वकम्।
दीक्षां प्राप्य यथान्यायं स्ववृत्तं परिपालयेत्॥
गृह्णीयादप्युपाध्यायान्मोक्षज्ञानमनिन्दितः।
द्विविधं च पुनर्मोक्षं सांख्यं योगमिति स्मृतिः॥

ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय पहले घरमें स्थित रहकर सब प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो अन्तमें उन घरोंका परित्याग कर दे। इस तरह गार्हस्थ्य-आश्रमको त्यागकर वह निश्चितरूपसे वनका आश्रय ले। वनमें गुरुकी आज्ञा ले विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करे और दीक्षा पाकर यथोचित रीतिसे अपने सदाचारका पालन करे। तदनन्तर गुरुसे मोक्षज्ञानको ग्रहण करे और अनिन्द्य आचरणसे रहे। मोक्ष भी दो प्रकारका है—एक सांख्य-साध्य और दूसरा योग-साध्य। ऐसा शास्त्रका कथन है॥

पञ्चविंशतिविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।
ऐश्वर्यं देवसारूप्यं योगशास्त्रस्य निर्णयः॥
तयोरन्यतरं ज्ञानं शृणुयाच्छिष्यतां गतः।
नाकालो नाप्यकाषायी नाप्यसंवत्सरोषितः।
नासांख्ययोगो नाश्रद्धं गुरुणा स्नेहपूर्वकम्॥

पचीस तत्त्वोंका ज्ञान सांख्य कहलाता है। अणिमा आदि ऐश्वर्य और देवताओंके समान रूप—यह योगशास्त्रका निर्णय है। इन दोनोंमेंसे किसी एक ज्ञानका शिष्यभावसे श्रवण करे। न तो असमयमें, न गेरुआ वस्त्र धारण किये बिना, न एक वर्षतक गुरुकी सेवामें रहे बिना, न सांख्य या योगमेंसे किसीको अपनाये बिना और न श्रद्धाके बिना ही गुरुका स्नेहपूर्वक उपदेश ग्रहण करे॥

समः शीतोष्णहर्षादीन् विषहेत स वै मुनिः॥
अमृष्यः क्षुत्पिपासाभ्यामुचितेभ्यो निवर्तयेत्।
त्यजेत् संकल्पजान् ग्रन्थीन् सदा ध्यानपरो भवेत्॥
कुण्डिका चमसं शिक्यं छत्रं यष्टिमुपानहौ।
चैलमित्येव नैतेषु स्थापयेत् स्वाम्यमात्मनः॥
गुरोः पूर्वं समुत्तिष्ठेज्जघन्यं तस्य संविशेत्।
नैवाविज्ञाप्य भर्तारमावश्यकमपि व्रजेत्॥
द्विरह्नि स्नानशाटेन संध्ययोरभिषेचनम्।
एककालाशनं चास्य विहितं यतिभिः पुरा॥

जो सर्वत्र समान भाव रखते हुए सर्दी-गर्मी और हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको सहन करे, वही मुनि है। भूख-प्यासके वशीभूत न हो, उचित भोगोंसे भी अपने मनको हटा ले, संकल्पजनित ग्रन्थियोंको त्याग दे और सदा ध्यानमें तत्पर रहे। कुंडी, चमस (प्याली), छींका, छाता, लाठी, जूता और वस्त्र—इन वस्तुओंमें भी अपना स्वामित्व स्थापित न करे। गुरुसे पहले उठे और उनसे पीछे सोवे। स्वामी (गुरु) को सूचित किये बिना किसी आवश्यक कार्यके लिये भी न जाय। प्रतिदिन दिनमें दो बार दोनों संध्याओंके समय वस्त्र-सहित स्नान करे। उसके लिये चौबीस घंटेमें एक समय भोजनका विधान है। पूर्वकालके यतियोंने ऐसा ही किया है॥

भैक्षं सर्वत्र गृह्णीयाच्चिन्तयेत् सततं निशि।
कारणे चापि सम्प्राप्ते न कुप्येत कदाचन॥

सर्वत्र भिक्षा ग्रहण करे, रातमें सदा परमात्माका चिन्तन करे, कोपका कारण प्राप्त होनेपर भी कभी कुपित न हो॥

ब्रह्मचर्यं वने वासः शौचमिन्द्रियसंयमः।
दया च सर्वभूतेषु तस्य धर्मः सनातनः॥

ब्रह्मचर्य, वनवास, पवित्रता, इन्द्रियसंयम और समस्त प्राणियोंपर दया—यह संन्यासीका सनातन धर्म है॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
आत्मयुक्तः परां बुद्धिं लभते पापनाशिनीम्॥

वह समस्त पापोंसे दूर रहकर हल्का भोजन करे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे और परमात्मचिन्तनमें लगा रहे। इससे उसे पापनाशिनी श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त होती है॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
अनिष्ठुरोऽनहङ्कारो निर्द्वन्द्वो वीतमत्सरः।
वीतशोकभयाबाधः पदं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
समः शत्रौ च मित्रे च निर्वाणमधिगच्छति॥

जब मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता, तब वह यति ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। निष्ठुरताशून्य, अहंकाररहित, द्वन्द्वातीत और मात्सर्य-हीन यति शोक, भय और बाधासे रहित हो सर्वोत्तम ब्रह्मपद-को प्राप्त होता है। जिसकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान है, जो मौन रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है तथा जिसका शत्रु और मित्रके प्रति समभाव है, वह निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है॥

एवंयुक्तसमाचारस्तत्परोऽध्यात्मचिन्तकः।
ज्ञानाभ्यासेन तेनैव प्राप्नोति परमां गतिम्॥

ऐसे आचरणसे युक्त, तत्पर और अध्यात्मचिन्तनशील यति उसी ज्ञानाभ्याससे परमगतिको प्राप्त कर लेता है॥

अनुद्विग्नमतेर्जन्तोरस्मिन् संसारमण्डले।
शोकव्याधिजरादुःखैर्निर्वाणं नोपपद्यते॥
तस्मादुद्वेगजननं मनोऽवस्थापनं तथा।
ज्ञानं ते सम्प्रवक्ष्यामि तन्मूलममृतं हि वै॥

इस संसार-मण्डलमें जिस प्राणीकी बुद्धि उद्वेगशून्य है,

वह शोक, व्याधि और वृद्धावस्थाके दुःखोंसे मुक्त हो निर्वाण-को प्राप्त होता है । इसलिये संसारसे वैराग्य उत्पन्न करानेवाले और मनको स्थिर रखनेवाले ज्ञानका तुम्हारे लिये उपदेश करूँगा; क्योंकि अमृत(मोक्ष) का मूल कारण ज्ञान ही है ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं । वे मूर्ख मनुष्यपर ही प्रतिदिन प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं ॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्य पदमाव्रजेत् ॥

धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तो 'अहो ! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ गया ।' ऐसा सोचता हुआ मनुष्य शोकके आश्रयमें आ जाता है ॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये शुभास्तान् न चिन्तयेत् ।
ताननाद्रियमाणस्य शोकबन्धः प्रणश्यति ॥

किसी भी द्रव्यके नष्ट हो जानेपर जो उसके शुभ गुण हैं, उनका चिन्तन न करे । उन गुणोंका आदर न करनेवाले पुरुषके शोकका बन्धन नष्ट हो जाता है ॥

सम्प्रयोगादनिष्टस्य विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मानुषा मानसैर्दुःखैः संयुज्यन्तेऽल्पबुद्धयः ॥

अप्रिय वस्तुका संयोग और प्रिय वस्तुका वियोग प्राप्त होनेपर अल्पबुद्धि मनुष्य मानसिक दुःखोंसे संयुक्त हो जाते हैं ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
संतापेन च युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥
उत्पन्नमिह मानुष्ये गर्भप्रभृति मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

जो मरे हुए पुरुष या खोयी हुई वस्तुके लिये शोक करता है, वह केवल संतापका भागी होता है । उसका वह दुःख मिटता नहीं है। मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए मानवके पास गर्भावस्थासे ही नाना प्रकारके दुःख और सुख आते रहते हैं ॥

तयोरेकतरो मार्गो यद्येनमभिसंनमेत् ।
सुखं प्राप्य न संहृष्येन्न दुःखं प्राप्य संज्वरेत् ॥

उनमेंसे कोई एक मार्ग यदि इसे प्राप्त हो तो यह मनुष्य सुख पाकर हर्ष न करे और दुःख पाकर चिन्तित न हो ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र स्नेहः प्रवर्तते ।
अनिष्टेनान्वितं पश्येद् यथा क्षिप्रं विरज्यते ॥

जहाँ आसक्ति हो रही हो, वहाँ दोष देखना चाहिये । उस वस्तुको अनिष्टकी दृष्टिसे देखे, जिससे उसकी ओरसे शीघ्र ही वैराग्य हो जाय ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वज्ज्ञातिसमागमः ॥

जैसे महासागरमें दो काठ इधर-उधरसे आकर मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार जाति-भाइयोंका समागम होता है ॥

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।
स्नेहस्तत्र न कर्तव्यो विप्रयोगो हि तैर्ध्रुवः ॥

सब लोग अदृश्य स्थानसे आये थे और पुनः अदृश्य स्थानको चले गये हैं । उनके प्रति स्नेह नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनके साथ वियोग होना निश्चित था ॥

कुटुम्बपुत्रदाराश्च शरीरं धनसंचयः ।
ऐश्वर्यं स्वस्थता चेति न मुह्येत् तत्र पण्डितः ॥
सुखमेकान्ततो नास्ति शक्रस्यापि त्रिविष्टपे ।
तत्रापि सुमहद् दुःखं सुखमल्पतरं भवेत् ॥

कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, शरीर, धनसंचय, ऐश्वर्य और स्वस्थता—इनके प्रति विद्वान् पुरुषको आसक्त नहीं होना चाहिये । स्वर्गमें रहनेवाले देवराज इन्द्रको भी केवल सुख-ही-सुख नहीं मिलता । वहाँ भी दुःख अधिक और सुख बहुत कम है ॥

न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥

किसीको भी न तो सदा दुःख मिलता है और न सदा सुख ही मिलता है । सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहता है ॥

क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥
उच्छ्रयान् विनिपातांश्च दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः स्वयम् ।
अनित्यमसुखं चेति व्यवस्येत् सर्वमेव च ॥

सारे संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है । उत्थान और पतनको स्वयं ही प्रत्यक्ष देखकर यह निश्चय करे कि यहाँका सब कुछ अनित्य और दुःखरूप है ॥

अर्थानामार्जने दुःखमार्जितानां तु रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥

धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जित हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाश और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है ॥

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः ।
राजा चोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च ॥
अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय ।
न ह्यनर्थाः प्रबाधन्ते नरमर्थविवर्जितम् ॥

धनवान् मनुष्यपर सदा पाँच शत्रु चोट करते रहते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय । प्रिये ! इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो । धनरहित पुरुषको अनर्थ बाधा नहीं देते हैं ॥

अर्थप्राप्तिर्महद् दुःखमाकिंचन्यं परं सुखम् ।
उपद्रवेषु चार्थानां दुःखं हि नियतं भवेत् ॥

धनकी प्राप्ति महान् दुःख है और अकिंचनता (निर्धनता) परम सुख है; क्योंकि जब धनपर उपद्रव आते हैं, तब निश्चय ही बड़ा दुःख होता है ॥

धनलोभेन तृष्णाया न तृप्तिरुपलभ्यते ।

लब्धाश्रयो विवर्धेत समिद्ध इव पावकः ॥

धनके लोभसे तृष्णाकी कभी तृप्ति नहीं होती है। तृष्णा या लोभको आश्रय मिल जाय तो प्रज्वलित अग्निके समान उसकी वृद्धि होने लगती है ॥

जित्वापि पृथिवीं कृत्स्नां चतुःसागरमेखलाम्।
सागराणां पुनः पारं जेतुमिच्छत्यसंशयम् ॥

चारों समुद्र जिसकी मेखला है, उस सारी पृथ्वीको जीतकर भी मनुष्य संतुष्ट नहीं होता। वह फिर समुद्रके पारवाले देशोंको भी जीतनेकी इच्छा करता है, इसमें संशय नहीं है ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कोशकारः कृमिर्देवि बध्यते हि परिग्रहात् ॥

परिग्रह (संग्रह) से यहाँ कोई लाभ नहीं; क्योंकि परिग्रह दोषसे भरा हुआ है। देवि ! रेशमका कीड़ा परिग्रहसे ही बन्धनको प्राप्त होता है ॥

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति च।
एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृपः ॥
तस्मिन् राष्ट्रेऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति।
नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम् ॥

जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्रमें निवास करता है। उस राष्ट्रमें भी किसी एक ही नगरमें रहता है। उस नगरमें भी किसी एक ही घरमें उसका निवास होता है ॥

एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद्गृहेऽपि च।
आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते ॥

उस घरमें भी उसके लिये एक ही कमरा नियत होता है। उस कमरेमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥

शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रियाश्चार्धं विधीयते।
तदनेन प्रसङ्गेन स्वल्पेनैवेह युज्यते ॥
सर्वं ममेति सम्मूढो बलं पश्यति बालिशः।
एवं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम् ॥
तण्डुलप्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वदेहिनाम्।
ततो भूयस्तरो भोगो दुःखाय तपनाय च ॥

उस शय्याका भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानीके काम आता है। इस प्रसङ्गसे वह अपने लिये थोड़ेसे ही भागका उपयोग कर पाता है। तो भी वह मूर्ख गवाँर सारे भूमण्डलको अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही बल देखता है। इस प्रकार सभी वस्तुओंके उपयोगोंमें उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन सेरभर चावलसे ही समस्त देहधारियोंकी प्राणयात्राका निर्वाह होता है। उससे अधिक भोग दुःख और संतापका कारण होता है ॥

नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं है, त्यागके समान कोई सुख नहीं है। समस्त कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्यके बूढ़े हो जानेपर स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग कहा गया है, उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता है ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

भोगोंकी तृष्णा कभी भोग भोगनेसे शान्त नहीं होती, अपितु घीसे प्रज्वलित होनेवाली आगके समान अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥

अलाभेनैव कामानां शोकं त्यजति पण्डितः।
आयासविटपस्तीव्रः कामाग्निः कर्षणारणिः ॥
इन्द्रियार्थेन सम्मोह्य दहत्यकुशलं जनम् ॥

भोगोंकी प्राप्ति न होनेसे ही विद्वान् पुरुष शोकको त्याग देता है। आयासरूपी वृक्षपर तीव्रवेगसे प्रज्वलित और आकर्षणरूपी अग्निसे प्रकट हुई कामनारूप अग्नि मूर्ख मनुष्यको विषयोंद्वारा मोहित करके जला डालती है ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य पर्याप्तमिति पश्यन् न मुह्यति ॥

इस पृथ्वीपर जो धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर एक पुरुषके लिये पर्याप्त नहीं हैं। ऐसा देखने और समझनेवाला पुरुष मोहमें नहीं पड़ता है ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

लोकमें जो काम-सुख है और परलोकमें जो महान् दिव्य सुख है—ये दोनों मिलकर तृष्णाक्षयजनित सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु नैव धीरो नियोजयेत्।
मनःषष्ठानि संयम्य नित्यमात्मनि योजयेत् ॥
इन्द्रियाणां विसर्गेण दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य नु तान्येव ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
षण्णामात्मनि युक्तानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न च पापैर्न चानर्थैः संयुज्येत विचक्षणः ॥

धीर पुरुष अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें न लगावे। मनसहित उनका संयम करके उन्हें सदा परमात्माके ध्यानमें नियुक्त करे। इन्द्रियोंको खुली छोड़ देनेसे निश्चय ही दोषकी प्राप्ति होती है और उन्हींका संयम कर लेनेसे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जो परमात्म-चिन्तनमें लगी हुई मनसहित छहों इन्द्रियोंपर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है, वह विद्वान् पापों और अनर्थोंसे संयुक्त नहीं होता है ॥

अप्रमत्तः सदा रक्षेदिन्द्रियाणि विचक्षणः।
अरक्षितेषु तेष्वाशु नरो नरकमेति हि ॥

विद्वान् पुरुष सावधान रहकर सदा अपनी इन्द्रियोंकी रक्षा करे; क्योंकि उनकी रक्षा न होनेपर मनुष्य शीघ्र ही नरकमें गिर जाता है ॥

हृदि काममयश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः।
अज्ञानरूढमूलस्तु विधित्सापरिषेचनः॥
रोषलोभमहास्कन्धः पुरा दुष्कृतसारवान्।
आयासविटपस्तीव्रशोकपुष्पो भयाङ्कुरः॥
नानासंकल्पपत्राढ्यः प्रमादात् परिवर्धितः।
महतीभिः पिपासाभिः समन्तात् परिवेष्टितः॥
संरोहत्यकृतप्रज्ञे पादपः कामसम्भवः॥
नैव रोहति तत्त्वज्ञे रूढो वा छिद्यते पुनः॥
कृच्छ्रोपायेष्वनित्येषु निस्सारेषु फलेषु च।
दुःखादिषु दुरन्तेषु कामयोगेषु का रतिः॥

एक काममय वृक्ष है, जो मोह-संचयरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है। वह काममय विचित्र वृक्ष हृदयदेशमें ही स्थित है। अज्ञान ही उसकी मजबूत जड़ है। सकाम कर्म करनेकी इच्छा ही उसे सींचना है। रोष और लोभ ही उसका विशाल तना है। पाप ही उसका सार भाग है। आयास-प्रयास ही उसकी शाखाएँ हैं। तीव्रशोक पुष्प है, भय अङ्कुर है। नाना प्रकारके संकल्प उसके पत्ते हैं। यह प्रमादसे बढ़ा हुआ है। बड़ी भारी पिपासा या तृष्णा ही लता बनकर उस काम-वृक्षमें सब ओरसे लिपटी हुई है। अज्ञानी मनुष्यमें ही यह काममय वृक्ष उत्पन्न होता और बढ़ता है। तत्त्वज्ञ पुरुषमें यह नहीं अङ्कुरित होता है। यदि हुआ भी तो पुनः कट जाता है। यह काम कठिन उपायोंसे साध्य है, अनित्य है, उसके फल निःसार हैं, उसका आदि और अन्त भी दुःखमय है, उससे सम्बन्ध जोड़नेमें क्या अनुराग हो सकता है? ॥

इन्द्रियेषु च जीर्यत्सु छिद्यमाने तथाऽऽयुषि।
पुरस्ताच्च स्थिते मृत्यौ किं सुखं पश्यतः शुभे॥

शुभे! इन्द्रियाँ सदा जीर्ण हो रही हैं, आयु नष्ट होती चली जा रही है और मौत सामने खड़ी है—यह सब देखते हुए किसीको संसारमें क्या सुख प्रतीत होगा? ॥

व्याधिभिः पीड्यमानस्य नित्यं शारीरमानसैः।
नरस्याकृतकृत्यस्य किं सुखं मरणे सति॥

मनुष्य सदा शारीरिक और मानसिक व्याधियोंसे पीड़ित होता है और अपनी अधूरी इच्छाएँ लिये ही मर जाता है। अतः यहाँ कौन-सा सुख है? ॥

संचिन्तयानमेवार्थं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवारण्ये मृत्युरादाय गच्छति॥
जन्ममृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यमानस्तु पापान्नोद्विजते जनः॥

मानव अपने मनोरथोंकी पूर्तिका उपाय सोचता रहता है और कामनाओंसे अतृप्त ही बना रहता है। तभी जैसे जंगलमें बाघ आकर सहसा किसी पशुको दबोच लेता है, उसी प्रकार मौत उसे उठा ले जाती है। जन्म, मृत्यु और जरा-सम्बन्धी दुःखोंसे सदा आक्रान्त होकर संसारमें मनुष्य पकाया जा रहा है, तो भी वह पापसे उद्विग्न नहीं हो रहा है ॥

उमोवाच

केनोपायेन मर्त्यानां निवर्तेते जरान्तकौ।
यद्यस्ति भगवन् मह्यमेतदाचक्ष्व मा चिरम्॥

उमाने पूछा—भगवन्! मनुष्योंकी वृद्धावस्था और मृत्यु किस उपायसे निवृत्त होती है? यदि इसका कोई उपाय है तो यह मुझे बताइये, विलम्ब न कीजिये ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।
रसायनप्रयोगैर्वा केनात्येति जरान्तकौ॥

महान् तप, कर्म, शास्त्रज्ञान अथवा रासायनिक प्रयोग—किस उपायसे मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नैतदस्ति महाभागे जरामृत्युनिवर्तनम्।
सर्वलोकेषु जानीहि मोक्षादन्यत्र भामिनि॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे! ऐसी बात नहीं होती। भामिनि! तुम यह जान लो कि सम्पूर्ण संसारमें मोक्षके सिवा अन्यत्र जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती ॥

न धनेन न राज्येन नाग्र्येण तपसापि वा।
मरणं नातितरते विना मुक्त्या शरीरिणः॥

आत्माकी मुक्तिके बिना मनुष्य न तो धनसे, न राज्यसे और न श्रेष्ठ तपस्यासे ही मृत्युको लाँघ सकता है ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
न तरन्ति जरामृत्यू निर्वाणाधिगमाद् विना॥

सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ भी मोक्षकी उपलब्धि हुए बिना जरा और मृत्युको नहीं लाँघ सकते ॥

ऐश्वर्यं धनधान्यं च विद्यालाभस्तपस्तथा।
रसायनप्रयोगो वा न तरन्ति जरान्तकौ॥

ऐश्वर्य, धन-धान्य, विद्यालाभ, तप और रसायनप्रयोग—ये कोई भी जरा और मृत्युके पार नहीं जा सकते ॥

देवदानवगन्धर्वकिंनरोरगराक्षसान्।
स्ववशे कुरुते कालो न कालस्यास्त्यगोचरः॥
न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानमजस्रं ध्रुवमव्ययम्॥
स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानामहोरात्रेषु संततम्॥

देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग तथा राक्षसोंको भी काल अपने वशमें कर लेता है। कोई भी कालकी पहुँचसे परे नहीं है। गये हुए दिन, मास और रात्रियाँ फिर नहीं लौटती हैं। यह जीवात्मा उस निरन्तर चालू रहनेवाले अटल और अविनाशी मार्गको ग्रहण करता है। सरिताओंके स्रोतकी भाँति बीतती हुई आयुके दिन वापस नहीं लौटते हैं। दिन और रातोंमें व्याप्त हुई मनुष्योंकी आयु लेकर काल यहाँसे चल देता है ॥

जीवितं सर्वभूतानामक्षयः क्षपयन्नसौ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च॥

अक्षय सूर्य सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनको क्षीण करता हुआ अस्त होता और पुनः उदय होता रहता है ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं भवेत्।
गाधोदके मत्स्य इव किं नु तस्य कुमारता॥

एक-एक रात बीतनेपर आयु बहुत थोड़ी होती चली जाती है। जैसे थाह जलमें रहनेवाला मत्स्य सुखी नहीं रहता, उसी प्रकार जिसकी आयु क्षीण होती जा रही है, उस परिमित आयुवाले पुरुषको कुमारावस्थाका क्या सुख है?॥

मरणं हि शरीरस्य नियतं ध्रुवमेव च।
तिष्ठन्नपि क्षणं सर्वः कालस्यैति वशं पुनः॥

शरीरकी मृत्यु निश्चित और अटल है। सब लोग यहाँ क्षणभर ठहरकर पुनः कालके अधीन हो जाते हैं॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् यदि स्युः सर्वदेहिनः।
न चानिष्टं प्रवर्तेत शोको वा प्राणिनां क्वचित्॥

यदि समस्त देहधारी प्राणी न मरें और न बूढ़े हों तो न उन्हें अनिष्टकी प्राप्ति हो और न शोककी ही॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो भूतेषु तिष्ठति।
अप्रमत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
कोऽपि तद् वेद यत्रासौ मृत्युना नाभिवीक्षितः॥

समस्त प्राणियोंके असावधान रहनेपर भी काल सदा सावधान रहता है। उस सावधान कालके आश्रयमें आया हुआ कोई भी प्राणी बच नहीं सकता॥

कलका कार्य आज ही कर डाले, जिसे अपराह्णमें करना हो उसे पूर्वाह्णमें ही पूरा कर डाले। कौन उस स्थानको जानता है, जहाँ उसपर मृत्युकी दृष्टि नहीं पड़ी होगी॥

वर्षास्विदं करिष्यामि इदं ग्रीष्मवसन्तयोः।
इति बालश्चिन्तयति अन्तरायं न बुध्यते॥
इदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवं मनसा नराः।
अनवाप्तेषु कामेषु ह्रियन्ते मरणं प्रति॥
कालपाशेन बद्धानामहन्यहनि जीर्यताम्।
का श्रद्धा प्राणिनां मार्गे विषमे भ्रमतां सदा॥
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम्।
फलानामिव पक्वानां सदा हि पतनाद् भयम्॥

अविवेकी मनुष्य यह सोचता रहता है कि आगामी बरसातमें यह कार्य करूँगा और गर्मी तथा वसन्त ऋतुमें अमुक कार्य आरम्भ करूँगा; परंतु उसमें जो मौत विघ्न बनकर खड़ी रहती है, उसकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता है। 'मेरे पास यह हो जाय, वह हो जाय' इस प्रकार मन-ही-मन मनुष्य मनसूबे बाँधा करता है। उसकी कामनाएँ अप्राप्त ही रह जाती हैं और वह मृत्युकी ओर खिंचता चला जाता है। कालके बन्धनमें बँधकर प्रतिदिन जीर्ण होते और विषम-मार्गमें भटकते हुए प्राणियोंका इस जीवनपर क्या विश्वास हो सकता है। युवावस्थासे ही मनुष्य धर्मशील हो; क्योंकि जीवनका कोई सुदृढ़ निमित्त नहीं है। इसे पके हुए फलोंकी भाँति सदा ही पतनका भय बना रहता है॥

मर्त्यस्य किमु तैर्दारैः पुत्रैर्भोगैः प्रियैरपि।
एकाह्ना सर्वमुत्सृज्य मृत्योस्तु वशमन्वियात्॥

मनुष्यको उन स्त्रियों, पुत्रों और प्रिय भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है, जब कि वह एक ही दिनमें सबको छोड़कर मृत्युकी ओर चला जाता है॥

जायमानांश्च सम्प्रेक्ष्य म्रियमाणांस्तथैव च।
न संवेगोऽस्ति चेत् पुंसः काष्ठलोष्टसमो हि सः॥
विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्मित्रपरिग्रहैश्च।
विहाय यद् गच्छति सर्वमेवं
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च॥

संसारमें जन्म लेने और मरनेवालोंको देखकर भी यदि मनुष्यको वैराग्य नहीं होता तो वह चेतन नहीं, काठ और मिट्टीके ढेलेके समान जड है। जो विनाशशील है, जिसका जीवन निश्चित नहीं है, ऐसे पुरुषको बन्धुओं और मित्रोंके संग्रहसे क्या प्रयोजन है? क्योंकि वह सबको क्षणभरमें छोड़कर चल देता है और जाकर फिर कभी लौटता नहीं है॥

एवं चिन्तयतो नित्यं सर्वार्थानामनित्यताम्।
उद्वेगो जायते शीघ्रं निर्वाणस्य परस्परम्॥
तेनोद्वेगेन चाप्यस्य विमर्शो जायते पुनः।
विमर्शो नाम वैराग्यं सर्वद्रव्येषु जायते॥
वैराग्येण परां शान्तिं लभन्ते मानवाः शुभे।
मोक्षस्योपनिषद् दिव्यं वैराग्यमिति निश्चितम्॥
एतत् ते कथितं देवि वैराग्योत्पादनं वचः।
एवं संचिन्त्य संचिन्त्य मुच्यन्ते हि मुमुक्षवः॥

इस प्रकार सदा सभी पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करते हुए पुरुषको शीघ्र ही एक दूसरेसे वैराग्य होता है, जो मोक्षका कारण है। उस उद्वेगसे उसके मनमें पुनः विमर्श पैदा होता है। समस्त द्रव्योंकी ओरसे जो वैराग्य पैदा होता है, उसीका नाम विमर्श है। शुभे! वैराग्यसे मनुष्योंको बड़ी शान्ति मिलती है। वैराग्य मोक्षका निकटतम एवं दिव्य साधन है, यह निश्चितरूपसे कहा गया है। देवि! यह तुमसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाला वचन कहा गया है। मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार बारंबार विचार करनेसे मुक्त हो जाते हैं॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सांख्यज्ञानका प्रतिपादन करते हुए अव्यक्तादि चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति आदिका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि यथावत् ते शुचिस्मिते।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मर्त्यः संसारेषु प्रवर्तते॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुचिस्मिते! अब मैं तुमसे सांख्यज्ञानका यथावत् वर्णन करूँगा, जिसे जानकर मनुष्य फिर संसार-बन्धनमें नहीं पड़ता॥

ज्ञानेनैव विमुक्तास्ते सांख्याः संन्यासकोविदाः।
शारीरं तु तपो घोरं सांख्याः प्राहुर्निरर्थकम्॥

संन्यासकुशल सांख्यज्ञानी ज्ञानसे ही मुक्त हो जाते हैं। वे घोर शारीरिक तपको व्यर्थ बताते हैं॥

पञ्चविंशतिकं ज्ञानं तेषां ज्ञानमिति स्मृतम्।
मूलप्रकृतिरव्यक्तमव्यक्ताज्जायते महान्॥
महतोऽभूदहंकारस्तस्मात् तन्मात्रपञ्चकम्।
इन्द्रियाणि दशैकं च तन्मात्रेभ्यो भवन्त्युत॥
तेभ्यो भूतानि पञ्चभ्यः शरीरं वै प्रवर्तते।
इति क्षेत्रस्य संक्षेपः चतुर्विंशतिरिष्यते॥
पञ्चविंशतिरित्याहुः पुरुषेणेह संख्यया॥

पचीस तत्त्वोंका ज्ञान ही सांख्यज्ञान माना गया है। मूलप्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं, अव्यक्तसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है और अहंकारसे पाँच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। तन्मात्राओंसे दस इन्द्रियों और एक मनकी उत्पत्ति होती है। उनसे पाँच भूत प्रकट होते हैं और पाँच भूतोंसे इस शरीरका निर्माण होता है। यही क्षेत्रका संक्षेप स्वरूप है। इसीको चौबीस तत्त्वोंका समुदाय कहते हैं। इनमें पुरुषकी भी गणना कर लेनेपर कुल पचीस तत्त्व बताये गये हैं॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
तैः सृजत्यखिलं लोकं प्रकृतिस्त्वात्मजैर्गुणैः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
विकाराः प्रकृतेश्चैते वेदितव्या मनीषिभिः॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिजनित गुण हैं। प्रकृति इन तीनों आत्मज गुणोंसे सम्पूर्ण लोककी सृष्टि करती है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना और धृति—इन्हें मनीषी पुरुषोंको प्रकृतिके विकार जानना चाहिये॥

लक्षणं चापि सर्वेषां विकल्पस्त्वादितः पृथक्।
विस्तरेणैव वक्ष्यामि तस्य व्याख्यामहं शृणु॥

इन सबका लक्षण और आरम्भसे ही पृथक्-पृथक् विकल्प मैं विस्तारपूर्वक बताऊँगा, उसकी व्याख्या सुनो॥

नित्यमेकमणु व्यापि क्रियाहीनमहेतुकम्।
अग्राह्यमिन्द्रियैः सर्वैरेतदव्यक्तलक्षणम्॥
अव्यक्तं प्रकृतिर्मूलं प्रधानं योनिरव्ययम्।
अव्यक्तस्यैव नामानि शब्दैः पर्यायवाचकैः॥

नित्य, एक, अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, क्रियाहीन, हेतुरहित और सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य होना—यह अव्यक्तका लक्षण है। अव्यक्त, प्रकृति, मूल, प्रधान, योनि और अविनाशी—इन पर्यायवाची शब्दोंद्वारा अव्यक्तके ही नाम बताये जाते हैं॥

तत् सूक्ष्मत्वादनिर्देश्यं तत् सदित्यभिधीयते।
तन्मूलं च जगत् सर्वं तन्मूला सृष्टिरिष्यते॥

वह अव्यक्त अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अनिर्देश्य है—उसका वाणीद्वारा कोई संकेत नहीं किया जा सकता। वह 'सत्' कहलाता है। सम्पूर्ण जगत्का मूल वही है और सृष्टिका मूल भी उसीको बताया गया है॥

सत्त्वादयः प्रकृतिजा गुणास्तान् प्रब्रवीम्यहम्॥
सुखं तुष्टिः प्रकाशश्च त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः।
रागद्वेषौ सुखं दुःखं स्तम्भश्च रजसो गुणाः॥

सत्त्व आदि जो प्राकृत गुण हैं, उनको बता रहा हूँ। सुख, संतोष, प्रकाश—ये तीन सात्त्विक गुण हैं। राग-द्वेष, सुख-दुःख तथा उद्दण्डता—ये रजोगुणके गुण हैं॥

अप्रकाशो भयं मोहस्तन्द्री च तमसो गुणाः॥
श्रद्धा प्रहर्षो विज्ञानमसम्मोहो दया धृतिः।
सत्त्वे प्रवृद्धे वर्धन्ते विपरीते विपर्ययः॥

प्रकाशका अभाव, भय, मोह और आलस्यको तमोगुणके गुण समझो। श्रद्धा, हर्ष, विज्ञान, असम्मोह, दया और धैर्य—ये भाव सत्त्वगुणके बढ़नेपर बढ़ते हैं और तमोगुणके बढ़नेपर इनके विपरीत भाव अश्रद्धा आदिकी वृद्धि होती है॥

कामक्रोधौ मनस्तापो लोभो मोहस्तथा मृषा।
प्रवृद्धे परिवर्धन्ते रजस्येतानि सर्वशः॥
विषादः संशयो मोहस्तन्द्री निद्रा भयं तथा।
तमस्येतानि वर्धन्ते प्रवृद्धे हेत्वहेतुकम्॥

काम, क्रोध, मानसिक संताप, लोभ, मोह (आसक्ति) तथा मिथ्याभाषण—ये सारे दोष रजोगुणकी वृद्धि होनेपर बढ़ते हैं। विषाद, संशय, मोह, आलस्य, निद्रा, भय—ये तमोगुणकी वृद्धि होनेपर बढ़ते हैं॥

एवमन्योन्यमेतानि वर्धन्ते च पुनः पुनः।
हीयन्ते च तथा नित्यमभिभूतानि भूरिशः॥

इस प्रकार ये तीनों गुण बारंबार परस्पर बढ़ते हैं और एक-दूसरेसे अभिभूत होनेपर सदा ही क्षीण होते हैं॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं कायेन मनसापि वा।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तदा॥
यदा संतापसंयुक्तं चित्तक्षोभकरं भवेत्।
वर्तते रज इत्येव तदा तदभिचिन्तयेत्॥

इनमें शरीर अथवा मनसे जो प्रसन्नतायुक्त भाव हो, उसे सात्त्विक भाव है—ऐसा माने और अन्य भावोंकी उपेक्षा कर दे। जब चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला संतापयुक्त भाव हो, तब उसे रजोगुणकी प्रवृत्ति माने॥

यदा सम्मोहसंयुक्तं यद् विषादकरं भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥
समासात् सात्त्विको धर्मः समासाद् राजसं धनम्।
समासात् तामसः कामस्त्रिवर्गे त्रिगुणाः क्रमात्॥
ब्रह्मादिदेवसृष्टिर्या सात्त्विकीति प्रकीर्त्यते।
राजसी मानुषी सृष्टिः तिर्यग्योनिस्तु तामसी॥

जब मोहयुक्त और विषाद उत्पन्न करनेवाला भाव अतर्क्य और अज्ञातरूपसे प्रकट हो, तब उसे तमोगुणका कार्य समझना चाहिये। धर्म सात्त्विक है, धन राजस है और काम तामस बताया गया है। इस प्रकार त्रिवर्गमें क्रमशः तीनों गुणोंकी स्थिति संक्षेपमें बतायी गयी है। ब्रह्मा आदि देवताओं की जो सृष्टि है, वह सात्त्विकी बतायी जाती है। मनुष्योंकी राजसी सृष्टि है और तिर्यग्योनि तामसी कही गयी है॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

देवमानुषतिर्यक्षु यद्भूतं सचराचरम्।
आदिप्रभृति संयुक्तं व्याप्तमेभिस्त्रिभिर्गुणैः॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि महदादीनि लिङ्गतः।
विज्ञानं च विवेकश्च महतो लक्षणं भवेत्॥

सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले पुरुष ऊर्ध्व लोक (स्वर्ग आदि) में जाते हैं, रजोगुणी पुरुष मध्यलोक (मनुष्य-योनि) में स्थित होते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको—कीट-पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरक आदिको प्राप्त होते हैं। देवता, मनुष्य तथा तिर्यक् आदि योनियोंमें जो चराचर प्राणी हैं, वे आदि कालसे ही इन तीनों गुणोंद्वारा संयुक्त एवं व्याप्त हैं। अब मैं महत् आदि तत्त्वोंके लक्षण बताऊँगा। बुद्धिके द्वारा जो विवेक और ज्ञान होता है, वही शरीरमें महत्तत्त्वका लक्षण है ॥

महान् बुद्धिर्मतिः प्रज्ञा नामानि महतो विदुः।
अहङ्कारः स विज्ञेयो लक्षणेन समासतः॥
अहङ्कारेण भूतानां सर्गो नानाविधो भवेत्।
अहङ्कारनिवृत्तिर्हि निर्वाणायोपपद्यते॥

महान्, बुद्धि, मति और प्रज्ञा—ये महत्तत्त्वके नाम माने गये हैं। संक्षेपसे लक्षणद्वारा अहंकारका विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अहंकारसे ही प्राणियोंकी नाना प्रकारकी सृष्टि होती है। अहंकारकी निवृत्ति मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली होती है ॥

खं वायुरग्निः सलिलं पृथिवी चेति पञ्चमी।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पाँचवीं पृथ्वी—ये पाँच महाभूत हैं। ये ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम्।
स्पर्शवत् प्राणिनां चेष्टा पवनस्य गुणाः स्मृताः॥

शब्द, श्रवणेन्द्रिय तथा इन्द्रियोंके छिद्र—ये तीनों आकाशसे प्रकट हुए हैं। स्पर्श और प्राणियोंकी चेष्टा—ये वायुके गुण माने गये हैं ॥

रूपं पाकोऽक्षिणी ज्योतिश्चत्वारस्तेजसो गुणाः।
रसः स्नेहस्तथा जिह्वा शैत्यं च जलजा गुणाः॥

रूप, पाक, नेत्र और ज्योति—ये चार तेजके गुण हैं। रस, स्नेह, जिह्वा और शीतलता—ये चार जलके गुण हैं ॥

गन्धो घ्राणं शरीरं च पृथिव्यास्ते गुणास्त्रयः।
इति सर्वगुणा देवि विख्याताः पाञ्चभौतिकाः॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये पृथ्वीके तीन गुण हैं। देवि! इस प्रकार पाचों भूतोंके समस्त गुण विख्यात हैं ॥

गुणान् पूर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तराणि तु।
तस्मान्नैकगुणाश्चेह दृश्यन्ते भूतसृष्टयः॥
उपलभ्याप्सु ये गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः।
अपां गन्धगुणं प्राज्ञा नेच्छन्ति कमलेक्षणे॥

उत्तरोत्तर भूत पूर्व-पूर्व भूतके गुण ग्रहण करते हैं। इसीलिये यहाँ प्राणियोंकी सृष्टि अनेक गुणोंसे युक्त दिखायी देती है। कमलेक्षणे! कुछ अयोग्य मनुष्य जो जलमें सुगन्ध या दुर्गन्ध पाकर गन्धको जलका गुण बताते हैं, उसे विद्वान् पुरुष नहीं स्वीकार करते हैं ॥

तद् गन्धत्वमपां नास्ति पृथिव्या एव तद् गुणः।
भूमिर्गन्धे रसे स्नेहो ज्योतिश्चक्षुषि संस्थितम्॥

जलमें गन्ध नहीं है, गन्ध पृथ्वीका ही गुण है। गन्धमें भूमि, रसमें जल तथा नेत्रमें तेजकी स्थिति है ॥

प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशः शरीरिणाम्।
केशास्थिनखदन्तत्वक्पाणिपादशिरांसि च।
पृष्ठोदरकटिग्रीवाः सर्वं भूम्यात्मकं स्मृतम्॥

प्राण और अपानका आश्रय वायु है। देहधारियोंके शरीरमें जितने छिद्र हैं, उन सबमें आकाश व्याप्त है। केश, हड्डी, नख, दाँत, त्वचा, हाथ, पैर, सिर, पीठ, पेट, कमर और गर्दन—ये सब भूमिके कार्य माने गये हैं ॥

यत् किंचिदपि कायेऽस्मिन् धातुदोषमलाश्रितम्।
तत् सर्वं भौतिकं विद्धि देहैरेवास्य स्वामिकम्॥

इस शरीरमें जो कुछ भी धातु, दोष और मलसम्बन्धी वस्तुएँ हैं, उन सबको पाञ्चभौतिक समझो। शरीरोंके द्वारा ही इस विश्वपर पञ्चभूतोंका स्वामित्व है ॥

बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षुर्जिह्वाथ नासिका।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादौ मेढ्रं गुदस्तथा॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
बुद्धीन्द्रियार्थान् जानीयाद् भूतेभ्यस्त्वभिनिःसृतान्॥

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, वाक्, मेढ्र (लिङ्ग) और गुदा—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध—इन्हें ज्ञानेन्द्रियोंके विषय समझें। ये पाँचों भूतोंसे प्रकट हुए हैं ॥

वाक्यं क्रिया गतिः प्रीतिरुत्सर्गश्चेति पञ्चधा।
कर्मेन्द्रियार्थान् जानीयात् ते च भूतोद्भवा मताः॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते।
प्रार्थनालक्षणं तच्च इन्द्रियं तु मनः स्मृतम्॥

वाक्य, क्रिया, गति, प्रीति और उत्सर्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय जानें। ये भी पञ्चभूतोंसे उत्पन्न हुए माने गये हैं। समस्त इन्द्रियोंका स्वामी या प्रेरक मन कहलाता है। उसका लक्षण है प्रार्थना (किसी वस्तुकी चाह)। मनको भी इन्द्रिय ही माना गया है ॥

नियुङ्क्ते च सदा तानि भूतानि मनसा सह।
नियमे च विसर्गे च मनसः कारणं प्रभुः॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना धृतिः।
भूताभूतविकारश्च शरीरमिति संस्थितम्॥

जो प्रभु (आत्मा) मनके नियन्त्रण और सृष्टिमें कारण है, वही मनसहित सम्पूर्ण भूतोंको सदा विभिन्न कार्योंमें नियुक्त करता है। इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, धृति तथा भूताभूत-विकार—ये सब मिलकर शरीर हैं ॥

शरीराच्च परो देही शरीरं च व्यपाश्रितः।

शरीरिणः शरीरस्य सोऽन्तरं वेत्ति वै मुनिः ॥

शरीरसे परे शरीरधारी आत्मा है, जो शरीरका ही आश्रय लेकर रहता है। जो शरीर और शरीरीका अन्तर जानता है, वही मुनि है ॥

रसः स्पर्शश्च गन्धश्च रूपं शब्दविवर्जितम् ।
अशरीरं शरीरेषु दिदृक्षेत निरिन्द्रियम् ॥

रस, स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्दसे रहित, इन्द्रियहीन अशरीरी आत्माको शरीरके भीतर देखनेकी इच्छा करे ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येष्वमरमाश्रितम् ।
यः पश्येत् परमात्मानं बन्धनैः स विमुच्यते ॥

जो सम्पूर्ण मर्त्य शरीरोंमें अव्यक्त भावसे स्थित एवं अमर है, उस परमात्माको जो देखता है, वह बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
वसत्येको महावीर्यो नानाभावसमन्वितः ॥
नैव चोर्ध्वं न तिर्यक् च नाधस्तान्न कदाचन ।
इन्द्रियैरिह बुद्ध्या वा न दृश्येत कदाचन ॥

नाना भावोंसे युक्त वह महापराक्रमी परमात्मा अकेला ही सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें निवास करता है। वह न ऊपर, न अगल-बगलमें और न नीचे ही कभी दिखायी देता है। वह यहाँ इन्द्रियों अथवा बुद्धिके द्वारा कदापि दिखायी नहीं देता ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा सततं नियतो वशी ।
ईश्वरः सर्वलोकेषु स्थावरस्य चरस्य च ॥
तमेवाहुरणुभ्योऽणुं तं महद्भ्यो महत्तरम् ।
बहुधा सर्वभूतानि व्याप्य तिष्ठति शाश्वतम् ॥
क्षेत्रज्ञमेकतः कृत्वा सर्वं क्षेत्रमथैकतः ।
एवं संविमृशेज्ज्ञानी संयतः सततं हृदि ॥

नौ द्वारवाले नगर (शरीर) में जाकर वह सदा नियमपूर्वक निवास करता है। सबको वशमें रखता है। सम्पूर्ण लोकोंमें चराचर प्राणियोंका शासन करनेवाला ईश्वर भी वही है। उसे अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहते हैं। वह नाना प्रकारके सभी प्राणियोंको व्याप्त करके सदा स्थित रहता है। क्षेत्रज्ञको एक ओर करके दूसरी ओर सम्पूर्ण क्षेत्रको पृथक् करके रक्खे। संयमपूर्वक रहनेवाला ज्ञानी पुरुष सदा इस प्रकार अपने हृदयमें विचार करता रहे—जड और चेतनकी पृथक्ताका विवेचन किया करे ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
अकर्तालेपको नित्यो मध्यस्थः सर्वकर्मणाम् ॥

पुरुष प्रकृतिमें स्थित रहकर ही उससे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है। वह अकर्ता, निर्लेप, नित्य और समस्त कर्मोंका मध्यस्थ है ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
अजरोऽयमचिन्त्योऽयमव्यक्तोऽयं सनातनः ।
देही तेजोमयो देहे तिष्ठतीत्यपरे विदुः ॥
अपरे सर्वलोकांश्च व्याप्य तिष्ठन्तमीश्वरम् ।
ब्रुवते केचिदत्रैव तिलतैलवदास्थितम् ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है। दूसरे लोग ऐसा मानते हैं कि तेजोमय आत्मा इस शरीरके भीतर स्थित है। यह अजर, अचिन्त्य, अव्यक्त और सनातन है। कुछ विचारक सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हुए परमेश्वरको ही तिलमें तेलकी भाँति इस शरीरमें जीवात्मारूपसे विद्यमान बताते हैं ॥

अपरे नास्तिका मूढा भिन्नत्वात् स्थूललक्षणैः ।
नास्त्यात्मेति विनिश्चित्य प्रजास्ते निरयालयाः ॥
एवं नानाविधानेन विमृशन्ति महेश्वरम् ॥

दूसरे मूर्ख नास्तिक मनुष्य स्थूल लक्षणोंसे भिन्न होनेके कारण आत्माकी सत्ता ही नहीं मानते हैं। 'आत्मा नहीं है' ऐसा निश्चय कर वे लोग नरकके निवासी होते हैं। इस प्रकार महेश्वरके विषयमें नाना प्रकारसे विचार करते हैं ॥

उमोवाच

ऊहवान् ब्राह्मणो लोके नित्यमक्षरमव्ययम् ।
अस्त्यात्मा सर्वदेहेषु हेतुस्तत्र सुदुर्गमः ॥

उमाने कहा—भगवन् ! लोकमें जो विचारशील ब्राह्मण है, वह तो यही बताता है कि सम्पूर्ण शरीरोंमें नित्य, अक्षर, अविनाशी आत्मा अवश्य है। परंतु इसकी सत्यतामें क्या कारण है, इसे जानना अत्यन्त कठिन है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ऋषिभिश्चापि देवैश्च व्यक्तमेष न दृश्यते ।
दृष्ट्वा तु तं महात्मानं पुनस्तन्न निवर्तते ॥
तस्मात् तद्दर्शनादेव विन्दते परमां गतिम् ।
इति ते कथितो देवि सांख्यधर्मः सनातनः ॥
कपिलादिभिराचार्यैः सेवितः परमर्षिभिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! ऋषि और देवता भी इस परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते हैं। जो वास्तवमें उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, वह पुनः इस संसारमें नहीं लौटता है। देवि ! अतः उस परमात्माके दर्शनसे ही परमगति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह सनातन सांख्यधर्म तुम्हें बताया गया है; जो कपिल आदि आचार्यों एवं महर्षियोंद्वारा सेवित है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[योगधर्मका प्रतिपादनपूर्वक उसके फलका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सांख्यज्ञाने नियुक्तानां यथावत् कीर्तितं मया ।
योगधर्मं पुनः कृत्स्नं कीर्तयिष्यामि ते शृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो लोग सांख्यज्ञानमें नियुक्त हैं, उनके धर्मका मैंने यथावत् रूपसे वर्णन किया। अब तुमसे पुनः सम्पूर्ण योगधर्मका प्रतिपादन करूँगा, सुनो ॥

स च योगो द्विधा भिन्नो ब्रह्मदेवर्षिसम्मतः ।
समानमुभयत्रापि वृत्तं शास्त्रप्रचोदितम् ॥

वह ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंद्वारा सम्मत योग सबीज और निर्बीजके भेदसे दो प्रकारका है । उन दोनोंमें ही शास्त्रोक्त सदाचार समान है ॥

स चाष्टगुणमैश्वर्यमधिकृत्य विधीयते ।
सायुज्यं सर्वदेवानां योगधर्मः पराश्रितः ॥
ज्ञानं सर्वस्य योगस्य मूलमित्यवधारय ।
व्रतोपवासनियमैः तत् सर्वं चापि बृंहयेत् ॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व—इन आठ भेदोंवाले ऐश्वर्यपर अधिकार करके योगका अनुष्ठान किया जाता है । सम्पूर्ण देवताओंका सायुज्य पराश्रित योगधर्म है । ज्ञान सम्पूर्ण योगका मूल है, ऐसा समझो । साधकको व्रत, उपवास और नियमोंद्वारा उस सम्पूर्ण ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये ॥

ऐकाग्र्यं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ।
आत्मनोऽव्ययिनः प्राज्ञे ज्ञानमेतत् तु योगिनाम् ॥
अर्चयेद् ब्राह्मणानग्निं देवतायतनानि च ।
वर्जयेदशिवं भावं सर्वसत्त्वमुपाश्रितः ॥

बुद्धिमती पार्वती ! अविनाशी आत्मामें बुद्धि, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी एकाग्रता हो, यही योगियोंका ज्ञान है । ब्राह्मण, अग्नि और देवमन्दिरोंकी पूजा करे तथा पूर्णतः सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अमाङ्गलिक भावको त्याग दे ॥

दानमध्ययनं श्रद्धा व्रतानि नियमास्तथा ।
सत्यमाहारशुद्धिश्च शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥
एतैश्च वर्धते तेजः पापं चाप्यवधूयते ॥

दान, अध्ययन, श्रद्धा, व्रत, नियम, सत्य, आहारशुद्धि, शौच और इन्द्रिय-निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पाप धुल जाता है ॥

निर्धूतपापस्तेजस्वी निराहारो जितेन्द्रियः ।
अमोघो निर्मलो दान्तः पश्चाद् योगं समाचरेत् ॥

जिसका पाप धुल गया है, वह पहले तेजस्वी, निराहार, जितेन्द्रिय, अमोघ, निर्मल और मनका दमन करनेमें समर्थ हो जाय । तत्पश्चात् योगका अभ्यास करे ॥

एकान्ते विजने देशे सर्वतः संवृते शुचौ ।
कल्पयेदासनं तत्र स्वास्तीर्णं मृदुभिः कुशैः ॥

एकान्त निर्जन प्रदेशमें, जो सब ओरसे घिरा हुआ और पवित्र हो, कोमल कुशोंसे एक आसन बनावे और उसे वहाँ भलीभाँति बिछा दे ॥

उपविश्यासने तस्मिन्नृजुकायशिरोधरः ।
अव्यग्रः सुखमासीनः स्वाङ्गानि न विकम्पयेत् ॥
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

उस आसनपर बैठकर अपने शरीर और गर्दनको सीधी किये रहे । मनमें किसी प्रकारकी व्यग्रता न आने दे । सुखपूर्वक बैठकर अपने अङ्गोंको हिलने-डुलने न दे । अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करते हुए ध्यानमग्न हो जाय ॥

मनोऽवस्थापनं देवि योगस्योपनिषद् भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मनोऽवस्थापयेत् सदा ॥
त्वक्छ्रोत्रं च ततो जिह्वां घ्राणं चक्षुश्च संहरेत् ।
पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् बुधः ॥

देवि ! मनको दृढ़तापूर्वक स्थापित करना योगकी सिद्धिका सूचक है; अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मनको सदा स्थिर रखे । त्वचा, कान, जिह्वा, नासिका और नेत्र—इन सबको विषयोंकी ओरसे समेटे । पाँचों इन्द्रियोंको एकाग्र करके विद्वान् पुरुष उन्हें मनमें स्थापित करे ॥

सर्वं चापोह्य संकल्पमात्मनि स्थापयेन्मनः ।
यदैतान्यवतिष्ठन्ते मनःषष्ठानि चात्मनि ॥
प्राणापानौ तदा तस्य युगपत् तिष्ठतो वशे ।
प्राणे हि वशमापन्ने योगसिद्धिर्ध्रुवा भवेत् ॥
शरीरं चिन्तयेत् सर्वं विपाट्य च समीपतः ।
अन्तर्देहगतिं चापि प्राणानां परिचिन्तयेत् ॥

फिर सारे संकल्पोंको हटाकर मनको आत्मामें स्थापित करे । जब मनसहित ये पाँचों इन्द्रियाँ आत्मामें स्थिर हो जाती हैं, तब प्राण और अपान वायु एक ही साथ वशमें हो जाते हैं । प्राणके वशमें हो जानेपर योगसिद्धि अटल हो जाती है । सारे शरीरको निकटसे उघाड़-उघाड़कर देखे और यह क्या है ? इसका चिन्तन करे । शरीरके भीतर जो प्राणोंकी गति है, उसपर भी विचार करे ॥

ततो मूर्धानमग्निं च शरीरं परिपालयेत् ।
प्राणो मूर्धनि च श्वासो वर्तमानो विचेष्टते ॥
सन्नद्धस्तु सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयाश्च सः ॥
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं च समाश्रितः ।
वहन् मूत्रं पुरीषं च सदापानः प्रवर्तते ॥
अथ प्रवृत्तिर्देहेषु कर्मापानस्य सम्मतम् ।
उदीरयन् सर्वधातून् अत ऊर्ध्वं प्रवर्तते ॥
उदान इति तं विद्युरध्यात्मकुशला जनाः ॥

तत्पश्चात् मूर्धा, अग्नि और शरीरका परिपालन करे । मूर्धामें प्राणकी स्थिति है, जो श्वासरूपमें वर्तमान होकर चेष्टा करता है । सदा सन्नद्ध रहनेवाला प्राण ही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है । वही मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चभूत और विषयरूप है । बस्तिके मूलभाग, गुदा और अग्निके आश्रित हो अपानवायु सदा मल-मूत्रका वहन करती हुई अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है । देहोंमें प्रवृत्ति अपानवायुका कर्म मानी गयी है । जो वायु समस्त धातुओंको ऊपर उठाती हुई अपानसे ऊपरकी ओर प्रवृत्त होती है, उसे अध्यात्मकुशल मनुष्य 'उदान' मानते हैं ॥

संधौ संधौ स निर्दिष्टः सर्वचेष्टाप्रवर्तकः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥
धातुष्वग्नौ च विततः समानोऽग्निः समीरणः ।
स एव सर्वचेष्टानामन्तकाले निवर्तकः ॥

जो वायु मनुष्योंके शरीरोंकी एक-एक संधिमें व्याप्त

होकर उनकी सम्पूर्ण चेष्टाओंमें प्रवृत्तक होती है, उसे 'व्यान' कहते हैं। जो धातुओं और अग्निमें भी व्याप्त है, वह अग्निस्वरूप 'समान' वायु है। वही अन्तकालमें समस्त चेष्टाओंका निवर्तक होता है॥

प्राणानां संनिपातेषु संसर्गाद् यः प्रजायते।
ऊष्मा सोऽग्निरिति ज्ञेयः सोऽन्नं पचति देहिनाम्॥
अपानप्राणयोर्मध्ये व्यानोदानावुपाश्रितौ।
समन्वितः समानेन सम्यक् पचति पावकः॥
शरीरमध्ये नाभिः स्यात्ताभ्यामग्निः प्रतिष्ठितः।
अग्नौ प्राणाश्च संयुक्ताः प्राणेष्वात्मा व्यवस्थितः॥

समस्त प्राणोंका परस्पर संयोग होनेपर संसर्गवश जो ताप प्रकट होता है, उसीको अग्नि जानना चाहिये। वह अग्नि देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाती है। अपान और प्राण वायुके मध्यभागमें व्यान और उदान वायु स्थित है। समान वायुसे युक्त हुई अग्नि सम्यक् रूपसे अन्नका पाचन करती है। शरीरके मध्यभागमें नाभि है। नाभिके भीतर अग्नि प्रतिष्ठित है। अग्निसे प्राण जुड़े हुए हैं और प्राणोंमें आत्मा स्थित है॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभेरूर्ध्वमामाशयस्तथा।
नाभिर्मध्ये शरीरस्य सर्वप्राणाश्च संश्रिताः॥
स्थिताः प्राणादयः सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधश्चराः।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणाग्निचोदिताः॥
योगिनामेष मार्गस्तु पञ्चस्वेतेषु तिष्ठति।
जितश्रमः समासीनो मूर्धन्यात्मानमादधेत्॥

नाभिके नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है। शरीरके ठीक मध्यभागमें नाभि है और समस्त प्राण उसीका आश्रय लेकर स्थित हैं। समस्त प्राण आदि ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलमें विचरनेवाले हैं। दस प्राणोंसे तथा अग्निसे प्रेरित हो नाड़ियाँ अन्नरसका वहन करती हैं। यह योगियोंका मार्ग है, जो पाँचों प्राणोंमें स्थित है। साधकको चाहिये कि श्रमको जीतकर आसनपर आसीन हो आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित करे॥

मूर्धन्यात्मानमाधाय भ्रुवोर्मध्ये मनस्तथा।
संनिरुध्य ततः प्राणानात्मानं चिन्तयेत् परम्॥
प्राणे त्वपानं युञ्जीत प्राणांश्चापानकर्मणि।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरो भवेत्॥

मूर्धामें आत्माको स्थापित करके दोनों भौंहोंके बीचमें मनका अवरोध करे। तत्पश्चात् प्राणको भलीभाँति रोककर परमात्माका चिन्तन करे। प्राणमें अपानका और अपान कर्ममें प्राणोंका योग करे। फिर प्राण और अपानकी गतिको अवरुद्ध करके प्राणायाममें तत्पर हो जाय॥

एवमन्तः प्रयुञ्जीत पञ्च प्राणान् परस्परम्।
विजने सम्मिताहारो मुनिस्तूष्णीं निरुच्छ्वसन्॥
अश्रान्तश्चिन्तयेद् योगी उत्थाय च पुनः पुनः।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् वापि युञ्जीतैवमतन्द्रितः॥

इस प्रकार एकान्त प्रदेशमें बैठकर मिताहारी मुनि अपने अन्तःकरणमें पाँचों प्राणोंका परस्पर योग करे और चुपचाप उच्छ्वासरहित हो बिना किसी थकावटके ध्यानमग्न रहे। योगी पुरुष बारंबार उठकर भी चलते, सोते या ठहरते हुए भी आलस्य छोड़कर योगाभ्यासमें ही लगा रहे॥

एवं नियुञ्जतस्तस्य योगिनो युक्तचेतसः।
प्रसीदति मनः क्षिप्रं प्रसन्ने दृश्यते परम्॥
विधूम इव दीप्तोऽग्निरादित्य इव रश्मिमान्।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे पुरुषो दृश्यतेऽव्ययः॥

इस प्रकार जिसका चित्त ध्यानमें लगा हुआ है, ऐसे योगाभ्यासपरायण योगीका मन शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और मनके प्रसन्न होनेपर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है।

उस समय अविनाशी पुरुष परमात्मा धूमरहित प्रकाशित अग्नि, अंशुमाली सूर्य और आकाशमें चमकनेवाली बिजलीके समान दिखायी देता है॥

दृष्ट्वा तदा मनो ज्योतिरैश्वर्याष्टगुणैर्युतः।
प्राप्नोति परमं स्थानं स्पृहणीयं सुरैरपि॥

उस अवस्थामें मनके द्वारा ज्योतिर्मय परमेश्वरका दर्शन करके योगी अणिमा आदि आठ ऐश्वर्योंसे युक्त हो देवताओंके लिये भी स्पृहणीय परमपदको प्राप्त कर लेता है॥

इमान् योगस्य दोषांश्च दशैव परिचक्षते।
दोषैर्विघ्नो वरारोहे योगिनां कविभिः स्मृतः॥

वरारोहे! विद्वानोंने दोषोंसे योगियोंके मार्गमें विघ्नकी प्राप्ति बतायी है। वे योगके निम्नाङ्कित दस ही दोष बताते हैं॥

कामः क्रोधो भयं स्वप्नः स्नेहमत्यशनं तथा।
वैचित्त्यं व्याधिरालस्यं लोभश्च दशमः स्मृतः॥

काम, क्रोध, भय, स्वप्न, स्नेह, अधिक भोजन, वैचित्त्य (मानसिक विकलता), व्याधि, आलस्य और लोभ—ये ही उन दोषोंके नाम हैं। इनमें लोभ दसवाँ दोष है॥

एतैस्तेषां भवेद् विघ्नो दशभिर्दैवकारितैः।
तस्मादेतानपास्यादौ युञ्जीत च परं मनः॥
इमानपि गुणानष्टौ योगस्य परिचक्षते।
गुणैस्तैरष्टभिर्दिव्यमैश्वर्यमधिगम्यते॥

देवताओंद्वारा पैदा किये गये इन दस दोषोंसे योगियोंको विघ्न होता है; अतः पहले इन दस दोषोंको हटाकर मनको परमात्मामें लगावे। योगके निम्नाङ्कित आठ गुण बताये जाते हैं, जिनसे युक्त दिव्य ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है॥

अणिमा महिमा चैव प्राप्तिः प्राकाम्यमेव हि।
ईशित्वं च वशित्वं च यत्र कामावसायिता॥
एतानष्टौ गुणान् प्राप्य कथंचिद् योगिनां वराः।
ईशाः सर्वस्य लोकस्य देवानप्यतिशेरते॥
योगोऽस्ति नैवात्यशिनो न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य नातिजागरतस्तथा॥

अणिमा, महिमा और गरिमा, लघिमा तथा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, जिसमें इच्छाओंकी पूर्ति होती है। योगियोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी तरह इन आठ गुणोंको पाकर सम्पूर्ण जगत्पर शासन करनेमें समर्थ हो देवताओंसे

भी बढ़ जाते हैं। जो अधिक खानेवाला अथवा सर्वथा न खानेवाला है, अधिक सोनेवाला अथवा सर्वथा जागनेवाला है, उसका योग सिद्ध नहीं होता ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
अनेनैव विधानेन सायुज्यं तत् प्रकल्प्यते ।
सायुज्यं देवसात् कृत्वा प्रयुञ्जीतात्मभक्तितः ॥
अनन्यमनसा देवि नित्यं तद्गतचेतसा ।
सायुज्यं प्राप्यते देवैर्यत्नेन महता चिरात् ॥
हविर्भिरर्चनैर्होमैः प्रणामैर्नित्यचिन्तया ।
अर्चयित्वा यथाशक्ति स्वकं देवं विशन्ति ते ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग उसी पुरुषका सिद्ध होता है, जो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाला है, कर्मोंमें उपयुक्त चेष्टा करता है तथा उचित मात्रामें सोता और जागता है। इसी विधानसे देवसायुज्य प्राप्त होता है। अपनी भक्तिसे देवताओंका सायुज्य प्राप्त करके योगसाधनामें तत्पर रहे। देवि! प्रतिदिन एकाग्र और अनन्य चित्त हो चिरकाल-तक महान् यत्न करनेसे देवताओंके साथ सायुज्य प्राप्त होता है। योगीजन हविष्य, पूजा, हवन, प्रणाम तथा नित्य चिन्तनके द्वारा यथाशक्ति आराधना करके अपने इष्टदेवके स्वरूपमें प्रवेश कर जाते हैं ॥

सायुज्यानां विशिष्टं च मामकं वैष्णवं तथा ।
मां प्राप्य न निवर्तन्ते विष्णुं वा शुभलोचने ।
इति ते कथितो देवि योगधर्मः सनातनः ।
न शक्यं प्रष्टुमन्यैर्यो योगधर्मस्त्वया विना ॥

शुभलोचने! सायुज्योंमें मेरा तथा श्रीविष्णुका सायुज्य श्रेष्ठ है। मुझे या भगवान् विष्णुको प्राप्त करके मनुष्य पुनः संसारमें नहीं लौटते हैं। देवि! इस प्रकार मैंने तुमसे सनातन योग-धर्मका वर्णन किया है। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इस योगधर्मके विषयमें प्रश्न नहीं कर सकता था ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[पाशुपत योगका वर्णन तथा शिवलिङ्ग-पूजनका माहात्म्य]

उमोवाच

त्रियक्ष त्रिदशश्रेष्ठ त्र्यम्बक त्रिदशाधिप ।
त्रिपुरान्तक कामाङ्गहर त्रिपथगाधर ॥
दक्षयज्ञप्रमथन शूलपाणेऽरिसूदन ।
नमस्ते लोकपालेश लोकपालवरप्रद ॥

उमाने पूछा—तीन नेत्रधारी! त्रिदशश्रेष्ठ! देवेश्वर त्र्यम्बक! त्रिपुरोंका विनाश और कामदेवके शरीरको भस्म करनेवाले गङ्गाधर! दक्षयज्ञका नाश करनेवाले त्रिशूलधारी! शत्रुसूदन! लोकपालोंको भी वर देनेवाले लोकपालेश्वर! आपको नमस्कार है ॥

नैकशाखमपर्यन्तमध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सांख्ययोगसमन्वितम् ॥
भवता परिपृष्टेन शृण्वन्त्या मम भावितम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि सायुज्यं त्वद्गतं विभो ॥
कथं परिचरन्त्येते भक्तास्त्वां परमेष्ठिनम् ।
आचारः कीदृशस्तेषां केन तुष्टो भवेद् भवान् ॥
वर्ण्यमानं त्वया साक्षात् प्रीणयत्यधिकं हि माम् ॥

आपने मेरे पूछनेपर सुननेके लिये उत्सुक हुई मुझ दासीको वह उत्तम अध्यात्मज्ञान बताया है, जो अनेक शाखाओंसे युक्त, अनन्त, अतर्क्य, अविज्ञेय और सांख्ययोगसे युक्त है। प्रभो! इस समय मैं आपसे आपका ही सायुज्य सुनना चाहती हूँ। ये भक्तजन आप परमेष्ठीकी परिचर्या कैसे करते हैं? उनका आचार कैसा होता है? किस साधनसे आप संतुष्ट होते हैं? साक्षात् आपके द्वारा प्रतिपादित होनेपर यह विषय मुझे अधिक प्रसन्नता प्रदान करता है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम सायुज्यमद्भुतम् ।
येन ते न निवर्तन्ते युक्ताः परमयोगिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे अपने अद्भुत सायुज्यका वर्णन करता हूँ, जिससे युक्त हो वे परम योगी पुरुष फिर संसारमें नहीं लौटते हैं ॥

अव्यक्तोऽहमचिन्त्योऽहं पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
सांख्ययोगौ मया सृष्टौ सर्वं चापि चराचरम् ॥

पहलेके मुमुक्षुओंद्वारा भी मैं अव्यक्त और अचिन्त्य ही रहा हूँ। मैंने ही सांख्य और योगकी सृष्टि की है। समस्त चराचर जगत्को भी मैंने ही उत्पन्न किया है ॥

अर्चनीयोऽहमीशोऽहमव्ययोऽहं सनातनः ।
अहं प्रसन्नो भक्तानां ददाम्यमरतामपि ॥

मैं पूजनीय ईश्वर हूँ। मैं ही अविनाशी सनातन पुरुष हूँ। मैं प्रसन्न होकर अपने भक्तोंको अमरत्व भी देता हूँ ॥

न मां विदुः सुरगणा मुनयश्च तपोधनाः ।
त्वत्प्रियार्थमहं देवि मद्विभूतिं ब्रवीमि ते ॥
आश्रमेभ्यश्चतुर्भ्योऽहं चतुरो ब्राह्मणाञ्शुभे ।
मद्भक्तान् निर्मलान् पुण्यान् समानीय तपस्विनः ॥
व्याचख्येऽहं तथा देवि योगं पाशुपतं महत् ॥

देवता तथा तपोधन मुनि भी मुझे अच्छी तरह नहीं जानते हैं। देवि! तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं अपनी विभूति बतलाता हूँ। शुभे! देवि! मैंने चारों आश्रमोंसे चार पुण्यात्मा तपस्वी ब्राह्मणोंको, जो मेरे भक्त और निर्मलचित्त थे, लाकर उनके समक्ष महान् पाशुपत योगकी व्याख्या की थी ॥

गृहीतं तच्च तैः सर्वं मुखाच्च मम दक्षिणात् ।
श्रुत्वा तत् त्रिषु लोकेषु स्थापितं चापि तैः पुनः ॥
इदानीं च त्वया पृष्टो वक्ष्याम्येकमनाः शृणु ॥
अहं पशुपतिर्नाम मद्भक्ता ये च मानवाः ।
सर्वे पाशुपता ज्ञेया भस्मदिग्धतनूरुहाः ॥

मेरे दक्षिणवर्ती मुखसे वह सब उपदेश सुनकर उन्होंने ग्रहण किया और पुनः उसकी तीनों लोकोंमें स्थापना की। इस समय तुम्हारे पूछनेपर मैं उसी पाशुपत योगका वर्णन करता हूँ, एकचित्त होकर सुनो। मेरा ही नाम पशुपति है। अपने

रोम-रोममें भस्म रमाये रहनेवाले जो मेरे भक्त मनुष्य हैं, उन्हें पाशुपत जानना चाहिये ॥

रक्षार्थं मङ्गलार्थं च पवित्रार्थं च भामिनि ।
लिङ्गार्थं चैव भक्तानां भस्म दत्तं मया पुरा ॥
तेन संदिग्धसर्वाङ्गा भस्मना ब्रह्मचारिणः ।
जटिला मुण्डिता वापि नानाकारशिखण्डिनः॥
विकृताः पिङ्गलाभाश्च नग्ना नानाप्रकारिणः ।
भैक्षं चरन्तः सर्वत्र निःस्पृहा निष्परिग्रहाः ॥
मृत्पात्रहस्ता मद्भक्ता मन्निवेशितबुद्धयः ।
चरन्तो निखिलं लोकं मम हर्षविवर्धनाः ॥

भामिनि ! पूर्वकालमें मैंने रक्षाके लिये, मङ्गलके लिये, पवित्रताके लिये और पहचानके लिये भी अपने भक्तोंको भस्म प्रदान किया था। उस भस्मसे सम्पूर्ण अङ्गोंको लिप्त करके ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले जटाधारी, मुण्डित अथवा नाना प्रकारकी शिखा धारण करनेवाले, विकृत वेश, पिङ्गलवर्ण, नग्न देह और नाना वेश धारण किये मेरे निःस्पृह और परिग्रहशून्य भक्त मुझमें ही मन-बुद्धि लगाये, मिट्टीका पात्र हाथमें लिये सब ओर भिक्षाके लिये विचरते रहते हैं। समस्त लोकमें विचरते हुए वे भक्तजन मेरे हर्षकी वृद्धि करते हैं॥

मम पाशुपतं दिव्यं योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
सूक्ष्मं सर्वेषु लोकेषु विमृशन्तश्चरन्ति ते ॥

सभी लोकोंमें मेरे परम उत्तम सूक्ष्म एवं दिव्य पाशुपत योगशास्त्रका विचार करते हुए वे विचरण करते हैं ॥

एवं नित्याभियुक्तानां मद्भक्तानां तपस्विनाम् ।
उपायं चिन्तयाम्याशु येन मामुपयान्ति ते ॥

इस तरह नित्य मेरे ही चिन्तनमें संलग्न रहनेवाले अपने तपस्वी भक्तोंके लिये मैं ऐसा उपाय सोचता रहता हूँ, जिससे वे शीघ्र मुझे प्राप्त हो जाते हैं ॥

स्थापितं त्रिषु लोकेषु शिवलिङ्गं मया मम ।
नमस्कारेण वा तस्य मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥
इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
शिवलिङ्गप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

तीनों लोकोंमें मैंने अपने स्वरूपभूत शिवलिङ्गोंकी स्थापना की है, जिनको नमस्कारमात्र करके मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। होम, दान, अध्ययन और बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञ भी शिवलिङ्गको प्रणाम करनेसे मिले हुए पुण्यकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥

अर्चया शिवलिङ्गस्य परितुष्याम्यहं प्रिये ।
शिवलिङ्गार्चनायां तु विधानमपि मे शृणु ॥

प्रिये ! शिवलिङ्गकी पूजासे मैं बहुत संतुष्ट होता हूँ। तुम शिवलिङ्ग पूजनका विधान मुझसे सुनो ॥

गोक्षीरनवनीताभ्यामर्चयेद् यः शिवं मम ।
इष्टस्य हयमेधस्य यत् फलं तत् फलं भवेत् ॥
घृतमण्डेन यो नित्यमर्चयेद् यः शिवं मम ।
स फलं प्राप्नुयान्मर्त्यो ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ॥
केवलेनापि तोयेन स्नापयेद् यः शिवं मम ।
स चापि लभते पुण्यं प्रियं च लभते नरः ॥

जो गोदुग्ध और माखनसे मेरे शिवलिङ्गकी पूजा करता है, उसे वही फल प्राप्त होता है जो कि अश्वमेध यज्ञ करनेसे मिलता है। जो प्रतिदिन घृतमण्डसे मेरे शिवलिङ्गका पूजन करता है, वह मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मणके समान पुण्यफलका भागी होता है। जो केवल जलसे भी मेरे शिवलिङ्गको नहलाता है, वह भी पुण्यका भागी होता और अभीष्ट फल पा लेता है ॥

सघृतं गुग्गुलं सम्यग् धूपयेद् यः शिवान्तिके ।
गोसवस्य तु यज्ञस्य यत् फलं तस्य तद् भवेत् ॥
यस्तु गुग्गुलपिण्डेन केवलेनापि धूपयेत् ।
तस्य रुक्मप्रदानस्य यत् फलं तस्य तद् भवेत् ॥
यस्तु नानाविधैः पुष्पैर्मम लिङ्गं समर्चयेत् ।
स हि धेनुसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥
यस्तु देशान्तरं गत्वा शिवलिङ्गं समर्चयेत् ।
तस्मात् सर्वमनुष्येषु नास्ति मे प्रियकृत्तमः ॥

जो शिवलिङ्गके निकट घृतमिश्रित गुग्गुलका उत्तम धूप निवेदन करता है, उसे गोसव नामक यज्ञका फल प्राप्त होता है। जो केवल गुग्गुलके पिण्डसे धूप देता है, उसे सुवर्णदानका फल मिलता है। जो नाना प्रकारके फूलोंसे मेरे लिङ्गकी पूजा करता है, उसे सहस्र धेनुदानका फल प्राप्त होता है। जो देशान्तरमें जाकर शिवलिङ्गकी पूजा करता है, उससे बढ़कर समस्त मनुष्योंमें मेरा प्रिय करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥

एवं नानाविधैर्द्रव्यैः शिवलिङ्गं समर्चयेत् ।
मत्समानो मनुष्येषु न पुनर्जायते नरः ॥
अर्चनाभिर्नमस्कारैरुपहारैः स्तवैरपि ।
भक्तो मामर्चयेन्नित्यं शिवलिङ्गेष्वतन्द्रितः ॥
पलाशबिल्वपत्राणि राजवृक्षस्रजस्तथा ।
अर्कपुष्पाणि मेध्यानि मत्प्रियाणि विशेषतः ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंद्वारा जो शिवलिङ्गकी पूजा करता है, वह मनुष्योंमें मेरे समान है। वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता है। अतः भक्त पुरुष अर्चनाओं, नमस्कारों, उपहारों और स्तोत्रोंद्वारा प्रतिदिन आलस्य छोड़कर शिवलिङ्गोंके रूपमें मेरी पूजा करे। पलाश और बेलके पत्ते, राजवृक्षके फूलोंकी मालाएँ तथा आकके पवित्र फूल मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

फलं वा यदि वा शाकं पुष्पं वा यदि वा जलम् ।
दत्तं सम्प्रीणयेद् देवि भक्तैर्मद्गतमानसैः ॥
ममापि परितुष्टस्य नास्ति लोकेषु दुर्लभम् ।
तस्मात् ते सततं भक्ता मामेवाभ्यर्चयन्युत ॥

देवि ! मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्तोंका दिया हुआ फल, फूल, साग अथवा जल भी मुझे विशेष प्रिय लगता है। मेरे संतुष्ट हो जानेपर लोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है; इसलिये भक्तजन सदा मेरी ही पूजा किया करते हैं ॥

मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः।

मद्भक्ताः सर्वलोकेषु पूजनीया विशेषतः ॥
मद्द्वेषिणश्च ये मर्त्या मद्भक्तद्वेषिणोऽपि वा ।
यान्ति ते नरकं घोरमिष्ट्वा क्रतुशतैरपि ॥

मेरे भक्त कभी नष्ट नहीं होते । उनके सारे पाप दूर हो जाते हैं तथा मेरे भक्त तीनों लोकोंमें विशेषरूपसे पूजनीय हैं । जो मनुष्य मुझसे या मेरे भक्तोंसे द्वेष करते हैं, वे सौ यज्ञोंका अनुष्ठान कर लें तो भी घोर नरकमें पड़ते हैं ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं योगं पाशुपतं महत् ।
मद्भक्तैर्मनुजैर्देवि श्राव्यमेतद् दिने दिने ॥
शृणुयाद् यः पठेद् वापि ममेदं धर्मनिश्चयम् ।
स्वर्गं कीर्तिं धनं धान्यं लभते स नरोत्तमः ॥

देवि ! इस प्रकार मैंने तुमसे महान् पाशुपत योगकी व्याख्या की है । मुझमें भक्ति रखनेवाले मनुष्योंको प्रतिदिन इसका श्रवण करना चाहिये। जो श्रेष्ठ मानव मेरे इस धर्म-निश्चयका श्रवण अथवा पाठ करता है, वह इस लोकमें धनधान्य और कीर्ति तथा परलोकमें स्वर्ग पाता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२०९ श्लोक मिलाकर कुल १२७३ श्लोक हैं)

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पार्वतीजीके द्वारा स्त्री-धर्मका वर्णन

नारद उवाच

**एवमुक्त्वा महादेवः श्रोतुकामः स्वयं प्रभुः ।
अनुकूलां प्रियां भार्यां पार्श्वस्थां समभाषत ॥ १ ॥**

नारदजी कहते हैं—ऐसा कहकर महादेवजी स्वयं भी पार्वतीजीके मुँहसे कुछ सुननेकी इच्छा करने लगे। अतएव स्वयं भगवान् शिवने पास ही बैठी हुई अपनी प्रिय एवं अनुकूल भार्या पार्वतीसे कहा ॥ १ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

**परावरज्ञे धर्मज्ञे तपोवननिवासिनि ।
साध्वि सुभ्रु सुकेशान्ते हिमवत्पर्वतात्मजे ॥ २ ॥
दक्षे शमदमोपेते निर्ममे धर्मचारिणि ।
पृच्छामि त्वां वरारोहे पृष्टा वद ममेप्सितम् ॥ ३ ॥**

श्रीमहेश्वर बोले—तपोवनमें निवास करनेवाली देवि ! तुम भूत और भविष्यको जाननेवाली, धर्मके तत्त्वको समझनेवाली और स्वयं भी धर्मका आचरण करनेवाली हो। सुन्दर केशों और भौंहोंवाली सती-साध्वी हिमवान्‌कुमारी ! तुम कार्यकुशल हो, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे भी सम्पन्न हो । तुममें अहंता और ममताका सर्वथा अभाव है; अतः वरारोहे ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ । मेरे पूछनेपर तुम मुझे मेरे अभीष्ट विषयको बताओ ॥ २-३ ॥

**सावित्री ब्रह्मणःसाध्वी कौशिकस्य शची सती ।
(लक्ष्मीर्विष्णोः प्रिया भार्या धृतिर्भार्या यमस्य तु)
मार्कण्डेयस्य धूमोर्णा ऋद्धिर्वैश्रवणस्य च ॥ ४ ॥
वरुणस्य तथा गौरी सूर्यस्य च सुवर्चला ।
रोहिणी शशिनः साध्वी स्वाहा चैव विभावसोः॥ ५ ॥
अदितिः कश्यपस्याथ सर्वास्ताः पतिदेवताः ।
पृष्टाश्चोपासिताश्चैव तास्त्वया देवि नित्यशः ॥ ६ ॥**

ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्री साध्वी हैं । इन्द्रपत्नी शची भी सती हैं । विष्णुकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी पतिव्रता हैं । इसी प्रकार यमकी भार्या धृति, मार्कण्डेयकी पत्नी धूमोर्णा, कुबेर-की स्त्री ऋद्धि, वरुणकी भार्या गौरी, सूर्यकी पत्नी सुवर्चला, चन्द्रमाकी साध्वी स्त्री रोहिणी, अग्निकी भार्या स्वाहा और कश्यपकी पत्नी अदिति—ये सब-की-सब पतिव्रता देवियाँ हैं । देवि ! तुमने इन सबका सदा संग किया है और इन सबसे धर्मकी बात पूछी है ॥ ४–६ ॥

**तेन त्वां परिपृच्छामि धर्मज्ञे धर्मवादिनि ।
स्त्रीधर्मं श्रोतुमिच्छामि त्वयोदाहृतमादितः ॥ ७ ॥**

अतः धर्मवादिनि धर्मज्ञे ! मैं तुमसे स्त्री-धर्मके विषयमें प्रश्न करता हूँ और तुम्हारे मुखसे वर्णित नारीधर्म आद्योपान्त सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

**सधर्मचारिणी मे त्वं समशीला समव्रता ।
समानसारवीर्या च तपस्तीव्रं कृतं च ते ॥ ८ ॥**

तुम मेरी सहधर्मिणी हो । तुम्हारा शील-स्वभाव तथा व्रत मेरे समान ही है । तुम्हारी सारभूत शक्ति भी मुझसे कम नहीं है । तुमने तीव्र तपस्या भी की है ॥ ८ ॥

**त्वया ह्युक्तो विशेषेण गुणवान् स भविष्यति ।
लोके चैव त्वया देवि प्रमाणत्वमुपैष्यति ॥ ९ ॥**

अतः देवि ! तुम्हारे द्वारा कहा गया स्त्रीधर्म विशेष गुणवान् होगा और लोकमें प्रमाणभूत माना जायगा ॥ ९ ॥

**स्त्रियश्चैव विशेषेण स्त्रीजनस्य गतिः परा ।
गौर्या गच्छति सुश्रोणि लोकेष्वेषा गतिः सदा॥ १० ॥**

विशेषतः स्त्रियाँ ही स्त्रियोंकी परम गति हैं । सुश्रोणि ! संसारमें भूतलपर यह बात सदासे प्रचलित है ॥ १० ॥

**मम चार्धं शरीरस्य तव चार्धेन निर्मितम् ।
सुरकार्यकरी च त्वं लोकसंतानकारिणी ॥ ११ ॥**

मेरा आधा शरीर तुम्हारे आधे शरीरसे निर्मित हुआ है । तुम देवताओंका कार्य सिद्ध करनेवाली तथा लोक-संततिका विस्तार करनेवाली हो ॥ ११ ॥

**(प्रमदोक्तं तु यत् किंचित् तत् स्त्रीषु बहु मन्यते।
न तथा मन्यते स्त्रीषु पुरुषोक्तमनिन्दिते ॥)**

अनिन्दिते ! नारीकी कही हुई जो बात होती है, उसे ही स्त्रियोंमें अधिक महत्त्व दिया जाता है । पुरुषोंकी कही

हुई बातको स्त्रियोंमें वैसा महत्त्व नहीं दिया जाता ॥

तव सर्वः सुविदितः स्त्रीधर्मः शाश्वतः शुभे।
तस्मादशेषतो ब्रूहि स्वधर्मं विस्तरेण मे ॥ १२ ॥

शुभे ! तुम्हें सम्पूर्ण सनातन स्त्रीधर्मका भलीभाँति ज्ञान है; अतः अपने धर्मका पूर्णरूपसे विस्तारपूर्वक मेरे आगे वर्णन करो ॥ १२ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश भूतभव्यभवोत्तम।
त्वत्प्रभावादियं देव वाक् चैव प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥
इमास्तु नद्यो देवेश सर्वतीर्थोदकैर्युताः।
उपस्पर्शनहेतोस्त्वामुपयान्ति समीपतः ॥ १४ ॥
एताभिः सह सम्मन्त्र्य प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
प्रभवन् योऽनहंवादी स वै पुरुष उच्यते ॥ १५ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! भूत, भविष्य और वर्तमानकालस्वरूप सर्वश्रेष्ठ महादेव ! आपके प्रभावसे मेरी यह वाणी प्रतिभासम्पन्न हो रही है—अब मैं स्त्री-धर्मका वर्णन कर सकती हूँ। किंतु देवेश्वर ! ये नदियाँ सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे सम्पन्न हो आपके स्नान और आचमन आदिके लिये अथवा आपके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये यहाँ आपके निकट आ रही हैं। मैं इन सबके साथ सलाह करके क्रमशः स्त्रीधर्मका वर्णन करूँगी। जो व्यक्ति समर्थ होकर भी अहंकारशून्य हो, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३—१५ ॥

स्त्री च भूतेश सततं स्त्रियमेवानुधावति।
मया सम्मानिताश्चैव भविष्यन्ति सरिद्वराः ॥ १६ ॥

भूतनाथ ! स्त्री सदा स्त्रीका ही अनुसरण करती है। मेरे ऐसा करनेसे ये श्रेष्ठ सरिताएँ मेरे द्वारा सम्मानित होंगी ॥ १६ ॥

एषा सरस्वती पुण्या नदीनामुत्तमा नदी।
प्रथमा सर्वसरितां नदी सागरगामिनी ॥ १७ ॥
विपाशा च वितस्ता च चन्द्रभागा इरावती।
शतद्रुर्देविका सिन्धुः कौशिकी गौतमी तथा ॥ १८ ॥
(यमुनां नर्मदां चैव कावेरीमथ निम्नगाम्)

ये नदियोंमें उत्तम पुण्यसलिला सरस्वती विराजमान हैं, जो समुद्रमें मिली हुई हैं। ये समस्त सरिताओंमें प्रथम (प्रधान) मानी जाती हैं। इनके सिवा विपाशा (व्यास), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चनाव), इरावती (रावी), शतद्रू (शतलज), देविका, सिन्धु, कौशिकी (कोसी), गौतमी (गोदावरी), यमुना, नर्मदा तथा कावेरी नदी भी यहाँ विद्यमान हैं ॥ १७-१८ ॥

तथा देवनदी चेयं सर्वतीर्थाभिसम्भृता।
गगनाद् गां गता देवी गङ्गा सर्वसरिद्वरा ॥ १९ ॥

ये समस्त तीर्थोंसे सेवित तथा सम्पूर्ण सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी गङ्गादेवी भी, जो आकाशसे पृथ्वीपर उतरी हैं, यहाँ विराजमान हैं ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा देवदेवस्य पत्नी धर्मभृतां वरा।
स्मितपूर्वमथाभाष्य सर्वास्ताः सरितस्तथा ॥ २० ॥
अपृच्छद् देवमहिषी स्त्रीधर्मं धर्मवत्सला।
स्त्रीधर्मकुशलास्ता वै गङ्गाद्याः सरितां वराः ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर देवाधिदेव महादेवजीकी पत्नी, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, धर्मवत्सला, देवमहिषी उमाने स्त्रीधर्मके ज्ञानमें निपुण गङ्गा आदि उन समस्त श्रेष्ठ सरिताओंको मन्द मुसकानके साथ सम्बोधित करके उनसे स्त्रीधर्मके विषयमें प्रश्न किया ॥

उमोवाच

(हे पुण्याः सरितः श्रेष्ठाः सर्वपापविनाशिकाः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः शृणुध्वं वचनं मम ॥)
अयं भगवता प्रोक्तः प्रश्नः स्त्रीधर्मसंश्रितः।
तं तु सम्मन्त्र्य युष्माभिर्वक्तुमिच्छामि शंकरम् ॥ २२ ॥

उमा बोलीं—हे समस्त पापोंका विनाश करनेवाली, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न पुण्यसलिला श्रेष्ठ नदियो ! मेरी बात सुनो। भगवान् शिवने यह स्त्रीधर्मसम्बन्धी प्रश्न उपस्थित किया है। उसके विषयमें मैं तुमलोगोंसे सलाह लेकर ही भगवान् शङ्करसे कुछ कहना चाहती हूँ ॥ २२ ॥

न चैकसाध्यं पश्यामि विज्ञानं भुवि कस्यचित्।
दिवि वा सागरगमास्तेन वो मानयाम्यहम् ॥ २३ ॥

समुद्रगामिनी सरिताओ ! पृथ्वीपर या स्वर्गमें मैं किसीका भी ऐसा कोई विज्ञान नहीं देखती, जिसे उसने अकेले ही—दूसरोंका सहयोग लिये बिना ही सिद्ध कर लिया हो, इसीलिये मैं आपलोगोंसे सादर सलाह लेती हूँ ॥ २३ ॥

एवं सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः पृष्टाः पुण्यतमाः शिवाः।
ततो देवनदी गङ्गा नियुक्ता प्रतिपूज्य च ॥ २४ ॥

इस प्रकार उमाने जब समस्त कल्याणस्वरूपा परम पुण्यमयी श्रेष्ठ सरिताओंके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया, तब उन्होंने इसका उत्तर देनेके लिये देवनदी गङ्गाको सम्मानपूर्वक नियुक्त किया ॥ २४ ॥

बह्वीभिर्बुद्धिभिः स्फीता स्त्रीधर्मज्ञा शुचिस्मिता।
शैलराजसुतां देवीं पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
बुद्ध्या विनयसम्पन्ना सर्वधर्मविशारदा।
सस्मितं बहुबुद्ध्याढ्या गङ्गा वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

पवित्र मुसकानवाली गङ्गाजी अनेक बुद्धियोंसे बढ़ी-चढ़ी, स्त्री-धर्मको जाननेवाली, पाप-भयको दूर करनेवाली, पुण्यमयी, बुद्धि और विनयसे सम्पन्न, सर्वधर्मविशारद तथा प्रचुर बुद्धिसे संयुक्त थीं। उन्होंने गिरिराजकुमारी उमादेवीसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा ॥ २५-२६ ॥

गङ्गोवाच

धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि देवि धर्मपरायणे।
या त्वं सर्वजगन्मान्या नदीं मानयसेऽनघे ॥ २७ ॥

गङ्गाजीने कहा—देवि ! धर्मपरायणे ! अनघे ! मैं धन्य हूँ। मुझपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है; क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्की सम्माननीया होनेपर भी एक तुच्छ नदीको मान्यता प्रदान कर रही हैं ॥ २७ ॥

प्रभवन् पृच्छते यो हि सम्मानयति वा पुनः।
नूनं जनमदुष्टात्मा पण्डिताख्यां स गच्छति ॥ २८ ॥

जो सब प्रकारसे समर्थ होकर भी दूसरोंसे पूछता तथा उन्हें सम्मान देता है और जिसके मनमें कभी दुष्टता नहीं आती, वह मनुष्य निस्संदेह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

पार्वतीजी भगवान् शंकरको शरीरधारिणी समस्त नदियोंका परिचय दे रही हैं

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नानूहापोहविशारदान् ।
प्रवक्तॄन् पृच्छते योऽन्यान् स वै नापदमृच्छति ॥ २९ ॥
अन्यथा बहुबुद्ध्याढ्यो वाक्यं वदति संसदि ।
अन्यथैव ह्यहंवादी दुर्बलं वदते वचः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न और ऊहापोहमें कुशल दूसरे-दूसरे वक्ताओंसे अपना संदेह पूछता है, वह आपत्तिमें नहीं पड़ता है । विशेष बुद्धिमान् पुरुष सभामें और तरहकी बात करता है और अहंकारी मनुष्य और ही तरहकी दुर्बलतायुक्त बातें करता है ॥ २९-३० ॥

दिव्यज्ञाने दिवि श्रेष्ठे दिव्यपुण्यैः सहोत्थिते ।
त्वमेवार्हसि नो देवि स्त्रीधर्माननुभाषितुम् ॥ ३१ ॥

देवि ! तुम दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न और देवलोकमें सर्वश्रेष्ठ हो । दिव्य पुण्योंके साथ तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है । तुम्हीं हम सब लोगोंको स्त्री-धर्मका उपदेश देनेके योग्य हो ॥

ततः साऽऽराधिता देवी गङ्गया बहुभिर्गुणैः ।
प्राह सर्वमशेषेण स्त्रीधर्मं सुरसुन्दरी ॥ ३२ ॥

तदनन्तर गङ्गाजीके द्वारा अनेक गुणोंका बखान करके पूजित होनेपर देवसुन्दरी देवी उमाने सम्पूर्ण स्त्री-धर्मका पूर्णतः वर्णन किया ॥ ३२ ॥

उमोवाच

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रतिभाति यथाविधि ।
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रथिता भव ॥ ३३ ॥

उमा बोलीं—स्त्री-धर्मका स्वरूप मेरी बुद्धिमें जैसा प्रतीत होता है, उसे मैं विधिपूर्वक बताऊँगी । तुम विनय और उत्सुकतासे युक्त होकर इसे सुनो ॥ ३३ ॥

स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः ।
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः ॥ ३४ ॥

विवाहके समय कन्याके भाई-बन्धु पहले ही उसे स्त्री-धर्मका उपदेश कर देते हैं । जब कि वह अग्निके समीप अपने पतिकी सहधर्मिणी बनती है ॥ ३४ ॥

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ३५ ॥
सा भवेद् धर्मपरमा सा भवेद् धर्मभागिनी ।
देववत् सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति ॥ ३६ ॥

जिसके स्वभाव, बात-चीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी पुरुषमें मन नहीं लगाती हो और स्वामीके समक्ष सदा प्रसन्नमुखी रहती हो, वह स्त्री धर्माचरण करनेवाली मानी गयी है । जो साध्वी स्त्री अपने स्वामीको सदा देवतुल्य समझती है, वही धर्मपरायणा और वही धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ३५-३६ ॥

शुश्रूषां परिचारं च देववद् या करोति च ।
नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना ॥ ३७ ॥
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते ।
या साध्वी नियताहारा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥ ३८ ॥

जो पतिकी देवताके समान सेवा और परिचर्या करती है, पतिके सिवा दूसरे किसीसे हार्दिक प्रेम नहीं करती, कभी नाराज नहीं होती तथा उत्तम व्रतका पालन करती है, जिसका दर्शन पतिको सुखद जान पड़ता है, जो पुत्रके मुखकी भाँति स्वामीके मुखकी ओर सदा निहारती रहती है तथा जो साध्वी एवं नियमित आहारका सेवन करनेवाली है, वह स्त्री धर्मचारिणी कही गयी है ॥ ३७-३८ ॥

श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम् ।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता ॥ ३९ ॥

'पति और पत्नीको एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिये ।' इस मङ्गलमय दाम्पत्य धर्मको सुनकर जो स्त्री धर्मपरायण हो जाती है, वह पतिके समान व्रतका पालन करनेवाली (पतिव्रता) है ॥ ३९ ॥

देववत् सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति ।
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः ॥ ४० ॥

साध्वी स्त्री सदा अपने पतिको देवताके समान समझती है । पति और पत्नीका यह सहधर्म (साथ-साथ रहकर धर्माचरण करना) रूप धर्म परम मङ्गलमय है ॥ ४० ॥

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती ।
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ४१ ॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता ॥ ४२ ॥

जो अपने हृदयके अनुरागके कारण स्वामीके अधीन रहती है, अपने चित्तको प्रसन्न रखती है, देवताके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करती है, उत्तम व्रतका आश्रय लेती है और पतिके लिये सुखदायक सुन्दर वेष धारण किये रहती है, जिसका चित्त पतिके सिवा और किसीकी ओर नहीं जाता, पतिके समक्ष प्रसन्नवदन रहनेवाली वह स्त्री धर्मचारिणी मानी गयी है । जो स्वामीके कठोर वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टिसे देखनेपर भी प्रसन्नतासे मुस्कराती रहती है, वही स्त्री पतिव्रता है ॥ ४१-४२ ॥

न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते ।
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥ ४३ ॥
दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम् ।
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४४ ॥

जो सुन्दरी नारी पतिके सिवा पुरुष नामधारी चन्द्रमा, सूर्य और किसी वृक्षकी ओर भी दृष्टि नहीं डालती, वही पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली है । जो नारी अपने दरिद्र, रोगी, दीन अथवा रास्तेकी थकावटसे खिन्न हुए पतिकी पुत्रके समान सेवा करती है, वह धर्मफलकी भागिनी होती है ४३-४४

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४५ ॥
शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा ।
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४६ ॥

जो स्त्री अपने हृदयको शुद्ध रखती, गृहकार्य करनेमें कुशल और पुत्रवती होती, पतिसे प्रेम करती और पतिको ही अपने प्राण समझती है, वही धर्मफल पानेकी अधिकारिणी होती है । जो सदा प्रसन्नचित्तसे पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती

है, पतिके ऊपर पूर्ण विश्वास रखती और उसके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करती है, वही नारी धर्मके श्रेष्ठ फलकी भागिनी होती है ॥ ४५-४६ ॥

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा ।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी॥ ४७ ॥

जिसके हृदयमें पतिके लिये जैसी चाह होती है, वैसी काम, भोग और सुखके लिये भी नहीं होती। वह स्त्री पातिव्रत-धर्मकी भागिनी होती है ॥ ४७ ॥

कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता ।
सुसम्मृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना ॥ ४८ ॥
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा ।
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह ॥ ४९ ॥
शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि ।
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते ॥ ५० ॥

जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठनेमें रुचि रखती है, घरोंके काम-काजमें योग देती है, घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती है और गोबरसे लीप-पोतकर पवित्र बनाये रहती है, जो पतिके साथ रहकर प्रतिदिन अग्निहोत्र करती है, देवताओंको पुष्प और बलि अर्पण करती है तथा देवता, अतिथि और पोष्यवर्गको भोजनसे तृप्त करके न्याय और विधिके अनुसार शेष अन्नका स्वयं भोजन करती है तथा घरके लोगोंको हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट रखती है, ऐसी ही नारी सती-धर्मके फलसे युक्त होती है ॥ ४८—५० ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता ।
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान् दीनान्धकृपणांस्तथा।
बिभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५२ ॥

जो उत्तम गुणोंसे युक्त होकर सदा सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें संलग्न रहती है तथा माता-पिताके प्रति भी सदा उत्तम भक्तिभाव रखती है, वह स्त्री तपस्यारूपी धनसे सम्पन्न मानी गयी है। जो नारी ब्राह्मणों, दुर्बलों, अनाथों, दीनों, अन्धों और कृपणों (कंगालों) का अन्नके द्वारा भरण-पोषण करती है, वह पातिव्रतधर्मके पालनका फल पाती है ॥ ५१-५२ ॥

व्रतं चरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्त्वया ।
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५३ ॥

जो प्रतिदिन शीघ्रतापूर्वक मर्यादाका बोध करानेवाली बुद्धिके द्वारा दुष्कर व्रतका आचरण करती है, पतिमें ही मन लगाती है और निरन्तर पतिके हितसाधनमें लगी रहती है, उसे पतिव्रत-धर्मके पालनका सुख प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

पुण्यमेतत् तपश्चैतत् स्वर्गश्चैष सनातनः ।
या नारी भर्तृपरमा भवेद् भर्तृव्रता सती ॥ ५४ ॥

जो साध्वी नारी पतिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पतिकी सेवामें लगी रहती है, उसका यह कार्य महान् पुण्य, बड़ी भारी तपस्या और सनातन स्वर्गका साधन है ॥ ५४ ॥

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः ।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥ ५५ ॥

पति ही नारियोंका देवता, पति ही बन्धु-बान्धव और पति ही उनकी गति है । नारीके लिये पतिके समान न दूसरा कोई सहारा है और न दूसरा कोई देवता ॥ ५५ ॥

पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत् ।
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वरे ॥ ५६ ॥

एक ओर पतिकी प्रसन्नता और दूसरी ओर स्वर्ग—ये दोनों नारीकी दृष्टिमें समान हो सकते हैं या नहीं, इसमें संदेह है । मेरे प्राणनाथ महेश्वर ! मैं तो आपको अप्रसन्न रखकर स्वर्गको नहीं चाहती ॥ ५६ ॥

यद्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम् ।
पतिर्ब्रूयाद् दरिद्रो वा व्याधितो वा कथंचन ॥ ५७ ॥
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोऽपि वा ।
आपद्धर्माननुप्रेक्ष्य तत्कार्यमविशङ्कया ॥ ५८ ॥

पति दरिद्र हो जाय, किसी रोगसे घिर जाय, आपत्तिमें फँस जाय, शत्रुओंके बीचमें पड़ जाय अथवा ब्राह्मणके शापसे कष्ट पा रहा हो, उस अवस्थामें वह न करनेयोग्य कार्य, अधर्म अथवा प्राणत्यागकी भी आज्ञा दे दे, तो उसे आपत्तिकालका धर्म समझकर निःशङ्कभावसे तुरंत पूरा करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

एष देव मया प्रोक्तः स्त्रीधर्मो वचनात् तव ।
या त्वेवंभाविनी नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५९ ॥

देव ! आपकी आज्ञासे मैंने यह स्त्रीधर्मका वर्णन किया है । जो नारी ऊपर बताये अनुसार अपना जीवन बनाती है, वह पातिव्रत-धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ५९ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तु देवेशः प्रतिपूज्य गिरेः सुताम्।
लोकान् विसर्जयामास सर्वैरनुचरैर्वृतान् ॥ ६० ॥
ततो ययुर्भूतगणाः सरितश्च यथागतम् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ ६१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पार्वतीजीके द्वारा इस प्रकार नारीधर्मका वर्णन सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने गिरिराजकुमारीका बड़ा आदर किया और वहाँ समस्त अनुचरोंके साथ आये हुए लोगोंको जानेकी आज्ञा दी । तब समस्त भूतगण, सरिताएँ, गन्धर्व और अप्सराएँ भगवान् शङ्करको सिरसे प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चली गयीं ॥६०-६१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे स्त्रीधर्मकथने षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमा-महेश्वरसंवादके प्रसङ्गमें स्त्रीधर्मका वर्णनविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

भगवान् शंकर श्रीकृष्णका माहात्म्य कह रहे हैं

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वंशपरम्पराका कथन और भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्यका वर्णन

ऋषय ऊचुः

पिनाकिन् भगनेत्रघ्न सर्वलोकनमस्कृत।
माहात्म्यं वासुदेवस्य श्रोतुमिच्छामि शङ्कर॥ १॥

ऋषियोंने कहा—भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले पिनाकधारी विश्ववन्दित भगवान् शङ्कर! अब हम वासुदेव (श्रीकृष्ण) का माहात्म्य सुनना चाहते हैं॥ १॥

ईश्वर उवाच

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः॥ २॥

महेश्वरने कहा—मुनिवरो! भगवान् सनातन पुरुष श्रीकृष्ण ब्रह्माजीसे भी श्रेष्ठ हैं। वे श्रीहरि जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान श्याम कान्तिसे युक्त हैं। बिना बादलके आकाशमें उदित सूर्यके समान तेजस्वी हैं॥ २॥

दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥ ३॥

उनकी भुजाएँ दस हैं, वे महान् तेजस्वी हैं, देवद्रोहियोंका नाश करनेवाले श्रीवत्सभूषित भगवान् हृषीकेश सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होते हैं॥ ३॥

ब्रह्मा तस्योदरभवस्तस्याहं च शिरोभवः।
शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः॥ ४॥

ब्रह्माजी उनके उदरसे और मैं उनके मस्तकसे प्रकट हुआ हूँ। उनके शिरके केशोंसे नक्षत्रों और ताराओंका प्रादुर्भाव हुआ है। रोमावलियोंसे देवता और असुर प्रकट हुए हैं॥ ४॥

ऋषयो देहसम्भूतास्तस्य लोकाश्च शाश्वताः।
पितामहगृहं साक्षात् सर्वदेवगृहं च सः॥ ५॥

समस्त ऋषि और सनातन लोक उनके श्रीविग्रहसे उत्पन्न हुए हैं। वे श्रीहरि स्वयं ही सम्पूर्ण देवताओंके गृह और ब्रह्माजीके भी निवासस्थान हैं॥ ५॥

सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः।
संहर्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च॥ ६॥

इस सम्पूर्ण पृथ्वीके स्रष्टा और तीनों लोकोंके स्वामी भी वे ही हैं। वे ही चराचर प्राणियोंका संहार भी करते हैं॥

स हि देववरः साक्षाद् देवनाथः परंतपः।
सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः॥ ७॥

वे देवताओंमें श्रेष्ठ, देवताओंके रक्षक, शत्रुओंको संताप देनेवाले, सर्वज्ञ, सबमें ओतप्रोत, सर्वव्यापक तथा सब ओर मुखवाले हैं॥ ७॥

परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापी महेश्वरः।
न तस्मात् परमं भूतं त्रिषु लोकेषु किंचन॥ ८॥

वे ही परमात्मा, इन्द्रियोंके प्रेरक और सर्वव्यापी महेश्वर हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है॥ ८॥

सनातनो वै मधुहा गोविन्द इति विश्रुतः।
स सर्वान् पार्थिवान् संख्ये घातयिष्यति मानदः॥ ९॥

वे ही सनातन, मधुसूदन और गोविन्द आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। सज्जनोंको आदर देनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण महाभारत-युद्धमें समस्त राजाओंका संहार करायेंगे॥ ९॥

सुरकार्यार्थमुत्पन्नो मानुषं वपुरास्थितः।
न हि देवगणाः सक्तास्त्रिविक्रमविनाकृताः॥ १०॥

वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर मानव-शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं। उन भगवान् त्रिविक्रमकी शक्ति और सहायताके बिना सम्पूर्ण देवता भी कोई कार्य नहीं कर सकते॥ १०॥

भुवने देवकार्याणि कर्तुं नायकवर्जिताः।
नायकः सर्वभूतानां सर्वदेवनमस्कृतः॥ ११॥

संसारमें नेताके बिना देवता अपना कोई भी कार्य करनेमें असमर्थ हैं और ये भगवान् श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके नेता हैं। इसलिये समस्त देवता उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं॥ ११॥

एतस्य देवनाथस्य देवकार्यपरस्य च।
ब्रह्मभूतस्य सततं ब्रह्मर्षिशरणस्य च॥ १२॥
ब्रह्मा वसति गर्भस्थः शरीरे सुखसंस्थितः।
शर्वः सुखं संश्रितश्च शरीरे सुखसंस्थितः॥ १३॥

देवताओंकी रक्षा और उनके कार्यसाधनमें संलग्न रहनेवाले वे भगवान् वासुदेव ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मर्षियोंको सदा शरण देते हैं। ब्रह्माजी उनके शरीरके भीतर अर्थात् उनके गर्भमें बड़े सुखके साथ रहते हैं। सदा सुखी रहनेवाला मैं शिव भी उनके श्रीविग्रहके भीतर सुखपूर्वक निवास करता हूँ॥ १२-१३॥

सर्वाः सुखं संश्रिताश्च शरीरे तस्य देवताः।
स देवः पुण्डरीकाक्षः श्रीगर्भः श्रीसहोषितः॥ १४॥

सम्पूर्ण देवता उनके श्रीविग्रहमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। वे कमलनयन श्रीहरि अपने गर्भ (वक्षःस्थल) में लक्ष्मीको निवास देते हैं। लक्ष्मीके साथ ही वे रहते हैं॥ १४॥

शार्ङ्गचक्रायुधः खड्गी सर्वनागरिपुध्वजः।
उत्तमेन स शीलेन दमेन च शमेन च॥ १५॥

पराक्रमेण वीर्येण वपुषा दर्शनेन च।
आरोहेण प्रमाणेन धैर्येणार्जवसम्पदा ॥ १६ ॥
आनृशंस्येन रूपेण बलेन च समन्वितः।
अस्त्रैः समुदितः सर्वैर्दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ १७ ॥

शार्ङ्गधनुष, सुदर्शनचक्र और नन्दक नामक खड्ग—उनके आयुध हैं। उनकी ध्वजामें सम्पूर्ण नागोंके शत्रु गरुड़का चिह्न सुशोभित है। वे उत्तम शील, शम, दम, पराक्रम, वीर्य, सुन्दर शरीर, उत्तम दर्शन, सुडौल आकृति, धैर्य, सरलता, कोमलता, रूप और बल आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं। सब प्रकारके दिव्य और अद्भुत अस्त्र-शस्त्र उनके पास सदा मौजूद रहते हैं ॥ १५—१७ ॥

योगमायः सहस्राक्षो निरपायो महामनाः।
वीरो मित्रजनश्लाघी ज्ञातिबन्धुजनप्रियः ॥ १८ ॥
क्षमावांश्चानहंवादी ब्रह्मण्यो ब्रह्मनायकः।
भयहर्ता भयार्तानां मित्राणां नन्दिवर्धनः ॥ १९ ॥

वे योगमायासे सम्पन्न और हजारों नेत्रोंवाले हैं। उनका हृदय विशाल है। वे अविनाशी, वीर, मित्रजनोंके प्रशंसक, ज्ञाति एवं बन्धु-बान्धवोंके प्रिय, क्षमाशील, अहङ्काररहित, ब्राह्मणभक्त, वेदोंका उद्धार करनेवाले, भयातुर पुरुषोंका भय दूर करनेवाले और मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले हैं ॥१८-१९॥

शरण्यः सर्वभूतानां दीनानां पालने रतः।
श्रुतवानर्थसम्पन्नः सर्वभूतनमस्कृतः ॥ २० ॥
समाश्रितानां वरदः शत्रूणामपि धर्मवित्।
नीतिज्ञो नीतिसम्पन्नो ब्रह्मवादी जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

वे समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले, दीन-दुखियोंके पालनमें तत्पर, शास्त्रज्ञानसम्पन्न, धनवान्, सर्वभूतवन्दित, शरणमें आये हुए शत्रुओंको भी वर देनेवाले, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, नीतिमान्, ब्रह्मवादी और जितेन्द्रिय हैं ॥ २०-२१ ॥

भवार्थमिह देवानां बुद्ध्या परमया युतः।
प्राजापत्ये शुभे मार्गे मानवे धर्मसंस्कृते ॥ २२ ॥
समुत्पत्स्यति गोविन्दो मनोर्वंशे महात्मनः।
अङ्गो नाम मनोः पुत्रो अन्तर्धामा ततः परः ॥ २३ ॥

परम बुद्धिसे सम्पन्न भगवान् गोविन्द यहाँ देवताओंकी उन्नतिके लिये प्रजापतिके शुभमार्गपर स्थित हो मनुके धर्म-संस्कृत कुलमें अवतार लेंगे। महात्मा मनुके वंशमें मनुपुत्र अङ्ग नामक राजा होंगे। उनसे अन्तर्धामा नामवाले पुत्रका जन्म होगा ॥ २२-२३ ॥

अन्तर्धाम्नो हविर्धामा प्रजापतिरनिन्दितः।
प्राचीनबर्हिर्भविता हविर्धाम्नः सुतो महान् ॥ २४ ॥

अन्तर्धामासे अनिन्द्य प्रजापति हविर्धामाकी उत्पत्ति होगी। हविर्धामाके पुत्र महाराज प्राचीनबर्हि होंगे ॥ २४ ॥

तस्य प्रचेतःप्रमुखा भविष्यन्ति दशात्मजाः।
प्राचेतसस्तथा दक्षो भवितेह प्रजापतिः ॥ २५ ॥

प्राचीनबर्हिके प्रचेता आदि दस पुत्र होंगे। उन दसों प्रचेताओंसे इस जगत्में प्रजापति दक्षका प्रादुर्भाव होगा ॥

दाक्षायण्यास्तथाऽऽदित्यो मनुरादित्यतस्तथा।
मनोश्च वंशज इला सुद्युम्नश्च भविष्यति ॥ २६ ॥

दक्षकन्या अदितिसे आदित्य (सूर्य) उत्पन्न होंगे। सूर्यसे मनु उत्पन्न होंगे। मनुके वंशमें इलानामक कन्या होगी, जो आगे चलकर सुद्युम्न नामक पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी ॥ २६ ॥

बुधात् पुरूरवाश्चापि तस्मादायुर्भविष्यति।
नहुषो भविता तस्माद् ययातिस्तस्य चात्मजः॥ २७ ॥

कन्यावस्थामें बुधसे समागम होनेपर उससे पुरूरवाका जन्म होगा। पुरूरवासे आयुनामक पुत्रकी उत्पत्ति होगी। आयुके पुत्र नहुष और नहुषके ययाति होंगे ॥ २७ ॥

यदुस्तस्मान्महासत्त्वः क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो वृजिनीवान् भविष्यति॥ २८ ॥

ययातिसे महान् बलशाली यदु होंगे। यदुसे क्रोष्टाका जन्म होगा, क्रोष्टासे महान् पुत्र वृजिनीवान् होंगे ॥ २८ ॥

वृजिनीवतश्च भविता उषङ्गुरपराजितः।
उषङ्गोर्भविता पुत्रः शूरश्चित्ररथस्तथा ॥ २९ ॥

वृजिनीवान्से विजयी वीर उषङ्गुका जन्म होगा। उषङ्गुका पुत्र शूरवीर चित्ररथ होगा ॥ २९ ॥

तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति।
तेषां विख्यातवीर्याणां चरित्रगुणशालिनाम् ॥ ३० ॥
यज्वनां सुविशुद्धानां वंशे ब्राह्मणसम्मते।
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो महावीर्यो महायशाः।
स्ववंशविस्तरकरं जनयिष्यति मानदः ॥ ३१ ॥
वसुदेव इति ख्यातं पुत्रमानकदुन्दुभिम्।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥ ३२ ॥

उसका छोटा पुत्र शूर नामसे विख्यात होगा। वे सभी यदुवंशी विख्यात पराक्रमी, सदाचार और सद्गुणसे सुशोभित, यज्ञशील और विशुद्ध आचार-विचारवाले होंगे। उनका कुल ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित होगा। उस कुलमें महापराक्रमी महायशस्वी और दूसरोंको सम्मान देनेवाले क्षत्रिय-शिरोमणि शूर अपने वंशका विस्तार करनेवाले वसुदेवनामक पुत्रको जन्म देंगे, जिसका दूसरा नाम आनकदुन्दुभि होगा। उन्हींके पुत्र चार भुजाधारी भगवान् वासुदेव होंगे ॥३०—३२॥

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता ब्रह्मभूतो द्विजप्रियः।
राज्ञो मागधसंरुद्धान् मोक्षयिष्यति यादवः ॥ ३३ ॥

भगवान् वासुदेव दानी, ब्राह्मणोंका सत्कार करनेवाले ब्रह्मभूत और ब्राह्मणप्रिय होंगे। वे यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण मगधराज जरासंधकी कैदमें पड़े हुए राजाओंको बन्धन छुड़ायेंगे ॥ ३३ ॥

जरासंधं तु राजानं निर्जित्य गिरिगह्वरे।
सर्वपार्थिवरत्नाढ्यो भविष्यति स वीर्यवान् ॥ ३४ ॥

वे पराक्रमी श्रीहरि पर्वतकी कन्दरा (राजगृह) में राजा जरासंधको जीतकर समस्त राजाओंके द्वारा उपहृत रत्नोंसे सम्पन्न होंगे ॥ ३४ ॥

पृथिव्यामप्रतिहतो वीर्येण च भविष्यति।
विक्रमेण च सम्पन्नः सर्वपार्थिवपार्थिवः ॥ ३५ ॥

वे इस भूमण्डलमें अपने बल-पराक्रमद्वारा अजेय होंगे। विक्रमसे सम्पन्न तथा समस्त राजाओंके भी राजा होंगे ॥

शूरसेनेषु भूत्वा स द्वारकायां वसन् प्रभुः।
पालयिष्यति गां देवीं विजित्य नयवित् सदा ॥ ३६ ॥

नीतिवेत्ता भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेन देश (मथुरामण्डल) में अवतीर्ण होकर वहाँसे द्वारकापुरीमें जाकर रहेंगे और समस्त राजाओंको जीतकर सदा इस पृथ्वीदेवीका पालन करेंगे ॥ ३६ ॥

तं भवन्तः समासाद्य वाङ्माल्यैरर्हणैर्वरैः।
अर्चयन्तु यथान्यायं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

आपलोग उन्हीं भगवान्‌की शरण लेकर अपनी वाङ्मयी मालाओं तथा श्रेष्ठ पूजनोपचारोंसे सनातन ब्रह्माकी भाँति उनका यथोचित पूजन करें ॥ ३७ ॥

यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं च पितामहम्।
द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ३८ ॥

जो मेरा और पितामह ब्रह्माजीका दर्शन करना चाहता हो, उसे प्रतापी भगवान् वासुदेवका दर्शन करना चाहिये ॥

दृष्टे तस्मिन्नहं दृष्टो न मेऽत्रास्ति विचारणा।
पितामहो वा देवेश इति वित्त तपोधनाः ॥ ३९ ॥

तपोधनो ! उनका दर्शन हो जानेपर मेरा ही दर्शन हो गया, अथवा उनके दर्शनसे देवेश्वर ब्रह्माजीका दर्शन हो गया ऐसे समझो, इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है अर्थात् संदेह नहीं है ॥ ३९ ॥

स यस्य पुण्डरीकाक्षः प्रीतियुक्तो भविष्यति।
तस्य देवगणः प्रीतो ब्रह्मपूर्वो भविष्यति ॥ ४० ॥

जिसपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे, उसके ऊपर ब्रह्मा आदि देवताओंका समुदाय प्रसन्न हो जायगा ॥ ४० ॥

यश्च तं मानवे लोके संश्रयिष्यति केशवम्।
तस्य कीर्तिर्जयश्चैव स्वर्गश्चैव भविष्यति ॥ ४१ ॥

मानवलोकमें जो भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेगा, उसे कीर्ति, विजय तथा उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होगी ॥ ४१ ॥

धर्माणां देशिकः साक्षात् स भविष्यति धर्मभाक्।
धर्मवद्भिः स देवेशो नमस्कार्यः सदोद्यतैः ॥ ४२ ॥

इतना ही नहीं, वह धर्मोंका उपदेश देनेवाला साक्षात् धर्माचार्य एवं धर्मफलका भागी होगा। अतः धर्मात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा उत्साहित रहकर देवेश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करें ॥ ४२ ॥

धर्म एव परो हि स्यात् तस्मिन्नभ्यर्चिते विभौ।
स हि देवो महातेजाः प्रजाहितचिकीर्षया ॥ ४३ ॥
धर्मार्थं पुरुषव्याघ्र ऋषिकोटीः ससर्ज ह।
ताः सृष्टास्तेन विभुना पर्वते गन्धमादने ॥ ४४ ॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तिष्ठन्ति तपसान्विताः।
तस्मात् स वाग्मी धर्मज्ञो नमस्यो द्विजपुङ्गवाः ॥ ४५ ॥

उन सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करनेसे परम धर्मकी सिद्धि होगी। वे महान् तेजस्वी देवता हैं। उन पुरुषसिंह श्रीकृष्णने प्रजाका हित करनेकी इच्छासे धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये करोड़ों ऋषियोंकी सृष्टि की है। भगवान्‌के उत्पन्न किये हुए वे सनत्कुमार आदि ऋषि गन्धमादन पर्वत-पर सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं। अतः द्विजवरो ! उन प्रवचनकुशल, धर्मज्ञ वासुदेवको सदा प्रणाम करना चाहिये॥

दिवि श्रेष्ठो हि भगवान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
वन्दितो हि स वन्देत मानितो मानयीत च।
अर्हितश्चार्हयेन्नित्यं पूजितः प्रतिपूजयेत् ॥ ४६ ॥

वे भगवान् नारायण हरि देवलोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं। जो उनकी वन्दना करता है, उसकी वे भी वन्दना करते हैं। जो उनका आदर करता है, उसका वे भी आदर करते हैं। इसी प्रकार अर्चित होनेपर वे भी अर्चना करते और पूजित या प्रशंसित होनेपर वे भी पूजा या प्रशंसा करते हैं ॥ ४६ ॥

दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत्।
अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! जो प्रतिदिन उनका दर्शन करता है, उसकी ओर वे भी कृपादृष्टि करते हैं। जो उनका आश्रय लेता है, उसके हृदयमें वे भी आश्रय लेते हैं तथा जो उनकी पूजा करता है, उसकी वे भी सदा पूजा करते हैं ॥ ४७ ॥

एतत् तस्यानवद्यस्य विष्णोर्वै परमं व्रतम्।
आदिदेवस्य महतः सज्जनाचरितं सदा ॥ ४८ ॥

उन प्रशंसनीय आदि देवता भगवान् महाविष्णुका यह उत्तम व्रत है, जिसका साधु पुरुष सदा आचरण करते आये हैं ॥ ४८ ॥

भुवनेऽभ्यर्चितो नित्यं देवैरपि सनातनः।
अभयेनानुरूपेण युज्यन्ते तमनुव्रताः ॥ ४९ ॥

वे सनातन देवता हैं, अतः इस त्रिभुवनमें देवता भी सदा उन्हींकी पूजा करते हैं। जो उनके अनन्य भक्त हैं, वे अपने भजनके अनुरूप ही निर्भय पद प्राप्त करते हैं ॥४९॥

कर्मणा मनसा वाचा स नमस्यो द्विजैः सदा।
यत्नवद्भिरुपस्थाय द्रष्टव्यो देवकीसुतः ॥ ५० ॥

द्विजोंको चाहिये कि वे मन, वाणी और कर्मसे सदा उन भगवान्‌को प्रणाम करें और यत्नपूर्वक उपासना करके उन देवकीनन्दनका दर्शन करें ॥ ५० ॥

एष वोऽभिहितो मार्गो मया वै मुनिसत्तमाः ।
तं दृष्ट्वा सर्वशो देवं दृष्टाः स्युः सुरसत्तमाः ॥ ५१ ॥

मुनिवरो ! यह मैंने आपलोगोंको उत्तम मार्ग बता दिया है । उन भगवान् वासुदेवका सब प्रकारसे दर्शन कर लेनेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवताओंका दर्शन करना हो जायगा ॥ ५१ ॥

महावराहं तं देवं सर्वलोकपितामहम् ।
अहं चैव नमस्यामि नित्यमेव जगत्पतिम् ॥ ५२ ॥

मैं भी महावराहरूप धारण करनेवाले उन सर्वलोक-पितामह जगदीश्वरको नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ ५२ ॥

तत्र च त्रितयं दृष्टं भविष्यति न संशयः ।
समस्ता हि वयं देवास्तस्य देहे वसामहे ॥ ५३ ॥

हम सब देवता उनके श्रीविग्रहमें निवास करते हैं । अतः उनका दर्शन करनेसे तीनों देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) का दर्शन हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

तस्य चैवाग्रजो भ्राता सिताद्रिनिचयप्रभः ।
हली बल इति ख्यातो भविष्यति धराधरः ॥ ५४ ॥

उनके बड़े भाई कैलासकी पर्वतमालाओंके समान श्वेत कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले हलधर और बलरामके नामसे विख्यात होंगे । पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनाग ही बलरामके रूपमें अवतीर्ण होंगे ॥ ५४ ॥

त्रिशिरास्तस्य दिव्यश्च शातकुम्भमयो द्रुमः ।
ध्वजस्तृणेन्द्रो देवस्य भविष्यति रथाश्रितः ॥ ५५ ॥

बलदेवजीके रथपर तीन शिखाओंसे युक्त दिव्य सुवर्ण-मय तालवृक्ष ध्वजके रूपमें सुशोभित होगा ॥ ५५ ॥

शिरो नागैर्महाभोगैः परिकीर्णं महात्मभिः ।
भविष्यति महाबाहोः सर्वलोकेश्वरस्य च ॥ ५६ ॥

सर्वलोकेश्वर महाबाहु बलरामजीका मस्तक बड़े-बड़े फन वाले विशालकाय सर्पोंसे घिरा हुआ होगा ॥ ५६ ॥

चिन्तितानि समेष्यन्ति शस्त्राण्यस्त्राणि चैव ह ।
अनन्तश्च स एवोक्तो भगवान् हरिरव्ययः ॥ ५७ ॥

उनके चिन्तन करते ही सम्पूर्ण दिव्य अस्त्र-शस्त्र उन्हें प्राप्त हो जायँगे । अविनाशी भगवान् श्रीहरि ही अनन्त शेषनाग कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

समादिष्टश्च विबुधैर्दर्शय त्वमिति प्रभो ।
सुपर्णो यस्य वीर्येण कश्यपस्यात्मजो बली ।
अन्तं नैवाशकद् द्रष्टुं देवस्य परमात्मनः ॥ ५८ ॥

पूर्वकालमें देवताओंने गरुड़जीसे यह अनुरोध किया कि 'आप हमें भगवान् शेषका अन्त दिखा दीजिये ।' तब कश्यपके बलवान् पुत्र गरुड़ अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उन परमात्मदेव अनन्तका अन्त न देख सके ॥ ५८ ॥

स च शेषो विचरते परया वै मुदा युतः ।
अन्तर्वसति भोगेन परिरभ्य वसुन्धराम् ॥ ५९ ॥

वे भगवान् शेष बड़े आनन्दके साथ सर्वत्र विचरते हैं और अपने विशाल शरीरसे पृथिवीको आलिङ्गनपाशमें बाँधकर पाताललोकमें निवास करते हैं ॥ ५९ ॥

य एव विष्णुः सोऽनन्तो भगवान् वसुधाधरः।
यो रामः स हृषीकेशो योऽच्युतः स धराधरः॥ ६० ॥

जो भगवान् विष्णु हैं, वे ही इस पृथ्वीको धारण करने-वाले भगवान् अनन्त हैं । जो बलराम हैं वे ही श्रीकृष्ण हैं, जो श्रीकृष्ण हैं वे ही भूमिधर बलराम हैं ॥ ६० ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ दिव्यपराक्रमौ ।
द्रष्टव्यौ माननीयौ च चक्रलाङ्गलधारिणौ ॥ ६१ ॥

वे दोनों दिव्य रूप और दिव्य पराक्रमसे सम्पन्न पुरुषसिंह बलराम और श्रीकृष्ण क्रमशः चक्र एवं हल धारण करनेवाले हैं । तुम्हें उन दोनोंका दर्शन एवं सम्मान करना चाहिये ॥

एष वोऽनुग्रहः प्रोक्तो मया पुण्यस्तपोधनाः ।
यद् भवन्तो यदुश्रेष्ठं पूजयेयुः प्रयत्नतः ॥ ६२ ॥

तपोधनो ! आपलोगोंपर अनुग्रह करके मैंने भगवान्‌का पवित्र माहात्म्य इसलिये बताया है कि आप प्रयत्नपूर्वक उन यदुकुलतिलक श्रीकृष्णकी पूजा करें ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पुरुषमाहात्म्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें परमपुरुष श्रीकृष्णका माहात्म्यविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन और भीष्मजीका युधिष्ठिरको राज्य करनेके लिये आदेश देना

नारद उवाच

अथ व्योम्नि महाञ्छब्दः सविद्युत्स्तनयित्नुमान्।
मेघैश्च गगनं नीलं संरुद्धमभवद् घनैः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर आकाशमें बिजलीकी गड़गड़ाहट और मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ महान् शब्द होने लगा । मेघोंकी घनघोर घटासे घिरकर सारा आकाश नीला हो गया ॥ १ ॥

प्रावृषीव च पर्जन्यो ववृषे निर्मलं पयः ।
तमश्चैवाभवद् घोरं दिशश्च न चकाशिरे ॥ २ ॥

वर्षाकालकी भाँति मेघसमूह निर्मल जलकी वर्षा करने लगा । सब ओर घोर अन्धकार छा गया । दिशाएँ नहीं सूझती थीं ॥ २ ॥

ततो देवगिरौ तस्मिन् रम्ये पुण्ये सनातने ।
न शर्वं भूतसंघं वा ददृशुर्मुनयस्तदा ॥ ३ ॥

उस समय उस रमणीय, पवित्र एवं सनातन देवगिरिपर ऋषियोंने जब दृष्टिपात किया, तब उन्हें वहाँ न तो भगवान् शङ्कर दिखायी दिये और न भूतोंके समुदायका ही दर्शन हुआ॥

व्यभ्रं च गगनं सद्यः क्षणेन समपद्यत ।
तीर्थयात्रां ततो विप्रा जग्मुश्चान्ये यथागतम् ॥ ४ ॥

फिर तो तत्काल एक ही क्षणमें सारा आसमान साफ हो गया । कहीं भी बादल नहीं रह गया । तब ब्राह्मणलोग वहाँसे तीर्थयात्राके लिये चल दिये और अन्य लोग भी जैसे आये थे वैसे ही लौट गये ॥ ४ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा ते विस्मिताऽभवन् ।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादं त्वत्कथाश्रयम् ॥ ५ ॥
स भवान् पुरुषव्याघ्र ब्रह्मभूतः सनातनः ।
यदर्थमनुशिष्टाः स्मो गिरिपृष्ठे महात्मना ॥ ६ ॥

यह अद्भुत और अचिन्त्य घटना देखकर सब लोग आश्चर्यचकित हो उठे । पुरुषसिंह देवकीनन्दन ! भगवान् शङ्करका पार्वतीजीके साथ जो आपके सम्बन्धमें संवाद हुआ, उसे सुनकर हम इस निश्चयपर पहुँच गये हैं कि वे ब्रह्मभूत सनातन पुरुष आप ही हैं । जिनके लिये हिमालयके शिखरपर महादेवजीने हमलोगोंको उपदेश दिया था ॥ ५–६ ॥

द्वितीयं त्वद्भुतमिदं त्वत्तेजः कृतमद्य वै ।
दृष्ट्वा च विस्मिताः कृष्ण सा च नः स्मृतिरागता ॥७॥

श्रीकृष्ण ! आपके तेजसे दूसरी अद्भुत घटना आज यह घटित हुई है, जिसे देखकर हम चकित हो गये हैं और हमें पूर्वकालकी वह शङ्करजीवाली बात पुनः स्मरण हो रही है ॥ ७ ॥

एतत् ते देवदेवस्य माहात्म्यं कथितं प्रभो ।
कपर्दिनो गिरीशस्य महाबाहो जनार्दन ॥ ८ ॥

प्रभो ! महाबाहु जनार्दन ! यह मैंने आपके समक्ष जटाजूटधारी देवाधिदेव गिरीशके माहात्म्यका वर्णन किया है ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्णस्तपोवननिवासिभिः ।
मानयामास तान् सर्वानृषीन् देवकिनन्दनः ॥ ९ ॥

तपोवननिवासी मुनियोंके ऐसा कहनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस समय उन सबका विशेष सत्कार किया ॥ ९ ॥

अथर्षयः सम्प्रहृष्टाः पुनस्ते कृष्णमब्रुवन् ।
पुनः पुनः दर्शयास्मान् सदैव मधुसूदन ॥ १० ॥

तदनन्तर वे महर्षि पुनः हर्षमें भरकर श्रीकृष्णसे बोले—'मधुसूदन ! आप सदा ही हमें बारंबार दर्शन देते रहें ॥

न हि नः सा रतिः स्वर्गे या च त्वद्दर्शने विभो ।
तदृतं च महाबाहो यदाह भगवान् भवः ॥ ११ ॥

'प्रभो ! आपके दर्शनमें हमारा जितना अनुराग है, उतना स्वर्गमें भी नहीं है । महाबाहो ! भगवान् शिवने जो कहा था, वह सर्वथा सत्य हुआ ॥ ११ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रहस्यमरिकर्शन ।
त्वमेव ह्यर्थतत्त्वज्ञः पृष्टोऽस्मान् पृच्छसे यदा ॥ १२ ॥
तदस्माभिरिदं गुह्यं त्वत्प्रियार्थमुदाहृतम् ।
न च तेऽविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ १३ ॥

'शत्रुसूदन ! यह सारा रहस्य मैंने आपसे कहा है, आप ही अर्थ-तत्त्वके ज्ञाता हैं । हमने आपसे पूछा था, परंतु आप स्वयं ही जब हमसे प्रश्न करने लगे, तब हमलोगोंने आपकी प्रसन्नताके लिये इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है ! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ १२-१३ ॥

जन्म चैव प्रसूतिश्च यच्चान्यत् कारणं विभो ।
वयं तु बहुचापल्यादशक्ता गुह्यधारणे ॥ १४ ॥

'प्रभो ! आपका जो यह अवतार अर्थात् मानव शरीरमें जन्म हुआ है तथा जो इसका गुप्त कारण है, यह सब तथा अन्य बातें आपसे छिपी नहीं हैं । हमलोग तो अपनी अत्यन्त चपलताके कारण इस गूढ़ विषयको अपने मनमें ही छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये हैं ॥ १४ ॥

ततः स्थिते त्वयि विभो लघुत्वात् प्रलपामहे ।
न हि किंचित् तदाश्चर्यं यन्न वेत्ति भवानिह ॥ १५ ॥
दिवि वा भुवि वा देव सर्वं हि विदितं तव ।

'भगवन् ! इसीलिये आपके रहते हुए भी हम अपने ओछेपनके कारण प्रलाप करते हैं—छोटे मुँह बड़ी बात कर रहे हैं । देव ! पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई भी ऐसी आश्चर्यकी बात नहीं है, जिसे आप नहीं जानते हों । आपको सब कुछ ज्ञात है ॥ १५½ ॥

साधयाम वयं कृष्ण बुद्धिं पुष्टिमवाप्नुहि ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! अब आप हमें जानेकी आज्ञा दें, जिससे हम अपना कार्य साधन करें । आपको उत्तम बुद्धि और पुष्टि प्राप्त हो ॥ १६ ॥

पुत्रस्ते सदृशस्तात विशिष्टो वा भविष्यति ।
महाप्रभावसंयुक्तो दीप्तिकीर्तिकरः प्रभुः ॥ १७ ॥

तात ! आपको आपके समान अथवा आपसे भी बढ़कर

पुत्र प्राप्त हो। वह महान् प्रभावसे युक्त, दीप्तिमान्, कीर्तिका विस्तार करनेवाला और सर्वसमर्थ हो' ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

ततः प्रणम्य देवेशं यादवं पुरुषोत्तमम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य प्रजग्मुस्ते महर्षयः ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वे महर्षि उन यदुकुलरत्न देवेश्वर पुरुषोत्तमको प्रणाम और उनकी परिक्रमा करके चले गये ॥ १८ ॥

सोऽयं नारायणः श्रीमान् दीप्त्या परमया युतः।
व्रतं यथावत् तच्चीर्त्वा द्वारकां पुनरागमत् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् परम कान्तिसे युक्त ये श्रीमान् नारायण अपने व्रतको यथावत्‌रूपसे पूर्ण करके पुनः द्वारकापुरीमें चले आये ॥

पूर्णे च दशमे मासि पुत्रोऽस्य परमाद्भुतः।
रुक्मिण्यां सम्मतो जज्ञे शूरो वंशधरः प्रभो ॥ २० ॥

प्रभो ! दसवाँ मास पूर्ण होनेपर इन भगवान्‌के रुक्मिणी देवीके गर्भसे एक परम अद्भुत, मनोरम एवं शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इनका वंश चलानेवाला है ॥ २० ॥

स कामः सर्वभूतानां सर्वभावगतो नृप।
असुराणां सुराणां च चरत्यन्तर्गतः सदा ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! जो सम्पूर्ण प्राणियोंके मानसिक संकल्पमें व्याप्त रहनेवाला है और देवताओं तथा असुरोंके भी अन्तःकरणमें सदा विचरता रहता है, वह कामदेव ही भगवान् श्रीकृष्णका वंशधर है ॥ २१ ॥

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः ॥ २२ ॥

वे ही ये चार भुजाधारी घनश्याम पुरुषसिंह श्रीकृष्ण प्रेमपूर्वक तुम पाण्डवोंके आश्रित हैं और तुमलोग भी इनके शरणागत हो ॥ २२ ॥

कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिश्चैव स्वर्गमार्गस्तथैव च।
यत्रैष संस्थितस्तत्र देवो विष्णुस्त्रिविक्रमः ॥ २३ ॥

ये त्रिविक्रम विष्णुदेव जहाँ विद्यमान हैं, वहीं कीर्ति, लक्ष्मी, धृति तथा स्वर्गका मार्ग है ॥ २३ ॥

सेन्द्रा देवास्त्रयस्त्रिंशदेष नात्र विचारणा।
आदिदेवो महादेवः सर्वभूतप्रतिश्रयः ॥ २४ ॥

इन्द्र आदि तैंतीस देवता इन्हींके स्वरूप हैं, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेवाले आदिदेव महादेव हैं ॥ २४ ॥

अनादिनिधनोऽव्यक्तो महात्मा मधुसूदनः।
अयं जातो महातेजाः सुराणामर्थसिद्धये ॥ २५ ॥

इनका न आदि है न अन्त। ये अव्यक्तस्वरूप, महातेजस्वी महात्मा मधुसूदन देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये यदुकुलमें उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

सुदुस्तरार्थतत्त्वस्य वक्ता कर्ता च माधवः।
तव पार्थ जयः कृत्स्नस्तव कीर्तिस्तथातुला ॥ २६ ॥
तवेयं पृथिवी देवी कृत्स्ना नारायणाश्रयात्।
अयं नाथस्तवाचिन्त्यो यस्य नारायणो गतिः ॥ २७ ॥

ये माधव दुर्बोध तत्त्वके वक्ता और कर्ता हैं। कुन्तीनन्दन ! तुम्हारी सम्पूर्ण विजय, अनुपम कीर्ति और अखिल भूमण्डलका राज्य—ये सब भगवान् नारायणका आश्रय लेनेसे ही तुम्हें प्राप्त हुए हैं। ये अचिन्त्यस्वरूप नारायण ही तुम्हारे रक्षक और परमगति हैं ॥ २६-२७ ॥

स भवांस्त्वमुपाध्वर्यू रणाग्नौ हुतवान् नृपान्।
कृष्णस्रुवेण महता युगान्ताग्निसमेन वै ॥ २८ ॥

तुमने स्वयं होता बनकर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी श्रीकृष्णरूपी विशाल स्रुवाके द्वारा समराग्निकी ज्वालामें सम्पूर्ण राजाओंकी आहुति दे डाली है ॥ २८ ॥

दुर्योधनश्च शोच्योऽसौ सपुत्रभ्रातृबान्धवः।
कृतवान् योऽबुधिः क्रोधाद्धरिगाण्डीवविग्रहम् ॥ २९ ॥

आज वह दुर्योधन अपने पुत्र, भाई और सम्बन्धियोंसहित शोकके विषय हो गया है; क्योंकि उस मूर्खने क्रोधके आवेशमें आकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध ठाना था ॥

दैतेया दानवेन्द्राश्च महाकाया महाबलाः।
चक्राग्नौ क्षयमापन्ना दावाग्नौ शलभा इव ॥ ३० ॥

कितने ही विशाल शरीरवाले महाबली दैत्य और दानव दावानलमें दग्ध होनेवाले पतङ्गोंकी तरह श्रीकृष्णकी चक्राग्निमें स्वाहा हो चुके हैं ॥ ३० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्यो हि मानुषैरेष संयुगे।
विहीनैः पुरुषव्याघ्र सत्त्वशक्तिबलादिभिः ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! सत्त्व (धैर्य), शक्ति और बल आदिसे स्वभावतः हीन मनुष्य युद्धमें इन श्रीकृष्णका सामना नहीं कर सकते ॥ ३१ ॥

जयो योगी युगान्ताभः सव्यसाची रणाग्रगः।
तेजसा हतवान् सर्वं सुयोधनबलं नृप ॥ ३२ ॥

अर्जुन भी योगशक्तिसे सम्पन्न और युगान्तकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं। ये बायें हाथसे भी बाण चलाते हैं और रणभूमिमें सबसे आगे रहते हैं। नरेश्वर ! इन्होंने अपने तेजसे दुर्योधनकी सारी सेनाका संहार कर डाला है।

यत् तु गोवृषभांकेन मुनिभ्यः समुदाहृतम्।
पुराणं हिमवत्पृष्ठे तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३३ ॥

वृषभध्वज भगवान् शङ्करने हिमालयके शिखरपर मुनियोंसे जो पुरातन रहस्य बताया था, वह मेरे मुँहसे सुनो।

यावत् तस्य भवेत् पुष्टिस्तेजो दीप्तिः पराक्रमः।
प्रभावः सन्नतिर्जन्म कृष्णे तन्त्रिगुणं विभो ॥ ३४ ॥

विभो ! अर्जुनमें जैसी पुष्टि है, जैसा तेज, दीप्ति, पराक्रम

प्रभाव, विनय और जन्मकी उत्तमता है, वह सब कुछ श्रीकृष्णमें अर्जुनसे तिगुना है ॥ ३४ ॥

कः शक्तोऽत्यन्यथाकर्तुं तद् यदि स्यात् तथा शृणु ।
यत्र कृष्णो हि भगवांस्तत्र पुष्टिरनुत्तमा ॥ ३५ ॥

संसारमें कौन ऐसा है जो मेरे इस कथनको अन्यथा सिद्ध कर सके । श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव है, उसे सुनो— जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहाँ सर्वोत्तम पुष्टि विद्यमान है ॥

वयं त्विहाल्पमतयः परतन्त्राः सुविक्लवाः ।
ज्ञानपूर्वं प्रपन्नाः स्मो मृत्योः पन्थानमव्ययम् ॥ ३६ ॥

हम इस जगत्में मन्दबुद्धि, परतन्त्र और व्याकुल-चित्त मनुष्य हैं । हमने जान-बूझकर मृत्युके अटल मार्गपर पैर रक्खा है ॥ ३६ ॥

भवांश्चाप्यार्जवपरः पूर्वं कृत्वा प्रतिश्रयम् ।
राजवृत्तं न लभते प्रतिज्ञापालने रतः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! तुम अत्यन्त सरल हो, इसीसे तुमने पहले ही भगवान् वासुदेवकी शरण ली और अपनी प्रतिज्ञाके पालनमें तत्पर रहकर राजोचित बर्तावको तुम ग्रहण नहीं कर रहे हो ॥ ३७ ॥

अप्येवात्मवधं लोके राजंस्त्वं बहु मन्यसे ।
न हि प्रतिज्ञा या दत्ता तां प्रहातुमरिंदम ॥ ३८ ॥

राजन् ! तुम इस संसारमें अपनी हत्या कर लेनेको ही अधिक महत्त्व दे रहे हो । शत्रुदमन ! जो प्रतिज्ञा तुमने कर ली है, उसे मिटा देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है (तुमने शत्रुओंको जीतकर न्यायपूर्वक प्रजापालनका व्रत लिया है । अब शोकवश आत्महत्याका विचार मनमें लाकर तुम उस व्रतसे गिर रहे हो, यह ठीक नहीं है) ॥ ३८ ॥

कालेनायं जनः सर्वो निहतो रणमूर्धनि ।
वयं च कालेन हताः कालो हि परमेश्वरः ॥ ३९ ॥

ये सब राजालोग युद्धके मुहानेपर कालके द्वारा मारे गये हैं, हम भी कालसे ही मारे गये हैं; क्योंकि काल ही परमेश्वर है ॥ ३९ ॥

न हि कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हसि ।
कालो लोहितरक्ताक्षः कृष्णो दण्डी सनातनः ॥४०॥

जो कालके स्वरूपको जानता है, वह कालके थपेड़े खाकर भी शोक नहीं करता । श्रीकृष्ण ही लाल नेत्रोंवाले दण्डधारी सनातन काल हैं ॥ ४० ॥

तस्मात् कुन्तीसुत ज्ञातीन् नेह शोचितुमर्हसि ।
व्यपेतमन्युर्नित्यं त्वं भव कौरवनन्दन ॥ ४१ ॥
माधवस्यास्य माहात्म्यं श्रुतं यत् कथितं मया ।
तदेव तावत् पर्याप्तं सज्जनस्य निदर्शनम् ॥ ४२ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! तुम्हें अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंके लिये यहाँ शोक नहीं करना चाहिये । कौरव कुलका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर ! तुम सदा क्रोध-हीन एवं शान्त रहो । मैंने इन माधव श्रीकृष्णका माहात्म्य जैसा सुना था, वैसा कह सुनाया । इनकी महिमाको समझनेके लिये इतना ही पर्याप्त है । सज्जनके लिये दिग्दर्शन मात्र उपस्थित होता है ॥ ४१-४२ ॥

व्यासस्य वचनं श्रुत्वा नारदस्य च धीमतः ।
स्वयं चैव महाराज कृष्णस्यार्हतमस्य वै ॥ ४३ ॥
प्रभावश्चर्षिपूगस्य कथितः सुमहान् मया ।
महेश्वरस्य संवादं शैलपुत्र्याश्च भारत ॥ ४४ ॥

महाराज ! व्यासजी तथा बुद्धिमान् नारदजीके वचन सुनकर मैंने परम पूज्य श्रीकृष्ण तथा महर्षियोंके महान् प्रभाव-का वर्णन किया है । भारत ! गिरिराजनन्दिनी उमा और महेश्वरका जो संवाद हुआ था, उसका भी मैंने उल्लेख किया है ॥ ४३-४४ ॥

धारयिष्यति यश्चैनं महापुरुषसम्भवम् ।
शृणुयात् कथयेद् वा यः स श्रेयो लभते परम् ॥४५॥

जो महापुरुष श्रीकृष्णके इस प्रभावको सुनेगा, कहेगा और याद रखेगा, उसको परम कल्याणकी प्राप्ति होगी ॥४५॥

भवितारश्च तस्याथ सर्वे कामा यथेप्सिताः ।
प्रेत्य स्वर्गं च लभते नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ४६ ॥

उसके सारे अभीष्ट मनोरथ पूर्ण होंगे और वह मनुष्य मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४६ ॥

न्याय्यं श्रेयोऽभिकामेन प्रतिपत्तुं जनार्दनः ।
एष एवाक्षयो विप्रैः स्तुतो राजन् जनार्दनः ॥ ४७ ॥

अतः जिसे कल्याणकी इच्छा हो, उस पुरुषको जनार्दन-की शरण लेनी चाहिये । राजन् ! इन अविनाशी श्रीकृष्णकी ही ब्राह्मणोंने स्तुति की है ॥ ४७ ॥

महेश्वरमुखोत्सृष्टा ये च धर्मगुणाः स्मृताः ।
ते त्वया मनसा धार्याः कुरुराज दिवानिशम् ॥ ४८ ॥

कुरुराज ! भगवान् शङ्करके मुखसे जो धर्म-सम्बन्धी गुण प्रतिपादित हुए हैं, उन सबको तुम्हें दिन-रात अपने हृदयमें धारण करना चाहिये ॥ ४८ ॥

एवं ते वर्तमानस्य सम्यग्दण्डधरस्य च ।
प्रजापालनदक्षस्य स्वर्गलोको भविष्यति ॥ ४९ ॥

ऐसा बर्ताव करते हुए यदि तुम न्यायोचित रीतिसे दण्ड धारण करके प्रजापालनमें कुशलतापूर्वक लगे रहोगे तो तुम्हें स्वर्गलोक प्राप्त होगा ॥ ४९ ॥

धर्मेणापि सदा राजन् प्रजा रक्षितुमर्हसि ।
यस्तस्य विपुलो दण्डः सम्यग्धर्मः स कीर्त्यते ॥ ५० ॥

राजन् ! तुम धर्मपूर्वक सदा प्रजाकी रक्षा करते रहो ।

प्रजापालनके लिये जो दण्डका उचित उपयोग किया जाता है, वह धर्म ही कहलाता है ॥ ५० ॥

य एष कथितो राजन् मया सज्जनसंनिधौ ।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादो धर्मसंहितः ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! भगवान् शङ्करका पार्वतीजीके साथ जो धर्मविषयक संवाद हुआ था, उसे इन सत्पुरुषोंके निकट मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा वा श्रोतुकामो वाप्यर्चयेद् वृषभध्वजम् ।
विशुद्धेनेह भावेन य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ५२ ॥

जो अपना कल्याण चाहता हो, वह पुरुष यह संवाद सुनकर अथवा सुननेकी कामना रखकर विशुद्धभावसे भगवान् शङ्करकी पूजा करे ॥ ५२ ॥

एष तस्यानवद्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
संदेशो देवपूजार्थं तं तथा कुरु पाण्डव ॥ ५३ ॥

पाण्डुनन्दन ! उन अनिन्द्य महात्मा देवर्षि नारदजीका ही यह संदेश है कि महादेवजीकी पूजा करनी चाहिये । इसलिये तुम भी ऐसा ही करो ॥ ५३ ॥

एतदत्यद्भुतं वृत्तं पुण्ये हि भवति प्रभो ।
वासुदेवस्य कौन्तेय स्थाणोश्चैव स्वभावजम् ॥ ५४ ॥

प्रभो ! कुन्तीनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्ण और महादेवजी-का यह अद्भुत एवं स्वाभाविक वृत्तान्त पूर्वकालमें पुण्यमय पर्वत हिमालयपर संघटित हुआ था ॥ ५४ ॥

दशवर्षसहस्राणि बदर्यामेष शाश्वतः ।
तपश्चचार विपुलं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ५५ ॥

इन सनातन श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ (नर-नारायणरूपमें रहकर) बदरिकाश्रममें दस हजार वर्षों-तक बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ ५५ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ।
विदितौ नारदादेतौ मम व्यासाच्च पार्थिव ॥ ५६ ॥

पृथ्वीनाथ ! कमलनयन श्रीकृष्ण और अर्जुन—ये दोनों सत्ययुग आदि तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण त्रियुग कहलाते हैं । देवर्षि नारद तथा व्यासजीने इन दोनोंके स्वरूपका परिचय दिया था ॥ ५६ ॥

बाल एव महाबाहुश्चकार कदनं महत् ।
कंसस्य पुण्डरीकाक्षो ज्ञातित्राणार्थकारणात् ॥ ५७ ॥

महाबाहु कमलनयन श्रीकृष्णने बचपनमें ही अपने बन्धु-बान्धवोंकी रक्षाके लिये कंसका बड़ा भारी संहार किया था ॥ ५७ ॥

कर्मणामस्य कौन्तेय नान्तं संख्यातुमुत्सहे ।
शाश्वतस्य पुराणस्य पुरुषस्य युधिष्ठिर ॥ ५८ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! इन सनातन पुराणपुरुष श्रीकृष्ण-के चरित्रोंकी कोई सीमा या संख्या नहीं बतायी जा सकती

ध्रुवं श्रेयः परं तात भविष्यति तवोत्तमम् ।
यस्य ते पुरुषव्याघ्रः सखा चायं जनार्दनः ॥ ५९

तात ! तुम्हारा तो अवश्य ही परम उत्तम कल्या होगा; क्योंकि ये पुरुषसिंह जनार्दन तुम्हारे मित्र हैं ॥ ५९

दुर्योधनं तु शोचामि प्रेत्य लोकेऽपि दुर्मतिम् ।
यत्कृते पृथिवी सर्वा विनष्टा सहयद्विपा ॥ ६०

दुर्बुद्धि दुर्योधन यद्यपि परलोकमें चला गया है, भी मुझे तो उसीके लिये अधिक शोक हो रहा है; क्यों उसीके कारण हाथी, घोड़े आदि वाहनोंसहित सारी पृथ्वी नाश हुआ है ॥ ६० ॥

दुर्योधनापराधेन कर्णस्य शकुनेस्तथा ।
दुःशासनचतुर्थानां कुरवो निधनं गताः ॥ ६१

दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि—इन्हीं चारों अपराधसे सारे कौरव मारे गये हैं ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु गाङ्गेये पुरुषर्षभे ।
तूष्णीं बभूव कौरव्यो मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ६२

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरुषप्र गङ्गानन्दन भीष्मजीके ऐसा कहनेपर उन महामनस पुरुषोंके बीचमें बैठे हुए कुरुकुलकुमार युधिष्ठिर चु हो गये ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा विस्मयं जग्मुर्धृतराष्ट्रादयो नृपाः ।
सम्पूज्य मनसा कृष्णं सर्वे प्राञ्जलयोऽभवन् ॥ ६३

भीष्मजीकी बात सुनकर धृतराष्ट्र आदि राजाओं बड़ा विस्मय हुआ और वे सभी मन-ही-मन श्रीकृष्ण पूजा करते हुए उन्हें हाथ जोड़ने लगे ॥ ६३ ॥

ऋषयश्चापि ते सर्वे नारदप्रमुखास्तदा ।
प्रतिगृह्याभ्यनन्दन्त तद्वाक्यं प्रतिपूज्य च ॥ ६४

नारद आदि सम्पूर्ण महर्षि भी भीष्मजीके वचन सुनक उनकी प्रशंसा करते हुए बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

इत्येतदखिलं सर्वैः पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
श्रुतवान् सुमहाश्चर्यं पुण्यं भीष्मानुशासनम् ॥ ६५

इस प्रकार पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयों साथ यह भीष्मजीका सारा पवित्र अनुशासन सुना, अत्यन्त आश्चर्यजनक था ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरस्तु गाङ्गेयं विश्रान्तं भूरिदक्षिणम् ।
पुनरेव महाबुद्धिः पर्यपृच्छन्महीपतिः ॥ ६६

तदनन्तर बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंका दान करनेवाले गङ्गा नन्दन भीष्मजी जब विश्राम ले चुके, तब महाबुद्धिमा राजा युधिष्ठिर पुनः प्रश्न करने लगे ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महापुरुषप्रस्तावे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महापुरुष श्रीकृष्णकी प्रशंसाविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्

(यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

जिनके स्मरण करनेमात्रसे मनुष्य जन्म-मृत्यु-रूप संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते ।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥)

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत, पृथ्वीको धारण करनेवाले, अनेक रूपधारी और सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण विधिरूप धर्म तथा पापोंका क्षय करनेवाले धर्मरहस्योंको सब प्रकार सुनकर शान्तनुपुत्र भीष्मसे फिर पूछा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—दादाजी! समस्त जगत्में एक ही देव कौन है तथा इस लोकमें एक ही परम आश्रयस्थान कौन है ? किस देवकी स्तुति—गुण-कीर्तन करनेसे तथा किस देवका नाना प्रकारसे बाह्य और आन्तरिक पूजन करनेसे मनुष्य कल्याण-की प्राप्ति कर सकते हैं ? ॥ २ ॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन् मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥ ३ ॥

आप समस्त धर्मोंमें किस धर्मको परम श्रेष्ठ मानते हैं ? तथा किसका जप करनेसे जीव जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! स्थावर-जङ्गमरूप संसारके स्वामी, ब्रह्मादि देवोंके देव, देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, क्षर-अक्षरसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तमका सहस्रनामोंके द्वारा निरन्तर तत्पर रहकर गुण-संकीर्तन करनेसे पुरुष सब दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ४ ॥

तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायन् स्तुवन् नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ५ ॥

तथा उसी विनाशरहित पुरुषका सब समय भक्तिसे युक्त होकर पूजन करनेसे, उसीका ध्यान करनेसे तथा स्तवन एवं नमस्कार करनेसे पूजा करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

उस जन्म-मृत्यु आदि छः भावविकारोंसे रहित, सर्व-व्यापक, सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर, लोकाध्यक्ष देवकी निरन्तर स्तुति करनेसे मनुष्य सब दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणोंके हितकारी, सब धर्मोंको जाननेवाले, प्राणियोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी, समस्त भूतोंके उत्पत्ति-स्थान एवं संसारके कारणरूप परमेश्वरका स्तवन करनेसे मनुष्य सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ७ ॥

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंमें मैं इसी धर्मको सबसे बड़ा मानता हूँ कि मनुष्य कमलनयन भगवान् वासुदेवका भक्तिपूर्वक गुण-संकीर्तनरूप स्तुतियोंसे सदा अर्चन करे ॥ ८ ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥ ११ ॥
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥

पृथ्वीपते ! जो परम महान् तेजःस्वरूप है, जो परम महान् तपःस्वरूप है, जो परम महान् ब्रह्म है, जो सबका परम आश्रय है, जो पवित्र करनेवाले तीर्थादिकोंमें परम पवित्र है, मङ्गलोंका भी मङ्गल है, देवोंका भी देव है तथा जो भूतप्राणियोंका अविनाशी पिता है, कल्पके आदिमें जिससे सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और फिर युगका क्षय होनेपर महाप्रलयमें जिसमें वे विलीन हो जाते हैं, उस लोकप्रधान, संसारके स्वामी, भगवान् विष्णुके हजार नामोंको मुझसे सुनो, जो पाप और संसारभयको दूर करनेवाले हैं ॥ ९—१२ ॥

यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥

महान् आत्मस्वरूप विष्णुके जो नाम गुणके कारण

प्रवृत्त हुए हैं, उनमेंसे जो-जो प्रसिद्ध हैं और मन्त्रद्रष्टा मुनियोंद्वारा जो सर्वत्र गाये गये हैं, उन समस्त नामोंको पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद् भूतभृद् भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥ १४ ॥

ॐसच्चिदानन्दस्वरूप, १ **विश्वम्**–विराट्स्वरूप, २ **विष्णुः**–सर्वव्यापी, ३ **वषट्कारः**–जिनके उद्देश्यसे यज्ञमें वषट् क्रिया की जाती है, ऐसे यज्ञस्वरूप, ४ **भूतभव्यभवत्प्रभुः**–भूत, भविष्यत् और वर्तमानके स्वामी,५ **भूतकृत्**–रजोगुणको स्वीकार करके ब्रह्मारूपसे सम्पूर्ण भूतोंकी रचना करनेवाले, ६ **भूतभृत्**- सत्त्वगुणको स्वीकार करके सम्पूर्ण भूतोंका पालन-पोषण करनेवाले, ७ **भावः**–नित्यस्वरूप होते हुए भी स्वतः उत्पन्न होनेवाले, ८ **भूतात्मा**–सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, ९ **भूतभावनः**–भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले ॥ १४ ॥

पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥ १५ ॥

१० **पूतात्मा**–पवित्रात्मा, ११ **परमात्मा**–परमश्रेष्ठ नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, १२ **मुक्तानां परमा गतिः**–मुक्त पुरुषोंकी सर्वश्रेष्ठ गतिस्वरूप, १३ **अव्ययः**–कभी विनाशको प्राप्त न होनेवाले, १४ **पुरुषः**–पुर अर्थात् शरीरमें शयन करनेवाले, १५ **साक्षी**–बिना किसी व्यवधानके सब कुछ देखनेवाले, १६ **क्षेत्रज्ञः**–क्षेत्र अर्थात् समस्त प्रकृतिरूप शरीरको पूर्णतया जाननेवाले, १७ **अक्षरः**–कभी क्षीण न होनेवाले ॥ १५ ॥

योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः ।
नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥

१८ **योगः**–मनसहित सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंके निरोधरूप योगसे प्राप्त होनेवाले, १९ **योगविदां नेता**–योगको जाननेवाले भक्तोंके स्वामी, २० **प्रधानपुरुषेश्वरः**–प्रकृति और पुरुषके स्वामी, २१ **नारसिंहवपुः**–मनुष्य और सिंह दोनोंके-जैसा शरीर धारण करनेवाले नरसिंहरूप,२२**श्रीमान्**–वक्षःस्थलमें सदा श्रीको धारण करनेवाले, २३ **केशवः**–(क) ब्रह्मा, (अ) विष्णु और (ईश) महादेव–इस प्रकार त्रिमूर्तिस्वरूप, २४ **पुरुषोत्तमः**–क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे सर्वथा उत्तम ॥ १६ ॥

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
सम्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥ १७ ॥

२५ **सर्वः**–सर्वरूप,२६ **शर्वः**–सारी प्रजाका प्रलयकालमें संहार करनेवाले, २७ **शिवः**–तीनों गुणोंसे परे कल्याणस्वरूप, २८ **स्थाणुः**–स्थिर, २९**भूतादिः**–भूतोंके आदिकारण, ३० **निधिरव्ययः**–प्रलयकालमें सब प्राणियोंके लीन होनेके लिये अविनाशी स्थानरूप, ३१ **सम्भवः**–अपनी इच्छासे भली प्रकार प्रकट होनेवाले, ३२ **भावनः**–समस्त भोक्ताओंके फलोंको उत्पन्न करनेवाले, ३३ **भर्ता**–सबका भरण करनेवाले, ३४ **प्रभवः**–उत्कृष्ट(दिव्य) जन्मवाले, ३५ **प्रभुः**–सबके स्वामी, ३६ **ईश्वरः**–उपाधिरहित ऐश्वर्यवाले ॥१७॥

स्वयम्भूः शम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः ।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥ १८ ॥

३७ **स्वयम्भूः**–स्वयं उत्पन्न होनेवाले, ३८ **शम्भुः**–भक्तोंके लिये सुख उत्पन्न करनेवाले, ३९ **आदित्यः**–द्वादश आदित्योंमें विष्णुनामक आदित्य, ४० **पुष्कराक्षः**–कमलके समान नेत्रवाले, ४१ **महास्वनः**–वेदरूप अत्यन्त महान् घोषवाले, ४२ **अनादिनिधनः**–जन्म-मृत्युसे रहित, ४३ **धाता**– विश्वको धारण करनेवाले, ४४ **विधाता**–कर्म और उसके फलोंकी रचना करनेवाले, ४५ **धातुरुत्तमः**–कार्यकारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चको धारण करनेवाले एवं सर्वश्रेष्ठ॥

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः॥ १९ ॥

४६ **अप्रमेयः**–प्रमाणादिसे जाननेमें न आ सकनेवाले, ४७ **हृषीकेशः**–इन्द्रियोंके स्वामी, ४८ **पद्मनाभः**–जगत्के कारणरूप कमलको अपनी नाभिमें स्थान देनेवाले, ४९ **अमरप्रभुः**–देवताओंके स्वामी, ५० **विश्वकर्मा**—सारे जगत्की रचना करनेवाले, ५१ **मनुः**–प्रजापति मनुरूप, ५२ **त्वष्टा**–संहारके समय सम्पूर्ण प्राणियोंको क्षीण करनेवाले, ५३ **स्थविष्ठः**–अत्यन्त स्थूल, ५४ **स्थविरो ध्रुवः**–अति प्राचीन एवं अत्यन्त स्थिर ॥ १९ ॥

अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मङ्गलं परम् ॥ २० ॥

५५ **अग्राह्यः**–मनसे भी ग्रहण न किये जा सकनेवाले, ५६ **शाश्वतः**–सब कालमें स्थित रहनेवाले, ५७ **कृष्णः**–सबके चित्तको बलात्कारसे अपनी ओर आकर्षित करनेवाले परमानन्दस्वरूप, ५८ **लोहिताक्षः**–लाल नेत्रोंवाले, ५९ **प्रतर्दनः**–प्रलयकालमें प्राणियोंका संहार करनेवाले, ६० **प्रभूतः**–ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, ६१ **त्रिककुब्धाम**—ऊपर-नीचे और मध्यभेदवाली तीनों दिशाओंके आश्रयरूप, ६२ **पवित्रम्**–सबको पवित्र करनेवाले, ६३ **मङ्गलं परम्**–परम मङ्गलस्वरूप ॥ २० ॥

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

६४ **ईशानः**–सर्वभूतोंके नियन्ता, ६५ **प्राणदः**–सबके प्राणदाता, ६६ **प्राणः**–प्राणस्वरूप, ६७ **ज्येष्ठः**–सबके कारण होनेसे सबसे बड़े, ६८ **श्रेष्ठः**–सबमें उत्कृष्ट होनेसे परम श्रेष्ठ, ६९ **प्रजापतिः**–ईश्वररूपसे सारी प्रजाओंके

स्वामी, ७० **हिरण्यगर्भः**–ब्रह्माण्डरूप हिरण्यमय अण्डके भीतर ब्रह्मारूपसे व्याप्त होनेवाले, ७१ **भूगर्भः**–पृथ्वीको गर्भमें रखनेवाले, ७२ **माधवः**–लक्ष्मीके पति, ७३ **मधुसूदनः**–मधुनामक दैत्यको मारनेवाले ॥ २१ ॥

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥ २२ ॥

७४ **ईश्वरः**–सर्वशक्तिमान् ईश्वर, ७५ **विक्रमी**–शूरवीरतासे युक्त, ७६ **धन्वी**–शार्ङ्गधनुष रखनेवाले, ७७ **मेधावी**–अतिशय बुद्धिमान्, ७८ **विक्रमः**–गरुड़ पक्षीद्वारा गमन करनेवाले, ७९ **क्रमः**–क्रमविस्तारके कारण, ८० **अनुत्तमः**–सर्वोत्कृष्ट, ८१ **दुराधर्षः**–किसीसे भी तिरस्कृत न हो सकनेवाले, ८२ **कृतज्ञः**–अपने निमित्तसे थोड़ा-सा भी त्याग किये जानेपर उसे बहुत माननेवाले यानी पत्र-पुष्पादि थोड़ी-सी वस्तु समर्पण करनेवालोंको भी मोक्ष दे देनेवाले, ८३ **कृतिः**–पुरुष-प्रयत्नके आधाररूप, ८४ **आत्मवान्**–अपनी ही महिमामें स्थित ॥ २२ ॥

सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥ २३ ॥

८५ **सुरेशः**–देवताओंके स्वामी, ८६ **शरणम्**–दीन-दुखियोंके परम आश्रय, ८७ **शर्म**–परमानन्दस्वरूप, ८८ **विश्वरेताः**–विश्वके कारण, ८९ **प्रजाभवः**–सारी प्रजाको उत्पन्न करनेवाले, ९० **अहः**–प्रकाशरूप, ९१ **संवत्सरः**–कालरूपसे स्थित, ९२ **व्यालः**–शेषनागस्वरूप, ९३ **प्रत्ययः**–उत्तम बुद्धिसे जाननेमें आनेवाले, ९४ **सर्वदर्शनः**–सबके द्रष्टा ॥ २३ ॥

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥ २४ ॥

९५ **अजः**–जन्मरहित, ९६ **सर्वेश्वरः**–समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर, ९७ **सिद्धः**–नित्यसिद्ध, ९८ **सिद्धिः**–सबके फलस्वरूप, ९९ **सर्वादिः**–सब भूतोंके आदि कारण, १०० **अच्युतः**–अपनी स्वरूप-स्थितिसे कभी त्रिकालमें भी च्युत न होनेवाले, १०१ **वृषाकपिः**–धर्म और वराहरूप, १०२ **अमेयात्मा**–अप्रमेयस्वरूप, १०३ **सर्वयोगविनिःसृतः**–नाना प्रकारके शास्त्रोक्त साधनोंसे जाननेमें आनेवाले ॥ २४ ॥

वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मासम्मितः समः।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥ २५ ॥

१०४ **वसुः**–सब भूतोंके वासस्थान, १०५ **वसुमनाः**–उदार मनवाले, १०६ **सत्यः**–सत्यस्वरूप, १०७ **समात्मा**–सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्मारूपसे विराजनेवाले, १०८ **असम्मितः**–समस्त पदार्थोंसे मापे न जा सकनेवाले, १०९ **समः**–सब समय समस्त विकारोंसे रहित, ११० **अमोघः**–भक्तोंके द्वारा पूजन, स्तवन अथवा स्मरण किये जानेपर उन्हें वृथा न करके पूर्णरूपसे उनका फल प्रदान करनेवाले, १११ **पुण्डरीकाक्षः**–कमलके समान नेत्रोंवाले, ११२ **वृषकर्मा**–धर्ममय कर्म करनेवाले, ११३ **वृषाकृतिः**–धर्मकी स्थापना करनेके लिये विग्रह धारण करनेवाले ॥ २५ ॥

रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः।
अमृतः शाश्वतस्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥ २६ ॥

११४ **रुद्रः**–दुःखके कारणको दूर भगा देनेवाले, ११५ **बहुशिराः**–बहुत-से सिरोंवाले, ११६ **बभ्रुः**–लोकोंका भरण करनेवाले, ११७ **विश्वयोनिः**–विश्वको उत्पन्न करनेवाले ११८ **शुचिश्रवाः**–पवित्र कीर्तिवाले, ११९ **अमृतः**–कभी न मरनेवाले, १२० **शाश्वतस्थाणुः**–नित्य सदा एकरस रहनेवाले एवं स्थिर, १२१ **वरारोहः**–आरूढ़ होनेके लिये परम उत्तम अपुनरावृत्तिस्थानरूप, १२२ **महातपाः**–प्रताप (प्रभाव) रूप महान् तपवाले ॥ २६ ॥

सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः।
वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित् कविः ॥ २७ ॥

१२३ **सर्वगः**–कारणरूपसे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले, १२४ **सर्वविद्भानुः**–सब कुछ जाननेवाले प्रकाशरूप, १२५ **विष्वक्सेनः**–युद्धके लिये की हुई तैयारीमात्रसे ही दैत्यसेनाको तितर-बितर कर डालनेवाले, १२६ **जनार्दनः**–भक्तोंके द्वारा अभ्युदयनिःश्रेयसरूप परम पुरुषार्थकी याचना किये जानेवाले, १२७ **वेदः**–वेदरूप, १२८ **वेदवित्**–वेद तथा वेदके अर्थको यथावत् जाननेवाले, १२९ **अव्यङ्गः**–ज्ञानादिसे परिपूर्ण अर्थात् किसी प्रकार अधूरे न रहनेवाले सर्वाङ्गपूर्ण, १३० **वेदाङ्गः**–वेदरूप अङ्गोंवाले, १३१ **वेदवित्**–वेदोंको विचारनेवाले, १३२ **कविः**–सर्वज्ञ ॥ २७ ॥

लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥ २८ ॥

१३३ **लोकाध्यक्षः**–समस्त लोकोंके अधिपति, १३४ **सुराध्यक्षः**–देवताओंके अध्यक्ष, १३५ **धर्माध्यक्षः**–अनुरूप फल देनेके लिये धर्म और अधर्मका निर्णय करनेवाले, १३६ **कृताकृतः**–कार्यरूपसे कृत और कारणरूपसे अकृत, १३७ **चतुरात्मा**–ब्रह्मा, विष्णु, महेश और निराकार ब्रह्म-इन चार स्वरूपोंवाले, १३८ **चतुर्व्यूहः**–उत्पत्ति, स्थिति, नाश और रक्षारूप चार व्यूहवाले, १३९ **चतुर्दंष्ट्रः**–चार दाढ़ोंवाले नरसिंहरूप, १४० **चतुर्भुजः**–चार भुजाओंवाले, बैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु ॥ २८ ॥

भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः।
अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥ २९ ॥

१४१ **भ्राजिष्णुः**–एकरस प्रकाशस्वरूप, १४२ **भोजनम्**–ज्ञानियोंद्वारा भोगनेयोग्य अमृतस्वरूप, १४३ **भोक्ता**–पुरुषरूपसे भोक्ता, १४४ **सहिष्णुः**–सहनशील,

१४५ जगदादिजः–जगत्के आदिमें हिरण्यगर्भरूपसे स्वयं उत्पन्न होनेवाले, **१४६ अनघः**–पापरहित, **१४७ विजयः**–ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंमें सबसे बढ़कर, **१४८ जेता**– स्वभावसे ही समस्त भूतोंको जीतनेवाले, **१४९ विश्वयोनिः**–सबके कारणरूप, **१५० पुनर्वसुः**–पुनः-पुनः अवतार-शरीरोंमें निवास करनेवाले ॥ २९ ॥

उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥ ३० ॥

१५१ उपेन्द्रः–इन्द्रके छोटे भाई, **१५२ वामनः**–वामनरूपसे अवतार लेनेवाले, **१५३ प्रांशुः**–तीनों लोकोंको लाँघनेके लिये त्रिविक्रमरूपसे ऊँचे होनेवाले, **१५४ अमोघः**–अव्यर्थ चेष्टावाले, **१५५ शुचिः**–स्मरण, स्तुति और पूजन करनेवालोंको पवित्र कर देनेवाले, **१५६ ऊर्जितः**–अत्यन्त बलशाली, **१५७ अतीन्द्रः**–स्वयंसिद्ध ज्ञान-ऐश्वर्यादिके कारण इन्द्रसे भी बढ़े-चढ़े हुए, **१५८ संग्रहः**–प्रलयके समय सबको समेट लेनेवाले, **१५९ सर्गः**–सृष्टिके कारणरूप, **१६० धृतात्मा**–जन्मादिसे रहित रहकर स्वेच्छासे स्वरूप धारण करनेवाले, **१६१ नियमः**–प्रजाको अपने-अपने अधिकारोंमें नियमित करनेवाले, **१६२ यमः**–अन्तःकरणमें स्थित होकर नियमन करनेवाले ॥ ३० ॥

वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः ।
अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ॥ ३१ ॥

१६३ वेद्यः–कल्याणकी इच्छावालोंके द्वारा जानने योग्य, **१६४ वैद्यः**–सब विद्याओंके जाननेवाले, **१६५ सदायोगी**–सदा योगमें स्थित रहनेवाले, **१६६ वीरहा**–धर्मकी रक्षाके लिये असुर योद्धाओंको मार डालनेवाले, **१६७ माधवः**–विद्याके स्वामी, **१६८ मधुः**–अमृतकी तरह सबको प्रसन्न करनेवाले, **१६९ अतीन्द्रियः**–इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत, **१७० महामायः**–मायावियोंपर भी माया डालनेवाले, महान् मायावी, **१७१ महोत्साहः**–जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये तत्पर रहनेवाले परम उत्साही, **१७२ महाबलः**–महान् बलशाली ॥ ३१ ॥

महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः ।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥ ३२ ॥

१७३ महाबुद्धिः–महान् बुद्धिमान्, **१७४ महावीर्यः**–महान् पराक्रमी, **१७५ महाशक्तिः**–महान् सामर्थ्यवान्, **१७६ महाद्युतिः**–महान् कान्तिमान्, **१७७ अनिर्देश्यवपुः**–वर्णन करनेमें न आनेयोग्य स्वरूप, **१७८ श्रीमान्**–ऐश्वर्यवान्, **१७९ अमेयात्मा**–जिसका अनुमान न किया जा सके ऐसे आत्मावाले, **१८० महाद्रिधृक्**–अमृतमन्थन और गोरक्षणके समय मन्दराचल और गोवर्धन नामक महान् पर्वतोंको धारण करनेवाले ॥ ३२ ॥

महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः ।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदां पतिः ॥ ३३ ॥

१८१ महेष्वासः–महान् धनुषवाले, **१८२ महीभर्ता**–पृथ्वीको धारण करनेवाले, **१८३ श्रीनिवासः**–अपने वक्षःस्थलमें श्रीको निवास देनेवाले, **१८४ सतां गतिः**–सत्पुरुषोंके परम आश्रय, **१८५ अनिरुद्धः**–किसीके भी द्वारा न रुकनेवाले, **१८६ सुरानन्दः**–देवताओंको आनन्दित करनेवाले, **१८७ गोविन्दः**–वेदवाणीके द्वारा अपनेको प्राप्त करा देनेवाले, **१८८ गोविदां पतिः**–वेदवाणीको जाननेवालोंके स्वामी ॥ ३३ ॥

मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः ।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥ ३४ ॥

१८९ मरीचिः–तेजस्वियोंके भी परम तेजरूप, **१९० दमनः**–प्रमाद करनेवाली प्रजाको यम आदिके रूपसे दमन करनेवाले, **१९१ हंसः**–पितामह ब्रह्माको वेदका ज्ञान करानेके लिये हंसरूप धारण करनेवाले, **१९२ सुपर्णः**–सुन्दर पंखवाले गरुड़स्वरूप, **१९३ भुजगोत्तमः**–सर्पोंमें श्रेष्ठ शेषनागरूप, **१९४ हिरण्यनाभः**–सुवर्णके समान रमणीय नाभिवाले, **१९५ सुतपाः**–बदरिकाश्रममें नर-नारायणरूपसे सुन्दर तप करनेवाले, **१९६ पद्मनाभः**–कमलके समान सुन्दर नाभिवाले, **१९७ प्रजापतिः**–सम्पूर्ण प्रजाओंके पालनकर्ता ॥

अमृत्युः सर्वदृक् सिंहः संधाता सन्धिमान्स्थिरः ।
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ॥ ३५ ॥

१९८ अमृत्युः–मृत्युसे रहित, **१९९ सर्वदृक्**–सब कुछ देखनेवाले, **२०० सिंहः**–दुष्टोंका विनाश करनेवाले, **२०१ संधाता**–प्राणियोंको उनके कर्मोंके फलोंसे संयुक्त करनेवाले, **२०२ सन्धिमान्**–सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंके फलोंको भोगनेवाले, **२०३ स्थिरः**–सदा एक रूप, **२०४ अजः**–दुर्गुणोंको दूर हटा देनेवाले, **२०५ दुर्मर्षणः**–किसीसे भी सहन नहीं किये जा सकनेवाले, **२०६ शास्ता**–सबपर शासन करनेवाले, **२०७ विश्रुतात्मा**–वेदशास्त्रोंमें प्रसिद्ध स्वरूपवाले, **२०८ सुरारिहा**–देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाले ॥ ३५ ॥

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥ ३६ ॥

२०९ गुरुः–सब विद्याओंका उपदेश करनेवाले, **२१० गुरुतमः**–ब्रह्मा आदिको भी ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाले, **२११ धाम**–सम्पूर्ण जगत्के आश्रय, **२१२ सत्यः**–सत्यस्वरूप, **२१३ सत्यपराक्रमः**–अमोघ पराक्रमवाले, **२१४ निमिषः**–योगनिद्रासे मुँदे हुए नेत्रोंवाले, **२१५ अनिमिषः**–मत्स्यरूपसे अवतार लेनेवाले, **२१६ स्रग्वी**–वैजयन्तीमाला धारण करनेवाले, **२१७ वाचस्पतिरुदारधीः**–सारे पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाली बुद्धिसे युक्त समस्त विद्याओंके पति ॥ ३६ ॥

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥३७॥

२१८ अग्रणीः–मुमुक्षुओंको उत्तम पदपर ले जानेवाले, **२१९ ग्रामणीः**–भूतसमुदायके नेता, **२२० श्रीमान्**–सबसे बढ़ी-चढ़ी कान्तिवाले, **२२१ न्यायः**–प्रमाणोंके आश्रयभूत तर्ककी मूर्ति, **२२२ नेता**–जगत्-रूप यन्त्रको चलानेवाले, **२२३ समीरणः**–श्वासरूपसे प्राणियोंसे चेष्टा करानेवाले, **२२४ सहस्रमूर्धा**-हजार सिरवाले, **२२५ विश्वात्मा**–विश्वके आत्मा, **२२६ सहस्राक्षः**–हजार आँखोंवाले, **२२७ सहस्रपात्**-हजार पैरोंवाले ॥ ३७ ॥

आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः सम्प्रमर्दनः ।
अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥ ३८ ॥

२२८ आवर्तनः–संसारचक्रको चलानेके स्वभाववाले, **२२९ निवृत्तात्मा**-संसारबन्धनसे नित्य मुक्तस्वरूप, **२३० संवृतः**–अपनी योगमायासे ढके हुए, **२३१ सम्प्रमर्दनः**–अपने रुद्र आदि स्वरूपसे सबका मर्दन करनेवाले, **२३२ अहःसंवर्तकः**–सूर्यरूपसे सम्यक्तया दिनके प्रवर्तक, **२३३ वह्निः**–हविको वहन करनेवाले अग्निदेव, **२३४ अनिलः**–प्राणरूपसे वायुस्वरूप, **२३५ धरणीधरः**–वराह और शेषरूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ३८ ॥

सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग् विश्वभुग् विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ॥ ३९ ॥

२३६ सुप्रसादः–शिशुपालादि अपराधियोंपर भी कृपा करनेवाले, **२३७ प्रसन्नात्मा**–प्रसन्न स्वभाववाले, **२३८ विश्वधृक्**–जगत्को धारण करनेवाले, **२३९ विश्वभुक्**–विश्वका पालन करनेवाले, **२४० विभुः**–सर्वव्यापी, **२४१ सत्कर्ता**–भक्तोंका सत्कार करनेवाले, **२४२ सत्कृतः**–पूजितोंसे भी पूजित, **२४३ साधुः**–भक्तोंके कार्य साधनेवाले, **२४४ जह्नुः**–संहारके समय जीवोंका लय करनेवाले, **२४५ नारायणः**-जलमें शयन करनेवाले, **२४६ नरः**–भक्तोंको परमधाममें ले जानेवाले ॥ ३९ ॥

असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ॥ ४०॥

२४७ असंख्येयः–जिसके नाम और गुणोंकी संख्या न की जा सके, **२४८ अप्रमेयात्मा**–किसीसे भी मापे न जा सकनेवाले, **२४९ विशिष्टः**–सबसे उत्कृष्ट, **२५० शिष्टकृत्**-श्रेष्ठ बनानेवाले, **२५१ शुचिः**–परम शुद्ध, **२५२ सिद्धार्थः**–इच्छित अर्थको सर्वथा सिद्ध कर चुकनेवाले, **२५३ सिद्धसंकल्पः**–सत्यसंकल्पवाले, **२५४ सिद्धिदः**–कर्म करनेवालोंको उनके अधिकारके अनुसार फल देनेवाले, **२५५ सिद्धिसाधनः**–सिद्धिरूप क्रियाके साधक ॥ ४० ॥

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥ ४१ ॥

२५६ वृषाही–द्वादशाहादि यज्ञोंको अपनेमें स्थित रखनेवाले, **२५७ वृषभः**–भक्तोंके लिये इच्छित वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले, **२५८ विष्णुः**–शुद्ध सत्त्वमूर्ति, **२५९ वृषपर्वा**-परमधाममें आरूढ़ होनेकी इच्छावालोंके लिये धर्मरूप सीढ़ियोंवाले, **२६० वृषोदरः**–अपने उदरमें धर्मको धारण करनेवाले, **२६१ वर्धनः**–भक्तोंको बढ़ानेवाले, **२६२ वर्धमानः**–संसाररूपसे बढ़नेवाले, **२६३ विविक्तः**–संसारसे पृथक् रहनेवाले, **२६४ श्रुतिसागरः**–वेदरूप जलके समुद्र ॥

सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥ ४२ ॥

२६५ सुभुजः–जगत्की रक्षा करनेवाली अति सुन्दर भुजाओंवाले, **२६६ दुर्धरः**–ध्यानद्वारा कठिनतासे धारण किये जा सकनेवाले, **२६७ वाग्मी**–वेदमयी वाणीको उत्पन्न करनेवाले, **२६८ महेन्द्रः**–ईश्वरोंके भी ईश्वर, **२६९ वसुदः**–धन देनेवाले, **२७० वसुः**–धनरूप, **२७१ नैकरूपः**–अनेक रूपधारी, **२७२ बृहद्रूपः**–विश्वरूपधारी, **२७३ शिपिविष्टः**–सूर्यकिरणोंमें स्थित रहनेवाले, **२७४ प्रकाशनः**–सबको प्रकाशित करनेवाले ॥ ४२ ॥

ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥ ४३ ॥

२७५ ओजस्तेजोद्युतिधरः–प्राण और बल, शूरवीरता आदि गुण तथा ज्ञानकी दीप्तिको धारण करनेवाले, **२७६ प्रकाशात्मा**–प्रकाशरूप, **२७७ प्रतापनः**–सूर्य आदि अपनी विभूतियोंसे विश्वको तप्त करनेवाले, **२७८ ऋद्धः**–धर्म, ज्ञान और वैराग्यादिसे सम्पन्न, **२७९ स्पष्टाक्षरः**–ओंकाररूप स्पष्ट अक्षरवाले, **२८० मन्त्रः**–ऋक्, साम और यजुके मन्त्रस्वरूप **२८१ चन्द्रांशुः**–संसारतापसे संतप्तचित्त पुरुषोंको चन्द्रमाकी किरणोंके समान आह्लादित करनेवाले, **२८२ भास्करद्युतिः**–सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप ॥ ४३ ॥

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥ ४४ ॥

२८३ अमृतांशूद्भवः–समुद्रमन्थन करते समय चन्द्रमाको उत्पन्न करनेवाले, **२८४ भानुः**–भासनेवाले, **२८५ शशबिन्दुः**-खरगोशके समान चिह्नवाले चन्द्रस्वरूप, **२८६ सुरेश्वरः**–देवताओंके ईश्वर, **२८७ औषधम्**–संसाररोगको मिटानेके लिये औषधरूप, **२८८ जगतः सेतुः**-संसारसागरको पार करानेके लिये सेतुरूप, **२८९ सत्यधर्मपराक्रमः**–सत्यस्वरूप धर्म और पराक्रमवाले ॥ ४४ ॥

भूतभव्यभवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः ।
कामहा कामकृत् कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥ ४५ ॥

२९० भूतभव्यभवन्नाथः–भूत, भविष्य और वर्तमानके

स्वामी, २९१ **पवनः**–वायुरूप, २९२ **पावनः**–जगत्को पवित्र करनेवाले, २९३ **अनलः**–अग्निस्वरूप, २९४ **कामहा**–अपने भक्तजनोंके सकामभावको नष्ट करनेवाले, २९५ **कामकृत्**–भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, २९६ **कान्तः**–कमनीयरूप, २९७**कामः**–(क) ब्रह्मा, (अ) विष्णु (मं) महादेव—इस प्रकार त्रिदेवरूप, २९८ **कामप्रदः**–भक्तोंको उनकी कामना की हुई वस्तुएँ प्रदान करनेवाले, २९९ **प्रभुः**–सर्वसामर्थ्यवान् ॥ ४५ ॥

युगादिकृद् युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्योऽव्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ॥ ४६ ॥

३०० **युगादिकृत्**–युगादिका आरम्भ करनेवाले, ३०१ **युगावर्तः**–चारों युगोंको चक्रके समान घुमानेवाले, ३०२ **नैकमायः**– अनेकों मायाओंको धारण करनेवाले, ३०३ **महाशनः**–कल्पके अन्तमें सबको ग्रसन करनेवाले, ३०४ **अदृश्यः**–समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके अविषय, ३०५ **अव्यक्तरूपः**–निराकार स्वरूपवाले, ३०६**सहस्रजित्**–युद्धमें हजारों देवशत्रुओंको जीतनेवाले, ३०७ **अनन्तजित्**–युद्ध और क्रीडा आदिमें सर्वत्र समस्त भूतोंको जीतनेवाले ॥ ४६ ॥

इष्टोऽविशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥ ४७ ॥

३०८ **इष्टः**–परमानन्दरूप होनेसे सर्वप्रिय, ३०९ **अविशिष्टः**–सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित, ३१० **शिष्टेष्टः**–शिष्ट पुरुषोंके इष्टदेव, ३११ **शिखण्डी**–मयूरपिच्छको अपना शिरोभूषण बना लेनेवाले, ३१२ **नहुषः**–भूतोंको मायासे बाँधनेवाले, ३१३ **वृषः**–कामनाओंको पूर्ण करनेवाले धर्मस्वरूप, ३१४**क्रोधहा**–क्रोधका नाश करनेवाले, ३१५**क्रोधकृत्कर्ता**–क्रोध करनेवाले दैत्यादिके विनाशक, ३१६ **विश्वबाहुः**–सब ओर बाहुओंवाले, ३१७ **महीधरः**–पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ४७ ॥

अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपां निधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥ ४८ ॥

३१८ **अच्युतः**–छः भावविकारोंसे रहित, ३१९ **प्रथितः**–जगत्की उत्पत्ति आदि कर्मोंके कारण विख्यात, ३२० **प्राणः**–हिरण्यगर्भरूपसे प्रजाको जीवित रखनेवाले, ३२१ **प्राणदः**–सबका भरण-पोषण करनेवाले, ३२२ **वासवानुजः**–वामनावतारमें इन्द्रके अनुजरूपमें उत्पन्न होनेवाले, ३२३ **अपां निधिः**–जलको एकत्र रखनेवाले समुद्ररूप, ३२४ **अधिष्ठानम्**–उपादान कारणरूपसे सब भूतोंके आश्रय, ३२५ **अप्रमत्तः**–कभी प्रमाद न करनेवाले, ३२६ **प्रतिष्ठितः**–अपनी महिमामें स्थित ॥ ४८ ॥

स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरंदर ॥ ४९ ॥

३२७**स्कन्दः**–स्वामिकार्तिकेयरूप, ३२८ **स्कन्दधरः**–धर्मपथको धारण करनेवाले, ३२९ **धुर्यः**–समस्त भूतोंके जन्मादिरूप धुरको धारण करनेवाले, ३३० **वरदः**–इच्छित वर देनेवाले, ३३१ **वायुवाहनः**–सारे वायुभेदोंको चलानेवाले, ३३२ **वासुदेवः**– सब भूतोंमें सर्वात्मारूपसे बसनेवाले, ३३३ **बृहद्भानुः**–महान् किरणोंसे युक्त एवं सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करनेवाले सूर्यरूप, ३३४ **आदिदेवः**–सबके आदिकारण देव, ३३५ **पुरंदरः**–असुरोंके नगरोंका ध्वंस करनेवाले ॥ ४९ ॥

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥ ५० ॥

३३६ **अशोकः**–सब प्रकारके शोकसे रहित, ३३७ **तारणः**–संसारसागरसे तारनेवाले, ३३८ **तारः**–जन्म-जरा-मृत्युरूप भयसे तारनेवाले, ३३९ **शूरः**–पराक्रमी, ३४० **शौरिः**–शूरवीर श्रीवसुदेवजीके पुत्र, ३४१**जनेश्वरः**–समस्त जीवोंके स्वामी, ३४२ **अनुकूलः**–आत्मारूप होनेसे सबके अनुकूल, ३४३ **शतावर्तः**–धर्मरक्षाके लिये सैकड़ों अवतार लेनेवाले, ३४४ **पद्मी**–अपने हाथमें कमल धारण करनेवाले, ३४५ **पद्मनिभेक्षणः**–कमलके समान कोमल दृष्टिवाले ॥ ५० ॥

पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
महर्द्धिर्ऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥ ५१ ॥

३४६**पद्मनाभः**–हृदय-कमलके मध्य निवास करनेवाले, ३४७ **अरविन्दाक्षः**–कमलके समान आँखोंवाले, ३४८ **पद्मगर्भः**–हृदयकमलमें ध्यान करनेयोग्य, ३४९ **शरीरभृत्**–अन्नरूपसे सबके शरीरोंका भरण करनेवाले, ३५० **महर्द्धिः**–महान् विभूतिवाले, ३५१ **ऋद्धः**–सबमें बढ़े-चढ़े, ३५२ **वृद्धात्मा**–पुरातन स्वरूप, ३५३ **महाक्षः**–विशाल नेत्रोंवाले, ३५४ **गरुडध्वजः**– गरुडके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले ॥ ५१ ॥

अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान् समितिञ्जयः ॥ ५२ ॥

३५५ **अतुलः**–तुलनारहित, ३५६ **शरभः**–शरीरोंको प्रत्यगात्मरूपसे प्रकाशित करनेवाले, ३५७ **भीमः**–जिससे पापियोंको भय हो ऐसे भयानक, ३५८ **समयज्ञः**–समभावरूप यज्ञसे सम्पन्न, ३५९ **हविर्हरिः**–यज्ञोंमें हविर्भागको और अपना स्मरण करनेवालोंके पापोंको हरण करनेवाले, ३६० **सर्वलक्षणलक्षण्यः**–समस्त लक्षणोंसे लक्षित होनेवाले, ३६१ **लक्ष्मीवान्**–अपने वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजीको सदा बसानेवाले, ३६२ **समितिञ्जयः**–संग्रामविजयी ॥ ५२ ॥

विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥ ५३ ॥

३६३ **विक्षरः**—नाशरहित, ३६४ **रोहितः**—मत्स्यविशेषका स्वरूप धारण करके अवतार लेनेवाले, ३६५ **मार्गः**—परमानन्दप्राप्तिके साधन-स्वरूप, ३६६ **हेतुः**—संसारके निमित्त और उपादान कारण, ३६७ **दामोदरः**—यशोदाजीद्वारा रस्सीसे बँधे हुए उदरवाले, ३६८ **सहः**—भक्तजनोंके अपराधोंको सहन करनेवाले, ३६९ **महीधरः**—पृथ्वीको धारण करनेवाले, ३७० **महाभागः**—महान् भाग्यशाली, ३७१ **वेगवान्**—तीव्रगतिवाले, ३७२ **अमिताशनः**—प्रलयकालमें सारे विश्वको भक्षण करनेवाले ॥ ५३ ॥

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः॥ ५४ ॥

३७३ **उद्भवः**—जगत्‌की उत्पत्तिके उपादानकारण, ३७४ **क्षोभणः**—जगत्‌की उत्पत्तिके समय प्रकृति और पुरुषमें प्रविष्ट होकर उन्हें क्षुब्ध करनेवाले, ३७५ **देवः**—प्रकाशस्वरूप, ३७६ **श्रीगर्भः**—सम्पूर्ण ऐश्वर्यको अपने उदरमें रखनेवाले, ३७७ **परमेश्वरः**—सर्वश्रेष्ठ शासन करनेवाले, ३७८ **करणम्**—संसारकी उत्पत्तिके सबसे बड़े साधन, ३७९ **कारणम्**—जगत्‌के उपादान और निमित्तकारण, ३८० **कर्ता**—सबके रचयिता, ३८१ **विकर्ता**—विचित्र भुवनोंकी रचना करनेवाले, ३८२ **गहनः**—अपने विलक्षण स्वरूप, सामर्थ्य और लीलादिके कारण पहचाने न जा सकनेवाले, ३८३ **गुहः**—मायासे अपने स्वरूपको ढक लेनेवाले ॥ ५४ ॥

व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः।
परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः॥ ५५ ॥

३८४ **व्यवसायः**—ज्ञानस्वरूप, ३८५ **व्यवस्थानः**—लोकपालादिकोंको, समस्त जीवोंको, चारों वर्णाश्रमोंको एवं उनके धर्मोंको व्यवस्थापूर्वक रचनेवाले, ३८६ **संस्थानः**—प्रलयके सम्यक् स्थान, ३८७ **स्थानदः**—ध्रुवादि भक्तोंको स्थान देनेवाले, ३८८ **ध्रुवः**—अचल स्वरूप, ३८९ **परर्द्धिः**—श्रेष्ठ विभूतिवाले, ३९० **परमस्पष्टः**—ज्ञानस्वरूप होनेसे परम स्पष्टरूप, ३९१ **तुष्टः**—एकमात्र परमानन्दस्वरूप, ३९२ **पुष्टः**—एकमात्र सर्वत्र परिपूर्ण, ३९३ **शुभेक्षणः**—दर्शनमात्रसे कल्याण करनेवाले ॥ ५५ ॥

रामो विरामो विरजो मार्गो नेयो नयोऽनयः।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः॥ ५६ ॥

३९४ **रामः**—योगीजनोंके रमण करनेके लिये नित्यानन्दस्वरूप, ३९५ **विरामः**—प्रलयके समय प्राणियोंको अपनेमें विराम देनेवाले, ३९६ **विरजः**—रजोगुण तथा तमोगुणसे सर्वथा शून्य, ३९७ **मार्गः**—मुमुक्षुजनोंके अमर होनेके साधनस्वरूप, ३९८ **नेयः**—उत्तम ज्ञानसे ग्रहण करनेयोग्य, ३९९ **नयः**—सबको नियममें रखनेवाले, ४०० **अनयः**—स्वतन्त्र, ४०१ **वीरः**—पराक्रमशाली, ४०२ **शक्तिमतां श्रेष्ठः**—शक्तिमानोंमें भी अतिशय शक्तिमान्, ४०३ **धर्मः**—धर्मस्वरूप, ४०४ **धर्मविदुत्तमः**—समस्त धर्मवेत्ताओंमें उत्तम ॥ ५६ ॥

वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः॥ ५७ ॥

४०५ **वैकुण्ठः**—परमधामस्वरूप, ४०६ **पुरुषः**—विश्वरूप शरीरमें शयन करनेवाले, ४०७ **प्राणः**—प्राणवायुरूपसे चेष्टा करनेवाले, ४०८ **प्राणदः**—सर्गके आदिमें प्राण प्रदान करनेवाले, ४०९ **प्रणवः**—ओंकारस्वरूप, ४१० **पृथुः**—विराट्रूपसे विस्तृत होनेवाले, ४११ **हिरण्यगर्भः**—ब्रह्मारूपसे प्रकट होनेवाले, ४१२ **शत्रुघ्नः**—देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाले, ४१३ **व्याप्तः**—कारणरूपसे सब कार्योंमें व्याप्त, ४१४ **वायुः**—पवनरूप, ४१५ **अधोक्षजः**—अपने स्वरूपसे क्षीण न होनेवाले ॥ ५७ ॥

ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः॥ ५८ ॥

४१६ **ऋतुः**—ऋतुस्वरूप, ४१७ **सुदर्शनः**—भक्तोंको सुगमतासे ही दर्शन दे देनेवाले, ४१८ **कालः**—सबकी गणना करनेवाले, ४१९ **परमेष्ठी**—अपनी प्रकृष्ट महिमामें स्थित रहनेके स्वभाववाले, ४२० **परिग्रहः**—शरणार्थियोंके द्वारा सब ओरसे ग्रहण किये जानेवाले, ४२१ **उग्रः**—सूर्यादिके भी भयके कारण, ४२२ **संवत्सरः**—सम्पूर्ण भूतोंके वासस्थान, ४२३ **दक्षः**—सब कार्योंको बड़ी कुशलतासे करनेवाले, ४२४ **विश्रामः**—विश्रामकी इच्छावाले मुमुक्षुओंको मोक्ष देनेवाले, ४२५ **विश्वदक्षिणः**—बलिके यज्ञमें समस्त विश्वको दक्षिणारूपमें प्राप्त करनेवाले ॥ ५८ ॥

विस्तारः स्थावरस्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम्।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः॥ ५९ ॥

४२६ **विस्तारः**—समस्त लोकोंके विस्तारके स्थान, ४२७ **स्थावरस्थाणुः**—स्वयं स्थितिशील रहकर पृथ्वी आदि, स्थितिशील पदार्थोंको अपनेमें स्थित रखनेवाले, ४२८ **प्रमाणम्**—ज्ञानस्वरूप होनेके कारण स्वयं प्रमाणरूप, ४२९ **बीजमव्ययम्**—संसारके अविनाशी कारण, ४३० **अर्थः**—सुखस्वरूप होनेके कारण सबके द्वारा प्रार्थनीय, ४३१ **अनर्थः**—पूर्णकाम होनेके कारण प्रयोजनरहित, ४३२ **महाकोशः**—बड़े खजानेवाले, ४३३ **महाभोगः**—यथार्थ सुखरूप महान् भोगवाले, ४३४ **महाधनः**—अतिशय यथार्थ धनस्वरूप ॥ ५९ ॥

अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः॥ ६० ॥

४३५ **अनिर्विण्णः**—उकताहटरूप विकारसे रहित, ४३६ **स्थविष्ठः**—विराट्रूपसे स्थित, ४३७ **अभूः**—अजन्मा, ४३८ **धर्मयूपः**—धर्मके स्तम्भरूप, ४३९ **महामखः**—महान्

यज्ञस्वरूप, ४४० **नक्षत्रनेमिः**–समस्त नक्षत्रोंके केन्द्रस्वरूप, ४४१ **नक्षत्री**–चन्द्ररूप, ४४२ **क्षमः**–समस्त कार्योंमें समर्थ, ४४३ **क्षामः**–समस्त जगत्के निवासस्थान, ४४४ **समीहनः**–सृष्टि आदिके लिये भलीभाँति चेष्टा करनेवाले ॥ ६० ॥

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥ ६१ ॥

४४५ **यज्ञः**–भगवान् विष्णु, ४४६ **इज्यः**–पूजनीय, ४४७ **महेज्यः**–सबसे अधिक उपासनीय, ४४८ **क्रतुः**–स्तम्भयुक्त यज्ञस्वरूप, ४४९ **सत्रम्**–सत्पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले, ४५० **सतां गतिः**–सत्पुरुषोंकी परम गति, ४५१ **सर्वदर्शी**–समस्त प्राणियोंको और उनके कार्योंको देखनेवाले, ४५२ **विमुक्तात्मा**–सांसारिक बन्धनसे नित्यमुक्त आत्मस्वरूप, ४५३ **सर्वज्ञः**–सबको जाननेवाले, ४५४ **ज्ञानमुत्तमम्**–सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप ॥ ६१ ॥

सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत् ।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥ ६२ ॥

४५५ **सुव्रतः**–प्रणतपालनादि श्रेष्ठ व्रतोंवाले, ४५६ **सुमुखः**–सुन्दर और प्रसन्न मुखवाले, ४५७ **सूक्ष्मः**–अणुसे भी अणु, ४५८ **सुघोषः**–सुन्दर और गम्भीर वाणी बोलनेवाले, ४५९ **सुखदः**–अपने भक्तोंको सब प्रकारसे सुख देनेवाले, ४६० **सुहृत्**–प्राणिमात्रपर अहैतुकी दया करनेवाले परम मित्र, ४६१ **मनोहरः**–अपने रूप-लावण्य और मधुर भाषणादिसे सबके मनको हरनेवाले, ४६२ **जितक्रोधः**–क्रोधपर विजय करनेवाले अर्थात् अपने साथ अत्यन्त अनुचित व्यवहार करनेवालेपर भी क्रोध न करनेवाले, ४६३ **वीरबाहुः**–अत्यन्त पराक्रमशील भुजाओंसे युक्त, ४६४ **विदारणः**–अधर्मियोंको नष्ट करनेवाले ॥ ६२ ॥

स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत् ।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥ ६३ ॥

४६५ **स्वापनः**–प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको अज्ञाननिद्रामें शयन करानेवाले, ४६६ **स्ववशः**–स्वतन्त्र, ४६७ **व्यापी**–आकाशकी भाँति सर्वव्यापी, ४६८ **नैकात्मा**–प्रत्येक युगमें लोकोद्धारके लिये अनेक रूप धारण करनेवाले, ४६९ **नैककर्मकृत्**–जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंमें मनोहर लीलारूप अनेक कर्म करनेवाले, ४७० **वत्सरः**–सबके निवास-स्थान, ४७१ **वत्सलः**–भक्तोंके परम स्नेही, ४७२ **वत्सी**–वृन्दावनमें बछड़ोंका पालन करनेवाले, ४७३ **रत्नगर्भः**–रत्नोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाले समुद्ररूप, ४७४ **धनेश्वरः**–सब प्रकारके धनोंके स्वामी ॥ ६३ ॥

धर्मगुब् धर्मकृद् धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम् ।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥ ६४ ॥

४७५ **धर्मगुप्**–धर्मकी रक्षा करनेवाले, ४७६ **धर्मकृत्**–धर्मकी स्थापना करनेके लिये स्वयं धर्मका आचरण करनेवाले, ४७७ **धर्मी**–सम्पूर्ण धर्मोंके आधार, ४७८ **सत्**–सत्यस्वरूप, ४७९ **असत्**–स्थूल जगत्स्वरूप, ४८० **क्षरम्**–सर्वभूतमय, ४८१ **अक्षरम्**–अविनाशी, ४८२ **अविज्ञाता**–क्षेत्रज्ञ जीवात्माको विज्ञाता कहते हैं, उनसे विलक्षण भगवान् विष्णु, ४८३ **सहस्रांशुः**–हजारों किरणोंवाले सूर्यस्वरूप, ४८४ **विधाता**–सबको अच्छी प्रकार धारण करनेवाले, ४८५ **कृतलक्षणः**–श्रीवत्स आदि चिह्नोंको धारण करनेवाले ॥ ६४ ॥

गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः ।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥ ६५ ॥

४८६ **गभस्तिनेमिः**–किरणोंके बीचमें सूर्यरूपसे स्थित, ४८७ **सत्त्वस्थः**–अन्तर्यामीरूपसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित रहनेवाले, ४८८ **सिंहः**–भक्त प्रह्लादके लिये नृसिंहरूप धारण करनेवाले, ४८९ **भूतमहेश्वरः**–सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर, ४९० **आदिदेवः**–सबके आदि कारण और दिव्यस्वरूप, ४९१ **महादेवः**–ज्ञानयोग और ऐश्वर्य आदि महिमाओंसे युक्त, ४९२ **देवेशः**–समस्त देवोंके स्वामी, ४९३ **देवभृद्गुरुः**–देवोंका विशेषरूपसे भरण-पोषण करनेवाले उनके परम गुरु ॥ ६५ ॥

उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः ।
शरीरभूतभृद् भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ॥ ६६ ॥

४९४ **उत्तरः**–संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाले और सर्वश्रेष्ठ, ४९५ **गोपतिः**–गोपालरूपसे गायोंकी रक्षा करनेवाले, ४९६ **गोप्ता**–समस्त प्राणियोंका पालन और रक्षा करनेवाले, ४९७ **ज्ञानगम्यः**–ज्ञानके द्वारा जाननेमें आनेवाले, ४९८ **पुरातनः**–सदा एकरस रहनेवाले, सबके आदि पुराणपुरुष, ४९९ **शरीरभूतभृत्**–शरीरके उत्पादक पञ्चभूतोंका प्राणरूपसे पालन करनेवाले, ५०० **भोक्ता**–निरतिशय आनन्दपुञ्जको भोगनेवाले, ५०१ **कपीन्द्रः**–बंदरोंके स्वामी श्रीराम, ५०२ **भूरिदक्षिणः**–श्रीरामादि अवतारोंमें यज्ञ करते समय बहुत-सी दक्षिणा प्रदान करनेवाले ॥ ६६ ॥

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित् पुरुसत्तमः ।
विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥ ६७ ॥

५०३ **सोमपः**–यज्ञोंमें देवरूपसे और यजमानरूपसे सोमरसका पान करनेवाले, ५०४ **अमृतपः**–समुद्रमन्थनसे निकाला हुआ अमृत देवोंको पिलाकर स्वयं पीनेवाले, ५०५ **सोमः**–ओषधियोंका पोषण करनेवाले चन्द्रमारूप,

५०६ **पुरुजित्**–बहुतोंको विजय लाभ करनेवाले, ५०७ **पुरुसत्तमः**–विश्वरूप और अत्यन्त श्रेष्ठ, ५०८ **विनयः**–दुष्टोंको दण्ड देनेवाले, ५०९ **जयः**–सबपर विजय प्राप्त करनेवाले, ५१० **सत्य संधः**–सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले, ५११ **दाशार्हः**–दाशार्हकुलमें प्रकट होनेवाले, ५१२ **सात्वतां पतिः**–यादवोंके और अपने भक्तोंके स्वामी ॥ ६७ ॥

जीवो विनयितासाक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः ।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ॥ ६८ ॥

५१३ **जीवः**–क्षेत्रज्ञरूपसे प्राणोंको धारण करनेवाले, ५१४ **विनयितासाक्षी**–अपने शरणापन्न भक्तोंके विनय-भावको तत्काल प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले, ५१५ **मुकुन्दः**–मुक्तिदाता, ५१६ **अमितविक्रमः**–वामनावतारमें पृथ्वी नापते समय अत्यन्त विस्तृत पैर रखनेवाले, ५१७ **अम्भोनिधिः**–जलके निधान समुद्रस्वरूप, ५१८ **अनन्तात्मा**–अनन्तमूर्ति, ५१९ **महोदधिशयः**–प्रलयकालके महान् समुद्रमें शयन करनेवाले, ५२० **अन्तकः**–प्राणियोंका संहार करनेवाले मृत्युस्वरूप ॥ ६८ ॥

अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः ।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥ ६९ ॥

५२१ **अजः**–अकार भगवान् विष्णुका वाचक है, उससे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मास्वरूप, ५२२ **महार्हः**–पूजनीय, ५२३ **स्वाभाव्यः**-नित्य सिद्ध होनेके कारण स्वभावसे ही उत्पन्न न होनेवाले, ५२४ **जितामित्रः**–रावण-शिशुपालादि शत्रुओंको जीतनेवाले, ५२५ **प्रमोदनः**–स्मरणमात्रसे नित्य प्रमुदित करनेवाले, ५२६ **आनन्दः**–आनन्दस्वरूप, ५२७ **नन्दनः**–सबको प्रसन्न करनेवाले, ५२८ **नन्दः**–सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे सम्पन्न, ५२९ **सत्यधर्मा**–धर्मज्ञानादि सब गुणोंसे युक्त, ५३० **त्रिविक्रमः**–तीन डगमें तीनों लोकोंको नापनेवाले ॥ ६९ ॥

महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः ।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ॥ ७० ॥

५३१ **महर्षिः कपिलाचार्यः**–सांख्यशास्त्रके प्रणेता भगवान् कपिलाचार्य, ५३२ **कृतज्ञः**–अपने भक्तोंकी सेवाको बहुत मानकर अपनेको उनका ऋणी समझनेवाले, ५३३ **मेदिनीपतिः**–पृथ्वीके स्वामी, ५३४ **त्रिपदः**–त्रिलोकीरूप तीन पैरोंवाले विश्वरूप, ५३५ **त्रिदशाध्यक्षः**–देवताओंके स्वामी, ५३६ **महाशृङ्गः**–मत्स्यावतारमें महान् सींग धारण करनेवाले, ५३७ **कृतान्तकृत्**–स्मरण करनेवालोंके समस्त कर्मोंका अन्त करनेवाले ॥ ७० ॥

महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥ ७१ ॥

५३८ **महावराहः**–हिरण्याक्षका वध करनेके लिये महावराहरूप धारण करनेवाले, ५३९ **गोविन्दः**–नष्ट हुई पृथ्वीको पुनः प्राप्त कर लेनेवाले, ५४० **सुषेणः**–पार्षदोंके समुदायरूप सुन्दर सेनासे सुसज्जित, ५४१ **कनकाङ्गदी**–सुवर्णका बाजूबंद धारण करनेवाले, ५४२ **गुह्यः**–हृदयाकाशमें छिपे रहनेवाले, ५४३ **गभीरः**–अतिशय गम्भीर स्वभाववाले, ५४४ **गहनः**–जिनके स्वरूपमें प्रविष्ट होना अत्यन्त कठिन हो—ऐसे, ५४५ **गुप्तः**–वाणी और मनसे जाननेमें न आनेवाले, ५४६ **चक्रगदाधरः**–भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये चक्र और गदा आदि दिव्य आयुधोंको धारण करनेवाले ॥ ७१ ॥

वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णो दृढः सङ्कर्षणोऽच्युतः ।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥ ७२ ॥

५४७ **वेधाः**–सब कुछ विधान करनेवाले, ५४८ **स्वाङ्गः**–कार्य करनेमें स्वयं ही सहकारी, ५४९ **अजितः**–किसीके द्वारा न जीते जानेवाले, ५५० **कृष्णः**–श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, ५५१ **दृढः**–अपने स्वरूप और सामर्थ्यसे कभी भी च्युत न होनेवाले, ५५२ **सङ्कर्षणोऽच्युतः**–प्रलयकालमें एक साथ सबका संहार करनेवाले और जिनका कभी किसी भी कारणसे पतन न हो सके—ऐसे अविनाशी, ५५३ **वरुणः**–जलके स्वामी वरुणदेवता, ५५४ **वारुणः**–वरुणके पुत्र वशिष्ठस्वरूप, ५५५ **वृक्षः**–अश्वत्थवृक्षरूप, ५५६ **पुष्कराक्षः**–कमलके समान नेत्रवाले ५५७ **महामनाः**–संकल्पमात्रसे उत्पत्ति, पालन और संहार आदि समस्त लीला करनेकी शक्तिवाले ॥ ७२ ॥

भगवान् भगहानन्दी वनमाली हलायुधः ।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥ ७३ ॥

५५८ **भगवान्**–उत्पत्ति और प्रलय, आना और जाना तथा विद्या और अविद्याको जाननेवाले, एवं सर्वैश्वर्यादि छहों भगोंसे युक्त, ५५९ **भगहा**–अपने भक्तोंका प्रेम बढ़ानेके लिये उनके ऐश्वर्यका हरण करनेवाले, ५६० **आनन्दी**–परम सुखस्वरूप, ५६१ **वनमाली**–वैजयन्ती वनमाला धारण करनेवाले, ५६२ **हलायुधः**–हलरूप शस्त्रको धारण करनेवाले बलभद्रस्वरूप, ५६३ **आदित्यः**-अदितिपुत्र वामन भगवान्, ५६४ **ज्योतिरादित्यः**–सूर्यमण्डलमें विराजमान ज्योतिःस्वरूप, ५६५ **सहिष्णुः**–समस्त द्वन्द्वोंको सहन करनेमें समर्थ, ५६६ **गतिसत्तमः**–सर्वश्रेष्ठ गतिस्वरूप ॥ ७३ ॥

सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः ।
दिविस्पृक् सर्वदृग् व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥ ७४ ॥

५६७ **सुधन्वा**–अतिशय सुन्दर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले, ५६८ **खण्डपरशुः**–शत्रुओंका खण्डन करनेवाले फरसेको धारण करनेवाले परशुरामस्वरूप, ५६९ **दारुणः**–सन्मार्गविरोधियोंके लिये महान् भयंकर, ५७० **द्रविणप्रदः**–अर्थार्थी भक्तोंको धन-सम्पत्ति प्रदान करनेवाले, ५७१

दिविस्पृक्–स्वर्गलोकतक व्याप्त, ५७२ **सर्वदृग् व्यासः**–सबके द्रष्टा एवं वेदका विभाग करनेवाले श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससरूप, ५७३ **वाचस्पतिरयोनिजः**–विद्याके स्वामी तथा बिना योनिके स्वयं ही प्रकट होनेवाले ॥ ७४ ॥

त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक्।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिः परायणम्॥७५॥

५७४ **त्रिसामा**–देवव्रत आदि तीन साम श्रुतियोंद्वारा जिनकी स्तुति की जाती है—ऐसे परमेश्वर, ५७५**सामगः**–सामवेदका गान करनेवाले, ५७६ **साम**–सामवेदस्वरूप, ५७७ **निर्वाणम्**–परमशान्तिके निधान परमानन्दस्वरूप, ५७८ **भेषजम्**–संसार-रोगकी ओषधि, ५७९ **भिषक्**–संसाररोगका नाश करनेके लिये गीतारूप उपदेशामृतका पान करानेवाले परमवैद्य, ५८० **संन्यासकृत्**–मोक्षके लिये संन्यासाश्रम और संन्यासयोगका निर्माण करनेवाले, ५८१ **शमः**–उपशमताका उपदेश देनेवाले, ५८२ **शान्तः**–परमशान्तस्वरूप ५८३ **निष्ठा**–सबकी स्थितिके आधार अधिष्ठानस्वरूप, ५८४ **शान्तिः**–परम शान्तिस्वरूप, ५८५ **परायणम्**–मुमुक्षु पुरुषोंके परम प्राप्य-स्थान ॥ ७५ ॥

शुभाङ्गः शान्तिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥ ७६ ॥

५८६ **शुभाङ्गः**–अति मनोहर परम सुन्दर अङ्गोंवाले, ५८७ **शान्तिदः**–परम शान्ति देनेवाले, ५८८ **स्रष्टा**–सर्गके आदिमें सबकी रचना करनेवाले, ५८९ **कुमुदः**–पृथ्वीपर प्रसन्नतापूर्वक लीला करनेवाले, ५९० **कुवलेशयः**–जलमें शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले, ५९१ **गोहितः**–गोपालरूपसे गायोंका और अवतार धारण करके भार उतारकर पृथ्वीका हित करनेवाले, ५९२ **गोपतिः**–पृथ्वीके और गायोंके स्वामी, ५९३ **गोप्ता**–अवतार धारण करके सबके सम्मुख प्रकट होते समय अपनी मायासे अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले,५९४ **वृषभाक्षः**–समस्त कामनाओंकी वर्षा करनेवाली कृपादृष्टिसे युक्त, ५९५ **वृषप्रियः**–धर्मसे प्यार करनेवाले ॥ ७६ ॥

अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ॥ ७७ ॥

५९६ **अनिवर्ती**–रणभूमिमें और धर्मपालनमें पीछे न हटनेवाले, ५९७ **निवृत्तात्मा**–स्वभावसे ही विषय-वासनारहित नित्य शुद्ध मनवाले, ५९८ **संक्षेप्ता**–विस्तृत जगत्को संहारकालमें संक्षिप्त यानी सूक्ष्म करनेवाले, ५९९ **क्षेमकृत्**–शरणागतकी रक्षा करनेवाले, ६०० **शिवः**–स्मरणमात्रसे पवित्र करनेवाले कल्याणस्वरूप, ६०१ **श्रीवत्सवक्षाः**–श्रीवत्स नामक चिह्नको वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले, ६०२ **श्रीवासः**–श्रीलक्ष्मीजीके वासस्थान, ६०३ **श्रीपतिः**–परमशक्तिरूपा श्रीलक्ष्मीजीके स्वामी, ६०४ **श्रीमतां वरः**–सब प्रकारकी सम्पत्ति और ऐश्वर्यसे युक्त ब्रह्मादि समस्त लोकपालोंसे श्रेष्ठ ॥ ७७ ॥

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः ॥ ७८ ॥

६०५ **श्रीदः**–भक्तोंको श्री प्रदान करनेवाले, ६०६ **श्रीशः**–लक्ष्मीके नाथ, ६०७ **श्रीनिवासः**–श्रीलक्ष्मीजीके अन्तःकरणमें नित्य निवास करनेवाले, ६०८ **श्रीनिधिः**–समस्त श्रियोंके आधार, ६०९ **श्रीविभावनः**–सब मनुष्योंके लिये उनके कर्मानुसार नाना प्रकारके ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, ६१० **श्रीधरः**–जगज्जननी श्रीको वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले, ६११ **श्रीकरः**–स्मरण, स्तवन और अर्चन आदि करनेवाले, भक्तोंके लिये श्रीका विस्तार करनेवाले, ६१२ **श्रेयः**–कल्याणस्वरूप, ६१३ **श्रीमान्**–सब प्रकारकी श्रियोंसे युक्त, ६१४ **लोकत्रयाश्रयः**–तीनों लोकोंके आधार ॥ ७८ ॥

स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः।
विजितात्माविधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः॥७९॥

६१५ **स्वक्षः**–मनोहर कृपाकटाक्षसे युक्त परम सुन्दर आँखोंवाले, ६१६ **स्वङ्गः**–अतिशय कोमल परम सुन्दर मनोहर अङ्गोंवाले, ६१७ **शतानन्दः**–लीलाभेदसे सैकड़ों विभागोंमें विभक्त आनन्दस्वरूप, ६१८ **नन्दिः**–परमानन्दस्वरूप, ६१९ **ज्योतिर्गणेश्वरः**–नक्षत्रसमुदायोंके ईश्वर, ६२० **विजितात्मा**–जिते हुए मनवाले,६२१ **अविधेयात्मा**–जिनके असली स्वरूपका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सके—ऐसे अनिर्वचनीयस्वरूप, ६२२ **सत्कीर्तिः**–सच्ची कीर्तिवाले, ६२३ **छिन्नसंशयः**–सब प्रकारके संशयोंसे रहित ॥ ७९ ॥

उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतस्थिरः।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ॥ ८० ॥

६२४ **उदीर्णः**–सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ, ६२५ **सर्वतश्चक्षुः**–समस्त वस्तुओंको सब दिशाओंमें सदा-सर्वदा देखनेकी शक्तिवाले, ६२६ **अनीशः**–जिनका दूसरा कोई शासक न हो—ऐसे स्वतन्त्र, ६२७ **शाश्वतस्थिरः**–सदा एकरस स्थिर रहनेवाले, निर्विकार, ६२८ **भूशयः**–लंकागमनके लिये मार्गकी याचना करते समय समुद्रतटकी भूमिपर शयन करनेवाले, ६२९ **भूषणः**–स्वेच्छासे नाना अवतार लेकर अपने चरण-चिह्नोंसे भूमिकी शोभा बढ़ानेवाले, ६३० **भूतिः**–समस्त विभूतियोंके आधारस्वरूप, ६३१ **विशोकः**–सब प्रकारसे शोकरहित, ६३२ **शोकनाशनः**–स्मृतिमात्रसे भक्तोंके शोकका समूल नाश करनेवाले ॥ ८० ॥

अर्चिष्मानर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः ॥ ८१ ॥

६३३ **अर्चिष्मान्**–चन्द्र सूर्य आदि समस्त ज्योतियोंको

देदीप्यमान करनेवाली अतिशय प्रकाशमय अनन्त किरणोंसे युक्त, ६३४ **अर्चितः**–ब्रह्मादि समस्त लोकोंसे पूजे जानेवाले, ६३५ **कुम्भः**–घटकी भाँति सबके निवासस्थान, ६३६ **विशुद्धात्मा**–परम शुद्ध निर्मल आत्मस्वरूप, ६३७ **विशोधनः**–स्मरणमात्रसे समस्त पापोंका नाश करके भक्तोंके अन्तःकरणको परम शुद्ध कर देनेवाले, ६३८ **अनिरुद्धः**–जिनको कोई बाँधकर नहीं रख सके—ऐसे चतुर्व्यूहमें अनिरुद्धस्वरूप, ६३९ **अप्रतिरथः**–प्रतिपक्षसे रहित, ६४० **प्रद्युम्नः**–परमश्रेष्ठ अपार धनसे युक्त चतुर्व्यूहमें प्रद्युम्नस्वरूप, ६४१ **अमितविक्रमः**–अपार पराक्रमी ॥ ८१ ॥

कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः॥ ८२ ॥

६४२ **कालनेमिनिहा**–कालनेमि नामक असुरको मारनेवाले, ६४३ **वीरः**–परम शूरवीर, ६४४ **शौरिः**–शूरकुलमें उत्पन्न होनेवाले श्रीकृष्णस्वरूप, ६४५ **शूरजनेश्वरः**–अतिशय शूरवीरताके कारण इन्द्रादि शूरवीरोंके भी इष्ट, ६४६ **त्रिलोकात्मा**–अन्तर्यामीरूपसे तीनों लोकोंके आत्मा, ६४७ **त्रिलोकेशः**–तीनों लोकोंके स्वामी, ६४८ **केशवः**–ब्रह्मा, विष्णु और शिव-स्वरूप, ६४९ **केशिहा**–केशी नामके असुरको मारनेवाले, ६५० **हरिः**–स्मरणमात्रसे समस्त पापोंका हरण करनेवाले ॥ ८२ ॥

कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनंजयः ॥ ८३ ॥

६५१ **कामदेवः**–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा अभिलषित समस्त कामनाओंके अधिष्ठाता परमदेव, ६५२ **कामपालः**–सकामी भक्तोंकी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले, ६५३ **कामी**–अपने प्रियतमोंको चाहनेवाले, ६५४ **कान्तः**–परम मनोहर स्वरूप, ६५५ **कृतागमः**–समस्त वेद और शास्त्रोंको रचनेवाले, ६५६ **अनिर्देश्यवपुः**–जिनके दिव्य स्वरूपका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सके—ऐसे अनिर्वचनीय शरीरवाले, ६५७ **विष्णुः**–शेषशायी भगवान् विष्णु, ६५८ **वीरः**–बिना ही पैरोंके गमन करनेकी दिव्य शक्तिसे युक्त, ६५९ **अनन्तः**–जिनके स्वरूप, शक्ति, ऐश्वर्य, सामर्थ्य और गुणोंका कोई भी पार नहीं पा सकता–ऐसे अविनाशी गुण, प्रभाव और शक्तियोंसे युक्त, ६६० **धनञ्जयः**–अर्जुनरूपसे दिग-विजयके समय बहुत-सा धन जीतकर लानेवाले ॥ ८३ ॥

ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।
ब्रह्मविद् ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥ ८४ ॥

६६१ **ब्रह्मण्यः**–तप, वेद, ब्राह्मण और ज्ञानकी रक्षा करनेवाले, ६६२ **ब्रह्मकृत्**–पूर्वोक्त तप आदिकी रचना करनेवाले, ६६३ **ब्रह्मा**–ब्रह्मारूपसे जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, ६६४ **ब्रह्म**–सच्चिदानन्दस्वरूप, ६६५ **ब्रह्मविवर्धनः**–पूर्वोक्त ब्रह्मशब्दवाची तप आदिकी वृद्धि करनेवाले, ६६६ **ब्रह्मवित्**–वेद और वेदार्थको पूर्णतया जाननेवाले, ६६७ **ब्राह्मणः**–समस्त वस्तुओंको ब्रह्मरूपसे देखनेवाले, ६६८ **ब्रह्मी**–ब्रह्मशब्दवाची तपादि समस्त पदार्थोंके अधिष्ठान, ६६९ **ब्रह्मज्ञः**–अपने आत्मस्वरूप ब्रह्मशब्दवाची वेदको पूर्णतया यथार्थ जाननेवाले, ६७० **ब्राह्मणप्रियः**–ब्राह्मणोंको अतिशय प्रिय माननेवाले ॥ ८४ ॥

महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरगः ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ॥ ८५ ॥

६७१ **महाक्रमः**–बड़े वेगसे चलनेवाले, ६७२ **महाकर्मा**–भिन्न-भिन्न अवतारोंमें नाना प्रकारके महान् कर्म करनेवाले, ६७३ **महातेजाः**–जिसके तेजसे समस्त सूर्य आदि तेजस्वी देदीप्यमान होते हैं—ऐसे महान् तेजस्वी, ६७४ **महोरगः**–बड़े भारी सर्प यानी वासुकिस्वरूप, ६७५ **महाक्रतुः**–महान् यज्ञस्वरूप, ६७६ **महायज्वा**–लोकसंग्रहके लिये बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, ६७७ **महायज्ञः**–जपयज्ञ आदि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप समस्त यज्ञ जिनकी विभूतियाँ हैं–ऐसे महान् यज्ञस्वरूप, ६७८ **महाहविः**–ब्रह्मरूप अग्निमें हवन किये जाने योग्य प्रपञ्चरूप हवि जिनका स्वरूप है—ऐसे महान् हविःस्वरूप ॥ ८५ ॥

स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥ ८६ ॥

६७९ **स्तव्यः**–सबके द्वारा स्तुति किये जाने योग्य, ६८० **स्तवप्रियः**–स्तुतिसे प्रसन्न होनेवाले, ६८१ **स्तोत्रम्**–जिनके द्वारा भगवान्‌के गुण-प्रभावका कीर्तन किया जाता है, वह स्तोत्र, ६८२ **स्तुतिः**–स्तवनक्रियास्वरूप, ६८३ **स्तोता**–स्तुति करनेवाले, ६८४ **रणप्रियः**–युद्धमें प्रेम करनेवाले, ६८५ **पूर्णः**–समस्त ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य और गुणोंसे परिपूर्ण, ६८६ **पूरयिता**–अपने भक्तोंको सब प्रकारसे परिपूर्ण करनेवाले, ६८७ **पुण्यः**–स्मरणमात्रसे पापोंका नाश करनेवाले पुण्यस्वरूप, ६८८ **पुण्यकीर्तिः**–परमपावन कीर्तिवाले, ६८९ **अनामयः**–आन्तरिक और बाह्य सब प्रकारकी व्याधियोंसे रहित ॥ ८६ ॥

मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः ।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ॥ ८७ ॥

६९० **मनोजवः**–मनकी भाँति वेगवाले, ६९१ **तीर्थकरः**–समस्त विद्याओंके रचयिता और उपदेशकर्ता, ६९२ **वसुरेताः**–हिरण्यमय पुरुष (प्रथम पुरुषसृष्टिका बीज) जिनका वीर्य है—ऐसे सुवर्णवीर्य, ६९३ **वसुप्रदः**–प्रचुर धन प्रदान करनेवाले, ६९४ **वसुप्रदः**–अपने भक्तोंको मोक्षरूप महान् धन देनेवाले, ६९५ **वासुदेवः**–वसुदेवपुत्र

श्रीकृष्ण, ६९६ वसुः–सबके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले, ६९७ वसुमनाः–समानभावसे सबमें निवास करनेकी शक्तिसे युक्त मनवाले, ६९८ हविः–यज्ञमें हवन किये जाने योग्य हविःस्वरूप ॥ ८७ ॥

सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ॥ ८८ ॥

६९९ सद्गतिः–सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य गतिस्वरूप, ७०० सत्कृतिः–जगत्‌की रक्षा आदि सत्कार्य करनेवाले, ७०१ सत्ता–सदा-सर्वदा विद्यमान सत्तास्वरूप, ७०२ सद्भूतिः-बहुत प्रकारसे बहुत रूपोंमें भासित होनेवाले, ७०३ सत्परायणः–सत्पुरुषोंके परम प्रापणीय स्थान, ७०४ शूरसेनः–हनुमानादि श्रेष्ठ शूरवीर योद्धाओंसे युक्त सेनावाले, ७०५ यदुश्रेष्ठः-यदुवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ, ७०६ सन्निवासः–सत्पुरुषोंके आश्रय, ७०७ सुयामुनः–जिनके परिकर यमुना-तटनिवासी गोपालबाल आदि अति सुन्दर हैं, ऐसे श्रीकृष्ण ॥ ८८ ॥

भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः ।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥ ८९ ॥

७०८ भूतावासः–समस्त प्राणियोंके मुख्य निवासस्थान, ७०९ वासुदेवः–अपनी मायासे जगत्‌को आच्छादित करनेवाले परमदेव, ७१० सर्वासुनिलयः–समस्त प्राणियोंके आधार, ७११ अनलः–अपार शक्ति और सम्पत्तिसे युक्त, ७१२ दर्पहा–धर्मविरुद्ध मार्गमें चलनेवालोंके घमण्डको नष्ट करनेवाले, ७१३ दर्पदः–अपने भक्तोंको विशुद्ध उत्साह प्रदान करनेवाले, ७१४ दृप्तः–नित्यानन्दमग्न, ७१५ दुर्धरः–बड़ी कठिनतासे हृदयमें धारित होनेवाले, ७१६ अपराजितः–दूसरोंसे अजित ॥ ८९ ॥

विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥ ९० ॥

७१७ विश्वमूर्तिः–समस्त विश्व ही जिनकी मूर्ति है—ऐसे विराट्स्वरूप, ७१८ महामूर्तिः– बड़े रूपवाले, ७१९ दीप्तमूर्तिः–स्वेच्छासे धारण किये हुए देदीप्यमान स्वरूपसे युक्त, ७२० अमूर्तिमान्–जिनकी कोई मूर्ति नहीं—ऐसे निराकार, ७२१ अनेकमूर्तिः–नाना अवतारोंमें स्वेच्छासे लोगोंका उपकार करनेके लिये बहुत मूर्तियोंको धारण करनेवाले, ७२२ अव्यक्तः–अनेक मूर्ति होते हुए भी जिनका स्वरूप किसी प्रकार व्यक्त न किया जा सके—ऐसे अप्रकटस्वरूप, ७२३ शतमूर्तिः–सैकड़ों मूर्तियोंवाले, ७२४ शताननः–सैकड़ों मुखोंवाले ॥ ९० ॥

एको नैकः सवः कः किं यत् तत् पदमनुत्तमम् ।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ९१ ॥

७२५ एकः–सब प्रकारके भेद-भावोंसे रहित अद्वितीय, ७२६ नैकः–अवतार-भेदसे अनेक, ७२७ सवः–जिनमें सोमनामकी ओषधिका रस निकाला जाता है—ऐसे यज्ञस्वरूप, ७२८ कः–सुखस्वरूप, ७२९ किम्–विचारणीय ब्रह्मस्वरूप, ७३० यत्–स्वतःसिद्ध, ७३१ तत्–विस्तार करनेवाले, ७३२ पदमनुत्तमम्–मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य अत्युत्तम परमपदस्वरूप, ७३३ लोकबन्धुः–समस्त प्राणियोंके हित करनेवाले परम मित्र, ७३४ लोकनाथः–सबके द्वारा याचना किये जानेयोग्य लोकस्वामी, ७३५ माधवः–मधुकुलमें उत्पन्न होनेवाले, ७३६ भक्तवत्सलः–भक्तोंसे प्रेम करनेवाले ॥ ९१ ॥

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥ ९२ ॥

७३७ सुवर्णवर्णः–सोनेके समान पीतवर्णवाले, ७३८ हेमाङ्गः–सोनेके समान चमकीले अङ्गोंवाले, ७३९ वराङ्गः–परम श्रेष्ठ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंवाले, ७४० चन्दनाङ्गदी–चन्दनके लेप और बाजूबंदसे सुशोभित, ७४१ वीरहा–शूरवीर असुरोंको नाश करनेवाले, ७४२ विषमः–जिनके समान दूसरा कोई नहीं—ऐसे अनुपम, ७४३ शून्यः–समस्त विशेषणोंसे रहित, ७४४ घृताशीः–अपने आश्रित जनोंके लिये कृपासे सने हुए द्रवित संकल्प करनेवाले, ७४५ अचलः–किसी प्रकार भी विचलित न होनेवाले—अविचल, ७४६ चलः–वायुरूपसे सर्वत्र गमन करनेवाले ॥ ९२ ॥

अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक्।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥ ९३ ॥

७४७ अमानी–स्वयं मान न चाहनेवाले, ७४८ मानदः–दूसरोंको मान देनेवाले, ७४९ मान्यः–सबके पूजनेयोग्य माननीय, ७५० लोकस्वामी–चौदह भुवनोंके स्वामी, ७५१ त्रिलोकधृक्–तीनों लोकोंको धारण करनेवाले, ७५२ सुमेधाः–अति उत्तम सुन्दर बुद्धिवाले, ७५३ मेधजः–यज्ञमें प्रकट होनेवाले, ७५४ धन्यः–नित्य कृतकृत्य होनेके कारण सर्वथा धन्यवादके पात्र, ७५५ सत्यमेधाः–सच्ची और श्रेष्ठ बुद्धिवाले, ७५६ धराधरः–अनन्त भगवान्‌के रूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ९३ ॥

तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥ ९४ ॥

७५७ तेजोवृषः–अपने भक्तोंपर आनन्दमय तेजकी वर्षा करनेवाले, ७५८ द्युतिधरः–परम कान्तिको धारण करनेवाले, ७५९ सर्वशस्त्रभृतां वरः–समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, ७६० प्रग्रहः–भक्तोंके द्वारा अर्पित पत्र-पुष्पादिको ग्रहण करनेवाले, ७६१ निग्रहः–सबका निग्रह करनेवाले, ७६२ व्यग्रः–अपने भक्तोंको अभीष्ट फल देनेमें लगे हुए, ७६३ नैकशृङ्गः–नाम, आख्यात, उपसर्ग और

निपातरूप चार सींगोंको धारण करनेवाले शब्दब्रह्मस्वरूप, ७६४ गदाग्रजः–गदसे पहले जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण ॥ ९४॥

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥ ९५ ॥

७६५ **चतुर्मूर्तिः**–राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नरूप चार मूर्तियोंवाले, ७६६ **चतुर्बाहुः**–चार भुजाओंवाले, ७६७ **चतुर्व्यूहः**–वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध–इन चार व्यूहोंसे युक्त, ७६८ **चतुर्गतिः**–सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यरूप चार परम गतिस्वरूप, ७६९ **चतुरात्मा**–मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप चार अन्तःकरणवाले, ७७० **चतुर्भावः**–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके उत्पत्तिस्थान, ७७१ **चतुर्वेदवित्**–चारों वेदोंके अर्थको भलीभाँति जाननेवाले, ७७२ **एकपात्**–एक पादवाले यानी एक पाद (अंश) से समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाले ॥ ९५ ॥

समावर्तोऽनिवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥ ९६ ॥

७७३ **समावर्तः**–संसारचक्रको भलीभाँति घुमानेवाले, ७७४ **अनिवृत्तात्मा**–सर्वत्र विद्यमान होनेके कारण जिनका आत्मा कहींसे भी हटा हुआ नहीं है, ऐसे, ७७५ **दुर्जयः**–किसीसे भी जीतनेमें न आनेवाले, ७७६ **दुरतिक्रमः**–जिनकी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सके, ऐसे, ७७७ **दुर्लभः**–बिना भक्तिके प्राप्त न होनेवाले, ७७८ **दुर्गमः**–कठिनतासे जाननेमें आनेवाले, ७७९ **दुर्गः**–कठिनतासे प्राप्त होनेवाले, ७८० **दुरावासः**–बड़ी कठिनतासे योगीजनोंद्वारा हृदयमें बसाये जानेवाले, ७८१ **दुरारिहा**–दुष्ट मार्गमें चलनेवाले दैत्योंका वध करनेवाले ॥ ९६ ॥

शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥ ९७ ॥

७८२ **शुभाङ्गः**–कल्याणकारक सुन्दर अङ्गोंवाले, ७८३ **लोकसारङ्गः**–लोकोंके सारको ग्रहण करनेवाले, ७८४ **सुतन्तुः**–सुन्दर विस्तृत जगत्‌रूप तन्तुवाले, ७८५ **तन्तुवर्धनः**–पूर्वोक्त जगत्-तन्तुको बढ़ानेवाले, ७८६ **इन्द्रकर्मा**–इन्द्रके समान कर्मवाले, ७८७ **महाकर्मा**–बड़े-बड़े कर्म करनेवाले, ७८८ **कृतकर्मा**–जो समस्त कर्तव्य कर्म कर चुके हों, जिनका कोई कर्तव्य शेष न रहा हो—ऐसे कृतकृत्य, ७८९ **कृतागमः**–स्वोचित अनेक कार्योंको पूर्ण करनेके लिये अवतार धारण करके आनेवाले ॥ ९७ ॥

उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥ ९८ ॥

७९० **उद्भवः**–स्वेच्छासे श्रेष्ठ जन्म धारण करनेवाले, ७९१ **सुन्दरः**–परम सुन्दर, ७९२ **सुन्दः**–परम करुणाशील, ७९३ **रत्ननाभः**–रत्नके समान सुन्दर नाभिवाले, ७९४ **सुलोचनः**–सुन्दर नेत्रोंवाले, ७९५ **अर्कः**–ब्रह्मादि पूज्य पुरुषोंके भी पूजनीय, ७९६ **वाजसनः**–याचकोंको अन्न प्रदान करनेवाले, ७९७ **शृङ्गी**–प्रलयकालमें सींगयुक्त मत्स्य-विशेषका रूप धारण करनेवाले, ७९८ **जयन्तः**–शत्रुओंको पूर्णतया जीतनेवाले, ७९९ **सर्वविज्जयी**–सब कुछ जाननेवाले और सबको जीतनेवाले ॥ ९८ ॥

सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥ ९९ ॥

८०० **सुवर्णबिन्दुः**–सुन्दर अक्षर और बिन्दुसे युक्त ओंकारस्वरूप, ८०१ **अक्षोभ्यः**–किसीके द्वारा भी क्षुभित न किये जा सकनेवाले, ८०२ **सर्ववागीश्वरेश्वरः**–समस्त वाणीपतियोंके यानी ब्रह्मादिके भी स्वामी, ८०३ **महाह्रदः**–ध्यान करनेवाले जिसमें गोता लगाकर आनन्दमें मग्न होते हैं, ऐसे परमानन्दके महान् सरोवर, ८०४ **महागर्तः**–महान् रथवाले, ८०५ **महाभूतः**–त्रिकालमें कभी नष्ट न होनेवाले महाभूतस्वरूप, ८०६ **महानिधिः**–सबके महान् निवास-स्थान ॥ ९९ ॥

कुमुदः कुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥१००॥

८०७ **कुमुदः**–कु अर्थात् पृथ्वीको उसका भार उतारकर प्रसन्न करनेवाले, ८०८ **कुन्दरः**–हिरण्याक्षको मारनेके लिये पृथ्वीको विदीर्ण करनेवाले, ८०९ **कुन्दः**–परशुराम-अवतारमें पृथ्वी प्रदान करनेवाले, ८१० **पर्जन्यः**–बादलकी भाँति समस्त इष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले, ८११ **पावनः**–स्मरणमात्रसे पवित्र करनेवाले, ८१२ **अनिलः**–सदा प्रबुद्ध रहनेवाले, ८१३ **अमृताशः**–जिनकी आशा कभी विफल न हो—ऐसे अमोघसंकल्प, ८१४ **अमृतवपुः**–जिनका कलेवर कभी नष्ट न हो—ऐसे नित्य-विग्रह, ८१५ **सर्वज्ञः**–सदा-सर्वदा सब कुछ जाननेवाले, ८१६ **सर्वतोमुखः**–सब ओर मुखवाले यानी जहाँ कहीं भी उनके भक्त भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्पादि जो कुछ भी अर्पण करें, उसे भक्षण करनेवाले ॥

सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥१०१॥

८१७ **सुलभः**–नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवालेको और एकनिष्ठ श्रद्धालु भक्तको बिना ही परिश्रमके सुगमतासे प्राप्त होनेवाले, ८१८ **सुव्रतः**–सुन्दर भोजन करनेवाले यानी अपने भक्तोंद्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादि मामूली भोजनको भी परम श्रेष्ठ मानकर खानेवाले, ८१९ **सिद्धः**–स्वभावसे ही समस्त सिद्धियोंसे युक्त, ८२० **शत्रुजित्**–देवता और सत्पुरुषोंके शत्रुओंको जीतनेवाले, ८२१ **शत्रु-**

तापनः–देव-शत्रुओंको तपानेवाले, ८२२ **न्यग्रोधः**–वटवृक्ष-रूप, ८२३ **उदुम्बरः**–कारणरूपसे आकाशके भी ऊपर रहनेवाले, ८२४ **अश्वत्थः**–पीपल वृक्षस्वरूप, ८२५ **चाणूरान्ध्रनिषूदनः**–चाणूर नामक अन्ध्रजातिके वीर मल्लको मारनेवाले ॥ १०१ ॥

सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद् भयनाशनः ॥१०२॥

८२६ **सहस्रार्चिः**–अनन्त किरणोंवाले सूर्यरूप, ८२७ **सप्तजिह्वः**–काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचि–इन सात जिह्वाओंवाले अग्निस्वरूप, ८२८ **सप्तैधाः**–सात दीप्तिवाले अग्निस्वरूप, ८२९ **सप्तवाहनः**–सात घोड़ोंवाले सूर्यरूप, ८३० **अमूर्तिः**–मूर्तिरहित निराकार, ८३१ **अनघः**–सब प्रकारसे निष्पाप, ८३२ **अचिन्त्य**–किसी प्रकार भी चिन्तन करनेमें न आनेवाले अव्यक्तस्वरूप, ८३३ **भयकृत्**–दुष्टोंको भयभीत करनेवाले, ८३४ **भयनाशनः**–स्मरण करनेवालोंके और सत्पुरुषोंके भयका नाश करनेवाले ॥ १०२ ॥

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥१०३॥

८३५ **अणुः**–अत्यन्त सूक्ष्म, ८३६ **बृहत्**–सबसे बड़े, ८३७ **कृशः**–अत्यन्त पतले और हलके, ८३८ **स्थूलः**–अत्यन्त मोटे और भारी, ८३९ **गुणभृत्**–समस्त गुणोंको धारण करनेवाले, ८४० **निर्गुणः**–सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंसे अतीत, ८४१ **महान्**–गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और ज्ञान आदिकी अतिशयताके कारण परम महत्त्वसम्पन्न, ८४२ **अधृतः**–जिनको कोई भी धारण नहीं कर सकता–ऐसे निराधार, ८४३ **स्वधृतः**–अपने आपसे धारित यानी अपनी ही महिमामें स्थित, ८४४ **स्वास्यः**–सुन्दर मुखवाले, ८४५ **प्राग्वंशः**–जिनसे समस्त वंशपरम्परा आरम्भ हुई है–ऐसे समस्त पूर्वजोंके भी पूर्वज आदिपुरुष, ८४६ **वंशवर्धनः**–जगत्-प्रपञ्चरूप वंशको और यादव वंशको बढ़ानेवाले ॥१०३॥

भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥१०४॥

८४७ **भारभृत्**–शेषनाग आदिके रूपमें पृथ्वीका भार उठानेवाले और अपने भक्तोंके योगक्षेमरूप भारको वहन करनेवाले, ८४८ **कथितः**–वेद-शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा जिनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका बारंबार कथन किया गया है, ऐसे सबके द्वारा वर्णित, ८४९ **योगी**–नित्य समाधियुक्त, ८५० **योगीशः**–समस्त योगियोंके स्वामी, ८५१ **सर्वकामदः**–समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, ८५२ **आश्रमः**–सबको विश्राम देनेवाले, ८५३ **श्रमणः**–दुष्टोंको संतप्त करनेवाले, ८५४ **क्षामः**–प्रलयकालमें स[...] प्रजाका क्षय करनेवाले, ८५५ **सुपर्णः**–वेदरूप सुन्दर प[...] वाले (संसारवृक्षस्वरूप), ८५६ **वायुवाहनः**–वायु[...] गमन करनेके लिये शक्ति देनेवाले ॥ १०४ ॥

धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमोऽयमः ॥१०५॥

८५७ **धनुर्धरः**–धनुषधारी श्रीराम, ८५८ **धनुर्वेद**[...] धनुर्विद्याको जाननेवाले श्रीराम, ८५९ **दण्डः**–दमन कर[...] वालोंकी दमनशक्ति, ८६० **दमयिता**–यम और राजा आदि[...] रूपमें दमन करनेवाले, ८६१ **दमः**–दण्डका कार्य या[...] जिनको दण्ड दिया जाता है, उनका सुधार, ८६२ **अप[राजितः]**–शत्रुओंद्वारा पराजित न होनेवाले, ८६३ **सर्वसहः**[...] सब कुछ सहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त, अतिशय तितिक्षु[...] ८६४ **नियन्ता**–सबको अपने-अपने कर्तव्यमें नियुक्त कर[ने]वाले, ८६५ **अनियमः**–नियमोंसे न बँधे हुए, जिनका को[ई] भी नियन्त्रण करनेवाला नहीं, ऐसे परमस्वतन्त्र, ८६६ **अयम**[...] जिनका कोई शासक नहीं ॥ १०५ ॥

सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्धनः ॥१०६॥

८६७ **सत्त्ववान्**–बल, वीर्य, सामर्थ्य आदि सम[स्त] तत्त्वोंसे सम्पन्न, ८६८ **सात्त्विकः**–सत्त्वगुणप्रधानविग्र[ह], ८६९ **सत्यः**–सत्यभाषणस्वरूप, ८७० **सत्यधर्मपरायण**[...] यथार्थ भाषण और धर्मके परम आधार, ८७१ **अभिप्रायः**[...] प्रेमीजन जिनको चाहते हैं–ऐसे परम इष्ट, ८७२ **प्रियार्हः**[...] अत्यन्त प्रिय वस्तु समर्पण करनेके लिये योग्य पात्र, ८७[३] **अर्हः**–सबके परम पूज्य, ८७४ **प्रियकृत्**–भजनेवालों[का] प्रिय करनेवाले, ८७५ **प्रीतिवर्धनः**–अपने प्रेमियोंके प्रेम[को] बढ़ानेवाले ॥ १०६ ॥

विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग् विभुः।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥१०७॥

८७६ **विहायसगतिः**–आकाशमें गमन करनेवाले[...] ८७७ **ज्योतिः**–स्वयंप्रकाशस्वरूप, ८७८ **सुरुचिः**–सुन्द[र] रुचि और कान्तिवाले, ८७९ **हुतभुक्**–यज्ञमें हवन [की] हुई समस्त हविको अग्निरूपसे भक्षण करनेवाले, ८८० **विभु**[...] सर्वव्यापी, ८८१ **रविः**–समस्त रसोंका शोषण करनेवा[ले] सूर्य, ८८२ **विरोचनः**–विविध प्रकारसे प्रकाश फैलानेवाले[...] ८८३ **सूर्यः**–शोभाको प्रकट करनेवाले, ८८४ **सविता**[...] समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, ८८५ **रविलोचनः**[...] सूर्यरूप नेत्रोंवाले ॥ १०७ ॥

अनन्तो हुतभुग् भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥१०८॥

८८६ **अनन्तः**–सब प्रकारसे अन्तरहित

८८७ **हुतभुक्**–यज्ञमें हवन की हुई सामग्रीको उन-उन देवताओंके रूपमें भक्षण करनेवाले, ८८८ **भोक्ता**–जगत्का पालन करनेवाले, ८८९ **सुखदः**–भक्तोंको दर्शनरूप परम सुख देनेवाले, ८९० **नैकजः**–धर्मरक्षा, साधुरक्षा आदि परम विशुद्ध हेतुओंसे स्वेच्छापूर्वक अनेक जन्म धारण करनेवाले, ८९१ **अग्रजः**–सबसे पहले जन्मनेवाले आदिपुरुष, ८९२ **अनिर्विण्णः**–पूर्णकाम होनेके कारण उकताहटसे रहित, ८९३ **सदामर्षी**–सत्पुरुषोंपर क्षमा करनेवाले, ८९४ **लोकाधिष्ठानम्**–समस्त लोकोंके आधार, ८९५ **अद्भुतः**–अत्यन्त आश्चर्यमय ॥ १०८ ॥

सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः ।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः॥१०९॥

८९६ **सनात्**–अनन्तकालस्वरूप, ८९७ **सनातनतमः**–सबके कारण होनेसे ब्रह्मादि पुरुषोंकी अपेक्षा भी परम पुराणपुरुष, ८९८ **कपिलः**–महर्षि कपिलावतार, ८९९ **कपिः**–सूर्यदेव, ९०० **अव्ययः**–सम्पूर्ण जगत्के लयस्थान, ९०१ **स्वस्तिदः**–परमानन्दरूप मङ्गल देनेवाले, ९०२ **स्वस्तिकृत्**–आश्रितजनोंका कल्याण करनेवाले, ९०३ **स्वस्ति**–कल्याणस्वरूप, ९०४ **स्वस्तिभुक्**–भक्तोंके परम कल्याणकी रक्षा करनेवाले, ९०५ **स्वस्तिदक्षिणः**–कल्याण करनेमें समर्थ और शीघ्र कल्याण करनेवाले ॥ १०९ ॥

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥११०॥

९०६ **अरौद्रः**–सब प्रकारके रुद्र (क्रूर) भावोंसे रहित शान्तमूर्ति, ९०७ **कुण्डली**–सूर्यके समान प्रकाशमान मकराकृति कुण्डलोंको धारण करनेवाले, ९०८ **चक्री**–सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले, ९०९ **विक्रमी**–सबसे विलक्षण पराक्रमशील, ९१० **ऊर्जितशासनः**–जिनका श्रुति-स्मृतिरूप शासन अत्यन्त श्रेष्ठ है—ऐसे अतिश्रेष्ठ शासन करनेवाले, ९११ **शब्दातिगः**–शब्दकी जहाँ पहुँच नहीं, ऐसे वाणीके अविषय, ९१२ **शब्दसहः**–कठोर शब्दोंको सहन करनेवाले, ९१३ **शिशिरः**–त्रितापपीड़ितोंको शान्ति देनेवाले शीतलमूर्ति, ९१४ **शर्वरीकरः**–ज्ञानियोंकी रात्रि संसार और अज्ञानियोंकी रात्रि ज्ञान—इन दोनोंको उत्पन्न करनेवाले ॥ ११० ॥

अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणां वरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥१११॥

९१५ **अक्रूरः**–सब प्रकारके क्रूरभावोंसे रहित, ९१६ **पेशलः**–मन, वाणी और कर्म—सभी दृष्टियोंसे सुन्दर होनेके कारण परम सुन्दर, ९१७ **दक्षः**–सब प्रकारसे समृद्ध, परमशक्तिशाली और क्षणमात्रमें बड़े-से-बड़ा कार्य कर देनेवाले महान् कार्यकुशल, ९१८ **दक्षिणः**–संहारकारी, ९१९ **क्षमिणां वरः**–क्षमा करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ, ९२० **विद्वत्तमः**–विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ परम विद्वान्, ९२१ **वीतभयः**–सब प्रकारके भयसे रहित, ९२२ **पुण्यश्रवणकीर्तनः**–जिनके नाम, गुण, महिमा और स्वरूपका श्रवण और कीर्तन परम पावन हैं; ऐसे ॥ १११ ॥

उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणः सन्तो जीवनः पर्यवस्थितः ॥११२॥

९२३ **उत्तारणः**–संसार-सागरसे पार करनेवाले, ९२४ **दुष्कृतिहा**–पापोंका और पापियोंका नाश करनेवाले, ९२५ **पुण्यः**–स्मरण आदि करनेवाले समस्त पुरुषोंको पवित्र कर देनेवाले, ९२६ **दुःस्वप्ननाशनः**–ध्यान, स्मरण, कीर्तन और पूजन करनेसे बुरे स्वप्नोंका नाश करनेवाले, ९२७ **वीरहा**–शरणागतोंकी विविध गतियोंका यानी संसार-चक्रका नाश करनेवाले, ९२८ **रक्षणः**–सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले, ९२९ **सन्तः**–विद्या, विनय और धर्म आदिका प्रचार करनेके लिये संतोंके रूपमें प्रकट होनेवाले, ९३० **जीवनः**–समस्त प्रजाको प्राणरूपसे जीवित रखनेवाले, ९३१ **पर्यवस्थितः**–समस्त विश्वको व्याप्त करके स्थित रहनेवाले ॥

अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥११३॥

९३२ **अनन्तरूपः**–अमितरूपवाले, ९३३ **अनन्तश्रीः**–अपरिमित शोभासम्पन्न, ९३४ **जितमन्युः**–सब प्रकारसे क्रोधको जीत लेनेवाले, ९३५ **भयापहः**–भक्तभयहारी, ९३६ **चतुरस्रः**–मङ्गलमूर्ति, ९३७ **गभीरात्मा**–गम्भीर मनवाले, ९३८ **विदिशः**–अधिकारियोंको उनके कर्मानुसार विभागपूर्वक नाना प्रकारके फल देनेवाले, ९३९ **व्यादिशः**–सबको यथायोग्य विविध आज्ञा देनेवाले, ९४० **दिशः**–वेदरूपसे समस्त कर्मोंका फल बतलानेवाले ॥ ११३ ॥

अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥११४॥

९४१ **अनादिः**–जिसका आदि कोई न हो ऐसे सबके कारणस्वरूप, ९४२ **भूर्भुवः**–पृथ्वीके भी आधार, ९४३ **लक्ष्मीः**–समस्त शोभायमान वस्तुओंकी शोभास्वरूप, ९४४ **सुवीरः**–उत्तम योधा, ९४५ **रुचिराङ्गदः**–परम रुचिकर कल्याणमय बाजूबंदोंको धारण करनेवाले, ९४६ **जननः**–प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाले, ९४७ **जनजन्मादिः**–जन्म लेनेवालोंके जन्मके मूल कारण, ९४८ **भीमः**–दुष्टोंको भय देनेवाले, ९४९ **भीमपराक्रमः**–अतिशय भय उत्पन्न करनेवाले, पराक्रमसे युक्त ॥ ११४ ॥

आधारनिलयोऽधाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥११५॥

९५० **आधारनिलयः**–आधारस्वरूप पृथ्वी आदि

समस्त भूतोंके स्थान, ९५१ अधाता–जिसका कोई भी बनानेवाला न हो ऐसे स्वयं स्थित, ९५२ **पुष्पहासः**–पुष्पकी भाँति विकसित हास्यवाले, ९५३ **प्रजागरः**–भली प्रकार जाग्रत् रहनेवाले नित्यप्रबुद्ध, ९५४ **ऊर्ध्वगः**–सबसे ऊपर रहनेवाले, ९५५ **सत्पथाचारः**–सत्पुरुषोंके मार्गका आचरण करनेवाले मर्यादापुरुषोत्तम, ९५६ **प्राणदः**–परीक्षित् आदि मरे हुओंको भी जीवन देनेवाले, ९५७ **प्रणवः**–ॐकारस्वरूप, ९५८ **पणः**–यथायोग्य व्यवहार करनेवाले ॥ ११५ ॥

प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत् प्राणजीवनः।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥११६॥

९५९ **प्रमाणम्**–स्वतःसिद्ध होनेसे स्वयं प्रमाणस्वरूप, ९६० **प्राणनिलयः**–प्राणोंके आधारभूत, ९६१ **प्राणभृत्**–समस्त प्राणोंका पोषण करनेवाले, ९६२ **प्राणजीवनः**–प्राणवायुके संचारसे प्राणियोंको जीवित रखनेवाले, ९६३ **तत्त्वम्**–यथार्थ तत्त्वरूप, ९६४ **तत्त्ववित्**–यथार्थ तत्त्वको पूर्णतया जाननेवाले, ९६५ **एकात्मा**–अद्वितीयस्वरूप, ९६६ **जन्ममृत्युजरातिगः**–जन्म, मृत्यु और बुढ़ापा आदि शरीरके धर्मोंसे सर्वथा अतीत ॥ ११६ ॥

भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥११७॥

९६७ **भूर्भुवःस्वस्तरुः**–भूः भुवः स्वः तीनों लोकोंवाले, संसारवृक्षस्वरूप, ९६८ **तारः**–संसार-सागरसे पार उतारनेवाले, ९६९ **सविता**–सबको उत्पन्न करनेवाले, ९७० **प्रपितामहः**–पितामह ब्रह्माके भी पिता, ९७१ **यज्ञः**–यज्ञस्वरूप, ९७२ **यज्ञपतिः**–समस्त यज्ञोंके अधिष्ठाता, ९७३ **यज्वा**–यजमानरूपसे यज्ञ करनेवाले, ९७४ **यज्ञाङ्गः**–समस्त यज्ञरूप अङ्गोंवाले, वाराहस्वरूप, ९७५ **यज्ञवाहनः**–यज्ञोंको चलानेवाले ॥ ११७ ॥

यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञी यज्ञभुग् यज्ञसाधनः।
यज्ञान्तकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥११८॥

९७६ **यज्ञभृत्**–यज्ञोंको धारण करनेवाले, ९७७ **यज्ञकृत्**–यज्ञोंके रचयिता, ९७८ **यज्ञी**–समस्त यज्ञ जिसमें समाप्त होते हैं—ऐसे यज्ञशेषी, ९७९ **यज्ञभुक्**–समस्त यज्ञोंके भोक्ता, ९८० **यज्ञसाधनः**–ब्रह्मयज्ञ, जपयज्ञ आदि बहुत-से यज्ञ जिनकी प्राप्तिके साधन हैं ऐसे, ९८१ **यज्ञान्तकृत्**–यज्ञोंका फल देनेवाले, ९८२ **यज्ञगुह्यम्**–यज्ञोंमें गुप्त निष्काम यज्ञस्वरूप, ९८३ **अन्नम्**–समस्त प्राणियोंके अन्न यानी अन्नकी भाँति उनकी सब प्रकारसे तुष्टि-पुष्टि करनेवाले, ९८४ **अन्नादः**–समस्त अन्नोंके भोक्ता ॥ ११८ ॥

आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥११९॥

९८५ **आत्मयोनिः**–जिनका कारण दूसरा कोई नहीं ऐसे स्वयं योनिस्वरूप, ९८६ **स्वयंजातः**–स्वयं अपने आप स्वेच्छापूर्वक प्रकट होनेवाले, ९८७ **वैखानः**–पातालवासी हिरण्याक्षका वध करनेके लिये पृथ्वीको खोदनेवाले, वाराह अवतारधारी, ९८८ **सामगायनः**–सामवेदका गान करनेवाले, ९८९ **देवकीनन्दनः**-देवकीपुत्र, ९९० **स्रष्टा**–समस्त लोकोंके रचयिता, ९९१ **क्षितीशः**–पृथ्वीपति, ९९२ **पापनाशनः**–स्मरण, कीर्तन, पूजन और ध्यान आदि करनेसे समस्त पापसमुदायका नाश करनेवाले ॥ ११९ ॥

शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥१२०॥

९९३ **शङ्खभृत्**–पाञ्चजन्यशङ्खको धारण करनेवाले, ९९४ **नन्दकी**–नन्दकनामक खड्ग धारण करनेवाले, ९९५ **चक्री**–सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले, ९९६ **शार्ङ्गधन्वा**–शार्ङ्गधनुषधारी, ९९७ **गदाधरः**–कौमोदकी नामकी गदा धारण करनेवाले, ९९८ **रथाङ्गपाणिः**–भीष्मकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये सुदर्शन चक्रको हाथमें धारण करनेवाले श्रीकृष्ण, ९९९ **अक्षोभ्यः**–जो किसी प्रकार भी विचलित नहीं किये जा सकें ऐसे, १००० **सर्वप्रहरणायुधः**–ज्ञात और अज्ञात जितने भी युद्धादिमें काम आनेवाले अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबको धारण करनेवाले ॥ १२० ॥

सर्वप्रहरणायुध ॐ नम इति

यहाँ हजार नामोंकी समाप्ति दिखलानेके लिये अन्तिम नामको दुबारा लिखा गया है। मङ्गलवाची होनेसे ॐकारका स्मरण किया गया है। अन्तमें नमस्कार करके भगवान्‌की पूजा की गयी है।

इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥१२१॥

इस प्रकार यह कीर्तन करने योग्य महात्मा केशवके दिव्य एक हजार नामोंका पूर्णरूपसे वर्णन कर दिया ॥१२१॥

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचित् सोऽमुत्रेह च मानवः॥१२२॥

जो मनुष्य इस विष्णुसहस्रनामका सदा श्रवण करता है और जो प्रतिदिन इसका कीर्तन या पाठ करता है, उसका इस लोकमें तथा परलोकमें कहीं भी कुछ अशुभ नहीं होता ॥ १२२ ॥

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥१२३॥

इस विष्णुसहस्रनामका श्रवण, पठन और कीर्तन करनेसे ब्राह्मण वेदान्त-पारगामी हो जाता है, क्षत्रिय युद्धमें विजय पाता है, वैश्य धनसे सम्पन्न होता है और शूद्र सुख पाता है ॥ १२३ ॥

धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात् प्रजाम् ॥१२४॥

धर्मकी इच्छावाला धर्मको पाता है, अर्थकी इच्छावाला अर्थ पाता है, भोगोंकी इच्छावाला भोग पाता है और संतानकी इच्छावाला संतान पाता है ॥ १२४ ॥

भक्तिमान् यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत् प्रकीर्तयेत् ॥१२५॥
यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१२६॥
न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान् बलरूपगुणान्वितः ॥१२७॥

जो भक्तिमान् पुरुष सदा प्रातःकालमें उठकर स्नान करके पवित्र हो मनमें विष्णुका ध्यान करता हुआ इस वासुदेव-सहस्रनामका भली प्रकार पाठ करता है, वह महान् यश पाता है, जातिमें महत्त्व पाता है, अचल सम्पत्ति पाता है और अति उत्तम कल्याण पाता है तथा उसको कहीं भय नहीं होता। वह वीर्य और तेजको पाता है तथा आरोग्यवान्, कान्तिमान्, बलवान्, रूपवान् और सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है ॥ १२५--१२७ ॥

रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥१२८॥

रोगातुर पुरुष रोगसे छूट जाता है, बन्धनमें पड़ा हुआ पुरुष बन्धनसे छूट जाता है, भयभीत भयसे छूट जाता है और आपत्तिमें पड़ा हुआ आपत्तिसे छूट जाता है ॥ १२८ ॥

दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥१२९॥

जो पुरुष भक्तिसम्पन्न होकर इस विष्णुसहस्रनामसे पुरुषोत्तम भगवान्‌की प्रतिदिन स्तुति करता है, वह शीघ्र ही समस्त संकटोंसे पार हो जाता है ॥ १२९ ॥

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३०॥

जो मनुष्य वासुदेवके आश्रित और उनके परायण है, वह समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध अन्तःकरणवाला हो सनातन परब्रह्मको पाता है ॥ १३० ॥

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥१३१॥

वासुदेवके भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता है तथा उनको जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिका भी भय नहीं रहता है ॥ १३१ ॥

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥१३२॥

जो पुरुष श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे इस विष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, वह आत्मसुख, क्षमा, लक्ष्मी, धैर्य, स्मृति और कीर्तिको पाता है ॥ १३२ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥१३३॥

पुरुषोत्तमके पुण्यात्मा भक्तोंको किसी दिन क्रोध नहीं आता, ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती, लोभ नहीं होता और उनकी बुद्धि कभी अशुद्ध नहीं होती ॥ १३३ ॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥१३४॥

स्वर्ग, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रसहित आकाश, दस दिशाएँ, पृथ्वी और महासागर—ये सब महात्मा वासुदेवके प्रभावसे धारण किये गये हैं ॥ १३४ ॥

ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद् वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥१३५॥

देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, सर्प और राक्षससहित यह स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्णके अधीन रहकर यथायोग्य बरत रहे हैं ॥ १३५ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥१३६॥

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धीरज, क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये सब-के-सब श्रीवासुदेवके रूप हैं, ऐसा वेद कहते हैं ॥ १३६ ॥

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥१३७॥

सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं ॥ १३७ ॥

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥१३८॥

ऋषि, पितर, देवता, पञ्च महाभूत, धातुएँ और स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत्—ये सब नारायणसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ १३८ ॥

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्या शिल्पादि कर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात् ॥१३९॥

योग, ज्ञान, सांख्य, विद्याएँ, शिल्प आदि कर्म, वेद, शास्त्र और विज्ञान—ये सब विष्णुसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १३९ ॥

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥१४०॥

वे समस्त विश्वके भोक्ता और अविनाशी विष्णु ही एक ऐसे हैं, जो अनेक रूपोंमें विभक्त होकर भिन्न-भिन्न भूतविशेषोंके अनेकों रूपोंको धारण कर रहे हैं तथा त्रिलोकीमें व्याप्त होकर सबको भोग रहे हैं ॥ १४० ॥

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम्।
पठेद् य इच्छेत् पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥१४१॥

जो पुरुष परम श्रेय और सुख पाना चाहता हो, वह भगवान् व्यासजीके कहे हुए इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका पाठ करे ॥ १४१ ॥

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥१४२॥

जो विश्वके ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करनेवाले जन्मरहित कमललोचन भगवान् विष्णुका भजन करते हैं, वे कभी पराभव नहीं पाते हैं ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विष्णुसहस्रनामकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत व्यासनिर्मित शतसाहस्रीय संहितासम्बन्धी अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विष्णुसहस्रनामकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जपने योग्य मन्त्र और सबेरे-शाम कीर्तन करनेयोग्य देवता, ऋषियों और राजाओंके मङ्गलमय नामोंका कीर्तन-माहात्म्य तथा गायत्रीजपका फल

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद् धर्मफलं महत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप महाज्ञानी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं। अतः मैं पूछता हूँ कि प्रतिदिन किस स्तोत्र या मन्त्रका जप करनेसे धर्मके महान् फलकी प्राप्ति हो सकती है ? ॥ १ ॥

प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रवृत्ते वापि कर्मणि।
दैवे वा श्राद्धकाले वा किं जप्यं कर्मसाधनम् ॥ २ ॥

यात्रा, गृहप्रवेश अथवा किसी कर्मका आरम्भ करते समय, देवयज्ञमें या श्राद्धके समय किस मन्त्रका जप करनेसे कर्मकी पूर्ति हो जाती है ? ॥ २ ॥

शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम्।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ३ ॥

शान्ति, पुष्टि, रक्षा, शत्रुनाश तथा भय-निवारण करनेवाला कौन-सा ऐसा जपनीय मन्त्र है, जो वेदके समान माननीय है ? आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

व्यासप्रोक्तमिमं मन्त्रं शृणुष्वैकमना नृप।
सावित्र्या विहितं दिव्यं सद्यः पापविमोचनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महर्षि वेदव्यासका बताया हुआ यह एक मन्त्र है, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो। सावित्री देवीने इस दिव्यमन्त्रकी सृष्टि की है तथा यह तत्काल ही पापसे छुटकारा दिलानेवाला है ॥ ४ ॥

शृणु मन्त्रविधिं कृत्स्नं प्रोच्यमानं मयानघ।
यं श्रुत्वा पाण्डवश्रेष्ठ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

अनघ ! पाण्डवश्रेष्ठ ! मैं इस मन्त्रकी सम्पूर्ण विधि बताता हूँ, सुनो। उसे सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ नरेश्वर ! जो रात-दिन इस मन्त्रका जप करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता। वही मन्त्र मैं तुम्हें बता रहा हूँ, एकचित्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ७ ॥

राजकुमार ! जो इस मन्त्रको सुनता है, वह पुरुष दीर्घजीवी तथा सफलमनोरथ होता है, इहलोक और परलोकमें भी आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ॥ ८ ॥

राजन् ! प्राचीनकालमें क्षत्रियधर्मका पालन करनेवाले और सदा सत्य व्रतके आचरणमें संलग्न रहनेवाले राजर्षि-शिरोमणि इस मन्त्रका सदा ही जप किया करते थे ॥ ८ ॥

इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदा।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ॥ ९ ॥

भरतसिंह ! जो राजा मन और इन्द्रियोंको वशमें करके शान्तिपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्रका जप करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

नमो वसिष्ठाय महाव्रताय
पराशरं वेदनिधिं नमस्ये।
नमोऽस्त्वनन्ताय महोरगाय
नमोऽस्तु सिद्धेभ्य इहाक्षयेभ्यः ॥ १० ॥
नमोऽस्त्वृषिभ्यः परमं परेषां
देवेषु देवं वरदं वराणाम्।

सहस्रशीर्षाय नमः शिवाय
सहस्रनामाय जनार्दनाय ॥ ११ ॥

(यह मन्त्र इस प्रकार है—) महान् व्रतधारी वसिष्ठको नमस्कार है, वेदनिधि पराशरको नमस्कार है, विशाल सर्परूपधारी अनन्त (शेषनाग) को नमस्कार है, अक्षय सिद्धगणको नमस्कार है, ऋषिवृन्दको नमस्कार है तथा परात्पर, देवाधिदेव, वरदाता परमेश्वरको नमस्कार है एवं सहस्र मस्तकवाले शिवको और सहस्रों नाम धारण करनेवाले भगवान् जनार्दनको नमस्कार है ॥ १०-११ ॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः।
ऋतश्च पितृरूपश्च त्र्यम्बकश्च महेश्वरः ॥ १२ ॥
वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ १३ ॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, ऋत, पितृरूप त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हवन और ईश्वर—ये ग्यारह रुद्र विख्यात हैं; जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ १२-१३ ॥

शतमेतत् समाम्नातं शतरुद्रे महात्मनाम्।
अंशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः ॥ १४ ॥
तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥ १५ ॥
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः।

वेदके शतरुद्रिय प्रकरणमें महात्मा रुद्रके सैकड़ों नाम बताये गये हैं। अंश, भग, मित्र, जलेश्वर वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र तथा विष्णु—ये बारह आदित्य कहलाते हैं। ये सब-के-सब कश्यपके पुत्र हैं ॥ १४-१५½ ॥

धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोऽथानिलोऽनलः ॥ १६ ॥
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।

धर, ध्रुव, सोम, सावित्र, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं ॥ १६½ ॥

नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ॥ १७ ॥
मार्तण्डस्यात्मजावेतौ संज्ञानासाविनिर्गतौ।

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमारके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति भगवान् सूर्यके वीर्यसे हुई है। ये अश्वरूपधारिणी संज्ञा देवीके नाकसे प्रकट हुए थे (ये सब मिलाकर तैंतीस देवता हैं) ॥ १७½ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि लोकानां कर्मसाक्षिणः ॥ १८ ॥
अपि यज्ञस्य वेत्तारो दत्तस्य सुकृतस्य च।
अदृश्याः सर्वभूतेषु पश्यन्ति त्रिदशेश्वराः ॥ १९ ॥
शुभाशुभानि कर्माणि मृत्युः कालश्च सर्वशः।
विश्वेदेवाः पितृगणा मूर्तिमन्तस्तपोधनाः ॥ २० ॥
मुनयश्चैव सिद्धाश्च तपोमोक्षपरायणाः।
शुचिस्मिताः कीर्तयतां प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ॥ २१ ॥

अब मैं जगत्के कर्मपर दृष्टि रखनेवाले तथा यज्ञ, दान और सुकृतको जाननेवाले देवताओंका परिचय देता हूँ। ये देवगण स्वयं अदृश्य रहकर समस्त प्राणियोंके शुभाशुभ-कर्मोंको देखते रहते हैं। इनके नाम ये हैं—मृत्यु, काल, विश्वेदेव और मूर्तिमान् पितृगण। इनके सिवा तपस्वी मुनि तथा तप एवं मोक्षमें संलग्न सिद्ध महर्षि भी सम्पूर्ण जगत्पर हितकी दृष्टि रखते हैं। ये सब अपना नाम-कीर्तन करनेवाले मनुष्योंको शुभ फल देते हैं ॥ १८–२१ ॥

प्रजापतिकृतानेताँल्लोकान् दिव्येन तेजसा।
वसन्ति सर्वलोकेषु प्रयताः सर्वकर्मसु ॥ २२ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने जिन लोकोंकी रचना की है, उन सबमें ये अपने दिव्य तेजसे निवास करते हैं तथा शुद्धभावसे सबके कर्मोंका निरीक्षण करते हैं ॥ २२ ॥

प्राणानामीश्वरानेतान् कीर्तयन् प्रयतो नरः।
धर्मार्थकामैर्विपुलैर्युज्यते सह नित्यशः ॥ २३ ॥

ये सबके प्राणोंके स्वामी हैं। जो मनुष्य शुद्धभावसे नित्य इनका कीर्तन करता है, उसे प्रचुरमात्रामें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

लोकांश्च लभते पुण्यान् विश्वेश्वरकृताञ्छुभान्।
एते देवास्त्रयस्त्रिंशत् सर्वभूतगणेश्वराः ॥ २४ ॥

वह लोकनाथ ब्रह्माजीके रचे हुए मङ्गलमय पवित्र लोकोंमें जाता है। ऊपर बताये हुए तैंतीस देवता सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी हैं ॥ २४ ॥

नन्दीश्वरो महाकायो ग्रामणीर्वृषभध्वजः।
ईश्वराः सर्वलोकानां गणेश्वरविनायकाः ॥ २५ ॥
सौम्या रौद्रा गणाश्चैव योगभूतगणास्तथा।
ज्योतींषि सरितो व्योम सुपर्णः पतगेश्वरः ॥ २६ ॥
पृथिव्यां तपसा सिद्धाः स्थावराश्च चराश्च ह।
हिमवान् गिरयः सर्वे चत्वारश्च महार्णवाः ॥ २७ ॥
भवस्यानुचराश्चैव हरतुल्यपराक्रमाः।
विष्णुर्देवोऽथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह ॥ २८ ॥
कीर्तयन् प्रयतः सर्वान् सर्वपापैः प्रमुच्यते।

इसी प्रकार नन्दीश्वर, महाकाय, ग्रामणी, वृषभध्वज, सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी गणेश, विनायक, सौम्यगण, रुद्रगण, योगगण, भूतगण, नक्षत्र, नदियाँ, आकाश, पक्षिराज गरुड़, पृथ्वीपर तपसे सिद्ध हुए महात्मा, स्थावर, जङ्गम, हिमालय, समस्त पर्वत, चारों समुद्र, भगवान् शङ्करके तुल्य पराक्रमवाले उनके अनुचरगण, विष्णुदेव, जिष्णु, स्कन्द और अम्बिका—इन सबके नामोंका शुद्धभावसे कीर्तन करनेवाले मनुष्यके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २५–२८½ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मानवानृषिसत्तमान् ॥ २९ ॥
यवक्रीतश्च रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू।
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुतः ॥ ३० ॥
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा।
ब्रह्मतेजोमयाः सर्वे कीर्तिता लोकभावनाः ॥ ३१ ॥

अब श्रेष्ठ महर्षियोंके नाम बता रहा हूँ—यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, उशिजके पुत्र कक्षीवान्, अङ्गिरानन्दन बल, मेधातिथिके पुत्र कण्व ऋषि और बर्हिषद—ये सब ऋषि ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और लोकस्रष्टा बतलाये गये हैं ॥

लभन्ते हि शुभं सर्वे रुद्रानलवसुप्रभाः।
भुवि कृत्वा शुभं कर्म मोदन्ते दिवि दैवतैः ॥ ३२ ॥

इनका तेज रुद्र, अग्नि तथा वसुओंके समान है। ये पृथ्वीपर शुभकर्म करके अब स्वर्गमें देवताओंके साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं और शुभफलका उपभोग करते हैं ॥

महेन्द्रगुरवः सप्त प्राचीं वै दिशमाश्रिताः।
प्रयतः कीर्तयेदेताञ्शक्रलोके महीयते ॥ ३३ ॥

महेन्द्रके गुरु सातों महर्षि पूर्व दिशामें निवास करते हैं। जो पुरुष शुद्धचित्तसे इनका नाम लेता है, वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३३ ॥

उन्मुचुः प्रमुचुश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्।
दृढव्यश्चोर्ध्वबाहुश्च तृणसोमाङ्गिरास्तथा ॥ ३४ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्।
धर्मराजर्त्विजः सप्त दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ ३५ ॥

उन्मुचु, प्रमुचु, शक्तिशाली स्वस्त्यात्रेय, दृढव्य, ऊर्ध्वबाहु, तृणसोमाङ्गिरा और मित्रावरुणके पुत्र महाप्रतापी अगस्त्य मुनि—ये सात धर्मराज (यम) के ऋत्विज हैं और दक्षिण दिशामें निवास करते हैं ॥ ३४-३५ ॥

दृढेयुश्च ऋतेयुश्च परिव्याधश्च कीर्तिमान्।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसंनिभाः ॥ ३६ ॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा ऋषिः सारस्वतस्तथा।
वरुणस्यर्त्विजः सप्त पश्चिमां दिशमाश्रिताः ॥ ३७ ॥

दृढेयु, ऋतेयु, कीर्तिमान् परिव्याध, सूर्यके सदृश तेजस्वी एकत, द्वित, त्रित तथा धर्मात्मा अत्रिके पुत्र सारस्वत मुनि—ये सात वरुणके ऋत्विज हैं और पश्चिम दिशामें इनका निवास है ॥ ३६-३७ ॥

अत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥ ३८ ॥
ऋचीकतनयश्चोग्रो जमदग्निः प्रतापवान्।
धनेश्वरस्य गुरवः सप्तैते उत्तराश्रिताः ॥ ३९ ॥

अत्रि, भगवान् वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र और ऋचीकनन्दन प्रतापवान् उग्रस्वभाववाले जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहनेवाले और कुबेरके गुरु (ऋत्विज) हैं ॥ ३८-३९ ॥

अपरे मुनयः सप्त दिक्षु सर्वास्वधिष्ठिताः।
कीर्तिस्वस्तिकरा नृणां कीर्तिता लोकभावनाः ॥ ४० ॥

इनके सिवा सात महर्षि और हैं, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें निवास करते हैं। वे जगत्को उत्पन्न करनेवाले हैं। उपर्युक्त महर्षियोंका यदि नाम लिया जाय तो वे मनुष्योंकी कीर्ति बढ़ाते और उनका कल्याण करते हैं ॥ ४० ॥

धर्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ॥ ४१ ॥

धर्म, काम, काल, वसु, वासुकि, अनन्त और कपिल—ये सात पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

रामो व्यासस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा च लोमशः।
इत्येते मुनयो दिव्या एकैकः सप्त सप्तधा ॥ ४२ ॥

परशुराम, व्यास, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और लोमश—ये चारों दिव्य मुनि हैं। इनमेंसे एक-एक सात-सात ऋषियोंके समान हैं ॥ ४२ ॥

शान्तिस्वस्तिकरा लोके दिशां पालाः प्रकीर्तिताः।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तन्मुखः शरणं व्रजेत् ॥ ४३ ॥

ये सब ऋषि इस जगत्में शान्ति और कल्याणका विस्तार करनेवाले तथा दिशाओंके पालक कहे जाते हैं। ये जिस-जिस दिशामें निवास करें उस-उस दिशाकी ओर मुँह करके इनकी शरण लेनी चाहिये ॥ ४३ ॥

स्रष्टारः सर्वभूतानां कीर्तिता लोकपावनाः।
संवर्तो मेरुसावर्णो मार्कण्डेयश्च धार्मिकः ॥ ४४ ॥
सांख्ययोगौ नारदश्च दुर्वासाश्च महानृषिः।
अत्यन्ततपसो दान्तास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ४५ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा और लोकपावन बताये गये हैं। संवर्त, मेरुसावर्णि, धर्मात्मा मार्कण्डेय, सांख्य, योग, नारद, महर्षि दुर्वासा—ये सात ऋषि अत्यन्त तपस्वी, जितेन्द्रिय और तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥ ४४-४५ ॥

अपरे रुद्रसंकाशाः कीर्तिता ब्रह्मलौकिकाः।
अपुत्रो लभते पुत्रं दरिद्रो लभते धनम् ॥ ४६ ॥

इन सब ऋषियोंके अतिरिक्त बहुत-से महर्षि रुद्रके समान प्रभावशाली हैं। इनका कीर्तन करनेसे ये ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। उनके कीर्तनसे पुत्रहीनको पुत्र मिलता है और दरिद्रको धन ॥ ४६ ॥

तथा धर्मार्थकामेषु सिद्धिं च लभते नरः।
पृथुं वैन्यं नृपवरं पृथ्वी यस्याभवत् सुता ॥ ४७ ॥
प्रजापतिं सार्वभौमं कीर्तयेद् वसुधाधिपम्।

इनका नाम लेनेवाले मनुष्यके धर्म, अर्थ और काम-की सिद्धि होती है। वेनकुमार नृपश्रेष्ठ पृथुका, जिनकी यह पृथ्वी पुत्री हो गयी थी तथा जो प्रजापति एवं सार्वभौम सम्राट् थे, कीर्तन करना चाहिये ॥ ४७½ ॥

आदित्यवंशप्रभवं महेन्द्रसमविक्रमम् ॥ ४८ ॥
पुरूरवसमैलं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
बुधस्य दयितं पुत्रं कीर्तयेद् वसुधाधिपम् ॥ ४९ ॥

सूर्यवंशमें उत्पन्न और देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी इला और बुधके प्रिय पुत्र त्रिभुवनविख्यात राजा पुरूरवाका नाम कीर्तन करें ॥ ४८-४९ ॥

त्रिलोकविश्रुतं वीरं भरतं च प्रकीर्तयेत् ।
गवामयेन यज्ञेन येनेष्टं वै कृते युगे ॥ ५० ॥
रन्तिदेवं महादेवं कीर्तयेत् परमद्युतिम् ।
विश्वजित्तपसोपेतं लक्षण्यं लोकपूजितम् ॥ ५१ ॥

त्रिलोकीके विख्यात वीर भरतका नामोच्चारण करे, जिन्होंने सत्ययुगमें गवामय यज्ञका अनुष्ठान किया था। उन विश्वविजयिनी तपस्यासे युक्त, शुभ लक्षणसम्पन्न एवं लोकपूजित परम तेजस्वी, महाराज रन्तिदेवका भी कीर्तन करे ॥ ५०-५१ ॥

तथा श्वेतं च राजर्षिं कीर्तयेत् परमद्युतिम् ।
सगरस्यात्मजा येन प्लावितास्तारितास्तथा ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी राजर्षि श्वेतका तथा जिन्होंने सगरपुत्रोंको गङ्गाजलसे आप्लावित करके उनका उद्धार किया था, उन महाराज भगीरथका भी कीर्तन एवं स्मरण करे ॥ ५२॥

हुताशनसमानेतान् महारूपान् महौजसः ।
उग्रकायान् महासत्त्वान् कीर्तयेत् कीर्तिवर्धनान् ।५३।

ये सभी राजा अग्निके समान तेजस्वी, अत्यन्त रूपवान्, महान् बलसम्पन्न, उग्रशरीरवाले, परम धीर और अपने कीर्तिको बढ़ानेवाले थे। इन सबका कीर्तन करना चाहिये ॥

देवानृषिगणांश्चैव नृपांश्च जगतीश्वरान् ।
सांख्यं योगं च परमं हव्यं कव्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
कीर्तितं परमं ब्रह्म सर्वश्रुतिपरायणम् ।
मङ्गल्यं सर्वभूतानां पवित्रं बहुकीर्तितम् ॥ ५५ ॥
व्याधिप्रशमनं श्रेष्ठं पौष्टिकं सर्वकर्मणाम् ।
प्रयतः कीर्तयेच्चैतान् कल्यं सायं च भारत ॥ ५६ ॥

देवताओं, ऋषियों तथा पृथ्वीपर शासन करनेवाले राजाओंका कीर्तन करना चाहिये। सांख्ययोग, उत्तम हव्य-कव्य तथा समस्त श्रुतियोंके आधारभूत परब्रह्म परमात्मा-का कीर्तन सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये मङ्गलमय परम पावन है। इनके बारंबार कीर्तनसे रोगोंका नाश होता है। इससे सब कर्मोंमें उत्तम पुष्टि प्राप्त होती है। भारत! मनुष्यको प्रति-दिन सबेरे और शामके समय शुद्धचित्त होकर भगवत्-कीर्तनके साथ ही उपर्युक्त देवताओं, ऋषियों और राजाओंके भी नाम लेने चाहिये ॥ ५४–५६ ॥

एते वै पान्ति वर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च ।
एते विनायकाः श्रेष्ठा दक्षाः शान्ता जितेन्द्रियाः॥ ५७ ॥

ये देवता आदि जगत्की रक्षा करते, पानी बरसाते, प्रकाश और हवा देते तथा प्रजाकी सृष्टि करते हैं। ये ही विघ्नोंके राजा विनायक, श्रेष्ठ, दक्ष, क्षमाशील और जितेन्द्रिय हैं ॥ ५७ ॥

नराणामशुभं सर्वे व्यपोहन्ति प्रकीर्तिताः ।
साक्षिभूता महात्मानः पापस्य सुकृतस्य च ॥ ५८ ॥

ये महात्मा सब मनुष्योंके पाप-पुण्यके साक्षी हैं। इनका नाम लेनेपर ये सब लोग मानवोंके अमङ्गलका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

एतान् वै कल्यमुत्थाय कीर्तयञ्छुभमश्नुते ।
नाग्निचौरभयं तस्य न मार्गप्रतिरोधनम् ॥ ५९ ॥

जो सबेरे उठकर इनके नाम और गुणोंका उच्चारण करता है, उसे शुभ कर्मोंके भोग प्राप्त होते हैं। उसके यहाँ आग और चोरका भय नहीं रहता तथा उसका मार्ग कभी रोका नहीं जाता ॥ ५९ ॥

एतान् कीर्तयतां नित्यं दुःस्वप्नो नश्यते नृणाम् ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत्॥ ६०॥

प्रतिदिन इन देवताओंका कीर्तन करनेसे मनुष्योंका दुःस्वप्न नष्ट हो जाता है। वह सब पापोंसे मुक्त होता है और कुशलपूर्वक घर लौटता है ॥ ६० ॥

दीक्षाकालेषु सर्वेषु यः पठेन्नियतो द्विजः ।
न्यायवानात्मनिरतः क्षान्तो दान्तोऽनसूयकः ॥ ६१ ॥

जो द्विज दीक्षाके सभी अवसरोंपर नियमपूर्वक इन नामोंका पाठ करता है, वह न्यायशील, आत्मनिष्ठ, क्षमावान्, जितेन्द्रिय तथा दोष-दृष्टिसे रहित होता है ॥ ६१ ॥

रोगार्तो व्याधियुक्तो वा पठन् पापात् प्रमुच्यते ।
वास्तुमध्ये तु पठतः कुले स्वस्त्ययनं भवेत् ॥ ६२ ॥

रोग-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य इसका पाठ करनेपर पापमुक्त एवं नीरोग हो जाता है। जो अपने घरके भीतर इन नामोंका पाठ करता है, उसके कुलका कल्याण होता है ॥ ६२ ॥

क्षेत्रमध्ये तु पठतः सर्वं सस्यं प्ररोहति ।
गच्छतः क्षेममध्वानं ग्रामान्तरगतः पठन् ॥ ६३ ॥

खेतमें इस नाममालाको पढ़नेवाले मनुष्यकी सारी खेती जमती और उपजती है। जो गाँवके भीतर रहकर इस नामावलीका पाठ करता है, यात्रा करते समय उसका मार्ग सकुशल समाप्त होता है ॥ ६३ ॥

आत्मनश्च सुतानां च दाराणां च धनस्य च ।
बीजानामोषधीनां च रक्षामेतां प्रयोजयेत् ॥ ६४ ॥

अपनी, पुत्रोंकी, पत्नीकी, धनकी तथा बीजों और ओषधियोंकी भी रक्षाके लिये इस नामावलीका प्रयोग करे ॥

एतान् संग्रामकाले तु पठतः क्षत्रियस्य तु ।
व्रजन्ति रिपवो नाशं क्षेमं च परिवर्तते ॥ ६५ ॥

युद्धकालमें इन नामोंका पाठ करनेवाले क्षत्रियके शत्रु भाग जाते हैं और उसका सब ओरसे कल्याण होता है ॥

एतान् दैवे च पित्र्ये च पठतः पुरुषस्य हि ।
भुञ्जते पितरः कव्यं हव्यं च त्रिदिवौकसः ॥ ६६ ॥

जो देवयज्ञ और श्राद्धके समय उपर्युक्त नामोंका पाठ करता है, उस पुरुषके हव्यको देवता और कव्यको पितर सहर्ष स्वीकार करते हैं ॥ ६६ ॥

न व्याधिश्वापदभयं न द्विपान्न हि तस्करात् ।
कश्मलं लघुतां याति पाप्मना च प्रमुच्यते ॥ ६७ ॥

उसके यहाँ रोग या हिंसक जन्तुओंका भय नहीं रहता । हाथी अथवा चोरसे भी कोई बाधा नहीं आती । शोक कम हो जाता है और पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥६७॥

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य जहाजमें या किसी सवारीमें बैठनेपर, विदेशमें अथवा राजदरबारमें जानेपर मन-ही-मन उत्तम गायत्री-मन्त्रका जप करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते ॥ ६९ ॥

गायत्रीका जप करनेसे द्विजको राजा, पिशाच, राक्षस, आग, पानी, हवा और साँप आदिका भय नहीं होता ॥६९॥

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ॥ ७० ॥

जो उत्तम गायत्री-मन्त्रका जप करता है, वह पुरुष चारों वर्णों और विशेषतः चारों आश्रमोंमें सदा शान्ति स्थापन करता है ॥ ७० ॥

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥ ७१ ॥

जहाँ गायत्रीका जप किया जाता है, उस घरके काठके किवाड़ोंमें आग नहीं लगती । वहाँ बालककी मृत्यु नहीं होती तथा उस घरमें साँप नहीं टिकते हैं ॥ ७१ ॥

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥ ७२ ॥

उस घरके निवासी, जो परब्रह्मस्वरूप गायत्री-मन्त्रके गुणोंका कीर्तन सुनते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता है तथा वे परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७२ ॥

गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥ ७३ ॥

गौओंके बीचमें गायत्रीका जप करनेवाले पुरुषपर गौओं-का वात्सल्य बहुत बढ़ जाता है । प्रस्थान-कालमें अथवा परदेशमें सभी अवस्थाओंमें मनुष्यको इसका जप करना चाहिये ॥ ७३ ॥

जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥ ७४ ॥

नरेश्वर ! सदा शुद्धचित्त होकर जप करे, होम करनेवाले ऋषियोंके लिये यह परम गोपनीय मन्त्र है ॥ ७४ ॥

याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम् ।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥ ७५ ॥

यह सिद्धिको प्राप्त हुए महर्षि वेदव्यासका कहा हुआ यथार्थ एवं प्राचीन इतिहास है । इसमें पराशर मुनिके दिव्य मतका वर्णन है । पूर्वकालमें इन्द्रको इसका उपदेश किया गया था ॥ ७५ ॥

तदेतत् ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्म सनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ७६ ॥

वही यह मन्त्र तुमसे कहा गया है । यह गायत्री-मन्त्र सत्य एवं सनातन ब्रह्मरूप है । यह सम्पूर्ण भूतोंका हृदय एवं सनातन श्रुति है ॥ ७६ ॥

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ॥ ७७ ॥

चन्द्र, सूर्य, रघु और कुरुके वंशमें उत्पन्न हुए सभी राजा पवित्र भावसे प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रका जप करते आये हैं । गायत्री संसारके प्राणियोंकी परमगति है ॥ ७७ ॥

अभ्यासे नित्यं देवानां सप्तर्षीणां ध्रुवस्य च ।
मोक्षणं सर्वकृच्छ्राणां मोचयत्यशुभात् सदा ॥ ७८ ॥

प्रतिदिन देवताओं, सप्तर्षियों और ध्रुवका बारंबार स्मरण करनेसे समस्त संकटोंसे छुटकारा मिल जाता है । उनका कीर्तन सदा ही अशुभ अर्थात् पापके बन्धनसे मुक्त कर देता है ॥ ७८ ॥

वृद्धैः काश्यपगौतमप्रभृतिभिर्भृग्वङ्गिरोऽत्र्यादिभिः
शुक्रागस्त्यबृहस्पतिप्रभृतिभिर्ब्रह्मर्षिभिः सेवितम् ।
भारद्वाजमतमृचीकतनयैः प्राप्तं वसिष्ठात् पुनः
सावित्रीमधिगम्य शक्रवसुभिः कृत्स्ना जिता दानवाः ॥

काश्यप, गौतम, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, शुक्र, अगस्त्य और बृहस्पति आदि वृद्ध ब्रह्मर्षियोंने सदा ही गायत्री-मन्त्रका सेवन किया है । महर्षि भारद्वाजने जिसका भलीभाँति मनन किया है, उस गायत्री-मन्त्रको ऋचीकके पुत्रोंने उन्हींसे प्राप्त किया तथा इन्द्र और वसुओंने वशिष्ठजी

सावित्री-मन्त्रको पाकर उसके प्रभावसे सम्पूर्ण दानवोंको परास्त कर दिया ॥ ७९ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
दिव्यां च भारतकथां कथयेच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥

जो मनुष्य विद्वान् और बहुश्रुत ब्राह्मणको सौ गौओंके सींगोंमें सोना मढ़ाकर उनका दान करता है और जो केवल दिव्य महाभारत कथाका प्रतिदिन प्रवचन करता है, उन दोनोंको एक-सा पुण्य फल प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

धर्मो विवर्धति भृगोः परिकीर्तनेन
वीर्यं विवर्धति वसिष्ठनमोनतेन ।
संग्रामजिद् भवति चैव रघुं नमस्यन्
स्यादश्विनौ च परिकीर्तयतो न रोगः ॥

भृगुका नाम लेनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। वसिष्ठ मुनिको नमस्कार करनेसे वीर्य बढ़ता है। राजा रघुको प्रणाम करनेवाला क्षत्रिय संग्रामविजयी होता है तथा अश्विनी-कुमारोंका नाम लेनेवाले मनुष्यको कभी रोग नहीं सताता ॥

एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती ।
विवक्षुरसि यच्चान्यत् तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥८२॥

राजन् ! यह सनातन ब्रह्मरूपा गायत्रीका माहात्म्य मैंने तुमसे कहा है। भारत ! अब और जो कुछ भी तुम पूछना चाहते हो, वह भी तुम्हें बताऊँगा ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सावित्रीव्रतोपाख्याने पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सावित्रीमन्त्रकी महिमाविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः
ब्राह्मणोंकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्याः के नमस्कार्याः कथं वर्तेत केषु च ।
किमाचारः कीदृशेषु पितामह न रिष्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! संसारमें कौन मनुष्य पूज्य हैं ? किनको नमस्कार करना चाहिये ? किनके साथ कैसा बर्ताव करना उचित है तथा कैसे लोगोंके साथ किस प्रकारका आचरण किया जाय तो वह हानिकर नहीं होता ?॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां परिभवः सादयेदपि देवताः ।
ब्राह्मणांस्तु नमस्कृत्य युधिष्ठिर न रिष्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंका अपमान देवताओंको भी दुःखमें डाल सकता है। परंतु यदि ब्राह्मणों-को नमस्कार करके उनके साथ विनयपूर्ण बर्ताव किया जाय तो कभी कोई हानि नहीं होती ॥ २ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत् ।
ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः ॥३॥

अतः ब्राह्मणोंकी पूजा करे। ब्राह्मणोंको नमस्कार करे। उनके प्रति वैसा ही बर्ताव करे, जैसा सुयोग्य पुत्र अपने पिताके प्रति करता है; क्योंकि मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकोंको धारण करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः ।
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये ॥ ४ ॥

ब्राह्मण समस्त जगत्की धर्ममर्यादाका संरक्षण करनेवाले सेतुके समान हैं। वे धनका त्याग करके प्रसन्न होते हैं और वाणीका संयम रखते हैं ॥ ४ ॥

रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रताः ।
प्रणेतारश्च लोकानां शास्त्राणां च यशस्विनः ॥ ५ ॥

वे समस्त भूतोंके लिये रमणीय, उत्तम निधि, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, लोकनायक, शास्त्रोंके निर्माता और परम यशस्वी हैं ॥ ५ ॥

तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ६ ॥

सदा तपस्या उनका धन और वाणी उनका महान् बल है। वे धर्मोंकी उत्पत्तिके कारण, धर्मके ज्ञाता और सूक्ष्म-दर्शी हैं ॥ ६ ॥

धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः ।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ॥७॥

वे धर्मकी ही इच्छा रखनेवाले, पुण्यकर्मोंद्वारा धर्ममें ही स्थित रहनेवाले और धर्मके सेतु हैं। उन्हींका आश्रय लेकर चारों प्रकारकी सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ७ ॥

पन्थानः सर्वनेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा ॥ ८ ॥

ब्राह्मण ही सबके पथप्रदर्शक, नेता और सनातन यज्ञ-निर्वाहक हैं। वे बाप-दादोंकी चलायी हुई भारी धर्म-मर्यादाका भार सदा वहन करते हैं ॥ ८ ॥

धुरि ये नावसीदन्ति विषये सद्गवा इव ।

पितृदेवातिथिमुखा हव्यकव्याग्रभोजिनः ॥ ९ ॥

जैसे अच्छे बैल बोझ ढोनेमें शिथिलता नहीं दिखाते, उसी प्रकार वे धर्मका भार वहन करनेमें कष्टका अनुभव नहीं करते हैं। वे ही देवता, पितर और अतिथियोंके मुख तथा हव्य-कव्यमें प्रथम भोजनके अधिकारी हैं ॥ ९ ॥

भोजनादेव लोकांस्त्रींस्त्रायन्ते महतो भयात्।
दीपः सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ॥ १० ॥

ब्राह्मण भोजनमात्र करके तीनों लोकोंकी महान् भयसे रक्षा करते हैं। वे सम्पूर्ण जगत्के लिये दीपकी भाँति प्रकाशक तथा नेत्रवालोंके भी नेत्र हैं ॥ १० ॥

सर्वशिक्षा श्रुतिधना निपुणा मोक्षदर्शिनः।
गतिज्ञाः सर्वभूतानामध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण सबको सीख देनेवाले हैं। वेद ही उनका धन है। वे शास्त्रज्ञानमें कुशल, मोक्षदर्शी, समस्त भूतोंकी गतिके ज्ञाता और अध्यात्म-तत्त्वका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशयाः।
परावरविशेषज्ञा गन्तारः परमां गतिम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण आदि, मध्य और अन्तके ज्ञाता, संशयरहित, भूत-भविष्यका विशेष ज्ञान रखनेवाले तथा परम गतिको जानने और पानेवाले हैं ॥ १२ ॥

विमुक्ता धूतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः।
मानार्हा मानिता नित्यं ज्ञानविद्भिर्महात्मभिः ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त और निष्पाप हैं। उनके चित्तपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करनेवाले और सम्मान पानेके योग्य हैं। ज्ञानी महात्मा उन्हें सदा ही आदर देते हैं ॥१३॥

चन्दने मलपङ्के च भोजनेऽभोजने समाः।
समं येषां दुकूलं च तथा क्षौमाजिनानि च ॥ १४ ॥

वे चन्दन और मलकी कीचड़में, भोजन और उपवासमें समान दृष्टि रखते हैं। उनके लिये साधारण वस्त्र, रेशमी वस्त्र और मृगछाला समान हैं ॥ १४ ॥

तिष्ठेयुरप्यभुञ्जाना बहूनि दिवसान्यपि।
शोषयेयुश्च गात्राणि स्वाध्यायैः संयतेन्द्रियाः ॥१५॥

वे बहुत दिनोंतक बिना खाये रह सकते हैं और अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर स्वाध्याय करते हुए शरीरको सुखा सकते हैं ॥ १५ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम्।
लोकानन्यान् सृजेयुस्ते लोकपालांश्च कोपिताः ॥१६॥

ब्राह्मण अपने तपोबलसे जो देवता नहीं है, उसे भी देवता बना सकते हैं। यदि वे क्रोधमें भर जायँ तो देवताओंको भी देवत्वसे भ्रष्ट कर सकते हैं। दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालोंकी रचना कर सकते हैं ॥ १६ ॥

अपेयः सागरो येषामपि शापान्महात्मनाम्।
येषां कोपाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥ १७ ॥

उन्हीं महात्माओंके शापसे समुद्रका पानी पीनेयोग्य नहीं रहा। उनकी क्रोधाग्नि दण्डकारण्यमें आजतक शान्त नहीं हुई ॥ १७ ॥

देवानामपि ये देवाः कारणं कारणस्य च।
प्रमाणस्य प्रमाणं च कस्तानभिभवेद् बुधः ॥ १८ ॥

वे देवताओंके भी देवता, कारणके भी कारण और प्रमाणके भी प्रमाण हैं। भला कौन मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी ब्राह्मणोंका अपमान करेगा ॥ १८ ॥

येषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति।
तपोविद्याविशेषात्तु मानयन्ति परस्परम् ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंमें कोई बूढ़े हों या बालक सभी सम्मानके योग्य हैं। ब्राह्मणलोग आपसमें तप और विद्याकी अधिकता देखकर एक-दूसरेका सम्मान करते हैं ॥ १९ ॥

अविद्वान् ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत्।
विद्वान् भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसंनिभः ॥ २० ॥

विद्याहीन ब्राह्मण भी देवताके समान और परम पवित्र पात्र माना गया है। फिर जो विद्वान् है उसके लिये तो कहना ही क्या है। वह महान् देवताके समान है और भरे हुए महासागरके समान सद्गुणसम्पन्न है ॥ २० ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ २१ ॥

ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान् इस भूतलका महान् देवता है। जैसे अग्नि पञ्चभू-संस्कारपूर्वक स्थापित हो या न हो, वह महान् देवता ही है ॥ २१ ॥

श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हविर्यज्ञे च विधिवद् गृह एवातिशोभते ॥ २२ ॥

तेजस्वी अग्निदेव श्मशानमें हों तो भी दूषित नहीं होते। विधिवत् हविष्यसे सम्पादित होनेवाले यज्ञमें तथा घरमें भी उनकी अधिकाधिक शोभा होती है ॥ २२ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार यद्यपि ब्राह्मण सब प्रकारके अनिष्ट कर्मोंमें लगा हो तो भी वह सर्वथा माननीय है। उसे परम देवता समझो ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायामेकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

भगवान् दत्तात्रेयकी कार्तवीर्यपर कृपा

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कार्तवीर्य अर्जुनको दत्तात्रेयजीसे चार वरदान प्राप्त होनेका एवं उनमें अभिमानकी उत्पत्तिका वर्णन तथा ब्राह्मणोंकी महिमाके विषयमें कार्तवीर्य अर्जुन और वायुदेवताके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

कां तु ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा जनाधिप।
कं वा कर्मोदयं मत्वा तानर्चसि महामते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जनेश्वर ! आप कौन-सा फल देखकर ब्राह्मणपूजामें लगे रहते हैं ? महामते ! अथवा किस कर्मका उदय सोचकर आप उन ब्राह्मणोंकी पूजा-अर्चा करते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पवनस्य च संवादमर्जुनस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें विज्ञपुरुष कार्तवीर्य अर्जुन और वायुदेवताके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

सहस्रभुजभृच्छ्रीमान् कार्तवीर्योऽभवत् प्रभुः।
अस्य लोकस्य सर्वस्य माहिष्मत्यां महाबलः ॥ ३ ॥
स तु रत्नाकरवतीं सद्वीपां सागराम्बराम्।
शशास पृथिवीं सर्वां हैहयः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥

पूर्वकालकी बात है—माहिष्मती नगरीमें सहस्रभुजधारी परम कान्तिमान् कार्तवीर्य अर्जुन नामवाला एक हैहयवंशी राजा समस्त भूमण्डलका शासन करता था। वह महान् बलवान् और सत्यपराक्रमी था। इस लोकमें सर्वत्र उसीका आधिपत्य था ॥ ३-४ ॥

स्ववित्तं तेन दत्तं तु दत्तात्रेयाय कारणे।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य विनयं श्रुतमेव च ॥ ५ ॥
आराधयामास च तं कृतवीर्यात्मजो मुनिम्।

एक समय कृतवीर्यकुमार अर्जुनने क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए विनय और शास्त्रज्ञानके अनुसार बहुत दिनोंतक मुनिवर दत्तात्रेयकी आराधना की तथा किसी कारणवश अपना सारा धन उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ५½ ॥

न्यमन्त्रयत संतुष्टो द्विजश्चैनं वरैस्त्रिभिः ॥ ६ ॥
स वरैश्छन्दितस्तेन नृपो वचनमब्रवीत्।
सहस्रबाहुर्भूयां वै चमूमध्ये गृहेऽन्यथा ॥ ७ ॥
मम बाहुसहस्रं तु पश्यतां सैनिका रणे।
विक्रमेण महीं कृत्स्नां जयेयं संशितव्रत ॥ ८ ॥
तां च धर्मेण सम्प्राप्य पालयेयमतन्द्रितः।
चतुर्थं तु वरं याचे त्वामहं द्विजसत्तम ॥ ९ ॥
तं ममानुग्रहकृते दातुमर्हस्यनिन्दित।
अनुशासन्तु मां सन्तो मिथ्योद्वृत्तं त्वदाश्रयम् ॥ १० ॥

विप्रवर दत्तात्रेय उसके ऊपर बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उसे तीन वर माँगनेकी आज्ञा दी। उनके द्वारा वर माँगनेकी आज्ञा मिलनेपर राजाने कहा—'भगवन् ! मैं युद्धमें तो हजार भुजाओंसे युक्त रहूँ; किंतु घरपर मेरी दो ही बाँहें रहें। रणभूमिमें सभी सैनिक मेरी एक हजार भुजाएँ देखें। कठोर व्रतका पालन करनेवाले गुरुदेव ! मैं अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लूँ। इस प्रकार पृथ्वीको धर्मके अनुसार प्राप्तकर मैं आलस्यरहित हो उसका पालन करूँ। द्विजश्रेष्ठ ! इन तीन वरोंके सिवा एक चौथा वर भी मैं आपसे माँगता हूँ। अनिन्द्य महर्षे ! मुझपर कृपा करनेके लिये आप वह वर भी अवश्य प्रदान करें। मैं आपका आश्रित भक्त हूँ। यदि कभी मैं सन्मार्गका परित्याग करके असत्य मार्गका आश्रय लूँ तो श्रेष्ठ पुरुष मुझे राहपर लानेके लिये शिक्षा दें' ॥ ६-१० ॥

इत्युक्तः स द्विजः प्राह तथास्त्विति नराधिपम्।
एवं समभवंस्तस्य वरास्ते दीप्ततेजसः ॥ ११ ॥

उसके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर दत्तात्रेयजीने उस नरेशसे कहा—'तथास्तु—ऐसा ही हो।' फिर तो उस तेजस्वी राजाके लिये वे सभी वर उसी रूपमें सफल हुए ॥ ११ ॥

ततः स रथमास्थाय ज्वलनार्कसमद्युतिम्।
अब्रवीद् वीर्यसम्मोहात् को वास्ति सदृशो मम ॥ १२ ॥
धैर्यैर्वीर्यैर्यशःशौर्यैर्विक्रमेणौजसापि वा।

तदनन्तर राजा कार्तवीर्य अर्जुन सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी रथपर बैठकर (सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पानेके पश्चात्) बलके अभिमानसे मोहित हो कहने लगा—'धैर्य, वीर्य, यश, शूरता, पराक्रम और ओजमें मेरे समान कौन है?'॥

तद्वाक्यान्ते चान्तरिक्षे वागुवाचाशरीरिणी ॥ १३ ॥
न त्वं मूढ विजानीषे ब्राह्मणं क्षत्रियाद् वरम्।
सहितो ब्राह्मणेनेह क्षत्रियः शास्ति वै प्रजाः ॥ १४ ॥

उसकी यह बात पूरी होते ही आकाशवाणी हुई—'मूर्ख ! तुझे पता नहीं है कि ब्राह्मण क्षत्रियसे भी श्रेष्ठ है। ब्राह्मणकी सहायतासे ही क्षत्रिय इस लोकमें प्रजाकी रक्षा करता है' ॥ १३-१४ ॥

अर्जुन उवाच

कुर्यां भूतानि तुष्टोऽहं क्रुद्धो नाशं तथानये।
कर्मणा मनसा वाचा न मत्तोऽस्ति वरो द्विजः ॥ १५ ॥

कार्तवीर्य अर्जुनने कहा—मैं प्रसन्न होनेपर प्राणियों-

की सृष्टि कर सकता हूँ और कुपित होनेपर उनका नाश कर सकता हूँ। मन, वाणी और क्रियाद्वारा कोई भी ब्राह्मण मुझसे श्रेष्ठ नहीं है ॥ १५ ॥

पूर्वो ब्रह्मोत्तरो वादो द्वितीयः क्षत्रियोत्तरः।
त्वयोक्तौ हेतुयुक्तौ तौ विशेषस्तत्र दृश्यते ॥ १६ ॥

इस जगत्‌में ब्राह्मणकी ही प्रधानता है—यह कथन पूर्वपक्ष है, क्षत्रियकी श्रेष्ठता ही उत्तर या सिद्धान्तपक्ष है। आपने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको प्रजापालनरूपी हेतुसे युक्त बताया है; परंतु उनमें यह अन्तर देखा जाता है ॥

ब्राह्मणाः संश्रिताः क्षत्रं न क्षत्रं ब्राह्मणाश्रितम्।
श्रिता ब्रह्मोपधा विप्राः खादन्ति क्षत्रियान् भुवि॥ १७ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियोंके आश्रित रहकर जीविका चलाते हैं, किंतु क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके आश्रयमें नहीं रहता। वेदोंके अध्ययनाध्यापनके व्याजसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मण इस भूतलपर क्षत्रियोंके ही सहारे भोजन पाते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियेष्वाश्रितो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
क्षत्राद् वृत्तिर्ब्राह्मणानां तैः कथं ब्राह्मणो वरः ॥ १८ ॥

प्रजापालनरूपी धर्म क्षत्रियोंपर ही अवलम्बित है। क्षत्रियसे ही ब्राह्मणोंको जीविका प्राप्त होती है। फिर ब्राह्मण क्षत्रियसे श्रेष्ठ कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥

सर्वभूतप्रधानांस्तान् भैक्षवृत्तीनहं सदा।
आत्मसम्भावितान् विप्रान् स्थापयाम्यात्मनो वशे॥१९॥

आजसे मैं सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ कहे जानेवाले, सदा भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और अपनेको सबसे उत्तम माननेवाले ब्राह्मणोंको अपने अधीन रक्खूँगा ॥ १९ ॥

कथितं त्वनयासत्यं गायत्र्या कन्यया दिवि।
विजेष्याम्यवशान्सर्वान्ब्राह्मणांश्चर्मवाससः॥ २० ॥
न च मां च्यावयेद् राष्ट्रात् त्रिषु लोकेषु कश्चन।
देवो वा मानुषो वापि तस्माज्ज्येष्ठो द्विजादहम्॥ २१॥

आकाशमें स्थित हुई इस गायत्री नामक कन्याने जो ब्राह्मणोंको क्षत्रियोंसे श्रेष्ठ बतलाया है, वह बिल्कुल झूठ है। मृगछाला धारण करनेवाले सभी ब्राह्मण प्रायः विवश होते हैं, मैं इन सबको जीत लूँगा। तीनों लोकोंमें कोई भी देवता या मनुष्य ऐसा नहीं है, जो मुझे राज्यसे भ्रष्ट करे। अतः मैं ब्राह्मणसे श्रेष्ठ हूँ ॥ २०-२१ ॥

अद्य ब्रह्मोत्तरं लोकं करिष्ये क्षत्रियोत्तरम्।
न हि मे संयुगे कश्चित् सोढुमुत्सहते बलम् ॥ २२ ॥

संसारमें अबतक ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे, किंतु आजसे मैं क्षत्रियोंकी प्रधानता स्थापित करूँगा। संग्राममें कोई भी मेरे बलको नहीं सह सकता ॥ २२ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा वित्रस्ताभून्निशाचरी।
अथैनमन्तरिक्षस्थस्ततो वायुरभाषत ॥ २३ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर निशाचरी भी भयभीत हो गयी। तदनन्तर अन्तरिक्षमें स्थित हुए वायु देवताने कहा— ॥

त्यजैनं कलुषं भावं ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुरु।
एतेषां कुर्वतः पापं राष्ट्रक्षोभो भविष्यति ॥ २४ ॥

'कार्तवीर्य ! तुम इस कलुषित भावको त्याग दो और ब्राह्मणोंको नमस्कार करो। यदि इनकी बुराई करोगे तो तुम्हारे राज्यमें हलचल मच जायगा ॥ २४ ॥

अथवा त्वां महीपाल शमयिष्यन्ति वै द्विजाः।
निरसिष्यन्ति ते राष्ट्राद्धतोत्साहा महाबलाः ॥ २५ ॥

'अथवा महीपाल ! महान् शक्तिशाली ब्राह्मण तुम्हें शान्त कर देंगे। यदि तुमने उनके उत्साहमें बाधा डाली तो वे तुम्हें राज्यसे बाहर निकाल देंगे' ॥ २५ ॥

तं राजा कस्त्वमित्याह ततस्तं प्राह मारुतः।
वायुर्वै देवदूतोऽस्मि हितं त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥

यह बात सुनकर कार्तवीर्यने पूछा—'महानुभाव ! आप कौन हैं ?' तब वायु देवताने उससे कहा—'राजन् ! मैं देवताओंका दूत वायु हूँ और तुम्हें हितकी बात बता रहा हूँ' ॥

अर्जुन उवाच

अहो त्वयायं विप्रेषु भक्तिरागः प्रदर्शितः।
यादृशं पृथिवीभूतं तादृशं ब्रूहि मे द्विजम् ॥ २७ ॥

कार्तवीर्य अर्जुनने कहा—वायुदेव ! ऐसी बात कहकर आपने ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति और अनुरागका परिचय दिया है। अच्छा आपकी जानकारीमें यदि पृथ्वीके समान क्षमाशील ब्राह्मण हो तो ऐसे द्विजको मुझे बताइये ॥ २७ ॥

वायोर्वा सदृशं किंचिद् ब्रूहि त्वं ब्राह्मणोत्तमम्।
अपां वै सदृशं वह्नेः सूर्यस्य नभसोऽपि वा ॥ २८ ॥

अथवा यदि कोई जल, अग्नि, सूर्य, वायु एवं आकाशके समान श्रेष्ठ ब्राह्मण हो तो उसको भी बताइये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे ब्राह्मणमाहात्म्ये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और अर्जुनके संवादके प्रसङ्गमें ब्राह्मणोंका माहात्म्यविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

वायुद्वारा उदाहरणसहित ब्राह्मणोंकी महत्ताका वर्णन

वायुरुवाच

शृणु मूढ गुणान् कांश्चिद् ब्राह्मणानां महात्मनाम्।
ये त्वया कीर्तिता राजंस्तेभ्योऽथ ब्राह्मणो वरः ॥ १ ॥

वायुने कहा—मूढ़ ! मैं महात्मा ब्राह्मणोंके कुछ गुणोंका वर्णन करता हूँ; सुनो। राजन् ! तुमने पृथ्वी, जल और अग्नि आदि जिन व्यक्तियोंका नाम लिया है, उन सबकी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

त्यक्त्वा महीत्वं भूमिस्तु स्पर्धयाङ्गनृपस्य ह।
नाशं जगाम तां विप्रो व्यस्तम्भयत कश्यपः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, राजा अङ्गके साथ स्पर्धा (लाग-डाट) होनेके कारण पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी अपने लोक-धर्म धारणरूप शक्तिका परित्याग करके अदृश्य हो गयीं। उस समय विप्रवर कश्यपने अपने तपोबलसे इस स्थूल पृथ्वीको थाम रक्खा था ॥ २ ॥

अजेया ब्राह्मणा राजन् दिवि चेह च नित्यदा।
अपिबत् तेजसा ह्यापः स्वयमेवाङ्गिराः पुरा ॥ ३ ॥
स ताः पिबन् क्षीरमिव नातृप्यत महामनाः।
अपूरयन्महौघेन महीं सर्वां च पार्थिव ॥ ४ ॥

राजन् ! ब्राह्मण इस मर्त्यलोक और स्वर्गलोकमें भी अजेय हैं। पहलेकी बात है, महामना अङ्गिरा मुनि जलको दूधकी भाँति पी गये थे। उस समय उन्हें पीनेसे तृप्ति ही नहीं होती थी। अतः पीते-पीते वे अपने तेजसे पृथ्वीका सारा जल पी गये। पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने जलका महान् स्रोत बहाकर सम्पूर्ण पृथ्वीको भर दिया ॥ ३-४ ॥

तस्मिन्नहं च क्रुद्धे वै जगत् त्यक्त्वा ततो गतः।
व्यतिष्ठमग्निहोत्रे च चिरमङ्गिरसो भयात् ॥ ५ ॥

वे ही अङ्गिरा मुनि एक बार मेरे ऊपर कुपित हो गये थे। उस समय उनके भयसे इस जगत्को त्यागकर मुझे दीर्घकाल तक अग्निहोत्रकी अग्निमें निवास करना पड़ा था॥

अथ शप्तश्च भगवान् गौतमेन पुरन्दरः।
अहल्यां कामयानो वै धर्मार्थं च न हिंसितः ॥ ६ ॥

महर्षि गौतमने ऐश्वर्यशाली इन्द्रको अहल्यापर आसक्त होनेके कारण शाप दे दिया था। केवल धर्मकी रक्षाके लिये उनके प्राण नहीं लिये ॥ ६ ॥

तथा समुद्रो नृपते पूर्णो मृष्टस्य वारिणः।
ब्राह्मणैरभिशप्तश्च बभूव लवणोदकः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! समुद्र पहले मीठे जलसे भरा रहता था, परंतु ब्राह्मणोंके शापसे उसका पानी खारा हो गया ॥ ७ ॥

सुवर्णवर्णो निर्धूमः सङ्गतोर्ध्वशिखः कविः।
क्रुद्धेनाङ्गिरसा शप्तो गुणैरेतैर्विवर्जितः ॥ ८ ॥

अग्निका रङ्ग पहले सोनेके समान था, उसमेंसे धुआँ नहीं निकलता था और उसकी लपट सदा ऊपरकी ओर ही उठती थी, किंतु क्रोधमें भरे हुए अङ्गिरा ऋषिने उसे शाप दे दिया। इसलिये अब उसमें ये पूर्वोक्त गुण नहीं रह गये ॥ ८ ॥

मरुतश्चूर्णितान् पश्य ये ह्यासन्त महोदधिम्।
सुवर्णधारिणा नित्यमवशप्ता द्विजातिना ॥ ९ ॥

देखो, उत्तम (ब्राह्मण) वर्णधारी ब्रह्मर्षि कपिलके शापसे दग्ध हुए सगर पुत्रोंकी, जो यज्ञसम्बन्धी अश्वकी खोज करते हुए यहाँ समुद्रतक आये थे, ये राखके ढेर पड़े हुए हैं ॥ ९ ॥

समो न त्वं द्विजातिभ्यः श्रेयो विद्धि नराधिप।
गर्भस्थान् ब्राह्मणान् सम्यङ् नमस्यति किल प्रभुः॥१०॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंकी समानता कदापि नहीं कर सकते। उनसे अपने कल्याणके उपाय जाननेका यत्न करो। राजा गर्भस्थ ब्राह्मणोंको भी भलीभाँति प्रणाम करता है॥

दण्डकानां महद् राज्यं ब्राह्मणेन विनाशितम्।
तालजंघं महाक्षत्रमौर्वेणैकेन नाशितम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यका विशाल साम्राज्य एक ब्राह्मणने ही नष्ट कर दिया। तालजङ्घ नामवाले महान् क्षत्रियवंशका अकेले महात्मा और्वने संहार कर डाला ॥ ११ ॥

त्वया च विपुलं राज्यं बलं धर्मं श्रुतं तथा।
दत्तात्रेयप्रसादेन प्राप्तं परमदुर्लभम् ॥ १२ ॥

स्वयं तुम्हें भी जो परम दुर्लभ विशाल राज्य, बल, धर्म तथा शास्त्रज्ञानकी प्राप्ति हुई है, वह विप्रवर दत्तात्रेयजीकी कृपासे ही सम्भव हुआ है ॥ १२ ॥

अग्निं त्वं यजसे नित्यं कस्माद् ब्राह्मणमर्जुन।
स हि सर्वस्य लोकस्य हव्यवाट् किं न वेत्सि तम् ॥१३॥

अर्जुन ! अग्नि भी तो ब्राह्मण ही है। तुम प्रतिदिन उसका यजन क्यों करते हो ? क्या तुम नहीं जानते कि अग्नि ही सम्पूर्ण लोकोंके हव्यवाहन (हविष्य पहुँचानेवाले) हैं ॥

अथवा ब्राह्मणश्रेष्ठमनुभूतानुपालकम्।
कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्जानन् विमुह्यसे ॥ १४ ॥

अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रत्येक जीवकी रक्षा और जीव-जगत्की सृष्टि करनेवाला है। इस बातको जानते हुए भी तुम क्यों मोहमें पड़े हुए हो ॥ १४ ॥

तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभुरव्ययः।
येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम् ॥ १५ ॥

जिन्होंने इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि की है, वे अव्यक्तस्वरूप अविनाशी प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी भी ब्राह्मण ही हैं ॥ १५ ॥

अण्डजातं तु ब्रह्माणं केचिदिच्छन्त्यपण्डिताः।
अण्डाद् भिन्नाद् बभुः शैला दिशोऽम्भः पृथिवी दिवम् १६

कुछ मूर्ख मनुष्य ब्रह्माजीको भी अण्डसे उत्पन्न मानते हैं। (इनकी मान्यता है कि) फूटे हुए अण्डसे पर्वत, दिशाएँ, जल, पृथ्वी और स्वर्गकी उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

द्रष्टव्यं नैतदेवं हि कथं जायेदजो हि सः।
स्मृतमाकाशमण्डं तु तस्माज्जातः पितामहः ॥ १७ ॥

परंतु ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि जो अजन्मा है, वह जन्म कैसे ले सकता है ? फिर भी जो उन्हें अण्डज कहा जाता है, उसका अभिप्राय यों समझना चाहिये। महाकाश ही यहाँ 'अण्ड' है, उससे पितामह प्रकट हुए हैं (इसलिये वे 'अण्डज' हैं) ॥ १७ ॥

तिष्ठेत् कथमिति ब्रूहि न किंचिद्धि तदा भवेत्।
अहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोगतः प्रभुः ॥ १८ ॥

यदि कहो, 'ब्रह्मा आकाशसे प्रकट हुए हैं तो किस आधारपर ठहरते हैं, यह बताइये; क्योंकि उस समय कोई दूसरा आधार नहीं रहता' तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मा वहाँ अहंकारस्वरूप बताये गये, जो सम्पूर्ण तेजोंमें व्याप्त एवं समर्थ बताये गये हैं ॥ १८ ॥

नास्त्यण्डमस्ति तु ब्रह्मा स राजा लोकभावनः।
इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

वास्तवमें 'अण्ड' नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर भी ब्रह्माजीका अस्तित्व है, क्योंकि वे ही जगत्के उत्पादक हैं। उनके ऐसा कहनेपर राजा कार्तवीर्य अर्जुन चुप हो गये। तब वायु देवता पुनः उनसे बोले ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और कार्तवीर्य अर्जुनका संवादविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणशिरोमणि उतथ्यके प्रभावका वर्णन

वायुरुवाच

इमां भूमिं द्विजातिभ्यो दित्सुर्वै दक्षिणां पुरा।
अङ्गो नाम नृपो राजंस्ततश्चिन्तां मही ययौ ॥ १ ॥

वायुदेवता कहते हैं—राजन्! पहलेकी बात है, अङ्ग नामवाले एक नरेशने इस पृथ्वीको ब्राह्मणोंके हाथमें दान कर देनेका विचार किया। यह जानकर पृथ्वीको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

धारिणीं सर्वभूतानामयं प्राप्य वरो नृपः।
कथमिच्छति मां दातुं द्विजेभ्यो ब्रह्मणः सुताम् ॥ २ ॥

वह सोचने लगी—'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली और ब्रह्माजीकी पुत्री हूँ। मुझे पाकर यह श्रेष्ठ राजा ब्राह्मणोंको क्यों देना चाहता है ॥ २ ॥

साहं त्यक्त्वा गमिष्यामि भूमित्वं ब्रह्मणः पदम्।
अयं सराष्ट्रो नृपतिर्मा भूदिति ततोऽगमत् ॥ ३ ॥

'यदि इसका ऐसा विचार है तो मैं भी भूमित्वका (लोकधारणरूप अपने धर्मका) त्याग करके ब्रह्मलोक चली जाऊँगी, जिससे यह राजा अपने राज्यसे नष्ट हो जाय।' ऐसा निश्चय करके पृथ्वी चली गयी ॥ ३ ॥

ततस्तां कश्यपो दृष्ट्वा व्रजन्तीं पृथिवीं तदा।
प्रविवेश महीं सद्यो मुक्त्वाऽऽत्मानं समाहितः ॥ ४ ॥

पृथ्वीको जाते देख महर्षि कश्यप योगका आश्रय ले अपने शरीरको त्यागकर तत्काल भूमिके इस स्थूल विग्रहमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४ ॥

ऋद्धा सा सर्वतो जज्ञे तृणौषधिसमन्विता।
धर्मोत्तरा नष्टभया भूमिरासीत् ततो नृप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! उनके प्रवेश करनेसे पृथ्वी पहलेकी अपेक्षा भी समृद्धिशालिनी हो गयी। चारों ओर घास-पात और अन्नकी अधिक उपज होने लगी। उत्तरोत्तर धर्म बढ़ने लगा और भयका नाश हो गया ॥ ५ ॥

एवं वर्षसहस्राणि दिव्यानि विपुलव्रतः।
त्रिंशतः कश्यपो राजन् भूमिरासीदतन्द्रितः ॥ ६ ॥

राजन् ! इस प्रकार आलस्यशून्य हो विशाल व्रतका पालन करनेवाले महर्षि कश्यप तीस हजार दिव्य वर्षोंतक पृथ्वीके रूपमें स्थित रहे ॥ ६ ॥

अथागम्य महाराज नमस्कृत्य च कश्यपम्।
पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् पृथ्वी ब्रह्मलोकसे लौटकर आयी और उन महात्मा कश्यपको प्रणाम करके उनकी पुत्री बनकर रहने लगी। तभीसे उसका नाम काश्यपी हुआ ॥ ७ ॥

एष राजन्नीदृशो वै ब्राह्मणः कश्यपोऽभवत्।
अन्यं प्रब्रूहि वा त्वं च कश्यपात् क्षत्रियं वरम्॥ ८ ॥

राजन्! ये कश्यपजी ब्राह्मण ही थे; जिनका ऐसा प्रभाव देखा गया है। तुम कश्यपसे भी श्रेष्ठ किसी अन्य क्षत्रियको जानते हो तो बताओ॥ ८॥

तूष्णीं बभूव नृपतिः पवनस्त्वब्रवीत् पुनः।
शृणु राजन्नुतथ्यस्य जातस्याङ्गिरसे कुले॥ ९॥
भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता।
तस्यास्तुल्यं पतिं सोम उतथ्यं समपश्यत॥ १०॥

राजा कार्तवीर्य अर्जुन कोई उत्तर न दे सका। वह चुपचाप ही बैठा रहा। तब पवन देवता फिर कहने लगे—'राजन्! अब तुम अङ्गिराके कुलमें उत्पन्न हुए उतथ्यका वृत्तान्त सुनो। सोमकी पुत्री भद्रा नामसे विख्यात थी। वह अपने समयकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानी जाती थी। चन्द्रमाने देखा महर्षि उतथ्य ही मेरी पुत्रीके योग्य वर हैं॥ ९-१०॥

सा च तीव्रं तपस्तेपे महाभागा यशस्विनी।
उतथ्यार्थे तु चार्वङ्गी परं नियममास्थिता॥ ११॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली महाभागा यशस्विनी भद्रा भी उतथ्यको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये उत्तम नियमका आश्रय ले तीव्र तपस्या करने लगी॥ ११॥

तत आहूय सोतथ्यं ददावत्रिर्यशस्विनीम्।
भार्यार्थे स च जग्राह विधिवद् भूरिदक्षिणः॥ १२॥

'तब कुछ दिनोंके बाद सोमके पिता महर्षि अत्रिने उतथ्यको बुलाकर अपनी यशस्विनी पौत्रीका हाथ उनके हाथमें दे दिया। प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उतथ्यने अपनी पत्नी बनानेके लिये भद्राका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया॥

तां त्वकामयत श्रीमान् वरुणः पूर्वमेव ह।
स चागम्य वनप्रस्थं यमुनायां जहार ताम्॥ १३॥

'परंतु श्रीमान् वरुणदेव उस कन्याको पहलेसे ही चाहते थे। उन्होंने वनमें स्थित मुनिके आश्रमके निकट आकर यमुनामें स्नान करते समय भद्राका अपहरण कर लिया॥

जलेश्वरस्तु हृत्वा तामनयत् स्वं पुरं प्रति।
परमाद्भुतसंकाशं षट्सहस्रशतह्रदम्॥ १४॥

'जलेश्वर वरुण उस स्त्रीको हरकर अपने परम अद्भुत नगरमें ले आये; जहाँ छः हजार बिजलियोंका प्रकाश* छा रहा था॥ १४॥

न हि रम्यतरं किंचित् तस्मादन्यत् पुरोत्तमम्।
प्रासादैरप्सरोभिश्च दिव्यैः कामैश्च शोभितम्॥ १५॥

'वरुणके उस नगरसे बढ़कर दूसरा कोई परम रमणीय एवं उत्तम नगर नहीं है। वह असंख्य महलों, अप्सराओं और दिव्य भोगोंसे सुशोभित होता है॥ १५॥

तत्र देवस्तया सार्धं रेमे राजन् जलेश्वरः।
अथाख्यातमुतथ्याय ततः पत्न्यवमर्दनम्॥ १६॥

'राजन्! जलके स्वामी वरुणदेव वहाँ भद्राके साथ रमण करने लगे। तदनन्तर नारदजीने उतथ्यको यह समाचार बताया कि 'वरुणने आपके पत्नीका अपहरण एवं उसके साथ बलात्कार किया है'॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा नारदात् सर्वमुतथ्यो नारदं तदा।
प्रोवाच गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणं परुषं वचः॥ १७॥

'नारदजीके मुखसे यह सारा समाचार सुनकर उतथ्यने उस समय नारदजीसे कहा—'देवर्षे! आप वरुणके पास जाइये और उनसे मेरा यह कठोर संदेश कह सुनाइये॥

मद्वाक्यान्मुञ्च मे भार्यां कस्मात् तां हृतवानसि।
लोकपालोऽसि लोकानां न लोकस्य विलोपकः॥ १८॥
सोमेन दत्ता भार्या मे त्वया चापहृताद्य वै।
इत्युक्तो वचनात् तस्य नारदेन जलेश्वरः॥ १९॥
मुञ्च भार्यामुतथ्यस्य कस्मात् त्वं हृतवानसि।

'वरुण! तुम मेरे कहनेसे मेरी पत्नीको छोड़ दो। तुमने क्यों उसका अपहरण किया है? तुम लोगोंके लिये लोकपाल बनाये गये हो, लोक-विनाशक नहीं। सोमने अपनी कन्या मुझे दी है, वह मेरी भार्या है। फिर आज तुमने उसका अपहरण कैसे किया!' नारदजीने उतथ्यके कथनानुसार जलेश्वर वरुणसे यह कहा कि 'आप उतथ्यकी स्त्रीको छोड़ दीजिये; आपने क्यों उसका अपहरण किया है?॥ १८-१९½॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य सोऽथ तं वरुणोऽब्रवीत्॥ २०॥
ममैषा सुप्रिया भार्या नैनामुत्स्रष्टुमुत्सहे।

'नारदजीके मुखसे उतथ्यकी यह बात सुनकर वरुणने उनसे कहा—'यह मेरी अत्यन्त प्यारी भार्या है। मैं इसे छोड़ नहीं सकता'॥ २०½॥

इत्युक्तो वरुणेनाथ नारदः प्राप्य तं मुनिम्।
उतथ्यमब्रवीद् वाक्यं नातिहृष्टमना इव॥ २१॥

'वरुणके इस प्रकार उत्तर देनेपर नारदजी उतथ्य मुनिके पास लौट गये और खिन्न-से होकर बोले—॥ २१॥

गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने।
न प्रयच्छति ते भार्यां यत् ते कार्यं कुरुष्व तत्॥ २२॥

'महामुने! वरुणने मेरा गला पकड़कर ढकेल दिया है। वे आपकी पत्नीको नहीं दे रहे हैं, अब आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये'॥ २२॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलदङ्गिराः।
अपिबत् तेजसा वारि विष्टभ्य सुमहातपाः॥ २३॥

'नारदजीकी बात सुनकर अङ्गिराके पुत्र उतथ्य क्रोधसे

* कुछ लोग 'षट्सहस्रशतह्रदम्' का अर्थ यों करते हैं—वहाँ छः लाख तालाब शोभा पा रहे थे; परंतु 'शतह्रदा' शब्द बिजलीका वाचक है; अतः उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

जल उठे। वे महान् तपस्वी तो थे ही, अपने तेजसे सारे जल-को स्तम्भित करके पीने लगे ॥ २३ ॥

पीयमाने तु सर्वस्मिंस्तोयेऽपि सलिलेश्वरः।
सुहृद्भिर्भिक्षमाणोऽपि नैवामुञ्चत तां तदा ॥ २४ ॥

'जब सारा जल पीया जाने लगा, तब सुहृदोंने जलेश्वर वरुणसे प्रार्थना की, तो भी वे भद्राको न छोड़ सके ॥२४॥

ततः क्रुद्धोऽब्रवीद् भूमिमुतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः।
दर्शयस्व स्थलं भद्रे षट्सहस्रशतह्रदम् ॥ २५ ॥

'तब ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उतथ्यने कुपित होकर पृथ्वीसे कहा—'भद्रे! तू मुझे वह स्थान दिखा दे, जहाँ छः हजार बिजलियों-का प्रकाश छाया हुआ है'॥ २५ ॥

ततस्तदीरिणं जातं समुद्रस्यावसर्पतः।
तस्माद् देशान्नदीं चैव प्रोवाचासौ द्विजोत्तमः॥ २६ ॥
अदृश्या गच्छ भीरु त्वं सरस्वति मरून् प्रति।
अपुण्य एष भवतु देशस्त्यक्तस्त्वया शुभे ॥ २७ ॥

'समुद्रके सूखने या खिसक जानेसे वहाँका सारा स्थान ऊसर हो गया। उस देशसे होकर बहनेवाली सरस्वती नदीसे द्विजश्रेष्ठ उतथ्यने कहा—'भीरु सरस्वति! तुम अदृश्य होकर मरु प्रदेशमें चली जाओ। शुभे! तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होकर यह देश अपवित्र हो जाय' ॥ २६-२७ ॥

तस्मिन् संशोषिते देशे भद्रामादाय वारिपः।
अददाच्छरणं गत्वा भार्यामाङ्गिरसाय वै ॥ २८ ॥

'जब वह सारा प्रदेश सूख गया, तब जलेश्वर वरुण भद्रा-को साथ लेकर मुनिकी शरणमें आये और उन्होंने आङ्गिरसको उनकी भार्या दे दी ॥ २८ ॥

प्रतिगृह्य तु तां भार्यामुतथ्यः सुमनाऽभवत्।
मुमोच च जगद् दुःखाद् वरुणं चैव हैहय ॥ २९ ॥

'हैहयराज! अपनी उस पत्नीको पाकर उतथ्य बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्पूर्ण जगत् तथा वरुणको जलके कष्टसे मुक्त कर दिया ॥ २९ ॥

ततः स लब्ध्वा तां भार्यां वरुणं प्राह धर्मवित्।
उतथ्यः सुमहातेजा यत् तच्छृणु नराधिप ॥ ३० ॥

'नरेश्वर! अपनी उस पत्नीको पाकर महातेजस्वी धर्मज्ञ उतथ्यने वरुणसे जो कुछ कहा, वह सुनो ॥ ३० ॥

मयैषा तपसा प्राप्ता क्रोशतस्ते जलाधिप।
इत्युक्त्वा तामुपादाय स्वमेव भवनं ययौ ॥ ३१ ॥

'जलेश्वर! तुम्हारे चिल्लानेपर भी मैंने तपोबलसे अपनी इस पत्नीको प्राप्त कर लिया।' ऐसा कहकर वे भद्रा-को साथ ले अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

एष राजन्नीदृशो वै उतथ्यो ब्राह्मणर्षभः।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमुतथ्यात् क्षत्रियं वरम्॥ ३२ ॥

'राजन्! ये ब्राह्मणशिरोमणि उतथ्य ऐसे प्रभावशाली हैं। यह बात मैं कहता हूँ। यदि उतथ्यसे श्रेष्ठ कोई क्षत्रिय हो तो तुम उसे बताओ' ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादो नाम चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायु देवता तथा कार्तवीर्य अर्जुनका संवादनामक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मर्षि अगस्त्य और वसिष्ठके प्रभावका वर्णन

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स नृपस्तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत्।
शृणु राजन्नगस्त्यस्य माहात्म्यं ब्राह्मणस्य ह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वायु देवताके ऐसा कहनेपर भी राजा कार्तवीर्य अर्जुन चुपचाप ही बैठे रह गया, कुछ बोल न सका। तब वायुदेव पुनः उससे बोले—'राजन्! अब ब्राह्मणजातीय अगस्त्यका माहात्म्य सुनो॥१॥

असुरैर्निर्जिता देवा निरुत्साहाश्च ते कृताः।
यज्ञाश्चैषां हृताः सर्वे पितॄणां च स्वधास्तथा ॥ २ ॥
कर्मेज्या मानवानां च दानवैर्हैहयर्षभ।
भ्रष्टैश्वर्यास्ततो देवाश्चेरुः पृथ्वीमिति श्रुतिः ॥ ३ ॥

'हैहयराज! प्राचीन समयमें असुरोंने देवताओंको परास्त करके उनका उत्साह नष्ट कर दिया। दानवोंने देवताओंके यज्ञ, पितरोंके श्राद्ध तथा मनुष्योंके कर्मानुष्ठान लुप्त कर दिये। तब अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुए देवतालोग पृथ्वीपर मारे-मारे फिरने लगे। ऐसा सुननेमें आया है ॥ २-३ ॥

ततः कदाचित् ते राजन् दीप्तमादित्यवर्चसम्।
ददृशुस्तेजसा युक्तमगस्त्यं विपुलव्रतम् ॥ ४ ॥

'राजन्! तदनन्तर एक दिन देवताओंने सूर्यके समान प्रकाशमान, तेजस्वी, दीप्तिमान् और महान् व्रतधारी अगस्त्यको देखा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तु तं देवाः पृष्ट्वा कुशलमेव च।
इदमूचुर्महात्मानं वाक्यं काले जनाधिप ॥ ५ ॥

'जनेश्वर! उन्हें प्रणाम करके देवताओंने उनका

कुशल-समाचार पूछा और समयपर उन महात्मासे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

दानवैर्युधि भग्नाः स्म तथैश्वर्याच्च भ्रंशिताः ।
तदस्मान्नो भयात् तीव्रात् त्राहि त्वं मुनिपुङ्गव ॥ ६ ॥

''मुनिवर ! दानवोंने हमें युद्धमें हराकर हमारा ऐश्वर्य छीन लिया है । इस तीव्र भयसे आप हमारी रक्षा करें' ॥

इत्युक्तः स तदा देवैरगस्त्यः कुपितोऽभवत् ।
प्रजज्वाल च तेजस्वी कालाग्निरिव संक्षये ॥ ७ ॥

'देवताओंके ऐसा कहनेपर तेजस्वी अगस्त्य मुनि कुपित हो गये और प्रलयकालके अग्निकी भाँति रोषसे जल उठे ॥

तेन दीप्तांशुजालेन निर्दग्धा दानवास्तदा ।
अन्तरिक्षान्महाराज निपेतुस्ते सहस्रशः ॥ ८ ॥

'महाराज ! उनकी प्रज्वलित किरणोंके स्पर्शसे उस समय सहस्रों दानव दग्ध होकर आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥

दह्यमानास्तु ते दैत्यास्तस्यागस्त्यस्य तेजसा ।
उभौ लोकौ परित्यज्य गताः काष्ठां तु दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

'अगस्त्यके तेजसे दग्ध होते हुए दैत्य दोनों लोकोंका परित्याग करके दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ ९ ॥

बलिस्तु यजते यज्ञमश्वमेधं महीं गतः ।
येऽन्येऽधस्था महीस्थाश्च ते न दग्धा महासुराः ॥ १० ॥

'उस समय राजा बलि पृथ्वीपर आकर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। अतः जो दैत्य उनके साथ पृथ्वीपर थे और दूसरे जो पातालमें थे, वे ही दग्ध होनेसे बचे ॥ १० ॥

ततो लोकाः पुनः प्राप्ताः सुरैः शान्तभयैर्नृप ।
अथैनमब्रुवन् देवा भूमिष्ठानसुरान् जहि ॥ ११ ॥

'नरेश्वर ! तत्पश्चात् देवताओंका भय शान्त हो जानेपर वे पुनः अपने-अपने लोकमें चले आये। तदनन्तर देवताओंने अगस्त्यजीसे फिर कहा—'अब आप पृथ्वीपर रहनेवाले असुरोंका भी नाश कर डालिये' ॥ ११ ॥

इत्युक्तः प्राह देवान् स न शक्तोऽस्मि महीगतान् ।
दग्धुं तपो हि क्षीयेन्मे न शक्ष्यामीति पार्थिव ॥ १२ ॥

'पृथ्वीनाथ ! देवताओंके ऐसा कहनेपर अगस्त्यजी उनसे बोले—'अब मैं भूतलनिवासी असुरोंको नहीं दग्ध कर सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी तपस्या क्षीण हो जायगी। इसलिये यह कार्य मेरे लिये असम्भव है' ॥ १२ ॥

एवं दग्धा भगवता दानवाः स्वेन तेजसा ।
अगस्त्येन तदा राजंस्तपसा भावितात्मना ॥ १३ ॥

'राजन् ! इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् अगस्त्यने अपने तप और तेजसे दानवोंको दग्ध कर दिया था ॥ १३ ॥

ईदृशश्चाप्यगस्त्यो हि कथितस्ते मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमगस्त्यात् क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

'निष्पाप नरेश ! अगस्त्य ऐसे प्रभावशाली बताये गये हैं, जो ब्राह्मण ही हैं। यह बात मैं कहता हूँ, तुम अगस्त्य मुनिसे श्रेष्ठ किसी क्षत्रियको जानते हो तो बताओ' ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् वसिष्ठस्य मुख्यं कर्म यशस्विनः ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! उनके ऐसा कहनेपर भी कार्तवीर्य अर्जुन चुप ही रहा। तब वायु देवता फिर बोले—'राजन् ! अब यशस्वी ब्राह्मण वसिष्ठ मुनिका श्रेष्ठ कर्म सुनो ॥ १५ ॥

आदित्याः सत्रमासन्त सरो वै मानसं प्रति ।
वसिष्ठं मनसा गत्वा ज्ञात्वा तत् तस्य गौरवम् ॥ १६ ॥

'एक समय देवताओंने वसिष्ठ मुनिके गौरवको जानकर मन-ही-मन उनकी शरण जाकर मानसरोवरके तटपर यज्ञ आरम्भ किया ॥ १६ ॥

यजमानांस्तु तान् दृष्ट्वा सर्वान् दीक्षानुकर्शितान् ।
हन्तुमैच्छन्त शैलाभाः खलिनो नाम दानवाः ॥ १७ ॥

'समस्त देवता यज्ञकी दीक्षा लेकर दुबले हो रहे थे। उन्हें यज्ञ करते देख पर्वतके समान शरीरवाले 'खली' नामक दानवोंने उन सबको मार डालनेका विचार किया (फिर तो दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया) ॥ १७ ॥

अदूरात् तु ततस्तेषां ब्रह्मदत्तवरं सरः ।
हताहता वै तत्रैते जीवन्त्याप्लुत्य दानवाः ॥ १८ ॥

'उनके पास ही मानसरोवर था, जिसके लिये ब्रह्माजीके द्वारा दैत्योंको यह वरदान प्राप्त था कि 'इसमें डुबकी लगानेसे तुम्हें नूतन जीवन प्राप्त होगा'; अतः उस समय दानवोंमेंसे जो हताहत होते थे, उन्हें दूसरे दानव उठाकर सरोवरमें फेंक देते थे और वे उसके जलमें डुबकी लगाते ही जी उठते थे ॥ १८ ॥

ते प्रगृह्य महाघोरान् पर्वतान् परिघान् द्रुमान् ।
विक्षोभयन्तः सलिलमुत्थितं शतयोजनम् ॥ १९ ॥
अभ्यद्रवन्त देवांस्ते सहस्राणि दशैव हि ।
ततस्तैरर्दिता देवाः शरणं वासवं ययुः ॥ २० ॥

'फिर सरोवरके जलको सौ योजन ऊँचे उछालते तथा हाथमें महाघोर पर्वत, परिघ एवं वृक्ष लिये हुए वे देवताओंपर टूट पड़ते थे। उन दानवोंकी संख्या दस हजारकी थी। जब उन्होंने देवताओंको अच्छी तरह पीड़ित किया, तब वे भागकर इन्द्रकी शरणमें गये ॥ १९-२० ॥

स च तैर्व्यथितः शक्रो वसिष्ठं शरणं ययौ ।
ततोऽभयं ददौ तेभ्यो वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २१ ॥

तदा तान् दुःखितान् ज्ञात्वा आनृशंस्यपरो मुनिः ।
अयत्नेनादहत् सर्वान् खलिनः स्वेन तेजसा ॥ २२ ॥

'इन्द्रको भी उन दैत्योंसे भिड़कर महान् क्लेश उठाना पड़ा; अतः वे वसिष्ठजीकी शरणमें गये । तब उन भगवान् वसिष्ठ मुनिने, जो बड़े ही दयालु थे, देवताओंको दुखी जानकर उन्हें अभयदान दे दिया और बिना किसी प्रयत्नके ही अपने तेजसे उन समस्त खली नामके दानवोंको दग्ध कर डाला ॥ २१-२२ ॥

कैलासं प्रस्थितां चैव नदीं गङ्गां महातपाः ।
आनयत् तत्सरो दिव्यं तया भिन्नं च तत्सरः॥ २३ ॥
सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत् ।
हताश्च खलिनो यत्र स देशः खलिनोऽभवत् ॥ २४ ॥

'इतना ही नहीं—वे महातपस्वी मुनि कैलासकी ओर प्रस्थित हुई गङ्गा नदीको उस दिव्य सरोवरमें ले आये । गङ्गाजीने उसमें आते ही उस सरोवरका बाँध तोड़ डाला । गङ्गासे सरोवरका भेदन होनेपर जो स्रोत निकला, वही सरयू नदीके नामसे प्रसिद्ध हुआ । जिस स्थानपर खली नामक दानव मारे गये, वह देश खलिन नामसे विख्यात हुआ ।२३-२४।

एवं सेन्द्रा वसिष्ठेन रक्षितास्त्रिदिवौकसः ।
ब्रह्मदत्तवराश्चैव हता दैत्या महात्मना ॥ २५ ॥

'इस प्रकार महात्मा वसिष्ठने इन्द्रसहित देवताओंकी रक्षा की और ब्रह्माजीने जिनके लिये वर दिया था, ऐसे दैत्योंका भी संहार कर डाला ॥ २५ ॥

एतत् कर्म वसिष्ठस्य कथितं हि मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं वसिष्ठात् क्षत्रियं वरम् ॥ २६ ॥

'निष्पाप नरेश ! मैंने ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीके इस कर्मका वर्णन किया है । मैं कहता हूँ, ब्राह्मण श्रेष्ठ है । यदि वसिष्ठसे बड़ा कोई क्षत्रिय हो तो बताओ' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायु देवता और कार्तवीर्य अर्जुनका संवादविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

अत्रि और च्यवन ऋषिके प्रभावका वर्णन

भीष्म उवाच

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद् वायुस्तमब्रवीत् ।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ कर्मात्रेः सुमहात्मनः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके ऐसा कहनेपर भी जब कार्तवीर्य अर्जुन कोई उत्तर न देकर चुप ही बैठा रहा, तब वायु देवता पुनः इस प्रकार बोले—हैहयश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे महात्मा अत्रिके महान् कर्मका वर्णन सुनो ॥

घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः ।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥

'प्राचीन कालमें एक बार देवता और दानव सब घोर अन्धकारमें एक दूसरेके साथ युद्ध करते थे । वहाँ राहुने अपने बाणोंसे चन्द्रमा और सूर्यको घायल कर दिया था (इसलिये सब ओर घोर अन्धकार छा गया था) ॥ २ ॥

अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः ।
देवा नृपतिशार्दूल सहैव बलिभिस्तदा ॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! फिर तो अन्धकारमें फँसे हुए देवतालोग कुछ सूझ न पड़नेके कारण एक साथ ही बलवान् दानवोंके हाथसे मारे जाने लगे ॥ ३ ॥

असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणप्राणा दिवौकसः ।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥
अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम् ।
असुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ ॥ ५ ॥
वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते ।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात् त्रायस्व नः प्रभो ॥६॥

असुरोंकी मार खाकर देवताओंकी प्राणशक्ति क्षीण हो चली और वे भागकर तपस्यामें संलग्न हुए तपोधन विप्रवर अत्रिमुनिके पास गये । वहाँ उन्होंने उन क्रोधशून्य जितेन्द्रिय मुनिका दर्शन किया और इस प्रकार कहा—'प्रभो ! असुरोंने अपने बाणोंद्वारा चन्द्रमा और सूर्यको घायल कर दिया है और अब घोर अन्धकार छा जानेके कारण हम भी शत्रुओंके हाथसे मारे जा रहे हैं । हमें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये' ॥

अत्रिरुवाच

कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥

अत्रिने कहा—मैं किस प्रकार आपलोगोंकी रक्षा करूँ ? देवता बोले—'आप अन्धकारको नष्ट करनेवाले चन्द्रमा और सूर्यका रूप धारण कीजिये और हमारे शत्रु बने हुए इन डाकू दानवोंका नाश कर डालिये' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ।
अपश्यत् सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥
जगद् वितिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत् तदा ॥ १० ॥

पृथ्वीनाथ ! देवताओंके ऐसा कहनेपर अत्रिने अन्धकारको दूर करनेवाले चन्द्रमाका रूप धारण किया और सोमके समान देखनेमें प्रिय लगने लगे । उन्होंने शान्त-भावसे देवताओंकी ओर देखा । उस समय चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभा मन्द देखकर अत्रिने अपनी तपस्यासे उस युद्ध-भूमिमें प्रकाश फैलाया तथा सम्पूर्ण जगत्को अन्धकारशून्य एवं आलोकित कर दिया ॥ ८–१० ॥

व्यजयच्छत्रुसंघांश्च देवानां स्वेन तेजसा ।
अत्रिणा दह्यमानांस्तान् दृष्ट्वा देवा महासुरान् ॥ ११ ॥
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यघ्नन्नत्रिसुरक्षिताः ।
उद्भासितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः ॥ १२ ॥

उन्होंने अपने तेजसे ही देवताओंके शत्रुओंको परास्त कर दिया । अत्रिके तेजसे उन महान् असुरोंको दग्ध होते देख अत्रिसे सुरक्षित हुए देवताओंने भी उस समय पराक्रम करके उन दैत्योंको मार डाला । अत्रिने सूर्यको तेजस्वी बनाया, देवताओंका उद्धार किया और असुरोंको नष्ट कर दिया ॥

अत्रिणा त्वथ सामर्थ्यं कृतमुत्तमतेजसा ।
द्विजेनाग्निद्वितीयेन जपता चर्मवाससा ॥ १३ ॥
फलभक्षेण राजर्षे पश्य कर्मात्रिणा कृतम् ।
तस्यापि विस्तरेणोक्तं कर्मात्रेः सुमहात्मनः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमत्रितः क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

अत्रि मुनि गायत्रीका जप करनेवाले, मृगचर्मधारी, फलाहारी, अग्निहोत्री और उत्तम तेजसे युक्त ब्राह्मण हैं । उन्होंने जो सामर्थ्य दिखलाया, जैसा महान् कर्म किया, उसपर दृष्टिपात करो । मैंने उन उत्तम महात्मा अत्रिका भी कर्म विस्तारपूर्वक बताया है । मैं कहता हूँ ब्राह्मण श्रेष्ठ है । तुम बताओ अत्रिसे श्रेष्ठ कौन क्षत्रिय है ? ॥ १३-१४ ॥

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् महत्कर्म च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी अर्जुन चुप ही रहा । तब वायु देवता फिर कहने लगे—राजन् ! अब महात्मा च्यवन-के माहात्म्यका वर्णन सुनो ॥ १५ ॥

अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम् ।
प्रोवाच सहितो देवैः सोमपावश्विनौ कुरु ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें च्यवन मुनिने अश्विनीकुमारोंको सोमपान करानेकी प्रतिज्ञा करके इन्द्रसे कहा—'देवराज ! आप दोनों अश्विनीकुमारोंको देवताओंके साथ सोमपानमें सम्मिलित कर लीजिये' ॥ १६ ॥

इन्द्र उवाच

अस्माभिर्निन्दितावेतौ भवेतां सोमपौ कथम् ।
देवैर्न सम्मितावेतौ तस्मान्मैवं वदस्व नः ॥ १७ ॥

इन्द्र बोले—विप्रवर ! अश्विनीकुमार हमलोगोंके द्वारा निन्दित हैं । फिर ये सोमपानके अधिकारी कैसे हो सकते हैं । ये दोनों देवताओंके समान प्रतिष्ठित नहीं हैं । अतः उनके लिये इस तरहकी बात न कीजिये ॥ १७ ॥

अश्विभ्यां सह नेच्छामः सोमं पातुं महाव्रत ।
यदन्यद् वक्ष्यसे विप्र तत् करिष्यामि ते वचः ॥ १८ ॥

महान् व्रतधारी विप्रवर ! हमलोग अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान करना नहीं चाहते हैं । अतः इसको छोड़कर आप और जिस कामके लिये मुझे आज्ञा देंगे, उसे अवश्य मैं पूर्ण करूँगा ॥ १८ ॥

च्यवन उवाच

पिबेतामश्विनौ सोमं भवद्भिः सहिताविमौ ।
उभावेतावपि सुरौ सूर्यपुत्रौ सुरेश्वर ॥ १९ ॥

च्यवन बोले—देवराज ! अश्विनीकुमार भी सूर्यके पुत्र होनेके कारण देवता ही हैं । अतः ये आप सब लोगोंके साथ निश्चय ही सोमपान कर सकते हैं ॥ १९ ॥

क्रियतां मद्वचो देवा यथा वै समुदाहृतम् ।
एतद् वः कुर्वतां श्रेयो भवेन्नैतदकुर्वताम् ॥ २० ॥

देवताओ ! मैंने जैसी बात कही है, उसे आपलोग स्वीकार करें । ऐसा करनेमें ही आपलोगोंकी भलाई है । अन्यथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा ॥ २० ॥

इन्द्र उवाच

अश्विभ्यां सह सोमं वै न पास्यामि द्विजोत्तम ।
पिबन्त्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे ॥ २१ ॥

इन्द्रने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! निश्चय ही मैं दोनों अश्विनी-कुमारोंके साथ सोमपान नहीं करूँगा । अन्य देवताओंकी इच्छा हो तो उनके साथ सोमरस पीयें । मैं तो नहीं पी सकता ॥ २१ ॥

च्यवन उवाच

न चेत् करिष्यसि वचो मयोक्तं बलसूदन ।
मया प्रमथितः सद्यः सोमं पास्यसि वै मखे ॥ २२ ॥

च्यवनने कहा—बलसूदन ! यदि तुम सीधी तरह मेरी कही हुई बात नहीं मानोगे तो यज्ञमें मेरे द्वारा तुम्हारा अभिमान चूर्ण कर दिया जायगा, फिर तो तत्काल ही तुम सोमरस पीने लगोगे ॥ २२ ॥

वायुरुवाच

ततः कर्म समारब्धं हिताय सहसाश्विनोः ।
च्यवनेन ततो मन्त्रैरभिभूताः सुराऽभवन् ॥ २३ ॥

वायु देवता कहते हैं—तदनन्तर च्यवन मुनिने अश्विनीकुमारोंके हितके लिये सहसा यज्ञ आरम्भ किया। उनके मन्त्रबलसे समस्त देवता प्रभावित हो गये ॥ २३ ॥

तत् तु कर्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोधमूर्छितः ।
उद्यम्य विपुलं शैलं च्यवनं समुपाद्रवत् ॥ २४ ॥

उस यज्ञकर्मका आरम्भ होता देख इन्द्र क्रोधसे मूर्छित हो उठे और हाथमें एक विशाल पर्वत लेकर वे च्यवन मुनिकी ओर दौड़े ॥ २४ ॥

तथा वज्रेण भगवानमर्षाकुललोचनः ।
तमापतन्तं दृष्ट्वैव च्यवनस्तपसान्वितः ॥ २५ ॥
अद्भिः सिक्त्वास्तम्भयत् तं सवज्रं सहपर्वतम् ।

उस समय उनके नेत्र अमर्षसे आकुल हो रहे थे। भगवान् इन्द्रने वज्रके द्वारा भी मुनिपर आक्रमण किया। उनको आक्रमण करते देख तपस्वी च्यवनने जलका छींटा देकर वज्र और पर्वतसहित इन्द्रको स्तम्भित कर दिया—जडवत् बना दिया ॥ २५½ ॥

अथेन्द्रस्य महाघोरं सोऽसृजच्छत्रुमेव हि ॥ २६ ॥
मदं नामाहुतिमयं व्यादितास्यं महामुनिः ।
तस्य दन्तसहस्रं तु बभूव शतयोजनम् ॥ २७ ॥
द्वियोजनशतास्तस्य दंष्ट्राः परमदारुणाः ।
हनुस्तस्याभवद् भूमावास्यं चास्यास्पृशद् दिवम् ॥२८॥
जिह्वामूले स्थितास्तस्य सर्वे देवाः सवासवाः ।
तिमेरास्यमनुप्राप्ता यथा मत्स्या महार्णवे ॥ २९ ॥

इसके बाद उन महामुनिने अग्निमें आहुति डालकर इन्द्रके लिये एक अत्यन्त भयंकर शत्रु उत्पन्न किया, जिसका नाम मद था। वह मुँह फैलाकर खड़ा हो गया। उसकी ठोढ़ीका भाग जमीनमें सटा हुआ था और ऊपरवाला ओठ आकाशको छू रहा था। उसके मुँहके भीतर एक हजार दाँत थे; जो सौ-सौ योजन ऊँचे थे और उसकी भयंकर दाढ़ें दो-दो सौ योजन लंबी थीं। उस समय इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उसकी जिह्वाकी जड़में आ गये, ठीक उसी तरह जैसे महासागरमें बहुत-से मत्स्य तिमिनामक महामत्स्यके मुखमें पड़ गये हों ॥ २६—२९ ॥

ते सम्मन्त्र्य ततो देवा मदस्यास्यसमीपगाः ।
अब्रुवन् सहिताः शक्रं प्रणमास्मै द्विजातये ॥ ३० ॥
अश्विभ्यां सह सोमं च पिबाम विगतज्वराः ।

फिर तो मदके मुखमें पड़े हुए देवताओंने आपसमें सलाह करके इन्द्रसे कहा—'देवराज ! आप विप्रवर च्यवनको प्रणाम कीजिये (इनसे विरोध करना अच्छा नहीं है)। हमलोग निश्चिन्त होकर अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान करेंगे'॥

ततः स प्रणतः शक्रश्चकार च्यवनस्य तत् ॥ ३१ ॥
च्यवनः कृतवानेतावश्विनौ सोमपायिनौ ।
ततः प्रत्याहरत् कर्म मदं च व्यभजन्मुनिः ॥ ३२ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

यह सुनकर इन्द्रने महामुनि च्यवनके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर च्यवनने अश्विनीकुमारोंको सोमरसका भागी बनाया और अपना यज्ञ समाप्त कर दिया। इसके बाद शक्तिशाली मुनिने जुआ, शिकार, मदिरा और स्त्रियोंमें मदको बाँट दिया ॥३१-३३॥

एतैर्दोषैर्नरा राजन् क्षयं यान्ति न संशयः ।
तस्मादेतान् नरो नित्यं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३४ ॥

राजन् ! इन दोषोंसे युक्त मनुष्य अवश्य ही नाशको प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है। अतः इन्हें सदाके लिये दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥ ३४ ॥

एतत् ते च्यवनस्यापि कर्म राजन् प्रकीर्तितम् ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं क्षत्रियं ब्राह्मणाद् वरम् ॥ ३५ ॥

नरेश्वर ! यह तुमसे च्यवन मुनिका महान् कर्म भी बताया गया। मैं कहता हूँ—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा तुम बताओ कौन-सा क्षत्रिय ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है ? ॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और अर्जुनका संवादविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कप नामक दानवोंके द्वारा स्वर्गलोकपर अधिकार जमा लेनेपर ब्राह्मणोंका कपोंको भस्म कर देना, वायुदेव और कार्तवीर्य अर्जुनके संवादका उपसंहार

भीष्म उवाच

तूष्णीमासीदर्जुनस्तु पवनस्त्वब्रवीत् पुनः ।
शृणु मे ब्राह्मणेष्वेव मुख्यं कर्म जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इतनेपर भी कार्तवीर्य चुप ही रहा। तब वायुदेवताने फिर कहा—नरेश्वर ! ब्राह्मणोंके और भी जो श्रेष्ठ कर्म हैं, उनका वर्णन सुनो।

मदस्यास्यमनुप्राप्ता यदा सेन्द्रा दिवौकसः ।
तदैव च्यवनेनेह हृता तेषां वसुन्धरा ॥ २ ॥

जब इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मदके मुखमें पड़ गये थे, उसी समय च्यवनने उनके अधिकारकी सारी भूमि हर ली थी (तथा कप नामक दानवोंने उनके स्वर्गलोकपर अधिकार जमा लिया था) ॥ २ ॥

उभौ लोकौ हृतौ मत्वा ते देवा दुःखिताऽभवन् ।
शोकार्ताश्च महात्मानं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ ३ ॥

अपने दोनों लोकोंका अपहरण हुआ जान वे देवता बहुत दुखी हो गये और शोकसे आतुर हो महात्मा ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ३ ॥

देवा ऊचुः

मदास्यव्यतिषक्तानामस्माकं लोकपूजित ।
च्यवनेन हृता भूमिः कपैश्चैव दिवं प्रभो ॥ ४ ॥

देवता बोले—लोकपूजित प्रभो ! जिस समय हम मदके मुखमें पड़ गये थे, उस समय च्यवनने हमारी भूमि हर ली थी और कप नामक दानवोंने स्वर्गलोकपर अधिकार कर लिया ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

गच्छध्वं शरणं विप्रानाशु सेन्द्रा दिवौकसः ।
प्रसाद्य तानुभौ लोकाववाप्स्यथ यथा पुरा ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्रसहित देवताओ ! तुमलोग शीघ्र ही ब्राह्मणोंकी शरणमें जाओ । उन्हें प्रसन्न कर लेनेपर तुमलोग पहलेकी भाँति दोनों लोक प्राप्त कर लोगे ॥ ५ ॥

ते ययुः शरणं विप्रानूचुस्ते कान् जयामहे ।
इत्युक्तास्ते द्विजान् प्राहुर्जयतेह कपानिति ॥ ६ ॥

तब देवतालोग ब्राह्मणोंकी शरणमें गये । ब्राह्मणोंने पूछा—'हम किनको जीतें ?' उनके इस तरह पूछनेपर देवताओंने ब्राह्मणोंसे कहा—'आपलोग कप नामक दानवोंको परास्त कीजिये' ॥ ६ ॥

भूगतान् हि विजेतारो वयमित्यब्रुवन् द्विजाः ।
ततः कर्म समारब्धं ब्राह्मणैः कपनाशनम् ॥ ७ ॥

तब ब्राह्मणोंने कहा—'हम उन दानवोंको पृथ्वीपर लाकर परास्त करेंगे ।' तदनन्तर ब्राह्मणोंने कपविनाशक कर्म आरम्भ किया ॥ ७ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रेषितो दूतो ब्राह्मणेभ्यो धनी कपैः ।
स च तान् ब्राह्मणानाह धनी कपवचो यथा ॥ ८ ॥

इसका समाचार सुनकर कपोंने ब्राह्मणोंके पास अपना धनी नामक दूत भेजा । उसने उन ब्राह्मणोंसे कपोंका संदेश इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

भवद्भिः सदृशाः सर्वे कपाः किमिह वर्तते ।
सर्वे वेदविदः प्राज्ञाः सर्वे च क्रतुयाजिनः ॥ ९ ॥

सर्वे सत्यव्रताश्चैव सर्वे तुल्या महर्षिभिः ।
श्रीश्चैव रमते तेषु धारयन्ति श्रियं च ते ॥ १० ॥

'ब्राह्मणो ! समस्त कप नामक दानव आपलोगोंके ही समान हैं । फिर उनके विरुद्ध यहाँ क्या हो रहा है ? सभी कप वेदोंके ज्ञाता और विद्वान् हैं । सब-के-सब यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं । सभी सत्यप्रतिज्ञ हैं और सब-के-सब महर्षियोंके तुल्य हैं । श्री उनके यहाँ रमण करती है और वे श्रीको धारण करते हैं ॥ ९-१० ॥

वृथादारान् न गच्छन्ति वृथामांसं न भुञ्जते ।
दीप्तमग्निं जुह्वते च गुरूणां वचने स्थिताः ॥ ११ ॥

'वे परायी स्त्रियोंसे समागम नहीं करते । मांसको व्यर्थ समझकर उसे कभी नहीं खाते हैं । प्रज्वलित अग्निमें आहुति देते और गुरुजनोंकी आज्ञामें स्थित रहते हैं ॥ ११ ॥

सर्वे च नियतात्मानो बालानां संविभागिनः ।
उपेत्य शनकैर्यान्ति न सेवन्ति रजस्वलाम् ।
स्वर्गतिं चैव गच्छन्ति तथैव शुभकर्मिणः ॥ १२ ॥

'वे सभी अपने मनको संयममें रखते हैं । बालकोंको उनका भाग बाँट देते हैं । निकट आकर धीरे-धीरे चलते हैं । रजस्वला स्त्रीका कभी सेवन नहीं करते । शुभकर्म करते हैं और स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १२ ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नन्ति गर्भिणीवृद्धकादिषु ।
पूर्वाह्णेषु न दीव्यन्ति दिवा चैव न शेरते ॥ १३ ॥

'गर्भवती स्त्री और वृद्ध आदिके भोजन करनेसे पहले भोजन नहीं करते हैं । पूर्वाह्णमें जूआ नहीं खेलते और दिनमें नींद नहीं लेते हैं ॥ १३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्गुणैर्युक्तान् कथं कपान् ।
विजेष्यथ निवर्तध्वं निवृत्तानां सुखं हि वः ॥ १४ ॥

'इनसे तथा अन्य बहुत-से गुणोंद्वारा संयुक्त हुए कपनामक दानवोंको आपलोग क्यों पराजित करना चाहते हैं ? इस अवाञ्छनीय कार्यसे निवृत्त होइये, क्योंकि निवृत्त होनेसे ही आपलोगोंको सुख मिलेगा' ॥ १४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कपान्वयं विजेष्यामो ये देवास्ते वयं स्मृताः ।
तस्माद् वध्याः कपाऽस्माकं धनिन् याहि यथाऽऽगतम्

तब ब्राह्मणोंने कहा—जो देवता हैं, वे हमलोग हैं; अतः देवद्रोही कप हमारे लिये वध्य हैं । इसलिये हम कपोंके कुलको पराजित करेंगे । धनी ! तुम जैसे आये हो उसी तरह लौट जाओ ॥ १५ ॥

धनी गत्वा कपानाह न वो विप्राः प्रियंकराः ।
गृहीत्वास्त्राण्यतो विप्रान् कपाः सर्वे समाद्रवन् ॥१६॥

धनीने जाकर कपोंसे कहा—'ब्राह्मणलोग आपका प्रिय करनेको उद्यत नहीं हैं।' यह सुनकर अस्त्र-शस्त्र हाथमें ले सभी कप ब्राह्मणोंपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

समुदग्रध्वजान् दृष्ट्वा कपान् सर्वे द्विजातयः।
व्यसृजन् ज्वलितानग्नीन् कपानां प्राणनाशनान् ॥१७॥

उनकी ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं। कपोंको आक्रमण करते देख सभी ब्राह्मण उन कपोंपर प्रज्वलित एवं प्राणनाशक अग्निका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

ब्रह्मसृष्टा हव्यभुजः कपान् हत्वा सनातनाः।
नभसीव यथाभ्राणि व्यराजन्त नराधिप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! ब्राह्मणोंके छोड़े हुए सनातन अग्निदेव उन कपोंका संहार करके आकाशमें बादलोंके समान प्रकाशित होने लगे ॥ १८ ॥

हत्वा वै दानवान् देवाः सर्वे सम्भूय संयुगे।
तेनाभ्यजानन् हि तदा ब्राह्मणैर्निहतान् कपान् ॥१९॥

उस समय सब देवताओंने युद्धमें संगठित होकर दानवोंका संहार कर डाला। किंतु उस समय उन्हें यह मालूम नहीं था कि ब्राह्मणोंने कपोंका विनाश कर डाला है ॥ १९ ॥

अथागम्य महातेजा नारदोऽकथयद् विभो।
यथा हता महाभागैस्तेजसा ब्राह्मणैः कपाः ॥ २० ॥

प्रभो! तदनन्तर महातेजस्वी नारदजीने आकर यह बात बतायी कि किस प्रकार महाभाग ब्राह्मणोंने अपने तेजसे कपोंका नाश किया है ॥ २० ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा प्रीताः सर्वे दिवौकसः।
प्रशशंसुर्द्विजांश्चापि ब्राह्मणांश्च यशस्विनः ॥ २१ ॥

नारदजीकी बात सुनकर सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने द्विजों और यशस्वी ब्राह्मणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥

तेषां तेजस्तथा वीर्यं देवानां ववृधे ततः।
अवाप्नुवंश्चामरत्वं त्रिषु लोकेषु पूजितम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर देवताओंके तेज और पराक्रमकी वृद्धि होने लगी। उन्होंने तीनों लोकोंमें सम्मानित होकर अमरत्व प्राप्त कर लिया ॥ २२ ॥

इत्युक्तवचनं वायुमर्जुनः प्रत्युवाच ह।
प्रतिपूज्य महाबाहो यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर! जब वायुने इस प्रकार ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाया, तब कार्तवीर्य अर्जुनने उनके वचनोंकी प्रशंसा करके जो उत्तर दिया, उसे सुनो ॥ २३ ॥

अर्जुन उवाच

जीवाम्यहं ब्राह्मणार्थं सर्वथा सततं प्रभो।
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणेभ्यश्च प्रणमामि च नित्यशः ॥ २४ ॥

अर्जुन बोला—प्रभो! मैं सब प्रकारसे और सदा ब्राह्मणोंके लिये ही जीवन धारण करता हूँ, ब्राह्मणोंका भक्त हूँ और प्रतिदिन ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ ॥ २४ ॥

दत्तात्रेयप्रसादाच्च मया प्राप्तमिदं बलम्।
लोके च परमा कीर्तिर्धर्मश्चाचरितो महान् ॥ २५ ॥

विप्रवर दत्तात्रेयजीकी कृपासे मुझे इस लोकमें महान् बल, उत्तम कीर्ति और महान् धर्मकी प्राप्ति हुई है ॥ २५ ॥

अहो ब्राह्मणकर्माणि मया मारुत तत्त्वतः।
त्वया प्रोक्तानि कात्स्न्र्येन श्रुतानि प्रयतेन च ॥ २६ ॥

वायुदेव! बड़े हर्षकी बात है कि आपने मुझसे ब्राह्मणोंके अद्भुत कर्मोंका यथावत् वर्णन किया और मैंने ध्यान देकर उन सबको श्रवण किया है ॥ २६ ॥

वायुरुवाच

ब्राह्मणान् क्षात्रधर्मेण पालयस्वेन्द्रियाणि च।
भृगुभ्यस्ते भयं घोरं तत् तु कालाद् भविष्यति ॥२७॥

वायुने कहा—राजन्! तुम क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा और इन्द्रियोंका संयम करो। तुम्हें भृगुवंशी ब्राह्मणोंसे घोर भय प्राप्त होनेवाला है; परंतु यह दीर्घकालके पश्चात् सम्भव होगा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेव और अर्जुनका संवादविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणानर्चसे राजन् सततं संशितव्रतान्।
कं तु कर्मोदयं दृष्ट्वा तानर्चसि जनाधिप ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! आप सदा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंकी पूजा किया करते थे। जनेश्वर! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन-सा लाभ देखकर उनका पूजन करते थे? ॥ १ ॥

कां वा ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा महाव्रत।

तानर्चसि महाबाहो सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ २ ॥

महान् व्रतधारी महाबाहो ! ब्राह्मणोंकी पूजासे भविष्यमें मिलनेवाले किस फलकी ओर दृष्टि रखकर आप उनकी आराधना करते थे ? यह सब मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

एष ते केशवः सर्वमाख्यास्यति महामतिः।
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां दृष्टव्युष्टिर्महाव्रतः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ये महान् व्रतधारी परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण-पूजासे होनेवाले लाभका प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके हैं; अतः वही तुमसे इस विषयकी सारी बातें बतायेंगे ॥ ३ ॥

बलं श्रोत्रे वाङ्मनश्चक्षुषी च
ज्ञानं तथा सविशुद्धं ममाद्य।
देहन्यासो नातिचिरान्मतो मे
न चाति तूर्णं सविताद्य याति ॥ ४ ॥

आज मेरा बल, मेरे कान, मेरी वाणी, मेरा मन और मेरे दोनों नेत्र तथा मेरा विशुद्ध ज्ञान भी सब एकत्रित हो गये हैं। अतः जान पड़ता है कि अब मेरा शरीर छूटनेमें अधिक विलम्ब नहीं है। आज सूर्यदेव अधिक तेजीसे नहीं चलते हैं ॥

उक्ता धर्मा ये पुराणे महान्तो
राजन् विप्राणां क्षत्रियाणां विशां च।
तथा शूद्राणां धर्ममुपासते च
शेषं कृष्णादुपशिक्षस्व पार्थ ॥ ५ ॥

पार्थ ! पुराणोंमें जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके (अलग-अलग) धर्म बतलाये गये हैं तथा सब वर्णोंके लोग जिस-जिस धर्मकी उपासना करते हैं, वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया है। अब जो कुछ बाकी रह गया हो, उसकी भगवान् श्रीकृष्णसे शिक्षा लो ॥ ५ ॥

अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णं
योऽयं हि यच्चास्य बलं पुराणम्।
अमेयात्मा केशवः कौरवेन्द्र
सोऽयं धर्मं वक्ष्यति संशयेषु ॥ ६ ॥

इन श्रीकृष्णका जो स्वरूप है और जो इनका पुरातन बल है, उसे ठीक-ठीक मैं जानता हूँ। कौरवराज ! भगवान् श्रीकृष्ण अप्रमेय हैं; अतः तुम्हारे मनमें संदेह होनेपर यही तुम्हें धर्मका उपदेश करेंगे ॥ ६ ॥

कृष्णः पृथ्वीमसृजत् खं दिवं च
कृष्णस्य देहान्मेदिनी सम्बभूव।
वराहोऽयं भीमबलः पुराणः
स पर्वतान् व्यसृजद् वै दिशश्च ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्गकी सृष्टि की है। इन्हींके शरीरसे पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ है। यही भयंकर बलवाले वराहके रूपमें प्रकट हुए थे तथा इन्हीं पुराण-पुरुषने पर्वतों और दिशाओंको उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥

अस्य चाधोऽथान्तरिक्षं दिवं च
दिशश्चतस्रो विदिशश्चतस्रः।
सृष्टिस्तथैवेयमनुप्रसूता
स निर्ममे विश्वमिदं पुराणम् ॥ ८ ॥

अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशाएँ तथा चारों कोण—ये सब भगवान् श्रीकृष्णसे नीचे हैं। इन्हींसे सृष्टिकी परम्परा प्रचलित हुई है तथा इन्होंने ही इस प्राचीन विश्वका निर्माण किया है ॥ ८ ॥

अस्य नाभ्यां पुष्करं सम्प्रसूतं
यत्रोत्पन्नः स्वयमेवामितौजाः।
तेनाच्छिन्नं तत् तमः पार्थ घोरं
यत् तत् तिष्ठत्यर्णवं तर्जयानम् ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सृष्टिके आरम्भमें इनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उसीके भीतर अमित तेजस्वी ब्रह्माजी स्वतः प्रकट हुए। जिन्होंने उस घोर अन्धकारका नाश किया है, जो समुद्रको भी डाँट बताता हुआ सब ओर व्याप्त हो रहा था (अर्थात् जो अगाध और अपार था) ॥ ९ ॥

कृते युगे धर्म आसीत् समग्र-
स्त्रेताकाले ज्ञानमनुप्रपन्नः।
बलं त्वासीद् द्वापरे पार्थ कृष्णः
कलौ त्वधर्मः क्षितिमेवाजगाम ॥ १० ॥

पार्थ ! सत्ययुगमें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण धर्मरूपसे विराजमान थे, त्रेतामें पूर्णज्ञान या विवेकरूपमें स्थित थे, द्वापरमें बलरूपसे स्थित हुए थे और कलियुगमें अधर्मरूपसे इस पृथ्वीपर आयेंगे (अर्थात् उस समय अधर्म ही बलवान् होगा) ॥ १० ॥

स एव पूर्वं निजघान दैत्यान्
स पूर्वदेवश्च बभूव सम्राट्।
स भूतानां भावनो भूतभव्यः
स विश्वस्यास्य जगतश्चाभिगोप्ता ॥ ११ ॥

इन्होंने ही प्राचीनकालमें दैत्योंका संहार किया और ये ही दैत्यसम्राट् बलिके रूपमें प्रकट हुए। ये भूतभावन प्रभु ही भूत और भविष्य इनके ही स्वरूप हैं तथा ये ही इस सम्पूर्ण जगत्‌के रक्षा करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

यदा धर्मो ग्लाति वंशे सुराणां
तदा कृष्णो जायते मानुषेषु।
धर्मे स्थित्वा स तु वै भावितात्मा
परांश्च लोकानपरांश्च पाति ॥ १२ ॥

जब धर्मका ह्रास होने लगता है, तब ये शुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीकृष्ण देवताओं तथा मनुष्योंके कुलमें अवतार लेकर स्वयं धर्ममें स्थित हो उसका आचरण करते हुए उसकी स्थापना तथा पर और अपर लोकोंकी रक्षा करते हैं ॥ १२ ॥

त्याज्यं त्यक्त्वा चासुराणां वधाय
कार्याकार्ये कारणं चैव पार्थ।
कृतं करिष्यत् क्रियते च देवो
राहुं सोमं विद्धि च शक्रमेनम् ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! ये त्याज्य वस्तुका त्याग करके असुरोंका वध करनेके लिये स्वयं कारण बनते हैं । कार्य, अकार्य और कारण सब इन्हींके स्वरूप हैं । ये नारायणदेव ही भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें किये जानेवाले कर्मरूप हैं । तुम इन्हींको राहु, चन्द्रमा और इन्द्र समझो ॥ १३ ॥

स विश्वकर्मा स हि विश्वरूपः
स विश्वभुग् विश्वसृग् विश्वजिच्च।
स शूलभृच्छोणितभृत् कराल-
स्तं कर्मभिर्विदितं वै स्तुवन्ति ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण ही विश्वकर्मा, विश्वरूप, विश्वभोक्ता, विश्व-विधाता और विश्वविजेता हैं । वे ही एक हाथमें त्रिशूल और दूसरे हाथमें रक्तसे भरा खप्पर लिये विकरालरूप धारण करते हैं । अपने नाना प्रकारके कर्मोंसे जगत्‌में विख्यात हुए श्रीकृष्णकी ही सब लोग स्तुति करते हैं ॥ १४ ॥

तं गन्धर्वाणामप्सरसां च नित्य-
मुपतिष्ठन्ते विबुधानां शतानि।
तं राक्षसाश्च परिसंवदन्ति
रायस्पोषः स विजिगीषुरेकः ॥ १५ ॥

सैकड़ों गन्धर्व, अप्सराएँ तथा देवता सदा इनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं । राक्षस भी इनसे सम्मति लिया करते हैं । एकमात्र ये ही धनके रक्षक और विजयके अभिलाषी हैं ॥ १५ ॥

तमध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरे सामगाश्च स्तुवन्ति।
तं ब्राह्मणा ब्रह्ममन्त्रैः स्तुवन्ति
तस्मै हविरध्वर्यवः कल्पयन्ति ॥ १६ ॥

यज्ञमें स्तोतालोग इन्हींकी स्तुति करते हैं । सामगान करनेवाले विद्वान् रथन्तर साममें इन्हींके गुण गाते हैं । वेद-वेत्ता ब्राह्मण वेदके मन्त्रोंसे इन्हींका स्तवन करते हैं और यजुर्वेदी अध्वर्यु यज्ञमें इन्हींको हविष्यका भाग देते हैं ॥१६॥

स पौराणीं ब्रह्मगुहां प्रविष्टो
महीसत्रं भारताग्रे ददर्श।
स चैव गामुद्धाराग्र्यकर्मा
विक्षोभ्य दैत्यानुरगान् दानवांश्च ॥ १७॥

भारत ! इन्होंने ही पूर्वकालमें ब्रह्मरूप पुरातन गुहामें प्रवेश करके इस पृथ्वीका जलमें प्रलय होना देखा है । इन सृष्टिकर्म करनेवाले श्रीकृष्णने दैत्यों, दानवों तथा नागोंको विक्षुब्ध करके इस पृथ्वीका रसातलसे उद्धार किया है॥१७॥

तं घोषार्थे गीर्भिरिन्द्राः स्तुवन्ति
स चापीशो भारतैकः पशूनाम्।
तस्य भक्षान् विविधान् वेदयन्ति
तमेवाजौ वाहनं वेदयन्ति ॥ १८ ॥

व्रजकी रक्षाके लिये गोवर्द्धन पर्वत उठानेके समय इन्द्र आदि देवताओंने इनकी स्तुति की थी । भरतनन्दन ! ये एकमात्र श्रीकृष्ण ही समस्त पशुओं (जीवों) के अधिपति हैं । इनको नाना प्रकारके भोजन अर्पित किये जाते हैं । युद्धमें ये ही विजय दिलानेवाले माने जाते हैं ॥ १८ ॥

तस्यान्तरिक्षं पृथिवी दिवं च
सर्वं वशे तिष्ठति शाश्वतस्य।
स कुम्भे रेतः ससृजे सुराणां
यत्रोत्पन्नमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥ १९ ॥

पृथ्वी, आकाश और स्वर्गलोक सभी इन सनातन पुरुष श्रीकृष्णके वशमें रहते हैं । इन्होंने कुम्भमें देवताओं (मित्र और वरुण) का वीर्य स्थापित किया था; जिससे महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई बतायी जाती है ॥ १९ ॥

स मातरिश्वा विभुरश्ववाजी
स रश्मिवान् सविता चादिदेवः।
तेनासुरा विजिताः सर्व एव
तद्विक्रान्तैर्विजितानीह त्रीणि ॥ २० ॥

ये ही सर्वत्र विचरनेवाले वायु हैं, तीव्रगामी अश्व हैं, सर्वव्यापी हैं, अंशुमाली सूर्य और आदि देवता हैं । इन्होंने ही समस्त असुरोंपर विजय पायी तथा इन्होंने ही अपने तीन पदोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया था ॥ २० ॥

स देवानां मानुषाणां पितॄणां
तमेवाहुर्यज्ञविदां वितानम्।
स एव कालं विभजन्नुदेति
तस्योत्तरं दक्षिणं चायने द्वे ॥ २१ ॥

ये श्रीकृष्ण सम्पूर्ण देवताओं, पितरों और मनुष्योंके आत्मा हैं । इन्हींको यज्ञवेत्ताओंका यज्ञ कहा गया है । ये ही दिन और रातका विभाग करते हुए सूर्यरूपमें उदित होते हैं । उत्तरायण और दक्षिणायन इन्हींके दो मार्ग हैं ॥ २१ ॥

तस्यैवोर्ध्वं तिर्यगधश्चरन्ति
गभस्तयो मेदिनीं भासयन्तः।
तं ब्राह्मणा वेदविदो जुषन्ति
तस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति ॥ २२ ॥

इन्हींके ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलमें पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाली किरणें फैलती हैं । वेदवेत्ता ब्राह्मण इन्हींकी सेवा करते हैं और इन्हींके प्रकाशका सहारा लेकर सूर्यदेव प्रकाशित होते हैं ॥ २२ ॥

स मासि मास्यध्वरकृद् विधत्ते
तमध्वरे वेदविदः पठन्ति ।
स एवोक्तश्चक्रमिदं त्रिनाभि
सप्ताश्वयुक्तं वहते वै त्रिधाम ॥ २३ ॥

ये यज्ञकर्ता श्रीकृष्ण प्रत्येक मासमें यज्ञ करते हैं। प्रत्येक यज्ञमें वेदज्ञ ब्राह्मण इन्हींके गुण गाते हैं। ये ही तीन नाभियों, तीन धामों और सात अश्वोंसे युक्त इस संवत्सर-चक्रको धारण करते हैं ॥ २३ ॥

महातेजाः सर्वगः सर्वसिंहः
कृष्णो लोकान् धारयते यथैकः ।
हंसं तमोघ्नं च तमेव वीर
कृष्णं सदा पार्थ कर्तारमेहि ॥ २४ ॥

वीर कुन्तीनन्दन! ये महातेजस्वी और सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले सर्वसिंह श्रीकृष्ण अकेले ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करते हैं। तुम इन श्रीकृष्णको ही अन्धकारनाशक सूर्य और समस्त कार्योंका कर्ता समझो ॥ २४ ॥

स एकदा कक्षगतो महात्मा
तुष्टो विभुः खाण्डवे धूमकेतुः ।
स राक्षसानुरगांश्चावजित्य
सर्वत्रगः सर्वमग्नौ जुहोति ॥ २५ ॥

इन्हीं महात्मा वासुदेवने एक बार अग्निस्वरूप होकर खाण्डव वनकी सूखी लकड़ियोंमें व्याप्त हो पूर्णतः तृप्तिका अनुभव किया था। ये सर्वव्यापी प्रभु ही राक्षसों और नागोंको जीतकर सबको अग्निमें ही होम देते हैं ॥ २५ ॥

स एव पार्थाय श्वेतमश्वं प्रायच्छत्
स एवाश्वानथ सर्वांश्चकार ।
स बन्धुरस्तस्य रथस्त्रिचक्र-
स्त्रिवृच्छिराश्चतुरश्वस्त्रिनाभिः ॥ २६ ॥

इन्होंने ही अर्जुनको श्वेत अश्व प्रदान किया था। इन्होंने ही समस्त अश्वोंकी सृष्टि की थी। ये ही संसाररूपी रथको बाँधनेवाले बन्धन हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इस रथके चक्र हैं। ऊर्ध्व, मध्य और अधः—जिसकी गति है। काल, अदृष्ट, इच्छा और संकल्प—ये चार जिसके घोड़े हैं। सफेद, काला और लाल रंगका त्रिविध कर्म ही जिसकी नाभि है। वह संसार-रथ इन श्रीकृष्णके ही अधिकारमें है ॥ २६ ॥

स विहायो व्यदधात् पञ्चनाभिः
स निर्ममे गां दिवमन्तरिक्षम् ।
सोऽरण्यानि व्यसृजत् पर्वतांश्च
हृषीकेशोऽमितदीप्ताग्नितेजाः ॥ २७ ॥

पाँचों भूतोंके आश्रयरूप श्रीकृष्णने ही आकाशकी सृष्टि की है। इन्होंने ही पृथ्वी, स्वर्गलोक और अन्तरिक्षकी रचना की है, अत्यन्त प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी इन हृषीकेशने ही वन और पर्वतोंको उत्पन्न किया है ॥ २७ ॥

अलंघयद् वै सरितो जिघांसञ्
शक्रं वज्रं प्रहरन्तं निरास ।
स महेन्द्रः स्तूयते वै महाध्वरे
विप्रैरेको ऋक्सहस्रैः पुराणैः ॥ २८ ॥

इन्हीं वासुदेवने वज्रका प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए इन्द्रको मार डालनेकी इच्छासे कितनी ही सरिताओंको लाँघा और उन्हें परास्त किया था। वे ही महेन्द्ररूप हैं। ब्राह्मण बड़े-बड़े यज्ञोंमें सहस्रों पुरानी ऋचाओंद्वारा एकमात्र इन्हींकी स्तुति करते हैं ॥ २८ ॥

दुर्वासा वै तेन नान्येन शक्यो
गृहे राजन् वासयितुं महौजाः ।
तमेवाहुर्ऋषिमेकं पुराणं
स विश्वकृद् विदधात्यात्मभावान्॥ २९॥

राजन्! इन श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है जो अपने घरमें महातेजस्वी दुर्वासाको ठहरा सके। इनको ही अद्वितीय पुरातन ऋषि कहते हैं। ये ही विश्वनिर्माता हैं और अपने स्वरूपसे ही अनेकों पदार्थोंकी सृष्टि करते रहते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च यो वेदयतेऽधिदेवो
विधींश्च यश्चाश्रयते पुराणान् ।
कामे वेदे लौकिके यत्फलं च
विष्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ३० ॥

ये देवताओंके देवता होकर भी वेदोंका अध्ययन करते और प्राचीन विधियोंका आश्रय लेते हैं। लौकिक और वैदिक कर्मका जो फल है, वह सब श्रीकृष्ण ही हैं, ऐसा विश्वास करो ॥ ३० ॥

ज्योतींषि शुक्लानि हि सर्वलोके
त्रयो लोका लोकपालास्त्रयश्च ।
त्रयोऽग्नयो व्याहृतयश्च तिस्रः
सर्वे देवा देवकीपुत्र एव ॥ ३१ ॥

ये ही सम्पूर्ण लोकोंकी शुक्लज्योति हैं तथा तीनों लोक, तीनों लोकपाल, त्रिविध अग्नि, तीनों व्याहृतियाँ और सम्पूर्ण देवता भी ये देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ३१ ॥

स वत्सरः स ऋतुः सोऽर्धमासः
सोऽहोरात्रः स कला वै स काष्ठाः ।
मात्रा मुहूर्ताश्च लवाः क्षणाश्च
विष्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ३२ ॥

संवत्सर, ऋतु, पक्ष, दिन-रात, कला, काष्ठा, मात्रा, मुहूर्त, लव और क्षण—इन सबको श्रीकृष्णका ही स्वरूप समझो ॥ ३२ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहनक्षत्रताराः
सर्वाणि दर्शान्यथ पौर्णमासम् ।
नक्षत्रयोगा ऋतवश्च पार्थ
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रसूतम् ॥ ३३ ॥

पार्थ ! चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अमावास्या, पौर्णमासी, नक्षत्रयोग तथा ऋतु—इन सबकी उत्पत्ति श्रीकृष्णसे ही हुई है ॥ ३३ ॥

रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च
साध्याश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
प्रजापतिर्देवमातादितिश्च
सर्वे कृष्णादृषयश्चैव सप्त ॥ ३४ ॥

रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, प्रजापति, देवमाता अदिति और सप्तर्षि—ये सब-के-सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ३४ ॥

वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्व-
मग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः ।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं
ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान् ॥ ३५ ॥

ये विश्वरूप श्रीकृष्ण ही वायुरूप धारण करके संसारको चेष्टा प्रदान करते हैं, अग्निरूप होकर सबको भस्म करते हैं, जलका रूप धारण करके जगत्को डुबाते हैं और ब्रह्मा होकर सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते हैं ॥ ३५ ॥

वेद्यं च यद् वेदयते च वेद्यं
विधिश्च यश्च श्रयते विधेयम् ।
धर्मे च वेदे च बले च सर्वं
चराचरं केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ३६ ॥

ये स्वयं वेद्यस्वरूप होकर भी वेदवेद्य तत्त्वको जाननेका प्रयत्न करते हैं । विधिरूप होकर भी विहित कर्मोंका आश्रय लेते हैं । ये ही धर्म, वेद और बलमें स्थित हैं । तुम यह विश्वास करो कि सारा चराचर जगत् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है ॥ ३६ ॥

ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात्
प्रकाशते यत्प्रभया विश्वरूपः ।
अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः
पुराकरोत् सर्वमेवाथ विश्वम् ॥ ३७ ॥

ये विश्वरूपधारी श्रीकृष्ण परम ज्योतिर्मय सूर्यका रूप धारण करके पूर्वदिशामें प्रकट होते हैं । जिनकी प्रभासे सारा जगत् प्रकाशित होता है । ये समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं । इन्होंने पूर्वकालमें पहले जलकी सृष्टि करके फिर सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया था ॥ ३७ ॥

ऋतूनुत्पातान् विविधान्यद्भुतानि
मेघान् विद्युत्सर्वमैरावतं च ।
सर्वं कृष्णात् स्थावरं जङ्गमं च
विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि ॥ ३८ ॥

ऋतु, नाना प्रकारके उत्पात, अनेकानेक अद्भुत पदार्थ, मेघ, बिजली, ऐरावत और सम्पूर्ण चराचर जगत्की इन्हींसे उत्पत्ति हुई है । तुम इन्हींको समस्त विश्वका आत्मा—विष्णु समझो ॥ ३८ ॥

विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवं
संकर्षणं जीवभूतं वदन्ति ।
ततः प्रद्युम्नमनिरुद्धं चतुर्थ-
माज्ञापयत्यात्मयोनिर्महात्मा ॥ ३९ ॥

ये विश्वके निवासस्थान और निर्गुण हैं । इन्हींको वासुदेव, जीवभूत, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और चौथा अनिरुद्ध कहते हैं । ये आत्मयोनि परमात्मा सबको अपनी आज्ञाके अधीन रखते हैं ॥ ३९ ॥

स पञ्चधा पञ्चजनोपपन्नं
संचोदयन् विश्वमिदं सिसृक्षुः ।
ततश्चकारावनिमारुतौ च
खं ज्योतिरम्भश्च तथैव पार्थ ॥ ४० ॥

कुन्तीकुमार ! ये देवता, असुर, मनुष्य, पितर और तिर्यग् रूपसे पाँच प्रकारके संसारकी सृष्टि करनेकी इच्छा रखकर पञ्चभूतोंसे युक्त जगत्के प्रेरक होकर सबको अपने अधीन रखते हैं । उन्होंने ही क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशकी सृष्टि की है ॥ ४० ॥

स स्थावरं जङ्गमं चैवमेत-
च्चतुर्विधं लोकमिमं च कृत्वा ।
ततो भूमिं व्यदधात् पञ्चबीजां
द्यौः पृथिव्यां धास्यति भूरि वारि ॥ ४१ ॥

इन्होंने जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त इस चराचर जगत्की सृष्टि करके चतुर्विध भूतसमुदाय और कर्म—इन पाँचोंकी बीजरूपा भूमिका निर्माण किया । ये ही आकाशस्वरूप बनकर इस पृथ्वीपर प्रचुर जलकी वर्षा करते हैं ॥ ४१ ॥

तेन विश्वं कृतमेतद्धि राजन्
स जीवयत्यात्मनैवात्मयोनिः ।
ततो देवानसुरान् मानवांश्च
लोकानृषींश्चापि पितॄन् प्रजाश्च ।
समासेन विधिवत्प्राणिलोकान्
सर्वान् सदा भूतपतिः सिसृक्षुः ॥ ४२ ॥

राजन् ! इन्होंने ही इस विश्वको उत्पन्न किया है और ये ही आत्मयोनि श्रीकृष्ण अपनी ही शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करते हैं । देवता, असुर, मनुष्य, लोक, ऋषि, पितर, प्रजा और संक्षेपतः सम्पूर्ण प्राणियोंको इन्हींसे

जीवन मिलता है। ये भगवान् भूतनाथ ही सदा विधिपूर्वक समस्त भूतोंकी सृष्टिकी इच्छा रखते हैं ॥ ४२ ॥

शुभाशुभं स्थावरं जङ्गमं च
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रतीहि।
यद् वर्तते यच्च भविष्यतीह
सर्वं ह्येतत् केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ४३ ॥

शुभ-अशुभ और स्थावर-जङ्गमरूप यह सारा जगत् श्रीकृष्णसे उत्पन्न हुआ है, इस बातपर विश्वास करो। भूत, भविष्य और वर्तमान सब श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। यह तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ४३ ॥

मृत्युश्चैव प्राणिनामन्तकाले
साक्षात् कृष्णः शाश्वतो धर्मवाहः।
भूतं च यच्चेह न विद्म किंचिद्
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ४४ ॥

प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर साक्षात् श्रीकृष्ण ही मृत्युरूप बन जाते हैं। ये धर्मके सनातन रक्षक हैं। जो बात बीत चुकी है तथा जिसका अभी कोई पता नहीं है, वे सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट होते हैं, यह निश्चितरूपसे जान लो ॥ ४४ ॥

यत् प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम्।
तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतः परम् ॥ ४५ ॥

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी उत्तम, पवित्र तथा शुभ या अशुभ वस्तु है, वह सब अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, श्रीकृष्णसे भिन्न कोई वस्तु है, ऐसा सोचना अपनी विपरीत बुद्धिका ही परिचय देना है ॥ ४५ ॥

एतादृशः केशवोऽतश्च भूयो
नारायणः परमश्चाव्ययश्च।
मध्याद्यन्तस्य जगतस्तस्थुषश्च
बुभूषतां प्रभवश्चाव्ययश्च ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी ही महिमा है। बल्कि ये इससे भी अधिक प्रभावशाली हैं। ये ही परम पुरुष अविनाशी नारायण हैं। ये ही स्थावर-जङ्गमरूप जगत्के आदि, मध्य और अन्त हैं तथा संसारमें जन्म लेनेकी इच्छावाले प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण भी ये ही हैं। इन्हींको अविकारी परमात्मा कहते हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महापुरुषमाहात्म्ये अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महापुरुषमाहात्म्यविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रद्युम्नको ब्राह्मणोंकी महिमा बताते हुए दुर्वासाके चरित्रका वर्णन करना और यह सारा प्रसंग युधिष्ठिरको सुनाना

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं त्वं मधुसूदन।
वेत्ता त्वमस्य चार्थस्य वेद त्वां हि पितामहः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन! ब्राह्मणकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है? इसका आप ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप इस विषयको अच्छी तरह जानते हैं और मेरे पितामह भी आपको इस विषयका ज्ञाता मानते हैं ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् द्विजानां भरतर्षभ।
यथा तत्त्वेन वदतो गुणान् वै कुरुसत्तम ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलतिलक भरतभूषण नरेश! मैं ब्राह्मणोंके गुणोंका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिये ॥ २ ॥

द्वारवत्यां समासीनं पुरा मां कुरुनन्दन।
प्रद्युम्नः परिपप्रच्छ ब्राह्मणैः परिकोपितः ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन! पहलेकी बात है, एक दिन ब्राह्मणोंने मेरे पुत्र प्रद्युम्नको कुपित कर दिया। उस समय मैं द्वारकामें ही था। प्रद्युम्नने मुझसे आकर पूछा—॥ ३ ॥

किं फलं ब्राह्मणेष्वस्ति पूजायां मधुसूदन।
ईश्वरत्वं कुतस्तेषामिहैव च परत्र च ॥ ४ ॥

'मधुसूदन! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल होता है? इहलोक और परलोकमें वे क्यों ईश्वरतुल्य माने जाते हैं? ॥ ४ ॥

सदा द्विजातीन् सम्पूज्य किं फलं तत्र मानद।
एतद् ब्रूहि स्फुटं सर्वं सुमहान् संशयोऽत्र मे ॥ ५ ॥

'मानद! सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करके मनुष्य क्या फल पाता है? यह सब मुझे स्पष्टरूपसे बताइये, क्योंकि इस विषयमें मुझे महान् संदेह है' ॥ ५ ॥

इत्युक्ते वचने तस्मिन् प्रद्युम्नेन तथा त्वहम्।
प्रत्यब्रुवं महाराज यत् तच्छृणु समाहितः ॥ ६ ॥
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां रौक्मिणेय निबोध मे।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ ७ ॥
अस्मिँल्लोके रौक्मिणेय तथामुष्मिंश्च पुत्रक।

महाराज ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर मैंने उसको उत्तर दिया । रुक्मिणीनन्दन ! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है, यह मैं बता रहा हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । बेटा ! ब्राह्मणोंके राजा सोम (चन्द्रमा) हैं । अतः ये इस लोक और परलोकमें भी सुख-दुःख देनेमें समर्थ होते हैं ॥ ६–७½ ॥

ब्राह्मणप्रमुखं सौम्यं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ८ ॥
ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंमें शान्तभावकी प्रधानता होती है । इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है । ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बलकी प्राप्ति होती है । समस्त लोक और लोकेश्वर ब्राह्मणोंके पूजक हैं ॥ ८-९ ॥

त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु ।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये, मोक्षकी प्राप्तिके लिये और यश, लक्ष्मी तथा आरोग्यकी उपलब्धिके लिये एवं देवता और पितरोंकी पूजाके समय हमें ब्राह्मणोंको पूर्ण संतुष्ट करना चाहिये ॥ १० ॥

तत्कथं वै नाद्रियेयमीश्वरोऽस्मीति पुत्रक ।
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान् प्रति ॥ ११ ॥

बेटा ! ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणोंका आदर कैसे नहीं करूँ ! महाबाहो ! मैं ईश्वर (सब कुछ करनेमें समर्थ) हूँ—ऐसा मानकर तुम्हें ब्राह्मणोंके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा हि महद्भूतमस्मिँल्लोके परत्र च ।
भस्म कुर्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः ॥ १२ ॥

ब्राह्मण इस लोक और परलोकमें भी महान् माने गये हैं । वे सब कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं और यदि क्रोधमें भर जायँ तो इस जगत्‌को भस्म कर सकते हैं ॥ १२ ॥

अन्यानपि सृजेयुश्च लोकाँल्लोकेश्वरांस्तथा ।
कथं तेषु न वर्तेरन् सम्यग् ज्ञानात् सुतेजसः ॥ १३ ॥

दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालोंकी वे सृष्टि कर सकते हैं । अतः तेजस्वी पुरुष ब्राह्मणोंके महत्त्वको अच्छी तरह जानकर भी उनके साथ सद्बर्ताव क्यों न करेंगे ? ॥ १३ ॥

अवसन्मद्‌गृहे तात ब्राह्मणो हरिपिङ्गलः ।
चीरवासा बिल्वदण्डी दीर्घश्मश्रुः कृशो महान् ॥ १४ ॥

तात ! पहलेकी बात है, मेरे घरमें एक हरित-पिङ्गल वर्णवाले ब्राह्मणने निवास किया था । वह चिथड़े पहिनता और बेलका डंडा हाथमें लिये रहता था । उसकी मूँछें और दाढ़ियाँ बढ़ी हुई थीं । वह देखनेमें दुबला-पतला और ऊँचे कदका था ॥ १४ ॥

दीर्घेभ्यश्च मनुष्येभ्यः प्रमाणादधिको भुवि ।
स स्वैरं चरते लोकान् ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ १५ ॥

इस भूतलपर जो बड़े-से-बड़े मनुष्य हैं, उन सबसे वह अधिक लंबा था और दिव्य तथा मानव लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करता था ॥ १५ ॥

इमां गाथां गायमानश्चत्वरेषु सभासु च ।
दुर्वाससं वासयेत् को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ॥ १६ ॥

वे ब्राह्मण देवता जिस समय यहाँ पधारे थे, उस समय धर्मशालाओंमें और चौराहोंपर यह गाथा गाते फिरते थे कि 'कौन मुझ दुर्वासा ब्राह्मणको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहरायेगा ॥ १६ ॥

रोषणः सर्वभूतानां सूक्ष्मेऽप्यपकृते कृते ।
परिभाषां च मे श्रुत्वा को नु दद्यात् प्रतिश्रयम् ॥ १७ ॥
यो मां कश्चिद् वासयीत न स मां कोपयेदिति ।

'यदि मेरा थोड़ा-सा भी अपराध बन जाय तो मैं समस्त प्राणियोंपर अत्यन्त कुपित हो उठता हूँ । मेरे इस भाषणको सुनकर कौन मेरे लिये ठहरनेका स्थान देगा ? जो कोई मुझे अपने घरमें ठहराये, वह मुझे क्रोध न दिलाये । इस बातके लिये उसे सतत सावधान रहना होगा' ॥ १७½ ॥

यस्मान्नाद्रियते कश्चित् ततोऽहं समवासयम् ॥ १८ ॥
स सम्भुङ्क्ते सहस्राणां बहूनामन्नमेकदा ।
एकदा सोऽल्पकं भुङ्क्ते न चैवैति पुनर्गृहान् ॥ १९ ॥

बेटा ! जब कोई भी उनका आदर न कर सका, तब मैंने उन्हें अपने घरमें ठहराया । वे कभी तो एक ही समय इतना अन्न भोजन कर लेते थे, जितनेसे कई हजार मनुष्य तृप्त हो सकते थे और कभी बहुत थोड़ा अन्न खाते तथा घरसे निकल जाते थे । उस दिन फिर घरको नहीं लौटते थे ॥ १८-१९ ॥

अकस्माच्च प्रहसति तथाकस्मात् प्ररोदिति ।
न चास्य वयसा तुल्यः पृथिव्यामभवत् तदा ॥ २० ॥

वे अकस्मात् जोर-जोरसे हँसने लगते और अचानक फूट-फूटकर रो पड़ते थे । उस समय इस पृथ्वीपर उनका समवयस्क कोई नहीं था ॥ २० ॥

अथ स्वावसथं गत्वा स शय्यास्तरणानि च ।
कन्याश्चालंकृता दग्ध्वा ततो व्यपगतः पुनः ॥ २१ ॥

एक दिन अपने ठहरनेके स्थानपर जाकर वहाँ बिछी हुई शय्याओं, बिछौनों और वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत हुई कन्याओंको उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया और स्वयं वहाँसे खिसक गये ॥ २१ ॥

अथ मामब्रवीद् भूयः स मुनिः संशितव्रतः ।
कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः ॥ २२ ॥

फिर तुरंत ही मेरे पास आकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि मुझसे इस प्रकार बोले—'कृष्ण ! मैं शीघ्र ही खीर खाना चाहता हूँ' ॥ २२ ॥

तदैव तु मया तस्य चित्तज्ञेन गृहे जनः ।
सर्वाण्यन्नानि पानानि भक्ष्याश्चोच्चावचास्तथा ॥ २३ ॥
भवन्तु सत्कृतानीह पूर्वमेव प्रचोदितः ।
ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम् ॥ २४ ॥

मैं उनके मनकी बात जानता था, इसलिये घरके लोगोंको पहलेसे ही आज्ञा दे दी थी कि 'सब प्रकारके उत्तम, मध्यम अन्नपान और भक्ष्य-भोज्य पदार्थ आदरपूर्वक तैयार किये जायँ ।' मेरे कथनानुसार सभी चीजें तैयार थीं ही, अतः मैंने मुनिको गरमागरम खीर निवेदन किया ॥ २३-२४ ॥

तं भुक्त्वैव स तु क्षिप्रं ततो वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह ॥ २५ ॥

उसको थोड़ा-सा ही खाकर वे तुरंत मुझसे बोले—'कृष्ण ! इस खीरको शीघ्र ही अपने सारे अङ्गोंमें पोत लो' ॥ २५ ॥

अविमृश्यैव च ततः कृतवानस्मि तत् तथा ।
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम् ॥ २६ ॥

मैंने बिना विचारे ही उनकी इस आज्ञाका पालन किया। वही जूठी खीर मैंने अपने सिरपर तथा अन्य सारे अङ्गोंमें पोत ली ॥ २६ ॥

स ददर्श तदाभ्याशे मातरं ते शुभाननाम् ।
तामपि स्मयमानां स पायसेनाभ्यलेपयम् ॥ २७ ॥

इतनेहीमें उन्होंने देखा कि तुम्हारी सुमुखी माता पास ही खड़ी-खड़ी मुसकरा रही हैं। मुनिकी आज्ञा पाकर मैंने मुसकराती हुई तुम्हारी माताके अङ्गोंमें भी खीर लपेट दी ॥ २७ ॥

मुनिः पायसदिग्धाङ्गीं रथे तूर्णमयोजयत् ।
तमारुह्य रथं चैव निर्ययौ स गृहान्मम ॥ २८ ॥

जिसके सारे अङ्गोंमें खीर लिपटी हुई थी, उस महारानी रुक्मिणीको मुनिने तुरंत रथमें जोत दिया और उसी रथपर बैठकर वे मेरे घरसे निकले ॥ २८ ॥

अग्निवर्णो ज्वलन् धीमान् स द्विजो रथधुर्यवत् ।
प्रतोदेनातुदद् बालां रुक्मिणीं मम पश्यतः ॥ २९ ॥

वे बुद्धिमान् ब्राह्मण दुर्वासा अपने तेजसे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने मेरे देखते-देखते जैसे रथके घोड़ोंपर कोड़े चलाये जाते हैं, उसी प्रकार भोली-भाली रुक्मिणीको भी चाबुकसे चोट पहुँचाना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

न च मे स्तोकमप्यासीद् दुःखमीर्ष्याकृतं तदा।
तथा स राजमार्गेण महता निर्ययौ बहिः ॥ ३० ॥

उस समय मेरे मनमें थोड़ा-सा भी ईर्ष्याजनित दुःख नहीं हुआ। इसी अवस्थामें वे महलसे बाहर आकर विशाल राजमार्गसे चलने लगे ॥ ३० ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं दाशार्हा जातमन्यवः ।
तत्राजल्पन् मिथः केचित् समाभाष्य परस्परम् ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणा एव जायेरन् नान्यो वर्णः कथंचन ।
को ह्येनं रथमास्थाय जीवेदन्यः पुमानिह ॥ ३२ ॥

यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर दशार्हवंशी यादवोंको बड़ा क्रोध हुआ। उनमेंसे कुछ लोग वहाँ आपसमें इस प्रकार बातें करने लगे—'भाइयो ! इस संसारमें ब्राह्मण ही पैदा हों, दूसरा कोई वर्ण किसी तरह पैदा न हो। अन्यथा यहाँ इन बाबाजीके सिवा और कौन पुरुष इस रथपर बैठकर जीवित रह सकता था ॥ ३१-३२ ॥

आशीविषविषं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णतरो द्विजः ।
ब्रह्माशीविषदग्धस्य नास्ति कश्चिच्चिकित्सकः ॥ ३३ ॥

'कहते हैं—विषैले साँपोंका विष बड़ा तीखा होता है, परंतु ब्राह्मण उससे भी अधिक तीक्ष्ण होता है। जो ब्राह्मणरूपी विषधर सर्पसे जलाया गया हो, उसके लिये इस संसारमें कोई चिकित्सक नहीं है' ॥ ३३ ॥

तस्मिन् व्रजति दुर्धर्षे प्रास्खलद् रुक्मिणी पथि।
तन्नामर्षयत श्रीमांस्ततस्तूर्णमचोदयत् ॥ ३४ ॥

उन दुर्धर्ष दुर्वासाके इस प्रकार रथसे यात्रा करते समय बेचारी रुक्मिणी रास्तेमें लड़खड़ाकर गिर पड़ी, परंतु श्रीमान् दुर्वासा मुनि इस बातको सहन न कर सके। उन्होंने तुरंत उसे चाबुकसे हाँकना शुरू किया ॥ ३४ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो रथात् प्रस्कन्द्य स द्विजः ।
पदातिरुत्पथेनैव प्राद्रवद् दक्षिणामुखः ॥ ३५ ॥

जब वह बारंबार लड़खड़ाने लगी, तब वे और भी कुपित हो उठे और रथसे कूदकर बिना रास्तेके ही दक्षिण दिशाकी ओर पैदल ही भागने लगे ॥ ३५ ॥

तमुत्पथेन धावन्तमन्वधावं द्विजोत्तमम् ।
तथैव पायसादिग्धः प्रसीद भगवन्निति ॥ ३६ ॥

इस प्रकार बिना रास्तेके ही दौड़ते हुए विप्रवर दुर्वासाके पीछे-पीछेमें मैं उसी तरह सारे शरीरमें खीर लपेटे दौड़ने लगा और बोला—'भगवन् ! प्रसन्न होइये' ॥ ३६ ॥

ततो विलोक्य तेजस्वी ब्राह्मणो मामुवाच ह ।
जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज ॥ ३७ ॥
न तेऽपराधमिह वै दृष्टवानस्मि सुव्रत ।
प्रीतोऽस्मि तव गोविन्द वृणु कामान् यथेप्सितान् ॥ ३८ ॥

तब वे तेजस्वी ब्राह्मण मेरी ओर देखकर बोले—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! तुमने स्वभावसे ही क्रोधको जीत लिया है। उत्तम व्रतधारी गोविन्द ! मैंने यहाँ तुम्हारा कोई भी अपराध नहीं

देखा है । अतः तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे मनोवाञ्छित कामनाएँ माँग लो ॥ ३७-३८ ॥

प्रसन्नस्य च मे तात पश्य व्युष्टिं यथाविधि ।
यावदेव मनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति ॥ ३९ ॥
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति ।

'तात ! मेरे प्रसन्न होनेका जो भावी फल है, उसे विधिपूर्वक सुनो । जबतक देवताओं और मनुष्योंका अन्नमें प्रेम रहेगा, तबतक जैसा अन्नके प्रति उनका भाव या आकर्षण होगा, वैसा ही तुम्हारे प्रति भी बना रहेगा ॥ ३९½ ॥

यावच्च पुण्या लोकेषु त्वयि कीर्तिर्भविष्यति ॥ ४० ॥
त्रिषु लोकेषु तावच्च वैशिष्ट्यं प्रतिपत्स्यसे ।
सुप्रियः सर्वलोकस्य भविष्यसि जनार्दन ॥ ४१ ॥

'तीनों लोकोंमें जबतक तुम्हारी पुण्यकीर्ति रहेगी, तबतक त्रिभुवनमें तुम प्रधान बने रहोगे । जनार्दन ! तुम सब लोगोंके परम प्रिय होओगे ॥ ४०-४१ ॥

यत्ते भिन्नं च दग्धं च यच्च किंचिद् विनाशितम् ।
सर्वं तथैव द्रष्टासि विशिष्टं वा जनार्दन ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! तुम्हारी जो-जो वस्तु मैंने तोड़ी-फोड़ी, जलायी या नष्ट कर दी है, वह सब तुम्हें पूर्ववत् या पहलेसे भी अच्छी अवस्थामें सुरक्षित दिखायी देगी ॥ ४२ ॥

यावदेतत् प्रलिप्तं ते गात्रेषु मधुसूदन ।
अतो मृत्युभयं नास्ति यावदिच्छसि चाच्युत ॥ ४३ ॥

'मधुसूदन ! तुमने अपने सारे अङ्गोंमें जहाँतक खीर लगायी है, वहाँतकके अङ्गोंमें चोट लगनेसे तुम्हें मृत्युका भय नहीं रहेगा । अच्युत ! तुम जबतक चाहोगे, यहाँ अमर बने रहोगे ॥ ४३ ॥

न तु पादतले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै ।
नैतन्मे प्रियमित्येवं स मां प्रीतोऽब्रवीत् तदा ॥ ४४ ॥
इत्युक्तोऽहं शरीरं स्वं ददर्श श्रीसमायुतम् ।

'परंतु यह खीर तुमने अपने पैरोंके तलवोंमें नहीं लगायी है । बेटा ! तुमने ऐसा क्यों किया ? तुम्हारा यह कार्य मुझे प्रिय नहीं लगा ।' इस प्रकार जब उन्होंने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा, तब मैंने अपने शरीरको अद्भुत कान्तिसे सम्पन्न देखा ॥ ४४½ ॥

रुक्मिणीं चाब्रवीत् प्रीतः सर्वस्त्रीणां वरं यशः ॥ ४५ ॥
कीर्तिं चानुत्तमां लोके समवाप्स्यसि शोभने ।
न त्वां जरा वा रोगो वा वैवर्ण्यं चापि भाविनि ॥ ४६ ॥
स्प्रक्ष्यन्ति पुण्यगन्धा च कृष्णमाराधयिष्यसि ।

फिर मुनिने रुक्मिणीसे भी प्रसन्नतापूर्वक कहा—'शोभने ! तुम सम्पूर्ण स्त्रियोंमें उत्तम यश और लोकमें सर्वोत्तम कीर्ति प्राप्त करोगी । भामिनि ! तुम्हें बुढ़ापा या रोग अथवा कान्तिहीनता आदि दोष नहीं छू सकेंगे । तुम पवित्र सुगन्धसे सुवासित होकर श्रीकृष्णकी आराधना करोगी ॥ ४५-४६½ ॥

षोडशानां सहस्राणां वधूनां केशवस्य ह ॥ ४७ ॥
वरिष्ठा च सलोक्या च केशवस्य भविष्यसि ।

'श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार रानियाँ हैं, उन सबमें तुम श्रेष्ठ और पतिके सालोक्यकी अधिकारिणी होओगी' ॥४७½॥

तव मातरमित्युक्त्वा ततो मां पुनरब्रवीत् ॥ ४८ ॥
प्रस्थितः सुमहातेजा दुर्वासाग्निरिव ज्वलन् ।
एषैव ते बुद्धिरस्तु ब्राह्मणान्प्रति केशव ॥ ४९ ॥

प्रद्युम्न ! तुम्हारी मातासे ऐसा कहकर वे अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले महातेजस्वी दुर्वासा यहाँसे प्रस्थित होते समय फिर मुझसे बोले—'केशव ! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारी सदा ऐसी ही बुद्धि बनी रहे' ॥ ४८-४९ ॥

इत्युक्त्वा स तदा पुत्र तत्रैवान्तरधीयत ।
तस्मिन्नन्तर्हिते चाहमुपांशुव्रतमाचरम् ॥५०॥
यत्किंचिद् ब्राह्मणो ब्रूयात् सर्वं कुर्यामिति प्रभो ।

प्रभावशाली पुत्र ! ऐसा कहकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये । उनके अदृश्य हो जानेपर मैंने अस्पष्ट वाणीमें धीरेसे यह व्रत लिया कि 'आजसे कोई ब्राह्मण मुझसे जो कुछ कहेगा, वह सब मैं पूर्ण करूँगा' ॥ ५०½ ॥

एतद् व्रतमहं कृत्वा मात्रा ते सह पुत्रक ॥ ५१ ॥
ततः परमहृष्टात्मा प्राविशं गृहमेव च ।

बेटा ! ऐसी प्रतिज्ञा करके परम प्रसन्नचित्त होकर मैंने तुम्हारी माताके साथ घरमें प्रवेश किया ॥ ५१½ ॥

प्रविष्टमात्रश्च गृहे सर्वं पश्यामि तन्नवम् ॥ ५२ ॥
यद् भिन्नं यच्च वै दग्धं तेन विप्रेण पुत्रक ।

पुत्र ! घरमें प्रवेश करके मैं देखता हूँ तो उन ब्राह्मणने जो कुछ तोड़-फोड़ या जला दिया था, वह सब नूतनरूपसे प्रस्तुत दिखायी दिया ॥ ५२½ ॥

ततोऽहं विस्मयं प्राप्तः सर्वं दृष्ट्वा नवं दृढम् ॥ ५३ ॥
अपूजयं च मनसा रौक्मिणेय सदा द्विजान् ।

रुक्मिणीनन्दन ! वे सारी वस्तुएँ नूतन और सुदृढ़ रूपमें उपलब्ध हैं, यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने मन-ही-मन द्विजोंकी सदा ही पूजा की ॥ ५३½ ॥

इत्यहं रौक्मिणेयस्य पृच्छतो भरतर्षभ ॥ ५४ ॥
माहात्म्यं द्विजमुख्यस्य सर्वमाख्यातवांस्तदा ।

भरतभूषण ! रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नके पूछनेपर इस तरह मैंने उनसे विप्रवर दुर्वासाका सारा माहात्म्य कहा था ॥ ५४½ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय ब्राह्मणान् सततं प्रभो ॥ ५५ ॥
पूजयस्व महाभागान् वाग्भिर्दानैश्च नित्यदा ।

प्रभो ! कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार आप भी सदा मीठे वचन बोलकर और नाना प्रकारके दान देकर महाभाग ब्राह्मणोंकी सर्वदा पूजा करते रहें ॥ ५५½ ॥

एवं व्युष्टिमहं प्राप्तो ब्राह्मणस्य प्रसादजाम् ।
यच्च मामाह भीष्मोऽयं तत्सत्यं भरतर्षभ ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार ब्राह्मणके प्रसादसे मुझे उत्तम फल प्राप्त हुआ । ये भीष्मजी मेरे विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दुर्वासोभिक्षा नाम एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दुर्वासाकी भिक्षानामक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा भगवान् शङ्करके माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दुर्वाससः प्रसादात् ते यत् तदा मधुसूदन ।
अवाप्तमिह विज्ञानं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन ! उस समय दुर्वासाके प्रसादसे इहलोकमें आपको जो विज्ञान प्राप्त हुआ, उसे विस्तारपूर्वक मुझे बताइये ॥ १ ॥

महाभाग्यं च यत् तस्य नामानि च महात्मनः ।
तत् त्वत्तो ज्ञातुमिच्छामि सर्वं मतिमतां वर ॥ २ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! उन महात्माके महान् सौभाग्यको और उनके नामोंको मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ । वह सब विस्तारपूर्वक बताइये ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

हन्त ते कीर्तयिष्यामि नमस्कृत्य कपर्दिने ।
यदवाप्तं मया राजञ्छ्रेयो यच्चार्जितं यशः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैं जटाजूटधारी भगवान् शङ्करको नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक यह बता रहा हूँ कि मैंने कौन-सा श्रेय प्राप्त किया और किस यशका उपार्जन किया ॥ ३ ॥

प्रयतः प्रातरुत्थाय यदधीये विशाम्पते ।
प्राञ्जलिः शतरुद्रीयं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हाथ जोड़कर जिस शतरुद्रियका जप एवं पाठ करता हूँ, उसे बता रहा हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

प्रजापतिस्तत् ससृजे तपसोऽन्ते महातपाः ।
शङ्करस्त्वसृजत् तात प्रजाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

तात ! महातपस्वी प्रजापतिने तपस्याके अन्तमें उस शतरुद्रियकी रचना की और शङ्करजीने समस्त चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की ॥ ५ ॥

नास्ति किंचित् परं भूतं महादेवाद् विशाम्पते ।
इह त्रिष्वपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! तीनों लोकोंमें महादेवजीसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है; क्योंकि वे समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ ६ ॥

न चैवोत्सहते स्थातुं कश्चिदग्रे महात्मनः ।
न हि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ७ ॥

उन महात्मा शङ्करके सामने कोई भी खड़ा होनेका साहस नहीं कर सकता । तीनों लोकोंमें कोई भी प्राणी उनकी समता करनेवाला नहीं है ॥ ७ ॥

गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः ।
विसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ते च पतन्ति च ॥ ८ ॥

संग्राममें जब वे कुपित होते हैं, उस समय उनकी गन्धसे भी सारे शत्रु अचेत और मृतप्राय होकर थर-थर काँपने एवं गिरने लगते हैं ॥ ८ ॥

घोरं च निनदं तस्य पर्जन्यनिनदोपमम् ।
श्रुत्वा विशीर्येद्धृदयं देवानामपि संयुगे ॥ ९ ॥

संग्राममें मेघगर्जनाके समान गम्भीर उनका घोर सिंहनाद सुनकर देवताओंका भी हृदय विदीर्ण हो सकता है ॥ ९ ॥

यांश्च घोरेण रूपेण पश्येत् क्रुद्धः पिनाकधृत् ।
न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न पन्नगाः ॥ १० ॥
कुपिते सुखमेधन्ते तस्मिन्नपि गुहागताः ।

पिनाकधारी रुद्र कुपित होकर जिन्हें भयंकररूपसे देख लें, उनके भी हृदयके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ । संसारमें भगवान् शङ्करके कुपित हो जानेपर देवता, असुर, गन्धर्व और नाग यदि भागकर गुफामें छिप जायँ तो भी सुखसे नहीं रह सकते ॥ १०½ ॥

प्रजापतेश्च दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ ॥ ११ ॥
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा ।
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं विननाद च ॥ १२ ॥

प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहे थे, उस समय उनका यज्ञ आरम्भ होनेपर कुपित हुए भगवान् शङ्करने निर्भय होकर उनके यज्ञको अपने बाणोंसे बींध डाला और धनुषसे बाण छोड़कर गम्भीर स्वरमें सिंहनाद किया ॥ ११-१२ ॥

ते न शर्म कुतः शान्तिं विषादं लेभिरे सुराः ।
विद्धे च सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे ॥ १३ ॥

इससे देवता बेचैन हो गये, फिर उन्हें शान्ति कैसे मिले। जब यज्ञ सहसा बाणोंसे बिंध गया और महेश्वर कुपित हो गये, तब बेचारे देवता विषादमें डूब गये ॥ १३ ॥

तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः ।
बभूवुरवशाः पार्थ विषेदुश्च सुरासुराः ॥ १४ ॥

पार्थ ! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे समस्त लोक व्याकुल और विवश हो उठे और सभी देवता एवं असुर विषादमें मग्न हो गये ॥ १४ ॥

आपश्चुक्षुभिरे चैव चकम्पे च वसुन्धरा ।
व्यद्रवन् गिरयश्चापि द्यौः पफाल च सर्वशः ॥ १५ ॥

समुद्र आदिका जल क्षुब्ध हो उठा, पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत पिघलने लगे और आकाश सब ओरसे फटने-सा लगा ॥ १५ ॥

अन्धेन तमसा लोकाः प्रावृता न चकाशिरे ।
प्रणष्टा ज्योतिषां भाश्च सह सूर्येण भारत ॥ १६ ॥

समस्त लोक घोर अन्धकारसे आवृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं होते थे। भारत ! ग्रहों और नक्षत्रोंका प्रकाश सूर्यके साथ ही नष्ट (अदृश्य) हो गया ॥ १६ ॥

भृशं भीतास्ततः शान्तिं चक्रुः स्वस्त्ययनानि च।
ऋषयः सर्वभूतानामात्मनश्च हितैषिणः ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंका और अपना भी हित चाहनेवाले ऋषि अत्यन्त भयभीत हो शान्ति एवं स्वस्तिवाचन आदि कर्म करने लगे ॥ १७ ॥

ततः सोऽभ्यद्रवद् देवान् रुद्रो रौद्रपराक्रमः ।
भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी रुद्र देवताओंकी ओर दौड़े। उन्होंने क्रोधपूर्वक प्रहार करके भगदेवताके नेत्र नष्ट कर दिये ॥ १८ ॥

पूषणं चाभिदुद्राव पादेन च रुषान्वितः ।
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान् वै व्यशातयत् ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने रोषमें भरकर पैदल ही पूषादेवताका पीछा किया और पुरोडाश भक्षण करनेवाले उनके दाँतोंको तोड़ डाला ॥ १९ ॥

ततः प्रणेमुर्देवास्ते वेपमानाः स्म शङ्करम् ।
पुनश्च संदधे रुद्रो दीप्तं सुनिशितं शरम् ॥२०॥

तब सब देवता काँपते हुए वहाँ भगवान् शङ्करको प्रणा[म] करने लगे। इधर रुद्रदेवने पुनः एक प्रज्वलित एवं तीख[े] बाणका संधान किया ॥ २० ॥

रुद्रस्य विक्रमं दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः ।
ततः प्रसादयामासुः शर्वं ते विबुधोत्तमाः ॥२१॥

रुद्रका पराक्रम देखकर ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देव[ता] थर्रा उठे। फिर उन श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् शिवको प्रस[न्न] किया ॥ २१ ॥

जेपुश्च शतरुद्रीयं देवाः कृत्वाञ्जलिं तदा ।
संस्तूयमानस्त्रिदशैः प्रससाद महेश्वरः ॥२२॥

उस समय देवतालोग हाथ जोड़कर शतरुद्रियका ज[प] करने लगे। देवताओंके द्वारा अपनी स्तुति की जानेप[र] महेश्वर प्रसन्न हो गये ॥ २२ ॥

रुद्रस्य भागं यज्ञे च विशिष्टं ते त्वकल्पयन् ।
भयेन त्रिदशा राजञ्छरणं च प्रपेदिरे ॥२३॥

राजन् ! देवतालोग भयके मारे भगवान् शङ्करकी शरण[ ]में गये। उन्होंने यज्ञमें रुद्रके लिये विशिष्ट भागकी कल्पना [की] (यज्ञावशिष्ट सारी सामग्री रुद्रके अधिकारमें दे दी) ॥२३॥

तेन चैव हि तुष्टेन स यज्ञः संधितोऽभवत् ।
यद् यच्चापहृतं तत्र तत्तथैवान्वजीवयत् ॥२४॥

भगवान् शङ्करके संतुष्ट होनेपर वह यज्ञ पुनः पूर्ण हुआ[।] उसमें जिस-जिस वस्तुको नष्ट किया गया था, उन सब[को] उन्होंने पुनः पूर्ववत् जीवित कर दिया ॥ २४ ॥

असुराणां पुराण्यासंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि ।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपि चापरम् ॥२५॥

पूर्वकालमें बलवान् असुरोंके तीन पुर (विमान) [थे,] जो आकाशमें विचरते रहते थे। उनमेंसे एक लोहेका, दूस[रा] चाँदीका और तीसरा सोनेका बना हुआ था ॥ २५ ॥

नाशकत् तानि मघवा जेतुं सर्वायुधैरपि ।
अथ सर्वेऽमरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः ॥२६॥

इन्द्र अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके भी उ[न] पुरोंपर विजय न पा सके। तब पीड़ित हुए समस्त देव[ता] रुद्रदेवकी शरणमें गये ॥ २६ ॥

तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः ।
रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ॥२७॥
जहि दैत्यान् सह पुरैर्लोकांस्त्रायस्व मानद ।

तदनन्तर वहाँ पधारे हुए सम्पूर्ण महामना देवताओं[ने] रुद्रदेवसे कहा—'भगवन् रुद्र ! पशुतुल्य असुर हम[ारे] समस्त कर्मोंके लिये भयङ्कर हो गये हैं और भविष्यमें [भी] ये हमें भय देते रहेंगे। अतः मानद ! हमारी प्रार्थना है[,] आप तीनों पुरोंसहित समस्त दैत्योंका नाश और लोकों[की] रक्षा करें' ॥ २७½ ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा कृत्वा विष्णुं शरोत्तमम् ॥२८॥
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुङ्खं वैवस्वतं यमम् ।
वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् ज्यां च सावित्रिमुत्तमाम् ॥२९॥
ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तेन तानि बिभेद सः ॥३०॥

उनके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और भगवान् विष्णुको उत्तम बाण, अग्निको उस बाणका शल्य, वैवस्वत यमको पङ्ख, समस्त वेदोंको धनुष, गायत्रीको उत्तम प्रत्यञ्चा और ब्रह्माको सारथि बनाकर सबको यथावत्‌रूपसे अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करके तीन पर्व और तीन शल्यवाले उस बाणके द्वारा उन तीनों पुरोंको विदीर्ण कर डाला ॥ २८–३० ॥

शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धा रुद्रेण भारत ॥३१॥

भारत ! वह बाण सूर्यके समान कान्तिमान् और प्रलयाग्निके समान तेजस्वी था । उसके द्वारा रुद्रदेवने उन तीनों पुरोंसहित वहाँके समस्त असुरोंको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ३१ ॥

तं चैवाङ्कगतं दृष्ट्वा बालं पञ्चशिखं पुनः ।
उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत् तदा ॥३२॥

फिर वे पाँच शिखावाले बालकके रूपमें प्रकट हुए और उमादेवी उन्हें अङ्कमें लेकर देवताओंसे पूछने लगीं—'पहचानो, ये कौन हैं ?' ॥ ३२ ॥

असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः ।
स वज्रं स्तम्भयामास तं बाहुं परिघोपमम् ॥३३॥

उस समय इन्द्रको बड़ी ईर्ष्या हुई । वे वज्रसे उस बालकपर प्रहार करना ही चाहते थे कि उसने परिघके समान मोटी उनकी उस बाँहको वज्रसहित स्तम्भित कर दिया ॥३३॥

न सम्बुबुधिरे चैव देवास्तं भुवनेश्वरम् ।
सप्रजापतयः सर्वे तस्मिन् मुमुहुरीश्वरे ॥३४॥

समस्त देवता और प्रजापति उन भुवनेश्वर महादेवजीको न पहचान सके । सबको उन ईश्वरके विषयमें मोह छा गया ॥ ३४ ॥

ततो ध्यात्वा च भगवान् ब्रह्मा तममितौजसम् ।
अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम् ॥३५॥

तब भगवान् ब्रह्माने ध्यान करके उन अमिततेजस्वी उमापतिको पहचान लिया और 'ये ही सबसे श्रेष्ठ देवता हैं' ऐसा जानकर उन्होंने उनकी वन्दना की ॥ ३५ ॥

ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः ।
बभूव स तदा बाहुर्बलहन्तुर्यथा पुरा ॥३६॥

तत्पश्चात् उन देवताओंने उमादेवी और भगवान् रुद्रको प्रसन्न किया । तब इन्द्रकी वह बाँह पूर्ववत् हो गयी ॥ ३६ ॥

स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्यवान् ।
द्वारवत्यां मम गृहे चिरं कालमुपावसत् ॥३७॥

वे ही पराक्रमी महादेव दुर्वासा नामक ब्राह्मण बनकर द्वारकापुरीमें मेरे घरके भीतर दीर्घकालतक टिके रहे ॥ ३७ ॥

विप्रकारान् प्रयुङ्क्ते स सुबहून् मम वेश्मनि ।
तानुदारतया चाहं चक्षमे चातिदुःसहान् ॥३८॥

उन्होंने मेरे महलमें मेरे विरुद्ध बहुत-से अपराध किये । वे सभी अत्यन्त दुःसह थे, तो भी मैंने उदारतापूर्वक क्षमा किया ॥ ३८ ॥

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित् ।
स चैवेन्द्रश्च वायुश्च सोऽश्विनौ स च विद्युतः ॥३९॥

वे ही रुद्र हैं, वे ही शिव हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही सर्वस्वरूप और सर्वविजयी हैं । वे ही इन्द्र और वायु हैं, वे ही अश्विनीकुमार और विद्युत् हैं ॥ ३९ ॥

स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ।
स कालः सोऽन्तको मृत्युः स यमो राञ्यहानि च ॥४०॥

वे ही चन्द्रमा, वे ही ईशान, वे ही सूर्य, वे ही वरुण, वे ही काल, वे ही अन्तक, वे ही मृत्यु, वे ही यम तथा वे ही रात और दिन हैं ॥ ४० ॥

मासार्धमासा ऋतवः संध्ये संवत्सरश्च सः ।
स धाता स विधाता च विश्वकर्मा स सर्ववित् ॥४१॥

मास, पक्ष, ऋतु, संध्या और संवत्सर भी वे ही हैं । वे ही धाता, विधाता, विश्वकर्मा और सर्वज्ञ हैं ॥ ४१ ॥

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव दिशोऽथ प्रदिशस्तथा ।
विश्वमूर्तिरमेयात्मा भगवान् परमद्युतिः ॥४२॥

नक्षत्र, ग्रह, दिशा, विदिशा भी वे ही हैं । वे ही विश्वरूप, अप्रमेयात्मा, षड्विध ऐश्वर्यसे युक्त एवं परम तेजस्वी हैं ॥ ४२ ॥

एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव हि ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥४३॥

उनके एक, दो, अनेक, सौ, हजार और लाखों रूप हैं ॥ ४३ ॥

ईदृशः स महादेवो भूयश्च भगवानतः ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥४४॥

भगवान् महादेव ऐसे प्रभावशाली हैं, बल्कि इससे भी बढ़कर हैं । सैकड़ों वर्षोंमें भी उनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ईश्वरप्रशंसा नाम षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ईश्वरकी प्रशंसा नामक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् शङ्करके माहात्म्यका वर्णन

वासुदेव उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो महाभाग्यं महात्मनः।
रुद्राय बहुरूपाय बहुनाम्ने निबोध मे॥१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहु युधिष्ठिर! अब मैं अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रका माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनिये॥१॥

वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम्।
एकाक्षं त्र्यम्बकं चैव विश्वरूपं शिवं तथा॥२॥

विद्वान् पुरुष इन महादेवजीको अग्नि, स्थाणु, महेश्वर, एकाक्ष, त्र्यम्बक, विश्वरूप और शिव आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं॥२॥

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः॥३॥

वेदमें उनके दो रूप बताये गये हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं। उनका एक स्वरूप तो घोर है और दूसरा शिव। इन दोनोंके भी अनेक भेद हैं॥३॥

उग्रा घोरा तनुर्यास्य सोऽग्निर्विद्युत् स भास्करः।
शिवा सौम्या च या त्वस्य धर्मस्त्वापोऽथ चन्द्रमाः॥४॥

इनकी जो घोर मूर्ति है, वह भय उपजानेवाली है। उसके अग्नि, विद्युत् और सूर्य आदि अनेक रूप हैं। इससे भिन्न जो शिव नामवाली मूर्ति है, वह परम शान्त एवं मङ्गलमयी है। उसके धर्म, जल और चन्द्रमा आदि कई रूप हैं॥४॥

आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते।
ब्रह्मचर्यं चरत्येका शिवा चास्य तनुस्तथा॥५॥
यास्य घोरतमा मूर्तिर्जगत् संहरते तथा।
ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः॥६॥

महादेवजीके आधे शरीरको अग्नि और आधेको सोम कहते हैं। उनकी शिवमूर्ति ब्रह्मचर्यका पालन करती है और जो अत्यन्त घोर मूर्ति है, वह जगत्‌का संहार करती है। उनमें महत्त्व और ईश्वरत्व होनेके कारण वे 'महेश्वर' कहलाते हैं॥५-६॥

यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान्।
मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते॥७॥

वे जो सबको दग्ध करते हैं, अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, उग्र और प्रतापी हैं, प्रलयाग्निरूपसे मांस, रक्त और मज्जाको भी अपना ग्रास बना लेते हैं; इसलिये 'रुद्र' कहलाते हैं॥७॥

देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान्।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः॥८॥

वे देवताओंमें महान् हैं, उनका विषय भी महान् है तथा वे महान् विश्वकी रक्षा करते हैं; इसलिये 'महादेव' कहलाते हैं॥८॥

धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते।
समेधयति यन्नित्यं सर्वान् वै सर्वकर्मभिः॥९॥
मनुष्याञ्शिवमन्विच्छंस्तस्मादेष शिवः स्मृतः।

अथवा उनकी जटाका रूप धूम्र वर्णका है, इसलिये उन्हें 'धूर्जटि' कहते हैं। सब प्रकारके कर्मोंद्वारा सब लोगोंकी उन्नति करते हैं और सबका कल्याण चाहते हैं; इसलिये इनका नाम 'शिव' है॥९½॥

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् नृणां स्थिरश्च यत्॥१०॥
स्थिरलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः।

ये ऊर्ध्वभागमें स्थित होकर देहधारियोंके प्राणोंका नाश करते हैं। सदा स्थिर रहते हैं और जिनका लिङ्ग-विग्रह सदा स्थिर रहता है। इसलिये ये 'स्थाणु' कहलाते हैं॥१०½॥

यदस्य बहुधा रूपं भूतं भव्यं भवत्तथा॥११॥
स्थावरं जङ्गमं चैव बहुरूपस्ततः स्मृतः।
विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन् विश्वरूपस्ततः स्मृतः॥१२॥

भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें स्थावर और जङ्गमोंके आकारमें उनके अनेक रूप प्रकट होते हैं, इसलिये वे 'बहुरूप' कहे गये हैं। समस्त देवता उनमें निवास करते हैं; इसलिये वे 'विश्वरूप' कहे गये हैं॥११-१२॥

सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा।
चक्षुषः प्रभवेत् तेजो नास्त्यन्तोऽथास्य चक्षुषाम्॥१३॥

उनके नेत्रसे तेज प्रकट होता है तथा उनके नेत्रोंका अन्त नहीं है। इसलिये वे 'सहस्राक्ष' 'आयुताक्ष' और 'सर्वतोऽक्षिमय' कहलाते हैं॥१३॥

सर्वथा यत् पशून् पाति तैश्च यद् रमते सह।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिः स्मृतः॥१४॥

वे सब प्रकारसे पशुओंका पालन करते हैं, उनके साथ रहनेमें सुख मानते हैं तथा पशुओंके अधिपति हैं। इसलिये वे 'पशुपति' कहलाते हैं॥१४॥

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदा स्थितम्।
महयत्यस्य लोकश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः॥१५॥

मनुष्य यदि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए प्रतिदिन स्थिर शिवलिङ्गकी पूजा करता है तो इससे महात्मा शङ्करको बड़ी प्रसन्नता होती है॥१५॥

विग्रहं पूजयेद् यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते॥१६॥

जो महात्मा शङ्करके श्रीविग्रह अथवा लिङ्गकी पूजा करता है, वह लिङ्गपूजक सदा बहुत बड़ी सम्पत्तिका भागी होता है ॥ १६ ॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
लिङ्गमेवार्चयन्ति स्म यत् तदूर्ध्वं समास्थितम् ॥१७॥
पूज्यमाने ततस्तस्मिन् मोदते स महेश्वरः ।
सुखं ददाति प्रीतात्मा भक्तानां भक्तवत्सलः ॥१८॥

ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ ऊर्ध्वलोकमें स्थित शिवलिङ्गकी ही पूजा करती हैं। इस प्रकार शिवलिङ्गकी पूजा होनेपर भक्तवत्सल भगवान् महेश्वर बड़े प्रसन्न होते हैं और प्रसन्नचित्त होकर वे भक्तोंको सुख देते हैं ॥१७-१८॥

एष एव श्मशानेषु देवो वसति निर्दहन् ।
यजन्ते ते जनास्तत्र वीरस्थाननिषेविणः ॥१९॥

ये ही भगवान् शङ्कर अग्निरूपसे शवको दग्ध करते हुए श्मशानभूमिमें निवास करते हैं। जो लोग वहाँ उनकी पूजा करते हैं, उन्हें वीरोंको प्राप्त होनेवाले उत्तम लोक प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

विषयस्थः शरीरेषु स मृत्युः प्राणिनामिह ।
स च वायुः शरीरेषु प्राणापानशरीरिणाम् ॥२०॥

वे प्राणियोंके शरीरोंमें रहनेवाले और उनके मृत्युरूप हैं तथा वे ही प्राण-अपान आदि वायुके रूपसे देहके भीतर निवास करते हैं ॥ २० ॥

तस्य घोराणि रूपाणि दीप्तानि च बहूनि च ।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः ॥२१॥

उनके बहुत-से भयंकर एवं उद्दीप्त रूप हैं, जिनकी जगत्‌में पूजा होती है। विद्वान् ब्राह्मण ही उन सब रूपोंको जानते हैं ॥ २१ ॥

नामधेयानि देवेषु बहून्यस्य यथार्थवत् ।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात् कर्मभिस्तथा ॥२२॥

उनकी महत्ता, व्यापकता तथा दिव्य कर्मोंके अनुसार देवताओंमें उनके बहुत-से यथार्थ नाम प्रचलित हैं ॥ २२ ॥

वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रीयमुत्तमम् ।
व्यासेनोक्तं च यच्चापि उपस्थानं महात्मनः ॥२३॥

वेदके शतरुद्रिय प्रकरणमें उनके सैकड़ों उत्तम नाम हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं। महर्षि व्यासने भी उन महात्मा शिवका उपस्थान (स्तवन) बताया है ॥ २३ ॥

प्रदाता सर्वलोकानां विश्वं चाप्युच्यते महत् ।
ज्येष्ठभूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा ऋषयोऽपरे ॥२४॥

ये सम्पूर्ण लोकोंको उनकी अभीष्ट वस्तु देनेवाले हैं। यह महान् विश्व उन्हींका स्वरूप बताया गया है। ब्राह्मण और ऋषि उन्हें सबसे ज्येष्ठ कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रथमो ह्येष देवानां मुखादग्निमजीजनत् ।
ग्रहैर्बहुविधैः प्राणान् संरुद्धानुत्सृजत्यपि ॥२५॥

वे देवताओंमें प्रधान हैं, उन्होंने अपने मुखसे अग्निको उत्पन्न किया है। वे नाना प्रकारकी ग्रह-बाधाओंसे ग्रस्त प्राणियोंको दुःखसे छुटकारा दिलाते हैं ॥ २५ ॥

विमुञ्चति न पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वित्तं कामांश्च पुष्कलान् ॥२६॥
स ददाति मनुष्येभ्यः स एवाक्षिपते पुनः ।

पुण्यात्मा और शरणागतवत्सल तो वे इतने हैं कि शरणमें आये हुए किसी प्राणीका त्याग नहीं करते। वे ही मनुष्योंको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन और सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान करते हैं और वे ही पुनः उन्हें छीन लेते हैं ॥ २६½ ॥

शक्रादिषु च देवेषु तस्यैश्वर्यमिहोच्यते ॥२७॥
स एव व्यापृतो नित्यं त्रैलोक्यस्य शुभाशुभे ।

इन्द्र आदि देवताओंके पास उन्हींका दिया हुआ ऐश्वर्य बताया जाता है। तीनों लोकोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेके लिये वे ही सदा तत्पर रहते हैं ॥ २७½ ॥

ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरः पुनरुच्यते ॥२८॥
महेश्वरश्च लोकानां महतामीश्वरश्च सः ।

समस्त कामनाओंके अधीश्वर होनेके कारण उन्हें 'ईश्वर' कहते हैं और महान् लोकोंके ईश्वर होनेके कारण उनका नाम 'महेश्वर' हुआ है ॥ २८½ ॥

बहुभिर्विविधै रूपैर्विश्वं व्याप्तमिदं जगत् ।
तस्य देवस्य यद् वक्त्रं समुद्रे वडवामुखम् ॥२९॥

उन्होंने नाना प्रकारके बहुसंख्यक रूपोंद्वारा इस सम्पूर्ण लोकको व्याप्त कर रक्खा है। उन महादेवजीका जो मुख है, वही समुद्रमें वडवानल है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महेश्वरमाहात्म्यं नाम एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महेश्वरमाहात्म्य नामक एक सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्मके विषयमें आगम-प्रमाणकी श्रेष्ठता, धर्माधर्मके फल, साधु-असाधुके लक्षण तथा शिष्टाचारका निरूपण

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति वाक्यं तु कृष्णे देवकिनन्दने ।
भीष्मं शान्तनवं भूयः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार उपदेश देनेपर युधिष्ठिरने शान्तनुनन्दन भीष्मसे पुनः प्रश्न किया— ॥ १ ॥

निर्णये वा महायुद्धे सर्वधर्मविदां वर।
प्रत्यक्षमागमो वेति किं तयोः कारणं भवेत्॥ २ ॥

'सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महाबुद्धिमान् पितामह ! धार्मिक विषयका निर्णय करनेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय लेना चाहिये या आगमका। इन दोनोंमेंसे कौन-सा प्रमाण सिद्धान्त-निर्णयमें मुख्य कारण होता है ?' ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यत्र संशयः कश्चिदिति मे वर्तते मतिः।
शृणु वक्ष्यामि ते प्राज्ञ सम्यक् त्वं मेऽनुपृच्छसि॥

भीष्मजीने कहा—बुद्धिमान् नरेश ! तुमने ठीक प्रश्न किया है। इसका उत्तर देता हूँ, सुनो। मेरा तो ऐसा विचार है कि इस विषयमें कहीं कोई संशय है ही नहीं ॥३॥

संशयः सुगमस्तत्र दुर्गमस्तस्य निर्णयः।
दृष्टं श्रुतमनन्तं हि यत्र संशयदर्शनम्॥ ४ ॥

धार्मिक विषयमें संदेह उपस्थित करना सुगम है, किंतु उसका निर्णय करना बहुत कठिन होता है। प्रत्यक्ष और आगम दोनोंका ही कोई अन्त नहीं है ! दोनोंमें ही संदेह खड़े होते हैं ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं कारणं दृष्ट्वा हैतुकाः प्राज्ञमानिनः।
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशयमेव च॥ ५ ॥

अपनेको बुद्धिमान् माननेवाले हेतुवादी तार्किक प्रत्यक्ष कारणकी ओर ही दृष्टि रखकर परोक्षवस्तुका अभाव मानते हैं। सत्य होनेपर भी उसके अस्तित्वमें संदेह करते हैं ॥ ५॥

तदयुक्तं व्यवस्यन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
अथ चेन्मन्यसे चैकं कारणं किं भवेदिति॥ ६ ॥
शक्यं दीर्घेण कालेन युक्तेनातन्द्रितेन च।
प्राणयात्रामनेकां च कल्पमानेन भारत॥ ७ ॥
तत्परेणैव नान्येन शक्यं ह्येतस्य दर्शनम्।

किंतु वे बालक हैं। अहंकारवश अपनेको पण्डित मानते हैं। अतः वे जो पूर्वोक्त निश्चय करते हैं, वह असङ्गत है। (आकाशमें नीलिमा प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी वह मिथ्या ही है, अतः केवल प्रत्यक्षके बलसे सत्यका निर्णय नहीं किया जा सकता। धर्म, ईश्वर और परलोक आदिके विषयमें शास्त्र-प्रमाण ही श्रेष्ठ है; क्योंकि अन्य प्रमाणोंकी वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती) यदि कहो कि एकमात्र ब्रह्म जगत्का कारण कैसे हो सकता है, तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य आलस्य छोड़कर दीर्घकालतक योगका अभ्यास करे और तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील बना रहे। अपने जीवनका अनेक उपायसे निर्वाह करे। इस तरह सदा यत्नशील रहनेवाला पुरुष ही इस तत्त्वका दर्शन कर सकता है, दूसरा कोई नहीं ॥ ६-७½ ॥

हेतूनामन्तमासाद्य विपुलं ज्ञानमुत्तमम्॥ ८ ॥
ज्योतिः सर्वस्य लोकस्य विपुलं प्रतिपद्यते।
न त्वेव गमनं राजन् हेतुतो गमनं तथा।
अग्राह्यमनिबद्धं च वाचा सम्परिवर्जयेत्॥ ९ ॥

जब सारे तर्क समाप्त हो जाते हैं तभी उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह ज्ञान ही सम्पूर्ण जगत्के लिये उत्तम ज्योति है। राजन्! कोरे तर्कसे जो ज्ञान होता है, वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है; अतः उसको प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये। जिसका वेदके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया हो, उस ज्ञानका परित्याग कर देना ही उचित है ॥८-९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धिर्लोकश्चागमपूर्वकः।
शिष्टाचारो बहुविधस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्रत्यक्ष प्रमाण, जो लोकमें प्रसिद्ध है; अनुमान, आगम और भाँति-भाँतिके शिष्टाचार ये बहुत-से प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इनमें कौन-सा प्रबल है, यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
संस्था यत्नैरपि कृता कालेन प्रतिभिद्यते॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जब बलवान् पुरुष दुराचारी होकर धर्मको हानि पहुँचाने लगते हैं, तब साधारण मनुष्यों-द्वारा यत्नपूर्वक की हुई रक्षाकी व्यवस्था भी कुछ समयमें भङ्ग हो जाती है ॥ ११ ॥

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूप इवावृतः।
ततस्तैर्भिद्यते वृत्तं शृणु चैव युधिष्ठिर॥ १२ ॥

फिर तो घास-फूससे ढके हुए कूएँकी भाँति अधर्म ही धर्मका चोला पहिनकर सामने आता है। युधिष्ठिर ! उस अवस्थामें वे दुराचारी मनुष्य शिष्टाचारकी मर्यादा तोड़ डालते हैं। तुम इस विषयको ध्यान देकर सुनो ॥ १२ ॥

अवृत्ता ये तु भिन्दन्ति श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मविद्वेषिणो मन्दा इत्युक्तस्तेषु संशयः॥ १३ ॥

जो आचारहीन हैं, वेद-शास्त्रोंका त्याग करनेवाले हैं, वे धर्मद्रोही मन्दबुद्धि मानव सज्जनोंद्वारा स्थापित धर्म और आचारकी मर्यादा भङ्ग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शिष्टाचार—इन तीनोंमें संदेह बताया गया है। (अतः वे अविश्वसनीय हैं) ॥ १३ ॥

अतृप्यन्तस्तु साधूनां य एवागमबुद्धयः।
परमित्येव संतुष्टास्तानुपास्स्व च पृच्छ च॥ १४ ॥
कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा लोभमोहानुसारिणौ।
धर्म इत्येव सम्बुद्धास्तानुपास्स्व च पृच्छ च॥ १५ ॥

ऐसी स्थितिमें जो साधुसङ्गके लिये नित्य उत्कण्ठित रहते हों—उससे कभी तृप्त न होते हों, जिनकी बुद्धि आगम

प्रमाणको ही श्रेष्ठ मानती हो। जो सदा संतुष्ट रहते तथा लोभ-मोहका अनुसरण करनेवाले अर्थ और कामकी उपेक्षा करके धर्मको ही उत्तम समझते हों, ऐसे महापुरुषोंकी सेवामें रहो और उनसे अपना संदेह पूछो॥ १४-१५॥

न तेषां भिद्यते वृत्तं यज्ञाः स्वाध्यायकर्म च।
आचारः कारणं चैव धर्मश्चैकस्त्रयं पुनः॥ १६॥

उन संतोंके सदाचार, यज्ञ और स्वाध्याय आदि शुभ-कर्मोंके अनुष्ठानमें कभी बाधा नहीं पड़ती। उनमें आचार, उसको बतानेवाले वेद-शास्त्र तथा धर्म—इन तीनोंकी एकता होती है॥ १६॥

युधिष्ठिर उवाच

पुनरेव हि मे बुद्धिः संशये परिमुह्यति।
अपारे मार्गमाणस्य परं तीरमपश्यतः॥ १७॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मेरी बुद्धि संशयके अपार समुद्रमें डूब रही है। मैं इसके पार जाना चाहता हूँ, किंतु ढूँढ़नेपर भी मुझे इसका कोई किनारा नहीं दिखायी देता॥ १७॥

वेदः प्रत्यक्षमाचारः प्रमाणं तत्त्रयं यदि।
पृथक्त्वं लभ्यते चैषां धर्मश्चैकस्त्रयं कथम्॥ १८॥

यदि प्रत्यक्ष, आगम और शिष्टाचार—ये तीनों ही प्रमाण हैं तो इनकी तो पृथक्-पृथक् उपलब्धि हो रही है और धर्म एक है; फिर ये तीनों कैसे धर्म हो सकते हैं?॥ १८॥

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
यद्येवं मन्यसे राजंस्त्रिधा धर्मविचारणा॥ १९॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्रबल दुरात्माओंद्वारा जिसे हानि पहुँचायी जाती है, उस धर्मका स्वरूप यदि तुम इस तरह प्रमाण भेदसे तीन प्रकारका मानते हो तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। वास्तवमें धर्म एक ही है, जिसपर तीन प्रकारसे विचार किया जाता है—तीनों प्रमाणोंद्वारा उसकी समीक्षा की जाती है॥ १९॥

एक एवेति जानीहि त्रिधा धर्मस्य दर्शनम्।
पृथक्त्वे च न मे बुद्धिस्त्रयाणामपि वै तथा॥ २०॥

यह निश्चय समझो कि धर्म एक ही है। तीनों प्रमाणों-द्वारा एक ही धर्मका दर्शन होता है। मैं यह नहीं मानता कि ये तीनों प्रमाण भिन्न-भिन्न धर्मका प्रतिपादन करते हैं॥२०॥

उक्तो मार्गस्त्रयाणां च तत्तथैव समाचर।
जिज्ञासा न तु कर्तव्या धर्मस्य परितर्कणात्॥ २१॥

उक्त तीनों प्रमाणोंके द्वारा जो धर्ममय मार्ग बताया गया है, उसीपर चलते रहो। तर्कका सहारा लेकर धर्मकी जिज्ञासा करना कदापि उचित नहीं है॥ २१॥

सदैव भरतश्रेष्ठ मा तेऽभूदत्र संशयः।
अन्धो जड इवाशङ्की यद् ब्रवीमि तदाचर॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ! मेरी इस बातमें तुम्हें कभी संदेह नहीं होना चाहिये। मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे अन्धों और गूँगोंकी तरह बिना किसी शङ्काके मानकर उसके अनुसार आचरण करो॥ २२॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः॥ २३॥

अजातशत्रो! अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान—इन चारोंका सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म है॥ २३॥

ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या पितृपैतामहोचिता।
तामन्वेहि महाबाहो धर्मस्यैते हि देशिकाः॥ २४॥

महाबाहो! तुम्हारे पिता-पितामह आदिने ब्राह्मणोंके साथ जैसा बर्ताव किया है, उसीका तुम भी अनुसरण करो; क्योंकि ब्राह्मण धर्मके उपदेशक हैं॥ २४॥

प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः।
न स प्रमाणतामर्हो विवादजननो हि सः॥ २५॥

जो मूर्ख मनुष्य प्रमाणको भी अप्रमाण बनाता है, उसकी बातको प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वह केवल विवाद करनेवाला है॥ २५॥

ब्राह्मणानेव सेवस्व सत्कृत्य बहुमन्य च।
एतेष्वेव त्विमे लोकाः कृत्स्ना इति निबोध तान्॥२६॥

तुम ब्राह्मणोंका ही विशेष आदर-सत्कार करके उनकी सेवामें लगे रहो और यह जान लो कि ये सम्पूर्ण लोक ब्राह्मणों-के ही आधारपर टिके हुए हैं॥ २६॥

युधिष्ठिर उवाच

ये च धर्ममसूयन्ते ये चैनं पर्युपासते।
ब्रवीतु मे भवानेतत् क ते गच्छन्ति तादृशाः॥ २७॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो मनुष्य धर्मकी निन्दा करते हैं और जो धर्मका आचरण करते हैं, वे किन लोकोंमें जाते हैं? आप इस विषयका वर्णन कीजिये॥ २७॥

भीष्म उवाच

रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतसः।
नरकं प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो जनाः॥ २८॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे मलिन चित्त होनेके कारण धर्मसे द्रोह करते हैं, वे नरकमें पड़ते हैं॥ २८॥

ये तु धर्मं महाराज सततं पर्युपासते।
सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः॥ २९॥

महाराज! जो सत्य और सरलतामें तत्पर होकर सदा धर्मका पालन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकका सुख भोगते हैं॥ २९॥

धर्म एव गतिस्तेषामाचार्योपासनाद् भवेत्।

देवलोकं प्रपद्यन्ते ये धर्मं पर्युपासते ॥ ३० ॥

आचार्यकी सेवा करनेसे मनुष्योंको एकमात्र धर्मका ही सहारा रहता है और जो धर्मकी उपासना करते हैं, वे देवलोकमें जाते हैं ॥ ३० ॥

मनुष्या यदि वा देवाः शरीरमुपताप्य वै ।
धर्मिणः सुखमेधन्ते लोभद्वेषविवर्जिताः ॥ ३१ ॥

मनुष्य हों या देवता, जो शरीरको कष्ट देकर भी धर्माचरणमें लगे रहते हैं तथा लोभ और द्वेषका त्याग कर देते हैं, वे सुखी होते हैं ॥ ३१ ॥

प्रथमं ब्रह्मणः पुत्रं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
धर्मिणः पर्युपासन्ते फलं पक्वमिवाशयः ॥ ३२ ॥

मनीषी पुरुष धर्मको ही ब्रह्माजीका ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं । जैसे खानेवालोंका मन पके हुए फलको अधिक पसंद करता है, उसी प्रकार धर्मनिष्ठ पुरुष धर्मकी ही उपासना करते हैं ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

असतां कीदृशं रूपं साधवः किं च कुर्वते ।
ब्रवीतु मे भवानेतत् सन्तोऽसन्तश्च कीदृशाः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! असाधु पुरुषोंका रूप कैसा होता है ? साधु पुरुष कौन-सा कर्म करते हैं ? साधु और असाधु कैसे होते हैं ? आप यह बात मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

दुराचाराश्च दुर्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः ।
साधवः शीलसम्पन्नाः शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ३४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! असाधु या दुष्ट पुरुष दुराचारी, दुर्धर्ष (उद्दण्ड) और दुर्मुख (कटुवचन बोलनेवाले) होते हैं तथा साधु पुरुष सुशील हुआ करते हैं । अब शिष्टाचारका लक्षण बताया जाता है ॥ ३४ ॥

राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च धर्मिणः ।
नोपसेवन्ति राजेन्द्र सर्गं मूत्रपुरीषयोः ॥ ३५ ॥

धर्मात्मा पुरुष सड़कपर, गौओंके बीचमें तथा खेतमें लगे हुए धान्यके भीतर मल-मूत्रका त्याग नहीं करते हैं ॥

पञ्चानामशनं दत्त्वा शेषमश्नन्ति साधवः ।
न जल्पन्ति च भुञ्जाना न निद्रान्त्यार्द्रपाणयः॥ ३६ ॥

साधुपुरुष देवता, पितर, भूत, अतिथि और कुटुम्बी—इन पाँचोंको भोजन देकर शेष अन्नका स्वयं आहार करते हैं । वे खाते समय बात-चीत नहीं करते तथा भीगे हाथ लिये शयन नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

चित्रभानुमनड्वाहं देवं गोष्ठं चतुष्पथम् ।
ब्राह्मणं धार्मिकं वृद्धं ये कुर्वन्ति प्रदक्षिणम् ॥ ३७ ॥
वृद्धानां भारतप्तानां स्त्रीणां चक्रधरस्य च ।
ब्राह्मणानां गवां राज्ञां पन्थानं ददते च ये ॥ ३८ ॥

जो लोग अग्नि, वृषभ, देवता, गोशाला, चौराहा, ब्राह्मण, धार्मिक और वृद्ध पुरुषोंको दाहिने करके चलते हैं, जो बड़े-बूढ़ों, भारसे पीड़ित हुए मनुष्यों, स्त्रियों, जमींदार, ब्राह्मण, गौ तथा राजाको सामनेसे आते देखकर जानेके लिये मार्ग दे देते हैं, वे सब साधु पुरुष हैं ॥ ३७-३८ ॥

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
तथा शरणकामानां गोप्ता स्यात् स्वागतप्रदः ॥ ३९ ॥
सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासविधिर्हि सः ॥ ४० ॥

सत्पुरुषको चाहिये कि वह सम्पूर्ण अतिथियों, सेवकों, स्वजनों तथा शरणार्थियोंका रक्षक एवं स्वागत करनेवाला बने । देवताओंने मनुष्योंके लिये सबेरे और सायंकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान किया है । बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी जाती । इस नियमका पालन करनेसे उपवासका ही फल होता है ॥ ३९-४० ॥

होमकाले यथा वह्निः कालमेव प्रतीक्षते ।
ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षते ॥ ४१ ॥

जैसे होमकालमें अग्निदेव होमकी ही प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार ऋतुकालमें स्त्री ऋतुकी ही प्रतीक्षा करती है ॥

नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्यं च तत् स्मृतम् ।
अमृतं ब्राह्मणा गाव इत्येतत् त्रयमेकतः ।
तस्माद् गोब्राह्मणं नित्यमर्चयेत यथाविधि ॥४२॥

जो ऋतुकालके सिवा और कभी स्त्रीके पास नहीं जाता, उसका वह बर्ताव ब्रह्मचर्य कहा गया है । अमृत, ब्राह्मण और गौ—ये तीनों एक स्थानसे प्रकट हुए हैं । अतः गौ तथा ब्राह्मणकी सदा विधिपूर्वक पूजा करे ॥ ४२ ॥

स्वदेशे परदेशे वाप्यतिथिं नोपवासयेत् ।
कर्म वै सफलं कृत्वा गुरूणां प्रतिपादयेत् ॥ ४३ ॥

स्वदेश या परदेशमें किसी अतिथिको भूखा न रहने दे । गुरुने जिस कामके लिये आज्ञा दी हो, उसे सफल करके उन्हें सूचित कर देना चाहिये ॥ ४३ ॥

गुरुभ्यस्त्वासनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च ।
गुरुमभ्यर्च्य वर्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ ४४ ॥

गुरुके आनेपर उन्हें प्रणाम करे और विधिवत् पूजा करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दे । गुरुकी पूजा करनेसे मनुष्यके यश, आयु और श्रीकी वृद्धि होती है ॥ ४४ ॥

वृद्धान् नाभिभवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति ।
नासीनः स्यात् स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते ॥ ४५ ॥

वृद्ध पुरुषोंका कभी तिरस्कार न करे, उन्हें किसी कामके लिये न भेजे तथा यदि वे खड़े हों तो स्वयं भी बैठा न रहे ऐसा करनेसे उस मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥४५॥

न नग्नामीक्षते नारीं न नग्नान् पुरुषानपि ।

मैथुनं सततं गुप्तमाहारं च समाचरेत् ॥ ४६ ॥

नंगी स्त्रीकी ओर न देखे, नग्न पुरुषोंकी ओर भी दृष्टिपात न करे। मैथुन और भोजन सदा एकान्त स्थानमें ही करे ॥ ४६ ॥

तीर्थानां गुरवस्तीर्थं चोक्षाणां हृदयं शुचि ।
दर्शनानां परं ज्ञानं संतोषः परमं सुखम् ॥ ४७ ॥

तीर्थोंमें सर्वोत्तम तीर्थ गुरुजन ही हैं, पवित्र वस्तुओंमें हृदय ही अधिक पवित्र है। दर्शनों (ज्ञानों) में परमार्थ-तत्त्वका ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है तथा संतोष ही सबसे उत्तम सुख है॥

सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात् पुष्कला गिरः ।
श्रुतमाप्नोति हि नरः सततं वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

सायंकाल और प्रातःकाल वृद्ध पुरुषोंकी कही हुई बातें पूरी-पूरी सुननी चाहिये। सदा वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे मनुष्यको शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ।
यच्छेद्वाङ्मनसी नित्यमिन्द्रियाणि तथैव च ॥ ४९ ॥

स्वाध्याय और भोजनके समय दाहिना हाथ उठाना चाहिये तथा मन, वाणी और इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

संस्कृतं पायसं नित्यं यवागूं कृसरं हविः ।
अष्टकाः पितृदैवत्या ग्रहाणामभिपूजनम् ॥ ५० ॥

अच्छे ढंगसे बनायी हुई खीर, हलुआ, खिचड़ी और हविष्य आदिके द्वारा देवताओं तथा पितरोंका अष्टका श्राद्ध करना चाहिये। नवग्रहोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ ५० ॥

श्मश्रुकर्मणि मङ्गल्यं क्षुतानामभिनन्दनम् ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुषामभिनन्दनम् ॥ ५१ ॥

मूँछ और दाढ़ी बनवाते समय मङ्गलसूचक शब्दोंका उच्चारण करना चाहिये। छींकनेवालेको (शतञ्जीव आदि कहकर) आशीर्वाद देना तथा रोगग्रस्त पुरुषोंका उनके दीर्घायु होनेकी शुभ कामना करते हुए अभिनन्दन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम् ।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम कभी बड़े-से-बड़े संकट पड़नेपर भी किसी श्रेष्ठ पुरुषके प्रति तुमका प्रयोग न करना। किसीको तुम कहकर पुकारना या उसका वध कर डालना—इन दोनोंमें विद्वान् पुरुष कोई अन्तर नहीं मानते ॥ ५२ ॥

अवराणां समानानां शिष्याणां च समाचरेत् ।
पापमाचक्षते नित्यं हृदयं पापकर्मिणः ॥ ५३ ॥

जो अपने बराबरके हों, अपनेसे छोटे हों अथवा शिष्य हों, उनको 'तुम' कहनेमें कोई हर्ज नहीं है। पापकर्मी पुरुषका हृदय ही उसके पापको प्रकट कर देता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानपूर्वकृतं कर्म च्छादयन्ते ह्यसाधवः ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ ५४ ॥

दुष्ट मनुष्य जान-बूझकर किये हुए पापकर्मोंको भी दूसरे-से छिपानेका प्रयत्न करते हैं; किंतु महापुरुषोंके सामने अपने किये हुए पापोंको गुप्त रखनेके कारण वे नष्ट हो जाते हैं ॥

न मां मनुष्याः पश्यन्ति न मां पश्यन्ति देवताः ।
पापेनापिहितः पापः पापमेवाभिजायते ॥ ५५ ॥

'मुझे पाप करते समय न मनुष्य देखते हैं और न देवता ही देख पाते हैं।' ऐसा सोचकर पापसे आच्छादित हुआ पापात्मा पुरुष पापयोनिमें ही जन्म लेता है ॥ ५५ ॥

यथा वार्धुषिको वृद्धिं दिनभेदे प्रतीक्षते ।
धर्मेण पिहितं पापं धर्ममेवाभिवर्धयेत् ॥ ५६ ॥

जैसे सूदखोर जितने ही दिन बीतते हैं, उतनी ही वृद्धिकी प्रतीक्षा करता है। उसी प्रकार पाप बढ़ता है, परंतु यदि उस पापको धर्मसे दबा दिया जाय तो वह धर्मकी वृद्धि करता है॥

यथा लवणमम्भोभिराप्लुतं प्रविलीयते ।
प्रायश्चित्तहतं पापं तथा सद्यः प्रणश्यति ॥ ५७ ॥

जैसे नमककी डली जलमें डालनेसे गल जाती है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त करनेसे तत्काल पापका नाश हो जाता है ॥

तस्मात् पापं न गूहेत गूह्यमानं विवर्धयेत् ।
कृत्वा तत् साधुष्वाख्येयं ते तत् प्रशमयन्त्युत ॥ ५८ ॥

इसलिये अपने पापको न छिपाये। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषोंसे कह देना चाहिये। वे उसकी शान्ति कर देते हैं ॥ ५८ ॥

आशया संचितं द्रव्यं कालेनैवोपभुज्यते ।
अन्ये चैतत् प्रपद्यन्ते वियोगे तस्य देहिनः ॥ ५९ ॥

आशासे संचित किये हुए द्रव्यका काल ही उपभोग करता है। उस मनुष्यका शरीरसे वियोग होनेपर उस धनको दूसरे लोग प्राप्त करते हैं ॥ ५९ ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि धर्ममेव समासते ॥ ६० ॥

मनीषी पुरुष धर्मको समस्त प्राणियोंका हृदय कहते हैं। अतः समस्त प्राणियोंको धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये ॥

एक एव चरेद् धर्मं न धर्मध्वजिको भवेत् ।
धर्मवाणिजका ह्येते ये धर्ममुपभुञ्जते ॥ ६१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अकेला ही धर्मका आचरण करे। धर्मध्वजी (धर्मका दिखावा करनेवाला) न बने।

जो धर्मको जीविकाका साधन बनाते हैं, उसके नामपर जीविका चलाते हैं, वे धर्मके व्यवसायी हैं ॥ ६१ ॥

अर्चेद् देवानदम्भेन सेवेतामायया गुरून् ।
निधिं निदध्यात् पारऽयं यात्रार्थं दानशब्दितम् ॥ ६२॥

दम्भका परित्याग करके देवताओंकी पूजा करे। छल-कपट छोड़कर गुरुजनोंकी सेवा करे और परलोककी यात्राके लिये दान नामक निधिका संग्रह करे अर्थात् पारलौकिक लाभके लिये मुक्तहस्त होकर दान करे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रमाणकथने द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मके प्रमाणका वर्णनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विद्या, बल और बुद्धिकी अपेक्षा भाग्यकी प्रधानता बताना और भीष्मजीद्वारा उसका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

नाभागधेयः प्राप्नोति धनं सुबलवानपि ।
भागधेयान्वितस्त्वर्थान् कृशो बालश्च विन्दति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! भाग्यहीन मनुष्य बलवान् हो तो भी उसे धन नहीं मिलता और जो भाग्यवान् है, वह बालक एवं दुर्बल होनेपर भी बहुत-सा धन प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

नालाभकाले लभते प्रयत्नेऽपि कृते सति ।
लाभकालेऽप्रयत्नेन लभते विपुलं धनम् ॥ २ ॥

जबतक धनकी प्राप्तिका समय नहीं आता तबतक विशेष यत्न करनेपर भी कुछ हाथ नहीं लगता; किंतु लाभ-का समय आनेपर मनुष्य बिना यत्नके भी बहुत बड़ी सम्पत्ति पा लेता है ॥ २ ॥

कृतयत्नाफलाश्चैव दृश्यन्ते शतशो नराः ।
अयत्नेनैधमानाश्च दृश्यन्ते बहवो जनाः ॥ ३ ॥

ऐसे सैकड़ों मनुष्य देखे जाते हैं, जो धनकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेपर भी सफल न हो सके और बहुत-से ऐसे मनुष्य भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका धन बिना यत्नके ही दिनों-दिन बढ़ रहा है ॥ ३ ॥

यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः स सर्वं फलमाप्नुयात् ।
नालभ्यं चोपलभ्येत नृणां भरतसत्तम ॥ ४ ॥

भरतभूषण ! यदि प्रयत्न करनेपर सफलता मिलनी अनिवार्य होती तो मनुष्य सारा फल प्राप्त कर लेता; किंतु जो वस्तु प्रारब्धवश मनुष्यके लिये अलभ्य है, वह उद्योग करनेपर भी नहीं मिल सकती ॥ ४ ॥

प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः ।
मार्गन्त्यायशतैरर्थानमार्गश्चापरः सुखी ॥ ५ ॥

प्रयत्न करनेवाले मनुष्य भी असफल देखे जाते हैं। कोई सैकड़ों उपाय करके धनकी खोज करता रहता है और कोई कुमार्गपर ही चलकर धनकी दृष्टिसे सुखी दिखायी देता है ॥

अकार्यमसकृत् कृत्वा दृश्यन्ते ह्यधना नराः ।
धनयुक्ताः स्वकर्मस्था दृश्यन्ते चापरेऽधनाः ॥ ६ ॥

कितने ही मनुष्य अनेक बार कुकर्म करके भी निर्धन ही देखे जाते हैं। कितने ही अपने धर्मानुकूल कर्तव्यका पालन करके धनवान् हो जाते और कोई निर्धन ही रह जाते हैं ॥ ६ ॥

अधीत्य नीतिशास्त्राणि नीतियुक्तो न दृश्यते ।
अनभिज्ञश्च साचिव्यं गमितः केन हेतुना ? ॥ ७ ॥

कोई मनुष्य नीतिशास्त्रका अध्ययन करके भी नीतियुक्त नहीं देखा जाता और कोई नीतिसे अनभिज्ञ होनेपर भी मन्त्रीके पदपर पहुँच जाता है। इसका क्या कारण है? ॥७॥

विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च धनवान् दुर्मतिस्तथा ।
यदि विद्यामुपाश्रित्य नरः सुखमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥
न विद्वान् विद्यया हीनं वृत्त्यर्थमुपसंश्रयेत् ।

कभी-कभी विद्वान् और मूर्ख दोनों एक-जैसे धनी दिखायी देते हैं। कभी खोटी बुद्धिवाले मनुष्य तो धनवान् हो जाते हैं (और अच्छी बुद्धि रखनेवाले मनुष्यको थोड़ा-सा धन भी नहीं मिलता)। यदि विद्या पढ़कर मनुष्य अवश्य ही सुख पा लेता तो विद्वान्‌को जीविकाके लिये किसी मूर्ख धनीका आश्रय नहीं लेना पड़ता ॥ ८½ ॥

यथा पिपासां जयति पुरुषः प्राप्य वै जलम् ॥ ९ ॥
दृष्टार्थो विद्यया ह्येव न विद्यां प्रजहेन्नरः ।

जिस प्रकार पानी पीनेसे मनुष्यकी प्यास अवश्य बुझ जाती है, उसी प्रकार यदि विद्यासे अभीष्ट वस्तुकी सिद्धि अनिवार्य होती तो कोई भी मनुष्य विद्याकी उपेक्षा नहीं करता।

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि ।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १० ॥

जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह सैकड़ों बाणोंसे बिंधकर भी नहीं मरता; परंतु जिसका काल आ पहुँचा है

वह तिनकेके अग्रभागसे छू जानेपर भी प्राणोंका परित्याग कर देता है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! यदि नाना प्रकारकी चेष्टा तथा अनेक उद्योग करनेपर भी मनुष्य धन न पा सके तो उसे उग्र तपस्या करनी चाहिये; क्योंकि बीज बोये बिना अङ्कुर नहीं पैदा होता ॥ ११ ॥

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया ।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि मनुष्य दान देनेसे उपभोगकी सामग्री पाता है । बड़े-बूढ़ोंकी सेवासे उसको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है और अहिंसा धर्मके पालनसे वह दीर्घजीवी होता है॥

तस्माद् दद्यान्न याचेत पूजयेद् धार्मिकानपि ।
सुभाषी प्रियकृच्छान्तः सर्वसत्त्वाविहिंसकः ॥ १३ ॥

इसलिये स्वयं दान दे, दूसरोंसे याचना न करे, धर्मात्मा पुरुषोंकी पूजा करे, उत्तम वचन बोले, सबका भला करे, शान्तभावसे रहे और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे ॥ १३॥

यदा प्रमाणं प्रसवः स्वभावश्च सुखासुखे ।
दंशकीटपिपीलानां स्थिरो भव युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! डाँस, कीड़े और चींटी आदि जीवोंको उन-उन योनियोंमें उत्पन्न करके उन्हें सुख-दुःखकी प्राप्ति करानेमें उनका अपने किये हुए कर्मानुसार बना हुआ स्वभाव ही कारण है । यह सोचकर स्थिर हो जाओ ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रशंसायां त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मकी प्रशंसाविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६३॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका शुभाशुभ कर्मोंको ही सुख-दुःखकी प्राप्तिमें कारण बताते हुए धर्मके अनुष्ठानपर जोर देना

भीष्म उवाच

कार्यते यच्च क्रियते सच्चासच्च कृताकृतम् ।
तत्राश्वसीत सत्कृत्वा असत्कृत्वा न विश्वसेत् ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! मनुष्य जो शुभ और अशुभ कर्म करता या कराता है, उन दोनों प्रकारके कर्मोंमेंसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करके उसे यह आश्वासन प्राप्त करना चाहिये कि इसका मुझे शुभ फल मिलेगा; किंतु अशुभ कर्म करनेपर उसे किसी अच्छा फल मिलनेका विश्वास नहीं करना चाहिये।

काल एव सर्वकाले निग्रहानुग्रहौ ददत् ।
बुद्धिमाविश्य भूतानां धर्माधर्मौ प्रवर्तते ॥ २ ॥

काल ही सदा निग्रह और अनुग्रह करता हुआ प्राणियोंकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो धर्म और अधर्मका फल देता रहता है॥

यदा त्वस्य भवेद् बुद्धिर्धर्मार्थस्य प्रदर्शनात् ।
तदाश्वसीत धर्मात्मा दृढबुद्धिर्न विश्वसेत् ॥ ३ ॥

जब धर्मका फल देखकर मनुष्यकी बुद्धिमें धर्मकी श्रेष्ठताका निश्चय हो जाता है, तभी उसका धर्मके प्रति विश्वास बढ़ता है और तभी उसका मन धर्ममें लगता है । जबतक धर्ममें बुद्धि दृढ़ नहीं होती तबतक कोई उसपर विश्वास नहीं करता ॥ ३ ॥

एतावन्मात्रमेतद्धि भूतानां प्राज्ञलक्षणम् ।
कालयुक्तोऽप्युभयविच्छेषं युक्तं समाचरेत् ॥ ४ ॥

प्राणियोंकी बुद्धिमत्ताकी यही पहचान है कि वे धर्मके फलमें विश्वास करके उसके आचरणमें लग जायँ । जिसे कर्तव्य-अकर्तव्य दोनोंका ज्ञान है, उस पुरुषको चाहिये कि प्रतिकूल प्रारब्धसे युक्त होकर भी यथायोग्य धर्मका ही आचरण करे ॥ ४ ॥

यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः प्रजायन्ते न राजसाः ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानं पूजयन्तीह धार्मिकाः ॥ ५ ॥

जो अतुल ऐश्वर्यके स्वामी हैं, वे यह सोचकर कि कहीं रजोगुणी होकर पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ जायँ, धर्मका अनुष्ठान करते हैं और इस प्रकार अपने ही प्रयत्नसे आत्माको महत् पदकी प्राप्ति कराते हैं ॥ ५ ॥

न ह्यधर्मतयाधर्मं दद्यात् कालः कथंचन ।
तस्माद् विशुद्धमात्मानं जानीयाद् धर्मचारिणम् ॥ ६ ॥

काल किसी तरह धर्मको अधर्म नहीं बना सकता अर्थात् धर्म करनेवालेको दुःख नहीं दे सकता । इसलिये धर्माचरण करनेवाले पुरुषको विशुद्ध आत्मा ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥

स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि ज्वलन्तमिव पावकम् ।
अधर्मः संततो धर्मं कालेन परिरक्षितम् ॥ ७ ॥

धर्मका स्वरूप प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी है, काल उसकी सब ओरसे रक्षा करता है । अतः अधर्ममें इतनी शक्ति नहीं है कि वह फैलकर धर्मको छू भी सके ॥ ७ ॥

कार्यावेतौ हि धर्मेण धर्मो हि विजयावहः ।
त्रयाणामपि लोकानामालोकः कारणं भवेत् ॥ ८ ॥

विशुद्ध और पापके स्पर्शका अभाव—ये दोनों धर्मके

कार्य हैं। धर्म विजयकी प्राप्ति करानेवाला और तीनों लोकोंमें प्रकाश फैलानेवाला है। वही इस लोककी रक्षाका कारण है॥

न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञो गृहीत्वैव करे नरम्।
उच्यमानस्तु धर्मेण धर्मलोकभयच्छले॥ ९॥

कोई कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, वह किसी मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक धर्ममें नहीं लगा सकता; किंतु न्यायानुसार धर्ममय तथा लोकभयका बहाना लेकर उस पुरुषको धर्मके लिये कह सकता है॥ ९॥

शूद्रोऽहं नाधिकारो मे चातुराश्रम्यसेवने।
इति विज्ञानमपरे नात्मन्युपदधत्युत॥ १०॥

मैं शूद्र हूँ, अतः ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमोंके सेवनका मुझे अधिकार नहीं है—शूद्र ऐसा सोचा करता है, परंतु साधु द्विजगण अपने भीतर छलको आश्रय नहीं देते हैं॥

विशेषेण च वक्ष्यामि चातुर्वर्ण्यस्य लिङ्गतः।
पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम्॥ ११॥
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम्।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः॥ १२॥

अब मैं चारों वर्णोंका विशेषरूपसे लक्षण बता रहा हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके शरीर पञ्च महाभूतोंसे ही बने हुए हैं और सबका आत्मा एक-सा ही है। फिर भी उनके लौकिक धर्म और विशेष धर्ममें विभिन्नता रक्खी गयी है। इसका उद्देश्य यही है कि सब लोग अपने-अपने धर्मका पालन करते हुए पुनः एकत्वको प्राप्त हों। इसका शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन है॥ ११-१२॥

अध्रुवो हि कथं लोकः स्मृतो धर्मः कथं ध्रुवः।
यत्र कालो ध्रुवस्तात तत्र धर्मः सनातनः॥ १३॥

तात! यदि कहो, धर्म तो नित्य माना गया है, फिर उससे स्वर्ग आदि अनित्य लोकोंकी प्राप्ति कैसे होती है और यदि होती है तो वह नित्य कैसे है? तो इसका उत्तर यह है कि जब धर्मका संकल्प नित्य होता है अर्थात् अनित्य कामनाओंका त्याग करके निष्कामभावसे धर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस समय किये हुए धर्मसे सनातन लोक (नित्य परमात्मा) की ही प्राप्ति होती है॥ १३॥

सर्वेषां तुल्यदेहानां सर्वेषां सदृशात्मनाम्।
कालो धर्मेण संयुक्तः शेष एव स्वयं गुरुः॥ १४॥

सब मनुष्योंके शरीर एक-से होते हैं और सबका आत्मा भी समान ही है; किंतु धर्मयुक्त संकल्प ही यहाँ शेष रहता है, दूसरा नहीं। वह स्वयं ही गुरु है अर्थात् धर्मबलसे स्वयं ही उदित होता है॥ १४॥

एवं सति न दोषोऽस्ति भूतानां धर्मसेवने।
तिर्यग्योनावपि सतां लोक एव मतो गुरुः॥ १५॥

ऐसी दशामें समस्त प्राणियोंके लिये पृथक्-पृथक् धर्म सेवनमें कोई दोष नहीं है। तिर्यग्योनिमें पड़े हुए पशु-पक्षी आदि योनियोंके लिये भी यह लोक ही गुरु (कर्तव्याकर्तव्य का निर्देशक) है॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रशंसायां चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नित्यस्मरणीय देवता, नदी, पर्वत, ऋषि और राजाओंके नाम-कीर्तनका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगतं भीष्मं पाण्डवोऽथ कुरूद्वहः।
युधिष्ठिरो हितं प्रेप्सुरपृच्छत् कल्मषापहम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने हितकी इच्छा रखकर बाणशय्यापर सोये हुए भीष्मजीसे यह पापनाशक विषय पूछा॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

किं श्रेयः पुरुषस्येह किं कुर्वन् सुखमेधते।
विपाप्मा स भवेत् केन किं वा कल्मषनाशनम्॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! यहाँ मनुष्यके कल्याणका उपाय क्या है? क्या करनेसे वह सुखी होता है? किस कर्मके अनुष्ठानसे उसका पाप दूर होता है? अथवा कौन-सा कर्म पाप नष्ट करनेवाला है?॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मै शुश्रूषमाणाय भूयः शान्तनवस्तदा।
दैवं वंशं यथान्यायमाचष्ट पुरुषर्षभ॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषप्रवर जनमेजय! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने सुननेकी इच्छावाले युधिष्ठिरसे पुनः न्यायपूर्वक देववंशका वर्णन आरम्भ किया॥ ३॥

भीष्म उवाच

अयं दैवतवंशो वै ऋषिवंशसमन्वितः।
त्रिसंध्यं पठितः पुत्र कल्मषापहरः परः॥ ४॥
यदह्ना कुरुते पापमिन्द्रियैः पुरुषश्चरन्।
बुद्धिपूर्वमबुद्धिर्वा रात्रौ यच्चापि संध्ययोः॥ ५॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यः कीर्तयन् वै शुचिः सदा।
नान्धो न बधिरः काले कुरुते स्वस्तिमान् सदा॥ ६॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! यदि तीनों संध्याओंके समय देववंश और ऋषिवंशका पाठ किया जाय तो मनुष्य दिन-रात, सबेरे-शाम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा जानकर या अनजानमें जो-जो पाप करता है, उन सबसे छुटकारा पा जाता है तथा वह सदा पवित्र रहता है। देवर्षिवंशका कीर्तन करनेवाला पुरुष कभी अन्धा और बहरा न होकर सदा कल्याणका भागी होता है ॥ ४—६ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेच्च नरकं संकराणि च ।
न च दुःखभयं तस्य मरणे स न मुह्यति ॥ ७ ॥

वह तिर्यग्योनि और नरकमें नहीं पड़ता, संकरयोनिमें जन्म नहीं लेता, कभी दुःखसे भयभीत नहीं होता और मृत्युके समय व्याकुल नहीं होता ॥ ७ ॥

देवासुरगुरुर्देवः सर्वभूतनमस्कृतः ।
अचिन्त्योऽथाप्यनिर्देश्यः सर्वप्राणो ह्ययोनिजः॥ ८ ॥
पितामहो जगन्नाथः सावित्री ब्रह्मणः सती ।
वेदभूरथ कर्ता च विष्णुर्नारायणः प्रभुः ॥ ९ ॥
उमापतिर्विरूपाक्षः स्कन्दः सेनापतिस्तथा ।
विशाखो हुतभुग् वायुश्चन्द्रसूर्यौ प्रभाकरौ ॥ १० ॥
शक्रः शचीपतिर्देवो यमो धूमोर्णया सह ।
वरुणः सह गौर्या च सह ऋद्ध्या धनेश्वरः ॥ ११ ॥
सौम्या गौः सुरभिर्देवी विश्रवाश्च महानृषिः ।
संकल्पः सागरो गङ्गा स्रवन्त्योऽथ मरुद्गणः ॥ १२ ॥
वालखिल्यास्तपःसिद्धाः कृष्णद्वैपायनस्तथा ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हाहाहुहूः ॥ १३ ॥
तुम्बुरुश्चित्रसेनश्च देवदूतश्च विश्रुतः ।
देवकन्या महाभागा दिव्याश्चाप्सरसां गणाः ॥ १४ ॥
उर्वशी मेनका रम्भा मिश्रकेशी ह्यलम्बुषा ।
विश्वाची च घृताची च पञ्चचूडा तिलोत्तमा ॥ १५ ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साश्विनः पितरोऽपि च ।
धर्मः श्रुतं तपो दीक्षा व्यवसायः पितामहः ॥ १६ ॥
शर्वर्यो दिवसाश्चैव मारीचः कश्यपस्तथा ।
शुक्रो बृहस्पतिर्भौमो बुधो राहुः शनैश्चरः ॥ १७ ॥
नक्षत्राण्यृतवश्चैव मासाः पक्षाः सवत्सराः ।
वैनतेयाः समुद्राश्च कद्रुजाः पन्नगास्तथा ॥ १८ ॥
शतद्रुश्च विपाशा च चन्द्रभागा सरस्वती ।
सिंधुश्च देविका चैव प्रभासं पुष्कराणि च ॥ १९ ॥
गङ्गा महानदी वेणा कावेरी नर्मदा तथा ।
कुलम्पुना विशल्या च करतोयाम्बुवाहिनी ॥ २० ॥
सरयूर्गण्डकी चैव लोहितश्च महानदः ।
ताम्रारुणा वेत्रवती पर्णाशा गौतमी तथा ॥ २१ ॥
गोदावरी च वेण्या च कृष्णवेणा तथाद्रिजा ।
दृषद्वती च कावेरी चक्षुर्मन्दाकिनी तथा ॥ २२ ॥
प्रयागं च प्रभासं च पुण्यं नैमिषमेव च ।
तच्च विश्वेश्वरस्थानं यत्र तद्विमलं सरः ॥ २३ ॥
पुण्यतीर्थं सुसलिलं कुरुक्षेत्रं प्रकीर्तितम् ।
सिंधूत्तमं तपोदानं जम्बूमार्गमथापि च ॥ २४ ॥
हिरण्वती वितस्ता च तथा प्लक्षवती नदी ।
वेदस्मृतिर्वेदवती मालवाथाश्ववत्यपि ॥ २५ ॥
भूमिभागास्तथा पुण्या गङ्गाद्वारमथापि च ।
ऋषिकुल्यास्तथा मेध्या नद्यः सिंधुवहास्तथा ॥ २६ ॥
चर्मण्वती नदी पुण्या कौशिकी यमुना तथा ।
नदी भीमरथी चैव बाहुदा च महानदी ॥ २७ ॥
माहेन्द्रवाणी त्रिदिवा नीलिका च सरस्वती ।
नन्दा चापरनन्दा च तथा तीर्थमहाह्रदः ॥ २८ ॥
गयाथ फल्गुतीर्थं च धर्मारण्यं सुरैर्वृतम् ।
तथा देवनदी पुण्या सरश्च ब्रह्मनिर्मितम् ॥ २९ ॥
पुण्यं त्रिलोकविख्यातं सर्वपापहरं शिवम् ।
हिमवान् पर्वतश्चैव दिव्यौषधिसमन्वितः ॥ ३० ॥
विन्ध्यो धातुविचित्राङ्गस्तीर्थवानौषधान्वितः ।
मेरुर्महेन्द्रो मलयः श्वेतश्च रजतावृतः ॥ ३१ ॥
शृङ्गवान् मन्दरो नीलो निषधो दर्दुरस्तथा ।
चित्रकूटोऽञ्जनाभश्च पर्वतो गन्धमादनः ॥ ३२ ॥
पुण्यः सोमगिरिश्चैव तथैवान्ये महीधराः ।
दिशश्च विदिशश्चैव क्षितिः सर्वे महीरुहाः ॥ ३३ ॥
विश्वेदेवा नभश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पान्तु नः सततं देवाः कीर्तिताऽकीर्तिता मया ॥ ३४ ॥

(देवता और ऋषि आदिके वंशकी नामावली इस प्रकार है—) सर्वभूतनमस्कृत, देवासुरगुरु, अचिन्त्य, अनिर्देश्य सबके प्राणस्वरूप और अयोनिज (स्वयम्भू) जगदीश्वर पितामह भगवान् ब्रह्माजी, उनकी पत्नी सती सावित्री देवी, वेदोंके उत्पत्तिस्थान जगत्कर्ता भगवान् नारायण, तीन नेत्रोंवाले उमापति महादेव, देवसेनापति स्कन्द, विशाख, अग्नि, वायु, प्रकाश फैलानेवाले चन्द्रमा और सूर्य, शचीपति इन्द्र, यमराज, उनकी पत्नी धूमोर्णा, अपनी पत्नी गौरीके साथ वरुण, ऋद्धिसहित कुबेर, सौम्य स्वभाववाली देवी सुरभी गौ, महर्षि विश्रवा, संकल्प, सागर, गङ्गा आदि नदियाँ, मरुद्गण, तपःसिद्ध वालखिल्य ऋषि, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, चित्रसेन, विख्यात देवदूत, महासौभाग्यशालिनी देवकन्याएँ, दिव्य अप्सराओंके समुदाय, उर्वशी, मेनका, रम्भा, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, विश्वाची, घृताची, पञ्चचूडा और तिलोत्तमा आदि दिव्य अप्सराएँ, बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, अश्विनीकुमार, पितर, धर्म, शास्त्रज्ञान, तपस्या, दीक्षा, व्यवसाय, पितामह, रात, दिन, मरीचिनन्दन कश्यप, शुक्र, बृहस्पति, मङ्गल, बुध, राहु, शनैश्चर, नक्षत्र, ऋतु, मास, पक्ष, संवत्सर, विनताके पुत्र गरुड, समुद्र, कद्रूके पुत्र सर्पगण,

शतद्रु, विपाशा, चन्द्रभागा, सरस्वती, सिन्धु, देविका,प्रभास, पुष्कर, गङ्गा, महानदी, वेणा, कावेरी, नर्मदा, कुलम्पुना, विशल्या, करतोया, अम्बुवाहिनी, सरयू, गण्डकी, लाल जल-वाला महानद शोणभद्र, ताम्रा, अरुणा, वेत्रवती, पर्णाशा, गौतमी, गोदावरी, वेण्या, कृष्णवेणा, अद्रिजा, दृषद्वती, कावेरी,चक्षु,मन्दाकिनी, प्रयाग, प्रभास,पुण्यमय नैमिषारण्य, जहाँ विश्वेश्वरका स्थान है वह विमल सरोवर, स्वच्छ सलिल-से युक्त पुण्यतीर्थ कुरुक्षेत्र, उत्तम समुद्र, तपस्या, दान, जम्बूमार्ग, हिरण्वती,वितस्ता,प्लक्षवतीनदी,वेदस्मृति वेदवती, मालवा, अश्ववती, पवित्र भूभाग, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), ऋषिकुल्या, समुद्रगामिनी पवित्र नदियाँ, पुण्यसलिला चर्म-ण्वती नदी, कौशिकी, यमुना, भीमरथी, महानदी बाहुदा, माहेन्द्रवाणी, त्रिदिवा, नीलिका, सरस्वती, नन्दा, अपरनन्दा, तीर्थभूत महान् ह्रद, गया, फल्गुतीर्थ, देवताओंसे युक्त धर्मारण्य, पवित्र देवनदी, तीनों लोकोंमें विख्यात, पवित्र एवं सर्वपापनाशक कल्याणमय ब्रह्मनिर्मित सरोवर (पुष्करतीर्थ), दिव्य ओषधियोंसे युक्त हिमवान् पर्वत,नाना प्रकारकेधातुओं, तीर्थों, औषधोंसे सुशोभित विन्ध्यगिरि, मेरु, महेन्द्र, मलय, चाँदीकी खानोंसे युक्त श्वेतगिरि, शृंगवान्, मन्दर, नील, निषध, दर्दुर, चित्रकूट, अजनाभ, गन्धमादन पर्वत, पवित्र सोमगिरि तथा अन्यान्य पर्वत, दिशा, विदिशा, भूमि, सभी वृक्ष, विश्वेदेव, आकाश, नक्षत्र और ग्रहगण—ये सदा हमारी रक्षा करें तथा जिनके नाम लिये गये हैं और जिनके नहीं लिये गये हैं, वे सम्पूर्ण देवता हमलोगोंकी रक्षा करते रहें ॥ ८—३४ ॥

कीर्तयानो नरो ह्येतान् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
स्तुवंश्च प्रतिनन्दंश्च मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ३५ ॥
सर्वसंकरपापेभ्यो देवतास्तवनन्दकः ।

जो मनुष्य उपर्युक्त देवता आदिका कीर्तन, स्तवन और अभिनन्दन करता है, वह सब प्रकारके पाप और भयसे मुक्त हो जाता है । देवताओंकी स्तुति और अभिनन्दन करनेवाला पुरुष सब प्रकारके संकर पापोंसे छूट जाता है ॥ ३५½ ॥

देवतानन्तरं विप्रांस्तपःसिद्धांस्तपोऽधिकान् ॥ ३६ ॥
कीर्तितान् कीर्तयिष्यामि सर्वपापप्रमोचनान् ।

देवताओंके अनन्तर समस्त पापोंसे मुक्त करनेवाले तपस्यामें बढ़े-चढ़े तपःसिद्ध ब्रह्मर्षियोंके प्रख्यात नाम बतलाता हूँ ॥ ३६½ ॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च कक्षीवानौशिजस्तथा ॥ ३७ ॥
भृग्वङ्गिरास्तथा कण्वो मेधातिथिरथ प्रभुः ।
बर्ही च गुणसम्पन्नः प्राचीं दिशमुपाश्रिताः ॥ ३८ ॥

यवक्रीत, रैभ्य, कक्षीवान्, औशिज, भृगु, अङ्गिरा, कण्व, प्रभावशाली मेधातिथि और सर्वगुणसम्पन्न बर्हि—ये पूर्व दिशामें रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

भद्रां दिशं महाभागा उल्मुचुः प्रमुचुस्तथा ।
मुमुचुश्च महाभागः स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ॥ ३९ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
दृढायुश्चोर्ध्वबाहुश्च विश्रुतावृषिसत्तमौ ॥ ४० ॥
पश्चिमां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान् ।
उषङ्गुः सह सोदर्यैः परिव्याधश्च वीर्यवान् ॥ ४१ ॥
ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव गौतमः काश्यपस्तथा ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महानृषिः ॥ ४२ ॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा तथा सारस्वतः प्रभुः ।

उल्मुचु, प्रमुचु, महाभाग मुमुचु, शक्तिशाली स्वस्त्यात्रेय, मित्रावरुणके पुत्र महाप्रतापी अगस्त्य और प[रम] प्रसिद्ध ऋषिश्रेष्ठ दृढायु तथा ऊर्ध्वबाहु—ये महाभाग दक्षिण दिशामें निवास करते हैं । अब जो पश्चिम दिशामें रहकर सदा अभ्युदयशील होते हैं, उन ऋषियोंके नाम सुनो—अपने सहोदर भाइयोंसहित उषङ्गु, शक्तिशाली परिव्याध, दीर्घतमा, ऋषि गौतम, काश्यप, एकत, द्वित, महर्षि त्रित, अत्रिके धर्मात्मा पुत्र दुर्वासा और प्रभावशाली सारस्वत ॥ ३९—४२½ ॥

उत्तरां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान् ॥ ४३ ॥
अत्रिर्वसिष्ठः शक्तिश्च पाराशर्यश्च वीर्यवान् ।
विश्वामित्रो भरद्वाजो जमदग्निस्तथैव च ॥ ४४ ॥
ऋचीकपुत्रो रामश्च ऋषिरौद्दालकिस्तथा ।
श्वेतकेतुः कोहलश्च विपुलो देवलस्तथा ॥ ४५ ॥
देवशर्मा च धौम्यश्च हस्तिकाश्यप एव च ।
लोमशो नाचिकेतश्च लोमहर्षण एव च ॥ ४६ ॥
ऋषिरुग्रश्रवाश्चैव भार्गवश्च्यवनस्तथा ।

अब जो उत्तर दिशाका आश्रय लेकर अपनी उन्न[ति] करते हैं, उनके नाम सुनो—अत्रि, वसिष्ठ, शक्ति, पराश[र]-नन्दन शक्तिशाली व्यास, विश्वामित्र, भरद्वाज, ऋचीक[पुत्र] जमदग्नि, परशुराम, उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु, कोहल, विपु[ल], देवल, देवशर्मा, धौम्य, हस्तिकाश्यप, लोमश, नाचिके[त], लोमहर्षण, उग्रश्रवा ऋषि और भृगुनन्दन च्यवन ।

एष वै समवायश्च ऋषिदेवसमन्वितः ॥ ४७ ॥
आद्यः प्रकीर्तितो राजन् सर्वपापप्रमोचनः ।

राजन्! यह आदिमें होनेवाले देवता और ऋषियोंका मु[ख्य] समुदाय अपने नामका कीर्तन करनेपर मनुष्यको सब पापों[से] मुक्त करता है ॥ ४७½ ॥

नृगो ययातिर्नहुषो यदुः पूरुश्च वीर्यवान् ॥ ४८ ॥
धुन्धुमारो दिलीपश्च सगरश्च प्रतापवान् ।
कृशाश्वो यौवनाश्वश्च चित्राश्वः सत्यवांस्तथा ॥ ४९ ॥
दुष्यन्तो भरतश्चैव चक्रवर्ती महायशाः ।

पवनो जनकश्चैव तथा दृष्टरथो नृपः ॥ ५० ॥
रघुर्नरवरश्चैव तथा दशरथो नृपः ।
रामो राक्षसहा वीरः शशबिन्दुर्भगीरथः ॥ ५१ ॥
हरिश्चन्द्रो मरुत्तश्च तथा दृढरथो नृपः ।
महोदर्यो ह्यलर्कश्च ऐलश्चैव नराधिपः ॥ ५२ ॥
करन्धमो नरश्रेष्ठः कध्मोरश्च नराधिपः ।
दक्षोऽम्बरीषः कुकुरो रैवतश्च महायशाः ॥ ५३ ॥
कुरुः संवरणश्चैव मान्धाता सत्यविक्रमः ।
मुचुकुन्दश्च राजर्षिर्जह्नुर्जाह्नविसेवितः ॥ ५४ ॥
आदिराजः पृथुर्वैन्यो मित्रभानुः प्रियङ्करः ।
त्रसद्दस्युस्तथा राजा श्वेतो राजर्षिसत्तमः ॥ ५५ ॥
महाभिषश्च विख्यातो निमिराजा तथाष्टकः ।
आयुः क्षुपश्च राजर्षिः कक्षेयुश्च नराधिपः ॥ ५६ ॥
प्रतर्दनो दिवोदासः सुदासः कोसलेश्वरः ।
ऐलो नलश्च राजर्षिर्मनुश्चैव प्रजापतिः ॥ ५७ ॥
हविध्रश्च पृषध्रश्च प्रतीपः शान्तनुस्तथा ।
अजः प्राचीनबर्हिश्च तथेक्ष्वाकुर्महायशाः ॥ ५८ ॥
अनरण्यो नरपतिर्जानुजंघस्तथैव च ।
कक्षसेनश्च राजर्षिर्ये चान्ये चानुकीर्तिताः ॥ ५९ ॥
कल्यमुत्थाय यो नित्यं संध्ये द्वेऽस्तमयोदये ।
पठेच्छुचिरनावृत्तः स धर्मफलभाग् भवेत् ॥ ६० ॥

अब राजर्षियोंके नाम सुनो—राजा नृग, ययाति, नहुष, यदु, शक्तिशाली पूरु, धुन्धुमार, दिलीप, प्रतापी सगर, कृशाश्व, यौवनाश्व, चित्राश्व, सत्यवान्, दुष्यन्त, महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरत, पवन, जनक, राजा दृष्टरथ, नरश्रेष्ठ रघु, राजा दशरथ, राक्षसहन्ता वीरवर श्रीराम, शशबिन्दु, भगीरथ, हरिश्चन्द्र, मरुत्त, राजा दृढरथ, महोदर्य, अलर्क, नराधिप ऐल (पुरूरवा), नरश्रेष्ठ करन्धम, राजा कध्मोर, दक्ष, अम्बरीष, कुकुर, महायशस्वी रैवत, कुरु, संवरण, सत्यपराक्रमी मान्धाता, राजर्षि मुचुकुन्द, गङ्गाजीसे सेवित राजा जह्नु, आदि राजा वेननन्दन पृथु, सबका प्रिय करनेवाले मित्रभानु, राजा त्रसद्दस्यु, राजर्षिश्रेष्ठ श्वेत, प्रसिद्ध राजा महाभिष, राजा निमि, अष्टक, आयु, राजर्षि क्षुप, राजा कक्षेयु, प्रतर्दन, दिवोदास, कोसलनरेश सुदास, पुरूरवा, राजर्षि नल, प्रजापति मनु, हविध्र, पृषध्र, प्रतीप, शान्तनु, अज, प्राचीनबर्हि, महायशस्वी इक्ष्वाकु, राजा अनरण्य, जानुजङ्घ, राजर्षि कक्षसेन तथा इनके अतिरिक्त पुराणोंमें जिनका अनेकों बार वर्णन हुआ है, वे सब पुण्यात्मा राजा स्मरण करने योग्य हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर स्नान आदिसे शुद्ध हो प्रातःकाल और सायंकाल इन नामोंका पाठ करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है॥ ४८—६०॥

देवा देवर्षयश्चैव स्तुता राजर्षयस्तथा ।
पुष्टिमायुर्यशः स्वर्गं विधास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६१ ॥

देवता, देवर्षि और राजर्षि—इनकी स्तुति की जानेपर ये मुझे पुष्टि, आयु, यश और स्वर्ग प्रदान करेंगे; क्योंकि ये ईश्वर (सर्वसमर्थ स्वामी) हैं ॥ ६१ ॥

मा विघ्नं मा च मे पापं मा च मे परिपन्थिनः ।
ध्रुवो जयो मे नित्यः स्यात् परत्र च शुभा गतिः॥ ६२ ॥

इनके स्मरणसे मुझपर किसी विघ्नका आक्रमण न हो, मुझसे पाप न बने । मेरे ऊपर चोरों और बटमारोंका जोर न चले । मुझे इस लोकमें सदा चिरस्थायी जय प्राप्त हो और परलोकमें भी शुभ गति मिले ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि वंशानुकीर्तनं नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवता आदिके वंशका वर्णननामक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी अनुमति पाकर युधिष्ठिरका सपरिवार हस्तिनापुरको प्रस्थान

जनमेजय उवाच

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
शयाने वीरशयने पाण्डवैः समुपस्थिते ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाप्राज्ञो मम पूर्वपितामहः ।
धर्माणामागमं श्रुत्वा विदित्वा सर्वसंशयान् ॥ २ ॥
दानानां च विधिं श्रुत्वा च्छिन्नधर्मार्थसंशयः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! कुरुकुलके धुरन्धर वीर भीष्मजी जब वीरोंके सोने योग्य बाणशय्यापर सो गये और पाण्डवलोग उनकी सेवामें उपस्थित रहने लगे, तब मेरे पूर्व पितामह महाज्ञानी राजा युधिष्ठिरने उनके मुखसे धर्मोंका उपदेश सुनकर अपने समस्त संशयोंका समाधान जान लेनेके पश्चात् दानकी विधि श्रवण करके धर्म और अर्थविषयक सारे संदेह दूर हो जानेपर जो और कोई कार्य किया हो, उसे मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १–३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभून्मुहूर्तं स्तिमितं सर्वं तद्राजमण्डलम् ।
तूष्णींभूते ततस्तस्मिन् पटे चित्रमिवार्पितम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा— जनमेजय ! सब धर्मोंका उपदेश करनेके पश्चात् जब भीष्मजी चुप हो गये, तब दो घड़ीतक सारा राजमण्डल पटपर अङ्कित किये हुए चित्रके समान स्तब्ध-सा हो गया ॥ ४ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवतीसुतः ।
नृपं शयानं गाङ्गेयमिदमाह वचस्तदा ॥ ५ ॥

तब दो घड़ीतक ध्यान करनेके पश्चात् सत्यवतीनन्दन व्यासने वहाँ सोये हुए गङ्गानन्दन महाराजा भीष्मजीसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

राजन् प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ॥ ६ ॥
उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता ।
तमिमं पुरयानाय समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! अब कुरुराज युधिष्ठिर प्रकृतिस्थ (शान्त और संदेहरहित) हो चुके हैं और अपना अनुसरण करनेवाले समस्त भाइयों, राजाओं तथा बुद्धिमान् श्रीकृष्णके साथ आपकी सेवामें बैठे हैं । अब आप इन्हें हस्तिनापुरमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ॥ ६-७ ॥

एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः ।
युधिष्ठिरं सहामात्यमनुजज्ञे नदीसुतः ॥ ८ ॥

भगवान् व्यासके ऐसा कहनेपर पृथ्वीपालक गङ्गापुत्र भीष्मने मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिरको जानेकी आज्ञा दी॥

उवाच चैनं मधुरं नृपं शान्तनवो नृपः ।
प्रविशस्व पुरीं राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ९ ॥

उस समय शान्तनुकुमार भीष्मने मधुर वाणीमें राजासे इस प्रकार कहा—'राजन् ! अब तुम पुरीमें प्रवेश करो और तुम्हारे मनकी सारी चिन्ता दूर हो जाय ॥ ९ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्तदक्षिणैः ।
ययातिरिव राजेन्द्र श्रद्धादमपुरःसरः ॥ १० ॥

'राजेन्द्र ! तुम राजा ययातिकी भाँति श्रद्धा और इन्द्रिय-संयमपूर्वक बहुत-से अन्न और पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा यजन करो ॥ १० ॥

क्षत्रधर्मरतः पार्थ पितॄन् देवांश्च तर्पय ।
श्रेयसा योक्ष्यसे चैव व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'पार्थ ! क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहकर देवताओं और पितरोंको तृप्त करो । तुम अवश्य कल्याणके भागी होओगे; अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ११ ॥

रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय ।
सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः ॥ १२ ॥

'समस्त प्रजाओंको प्रसन्न रखो । मन्त्री आदि प्रकृतियोंको सान्त्वना दो । सुहृदोंका फल और सत्कारोंद्वारा यथायोग्य सम्मान करते रहो ॥ १२ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा ।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ॥ १३ ॥

'तात ! जैसे मन्दिरके आसपासके फले हुए वृक्षपर बहुत से पक्षी आकर बसेरे लेते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र और हितैषी तुम्हारे आश्रयमें रहकर जीवन-निर्वाह करें ॥ १३ ॥

आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव ।
विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥ १४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जब सूर्यनारायण दक्षिणायनसे निवृत्त हो उत्तरायणपर आ जायँ, उस समय तुम फिर हमारे पास आना' ॥ १४ ॥

तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहम् ।
प्रययौ सपरीवारो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १५ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पितामहको प्रणाम करके परिवारसहित हस्तिनापुरकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च पतिव्रताम् ।
सह तैर्ऋषिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः केशवेन च ॥ १६ ॥
पौरजानपदैश्चैव मन्त्रिवृद्धैश्च पार्थिव ।
प्रविवेश कुरुश्रेष्ठः पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १७ ॥

राजन् ! उन कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने राजा धृतराष्ट्र और पतिव्रता गान्धारी देवीको आगे करके समस्त ऋषियों, भाइयों, श्रीकृष्ण, नगर और जनपदके लोगों तथा बड़े-बूढ़े मन्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भीष्मानुज्ञायां षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भीष्मकी अनुमतिविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

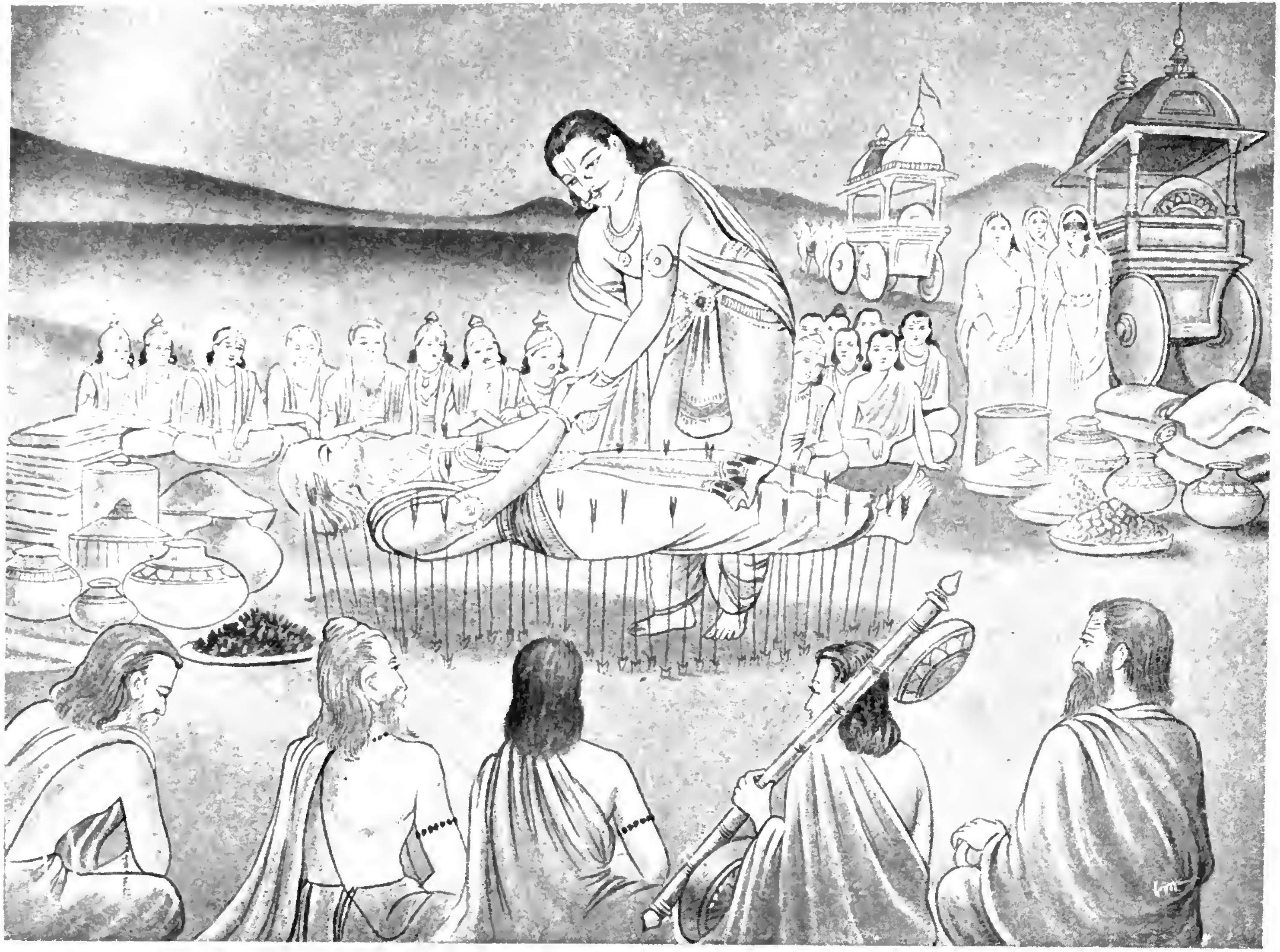

शर-शय्यापर पड़े भीष्मकी युधिष्ठिरसे बातचीत

(भीष्मस्वर्गारोहणपर्व)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके अन्त्येष्टि-संस्कारकी सामग्री लेकर युधिष्ठिर आदिका उनके पास जाना और भीष्मका श्रीकृष्ण आदिसे देहत्यागकी अनुमति लेते हुए धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरको कर्तव्यका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा पौरजानपदं जनम्।
पूजयित्वा यथान्यायमनुजज्ञे गृहान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! हस्तिनापुरमें जानेके बाद कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरने नगर और जनपदके लोगोंका यथोचित सम्मान करके उन्हें अपने-अपने घर जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सान्त्वयामास नारीश्च हतवीरा हतेश्वराः।
विपुलैरर्थदानैः स तदा पाण्डुसुतो नृपः ॥ २ ॥

इसके बाद जिन स्त्रियोंके पति और वीर पुत्र युद्धमें मारे गये थे, उन सबको बहुत-सा धन देकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने धैर्य बँधाया ॥ २ ॥

सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः।
अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तथा ॥ ३ ॥
द्विजेभ्यो गुणमुख्येभ्यो नैगमेभ्यश्च सर्वशः।
प्रतिगृह्याशिषो मुख्यास्तथा धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥

महाज्ञानी और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने राज्याभिषेक हो जानेके पश्चात् अपना राज्य पाकर मन्त्री आदि समस्त प्रकृतियोंको अपने-अपने पदपर स्थापित करके वेदवेत्ता एवं गुणवान् ब्राह्मणोंसे उत्तम आशीर्वाद ग्रहण किया ॥ ३-४ ॥

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥

पचास राततक उस उत्तम नगरमें निवास करके श्रीमान् पुरुषप्रवर युधिष्ठिरको कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजीके बताये हुए समयका स्मरण हो आया ॥ ५ ॥

स निर्ययौ गजपुराद् याजकैः परिवारितः।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ॥ ६ ॥

उन्होंने यह देखकर कि सूर्यदेव दक्षिणायनसे निवृत्त हो गये और उत्तरायणपर आ गये, याजकोंसे घिरकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

घृतं माल्यं च गन्धांश्च क्षौमाणि च युधिष्ठिरः।
चन्दनागुरुमुख्यानि तथा कालीयकान्यपि ॥ ७ ॥
प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्मसंस्करणाय वै।
माल्यानि च वरार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भीष्मजीका दाह-संस्कार करनेके लिये पहले ही घृत, माल्य, गन्ध, रेशमी वस्त्र, चन्दन, अगुरु, काला चन्दन, श्रेष्ठ पुरुषके धारण करने योग्य मालाएँ तथा नाना प्रकारके रत्न भेज दिये थे ॥ ७-८ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम्।
मातरं च पृथां धीमान् भ्रातॄंश्च पुरुषर्षभान् ॥ ९ ॥
जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता।
युयुत्सुना च कौरव्यो युयुधानेन वा विभो ॥ १० ॥

विभो! कुरुकुलनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र, यशस्विनी गान्धारी देवी, माता कुन्ती तथा पुरुषप्रवर भाइयोंको आगे करके पीछेसे भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् विदुर, युयुत्सु तथा सात्यकिको साथ लिये चल रहे थे ॥

महता राजभोगेन पारिबर्हेण संवृतः।
स्तूयमानो महातेजा भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ॥ ११ ॥

वे महातेजस्वी नरेश विशाल राजोचित उपकरण तथा वैभवके भारी ठाट-बाटसे सम्पन्न थे, उनकी स्तुति की जा रही थी और वे भीष्मजीके द्वारा स्थापित की हुई त्रिविध अग्नियोंको आगे रखकर स्वयं पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ११ ॥

निश्चक्राम पुरात् तस्माद् यथा देवपतिस्तथा।
आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपः ॥ १२ ॥

वे देवराज इन्द्रकी भाँति अपनी राजधानीसे बाहर निकले और यथासमय कुरुक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ १२ ॥

उपास्यमानं व्यासेन पाराशर्येण धीमता।
नारदेन च राजर्षे देवलेनासितेन च ॥ १३ ॥

राजर्षे! उस समय वहाँ पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यास, देवर्षि नारद और असित देवल ऋषि उनके पास बैठे थे ॥

हतशिष्टैर्नृपैश्चान्यैर्नानादेशसमागतैः।
रक्षिभिश्च महात्मानं रक्ष्यमाणं समन्ततः ॥ १४ ॥

नाना देशोंसे आये हुए नरेश, जो मरनेसे बच गये थे, रक्षक बनकर चारों ओरसे महात्मा भीष्मकी रक्षा करते थे ॥

शयानं वीरशयने ददर्श नृपतिस्ततः।
ततो रथादवातीर्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ॥ १५ ॥

धर्मराज राजा युधिष्ठिर दूरसे ही बाणशय्यापर सोये हुए भीष्मजीको देखकर भाइयोंसहित रथसे उतर पड़े ॥ १५ ॥

अभिवाद्याथ कौन्तेयः पितामहमरिंदम।
द्वैपायनादीन् विप्रांश्च तैश्च प्रत्यभिनन्दितः ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश! कुन्तीकुमारने सबसे पहले पितामहको प्रणाम किया। उसके बाद व्यास आदि ब्राह्मणोंको मस्तक झुकाया। फिर उन सबने भी उनका अभिनन्दन किया ॥

ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च भ्रातृभिः सह धर्मजः ।
आसाद्य शरतल्पस्थमृषिभिः परिवारितम् ॥ १७ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सह कौरव्यः शयानं निम्नगासुतम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर कुरुनन्दनके धर्मपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ऋत्विजों, भाइयों तथा ऋषियोंसे घिरे और बाण-शय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ गङ्गापुत्र भीष्मजीसे भाइयों-सहित इस प्रकार बोले—॥ १७-१८ ॥

युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत ।
शृणोषि चेन्महाबाहो ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १९ ॥

'गङ्गानन्दन ! नरेश्वर ! महाबाहो ! मैं युधिष्ठिर आपकी सेवामें उपस्थित हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ। यदि आपको मेरी बात सुनायी देती हो तो आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १९ ॥

प्राप्तोऽस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ।
आचार्यान् ब्राह्मणांश्चैव ऋत्विजो भ्रातरश्च मे ॥ २० ॥

'राजन् ! प्रभो ! आपकी अग्नियों और आचार्यों, ब्राह्मणों तथा ऋत्विजोंको साथ लेकर मैं अपने भाइयोंके साथ ठीक समयपर आ पहुँचा हूँ ॥ २० ॥

पुत्रश्च ते महातेजा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
उपस्थितः सहामात्यो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥

'आपके पुत्र महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र भी अपने मन्त्रियों-के साथ उपस्थित हैं और महापराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण भी यहाँ पधारे हुए हैं ॥ २१ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः सर्वे च कुरुजांगलाः ।
तान् पश्य नरशार्दूल समुन्मीलय लोचने ॥ २२ ॥

'पुरुषसिंह ! युद्धमें मरनेसे बचे हुए समस्त राजा और कुरुजाङ्गल देशकी प्रजा भी उपस्थित है। आप आँखें खोलिये और इन सबको देखिये ॥ २२ ॥

यच्चेह किंचित् कर्तव्यं तत्सर्वं प्रापितं मया ।
यथोक्तं भवता काले सर्वमेव च तत् कृतम् ॥ २३ ॥

'आपके कथनानुसार इस समयके लिये जो कुछ संग्रह करना आवश्यक था, वह सब जुटाकर मैंने यहाँ पहुँचा दिया है। सभी उपयोगी वस्तुओंका प्रबन्ध कर लिया गया है' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
ददर्श भारतान् सर्वान् स्थितान् सम्परिवार्य ह ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर गङ्गानन्दन भीष्मजीने आँखें खोलकर अपनेको सब ओरसे घेरकर खड़े हुए सम्पूर्ण भरतवंशियोंको देखा ॥ २४ ॥

ततश्च तं बली भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।
उद्यन्मेघस्वरो वाग्मी काले वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

फिर प्रवचनकुशल बलवान् भीष्मने युधिष्ठिरकी विशाल भुजा हाथमें लेकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें यह समयोचित वचन कहा—॥ २५ ॥

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर ।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥ २६ ॥

'कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! सौभाग्यकी बात है कि तुम मन्त्रियोंसहित यहाँ आ गये। सहस्र किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अब दक्षिणायनसे उत्तरायणकी ओर लौट चुके हैं ॥ २६ ॥

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥ २७ ॥

'इन तीखे अग्रभागवाले बाणोंकी शय्यापर शयन करते हुए आज मुझे अट्ठावन दिन हो गये; किंतु ये दिन मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं ॥ २७ ॥

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर ।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥२८॥

'युधिष्ठिर ! इस समय चान्द्रमासके अनुसार माघका महीना प्राप्त हुआ है। इसका यह शुक्लपक्ष चल रहा है, जिसका एक भाग बीत चुका है और तीन भाग बाकी है (शुक्लपक्षसे मासका आरम्भ माननेपर आज माघ शुक्ला अष्टमी प्रतीत होती है)' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
धृतराष्ट्रमथामन्त्र्य काले वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर गङ्गानन्दन भीष्मने धृतराष्ट्रको पुकारकर उनसे यह समयोचित वचन कहा ॥

भीष्म उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि सुनिर्णीतार्थसंशयः ।
बहुश्रुता हि ते विप्रा बहवः पर्युपासिताः ॥ ३० ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! तुम धर्मको अच्छी तरह जानते हो। तुमने अर्थतत्त्वका भी भलीभाँति निर्णय कर लिया है। अब तुम्हारे मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है; क्योंकि तुमने अनेक शास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाले बहुत-से विद्वान् ब्राह्मणोंकी सेवा की है—उनके सत्सङ्गसे लाभ उठाया है ॥ ३० ॥

वेदशास्त्राणि सर्वाणि धर्मांश्च मनुजेश्वर ।
वेदांश्च चतुरः सर्वान् निखिलेनानुबुद्ध्यसे ॥ ३१ ॥

मनुजेश्वर ! तुम चारों वेदों, सम्पूर्ण शास्त्रों और धर्मों-का रहस्य पूर्णरूपसे जानते और समझते हो ॥ ३१ ॥

न शोचितव्यं कौरव्य भवितव्यं हि तत् तथा ।
श्रुतं देवरहस्यं ते कृष्णद्वैपायनादपि ॥ ३२ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो कुछ हुआ है, वह अवश्यम्भावी था। तुमने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीसे देवताओंका रहस्य भी सुन लिया है (उसीके

अनुसार महाभारतयुद्धकी सारी घटनाएँ हुई हैं)॥ ३२ ॥

यथा पाण्डोः सुता राजंस्तथैव तव धर्मतः।
तान् पालय स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतान् ॥ ३३ ॥

ये पाण्डव जैसे राजा पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही धर्मकी दृष्टिसे तुम्हारे भी हैं। ये सदा गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहते हैं। तुम धर्ममें स्थित रहकर अपने पुत्रोंके समान ही इनका पालन करना ॥ ३३ ॥

धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव।
आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलम् ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरका हृदय बहुत ही शुद्ध है। ये सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहेंगे। मैं जानता हूँ, इनका स्वभाव बहुत ही कोमल है और ये गुरुजनोंके प्रति बड़ी भक्ति रखते हैं ॥ ३४ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः क्रोधलोभपरायणाः।
ईर्ष्याभिभूता दुर्वृत्तास्तान् न शोचितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पुत्र बड़े दुरात्मा, क्रोधी, लोभी, ईर्ष्याके वशीभूत तथा दुराचारी थे। अतः उनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
वासुदेवं महाबाहुमभ्यभाषत कौरवः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मनीषी धृतराष्ट्रसे ऐसा वचन कहकर कुरुवंशी भीष्मने महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

भगवन् देवदेवेश सुरासुरनमस्कृत।
त्रिविक्रम नमस्तुभ्यं शङ्खचक्रगदाधर ॥ ३७ ॥

भीष्मजी बोले—भगवन्! देवदेवेश्वर! देवता और असुर सभी आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। अपने तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापनेवाले तथा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले नारायणदेव! आपको नमस्कार है ॥ ३७ ॥

वासुदेवो हिरण्यात्मा पुरुषः सविता विराट्।
जीवभूतोऽनुरूपस्त्वं परमात्मा सनातनः ॥ ३८ ॥

आप वासुदेव, हिरण्यात्मा, पुरुष, सविता, विराट्, अनुरूप, जीवात्मा और सनातन परमात्मा हैं ॥ ३८ ॥

त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम नित्यशः।
अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ३९ ॥

कमलनयन श्रीकृष्ण! पुरुषोत्तम! वैकुण्ठ! आप सदा मेरा उद्धार करें। अब मुझे जानेकी आज्ञा दें ॥ ३९ ॥

रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान् येषां परायणम्।
उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं तदा ॥ ४० ॥
'यतः कृष्णस्ततो धर्मो' यतो धर्मस्ततो जयः।
वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ॥ ४१ ॥
संधानस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः।
न च मे तद् वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः ॥ ४२ ॥

प्रभो! आप ही जिनके परम आश्रय हैं, उन पाण्डवोंकी सदा आपको रक्षा करनी चाहिये। मैंने दुर्बुद्धि एवं मन्द दुर्योधनसे कहा था कि 'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी जय होगी; इसलिये बेटा दुर्योधन! तुम भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लो। यह सन्धिके लिये बहुत उत्तम अवसर आया है।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी उस मन्दबुद्धि मूढ़ने मेरी वह बात नहीं मानी और सारी पृथ्वीके वीरोंका नाश कराकर अन्तमें वह स्वयं भी कालके गालमें चला गया ॥

त्वां तु जानाम्यहं देवं पुराणमृषिसत्तमम्।
नरेण सहितं देव बदर्यां सुचिरोषितम् ॥ ४३ ॥

देव! मैं आपको जानता हूँ। आप वे ही पुरातन ऋषि नारायण हैं, जो नरके साथ चिरकालतक बदरिकाश्रममें निवास करते रहे हैं ॥ ४३ ॥

तथा मे नारदः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः।
नरनारायणावेतौ सम्भूतौ मनुजेष्विति ॥ ४४ ॥

देवर्षि नारद तथा महातपस्वी व्यासजीने भी मुझसे कहा था कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् भगवान् नारायण और नर हैं, जो मानव-शरीरमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४४ ॥

स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम्।
त्वयाहं समनुज्ञातो गच्छेयं परमां गतिम् ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण! अब आप आज्ञा दीजिये, मैं इस शरीरका परित्याग करूँगा। आपकी आज्ञा मिलनेपर मुझे परम गतिकी प्राप्ति होगी ॥ ४५ ॥

वासुदेव उवाच

अनुजानामि भीष्म त्वां वसून् प्राप्नुहि पार्थिव।
न तेऽस्ति वृजिनं किंचिदिहलोके महाद्युते ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पृथ्वीपालक महातेजस्वी भीष्मजी! मैं आपको (सहर्ष) आज्ञा देता हूँ। आप वसुलोकको जाइये। इस लोकमें आपके द्वारा अणुमात्र भी पाप नहीं हुआ है ॥ ४६ ॥

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः।
तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः ॥ ४७ ॥

राजर्षे! आप दूसरे मार्कण्डेयके समान पितृभक्त हैं; इसलिये मृत्यु विनीत दासीके समान आपके वशमें हो गयी है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः पाण्डवानिदमब्रवीत्।

धृतराष्ट्रमुखांश्चापि सर्वांश्च सुहृदस्तथा ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्‌के ऐसा कहनेपर गङ्गानन्दन भीष्मने पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदोंसे कहा—॥ ४८ ॥

प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि तत्रानुज्ञातुमर्हथ ।
सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥ ४९ ॥

'अब मैं प्राणोंका परित्याग करना चाहता हूँ। तुम सब लोग इसके लिये मुझे आज्ञा दो। तुम्हें सदा सत्य धर्मके पालनका प्रयत्न करते रहना चाहिये; क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा बल है ॥ ४९ ॥

आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः ।
ब्रह्मण्यैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारताः ॥ ५० ॥

'भरतवंशियो ! तुमलोगोंको सबके साथ कोमलताका बर्ताव करना, सदा अपने मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना तथा ब्राह्मणभक्त, धर्मनिष्ठ एवं तपस्वी होना चाहिये' ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् सम्परिष्वज्य चैव ह ।
पुनरेवाब्रवीद् धीमान् युधिष्ठिरमिदं वचः ॥५१॥
ब्राह्मणाश्चैव ते नित्यं प्राज्ञाश्चैव विशेषतः ।
आचार्या ऋत्विजश्चैव पूजनीया जनाधिप ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर बुद्धिमान् भीष्मजीने अपने सब सुहृदोंको गले लगाया और युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—'युधिष्ठिर ! तुम्हें सामान्यतः सभी ब्राह्मणोंकी विशेषतः विद्वानोंकी और आचार्य तथा ऋत्विजोंकी सदा ही पूजा करनी चाहिये' ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि भीष्मस्वर्गारोहणपर्वणि दानधर्मे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत भीष्मस्वर्गारोहणपर्वमें दानधर्मविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६८॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीका प्राणत्याग, धृतराष्ट्र आदिके द्वारा उनका दाह-संस्कार, कौरवोंका गङ्गाके जलसे भीष्मको जलाञ्जलि देना, गङ्गाजीका प्रकट होकर पुत्रके लिये शोक करना और श्रीकृष्णका उन्हें समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
तूष्णीं बभूव कौरव्यः स मुहूर्तमरिंदम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! समस्त कौरवोंसे ऐसा कहकर कुरुश्रेष्ठ शान्तनुनन्दन भीष्मजी दो घड़ीतक चुपचाप पड़े रहे ॥ १ ॥

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम् ।
तस्योर्ध्वमगमन् प्राणाः संनिरुद्धा महात्मनः ॥ २ ॥

तदनन्तर वे मनसहित प्राणवायुको क्रमशः भिन्न-भिन्न धारणाओंमें स्थापित करने लगे। इस तरह यौगिक क्रिया द्वारा रोके हुए महात्मा भीष्मजीके प्राण क्रमशः ऊपर चढ़ने लगे ॥ २ ॥

इदमाश्चर्यमासीच्च मध्ये तेषां महात्मनाम् ।
सहितैः ऋषिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिः प्रभो ॥३॥
यद्यन्मुञ्चति गात्रं हि स शान्तनुसुतस्तदा ।
तत् तद् विशल्यं भवति योगयुक्तस्य तस्य वै ॥ ४ ॥

प्रभो ! उस समय वहाँ एकत्र हुए सभी संत-महात्माओंके बीच एक बड़े आश्चर्यकी घटना घटी। व्यास आदि सब महर्षियोंने देखा कि योगयुक्त हुए शान्तनुनन्दन भीष्मके प्राण उनके जिस-जिस अङ्गको त्यागकर ऊपर उठते थे, उस-उस अङ्गके बाण अपने आप निकल जाते और उनका घाव भर जाता था ॥ ३-४ ॥

क्षणेन प्रेक्षतां तेषां विशल्यः सोऽभवत् तदा ।
तद् दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ५ ॥
सह तैर्मुनिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिर्नृप ।

नरेश्वर ! इस प्रकार सबके देखते-देखते भीष्मजीका शरीर क्षणभरमें बाणोंसे रहित हो गया। यह देखकर व्यास आदि समस्त मुनियोंसहित भगवान् श्रीकृष्ण आदिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५½ ॥

संनिरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च ॥ ६ ॥
जगाम भित्त्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ।

भीष्मजीने अपने देहके सभी द्वारोंको बंद करके प्राणोंको सब ओरसे रोक लिया था; इसलिये वह उनका मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) फोड़कर आकाशमें चला गया ॥ ६½ ॥

देवदुन्दुभिनादश्च पुष्पवर्षैः सहाभवत् ॥ ७ ॥
सिद्धा ब्रह्मर्षयश्चैव साधु साध्विति हर्षिताः ।

उस समय देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और साथ ही दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। सिद्धों तथा ब्रह्मर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। वे भीष्मजीको साधुवाद देने लगे ॥७½ ॥

महोल्केव च भीष्मस्य मूर्धदेशाज्जनाधिप ॥ ८ ॥
निःसृत्याकाशमाविश्य क्षणेनान्तरधीयत ।

जनेश्वर ! भीष्मजीका प्राण उनके ब्रह्मरन्ध्रसे निकलकर बड़ी भारी उल्काकी भाँति आकाशमें उड़ा और क्षणभरमें अन्तर्धान हो गया ॥ ८½ ॥

एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा ॥ ९ ॥
समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भरतवंशका भार वहन करनेवाले शान्तनुनन्दन राजा भीष्म कालके अधीन हुए ॥ ९½ ॥

ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान् बहून् ॥ १० ॥
चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ।
युयुत्सुश्चापि कौरव्य प्रेक्षकास्त्वितरेऽभवन् ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर बहुत-से काष्ठ और नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्य लेकर महात्मा पाण्डव, विदुर और युयुत्सुने चिता तैयार की और शेष सब लोग अलग खड़े होकर देखते रहे ॥ १०-११ ॥

युधिष्ठिरश्च गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः ।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिर और परम बुद्धिमान् विदुर इन दोनोंने रेशमी वस्त्रों और मालाओंसे कुरुनन्दन गङ्गापुत्र भीष्मको आच्छादित किया और चितापर सुलाया ॥ १२ ॥

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम् ।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ॥ १३ ॥

उस समय युयुत्सुने उनके ऊपर उत्तम छत्र लगाया और भीमसेन तथा अर्जुन श्वेत चँवर एवं व्यजन डुलाने लगे ॥ १३ ॥

उष्णीषे परिगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभौ तथा ।
स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ॥ १४ ॥
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वशः ।

माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने पगड़ी हाथमें लेकर भीष्मजीके मस्तकपर रखी । कौरवराजके रनिवासकी स्त्रियाँ ताड़के पंखे हाथमें लेकर कुरुकुलधुरन्धर भीष्मजीके शवको सब ओरसे हवा करने लगीं ॥ १४½ ॥

ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः ॥ १५ ॥
यजनं बहुशश्चाग्नौ जगुः सामानि सामगाः ।
ततश्चन्दनकाष्ठैश्च तथा कालीयकैरपि ॥ १६ ॥
कालागुरुप्रभृतिभिर्गन्धैश्चोच्चावचैस्तथा ।
समवच्छाद्य गाङ्गेयं सम्प्रज्वाल्य हुताशनम् ॥ १७ ॥
अपसव्यमकुर्वन्त धृतराष्ट्रमुखाश्चिताम् ।

तदनन्तर पाण्डवोंने विधिपूर्वक महात्मा भीष्मका पितृमेध कर्म सम्पन्न किया । अग्निमें बहुत-सी आहुतियाँ दी गयीं । साम-गान करनेवाले ब्राह्मण साममन्त्रोंका गान करने लगे तथा धृतराष्ट्र आदिने चन्दनकी लकड़ी, कालीचन्दन और सुगन्धित वस्तुओंसे भीष्मके शरीरको आच्छादित करके उनकी चितामें आग लगा दी । फिर धृतराष्ट्र आदि सब कौरवोंने इस जलती हुई चिताकी प्रदक्षिणा की ॥ १५—१७½ ॥

संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः ॥ १८ ॥
जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरूद्वहाः ।
अनुगम्यमाना व्यासेन नारदेनासितेन च ॥ १९ ॥
कृष्णेन भरतस्त्रीभिर्ये च पौराः समागताः ।
उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ २० ॥
विधिवत् क्षत्रियश्रेष्ठाः स च सर्वो जनस्तदा ।

इस प्रकार कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीका दाहसंस्कार करके समस्त कौरव अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर ऋषि-मुनियोंसे सेवित परम पवित्र भागीरथीके तटपर गये । उनके साथ महर्षि व्यास, देवर्षि नारद, असितदेवल, भगवान् श्रीकृष्ण तथा नगरनिवासी मनुष्य भी पधारे थे । वहाँ पहुँचकर उन क्षत्रियशिरोमणियों और अन्य सब लोगोंने विधिपूर्वक महात्मा भीष्मको जलाञ्जलि दी ॥ १८—२०½ ॥

ततो भागीरथी देवी तनयस्योदके कृते ॥ २१ ॥
उत्थाय सलिलात् तस्माद् रुदती शोकविह्वला ।
परिदेवयती तत्र कौरवानभ्यभाषत ॥ २२ ॥
निबोधत यथावृत्तमुच्यमानं मयानघाः ।
राजवृत्तेन सम्पन्नः प्रज्ञयाभिजनेन च ॥ २३ ॥

उस समय कौरवोंद्वारा अपने पुत्र भीष्मको जलाञ्जलि देनेका कार्य पूरा हो जानेपर भगवती भागीरथी जलके ऊपर प्रकट हुई और शोकसे विह्वल हो रोदन एवं विलाप करती हुई कौरवोंसे कहने लगी—'निष्पाप पुत्रगण ! मैं जो कहती हूँ, उस बातको यथार्थरूपसे सुनो । भीष्म राजोचित सदाचार-से सम्पन्न थे । वे उत्तम बुद्धि और श्रेष्ठ कुलसे सम्पन्न थे ॥ २१—२३ ॥

सत्कर्ता कुरुवृद्धानां पितृभक्तो महाव्रतः ।
जामदग्न्येन रामेण यः पुरा न पराजितः ॥ २४ ॥
दिव्यैरस्त्रैर्महावीर्यः स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

'महान् व्रतधारी भीष्म कुरुकुलवृद्ध पुरुषोंके सत्कार करनेवाले और अपने पिताके बड़े भक्त थे । हाय ! पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुराम भी अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा जिस मेरे महापराक्रमी पुत्रको पराजित न कर सके, वह इस समय शिखण्डीके हाथसे मारा गया । यह कितने कष्टकी बात है ॥ २४½ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम पार्थिवाः ॥ २५ ॥
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं यन्न दीर्यति मेऽद्य वै ।

'राजाओ ! अवश्य ही मेरा हृदय पत्थर और लोहेका बना हुआ है, तभी तो अपने प्रिय पुत्रको जीवित न देखकर भी आज यह फट नहीं जाता है ॥ २५½ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां स्वयंवरे ॥ २६ ॥
विजित्यैकरथेनैव कन्याश्चार्यं जहार ह ।

'काशीपुरीके स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय एकत्र हुए थे, किंतु भीष्मने एकमात्र रथकी ही सहायतासे उन सबको जीतकर काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था ॥ २६½ ॥

यस्य नास्ति बले तुल्यः पृथिव्यामपि कश्चन ॥ २७ ॥
हतं शिखण्डिना श्रुत्वा न विदीर्येत यन्मनः ।

'हाय ! इस पृथ्वीपर बलमें जिसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, उसीको शिखण्डीके हाथसे मारा गया सुनकर आज मेरी छाती क्यों नहीं फट जाती ॥ २७½ ॥

जामदग्न्यः कुरुक्षेत्रे युधि येन महात्मना ॥ २८ ॥
पीडितो नातियत्नेन स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

'जिस महामना वीरने जमदग्निनन्दन परशुरामको कुरुक्षेत्रके युद्धमें अनायास ही पीड़ित कर दिया था, वही शिखण्डीके हाथसे मारा गया, यह कितने दुःखकी बात है' ॥ २८½ ॥

एवंविधं बहु तदा विलपन्तीं महानदीम् ॥ २९ ॥
आश्वासयामास तदा गङ्गां दामोदरो विभुः ।

ऐसी बातें कहकर जब महानदी गङ्गाजी बहुत विलाप करने लगीं, तब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ २९½ ॥

समाश्वसिहि भद्रे त्वं मा शुचः शुभदर्शने ॥ ३० ॥
गतः स परमं लोकं तव पुत्रो न संशयः ।

'भद्रे ! धैर्य धारण करो। शुभदर्शने ! शोक न करो। तुम्हारे पुत्र मीष्म अत्यन्त उत्तम लोकमें गये हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३०½ ॥

वसुरेष महातेजाः शापदोषेण शोभने ॥ ३१ ॥
मानुषत्वमनुप्राप्तो नैनं शोचितुमर्हसि ।

'शोभने ! ये महातेजस्वी वसु थे, वसिष्ठजीके शाप-दोषसे इन्हें मनुष्ययोनिमें आना पड़ा था। अतः इनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

स एष क्षत्रधर्मेण अयुध्यत रणाजिरे ॥ ३२ ॥
धनंजयेन निहतो नैष देवि शिखण्डिना ।

'देवि ! इन्होंने समराङ्गणमें क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध किया था। ये अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं, शिखण्डीके हाथसे नहीं ॥ ३२½ ॥

भीष्मं हि कुरुशार्दूलमुद्यतेषुं महारणे ॥ ३३ ॥
न शक्तः संयुगे हन्तुं साक्षादपि शतक्रतुः ।
स्वच्छन्दतस्तव सुतो गतः स्वर्गं शुभानने ॥ ३४ ॥

'शुभानने ! तुम्हारे पुत्र कुरुश्रेष्ठ भीष्म जब हाथमें धनुष-बाण लिये रहते, उस समय साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें मार नहीं सकते थे। ये तो अपनी इच्छासे ही शरीर त्यागकर स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३३-३४ ॥

न शक्ता विनिहन्तुं हि रणे तं सर्वदेवताः ।
तस्मान्मा त्वं सरिच्छ्रेष्ठे शोचस्व कुरुनन्दनम् ।
वसूनेष गतो देवि पुत्रस्ते विज्वरा भव ॥ ३५ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ देवि ! सम्पूर्ण देवता मिलकर भी युद्धमें उन्हें मारनेकी शक्ति नहीं रखते थे। इसलिये तुम कुरुनन्दन भीष्मजीके लिये शोक मत करो। ये तुम्हारे पुत्र भीष्म वसुओंके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। अतः इनके लिये चिन्तारहित हो जाओ' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सा तु कृष्णेन व्यासेन तु सरिद्वरा ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज स्वं वार्यवततार ह ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! जब भगवान् श्रीकृष्ण और व्यासजीने इस प्रकार समझाया, तब नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी शोक त्यागकर अपने जलमें उतर गयीं ॥ ३६ ॥

सत्कृत्य ते तां सरितं ततः कृष्णमुखा नृप ।
अनुज्ञातास्तया सर्वे न्यवर्तन्त जनाधिपाः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्ण आदि सब नरेश गङ्गाजीका सत्कार करके उनकी आज्ञा ले वहाँसे लौट आये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामनुशासनपर्वणि भीष्मस्वर्गारोहणपर्वणि दानधर्मे भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे भीष्ममुक्तिर्नामाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत शतसाहस्री संहितामें अनुशासनपर्वके अन्तर्गत भीष्मस्वर्गारोहणपर्वमें दानधर्म तथा भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें भीष्मजीकी मुक्तिनामक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

अनुशासनपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल यो
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	७३५८॥	(३५०॥)	४८१॥।=	७८४०।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१९५४	(१२)	१६॥	१९७०

अनुशासनपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—९८१०॥।

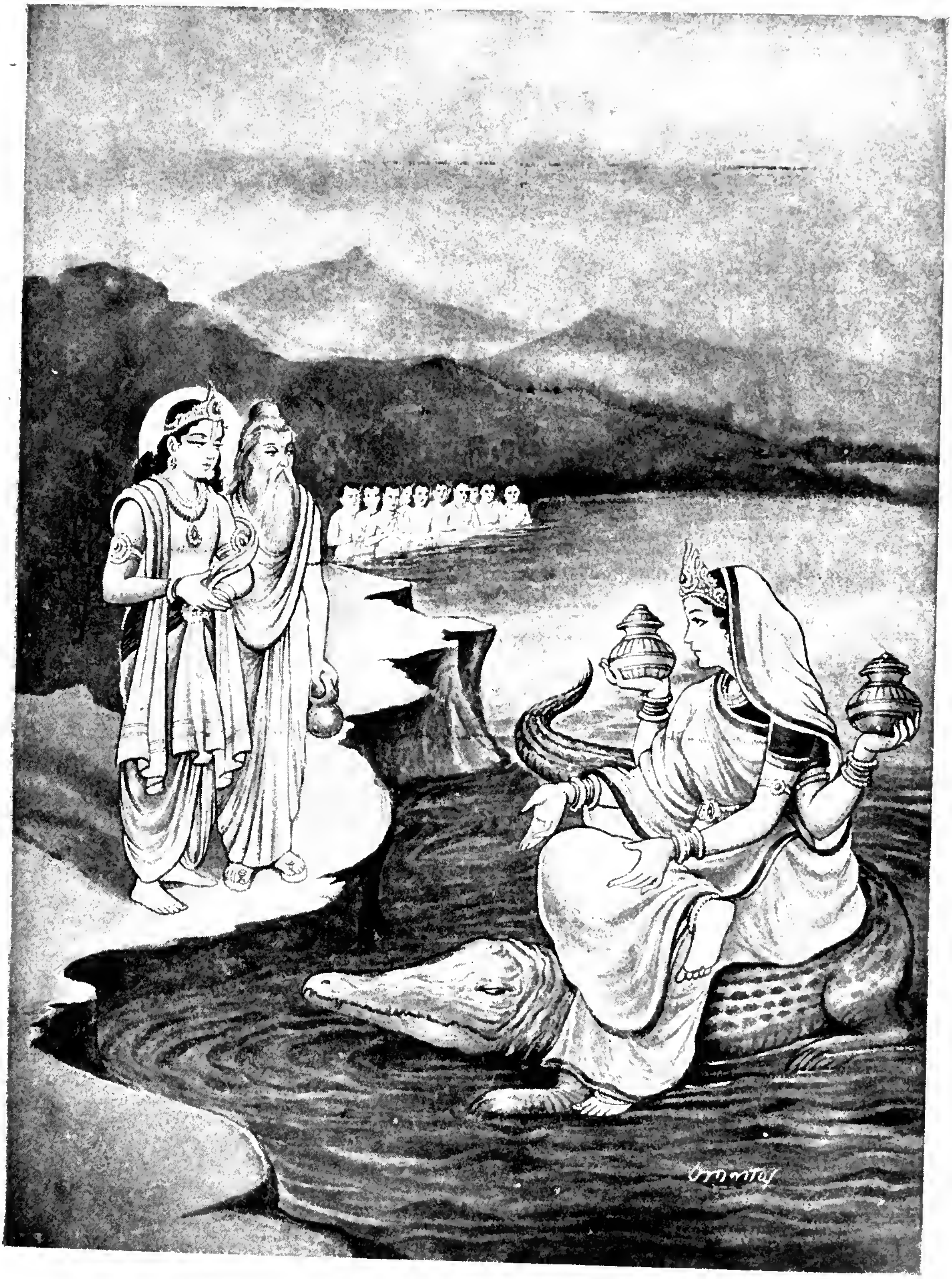

श्रीकृष्ण और व्यासजीके द्वारा पुत्र-शोकाकुला गङ्गाजीको सान्त्वना

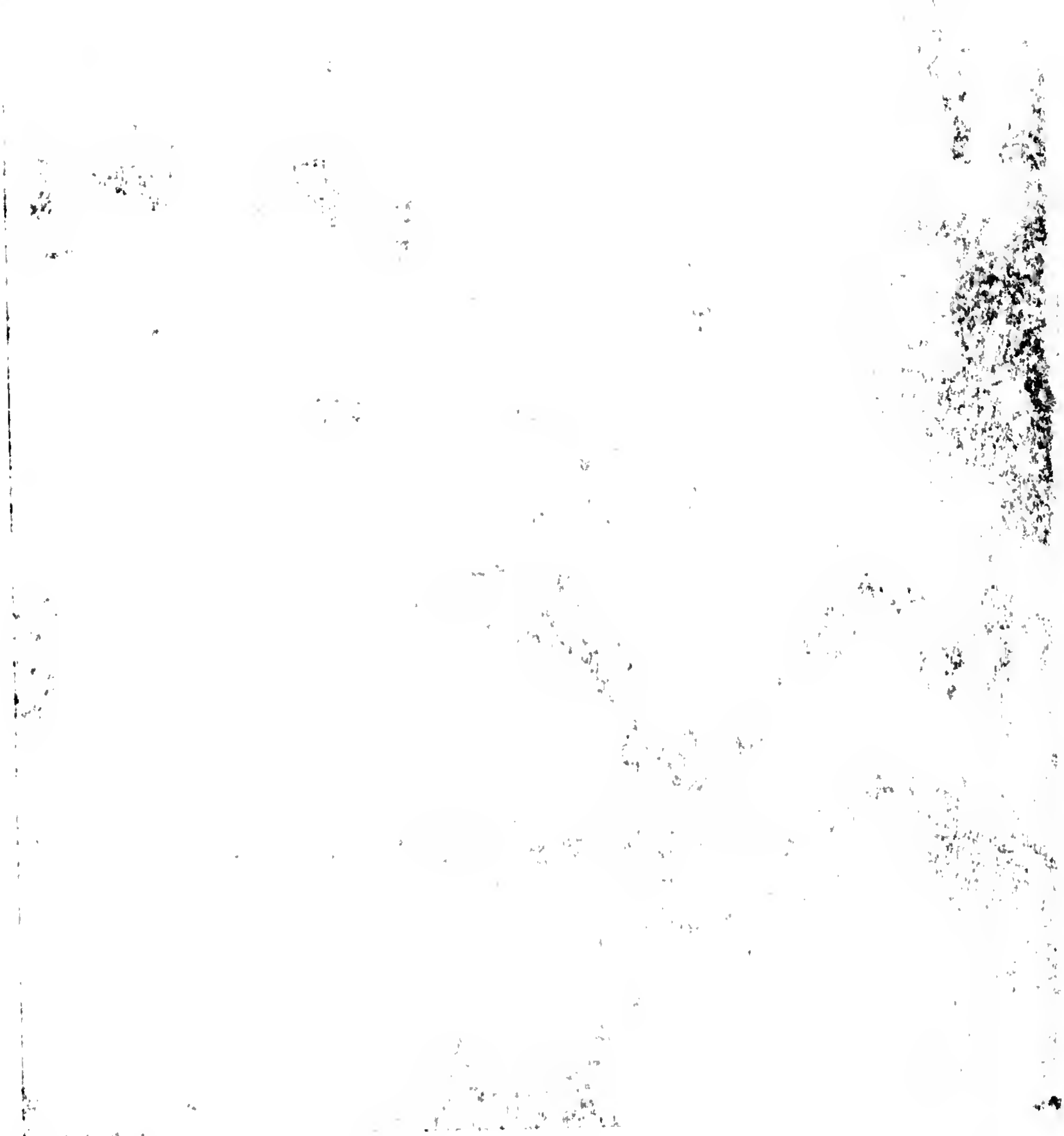

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

आश्वमेधिकपर्व

(अश्वमेधपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शोकमग्न होकर गिरना और धृतराष्ट्रका उन्हें समझाना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका सङ्कलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्तताराकुलेन्द्रियः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा धृतराष्ट्र भीष्मको जलाञ्जलि दे चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उन्हें आगे करके जलसे बाहर निकले। उस समय उनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो रही थीं॥ २॥

उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः॥ ३॥

बाहर निकलकर विशालबाहु युधिष्ठिर गङ्गाजीके तटपर व्याधके बाणोंसे बिंधे हुए गजराजके समान गिर पड़े। उस समय उनके दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी॥३॥

तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं कृष्णः परबलार्दनः॥ ४॥

उन्हें शिथिल होते देख श्रीकृष्णकी प्रेरणासे भीमसेनने उन्हें पकड़ लिया। तत्पश्चात् शत्रुसेनाका संहार करनेवाले श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन्! आपको ऐसा अधीर नहीं होना चाहिये'॥ ४॥

तमार्तं पतितं भूमौ श्वसन्तं च पुनः पुनः।
ददृशुः पार्थिवा राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ५॥

राजन्! वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंने देखा कि धर्म-पुत्र युधिष्ठिर शोकार्त होकर पृथ्वीपर पड़े हैं और बारंबार लंबी साँस खींच रहे हैं॥ ५॥

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम्।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन्॥ ६॥

राजाको इतना दीनचित्त और हतोत्साह देखकर पाण्डव फिर शोकमें डूब गये और उन्हींके पास बैठ रहे॥ ६॥

राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीडितः।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम्॥ ७॥

उस समय पुत्रशोकसे पीड़ित हुए परम बुद्धिमान् प्रज्ञा-चक्षु राजा धृतराष्ट्रने महाराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ७॥

उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम्।
क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया॥ ८॥

'कुरुवंशके सिंह! कुन्तीकुमार! उठो और इसके बाद जो कार्य प्राप्त है, उसे पूर्ण करो। तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है॥ ८॥

भुङ्क्ष्व भोगान् भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोऽनुगान्।
शोचितव्यं न पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर॥ ९॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! अब तुम अपने भाइयों और सुहृदोंके साथ मनोवाञ्छित भोग भोगो। तुम्हारे लिये शोक करनेका कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता॥ ९॥

शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते।
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम्॥ १०॥

'पृथ्वीनाथ! शोक तो मुझको और गान्धारीको करना चाहिये, जिनके सौ पुत्र स्वप्नमें प्राप्त हुए धनकी भाँति नष्ट हो गये॥ १०॥

अश्रुत्वा हितकामस्य विदुरस्य महात्मनः।
वाक्यानि सुमहार्थानि परितप्यामि दुर्मतिः॥ ११॥

'अपने हितैषी महात्मा विदुरके महान् अर्थयुक्त वचनोंको अनसुना करके आज मैं दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र अत्यन्त संतप्त हो रहा हूँ ॥ ११ ॥

उक्तवान् विदुरो यन्मां धर्मात्मा दिव्यदर्शनः ।
दुर्योधनापराधेन कुलं ते विनशिष्यति ॥ १२ ॥
स्वस्ति चेदिच्छसे राजन् कुलस्य कुरु मे वचः।
वध्यतामेष दुष्टात्मा मन्दो राजा सुयोधनः ॥ १३ ॥

'दिव्य दृष्टि रखनेवाले धर्मात्मा विदुरने मुझसे यह पहले ही कह दिया था कि 'दुर्योधनके अपराधसे आपका सारा कुल नष्ट हो जायगा। यदि आप अपने कुलका कल्याण करना चाहते हैं तो मेरी बात मान लीजिये। इस मन्दबुद्धि दुष्टात्मा राजा दुर्योधनको मार डालिये ॥ १२-१३ ॥

कर्णश्च शकुनिश्चैव नैनं पश्यतु कर्हिचित् ।
द्यूतसंघातमप्येषामप्रमादेन वारय ॥ १४॥

''कर्ण और शकुनिको इससे कभी मिलने न दीजिये। आप पूर्ण सावधान रहकर इन सबके द्यूतविषयक संगठनको रोकिये ॥ १४ ॥

अभिषेचय राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
स पालयिष्यति वशी धर्मेण पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥

''धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको अपने राज्यपर अभिषिक्त कीजिये। ये मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं, अतः धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ १५ ॥

अथ नेच्छसि राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
मेढीभूतः स्वयं राज्यं प्रतिगृह्णीष्व पार्थिव ॥ १६ ॥

''नरेश्वर! यदि आप कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजा बनाना नहीं चाहते तो स्वयं ही मेठ बनकर सारे राज्यका भार स्वयं ही लिये रहिये ॥ १६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानं नराधिप ।
अनुजीवन्तु सर्वे त्वां ज्ञातयो भ्रातृभिः सह ॥ १७॥

''महाराज! आप सभी प्राणियोंके प्रति समान बर्ताव करें और सभी सजातीय मनुष्य अपने भाई-बन्धुओंके साथ आपके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करें' ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेय विदुरे दीर्घदर्शिनि ।
दुर्योधनमहं पापमन्ववर्तं वृथामतिः ॥ १८ ॥

'कुन्तीनन्दन! दूरदर्शी विदुरके ऐसा कहनेपर भी मैंने पापी दुर्योधनका ही अनुसरण किया। मेरी बुद्धि निरर्थक हो गयी थी ॥ १८ ॥

अश्रुत्वा तस्य धीरस्य वाक्यानि मधुराण्यहम्।
फलं प्राप्य महद् दुःखं निमग्नः शोकसागरे ॥ १९ ॥

'धीर विदुरके मधुर वचनोंको अनसुना करके मुझे यह महान् दुःखरूपी फल प्राप्त हुआ है। मैं शोकके महान् समुद्रमें डूब गया हूँ ॥ १९ ॥

वृद्धौ हि तेऽद्य पितरौ पश्य नौ दुःखितौ नृप।
न शोचितव्यं भवता पश्यामीह जनाधिप ॥ २० ॥

'नरेश्वर! दुःखमें डूबे हुए हम दोनों बूढ़े माता-पिताकी ओर देखो। तुम्हारे लिये शोक करनेका औचित्य मैं नहीं देख पाता हूँ' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता ।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मेधावी युधिष्ठिर चुप ही रहे। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—॥ १ ॥

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप ।
संतापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ २ ॥

'जनेश्वर! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणीके लिये अपने मनमें अधिक शोक करता है तो उसका वह शोक उसके पहलेके मरे हुए पितामहोंको भारी संतापमें डाल देता है॥२॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥ ३ ॥

'इसलिये आप बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये और सोमरसके द्वारा देवताओं तथा स्वधाद्वारा पितरोंको तृप्त कीजिये ॥ ३ ॥

अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान् ।
विदितं वेदितव्यं ते कर्तव्यमपि ते कृतम् ॥ ४ ॥

'अतिथियोंको अन्न और जल देकर तथा अकिंचन मनुष्योंको दूसरी-दूसरी मनचाही वस्तुएँ देकर संतुष्ट कीजिये। आपने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया है। करनेयोग्य कार्यको भी पूर्ण कर लिया है ॥ ४ ॥

श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद् भागीरथीसुतात्।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद् विदुरात् तथा ॥ ५ ॥

'आपने गङ्गानन्दन भीष्मसे राजधर्मोंका वर्णन सुना है। श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और विदुरजीसे कर्तव्यका उपदेश श्रवण किया है ॥ ५ ॥

नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्तितुम्।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥ ६ ॥

अतः आपको मूढ़ पुरुषोंके इस बर्तावका अनुसरण नहीं करना चाहिये। पिता-पितामहोंके बर्तावका आश्रय लेकर राजकार्यका भार सँभालिये ॥ ६ ॥

युक्तं हि यशसा क्षात्रं स्वर्गं प्राप्तमसंशयम्।
न हि कश्चिद्धि शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः॥ ७ ॥

'इस युद्धमें वीरोचित सुयशसे युक्त हुआ सारा क्षत्रिय-समुदाय स्वर्गलोक पानेका अधिकारी है, क्योंकि इन शूर-वीरोंमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखाकर नहीं मारा गया है ॥

त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥८॥

'महाराज! शोक त्याग दीजिये, क्योंकि जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी। इस युद्धमें जो लोग मारे गये हैं, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते' ॥ ८ ॥

एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये। तब युधिष्ठिरने उनसे कहा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—गोविन्द! आपका जो मेरे ऊपर प्रेम है, वह मुझे अच्छी तरह ज्ञात है। आप स्नेह और सौहार्दवश सदा ही मुझपर कृपा करते रहते हैं ॥ १० ॥

प्रियं तु मे स्यात् सुमहत्कृतं चक्रगदाधर।
श्रीमन् प्रीतेन मनसा सर्वं यादवनन्दन ॥ ११ ॥
यदि मामनुजानीयाद् भवान् गन्तुं तपोवनम्।
(कृतकृत्यो भविष्यामि इति मे निश्चिता मतिः।)

चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीमान् यादवनन्दन! यदि आप प्रसन्न मनसे मुझे तपोवनमें जानेकी आज्ञा दे दें तो मेरा सारा और महान् प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय। उस दशामें मैं कृतकार्य हो जाऊँगा, यह मेरा निश्चित विचार है ॥

न हि शान्तिं प्रपश्यामि घातयित्वा पितामहम् ॥ १२ ॥
(नृशंसः पुरुषव्याघ्रं गुरुं वीर्यबलान्वितम्।)
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम्।

मैं क्रूरतापूर्वक पितामह भीष्मको, बल-पराक्रमसे सम्पन्न पुरुषसिंह गुरुदेव द्रोणाचार्यको और युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले नरश्रेष्ठ कर्णको मरवाकर कभी शान्ति नहीं पा सकता ॥ १२½ ॥

कर्मणा येन मुच्येयमस्मात् क्रूरादरिंदम ॥ १३ ॥
कर्मणा तद् विधत्स्वेह येन शुध्यति मे मनः।

शत्रुदमन श्रीकृष्ण! अब जिस कर्मके द्वारा मुझे अपने इस क्रूरतापूर्ण पापसे छुटकारा मिले तथा जिससे मेरा चित्त शुद्ध हो, वही कीजिये ॥ १३½ ॥

तमेवं वादिनं पार्थं व्यासः प्रोवाच धर्मवित् ॥ १४ ॥
सान्त्वयन् सुमहातेजाः शुभं वचनमर्थवत्।
अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख धर्मके तत्त्वको जाननेवाले महातेजस्वी व्यासजीने उन्हें सान्त्वना देते हुए यह शुभ एवं सार्थक वचन कहा—'तात! तुम्हारी बुद्धि अभी शुद्ध नहीं हुई। तुम पुनः बालकोचित अविवेकके कारण मोहमें पड़ गये ॥ १४-१५ ॥

किमाकारा वयं तात प्रलपामो मुहुर्मुहुः।
विदिताः क्षत्रधर्मास्ते येषां युद्धेन जीविका ॥ १६ ॥

'तात! अब हमलोग किस लायक रह गये। हम बारंबार जो कुछ कहते या समझाते हैं वह सब व्यर्थका प्रलाप सिद्ध हो रहा है। युद्धसे ही जिनकी जीविका चलती है, उन क्षत्रियोंके धर्म भलीभाँति तुम्हें विदित हैं ॥ १६ ॥

तथाप्रवृत्तो नृपतिर्नाधिबन्धेन युज्यते।
मोक्षधर्माश्च निखिला याथातथ्येन ते श्रुताः ॥ १७ ॥

'उनके अनुसार बर्ताव करनेवाला राजा कभी मानसिक चिन्तासे ग्रस्त नहीं होता। तुमने सम्पूर्ण मोक्षधर्मोंको भी यथार्थरूपसे सुना है ॥ १७ ॥

(यथा वै कामजां मायां परित्यक्तुं त्वमर्हसि।
तथा तु कुर्वन् नृपतिर्नानुबन्धेन युज्यते ॥)

'तुम्हें कामजनित मायाका जिस प्रकार परित्याग करना चाहिये, उस प्रकार उसका त्याग करनेवाला नरेश कभी बन्धनमें नहीं पड़ता ॥

असकृच्चापि संदेहाश्छिन्नास्ते कामजा मया।
अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्तस्मृतिरसि ध्रुवम् ॥ १८ ॥

'मैंने अनेक बार तुम्हारे कामजनित संदेहोंका निवारण किया है; परंतु तुम दुर्बुद्धि होनेके कारण उसपर श्रद्धा नहीं करते। निश्चय इसीलिये तुम्हारी स्मरणशक्ति लुप्त हो गयी है ॥

मैवं भव न ते युक्तमिदमज्ञानमीदृशम्।
प्रायश्चित्तानि सर्वाणि विदितानि च तेऽनघ।
राजधर्माश्च ते सर्वे दानधर्माश्च ते श्रुताः ॥ १९ ॥

'तुम ऐसे न बनो, तुम्हारे लिये इस तरह अज्ञानका

अवलम्बन उचित नहीं है । निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकारके प्रायश्चित्तोंका भी ज्ञान है । तुमने सब प्रकारके राजधर्म और दानधर्म भी सुने हैं ॥ १९ ॥

स कथं सर्वधर्मज्ञः सर्वागमविशारदः ।
परिमुह्यसि भूयस्त्वमज्ञानादिव भारत ॥ २० ॥

'भारत ! इस प्रकार सब धर्मोंके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् होकर भी तुम अज्ञानवश बारंबार मोहमें क्यों पड़ते हो ?' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञके लिये धनकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए संवर्त और मरुत्तका प्रसङ्ग उपस्थित करना

व्यास उवाच

युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न हि कश्चित्स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाम्॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर ! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं है । कोई भी मनुष्य स्वाधीन होकर अपने आप कोई काम नहीं करता है ॥ १ ॥

ईश्वरेण च युक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ।
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना ॥ २ ॥

यह मनुष्य अथवा पुरुषसमुदाय ईश्वरसे प्रेरित होकर ही भले-बुरे काम करता है ।* अतः इसके लिये शोक करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २ ॥

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः ।
शृणु तत्र यथापापमपकृष्येत भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! यदि तुम अन्ततोगत्वा अपने आपको ही युद्धरूपी पापकर्मका प्रधान हेतु मानते हो तो वह पाप जिस प्रकार नष्ट हो सकता है, वह उपाय बताता हूँ, सुनो ॥

तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर ।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! जो लोग पाप करते हैं, वे तप, यज्ञ और दानके द्वारा ही सदा अपना उद्धार करते हैं ॥ ४ ॥

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप ।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्यासे ही पवित्र होते हैं ॥ ५ ॥

असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम् ।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद् यज्ञाः परायणम् ॥ ६ ॥

महामना देवता और दैत्य पुण्यके लिये यज्ञ करनेका ही प्रयत्न करते हैं । अतः यज्ञ परम आश्रय है ॥ ६ ॥

यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः ।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥ ७ ॥

यज्ञोंद्वारा ही महामनस्वी देवताओंका महत्त्व अधिक हुआ है और यज्ञोंसे ही क्रियानिष्ठ देवताओंने दानवोंको परास्त किया है ॥ ७ ॥

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत ।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥ ८ ॥

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर ! तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो ॥ ८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ ९ ॥

विधिवत् दक्षिणा देकर बहुत-से मनोवाञ्छित पदार्थ, अन्न और धनसे सम्पन्न अश्वमेध यज्ञके द्वारा दशरथनन्दन श्रीरामकी भाँति यजन करो ॥ ९ ॥

यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः ।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥

तथा तुम्हारे पूर्वपितामह महापराक्रमी दुष्यन्तकुमार शकुन्तलानन्दन पृथ्वीपति राजा भरतने जैसे यज्ञ किया था, उसी प्रकार तुम भी करो ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं वाजिमेधः पावयेत् पृथिवीमपि ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने कहा—विप्रवर ! इसमें संदेह नहीं कि अश्वमेध यज्ञ सारी पृथ्वीको भी पवित्र कर सकता है, किंतु इसके विषयमें मेरा एक अभिप्राय है, उसे आप यहाँ सुन लें ॥ ११ ॥

---

* यह कथन युधिष्ठिरको सान्त्वना देनेके लिये गौणरूपमें इस दृष्टिसे है कि मरनेवालोंकी मृत्यु उनके प्रारब्ध-कर्मानुसार अवश्यम्भावी थी; अतः यह जो कुछ हुआ है, ईश्वर प्रेरणाके ही अनुसार हुआ है ।

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम ।
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे॥ १२॥

द्विजश्रेष्ठ ! अपने जाति-भाइयोंका यह महान् संहार करके अब मुझमें थोड़ा-सा भी दान देनेकी शक्ति नहीं रह गयी है; क्योंकि मेरे पास धन नहीं है ॥ १२ ॥

न तु बालानिमान् दीनानुत्सहे वसु याचितुम् ।
तथैवार्द्रव्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान् नृपात्मजान् ॥ १३ ॥

यहाँ जो राजकुमार उपस्थित हैं, ये सब के-सब बालक और दीन हैं, महान् सङ्कटमें पड़े हुए हैं और इनके शरीरका घाव भी अभी सूखने नहीं पाया है; अतः इन सबसे मैं धनकी याचना नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम ।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! स्वयं ही सारी पृथ्वीका विनाश कराकर शोकमग्न हुआ मैं इनसे यज्ञके लिये कर किस तरह वसूल करूँगा ॥ १४ ॥

दुर्योधनापराधेन वसुधा वसुधाधिपाः ।
प्रणष्टा योजयित्वास्मानकीर्त्या मुनिसत्तम ॥ १५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! दुर्योधनके अपराधसे यह पृथ्वी और अधिकांश राजा हमलोगोंके माथे अपयशका टीका लगाकर नष्ट हो गये ॥ १५ ॥

दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः॥१६॥

दुर्योधनने धनके लोभसे समस्त भूमण्डलका संहार कराया; किंतु धन मिलना तो दूर रहा, उस दुर्बुद्धिका अपना खजाना भी खाली हो गया ॥ १६ ॥

पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः ।
विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥ १७ ॥

अश्वमेध यज्ञमें समूची पृथ्वीकी दक्षिणा देनी चाहिये । यही विद्वानोंने मुख्य कल्प माना है । इसके सिवा जो कुछ किया जाता है, वह विधिके विपरीत है ॥ १७ ॥

न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन ।
अत्र मे भगवन् सम्यक् साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

तपोधन ! मुख्य वस्तुके अभावमें जो दूसरी कोई वस्तु दी जाती है, वह प्रतिनिधि दक्षिणा कहलाती है; किंतु प्रतिनिधि दक्षिणा देनेकी मेरी इच्छा नहीं होती; अतः भगवन् ! इस विषयमें आप मुझे उचित सलाह देनेकी कृपा करें ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
मुहूर्तमनुसंचिन्त्य धर्मराजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासने दो घड़ीतक सोच-विचारकर धर्मराजसे कहा—॥ १९ ॥

कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति ।
विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥ २० ॥
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः ।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद् भविष्यति ॥ २१ ॥

'पार्थ ! यद्यपि तुम्हारा खजाना इस समय खाली हो गया है तथापि वह बहुत शीघ्र भर जायगा । हिमालय पर्वत-पर महात्मा मरुत्तके यज्ञमें ब्राह्मणोंने जो धन छोड़ दिया था, वह वहीं पड़ा हुआ है । कुन्तीकुमार ! उसे ले आवो । वह तुम्हारे लिये पर्याप्त होगा' ॥ २०-२१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं यज्ञे मरुत्तस्य द्रविणं तत् समाचितम् ।
कस्मिंश्च काले स नृपो बभूव वदतां वर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मरुत्तके यज्ञमें इतने धनका संग्रह किस प्रकार किया गया था तथा वे महाराज मरुत्त किस समय इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे ? ॥

व्यास उवाच

यदि शुश्रूषसे पार्थ शृणु कारन्धमं नृपम् ।
यस्मिन् काले महावीर्यः स राजासीन्महाधनः॥ २३॥

व्यासजीने कहा—पार्थ ! यदि तुम सुनना चाहते हो तो करन्धमके पौत्र मरुत्तका वृत्तान्त सुनो । वे महाधनी और महापराक्रमी राजा किस कालमें इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, यह बता रहा हूँ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

मरुत्तके पूर्वजोंका परिचय देते हुए व्यासजीके द्वारा उनके गुण, प्रभाव एवं यज्ञका दिग्दर्शन

युधिष्ठिर उवाच

शुश्रूषे तस्य धर्मज्ञ राजर्षेः परिकीर्तनम् ।
द्वैपायन मरुत्तस्य कथां प्रब्रूहि मेऽनघ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मके ज्ञाता, निष्पाप महर्षि द्वैपायन ! मैं राजर्षि मरुत्तकी कथा और उनके गुणोंका कीर्तन सुनना चाहता हूँ । कृपया मुझसे कहिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

आसीत् कृतयुगे तात मनुर्दण्डधरः प्रभुः।
तस्य पुत्रो महाबाहुः प्रसन्धिरिति विश्रुतः॥ २॥

व्यासजीने कहा—तात! सत्ययुगमें राजदण्ड धारण करनेवाले शक्तिशाली वैवस्वत मनु एक प्रसिद्ध राजा थे। उनके पुत्र महाबाहु प्रसन्धिके नामसे विख्यात थे॥ २॥

प्रसन्धेरभवत् पुत्रः क्षुप इत्यभिविश्रुतः।
क्षुपस्य पुत्र इक्ष्वाकुर्महीपालोऽभवत् प्रभुः॥ ३॥

प्रसन्धिके पुत्र क्षुप और क्षुपके पुत्र शक्तिशाली महाराज इक्ष्वाकु हुए॥ ३॥

तस्य पुत्रशतं राजन्नासीत् परधार्मिकम्।
तांस्तु सर्वान् महीपालानिक्ष्वाकुरकरोत् प्रभुः॥ ४॥

राजन्! इक्ष्वाकुके सौ पुत्र हुए, जो बड़े धार्मिक थे। प्रभावशाली इक्ष्वाकुने उन सभी पुत्रोंको इस पृथ्वीका पालक बना दिया॥ ४॥

तेषां ज्येष्ठस्तु विंशोऽभूत् प्रतिमानं धनुष्मताम्।
विंशस्य पुत्रः कल्याणो विविंशो नाम भारत॥ ५॥

उनमें सबसे ज्येष्ठ पुत्रका नाम था विंश; जो धनुर्धर वीरोंका आदर्श था। भारत! विंशके कल्याणमय पुत्रका नाम विविंश हुआ॥ ५॥

विविंशस्य सुता राजन् बभूवुर्दश पञ्च च।
सर्वे धनुषि विक्रान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः॥ ६॥
दानधर्मरताः शान्ताः सततं प्रियवादिनः।
तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान् सर्वानपीडयत्॥ ७॥

राजन्! विविंशके पंद्रह पुत्र हुए। वे सब-के-सब धनुर्विद्यामें पराक्रमी, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, दान-धर्म-परायण, शान्त और सर्वदा मधुर भाषण करनेवाले थे। इन सबमें जो ज्येष्ठ था, उसका नाम खनीनेत्र था। वह अपने उन सभी छोटे भाइयोंको बहुत कष्ट देता था॥ ६-७॥

खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम्।
नाशकद् रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः॥ ८॥

खनीनेत्र पराक्रमी होनेके कारण निष्कण्टक राज्यको जीतकर भी उसकी रक्षा न कर सका; क्योंकि प्रजाका उसमें अनुराग न था॥ ८॥

तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम्।
अभ्यषिञ्चन्त राजेन्द्र मुदिता ह्यभवंस्तदा॥ ९॥

राजेन्द्र! उसे राज्यसे हटाकर प्रजाने उसीके पुत्र सुवर्चाको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। उस समय प्रजावर्गको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ९॥

स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनं च तत्।
नियतो वर्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया॥ १०॥

सुवर्चा अपने पिताकी वह दुर्दशा, वह राज्यसे निष्कासन देखकर सावधान हो नियमपूर्वक प्रजाके हितकी इच्छासे सबके साथ उत्तम बर्ताव करने लगे॥ १०॥

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः।
प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मनित्यं मनस्विनम्॥ ११॥

वे ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखते, सत्य बोलते, बाहर-भीतरसे पवित्र रहते और मन तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते थे। सदा धर्ममें लगे रहनेवाले उन मनस्वी नरेशपर प्रजाजनोंका विशेष अनुराग था॥ ११॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य व्यशीर्यत् कोशवाहनम्।
तं क्षीणकोशं सामन्ताः समन्तात् पर्यपीडयन्॥ १२॥

किंतु केवल धर्ममें ही प्रवृत्त रहनेके कारण कुछ ही दिनोंमें राजाका खजाना खाली हो गया और उनके वाहन आदि भी नष्ट हो गये। उनका खजाना खाली हो गया, यह जानकर सामन्त नरेश चारों ओरसे धावा करके उन्हें पीड़ा देने लगे॥ १२॥

स पीड्यमानो बहुभिः क्षीणकोशाश्ववाहनः।
आर्तिमार्च्छत् परां राजा सह भृत्यैः पुरेण च॥ १३॥

उनका कोष और घोड़े आदि वाहन तो नष्ट हो ही गये थे। बहुसंख्यक शत्रुओंने एक साथ धावा करके उन्हें सताना आरम्भ कर दिया। इससे राजा सुवर्चा अपने सेवकों और पुरवासियोंसहित भारी संकटमें पड़ गये॥ १३॥

न चैनमभिहन्तुं ते शक्नुवन्ति बलक्षये।
सम्यग्वृत्तो हि राजा स धर्मनित्यो युधिष्ठिर॥ १४॥

युधिष्ठिर! सेना और खजाना नष्ट हो जानेपर भी वे आक्रमणकारी शत्रु सुवर्चाका वध न कर सके; क्योंकि वे राजा नित्यधर्मपरायण और सदाचारी थे॥ १४॥

यदा तु परमामार्तिं गतोऽसौ सपुरो नृपः।
ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीत् ततो बलम्॥ १५॥

जब वे नरेश नगरवासियोंसहित भारी विपत्तिमें पड़ गये, तब उन्होंने अपने हाथको मुँहसे लगाकर उसे शङ्खकी भाँति बजाया। इससे बहुत बड़ी सेना प्रकट हो गयी॥ १५॥

ततस्तानजयत् सर्वान् प्रातिसीमान् नराधिपान्।
एतस्मात् कारणाद् राजन् विश्रुतः स करन्धमः॥ १६॥

राजन्! उसीकी सहायतासे उन्होंने अपने राज्यकी सीमापर निवास करनेवाले सम्पूर्ण शत्रु नरेशोंको परास्त कर दिया। इसी कारणसे अर्थात् करका धमन करने (हाथको बजाने) से उनका नाम करन्धम हो गया॥ १६॥

तस्य कारन्धमः पुत्रस्त्रेतायुगमुखेऽभवत्।
इन्द्रादनवरः श्रीमान् देवैरपि सुदुर्जयः॥ १७॥

करन्धमके त्रेतायुगके आरम्भमें एक कान्तिमान् पुत्र हुआ, जो कारन्धम कहलाया। वह इन्द्रसे किसी भी बातमें कम

नहीं था। उसे परास्त करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था ॥ १७ ॥

तस्य सर्वे महीपाला वर्तन्ते स्म वशे तदा ।
स हि सम्राडभूत् तेषां वृत्तेन च बलेन च ॥ १८ ॥

उस समयके सभी भूपाल कारन्धमके अधीन हो गये थे। वह अपने सदाचार और बलके द्वारा उन सबका सम्राट् हो गया था ॥ १८ ॥

अविक्षिन्नाम धर्मात्मा शौर्येणेन्द्रसमोऽभवत् ।
यज्ञशीलो धर्मरतिर्धृतिमान् संयतेन्द्रियः ॥ १९ ॥

उस धर्मात्मा करन्धमकुमारका नाम अविक्षित् था। वह अपने शौर्यके द्वारा इन्द्रकी समानता करता था। वह यज्ञशील, धर्मानुरागी, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय था ॥१९॥

तेजसाऽऽदित्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २० ॥

तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, बुद्धिमें बृहस्पति और सुस्थिरतामें हिमवान् पर्वतके समान माना जाता था ॥ २० ॥

कर्मणा मनसा वाचा दमेन प्रशमेन च ।
मनांस्याराधयामास प्रजानां स महीपतिः ॥ २१ ॥

राजा अविक्षित् मन, वाणी, क्रिया, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहके द्वारा प्रजाजनोंका चित्त संतुष्ट किये रहते थे ॥

य ईजे हयमेधानां शतेन विधिवत् प्रभुः ।
याजयामास यं विद्वान् स्वयमेवाङ्गिराः प्रभुः ॥ २२ ॥

उन प्रभावशाली नरेशने विधिपूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञों-का अनुष्ठान किया था। साक्षात् विद्वान्, प्रभु, अङ्गिरा मुनिने ही उनका यज्ञ कराया था ॥ २२ ॥

तस्य पुत्रोऽतिचक्राम पितरं गुणवत्तया ।
मरुत्तो नाम धर्मज्ञश्चक्रवर्ती महायशाः ॥ २३ ॥

उन्हींके पुत्र हुए महायशस्वी, चक्रवर्ती, धर्मज्ञ राजा मरुत्त। जो अपने गुणोंके कारण पितासे भी बढ़े-चढ़े थे ॥

नागायुतसमप्राणः साक्षाद् विष्णुरिवापरः ।
स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत ॥ २४ ॥
कारयामास शुभ्राणि भाजनानि सहस्रशः ।

उनमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। वे साक्षात् दूसरे विष्णुके समान जान पड़ते थे। धर्मात्मा मरुत्त जब यज्ञ करनेको उद्यत हुए, उस समय उन्होंने सहस्रों सोनेके समुज्ज्वल पात्र बनवाये ॥ २४½ ॥

मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे ॥ २५ ॥
काञ्चनः सुमहान् पादस्तत्र कर्म चकार सः ।
ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च ॥ २६ ॥
चक्रुः सुवर्णकर्तारो येषां संख्या न विद्यते ।
तस्यैव च समीपे तु यज्ञवाटो बभूव ह ॥ २७ ॥

हिमालय पर्वतके उत्तर भागमें मेरु पर्वतके निकट एक महान् सुवर्णमय पर्वत है। उसीके समीप उन्होंने यज्ञशाला बनवायी और वहीं यज्ञ-कार्य आरम्भ किया। उनकी आज्ञासे अनेक सुनारोंने आकर सुवर्णमय कुण्ड, सोनेके बर्तन, थाली और आसन (चौकी आदि) तैयार किये। उन सब वस्तुओं-की गणना असम्भव है ॥ २५–२७ ॥

ईजे तत्र स धर्मात्मा विधिवत् पृथिवीपतिः ।
मरुत्तः सहितैः सर्वैः प्रजापालैर्नराधिपः ॥ २८ ॥

जब सब सामग्री तैयार हो गयी, तब वहाँ धर्मात्मा, पृथ्वीपति राजा मरुत्तने अन्य सब प्रजापालोंके साथ विधिपूर्वक यज्ञ किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

इन्द्रकी प्रेरणासे बृहस्पतिजीका मनुष्यको यज्ञ न करानेकी प्रतिज्ञा करना

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः समभवत् स राजा वदतां वर ।
कथं च जातरूपेण समयुज्यत स द्विज ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! राजा मरुत्तका पराक्रम कैसा था ? तथा उन्हें सुवर्णकी प्राप्ति कैसे हुई ? ॥ १ ॥

क्व च तत् साम्प्रतं द्रव्यं भगवन्नवतिष्ठते ।
कथं च शक्यमस्माभिस्तदवाप्तुं तपोधन ॥ २ ॥

भगवन् ! तपोधन ! वह द्रव्य इस समय कहाँ है ? और हम उसे किस तरह प्राप्त कर सकते हैं ? ॥ २ ॥

व्यास उवाच

असुराश्चैव देवाश्च दक्षस्यासन् प्रजापतेः ।
अपत्यं बहुलं तात संस्पर्धन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! प्रजापति दक्षके देवता और

असुर नामक बहुत सी संतानें हैं, जो आपसमें स्पर्धा रखती हैं ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रौ व्रततुल्यौ बभूवतुः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः संवर्तश्च तपोधनः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार महर्षि अङ्गिराके दो पुत्र हुए, जो व्रतका पालन करनेमें एक समान हैं । उनमेंसे एक हैं महातेजस्वी बृहस्पति और दूसरे हैं तपस्याके धनी संवर्त ॥ ४ ॥

तावतिस्पर्धिनौ राजन् पृथगास्तां परस्परम् ।
बृहस्पतिः स संवर्तं बाधते स्म पुनः पुनः ॥ ५ ॥

राजन् ! वे दोनों भाई एक-दूसरेसे अलग रहते और आपसमें बड़ी स्पर्धा रखते थे । बृहस्पति अपने छोटे भाई संवर्तको बारंबार सताया करते थे ॥ ५ ॥

स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत् ॥ ६ ॥

भारत ! अपने बड़े भाईके द्वारा सदा सताये जानेपर संवर्त धन-दौलतका मोह छोड़ घरसे निकल गये और दिगम्बर होकर वनमें रहने लगे । घरकी अपेक्षा वनवासमें ही उन्होंने सुख माना । ॥ ६ ॥

वासवोऽप्यसुरान् सर्वान् विजित्य च निपात्य च ।
इन्द्रत्वं प्राप्य लोकेषु ततो वव्रे पुरोहितम् ॥ ७ ॥
पुत्रमङ्गिरसो ज्येष्ठं विप्रज्येष्ठं बृहस्पतिम् ।

इसी समय इन्द्रने समस्त असुरोंको जीतकर मार गिराया तथा त्रिभुवनका साम्राज्य प्राप्त कर लिया । तदनन्तर उन्होंने अङ्गिराके ज्येष्ठ पुत्र विप्रवर बृहस्पतिको अपना पुरोहित बनाया ॥ ७½ ॥

याज्यस्त्वङ्गिरसः पूर्वमासीद् राजा करंधमः ॥ ८ ॥
वीर्येणाप्रतिमो लोके वृत्तेन च बलेन च ।
शतक्रतुरिवौजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ९ ॥

इसके पहले अङ्गिराके यजमान राजा करन्धम थे । संसारमें बल, पराक्रम और सदाचारके द्वारा उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था । वे इन्द्रतुल्य तेजस्वी, धर्मात्मा और कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ८-९ ॥

वाहनं यस्य योधाश्च मित्राणि विविधानि च ।
शयनानि च मुख्यानि महार्हाणि च सर्वशः ॥ १० ॥
ध्यानादेवाभवद् राजन् मुखवातेन सर्वशः ।
स गुणैः पार्थिवान् सर्वान् वशे चक्रे नराधिपः ॥ ११ ॥

राजन् ! उनके लिये वाहन, योद्धा, नाना प्रकारके मित्र तथा श्रेष्ठ और सब प्रकारकी बहुमूल्य शय्याएँ चिन्तन करनेसे और मुखजनित वायुसे ही प्रकट हो जाती थीं । राजा करन्धमने अपने गुणोंसे समस्त राजाओंको अपने वशमें कर लिया था ॥

संजीव्य कालमिष्टं च सशरीरो दिवं गतः ।
बभूव तस्य पुत्रस्तु ययातिरिव धर्मवित् ॥ १२ ॥
अविक्षिन्नाम शत्रुंजित् स वशे कृतवान् महीम् ।
विक्रमेण गुणैश्चैव पितेवासीत् स पार्थिवः ॥ १३ ॥

कहते हैं राजा करन्धम अभीष्ट कालतक इस संसारमें जीवन धारण करके अन्तमें सशरीर स्वर्गलोकको चले गये थे । उनके पुत्र अविक्षित् ययातिके समान धर्मज्ञ थे । उन्होंने अपने पराक्रम और गुणोंके द्वारा शत्रुओंपर विजय पाकर सारी पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया था । वे राजा अपनी प्रजाके लिये पिताके समान थे ॥ १२-१३ ॥

तस्य वासवतुल्योऽभून्मरुत्तो नाम वीर्यवान् ।
पुत्रस्तमनुरक्ताभूत् पृथिवी सागराम्बरा ॥ १४ ॥

अविक्षित्के पुत्रका नाम मरुत्त था, जो इन्द्रके समान पराक्रमी थे । समुद्ररूपी वस्त्रसे आच्छादित हुई यह सारी पृथ्वी—समस्त भूमण्डलकी प्रजा उनमें अनुराग रखती थी ॥

स्पर्धते स स्म सततं देवराजेन नित्यदा ।
वासवोऽपि मरुत्तेन स्पर्धते पाण्डुनन्दन ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! राजा मरुत्त सदा देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखते थे और इन्द्र भी मरुत्तके साथ स्पर्धा रखते थे ॥१५॥

शुचिः स गुणवानासीन्मरुत्तः पृथिवीपतिः ।
यतमानोऽपि यं शक्रो न विशेषयति स्म ह ॥ १६ ॥

पृथ्वीपति मरुत्त पवित्र एवं गुणवान् थे । इन्द्र उनसे बढ़नेके लिये सदा प्रयत्न करते थे तो भी कभी बढ़ नहीं पाते थे ॥ १६ ॥

सोऽशक्नुवन् विशेषाय समाहूय बृहस्पतिम् ।
उवाचेदं वचो देवैः सहितो हरिवाहनः ॥ १७ ॥

जब देवताओंसहित इन्द्र किसी तरह बढ़ न सके, तब बृहस्पतिको बुलाकर उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥१७॥

बृहस्पते मरुत्तस्य मा स्म कार्षीः कथंचन ।
दैवं कर्माथ पित्र्यं वा कर्तासि मम चेत् प्रियम् ॥ १८ ॥

'बृहस्पतिजी ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो राजा मरुत्तका यज्ञ तथा श्राद्धकर्म किसी तरह न कराइयेगा ॥

अहं हि त्रिषु लोकेषु सुराणां च बृहस्पते ।
इन्द्रत्वं प्राप्तवानेको मरुत्तस्तु महीपतिः ॥ १९ ॥

'बृहस्पते ! एकमात्र मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी और देवताओंका इन्द्र हूँ । मरुत्त तो केवल पृथ्वीके राजा हैं ॥

कथं ह्यमर्त्यं ब्रह्मंस्त्वं याजयित्वा सुराधिपम् ।
याजयेर्मृत्युसंयुक्तं मरुत्तमविशङ्कया ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! आप अमर देवराजका यज्ञ कराकर—देवेन्द्रके पुरोहित होकर मरणधर्मा मरुत्तका यज्ञ कैसे निःशङ्क होकर कराइयेगा ? ॥ २० ॥

मां वा वृणीष्व भद्रं ते मरुत्तं वा महीपतिम् ।

परित्यज्य मरुत्तं वा यथाजोषं भजस्व माम् ॥ २१ ॥

'आपका कल्याण हो। आप मुझे अपना यजमान बनाइये अथवा पृथ्वीपति मरुत्तको। या तो मुझे छोड़िये या मरुत्तको छोड़कर चुपचाप मेरा आश्रय लीजिये' ॥ २१ ॥

एवमुक्तः स कौरव्य देवराज्ञा बृहस्पतिः।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य देवराजानमब्रवीत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! देवराज इन्द्रके ऐसा कहनेपर बृहस्पतिने दो घड़ीतक सोच-विचारकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

त्वं भूतानामधिपतिस्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः।
नमुचेर्विश्वरूपस्य निहन्ता त्वं बलस्य च ॥ २३ ॥

'देवराज! तुम सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी हो, तुम्हारे ही आधारपर समस्त लोक टिके हुए हैं। तुम नमुचि, विश्वरूप और बलासुरके विनाशक हो ॥ २३ ॥

त्वमाजहर्थ देवानामेको वीरश्रियं पराम्।
त्वं बिभर्षि भुवं द्यां च सदैव बलसूदन ॥ २४ ॥

'बलसूदन! तुम अद्वितीय वीर हो। तुमने उत्तम सम्पत्ति प्राप्त की है। तुम पृथ्वी और स्वर्ग दोनोंका भरण-पोषण एवं संरक्षण करते हो ॥ २४ ॥

पौरोहित्यं कथं कृत्वा तव देवगणेश्वर।
याजयेयमहं मर्त्यं मरुत्तं पाकशासन ॥ २५ ॥

'देवेश्वर! पाकशासन! तुम्हारी पुरोहिती करके मैं मरण-धर्मा मरुत्तका यज्ञ कैसे करा सकता हूँ ॥ २५ ॥

समाश्वसिहि देवेन्द्र नाहं मर्त्यस्य कर्हिचित्।
ग्रहीष्यामि स्रुवं यज्ञे शृणु चेदं वचो मम ॥ २६ ॥

'देवेन्द्र! धैर्य धारण करो। अब मैं कभी किसी मनुष्यके यज्ञमें जाकर स्रुवा हाथमें नहीं लूँगा। इसके सिवा मेरी यह बात भी ध्यानसे सुन लो ॥ २६ ॥

हिरण्यरेता नोष्णः स्यात् परिवर्तेत मेदिनी।
भासं तु न रविः कुर्यान्न तु सत्यं चलेन्मयि ॥ २७ ॥

'आग चाहे ठंडी हो जाय, पृथ्वी उलट जाय और सूर्यदेव प्रकाश करना छोड़ दें; किंतु मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा नहीं टल सकती' ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतिवचः श्रुत्वा शक्रो विगतमत्सरः।
प्रशस्यैनं विवेशाथ स्वमेव भवनं तदा ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बृहस्पतिजीकी बात सुनकर इन्द्रका मात्सर्य दूर हो गया और तब वे उनकी प्रशंसा करके अपने घरमें चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

नारदजीकी आज्ञासे मरुत्तका उनकी बतायी हुई युक्तिके अनुसार संवर्तसे भेंट करना

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादं मरुत्तस्य च धीमतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! इस प्रसंगमें बुद्धिमान् राजा मरुत्त और बृहस्पतिके इस पुरातन संवादविषयक इतिहासका उल्लेख किया जाता है ॥ १ ॥

देवराजस्य समयं कृतमाङ्गिरसेन ह।
श्रुत्वा मरुत्तो नृपतिर्यज्ञमाहारयत् परम् ॥ २ ॥

राजा मरुत्तने जब यह सुना कि अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिजीने मनुष्यके यज्ञ न करानेकी प्रतिज्ञा कर ली है, तब उन्होंने एक महान् यज्ञका आयोजन किया ॥ २ ॥

संकल्प्य मनसा यज्ञं करन्धमसुतात्मजः।
बृहस्पतिमुपागम्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बातचीत करनेमें कुशल करन्धमपौत्र मरुत्तने मन-ही-मन यज्ञका संकल्प करके बृहस्पतिजीके पास जाकर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

भगवन् यन्मया पूर्वमभिगम्य तपोधन।
कृतोऽभिसंधिर्यज्ञस्य भवतो वचनाद् गुरो ॥ ४ ॥
तमहं यष्टुमिच्छामि सम्भाराः सम्भृताश्च मे।
याज्योऽस्मि भवतः साधो तत् प्राप्नुहि विधत्स्व च ॥ ५ ॥

'भगवन्! तपोधन! गुरुदेव! मैंने पहले एक बार आकर जो आपसे यज्ञके विषयमें सलाह ली थी और आपने जिसके लिये मुझे आज्ञा दी थी, उस यज्ञको अब मैं प्रारम्भ करना चाहता हूँ। आपके कथनानुसार मैंने सब सामग्री एकत्र कर ली है। साधु पुरुष! मैं आपका पुराना यजमान भी हूँ। इसलिये चलिये, मेरा यज्ञ करा दीजिये' ॥ ४-५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

न कामये याजयितुं त्वामहं पृथिवीपते।
वृतोऽस्मि देवराजेन प्रतिज्ञातं च तस्य मे ॥ ६ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन् ! अब मैं तुम्हारा यज्ञ कराना नहीं चाहता। देवराज इन्द्रने मुझे अपना पुरोहित बना लिया है और मैंने भी उनके सामने यह प्रतिज्ञा कर ली है ॥ ६ ॥

मरुत्त उवाच

पित्र्यमस्मि तव क्षेत्रं बहु मन्ये च ते भृशम्।
तवास्मि याज्यतां प्राप्तो भजमानं भजस्व माम् ॥ ७ ॥

मरुत्त बोले—विप्रवर ! मैं आपके पिताके समयसे ही आपका यजमान हूँ तथा विशेष सम्मान करता हूँ। आपका शिष्य हूँ और आपकी सेवामें तत्पर रहता हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

अमर्त्यं याजयित्वाहं याजयिष्ये कथं नरम्।
मरुत्त गच्छ वा मा वा निवृत्तोऽस्म्यद्य याजनात्॥ ८ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—मरुत्त ! अमरोंका यज्ञ करानेके बाद मैं मरणधर्मा मनुष्योंका यज्ञ कैसे कराऊँगा ? तुम जाओ या रहो। अब मैं मनुष्योंका यज्ञकार्य करानेसे निवृत्त हो गया हूँ ॥ ८ ॥

न त्वां याजयितास्म्यद्य वृणु यं त्वमिहेच्छसि।
उपाध्यायं महाबाहो यस्ते यज्ञं करिष्यति ॥ ९ ॥

महाबाहो ! मैं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा। तुम दूसरे जिसको चाहो उसीको अपना पुरोहित बना लो। जो तुम्हारा यज्ञ करायेगा ॥ ९ ॥

व्यास उवाच

एवमुक्तस्तु नृपतिर्मरुत्तो व्रीडितोऽभवत्।
प्रत्यागच्छन् सुसंविग्नो ददर्श पथि नारदम् ॥ १० ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! बृहस्पतिजीसे ऐसा उत्तर पाकर महाराज मरुत्तको बड़ा संकोच हुआ। वे बहुत खिन्न होकर लौटे जा रहे थे, उसी समय मार्गमें उन्हें देवर्षि नारदजीका दर्शन हुआ ॥ १० ॥

देवर्षिणा समागम्य नारदेन स पार्थिवः।
विधिवत् प्राञ्जलिस्तस्थावथैनं नारदोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

देवर्षि नारदके साथ समागम होनेपर राजा मरुत्त यथाविधि हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब नारदजीने उनसे कहा—॥ ११ ॥

राजर्षे नातिहृष्टोऽसि कच्चित् क्षेमं तवानघ।
क्व गतोऽसि कुतश्चेदमप्रीतिस्थानमागतम् ॥ १२ ॥

'राजर्षे ! तुम अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देते हो। निष्पाप नरेश ! तुम्हारे यहाँ कुशल तो है न ? कहाँ गये थे और किस कारण तुम्हें यह खेदका अवसर प्राप्त हुआ है ? ॥

श्रोतव्यं चेन्मया राजन् ब्रूहि मे पार्थिवर्षभ।
व्यपनेष्यामि ते मन्युं सर्वयत्नैर्नराधिप ॥ १३ ॥

'राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो बताओ। नरेश्वर ! मैं पूर्ण यत्न करके तुम्हारा दुःख दूर करूँगा' ॥ १३ ॥

एवमुक्तो मरुत्तः स नारदेन महर्षिणा।
विप्रलम्भमुपाध्यायात् सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

महर्षि नारदके ऐसा कहनेपर राजा मरुत्तने उपाध्याय (पुरोहित) से बिछोह होनेका सारा समाचार उन्हें कह सुनाया ॥ १४ ॥

मरुत्त उवाच

गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्यं बृहस्पतिम्।
यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत ॥ १५ ॥

मरुत्तने कहा—नारदजी ! मैं अङ्गिराके पुत्र देवगुरु बृहस्पतिके पास गया था। मेरी यात्राका उद्देश्य यह था कि उन्हें अपना यज्ञ करानेके लिये ऋत्विजके रूपमें देखूँ; किंतु उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की ॥ १५ ॥

प्रत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितुं नाद्य कामये।
परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद ॥ १६ ॥

नारदजी ! मेरे गुरुने मुझपर मरणधर्मा मनुष्य होनेका दोष लगाकर मुझे त्याग दिया। उनके द्वारा इस प्रकार अस्वीकार किये जानेके कारण अब मैं जीवित रहना नहीं चाहता ॥

व्यास उवाच

एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह।
आविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव ॥ १७ ॥

व्यासजी कहते हैं—महाराज ! राजा मरुत्तके ऐसा कहनेपर देवर्षि नारदने अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा अविक्षित्कुमारको जीवन प्रदान करते हुए-से कहा ॥ १७ ॥

नारद उवाच

राजन्नङ्गिरसः पुत्रः संवर्तो नाम धार्मिकः।
चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन् प्रजाः॥१८॥
तं गच्छ यदि याज्यं त्वां न वाञ्छति बृहस्पतिः।
प्रसन्नस्त्वां महातेजाः संवर्तो याजयिष्यति ॥ १९ ॥

नारदजी बोले—राजन् ! अङ्गिराके दूसरे पुत्र संवर्त बड़े धार्मिक हैं। वे दिगम्बर होकर प्रजाको मोहमें डालते हुए अर्थात् सबसे छिपे रहकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते रहते हैं। यदि बृहस्पति तुम्हें अपना यजमान बनाना नहीं चाहते तो तुम संवर्तके ही पास चले जाओ। संवर्त बड़े तेजस्वी हैं, वे प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा यज्ञ करा देंगे ॥ १८-१९ ॥

महाराज मरुत्तकी देवर्षिसे भेंट

महाराज मरुत्तका संवर्तमुनिसे संवाद

मरुत्त उवाच

संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद।
पश्येयं क्व नु संवर्तं शंस मे वदतां वर॥ २०॥
कथं च तस्मै वर्तेयं कथं मां न परित्यजेत्।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे॥ २१॥

मरुत्त बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजी! आपने यह बात बताकर मुझे जिला दिया। अब यह बताइये कि मैं संवर्त मुनिका दर्शन कहाँ कर सकूँगा? मुझे उनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये? मैं कैसा व्यवहार करूँ, जिससे वे मेरा परित्याग न करें। यदि उन्होंने भी मेरी प्रार्थना ठुकरा दी तब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा॥ २०-२१॥

नारद उवाच

उन्मत्तवेषं बिभ्रत् स चङ्क्रमीति यथासुखम्।
वाराणस्यां महाराज दर्शनेप्सुर्महेश्वरम्॥ २२॥

नारदजीने कहा—महाराज! वे इस समय वाराणसीमें महेश्वर विश्वनाथके दर्शनकी इच्छासे पागलका-सा वेष धारण किये अपनी मौजसे घूम रहे हैं॥ २२॥

तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथाः कुणपं क्वचित्।
तं दृष्ट्वा यो निवर्तेत संवर्तः स महीपते॥ २३॥
तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत् स वीर्यवान्।
तमेकान्ते समासाद्य प्राञ्जलिः शरणं व्रजेः॥ २४॥

तुम उस पुरीके प्रवेश-द्वारपर पहुँचकर वहाँ कहींसे एक मुर्दा लाकर रख देना। पृथ्वीनाथ! जो उस मुर्देको देखकर सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े, उसे ही संवर्त समझना और वे शक्तिशाली मुनि जहाँ कहीं जायँ उनके पीछे-पीछे चले जाना। जब वे किसी एकान्त स्थानमें पहुँचें, तब हाथ जोड़कर शरणापन्न हो जाना॥ २३-२४॥

पृच्छेत् त्वां यदि केनाहं तवाख्यात इति स्म ह।
ब्रूयास्त्वं नारदेनेति संवर्त कथितोऽसि मे॥ २५॥

यदि तुमसे पूछें कि किसने तुम्हें मेरा पता बताया है तो कह देना—'संवर्तजी! नारदजीने मुझे आपका पता बताया है'॥ २५॥

स चेत् त्वामनुयुञ्जीत ममानुगमनेप्सया।
शंसेथा वह्निमारूढं मामपि त्वमशङ्कया॥ २६॥

यदि वे तुमसे मेरे पास आनेके लिये मेरा पता पूछें तो तुम निर्भीक होकर कह देना कि 'नारदजी आगमें समा गये'॥ २६॥

व्यास उवाच

स तथेति प्रतिश्रुत्य पूजयित्वा च नारदम्।
अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम्॥ २७॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर राजर्षि मरुत्तने 'बहुत अच्छा' कहकर नारदजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनसे जानेकी आज्ञा ले वे वाराणसीपुरीकी ओर चल दिये॥ २७॥

तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्या द्वारे महायशाः।
कुणपं स्थापयामास नारदस्य वचः स्मरन्॥ २८॥

वहाँ जाकर नारदजीके कथनका स्मरण करते हुए महायशस्वी नरेशने उनके बताये अनुसार काशीपुरीके द्वारपर एक मुर्दा लाकर रख दिया॥ २८॥

यौगपद्येन विप्रश्च पुरीद्वारमथाविशत्।
ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा संन्यवर्तत॥ २९॥

इसी समय विप्रवर संवर्त भी पुरीके द्वारपर आये; किंतु उस मुर्देको देखकर वे सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े॥ २९॥

स तं निवृत्तमालक्ष्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।
आविक्षितो महीपालः संवर्तमुपशिक्षितुम्॥ ३०॥

उन्हें लौटा देख राजा मरुत्त संवर्तसे शिक्षा लेनेके लिये हाथ जोड़े उनके पीछे-पीछे गये॥ ३०॥

स च तं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्दमेन च।
श्लेष्मणा चैव राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत्॥ ३१॥

एकान्तमें पहुँचनेपर राजाको अपने पीछे-पीछे आते देख संवर्तने उनपर धूल फेंकी, कीचड़ उछाला तथा थूक और खखार डाल दिये॥ ३१॥

स तथा बाध्यमानो वै संवर्तेन महीपतिः।
अन्वगादेव तमृषिं प्राञ्जलिः सम्प्रसादयन्॥ ३२॥

इस प्रकार संवर्तके सतानेपर भी राजा मरुत्त हाथ जोड़ उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे उन महर्षिके पीछे-पीछे चले ही गये॥ ३२॥

ततो निवर्त्य संवर्तः परिश्रान्त उपाविशत्।
शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं बहुशाखिनम्॥ ३३॥

तब संवर्त मुनि लौटकर शीतल छायासे युक्त तथा अनेक शाखाओंसे सुशोभित एक बरगदके नीचे थककर बैठ गये॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

संवर्त और मरुत्तकी बातचीत, मरुत्तके विशेष आग्रहपर संवर्तका यज्ञ करानेकी स्वीकृति देना

संवर्त उवाच

कथमस्मि त्वया ज्ञातः केन वा कथितोऽस्मि ते ।
एतदाचक्ष्व मे तत्त्वमिच्छसे चेन्मम प्रियम् ॥ १ ॥

संवर्त बोले—राजन् ! तुमने मुझे कैसे पहचाना है ? किसने तुम्हें मेरा परिचय दिया है ? यदि मेरा प्रिय चाहते हो तो यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

सत्यं ते ब्रुवतः सर्वे सम्पत्स्यन्ते मनोरथाः ।
मिथ्या च ब्रुवतो मूर्धा शतधा ते स्फुटिष्यति ॥ २ ॥

यदि सच-सच बता दोगे तो तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और यदि झूठ बोलोगे तो तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ २ ॥

मरुत्त उवाच

नारदेन भवान् मह्यमाख्यातो ह्यटता पथि ।
गुरुपुत्रो ममेति त्वं ततो मे प्रीतिरुत्तमा ॥ ३ ॥

मरुत्तने कहा—मुने ! भ्रमणशील नारदजीने रास्तेमें मुझे आपका परिचय दिया और पता बताया । आप मेरे गुरु अङ्गिराके पुत्र हैं, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ३ ॥

संवर्त उवाच

सत्यमेतद् भवानाह स मां जानाति सत्रिणम् ।
कथयस्व तदेतन्मे क नु सम्प्रति नारदः ॥ ४ ॥

संवर्त बोले—राजन् ! तुम ठीक कहते हो, नारदको यह मालूम है कि मैं यज्ञ कराना जानता हूँ और गुप्त वेषमें घूम रहा हूँ । अच्छा यह तो बताओ, इस समय नारद कहाँ हैं ? ॥ ४ ॥

मरुत्त उवाच

भवन्तं कथयित्वा तु मम देवर्षिसत्तमः ।
ततो मामभ्यनुज्ञाय प्रविष्टो हव्यवाहनम् ॥ ५ ॥

मरुत्तने कहा—मुने ! मुझे आपका परिचय और पता बताकर देवर्षिशिरोमणि नारद मुझे जानेकी आज्ञा दे स्वयं अग्निमें प्रवेश कर गये थे ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

श्रुत्वा तु पार्थिवस्यैतत् संवर्तः प्रमुदं गतः ।
एतावदहमप्येवं शक्नुयामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! राजाकी यह बात सुनकर संवर्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और बोले—'इतना तो मैं भी कर सकता हूँ' ॥ ६ ॥

ततो मरुत्तमुन्मत्तो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
रूक्षया ब्राह्मणो राजन् पुनः पुनरथाब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजन् ! वे उन्मत्त वेषधारी ब्राह्मण देवता मरुत्तको अपनी रूखी वाणीद्वारा बारंबार फटकारते हुए-से बोले— ॥ ७ ॥

वातप्रधानेन मया स्वचित्तवशवर्तिना ।
एवं विकृतरूपेण कथं याजितुमिच्छसि ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! मैं तो वायु-प्रधान—बावला हूँ, अपने मनकी मौजसे ही सब काम करता हूँ, मेरा रूप भी विकृत है । अतः मुझ-जैसे व्यक्तिसे तुम क्यों यज्ञ कराना चाहते हो ? ॥

भ्राता मम समर्थश्च वासवेन च संगतः ।
वर्तते याजने चैव तेन कर्माणि कारय ॥ ९ ॥

'मेरे भाई बृहस्पति इस कार्यमें पूर्णतः समर्थ हैं । आज-कल इन्द्रके साथ उनका मेलजोल बढ़ा हुआ है । वे उनके यज्ञ करानेमें लगे रहते हैं । अतः उन्हींसे अपने सारे यज्ञकर्म कराओ ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः ।
पूर्वजेन ममाक्षिप्तं शरीरं वर्जितं त्विदम् ॥ १० ॥

'घर-गृहस्थीका सारा सामान, यजमान तथा गृहदेवताओंके पूजन आदि कर्म—इन सबको इस समय मेरे बड़े भाईने अपने अधिकारमें कर लिया है । मेरे पास तो केवल मेरा एक शरीर ही छोड़ रक्खा है ॥ १० ॥

नाहं तेनाननुज्ञातस्त्वामाविक्षित कर्हिचित् ।
याजयेयं कथंचिद् वै स हि पूज्यतमो मम ॥ ११ ॥

'अविक्षित्-कुमार ! मैं उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना कभी किसी तरह भी तुम्हारा यज्ञ नहीं करा सकता; क्योंकि वे मेरे परम पूजनीय भाई हैं ॥ ११ ॥

स त्वं बृहस्पतिं गच्छ तमनुज्ञाप्य चाव्रज ।
ततोऽहं याजयिष्ये त्वां यदि यष्टुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

'अतः तुम बृहस्पतिके पास जाओ और उनकी आज्ञा लेकर आओ । उस दशामें यदि तुम यज्ञ कराना चाहो, तो मैं यज्ञ करा दूँगा' ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच

बृहस्पतिं गतः पूर्वमहं संवर्त तच्छृणु ।
न मां कामयते याज्यमसौ वासवकाम्यया ॥ १३ ॥

मरुत्तने कहा—संवर्तजी ! मैं पहले बृहस्पतिजीके ही पास गया था । वहाँका समाचार बताता हूँ, सुनिये । वे इन्द्रको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे अब मुझे अपना यजमान बनाना नहीं चाहते हैं ॥ १३ ॥

अमरं याज्यमासाद्य याजयिष्ये न मानुषम् ।
शक्रेण प्रतिषिद्धोऽहं मरुत्तं मा स्म याजयेः ॥ १४ ॥

स्पर्धते हि मया विप्र सदा हि स तु पार्थिवः।
एवमस्त्विति चाप्युक्तो भ्राता ते बलसूदनः ॥ १५ ॥

उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि 'अमर यजमान पाकर अब मैं मरणधर्मा मनुष्यका यज्ञ नहीं कराऊँगा।' साथ ही इन्द्रने मना भी किया है कि 'आप मरुत्तका यज्ञ न कराइयेगा; क्योंकि ब्रह्मन्! वह राजा सदा मेरे साथ ईर्ष्या रखता है।' इन्द्रकी इस बातको आपके भाईने 'एवमस्तु' कहकर स्वीकार कर लिया है ॥ १४-१५ ॥

स मामधिगतं प्रेम्णा याज्यत्वेन बुभूषति।
देवराजं समाश्रित्य तद् विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ १६ ॥

मुनिप्रवर! मैं बड़े प्रेमसे उनके पास गया था; परंतु वे देवराज इन्द्रका आश्रय लेकर मुझे अपना यजमान बनाना ही नहीं चाहते हैं। इस बातको आप अच्छी तरह जान लें॥

सोऽहमिच्छामि भवता सर्वस्वेनापि याजितुम्।
कामये समतिक्रान्तुं वासवं त्वत्कृतैर्गुणैः ॥ १७ ॥

अतः मेरी इच्छा यह है कि मैं सर्वस्व देकर भी आपसे ही यज्ञ कराऊँ और आपके द्वारा सम्पादित गुणोंके प्रभावसे इन्द्रको भी मात कर दूँ ॥ १७ ॥

न हि मे वर्तते बुद्धिर्गन्तुं ब्रह्मन् बृहस्पतिम्।
प्रत्याख्यातो हि तेनास्मि तथानपकृते सति ॥ १८ ॥

ब्रह्मन्! अब बृहस्पतिके पास जानेका मेरा विचार नहीं है; क्योंकि बिना अपराधके ही उन्होंने मेरी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी है ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच

चिकीर्षसि यथाकामं सर्वमेतत् त्वयि ध्रुवम्।
यदि सर्वानभिप्रायान् कर्तासि मम पार्थिव ॥ १९ ॥

संवर्तने कहा—पृथ्वीनाथ! यदि मेरी इच्छाके अनुसार काम करो तो तुम जो कुछ चाहोगे, वह निश्चय ही पूर्ण होगा ॥ १९ ॥

याज्यमानं मया हि त्वां बृहस्पतिपुरन्दरौ।
द्विषेतां समभिक्रुद्धावेतदेकं समर्थयेः ॥ २० ॥

जब मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा, तब बृहस्पति और इन्द्र दोनों ही कुपित होकर मेरे साथ द्वेष करेंगे। उस समय तुम्हें मेरे पक्षका समर्थन करना होगा ॥ २० ॥

स्थैर्यमत्र कथं मे स्यात् स त्वं निःसंशयं कुरु।
कुपितस्त्वां न हीदानीं भस्म कुर्यां सबान्धवम् ॥ २१ ॥

परंतु इस बातका मुझे विश्वास कैसे हो कि तुम मेरा साथ दोगे। अतः जैसे भी हो, मेरे मनका संशय दूर हो; नहीं तो अभी क्रोधमें भरकर मैं बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हें भस्म कर डालूँगा ॥ २१ ॥

मरुत्त उवाच

यावत् तपेत् सहस्रांशुस्तिष्ठेरंश्चापि पर्वताः।
तावल्लोकान्न लभेयं त्यजेयं सङ्गतं यदि ॥ २२ ॥

मरुत्तने कहा—ब्रह्मन्! यदि मैं आपका साथ छोड़ूँ तो जबतक सूर्य तपते हों और जबतक पर्वत स्थिर रहें तबतक मुझे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २२ ॥

मा चापि शुभबुद्धित्वं लभेयमिह कर्हिचित्।
विषयैः सङ्गतं चास्तु त्यजेयं सङ्गतं यदि ॥ २३ ॥

यदि आपका साथ छोड़ दूँ तो मुझे संसारमें शुभ बुद्धि कभी न प्राप्त हो और मैं सदा विषयोंमें ही रचा-पचा रह जाऊँ ॥ २३ ॥

संवर्त उवाच

आविक्षित शुभा बुद्धिर्वर्ततां तव कर्मसु।
याजनं हि ममाप्येव वर्तते हृदि पार्थिव ॥ २४ ॥

संवर्तने कहा—अविक्षित्-कुमार! तुम्हारी शुभ बुद्धि सदा सत्कर्मोंमें ही लगी रहे। पृथ्वीनाथ! मेरे मनमें भी तुम्हारा यज्ञ करानेकी इच्छा तो है ही ॥ २४ ॥

अभिधास्ये च ते राजन्नक्षयं द्रव्यमुत्तमम्।
येन देवान् सगन्धर्वाञ्शक्रं चाभिभविष्यसि ॥ २५ ॥

राजन्! इसके लिये मैं तुम्हें परम उत्तम अक्षय धनकी प्राप्तिका उपाय बतलाऊँगा, जिससे तुम गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा इन्द्रको भी नीचा दिखा सकोगे ॥२५॥

न तु मे वर्तते बुद्धिर्धने याज्येषु वा पुनः।
विप्रियं तु करिष्यामि भ्रातुश्चेन्द्रस्य चोभयोः॥ २६ ॥

मुझको अपने लिये धन अथवा यजमानोंके संग्रहका विचार नहीं है। मुझे तो भाई बृहस्पति और इन्द्र दोनोंके विरुद्ध कार्य करना है ॥ २६ ॥

गमयिष्यामि शक्रेण समतामपि ते ध्रुवम्।
प्रियं च ते करिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

निश्चय ही मैं तुम्हें इन्द्रकी बराबरीमें बैठाऊँगा और तुम्हारा प्रिय करूँगा। मैं यह बात तुमसे सत्य कहता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

संवर्तका मरुत्तको सुवर्णकी प्राप्तिके लिये महादेवजीकी नाममयी स्तुतिका उपदेश और धनकी प्राप्ति तथा मरुत्तकी सम्पत्तिसे बृहस्पतिका चिन्तित होना

संवर्त उवाच

गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।
तप्यते यत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिः॥ १॥

संवर्तने कहा—राजन्! हिमालयके पृष्ठभागमें मुञ्जवान् नामक एक पर्वत है, जहाँ उमावल्लभ भगवान् शङ्कर सदा तपस्या किया करते हैं॥ १॥

वनस्पतीनां मूलेषु शृङ्गेषु विषमेषु च।
गुहासु शैलराजस्य यथाकामं यथासुखम्॥ २॥
उमासहायो भगवान् यत्र नित्यं महेश्वरः।
आस्ते शूली महातेजा नानाभूतगणावृतः॥ ३॥

वहाँ वनस्पतियोंके मूलभागमें, दुर्गम शिखरोंपर तथा गिरिराजकी गुफाओंमें नाना प्रकारके भूतगणोंसे घिरे हुए महातेजस्वी त्रिशूलधारी भगवान् महेश्वर उमादेवीके साथ इच्छानुसार सुखपूर्वक सदा निवास करते हैं॥ २-३॥

तत्र रुद्राश्च साध्याश्च विश्वेऽथ वसवस्तथा।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च सहानुगः॥ ४॥
भूतानि च पिशाचाश्च नासत्यावपि चाश्विनौ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा देवर्षयस्तथा॥ ५॥
आदित्या मरुतश्चैव यातुधानाश्च सर्वशः।
उपासन्ते महात्मानं बहुरूपमुमापतिम्॥ ६॥

उस पर्वतपर रुद्रगण, साध्यगण, विश्वेदेवगण, वसुगण, यमराज, वरुण, अनुचरोंसहित कुबेर, भूत, पिशाच, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, देवर्षि, आदित्यगण, मरुद्गण तथा यातुधानगण, अनेक रूपधारी उमावल्लभ परमात्मा शिवकी सब प्रकारसे उपासना करते हैं॥ ४—६॥

रमते भगवांस्तत्र कुबेरानुचरैः सह।
विकृतैर्विकृताकारैः क्रीडद्भिः पृथिवीपते॥ ७॥

पृथ्वीनाथ! वहाँ विकराल आकार और विकृत वेषवाले कुबेर-सेवक यक्ष भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते हैं और उनके साथ भगवान् शिव आनन्दपूर्वक रहते हैं॥ ७॥

श्रिया ज्वलन् दृश्यते वै बालादित्यसमद्युतिः।
न रूपं शक्यते तस्य संस्थानं वा कदाचन॥ ८॥
निर्देष्टुं प्राणिभिः कैश्चित् प्राकृतैर्मांसलोचनैः।

उनका श्रीविग्रह प्रभातकालके सूर्यकी भाँति तेजसे जाज्वल्यमान दिखायी देता है। संसारके कोई भी प्राकृत प्राणी अपने मांसमय नेत्रोंसे उनके रूप या आकारको कभी देख नहीं सकते॥ ८½॥

नोष्णं न शिशिरं तत्र न वायुर्न च भास्करः॥ ९॥
न जरा क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्न भयं नृप।

वहाँ न अधिक गर्मी पड़ती है न विशेष ठंढक, न वायुका प्रकोप होता है न सूर्यके प्रचण्ड तापका। नरेश्वर! उस पर्वतपर न तो भूख सताती है, न प्यास, न बुढ़ापा आता है न मृत्यु। वहाँ दूसरा कोई भय भी नहीं प्राप्त होता है॥ ९½॥

तस्य शैलस्य पार्श्वेषु सर्वेषु जयतां वर॥ १०॥
धातवो जातरूपस्य रश्मयः सवितुर्यथा।
रक्ष्यन्ते ते कुबेरस्य सहायैरुद्यतायुधैः॥ ११॥
चिकीर्षद्भिः प्रियं राजन् कुबेरस्य महात्मनः।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश! उस पर्वतके चारों ओर सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान सुवर्णकी खानें हैं। राजन्! अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित कुबेरके अनुचर अपने स्वामी महात्मा कुबेरका प्रिय करनेकी इच्छासे उन खानोंकी रक्षा करते हैं॥ १०-११½॥

(तत्र गत्वा त्वमन्वास्य महायोगेश्वरं शिवम्।
कुरु प्रणामं राजर्षे भक्त्या परमया युतः॥)

राजर्षे! वहाँ जाकर तुम परम भक्तिभावसे युक्त हो महायोगेश्वर शिवको प्रणाम करो॥

तस्मै भगवते कृत्वा नमः शर्वाय वेधसे॥ १२॥
(एभिस्तं नामभिर्देवं सर्वविद्याधरं स्तुहि)

जगत्स्रष्टा भगवान् शङ्करको नमस्कार करके समस्त विद्याओंको धारण करनेवाले उन महादेवजीकी तुम इन निम्नाङ्कित नामोंद्वारा स्तुति करो॥ १२॥

रुद्राय शितिकण्ठाय पुरुषाय सुवर्चसे।
कपर्दिने करालाय हर्यक्ष्णे वरदाय च॥ १३॥
त्र्यक्ष्णे पूष्णो दन्तभिदे वामनाय शिवाय च।
याम्यायाव्यक्तरूपाय सद्वृत्ते शङ्कराय च॥ १४॥
क्षेम्याय हरिकेशाय स्थाणवे पुरुषाय च।
हरिनेत्राय मुण्डाय क्रुद्धायोत्तरणाय च॥ १५॥
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे।
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे॥ १६॥
गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे।
बिल्वदण्डाय सिद्धाय सर्वदण्डधराय च॥ १७॥
मृगव्याधाय महते धन्विनेऽथ भवाय च।
वराय सोमवक्त्राय सिद्धमन्त्राय चक्षुषे॥ १८॥

हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् ।
लेलिहानाय गोष्ठाय सिद्धमन्त्राय वृष्णये ॥ १९ ॥
पशूनां पतये चैव भूतानां पतये नमः ।
वृषाय मातृभक्ताय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ २० ॥
स्रुवहस्ताय पतये धन्विने भार्गवाय च ।
अजाय कृष्णनेत्राय विरूपाक्षाय चैव ह ॥ २१ ॥
तीक्ष्णदंष्ट्राय तीक्ष्णाय वैश्वानरमुखाय च ।
महाद्युतयेऽनङ्गाय सर्वाय पतये विशाम् ॥ २२ ॥
विलोहिताय दीप्ताय दीप्ताक्षाय महौजसे ।
वसुरेतःसुवपुषे पृथवे कृत्तिवाससे ॥ २३ ॥
कपालमालिने चैव सुवर्णमुकुटाय च ।
महादेवाय कृष्णाय त्र्यम्बकायानघाय च ॥ २४ ॥
क्रोधनायानृशंसाय मृदवे बाहुशालिने ।
दण्डिने तप्ततपसे तथैवाक्रूरकर्मणे ॥ २५ ॥
सहस्रशिरसे चैव सहस्रचरणाय च ।
नमः स्वधास्वरूपाय बहुरूपाय दंष्ट्रिणे ॥ २६ ॥

'भगवन् ! आप रुद्र (दुःखके कारणको दूर करनेवाले), शितिकण्ठ (गलेमें नील चिह्न धारण करनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), सुवर्चा (अत्यन्त तेजस्वी), कपर्दी (जटाजूटधारी), कराल (भयंकर रूपवाले), हर्यक्ष (हरे नेत्रोंवाले), वरद (भक्तोंको अभीष्ट वर प्रदान करनेवाले), त्र्यक्ष (त्रिनेत्रधारी), पूषाके दाँत उखाड़नेवाले, वामन, शिव, याम्य (यमराजके गणस्वरूप), अव्यक्तरूप, सद्वृत्त (सदाचारी), शङ्कर, क्षेम्य (कल्याणकारी) हरिकेश (भूरे केशोंवाले), स्थाणु (स्थिर), पुरुष, हरिनेत्र, मुण्ड, क्रुद्ध, उत्तरण (संसार-सागरसे पार उतारनेवाले), भास्कर (सूर्यरूप), सुतीर्थ (पवित्र तीर्थरूप), देवदेव, रंहस (वेगवान्), उष्णीषी (सिरपर पगड़ी धारण करनेवाले), सुवक्त्र (सुन्दर मुखवाले), सहस्राक्ष (हजारों नेत्रोंवाले), मीढ्वान् (कामपूरक), गिरिश (पर्वतपर शयन करनेवाले), प्रशान्त, यति (संयमी), चीरवासा (चीरवस्त्र धारण करनेवाले), बिल्वदण्ड (बेलका डंडा धारण करनेवाले), सिद्ध, सर्वदण्डधर (सबको दण्ड देनेवाले), मृगव्याध (आर्द्रा नक्षत्रस्वरूप), महान्, धन्वी (पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले), भव (संसारकी उत्पत्ति करनेवाले), वर (श्रेष्ठ), सोमवक्त्र (चन्द्रमाके समान मुखवाले), सिद्धमन्त्र (जिन्होंने सभी मन्त्र सिद्ध कर लिया है ऐसे), चक्षुष (नेत्ररूप), हिरण्यबाहु (सुवर्णके समान सुन्दर भुजाओंवाले), उग्र (भयंकर), दिशाओंके पति, लेलिहान (अग्निरूपसे अपनी जिह्वाओंके द्वारा हविष्यका आस्वादन करनेवाले), गोष्ठ (वाणीके निवासस्थान), सिद्धमन्त्र, वृष्णि (कामनाओंकी वृष्टि करनेवाले), पशुपति, भूतपति, वृष (धर्मस्वरूप), मातृभक्त, सेनानी (कार्तिकेयरूप), मध्यम, स्रुवहस्त (हाथमें स्रुवा ग्रहण करनेवाले ऋत्विजरूप), पति (सबका पालन करनेवाले), धन्वी, भार्गव, अज (जन्मरहित), कृष्णनेत्र, विरूपाक्ष, तीक्ष्णदंष्ट्र, तीक्ष्ण, वैश्वानरमुख (अग्निरूप मुखवाले), महाद्युति, अनङ्ग (निराकार), सर्व, विशाम्पति (सबके स्वामी), विलोहित (रक्तवर्ण), दीप्त (तेजस्वी), दीप्ताक्ष (देदीप्यमान नेत्रोंवाले), महौजा (महाबली), वसुरेता (हिरण्यवीर्य अग्निरूप), सुवपु (सुन्दर शरीरवाले), पृथु (स्थूल), कृत्तिवासा (मृगचर्म धारण करनेवाले), कपालमाली (मुण्डमाला धारण करनेवाले), सुवर्णमुकुट, महादेव, कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप), त्र्यम्बक (त्रिनेत्रधारी), अनघ (निष्पाप), क्रोधन (दुष्टोंपर क्रोध करनेवाले), अनृशंस (कोमल स्वभाववाले), मृदु, बाहुशाली, दण्डी, तेज तप करनेवाले, कोमल कर्म करनेवाले, सहस्रशिरा (हजारों मस्तकवाले), सहस्रचरण, स्वधास्वरूप, बहुरूप और दंष्ट्री नाम धारण करनेवाले हैं । आपको मेरा प्रणाम है ॥१३–२६॥

पिनाकिनं महादेवं महायोगिनमव्ययम् ।
त्रिशूलहस्तं वरदं त्र्यम्बकं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम् ।
प्रभवं सर्वभूतानां धारणं धरणीधरम् ॥ २८ ॥
ईशानं शङ्करं सर्वं शिवं विश्वेश्वरं भवम् ।
उमापतिं पशुपतिं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥ २९ ॥
विरूपाक्षं दशभुजं दिव्यगोवृषभध्वजम् ।
उग्रं स्थाणुं शिवं रौद्रं शर्वं गौरीशमीश्वरम् ॥ ३० ॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं पृथुं पृथुहरं वरम् ।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३१ ॥
प्रणम्य शिरसा देवमनङ्गाङ्गहरं हरम् ।
शरण्यं शरणं याहि महादेवं चतुर्मुखम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उन पिनाकधारी, महादेव, महायोगी, अविनाशी, हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले, वरदायक, त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, त्रिपुरासुरको मारनेवाले, त्रिनेत्रधारी, त्रिभुवनके स्वामी, महान् बलवान्, सब जीवोंकी उत्पत्तिके कारण, सबको धारण करनेवाले, पृथ्वीका भार सँभालनेवाले, जगत्के शासक, कल्याणकारी, सर्वरूप, शिव, विश्वेश्वर, जगत्को उत्पन्न करनेवाले, पार्वतीके पति, पशुओंके पालक, विश्वरूप, महेश्वर, विरूपाक्ष, दस भुजाधारी, अपनी ध्वजामें दिव्य वृषभका चिह्न धारण करनेवाले, उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, गौरीश, ईश्वर, शितिकण्ठ, अजन्मा, शुक्र, पृथु, पृथुहर, वर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप, उमापति, कामदेवको भस्म करनेवाले, हर, चतुर्मुख एवं शरणागतवत्सल महादेवजीको सिरसे प्रणाम करके उनके शरणापन्न हो जाना ॥ २७–३२ ॥

(विरोचमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
अनाद्यन्तमजं शम्भुं सर्वव्यापिनमीश्वरम् ॥
निस्त्रैगुण्यं निरुद्वेगं निर्मलं निधिमोजसाम् ।
प्रणम्य प्राञ्जलिः शर्वं प्रयामि शरणं हरम् ॥

(और इस प्रकार स्तुति करना—) जो अपने तेजस्वी श्रीविग्रहसे प्रकाशित हो रहे हैं, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं, आदि-अन्तसे रहित, अजन्मा, शम्भु, सर्वव्यापी, ईश्वर, त्रिगुणरहित, उद्वेगशून्य, निर्मल, ओज एवं तेजकी निधि एवं सबके पाप और दुःखको हर लेनेवाले हैं, उन भगवान् शङ्करको हाथ जोड़ प्रणाम करके मैं उनकी शरणमें जाता हूँ ॥

सम्मान्यं निश्चलं नित्यमकारणमलेपनम् ।
अध्यात्मवेदमासाद्य प्रयामि शरणं मुहुः ॥

जो सम्माननीय, निश्चल, नित्य, कारणरहित, निर्लेप और अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता हैं, उन भगवान् शिवके निकट पहुँचकर मैं बारंबार उन्हींकी शरणमें जाता हूँ ॥

यस्य नित्यं विदुः स्थानं मोक्षमध्यात्मचिन्तकाः ।
योगिनस्तत्त्वमार्गस्थाः कैवल्यं पदमक्षरम् ॥
यं विदुः सङ्गनिर्मुक्ताः सामान्यं समदर्शिनः ।
तं प्रपद्ये जगद्योनिमयोनिं निर्गुणात्मकम् ॥

अध्यात्मतत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी पुरुष मोक्ष-तत्त्वमें जिनकी स्थिति मानते हैं तथा तत्त्वमार्गमें परिनिष्ठित योगीजन अविनाशी कैवल्य पदको जिनका स्वरूप समझते हैं और आसक्तिशून्य समदर्शी महात्मा जिन्हें सर्वत्र समान-रूपसे स्थित समझते हैं, उन योनिरहित जगत्कारणभूत निर्गुण परमात्मा शिवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

असृजद् यस्तु भूरादीन् सप्तलोकान् सनातनान् ।
स्थितः सत्योपरि स्थाणुं तं प्रपद्ये सनातनम् ॥

जिन्होंने सत्यलोकके ऊपर स्थित होकर भू आदि सात सनातन लोकोंकी सृष्टि की है, उन स्थाणुरूप सनातन शिवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

भक्तानां सुलभं तं हि दुर्लभं दूरपातिनाम् ।
अदूरस्थममुं देवं प्रकृतेः परतः स्थितम् ॥
नमामि सर्वलोकस्थं व्रजामि शरणं शिवम् ।)

जो भक्तोंके लिये सुलभ और दूर (विमुख) रहनेवाले लोगोंके लिये दुर्लभ हैं, जो सबके निकट और प्रकृतिसे परे विराजमान हैं, उन सर्वलोकव्यापी महादेव शिवको मैं नमस्कार करता और उनकी शरण लेता हूँ ॥

एवं कृत्वा नमस्तस्मै महादेवाय रंहसे ।
महात्मने क्षितिपते तत्सुवर्णमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार वेगशाली महात्मा महादेवजीको नमस्कार करके तुम वह सुवर्ण-राशि प्राप्त कर लोगे ॥ ३३ ॥

(लभन्ते गाणपत्यं च तदेकाग्रा हि मानवाः ।
किं पुनः स्वर्णभाण्डानि तस्मात् त्वं गच्छ मा चिरम् ॥
महत्तरं हि ते लाभं हस्त्यश्वोष्ट्रादिभिः सह ।)

जो लोग भगवान् शङ्करमें अपने मनको एकाग्र करते हैं, वे तो गणपति-पदको भी प्राप्त कर लेते हैं, फिर सुवर्णमय पात्र पा लेना कौन बड़ी बात है । अतः तुम शीघ्र वहाँ जाओ, विलम्ब न करो । हाथी, घोड़े और ऊँट आदिके साथ तुम्हें वहाँ महान् लाभ प्राप्त होगा ॥

सुवर्णमाहरिष्यन्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः ।
इत्युक्तः स वचस्तेन चक्रे कारन्धमात्मजः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे सेवकलोग सुवर्ण लानेके लिये वहाँ जायँ । उनके ऐसा कहनेपर करन्धमके पौत्र मरुत्तने वैसा ही किया ॥

(गङ्गाधरं नमस्कृत्य लब्धवान् धनमुत्तमम् ।
कुबेर इव तत् प्राप्य महादेवप्रसादतः ॥
शालाश्च सर्वसम्भारास्ततः संवर्तशासनात् ।)

उन्होंने गङ्गाधर महादेवजीको नमस्कार करके उनकी कृपासे कुबेरकी भाँति उत्तम धन प्राप्त कर लिया । उस धनको पाकर संवर्तकी आज्ञासे उन्होंने यज्ञशालाओं तथा अन्य सब सम्भारोंका आयोजन किया ॥

ततोऽतिमानुषं सर्वं चक्रे यज्ञस्य संविधिम् ।
सौवर्णानि च भाण्डानि संचक्रुस्तत्र शिल्पिनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर राजाने अलौकिकरूपसे यज्ञकी सारी तैयारी आरम्भ की । उनके कारीगरोंने वहाँ रहकर सोनेके बहुत-से पात्र तैयार किये ॥ ३५ ॥

बृहस्पतिस्तु तां श्रुत्वा मरुत्तस्य महीपतेः ।
समृद्धिमतिदेवेभ्यः संतापमकरोद् भृशम् ॥ ३६ ॥

उधर बृहस्पतिने जब सुना कि राजा मरुत्तको देवताओं-से भी बढ़कर सम्पत्ति प्राप्त हुई है, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ ॥ ३६ ॥

स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत् परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्तो वसुमानिति ॥ ३७ ॥

वे चिन्ताके मारे पीले पड़ गये और यह सोचकर कि 'मेरा शत्रु संवर्त बहुत धनी हो जायगा' उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया ॥ ३७ ॥

तं श्रुत्वा भृशसंतप्तं देवराजो बृहस्पतिम् ।
अधिगम्यामरवृतः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ ३८ ॥

देवराज इन्द्रने जब सुना कि बृहस्पतिजी अत्यन्त संतप्त हो रहे हैं, तब वे देवताओंको साथ लेकर उनके पास गये और इस प्रकार पूछने लगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

बृहस्पतिका इन्द्रसे अपनी चिन्ताका कारण बताना, इन्द्रकी आज्ञासे अग्निदेवका मरुत्तके पास उनका संदेश लेकर जाना और संवर्तके भयसे पुनः लौटकर इन्द्रसे ब्रह्मबलकी श्रेष्ठता बताना

इन्द्र उवाच

कच्चित्सुखं स्वपिषि त्वं बृहस्पते
कच्चिन्मनोज्ञाः परिचारकास्ते।
कच्चिद्देवानां सुखकामोऽसि विप्र
कच्चिद्देवास्त्वां परिपालयन्ति॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—बृहस्पते ! आप सुखसे सोते हैं न ? आपको मनके अनुकूल सेवक प्राप्त हैं न ? विप्रवर ! आप देवताओंके सुखकी कामना तो रखते हैं न ? क्या देवता आपका पूर्णरूपसे पालन करते हैं ?॥ १ ॥

बृहस्पतिरुवाच

सुखं शये शयने देवराज
तथा मनोज्ञाः परिचारका मे।
तथा देवानां सुखकामोऽस्मि नित्यं
देवाश्च मां सुभृशं पालयन्ति॥ २ ॥

बृहस्पतिजी बोले—देवराज ! मैं सुखसे शय्यापर सोता हूँ, मुझे मेरे मनके अनुकूल सेवक प्राप्त हुए हैं। मैं सदा देवताओंके सुखकी कामना करता हूँ और देवतालोग भी मेरा भलीभाँति पालन करते हैं॥ २ ॥

इन्द्र उवाच

कुतो दुःखं मानसं देहजं वा
पाण्डुर्विवर्णश्च कुतस्त्वमद्य।
आचक्ष्व मे ब्राह्मण यावदेतान्
निहन्मि सर्वांस्तव दुःखकर्तॄन्॥ ३ ॥

इन्द्रने कहा—विप्रवर ! आपको यह मानसिक अथवा शारीरिक दुःख कैसे प्राप्त हुआ ? आप आज उदास और पीले क्यों हो रहे हैं ? आप बताइये तो सही, जिन्होंने आपको दुःख दिया है, उन सबको मैं अभी नष्ट किये देता हूँ॥ ३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

मरुत्तमाहुर्मघवन् यक्ष्यमाणं
महायज्ञेनोत्तमदक्षिणेन ।
संवर्तो याजयतीति मे श्रुतं
तदिच्छामि न स तं याजयेत॥ ४ ॥

बृहस्पतिजी बोले—मघवन् ! लोग कहते हैं कि महाराज मरुत्त उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त एक महान् यज्ञ करने जा रहे हैं तथा यह भी मेरे सुननेमें आया है कि संवर्त ही आचार्य होकर वह यज्ञ करायेंगे। परंतु मेरी इच्छा है कि वे उस यज्ञको न कराने पावें॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

सर्वान् कामाननुयातोऽसि विप्र
यस्त्वं देवानां मन्त्रवित्सुपुरोधाः।
उभौ च ते जरामृत्यू व्यतीतौ
किं संवर्तस्तव कर्ताद्य विप्र॥ ५ ॥

इन्द्रने कहा—ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग आपको प्राप्त हैं; क्योंकि आप देवताओंके मन्त्रज्ञ पुरोहित हैं। आपने जरा और मृत्यु दोनोंको जीत लिया है। फिर संवर्त आपका क्या कर सकते हैं ?॥ ५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

देवैः सह त्वमसुरान् प्रणुद्य
जिघांससे चाप्युत सानुबन्धान्।
यं यं समृद्धं पश्यसि तत्र तत्र
दुःखं सपत्नेषु समृद्धिभावः॥ ६ ॥

बृहस्पतिजी बोले—देवराज ! तुम असुरोंमेंसे जिस-जिसको समृद्धिशाली देखते हो, उसके ऊपर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देवताओंके साथ आक्रमण करके उन सभी असुरोंको मिटा डालना चाहते हो। वास्तवमें शत्रुओंकी समृद्धि दुःखका कारण होती है॥ ६ ॥

अतोऽस्मि देवेन्द्र विवर्णरूपः
सपत्नो मे वर्धते तन्निशम्य।
सर्वोपायैर्मघवन् संनियच्छ
संवर्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम्॥ ७ ॥

देवेन्द्र ! इसीसे मैं भी उदास हो रहा हूँ। मेरा शत्रु संवर्त बढ़ रहा है, यह सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ गयी है। अतः मघवन् ! तुम सभी सम्भव उपायोंद्वारा संवर्त और राजा मरुत्तको कैद कर लो॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

एहि गच्छ प्रहितो जातवेदो
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
अयं वै त्वां याजयिता बृहस्पति-
स्तथामरं चैव करिष्यतीति॥ ८ ॥

तब इन्द्रने अग्निदेवसे कहा—जातवेदा ! इधर आओ और मेरा संदेश लेकर मरुत्तके पास जाओ। मरुत्तकी सम्मति लेकर बृहस्पतिजीको उनके पास पहुँचा देना। वहाँ जाकर राजासे कहना कि 'ये बृहस्पतिजी ही आपका यज्ञ करायेंगे तथा ये आपको अमर भी कर देंगे'॥ ८ ॥

अग्निरुवाच

अहं गच्छामि मघवन् दूतोऽद्य
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
वाचं सत्यां पुरुहूतस्य कर्तुं
बृहस्पतेश्चापचितिं चिकीर्षुः ॥ ९ ॥

अग्निदेवने कहा—मघवन्! मैं बृहस्पतिजीको मरुत्तके पास पहुँचा आनेके लिये आज आपका दूत बनकर जा रहा हूँ। ऐसा करके मैं देवेन्द्रकी आज्ञाका पालन और बृहस्पतिजीका सम्मान करना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

व्यास उवाच

ततः प्रायाद् धूमकेतुर्महात्मा
वनस्पतीन् वीरुधश्चापमृद्नन्।
कामाद्धिमान्ते परिवर्तमानः
काष्ठातिगो मातरिश्वेव नर्दन् ॥ १० ॥

व्यासजी कहते हैं—यह कहकर धूममय ध्वजावाले महात्मा अग्निदेव वनस्पतियों और लताओंको रौंदते हुए वहाँसे चल दिये। ठीक उसी तरह जैसे शीतकालके अन्तमें स्वच्छन्दतापूर्वक बहनेवाली दिगन्तव्यापिनी वायु विशेष गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही हो ॥ १० ॥

मरुत्त उवाच

आश्चर्यमद्य पश्यामि रूपिणं वह्निमागतम्।
आसनं सलिलं पाद्यं गां चोपानय वै मुने ॥ ११ ॥

मरुत्तने कहा—मुने! बड़े आश्चर्यकी बात है कि

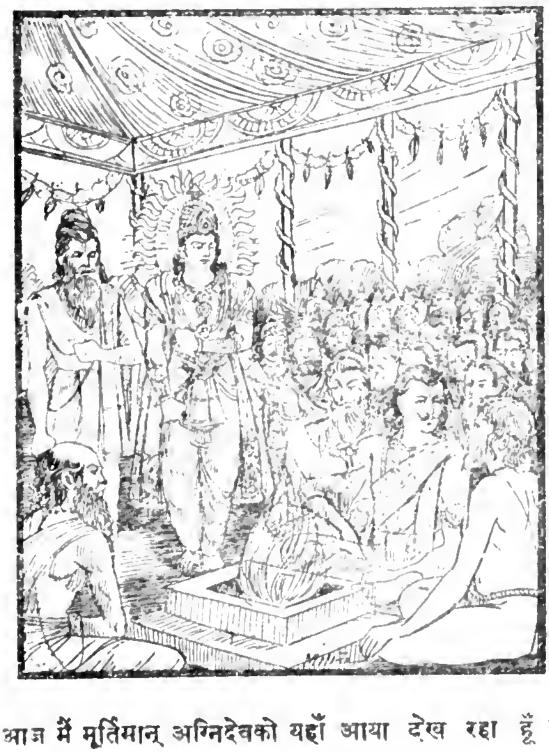

आज मैं मूर्तिमान् अग्निदेवको यहाँ आया देख रहा हूँ। आप इनके लिये आसन, पाद्य, अर्घ्य और गौ प्रस्तुत कीजिये ॥

अग्निरुवाच

आसनं सलिलं पाद्यं प्रतिनन्दामि तेऽनघ।
इन्द्रेण तु समादिष्टं विद्धि मां दूतमागतम् ॥ १२ ॥

अग्निने कहा—निष्पाप नरेश! आपके दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और आसन आदिका अभिनन्दन करता हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि इस समय मैं इन्द्रका संदेश लेकर उनका दूत बनकर आपके पास आया हूँ ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच

कच्चिच्छ्रीमान् देवराजः सुखी च
कच्चिच्चास्मान् प्रीयते धूमकेतो।
कच्चिद्देवा अस्य वशे यथावत्
प्रब्रूहि त्वं मम कार्त्स्न्येन देव ॥ १३ ॥

मरुत्तने कहा—अग्निदेव! श्रीमान् देवराज सुखी तो हैं न? धूमकेतो! वे हमलोगोंपर प्रसन्न हैं न? सम्पूर्ण देवता उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न? देव! ये सारी बातें आप मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १३ ॥

अग्निरुवाच

शक्रो भृशं सुसुखी पार्थिवेन्द्र
प्रीतिं चेच्छत्यजरां वै त्वया सः।
देवाश्च सर्वे वशगास्तस्य राजन्
संदेशं त्वं शृणु मे देवराज्ञः ॥ १४ ॥

अग्निदेवने कहा—राजेन्द्र! देवराज इन्द्र बड़े सुखसे हैं और आपके साथ अटूट मैत्री जोड़ना चाहते हैं। सम्पूर्ण देवता भी उनके अधीन ही हैं। अब आप मुझसे देवराज इन्द्रका संदेश सुनिये ॥ १४ ॥

यदर्थं मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
अयं गुरुर्याजयतां नृप त्वां
मर्त्यं सन्तममरं त्वां करोतु ॥ १५ ॥

उन्होंने जिस कामके लिये मुझे आपके पास भेजा है, उसे सुनिये। वे मेरे द्वारा बृहस्पतिजीको आपके पास भेजना चाहते हैं। उन्होंने कहा है कि बृहस्पतिजी आपके गुरु हैं। अतः ये ही आपका यज्ञ करायेंगे। आप मरणधर्मा मनुष्य हैं। ये आपको अमर बना देंगे ॥ १५ ॥

मरुत्त उवाच

संवर्तोऽयं याजयिता द्विजो मां
बृहस्पतेरञ्जलिरेष तस्य।
न चैवासौ याजयित्वा महेन्द्रं
मर्त्यं सन्तं याजयन्नद्य शोभेत् ॥ १६ ॥

मरुत्तने कहा—भगवन्! मेरा यज्ञ ये विप्रवर संवर्तजी

करायेंगे। बृहस्पतिजीके लिये तो मेरी यह अञ्जलि जुड़ी हुई है। महेन्द्रका यज्ञ कराकर अब मेरे-जैसे मरणधर्मा मनुष्यका यज्ञ करानेमें उनकी शोभा नहीं है ॥ १६ ॥

अग्निरुवाच

ये वै लोका देवलोके महान्तः
सम्प्राप्स्यसे तान् देवराजप्रसादात्।
त्वां चेदसौ याजयेद् वै बृहस्पति-
र्नूनं स्वर्गं त्वं जयेः कीर्तियुक्तः ॥ १७ ॥
तथा लोका मानुषा ये च दिव्याः
प्रजापतेश्चापि ये वै महान्तः।
ते ते जिता देवराज्यं च कृत्स्नं
बृहस्पतिर्याजयेच्चेन्नरेन्द्र ॥ १८ ॥

अग्निदेवने कहा—राजन्! यदि बृहस्पतिजी आपका यज्ञ करायेंगे तो देवराज इन्द्रके प्रसादसे देवलोकके भीतर जितने बड़े-बड़े लोक हैं, वे सभी आपके लिये सुलभ हो जायँगे। निश्चय ही आप यशस्वी होनेके साथ ही स्वर्गपर भी विजय प्राप्त कर लेंगे। मानवलोक, दिव्यलोक, महान् प्रजापतिलोक और सम्पूर्ण देवराज्यपर भी आपका अधिकार हो जायगा ॥ १७-१८ ॥

संवर्त उवाच

मा स्मैव त्वं पुनरागाः कथंचिद्
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
मा त्वां धक्ष्ये चक्षुषा दारुणेन
संक्रुद्धोऽहं पावक त्वं निबोध ॥ १९ ॥

संवर्तने कहा—अग्ने! तुम मेरी इस बातको अच्छी तरह समझ लो कि अबसे फिर कभी बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये तुम्हें यहाँ नहीं आना चाहिये। नहीं तो क्रोधमें भरकर मैं अपनी दारुण दृष्टिसे तुम्हें भस्म कर डालूँगा ॥ १९ ॥

व्यास उवाच

ततो देवानगमद् धूमकेतु-
र्दाहाद् भीतो व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
तं वै दृष्ट्वा प्राह शक्रो महात्मा
बृहस्पतेः संनिधौ हव्यवाहम् ॥ २० ॥
यस्त्वं गतः प्रहितो जातवेदो
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
तत् किं प्राह स नृपो यक्ष्यमाणः
कच्चिद् वचः प्रतिगृह्णाति तच्च ॥ २१ ॥

व्यासजी कहते हैं—संवर्तकी बात सुनकर अग्निदेव भस्म होनेके भयसे व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपते हुए तुरंत देवताओंके पास लौट गये। उन्हें आया देख महामना इन्द्रने बृहस्पतिजीके सामने ही पूछा—'अग्निदेव! तुम तो मेरे भेजनेसे बृहस्पतिजीको राजा मरुत्तके पास पहुँचानेका संदेश लेकर गये थे। बताओ, यज्ञकी तैयारी करनेवाले राजा मरुत्त क्या कहते हैं? वे मेरी बात मानते हैं या नहीं?' ॥

अग्निरुवाच

न ते वाचं रोचयते मरुत्तो
बृहस्पतेरञ्जलिं प्राहिणोत् सः।
संवर्तो मां याजयितेत्युवाच
पुनः पुनः स मया याच्यमानः ॥ २२ ॥

अग्निने कहा—देवराज! राजा मरुत्तको आपकी बात पसंद नहीं आयी। बृहस्पतिजीको तो उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम कहलाया है। मेरे बारंबार अनुरोध करनेपर भी उन्होंने यही उत्तर दिया है कि 'संवर्तजी ही मेरा यज्ञ करायेंगे' ॥ २२ ॥

उवाचेदं मानुषा ये च दिव्याः
प्रजापतेर्ये च लोका महान्तः।
तांश्चेल्लभेयं संविदं तेन कृत्वा
तथापि नेच्छेयमिति प्रतीतः ॥ २३ ॥

उन्होंने यह भी कहा है कि 'जो मनुष्यलोक, दिव्यलोक और प्रजापतिके महान् लोक हैं, उन्हें भी यदि इन्द्रके साथ समझौता करके ही पा सकता हूँ तो भी मैं बृहस्पतिजीको अपने यज्ञका पुरोहित बनाना नहीं चाहता हूँ। यह मैं दृढ़ निश्चयके साथ कह रहा हूँ' ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

पुनर्गत्वा पार्थिवं त्वं समेत्य
वाक्यं मदीयं प्रापय स्वार्थयुक्तम्।
पुनर्यद् युक्तो न करिष्यते वच-
स्त्वत्तो वज्रं सम्प्रहर्तास्मि तस्मै ॥ २४ ॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव! एक बार फिर जाकर राजा मरुत्तसे मिलो और मेरा अर्थयुक्त संदेश उनके पास पहुँचा दो। यदि तुम्हारे द्वारा दुबारा कहनेपर भी मेरी बात नहीं मानेंगे तो मैं उनके ऊपर वज्रका प्रहार करूँगा ॥ २४ ॥

अग्निरुवाच

गन्धर्वराड् यात्वयं तत्र दूतो
बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम्।
संरब्धो मामब्रवीत् तीक्ष्णरोषः
संवर्तो वाक्यं चरितब्रह्मचर्यः ॥ २५ ॥
यद्यागच्छेः पुनरेवं कथंचिद्
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
दहेयं त्वां चक्षुषा दारुणेन
संक्रुद्ध इत्येतदवैहि शक्र ॥ २६ ॥

अग्निने कहा—देवेन्द्र! ये गन्धर्वराज वहाँ दूत बनकर जायँ। मैं दुबारा वहाँ जानेसे डरता हूँ; क्योंकि

ब्रह्मचारी संवर्तने तीव्र रोषमें भरकर मुझसे कहा था कि 'अग्ने ! यदि फिर इस प्रकार किसी तरह बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये आओगे तो मैं कुपित हो दारुण दृष्टिसे तुम्हें भस्म कर डालूँगा।' इन्द्र ! उनकी इस बातको अच्छी तरह समझ लीजिये ॥ २५-२६ ॥

शक्र उवाच

त्वमेवान्यान् दहसे जातवेदो
न हि त्वदन्यो विद्यते भस्मकर्ता ।
त्वत्संस्पर्शात् सर्वलोको बिभेति
अश्रद्धेयं वदसे हव्यवाह ॥ २७ ॥

इन्द्रने कहा—हव्यवाहन ! अग्निदेव ! तुम तो ऐसी बात कह रहे हो, जिसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि तुम्हीं दूसरोंको भस्म करते हो। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भस्म करनेवाला नहीं है। तुम्हारे स्पर्शसे सभी लोग डरते हैं ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच

दिवं देवेन्द्र पृथिवीं च सर्वां
संवेष्टयेस्त्वं स्वबलेनैव शक्र ।
एवंविधस्येह सतस्तवासौ
कथं वृत्रस्त्रिदिवं प्राग् जहार ॥ २८ ॥

अग्निदेवने कहा—देवेन्द्र ! आप भी तो अपने बलसे सारी पृथ्वी और स्वर्गलोकको आवेष्टित किये हुए हैं। ऐसे होनेपर भी आपके इस स्वर्गको पूर्वकालमें वृत्रासुरने कैसे हर लिया ? ॥ २८ ॥

इन्द्र उवाच

न गण्डिकाकारयोगं करेऽणु
न चारिसोमं प्रपिबामि वह्ने ।
न क्षीणशक्तौ प्रहरामि वज्रं
को मेऽसुखाय प्रहरेत मर्त्यः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव ! मैं पर्वतको भी मक्खीके समान छोटा कर सकता हूँ तो भी शत्रुका दिया हुआ सोमरस नहीं पीता हूँ और जिसकी शक्ति क्षीण हो गयी है, ऐसे शत्रुपर वज्रका प्रहार नहीं करता। फिर भी कौन ऐसा मनुष्य है, जो मुझे कष्ट पहुँचानेके लिये मुझपर प्रहार कर सके ? ॥ २९ ॥

प्रव्राजयेयं कालकेयान् पृथिव्या-
मपाकर्षन् दानवानन्तरिक्षात् ।
दिवः प्रह्लादमवसानमानयं
को मेऽसुखाय प्रहरेत मानवः ॥ ३० ॥

मैं चाहूँ तो कालकेय-जैसे दानवोंको आकाशसे खींचकर पृथ्वीपर गिरा सकता हूँ। इसी प्रकार स्वर्गसे प्रह्लादके प्रभुत्व-का भी अन्त कर सकता हूँ, फिर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो कष्ट देनेके लिये मुझपर प्रहार कर सके ? ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच

यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन्
सहाश्विभ्यां सोममगृह्णादेकः ।
तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यषेधीः पुरस्ता-
च्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेन्द्र ॥ ३१ ॥

अग्निदेवने कहा—महेन्द्र ! राजा शर्यातिके उस यज्ञका तो स्मरण कीजिये, जहाँ महर्षि च्यवन उनका यज्ञ करानेवाले थे। आप क्रोधमें भरकर उन्हें मना करते ही रह गये और उन्होंने अकेले अपने ही प्रभावसे सम्पूर्ण देवताओंसहित अश्विनीकुमारोंके साथ सोमरसका पान किया ॥

वज्रं गृहीत्वा च पुरन्दर त्वं
सम्प्राहार्षीश्च्यवनस्यातिघोरम् ।
स ते विप्रः सह वज्रेण बाहु-
मपागृह्णात् तपसा जातमन्युः ॥ ३२ ॥

पुरंदर ! उस समय आप अत्यन्त भयंकर वज्र लेकर महर्षि च्यवनके ऊपर प्रहार करना ही चाहते थे; किंतु उन ब्रह्मर्षिने कुपित होकर अपने तपोबलसे आपकी बाँहको वज्रसहित जकड़ दिया ॥ ३२ ॥

ततो रोषात् सर्वतो घोररूपं
सपत्नं ते जनयामास भूयः ।
मदं नामासुरं विश्वरूपं
यं त्वं दृष्ट्वा चक्षुषी संन्यमीलः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उन्होंने पुनः रोषपूर्वक आपके लिये सब ओरसे भयानक रूपवाले एक शत्रुको उत्पन्न किया। जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त मद नामक असुर था और जिसे देखते ही आपने अपनी आँखें बंद कर ली थीं ॥ ३३ ॥

हनुरेका जगतीस्था तथैका
दिवं गता महतो दानवस्य ।
सहस्रं दन्तानां शतयोजनानां
सुतीक्ष्णानां घोररूपं बभूव ॥ ३४ ॥

उस विशालकाय दानवकी एक ठोढ़ी पृथ्वीपर टिकी हुई थी और दूसरा ऊपरका ओठ स्वर्गसे जा लगा था। उसके सैकड़ों योजन लंबे सहस्रों तीखे दाँत थे, जिससे उसका रूप बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ३४ ॥

वृत्ताः स्थूला रजतस्तम्भवर्णा
दंष्ट्राश्चतस्रो द्वे शते योजनानाम् ।
स त्वां दन्तान् विदशन्नभ्यधाव-
ज्जिघांसया शूलमुद्यम्य घोरम् ॥ ३५ ॥

उसकी चार दाढ़ें गोलाकार, मोटी और चाँदीके खम्भोंके समान चमकीली थीं। उनकी लंबाई दो-दो सौ योजनकी

थी। वह दानव भयंकर त्रिशूल लेकर आपको मार डालनेकी इच्छासे दाँत पीसता हुआ दौड़ा था ॥ ३५ ॥

अपश्यस्त्वं तं तदा घोररूपं
सर्वे वै त्वां ददृशुर्दर्शनीयम्।
यस्माद् भीतः प्राञ्जलिस्त्वं महर्षि-
मागच्छेथाः शरणं दानवघ्न ॥ ३६ ॥

दानवदलन देवराज ! आपने उस समय उस घोररूपधारी दानवको देखा था और अन्य सब लोगोंने आपकी ओर भी दृष्टिपात किया था। उस अवसरपर भयके कारण आपकी जो दशा हुई थी, वह देखने ही योग्य थी। आप उस दानवसे भयभीत हो हाथ जोड़कर महर्षि च्यवनकी शरणमें गये थे ॥ ३६ ॥

क्षात्राद् बलाद् ब्रह्मबलं गरीयो
न ब्रह्मतः किंचिदन्यद् गरीयः।
सोऽहं जानन् ब्रह्मतेजो यथाव-
न्न संवर्तं जेतुमिच्छामि शक्र ॥ ३७ ॥

अतः देवेन्द्र ! क्षात्रबलकी अपेक्षा ब्राह्मणबल श्रेष्ठतम है। ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरी कोई शक्ति नहीं है। मैं ब्रह्मतेजको अच्छी तरह जानता हूँ; अतः संवर्तको जीतनेकी मुझे इच्छातक नहीं होती है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

इन्द्रका गन्धर्वराजको भेजकर मरुत्तको भय दिखाना और संवर्तका मन्त्रबलसे इन्द्रसहित सब देवताओंको बुलाकर मरुत्तका यज्ञ पूर्ण करना

इन्द्र उवाच

एवमेतद् ब्रह्मबलं गरीयो
न ब्राह्मणात् किंचिदन्यद् गरीयः।
आविक्षितस्य तु बलं न मृष्ये
वज्रमस्मै प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—यह ठीक है कि ब्रह्मबल सबसे बढ़कर है। ब्राह्मणसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है; किंतु मैं राजा मरुत्तके बलको नहीं सह सकता। उनके ऊपर अवश्य अपने घोर वज्रका प्रहार करूँगा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र प्रहितो गच्छ मरुत्तं
संवर्तेन संगतं तं वदस्व।
बृहस्पतिं त्वमुपशिक्षस्व राजन्
वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ २ ॥

गन्धर्वराज धृतराष्ट्र ! अब तुम मेरे भेजनेसे वहाँ जाओ और संवर्तके साथ मिले हुए राजा मरुत्तसे कहो—'राजन् ! आप बृहस्पतिको आचार्य बनाकर उनसे यज्ञकर्मकी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कीजिये। अन्यथा मैं इन्द्र आपपर घोर वज्रका प्रहार करूँगा' ॥ २ ॥

व्यास उवाच

ततो गत्वा धृतराष्ट्रो नरेन्द्रं
प्रोवाचेदं वचनं वासवस्य ॥ ३ ॥
गन्धर्वं मां धृतराष्ट्रं निबोध
त्वामागतं वक्तुकामं नरेन्द्र।
ऐन्द्रं वाक्यं शृणु मे राजसिंह
यत् प्राह लोकाधिपतिर्महात्मा ॥ ४ ॥

व्यासजी कहते हैं—तब गन्धर्वराज धृतराष्ट्र राजा मरुत्तके पास गये और उनसे इन्द्रका संदेश इस प्रकार कहने लगे—'महाराज ! आपको विदित हो कि मैं धृतराष्ट्र नामक गन्धर्व हूँ और आपको देवराज इन्द्रका संदेश सुनाने आया हूँ। राजसिंह ! सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी महामना इन्द्रने जो कुछ कहा है, उनका वह वाक्य सुनिये ॥ ३-४ ॥

बृहस्पतिं याजकं त्वं वृणीष्व
वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम्।
वचश्चेदेतन्न करिष्यसे मे
प्राहैतदेतावदचिन्त्यकर्मा ॥ ५ ॥

'अचिन्त्यकर्मा इन्द्र कहते हैं—'राजन् ! आप बृहस्पतिको अपने यज्ञका पुरोहित बनाइये। यदि आप मेरी यह बात नहीं मानेंगे तो मैं आपपर भयंकर वज्रका प्रहार करूँगा'' ॥ ५ ॥

मरुत्त उवाच

त्वं चैवैतद् वेत्थ पुरंदरश्च
विश्वेदेवा वसवश्चाश्विनौ च।
मित्रद्रोहे निष्कृतिर्नास्ति लोके
महत् पापं ब्रह्महत्यासमं तत् ॥ ६ ॥

मरुत्तने कहा—गन्धर्वराज ! आप, इन्द्र, विश्वेदेव, वसुगण तथा अश्विनीकुमार भी इस बातको जानते हैं कि मित्रके साथ द्रोह करनेपर ब्रह्महत्याके समान महान् पाप लगता है। उससे छुटकारा पानेका संसारमें कोई उपाय नहीं है ॥ ६ ॥

बृहस्पतिर्याजयतां महेन्द्रं
देवश्रेष्ठं वज्रभृतां वरिष्ठम्।
संवर्तो मां याजयिताद्य राजन्
न ते वाक्यं तस्य वा रोचयामि॥ ७ ॥

गन्धर्वराज ! बृहस्पतिजी वज्रधारियोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर महेन्द्रका यज्ञ करायें। मेरा यज्ञ तो अब संवर्तजी ही करायेंगे। इसके विरुद्ध न तो मैं आपकी बात मानूँगा और न इन्द्रकी ही ॥ ७ ॥

गन्धर्व उवाच

घोरो नादः श्रूयतां वासवस्य
नभस्तले गर्जतो राजसिंह।
व्यक्तं वज्रं मोक्ष्यते ते महेन्द्रः
क्षेमं राजंश्चिन्त्यतामेष कालः॥ ८ ॥

गन्धर्वराजने कहा--राजसिंह ! आकाशमें गर्जना करते हुए इन्द्रका वह घोर सिंहनाद सुनिये । जान पड़ता है, महेन्द्र आपके ऊपर वज्र छोड़ना ही चाहते हैं; अतः राजन् ! अपनी रक्षा एवं भलाईका उपाय सोचिये । इसके लिये यही अवसर है ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

इत्येवमुक्तो धृतराष्ट्रेण राजन्
श्रुत्वा नादं नदतो वासवस्य।
तपोनित्यं धर्मविदां वरिष्ठं
संवर्तं तं ज्ञापयामास कार्यम्॥ ९ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर राजा मरुत्तने आकाशमें गरजते हुए इन्द्रका शब्द सुनकर सदा तपस्यामें तत्पर रहनेवाले धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ संवर्तको इन्द्रके इस कार्यकी सूचना दी ॥ ९ ॥

मरुत्त उवाच

इममात्मानं प्लवमानमारा-
दध्वा दूरं तेन न दृश्यतेऽद्य।
प्रपद्येऽहं शर्म विप्रेन्द्र त्वत्तः
प्रयच्छ तस्मादभयं विप्रमुख्य॥ १० ॥
अयमायाति वै वज्री दिशो विद्योतयन् दश।
अमानुषेण घोरेण सदस्यास्त्रासिता हि नः॥ ११ ॥

मरुत्तने कहा—विप्रवर ! देवराज इन्द्र दूरसे ही प्रहार करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वे दूरकी राहपर खड़े हैं, इसलिये उनका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्राह्मणशिरोमणे ! मैं आपकी शरणमें हूँ और आपके द्वारा अपनी रक्षा चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे अभय-दान दें । देखिये, ये वज्रधारी इन्द्र दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए चले

आ रहे हैं। इनके भयंकर एवं अलौकिक सिंहनादसे हमारी यज्ञशालाके सभी सदस्य थर्रा उठे हैं ॥ १०-११ ॥

संवर्त उवाच

भयं शक्राद् व्येतु ते राजसिंह
प्रणोत्स्येऽहं भयमेतत् सुघोरम्।
संस्तम्भिन्या विद्यया क्षिप्रमेव
मा भैस्त्वमस्याभिभवात् प्रतीतः॥ १२ ॥

संवर्तने कहा—राजसिंह ! इन्द्रसे तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये । मैं स्तम्भिनी विद्याका प्रयोग करके बहुत जल्द तुम्हारे ऊपर आनेवाले इस अत्यन्त भयंकर संकटको दूर किये देता हूँ । मुझपर विश्वास करो और इन्द्रसे पराजित होनेका भय छोड़ दो ॥ १२ ॥

अहं संस्तम्भयिष्यामि मा भैस्त्वं शक्रतो नृप।
सर्वेषामेव देवानां क्षयितान्यायुधानि मे॥ १३ ॥
दिशो वज्रं व्रजतां वायुरेतु
वर्षं भूत्वा वर्षतां काननेषु।
आपः प्लवन्त्वन्तरिक्षे वृथा च
सौदामनी दृश्यते मापि भैस्त्वम्॥ १४ ॥

नरेश्वर ! मैं अभी उन्हें स्तम्भित करता हूँ; अतः तुम इन्द्रसे न डरो । मैंने सम्पूर्ण देवताओंके अस्त्र-शस्त्र भी क्षीण कर दिये हैं । चाहे दसों दिशाओंमें वज्र गिरे, आँधी चले, इन्द्र स्वयं ही वर्षा बनकर सम्पूर्ण वनोंमें निरन्तर बरसते रहें, आकाशमें व्यर्थ ही जलप्लावन होता रहे और बिजली चमके तो भी तुम भयभीत न होओ ॥ १३-१४ ॥

वह्निर्देवस्त्रातु वा सर्वतस्ते
कामान् सर्वान् वर्षतु वासवो वा।

वज्रं तथा स्थापयतां वधाय
महाघोरं प्लवमानं जलौघैः ॥ १५ ॥

अग्निदेव तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करें। देवराज इन्द्र तुम्हारे लिये जलकी नहीं, सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करें और तुम्हारे वधके लिये उठे हुए और जलराशिके साथ चञ्चल गतिसे चले हुए महाघोर वज्रको वे देवेन्द्र अपने हाथमें ही रखे रहें ॥ १५ ॥

मरुत्त उवाच

घोरः शब्दः श्रूयते वै महास्वनो
वज्रस्यैष सहितो मारुतेन।
आत्मा हि मे प्रव्यथते मुहुर्मुहु-
र्न मे स्वास्थ्यं जायते चाद्य विप्र ॥ १६ ॥

मरुत्तने कहा—विप्रवर ! आँधीके साथ ही जोर-शोरसे होनेवाली वज्रकी भयंकर गड़गड़ाहट सुनायी दे रही है। इससे रह-रहकर मेरा हृदय काँप उठता है। आज मनमें तनिक भी शान्ति नहीं है ॥ १६ ॥

संवर्त उवाच

वज्रादुग्राद् व्येतु भयं तवाद्य
वातो भूत्वा हन्मि नरेन्द्र वज्रम्।
भयं त्यक्त्वा वरमन्यं वृणीष्व
कं ते कामं मनसा साधयामि ॥ १७ ॥

संवर्तने कहा—नरेन्द्र ! तुम्हें इन्द्रके भयंकर वज्रसे आज भयभीत नहीं होना चाहिये। मैं वायुका रूप धारण करके अभी इस वज्रको निष्फल किये देता हूँ। तुम भय छोड़कर मुझसे कोई दूसरा वर माँगो। बताओ, मैं तुम्हारी कौन-सी मानसिक इच्छा पूर्ण करूँ ? ॥ १७ ॥

मरुत्त उवाच

इन्द्रः साक्षात् सहसाभ्येतु विप्र
हविर्यज्ञे प्रतिगृह्णातु चैव।
स्वं स्वं धिष्ण्यं चैव जुषन्तु देवा
हुतं सोमं प्रतिगृह्णन्तु चैव ॥ १८ ॥

मरुत्तने कहा—ब्रह्मर्षे ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे साक्षात् इन्द्र मेरे यज्ञमें शीघ्रतापूर्वक पधारें और अपना हविष्य-भाग ग्रहण करें। साथ ही अन्य देवता भी अपने-अपने स्थानपर आकर बैठ जायँ और सब लोग एक साथ आहुतिरूपमें प्राप्त हुए सोमरसका पान करें ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच

अयमिन्द्रो हरिभिरायाति राजन्
देवैः सर्वैस्त्वरितैः स्तूयमानः।
मन्त्राहूतो यज्ञमिमं मयाद्य
पश्यस्वैनं मन्त्रविस्रस्तकायम् ॥ १९ ॥

(तदनन्तर संवर्तने अपने मन्त्रबलसे सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया और) मरुत्तसे कहा—राजन् ! ये इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते शीघ्रगामी अश्वोंसे युक्त रथकी सवारीसे आ रहे हैं। मैंने मन्त्रबलसे आज इस यज्ञमें इनका आवाहन किया है। देखो, मन्त्रशक्तिसे इनका शरीर इधर खिंचता चला आ रहा है ॥

ततो देवैः सहितो देवराजो
रथे युङ्क्त्वा तान् हरीन् वाजिमुख्यान्।
आयाद् यज्ञमथ राज्ञः पिपासु-
राविक्षितस्याप्रमेयस्य सोमम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् देवराज इन्द्र अपने रथमें उन सफेद रंगके अच्छे घोड़ोंको जोतकर देवताओंको साथ ले सोमपानकी इच्छासे अनुपम पराक्रमी राजा मरुत्तकी यज्ञशालामें आ पहुँचे ॥ २० ॥

तमायान्तं सहितं देवसंघैः
प्रत्युद्ययौ सपुरोधा मरुत्तः।
चक्रे पूजां देवराजाय चाग्र्यां
यथाशास्त्रं विधिवत् प्रीयमाणः ॥ २१ ॥

देववृन्दके साथ इन्द्रको आते देख राजा मरुत्तने अपने पुरोहित संवर्तमुनिके साथ आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और बड़ी प्रसन्नताके साथ शास्त्रीय विधिसे उनका अग्रपूजन किया ॥ २१ ॥

संवर्त उवाच

स्वागतं ते पुरुहूतेह विद्वन्
यज्ञोऽप्ययं संनिहिते त्वयीन्द्र।
शोशुभ्यते बलवृत्रघ्न भूयः
पिबस्व सोमं सुतमुद्यतं मया ॥ २२ ॥

संवर्तने कहा—पुरुहूत इन्द्र ! आपका स्वागत है। विद्वन् ! आपके यहाँ पधारनेसे इस यज्ञकी शोभा बहुत बढ़ गयी है। बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज ! मेरेद्वारा तैयार किया हुआ यह सोमरस प्रस्तुत है, आप इसका पान कीजिये ॥ २२ ॥

मरुत्त उवाच

शिवेन मां पश्य नमश्च तेऽस्तु
प्राप्तो यज्ञः सफलं जीवितं मे।
अयं यज्ञं कुरुते मे सुरेन्द्र
बृहस्पतेरवरजो विप्रमुख्यः ॥ २३ ॥

मरुत्तने कहा—सुरेन्द्र ! आपको नमस्कार है। आप मुझे कल्याणमयी दृष्टिसे देखिये। आपके पदार्पणसे मेरा यज्ञ और जीवन सफल हो गया। बृहस्पतिजीके छोटे भाई ये विप्रवर संवर्तजी मेरा यज्ञ करा रहे हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

जानामि ते गुरुमेनं तपोधनं
बृहस्पतेरनुजं तिग्मतेजसम्।

यस्याह्वानादागतोऽहं नरेन्द्र
प्रीतिर्मेऽद्य त्वयि मन्युः प्रणष्टः ॥ २४ ॥

इन्द्रने कहा—नरेन्द्र ! आपके इन गुरुदेवको मैं जानता हूँ । ये बृहस्पतिजीके छोटे भाई और तपस्याके धनी हैं । इनका तेज दुःसह है । इन्हींके आवाहनसे मुझे आना पड़ा है । अब मैं आपपर प्रसन्न हूँ और मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है ॥ २४ ॥

संवर्त उवाच

यदि प्रीतस्त्वमसि वै देवराज
तस्मात्स्वयं शाधि यज्ञे विधानम् ।
स्वयं सर्वान् कुरु भागान् सुरेन्द्र
जानात्वयं सर्वलोकश्च देव ॥ २५ ॥

संवर्तने कहा—देवराज ! यदि आप प्रसन्न हैं तो यज्ञमें जो-जो कार्य आवश्यक है, उसका स्वयं ही उपदेश दीजिये तथा सुरेन्द्र ! स्वयं ही सब देवताओंके भाग निश्चित कीजिये । देव ! यहाँ आये हुए सब लोग आपकी प्रसन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव करें ॥ २५ ॥

व्यास उवाच

एवमुक्तस्त्वाङ्गिरसेन शक्रः
समादिदेश स्वयमेव देवान् ।
सभाः क्रियन्तामावसथाश्च मुख्याः
सहस्रशश्चित्रभूताः समृद्धाः ॥ २६ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! संवर्तके यों कहनेपर इन्द्रने स्वयं ही सब देवताओंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग अत्यन्त समृद्ध एवं चित्र-विचित्र ढंगके हजारों अच्छे सभा-भवन बनाओ ॥ २६ ॥

क्लृप्ताः स्थूणाः कुरुतारोहणानि
गन्धर्वाणामप्सरसां च शीघ्रम् ।
यत्र नृत्येरन्नप्सरसः समस्ताः
स्वर्गोपमः क्रियतां यज्ञवाटः ॥ २७ ॥

'गन्धर्वों और अप्सराओंके लिये ऐसे रंगमण्डपका निर्माण करो, जिसमें बहुतसे सुन्दर स्तम्भ लगे हों । उनके रंगमञ्चपर चढ़नेके लिये बहुत-सी सीढ़ियाँ बना दो । यह सब कार्य शीघ्र हो जाना चाहिये । यह यज्ञशाला स्वर्गके समान सुन्दर एवं मनोहर बना दो । जिसमें सारी अप्सराएँ नृत्य कर सकें' ॥ २७ ॥

इत्युक्तास्ते चक्रुराशु प्रतीता
दिवौकसः शक्रवाक्यान्नरेन्द्र ।
ततो वाक्यं प्राह राजानमिन्द्रः
प्रीतो राजन् पूज्यमानो मरुत्तम् ॥ २८ ॥

नरेन्द्र ! देवराजके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण देवताओंने संतुष्ट होकर उनकी आज्ञाके अनुसार शीघ्र ही सबका निर्माण किया । राजन् ! तत्पश्चात् पूजित एवं संतुष्ट हुए इन्द्रने राजा मरुत्तसे इस प्रकार कहा—॥ २८ ॥

एष त्वयाहमिह राजन् समेत्य
ये चाप्यन्ये तव पूर्वे नरेन्द्र ।
सर्वाश्चान्या देवताः प्रीयमाणा
हविस्तुभ्यं प्रतिगृह्णन्तु राजन् ॥ २९ ॥

'राजन् ! यह मैं यहाँ आकर तुमसे मिला हूँ । नरेन्द्र ! तुम्हारे जो अन्यान्य पूर्वज हैं, वे तथा अन्य सब देवता भी यहाँ प्रसन्नतापूर्वक पधारे हैं । राजन् ! ये सब लोग तुम्हारा दिया हुआ हविष्य ग्रहण करेंगे ॥ २९ ॥

आग्नेयं वै लोहितमालभन्तां
वैश्वदेवं बहुरूपं हि राजन् ।
नीलं चोक्षाणं मेध्यमप्यालभन्तां
चलच्छिश्नं सम्प्रदिष्टं द्विजाग्र्याः॥ ३०॥

'राजेन्द्र ! अग्निके लिये लाल रंगकी वस्तुएँ प्रस्तुत की जायँ, विश्वेदेवोंके लिये अनेक रूप-रंगवाले पदार्थ दिये जायँ; श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ छूकर दिये गये चञ्चल शिश्नवाले नील रंगके वृषभका दान ग्रहण करें' ॥ ३० ॥

ततो यज्ञो ववृधे तस्य राजन्
यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्रुः ।
यस्मिञ्शक्रो ब्राह्मणैः पूज्यमानः
सदस्योऽभूद्धरिमान् देवराजः ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर राजा मरुत्तके यज्ञका कार्य आगे बढ़ा, जिसमें देवतालोग स्वयं ही अन्न परोसने लगे । ब्राह्मणोंद्वारा पूजित, उत्तम अश्वोंसे युक्त देवराज इन्द्र उस यज्ञमण्डपमें सदस्य बनकर बैठे थे ॥ ३१ ॥

ततः संवर्तश्चैत्यगतो महात्मा
यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः ।
हवींष्युच्चैराह्वयन् देवसंघान्
जुहावाग्नौ मन्त्रवत् सुप्रतीतः ॥ ३२ ॥

इसके बाद द्वितीय अग्निके समान तेजस्वी एवं यज्ञमण्डपमें बैठे हुए महात्मा संवर्तने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर देववृन्दका उच्चस्वरसे आह्वान करते हुए मन्त्रपाठपूर्वक अग्निमें हविष्यका हवन किया ॥ ३२ ॥

ततः पीत्वा बलभित् सोममग्र्यं
ये चाप्यन्ये सोमपा देवसंघाः ।
सर्वेऽनुज्ञाताः प्रययुः पार्थिवेन
यथाजोषं तर्पिताः प्रीतिमन्तः ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् इन्द्र तथा सोमपानके अधिकारी अन्य देवताओंने उत्तम सोमरसका पान किया । इससे सबको तृप्ति एवं प्रसन्नता हुई । फिर सब देवता राजा मरुत्तकी

अनुमति लेकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३३ ॥

ततो राजा जातरूपस्य राशीन्
पदे पदे कारयामास हृष्टः ।
द्विजातिभ्यो विसृजन् भूरि वित्तं
रराज वित्तेश इवारिहन्ता ॥ ३४ ॥

तदनन्तर शत्रुहन्ता राजा मरुत्तने बड़े हर्षके साथ वहाँ ब्राह्मणोंको बहुत-से धनका दान करते हुए उनके लिये पग-पगपर सुवर्णके ढेर लगवा दिये । उस समय धनाध्यक्ष कुबेरके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥ ३४ ॥

ततो वित्तं विविधं संनिधाय
यथोत्साहं कारयित्वा च कोषम् ।
अनुज्ञातो गुरुणा संनिवृत्य
शशास गामखिलां सागरान्ताम् ॥ ३५ ॥

इसके बाद ब्राह्मणोंके ले जानेसे जो नाना प्रकारका धन बच गया, उसको मरुत्तने उत्साहपूर्वक कोष-स्थान बनवाकर उसीमें जमा कर दिया । फिर अपने गुरु संवर्तकी आज्ञा लेकर वे राजधानीको लौट आये और समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ ३५ ॥

एवंगुणः सम्बभूवेह राजा
यस्य क्रतौ तत् सुवर्णं प्रभूतम् ।
तत् त्वं समादाय नरेन्द्र वित्तं
यजस्व देवांस्तर्पयानो निवापैः ॥ ३६ ॥

नरेन्द्र ! राजा मरुत्त ऐसे प्रभावशाली हुए थे । उनके यज्ञमें बहुत-सा सुवर्ण एकत्र किया गया था । तुम उसी धनको मँगवाकर यज्ञभागसे देवताओंको तृप्त करते हुए यजन करो ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा पाण्डवो हृष्टरूपः
श्रुत्वा वाक्यं सत्यवत्याः सुतस्य ।
मनश्चक्रे तेन वित्तेन यष्टुं
ततोऽमात्यैर्मन्त्रयामास भूयः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सत्यवतीनन्दन व्यासजीके ये वचन सुनकर पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस धनके द्वारा यज्ञ करनेका विचार किया तथा इस विषयमें मन्त्रियोंके साथ बारंबार मन्त्रणा की ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको इन्द्रद्वारा शरीरस्थ वृत्रासुरका संहार करनेका इतिहास सुनाकर समझाना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन् व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अद्भुतकर्मा वेदव्यासजीने युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ १ ॥

तं नृपं दीनमनसं निहतज्ञातिबान्धवम् ।
उपप्लुतमिवादित्यं सधूममिव पावकम् ॥ २ ॥
निर्विण्णमनसं पार्थं ज्ञात्वा वृष्णिकुलोद्वहः ।
आश्वासयन् धर्मसुतं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

जाति-भाइयोंके मारे जानेसे युधिष्ठिरका मन शोकसे दीन एवं व्याकुल हो रहा था । वे राहुग्रस्त सूर्य और धूमयुक्त अग्निके समान निस्तेज हो गये थे । विशेषतः उनका मन राज्यकी ओरसे खिन्न एवं विरक्त हो गया था । यह सब जानकर वृष्णिवंशभूषण श्रीकृष्णने कुन्तीकुमार धर्मपुत्र युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

वासुदेव उवाच

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मराज ! कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है । इस बातको ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञानका विषय है । इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है, वह प्रलाप है । भला वह किसीका क्या उपकार करेगा ? ॥ ४ ॥

नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः ।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

आपने अपने कर्तव्यकर्मको पूरा नहीं किया । आपने अभीतक शत्रुओंपर विजय भी नहीं पायी । आपका शत्रु तो आपके शरीरके भीतर ही बैठा हुआ है । आप अपने उस शत्रुको क्यों नहीं पहचानते हैं ? ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम् ।
इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्तत ॥ ६ ॥

यहाँ मैं आपके समक्ष धर्मके अनुसार एक वृत्तान्त जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही बता रहा हूँ। पूर्वकालमें वृत्रासुरके साथ इन्द्रका जैसा युद्ध हुआ था, वही प्रसङ्ग सुना रहा हूँ ॥ ६ ॥

वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप।
दृष्ट्वा स पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ॥ ७ ॥
धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत ।
शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य विषये हृते ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! कहते हैं, प्राचीन कालमें वृत्रासुरने समूची पृथ्वीपर अधिकार जमा लिया था। इन्द्रने देखा वृत्रासुरने पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और गन्धके विषयका भी अपहरण कर लिया और इस प्रकार पृथ्वीका अपहरण करनेसे सब ओर दुर्गन्धका प्रसार हो गया है। तब गन्धके विषयका अपहरण होनेसे शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ७-८ ॥

वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो घोरं वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा ॥ ९ ॥
विवेश सहसा तोयं जग्राह विषयं ततः।

तत्पश्चात् उन्होंने कुपित हो वृत्रासुरके ऊपर घोर वज्रका प्रहार किया। महातेजस्वी वज्रसे अत्यन्त आहत हो वह असुर सहसा जलमें जा घुसा और उसके विषयभूत रसको ग्रहण करने लगा ॥ ९½ ॥

अप्सु वृत्रगृहीतासु रसे च विषये हृते ॥ १० ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब जलपर भी वृत्रासुरका अधिकार तथा रसरूपी विषयका अपहरण हो गया, तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया ॥ १०½ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ ११ ॥
विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयं ततः।

जलमें अमिततेजस्वी वज्रकी मार खाकर वृत्रासुर सहसा तेजस्तत्त्वमें घुस गया और उसके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ ११½ ॥

व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते ॥ १२ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

वृत्रासुरके द्वारा तेजपर भी अधिकार कर लिया गया और उसके रूप नामक विषयका अपहरण हो गया, यह जानकर शतक्रतुके क्रोधकी सीमा न रह गयी। उन्होंने वहाँ भी वृत्रासुरपर वज्रका प्रहार किया ॥१२½॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १३ ॥
विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयं ततः।

उस तेजमें स्थित हुआ वृत्रासुर अमिततेजस्वी वज्रके प्रहारसे पीड़ित हो सहसा वायुमें समा गया और उसके स्पर्श नामक विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १३½ ॥

व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते ॥ १४ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब वृत्रासुरने वायुको भी व्याप्त करके उसके स्पर्श नामक विषयका अपहरण कर लिया, तब शतक्रतुने अत्यन्त कुपित होकर वहाँ उसके ऊपर अपना वज्र छोड़ दिया ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १५ ॥
आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयं ततः ।

वायुके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर भागकर आकाशमें जा छिपा और उसके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १५½ ॥

आकाशे वृत्रभूतेऽथ शब्दे च विषये हृते ॥ १६ ॥
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब आकाश वृत्रासुरमय हो गया और उसके शब्दरूपी विषयका अपहरण होने लगा, तब शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया ॥ १६½ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १७ ॥
विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयं ततः।

आकाशके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर सहसा इन्द्रमें समा गया और उनके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १७½ ॥

तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान् ॥ १८ ॥
रथन्तरेण तं तात वसिष्ठः प्रत्यबोधयत् ।

तात ! वृत्रासुरसे गृहीत होनेपर इन्द्रके मनपर महान् मोह छा गया। तब महर्षि वसिष्ठने रथन्तर सामके द्वारा उन्हें सचेत किया ॥ १८½ ॥

ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ।
शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् शतक्रतुने अपने शरीरके भीतर स्थित हुए वृत्रासुरको अदृश्य वज्रके द्वारा मार डाला ऐसा हमने सुना है ॥ १९ ॥

इदं धर्म्यं रहस्यं वै शक्रेणोक्तं महर्षिषु ।
ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

जनेश्वर ! यह धर्मसम्मत रहस्य इन्द्रने महर्षियोंको बताया और महर्षियोंने मुझसे कहा। वही रहस्य मैंने आपको सुनाया है। आप इसे अच्छी तरह समझें ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरका संवादविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको मनपर विजय करनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुन्तीनन्दन ! दो प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं—एक शारीरिक दूसरा मानसिक। इन दोनोंका जन्म एक दूसरेके सहयोगसे होता है। दोनोंके पारस्परिक सहयोगके बिना इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है ॥

शरीरे जायते व्याधिः शारीरः स निगद्यते।
मानसे जायते व्याधिर्मानसस्तु निगद्यते ॥ २ ॥

शरीरमें जो रोग उत्पन्न होता है, उसे शारीरिक रोग कहते हैं और मनमें जो व्याधि होती है, वह मानसिक रोग कहलाती है ॥ २ ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः।
तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ३ ॥

राजन् ! शीत, उष्ण और वायु—ये तीन शरीरके गुण हैं। यदि शरीरमें इन तीनों गुणोंकी समानता हो तो यह स्वस्थ पुरुषका लक्षण है ॥ ३ ॥

उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः ॥ ४ ॥

उष्ण शीतका निवारण करता और शीत उष्णका निवारण करता है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन अन्तःकरणके गुण माने गये हैं ॥ ४ ॥

तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम्।
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ॥ ५ ॥

इन गुणोंकी समानता हो तो यह मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण है। इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उसके निवारणका उपाय बताया जाता है ॥ ५ ॥

हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ ६ ॥

हर्षसे शोक बाधित होता है और शोकसे हर्ष। कोई दुःखमें पड़कर सुखकी याद करना चाहता है और कोई सुखी होकर दुःखकी याद करना चाहता है ॥ ६ ॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य च।
स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद् दुःखविभ्रमात् ॥ ७॥

कुन्तीनन्दन ! आप न तो दुखी होकर दुःखकी और न सुखी होकर उत्तम सुखकी याद करना चाहते हैं। यह दुःखविभ्रमके सिवा और क्या है ॥ ७ ॥

अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थावकृष्यसे।
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डवेयानां न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ८ ॥

अथवा पार्थ ! आपका यह स्वभाव ही है, जिससे आप आकृष्ट होते हैं। पाण्डवोंके देखते-देखते एकवस्त्रधारिणी रजस्वला कृष्णा सभामें घसीट लायी गयी। आप उसे उस अवस्थामें देखकर भी अब उसकी याद करना नहीं चाहते ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥

आपलोगोंको नगरसे निकाला गया, मृगछाला पहनाकर वनवास दिया गया और बड़े-बड़े घोर जंगलोंमें रहना पड़ा। इन सब बातोंको आप कभी याद करना नहीं चाहते हैं ॥ ९ ॥

जटासुरात् परिक्लेशश्चित्रसेनेन चाहवः।
सैन्धवाच्च परिक्लेशो न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ १० ॥

जटासुरसे जो क्लेश उठाना पड़ा, चित्रसेनके साथ जूझना पड़ा और सिन्धुराज जयद्रथसे जो अपमान और कष्ट प्राप्त हुआ, उसका स्मरण करनेकी इच्छा आपको नहीं होती है ॥ १० ॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधः।
याज्ञसेन्यास्तथा पार्थ न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ११ ॥

पार्थ ! अज्ञातवासके दिनों कीचकने जो द्रौपदीको लात मारी थी, उसे भी आप नहीं याद करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १२ ॥

शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने उपस्थित है। इस समय आपको अकेले अपने मनके साथ युद्ध करना होगा ॥ १२ ॥

तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः ॥ १३ ॥

भरतभूषण ! अतः उस युद्धके लिये आपको तैयार हो जाना चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करते हुए योगके द्वारा मनको वशीभूत करके आप मायासे परे परब्रह्मको प्राप्त कीजिये ॥ १३ ॥

यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १४ ॥

मनके साथ होनेवाले इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है

और न सेवकों तथा बन्धु-बान्धवोंका ही। इस समय इसमें आपको अकेले ही युद्ध करना है और वह युद्ध सामने उपस्थित है ॥ १४ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १५ ॥

यदि इस युद्धमें आप मनको न जीत सके तो पता नहीं आपकी क्या दशा होगी। कुन्तीनन्दन! इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे ॥ १५ ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंका यों ही आवागमन होता रहता है। बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके आप अपने बाप-दादोंके बर्तावका पालन करते हुए उचित रीतिसे राज्यका शासन कीजिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरका संवादविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा ममताके त्यागका महत्त्व, काम-गीताका उल्लेख और युधिष्ठिरको यज्ञके लिये प्रेरणा करना

वासुदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत! केवल राज्य आदि बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्यका त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं भी होती है ॥ १ ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृद्ध्यतः ।
यो धर्मो यत् सुखं चैव द्विषतामस्तु तत् तथा ॥ २ ॥

बाह्य पदार्थोंसे अलग होकर भी जो शारीरिक सुख-विलासमें आसक्त है, उसे जिस धर्म और सुखकी प्राप्ति होती है, वह तुम्हारे साथ द्वेष करनेवालोंको ही प्राप्त हो ॥ २ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ३ ॥

'मम' (मेरा) ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है) यह तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है ॥ ३ ॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ४ ॥

राजन्! इस प्रकार मृत्यु और अमृत दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंको लड़ाते हैं अर्थात् किसीको अपना मानना और किसीको अपना न मानना यह भाव ही युद्धका कारण है, इसमें संशय नहीं है ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

भरतनन्दन! यदि इस जगत्की सत्ताका विनाश न होना ही निश्चित हो, तब तो प्राणियोंके शरीरका भेदन करके भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥ ६ ॥

चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्तिसे उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ ७ ॥

किंतु कुन्तीनन्दन! जो वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्योंमें ममता है तो वह मौतके मुखमें ही विद्यमान है ॥ ७ ॥

बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत ।
यन्न पश्यति तद् भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥ ८ ॥

भारत! बाहरी और भीतरी शत्रुओंके स्वभावको देखिये समझिये (ये मायामय होनेके कारण मिथ्या हैं, ऐसा निश्चय कीजिये)। जो मायिक पदार्थोंको ममत्वकी दृष्टिसे नहीं देखता वह महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ ८ ॥

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके
नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः ।
सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता
यान् पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥ ९

जिसका मन कामनाओंमें आसक्त है, उसकी संसारके लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। कोई भी प्रवृत्ति बिना कामनाके नहीं होती और समस्त कामनाएँ मनसे ही प्रकट होती हैं। विद्वान् पुरुष कामनाओंको दुःखका कारण मानकर उनका परित्याग कर देते हैं ॥ ९ ॥

भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्
योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च
काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि ॥ १० ॥
व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्
कामेन यो नारभते विदित्वा।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो
न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥ ११ ॥

योगी पुरुष अनेक जन्मोंके अभ्याससे योगको ही मोक्षका मार्ग निश्चित करके कामनाओंका नाश कर डालता है। जो इस बातको जानता है, वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान-योगादिका कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और वही मोक्षका मूल है ॥ १०-११ ॥

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर।
नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन बातोंके जानकार विद्वान् एक पुरातन गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो कामगीता कहलाती है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये। कामका कहना है कि कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास) का आश्रय लिये बिना मेरा नाश नहीं कर सकता है ॥ १२ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्।
तस्य तस्मिन् प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अपनेमें अस्त्रबलकी अधिकताका अनुभव करके मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्रबलमें मैं अभिमानरूपसे पुनः प्रकट हो जाता हूँ ॥ १३ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १४ ॥

जो नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मुझे मारनेका यत्न करता है, उसके चित्तमें मैं उसी प्रकार उत्पन्न होता हूँ, जैसे उत्तम जङ्गम योनियोंमें धर्मात्मा ॥ १४ ॥

यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः।
स्थावरेष्विव भूतात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १५ ॥

जो वेद और वेदान्तके स्वाध्यायरूप साधनोंके द्वारा मुझे मिटा देनेका सदा प्रयास करता है, उसके मनमें मैं स्थावर प्राणियोंमें जीवात्माकी भाँति प्रकट होता हूँ ॥ १५ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ॥ १६ ॥

जो सत्यपराक्रमी पुरुष धैर्यके बलसे मुझे नष्ट करनेकी चेष्टा करता है, उसके मानसिक भावोंके साथ मैं इतना घुल-मिल जाता हूँ कि वह मुझे पहचान नहीं पाता ॥ १६ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १७ ॥

जो कठोर व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य तपस्याके द्वारा मेरे अस्तित्वको मिटा डालनेका प्रयास करता है, उसकी तपस्यामें ही मैं प्रकट हो जाता हूँ ॥ १७ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥ १८ ॥

जो विद्वान् पुरुष मोक्षका सहारा लेकर मेरे विनाशका प्रयत्न करता है, उसकी जो मोक्षविषयक आसक्ति है, उसीसे वह बँधा हुआ है। यह विचारकर मुझे उसपर हँसी आती है और मैं खुशीके मारे नाचने लगता हूँ। एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य एवं सदा रहनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
धर्मं कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥ १९ ॥

अतः महाराज! आप भी नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा अपनी उस कामनाको धर्ममें लगा दीजिये। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी ॥ १९ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥ २० ॥
मा ते व्यथास्तु निहतान् बन्धून् वीक्ष्य पुनः पुनः।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥ २१ ॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर आप अश्वमेधका तथा पर्याप्त दक्षिणावाले अन्यान्य समृद्धिशाली यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये। अपने मारे गये भाई-बन्धुओंको बारंबार याद करके आपके मनमें व्यथा नहीं होनी चाहिये। इस समराङ्गणमें जिनका वध हुआ है, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते ॥ २०-२१ ॥

स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।

कीर्तिं लोके परां प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ २२ ॥

इसलिये आप पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली महायज्ञों-का अनुष्ठान करके इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें श्रेष्ठ गति प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरका संवादविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ऋषियोंका अन्तर्धान होना, भीष्म आदिका श्राद्ध करके युधिष्ठिर आदिका हस्तिनापुरमें जाना तथा युधिष्ठिरके धर्मराज्यका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः ।
समाश्वस्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
सोऽनुनीतो भगवता विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन कृष्णेन देवस्थानेन वा विभुः ॥ २ ॥
नारदेनाथ भीमेन नकुलेन च पार्थिव ।
कृष्णया सहदेवेन विजयेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्यैश्च पुरुषव्याघ्रैर्ब्राह्मणैः शास्त्रदृष्टिभिः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं संतापं चैव मानसम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार साक्षात् विष्टरश्रवा (विस्तृत यशवाले) भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास, देवस्थान, नारद, भीमसेन, नकुल, द्रौपदी, सहदेव, बुद्धिमान् अर्जुन तथा अन्यान्य श्रेष्ठ पुरुषों और शास्त्रदर्शी ब्राह्मणों एवं तपोधन मुनियोंके बहुविध वचनोंद्वारा समझाने-बुझानेपर जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, उन राजर्षि युधिष्ठिर-का मन शान्त हुआ और उन्होंने शोकजनित दुःख तथा मानसिक संतापको त्याग दिया ॥ १–४ ॥

अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च युधिष्ठिरः ।
कृत्वाथ प्रेतकार्याणि बन्धूनां स पुनर्नृपः ॥ ५ ॥
अन्वशासच्च धर्मात्मा पृथिवीं सागराम्बराम् ।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया और मरे हुए बन्धु-बान्धवोंका श्राद्ध करके वे धर्मात्मा नरेश समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन करने लगे ॥

प्रशान्तचेताः कौरव्यः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् ।
व्यासं च नारदं चैव तांश्चान्यानब्रवीन्नृपः ॥ ६ ॥

चित्त शान्त होनेपर केवल अपना राज्य ग्रहण करके कुरुवंशी नरेश युधिष्ठिरने व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनिवरोंसे कहा—॥ ६ ॥

आश्वासितोऽहं प्राग्वृद्धैर्भवद्भिर्मुनिपुङ्गवैः ।
न सूक्ष्ममपि मे किंचिद् व्यलीकमिह विद्यते ॥ ७ ॥

'महानुभावो ! आप सब लोग वृद्ध और मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं। आपकी बातोंसे मुझे बड़ी सान्त्वना मिली है। अब मेरे मनमें तनिक भी दुःख नहीं है ॥ ७ ॥

अर्थश्च सुमहान् प्राप्तो येन यक्ष्यामि देवताः ।
पुरस्कृत्याद्य भवतः समानेष्यामहे मखम् ॥ ८ ॥

'इधर पर्याप्त धन भी मिल गया, जिससे मैं भलीभाँति देवताओंका यजन भी कर सकूँगा। अब आपलोगोंको आगे करके हमलोग उस धनको अपनी यज्ञशालामें ले आवेंगे ॥

हिमवन्तं त्वया गुप्ता गमिष्यामः पितामह ।
बह्वाश्चर्यो हि देशः स श्रूयते द्विजसत्तम ॥ ९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ पितामह ! हमलोग आपसे ही सुरक्षित होकर हिमालय पर्वतकी यात्रा करेंगे। सुना जाता है, वह प्रदेश अनेक आश्चर्यजनक दृश्योंसे भरा हुआ है ॥ ९ ॥

तथा भगवता चित्रं कल्याणं बहुभाषितम् ।
देवर्षिणा नारदेन देवस्थानेन चैव ह ॥ १० ॥

'आपने, देवर्षि नारदने तथा मुनिवर देवस्थानने बहुत-सी अद्भुत बातें बतायी हैं, जो मेरा कल्याण करनेवाली हैं ॥१०॥

नाभागधेयः पुरुषः कश्चिदेवंविधान् गुरून् ।
लभते व्यसनं प्राप्य सुहृदः साधुसम्मतान् ॥ ११ ॥

'जो सौभाग्यशाली नहीं है, ऐसा कोई भी पुरुष संकटमें पड़नेपर आप-जैसे साधुसम्मानित हितैषी गुरुजनोंको नहीं पा सकता' ॥ ११ ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सर्व एव महर्षयः ।
अभ्यनुज्ञाप्य राजानं तथोभौ कृष्णफाल्गुनौ ॥ १२ ॥
पश्यतामेव सर्वेषां तत्रैवादर्शनं ययुः ।
ततो धर्मसुतो राजा तत्रैवोपाविशत् प्रभुः ॥ १३ ॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करनेपर सभी महर्षि राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अर्जुनकी अनुमति ले सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये। फिर धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर उन्हें विदा करके वहीं बैठ गये॥१२-१३॥

एवं नातिमहान् कालः स तेषां संन्यवर्तत ।
कुर्वतां शौचकार्याणि भीष्मस्य निधने तदा ॥ १४ ॥

भीष्मको मृत्युके पश्चात् शौचकार्य सम्पन्न करते हुए पाण्डवोंका कुछ काल वहीं व्यतीत हुआ ॥ १४ ॥

महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदेहिकम् ।
भीष्मकर्णपुरोगाणां कुरूणां कुरुसत्तम ॥ १५ ॥
सहितो धृतराष्ट्रेण स ददावौर्ध्वदेहिकम् ।

कुरुश्रेष्ठ ! धृतराष्ट्रसहित उन्होंने भीष्म और कर्ण आदि कुरुवंशियोंके निमित्त औध्वंदैहिक क्रिया (श्राद्ध) में ब्राह्मणोंको बड़े-बड़े दान दिये ॥ १५½ ॥

ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ।

तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन देकर पाण्डव-शिरोमणि युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रको आगे करके हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १६½ ॥

स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशाद् वै स धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥१७॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्रज्ञाचक्षु पितृव्य महाराज धृतराष्ट्रको सान्त्वना देकर भाइयोंके साथ पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ १७ ॥

(यथा मनुर्महाराजो रामो दाशरथिर्यथा ।
तथा भरतसिंहोऽपि पालयामास मेदिनीम् ॥

जैसे महाराज मनु तथा दशरथनन्दन श्रीरामने इस पृथ्वीका पालन किया था, उसी प्रकार भरतसिंह युधिष्ठिर भी भूमण्डलकी रक्षा करने लगे ॥

नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः ।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा ॥

उनके राज्यमें कहीं कोई अधर्मयुक्त कार्य नहीं होता था । सब लोग धर्मविषयक रुचि रखते थे । पुरुषसिंह ! जैसे सत्ययुगमें समस्त प्रजा धर्मपरायण रहती थी, उसी प्रकार उस समय द्वापरमें भी हो गयी थी ॥

कलिमासन्नमाविष्टं निवास्य नृपनन्दनः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् बभौ धर्मबलोद्धतः ॥

कलियुगको समीप आया देख बुद्धिमान् नृपनन्दन युधिष्ठिरने उसको भी निवास दिया और भाइयोंके साथ वे धर्मबलसे अजेय होकर शोभा पाने लगे ॥

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम् ।
निरामयं जगद्भूत् क्षुत्पिपासे न किंचन ॥

भगवान् पर्जन्यदेव उनके राज्यके प्रत्येक देशमें यथेष्ट वर्षा करते थे । सारा जगत् रोग-शोकसे रहित हो गया था, किसीको भी भूख-प्यासका थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं रह गया था ॥

आधिर्नास्ति मनुष्याणां व्यसने नाभवन्मतिः ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णास्ते स्वधर्मोत्तराः शिवाः ॥
धर्मः सत्यप्रधानश्च सत्यं सद्विषयान्वितम् ।

मनुष्योंको मानसिक व्यथा नहीं सताती थी । किसीका मन दुर्व्यसनमें नहीं लगता था । ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंके लोग स्वधर्मको ही उत्कृष्ट मानकर उसमें लगे रहते थे । सभी मङ्गलयुक्त थे । धर्ममें सत्यकी प्रधानता थी और सत्य उत्तम विषयोंसे युक्त होता था ॥

धर्मासनस्थः सद्भिः स स्त्रीबालातुरवृद्धकान् ॥
वर्णाश्रमान् पूर्वकृतान् सकलान् रक्षणोद्यतः ।

धर्मके आसनपर बैठे हुए युधिष्ठिर सत्पुरुषों, स्त्रियों, बालकों, रोगियों, बड़े बूढ़ों तथा पूर्वनिर्मित सम्पूर्ण वर्णाश्रम-धर्मोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहते थे ॥

अवृत्तिवृत्तिदानाद्यैर्यज्ञार्थैर्दीपितैरपि ।
आमुष्मिकं भयं नास्ति ऐहिकं कृतमेव तु ।
स्वर्गलोकोपमो लोकस्तदा तस्मिन् प्रशासति ॥
बभूव सुखमेकाग्रं तद्विशिष्टतरं परम् ॥

वे जीविकाहीन मनुष्योंको जीविका प्रदान करते, यज्ञके लिये धन दिलाते तथा अन्यान्य उपायोंद्वारा प्रजाकी रक्षा करते थे । अतः इहलोकका सारा सुख तो सबको प्राप्त ही था, परलोकका भी भय नहीं रह गया था। उनके शासनकालमें सारा जगत् स्वर्गलोकके समान सुखद हो गया था । यहाँका एकाग्र सुख स्वर्गसे भी विशिष्ट एवं उत्तम था ॥

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः ॥

उनके राज्यकी सारी स्त्रियाँ पतिव्रता, रूपवती, आभूषणोंसे विभूषित और शास्त्रोक्त सदाचारसे सम्पन्न होती थीं। वे अपने उत्तम गुणोंद्वारा पतिकी प्रसन्नताको बढ़ानेमें कारण होती थीं ॥

पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः ।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो न कुर्वन्ति कदाचन ॥

पुरुष पुण्यशील, अपने-अपने धर्ममें अनुरक्त और सुखी थे । वे कभी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पाप भी नहीं करते थे ॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः ।
अजिह्ममनसः शुक्लाः बभूवुः श्रमवर्जिताः ॥

सभी स्त्री-पुरुष सदा प्रिय वचन बोलते थे, मनमें कुटिलता नहीं आने देते थे, शुद्ध रहते थे और कभी थकावटका अनुभव नहीं करते थे ॥

भूषिताः कुण्डलैर्हारैः कटकैः कटिसूत्रकैः ।
सुवाससः सुगन्धाढ्याः प्रायशः पृथिवीतले ॥

उन दिनों प्रायः भूतलके सभी मनुष्य कुण्डल, हार,

कड़े और करधनीसे विभूषित थे। सुन्दर वस्त्र और सुन्दर गन्धसे सुशोभित होते थे ॥

सर्वे ब्रह्मविदो विप्राः सर्वत्र परिनिष्ठिताः।
वलीपलितहीनास्तु सुखिनो दीर्घजीविनः ॥

सभी ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता और समस्त शास्त्रोंमें परिनिष्ठित थे। उनके शरीरमें झुर्रियाँ नहीं पड़ती थीं, उनके बाल सफेद नहीं होते थे और वे सुखी तथा दीर्घजीवी होते थे ॥

इच्छा न जायतेऽन्यत्र वर्णेषु च न संकरः।
मनुष्याणां महाराज मर्यादासु व्यवस्थितः ॥

महाराज ! मनुष्योंकी इच्छा परायी स्त्रियोंके लिये नहीं होती थी, वर्णोंमें कभी संकरता नहीं आती थी और सब लोग मर्यादामें स्थित रहते थे ॥

तस्मिञ्छासति राजेन्द्रे मृगव्यालसरीसृपाः।
अन्योन्यमपि चान्येषु न बाधन्ते कदाचन ॥

राजेन्द्र युधिष्ठिरके शासनकालमें हिंसक पशु, सर्प और बिच्छू आदि न तो आपसमें और न दूसरोंको ही कभी बाधा पहुँचाते थे ॥

गावः सुक्षीरभूयिष्ठाः सुवालधिमुखोदराः।
अपीडिताः कर्षकाद्यैर्हतव्याधितवत्सकाः ॥

गौएँ बहुत दूध देती थीं, उनके मुख, पूँछ और उदर सुन्दर होते थे। किसान आदि उन्हें पीड़ा नहीं देते थे और उनके बछड़े भी नीरोग होते थे ॥

अवन्ध्यकाला मनुजाः पुरुषार्थेषु च क्रमात्।
विषयेष्वनिषिद्धेषु वेदशास्त्रेषु चोद्यताः ॥

उस समयके सभी मनुष्य अपने समयको व्यर्थ नहीं जाने देते थे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थोंमें क्रमशः प्रवृत्त होते थे। शास्त्रमें जिनका निषेध नहीं किया गया है, उन्हीं विषयोंका सेवन करते और वेद शास्त्रोंके स्वाध्यायके लिये सदा उद्यत रहते थे ॥

सुवृत्ता वृषभाः पुष्टाः सुस्वभावाः सुखोदयाः।
अतीव मधुरः शब्दः स्पर्शश्चातिसुखं रसम्।
रूपं दृष्टिक्षमं रम्यं मनोज्ञं गन्धवद् बभौ ॥

उस समयके बैल अच्छी चाल-ढालवाले, हृष्ट-पुष्ट, अच्छे स्वभाववाले और सुखकी प्राप्ति करानेवाले होते थे। उन दिनों शब्द और स्पर्श नामक विषय अत्यन्त मधुर होते थे। रस बहुत ही सुखद जान पड़ता था, रूप दर्शनीय एवं रमणीय प्रतीत होता था और गन्ध नामक विषय भी मनोरम जान पड़ता था ॥

धर्मार्थकामसंयुक्तं मोक्षाभ्युदयसाधनम्।
प्रह्लादजननं पुण्यं सम्बभूवाथ मानसम् ॥

सबका मन धर्म, अर्थ और काममें संलग्न, मोक्ष और अभ्युदयके साधनमें तत्पर, आनन्दजनक और पवित्र होता था ॥

स्थावरा बहुपुष्पाढ्याः फलच्छायावहास्तथा।
सुस्पर्शा विषहीनाश्च सुपत्रत्वक्प्ररोहिणः ॥

स्थावर (वृक्ष) बहुत-से फूलोंसे सुशोभित तथा फल और छाया देनेवाले होते थे। उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता था और वे विषसे हीन तथा सुन्दर पत्र, छाल और अङ्कुरसे युक्त होते थे ॥

मनोऽनुकूलाः सर्वेषां चेष्टा भूस्तापवर्जिता।
यथा बभूव राजर्षिस्तद्वृत्तमभवद् भुवि ॥

सबकी चेष्टाएँ मनके अनुकूल होती थीं। पृथ्वीपर किसी प्रकारका संताप नहीं होता था। राजर्षि युधिष्ठिर स्वयं जैसे आचार-विचारसे युक्त थे, उसीका भूतलपर प्रसार हुआ था ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः पाण्डवा धर्मचारिणः।
ज्येष्ठानुवर्तिनः सर्वे बभूवुः प्रियदर्शनाः ॥

समस्त पाण्डव सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, धर्माचरण करनेवाले और बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले थे। उनका दर्शन सभीको प्रिय था ॥

सिंहोरस्का जितक्रोधास्तेजोबलसमन्विताः।
आजानुबाहवः सर्वे दानशीला जितेन्द्रियाः ॥

उनकी छाती सिंहके समान चौड़ी थी। वे क्रोधपर विजय पानेवाले और तेज एवं बलसे सम्पन्न थे। उन सबकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। वे सभी दानशील एवं जितेन्द्रिय थे ॥

तेषु शासत्सु धरणीमृतवः स्वगुणैर्बभुः।
सुखोदयाय वर्तन्ते ग्रहास्तारागणैः सह ॥

पाण्डव जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय सभी ऋतुएँ अपने गुणोंसे सुशोभित होती थीं। ताराओं-सहित समस्त ग्रह सबके लिये सुखद हो गये थे ॥

मही सस्यप्रबहुला सर्वरत्नगुणोदया।
कामधुग्धेनुवद् भोगान् फलति स्म सहस्रधा॥

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बढ़ गयी थी। सभी रत्न और गुण प्रकट हो गये थे। कामधेनुके समान वह सहस्रों प्रकारके भोगरूप फल देती थी ॥

मन्वादिभिः कृताः पूर्वं मर्यादा मानवेषु याः।
अनतिक्रम्य ताः सर्वाः कुलेषु समयानि च।
अन्वशासन्त राजानो धर्मपुत्रप्रियंकराः ॥

पूर्वकालमें मनु आदि राजर्षियोंने मनुष्योंमें जो मर्यादाएँ स्थापित की थीं, उन सबका तथा कुलोचित सदाचारोंका

उल्लङ्घन न करते हुए भूमण्डलके सभी राजा अपने-अपने राज्यका शासन करते थे। इस प्रकार सभी भूपाल धर्मपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले थे ॥

महाकुलानि धर्मिष्ठा वर्धयन्तो विशेषतः।
मनुप्रणीतया कृत्या तेऽन्वशासन् वसुन्धराम् ॥

धर्मिष्ठ राजा श्रेष्ठ कुलोंको विशेष प्रोत्साहन देते थे। वे मनुकी बनायी हुई राजनीतिके अनुसार इस वसुधाका शासन करते थे ॥

राजवृत्तिर्हि सा शश्वद् धर्मिष्ठाभून्महीतले।
प्रायो लोकमतिस्तात राजवृत्तानुगामिनी ॥

तात! इस पृथ्वीपर राजाओंके बर्ताव सदा धर्मानुकूल होते थे। प्रायः लोगोंकी बुद्धि राजाके ही बर्तावका अनुसरण करनेवाली होती है ॥

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गं सुरेन्द्रवत्।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥)

जैसे इन्द्र स्वर्गका शासन करते हैं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके सहयोगसे अपने राज्य—भारतवर्षका शासन करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३०½ श्लोक मिलाकर कुल ४७½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनसे द्वारका जानेका प्रस्ताव करना

जनमेजय उवाच

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनंजयौ ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! जब पाण्डवोंने अपने राष्ट्रपर विजय पा ली और राज्यमें सब ओर शान्ति स्थापित हो गयी, उसके बाद श्रीकृष्ण और अर्जुन इन दोनों वीरोंने क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

विजिते पाण्डवै राजन् प्रशान्ते च विशाम्पते।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनंजयौ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ! नरेश्वर! जब पाण्डवोंने राष्ट्रपर विजय पा ली और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी, तब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २ ॥

विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतेषु ससानुषु ॥ ३ ॥

स्वर्गलोकमें विहार करनेवाले दो देवेश्वरोंकी भाँति वे दोनों मित्र आनन्दमग्न हो विचित्र-विचित्र वनोंमें और पर्वतोंके सुरम्य शिखरोंपर विचरने लगे ॥ ३ ॥

तीर्थेषु चैव पुण्येषु पल्वलेषु नदीषु च।
चङ्क्रम्यमाणौ संहृष्टावश्विनाविव नन्दने ॥ ४ ॥

पवित्र तीर्थों, छोटे तालाबों और नदियोंके तटोंपर विचरण करते हुए वे दोनों नन्दन-वनमें विहार करनेवाले अश्विनीकुमारोंके समान हर्षका अनुभव करते थे ॥ ४ ॥

इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ॥ ५ ॥

भरतनन्दन! फिर इन्द्रप्रस्थमें लौटकर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन मयनिर्मित रमणीय सभामें प्रवेश करके आनन्दपूर्वक मनोविनोद करने लगे ॥ ५ ॥

तत्र युद्धकथाश्चित्राः परिक्लेशांश्च पार्थिव।
कथायोगे कथायोगे कथयामासतुः सदा ॥ ६ ॥
ऋषीणां देवतानां च वंशांस्तावाहतुः सदा।
प्रीयमाणौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ! वे दोनों महात्मा पुरातन ऋषिप्रवर नर और नारायण थे और आपसमें बहुत प्रेम रखते थे। बातचीतके प्रसङ्गमें वे दोनों मित्र सदा देवताओं तथा ऋषियोंके वंशोंकी चर्चा करते थे और युद्धकी विचित्र कथाओं एवं क्लेशोंका वर्णन किया करते थे ॥ ६-७ ॥

मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारके सिद्धान्तोंको जाननेवाले थे। उन्होंने अर्जुनको विचित्र पद, अर्थ एवं सिद्धान्तोंसे युक्त बड़ी विलक्षण एवं मधुर कथाएँ सुनायीं ॥ ८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुन पुत्रशोकसे संतप्त थे। सहस्रों भाई-बन्धुओंके मारे जानेका भी उनके मनमें बड़ा दुःख था। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने अनेक प्रकारकी कथाएँ सुनाकर उस समय पार्थको शान्त किया ॥ ९ ॥

स तमाश्वास्य विधिवद् विज्ञानज्ञो महातपाः।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥ १० ॥

महातपस्वी विज्ञानवेत्ता श्रीकृष्णने विधिपूर्वक अर्जुनको सान्त्वना देकर अपना भार उतार दिया और वे सुखपूर्वक विश्राम-सा करने लगे ॥ १० ॥

ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥११॥

बातचीतके अन्तमें गोविन्दने गुडाकेश अर्जुनको अपनी मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना प्रदान करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त बात कही ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परंतप ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुन ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तुम्हारे बाहुबलका सहारा लेकर इस समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली ॥१२॥

असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेन तथा नकुल-सहदेवके प्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका निष्कण्टक राज्य भोग रहे हैं ॥

धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ।
धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥ १४ ॥

धर्मज्ञ ! राजा युधिष्ठिरने यह निष्कण्टक राज्य धर्मके बलसे ही प्राप्त किया है । धर्मसे ही राजा दुर्योधन युद्धमें मारा गया है ॥ १४ ॥

अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र अधर्ममें रुचि रखनेवाले, लोभी, कटुवादी और दुरात्मा थे । इसलिये अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित मार गिराये गये ॥ १५ ॥

प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥ १६ ॥

कुरुकुलतिलक कुन्तीकुमार ! धर्मपुत्र पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिर आज तुमसे सुरक्षित होकर सर्वथा शान्त हुई समूची पृथ्वीका राज्य भोगते हैं ॥ १६ ॥

रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव ।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥ १७ ॥

शत्रुसूदन पाण्डुकुमार ! तुम्हारे साथ रहनेपर निर्जन वनमें भी मुझे सुख और आनन्द मिल सकता है । फिर जहाँ इतने लोग और मेरी बुआ कुन्ती हों, वहाँकी तो बात ही क्या है ! ॥ १७ ॥

यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः ।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥ १८ ॥

जहाँ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, महाबली भीमसेन और माद्रीकुमार नकुल-सहदेव हों, वहाँ मुझे परम आनन्द प्राप्त हो सकता है ॥ १८ ॥

तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु कौरव ।
रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ ॥ १९ ॥
कालो महांस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः ।
बलदेवं च कौरव्य तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ॥२०॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति ।
रोचतां गमनं मह्यं तवापि पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

निष्पाप कुरुनन्दन ! इस सभामवनके रमणीय एवं पवित्र स्थान स्वर्गके समान सुखद हैं । यहाँ तुम्हारे साथ रहते हुए बहुत दिन बीत गये । इतने दिनोंतक मैं अपने पिता शूरसेनकुमार वसुदेवजीका दर्शन न कर सका । भैया बलदेव तथा अन्यान्य वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंके भी दर्शनसे वञ्चित रहा । अतः अब मैं द्वारकापुरीको जाना चाहता हूँ । पुरुषप्रवर ! तुम्हें भी मेरे इस यात्रासम्बन्धी प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार करना चाहिये ॥ १९–२१ ॥

उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः ।
सह भीष्मेण यद् युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥ २२ ॥

शोकावस्थामें मनुष्यका दुःख दूर करनेके लिये उसे जो कुछ उपदेश देना उचित है, वह भीष्मसहित हमलोगोंने विभिन्न स्थानोंमें राजा युधिष्ठिरको दिया है । उन्हें अनेक प्रकारसे समझाया है ॥ २२ ॥

शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पाण्डवः ।
तेन तत् तु वचः सम्यग् गृहीतं सुमहात्मना ॥२३॥

यद्यपि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हमारे शासक और शिक्षक हैं तो भी हमलोगोंने शिक्षा दी है और उन श्रेष्ठ महात्माने हमारी उन सभी बातोंको भलीभाँति स्वीकार किया है ।

धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि ।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥२४॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर धर्मज्ञ, कृतज्ञ और सत्यवादी हैं उनमें सत्य, धर्म, उत्तम बुद्धि तथा ऊँची स्थिति आदि गुण सदा स्थिरभावसे रहते हैं ॥ २४ ॥

तत्र गत्वा महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन ।
अस्मद्गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥ २५ ॥

अर्जुन ! यदि तुम उचित समझो तो महात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनके समक्ष मेरे द्वारका जानेका प्रस्ताव उपस्थित करो ॥ २५ ॥

न हि तस्याप्रियं कुर्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ २६ ॥

महाबाहो ! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तब भी मैं धर्मराजका अप्रिय नहीं कर सकता; फिर द्वारका जानेके लिये उनका दिल दुखाऊँ, यह तो हो ही कैसे सकता है ? ॥ २६ ॥

सर्वं त्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया ।
ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न मिथ्यैतत् कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! मैं सच्ची बात बता रहा हूँ, मैंने जो कुछ किया या कहा है, वह सब तुम्हारी प्रसन्नताके लिये और तुम्हारे ही हितकी दृष्टिसे किया है । यह किसी तरह मिथ्या नहीं है ॥ २७ ॥

प्रयोजनं च निर्वृत्तमिह वासे ममार्जुन ।
धार्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः ॥ २८ ॥

अर्जुन ! यहाँ मेरे रहनेका जो प्रयोजन था, वह पूरा हो गया है । धृतराष्ट्रका पुत्र राजा दुर्योधन अपनी सेना और सेवकोंके साथ मारा गया ॥ २८ ॥

पृथिवी च वशे तात धर्मपुत्रस्य धीमतः ।
स्थिता समुद्रवलया सशैलवनकानना ॥ २९ ॥
चिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव ।

तात ! पाण्डुनन्दन ! नाना प्रकारके रत्नोंके संचयसे सम्पन्न, समुद्रसे घिरी हुई, पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र कुरुराज युधिष्ठिरके अधीन हो गयी ॥ २९½ ॥

धर्मेण राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुन्धराम् ॥ ३० ॥
उपास्यमानो बहुभिः सिद्धैश्चापि महात्मभिः ।
स्तूयमानश्च सततं वन्दिभिर्भरतर्षभ ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बहुत-से सिद्ध महात्माओंके संगसे सुशोभित तथा वन्दीजनोंके द्वारा सदा ही प्रशंसित होते हुए धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर अब धर्मपूर्वक सारी पृथ्वीका पालन करें ॥

तं मया सह गत्वाद्य राजानं कुरु वर्धनम् ।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ॥ ३२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अब तुम मेरे साथ चलकर राजाको बधाई दो और मेरे द्वारका जानेके विषयमें उनसे पूछकर आज्ञा दिला दो ॥ ३२ ॥

इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे
निवेदितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे ।
प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः
सदा कुरूणामधिपो महामतिः ॥ ३३ ॥

पार्थ ! मेरे घरमें जो कुछ धन सम्पत्ति है, वह और मेरा यह शरीर सदा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित है । परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर सर्वदा मेरे प्रिय और माननीय हैं ॥

प्रयोजनं चापि निवासकारणे
न विद्यते मे त्वदृते नृपात्मज ।
स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने
गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य च ॥ ३४ ॥

राजकुमार ! अब तुम्हारे साथ मन बहलानेके सिवा यहाँ मेरे रहनेका और कोई प्रयोजन नहीं रह गया है । पार्थ ! यह सारी पृथ्वी तुम्हारे और सदाचारी गुरु युधिष्ठिरके शासनमें पूर्णतः स्थित है ॥ ३४ ॥

इतीदमुक्तः स तदा महात्मना
जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः ।
तथेति दुःखादिव वाक्यमैरय-
ज्जनार्दनं सम्प्रतिपूज्य पार्थिव ॥ ३५ ॥

पृथ्वीनाथ ! उस समय महात्मा भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अमित पराक्रमी अर्जुनने उनकी बातका आदर करते हुए बड़े दुःखके साथ 'तथास्तु' कहकर उनके जानेका प्रस्ताव स्वीकार किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(अनुगीतापर्व)

षोडशोऽध्यायः

अर्जुनका श्रीकृष्णसे गीताका विषय पूछना और श्रीकृष्णका अर्जुनसे सिद्ध, महर्षि एवं काश्यपका संवाद सुनाना

जनमेजय उवाच

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन् महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! शत्रुओंका नाश करके जब महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन सभाभवनमें रहने लगे, उन दिनों उन दोनोंमें क्या-क्या बातचीत हुई ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! श्रीकृष्णके सहित

अर्जुनने जब केवल अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब वे उस दिव्य सभाभवनमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ २ ॥

तत्र कंचित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! एक दिन वहाँ स्वजनोंसे घिरे हुए वे दोनों मित्र स्वेच्छासे घूमते-घामते सभामण्डपके एक ऐसे भागमें पहुँचे, जो स्वर्गके समान सुन्दर था ॥ ३ ॥

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर बहुत प्रसन्न थे । उन्होंने एक बार उस रमणीय सभाकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ ४ ॥

विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! देवकीनन्दन ! जब संग्रामका समय उपस्थित था, उस समय मुझे आपके माहात्म्यका ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन हुआ था ॥ ५ ॥

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥ ६ ॥

'किंतु केशव ! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञानका उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित-चित्त हो जानेके कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है ॥६॥

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥ ७ ॥

'माधव ! उन विषयोंको सुननेके लिये मेरे मनमें बारंबार उत्कण्ठा होती है । इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं; अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिये' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गलेसे लगाकर इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ८ ॥

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥ ९ ॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका श्रवण कराया था, अपने स्वरूपभूत धर्म-सनातन पुरुषोत्तमतत्त्वका परिचय दिया था और (शुक्ल-कृष्ण गतिका निरूपण करते हुए) सम्पूर्ण नित्य लोकोंका भी वर्णन किया था; किंतु तुमने जो अपनी नासमझीके कारण उस उपदेशको याद नहीं रक्खा, यह मुझे बहुत अप्रिय है । उन बातोंका अब पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता ॥ ९-१० ॥

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है । धनंजय ! अब मैं उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता ॥ ११ ॥

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ १२ ॥

क्योंकि वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है ॥ १२ ॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १३ ॥

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था । अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥ १४ ॥

जिससे तुम उस समत्वबुद्धिका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर लोगे । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तुम मेरी सारी बातें ध्यान देकर सुनो ॥ १४ ॥

आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिंदम।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥ १५ ॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥ १६ ॥

शत्रुदमन ! एक दिनकी बात है, एक दुर्धर्ष ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे उतरकर स्वर्गलोकमें होते हुए मेरे यहाँ आये । मैंने उनकी विधिवत् पूजा की और मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया । भरतश्रेष्ठ ! मेरे प्रश्नका उन्होंने सुन्दर विधिसे उत्तर दिया । पार्थ ! वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ । कोई अन्यथा विचार न करके इसे ध्यान देकर सुनो ॥ १५-१६ ॥

ब्राह्मण उवाच

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥ १७ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥ १८ ॥

त

अर्जुनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ प्रश्नोत्तर

ब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्ण ! मधुसूदन ! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न किया है, उसका मैं यथावत् उत्तर दे रहा हूँ । प्रभो ! माधव ! सावधान होकर मेरी बात श्रवण करो ॥ १७-१८ ॥

कश्चिद् विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद् धर्माणामागतागमम् ॥ १९ ॥
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥ २० ॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥ २१ ॥

प्राचीन समयमें काश्यप नामके एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षिके पास गये; जो धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण रहस्योंको जाननेवाले, भूत और भविष्यके ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण, लोक-तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख-दुःख-के रहस्यको समझनेवाले, जन्म-मृत्युके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्यके ज्ञाता और ऊँच-नीच प्राणियोंको कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली गतिके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे ॥ १९—२१ ॥

चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥ २२ ॥
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥ २३ ॥
सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥ २४ ॥

वे मुक्तकी भाँति विचरनेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान, सर्वत्र घूमनेवाले और अन्तर्धान विद्याके ज्ञाता थे । अदृश्य रहनेवाले चक्रधारी सिद्धोंके साथ वे विचरते, बातचीत करते और उन्हींके साथ एकान्तमें बैठते थे । जैसे वायु कहीं आसक्त न होकर सर्वत्र प्रवाहित होती है, उसी तरह वे सर्वत्र अनासक्त भावसे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरा करते थे । महर्षि काश्यप उनकी उपर्युक्त महिमा सुनकर ही उनके पास गये थे ॥ २२—२४ ॥

तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ २५ ॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तद् द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ॥ २६ ॥
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परंतपः ॥ २७ ॥

निकट जाकर उन मेधावी, तपस्वी, धर्माभिलाषी और एकाग्रचित्त महर्षिने न्यायानुसार उन सिद्ध महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया । वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और बड़े अद्भुत संत थे । उनमें सब प्रकारकी योग्यता थी । वे शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र थे । उनका दर्शन करके काश्यपको बड़ा विस्मय हुआ । वे उन्हें गुरु मानकर उनकी सेवामें लग गये और अपनी शुश्रूषा, गुरुभक्ति तथा श्रद्धाभावके द्वारा उन्होंने उन सिद्ध महात्माको संतुष्ट कर लिया ॥ २५—२७ ॥

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥ २८ ॥

जनार्दन ! अपने शिष्य काश्यपके ऊपर प्रसन्न होकर उन सिद्ध महर्षिने परासिद्धिके सम्बन्धमें विचार करके जो उपदेश किया, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २८ ॥

सिद्ध उवाच

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ॥ २९ ॥

सिद्धने कहा—तात काश्यप ! मनुष्य नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके केवल पुण्यके संयोगसे इस लोकमें उत्तम फल और देवलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ॥ ३० ॥

जीवको कहीं भी अत्यन्त सुख नहीं मिलता । किसी भी लोकमें वह सदा नहीं रहने पाता । तपस्या आदिके द्वारा कितने ही कष्ट सहकर बड़े-से-बड़े स्थानको क्यों न प्राप्त किया जाय, वहाँसे भी बार-बार नीचे आना ही पड़ता है ॥ ३० ॥

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥ ३१ ॥

मैंने काम-क्रोधसे युक्त और तृष्णासे मोहित होकर अनेकों बार पाप किये हैं और उनके सेवनके फलस्वरूप घोर कष्ट देनेवाली अशुभ गतियोंको भोगा है ॥ ३१ ॥

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ ३२ ॥

बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका क्लेश उठाया है । तरह-तरहके आहार ग्रहण किये और अनेक स्तनोंका दूध पीया है ॥ ३२ ॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ ॥ ३३ ॥

अनघ ! बहुत-से पिता और भाँति-भाँतिकी माताएँ देखी हैं । विचित्र-विचित्र सुख-दुःखोंका अनुभव किया है ॥ ३३ ॥

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद् धनम् ॥ ३४ ॥

कितनी ही बार मुझसे प्रियजनोंका वियोग और अप्रिय जनोंका संयोग हुआ है । जिस धनको मैंने बहुत कष्ट सहकर कमाया था, वह मेरे देखते-देखते नष्ट हो गया है ॥ ३४ ॥

अवमानाः सुकृपणाश्च राजतः स्वजनात् तथा ।
शारीरा मानसा वापि वेदना भृशदारुणाः ॥ ३५ ॥

राजा और स्वजनोंकी ओरसे मुझे कई बार बड़े-बड़े कष्ट और अपमान उठाने पड़े हैं । तन और मनकी अत्यन्त भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ी हैं ॥ ३५ ॥

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥ ३६ ॥

मैंने अनेक बार घोर अपमान, प्राणदण्ड और कड़ी कैदकी सजाएँ भोगी हैं । मुझे नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहना पड़ा है ॥ ३६ ॥

जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥ ३७ ॥

इस लोकमें जन्म लेकर मैंने बारंबार बुढ़ापा, रोग, व्यसन और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके प्रचुर दुःख सदा ही भोगे हैं ॥ ३७ ॥

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥ ३८ ॥

इस प्रकार बारंबार क्लेश उठानेसे एक दिन मेरे मनमें बड़ा खेद हुआ और मैं दुःखोंसे घबराकर निराकार परमात्मा-की शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहारका परित्याग कर दिया ॥

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥ ३९ ॥

इस लोकमें अनुभवके पश्चात् मैंने इस मार्गका अवलम्बन किया है और अब परमात्माकी कृपासे मुझे यह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ३९ ॥

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गताः शुभाः ॥ ४० ॥

अब मैं पुनः इस संसारमें नहीं आऊँगा । जबतक यह सृष्टि कायम रहेगी और जबतक मेरी मुक्ति नहीं हो जायगी, तबतक मैं अपनी और दूसरे प्राणियोंकी शुभगतिका अव-लोकन करूँगा ॥ ४० ॥

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परंतप ॥ ४२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है । इसके बाद मैं उत्तम लोकमें जाऊँगा । फिर उससे भी परम उत्कृष्ट सत्यलोकमें जा पहुँचूँगा और क्रमशः अव्यक्त ब्रह्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लूँगा । इसमें तुम्हें संशय नहीं करना चाहिये । काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संताप देनेवाले काश्यप ! अब मैं पुनः इस मर्त्यलोकमें नहीं आऊँगा ॥४१-४२॥

प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥ ४३ ॥

महाप्राज्ञ ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुम जिस वस्तुको पानेकी इच्छासे मेरे पास आये हो, उसके प्राप्त होनेका यह समय आ गया है ॥ ४३ ॥

अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात् तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ॥ ४४ ॥

तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है, इसे मैं जानता हूँ और शीघ्र ही यहाँसे चला जाऊँगा । इसीलिये मैंने स्वयं तुम्हें प्रश्न करनेके लिये प्रेरित किया है ॥ ४४ ॥

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत् तवेप्सितम् ॥ ४५ ॥

विद्वन् ! तुम्हारे उत्तम आचरणसे मुझे बड़ा संतोष है । तुम अपने कल्याणकी बात पूछो । मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रश्नका उत्तर दूँगा ॥ ४५ ॥

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं सम्पूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥ ४६ ॥

काश्यप ! मैं तुम्हारी बुद्धिकी सराहना करता और उसे बहुत आदर देता हूँ । तुमने मुझे पहचान लिया है, इसीसे कहता हूँ कि बड़े बुद्धिमान् हो ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

काश्यपके प्रश्नोंके उत्तरमें सिद्ध महात्माद्वारा जीवकी विविध गतियोंका वर्णन

वासुदेव उवाच

ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान् सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान् स प्राह धर्मभृतां वरः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ काश्यपने उन सिद्ध महात्माके दोनों पैर पकड़कर जिनका उत्तर कठिनाईसे दिया जा सके, ऐसे बहुत-से धर्मयुक्त प्रश्न पूछे ॥ १ ॥

काश्यप उवाच

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते।
कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते॥ २॥

काश्यपने पूछा—महात्मन्! यह शरीर किस प्रकार गिर जाता है? फिर दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है? संसारी जीव किस तरह इस दुःखमय संसारसे मुक्त होता है?॥२॥

आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत् प्रपद्यते॥ ३॥

जीवात्मा प्रकृति (मूल विद्या) और उससे उत्पन्न होनेवाले शरीरका कैसे त्याग करता है? और शरीरसे छूटकर दूसरेमें वह किस प्रकार प्रवेश करता है?॥ ३॥

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते॥ ४॥

मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल कैसे भोगता है और शरीर न रहनेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?

ब्राह्मण उवाच

एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान् प्रत्यभाषत।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु॥ ५॥

ब्राह्मण कहते हैं—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! काश्यपके इस प्रकार पूछनेपर सिद्ध महात्माने उनके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देना आरम्भ किया। वह मैं बता रहा हूँ, सुनिये॥ ५॥

सिद्ध उवाच

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः॥ ६॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते॥ ७॥

सिद्धने कहा—काश्यप! मनुष्य इस लोकमें आयु और कीर्तिको बढ़ानेवाले जिन कर्मोंका सेवन करता है, वे शरीर-प्राप्तिमें कारण होते हैं। शरीर-ग्रहणके अनन्तर जब वे सभी कर्म अपना फल देकर क्षीण हो जाते हैं, उस समय जीवकी आयुका भी क्षय हो जाता है। उस अवस्थामें वह विपरीत कर्मोंका सेवन करने लगता है और विनाशकाल निकट आनेपर उसकी बुद्धि उलटी हो जाती है॥ ६—७॥

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥ ८॥

वह अपने सत्त्व (धैर्य), बल और अनुकूल समयको जानकर भी मनपर अधिकार न होनेके कारण असमयमें तथा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध भोजन करता है॥ ८॥

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन॥ ९॥

अत्यन्त हानि पहुँचानेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबका वह सेवन करता है। कभी तो बहुत अधिक खा लेता है, कभी बिल्कुल ही भोजन नहीं करता है॥ ९॥

दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः॥ १०॥

कभी दूषित खाद्य अन्न-पानको भी ग्रहण कर लेता है, कभी एक-दूसरेसे विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंको एक साथ खा लेता है। किसी दिन गरिष्ठ अन्न और वह भी बहुत अधिक मात्रामें खा जाता है। कभी-कभी एक बारका खाया हुआ अन्न पचने भी नहीं पाता कि दुबारा भोजन कर लेता है॥

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद् वा प्राप्तं वेगं विधारयेत्॥ ११॥

अधिक मात्रामें व्यायाम और स्त्री-सम्भोग करता है। सदा काम करनेके लोभसे मल-मूत्रके वेगको रोके रहता है॥

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान् प्रकोपयेत्॥ १२॥

रसीला अन्न खाता और दिनमें सोता है तथा कभी-कभी खाये हुए अन्नके पचनेके पहिले असमयमें भोजन करके स्वयं ही अपने शरीरमें स्थित वात-पित्त आदि दोषोंको कुपित कर देता है॥ १२॥

स्वदोषकोपनाद् रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति॥ १३॥

उन दोषोंके कुपित होनेसे वह अपने लिये प्राणनाशक रोगोंको बुला लेता है। अथवा फाँसी लगाने या जलमें डूबने आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंका आश्रय लेता है॥ १३॥

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद् यथावदुपधारय॥ १४॥

इन्हीं सब कारणोंसे जीवका शरीर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो जीवका जीवन बताया जाता है, उसे अच्छी तरह समझ लो॥ १४॥

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान् प्राणान् रुणद्धि वै॥ १५॥

शरीरमें तीव्र वायुसे प्रेरित हो पित्तका प्रकोप बढ़ जाता है और वह शरीरमें फैलकर समस्त प्राणोंकी गतिको रोक देता है॥ १५॥

अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः॥ १६॥

इस शरीरमें कुपित होकर अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त जीवके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देता है। इस बातको ठीक समझो॥ १६॥

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात्।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु॥ १७॥

जब मर्मस्थान छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, तब वेदनासे व्यथित हुआ जीव तत्काल इस जड शरीरसे निकल जाता है। उस शरीरको सदाके लिये त्याग देता है ॥ १७ ॥

वेदनाभिः परीतात्मा तद् विद्धि द्विजसत्तम ।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मृत्युकालमें जीवका तन-मन वेदनासे व्यथित होता है, इस बातको भलीभाँति जान लो । इस तरह संसारके सभी प्राणी सदा जन्म और मरणसे उद्विग्न रहते हैं ॥ १८ ॥

दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ॥ १९ ॥
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ॥ २० ॥

विप्रवर ! सभी जीव अपने शरीरोंका त्याग करते देखे जाते हैं । गर्भमें मनुष्य प्रवेश करते समय तथा गर्भसे नीचे गिरते समय भी वैसी ही वेदनाका अनुभव करता है । मृत्यु-कालमें जीवोंके शरीरकी सन्धियाँ टूटने लगती हैं और जन्मके समय वह गर्भस्थ जलसे भींगकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है॥

यथा पञ्चसु भूतेषु सम्भूतत्वं नियच्छति ।
शैत्यात् प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥ २१ ॥
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः॥

अन्य प्रकारकी तीव्र वायुसे प्रेरित हो शरीरमें सर्दीसे कुपित हुई जो वायु पाँचों भूतोंमें प्राण और अपानके स्थानमें स्थित है, वही पञ्चभूतोंके सङ्घातका नाश करती है तथा वह देहधारियोंको बड़े कष्टसे त्यागकर ऊर्ध्वलोकको चली जाती है ॥ २१-२२ ॥

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः॥२३॥
ब्रह्मणा सम्परित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरैः ।

इस प्रकार जब जीव शरीरका त्याग करता है, तब प्राणियोंका शरीर उच्छ्वासहीन दिखायी देता है । उसमें गर्मी, उच्छ्वास, शोभा और चेतना कुछ भी नहीं रह जाती। इस तरह जीवात्मासे परित्यक्त उस शरीरको लोग मृत (मरा हुआ) कहते हैं ॥ २३½ ॥

स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थाञ्शरीरभृत्॥ २४ ॥
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसम्भवान् ।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः ॥ २५ ॥

देहधारी जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस आदि विषयोंका अनुभव करता है, उनके द्वारा वह भोजनसे परिपुष्ट होनेवाले प्राणोंको नहीं जान पाता । इस शरीरके भीतर रह-कर जो कार्य करता है, वह सनातन जीव है ॥ २४-२५ ॥

तथा यद्यद् भवेद् युक्तं संनिपाते क्वचित् क्वचित्।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत् तथा ॥ २६ ॥

कहीं-कहीं संधिस्थानोंमें जो-जो अङ्ग संयुक्त होता है, उस-उसको तुम मर्म समझो; क्योंकि शास्त्रमें मर्मस्थानका ऐसा ही लक्षण देखा गया है ॥ २६ ॥

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन् ।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै ॥ २७ ॥

उन मर्मस्थानों (संधियों) के विलग होनेपर वायु ऊपरको उठती हुई प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हो शीघ्र ही उस-की बुद्धिको अवरुद्ध कर लेती है ॥ २७ ॥

ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ।
तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु ।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ॥ २८ ॥

तब अन्तकाल उपस्थित होनेपर प्राणी सचेतन होनेपर भी कुछ समझ नहीं पाता; क्योंकि तम (अविद्या) के द्वारा उसकी ज्ञानशक्ति आवृत हो जाती है । मर्मस्थान भी अवरुद्ध हो जाते हैं । उस समय जीवके लिये कोई आधार नहीं रह जाता और वायु उसे अपने स्थानसे विचलित कर देती है ॥ २८ ॥

ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम् ।
निष्क्रामन् कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥ २९ ॥

तब वह जीवात्मा बारंबार भयंकर एवं लंबी साँस छोड़कर बाहर निकलने लगता है । उस समय सहसा इस जड शरीरको कम्पित कर देता है ॥ २९ ॥

स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते ॥ ३० ॥

शरीरसे अलग होनेपर वह जीव अपने किये हुए शुभकार्य पुण्य अथवा अशुभ कार्य पापकर्मोंद्वारा सब ओरसे घिरा रहता है ॥ ३० ॥

ब्राह्मणा ज्ञानसम्पन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः ।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥ ३१ ॥

जिन्होंने वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यथावत् अध्ययन किया है, वे ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण लक्षणोंके द्वारा यह जान लेते हैं कि अमुक जीव पुण्यात्मा रहा है और अमुक जीव पापी ॥

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥ ३२ ॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥ ३३ ॥

जिस तरह आँखवाले मनुष्य अँधेरेमें इधर-उधर उगते-बुझते हुए खद्योतको देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्रवाले सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य दृष्टिसे जन्मते, मरते तथा

गर्भमें प्रवेश करते हुए जीवको सदा देखते रहते हैं ।३२-३३।

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ ३४ ॥

शास्त्रके अनुसार जीवके तीन प्रकारके स्थान देखे गये हैं। (मृत्युलोक, स्वर्गलोक और नरक) । यह मर्त्यलोककी भूमि जहाँ बहुत-से प्राणी रहते हैं, कर्मभूमि कहलाती है ॥ ३४॥

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः॥ ३५ ॥

अतः यहाँ शुभ और अशुभ कर्म करके सब मनुष्य उसके फलस्वरूप अपने कर्मोंके अनुसार अच्छे-बुरे भोग प्राप्त करते हैं ॥ ३५ ॥

इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः ।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः ।
तस्मात् सुदुर्लभो मोक्ष आत्मा रक्ष्यस्ततो भृशम् ॥३६॥

यहीं पाप करनेवाले मानव अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें पड़ते हैं । यह जीवकी अधोगति है, जो घोर कष्ट देनेवाली है । इसमें पड़कर पापी मनुष्य नरकाग्निमें पकाये जाते हैं । उससे छुटकारा मिलना बहुत कठिन है । अतः (पापकर्मसे दूर रहकर) अपनेको नरकसे बचाये रखनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ॥ ३७ ॥

स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोकोंमें जाकर प्राणी जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उनका यहाँ वर्णन किया जाता है, इस विषयको यथार्थरूपसे मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्ध्येथाः कर्मनिश्चयम् ।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम् ॥ ३८ ॥
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम्॥३९॥

इसको सुननेसे तुम्हें कर्मोंकी गतिका निश्चय हो जायगा और नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त होगी । जहाँ ये समस्त तारे हैं, जहाँ वह चन्द्रमण्डल प्रकाशित होता है और जहाँ सूर्यमण्डल जगत्में अपनी प्रभासे उद्भासित हो रहा है, ये सब-के-सब पुण्यकर्मा पुरुषोंके स्थान हैं, ऐसा जानो [पुण्यात्मा मनुष्य उन्हीं लोकोंमें जाकर अपने पुण्योंका फल भोगते हैं] ॥ ३८-३९ ॥

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥ ४० ॥

जब जीवोंके पुण्यकर्मोंका भोग समाप्त हो जाता है, तब वे वहाँसे नीचे गिरते हैं । इस प्रकार बारंबार उनका आवागमन होता रहता है । स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधमका भेद रहता है ॥ ४० ॥

न च तत्रापि संतोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्ते समुदीरिताः ॥ ४१ ॥

वहाँ भी दूसरोंका अपनेसे बहुत अधिक दीप्तिमान् तेज एवं ऐश्वर्य देखकर मनमें संतोष नहीं होता है । इस प्रकार जीवकी इन सभी गतियोंका मैंने तुम्हारे समक्ष पृथक्-पृथक् वर्णन किया है ॥ ४१ ॥

उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम् ।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ॥ ४२ ॥

अब मैं यह बतलाऊँगा कि जीव किस प्रकार गर्भमें आकर जन्म धारण करता है । ब्रह्मन् ! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरे मुखसे इस विषयका वर्णन सुनो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

जीवके गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म-फलकी अनिवार्यता तथा संसारसे तरनेके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥ १ ॥

सिद्ध ब्राह्मण बोले—काश्यप ! इस लोकमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका फल भोगे बिना नाश नहीं होता । वे कर्म वैसा-वैसा कर्मानुसार एकके बाद एक शरीर धारण कराकर अपना फल देते रहते हैं ॥ १ ॥

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात् फलं बहु ।
तथा स्याद् विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥ २ ॥

जैसे फल देनेवाला वृक्ष फलनेका समय आनेपर बहुत-से फल प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे किये हुए पुण्यका फल अधिक होता है ॥ २ ॥

पापं चापि तथैव स्यात् पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३ ॥

इसी तरह कलुषित चित्तसे किये हुए पापके फलमें भी

वृद्धि होती है; क्योंकि जीवात्मा मनको आगे करके ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥

यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ॥ ४ ॥

काम-क्रोधसे घिरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार कर्मजालमें आबद्ध होकर गर्भमें प्रवेश करता है, उसका भी उत्तर सुनो ॥

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ५ ॥

जीव पहले पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होता है, फिर स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है। तत्पश्चात् उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीरकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति ।
सम्प्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात् तद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥

जीव अपनी इच्छाके अनुसार उस शरीरमें प्रवेश करके सूक्ष्म और अव्यक्त होनेके कारण कहीं आसक्त नहीं होता है; क्योंकि वास्तवमें वह सनातन परब्रह्मस्वरूप है ॥ ६ ॥

तद् बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ।
स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ॥ ७ ॥
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः ।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥ ८ ॥

वह जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंकी स्थितिका हेतु है, क्योंकि उसीके द्वारा सब प्राणी जीवित रहते हैं। वह जीव गर्भके समस्त अङ्गमें प्रविष्ट हो उसके प्रत्येक अंशमें तत्काल चेतनता ला देता है और वही प्राणोंके स्थान—वक्षःस्थलमें स्थित हो समस्त अङ्गोंका संचालन करता है। तभी वह गर्भ चेतनासे सम्पन्न होता है ॥ ७-८ ॥

यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम् ।
उपैति तद् विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥ ९ ॥

जैसे तपाये हुए लोहेका द्रव जैसे साँचेमें ढाला जाता है उसीका रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है, ऐसा समझो। (अर्थात् जीव जिस प्रकारकी योनिमें प्रविष्ट होता है, उसी रूपमें उसका शरीर बन जाता है) ॥ ९ ॥

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् ।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥ १० ॥

जैसे आग लोहपिण्डमें प्रविष्ट होकर उसे बहुत तपा देती है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है और वह उसमें चेतनता ला देता है। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १० ॥

यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥ ११ ॥

जिस प्रकार जलता हुआ दीपक समूचे घरमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जीवकी चैतन्य शक्ति शरीरके सब अवयवोंको प्रकाशित करती है ॥ ११ ॥

यद् यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥ १२ ॥

मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो-जो कर्म करता है, पूर्वजन्मके शरीरसे किये गये उन सब कर्मोंका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है ॥ १२ ॥

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते ।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुध्यते ॥ १३ ॥

उपभोगसे प्राचीन कर्मका तो क्षय होता है और फिर दूसरे नये-नये कर्मोंका संचय बढ़ जाता है। जबतक मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक धर्मका उसे ज्ञान नहीं होता, तबतक यह कर्मोंकी परम्परा नहीं टूटती है ॥ १३ ॥

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम ॥ १४ ॥

साधुशिरोमणे ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव जिनके अनुष्ठानसे सुखी होता है, उन कर्मोंका वर्णन सुनो ॥ १४ ॥

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥ १५ ॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥ १६ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥ १७ ॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते ।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः ॥ १८ ॥

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रिय निग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियोंका मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता, इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार करना—यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका बर्ताव कहलाता है। इनके अनुष्ठानसे धर्म होता है, जो सदा प्रजावर्गकी रक्षा करता है ॥ १५–१८ ॥

एवं सत्सु सदा पश्येत् तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिञ्शान्ता व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

सत्पुरुषोंमें सदा ही इस प्रकारका धार्मिक आचरण देखा जाता है। उन्हींमें धर्मकी अटल स्थिति होती है। सदाचार

ही धर्मका परिचय देता है । शान्तचित्त महात्मा पुरुष सदाचारमें ही स्थित रहते हैं ॥ १९ ॥

तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ २० ॥

उन्हींमें पूर्वोक्त दान आदि कर्मोंकी स्थिति है । वे ही कर्म सनातन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं । जो उस सनातन धर्मका आश्रय लेता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती है ॥ २० ॥

अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्मवर्त्मसु ।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥ २१ ॥

इसीलिये धर्ममार्गसे भ्रष्ट होनेवाले लोगोंका नियन्त्रण किया जाता है । जो योगी और मुक्त है, वह अन्य धर्मात्माओं-की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है ॥ २१ ॥

वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥ २२ ॥

जो धर्मके अनुसार बर्ताव करता है, वह जहाँ जिस अवस्थामें हो, वहाँ उसी स्थितिमें उसको अपने कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह धीरे-धीरे अधिक काल बीतनेपर संसार-सागरसे तर जाता है ॥ २२ ॥

एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते ।
सर्वं तत्कारणं येन विकृतोऽयमिहागतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार जीव सदा अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगता है । यह आत्मा निर्विकार ब्रह्म होनेपर भी विकृत होकर इस जगत्में जो जन्म धारण करता है, उसमें कर्म ही कारण है ॥ २३ ॥

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम् ।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २४ ॥

आत्माके शरीर धारण करनेकी प्रथा सबसे पहले किसने चलायी है, इस प्रकारका संदेह प्रायः लोगोंके मनमें उठा करता है, अतः उसीका उत्तर दे रहा हूँ ॥ २४ ॥

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
त्रैलोक्यमसृजद् ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण जगत्के पितामह ब्रह्माजीने सबसे पहले स्वयं ही शरीर धारण करके स्थावर-जङ्गमरूप समस्त त्रिलोकीकी (कर्मानुसार) रचना की ॥ २५ ॥

ततः प्रधानमसृजत् प्रकृतिं स शरीरिणाम् ।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥ २६ ॥

उन्होंने प्रधान नामक तत्त्वकी उत्पत्ति की, जो देहधारी जीवोंकी प्रकृति कहलाती है । जिसने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है तथा लोकमें जिसे मूल प्रकृतिके नामसे जानते हैं ॥ २६ ॥

इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

यह प्राकृत जगत् क्षर कहलाता है, इससे भिन्न अविनाशी जीवात्माको अक्षर कहते हैं । (इनसे विलक्षण शुद्ध परब्रह्म हैं)—इन तीनोंमेंसे जो दो तत्त्व—क्षर और अक्षर हैं, वे सब प्रत्येक जीवके लिये पृथक्-पृथक् होते हैं ॥ २७ ॥

असृजत् सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥ २८ ॥

श्रुतिमें जो सृष्टिके आरम्भमें सत्‌रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, उन प्रजापतिने समस्त स्थावर भूतों और जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि की है, यह पुरातन श्रुति है ॥ २८ ॥

तस्य कालपरीमाणमकरोत् स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ॥ २९ ॥

पितामहने जीवके लिये नियत समयतक शरीर धारण किये रहनेकी, भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेकी और परलोकसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेने आदिकी भी व्यवस्था की है ॥ २९ ॥

यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत् प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं यथावदुपपद्यते ॥ ३० ॥

जिसने पूर्वजन्ममें अपने आत्माका साक्षात्कार कर लिया हो, ऐसा कोई मेधावी अधिकारी पुरुष संसारकी अनित्यताके विषयमें जैसी बात कह सकता है, वैसी ही मैं भी कहूँगा । मेरी कही हुई सारी बातें यथार्थ और संगत होंगी ॥ ३० ॥

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥ ३१ ॥
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह समझता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है तथा सुखके रूपमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है वह सब दुःख-ही दुःख है, ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायगा ॥ ३१-३२ ॥

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ॥ ३३ ॥
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥ ३४ ॥

जन्म, मृत्यु एवं रोगोंसे घिरा हुआ जो पुरुष प्रधान तत्त्व (प्रकृति) को जानता है और समस्त चेतन प्राणियोंमें चैतन्यको समानरूपसे व्याप्त देखता है, वह पूर्ण परमपदके अनुसंधानमें संलग्न हो जगत्के भोगोंसे विरक्त हो जाता है । साधुशिरोमणे ! उस वैराग्यवान् पुरुषके लिये जो हितकर

उपदेश है, उसका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ॥ ३३-३४ ॥

शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥ ३५ ॥

उसके लिये जो सनातन अविनाशी परमात्माका उत्तम ज्ञान अभीष्ट है, उसका मैं वर्णन करता हूँ । विप्रवर ! तुम सारी बातोंको ध्यान देकर सुनो ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादमें मोक्षप्राप्तिके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत् ॥ १ ॥

सिद्ध ब्राह्मणने कहा—काश्यप ! जो मनुष्य (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमेंसे क्रमशः) पूर्व-पूर्वका अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौनभावसे रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान—परब्रह्म परमात्मामें लीन रहता है, वही संसार-बन्धनसे मुक्त होता है ॥ १ ॥

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः ॥ २ ॥

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥ ३ ॥

जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३ ॥

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥ ४ ॥

जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥

न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किंचन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ५ ॥

जो किसीके द्रव्यका लोभ नहीं रखता, किसीकी अवहेलना नहीं करता, जिसके मनपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता और जिसके चित्तकी आसक्ति दूर हो गयी है, वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ५ ॥

अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥ ६ ॥

जो किसीको अपना मित्र, बन्धु या संतान नहीं मानता, जिसने सकाम धर्म, अर्थ और कामका त्याग कर दिया है तथा जो सब प्रकारकी आकाङ्क्षाओंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥ ७ ॥

जिसकी न धर्ममें आसक्ति है न अधर्ममें, जो पूर्वसंचित कर्मोंको त्याग चुका है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् ।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥ ८ ॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥ ९ ॥

जो किसी भी कर्मका कर्ता नहीं बनता, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो इस जगत्को अश्वत्थके समान अनित्य—कलतक न टिक सकनेवाला समझता है तथा जो सदा इसे जन्म, मृत्यु और जरासे युक्त जानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यमें लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धनका नाश कर देता है ॥ ८-९ ॥

अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ॥ १० ॥

जो आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूपसे रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ११ ॥

जिसकी दृष्टिमें आत्मा पाञ्चभौतिक गुणोंसे हीन, निराकार, कारणरहित तथा निर्गुण होते हुए भी (मायाके सम्बन्धसे) गुणोंका भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

जो बुद्धिसे विचार करके शारीरिक और मानसिक सब

संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह बिना ईंधनकी आगके समान धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥ १३ ॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे रहित, द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हो गया है तथा जो तपस्याके द्वारा इन्द्रिय-समूहको अपने वशमें करके (अनासक्त) भावसे विचरता है, वह मुक्त ही है ॥ १३ ॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ॥ १४ ॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे मुक्त होता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥१५॥

अब मैं उस परम उत्तम योगशास्त्रका वर्णन करूँगा, जिसके अनुसार योग-साधन करनेवाले योगी पुरुष अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ १५ ॥

तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १६ ॥

मैं उसका यथावत् उपदेश करता हूँ। मनोनिग्रहके जिन उपायोंद्वारा चित्तको इस शरीरके भीतर ही वशीभूत एवं अन्तर्मुख करके योगी अपने नित्य आत्माका दर्शन करता है, उन्हें मुझसे श्रवण करो ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥

इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनमें और मनको आत्मामें स्थापित करे। इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर मोक्षोपयोगी उपायका अवलम्बन करना चाहिये ॥ १७॥

तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥

मनीषी ब्राह्मणको चाहिये कि वह सदा तपस्यामें प्रवृत्त एवं यत्नशील होकर योगशास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करे। इससे वह मनके द्वारा अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करता है ॥ १८ ॥

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १९ ॥

एकान्तमें रहनेवाला साधक पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगाये रखनेमें सफल हो जाता है तो वह अवश्य ही अपनेमें आत्माका दर्शन करता है ॥ १९ ॥

संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति ॥ २० ॥

जो साधक सदा संयमपरायण, योगयुक्त, मनको वशमें करनेवाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मासे प्रेरित होकर बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २० ॥

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथा रूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ॥ २१ ॥

जैसे मनुष्य सपनेमें किसी अपरिचित पुरुषको देखकर जब पुनः उसे जाग्रत् अवस्थामें देखता है, तब तुरंत पहचान लेता है कि 'यह वही है।' उसी प्रकार साधनपरायण योगी समाधि-अवस्थामें आत्माको जिस रूपमें देखता है, उसी रूपमें उसके बाद भी देखता रहता है ॥ २१ ॥

इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत्।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ॥ २२ ॥

जैसे कोई मनुष्य मूँजसे सींकको अलग करके दिखा दे, वैसे ही योगी पुरुष आत्माको इस देहसे पृथक् करके देखता है॥

मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥ २३ ॥

यहाँ शरीरको मूँज कहा गया है और आत्माको सींक। योगवेत्ताओंने देह और आत्माके पार्थक्यको समझनेके लिये यह बहुत उत्तम दृष्टान्त दिया है ॥ २३ ॥

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत्।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः॥ २४ ॥

देहधारी जीव जब योगके द्वारा आत्माका यथार्थरूपसे दर्शन कर लेता है, उस समय उसके ऊपर त्रिभुवनके अधीश्वरका भी आधिपत्य नहीं रहता ॥ २४ ॥

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ॥ २५ ॥

वह योगी अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके शरीर धारण कर सकता है, बुढ़ापा और मृत्युको भी भगा देता है, वह न कभी शोक करता है न हर्ष ॥ २५ ॥

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥ २६ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी पुरुष देवताओंका भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित्॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका विनाश होनेपर भी उसे भय नहीं होता। सबके क्लेश उठानेपर भी उसको किसीसे क्लेश नहीं पहुँचता ॥ २७ ॥

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः॥२८॥

शान्तचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति और स्नेहसे प्राप्त होनेवाले भयंकर दुःख-शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता ॥

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वचन दृश्यते ॥ २९ ॥

उसे शस्त्र नहीं बींध सकते, मृत्यु उसके पास नहीं पहुँच पाती, संसारमें उससे बढ़कर सुखी कहीं कोई नहीं दिखायी देता ॥ २९ ॥

सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥ ३० ॥

वह मनको आत्मामें लीन करके उसीमें स्थित हो जाता है तथा बुढ़ापाके दुःखोंसे छुटकारा पाकर सुखसे सोता—अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ॥ ३० ॥

देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् ।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथंचन ॥ ३१ ॥

वह इस मानव शरीरका त्याग करके इच्छानुसार दूसरे बहुत-से शरीर धारण करता है । योगजनित ऐश्वर्यका उपभोग करनेवाले योगीको योगसे किसी तरह विरक्त नहीं होना चाहिये ॥ ३१ ॥

सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ॥ ३२ ॥

अच्छी तरह योगका अभ्यास करके जब योगी अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करने लगता है, उस समय वह साक्षात् इन्द्रके पदको भी पानेकी इच्छा नहीं करता है ॥ ३२ ॥

योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु ।
दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन् संनिवसेत् पुरे ॥ ३३ ॥
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः ।

एकान्तमें ध्यान करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार योगकी प्राप्ति होती है, वह सुनो—जो उपदेश पहले श्रुतिमें देखा गया है, उसका चिन्तन करके जिस भागमें जीवका निवास माना गया है, उसीमें मनको भी स्थापित करे । उसके बाहर कदापि न जाने दे ॥ ३३½ ॥

पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ॥ ३४ ॥

शरीरके भीतर रहते हुए वह आत्मा जिस आश्रयमें स्थित होता है, उसीमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसहित मनको धारण करे ॥ ३४ ॥

प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन् काले स पश्यति।
तस्मिन् काले मनश्चास्य न च किंचन बाह्यतः॥ ३५॥

मूलाधार आदि किसी आश्रयमें चिन्तन करके जब वह सर्वस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है, उस समय उसका मन प्रत्यक्स्वरूप आत्मासे भिन्न कोई 'बाह्य' वस्तु नहीं रह जाता ॥ ३५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषं निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

निर्जन वनमें इन्द्रिय-समुदायको वशमें करके एकाग्रचित्त हो शब्दशून्य अपने शरीरके बाहर और भीतर प्रत्येक अङ्गमें परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करे ॥ ३६ ॥

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ॥ ३७ ॥

दन्त, तालु, जिह्वा, गला, ग्रीवा, हृदय तथा हृदय-बन्धन (नाड़ीमार्ग) को भी परमात्मरूपसे चिन्तन करे ॥

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन ।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥ ३८ ॥

मधुसूदन ! मेरे ऐसा कहनेपर उस मेधावी शिष्यने पुनः जिसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है, उस मोक्षधर्मके विषयमें पूछा—॥ ३८ ॥

भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते ।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ॥ ३९ ॥

'यह बारंबार खाया हुआ अन्न उदरमें पहुँचकर कैसे पचता है ? किस तरह उसका रस बनता है और किस प्रकार वह रक्तके रूपमें परिणत हो जाता है ? ॥ ३९ ॥

तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च योषिति ।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ४० ॥
वर्धते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम् ।
निरोधानां निर्गमनं मलानां च पृथक् पृथक् ॥ ४१ ॥

'स्त्री-शरीरमें मांस, मेदा, स्नायु और हड्डियाँ कैसे होती हैं ? देहधारियोंके ये समस्त शरीर कैसे बढ़ते हैं ? बढ़ते हुए शरीरका बल कैसे बढ़ता है ? जिनका सब ओरसे अवरोध है, उन मलोंका पृथक् पृथक् निःसारण कैसे होता है ? ॥४०-४१॥

कुतो वायं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः ।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मायमात्मनि ॥ ४२ ॥

'यह जीव कैसे साँस लेता, कैसे उच्छ्वास खींचता और किस स्थानमें रहकर इस शरीरमें सदा विद्यमान रहता है ? ॥

जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् ।
किंवर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः ॥ ४३ ॥
याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।

'चेष्टाशील जीवात्मा इस शरीरका भार कैसे वहन करता है ? फिर कैसे और किस रंगके शरीरको धारण करता है । निष्पाप भगवन् ! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताइये' ॥४३½॥

इति सम्परिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ॥ ४४ ॥

प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिंदम ।

शत्रुदमन महाबाहु माधव ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर मैंने जैसा सुना था वैसा ही उसे बताया ॥ ४४½ ॥

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत्॥ ४५ ॥
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

जैसे घरका सामान अपने कोठेमें डालकर भी मनुष्य उन्हींके चिन्तनमें मन लगाये रहता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-रूपी चञ्चल द्वारोंसे विचरनेवाले मनको अपनी कायामें ही स्थापित करके वहीं आत्माका अनुसंधान करे और प्रमादको त्याग दे ॥ ४५-४६ ॥

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव ।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित्॥ ४७ ॥

इस प्रकार सदा ध्यानके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषका चित्त शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य प्रकृति एवं उसके विकारोंको स्वतः जान लेता है ॥ ४७ ॥

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥ ४८ ॥

उस परमात्माका इन चर्मचक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे ही उस महान् आत्माका दर्शन होता है ॥ ४८ ॥

सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ४९ ॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र और सिर-वाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ ४९ ॥

जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् सम्प्रपश्यति।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम् ॥ ५० ॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ॥ ५१ ॥

तत्त्वज्ञ जीव अपने-आपको शरीरसे पृथक् देखता है। वह शरीरके भीतर रहकर भी उसका त्याग करके—उसकी पृथक्ताका अनुभव करके अपने स्वरूपभूत केवल परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करता हुआ बुद्धिके सहयोगसे आत्माका साक्षात्कार करता है। उस समय वह यह सोचकर हँसता-सा रहता है कि अहो ! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें ही प्रतीत होनेवाले इस संसारने मुझे अबतक व्यर्थ ही भ्रममें डाल रक्खा था। जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमें मुझमें ही मुक्त हो जाता है (अर्थात् अपने-आपमें ही परमात्माका अनुभव करने लगता है) ॥ ५०-५१ ॥

इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम्॥ ५२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया। अब मैं जानेकी अनुमति चाहता हूँ। विप्रवर ! तुम भी सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जाओ ॥ ५२ ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे इस प्रकार कहनेपर वह कठोर व्रतका पालन करनेवाला मेरा महातपस्वी शिष्य ब्राह्मण काश्यप इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चला गया ॥ ५३ ॥

वासुदेव उवाच

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन ! मोक्षधर्मका आश्रय लेनेवाले वे सिद्ध महात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे यह प्रसङ्ग सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५४ ॥

कच्चिदेतत् त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥ ५५ ॥

पार्थ ! क्या तुमने मेरे बताये हुए इस उपदेशको एकाग्रचित्त होकर सुना है ? उस युद्धके समय भी तुमने रथपर बैठे-बैठे इसी तत्त्वको सुना था ॥ ५५ ॥

नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जिसका चित्त व्यग्र है, जिसे ज्ञानका उपदेश नहीं प्राप्त है, वह मनुष्य इस विषयको सुगमतापूर्वक नहीं समझ सकता। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है ॥ ५६ ॥

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने देवताओंका परम गोपनीय रहस्य बताया है। पार्थ ! इस जगत्में कभी किसी भी मनुष्यने इस रहस्यका श्रवण नहीं किया है ॥ ५७ ॥

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥ ५८ ॥

अनघ ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य इसे सुननेका अधिकारी भी नहीं है। जिसका चित्त दुविधेमें पड़ा हुआ है, वह इस समय इसे अच्छी तरह नहीं समझ सकता ॥५८॥

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यरूपनिवर्तनम् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकुमार ! क्रियावान् पुरुषोंसे देवलोक भरा पड़ा है। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्यके मर्त्यरूपकी निवृत्ति हो ॥ ५९ ॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी॥ ६० ॥

पार्थ ! जो सनातन ब्रह्म है, वही जीवकी परमगति है । ज्ञानी मनुष्य देहको त्यागकर उस ब्रह्ममें ही अमृतत्वको प्राप्त होता है और सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥ ६० ॥

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ६१॥

इस आत्मदर्शनरूप धर्मका आश्रय लेकर स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनिके मनुष्य हैं, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः ।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ६२ ॥

पार्थ ! फिर जो अपने धर्ममें प्रेम रखते और सदा ब्रह्मलोककी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं, उन बहुश्रुत ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है ॥ ६२ ॥

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने ।
सिद्धिं फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें मोक्षधर्मका युक्तियुक्त उपदेश किया है । उसके साधनके उपाय भी बतलाये हैं और सिद्धि, फल, मोक्ष तथा दुःखके स्वरूपका भी निर्णय किया है ॥६३॥

नातः परं सुखं त्वन्यत् किंचित् स्याद् भरतर्षभ ।
बुद्धिमाञ्श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ॥ ६४ ॥
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत् ।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे बढ़कर दूसरा कोई सुखदायक धर्म नहीं है । पाण्डुनन्दन ! जो कोई बुद्धिमान्, श्रद्धालु और पराक्रमी मनुष्य लौकिक सुखको सारहीन समझकर उसे त्याग देता है, वह उपर्युक्त इन उपायोंके द्वारा बहुत शीघ्र परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ६४-६५ ॥

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन ।
षण्मासान् नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥ ६६ ॥

पार्थ ! इतना ही कहनेयोग्य विषय है । इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है । जो छः महीनेतक निरन्तर योगका अभ्यास करता है, उसका योग अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि अनुगीता पर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मणका अपनी पत्नीसे ज्ञानयज्ञका उपदेश करना

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन ! इसी विषयमें पति-पत्नीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥ २ ॥
कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥ ३ ॥
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥ ४ ॥

एक ब्राह्मण, जो ज्ञान-विज्ञानके पारगामी विद्वान् थे, एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे, यह देखकर उनकी पत्नी ब्राह्मणी अपने उन पतिदेवके पास जाकर बोली—'प्राणनाथ ! मैंने सुना है कि स्त्रियाँ पतिके कर्मानुसार प्राप्त हुए लोकोंको जाती हैं; किंतु आप तो कर्म छोड़कर बैठे हैं और मेरे प्रति कठोरताका वर्ताव करते हैं । आपको

इस बातका पता नहीं है कि मैं अनन्यभावसे आपके ही आश्रित हूँ । ऐसी दशामें आप-जैसे पतिका आश्रय लेकर

किस लोकमें जाऊँगी ? आपको पतिरूपमें पाकर मेरी क्या गति होगी?' ॥ २–४ ॥

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ॥ ५ ॥

पत्नीके ऐसा कहनेपर वे शान्तचित्तवाले ब्राह्मण देवता हँसते हुए-से बोले—'सौभाग्यशालिनि ! तुम पापसे सदा दूर रहती हो; अतः तुम्हारे इस कथनके लिये मैं बुरा नहीं मानता ॥ ५ ॥

ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ॥ ६ ॥

'संसारमें जो ग्रहण करनेयोग्य दीक्षा और व्रत आदि हैं तथा इन आँखोंसे दिखायी देनेवाले जो स्थूल कर्म हैं, उन्हींको वस्तुतः कर्म माना जाता है । कर्मठ लोग ऐसे ही कर्मको कर्मके नामसे पुकारते हैं ॥ ६ ॥

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते ॥ ७ ॥

'किंतु जिन्हें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है, वे लोग कर्मके द्वारा मोहका ही संग्रह करते हैं । इस लोकमें कोई दो घड़ी भी बिना कर्म किये रह सके, ऐसा सम्भव नहीं है ॥ ७ ॥

कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदान्तं कर्म भूतेषु वर्तते ॥ ८ ॥

मनसे, वाणीसे तथा क्रियाद्वारा जो भी शुभ या अशुभ कार्य होता है, वह तथा जन्म, स्थिति, विनाश एवं शरीरभेद आदि कर्म प्राणियोंमें विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ॥ ९ ॥

'जब राक्षसों—दुर्जनोंने जहाँ सोम और घृत आदि दृश्य द्रव्योंका उपयोग होता है, उन कर्म-मार्गोंका विनाश आरम्भ कर दिया, तब मैंने उनसे विरक्त होकर स्वयं ही अपने भीतर स्थित हुए आत्माके स्थानको देखा ॥ ९ ॥

यत्र तद् ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥ १० ॥

'जहाँ द्वन्द्वोंसे रहित वह परब्रह्म परमात्मा विराजमान है, जहाँ सोम अग्निके साथ नित्य समागम करता है तथा जहाँ सब भूतोंको धारण करनेवाला धीर समीर निरन्तर चलता रहता है ॥ १० ॥

यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः॥ ११ ॥

'जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शान्तचित्त जितेन्द्रिय विद्वान् योगयुक्त होकर उस अविनाशी ब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया ।
स्पर्शनेन तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ॥ १२ ॥

'वह अविनाशी ब्रह्म घ्राणेन्द्रियसे सूँघने और जिह्वाद्वारा आस्वादन करनेयोग्य नहीं है । स्पर्शेन्द्रिय—त्वचाद्वारा उसका स्पर्श भी नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिके द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है ॥ १२ ॥

चक्षुषामविषह्यं च यत् किंचिच्छ्रवणात् परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दलक्षणम् ॥ १३ ॥

'वह नेत्रोंका विषय नहीं हो सकता । वह अनिर्वचनीय परब्रह्म श्रवणेन्द्रियकी पहुँचसे सर्वथा परे है । गन्ध, रस, स्पर्श, रूप और शब्द आदि कोई भी लक्षण उसमें उपलब्ध नहीं है ॥ १३ ॥

यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥ १४ ॥
तत एव प्रवर्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च ।

'उसीसे सृष्टि आदिका विस्तार होता है और उसीमें उसकी स्थिति है । प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये उसीसे प्रकट होते और फिर उसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥

समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥ १५ ॥
तस्मिँल्लीने प्रलीयेत समानो व्यान एव च ।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति ।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ॥ १६ ॥

'समान और व्यान—इन दोनोंके बीचमें प्राण और अपान विचरते हैं । उस अपानसहित प्राणके लीन होनेपर समान और व्यानका भी लय हो जाता है । अपान और प्राणके बीचमें उदान सबको व्याप्त करके स्थित होता है । इसीलिये सोये हुए पुरुषको प्राण और अपान नहीं छोड़ते हैं ॥ १५-१६ ॥

प्राणानामायतत्वेन तमुदानं प्रचक्षते ।
तस्मात् तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्मवादिनः ॥ १७ ॥

'प्राणोंका आयतन (आधार) होनेके कारण उसे विद्वान् पुरुष उदान कहते हैं । इसलिये वेदवादी मुझमें स्थित तपका निश्चय करते हैं ॥ १७ ॥

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् ।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीप्यतेऽन्तरा ॥ १८ ॥

'एक दूसरेके सहारे रहनेवाले तथा सबके शरीरोंमें संचार करनेवाले उन पाँचों प्राणवायुओंके मध्यभागमें जो समान वायुका स्थान नाभिमण्डल है, उसके बीचमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि सात रूपोंमें प्रकाशमान है ॥ १८ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥ १९ ॥
घ्रेयं दृश्यं च पेयं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥ २० ॥

'घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा और पाँचवाँ कान एवं मन तथा बुद्धि—ये उस वैश्वानर अग्निकी सात जिह्वाएँ हैं। सूँघनेयोग्य गन्ध, दर्शनीय रूप, पीनेयोग्य रस, स्पर्श करनेयोग्य वस्तु, सुननेयोग्य शब्द, मनके द्वारा मनन करने और बुद्धिके द्वारा समझने योग्य विषय—ये सात मुझ वैश्वानरकी समिधाएँ हैं ॥ १९-२० ॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥ २१ ॥

'सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, पाँचवाँ श्रवण करनेवाला एवं मनन करनेवाला और समझनेवाला—ये सात श्रेष्ठ ऋत्विज हैं ॥ २१ ॥

घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च।
मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ॥ २२ ॥

'सुभगे ! सूँघनेयोग्य, पीनेयोग्य, देखनेयोग्य, स्पर्श करनेयोग्य, सुनने मनन-करने तथा समझनेयोग्य विषय—इन सबके ऊपर तुम सदा दृष्टिपात करो (इनमें हविष्य-बुद्धि करो) ॥ २२ ॥

हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु।
सम्यक् प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ २३ ॥

'पूर्वोक्त सात होता उक्त सात हविष्योंका सात रूपोंमें विभक्त हुए वैश्वानरमें भलीभाँति हवन करके (अर्थात् विषयोंकी ओरसे आसक्ति हटाकर) विद्वान् पुरुष अपने तन्मात्रा आदि योनियोंमें शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ॥ २४ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मन और बुद्धि—ये सात योनि कहलाते हैं ॥ २४ ॥

हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम्।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ॥ २५ ॥

'इनके जो समस्त गुण हैं, वे हविष्यरूप हैं। जो अग्नि-जनित गुण (बुद्धिवृत्ति) में प्रवेश करते हैं। वे अन्तःकरणमें संस्काररूपसे रहकर अपनी योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २५ ॥

तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने।
ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ॥ २६ ॥

'वे प्रलयकालमें अन्तःकरणमें ही अवरुद्ध रहते और भूतोंकी सृष्टिके समय वहींसे प्रकट होते हैं। वहींसे गन्ध और वहींसे रसकी उत्पत्ति होती है ॥ २६ ॥

ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते।
ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत् सप्तधा विदुः ॥ २७ ॥

'वहींसे रूप, स्पर्श और शब्दका प्राकट्य होता है। संशयका जन्म भी वहीं होता है और निश्चयात्मिका बुद्धि भी वहीं पैदा होती है। यह सात प्रकारका जन्म माना गया है ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ॥ २८ ॥

'इसी प्रकारसे पुरातन ऋषियोंने श्रुतिके अनुसार घ्राण आदिका रूप ग्रहण किया है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इन तीन आहुतियोंसे समस्त लोक परिपूर्ण हैं। वे सभी लोक आत्मज्योतिसे परिपूर्ण होते हैं' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्रह्मगीतासु विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

दस होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका वर्णन तथा मन और वाणीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। दस होता मिलकर जिस प्रकार यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वह सुनो ॥ १ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ।
उपस्थं वायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ॥ २ ॥

भामिनि ! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा (वाक् और रसना), नासिका, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—ये दस होता हैं ॥ २ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः।
रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ॥ ३

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, क्रिया, गति, वीर्य, मूत्रका त्याग और मल-त्याग—ये दस विषय ही दस हविष्य हैं ॥ ३ ॥

दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च।
इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि ॥ ४

भामिनि ! दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि,

विष्णु, इन्द्र, प्रजापति और मित्र—ये दस देवता अग्नि हैं ॥ ४ ॥

दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भाविनि ।
विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ॥ ५ ॥

भाविनि ! दस इन्द्रियरूपी होता दस देवतारूपी अग्निमें दस विषयरूपी हविष्य एवं समिधाओंका हवन करते हैं (इस प्रकार मेरे अन्तरमें निरन्तर यज्ञ हो रहा है; फिर मैं अकर्मण्य कैसे हूँ ?) ॥ ५ ॥

चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ।
सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥ ६ ॥

इस यज्ञमें चित्त ही स्रुवा तथा पवित्र एवं उत्तम ज्ञान ही धन है । यह सम्पूर्ण जगत् पहले भलीभाँति विभक्त था—ऐसा सुना गया है ॥ ६ ॥

सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।
रेतःशरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ॥ ७ ॥

जाननेमें आनेवाला यह सारा जगत् चित्तरूप ही है, वह ज्ञानकी अर्थात् प्रकाशककी अपेक्षा रखता है तथा वीर्यजनित शरीर-समुदायमें रहनेवाला शरीरधारी जीव उसको जाननेवाला है ॥ ७ ॥

शरीरभृद् गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन् प्रक्षिप्यते हविः ॥ ८ ॥

वह शरीरका अभिमानी जीव गार्हपत्य अग्नि है । उससे जो दूसरा पावक प्रकट होता है, वह मन है । मन आहवनीय अग्नि है । उसीमें पूर्वोक्त हविष्यकी आहुति दी जाती है ॥ ८ ॥

ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ॥ ९ ॥

उससे वाचस्पति (वेदवाणी) का प्राकट्य होता है । उसे मन देखता है । मनके अनन्तर रूपका प्रादुर्भाव होता है, जो नील-पीत आदि वर्णोंसे रहित होता है । वह रूप मनकी ओर दौड़ता है ॥ ९ ॥

ब्राह्मण्युवाच

कस्माद् वागभवत् पूर्वं कस्मात् पश्चान्मनोऽभवत् ।
मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥ १० ॥

ब्राह्मणी बोली—प्रियतम ! किस कारणसे वाक्की उत्पत्ति पहले हुई और क्यों मन पीछे हुआ ? जब कि मनसे सोचे-विचारे वचनको ही व्यवहारमें लाया जाता है ॥ १० ॥

केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता ।
समुन्नीता नाध्यगच्छत् को वै तां प्रतिबाधते ॥ ११ ॥

किस विज्ञानके प्रभावसे मति चित्तके आश्रित होती है ? वह ऊँचे उठायी जानेपर विषयोंकी ओर क्यों नहीं जाती ? कौन उसके मार्गमें बाधा डालता है ? ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात् प्रेष्यत्यपानताम् ।
तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! अपान पतिरूप होकर उस मतिको अपानभावकी ओर ले जाता है । वह अपानभावकी प्राप्ति मनकी गति बतायी गयी है, इसलिये मन उसकी अपेक्षा रखता है ॥ १२ ॥

प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात् त्वमनुपृच्छसि ।
तस्मात् ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥ १३ ॥

परंतु तुम मुझसे वाणी और मनके विषयमें ही प्रश्न करती हो, इसलिये मैं तुम्हें उन्हीं दोनोंका संवाद बताऊँगा ॥ १३ ॥

उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् ।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व छिन्धि नौ संशयं विभो ॥ १४ ॥

मन और वाणी दोनोंने जीवात्माके पास जाकर पूछा—'प्रभो ! हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? यह बताओ और हमारे संदेहका निवारण करो' ॥ १४ ॥

मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वतीम् ।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥ १५ ॥

तब भगवान् आत्मदेवने कहा—'मन ही श्रेष्ठ है ।' यह सुनकर सरस्वती बोलीं—'मैं ही तुम्हारे लिये कामधेनु बनकर सब कुछ देती हूँ ।' इस प्रकार वाणीने स्वयं ही अपनी श्रेष्ठता बतायी ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्थावरं जङ्गमं चैव विद्ध्युभे मनसी मम ।
स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥ १६ ॥

ब्राह्मण देवता कहते हैं—प्रिये ! स्थावर और जङ्गम ये दोनों मेरे मन हैं । स्थावर अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहीत होनेवाला जो यह जगत् है, वह मेरे समीप है और जङ्गम अर्थात् इन्द्रियातीत जो स्वर्ग आदि है, वह तुम्हारे अधिकारमें है ॥ १६ ॥

यस्तु तं विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जङ्गमो नाम तस्मादसि गरीयसी ॥ १७ ॥

जो मन्त्र, वर्ण अथवा स्वर उस अलौकिक विषयको प्रकाशित करता है, उसका अनुसरण करनेवाला मन भी यद्यपि जङ्गम नाम धारण करता है तथापि वाणीस्वरूपा तुम्हारे द्वारा ही मनका उस अतीन्द्रिय जगत्में प्रवेश होता है । इसलिये तुम मनसे भी श्रेष्ठ एवं गौरवशालिनी हो ॥ १७ ॥

यस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येत्य शोभने ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ॥ १८ ॥

क्योंकि शोभामयी सरस्वति ! तुमने स्वयं ही पास आकर समाधान अर्थात् अपने पक्षकी पुष्टि की है । इससे मैं उच्छ्वास लेकर कुछ कहूँगा ॥ १८ ॥

प्राणापानान्तरे देवी वाग् वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत् प्रसीद भगवन्निति ॥ १९ ॥

महाभागे ! प्राण और अपानके बीचमें देवी सरस्वती सदा विद्यमान रहती हैं । वह प्राणकी सहायताके बिना जब निम्नतम दशाको प्राप्त होने लगी, तब दौड़ी हुई प्रजापतिके पास गयी और बोली—'भगवन् ! प्रसन्न होइये' ॥ १९ ॥

ततः प्राणः प्रादुरभूद् वाचमाप्याययन् पुनः ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग् वदति कर्हिचित्॥ २०॥

तब वाणीको पुष्ट-सा करता हुआ पुनः प्राण प्रकट हुआ। इसीलिये उच्छ्वास लेते समय वाणी कभी कोई शब्द नहीं बोलती है ॥ २० ॥

घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ॥ २१ ॥

वाणी दो प्रकारकी होती है—एक घोषयुक्त (स्पष्ट सुनायी देनेवाली) और दूसरी घोषरहित, जो सदा सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है । इन दोनोंमें घोषयुक्त वाणी-की अपेक्षा घोषरहित ही श्रेष्ठतम है (क्योंकि घोषयुक्त वाणी-को प्राणशक्तिकी अपेक्षा रहती है और घोषरहित उसकी अपेक्षाके बिना भी स्वभावतः उच्चरित होती रहती है) ॥२१॥

गौरिव प्रस्रवत्यर्थान् रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥ २२ ॥
दिव्यादिव्यप्रभावेण भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥ २३ ॥

शुचिस्मिते ! घोषयुक्त (वैदिक) वाणी भी उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती है । वह दूध देनेवाली गायकी भाँति मनुष्योंके लिये सदा उत्तम रस झरती एवं मनोवाञ्छित पदार्थ उत्पन्न करती है और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्-वाणी (शाश्वत ब्रह्म) का बोध करानेवाली है । इस प्रकार वाणीरूपी गौ दिव्य और अदिव्य प्रभावसे युक्त है । दोनों ही सूक्ष्म हैं और अभीष्ट पदार्थका प्रस्रव करनेवाली हैं । इन दोनोंमें क्या अन्तर है, इसको स्वयं देखो ॥ २२-२३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया ।
किन्नु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ॥ २४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ ! जब वाक्य उत्पन्न नहीं हुए थे, उस समय कुछ कहनेकी इच्छासे प्रेरित की हुई सरस्वती देवीने पहले क्या कहा था ! ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन या सम्भवते शरीरे
प्राणादपानं प्रतिपद्यते च ।
उदानभूता च विसृज्य देहं
व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ॥ २५ ॥
ततः समाने प्रतितिष्ठतीह
इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी ।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद् विशिष्टं
तथा देवी जङ्गमत्वाद् विशिष्टा ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! वह वाक् प्राणके द्वारा शरीरमें प्रकट होती है, फिर प्राणसे अपानभावको प्राप्त होती है ! तत्पश्चात् उदानस्वरूप होकर शरीरको छोड़कर व्यानरूपसे सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त कर लेती है । तदनन्तर समान वायुमें प्रतिष्ठित होती है । इस प्रकार वाणीने पहले अपनी उत्पत्तिका प्रकार बताया था ।* इसलिये स्थावर होनेके कारण मन श्रेष्ठ है और जङ्गम होनेके कारण वाग्देवी श्रेष्ठ हैं ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

मन-बुद्धि और इन्द्रियरूप सप्त होताओंका, यज्ञ तथा मन-इन्द्रिय-संवादका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—सुभगे ! इसी विषयमें इस पुरातन इतिहासका भी उदाहरण दिया जाता है । सात होताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसे सुनो ॥ १ ॥

* इस श्लोकका सारांश इस प्रकार समझना चाहिये—पहले आत्मा मनको उच्चारण करनेके लिये प्रेरित करता है, तब मन जठराग्निको प्रज्वलित करता है । जठराग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके प्रभावसे प्राणवायु अपानवायुसे जा मिलता है । उसके बाद वह वायु उदानवायुके प्रभावसे ऊपर चढ़कर मस्तकमें टकराता है और फिर व्यानवायुके प्रभावसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंमें होकर वेगसे वर्ण उत्पन्न कराता हुआ वैखरीरूपसे मनुष्योंके कानमें प्रविष्ट होता है । जब प्राणवायुका वेग निवृत्त हो जाता है, तब वह फिर समानभावसे चलने लगता है ।

घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥ २ ॥
सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् ।
एतान् वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद् विद्धि शोभने॥३॥

नासिका, नेत्र, जिह्वा, त्वचा और पाँचवाँ कान, मन और बुद्धि—ये सात होता अलग-अलग रहते हैं । यद्यपि ये सभी सूक्ष्म शरीरमें ही निवास करते हैं तो भी एक दूसरेको नहीं देखते हैं । शोभने ! इन सात होताओंको तुम स्वभावसे ही पहचानो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः।
कथंस्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—भगवन् ! जब सभी सूक्ष्म शरीरमें ही रहते हैं, तब एक दूसरेको देख क्यों नहीं पाते ? प्रभो ! उनके स्वभाव कैसे हैं ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता ।
परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! (यहाँ देखनेका अर्थ है, जानना) गुणोंको न जानना ही गुणवान्को न जानना कहलाता है और गुणोंको जानना ही गुणवान्को जानना है । ये नासिका आदि सात होता एक दूसरेके गुणोंको कभी नहीं जान पाते हैं (इसीलिये कहा गया है कि ये एक दूसरेको नहीं देखते हैं) ॥ ५ ॥

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ॥ ६ ॥

जीभ, आँख, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये गन्धोंको नहीं समझ पाते, किंतु नासिका उसका अनुभव करती है ॥ ६ ॥

घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥ ७ ॥

नासिका, कान, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रसोंका आस्वादन नहीं कर सकते । केवल जिह्वा उसका स्वाद ले सकती है ॥ ७ ॥

घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति॥ ८ ॥

नासिका, जीभ, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रूपका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते; किंतु नेत्र इनका अनुभव करते हैं ॥ ८ ॥

घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा ।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक् च तानधिगच्छति॥९॥

नासिका, जीभ, आँख, कान, बुद्धि और मन—ये स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकते; किंतु त्वचाको उसका ज्ञान होता है ॥ ९ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति॥ १० ॥

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, मन और बुद्धि—इन्हें शब्दका ज्ञान नहीं होता; किंतु कानको होता है ॥ १० ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च।
संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ॥ ११ ॥

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान और बुद्धि—ये संशय (संकल्प-विकल्प) नहीं कर सकते । यह काम मनका है ॥ ११ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तामधिगच्छति ॥ १२ ॥

इसी प्रकार नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान और मन—वे किसी बातका निश्चय नहीं कर सकते । निश्चयात्मक ज्ञान तो केवल बुद्धिको होता है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ॥ १३ ॥

भामिनि ! इस विषयमें इन्द्रियों और मनके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १३ ॥

मनउवाच

नाघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च ।
रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ॥ १४ ॥
न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन ।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ॥ १५ ॥

एक बार मनने इन्द्रियोंसे कहा—मेरी सहायताके बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, जीभ रसका स्वाद नहीं ले सकती, आँख रूप नहीं देख सकती, त्वचा स्पर्शका असुभव नहीं कर सकती और कानोंको शब्द नहीं सुनायी दे सकता । इसलिये मैं सब भूतोंमें श्रेष्ठ और सनातन हूँ ॥ १४-१५ ॥

अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः॥ १६ ॥

'मेरे बिना समस्त इन्द्रियाँ बुझी लपटोंवाली आग और सूने घरकी भाँति सदा श्रीहीन जान पड़ती हैं ॥१६॥

काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः ।
गुणार्थान् नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥ १७ ॥

संसारके सभी जीव इन्द्रियोंके यत्न करते रहनेपर भी मेरे बिना उसी प्रकार विषयोंका अनुभव नहीं कर सकते, जिस प्रकार कि सूखे-गीले काष्ठ कोई अनुभव नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इन्द्रियाण्यूचुः

एवमेतद् भवेत् सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् ।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्त्वं भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि॥१८॥

यह सुनकर इन्द्रियोंने कहा—महोदय ! यदि आप भी हमारी सहायता लिये बिना ही विषयोंका अनुभव कर सकते तो हम आपकी इस बातको सच मान लेतीं ॥ १८ ॥

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा॥१९॥

हमारा लय हो जानेपर भी आप तृप्त रह सकें, जीवन-धारण कर सकें और सब प्रकारके भोग भोग सकें तो आप जैसा कहते और मानते हैं, वह सब सत्य हो सकता है॥१९॥

अथवास्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथार्थवत्॥२०॥
अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ॥ २१ ॥
श्रोत्रेण गन्धानादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च॥२२॥

अथवा हम सब इन्द्रियाँ लीन हो जायँ या विषयोंमें स्थित रहें, यदि आप अपने संकल्पमात्रसे विषयोंका यथार्थ अनुभव करनेकी शक्ति रखते हैं और आपको ऐसा करनेमें सदा ही सफलता प्राप्त होती है तो जरा नाकके द्वारा रूपका तो अनुभव कीजिये, आँखसे रसका तो स्वाद लीजिये और कानके द्वारा गन्धको तो ग्रहण कीजिये । इसी प्रकार अपनी शक्तिसे जिह्वाके द्वारा स्पर्शका, त्वचाके द्वारा शब्दका और बुद्धिके द्वारा स्पर्शका तो अनुभव कीजिये ॥ २०–२२ ॥

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥

आप-जैसे बलवान् लोग नियमोंके बन्धनमें नहीं रहते, नियम तो दुर्बलोंके लिये होते हैं । आप नये ढंगसे नवीन भोगोंका अनुभव कीजिये । हमलोगोंकी जूठन खाना आपको शोभा नहीं देता ॥ २३ ॥

यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ॥ २४ ॥
विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ २५ ॥

जैसे शिष्य श्रुतिके अर्थको जाननेके लिये उपदेश करनेवाले गुरुके पास जाता है और उनसे श्रुतिके अर्थका ज्ञान प्राप्त करके फिर स्वयं उसका विचार और अनुसरण करता है, वैसे ही आप सोते और जागते समय हमारे ही दिखाये हुए भूत और भविष्य विषयोंका उपभोग करते हैं ॥ २४–२५ ॥

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।
अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥ २६ ॥

जो मनरहित हुए मन्दबुद्धि प्राणी हैं, उनमें भी हमारे लिये ही कार्य किये जानेपर प्राण-धारण देखा जाता है ॥

बहूनपि हि संकल्पान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ॥ २७ ॥

बहुत-से संकल्पोंका मनन और स्वप्नोंका आश्रय लेकर भोग भोगनेकी इच्छासे पीड़ित हुआ प्राणी विषयोंकी ओर ही दौड़ता है ॥ २७ ॥

अगारमद्वारमिव प्रविश्य
संकल्पभोगान् विषये निबद्धान्।
प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं
दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥ २८ ॥

विषय-वासनासे अनुविद्ध संकल्पजनित भोगोंका उपभोग करके प्राणशक्तिके क्षीण होनेपर मनुष्य बिना दरवाजेके घरमें घुसे हुए मनुष्यकी भाँति उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे समिधाओंके जल जानेपर प्रज्वलित अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है ॥ २८ ॥

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः
कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः ।
अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धि-
स्तावदृते त्वां न भजेत् प्रहर्षः॥ २९ ॥

भले ही हमलोगोंकी अपने-अपने गुणोंके प्रति आसक्ति हो और भले ही हम परस्पर एक दूसरेके गुणोंको न जान सकें; किंतु यह बात सत्य है कि आप हमारी सहायताके बिना किसी भी विषयका अनुभव नहीं कर सकते । आपके बिना तो हमें केवल हर्षसे ही वञ्चित होना पड़ता है ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

प्राण, अपान आदिका संवाद और ब्रह्माजीका सबकी श्रेष्ठता बतलाना

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! अब पञ्चहोताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसके विषयमें एक प्राचीन दृष्टान्त बतलाया जाता है ॥ १ ॥

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्चहोतॄंस्तथैतान् वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँचों प्राण पाँच होता हैं । विद्वान् पुरुष इन्हें सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २ ॥

ब्राह्मण्युवाच

स्वभावात् सप्तहोतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्चहोतारः परो भावस्तदुच्यताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणी बोली—नाथ ! पहले तो मैं समझती थी कि स्वभावतः सात होता हैं; किंतु अब आपके मुँहसे पाँच होताओंकी बात मालूम हुई । अतः ये पाँचों होता किस प्रकार हैं ! आप इनकी श्रेष्ठताका वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन सम्भृतो वायुरपानो जायते ततः ।
अपाने सम्भृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ॥ ४ ॥
व्यानेन सम्भृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते ।
उदाने सम्भृतो वायुः समानो नाम जायते ॥ ५ ॥
तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम् ।
यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! वायु प्राणके द्वारा पुष्ट होकर अपानरूप, अपानके द्वारा पुष्ट होकर व्यानरूप, व्यानसे पुष्ट होकर उदानरूप, उदानसे परिपुष्ट होकर समानरूप होता है । एक बार इन पाँचों वायुओंने सबके पूर्वज पितामह ब्रह्माजीसे प्रश्न किया—'भगवन् ! हममें जो श्रेष्ठ हो उसका नाम बता दीजिये, वही हमलोगोंमें प्रधान होगा' ॥ ४—६ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्मिन् प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
यस्मिन् प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ॥ ७ ॥

ब्रह्माजीने कहा—प्राणधारियोंके शरीरमें स्थित हुए तुमलोगोंमेंसे जिसका लय हो जानेपर सभी प्राण लीन हो जायँ और जिसके संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगें, वही श्रेष्ठ है । अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ॥ ७ ॥

प्राण उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर प्राणवायुने अपान आदिसे कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं, इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ । देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह ।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ॥ ९ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—शुभे ! यों कहकर प्राणवायु थोड़ी देरके लिये छिप गया और उसके बाद फिर चलने लगा । तब समान और उदानवायु उससे पुनः बोले— ॥ ९ ॥

न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम् ।
न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण अपानो हि वशे तव ।
प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ॥ १० ॥

'प्राण ! जैसे हमलोग इस शरीरमें व्याप्त हैं, उस तरह तुम इस शरीरमें व्याप्त होकर नहीं रहते । इसलिये तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो । केवल अपान तुम्हारे वशमें है । [अतः तुम्हारे लय होनेसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती] ।' तब प्राण पुनः पूर्ववत् चलने लगा । तदनन्तर अपान बोला ॥ १० ॥

अपान उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ११ ॥

अपानने कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं । इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ । देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः ।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ॥ १२ ॥

ब्राह्मण कहते हैं-तब व्यान और उदानने पूर्वोक्त बात कहनेवाले अपानसे कहा-'अपान ! केवल प्राण तुम्हारे अधीन है, इसलिये तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते' ॥१२॥

अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १३ ॥

यह सुनकर अपान भी पूर्ववत् चलने लगा। तब व्यानने उससे फिर कहा-'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। मेरी श्रेष्ठताका कारण क्या है, वह सुनो ॥ १३ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १४ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१४॥

ब्राह्मण उवाच

प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ।
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव ॥ १५ ॥

ब्राह्मण कहते हैं-तब व्यान कुछ देरके लिये लीन हो गया, फिर चलने लगा। उस समय प्राण, अपान, उदान और समानने उससे कहा-'व्यान ! तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल समान वायु तुम्हारे वशमें है' ॥ १५ ॥

प्रचचार पुनर्व्यानः समानः पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १६ ॥

यह सुनकर व्यान पूर्ववत् चलने लगा। तब समानने पुनः कहा-'मैं जिस कारणसे सबमें श्रेष्ठ हूँ, वह बताता हूँ सुनो ॥ १६ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१७॥

(*ब्राह्मण उवाच*

ततः समानः प्रालिल्ये पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ॥
न त्वं समान श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ।)

ब्राह्मण कहते हैं-यह कहकर समान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः पूर्ववत् चलने लगा। उस समय प्राण, अपान, व्यान और उदानने उससे कहा-'समान ! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ॥

समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १८ ॥

यह सुनकर समान पूर्ववत् चलने लगा। तब उदानने उससे कहा-'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसका क्या कारण है ? यह सुनो ॥ १८ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १९ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१९॥

ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ।
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ २० ॥

यह सुनकर उदान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः चलने लगा। तब प्राण, अपान, समान और व्यानने उससे कहा-'उदान ! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो। केवल व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच

ततस्तानब्रवीद् ब्रह्मा समवेतान् प्रजापतिः ।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण कहते हैं-तदनन्तर वे सभी प्राण ब्रह्माजीके पास एकत्र हुए। उस समय उन सबसे प्रजापति ब्रह्माने कहा-'वायुगण ! तुम सभी श्रेष्ठ हो। अथवा तुममेंसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। तुम सबका धारणरूप धर्म एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ २१ ॥

सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।
इति तानब्रवीत् सर्वान् समवेतान् प्रजापतिः ॥ २२ ॥

'सभी अपने-अपने स्थानपर श्रेष्ठ हो और सबका धर्म एक दूसरेपर अवलम्बित है।' इस प्रकार वहाँ एकत्र हुए सब प्राणोंसे प्रजापतिने फिर कहा-॥ २२ ॥

एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात् पञ्च वायवः ।
एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥ २३ ॥

'एक ही वायु स्थिर और अस्थिररूपसे विराजमान है। उसीके विशेष भेदसे पाँच वायु होते हैं। इस तरह एक ही मेरा आत्मा अनेक रूपोंमें वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम्।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥ २४ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम कुशलपूर्वक जाओ और एक दूसरेके हितैषी रहकर परस्परकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाते हुए एक दूसरेको धारण किये रहो' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

देवर्षि नारद और देवमतका संवाद एवं उदानके उत्कृष्ट रूपका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! इस विषयमें देवर्षि नारद और देवमतके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

देवमत उवाच

जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥ २ ॥

देवमतने पूछा—देवर्षे! जब जीव जन्म लेता है, उस समय सबसे पहले उसके शरीरमें किसकी प्रवृत्ति होती है? प्राण, अपान, समान, व्यान अथवा उदानकी? ॥ २ ॥

नारद उवाच

येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम्।
प्राणद्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—मुने! जिस निमित्त कारणसे इस जीवकी उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी पहले कारणरूपसे उपस्थित होता है। वह है प्राणोंका द्वन्द्व। जो ऊपर (देवलोक), तिर्यक् (मनुष्यलोक) और अधोलोक (पशु आदि) में व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३ ॥

देवमत उवाच

केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम्।
प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ४ ॥

देवमतने पूछा—नारदजी! किस निमित्त कारणसे इस जीवकी सृष्टि होती है? दूसरा कौन पदार्थ पहले कारणरूपसे उपस्थित होता है तथा प्राणोंका द्वन्द्व क्या है, जो ऊपर, मध्यमें और नीचे व्याप्त है? ॥ ४ ॥

नारद उवाच

संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते।
रसात् संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—मुने! संकल्पसे हर्ष उत्पन्न होता है, मनोनुकूल शब्दसे, रससे और रूपसे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

शुक्राच्छोणितसंसृष्टात् पूर्वं प्राणः प्रवर्तते।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

रजमें मिले हुए वीर्यसे पहले प्राण आकर उसमें कार्य आरम्भ करता है। उस प्राणसे वीर्यमें विकार उत्पन्न होनेपर फिर अपानकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

शुक्रात् संजायते चापि रसादपि च जायते।
एतद् रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ॥ ७ ॥

शुक्रसे और रससे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है, यह हर्ष ही उदानका रूप है। उक्त कारण और कार्यरूप जो मिथुन है, उन दोनोंके बीचमें हर्ष व्याप्त होकर स्थित है ॥ ७ ॥

कामात् संजायते शुक्रं शुक्रात् संजायते रजः।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥ ८ ॥

प्रवृत्तिके मूलभूत कामसे वीर्य उत्पन्न होता है। उससे रजकी उत्पत्ति होती है। ये दोनों वीर्य और रज समान और व्यानसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये सामान्य कहलाते हैं ॥ ८ ॥

प्राणापानाविदं द्वन्द्वमवाक् चोर्ध्वं च गच्छतः।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यग् द्वन्द्वत्वमुच्यते ॥ ९ ॥

प्राण और अपान—ये दोनों भी द्वन्द्व हैं। ये नीचे और ऊपरको जाते हैं। व्यान और समान—ये दोनों मध्यगामी द्वन्द्व कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

अग्निर्वै देवताः सर्वा इति देवस्य शासनम्।
संजायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥ १० ॥

अग्नि अर्थात् परमात्मा ही सम्पूर्ण देवता हैं। यह वेद उन परमेश्वरकी आज्ञारूप है। उस वेदसे ही ब्राह्मणमें बुद्धियुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

तस्य धूमस्तमो रूपं रजो भस्मसु तेजसः।
सर्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥ ११ ॥

उस अग्निका धुआँ तमोमय और भस्म रजोमय है।

जिसके निमित्त हविष्यकी आहुति दी जाती है, उस अग्निसे (प्रकाशस्वरूप परमेश्वरसे) यह सारा जगत् उत्पन्न होता है ॥

सत्त्वात् समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः ।
प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ॥ १२ ॥
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।
निर्द्वन्द्वमिति यत् त्वेतत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ १३ ॥

यज्ञवेत्ता पुरुष यह जानते हैं कि सत्त्वगुणसे समान और व्यानकी उत्पत्ति होती है । प्राण और अपान आज्यभाग नामक दो आहुतियोंके समान हैं। उनके मध्यभागमें अग्निकी स्थिति है । यही उदानका उत्कृष्ट रूप है, जिसे ब्राह्मणलोग जानते हैं । जो निर्द्वन्द्व कहा गया है, उसे भी बताता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो ॥ १२-१३ ॥

अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १४ ॥

ये दिन और रात द्वन्द्व हैं, इनके मध्यभागमें अग्नि है। ब्राह्मणलोग इसीको उदानका उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥१४॥

सच्चासच्चैव तद् द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १५ ॥

सत् और असत्—ये दोनों द्वन्द्व हैं तथा इनके मध्यभागमें अग्नि है । ब्राह्मणलोग इसे उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत् ।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥ १६ ॥

ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्म जिस संकल्पनामक हेतुसे समान और व्यानरूप होता है, उसीसे कर्मका विस्तार होता है । अतः संकल्पको रोकना चाहिये । जाग्रत् और स्वप्नके अतिरिक्त जो तीसरी अवस्था है, उससे उपलक्षित ब्रह्मका समानके द्वारा ही निश्चय होता है ॥ १६ ॥

शान्त्यर्थं व्यानमेकं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १७ ॥

एकमात्र व्यान शान्तिके लिये है । शान्ति सनातन ब्रह्म है । ब्राह्मणलोग इसीको उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

चातुर्होम यज्ञका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! इसी विषयमें चार होताओंसे युक्त यज्ञका जैसा विधान है, उसको बतानेवाले इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

तस्य सर्वस्य विधिवद् विधानमुपदिश्यते ।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥ २ ॥

भद्रे ! उस सबके विधि-विधानका उपदेश किया जाता है । तुम मेरे मुखसे इस अद्भुत रहस्यको सुनो ॥ २ ॥

करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनि ।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ ३ ॥

भामिनि ! करण, कर्म, कर्ता और मोक्ष—ये चार होता हैं, जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् आवृत है ॥ ३ ॥

हेतूनां साधनं चैव शृणु सर्वमशेषतः ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥ ४ ॥

इनके जो हेतु हैं, उन्हें युक्तियोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। वह सब पूर्णरूपसे सुनो । घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा, पाँचवाँ कान तथा मन और बुद्धि—ये सात कारणरूप हेतु गुणमय जानने चाहिये ॥ ४ ॥

गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥ ५ ॥

गन्ध, रस, रूप, शब्द, पाँचवाँ स्पर्श तथा मन्तव्य और बोद्धव्य—ये सात विषय कर्मरूप हेतु हैं ॥ ५ ॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ॥ ६ ॥

सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, बोलनेवाला, पाँचवाँ सुननेवाला तथा मनन करनेवाला और निश्चयात्मक बोध प्राप्त करनेवाला—ये सात कर्तारूप हेतु हैं ॥ ६ ॥

स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम् ।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ॥ ७ ॥

ये घ्राण आदि इन्द्रियाँ गुणवान् हैं, अतः अपने शुभाशुभ विषयोंरूप गुणोंका उपभोग करती हैं । मैं निर्गुण और अनन्त हूँ, (इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, यह समझ लेनेपर) ये सातों—घ्राण आदि मोक्षके हेतु होते हैं ॥ ७ ॥

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ॥ ८ ॥

विभिन्न विषयोंका अनुभव करनेवाले विद्वानोंके घ्राण आदि अपने-अपने स्थानको विधिपूर्वक जानते हैं और देवतारूप होकर सदा हविष्यका भोग करते हैं ॥ ८ ॥

अदन्नन्नान्यथोऽविद्वान् ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थे पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ॥ ९ ॥

अज्ञानी पुरुष अन्न भोजन करते समय उसके प्रति ममत्वसे युक्त हो जाता है । इसी प्रकार जो अपने लिये भोजन पकाता है, वह भी ममत्व दोषसे मारा जाता है ॥ ९ ॥

अभक्ष्यभक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तं चान्नं स हत्वा हन्यते पुनः ॥ १० ॥

वह अभक्ष्य-भक्षण और मद्यपान-जैसे दुर्व्यसनोंको भी अपना लेता है, जो उसके लिये घातक होते हैं । वह भक्षणके द्वारा उस अन्नकी हत्या करता है और उसकी हत्या करके वह स्वयं भी उसके द्वारा मारा जाता है ॥ १० ॥

हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः ।
न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥

जो विद्वान् इस अन्नको खाता है, अर्थात् अन्नसे उपलक्षित समस्त प्रपञ्चको अपने आपमें लीन कर देता है, वह ईश्वर—सर्वसमर्थ होकर पुनः अन्न आदिका जनक होता है । उस अन्नसे उस विद्वान् पुरुषमें कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दोष भी नहीं उत्पन्न होता ॥ ११ ॥

मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ॥ १२ ॥
स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनःषष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥ १३ ॥
गुणवत्पावको मह्यं दीप्यतेऽन्तःशरीरगः ।

जो मनसे अवगत होता है, वाणीद्वारा जिसका कथन होता है, जिसे कानसे सुना और आँखसे देखा जाता है, जिसको त्वचासे छूआ और नासिकासे सूँघा जाता है । इन मन्तव्य आदि छहों विषयरूपी हविष्योंका मन आदि छहों इन्द्रियोंके संयमपूर्वक अपने आपमें होम करना चाहिये । उस होमके अधिष्ठानभूत गुणवान् पावकरूप परमात्मा मेरे तन-मनके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १२-१३½ ॥

योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवह्निप्रदोद्भवः ।
प्राणस्तोत्रोऽपानशस्त्रः सर्वत्यागसुदक्षिणः ॥ १४ ॥

मैंने योगरूपी यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया है । इस यज्ञका उद्भव ज्ञानरूपी अग्निको प्रकाशित करनेवाला है । इसमें प्राण ही स्तोत्र है, अपान शस्त्र है और सर्वस्वका त्याग ही उत्तम दक्षिणा है ॥ १४ ॥

कर्तानुमन्ता ब्रह्मात्मा होताध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
ऋतं प्रशास्ता तच्छस्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ॥ १५ ॥

कर्ता (अहंकार), अनुमन्ता (मन) और आत्मा (बुद्धि)—ये तीनों ब्रह्मरूप होकर क्रमशः होता, अध्वर्यु और उद्गाता हैं । सत्यभाषण ही प्रशास्ताका शस्त्र है और अपवर्ग (मोक्ष) ही उस यज्ञकी दक्षिणा है ॥ १५ ॥

ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यदविन्दन् पशून् पुरा ॥ १६ ॥

नारायणको जाननेवाले पुरुष इस योगयज्ञके प्रमाणमें ऋचाओंका भी उल्लेख करते हैं । पूर्वकालमें भगवान् नारायणदेवकी प्राप्तिके लिये भक्त पुरुषोंने इन्द्रियरूपी पशुओंको अपने अधीन किया था ॥ १६ ॥

तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायणं भीरु सर्वात्मानं निबोध तम् ॥ १७ ॥

भगवत्प्राप्ति हो जानेपर परमानन्दसे परिपूर्ण हुए सिद्ध पुरुष जो सामगान करते हैं, उसका दृष्टान्त तैत्तिरीय उपनिषद्के विद्वान् 'एतत् सामगायन्नास्ते' इत्यादि मन्त्रोंके रूपमें उपस्थित करते हैं । भीरु ! तुम उस सर्वात्मा भगवान् नारायणदेवका ज्ञान प्राप्त करो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अन्तर्यामीकी प्रधानता

ब्राह्मण उवाच

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! जगत्का शासक एक ही है, दूसरा नहीं । जो हृदयके भीतर विराजमान है, उस परमात्माको ही मैं सबका शासक बतला रहा हूँ । जैसे पानी ढालू स्थानसे नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही उस—परमात्माकी प्रेरणासे मैं जिस तरहके कार्यमें नियुक्त होता हूँ,

उसीका पालन करता रहता हूँ ॥ १ ॥

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
पराभूता दानवाः सर्व एव ॥ २ ॥

एक ही गुरु है दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ । उसी गुरुके अनुशासनसे समस्त दानव हार गये हैं ॥ २ ॥

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः
सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रभान्ति ॥ ३ ॥

एक ही बन्धु है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं है । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं बन्धु कहता हूँ । उसीके उपदेशसे बान्धवगण बन्धुमान् होते हैं और सप्तर्षि लोग आकाशमें प्रकाशित होते हैं ॥ ३ ॥

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य
शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥ ४ ॥

एक ही श्रोता है, दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित परमात्मा है, उसीको मैं श्रोता कहता हूँ । इन्द्रने उसीको गुरु मानकर गुरुकुलवासका नियम पूरा किया अर्थात् शिष्यभावसे वे उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें गये । इससे उन्हें सम्पूर्ण लोकोंका साम्राज्य और अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥ ५ ॥

एक ही शत्रु है, दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ । उसी गुरुकी प्रेरणासे जगत्‌के सारे साँप सदा द्वेषभावसे युक्त रहते हैं ॥५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें सर्पों, देवताओं और ऋषियोंकी प्रजापतिके साथ जो बातचीत हुई थी, उस प्राचीन इतिहासके जानकार लोग उस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६ ॥

देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम् ।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति ॥ ७ ॥

एक बार देवता, ऋषि, नाग और असुरोंने प्रजापतिके पास बैठकर पूछा—'भगवन् ! हमारे कल्याणका क्या उपाय है ? यह बताइये' ॥ ७ ॥

तेषां प्रोवाच भगवाञ्श्रेयः समनुपृच्छताम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन् दिशः ॥ ८ ॥

कल्याणकी बात पूछनेवाले उन महानुभावोंका प्रश्न सुनकर भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीने एकाक्षर ब्रह्म—ॐकार का उच्चारण किया । उनका प्रणवनाद सुनकर सब लोग अपनी-अपनी दिशा (अपने-अपने स्थान) की ओर भाग चले ॥ ८ ॥

तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः ।
सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ॥ ९ ॥
असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥ १० ॥

फिर उन्होंने उस उपदेशके अर्थपर जब विचार किया तब सबसे पहले सर्पोंके मनमें दूसरोंके डँसनेका भाव पैदा हुआ, असुरोंमें स्वाभाविक दम्भका आविर्भाव हुआ तथा देवताओंने दानको और महर्षियोंने दमको ही अपनानेका निश्चय किया ॥ ९-१० ॥

एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥ ११ ॥

इस प्रकार सर्प, देवता, ऋषि और दानव—ये सब एक ही उपदेशक गुरुके पास गये थे और एक ही शब्दके उपदेशसे उनकी बुद्धिका संस्कार हुआ तो भी उनके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न हो गये ॥ ११ ॥

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छातस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ॥ १२ ॥

श्रोता गुरुके कहे हुए उपदेशको सुनता है और उसको जैसे-तैसे (भिन्न-भिन्न रूपमें) ग्रहण करता है । अतः प्रश्न पूछनेवाले शिष्यके लिये अपने अन्तर्यामीसे बढ़कर दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १२ ॥

तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात् प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः ॥ १३ ॥

पहले वह कर्मका अनुमोदन करता है, उसके बाद जीव की उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार हृदयमें प्रकट होनेवाला परमात्मा ही गुरु, ज्ञानी, श्रोता और द्वेष्टा है ॥ १३ ॥

पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत ॥ १४ ॥

संसारमें जो पाप करते हुए विचरता है, वह पापाचारी और जो शुभ कर्मोंका आचरण करता है, वह शुभाचारी कहलाता है ॥ १४ ॥

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः ।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥ १५ ॥

इसी तरह कामनाओंके द्वारा इन्द्रियसुखमें परायण मनुष्य कामचारी और इन्द्रियसंयममें प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है ॥ १५ ॥

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥ १६ ॥

जो व्रत और कर्मोंका त्याग करके केवल ब्रह्ममें स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसारमें विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है ॥ १६ ॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥ १७ ॥

ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है । उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्ममें ही लीन रहती हैं ॥ १७ ॥

एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः ॥ १८ ॥

विद्वानोंने इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है । तत्त्वदर्शीका उपदेश पाकर प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष इस ब्रह्मचर्यके स्वरूपको जानकर सदा उसका पालन करते रहते हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अध्यात्मविषयक महान् वनका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम् ।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम् ॥ १ ॥
विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम् ।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद् वनम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! जहाँ संकल्परूपी डाँस और मच्छरोंकी अधिकता होती है । शोक और हर्षरूपी गर्मी, सर्दीका कष्ट रहता है, मोहरूपी अन्धकार फैला हुआ है, लोभ तथा व्याधिरूपी सर्प विचरा करते हैं । जहाँ विषयोंका ही मार्ग है, जिसे अकेले ही तै करना पड़ता है तथा जहाँ काम और क्रोधरूपी शत्रु डेरा डाले रहते हैं, उस संसाररूपी दुर्गम पथका उल्लङ्घन करके अब मैं ब्रह्मरूपी महान् वनमें प्रवेश कर चुका हूँ ॥ १-२ ॥

ब्राह्मण्युवाच

क्व तद् वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः ।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद् वनम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—महाप्राज्ञ ! वह वन कहाँ है ? उसमें कौन-कौनसे वृक्ष, गिरि, पर्वत और नदियाँ हैं तथा वह कितनी दूरीपर है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

न तदस्ति पृथग्भावः किंचिदन्यत् ततः सुखम् ।
न तदस्त्यपृथग्भावः किंचिद् दुःखतरं ततः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! उस वनमें न भेद है न अभेद, वह इन दोनोंसे अतीत है । वहाँ लौकिक सुख और दुःख दोनोंका अभाव है ॥ ४ ॥

तस्माद्ध्रस्वतरं नास्ति न ततोऽस्ति महत्तरम् ।
नास्ति तस्मात् सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत् तत्समं सुखम् ॥ ५ ॥

उससे अधिक छोटी, उससे अधिक बड़ी और उससे अधिक सूक्ष्म भी दूसरी कोई वस्तु नहीं है । उसके समान सुखरूप भी कोई नहीं है ॥ ५ ॥

न तत्राविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः ।
न च बिभ्यति केषांचित् तेभ्यो बिभ्यति केचन ॥ ६ ॥

उस वनमें प्रविष्ट हो जानेपर द्विजातियोंको न हर्ष होता है, न शोक । न तो वे स्वयं किन्हीं प्राणियोंसे डरते हैं और न उन्हींसे दूसरे कोई प्राणी भय मानते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन् वने सप्त महाद्रुमाश्च
　फलानि सप्तातिथयश्च सप्त ।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च
　दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम् ॥ ७ ॥

वहाँ सात बड़े-बड़े वृक्ष हैं, सात उन वृक्षोंके फल हैं तथा सात ही उन फलोंके भोक्ता अतिथि हैं । सात आश्रम हैं । वहाँ सात प्रकारकी समाधि और सात प्रकारकी दीक्षाएँ हैं । यही उस वनका स्वरूप है ॥ ७ ॥

पञ्चवर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ ८ ॥

वहाँके वृक्ष पाँच प्रकारके रंगोंके दिव्य पुष्पों और फलोंकी सृष्टि करते हुए सब ओरसे वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ ८ ॥

सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ ९ ॥

वहाँ दूसरे वृक्षोंने सुन्दर दो रंगवाले पुष्प और फल उत्पन्न करते हुए उस वनको सब ओरसे व्याप्त कर रखा है ॥

सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ १० ॥

तीसरे वृक्ष वहाँ सुगन्धयुक्त दो रंगवाले पुष्प और फल प्रदान करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १० ॥

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ ११ ॥

चौथे वृक्ष सुगन्धयुक्त केवल एक रंगवाले पुष्प और फलोंकी सृष्टि करते हुए उस वनके सब ओर फैले हैं ॥ ११ ॥

बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद् वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १२ ॥

वहाँ दो महावृक्ष बहुत-से अव्यक्त रंगवाले पुष्प और फलोंकी रचना करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥

एको वह्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र
पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति ।
तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलन्ति दीक्षा
गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ॥ १३ ॥

उस वनमें एक ही अग्नि है, जीव शुद्धचेता ब्राह्मण है, पाँच इन्द्रियाँ समिधाएँ हैं । उनसे जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह सात प्रकारका है । इस यज्ञकी दीक्षाका फल अवश्य होता है । गुण ही फल है । सात अतिथि ही फलोंके भोक्ता हैं ॥

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः ।
अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद् रोचते वनम् ॥ १४ ॥

वे महर्षिगण इस यज्ञमें आतिथ्य ग्रहण करते हैं और पूजा स्वीकार करते ही उनका लय हो जाता है । तत्पश्चात् वह ब्रह्मरूप वन विलक्षणरूपसे प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १५ ॥

उसमें प्रज्ञारूपी वृक्ष शोभा पाते हैं, मोक्षरूपी फल लगते हैं और शान्तिमयी छाया फैली रहती है । ज्ञान वहाँका आश्रयस्थान और तृप्ति जल है । उस वनके भीतर आत्मारूपी सूर्यका प्रकाश छाया रहता है ॥ १५ ॥

येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥ १६ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष उस वनका आश्रय लेते हैं, उन्हें फिर कभी भय नहीं होता । वह वन ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर सब ओर व्याप्त है । उसका कहीं भी अन्त नहीं है ॥ १६ ॥

सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्य
अवाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः ।
ऊर्ध्वं रसानाददते प्रजाभ्यः
सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ॥ १७ ॥

वहाँ सात स्त्रियाँ निवास करती हैं, जो लज्जाके मारे अपना मुँह नीचेकी ओर किये रहती हैं । वे चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशित होती हैं । वे सबकी जननी हैं और वे उस वनमें रहनेवाली प्रजासे सब प्रकारके उत्तम रस उसी प्रकार ग्रहण करती हैं, जैसे अनित्यता सत्यको ग्रहण करती है ॥ १७ ॥

तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयन्ति च ।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखैः सह ॥ १८ ॥

सात सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठ आदिके साथ उसी वनमें लीन होते और उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः ।
एवमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥ १९ ॥

यश, प्रभा, भग (ऐश्वर्य), विजय, सिद्धि (ओज) और तेज—ये सात ज्योतियाँ उपर्युक्त आत्मारूपी सूर्यका ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः ।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसम्भवम् ॥ २० ॥

उस ब्रह्मतत्त्वमें ही गिरि, पर्वत, झरनें, नदी और सरिताएँ स्थित हैं, जो ब्रह्मजनित जल बहाया करती हैं ॥ २० ॥

नदीनां सङ्गमश्चैव वैताने समुपह्वरे ।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षादेव पितामहम् ॥ २१ ॥

नदियोंका सङ्गम भी उसीके अत्यन्त गूढ़ हृदयाकाशमें संक्षेपसे होता है । जहाँ योगरूपी यज्ञका विस्तार होता रहता है । वही साक्षात् पितामहका स्वरूप है । आत्मज्ञानसे तृप्त पुरुष उसीको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
आत्मन्यात्मानमाविश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥ २२ ॥

जिनकी आशा क्षीण हो गयी है, जो उत्तम व्रतके पालनकी इच्छा रखते हैं । तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं । वे ही पुरुष अपनी बुद्धिको आत्मनिष्ठ करके परब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥

शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः ।
तदारण्यमभिप्रेत्य यथाधीरभिजायत ॥ २३ ॥

विद्या (ज्ञान) के ही प्रभावसे ब्रह्मरूपी वनका स्वरूप समझमें आता है । इस बातको जाननेवाले मनुष्य इस वनमें प्रवेश करनेके उद्देश्यसे शम (मनोनिग्रह) की ही प्रशंसा करते हैं, जिससे बुद्धि स्थिर होती है ॥ २३ ॥

एतदेवेदृशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिता ॥ २४

ब्राह्मण ऐसे गुणवाले इस पवित्र वनको जानते हैं और तत्त्वदर्शीके उपदेशसे प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म-वनको शास्त्रतः जानकर शम आदि साधनोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीतासम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

ज्ञानी पुरुषकी स्थिति तथा अध्वर्यु और यतिका संवाद*

ब्राह्मण उवाच

गन्धान् न जिघ्रामि रसान् न वेद्मि
रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि।
न चापि शब्दान् विविधाञ्शृणोमि
न चापि संकल्पमुपैमि कंचित्॥ १ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—मैं न तो गन्धोंको सूँघता हूँ, न रसोंका आस्वादन करता हूँ, न रूपको देखता हूँ, न किसी वस्तुका स्पर्श करता हूँ, न नाना प्रकारके शब्दोंको सुनता हूँ और न कोई संकल्प ही करता हूँ ॥ १ ॥

अर्थानिष्टान् कामयते स्वभावः
सर्वान् द्वेष्यान् प्रद्विषते स्वभावः।
कामद्वेषावुद्भवतः स्वभावात्
प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य॥ २ ॥

स्वभाव ही अभीष्ट पदार्थोंकी कामना रखता है, स्वभाव ही सम्पूर्ण द्वेष्य वस्तुओंके प्रति द्वेष करता है। जैसे प्राण और अपान स्वभावसे ही प्राणियोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर अन्न-पाचन आदिका कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार स्वभावसे ही राग और द्वेषकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि बुद्धि आदि इन्द्रियाँ स्वभावसे ही पदार्थोंमें बर्त रही हैं ॥ २ ॥

तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च भावान्
भूतात्मानं लक्षयेरञ्शरीरे।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्
कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च॥ ३ ॥

इन बाह्य इन्द्रियों और विषयोंसे भिन्न जो स्वप्न और सुषुप्तिके वासनामय विषय एवं इन्द्रियाँ हैं तथा उनमें भी जो नित्यभाव हैं, उनसे भी विलक्षण जो भूतात्मा है, उसको शरीरके भीतर योगीजन देख पाते हैं। उसी भूतात्मामें स्थित हुआ मैं कहीं किसी तरह भी काम, क्रोध, जरा और मृत्युसे ग्रस्त नहीं होता॥

अकामयानस्य च सर्वकामा-
नविद्विषाणस्य च सर्वदोषान्।
न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपा-
स्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु॥ ४ ॥

मैं सम्पूर्ण कामनाओंमेंसे किसीकी कामना नहीं करता। समस्त दोषोंसे भी कभी द्वेष नहीं करता। जैसे कमलके पत्तों-पर जल-बिन्दुका लेप नहीं होता, उसी प्रकार मेरे स्वभावमें राग और द्वेषका स्पर्श नहीं है ॥ ४ ॥

नित्यस्य चैतस्य भवन्त्यनित्या
निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावान्।
न सज्जते कर्मसु भोगजालं
दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम्॥ ५ ॥

जिनका स्वभाव बहुत प्रकारका है, उन इन्द्रिय आदिको देखनेवाले इस नित्यस्वरूप आत्माके लिये सब भोग अनित्य हो जाते हैं। अतः वे भोगसमुदाय उस विद्वान्‌को उसी प्रकार कर्मोंमें लिप्त नहीं कर सकते, जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंका समुदाय सूर्यको लिप्त नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि॥ ६ ॥

यशस्विनि! इस विषयमें अध्वर्यु और यतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, तुम उसे सुनो॥

प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाब्रवीत्।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन्॥ ७ ॥

किसी यज्ञ-कर्ममें पशुका प्रोक्षण होता देख वहीं बैठे हुए एक यतिने अध्वर्युसे उसकी निन्दा करते हुए कहा—'यह हिंसा है (अतः इससे पाप होगा)' ॥ ७ ॥

तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा॥ ८ ॥

अध्वर्युने यतिको इस प्रकार उत्तर दिया—'यह बकरा नष्ट नहीं होगा। यदि 'पशुर्वै नीयमानः' इत्यादि श्रुति सत्य है तो यह जीव कल्याणका ही भागी होगा ॥ ८ ॥

* यह अध्याय क्षेपक हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि इसमें यह बात कही गयी है कि बुद्धि और इन्द्रियोंमें राग-द्वेषके रहते हुए भी विद्वान् कर्मोंमें लिप्त नहीं होता और यज्ञमें पशु-हिंसाका दोष नहीं लगता। किंतु यह कथन युक्तिविरुद्ध है।

यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत् सम्प्रवेक्ष्यति ॥ ९ ॥

'इसके शरीरका जो पार्थिव भाग है, वह पृथ्वीमें विलीन हो जायगा। इसका जो कुछ भी जलीय भाग है, वह जलमें प्रविष्ट हो जायगा ॥ ९ ॥

सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १० ॥

'नेत्र सूर्यमें, कान दिशाओंमें और प्राण आकाशमें ही लयको प्राप्त होगा। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करनेवाले मुझको कोई दोष नहीं लगेगा' ॥ १० ॥

यतिरुवाच

प्राणैर्वियोगे च्छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥ ११ ॥

यतिने कहा—यदि तुम बकरेके प्राणोंका वियोग हो जानेपर भी उसका कल्याण ही देखते हो, तब तो यह यज्ञ उस बकरेके लिये ही हो रहा है। तुम्हारा इस यज्ञसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति च।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥ १२ ॥

श्रुति कहती है 'पशो ! इस विषयमें तुझे तेरे भाई, पिता, माता और सखाकी अनुमति प्राप्त होनी चाहिये।' इस श्रुतिके अनुसार विशेषतः पराधीन हुए इस पशुको ले जाकर इसके पिता-माता आदिसे अनुमति लो (अन्यथा तुझे हिंसाका दोष अवश्य प्राप्त होगा) ॥ १२ ॥

एवमेवानुमन्येरंस्तान् भवान् द्रष्टुमर्हति।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ॥ १३ ॥

पहले तुम्हें इस पशुके उन सम्बन्धियोंसे मिलना चाहिये। यदि वे भी ऐसा ही करनेकी अनुमति दे दें, तब उनका अनुमोदन सुनकर तदनुसार विचार कर सकते हो ॥ १३ ॥

प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥ १४ ॥

तुमने इस छागकी इन्द्रियोंको उनके कारणोंमें विलीन कर दिया है। मेरे विचारसे अब तो केवल इसका निश्चेष्ट शरीर ही अवशिष्ट रह गया है ॥ १४ ॥

इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा।
हिंसानिर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ॥ १५ ॥

यह चेतनाशून्य जड शरीर ईंधनके ही समान है, उससे हिंसाके प्रायश्चित्तकी इच्छासे यज्ञ करनेवालोंके लिये ईंधन ही पशु है (अतः जो काम ईंधनसे होता है, उसके लिये पशु-हिंसा क्यों की जाय ?) ॥ १५ ॥

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम्।
यदहिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्यमिति विद्महे ॥ १६ ॥

वृद्ध पुरुषोंका यह उपदेश है कि अहिंसा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, जो कार्य हिंसासे रहित हो वही करने योग्य है, यही हमारा मत है ॥ १६ ॥

अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम्।
शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्यदूषणम् ॥ १७ ॥

इसके बाद भी यदि मैं कुछ कहूँ तो यही कह सकता हूँ कि सबको यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि 'मैं अहिंसा-धर्मका पालन करूँगा।' अन्यथा आपके द्वारा नाना प्रकारके कार्य-दोष सम्पादित हो सकते हैं ॥ १७ ॥

अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना ही हमें सदा अच्छा लगता है। हम प्रत्यक्ष फलके साधक हैं, परोक्षकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

अध्वर्युरुवाच

भूमेर्गन्धगुणान् भुंक्षे पिबस्यापोमयान् रसान्।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान् गुणान्॥ १९ ॥
शृणोष्याकाशजाञ्शब्दान् मनसा मन्यसे मतिम्।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥ २० ॥

अध्वर्युने कहा—यते ! यह तो तुम मानते ही हो कि सभी भूतोंमें प्राण है, तो भी तुम पृथ्वीके गन्ध गुणोंका उपभोग करते हो, जलमय रसोंको पीते हो, तेजके गुण ! रूपका दर्शन करते हो और वायुके गुण स्पर्शको छूते हो, आकाशजनित शब्दोंको सुनते हो और मनसे मतिका मनन करते हो ॥ १९-२० ॥

प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसायां वर्तते भवान्।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज ॥२१॥

एक ओर तो तुम किसी प्राणीके प्राण लेनेके कार्यसे निवृत्त हो और दूसरी ओर हिंसामें लगे हुए हो। द्विजवर ! कोई भी चेष्टा हिंसाके बिना नहीं होती। फिर तुम कैसे समझते हो कि तुम्हारेद्वारा अहिंसाका ही पालन हो रहा है ? ॥२१॥

यतिरुवाच

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ॥ २२ ॥

यतिने कहा—आत्माके दो रूप हैं—एक अक्षर और दूसरा क्षर। जिसकी सत्ता तीनों कालोंमें कभी नहीं मिटती वह सत्स्वरूप अक्षर (अविनाशी) कहा गया है तथा जिसका सर्वथा और सभी कालोंमें अभाव है, वह क्षर कहलाता है ॥

प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥ २३ ॥

समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः।
समन्तात् परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २४ ॥

प्राण, जिह्वा, मन और रजोगुणसहित सत्त्वगुण—ये रज अर्थात् मायासहित सद्भाव हैं। इन भावोंसे मुक्त निर्द्वन्द्व, निष्काम, समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेवाले, ममतारहित, जितात्मा तथा सब ओरसे बन्धनशून्य पुरुषको कभी और कहीं भी भय नहीं होता ॥ २३-२४ ॥

अध्वर्युरुवाच

सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥ २५ ॥
भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतिपन्नो ब्रवीम्यहम्।
व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज ॥ २६ ॥

अध्वर्युने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ यते! इस जगत्में आप-जैसे साधुपुरुषोंके साथ ही निवास करना उचित है। आपका यह मत सुनकर मेरी बुद्धिमें भी ऐसी ही प्रतीति हो रही है। भगवन्! विप्रवर! मैं आपकी बुद्धिसे ज्ञानसम्पन्न होकर यह बात कह रहा हूँ कि वेदमन्त्रोंद्वारा निश्चित किये हुए व्रतका ही मैं पालन कर रहा हूँ। अतः इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है ॥ २५-२६ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततः परम्।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥ २७ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये! अध्वर्युकी दी हुई युक्तिसे वह यति चुप हो गया और फिर कुछ नहीं बोला। फिर अध्वर्यु भी मोहरहित होकर उस महायज्ञमें अग्रसर हुआ ॥

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ॥ २८ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण मोक्षका ऐसा ही अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप बताते हैं और तत्त्वदर्शी पुरुषके उपदेशके अनुसार उस मोक्षधर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षत्रिय-कुलका संहार

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—भामिनि! इस विषयमें भी कार्तवीर्य और समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान्।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥ २ ॥

पूर्वकालमें कार्तवीर्य अर्जुनके नामसे प्रसिद्ध एक राजा था, जिसकी एक हजार भुजाएँ थीं। उसने केवल धनुष बाणकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको अपने अधिकारमें कर लिया था ॥ २ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन् बलदर्पितः।
अवाकिरच्छरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

सुना जाता है, एक दिन राजा कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचर रहा था। वहाँ उसने अपने बलके घमंडमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे समुद्रको आच्छादित कर दिया ॥ ३ ॥

तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह।
मा मुञ्च वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४ ॥
मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥ ५ ॥

तब समुद्रने प्रकट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा—'वीरवर! राजसिंह! मुझपर

बाणोंकी वर्षा न करो। बोलो, तुम्हारी किस आज्ञाका पालन करूँ? शक्तिशाली नरेश्वर! तुम्हारे छोड़े हुए इन महान्

बाणोंसे मेरे अंदर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय-दान करो' ॥ ४-५ ॥

अर्जुन उवाच

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित्।
विद्यते तं समाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥ ६ ॥

कार्तवीर्य अर्जुन बोला—समुद्र ! यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्धमें मेरा मुकाबला कर सके तो उसका पता बता दो। फिर मैं तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा ॥ ६ ॥

समुद्र उवाच

महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन् परिश्रुतः।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत् कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

समुद्रने कहा—राजन् ! यदि तुमने महर्षि जमदग्निका नाम सुना हो तो उन्हींके आश्रमपर चले जाओ। उनके पुत्र परशुरामजी तुम्हारा अच्छी तरह सत्कार कर सकते हैं ॥ ७ ॥

ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥ ८ ॥
स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥
ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ॥ १० ॥
ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम्।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ॥ ११ ॥

(ब्राह्मणने कहा—) कमलके समान नेत्रोंवाली देवि ! तदनन्तर राजा कार्तवीर्य बड़े क्रोधमें भरकर महर्षि जमदग्निके आश्रमपर परशुरामजीके पास जा पहुँचा और अपने भाई-बन्धुओंके साथ उनके प्रतिकूल बर्ताव करने लगा। उसने अपने अपराधोंसे महात्मा परशुरामजीको उद्विग्न कर दिया। फिर तो शत्रु-सेनाको भस्म करनेवाला अमित तेजस्वी परशुरामजीका तेज प्रज्वलित हो उठा। उन्होंने अपना फरसा उठाया और हजार भुजाओंवाले उस राजाको अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्षकी भाँति सहसा काट डाला ॥ ८—११ ॥

तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः।
असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्यधावयन् ॥ १२ ॥

उसे मरकर जमीनपर पड़ा देख उसके सभी बन्धु-बान्धव एकत्र हो गये तथा हाथोंमें तलवार और शक्तियाँ लेकर परशुरामजीपर चारों ओरसे टूट पड़े ॥ १२ ॥

रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः।
विसृजञ्शरवर्षाणि व्यधमत् पार्थिवं बलम् ॥ १३ ॥

इधर परशुरामजी भी धनुष लेकर तुरंत रथपर सवार हो गये और बाणोंकी वर्षा करते हुए राजाकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः।
विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ १४ ॥

उस समय बहुत-से क्षत्रिय परशुरामजीके भयसे पीड़ित हो सिंहके सताये हुए मृगोंकी भाँति पर्वतोंकी गुफाओंमें घुस गये ॥ १४ ॥

तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम्।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १५ ॥

उन्होंने उनके डरसे अपने क्षत्रियोचित कर्मोंका भी त्याग कर दिया। बहुत दिनोंतक ब्राह्मणोंका दर्शन न कर सकनेके कारण वे धीरे-धीरे अपने कर्म भूलकर शूद्र हो गये ॥ १५ ॥

एवं ते द्रविडाऽऽभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सह।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ॥ १६ ॥

इस प्रकार द्रविड, आभीर, पुण्ड्र और शबरोंके सहवासमें रहकर वे क्षत्रिय होते हुए भी धर्म-त्यागके कारण शूद्रकी अवस्थामें पहुँच गये ॥ १६ ॥

ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् क्षत्रियवीरोंके मारे जानेपर ब्राह्मणोंने उनकी स्त्रियोंसे नियोगकी विधिके अनुसार पुत्र उत्पन्न किये, किंतु उन्हें भी बड़े होनेपर परशुरामजीने फरसेसे काट डाला ॥ १७ ॥

एकविंशतिमेधान्ते रामं वागशरीरिणी।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ॥ १८ ॥

इस प्रकार एक-एक करके जब इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार हो गया, तब परशुरामजीको दिव्य आकाशवाणीने मधुर स्वरमें सब लोगोंके सुनते हुए यह कहा—॥ १८ ॥

राम राम निवर्तस्व कं गुणं तात पश्यसि।
क्षत्रबन्धूनिमान् प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ॥ १९ ॥

'बेटा ! परशुराम ! इस हत्याके कामसे निवृत्त हो जाओ। परशुराम ! भला बारंबार इन बेचारे क्षत्रियोंके प्राण लेनेमें तुम्हें कौन-सा लाभ दिखायी देता है ?' ॥ १९ ॥

तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् ॥ २० ॥

उस समय महात्मा परशुरामजीको उनके पितामह ऋचीक आदिने भी इसी प्रकार समझाते हुए कहा—'महाभाग ! यह काम छोड़ दो, क्षत्रियोंको न मारो' ॥ २० ॥

पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन्।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ॥ २१ ॥

पिताके वधको सहन न करते हुए परशुरामजीने उन ऋषियोंसे इस प्रकार कहा—'आपलोगोंको मुझे इस कामसे निवारण नहीं करना चाहिये' ॥ २१ ॥

पितर ऊचुः

नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर।
नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ॥ २२ ॥

पितर बोले—विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ परशुराम ! बेचारे क्षत्रियोंको मारना तुम्हारे योग्य नहीं है; क्योंकि तुम ब्राह्मण हो, अतः तुम्हारे हाथसे राजाओंका वध होना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

अलर्कके ध्यानयोगका उदाहरण देकर पितामहोंका परशुरामजीको समझाना और परशुरामजीका तपस्याके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना

पितर ऊचुः

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत् तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥ १ ॥

पितरोंने कहा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! इसी विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, उसे सुनकर तुम्हें वैसा ही आचरण करना चाहिये ॥ १ ॥

अलर्को नाम राजर्षिरभवत् सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः ॥ २ ॥

पहलेकी बात है, अलर्क नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि थे, जो बड़े ही तपस्वी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, महात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ थे ॥ २ ॥

ससागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ॥ ३ ॥

उन्होंने अपने धनुषकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त इस पृथ्वीको जीतकर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम कर दिखाया था। इसके पश्चात् उनका मन सूक्ष्मतत्त्वकी खोजमें लगा ॥ ३ ॥

स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहत्कर्म सूक्ष्मं प्रति महामते ॥ ४ ॥

महामते ! वे बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ त्यागकर एक वृक्षके नीचे जा बैठे और सूक्ष्मतत्त्वकी खोजके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगे ॥ ४ ॥

अलर्क उवाच

मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणान् धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः ॥ ५ ॥

अलर्क कहने लगे—मुझे मनसे ही बल प्राप्त हुआ है, अतः वही सबसे प्रबल है । मनको जीत लेनेपर ही मुझे स्थायी विजय प्राप्त हो सकती है । मैं इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे घिरा हुआ हूँ, इसलिये बाहरके शत्रुओंपर हमला न करके इन भीतरी शत्रुओंको ही अपने बाणोंका निशाना बनाऊँगा ॥ ५ ॥

यदिदं चापलात् कर्म सर्वान् मर्त्यांश्चिकीर्षति ।
मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान्॥ ६ ॥

यह मन चञ्चलताके कारण सभी मनुष्योंसे तरह-तरहके कर्म कराता रहता है, अतः अब मैं मनपर ही तीखे बाणोंका प्रहार करूँगा ॥ ६ ॥

मन उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ ७ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

मन बोला—अलर्क ! तुम्हारे ये बाण मुझे किसी

तरह नहीं बींध सकते। यदि इन्हें चलाओगे तो ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको चीर डालेंगे और मर्मस्थानोंके चीरे जानेपर तुम्हारी ही मृत्यु होगी; अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंका विचार करो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ॥ ७½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

यह सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, इसके बाद वे (नासिकाको लक्ष्य करके) बोले ॥ ८ ॥

अलर्क उवाच

आघ्राय सुबहून् गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्माद् घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान्॥९॥

अलर्कने कहा—मेरी यह नासिका अनेकों प्रकारकी सुगन्धियोंका अनुभव करके भी फिर उन्हींकी इच्छा करती है, इसलिये इन तीखे बाणोंको मैं इस नासिकापर ही छोड़ूँगा ॥ ९ ॥

घ्राण उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १० ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

नासिका बोली—अलर्क! ये बाण मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इनसे तो तुम्हारे ही मर्म विदीर्ण होंगे और मर्मस्थानोंका भेदन हो जानेपर तुम्हीं मरोगे; अतः तुम दूसरे प्रकारके बाणोंका अनुसंधान करो, जिससे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १०½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत्॥ ११ ॥

नासिकाका यह कथन सुनकर अलर्क कुछ देर विचार करनेके पश्चात् (जिह्वाको लक्ष्य करके) कहने लगे ॥११॥

अलर्क उवाच

इयं स्वादून् रसान् भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान्॥१२॥

अलर्कने कहा—यह रसना स्वादिष्ट रसोंका उपभोग करके फिर उन्हें ही पाना चाहती है। इसलिये अब इसीके ऊपर अपने तीखे सायकोंका प्रहार करूँगा ॥ १२ ॥

जिह्वोवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १३ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

जिह्वा बोली—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तो तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींधेंगे। मर्मस्थानोंके बिंध जानेपर तुम्हीं मरोगे। अतः दूसरे प्रकारके बाणोंका प्रबन्ध सोचो, जिनकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १३½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥१४॥

यह सुनकर अलर्क कुछ देरतक सोचते-विचारते रहे फिर (त्वचापर कुपित होकर) बोले ॥ १४ ॥

अलर्क उवाच

स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्मात् त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः॥ १५ ॥

अलर्कने कहा—यह त्वचा नाना प्रकारके स्पर्शोंका अनुभव करके फिर उन्हींकी अभिलाषा किया करती है अतः नाना प्रकारके बाणोंसे मारकर इस त्वचाको ही विदीर्ण कर डालूँगा ॥ १५ ॥

त्वगुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १६ ॥
अन्यान्बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

त्वचा-बोली—अलर्क! ये बाण किसी प्रकार मुझे अपना निशाना नहीं बना सकते। ये तो तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण करेंगे और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मौतके मुखमें पड़ोगे। मुझे मारनेके लिये तो दूसरी तरहके बाणोंकी व्यवस्था सोचो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १६½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत्॥ १७ ॥

त्वचाकी बात सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, फिर (श्रोत्रको सुनाते हुए) कहा—॥ १७ ॥

अलर्क उवाच

श्रुत्वा तु विविधाञ्शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान् प्रतिमुञ्चाम्यहं शितान् ॥

अलर्क बोले—यह श्रोत्र बारंबार नाना प्रकारके शब्दोंको सुनकर उन्हींकी अभिलाषा करता है, इसलिये मैं इन तीखे बाणोंको श्रोत्र-इन्द्रियके ऊपर चलाऊँगा ॥ १८ ॥

श्रोत्रमुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम्॥ १९ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

श्रोत्रने कहा—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको विदीर्ण करेंगे तब तुम जीवनसे हाथ धो बैठोगे। अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंकी खोज करो, जिनसे मुझे मार सकोगे ॥ १९½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २०॥

यह सुनकर अलर्कने कुछ सोच-विचारकर (नेत्रको सुनाते हुए) कहा ॥ २० ॥

अलर्क उवाच

दृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तानेव प्रतिगृध्यति।

[तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ॥ २१ ॥

अलर्क बोले–यह आँख भी अनेकों बार विभिन्न रूपों[क]ा दर्शन करके पुनः उन्हींको देखना चाहती है । अतः [मैं] इसे अपने तीखे तीरोंसे मार डालूँगा ॥ २१ ॥

चक्षुरुवाच

[ने]मे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
[तव]ैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २२ ॥
[अ]न्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

आँखने कहा–अलर्क ! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं [छे]द सकते । ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींध डालेंगे और [म]र्म विदीर्ण हो जानेपर तुम्हें ही जीवनसे हाथ धोना [प]ड़ेगा । अतः दूसरे प्रकारके सायकोंका प्रबन्ध सोचो, [जि]नकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ॥ २२½ ॥

[तच्]छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २३॥

यह सुनकर अलर्कने कुछ देर विचार करनेके बाद [(]बुद्धिको लक्ष्य करके) यह बात कही ॥ २३ ॥

अलर्क उवाच

[इ]यं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति ।
[त]स्माद् बुद्धिं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ २४॥

अलर्कने कहा—यह बुद्धि अपनी ज्ञानशक्तिसे अनेकों [प्र]कारका निश्चय करती है, अतः इस बुद्धिपर ही अपने [त]ीक्ष्ण सायकोंका प्रहार करूँगा ॥ २४ ॥

बुद्धिरुवाच

[ने]मे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
[तव]ैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।
[अ]न्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ॥

बुद्धि बोली—अलर्क ! ये बाण मेरा किसी प्रकार [भ]ी स्पर्श नहीं कर सकते । इनसे तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण [ह]ोगा और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मरोगे । जिनकी [स]हायतासे मुझे मार सकोगे, वे बाण तो कोई और ही [हैं] । उनके विषयमें विचार करो ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच

ततोऽलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम् ।
नाध्यगच्छत् परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! तदनन्तर अलर्कने उसी [प]ेड़के नीचे बैठकर घोर तपस्या की, किंतु उससे मन-बुद्धि[स]हित पाँचों इन्द्रियोंको मारनेयोग्य किसी उत्तम बाणका [प]ता न चला ॥ २६ ॥

सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत् प्रभुः ।
स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ॥ २७ ॥
नाध्यगच्छत् परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः ।

तब वे सामर्थ्यशाली राजा एकाग्रचित्त होकर विचार करने लगे । विप्रवर ! बहुत दिनोंतक निरन्तर सोचने-विचारनेके बाद बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा अलर्कको योगसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं प्रतीत हुआ ॥ २७½ ॥

स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ॥२८॥
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
योगेनात्मानमाविश्य सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २९ ॥

वे मनको एकाग्र करके स्थिर आसनसे बैठ गये और ध्यानयोगका साधन करने लगे । इस ध्यानयोगरूप एक ही बाणसे मारकर उन बलशाली नरेशने समस्त इन्द्रियोंको सहसा परास्त कर दिया । वे ध्यानयोगके द्वारा आत्मामें प्रवेश करके परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो गये ॥ २८-२९ ॥

विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह ।
अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ॥ ३० ॥
भोगतृष्णासमायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम् ।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ ३१ ॥

इस सफलतासे राजर्षि अलर्कको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इस गाथाका गान किया–'अहो ! बड़े कष्टकी बात है कि अबतक मैं बाहरी कामोंमें ही लगा रहा और भोगोंकी तृष्णासे आबद्ध होकर राज्यकी ही उपासना करता रहा । ध्यानयोगसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम सुखका साधन नहीं है, यह बात तो मुझे बहुत पीछे मालूम हुई है' ॥ ३०-३१ ॥

इति त्वमनुजानीहि राम मा क्षत्रियान् जहि ।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३२ ॥

(पितामहोंने कहा—) बेटा परशुराम ! इन सब बातोंको अच्छी तरह समझकर तुम क्षत्रियोंका नाश न करो । घोर तपस्यामें लग जाओ, उसीसे तुम्हें कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः ।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

अपने पितामहोंके इस प्रकार कहनेपर महान् सौभाग्यशाली जमदग्निनन्दन परशुरामजीने कठोर तपस्या की और इससे उन्हें परम दुर्लभ सिद्धि प्राप्त हुई ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

राजा अम्बरीषकी गायी हुई आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा

ब्राह्मण उवाच

त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ १ ॥
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! संसारमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन मेरे शत्रु हैं । ये वृत्तियोंके भेदसे नौ प्रकारके माने गये हैं । हर्ष, प्रीति और आनन्द—ये तीन सात्त्विक गुण हैं; तृष्णा, क्रोध और द्वेषभाव—ये तीन राजस गुण हैं और थकावट, तन्द्रा तथा मोह—ये तीन तामस गुण हैं ॥ १-२ ॥

एतान् निकृत्य धृतिमान् बाणसंघैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥

शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, आलस्यहीन और धैर्यवान् पुरुष शम-दम आदि बाण-समूहोंके द्वारा इन पूर्वोक्त गुणोंका उच्छेद करके दूसरोंको जीतनेका उत्साह करते हैं ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ॥ ४ ॥

इस विषयमें पूर्वकालकी बातोंके जानकार लोग एक गाथा सुनाया करते हैं । पहले कभी शान्तिपरायण महाराज अम्बरीषने इस गाथाका गान किया था ॥ ४ ॥

समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥ ५ ॥

कहते हैं—जब दोषोंका बल बढ़ा और अच्छे गुण दबने लगे, उस समय महायशस्वी महाराज अम्बरीषने बलपूर्वक राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली ॥ ५ ॥

स निगृह्यात्मनो दोषान् साधून् समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ॥ ६ ॥

उन्होंने अपने दोषोंको दबाया और उत्तम गुणोंका आदर किया । इससे उन्हें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई और उन्होंने यह गाथा गायी—॥ ६ ॥

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥ ७ ॥

'मैंने बहुत-से दोषोंपर विजय पायी और समस्त शत्रुओंका नाश कर डाला; किंतु एक सबसे बड़ा दोष रह गया है । यद्यपि वह नष्ट कर देने योग्य है तो भी अबतक मैं नाश न कर सका ॥ ७ ॥

यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥ ८ ॥

'उसीकी प्रेरणासे इस प्राणीको वैराग्य नहीं होता । तृष्णाके वशमें पड़ा हुआ मनुष्य संसारमें नीच कर्मोंकी ओर दौड़ता है, सचेत नहीं होता ॥ ८ ॥

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृत्य सुखमेधते ॥ ९ ॥

'उससे प्रेरित होकर वह यहाँ नहीं करनेयोग्य काम भी कर डालता है । उस दोषका नाम है लोभ । उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ९ ॥

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान् ॥ १० ॥

'लोभसे तृष्णा और तृष्णासे चिन्ता पैदा होती है । लोभी मनुष्य पहले बहुत-से राजस गुणोंको पाता है और उनकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें तामसिक गुण भी अधिक मात्रामें आ जाते हैं ॥ १० ॥

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥ ११ ॥

'उन गुणोंके द्वारा देह-बन्धनमें जकड़कर वह बारंबार जन्म लेता और तरह-तरहके कर्म करता रहता है । फिर जीवनका अन्त समय आनेपर उसके देहके तत्त्व विलग-विलग होकर बिखर जाते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है । इसके बाद फिर जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़ता है ॥ ११ ॥

तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥ १२ ॥

'इसलिये इस लोभके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर इसे धैर्यपूर्वक दबाने और आत्मराज्यपर अधिकार पानेकी इच्छा करनी चाहिये । यही वास्तविक स्वराज्य है । यहाँ दूसरा कोई राज्य नहीं है । आत्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वही राजा है' ॥

इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।

अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥ १३ ॥

इस प्रकार यशस्वी अम्बरीषने आत्मराज्यको आगे रखकर एकमात्र प्रबल शत्रु लोभका उच्छेद करते हुए उपर्युक्त गाथाका गान किया था ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनकका ममत्वत्यागविषयक संवाद

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—भामिनि ! इसी प्रसंगमें एक ब्राह्मण और राजा जनकके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥ २ ॥

एक समय राजा जनकने किसी अपराधमें पकड़े हुए ब्राह्मणको दण्ड देते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! आप मेरे देशसे बाहर चले जाइये' ॥ २ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥ ३ ॥

यह सुनकर ब्राह्मणने उस श्रेष्ठ राजाको उत्तर दिया—

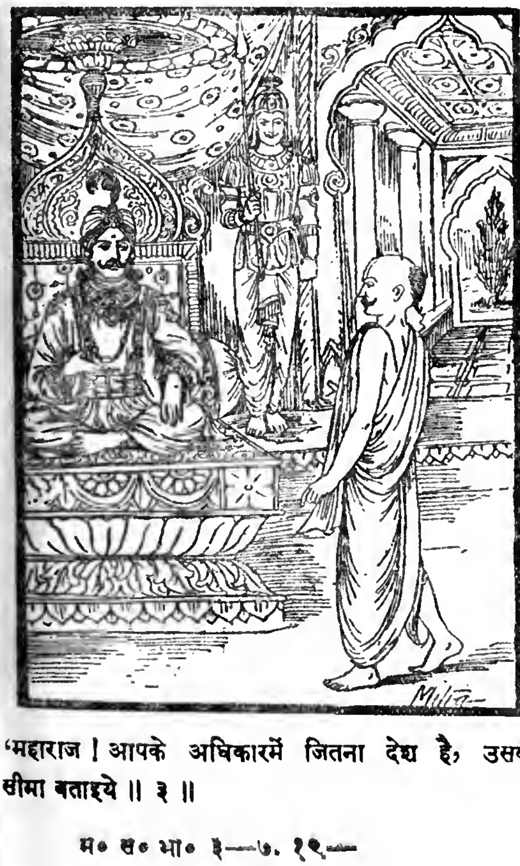

'महाराज ! आपके अधिकारमें जितना देश है, उसकी सीमा बताइये ॥ ३ ॥

सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥ ४ ॥

'सामर्थ्यशाली नरेश ! इस बातको जानकर मैं दूसरे राजाके राज्यमें निवास करना चाहता हूँ और शास्त्रके अनुसार आपकी आज्ञाका पालन करना चाहता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित् प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

उस यशस्वी ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजा जनक बार-बार गरम उच्छ्वास लेने लगे, कुछ जवाब न दे सके ॥

तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसागच्छद् भानुमन्तमिव ग्रहः ॥ ६ ॥

वे अमित तेजस्वी राजा जनक बैठे हुए विचार कर रहे थे, उस समय उनको उसी प्रकार मोहने सहसा घेर लिया जैसे राहु ग्रह सूर्यको घेर लेता है ॥ ६ ॥

समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।
ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब राजा जनक विश्राम कर चुके और उनके मोहका नाश हो गया, तब थोड़ी देर चुप रहनेके बाद वे ब्राह्मणसे बोले ॥ ७ ॥

जनक उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥ ८ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! यद्यपि बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर मेरा अधिकार है, तथापि जब मैं विचारदृष्टिसे देखता हूँ तो सारी पृथ्वीमें खोजनेपर भी कहीं मुझे अपना देश नहीं दिखायी देता ॥ ८ ॥

नाधिगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥ ९ ॥
नाध्यगच्छं तदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।

जब पृथ्वीपर अपने राज्यका पता न पा सका तो मैंने मिथिलामें खोज की । जब वहाँसे भी निराशा हुई तो अपनी प्रजापर अपने अधिकारका पता लगाया, किंतु उनपर भी अपने अधिकारका निश्चय न हुआ, तब मुझे मोह हो गया ॥

ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥१०॥
तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥११॥

फिर विचारके द्वारा उस मोहका नाश होनेपर मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि कहीं भी मेरा राज्य नहीं है अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है। एक दृष्टिसे यह शरीर भी मेरा नहीं है और दूसरी दृष्टिसे यह सारी पृथ्वी ही मेरी है ॥१०-११॥

यथा मम तथान्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥ १२ ॥

यह जिस तरह मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है—ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिये द्विजोत्तम ! अब आपकी जहाँ इच्छा हो, रहिये एवं जहाँ रहें, उसी स्थानका उपभोग कीजिये ॥

ब्राह्मण उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! जब बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर आपका अधिकार है, तब बताइये, किस बुद्धिका आश्रय लेकर आपने इसके प्रति अपनी ममताको त्याग दिया है ? ॥ १३ ॥

कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥ १४ ॥

किस बुद्धिका आश्रय लेकर आप सर्वत्र अपना ही राज्य मानते हैं और किस तरह कहीं भी अपना राज्य नहीं समझते एवं किस तरह सारी पृथ्वीको ही अपना देश समझते हैं ? ॥ १४ ॥

जनक उवाच

अन्तवन्त इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं तस्मान्ममेदमिति यद् भवेत् ॥ १५ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! इस संसारमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली सभी अवस्थाएँ आदि-अन्तवाली हैं, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। इसलिये मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती जो मेरी हो सके ॥ १५ ॥

कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद् भवेत् ॥ १६ ॥

वेद भी कहता है—'यह वस्तु किसकी है ? यह किसका धन है ? * (अर्थात् किसीका नहीं है।)' इसलिये जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करता हूँ, तब कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जान पड़ती, जिसे अपनी कह सकें ॥ १६ ॥

एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ॥ १७ ॥

इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मैंने मिथिलाके राज्यसे अपना ममत्व हटा लिया है। अब जिस बुद्धिका आश्रय लेकर मैं सर्वत्र अपना ही राज्य समझता हूँ, उसको सुनो ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १८ ॥

मैं अपनी नासिकामें पहुँची हुई सुगन्धको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता। इसलिये मैंने पृथ्वीको जीत लिया है और वह सदा ही मेरे वशमें रहती है ॥ १८ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्ततः ।
आपो मे निर्जितास्तस्माद् वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ १९ ॥

मुखमें पड़े हुए रसोंका भी मैं अपनी तृप्तिके लिये नहीं आस्वादन करना चाहता, इसलिये जलतत्त्वपर भी मैं विजय पा चुका हूँ और वह सदा मेरे अधीन रहता है ॥ १९ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २० ॥

मैं नेत्रके विषयभूत रूप और ज्योतिका अपने सुखके लिये अनुभव नहीं करना चाहता, इसलिये मैंने तेजको जीत लिया है और वह सदा मेरे अधीन रहता है ॥ २० ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २१ ॥

तथा मैं त्वचाके संसर्गसे प्राप्त हुए स्पर्शजनित सुखोंको अपने लिये नहीं चाहता, अतः मेरे द्वारा जीता हुआ वायु सदा मेरे वशमें रहता है ॥ २१ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दाञ्श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ २२ ॥

मैं कानोंमें पड़े हुए शब्दोंको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता, इसलिये वे मेरे द्वारा जीते हुए शब्द सदा मेरे अधीन रहते हैं ॥ २२ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोऽन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्माद् वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २३ ॥

मैं मनमें आये हुए मन्तव्य विषयोंका भी अपने सुखके लिये अनुभव करना नहीं चाहता, इसलिये मेरे द्वारा जीता हुआ मन सदा मेरे वशमें रहता है ॥ २३ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ॥ २४ ॥

मेरे समस्त कार्योंका आरम्भ देवता, पितर, भूत और अतिथियोंके निमित्त होता है ॥ २४ ॥

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥ २५ ॥

* मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । (ईशावास्योपनिषद् १)

जनककी ये बातें सुनकर वह ब्राह्मण हँसा और फिर कहने लगा—'महाराज ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धर्म हूँ और आपकी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके यहाँ आया हूँ ॥ २५ ॥

त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः ।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥ २६ ॥

'अब मुझे निश्चय हो गया कि संसारमें सत्त्वगुणरूप नेमिसे घिरे हुए और कभी पीछेकी ओर न लौटनेवाले इस ब्रह्मप्राप्तिरूप दुर्निवार चक्रका संचालन करनेवाले एकमात्र आप ही हैं' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणका पत्नीके प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूपका परिचय देना

ब्राह्मण उवाच

नाहं तथा भीरु चरामि लोके
यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या ।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि
गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि ॥ १ ॥
नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे ।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत् किंचिज्जगतीगतम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—भीरु ! तुम अपनी बुद्धिसे मुझे जैसा समझकर फटकार रही हो, मैं वैसा नहीं हूँ । मैं इस लोकमें देहाभिमानियोंकी तरह आचरण नहीं करता । तुम मुझे पाप-पुण्यमें आसक्त देखती हो; किंतु वास्तवमें मैं ऐसा नहीं हूँ । मैं ब्राह्मण, जीवन्मुक्त महात्मा, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी सब कुछ हूँ । इस भूतलपर जो कुछ दिखायी देता है, वह सब मेरेद्वारा व्याप्त है ॥ १-२ ॥

ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह ।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥ ३ ॥

संसारमें जो कोई भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबका विनाश करनेवाला मृत्यु उसी प्रकार मुझे समझो, जिस प्रकार कि लकड़ियोंका विनाश करनेवाला अग्नि है ॥ ३ ॥

राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवापि त्रिविष्टपे ।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गपर जो राज्य है, उसे यह बुद्धि जानती है; अतः बुद्धि ही मेरा धन है ॥ ४ ॥

एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें स्थित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस मार्गसे चलते हैं, उन ब्राह्मणोंका वह मार्ग एक ही है ॥ ५ ॥

लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ।
नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ॥ ६ ॥
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।

क्योंकि वे लोग बहुत-से व्याकुलतारहित चिह्नोंको धारण करके भी एक बुद्धिका ही आश्रय लेते हैं । भिन्न-भिन्न आश्रमोंमें रहते हुए भी जिनकी बुद्धि शान्तिके साधनमें लगी हुई है, वे अन्तमें एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्मको उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रको प्राप्त होती हैं ॥ ६½ ॥

बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ।
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥ ७ ॥

यह मार्ग बुद्धिगम्य है, शरीरके द्वारा इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता । सभी कर्म आदि और अन्तवाले हैं तथा शरीर कर्मका हेतु है ॥ ७ ॥

तस्मात् ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥ ८ ॥

इसलिये देवि ! तुम्हें परलोकके लिये तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । तुम परमात्मभावकी भावनामें रत रहकर अन्तमें मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाओगी ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञका रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीताका उपसंहार

ब्राह्मण्युवाच

नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—नाथ ! मेरी बुद्धि थोड़ी और अन्तःकरण अशुद्ध है, अतः आपने संक्षेपमें जिस महान् ज्ञानका उपदेश किया है, उस बिखरे हुए उपदेशको समझना मेरे लिये कठिन है । मैं तो उसे सुनकर भी धारण न कर सकी ॥

उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ॥ २ ॥

अतः आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे भी यह बुद्धि प्राप्त हो । मेरा विश्वास है कि वह उपाय आपहीसे ज्ञात हो सकता है ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच

अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! तुम बुद्धिको नीचेकी अरणी और गुरुको ऊपरकी अरणी समझो । तपस्या और वेद-वेदान्तके श्रवण-मननद्वारा मन्थन करनेपर उन अरणियोंसे ज्ञानरूप अग्नि प्रकट होती है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

यदिदं ब्राह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत् क नु ॥ ४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ ! क्षेत्रज्ञ नामसे प्रसिद्ध शरीरान्तर्वर्ती जीवात्माको जो ब्रह्मका स्वरूप बताया जाता है, यह बात कैसे सम्भव है ? क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मके नियन्त्रणमें रहता है और जो जिसके नियन्त्रणमें रहता है, वह उसका स्वरूप हो, ऐसा कभी नहीं देखा गया ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! क्षेत्रज्ञ वास्तवमें देह-सम्बन्धसे रहित और निर्गुण है; क्योंकि उसके सगुण और साकार होनेका कोई कारण नहीं दिखायी देता । अतः मैं वह उपाय बताता हूँ, जिससे वह ग्रहण किया जा सकता है अथवा नहीं भी किया जा सकता ॥ ५ ॥

सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ॥ ६ ॥

उस क्षेत्रज्ञका साक्षात्कार करनेके लिये पूर्ण उपाय देखा गया है । वह यह है कि उसे देखनेकी क्रियाका त्याग कर देनेसे भौंरोंके द्वारा गन्धकी भाँति वह अपने आप जाना जाता है । किंतु कर्मविषयक बुद्धि वास्तवमें बुद्धि न होनेके कारण ज्ञानके सदृश प्रतीत होती है तो भी वह ज्ञान नहीं है । (अतः क्रियाद्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ॥ ७ ॥

यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है—यह बात मोक्षके साधनोंमें नहीं कही जाती । जिन साधनोंमें देखने और सुननेवालेकी बुद्धि आत्माके स्वरूपमें निश्चित होती है, वही यथार्थ साधन है ॥ ७ ॥

यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंऽशान् प्रकल्पयेत् ।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

यहाँ जितनी कल्पनाएँ की जा सकती हैं, उतने ही सैकड़ों और हजारों अव्यक्त और व्यक्तरूप अंशोंकी कल्पना कर लें ॥

सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च सर्वान् प्रत्यक्षहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ॥ ९ ॥

वे सभी प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले पदार्थ वास्तविक अर्थयुक्त नहीं हो सकते । जिससे पर कुछ भी नहीं है, उसका साक्षात्कार तो 'नेति-नेति' अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं—इस अभ्यासके अन्तमें ही होगा ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये ।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! उसके बाद उस ब्राह्मणीकी बुद्धि, जो क्षेत्रज्ञके संशयसे युक्त थी, क्षेत्रके ज्ञानसे अतीत क्षेत्रज्ञोंसे युक्त हुई ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

क नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥ ११ ॥

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण ! वह ब्राह्मणी कौन थी और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था ? अच्युत ! जिन दोनोंके द्वारा यह सिद्धि प्राप्त की गयी, उन दोनोंका परिचय मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।

क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! मेरे मनको तो तुम ब्राह्मण समझो और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी समझो एवं जिसको क्षेत्रज्ञ—ऐसा कहा गया है, वह मैं ही हूँ ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनसे मोक्ष-धर्मका वर्णन—गुरु और शिष्यके संवादमें ब्रह्मा और महर्षियोंके प्रश्नोत्तर

अर्जुन उवाच

ब्रह्म यत्परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! इस समय आपकी कृपासे सूक्ष्म विषयके श्रवणमें मेरी बुद्धि लग रही है, अतः जानने-योग्य परब्रह्मके स्वरूपकी व्याख्या कीजिये ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥
कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः पप्रच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ॥ ३ ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद् ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! इस विषयको लेकर गुरु और शिष्यमें जो मोक्षविषयक संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास बतलाया जा रहा है। एक दिन उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्रह्मवेत्ता आचार्य अपने आसन-पर विराजमान थे। परंतप ! उस समय किसी बुद्धिमान् शिष्यने उनके पास जाकर निवेदन किया—'भगवन् ! मैं कल्याणमार्गमें प्रवृत्त होकर आपकी शरणमें आया हूँ और आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर याचना करता हूँ कि मैं जो कुछ पूछूँ; उसका उत्तर दीजिये। मैं जानना चाहता हूँ कि श्रेय क्या है?' ॥ २-४ ॥

तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥ ५ ॥

पार्थ ! इस प्रकार कहनेवाले उस शिष्यसे गुरु बोले—'विप्र ! तुम्हारा जिस विषयमें संशय है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा' ॥ ५ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तच्छृणु महामते ॥ ६ ॥

महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! गुरुके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस गुरुके प्यारे शिष्यने हाथ जोड़कर जो कुछ पूछा, उसे सुनो ॥ ६ ॥

शिष्य उवाच

कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ७ ॥

शिष्य बोला—विप्रवर ! मैं कहाँसे आया हूँ और आप कहाँसे आये हैं ? जगत्के चराचर जीव कहाँसे उत्पन्न हुए हैं ? जो परमतत्त्व है, उसे आप यथार्थरूपसे बताइये ॥

केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् ।
किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः ॥ ८ ॥

विप्रवर ! सम्पूर्ण जीव किससे जीवन धारण करते हैं ? उनकी अधिक-से-अधिक आयु कितनी है ? सत्य और तप क्या है ? सत्पुरुषोंने किन गुणोंकी प्रशंसा की है ? ॥ ८ ॥

के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं सुखं किं च दुष्कृतम् ।
एतान् मे भगवन् प्रश्नान् याथातथ्येन सुव्रत ॥ ९ ॥
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ।
त्वदन्यः कश्चन प्रश्नानेतान् वक्तुमिहार्हति ॥ १० ॥
ब्रूहि धर्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो भवाँल्लोकेषु गीयते ॥ ११ ॥

कौन-कौन-से मार्ग कल्याण करनेवाले हैं ? सर्वोत्तम सुख क्या है ? और पाप किसे कहते हैं ? श्रेष्ठ व्रतका आचरण करनेवाले गुरुदेव ! मेरे इन प्रश्नोंका आप यथार्थरूपसे उत्तर

देनेमें समर्थ हैं। धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! यह सब जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। इस विषयमें इन प्रश्नोंका तत्त्वतः यथार्थ उत्तर देनेमें आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं है। अतः आप ही बतलाइये; क्योंकि संसारमें मोक्षधर्मोंके तत्त्वके ज्ञानमें आप कुशल बताये गये हैं॥ ९—११॥

सर्वसंशयसंच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते।
संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम्॥ १२॥

हम संसारसे भयभीत और मोक्षके इच्छुक हैं। आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं, जो सब प्रकारकी शङ्काओंका निवारण कर सके॥ १२॥

वासुदेव उवाच

तस्मै सम्प्रतिपन्नाय यथावत् परिपृच्छते।
शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्तिने॥ १३॥
छायाभूताय दान्ताय यतते ब्रह्मचारिणे।
तान् प्रश्नानब्रवीत् पार्थ मेधावी स धृतव्रतः।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक् सर्वानरिंदम॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलश्रेष्ठ शत्रुदमन अर्जुन! वह शिष्य सब प्रकारसे गुरुकी शरणमें आया था। यथोचित रीतिसे प्रश्न करता था। गुणवान् और शान्त था। छायाकी भाँति साथ रहकर गुरुका प्रिय करता था तथा जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी था। उसके पूछनेपर मेधावी एवं व्रतधारी गुरुने पूर्वोक्त सभी प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दिया॥ १३-१४॥

गुरुरुवाच

ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम्।
वेदविद्यां समाश्रित्य तत्त्वभूतार्थभावनम्॥ १५॥

गुरु बोले—बेटा! ब्रह्माजीने वेद-विद्याका आश्रय लेकर तुम्हारे पूछे हुए इन सभी प्रश्नोंका उत्तर पहलेसे ही दे रखा है तथा प्रधान-प्रधान ऋषियोंने उसका सदा ही सेवन किया है। उन प्रश्नोंके उत्तरमें परमार्थविषयक विचार किया गया है॥ १५॥

ज्ञानं त्वेव परं विद्मः संन्यासं तप उत्तमम्।
यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानतत्त्वं विनिश्चयात्।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते॥ १६॥

हम ज्ञानको ही परब्रह्म और संन्यासको उत्तम तप जानते हैं। जो अबाधित ज्ञानतत्त्वको निश्चयपूर्वक जानकर अपनेको सब प्राणियोंके भीतर स्थित देखता है, वह सर्वगति (सर्वव्यापक) माना जाता है॥ १६॥

यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते॥ १७॥

जो विद्वान् संयोग और वियोगको तथा वैसे ही एकत्व और नानात्वको एक साथ तत्त्वतः जानता है, वह दुःखसे मुक्त हो जाता है॥ १७॥

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८॥

जो किसी वस्तुकी कामना नहीं करता तथा जिसके मनमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, वह इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित्।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः॥ १९॥

जो माया और सत्त्वादि गुणोंके तत्त्वको जानता है, जिसे सब भूतोंके विधानका ज्ञान है और जो ममता तथा अहंकारसे रहित हो गया है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है॥

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः॥ २०॥
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः सदा शुभफलोदयः॥ २१॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना॥ २२॥
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी।

यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका मूल अङ्कुर (जड) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ खोखले हैं, पञ्च महाभूत उसके विशेष अवयव हैं और उन भूतोंके विशेष भेद उसकी टहनियाँ हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही उसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाहरूपसे सदा मौजूद रहनेवाला देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। इसके तत्त्वको भलीभाँति जानकर ज्ञानरूपी उत्तम तलवारसे इसे काट डालता है, वह अमरत्वको प्राप्त होकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है॥ २०—२२½॥

भूतभव्यभविष्यादि धर्मकामार्थनिश्चयम्।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम्॥ २३॥
प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः॥ २४॥

महाप्राज्ञ! जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य आदि तथा धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपका निश्चय किया गया है, जिसको सिद्धोंके समुदायने भलीभाँति जाना है, जिसका पूर्वकालमें निर्णय किया गया था और बुद्धिमान् पुरुष जिसे जानकर सिद्ध हो जाते हैं, उस परम उत्तम सनातन ज्ञानका अब मैं तुमसे वर्णन करता हूँ॥ २३-२४॥

उपगम्यर्षयः पूर्व जिज्ञासन्तः परस्परम् ।
प्रजापतिभरद्वाजो गौतमो भार्गवस्तथा ॥ २५ ॥
वसिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च ।
मार्गान् सर्वान् परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः॥२६॥
ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः ।
ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ॥ २७ ॥
तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः ।
अपृच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम् ॥ २८ ॥

पहलेकी बात है, प्रजापति दक्ष, भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन शुक्र, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि महर्षि अपने कर्मोंद्वारा समस्त मार्गोंमें भटकते-भटकते जब बहुत थक गये, तब एकत्रित हो आपसमें जिज्ञासा करते हुए परम वृद्ध अङ्गिरा मुनिको आगे करके ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए पापरहित महात्मा ब्रह्माजीका दर्शन करके उन महर्षि ब्राह्मणोंने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। फिर तुम्हारी ही तरह अपने परम कल्याणके विषयमें पूछा—॥ २५–२८ ॥

कथं कर्म क्रियात् साधु कथं मुच्येत किल्बिषात् ।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम् ॥

'श्रेष्ठ कर्म किस प्रकार करना चाहिये ? मनुष्य पापसे किस प्रकार छूटता है ? कौन-से मार्ग हमारे लिये कल्याण-कारक हैं। सत्य क्या है ? और पाप क्या है ?॥ २९ ॥

कौ चोभौ कर्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ ३० ॥

'तथा कर्मोंके वे दो मार्ग कौन-से हैं, जिनसे मनुष्य दक्षिणायन और उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं ? प्रलय और मोक्ष क्या हैं ? एवं प्राणियोंके जन्म और मरण क्या हैं ?' ॥ ३० ॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम्॥३१॥

शिष्य ! उन मुनिश्रेष्ठ महर्षियोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उन प्रपितामह ब्रह्माजीने जो कुछ कहा, वह मैं तुम्हें शास्त्रानुसार पूर्णतया बताऊँगा, उसे सुनो ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद् वित्त सुव्रताः ।
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षियो ! ऐसा जानो कि चराचर जीव सत्यस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं और तपरूप कर्मसे जीवन धारण करते हैं। वे अपने कारणस्वरूप ब्रह्मको भूलकर अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें घूमते हैं ॥ ३२ ॥

सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि गुणोंसे युक्त हुआ सत्य ही पाँच लक्षणोंवाला निश्चित किया गया है ॥ ३३ ॥

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥३४॥

ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है। सत्यसे ही सम्पूर्ण भूतोंका जन्म हुआ है। यह भौतिक जगत् सत्यरूप ही है ॥ ३४ ॥

तस्मात् सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेविनः ॥ ३५ ॥

इसलिये सदा योगमें लगे रहनेवाले, क्रोध और संतापसे दूर रहनेवाले तथा नियमोंका पालन करनेवाले धर्मसेवी ब्राह्मण सत्यका आश्रय लेते हैं ॥ ३५ ॥

अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि शाश्वताल्ँलोकभावनान्॥ ३६ ॥

जो परस्पर एक दूसरेको नियमके अंदर रखनेवाले, धर्म-मर्यादाके प्रवर्त्तक और विद्वान् हैं, उन ब्राह्मणोंके प्रति मैं लोक-कल्याणकारी सनातन धर्मोंका उपदेश करूँगा ॥

चातुर्विद्यं तथा वर्णांश्चातुराश्रमिकान् पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३७ ॥

वैसे ही प्रत्येक वर्ण और आश्रमके लिये पृथक्-पृथक् चार विद्याओंका वर्णन करूँगा। मनीषी विद्वान् चार चरणोंवाले एक धर्मको नित्य बतलाते हैं ॥ ३७ ॥

पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ॥ ३८ ॥

द्विजवरो ! पूर्व कालमें मनीषी पुरुष जिसका सहारा ले चुके हैं और जो ब्रह्मभावकी प्राप्तिका सुनिश्चित साधन है, उस परम मङ्गलकारी कल्याणमय मार्गका तुमलोगोंके प्रति उपदेश करता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ३८ ॥

गदन्तस्तं मयाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥ ३९ ॥

सौभाग्यशाली प्रवक्तागण ! उस अत्यन्त दुर्विज्ञेय मार्गको, जो कि पूर्णतया परमपदस्वरूप है, यहाँ अब मुझसे सुनो॥

ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद् वानप्रस्थमतः परम् ।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥ ४० ॥

आश्रमोंमें ब्रह्मचर्यको प्रथम आश्रम बताया गया है। गार्हस्थ्य दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है, उसके बाद संन्यास आश्रम है। इसमें आत्मज्ञानकी प्रधानता होती है, अतः इसे परमपदस्वरूप समझना चाहिये ॥ ४० ॥

ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान् न पश्यति ॥ ४१ ॥

जबतक अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य इन ज्योति, आकाश, वायु, सूर्य, इन्द्र और प्रजापति आदिके यथार्थ तत्त्वको नहीं जानता (आत्मज्ञान होनेपर इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है) ॥ ४१ ॥

तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात् तं निबोधत ।
फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ॥ ४२ ॥
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते ॥ ४३ ॥

अतः पहले उस आत्मज्ञानका उपाय बतलाता हूँ, सब लोग सुनिये । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन द्विजातियोंके लिये वानप्रस्थ आश्रमका विधान है । वनमें रहकर मुनिवृत्तिका सेवन करते हुए फल-मूल और वायुके आहारपर जीवन-निर्वाह करनेसे वानप्रस्थ-धर्मका पालन होता है । गृहस्थ-आश्रमका विधान सभी वर्णोंके लिये है ॥ ४२-४३ ॥

श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।
इत्येवं देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः ।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ॥ ४४ ॥

विद्वानोंने श्रद्धाको ही धर्मका मुख्य लक्षण बतलाया है । इस प्रकार आपलोगोंके प्रति देवयान मार्गोंका वर्णन किया गया है । धैर्यवान् संत-महात्मा अपने कर्मोंसे धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं ॥ ४४ ॥

एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः ।
कालात् पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य उत्तम व्रतका आश्रय लेकर उपर्युक्त धर्मोंमेंसे किसीका भी दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, वे कालक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंके जन्म और मरणको सदा ही प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ४५ ॥

अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना ।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ॥ ४६ ॥

अब मैं यथार्थ युक्तिके द्वारा पदार्थोंमें विभागपूर्वक रहनेवाले सम्पूर्ण तत्त्वोंका वर्णन करता हूँ ॥ ४६ ॥

महानात्मा तथाव्यक्तमहंकारस्तथैव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ॥ ४७ ॥
विशेषाः पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः ।
चतुर्विंशतिरेका च तत्त्वसंख्या प्रकीर्तिता ॥ ४८ ॥

अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पञ्च महाभूत और उनके शब्द आदि विशेष गुण—यह चौबीस तत्त्वोंका सनातन सर्ग है । तथा एक जीवात्मा—इस प्रकार तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलायी गयी है ॥४७-४८॥

तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जो इन सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लयको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें धीर है और वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं
गुणांश्च सर्वानखिलांश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं
स सर्वलोकानमलान् समश्नुते॥ ५०॥

जो सम्पूर्ण तत्त्वों, गुणों तथा समस्त देवताओंको यथार्थरूपसे जानता है, उसके पाप धुल जाते हैं और वह बन्धनसे मुक्त होकर सम्पूर्ण दिव्यलोकोंके सुखका अनुभव करता है॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा तमोगुणका, उसके कार्यका और फलका वर्णन

ब्रह्मोवाच

तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् ।
नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥ १ ॥
एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम् ।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत् परमेकादशं भवेत् ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्था होती है, उस समय उनका नाम अव्यक्त प्रकृति होता है । अव्यक्त समस्त प्राकृत कार्योंमें व्यापक, अविनाशी और स्थिर है । उपर्युक्त तीन गुणोंमें जब विषमता आती है, तब वे पञ्चभूतका रूप धारण करते हैं और उनसे नौ द्वारवाले नगर (शरीर) का निर्माण होता है, ऐसा जानो । इस पुरमें जीवात्माको विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाली मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । इनकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा हुई है । बुद्धि इस नगरकी स्वामिनी है, ग्यारहवाँ मन दस इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है ॥

त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः।
प्रनाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः ॥ ३ ॥

इसमें जो तीन स्रोत (चित्तरूपी नदीके प्रवाह) हैं

वे उन तीन गुणमयी नाडियोंके द्वारा बार-बार भरे जाते एवं प्रवाहित होते हैं ॥ ३ ॥

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।
अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ॥ ४ ॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥ ५ ॥

सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंको गुण कहते हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी, एक-दूसरेके आश्रित, एक-दूसरेके सहारे टिकनेवाले, एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले और परस्पर मिश्रित रहनेवाले हैं। पाँचों महाभूत त्रिगुणात्मक हैं ॥ ४-५ ॥

तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः॥ ६ ॥

तमोगुणका प्रतिद्वन्द्वी है सत्त्वगुण और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी रजोगुण है। इसी प्रकार रजोगुणका प्रतिद्वन्द्वी सत्त्वगुण है और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी तमोगुण है ॥ ६ ॥

नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ॥ ७ ॥

जहाँ तमोगुणको रोका जाता है, वहाँ रजोगुण बढ़ता है और जहाँ रजोगुणको दबाया जाता है, वहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम्।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम् ॥ ८ ॥

तमको अन्धकाररूप और त्रिगुणमय समझना चाहिये। उसका दूसरा नाम मोह है। वह अधर्मको लक्षित करानेवाला और पाप करनेवाले लोगोंमें निश्चित रूपसे विद्यमान रहनेवाला है। तमोगुणका यह स्वरूप दूसरे गुणोंसे मिश्रित भी दिखायी देता है ॥ ८ ॥

प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम्।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥

रजोगुणको प्रकृतिरूप बतलाया गया है, यह सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण है। सम्पूर्ण भूतोंमें इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दृश्य जगत् उसीका स्वरूप है, उत्पत्ति या प्रवृत्ति ही उसका लक्षण है ॥ ९ ॥

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम् ॥ १० ॥

सब भूतोंमें प्रकाश, लघुता (गर्वहीनता) और श्रद्धा—यह सत्त्वगुणका रूप है। गर्वहीनताकी श्रेष्ठ पुरुषोंने प्रशंसा की है ॥ १० ॥

एतेषां गुणतत्त्वानि वक्ष्यन्ते तत्त्वहेतुभिः।
समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि बोधत ॥ ११ ॥

अब मैं तात्त्विक युक्तियोंद्वारा संक्षेप और विस्तारके साथ इन तीनों गुणोंके कार्योंका यथार्थ वर्णन करता हूँ, इन्हें ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

सम्मोहोऽज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः स्वतः सुकृतदूषणम् ॥ १२ ॥
अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥ १३ ॥
अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता।
अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना ॥ १४ ॥
अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्म पापमचेतना।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ॥ १५ ॥
सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः सम्प्रकीर्तिताः।
ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन्भावसंज्ञिताः॥१६॥
तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः।

मोह, अज्ञान, त्यागका अभाव, कर्मोंका निर्णय न कर सकना, निद्रा, गर्व, भय, लोभ, स्वयं शुभ कर्मोंमें दोष देखना, स्मरणशक्तिका अभाव, परिणाम न सोचना, नास्तिकता, दुश्चरित्रता, निर्विशेषता (अच्छे-बुरेके विवेकका अभाव), इन्द्रियोंकी शिथिलता, हिंसा आदि निन्दनीय दोषोंमें प्रवृत्त होना, अकार्यको कार्य और अज्ञानको ज्ञान समझना, शत्रुता, काममें मन न लगाना, अश्रद्धा, मूर्खतापूर्ण विचार, कुटिलता, नासमझी, पाप करना, अज्ञान, आलस्य आदिके कारण देहका भारी होना, भाव-भक्तिका न होना, अजितेन्द्रियता और नीच कर्मोंमें अनुराग—ये सभी दुर्गुण तमोगुणके कार्य बतलाये गये हैं। इनके सिवा और भी जो-जो बातें इस लोकमें निषिद्ध मानी गयी हैं, वे सब तमोगुणी ही हैं ॥ १२—१६½ ॥

परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकी ॥ १७ ॥
अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाक्षमा।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १८ ॥

देवता, ब्राह्मण और वेदकी सदा निन्दा करना, दान न देना, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और प्राणियोंके प्रति मात्सर्य—ये सब तामस बर्ताव हैं ॥ १७—१८ ॥

वृथारम्भा हि ये केचिद् वृथा दानानि यानि च।
वृथा भक्षणमित्येतत् तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १९ ॥

(विधि और श्रद्धासे रहित) व्यर्थ कार्योंका आरम्भ करना, (देश-काल-पात्रका विचार न करके अश्रद्धा और अवहेलनापूर्वक) व्यर्थ दान देना तथा (देवता और अतिथिको दिये बिना) व्यर्थ भोजन करना भी तामसिक कार्य है ॥ १९ ॥

अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता।
अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥ २० ॥

अतिवाद, अक्षमा, मत्सरता, अभिमान और अश्रद्धाको भी तमोगुणका बर्ताव मना गया है ॥ २० ॥

एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मिन् पापकर्मिणः।
मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः ॥ २१ ॥

संसारमें ऐसे बर्तावबाले और धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले जो भी पापी मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणी माने गये हैं ॥

तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मिणाम्।
अवाङ्निरयभावा ये तिर्यङ्निरयगामिनः ॥२२॥

ऐसे पापी मनुष्योंके लिये दूसरे जन्ममें जो योनियाँ निश्चित की हुई हैं, उनका परिचय दे रहा हूँ। उनमेंसे कुछ तो नीचे नरकोंमें ढकेले जाते हैं और कुछ तिर्यग्योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ २२ ॥

स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च।
क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहंगमाः ॥ २३ ॥
अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः ॥ २४ ॥
मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः।
अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ॥ २५ ॥

स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) जीव, पशु, वाहन, राक्षस, सर्प, कीड़े-मकोड़े, पक्षी, अण्डज प्राणी, चौपाये, पागल, बहरे, गूँगे तथा अन्य जितने पापमय रोगवाले (कोढ़ी आदि) मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणमें डूबे हुए हैं। अपने कर्मोंके अनुसार लक्षणोंवाले ये दुराचारी जीव सदा दुःखमें निमग्न रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियोंका प्रवाह निम्न दशाकी ओर होता है, इसलिये उन्हें अर्वाक्स्रोता कहते हैं। वे तमोगुणमें निमग्न रहनेवाले सभी प्राणी तामसी हैं ॥ २३–२५ ॥

तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम्।
यथा ते सुकृताँल्लोकाँल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः॥ २६ ॥

इसके पश्चात् मैं यह वर्णन करूँगा कि उन तामसी योनियोंमें गये हुए प्राणियोंका उत्थान और समृद्धि किस प्रकार होती है तथा वे पुण्यकर्मा होकर किस प्रकार श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम् ॥ २७ ॥
संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम्।
स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८ ॥

जो विपरीत योनियोंको प्राप्त प्राणी हैं, उनके (पापकर्मोंका भोग पूरा हो जानेपर) जब पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका उदय होता है, तब वे शुभकर्मोंके संस्कारोंके प्रभावसे स्वकर्मनिष्ठ कल्याणकामी ब्राह्मणोंकी समानताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके कुलमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ पुनः यत्नशील होकर ऊपर उठते हैं एवं देवताओंके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं—यह वेदकी श्रुति है ॥ २७-२८ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विबुद्धाः स्वेषु कर्मसु।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः ॥ २९ ॥

वे पुनरावृत्तिशील सकाम धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जानेके अनन्तर जब वहाँसे दूसरी योनिमें जाते हैं तब यहाँ (मृत्युलोकमें) मनुष्य होते हैं ॥

पापयोनिं समापन्नाश्चाण्डाला मूकचूचुकाः।
वर्णान् पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥

उनमेंसे कोई-कोई (बचे हुए पापकर्मका फल भोगनेके लिये) पुनः पापयोनिसे युक्त चाण्डाल, गूँगे और अटककर बोलनेवाले होते हैं और प्रायः जन्म-जन्मान्तरमें उत्तरोत्तर उच्च वर्णको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे ॥ ३१ ॥

कोई शूद्रयोनिसे आगे बढ़कर भी तामस गुणोंसे युक्त हो जाते हैं और उसके प्रवाहमें पड़कर तमोगुणमें ही प्रवृत्त रहते हैं ॥ ३१ ॥

अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ॥ ३२ ॥

यह जो भोगोंमें आसक्त हो जाना है, यही महामोह बताया गया है। इस मोहमें पड़कर भोगोंका सुख चाहनेवाले ऋषि, मुनि और देवगण भी मोहित हो जाते हैं (फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है !) ॥ ३२ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते ॥ ३३ ॥

तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), क्रोध नामवाला तामिस्र और मृत्युरूप अन्धतामिस्र—यह पाँच प्रकारकी तामसी प्रकृति बतलायी गयी है। क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं ॥ ३३ ॥

वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि ॥ ३४ ॥

विप्रवरो ! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार मैंने आपसे तमोगुणका पूरा-पूरा यथावत् वर्णन किया ॥ ३४ ॥

को न्वेतद् बुध्यते साधु को न्वेतत् साधु पश्यति।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम् ॥ ३५ ॥

जो अतत्त्वमें तत्त्व-दृष्टि रखनेवाला है, ऐसा कौन-सा मनुष्य इस विषयको अच्छी तरह देख और समझ सकता है ? यह विपरीत दृष्टि ही तमोगुणकी यथार्थ पहचान है ॥ ३५ ॥

तमोगुणा बहुविधाः प्रकीर्तिता यथावदुक्तं च तमः परावरम् ।
नरो हि यो वेद गुणानिमान् सदा स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

इस प्रकार तमोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत नाना प्रकारके गुणोंका यथावत् वर्णन किया गया तथा तमोगुणसे प्राप्त होनेवाली ऊँची-नीची योनियाँ भी बतला दी गयीं। जो मनुष्य इन गुणोंको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण तामसिक गुणोंसे सदा मुक्त रहता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

रजोगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः ।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महाभाग्यशाली श्रेष्ठ महर्षियो ! अब मैं तुमलोगोंसे रजोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत गुणोंका यथार्थ वर्णन करूँगा। ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

सन्तापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥
बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि ।
ईर्ष्येप्सा पिशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥
वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च ।
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परमर्मावकर्तनम् ॥ ४ ॥
उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम् ।
लोकचिन्तानुचिन्ता च मत्सरः परिभावनः ॥ ५ ॥
मृषा वादो मृषा दानं विकल्पः परिभाषणम् ।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रस्तावः पारधर्षणम् ॥ ६ ॥
परिचर्यानुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः ।
व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥ ७ ॥

संताप, रूप, आयास, सुख-दुःख, सर्दी, गर्मी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद, मनका प्रसन्न न रहना, सहनशक्ति, बल, शूरता, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्ष्या, इच्छा, चुगली खाना, युद्ध करना, ममता, कुटुम्बका पालन, वध, बन्धन, क्लेश, क्रय-विक्रय, छेदन, भेदन और विदारणका प्रयत्न, दूसरोंके मर्मको विदीर्ण कर डालनेकी चेष्टा, उग्रता, निष्ठुरता, चिल्लाना, दूसरोंके छिद्र बताना, लौकिक बातोंकी चिन्ता करना, पश्चात्ताप, मत्सरता, नाना प्रकारके सांसारिक भावोंसे भावित होना, असत्य भाषण, मिथ्या दान, संशयपूर्ण विचार, तिरस्कारपूर्वक बोलना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, बलात्कार, स्वार्थबुद्धिसे रोगीकी परिचर्या और बड़ोंकी शुश्रूषा एवं सेवावृत्ति, तृष्णा, दूसरोंके आश्रित रहना, व्यवहार-कुशलता, नीति, प्रमाद (अपव्यय), परिवाद और परिग्रह—ये सभी रजोगुणके कार्य हैं ॥ २—७ ॥

संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्तन्ते पृथक्पृथक् ।
नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥ ८ ॥

संसारमें जो स्त्री, पुरुष, भूत, द्रव्य और गृह आदिमें पृथक्-पृथक् संस्कार होते हैं, वे भी रजोगुणकी ही प्रेरणाके फल हैं ॥ ८ ॥

संतापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये ।
आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्तानि विविधानि च ॥९॥
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥ १० ॥
दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् ।

संताप, अविश्वास, सकाम भावसे व्रत-नियमोंका पालन, काम्य कर्म, नाना प्रकारके पूर्त (वापी, कूप-तडाग आदि पुण्य) कर्म, स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, प्रायश्चित्त और मङ्गलजनक कर्म भी राजस माने गये हैं ॥ ९-१०½ ॥

इदं मे स्यादिदं मे स्यात्स्नेहो गुणसमुद्भवः ॥ ११ ॥

'मुझे यह वस्तु मिल जाय, वह मिल जाय' इस प्रकार जो विषयोंको पानेके लिये आसक्तिमूलक उत्कण्ठा होती है, उसका कारण रजोगुण ही है ॥ ११ ॥

अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ॥ १२ ॥
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ।
द्यूतं च जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ॥ १३ ॥
नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन ।
सर्वं एते गुणा विप्रा राजसाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ १४ ॥

विप्रगण ! द्रोह, माया, शठता, मान, चोरी, हिंसा, घृणा, परिताप, जागरण, दम्भ, दर्प, राग, सकाम भक्ति, विषय-प्रेम, प्रमोद, द्यूतक्रीड़ा, लोगोंके साथ विवाद करना, स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध बढ़ाना, नाच-बाजे और गानमें आसक्त होना—ये सब राजस गुण कहे गये हैं ॥ १२—१४ ॥

भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ॥ १५ ॥
कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसा वृताः ॥ १६ ॥

जो इस पृथ्वीपर भूत, वर्तमान और भविष्य पदार्थोंकी चिन्ता करते हैं, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गके सेवनमें लगे रहते हैं, मनमाना बर्ताव करते हैं और सब प्रकारके भोगोंकी समृद्धिसे आनन्द मानते हैं, वे मनुष्य रजोगुणसे आवृत हैं, उन्हें अर्वाक्स्रोता कहते हैं ॥१५-१६॥

अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः।
प्रेत्य भाविकमीहन्ते पैहलौकिकमेव च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति ॥ १७ ॥

ऐसे लोग इस लोकमें बार-बार जन्म लेकर विषयजनित आनन्दमें मग्न रहते हैं और इहलोक तथा परलोकमें सुख पानेका प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे सकाम भावसे दान देते हैं, प्रतिग्रह लेते हैं, तथा तर्पण और यज्ञ करते हैं ॥

रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च।
नरोऽपि यो वेद गुणानिमान् सदा
स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥ १८ ॥

मुनिवरो! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे नाना प्रकारके राजस गुणों और तदनुकूल बर्तावोंका यथावत् वर्णन किया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा इन समस्त राजस गुणोंके बन्धनोंसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्य-संवादविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

सत्त्वगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम्।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! अब मैं तीसरे उत्तम गुण (सत्त्वगुण) का वर्णन करूँगा, जो जगत्‌में सम्पूर्ण प्राणियोंका हितकारी और श्रेष्ठ पुरुषोंका प्रशंसनीय धर्म है ॥

आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च।
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्दधानता ॥ २ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः ॥ ३ ॥

आनन्द, प्रसन्नता, उन्नति, प्रकाश, सुख, कृपणताका अभाव, निर्भयता, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, किसीके दोष न देखना, पवित्रता, चतुरता और पराक्रम—ये सत्त्वगुणके कार्य हैं ॥ २–३ ॥

मुधा ज्ञानं मुधा वृत्तं मुधा सेवा मुधा श्रमः।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात् सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते ॥ ४ ॥

नाना प्रकारकी सांसारिक जानकारी, सकाम व्यवहार, सेवा और श्रम व्यर्थ है—ऐसा समझकर जो कल्याणके साधनमें लग जाता है, वह परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है ॥

निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः।
अकामभूत इत्येव सतां धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥

ममता, अहंकार और आशासे रहित होकर सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना ही श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥ ५ ॥

विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्याग शौचमतन्द्रिता।
आनृशंस्यमसम्मोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ ६ ॥
हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता।
शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ॥ ७ ॥
उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः।
निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता ॥ ८ ॥

विश्वास, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, पवित्रता, आलस्यरहित होना, कोमलता, मोहका अभाव, प्राणियोंपर दया करना, चुगली न खाना, हर्ष, संतोष, गर्वहीनता, विनय, सद्बर्ताव, शान्तिकर्ममें शुद्धभावसे प्रवृत्ति, उत्तम बुद्धि, आसक्तिसे छूटना, जगत्‌के भोगोंसे उदासीनता, ब्रह्मचर्य, सब प्रकारका त्याग, निर्ममता, फलकी कामना न करना तथा धर्मका निरन्तर पालन करते रहना—ये सब सत्त्वगुणके कार्य हैं ।६-८।

मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाऽधीतं मुधा व्रतम्।
मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः ॥ ९ ॥
एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन् सत्त्वसंश्रयाः।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥१०॥

सकाम दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तप—ये सब व्यर्थ हैं—ऐसा समझकर जो उपर्युक्त बर्तावका पालन करते हुए इस जगत्‌में सत्यका आश्रय लेते हैं और वेदकी उत्पत्तिके स्थानभूत परब्रह्म परमात्मामें निष्ठा रखते हैं, वे ब्राह्मण ही धीर और साधुदर्शी माने गये हैं ॥९-१०॥

हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ॥ ११ ॥

वे धीर मनुष्य सब पापोंका त्याग करके शोकसे रहित हो जाते हैं और स्वर्गलोकमें जाकर वहाँके भोग भोगनेके लिये अनेक शरीर धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः।

सत्त्वगुणसम्पन्न महात्मा स्वर्गवासी देवताओंकी भाँति ईशित्व, वशित्व और लघिमा आदि मानसिक सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। वे ऊर्ध्वस्रोता और वैकारिक देवता माने गये हैं ॥ १२½ ॥

विकुर्वन्तः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ॥ १३ ॥
यद् यदिच्छन्ति तत् सर्वं भजन्ते विभजन्ति च।

(योगबलसे) स्वर्गको प्राप्त होनेपर उनका चित्त उन-उन भोगजनित संस्कारोंसे विकृत होता है। उस समय वे जो-जो चाहते हैं, उस-उस वस्तुको पाते और बाँटते हैं ॥ १३॥

इत्येतत् सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः।
एतद् विज्ञाय लभते विधिवद् यद् यदिच्छति ॥ १४॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे सत्त्वगुणके कार्योंका वर्णन किया। जो इस विषयको अच्छी तरह जानता है, वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीको पा लेता है ॥ १४ ॥

प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान् सदा
गुणान् स भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते ॥

यह सत्त्वगुणका विशेषरूपसे वर्णन किया गया तथा सत्त्वगुणका कार्य भी बताया गया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा गुणोंको भोगता है, किंतु उनसे बँधता नहीं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादेऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीता-पर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सत्त्व आदि गुणोंका और प्रकृतिके नामोंका वर्णन

ब्रह्मोवाच

नव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंका सर्वथा पृथक्‌रूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि ये तीनों गुण अविच्छिन्न (मिले हुए) देखे जाते हैं ॥ १ ॥

अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः ॥ २ ॥

ये सभी परस्पर रँगे हुए, एक दूसरेसे अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले हैं। २।

यावत्सत्त्वं रजस्तावद् वर्तते नात्र संशयः।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि इस जगत्‌में जबतक सत्त्वगुण रहता है, तबतक रजोगुण भी रहता है एवं जबतक तमोगुण रहता है, तबतक सत्त्वगुण और रजोगुणकी भी सत्ता रहती है, ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः।
संघातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ४ ॥

ये गुण किसी निमित्तसे अथवा बिना निमित्तके भी सदा साथ रहते हैं, साथ-ही-साथ विचरते हैं, समूह बनाकर यात्रा करते हैं और संघात (शरीर) में मौजूद रहते हैं ॥ ४ ॥

उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्तिनाम्।
वक्ष्यते तद् यथा न्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥ ५ ॥

ऐसा होनेपर भी कहीं तो इन उन्नति और अवनतिके स्वभाववाले तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले गुणोंमेंसे किसीकी न्यूनता देखी जाती है और कहीं अधिकता। सो किस प्रकार ? यह बताया जाता है ॥ ५ ॥

व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग् भावगतं भवेत्।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ६ ॥

तिर्यग् योनियोंमें जहाँ तमोगुणकी अधिकता होती है, वहाँ थोड़ा रजोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ॥ ६ ॥

उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ७ ॥

मध्यस्रोता अर्थात् मनुष्ययोनिमें, जहाँ रजोगुणकी मात्रा अधिक होती है, वहाँ थोड़ा तमोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ॥ ७ ॥

उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ॥ ८ ॥

इसी प्रकार ऊर्ध्वस्रोता यानी देवयोनियोंमें जहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है वहाँ तमोगुण अल्प और रजोगुण अल्पतर जानना चाहिये ॥ ८ ॥

सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका ।
न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥ ९ ॥

सत्त्वगुण इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कारण है, उसे वैकारिक हेतु मानते हैं। वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। सत्त्वगुणसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बताया गया है ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः ॥ १० ॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद एवं आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते—नीच योनियों अथवा नरकोंमें पड़ते हैं ॥ १० ॥

तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् ।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ॥ ११ ॥

शूद्रमें तमोगुणकी, क्षत्रियमें रजोगुणकी और ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। इस प्रकार इन तीन वर्णोंमें मुख्यतासे ये तीन गुण रहते हैं ॥ ११ ॥

दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः संघचारिणः ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वे नानुशुश्रुम ॥ १२ ॥

एक साथ चलनेवाले ये गुण दूरसे भी मिले हुए ही दिखायी पड़ते हैं। तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण—ये सर्वथा पृथक्-पृथक् हों, ऐसा कभी नहीं सुना ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा त्वादित्यमुद्यन्तं कुचराणां भयं भवेत् ।
अध्वगाः परितप्येयुरुष्णतो दुःखभागिनः ॥ १३ ॥

सूर्यको उदित हुआ देखकर दुराचारी मनुष्योंको भय होता है और धूपसे दुःखित राहगीर संतप्त होते हैं ॥ १३ ॥

आदित्यः सत्त्वमुद्रिक्तं कुचरास्तु तथा तमः ।
परितापोऽध्वगानां च राजसो गुण उच्यते ॥ १४ ॥

क्योंकि सूर्य सत्त्वगुणप्रधान हैं, दुराचारी मनुष्य तमोगुणप्रधान हैं एवं राहगीरोंको होनेवाला संताप रजोगुणप्रधान कहा गया है ॥ १४ ॥

प्राकाश्यं सत्त्वमादित्यः संतापो राजसो गुणः ।
उपप्लवस्तु विज्ञेयस्तामसस्तस्य पर्वसु ॥ १५ ॥

सूर्यका प्रकाश सत्त्वगुण है, उनका ताप रजोगुण है और अमावास्याके दिन जो उनपर ग्रहण लगता है, वह तमोगुणका कार्य है ॥ १५ ॥

एवं ज्योतिष्षु सर्वेषु निवर्तन्ते गुणास्त्रयः ।
पर्यायेण च वर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ॥ १६ ॥

इस प्रकार सभी ज्योतियोंमें तीनों गुण क्रमशः वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकारसे प्रकट होते और विलीन होते रहते हैं ॥

स्थावरेषु तु भावेषु तिर्यग्भावगतं तमः ।
राजसास्तु विवर्तन्ते स्नेहभावस्तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥

स्थावर प्राणियोंमें तमोगुण अधिक होता है, उनमें जो बढ़नेकी क्रिया है वह राजस है और जो चिकनापन है, वह सात्त्विक है ॥ १७ ॥

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते ।
मासार्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा ॥ १८ ॥

गुणोंके भेदसे दिनको भी तीन प्रकारका समझना चाहिये। रात भी तीन प्रकारकी होती है तथा मास, पक्ष, वर्ष, ऋतु और संध्याके भी तीन-तीन भेद होते हैं ॥ १८ ॥

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥ १९ ॥

गुणोंके भेदसे तीन प्रकारसे दान दिये जाते हैं। तीन प्रकारका यज्ञानुष्ठान होता है। लोक, देव, विद्या और गति भी तीन-तीन प्रकारकी होती है ॥ १९ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च धर्मोऽर्थः काम एव च ।
प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो गुणाः ॥ २० ॥

भूत, वर्तमान, भविष्य, धर्म, अर्थ, काम, प्राण, अपान और उदान—ये सब त्रिगुणात्मक ही हैं ॥ २० ॥

पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ।
यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः ॥ २१ ॥

इस जगत्‌में जो कोई भी वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होती है, वह सब त्रिगुणमय है ॥ २१ ॥

त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते ह्यव्यक्ता नित्यमेव तु ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः ॥ २२ ॥

सर्वत्र तीनों गुणोंकी ही सत्ता है। ये तीनों अव्यक्त और प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंकी सृष्टि सनातन है ॥ २२ ॥

तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः ।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ॥ २३ ॥
अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम् ।
सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम् ।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः ॥ २४ ॥

प्रकृतिको तम, व्यक्त, शिव, धाम, रज, योनि,

सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव, अप्यय, अनुद्रिक्त, अनून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत्, अव्यक्त और त्रिगुणात्मक कहते हैं। अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले लोगोंको इन नामोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो
यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः ।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्
स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः ॥ २५ ॥

जो मनुष्य प्रकृतिके इन नामों, सत्त्वादि गुणों और सम्पूर्ण विशुद्ध गतियोंको ठीक-ठीक जानता है, वह गुण-विभागके तत्त्वका ज्ञाता है। उसके ऊपर सांसारिक दुःखोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वह देह-त्यागके पश्चात् सम्पूर्ण गुणोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

महत्तत्त्वके नाम और परमात्मतत्त्वको जाननेकी महिमा

ब्रह्मोवाच

अव्यक्तात्पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजी बोले—महर्षिगण! पहले अव्यक्त प्रकृतिसे महान् आत्मस्वरूप महाबुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। यही सब गुणोंका आदि तत्त्व और प्रथम सर्ग कहा जाता है ॥ १ ॥

महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥ २ ॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन् ब्राह्मणो विद्वान् प्रमोहं नाधिगच्छति ॥ ३ ॥

महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति—इन पर्यायवाची नामोंसे महान् आत्माकी पहचान होती है। उसके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ २-३ ॥

सर्वतःपाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ॥ ४ ॥

परमात्मा सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ ४ ॥

महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ ५ ॥

सबके हृदयमें विराजमान परम पुरुष परमात्माका प्रभाव बहुत बड़ा है। अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ उसीके स्वरूप हैं। वह सबका शासन करनेवाला, ज्योतिर्मय और अविनाशी है ॥ ५ ॥

तत्र बुद्धिविदो लोकाः सद्भावनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ॥ ७ ॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत ।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ॥ ८ ॥

संसारमें जो कोई भी मनुष्य बुद्धिमान्, सद्भाव-परायण, ध्यानी, नित्य योगी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, लोभहीन, क्रोधको जीतनेवाले, प्रसन्नचित्त, धीर तथा ममता और अहंकारसे रहित हैं, वे सब मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। जो सर्वश्रेष्ठ परमात्माकी महिमाको जानता है, उसे पुण्यदायक उत्तम गति मिलती है ॥ ६-८ ॥

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ९ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, और पाँचवाँ तेज—ये पाँचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ १० ॥

उन पाँचों महाभूतों तथा उनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सम्पूर्ण प्राणी युक्त हैं ॥ १० ॥

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥ ११ ॥
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।

धैर्यशाली महर्षियो! जब पञ्चमहाभूतोंके विनाशके समय प्रलयकाल उपस्थित होता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भयका सामना करना पड़ता है। किंतु सम्पूर्ण लोगोंमें जो आत्मज्ञानी धीर पुरुष है, वह उस समय भी मोहित नहीं होता ॥ ११½ ॥

विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः ॥ १२ ॥
एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं
परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।

हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥ १३॥

आदिसर्गमें सर्वसमर्थ स्वयम्भू विष्णु ही स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट होते हैं। जो इस प्रकार बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, विश्वरूप, पुराणपुरुष, हिरण्मय देव और ज्ञानियोंकी परम गतिरूप परम प्रभुको जानता है, वह बुद्धिमान् बुद्धिकी सीमाके पार पहुँच जाता है ॥ १२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मोवाच

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते।
अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जो पहले महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था, वही अहंकार कहा जाता है। जब वह अहंरूपमें प्रादुर्भूत होता है, तब वह दूसरा सर्ग कहलाता है ॥ १ ॥

अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः ॥ २ ॥

यह अहंकार भूतादि विकारोंका कारण है, इसलिये वैकारिक माना गया है। यह रजोगुणका स्वरूप है, इसलिये तैजस है। इसका आधार चेतन आत्मा है। सारी प्रजाकी सृष्टि इसीसे होती है, इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं॥२॥

देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत्।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते ॥ ३ ॥

यह श्रोत्रादि इन्द्रियरूप देवोंका और मनका उत्पत्ति-स्थान एवं स्वयं भी देवस्वरूप है, इसलिये इसे त्रिलोकीका कर्त्ता माना गया है। यह सम्पूर्ण जगत् अहंकारस्वरूप है, इसलिये यह अभिमन्ता कहा जाता है ॥ ३ ॥

अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम्।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ॥ ४ ॥

जो अध्यात्मज्ञानमें तृप्त, आत्माका चिन्तन करनेवाले और स्वाध्यायरूपी यज्ञमें सिद्ध हैं, उन मुनिजनोंको यह सनातन लोक प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अहंकारेणाहरतो गुणानिमान्
भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत्।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते
स्वतेजसा रञ्जयते जगत् तथा ॥ ५ ॥

समस्त भूतोंका आदि और सबको उत्पन्न करनेवाला वह अहंकारका आधारभूत जीवात्मा अहंकारके द्वारा सम्पूर्ण गुणोंकी रचना करता है और उनका उपभोग करता है। यह जो कुछ भी चेष्टाशील जगत् है, वह विकारोंके कारणरूप अहंकारका ही स्वरूप है। वह अहंकार ही अपने तेजसे सारे जगत्‌को रजोमय (भोगोंका इच्छुक) बनाता है ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारसे पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंकी सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा निवृत्तिमार्गका उपदेश

ब्रह्मोवाच

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अहंकारसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥

तेषु भूतानि मुह्यन्ति महाभूतेषु पञ्चसु।
शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ २ ॥

इन्हीं पञ्च महाभूतोंमें अर्थात् इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयोंमें समस्त प्राणी मोहित रहते हैं ॥ २ ॥

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदभ्युद्यते भयम् ॥ ३ ॥

धैर्यशाली महर्षियो! महाभूतोंका नाश होते समय जब

[प्र]लयका अवसर आता है, उस समय समस्त प्राणियोंको [म]हान् भय प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

[य]द् यस्माज्जायते भूतं तत्र तत् प्रविलीयते ।
[ल]ीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ ४ ॥

जो भूत जिससे उत्पन्न होता है, उसका उसीमें लय [हो] जाता है । ये भूत अनुलोमक्रमसे एकके बाद एक प्रकट [हो]ते हैं और विलोमक्रमसे इनका अपने-अपने कारणमें [ल]य होता है ॥ ४ ॥

[त]तः प्रलीने सर्वस्मिन् भूते स्थावरजङ्गमे ।
[स्]मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर भूतोंका लय हो जानेपर भी [स्म]रणशक्तिसे सम्पन्न धीर-हृदय योगी पुरुष कभी [न]हीं लीन होते ॥ ५ ॥

[श]ब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः।
[क्रि]याः करणनित्याः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः॥ ६ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध तथा इनको [ग्र]हण करनेकी क्रियाएँ—ये कारणरूपसे (अर्थात् सूक्ष्म [म]नःस्वरूप होनेके कारण) नित्य हैं; अतः इनका भी प्रलय [का]लमें लय नहीं होता । जो (स्थूल पदार्थ) अनित्य हैं [उ]नको मोहके नामसे पुकारा जाता है ॥ ६ ॥

[ल]ोभप्रजनसम्भूता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः ।
[मा]ंसशोणितसंघाता अन्योन्यस्योपजीविनः॥ ७ ॥
[ब]हिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणजीविनः।

लोभ, लोभपूर्वक किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंसे [उ]त्पन्न समस्त फल समानभावसे वास्तवमें कुछ भी नहीं [हैं]। शरीरके बाह्य अङ्ग रक्त-मांसके संघात आदि एक दूसरेके [स]हारे रखनेवाले हैं। इसीलिये ये दीन और कृपण [मा]ने गये हैं ॥ ७½ ॥

[प्रा]णापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ॥ ८ ॥
[अ]न्तरात्मनि चाप्येते नियताः पञ्च वायवः ।
[वा]ङ्मनोबुद्धिभिः सार्द्धमिदमष्टात्मकं जगत् ॥ ९ ॥

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँच [वा]यु नियतरूपसे शरीरके भीतर निवास करते हैं; अतः ये [सू]क्ष्म हैं। मन, वाणी और बुद्धिके साथ गिननेसे इनकी [सं]ख्या आठ होती है। ये आठ इस जगत्के उपादान [का]रण हैं ॥ ८-९ ॥

[त्व]ग्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसना वाक् च संयताः ।
[वि]शुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी॥ १० ॥
[अ]ष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहन्ते मनः सदा ।
[स] तद् ब्रह्म शुभं याति तस्माद् भूयो न विद्यते॥ ११ ॥

जिसकी त्वचा, नासिका, कान, आँख, रसना और वाक्—ये इन्द्रियाँ वशमें हों, मन शुद्ध हो और बुद्धि एक निश्चयपर स्थिर रहनेवाली हो तथा जिसके मनको उपर्युक्त इन्द्रियादिरूप आठ अग्नियाँ संतप्त न करती हों, वह पुरुष उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त होता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ १०-११ ॥

एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः ।
अहंकारात् प्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः॥ १२ ॥

द्विजवरो ! अहंकारसे उत्पन्न हुई जो मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ बतलायी जाती हैं, उनका अब विशेषरूपसे वर्णन करूँगा, सुनो ॥ १२ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग् दशमी भवेत्॥ १३ ॥
इन्द्रियग्राम इत्येष मन एकादशं भवेत् ।
एतं ग्रामं जयेत् पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ १४ ॥

कान, त्वचा, आँख, रसना, पाँचवीं नासिका तथा हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक्—यह दस इन्द्रियोंका समूह है । मन ग्यारहवाँ है । मनुष्यको पहले इस समुदायपर विजय प्राप्त करना चाहिये । तत्पश्चात् उसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ॥ १३-१४ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ॥ १५ ॥
अविशेषाणि चान्यानि कर्मयुक्तानि यानि तु ।
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिस्तु द्वादशी भवेत् ॥ १६ ॥

इन इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। वस्तुतः कान आदि पाँच इन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और उनसे भिन्न शेष जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, वे कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं । मनका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—दोनोंसे है और बुद्धि बारहवीं है ॥ १५-१६ ॥

इत्युक्तानीन्द्रियाण्येतान्येकादश यथाक्रमम् ।
मन्यन्ते कृतमित्येवं विदित्वा तानि पण्डिताः॥ १७॥

इस प्रकार क्रमशः ग्यारह इन्द्रियोंका वर्णन किया गया। इनके तत्त्वको अच्छी तरह जाननेवाले विद्वान् अपनेको कृतार्थ मानते हैं ॥ १७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ॥ १८॥
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ।

अब समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके भूत, अधिभूत आदि विविध विषयोंका वर्णन किया जाता है । आकाश पहला भूत है । कान उसका अध्यात्म (इन्द्रिय), शब्द उसका अधिभूत (विषय) और दिशाएँ उसकी अधिदैवत (अधिष्ठातृ देवता) हैं ॥ १८½ ॥

द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुता ॥ १९ ॥
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत् तत्राधिदैवतम् ।

वायु दूसरा भूत है । त्वचा उसका अध्यात्म तथा स्पर्श उसका अधिभूत सुना गया है और विद्युत् उसका अधिदैवत है ॥ १९½ ॥

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ॥ २० ॥
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ।

तीसरे भूतका नाम है तेज । नेत्र उसका अध्यात्म, रूप उसका अधिभूत और सूर्य उसका अधिदैवत कहा जाता है ॥ २०½ ॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ॥ २१ ॥
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ।

जलको चौथा भूत समझना चाहिये । रसना उसका अध्यात्म, रस उसका अधिभूत और चन्द्रमा उसका अधिदैवत कहा जाता है ॥ २१½ ॥

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ॥ २२ ॥
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ।

पृथ्वी पाँचवाँ भूत है । नासिका उसका अध्यात्म, गन्ध उसका अधिभूत और वायु उसका अधिदैवत कहा जाता है ॥ २२½ ॥

एषु पञ्चसु भूतेषु त्रिषु यश्च विधिः स्मृतः॥ २३ ॥

इन पाँच भूतोंमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूप तीन भेद माने गये हैं ॥ २३ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २४ ॥
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ।

अब कर्मेन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध विषयोंका निरूपण किया जाता है । तत्त्वदर्शी ब्राह्मण दोनों पैरोंको अध्यात्म कहते हैं और गन्तव्य स्थानको उनके अधिभूत तथा विष्णुको उनके अधिदैवत बतलाते हैं ॥ २४½ ॥

अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ॥ २५ ॥
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ।

निम्न गतिवाला अपान एवं गुदा अध्यात्म कहा गया है और मलत्याग उसका अधिभूत तथा मित्र उसके अधिदेवता हैं ॥ २५½ ॥

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ॥ २६ ॥
अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला उपस्थ अध्यात्म है और वीर्य उसका अधिभूत तथा प्रजापति उसके अधिष्ठाता देवता कहे गये हैं ॥ २६½ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ २७ ॥
अधिभूतं च कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ।

अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुष दोनों हाथों अध्यात्म बतलाते हैं । कर्म उनके अधिभूत और इन उनके अधिदेवता हैं ॥ २७½ ॥

वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ॥ २८
वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ।

विश्वकी देवी पहली वाणी यहाँ अध्यात्म कही ग है । वक्तव्य उसका अधिभूत तथा अग्नि उसका अधिदैव है ॥ २८½ ॥

अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मचारकम् ॥ २९
अधिभूतं च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ।

पञ्चभूतोंका संचालन करनेवाला मन अध्यात्म क गया है । संकल्प उसका अधिभूत है और चन्द्रमा उस अधिष्ठाता देवता माने गये हैं ॥ २९½ ॥

अहंकारस्तथाध्यात्मं सर्वसंसारकारकम् ॥ ३०
अभिमानोऽधिभूतं च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ।

सम्पूर्ण संसारको जन्म देनेवाला अहंकार अध्यात्म और अभिमान उसका अधिभूत तथा रुद्र उसके अधिष्ठा देवता हैं ॥ ३०½ ॥

अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ॥ ३१
अधिभूतं तु मन्तव्यं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।

पाँच इन्द्रियों और छठे मनको जाननेवाली बुद्धि अध्यात्म कहते हैं । मन्तव्य उसका अधिभूत और ब्रह उसके अधिदेवता हैं ॥ ३१½ ॥

त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ॥ ३२
स्थलमापस्तथाऽऽकाशं जन्म चापि चतुर्विधम्।
अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ॥ ३३
चतुर्धा जन्म इत्येतद् भूतग्रामस्य लक्ष्यते ।

प्राणियोंके रहनेके तीन ही स्थान हैं—जल, थल औ आकाश । चौथा स्थान सम्भव नहीं है । देहधारियों जन्म चार प्रकारका होता है—अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेद और जरायुज । समस्त भूत-समुदायका यह चार प्रकार ही जन्म देखा जाता है ॥ ३२-३३½ ॥

अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च ॥ ३४
अण्डजानि विजानीयात् सर्वांश्चैव सरीसृपान् ।

इनके अतिरिक्त जो दूसरे आकाशचारी प्राणी हैं त जो पेटसे चलनेवाले सर्प आदि हैं, उन सबको भी अण्ड जानना चाहिये ॥ ३४½ ॥

स्वेदजाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च यथाक्रमम्॥ ३५
जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते ।

पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जू आदि कीट और जन्तु वेदज कहे जाते हैं। यह क्रमशः दूसरा जन्म पहलेकी अपेक्षा म्न स्तरका कहा जाता है ॥ ३५½ ॥

भेत्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात् ॥ ३६ ॥
द्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः ।

द्विजवरो ! जो पृथ्वीको फोड़कर समयपर उत्पन्न होते , उन प्राणियोंको उद्भिज्ज कहते हैं ॥ ३६½ ॥

द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च ॥ ३७ ॥
रायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः ।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! दो पैरवाले, बहुत पैरवाले एवं टेढ़े-मेढ़े लनेवाले तथा विकृत रूपवाले प्राणी जरायुज हैं ॥ ३७½ ॥

द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी ॥ ३८ ॥
पः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः ।

ब्राह्मणत्वका सनातन हेतु दो प्रकारका जानना चाहिये— पस्या और पुण्य कर्मका अनुष्ठान; यही विद्वानोंका श्रय है ॥ ३८½ ॥

विधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानं च तन्मखे ॥ ३९ ॥
तस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम् ।

कर्मके अनेकों भेद हैं, उनमें पूजा, दान और यज्ञमें न करना—ये प्रधान हैं। वृद्ध पुरुषोंका कथन है कि जोंके कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषके लिये वेदोंका अध्ययन रना भी पुण्यका कार्य है ॥ ३९½ ॥

तद् यो वेत्ति विधिवद् युक्तः स स्याद् द्विजर्षभाः ॥ ४० ॥
मुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत ।

द्विजवरो ! जो मनुष्य इस विषयको विधिपूर्वक जानता वह योगी होता है तथा उसे सब पापोंसे छुटकारा ल जाता है। इसे भलीभाँति समझो ॥ ४०½ ॥

थावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्तितो मया ॥ ४१ ॥
नमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं ज्ञानवतामिह ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे अध्यात्मविधिका यथावत् र्णन किया। धर्मज्ञजन ! ज्ञानी पुरुषोंको इस विषयका म्यक् ज्ञान होता है ॥ ४१½ ॥

न्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।
र्वाण्येतानि संधाय मनसा सम्प्रधारयेत् ॥ ४२ ॥

इन्द्रियों, उनके विषयों और पञ्च महाभूतोंकी एकताका चार करके उसे मनमें अच्छी तरह धारण कर लेना हिये ॥ ४२ ॥

क्षीणे मनसि सर्वस्मिन् न जन्मसुखमिष्यते ।
ज्ञानसम्पन्नसत्त्वानां तत् सुखं विदुषां मतम् ॥ ४३ ॥

मनके क्षीण होनेके साथ ही सब वस्तुओंका क्षय हो नेपर मनुष्यको जन्मके सुख (लौकिक सुख-भोग आदि) की इच्छा नहीं होती। जिनका अन्तःकरण ज्ञानसे सम्पन्न होता है, उन विद्वानोंको उसीमें सुखका अनुभव होता है ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभावकरीं शिवाम् ।
निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन च ॥ ४४ ॥

महर्षियो ! अब मैं मनकी सूक्ष्म भावनाको जाग्रत् करनेवाली कल्याणमयी निवृत्तिके विषयमें उपदेश देता हूँ, जो कोमल और कठोर भावसे समस्त प्राणियोंमें रहती है ॥ ४४ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेकचर्यमनन्तरम् ।
एतद् ब्रह्ममयं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ४५ ॥

जहाँ गुण होते हुए भी नहींके बराबर हैं, जो अभिमानसे रहित और एकान्तचर्यासे युक्त है तथा जिसमें भेद-दृष्टिका सर्वथा अभाव है, वही ब्रह्ममय बर्ताव बतलाया गया है, वही समस्त सुखोंका एकमात्र आधार है ॥ ४५ ॥

विद्वान् कूर्म इवाङ्गानि कामान् संहृत्य सर्वशः ।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥ ४६ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको सब ओरसे संकुचित करके रजोगुणसे रहित हो जाता है, वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥ ४६ ॥

कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४७ ॥

जो कामनाओंको अपने भीतर लीन करके तृष्णासे रहित, एकाग्रचित्त तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् और मित्र होता है, वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् ।
मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते ॥ ४८ ॥

विषयोंकी अभिलाषा रखनेवाली समस्त इन्द्रियोंको रोककर जनसमुदायके स्थानका परित्याग करनेसे मुनिका अध्यात्मज्ञानरूपी तेज अधिक प्रकाशित होता है ॥ ४८ ॥

यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ॥ ४९ ॥

जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित होकर अत्यन्त उद्दीप्त दिखायी देती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंका निरोध करनेसे परमात्माके प्रकाशका विशेष अनुभव होने लगता है ॥ ४९ ॥

यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्माऽऽत्मनो हृदि ।
स्वयंज्योतिस्तदा सूक्ष्मात् सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ५० ॥

जिस समय योगी प्रसन्नचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थित देखने लगता है, उस समय वह स्वयंज्योतिःस्वरूप होकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सर्वोत्तम परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च ।
मही पङ्कधरं घोरमाकाशश्रवणं तथा ॥ ५१ ॥
रोगशोकसमाविष्टं पञ्चस्रोतःसमावृतम् ।
पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ॥ ५२ ॥
रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम् ।
संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा ॥ ५३ ॥

अग्नि जिसका रूप है, रुधिर जिसका प्रवाह है, पवन जिसका स्पर्श है, पृथ्वी जिसमें हाड़-मांस आदि कठोर रूपमें प्रकट है, आकाश जिसका कान है, जो रोग और शोकसे चारों ओरसे घिरा हुआ है, जो पाँच प्रवाहोंसे आवृत है, जो पाँच भूतोंसे भलीभाँति युक्त है, जिसके नौ द्वार हैं, जिसके दो (जीव और ईश्वर) देवता हैं, जो रजोगुणमय, अदृश्य (नाशवान्), (सुख, दुःख और मोहरूप) तीन गुणोंसे तथा वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे युक्त है, जो संसर्गमें रत और जड है, उसको शरीर समझना चाहिये ॥ ५१–५३ ॥

दुश्चरं सर्वलोकेऽस्मिन् सत्त्वं प्रति समाश्रितम् ।
एतदेव हि लोकेऽस्मिन् कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ५४ ॥

जिसका सम्पूर्ण लोकमें विचरण करना दुःखद है, जो बुद्धिके आश्रित है, वही इस लोकमें कालचक्र है ॥ ५४ ॥

एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम् ।
विक्षिपेत् संक्षिपेच्चैव बोधयेत् सामरं जगत् ॥ ५५ ॥

यह कालचक्र घोर अगाध और मोह नामसे कहा जानेवाला बड़ा भारी समुद्ररूप है । यह देवताओंके सहित समस्त जगत्का संक्षेप और विस्तार करता है तथा सबको जगाता है ॥

कामं क्रोधं भयं लोभमभिद्रोहमथानृतम् ।
इन्द्रियाणां निरोधेन सदा त्यजति दुस्त्यजान् ॥ ५६ ॥

सदा इन्द्रियोंके निरोधसे मनुष्य काम, क्रोध, भय, लोभ, द्रोह और असत्य—इन सब दुस्त्यज अवगुणोंको त्याग देता है ॥ ५६ ॥

यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्चधातवः ।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते ॥ ५७ ॥

जिसने इस लोकमें तीन गुणोंवाले पाञ्चभौतिक देहका अभिमान त्याग दिया है, उसे अपने हृदयाकाशमें परब्रह्मरूप उत्तम पदकी उपलब्धि होती है—वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

पञ्चेन्द्रियमहाकूलां मनोवेगमहोदकाम् ।
नदीं मोहह्रदां तीर्त्वा कामक्रोधावुभौ जयेत् ॥ ५८ ॥
स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति तत्परम् ।

जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी बड़े कगारे हैं, जो मनोवेगरूपी महान् जलराशिसे भरी हुई है और जिसके भीतर मोहमय कुण्ड है, उस देहरूपी नदीको लाँघकर जो काम और क्रोध दोनोंको जीत लेता है, वही सब दोषोंसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करता है ॥ ५८½ ॥

मनो मनसि संधाय पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ ५९ ॥
सर्ववित् सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मानमात्मनि ।

जो मनको हृदयकमलमें स्थापित करके अपने भीतर ही ध्यानके द्वारा आत्मदर्शनका प्रयत्न करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वज्ञ होता है और उसे अन्तःकरणमें परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है ॥ ५९½ ॥

एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ॥ ६० ॥
ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद् दीपशतं यथा ।

जैसे एक दीपसे सैकड़ों दीप जला लिये जाते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा यत्र-तत्र अनेकों रूपोंमें उपलब्ध होता है । ऐसा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष निःसंदेह सब रूपोंको एकसे ही उत्पन्न देखता है ॥ ६०½ ॥

स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥ ६१ ॥
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥ ६२ ॥

वास्तवमें वही परमात्मा विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति, धाता, विधाता, प्रभु, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय तथा महान् आत्माके रूपमें प्रकाशित है ॥ ६१-६२ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणसमुदाय, देवता, असुर, यक्ष, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस, भूत और सम्पूर्ण महर्षि भी सदा उस परमात्माकी स्तुति करते हैं ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

चराचर प्राणियोंके अधिपतियोंका, धर्म आदिके लक्षणोंका और विषयोंकी अनुभूतिके साधनोंका वर्णन तथा क्षेत्रज्ञकी विलक्षणता

ब्रह्मोवाच

मनुष्याणां तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः ।
कुञ्जरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ॥ १ ॥
अविः पशूनां सर्वेषामहिस्तु बिलवासिनाम् ।

गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! मनुष्योंका राजा तो रजोगुणसे युक्त क्षत्रिय है । सवारियोंमें हाथी, वनवासियोंमें सिंह, समस्त पशुओंमें भेड़, और बिलमें रहनेवालोंमें सर्प, गौओंमें बैल एवं स्त्रियोंमें पुरुष प्रधान है ॥ १-२ ॥

न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा ।
शिंशपा मेषशृङ्गश्च तथा कीचकवेणवः ॥ ३ ॥
एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन् नात्र संशयः ।

बरगद, जामुन, पीपल, सेमल, शीशम, मेषशृङ्ग (मेढ़ासिंगी) और पोले बाँस—ये इस लोकमें वृक्षोंके राजा हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ॥ ४ ॥
श्वेतो नीलश्च भासश्च कोष्ठवांश्चैव पर्वतः ।
गुरुस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान् पर्वतस्तथा ॥ ५ ॥
एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा ।
सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ॥ ६ ॥

हिमवान्, पारियात्र, सह्य, विन्ध्य, त्रिकूट, श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान् पर्वत, गुरुस्कन्ध, महेन्द्र और माल्यवान् पर्वत—ये सब पर्वत पर्वतोंके अधिपति हैं । गणोंके मरुद्गण, ग्रहोंके सूर्य और नक्षत्रोंके चन्द्रमा अधिपति हैं ॥ ४–६ ॥

यमः पितॄणामधिपः सरितामथ सागरः ।
अम्भसां वरुणो राजा मरुतामिन्द्र उच्यते ॥ ७ ॥

यमराज पितरोंके और समुद्र सरिताओंके स्वामी हैं । वरुण जलके और इन्द्र मरुद्गणोंके स्वामी कहे जाते हैं ॥७॥

अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते ।
अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

उष्णप्रभाके अधिपति सूर्य हैं और ताराओंके स्वामी चन्द्रमा कहे गये हैं । भूतोंके नित्य अधीश्वर अग्निदेव हैं तथा ब्राह्मणोंके स्वामी बृहस्पति हैं ॥ ८ ॥

ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः ।
त्वष्टाधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ॥ ९ ॥

ओषधियोंके स्वामी सोम हैं तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ विष्णु हैं । रूपोंके अधिपति सूर्य और पशुओंके ईश्वर भगवान् शिव हैं ॥ ९ ॥

दीक्षितानां तथा यज्ञो देवानां मघवा तथा ।
दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ॥ १० ॥

दीक्षा ग्रहण करनेवालोंके यज्ञ और देवताओंके इन्द्र अधिपति हैं । दिशाओंकी स्वामिनी उत्तर दिशा है एवं ब्राह्मणोंके राजा प्रतापी सोम हैं ॥ १० ॥

कुबेरः सर्वरत्नानां देवतानां पुरंदरः ।
एष भूताधिपः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ॥ ११ ॥

सब प्रकारके रत्नोंके स्वामी कुबेर, देवताओंके स्वामी इन्द्र और प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं । यह भूतोंके अधिपतियोंका सर्ग है ॥ ११ ॥

सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वापि न विद्यते ॥ १२ ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका महान् अधीश्वर और ब्रह्ममय हूँ । मुझसे अथवा विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ १२ ॥

राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
ईश्वरत्वं विजानीध्वं कर्तारमकृतं हरिम् ॥ १३ ॥

ब्रह्ममय महाविष्णु ही सबके राजाधिराज हैं, उन्हींको ईश्वर समझना चाहिये । वे श्रीहरि सबके कर्ता हैं, किंतु उनका कोई कर्ता नहीं है ॥ १३ ॥

नरकिन्नरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ॥ १४ ॥

वे विष्णु ही मनुष्य, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानव और नाग सबके अधीश्वर हैं ॥ १४ ॥

भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना ।
माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वती हि सा ॥ १५ ॥
उमां देवीं विजानीध्वं नारीणामुत्तमां शुभाम् ।
रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ॥ १६ ॥

कामी पुरुष जिनके पीछे फिरते हैं, उन सबमें सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्री प्रधान है । एवं जो माहेश्वरी, महादेवी और पार्वती नामसे कही जाती हैं, उन मङ्गलमयी उमादेवीको स्त्रियोंमें सर्वोत्तम जानो तथा रमण करने योग्य स्त्रियोंमें स्वर्णविभूषित अप्सराएँ प्रधान हैं ॥ १५-१६ ॥

धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मसेतवः ।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे ॥ १७ ॥

राजा धर्म-पालनके इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्मके सेतु हैं । अतः राजाको चाहिये कि वह सदा ब्राह्मणोंकी रक्षाका प्रयत्न करे ॥ १७ ॥

राज्ञां हि विषये येषामवसीदन्ति साधवः ।
हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्य चोन्मार्गगामिनः ॥ १८ ॥

जिन राजाओंके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंको कष्ट होता है, वे अपने समस्त राजोचित गुणोंसे हीन हो जाते और मरनेके बाद नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

राज्ञां हि विषये येषां साधवः परिरक्षिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते सुखं प्रेत्य च भुञ्जते ॥ १९ ॥
प्राप्नुवन्ति महात्मान इति वित्त द्विजर्षभाः ।

द्विजवरो ! जिनके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी सब प्रकारसे रक्षा की जाती है, वे महामना नरेश इस लोकमें आनन्दके भागी होते हैं और परलोकमें अक्षय सुख प्राप्त करते हैं, ऐसा समझो ॥ १९½ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम् ॥ २० ॥
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।
प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥ २१ ॥

अब मैं सबके नियत धर्मके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ । अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है और हिंसा अधर्मका लक्षण (स्वरूप) है । प्रकाश देवताओंका और यज्ञ आदि कर्म मनुष्योंका लक्षण है ॥ २०-२१ ॥

शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः ।
ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ॥ २२ ॥

शब्द आकाशका, वायु स्पर्शका, रूप तेजका और रस जलका लक्षण है ॥ २२ ॥

धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ।
स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती शब्दलक्षणा ॥ २३ ॥

गन्ध सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वीका लक्षण है तथा स्वर-व्यञ्जनकी शुद्धिसे युक्त वाणीका लक्षण शब्द है ॥ २३ ॥

मनसो लक्षणं चिन्ता चिन्तोक्ता बुद्धिलक्षणा ।
मनसा चिन्तितानर्थान् बुद्ध्या चेह व्यवस्यति ॥२४॥
बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः ।

चिन्तन मनका और निश्चय बुद्धिका लक्षण है; क्योंकि मनुष्य इस जगत्में मनके द्वारा चिन्तन की हुई वस्तुओंका बुद्धिसे ही निश्चय करते हैं, निश्चयके द्वारा ही बुद्धि जाननेमें आती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ २४½ ॥

लक्षणं मनसो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ॥ २५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ २६ ॥

मनका लक्षण ध्यान है और श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण बाहरसे व्यक्त नहीं होता (वह स्वसंवेद्य हुआ करता है) । योगका लक्षण प्रवृत्ति और संन्यासका लक्षण ज्ञान है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ज्ञानका आश्रय लेकर यहाँ संन्यास ग्रहण करे ॥ २५-२६ ॥

संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
अतीतो द्वन्द्वमभ्येति तमोमृत्युजरातिगः ॥ २७ ॥

ज्ञानयुक्त संन्यासी मौत और बुढ़ापाको लाँघकर सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे हो अज्ञानान्धकारके पार पहुँचकर परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया ।
गुणानां ग्रहणं सम्यग् वक्ष्याम्यहमतः परम् ॥ २८ ॥

महर्षियो ! यह मैंने तुमलोगोंसे लक्षणोंसहित धर्मका विधिवत् वर्णन किया । अब यह बतला रहा हूँ कि किस गुणको किस इन्द्रियसे ठीक-ठीक ग्रहण किया जाता है ॥२८॥

पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेन हि स गृह्यते ।
घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ॥ २९ ॥

पृथ्वीका जो गन्धनामक गुण है, उसका नासिकाके द्वारा ग्रहण होता है और नासिकामें स्थित वायु उस गन्धका अनुभव करानेमें सहायक होती है ॥ २९ ॥

अपां धातू रसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते ।
जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ॥ ३० ॥

जलका स्वाभाविक गुण रस है, जिसको जिह्वाके द्वारा ग्रहण किया जाता है और जिह्वामें स्थित चन्द्रमा उस रसके आस्वादनमें सहायक होता है ॥ ३० ॥

ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते ।
चक्षुःस्थश्च सदाऽऽदित्यो रूपज्ञाने विधीयते ॥ ३१ ॥

तेजका गुण रूप है और वह नेत्रमें स्थित सूर्यदेवताकी सहायतासे नेत्रके द्वारा सदा देखा जाता है ॥ ३१ ॥

वायव्यस्तु सदा स्पर्शस्त्वचा प्रज्ञायते च सः ।
त्वक्स्थश्चैव सदा वायुः स्पर्शने स विधीयते ॥३२॥

वायुका स्वाभाविक गुण स्पर्श है, जिसका त्वचाके द्वारा ज्ञान होता है और त्वचामें स्थित वायुदेव उस स्पर्शका अनुभव करानेमें सहायक होता है ॥ ३२ ॥

आकाशस्य गुणो ह्येष श्रोत्रेण च स गृह्यते ।
श्रोत्रस्थाश्च दिशः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ॥३३॥

आकाशके गुण शब्दका कानोंके द्वारा ग्रहण होता है और कानमें स्थित सम्पूर्ण दिशाएँ शब्दके श्रवणमें सहायक बतायी गयी हैं ॥ ३३ ॥

मनसश्च गुणश्चिन्ता प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
हृदिस्थश्चेतनो धातुर्मनोज्ञाने विधीयते ॥ ३४ ॥

मनका गुण चिन्तन है, जिसका बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया जाता है और हृदयमें स्थित चेतन (आत्मा) मनके चिन्तन-कार्यमें सहायता देता है ॥ ३४ ॥

बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा ।
निश्चित्य ग्रहणाद् व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः ॥ ३५ ॥

निश्चयके द्वारा बुद्धिका और ज्ञानके द्वारा महत्तत्त्वका ग्रहण होता है । इनके कार्योंसे ही इनकी सत्ताका निश्चय होता है और इसीसे इन्हें व्यक्त माना जाता है, किंतु वास्तवमें तो अतीन्द्रिय होनेके कारण ये बुद्धि आदि अव्यक्त ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

अलिङ्गग्रहणो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।
तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः॥ ३६॥

नित्य क्षेत्रज्ञ आत्माका कोई ज्ञापक लिङ्ग नहीं है; क्योंकि वह (स्वयंप्रकाश और) निर्गुण है। अतः क्षेत्रज्ञ अलिङ्ग (किसी विशेष लक्षणसे रहित) है; केवल ज्ञान ही उसका लक्षण (स्वरूप) माना गया है॥ ३६॥

अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम्।
सदा पश्याम्यहं लीनो विजानामि शृणोमि च॥ ३७॥

गुणोंकी उत्पत्ति और लयके कारणभूत अव्यक्त प्रकृतिको क्षेत्र कहते हैं। मैं उसमें संलग्न होकर सदा उसे जानता और सुनता हूँ॥ ३७॥

पुरुषस्तद् विजानीते तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते।
गुणवृत्तं तथा वृत्तं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति॥ ३८॥
आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम्।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ ३९॥

आत्मा क्षेत्रको जानता है, इसलिये वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ आदि, मध्य और अन्तसे युक्त समस्त उत्पत्तिशील अचेतन गुणोंके कार्यको और उनकी क्रियाको भी भली-भाँति जानता है, किंतु बारंबार उत्पन्न होनेवाले गुण आत्माको नहीं जान पाते॥ ३८-३९॥

न सत्यं विन्दते कश्चित् क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति।
गुणानां गुणभूतानां यत् परं परमं महत्॥ ४०॥

जो गुणों और गुणोंके कार्योंसे अत्यन्त परे है, उस परम महान् सत्यस्वरूप क्षेत्रज्ञको कोई नहीं जानता, परंतु वह सबको जानता है॥ ४०॥

तस्माद् गुणांश्च सत्त्वं च परित्यज्येह धर्मवित्।
क्षीणदोषो गुणातीतः क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ॥ ४१॥

अतः इस लोकमें जिसके दोषोंका क्षय हो गया है, वह गुणातीत धर्मज्ञ पुरुष सत्त्व (बुद्धि) और गुणोंका परित्याग करके क्षेत्रज्ञके शुद्ध स्वरूप परमात्मामें प्रवेश कर जाता है॥ ४१॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च।
अचलश्चानिकेतश्च क्षेत्रज्ञः स परो विभुः॥ ४२॥

क्षेत्रज्ञ सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, किसीको नमस्कार न करनेवाला, स्वाहाकाररूप यज्ञादि कर्म न करनेवाला, अचल और अनिकेत है। वही महान् विभु है॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्यसंवादविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

सब पदार्थोंके आदि-अन्तका और ज्ञानकी नित्यताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च।
नामलक्षणसंयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः॥ १॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अब मैं सम्पूर्ण पदार्थोंके नाम-लक्षणोंसहित आदि, मध्य और अन्तका तथा उनके ग्रहणके उपायका यथार्थ वर्णन करता हूँ॥ १॥

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः॥ २॥

पहले दिन है फिर रात्रि; (अतः दिन रात्रिका आदि है। इसी प्रकार) शुक्लपक्ष महीनेका, श्रवण नक्षत्रोंका और शिशिर ऋतुओंका आदि है॥ २॥

भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च।
रूपाणां ज्योतिरादित्यः स्पर्शानां वायुरुच्यते॥ ३॥
शब्दस्यादिस्तथाऽऽकाशमेष भूतकृतो गुणः।

गन्धोंका आदि कारण भूमि है। रसोंका जल, रूपोंका ज्योतिर्मय आदित्य, स्पर्शोंका वायु और शब्दका आदिकारण आकाश है। ये गन्ध आदि पञ्चभूतोंसे उत्पन्न गुण हैं॥ ३½॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम्॥ ४॥
आदित्यो ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरुच्यते।
सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां प्रजापतिः॥ ५॥

अब मैं भूतोंके उत्तम आदिका वर्णन करता हूँ। सूर्य समस्त ग्रहोंका और जठरानल सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि बतलाया जाता है। सावित्री सब विद्याओंकी और प्रजापति देवताओंके आदि हैं॥ ४५॥

ओङ्कारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च।
यदस्मिन् नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते॥ ६॥

ॐकार सम्पूर्ण वेदोंका और प्राण वाणीका आदि है। इस संसारमें जो नियत उच्चारण है, वह सब गायत्री कहलाता है॥

गायत्री च्छन्दसामादिः प्रजानां सर्ग उच्यते।
गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजातयः॥ ७॥

छन्दोंका आदि गायत्री और प्रजाका आदि सृष्टिका प्रारम्भकाल है। गौएँ चौपायोंकी और ब्राह्मण मनुष्योंके आदि हैं॥

श्येनः पतत्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम् ।
सरीसृपाणां सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ॥ ८ ॥

द्विजवरो ! पक्षियोंमें बाज, यज्ञोंमें उत्तम आहुति और सम्पूर्ण रेंगकर चलनेवाले जीवोंमें साँप श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ॥ ९ ॥

सत्ययुग सम्पूर्ण युगोंका आदि है, इसमें संशय नहीं है। समस्त रत्नोंमें सुवर्ण और अन्नोंमें जौ श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते ।
द्रवाणां चैव सर्वेषां पेयानामाप उत्तमाः ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंमें अन्न श्रेष्ठ कहा जाता है । बहनेवाले और सभी पीनेयोग्य पदार्थोंमें जल उत्तम है ॥ १० ॥

स्थावराणां तु भूतानां सर्वेषामविशेषतः ।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमतः स्मृतः ॥ ११ ॥

समस्त स्थावर भूतोंमें सामान्यतः ब्रह्मक्षेत्र—पाकर नामवाला वृक्ष श्रेष्ठ एवं पवित्र माना गया है ॥ ११ ॥

अहं प्रजापतीनां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयम्भूरिति स स्मृतः॥ १२ ॥

सम्पूर्ण प्रजापतियोंका आदि मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है। मेरे आदि अचिन्त्यात्मा भगवान् विष्णु हैं। उन्हींको स्वयम्भू कहते हैं ॥ १२ ॥

पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः ।
दिशां च प्रदिशां चोर्ध्वं दिक्पूर्वा प्रथमा तथा ॥ १३ ॥

समस्त पर्वतोंमें सबसे पहले महामेरुगिरिकी उत्पत्ति हुई है। दिशा और विदिशाओंमें पूर्व दिशा उत्तम और आदि मानी गयी है ॥ १३ ॥

तथा त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता ।
तथा सरोदपानानां सर्वेषां सागरोऽग्रजः ॥ १४ ॥

सब नदियोंमें त्रिपथगा गङ्गा ज्येष्ठ मानी गयी है। सरोवरोंमें सर्वप्रथम समुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १४ ॥

देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
नरकिंनरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १५ ॥

देव, दानव, भूत, पिशाच, सर्प, राक्षस, मनुष्य, किंनर और समस्त यक्षोंके स्वामी भगवान् शङ्कर हैं ॥ १५ ॥

आदिर्विश्वस्य जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं यस्मात् त्रैलोक्ये नेह विद्यते ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण ब्रह्मस्वरूप महाविष्णु हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥१६॥

आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः ।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ॥ १७ ॥

सब आश्रमोंका आदि गृहस्थ आश्रम है, इसमें संदेह नहीं है। समस्त जगत्का आदि और अन्त अव्यक्त प्रकृति ही है ॥ १७ ॥

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी ।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ॥१८॥

दिनका अन्त है सूर्यास्त और रात्रिका अन्त है सूर्योदय। सुखका अन्त सदा दुःख है और दुःखका अन्त सदा सुख है॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥१९॥

समस्त संग्रहका अन्त है विनाश, उत्थानका अन्त है पतन, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मृत्यु॥

सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम् ।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन्सदा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

जिन-जिन वस्तुओंका निर्माण हुआ है, उनका नाश अवश्यम्भावी है। जो जन्म ले चुका है उसकी मृत्यु निश्चित है। इस जगत्में स्थावर या जङ्गम कोई भी सदा रहनेवाला नहीं है ॥ २० ॥

इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद् विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥ २१ ॥

जितने भी यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, व्रत और नियम हैं, उन सबका अन्तमें विनाश होता है, केवल ज्ञानका अन्त नहीं होता ॥ २१ ॥

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥ २२ ॥

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त शान्त हो गया है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा जो ममता और अहंकारसे रहित हो गया है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

देहरूपी कालचक्रका तथा गृहस्थ और ब्राह्मणके धर्मका कथन

ब्रह्मोवाच

बुद्धिसारं मनःस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम्।
महाभूतपरिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम्॥ १॥
जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसम्भवम्।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम्॥ २॥
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम्।
सुखदुःखान्तसंश्लेषं क्षुत्पिपासावकीलकम्॥ ३॥
छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम्।
घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम्॥ ४॥
मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम्।
तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम्॥ ५॥
महाहंकारदीप्तं च गुणसंजातवर्तनम्।
अरतिग्रहणानीकं शोकसंहारवर्तनम्॥ ६॥
क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम्।
लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसम्भवम्॥ ७॥
भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम्।
आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम्॥ ८॥
महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम्।
मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते॥ ९॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! मनके समान वेगवाला (देहरूपी) मनोरम कालचक्र निरन्तर चल रहा है। यह महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल भूतोंतक चौबीस तत्त्वोंसे बना हुआ है। इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती। यह संसार-बन्धनका अनिवार्य कारण है। बुढ़ापा और शोक इसे घेरे हुए हैं। यह रोग और दुर्व्यसनोंकी उत्पत्तिका स्थान है। यह देश और कालके अनुसार विचरण करता रहता है। बुद्धि इस कालचक्रका सार, मन खम्भा और इन्द्रियसमुदाय बन्धन हैं। पञ्चमहाभूत इसका तना है। अज्ञान ही इसका आवरण है। श्रम तथा व्यायाम इसके शब्द हैं। रात और दिन इस चक्रका संचालन करते हैं। सर्दी और गर्मी इसका घेरा है। सुख और दुःख इसकी सन्धियाँ (जोड़) हैं। भूख और प्यास इसके कीलक तथा धूप और छाया इसकी रेखा हैं। आँखोंके खोलने और मीचनेसे इसकी व्याकुलता (चञ्चलता) प्रकट होती है। घोर मोहरूपी जल (शोकाश्रु) से यह व्याप्त रहता है। यह सदा ही गतिशील और अचेतन है। मास और पक्ष आदिके द्वारा इसकी आयुकी गणना की जाती है। यह कभी भी एक-सी अवस्थामें नहीं रहता। ऊपर-नीचे और मध्यवर्ती लोकोंमें सदा चक्कर लगाता रहता है। तमोगुणके वशमें होनेपर इसकी पापपङ्कमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुणका वेग इसे भिन्न-भिन्न कर्मोंमें लगाया करता है। यह महान् दर्पसे उद्दीप्त रहता है। तीनों गुणोंके अनुसार इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। मानसिक चिन्ता ही इस चक्रकी बन्धनपट्टिका है। यह सदा शोक और मृत्युके वशीभूत रहनेवाला तथा क्रिया और कारणसे युक्त है। आसक्ति ही उसका दीर्घ-विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) है। लोभ और तृष्णा ही इस चक्रको ऊँचे-नीचे स्थानोंमें गिरानेके हेतु हैं। अद्भुत अज्ञान (माया) इसकी उत्पत्तिका कारण है। भय और मोह इसे सब ओरसे घेरे हुए हैं। यह प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिके लिये विचरनेवाला तथा काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है॥

एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम्।
विसृजेत् संक्षिपेच्चापि बोधयेत् सामरं जगत्॥ १०॥

यह राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त जड देहरूपी कालचक्र ही देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि और संहारका कारण है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका भी यही साधन है॥ १०॥

कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति॥ ११॥

जो मनुष्य इस देहमय कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको सदा अच्छी तरह जानता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १२॥

वह सम्पूर्ण वासनाओं, सब प्रकारके द्वन्द्वों और समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त होता है॥ १२॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः॥ १३॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। गृहस्थ आश्रम ही इन सबका मूल है॥ १३॥

यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी॥ १४॥

इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारङ्गत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है। इसीसे सनातन यशकी प्राप्ति होती है॥

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित्॥ १५॥

पहले सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त विधिसे अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् तत्त्ववेत्ताको उचित है कि वह समावर्तन-संस्कार करके उत्तम गुणोंसे युक्त कुलमें विवाह करे॥ १५॥

स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह ॥ १६ ॥

अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना गृहस्थके लिये परम आवश्यक है। इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये ॥ १६ ॥

देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ॥ १७ ॥

गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे। वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे। अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे ॥ १७ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥ १८ ॥

मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे। यही सत्पुरुषोंका बर्ताव (शिष्टाचार) है ॥ १८ ॥

नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥ १९ ॥

सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्ट पुरुषोंके साथ निवास करे ॥ १९ ॥

जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः ।
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥ २० ॥

शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रखे। सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। बाँसकी छड़ी और जलसे भरा हुआ कमण्डलु सदा साथ रखे ॥ २० ॥

(त्रीणि धारयते नित्यं कमण्डलुमतन्द्रितः ।
एकमाचमनार्थाय एकं वै पादधावनम् ।
एकं शौचविधानार्थमित्येतत् त्रितयं तथा ॥)

वह आलस्य छोड़कर सदा तीन कमण्डलु धारण करे। एक आचमनके लिये, दूसरा पैर धोनेके लिये और तीसरा शौचसम्पादनके लिये। इस प्रकार कमण्डलु धारणके ये तीन प्रयोजन हैं ॥

अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं वापि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥ २१ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छः वृत्तियोंका आश्रय लेना चाहिये ॥

त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ २२ ॥

इनमेंसे तीन कर्म—याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन (पढ़ाना) और श्रेष्ठ पुरुषोंसे दान लेना—ये ब्राह्मणकी जीविकाके साधन हैं ॥ २२ ॥

अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ २३ ॥

शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान करना—ये धर्मोपार्जनके लिये हैं ॥ २३ ॥

तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ॥ २४ ॥
सर्वमेतद् यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयञ्शुचिः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥ २५ ॥

धर्मज्ञ ब्राह्मणको इनके पालनमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इन्द्रियसंयमी, मित्रभावसे युक्त, क्षमावान्, सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाला, मननशील, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला और पवित्रतासे रहनेवाला गृहस्थ ब्राह्मण सदा सावधान रहकर अपनी शक्तिके अनुसार यदि उपर्युक्त नियमोंका पालन करता है तो वह स्वर्गलोकको जीत लेता है ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीके धर्मका वर्णन

ब्रह्मोवाच

एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि ।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥ १ ॥
स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस प्रकार इस पूर्वोक्त मार्गके अनुसार गृहस्थको यथावत् आचरण करना चाहि[ये] एवं यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पाल[न] करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर र[हे,] विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखे, मु[नि]व्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें ल[गा] रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे ॥ १-२ ॥

गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान् ॥ ३ ॥

गुरुकी आज्ञा लेकर भोजन करे। भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करे। भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे। एक स्थानपर रहे। एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे ॥ ३ ॥

द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा ॥ ४ ॥

पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे। सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे ॥ ४ ॥

क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा ।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह ॥ ५ ॥

रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। अथवा ब्राह्मणके लिये सारा वस्त्र गेरुए रंगका होना चाहिये ॥ ५ ॥

मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे ॥ ६ ॥

पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम् ।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥ ७ ॥

जो ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होकर श्रद्धाके साथ शुद्ध जलसे नित्य देवताओंका तर्पण करता है, उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ॥ ७ ॥

एवं युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले उत्तम गुणोंसे युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष भी उत्तम लोकोंपर विजय पाता है। वह उत्तम स्थानको पाकर फिर इस संसारमें जन्म धारण नहीं करता ॥ ८ ॥

संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत् ॥ ९ ॥

वानप्रस्थ मुनिको सब प्रकारके संस्कारोंके द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकलकर वनमें निवास करना चाहिये ॥ ९ ॥

चर्मवल्कलसंवासी स्नायं प्रातरुपस्पृशेत् ।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः ॥ १० ॥

वह मृगचर्म अथवा वल्कल-वस्त्र पहने। प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे। सदा वनमें ही रहे। गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे ॥ १० ॥

अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम् ।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन् ॥ ११ ॥

अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन-निर्वाह करे ॥ ११ ॥

प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत् ।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः ॥ १२ ॥

बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे। अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपर्युक्त वस्तुओंका आहार करे ॥ १२ ॥

समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् ।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः ॥

यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे ॥ १३ ॥

देवतातिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः ।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः ॥ १४ ॥

नित्य प्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे, उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रखे, हल्का भोजन करे, देवताओंका सहारा ले ॥ १४ ॥

दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशश्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे ॥ १५ ॥

शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥

शरीरको सदा पवित्र रखे। धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे। सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे। इस प्रकार उत्तम धर्मोंको पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गपर विजय पाता है ॥ १६ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ कोई भी क्यों न हो, जो मोक्ष पाना चाहता हो, उसे उत्तम वृत्तिका आश्रय लेना चाहिये ॥ १७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् ।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ॥ १८ ॥

(वानप्रस्थकी अवधि पूरी करके) सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान देकर कर्म-त्यागरूप संन्यास-धर्मका पालन करे। सब प्राणियोंके सुखमें सुख माने। सबके साथ मित्रता रखे। समस्त इन्द्रियोंका संयम और मुनि-वृत्तिका पालन करे॥ १८॥

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने॥ १९॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।

बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उस भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करे। प्रातः-कालका नित्यकर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा लेनेकी इच्छा करनी चाहिये॥ १९½॥

लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत्।
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः॥ २०॥

भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। (लोभवश) बहुत अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राण-यात्राका निर्वाह हो उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये॥ २०॥

यात्रार्थी कालमाकाङ्क्षंश्चरेद् भैक्ष्यं समाहितः।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः॥ २१॥

संन्यासी जीवन-निर्वाहके ही लिये भिक्षा माँगे। उचित समयतक उसके मिलनेकी बाट देखे। चित्तको एकाग्र किये रहे। साधारण वस्तुओंकी प्राप्तिकी भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान होता हो, वहाँ भोजन न करे॥ २१॥

अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च॥ २२॥

मान-प्रतिष्ठाके लाभसे संन्यासीको घृणा करनी चाहिये। वह खाये हुए तिक्त, कसैले तथा कड़वे अन्नका स्वाद न ले॥

नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम्॥ २३॥

भोजन करते समय मधुर रसका भी आस्वादन न करे। केवल जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे प्राण-धारणमात्रके लिये उपयोगी अन्नका आहार करे॥ २३॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित्।
न चान्यमन्नं लिप्सेत भिक्षमाणः कथंचन॥ २४॥

मोक्षके तत्त्वको जाननेवाला संन्यासी दूसरे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा पहुँचाये बिना ही यदि भिक्षा मिल जाती हो, तभी उसे स्वीकार करे। भिक्षा माँगते समय दाताके द्वारा दिये जानेवाले अन्नके सिवा दूसरा अन्न लेनेकी कदापि इच्छा न करे॥ २४॥

न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा॥ २५॥
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत्॥ २६॥

उसे अपने धर्मका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। रजो-गुणसे रहित होकर निर्जन स्थानमें विचरते रहना चाहिये। रातको सोनेके लिये सूने घर, जंगल, वृक्षकी जड़, नदीके किनारे अथवा पर्वतकी गुफाका आश्रय लेना चाहिये। ग्रीष्मकालमें गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं रहना चाहिये, किंतु वर्षाकालमें किसी एक ही स्थानपर रहना उचित है॥

अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम्।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत्॥ २७॥
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत्।

जबतक सूर्यका प्रकाश रहे तभीतक संन्यासीके लिये रास्ता चलना उचित है। वह कीड़ेकी तरह धीरे-धीरे समूची पृथ्वीपर विचरता रहे और यात्राके समय जीवोंपर दया करके पृथ्वीको अच्छी तरह देख-भालकर आगे पाँव रखे। किसी प्रकारका संग्रह न करे और कहीं भी आसक्तिपूर्वक निवास न करे॥ २७½॥

पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित्॥ २८॥
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा।

मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको उचित है कि सदा पवित्र जलसे काम ले। प्रतिदिन तुरंत निकाले हुए जलसे स्नान करे (बहुत पहलेके भरे हुए जलसे नहीं)॥ २८½॥

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च॥ २९॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः॥ ३०॥

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोष-दृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे। इन्द्रियोंको वशमें रखे॥ २९–३०॥

अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः॥ ३१॥

उसे सदा पाप, शठता और कुटिलतासे रहित होकर बर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने-आप प्राप्त हो जाय, उसको ग्रहण करना चाहिये, किंतु उसके लिये भी मनमें इच्छा नहीं रखनी चाहिये॥ ३१॥

यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम्।
धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्तयेत्॥ ३२॥

प्राणयात्राका निर्वाह करनेके लिये जितना अन्न आवश्यक है, उतना ही ग्रहण करे। धर्मतः प्राप्त हुए अन्नका ही आहार करे। मनमाना भोजन न करे ॥ ३२ ॥

ग्रासादाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात् कथंचन ।
यावदाहारयेत् तावत् प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ॥ ३३ ॥

खानेके लिये अन्न और शरीर ढकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे। भिक्षा भी, जितनी भोजनके लिये आवश्यक हो, उतनी ही ग्रहण करे, उससे अधिक नहीं ॥ ३३ ॥

परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि दूसरोंके लिये भिक्षा न माँगे तथा सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा भी न करे ॥ ३४ ॥

नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः ।
न किंचिद् विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत् तस्य वै पुनः॥३५॥

दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे। बिना प्रार्थनाके किसीकी कोई वस्तु स्वीकार न करे। किसी अच्छी वस्तुका उपभोग करके फिर उसके लिये लालायित न रहे ॥ ३५ ॥

मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च ।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्रवृत्तानि च कार्यवान्॥ ३६ ॥

मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल—ये वस्तुएँ यदि किसीके अधिकारमें न हों तो आवश्यकता पड़नेपर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काममें ला सकता है ॥ ३६ ॥

न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः ॥ ३७ ॥

वह शिल्पकारी करके जीविका न चलावे, सुवर्णकी इच्छा न करे। किसीसे द्वेष न करे और उपदेशक न बने तथा संग्रहरहित रहे ॥ ३७ ॥

श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि च वर्जयेत् ।
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ॥ ३८ ॥

श्रद्धासे प्राप्त हुए पवित्र अन्नका आहार करे। मनमें कोई निमित्त न रखे । सबके साथ अमृतके समान मधुर बर्ताव करे, कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे ॥ ३८ ॥

आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ३९ ॥

जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे करावे ॥ ३९ ॥

सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ४० ॥

सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका उल्लङ्घन करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रखे ॥ ४० ॥

परं नोद्वेजयेत् कांचिन्न च कस्यचिदुद्विजेत् ।
विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते ॥ ४१ ॥

किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो। जो सब प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है, वह सबसे श्रेष्ठ और मोक्ष-धर्मका ज्ञाता कहलाता है ॥

अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः ॥ ४२ ॥

संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे। केवल कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियोंका समाधान करता रहे ॥ ४२ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत् क्वचित् ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत्॥ ४३ ॥

नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुराई न करे ॥

इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित् ॥ ४४ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे ॥ ४४ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, किसीके सामने माथा न टेके। स्वाहाकार (अग्निहोत्र आदि) का परित्याग करे। ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योगक्षेमकी चिन्ता न करे। मनपर विजय प्राप्त करे ॥ ४५ ॥

निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः ।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः॥ ४६ ॥

जो निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४६ ॥

अपादपाणिपृष्ठं तदशिरस्कमनूदरम् ।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ॥ ४७ ॥
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।
अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव यत् ॥ ४८ ॥

निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं कूटस्थमपि सर्वदा ।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ॥ ४९ ॥

जो मनुष्य आत्माको हाथ, पैर, पीठ, मस्तक और उदर आदि अङ्गोंसे रहित, गुण-कर्मोंसे हीन, केवल, निर्मल, स्थिर, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दसे रहित, ज्ञेय, अनासक्त, हाड़-मांसके शरीरसे रहित, निश्चिन्त, अविनाशी, दिव्य और सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित सदा एकरस रहनेवाला जानते हैं, उनकी कभी मृत्यु नहीं होती ॥ ४७–४९ ॥

न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः ।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च ॥ ५० ॥
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता ।
तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत् ॥ ५१ ॥

उस आत्मतत्त्वतक बुद्धि, इन्द्रिय और देवताओंकी भी पहुँच नहीं होती । जहाँ केवल ज्ञानवान् महात्माओंकी ही गति है, वहाँ वेद, यज्ञ, लोक, तप और व्रतका भी प्रवेश नहीं होता; क्योंकि वह बाह्य चिह्नसे रहित मानी गयी है ! इसलिये बाह्य चिह्नोंसे रहित धर्मको जानकर उसका यथार्थ रूपसे पालन करना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

गूढधर्माश्रितो विद्वान् विज्ञानचरितं चरेत् ।
अमूढो मूढरूपेण चरेद् धर्ममदूषयन् ॥ ५२ ॥

गुह्य धर्ममें स्थित विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह विज्ञानके अनुरूप आचरण करे । मूढ़ न होकर भी मूढ़के समान बर्ताव करे, किंतु अपने किसी व्यवहारसे धर्मको कलङ्कित न करे ॥ ५२ ॥

तथैनमवमन्येरन् परे सततमेव हि ।
यथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन् ॥ ५३ ॥
य एवं वृत्तसम्पन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ।

जिस कामके करनेसे समाजके दूसरे लोग अनादर करें; वैसा ही काम शान्त रहकर सदा करता रहे, किंतु सत्पुरुषोंके धर्मकी निन्दा न करे । जो इस प्रकारके बर्तावसे सम्पन्न है, वह श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ५३½ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ॥ ५४ ॥
मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा ।
एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात् ॥ ५५ ॥
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ।

जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष—इन सबका विचार करके इनके तत्त्वका यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों-से मुक्त होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४–५५½ ॥

एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ॥ ५६ ॥
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः ।
निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा ॥ ५७ ॥
क्षीणकोशो निरातङ्कस्तथेदं प्राप्नुयात् परम् ॥ ५८ ॥

जो तत्त्ववेत्ता अन्त समयमें इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके एकान्तमें बैठकर परमात्माका ध्यान करता है, वह आकाशमें विचरनेवाले वायुकी भाँति सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर पञ्चकोशोंसे रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एवं परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६–५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

मुक्तिके साधनोंका, देहरूपी वृक्षका तथा ज्ञान-खड्गसे उसे काटनेका वर्णन

ब्रह्मोवाच

संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! निश्चित बात कहनेवाले और वेदोंके कारणरूप परमात्मामें स्थित वृद्ध ब्राह्मण संन्यास-को तप कहते हैं और ज्ञानको ही परब्रह्मका स्वरूप मानते हैं ॥

अविदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमुत्तमम् ॥ २ ॥
ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम् ।

वह वेदविद्याका आधार ब्रह्म (अज्ञानियोंके लिये) अत्यन्त दूर है । वह निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य गुणोंसे युक्त और सर्वश्रेष्ठ है । धीर पुरुष ज्ञान और तपस्याके द्वारा उस परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ २½ ॥

निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥ ३ ॥
तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् ।
संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ॥ ४ ॥

जिनके मनकी मैल धुल गयी है, जो परम पवित्र हैं, जिन्होंने रजोगुणको त्याग दिया है, जिनका अन्तःकरण निर्मल है, जो नित्य संन्यासपरायण तथा ब्रह्मके ज्ञाता हैं, वे पुरुष तपस्याके द्वारा कल्याणमय पथका आश्रय लेकर परमेश्वरको प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।

ज्ञानं वै परमं विद्यात् संन्यासं तप उत्तमम् ॥ ५ ॥

ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि तपस्या (परमात्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाला) दीपक है, आचार धर्मका साधक है, ज्ञान परब्रह्मका स्वरूप है और संन्यास ही उत्तम तप है ॥

यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ ६ ॥

जो तत्त्वका पूर्ण निश्चय करके ज्ञानस्वरूप, निराधार और सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले आत्माको जान लेता है, वह सर्वव्यापक हो जाता है ॥ ६ ॥

यो विद्वान् सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् प्रतिमुच्यते ॥ ७ ॥

जो विद्वान् संयोगको भी वियोगके रूपमें ही देखता है तथा वैसे ही नानात्वमें एकत्व देखता है, वह दुःखसे सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ८ ॥

जो किसी वस्तुकी कामना तथा किसीकी अवहेलना नहीं करता, वह इस लोकमें रहकर भी ब्रह्मस्वरूप होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९ ॥

जो सब भूतोंमें प्रधान—प्रकृतिको तथा उसके गुण एवं तत्त्वको भलीभाँति जानकर ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उसके मुक्त होनेमें संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमेनैव गच्छति ॥ १० ॥

जो द्वन्द्वोंसे रहित, नमस्कारकी इच्छा न रखनेवाला और स्वधाकार (पितृ-कार्य) न करनेवाला संन्यासी है, वह अतिशय शान्तिके द्वारा ही निर्गुण, द्वन्द्वातीत, नित्यतत्त्वको प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥ ११ ॥

शुभ और अशुभ समस्त त्रिगुणात्मक कर्मोंका तथा सत्य और असत्य—इन दोनोंका भी त्याग करके संन्यासी मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥ १२ ॥
महाभूतविशालश्च विशेषप्रतिशाखिनः ।
सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥ १३ ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥ १४ ॥
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १५ ॥

यह देह एक वृक्षके समान है । अज्ञान इसका मूल (जड़) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ अङ्कुर और खोखले हैं तथा पञ्चभूत इसको विशाल बनानेवाले हैं और इस वृक्षकी शोभा बढ़ाते हैं । इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं । शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही इसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं । इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाह-रूपसे सदा मौजूद रहनेवाला यह देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है । बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वज्ञानरूपी खड्गसे इस वृक्षको छिन्न भिन्न कर जब जन्म-मृत्यु और जरावस्थाके चक्करमें डालनेवाले आसक्तिरूप बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है ॥ १२–१५ ॥

द्वाविमौ पक्षिणौ नित्यौ संक्षेपौ चाप्यचेतनौ ।
एताभ्यां तु परो योऽन्यश्चेतनावान् स उच्यते ॥ १६ ॥

इस वृक्षपर रहनेवाले (मन-बुद्धिरूप) दो पक्षी हैं, जो नित्य क्रियाशील होनेपर भी अचेतन हैं । इन दोनोंसे श्रेष्ठ अन्य (आत्मा) है, वह ज्ञानसम्पन्न कहा जाता है ॥ १६ ॥

अचेतनः सत्त्वसंख्याविमुक्तः
सत्त्वात् परं चेतयतेऽन्तरात्मा ।
स क्षेत्रवित् सर्वसंख्यातबुद्धि-
र्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः ॥ १७ ॥

संख्यासे रहित जो सत्त्व अर्थात् मूलप्रकृति है, वह अचेतन है । उससे भिन्न जो जीवात्मा है, उसे अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञानसम्पन्न करता है । वही क्षेत्रको जाननेवाला जब सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लेता है, तब गुणातीत होकर सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

आत्मा और परमात्माके स्वरूपका विवेचन

ब्रह्मोवाच

केचिद् ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद् ब्रह्मवनं महत् ।
केचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित् परमनामयम् ।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण ! इस अव्यक्त, उत्पत्तिशील, अविनाशी सम्पूर्ण वृक्षको कोई ब्रह्मस्वरूप मानने हैं और कोई महान् ब्रह्मवन मानते हैं । कितने ही इसे अव्यक्त ब्रह्म और कितने ही परम अनामय मानते हैं ॥ १ ॥

उच्छ्वासमात्रमपि चेद् योऽन्तकाले समो भवेत् ।
आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२॥

जो मनुष्य अन्तकालमें आत्माका ध्यान करके, साँस लेनेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी, समभावमें स्थित होता है, वह अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है ॥ २ ॥

निमेषमात्रमपि चेत् संयम्यात्मानमात्मनि ।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम् ॥ ३ ॥

जो एक निमेष भी अपने मनको आत्मामें एकाग्र कर लेता है, वह अन्तःकरणकी प्रसन्नताको पाकर विद्वानोंको प्राप्त होनेवाली अक्षय गतिको पा जाता है ॥ ३ ॥

प्राणायामैरथ प्राणान् संयम्य स पुनः पुनः ।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः ॥ ४ ॥

दस अथवा बारह प्राणायामोंके द्वारा पुनः-पुनः प्राणोंका संयम करनेवाला पुरुष भी चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्व परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद् यदिच्छति ।
अव्यक्तात् सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥
सत्त्वात् परतरं नान्यत् प्रशंसन्तीह तद्विदः ।

इस प्रकार जो पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है, वह जो-जो चाहता है उसी-उसी वस्तुको पा जाता है । अव्यक्तसे उत्कृष्ट जो सत्त्वरूप आत्मा है, वह अमर होनेमें समर्थ है । अतः सत्त्वस्वरूप आत्माके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान् इस जगत्में सत्त्वसे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५½ ॥

अनुमानाद् विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम् ।
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः ॥ ६ ॥

द्विजवरो ! हम अनुमान-प्रमाणके द्वारा इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि अन्तर्यामी परमात्मा सत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित हैं । इस तत्त्वको समझे बिना परम पुरुषको प्राप्त करना सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते ॥७॥

क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संन्यास—ये सात्त्विक बर्ताव बताये गये हैं ॥ ७ ॥

एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः ।
सत्त्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा ॥ ८ ॥

मनीषी पुरुष इसी अनुमानसे उस सत्त्वस्वरूप आत्माका और परमात्माका मनन करते हैं । इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है ॥ ८ ॥

आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

ज्ञानमें भलीभाँति स्थित कितने ही विद्वान् कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और सत्त्वकी एकता युक्तिसङ्गत नहीं है ॥ ९ ॥

पृथग्भूतं ततः सत्त्वमित्येतदविचारितम् ।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः ॥ १० ॥

उनका कहना है कि उस क्षेत्रज्ञसे सत्त्व पृथक् है, क्योंकि यह सत्त्व अविचारसिद्ध है । ये दोनों एक साथ रहनेवाले होनेपर भी तत्त्वतः अलग-अलग हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥ १० ॥

तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः ।
मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

इसी प्रकार दूसरे विद्वानोंका निर्णय दोनोंके एकत्व और नानात्वको स्वीकार करता है; क्योंकि मशक और उदुम्बरकी एकता और पृथक्ता देखी जाती है ॥ ११ ॥

मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु सम्प्रयोगस्तथा तयोः ।
सम्बन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च ॥१२॥

जैसे जलसे मछली भिन्न है तो भी मछली और जल-दोनोंका संयोग देखा जाता है एवं जलकी बूँदोंका कमलके पत्तेसे सम्बन्ध देखा जाता है ॥ १२ ॥

गुरुरुवाच

इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम् ।
पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्मुनिसत्तमाः ॥ १३ ॥

गुरुने कहा—इस प्रकार कहनेपर उन मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणोंने पुनः संशयमें पड़कर उस समय लोकपितामह ब्रह्माजीसे पूछा ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्मका निर्णय जाननेके लिये ऋषियोंका प्रश्न

ऋषय ऊचुः

को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः ।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्में समस्त धर्मोंमें कौन-सा धर्म अनुष्ठान करनेके लिये सर्वोत्तम माना गया है, यह कहिये; क्योंकि हमें धर्मके विभिन्न मार्ग एक दूसरेसे आहत हुए-से प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥

ऊर्ध्वं देहाद् वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे ।
केचित् संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे ॥ २ ॥

कोई तो कहते हैं कि देहका नाश होनेके बाद धर्मका फल मिलेगा। दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कितने ही लोग सब धर्मोंको संशययुक्त बताते हैं और दूसरे संशयरहित कहते हैं ॥ २ ॥

अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे ।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ॥ ३ ॥

कोई कहते हैं कि धर्म अनित्य है और कोई उसे नित्य कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि धर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। कोई कहते हैं कि अवश्य है। कोई कहते हैं कि एक ही धर्म दो प्रकारका है तथा कुछ लोग कहते हैं कि धर्म मिश्रित है ॥ ३ ॥

मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।
एकमेके पृथक् चान्ये बहुत्वमिति चापरे ॥ ४ ॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग यह मानते हैं कि एक ब्रह्म ही है। अन्य कितने ही कहते हैं कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और दूसरे लोग सबकी सत्ता भिन्न और बहुत प्रकारसे मानते हैं ॥ ४ ॥

देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे ।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ॥ ५ ॥

कितने ही लोग देश और कालकी सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि इनकी सत्ता नहीं है। कोई जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले हैं, कोई सिर मुँडाते हैं और कोई दिगम्बर रहते हैं ॥ ५ ॥

अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः ।
मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६ ॥

कितने ही मनुष्य स्नान नहीं करना चाहते और दूसरे लोग जो शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी ब्राह्मणदेवता हैं, वे स्नानको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ६ ॥

आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः ।
कर्म केचित् प्रशंसन्ति प्रशान्तिं चापरे जनाः ॥ ७ ॥

कई लोग भोजन करना अच्छा मानते हैं और कई भोजन न करनेमें अभिरत रहते हैं। कई कर्म करनेकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग परमशान्तिकी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् भोगान् पृथग्विधान् ।
धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे ।
उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे ॥ ८ ॥

कितने ही मोक्षकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही नाना प्रकारके भोगोंकी प्रशंसा करते हैं। कुछ लोग बहुत-सा धन चाहते हैं और दूसरे निर्धनताको पसंद करते हैं। कितने ही मनुष्य अपने उपास्य इष्टदेवकी प्राप्तिकी साधना करते हैं और दूसरे कितने ही ऐसा कहते हैं कि 'यह नहीं है' ॥ ८ ॥

अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः ।
पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे ॥ ९ ॥

अन्य कई लोग अहिंसाधर्मका पालन करनेमें रुचि रखते हैं और कई लोग हिंसाके परायण हैं। दूसरे कई पुण्य और यशसे सम्पन्न हैं। इनसे भिन्न दूसरे कहते हैं कि 'यह सब कुछ नहीं है' ॥ ९ ॥

सद्भावनिरताश्चान्ये केचित् संशयिते स्थिताः ।
दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः ॥ १० ॥

अन्य कितने ही सद्भावमें रुचि रखते हैं। कितने ही लोग संशयमें पड़े रहते हैं। कितने ही साधक कष्ट सहन करते हुए ध्यान करते हैं और दूसरे कई सुखपूर्वक ध्यान करते हैं ॥ १० ॥

यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे ।
तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ॥ ११ ॥

अन्य ब्राह्मण यज्ञको श्रेष्ठ बताते हैं और दूसरे दानकी प्रशंसा करते हैं। अन्य कई तपकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे स्वाध्यायकी प्रशंसा करते हैं ॥ ११ ॥

ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः ।
सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ॥ १२ ॥

कई लोग कहते हैं कि ज्ञान ही संन्यास है। भौतिक विचारवाले मनुष्य स्वभावकी प्रशंसा करते हैं। कितने ही सभीकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे सबकी प्रशंसा नहीं करते ॥ १२ ॥

एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रबोधिते ।
निश्चयं नाधिगच्छामः सम्मूढाः सुरसत्तम ॥ १३ ॥

सुरश्रेष्ठ ब्रह्मन्! इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था अनेक ढंगसे परस्पर विरुद्ध बतलायी जानेके कारण हमलोग धर्मके विषयमें मोहित हो रहे हैं; अतः किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते॥ १३॥

इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥ १४॥

'यही कल्याण-मार्ग है, यही कल्याण-मार्ग है'—इस प्रकारकी बातें सुनकर मनुष्य-समुदाय विचलित हो गया है। जो जिस धर्ममें रत है, वह उसीका सदा आदर करता है॥ १४॥

तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम्।
एतदाख्यातमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥ १५॥

इस कारण हम लोगोंकी बुद्धि विचलित हो गयी है और मन भी बहुत-से संकल्प-विकल्पोंमें पड़कर चञ्चल हो गया है। श्रेष्ठ ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तविक कल्याणका मार्ग क्या है?॥ १५॥

अतः परं तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि सम्बन्धः केन हेतुना ॥ १६॥

इसलिये जो परम गुह्य तत्त्व है, वह आपको हमें बतलाना चाहिये। साथ ही यह भी बतलाइये कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है?॥ १६॥

एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान् ॥ १७॥

लोकोंकी सृष्टि करनेवाले धर्मात्मा बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माजी उन ऋषियोंकी यह बात सुनकर उनसे उनके प्रश्नोंका यथार्थ रूपसे उत्तर देने लगे॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सत्त्व और पुरुषकी भिन्नता, बुद्धिमान्की प्रशंसा, पञ्चभूतोंके गुणोंका विस्तार और परमात्माकी श्रेष्ठताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ॥ १ ॥

ब्रह्माजी बोले—श्रेष्ठ महर्षियो! तुम लोगोंने जो विषय पूछा है, उसे अब मैं कहूँगा। गुरुने सुयोग्य शिष्यको पाकर जो उपदेश दिया है, उसे तुमलोग सुनो॥ १॥

समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम्।
अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ॥ २ ॥
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्।

उस विषयको यहाँ पूर्णतया सुनकर अच्छी प्रकार धारण करो। सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है॥ २½॥

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥ ३ ॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः।

निश्चयको साक्षात् करनेवाले वृद्ध लोग कहते हैं कि 'ज्ञान ही परम कल्याणका साधन है।' इसलिये परम शुद्ध ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है॥ ३½॥

हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ॥ ४ ॥

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिकवृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है॥ ४॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जो लोग सावधान होकर सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे बार-बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके सुखी होते हैं॥ ५॥

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ ६ ॥

जो विद्वान् समत्वयोगमें स्थित हो श्रद्धाके साथ कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और उनके फलमें आसक्त नहीं होते वे धीर और उत्तम दृष्टिवाले माने गये हैं॥ ६॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं यह बता रहा हूँ कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञका परस्पर संयोग और वियोग कैसे होता है? इस विषयको ध्यान देकर सुनो॥ ७॥

विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥ ८ ॥

इन दोनोंमें यहाँ यह विषय-विषयिभाव सम्बन्ध माना गया है। इनमें पुरुष तो सदा विषयी और सत्त्व विषय माना जाता है॥ ८॥

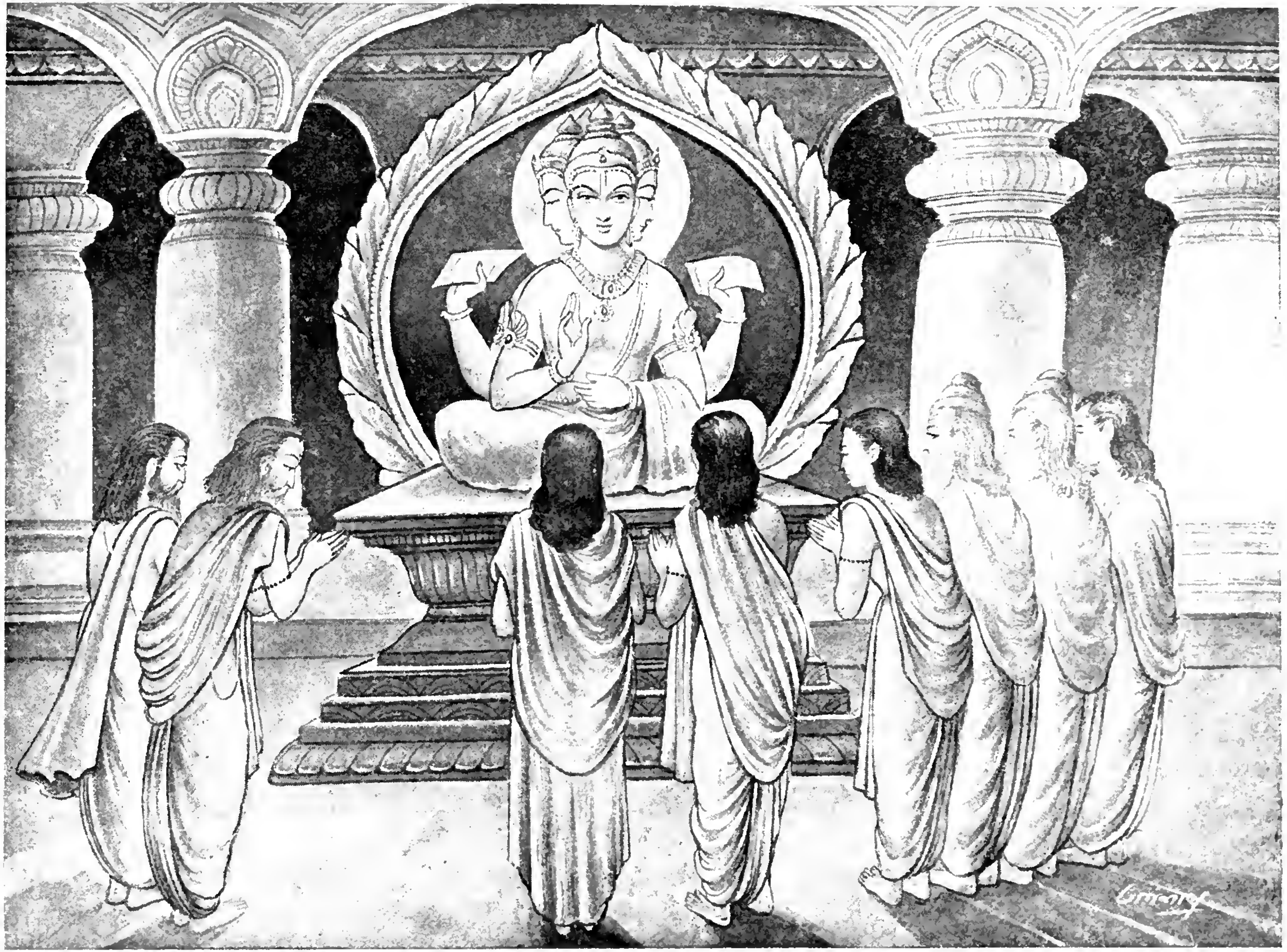

ब्रह्माजीका ऋषियोंको उपदेश

व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम्।
यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते ॥ ९ ॥

पूर्व अध्यायमें मच्छर और गूलरके उदाहरणसे यह बात बतायी जा चुकी है कि भोगा जानेवाला अचेतन सत्त्व नित्य-स्वरूप क्षेत्रज्ञको नहीं जानता, किंतु जो क्षेत्रज्ञ है वह इस प्रकार जानता है कि जो भोगता है वह आत्मा है और जो भोगा जाता है, वह सत्त्व है ॥ ९ ॥

नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥१०॥

मनीषी पुरुष सत्त्वको द्वन्द्वयुक्त कहते हैं और क्षेत्रज्ञ निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणस्वरूप है ॥ १० ॥

समं संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः।
उपभुङ्क्ते सदा सत्त्वमपः पुष्करपर्णवत् ॥११॥

वह क्षेत्रज्ञ समभावसे सर्वत्र भलीभाँति स्थित हुआ ज्ञानका अनुसरण करता है। जैसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहकर जलको धारण करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सदा सत्त्वका उपभोग करता है ॥ ११ ॥

सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥१२॥
एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः।

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी चञ्चल बूँद उसे भिगो नहीं पाती, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष समस्त गुणोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी किसीसे लिप्त नहीं होता। अतः क्षेत्रज्ञ पुरुष वास्तविकमें असङ्ग है, इसमें संदेह नहीं है ॥

द्रव्यमात्रमभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः ॥१३॥
यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा।

यह निश्चित बात है कि पुरुषके भोगनेयोग्य द्रव्यमात्रकी संज्ञा सत्त्व है तथा जैसे द्रव्य और कर्ताका सम्बन्ध है, वैसे ही इन दोनोंका सम्बन्ध है ॥ १३½ ॥

यथा प्रदीपमादाय कश्चित् तमसि गच्छति।
तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ॥१४॥

जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर अन्धकारमें चलता है, वैसे ही परम तत्त्वको चाहनेवाले साधक सत्त्वरूप दीपकके प्रकाशमें साधनमार्गपर चलते हैं ॥ १४ ॥

यावद् द्रव्यं गुणस्तावत् प्रदीपः सम्प्रकाशते।
क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति ॥१५॥

जबतक दीपकमें द्रव्य और गुण रहते हैं, तभीतक वह प्रकाश फैलाता है। द्रव्य और गुणका क्षय हो जानेपर ज्योति भी अन्तर्धान हो जाती है ॥ १५ ॥

व्यक्तः सत्त्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते।
एतद् विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥

इस प्रकार सत्त्वगुण तो व्यक्त है और पुरुष अव्यक्त माना गया है। ब्रह्मर्षियो! इस तत्त्वको समझो। अब मैं तुमलोगोंसे आगेकी बात बताता हूँ ॥ १६ ॥

सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते ॥ १७ ॥

जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे हजार उपाय करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और जो बुद्धिमान् है वह चौथाई प्रयत्नसे भी ज्ञान पाकर सुखका अनुभव करता है ॥ १७ ॥

एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः।
उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

ऐसा विचारकर किसी उपायसे धर्मके साधनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि उपायको जाननेवाला मेधावी पुरुष अत्यन्त सुखका भागी होता है ॥ १८ ॥

यथाध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित्।
क्लेशेन याति महता विनश्येदन्तरापि च ॥ १९ ॥

जैसे कोई मनुष्य यदि राह-खर्चका प्रबन्ध किये बिना ही यात्रा करता है तो उसे मार्गमें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है अथवा वह बीचहीमें मर भी सकता है ॥ १९ ॥

तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ॥ २० ॥

ऐसे ही (पूर्वजन्मोंके पुण्योंसे हीन पुरुष) योगमार्गके साधनमें लगनेपर योगसिद्धिरूप फल कठिनतासे पाता है अथवा नहीं भी पाता। पुरुषका अपना कल्याणसाधन ही उसके पूर्वजन्मके शुभाशुभ संस्कारोंको बतानेवाला है ॥

यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥ २१ ॥

जैसे पहले न देखे हुए दूरके रास्तेपर जब मनुष्य सहसा पैदल ही चल पड़ता है (तो वह अपने गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच पाता) यही दशा तत्त्वज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषकी होती है ॥ २१ ॥

तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम्।

किंतु उसी मार्गपर घोड़े जुते हुए शीघ्रगामी रथके द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष जिस प्रकार शीघ्र ही अपने लक्ष्य स्थानपर पहुँच जाता है तथा वह ऊँचे पर्वतपर चढ़कर नीचे पृथ्वीकी ओर नहीं देखता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंकी गति होती है ॥ २२½ ॥

रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम् ॥ २३ ॥

यावद् रथपथस्तावद् रथेन स तु गच्छति ।
क्षीणे रथपदे विद्वान् रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ २४ ॥

देखो, रथके द्वारा जानेवाला भी मूर्ख मनुष्य ऊँचे पर्वतके पास पहुँचकर कष्ट पाता रहता है, किंतु बुद्धिमान् मनुष्य जहाँतक रथ जानेका मार्ग है वहाँतक रथसे जाता है और जब रथका रास्ता समाप्त हो जाता है तब वह उसे छोड़कर पैदल यात्रा करता है ॥ २३-२४ ॥

एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥

इसी प्रकार तत्त्व और योगविधिको जाननेवाला बुद्धिमान् एवं गुणज्ञ पुरुष अच्छी तरह समझ-बूझकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है ॥ २५ ॥

यथार्णवं महाघोरमप्लवः सम्प्रगाहते ।
बाहुभ्यामेव सम्मोहाद् वधं वाञ्छत्यसंशयम् ॥२६॥

जैसे कोई पुरुष मोहवश बिना नावके ही भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता है और दोनों भुजाओंसे ही तैरकर उसके पार होनेका भरोसा रखता है तो निश्चय ही वह अपनी मौत बुलाना चाहता है (उसी प्रकार ज्ञान-नौकाका सहारा लिये बिना मनुष्य भवसागरसे पार नहीं हो सकता) ॥ २६ ॥

नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञः स्वरित्रया ।
अश्रान्तः सलिले गच्छेच्छीघ्रं संतरते ह्रदम् ॥ २७ ॥
तीर्णो गच्छेत् परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः ॥ २८ ॥

जिस तरह जलमार्गके विभागको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर डाँडवाली नावके द्वारा अनायास ही जलपर यात्रा करके शीघ्र समुद्रसे तर जाता है एवं पार पहुँच जानेपर नावकी ममता छोड़कर चल देता है; (उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हो जानेपर बुद्धिमान् पुरुष पहलेके साधनसामग्रीकी ममता छोड़ देता है ।) यह बात रथपर चलनेवाले और पैदल चलनेवालेके दृष्टान्तसे पहले भी कही जा चुकी है ॥ २७ २८ ॥

स्नेहात् सम्मोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः संस्तत्रैव परिवर्तते ॥ २९ ॥

परंतु स्नेहवश मोहको प्राप्त हुआ मनुष्य ममतासे आबद्ध होकर नावपर सदा बैठे रहनेवाले मल्लाहकी भाँति वहीं चक्कर काटता रहता है ॥ २९ ॥

नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥ ३० ॥
एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथैतानुपपद्यते ॥ ३१ ॥

नौकापर चढ़कर जिस प्रकार स्थलपर विचरण करना सम्भव नहीं है तथा रथपर चढ़कर जलमें विचरण करना सम्भव नहीं बताया गया है, इसी प्रकार किये हुए विचित्र कर्म अलग-अलग स्थानपर पहुँचानेवाले हैं । संसारमें जिनके द्वारा जैसा कर्म किया गया है, उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है ॥

यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत् प्रधानं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥

जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दसे युक्त नहीं है तथा मुनिलोग बुद्धिके द्वारा जिसका मनन करते हैं, वह 'प्रधान' कहलाता है ॥ २२ ॥

तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ॥ ३३ ॥

प्रधानका दूसरा नाम अव्यक्त है । अव्यक्तका कार्य महत्तत्त्व है और प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है ॥

अहंकारात् तु सम्भूतो महाभूतकृतो गुणः ।
पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥३४॥

अहंकारसे पञ्च महाभूतोंको प्रकट करनेवाले गुणकी उत्पत्ति हुई है । पञ्च महाभूतोंके कार्य हैं रूप, रस आदि विषय । वे पृथक्-पृथक् गुणोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥३४॥

बीजधर्मं तथाव्यक्तं प्रसवात्मकमेव च ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम्॥ ३५ ॥

अव्यक्त प्रकृति कारणरूपा भी है और कार्यरूपा भी। इसी प्रकार महत्तत्त्वके भी कारण और कार्य दोनों ही स्वरूप सुने गये हैं ॥ ३५ ॥

बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥ ३६ ॥

अहंकार भी कारणरूप तो है ही, कार्यरूपमें भी बारम्बार परिणत होता रहता है । पञ्च महाभूतों (पञ्चतन्मात्राओं) में भी कारणत्व और कार्यत्व दोनों धर्म हैं । वे शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि वे बीजधर्मी हैं ॥ ३६ ॥

बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च प्रकुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ॥ ३७ ॥

उन पाँचों भूतोंके विशेष कार्य शब्द आदि विषय हैं । उन विषयोंका प्रवर्तक चित्त है ॥ ३७ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥ ३८ ॥

पञ्चमहाभूतोंमेंसे आकाशमें एक ही गुण माना गया है वायुके दो गुण बतलाये जाते हैं । तेज तीन गुणोंसे युक्त कहा गया है । जलके चार गुण हैं ॥ ३८ ॥

पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला ।

सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ॥ ३९ ॥

पृथ्वीके पाँच गुण समझने चाहिये । वह देवी स्थावर-जंगम प्राणियोंसे भरी हुई, समस्त जीवोंको जन्म देनेवाली तथा शुभ और अशुभका निर्देश करनेवाली है ॥ ३९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥

विप्रवरो ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध-ये ही पृथ्वीके पाँच गुण जानने चाहिये ॥ ४० ॥

पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥४१॥

इनमें भी गन्ध उसका खास गुण है । गन्ध अनेकों प्रकारकी मानी गयी है । मैं उस गन्धके गुणोंका विस्तारके साथ वर्णन करूँगा ॥ ४१ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ ४२ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।

इष्ट (सुगन्ध), अनिष्ट (दुर्गन्ध), मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी (दूरतक फैलनेवाली), मिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये पार्थिव गन्धके दस भेद समझने चाहिये ॥ ४२½ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चापां गुणाः स्मृताः॥४३॥
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये जलके चार गुण माने गये हैं (इनमें रस ही जलका मुख्य गुण है) । अब मैं रस-विज्ञानका वर्णन करता हूँ । रसके बहुत-से भेद बताये गये हैं ॥ ४३½ ॥

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ॥ ४४ ॥
एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।

मीठा, खट्टा, कडुआ, तीता, कसैला और नमकीन-इस प्रकार छः भेदोंमें जलमय रसका विस्तार बताया गया है ॥ ४४½ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ४५ ॥
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम् ।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये तेजके तीन गुण कहे गये हैं । इनमें रूप ही तेजका मुख्य गुण है । रूपके भी कई भेद माने गये हैं ॥ ४५½ ॥

शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ॥ ४६ ॥
ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं तु वृत्तवत् ।
एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ॥ ४७ ॥
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ।

शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, छोटा, बड़ा, मोटा, दुबला, चौकोना और गोल—इस प्रकार तैजस रूपका बारह प्रकारसे विस्तार सत्यवादी धर्मज्ञ वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा जानने योग्य कहा जाता है ॥ ४६-४७½ ॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ॥४८॥
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ।

शब्द और स्पर्श—ये वायुके दो गुण जानने योग्य कहे जाते हैं । इनमें भी स्पर्श ही वायुका प्रधान गुण है ! स्पर्श भी कई प्रकारका माना गया है ॥ ४८½ ॥

रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ॥ ४९ ॥
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः ।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ५० ॥
विधिवद् ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५१ ॥

रूखा, ठंडा, गरम, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण (हल्का), पिच्छिल, कठोर और कोमल—इन बारह प्रकारोंसे वायुके गुण स्पर्शका विस्तार तत्त्वदर्शी धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणोंद्वारा विधिवत् बतलाया गया है ॥ ४९-५१ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ।

आकाशका शब्दमात्र एक ही गुण माना गया है । उस शब्दके बहुत-से गुण हैं । उनका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ ॥ ५१½ ॥

तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥५२॥
षडजर्षभः स गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ॥ ५३ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः ।

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद, धैवत, इष्ट (प्रिय), अनिष्ट (अप्रिय) और संहत (श्लिष्ट)-इस प्रकार विभागवाले आकाशजनित शब्दके दस भेद हैं ॥ ५२-५३½ ॥

आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः ॥ ५४ ॥
अहंकारात् परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः ।
तस्मात् तु परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥ ५५ ॥

आकाश सब भूतोंमें श्रेष्ठ है । उससे श्रेष्ठ अहंकार, अहंकारसे श्रेष्ठ बुद्धि, उस बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा, उससे श्रेष्ठ अव्यक्त प्रकृति और प्रकृतिसे श्रेष्ठ पुरुष है ॥ ५४-५५ ॥

परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानमव्ययम् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताका ज्ञाता, समस्त कर्मोंकी विधिका जानकार और सब प्राणियोंको आत्मभावसे देखनेवाला है, वह अविनाशी परमात्माको प्रा[illegible] होता है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्यसंवादविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तपस्याका प्रभाव, आत्माका स्वरूप और उसके ज्ञानकी महिमा तथा अनुगीताका उपसंहार

ब्रह्मोवाच

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! जिस प्रकार इन पाँचों महाभूतोंकी उत्पत्ति और नियमन करनेमें मन समर्थ है, उसी प्रकार स्थितिकालमें भी मन ही भूतोंका आत्मा है ॥ १ ॥

अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा ।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते ॥ २ ॥

उन पञ्चमहाभूतोंका नित्य आधार भी मन ही है । बुद्धि जिसके ऐश्वर्यको प्रकाशित करती है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा ॥ ३ ॥

जैसे सारथि अच्छे घोड़ोंको अपने काबूमें रखता है, उसी प्रकार मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर शासन करता है । इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सदा क्षेत्रज्ञके साथ संयुक्त रहते हैं ॥ ३ ॥

महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम् ।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात् परिधावति ॥ ४ ॥

जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं, जिसका बुद्धिरूपी सारथिके द्वारा नियन्त्रण हो रहा है, उस देहरूपी रथपर सवार होकर वह भूतात्मा (क्षेत्रज्ञ) चारों ओर दौड़ लगाता रहता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च ।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः ॥ ५ ॥

ब्रह्ममय रथ सदा रहनेवाला और महान् है, इन्द्रियाँ उसके घोड़े, मन सारथि, और बुद्धि चाबुक है ॥ ५ ॥

एवं यो वेत्ति विद्वान् वै सदा ब्रह्ममयं रथम् ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो विद्वान् इस ब्रह्ममय रथकी सदा जानकारी रखता है, वह समस्त प्राणियोंमें धीर है और कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

अव्यक्तादि विशेषान्तं सत्रसस्थावरजङ्गमम् ।
सूर्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥ ७ ॥
नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम् ।
विविधाभिस्तथा चाद्भिः सततं समलंकृतम् ॥ ८ ॥
आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः ।
एतद् ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित् ॥ ९ ॥

यह जगत् एक ब्रह्मवन है । अव्यक्त प्रकृति इस[illegible] आदि है । पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन—इ[illegible] सोलह विशेषोंतक इसका विस्तार है । यह चराचर प्राणियों[illegible] भरा हुआ है । सूर्य और चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे प्रकाशि[illegible] है । ग्रह और नक्षत्रोंसे सुशोभित है । नदियों और पर्वतों[illegible] समूहसे सब ओर विभूषित है । नाना प्रकारके जलसे सदा [illegible] अलङ्कृत है । यही सम्पूर्ण भूतोंका जीवन और सम्पूर्ण प्राणिय[illegible] की गति है । इस ब्रह्मवनमें क्षेत्रज्ञ विचरण करता है॥ ७-९ [illegible]

लोकेऽस्मिन् यानि सत्त्वानि त्रसानि स्थावराणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद् भूतकृता गुणाः ।
गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ॥ १० ॥

इस लोकमें जो स्थावर जङ्गम प्राणी हैं, वे ही पह[illegible] प्रकृतिमें विलीन होते हैं, उसके बाद पाँच भूतोंके कार्य ली[illegible] होते हैं और कार्यरूप गुणोंके बाद पाँच भूत लीन होते हैं इस प्रकार यह भूतसमुदाय प्रकृतिमें लीन होता है ॥ १० ॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः ।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ॥ ११ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर, राक्षस स[illegible] स्वभावसे रचे गये हैं; किसी क्रियासे या कारणसे इनकी रच[illegible] नहीं हुई है ॥ ११ ॥

एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः ।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु ।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा ॥ १२ ॥

विश्वकी सृष्टि करनेवाले ये मरीचि आदि ब्राह्मण समु[illegible] लहरोंके समान बारंबार पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते [illegible] और उत्पन्न हुए वे फिर समयानुसार उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ १२ ॥

विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः ।

भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम् ॥१३॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले प्राणियोंसे पञ्च महाभूत सब प्रकार पर है। जो इन पञ्च महाभूतोंसे छूट जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

शक्तिसम्पन्न प्रजापतिने अपने मनके ही द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है तथा ऋषि भी तपस्यासे ही देवत्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १४ ॥

तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ॥ १५ ॥

फल-मूलका भोजन करनेवाले सिद्ध महात्मा यहाँ तपस्याके प्रभावसे ही चित्तको एकाग्र करके तीनों लोकोंकी बातोंको क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥ १५ ॥

औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ १६ ॥

आरोग्यकी साधनभूत ओषधियाँ और नाना प्रकारकी विद्याएँ तपसे ही सिद्ध होती हैं। सारे साधनोंकी जड़ तपस्या ही है १६ ॥

यद् दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १७ ॥

जिसको पाना, जिसका अभ्यास करना, जिसे दबाना और जिसकी संगति लगाना नितान्त कठिन है, वह तपस्याके द्वारा साध्य हो जाता है; क्योंकि तपका प्रभाव दुर्लङ्घ्य है।

सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात् ततः ॥ १८ ॥

शराबी, ब्रह्महत्यारा, चोर, गर्भ नष्ट करनेवाला और गुरुपत्नीकी शय्यापर सोनेवाला महापापी भी भलीभाँति तपस्या करके ही उस महान् पापसे छुटकारा पा सकता है ॥

मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ॥ १९ ॥
तपःपरायणा नित्यं सिद्ध्यन्ते तपसा सदा।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः ॥ २० ॥

मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य जितने चराचर प्राणी हैं, वे सब नित्य तपस्यामें संलग्न होकर ही सदा सिद्धि प्राप्त करते हैं। तपस्याके बलसे ही महामायावी देवता स्वर्गमें निवास करते हैं ॥ १९-२० ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः।
अहंकारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ॥ २१ ॥

जो लोग आलस्य त्यागकर अहंकारसे युक्त हो सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे प्रजापतिके लोकमें जाते हैं ॥

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

जो अहंता-ममतासे रहित हैं, वे महात्मा विशुद्ध ध्यानयोगके द्वारा महान् उत्तम लोकको प्राप्त करते हैं ॥ २२ ॥

ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ॥ २३ ॥

जो ध्यानयोगका आश्रय लेकर सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, वे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुष सुखकी राशिभूत अव्यक्त परमात्मामें प्रवेश करते हैं ॥ २३ ॥

ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

किंतु जो ध्यानयोगसे पीछे लौटकर अर्थात् ध्यानमें असफल होकर ममता और अहंकारसे रहित जीवन व्यतीत करता है, वह निष्काम पुरुष भी महापुरुषोंके उत्तम अव्यक्त लोकमें लीन होता है ॥ २४ ॥

अव्यक्तादेव सम्भूतः समसंज्ञां गतः पुनः।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ २५ ॥

फिर स्वयं भी उसकी समताको प्राप्त होकर अव्यक्तसे ही प्रकट होता है और केवल सत्त्वका आश्रय लेकर तमोगुण एवं रजोगुणके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ २५ ॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम्।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्याद् यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६ ॥

जो सब पापोंसे मुक्त रहकर सबकी सृष्टि करता है, उस अखण्ड आत्माको क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये। जो मनुष्य उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वेदवेत्ता है ॥ २६ ॥

चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः।
यच्चित्तं तन्मयो वश्यं गुह्यमेतत् सनातनम् ॥ २७ ॥

मुनिको उचित है कि चिन्तनके द्वारा चेतना (सम्यग्ज्ञान) पाकर मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाय; क्योंकि जिसका चित्त जिसमें लगा होता है, वह निश्चय ही उसका स्वरूप हो जाता है—यह सनातन गोपनीय रहस्य है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादिविशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम्।
निबोधत तथा हीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ॥ २८ ॥

अव्यक्तसे लेकर सोलह विशेषोंतक सभी अविद्याके लक्षण बताये गये हैं। ऐसा समझना चाहिये कि यह गुणोंका ही विस्तार है ॥ २८ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ २९ ॥

दो अक्षरका पद 'मम' (यह मेरा है—ऐसा भाव)

मृत्युरूप है और तीन अक्षरका पद 'न मम' (यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव) सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २९ ॥

कर्म केचित् प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः।
ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ॥ ३० ॥

कुछ मन्द-बुद्धियुक्त पुरुष (स्वर्गादि फल प्रदान करनेवाले) काम्य कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, किंतु वृद्ध महात्माजन उन कर्मोंको उत्तम नहीं बतलाते ॥ ३० ॥

कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः।
पुरुषं ग्रसतेऽविद्या तद् ग्राह्यममृताशिनाम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि सकाम कर्मके अनुष्ठानसे जीवको सोलह विकारोंसे निर्मित स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेना पड़ता है और वह सदा अविद्याका ग्रास बना रहता है। इतना ही नहीं, कर्मठ पुरुष देवताओंके भी उपभोगका विषय होता है ॥३१॥

तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥ ३२ ॥

इसलिये जो कोई पारदर्शी विद्वान् होते हैं, वे कर्मोंमें आसक्त नहीं होते; क्योंकि यह पुरुष (आत्मा) ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं ॥ ३२ ॥

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम्।
वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत् ॥ ३३ ॥

जो इस प्रकार चेतन आत्माको अमृतस्वरूप, नित्य, इन्द्रियातीत, सनातन, अक्षर, जितात्मा एवं असङ्ग समझता है, वह कभी मृत्युके बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ ३३ ॥

अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम्।
य एवं विन्देदात्मानमग्राह्यममृताशनम्।
अग्राह्योऽमृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः ॥ ३४ ॥

जिसकी दृष्टिमें आत्मा अपूर्व (अनादि), अकृत (अजन्मा), नित्य, अचल, अग्राह्य और अमृताशी है, वह इन गुणोंका चिन्तन करनेसे स्वयं भी अग्राह्य (इन्द्रियातीत), निश्चल एवं अमृतस्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

आयोज्य सर्वसंस्कारान् संयम्यात्मानमात्मनि।
स तद् ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद् भूयो न विद्यते ॥ ३५ ॥

जो चित्तको शुद्ध करनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंका सम्पादन करके मनको आत्माके ध्यानमें लगा देता है, वही उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त करता है, जिससे बड़ा कोई नहीं है ॥ ३५ ॥

प्रसादे चैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात्।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण अन्तःकरणके स्वच्छ हो जानेपर साधकको शुद्ध प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्न शान्त हो जाता है उसी प्रकार चित्तशुद्धिक लक्षण है ॥ ३६ ॥

गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः ॥ ३७ ॥

ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त महात्माओंकी यही परम गति है क्योंकि वे उन समस्त प्रवृत्तियोंको शुभाशुभ फल देनेवाल समझते हैं ॥ ३७ ॥

एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम् ॥ ३८ ॥

यही विरक्त पुरुषोंकी गति है, यही सनातन धर्म है यही ज्ञानियोंका प्राप्तव्य स्थान है और यही अनिन्दि सदाचार है ॥ ३८ ॥

समेन सर्वभूतेषु निःस्पृहेण निराशिषा।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना ॥ ३९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें समानभाव रखता है, लोभ औ कामनासे रहित है तथा जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि रहती है वह ज्ञानी पुरुष ही इस परम गतिको प्राप्त क सकता है ॥ ३९ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ४० ॥

ब्रह्मर्षियो ! यह सब विषय मैंने विस्तारके साथ तु लोगोंको बता दिया। इसीके अनुसार आचरण करो, इस तुम्हें शीघ्र ही परम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४० ॥

गुरुरुवाच

इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकमवाप्नुवन् ॥ ४१ ॥

गुरुने कहा—बेटा ! ब्रह्माजीके इस प्रकार उपदे देनेपर उन महात्मा मुनियोंने इसीके अनुसार आचर किया। इससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ४१ ॥

त्वमप्येतन्महाभाग मयोक्तं ब्रह्मणो वचः।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

महाभाग ! तुम्हारा चित्त शुद्ध है, इसलिये तुम भ मेरे बताये हुए ब्रह्माजीके उत्तम उपदेशका भलीभाँति पाल करो। इससे तुम्हें भी सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४२ ॥

वासुदेव उवाच

इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम्।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ॥ ४३

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! गुरुदेवके ऐसा कहने उस शिष्यने समस्त उत्तम धर्मोंका पालन किया। इ वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो गया ॥ ४३ ॥

कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह।
तत् पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति॥ ४४॥

कुरुकुलनन्दन! उस समय कृतार्थ होकर उस शिष्यने वह ब्रह्मपद प्राप्त किया, जहाँ जाकर शोक नहीं करना पड़ता॥ ४४॥

अर्जुन उवाच

को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो॥ ४५॥

अर्जुनने पूछा—जनार्दन श्रीकृष्ण! वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु कौन थे और शिष्य कौन थे? प्रभो! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये॥ ४५॥

वासुदेव उवाच

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय॥ ४६॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! मैं ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनंजय! तुम्हारे स्नेहवश मैंने इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है॥ ४६॥

मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत॥ ४७॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुकुलनन्दन! यदि मुझपर तुम्हारा प्रेम हो तो इस अध्यात्मज्ञानको सुनकर तुम नित्य इसका यथावत् पालन करो॥ ४७॥

ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण।
सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम्॥ ४८॥

शत्रुदमन! इस धर्मका पूर्णतया आचरण करनेपर तुम समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध मोक्षको प्राप्त कर लोगे॥ ४८॥

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु॥ ४९॥

महाबाहो! पहले भी मैंने युद्धकाल उपस्थित होनेपर यही उपदेश तुमको सुनाया था। इसलिये तुम इसमें मन लगाओ॥ ४९॥

मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन॥ ५०॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं पिताजीका दर्शन करना चाहता हूँ। उन्हें देखे बहुत दिन हो गये। यदि तुम्हारी राय हो तो मैं उनके दर्शनके लिये द्वारका जाऊँ॥ ५०॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनंजयः।
गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै॥ ५१॥
समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
समनुज्ञाप्य राजानं स्वां पुरीं यातुमर्हसि॥ ५२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर अर्जुनने कहा—'श्रीकृष्ण! अब हमलोग यहाँसे हस्तिनापुरको चलें। वहाँ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे मिलकर और उनकी आज्ञा लेकर आप अपनी पुरीको पधारें'॥ ५१-५२॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५१॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ हस्तिनापुर जाना और वहाँ सबसे मिलकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले सुभद्राके साथ द्वारकाको प्रस्थान करना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभ्यनोदयत् कृष्णो युज्यतामिति दारुकम्।
मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने दारुकको आज्ञा दी कि 'रथ जोतकर तैयार करो।' दारुकने दो ही घड़ीमें लौटकर सूचना दी कि 'रथ जुत गया'॥ १॥

तथैव चानुयात्रादि चोदयामास पाण्डवः।
सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम्॥ २॥

इसी प्रकार अर्जुनने भी अपने सेवकोंको आदेश दिया कि 'सब लोग रथको सुसज्जित करो। अब हमें हस्तिनापुरकी यात्रा करनी है'॥ २॥

इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशाम्पते।
आचख्युः सज्जमित्येवं पार्थायामिततेजसे॥ ३॥

प्रजानाथ! आज्ञा पाते ही सम्पूर्ण सैनिक तैयार हो गये और महान् तेजस्वी अर्जुनके पास जाकर बोले—'रथ सुसज्जित है और यात्राकी सारी तैयारी हो गयी'॥ ३॥

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते॥ ४॥

राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन

रथपर बैठकर आपसमें तरह-तरहकी विचित्र बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये ॥ ४ ॥

रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनंजयः।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यमिदं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

भरतभूषण ! रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार महातेजस्वी अर्जुन बोले—॥ ५ ॥

त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा वृष्णिकुलोद्वह।
निहताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ६ ॥

'वृष्णिकुलधुरन्धर श्रीकृष्ण ! आपकी कृपासे ही राजा युधिष्ठिरको विजय प्राप्त हुई है। उनके शत्रुओंका दमन हो गया और उन्हें निष्कण्टक राज्य मिला ॥ ६ ॥

नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन।
भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः स्म कुरुसागरम् ॥ ७ ॥

'मधुसूदन ! हम सभी पाण्डव आपसे सनाथ हैं, आपको ही नौकारूप पाकर हमलोग कौरवसेनारूपी समुद्रसे पार हुए हैं ॥ ७ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसत्तम।
तथा त्वामभिजानामि यथा चाहं भवन्मतः ॥ ८ ॥

विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है। विश्वात्मन् ! आप सम्पूर्ण विश्वमें सबसे श्रेष्ठ हैं। मैं आपको उसी तरह जानता हूँ, जिस तरह आप मुझे समझते हैं ॥ ८ ॥

त्वत्तेजःसम्भवो नित्यं भूतात्मा मधुसूदन।
रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया ते रोदसी विभो ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! आपके ही तेजसे सदा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आप ही सब प्राणियोंके आत्मा हैं। प्रभो ! नाना प्रकारकी लीलाएँ आपकी रति (मनोरञ्जन) हैं। आकाश और पृथिवी आपकी माया है ॥ ९ ॥

त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणु जङ्गमम्।
त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १० ॥

'यह जो स्थावर-जङ्गमरूप जगत् है, सब आपहीमें प्रतिष्ठित है। आप ही चार प्रकारके समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं ॥ १० ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव मधुसूदन।
हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियाणि ते॥ ११ ॥

'मधुसूदन ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाशकी सृष्टि भी आपने ही की है। निर्मल चाँदनी आपका हास्य है और ऋतुएँ आपकी इन्द्रियाँ हैं ॥ ११ ॥

प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः।
प्रसादे चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ॥ १२ ॥

'सदा चलनेवाली वायु प्राण है, क्रोध सनातन मृत्यु है। महामते ! आपके प्रसादमें लक्ष्मी विराजमान हैं। आपके वक्षःस्थलमें सदा ही श्रीजीका निवास है ॥ १२ ॥

रतिस्तुष्टिर्धृतिः क्षान्तिर्मतिः कान्तिश्चराचरम्।
त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्यसेऽनघ ॥ १३ ॥

'अनघ ! आपमें ही रति, तुष्टि, धृति, क्षान्ति, मति, कान्ति और चराचर जगत् है। आप ही युगान्तकालमें प्रलय कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया।
आत्मा च परमात्मा च नमस्ते नलिनेक्षण ॥ १४ ॥

'दीर्घकालतक गणना करनेपर भी आपके गुणोंका पार पाना असम्भव है। आप ही आत्मा और परमात्मा हैं। कमलनयन ! आपको नमस्कार है ॥ १४ ॥

विदितो मे सुदुर्धर्ष नारदाद् देवलात् तथा।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपितामहात् ॥ १५ ॥

'दुर्धर्ष परमेश्वर ! मैंने देवर्षि नारद, देवल, श्रीकृष्ण-द्वैपायन तथा पितामह भीष्मके मुखसे आपके माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः।
यच्चानुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ॥ १६ ॥
एतत् सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये जनार्दन।

'सारा जगत् आपमें ही ओत-प्रोत है। एकमात्र आप ही मनुष्योंके अधीश्वर हैं। निष्पाप जनार्दन ! आपने मुझपर कृपा करके जो यह उपदेश दिया है, उसका मैं यथावत् पालन करूँगा ॥ १६½ ॥

इदं चाद्भुतमत्यन्तं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ॥ १७ ॥
यत्पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः।

'हमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे आपने यह अत्यन्त अद्भुत कार्य किया कि धृतराष्ट्रके पुत्र कुरुकुलकलङ्क पापी दुर्योधनको (भैया भीमके द्वारा) युद्धमें मरवा डाला ॥

त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं मया विजितमाहवे ॥ १८ ॥
भवता तत्कृतं कर्म येनावाप्तो जयो मया।

'शत्रुकी सेनाको आपने ही अपने तेजसे दग्ध कर दिया था। तभी मैंने युद्धमें उसपर विजय पायी है। आपने ही ऐसे-ऐसे उपाय किये हैं, जिनसे मुझे विजय सुलभ हुई है ॥ १८½ ॥

दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ॥ १९ ॥
कर्णस्य च वधोपायो यथावत् सम्प्रदर्शितः।
सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस एव च ॥ २० ॥

'संग्राममें आपकी ही बुद्धि और पराक्रमसे दुर्योधन, कर्ण, पापी सिन्धुराज जयद्रथ तथा भूरिश्रवाके वधका

उपाय मुझे यथावत् रूपसे दृष्टिगोचर हुआ ॥ १९-२० ॥

अहं च प्रीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन।
यदुक्तस्तत् करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ॥ २१ ॥

'देवकीनन्दन! आपने प्रेमपूर्वक प्रसन्नताके साथ मुझे जो कार्य करनेके लिये कहा है, उसे अवश्य करूँगा; इसमें मुझे कुछ भी विचार नहीं करना है ॥ २१ ॥

राजानं च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
चोदयिष्यामि धर्मज्ञ गमनार्थं तवानघ ॥ २२ ॥
रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो।
अचिरादेव द्रष्टा त्वं मातुलं मे जनार्दन ॥ २३ ॥
बलदेवं च दुर्धर्षं तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान्।

'धर्मज्ञ एवं निष्पाप भगवान् जनार्दन! मैं धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनसे आपके जानेके लिये आज्ञा प्रदान करनेका अनुरोध करूँगा। इस समय आपका द्वारका जाना आवश्यक है, इसमें मेरी भी सम्मति है। अब आप शीघ्र ही मामाजीका दर्शन करेंगे और दुर्जय वीर बलदेवजी तथा अन्यान्य वृष्णिवंशी वीरोंसे मिल सकेंगे'॥

एवं सम्भाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ॥ २४ ॥
तथा विविशतुश्चोभौ सम्प्रहृष्टनराकुलम्।

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मित्र हस्तिनापुरमें जा पहुँचे। उन दोनोंने हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए नगरमें प्रवेश किया ॥ २४½ ॥

तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ॥ २५ ॥
ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
विदुरं च महाबुद्धिं राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥

महाराज! इन्द्रभवनके समान शोभा पानेवाले धृतराष्ट्रके महलमें उन दोनोंने राजा धृतराष्ट्र, महाबुद्धिमान् विदुर और राजा युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ २५-२६ ॥

भीमसेनं च दुर्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुं चापराजितम् ॥ २७ ॥
गान्धारीं च महाप्रज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम्।
सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ॥ २८ ॥
ददृशाते स्त्रियः सर्वा गान्धारीपरिचारिकाः।

फिर क्रमशः दुर्जय वीर भीमसेन, माद्रीनन्दन पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, धृतराष्ट्रकी सेवामें लगे रहनेवाले अपराजित वीर युयुत्सु, परम बुद्धिमती गान्धारी, कुन्ती, भार्या द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि भरतवंशकी सभी स्त्रियोंसे मिले। गान्धारीकी सेवामें रहनेवाली उन सभी स्त्रियोंका उन दोनोंने दर्शन किया ॥ २७-२८½ ॥

ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ ॥ २९ ॥
निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम्।
गान्धार्याश्च पृथायाश्च धर्मराजस्य चैव हि ॥ ३० ॥
भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम्।

सबसे पहले उन शत्रुदमन वीरोंने राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर अपने नाम बताते हुए उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। उसके बाद उन महात्माओंने गान्धारी, कुन्ती, धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेनके पैर छूये ॥ २९-३०½ ॥

क्षत्तारं चापि संगृह्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३१ ॥
(परिष्वज्य महात्मानं वैश्यापुत्रं महारथम्।)
तैः सार्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तौ पर्युपासताम्।

फिर विदुरजीसे मिलकर उनका कुशल-मङ्गल पूछा। इसके बाद वैश्यापुत्र महारथी महामना युयुत्सुको भी हृदयसे लगाया। तत्पश्चात् उन सबके साथ वे दोनों बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पास जा बैठे ॥ ३१½ ॥

ततो निशि महाराजो धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ॥ ३२ ॥
जनार्दनं च मेधावी व्यसर्जयत वै गृहान्।
तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३३ ॥

रात हो जानेपर मेधावी महाराज धृतराष्ट्रने उन कुरुश्रेष्ठ वीरों तथा भगवान् श्रीकृष्णको अपने-अपने घरमें जानेके लिये विदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर वे सब लोग अपने-अपने घरको गये ॥ ३२-३३ ॥

धनंजयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्यवान्।
तत्रार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः ॥ ३४ ॥

पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके ही घरमें गये। वहाँ उनकी यथोचित पूजा हुई और सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थ उनकी सेवामें उपस्थित किये गये ॥ ३४ ॥

कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनंजयसहायवान्।
प्रभातायां तु शर्वर्यां कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥ ३५ ॥
धर्मराजस्य भवनं जग्मतुः परमार्चितौ।
यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महाबलः ॥ ३६ ॥

भोजनके पश्चात् मेधावी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ सोये। जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पूर्वाह्णकालकी क्रिया—संध्या-वन्दन आदि करके वे दोनों परम पूजित मित्र धर्मराज युधिष्ठिरके महलमें गये। जहाँ महाबली धर्मराज अपने मन्त्रियोंके साथ रहते थे ॥ ३५-३६ ॥

तौ प्रविश्य महात्मानौ तद् गृहं परमार्चितम्।
धर्मराजं ददृशतुर्देवराजमिवाश्विनौ ॥ ३७ ॥

उस परम सुन्दर एवं सुसजित भवनमें प्रवेश करके उन महात्माओंने धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया। मानो दोनों अश्विनीकुमार देवराज इन्द्रसे आकर मिले हों ॥ ३७ ॥

समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ।
निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन जब राजाके पास पहुँचे, तब उन्हें देख उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उनके आज्ञा देनेपर वे दोनों मित्र आसनपर विराजमान हुए ॥ ३८ ॥

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ भूपालशिरोमणि मेधावी युधिष्ठिरने उन्हें कुछ कहनेके लिये इच्छुक देख उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ।
ब्रूतं कर्तास्मि सर्वं वां नचिरान्मा विचार्यताम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—यदुकुल और कुरुकुलको अलंकृत करनेवाले वीरो! मालूम होता है, तुमलोग मुझसे कुछ कहना चाहते हो। जो भी कहना हो, कहो; मैं तुम्हारी सारी इच्छाओंको शीघ्र ही पूर्ण करूँगा। तुम मनमें कुछ अन्यथा विचार न करो ॥४० ॥

इत्युक्तः फाल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत्।
विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल अर्जुनने धर्मराजके पास जाकर बड़े विनीत भावसे कहा—॥ ४१ ॥

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान्।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ ४२ ॥
स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे।
आनर्तनगरीं वीरस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४३ ॥

'राजन्! परम प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ रहते बहुत दिन हो गया। अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिताजीका दर्शन करना चाहते हैं। यदि आप स्वीकार करें और हर्षपूर्वक आज्ञा दे दें तभी ये वीरवर श्रीकृष्ण आनर्तनगरी द्वारकाको जायँगे। अतः आप इन्हें जानेकी आज्ञा दे दें' ॥ ४२-४३॥

युधिष्ठिर उवाच

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कमलनयन मधुसूदन! आपका कल्याण हो। प्रभो! आप शूरनन्दन वसुदेवजीका दर्शन करनेके लिये आज ही द्वारकाको प्रस्थान कीजिये ॥ ४४ ॥

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥ ४५ ॥

महाबाहु केशव! मुझे आपका जाना इसलिये ठीक लगता है कि आपने मेरे मामाजी और मामी देवकी देवीको बहुत दिनोंसे नहीं देखा है ॥ ४५ ॥

समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ ४६ ॥

मानद ' महाप्राज्ञ! आप मामाजी तथा भैया बलदेवजीके पास जाकर उनसे मिलिये और मेरी ओरसे उनका यथायोग्य सत्कार कीजिये ॥ ४६ ॥

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम्।
फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ॥ ४७ ॥

भक्तोंको मान देनेवाले श्रीकृष्ण! द्वारकामें पहुँचकर आप मुझको, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको, अर्जुन, सहदेव और नकुलको भी सदा याद रखियेगा ॥ ४७ ॥

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ॥ ४८ ॥

महाबाहु निष्पाप श्रीकृष्ण! आनर्त देशकी प्रजा, अपने माता-पिता तथा वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर पुनः मेरे अश्वमेध यज्ञमें पधारियेगा ॥ ४८ ॥

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥ ४९ ॥
इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात् तव केशव।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥ ५० ॥

यदुनन्दन केशव! ये तरह-तरहके रत्न और धन प्रस्तुत हैं। इन्हें तथा दूसरी-दूसरी वस्तुएँ जो आपको पसंद हों लेकर यात्रा कीजिये। वीरवर! आपके प्रसादसे ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलका राज्य हमारे हाथमें आया है और हमारे शत्रु भी मारे गये ॥ ४९-५० ॥

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

कुरुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय पुरुषोत्तम वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही—॥ ५१ ॥

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥ ५२ ॥

'महाबाहो! ये रत्न, धन और समूची पृथ्वी अब केवल आपकी ही है। इतना ही नहीं, मेरे घरमें भी जो कुछ धन-वैभव है, उसको भी आप अपना ही समझिये। नरेश्वर! आप ही सदा उसके भी स्वामी हैं' ॥ ५२ ॥

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा
गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान्।

पितृष्वसारं त्ववदद् यथाविधि
सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जो आज्ञा कहकर उनके वचनोंका आदर किया। उनसे सम्मानित हो पराक्रमी श्रीकृष्णने अपनी बुआ कुन्तीके पास जाकर बातचीत की और उनसे यथोचित सत्कार पाकर उनकी प्रदक्षिणा की ॥

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा।
विनिर्ययौ नागपुराद् गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ॥ ५४ ॥

कुन्तीसे भलीभाँति अभिनन्दित हो विदुर आदि सब लोगोंसे सत्कारपूर्वक विदा ले चार भुजाधारी भगवान् श्रीकृष्ण अपने दिव्य रथद्वारा हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ५४ ॥

रथे सुभद्रामधिरोप्य भाविनीं
युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो
विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥ ५५ ॥

बुआ कुन्ती तथा राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे भाविनी सुभद्राको भी रथपर बिठाकर महाबाहु जनार्दन पुरवासियोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर निकले ॥ ५५ ॥

तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः
ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं
स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ५६ ॥

उस समय उन माधवके पीछे कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराजके समान पराक्रमी स्वयं भीमसेन भी कुछ दूरतक पहुँचानेके लिये गये ॥

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनां-
स्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान्।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः
प्रचोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ॥ ५७ ॥

तदनन्तर पराक्रमी श्रीकृष्णने कौरवराज्यकी वृद्धि करनेवाले उन समस्त पाण्डवों तथा विदुरजीको लौटाकर दारुक तथा सात्यकिसे कहा—'अब घोड़ोंको जोरसे हाँको' ॥

ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः
शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः।
यथा निहत्यारिगणं शतक्रतु-
र्दिवं तथाऽऽनर्तपुरीं प्रतापवान् ॥ ५८ ॥

तत्पश्चात् शिनिवीर सात्यकिको साथ लिये शत्रुदलमर्दन प्रतापी श्रीकृष्ण आनर्तपुरी द्वारकाकी ओर उसी प्रकार चल दिये, जैसे प्रतापी इन्द्र अपने शत्रुसमुदायका संहार करके स्वर्गमें जा रहे हों ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णप्रयाणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाको प्रस्थानविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्गमें श्रीकृष्णसे कौरवोंके विनाशकी बात सुनकर उत्तङ्कमुनिका कुपित होना और श्रीकृष्णका उन्हें शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परंतपाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन्! इस प्रकार द्वारका जाते हुए भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर भरतवंशके श्रेष्ठ वीर शत्रुसंतापी पाण्डव अपने सेवकोंसहित पीछे लौटे।१।

पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः।
आ चक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥ २ ॥

अर्जुनने वृष्णिवंशी प्यारे सखा श्रीकृष्णको बारंबार छातीसे लगाया और जबतक वे आँखोंसे ओझल नहीं हुए, तबतक उन्हींकी ओर वे बारंबार देखते रहे ॥ २ ॥

कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम्।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥ ३ ॥

जब रथ दूर चला गया, तब पार्थने बड़े कष्टसे श्रीकृष्णकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको पीछे लौटाया। किसीसे पराजित न होनेवाले श्रीकृष्णकी भी यही दशा थी ॥ ३ ॥

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः।
बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ॥ ४ ॥

महामना भगवान्‌की यात्राके समय जो बहुत-से अद्भुत शकुन प्रकट हुए, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ।
कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ॥ ५ ॥

उनके रथके आगे बड़े वेगसे हवा आती और रास्तेकी धूल, कंकण तथा काँटोंको उड़ाकर अलग कर देती थी ।५।

ववर्ष वासवश्चैव तोयं शुचि सुगन्धि च।
दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥

इन्द्र श्रीकृष्णके सामने पवित्र एवं सुगन्धित जल तथा दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करते थे ॥ ६ ॥

स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु।
ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार मरुभूमिके समतल प्रदेशमें पहुँचकर महाबाहु श्रीकृष्णने अमिततेजस्वी मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कका दर्शन किया ।७।

स तं सम्पूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः।
पूजितस्तेन च तदा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ८ ॥

विशाल नेत्रोंवाले तेजस्वी श्रीकृष्ण उत्तङ्क मुनिकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा पूजित हुए । तत्पश्चात् उन्होंने मुनिका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

स पृष्टः कुशलं तेन सम्पूज्य मधुसूदनम्।
उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ॥ ९ ॥

उनके कुशल-मङ्गल पूछनेपर विप्रवर उत्तङ्कने भी मधुसूदन माधवकी पूजा करके उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—॥

कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत्।
कृतं सौभ्रात्रमचलं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १० ॥

'शूरनन्दन ! क्या तुम कौरवों और पाण्डवोंके घर जाकर उनमें अविचल भ्रातृभाव स्थापित कर आये ? यह बात मुझे विस्तारके साथ बताओ ॥ १० ॥

अपि संधाय तान् वीरानुपावृत्तोऽसि केशव।
सम्बन्धिनः स्वदयितान् सततं वृष्णिपुङ्गव ॥ ११ ॥

'केशव ! क्या तुम उन वीरोंमें संधि कराकर ही लौट रहे हो ? वृष्णिपुङ्गव ! वे कौरव, पाण्डव तुम्हारे सम्बन्धी तथा तुम्हें सदा ही परम प्रिय रहे हैं ॥११ ॥

कच्चित् पाण्डुसुताः पञ्च धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः।
लोकेषु विहरिष्यन्ति त्वया सह परंतप ॥ १२ ॥

'परंतप ! क्या पाण्डुके पाँचों पुत्र और धृतराष्ट्रके भी सभी आत्मज संसारमें तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचर सकेंगे ? ॥

स्वराष्ट्रे ते च राजानः कच्चित् प्राप्स्यन्ति वै सुखम्।
कौरवेषु प्रशान्तेषु त्वया नाथेन केशव ॥ १३ ॥

'केशव ! तुम-जैसे रक्षक एवं स्वामीके द्वारा कौरवोंके शान्त कर दिये जानेपर अब पाण्डवनरेशोंको अपने राज्यमें सुख तो मिलेगा न ? ॥ १३ ॥

या मे सम्भावना तात त्वयि नित्यमवर्तत।
अपि सा सफला तात कृता ते भरतान् प्रति ॥ १४ ॥

'तात ! मैं सदा तुमसे इस बातकी सम्भावना करता था कि तुम्हारे प्रयत्नसे कौरव-पाण्डवोंमें मेल हो जायगा । मेरी जो वह सम्भावना थी, भरतवंशियोंके सम्बन्धमें तुमने वह सफल तो किया है न ?' ॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृतो यत्नो मया पूर्वं सौशाम्ये कौरवान् प्रति।
नाशक्यन्त यदा साम्ये ते स्थापयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः।

श्रीभगवान्ने कहा—महर्षे ! मैंने पहले कौरवोंके पास जाकर उन्हें शान्त करनेके लिये बड़ा प्रयत्न किया, परंतु वे किसी तरह संधिके लिये तैयार न किये जा सके । जब उन्हें समतापूर्ण मार्गमें स्थापित करना असम्भव हो गया, तब वे सब-के-सब अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये ॥ १५½ ॥

न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ॥ १६ ॥
महर्षे विदितं भूयः सर्वमेतत् तवानघ।
तेऽत्यक्रामन् मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य च ॥ १७ ॥

महर्षे ! प्रारब्धके विधानको कोई बुद्धि अथवा बलसे नहीं मिटा सकता । अनघ ! आपको तो ये सब बातें मालूम ही होंगी कि कौरवोंने मेरी, भीष्मजीकी तथा विदुरजीकी सम्मतिको भी ठुकरा दिया ॥ १६ १७ ॥

ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम्।
पञ्चैव पाण्डवाः शिष्टा हतामित्रा हतात्मजाः।
धार्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे ससुतबान्धवाः ॥ १८ ॥

इसीलिये वे आपसमें लड़-भिड़कर यमलोक जा पहुँचे । इस युद्धमें केवल पाँच पाण्डव ही अपने शत्रुओंको मारकर जीवित बच गये हैं । उनके पुत्र भी मार डाले गये हैं । धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जो गान्धारीके पेटसे पैदा हुए थे, अपने पुत्र और बान्धवोंसहित नष्ट हो गये ॥ १८ ॥

इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः।
उत्तङ्क इत्युवाचैनं रोषादुत्फुल्ललोचनः ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इतना कहते ही उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रोधसे जल उठे और रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे । उन्होंने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ १९ ॥

उत्तङ्क उवाच

यस्माच्छक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपुङ्गवाः।
सम्बन्धिनः प्रियास्तस्माच्छप्स्येऽहं त्वामसंशयम् ॥ २०

उत्तङ्क बोले--श्रीकृष्ण ! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे, तथापि शक्ति रखते हुए भी तुमने उनकी रक्षा न की । इसलिये मैं तुम्हें अवश्य शाप दूँगा ॥ २० ॥

न च ते प्रसभं यस्मात् ते निगृह्य निवारिताः ।
तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ॥ २१ ॥

मधुसूदन ! तुम उन्हें जबर्दस्ती पकड़कर रोक सकते थे, पर ऐसा नहीं किया । इसलिये मैं क्रोधमें भरकर तुम्हें शाप दूँगा ॥ २१ ॥

त्वया शक्तेन हि सता मिथ्याचारेण माधव ।
उपरीताः कुरुश्रेष्ठा नश्यन्तः स ह्युपेक्षिताः ॥ २२ ॥

माधव ! कितने खेदकी बात है, तुमने समर्थ होते हुए भी मिथ्याचारका आश्रय लिया । युद्धमें सब ओरसे आये हुए वे श्रेष्ठ कुरुवंशी नष्ट हो गये और तुमने उनकी उपेक्षा कर दी ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु मे विस्तरेणेदं यद् वक्ष्ये भृगुनन्दन ।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णने कहा--भृगुनन्दन ! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे विस्तारपूर्वक सुनिये । भार्गव ! आप तपस्वी हैं, इसलिये मेरी अनुनय-विनय स्वीकार कीजिये ॥ २३ ॥

श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ॥ २४ ॥
न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर ।

मैं आपको अध्यात्मतत्त्व सुना रहा हूँ । उसे सुननेके पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आज मुझे शाप दीजियेगा । तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ महर्षे ! आप यह याद रखिये कि कोई भी पुरुष थोड़ी-सी तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता । मैं नहीं चाहता कि आपकी तपस्या नष्ट हो जाय ॥

तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ॥ २५ ॥
कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम ।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥ २६ ॥

आपका तप और तेज बहुत बढ़ा हुआ है । आपने गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है । द्विजश्रेष्ठ ! आपने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है । ये सारी बातें मुझे अच्छी तरह ज्ञात हैं । इसलिये अत्यन्त कष्ट सहकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता हूँ ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णोत्तङ्कसमागमे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें श्रीकृष्ण और उत्तङ्कका समागम-विषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका उत्तङ्कसे अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करना तथा दुर्योधनके अपराधको कौरवोंके विनाशका कारण बतलाना

उत्तङ्क उवाच

ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम् ।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ॥ १ ॥

उत्तङ्कने कहा--केशव ! जनार्दन ! तुम यथार्थरूपसे उत्तम अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करो । उसे सुनकर मैं तुम्हारे कल्याणके लिये आशीर्वाद दूँगा अथवा शाप प्रदान करूँगा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान् मदाश्रयान् ।
तथा रुद्रान् वसूंश्चापि विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ॥ २ ॥

श्रीकृष्णने कहा--ब्रह्मर्षे ! आपको यह विदित होना चाहिये कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण--ये सभी भाव मेरे ही आश्रित हैं । रुद्रों और वसुओंको भी आप मुझसे ही उत्पन्न जानिये ॥ २ ॥

मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम् ।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण भूत मुझमें हैं और सम्पूर्ण भूतोंमें मैं स्थित हूँ । इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें । इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये ॥ ३ ॥

तथा दैत्यगणान् सर्वान् यक्षगन्धर्वराक्षसान् ।
नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ॥ ४ ॥

विप्रवर ! सम्पूर्ण दैत्यगण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको मुझसे ही उत्पन्न जानिये ॥ ४ ॥

सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च ।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ॥ ५ ॥

विद्वान् लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त और क्षर-अक्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही स्वरूप है ॥ ५ ॥

ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विदिता मुने ।

वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ॥ ६ ॥

मुने ! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म प्रसिद्ध हैं तथा जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं, उन सबको मेरा स्वरूप ही समझिये ॥ ६ ॥

असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत् परम्।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात् ॥ ७ ॥

असत्, सदसत् तथा उससे भी परे जो अव्यक्त जगत् है, वह भी मुझ सनातन देवाधिदेवसे पृथक् नहीं है ॥ ७ ॥

ओङ्कारप्रमुखान् वेदान् विद्धि मां त्वं भृगूद्वह।
यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे ॥ ८ ॥
होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ॥ ९ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! ॐकारसे आरम्भ होनेवाले चारों वेद मुझे ही समझिये। यज्ञमें यूप, सोम, चरु, देवताओंको तृप्त करनेवाला होम, होता और हवन-सामग्री भी मुझे ही जानिये। भृगुनन्दन ! अध्वर्यु, कल्पक और अच्छी प्रकार संस्कार किया हुआ हविष्य—ये सब मेरे ही स्वरूप हैं ॥ ८–९ ॥

उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मञ्शान्तिमङ्गलवाचकाः ॥ १० ॥
स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम।
मम विद्धि सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम ॥ ११ ॥
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम्।

बड़े-बड़े यज्ञोंमें उद्गाता उच्च स्वरसे सामगान करके मेरी ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मन् ! प्रायश्चित्त-कर्ममें शान्तिपाठ तथा मङ्गलपाठ करनेवाले ब्राह्मण सदा मुझ विश्वकर्माका ही स्तवन करते हैं। द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना रूप जो धर्म है, वह मेरा परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र है। मेरे मनसे उसका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १०-११½ ॥

तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ॥ १२ ॥
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥ १३ ॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

भार्गव ! उस धर्ममें प्रवृत्त होकर जो पाप-कर्मोंसे निवृत्त हो गये हैं ऐसे मनुष्योंके साथ मैं सदा निवास करता हूँ। साधुशिरोमणे ! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ ॥ १२-१३½ ॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥ १४ ॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।

मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ। सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ। समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे ही द्वारा होते हैं ॥ १४½ ॥

अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥ १५ ॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ १६ ॥

अधर्ममें लगे हुए सभी मनुष्योंको दण्ड देनेवाला और अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ। जब-जब युगका परिवर्तन होता है, तब-तब मैं प्रजाकी भलाईके लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर धर्ममर्यादाकी स्थापना करता हूँ ॥ १५-१६ ॥

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १७ ॥

भृगुनन्दन ! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १८ ॥

भृगुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले महर्षे ! जब मैं गन्धर्व योनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ १८ ॥

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम् ॥ १९ ॥

जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर उन्हींके आचार-विचारका यथावत् रूपसे पालन करता हूँ ॥ १९ ॥

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम् ॥ २० ॥

इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इसलिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; परंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी ॥ २० ॥

भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया।
क्रुद्धेन भूत्वा तु पुनर्यथावदनुदर्शिताः ॥ २१ ॥
तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ॥ २२ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरकर मैंने कौरवोंको बड़े-बड़े भय दिखाये और उन्हें बहुत डराया-धमकाया तथा यथार्थरूपसे युद्धका भावी परिणाम भी उन्हें दिखाया; परंतु वे तो अधर्मसे युक्त एवं कालसे ग्रस्त थे। अतः मेरी बात माननेको

उत्तङ्कमुनिकी श्रीकृष्णसे विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना

राजी न हुए। फिर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये। इसमें संदेह नहीं कि वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ २१-२२ ॥

लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पाण्डव अपने धर्माचरणके कारण समस्त लोकोंमें विख्यात हुए हैं। आपने जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह सारा प्रसङ्ग कह सुनाया॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें श्रीकृष्णका वचनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका उत्तङ्क मुनिको विश्वरूपका दर्शन कराना और मरुदेशमें जल प्राप्त होनेका वरदान देना

उत्तङ्क उवाच

अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन।
नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति मे नास्ति संशयः॥ १ ॥

उत्तङ्कने कहा—जनार्दन ! मैं यह जानता हूँ कि आप सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता हैं। निश्चय ही यह आपकी कृपा है (जो आपने मुझे अध्यात्मतत्त्वका उपदेश दिया), इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

चित्तं च सुप्रसन्नं मे त्वद्भावगतमच्युत।
विनिवृत्तं च मे शापादिति विद्धि परंतप ॥ २ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अच्युत ! अब मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न और आपके प्रति भक्तिभावसे परिपूर्ण हो गया है; अतः इसे शाप देनेके विचारसे निवृत्त हुआ समझें ॥ २ ॥

यदि त्वनुग्रहं कंचित् त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय ॥ ३ ॥

जनार्दन ! यदि मैं आपसे कुछ भी कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी होऊँ तो आप मुझे अपना ईश्वरीय रूप दिखा दीजिये। आपके उस रूपको देखनेकी बड़ी इच्छा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद् वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद् धनंजयः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्त होकर उन्हें अपने उसी सनातन वैष्णव स्वरूपका दर्शन कराया, जिसे युद्धके प्रारम्भमें अर्जुनने देखा था ॥ ४ ॥

स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम्।
सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत् पावकोपमम् ॥ ५ ॥

उत्तङ्क मुनिने उस विश्वरूपका दर्शन किया, जिसका स्वरूप महान् था। जो सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान तथा बड़ी-बड़ी भुजाओंसे सुशोभित था। उससे प्रज्वलित अग्निके समान लपटें निकल रही थीं ॥ ५ ॥

सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम्।
तद् दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम्।
विस्मयं च ययौ विप्रस्तं दृष्ट्वा परमेश्वरम् ॥ ६ ॥

उसके सब ओर मुख था और वह सम्पूर्ण आकाशको घेरकर खड़ा था। भगवान् विष्णुके उस अद्भुत एवं उत्कृष्ट वैष्णव रूपको देखकर उन परमेश्वरकी ओर दृष्टिपात करके ब्रह्मर्षि उत्तङ्कको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६ ॥

उत्तङ्क उवाच

(नमो नमस्ते सर्वात्मन् नारायण परात्पर।
परमात्मन् पद्मनाभ पुण्डरीकाक्ष माधव॥

उत्तङ्क बोले—सर्वात्मन् ! परात्पर नारायण ! आपको बारंबार नमस्कार है। परमात्मन् ! पद्मनाभ ! पुण्डरीकाक्ष ! माधव ! आपको नमस्कार है ॥

हिरण्यगर्भरूपाय संसारोत्तारणाय च।
पुरुषाय पुराणाय चान्तर्यामाय ते नमः॥

हिरण्यगर्भ ब्रह्मा आपके ही स्वरूप हैं। आप संसार-सागरसे पार उतारनेवाले हैं। आप ही अन्तर्यामी पुराण-पुरुष हैं। आपको नमस्कार है ॥

अविद्यातिमिरादित्यं भवव्याधिमहौषधिम्।
संसारार्णवपारं त्वां प्रणमामि गतिर्भव॥

आप अविद्यारूपी अन्धकारको मिटानेवाले सूर्य, संसार-रूपी रोगके महान् औषध तथा भवसागरसे पार करनेवाले हैं। आपको प्रणाम करता हूँ। आप मेरे आश्रय-दाता हों ॥

सर्ववेदैकवेद्याय सर्वदेवमयाय च।
वासुदेवाय नित्याय नमो भक्तप्रियाय ते॥

आप सम्पूर्ण वेदोंके एकमात्र वेद्यतत्त्व हैं। सम्पूर्ण देवता

आपके ही स्वरूप हैं तथा आप भक्तजनोंको अत्यन्त प्रिय हैं। आप नित्यस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥

दयया दुःखमोहान्मां समुद्धर्तुमिहार्हसि।
कर्मभिर्बहुभिः पापैर्बद्धं पाहि जनार्दन ॥)

जनार्दन! आप स्वयं ही दया करके दुःखजनित मोहसे मेरा उद्धार करें। मैं बहुत-से पाप-कर्मोंद्वारा बँधा हुआ हूँ। आप मेरी रक्षा करें ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
पद्भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं नभः ॥७॥

विश्वकर्मन्! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत विश्वात्मन्! आपके दोनों पैरोंसे पृथ्वी और सिरसे आकाश व्याप्त है ॥ ७ ॥

द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तवावृतम्।
भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ॥ ८ ॥

आकाश और पृथ्वीके बीचका जो भाग है, वह आपके उदरसे व्याप्त हो रहा है। आपकी भुजाओंने सम्पूर्ण दिशाओं-को घेर लिया है। अच्युत! यह सारा दृश्य प्रपञ्च आप ही हैं ॥ ८ ॥

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम्।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ॥९॥

देव! अब अपने इस उत्तम एवं अविनाशी स्वरूपको फिर समेट लीजिये। मैं आप सनातन पुरुषको पुनः अपने पूर्वरूपमें ही देखना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय।
वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मुनिकी बात सुनकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'महर्षे! आप मुझसे कोई वर माँगिये।' तब उत्तङ्कने कहा—॥ १० ॥

पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते।
यत् ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि पुरुषोत्तम ॥ ११ ॥

'महातेजस्वी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण! आपके इस स्वरूपका जो मैं दर्शन कर रहा हूँ, यही मेरे लिये आज आपकी ओरसे बहुत बड़ा वरदान प्राप्त हो गया' ॥ ११ ॥

तमब्रवीत् पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय।
अवश्यमेतत् कर्तव्यममोघं दर्शनं मम ॥ १२ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णने फिर कहा—'मुने! आप इसमें कोई अन्यथा विचार न करें। आपको अवश्य ही मुझसे वर माँगना चाहिये; क्योंकि मेरा दर्शन अमोघ है' ॥ १२ ॥

उत्तङ्क उवाच

अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो।
तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ॥ १३ ॥

उत्तङ्क बोले—प्रभो! यदि वर माँगना आप मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य मानते हैं तो मैं यही चाहता हूँ कि मुझे यहाँ यथेष्ट जल प्राप्त हो; क्योंकि इस मरुभूमिमें जल बड़ा ही दुर्लभ है ॥ १३ ॥

ततः संहृत्य तत् तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः।
एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ ॥१४॥

तब भगवान्ने अपने उस तेजोमय स्वरूपको समेटकर उत्तङ्क-मुनिसे कहा—'मुने! जब आपको जलकी इच्छा हो, तब आप मेरा स्मरण कीजियेगा।' ऐसा कहकर वे द्वारका चले गये ॥ १४ ॥

ततः कदाचिद् भगवानुत्तङ्कस्तोयकाङ्क्षया।
तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार चाच्युतम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् एक दिन उत्तङ्क मुनिको बड़ी प्यास लगी। वे पानीकी इच्छासे उस मरुभूमिमें चारों ओर घूमने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥१५॥

ततो दिग्वाससं धीमान् मातङ्गं मलपङ्किनम्।
अपश्यत मरौ तस्मिञ्श्वयूथपरिवारितम् ॥ १६ ॥

इतनेहीमें उन बुद्धिमान् मुनिको उस मरुप्रदेशमें कुत्तोंके झुंडसे घिरा हुआ एक नंग-धड़ंग चाण्डाल दिखायी पड़ा, जिसके शरीरमें मैल और कीचड़ जमी हुई थी ॥१६॥

भीषणं बद्धनिस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम्।
तस्याधः स्रोतसोऽपश्यद् वारि भूरि द्विजोत्तमः॥१७॥

वह देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसने कमरमें तलवार बाँध रक्खी थी और हाथोंमें धनुष-बाण धारण किये थे। द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने देखा—उसके नीचे पैरोंके समीप एक छिद्रसे प्रचुर जलकी धारा गिर रही है ॥ १७ ॥

स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ॥ १८ ॥
कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाश्रितम्।
इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत् तोयं नाभ्यनन्दत ॥ १९ ॥

मुनिको पहचानते ही वह जोर-जोरसे हँसता हुआ-सा बोला—'भृगुकुलतिलक उत्तङ्क! आओ, मुझसे जल ग्रहण करो। तुम्हें प्याससे पीड़ित देखकर मुझे तुमपर बड़ी दया आ रही है।' चाण्डालके ऐसा कहनेपर भी मुनिने उसके जलका अभिनन्दन नहीं किया—उसे लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ १८-१९ ॥

चिक्षेप च स तं धीमान् वाग्भिरुग्राभिरच्युतम्।

पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ॥ २० ॥

उस समय बुद्धिमान् उत्तङ्कने अपने कठोर वचनोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णपर भी आक्षेप किया। उधर चाण्डाल बारंबार आग्रह करने लगा—'महर्षे! जल पी लीजिये' ॥ २० ॥

न चापिबत् स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना।
स तथा निश्चयात् तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ॥ २१ ॥

उत्तङ्कने उस जलको नहीं पीया। वे अत्यन्त कुपित हो उठे थे। उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ था। उन महात्माने अपने निश्चयपर अटल रहकर चाण्डालको जवाब दे दिया ॥ २१ ॥

श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत।
उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ॥ २२ ॥
मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना।

महाराज! मुनिके इन्कार करते ही कुत्तोंसहित वह चाण्डाल वहीं अन्तर्धान हो गया। यह देख उत्तङ्क मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए और सोचने लगे कि 'शत्रुघाती श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया' ॥ २२½ ॥

अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २३ ॥
आजगाम महाबुद्धिरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत्।
न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ॥ २४ ॥
सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातङ्गस्रोतसा विभो।

तदनन्तर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उसी मार्गसे प्रकट होकर आये। उन्हें देखकर महामति उत्तङ्कने कहा—'पुरुषोत्तम! प्रभो! आपको श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके लिये चाण्डालसे स्पर्श किया हुआ वैसा अपवित्र जल देना उचित नहीं है' ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्तवचनं तं तु महाबुद्धिर्जनार्दनः ॥ २५ ॥
उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत्।

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् जनार्दनने उन्हें मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २५½ ॥

यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै ॥ २६ ॥
तादृशं खलु ते दत्तं यच्च त्वं नावबुध्यथाः।

'महर्षे! वहाँ जैसा रूप धारण करके वह जल आपके लिये देना उचित था, उसी रूपसे दिया गया; किंतु आप उसे समझ न सके ॥ २६½ ॥

मया त्वदर्थमुक्तो वै वज्रपाणिः पुरंदरः ॥ २७ ॥
उत्तङ्कायामृतं देहि तोयरूपमिति प्रभुः।
स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत्॥ २८ ॥
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद् भृगुनन्दन।
अमृतं देयमित्येव मयोक्तः स शचीपतिः ॥ २९ ॥

'भृगुनन्दन! मैंने आपके लिये वज्रधारी इन्द्रसे जाकर कहा था कि तुम उत्तङ्क मुनिको जलके रूपमें अमृत प्रदान करो। मेरी बात सुनकर प्रभावशाली देवेन्द्रने बारंबार मुझसे कहा कि 'मनुष्य अमर नहीं हो सकता। इसलिये आप उन्हें अमृत न देकर और कोई वर दीजिये।' परंतु मैंने शचीपति इन्द्रसे जोर देकर कहा कि उत्तङ्कको तो अमृत ही देना है ॥ २७-२९ ॥

स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत्।
यदि देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महामते ॥ ३० ॥
भूत्वामृतं प्रदास्यामि भार्गवाय महात्मने।
यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै॥ ३१ ॥
प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवस्यामृतं विभो।
प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन दास्यामि न कथंचन ॥ ३२ ॥

'तब देवराज इन्द्र मुझे प्रसन्न करके बोले—'सर्वव्यापी महामते! यदि भृगुनन्दन महात्मा उत्तङ्कको अमृत अवश्य देना है तो मैं चाण्डालका रूप धारण करके उन्हें अमृत प्रदान करूँगा। यदि इस प्रकार आज भृगुवंशी उत्तङ्क अमृत लेना स्वीकार करेंगे तो मैं उन्हें वर देनेके लिये अभी जा रहा हूँ और यदि वे अस्वीकार कर देंगे तो मैं किसी तरह उन्हें अमृत नहीं दूँगा' ॥ ३०-३२ ॥

स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण वासवः।
उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत् ॥ ३३ ॥

'इस तरहकी शर्त करके साक्षात् इन्द्र चाण्डालके रूपमें यहाँ उपस्थित हुए थे और आपको अमृत दे रहे थे; परंतु आपने उन्हें ठुकरा दिया ॥ ३३ ॥

चाण्डालरूपी भगवान् सुमहांस्ते व्यतिक्रमः।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं भूय एव तवेप्सितम् ॥ ३४ ॥

'आपने चाण्डालरूपधारी भगवान् इन्द्रको ठुकराया है, यह आपका महान् अपराध है। अच्छा, आपकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मैं पुनः जो कुछ कर सकता हूँ, करूँगा ॥ ३४ ॥

तोयेप्सां तव दुर्धर्षां करिष्ये सफलामहम्।
येष्वहःसु च ते ब्रह्मन् सलिलेप्सा भविष्यति॥ ३५ ॥
तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः।
रसवच्च प्रदास्यन्ति तोयं ते भृगुनन्दन॥ ३६ ॥
उत्तङ्कमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते।

'ब्रह्मन्! आपकी तीव्र पिपासाको मैं अवश्य सफल करूँगा। जिन दिनों आपको जल पीनेकी इच्छा होगी, उन्हीं दिनों मरुप्रदेशमें जलसे भरे हुए मेघ प्रकट होंगे। भृगुनन्दन! वे आपको सरस जल प्रदान करेंगे और इस

पृथ्वीपर उत्तङ्क मेघके नामसे विख्यात होंगे' ॥ ३५-३६½ ॥

इत्युक्तः प्रीतिमान् विप्रः कृष्णेन स बभूव ह ।
अद्याप्युत्तङ्कमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ॥ ३७ ॥

भारत ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर विप्रवर उत्तङ्क-मुनि बड़े प्रसन्न हुए । इस समय भी मरुभूमिमें उत्तङ्क मेघ प्रकट होकर जलकी वर्षा करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कोपाख्यानमें कृष्णवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तङ्ककी गुरुभक्तिका वर्णन, गुरुपुत्रीके साथ उत्तङ्कका विवाह, गुरुपत्नीकी आज्ञासे दिव्यकुण्डल लानेके लिये उत्तङ्कका राजा सौदासके पास जाना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कः केन तपसा संयुक्तो वै महामनाः ।
यः शापं दातुकामोऽभूद् विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महात्मा उत्तङ्क मुनिने ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिससे वे सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत भगवान् विष्णुको भी शाप देनेका संकल्प कर बैठे ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय ।
गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किंचिदपूजयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! उत्तङ्क मुनि बड़े भारी तपस्वी, तेजस्वी और गुरुभक्त थे । उन्होंने जीवनमें गुरुके सिवा दूसरे किसी देवताकी आराधना नहीं की थी ॥

सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः ।
औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! जब वे गुरुकुलमें रहते थे, उन दिनों सभी ऋषिकुमारोंके मनमें यह अभिलाषा होती थी कि हमें भी उत्तङ्कके समान गुरुभक्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

गौतमस्य तु शिष्याणां बहूनां जनमेजय ।
उत्तङ्केऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेहश्चैवाभवत् तदा ॥ ४ ॥

जनमेजय ! गौतमके बहुत-से शिष्य थे, परंतु उनका प्रेम और स्नेह सबसे अधिक उत्तङ्कमें ही था ॥ ४ ॥

स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ।
सम्यक् चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् ॥ ५ ॥

उत्तङ्कके इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी पवित्रता, पुरुषार्थ, कर्म और उत्तमोत्तम सेवासे गौतम बहुत प्रसन्न रहते थे ॥

अथ शिष्यसहस्राणि समनुज्ञातवानृषिः ।
उत्तङ्कं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमैच्छत ।
तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ॥ ६ ॥

उन महर्षिने अपने सहस्रों शिष्योंको पढ़ाकर घर जानेकी आज्ञा दे दी; परंतु उत्तङ्कपर अधिक प्रेम होनेके कारण वे उन्हें घर जानेकी आज्ञा नहीं देना चाहते थे । तात ! क्रमशः उन महामुनि उत्तङ्कको वृद्धावस्था प्राप्त हुई ॥ ६ ॥

न चान्वबुध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः ।
ततः कदाचिद् राजेन्द्र काष्ठान्यानयितुं ययौ ॥ ७ ॥
उत्तङ्कः काष्ठभारं च महान्तं समुपानयत् ।

किंतु वे गुरुवत्सल महर्षि यह नहीं जान सके कि मेरा बुढ़ापा आ गया । राजेन्द्र ! एक दिन उत्तङ्क मुनि लकड़ियाँ लानेके लिये वनमें गये और वहाँसे काठका बहुत बड़ा बोझ उठा लाये ॥ ७½ ॥

स तद्भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिंदम ॥ ८ ॥
निचिक्षेप क्षितौ राजन् परिश्रान्तो बुभुक्षितः ।
तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्यसमप्रभा ॥ ९ ॥
ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले ।

शत्रुदमन नरेश ! बोझ भारी होनेके कारण वे बहुत थक गये । उनका शरीर लकड़ियोंके भारसे दब गया था । वे भूखसे पीड़ित हो रहे थे । जब आश्रमपर आकर उस बोझको वे जमीनपर गिराने लगे, उस समय चाँदीके तारकी भाँति सफेद रङ्गकी उनकी जटा लकड़ीमें चिपक गयी थी, जो उन लकड़ियोंके साथ ही जमीनपर गिर पड़ी ॥ ८-९½ ॥

ततः स भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भारत ॥ १० ॥
दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां रुरोदार्तस्वरस्तदा ।

भारत ! भारसे तो वे पिस ही गये थे, भूखने भी उन्हें व्याकुल कर दिया था । अतः अपनी उस अवस्थाको देखकर वे उस समय आर्त स्वरसे रोने लगे ॥ १०½ ॥

ततो गुरुसुता तस्य पद्मपत्रनिभानना ॥ ११ ॥
जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना ।
पितुर्नियोगाद् धर्मज्ञा शिरसावनता तदा ॥ १२ ॥

तब कमलदलके समान प्रफुल्ल मुखवाली विशाललोचना परम सुन्दरी धर्मज्ञ गुरुपुत्रीने पिताकी आज्ञा पाकर विनीत

भावसे सिर झुकाये वहाँ आयी और अपने हाथोंमें उसने मुनिके आँसू ग्रहण कर लिये ॥ ११-१२ ॥

तस्या निपेततुर्दग्धौ करौ तैरश्रुबिन्दुभिः ।
न हि तानश्रुपातांस्तु शक्ता धारयितुं मही ॥१३॥

उन अश्रुबिन्दुओंसे उसके दोनों हाथ जल गये और आँसुओंसहित पृथ्वीसे जा लगे । परंतु पृथ्वी भी उन गिरते हुए अश्रुबिन्दुओंके धारण करनेमें असमर्थ हो गयी ॥ १३ ॥

गौतमस्त्वब्रवीद् विप्रमुत्तङ्कं प्रीतमानसः ।
कस्मात् तात तवाद्येह शोकोत्तरमिदं मनः ।
स स्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१४॥

फिर गौतमने प्रसन्नचित्त होकर विप्रवर उत्तङ्कसे पूछा—'बेटा ! आज तुम्हारा मन शोकसे व्याकुल क्यों हो रहा है ! मैं इसका यथार्थ कारण सुनना चाहता हूँ । ब्रह्मर्षे ! तुम निःसंकोच होकर सारी बातें बताओ' ॥ १४ ॥

उत्तङ्क उवाच

भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ॥१५॥
जरेयं नावबुद्धा मे नाभिज्ञातं सुखं च मे ।
शतवर्षोषितं मां हि न त्वमभ्यनुजानिथाः ॥१६॥

उत्तङ्कने कहा—गुरुदेव ! मेरा मन सदा आपमें लगा रहा । आपहीका प्रिय करनेकी इच्छासे मैं निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहा, मेरा सम्पूर्ण अनुराग आपहीमें रहा है और आपहीकी भक्तिमें तत्पर रहकर मैंने न तो लौकिक सुखको जाना और न मुझे आये हुए इस बुढ़ापाका ही पता चला । मुझे यहाँ रहते हुए सौ वर्ष बीत गये तो भी आपने मुझे घर जानेकी आज्ञा नहीं दी ॥ १५-१६ ॥

भवता त्वभ्यनुज्ञाताः शिष्याः प्रत्यवरा मम ।
उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ शतशोऽथ सहस्रशः ॥१७॥

द्विजश्रेष्ठ ! मेरे बाद सैकड़ों और हजारों शिष्य आपकी सेवामें आये और अध्ययन पूरा करके आपकी आज्ञा लेकर चले गये (केवल मैं ही यहाँ पड़ा हुआ हूँ) ॥ १७ ॥

गौतम उवाच

त्वत्प्रीतियुक्तेन मया गुरुशुश्रूषया तव ।
व्यतिक्रामन्महाकालो नावबुद्धो द्विजर्षभ ॥१८॥

गौतमने कहा—विप्रवर ! तुम्हारी गुरुशुश्रूषासे तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम हो गया था । इसीलिये इतना अधिक समय बीत गया तो भी मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आयी ॥

किं त्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव ।
अनुज्ञां प्रतिगृह्य त्वं स्वगृहान् गच्छ मा चिरम् ॥१९॥

भृगुनन्दन ! यदि आज तुम्हारे मनमें यहाँसे जानेकी इच्छा हुई है तो मेरी आज्ञा स्वीकार करो और शीघ्र ही यहाँसे अपने घरको चले जाओ ॥ १९ ॥

उत्तङ्क उवाच

गुर्वर्थं कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम ।
तमुपाहृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो ॥२०॥

उत्तङ्कने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! प्रभो ! मैं आपको गुरुदक्षिणामें क्या दूँ ? यह बताइये । उसे आपको अर्पित करके आज्ञा लेकर घरको जाऊँ ॥ २० ॥

गौतम उवाच

दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ॥२१॥

गौतमने कहा—ब्रह्मन् ! सत्पुरुष कहते हैं कि गुरुजनोंको संतुष्ट करना ही उनके लिये सबसे उत्तम दक्षिणा है । तुमने जो सेवा की है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह ।
युवा षोडशवर्षो हि यद्य भविता भवान् ॥२२॥
ददानि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज ।
एतामृतेऽङ्गना नान्या त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ॥२३॥

भृगुकुलभूषण ! इस तरह तुम मुझे पूर्ण संतुष्ट जानो । यदि आज तुम सोलह वर्षके तरुण हो जाओ तो मैं तुम्हें पत्नीरूपसे अपनी कुमारी कन्या अर्पित कर दूँगा; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई स्त्री तुम्हारे तेजको नहीं सह सकती ॥

ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम् ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाब्रवीत् ॥२४॥

तब उत्तङ्कने तपोबलसे तरुण होकर उस यशस्विनी गुरुपुत्रीका पाणिग्रहण किया । तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा पाकर वे गुरुपत्नीसे बोले—॥ २४ ॥

किं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् ।
प्रियं हितं च काङ्क्षामि प्राणैरपि धनैरपि ॥२५॥

'माताजी ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं गुरुदक्षिणामें आपको क्या दूँ ? अपना धन और प्राण देकर भी मैं आपका प्रिय एवं हित करना चाहता हूँ ॥ २५ ॥

यद् दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन् रत्नमत्यद्भुतं महत् ।
तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥२६॥

'इस लोकमें जो अत्यन्त दुर्लभ, अद्भुत एवं महान् रत्न हो, उसे भी मैं तपस्याके बलसे ला सकता हूँ; इसमें संशय नहीं है' ॥ २६ ॥

अहल्योवाच

परितुष्टास्मि ते विप्र नित्यं भक्त्या तवानघ ।

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते गच्छ तात यथेप्सितम् ॥२७॥

अहल्या बोली—निष्पाप ब्राह्मण ! मैं तुम्हारे भक्तिभावसे सदा संतुष्ट हूँ । बेटा ! मेरे लिये इतना ही बहुत है । तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
आज्ञापयस्व मां मातः कर्तव्यं च तव प्रियम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! गुरुपत्नीकी बात सुनकर उत्तङ्कने फिर कहा—'माताजी ! मुझे आज्ञा दीजिये—मैं क्या करूँ ! मुझे आपका प्रिय कार्य अवश्य करना है' ॥

अहल्योवाच

सौदासपत्न्या विधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले ।
ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् ॥२९॥

अहल्या बोली—बेटा ! राजा सौदासकी रानीने जो दो दिव्य मणिमय कुण्डल धारण कर रक्खे हैं, उन्हें ले आओ । तुम्हारा कल्याण हो । उनके ला देनेसे तुम्हारी गुरुदक्षिणा पूरी हो जायगी ॥ २९ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय ।
गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ॥३०॥

जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्कने गुरुपत्नीकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन कुण्डलोंको लानेके लिये चल दिये ॥ ३० ॥

स जगाम ततः शीघ्रमुत्तङ्को ब्राह्मणर्षभः ।
सौदासं पुरुषादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥३१॥

ब्राह्मणशिरोमणि उत्तङ्क नरभक्षी राक्षसभावको प्राप्त हुए राजा सौदाससे उन मणिमय कुण्डलोंकी याचना करनेके लिये वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुए ॥ ३१ ॥

गौतमस्त्वब्रवीत् पत्नीमुत्तङ्को नाद्य दृश्यते ।
इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थं गतं च सा ॥३२॥

उनके चले जानेपर गौतमने पत्नीसे पूछा—'आज उत्तङ्क क्यों नहीं दिखायी देता है ?' पतिके इस प्रकार पूछनेपर अहल्याने कहा—'वह सौदासकी महारानीके कुण्डल ले आनेके लिये गया' ॥ ३२ ॥

ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम् ।
शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ॥३३॥

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'देवि ! यह तुमने अच्छा नहीं किया । राजा सौदास शापवश राक्षस हो गये हैं । अतः वे उस ब्राह्मणको अवश्य मार डालेंगे' ॥ ३३ ॥

अहल्योवाच

अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन् ब्राह्मणो मया ।
भवत्प्रसादान्न भयं किंचित् तस्य भविष्यति ॥३४॥

अहल्या बोली—भगवन् ! मैं इस बातको नहीं जानती थी, इसीलिये उस ब्राह्मणको ऐसा काम सौंप दिया । मुझे विश्वास है कि आपकी कृपासे उसे वहाँ कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः ।
उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ॥३५॥

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही हो ।' उधर उत्तङ्क निर्जन वनमें जाकर राजा सौदाससे मिले ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कुण्डलाहरणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें कुण्डलाहरणविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तङ्कका सौदाससे उनकी रानीके कुण्डल माँगना और सौदासके कहनेसे रानी मदयन्तीके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

स तं दृष्ट्वा तथाभूतं राजानं घोरदर्शनम् ।
दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा सौदास राक्षस होकर बड़े भयानक दिखायी देते थे । उनकी मूँछ और दाढ़ी बहुत बड़ी थी । वे मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए थे ॥

चकार न व्यथां विप्रो राजा त्वेनमथाब्रवीत् ।
प्रत्युत्थाय महातेजा भयकर्ता यमोपमः ॥ २ ॥

उन्हें देखकर विप्रवर उत्तङ्कको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्हें देखते ही महातेजस्वी राजा सौदास, जो यमराजके समान भयंकर थे, उठकर खड़े हो गये और उनके पास जाकर बोले—॥ २ ॥

दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम् ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य सम्प्राप्तो द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

'कल्याणस्वरूप द्विजश्रेष्ठ ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि दिनके छठे भागमें आप स्वयं ही मेरे पास चले आये । मैं इस समय आहार ही ढूँढ़ रहा था' ॥ ३ ॥

उत्तङ्क उवाच

राजन् गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम्।
न च गुर्वर्थमुद्युक्तं हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

उत्तङ्क बोले—राजन्! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं गुरुदक्षिणाके लिये घूमता-फिरता यहाँ आया हूँ। जो गुरुदक्षिणा जुटानेके लिये उद्योगशील हो, उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ४ ॥

राजोवाच

षष्ठे काले ममाहारो विहितो द्विजसत्तम।
न शक्यस्त्वं समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन मयाद्य वै ॥ ५ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! दिनके छठे भागमें मेरे लिये आहारका विधान किया गया है। यह वही समय है। मैं भूखसे पीड़ित हो रहा हूँ। इसलिये मेरे हाथोंसे तुम छूट नहीं सकते ॥ ५ ॥

उत्तङ्क उवाच

एवमस्तु महाराज समयः क्रियतां तु मे।
गुर्वर्थमभिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ६ ॥

उत्तङ्कने कहा—महाराज! ऐसा ही सही, किंतु मेरे साथ एक शर्त कर लीजिये। मैं गुरुदक्षिणा चुकाकर फिर आपके वशमें आ जाऊँगा ॥ ६ ॥

संश्रुतश्च मया योऽर्थो गुरवे राजसत्तम।
त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वां भिक्षे नरेश्वर ॥ ७ ॥

राजेन्द्र! नृपश्रेष्ठ! मैंने गुरुको जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही अधीन है; अतः नरेश्वर! मैं आपसे उसकी भीख माँगता हूँ ॥ ७ ॥

ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि नित्यदा।
दाता च त्वं नरव्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह।
पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां नृपसत्तम ॥ ८ ॥

पुरुषसिंह! आप प्रतिदिन बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको रत्न दान करते हैं। इस पृथ्वीपर आप एक श्रेष्ठ दानीके रूपमें प्रसिद्ध हैं और मैं भी दान लेनेका पात्र हूँ। नृपश्रेष्ठ! आप मुझे प्रतिग्रहका अधिकारी समझें ॥ ८ ॥

उपाहृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिंदम।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ९ ॥

शत्रुदमन राजेन्द्र! गुरुका धन जो आपके ही अधीन है उन्हें अर्पित करके मैं अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार फिर आपके अधीन हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्या कथंचन।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥१०॥

मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ, इसमें किसी तरह मिथ्याके लिये स्थान नहीं है। मैं पहले कभी परिहासमें भी झूठ नहीं बोला हूँ, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता हूँ ॥ १० ॥

सौदास उवाच

यदि मत्तस्त्वदायत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः।
यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः साम्प्रतं तद् वदस्व मे ॥११॥

सौदासने कहा—ब्रह्मन्! यदि आपकी गुरुदक्षिणा मेरे अधीन है तो उसे मिली हुई ही समझिये। यदि आप मेरी कोई वस्तु लेनेके योग्य मानते हैं तो बताइये, इस समय मैं आपको क्या दूँ? ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच

प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुषर्षभ।
सोऽहं त्वामनुसम्प्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥१२॥

उत्तङ्कने कहा—पुरुषप्रवर! आपका दिया हुआ दान मैं सदा ही ग्रहण करनेके योग्य मानता हूँ। इस समय मैं आपकी रानीके दोनों मणिमय कुण्डल माँगनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

सौदास उवाच

पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे उचिते मणिकुण्डले।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ॥१३॥

सौदासने कहा—ब्रह्मर्षे! वे मणिमय कुण्डल तो मेरी रानीके ही योग्य हैं। सुव्रत! आप और कोई वस्तु माँगिये, उसे मैं आपको अवश्य दे दूँगा ॥ १३ ॥

उत्तङ्क उवाच

अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणा यदि ते वयम्।
प्रयच्छ कुण्डले मह्यं सत्यवाग् भव पार्थिव ॥१४॥

उत्तङ्कने कहा—पृथ्वीनाथ! अब बहाना करना व्यर्थ है। यदि आप मुझपर विश्वास करते हैं तो वे दोनों मणिमय कुण्डल आप मुझे दे दें और सत्यवादी बनें ॥१४॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तस्त्वब्रवीद् राजा तमुत्तङ्कं पुनर्वचः।
गच्छ मद्वचनाद् देवीं ब्रूहि देहीति सत्तम ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उनके ऐसा कहनेपर राजा फिर उत्तङ्कसे बोले—'साधुशिरोमणे! आप रानीके पास जाइये और मेरी आज्ञा सुनाकर कहिये। आप मुझे कुण्डल दे दें ॥ १५ ॥

सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिव्रता।
प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ कुण्डले ते न संशयः ॥१६॥

'द्विजश्रेष्ठ! रानी उत्तम व्रतका पालन करनेवाली हैं। जब आप उनसे इस प्रकार कहेंगे, तब वे मेरी आज्ञा मानकर दोनों कुण्डल आपको दे देंगी, इसमें संशय नहीं है' ॥१६॥

उत्तङ्क उवाच

क्व पत्नी भवतः शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर।
स्वयं वापि भवान् पत्नीं किमर्थं नोपसर्पति ॥१७॥

उत्तङ्क बोले—नरेश्वर ! मैं कहाँ आपकी पत्नीको ढूँढ़ता फिरूँगा ? मुझे क्योंकर उनका दर्शन हो सकेगा ? आप स्वयं ही अपनी पत्नीके पास क्यों नहीं चलते ? ॥१७॥

सौदास उवाच

तां द्रक्ष्यति भवानद्य कस्मिंश्चिद् वननिर्झरे।
षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै॥ १८॥

सौदासने कहा—ब्रह्मन् ! उन्हें आज आप वनमें किसी झरनेके पास देखेंगे। यह दिनका छठा भाग है (मैं आहारकी खोजमें हूँ), अतः इस समय मैं उनसे नहीं मिल सकता ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा स ज्ञापयत् स्वप्रयोजनम्॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतभूषण ! राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क मुनि महारानी मदयन्तीके पास गये और उनसे अपने आनेका प्रयोजन बतलाया ॥ १९ ॥

सौदासवचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना।
प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ॥ २० ॥

जनमेजय ! राजा सौदासका संदेश सुनकर विशाललोचना रानीने महाबुद्धिमान् उत्तङ्क मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥

एवमेतद् यथा ब्रह्मन् नानृतं वदसेऽनघ।
अभिज्ञानं तु किंचित् त्वं समानयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'ब्रह्मन् ! आप जो कहते हैं, वह ठीक है। अनघ ! यद्यपि आप असत्य नहीं बोलते हैं, तथापि आप महाराजके ही पाससे उन्हींका संदेश लेकर आये हैं, इस बातका कोई प्रमाण आपको लाना चाहिये ॥ २१ ॥

इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे
देवाश्च यक्षाश्च महर्षयश्च।
तैस्तैरुपायैरपहर्तुकामा-
श्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ॥ २२ ॥

'मेरे ये दोनों मणिमय कुण्डल दिव्य हैं। देवता, यक्ष और महर्षि लोग नाना प्रकारके उपायोंद्वारा इसे चुरा ले जानेकी इच्छा रखते हैं और इसके लिये सदा छि[illegible] ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २२ ॥

निक्षिप्तमेतद् भुवि पन्नगास्तु
रत्नं समासाद्य परामृशेयुः।
यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च
निद्रावशाद् वा परिधर्षयेयुः॥ २३

'यदि इन कुण्डलोंको पृथ्वीपर रख दिया जाय तो ना[illegible] लोग इसे हड़प लेंगे। अपवित्र अवस्थामें इन्हें धारण करनेप[illegible] यक्ष उड़ा ले जायँगे और यदि इन्हें पहनकर नींद ले[illegible] लग जाय तो देवतालोग बलात्कारपूर्वक छीन ले जायँगे।

छिद्रेष्वेतेष्विमे नित्यं ह्रियेते द्विजसत्तम।
देवराक्षसनागानामप्रमत्तेन धार्यते ॥ २४

'द्विजश्रेष्ठ ! इन छिद्रोंमें इन दोनों कुण्डलोंके खो जा[illegible] का भय सदा बना रहता है। जो देवता, राक्षस और नाग[illegible] की ओरसे सावधान होता है, वही इन्हें धारण कर सकता है

स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम।
नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्ततः ॥ २५

'द्विजश्रेष्ठ ! ये दोनों कुण्डल रात-दिन सोना टपक[illegible] रहते हैं। इतना ही नहीं, रातमें ये नक्षत्रों और तारोंकी प्र[illegible] को भी छीने लेते हैं ॥ २५ ॥

एते ह्यामुच्य भगवन् क्षुत्पिपासाभयं कुतः।
विषाग्निश्वापदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ॥ २६

'भगवन् ! इन्हें धारण कर लेनेपर भूख-प्यासका [illegible] कहाँ रह जाता है ? विष, अग्नि और हिंसक जन्तुओंसे [illegible] कभी भय नहीं होता है ॥ २६ ॥

ह्रस्वेन चैते आमुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा।
अनुरूपेण चामुक्ते जायेते तत्प्रमाणके ॥ २७

'छोटे कदका मनुष्य इन कुण्डलोंको पहने तो छोटे [illegible] जाते हैं और बड़ी डील-डौलवाले मनुष्यके पहननेपर उस[illegible] अनुरूप बड़े हो जाते हैं ॥ २७ ॥

एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते।
त्रिषु लोकेषु विज्ञाते तदभिज्ञानमानय ॥ २८

'ऐसे गुणोंसे युक्त होनेके कारण मेरे ये दोनों कुण्[illegible] तीनों लोकोंमें परम प्रशंसित एवं प्रसिद्ध हैं। अतः आ[illegible] महाराजकी आज्ञासे इन्हें लेने आये हैं, इसका कोई पह[illegible] या प्रमाण लाइये' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्क मुनिका उपाख्यानविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

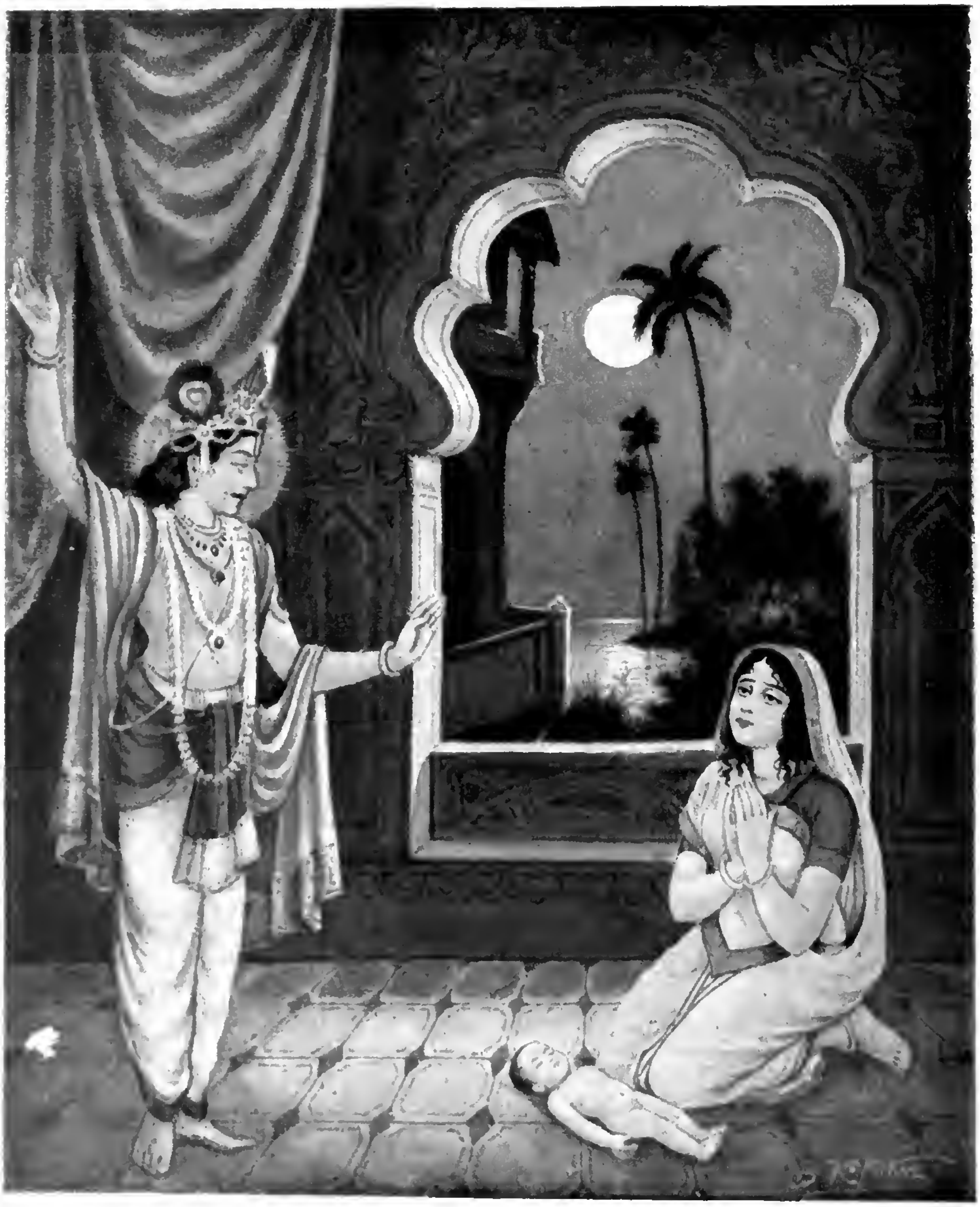

भगवान श्रीकृष्णके द्वारा उत्तराके मृत बालकको जिलानेकी प्रतिज्ञा

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कुण्डल लेकर उत्तङ्कका लौटना, मार्गमें उन कुण्डलोंका अपहरण होना तथा इन्द्र और अग्निदेवकी कृपासे फिर उन्हें पाकर गुरुपत्नीको देना

वैशम्पायन उवाच

स मित्रसहमासाद्य अभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी मदयन्तीकी बात सुनकर उत्तङ्कने महाराज मित्रसह (सौदास) के पास जाकर उनसे कोई पहचान माँगी । तब इक्ष्वाकुवंशियोंमें श्रेष्ठ उन नरेशने पहचानके रूपमें रानीको सुनानेके लिये निम्नाङ्कित सन्देश दिया ॥ १ ॥

सौदास उवाच

न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः ।
एतन्मे मतमाज्ञाय प्रयच्छ मणिकुण्डले ॥ २ ॥

सौदास बोले—प्रिये ! मैं जिस दुर्गतिमें पड़ा हूँ, यह मेरे लिये कल्याण करनेवाली नहीं है तथा इसके सिवा अब दूसरी कोई भी गति नहीं है । मेरे इस विचारको जानकर तुम अपने दोनों मणिमय कुण्डल इन ब्राह्मणदेवताको दे डालो ॥ २ ॥

इत्युक्तस्तामुत्तङ्कस्तु भर्तुर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा च सा तदा प्रादात् ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ३ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने रानीके पास जाकर पतिकी कही हुई बात ज्यों-की-त्यों दुहरा दी । महारानी मदयन्तीने स्वामीका वचन सुनकर उसी समय अपने मणिमय कुण्डल उत्तङ्क मुनिको दे दिये ॥ ३ ॥

अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् ।
किमेतद् गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

उन कुण्डलोंको पाकर उत्तङ्क मुनि पुनः राजाके पास आये और इस प्रकार बोले—'पृथ्वीनाथ ! आपके गूढ़ वचनका क्या अभिप्राय था, यह मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ४ ॥

सौदास उवाच

प्रजानिसर्गाद् विप्रान् वै क्षत्रियाः पूजयन्ति ह ।
विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति वै ॥ ५ ॥

सौदास बोले—ब्रह्मन् ! क्षत्रियलोग सृष्टिके प्रारम्भकालसे ब्राह्मणोंकी पूजा करते आ रहे हैं तथापि ब्राह्मणोंकी ओरसे भी क्षत्रियोंके लिये बहुत-से दोष प्रकट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद् दोषमवाप्तवान् ।
गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ॥ ६ ॥

मैं सदा ही ब्राह्मणोंको प्रणाम किया करता था, किंतु एक ब्राह्मणके ही शापसे मुझे यह दोष—यह दुर्गति प्राप्त हुई है । मैं मदयन्तीके साथ यहाँ रहता हूँ, मुझे इस दुर्गतिसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ॥ ६ ॥

न चान्यामपि पश्यामि गतिं गतिमतां वर ।
स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ॥ ७ ॥

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ विप्रवर ! अब इस लोकमें रहकर सुख पाना और परलोकमें स्वर्गीय सुख भोगनेके लिये मुझे दूसरी कोई गति नहीं दीख पड़ती ॥ ७ ॥

न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः ।
शक्यं हि लोके स्थातुं वै प्रेत्य वा सुखमेधितुम् ॥ ८ ॥

कोई भी राजा विशेषरूपसे ब्राह्मणोंके साथ विरोध करके न तो इसी लोकमें चैनसे रह सकता है और न परलोकमें ही सुख पा सकता है । यही मेरे गूढ़ संदेशका तात्पर्य है ॥ ८ ॥

तदिष्टे ते मया दत्ते एते स्वे मणिकुण्डले ।
यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तं कुरुष्व मे ॥ ९ ॥

अच्छा अब आपकी इच्छाके अनुसार ये अपने मणिमय कुण्डल मैंने आपको दे दिये । अब आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह सफल कीजिये ॥ ९ ॥

उत्तङ्क उवाच

राजंस्तथेह कर्तास्मि पुनरेष्यामि ते वशम् ।
प्रश्नं च कंचित् प्रष्टुं त्वां निवृत्तोऽस्मि परंतप ॥ १० ॥

उत्तङ्कने कहा—राजन् ! शत्रुसंतापी नरेश ! मैं अपनी प्रतिज्ञाका पालन करूँगा, पुनः आपके अधीन हो जाऊँगा; किंतु इस समय एक प्रश्न पूछनेके लिये आपके पास लौटकर आया हूँ ॥ १० ॥

सौदास उवाच

ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्तास्मि ते वचः ।
छेत्तास्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ११ ॥

सौदासने कहा—विप्रवर ! आप इच्छानुसार प्रश्न कीजिये ! मैं आपकी बातका उत्तर ँगा । आपके मनमें जो भी संदेह होगा अभी उसका निवारण करूँगा । इसमें मुझे कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच

प्राहुर्वाक्संयतं विप्रं धर्मनैपुणदर्शिनः ।
मित्रेषु यश्च विषमः स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ १२ ॥

उत्तङ्कने कहा—राजन् ! धर्मनिपुण विद्वानोंने उसीको

ब्राह्मण कहा है, जो अपनी वाणीका संयम करता हो—सत्यवादी हो। जो मित्रोंके साथ विषमताका व्यवहार करता है, उसे चोर माना गया है ॥ १२ ॥

स भवान् मित्रतामद्य सम्प्राप्तो मम पार्थिव ।
स मे बुद्धिं प्रयच्छस्व सम्मतां पुरुषर्षभ ॥ १३॥

पृथ्वीनाथ ! पुरुषप्रवर ! आज आपके साथ मेरी मित्रता हो गयी है, इसलिये आप मुझे अच्छी सलाह दीजिये ॥१३॥

अवाप्तार्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः ।
भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम न वेति वै ॥ १४ ॥

आज यहाँ मेरा मनोरथ सफल हो गया है और आप नरभक्षी राक्षस हो गये हैं। ऐसी दशामें आपके पास मेरा फिर लौटकर आना उचित है या नहीं ॥ १४ ॥

सौदास उवाच

क्षमं चेदिह वक्तव्यं तव द्विजवरोत्तम ।
मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथंचन ॥ १५ ॥

सौदासने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! यदि यहाँ मुझे उचित बात कहनी है, तब तो मैं यही कहूँगा कि ब्राह्मणोत्तम ! आपको मेरे पास किसी तरह नहीं आना चाहिये ॥ १५ ॥

एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह ।
आगच्छतो हि ते विप्र भवेन्मृत्युर्न संशयः ॥ १६ ॥

भृगुकुलभूषण विप्र ! ऐसा करनेमें ही मैं आपकी भलाई देखता हूँ। यदि आयेंगे तो आपकी मृत्यु हो जायगी। इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम्।
अनुज्ञाप्य स राजानमहल्यां प्रतिजग्मिवान् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा सौदासके मुखसे उचित और हितकी बात सुनकर उनकी आज्ञा ले उत्तङ्कमुनि अहल्याके पास चल दिये॥

गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः ।
जवेन महता प्रायाद् गौतमस्याश्रमं प्रति ॥ १८ ॥

गुरुपत्नीका प्रिय करनेवाले उत्तङ्क दोनों दिव्य कुण्डल लेकर बड़े वेगसे गौतमके आश्रमकी ओर बढ़े ॥ १८ ॥

यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याभिभाषितम् ।
तथा ते कुण्डले बद्ध्वा तदा कृष्णाजिनेऽनयत् ॥

रानी मदयन्तीने उन कुण्डलोंकी रक्षाके लिये जैसी विधि बतायी थी, उसी प्रकार उन्हें काले मृगचर्ममें बाँधकर वे ले जा रहे थे ॥ १९ ॥

स कस्मिंश्चित् क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् ।
बिल्वं ददर्श विप्रर्षिरारुरोह च तं ततः ॥ २० ॥

शाखामासज्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिंदम ।
पातयामास बिल्वानि तदा स द्विजपुङ्गवः ॥ २१ ॥

शत्रुदमन ! रास्तेमें एक स्थानमें उन्हें बड़े जोरकी भूख लगी। वहाँ पास ही फलोंके भारसे झुका हुआ एक बेलका वृक्ष दिखायी दिया। ब्रह्मर्षि उत्तङ्क उस वृक्षपर चढ़ गये और उस काले मृगचर्मको उन्होंने उसकी एक शाखामें बाँध दिया। फिर वे ब्राह्मणपुङ्गव उस समय वहाँ बेल तोड़-तोड़कर गिराने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथ पातयमानस्य बिल्वापहृतचक्षुषः ।
न्यपतंस्तानि बिल्वानि तस्मिन्नेवाजिने विभो॥ २२ ॥
यस्मिंस्ते कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै ।

उस समय उनकी दृष्टि बेलोंपर ही लगी हुई थी (वे कहाँ गिरते हैं, इसकी ओर उनका ध्यान नहीं था)। प्रभो ! उनके तोड़े हुए प्रायः सभी बेल उस मृगछालापर ही, जिसमें उन विप्रवरने वे दोनों कुण्डल बाँध रखे थे, गिरे ।

बिल्वप्रहारैस्तस्याथ व्यशीर्यद् बन्धनं ततः ॥ २३ ॥
सकुण्डलं तदजिनं पपात सहसा तरोः ।

उन बेलोंकी चोटसे बन्धन टूट गया और कुण्डलसहित वह मृगचर्म सहसा वृक्षसे नीचे जा गिरा ॥ २३½ ॥

विशीर्णबन्धने तस्मिन् गते कृष्णाजिने महीम्॥ २४॥
अपश्यद् भुजगः कश्चित् ते तत्र मणिकुण्डले।
ऐरावतकुलोद्भूतः शीघ्रो भूत्वा तदा हि सः ॥ २५ ॥
विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ स कुण्डले ।

बन्धन टूट जानेपर उस काले मृगछालेके पृथ्वीपर गिरते ही किसी सर्पकी दृष्टि उसपर पड़ी। वह ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ तक्षक था। उसने मृगछालाके भीतर रक्खे हुए उस मणिमय कुण्डलोंको देखा। फिर तो बड़ी शीघ्रता करके वह उन कुण्डलोंको दाँतोंमें दबाकर एक बाँबीमें घुस गया।

ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ॥ २६ ॥
पपात वृक्षात् सोद्वेगो दुःखात् परमकोपनः ।
स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत् तदा ॥ २७ ॥

सर्पके द्वारा कुण्डलोंका अपहरण होता देख उत्तङ्क मुनि उद्विग्न हो उठे और अत्यन्त क्रोधमें भरकर वृक्षसे कूद पड़े। आकर एक काठका डंडा हाथमें ले उसीसे उस बाँबीको खोदने लगे ॥ २६-२७ ॥

अहानि त्रिंशदव्यग्रः पञ्च चान्यानि भारत ।
क्रोधामर्षाभिसंतप्तस्तदा ब्राह्मणसत्तमः ॥ २८ ॥

भरतनन्दन ! ब्राह्मणशिरोमणि उत्तङ्क क्रोध और अमर्षसे संतप्त हो लगातार पैंतीस दिनोंतक बिना किसी घबराहटके बिल खोदनेके कार्यमें जुटे रहे ॥ २८ ॥

तस्य वेगमसह्यं तमसहन्ती वसुन्धरा ।
दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमाकुला ॥ २९ ॥

उनके उस असह्य वेगको पृथ्वी भी नहीं सह सकी। वह डंडेकी चोटसे घायल एवं अत्यन्त व्याकुल होकर डगमगाने लगी ॥ २९ ॥

ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम् ।
नागलोकस्य पन्थानं कर्तुकामस्य निश्चयात्॥ ३० ॥
रथेन हरियुक्तेन तं देशमुपजग्मिवान् ।
वज्रपाणिर्महातेजास्तं ददर्श द्विजोत्तमम् ॥ ३१॥

उत्तङ्क नागलोकमें जानेका मार्ग बनानेके लिये निश्चय करके धरती खोदते ही जा रहे थे कि महातेजस्वी वज्रधारी इन्द्र घोड़े जुते हुए रथपर बैठकर उस स्थानपर आ पहुँचे और विप्रवर उत्तङ्कसे मिले ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः ।
उत्तङ्कमब्रवीद् वाक्यं नैतच्छक्यं त्वयेति वै ॥ ३२॥
इतो हि नागलोको वै योजनानि सहस्रशः ।
न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इन्द्र उत्तङ्कके दुःखसे दुखी थे। अतः ब्राह्मणका वेष बनाकर उनसे बोले—'ब्रह्मन्!

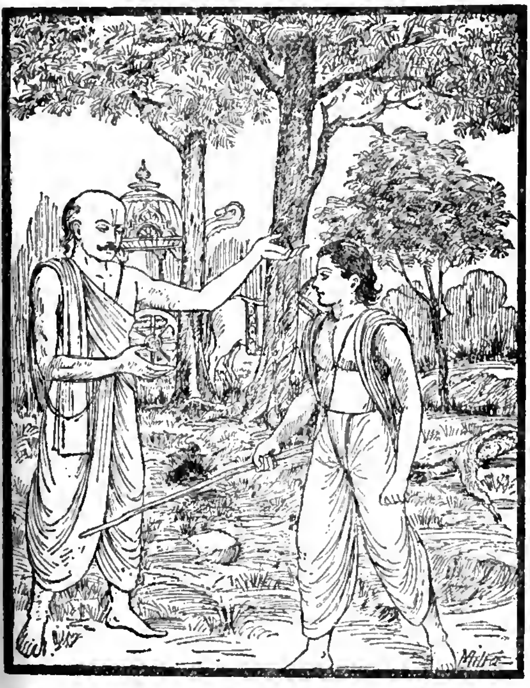

यह काम तुम्हारे वशका नहीं है। नागलोक यहाँसे हजारों योजन दूर है। इस काठके डंडेसे वहाँका रास्ता बने, यह कार्य सधनेवाला नहीं जान पड़ता' ॥ ३२-३३ ॥

उत्तङ्क उवाच

नागलोके यदि ब्रह्मन् न शक्ये कुण्डले मया ।
प्राप्तुं प्राणान् विमोक्ष्यामि पश्यतस्तु द्विजोत्तम॥३४॥

उत्तङ्कने कहा—ब्रह्मन्! द्विजश्रेष्ठ! यदि नागलोकमें जाकर उन कुण्डलोंको प्राप्त करना मेरे लिये असम्भव है तो मैं आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

यदा स नाशकत् तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा ।
वज्रपाणिस्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वज्रधारी इन्द्र जब किसी तरह उत्तङ्कको अपने निश्चयसे न हटा सके, तब उन्होंने उनके डंडेके अग्रभागमें अपने वज्रास्त्रका संयोग कर दिया॥

ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्यमाणा वसुन्धरा ।
नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ॥ ३६ ॥

जनमेजय! उस वज्रके प्रहारसे विदीर्ण होकर पृथ्वीने नागलोकका रास्ता प्रकट कर दिया ॥ ३६ ॥

स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह ।
ददर्श नागलोकं च योजनानि सहस्रशः ॥ ३७ ॥

उसी मार्गसे उन्होंने नागलोकमें प्रवेश किया और देखा कि नागोंका लोक सहस्रों योजन विस्तृत है ॥ ३७ ॥

प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्तास्वलंकृतैः ।
उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा॥ ३८ ॥

महाभाग! उसके चारों ओर दिव्य परकोटे बने हुए हैं; जो सोनेकी ईंटोंसे बने हुए हैं और मणि-मुक्ताओंसे अलंकृत हैं ॥ ३८ ॥

वापीः स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः।
ददर्श वृक्षांश्च बहून् नानाद्विजगणायुतान् ॥ ३९ ॥

वहाँ स्फटिक मणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे सुशोभित बहुत-सी बावड़ियों, निर्मल जलवाली अनेकानेक नदियों और विहगवृन्दसे विभूषित बहुत-से मनोहर वृक्षोंको भी उन्होंने देखा ॥ ३९ ॥

तस्य लोकस्य च द्वारं स ददर्श भृगूद्वहः ।
पञ्चयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४० ॥

भृगुकुलतिलक उत्तङ्कने नागलोकका बाहरी दरवाजा देखा, जो सौ योजन लंबा और पाँच योजन चौड़ा था ॥

नागलोकमुत्तङ्कस्तु प्रेक्ष्य दीनोऽभवत् तदा ।
निराशश्चाभवत् तत्र कुण्डलाहरणे पुनः ॥ ४१ ॥

नागलोककी वह विशालता देखकर उत्तङ्क मुनि उस समय दीन—हतोत्साह हो गये। अब उन्हें फिर कुण्डल पानेकी आशा नहीं रही ॥ ४१ ॥

तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णश्वेतवालधिः ।
ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ४२ ॥

इसी समय उनके पास एक घोड़ा आया, जिसकी पूँछके बाल काले और सफेद थे। उसके नेत्र और मुँह लाल रंगके थे। कुरुनन्दन! वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ॥

धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्र लप्स्यसे ।
ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ॥ ४३ ॥

उसने उत्तङ्कसे कहा—'विप्रवर ! तुम मेरे इस अपान मार्गमें फूँक मारो । ऐसा करनेसे ऐरावतके पुत्रने जो तुम्हारे दोनों कुण्डल लाये हैं, वे तुम्हें मिल जायँगे ॥ ४३ ॥

मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथंचन ।
त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याश्रमे तदा ॥ ४४ ॥

'बेटा ! इस कार्यमें तुम किसी तरह घृणा न करो; क्योंकि गौतमके आश्रममें रहते समय तुमने अनेक बार ऐसा किया है' ॥

उत्तङ्क उवाच

कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाश्रमं प्रति ।
यन्मया चीर्णपूर्वं हि श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् ॥ ४५ ॥

उत्तङ्कने पूछा—गुरुदेवके आश्रमपर मैंने कभी आपका दर्शन किया है, इसका ज्ञान मुझे कैसे हो ? और आपके कथनानुसार वहाँ रहते समय पहले जो कार्य मैं अनेक बार कर चुका हूँ, वह क्या है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥

अश्व उवाच

गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलनं जातवेदसम् ।
त्वया ह्यहं सदा विप्र गुरोरर्थेऽभिपूजितः ॥ ४६ ॥
विधिवत् सततं विप्र शुचिना भृगुनन्दन ।
तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ॥ ४७ ॥

घोड़ेने कहा—ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारे गुरुका भी गुरु जातवेदा अग्नि हूँ, यह तुम अच्छी तरह जान लो । भृगुनन्दन ! तुमने अपने गुरुके लिये सदा पवित्र रहकर विधिपूर्वक मेरी पूजा की है । इसलिये मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा । अब तुम मेरे बताये अनुसार कार्य करो, विलम्ब न करो ॥ ४६-४७ ॥

इत्युक्तस्तु तथाकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना ।
घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ४८ ॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने उनकी आज्ञाका पालन किया । तब घृतमयी अर्चिवाले अग्निदेव प्रसन्न होकर नागलोकको जला डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो धम्यतस्तत्र भारत ।
घनः प्रादुरभूद् धूमो नागलोकभयावहः ॥ ४९ ॥

भारत ! जिस समय उत्तङ्कने फूँक मारना आरम्भ किया, उसी समय उस अश्वरूपधारी अग्निके रोम-रोमसे घनीभूत धूम उठने लगा; जो नागलोकको भयभीत करनेवाला था ॥

तेन धूमेन महता वर्धमानेन भारत ।
नागलोके महाराज न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५० ॥

महाराज भरतनन्दन ! बढ़ते हुए उस महान् धूमसे आच्छन्न हुए नागलोकमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वमैरावतनिवेशनम् ।
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ॥ ५१ ॥
न प्राकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत ।
निहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ॥ ५२ ॥

जनमेजय ! ऐरावतके सारे घरमें हाहाकार मच गया । भारत ! वासुकि आदि नागोंके घर धूमसे आच्छादित हो गये । उनमें अँधेरा छा गया । वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो कुहासासे ढके हुए वन और पर्वत हों ॥ ५१-५२ ॥

ते धूमरक्तनयना वह्नितेजोऽभितापिताः ।
आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्य महात्मनः ॥ ५३ ॥

धुआँ लगनेसे नागोंकी आँखें लाल हो गयी थीं । वे आगकी आँचसे तप रहे थे । महात्मा भार्गव (उत्तङ्क) का क्या निश्चय है, यह जाननेके लिये सभी एकत्र होकर उनके पास आये ॥ ५३ ॥

श्रुत्वा च निश्चयं तस्य महर्षेरतितेजसः ।
सम्भ्रान्तनयनाः सर्वे पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ ५४ ॥

उस समय उन अत्यन्त तेजस्वी महर्षिका निश्चय सुनकर सबकी आँखें भयसे कातर हो गयीं तथा सबने उनका विधिवत् पूजन किया ॥ ५४ ॥

सर्वे प्राञ्जलयो नागा वृद्धबालपुरोगमाः ।
शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति ॥ ५५ ॥

अन्तमें सभी नाग बूढ़े और बालकोंको आगे करके हाथ जोड़, मस्तक झुका प्रणाम करके बोले—'भगवन् ! हमपर प्रसन्न हो जाइये' ॥ ५५ ॥

प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
प्रायच्छन् कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते ॥ ५६

महारानी मदयन्तीका उत्तङ्कको कुण्डल-दान

उत्तङ्कका गुरुपत्नीको कुण्डल-अर्पण

इस प्रकार ब्राह्मण देवताको प्रसन्न करके नागोंने उन्हें [अर्घ्]य और अर्घ्य निवेदन किया और वे दोनों परमपूजित दिव्य [कु]ण्डल भी वापस कर दिये ॥ ५६ ॥

[त]तः स पूजितो नागैस्तदोत्तङ्कः प्रतापवान्।
[अ]ग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम गुरुसद्म तत् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर नागोंसे सम्मानित होकर प्रतापी उत्तङ्क मुनि [अ]ग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके गुरुके आश्रमकी ओर चल दिये ॥

[स] गत्वा त्वरितो राजन् गौतमस्य निवेशनम्।
[प्र]ायच्छत् कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यास्तदानघ॥ ५८ ॥

निष्पाप नरेश ! वहाँ गौतमके घरमें शीघ्रतापूर्वक पहुँच[क]र उन्होंने गुरुपत्नीको वे दोनों दिव्य कुण्डल दे दिये ॥५८॥

[व]ासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय।
सर्वं शशंस गुरवे यथावद् द्विजसत्तमः ॥ ५९ ॥

जनमेजय ! वासुकि आदि नागोंके यहाँ जो घटना घटी थी, उसका सारा समाचार द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने अपने गुरु महर्षि गौतमसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ ५९ ॥

एवं महात्मना तेन त्रीँल्लोकान् जनमेजय।
परिक्रम्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ६० ॥

जनमेजय ! इस प्रकार महात्मा उत्तङ्कने तीनों लोकोंमें घूमकर वे मणिमय दिव्य कुण्डल प्राप्त किये थे ॥ ६० ॥

एवंप्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ।
परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तङ्क मुनि, जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, ऐसे ही प्रभावशाली और महान् तपस्वी थे ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कका उपाख्यानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

[भ]गवान् श्रीकृष्णका द्वारकामें जाकर रैवतक पर्वतपर महोत्सवमें सम्मिलित होना और सबसे मिलना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कस्य वरं दत्त्वा गोविन्दो द्विजसत्तम।
[अ]त ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! महायशस्वी महाबाहु [भ]गवान् श्रीकृष्णने उत्तङ्कको वरदान देनेके पश्चात् क्या [क]िया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्काय वरं दत्त्वा प्रायात् सात्यकिना सह।
द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—उत्तङ्कको वर देकर भगवान् श्रीकृष्ण महान् वेगशाली शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा सात्यकि (और सुभद्रा) के साथ पुनः द्वारकाकी ओर ही चल दिये॥

सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥ ३ ॥
वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च।
उपायात् पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ॥ ४ ॥

मार्गमें अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों और पर्वतोंको लाँघकर वे परम रमणीय द्वारका नगरीमें जा पहुँचे। महाराज ! उस समय वहाँ रैवतक पर्वतपर कोई बड़ा भारी उत्सव मनाया जा रहा था। सात्यकिको साथ लिये कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय उस महोत्सवमें पधारे ॥३-४॥

अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः।
बभौ रत्नमयैः कोशैः संवृतः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर ! वह पर्वत नाना प्रकारके विचित्र रत्नमय ढेरोंद्वारा सजाया गया था, उस समय उसकी अद्भुत शोभा हो रही थी। ॥ ५ ॥

काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः सुमनोभिस्तथैव च।
वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैस्तथैव च ॥ ६ ॥

सोनेकी सुन्दर मालाओं, भाँति-भाँतिके पुष्पों, वस्त्रों और कल्पवृक्षोंसे घिरे हुए उस महान् शैलकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः।
गुहानिर्झरदेशेषु दिवाभूतो बभूव ह ॥ ७ ॥

वृक्षके आकारमें सजाये हुए सोनेके दीप उस स्थानकी शोभाको और भी उद्दीप्त कर रहे थे। वहाँकी गुफाओं और झरनोंके स्थानोंमें दिनके समान प्रकाश हो रहा था ॥ ७ ॥

पताकाभिर्विचित्राभिः सघण्टाभिः समन्ततः।
पुम्भिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत् ॥ ८ ॥

चारों ओर विचित्र पताकाएँ फहरा रही थीं, उनमें बँधी हुई घण्टियाँ बज रही थीं और स्त्रियों तथा पुरुषोंके सुमधुर शब्द वहाँ व्याप्त हो रहे थे। इससे वह पर्वत सङ्गीतमय-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ८ ॥

अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव।
मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसां च भारत ॥ ९ ॥
गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः।

जैसे मुनिगणोंसे मेरुकी शोभा होती है, उसी प्रकार द्वारकावासियोंके समागमसे वह पर्वत अत्यन्त दर्शनीय हो

गया था। भरतनन्दन ! उस पर्वतराजके शिखरपर हर्षोन्मत्त होकर गाते हुए स्त्री-पुरुषोंका सुमधुर शब्द मानो स्वर्गलोक-तक व्याप्त हो रहा था ॥ ९½ ॥

प्रमत्तमत्तसम्मत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुलः ॥ १० ॥
तथा किलकिलाशब्दैर्भूधरोऽभून्मनोहरः ।

कुछ लोग क्रीडा आदिमें आसक्त होकर दूसरे कार्योंकी ओर ध्यान नहीं देते थे, कितने ही हर्षसे मतवाले हो रहे थे, कुछ लोग कूदते-फाँदते, उच्च स्वरसे कोलाहल करते और किलकारियाँ भरते थे। इन सभी शब्दोंसे गूँजता हुआ पर्वत परम मनोहर जान पड़ता था ॥ १०½ ॥

विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ॥ ११ ॥
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदङ्गवान् ।
सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्यभोज्येन चैव ह ॥ १२ ॥
दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम् ।
बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ॥ १३ ॥

उस महान् पर्वतपर होनेवाला वह महोत्सव परम मङ्गल-मय प्रतीत होता था। वहाँ दूकानें और बाजार लगी थीं। भक्ष्य-भोज्य पदार्थ यथेष्ट रूपसे प्राप्त होते थे। सब ओर घूमने-फिरनेकी सुविधा थी। वस्त्रों और मालाओंके ढेर लगे थे। वीणा, वेणु और मृदङ्ग बज रहे थे। इन सबके कारण वहाँकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँ दीनों, अन्धों और अनाथोंके लिये निरन्तर सुरा-मैरेयमिश्रित भक्ष्य-भोज्य पदार्थ दिये जाते थे ॥ ११–१३ ॥

पुण्यावसथवान् वीर पुण्यकृद्भिर्निषेवितः ।
विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ॥ १४ ॥
स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ ।

वीरवर ! उस पर्वतपर पुण्यानुष्ठानके लिये बहुत से गृह और आश्रम बने थे, जिनमें पुण्यात्मा पुरुष निवास करते थे। रैवतक पर्वतके उस महोत्सवमें वृष्णिवंशी वीरोंका विहार-स्थल बना हुआ था। वह गिरिप्रदेश बहुसंख्यक गृहोंसे व्याप्त होनेके कारण देवलोकके समान शोभा पाता था ॥ १४½ ॥

तदा च कृष्णसांनिध्यमासाद्य भरतर्षभ ॥ १५ ॥
(स्तुवन्त्यन्तर्हिता देवा गन्धर्वाश्च सहर्षिभिः ।

भरतश्रेष्ठ ! उस समय देवता, गन्धर्व और ऋषि अदृश्य-रूपसे श्रीकृष्णके निकट आकर उनकी स्तुति करने लगे ॥

देवगन्धर्वा ऊचुः

साधकः सर्वधर्माणामसुराणां विनाशकः ।
त्वं स्रष्टा सृज्यमाधारं कारणं धर्मवेदवित् ॥
त्वया यत् क्रियते देव न जानीमोऽत्र मायया ।
केवलं त्वाभिजानीमः शरणं परमेश्वरम् ॥
ब्रह्मादीनां च गोविन्द सांनिध्यं शरणं नमः ॥

देवता और गन्धर्व बोले—भगवन् ! आप समस्त धर्मोंके साधक और असुरोंके विनाशक हैं। आप ही स्रष्टा, आप ही सृज्य जगत् और आप ही उसके आधार हैं। आप ही सबके कारण तथा धर्म और वेदके ज्ञाता हैं। देव ! आप अपनी मायासे जो कुछ करते हैं, हमलोग उसे नहीं जान पाते हैं। हम केवल आपको जानते हैं। आप ही सबके शरण-दाता और परमेश्वर हैं। गोविन्द ! आप ब्रह्मा आदिको भी सामीप्य और शरण प्रदान करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्तुतेऽमानुषैश्च पूजिते देवकीसुते ।)
शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार मानवेतर प्राणियों—देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा जब देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी स्तुति और पूजा की जा रही थी, उस समय वह पर्वतराज रैवतक इन्द्रभवनके समान जान पड़ता था ॥ १५½ ॥

ततः सम्पूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ॥ १६ ॥
गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम् ।

तदनन्तर सबसे सम्मानित हो भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुन्दर भवनमें प्रवेश किया और सात्यकि भी अपने घरमें गये ॥ १६½ ॥

विवेश च प्रहृष्टात्मा चिरकालप्रवासतः ॥ १७ ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः ।

जैसे इन्द्र दानवोंपर महान् पराक्रम प्रकट करके आते हों, उसी प्रकार दुष्कर कर्म करके दीर्घकालके प्रवाससे प्रसन्न-चित्त होकर लौटे हुए भगवान् श्रीकृष्णने अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ १७½ ॥

उपायान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ॥ १८ ॥
अभ्यगच्छन् महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ।

जैसे देवता देवराज इन्द्रकी अगवानी करते हैं, उसी प्रकार भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके यादवोंने अपने निकट आते हुए महात्मा श्रीकृष्णका आगे बढ़कर स्वागत किया ।

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा ।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तदा ॥ १९ ॥

मेधावी श्रीकृष्णने उन सबका आदर करके उनका कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १९ ॥

ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः ।
उपोपविष्टः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥ २० ॥

उन दोनोंने उन महाबाहु श्रीकृष्णको अपनी छातीसे लगा लिया और मीठे वचनोंद्वारा उन्हें सान्त्वना दी। इसके

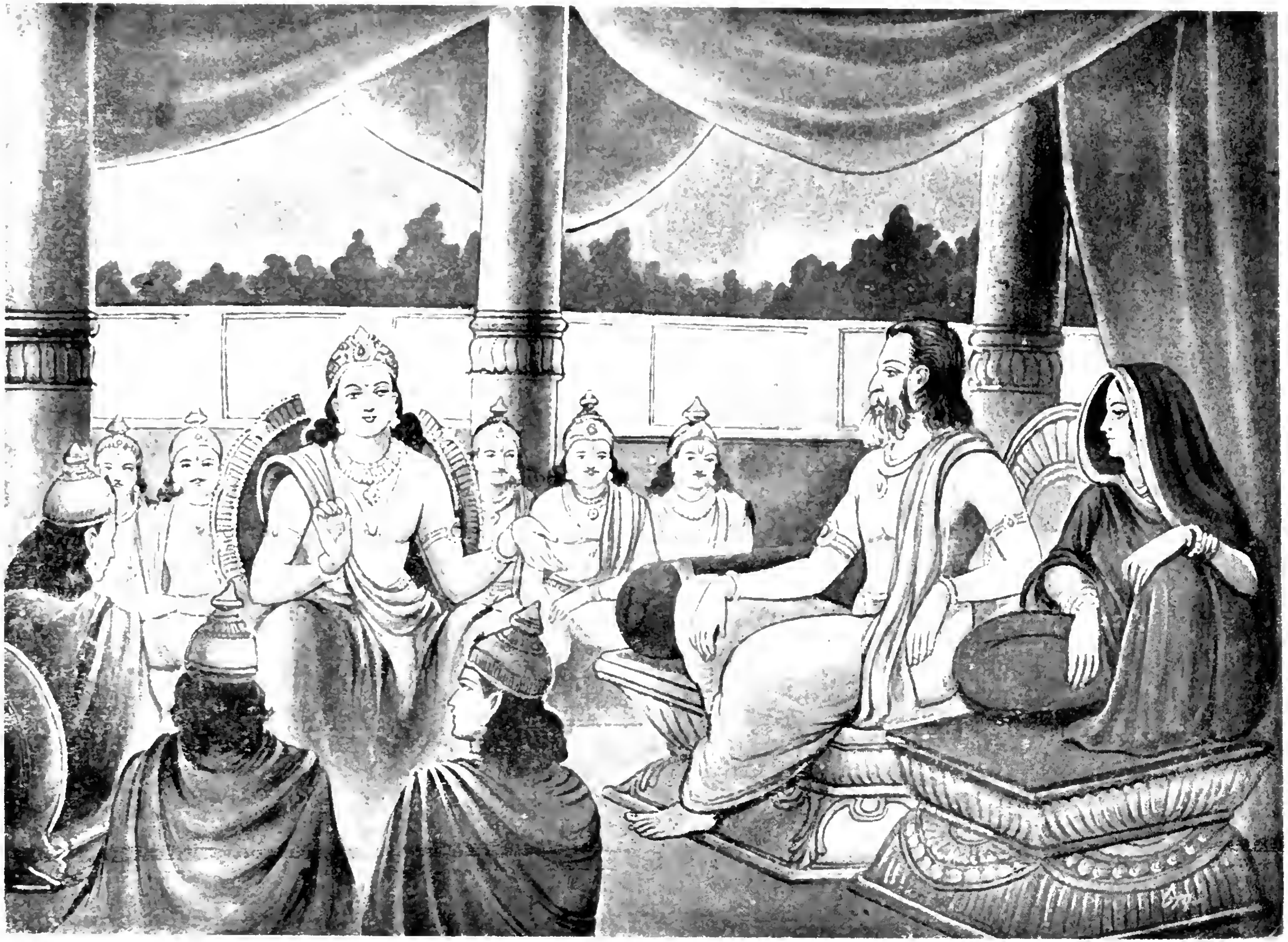

भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता-माता आदिको महाभारतका वृत्तान्त सुना रहे हैं

द सभी वृष्णिवंशी उनको घेरकर आसपास बैठ गये ॥

विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावनेजनः ।
थयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥ २१ ॥

महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब हाथ-पैर धोकर विश्राम कर चुके, तब पिताके पूछनेपर उन्होंने उस महायुद्धकी सारी घटना कह सुनायी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाप्रवेशविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

वसुदेवजीके पूछनेपर श्रीकृष्णका उन्हें महाभारत युद्धका वृत्तान्त संक्षेपसे सुनाना

वसुदेव उवाच

तवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्भुतम् ।
राणां वदतां तत्र कथं वा तेषु नित्यशः ॥ १ ॥

वसुदेवजीने पूछा—वृष्णिनन्दन ! मैं प्रतिदिन तचीतके प्रसङ्गमें लोगोंके मुँहसे सुनता आ रहा हूँ कि हाभारत युद्ध बड़ा अद्भुत हुआ था। इसलिये पूछता हूँ कौरवों और पाण्डवोंमें किस तरह युद्ध हुआ ? ॥ १ ॥

ं तु प्रत्यक्षदर्शी च रूपज्ञश्च महाभुज ।
स्मात् प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ ॥ २ ॥

महाबाहो ! तुम तो उस युद्धके प्रत्यक्षदर्शी हो और सके स्वरूपको भी भलीभाँति जानते हो; अतः अनघ ! सके उस युद्धका यथार्थ वर्णन करो ॥ २ ॥

था तदभवद् युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
ीष्मकर्णकृपद्रोणशल्यादिभिरनुत्तमम् ॥ ३ ॥

महात्मा पाण्डवोंका भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य ौर शल्य आदिके साथ जो परम उत्तम युद्ध हुआ था, वह स तरह हुआ ? ॥ ३ ॥

न्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणामनेकशः ।
नानावेषाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ॥ ४ ॥

दूसरे-दूसरे देशोंमें निवास करनेवाले, भाँति-भाँतिकी शभूषा और आकृतिवाले जो अस्त्रविद्यामें निपुण बहुसंख्यक त्रिय वीर थे, उन्होंने भी किस प्रकार युद्ध किया था ? ॥

वैशम्पायन उवाच

त्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके ।
शस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—माताके निकट पिताके इस कार पूछनेपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण कौरव वीरोंके ग्राममें मारे जानेका वह प्रसङ्ग यथावत् रूपसे सुनाने लगे ॥

वासुदेव उवाच

त्यद्भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
हुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—पिताजी ! महाभारत युद्धमें काममें आनेवाले मनस्वी क्षत्रिय वीरोंके कर्म बड़े अद्भुत हैं। वे इतने अधिक हैं कि यदि विस्तारके साथ उनका वर्णन किया जाय तो सौ वर्षोंमें भी उनकी समाप्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे शृणु ।
कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ॥ ७ ॥

अतः देवताओंके समान तेजस्वी तात ! मैं मुख्य-मुख्य घटनाओंको ही संक्षेपसे सुना रहा हूँ, आप उन भूपतियोंके कर्म यथावत् रूपसे सुनिये ॥ ७ ॥

भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः ।
कौरव्यः कौरवेन्द्राणां देवानामिव वासवः ॥ ८ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंकी सेनाके स्वामी हैं, उसी प्रकार कुरुकुलतिलक भीष्म भी श्रेष्ठ कौरववीरोंके सेनापति बनाये गये थे। वे ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके संरक्षक थे ॥ ८ ॥

शिखण्डी पाण्डुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः ।
बभूव रक्षितो धीमान् श्रीमता सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

पाण्डवोंके सेनानायक शिखण्डी थे, जो सात अक्षौहिणी सेनाओंका संचालन करते थे। बुद्धिमान् शिखण्डी श्रीमान् सव्यसाची अर्जुनके द्वारा सुरक्षित थे ॥ ९ ॥

तेषां तदभवद् युद्धं दशाहानि महात्मनाम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

उन महामनस्वी कौरवों और पाण्डवोंमें दस दिनोंतक महान् रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ १० ॥

ततः शिखण्डी गाङ्गेयं युध्यमानं महाहवे ।
जघान बहुभिर्बाणैः सह गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥

फिर दसवें दिन शिखण्डीने महासमरमें जूझते हुए गङ्गानन्दन भीष्मको गाण्डीवधारी अर्जुनकी सहायतासे बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बहुत घायल कर दिया ॥ ११ ॥

अकरोत् स ततः कालं शरतल्पगतो मुनिः ।
अयनं दक्षिणं हित्वा सम्प्राप्ते चोत्तरायणे ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् भीष्मजी बाणशय्यापर पड़ गये। जबतक

दक्षिणायन रहा है, वे मुनिव्रतका पालन करते हुए शरशय्यापर सोते रहे हैं। दक्षिणायन समाप्त होकर उत्तरायणके आनेपर ही उन्होंने मृत्यु स्वीकार की है ॥ १२ ॥

ततः सेनापतिरभूद् द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः।
प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य काव्यो दैत्यपतेरिव ॥ १३ ॥

तदनन्तर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण कौरवपक्षके सेनापति बनाये गये। वे कौरवराजकी सेनाके प्रमुख वीर थे, मानो दैत्यराज बलिकी सेनाके प्रधान संरक्षक शुक्राचार्य हों॥

अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विजसत्तमः।
संवृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ॥ १४ ॥

उस समय मरनेसे बची हुई नौ अक्षौहिणी सेना उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी थी। वे स्वयं तो युद्धका हौसला रखते ही थे, कृपाचार्य और कर्ण भी सदा उनकी रक्षा करते रहते थे ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित्।
गुप्तो भीमेन मेधावी मित्रेण वरुणो यथा ॥ १५ ॥

इधर महान् अस्त्रवेत्ता धृष्टद्युम्न पाण्डवसेनाके अधिनायक हुए। जैसे मित्र वरुणकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार भीमसेन मेधावी धृष्टद्युम्नकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

स च सेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सुर्महामनाः।
पितुर्निकारान् संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ॥ १६ ॥

पाण्डवसेनासे घिरे हुए महामनस्वी वीर धृष्टद्युम्नने द्रोणके द्वारा अपने पिताके अपमानका स्मरण करके उन्हें मार डालनेके लिये युद्धमें बड़ा भारी पराक्रम दिखाया ॥ १६ ॥

तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसंगरे।
नानादिगागता वीराः प्रायशो निधनं गताः ॥ १७ ॥

धृष्टद्युम्न और द्रोणके उस भीषण संग्राममें नाना दिशाओंसे आये हुए भूपाल अधिक संख्यामें मारे गये ॥ १७ ॥

दिनानि पञ्च तद् युद्धमभूत् परमदारुणम्।
ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ॥ १८ ॥

उन दोनोंका वह परम दारुण युद्ध पाँच दिनोंतक चलता रहा। अन्तमें द्रोणाचार्य बहुत थक गये और धृष्टद्युम्नके वशमें पड़कर मारे गये ॥ १८ ॥

ततः सेनापतिरभूत् कर्णो दौर्योधने बले।
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दुर्योधनकी सेनामें कर्णको सेनापति बनाया गया, जो मरनेसे बची हुए पाँच अक्षौहिणी सेनाओंसे घिर-कर युद्धके मैदानमें खड़ा था ॥ १९ ॥

तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः।
हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ॥ २० ॥

उस समय पाण्डवोंके पास तीन अक्षौहिणी सेनाएँ शेष थीं, जिनकी रक्षा अर्जुन कर रहे थे। उनमें बहुत-से प्रमुख वीर मारे गये थे; फिर भी वे युद्धके लिये डटी हुई थीं ॥

ततः पार्थं समासाद्य पतङ्ग इव पावकम्।
पञ्चत्वमगमत् सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणः ॥ २१ ॥

कर्ण दो दिनतक युद्ध करता रहा। वह बड़े क्रूर स्वभावका था। जैसे पतङ्ग जलती आगमें कूदकर जल मरता है, उसी प्रकार वह दूसरे दिनके युद्धमें अर्जुनसे भिड़कर मारा गया ॥ २१ ॥

हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्यवारयन् ॥ २२ ॥

कर्णके मारे जानेपर कौरव हतोत्साह होकर अपनी शक्ति खो बैठे और मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर उन्हें तीन अक्षौहिणी सेनाओंसे सुरक्षित रखकर उन्होंने युद्ध आरम्भ किया ॥ २२ ॥

हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवाऽपि युधिष्ठिरम्।
अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

पाण्डवोंके भी बहुत-से वाहन नष्ट हो गये थे। उनमें भी अब युद्धविषयक उत्साह नहीं रह गया था तो भी वे शेष बची हुई एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए युधिष्ठिरको आगे करके शल्यका सामना करनेके लिये बढ़े ॥ २३ ॥

अवधीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः।
तस्मिंस्तदार्धदिवसे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ २४ ॥

कुरुराज युधिष्ठिरने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके दोपहर होते-होते मद्रराज शल्यको मार गिराया ॥ २४ ॥

हते शल्ये तु शकुनिं सहदेवो महामनाः।
आहर्तारं कलेस्तस्य जघानामितविक्रमः ॥ २५ ॥

शल्यके मारे जानेपर अमित पराक्रमी महामना सहदेवने कलहकी नींव डालनेवाले शकुनिको मार दिया ॥ २५ ॥

निहते शकुनौ राजा धार्तराष्ट्रः सुदुर्मनाः।
अपाक्रामद् गदापाणिर्हतभूयिष्ठसैनिकः ॥ २६ ॥

शकुनिकी मृत्यु हो जानेपर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसके बहुत-से सैनिक युद्धमें मार डाले गये थे। इसलिये वह अकेला ही हाथमें गदा लेकर रणभूमिसे भाग निकला ॥ २६ ॥

तमन्वधावत् संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान्।
ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ॥ २७ ॥

इधरसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने उसका पीछा किया और द्वैपायन नामक सरोवरमें पानीके भीतर छिपे हुए दुर्योधनका पता लगा लिया ॥ २७ ॥

हतशिष्टेन सैन्येन समन्तात् परिवार्य तम्।
अथोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ॥ २८ ॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए पाँचों पाण्डव मरनेसे बची हुई सेनाके द्वारा उसपर चारों ओरसे घेरा डालकर तालावमें बैठे हुए दुर्योधनके पास जा पहुँचे ॥ २८ ॥

विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः।
उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ॥ २९ ॥

उस समय भीमसेनके वाग्बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर दुर्योधन तुरंत पानीसे बाहर निकला और हाथमें गदा ले युद्धके लिये उद्यत हो पाण्डवोंके पास आ गया ॥ २९ ॥

ततः स निहतो राजा धार्तराष्ट्रो महारणे।
भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उस महासमरमें सब राजाओंके देखते-देखते भीमसेनने पराक्रम करके धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको मार डाला ॥ ३० ॥

ततस्तत् पाण्डवं सैन्यं प्रसुप्तं शिबिरे निशि।
निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ॥ ३१ ॥

इसके बाद रातके समय जब पाण्डवोंकी सेना अपनी छावनीमें निश्चिन्त सो रही थी, उसी समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने अपने पिताके वधको न सह सकनेके कारण आक्रमण किया और सबको मार गिराया ॥ ३१ ॥

हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह।
युयुधानसहायेन पञ्च शिष्टास्तु पाण्डवाः ॥ ३२ ॥

उस समय पाण्डवोंके पुत्र, मित्र और सैनिक सब मारे गये। केवल मेरे और सात्यकिके साथ पाँचों पाण्डव शेष रह गये हैं ॥ ३२ ॥

सहैव कृपभोजाभ्यां द्रौणिर्युद्धादमुच्यत।
युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तः पाण्डवसंश्रयात् ॥ ३३ ॥

कौरवोंके पक्षमें कृपाचार्य और कृतवर्माके साथ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा युद्धसे जीवित बचा है। कुरुवंशी युयुत्सु भी पाण्डवोंका आश्रय लेनेके कारण बच गये हैं ॥ ३३ ॥

निहते कौरवेन्द्रे तु सानुबन्धे सुयोधने।
विदुरः संजयश्चैव धर्मराजमुपस्थितौ ॥ ३४ ॥

बन्धु-बान्धवोंसहित कौरवराज दुर्योधनके मारे जानेपर विदुर और संजय धर्मराज युधिष्ठिरके आश्रयमें आ गये हैं ॥

एवं तदभवद् युद्धमहान्यष्टादश प्रभो।
यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ॥ ३५ ॥

प्रभो ! इस प्रकार अठारह दिनोंतक वह युद्ध हुआ है। उसमें जो राजा मारे गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा बसे हैं ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृण्वतां तु महाराज कथां तां लोमहर्षणाम्।
दुःखशोकपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! रोंगटे खड़े कर देनेवाली उस युद्ध-वार्ताको सुनकर वृष्णिवंशी लोग दुःख-शोकसे व्याकुल हो गये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वासुदेववाक्ये षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णद्वारा युद्धवृत्तान्तका कथनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका सुभद्राके कहनेसे वसुदेवजीको अभिमन्युवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान्।
महाभारतयुद्धं तत्कथान्ते पितुरग्रतः ॥ १ ॥
अभिमन्योर्वधं वीरः सोऽत्यक्रामन्महामतिः।
अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामतिः ॥ २ ॥
मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम्।
दुःखशोकाभिसंतप्तो भवेदिति महामतिः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जब पिताके सामने महाभारतयुद्धका वृत्तान्त सुना रहे थे, उस समय उन्होंने उस कथाके बीचमें जान-बूझकर अभिमन्युवधका वृत्तान्त छोड़ दिया। परम बुद्धिमान् वीर श्रीकृष्णने सोचा, पिताजी अपने नातीकी मृत्युका महान् अमङ्गलजनक समाचार सुनकर कहीं दुःख-शोकसे संतप्त न हो उठें। इनका अप्रिय न हो जाय। इसीसे वह प्रसङ्ग नहीं सुनाया ॥ १–३ ॥

सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे।
आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद् भुवि ॥ ४ ॥

परंतु सुभद्राने जब देखा कि मेरे पुत्रके निधनका समाचार इन्होंने नहीं सुनाया, तब उसने याद दिलाते हुए कहा—'भैया ! मेरे अभिमन्युके वधकी बात भी तो बता दो।' इतना कहकर वह मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४ ॥

तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा।
दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्च्छितः ॥ ५ ॥

वसुदेवजीने बेटी सुभद्राको पृथ्वीपर गिरी हुई देखा।

देखते ही वे भी दुःखसे मूर्छित हो धरतीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततः स दौहित्रवधदुःखशोकसमाहतः ।
वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

महाराज ! तदनन्तर दौहित्रवधके दुःख-शोकसे आहत हो वसुदेवजीने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग् भुवि विश्रुतः ॥ ७ ॥
यद् दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ।
तद् भागिनेयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ८ ॥

'बेटा कमलनयन ! तुम तो इस भूतलपर सत्यवादीके रूपमें प्रसिद्ध हो । शत्रुसूदन ! फिर क्या कारण है कि आज तुम मुझे मेरे नातीके मारे जानेका समाचार नहीं बता रहे हो । प्रभो ! अपने भानजेके वधका वृत्तान्त तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ ७-८ ॥

सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ।
दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सह ॥ ९ ॥
यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ।

'वृष्णिनन्दन ! अभिमन्युकी आँखें ठीक तुम्हारे ही समान सुन्दर थीं । हाय ! वह रणभूमिमें शत्रुओंद्वारा कैसे मारा गया ? जान पड़ता है, समय पूरा होनेके पहले मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन होता है, तभी तो यह दारुण समाचार सुनकर भी दुःखसे मेरे हृदयके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ९½ ॥

किमब्रवीत् त्वां संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति ॥ १० ॥
मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ।
आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः ॥ ११ ॥
कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम् ।

'पुण्डरीकाक्ष ! संग्राममें अभिमन्युने तुमको और अपनी माता सुभद्राको क्या संदेश दिया था ? चञ्चल नेत्रोंवाला वह मेरा प्यारा नाती मेरे लिये क्या संदेश देकर मरा था ! कहीं वह युद्धमें पीठ दिखाकर तो शत्रुओंके हाथसे नहीं मारा गया ! गोविन्द ! उसने युद्धमें भयके कारण अपना मुख विकृत तो नहीं कर लिया था ॥ १०-११½ ॥

स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः ॥ १२ ॥
बालभावेन विनयमात्मनोऽकथयत् प्रभुः ।

'श्रीकृष्ण ! वह महातेजस्वी और प्रभावशाली बालक अपने बालस्वभावके कारण मेरे सामने विनीतभावसे अपनी वीरताकी प्रशंसा किया करता था ॥ १२½ ॥

कच्चिन्न निकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः ॥ १३ ॥
धरण्यां निहतः शेते तन्ममाचक्ष्व केशव ।
स हि द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च बलिनां वरम् ॥ १४ ॥
स्पर्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ।

'मेरी बेटीका वह लाड़ला अभिमन्यु रणभूमिमें सदा द्रोणाचार्य, भीष्म तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ कर्णके साथ भी लोहा लेनेका हौसला रखता था । कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि द्रोण, कर्ण और कृपाचार्य आदिने मिलकर उस बालकको कपटपूर्वक मार डाला हो और इस प्रकार धोखेसे मारा जाकर धरतीपर सो रहा हो । केशव ! यह सब मुझे बताओ' ।

एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ॥ १५ ॥
पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् ।

इस प्रकार पिताको अत्यन्त दुःखित होकर बहुत विलाप करते देख श्रीकृष्ण स्वयं भी बहुत दुखी हो गये और उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ १५½ ॥

न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्धनि ॥ १६ ॥
न पृष्ठतः कृतश्चापि संग्रामस्तेन दुस्तरः ।

'पिताजी ! अभिमन्युने संग्राममें आगे रहकर शत्रुओंका सामना किया । उसने कभी भी अपना मुख विकृत नहीं किया । उस दुस्तर युद्धमें उसने कभी पीठ नहीं दिखायी ।

निहत्य पृथिवीपालान् सहस्रशतसंघशः ॥ १७ ॥
खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः ।

'लाखों राजाओंके समूहोंको मारकर द्रोण और कर्णके साथ युद्ध करते-करते जब वह बहुत थक गया, उस समय दुःशासनके पुत्रके द्वारा मारा गया ॥ १७½ ॥

एको ह्येकेन सततं युध्यमाने यदि प्रभो ॥ १८ ॥
न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा ।

'प्रभो ! यदि निरन्तर उसे एक-एक वीरके साथ ही युद्ध करना पड़ता तो रणभूमिमें वज्रधारी इन्द्र भी उसे नहीं मार सकते थे (परंतु वहाँ तो बात ही दूसरी हो गयी) ।१८½ ॥

समाहूते च संग्रामात् पार्थे संशप्तकैस्तदा ॥ १९ ॥
पर्यवार्यत संक्रुद्धैः स द्रोणादिभिराहवे ।

'अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध करते हुए संग्रामभूमिसे बहुत दूर हट गये थे । इस अवसरसे लाभ उठाकर क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्य आदि कई वीरोंने मिलकर उस बालकको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १९½ ॥

ततः शत्रुवधं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितः ॥ २० ॥
दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः ।

'वृष्णिकुल भूषण पिताजी ! तो भी शत्रुओंका बड़ा भारी संहार करके आपका वह दौहित्र युद्धमें दुःशासनकुमारके अधीन हुआ ॥ २०½ ॥

नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ॥ २१ ॥
न हि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः ।

'महामते ! अभिमन्यु निश्चय ही स्वर्गलोकमें गया है; अतः आप उसके लिये शोक न कीजिये । पवित्र बुद्धिवाले साधु पुरुष संकटमें पड़नेपर भी इतने खिन्न नहीं होते हैं ।

द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ॥ २२ ॥
रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद् दिवम्।

'जिसने इन्द्रके समान पराक्रमी द्रोण-कर्ण आदि वीरोंका युद्धमें डटकर सामना किया है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति कैसे नहीं होगी ? ॥ २२½ ॥

स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ॥ २३ ॥
शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरंजयः।

'दुर्धर्ष वीर पिताजी ! इसलिये आप शोक त्याग दीजिये। शोकके वशीभूत न होइये। शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाला वीरवर अभिमन्यु शस्त्राघातसे पवित्र हो उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है ॥ २३½ ॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ॥ २४ ॥
दुःखार्ताथो सुतं प्राप्य कुररीव ननाद ह।
द्रौपदीं च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ॥ २५ ॥
आर्ये क्व दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम्।

'उस वीरके मारे जानेपर मेरी यह बहिन सुभद्रा दुःखसे आतुर हो पुत्रके पास जाकर कुररीकी भाँति विलाप करने लगी और द्रौपदीके पास जाकर दुःखमग्न हो पूछने लगी—'आर्ये ! सब बच्चे कहाँ हैं ? मैं उन सबको देखना चाहती हूँ' ॥ २४-२५½ ॥

अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ॥ २६ ॥
भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्तवत् ॥ २७ ॥

'इसकी बात सुनकर कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ इसे दोनों हाथोंसे पकड़कर अत्यन्त आर्त-सी होकर करुण विलाप करने लगीं ॥ २६-२७ ॥

उत्तरां चाब्रवीद् भद्रे भर्ता स क्व नु ते गतः।
क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्य त्वं वेदयस्व ह ॥ २८ ॥

'सुभद्राने उत्तरासे भी पूछा—'भद्रे ! तुम्हारा पति वह अभिमन्यु कहाँ चला गया ? तुम शीघ्र उसे मेरे आगमनकी सूचना दो ॥ २८ ॥

ननु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा।
भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ॥ २९ ॥

''विराटकुमारी ! जो सदा मेरी आवाज सुनकर शीघ्र घरसे निकल पड़ता था, वही तुम्हारा पति आज मेरे पास क्यों नहीं आता है ? ॥ २९ ॥

अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः।
कुशलं चाब्रुवन् सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ॥ ३० ॥

''अभिमन्यो ! तुम्हारे सभी महारथी मामा सकुशल हैं और युद्धकी इच्छासे यहाँ आये हुए तुमसे उन सबने तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ॥ ३० ॥

आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिंदम।
कस्मादेवं विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ॥ ३१ ॥

''शत्रुदमन ! पहलेकी भाँति आज भी तुम मुझसे युद्धकी बात बताओ। मैं इस प्रकार विलाप करती हूँ तो भी आज यहाँ तुम मुझसे बात क्यों नहीं करते हो ?' ॥ ३१ ॥

एवमादि तु वार्ष्णेय्यास्तस्यास्तत्परिदेवितम्।
श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे।
पित्रा च लालितो बालः स हतः कालधर्मणा ॥ ३३ ॥

'सुभद्राका इस प्रकार विलाप सुनकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हुई बुआ कुन्तीने शनैः-शनैः उसे समझाते हुए कहा—'सुभद्रे ! वासुदेव, सात्यकि और पिता अर्जुन—तीनों जिसका बहुत लाड़-प्यार करते थे, वह बालक अभिमन्यु कालधर्मसे मारा गया है (उसकी आयु पूरी हो गयी, इसलिये मृत्युके अधीन हुआ है) ॥ ३२-३३ ॥

ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि।
पुत्रो हि तव दुर्धर्षः सम्प्राप्तः परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

''यदुनन्दिनि ! मृत्युलोकमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंका धर्म ही ऐसा है—उन्हें एक-न-एक दिन मृत्युके वशमें होना ही पड़ता है, इसलिये शोक न करो। तुम्हारा दुर्जय पुत्र परम गतिको प्राप्त हुआ है ॥ ३४ ॥

कुले महति जातासि क्षत्रियाणां महात्मनाम्।
मा शुचश्चपलाक्षं त्वं पद्मपत्रनिभेक्षणे ॥ ३५ ॥

''बेटी ! कमलदललोचने ! तुम महात्मा क्षत्रियोंके महान् कुलमें उत्पन्न हुई हो; अतः तुम अपने चञ्चल नेत्रों-वाले पुत्रके लिये शोक न करो ॥ ३५ ॥

उत्तरां त्वमवेक्षस्व गुर्विणीं मा शुचः शुभे।
पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भाविनी ॥ ३६ ॥

''शुभे ! तुम्हारी बहू उत्तरा गर्भवती है, तुम उसीकी ओर देखो, शोक न करो ! यह भाविनी उत्तरा शीघ्र ही अभिमन्युके पुत्रको जन्म देगी' ॥ ३६ ॥

एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह।
विहाय शोकं दुर्धर्षं श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ॥ ३७ ॥

'यदुकुलभूषण पिताजी ! इस प्रकार सुभद्राको समझा-बुझाकर दुस्तर शोकको त्यागकर कुन्तीने उसके श्राद्धकी तैयारी करायी ॥ ३७ ॥

समनुज्ञाप्य धर्मज्ञं राजानं भीममेव च।
यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ॥ ३८ ॥

'धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर और भीमसेनको आदेश देकर तथा यमके समान पराक्रमी नकुल-सहदेवको भी आज्ञा देकर कुन्तीदेवीने अभिमन्युके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके दान दिलाये ॥ ३८ ॥

ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणाय यदूद्वह।
समाहूय तु वार्ष्णेयी वैराटीमब्रवीदिदम् ॥ ३९ ॥

'यदुकुलभूषण! तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बहुत-सी गौएँ दान देकर कुन्तीने विराटकुमारी उत्तरासे कहा—॥ ३९ ॥

वैराटि नेह संतापस्त्वया कार्यो ह्यनिन्दिते।
भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष वै शिशुम् ॥ ४० ॥

''अनिन्द्य गुणोंवाली विराटराजकुमारी! अब तुम्हें यहाँ पतिके लिये संताप नहीं करना चाहिये। सुन्दरी! तुम्हारे गर्भमें जो अभिमन्युका बालक है, उसकी रक्षा करो' ॥ ४० ॥

एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते।
तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ॥ ४१ ॥

'महाद्युते! ऐसा कहकर कुन्तीदेवी चुप हो गयीं उन्हींकी आज्ञासे मैं इस सुभद्रा देवीको साथ लाया हूँ ॥

एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव मानद।
संतापं त्यज दुर्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ॥ ४२ ॥

'मानद! इस प्रकार आपका दौहित्र अभिमन्यु मृत्युको प्राप्त हुआ है। दुर्धर्ष वीर! आप संताप छोड़ दें और मनको शोकमग्न न करें' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वसुदेवको सान्त्वनाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

वसुदेव आदि यादवोंका अभिमन्युके निमित्त श्राद्ध करना तथा व्यासजीका उत्तरा और अर्जुनको समझाकर युधिष्ठिरको अश्वमेधयज्ञ करनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा।
विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्र श्रीकृष्णकी बात सुनकर शूरपुत्र धर्मात्मा वसुदेवजीने शोक त्याग दिया और अभिमन्युके लिये परम उत्तम श्राद्धविषयक दान दिया॥

तथैव वासुदेवश्च स्वस्त्रीयस्य महात्मनः।
दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदेहिकम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने महामनस्वी भानजे अभिमन्युका, जो उनके पिता वसुदेवजीका सदा ही परम प्रिय रहा, श्राद्धकर्म सम्पन्न किया ॥ २ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महौजसाम्।
विधिवद् भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥ ३ ॥

उन्होंने साठ लाख महातेजस्वी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अन्न भोजन कराया ॥ ३ ॥

आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत्।
ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूल्लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥

महाबाहु श्रीकृष्णने उस समय ब्राह्मणोंको वस्त्र पहनाकर इतना धन दिया, जिससे उनकी धनविषयक तृष्णा दूर हो गयी। यह एक रोमाञ्चकारी घटना थी ॥ ४ ॥

सुवर्णं चैव गाश्चैव शयनाच्छादनानि च।
दीयमानं तदा विप्रा वर्धतामिति चाब्रुवन् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणलोग सुवर्ण, गौ, शय्या और वस्त्रका दान पाकर अभ्युदय होनेका आशीर्वाद देने लगे ॥ ५ ॥

वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः।
अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन् सत्यकस्तदा ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, बलदेव, सत्यक और सात्यकिने भी उस समय अभिमन्युका श्राद्ध किया ॥ ६ ॥

अतीव दुःखसंतप्ता न शमं चोपलेभिरे।
तथैव पाण्डवा वीरा नगरे नागसाह्वये ॥ ७ ॥
नोपागच्छन्त वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः।

वे सबके सब अत्यन्त दुःखसे संतप्त थे। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। उसी प्रकार हस्तिनापुरमें वीर पाण्डव भी अभिमन्युसे रहित होकर शान्ति नहीं पाते थे ॥ ७½ ॥

सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ॥ ८ ॥
नाभुङ्क्त पतिदुःखार्ता तदभूत् करुणं महत्।
कुक्षिस्थ एव तस्याथ गर्भो वै सम्प्रलीयत ॥ ९ ॥

राजेन्द्र! विराटकुमारी उत्तराने पतिके दुःखसे आतुर हो बहुत दिनोंतक भोजन ही नहीं किया। उसकी वह दशा बड़ी ही करुणाजनक थी। उसके गर्भका बालक उदरहीमें पड़ा-पड़ा क्षीण होने लगा ॥ ८-९ ॥

आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा।
समागम्याब्रवीद् धीमान् पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १० ॥
उत्तरां च महातेजाः शोकः संत्यज्यतामयम्।
भविष्यति महातेजाः पुत्रस्तव यशस्विनि ॥ ११ ॥

उसकी इस दशाको दिव्य दृष्टिसे जानकर महान् तेजस्वी बुद्धिमान् महर्षि व्यास वहाँ आये और विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती तथा उत्तरासे मिलकर उन्हें समझाते हुए इस प्रकार

ले—'यशस्विनि उत्तरे ! तुम यह शोक त्याग दो । तुम्हारा

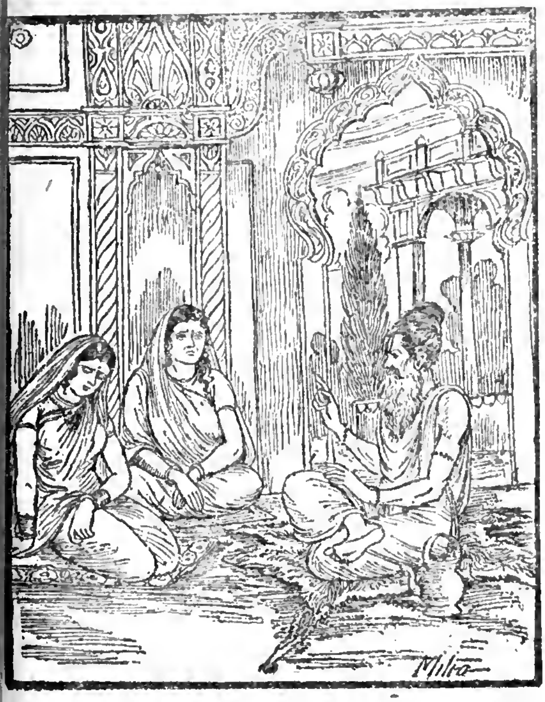

[पु]त्र महातेजस्वी होगा ॥ १०-११ ॥

[प्र]भावाद् वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि ।
[प]ाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ १२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे और मेरे आशीर्वादसे वह [प]ाण्डवोंके बाद सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करेगा' ॥ १२ ॥

[ध]नंजयं च सम्प्रेक्ष्य धर्मराजस्य शृण्वतः ।
[व्]यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् व्यासजीने धर्मराज युधिष्ठिरको [स]ुनाते हुए अर्जुनकी ओर देखकर उनका हर्ष बढ़ाते हुए-से कहा—॥ १३ ॥

पौत्रस्तव महाभागो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्यन्तां पालयिष्यति धर्मतः ॥ १४ ॥
तस्माच्छोकं कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्शन ।
विचार्यमत्र न हि ते सत्यमेतद् भविष्यति ॥ १५ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हें महान् भाग्यशाली और महामनस्वी पौत्र होनेवाला है, जो समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका धर्मतः पालन करेगा; अतः शत्रुसूदन ! तुम शोक त्याग दो । इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । मेरा यह कथन सत्य होगा ॥ १४-१५ ॥

यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत् तथा भावि मा तेऽत्रास्तु विचारणा ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन ! वृष्णिवंशके वीर पुरुष भगवान् श्रीकृष्णने पहले जो कुछ कहा है, वह सब वैसा ही होगा । इस विषय-में तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

विबुधानां गतो लोकानक्षयानात्मनिर्जितान् ।
न स शोच्यस्त्वया वीरो न चान्यैः कुरुभिस्तथा ॥ १७ ॥

'वीर अभिमन्यु अपने पराक्रमसे उपार्जित किये हुए देवताओंके अक्षय लोकोंमें गया है; अतः उसके लिये तुम्हें या अन्य कुरुवंशियोंको क्षोभ नहीं करना चाहिये' ॥ १७ ॥

एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा स धनंजयः ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत् तदा ॥ १८ ॥

महाराज ! अपने पितामह व्यासजीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर धर्मात्मा अर्जुनने शोक त्यागकर संतोषका आश्रय लिया ॥ १८ ॥

पितापि तव धर्मज्ञ गर्भे तस्मिन् महामते ।
अवर्धत यथाकामं शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १९ ॥

धर्मज्ञ ! महामते ! उस समय तुम्हारे पिता परीक्षित् शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति यथेष्ट वृद्धि पाने लगे ॥ १९ ॥

ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥

तदनन्तर व्यासजीने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आज्ञा दी और स्वयं वहाँसे अदृश्य हो गये ॥

धर्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद् वचः ।
वित्तस्यानयने तात चकार गमने मतिम् ॥ २१ ॥

तात ! व्यासजीका वचन सुनकर बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने धन लानेके लिये हिमालयकी यात्रा करनेका विचार किया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णकी सान्त्वनाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अपने भाइयोंके साथ परामर्श करके सबको साथ ले धन ले आनेके लिये प्रस्थान करना

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना ।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ॥ १ ॥
रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले ।

तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा व्यासका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञके सम्बन्धमें फिर क्या किया? राजा मरुत्तने जो रत्न पृथ्वीतलपर रख छोड़ा था, उसे उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मुझे बताइये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! व्यासजीकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन सभी भाइयोंको बुलवाकर यह समयोचित वचन कहा—॥ ३½ ॥

श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदाद् यन्महात्मना ॥ ४ ॥
कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता।

'वीर बन्धुओ! कौरवोंके हितकी कामना रखनेवाले बुद्धिमान् महात्मा श्रीकृष्णने सौहार्दवश जो बात कही थी, वह सब तो तुमने सुनी ही थी ॥ ४½ ॥

तपोवृद्धेन महता सुहृदां भूतिमिच्छता ॥ ५ ॥
गुरुणा धर्मशीलेन व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
भीष्मेण च महाप्राज्ञ गोविन्देन च धीमता ॥ ६ ॥
संस्मृत्य तदहं सम्यक् कर्तुमिच्छामि पाण्डवाः।
आयत्यां च तदात्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ॥ ७ ॥

'सुहृदोंकी भलाई चाहनेवाले महान् तपोवृद्ध महात्मा, धर्मशील गुरु व्यासने, अद्भुत पराक्रमी भीष्मने तथा बुद्धिमान् गोविन्दने समय-समयपर जो सलाह दी है, उसे याद करके मैं उनके आदेशका भलीभाँति पालन करना चाहता हूँ। महाप्राज्ञ पाण्डवो! उन महात्माओंका वह वचन भविष्य और वर्तमानमें भी हम सबके लिये हितकारक है ॥ ५-७ ॥

अनुबन्धे च कल्याणं यद् वचो ब्रह्मवादिनः।
इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ॥ ८ ॥
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः।

'ब्रह्मवादी महात्मा व्यासजीका वचन परिणाममें हमारा कल्याण करनेवाला है। कौरवो! इस समय इस सारी पृथ्वीपर रत्न एवं धनका नाश हो गया है; अतः हमारी आर्थिक कठिनाई दूर करनेके लिये व्यासजीने उस दिन हमें मरुत्तके धनका पता बताया था ॥ ८½ ॥

यद्येतद् वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि ॥ ९ ॥
तथा यथाऽऽह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे।

'यदि तुमलोग उस धनको पर्याप्त समझो और उसे ले आनेकी अपनेमें सामर्थ्य देखो तो व्यासजीने जैसा कहा है उसीके अनुसार धर्मतः उसे प्राप्त करनेका यत्न करो। अथवा भीमसेन! तुम बोलो, तुम्हारा इस सम्बन्धमें क्या विचार है?'

इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ॥ १० ॥
भीमसेनो नृपश्रेष्ठं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ॥ ११ ॥
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति।

कुरुकुलशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भीमसेनने हाथ जोड़कर उन नृपश्रेष्ठसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! आपने जो कुछ कहा है, व्यासजीके बताये हुए धनको लानेके विषयमें जो विचार व्यक्त किया है, वह मुझे बहुत पसंद है ॥ १०-११½ ॥

यदि तत् प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ॥ १२ ॥
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम।

'प्रभो! महाराज! यदि हमें मरुत्तका धन प्राप्त हो जाय तब तो हमारा सारा काम बन ही जाय। यही मेरा मत है।

ते वयं प्रणिपातेन गिरीशस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
तदानयाम भद्रं ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम्।

'आपका कल्याण हो। हम महात्मा गिरीशके चरणोंमें प्रणाम करके उन जटाजूटधारी महेश्वरकी सम्यक् आराधना करके उस धनको ले आवें ॥ १३½ ॥

तद् वित्तं देवदेवेशं तस्यैवानुचरांश्च तान् ॥ १४ ॥
प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धिकर्मभिः।

'हम बुद्धि, वाणी और क्रियाद्वारा आराधनापूर्वक देवाधिदेव महादेव तथा उनके अनुचरोंको प्रसन्न करके निश्चय ही उस धनको प्राप्त कर लेंगे ॥ १४½ ॥

रक्षन्ते ये च तद् द्रव्यं किंनरा रौद्रदर्शनाः ॥ १५ ॥
ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे।

'जो रौद्ररूपधारी किन्नर उस धनकी रक्षा करते हैं, वे भी भगवान् शङ्करके प्रसन्न होनेपर हमारे अधीन हो जायँगे।

(स हि देवः प्रसन्नात्मा भक्तानां परमेश्वरः।
ददात्यमरतां चापि किं पुनः काञ्चनं प्रभुः॥

'सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले वे सर्वसमर्थ परमेश्वर महादेव अपने भक्तोंको अमरत्व भी दे देते हैं; फिर सुवर्णकी तो बात ही क्या? ॥

वनस्थस्य पुरा जिष्णोरस्त्रं पाशुपतं महत्।
रौद्रं ब्रह्मशिरश्चादात् प्रसन्नः किं पुनर्धनम् ॥

'पूर्वकालमें वनमें रहते समय अर्जुनपर प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने उन्हें महान् पाशुपतास्त्र, रौद्रास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र भी प्रदान किये थे। फिर धन दे देना उनके लिये कौन बड़ी बात है ॥

थं सर्वे च तद्भक्ताः स चास्माकं प्रसीदति ।
त्प्रसादाद् वयं राज्यं प्राप्ताः कौरवनन्दन ॥
भिमन्योर्वधे वृत्ते प्रतिज्ञाते धनंजये ।
यद्रथवधार्थाय स्वप्ने लोकगुरुं निशि ॥
साद्य लब्धवानस्त्रमर्जुनः सहकेशवः ।

'कौरवनन्दन ! हम सब लोग उनके भक्त हैं और वे हम ोगोंपर प्रसन्न रहते हैं। उन्हींकी कृपासे हमने राज्य प्राप्त िया है। अभिमन्युका वध हो जानेपर जब अर्जुनने जयद्रथको ारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उस समय स्वप्नमें अर्जुनने श्रीकृष्ण- साथ रहकर रातमें उन्हीं लोकगुरु महेश्वरको प्रसन्न करके ्व्यास्त्र प्राप्त किया था ॥

तः प्रभातां रजनीं फाल्गुनस्याग्रतः प्रभुः ॥
घान सैन्यं शूलेन प्रत्यक्षं सव्यसाचिनः ।

'तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब गवान् शिवने अर्जुनके आगे रहकर अपने त्रिशूलसे शत्रुओं- ी सेनाका संहार किया था। यह बात अर्जुनने प्रत्यक्ष देखी थी॥

स्तां सेनां महाराज मनसापि प्रधर्षयेत् ॥
्रोणकर्णमुखैर्युक्तां महेष्वासैः प्रहारिभिः ।
ऋते देवान्महेष्वासाद् बहुरूपान्महेश्वरात् ॥

'महाराज ! द्रोणाचार्य और कर्ण-जैसे प्रहारकुशल महा- नुर्धरोंसे युक्त उस कौरवसेनाको महान् पाशुपतधारी अनेक रूपवाले महेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन मनसे भी राजित कर सकता था ॥

स्यैव च प्रसादेन निहताः शत्रवस्तव ।
अश्वमेधस्य संसिद्धिं स तु सम्पादयिष्यति ॥)

'उन्हींके कृपाप्रसादसे आपके शत्रु मारे गये हैं। वे ही अश्वमेध यज्ञको सफलतापूर्वक सम्पन्न करेंगे' ॥

ुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ॥ १६ ॥
ीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत ।
अर्जुनप्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन् वचः ॥ १७ ॥

भारत ! भीमसेनका यह कथन सुनकर धर्मपुत्र राजा ुधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन आदिने भी बहुत ठीक हकर उन्हींकी बातका समर्थन किया ॥ १६-१७ ॥

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥ १८ ॥

इस प्रकार समस्त पाण्डवोंने रत्न लानेका निश्चय करके ध्रुवसंज्ञक[1] नक्षत्र एवं दिनमें सेनाको यात्राके लिये तैयार होने- की आज्ञा दी ॥ १८ ॥

ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
अर्चयित्वा सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ॥ १९ ॥
मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च ।
आशास्य च महात्मानं प्रययुर्मुदिता भृशम् ॥ २० ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर सुरश्रेष्ठ महेश्वरकी पहले ही पूजा करके मिष्टान्न, खीर, पूआ तथा फलके गूदोंसे उन महेश्वरको तृप्त करके उनका आशीर्वाद ले समस्त पाण्डवोंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यात्रा प्रारम्भ की ॥ १९-२० ॥

तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ ।
प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्या नागराश्च ते ॥ २१ ॥

जब वे यात्राके लिये उद्यत हुए, उस समय समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों और नागरिकोंने प्रसन्नचित्त होकर उनके लिये शुभ मङ्गल-पाठ किया ॥ २१ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्निसहित ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर वहाँसे प्रस्थान किया ॥२२॥

समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम् ।
धृतराष्ट्रं सभार्यं वै पृथां च पृथुलोचनाम् ॥ २३ ॥

प्रस्थानके पूर्व उन्होंने पुत्रशोकसे व्याकुल राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी देवी तथा विशाललोचना कुन्तीसे आज्ञा ले ली थी॥

मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सुं धृतराष्ट्रजम् ।
सम्पूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ॥ २४ ॥
(प्रययुः पाण्डवा वीरा नियमस्थाः शुचिव्रताः ।)

अपने कुलके मूलभूत धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके समीप उनकी रक्षाके लिये कुरुवंशी धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको नियुक्त करके मनीषी ब्राह्मणों और पुरवासियोंसे पूजित होते हुए वीर पाण्डवोंने वहाँसे प्रस्थान किया। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करते हुए शौच, संतोष आदि नियमोंमें दृढ़ता- पूर्वक स्थित थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

१. ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तीनों उत्तरा तथा रोहिणी—ये ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र हैं। दिनोंमें रविवारको ध्रुव बताया गया है। उत्तरा ौर रविवारका संयोग होनेपर अमृतसिद्धि नामक योग होता है; अतः इसी योगमें पाण्डवोंके प्रस्थान करनेका अनुमान किया ा सकता है।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हिमालयपर पहुँचकर वहाँ पड़ाव डालना और रातमें उपवासपूर्वक निवास करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः।
रथघोषेण महता पूरयन्तो वसुंधराम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके साथ जो मनुष्य और वाहन थे, वे सब-के-सब बड़े हर्षमें भरे हुए थे। वे स्वयं भी अपने रथके महान् घोषसे इस पृथ्वीको गुँजाते हुए प्रसन्नतापूर्वक यात्रा कर रहे थे॥ १॥

संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः।
स्वेन सैन्येन संवीता यथादित्याः स्वरश्मिभिः॥ २॥

सूत, मागध और वन्दीजन अनेक प्रकारके प्रशंसासूचक वचनोंद्वारा उनके गुण गाते चलते थे। अपनी सेनासे घिरे हुए पाण्डव ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपनी किरणमालाओंसे मण्डित सूर्य प्रकाशित हो रहे हों॥ २॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट्॥ ३॥

राजा युधिष्ठिरके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे वहाँ पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे॥

जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावत् पुरुषर्षभः॥ ४॥

मार्गमें बहुत-से मनुष्य प्रसन्न होकर राजा युधिष्ठिरको विजयसूचक आशीर्वाद देते थे और वे पुरुषशिरोमणि नरेश यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन यथार्थ वचनोंको ग्रहण करते थे॥ ४॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत॥ ५॥

राजन्! राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जो बहुत-से सैनिक चल रहे थे, उनका महान् कोलाहल आकाशको स्तब्ध करके गूँज उठता था॥ ५॥

सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत॥ ६॥
तस्मिन् देशे च राजेन्द्र यत्र तद् द्रव्यमुत्तमम्।

राजन्! अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों, उपवनों तथा पर्वतको लाँघकर महाराज युधिष्ठिर उस स्थानमें जा पहुँचे, जहाँ वह (राजा मरुत्तका रक्खा हुआ) उत्तम द्रव्य संचित था॥ ६½॥

चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम॥ ७॥
अग्रतो ब्राह्मणान् कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान्।
पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम्।
आग्निवेश्यं च राजानो ब्राह्मणाः सपुरोधसः॥ ८॥
कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वशः पर्यवारयन्।
कृत्वा तु मध्ये राजानममात्यांश्च यथाविधि॥ ९॥

कुरुवंशी भरतश्रेष्ठ! वहाँ एक समतल एवं सुखद स्थान पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने तप, विद्या और इन्द्रिय-संयम युक्त ब्राह्मणों एवं वेद-वेदाङ्गके पारगामी विद्वान् राजपुरोहि धौम्यमुनिको आगे रखकर सैनिकोंके साथ पड़ाव डाला बहुत-से राजा, ब्राह्मण और पुरोहितने यथोचित रीतिसे शान्ति कर्म करके युधिष्ठिर और उनके मन्त्रियोंको विधिपूर्वक बीच रखकर उन्हें सब ओरसे घेर रखा था॥ ७-९॥

षट्पदं नवसंख्यानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः।
मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशं च यथाविधि॥ १०॥
कारयित्वा स राजेन्द्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।

ब्राह्मणोंने जो छावनी वहाँ बनायी थी, उसमें पू पश्चिमको और उत्तरसे दक्षिणको जानेवाली तीन-तीनके क्रम कुल छः सड़कें थीं तथा उस छावनीके नौ खण्ड थे महाराज युधिष्ठिरने मतवाले गजराजोंके रहनेके लिये स्थानका विधिवत् निर्माण कराकर ब्राह्मणोंसे इस प्रक कहा—॥ १०½॥

अस्मिन् कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे॥ ११॥
यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हन्ति तत् तथा।
न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम्॥ १२॥
इति निश्चित्य विप्रेन्द्राः क्रियतां यदनन्तरम्।

'विप्रवरो! किसी शुभ नक्षत्र और शुभ दिनको कार्यकी सिद्धिके लिये आपलोग जो भी ठीक समझें, उपाय करें। ऐसा न हो कि यहीं लटके रहकर हमारा ब अधिक समय व्यतीत हो जाय। द्विजेन्द्रगण! इस विषय कुछ निश्चय करके इस समय जो करना उचित हो, उसे आ लोग अविलम्ब करें'॥ ११-१२½॥

श्रुत्वैतद् वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः।
इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः॥ १३॥

धर्मराज राजा युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर उनका प्रि करनेकी इच्छावाले ब्राह्मण और पुरोहित प्रसन्नतापूर्वक प्रकार बोले—॥ १३॥

अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं
यतामहे श्रेष्ठतमक्रियासु।
अम्भोभिरद्येह वसाम राज-
न्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य॥ १४॥

'राजन्! आज ही परम पवित्र नक्षत्र और शुभ दिन [है]; अतः आज ही हम श्रेष्ठतम कर्म करनेका प्रयत्न आरम्भ [क]रते हैं। हमलोग तो आज केवल जल पीकर रहेंगे और [आ]पलोगोंको भी आज उपवास करना चाहिये' ॥ १४ ॥

श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां
कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः।
ऊषुः प्रतीताः कुशसंस्तरेषु
यथाध्वरे प्रज्वलिता हुताशाः ॥ १५ ॥

उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका यह वचन सुनकर समस्त पाण्डव [रा]तमें उपवास करके कुशकी चटाइयोंपर निर्भय होकर सोये। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो यज्ञमण्डपमें पाँच वेदियोंपर स्थापित पाँच अग्नि प्रज्वलित हो रहे हों ॥ १५ ॥

ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां
संश्रृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः।
ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा
वचोऽब्रुवन् धर्मसुतं नराधिपम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंकी कही हुई बातें सुनते हुए महात्मा पाण्डवोंकी वह रात सकुशल व्यतीत हुई। फिर निर्मल प्रभातका उदय होनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंकी आज्ञासे भगवान् शिव और उनके पार्षद आदिकी पूजा करके युधिष्ठिरका उस धनराशिको खुदवाकर अपने साथ ले जाना

ब्राह्मणा ऊचुः

[क्रि]यतामुपहारोऽद्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः।
[द]त्त्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थे यतामहे ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोले—नरेश्वर! अब आप परमात्मा भगवान् [श]ङ्करको पूजा चढ़ाइये। पूजा चढ़ानेके बाद हमें अपने अभीष्ट [का]र्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

[श्र]ुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः।
[गि]रीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत् ॥ २ ॥

उन ब्राह्मणोंकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिरने भगवान् [श]ङ्करको विधिपूर्वक नैवेद्य अर्पण किया ॥ २ ॥

[आ]ज्येन तर्पयित्वाग्निं विधिवत्संस्कृतेन च।
[म]न्त्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः स ययौ तदा ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् उनके पुरोहितने विधिपूर्वक संस्कार किये हुए [घृ]तके द्वारा अग्निदेवको तृप्त करके मन्त्रसिद्ध चरु तैयार किया और भेंट अर्पित करनेके लिये वे देवताके समीप गये ॥

[स] गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाधिप।
[म]ोदकैः पायसेनाथ मांसैश्चोपाहरद् बलिम् ॥ ४ ॥
[स]ुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि।

जनेश्वर! उन्होंने मन्त्रपूत पुष्प लेकर मिठाई, खीर, [फ]लके गूदे, विचित्र पुष्प, लावा (खील) तथा अन्य नाना [प्र]कारकी वस्तुओंद्वारा उपहार समर्पित किया ॥ ४½ ॥

[स]र्वं स्विष्टतमं कृत्वा विधिवद् वेदपारगः ॥ ५ ॥
[कि]ंकराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम्।

वेदोंके पारंगत विद्वान् पुरोहितने विधिपूर्वक देवताको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले समस्त कर्म करके फिर भगवान् शिवके पार्षदोंको उत्तम बलि (भेंट-पूजा) चढ़ायी ॥ ५½ ॥

यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ॥ ६ ॥
तथान्येषां च यक्षाणां भूतानां पतयश्च ये।
कृसरेण च मांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ॥ ७ ॥

इसके बाद यक्षराज कुबेरको, मणिभद्रको, अन्यान्य यक्षोंको और भूतोंके अधिपतियोंको खिचड़ी, फलके गूदे तथा तिलमिश्रित जलकी अञ्जलियाँ निवेदन करके उनकी पूजा सम्पन्न की ॥ ६-७ ॥

ओदनं कुम्भशः कृत्वा पुरोधाः समुपाहरत्।
ब्राह्मणेभ्यः सहस्राणि गवां दत्त्वा तु भूमिपः ॥ ८ ॥
नक्तंचराणां भूतानां व्यादिदेश बलिं तदा।

तदनन्तर पुरोहितने घड़ोंमें भात भरकर बलि अर्पित की। इसके बाद भूपालने ब्राह्मणोंको सहस्रों गौएँ देकर निशाचारी भूतोंको भी बलि भेंट की ॥ ८½ ॥

धूपगन्धनिरुद्धं तत् सुमनोभिश्च संवृतम् ॥ ९ ॥
शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव।

पृथ्वीनाथ! देवाधिदेव महादेवजीका वह स्थान धूपोंकी सुगन्धसे व्याप्त और फूलोंसे अलंकृत होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ९½ ॥

कृत्वा पूजां तु रुद्रस्य गणानां चैव सर्वशः ॥ १० ॥
ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति।

भगवान् शिव और उनके पार्षदोंकी सब प्रकारसे पूजा करके महर्षि व्यासको आगे किये राजा युधिष्ठिर उस स्थानको गये, जहाँ वह रत्न एवं सुवर्णकी राशि संचित थी ॥ १०½ ॥

पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ॥ ११ ॥
सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च ।
शङ्खादींश्च निधीन् सर्वान् निधिपालांश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ।
तेषां पुण्याहघोषेण तेजसा समवस्थितः ॥ १३ ॥
प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद् धनम् ।

वहाँ उन्होंने नाना प्रकारके विचित्र फूल, मालपूआ तथा खिचड़ी आदिके द्वारा धनपति कुबेरकी पूजा करके उन्हें प्रणाम–अभिवादन किया। तत्पश्चात् उन्हीं सामग्रियोंसे शङ्ख आदि निधियों तथा समस्त निधिपालोंका पूजन करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा की। फिर उनसे स्वस्तिवाचन कराकर उन ब्राह्मणोंके पुण्याहघोषसे तेजस्वी हुए शक्तिशाली कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस धनको खुदवाने लगे ॥

ततः पात्रीः सकरकाः बहुरूपा मनोरमाः ॥ १४ ॥
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ।
बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ॥ १५ ॥

कुछ ही देरमें अनेक प्रकारके विचित्र, मनोरम एवं बहुसंख्यक सहस्रों सुवर्णमय पात्र निकल आये। कठौते, सुराही, गडुआ, कड़ाह, कलश तथा कटोरे–सभी तरहके बर्तन उपलब्ध हुए ॥ १४-१५ ॥

उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
तेषां रक्षणमप्यासीन्महान् करपुटस्तथा ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने उस समय उन सब बर्तनोंको भूमि खोदकर निकलवाया। उन्हें रखनेके लिये बड़ी-बड़ी संदूकें लायी गयी थीं ॥ १६ ॥

नद्धं च भाजनं राजंस्तुलार्धमभवन्नृप ।
वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत् तु विशाम्पते ॥ १७ ॥

राजन्! एक-एक संदूकमें बंद किये हुए बर्तनोंका बोझ आधा-आधा भार होता था। प्रजानाथ! उन सबको ढोनेके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके वाहन भी वहाँ उपस्थित थे ॥ १७ ॥

षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः ।
वारणाश्च महाराज सहस्रशतसम्मिताः ॥ १८ ॥
शकटानि रथाश्चैव तावदेव करेणवः ।
खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते ॥ १९ ॥

महाराज! साठ हजार ऊँट, एक करोड़ बीस लाख घोड़े, एक लाख हाथी, एक लाख रथ, एक लाख छकड़े और उतनी ही हथिनियाँ थीं। गधों और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं थी ॥ १८-१९ ॥

एतद् वित्तं तदभवद् यदुद्दध्रे युधिष्ठिरः ।
षोडशाष्टौ चतुर्विंशत्सहस्रं भारलक्षणम् ॥ २० ॥
एतेष्वादाय तद् द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः ।
महादेवं प्रति ययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ॥ २१ ॥
द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।

युधिष्ठिरने वहाँ जितना धन खुदवाया था, वह सोलह करोड़ आठ लाख और चौबीस हजार भार सुवर्ण था। उन्होंने उपर्युक्त सब वाहनोंपर धन लदवाकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने पुनः महादेवजीका पूजन किया और व्यासजीकी आज्ञा लेकर पुरोहित धौम्यमुनिको आगे करके हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ २०-२१½ ॥

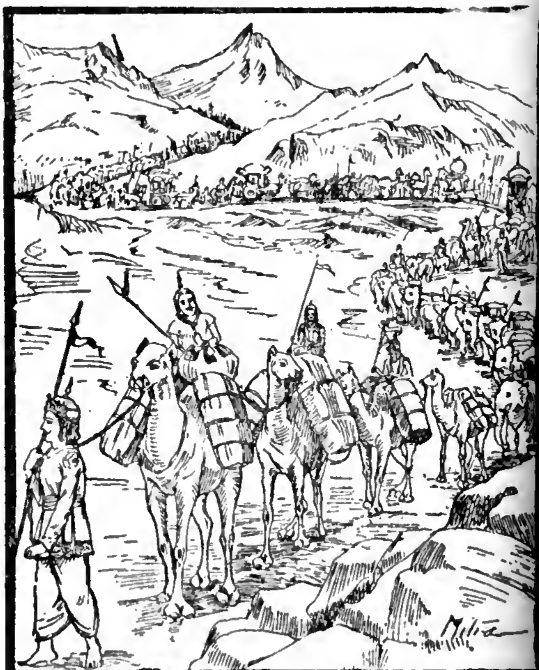

गोयुते गोयुते चैव न्यवसत् पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥
सा पुराभिमुखा राजन्नुवाह महती चमूः ।
कृच्छ्राद् द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ॥ २३ ॥

राजन्! वे वाहनोंपर बोझ अधिक होनेके कारण दो-दो कोसपर मुकाम देते जाते थे। द्रव्यके भारसे कष्ट पाती हुई वह विशाल सेना उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका हर्ष बढ़ाती हुई बड़ी कठिनाईसे नगरकी ओर उस धनको ले जा रही थी ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्यका आनयनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

[श्री]कृष्णका हस्तिनापुरमें आगमन और उत्तराके मृत बालकको जिलानेके लिये कुन्तीकी उनसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

[ए]तस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान्।
[उ]पायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें [प]रम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियोंको साथ [ले]कर हस्तिनापुर आ गये॥ १॥

[स]मयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः।
[य]थोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति॥ २॥

उनके द्वारका जाते समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जैसी बात [क]ही थी, उसके अनुसार अश्वमेध यज्ञका समय निकट जान[क]र पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहले ही उपस्थित हो गये॥ २॥

[रौ]क्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव ह।
[च]ारुदेष्णेन साम्बेन गदेन कृतवर्मणा॥ ३॥
[स]ारणेन च वीरेण निशठेनोल्मुकेन च।

उनके साथ रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, सात्यकि, चारुदेष्ण, [सा]म्ब, गद, कृतवर्मा, सारण, वीर निशठ और उल्मुक [भी] थे॥ ३½॥

[ब]लदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा॥ ४॥
[द्रौ]पदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवलोककः।
[स]माश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः॥ ५॥

वे बलदेवजीको आगे करके सुभद्राके साथ पधारे थे। [उ]नके शुभागमनका उद्देश्य था द्रौपदी, उत्तरा और कुन्तीसे [मि]लना तथा जिनके पति मारे गये थे, उन सभी क्षत्राणियोंको [आ]श्वासन देना—धीरज बँधाना॥ ४-५॥

[ता]नागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः।
[प्र]त्यगृह्णाद् यथान्यायं विदुरश्च महामनाः॥ ६॥

उनके आगमनका समाचार सुनते ही राजा धृतराष्ट्र [औ]र महामना विदुरजी खड़े हो गये और आगे बढ़कर [उ]न्होंने उन सबका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया॥ ६॥

[त]त्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः।
[वि]दुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना॥ ७॥

विदुर और युयुत्सुसे भलीभाँति पूजित हो महातेजस्वी [पुरु]षोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वहीं रहने लगे॥ ७॥

[व]सत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय।
[ज]ज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा॥ ८॥

जनमेजय! उन वृष्णिवीरोंके वहाँ निवास करते समय [ही] तुम्हारे पिता शत्रुवीरहन्ता परीक्षित्‌का जन्म हुआ था॥

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः॥ ९॥

महाराज! वे राजा परीक्षित् ब्रह्मास्त्रसे पीडित होनेके कारण चेष्टाहीन मुर्देके रूपमें उत्पन्न हुए, अतः स्वजनोंका हर्ष और शोक बढ़ानेवाले हो गये थे*॥ ९॥

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत्॥ १०॥

पहले पुत्र-जन्मका समाचार सुनकर हर्षमें भरे हुए लोगोंके सिंहनादसे एक महान् कोलाहल सुनायी पड़ा, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रविष्ट हो पुनः शान्त हो गया॥ १०॥

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः॥ ११॥

इससे भगवान् श्रीकृष्णके मन और इन्द्रियोंमें व्यथा-सी उत्पन्न हो गयी। वे सात्यकिको साथ ले बड़ी उतावलीसे अन्तःपुरमें जा पहुँचे॥ ११॥

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम्।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः॥ १२॥

वहाँ उन्होंने अपनी बुआ कुन्तीको बड़े वेगसे आती देखा, जो बारंबार उन्हींका नाम लेकर 'वासुदेव! दौड़ो-दौड़ो' की पुकार मचा रही थी॥ १२॥

पृष्ठतो द्रौपदी चैव सुभद्रां च यशस्विनीम्।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप॥ १३॥

राजन्! उनके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियाँ भी थीं, जो बड़े करुणस्वरसे बिलख-बिलखकर रो रही थीं॥ १३॥

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा॥ १४॥

नृपश्रेष्ठ! उस समय श्रीकृष्णके निकट पहुँचकर कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें बोली—॥ १४॥

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम्॥ १५॥

'महाबाहु वसुदेव-नन्दन! तुम्हें पाकर ही तुम्हारी माता देवकी उत्तम पुत्रवाली मानी जाती हैं। तुम्हीं हमारे अवलम्ब

* पहले तो पुत्र-जन्मके समाचारसे सबको अपार हर्ष हुआ; किंतु उनमें जीवनका कोई चिह्न न देखकर तत्काल शोकका समुद्र उमड़ पड़ा।

और तुम्हीं हमलोगोंके आधार हो। इस कुलकी रक्षा तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥ १६ ॥

'यदुवीर ! प्रभो ! यह जो तुम्हारे मानजे अभिमन्युका बालक है, अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरा हुआ ही उत्पन्न हुआ है। केशव ! इसे जीवन-दान दो ॥ १६ ॥

त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥ १७ ॥

'यदुनन्दन ! प्रभो ! अश्वत्थामाने जब सींकके बाणका प्रयोग किया था, उस समय तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तराके मरे हुए बालकको भी जीवित कर दूँगा ॥ १७ ॥

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥ १८ ॥

'तात ! वही यह बालक है, जो मरा हुआ ही पैदा हुआ है। पुरुषोत्तम ! इसपर अपनी कृपादृष्टि डालो। माधव ! इसे जीवित करके ही उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी-सहित मेरी रक्षा करो ॥ १८ ॥

धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान् नस्त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'दुर्धर्ष वीर ! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी भी रक्षा करो। तुम हम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करने योग्य हो ॥ १९ ॥

अस्मिन् प्राणाः समायत्ताः पाण्डवानां ममैव च।
पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ॥ २० ॥

'मेरे और पाण्डवोंके प्राण इस बालकके ही अधीन हैं। दशार्हकुलनन्दन ! मेरे पति पाण्डु तथा श्वशुर विचित्र-वीर्यके पिण्डका भी यही सहारा है ॥ २० ॥

अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च।
प्रियमुत्पादयाद्य त्वं प्रेतस्यापि जनार्दन ॥ २१ ॥

'जनार्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। जो तुम्हें अत्यन्त प्रिय और तुम्हारे ही समान परम सुन्दर था, उस परलोकवासी अभिमन्यु-का भी प्रिय करो—उसके इस बालकको जिला दो ॥ २१ ॥

उत्तरा हि पुरोक्तं वै कथयत्यरिसूदन।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात् तन्न संशयः ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन श्रीकृष्ण ! मेरी बहूरानी उत्तरा अभिमन्युकी पहलेकी कही हुई एक बात अत्यन्त प्रिय होनेके कारण बार-बार दुहराया करती है। उस बातकी यथार्थतामें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ २२ ॥

अब्रवीत् किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिस्तदा।
मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो गमिष्यति ॥ २३ ॥
गत्वा वृष्ण्यन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रं च केवलम् ॥ २४ ॥

'दाशार्ह ! अभिमन्युने उत्तरासे कभी स्नेहवश कहा था—''कल्याणी ! तुम्हारा पुत्र मेरे मामाके यहाँ जायगा। वृष्णि एवं अन्धकोंके कुलमें जाकर धनुर्वेद, नाना प्रकारके विचित्र अस्त्र-शस्त्र तथा विशुद्ध नीतिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करेगा'' ॥ २३-२४ ॥

इत्येतत् प्रणयात् तात सौभद्रः परवीरहा।
कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न संशयः ॥ २५ ॥

'तात ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्धर्ष वीर सुभद्राकुमारने जो प्रेमपूर्वक यह बात कही थी, यह निस्संदेह सत्य होनी चाहिये ॥ २५ ॥

तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन।
कुलस्यास्य हितार्थं त्वं कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ २६ ॥

'मधुसूदन ! इस कुलकी भलाईके लिये हम सब लोग तुम्हारे पैरों पड़कर भीख माँगती हैं, इस बालकको जिलाकर तुम कुरुकुलका सर्वोत्तम कल्याण करो' ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर विशाललोचना कुन्ती दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आर्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। दूसरी स्त्रियोंकी भी यही दशा हुई ॥ २७ ॥

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥ २८ ॥

समर्थ महाराज ! उन सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे सभी रो-रोकर कह रही थीं कि 'हाय ! श्रीकृष्णके भानजेका बालक मरा हुआ पैदा हुआ' ॥ २८ ॥

एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! उन सबके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको सहारा देकर बैठाया और पृथ्वीपर पड़ी हुई अपनी बुआको वे सान्त्वना देने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षिज्जन्मकथने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परीक्षित्‌के जन्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

परीक्षित्‌को जिलानेके लिये सुभद्राकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीदेवीके बैठ जानेपर सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्णकी ओर देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और दुःखसे आर्त होकर यों बोली—॥

पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ॥ २ ॥

'भैया कमलनयन ! तुम अपने सखा बुद्धिमान् पार्थके इस पौत्रकी दशा तो देखो । कौरवोंके नष्ट हो जानेपर इसका जन्म हुआ; परंतु यह भी गतायु होकर नष्ट हो गया ॥ २ ॥

इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता ।
सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह ॥ ३ ॥

'द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने भीमसेनको मारनेके लिये जो सींकका बाण उठाया था, वह उत्तरापर, तुम्हारे सखा विजयपर और मुझपर गिरा है ॥ ३ ॥

सेयं विदीर्णे हृदये मयि तिष्ठति केशव ।
यन्न पश्यामि दुर्धर्ष सहपुत्रं तु तं प्रभो ॥ ४ ॥

'दुर्धर्ष वीर केशव ! प्रभो ! वह सींक मेरे इस विदीर्ण हुए हृदयमें आज भी कसक रही है; क्योंकि इस समय मैं पुत्रसहित अभिमन्युको नहीं देख पाती हूँ ॥ ४ ॥

किं नु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ ॥ ५ ॥
श्रुत्वाभिमन्योस्तनयं जातं च मृतमेव च ।
मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः ॥ ६ ॥

'अभिमन्युका बेटा जन्म लेनेके साथ ही मर गया—इस बातको सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर क्या कहेंगे ? भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव भी क्या सोचेंगे ? श्रीकृष्ण ! आज द्रोणपुत्रने पाण्डवोंका सर्वस्व लूट लिया ॥

अभिमन्युः प्रियः कृष्ण भ्रातॄणां नात्र संशयः ।
ते श्रुत्वा किं नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्जिताः ॥ ७ ॥

'श्रीकृष्ण ! अभिमन्यु पाँचों भाइयोंको अत्यन्त प्रिय था—इसमें संशय नहीं है । उसके पुत्रकी यह दशा सुनकर अश्वत्थामाके अस्त्रसे पराजित हुए पाण्डव क्या कहेंगे ? ॥७॥

भवितातः परं दुःखं किं तदन्यज्जनार्दन ।
अभिमन्योः सुतात् कृष्ण मृताज्जातादरिंदम ॥ ८ ॥

'शत्रुसूदन ! जनार्दन ! श्रीकृष्ण ! अभिमन्यु-जैसे वीरका पुत्र मरा हुआ पैदा हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ८ ॥

साहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसा नता ।
पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम ॥ ९ ॥

'पुरुषोत्तम ! श्रीकृष्ण ! आज मैं तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ । बूआ कुन्ती और बहिन द्रौपदी भी तुम्हारे पैरोंपर पड़ी हुई हैं । इन सबकी ओर देखो ॥ ९ ॥

यदा द्रोणसुतो गर्भान् पाण्डूनां हन्ति माधव ।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ॥ १० ॥

'शत्रुमर्दन माधव ! जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवोंके गर्भकी भी हत्या करनेका प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने कुपित होकर उससे कहा था ॥ १० ॥

अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम् ॥ ११ ॥

'ब्रह्मबन्धो ! नराधम ! मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा । अर्जुनके पौत्रको अपने प्रभावसे जीवित कर दूँगा ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा जानानाहं बलं तव ।
प्रसादये त्वां दुर्धर्ष जीवतामभिमन्युजः ॥ १२ ॥

'भैया ! तुम दुर्धर्ष वीर हो । मैं तुम्हारी उस बातको सुनकर तुम्हारे बलको अच्छी तरह जानती हूँ । इसीलिये तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ । तुम्हारे कृपा-प्रसादसे अभिमन्युका यह पुत्र जीवित हो जाय ॥ १२ ॥

यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय ॥ १३ ॥

'वृष्णिवंशके सिंह ! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने मङ्गलमय वचनका पूर्णतः पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो, सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी—मैं अपने प्राण दे दूँगी ॥१३॥

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ॥ १४ ॥

'दुर्धर्ष वीर ! यदि तुम्हारे जीते-जी अभिमन्युके इस बालकको जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे ॥

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ॥ १५ ॥

'अजेय वीर ! जैसे बादल पानी बरसाकर सूखी खेतीको भी हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार तुम अपने ही समान नेत्रवाले अभिमन्युके इस मरे हुए पुत्रको जीवित कर दो ॥

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिंदम ॥ १६ ॥

'शत्रुदमन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्य-पराक्रमी हो; अतः तुम्हें अपनी कही हुई बातको सत्य कर दिखाना चाहिये ॥ १६ ॥

इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीन् जीवयेथा मृतानिमान्।
किं पुनर्दयितं जातं स्वस्रीयस्यात्मजं मृतम् ॥ १७ ॥

'तुम चाहो तो मृत्युके मुखमें पड़े हुए तीनों लोकोंको जिला सकते हो, फिर अपने भानजेके इस प्यारे पुत्रको, जो मर चुका है, जीवित करना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है ॥

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात् त्वां याचयाम्यहम्।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारे प्रभावको जानती हूँ। इसीलिये तुमसे याचना करती हूँ। इस बालकको जीवनदान देकर तुम पाण्डवोंपर यह महान् अनुग्रह करो ॥ १८ ॥

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ॥ १९ ॥

'महाबाहो ! तुम यह समझकर कि यह मेरी बहिन है अथवा जिसका बेटा मारा गया है, वह दुखिया है, अथवा शरणमें आयी हुई एक दयनीय अबला है, मुझपर दया करने योग्य हो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सुभद्रावाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सुभद्राका वचनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रसूतिकागृहमें प्रवेश, उत्तराका विलाप और अपने पुत्रको जीवित करनेके लिये प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! सुभद्राके ऐसा कहनेपर केशिहन्ता केशव दुःखसे व्याकुल हो उसे प्रसन्न करते हुए-से उच्चस्वरसे बोले—'बहिन ! ऐसा ही होगा' ॥१॥

वाक्येनैतेन हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः।
ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्तं सलिलैरिव ॥ २ ॥

जैसे धूपसे तपे हुए मनुष्यको जलसे नहला देनेपर बड़ी शान्ति मिल जाती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने इस अमृतमय वचनके द्वारा सुभद्रा तथा अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंको महान् आह्लाद प्रदान किया ॥ २ ॥

ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥ ३ ॥

पुरुषसिंह ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही तुम्हारे पिताके जन्मस्थान—सूतिकागारमें गये; जो सफेद फूलोंकी मालाओंसे विधिपूर्वक सजाया गया था ॥ ३ ॥

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम्।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ॥ ४ ॥

महाबाहो ! उसके चारों ओर जलसे भरे हुए कलश रखे गये थे। घीसे तर किये हुए तेन्दुक नामक काष्ठके कई टुकड़े जल रहे थे तथा यत्र-तत्र सरसों बिखेरी गयी थी ॥ ४ ॥

अस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः।
वृद्धाभिश्चापि रामाभिः परिचारार्थमावृतम् ॥ ५ ॥

दक्षैश्च परितो धीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा।

धैर्यशाली राजन् ! उस घरके चारों ओर चमकते हुए तेज हथियार रखे गये थे और सब ओर आग प्रज्वलित की गयी थी। सेवाके लिये उपस्थित हुई बूढ़ी स्त्रियोंने उस स्थानको घेर रक्खा था तथा अपने-अपने कार्यमें कुशल चतुर चिकित्सक भी चारों ओर मौजूद थे ॥ ५½ ॥

ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ॥ ६ ॥
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः।

तेजस्वी श्रीकृष्णने देखा कि व्यवस्थाकुशल मनुष्योंद्वारा वहाँ सब ओर राक्षसोंका निवारण करनेवाली नाना प्रकारकी वस्तुएँ विधिपूर्वक रखी गयी थीं ॥ ६½ ॥

तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ॥ ७ ॥
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत्।

तुम्हारे पिताके जन्मस्थानको इस प्रकार आवश्यक वस्तुओंसे सुसज्जित देख भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा' कहकर उस प्रबन्धकी प्रशंसा करने लगे ॥

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा ॥ ८ ॥
द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत्।

जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमुख होकर उसकी सराहना कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी बड़ी तेजीके साथ उत्तराके पास गयी और बोली—॥ ८½ ॥

अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ॥ ९ ॥
पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः।

'कल्याणी ! यह देखो, तुम्हारे श्वशुरतुल्य, अचिन्त्य-

स्वरूप, किसीसे पराजित न होनेवाले, पुरातन ऋषि भगवान् मधुसूदन तुम्हारे पास आ रहे हैं' ॥ ९½ ॥

सापि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह ॥ १० ॥
सुसंवीताभवद् देवी देववत् कृष्णमीयुषी ।
सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ।

यह सुनकर उत्तराने अपने आँसुओंको रोककर रोना बंद कर दिया और अपने सारे शरीरको वस्त्रोंसे ढक लिया। श्रीकृष्णके प्रति उसकी भगवद्बुद्धि थी; इसलिये उन्हें आते देख वह तपस्विनी बाला व्यथित हृदयसे करुणविलाप करती हुई गद्गदकण्ठसे इस प्रकार बोली—॥ १०-११½ ॥

पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ॥ १२ ॥

'कमलनयन ! जनार्दन ! देखिये, आज मैं और मेरे पति दोनों ही संतानहीन हो गये । आर्यपुत्र तो युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुए हैं; परंतु मैं पुत्रशोकसे मारी गयी । इस प्रकार हम दोनों समान रूपसे ही कालके ग्रास बन गये ॥ १२ ॥

वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥ १३ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वीर मधुसूदन ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपका कृपाप्रसाद प्राप्त करना चाहती हूँ । द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध हुए मेरे इस पुत्रको जीवित कर दीजिये ॥ १३ ॥

यदि स्म धर्मराज्ञा वा भीमसेनेन वा पुनः ।
त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ॥ १४ ॥
अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो ।
अहमेव विनष्टा स्यां नैतदेवंगते भवेत् ॥ १५ ॥

'प्रभो ! पुण्डरीकाक्ष ! यदि धर्मराज अथवा आर्य भीमसेन या आपने ही ऐसा कह दिया होता कि यह सींक इस बालकको न मारकर इसकी अनजान माताको ही मार डाले, तब केवल मैं ही नष्ट हुई होती । उस दशामें यह अनर्थ नहीं होता ॥ १४-१५ ॥

गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् ।
कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ॥ १६ ॥

'हाय ! इस गर्भके बालकको ब्रह्मास्त्रसे मार डालनेका क्रूरतापूर्ण कर्म करके दुर्बुद्धि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा कौन-सा फल पा रहा है ॥ १६ ॥

सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ॥ १७ ॥

'गोविन्द ! आप शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं । मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करके आपसे इस बालकके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ । यदि यह जीवित नहीं हुआ तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूँगी ॥ १७ ॥

अस्मिन् हि बहवः साधो ये ममासन् मनोरथाः ।
ते द्रोणपुत्रेण हताः किं नु जीवामि केशव ॥ १८ ॥

'साधुपुरुष केशव ! इस बालकपर मैंने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने उन सबको नष्ट कर दिया । अब मैं किस लिये जीवित रहूँ ? ॥ १८ ॥

आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ॥ १९ ॥

'श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! मेरी बड़ी आशा थी कि अपने इस बच्चेको गोदमें लेकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके चरणोंमें अभिवादन करूँगी; किंतु अब वह व्यर्थ हो गयी ॥ १९ ॥

चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ॥ २० ॥

'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ! चञ्चल नेत्रोंवाले पतिदेवके इस पुत्रकी मृत्यु हो जानेसे मेरे हृदयके सारे मनोरथ निष्फल हो गये ॥ २० ॥

चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन ।
सुतं पश्य त्वमस्यैनं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ॥ २१ ॥

'मधुसूदन ! सुनती हूँ कि चञ्चल नेत्रोंवाले अभिमन्यु आपको बहुत ही प्रिय थे । उन्हींका बेटा आज ब्रह्मास्त्रकी मारसे मरा पड़ा है । आप इसे आँख भरकर देख लीजिये । २१ ।

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥ २२ ॥

'यह बालक भी अपने पिताके ही समान कृतघ्न और नृशंस है, जो पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीको छोड़कर आज अकेला ही यमलोक चला गया ॥ २२ ॥

मया चैतत् प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव ।
अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ॥ २३ ॥

'केशव ! मैंने युद्धके मुहानेपर यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मेरे वीर पतिदेव ! यदि आप मारे गये तो मैं शीघ्र ही परलोकमें आपसे आ मिलूँगी ॥ २३ ॥

तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया ।
इदानीं मां गतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः ॥ २४ ॥

'परंतु श्रीकृष्ण ! मैंने उस प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया । मैं बड़ी कठोरहृदया हूँ । मुझे पतिदेव नहीं, ये प्राण ही प्यारे हैं । यदि इस समय मैं परलोकमें जाऊँ तो वहाँ अर्जुनकुमार मुझसे क्या कहेंगे ?' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तराका वाक्यविषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

उत्तराका विलाप और भगवान् श्रीकृष्णका उसके मृत बालकको जीवन-दान देना

वैशम्पायन उवाच

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी।
उत्तरा न्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुत्रका जीवन चाहनेवाली तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर इस प्रकार दीनभावसे करुण विलाप करके पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ १॥

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम्।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः॥ २॥

जिसका पुत्ररूपी परिवार नष्ट हो गया था, उस उत्तराको पृथ्वीपर पड़ी हुई देख दुःखसे आतुर हुई कुन्तीदेवी तथा भरतवंशकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं॥ २॥

मुहूर्तमिव राजेन्द्र पाण्डवानां निवेशनम्।
अप्रेक्षणीयमभवदार्तस्वनविनादितम्॥ ३॥

राजेन्द्र! दो घड़ीतक पाण्डवोंका वह भवन आर्तनादसे गूँजता रहा। उस समय उसकी ओर देखते नहीं बनता था॥

सा मुहूर्तं च राजेन्द्र पुत्रशोकाभिपीडिता।
कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत् तदा॥ ४॥

वीर राजेन्द्र! पुत्रशोकसे पीड़ित वह विराटकुमारी उत्तरा उस समय दो घड़ीतक मूर्च्छामें पड़ी रही॥ ४॥

प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! थोड़ी देर बाद उत्तरा जब होशमें आयी, तब उस मरे हुए पुत्रको गोदमें लेकर यों कहने लगी—॥ ५॥

धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम्॥ ६॥

'बेटा! तू तो धर्मज्ञ पिताका पुत्र है। फिर तेरे द्वारा जो अधर्म हो रहा है, उसे तू क्यों नहीं समझता? वृष्णि-वंशके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं, तो भी तू इन्हें प्रणाम क्यों नहीं करता?॥ ६॥

पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरं त्विदम्।
दुर्मरं प्राणिनां वीर कालेऽप्राप्ते कथंचन॥ ७॥
याहं त्वया विनाद्येह पत्या पुत्रेण चैव ह।
मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना॥ ८॥

'वत्स! परलोकमें जाकर तू अपने पितासे मेरी यह बात कहना—'वीर! अन्तकाल आये विना प्राणियोंके लिये किसी तरह भी मरना बड़ा कठिन होता है। तभी तो मैं यहाँ आप-जैसे पति तथा इस पुत्रसे बिछुड़कर भी जब कि मुझे मर जाना चाहिये, अबतक जी रही हूँ; मेरा सारा मङ्गल नष्ट हो गया है। मैं अकिंचन हो गयी हूँ'॥ ७-८॥

अथवा धर्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज।
भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम्॥ ९॥

'महाबाहो! अब मैं धर्मराजकी आज्ञा लेकर भयानक विष खा लूँगी अथवा प्रज्वलित अग्निमें समा जाऊँगी॥ ९॥

अथवा दुर्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा।
पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते॥ १०॥

'तात! जान पड़ता है, मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पति और पुत्रसे हीन होनेपर भी मेरे इस हृदयके हजारों टुकड़े नहीं हो रहे हैं॥ १०॥

उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम्।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे॥ ११॥

'बेटा! उठकर खड़ा हो जा। देख! ये तेरी परदादी (कुन्ती) कितनी दुखी हैं। ये तेरे लिये आर्त, व्यथित एवं दीन होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हैं॥ ११॥

आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम्।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव॥ १२॥

'आर्या पाञ्चाली (द्रौपदी) की ओर देख, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्राकी ओर दृष्टिपात कर और व्याधके बाणोंसे बिंधी हुई हरिणीकी भाँति अत्यन्त दुःखसे आर्त हुई मुझ अपनी माँको भी देख ले॥ १२॥

उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः।
पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम्॥ १३॥

'बेटा! उठकर खड़ा हो जा और बुद्धिमान् जगदीश्वर श्रीकृष्णके कमलदलके समान नेत्रोंवाले मुखारविन्दकी शोभा निहार, ठीक उसी तरह जैसे पहले मैं चञ्चल नेत्रोंवाले तेरे पिताका मुँह निहारा करती थी'॥ १३॥

एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः।
उत्तरां तां स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः॥ १४॥

इस प्रकार विलाप करती हुई उत्तराको पुनः पृथ्वीपर पड़ी देख सब स्त्रियोंने उसे फिर उठाकर बिठाया॥ १४॥

उत्थाय च पुनर्धैर्यात् तदा मत्स्यपतेः सुता।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत्॥ १५॥

पुनः उठकर धैर्य धारण करके मत्स्यराजकुमारीने पृथ्वीपर ही हाथ जोड़कर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया॥ १५॥

श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ॥ १६ ॥

उसका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने आचमन करके अश्वत्थामाके चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयञ्जगत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् विशुद्ध हृदयवाले और कभी अपनी महिमासे विचलित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस बालकको जीवित करनेकी प्रतिज्ञा की और सम्पूर्ण जगत्‌को सुनाते हुए इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

'बेटी उत्तरा ! मैं झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी। देखो, मैं समस्त देहधारियोंके देखते-देखते अभी इस बालकको जिलाये देता हूँ ॥ १८ ॥

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥ १९ ॥

'मैंने खेल-कूदमें भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और युद्धमें पीठ नहीं दिखायी है। इस शक्तिके प्रभावसे अभिमन्युका यह बालक जीवित हो जाय ॥ १९ ॥

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ २० ॥

'यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्युका यह पुत्र, जो पैदा होते ही मर गया था, फिर जीवित हो जाय ॥ २० ॥

यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ २१ ॥

'मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो, इसका स्मरण नहीं है; इस सत्यके प्रभावसे यह मरा हुआ बालक अभी जीवित हो जाय ॥ २१ ॥

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥ २२ ॥

'यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्युका यह मरा हुआ बालक जी उठे ॥ २२ ॥

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ॥ २३ ॥

'मैंने कंस और केशीका धर्मके अनुसार वध किया है, इस सत्यके प्रभावसे यह बालक फिर जीवित हो जाय' ॥ २३ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उस बालकमें चेतना आ गयी। वह धीरे-धीरे अङ्ग-संचालन करने लगा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षित्संजीवने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परिक्षित्‌को जीवनदानविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा राजा परिक्षित्‌का नामकरण तथा पाण्डवोंका हस्तिनापुरके समीप आगमन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतम् ।
तदा तद् वेश्म त्वत्पित्रा तेजसाभिविदीपितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णने जब ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया, उस समय वह सूतिकागृह तुम्हारे पिताके तेजसे देदीप्यमान होने लगा ॥ १ ॥

ततो रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहं तु तत् ।
अन्तरिक्षे च वागासीत् साधु केशव साध्विति ॥ २ ॥

फिर तो बालकोंका विनाश करनेवाले समस्त राक्षस उस घरको छोड़कर भाग गये। इसी समय आकाशवाणी हुई—'केशव ! तुम्हें साधुवाद ! तुमने बहुत अच्छा कार्य किया' ॥ २ ॥

तदस्त्रं ज्वलितं चापि पितामहमगात् तदा ।
ततः प्राणान् पुनर्लेभे पिता तव नरेश्वर ॥ ३ ॥

साथ ही वह प्रज्वलित ब्रह्मास्त्र ब्रह्मलोकको चला गया। नरेश्वर ! इस तरह तुम्हारे पिताको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ॥ ४ ॥

राजन् ! उत्तराका वह बालक अपने उत्साह और बलके अनुसार हाथ-पैर हिलाने लगा, यह देख भरतवंशकी उन सभी स्त्रियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४ ॥

ब्राह्मणान् वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् ।
ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराया। फिर वे सब आनन्दमग्न होकर श्रीकृष्णके गुण गाने लगीं ॥ ५ ॥

स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः ।
कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ॥ ६ ॥
स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः ।

जैसे नदीके पार जानेवाले मनुष्योंको नाव पाकर बड़ी खुशी होती है, उसी प्रकार भरतवंशी वीरोंकी वे स्त्रियाँ— कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा एवं नरवीरोंकी स्त्रियाँ उस बालकके जीवित होनेसे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं ॥ ६½ ॥

तत्र मल्ला नटाश्चैव ग्रन्थिकाः सौख्यशायिकाः ॥ ७ ॥
सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवंस्तं जनार्दनम् ।
कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मल्ल, नट, ज्यौतिषी, सुखका समाचार पूछनेवाले सेवक तथा सूतों और मागधोंके समुदाय कुरुवंशकी स्तुति और आशीर्वादके साथ भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करने लगे ॥ ७-८ ॥

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! फिर प्रसन्न हुई उत्तरा यथासमय उठकर पुत्रको गोदमें लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्णके समीप आयी और उन्हें प्रणाम किया ॥ ९ ॥

तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो बहुरत्नं विशेषतः ।
तथान्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याकरोत् प्रभुः ॥ १० ॥
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।

भगवान् श्रीकृष्णने भी प्रसन्न होकर उस बालकको बहुत-से रत्न उपहारमें दिये । फिर अन्य यदुवंशियोंने भी नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट कीं । महाराज ! इसके बाद सत्य-प्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हारे पिताका इस प्रकार नामकरण किया ॥ १०½ ॥

परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ॥ ११ ॥
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत् तदा ।

'कुरुकुलके परिक्षीण हो जानेपर यह अभिमन्युका बालक उत्पन्न हुआ है । इसलिये इसका नाम परिक्षित् होना चाहिये ।' ऐसा भगवान्ने कहा ॥ ११½ ॥

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ॥ १२ ॥
मनःप्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

नरेश्वर ! इस प्रकार नामकरण हो जानेके बाद तुम्हारे पिता परिक्षित् कालक्रमसे बड़े होने लगे । भारत ! वे सब लोगोंके मनको आनन्दमग्न किये रहते थे ॥ १२½ ॥

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ॥ १३ ॥
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।

वीर भरतनन्दन ! जब तुम्हारे पिताकी अवस्था एक महीनेकी हो गयी, उस समय पाण्डवलोग बहुत-सी रत्न-राशि लेकर हस्तिनापुरको लौटे ॥ १३½ ॥

तान् समीपगताञ्श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ॥ १४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंने जब सुना कि पाण्डव लोग नगरके समीप आ गये हैं, तब वे उनकी अगवानीके लिये बाहर निकले ॥ १४ ॥

अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।
पताकाभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥

पुरवासी मनुष्योंने फूलोंकी मालाओं, वन्दनवारों, भाँति-भाँतिकी ध्वजाओं तथा विचित्र-विचित्र पताकाओंसे हस्तिनापुरको सजाया था ॥ १५ ॥

वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि जनेश्वर ।
देवतायतनानां च पूजाः सुविविधास्तथा ॥ १६ ॥
संदिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया ।
राजमार्गाश्च तत्रासन् सुमनोभिरलंकृताः ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! नागरिकोंने अपने-अपने घरोंकी भी सजावट की थी । विदुरजीने पाण्डवोंका प्रिय करनेकी इच्छासे देव-मन्दिरोंमें विविध प्रकारसे पूजा करनेकी आज्ञा दी । हस्तिना-पुरके सभी राजमार्ग फूलोंसे अलंकृत किये गये थे ॥ १६-१७ ॥

शुशुभे तत्पुरं चापि समुद्रौघनिभस्वनम् ।
नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायकानां च निःस्वनैः ॥ १८ ॥

नाचते हुए नर्तकों और गानेवाले गायकोंके शब्दोंसे उस नगरकी बड़ी शोभा हो रही थी । वहाँ समुद्रकी जल-राशिकी गर्जनाके समान कोलाहल हो रहा था ॥ १८ ॥

आसीद् वैश्रवणस्येव निवासस्तत्पुरं तदा ।
बन्दिभिश्च नरै राजन् स्त्रीसहायैश्च सर्वशः ॥ १९ ॥
तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् ।
पताका धूयमानाश्च समन्तान्मातरिश्वना ॥ २० ॥
अदर्शयन्निव तदा कुरून् वै दक्षिणोत्तरान् ।

राजन् ! उस समय वह नगर कुबेरकी अलकापुरीके समान प्रतीत होता था । वहाँ सब ओर एकान्त स्थानोंमें स्त्रियोंसहित बंदीजन खड़े थे, जिनसे उस पुरीकी शोभा बढ़ गयी थी । उस समय हवाके झोंकेसे नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं, जो दक्षिण और उत्तरकुरु नामक देशोंकी शोभा दिखाती थीं ॥ १९–२०½ ॥

अघोषयंस्तदा चापि पुरुषा राजधूर्गताः ।
सर्वराष्ट्रविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ २१ ॥

राज-काज सँभालनेवाले पुरुषोंने सब ओर यह घोषणा करा दी कि आज समूचे राष्ट्रमें उत्सव मनाया जाय और सब लोग रत्नोंके आभूषण या उत्तमोत्तम गहने कपड़े पहनकर इस उत्सवमें सम्मिलित हों ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि पाण्डवागमने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें पाण्डवोंका आगमनविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७०॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथियोंद्वारा पाण्डवोंका स्वागत, पाण्डवोंका नगरमें आकर सबसे मिलना और व्यासजी तथा श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको यज्ञके लिये आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

तान् समीपगताञ्श्रुत्वा पाण्डवान् शत्रुकर्शनः।
वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके समीप आनेका समाचार सुनकर शत्रुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्रों और मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये चले ॥

ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्याता दिदृक्षया।
ते समेत्य यथाधर्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ॥ २ ॥
विविशुः सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयम् ।

उन सब लोगोंने पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और सब यथायोग्य एक दूसरेसे मिले। राजन् ! धर्मानुसार पाण्डव वृष्णियोंसे मिलकर सब एक साथ हो हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २½ ॥

महतस्तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन ह ॥ ३ ॥
द्यावापृथिव्योः खं चैव सर्वमासीत् समावृतम्।

उस विशाल सेनाके घोड़ोंकी टापों और रथके पहियोंकी घरघराहटके तुमुल घोषसे पृथ्वी और स्वर्गके बीचका सारा आकाश व्याप्त हो गया था ॥ ३½ ॥

ते कोशानग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरं तदा ॥ ४ ॥
पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः।

वे खजानेको आगे करके अपनी राजधानीमें घुसे। उस समय मन्त्रियों एवं सुहृदोंसहित समस्त पाण्डवोंका मन प्रसन्न था ॥ ४½ ॥

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ५ ॥
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे।

वे यथायोग्य सबसे मिलकर राजा धृतराष्ट्रके पास गये। अपना-अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे ॥ ५½ ॥

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ॥ ६ ॥
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम।

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! धृतराष्ट्रसे मिलनेके बाद वे सुबलपुत्री गान्धारी और कुन्तीसे मिले ॥ ६½ ॥

विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ॥ ७ ॥
पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यरोचन्त विशाम्पते।

प्रजानाथ ! फिर विदुरका सम्मान करके वैश्यापुत्र युयुत्सुसे मिलकर उन सबके द्वारा सम्मानित होते हुए वीर पाण्डव बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७½ ॥

ततस्तत् परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ॥ ८ ॥
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत।

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् उन वीरोंने तुम्हारे पिताके जन्मका वह आश्चर्यपूर्ण विचित्र, महान् एवं अद्भुत वृत्तान्त सुना ॥

तदुपश्रुत्य तत् कर्म वासुदेवस्य धीमतः ॥ ९ ॥
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम्।

परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णका वह अलौकिक कर्म सुनकर पाण्डवोंने उन पूजनीय देवकीनन्दन श्रीकृष्णका पूजन किया अर्थात् उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९½ ॥

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १० ॥
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम्।
तस्य सर्वे यथान्यायं पूजांचक्रुः कुरूद्वहाः ॥ ११ ॥

इसके थोड़े दिनों बाद महातेजस्वी सत्यवतीनन्दन व्यासजी हस्तिनापुरमें पधारे। कुरुकुलतिलक समस्त पाण्डवोंने उनका यथोचित पूजन किया ॥ १०-११ ॥

सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा।
तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ॥ १२ ॥
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत्।

फिर वृष्णि एवं अन्धकवंशी वीरोंके साथ वे उनकी सेवामें बैठ गये। वहाँ नाना प्रकारकी बातें करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीसे इस प्रकार कहा—॥ १२½ ॥

भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ॥ १३ ॥
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ।

'भगवन् ! आपकी कृपासे जो यह रत्न लाया गया है, उसका अश्वमेधनामक महायज्ञमें मैं उपयोग करना चाहता हूँ ॥

तमनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम।
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥ १४ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! मैं चाहता हूँ कि इसके लिये आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाय, क्योंकि हम सब लोग आप और महात्मा श्रीकृष्णके अधीन हैं' ॥ १४ ॥

व्यास उवाच

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम्।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ॥ १५ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें यज्ञके लिये आज्ञा देता हूँ। अब इसके बाद जो भी आवश्यक कार्य हो, उसे आरम्भ करो। विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ १५ ॥

अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! अश्वमेधयज्ञ समस्त पापोंका नाश करके यजमानको पवित्र बनानेवाला है । उसका अनुष्ठान करके तुम पापसे मुक्त हो जाओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञ आरम्भ करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

समनुज्ञाप्य तत् सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।
वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे सब बातोंके लिये आज्ञा ले प्रवचनकुशल राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ १८ ॥

देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम ।
यद् ब्रूयां त्वां महाबाहो तत् कृथास्त्वमिहाच्युत॥१९॥

'पुरुषोत्तम ! महाबाहु अच्युत ! आपको ही पाकर देवकीदेवी उत्तम संतानवाली मानी गयी हैं । मैं आपसे जो कुछ कहूँ, उसे आप यहाँ सम्पन्न करें ॥ १९ ॥

त्वत्प्रभावार्जितान् भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
पराक्रमेण बुद्ध्या च त्वयेयं निर्जिता मही ॥ २० ॥

'यदुनन्दन ! हम आपके ही प्रभावसे प्राप्त हुई इस पृथ्वीका उपभोग कर रहे हैं । आपने ही अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीको जीता है ॥ २० ॥

दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥

'दशार्हनन्दन ! आप ही इस यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं । आपके यज्ञानुष्ठान पूर्ण कर लेनेपर निश्चय ही हमारे सब पाप नष्ट हो जायँगे ॥ २१ ॥

त्वं हि यज्ञोऽक्षरः सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ॥ २२ ॥

'आप ही यज्ञ, अक्षर, सर्वस्वरूप, धर्म, प्रजापति एवं सम्पूर्ण भूतोंकी गति हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है' ॥२२॥

वासुदेव उवाच

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिंदम ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो ! शत्रुदमन नरेश ! आप ही ऐसी बात कह सकते हैं । मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके अवलम्ब हैं ॥ २३ ॥

त्वं चाद्य कुरुवीराणां धर्मेण हि विराजसे ।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः ॥ २४ ॥

राजन् ! समस्त कौरववीरोंमें एकमात्र आप ही धर्मसे सुशोभित होते हैं । हमलोग आपके अनुयायी हैं और आपको अपना राजा एवं गुरु मानते हैं ॥ २४ ॥

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया ।
युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ॥ २५ ॥

इसलिये भारत ! आप हमारी अनुमतिसे स्वयं ही इस यज्ञका अनुष्ठान कीजिये तथा हमलोगोंमेंसे जिसको जिस कामपर लगाना चाहते हों, उसे उस कामपर लगनेकी आज्ञा दीजिये ॥ २५ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे ॥ २६ ॥

निष्पाप नरेश ! मैं आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे, वह सब करूँगा । आप राजा हैं । आपके द्वारा यज्ञ होनेपर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको भी यज्ञानुष्ठानका फल मिल जायगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णव्यासानुज्ञायामेकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्ण और व्यासको युधिष्ठिरको यज्ञ करनेके लिये आज्ञाविषयक एकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

व्यासजीकी आज्ञासे अश्वकी रक्षाके लिये अर्जुनकी, राज्य और नगरकी रक्षाके लिये भीमसेन और नकुलकी तथा कुटुम्ब-पालनके लिये सहदेवकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

यदा कालं भवान् वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः॥ २

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवा

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर मेधावी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीको सम्बोधित करके कहा—'भगवन् ! जब आपको अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करनेका ठीक समय जान पड़े तभी आकर मुझे उसकी दीक्षा दें; क्योंकि मेरा यज्ञ आपके ही अधीन है' ॥

व्यास उवाच

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद् यथाकालं तत् कर्तारो न संशयः ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! जब यज्ञका समय आयेगा, उस समय मैं, पैल और याज्ञवल्क्य—ये सब आकर तुम्हारे यज्ञका सारा विधि-विधान सम्पन्न करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

पुरुषप्रवर ! आगामी चैत्रकी पूर्णिमाको तुम्हें यज्ञकी दीक्षा दी जायगी, तबतक तुम उसके लिये सामग्री संचित करो ॥ ४ ॥

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥ ५ ॥

अश्वविद्याके ज्ञाता सूत और ब्राह्मण यज्ञार्थकी सिद्धिके लिये पवित्र अश्वकी परीक्षा करें ॥ ५ ॥

तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥ ६ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो अश्व चुना जाय, उसे शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ो और वह तुम्हारे दीप्तिमान् यशका विस्तार करता हुआ समुद्रपर्यन्त समस्त पृथ्वीपर भ्रमण करे ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! यह सुनकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मवादी व्यासजीके कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया ॥ ७ ॥

सम्भाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे संकल्पिताऽभवन् ।
स सम्भारान् समाहृत्य नृपो धर्मसुतस्तदा ॥ ८ ॥
न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै ।

राजेन्द्र ! उन्होंने मनमें जिन-जिन सामानोंको एकत्र करनेका संकल्प किया था, उन सबको जुटाकर धर्मपुत्र अमेयात्मा राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको सूचना दी ॥ ८½ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ॥ ९ ॥
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ।

तब महातेजस्वी व्यासने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! हमलोग यथासमय उत्तम योग आनेपर तुम्हें दीक्षा देनेको तैयार हैं ॥ ९½ ॥

स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ॥ १० ॥
तत्र योग्यं भवेत् किंचिद् रौक्मं तत् क्रियतामिति ।

'कुरुनन्दन ! इस बीचमें तुम सोनेके 'स्फ्य' और 'कूर्च' बनवा लो तथा और भी जो सुवर्णमय सामान आवश्यक हों, उन्हें तैयार करा डालो ॥ १०½ ॥

अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥ ११ ॥

'आज शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको क्रमशः सारी पृथ्वीपर घूमनेके लिये छोड़ना चाहिये तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे वह सुरक्षितरूपसे सब ओर विचर सके' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥ १२ ॥
पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन् ! यह घोड़ा उपस्थित है । इसे किस प्रकार छोड़ा जाय, जिससे यह समूची पृथ्वीपर इच्छानुसार घूम आवे । इसकी व्यवस्था आप ही कीजिये तथा मुने ! यह भी बताइये कि भूमण्डलमें इच्छानुसार घूमनेवाले इस घोड़ेकी रक्षा कौन करे ? ॥ १२-१३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १४ ॥
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! युधिष्ठिरके इस तरह पूछनेपर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'राजन् ! अर्जुन सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ हैं । वे विजयमें उत्साह रखनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं; अतः वे ही इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे । उन्होंने निवातकवचोंका नाश किया था । वे सम्पूर्ण भूमण्डलको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १४-१५ ॥

तस्मिन् ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा ।
दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति ॥ १६ ॥

'उनके पास दिव्य अस्त्र, दिव्य कवच, दिव्य धनुष और दिव्य तरकस हैं; अतः वे ही इस घोड़ेके पीछे-पीछे जायँगे ॥ १६ ॥

स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः ।
यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ॥ १७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! वे धर्म और अर्थमें कुशल तथा सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण हैं, इसलिये आपके यज्ञसम्बन्धी अश्वका शास्त्रीय विधिके अनुसार संचालन करेंगे ॥ १७ ॥

राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः।
अभिमन्योः पिता वीरः स एनं पालयिष्यति ॥ १८ ॥

'जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, श्याम वर्ण है, कमल-जैसे नेत्र हैं, वे अभिमन्युके वीर पिता राजपुत्र अर्जुन इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे ॥ १८ ॥

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ॥ १९ ॥

'प्रजानाथ ! कुन्तीकुमार भीमसेन भी अत्यन्त तेजस्वी और अमितपराक्रमी हैं। नकुलमें भी वे ही गुण हैं। ये दोनों ही राज्यकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हैं (अतः वे ही राज्यके कार्य देखें) ॥ १९ ॥

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान्।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ॥ २० ॥

'कुरुनन्दन ! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी समस्त कार्योंकी देख-भाल करेंगे' ॥ २० ॥

तत् तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ॥ २१ ॥

व्यासजीके इस प्रकार बतलानेपर कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर-ने सारा कार्य उसी प्रकार यथोचित रीतिसे सम्पन्न किया और अर्जुनको बुलाकर घोड़ेकी रक्षाके लिये इस प्रकार आदेश दिया ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम्।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर अर्जुन ! यहाँ आओ, तुम इस घोड़ेकी रक्षा करो; क्योंकि तुम्हीं इसकी रक्षा करनेके योग्य हो। दूसरा कोई मनुष्य इसके योग्य नहीं है ॥ २२ ॥

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात् तथा कार्यं त्वयानघ ॥ २३ ॥

महाबाहो ! निष्पाप अर्जुन ! अश्वकी रक्षाके समय जो राजा तुम्हारे सामने आवें, उनके साथ भरसक युद्ध न करना पड़े, ऐसी चेष्टा तुम्हें करनी चाहिये ॥ २३ ॥

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥ २४ ॥

महाबाहो ! मेरे इस यज्ञका समाचार तुम्हें समस्त राजाओंको बताना चाहिये और उनसे यह कहना चाहिये कि आपलोग यथासमय यज्ञमें पधारें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम्।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाई सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और नकुलको नगरकी रक्षाका भार सौंप दिया ॥ २५ ॥

कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम्।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

फिर महाराज धृतराष्ट्रकी सम्मति लेकर युधिष्ठिरने योद्धाओंके स्वामी सहदेवको कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि यज्ञसामग्रीसम्पादने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसामग्रीका सम्पादनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

सेनासहित अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरण

वैशम्पायन उवाच

दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः।
विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब दीक्षाका समय आया, तब उन व्यास आदि महान् ऋत्विजोंने राजा युधिष्ठिरको विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा दी ॥ १ ॥

कृत्वा स पशुबन्धांश्च दीक्षितः पाण्डुनन्दनः।
धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत ॥ २ ॥

पशुबन्ध-कर्म करके यज्ञकी दीक्षा लिये हुए महातेजस्वी पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर ऋत्विजोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥ ३ ॥

अमिततेजस्वी ब्रह्मवादी व्यासजीने अश्वमेध यज्ञके लिये चुने गये अश्वको स्वयं ही शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ा ॥ ३ ॥

स राजा धर्मराड् राजन् दीक्षितो विबभौ तदा।
हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ४ ॥

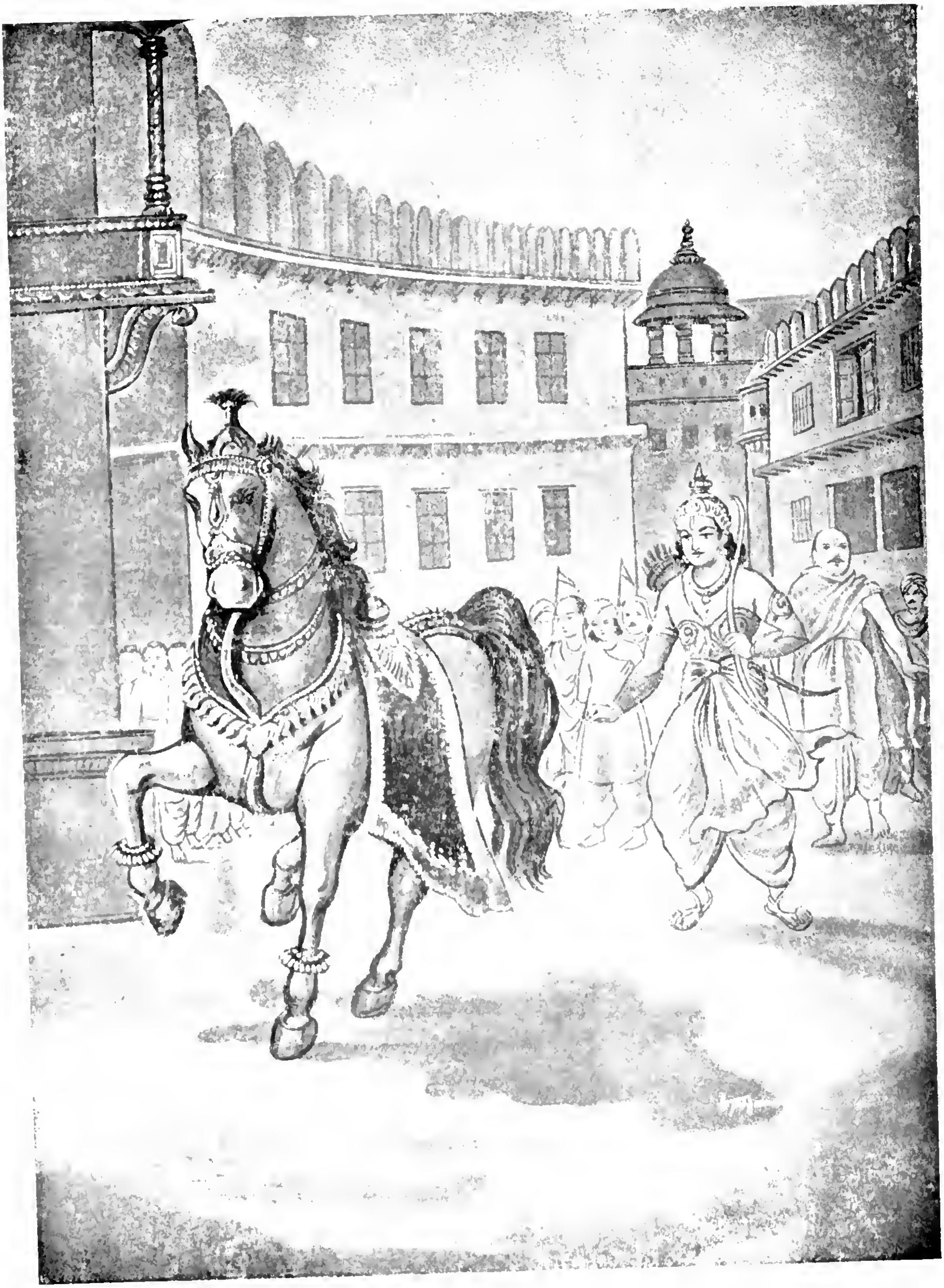

अश्वमेधयज्ञके लिये छोड़े हुए घोड़का अर्जुनके द्वारा अनुगमन

राजन्! यज्ञमें दीक्षित हुए धर्मराज राजा युधिष्ठिर सोनेकी माला और कण्ठमें सोनेकी कण्ठी धारण किये प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४ ॥

कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः।
विबभौ द्युतिमान् भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे ॥ ५ ॥

काला मृगचर्म, हाथमें दण्ड और रेशमी वस्त्र धारण किये धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अधिक कान्तिमान् हो यज्ञमण्डपमें प्रजापतिकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ५ ॥

तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशाम्पते।
बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ! उनके समस्त ऋत्विज भी उन्हींके समान वेषभूषा धारण किये सुशोभित होते थे। अर्जुन भी प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमान् हो रहे थे ॥ ६ ॥

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनंजयः।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ ७ ॥

भूपाल जनमेजय! श्वेत घोड़ेवाले अर्जुनने धर्मराजकी आज्ञासे उस यज्ञसम्बन्धी अश्वका विधिपूर्वक अनुसरण किया ॥ ७ ॥

विक्षिपन् गाण्डिवं राजन् बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार च ॥ ८ ॥

पृथिवीपाल! राजन्! अर्जुनने अपने हाथोंमें गोधाके चमड़ेके बने दस्ताने पहन रखे थे। वे गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ अश्वके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ८ ॥

आकुमारं तदा राजन्नागमत् तत्पुरं विभो।
द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनंजयम् ॥ ९ ॥

जनमेजय! प्रभो! उस समय यात्रा करते हुए कुरुश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा हस्तिनापुर वहाँ उमड़ आया था ॥ ९ ॥

तेषामन्योन्यसम्मर्दादूष्मेव समजायत।
दिदृक्षूणां हयं तं च तं चैव हयसारिणम् ॥ १० ॥

यज्ञके घोड़े और उसके पीछे जानेवाले अर्जुनको देखनेकी इच्छासे लोगोंकी इतनी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी कि आपस-की धक्कामुक्कीसे सबके बदनमें पसीने निकल आये ॥ १० ॥

ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रति पूरयन्।
बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ११ ॥

महाराज! उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयका दर्शन करनेवाले लोगोंके मुखसे जो शब्द निकलता था, वह सम्पूर्ण दिशाओं और आकाशमें गूँज रहा था ॥ ११ ॥

एष गच्छति कौन्तेय तुरगश्चैव दीप्तिमान्।
यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन् धनुरुत्तमम् ॥ १२ ॥

(लोग कहते थे—) 'ये कुन्तीकुमार अर्जुन जा रहे हैं और वह दीप्तिमान् अश्व जा रहा है, जिसके पीछे महाबाहु अर्जुन उत्तम धनुष धारण किये जा रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः।
स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ १३ ॥

उदारबुद्धि अर्जुनने परस्पर वार्तालाप करते हुए लोगोंकी बातें इस प्रकार सुनीं—'भारत! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सुखसे जाओ और पुनः कुशलपूर्वक लौट आओ' ॥ १३ ॥

अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन्।
नैनं पश्याम सम्मर्दे धनुरेतत् प्रदृश्यते ॥ १४ ॥
एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः।
स्वस्ति गच्छत्वरिष्टो वै पन्थानमकुतोभयम् ॥ १५ ॥
निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेष्यति च ध्रुवम्।

नरेन्द्र! दूसरे लोग ये बातें कहते थे—'इस भीड़में हम अर्जुनको तो नहीं देखते हैं; किंतु उनका यह धनुष दिखायी देता है। यही वह भयंकर टंकार करनेवाला विख्यात गाण्डीव धनुष है। अर्जुनकी यात्रा सकुशल हो। उन्हें मार्गमें कोई कष्ट न हो। ये निर्भय मार्गपर आगे बढ़ते रहें। ये निश्चय ही कुशलपूर्वक लौटेंगे और उस समय हम फिर इनका दर्शन करेंगे' ॥ १४-१५½ ॥

एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदारधीः।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार उदारबुद्धि अर्जुन स्त्रियों और पुरुषोंकी कही हुई मीठी-मीठी बातें बारंबार सुनते थे ॥ १६½ ॥

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ॥ १७ ॥
प्रायात् पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः।

याज्ञवल्क्य मुनिके एक विद्वान् शिष्य, जो यज्ञकर्ममें कुशल तथा वेदोंमें पारंगत थे, विघ्नकी शान्तिके लिये अर्जुनके साथ गये ॥ १७½ ॥

ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशाम्पते।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ १९ ॥

महाराज! प्रजानाथ! उनके सिवा और भी बहुत-से वेदोंमें पारंगत ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने धर्मराजकी आज्ञासे विधिपूर्वक महात्मा अर्जुनका अनुसरण किया ॥ १८-१९ ॥

पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा।
चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम ॥ २० ॥

महाराज! साधुशिरोमणे! पाण्डवोंने अपने अस्त्रके प्रतापसे जिस पृथ्वीको जीता था, उसके सभी देशोंमें वह अश्व क्रमशः विचरण करने लगा ॥ २० ॥

तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन् पाण्डवस्य ह।

तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ॥ २१ ॥

वीर ! उन देशोंमें अर्जुनको जो बड़े-बड़े अद्भुत युद्ध करने पड़े, उनकी कथा तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २१ ॥

स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥ २२ ॥
अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ ! वह घोड़ा पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करने लगा । सबसे पहले वह उत्तर दिशाकी ओर गया । फिर राजाओंके अनेक राज्योंको रौंदता हुआ वह उत्तम अश्व पूर्वकी ओर मुड़ गया । उस समय श्वेतवाहन महारथी अर्जुन धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ २२-२३ ॥

तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥ २४ ॥

महाराज ! महाभारत-युद्धमें जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, ऐसे जिन-जिन क्षत्रियोंने उस समय अर्जुनके साथ युद्ध किया था, उन हजारों नरेशोंकी कोई गिनती नहीं है ॥२४॥

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥ २५ ॥

राजन् ! तलवार और धनुष धारण करनेवाले बहुत-से किरात, यवन और म्लेच्छ, जो पहले महाभारत युद्धमें पाण्डवोंद्वारा परास्त किये गये थे, अर्जुनका सामना करनेके लिये आये ॥ २५ ॥

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥ २६ ॥

हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों और वाहनोंसे युक्त बहुत-से रणदुर्मद आर्य नरेश भी पाण्डुपुत्र अर्जुनसे भिड़े थे ॥ २६ ॥

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥ २७ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंमें नाना देशोंसे आये हुए राजाओंके साथ अर्जुनको अनेक बार युद्ध करने पड़े ॥ २७ ॥

यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश ! जो युद्ध दोनों पक्षके योद्धाओंके लिये अधिक कष्टदायक और महान् थे, अर्जुनके उन्हीं युद्धोंका मैं यहाँ तुमसे वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरणविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

त्रिगर्तैरभवद् युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रोंने किरीटधारी अर्जुनके साथ वैर बाँध लिया था । त्रिगर्तदेशमें जानेपर अर्जुनका उन त्रिगर्तोंके साथ घोर युद्ध हुआ था ॥ १ ॥

ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्ते ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥ २ ॥
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं सम्प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

'पाण्डवोंका यज्ञसम्बन्धी उत्तम अश्व हमारे राज्यकी सीमामें आ पहुँचा है' यह जानकर त्रिगर्तवीर कवच आदिसे सुसज्जित हो पीठपर तरकस बाँधे सजे-सजाये अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर निकले और उस अश्वको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया । राजन् ! घोड़ेको घेरकर वे उसे पकड़नेका उद्योग करने लगे ॥ २-३ ॥

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम् ।
वारयामास तान् वीरान् सान्त्वपूर्वमरिंदमः ॥ ४ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले अर्जुन यह जान गये कि वे क्या करना चाहते हैं । उनके मनोभावका विचार करके वे उन्हें शान्तिपूर्वक समझाते हुए युद्धसे रोकने लगे ॥ ४ ॥

तदनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा ।
तमोरजोभ्यां संछन्नांस्तान् किरीटी न्यवारयत् ॥ ५ ॥

किंतु वे सब उनकी बातकी अवहेलना करके उन्हें बाणोंद्वारा चोट पहुँचाने लगे । तमोगुण और रजोगुणके वशीभूत हुए उन त्रिगर्तोंको किरीटीने युद्धसे रोकनेकी पूरी चेष्टा की ॥ ५ ॥

तानब्रवीत् ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव च ॥ ६

भारत ! तदनन्तर विजयशील अर्जुन हँसते हुए-से ले—'धर्मको न जाननेवाले पापात्माओ ! लौट जाओ । वनकी रक्षामें ही तुम्हारा कल्याण है' ॥ ६ ॥

हि वीरः प्रयास्यन् वै धर्मराजेन वारितः ।
तबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ॥ ७ ॥

वीर अर्जुनने ऐसा इसलिये कहा कि चलते समय र्मराज युधिष्ठिरने यह कहकर मना कर दिया था कि कुन्तीनन्दन ! जिन राजाओंके भाई-बन्धु कुरुक्षेत्रके युद्धमें रे गये हैं, उनका तुम्हें वध नहीं करना चाहिये' ॥ ७ ॥

तदा तद् वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
न् निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् धर्मराजके इस आदेशको सुनकर उसका लन करते हुए ही अर्जुनने त्रिगर्तोंको लौट जानेकी आज्ञा , तथापि वे नहीं लौटे ॥ ८ ॥

तस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे ।
चित्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः ॥ ९ ॥

तब उस युद्धस्थलमें त्रिगर्तराज सूर्यवर्माके सारे अङ्गोंमें ण धँसाकर अर्जुन हँसने लगे ॥ ९ ॥

तस्ते रथघोषेण रथनेमिस्वनेन च ।
यन्तो दिशः सर्वा धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १० ॥

यह देख त्रिगर्तदेशीय वीर रथकी घरघराहट और हियोंकी आवाजसे सारी दिशाओंको गुँजाते हुए वहाँ अर्जुन- : टूट पड़े ॥ १० ॥

र्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम् ।
तान्यमुञ्चद् राजेन्द्र लघ्वस्त्रमभिदर्शयन् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर सूर्यवर्माने अपने हाथोंकी फुर्ती खाते हुए अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक सौ बाणोंका हार किया ॥ ११ ॥

थैवान्ये महेष्वासा ये च तस्यानुयायिनः ।
मुचुः शरवर्षाणि धनंजयवधैषिणः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार उसके अनुयायी वीरोंमें भी जो दूसरे-दूसरे हान् धनुर्धर थे, वे भी अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे नपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

तान् ज्यामुखनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहूञ्शरान् ।
च्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ॥ १३ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चासे टे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा शत्रुओंके बहुत-से बाणोंको ट डाला । वे कटे हुए बाण टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वीपर र पड़े ॥ १३ ॥

तुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा ।
युधे भ्रातुरर्थाय पाण्डवेन यशस्विना ॥ १४ ॥

(सूर्यवर्माके परास्त होनेपर) उसका छोटा भाई केतु-वर्मा जो एक तेजस्वी नवयुवक था, अपने भाईका बदला लेनेके लिये यशस्वी वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य केतुवर्माणमाहवे ।
अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ॥ १५ ॥

केतुवर्माको युद्धस्थलमें धावा करते देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उसे मार डाला ॥

केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः ।
रथेनाशु समुत्पत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ॥ १६ ॥

केतुवर्माके मारे जानेपर महारथी धृतवर्मा रथके द्वारा शीघ्र ही वहाँ आ धमका और अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १६ ॥

तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान् ।
गुडाकेशो महातेजा बालस्य धृतवर्मणः ॥ १७ ॥

धृतवर्मा अभी बालक था तो भी उसकी उस फुर्तीको देखकर महातेजस्वी पराक्रमी अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

न संदधानं ददृशे नाददानं च तं तदा ।
किरन्तमेव स शरान् ददृशे पाकशासनिः ॥ १८ ॥

वह कब बाण हाथमें लेता है और कब उसे धनुषपर चढ़ाता है, उसको इन्द्रकुमार अर्जुन भी नहीं देख पाते थे । उन्हें केवल इतना ही दिखायी देता था कि वह बाणोंकी वर्षा कर रहा है ॥ १८ ॥

स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाहवे ।
मनसा तु मुहूर्तं वै रणे समभिहर्षयन् ॥ १९ ॥

उन्होंने रणभूमिमें थोड़ी देरतक मन-ही-मन धृतवर्माकी प्रशंसा की और युद्धमें उसका हर्ष एवं उत्साह बढ़ाते रहे ॥

तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव ।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः प्राणैर्न व्यपरोपयत् ॥ २० ॥

यद्यपि धृतवर्मा सर्पके समान क्रोधमें भरा हुआ था तो भी कुरुवीर महाबाहु अर्जुन प्रेमपूर्वक मुसकराते हुए युद्ध करते थे । उन्होंने उसके प्राण नहीं लिये ॥ २० ॥

स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा ।
धृतवर्मा शरं दीप्तं मुमोच विजये तदा ॥ २१ ॥

इस प्रकार अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा जान-बूझकर छोड़ दिये जानेपर धृतवर्माने उनके ऊपर एक अत्यन्त प्रज्वलित बाण चलाया ॥ २१ ॥

स तेन विजयस्तूर्णमासीद् विद्धः करे भृशम् ।
मुमोच गाण्डिवं मोहात् तत् पपाताथ भूतले ॥ २२ ॥

उस बाणने तुरंत आकर अर्जुनके हाथमें गहरी चोट

पहुँचायी। उन्हें मूर्छा आ गयी और उनका गाण्डीव धनुष हाथसे छूटकर पृथ्वीपर जा पड़ा ॥ २२ ॥

धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचिकराद् विभो।
बभूव सदृशं रूपं शक्रचापस्य भारत ॥ २३ ॥

प्रभो! भरतनन्दन! अर्जुनके हाथसे गिरते हुए उस धनुषका रूप इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होता था ॥ २३ ॥

तस्मिन् निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिवः।
जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाहवे ॥ २४ ॥

उस दिव्य महाधनुषके गिर जानेपर महासमरमें खड़ा हुआ धृतवर्मा ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ २४ ॥

ततो रोषार्दितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं करात्।
धनुरादत्त तद् दिव्यं शरवर्षैर्ववर्ष च ॥ २५ ॥

इससे अर्जुनका रोष बढ़ गया। उन्होंने हाथसे रक्त पोंछकर उस दिव्य धनुषको पुनः उठा लिया और धृतवर्मापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २५ ॥

ततो हलहलाशब्दो दिवस्पृगभवत् तदा।
नानाविधानां भूतानां तत्कर्माणि प्रशंसताम् ॥ २६ ॥

फिर तो अर्जुनके उस पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए नाना प्रकारके प्राणियोंका कोलाहल समूचे आकाशमें व्याप्त हो गया ॥ २६ ॥

ततः सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं कालान्तकयमोपमम्।
जिष्णुं त्रैगर्तका योधाः परीताः पर्यवारयन् ॥ २७ ॥

अर्जुनको काल, अन्तक और यमराजके समान कुपित हुआ देख त्रिगर्तदेशीय योद्धाओंने चारों ओरसे आकर उन्हें घेर लिया ॥ २७ ॥

अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्मणः।
परिवव्रुर्गुडाकेशं तत्राक्रुद्ध्यद् धनंजयः ॥ २८ ॥

धृतवर्माकी रक्षाके लिये सहसा आक्रमण करके त्रिगर्तोंने गुडाकेश अर्जुनको जब सब ओरसे घेर लिया, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ ॥ २८ ॥

ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥ २

फिर तो उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति दुस्सह लौहनि बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बात-की-बातमें उनके अठारह प्र योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २९ ॥

तान् सम्प्रभग्नान् सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो धनंजयः।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥ ३

तब तो त्रिगर्तोंमें भगदड़ मच गयी। उन्हें भागते अर्जुनने जोर-जोरसे हँसते हुए बड़ी उतावलीके साथ सर्पा बाणोंद्वारा उन सबको मारना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तकमहारथाः।
दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनंजयशरार्दिताः ॥ ३

राजन्! धनंजयके बाणोंसे पीडित हुए समस्त त्रि देशीय महारथियोंका युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया; वे चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ ३१ ॥

तमूचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम्।
तवास्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥ ३

उनमेंसे कितने ही संशप्तकसूदन पुरुषसिंह अर्जुनसे प्रकार कहने लगे—'कुन्तीनन्दन! हम सब आपके आज्ञा सेवक हैं और सभी सदा आपके अधीन रहेंगे ॥ ३२ ॥

आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान् प्रेष्यानवस्थितान्।
करिष्यामः प्रियं सर्वं तव कौरवनन्दन ॥ ३

'पार्थ! हम सभी सेवक विनीत भावसे आपके सा खड़े हैं। आप हमें आज्ञा दें। कौरवनन्दन! हम सब आपके समस्त प्रिय कार्य सदा करते रहेंगे' ॥ ३३ ॥

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत् तदा।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३

उनकी ये बातें सुनकर अर्जुनने उनसे कहा—'राजाओ अपने प्राणोंकी रक्षा करो। इसका एक ही उपाय है, हम शासन स्वीकार कर लो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि त्रिगर्तपराभवे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें त्रिगर्तोंकी पराजयविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका प्राग्ज्योतिषपुरके राजा वज्रदत्तके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥ १ ॥
स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम्।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उत्तम अश्व प्राग्ज्योतिषपुरके पास पहुँचकर विचरने लगा वहाँ भगदत्तका पुत्र वज्रदत्त राज्य करता था, जो यु बड़ा ही कठोर था। भरतश्रेष्ठ! जब उसे पता लगा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका अश्व मेरे राज्यकी सीमामें आ गया

त राजा वज्रदत्त नगरसे बाहर निकला और युद्धके लिये ार हो गया ॥ १-२ ॥

ऽभिनिर्याय नगराद् भगदत्तसुतो नृपः ।
श्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥ ३ ॥

नगरसे निकलकर भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने अपनी र आते हुए घोड़ेको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे थ लेकर वह नगरकी ओर चला ॥ ३ ॥

ालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा ।
ण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

उसको ऐसा करते देख कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुनने ण्डीव धनुषपर टंकार देते हुए सहसा वेगपूर्वक उसपर ा किया ॥ ४ ॥

ो गाण्डीवनिर्मुक्तैरिपुभिर्मोहितो नृपः ।
मुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥
नः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः ।
रुह्य नागप्रवरं निर्ययौ रणकर्कशः ॥ ६ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंके प्रहारसे व्याकुल हो राजा वज्रदत्तने उस घोड़ेको तो छोड़ दिया और स्वयं ः नगरमें प्रवेश करके कवच आदिसे सुसज्जित हो एक गजराजपर चढ़कर वह रणकर्कश नरेश युद्धके लिये र निकला । आते ही उसने पार्थपर धावा बोल दिया ॥

ण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
धूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ॥ ७ ॥
ः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम् ।
ह्वयामास बीभत्सुं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ॥ ८ ॥

उसने मस्तकपर श्वेत छत्र धारण कर रखा था । सेवक त चँवर डुला रहे थे । पाण्डव महारथी पार्थके पास पहुँच- र उस महारथी नरेशने बालचापल्य और मूर्खताके कारण हें युद्धके लिये ललकारा ॥ ७-८ ॥

वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम् ।
यामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥ ९ ॥

क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने श्वेतवाहन अर्जुनकी र अपने पर्वताकार विशालकाय गजराजको, जिसके गण्ड- लसे मदकी धारा बह रही थी, बढ़ाया ॥ ९ ॥

क्षरन्तं महामेघं परवारणवारणम् ।
स्त्रवत् कल्पितं संख्ये विवशं युद्धदुर्मदम् ॥ १० ॥

वह महान् मेघके समान मदकी वर्षा करता था । शत्रु- के हाथियोंको रोकनेमें समर्थ था । उसे शास्त्रीय विधिके ुसार युद्धके लिये तैयार किया गया था । वह स्वामीके अधीन नेवाला और युद्धमें दुर्धर्ष था ॥ १० ॥

चोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः ।
तदाङ्कुशेन विबभावुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ॥ ११ ॥

राजा वज्रदत्तने जब अङ्कुशसे मारकर उस महाबली हाथीको आगे बढ़नेके लिये प्रेरित किया, तब वह इस तरह आगेकी ओर झपटा, मानो वह आकाशमें उड़ जायगा ॥ ११ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य क्रुद्धो राजन् धनंजयः ।
भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत ॥ १२ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! उसे इस प्रकार आक्रमण करते देख अर्जुन कुपित हो उठे । वे पृथ्वीपर स्थित होते हुए भी हाथीपर चढ़े हुए वज्रदत्तके साथ युद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

वज्रदत्तस्ततः क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ।
तोमरानग्निसंकाशाञ्शलभानिव वेगितान् ॥ १३ ॥

उस समय वज्रदत्तने कुपित होकर तुरंत ही अर्जुनपर अग्निके समान प्रज्वलित तोमर चलाये, जो वेगसे उड़नेवाले पतंगोंके समान जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

अर्जुनस्तानसम्प्राप्तान् गाण्डीवप्रभवैः शरैः ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ॥ १४ ॥

वे तोमर अभी पास भी नहीं आने पाये थे कि अर्जुनने गाण्डीव धनुषद्वारा छोड़े गये आकाशचारी बाणोंद्वारा आकाश- में ही एक-एक तोमरके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥

स तान् दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान् भगदत्तजः ।
इषूनसक्तांस्त्वरितः प्राहिणोत् पाण्डवं प्रति ॥ १५ ॥

इस प्रकार उन तोमरोंके टुकड़े-टुकड़े हुए देख भगदत्त- के पुत्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर शीघ्रतापूर्वक लगातार बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुङ्खानजिह्मगान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्तात्मजं प्रति ॥ १६ ॥
स तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महामृधे ।
भृशाहतः पपातोर्व्यां न त्वेनमजहात् स्मृतिः ॥ १७ ॥

तब कुपित हुए अर्जुनने तुरंत ही सोनेके पंखोंसे युक्त सीधे जानेवाले बाण वज्रदत्तपर चलाये । उन बाणोंसे अत्यन्त आहत और घायल होकर उस महासमरमें महातेजस्वी वज्रदत्त हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़ा; परंतु इतनेपर भी वह बेहोश नहीं हुआ ॥ १६-१७ ॥

ततः स पुनरारुह्य वारणप्रवरं रणे ।
अव्यग्रः प्रेषयामास जयार्थी विजयं प्रति ॥ १८ ॥

तदनन्तर वज्रदत्तने पुनः उस श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो रणभूमिमें बिना किसी घबराहटके विजयकी अभिलाषा रखकर अर्जुनकी ओर उस हाथीको बढ़ाया ॥ १८ ॥

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥ १९ ॥

यह देख अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने उस हाथीके ऊपर केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रज्वलित अग्निके तुल्य तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ॥ १९ ॥

स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन् रुधिरं बभौ।
गैरिकाक्तमिवाम्भोऽद्रिर्बहुप्रस्रवणं तदा ॥ २०

उन बाणोंमे घायल होकर वह महानाग खूनकी ध बहाने लगा। उस समय वह गेरूमिश्रित जलकी धारा बह वाले अनेक झरनोंसे युक्त पर्वतके समान जान पड़ता था

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तयुद्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका वज्रदत्तके साथ युद्धविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वज्रदत्तकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

एवं त्रिरात्रमभवत् तद् युद्धं भरतर्षभ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--भरतश्रेष्ठ ! जैसे इन्द्रका वृत्रासुरके साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुनका राजा वज्रदत्तके साथ तीन दिन तीन रात युद्ध होता रहा ॥ १ ॥

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर चौथे दिन महाबली वज्रदत्त ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ २ ॥

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि॥ ३ ॥

'अर्जुन ! अर्जुन ! खड़े रहो। आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। तुम्हें मारकर पिताका विधिपूर्वक तर्पण करूँगा ॥ ३ ॥

त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः पितुः सखा।
हतो वृद्धो मम पिता शिशुं मामद्य योधय ॥ ४ ॥

'मेरे वृद्ध पिता भगदत्त तुम्हारे बापके मित्र थे, तो भी तुमने उनकी हत्या की। मेरे पिता बूढ़े थे, इसलिये तुम्हारे हाथसे मारे गये। आज उनका बालक मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ; मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ४ ॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर अपने हाथीको हाँक दिया ॥ ५ ॥

सम्प्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता।
उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् वज्रदत्तके द्वारा हाँके जानेपर वह गजराज पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर इस प्रकार दौड़ा, मानो आका उड़ जाना चाहता हो ॥ ६ ॥

अग्रहस्तसुमुक्तेन शीकरेण स नागराट्।
समौक्षत गुडाकेशं शैलं नीलमिवाम्बुदः ॥ ७

उस गजराजने अपनी सूँडसे छोड़े गये जलकणोंद्वा गुडाकेश अर्जुनको भिगो दिया। मानो मेघने नील पर्वत जलके फुहारे डाल दिये हों ॥ ७ ॥

स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवद् विनदन् मुहुः।
मुखाडम्बरसंह्रादैरभ्यद्रवत फाल्गुनम् ॥ ८

राजासे प्रेरित होकर बारंबार मेघके समान गम्भी गर्जना करता हुआ वह हाथी अपने मुखके चीत्कारपू कोलाहलके साथ अर्जुनपर टूट पड़ा ॥ ८ ॥

स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः।
आससाद द्रुतं राजन् कौरवाणां महारथम् ॥ ९

राजन् ! वज्रदत्तका हाँका हुआ वह गजराज नृत्य-स करता हुआ तुरंत कौरव महारथी अर्जुनके पास ज पहुँचा ॥ ९ ॥

तमायान्तमथालक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम्।
गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ॥ १०

वज्रदत्तके उस हाथीको आते देख शत्रुओंका संहा करनेवाले बलवान् अर्जुन गाण्डीवका सहारा लेकर तनि भी विचलित नहीं हुए ॥ १० ॥

चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः।
कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! वज्रदत्तके कारण जो कार्यमें विघ्न पड़ रहा था, उसको तथा पहलेके वैरको याद करके पाण्डुपुत्र अर्जुन उस राजापर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ११ ॥

ततस्तं वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः।
निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ॥ १२ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने बाणसमूहोंद्वारा उस हाथीको उसी तरह रोक दिया, जैसे तटकी भूमि उमड़ते हुए समुद्रको रोक देती है ॥ १२ ॥

स नागप्रवरः श्रीमानर्जुनेन निवारितः।
तस्थौ शरैर्विनुन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ॥ १३ ॥

उसके सारे अङ्गोंमें बाण धँसे हुए थे। अर्जुनके द्वारा रोका गया वह शोभाशाली गजराज काँटोंवाली साहीके समान खड़ा हो गया ॥ १३ ॥

निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तसुतो नृपः।
उत्ससर्ज शितान् बाणानर्जुनं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १४ ॥

अपने हाथीको रोका गया देख भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्त क्रोधसे व्याकुल हो उठा और अर्जुनपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १४ ॥

अर्जुनस्तु महाबाहुः शरैररिनिघातिभिः।
वारयामास तान् बाणांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १५ ॥

परंतु महाबाहु अर्जुनने अपने शत्रुघाती सायकोंद्वारा उन सारे बाणोंको पीछे लौटा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ १५ ॥

ततः पुनरभिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः।
प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवत् पर्वतोपमम् ॥ १६ ॥

तब प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राज वज्रदत्तने अत्यन्त कुपित हो अपने पर्वताकार गजराजको पुनः बलपूर्वक आगे बढ़ाया ॥ १६ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद् वारणं प्रति ॥ १७ ॥

उसे बलपूर्वक आक्रमण करते देख इन्द्रकुमार अर्जुनने उस हाथीके ऊपर एक अग्निके समान तेजस्वी नाराच चलाया ॥ १७ ॥

स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम्।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥ १८ ॥

राजन्! उस नाराचने हाथीके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी। वह वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति सहसा पृथ्वीपर ढह पड़ा ॥ १८ ॥

स पतञ्शुशुभे नागो धनंजयशराहतः।
विशन्निव महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ॥ १९ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर गिरता हुआ वह हाथी ऐसी शोभा पाने लगा, मानो वज्रके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हुआ महान् पर्वत पृथ्वीमें समा जाना चाहता हो ॥ १९ ॥

तस्मिन् निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥ २० ॥

वज्रदत्तके उस हाथीके धराशायी होते ही राजा वज्रदत्त स्वयं भी पृथ्वीपर जा पड़ा। उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने उससे कहा—'राजन्! तुम्हें डरना नहीं चाहिये ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः।
राजानस्ते न हन्तव्या धनंजय कथंचन ॥ २१ ॥

'जब मैं घरसे प्रस्थित हुआ, उस समय महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने मुझसे कहा—'धनंजय! तुम्हें किसी तरह भी राजाओंका वध नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्येतावता कृतम्।
योधाश्चापि न हन्तव्या धनंजय रणे त्वया ॥ २२ ॥

''पुरुषसिंह! इतना करनेसे सब कुछ हो जायगा। अर्जुन! तुम्हें युद्ध ठानकर योधाओंका वध कदापि नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सहसुहृज्जनैः।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ॥ २३ ॥

''तुम सभी राजाओंसे कह देना कि आप सब लोग अपने सुहृदोंके साथ पधारें और युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञ-सम्बन्धी उत्सवका आनन्द लें' ॥ २३ ॥

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान् गच्छ पार्थिव॥ २४ ॥

'नरेश्वर! भाईके इस वचनको सुनकर इसे शिरोधार्य करके मैं तुम्हें मार नहीं रहा हूँ। भूपाल! उठो, तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम सकुशल अपने घरको लौट जाओ ॥२४॥

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम्।
यदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥

'महाराज! आगामी चैत्रमासकी उत्तम पूर्णिमा तिथि उपस्थित होनेपर तुम हस्तिनापुरमें आना। उस समय बुद्धिमान् धर्मराजका वह उत्तम यज्ञ होगा' ॥ २५ ॥

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा।
तथेत्येवाब्रवीद् वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥ २६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर उनसे परास्त हुए भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तपराजये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वज्रदत्तकी पराजयविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

(जित्वा प्रसाद्य राजानं भगदत्तसुतं तदा ।
विसृज्य याते तुरगे सैन्धवान् प्रति भारत ॥)
सैन्धवैरभवद् युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! महाराज भगदत्तके पुत्र राजा वज्रदत्तको पराजित और प्रसन्न करनेके पश्चात् उसे विदा करके जब अर्जुनका घोड़ा सिंधुदेशमें गया, तब महाभारत-युद्धमें मरनेसे बचे हुए सिंधुदेशीय योद्धाओं तथा मारे गये राजाओंके पुत्रोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर संग्राम हुआ ॥ १ ॥

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥ २ ॥

यज्ञके घोड़ेको और श्वेतवाहन अर्जुनको अपने राज्यके भीतर आया हुआ सुनकर वे सिंधुदेशीय क्षत्रिय अमर्षमें भरकर उन पाण्डवप्रवर अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २ ॥

अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः ।
न भयं चक्रिरे पार्थाद् भीमसेनादनन्तरात् ॥ ३ ॥

वे विषके समान भयंकर क्षत्रिय अपने राज्यके भीतर आये हुए उस घोड़ेको पकड़कर भीमसेनके छोटे भाई अर्जुनसे तनिक भी भयभीत नहीं हुए ॥ ३ ॥

तेऽविदूराद् धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च ।
बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ॥ ४ ॥

यज्ञसम्बन्धी घोड़ेसे थोड़ी ही दूरपर अर्जुन हाथमें धनुष लिये पैदल ही खड़े थे । वे सभी क्षत्रिय उनके पास जा पहुँचे ॥ ४ ॥

ततस्ते तं महावीर्या राजानः पर्यवारयन् ।
जिगीषन्तो नरव्याघ्रं पूर्वं विनिकृता युधि ॥ ५ ॥

वे महापराक्रमी क्षत्रिय पहले युद्धमें अर्जुनसे परास्त हो चुके थे और अब उन पुरुषसिंह पार्थको जीतना चाहते थे । अतः उन सबने उन्हें घेर लिया ॥ ५ ॥

ते नामान्यपि गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।
कीर्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ६ ॥

वे अर्जुनसे अपने नाम, गोत्र और नाना प्रकारके कर्म बताते हुए उनपर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ६ ॥

ते किरन्तः शरव्रातान् वारणप्रतिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥ ७ ॥

वे ऐसे बाणसमूहोंकी वर्षा करते थे, जो हाथियोंको भी आगे बढ़नेसे रोक देनेवाले थे । उन्होंने रणभूमिमें विजयकी अभिलाषा रखकर कुन्तीकुमारको घेर लिया ॥ ७ ॥

ते समीक्ष्य च तं कृष्णमुग्रकर्माणमाहवे ।
सर्वे युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ॥ ८ ॥

युद्धमें भयानक कर्म करनेवाले अर्जुनको पैदल देखकर वे सभी वीर रथपर आरूढ़ हो उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

ते तमाजघ्निरे वीरं निवातकवचान्तकम् ।
संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ॥ ९ ॥

निवातकवचोंका विनाश, संशप्तकोंका संहार और जयद्रथका वध करनेवाले वीर अर्जुनपर सैन्धवोंने सब ओरसे प्रहार आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च ।
कोष्ठकीकृत्य बीभत्सुं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥ १० ॥

एक हजार रथ और दस हजार घोड़ोंसे अर्जुनको घेरकर उन्हें कोष्ठबद्ध-सा करके वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥

तं स्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य चाहवे ।
जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें सव्यसाची अर्जुनके द्वारा जो सिंधुराज जयद्रथका वध हुआ था, उसकी याद उन वीरोंको कभी भूलती नहीं थी ॥ ११ ॥

ततः पर्जन्यवत् सर्वे शरवृष्टीरवासृजन् ।
तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रविर्मेघान्तरे यथा ॥ १२ ॥

वे सब योद्धा मेघके समान अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उन बाणोंसे आच्छादित होकर कुन्तीनन्दन अर्जुन बादलोंमें छिपे हुए सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १२ ॥

स शरैः समवच्छन्नश्चकाशे पाण्डवर्षभः ।
पञ्जरान्तरसंचारी शकुन्त इव भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! बाणोंसे आच्छादित हुए पाण्डवप्रवर अर्जुन पींजड़ेके भीतर फुदकनेवाले पक्षीकी भाँति जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते ।
त्रैलोक्यमभवद् राजन् रविरासीच्च निष्प्रभः ॥ १४ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुन जब इस प्रकार बाणोंसे

पीड़ित हो गये, तब उनकी ऐसी अवस्था देख त्रिलोकी हाहाकार कर उठी और सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी ॥ १४ ॥

ततो ववौ महाराज मारुतो लोमहर्षणः।
राहुरग्रसदादित्यं युगपत् सोममेव च ॥ १५ ॥

महाराज ! उस समय रोंगटे खड़े कर देनेवाली प्रचण्ड वायु चलने लगी। राहुने एक ही समय सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको ग्रस लिये ॥ १५ ॥

उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं विकीर्यन्त्यः समन्ततः।
वेपथुश्चाभवद् राजन् कैलासस्य महागिरेः ॥ १६ ॥

चारों ओर बिखरकर गिरती हुई उल्काएँ सूर्यसे टकराने लगीं। राजन् ! उस समय महापर्वत कैलास भी काँपने लगा ॥ १६ ॥

मुमुचुः श्वासमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः।
सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ॥ १७ ॥

सप्तर्षियों और देवर्षियोंको भी भय होने लगा। वे दुःख और शोकसे संतप्त हो अत्यन्त गरम-गरम साँस छोड़ने लगे ॥

शशं चाशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतत्।
विपरीता दिशश्चापि सर्वा धूमाकुलास्तथा ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त उल्काएँ चन्द्रमामें स्थित हुए शश-चिह्नका भेदन करके चन्द्रमण्डलके चारों ओर गिरने लगीं। सम्पूर्ण दिशाएँ धूमाच्छन्न होकर विपरीत प्रतीत होने लगीं॥१८॥

रासभारुणसंकाशा धनुष्मन्तः सविद्युतः।
आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ॥ १९ ॥

गधेके समान रंग और लाल रंगके सम्मिश्रणसे जो रंग हो सकता है, वैसे वर्णवाले मेघ आकाशको घेरकर रक्त और मांसकी वर्षा करने लगे। उनमें इन्द्र-धनुषका भी दर्शन होता था और बिजलियाँ भी कौंधती थीं ॥ १९ ॥

एवमासीत् तदा वीरे शरवर्षेण संवृते।
फाल्गुने भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वीर अर्जुनके उस समय शत्रुओंकी बाण वर्षासे आच्छादित हो जानेपर ऐसे-ऐसे उत्पात प्रकट होने लगे। वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २० ॥

तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वतः।
मोहात् पपात गाण्डीवमावापश्च करादपि ॥ २१ ॥

उस बाणसमूहके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हुए अर्जुनपर मोह छा गया। उस समय उनके हाथसे गाण्डीव धनुष और दस्ताने गिर पड़े ॥ २१ ॥

तस्मिन् मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत् तदा।
सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गतसत्त्वे महारथे ॥ २२ ॥

महारथी अर्जुन जब मोहग्रस्त एवं अचेत हो गये, उस समय भी सिंधुदेशीय योद्धा उनपर वेगपूर्वक महान् बाणसमूहकी वर्षा करते रहे ॥ २२ ॥

ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः।
सर्वे वित्रस्तमनसस्तस्य शान्तिकृतोऽभवन् ॥ २३ ॥

अर्जुनको मोहके वशीभूत हुआ जान सम्पूर्ण देवता मन-ही-मन संत्रस्त हो गये और उनके लिये शान्तिका उपाय करने लगे ॥ २३ ॥

ततो देवर्षयः सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च।
ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य धीमतः ॥ २४ ॥

फिर तो समस्त देवर्षि, सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मिलकर बुद्धिमान् अर्जुनकी विजयके लिये मन्त्र-जप करने लगे ॥ २४ ॥

ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव।
तस्थावचलवद् धीमान् संग्रामे परमास्त्रवित् ॥ २५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तदनन्तर देवताओंके प्रयत्नसे अर्जुनका तेज पुनः उद्दीप्त हो उठा और उत्तम अस्त्र-विद्याके ज्ञाता परम बुद्धिमान् धनंजय संग्रामभूमिमें पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २५ ॥

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥

फिर तो कौरवनन्दन अर्जुनने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची। उस समय उससे बार-बार मशीनकी तरह बड़े जोर-जोरसे टंकार-ध्वनि होने लगी ॥ २६ ॥

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरंदरः ॥ २७ ॥

इसके बाद जैसे इन्द्र पानीकी वर्षा करते हैं, उसी तरह प्रभावशाली पार्थने अपने धनुषद्वारा शत्रुओंपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ २७ ॥

ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्वे एव सराजकाः।
नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पादपाः ॥ २८ ॥

फिर तो पार्थके बाणोंसे आच्छादित हो समस्त सैन्धव योधा टिड्डियोंसे ढँके हुए वृक्षोंकी भाँति अपने राजासहित अदृश्य हो गये ॥ २८ ॥

तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्ताश्च विदुद्रुवुः।
मुमुचुश्चाश्रु शोकार्ताः शुशुचुश्चापि सैन्धवाः ॥ २९ ॥

कितने ही गाण्डीवकी टंकार-ध्वनिसे ही थर्रा उठे। बहुतेरे भयसे व्याकुल होकर भाग गये और अनेक सैन्धव योधा शोकसे आतुर होकर आँसू बहाने एवं शोक करने लगे ॥ २९ ॥

तांस्तु सर्वान् नरव्याघ्रः सैन्धवान् व्यचरद् बली।
अलातचक्रवद् राजञ्शरजालैः समार्पयत् ॥ ३० ॥

राजन् ! उस समय महाबली पुरुषसिंह अर्जुन अलातचक्रकी भाँति घूम-घूमकर सारे सैन्धवोंपर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३० ॥

तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा ।
विसृज्य दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ ३१ ॥

शत्रुसूदन अर्जुनने वज्रधारी महेन्द्रकी भाँति सम्पूर्ण दिशाओंमें इन्द्रजालके समान बाणोंका जाल-सा फैला दिया ।

मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य शरवृष्टिभिः ।
विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ३२ ॥

जैसे शरत्कालके सूर्य मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कौरवश्रेष्ठ अर्जुन अपने बाणोंकी वृष्टिसे शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवयुद्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंके साथ अर्जुनका युद्धविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध और दुःशलाके अनुरोधसे उसकी समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो गाण्डीवभृच्छूरो युद्धाय समुपस्थितः ।
विबभौ युधि दुर्धर्षो हिमवानचलो यथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर गाण्डीवधारी शूर-वीर अर्जुन युद्धके लिये उद्यत हो गये । वे शत्रुओंके लिये दुर्जय थे और युद्धभूमिमें हिमवान् पर्वतके समान अचल भावसे डटे रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ १ ॥

ततस्ते सैन्धवा योधाः पुनरेव व्यवस्थिताः ।
व्यमुञ्चन्त सुसंरब्धाः शरवर्षाणि भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर सिन्धुदेशीय योद्धा फिरसे संगठित होकर खड़े हो गये और अत्यन्त क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तान् प्रहस्य महाबाहुः पुनरेव व्यवस्थितान् ।
ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षूञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वं विजये मम ॥ ३ ॥

उस समय महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन पुनः मरनेकी इच्छासे खड़े हुए सैन्धवोंको सम्बोधित करके हँसते हुए मधुरवाणीमें बोले—'वीरो ! तुम पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो और मुझपर विजय पानेका प्रयत्न करते रहो ॥ ३ ॥

कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद् वो भयमागतम् ।
एष योत्स्यामि सर्वांस्तु निवार्य शरवागुराम् ॥ ४ ॥

'तुम अपने सारे कार्य पूरे कर लो । तुमलोगोंपर महान् भय आ पहुँचा है । यह देखो—मैं तुम्हारे बाणोंका जाल छिन्न-भिन्न करके तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हूँ ॥ ४ ॥

तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं शमयितास्मि वः ।
एतावदुक्त्वा कौरव्यो रोषाद् गाण्डीवभृत् तदा ॥ ५ ॥
ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।
न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ॥ ६ ॥
जेतव्याश्चेति यत् प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना ।
चिन्तयामास स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

'मनमें युद्धका हौसला लेकर खड़े रहो । मैं तुम्हारा घमण्ड चूर किये देता हूँ ।' भारत ! गण्डीवधारी कुरुनन्दन अर्जुन शत्रुओंसे ऐसा वचन कहकर अपने बड़े भाईकी कही हुई बातें याद करने लगे । महात्मा धर्मराजने कहा था कि 'तात ! रणभूमिमें विजयकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रियोंका वध न करना । साथ ही उन्हें पराजित भी करना ।' इस बातको याद करके पुरुषप्रवर अर्जुन इस प्रकार चिन्ता करने लगे ॥ ५—७ ॥

इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति ।
कथं तन्न मृषेदं स्याद् धर्मराजवचः शुभम् ॥ ८ ॥
न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् ।
इति संचिन्त्य स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान् युद्धदुर्मदान् ।

'अहो ! महाराजने कहा था कि क्षत्रियोंका वध न करना । धर्मराजका वह मङ्गलमय वचन कैसे मिथ्या न हो । राजालोग मारे न जायँ और राजा युधिष्ठिरकी आज्ञाका पालन हो जाय, इसके लिये क्या करना चाहिये ।' ऐसा सोचकर धर्मके ज्ञाता पुरुषप्रवर अर्जुनने रणोन्मत्त सैन्धवोंसे इस प्रकार कहा—॥ ८-९½ ॥

श्रेयो वदामि युष्माकं न हिंसेयमवस्थितान् ॥ १० ॥
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः ।
एतच्छ्रुत्वा वचो मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ॥ ११ ॥

'योद्धाओ ! मैं तुम्हारे कल्याणकी बात बता रहा हूँ । तुममेंसे जो कोई अपनी पराजय स्वीकार करते हुए रणभूमिमें यह कहेगा कि मैं आपका हूँ, आपने मुझे युद्धमें जीत लिया

है, वह सामने खड़ा रहे तो भी मैं उसका वध नहीं करूँगा। मेरी यह बात सुनकर तुम्हें जिसमें अपना हित दिखायी पड़े, वह करो ॥ ११ ॥

ततोऽन्यथा कृच्छ्रगता भविष्यथ मयार्दिताः।
एवमुक्त्वा तु तान् वीरान् युयुधे कुरुपुङ्गवः ॥ १२ ॥
अर्जुनोऽतीव संक्रुद्धः संक्रुद्धैर्विजिगीषुभिः।

'यदि मेरे कथनके विपरीत तुमलोग युद्धके लिये उद्यत हुए तो मुझसे पीड़ित होकर भारी संकटमें पड़ जाओगे।' उन वीरोंसे ऐसा कहकर कुरुकुलतिलक अर्जुन अत्यन्त कुपित हो क्रोधमें भरे हुए विजयाभिलाषी सैन्धवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १२½ ॥

शतं शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ॥ १३ ॥
मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गाण्डीवधन्वनि।

राजन्! उस समय सैन्धवोंने गाण्डीवधारी अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक करोड़ बाणोंका प्रहार किया ॥

शरानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ॥ १४ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैरन्तरा स धनंजयः।

विषधर सर्पोंके समान उन कठोर बाणोंको अपनी ओर आते देख अर्जुनने तीखे सायकोंद्वारा उन सबको बीचसे काट डाला ॥ १४½ ॥

छित्त्वा तु तानाशु चैव कङ्कपत्राञ्छिलाशितान् ॥ १५ ॥
एकैकमेषां समरे बिभेद निशितैः शरैः।

सानपर चढ़ाकर तेज किये गये उन कङ्कपत्रयुक्त बाणोंके तुरंत ही टुकड़े-टुकड़े करके समराङ्गणमें अर्जुनने सैन्धव वीरोंमेंसे प्रत्येकको पैने बाण मारकर घायल कर दिया ॥

ततः प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनंजयम् ॥ १६ ॥
जयद्रथं हतं स्मृत्वा चिक्षिपुः सैन्धवा नृपाः।

तदनन्तर जयद्रथ-वधका स्मरण करके सैन्धवोंने अर्जुनपर पुनः बहुत-से प्रासों और शक्तियोंका प्रहार किया ॥१६½॥

तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महाबलः ॥ १७ ॥
सर्वांस्तानन्तरा च्छित्त्वा तदा चुक्रोश पाण्डवः।

परंतु महाबली किरीटधारी पाण्डुकुमार अर्जुनने उनका सारा मनसूबा व्यर्थ कर दिया। उन्होंने उन सभी प्रासों और शक्तियोंको बीचसे ही काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥

तथैवापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ॥ १८ ॥
शिरांसि पातयामास भल्लैः संनतपर्वभिः।

साथ ही, विजयकी अभिलाषा लेकर आक्रमण करनेवाले उन सैन्धव योद्धाओंके मस्तकोंको वे झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा काट-काटकर गिराने लगे ॥ १८½ ॥

तेषां प्रद्रवतां चापि पुनरेवाभिधावताम् ॥ १९ ॥
निवर्ततां च शब्दोऽभूत् पूर्णस्येव महोदधेः।

उनमेंसे कुछ लोग भागने लगे, कुछ लोग फिरसे धावा करने लगे और कुछ लोग युद्धसे निवृत्त होने लगे। उन सबका कोलाहल जलसे भरे हुए महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान हो रहा था ॥ १९½ ॥

ते वध्यमानास्तु तदा पार्थेनामिततेजसा ॥ २० ॥
यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम्।

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा मारे जानेपर भी सैन्धव योद्धा बल और उत्साहपूर्वक उनके साथ जूझते ही रहे ॥

ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः।

थोड़ी ही देरमें अर्जुनने युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा अधिकांश सैन्धव वीरोंको संज्ञाशून्य कर दिया। उनके वाहन और सैनिक भी थकावटसे खिन्न हो रहे थे ॥ २१½ ॥

तांस्तु सर्वान् परिग्लानान् विदित्वा धृतराष्ट्रजा ॥ २२ ॥
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत् तदा ॥ २३ ॥
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम्।

समस्त सैन्धव वीरोंको कष्ट पाते जान धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला अपने बेटे सुरथके वीर बालकको जो उसका पौत्र था, साथ ले रथपर सवार हो रणभूमिमें पाण्डुकुमार अर्जुनके पास आयी। उसके आनेका उद्देश्य यह था कि सब योद्धा युद्ध छोड़कर शान्त हो जायँ ॥ २२-२३½ ॥

सा धनंजयमासाद्य रुरोदार्तस्वरं तदा ॥ २४ ॥
धनंजयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः।

वह अर्जुनके पास आकर आर्तस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगी। शक्तिशाली अर्जुनने भी उसे सामने देख अपना धनुष नीचे डाल दिया ॥ २४½ ॥

समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद् भगिनीं तदा ॥ २५ ॥
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह।

धनुष त्यागकर कुन्तीकुमारने विधिपूर्वक बहिनका सत्कार किया और पूछा—'बहिन! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?' तब दुःशलाने उत्तर दिया—॥२५½॥

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ॥ २६ ॥
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ।

'भैया! भरतश्रेष्ठ! यह तुम्हारे भानजे सुरथका औरस पुत्र है। पुरुषप्रवर पार्थ! इसकी ओर देखो, यह तुम्हें प्रणाम करता है' ॥ २६½ ॥

इत्युक्तस्तस्य पित स पप्रच्छार्जुनस्तथा ॥ २७ ॥
क्वासाविति ततो राजन् दुःशला वाक्यमब्रवीत्।

राजन्! दुःशलाके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उस बालकके पिताके विषयमें जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा—'बहिन! सुरथ कहाँ है?' तब दुःशला बोली—॥ २७½ ॥

पितृशोकाभिसंतप्तो विषादार्तोऽस्य वै पिता ॥ २८ ॥
पञ्चत्वमगमद् वीरो यथा तन्मे निशामय।

'भैया! इस बालकका पिता वीर सुरथ पितृशोकसे संतप्त और विषादसे पीड़ित हो जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुआ है, वह मुझसे सुनो ॥ २८½ ॥

स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं युद्धे त्वयानघ ॥ २९ ॥
त्वामागतं च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम्।
पितुश्च मृत्युदुःखार्तोऽजहात् प्राणान् धनंजय ॥ ३० ॥

'निष्पाप अर्जुन! मेरे पुत्र सुरथने पहलेसे सुन रक्खा था कि अर्जुनके हाथसे ही मेरे पिताकी मृत्यु हुई है। इसके बाद जब उसके कानोंमें यह समाचार पड़ा है कि तुम घोड़ेके पीछे-पीछे युद्धके लिये यहाँतक आ पहुँचे हो तो वह पिताकी मृत्युके दुःखसे आतुर हो अपने प्राणोंका परित्याग कर बैठा है ॥ २९-३० ॥

प्राप्तो बीभत्सुरित्येव नाम श्रुत्वैव तेऽनघ।
विषादार्तः पपातोर्व्यां ममार च ममात्मजः ॥ ३१ ॥

'अनघ! 'अर्जुन आये' इन शब्दोंके साथ तुम्हारा नाममात्र सुनकर ही मेरा बेटा विषादसे पीड़ित हो पृथ्वीपर गिरा और मर गया ॥ ३१ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं तत्र ततस्तस्यात्मजं प्रभो।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ॥ ३२ ॥

'प्रभो! उसको ऐसी अवस्थामें पड़ा हुआ देख उसके पुत्रको साथ ले मैं शरण खोजती हुई आज तुम्हारे पास आयी हूँ' ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वाऽऽर्तस्वरं सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा।
दीना दीनं स्थितं पार्थमब्रवीच्चाप्यधोमुखम् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर धृतराष्ट्र-पुत्री दुःशला दीन होकर आर्त स्वरसे विलाप करने लगी। उसकी दीनदशा देख अर्जुन भी दीन भावसे अपना मुँह नीचे किये खड़े रहे। उस समय दुःशला उनसे फिर बोली—॥ ३३ ॥

स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥ ३४ ॥

'भैया! तुम कुरुकुलमें श्रेष्ठ और धर्मको जाननेवाले हो। अतः दया करो। अपनी इस दुखिया बहिनकी ओर देखो और भानजेके बेटेपर भी कृपादृष्टि करो ॥ ३४ ॥

विस्मृत्य कुरुराजानं तं च मन्दं जयद्रथम्।
अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित् परवीरहा ॥ ३५ ॥
तथायं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुजः।

'मन्दबुद्धि दुर्योधन और जयद्रथको भूलकर इसे अपनाओ। जैसे अभिमन्युसे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परीक्षित्का जन्म हुआ है, उसी प्रकार सुरथसे यह मेरा महाबाहु पौत्र उत्पन्न हुआ है ॥ ३५½ ॥

तमादाय नरव्याघ्र सम्प्राप्तास्मि तवान्तिकम् ॥ ३६ ॥
शमार्थं सर्वयोधानां शृणु चेदं वचो मम।

'पुरुषसिंह! मैं इसीको लेकर समस्त योद्धाओंको शान्त करनेके लिये आज तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३६½ ॥

आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पुत्रकः ॥ ३७ ॥
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात् त्वं कर्तुमर्हसि।

'महाबाहो! यह उस मन्दबुद्धि जयद्रथका पौत्र तुम्हारी शरणमें आया है। अतः इस बालकपर तुम्हें कृपा करनी चाहिये ॥ ३७½ ॥

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम ॥ ३८ ॥
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनंजय।

'शत्रुदमन महाबाहु धनंजय! यह तुम्हारे चरणोंमें सिर रखकर तुम्हें प्रसन्न करके तुमसे शान्तिके लिये याचना करता है। अब तुम शान्त हो जाओ ॥ ३८½ ॥

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः ॥ ३९ ॥
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः।

'यह अबोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके भाई-बन्धु नष्ट हो चुके हैं। अतः धर्मज्ञ अर्जुन! तुम इसके ऊपर कृपा करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ ३९½ ॥

अनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम् ॥ ४० ॥
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

'इस बालकका पितामह (जयद्रथ) अनार्य, नृशंस और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस बालकपर कृपा करो' ॥ ४०½ ॥

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनंजयः ॥ ४१ ॥
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम् ।
उवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत् ॥ ४२ ॥

जब दुःशला इस प्रकार करुणायुक्त वचन कहने लगी, तब अर्जुन राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी देवीको याद करके दुःख और शोकसे पीड़ित हो क्षत्रिय-धर्मकी निन्दा करने लगे—॥ ४१-४२ ॥

यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ।
इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादिप्रसादमकरोज्जयः ॥ ४३ ॥
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान् प्रति ॥ ४४ ॥

'उस क्षात्र-धर्मको धिक्कार है, जिसके लिये मैंने अपने सारे बान्धवजनोंको यमलोक पहुँचा दिया।' ऐसा कहकर अर्जुनने दुःशलाको बहुत सान्त्वना दी और उसके प्रति अपने कृपाप्रसादका परिचय दिया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उससे गले मिलकर उसे घरकी ओर विदा किया ॥ ४३-४४ ॥

दुःशला चापि तान् योधान् निवार्य महतो रणात् ।
सम्पूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ॥ ४५ ॥

तदनन्तर सुमुखी दुःशलाने उस महान् समरसे अपने समस्त योद्धाओंको पीछे लौटाया और अर्जुनकी प्रशंसा करती हुई वह अपने घरको लौट गयी ॥ ४५ ॥

एवं निर्जित्य तान् वीरान् सैन्धवान् स धनंजयः ।
अन्वधावत धावन्तं हयं कामविचारिणम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार सैन्धव वीरोंको परास्त करके अर्जुन इच्छानुसार विचरने और दौड़नेवाले उस घोड़ेके पीछे-पीछे स्वयं भी दौड़ने लगे ॥ ४६ ॥

ततो मृगमिवाकाशे यथा देवः पिनाकधृक् ।
ससार तं तथा वीरो विधिवद् यज्ञियं हयम् ॥ ४७ ॥

जैसे पिनाकधारी महादेवजी आकाशमें मृगके पीछे दौड़े थे, उसी प्रकार वीर अर्जुनने उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेका विधिपूर्वक अनुसरण किया ॥ ४७ ॥

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम् ।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ॥ ४८ ॥

वह अश्व यथेष्टगतिसे क्रमशः सभी देशोंमें घूमता और अर्जुनके पराक्रमका विस्तार करता हुआ इच्छानुसार विचरने लगा ॥ ४८ ॥

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सहपाण्डवः ॥ ४९ ॥

पुरुषप्रवर जनमेजय ! इस प्रकार क्रमशः विचरण करता हुआ वह अश्व अर्जुनसहित मणिपुर-नरेशके राज्यमें जा पहुँचा ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवपराजये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंकी पराजयविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्ध एवं अर्जुनकी मृत्यु

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः ।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनने जब सुना कि मेरे पिता आये हैं, तब वह ब्राह्मणोंको आगे करके बहुत-सा धन साथमें लेकर बड़ी विनयके साथ उनके दर्शनके लिये नगरसे बाहर निकला ॥ १ ॥

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनंजयः ।
नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ २ ॥

मणिपुर-नरेशको इस प्रकार आया देख परम बुद्धिमान् धनंजयने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेकर उसका आदर नहीं किया ॥ २ ॥

उवाच च स धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ॥ ३ ॥

उस समय धर्मात्मा अर्जुन कुछ कुपित होकर बोले—'बेटा ! तेरा यह ढंग ठीक नहीं है। जान पड़ता है, तू क्षत्रिय-धर्मसे बहिष्कृत हो गया है ॥ ३ ॥

संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम् ।
यज्ञियं विषयान्ते मां नायौत्सीः किं नु पुत्रक ॥ ४ ॥

'पुत्र ! मैं महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वकी रक्षा

करता हुआ तेरे राज्यके भीतर आया हूँ। फिर भी तू मुझसे युद्ध क्यों नहीं करता ? ॥ ४ ॥

धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम्।
यो मां युद्धाय सम्प्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ॥ ५ ॥

'तुझ दुर्बुद्धिको धिक्कार है, तू निश्चय ही क्षत्रिय-धर्मसे भ्रष्ट हो गया है; क्योंकि युद्धके लिये आये हुए मेरा स्वागत-सत्कार तू सामनीतिसे कर रहा है ॥ ५ ॥

न त्वया पुरुषार्थो हि कश्चिदस्तीह जीवता।
यस्त्वं स्त्रीवद् यथाप्राप्तं मां साम्ना प्रत्यगृह्णथाः॥ ६ ॥

'तूने संसारमें जीवित रहकर भी कोई पुरुषार्थ नहीं किया। तभी तो एक स्त्रीकी भाँति तू यहाँ युद्धके लिये आये हुए मुझे शान्तिपूर्वक साथ लेनेके लिये चेष्टा कर रहा है ॥

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते।
प्रक्रियेयं भवेद् युक्ता तावत् तव नराधम ॥ ७ ॥

'दुर्बुद्धे! नराधम! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो तेरा इस ढंगसे मिलना ठीक हो सकता था' ॥ ७ ॥

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा।
अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत् ॥ ८ ॥

पतिदेव अर्जुन जब अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे ऐसी बात कह रहे थे, उस समय नागकन्या उलूपी उस बातको सुनकर उनके अभिप्रायको जान गयी और उनके द्वारा किये गये पुत्रके तिरस्कारको सहन न कर सकनेके कारण वह धरती छेदकर वहाँ चली आयी ॥ ८ ॥

सा ददर्श ततः पुत्रं विमृशन्तमधोमुखम्।
संतर्ज्यमानमसकृत् पित्रा युद्धार्थिना प्रभो ॥ ९ ॥
ततः सा चारुसर्वाङ्गी समुपेत्योरगात्मजा।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ॥ १० ॥

प्रभो! उसने देखा कि पुत्र बभ्रुवाहन नीचे मुँह किये किसी सोच-विचारमें पड़ा हुआ है और युद्धार्थी पिता उसे बारंबार डाँट-फटकार रहे हैं। तब मनोहर अङ्गोंवाली नागकन्या उलूपी धर्मनिपुण बभ्रुवाहनके पास आकर यह धर्मसम्मत बात बोली—॥ ९-१० ॥

उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम्।
कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः ॥ ११ ॥

'बेटा! तुम्हें विदित होना चाहिये कि मैं तुम्हारी विमाता नागकन्या उलूपी हूँ। तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। इससे तुम्हें महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम्।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥ १२ ॥

'तुम्हारे पिता कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर और युद्धके मद उन्मत्त रहनेवाले हैं। अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो ऐसा करनेसे ये तुमपर प्रसन्न होंगे। इसमें संशय नहीं है' ॥

एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! माताके द्वारा इस प्रकार अमर्ष दिला जानेपर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने मन-ही-मन युद्ध करने का निश्चय किया ॥ १३ ॥

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत्।
तूणीरशतसम्बाधमारुरोह रथोत्तमम् ॥ १४ ॥

सुवर्णमय कवच पहनकर तेजस्वी शिरस्त्राण (टोप धारण करके वह सैकड़ों तरकसोंसे भरे हुए उत्तम रथप आरूढ़ हुआ ॥ १४ ॥

सर्वोपकरणोपेतं युक्तमश्वैर्मनोजवैः।
सचक्रोपस्करं श्रीमान् हेमभाण्डपरिष्कृतम् ॥ १५ ॥
परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम्।
प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ॥ १६ ॥

उस रथमें सब प्रकारकी युद्ध-सामग्री सजाकर रक्ख गयी थी। मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। चक्र और अन्य आवश्यक सामान भी प्रस्तुत थे। सोनेके भाण्ड उसकी शोभा बढ़ाते थे। सुवर्णसे ही उस रथका निर्माण हुआ था। उसपर सिंहके चिह्नवाली ऊँची ध्वजा फहरा रह थी। उस परम पूजित उत्तम रथपर सवार हो श्रीमान् राज बभ्रुवाहन अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ॥ १५-१६ ॥

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम्।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥ १७ ॥

पार्थद्वारा सुरक्षित उस यज्ञसम्बन्धी अश्वके पास जाकर उस वीरने अश्वशिक्षाविशारद पुरुषोंद्वारा उसे पकड़वा लिया

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनंजयः।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥ १८ ॥

घोड़ेको पकड़ा गया देख अर्जुन मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि वे भूमिपर खड़े थे तो भी रथपर बैठे हुए अपने पुत्रको युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥

स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः।
अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥

राजा बभ्रुवाहनने वहाँ अपने वीर पिताको विषैले साँपों के समान जहरीले और तेज किये हुए सैकड़ों बाणसमूहोंद्वारा बींधकर अनेक बार पीड़ित किया ॥ १९ ॥

तयोः समभवद् युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम्।
देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः ॥ २० ॥

वे पिता और पुत्र दोनों प्रसन्न होकर लड़ रहे थे। उन दोनोंका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था। उसकी इस जगत्‌में कहीं भी तुलना नहीं थी ॥ २० ॥

किरीटिनं प्रविव्याध शरेणानतपर्वणा।
जत्रुदेशे नरव्याघ्रं प्रहसन् बभ्रुवाहनः ॥ २१ ॥

बभ्रुवाहनने हँसते-हँसते पुरुषसिंह अर्जुनके गलेकी हँसलीमें झुकी हुई गाँठवाले एक बाणद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥

सोऽभ्यगात् सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः।
विनिर्भिद्य च कौन्तेयं प्रविवेश महीतलम् ॥ २२ ॥

जैसे साँप बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह बाण अर्जुनके शरीरमें पंखसहित घुस गया और उसे छेदकर पृथ्वीमें समा गया ॥ २२ ॥

स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम्।
दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव सोऽभवत् ॥ २३ ॥

इससे अर्जुनको बड़ी वेदना हुई। बुद्धिमान् अर्जुन अपने उत्तम धनुषका सहारा लेकर दिव्य तेजमें स्थित हो मुर्देके समान हो गये ॥ २३ ॥

स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः।
पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महाद्युतिः ॥ २४ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आनेपर महातेजस्वी पुरुषप्रवर इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पुत्रकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

साधु साधु महाबाहो वत्स चित्राङ्गदात्मज।
सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक ॥ २५ ॥

'महाबाहु चित्राङ्गदाकुमार! तुम्हें साधुवाद। वत्स! तुम धन्य हो। पुत्र! तुम्हारे योग्य पराक्रम देखकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २५ ॥

विमुञ्चाम्येष ते बाणान् पुत्र युद्धे स्थिरो भव।
इत्येवमुक्त्वा नाराचैरभ्यवर्षदमित्रहा ॥ २६ ॥

'अच्छा बेटा! अब मैं तुमपर बाण छोड़ता हूँ। तुम सावधान एवं स्थिर हो जाओ।' ऐसा कहकर शत्रुसूदन अर्जुनने बभ्रुवाहनपर नाराचोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २६ ॥

तान् स गाण्डीवनिर्मुक्तान् वज्राशनिसमप्रभान्।
नाराचानच्छिनद् राजा भल्लैः सर्वांस्त्रिधा द्विधा ॥ २७ ॥

परंतु राजा बभ्रुवाहनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए वज्र और बिजलीके समान तेजस्वी उन समस्त नाराचोंको अपने भल्लोंद्वारा मारकर प्रत्येकके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥ २७ ॥

तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।
सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणापाहरद् रथात् ॥ २८ ॥
हयांश्चास्य महाकायान् महावेगानरिंदम।
चकार राजन् निर्जीवान् प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ २९ ॥

राजन्! तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने हँसते हुए-से अपने क्षुर नामक दिव्य बाणोंद्वारा बभ्रुवाहनके रथसे सुनहरे तालवृक्षके समान ऊँची सुवर्णभूषित ध्वजा काट गिरायी। शत्रुदमन नरेश! साथ ही उन्होंने उसके महान् वेगशाली विशालकाय घोड़ोंके भी प्राण ले लिये ॥ २८-२९ ॥

स रथादवतीर्याथ राजा परमकोपनः।
पदातिः पितरं क्रुद्धो योधयामास पाण्डवम् ॥ ३० ॥

तब रथसे उतरकर परम क्रोधी राजा बभ्रुवाहन कुपित हो पैदल ही अपने पिता पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ३० ॥

सम्प्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात्।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ॥ ३१ ॥

कुन्तीपुत्रोंमें श्रेष्ठ इन्द्रकुमार अर्जुन अपने बेटेके पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हुए थे। इसलिये वे उसे अधिक पीड़ा नहीं देते थे ॥ ३१ ॥

स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ॥ ३२ ॥

बलवान् बभ्रुवाहन पिताको युद्धसे विरत मानकर विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंद्वारा उन्हें पुनः पीड़ा देने लगा ॥ ३२ ॥

ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद् बभ्रुवाहनः ॥ ३३ ॥

उसने बालोचित अविवेकके कारण परिणामपर विचार किये बिना ही सुन्दर पाँखवाले एक तीखे बाणद्वारा पिताकी छातीमें एक गहरा आघात किया ॥ ३३ ॥

विवेश पाण्डवं राजन् मर्म भित्त्वातिदुःखकृत्।
स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ॥ ३४ ॥
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन् धनंजयः।

राजन्! वह अत्यन्त दुःखदायी बाण पाण्डुपुत्र अर्जुनके मर्म-स्थलको विदीर्ण करके भीतर घुस गया। महाराज! पुत्रके चलाये हुए उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर कुरुनन्दन अर्जुन मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३४½ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे कौरवाणां धुरंधरे ॥ ३५ ॥
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः।

कौरव-धुरंधर वीर अर्जुनके धराशायी होनेपर चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहन भी मूर्छित हो गया ॥ ३५½ ॥

व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वमेव स बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन ह।
पपात सोऽपि धरणीमालिङ्ग्य रणमूर्धनि ॥ ३७ ॥

राजा बभ्रुवाहन युद्धस्थलमें बड़ा परिश्रम करके लड़ा था। वह भी अर्जुनके बाणसमूहोंद्वारा पहलेसे ही बहुत घायल हो चुका था। अतः पिताको मारा गया देख वह भी युद्धके मुहानेपर अचेत होकर गिर पड़ा और पृथ्वीका आलिङ्गन करने लगा ॥ ३६-३७ ॥

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ॥ ३८ ॥

पतिदेव मारे गये और पुत्र भी संज्ञाशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह देख चित्राङ्गदाने संतप्त हृदयसे समराङ्गणमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥

शोकसंतप्तहृदया रुदती वेपती भृशम्।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ॥ ३९ ॥

मणिपुर-नरेशकी माताका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा था! रोती और काँपती हुई चित्राङ्गदाने देखा कि पतिदेव मारे गये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनबभ्रुवाहनयुद्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्धविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

चित्राङ्गदाका विलाप, मूर्छासे जगनेपर बभ्रुवाहनका शोकोद्गार और उलूपीके प्रयत्नसे संजीवनीमणिके द्वारा अर्जुनका पुनः जीवित होना

वैशम्पायन उवाच

ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा।
मुमोह दुःखसंतप्ता पपात च महीतले ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीरु स्वभाववाली कमलनयनी चित्राङ्गदा पतिवियोग-दुःखसे संतप्त होकर बहुत विलाप करती हुई मूर्छित हो गयी और पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ १ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

कुछ देर बाद होशमें आनेपर दिव्यरूपधारिणी देवी चित्राङ्गदाने नागकन्या उलूपीको सामने खड़ी देख इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ॥ ३ ॥

'उलूपी! देखो, हम दोनोंके स्वामी मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हैं। तुम्हारी प्रेरणासे ही मेरे बेटेने समरविजयी अर्जुनका वध किया है ॥ ३ ॥

ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ॥ ४ ॥

'बहिन! तुम तो आर्यधर्मको जाननेवाली और पतिव्रता हो। तथापि तुम्हारी ही करतूतसे ये तुम्हारे पति इस समय रणभूमिमें मरे पड़े हैं ॥ ४ ॥

किंतु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः।
क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनंजयम् ॥ ५ ॥

'किंतु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों तो भी आज क्षमा कर दो। मैं तुमसे इनके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। तुम धनंजयको जीवित कर दो ॥ ५ ॥

ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे।
यद् घातयित्वा पुत्रेण भर्तारं नानुशोचसि ॥ ६ ॥

'आर्ये! शुभे! तुम धर्मको जाननेवाली और तीनों लोकोंमें विख्यात हो। तो भी आज पुत्रसे पतिकी हत्या कराकर तुम्हें शोक या पश्चात्ताप नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? ॥ ६ ॥

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि।
पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ॥ ७ ॥

'नागकुमारी! मेरा पुत्र भी मरा पड़ा है, तो भी मैं उसके लिये शोक नहीं करती। मुझे केवल पतिके लिये शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहाँ इस तरह आतिथ्य-सत्कार किया गया' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम्।

र्तारमभिगम्येदमित्युवाच यशस्विनी ॥ ८ ॥

नागकन्या उलूपीदेवीसे ऐसा कहकर यशस्विनी चित्राङ्गदा उस समय पतिके निकट गयी और उन्हें सम्बोधित करके इस प्रकार विलाप करने लगी—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रियमुख्य मम प्रिय।
अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ॥ ९ ॥

'कुरुराजके प्रियतम और मेरे प्राणाधार! उठो। महाबाहो! मैंने तुम्हारा यह घोड़ा छुड़वा दिया है ॥ ९ ॥

ननु त्वया नाम विभो धर्मराजस्य यज्ञियः।
अयमश्वोऽनुसर्तव्यः स शेषे किं महीतले ॥ १० ॥

'प्रभो! तुम्हें तो महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वके पीछे-पीछे जाना है; फिर यहाँ पृथ्वीपर कैसे सो रहे हो?॥

त्वयि प्राणा ममायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन।
स कस्मात् प्राणदोऽन्येषां प्राणान् संत्यक्तवानसि।११।

'कुरुनन्दन! मेरे और कौरवोंके प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं। तुम तो दूसरोंके प्राणदाता हो, तुमने स्वयं कैसे प्राण त्याग दिये?' ॥ ११ ॥

उलूपि साधु पश्येमं पतिं निपतितं भुवि।
पुत्रं चेमं समुत्साद्य घातयित्वा न शोचसि ॥ १२ ॥

(इतना कहकर वह फिर उलूपीसे बोली—) 'उलूपी! ये पतिदेव भूतलपर पड़े हैं। तुम इन्हें अच्छी तरह देख लो। तुमने इस बेटेको उकसाकर स्वामीकी हत्या करायी है। क्या इसके लिये तुम्हें शोक नहीं होता? ॥ १२ ॥

कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ मृत्युवशं गतः।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु ॥ १३ ॥

'मृत्युके वशमें पड़ा हुआ मेरा यह बालक चाहे सदाके लिये भूमिपर सोता रह जाय, किंतु निद्राके स्वामी, विजय पानेवाले अरुणनयन अर्जुन अवश्य जीवित हों—यही उत्तम है॥

नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता।
प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १४ ॥

'सुभगे! कोई पुरुष बहुत-सी स्त्रियोंको पत्नी बनाकर रखे, तो उनके लिये यह अपराध या दोषकी बात नहीं होती। स्त्रियाँ यदि ऐसा करें (अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध रखें) तो यह उनके लिये अवश्य दोष या पापकी बात होती है। अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्रूर नहीं होनी चाहिये ॥ १४ ॥

सख्यं चैतत् कृतं धात्रा शश्वदव्ययमेव तु।
सख्यं समभिजानीहि सत्यं सङ्गतमस्तु ते ॥ १५ ॥

'विधाताने पति और पत्नीकी मित्रता सदा रहनेवाली और अटूट बनायी है। (तुम्हारा भी इनके साथ वही सम्बन्ध है।) इस सख्यभावके महत्त्वको समझो और ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारी इनके साथ की हुई मैत्री सत्य एवं सार्थक हो ॥ १५ ॥

पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १६ ॥

'तुमहींने बेटेको लड़ाकर उसके द्वारा इन पतिदेवकी हत्या करवायी है। यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी प्राण त्याग दूँगी ॥

साहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता।
इहैव प्रायमासिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ॥ १७ ॥

'देवि! मैं पति और पुत्र दोनोंसे वञ्चित होकर दुःखमें डूब गयी हूँ। अतः अब यहीं तुम्हारे देखते-देखते मैं आमरण उपवास करूँगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! नागकन्यासे ऐसा कहकर उसकी सौत चित्रवाहन-कुमारी चित्राङ्गदा आमरण उपवासका संकल्प लेकर चुपचाप बैठ गयी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विलप्य विरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा।
उपविष्टाभवद् दीना सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विलाप करके उससे विरत हो चित्राङ्गदा अपने पतिके दोनों चरण पकड़कर दीनभावसे बैठ गयी और लंबी साँस खींच-खींचकर अपने पुत्रकी ओर भी देखने लगी ॥ १९ ॥

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥ २० ॥

थोड़ी ही देरमें राजा बभ्रुवाहनको पुनः चेत हुआ। वह अपनी माताको रणभूमिमें बैठी देख इस प्रकार विलाप करने लगा—॥ २० ॥

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥ २१ ॥

'हाय! जो अबतक सुखोंमें पली थी, वही मेरी माता चित्राङ्गदा आज मृत्युके अधीन होकर पृथ्वीपर पड़े हुए अपने वीर पतिके साथ मरनेका निश्चय करके बैठी हुई है। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ॥२१॥

निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं बत ॥ २२ ॥

'संग्राममें जिनका वध करना दूसरेके लिये नितान्त कठिन है, जो युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, उन्हीं मेरे पिता अर्जुनको आज यह मेरे ही हाथों मरकर पड़ा देख रही है ॥ २२ ॥

अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं प्रेक्षन्त्या निहतं पतिम् ॥ २३ ॥
दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते।

'चौड़ी छाती और विशाल भुजावाले अपने पतिको मारा गया देखकर भी जो मेरी माता चित्राङ्गदा देवीका दृढ़ हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता है। इससे मैं यह मानता हूँ कि अन्तकाल आये बिना मनुष्यका मरना बहुत कठिन है ॥ २३½ ॥

यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ॥ २४ ॥
हा हा धिक् कुरुवीरस्य संनाहं काञ्चनं भुवि।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ॥ २५ ॥

'तभी तो इस संकटके समय भी मेरे और मेरी माताके प्राण नहीं निकलते। हाय! हाय! मुझे धिक्कार है, लोगो! देख लो! मुझ पुत्रके द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुनका सुनहरा कवच यहाँ पृथ्वीपर फेंका पड़ा है ॥ २४-२५ ॥

भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥ २६ ॥

'हे ब्राह्मणो! देखो, मुझ पुत्रके द्वारा मार गिराये गये मेरे वीर पिता अर्जुन वीरशय्यापर सो रहे हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य ये मुक्ता हयसारिणः।
कुर्वन्ति शान्तिं कामस्य रणे योऽयं मया हतः ॥ २७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके घोड़ेके पीछे-पीछे चलनेवाले जो ब्राह्मणलोग शान्तिकर्म करनेके लिये नियुक्त हुए हैं, वे इनके लिये कौन-सी शान्ति करते थे, जो ये रणभूमिमें मेरेद्वारा मार डाले गये! ॥ २७ ॥

व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे।
सुनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे ॥ २८ ॥

'ब्राह्मणो! मैं अत्यन्त क्रूर, पापी और समराङ्गणमें पिताकी हत्या करनेवाला हूँ। बताइये, मेरे लिये अब यहाँ कौन-सा प्रायश्चित्त है? ॥ २८ ॥

दुश्चरा द्वादशसमा हत्वा पितरमद्य वै।
ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ॥ २९ ॥
शिरःकपाले चास्यैव युञ्जतः पितुरद्य मे।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वाद्य पितरं मम ॥ ३० ॥

'आज पिताकी हत्या करके मेरे लिये बारह वर्षोंतक कठोर व्रतका पालन करना अत्यन्त कठिन है। मुझ क्रूर पितृघातीके लिये यहाँ यही प्रायश्चित्त है कि मैं इन्हींके चमड़ेसे अपने शरीरको आच्छादित करके रहूँ और अपने पिताके मस्तक एवं कपालको धारण किये बारह वर्षोंतक विचरता रहूँ। पिताका वध करके अब मेरे लिये दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ २९-३० ॥

पश्य नागोत्तमसुते भर्तारं निहतं मया।
कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ ३१

'नागराज-कुमारी! देखो, युद्धमें मैंने तुम्हारे स्वामी[illegible] वध किया है। सम्भव है आज समराङ्गणमें इस तरह अर्जु[illegible] की हत्या करके मैंने तुम्हारा प्रिय कार्य किया हो ॥ ३१ ॥

सोऽहमद्य गमिष्यामि गतिं पितृनिषेविताम्।
न शक्नोम्यात्मनाऽऽत्मानमहं धारयितुं शुभे ॥ ३२

'परंतु शुभे! अब मैं इस शरीरको धारण नहीं [illegible] सकता। आज मैं भी उस मार्गपर जाऊँगा, जहाँ [illegible] पिताजी गये हैं ॥ ३२ ॥

सा त्वं मयि मृते मातस्तथा गाण्डीवधन्वनि।
भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ॥ ३३

'मातः! देवि! मेरे तथा गाण्डीवधारी अर्जुनके [illegible] जानेपर तुम भलीभाँति प्रसन्न होना। मैं सत्यकी शपथ खा[illegible] कहता हूँ कि पिताजीके बिना मेरा जीवन असम्भव है'॥ ३[illegible]

इत्युक्त्वा स ततो राजा दुःखशोकसमाहतः।
उपस्पृश्य महाराज दुःखाद् वचनमब्रवीत् ॥ ३४

महाराज! ऐसा कहकर दुःख और शोकसे पीड़ि[illegible] हुए राजा बभ्रुवाहनने आचमन किया और बड़े दुःख[illegible] इस प्रकार कहा—॥ ३४ ॥

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ॥ ३५

'संसारके समस्त चराचर प्राणियो! आप मेरी ब[illegible] सुनें। नागराजकुमारी माता उलूपी! तुम भी सुन लो[illegible] मैं सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ३५ ॥

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ ३६

'यदि मेरे पिता नरश्रेष्ठ अर्जुन आज जीवित हो पु[illegible] उठकर खड़े नहीं हो जाते तो मैं इस रणभूमिमें ही उपव[illegible] करके अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ३६ ॥

न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित्।
नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ॥ ३७

'पिताकी हत्या करके मेरे लिये कहीं कोई उद्धार[illegible] उपाय नहीं है। गुरुजन (पिता) के वधरूपी पापसे पीड़ि[illegible] हो मैं निश्चय ही नरकमें पड़ूँगा ॥ ३७ ॥

वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते।
पितरं तु निहत्यैवं दुर्लभा निष्कृतिर्मम ॥ ३८

'किसी एक वीर क्षत्रियका वध करके विजेता वीर [illegible] गोदान करनेसे उस पापसे छुटकारा पाता है; परंतु पिता[illegible] हत्या करके इस प्रकार उस पापसे छुटकारा मिल ज[illegible] यह मेरे लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३८ ॥

ष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।
पेता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ॥ ३९ ॥

'ये पाण्डुपुत्र धनंजय अद्वितीय वीर, महान् तेजस्वी, र्मात्मा तथा मेरे पिता थे । इनका वध करके मैंने महान् प किया है । अब मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ?' ॥३९॥

त्येवमुक्त्वा नृपते धनंजयसुतो नृपः ।
पस्पृश्याभवत् तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! ऐसा कहकर धनंजयकुमार परम बुद्धिमान् जा बभ्रुवाहन पुनः आचमन करके आमरण उपवासका त लेकर चुपचाप बैठ गया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

ायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा ।
तृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परंतप ॥ ४१ ॥
लूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।
चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले नमेजय ! पिताके शोकसे संतप्त हुआ मणिपुरनरेश भ्रुवाहन जब माताके साथ आमरण उपवासका व्रत लेकर ठ गया, तब उलूपीने संजीवनमणिका स्मरण किया । गोंके जीवनकी आधारभूत वह मणि उसके स्मरण करते वहाँ आ गयी ॥ ४१-४२ ॥

गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
नःप्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन ! उस मणिको लेकर नागराजकुमारी उलूपी निकोंके मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली बात बोली—॥४३॥

त्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव जिष्णुस्त्वया जितः ।
जेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ॥ ४४ ॥

'बेटा बभ्रुवाहन ! उठो, शोक न करो । ये अर्जुन म्हारे द्वारा परास्त नहीं हुए हैं । ये तो सभी मनुष्यों और न्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ४४ ॥

या तु मोहनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता ।
ायार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ॥ ४५ ॥

''यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषप्रवर नंजयका प्रिय करनेके लिये मोहनी माया दिखलायी ॥ ४५ ॥

जज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युद्धयतो राजन्नागतः परवीरहा ॥ ४६ ॥
स्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः ।
ा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ॥ ४७ ॥

'राजन् ! तुम इनके पुत्र हो । ये शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कुरुकुलतिलक अर्जुन संग्राममें जूझते हुए तुम-जैसे बेटेका बल–पराक्रम जानना चाहते थे । वत्स ! इसीलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये प्रेरित किया है । सामर्थ्यशाली पुत्र ! तुम अपनेमें अणुमात्र पापकी भी आशङ्का न करो ॥४६-४७॥

ऋषिरेष महानात्मा पुराणः शाश्वतोऽक्षरः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रक ॥ ४८ ॥

'ये महात्मा नर पुरातन ऋषि, सनातन एवं अविनाशी हैं । बेटा ! युद्धमें इन्हें इन्द्र भी नहीं जीत सकते ॥ ४८ ॥

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशाम्पते ।
मृतान् मृतान् पन्नगेन्द्रान् यो जीवयति नित्यदा॥४९॥
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ॥ ५० ॥

'प्रजानाथ ! मैं यह दिव्यमणि ले आयी हूँ । यह सदा युद्धमें मरे हुए नागराजोंको जीवित किया करती है । प्रभो ! तुम इसे लेकर अपने पिताकी छातीपर रख दो । फिर तुम पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुनको जीवित हुआ देखोगे' ॥ ४९-५० ॥

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ॥ ५१ ॥

उलूपीके ऐसा कहनेपर निष्पाप कर्म करनेवाले अमित-तेजस्वी बभ्रुवाहनने अपने पिता पार्थकी छातीपर स्नेहपूर्वक वह मणि रख दी ॥ ५१ ॥

तस्मिन् न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ॥ ५२ ॥

उस मणिके रखते ही शक्तिशाली वीर अर्जुन देरतक सोकर जगे हुए मनुष्यकी भाँति अपनी लाल आँखें मलते हुए पुनः जीवित हो उठे ॥ ५२ ॥

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ॥ ५३ ॥

अपने मनस्वी पिता महात्मा अर्जुनको सचेत एवं स्वस्थ होकर उठा हुआ देख बभ्रुवाहनने उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ५३ ॥

उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो ।
दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ॥ ५४ ॥

प्रभो ! पुरुषसिंह श्रीमान् अर्जुनके पुनः उठ जानेपर पाकशासन इन्द्रने उनके ऊपर दिव्य एवं पवित्र फूलोंकी वर्षा की ॥ ५४ ॥

अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्मेघनिःस्वनाः ।
साधु साध्विति चाकाशे बभूव सुमहान् स्वनः ॥ ५५ ॥

मेघके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाली देव-दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं और आकाशमें साधुवादकी महान् ध्वनि गूँजने लगी ॥ ५५ ॥

उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनंजयः।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ॥ ५६ ॥

महाबाहु अर्जुन भलीभाँति स्वस्थ होकर उठे और बभ्रुवाहनको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगे ॥५६॥

ददर्श चापि दूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम्।
उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद् धनंजयः ॥ ५७ ॥

उससे थोड़ी ही दूरपर बभ्रुवाहनकी शोकाकुल माता चित्राङ्गदा उलूपीके साथ खड़ी थी। अर्जुनने जब उसे देखा, तब बभ्रुवाहनसे पूछा—॥ ५७ ॥

किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत्।
रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस मे ॥ ५८ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर पुत्र! यह सारा समराङ्गण शोक, विस्मय और हर्षसे युक्त क्यों दिखायी देता है? यदि जानते हो तो मुझे बताओ ॥ ५८ ॥

जननी च किमर्थं ते रणभूमिमुपागता।
नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ॥ ५

'तुम्हारी माता किसलिये रणभूमिमें आयी है? इस नागराजकन्या उलूपीका आगमन भी यहाँ कि हुआ है? ॥ ५९ ॥

जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात् कृतम्।
स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ॥

'मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुमने मेरे कहने युद्ध किया है; परंतु यहाँ स्त्रियोंके आनेका क्या कारण यह मैं जानना चाहता हूँ' ॥ ६० ॥

तमुवाच तथा पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा।
प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छ्यतामियम् ॥

पिताके इस प्रकार पूछनेपर विद्वान् मणिपुर पिताके चरणोंमें सिर रखकर उन्हें प्रसन्न किया और 'पिताजी! यह वृत्तान्त आप माता उलूपीसे पूछिये' ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे अर्जुनप्रत्युज्जीवने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसङ्गमें अर्जुनका पुनर्जीवनविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

उलूपीका अर्जुनके पूछनेपर अपने आगमनका कारण एवं अर्जुनकी पराजयका रहस्य बताना, पुत्र और पत्नीसे विदा लेकर पार्थका पुनः अश्वके पीछे जाना

अर्जुन उवाच

किमागमनकृत्यं ते कौरव्यकुलनन्दिनि।
मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—कौरव्य नागके कुलको आनन्दित करनेवाली उलूपी! इस रणभूमिमें तुम्हारे और मणिपुर-नरेश बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदाके आनेका क्या कारण है? ॥ १ ॥

कच्चित् कुशलकामासि राज्ञोऽस्य भुजगात्मजे।
मम वा चपलापाङ्गि कच्चित् त्वं शुभमिच्छसि ॥ २ ॥

नागकुमारी! तुम इस राजा बभ्रुवाहनका कुशल-मङ्गल तो चाहती हो न? चञ्चल कटाक्षवाली सुन्दरी! तुम मेरे कल्याणकी भी इच्छा रखती हो न? ॥ २ ॥

कच्चित् ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं प्रियदर्शने।
अकार्षमहमज्ञानादयं वा बभ्रुवाहनः ॥ ३ ॥

स्थूलनितम्बवाली प्रियदर्शने! मैंने या इस बभ्रुवाहनने अनजानमें तुम्हारा कोई अप्रिय तो नहीं किया है? ॥ ३॥

कच्चिन्नु राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहनी।
चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ॥ ४ ॥

तुम्हारी सौत चित्रवाहनकुमारी वरारोहा राजपुत्री चित्राङ्गदाने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है? ॥४॥

तमुवाचोरगपतेर्दुहिता प्रहसन्निव।
न मे त्वमपराद्धोऽसि न हि मे बभ्रुवाहनः ॥
न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता।
श्रूयतां यद् यथा चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ॥

अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर नागराजकन्या हँसती हुई-सी बोली—'प्राणवल्लभ! आपने या बभ्रव मेरा कोई अपराध नहीं किया है। बभ्रुवाहनकी माता मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा है। यह तो सदा दासीकी मेरी आज्ञाके अधीन रहती है। यहाँ आकर मैंने जिस प्रकार काम किया है, वह बतलाती हूँ; सुनिये ॥

न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा त्वां प्रसादये।
त्वत्प्रियार्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मया विभो ॥

'प्रभो! कुरुनन्दन! पहले तो मैं आपके चरणोंमें रखकर आपको प्रसन्न करना चाहती हूँ। यदि मुझसे दोष बन गया हो तो भी उसके लिये आप मुझपर क्रो करें; क्योंकि मैंने जो कुछ किया है, वह आपकी प्रसन्न लिये ही किया है ॥ ७ ॥

यत्तच्छृणु महाबाहो निखिलेन धनंजय।
महाभारतयुद्धे यत् त्वया शान्तनवो नृपः ॥
अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः कृता।

अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुवाहनको छातीसे लगा रहे हैं

'महाबाहु धनंजय ! आप मेरी कही हुई सारी बातें ान देकर सुनिये । पार्थ ! महाभारत युद्धमें आपने जो न्तनुकुमार महाराज भीष्मको अधर्मपूर्वक मारा है, उस पका यह प्रायश्चित्त कर दिया गया ॥ ८½ ॥

हि भीष्मस्त्वया वीर युद्ध्यमानो हि पातितः॥ ९ ॥
ाखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया ।

'वीर ! आपने अपने साथ जूझते हुए भीष्मजीको नहीं रा है, वे शिखण्डीके साथ उलझे हुए थे । उस दशामें खण्डीकी आड़ लेकर आपने उनका वध किया था ॥९½॥

स्य शान्तिमकृत्वा त्वं त्यजेथा यदि जीवितम्॥ १० ॥
र्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम् ।

'उसकी शान्ति किये बिना ही यदि आप प्राणोंका रत्याग करते तो उस पापकर्मके प्रभावसे निश्चय ही कमें पड़ते ॥ १०½ ॥

ा तु विहिता शान्तिः पुत्राद् यां प्राप्तवानसि ।
सुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते ॥ ११ ॥

'महामते ! पृथ्वीपाल ! पूर्वकालमें वसुओं तथा गङ्गाजी- इसी रूपमें उस पापकी शान्ति निश्चित की थी; जिसे पने अपने पुत्रसे पराजयके रूपमें प्राप्त किया है ॥ ११ ॥

ा हि श्रुतमेतत् ते वसुभिः कथितं मया ।
ङ्गायास्तीरमाश्रित्य हते शान्तनवे नृप ॥ १२ ॥

'पहलेकी बात है एक दिन मैं गङ्गाजीके तटपर गयी । नरेश्वर ! वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मजीके मारे जानेके द वसुओंने गङ्गातटपर आकर आपके सम्बन्धमें जो यह त कही थी, उसे मैंने अपने कानों सुना था ॥ १२ ॥

प्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् ।
मूचुर्वचो घोरं भागीरथ्या मते तदा ॥ १३ ॥

''वसु नामक देवता महानदी गङ्गाके तटपर एकत्र हो ान करके भागीरथीकी सम्मतिसे यह भयानक वचन बोले—॥

शान्तनवो भीष्मो निहतः सव्यसाचिना ।
ुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भाविनि।
दनेनानुषङ्गेण वयमद्य धनंजयम् ॥ १४ ॥
ापेन योजयामेति तथास्त्विति च साब्रवीत् ।

''भाविनि ! ये शान्तनुनन्दन भीष्म संग्राममें दूसरेके साथ लझे हुए थे । अर्जुनके साथ युद्ध नहीं कर रहे थे तो भी यसाची अर्जुनने इनका वध किया है । इस अपराधके कारण लोग आज अर्जुनको शाप देना चाहते हैं ।' यह सुनकर ङ्गाजीने कहा—'हाँ, ऐसा ही होना चाहिये' ॥१४½ ॥

दहं पितुरावेद्य प्रविश्य व्यथितेन्द्रिया ॥ १५ ॥
भवं स च तच्छ्रुत्वा विषादमगमत् परम् ।

'उनकी बातें सुनकर मेरी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं र पातालमें प्रवेश करके मैंने अपने पितासे यह सारा ाचार कह सुनाया । यह सुनकर पिताजीको भी बड़ा खेद आ ॥ १५½ ॥

पिता तु मे वसून् गत्वा त्वदर्थे समयाचत ॥ १६ ॥
पुनः पुनः प्रसाद्यैतांस्त एनमिदमब्रुवन् ।

'वे तत्काल वसुओंके पास जाकर उन्हें बारंबार प्रसन्न करके आपके लिये उनसे बारंबार क्षमा-याचना करने लगे । तब वसुगण उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १६½ ॥

पुत्रस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ॥ १७ ॥
स एनं रणमध्यस्थः शरैः पातयिता भुवि ।
एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ॥ १८ ॥

''महाभाग नागराज ! मणिपुरका नवयुवक राजा बभ्रु- वाहन अर्जुनका पुत्र है । वह युद्ध-भूमिमें खड़ा होकर अपने बाणोंद्वारा जब उन्हें पृथ्वीपर गिरा देगा, तब अर्जुन हमारे शापसे मुक्त हो जायँगे ॥ १७–१८ ॥

गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः ।
तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्माच्छापादसि विमोक्षितः॥ १९ ॥

''अच्छा अब जाओ' वसुओंके ऐसा कहनेपर मेरे पिताने आकर मुझसे यह बात बतायी । इसे सुनकर मैंने इसीके अनुसार चेष्टा की है और आपको उस शापसे छुटकारा दिलाया है ॥ १९ ॥

न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् तेनेहासि पराजितः॥ २० ॥

'प्राणनाथ ! देवराज इन्द्र भी आपको युद्धमें परास्त नहीं कर सकते, पुत्र तो अपना आत्मा ही है, इसीलिये इसके हाथसे यहाँ आपकी पराजय हुई है ॥ २० ॥

न हि दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो ।
इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माब्रवीदिदम् ॥ २१ ॥

'प्रभो ! मैं समझती हूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । अथवा आपकी क्या धारणा है ? क्या यह युद्ध कराकर मैंने कोई अपराध किया है ?'

उलूपीके ऐसा कहनेपर अर्जुनका चित्त प्रसन्न हो गया । उन्होंने कहा—॥ २१ ॥

सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत् कृतवत्यसि ।
इत्युक्त्वा सोऽब्रवीत् पुत्रं मणिपूरपतिं जयः ॥ २२ ॥
चित्राङ्गदायाः शृण्वत्याः कौरव्यदुहितुस्तदा ।

'देवि ! तुमने जो यह कार्य किया है, यह सब मुझे अत्यन्त प्रिय है ।' यों कहकर अर्जुनने चित्राङ्गदा तथा उलूपीके सुनते हुए अपने पुत्र मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनसे कहा—॥२२½॥

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्र्यां भविष्यति ॥ २३ ॥
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरके यज्ञका आरम्भ होगा । उसमें तुम अपनी इन दोनों माताओं और मन्त्रियोंके साथ अवश्य आना' ॥ २३-२४ ॥

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥ २५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहनने नेत्रोंमें आँसू भरकर पितासे इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम्।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥ २६ ॥

'धर्मज्ञ ! आपकी आज्ञासे मैं अश्वमेध महायज्ञमें अवश्य उपस्थित होऊँगा और ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम करूँगा ॥ २६ ॥

मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम्।
भार्याभ्यां सह धर्मज्ञ मा भूत् तेऽत्र विचारणा॥ २७ ॥

'इस समय आपसे एक प्रार्थना है—धर्मज्ञ ! आज मुझपर कृपा करनेके लिये अपनी इन दोनों धर्मपत्नियोंके साथ इस नगरमें प्रवेश कीजिये। इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

उषित्वेह निशामेकां सुखं स्वभवने प्रभो।
पुनरश्वानुगमनं कर्तासि जयतां वर ॥ २८ ॥

'प्रभो ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ ! यहाँ भी आपका ही घर है। अपने उस घरमें एक रात सुखपूर्वक निवास करके कल सवेरे फिर घोड़ेके पीछे-पीछे जाइयेगा' ॥ २८ ॥

इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः।
स्मयन् प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ॥ २९ ॥

पुत्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन कपिध्वज अर्जुन मुस्कराते हुए चित्राङ्गदाकुमारसे कहा—॥ २९ ॥

विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षां चराम्यहम्।
न स तावत् प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ॥ ३० ॥

'महाबाहो ! यह तो तुम जानते ही हो कि मैं दीक्षा ग्रहण करके विशेष नियमोंके पालनपूर्वक विचर रहा हूँ। अतः विशाललोचन ! जबतक यह दीक्षा पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक मैं तुम्हारे नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ ३० ॥

यथाकामं व्रजत्येष यज्ञियाश्वो नरर्षभ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम॥ ३१ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यह यज्ञका घोड़ा अपनी इच्छाके अनुसार चलता है (इसे कहीं भी रोकनेका नियम नहीं है); अतः तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाऊँगा। इस समय मेरे ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं है' ॥ ३१ ॥

स तत्र विधिवत् तेन पूजितः पाकशासनिः।
भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद् भरतसत्तमः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर वहाँ बभ्रुवाहनने भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष इन्द्रकुमार अर्जुनकी विधिवत् पूजा की और वे अपनी दोनों भार्याओंकी अनुमति लेकर वहाँसे चल दिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वका अनुसरणविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मगधराज मेघसन्धिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम्।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके बाद वह घोड़ा समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करके उस दिशाकी ओर मुँह करके लौटा, जिस ओर हस्तिनापुर था ॥ १ ॥

अनुगच्छंश्च तुरगं निवृत्तोऽथ किरीटभृत्।
यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ॥ २ ॥

किरीटधारी अर्जुन भी घोड़ेका अनुसरण करते हुए लौट पड़े और दैवेच्छासे राजगृह नामक नगरमें आ पहुँचे ॥

तमभ्याशगतं दृष्ट्वा सहदेवात्मजः प्रभो।
क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ॥ ३ ॥

प्रभो ! अर्जुनको अपने नगरके निकट आया देख क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए वीर सहदेवकुमार राजा मेघसन्धिने उन्हें युद्धके लिये आमन्त्रित किया ॥ ३ ॥

ततः पुरात् स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली।
मेघसन्धिः पदातिं तं धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् स्वयं भी धनुष-बाण और दस्तानेसे सुसज्जित हो रथपर बैठकर नगरसे बाहर निकला। मेघसन्धिने पैदल आते हुए धनंजयपर धावा किया ॥ ४ ॥

आसाद्य च महातेजा मेघसन्धिर्धनंजयम्।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ॥ ५ ॥

महाराज ! धनंजयके पास पहुँचकर महातेजस्वी मेघसन्धिने बुद्धिमानीके कारण नहीं, मूर्खतावश निम्नांकित बात कही—॥ ५ ॥

किमयं चार्यते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत।
हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! इस घोड़ेके पीछे क्यों फिर रहे हो। तो ऐसा जान पड़ता है, मानो स्त्रियोंके बीच चल रहा है। मैं इसका अपहरण कर रहा हूँ। तुम इसे छुड़ानेका प्रयत्न करो ॥ ६ ॥

अदत्तानुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम।
करिष्यामि तवातिथ्यं प्रहर प्रहरामि च ॥ ७ ॥

'यदि युद्धमें मेरे पिता आदि पूर्वजोंने कभी तुम

गत-सत्कार नहीं किया है तो आज मैं इस कमीको पूर्ण रूँगा। युद्धके मैदानमें तुम्हारा यथोचित आतिथ्य-सत्कार रूँगा। पहले मुझपर प्रहार करो, फिर मैं तुमपर प्रहार रूँगा' ॥ ७ ॥

युक्तः प्रत्युवाचैनं प्रहसन्निव पाण्डवः।
घ्नकर्ता मया वार्य इति मे व्रतमाहितम् ॥ ८ ॥
भ्रात्रा ज्येष्ठेन नृपते तवापि विदितं ध्रुवम्।
हरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥

उसके ऐसा कहनेपर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उसे हँसते हुए इस प्रकार उत्तर दिया—'नरेश्वर! मेरे बड़े भाईने मेरे लिये व्रतकी दीक्षा दिलायी है कि जो मेरे मार्गमें विघ्न डालने- उद्यत हो, उसे रोको। निश्चय ही यह बात तुम्हें भी दित है। अतः तुम अपनी शक्तिके अनुसार मुझपर प्रहार रो। मेरे मनमें तुमपर कोई रोष नहीं है' ॥ ८-९ ॥

युक्तः प्राहरत् पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः।
करञ्शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ॥ १० ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर मगधनरेशने पहले उनपर प्रहार या। जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र जलकी वर्षा करते हैं, उसी कार मेघसन्धि अर्जुनपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगाने लगा ॥

तो गाण्डीवभृच्छूरो गाण्डीवप्रहितैः शरैः।
कार मोघांस्तान् बाणान् सयत्नान् भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब गाण्डीवधारी शूरवीर अर्जुनने गाण्डीव नुषसे छोड़े गये बाणोंद्वारा मेघसन्धिके प्रयत्नपूर्वक चलाये उन सभी बाणोंको व्यर्थ कर दिया ॥ ११ ॥

मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः।
रान् मुमोच ज्वलितान् दीप्तास्यानिव पन्नगान् ॥ १२ ॥

शत्रुके बाणसमूहको निष्फल करके कपिध्वज अर्जुनने ज्वलित बाणका प्रहार किया। वे बाण मुखसे आग उगलने- ले सर्पोंके समान जान पड़ते थे ॥ १२ ॥

ध्वजे पताकादण्डेषु रथे यन्त्रे हयेषु च।
न्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे न सारथौ ॥ १३ ॥

उन्होंने मेघसन्धिकी ध्वजा, पताका, दण्ड, रथ, यन्त्र, श्व तथा अन्य रथाङ्गोंपर बाण मारे; परंतु उसके शरीर और सारथिपर प्रहार नहीं किया ॥ १३ ॥

रक्ष्यमाणः पार्थेन शरीरे सव्यसाचिना।
न्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोच्छरान् ॥ १४ ॥

यद्यपि सव्यसाची अर्जुनने जान-बूझकर उसके शरीरकी क्षा की तथापि वह मगधराज इसे अपना पराक्रम समझने गा और अर्जुनपर लगातार बाणोंका प्रहार करता रहा ॥

ततो गाण्डीवधन्वा तु मागधेन भृशाहतः।
बभौ वसन्तसमये पलाशः पुष्पितो यथा ॥ १५ ॥

मगधराजके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर गाण्डीवधारी अर्जुन रक्तसे नहा उठे। उस समय वे वसन्तऋतुमें फूले हुए पलाश वृक्षकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥

अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम्।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन! अर्जुन तो उसे मार नहीं रहे थे, परंतु वह उन पाण्डवशिरोमणिपर बारंबार चोट कर रहा था। इसीलिये विश्वविख्यात वीर अर्जुनकी दृष्टिमें वह तबतक ठहर सका ॥

सव्यसाची तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद् धनुः।
हयांश्चकार निर्जीवान् सारथेश्च शिरोऽहरत् ॥ १७ ॥

अब सव्यसाची अर्जुनका क्रोध बढ़ गया। उन्होंने अपने धनुषको जोरसे खींचा और मेघसन्धिके घोड़ोंको प्राणहीन करके उसके सारथिका भी सिर उड़ा दिया ॥ १७ ॥

धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त ह।
हस्तावापं पताकां च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ॥ १८ ॥

फिर उसके विशाल एवं विचित्र धनुषको क्षुरसे काट डाला और उसके दस्ताने, पताका तथा ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया ॥ १८ ॥

स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः।
गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ॥ १९ ॥

घोड़े, धनुष और सारथिके नष्ट हो जानेपर मेघसन्धिको बड़ा दुःख हुआ। वह गदा हाथमें लेकर कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ १९ ॥

तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम्।
शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ॥ २० ॥

उसके आते ही अर्जुनने गृध्रपङ्खयुक्त बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उसकी सुवर्णभूषित गदाके शीघ्र ही अनेक टुकड़े कर डाले ॥ २० ॥

सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना।
व्याली विमुच्यमानेव पपात धरणीतले ॥ २१ ॥

उस गदाकी मूँठ टूट गयी और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। उस दशामें वह हाथसे छूटी हुई सर्पिणीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २१ ॥

विरथं विधनुष्कं च गदया परिवर्जितम्।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत् कपिकेतनः ॥ २२ ॥

जब मेघसन्धि रथ, धनुष और गदासे भी वञ्चित हो गया, तब कपिध्वज अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम्।
बह्वेतत् समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ॥ २३ ॥

'बेटा! तुमने क्षत्रियधर्मका पूरा-पूरा प्रदर्शन कर लिया। अब अपने घर जाओ। भूपाल! तुम अभी बालक हो। इस समराङ्गणमें तुमने जो पराक्रम किया है, यही तुम्हारे लिये बहुत है ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्य संदेशो न हन्तव्या नृपा इति।

तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोऽपि मे रणे ॥ २४ ॥

'राजन् ! महाराज युधिष्ठिरका यह आदेश है कि 'तुम युद्धमें राजाओंका वध न करना' । इसीलिये तुम मेरा अपराध करनेपर भी अबतक जीवित हो' ॥ २४ ॥

इति मत्वा तदात्मानं प्रत्यादिष्टं स्म मागधः ।
तथ्यमित्यभिगम्यैनं प्राञ्जलिः प्रत्यपूजयत् ॥ २५ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर मेघसन्धिको यह विश्वास हो गया कि अब इन्होंने मेरी जान छोड़ दी है । तब वह अर्जुनके पास गया और हाथ जोड़ उनका समादर करते हुए कहने लगा—॥ २५ ॥

पराजितोऽस्मि भद्रं ते नाहं योद्धुमिहोत्सहे ।
यद् यत् कृत्यं मया तेऽद्य तद् ब्रूहि कृतमेव तु ॥ २६ ॥

'वीरवर ! आपका कल्याण हो । मैं आपसे परास्त हो गया । अब मैं युद्ध करनेका उत्साह नहीं रखता । अब आपको मुझसे जो-जो सेवा लेनी हो, वह बताइये और उसे पूर्ण की हुई ही समझिये' ॥ २६ ॥

तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत् ।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २७ ॥

तब अर्जुनने उसे धैर्य देते हुए पुनः इस प्रकार क[हा—] 'राजन् ! तुम आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको हमारे महारा[जके] अश्वमेधयज्ञमें अवश्य आना' ॥ २७ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं हयम् ।
फाल्गुनं च युधि श्रेष्ठं विधिवत् सहदेवजः ॥ २८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सहदेवपुत्रने 'बहुत अच्छा' कह[कर] उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उस घोड़े तथा युद्धस्थ[लमें] श्रेष्ठ वीर अर्जुनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २८ ॥

ततो यथेष्टमगमत् पुनरेव स केसरी ।
ततः समुद्रतीरेण वङ्गान् पुण्ड्रान् सकोसलान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर वह घोड़ा पुनः अपनी इच्छाके अनुसार आ[गे] चला । वह समुद्रके किनारे-किनारे होता हुआ वङ्ग, पु[ण्ड्र] और कोसल आदि देशोंमें गया ॥ २९ ॥

तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः ।
विजिग्ये धनुषा राजन् गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३० ॥

राजन् ! उन देशोंमें अर्जुनने केवल गाण्डीव धनुष[की] सहायतासे म्लेच्छोंकी अनेक सेनाओंको परास्त किया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे मागधपराजये द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें मगधराजकी पराजयविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

दक्षिण और पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें होते हुए अश्वका द्वारका, पञ्चनद एवं गान्धार देशमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

मागधेनार्चितो राजन् पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मगधराजसे पूजित हो पाण्डुपुत्र श्वेतवाहन अर्जुनने दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस घोड़ेको घुमाना आरम्भ किया ॥ १ ॥

ततः स पुनरावर्त्य हयः कामचरो बली ।
आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्तिसाह्वयाम् ॥ २ ॥

वह इच्छानुसार विचरनेवाला अश्व पुनः उधरसे लौटकर चेदियोंकी रमणीय राजधानीमें जो शुक्तिपुरी (या माहिष्मती-पुरी) के नामसे विख्यात थी, आया ॥ २ ॥

शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालसुतेन सः ।
युद्धपूर्वं तदा तेन पूजया च महाबलः ॥ ३ ॥

वहाँ शिशुपालके पुत्र शरभने पहले तो युद्ध किया और फिर स्वागत-सत्कारके द्वारा उस महाबली अश्वका पूजन किया ॥

ततोऽर्चितो ययौ राजंस्तदा स तुरगोत्तमः ।
काशीनन्ध्रान् कोसलांश्च किरातानथ तङ्गणान् ॥ ४ ॥

राजन् ! शरभसे पूजित हो वह उत्तम अश्व काशी, कोसल, किरात और तङ्गण आदि जनपदोंमें गया ॥ ४ ॥

पूजां तत्र यथान्यायं प्रतिगृह्य धनंजयः ।
पुनरावृत्य कौन्तेयो दशार्णानगमत् तदा ॥ ५ ॥

उन सभी राज्योंमें यथोचित पूजा ग्रहण करके कुन्तीन[न्दन] अर्जुन पुनः लौटकर दशार्ण देशमें आये ॥ ५ ॥

तत्र चित्राङ्गदो नाम बलवानरिमर्दनः ।
तेन युद्धमभूत् तस्य विजयस्यातिभैरवम् ॥ ६ ॥

वहाँ उस समय महाबली शत्रुमर्दन चित्राङ्गद नाम[क] नरेश राज्य करते थे । उनके साथ अर्जुनका बड़ा भयं[कर] युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

तं चापि वशमानीय किरीटी पुरुषर्षभः ।
निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर किरीटधारी अर्जुन दशार्णराज चित्राङ्गद[को] भी वशमें करके निषादराज एकलव्यके राज्यमें गये ॥ ७ ॥

एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा ।
तत्र चक्रे निषादैः स संग्रामं लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

वहाँ एकलव्यके पुत्रने युद्धके द्वारा उनका स्वाग[त] किया । अर्जुनने निषादोंके साथ रोमाञ्चकारी संग्राम किया ॥ ८ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय युधि दुर्धर्षो यज्ञविघ्नार्थमागतम् ॥ ९ ॥

युद्धमें किसीसे परास्त न होनेवाले दुर्धर्ष वीर पार्थने ज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आये हुए एकलव्यकुमारको भी रास्त कर दिया ॥ ९ ॥

तं जित्वा महाराज नैषादिं पाकशासनिः ।
र्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ॥ १० ॥

महाराज ! एकलव्यके पुत्रको पराजित करके उसके रा पूजित हुए इन्द्रकुमार अर्जुन फिर दक्षिण समुद्रके ट्पर गये ॥ १० ॥

त्रापि द्रविडैरान्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि ।
था कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत् किरीटिनः ॥ ११ ॥

वहाँ भी द्रविड, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक और कोलाचलके न्तोंमें रहनेवाले वीरोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका खूब द हुआ ॥ ११ ॥

श्चापि विजयो जित्वा नातितीव्रेण कर्मणा ।
ङ्गमवशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ॥ १२ ॥
कर्णमथ चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् ।

उन सबको मृदुल पराक्रमसे ही जीतकर वे घोड़ेकी छानुसार उसके पीछे चलनेमें विवश हुए सौराष्ट्र, गोकर्ण र प्रभासक्षेत्रोंमें गये ॥ १२½ ॥

तो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिपालिताम् ॥ १३ ॥
ससाद हयः श्रीमान् कुरुराजस्य यज्ञियः ।

तत्पश्चात् कुरुराज युधिष्ठिरका वह यज्ञसम्बन्धी न्तिमान् अश्व वृष्णिवीरोंद्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें जा चा ॥ १३½ ॥

तुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ॥ १४ ॥
युस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् ।

राजन् ! वहाँ यदुवंशी वीरोंके बालकोंने उस उत्तम अश्व- बलपूर्वक पकड़कर युद्धके लिये उद्योग किया; परंतु राज उग्रसेनने उन्हें रोक दिया ॥ १४½ ॥

ः पुराद् विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ॥ १५ ॥
हितो वसुदेवेन मातुलेन किरीटिनः ।
समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत् प्रीतिपूर्वकम् ॥ १६ ॥
रया भारतश्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ ।
स्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अर्जुनके मामा वसुदेवको साथ ले वृष्णि और न्धककुलके राजा उग्रसेन नगरसे बाहर निकले। वे दोनों प्रसन्नताके साथ कुरुश्रेष्ठ अर्जुनसे विधिपूर्वक मिले।

उन्होंने भरतकुलके उस श्रेष्ठ वीरका बड़ा आदर-सत्कार किया। फिर उन दोनोंकी आज्ञा ले अर्जुन उसी ओर चल दिये, जिधर वह अश्व गया था ॥ १५—१७ ॥

ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।
क्रमेण व्यचरत् स्फीतं ततः पञ्चनदं ययौ ॥ १८ ॥

वहाँसे पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें विचरता हुआ वह घोड़ा क्रमशः आगे बढ़ने लगा और समृद्धिशाली पञ्चनद प्रदेशमें जा पहुँचा ॥ १८ ॥

तस्मादपि स कौरव्य गान्धारविषयं हयः ।
विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन ! वहाँसे भी वह घोड़ा गान्धारदेशमें जाकर इच्छानुसार विचरने लगा। कुन्तीनन्दन अर्जुन भी उसके पीछे-पीछे वहीं जा पहुँचे ॥ १९ ॥

ततो गान्धारराजेन युद्धमासीत् किरीटिनः ।
घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ॥ २० ॥

फिर तो पूर्व वैरका अनुसरण करनेवाले गान्धारराज शकुनिपुत्रके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर युद्ध हुआ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसम्बन्धी अश्वका अनुसरणविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

शकुनिपुत्रकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तनयो वीरो गान्धाराणां महारथः।
प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महता वृतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनिका पुत्र गान्धारोंमें सबसे बड़ा वीर और महारथी था। वह विशाल सेनासे घिरकर निद्राविजयी अर्जुनका सामना करनेके लिये चला ॥ १ ॥

हस्त्यश्वरथयुक्तेन पताकाध्वजमालिना।
अमृष्यमाणास्ते योधा नृपस्य शकुनेर्वधम् ॥ २ ॥
अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः।

उसकी सेनामें हाथी, घोड़े और रथ सभी सम्मिलित थे। वह सेना ध्वजा-पताकाओंकी मालासे मण्डित थी। गान्धारदेशके योद्धा राजा शकुनिके वधका समाचार सुनकर अमर्षमें भरे हुए थे; अतः हाथमें धनुष-बाण ले उन्होंने एक साथ होकर अर्जुनपर धावा बोल दिया ॥ २½ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम्।

किसीसे परास्त न होनेवाले धर्मात्मा अर्जुनने उन्हें राजा युधिष्ठिरकी बात सुनायी; परंतु उस हितकर वचनको भी वे ग्रहण न कर सके ॥ ३½ ॥

वार्यमाणाऽपि पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिताः ॥ ४ ॥
परिवार्य हयं जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः।

यद्यपि पार्थने सान्त्वनापूर्वक समझा-बुझाकर उन सबको युद्धसे रोका, तथापि वे अमर्षशील योद्धा उस घोड़ेको चारों ओरसे घेरकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। यह देख पाण्डुपुत्र अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ४½ ॥

ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः ॥ ५ ॥
क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः ।

वे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए तेज धारवाले क्षुरोंसे बिना परिश्रमके ही उनके मस्तक काटने लगे ॥ ५½ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य सम्भ्रमात् ॥ ६ ॥
न्यवर्तन्त महाराज शरवर्षार्दिता भृशम्।

महाराज! अर्जुनकी मार खाकर उनके बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए गान्धार सैनिक उस घोड़ेको छोड़कर बड़े वेगसे पीछे लौट गये ॥ ६½ ॥

निरुध्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डुनन्दनः ॥ ७ ॥
आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत्।

गान्धारोंके द्वारा रोके जानेपर भी तेजस्वी वीर पाण्डुनन्दन अर्जुन उनके नाम ले-लेकर मस्तक काटने और गिराने लगे ॥ ७½ ॥

वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः ॥ ८ ॥
स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत्।

जब चारों ओर युद्धमें गान्धारोंका संहार आरम्भ हो गया, तब राजा शकुनि-पुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनको रोका ॥ ८½ ॥

तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥
पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात्।
अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः ॥ १० ॥

क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्ध करनेवाले उस राजासे अर्जुनने इस प्रकार कहा—'वीर! तुम्हें युद्ध करनेसे कोई लाभ नहीं है। महाराज युधिष्ठिरकी यह आज्ञा है कि मैं राजाओंका वध न करूँ। अतः तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ, जिससे आज तुम्हारी पराजय न हो' ॥ ९-१० ॥

इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः।
स शक्रसमकर्माणं समवाकिरदाशुगैः ॥ ११ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी वह अज्ञानसे मोहित होनेके कारण उनकी बातकी अवहेलना करके इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनपर शीघ्रगामी बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ११ ॥

तस्य पार्थः शिरस्त्राणमर्धचन्द्रेण पत्रिणा।
अपाहरदमेयात्मा जयद्रथशिरो यथा ॥ १२ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनने जिस प्रकार जयद्रथका सिर उड़ाया था, उसी प्रकार शकुनि-पुत्रके शिरस्त्राण (टोप) को एक अर्धचन्द्राकार बाणसे काट गिराया ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते।
इच्छता तेन न हतो राजेत्यपि च तं विदुः ॥ १३ ॥

यह देखकर समस्त गान्धारोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे सब-के सब यह समझ गये कि अर्जुनने जान-बूझकर गान्धारराजको जीवित छोड़ दिया है ॥ १३ ॥

गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः।
ययौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ॥ १४ ॥

उस समय गान्धारराज शकुनिका पुत्र भागनेका अवसर देखने लगा। जैसे सिंहसे डरे हुए छोटे-छोटे मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनसे भयभीत हुए सैनिकोंके साथ वह स्वयं भी भाग निकला ॥ १४ ॥

तेषां तु तरसा पार्थस्तत्रैव परिधावताम्।
प्रजहारोत्तमाङ्गानि भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ १५ ॥

वहीं चक्कर काटनेवाले बहुत-से सैनिकोंके मस्तक अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा वेगपूर्वक काट लिया ॥ १५ ॥

उच्छ्रितांस्तु भुजान् केचिन्नाबुध्यन्त शरैर्हृतान्।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः ॥ १६ ॥

अर्जुनद्वारा चलाये और गाण्डीव धनुषसे छूटे

बहुसंख्यक बाणोंसे कितने ही योद्धाओंकी ऊँची उठी हुई भुजाएँ कटकर गिर गयीं और उन्हें इस बातका पतातक न लगा ॥ १६ ॥

सम्भ्रान्तनरनागाश्वमपतद् विद्रुतं बलम्।
हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्तत मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण सेनाके मनुष्य, हाथी और घोड़े घबराकर इधर-उधर भटकने लगे। सारी सेना गिरती-पड़ती भागने लगी। उसके अधिकांश सिपाही युद्धमें मारे गये या नष्ट हो गये और वह बारंबार युद्धभूमिमें ही चक्कर काटने लगी ॥ १७ ॥

नाभ्यदृश्यन्त वीरस्य केचिदग्रेऽग्र्यकर्मणः।
रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्धनंजयम् ॥ १८ ॥

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले वीर अर्जुनके सामने कोई भी शत्रु खड़े नहीं दिखायी देते थे, जो अर्जुनकी मार पड़नेपर उनका वेग सहन कर सके ॥ १८ ॥

ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरःसरा।
जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर गान्धारराजकी माता अत्यन्त भयभीत होकर बूढ़े मन्त्रियोंको आगे करके उत्तम अर्घ्य ले नगरसे बाहर निकली और रणभूमिमें उपस्थित हुई ॥ १९ ॥

सा न्यवारयदव्यग्रं तं पुत्रं युद्धदुर्मदम्।
प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ॥ २० ॥

आते ही उसने अपने व्यग्रतारहित एवं रणोन्मत्त पुत्रको युद्ध करनेसे रोका और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले विजयशील अर्जुनको प्रिय वचनोंद्वारा प्रसन्न किया ॥ २० ॥

तां पूजयित्वा बीभत्सुः प्रसादमकरोत् प्रभुः।
शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

सामर्थ्यशाली अर्जुनने भी मामीका सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और स्वयं उनपर कृपादृष्टि की। फिर शकुनिके पुत्रको भी सान्त्वना प्रदान करते हुए वे इस प्रकार बोले— ॥

न मे प्रियं महाबाहो यत्ते बुद्धिरियं कृता।
प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन! महाबाहु वीर! तुमने जो मुझसे युद्ध करनेका विचार किया, यह मुझे प्रिय नहीं लगा; क्योंकि अनघ! तुम तो मेरे भाई ही हो ॥ २२ ॥

गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च।
तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ॥ २३ ॥

'राजन्! मैंने माता गान्धारीको याद करके पिता धृतराष्ट्रके सम्बन्धसे युद्धमें तुम्हारी उपेक्षा की है; इसीलिये तुम अभीतक जीवित हो। केवल तुम्हारे अनुगामी सैनिक ही मारे गये हैं ॥ २३ ॥

मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी।
गच्छेथास्त्वं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २४ ॥

'अब हमलोगोंमें ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिये। आपसका वैर शान्त हो जाय। अब तुम कभी इस प्रकार हमलोगोंके विरुद्ध युद्ध ठाननेका विचार न करना 'आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होनेवाला है। उसमें तुम अवश्य आना' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे शकुनिपुत्रपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसङ्गमें शकुनिपुत्रकी पराजयविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

यज्ञभूमिकी तैयारी, नाना देशोंसे आये हुए राजाओंका यज्ञकी सजावट और आयोजन देखना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वानुययौ पार्थो हयं कामविहारिणम्।
न्यवर्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारराजसे यों कहकर अर्जुन इच्छानुसार विचरनेवाले घोड़ेके पीछे चल दिये। अब वह घोड़ा लौटकर हस्तिनापुरकी ओर चला ॥ १ ॥

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ॥ २ ॥

इसी समय राजा युधिष्ठिरको एक जासूसके द्वारा यह समाचार मिला कि घोड़ा हस्तिनापुरको लौट रहा है और अर्जुन भी सकुशल आ रहे हैं। यह सुनकर उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २ ॥

विजयस्य च तत् कर्म गान्धारविषये तदा।
श्रुत्वा चान्येषु देशेषु स सुप्रीतोऽभवत् तदा ॥ ३ ॥

अर्जुनने गान्धारराज्यमें तथा अन्यान्य देशोंमें जो अद्भुत पराक्रम किया था, वह सब सुनकर युधिष्ठिरके हर्षकी सीमा न रही ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम्।
इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् महीपतिः।
भीमं च नकुलं चैव सहदेवं च कौरव ॥ ५ ॥
प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्मभृतां वरः।
आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं प्रहरतां वरम् ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन! उस दिन माघ महीनेकी शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथि थी। उसमें पुष्य नक्षत्रका योग पाकर महातेजस्वी पृथ्वीपति धर्मराज युधिष्ठिरने अपने समस्त भाइयों—

भीमसेन, नकुल और सहदेवको बुलवाया और प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको सम्बोधित करके वक्ताओं तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने यह समयोचित बात कही—॥ ४—६ ॥

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनंजयसारिणः॥ ७ ॥

'भीमसेन! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन घोड़ेके साथ आ रहे हैं, जैसा कि उनका समाचार लानेके लिये गये जासूसोंने मुझे बताया है॥ ७ ॥

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर॥ ८ ॥

'वृकोदर! इधर यज्ञ आरम्भ करनेका समय भी निकट आ गया है। घोड़ा भी पास ही है। यह माघ मासकी पूर्णिमा आ रही है, अब बीचमें केवल फाल्गुनका एक मास शेष है॥ ८॥

प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम्॥ ९ ॥

'अतः वेदके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको भेजना चाहिये कि वे अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये उपयुक्त स्थान देखें'॥९॥

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम्।
हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम्॥ १० ॥

यह सुनकर भीमसेनने राजाकी आज्ञाका तुरंत पालन किया। वे पुरुषप्रवर अर्जुनका आगमन सुनकर बहुत प्रसन्न थे॥१०॥

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेन यज्ञकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके शिल्पकर्मके जानकार कारीगरोंके साथ नगरसे बाहर गये॥ ११ ॥

तं स शालचयं श्रीमत् सप्रतोलीसुघट्टितम्।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि॥ १२ ॥

उन्होंने शालवृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर स्थान पसंद करके उसे चारों ओरसे नपवाया। तत्पश्चात् कुरुनन्दन भीमने वहाँ उत्तम मार्गोंसे सुशोभित यज्ञभूमिका विधिपूर्वक निर्माण कराया॥ १२ ॥

प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिमम्।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम्॥ १३ ॥

उस भूमिमें सैकड़ों महल बनवाये गये, जिसके फर्शमें अच्छे-अच्छे रत्न जड़े हुए थे। वह यज्ञशाला सोने और रत्नोंसे सजायी गयी थी और उसका निर्माण शास्त्रीय विधिके अनुसार कराया गया था॥ १३ ॥

स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काननम्॥ १४ ॥
अन्तःपुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम्।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि॥ १५ ॥
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम्।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत् तान्यनेकशः॥ १६ ॥

वहाँ सुवर्णमय विचित्र खम्भे और बड़े-बड़े तोरण (फाटक) बने हुए थे। धर्मात्मा भीमने यज्ञमण्डपके सभी स्थानोंमें शुद्ध सुवर्णका उपयोग किया था। उन्होंने अन्तःपुरकी स्त्रियों, विभिन्न देशोंसे आये हुए राजाओं तथा नाना स्थानोंसे पधारे हुए ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी अनेकानेक उत्तम भवन बनवाये। उन सबका निर्माण कुन्तीकुमार भीमने शिल्पशास्त्रकी विधिके अनुसार कराया था॥१४-१६॥

तथा सम्प्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात्।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम्॥ १७ ॥

महाबाहो! यह सब काम हो जानेपर भीमसेनने महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले विभिन्न राजाओंको निमन्त्रण देनेके लिये बहुत-से दूत भेजे॥ १७ ॥

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ! निमन्त्रण पाकर वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये अनेकानेक रत्न, स्त्रियाँ, घोड़े और भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुए॥ १८ ॥

तेषां निविशतां तेषु शिबिरेषु महात्मनाम्।
नर्दतः सागरस्येव दिवस्पृगभवत् स्वनः॥ १९ ॥

वहाँ बने हुए विभिन्न शिविरोंमें प्रवेश करनेवाले महामनस्वी नरेशोंका जो कोलाहल सुनायी पड़ता था, वह समुद्रकी गम्भीर गर्जनाके समान सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त हो रहा था॥ १९ ॥

तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः॥ २० ॥

कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले राजा युधिष्ठिरने इन नवागत अतिथियोंका सत्कार करनेके लिये अन्न-पान और अलौकिक शय्याओंका प्रबन्ध किया॥ २० ॥

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः।
उपेता भरतश्रेष्ठो व्यादिदेश स धर्मराट्॥ २१ ॥

भरतभूषण! धर्मराज युधिष्ठिरने उन राजाओंके सवारियोंके लिये भी धान, ऊँख और गोरससे भरे-पूरे घर दिये॥ २१ ॥

तथा तस्मिन् महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः॥ २२ ॥

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें बहुत-से वेदवेत्ता मुनिगण भी पधारे थे॥ २२ ॥

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते।

समाजग्मुः सशिष्यास्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, वे सब अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ आये। कुरुराज युधिष्ठिरने उन सबको स्वागतपूर्वक अपनाया ॥ २३ ॥

सर्वांश्चताननुययौ यावदावसथान् प्रति ।
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

वहाँ महातेजस्वी महाराज युधिष्ठिर दम्भ छोड़कर स्वयं ही उन सबका विधिवत् सत्कार करते और जबतक उनके लिये योग्य स्थानका प्रबन्ध न हो जाता, तबतक उनके साथ-साथ रहते थे ॥ २४ ॥

ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा ।
कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञो धर्मज्ञाय न्यवेदयन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् थवइयों और अन्यान्य शिल्पियों (कारीगरों) ने आकर राजा युधिष्ठिरको यह सूचना दी कि यज्ञमण्डपका सारा कार्य पूरा हो गया ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्तु कृतं सर्वमतन्द्रितः ।
हृष्टरूपोऽभवद् राजा सह भ्रातृभिराद्दतः ॥ २६ ॥

सब कार्य पूरा हो गया। यह सुनकर आलस्यरहित धर्मराज राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ बहुत प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः ।
हेतुवादान् बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वह यज्ञ आरम्भ होनेपर बहुत-से प्रवचनकुशल और युक्तिवादी विद्वान्, जो एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते थे, वहाँ अनेक प्रकारसे तर्ककी बातें करने लगे ॥ २७ ॥

ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।
देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ॥ २८ ॥

भारत ! यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये हुए राजा लोग घूम-घूमकर भीमसेनके द्वारा तैयार कराये हुए उस यज्ञमण्डपकी उत्तम निर्माण-कला एवं सुन्दर सजावट देखने लगे। वह मण्डप देवराज इन्द्रकी यज्ञशालाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते ।
शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसंचयान् ॥ २९ ॥

उन्होंने वहाँ सुवर्णके बने हुए तोरण, शय्या, आसन, विहारस्थान तथा बहुत-से रत्नोंके ढेर देखे ॥ २९ ॥

घटान् पात्रीः कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ।
न हि किंचिदसौवर्णमपश्यन् वसुधाधिपाः ॥ ३० ॥

घड़े, बर्तन, कड़ाहे, कलश और बहुत-से कटोरे भी उनकी दृष्टिमें पड़े। उन पृथ्वीपतियोंने वहाँ कोई भी ऐसा सामान नहीं देखा, जो सोनेका बना हुआ न हो ॥ ३० ॥

यूपांश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान् ।
उपक्लृप्तान् यथाकालं विधिवद् भूरिवर्चसः ॥ ३१ ॥

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जो काष्ठके यूप बने हुए थे, उनमें भी सोना जड़ा हुआ था। वे सभी यूप यथासमय विधिपूर्वक बनाये गये थे, जो देखनेमें अत्यन्त तेजोमय जान पड़ते थे ॥ ३१ ॥

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो ।
सर्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः ॥ ३२ ॥

प्रभो ! संसारके भीतर स्थल और जलमें उत्पन्न होनेवाले जो कोई पशु देखे या सुने गये थे, उन सबको वहाँ राजाओंने उपस्थित देखा ॥ ३२ ॥

गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च ।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥ ३३ ॥
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च ।
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ॥ ३४ ॥

गायें, भैंसें, बूढ़ी स्त्रियाँ, जल-जन्तु, हिंसक जन्तु, पक्षी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, पर्वतीय तथा सागरतटपर उत्पन्न होनेवाले प्राणी—ये सभी वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ ३३-३४ ॥

एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वह यज्ञशाला पशु, गौ, धन और धान्य सभी दृष्टियोंसे संपन्न एवं आनन्द बढ़ानेवाली थी। उसे देखकर समस्त राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत् ।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ॥ ३६ ॥
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत ।
विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणों और वैश्योंके लिये वहाँ परम स्वादिष्ट अन्नका भण्डार भरा हुआ था। प्रतिदिन एक लाख ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर वहाँ मेघ-गर्जनाके समान शब्द करनेवाला डंका बार-बार पीटा जाता था। इस प्रकारके डंके वहाँ दिनमें कई बार पीटे जाते थे ॥ ३६-३७ ॥

एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः ।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान् ॥ ३८ ॥
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः ।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ॥ ३९ ॥
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ।

राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ रोज-रोज इसी रूपमें चालू रहा। उस स्थानपर अन्नके बहुत-से पहाड़ों-जैसे ढेर लगे रहते थे। दहीकी नहरें बनी हुई थीं और घीके बहुत-से तालाब भरे हुए थे। राजा युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें अनेक देशोंके लोग जुटे हुए थे। राजन् ! सारा जम्बू-

द्वीप ही वहाँ एक स्थानमें स्थित दिखायी देता था॥३८-३९½॥

तत्र जातिसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ॥ ४० ॥
गृहीत्वा भाजनान् जग्मुर्बहूनि भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ हजारों प्रकारकी जातियोंके लोग बहुत-से पात्र लेकर उपस्थित होते थे ॥ ४०½ ॥

स्रग्विणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४१ ॥
पर्यवेषन् द्विजातींस्ताञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः ।
ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणानां ददुश्च ह ॥ ४२ ॥

सैकड़ों और हजारों मनुष्य वहाँ ब्राह्मणोंको तरह-तरहके भोजन परोसते थे । वे सब-के-सब सोनेके हार और विशुद्ध मणिमय कुण्डलोंसे अलंकृत होते थे । राजाके अनुयायी पुरुष वहाँ ब्राह्मणोंको तरह-तरहके अन्न-पान एवं राजोचित भोजन अर्पित करते थे ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका भीमसेनको राजाओंकी पूजा करनेका आदेश और श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे अर्जुनका संदेश कहना

वैशम्पायन उवाच

समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए वेदवेत्ता विद्वानों और पृथ्वीका शासन करनेवाले राजाओंको देखकर राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—॥ १ ॥

उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ॥ २ ॥

'भाई ! ये जो भूमण्डलका शासन करनेवाले राजा यहाँ पधारे हुए हैं, सभी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पूजाके योग्य हैं; अतः तुम इनकी यथोचित पूजा (सत्कार) करो' ॥ २ ॥

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ॥ ३ ॥

यशस्वी महाराजके इस प्रकार आदेश देनेपर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने नकुल और सहदेवको साथ लेकर सब राजाओंका युधिष्ठिरके आज्ञानुसार यथोचित सत्कार किया ॥

अथाभ्यगच्छद् गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥ ४ ॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥ ५ ॥

इसके बाद समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीको आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब तथा कृतवर्मा आदि वृष्णिवंशियोंके साथ युधिष्ठिरके पास आये ॥ ४-५ ॥

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥ ६ ॥

महारथी भीमसेनने उन लोगोंका भी विधिवत् सत्कार किया । फिर वे रत्नोंसे भरे-पूरे घरोंमें जाकर रहने लगे ॥६॥

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके पास बैठकर थोड़ी देरतक बातचीत करते रहे । उसीमें उन्होंने बताया—'अर्जुन बहुतसे युद्धोंमें शत्रुओंका सामना करनेके कारण दुर्बल हो गये हैं' ॥७॥

स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिंदमम् ।
धर्मजः शक्रजं जिष्णुं समाचष्ट जगत्पतिः ॥ ८ ॥

यह सुनकर धर्मपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने शत्रुदमन इन्द्रकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार उनसे पूछा । तब जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उनसे इस प्रकार बोले—॥ ८ ॥

आगमद् द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो नृप ।
योऽद्राक्षीत् पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ९ ॥

'राजन् ! मेरे पास द्वारकाका रहनेवाला एक विश्वासपात्र मनुष्य आया था। उसने पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनको अपनी आँखों देखा था । वे अनेक स्थानोंपर युद्ध करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गये हैं ॥ ९ ॥

समीपे च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो ।
कुरु कार्याणि कौन्तेय हयमेधार्थसिद्धये ॥ १० ॥

'प्रभो ! उसने यह भी बताया है कि महाबाहु अर्जुन अब निकट आ गये हैं । अतः कुन्तीनन्दन ! अब आप अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये आवश्यक कार्य आरम्भ कर दीजिये' ॥ १० ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपायाति च माधव ॥ ११ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः प्रश्न किया 'माधव ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि अर्जुन सकुशल लौट रहे हैं ॥ ११ ॥

यदिदं संदिदेशास्मिन् पाण्डवानां बलाग्रणीः ।

तदा ज्ञातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन ॥ १२ ॥

'यदुनन्दन ! पाण्डवसेनाके अग्रगामी अर्जुनने इस यज्ञके सम्बन्धमें जो कुछ संदेश दिया हो, उसे मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ' ॥ १२ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामी प्रवचनकुशल भगवान् श्रीकृष्णने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

इदमाह महाराज पार्थवाक्यं स्मरन् नरः।
वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ॥ १४ ॥

''महाराज ! जो मनुष्य मेरे पास आया था, उसने अर्जुनकी बात याद करके मुझसे इस प्रकार कहा—'श्रीकृष्ण ! आप ठीक समयपर मेरा यह कथन महाराज युधिष्ठिरको सुना दीजियेगा ॥ १४ ॥

आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ।
प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत् क्षमं हि नः ॥ १५ ॥

''(अर्जुन कहते हैं—) 'कौरवश्रेष्ठ ! अश्वमेध यज्ञमें प्रायः सभी राजा पधारेंगे। जो आ जायँ, उन सबको महान् मानकर उन सबका पूर्ण सत्कार करना चाहिये। यही हमारे योग्य कार्य है ॥ १५ ॥

इत्येतद्वचनाद् राजा विज्ञाप्यो मम मानद।
यथा चात्ययिकं न स्याद् यदर्घ्याहरणेऽभवत्॥ १६ ॥

(''इतना कहकर वे फिर मुझसे बोले—) 'मानद ! मेरी ओरसे तुम राजा युधिष्ठिरको यह सूचित कर देना कि राजसूय यज्ञमें अर्घ्य देते समय जो दुर्घटना हो गयी थी, वैसी इस बार नहीं होनी चाहिये ॥ १६ ॥

कर्तुमर्हति तद् राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम्।
राजद्वेषान्न नश्येयुरिमा राजन् पुनः प्रजाः ॥ १७ ॥

''श्रीकृष्ण ! राजा युधिष्ठिरको ऐसा ही करना चाहिये। आप भी उन्हें ऐसी ही अनुमति दें और बतावें कि 'राजन् ! राजाओंके पारस्परिक द्वेषसे पुनः इन सारी प्रजाओंका विनाश न होने पावे' ॥ १७ ॥

इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत्।
धनंजयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ॥ १८ ॥

(श्रीकृष्ण कहते हैं—) ''कुन्तीनन्दन नरेश्वर ! उस मनुष्यने अर्जुनकी कही हुई यह एक बात और बतायी थी, उसे भी मेरे मुँहसे सुन लीजिये ॥ १८ ॥

उपायास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः।
पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ॥ १९ ॥

''हमलोगोंके इस यज्ञमें मणिपुरका राजा बभ्रुवाहन भी आवेगा, जो महान् तेजस्वी और मेरा परम प्रिय पुत्र है ॥

तं भवान् मदपेक्षार्थं विधिवत् प्रतिपूजयेत्।
स तु भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ॥ २० ॥

''प्रभो ! उसकी सदा मेरे प्रति बड़ी भक्ति और अनुरक्ति रहती है। इसलिये आप मेरी अपेक्षासे उसका विधिपूर्वक विशेष सत्कार करें'' ॥ २० ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अभिनन्द्यास्य तद् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

अर्जुनका यह संदेश सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसका हृदयसे अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके विषयमें श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरकी बातचीत, अर्जुनका हस्तिनापुरमें जाना तथा उलूपी और चित्राङ्गदाके साथ बभ्रुवाहनका आगमन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत् त्वमर्हसि भाषितुम्।
तन्मेऽमृतरसं पुण्यं मनो ह्लादयति प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—प्रभो ! श्रीकृष्ण ! मैंने यह प्रिय संदेश सुना, जिसे आप ही कहने या सुनानेके योग्य हैं। आपका यह अमृतरससे परिपूर्ण पवित्र वचन मेरे मनको आनन्दमग्न किये देता है ॥ १ ॥

बहूनि किल युद्धानि विजयस्य नराधिपैः।
पुनरासन् हृषीकेश तत्र तत्र च मे श्रुतम् ॥ २ ॥

हृषीकेश ! मेरे सुननेमें आया है कि भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके राजाओंके साथ अर्जुनको कई बार युद्ध करने पड़े हैं ॥ २ ॥

किंनिमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः।
अतीव विजयो धीमन्निति मे दूयते मनः ॥ ३ ॥
संचिन्तयामि कौन्तेयं रहो जिष्णुं जनार्दन।
अतीव दुःखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः ॥ ४ ॥

इसका क्या कारण है ? बुद्धिमान् जनार्दन ! जब मैं एकान्तमें बैठकर अर्जुनके बारेमें विचार करता हूँ, तब यह जानकर मेरा मन खिन्न हो जाता है कि हमलोगोंमें वे ही सदा सबसे अधिक दुःखके भागी रहे हैं। पाण्डुनन्दन अर्जुन सुखसे वञ्चित क्यों रहते हैं ? यह समझमें नहीं आता ॥ ३-४ ॥

किं नु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते।
अनिष्टं लक्षणं कृष्ण येन दुःखान्युपाश्नुते ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! उनका शरीर तो सभी शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। फिर उसमें अशुभ लक्षण कौन-सा है, जिससे उन्हें अधिक दुःख उठाना पड़ता है ? ॥ ५ ॥

अतीवासुखभोगी स सततं कुन्तिनन्दनः।
न हि पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किंचन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन सदा अधिक कष्ट भोगते हैं; परंतु उनके अङ्गोंमें कहीं कोई निन्दनीय दोष नहीं दिखायी देता है। ऐसी दशामें उन्हें कष्ट भोगनेका कारण क्या है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे विस्तारपूर्वक यह बात बतावें ॥ ६ ॥

इत्युक्तः स हृषीकेशो ध्यात्वा सुमहदुत्तरम्।
राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भोजवंशी क्षत्रियोंकी वृद्धि करनेवाले भगवान् हृषीकेश विष्णुने बहुत देरतक उत्तम रीतिसे चिन्तन करनेके बाद राजा युधिष्ठिरसे यों कहा—॥ ७ ॥

न ह्यस्य नृपते किंचित् संश्लिष्टमुपलक्षये।
ऋते पुरुषसिंहस्य पिण्डिकेऽस्याधिके यतः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह अर्जुनकी पिण्डलियाँ (फिल्लियाँ) औसतसे कुछ अधिक मोटी हैं। इसके सिवा और कोई अशुभ लक्षण उनके शरीरमें मुझे भी नहीं दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स ताभ्यां पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु वर्तते।
न चान्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाजनम् ॥ ९ ॥

'उन मोटी फिल्लियोंके कारण ही पुरुषसिंह अर्जुनको सदा रास्ता चलना पड़ता है। और कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे उन्हें दुःख झेलना पड़े' ॥ ९ ॥

इत्युक्तः पुरुषश्रेष्ठस्तदा कृष्णेन धीमता।
प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतदिति प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो ! बुद्धिमान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उन वृष्णिसिंहसे कहा—'भगवन् ! आपका कहना ठीक है' ॥ १० ॥

कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्यक् सासूयमैक्षत।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयं चापि केशिहा ॥ ११ ॥
सख्युः सखा हृषीकेशः साक्षादिव धनंजयः।

उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर तिरछी चितवनसे ईर्ष्यापूर्वक देखा। केशिहन्ता श्रीकृष्णने द्रौपदीके उस प्रेमपूर्ण उपालम्भको सानन्द ग्रहण किया; क्योंकि उसकी दृष्टिमें सखा अर्जुनके मित्र भगवान् हृषीकेश साक्षात् अर्जुनके ही समान थे ॥ ११½ ॥

तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो याजकाश्च ये ॥ १२ ॥
रेमुः श्रुत्वा विचित्रां तां धनंजयकथां शुभाम्।

उस समय भीमसेन आदि कौरव और यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणलोग अर्जुनके सम्बन्धमें यह शुभ एवं विचित्र बात सुनकर बहुत प्रसन्न हो रहे थे ॥ १२½ ॥

तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ॥ १३ ॥
उपायाद् वचनाद् दूतो विजयस्य महात्मनः।

उन लोगोंमें अर्जुनके सम्बन्धमें इस तरहकी बातें हो ही रही थीं कि महात्मा अर्जुनका भेजा हुआ दूत वहाँ आ पहुँचा ॥ १३½ ॥

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ॥ १४ ॥
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत्।

वह बुद्धिमान् दूत कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उन्हें नमस्कार करके बोला—'पुरुषसिंह अर्जुन निकट आ गये हैं' ॥ १४½ ॥

तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ॥ १५ ॥
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा।

यह शुभ समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिरकी आँखोंमें आनन्दके आँसू छलक आये और यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करनेके कारण उस दूतको पुरस्काररूपमें उन्होंने बहुत-सा धन दिया ॥ १५½ ॥

ततो द्वितीये दिवसे महाञ्शब्दो व्यवर्धत ॥ १६ ॥
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरंधरे।

तदनन्तर दूसरे दिन कौरव-धुरंधर नरव्याघ्र अर्जुनके आते समय नगरमें महान् कोलाहल बढ़ गया ॥ १६½ ॥

ततो रेणुः समुद्भूतो विबभौ तस्य वाजिनः ॥ १७ ॥
अभितो वर्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा।

उच्चैःश्रवाके समान वेगवान् और पास ही विद्यमान उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेकी टापसे उड़ी हुई धूल आकाशमें अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ १७½ ॥

तत्र हर्षकरी वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ॥ १८ ॥
दिष्ट्यासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः।

वहाँ अर्जुनने लोगोंके मुँहसे हर्ष बढ़ानेवाली बातें इस

प्रकार सुनीं—'पार्थ ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सकुशल लौट आये। राजा युधिष्ठिर धन्य हैं ॥ १८½ ॥

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् १९
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेद्दतेऽर्जुनात् ।

'अर्जुनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो समूची पृथ्वीको जीतकर युद्धमें राजाओंको परास्त करके और अपने श्रेष्ठ अश्वको सर्वत्र घुमाकर उसके साथ सकुशल लौट आ सके ॥ १९½ ॥

ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ॥ २० ॥
तेषामपीदृशं कर्म न कदाचन शुश्रुम ।

'अतीतकालमें जो सगर आदि महामनस्वी राजा हो गये हैं, उनका भी कभी ऐसा पराक्रम हमारे सुननेमें नहीं आया था ॥ २०½ ॥

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ॥ २१ ॥
यत् त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि ।

'कुरुकुलश्रेष्ठ ! आपने जो दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, उसे भविष्यमें होनेवाले दूसरे भूपाल नहीं कर सकेंगे' ॥ २१½ ॥

इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ॥ २२ ॥
शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ।

इस प्रकार कहते हुए लोगोंकी श्रवणसुखद बातें सुनते हुए धर्मात्मा अर्जुनने यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ॥ २२½ ॥

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा ।

उस समय मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर तथा यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रको आगे करके उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये थे ॥ २३½ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ॥ २४ ॥
भीमादींश्चापि सम्पूज्य पर्यष्वजत केशवम् ।

अर्जुनने पिता धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके चरणोंमें प्रणाम करके भीमसेन आदिका भी पूजन किया और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥ २४½ ॥

तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि॥ २५ ॥
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ।

उन सबने मिलकर अर्जुनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। महाबाहु अर्जुनने भी उनका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसी तरह विश्राम किया, जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाला पुरुष किनारेपर पहुँचकर विश्राम करता है ॥ २५½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ॥ २६ ॥
मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह ।

इसी समय बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओंके साथ कुरुदेशमें जा पहुँचा ॥ २६½ ॥

तत्र वृद्धान् यथावत् स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ॥२७॥
अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।
प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ॥ २८ ॥

वहाँ पहुँचकर वह महाबाहु नरेश कुरुकुलके वृद्ध पुरुषों तथा अन्य राजाओंको विधिवत् प्रणाम करके स्वयं भी उनके द्वारा सत्कार पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। इसके बाद वह अपनी पितामही कुन्तीके सुन्दर महलमें गया ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनप्रत्यागमने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका प्रत्यागमनविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

उलूपी और चित्राङ्गदाके सहित बभ्रुवाहनका रत्न-आभूषण आदिसे सत्कार तथा अश्वमेध यज्ञका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

स प्रविश्य महाबाहुः पाण्डवानां निवेशनम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके महाबाहु बभ्रुवाहनने अत्यन्त मधुर वचन बोलकर अपनी दादी कुन्तीके

चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १ ॥

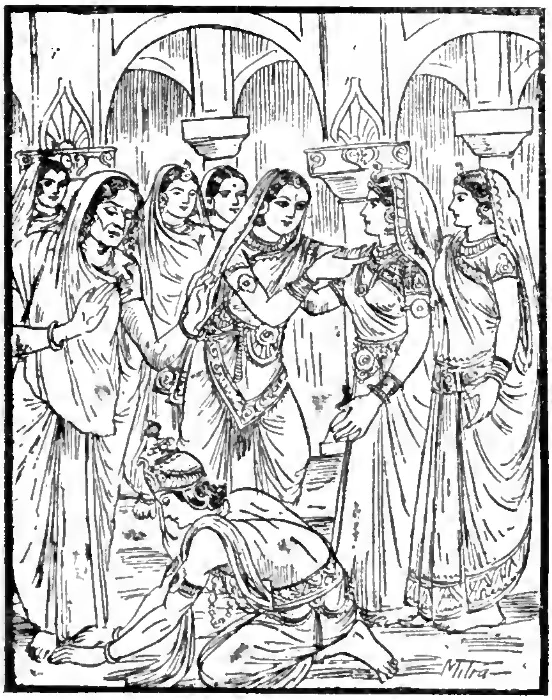

ततश्चित्राङ्गदा देवी कौरव्यस्यात्मजापि च।
पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः ॥ २ ॥

इसके बाद देवी चित्राङ्गदा और कौरव्यनागकी पुत्री उलूपीने भी एक साथ ही विनीत भावसे कुन्ती और द्रौपदीके चरण छुए ॥ २ ॥

सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः।
ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ॥ ३ ॥

फिर सुभद्रा तथा कुरुकुलकी अन्य स्त्रियोंसे भी वे यथायोग्य मिलीं। उस समय कुन्तीने उन दोनोंको नाना प्रकारके रत्न भेंटमें दिये ॥ ३ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्याऽददुः स्त्रियः।
ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ॥ ४ ॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्य स्त्रियोंने भी अपनी ओरसे नाना प्रकारके उपहार दिये। तत्पश्चात् वे दोनों देवियाँ बहुमूल्य शय्याओंपर विराजमान हुईं ॥ ४ ॥

सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य हितकाम्यया।
स च राजा महातेजाः पूजितो बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि।

अर्जुनके हितकी कामनासे कुन्तीदेवीने स्वयं ही उन दोनोंका बड़ा सत्कार किया। कुन्तीसे सत्कार पाकर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहन महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विधिपूर्वक उनका चरण-स्पर्श किया ॥ ५½ ॥

युधिष्ठिरं च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ॥ ६ ॥
उपागम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत्।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि सभी पाण्डवोंके पास जाकर उस महातेजस्वी नरेशने विनयपूर्वक उनका अभिवादन किया ॥ ६½ ॥

स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ॥ ७ ॥
धनं चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः।

उन सब लोगोंने प्रेमवश उसे छातीसे लगा लिया और उसका यथोचित सत्कार किया। इतना ही नहीं, बभ्रुवाहनपर प्रसन्न हुए उन पाण्डव महारथियोंने उसे बहुत धन दिया ॥ ७½ ॥

तथैव च महीपालः कृष्णं चक्रगदाधरम् ॥ ८ ॥
प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान्।

इसी प्रकार वह भूपाल प्रद्युम्नकी भाँति विनीत भावसे शङ्खचक्रगदाधारी भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ ८½ ॥

तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमतिपूजितम् ॥ ९ ॥
रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम्।

श्रीकृष्णने इस राजाको एक बहुमूल्य रथ प्रदान किया, जो सुनहरी साजोंसे सुसज्जित, सबके द्वारा अत्यन्त प्रशंसित और उत्तम था। उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे ॥ ९½ ॥

धर्मराजश्च भीमश्च फाल्गुनश्च यमौ तथा ॥ १० ॥
पृथक् पृथक् च ते चैनं मानार्थाभ्यामयोजयन्।

तत्पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवने अलग-अलग बभ्रुवाहनका सत्कार करके उसे बहुत धन दिया ॥ १०½ ॥

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत्।

उसके तीसरे दिन सत्यवतीनन्दन प्रवचनकुशल महर्षि व्यास युधिष्ठिरके पास आकर बोले—॥ ११½ ॥

अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ॥ १२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम आजसे यज्ञ आरम्भ कर दो। उसका समय आ गया है। यज्ञका शुभ मुहूर्त उपस्थित है और याजकगण तुम्हें बुला रहे हैं ॥ १२ ॥

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम्।
बहुत्वात् काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! तुम्हारे इस यज्ञमें किसी बातकी कमी नहीं रहेगी। इसलिये यह किसी भी अङ्गसे हीन न होनेके कारण अहीन (सर्वाङ्गपूर्ण) कहलायेगा। इसमें सुवर्ण नामक द्रव्यकी अधिकता होगी; इसलिये यह बहुसुवर्णक नामसे विख्यात होगा ॥ १३ ॥

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥ १४ ॥

'महाराज ! यज्ञके प्रधान कारण ब्राह्मण ही हैं; इसलिये तुम उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना। ऐसा करनेसे तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञोंके समान हो जायगा ॥ १४ ॥

त्रीनश्वमेधानत्र त्वं सम्प्राप्य बहुदक्षिणान्।
ज्ञातिवध्याकृतं पापं प्रहास्यसि नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! यहाँ बहुत-सी दक्षिणावाले तीन अश्वमेध यज्ञोंका फल पाकर तुम ज्ञातिवधके पापसे मुक्त हो जाओगे ॥१५ ॥

पवित्रं परमं चैतत् पावनं चैतदुत्तमम्।
यदाश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन ! तुम्हें जो अश्वमेध यज्ञका अवभृथ स्नान प्राप्त होगा, वह परम पवित्र, पावन और उत्तम है' ॥१६॥

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये उसी दिन दीक्षा ग्रहण की ॥ १७ ॥

ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम्।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ॥ १८ ॥

फिर उन महाबाहु नरेशने बहुत-से अन्नकी दक्षिणासे युक्त तथा सम्पूर्ण कामना और गुणोंसे सम्पन्न उस अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ १८ ॥

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत् साधुशिक्षितम् ॥ १९ ॥

उसमें वेदोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ याजकोंने सम्पूर्ण कर्म किये-कराये। वे सब ओर घूम-घूमकर सत्पुरुषोंद्वारा शिक्षित कर्मका सम्पादन करते-कराते थे ॥ १९ ॥

न तेषां स्खलितं किंचिदासीच्चाप्यकृतं तथा।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥ २० ॥

उनके द्वारा उस यज्ञमें कहीं भी कोई भूल या त्रुटि नहीं होने पायी। कोई भी कर्म न तो छूटा और न अधूरा रहा। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने प्रत्येक कार्यको क्रमके अनुसार उचित रीतिसे पूरा किया ॥ २० ॥

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः।
चक्रुस्ते विधिवद् राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ ब्राह्मणशिरोमणियोंने प्रवर्ग्य नामक धर्मानुकूल कर्मको यथोचित रीतिसे सम्पन्न करके विधिपूर्वक सोमाभिषव—सोमलताका रस निकालनेका कार्य किया ॥२१॥

अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥ २२ ॥

महाराज ! सोमपान करनेवालोंमें श्रेष्ठ तथा शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले विद्वानोंने सोमरस निकालकर उसके द्वारा क्रमशः तीनों समयके सवन कर्म किये ॥ २२ ॥

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥ २३ ॥

उस यज्ञमें आया हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह निम्न-से-निम्न श्रेणीका क्यों न हो, दीन-दरिद्र, भूखा अथवा दुखिया नहीं रह गया था ॥ २३ ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन महातेजस्वी भीमसेन महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको भोजन दिलानेके कामपर सदा डटे रहते थे ॥ २४ ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ॥ २५ ॥

यज्ञकी वेदी बनानेमें निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सब कार्य सम्पन्न किया करते थे ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यस्तस्य धीमतः।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके यज्ञका कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो छहों अङ्गोंका विद्वान्, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला, अध्यापनकर्ममें कुशल तथा वादविवादमें प्रवीण न हो ॥ २६ ॥

ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान् भरतर्षभ।
खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ २७ ॥
देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे।
श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन् ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब यूपकी स्थापनाका समय आया, तब याजकोंने यज्ञभूमिमें बेलके छः, खैरके छः, पलाशके भी छः, देवदारुके दो और लसोड़ेका एक—इस प्रकार इक्कीस यूप कुरुराज युधिष्ठिरके यज्ञमें खड़े किये ॥ २७-२८ ॥

शोभार्थं चापरान् यूपान् काञ्चनान् भरतर्षभ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ॥ २९ ॥

भरतभूषण ! इनके सिवा धर्मराजकी आज्ञासे भीमसेनने यज्ञकी शोभाके लिये और भी बहुत-से सुवर्णमय यूप खड़े कराये ॥ २९ ॥

ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः।
महेन्द्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि ॥ ३० ॥

वस्त्रोंद्वारा अलंकृत किये गये वे राजर्षि युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी यूप आकाशमें सप्तर्षियोंसे घिरे हुए इन्द्रके अनुगामी देवताओंके समान शोभा पाते थे ॥ ३० ॥

इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताऽभवन्।
शुशुभे चयनं तच्च दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ ३१ ॥

यज्ञकी वेदी बनानेके लिये वहाँ सोनेकी ईंटें तैयार करायी गयी थीं। उनके द्वारा जब वेदी बनकर तैयार हुई, तब वह दक्षप्रजापतिकी यज्ञवेदीके समान शोभा पाने लगी ॥

चतुश्चित्यश्च तस्यासीदष्टादशकरात्मकः ।
स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृतिः ॥ ३२ ॥

उस यज्ञमण्डपमें अग्निचयनके लिये चार स्थान बने थे । उनमेंसे प्रत्येककी लंबाई-चौड़ाई अठारह हाथकी थी । प्रत्येक वेदी सुवर्णमय पङ्खसे युक्त एवं गरुड़के समान आकारवाली थी । वह त्रिकोणाकार बनायी गयी थी ॥ ३२ ॥

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ॥ ३३ ॥
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ॥ ३४ ॥

तदनन्तर मनीषी पुरुषोंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पशुओंको नियुक्त किया । भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे पशु-पक्षी, शास्त्रकथित वृषभ और जलचर जन्तु—इन सबका अग्निस्थापन-कर्ममें याजकोंने उपयोग किया॥३३-३४॥

यूपेषु नियता चासीत् पशूनां त्रिशती तथा ।
अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके उस यज्ञमें जो यूप खड़े किये गये थे, उनमें तीन सौ पशु बाँधे गये थे । उन सबमें प्रधान वही अश्वरत्न था ॥ ३५ ॥

स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद् देवर्षिसंकुलः ।
गन्धर्वगणसंगीतः प्रनृत्तोऽप्सरसां गणैः ॥ ३६ ॥

साक्षात् देवर्षियोंसे भरा हुआ युधिष्ठिरका वह यज्ञ बड़ी शोभा पा रहा था । गन्धर्वोंके मधुर संगीत और अप्सराओं नृत्यसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी ॥ ३६ ॥

स किंपुरुषसंकीर्णः किंनरैश्चोपशोभितः ।
सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ॥ ३७

वह यज्ञमण्डप किम्पुरुषोंसे भरा-पूरा था । किन्नर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । उसके चारों ओर सिद्धों अ ब्राह्मणोंके निवासस्थान बने थे, जिनसे वह यज्ञ-मण्ड घिरा था ॥ ३७ ॥

तस्मिन् सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजर्षभाः।
सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञसंस्तरे ॥ ३८

व्यासजीके शिष्य श्रेष्ठ ब्राह्मण उस यज्ञसभामें स उपस्थित रहते थे । वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रणेता और यज्ञकर्म कुशल थे ॥ ३८ ॥

नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ॥ ३९
गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदाः ।
रमयन्ति स्म तान् विप्रान् यज्ञकर्मान्तरेषु वै ॥ ४०

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन त अन्य संगीतकलाकोविद, गाननिपुण एवं नृत्यविशा गन्धर्व प्रतिदिन यज्ञकार्यके बीच-बीचमें समय मिलनेपर अप नाच-गानकी कलाओंद्वारा उन ब्राह्मणोंका मनोरंज करते थे ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका ब्राह्मणोंको दक्षिणा देना और राजाओंको भेंट देकर विदा करना

वैशम्पायन उवाच

श्रपयित्वा पशूनन्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः ।
तं तुरङ्गं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अन्यान्य पशुओंका विधिपूर्वक श्रपण करके उस अश्वका भी शास्त्रीय विधिके अनुसार आलभन किया ॥ १ ॥

ततः संश्रप्य तुरगं विधिवद् याजकास्तदा ।
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ॥ २ ॥
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम् ।

राजन् ! तत्पश्चात् याजकोंने विधिपूर्वक अश्वका श्रप करके उसके समीप मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धा—इन तीन कलाओं से युक्त मनस्विनी द्रौपदीको शास्त्रोक्त विधिके अनुस बैठाया ॥ २½ ॥

उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः ॥ ३
श्रपयामासुरव्यग्रा विधिवद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद ब्राह्मणोंने शान्तचित्त होकर उ अश्वकी चर्बी निकाली और उसका विधिपूर्वक श्रपण कर आरम्भ किया ॥ ३½ ॥

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ॥ ४ ॥
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।

भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार उस चर्बीके धूमकी गन्ध सूँघी, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाली थी ॥ ४½ ॥

शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ॥ ५ ॥
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ।

नरेश्वर ! उस अश्वके जो शेष अङ्ग थे, उनको धीर स्वभाववाले समस्त सोलह ऋत्विजोंने अग्निमें होम कर दिया ॥

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ॥ ६ ॥
व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपम् ।

इस प्रकार इन्द्रके समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञको समाप्त करके शिष्योंसहित भगवान् व्यासने उन्हें बधाई दी—अभ्युदयसूचक आशीर्वाद दिया ॥ ६½ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ७ ॥
कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुंधराम् ।

इसके बाद युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक एक हजार करोड़ (एक खर्व) स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणामें देकर व्यासजीको सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर दी ॥ ७½ ॥

प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

राजन् ! सत्यवतीनन्दन व्यासने उस भूमिदानको ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ८½ ॥

वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ॥ ९ ॥
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।

'नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारी दी हुई इस पृथ्वीको मैं पुनः तुम्हारे ही अधिकारमें छोड़ता हूँ । तुम मुझे इसका मूल्य दे दो; क्योंकि ब्राह्मण धनके ही इच्छुक होते हैं (राज्यके नहीं) ' ॥

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान् प्रत्युवाच महामनाः॥ १० ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ।

तब महामनस्वी नरेशोंके बीचमें भाइयोंसहित बुद्धिमान् महामना युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंसे कहा—॥ १०½ ॥

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ॥ ११ ॥
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ।
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ॥ १२ ॥
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ।
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा ।

'विप्रवरो ! अश्वमेध नामक महायज्ञमें पृथ्वीकी दक्षिणा देनेका विधान है; अतः अर्जुनके द्वारा जीती हुई यह सारी पृथ्वी मैंने ऋत्विजोंको दे दी है । अब मैं वनमें चला जाऊँगा । आपलोग चातुर्होत्र यज्ञके प्रमाणानुसार पृथ्वीके चार भाग करके इसे आपसमें बाँट लें । द्विजश्रेष्ठगण ! मैं ब्राह्मणोंका धन लेना नहीं चाहता । ब्राह्मणो ! मेरे भाइयोंका भी सदा ऐसा ही विचार रहता है' ॥ ११—१३½ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ॥ १४ ॥
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।

उनके ऐसा कहनेपर भीमसेन आदि भाइयों और द्रौपदीने एक स्वरसे कहा—'हाँ, महाराजका कहना ठीक है ।' इस महान् त्यागकी बात सुनकर सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ १४½ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् साधु साध्विति भारत ॥ १५ ॥
तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः ।

भारत ! उस समय आकाशवाणी हुई—'पाण्डवो ! तुमने बहुत अच्छा निश्चय किया । तुम्हें धन्यवाद !' इसी प्रकार पाण्डवोंके सत्साहसकी प्रशंसा करते हुए ब्राह्मणसमूहोंका भी शब्द वहाँ स्पष्ट सुनायी दे रहा था ॥ १५½ ॥

द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं सम्पूजयन् मुनिः ।

तब मुनिवर द्वैपायनकृष्णने पुनः ब्राह्मणोंके बीचमें युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १६½ ॥

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ॥ १७ ॥
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ।

'राजन् ! तुमने तो यह पृथ्वी मुझे दे ही दी । अब मैं अपनी ओरसे इसे वापस करता हूँ । तुम इन ब्राह्मणोंको सुवर्ण दे दो और पृथ्वी तुम्हारे ही अधिकारमें रह जाय' ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥
यथाऽऽह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।

तब भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'धर्मराज ! भगवान् व्यास जैसा कहते हैं, वैसा ही तुम्हें करना चाहिये' ॥ १८½ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ॥ १९ ॥
कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ।

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए और प्रत्येक ब्राह्मणको उन्होंने यज्ञके लिये एक-एक करोड़की तिगुनी दक्षिणा दी ॥ १९½ ॥

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ॥ २० ॥
यत् कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ।

महाराज मरुत्तके मार्गका अनुसरण करनेवाले राजा युधिष्ठिरने उस समय जैसा महान् त्याग किया था, वैसा इस संसारमें दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा ॥ २०½ ॥

प्रतिगृह्य तु तद् रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ।

विद्वान् महर्षि व्यासने वह सुवर्णराशि लेकर ब्राह्मणोंको दे दी और उन्होंने चार भाग करके उसे आपसमें बाँट लिया ॥

धरण्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
धूतपापो जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह ।

इस प्रकार पृथ्वीके मूल्यके रूपमें वह सुवर्ण देकर राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए। उनके सारे पाप धुल गये और उन्होंने स्वर्गपर अधिकार प्राप्त कर लिया॥

ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनिचयं तथा ॥ २३ ॥
व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखम् ।

उस अनन्त सुवर्णराशिको पाकर ऋत्विजोंने बड़े उत्साह और आनन्दके साथ उसे ब्राह्मणोंको बाँट दिया ॥ २३½ ॥

यज्ञवाटे च यत् किंचिद्धिरण्यं सविभूषणम् ॥ २४ ॥
तोरणानि च यूपांश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वे तद् व्यभजन् द्विजाः॥ २५ ॥

यज्ञशालामें भी जो कुछ सुवर्ण या सोनेके आभूषण, तोरण, यूप, घड़े, बर्तन और ईंटें थीं, उन सबको भी युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर ब्राह्मणोंने आपसमें बाँट लिया ॥

अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणोंके लेनेके बाद जो धन वहाँ पड़ा रह गया, उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेच्छ जातिके लोग उठा ले गये ॥ २६ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ॥ २७ ॥

तदनन्तर सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक अपने घरोंको गये। बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने उन सबको उस धनके द्वारा पूर्णतः तृप्त कर दिया था ॥ २७ ॥

स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै साक्षाद्धि मानतः।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥ २८ ॥

उस महान् सुवर्णराशिमेंसे महातेजस्वी भगवान् व्यासने जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे उन्होंने बड़े आदरके साथ कुन्तीको भेंट कर दिया ॥ २८ ॥

श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।
चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥ २९ ॥

श्वशुरकी ओरसे प्रेमपूर्वक मिले हुए उस धनको पाकर कुन्तीदेवी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं और उसके द्वारा उन्होंने बड़े-बड़े सामूहिक पुण्य-कार्य किये ॥ २९ ॥

गत्वा त्ववभृथं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।
सभाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥ ३० ॥

यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करके पापरहित हुए राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे सम्मानित हो इस प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे देवताओंसे पूजित देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥

पाण्डवाश्च महीपालैः समेतैरभिसंवृताः ।
अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ॥ ३१ ॥

महाराज ! वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे घिरे हुए पाण्डवलोग ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो तारोंसे घिरे हुए ग्रह सुशोभित हों ॥ ३१ ॥

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद् रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलंकारान् स्त्रियो वासांसि काञ्चनम्॥ ३

तदनन्तर पाण्डवोंने यज्ञमें आये हुए राजाओंको तरह-तरहके रत्न, हाथी, घोड़े, आभूषण, स्त्रियाँ, वस्त्र सुवर्ण भेंट किये ॥ ३२ ॥

तद् धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले ।
विसृजञ्शुशुभे राजन् यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३

राजन् ! उस अनन्त धनराशिको भूपालमण्डलमें बाँ हुए कुन्तीकुमार युधिष्ठिर कुबेरके समान शोभा पाते थे ॥ ३

आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत् तदा ॥ ३

तत्पश्चात् वीर राजा बभ्रुवाहनको अपने पास बुल राजाने उसे बहुत-सा धन देकर विदा किया ॥ ३४ ॥

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभ ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत्॥ ३

भरतश्रेष्ठ ! अपनी बहिन दुःशलाकी प्रसन्नताके बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उसके बालक पौत्रको पिताके राज्य अभिषिक्त कर दिया ॥ ३५ ॥

नृपतींश्चैव तान् सर्वान् सुविभक्तान् सुपूजितान्।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३

जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिरने सब राजाओंको अ तरह धन दिया और उनका विशेष सत्कार करके उन्हें वि कर दिया ॥ ३६ ॥

गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।
तथान्यान् वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नाद्यान् सहस्रशः॥ ३
पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिंदमः ॥ ३

महाराज ! इसके बाद महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, म बली बलदेव तथा प्रद्युम्न आदि अन्यान्य सहस्रों वृष्णिवीरों विधिवत् पूजा करके भाइयोंसहित शत्रुदमन महातेजस्वी र युधिष्ठिरने उन सबको विदा किया ॥ ३७-३८ ॥

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥ ३
सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बभूवुश्चान्नपर्वताः ।
रसालाकर्दमा नद्यो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ४

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ हुआ। उसमें अन्न, धन और रत्नोंके ढेर लगे हुए थे देवताओंके मनमें अतिशय कामना उत्पन्न करनेवाली वस्तु का सागर लहराता था। कितने ही ऐसे तालाब थे, जि घीकी कीचड़ जमी हुई थी और अन्नके तो पहाड़ ही ये । भरतभूषण ! रससे भरी कीचड़रहित नदि बहती थीं ॥ ३९-४० ॥

भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा ।

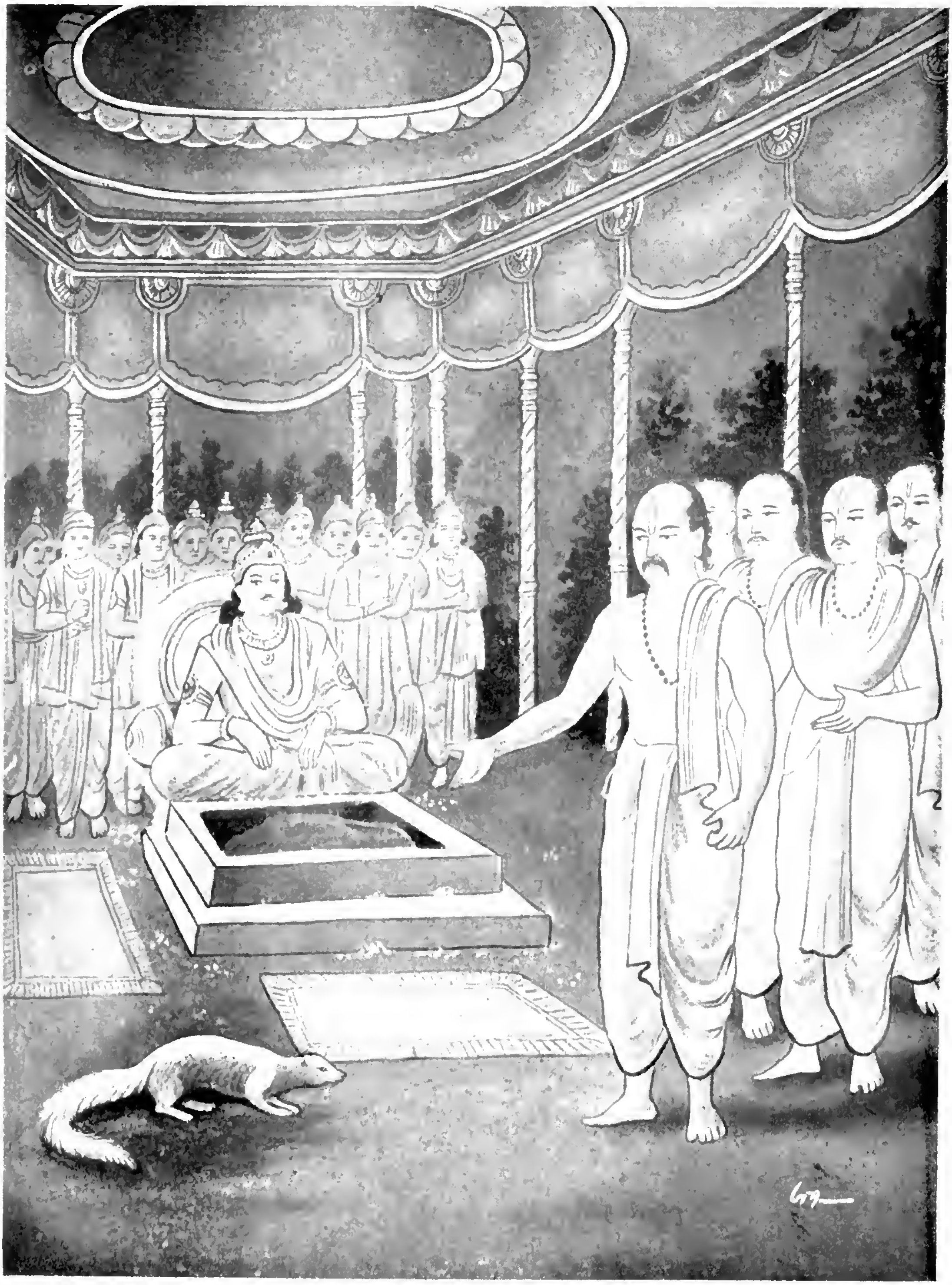

महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञमें एक नेवलेका आगमन

पशूनां बध्यतां चैव नान्तं ददृशिरे जनाः ॥ ४१ ॥

(पीपल और सोंठ मिलाकर जो मूँगका जूस तैयार किया जाता है, उसे 'खाण्डव' कहते हैं । उसीमें शक्कर मिला हुआ हो तो वह 'खाण्डवराग' कहा जाता है ।) भक्ष्य-भोज्य पदार्थ और खाण्डवराग कितनी मात्रामें बनाये और खाये जाते हैं तथा कितने पशु वहाँ बाँधे हुए थे, इसकी कोई सीमा वहाँके लोगोंको नहीं दिखायी देती थी ॥ ४१ ॥

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत् तदा ॥ ४२ ॥

उस यज्ञके भीतर आये हुए सब लोग मत्त-प्रमत्त और आनन्द-विभोर हो रहे थे । युवतियाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ विचरण करती थीं । मृदङ्गों और शङ्खोंकी ध्वनियोंसे उस यज्ञशालाकी मनोरमता और भी बढ़ गयी थी ॥४२॥

दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४३ ॥
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ।

'जिसकी जैसी इच्छा हो, उसको वही वस्तु दी जाय । सबको इच्छानुसार भोजन कराया जाय'—यह घोषणा दिन-रात जारी रहती थी–कभी बंद नहीं होती थी । हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञ-महोत्सवकी चर्चा नाना देशोंके निवासी मनुष्य बहुत दिनोंतक करते रहे ॥ ४३½ ॥

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम् ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस यज्ञमें धनकी मूसलाधार वर्षा की । सब प्रकारकी कामनाओं, रत्नों और रसोंकी भी वर्षा की । इस प्रकार पापरहित और कृतार्थ होकर उन्होंने अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधसमाप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेधकी समाप्तिविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें एक नेवलेका उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके द्वारा किये गये सेरभर सत्तूदानकी महिमा उस अश्वमेधयज्ञसे भी बढ़कर बतलाना

जनमेजय उवाच

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
यदाश्चर्यमभूत् किंचित् तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! मेरे प्रपितामह बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें यदि कोई आश्चर्यजनक घटना हुई हो तो आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ ! प्रभो ! युधिष्ठिरका वह महान् अश्वमेध यज्ञ जब पूरा हुआ, उसी समय एक बड़ी उत्तम किंतु महान् आश्चर्यमें डालनेवाली घटना घटित हुई, उसे बतलाता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु ।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरतसत्तम ॥ ३ ॥
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत ।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥ ४ ॥
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद् वसुधाधिप ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भारत ! उस यज्ञमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों, जातिवालों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, अन्धों तथा दीन-दरिद्रोंके तृप्त हो जानेपर जब युधिष्ठिरके महान् दानका चारों ओर शोर हो गया और धर्मराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा होने लगी, उसी समय वहाँ एक नेवला आया । अनघ ! उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीरके एक ओरका भाग सोनेका था । पृथ्वीनाथ ! उसने आते ही एक बार वज्रके समान भयंकर गर्जना की ॥ ३—५ ॥

सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान् ।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥ ६ ॥

बिलनिवासी उस धृष्ट एवं महान् नेवलेने एक बार वैसी गर्जना करके समस्त मृगों और पक्षियोंको भयभीत कर दिया और फिर मनुष्यकी भाषामें कहा—॥ ६ ॥

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ७ ॥

'राजाओ ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्रनिवासी एक उञ्छवृत्तिधारी उदार ब्राह्मणके सेरभर सत्तू दान करनेके बराबर भी नहीं हुआ है' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते ।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! नेवलेकी वह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८ ॥

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः ।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥ ९ ॥

तब वे सब ब्राह्मण उस नेवलेके पास जाकर उसे चारों ओरसे घेरकर पूछने लगे—'नकुल ! इस यज्ञमें तो साधु

पुरुषोंका ही समागम हुआ है, तुम कहाँसे आ गये ? ॥ ९ ॥

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम्।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥ १० ॥

'तुममें कौन-सा बल और कितना शास्त्रज्ञान है ? तुम किसके सहारे रहते हो ? हमें किस तरह तुम्हारा परिचय प्राप्त होगा ? तुम कौन हो, जो हमारे इस यज्ञकी निन्दा करते हो ? ॥ १० ॥

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम्।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथा कृतम् ॥ ११ ॥

'हमने नाना प्रकारकी यज्ञसामग्री एकत्रित करके शास्त्रीय विधिकी अवहेलना न करते हुए इस यज्ञको पूर्ण किया है । इसमें शास्त्रसंगत और न्याययुक्त प्रत्येक कर्तव्यकर्मका यथोचित पालन किया गया है ॥ ११ ॥

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात्।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥ १२ ॥

'इसमें शास्त्रीय दृष्टिसे पूजनीय पुरुषोंकी विधिवत् पूजा की गयी है । अग्निमें मन्त्र पढ़कर आहुति दी गयी है और देनेयोग्य वस्तुओंका ईर्ष्यारहित होकर दान किया गया है ॥ १२ ॥

तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि।
क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैश्चापि पितामहाः ॥ १३ ॥
पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः।
अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथग्जनाः ॥ १४ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः।
देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः ॥ १५ ॥

'यहाँ नाना प्रकारके दानोंसे ब्राह्मणोंको, उत्तम युद्धके द्वारा क्षत्रियोंको, श्राद्धके द्वारा पितामहोंको, रक्षाके द्वारा वैश्योंको, सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करके उत्तम स्त्रियोंको, दयासे शूद्रोंको, दानसे बची हुई वस्तुएँ देकर अन्य मनुष्योंको तथा राजाके शुद्ध बर्तावसे ज्ञाति एवं सम्बन्धियोंको संतुष्ट किया गया है । इसी प्रकार पवित्र हविष्यके द्वारा देवताओंको और रक्षाका भार लेकर शरणागतोंको प्रसन्न किया गया है ॥ १३—१५ ॥

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ॥ १६ ॥
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च।
समागतश्च विप्रैस्त्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १७ ॥

'यह सब होनेपर भी तुमने क्या देखा या सुना है, जिससे इस यज्ञपर आक्षेप करते हो ? इन ब्राह्मणोंके निकट इनके इच्छानुसार पूछे जानेपर तुम सच-सच बताओ; क्योंकि तुम्हारी बातें विश्वासके योग्य जान पड़ती हैं । तुम स्वयं भी बुद्धिमान् दिखायी देते और दिव्यरूप धारण किये हुए हो । इस समय तुम्हारा ब्राह्मणोंके साथ समागम हुआ है; इसलिये तुम्हें हमारे प्रश्नका उत्तर अवश्य देना चाहिये' ॥ १६-१७ ॥

इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहसन् नकुलोऽब्रवीत्।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ॥ १८ ॥

उन ब्राह्मणोंके इस प्रकार पूछनेपर नेवलेने हँसकर कहा—'विप्रवृन्द ! मैंने आपलोगोंसे मिथ्या अथवा घमंडमें आकर कोई बात नहीं कही है ॥ १८ ॥

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम्।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ॥ १९ ॥

'मैंने जो कहा है कि 'द्विजवरो ! आपलोगोंका यह यज्ञ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणके द्वारा किये हुए सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है' इसे आपने ठीक-ठीक सुना है ॥ १९ ॥

इत्यवश्यं मयैतद् वो वक्तव्यं द्विजसत्तमाः।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ॥ २० ॥

'श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इसका कारण अवश्य आपलोगोंको बताने योग्य है । अब मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे आपलोग शान्तचित्त होकर सुनें ॥ २० ॥

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम्।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

'कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्तिधारी दानी ब्राह्मणके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह बड़ा ही उत्तम एवं अद्भुत है ॥ २१ ॥

स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः।

यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥ २२ ॥

'ब्राह्मणो ! उस दानके प्रभावसे पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधूसहित उन द्विजश्रेष्ठने जिस प्रकार स्वर्गलोकपर अधिकार पा लिया और वहाँ जिस तरह उन्होंने मेरा यह आधा शरीर सुवर्णमय कर दिया, वह प्रसंग बता रहा हूँ' ॥ २२ ॥

नकुल उवाच

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ॥ २३ ॥

नकुल बोला—ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रनिवासी द्विजके द्वारा दिये गये न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्नके दानका जो उत्तम फल देखनेमें आया है, उसे मैं आपलोगोंको बतलाता हूँ ॥ २३॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभवत् तदा ॥ २४ ॥

कुछ दिनों पहलेकी बात है, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें, जहाँ बहुत-से धर्मज्ञ महात्मा रहा करते हैं, कोई ब्राह्मण रहते थे। वे उञ्छवृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कबूतरके समान अन्नका दाना चुनकर लाते और उसीसे कुटुम्बका पालन करते थे ॥ २४ ॥

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥ २५ ॥

वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ रहकर तपस्या-में संलग्न थे। ब्राह्मणदेवता शुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाले धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे ॥ २५ ॥

षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित् तु तस्याहारो न विद्यते ॥ २६ ॥
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन् कदाचित् स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।

वे उत्तम व्रतधारी द्विज सदा छठे कालमें अर्थात् तीन-तीन दिनपर ही स्त्री-पुत्र आदिके साथ भोजन किया करते थे। यदि किसी दिन उस समय भोजन न मिला तो दूसरा छठा काल आनेपर ही वे द्विजश्रेष्ठ अन्न ग्रहण करते थे ॥ २६½ ॥

कदाचिद् धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥ २७ ॥
नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तन्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावेशे द्रव्यहीनोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥

ब्राह्मणो ! सुनो। एक समय वहाँ बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। उन दिनों उन धर्मात्मा ब्राह्मणके पास अन्नका संग्रह तो था नहीं, खेतोंका अन्न भी सूख गया था। अतः वे सर्वथा निर्धन हो गये थे ॥ २७-२८ ॥

काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ॥ २९ ॥
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ।

बारंबार छठा काल आता; किंतु उन्हें भोजन नहीं मिलता था। अतः वे सब-के-सब भूखे ही रह जाते थे। एक दिन ज्येष्ठके शुक्लपक्षमें दोपहरीके समय उस परिवारके सब लोग उञ्छ लानेके लिये चले ॥ २९½ ॥

उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ॥ ३० ॥
उञ्छमप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ॥ ३१ ॥
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ।

तपस्यामें लगे हुए वे ब्राह्मणदेवता गर्मी और भूख दोनों-से कष्ट पा रहे थे। भूख और परिश्रमसे पीड़ित होनेपर भी वे उञ्छ न पा सके। उन्हें अन्नका एक दाना भी नहीं मिला; अतः परिवारके सभी लोगोंके साथ उसी तरह भूखसे पीड़ित रहकर ही उन्होंने वह समय काटा। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़े कष्ट-से अपने प्राणोंकी रक्षा करते थे ॥ ३०-३१½ ॥

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयन् ॥ ३२ ॥
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ।
कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ॥ ३३ ॥
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ।

तदनन्तर एक दिन पुनः छठा काल आनेतक उन्होंने सेरभर जौका उपार्जन किया। उन तपस्वी ब्राह्मणोंने उस जौका सत्तू तैयार किया और जप तथा नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्निमें विधिपूर्वक आहुति देनेके पश्चात् वे सब लोग एक-एक कुडव अर्थात् एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खानेके लिये उद्यत हुए ॥ ३२-३३½ ॥

अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ॥ ३४ ॥
ते तं दृष्ट्वातिथिं प्राप्तं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ।
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ॥ ३५ ॥

वे भोजनके लिये अभी बैठे ही थे कि कोई ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आ पहुँचा। उस अतिथिको आया देख वे मन-ही मन बहुत प्रसन्न हुए। उस अतिथिको प्रणाम करके उन्होंने उससे कुशल-मङ्गल पूछा ॥ ३४-३५ ॥

विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः ।
अनसूयवो विक्रोधाः साधवो वीतमत्सराः ॥ ३६ ॥
त्यक्तमानमदक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ।
सब्रह्मचर्यं गोत्रं ते तस्य ख्यात्वा परस्परम् ॥ ३७ ॥
कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्तमतिथिं तदा ।

ब्राह्मण-परिवारके सब लोग विशुद्धचित्त, जितेन्द्रिय, श्रद्धालु, मनको वशमें रखनेवाले, दोषदृष्टिसे रहित, क्रोध-हीन, सज्जन, ईर्ष्यारहित और धर्मज्ञ थे। उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अभिमान, मद और क्रोधको सर्वथा त्याग दिया था। क्षुधा-से कष्ट पाते हुए उस अतिथि ब्राह्मणको अपने ब्रह्मचर्य और गोत्रका परस्पर परिचय देते हुए वे कुटीमें ले गये ॥ ३६-३७½ ॥

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ॥ ३८ ॥
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने कहा—'भगवन्! अनघ ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन मौजूद हैं तथा न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। द्विजश्रेष्ठ ! मैंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है । आप स्वीकार करें' ॥ ३८-३९ ॥

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥ ४० ॥

राजेन्द्र ! ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर अतिथिने एक पाव सत्तू लेकर खा लिया; परंतु उतनेसे वह तृप्त नहीं हुआ ।४०।

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम्।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥ ४१ ॥

उस उञ्छवृत्तिवाले द्विजने देखा कि ब्राह्मण अतिथि तो अब भी भूखे ही रह गये हैं। तब वे उसके लिये आहारका चिन्तन करने लगे कि यह ब्राह्मण कैसे संतुष्ट हो ? ॥ ४१ ॥

तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं मद्भागो दीयतामिति।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥ ४२ ॥

तब ब्राह्मणकी पत्नीने कहा—'नाथ ! यह मेरा भाग इन्हें दे दीजिये, जिससे ये ब्राह्मणदेवता इच्छानुसार तृप्तिलाभ करके यहाँसे पधारें' ॥ ४२ ॥

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून् नाभ्यनन्दत ॥४३॥

अपनी पतिव्रता पत्नीकी यह बात सुनकर उन द्विजश्रेष्ठने उसे भूखी जानकर उसके दिये हुए सत्तूको लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४३ ॥

आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा।
जानन् वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम्॥४४॥
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह।

उन विद्वान् ब्राह्मणशिरोमणिने अपने ही अनुमानसे यह जान लिया कि यह मेरी वृद्धा स्त्री स्वयं भी क्षुधासे कष्ट पा रही है, थकी है और अत्यन्त दुर्बल हो गयी है। इस तपस्विनीके शरीरमें चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया है और यह काँप रही है। उसकी अवस्थापर दृष्टिपात करके उन्होंने पत्नीसे कहा—॥ ४४½ ॥

अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने ॥ ४५ ॥
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि।

'शोभने ! अपनी स्त्रीकी रक्षा और पालन-पोषण करना कीट-पतंग और पशुओंका भी कर्तव्य है; अतः तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ४५½ ॥

अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च ॥ ४६ ॥

'जो पुरुष होकर भी स्त्रीके द्वारा अपना पालन-पोषण और संरक्षण करता है, वह मनुष्य दयाका पात्र है ॥ ४६ ॥

प्रपतेद् यशसो दीप्तात् स च लोकान् न चाप्नुयात्।
धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसंततिः ॥ ४७ ॥
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितॄणामात्मनस्तथा।

'वह उज्ज्वल कीर्तिसे भ्रष्ट हो जाता है और उसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती। धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्य, सेवा-शुश्रूषा तथा वंशपरम्पराकी रक्षा—ये सब स्त्रीके ही अधीन हैं। पितरोंका तथा अपना धर्म भी पत्नीके ही आश्रित है ॥ ४७½ ॥

न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान् ॥ ४८ ॥
अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति।

'जो पुरुष स्त्रीकी रक्षा करना अपना कर्तव्य नहीं मानता अथवा जो स्त्रीकी रक्षा करनेमें असमर्थ है, वह संसारमें महान् अपयशका भागी होता है और परलोकमें जानेपर उसे नरकोंमें गिरना पड़ता है' ॥ ४८½ ॥

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज ॥ ४९ ॥
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे।

पतिके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणी बोली—'ब्रह्मन् ! हम दोनोंके धर्म और अर्थ समान हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों और मेरे हिस्सेका यह पावभर सत्तू ले लें (और लेकर इसे अतिथिको दे दें) ॥ ४९½ ॥

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः ॥ ५० ॥
स्त्रीणां पतिसमाधीनं काङ्क्षितं च द्विजर्षभ।

'द्विजश्रेष्ठ ! स्त्रियोंका सत्य, धर्म, रति, अपने गुणोंसे मिला हुआ स्वर्ग तथा उनकी सारी अभिलाषा पतिके ही अधीन है ॥ ५०½ ॥

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ॥ ५१ ॥
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा।

'माताका रज और पिताका वीर्य—इन दोनोंके मिलनेसे ही वंशपरम्परा चलती है। स्त्रीके लिये पति ही सबसे बड़ा देवता है। नारियोंको जो रति और पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है, वह पतिका ही प्रसाद है ॥ ५१½ ॥

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे ॥ ५२ ॥
पुत्रप्रदानाद् वरदस्तस्मात् सक्तून् प्रयच्छ मे।

'आप पालन करनेके कारण मेरे पति, भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पुत्र प्रदान करनेके कारण वरदाता हैं; इसलिये मेरे हिस्सेका सत्तू अतिथिदेवताको अर्पण कीजिये ॥ ५२½ ॥

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम् ॥ ५३ ॥
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः।

'आप भी तो जराजीर्ण, वृद्ध, क्षुधातुर, अत्यन्त दुर्बल, उपवाससे थके हुए और क्षीणकाय हो रहे हैं। (फिर आप जिस तरह भूखका कष्ट सहन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी सह लूँगी)' ॥ ५३½ ॥

इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत्॥५४॥
द्विज सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम।

पत्नीके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणने सत्तू लेकर अतिथिसे कहा—'साधुपुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आप यह सत्तू भी पुनः ग्रहण कीजिये' ॥ ५४½ ॥

स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ५५ ॥

अतिथि ब्राह्मण उस सत्तूको भी लेकर खा गया; किंतु संतुष्ट नहीं हुआ । यह देखकर उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ५५ ॥

पुत्र उवाच

सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम ।
इत्येव सुकृतं मन्ये तस्मादेतत् करोम्यहम् ॥ ५६ ॥

तब उनके पुत्रने कहा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पिताजी! आप मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर ब्राह्मणको दे दीजिये । मैं इसीमें पुण्य मानता हूँ, इसलिये ऐसा कर रहा हूँ ॥ ५६ ॥

भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः।
साधूनां काङ्क्षितं यस्मात् पितुर्वृद्धस्य पालनम्॥ ५७ ॥

मुझे सदा यत्नपूर्वक आपका पालन करना चाहिये; क्योंकि साधु पुरुष सदा इस बातकी अभिलाषा रखते हैं कि मैं अपने बूढ़े पिताका पालन-पोषण करूँ ॥ ५७ ॥

पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम् ।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥ ५८ ॥

पुत्र होनेका यही फल है कि वह वृद्धावस्थामें पिताकी रक्षा करे। ब्रह्मर्षे ! तीनों लोकोंमें यह सनातन श्रुति प्रसिद्ध है ॥ ५८ ॥

प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं तपस्त्वया ।
प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ॥ ५९ ॥

प्राणधारणमात्रसे आप तप कर सकते हैं । देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित हुआ प्राण ही परम धर्म है ॥ ५९ ॥

पितोवाच

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम ।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत् सुतात्॥ ६० ॥

पिताने कहा—बेटा ! तुम हजार वर्षके हो जाओ तो भी हमारे लिये बालक ही हो । पिता पुत्रको जन्म देकर ही उससे अपनेको कृतकृत्य मानता है ॥ ६० ॥

बालानां क्षुद् बलवती जानाम्येतदहं प्रभो ।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥ ६१ ॥

सामर्थ्यशाली पुत्र ! मैं इस बातको अच्छी तरह जानता हूँ कि बच्चोंकी भूख बड़ी प्रबल होती है । मैं तो बूढ़ा हूँ । भूखे रहकर भी प्राण धारण कर सकता हूँ । तुम यह सत्तू खाकर बलवान् होओ—अपने प्राणोंकी रक्षा करो ॥ ६१ ॥

जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद् बाधतेऽपि च ।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥ ६२ ॥

बेटा ! जीर्ण अवस्था हो जानेके कारण मुझे भूख अधिक कष्ट नहीं देती है । इसके सिवा मैं दीर्घकालतक तपस्या कर चुका हूँ; इसलिये अब मुझे मरनेका भय नहीं है ॥ ६२ ॥

पुत्र उवाच

अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात् पुत्र इति स्मृतः ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् त्राह्यात्मानमिहात्मना॥ ६३॥

पुत्र बोला—तात ! मैं आपका पुत्र हूँ, पुरुषका त्राण करनेके कारण ही संतानको पुत्र कहा गया है । इसके सिवा पुत्र पिताका अपना ही आत्मा माना गया है; अतः आप अपने आत्मभूत पुत्रके द्वारा अपनी रक्षा कीजिये ॥ ६३ ॥

पितोवाच

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च ।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनाददे ते सुत ॥ ६४ ॥

पिताने कहा--बेटा ! तुम रूप, शील (सदाचार और सद्भाव) तथा इन्द्रियसंयमके द्वारा मेरे ही समान हो । तुम्हारे इन गुणोंकी मैंने अनेक बार परीक्षा कर ली है, अतः मैं तुम्हारा सत्तू लेता हूँ ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वाऽऽदाय तान् सक्तून् प्रीतात्मा द्विजसत्तमः।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥ ६५ ॥

यों कहकर श्रेष्ठ ब्राह्मणने प्रसन्नतापूर्वक वह सत्तू ले लिया और हँसते हुए-से उस ब्राह्मण अतिथिको परोस दिया ॥ ६५ ॥

भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव ह ।
उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ॥ ६६ ॥

वह सत्तू खाकर भी ब्राह्मण देवताका पेट न भरा । यह

देखकर उञ्छवृत्तिधारी धर्मात्मा ब्राह्मण बड़े संकोचमें पड़ गये ॥ ६६ ॥

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥

उनकी पुत्रवधू भी बड़ी सुशीला थी। वह ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके पास जा बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने उन श्वशुरदेवसे बोली—॥ ६७ ॥

संतानात् तव संतानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ॥ ६८ ॥

'विप्रवर ! आपकी संतानसे मुझे संतान प्राप्त होगी; अतः आप मेरे परम पूज्य हैं। मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर आप अतिथि देवताको अर्पित कीजिये ॥ ६८ ॥

तव प्रसादान्निर्वृत्ता मम लोकाः किलाक्षयाः ।
पुत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ६९ ॥

'आपकी कृपासे मुझे अक्षय लोक प्राप्त हो गये। पुत्रके द्वारा मनुष्य उन लोकोंमें जाते हैं, जहाँ जाकर वह कभी शोकमें नहीं पड़ता ॥ ६९ ॥

धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च ।
तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गस्त्रेता किलाक्षयः ॥ ७० ॥

'जैसे धर्म तथा उससे संयुक्त अर्थ और काम—ये तीनों स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा जैसे आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—ये तीनों स्वर्गके साधन हैं, उसी प्रकार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र-ये त्रिविध संतानें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं ॥ ७० ॥

पितॄनृणात् तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।
पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधुलोकानुपाश्नुते ॥ ७१ ॥

'हमने सुना है कि पुत्र पिताको पितृ-ऋणसे छुटकारा दिला देता है। पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा मनुष्य निश्चय ही श्रेष्ठ लोकोंमें जाते हैं' ॥ ७१ ॥

श्वशुर उवाच

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ॥ ७२ ॥
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

श्वशुरने कहा—बेटी ! हवा और धूपके मारे तुम्हारा सारा शरीर सूख रहा है—शिथिल होता जा रहा है। तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। उत्तम व्रत और आचारका पालन करनेवाली पुत्री ! तुम बहुत दुर्बल हो गयी हो। क्षुधाके कष्टसे तुम्हारा चित्त अत्यन्त व्याकुल है। तुम्हें ऐसी अवस्थामें देखकर भी तुम्हारे हिस्सेका सत्तू कैसे ले लूँ। ऐसा करनेसे तो मैं धर्मकी हानि करनेवाला हो जाऊँगा। अतः कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणि ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ७२-७३ ॥

षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोऽन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ॥ ७४ ॥

तुम प्रतिदिन शौच, सदाचार और तपस्यामें संलग्न रहकर छठे कालमें भोजन करनेका व्रत लिये हुए हो। शुभे ! बड़ी कठिनाईसे तुम्हारी जीविका चलती है। अ[पना] सत्तू लेकर तुम्हें निराहार कैसे देख सकूँगा ॥ ७४ ॥

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ॥ ७५ ॥

एक तो तुम अभी बालिका हो, दूसरे भूखसे पीड़ित हो रही हो, तीसरे नारी हो और चौथे उपवास करते-करते अत्यन्त दुबली हो गयी हो; अतः मुझे सदा तुम्हारी र[क्षा] करनी चाहिये; क्योंकि तुम अपनी सेवाओंद्वारा बान्धवज[नों]को आनन्दित करनेवाली हो ॥ ७५ ॥

स्नुषोवाच

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात् त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ॥ ७६ ॥

पुत्रवधू बोली—भगवन् ! आप मेरे गुरुके भी गु[रु] देवताओंके भी देवता और सामान्य देवताकी अपेक्षा भी अ[ति]शय उत्कृष्ट देवता हैं, अतः मेरा दिया हुआ यह [सत्तू] स्वीकार कीजिये ॥ ७६ ॥

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान्॥ ७७ ॥

मेरा यह शरीर, प्राण और धर्म—सब कुछ बड़ों[की] सेवाके लिये ही है। विप्रवर ! आपके प्रसादसे मुझे उ[त्तम] लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ७७ ॥

अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ॥ ७८ ॥

अतः आप मुझे अपनी दृढ़ भक्त, रक्षणीय और विचार[णीय] मानकर अतिथिको देनेके लिये यह सत्तू स्वीकार कीजिये ॥

श्वशुर उवाच

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ॥ ७९ ॥
तस्मात् सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम्।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ॥ ८० ॥

श्वशुरने कहा—बेटी ! तुम सती-साध्वी नारी हो और सदा ऐसे ही शील एवं सदाचारका पालन करनेसे तुम्हारी शोभा है। तुम धर्म तथा व्रतके आचरणमें संलग्न हो[कर] सर्वदा गुरुजनोंकी सेवापर ही दृष्टि रखती हो; इसलिये ब[हू] मैं तुम्हें पुण्यसे वञ्चित न होने दूँगा। धर्मात्माओंमें श्रे[ष्ठ] महाभागे ! पुण्यात्माओंमें तुम्हारी गिनती करके मैं तुम्हा[रा] दिया हुआ सत्तू अवश्य स्वीकार करूँगा ॥ ७९-८० ॥

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये।
ततस्तुष्टोऽभवद् विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥ ८१ ॥

ऐसा कहकर ब्राह्मणने उसके हिस्सेका भी सत्तू लेकर तिथिको दे दिया। इससे वह ब्राह्मण उन उञ्छवृत्तिधारी धु महात्मापर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ८१ ॥

तात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम्।
र्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥ ८२ ॥

वास्तवमें उस श्रेष्ठ द्विजके रूपमें मानव-विग्रहधारी क्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित थे । वे प्रवचनकुशल धर्म तुष्टचित्त होकर उन उञ्छवृत्तिधारी श्रेष्ठ ब्राह्मणसे इस कार बोले—॥ ८२ ॥

द्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः।
थाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम।
हो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ॥ ८३ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार धर्मपूर्वक न्यायोपार्जित शुद्ध अन्नका दान दिया है, इससे तुम्हारे पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अहो! स्वर्गलोकमें निवास करने- ले देवता भी वहाँ तुम्हारे दानकी घोषणा करते हैं ॥८३॥

गनात् पुष्पवर्षं च पश्येदं पतितं भुवि।
रर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ॥ ८४ ॥
तुवन्तो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः।

'देखो, आकाशसे भूतलपर यह फूलोंकी वर्षा हो रही । देवर्षि, देवता, गन्धर्व तथा और भी जो देवताओंके ग्रणी पुरुष हैं, वे और देवदूतगण तुम्हारे दानसे विस्मित तुम्हारी स्तुति करते हुए खड़े हैं ॥ ८४½ ॥

ह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकचराश्च ये ॥ ८५ ॥
ाङ्क्षन्ते दर्शनं तुभ्यं दिवं व्रज द्विजर्षभ।

'द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले जो ब्रह्मर्षिगण मानोंमें रहते हैं, वे भी तुम्हारे दर्शनकी इच्छा रखते हैं; सलिये तुम स्वर्गलोकमें चलो ॥ ८५½ ॥

तृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ॥ ८६ ॥
नागताश्च बहवः सुबहूनि युगान्युत।

'तुमने पितृलोकमें गये हुए अपने समस्त पितरोंका द्धार कर दिया। अनेक युगोंतक भविष्यमें होनेवाली जो तानें हैं, वे भी तुम्हारे पुण्य-प्रतापसे तर जायँगी ॥ ८६½ ॥

ह्मचर्येण दानेन यज्ञेन तपसा तथा ॥ ८७ ॥
संकरेण धर्मेण तस्माद् गच्छ दिवं द्विज।

'अतः ब्रह्मन्! तुम अपने ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, तप या संकरतारहित धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चलो ॥८७½॥

द्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ॥ ८८ ॥
स्मात् देवाश्च दानेन प्रीता ब्राह्मणसत्तम।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणशिरोमणे! तुम तम श्रद्धाके साथ तपस्या करते हो; इसलिये देवता तुम्हारे नसे अत्यन्त संतुष्ट हैं ॥ ८८½ ॥

र्वमेतद्धि यस्मात् ते दत्तं शुद्धेन चेतसा ॥ ८९ ॥
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो विजितः कर्मणा त्वया।

'इस प्राण-संकटके समय भी यह सब सत्तू तुमने शुद्ध हृदयसे दान किया है; इसलिये तुमने उस पुण्यकर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है ॥ ८९½ ॥

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ॥ ९० ॥
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥ ९१ ॥

'भूख मनुष्यकी बुद्धिको चौपट कर देती है । धार्मिक विचारको मिटा देती है। क्षुधासे ज्ञान लुप्त हो जानेके कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूखको जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्गपर विजय पाता है ॥ ९०-९१ ॥

यदा दानरुचिः स्याद् वै तदा धर्मो न सीदति।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च ॥ ९२ ॥
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया।

'जब मनुष्यमें दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, तब उसके धर्मका ह्रास नहीं होता। तुमने पत्नीके प्रेम और पुत्रके स्नेहपर भी दृष्टिपात न करके धर्मको ही श्रेष्ठ माना है और उसके सामने भूख-प्यासको भी कुछ नहीं गिना है ॥ ९२½ ॥

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ॥ ९३ ॥
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा।
स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ॥ ९४ ॥

'मनुष्यके लिये सबसे पहले न्यायपूर्वक धनकी प्राप्तिका उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है । उस धनको सत्पात्रकी सेवामें अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समयमें दान देनेकी अपेक्षा उत्तम समयपर दान देना और भी अच्छा है; किंतु श्रद्धाका महत्त्व कालसे भी बढ़कर है। स्वर्गका दरवाजा अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोहवश उसे देख नहीं पाते हैं ॥

स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम्।
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ९५ ॥
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्ति प्रदायिनः।

'उस स्वर्गद्वारकी जो अर्गला (किल्ली) है, वह लोभ- रूपी बीजसे बनी हुई है । वह द्वार रागके द्वारा गुप्त है, इसीलिये उसके भीतर प्रवेश करना बहुत ही कठिन है। जो लोग क्रोधको जीत चुके हैं, इन्द्रियोंको वशमें कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देनेवाले तपस्वी ब्राह्मण ही उस द्वारको देख पाते हैं ॥ ९५½ ॥

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ॥ ९६ ॥
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः।

'श्रद्धापूर्वक दान देनेवाले मनुष्यमें यदि एक हजार देनेकी शक्ति हो तो वह सौका दान करे, सौ देनेकी शक्ति- वाला दसका दान करे तथा जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्तिके अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है ॥ ९६½ ॥

रन्तिदेवो हि नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ॥ ९७ ॥
शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं ततो गतः ।

'विप्रवर ! कहते हैं, राजा रन्तिदेवके पास जब कुछ भी नहीं रह गया, तब उन्होंने शुद्ध हृदयसे केवल जलका दान किया था । इससे वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ९७½ ॥

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ॥ ९८ ॥
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ।

'तात ! अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्यके द्वारा महान् फल देनेवाले बड़े-बड़े दान करनेसे धर्मको उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायोपार्जित थोड़ेसे अन्नका भी श्रद्धापूर्वक दान करनेसे उन्हें प्रसन्नता होती है ॥ ९८½ ॥

गोप्रदानसहस्राणि द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ॥ ९९ ॥
एकां दत्त्वा स पारक्यां नरकं समपद्यत ।

'राजा नृगने ब्राह्मणोंको हजारों गौएँ दान की थीं; किंतु एक ही गौ दूसरेकी दान कर दी, जिससे अन्यायतः प्राप्त द्रव्यका दान करनेके कारण उन्हें नरकमें जाना पड़ा ॥ ९९½ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ॥ १०० ॥
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान् मोदते दिवि सुव्रतः ।

'उशीनरके पुत्र उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा शिबि श्रद्धापूर्वक अपने शरीरका मांस देकर भी पुण्यात्माओंके लोकोंमें अर्थात् स्वर्गमें आनन्द भोगते हैं ॥ १००½ ॥

विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ॥ १०१ ॥
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः ।

'विप्रवर ! मनुष्योंके लिये धन ही पुण्यका हेतु नहीं है । साधु पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार सुगमतापूर्वक पुण्यका अर्जन कर लेते हैं । न्यायपूर्वक संचित किये हुए अन्नके दानसे जैसा उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे भी नहीं सुलभ होता ॥ १०१½ ॥

क्रोधाद् दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति ॥ १०२ ॥
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते ।

'मनुष्य क्रोधसे अपने दानके फलको नष्ट कर देता है । लोभके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता । न्यायोपार्जित धनसे जीवन-निर्वाह करनेवाला और दानके महत्त्वको जाननेवाला पुरुष दान एवं तपस्याके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ १०२½ ॥

न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥ १०३ ॥
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव ।
सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः ॥ १०४ ॥

'तुमने जो यह दानजनित फल प्राप्त किया है, इसकी समता प्रचुर दक्षिणावाले बहुसंख्यक राजसूय और अनेक अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भी नहीं हो सकती । तुमने सेरभर सत्तूका दान करके अक्षय ब्रह्मलोकको जीत लिया है ॥ १०३-१०४ ॥

विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् ।
सर्वेषां वो द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ॥ १०५ ॥

'विप्रवर ! अब तुम सुखपूर्वक रजोगुणरहित ब्रह्मलो[क] जाओ । द्विजश्रेष्ठ ! तुम सब लोगोंके लिये यह दिव्य वि[मान] उपस्थित है ॥ १०५ ॥

आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य माम् ।
तारितो हि त्वया देहो लोके कीर्तिः स्थिरा च ते ॥ १०[६] ॥
सभार्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज ।

'ब्रह्मन् ! मेरी ओर देखो, मैं धर्म हूँ । तुम सब [लो]ग अपनी इच्छाके अनुसार इस विमानपर चढ़ो । तुमने अ[पने] इस शरीरका उद्धार कर दिया और लोकमें भी तुम्ह[ारी] अविचल कीर्ति बनी रहेगी । तुम पत्नी, पुत्र और पुत्रव[धूके] साथ स्वर्गलोकको जाओ' ॥ १०६½ ॥

इत्युक्तवाक्ये धर्मे तु यानमारुह्य स द्विजः ॥ १०[७] ॥
सदारः ससुतश्चैव सस्नुषश्च दिवं गतः ।

धर्मके ऐसा कहनेपर वे उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मण दे[व]... अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ विमान[पर] आरूढ़ हो स्वर्गलोकको चले गये ॥ १०७½ ॥

तस्मिन् विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुषे तदा ॥ १०[८] ॥
भार्याचतुर्थे धर्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् ।

स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ वे धर्मज्ञ ब्राह्मण [जब] स्वर्गलोकको चले गये, तब मैं अपनी बिलसे बाहर निकला[।]

ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ॥ १०९ ॥
दिव्यपुष्पविमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः ।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥ ११[०] ॥

तदनन्तर सत्तूकी गन्ध सूँघने, वहाँ गिरे हुए जल[के] कीचसे सम्पर्क होने, वहाँ गिरे हुए दिव्य पुष्पोंको रौं[दने] और उन महात्मा ब्राह्मणके दान करते समय गिरे हुए अन्न[के] कणोंमें मन लगानेसे तथा उन उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण[की] तपस्याके प्रभावसे मेरा मस्तक सोनेका हो गया ॥ १०९-११[०] ॥

तस्य सत्याभिसंधस्य सक्तुदानेन चैव ह ।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥ ११[१] ॥

विप्रवरो ! उन सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणके सत्तूदानसे मेरा [यह] आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया ॥ १११ ॥

पश्यतेमं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः ।
कथमेवंविधं स्याद् वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥ ११[२] ॥

उन बुद्धिमान् ब्राह्मणकी तपस्यासे मुझे जो यह मह[ान्] फल प्राप्त हुआ है, इसे आपलोग अपनी आँखों देख लीजिये[।] ब्राह्मणो ! अब मैं इस चिन्तामें पड़ा कि मेरे शरीरका दू[सरा] पार्श्व भी कैसे ऐसा ही हो सकता है ? ॥ ११२ ॥

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः ।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ॥ ११[३] ॥
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ।

इसी उद्देश्यसे मैं बड़े हर्ष और उत्साहके साथ बारं[बार]

अनेकानेक तपोवनों और यज्ञस्थलोंमें जाया-आया करता हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरके इस यज्ञका बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लगाये यहाँ आया था; किंतु मेरा शरीर यहाँ सोनेका न हो सका ॥ ११३½ ॥

ततो मयोक्तं तद् वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः ॥ ११४ ॥
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा ।

ब्राह्मणशिरोमणियो! इसीसे मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मणके दिये हुए सेरभर सत्तूके बराबर भी नहीं है। सर्वथा ऐसी ही बात है ॥ ११४½ ॥

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः ॥ ११५ ॥
नहि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ।

क्योंकि उस समय सेरभर सत्तूमेंसे गिरे हुए कुछ कणोंके प्रभावसे मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हो गया था; परंतु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा न बना सका; अतः मेरे मतमें यह यज्ञ उन सेरभर सत्तूके कणोंके समान भी नहीं है ॥ ११५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा ॥ ११६ ॥
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥ ११७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञस्थलमें उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऐसा कहकर वह नेवला वहाँसे गायब हो गया और वे ब्राह्मण भी अपने-अपने घर चले गये ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया परपुरंजय ।
यदाश्चर्यमभूत् तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११८ ॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जनमेजय! वहाँ अश्वमेध नामक महायज्ञमें जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, वह सारा प्रसङ्ग मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ११८ ॥

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥ ११९ ॥

नरेश्वर! उस यज्ञके सम्बन्धमें ऐसी घटना सुनकर तुम्हें किसी प्रकार विस्मय नहीं करना चाहिये। सहस्रों कोटि ऐसे ऋषि हो गये हैं, जो यज्ञ न करके केवल तपस्याके ही बलसे दिव्य लोकको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ११९ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम् ॥ १२० ॥

किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, मनमें संतोष रखना, शील और सदाचारका पालन करना, सबके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव करना, तपस्या करना, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तुका श्रद्धापूर्वक दान करना—इनमेंसे एक-एक गुण बड़े-बड़े यज्ञोंके समान हैं ॥ १२० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलाख्याने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें नकुलोपाख्यानविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

हिंसामिश्रित यज्ञ और धर्मकी निन्दा

जनमेजय उवाच

यज्ञे सक्ता नृपतयस्तपःसक्ता महर्षयः ।
शान्तिव्यवस्थिता विप्राः शमे दम इति प्रभो ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—प्रभो! राजालोग यज्ञमें संलग्न होते हैं, महर्षि तपस्यामें तत्पर रहते हैं और ब्राह्मणलोग शान्ति (मनोनिग्रह)में स्थित होते हैं। मनका निग्रह हो जानेपर इन्द्रियोंका संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

तस्माद् यज्ञफलैस्तुल्यं न किंचिदिह दृश्यते ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् ॥ २ ॥

अतः यज्ञफलकी समानता करनेवाला कोई कर्म यहाँ मुझे नहीं दिखायी देता है। यज्ञके सम्बन्धमें मेरा तो ऐसा ही विचार है और निःसंदेह यही ठीक है ॥ २ ॥

यज्ञैरिष्ट्वा तु बहवो राजानो द्विजसत्तमाः ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयुः ॥ ३ ॥

यज्ञोंका अनुष्ठान करके बहुत-से राजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण इहलोकमें उत्तम कीर्ति पाकर मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३ ॥

देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ॥ ४ ॥

सहस्र नेत्रधारी महातेजस्वी देवराज भगवान् इन्द्रने बहुत-सी दक्षिणावाले बहुसंख्यक यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका समस्त साम्राज्य प्राप्त किया था ॥ ४ ॥

यदा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः ।
सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ॥ ५ ॥

भीम और अर्जुनको आगे रखकर राजा युधिष्ठिर भी समृद्धि और पराक्रमकी दृष्टिसे देवराज इन्द्रके ही तुल्य थे ॥ ५ ॥

अथ कस्मात् स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् ।
अश्वमेधं महायज्ञं राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

फिर उस नेवलेने महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस अश्वमेध नामक महायज्ञकी निन्दा क्यों की? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चापि नराधिप ।
गदतः शृणु मे राजन् यथावदिह भारत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर ! भरतनन्दन ! मैं यज्ञकी श्रेष्ठ विधि और फलका यहाँ यथावत् वर्णन करता हूँ, तुम मेरा कथन सुनो ॥ ७ ॥

पुरा शक्रस्य यजतः सर्व ऊचुर्महर्षयः ।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ॥ ८ ॥
हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे गुणसमन्विते ।
देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ॥ ९ ॥
सुप्रतीतैस्तथा विप्रैः स्वागमैः सुस्वरैर्नृप ।
अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा ॥ १० ॥
आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः ॥ ११ ॥

राजन् ! प्राचीन कालकी बात है, जब इन्द्रका यज्ञ हो रहा था और सब महर्षि मन्त्रोच्चारण कर रहे थे, ऋत्विजलोग अपने-अपने कर्मोंमें लगे थे, यज्ञका काम बड़े समारोह और विस्तारके साथ चल रहा था, उत्तम गुणोंसे युक्त आहुतियोंका अग्निमें हवन किया जा रहा था, देवताओंका आवाहन हो रहा था, बड़े-बड़े महर्षि खड़े थे, ब्राह्मणलोग बड़ी प्रसन्नताके साथ वेदोक्त मन्त्रोंका उत्तम स्वरसे पाठ करते थे और शीघ्रकारी उत्तम अध्वर्युगण बिना किसी थकावटके अपने कर्तव्यका पालन कर रहे थे। इतनेहीमें पशुओंके आलम्भका समय आया। महाराज ! जब पशु पकड़ लिये गये, तब महर्षियोंको उनपर बड़ी दया आयी ॥ ८—११ ॥

ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥ १२ ॥

उन पशुओंकी दयनीय अवस्था देखकर वे तपोधन ऋषि इन्द्रके पास जाकर बोले—'यह जो यज्ञमें पशुवधका विधान है, यह शुभकारक नहीं है ॥ १२ ॥

अपरिज्ञानमेतत् ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर ॥ १३ ॥

'पुरंदर ! आप महान् धर्मकी इच्छा करते हैं तो भी जो पशुवधके लिये उद्यत हो गये हैं, यह आपका अज्ञान ही है; क्योंकि यज्ञमें पशुओंके वधका विधान शास्त्रमें नहीं देखा गया है ॥ १३ ॥

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ॥ १४ ॥

'प्रभो ! आपने जो यज्ञका समारम्भ किया है, यह धर्मको हानि पहुँचानेवाला है। यह यज्ञ धर्मके अनुकूल नहीं है, क्योंकि हिंसाको कहीं भी धर्म नहीं कहा गया है ॥ १४ ॥

आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ॥ १५ ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ।

'यदि आपकी इच्छा हो तो ब्राह्मणलोग शास्त्रके अनुसार ही इस यज्ञका अनुष्ठान करें। शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करनेसे आपको महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ १५½ ॥

यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ॥ १६ ॥
एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः ।

'सहस्र नेत्रधारी इन्द्र ! आप तीन वर्षके पुराने बीजों (जौ, गेहूँ आदि अनाजों) से यज्ञ करें। यही महान् धर्म है और महान् गुणकारक फलकी प्राप्ति करानेवाला है' १६½

शतक्रतुस्तु तद् वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १७ ॥
उक्तं न प्रतिजग्राह मानान्मोहवशं गतः ।

तत्त्वदर्शी ऋषियोंके कहे हुए इस वचनको इन्द्रने अभिमानवश नहीं स्वीकार किया। वे मोहके वशीभूत हो गये थे ॥ १७½ ॥

तेषां विवादः सुमहाञ्शक्रयज्ञे तपस्विनाम् ॥ १८ ॥
जङ्गमैः स्थावरैर्वापि यष्टव्यमिति भारत ।

इन्द्रके उस यज्ञमें जुटे हुए तपस्वीलोगोंमें इस प्रश्नको लेकर महान् विवाद खड़ा हो गया। भारत ! एक पक्ष कहता था कि जंगम पदार्थ (पशु आदि) के द्वारा यज्ञ करना चाहिये और दूसरा पक्ष कहता था कि स्थावर वस्तुओं- (अन्न-फल आदि) के द्वारा यजन करना उचित है॥ १८½॥

ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥
तदा संधाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम् ।
धर्मसंशयमापन्नान् सत्यं ब्रूहि महामते ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! वे तत्त्वदर्शी ऋषि जब इस विवादसे बहुत खिन्न हो गये, तब उन्होंने इन्द्रके साथ सलाह लेकर इस विषयमें राजा उपरिचर वसुसे पूछा—'महामते ! हमलोग धर्मविषयक संदेहमें पड़े हुए हैं। आप हमसे सच्ची बात बताइये ॥ १९-२० ॥

महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपसत्तम ।
यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति ॥ २१ ॥

'महाभाग नृपश्रेष्ठ ! यज्ञोंके विषयमें शास्त्रका मत कैसा है ? मुख्य-मुख्य पशुओंद्वारा यज्ञ करना चाहिये अथवा बीजों एवं रसोंद्वारा' ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम् ।
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ॥ २२ ॥

यह सुनकर राजा वसुने उन दोनों पक्षोंके कथनमें कितना सार या असार है, इसका विचार न करके यों ही बोल दिया कि 'जब जो वस्तु मिल जाय, उसीसे यज्ञ कर लेना चाहिये' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम् ।
उक्त्वाथ वितथं प्रश्नं चेदीनामीश्वरः प्रभुः ॥ २३ ॥

इस प्रकार कहकर असत्य निर्णय देनेके कारण चेदिराज वसुको रसातलमें जाना पड़ा ॥ २३ ॥

तस्मान्न वाच्यं ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये ।
प्रजापतिमपाहाय स्वयम्भुवमृते प्रभुम् ॥ २४ ॥

अतः कोई संदेह उपस्थित होनेपर स्वयम्भू भगवान्

प्रजापतिको छोड़कर अन्य किसी बहुज्ञ पुरुषको भी अकेले कोई निर्णय नहीं देना चाहिये ॥ २४ ॥

तेन दत्तानि दानानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ।
तानि सर्वाण्यनादृत्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ॥ २५ ॥

उस अशुद्ध बुद्धिवाले पापी पुरुषके दिये हुए दान कितने ही अधिक क्यों न हों, वे सब-के सब अनाहत होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः ।
दानेन कीर्तिर्भवति न प्रेत्येह च दुर्मतेः ॥ २६ ॥

अधर्ममें प्रवृत्त हुए दुर्बुद्धि दुरात्मा हिंसक मनुष्य जो दान देते हैं, उससे इहलोक या परलोकमें उनकी कीर्ति नहीं होती ॥ २६ ॥

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः ।
धर्माभिशंकी यजते न स धर्मफलं लभेत् ॥ २७ ॥

जो मूर्ख अन्यायोपार्जित धनका बारंबार संग्रह करके धर्मके विषयमें संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्म-का फल नहीं मिलता ॥ २७ ॥

धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषाधमः ।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम् ॥ २८ ॥

जो धर्मध्वजी, पापात्मा एवं नराधम है, वह लोकमें अपना विश्वास जमानेके लिये ब्राह्मणोंको दान देता है, धर्मके लिये नहीं ॥ २८ ॥

पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरङ्कुशः ।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमश्नुते ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण पापकर्मसे धन पाकर उच्छृङ्खल हो राग और मोहके वशीभूत हो जाता है, वह अन्तमें कलुषित गति-को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः ।
उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥ ३० ॥

वह लोभ और मोहके वशमें पड़कर संग्रह करनेकी बुद्धि-को अपनाता है । कृपणतापूर्वक पैसे बटोरनेका विचार रखता है । फिर बुद्धिको अशुद्ध कर देनेवाले पापाचारके द्वारा प्राणियोंको उद्वेगमें डाल देता है ॥ ३० ॥

एवं लब्ध्वा धनं मोहाद् यो हि दद्याद् यजेत वा ।
न तस्य स फलं प्रेत्य भुङ्क्ते पापधनागमात् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो मोहवश अन्यायसे धनका उपार्जन करके उसके द्वारा दान या यज्ञ करता है, वह मरनेके बाद भी उसका फल नहीं पाता; क्योंकि वह धन पापसे मिला हुआ होता है ॥ ३१ ॥

उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥ ३२ ॥

तपस्याके धनी धर्मात्मा पुरुष उञ्छ (बीने हुए अन्न), फल, मूल, शाक और जलपात्रका ही अपनी शक्तिके अनुसार दान करके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं ॥ ३२ ॥

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥ ३३ ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ।
श्रूयन्ते हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ॥ ३४ ॥

यही धर्म है, यही महान् योग है, दान, प्राणियोंपर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, धृति और क्षमा—ये सनातन धर्मके सनातन मूल हैं । सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्र आदि नरेश इसीसे सिद्धिको प्राप्त हुए थे ३३-३४

विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिषेणौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥

विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन, आर्ष्टिषेण और भूपाल सिन्धुद्वीप—ये तथा अन्य बहुत-से राजा तथा तपस्वी न्यायोपार्जित धनके दान और सत्यभाषणद्वारा परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३५-३६ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥ ३७ ॥

भरतनन्दन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो भी तपका आश्रय लेते हैं, वे दानधर्मरूपी अग्निसे तपकर सुवर्णके समान शुद्ध हो स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि हिंसामिश्रधर्मनिन्दायामेकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें हिंसामिश्रित धर्मकी निन्दाविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यके यज्ञकी कथा

जनमेजय उवाच

धर्मागतेन त्यागेन भगवन् स्वर्गमस्ति चेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! धर्मके द्वारा प्राप्त हुए धनका दान करनेसे यदि स्वर्ग मिलता है तो यह सब विषय मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि आप प्रवचन करनेमें कुशल हैं ॥ १ ॥

तस्योञ्छवृत्तेर्यद् वृत्तं सक्तुदाने फलं महत्।
कथितं तु मम ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम् ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! उञ्छवृत्ति धारण करनेवाले ब्राह्मणको न्यायतः प्राप्त हुए सत्तूका दान करनेसे जिस महान् फलकी प्राप्ति हुई, उसका आपने मुझसे वर्णन किया । निस्संदेह यह सब ठीक है ॥ २ ॥

कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमोऽभवत्।
एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ ॥ ३ ॥

परंतु सभी यज्ञोंमें यह उत्तम निश्चय कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है । द्विजश्रेष्ठ ! इस विषयका मुझसे पूर्णतः प्रतिपादन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरावृत्तमरिंदम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें पहले अगस्त्य मुनिके महान् यज्ञमें जो घटना घटित हुई थी, उस प्राचीन इतिहासका जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

पुरागस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्।
प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥

महाराज ! पहलेकी बात है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले महातेजस्वी अगस्त्य मुनिने एक समय बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ५ ॥

तत्राग्निकल्पा होतार आसन् सत्रे महात्मनः।
मूलाहाराः फलाहाराः साश्मकुट्टा मरीचिपाः ॥ ६ ॥
परिपृष्टिका वैघसिकाः प्रसंख्यानास्तथैव च।
यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्यवस्थिताः ॥ ७ ॥

उन महात्माके यज्ञमें अग्निके समान तेजस्वी होता थे । जिनमें फल, मूलका आहार करनेवाले, अश्मकुट्ट[1], मरीचिप[2], परिपृष्टिक[3], वैघसिक[4] और प्रसंख्यान[5] आदि अनेक प्रकारके यति एवं भिक्षु उपस्थित थे ॥ ६-७ ॥

सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
दमे स्थिताश्च सर्वे ते हिंसादम्भविवर्जिताः ॥ ८ ॥
वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यबाधिताः।
उपातिष्ठन्त तं यज्ञं यजन्तस्ते महर्षयः ॥ ९ ॥

वे सब-के-सब प्रत्यक्ष धर्मका पालन करनेवाले, क्रोधविजयी, जितेन्द्रिय, मनोनिग्रहपरायण, हिंसा और दम्भसे रहित तथा सदा शुद्ध सदाचारमें स्थित रहनेवाले थे । उन्हें किसी भी इन्द्रियके द्वारा कभी बाधा नहीं पहुँचती थी । ऐसे-ऐसे महर्षि वह यज्ञ करानेके लिये वहाँ उपस्थित थे ८-९ ॥

यथाशक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम्।
तस्मिन् सत्रे तु यद् वृत्तं यद् योग्यं च तदाभवत् ॥ १० ॥

भगवान् अगस्त्यमुनिने उस यज्ञके लिये यथाशक्ति विशुद्ध अन्नका संग्रह किया था । उस समय उस यज्ञमें वही हुआ, जो उसके योग्य था ॥ १० ॥

तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः क्रतवः कृताः।
एवंविधे त्वगस्त्यस्य वर्तमाने तथाध्वरे।
न ववर्ष सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम ॥ ११ ॥

उनके सिवा और भी अनेक मुनियोंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे । भरतश्रेष्ठ ! महर्षि अगस्त्यका ऐसा यज्ञ जब चालू हो गया, तब देवराज इन्द्रने वहाँ वर्षा बंद कर दी ॥ ११ ॥

ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः।
कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

राजन् ! तब यज्ञकर्मके बीचमें अवकाश मिलनेपर जब विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुनि एक दूसरेसे मिलकर एक स्थानपर बैठे, तब उनमें महात्मा अगस्त्यजीके सम्बन्धमें इस प्रकार चर्चा होने लगी—॥ १२ ॥

अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः।
न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति ॥ १३ ॥

'महर्षियो ! सुप्रसिद्ध अगस्त्य मुनि हमारे यजमान हैं । वे ईर्ष्यारहित हो श्रद्धापूर्वक सबको अन्न देते हैं । परंतु इधर मेघ जलकी वर्षा नहीं कर रहा है । तब भविष्यमें अन्न कैसे पैदा होगा ? ॥ १३ ॥

सत्रं चेदं महद् विप्रा मुनेर्द्वादशवार्षिकम्।
न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश ॥ १४ ॥

'ब्राह्मणो ! मुनिका यह महान् सत्र बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाला है; परंतु इन्द्रदेव इन बारह वर्षोंमें वर्षा नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

एतद् भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः।
अगस्त्यस्यातितपसः कर्तुमर्हन्त्यनुग्रहम् ॥ १५ ॥

'यह सोचकर आपलोग इन अत्यन्त तपस्वी बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यपर अनुग्रह करें (जिससे इनका यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो जाय)' ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान् ॥ १६ ॥
प्रोवाच वाक्यं स तदा प्रसाद्य शिरसा मुनीन्।

उनके ऐसा कहनेपर प्रतापी अगस्त्य उन मुनियोंको सिरसे प्रणाम करके उन्हें राजी करते हुए इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १७ ॥
चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं चिन्तनमात्रके द्वारा मानसिक यज्ञ करूँगा । यह यज्ञकी सनातन विधि है ॥ १७½ ॥

---

१. खाद्य पदार्थको पत्थरपर फोड़कर खानेवाले २. सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले । ३. पूछकर दिये हुए अन्नको ही लेनेवाले । ४. यज्ञशिष्ट अन्नको ही भोजन करनेवाले । ५. तत्त्वका विचार करनेवाले ।

महर्षि अगस्त्यकी यज्ञके समय प्रतिज्ञा

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १८ ॥
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं स्पर्श-यज्ञ[1] करूँगा । यह भी यज्ञकी सनातन विधि है ॥ १८½ ॥

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १९ ॥
ध्येयात्मना हरिष्यामि यज्ञानेतान् यतव्रतः ।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं व्रत-नियमोंका पालन करता हुआ ध्यानद्वारा ध्येयरूपसे स्थित हो इन यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा ॥ १९½ ॥

बीजयज्ञो मयायं वै बहुवर्षसमाचितः ॥ २० ॥
बीजैर्हि तं करिष्यामि नात्र विघ्नो भविष्यति ।

'यह बीज-यज्ञ मैंने बहुत वर्षोंसे संचित कर रखा है । उन बीजोंसे ही मैं अपना यज्ञ पूरा कर लूँगा । इसमें कोई विघ्न नहीं होगा ॥ २०½ ॥

नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथंचन ॥ २१ ॥
वर्षिष्यतीह वा देवो न वा वर्षं भविष्यति ।

'इन्द्रदेव यहाँ वर्षा करें अथवा यहाँ वर्षा न हो, इसकी मुझे परवा नहीं है, मेरे इस यज्ञको किसी तरह व्यर्थ नहीं किया जा सकता ॥ २१½ ॥

अथवाभ्यर्थनामिन्द्रो न करिष्यति कामतः ॥ २२ ॥
स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः ।

'अथवा यदि इन्द्र इच्छानुसार जल बरसानेके लिये की हुई मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो मैं स्वयं इन्द्र हो जाऊँगा और समस्त प्रजाके जीवनकी रक्षा करूँगा ॥ २२½ ॥

यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ॥ २३ ॥
विशेषं चैव कर्तास्मि पुनः पुनरतीव हि ।

'जो जिस आहारसे उत्पन्न हुआ है, उसे वही प्राप्त होगा तथा मैं बारंबार अधिक मात्रामें विशेष आहारकी भी व्यवस्था करूँगा ॥ २३½ ॥

अथेह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद् वसु किंचन ॥ २४ ॥
त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागम्यतां स्वयम् ।

'तीनों लोकोंमें जो सुवर्ण या दूसरा कोई धन है, वह सब आज यहाँ स्वतः आ जाय ॥ २४½ ॥

दिव्याश्चाप्सरसां संघा गन्धर्वाश्च सकिंनराः ॥ २५ ॥
विश्वावसुश्च ये चान्ये तेऽप्युपासन्तु मे मखम् ।

'दिव्य अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व, किन्नर, विश्वावसु तथा जो अन्य प्रमुख गन्धर्व हैं, वे सब यहाँ आकर मेरे यज्ञकी उपासना करें ॥ २५½ ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत् किंचिद् वसु विद्यते ॥ २६ ॥
सर्वं तदिह यज्ञेषु स्वयमेवोपतिष्ठतु ।
स्वर्गः स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च स्वयमेव तु ॥ २७ ॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो कुछ धन है, वह सब स्वयं यहाँ मेरे यज्ञोंमें उपस्थित हो । स्वर्ग, स्वर्गवासी देवता और धर्म स्वयं यहाँ विराजमान हो जायँ' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्ते सर्वमेवैतदभवत् तपसा मुनेः ।
तस्य दीप्ताग्निमहसस्त्वगस्त्यस्यातितेजसः ॥ २८ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, अतिशय कान्तिमान् महर्षि अगस्त्यके इतना कहते ही उनकी तपस्याके प्रभावसे ये सारी वस्तुएँ वहाँ प्रस्तुत हो गयीं ॥ २८ ॥

ततस्ते मुनयो दृष्ट्वा ददृशुस्तपसो बलम् ।
विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् ॥ २९ ॥

उन महर्षियोंने बड़े हर्षके साथ महर्षिके उस तपोबलको प्रत्यक्ष देखा । देखकर वे सब लोग आश्चर्यचकित हो गये और इस प्रकार महान् अर्थसे भरे हुए वचन बोले ॥ २९ ॥

ऋषय ऊचुः

प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
तैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्म न्यायेनेच्छामहे वयम् ॥ ३० ॥

ऋषि बोले—महर्षे ! आपकी बातोंसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है । हम आपकी तपस्याका व्यय होना नहीं चाहते हैं । हम आपके उन्हीं यज्ञोंसे संतुष्ट हैं और न्यायसे उपार्जित अन्नकी ही इच्छा रखते हैं ॥ ३० ॥

यज्ञं दीक्षां तथा होमान् यच्चान्यन्मृगयामहे ।
न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्माभिरता वयम् ॥ ३१ ॥

यज्ञ, दीक्षा, होम तथा और जो कुछ हम खोजा करते हैं, वह सब हमें यहाँ प्राप्त है । न्यायसे उपार्जित किया हुआ अन्न ही हमारा भोजन है और हम सदा अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३१ ॥

वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ।
न्यायेनोत्तरकालं च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ॥ ३२ ॥

हम ब्रह्मचर्यका पालन करके न्यायतः वेदोंको प्राप्त करना चाहते हैं और अन्तमें न्यायपूर्वक ही हम घर छोड़कर निकले हैं ॥ ३२ ॥

धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् ।
भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता ॥ ३३ ॥
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो ।
प्रीतास्ततो भविष्यामो वयं तु द्विजसत्तम ॥ ३४ ॥
विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद् व्रजामहे ।

धर्मशास्त्रमें देखे गये विधिविधानसे ही हम तपस्या करेंगे । आपको हिंसारहित बुद्धि ही अधिक प्रिय है; अतः प्रभो ! आप यज्ञोंमें सदा इस अहिंसाका ही प्रतिपादन करें । द्विजश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे हम आपपर बहुत प्रसन्न होंगे । यज्ञकी समाप्ति होनेपर जब आप हमें विदा करेंगे, तब हम यहाँसे अपने घरको जायँगे ॥ ३३-३४½ ॥

---

1. संचित अन्नका व्यय किये बिना ही उसके स्पर्शमात्रसे देवताओंको तृप्त करनेकी जो भावना है, उसका नाम स्पर्श-यज्ञ है ।

तथा कथयतां तेषां देवराजः पुरंदरः ॥ ३५ ॥
ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् ।
आसमाप्तेश्च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ॥ ३६ ॥
निकामवर्षी पर्जन्यो बभूव जनमेजय ।

जनमेजय ! जब ऋषिलोग ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी देवराज इन्द्रने महर्षिका तपोबल देखकर पानी बरसाना आरम्भ किया । जबतक उस यज्ञकी समाप्ति नहीं हुई, तबतक अमितपराक्रमी इन्द्रने वहाँ इच्छानुसार वर्षा की ॥ ३५-३६½ ॥

प्रसादयामास च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ।
स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ॥ ३७ ॥

राजर्षे ! देवेश्वर इन्द्रने स्वयं आकर बृहस्पतिको आगे करके अगस्त्य ऋषिको मनाया ॥ ३७ ॥

ततो यज्ञसमाप्तौ तान् विससर्ज महामुनीन् ।
अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ॥ ३८ ॥

तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर अत्यन्त प्रसन्न हुए अगस्त्यजीने उन महामुनियोंकी विधिवत् पूजा करके सबको विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

जनमेजय उवाच

कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन वै ।
प्राह मानुषवद् वाचमेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३९ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! सोनेके मस्तकसे युक्त वह नेवला कौन था, जो मनुष्योंकी-सी बोली बोलता था ? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतत् पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम् ।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वाक् तस्य मानुषी॥ ४० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यह बात न तो तुमने पहले पूछी थी और न मैंने बतायी थी । अब पूछते हो तो सुनो । वह नकुल कौन था और उसकी मनुष्योंकी-सी बोली कैसे हुई, यह सब बता रहा हूँ ॥ ४० ॥

श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल ।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव दुदोह ताम् ॥ ४१ ॥

पूर्वकालकी बात है, एक दिन जमदग्नि ऋषिने श्राद्ध करनेका संकल्प किया । उस समय उनकी होमधेनु स्वयं ही उनके पास आयी और मुनिने स्वयं ही उसका दूध दुहा ॥

तत् पयः स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ ।
तच्च क्रोधस्वरूपेण पिठरं धर्म आविशत् ॥ ४२ ॥

उस दूधको उन्होंने नये पात्रमें, जो सुदृढ़ और पवित्र था, रख दिया । उस पात्रमें धर्मने क्रोधका रूप धारण करके प्रवेश किया ॥ ४२ ॥

जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद् विप्रिये कृते ।
इति संचिन्त्य धर्मः स धर्षयामास तत् पयः ॥ ४३ ॥

धर्म उन मुनिश्रेष्ठकी परीक्षा लेना चाहते थे । उन्होंने सोचा, देखूँ तो ये अप्रिय करनेपर क्या करते हैं ? इसीलिये उन्होंने उस दूधको क्रोधके स्पर्शसे दूषित कर दिया ॥ ४३ ॥

तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य स चुकोप ह ।
स तु क्रोधस्ततो राजन् ब्राह्मणीं मूर्तिमास्थितः ।
जिते तस्मिन् भृगुश्रेष्ठमभ्यभाषदमर्षणः ॥ ४४ ॥

राजन् ! मुनिने उस क्रोधको पहचान लिया; किंतु उसपर वे कुपित नहीं हुए । तब क्रोधने ब्राह्मणका रूप धारण किया और मुनिके द्वारा पराजित होनेपर उस अमर्षशील क्रोधने उन भृगुश्रेष्ठसे कहा—॥ ४४ ॥

जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः ।
लोके मिथ्याप्रवादोऽयं यत्त्वयास्मि विनिर्जितः ॥४५॥

'भृगुश्रेष्ठ ! मैं तो पराजित हो गया । मैंने सुना था कि भृगुवंशी ब्राह्मण बड़े क्रोधी होते हैं; परंतु लोकमें प्रचलित हुआ यह प्रवाद आज मिथ्या सिद्ध हो गया; क्योंकि आपने मुझे जीत लिया ॥ ४५ ॥

वशे स्थितोऽहं त्वय्यद्य क्षमावति महात्मनि ।
बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ४६ ॥

'प्रभो ! आज मैं आपके वशमें हूँ । आपकी तपस्यासे डरता हूँ । साधो ! आप क्षमाशील महात्मा हैं, मुझपर कृपा कीजिये' ॥ ४६ ॥

जमदग्निरुवाच

साक्षाद् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः ।
न त्वयापकृतं मेऽद्य न च मे मन्युरस्ति वै ॥ ४७ ॥

जमदग्नि बोले—क्रोध ! मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष देखा है । तुम निश्चिन्त होकर यहाँसे जाओ । तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया है; अतः आज तुमपर मेरा रोष नहीं है ॥ ४७ ॥

यान् समुद्दिश्य संकल्पः पयसोऽस्य कृतो मया ।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुद्ध्यस्व गम्यताम्॥ ४८ ॥

मैंने जिन पितरोंके उद्देश्यसे इस दूधका संकल्प किया था, वे महाभाग पितर ही उसके स्वामी हैं । जाओ, उन्हींसे इस विषयमें समझो ॥ ४८ ॥

इत्युक्तो जातसंत्रासस्तत्रैवान्तरधीयत ।
पितॄणामभिषङ्गाच्च नकुलत्वमुपागतः ॥ ४९ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर क्रोधरूपधारी धर्म भयभीत हो वहाँसे अदृश्य हो गये और पितरोंके शापसे उन्हें नेवला होना पड़ा ॥ ४९ ॥

स तान् प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति ।
तैश्चाप्युक्तः क्षिपन् धर्मं शापस्यान्तमवाप्स्यसि॥ ५०॥

इस शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन्होंने पितरोंको प्रसन्न किया । तब पितरोंने कहा—'तुम धर्मराज युधिष्ठिर-पर आक्षेप करके इस शापसे छुटकारा पा जाओगे' ॥ ५० ॥

तैश्चोक्तो यज्ञियान् देशान् धर्मारण्यं तथैव च ।

जुगुप्समानो धावन् स तं यज्ञं समुपासदत् ॥ ५१ ॥

उन्होंने ही उस नेवलेको यज्ञसम्बन्धी स्थान और धर्मारण्यका पता बताया था। वह धर्मराजकी निन्दाके उद्देश्यसे दौड़ता हुआ उस यज्ञमें जा पहुँचा था ॥ ५१ ॥

धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः।
मुक्तः शापात् ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद् युधिष्ठिरः॥५२॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरपर आक्षेप करते हुए सेरभर सत्तूके दानका माहात्म्य बताकर क्रोधरूपधारी धर्म शापसे मुक्त हो गया और वह धर्मराज युधिष्ठिरमें स्थित हो गया ॥ ५२ ॥

एवमेतत् तदा वृत्ते यज्ञे तस्य महात्मनः।
पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा ॥ ५३ ॥

इस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरका यज्ञ समाप्त होनेपर यह घटना घटी थी और वह नेवला हमलोगोंके देखते-देखते वहाँसे गायब हो गया था ॥ ५३ ॥

(वैष्णवधर्मपर्व)

[युधिष्ठिरका वैष्णव-धर्मविषयक प्रश्न और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा धर्मका तथा अपनी महिमाका वर्णन]

जनमेजय उवाच

अश्वमेधे पुरा वृत्ते केशवं केशिसूदनम्।
धर्मसंशयमुद्दिश्य किमपृच्छत् पितामहः ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब मेरे प्रपितामह महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हो गया, तब उन्होंने धर्मके विषयमें संदेह होनेपर भगवान् श्रीकृष्णसे कौन-सा प्रश्न किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

पश्चिमेनाश्वमेधेन यदा स्नातो युधिष्ठिरः।
तदा राजा नमस्कृत्य केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! अश्वमेध-यज्ञके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिरने अवभृथ-स्नान कर लिया, तब भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥

वसिष्ठाद्यास्तपोयुक्ता मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥
श्रोतुकामाः परं गुह्यं वैष्णवं धर्ममुत्तमम्।
तथा भागवताश्चैव ततस्तं पर्यवारयन् ॥

उस समय वसिष्ठ आदि तत्त्वदर्शी तपस्वी मुनिगण तथा अन्य भक्तगण उस परम गोपनीय उत्तम वैष्णव धर्मको सुननेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर बैठ गये॥

युधिष्ठिर उवाच

तत्त्वतस्तव भावेन पादमूलमुपागतम्।
यदि जानासि मां भक्तं स्निग्धं वा भक्तवत्सल॥
धर्मगुह्यानि सर्वाणि वेत्तुमिच्छामि तत्त्वतः।
धर्मान् कथय मे देव यद्यनुग्रहभागहम् ॥

युधिष्ठिर बोले—भक्तवत्सल! मैं सच्चे भक्तिभावसे आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! यदि आप मुझे अपना प्रेमी या भक्त समझते हैं और यदि मैं आपके अनुग्रहका अधिकारी होऊँ तो मुझसे वैष्णव-धर्मोंका वर्णन कीजिये। मैं उनके सम्पूर्ण रहस्योंको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ ॥

श्रुता मे मानवा धर्मा वासिष्ठाः काश्यपास्तथा।
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा गोपालकस्य च ॥
पराशरकृताः पूर्वा मैत्रेयस्य च धीमतः।
औमा माहेश्वराश्चैव नन्दिधर्माश्च पावनाः ॥

मैंने मनु, वसिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, गोपालक, पराशर, बुद्धिमान् मैत्रेय, उमा, महेश्वर और नन्दिद्वारा कहे हुए पवित्र धर्मोंका श्रवण किया है ॥

ब्रह्मणा कथिता ये च कौमाराश्च श्रुता मया।
धूमायनकृता धर्माः काण्डवैश्वानरा अपि ॥
भार्गवा याज्ञवल्क्याश्च मार्कण्डेयकृता अपि।
भारद्वाजकृता ये च बृहस्पतिकृताश्च ये ॥
कुणेश्च कुणिबाहोश्च विश्वामित्रकृताश्च ये।
सुमन्तुजैमिनिकृताः शाकुनेयास्तथैव च ॥
पुलस्त्यपुलहोद्गीताः पावकीयास्तथैव च।
अगस्त्यगीता मौद्गल्याः शाण्डिल्याः शलभायनाः॥
बालखिल्यकृता ये च ये च सप्तर्षिभिस्तथा।
आपस्तम्बकृता धर्माः शंखस्य लिखितस्य च ॥
प्राजापत्यास्तथा याम्या माहेन्द्राश्च श्रुता मया।
वैयाघ्रव्यासकीयाश्च विभाण्डककृताश्च ये ॥

तथा जो ब्रह्मा, कार्तिकेय, धूमायन, काण्ड, वैश्वानर, भार्गव, याज्ञवल्क्य और मार्कण्डेयके द्वारा भी कहे गये हैं एवं जो भरद्वाज और बृहस्पतिके बनाये हुए हैं तथा जो कुणि, कुणिबाहु, विश्वामित्र, सुमन्तु, जैमिनि, शकुनि, पुलस्त्य, पुलह, अग्नि, अगस्त्य, मुद्गल, शाण्डिल्य, शलभ, वालखिल्यगण, सप्तर्षि, आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित, प्रजापति, यम, महेन्द्र, व्याघ्र, व्यास और विभाण्डकके द्वारा कहे गये हैं, उनको भी मैंने सुना है ॥

नारदीयाः श्रुता धर्माः कापोताश्च श्रुता मया।
तथा विदुरवाक्यानि भृगोरङ्गिरसस्तथा ॥
क्रौञ्चा मृदङ्गगीताश्च सौर्या हारीतकाश्च ये।
ये पिशङ्गकृताश्चापि कापोतीयाः सुबालकाः॥
उद्दालककृता धर्मा औशनस्यास्तथैव च।
वैशम्पायनगीताश्च ये चान्येऽप्येवमादितः ॥

एवं जो नारद, कपोत, विदुर, भृगु, अङ्गिरा, क्रौञ्च, मृदङ्ग, सूर्य, हारीत, पिशङ्ग, कपोत, सुबालक, उद्दालक, शुक्राचार्य, वैशम्पायन तथा दूसरे-दूसरे महात्माओंके द्वारा बताये हुए हैं, उन धर्मोंका भी मैंने आद्योपान्त श्रवण किया है ॥

एतेभ्यः सर्वधर्मेभ्यो देव त्वन्मुखनिःसृताः ।
पावनत्वात् पवित्रत्वाद् विशिष्टा इति मे मतिः ॥

परतु भगवन् ! मुझे विश्वास है कि आपके मुखसे जो धर्म प्रकट हुए हैं, वे पवित्र और पावन होनेके कारण उपर्युक्त सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ हैं ॥

तस्माद्धि त्वां प्रपन्नस्य त्वद्भक्तस्य च केशव ।
युष्मदीयान् वरान् धर्मान् पुण्यान् कथय मेऽच्युत॥

इसलिये केशव ! अच्युत ! आपकी शरणमें आये हुए मुझ भक्तसे आप अपने पवित्र एवं श्रेष्ठ धर्मोंका वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टस्तु धर्मज्ञो धर्मपुत्रेण केशवः ।
उवाच धर्मान् सूक्ष्मार्थान् धर्मपुत्रस्य हर्षितः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार प्रश्न करनेपर सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे धर्मके सूक्ष्म विषयोंका वर्णन करने लगे—॥

एवं ते यस्य कौन्तेय यत्नो धर्मेषु सुव्रत ।
तस्य ते दुर्लभो लोके न कश्चिदपि विद्यते ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन ! तुम धर्मके लिये इतना उद्योग करते हो, इसलिये तुम्हें संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥

धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा कृतोऽपि वा ।
अनुमोदितो वा राजेन्द्र नयतीन्द्रपदं नरम् ॥

'राजेन्द्र ! सुना हुआ, देखा हुआ, कहा हुआ, पालन किया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म मनुष्यको इन्द्रपदपर पहुँचा देता है ॥ ३१ ॥

धर्मः पिता च माता च धर्मो नाथः सुहृत् तथा ।
धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परंतप ॥

'परंतप ! धर्म ही जीवका माता-पिता, रक्षक, सुहृद्, भ्राता, सखा और स्वामी है ॥ ३२ ॥

धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद् भोगाः सुखानि च ।
धर्मादैश्वर्यमेवाग्र्यं धर्मात् स्वर्गगतिः परा ॥

'अर्थ, काम, भोग, सुख, उत्तम ऐश्वर्य और सर्वोत्तम स्वर्गकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है ॥ ३३ ॥

धर्मोऽयं सेवितः शुद्धस्त्रायते महतो भयात् ।
धर्माद् द्विजत्वं देवत्वं धर्मः पावयते नरम् ॥

'यदि इस विशुद्ध धर्मका सेवन किया जाय तो वह महान् भयसे रक्षा करता है । धर्मसे ही मनुष्यको ब्राह्मणत्व और देवत्वकी प्राप्ति होती है । धर्म ही मनुष्यको पवित्र करता है ॥

यदा च क्षीयते पापं कालेन पुरुषस्य तु ।
तदा संजायते बुद्धिर्धर्मे कर्तुं युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! जब कालक्रमसे मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है ॥

जन्मान्तरसहस्रैस्तु मनुष्यत्वं हि दुर्लभम् ।
तद् गत्वापीह यो धर्मं न करोति स वञ्चितः ॥

'हजारों योनियोंमें भटकनेके बाद भी मनुष्ययोनिका मिलना कठिन होता है । ऐसे दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है ॥

कुत्सिता ये दरिद्राश्च विरूपा व्याधितास्तथा ।
परद्वेष्याश्च मूर्खाश्च न तैर्धर्मः कृतः पुरा ॥

'आज जो लोग निन्दित, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूसरोंके द्वेषपात्र और मूर्ख देखे जाते हैं, उन्होंने पूर्वजन्ममें धर्मका अनुष्ठान नहीं किया है ॥

ये च दीर्घायुषः शूराः पण्डिता भोगिनस्तथा ।
नीरोगा रूपसम्पन्नास्तैर्धर्मः सुकृतः पुरा ॥

'किंतु जो दीर्घजीवी शूर-वीर, पण्डित, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, नीरोग और रूपवान् हैं, उनके द्वारा पूर्वजन्ममें निश्चय ही धर्मका सम्पादन हुआ है ॥

एवं धर्मः कृतः शुद्धो नयते गतिमुत्तमाम् ।
अधर्मं सेवते यस्तु तिर्यग्योन्यां पतत्यसौ ॥

'इस प्रकार शुद्धभावसे किया हुआ धर्मका अनुष्ठान उत्तम गतिकी प्राप्ति कराता है, परंतु जो अधर्मका सेवन करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनियोंमें गिरना पड़ता है ॥

इदं रहस्यं कौन्तेय शृणु धर्ममनुत्तमम् ।
कथयिष्ये परं धर्मं तव भक्तस्य पाण्डव ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! अब मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बताता हूँ, सुनो । पाण्डुनन्दन ! मैं तुझ भक्तसे परम धर्मका वर्णन अवश्य करूँगा ॥

इष्टस्त्वमसि मेऽत्यर्थं प्रपन्नश्चापि मां सदा ।
परमार्थमपि ब्रूयां किं पुनर्धर्मसंहिताम् ॥

'तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो और सदा मेरी शरणमें स्थित रहते हो । तुम्हारे पूछनेपर मैं परम गोपनीय आत्मतत्त्वका भी वर्णन कर सकता हूँ, फिर धर्मसंहिताके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥

इदं मे मानुषं जन्म कृतमात्मनि मायया ।
धर्मसंस्थापनार्थाय दुष्टानां नाशनाय च ॥

'इस समय धर्मकी स्थापना और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये मैंने अपनी मायासे मानव-शरीरमें अवतार धारण किया है ॥

मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया ।
संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः ॥

'जो लोग मुझे केवल मनुष्य-शरीरमें ही समझकर मेरी

अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यग्योनियोंमें भटकते रहते हैं ॥

ये च मां सर्वभूतस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा ।
मद्भक्तांस्तान् सदा युक्तान् मत्समीपं नयाम्यहम् ॥

'इसके विपरीत जो ज्ञानदृष्टिसे मुझे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित देखते हैं, वे सदा मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्त हैं, ऐसे भक्तोंको मैं परम धाममें अपने पास बुला लेता हूँ ॥

मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।
मद्भक्तानां तु मानुष्ये सफलं जन्म पाण्डव ॥

'पाण्डुपुत्र ! मेरे भक्तोंका नाश नहीं होता, वे निष्पाप होते हैं । मनुष्योंमें उन्हींका जन्म सफल है, जो मेरे भक्त हैं ॥

अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

'पाण्डुनन्दन ! पापोंमें अभिरत रहनेवाले मनुष्य भी यदि मेरे भक्त हो जायँ तो वे सारे पापोंसे वैसे ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे जलसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहता है ॥

जन्मान्तरसहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम् ।
भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः ॥

'हजारों जन्मोंतक तपस्या करनेसे जब मनुष्योंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसमें निःसंदेह भक्तिका उदय होता है ॥

यच्च रूपं परं गुह्यं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
न दृश्यते तथा देवैर्मद्भक्तैर्दृश्यते यथा ॥

'मेरा जो अत्यन्त गोपनीय कूटस्थ, अचल और अविनाशी परस्वरूप है, उसका मेरे भक्तोंको जैसा अनुभव होता है, वैसा देवताओंको भी नहीं होता ॥

अपरं यच्च मे रूपं प्रादुर्भावेषु दृश्यते ।
तदर्चयन्ति सर्वार्थैः सर्वभूतानि पाण्डव ॥

'पाण्डव ! जो मेरा अपरस्वरूप है, वह अवतार लेनेपर दृष्टिगोचर होता है । संसारके समस्त जीव सब प्रकारके पदार्थोंसे उसकी पूजा करते हैं ॥

कल्पकोटिसहस्रेषु व्यतीतेष्वागतेषु च ।
दर्शयामीह तद् रूपं यच्च पश्यन्ति मे सुराः ॥

'हजारों और करोड़ों कल्प आकर चले गये, पर जिस वैष्णवरूपको देवगण देखते हैं, उसी रूपसे मैं भक्तोंको दर्शन देता हूँ ॥

स्थित्युत्पत्त्यव्ययकरं यो मां ज्ञात्वा प्रपद्यते ।
अनुगृह्णाम्यहं तं वै संसारान्मोचयामि च ॥

'जो मनुष्य मुझे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कारण समझकर मेरी शरण लेता है, उसके ऊपर कृपा करके मैं उसे संसार-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ ॥

अहमादिर्हि देवानां सृष्टा ब्रह्मादयो मया ।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम् ॥

'मैं ही देवताओंका आदि हूँ । ब्रह्मा आदि देवताओंकी मैंने ही सृष्टि की है । मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि करता हूँ ॥

तमोमूलोऽहमव्यक्तो रजोमध्ये प्रतिष्ठितः ।
ऊर्ध्वं सत्त्वं विना लोभं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यतः ॥

'मैं अव्यक्त परमेश्वर ही तमोगुणका आधार, रजोगुणके भीतर स्थित और उत्कृष्ट सत्त्वगुणमें भी व्याप्त हूँ । मुझे लोभ नहीं है । ब्रह्मासे लेकर छोटेसे कीड़ेतक सबमें मैं व्याप्त हो रहा हूँ ॥

मूर्द्धानं मे विद्धि दिवं चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
गावोऽग्निर्ब्राह्मणो वक्त्रं मारुतः श्वसनं च मे ॥

'द्युलोकको मेरा मस्तक समझो । सूर्य और चन्द्रमा मेरी आँखें हैं । गौ, अग्नि और ब्राह्मण मेरे मुख हैं और वायु मेरी साँस है ॥

दिशो मे बाहवश्चाष्टौ नक्षत्राणि च भूषणम् ।
अन्तरिक्षमुरो विद्धि सर्वभूतावकाशकम् ।
मार्गो मेघानिलाभ्यां तु यन्ममोदरमव्ययम् ॥

'आठ दिशाएँ मेरी बाहें, नक्षत्र मेरे आभूषण और सम्पूर्ण भूतोंको अवकाश देनेवाला अन्तरिक्ष मेरा वक्षःस्थल है । बादलों और हवाके चलनेका जो मार्ग है, उसे मेरा अविनाशी उदर समझो ॥

पृथिवीमण्डलं यद् वै द्वीपार्णववनैर्युतम् ।
सर्वसंधारणोपेतं पादौ मम युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! द्वीप, समुद्र और जंगलोंसे भरा हुआ यह सबको धारण करनेवाला भूमण्डल मेरे दोनों पैरोंके स्थानमें है ॥

स्थितो ह्येकगुणः खेऽहं द्विगुणश्चास्मि मारुते ।
त्रिगुणोऽग्नौ स्थितोऽहं वै सलिले च चतुर्गुणः ॥
शब्दाद्या ये गुणाः पञ्च महाभूतेषु पञ्चसु ।
तन्मात्रासंस्थितः सोऽहं पृथिव्यां पञ्चधा स्थितः ॥

'आकाशमें मैं एक गुणवाला हूँ, वायुमें दो गुणवाला हूँ, अग्निमें तीन गुणवाला हूँ और जलमें चार गुणवाला हूँ । पृथ्वीमें पाँच गुणोंसे स्थित हूँ । वही मैं तन्मात्रारूप पञ्चमहाभूतोंमें शब्दादि पाँच गुणोंसे स्थित हूँ ॥

अहं सहस्रशीर्षस्तु सहस्रवदनेक्षणः ।
सहस्रबाहूदरधृक् सहस्रोरु सहस्रपात् ॥

'मेरे हजारों मस्तक, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों भुजाएँ, हजारों उदर, हजारों ऊरु और हजारों पैर हैं ॥

धृत्वोर्वीं सर्वतः सम्यगत्यतिष्ठं दशाङ्गुलम् ।
सर्वभूतात्मभूतस्थः सर्वव्यापी ततोऽस्म्यहम् ॥

'मैं पृथ्वीको सब ओरसे धारण करके नाभिसे दस अंगुल

ऊँचे सबके हृदयमें विराजमान हूँ । सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा-रूपसे स्थित हूँ, इसलिये सर्वव्यापी कहलाता हूँ ॥

अचिन्त्योऽहमनन्तोऽहमजरोऽहमजो ह्यहम् ।
अनाद्योऽहमवध्योऽहमप्रमेयोऽहमव्ययः ॥
निर्गुणोऽहं निगूढात्मा निर्द्वन्द्वो निर्ममो नृप ।
निष्कलो निर्विकारोऽहं निदानममृतस्य तु ॥
सुधा चाहं स्वधा चाहं स्वाहा चाहं नराधिप ।

'राजन् ! मैं अचिन्त्य, अनन्त, अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय, अव्यय, निर्गुण, गुह्यस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निर्विकार और मोक्षका आदि कारण हूँ । नरेश्वर ! सुधा, स्वधा और स्वाहा भी मैं ही हूँ ॥

तेजसा तपसा चाहं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
स्नेहपाशैर्गुणैर्बद्ध्वा धारयाम्यात्ममायया ।

'मैंने ही अपने तेज और तपसे चार प्रकारके प्राणि-समुदायको स्नेहपाशरूप रज्जुसे बाँधकर अपनी मायासे धारण कर रखा है ॥

चातुराश्रमधर्मोऽहं चातुर्होत्रफलाशनः ।
चतुर्मूर्तिश्चतुर्यज्ञश्चतुराश्रमभावनः ॥

'मैं चारों आश्रमोंका धर्म, चार प्रकारके होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका फल भोगनेवाला चतुर्व्यूह, चतुर्यज्ञ और चारों आश्रमोंको प्रकट करनेवाला हूँ ॥

संहृत्याहं जगत् सर्वं कृत्वा वै गर्भमात्मनः ।
शयामि दिव्ययोगेन प्रलयेषु युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! प्रलयकालमें समस्त जगत्का संहार करके उसे अपने उदरमें स्थापित कर दिव्य योगका आश्रय ले मैं एकार्णवके जलमें शयन करता हूँ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तां ब्राह्मीं रात्रिं महार्णवे ।
स्थित्वा सृजामि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च॥

'एक हजार युगोंतक रहनेवाली ब्रह्माकी रात पूर्ण होने-तक महार्णवमें शयन करनेके पश्चात् स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि करता हूँ ॥

कल्पे कल्पे च भूतानि संहरामि सृजामि च ।
न च मां तानि जानन्ति मायया मोहितानि मे ॥

'प्रत्येक कल्पमें मेरेद्वारा जीवोंकी सृष्टि और संहारका कार्य होता है, किंतु मेरी मायासे मोहित होनेके कारण वे जीव मुझे नहीं जान पाते ॥

मम चैवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य नित्यशः ।
प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिर्नैवोपलभ्यते ॥

'प्रलयकालमें जब दीपकके शान्त होनेकी भाँति समस्त व्यक्त सृष्टि लुप्त हो जाती है, तब खोज करने योग्य मुझ अदृश्यस्वरूपकी गतिका उनको पता नहीं लगता ॥

न तदस्ति क्वचिद् राजन् यत्राहं न प्रतिष्ठितः ।
न च तद् विद्यते भूतं मयि यन्न प्रतिष्ठितम् ॥

'राजन् ! कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें मैं निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नहीं है, जो मुझमें स्थित न हो ॥

यावन्मात्रं भवेद् भूतं स्थूलं सूक्ष्ममिदं जगत् ।
जीवभूतो ह्यहं तस्मिंस्तावन्मात्रं प्रतिष्ठितः ॥

'जो कुछ भी स्थूल-सूक्ष्मरूप यह जगत् हो चुका है और होनेवाला है, उन सबमें उसी प्रकार मैं ही जीवरूपसे स्थित हूँ ॥

किं चात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद् भूतं यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु ॥

'अधिक कहनेसे क्या लाभ, मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि भूत और भविष्य जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ ॥

मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत ।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि वै ॥

'भरतनन्दन ! सम्पूर्ण भूत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और मेरे ही स्वरूप हैं । फिर भी मेरी मायासे मोहित रहते हैं, इसलिये मुझे नहीं जान पाते ॥

एवं सर्वं जगदिदं सदेवासुरमानुषम् ।
मत्तः प्रभवते राजन् मय्येव प्रविलीयते ॥

'राजन् ! इस प्रकार देवता, असुर और मनुष्योंसहित समस्त संसारका मुझसे ही जन्म और मुझमें ही लय होता है' ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[चारों वर्णोंके कर्म और उनके फलोंका वर्णन तथा धर्मकी वृद्धि और पापके क्षय होनेका उपाय]

वैशम्पायन उवाच

एवमात्मोद्भवं सर्वं जगदुद्दिश्य केशवः ।
धर्मान् धर्मात्मजस्याथ पुण्यानकथयत् प्रभुः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्को अपनेसे उत्पन्न बतलाकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे पवित्र धर्मोंका इस प्रकार वर्णन आरम्भ किया—॥

शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पापनाशनम् ।
कथ्यमानं मया पुण्यं धर्मशास्त्रफलं महत् ॥

'पाण्डुनन्दन ! मेरेद्वारा कहे हुए धर्मशास्त्रका पुण्यमय, पापनाशक, पवित्र और महान् फल यथार्थरूपसे सुनो ॥

यः शृणोति शुचिर्भूत्वा एकचित्तस्तपोयुतः ।
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं धर्मं ज्ञेयं युधिष्ठिर ॥
श्रद्दधानस्य तस्येह यत् पापं पूर्वसंचितम् ।
विनश्यत्याशु तत् सर्वं मद्भक्तस्य विशेषतः ॥

'युधिष्ठिर ! जो मनुष्य पवित्र और एकाग्रचित्त हो तपस्यामें संलग्न हो स्वर्ग, यश और आयु प्रदान करनेवाले जाननेयोग्य धर्मका श्रवण करता है, उस श्रद्धालु पुरुष-

विशेषतः मेरे भक्तके पूर्वसंचित जितने पाप होते हैं, वे सब तत्काल नष्ट हो जाते हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा वचः पुण्यं सत्यं केशवभाषितम् ।
प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोऽद्भुतं परम् ॥
देवब्रह्मर्षयः सर्वे गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
भूता यक्षग्रहाश्चैव गुह्यका भुजगास्तथा ॥
बालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः ॥
कौतूहलसमाविष्टाः प्रहृष्टेन्द्रियमानसाः ।
श्रोतुकामाः परं धर्मं वैष्णवं धर्मशासनम् ।
हृदि कर्तुं च तद्वाक्यं प्रणेमुः शिरसा नताः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णका यह परम पवित्र और सत्य वचन सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न हो धर्मके अद्भुत रहस्यका चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण देवर्षि, ब्रह्मर्षि, गन्धर्व, अप्सराएँ, भूत, यक्ष, ग्रह, गुह्यक, सर्प, महात्मा वालखिल्यगण, तत्त्वदर्शी योगी तथा पाँचों उपासना करनेवाले भगवद्भक्त पुरुष उत्तम वैष्णव-धर्मका उपदेश सुनने तथा भगवान्‌की बात हृदयमें धारण करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर वहाँ आये। उनके इन्द्रिय और मन अत्यन्त हर्षित हो रहे थे। आनेके बाद उन सबने मस्तक झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम किया ॥

ततस्तान् वासुदेवेन दृष्टान् दिव्येन चक्षुषा ।
विमुक्तपापानालोक्य प्रणम्य शिरसा हरिम् ।
पप्रच्छ केशवं धर्मं धर्मपुत्रः प्रतापवान् ॥

भगवान्‌की दिव्य दृष्टि पड़नेसे वे सब निष्पाप हो गये। उन्हें उपस्थित देखकर महाप्रतापी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान्‌को प्रणाम करके इस प्रकार धर्मविषयक प्रश्न किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशी ब्राह्मणस्याथ क्षत्रियस्यापि कीदृशी ।
वैश्यस्य कीदृशी देव गतिः शूद्रस्य कीदृशी ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवेश्वर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी पृथक्-पृथक् कैसी गति होती है ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु वर्णक्रमेणैव धर्मं धर्मभृतां वर ।
नास्ति किंचिन्नरश्रेष्ठ ब्राह्मणस्य तु दुष्कृतम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—नरश्रेष्ठ धर्मराज ! ब्राह्मणादि वर्णोंके क्रमसे धर्मका वर्णन सुनो। ब्राह्मणके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है ॥

शिखायज्ञोपवीता ये संध्यां ये चाप्युपासते ।
यैश्च पूर्णाहुतिः प्राप्ता विधिवज्जुह्वते च ये ॥
वैश्वदेवं च ये चक्रुः पूजयन्त्यतिथींश्च ये ।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च जपयज्ञपराश्च ये ॥
सायं प्रातर्हुताशाश्च शूद्रभोजनवर्जिताः ।
दम्भानृतविमुक्ताश्च स्वदारनिरताश्च ये ।
पञ्चयज्ञपरा ये च येऽग्निहोत्रमुपासते ॥
दहन्ति दुष्कृतं येषां हूयमानास्त्रयोऽग्नयः ।
नष्टदुष्कृतकर्माणो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥

जो ब्राह्मण शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संध्योपासना करते हैं, पूर्णाहुति देते हैं, विधिवत् अग्निहोत्र करते हैं, बलिवैश्वदेव और अतिथियोंका पूजन करते हैं, नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा जपयज्ञके परायण हैं; जो प्रातः-काल और सायंकाल होम करनेके बाद ही अन्न ग्रहण करते हैं, शूद्रका अन्न नहीं खाते हैं, दम्भ और मिथ्याभाषणसे दूर रहते हैं, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखते हैं तथा पञ्चयज्ञ और अग्निहोत्र करते रहते हैं, जिनके सब पापोंको हवन की जाने-वाली तीनों अग्नियाँ भस्म कर देती हैं, वे ब्राह्मण पापरहित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं ॥

क्षत्रियोऽपि स्थितो राज्ये स्वधर्मपरिपालकः ।
सम्यक् प्रजापालयिता षड्भागनिरतः सदा ॥
यज्ञदानरतो धीरः स्वदारनिरतः सदा ।
शास्त्रानुसारी तत्त्वज्ञः प्रजाकार्यपरायणः ॥
विप्रेभ्यः कामदो नित्यं भृत्यानां भरणे रतः ।
सत्यसन्धः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः ।
क्षत्रियोऽप्युत्तमां याति गतिं देवनिषेविताम् ॥

क्षत्रियोंमें भी जो राज्यसिंहासनपर आसीन होनेके बाद अपने धर्मका पालन और प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, लगानके रूपमें प्रजाकी आमदनीका छठा भाग लेकर सदा उतनेसे ही संतोष करता है, यज्ञ और दान करता रहता है, धैर्य रखता है, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहता है, शास्त्रके अनुसार चलता है, तत्त्वको जानता है और प्रजाकी भलाईके कार्यमें संलग्न रहता है तथा ब्राह्मणोंकी इच्छा पूर्ण करता है, पोष्य-वर्गके पालनमें तत्पर रहता है, प्रतिज्ञाको सत्य करके दिखाता है, सदा पवित्र रहता है एवं लोभ और दम्भको त्याग देता है, उस क्षत्रियको भी देवताओंद्वारा सेवित उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥

कृषिगोपालनिरतो धर्मान्वेषणतत्परः ।
दानधर्मेऽपि निरतो विप्रशुश्रूषकस्तथा ॥
सत्यसंधः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः ।
ऋजुः स्वदारनिरतो हिंसाद्रोहविवर्जितः ॥
वणिग्धर्मांश्च मुञ्चन् वै देवब्राह्मणपूजकः ।
वैश्यः स्वर्गतिमाप्नोति पूज्यमानोऽप्सरोगणैः॥

जो वैश्य कृषि और गोपालनमें लगा रहता है, धर्मका अनुसंधान किया करता है, दान, धर्म और ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहता है तथा सत्यप्रतिज्ञ, नित्य पवित्र, लोभ और दम्भसे रहित, सरल, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और

हिंसा-द्रोहसे दूर रहनेवाला है, जो कभी भी वैश्यधर्मका त्याग नहीं करता और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें लगा रहता है, वह अप्सराओंसे सम्मानित होकर स्वर्गलोकमें गमन करता है ॥

त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा।
विशेषतस्तु विप्राणां दासवद् यस्तु तिष्ठति ॥
अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वितः।
गुरुदेवार्चनरतः परदारविवर्जितः ॥
परपीडामकृत्वैव भृत्यवर्गं बिभर्ति यः।
शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानामभयप्रदः ॥

शूद्रोंमेंसे जो सदा तीनों वर्णोंकी सेवा करता और विशेषतः ब्राह्मणोंकी सेवामें दासकी भाँति खड़ा रहता है; जो बिना माँगे ही दान देता है, सत्य और शौचका पालन करता है, गुरु और देवताओंकी पूजामें प्रेम रखता है, परस्त्रीके संसर्गसे दूर रहता है, दूसरोंको कष्ट न पहुँचाकर अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करता है और सब जीवोंको अभय-दान कर देता है, उस शूद्रको भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥

एवं धर्मात् परं नास्ति महत्संसारमोक्षणम्।
न च धर्मात्परं किंचित् पापकर्मव्यपोहनम् ॥

इस प्रकार धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। वही निष्कामभावसे आचरण करनेपर संसार-बन्धनसे मुक्ति दिलाता है। धर्मसे बढ़कर पाप-नाशका और कोई उपाय नहीं है ॥

तस्माद् धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
न हि धर्मानुरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम् ॥

इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर सदा धर्मका पालन करते रहना चाहिये। धर्मानुरागी पुरुषोंके लिये संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥

स्वयम्भूविहितो धर्मो यो यस्येह नरेश्वर।
स तेन क्षपयेत् पापं सम्यगाचरितेन च ॥

नरेश्वर ! ब्रह्माजीने इस जगत्‌में जिस वर्णके लिये जैसे धर्मका विधान किया है, वह वैसे ही धर्मका भलीभाँति आचरण करके अपने पापोंको नष्ट कर सकता है ॥

सहजं यद् भवेत् कर्म न तत् त्याज्यं हि केनचित्।
स एव तस्य धर्मो हि तेन सिद्धिं स गच्छति ॥

मनुष्यका जो जातिगत कर्म हो, उसका किसीको त्याग नहीं करना चाहिये। वही उसके लिये धर्म होता है और उसीका निष्काम भावसे आचरण करनेपर मनुष्यको सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है ॥

विगुणोऽपि स्वधर्मस्तु पापकर्म व्यपोहति।
एवमेव तु धर्मोऽपि क्षीयते पापवर्धनात् ॥

अपना धर्म गुणरहित होनेपर भी पापको नष्ट करता है। इसी प्रकार यदि मनुष्यके पापकी वृद्धि होती है तो वह उसके धर्मको क्षीण कर डालता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवदेवेश श्रोतुं कौतूहलं हि मे।
शुभस्याप्यशुभस्यापि क्षयवृद्धी यथाक्रमम् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! शुभ और अशुभकी वृद्धि और ह्रास क्रमसे किस प्रकार होते हैं, इसे सुननेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा है ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पार्थिव तत्सर्वं धर्मसूक्ष्मं सनातनम्।
दुर्विज्ञेयतमं नित्यं यत्र मग्ना महाजनाः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! तुमने जो धर्मका तत्त्व पूछा है, वह सूक्ष्म, सनातन, अत्यन्त दुर्विज्ञेय और नित्य है, बड़े-बड़े लोग भी उसमें मग्न हो जाते हैं, वह सब तुम सुनो ॥

यथैव शीतमुदकमुष्णेन बहुना वृतम्।
भवेत्तु तत्क्षणादुष्णं शीतत्वं च विनश्यति ॥

जिस प्रकार थोड़ेसे ठंडे जलको बहुत गरम जलमें मिला दिया जाता है तो वह तत्क्षण गरम हो जाता है और उसका ठंडापन नष्ट हो जाता है ॥

यथोष्णं वा भवेदल्पं शीतेन बहुना वृतम्।
शीतलं च भवेत् सर्वमुष्णत्वं च विनश्यति ॥

जब थोड़ा-सा गरम जल बहुत शीतल जलमें मिला दिया जाता है, तब वह सबका सब शीतल हो जाता है और उसकी उष्णता नष्ट हो जाती है ॥

एवं च यद् भवेद् भूरि सुकृतं वापि दुष्कृतम्।
तदल्पं क्षपयेच्छीघ्रं नात्र कार्या विचारणा ॥

इसी प्रकार जो पुण्य या पाप बहुत अधिक होता है, वह थोड़े पाप-पुण्यको शीघ्र ही नष्ट कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥

समत्वे सति राजेन्द्र तयोः सुकृतपापयोः।
गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः ॥

राजेन्द्र ! जब वे पुण्य-पाप दोनों समान होते हैं, तब जिसको गुप्त रखा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है, उसका क्षय हो जाता है ॥

ख्यापनेनानुतापेन प्रायः पापं विनश्यति।
तथा कृतस्तु राजेन्द्र धर्मो नश्यति मानद ॥

सम्मान देनेवाले नरेश्वर ! पापको दूसरोंसे कहने और उसके लिये पश्चात्ताप करनेसे प्रायः उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार धर्म भी अपने मुँहसे दूसरोंके सम्मुख प्रकट करनेपर नष्ट होता है ॥

तावुभौ गूहितौ सम्यग् वृद्धिं यातो न संशयः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन न पापं गूहयेद् बुधः ॥
तस्मादेतत् प्रयत्नेन कीर्तयेत् क्षयकारणात् ॥
तस्मात् संकीर्तयेत् पापं नित्यं धर्मं च गूहयेत् ॥

छिपानेपर निःसंदेह ये दोनों ही अधिक बढ़ते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि सर्वथा उद्योग करके अपने पापको प्रकट कर दे, उसे छिपानेकी कोशिश न करे। पापका कीर्तन पापके नाशका कारण होता है, इसलिये हमेशा पापको प्रकट करना और धर्मको गुप्त रखना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[व्यर्थ जन्म, दान और जीवनका वर्णन, सात्त्विक दानोंका लक्षण, दानका योग्य पात्र और ब्राह्मणकी महिमा]

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य धर्मपुत्रोऽच्युतस्य तु।
पप्रच्छ पुनरप्यन्यं धर्मं धर्मात्मजो हरिम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर इस प्रकार भगवान् अच्युतके वचन सुनकर फिर भी श्रीहरिसे अन्य धर्म पूछने लगे—॥

वृथा च कति जन्मानि वृथा दानानि कानि च।
वृथा च जीवितं केषां नराणां पुरुषोत्तम ॥

'पुरुषोत्तम! कितने जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं? कितने प्रकारके दान निष्फल होते हैं? और किन-किन मनुष्योंका जीवन निरर्थक माना गया है? ॥

कीदृशासु ह्यवस्थासु दानं दत्तं जनार्दन।
इह लोकेऽनुभवति पुरुषः पुरुषोत्तम ॥
गर्भस्थः किं समश्नाति किं बाल्ये वापि केशव।
यौवनस्थेऽपि किं कृष्ण वार्धके वापि किं भवेत् ॥

'पुरुषोत्तम! जनार्दन! मनुष्य किस अवस्थामें दिये हुए दानके फलका इस लोकमें अनुभव करता है। केशव! गर्भमें स्थित हुआ मनुष्य किस दानका फल भोगता है? श्रीकृष्ण! बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओंमें मनुष्य किस-किस दानका फल भोगता है? ॥

सात्त्विकं कीदृशं दानं राजसं कीदृशं भवेत्।
तामसं कीदृशं देव तर्पयिष्यति किं प्रभो ॥

'भगवन्! सात्त्विक, राजस और तामस दान कैसे होते है? प्रभो! उनसे किसकी तृप्ति होती है? ॥

उत्तमं कीदृशं दानं तेषां वा किं फलं भवेत्।
किं दानं नयति ह्यूर्ध्वं किं गतिं मध्यमां नयेत्।
गतिं जघन्यामथ वा देवदेव वदस्व मे ॥

'उत्तम दानका स्वरूप क्या है? और उससे मनुष्योंको किस फलकी प्राप्ति होती है? कौन-सा दान ऊर्ध्वगतिको ले जाता है? कौन-सा मध्यम गतिको और कौन-सा नीच गति-को ले जाता है? देवाधिदेव! यह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे।
त्वदीयं वचनं सत्यं पुण्यं च मधुसूदन ॥

'मधुसूदन! मैं इस विषयको जानना चाहता हूँ और इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; क्योंकि आपके वचन सत्य और पुण्यमय हैं' ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथान्यायं वचनं तथ्यमुत्तमम्।
कथ्यमानं मया पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! मैं तुम्हें न्यायके अनुसार यथार्थ एवं उत्तम उपदेश सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। यह विषय परम पवित्र और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥

वृथा च दश जन्मानि चत्वारि च नराधिप।
वृथा दानानि पञ्चाशत्पञ्चैव च यथाक्रमम् ॥
वृथा च जीवितं येषां ते च षट् परिकीर्तिताः।
अनुक्रमेण वक्ष्यामि तानि सर्वाणि पार्थिव ॥

नरेश्वर! चौदह जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं। क्रमशः पचपन प्रकारके दान निष्फल होते हैं और जिन-जिन मनुष्यों-का जीवन निरर्थक होता है, उनकी संख्या छः बतलायी गयी है। भूपाल! इन सबका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा ॥

धर्मघ्नानां वृथा जन्म लुब्धानां पापिनां तथा।
वृथा पाकं च येऽश्नन्ति परदाररताश्च ये।
पाकभेदकरा ये च ये च स्युः सत्यवर्जिताः ॥

जो धर्मका नाश करनेवाले, लोभी, पापी, बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करनेवाले, परस्त्रीगामी, भोजनमें भेद करनेवाले और असत्यभाषी हैं, उनका जन्म वृथा है ॥

मृष्टमश्नाति यश्चैकः क्लिश्यमानैस्तु बान्धवैः।
पितरं मातरं चैव उपाध्यायं गुरुं तथा।
मातुलं मातुलानीं च यो निहन्याच्छपेत वा ॥
ब्राह्मणश्चैव यो भूत्वा संध्योपासनवर्जितः।
निःस्वाहो निःस्वधश्चैव शूद्राणामन्नभुग् द्विजः॥
मम वा शंकरस्याथ ब्रह्मणो वा युधिष्ठिर।
अथवा ब्राह्मणानां तु ये न भक्ता नराधमाः।
वृथा जन्मान्यथैतेषां पापिनां विद्धि पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! जो बन्धु-बान्धवोंको क्लेश देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले हैं, जो माता-पिता, अध्यापक-गुरु और मामा-मामीको मारते या गाली देते हैं, जो ब्राह्मण होकर भी संध्योपासनसे रहित हैं, जो अग्निहोत्रका त्याग करनेवाले हैं, जो श्राद्ध-तर्पणसे दूर रहनेवाले हैं, जो ब्राह्मण होकर शूद्रका अन्न खानेवाले हैं तथा जो मेरे, शङ्करजीके, ब्रह्माजीके अथवा ब्राह्मणोंके भक्त नहीं हैं—ये चौदह प्रकारके मनुष्य अधम होते हैं। इन्हीं पापियोंके जन्म-को व्यर्थ समझना चाहिये ॥

अश्रद्धयापि यद् दत्तमवमानेन वापि यत्।
दम्भार्थमपि यद् दत्तं यत् पाखण्डिहितं नृप ॥
शूद्राचाराय यद् दत्तं यद् दत्त्वा चानुकीर्तितम्।

रोषयुक्तं च यद् दत्तं यद् दत्तमनुशोचितम् ॥
दम्भार्जितं च यद् दत्तं यच्च वाप्यनृतार्जितम् ।
ब्राह्मणस्वं च यद् दत्तं चौर्येणाप्यर्जितं च यत् ॥
अभिशस्ताहृतं यत्तु यद् दत्तं पतिते द्विजे ।
निर्ब्रह्माभिहृतं यत्तु यद् दत्तं सर्वयाचकैः ॥
व्रात्यैस्तु यद्धृतं दानमारूढपतितैश्च यत् ।
यद् दत्तं स्वैरिणीभर्तुः श्वशुरानुवर्त्तिने ॥
यद् ग्रामयाचकहृतं यत् कृतघ्नहृतं तथा ।
उपपातकिने दत्तं वेदविक्रयिणे च यत् ॥
स्त्रीजिताय च यद् दत्तं यद् दत्तं राजसेविने ।
गणकाय च यद् दत्तं यच्च कारणिकाय च ॥
वृषलीपतये दत्तं यद् दत्तं शस्त्रजीविने ।
भृतकाय च यद् दत्तं व्यालग्राहिहृतं च यत् ॥
पुरोहिताय यद् दत्तं चिकित्सकहृतं च यत् ।
यद् वणिक्कर्मिणे दत्तं क्षुद्रमन्त्रोपजीविने ॥
यच्छूद्रजीविने दत्तं यच्च देवलकाय च ।
देवद्रव्याशिने दत्तं यद् दत्तं चित्रकर्मिणे ॥
रङ्गोपजीविने दत्तं यच्च मांसोपजीविने ।
सेवकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं ब्राह्मणब्रुवे ॥
अदेशिने च यद् दत्तं दत्तं वार्धुषिकाय च ।
यदनाचारिणे दत्तं यत्तु दत्तमनग्नये ॥
असंध्योपासिने दत्तं यच्छूद्रग्रामवासिने ।
यन्मिथ्यालिङ्गिने दत्तं दत्तं सर्वाशिने च यत् ॥
नास्तिकाय च यद् दत्तं धर्मविक्रयिणे च यत् ।
वराकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं कूटसाक्षिणे ॥
ग्रामकूटाय यद् दत्तं दानं पार्थिवपुङ्गव ।
वृथा भवति तत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन्! जो दान अश्रद्धा या अपमानके साथ दिया जाता है, जिसे दिखावेके लिये दिया जाता है, जो पाखण्डीको प्राप्त हुआ है, जो शूद्रके समान आचरणवाले पुरुषको दिया जाता है, जिसे देकर अपने ही मुँहसे बारंबार बखान किया गया है, जिसे रोषपूर्वक दिया गया है तथा जिसको देकर पीछेसे उसके लिये शोक किया जाता है, जो दम्भसे उपार्जित अन्नका, झूठ बोलकर लाये हुए अन्नका, ब्राह्मणके धनका, चोरी करके लाये हुए द्रव्यका तथा कलंकी पुरुषके घरसे लाये हुए धनका दान किया गया है, जो पतित ब्राह्मणको दिया गया है, जो दान वेदविहीन पुरुषोंको और सबके यहाँ याचना करनेवालोंको दिया जाता है तथा जो संस्कारहीन पतितोंको तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुषोंको दिया जाता है, जो दान वेश्यागामीको और ससुरालमें रहकर गुजारा करनेवाले ब्राह्मणको दिया गया है, जिस दानको समूचे गाँवसे याचना करनेवाले और कृतघ्नने ग्रहण किया है एवं जो दान उपपातकीको, वेद बेचनेवालेको, स्त्रीके वशमें रहनेवालेको, राजसेवकको, ज्योतिषीको, तान्त्रिकको, शूद्र जातिकी स्त्रीके साथ सम्बन्ध रखनेवालेको, अस्त्र-शस्त्रसे जीविका चलानेवालेको, नौकरी करनेवालेको, सेपकड़नेवालेको और पुरोहिती करनेवालेको दिया जाता है, जिस दानको वैद्यने ग्रहण किया है, राजश्रेष्ठ! जो दान बनियेका काम करनेवालेको, क्षुद्र मन्त्र जपकर जीविका चलानेवालेको, शूद्रके यहाँ गुजारा करनेवालेको, वेतन लेकर मन्दिरमें पूजा करनेवालेको, देवोत्तर सम्पत्तिको खा जानेवालेको, तस्वीर बनानेका काम करनेवालेको, रंगभूमिमें नाच-कूदकर जीविका चलानेवालेको, मांस बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवालेको, सेवाका काम करनेवालेको, ब्राह्मणोचित आचारसे हीन होकर भी अपनेको ब्राह्मण बतानेवालेको, उपदेश देनेकी शक्तिसे रहितको, व्याजखोरको, अनाचारीको, अग्निहोत्र न करनेवालेको, संध्योपासनसे अलग रहनेवालेको, शूद्रके गाँवमें निवास करनेवालेको, झूठे वेष धारण करनेवालेको, सबके साथ और सब कुछ खानेवालेको, नास्तिकको, धर्मविक्रेताको, नीच वृत्तिवालेको, झूठी गवाही देनेवालेको तथा कूटनीतिका आश्रय लेकर गाँवके लोगोंमें लड़ाई-झगड़ा करानेवाले ब्राह्मणको दिया जाता है, वह सब निष्फल होता है, इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है ॥

विप्रनामधरा एते लोलुपा ब्राह्मणाधमाः ।
नात्मानं तारयन्त्येते न दातारं युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! ये सब विषयलोलुप, विप्रनामधारी ब्राह्मणाधम हैं, ये न तो अपना उद्धार कर सकते हैं और न दाताका ही ॥

एतेभ्यो दत्तमात्राणि दानानि सुबहून्यपि ।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥

राजेन्द्र! उपर्युक्त ब्राह्मणोंको दिये हुए दान बहुत हों तो भी राखमें डाली हुई घीकी आहुतिके समान व्यर्थ हो जाते हैं ॥

एतेषु यत् फलं किंचिद् भविष्यति कथंचन ।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च तद् विलुम्पन्ति हर्षिताः ॥

उन्हें दिये गये दानका जो कुछ फल होनेवाला होता है, उसे राक्षस और पिशाच प्रसन्नताके साथ लूट ले जाते हैं ॥

वृथा ह्येतानि दत्तानि कथितानि समासतः ।
जीवितं तु तथा ह्येषां तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! ये सब वृथा दान संक्षेपमें बताये गये। अब जिन-जिन मनुष्योंका जीवन व्यर्थ है, उनका परिचय दे रहा हूँ; सुनो ॥

ये मां न प्रतिपद्यन्ते शङ्करं वा नराधमाः ।
ब्राह्मणान् वा महादेवान् वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो नराधम मेरी, भगवान् शंकरकी अथवा भूमण्डलके

...वता ब्राह्मणोंकी शरण नहीं लेते, वे मनुष्य व्यर्थ ही ...ीते हैं ॥

...तुशास्त्रेषु ये सक्ताः कुदृष्टिपथमाश्रिताः ।
...वान् निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जिनकी कोरे तर्कशास्त्रमें ही आसक्ति है, जो नास्तिक-...थका अवलम्बन करते हैं, जिन्होंने आचार त्याग दिया है ...था जो देवताओंकी निन्दा करते हैं, वे मनुष्य व्यर्थ ही जी ...हे हैं ॥

...कुशलैः कृतशास्त्राणि पठित्वा ये नराधमाः ।
...विप्रान् निन्दन्ति यज्ञांश्च वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो नराधम नास्तिकोंके शास्त्र पढ़कर ब्राह्मण और यज्ञों-...ी निन्दा करते हैं, वे व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं ॥

... दुर्गां वा कुमारं वा वायुमग्निं जलं रविम् ।
...पितरं मातरं चैव गुरुमिन्द्रं निशाकरम् ।
...मूढा निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो मूढ़ दुर्गा, स्वामी कार्तिकेय, वायु, अग्नि, जल, ...र्य, माता-पिता, गुरु, इन्द्र तथा चन्द्रमाकी निन्दा करते ...और आचारका पालन नहीं करते, वे मनुष्य भी निरर्थक ...ी जीवन व्यतीत करते हैं ॥

...विद्यमाने धने यस्तु दानधर्मविवर्जितः ।
...मिष्टमश्नाति यश्चैको वृथा जीवति सोऽपि च ॥
...वृथा जीवितमाख्यातं दानकालं ब्रवीमि ते ॥

जो धन होनेपर भी दान और धर्म नहीं करता तथा ...सरोंको न देकर अकेले ही मिठाई खाया करता है, वह भी ...व्यर्थ ही जीता है । इस प्रकार व्यर्थ जीवनकी बात बतायी ...गयी । अब दानका समय बताता हूँ ॥

...तमोनिविष्टचित्तेन दत्तं दानं तु यद् भवेत् ।
...तस्य फलमश्नाति नरो गर्भगतो नृप ॥

राजन् ! तमोगुणमें आविष्ट हुए चित्तवाले मनुष्यके ...द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका फल मनुष्य गर्भावस्थामें ...भोगता है ॥

...ईर्ष्यामत्सरसंयुक्तो दम्भार्थं चार्थकारणात् ।
...ददाति दानं यो मर्त्यो बालभावे तदश्नुते ॥

ईर्ष्या और मत्सरतासे युक्त मनुष्य अर्थलोभसे और ...दम्भपूर्वक जिस दानको देता है, उसका फल वह बाल्यावस्था-...में भोगता है ॥

...भोक्तुं भोगमशक्तस्तु व्याधिभिः पीडितो भृशम् ।
...ददाति दानं यो मर्त्यो वृद्धभावे तदश्नुते ॥

भोगोंको भोगनेमें अशक्त, अत्यन्त व्याधिसे पीड़ित ...मनुष्य जिस दानको देता है, उसके फलका उपभोग वह ...वृद्धावस्थामें करता है ॥

...श्रद्धायुक्तः शुचिः स्नातः प्रसन्नेन्द्रियमानसः ।
...ददाति दानं यो मर्त्यो यौवने स तदश्नुते ॥

जो मनुष्य स्नान करके पवित्र हो मन और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखकर श्रद्धाके साथ दान करता है, उसके फलको वह यौवनावस्थामें भोगता है ॥

स्वयं नीत्वा तु यद् दानं भक्त्या पात्रे प्रदीयते ।
तत्सार्वकालिकं विद्धि दानमामरणान्तिकम् ॥

जो स्वयं देने योग्य वस्तु ले जाकर भक्तिपूर्वक सत्पात्र-को दान करता है, उसको मरणपर्यन्त हर समय उस दानका फल प्राप्त होता है, ऐसा समझो ॥

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं च युधिष्ठिर ।
दानं दानफलं चैव गतिं च त्रिविधां शृणु ॥

युधिष्ठिर ! दान और उसका फल सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन-तीन प्रकारका होता है तथा उसकी गति भी तीन प्रकारकी होती है, इसे सुनो ॥

दानं दातव्यमित्येव मतिं कृत्वा द्विजाय वै ।
उपकारवियुक्ताय यद् दत्तं तद्धि सात्त्विकम् ॥

दान देना कर्तव्य है—ऐसा समझकर अपना उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है, वही सात्त्विक है ॥

श्रोत्रियाय दरिद्राय, बहुभृत्याय पाण्डव ।
दीयते यत् प्रहृष्टेन तत् सात्त्विकमुदाहृतम् ॥

पाण्डुनन्दन ! जिसका कुटुम्ब बहुत बड़ा हो तथा जो दरिद्र और वेदका विद्वान् हो, ऐसे ब्राह्मणको प्रसन्नतापूर्वक जो कुछ दिया जाता है, वह भी सात्त्विक कहा जाता है ॥

वेदाक्षरविहीनाय यत्तु पूर्वोपकारिणे ।
समृद्धाय च यद् दत्तं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

परंतु जो वेदका एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके घरमें काफी सम्पत्ति मौजूद है तथा जो पहले कभी अपना उपकार कर चुका है, ऐसे ब्राह्मणको दिया हुआ दान राजस माना गया है ॥

सम्बन्धिने च यद् दत्तं प्रमत्ताय च पाण्डव ।
फलार्थिभिरपात्राय तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

पाण्डव ! अपने सम्बन्धी और प्रमादीको दिया हुआ, फलकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा दिया हुआ तथा अपात्रको दिया हुआ दान भी राजस ही है ॥

वैश्वदेवविहीनाय दानमश्रोत्रियाय च ।
दीयते तस्करायापि तद् दानं तामसं स्मृतम् ॥

जो ब्राह्मण बलिवैश्वदेव नहीं करता, वेदका ज्ञान नहीं रखता तथा चोरी किया करता है, उसको दिया हुआ दान तामस है ॥

सरोषमवधूतं च क्लेशयुक्तमवज्ञया ।
सेवकाय च यद् दत्तं तत् तामसमुदाहृतम् ॥

क्रोध, तिरस्कार, क्लेश और अवहेलनापूर्वक तथा

सेवकको दिया हुआ दान भी तामस ही बतलाया गया है ॥

देवा पितृगणाश्चैव मुनयश्चाग्नयस्तथा ।
सात्त्विकं दानमश्नन्ति तुष्यन्ति च नरेश्वर ॥

नरेश्वर ! सात्त्विक दानको देवता, पितर, मुनि और अग्नि ग्रहण करते हैं तथा उससे इन्हें बड़ा संतोष होता है ॥

दानवा दैत्यसंघाश्च ग्रहा यक्षाः सराक्षसाः ।
राजसं दानमश्नन्ति वर्जितं पितृदैवतैः ॥

राजस दानका दानव, दैत्य, ग्रह, यक्ष और राक्षस उपभोग करते हैं, पितर और देवता नहीं करते ॥

पिशाचाः प्रेतसंघाश्च कश्मला ये मलीमसाः ।
तामसं दानमश्नन्ति गतिं च त्रिविधां शृणु ॥

तामस दानका फल पापी और मलिन कर्म करनेवाले प्रेत एवं पिशाच भोगते हैं । अब त्रिविध गतिका वर्णन सुनो ॥

सात्त्विकानां तु दानानामुत्तमं फलमश्नुते ।
मध्यमं राजसानां तु तामसानां तु पश्चिमम् ॥

सात्त्विक दानोंका फल उत्तम, राजस दानोंका मध्यम और तामस दानोंका फल अधम होता है ॥

अभिगम्योपनीतानां दानानां फलमुत्तमम् ।
मध्यमं तु समाहूय जघन्यं याचते फलम् ॥

जो दान सामने जाकर दिया जाता है, उसका फल उत्तम होता है; जो दानपात्रको बुलाकर दिया जाता है, उसका फल मध्यम होता है और जो याचना करनेवालेको दिया जाता है, उसका फल जघन्य होता है ॥

अयाचितप्रदाता यः स याति गतिमुत्तमाम् ।
समाहूय तु यो दद्यान्मध्यमां स गतिं व्रजेत् ।
याचितो यश्च वै दद्याज्जघन्यां स गतिं व्रजेत् ॥

जो याचना न करनेवालेको देता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त करता है; जो बुलाकर देता है, वह मध्यम गतिको जाता है और जो याचना करनेवालेको देता है, वह नीची गति पाता है ॥

उत्तमा दैविकी ज्ञेया मध्यमा मानुषी गतिः ।
गतिर्जघन्या तिर्यक्षु गतिरेषा त्रिधा स्मृता ॥

दैवी गतिको उत्तम समझना चाहिये । मानुषी गति मध्यम है और तिर्यग्योनियाँ नीच गति हैं—यह इनका तीन प्रकार माना गया है ॥

पात्रभूतेषु विप्रेषु संस्थितेष्वाहिताग्निषु ।
यत्तु निक्षिप्यते दानमक्षय्यं सम्प्रकीर्तितम् ॥

दानके उत्तम पात्र अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको जो दान दिया जाता है, वह अक्षय बतलाया गया है ॥

श्रोत्रियाणां दरिद्राणां भरणं कुरु पार्थिव ।
समृद्धानां द्विजातीनां कुर्यास्तेषां तु रक्षणम् ॥

अतः भूपाल ! जो वेदके विद्वान् होते हुए दरिद्र उनके भरण-पोषणका तुम स्वयं प्रबन्ध करो और सम्प शाली द्विजोंकी रक्षा करते रहो ॥

दरिद्रान् वित्तहीनांश्च प्रदानैः सुष्ठु पूजय ।
आतुरस्यौषधैः कार्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥

धनहीन दरिद्र ब्राह्मणोंको दान देकर उनकी भलीभ पूजा करो; क्योंकि रोगीको ही ओषधिकी आवश्यकता नीरोगको ओषधिसे क्या प्रयोजन ? ॥

पापं प्रतिगृहीतारं प्रदातुरुपगच्छति ।
प्रतिग्रहीतुर्यत् पुण्यं प्रदातारमुपैति तत् ।
तस्माद् दानं सदा कार्यं परत्र हितमिच्छता ॥

दाताका पाप दानके साथ ही दान लेनेवालेके पास च जाता है और उसका पुण्य दाताको प्राप्त हो जाता है, अ परलोकमें अपना हित चाहनेवाले पुरुषको सदा दान क रहना चाहिये ॥

वेदविद्याव्रदानेषु सदा शूद्रान्नवर्जिषु ।
प्रयत्नेन विधातव्यो महादानमयो निधिः ॥

जो वेद-विद्या पढ़कर अत्यन्त शुद्ध आचार-विचा रहते हों और शूद्रोंका अन्न कभी नहीं ग्रहण करते हों, विद्वानोंको प्रयत्नपूर्वक बड़े-बड़े दानोंका भाण्डार बना चाहिये ॥

येषां दाराः प्रतीक्ष्यन्ते सहस्रस्येव लम्भनम् ।
भुक्तशेषस्य भक्तस्य तान् निमन्त्रय पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! जिनकी स्त्रियाँ अपने पतिके भोज बचे हुए अन्नको हजारोंगुना लाभ समझकर उसके मिलने प्रतीक्षा किया करती हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको तुम भोजनके लि निमन्त्रित करना ॥

आमन्त्र्य तु निराशानि न कर्तव्यानि भारत ।
कुलानि सुदरिद्राणि तेषामाशा हता भवेत् ॥

भारत ! दरिद्रकुलके ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उ निराश न लौटाना, अन्यथा उनकी आशा मारी जायगी ॥

मद्भक्ता ये नरश्रेष्ठ मद्गता मत्परायणाः ।
मद्याजिनो मन्नियमास्तान् प्रयत्नेन पूजयेत् ॥

नरश्रेष्ठ ! जो मेरे भक्त हों, मेरेमें मन लगानेवाले हो मेरी शरणमें हों, मेरा पूजन करते हों और नियमपूर्वक मुझ ही लगे रहते हों, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये ॥

तेषां तु पावनायाहं नित्यमेव युधिष्ठिर ।
उभे संध्येऽधितिष्ठामि ह्यस्कन्नं तद् व्रतं मम ॥

युधिष्ठिर ! अपने उन भक्तोंको पवित्र करनेके लिये प्रतिदिन दोनों समय संध्यामें व्याप्त रहता हूँ । मेरा यह निय कभी खण्डित नहीं होता ॥

तस्मादष्टाक्षरं मन्त्रं मद्भक्तैर्वीतकल्मषैः ।

संध्याकाले तु जप्तव्यं सततं चात्मशुद्धये ॥

इसलिये मेरे निष्पाप भक्तजनोंको चाहिये कि वे आत्मशुद्धिके लिये संध्याके समय निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते रहें ॥

अन्येषामपि विप्राणां किल्बिषं हि विनश्यति ।
उभे संध्येऽप्युपासीत तस्माद् विप्रो विशुद्धये ॥

संध्या और अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करनेसे दूसरे ब्राह्मणोंके भी पाप नष्ट हो जाते हैं, अतः चित्तशुद्धिके लिये प्रत्येक ब्राह्मणको दोनों कालकी संध्या करनी चाहिये ॥

दैवे श्राद्धेऽपि विप्रः स नियोक्तव्योऽजुगुप्सया।
जुगुप्सितस्तु यः श्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार संध्योपासन और जप करता हो, उसे देवकार्य और श्राद्धमें नियुक्त करना चाहिये । उसकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा करनेपर ब्राह्मण उस श्राद्धको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे आग ईंधनको जला डालती है ॥

भारतं मानवो धर्मो वेदाः साङ्गाश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

महाभारत, मनुस्मृति, अङ्गोंसहित चारों वेद और आयुर्वेद शास्त्र—ये चारों सिद्ध उपदेश देनेवाले हैं, अतः तर्कद्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिये ॥

न ब्राह्मणान् परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
महान् भवेत् परीवादो ब्राह्मणानां परीक्षणे ॥

धर्मको जाननेवाले पुरुषको देवसम्बन्धी कार्यमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनेसे यजमानकी बड़ी निन्दा होती है ॥

श्वत्वं प्राप्नोति निन्दित्वा परीवादात् खरो भवेत्।
कृमिर्भवत्यभिभवात् कीटो भवति मत्सरात् ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला मनुष्य कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है, उसपर दोषारोपण करनेसे गदहा होता है और उसका तिरस्कार करनेसे कृमि होता है तथा उसके साथ द्वेष करनेसे वह कीड़ेकी योनिमें जन्म पाता है ॥

दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥

ब्राह्मण चाहे दुराचारी हों या सदाचारी, संस्कारहीन हों या संस्कारोंसे सम्पन्न, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे भस्मसे ढकी हुई आगके तुल्य हैं ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत मेधावी कृशानपि कदाचन ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि क्षत्रिय, साँप और विद्वान् ब्राह्मण यदि कमजोर हों तो भी कभी उनका अपमान न करे ॥

एतत् त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन नावमन्येत बुद्धिमान् ॥

क्योंकि वे तीनों अपमानित होनेपर मनुष्यको भस्म कर डालते हैं । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको प्रयत्नपूर्वक उनके अपमानसे बचना चाहिये ॥

यथा सर्वास्ववस्थासु पावको दैवतं महत् ।
तथा सर्वास्ववस्थासु ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥

जिस प्रकार सभी अवस्थाओंमें अग्नि महान् देवता हैं, उसी प्रकार सभी अवस्थाओंमें ब्राह्मण महान् देवता हैं ॥

व्यङ्गाः काणाश्च कुब्जाश्च वामनाङ्गास्तथैव च ।
सर्वे दैवे नियोक्तव्या व्यामिश्रा वेदपारगैः ॥

अङ्गहीन, काने, कुबड़े और बौने—इन सब ब्राह्मणोंको देवकार्यमें वेदके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ नियुक्त करना चाहिये ॥

मन्युं नोत्पादयेत् तेषां न चारिष्टं समाचरेत् ।
मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥

उनपर क्रोध न करे, न उनका अनिष्ट ही करे; क्योंकि ब्राह्मण क्रोधरूपी शस्त्रसे ही प्रहार करते हैं, वे शस्त्र हाथमें रखनेवाले नहीं हैं ॥

मन्युना घ्नन्ति ते शत्रून् वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ।
ब्राह्मणो हि महद् दैवं जातिमात्रेण जायते ॥

जैसे इन्द्र असुरोंका वज्रसे नाश करते हैं, वैसे ही वे ब्राह्मण क्रोधसे शत्रुका नाश करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण जातिमात्रसे ही महान् देवभावको प्राप्त हो जाता है ॥

ब्राह्मणाः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ।
किं पुनर्ये च कौन्तेय संध्यां नित्यमुपासते ॥

कुन्तीनन्दन ! सारे प्राणियोंके धर्मरूपी खजानेकी रक्षा करनेके लिये साधारण ब्राह्मण भी समर्थ हैं, फिर जो नित्य संध्योपासन करते हैं, उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥

यस्यास्येन समश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥

जिसके मुखसे स्वर्गवासी देवगण हविष्यका और पितर कव्यका भक्षण करते हैं, उससे बढ़कर कौन प्राणी हो सकता है ? ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मण जन्मसे ही धर्मकी सनातन मूर्ति है । वह धर्मके ही लिये उत्पन्न हुआ है और वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वयं वस्ते ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।
तस्मात् ते नावमन्तव्या मद्भक्ता हि द्विजाः सदा ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है । दूसरे मनुष्य ब्राह्मणकी दयासे ही भोजन पाते हैं । अतः ब्राह्मणोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये;

क्योंकि वे सदा ही मुझमें भक्ति रखनेवाले होते हैं ॥

आरण्यकोपनिषदि ये तु पश्यन्ति मां द्विजाः ।
निगूढं निष्कलावस्थं तान् प्रयत्नेन पूजय ॥

जो ब्राह्मण बृहदारण्यक उपनिषद्में वर्णित मेरे गूढ़ और निष्कल स्वरूपका ज्ञान रखते हैं, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना ॥

स्वगृहे वा प्रवासे वा दिवारात्रमथापि वा ।
श्रद्धया ब्राह्मणाः पूज्या मद्भक्ता ये च पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! घरपर या विदेशमें, दिनमें या रातमें मेरे भक्त ब्राह्मणोंकी निरन्तर श्रद्धाके साथ पूजा करते रहना चाहिये ॥

नास्ति विप्रसमं दैवं नास्ति विप्रसमो गुरुः ।
नास्ति विप्रात् परो बन्धुर्नास्ति विप्रात् परो निधिः॥

ब्राह्मणके समान कोई देवता नहीं है, ब्राह्मणके समान कोई गुरु नहीं है, ब्राह्मणसे बढ़कर बन्धु नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई खजाना नहीं है ॥

नास्ति विप्रात् परं तीर्थं न पुण्यं ब्राह्मणात् परम् ।
न पवित्रं परं विप्रान्न द्विजात् पावनं परम् ।
नास्ति विप्रात् परो धर्मो नास्ति विप्रात् परा गतिः॥

कोई तीर्थ और पुण्य भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ नहीं है । ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र कोई नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र करनेवाला कोई नहीं है । ब्राह्मणसे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं और ब्राह्मणसे उत्तम कोई गति नहीं है ॥

पापकर्मसमाक्षिप्तं पतन्तं नरके नरम् ।
त्रायते पात्रमप्येकं पात्रभूते तु तद् द्विजे ॥
बालाहिताग्नयो ये च शान्ताः शूद्रान्नवर्जिताः ।
मामर्चयन्ति मद्भक्तास्तेभ्यो दत्तमिहाक्षयम् ॥

पापकर्मके कारण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका एक सुपात्र ब्राह्मण भी उद्धार कर सकता है । सुपात्र ब्राह्मणोंमें भी जो बाल्यकालसे ही अग्निहोत्र करनेवाले, शूद्रका अन्न त्याग देनेवाले तथा शान्त और मेरे भक्त हैं एवं सदा मेरी पूजा किया करते हैं, उनको दिया हुआ दान अक्षय होता है ॥

प्रदानैः पूजितो विप्रो वन्दितो वापि संस्कृतः ।
सम्भावितो वा दृष्टो वा मद्भक्तो दिवमुन्नयेत् ॥

मेरे भक्त ब्राह्मणको दान देकर उसकी पूजा करने, सिर झुकाने, सत्कार करने, बातचीत करने अथवा दर्शन करनेसे वह मनुष्यको दिव्यलोकमें पहुँचा देता है ॥

ये पठन्ति नमस्यन्ति ध्यायन्ति पुरुषास्तु माम् ।
स तान् दृष्ट्वा च स्पृष्ट्वा च नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

जो लोग मेरे गुण और लीलाओंका पाठ करते हैं तथा मुझे नमस्कार करते और मेरा ध्यान करते हैं, उनका दर्शन और स्पर्श करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

मद्भक्ता मद्गतप्राणा मद्गीता मत्परायणाः ।
बीजयोनिविशुद्धा ये श्रोत्रियाः संयतेन्द्रियाः ।
शूद्रान्नविरता नित्यं ते पुनन्तीह दर्शनात् ॥

जो मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे हुए हैं, जो मेरी महिमाका गान करते हैं और मेरी शरणमें पड़े रहते हैं, जिनकी उत्पत्ति शुद्ध रज और वीर्यसे हुई है, जो वेदके विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा सदा शूद्रान्नसे बचे रहनेवाले हैं, वे दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥

स्वयं नीत्वा विशेषेण दानं तेषां गृहेष्वथ ।
निवापयेत्तु यद्भक्त्या तद् दानं कोटिसम्मितम् ॥

ऐसे लोगोंके घरपर स्वयं उपस्थित होकर भक्तिपूर्वक विशेषरूपसे दान देना चाहिये । वह दान साधारण दानकी अपेक्षा करोड़गुना फल देनेवाला माना गया है ॥

जाग्रतः स्वपतो वापि प्रवासेषु गृहेष्वथ ।
हृदये न प्रणश्यामि यस्य विप्रस्य भावतः ॥
स पूजितो वा दृष्टो वा स्पृष्टो वापि द्विजोत्तमः ।
सम्भाषितो वा राजेन्द्र पुनात्येवं नरं सदा ॥

राजेन्द्र ! जागते अथवा सोते समय, परदेशमें अथवा घर रहते समय जिस ब्राह्मणके हृदयसे उसकी भक्ति-भावनाके कारण मैं कभी दूर नहीं होता, ऐसा वह श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजन, दर्शन, स्पर्श अथवा सम्भाषण करने मात्रसे मनुष्यको सदा पवित्र कर देता है ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पाण्डव ।
मद्भक्तेभ्यः प्रदत्तानि स्वर्गमार्गप्रदानि वै ॥

पाण्डव ! इस प्रकार सब अवस्थाओंमें मेरे भक्तोंको दिये हुए सब प्रकारके दान स्वर्गमार्ग प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[बीज और योनिकी शुद्धि तथा गायत्री-जपकी और ब्राह्मणोंकी महिमाका और उनके तिरस्कारके भयानक फलका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं सात्त्विकं दानं राजसं तामसं तथा ।
पृथक्पृथक्त्वेन गतिं फलं चापि पृथक् पृथक् ॥
अवितृप्तः प्रहृष्टात्मा पुण्यं धर्मामृतं पुनः ।
युधिष्ठिरो धर्मरतः केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस दान, उसकी भिन्न भिन्न गति और पृथक्-पृथक् फलका वर्णन सुनकर धर्मपरायण युधिष्ठिरका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ । इस परम पवित्र धर्मरूपी अमृतका पान करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं हुई, अतः वे पुनः भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥

बीजयोनिविशुद्धानां लक्षणानि वदस्व मे ।
बीजदोषेण लोकेश जायन्ते च कथं नराः ॥

'जगदीश्वर ! मुझे यह बतलाइये कि बीज और योनि (वीर्य और रज) से शुद्ध पुरुषोंके लक्षण कैसे होते हैं ? बीज-दोषसे कैसे मनुष्य उत्पन्न होते हैं ? ॥

आचारदोषं देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः ।
ब्राह्मणानां विशेषं च गुणदोषौ च केशव ॥

'देवेश्वर श्रीकृष्ण ! ब्राह्मणोंके उत्तम, मध्यम आदि विशेष भेदोंका, उनके आचारके दोषोंका तथा उनके गुण-दोषोंका भी सम्पूर्णतया वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं बीजयोनि शुभाशुभम् ।
येन तिष्ठति लोकोऽयं विनश्यति च पाण्डव ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! बीज और योनिकी शुद्धि-अशुद्धिका यथावत् वर्णन सुनो । पाण्डुनन्दन ! उनकी शुद्धिसे ही यह संसार टिकता है और अशुद्धिसे उसका नाश हो जाता है ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्यो यस्तु विप्रो यथाविधि ।
स बीजं नाम विज्ञेयं तस्य बीजं शुभं भवेत् ॥

जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका विधिवत् पालन करता है, जिसका ब्रह्मचर्यव्रत कभी खण्डित नहीं होता, उसको बीज समझना चाहिये, उसीका बीज शुभ होता है ॥

कन्या चाक्षतयोनिः स्यात् कुलीना पितृमातृतः ।
ब्राह्मादिषु विवाहेषु परिणीता यथाविधि ॥
सा प्रशस्ता वरारोहा तस्याः योनिः प्रशस्यते ।
मनसा कर्मणा वाचा या गच्छेत् परपूरुषम् ।
योनिस्तस्या नरश्रेष्ठ गर्भाधानं न चार्हति ॥

इसी प्रकार जो कन्या पिता और माताकी दृष्टिसे उत्तम कुलमें उत्पन्न हो, जिसकी योनि दूषित न हुई हो तथा ब्राह्म आदि उत्तम विवाहोंकी विधिसे ब्याही गयी हो, वह उत्तम स्त्री मानी गयी है । उसीकी योनि श्रेष्ठ है । नरश्रेष्ठ ! जो स्त्री मन, वाणी और क्रियासे परपुरुषके साथ समागम करती है, उसकी योनि गर्भाधानके योग्य नहीं होती ॥

दैवे पित्र्ये तथा दाने भोजने सहभाषणे ।
शयने सह सम्बन्धे न योग्या दुष्टयोनिजाः ॥

दूषित योनिसे उत्पन्न हुए मनुष्य यज्ञ, श्राद्ध, दान, भोजन, वार्तालाप, शयन तथा सम्बन्ध आदिमें सम्मिलित करने योग्य नहीं होते ॥

कानीनश्च सहोढश्च तथोभौ कुण्डगोलकौ ।
आरूढपतिताज्जातः पतितस्यापि यः सुतः ।
षडेते विप्रचाण्डाला निकृष्टाः श्वपचादपि ॥

बिना ब्याही कन्यासे उत्पन्न, ब्याहके समय गर्भवती कन्यासे उत्पन्न, पतिकी जीवितावस्थामें व्यभिचारसे उत्पन्न, पतिके मर जानेपर पर-पुरुषसे उत्पन्न, संन्यासीके वीर्यसे उत्पन्न तथा पतित मनुष्यसे उत्पन्न—ये छः प्रकारके चाण्डाल ब्राह्मण होते हैं, जो चाण्डालसे भी नीच हैं ॥

यो यत्र तत्र वा रेतः सिक्त्वा शूद्रासु वा चरेत् ।
कामचारी स पापात्मा बीजं तस्याशुभं भवेत् ॥

जो जहाँ-तहाँ जिस किसी स्त्रीसे अथवा शूद्र जातिकी स्त्रीसे भी समागम कर लेता है, वह पापात्मा स्वेच्छाचारी कहलाता है । उसका बीज अशुभ होता है ॥

अशुद्धं तद् भवेद् बीजं शुद्धां योनिं न चार्हति ।
दूषयत्यपि तां योनिं शुना लीढं हविर्यथा ॥

वह अशुद्ध वीर्य किसी शुद्ध योनिवाली स्त्रीके योग्य नहीं होता, उसके सम्पर्कसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यकी तरह शुद्ध योनि भी दूषित हो जाती है ॥

आत्मा हि शुक्रमुद्दिष्टं दैवतं परमं महत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निरुन्ध्याच्छुक्रमात्मनः ॥

वीर्यको आत्मा बताया गया है । वह सबसे श्रेष्ठ देवता है । इसलिये सब प्रकारका प्रयत्न करके अपने वीर्यकी रक्षा करनी चाहिये ॥

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद् यशः ।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया ॥

मनुष्य ब्रह्मचर्यके पालनसे आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और मेरे प्रेमको प्राप्त करता है ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्यैर्गृहस्थाश्रममाश्रितैः ।
पञ्चयज्ञपरैर्धर्मः स्थाप्यते पृथिवीतले ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें स्थित होकर अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पञ्चयज्ञोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं, वे पृथ्वीतलपर धर्मकी स्थापना करते हैं ॥

सायं प्रातस्तु ये संध्यां सम्यग्नित्यमुपासते ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तरन्ते तारयन्ति च ॥

जो प्रतिदिन सबेरे और शामको विधिवत् संध्योपासना करते हैं, वे वेदमयी नौकाका सहारा लेकर इस संसार-समुद्रसे स्वयं भी तर जाते हैं और दूसरोंको भी तार देते हैं ॥

यो जपेत् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानः पृथिवीं च ससागराम् ॥

जो ब्राह्मण सबको पवित्र बनानेवाली वेदमाता गायत्री-देवीका जप करता है, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दान लेनेपर भी प्रतिग्रहके दोषसे दुखी नहीं होता ॥

ये चास्य दुःस्थिताः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शुभकरास्तथा ॥

तथा सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो उसके लिये अशुभ स्थानमें रहकर अनिष्टकारक होते हैं, वे भी गायत्री-जपके प्रभावसे शान्त, शुभ और कल्याणकारी फल देनेवाले हो जाते हैं ॥

यत्र यत्र स्थिताश्चैव दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति न तं द्विजम् ॥

जहाँ कहीं क्रूर कर्म करनेवाले भयंकर विशालकाय पिशाच रहते हैं, वहाँ जानेपर भी वे उस ब्राह्मणका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥

पुनन्तीह पृथिव्यां च चीर्णवेदव्रता नराः ।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी ॥

वैदिक व्रतोंका आचरण करनेवाले पुरुष पृथ्वीपर दूसरोंको पवित्र करनेवाले होते हैं। राजन्! चारों वेदोंमें वह गायत्री श्रेष्ठ है ॥

अचीर्णव्रतवेदा ये विकर्मफलमाश्रिताः ।
ब्राह्मणा नाममात्रेण तेऽपि पूज्या युधिष्ठिर ।
किं पुनर्यस्तु संध्ये द्वे नित्यमेवोपतिष्ठते ॥

युधिष्ठिर! जो ब्राह्मण न तो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और न वेदाध्ययन करते हैं, जो बुरे फलवाले कर्मोंका आश्रय लेते हैं, वे नाममात्रके ब्राह्मण भी गायत्रीके जपसे पूज्य हो जाते हैं। फिर जो ब्राह्मण प्रातः-सायं दोनों समय संध्या-वन्दन करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है?॥

शीलमध्ययनं दानं शौचं मार्दवमार्जवम् ।
तस्माद् वेदाद् विशिष्टानि मनुराह प्रजापतिः ॥

प्रजापति मनुका कहना है कि—'शील, स्वाध्याय, दान, शौच, कोमलता और सरलता—ये सद्गुण ब्राह्मणके लिये वेदसे भी बढ़कर हैं ॥

भूर्भुवः स्वरिति ब्रह्म यो वेदनिरतो द्विजः ।
स्वदारनिरतो दान्तः स विद्वान् स च भूसुरः ॥

जो ब्राह्मण 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियोंके साथ गायत्रीका जप करता है, वेदके स्वाध्यायमें संलग्न रहता है और अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करता है, वही जितेन्द्रिय, वही विद्वान् और वही इस भूमण्डलका देवता है ॥

संध्यामुपासते ये वै नित्यमेव द्विजोत्तमाः ।
ते यान्ति नरशार्दूल ब्रह्मलोकं न संशयः ॥

पुरुषसिंह! जो श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रतिदिन संध्योपासन करते हैं, वे निःसंदेह ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरो विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥

केवल गायत्रीमात्र जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि नियमसे रहता है तो वह श्रेष्ठ है; किंतु जो चारों वेदोंका विद्वान् होनेपर भी सबका अन्न खाता है, सब कुछ बेचता है और नियमोंका पालन नहीं करता है, वह उत्तम नहीं माना जाता ॥

सावित्रीं चैव वेदांश्च तुलयातोलयन् पुरा ।
सदेवर्षिगणाश्चैव सर्वे ब्रह्मपुरःसराः ।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी ॥

राजन्! पूर्वकालमें देवता और ऋषियोंने ब्रह्माजीके सामने गायत्री-मन्त्र और चारों वेदोंको तराजूपर रखकर तौला था। उस समय गायत्रीका पलड़ा ही चारों वेदोंसे भारी साबित हुआ ॥

यथा विकसिते पुष्पे मधु गृह्णन्ति षट्पदाः ।
एवं गृहीता सावित्री सर्ववेदे च पाण्डव ॥

पाण्डव! जैसे भ्रमर खिले हुए फूलोंसे उनके सारभूत मधुको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदोंसे उनके सारभूत गायत्रीका ग्रहण किया गया है ॥

तस्मात् तु सर्ववेदानां सावित्री प्राण उच्यते ।
निर्जीवा हीतरे वेदा विना सावित्रिया नृप ॥

इसलिये गायत्री सम्पूर्ण वेदोंका प्राण कहलाती है। नरेश्वर! गायत्रीके बिना सभी वेद निर्जीव हैं ॥

नायन्त्रितश्चतुर्वेदी शीलभ्रष्टः स कुत्सितः ।
शीलवृत्तसमायुक्तः सावित्रीपाठको वरः ॥

नियम और सदाचारसे भ्रष्ट ब्राह्मण चारों वेदोंका विद्वान् हो तो भी वह निन्दाका ही पात्र है, किंतु शील और सदाचारसे युक्त ब्राह्मण यदि केवल गायत्रीका जप करता हो तो भी वह श्रेष्ठ माना जाता है ॥

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां शतावराम् ।
सावित्रीं जप कौन्तेय सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥

प्रतिदिन एक हजार गायत्री मन्त्रका जप करना उत्तम है, सौ मन्त्रका जप करना मध्यम और दस मन्त्रका जप करना कनिष्ठ माना गया है। कुन्तीनन्दन! गायत्री सब पापोंको नष्ट करनेवाली है, इसलिये तुम सदा उसका जप करते रहो ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्रैलोक्यनाथ हे कृष्ण सर्वभूतात्मको ह्यसि ।
नानायोगपर श्रेष्ठ तुष्यसे केन कर्मणा ॥

युधिष्ठिरने पूछा—त्रिलोकीनाथ! आप सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। विभिन्न योगोंके द्वारा प्राप्तव्य सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! बताइये, किस कर्मसे आप संतुष्ट होते हैं? ॥

श्रीभगवानुवाच

यदि भारसहस्रं तु गुग्गुल्वादि प्रधूपयेत् ।
करोति चेन्नमस्कारमुपहारं च कारयेत् ॥
स्तौति यः स्तुतिभिर्मां च ऋग्यजुःसामभिः सदा ।
न तोषयति चेद् विप्रान् नाहं तुष्यामि भारत ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—भारत! कोई एक हजार भार गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थोंको जलाकर मुझे धूप दे, निरन्तर नमस्कार करे, खूब भेंट-पूजा चढ़ावे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी स्तुतियोंसे सदा मेरा स्तवन करता रहे; किंतु यदि वह ब्राह्मणको संतुष्ट न कर सका तो मैं उसपर प्रसन्न नहीं होता ॥

ब्राह्मणे पूजिते नित्यं पूजितोऽस्मि न संशयः ।
आक्रुष्टे चाहमाक्रुष्टो भवामि भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मणकी पूजासे सदा मेरी भी पूजा हो जाती है और ब्राह्मणको कटुवचन सुनानेसे मैं ही उस कटुवचनका लक्ष्य बनता हूँ ॥

परा मयि गतिस्तेषां पूजयन्ति द्विजं हि ये।
यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले॥

जो ब्राह्मणकी पूजा करते हैं, उनकी परमगति मुझमें ही होती है; क्योंकि पृथ्वीपर ब्राह्मणोंके रूपमें मैं ही निवास करता हूँ॥

यस्तान् पूजयति प्राज्ञो मद्गतेनान्तरात्मना।
तमहं स्वेन रूपेण पश्यामि नरपुङ्गव॥

पुरुषश्रेष्ठ! जो बुद्धिमान् मनुष्य मुझमें मन लगाकर ब्राह्मणोंकी पूजा करता है, उसको मैं अपना स्वरूप ही समझता हूँ॥

कुब्जाः काणा वामनाश्च दरिद्रा व्याधितास्तथा।
नावमान्या द्विजाः प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः॥

ब्राह्मण यदि कुबड़े, काने, बौने, दरिद्र और रोगी भी हों तो विद्वान् पुरुषोंको कभी उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सब मेरे ही स्वरूप हैं॥

ये केचित् सागरान्तायां पृथिव्यां द्विजसत्तमाः।
मम रूपं हि तेष्वेवमर्चितेष्वर्चितोऽस्म्यहम्॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके ऊपर जितने भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, वे सब मेरे स्वरूप हैं। उनका पूजन करनेसे मेरा भी पूजन हो जाता है॥

बहुवस्तु न जानन्ति नरा ज्ञानबहिष्कृताः।
यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले॥

बहुत-से अज्ञानी पुरुष इस बातको नहीं जानते कि मैं इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंके रूपमें निवास करता हूँ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां ये रमन्ते द्विजातिषु।
तान् मृतान् यमलोकस्थान् निपात्य पृथिवीतले॥
आक्रम्योरसि पादेन क्रूरः संरक्तलोचनः।
अग्निवर्णैस्तु संदंशैर्यमो जिह्वां समुद्धरेत्॥

जो ब्राह्मणोंको गाली देकर और उनकी निन्दा करके प्रसन्न होते हैं, वे जब यमलोकमें जाते हैं तब लाल-लाल आँखोंवाले क्रूर यमराज उन्हें पृथ्वीपर पटककर छातीपर सवार हो जाते हैं और आगमें तपाये हुए सँड़सोंसे उनकी जीभ उखाड़ लेते हैं॥

ये च विप्रान् निरीक्षन्ते पापाः पापेन चक्षुषा।
अब्रह्मण्याः श्रुतेर्बाह्या नित्यं ब्रह्मद्विषो नराः॥
तेषां घोरा महाकाया वक्रतुण्डा महाबलाः।
उद्धरन्ति मुहूर्तेन खगाश्चक्षुर्यमाज्ञया॥

जो पापी ब्राह्मणोंकी ओर पापपूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति नहीं करते, वैदिक मर्यादाका उल्लङ्घन करते हैं और सदा ब्राह्मणोंके द्वेषी बने रहते हैं, वे जब यमलोकमें पहुँचते हैं तब वहाँ यमराजकी आज्ञासे टेढ़ी चोंचवाले बड़े-बड़े बलवान् पक्षी आकर क्षणभरमें उन पापियोंकी आँखें निकाल लेते हैं॥

यः प्रहारं द्विजेन्द्राय दद्यात् कुर्याच्च शोणितम्।
अस्थिभङ्गं च यः कुर्यात् प्राणैर्वा विप्रयोजयेत्।
सोऽऽनुपूर्व्येण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको पीटता है, उसके शरीरसे खून निकाल देता है, उसकी हड्डी तोड़ डालता है अथवा उसके प्राण ले लेता है, वह क्रमशः इक्कीस नरकोंमें अपने पापका फल भोगता है॥

शूलमारोप्यते पश्चाज्ज्वलने परिपच्यते।
बहुवर्षसहस्राणि पच्यमानस्त्ववाक्शिराः।
नावमुच्येत दुर्मेधा न तस्य क्षीयते गतिः॥

पहले वह शूलपर चढ़ाया जाता है। फिर मस्तक नीचे करके उसे आगमें लटका दिया जाता है और वह हजारों वर्षोंतक उसमें पकता रहता है। वह दुष्टबुद्धिवाला पुरुष उस दारुण यातनासे तबतक छुटकारा नहीं पाता, जबतक कि उसके पापका भोग समाप्त नहीं हो जाता॥

ब्राह्मणान् वा विचार्यैव व्रजन् वै वधकाङ्क्षया।
शतवर्षसहस्राणि तामिस्रे परिपच्यते॥

ब्राह्मणोंका अपमान करनेके विचारसे अथवा उनको मारनेकी इच्छासे जो उनपर आक्रमण करते हैं, वे एक लाख वर्षतक तामिस्र नरकमें पकाये जाते हैं॥

तस्मान्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गतिमीरयेत्।
न ब्रूयात् परुषां वाणीं न चैवैनानतिक्रमेत्॥

इसलिये ब्राह्मणोंके प्रति कभी अमङ्गलसूचक वचन न कहे, उनसे रूखी और कठोर बात न बोले तथा कभी उनका अपमान न करे॥

ये विप्राञ्श्लक्ष्णया वाचा पूजयन्ति नरोत्तमाः।
अर्चितश्च स्तुतश्चैव तैर्भवामि न संशयः॥

जो श्रेष्ठ मनुष्य ब्राह्मणोंकी मधुर वाणीसे पूजा करते हैं, उनके द्वारा निःसंदेह मेरी ही पूजा और स्तुति-क्रिया सम्पन्न हो जाती है॥

तर्जयन्ति च ये विप्रान् क्रोशयन्ति च भारत।
आक्रुष्टस्तर्जितश्चाहं तैर्भवामि न संशयः॥

भारत! जो ब्राह्मणोंको फटकारते और गालियाँ सुनाते हैं, वे मुझे ही गाली देते और मुझे ही फटकारते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[यमलोकके मार्गका कष्ट और उससे बचनेके उपाय]

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न परं कौतूहलं हि मे।
एतत् कथय सर्वज्ञ त्वद्भक्तस्य च केशव।
मानुषस्य च लोकस्य धर्मलोकस्य चान्तरम्॥

युधिष्ठिरने पूछा—दैत्योंका विनाश करनेवाले देव-देवेश्वर! मेरे मनमें सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। मैं आपका

भक्त हूँ। केशव ! आप सर्वज्ञ हैं, इसलिये बतलाइये, मनुष्यलोकके और यमलोकके बीचकी दूरी कितनी है ?॥

त्वगस्थिमांसनिर्मुक्ते पञ्चभूतविवर्जिते।
कथयस्व महादेव सुखदुःखमशेषतः॥

सर्वश्रेष्ठ देव ! जब जीव पाञ्चभौतिक शरीरसे अलग होकर त्वचा, हड्डी और मांससे रहित हो जाता है, उस समय उसे समस्त सुख-दुःखका अनुभव किस प्रकार होता है ? ॥

जीवस्य कर्मलोकेषु कर्मभिस्तु शुभाशुभैः।
अनुबद्धस्य तैः पाशैर्नीयमानस्य दारुणैः॥
मृत्युदूतैर्दुराधर्षैर्घोरैर्घोरपराक्रमैः।
बद्धस्याक्षिप्यमाणस्य विद्रुतस्य यमाज्ञया।

सुना जाता है कि मनुष्यलोकमें जीव अपने शुभाशुभ कर्मोंसे बँधा हुआ है। उसे मरनेके बाद यमराजकी आज्ञासे भयंकर, दुर्धर्ष और घोर पराक्रमी यमदूत कठिन पाशोंसे बाँधकर मारते-पीटते हुए ले जाते हैं वह इधर-उधर भागनेकी चेष्टा करता है ॥

पुण्यपापकृतस्तिष्ठेत् सुखदुःखमशेषतः।
यमदूतैर्दुराधर्षैर्नीयते वा कथं पुनः॥

वहाँ पुण्य-पाप करनेवाले सब तरहके सुख-दुःख भोगते हैं; अतः बतलाइये, मरे हुए प्राणीको दुर्धर्ष यमदूत किस प्रकार ले जाते हैं ? ॥

किं रूपं किं प्रमाणं वा वर्णः को वास्य केशव।
जीवस्य गच्छतो नित्यं यमलोकं वदस्व मे॥

केशव ! यमलोकमें जाते समय जीवका निश्चित रूप-रंग कैसा होता है ? और उसका शरीर कितना बड़ा होता है ? ये सब बातें बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि मद्भक्तस्य नरेश्वर॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! नरेश्वर ! तुम मेरे भक्त हो, इसलिये जो कुछ पूछते हो, वह सब बात यथार्थरूपसे बता रहा हूँ; सुनो ॥

षडशीतिसहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर।
मानुषस्य च लोकस्य यमलोकस्य चान्तरम्॥

युधिष्ठिर ! मनुष्यलोक और यमलोकमें छियासी हजार योजनका अन्तर है ॥

न तत्र वृक्षच्छाया वा न तटाकं सरोऽपि वा।
न वाप्यो दीर्घिका वापि न कूपो वा युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर ! इस बीचके मार्गमें न वृक्षकी छाया है, न तालाब है, न पोखरा है, न बावड़ी है और न कुआँ ही है ॥

न मण्डपं सभा वापि न प्रपा न निकेतनम्।
न पर्वतो नदी वापि न भूमेर्विवरं क्वचित्॥

न ग्रामो नाश्रमो वापि नोद्यानं वा वनानि च।
न किंचिदाश्रयस्थानं पथि तस्मिन् युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर ! उस मार्गमें कहीं भी कोई मण्डप, बैठक, प्याऊ, घर, पर्वत, नदी, गुफा, गाँव, आश्रम, बगीचा, वन अथवा ठहरनेका दूसरा कोई स्थान भी नहीं है ॥

जन्तोर्हि प्राप्तकालस्य वेदनार्तस्य वै भृशम्।
कारणैस्त्यक्तदेहस्य प्राणैः कण्ठगतैः पुनः॥
शरीराच्चाल्यते जीवो ह्यवशो मातरिश्वना।
निर्गतो वायुभूतस्तु षट्कोशात्तु कलेवरात्॥
शरीरमन्यत् तद्रूपं तद्वर्णं तत्प्रमाणतः।
अदृश्यं तत्प्रविष्टस्तु सोऽप्यदृष्टोऽथ केनचित्॥

जब जीवका मृत्युकाल उपस्थित होता है और वह वेदनासे अत्यन्त छटपटाने लगता है, उस समय कारणतत्त्व शरीरका त्याग कर देते हैं, प्राण कण्ठतक आ जाते हैं और वायुके वशमें पड़े हुए जीवको बरबस इस शरीरसे निकल जाना पड़ता है। छः कोशोंवाले शरीरसे निकलकर वायुरूपधारी जीव एक दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है। उस शरीरके रूप, रंग और माप भी पहले शरीरके ही समान होते हैं। उसमें प्रविष्ट होनेपर जीवको कोई देख नहीं पाता ॥

सोऽन्तरात्मा देहवतामष्टाङ्गो यस्तु संचरेत्।
छेदनाद् भेदनाद् दाहात् ताडनाद् वा न नश्यति॥

देहधारियोंका अन्तरात्मा जीव आठ अङ्गोंसे युक्त होकर यमलोककी यात्रा करता है। वह शरीर काटने, टुकड़े टुकड़े करने, जलाने अथवा मारनेसे नष्ट नहीं होता ॥

नानारूपधरैर्घोरैः प्रचण्डैश्चण्डसाधनैः।
नीयमानो दुराधर्षैर्यमदूतैर्यमाज्ञया॥

यमराजकी आज्ञासे नाना प्रकारके भयंकर रूपधारी अत्यन्त क्रोधी और दुर्धर्ष यमदूत प्रचण्ड हथियार लिये आते हैं और जीवको जबर्दस्ती पकड़कर ले जाते हैं ॥

पुत्रदारमयैः पाशैः संनिरुद्धोऽवशो बलात्।
स्वकर्मभिश्चानुगतः कृतैः सुकृतदुष्कृतैः॥

उस समय जीव स्त्री-पुत्रादिके स्नेह-बन्धनमें आबद्ध रहता है। जब विवश हुआ वह ले जाया जाता है, तब उसके किये हुए पाप-पुण्य उसके पीछे-पीछे जाते हैं ॥

आक्रन्दमानः करुणं बन्धुभिर्दुःखपीडितैः।
त्यक्त्वा बन्धुजनं सर्वं निरपेक्षस्तु गच्छति॥

उस समय उसके बन्धु-बान्धव दुःखसे पीड़ित होकर करुणाजनक स्वरमें विलाप करने लगते हैं तो भी वह सबकी ओरसे निरपेक्ष हो समस्त बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर चल देता है ॥

मातृभिः पितृभिश्चैव भ्रातृभिर्मातुलैस्तथा।
दारैः पुत्रैर्वयस्यैश्च रुदद्भिस्त्यज्यते पुनः॥

माता, पिता, भाई, मामा, स्त्री, पुत्र और मित्र रोते रह जाते हैं, उनका साथ छूट जाता है ॥

अदृश्यमानस्तैर्दीनैरश्रुपूर्णमुखेक्षणैः ।
स्वशरीरं परित्यज्य वायुभूतस्तु गच्छति ॥

उनके नेत्र और मुख आँसुओंसे भीगे होते हैं। उनकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है, फिर भी वह जीव उन्हें दिखायी नहीं पड़ता। वह अपना शरीर छोड़कर वायुरूप हो चल देता है ॥

अन्धकारमपारं तं महाघोरं तमोवृतम् ।
दुःखान्तं दुष्प्रतारं च दुर्गमं पापकर्मणाम् ॥

वह पापकर्म करनेवालोंका मार्ग अन्धकारसे भरा है और उसका कहीं पार नहीं दिखायी देता। वह मार्ग बड़ा भयंकर, तमोमय, दुस्तर, दुर्गम और अन्ततक दुःख-ही-दुःख देनेवाला है ॥

देवासुरैर्मनुष्याद्यैर्वैवस्वतवशानुगैः ।
स्त्रीपुंनपुंसकैश्चापि पृथिव्यां जीवसंज्ञितैः ॥
मध्यमैर्युवभिर्वापि बालैर्वृद्धैस्तथैव च ।
जातमात्रैश्च गर्भस्थैर्गन्तव्यः स महापथः ॥

यमराजके अधीन रहनेवाले देवता, असुर और मनुष्य आदि जो भी जीव पृथ्वीपर हैं, वे स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक हों, बाल, वृद्ध, तरुण या जवान हों, तुरंतके पैदा हुए हों अथवा गर्भमें स्थित हों, उन सबको एक दिन उस महान् पथकी यात्रा करनी ही पड़ती है ॥

पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा संध्याकालेऽथवा पुनः ।
प्रदोषे वार्धरात्रे वा प्रत्यूषे वाप्युपस्थिते ॥

पूर्वाह्ण हो या पराह्ण, संध्याका समय हो या रात्रिका, आधी रात हो या सबेरा हो गया हो, वहाँकी यात्रा सदा खुली ही रहती है ॥

मृत्युदूतैर्दुराधर्षैः प्रचण्डैश्चण्डशासनैः ।
आक्षिप्यमाणा ह्यवशाः प्रयान्ति यमसादनम् ॥

उपर्युक्त सभी प्राणी दुर्धर्ष, उग्र शासन करनेवाले, प्रचण्ड यमदूतोंके द्वारा विवश होकर मार खाते हुए यमलोक जाते हैं ॥

क्वचिद् भीतैः क्वचिन्मत्तैः प्रस्खलद्भिः क्वचित् क्वचित् ।
क्रन्दद्भिर्वेदनार्तैस्तु गन्तव्यं यमसादनम् ॥

यमलोकके पथपर कहीं डरकर, कहीं पागल होकर, कहीं ठोकर खाकर और कहीं वेदनासे आर्त होकर रोते-चिल्लाते हुए चलना पड़ता है ॥

निर्भर्त्स्यमानैरुद्विग्नैर्विधूतैर्भयविह्वलैः ।
तुद्यमानशरीरैश्च गन्तव्यं तर्जितैस्तथा ॥

यमदूतोंकी डाँट सुनकर जीव उद्विग्न हो जाते हैं और भयसे विह्वल हो थर-थर काँपने लगते हैं। दूतोंकी मार खाकर शरीरमें बेतरह पीड़ा होती है तो भी उनकी फटकार सुनते हुए आगे बढ़ना पड़ता है ॥

काष्ठोपलशिलाघातैर्दण्डोल्मुककशाङ्कुशैः ।
हन्यमानैर्यमपुरं गन्तव्यं धर्मवर्जितैः ॥

धर्महीन पुरुषोंको काठ, पत्थर, शिला, डंडे, जलती लकड़ी, चाबुक और अंकुशकी मार खाते हुए यमपुरीको जाना पड़ता है ॥

वेदनार्तैश्च कूजद्भिर्विक्रोशद्भिश्च विस्वरम् ।
वेदनार्तैः पतद्भिश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ॥

जो दूसरे जीवोंकी हत्या करते हैं, उन्हें इतनी पीड़ा दी जाती है कि वे आर्त होकर छटपटाने, कराहने तथा जोर-जोरसे चिल्लाने लगते हैं और उसी स्थितिमें उन्हें गिरते-पड़ते चलना पड़ता है ॥

शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च शङ्कुतोमरसायकैः ।
तुद्यमानस्तु शूलाग्रैर्गन्तव्यं जीवघातकैः ॥

चलते समय उनके ऊपर शक्ति, भिन्दिपाल, शङ्कु, तोमर, बाण और त्रिशूलकी मार पड़ती रहती है ॥

श्वभिर्व्याघ्रैर्वृकैः काकैर्भक्ष्यमाणाः समन्ततः ।
तुद्यमानाश्च गच्छन्ति राक्षसैर्मांसघातिभिः ॥

कुत्ते, बाघ, भेड़िये और कौवे उन्हें चारों ओरसे नोचते रहते हैं। मांस काटनेवाले राक्षस भी उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं ॥

महिषैश्च मृगैश्चापि सूकरैः पृषतैस्तथा ।
भक्ष्यमाणैस्तदध्वानं गन्तव्यं मांसखादकैः ॥

जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें उस मार्गमें चलते समय भैंसे, मृग, सूअर और चितकबरे हरिन चोट पहुँचाते और उनके मांस काटकर खाया करते हैं ॥

सूचीसुतीक्ष्णतुण्डाभिर्मक्षिकाभिः समन्ततः ।
तुद्यमानैश्च गन्तव्यं पापिष्ठैर्बालघातकैः ॥

जो पापी बालकोंकी हत्या करते हैं, उन्हें चलते समय सूईके समान तीखे डंकवाली मक्खियाँ चारों ओरसे काटती रहती हैं ॥

विस्रब्धं स्वामिनं मित्रं स्त्रियं वा घ्नन्ति ये नराः ।
शस्त्रैर्निर्भिद्यमानैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ॥

जो लोग अपने ऊपर विश्वास करनेवाले स्वामी, मित्र अथवा स्त्रीकी हत्या करते हैं, उन्हें यमपुरके मार्गपर चलते समय यमदूत हथियारोंसे छेदते रहते हैं ॥

खादयन्ति च ये जीवान् दुःखमापादयन्ति ते ।
राक्षसैश्च श्वभिश्चैव भक्ष्यमाणा व्रजन्ति ते ॥

जो दूसरे जीवोंको भक्षण करते या उन्हें दुःख पहुँचाते हैं, उनको चलते समय राक्षस और कुत्ते काट खाते हैं ॥

ये हरन्ति च वस्त्राणि शय्याः प्रावरणानि च ।
ते यान्ति विद्रुता नग्नाः पिशाचा इव तत्पथम् ॥

जो दूसरोंके कपड़े, पलंग और बिछौने चुराते हैं, वे उस मार्गमें पिशाचोंकी तरह नंगे होकर भागते हुए चलते हैं ॥

गाश्च धान्यं हिरण्यं वा बलात् क्षेत्रं गृहं तथा ।
ये हरन्ति दुरात्मानः परस्वं पापकारिणः ॥
पाषाणैरुल्मुकैर्दण्डैः काष्ठघातैश्च झर्झरैः ।
हन्यमानैः क्षताकीर्णैर्गन्तव्यं तैर्यमालयम् ।

जो दुरात्मा और पापाचारी मनुष्य बलपूर्वक दूसरोंकी गौ, अनाज, सोना, खेत और गृह आदिको हड़प लेते हैं, वे यमलोकमें जाते समय यमदूतोंके हाथसे पत्थर, जलती हुई लकड़ी, डंडे, काठ और बेंतकी छड़ियोंकी मार खाते हैं तथा उनके समस्त अङ्गोंमें घाव हो जाता है ॥

ब्रह्मस्वं ये हरन्तीह नरा नरकनिर्भयाः ॥
आक्रोशन्तीह ये नित्यं प्रहरन्ति च ये द्विजान्॥
शुष्ककण्ठा निबद्धास्ते छिन्नजिह्वाक्षिनासिका ।
पूयशोणितदुर्गन्धा भक्ष्यमाणाश्च जम्बुकैः ॥
चण्डालैर्भीषणैश्चण्डैस्तुद्यमानाः समन्ततः ।
क्रोशन्तः करुणं घोरं गच्छन्ति यमसादनम् ॥

जो मनुष्य यहाँ नरकका भय न मानकर ब्राह्मणोंका धन छीन लेते हैं, उन्हें गालियाँ सुनाते हैं और सदा मारते रहते हैं, वे जब यमपुरके मार्गमें जाते हैं, उस समय यमदूत इस तरह जकड़कर बाँधते हैं कि उनका गला सूख जाता है; उनकी जीभ, आँख और नाक काट ली जाती है, उनके शरीरपर दुर्गन्धित पीब और रक्त डाला जाता है, गीदड़ उनके मांस नोच-नोचकर खाते हैं और क्रोधमें भरे हुए भयानक चाण्डाल उन्हें चारों ओरसे पीड़ा पहुँचाते रहते हैं। इससे वे करुणायुक्त भीषण स्वरसे चिल्लाते रहते हैं ॥

तत्र चापि गताः पापा विष्ठाकूपेष्वनेकशः ।
जीवन्तो वर्षकोटीस्तु क्लिश्यन्ते वेदनात् ततः ॥

यमलोकमें पहुँचनेपर भी उन पापियोंको जीते-जी विष्ठाके कुएँमें डाल दिया जाता है और वहाँ वे करोड़ों वर्षोंतक अनेक प्रकारसे पीड़ा सहते हुए कष्ट भोगते रहते हैं ॥

ततश्च मुक्ताः कालेन लोके चास्मिन् नराधमाः।
विष्ठाक्रिमित्वं गच्छन्ति जन्मकोटिशतं नृप ॥

राजन् ! तदनन्तर समयानुसार नरकयातनासे छुटकारा पानेपर वे इस लोकमें सौ करोड़ जन्मोंतक विष्ठाके कीड़े होते हैं ॥

अदत्तदाना गच्छन्ति शुष्ककण्ठास्यतालुकाः ।
अन्नं पानीयसहितं प्रार्थयन्तः पुनः पुनः ॥

दान न करनेवाले जीवोंके कण्ठ, मुँह और तालु भूख-प्यासके मारे सूखे रहते हैं तथा वे चलते समय यमदूतोंसे बार-बार अन्न और जल माँगा करते हैं ॥

स्वामिन् बुभुक्षातृष्णार्ता गन्तुं नैवाद्य शक्नुमः ।
ममान्नं दीयतां स्वामिन् पानीयं दीयतां मम ।
इति ब्रुवन्तस्तैर्दूतैः प्राप्यन्ते वै यमालयम् ॥

वे कहते हैं—'मालिक ! हम भूख और प्याससे बहुत कष्ट पा रहे हैं, अब चला नहीं जाता; कृपा करके हमें अ[न्न] और पानी दे दीजिये ।' इस प्रकार याचना करते ही र[ह] जाते हैं, किंतु कुछ भी नहीं मिलता । यमदूत उन्हें उस अवस्थामें यमराजके घर पहुँचा देते हैं ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पाण्डव ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते सुखं यान्ति तत्फलम्॥

पाण्डुपुत्र ! जो ब्राह्मणोंको नाना प्रकारकी वस्तुएँ दा[न] देते हैं, वे सुखपूर्वक उनके फलको प्राप्त करते हैं ॥

अन्नं ये च प्रयच्छन्ति ब्राह्मणेभ्यः सुसंस्कृतम् ।
श्रोत्रियेभ्यो विशेषेण प्रीत्या परमया युताः ॥
तैर्विमानैर्महात्मानो यान्ति चित्रैर्यमालयम् ।
सेव्यमाना वरस्त्रीभिरप्सरोभिर्महापथम् ॥

जो लोग ब्राह्मणोंको, उनमें भी विशेषतः श्रोत्रियोंक[ो] अत्यन्त प्रसन्नताके साथ अच्छी प्रकारसे बनाये हुए उत्त[म] अन्नका भोजन कराते हैं, वे महात्मा पुरुष विचित्र विमानोंप[र] बैठकर यमलोककी यात्रा करते हैं । उस महान् पथमें सुन्द[र] स्त्रियाँ और अप्सराएँ उनकी सेवा करती रहती हैं ॥

ये च नित्यं प्रभाषन्ते सत्यं निष्कल्मषं वचः ।
ते च यान्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥

जो प्रतिदिन निष्कपटभावसे सत्यभाषण करते हैं, [वे] निर्मल बादलोंके समान बैल जुते हुए विमानोंद्वारा यमलोक[को] जाते हैं ॥

कपिलाद्यानि पुण्यानि गोप्रदानानि ये नराः ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥
ते यान्त्यमलवर्णाभैर्विमानैर्वृषयोजितैः ।
वैवस्वतपुरं प्राप्य ह्यप्सरोभिर्निषेविताः ॥

जो ब्राह्मणोंको और उनमें भी विशेषतः श्रोत्रियोंक[ो] कपिला आदि गौओंका पवित्र दान देते रहते हैं, वे निर्म[ल] कान्तिवाले बैल जुते हुए विमानोंमें बैठकर यमलोकको जा[ते] हैं । वहाँ अप्सराएँ उनकी सेवा करती हैं ॥

उपानहौ च छत्रं च शयनान्यासनानि च ।
विप्रेभ्यो ये प्रयच्छन्ति वस्त्राण्याभरणानि च ॥
ते यान्त्यश्वैर्वृषैर्वापि कुञ्जरैरप्यलंकृताः ।
धर्मराजपुरं रम्यं सौवर्णच्छत्रशोभिताः ॥

जो ब्राह्मणोंको छाता, जूता, शय्या, आसन, वस्त्र औ[र] आभूषण दान करते हैं, वे सोनेके छत्र लगाये उत्तम गहनों[से] सज-धजकर घोड़े, बैल अथवा हाथीकी सवारीसे धर्मराज[के] सुन्दर नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

ये फलानि प्रयच्छन्ति पुष्पाणि सुरभीणि च ।
हंसयुक्तैर्विमानैस्तु यान्ति धर्मपुरं नराः ॥

जो सुगन्धित फूल और फलका दान करते हैं, वे मनुष्[य] हंसयुक्त विमानोंके द्वारा धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विचित्रान्नं घृताप्लुतम् ।

ते व्रजन्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वायुवेगिभिः ।
पुरं तत् प्रेतनाथस्य नानाजनसमाकुलम् ॥

जो ब्राह्मणोंको घीमें तैयार किये हुए भाँति-भाँतिके पकवान दान करते हैं, वे वायुके समान वेगवाले सफेद विमानोंपर बैठकर नाना प्राणियोंसे भरे हुए यमपुरकी यात्रा करते हैं ॥

पानीयं ये प्रयच्छन्ति सर्वभूतप्रजीवनम् ।
ते सुतृप्ताः सुखं यान्ति भवनैर्हंसचोदितैः ॥

जो समस्त प्राणियोंको जीवन देनेवाले जलका दान करते हैं, वे अत्यन्त तृप्त होकर हंस जुते हुए विमानोंद्वारा सुखपूर्वक धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

ये तिलं तिलधेनुं वा घृतधेनुमथापि वा ।
श्रोत्रियेभ्यः प्रयच्छन्ति सौम्यभावसमन्विताः॥
सूर्यमण्डलसंकाशैर्यानैस्ते यान्ति निर्मलैः ।
गीयमानैस्तु गन्धर्वैर्वैवस्वतपुरं नृप ॥

राजन् ! जो लोग शान्तभावसे युक्त होकर श्रोत्रिय ब्राह्मणको तिल अथवा तिलकी गौ या घृतकी गौका दान करते हैं, वे सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी निर्मल विमानोंद्वारा गन्धर्वोंके गीत सुनते हुए यमराजके नगरमें जाते हैं ॥

तेषां वाप्यश्च कूपाश्च तटाकानि सरांसि च ।
दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च सजलाश्च जलाशयाः ॥
यानैस्ते यान्ति चन्द्राभैर्दिव्यघण्टानिनादितैः ।
चामरैस्तालवृन्तैश्च वीज्यमानाः महाप्रभाः ।
नित्यतृप्ता महात्मानो गच्छन्ति यमसादनम् ॥

जिन्होंने इस लोकमें बावड़ी, कुएँ, तालाब, पोखरे, पोखरियाँ और जलसे भरे हुए जलाशय बनवाये हैं, वे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और दिव्य घण्टानादसे निनादित विमानोंपर बैठकर यमलोकमें जाते हैं; उस समय वे महात्मा नित्य-तृप्त और महान् कान्तिमान् दिखायी देते हैं तथा दिव्यलोकके पुरुष उन्हें ताड़के पंखे और चँवर डुलाया करते हैं ॥

येषां देवगृहाणीह चित्राण्यायतनानि च ।
मनोहराणि कान्तानि दर्शनीयानि भान्ति च॥
ते व्रजन्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वायुवेगिभिः ।
तत्पुरं प्रेतनाथस्य नानाजनपदाकुलम् ॥

जिनके बनवाये हुए देवमन्दिर यहाँ अत्यन्त चित्र-विचित्र, विस्तृत, मनोहर, सुन्दर और दर्शनीय रूपमें शोभा पाते हैं, वे सफेद बादलोंके समान कान्तिमान् एवं हवाके समान वेगवाले विमानोंद्वारा नाना जनपदोंसे युक्त यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

वैवस्वतं च पश्यन्ति सुखचित्तं सुखस्थितम् ।
यमेन पूजिता यान्ति देवसालोक्यतां ततः ॥

वहाँ जानेपर वे यमराजको प्रसन्नचित्त और सुखपूर्वक बैठे हुए देखते हैं तथा उनके द्वारा सम्मानित होकर देवलोकके निवासी होते हैं ॥

काष्ठपादुकदा यान्ति तदध्वानं सुखं नराः ।
सौवर्णमणिपीठे तु पादं कृत्वा रथोत्तमे ॥

खड़ाऊँ और जल दान करनेवाले मनुष्योंको उस मार्गमें सुख मिलता है । वे उत्तम रथपर बैठकर सोनेके पीढ़ेपर पैर रक्खे हुए यात्रा करते हैं ॥

आरामान् वृक्षषण्डांश्च रोपयन्ति च ये नराः ।
संवर्धयन्ति चाव्यग्रं फलपुष्पोपशोभितम् ॥
वृक्षच्छायासु रम्यासु शीतलासु स्वलंकृताः ।
यान्ति ते वाहनैर्दिव्यैः पूज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥

जो लोग बड़े-बड़े बगीचे बनवाते और उसमें वृक्षोंके पौधे रोपते हैं तथा शान्तिपूर्वक जलसे सींचकर उन्हें फल-फूलोंसे सुशोभित करके बढ़ाया करते हैं, वे दिव्य वाहनोंपर सवार हो आभूषणोंसे सज-धजकर वृक्षोंकी अत्यन्त रमणीय एवं शीतल छायामें होकर दिव्य पुरुषोंद्वारा बारंबार सम्मान पाते हुए यमलोकमें जाते हैं ॥

अश्वयानं तु गोयानं हस्तियानमथापि वा ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विमानैः कनकोपमैः ॥

जो ब्राह्मणोंको घोड़े, बैल अथवा हाथीकी सवारी दान करते हैं, वे सोनेके समान विमानोंद्वारा यमलोकमें जाते हैं ॥

भूमिदा यान्ति तं लोकं सर्वकामैः सुतर्पिताः ।
उदितादित्यसंकाशैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥

भूमिदान करनेवाले लोग समस्त कामनाओंसे तृप्त होकर बैल जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंके द्वारा उस लोककी यात्रा करते हैं ॥

सुगन्धागन्धसंयोगान् पुष्पाणि सुरभीणि च ।
प्रयच्छन्ति द्विजाग्र्येभ्यो भक्त्या परमया युताः॥
सुगन्धाः सुप्रवेषाश्च सुप्रभाः स्रग्विभूषणाः ।
यान्ति धर्मपुरं यानैर्विचित्रैरप्यलंकृताः ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक सुगन्धित पदार्थ तथा पुष्प प्रदान करते हैं, वे सुगन्धपूर्ण सुन्दर वेष धारणकर उत्तम कान्तिसे देदीप्यमान हो सुन्दर हार पहने हुए विचित्र विमानोंपर बैठकर धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

दीपदा यान्ति यानैश्च द्योतयन्तो दिशो दश ।
आदित्यसदृशाकारैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ॥

दीप दान करनेवाले पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंसे दसों दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए साक्षात् अग्निके समान कान्तिमान् स्वरूपसे यात्रा करते हैं ॥

गृहावसथदातारो गृहैः काञ्चनवेदिकैः ।
व्रजन्ति बालसूर्याभैर्धर्मराजपुरं नराः ॥

जो घर एवं आश्रयस्थानका दान करनेवाले हैं, वे सोनेके चबूतरोंसे युक्त और प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाले गृहोंके साथ धर्मराजके नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

पादाभ्यङ्गं शिरोऽभ्यङ्गं पानं पादोदकं तथा ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते यान्त्यश्वैर्यमालयम् ॥

जो ब्राह्मणोंको पैरोंमें लगानेके लिये उबटन, सिरपर मलनेके लिये तेल, पैर धोनेके लिये जल और पीनेके लिये शर्बत देते हैं, वे घोड़ेपर सवार होकर यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

विश्रामयन्ति ये विप्राञ्श्रान्तानध्वनि कर्शितान् ।
चक्रवाकप्रयुक्तेन यान्ति यानेन तेऽपि च ॥

जो रास्तेके थके-माँदे दुर्बल ब्राह्मणोंको ठहरनेकी जगह देकर उन्हें आराम पहुँचाते हैं, वे चक्रवाकसे जुते हुए विमानपर बैठकर यात्रा करते हैं ॥

स्वागतेन च यो विप्रान् पूजयेदासनेन च ।
स गच्छति तदध्वानं सुखं परमनिर्वृतः ॥

जो घरपर आये हुए ब्राह्मणोंको स्वागतपूर्वक आसन देकर उनकी विधिवत् पूजा करते हैं, वे उस मार्गपर बड़े आनन्दके साथ जाते हैं ॥

नमः सर्वसहाभ्यश्चेत्यभिख्याय दिने दिने ।
नमस्करोति नित्यं गां स सुखं याति तत्पथम् ॥

जो प्रतिदिन 'नमः सर्वसहाभ्यश्च' ऐसा कहकर गौको नमस्कार करता है, वह यमपुरके मार्गपर सुखपूर्वक यात्रा करता है ॥

नमोऽस्तु विप्रदत्तायेत्येवंवादी दिने दिने ।
भूमिमाक्रमते प्रातः शयनादुत्थितश्च यः ॥
सर्वकामैः स तृप्तात्मा सर्वभूषणभूषितः ।
याति यानेन दिव्येन सुखं वैवस्वतालयम् ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर जो 'नमोऽस्तु विप्रदत्तायै' कहते हुए पृथ्वीपर पैर रखता है, वह सब कामनाओंसे तृप्त और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होकर दिव्य विमानके द्वारा सुखपूर्वक यमलोकको जाता है ॥

अनन्तराशिनो ये तु दम्भानृतविवर्जिताः ।
तेऽपि सारसयुक्तेन यान्ति यानेन वै सुखम् ॥

जो सबेरे और शामको भोजन करनेके सिवा बीचमें कुछ नहीं खाते तथा दम्भ और असत्यसे बचे रहते हैं, वे भी सारसयुक्त विमानके द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करते हैं ॥

ये चाप्येकेन भुक्तेन दम्भानृतविवर्जिताः ।
हंसयुक्तैर्विमानैस्तु सुखं यान्ति यमालयम् ॥

जो दिन-रातमें केवल एक बार भोजन करते हैं और दम्भ तथा असत्यसे दूर रहते हैं, वे हंसयुक्त विमानोंके द्वारा बड़े आरामके साथ यमलोकको जाते हैं ॥

चतुर्थेन च भुक्तेन वर्तन्ते ये जितेन्द्रियाः ।
यान्ति ते धर्मनगरं यानैर्बर्हिणयोजितैः ॥

जो जितेन्द्रिय होकर केवल चौथे वक्त अन्न ग्रहण करते हैं अर्थात् एक दिन उपवास करके दूसरे दिन शामको भोजन करते हैं, वे मयूरयुक्त विमानोंके द्वारा धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

तृतीयदिवसेनेह भुञ्जते ये जितेन्द्रियाः ।
तेऽपि हस्तिरथैर्यान्ति तत्पथं कनकोज्ज्वलैः ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुष यहाँ तीसरे दिन भोजन करते हैं, वे भी सोनेके समान उज्ज्वल हाथीके रथपर सवार हो यमलोक जाते हैं ॥

षष्ठान्नकालिको यस्तु वर्षमेकं तु वर्तते ।
कामक्रोधविनिर्मुक्तः शुचिर्नित्यं जितेन्द्रियः ।
स याति कुञ्जरस्थैस्तु जयशब्दरवैर्युतः ॥

जो एक वर्षतक छः दिनके बाद भोजन करता है और काम-क्रोधसे रहित, पवित्र तथा सदा जितेन्द्रिय रहता है, वह हाथीके रथपर बैठकर जाता है, रास्तेमें उसके लिये जय-जयकारके शब्द होते रहते हैं ॥

पक्षोपवासिनो यान्ति यानैः शार्दूलयोजितैः ।
धर्मराजपुरं रम्यं दिव्यस्त्रीगणसेवितम् ॥

एक पक्ष उपवास करनेवाले मनुष्य सिंह-जुते हुए विमानके द्वारा धर्मराजके उस रमणीय नगरको जाते हैं, जो दिव्य स्त्रीसमुदायसे सेवित है ॥

ये च मासोपवासं वै कुर्वते संयतेन्द्रियाः ।
तेऽपि सूर्योदयप्रख्यैर्यान्ति यानैर्यमालयम् ॥

जो इन्द्रियोंको वशमें रखकर एक मासतक उपवास करते हैं, वे भी सूर्योदयकी भाँति प्रकाशित विमानोंके द्वारा यमलोकमें जाते हैं ॥

गोकृते स्त्रीकृते चैव हत्वा विप्रकृतेऽपि च ।
ते यान्त्यमरकन्याभिः सेव्यमाना रविप्रभाः ॥

जो गौओंके लिये, स्त्रीके लिये और ब्राह्मणके लिये अपने प्राण दे देते हैं, वे सूर्यके समान कान्तिमान् और देवकन्याओंसे सेवित हो यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

ये यजन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
हंससारससंयुक्तैर्यानैस्ते यान्ति तत्पथम् ॥

जो श्रेष्ठ द्विज अधिक दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, वे हंस और सारसोंसे युक्त विमानोंके द्वारा उस मार्गपर जाते हैं ॥

परपीडामकृत्वैव भृत्यान् बिभ्रति ये नराः ।
तत्पथं ससुखं यान्ति विमानैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥

जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाये बिना ही अपने कुटुम्बका पालन करते हैं, वे सुवर्णमय विमानोंके द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[जल-दान, अन्न-दान और अतिथि-सत्कारका माहात्म्य]

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा यमपुराध्वानं जीवानां गमनं तथा ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यमपुरके ार्गका वर्णन तथा वहाँ जीवोंके (सुखपूर्वक) जानेका पाय सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए गैर भगवान् श्रीकृष्णसे फिर बोले—॥

वदेवेश दैत्यघ्न ऋषिसंघैरभिष्टुत ।
गवन् भवहञ्श्रीमन् सहस्रादित्यसंनिभ ॥

'देवदेवेश्वर ! आप सम्पूर्ण दैत्योंका वध करनेवाले हैं, ऋषियोंके समुदाय सदा आपकी ही स्तुति करते हैं, आप डैश्वर्यसे युक्त, भवबन्धनसे मुक्ति देनेवाले, श्रीसम्पन्न और जारों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं ॥

र्वसम्भव धर्मज्ञ सर्वधर्मप्रवर्तक ।
र्वदानफलं सौम्य कथयस्व ममाच्युत ॥

'धर्मज्ञ ! आपहीसे सबकी उत्पत्ति हुई है और आप ही म्पूर्ण धर्मोंके प्रवर्तक हैं । शान्तस्वरूप अच्युत ! मुझे सब कारके दानोंका फल बतलाइये' ॥

वमुक्तो हृषीकेशो धर्मपुत्रेण धीमता ।
वाच धर्मपुत्राय पुण्यान् धर्मान् महोदयान् ॥

बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा इस प्रकार पूछे ानेपर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण धर्मपुत्रके प्रति महान् न्नति करनेवाले पुण्यमय धर्मोंका वर्णन करने लगे—॥

ानीयं परमं लोके जीवानां जीवनं स्मृतम् ।
ानीयस्य प्रदानेन तृप्तिर्भवति पाण्डव ।
ानीयस्य गुणा दिव्याः परलोके गुणावहाः ॥

'पाण्डुनन्दन ! संसारमें जलको प्राणियोंका परम जीवन ाना गया है, उसके दानसे जीवोंकी तृप्ति होती है । जलके ुण दिव्य हैं और वे परलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाले हैं ॥

त्र पुष्पोदकी नाम नदी परमपावनी ।
ामान् ददाति राजेन्द्र तोयदानां यमालये ॥

'राजेन्द्र ! यमलोकमें पुष्पोदकी नामवाली परम पवित्र दी है । वह जल दान करनेवाले पुरुषोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ ूर्ण करती है ॥

ीतलं सलिलं ह्यत्र ह्यक्षय्यममृतोपमम् ।
ीततोयप्रदातॄणां भवेन्नित्यं सुखावहम् ॥

'उसका जल ठंडा, अक्षय और अमृतके समान मधुर तथा वह ठंडे जलका दान करनेवाले लोगोंको सदा सुख हुँचाता है ॥

णश्यत्यम्बुपानेन बुभुक्षा च युधिष्ठिर ।
तृषितस्य न चान्नेन पिपासाभिप्रणश्यति ॥
स्मात् तोयं सदा देयं तृषितेभ्यो विजानता ॥

'युधिष्ठिर ! जल पीनेसे भूख भी शान्त हो जाती है; कंतु प्यासे मनुष्यकी प्यास अन्नसे नहीं बुझती, इसलिये मझदार मनुष्यको चाहिये कि वह प्यासेको सदा पानी पेलाया करे ॥

अग्नेर्मूर्तिः क्षितेर्योनिरमृतस्य च सम्भवः ।
अतोऽम्भः सर्वभूतानां मूलमित्युच्यते बुधैः ॥

'जल अग्निकी मूर्ति है, पृथ्वीकी योनि (कारण) है और अमृतका उत्पत्तिस्थान है । इसलिये समस्त प्राणियोंका मूल जल है—ऐसा बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है ॥

अद्भिः सर्वाणि भूतानि जीवन्ति प्रभवन्ति च ।
तस्मात् सर्वेषु दानेषु तोयदानं विशिष्यते ॥

'सब प्राणी जलसे पैदा होते हैं और जलसे ही जीवन धारण करते हैं । इसलिये जलदान सब दानोंसे बढ़कर माना गया है ॥

ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्त्वन्नदानं सुसंस्कृतम् ।
तैस्तु दत्ताः स्वयं प्राणा भवन्ति भरतर्षभ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! जो लोग ब्राह्मणोंको सुपक्व अन्नदान करते हैं, वे मानो साक्षात् प्राण-दान करते हैं ॥

अन्नाद् रक्तं च शुक्रं च अन्ने जीवः प्रतिष्ठितः ।
इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्णन्त्यन्नेन नित्यशः ।
अन्नहीनानि सीदन्ति सर्वभूतानि पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! अन्नसे रक्त और वीर्य उत्पन्न होता है । अन्नमें ही जीव प्रतिष्ठित है । अन्नसे ही इन्द्रियोंका और बुद्धिका सदा पोषण होता है । बिना अन्नके समस्त प्राणी दुःखित हो जाते हैं ॥

तेजो बलं च रूपं च सत्त्वं वीर्यं धृतिर्द्युतिः ।
ज्ञानं मेधा तथाऽऽयुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥

'तेज, बल, रूप, सत्त्व, वीर्य, धृति, द्युति, ज्ञान, मेधा और आयु—इन सबका आधार अन्न ही है ॥

देवमानवतिर्यक्षु सर्वलोकेषु सर्वदा ।
सर्वकालं हि सर्वेषां अन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥

'समस्त लोकोंमें सदा रहनेवाले देवता, मनुष्य और तिर्यक् योनिके प्राणियोंमें सब समय सबके प्राण अन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥

अन्नं प्रजापते रूपमन्नं प्रजननं स्मृतम् ।
सर्वभूतमयं चान्नं जीवश्चान्नमयः स्मृतः ॥

'अन्न प्रजापतिका रूप है । अन्न ही उत्पत्तिका कारण है । इसलिये अन्न सर्वभूतमय है और समस्त जीव अन्नमय माने गये हैं ॥

अन्नेनाधिष्ठितः प्राण अपानो व्यान एव च ।
उदानश्च समानश्च धारयन्ति शरीरिणम् ॥

'प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण अन्नके ही आधारपर रहकर देहधारियोंको धारण करते हैं ॥

शयनोत्थानगमनग्रहणाकर्षणानि च ।
सर्वसत्त्वकृतं कर्म चान्नादेव प्रवर्तते ॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा किये जानेवाले सोना, उठना, चलना, ग्रहण करना, खींचना आदि कर्म अन्नसे ही चलते हैं ॥

चतुर्विधानि भूतानि जंगमानि स्थिराणि च ।
अन्नाद् भवन्ति राजेन्द्र सृष्टिरेषा प्रजापतेः ॥

'राजेन्द्र ! चारों प्रकारके चराचर प्राणी, जो यह प्रजापतिकी सृष्टि है, अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं ॥

विद्यास्थानानि सर्वाणि सर्वयज्ञाश्च पावनाः ।
अन्नाद् यस्मात् प्रवर्तन्ते तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥

'समस्त विद्यालय और पवित्र बनानेवाले सम्पूर्ण यज्ञ अन्नसे ही चलते हैं । इसलिये अन्न सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥

देवा रुद्रादयः सर्वे पितरोऽप्यग्नयस्तथा ।
यस्मादन्नेन तुष्यन्ति तस्मादन्नं विशिष्यते ॥

'रुद्र आदि सभी देवता, पितर और अग्नि अन्नसे ही संतुष्ट होते हैं; इसलिये अन्न सबसे बढ़कर है ॥

यस्मादन्नात् प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत् प्रभुः ।
तस्मादन्नात् परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

'शक्तिशाली प्रजापतिने प्रत्येक कल्पमें अन्नसे ही सारी प्रजाकी सृष्टि की है; इसलिये अन्नसे बढ़कर न कोई दान हुआ है और न होगा ॥

यस्मादन्नात् प्रवर्तन्ते धर्मार्थौ काम एव च ।
तस्मादन्नात् परं दानं नामुत्रेह च पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह अन्नसे ही होता है । अतः इस लोक या परलोकमें अन्नसे बढ़कर कोई दान नहीं है ॥

यक्षरक्षोग्रहा नागा भूतान्यन्ये च दानवाः ।
तुष्यन्त्यन्नेन यस्मात् तु तस्मादन्नं परं भवेत् ॥

'यक्ष, राक्षस, ग्रह, नाग, भूत और दानव भी अन्नसे ही संतुष्ट होते हैं; इसलिये अन्नका महत्त्व सबसे बढ़कर है ॥

ब्राह्मणाय दरिद्राय योऽन्नं संवत्सरं नृप ।
श्रोत्रियाय प्रयच्छेद् वै पाकभेदविवर्जितः ॥
दम्भानृतविमुक्तस्तु परां भक्तिमुपागतः ।
स्वधर्मेणार्जितफलं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'राजन् ! जो मनुष्य दम्भ और असत्यका परित्याग करके मुझमें परम भक्ति रखकर रसोईमें भेद न करते हुए दरिद्र एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणको एक वर्षतक अपने द्वारा धर्मपूर्वक उपार्जित अन्नका दान करता है, उसके पुण्यके फलको सुनो ॥

शतवर्षसहस्राणि कामगः कामरूपधृक् ।
मोदतेऽमरलोकस्थः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥
ततश्चापि च्युतः कालान्नरलोके द्विजो भवेत् ॥

'वह एक लाख वर्षतक बड़े सम्मानके साथ देवलोकमें निवास करता है तथा वहाँ इच्छानुसार रूप धारण करके यथेष्ट विचरता रहता है एवं अप्सराओंका समुदाय उसका सत्कार करता है । फिर समयानुसार पुण्य क्षीण हो जानेपर जब वह स्वर्गसे नीचे उतरता है, तब मनुष्यलोकमें ब्राह्मण होता है ॥

अग्रभिक्षां च यो दद्याद् दरिद्राय द्विजातये ।
षण्मासान् वार्षिकं श्राद्धं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'जो छः महीने या वार्षिक श्राद्धपर्यन्त प्रतिदिन पहली भिक्षा दरिद्र ब्राह्मणको देता है, उसका पुण्यफल सुनो ।

गोसहस्रप्रदानेन यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
तत् पुण्यफलमाप्नोति नरो वै नात्र संशयः ॥

'एक हजार गोदानका जो पुण्यफल बताया गया है, उसी पुण्यके समान फल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

अध्वश्रान्ताय विप्राय क्षुधितायान्नकाङ्क्षिणे ।
देशकालाभियाताय दीयते पाण्डुनन्दन ॥

'पाण्डुनन्दन ! देश-कालके अनुसार प्राप्त एवं रास्ता चलकर थके-माँदे आये हुए भूखे और अन्न चाहनेवाले ब्राह्मणको अन्नदान करना चाहिये ॥

यस्तु पांसुलपादश्च दूराध्वश्रमकर्शितः ।
क्षुत्पिपासाश्रमश्रान्त आर्तः खिन्नगतिर्द्विजः ॥
पृच्छन् वै ह्यन्नदातारं गृहमभ्येत्य याचयेत् ।
तं पूजयेत् तु यत्नेन सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
तस्मिंस्तुष्टे नरश्रेष्ठ तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥

'जो दूरका रास्ता तय करनेके कारण दुर्बल तथा भूख-प्यास और परिश्रमसे थका-माँदा हो, जिसके पैर बड़ी कठिनतासे आगे बढ़ते हों तथा जो बहुत पीड़ित हो रहा हो, ऐसा ब्राह्मण अन्नदाताका पता पूछता हुआ धूलभरे पैरों यदि घरपर आकर अन्नकी याचना करे तो यत्नपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वह अतिथि स्वर्गका सोपान होता है । नरश्रेष्ठ ! उसके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता सं[तुष्ट] हो जाते हैं ॥

न तथा हविषा होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिपूजनात् ॥

'पार्थ ! अतिथिकी पूजा करनेसे अग्निदेवको जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी हविष्यसे होम करने और फूल तथा चन्दन चढ़ानेसे भी नहीं होती ॥

देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टापमार्जनम् ।
श्रान्तसंवाहनं चैव तथा पादावसेचनम् ॥
प्रतिश्रयप्रदानं च तथा शय्यासनस्य च ।
एकैकं पाण्डवश्रेष्ठ गोप्रदानाद् विशिष्यते ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! देवताके ऊपर चढ़ी हुई पत्र-पुष्प आदि पूजन-सामग्रीको हटाकर उस स्थानको साफ करना, ब्राह्मणके जूठे किये हुए बर्तन और स्थानको माँज-धो देना, थके हुए ब्राह्मणका पैर दबाना, उसके चरण धोना, उसे रहनेके लिये घर, सोनेके लिये शय्या और बैठनेके लिये आसन देना—इनमेंसे एक एक कार्यका महत्त्व गोदानसे बढ़कर है ॥

पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मणोंको पैर धोनेके लिये जल, पैरमें लगानेके लिये घी, दीपक, अन्न और रहनेके लिये घर देते हैं, वे कभी यमलोकमें नहीं जाते ॥

विप्रातिथ्ये कृते राजन् भक्त्या शुश्रूषितेऽपि च।
देवाः शुश्रूषिताः सर्वे त्रयस्त्रिंशदरिंदम ॥

'शत्रुदमन ! राजन् ! ब्राह्मणका आतिथ्य-सत्कार तथा भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करनेसे समस्त तैंतीसों देवताओंकी सेवा हो जाती है ॥

अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते ।
तयोः पूजां द्विजः कुर्यादिति पौराणिकी श्रुतिः ॥

'पहलेका परिचित मनुष्य यदि घरपर आवे तो उसे अभ्यागत कहते हैं और अपरिचित पुरुष अतिथि कहलाता है। द्विजोंको इन दोनोंकी ही पूजा करनी चाहिये। यह पञ्चम वेद—पुराणकी श्रुति है ॥

पादाभ्यङ्गान्नपानैस्तु योऽतिथिं पूजयेन्नरः ।
पूजितस्तेन राजेन्द्र भवामीह न संशयः ॥

'राजेन्द्र ! जो मनुष्य अतिथिके चरणोंमें तेल मलकर, उसे भोजन कराकर और पानी पिलाकर उसकी पूजा करता है, उसके द्वारा मेरी भी पूजा हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥

शीघ्रं पापाद् विनिर्मुक्तो मया चानुग्रहीकृतः ।
विमानेनेन्दुकल्पेन मम लोकं स गच्छति ॥

'वह मनुष्य तुरंत सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है और मेरी कृपासे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल विमानपर आरूढ़ होकर मेरे परमधामको पधारता है ॥

अभ्यागतं श्रान्तमनुव्रजन्ति
देवाश्च सर्वे पितरोऽग्नयश्च ।
तस्मिन् द्विजे पूजिते पूजिताः स्यु-
र्गते निराशाः पितरो व्रजन्ति ॥

'थका हुआ अभ्यागत जब घरपर आता है, तब उसके पीछे-पीछे समस्त देवता, पितर और अग्नि भी पदार्पण करते हैं। यदि उस अभ्यागत द्विजकी पूजा हुई तो उसके साथ उन देवता आदिकी भी पूजा हो जाती है और उसके निराश लौटनेपर वे देवता, पितर आदि भी हताश होकर लौट जाते हैं ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च ॥

'जिसके घरसे अतिथिको निराश होकर लौटना पड़ता है, उसके पितर पंद्रह वर्षोंतक भोजन नहीं करते ॥

निर्वासयति यो विप्रं देशकालागतं गृहात् ।
पतितस्तत्क्षणादेव जायते नात्र संशयः ॥

'जो देश-कालके अनुसार घरपर आये हुए ब्राह्मणको वहाँसे बाहर कर देता है, वह तत्काल पतित हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है ॥

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया ।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा ॥

'यदि देश-कालके अनुसार अन्नकी इच्छासे चाण्डाल भी अतिथिके रूपमें आ जाय तो गृहस्थ पुरुषको सदा उसका सत्कार करना चाहिये ॥

मोघं ध्रुवं प्रोर्णयति मोघमस्य तु पच्यते ।
मोघमन्नं सदाश्नाति योऽतिथिं न च पूजयेत् ॥

'जो अतिथिका सत्कार नहीं करता, उसका ऊनी वस्त्र ओढ़ना, अपने लिये रसोई बनवाना और भोजन करना—सब कुछ निश्चय ही व्यर्थ है ॥

साङ्गोपाङ्गांस्तु यो वेदान् पठतीह दिने दिने ।
न चातिथिं पूजयति वृथा भवति स द्विजः ॥

'जो प्रतिदिन साङ्गोपाङ्ग वेदोंका स्वाध्याय करता है, किंतु अतिथिकी पूजा नहीं करता, उस द्विजका जीवन व्यर्थ है ॥

पाकयज्ञमहायज्ञैः सोमसंस्थाभिरेव च ।
ये यजन्ति न चार्चन्ति गृहेष्वतिथिमागतम् ॥
तेषां यशोऽभिकामानां दत्तमिष्टं च यद् भवेत्।
वृथा भवति तत् सर्वमाशया हि तया हतम् ॥

'जो लोग पाक-यज्ञ, पञ्चमहायज्ञ तथा सोमयाग आदिके द्वारा यजन करते हैं, परंतु घरपर आये हुए अतिथिका

सत्कार नहीं करते, वे यशकी इच्छासे जो कुछ दान या यज्ञ करते हैं, वह सब व्यर्थ हो जाता है। अतिथिकी मारी गयी आशा मनुष्यके समस्त शुभ कर्मोंका नाश कर देती है ॥

देशं कालं च पात्रं च स्वशक्तिं च निरीक्ष्य च ।
अल्पं समं महद् वापि कुर्यादातिथ्यमात्तवान् ॥

'इसलिये श्रद्धालु होकर देश, काल, पात्र और अपनी शक्तिका विचार करके अल्प, मध्यम अथवा महान् रूपमें अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये ॥

सुमुखः सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम् ।
स्वागतेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन च पूजयेत् ॥

'जब अतिथि अपने द्वारपर आवे, तब बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए मुखसे अतिथिका स्वागत करे तथा बैठनेको आसन और चरण धोनेके लिये जल देकर अन्न-पान आदिके द्वारा उसकी पूजा करे ॥

हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा ।
प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥

'अपना हितैषी, प्रेमपात्र, द्वेषी, मूर्ख अथवा पण्डित—जो कोई भी बलिवैश्वदेवके बाद आ जाय, वह स्वर्गतक पहुँचानेवाला अतिथि है ॥

क्षुत्पिपासाश्रमार्ताय देशकालागताय च ।
सत्कृत्यान्नं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छता ॥

'जो यज्ञका फल पाना चाहता हो, वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दुखी तथा देश-कालके अनुसार प्राप्त हुए अतिथिको सत्कारपूर्वक अन्न प्रदान करे ॥

भोजयेदात्मनः श्रेष्ठान् विधिवद् हव्यकव्ययोः ।
अन्नं प्राणो मनुष्याणामन्नदः प्राणदो भवेत् ॥
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

'यज्ञ और श्राद्धमें अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको विधिवत् भोजन कराना चाहिये। अन्न मनुष्योंका प्राण है, अन्न देनेवाला प्राणदाता होता है; इसलिये कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको विशेषरूपसे अन्न-दान करना चाहिये ॥

अन्नदः सर्वकामैस्तु सुतृप्तः सुष्ठ्वलंकृतः ।
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीभिर्देवलोकं स गच्छति ।

'अन्न प्रदान करनेवाला मनुष्य सब भोगोंसे तृप्त होकर भलीभाँति आभूषणोंसे सम्पन्न हुआ पूर्ण चन्द्रमाके प्रकाशसे प्रकाशित विमानद्वारा देवलोकमें जाता है। वहाँ सुन्दर स्त्रियोंद्वारा उसकी सेवा की जाती है ॥

क्रीडित्वा तु ततस्तस्मिन् वर्षकोटिं यथामरः ॥
ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके महायशाः ।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'वहाँ करोड़ वर्षोंतक देवताओंके समान भोग भोगनेके बाद समयपर वहाँसे गिरकर यहाँ महायशस्वी और वेद-शास्त्रोंके अर्थ और तत्त्वको जाननेवाला भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है ॥

यथाश्रद्धं तु यः कुर्यान्मनुष्येषु प्रजायते ।
महाधनपतिः श्रीमान् वेदवेदाङ्गपारगः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अतिथि-सत्कार करता है, वह मनुष्योंमें महान् धनवान्, श्रीमान्, वेद-वेदाङ्गका पारदर्शी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ और तत्त्वका ज्ञाता एवं भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है ॥

सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् वर्षमेकमकल्मषः ।
धर्मार्जितधनो भूत्वा पाकभेदविवर्जितः ॥

'जो मनुष्य धर्मपूर्वक धनका उपार्जन करके भोजनमें भेद न रखते हुए एक वर्षतक सबका अतिथि-सत्कार करता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् यथाश्रद्धं नरेश्वर ।
अकालनियमेनापि सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥
सत्यसंधो जितक्रोधः शाखाधर्मविवर्जितः ।
अधर्मभीरुर्धर्मिष्ठो मायामात्सर्यवर्जितः ॥
श्रद्दधानः शुचिर्नित्यं पाकभेदविवर्जितः ।
स विमानेन दिव्येन दिव्यरूपी महायशाः ॥
पुरंदरपुरं याति गीयमानोऽप्सरोगणैः ।

'नरेश्वर ! जो सत्यवादी जितेन्द्रिय पुरुष समयका नियम न रखकर सभी अतिथियोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करता है, जो सत्यप्रतिज्ञ है, जिसने क्रोधको जीत लिया है, जो शाखाधर्मसे रहित, अधर्मसे डरनेवाला और धर्मात्मा है, जो माया और मत्सरतासे रहित है, जो भोजनमें भेदभाव नहीं करता तथा जो नित्य पवित्र और श्रद्धासम्पन्न रहता है, वह दिव्य विमान-के द्वारा इन्द्रलोकमें जाता है। वहाँ वह दिव्यरूपधारी और महायशस्वी होता है। अप्सराएँ उसके यशका गान करती हैं ॥

मन्वन्तरं तु तत्रैव क्रीडित्वा देवपूजितः ।
मानुष्यलोकमागम्य भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'वह एक मन्वन्तरतक वहीं देवताओंसे पूजित होता है और क्रीड़ा करता रहता है। उसके बाद मनुष्यलोकमें आकर भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है' ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भूमि-दान, तिल-दान और उत्तम ब्राह्मणकी महिमा]

श्रीभगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानमनुत्तमम् ॥
यः प्रयच्छति विप्राय भूमिं रम्यां सदक्षिणाम् ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय साग्निहोत्राय पाण्डव ॥

स सर्वकामतृप्तात्मा सर्वरत्नविभूषितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीप्यमानोऽर्कवत् तदा ॥

श्रीभगवान‌्ने कहा—पाण्डुनन्दन ! अब मैं सबसे उत्तम भूमिदानका वर्णन करता हूँ। जो मनुष्य रमणीय भूमिका दक्षिणाके साथ श्रोत्रिय अग्निहोत्री दरिद्र ब्राह्मणको दान देता है, वह उस समय सभी भोगोंसे तृप्त, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित एवं सब पापोंसे मुक्त हो सूर्यके समान देदीप्यमान होता है ॥

बालसूर्यप्रकाशेन विचित्रध्वजशोभिना ।
याति यानेन दिव्येन मम लोकं महायशाः ॥

वह महायशस्वी पुरुष प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रकाशित, विचित्र ध्वजाओंसे सुशोभित दिव्य विमानके द्वारा मेरे लोकमें जाता है ॥

न हि भूमिप्रदानाद् वै दानमन्यद् विशिष्यते ।
न चापि भूमिहरणात् पापमन्यद् विशिष्यते ॥

क्योंकि भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है और भूमि छीन लेनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं है ॥

दानान्यन्यानि हीयन्ते कालेन कुरुपुङ्गव ।
भूमिदानस्य पुण्यस्य क्षयो नैवोपपद्यते ॥

कुरुश्रेष्ठ ! दूसरे दानोंके पुण्य समय पाकर क्षीण हो जाते हैं, किंतु भूमिदानके पुण्यका कभी भी क्षय नहीं होता ॥

सुवर्णमणिरत्नानि धनानि च वसूनि च ।
सर्वदानानि वै राजन् ददाति वसुधां ददत् ॥

राजन् ! पृथ्वीका दान करनेवाला मानो सुवर्ण, मणि, रत्न, धन और लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थोंका दान करता है ॥

सागरान् सरितः शैलान् समानि विषमाणि च ।
सर्वगन्धरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥

भूमि-दान करनेवाला मनुष्य मानो समस्त समुद्रोंको, सरिताओंको, पर्वतोंको, सम-विषम प्रदेशोंको, सम्पूर्ण गन्ध और रसोंको देता है ॥

ओषधीः फलसम्पन्ना नानापुष्पसमन्विताः ।
कमलोत्पलषण्डांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥

पृथ्वीका दान करनेवाला मनुष्य मानो नाना प्रकारके पुष्पों और फलोंसे युक्त वृक्षोंका तथा कमल और उत्पलोंके समूहोंका दान करता है ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्ये यजन्ते सदक्षिणैः ।
न तत् फलं लभन्ते ते भूमिदानस्य यत् फलम् ॥

जो लोग दक्षिणासे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करते हैं, वे भी उस फलको नहीं पाते, जो भूमि-दानका फल है ॥

सस्यपूर्णां महीं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति ।
पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

जो मनुष्य श्रोत्रिय ब्राह्मणको धानसे भरे हुए खेतकी भूमि दान करता है, उसके पितर महाप्रलयकालतक तृप्त रहते हैं ॥

मम रुद्रस्य सवितुस्त्रिदशानां तथैव च ।
प्रीतये विद्धि राजेन्द्र भूमिर्दत्ता द्विजाय वै ॥

राजेन्द्र ! ब्राह्मणको भूमि-दान करनेसे सब देवता, सूर्य, शङ्कर और मैं—ये सभी प्रसन्न होते हैं ऐसा समझो ॥

तेन पुण्येन पूतात्मा दाता भूमेर्युधिष्ठिर ।
मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥

युधिष्ठिर ! भूमि-दानके पुण्यसे पवित्रचित्त हुआ दाता मेरे परम धाममें निवास करता है—इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥

यत्किंचित् कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः ।
स च गोकर्णमात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥

मनुष्य जीविकाके अभावमें जो कुछ पाप करता है, उससे गोकर्णमात्र भूमि-दान करनेपर भी छुटकारा पा जाता है ॥

मासोपवासे यत् पुण्यं कृच्छ्रे चान्द्रायणेऽपि च ।
भूमिगोकर्णमात्रेण तत् पुण्यं तु विधीयते ॥

एक महीनेतक उपवास, कृच्छ्र और चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्य होता है, वह गोकर्णमात्र भूमि-दान करनेसे हो जाता है ॥

सर्वतीर्थाभिषेके च यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
भूमिगोकर्णमात्रेण तत् पुण्यं तु विधीयते ॥

सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, वह सारा पुण्य गोकर्णमात्र भूमिका दान करनेसे प्राप्त हो जाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु वासुदेव सुरेश्वर ।
गोकर्णस्य प्रमाणं वै वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवेश्वर श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है। सुरेश्वर ! मुझे गोकर्णमात्र भूमिका ठीक-ठीक माप बतलानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु गोकर्णमात्रस्य प्रमाणं पाण्डुनन्दन ।
त्रिंशद्दण्डप्रमाणेन प्रमितं सर्वतो दिशम् ॥
प्रत्यक् प्रागपि राजेन्द्र तत् तथा दक्षिणोत्तरम् ।
गोकर्णं तद्विदः प्राहुः प्रमाणं धरणेर्नृप ॥

श्रीभगवान् बोले—नृपश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! गोकर्णमात्र भूमिका प्रमाण सुनो। पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिण चारों ओर तीस-तीस दण्ड* नापनेसे जितनी भूमि होती है, उसको भूमिके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष गोकर्ण-मात्र भूमिका माप बताते हैं ॥

* एक पुरुष अर्थात् चार हाथके नापको दण्ड कहते हैं।

सवृषं गोशतं यत्र सुखं तिष्ठत्ययन्त्रितम्।
सवत्सं कुरुशार्दूल तच्च गोकर्णमुच्यते ॥

कुरुश्रेष्ठ! जितनी भूमिमें खुली हुई सौ गौएँ बैलों और बछड़ोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें, उतनी भूमिको भी गोकर्ण कहते हैं ॥

किंकरा मृत्युदण्डाश्च कुम्भीपाकाश्च दारुणाः।
घोराश्च वारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥
निरया रौरवाद्याश्च तथा वैतरणी नदी।
तीव्राश्च यातनाः कष्टा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥

भूमिका दान करनेवाले पुरुषके पास यमराजके दूत नहीं फटकने पाते। मृत्युके दण्ड, दारुण कुम्भीपाक, भयानक वरुणपाश, रौरव आदि नरक, वैतरणी नदी और कठोर यम-यातनाएँ भी भूमिदान करनेवालोंको नहीं सतातीं ॥

चित्रगुप्तः कलिः कालः कृतान्तो मृत्युरेव च।
यमश्च भगवान् साक्षात् पूजयन्ति महीप्रदम् ॥

चित्रगुप्त, कलि, काल, कृतान्त, मृत्यु और साक्षात् भगवान् यम भी भूमिदान करनेवालेका आदर करते हैं ॥

रुद्रः प्रजापतिः शक्रः सुरा ऋषिगणास्तथा।
अहं च प्रीतिमान् राजन् पूजयामो महीप्रदम् ॥

राजन्! रुद्र, प्रजापति, इन्द्र, देवता, ऋषिगण और स्वयं मैं—ये सभी प्रसन्न होकर भूमिदाताका आदर करते हैं।

कृशभृत्यस्य कृशगोः कृशाश्वस्य कृतातिथेः।
भूमिर्देया नरश्रेष्ठ स निधिः पारलौकिकः ॥

नरश्रेष्ठ! जिसके कुटुम्बके लोग जीविकाके अभावसे दुर्बल हो गये हों, जिसकी गौएँ और घोड़े भी दुबले-पतले दिखायी देते हों तथा जो सदा अतिथि-सत्कार करनेवाला हो, ऐसे ब्राह्मणको भूमि-दान देना चाहिये; क्योंकि वह परलोकके लिये खजाना है ॥

सीदमानकुटुम्बाय श्रोत्रियायाग्निहोत्रिणे।
व्रतस्थाय दरिद्राय भूमिर्देया नराधिप ॥

नरेश्वर! जिसके कुटुम्बीजन कष्ट पा रहे हों—ऐसे श्रोत्रिय, अग्निहोत्री, व्रतधारी एवं दरिद्र ब्राह्मणको भूमि देनी चाहिये ॥

यथा हि धात्री क्षीरेण पुत्रं वर्धयति स्वयम्।
दातारमनुगृह्णाति दत्ता ह्येवं वसुन्धरा ॥

जैसे धाय अपना दूध पिलाकर पुत्रका पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार दानमें दी हुई भूमि दातापर अनुग्रह करती है ॥

यथा बिभर्ति गौर्वत्सं सृजन्ती क्षीरमात्मनः।
तथा सर्वगुणोपेता भूमिर्वहति भूमिदम् ॥

जैसे गौ अपना दूध पिलाकर बछड़ेका पालन करती है, वैसे ही सर्वगुणसम्पन्न भूमि अपने दाताका कल्याण करती है ॥

यथा बीजानि रोहन्ति जलसिक्तानि भूपते।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदस्य दिने दिने ॥

भूपाल! जिस प्रकार जलसे सींचे हुए बीज अङ्कुरित होते हैं, वैसे ही भूमिदाताके मनोरथ प्रतिदिन पूर्ण होते रहते हैं ॥

यथा तेजस्तु सूर्यस्य तमः सर्वं व्यपोहति।
तथा पापं नरस्येह भूमिदानं व्यपोहति ॥

जैसे सूर्यका तेज समस्त अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार यहाँ भूमि-दान मनुष्यके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर डालता है ॥

आश्रुत्य भूमिदानं तु दत्त्वा यो वा हरेत् पुनः।
स बद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते ॥

कुरुश्रेष्ठ! जो भूमि-दानकी प्रतिज्ञा करके नहीं देता अथवा देकर फिर छीन लेता है, उसे वरुणके पाशसे बाँधकर पीब और रक्तसे भरे हुए नरक-कुण्डमें डाला जाता है ॥

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
न तस्य नरकाद् घोराद् विद्यते निष्कृतिः क्वचित् ॥

जो अपने या दूसरेकी दी हुई भूमिका अपहरण करता है, उसके लिये नरकसे उद्धार पानेका कोई उपाय नहीं है ॥

दत्त्वा भूमिं द्विजेन्द्राणां यस्तामेवोपजीवति।
स मूढो याति दुष्टात्मा नरकानेकविंशतिम्।
नरकेभ्यो विनिर्मुक्तः शुनां योनिं स गच्छति ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भूमिका दान करके उसीसे अपनी जीविका चलाता है, वह दुष्टात्मा मूर्ख इक्कीस नरकोंमें गिरता है। फिर नरकोंसे निकलकर कुत्तोंकी योनिको प्राप्त होता है ॥

हलकृष्टा मही देया सबीजा सस्यमालिनी।
अथवा सोदका देया दरिद्राय द्विजातये ॥

जिसमें हलसे जोतकर बीज बो दिये गये हों तथा जहाँ हरी-भरी खेती लहलहा रही हो, ऐसी भूमि दरिद्र ब्राह्मणको देनी चाहिये अथवा जहाँ जलका सुभीता हो, वह भूमि दानमें देनी चाहिये ॥

एवं दत्ता मही राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
सर्वान् कामानवाप्नोति मनसा चिन्तितानि च ॥

राजन्! इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर मनुष्य यदि पृथ्वीका दान करे तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त करता है ॥

बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च नराधिपैः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

बहुत-से राजाओंने इस पृथ्वीको दानमें दिया है और बहुत-से अभी दे रहे हैं। यह भूमि जब जिसके अधिकारमें

रहती है, उस समय वही उसे दानमें देता है और उसके फलका भागी होता है ॥

यश्च रूप्यं प्रयच्छेद् वै दरिद्राय द्विजातये ।
कृशवृत्तेः कृशगवे स मुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता ।
कामरूपी यथाकामं स्वर्गलोके महीयते ॥

जिसकी जीविका क्षीण और गौएँ दुर्बल हो गयी हैं, ऐसे दरिद्र ब्राह्मणको जो चाँदी दान करता है, वह सब पापोंसे छूटकर और सुन्दर रूप धारण करके पूर्णिमाके चन्द्रमाके प्रकाशके समान प्रकाशित विमानके द्वारा इच्छानुसार स्वर्गलोकमें महिमान्वित होता है ॥

ततोऽवतीर्णः कालेन लोके चास्मिन् महायशाः ।
सर्वलोकार्चितः श्रीमान् राजा भवति वीर्यवान् ॥

फिर पुण्यका क्षय होनेपर समयानुसार वहाँसे उतरकर इस लोकमें सम्पूर्ण लोगोंसे पूजित, धनवान्, महायशस्वी और महापराक्रमी राजा होता है ॥

तिलपर्वतकं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति ।
विशेषेण दरिद्राय तस्यापि शृणु यत् फलम् ॥

जो श्रोत्रिय ब्राह्मणको—विशेषतः दरिद्रको तिलका पर्वत दान करता है, उसको जो फल मिलता है; वह सुनो ॥

पुण्यं वृषायुतोत्सर्गे यत् प्रोक्तं पाण्डुनन्दन ।
तत् पुण्यं समनुप्राप्य तत्क्षणाद् विरजा भवेत् ॥

पाण्डुनन्दन ! दस हजार वृषोत्सर्गका जो पुण्यफल कहा गया है, उस पुण्यको वह प्राप्त करके तत्काल निष्पाप हो जाता है ॥

यथा त्वचं भुजङ्गो वै त्यक्त्वा शुद्धतनुर्भवेत् ।
तथा तिलप्रदानाद् वै पापं त्यक्त्वा विशुद्ध्यति ॥

जैसे साँप केंचुलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तिल-दान करनेवाला मनुष्य पापोंसे मुक्त हो शुद्ध हो जाता है ॥

तिलषण्डं प्रयुञ्जानो जाम्बूनदविभूषितम् ।
विमानं दिव्यमारूढः पितृलोके महीयते ॥

तिलके ढेरका दान करनेवाला स्वर्णभूषित दिव्य विमानपर आरूढ़ हो पितृलोकमें सम्मानित होता है ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि कामरूपी महायशाः ।
तिलप्रदाता रमते पितृलोके यथासुखम् ॥

वह तिलका दान करनेवाला मनुष्य महान् यश और इच्छानुकूल रूप धारण करनेकी शक्ति पाकर साठ हजार वर्षोंतक पितृलोकमें सुख और आनन्द भोगता है ॥

तिलं गावः सुवर्णं चाप्यन्नं कन्या वसुन्धरा ।
तारयन्तीह दत्तानि ब्राह्मणेभ्यो महाभुज ॥

महाबाहो ! तिल, गौ, सोना, अन्न, कन्या और पृथ्वी—इतने पदार्थ यदि ब्राह्मणोंको दिये जायँ तो ये दाताका उद्धार कर देते हैं ॥

ब्राह्मणं वृत्तसम्पन्नमाहिताग्निमलोलुपम् ।
तर्पयेद् विधिवद् राजन् स निधिः पारलौकिकः ॥

सदाचारसम्पन्न, अग्निहोत्री तथा अलोलुप ब्राह्मणकी विधिवत् पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वह परलोकमें काम देनेवाला खजाना है ॥

आहिताग्निं दरिद्रं च श्रोत्रियं च जितेन्द्रियम् ।
शूद्रान्नवर्जितं चैव द्विजं यत्नेन पूजयेत् ॥

जो ब्राह्मण वेदका विद्वान्, अग्निहोत्रपरायण, जितेन्द्रिय, शूद्रके अन्नसे दूर रहनेवाला और दरिद्र हो, उसकी यत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥

आहिताग्निः सदा पात्रमग्निहोत्री च वेदवित् ।
पात्राणामपि तत्पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे ॥

नित्य अग्निहोत्र करनेवाला वेदवेत्ता ब्राह्मण दानका सदा पात्र है । जिसके पेटमें शूद्रका अन्न नहीं जाता, वह पात्रोंमें भी उत्तम पात्र है ॥

यच्च वेदमयं पात्रं यच्च पात्रं तपोमयम् ।
असंकीर्णं च यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति ॥

जो वेदसम्पन्न पात्र है, जो तपोमय पात्र है और जो किसीका भी भोजन न करनेवाला पात्र है, वह पवित्र पात्र दाताका उद्धार कर देता है ॥

नित्यस्वाध्यायनिरतास्त्वसंकीर्णेन्द्रियाश्च ये ।
पञ्चयज्ञपरा नित्यं पूजितास्तारयन्ति ते ॥

जो ब्राह्मण नित्य स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, जो सदा ही पञ्च महायज्ञ करनेमें तत्पर रहते हैं, वे पूजा करनेवालेका उद्धार कर देते हैं ॥

ये क्षान्तिदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः ।
प्रतिग्रहे संकुचिता गृहस्था-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥

जो क्षमाशील, संयतचित्त और जितेन्द्रिय हैं, जिनके कान वेदवाणीसे भरे हुए हैं, जो प्राणियोंकी हत्यासे निवृत्त हो चुके हैं और जिनको दान लेनेमें संकोच होता है, ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण दाताका उद्धार करनेमें समर्थ हैं ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी ।
ऋतौ गच्छन् विधिवच्चापि जुह्वत्
स ब्राह्मणस्तारयितुं समर्थः ॥

जो प्रतिदिन तर्पण करनेवाला, सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहनेवाला, नित्यप्रति स्वाध्यायपरायण, शूद्रका अन्न न खानेवाला, ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीसे समागम करनेवाला और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला हो, वह ब्राह्मण दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है ॥

ब्राह्मणो यस्तु मद्भक्तो मद्रागी मत्परायणः ।
मयि संन्यस्तकर्मा च स विप्रस्तारयेद् ध्रुवम् ॥

जो ब्राह्मण मेरा भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाला, मेरे भजनमें परायण और मुझे ही कर्मफलोंको अर्पण करनेवाला है, वह ब्राह्मण अवश्य संसार-समुद्रसे तार सकता है ॥

द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् ।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स विप्रस्तारयिष्यति ॥

जो द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का तत्त्वज्ञ है, जो चतुर्व्यूहके विभागको जाननेवाला है एवं जो दोषरहित रहकर पाँचों समयकी उपासनाओंका ज्ञाता है, वह ब्राह्मण दूसरोंका भी उद्धार कर देता है ॥

(दक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अनेक प्रकारके दानोंकी महिमा]

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवेन दानेषु कथितेषु यथाक्रमम् ।
अवितृप्तश्च धर्मेषु केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्रमसे दान और धर्मकी बात कही जानेपर युधिष्ठिर तृप्त न होकर फिर भगवान् केशवसे कहने लगे—

देव धर्मामृतमिदं शृण्वतोऽपि परंतप ।
न विद्यते सुरश्रेष्ठ मम तृप्तिर्हि माधव ॥

'सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! परंतप माधव ! आपके मुँहसे इस धर्ममय अमृतका श्रवण करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥

यानि चान्यानि दानानि त्वया नोक्तानि कानिचित् ।
तान्याचक्ष्व सुरश्रेष्ठ तेषां चानुक्रमात् फलम् ॥

'सुरश्रेष्ठ ! जो अन्य प्रकारके दान हैं, जिनको अभीतक आपने नहीं बताया है, उनका वर्णन कीजिये और क्रमशः उनका फल भी बतानेकी कृपा कीजिये' ॥

श्रीभगवानुवाच

शय्यां प्रस्तरणोपेतां यः प्रयच्छति पाण्डव ।
अर्चयित्वा द्विजं भक्त्या वस्त्रमाल्यानुलेपनैः ।
भोजयित्वा विचित्रान्नं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

श्रीभगवान्ने कहा—पाण्डुनन्दन ! जो मनुष्य भक्तिके साथ वस्त्र, माला और चन्दन चढ़ाकर ब्राह्मणकी पूजा करता है तथा उसे भाँति-भाँतिके अन्नका भोजन कराकर बिछौनों-सहित शय्या दान करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥

धेनुदानस्य यत् पुण्यं विधिदत्तस्य पाण्डव ।
तत् पुण्यं समनुप्राप्य पितृलोके महीयते ॥

पाण्डुनन्दन ! विधिवत् किये हुए गोदानका जो पुण्य होता है, उस पुण्यको प्राप्त करके वह पितृलोकमें सम्मान पाता है ॥

आहिताग्निसहस्रस्य पूजितस्यैव यत् फलम् ।
तत् पुण्यफलमाप्नोति यस्तु शय्यां प्रयच्छति ॥

तथा एक हजार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंका पूजन करने जो फल मिलता है, उसी पुण्य-फलको वह प्राप्त करता है, जो शय्याका दान करता है ॥

शिल्पमध्ययनं वापि विद्यां मन्त्रौषधीनि च ।
यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको शिल्प, वेद, मन्त्र, ओषधि आदि विद्याओंका दान करता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥

छन्दोभिः सम्प्रयुक्तेन विमानेन विराजता ।
सप्तर्षिलोकान् व्रजति पूज्यते ब्रह्मवादिभिः ॥

वह वेदमन्त्रोंके बलसे चलनेवाले सुन्दर विमानप आरूढ़ हो सप्तर्षियोंके लोकमें जाता और वहाँ ब्रह्मवाद महर्षियोंसे पूजित होता है ॥

चतुर्युगानि वै त्रिंशत् क्रीडित्वा तत्र देववत् ।
इह मानुष्यके लोके विप्रो भवति वेदवित् ॥

उस लोकमें तीस चतुर्युगीतक देवताओंकी भाँति क्रीड़ करके वह मनुष्यलोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मण होता है ॥

विश्रामयति यो विप्रं श्रान्तमध्वनि कर्शितम् ।
विनश्यति तदा पापं तस्य वर्षकृतं नृप ॥

राजन् ! जो रास्तेके थके-माँदे दुर्बल ब्राह्मणको विश्राम देता है, उसका एक वर्षका किया हुआ पाप तत्काल न हो जाता है ॥

अथ प्रक्षालयेत् पादौ तस्य तोयेन भक्तिमान् ।
दशवर्षकृतं पापं व्यपोहति न संशयः ॥

तदनन्तर जब वह भक्तिपूर्वक उस अतिथिके दोनें चरणोंको जलसे पखारता है, उस समय उसके दस वर्षके किये हुए पाप निःसंदेह नष्ट हो जाते हैं ॥

घृतेन वाथ तैलेन पादौ तस्य तु पूजयेत् ।
तद् द्वादशसमारूढं पापमाशु व्यपोहति ॥

तथा यदि वह उसके दोनों पैरोंमें घी या तेल मलक उसकी पूजा करता है तो उसके बारह वर्षोंके पाप तुरंत न हो जाते हैं ॥

स्वागतेन तु यो विप्रं पूजयेदासनेन च ।
प्रत्युत्थानेन वा राजन् स देवानां प्रियो भवेत् ॥

राजन् ! जो घरपर आये हुए ब्राह्मणका स्वागत करके उसे आसन और अभ्युत्थान देकर पूजन करता है, व देवताओंका प्रिय होता है ॥

स्वागतेनाग्नयो राजन्नासनेन शतक्रतुः ।
प्रत्युत्थानेन पितरः प्रीतिं यान्त्यतिथिप्रियाः ॥

महाराज ! अतिथिके स्वागतसे अग्नि, उसे आस देनेसे इन्द्र और अगवानी करनेसे अतिथियोंपर प्रेम रखने वाले पितर प्रसन्न होते हैं ॥

अग्निशक्रपितॄणां च तेषां प्रीत्या नराधिप ।
संवत्सरकृतं पापं तस्य सद्यो विनश्यति ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार अग्नि, इन्द्र और पितरोंके प्रसन्न होनेपर मनुष्यका एक वर्षका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है ॥

यः प्रयच्छति विप्राय आसनं माल्यभूषितम् ।
स याति मणिचित्रेण रथेनेन्द्रनिकेतनम् ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको मालाओंसे विभूषित आसन प्रदान करता है, वह मणियोंसे चित्रित रथके द्वारा इन्द्रलोकमें जाता है ॥

पुरंदरासने तत्र दिव्यनारीविभूषितः ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥

वहाँ इन्द्रासनपर दिव्य स्त्रियोंके साथ शोभा पाता है और साठ हजार वर्षोंतक अप्सरागणोंके साथ क्रीड़ा करता है ॥

वाहनं यः प्रयच्छेत ब्राह्मणाय युधिष्ठिर ।
स याति रत्नचित्रेण वाहनेन सुरालयम् ॥

युधिष्ठिर ! जो मनुष्य ब्राह्मणको सवारी दान करता है, वह रत्नोंसे चित्रित विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है ॥

स तत्र कामं क्रीडित्वा सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ।
इह राजा भवेद् राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन् ! वहाँ वह अप्सरागणोंके द्वारा सेवित होकर इच्छानुसार क्रीड़ा करता है । फिर इस लोकमें राजा होता है—इसमें कोई विचारकी बात नहीं है ॥

पादपं पल्लवाकीर्णं पुष्पितं फलितं तथा ।
गन्धमाल्यैरथाभ्यर्च्य वस्त्राभरणभूषितम् ॥
यः प्रयच्छति विप्राय श्रोत्रियाय सदक्षिणम् ।
भोजयित्वा यथाकामं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो पुरुष पत्ते, फूल और फलोंसे भरे हुए वृक्षको वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित करके चन्दन और फूलोंसे उसकी पूजा करता है तथा वेदवेत्ता ब्राह्मणको भोजन कराकर दक्षिणाके साथ उस वृक्षका दान कर देता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

जाम्बूनदविचित्रेण विमानेन विराजता ।
पुरंदरपुरं याति जयशब्दरवैर्युतः ॥

वह सुवर्णजटित सुन्दर विमानपर बैठकर जय-जयकारके शब्द सुनता हुआ इन्द्रलोकमें जाता है ॥

तत्र शक्रपुरे रम्ये तस्य कल्पकपादपः ।
ददाति चेप्सितं सर्वं मनसा यद् यदिच्छति ॥

वहाँ रमणीय इन्द्रनगरीमें उसके मनमें जो-जो इच्छाएँ होती हैं, उन सब अभीष्ट वस्तुओंको कल्पवृक्ष देता है ॥

यावन्ति तस्य पत्राणि पुष्पाणि च फलानि च ।
तावद् वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

दानमें दिये हुए उस वृक्षके जितने पत्ते, फूल और फल होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें महिमा पाता है ॥

शक्रलोकावतीर्णश्च मानुष्यं लोकमागतः ।
रथाश्वगजसम्पूर्णं पुरं राज्यं च रक्षति ॥

इन्द्रलोकसे उतरकर जब वह मनुष्यलोकमें आता है, तब रथ, घोड़े और हाथियोंसे पूर्ण नगरके राज्यकी रक्षा करता है ॥

स्थापयित्वा तु मद्भक्त्या यो मत्प्रतिकृतिं नरः ।
आलयं विधिवत् कृत्वा पूजाकर्म च कारयेत् ।
स्वयं वा पूजयेद् भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो पुरुष भक्तिपूर्वक मन्दिर बनवाकर उसमें मेरी प्रतिमाकी विधिपूर्वक स्थापना करता है और दूसरेसे उसकी पूजा करवाता है या स्वयं भक्तिके साथ पूजा करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

अश्वमेधसहस्रस्य यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
तत् फलं समवाप्नोति मत्सालोक्यं प्रपद्यते ।
न जाने निर्गमं तस्य मम लोकाद् युधिष्ठिर ॥

एक हजार अश्वमेधयज्ञका जो पुण्य बताया गया है, उस फलको पाकर वह मेरे परमधामको पधारता है । युधिष्ठिर ! मैं जानता हूँ, वह वहाँसे कभी लौटकर इस लोकमें नहीं आता ॥

देवालये विप्रगृहे गोवाटे चत्वरेऽपि वा ।
प्रज्वालयति यो दीपं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य देवमन्दिरमें, ब्राह्मणके घरमें, गोशालामें और चौराहेपर दीपक जलाता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥

आरुह्य काञ्चनं यानं द्योतयन् सर्वतो दिशम् ।
गच्छेदादित्यलोकं स सेव्यमानः सुरोत्तमैः ॥

वह सुवर्णमय विमानपर बैठकर सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करता हुआ सूर्यलोकको जाता है, उस समय श्रेष्ठ देवता उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥

तत्र प्रकामं क्रीडित्वा वर्षकोटिं महातपाः ।
इह लोके भवेद् विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥

वह महातपस्वी पुरुष करोड़ों वर्षोंतक सूर्यलोकमें यथेष्ट विहार करनेके पश्चात् मर्त्यलोकमें आकर वेद-वेदाङ्गोंमें पारंगत ब्राह्मण होता है ॥

करकां कर्णिकां वापि महद् वा जलभाजनम् ।
यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको करका (कमण्डलु), कर्णिका (गिलास) अथवा महान् जलपात्र दान करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥

ब्रह्मकूर्चे तु यत् पीते फलं प्रोक्तं नराधिप ।
तत् पुण्यफलमाप्नोति जलभाजनदो नरः ।

सुतृप्तः सर्वसौगन्धः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥

जनेश्वर ! पञ्चगव्य पीनेवाले मनुष्यके लिये जो फल बताया गया है, उस फलको वह जलपात्र दान करनेवाला मनुष्य पाता है । वह सदा तृप्त रहता है । उसे सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ सुलभ होते हैं तथा उसकी इन्द्रियाँ और मन सदा प्रसन्न रहते हैं ॥

हंससारसयुक्तेन विमानेन विराजता ।
स याति वारुणं लोकं दिव्यगन्धर्वसेवितम् ॥

इतना ही नहीं, वह हंस और सारसोंसे जुते हुए सुन्दर विमानपर बैठकर दिव्य गन्धर्वोंसे सेवित वरुणलोकमें जाता है ॥

पानीयं यः प्रयच्छेद् वै जीवानां जीवनं परम् ।
ग्रीष्मे च त्रिषु मासेषु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो गर्मीके तीन महीनोंमें जीवोंके जीवनभूत जलका दान करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता ।
स गच्छेदिन्द्रभवनं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

वह पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशमान सुन्दर विमानपर आरूढ़ होकर अप्सरागणोंसे सेवित हुआ इन्द्रभवनकी यात्रा करता है ॥

शिरोऽभ्यङ्गप्रदानेन तेजस्वी प्रियदर्शनः ।
सुभगो रूपवाञ्छूरः पण्डितश्च भवेद् द्विजः ॥

सिरमें लगानेके लिये तेल-दान करनेसे मनुष्य तेजस्वी, दर्शनीय, सुन्दर, रूपवान्, शूरवीर और पण्डित ब्राह्मण होता है ॥

वस्त्रदायी तु तेजस्वी सर्वत्र प्रियदर्शनः ।
सुभगो भवति श्रीमान् स्त्रीणां नित्यं मनोरमः ॥

वस्त्र-दान करनेवाला पुरुष भी तेजस्वी, दर्शनीय, सुन्दर, श्रीसम्पन्न और सदा स्त्रियोंके लिये मनोरम होता है ॥

उपानहौ च छत्रं च यो ददाति नरोत्तमः ।
स याति रथमुख्येन काञ्चनेन विराजता ।
शक्रलोकं महातेजाः सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

जो उत्तम पुरुष जूता और छाता दान करता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न हो सोनेके बने हुए सुन्दर रथपर बैठकर अप्सरागणोंसे सेवित हुआ इन्द्रलोकमें जाता है ॥

काष्ठपादुकदा यान्ति विमानैर्वृक्षनिर्मितैः ।
धर्मराजपुरं रम्यं सेव्यमानाः सुरोत्तमैः ॥

जो काठकी खड़ाऊँ दान करते हैं, वे काष्ठनिर्मित विमानोंपर आरूढ़ होकर श्रेष्ठ देवताओंसे सेवित हो धर्मराजके रमणीय नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

दन्तकाष्ठप्रदानेन प्रियवाक्यो भवेन्नरः ।
सुगन्धवदनः श्रीमान् मेधासौभाग्यसंयुतः ॥

दाँतनका दान करनेसे मनुष्य मधुरभाषी होता है । उस मुँहसे सुगन्ध निकलती रहती है तथा वह लक्ष्मीवान् ए बुद्धि और सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ॥

अनन्तराशी यश्चापि वर्तते व्रतवत् सदा ।
सत्यवाक्क्रोधरहितः शुचिः स्नानरतः सदा ।
स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥

जो मनुष्य अतिथि और कुटुम्बीजनोंको भोजन क लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करता है, सदा व्रतका पाल करता है, सत्य बोलता है, क्रोधसे दूर रहता है तथा स्ना आदिके द्वारा सर्वदा पवित्र रहता है, वह दिव्य विमान द्वारा इन्द्रलोककी यात्रा करता है ॥

एकभुक्तेन यश्चापि वर्षमेकं तु वर्तते ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यशौचसमन्वितः ।
स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥

जो एक वर्षतक प्रतिदिन एक वक्त भोजन करता है ब्रह्मचर्यका पालन करता है, क्रोधको काबूमें रखता है त सत्य और शौचका पालन करता है, वह दिव्य विमान बैठकर इन्द्रलोकमें पदार्पण करता है ॥

चतुर्थकाले यो भुङ्क्ते ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वर्तते चैकवर्षं तु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो एक वर्षतक चौथे वक्त अर्थात् प्रति दूसरे दि भोजन करता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है और इन्द्रियों काबूमें रखता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

चित्रबर्हिणयुक्तेन विचित्रध्वजशोभिना ।
याति यानेन दिव्येन स महेन्द्रपुरं नरः ॥

वह मनुष्य विचित्र पंखवाले मोरोंसे जुते हुए अ ध्वजसे शोभायमान दिव्य विमानपर आरूढ़ हो महेन्द्रलोक गमन करता है ॥

निवेशयति मन्मूर्त्यामात्मानं मद्गतः शुचिः ।
रुद्रदक्षिणमूर्त्यां वा चतुर्दश्यां विशेषतः ॥
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव देवलोकैश्च पूजितः ।
गन्धर्वैर्भूतसङ्घैश्च गीयमानो महातपाः ॥
प्रविशेत् स महातेजा मां वा शङ्करमेव वा ।
न स्यात् पुनर्भवो राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन् ! जो मनुष्य पवित्र और मेरे परायण होकर मे श्रीविग्रहमें मन लगाता (मेरा ध्यान करता) है तथा विशेष चतुर्दशीके दिन रुद्र अथवा दक्षिणामूर्तिमें चित्त एका करता है, वह महान् तपस्वी पुरुष सिद्धों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंसे पूजित होकर गन्धर्वों और भूतोंका गान सुन हुआ मुझमें या शङ्करमें प्रवेश कर जाता है तथा उसका इ संसारमें फिर जन्म नहीं होता—इसमें कोई विचारकी ब नहीं है ॥

गोकृते स्त्रीकृते चैव गुरुविप्रकृतेऽपि वा।
हन्यन्ते ये तु राजेन्द्र शक्रलोकं व्रजन्ति ते॥

राजेन्द्र! जो मनुष्य गौ, स्त्री, गुरु और ब्राह्मणकी रक्षाके लिये प्राण दे डालते हैं, वे इन्द्रलोकमें जाते हैं॥

तत्र जाम्बूनदमये विमाने कामगामिनि।
मन्वन्तरं प्रमोदन्ते दिव्यनारीनिषेविताः॥

वहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले सुवर्णके बने हुए विमानपर रहकर दिव्य नारियोंसे सेवित हुए एक मन्वन्तरतक आनन्दका अनुभव करते हैं॥

आश्रुतस्य प्रदानेन दत्तस्य हरणेन च।
जन्मप्रभृति यद् दत्तं तत् सर्वं तु विनश्यति॥

देनेकी प्रतिज्ञा की हुई वस्तुको न देनेसे अथवा दी हुई वस्तुको छीन लेनेसे जन्मभरका किया हुआ सारा दान-पुण्य नष्ट हो जाता है॥

यद् यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनोपार्जितं च यत्।
तत् तद् गुणवते देयं तदेवाक्षय्यमिच्छता॥

अक्षय सुख चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि जो-जो न्यायसे उपार्जित किया हुआ अत्यन्त अभीष्ट द्रव्य है, वह-वह गुणवान् ब्राह्मणको दानमें दे॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[पञ्चमहायज्ञ, विधिवत् स्नान और उसके अङ्गभूत कर्म, भगवान्‌के प्रिय पुष्प तथा भगवद्भक्तोंका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

पञ्च यज्ञाः कथं देव क्रियन्तेऽत्र द्विजातिभिः।
तेषां नाम च देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! द्विजातियोंके द्वारा पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान यहाँ किस प्रकार किया जाता है? देवेश्वर! उन यज्ञोंके नाम भी पूर्णतया बताने चाहिये॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पञ्च महायज्ञान् कीर्त्यमानान् युधिष्ठिर।
यैरेव ब्रह्मसालोक्यं लभ्यते गृहमेधिना॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—युधिष्ठिर! जिनके अनुष्ठानसे गृहस्थ पुरुषोंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, उन पञ्चमहायज्ञोंका वर्णन करता हूँ, सुनो॥

ऋभुयज्ञं ब्रह्मयज्ञं भूतयज्ञं च पाण्डव।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च पञ्च यज्ञान् प्रचक्षते॥

पाण्डुनन्दन! ऋभुयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ—ये पञ्चयज्ञ कहलाते हैं॥

तर्पणं ऋभुयज्ञः स्यात् स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञकः।
भूतयज्ञो बलिर्यज्ञो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।
पितॄनुद्दिश्य यत् कर्म पितृयज्ञः प्रकीर्तितः॥

इनमें 'ऋभुयज्ञ' तर्पणको कहते हैं, 'ब्रह्मयज्ञ' स्वाध्यायका नाम है, समस्त प्राणियोंके लिये अन्नकी बलि देना 'भूतयज्ञ' है, अतिथियोंकी पूजाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं और पितरोंके उद्देश्यसे जो श्राद्ध आदि कर्म किये जाते हैं, उनकी 'पितृयज्ञ' संज्ञा है॥

हुतं चाप्यहुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
प्राशितं बलिदानं च पाकयज्ञान् प्रचक्षते॥

हुत, अहुत, प्रहुत, प्राशित और बलिदान—ये पाकयज्ञ कहलाते हैं॥

वैश्वदेवादयो होमा हुतमित्युच्यते बुधैः।
अहुतं च भवेद् दत्तं प्रहुतं ब्राह्मणाशितम्॥

वैश्वदेव आदि कर्मोंमें जो देवताओंके निमित्त हवन किया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष 'हुत' कहते हैं। दान दी हुई वस्तुको 'अहुत' कहते हैं। ब्राह्मणोंको भोजन करानेका नाम 'प्रहुत' है॥

प्राणाग्निहोत्रहोत्रं च प्राशितं विधिवद् विदुः।
बलिकर्म च राजेन्द्र पाकयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥

राजेन्द्र! प्राणाग्निहोत्रकी विधिसे जो प्राणोंको पाँच ग्रास अर्पण किये जाते हैं, उनकी 'प्राशित' संज्ञा है तथा गौ आदि प्राणियोंकी तृप्तिके लिये जो अन्नकी बलि दी जाती है, उसीका नाम बलिदान है। इन पाँच कर्मोंको पाकयज्ञ कहते हैं॥

केचित् पञ्च महायज्ञान् पाकयज्ञान् प्रचक्षते।
अपरे ब्रह्मयज्ञादीन् महायज्ञविदो विदुः॥

कितने ही विद्वान् इन पाकयज्ञोंको ही पञ्चमहायज्ञ कहते हैं; किंतु दूसरे लोग, जो महायज्ञके स्वरूपको जाननेवाले हैं, ब्रह्मयज्ञ आदिको ही पञ्चमहायज्ञ मानते हैं॥

सर्वं एते महायज्ञाः सर्वथा परिकीर्तिताः।
बुभुक्षितान् ब्राह्मणांस्तु यथाशक्ति न हापयेत्॥

ये सभी सब प्रकारसे महायज्ञ बतलाये गये हैं। घरपर आये हुए भूखे ब्राह्मणोंको यथाशक्ति निराश नहीं लौटाना चाहिये॥

तस्मात् स्नात्वा द्विजो विद्वान् कुर्यादेतान् दिने दिने।
अतोऽन्यथा तु भुञ्जन् वै प्रायश्चित्ती भवेद् द्विजः॥

इसलिये विद्वान् द्विजको चाहिये कि वह प्रतिदिन स्नान करके इन यज्ञोंका अनुष्ठान करे। इन्हें किये बिना भोजन करनेवाला द्विज प्रायश्चित्तका भागी होता है॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न त्वद्भक्तस्य जनार्दन।
वक्तुमर्हसि देवेश स्नानस्य च विधिं मम॥

युधिष्ठिरने कहा—देवदेव ! आप दैत्योंके विनाशक और देवताओंके स्वामी हैं । जनार्दन ! अपने इस भक्तको स्नान करनेकी विधि बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत् सर्वं पवित्रं पापनाशनम् ।
स्नात्वा येन विधानेन मुच्यन्ते किल्बिषाद् द्विजाः

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! जिस विधिके अनुसार स्नान करनेसे द्विजगण समस्त पापोंसे छूट जाते हैं, उस परम पवित्र पापनाशक विधिका पूर्णरूपसे श्रवण करो ॥

मृदं च गोमयं चैव तिलं दर्भांस्तथैव च ।
पुष्पाण्यपि यथान्यायमादाय तु जलं व्रजेत् ॥

मिट्टी, गोबर, तिल, कुशा और फूल आदि शास्त्रोक्त सामग्री लेकर जलके समीप जाय ॥

नद्यां स्नात्वा न च स्नायादन्यत्र द्विजसत्तमः ।
सति प्रभूते पयसि नाल्पे स्नायात् कदाचन ॥

श्रेष्ठ द्विजको उचित है कि वह नदीमें स्नान करनेके पश्चात् और किसी जलमें न नहाये । अधिक जलवाला जलाशय उपलब्ध हो तो थोड़ेसे जलमें कभी स्नान न करे ॥

गत्वोदकसमीपं तु शुचौ देशे मनोरमे ।
ततो मृद्गोमयादीनि तत्र विप्रो विनिक्षिपेत् ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि जलके निकट जाकर शुद्ध और मनोरम जगहपर मिट्टी और गोबर आदि सामग्री रख दे ॥

बहिः प्रक्षाल्य पादौ च द्विराचम्य प्रयत्नतः ।
प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कुर्यात् तु तज्जलम् ॥

तथा पानीसे बाहर ही प्रयत्नपूर्वक अपने दोनों पैर धोकर दो बार आचमन करे । फिर जलाशयकी प्रदक्षिणा करके उसके जलको नमस्कार करे ॥

सर्वदेवमया ह्यापो मन्मयाः पाण्डुनन्दन ।
तस्मात् तास्तु न हन्तव्यास्त्वद्भिः प्रक्षालयेत्स्थलम् ॥

पाण्डुनन्दन ! जल सम्पूर्ण देवताओंका तथा मेरा भी स्वरूप है; अतः उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये । जलाशयके जलसे उसके किनारेकी भूमिको धोकर साफ करे ॥

केवलं प्रथमं मज्जेन्नाङ्गानि विमृशेद् बुधः ।
तत् तु तीर्थं समासाद्य कुर्यादाचमनं पुनः ॥

फिर बुद्धिमान् पुरुष पानीमें प्रवेश करके एक बार सिर्फ डुबकी लगावे, अङ्गोंकी मैल न छुड़ाने लगे । इसके बाद पुनः आचमन करे ॥

गोकर्णाकृतिवत् कृत्वा करं त्रिः प्रपिबेज्जलम् ।
द्विस्तत्परिमृजेद् वक्त्रं पादावभ्युक्ष्य चात्मनः ।
शीर्षण्यं तु ततः प्राणान् सकृदेव तु संस्पृशेत् ॥

हाथका आकार गायके कानकी तरह बनाकर उस तीन बार जल पीये । फिर अपने पैरोंपर जल छिड़ककर बार मुखमें जलका स्पर्श करे । तदनन्तर गलेके ऊपरी भाग स्थित आँख, कान और नाक आदि समस्त इन्द्रियोंका ए एक बार जलसे स्पर्श करे ॥

बाहू द्वौ च ततः स्पृष्ट्वा हृदयं नाभिमेव च ।
प्रत्यङ्गमुदकं स्पृष्ट्वा मूर्धानं तु पुनः स्पृशेत् ॥

फिर दोनों भुजाओंका स्पर्श करनेके पश्चात् हृदय औ नाभिका भी स्पर्श करे । इस प्रकार प्रत्येक अङ्गमें जल स्पर्श कराकर फिर मस्तकपर जल छिड़के ॥

आपः पुनन्त्वित्युक्त्वा च पुनराचमनं चरेत् ।
सोङ्कारव्याहृतीर्वापि सदसस्पतिमित्यृचम् ॥

इसके बाद 'आपः[1] पुनन्तु' मन्त्र पढ़कर फिर आचम करे अथवा आचमनके समय ओंकार और व्याहृतियोंसहि 'सदसस्पतिम्'[2] इस ऋचाका पाठ करे ॥

आचम्य मृत्तिकाः पश्चात् त्रिधा कृत्वा समालभेत् ।
ऋचेदं विष्णुरित्यङ्गमुत्तमाधममध्यमम् ।
आलभ्य वारुणैः सूक्तैर्नमस्कृत्य जलं ततः ॥

आचमनके बाद मिट्टी लेकर उसके तीन भाग करे औ 'इदं[3] विष्णुः' इस मन्त्रको पढ़कर उसे क्रमशः ऊपरके मध्यभागके तथा नीचेके अङ्गोंमें लगावे । तत्पश्चात् वारु सूक्तोंसे जलको नमस्कार करके स्नान करे ॥

स्रवन्ती चेत् प्रतिस्रोते प्रत्यर्कं चान्यवारिषु ।
मज्जेदोमित्युदाहृत्य न च विक्षोभयेज्जलम् ॥

यदि नदी हो तो जिस ओरसे उसकी धारा आती हो उसी ओर मुँह करके तथा दूसरे जलाशयोंमें सूर्यकी ओर मुँ करके स्नान करना चाहिये । ॐकारका उच्चारण करते हु धीरेसे गोता लगावे, जलमें हलचल पैदा न करे ॥

गोमयं च त्रिधा कृत्वा जले पूर्वं समालभेत् ।
सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं च जपेत् पुनः ॥

इसके बाद गोबरको हाथमें ले जलसे गीला करके उसके

---

१. ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् ।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् ॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम ।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहꣳस्वाहा ॥
(तै० आ० प्र० १० । २३

२. सदसस्पतिमद्भुतम्प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिम्मेधा मयासिषꣳस्वाहा ॥ (यजु० अ० ३२ मं० १३

३. ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्यपा सुरे स्वाहा ॥ (यजु० अ० ५ मं १५

तीन भाग करे और उसे भी पूर्ववत् अपने शरीरके ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग तथा अधोभागमें लगावे । उस समय प्रणव और व्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्रकी पुनरावृत्ति करता रहे ॥

पुनराचमनं कृत्वा मद्गतेनान्तरात्मना ।
आपो हि ष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः पूतेन वारिणा।
तथा तरत्समन्दीभिः सिञ्चेच्चतसृभिः क्रमात्॥
गोसूक्तेनाश्वसूक्तेन शुद्धवर्गेण चात्मनः।
वैष्णवैर्वारुणैः सूक्तैः सावित्रैरिन्द्रदैवतैः ॥
वामदैव्येन चात्मानमन्यैर्मन्मयसामभिः ।
स्थित्वान्तःसलिले सूक्तं जपेद् वा चाघमर्षणम्॥

फिर मुझमें चित्त लगाकर आचमन करनेके पश्चात् 'आपो हिष्ठामयो' इत्यादि तीन ऋचाओंसे, 'तरत्समन्दीभिः' इत्यादि चार ऋचाओंसे और गोसूक्त, अश्वसूक्त, वैष्णवसूक्त, वारुणसूक्त, सावित्रसूक्त, ऐन्द्रसूक्त, वामदैव्यसूक्त तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य साममन्त्रोंके द्वारा शुद्ध जलसे अपने ऊपर मार्जन करे । फिर जलके भीतर स्थित होकर अघमर्षणसूक्तका जप करे ॥

सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं वा ततो जपेत् ।
आश्वासमोक्षात् प्रणवं जपेद् वा मामनुस्मरन्॥

अथवा प्रणव एवं व्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्र जपे या जबतक साँस रुकी रहे तबतक मेरा स्मरण करते हुए केवल प्रणवका ही जप करता रहे ॥

उत्प्लुत्य तीर्थमासाद्य धौते शुक्ले च वाससी ।
शुद्धे चाच्छादयेत् कक्षे न कुर्यात् परिपाशके ॥

इस प्रकार स्नान करके जलाशयके किनारे आकर धोये हुए शुद्ध वस्त्र—धोती और चादर धारण करे । चादरको काँखमें रस्सीकी भाँति लपेटकर बाँधे नहीं ॥

पाशेन बद्ध्वा कक्षे यत् कुरुते कर्म वैदिकम्।
राक्षसा दानवा दैत्यास्तद् विलुम्पन्ति हर्षिताः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कक्ष्यापाशं न धारयेत् ॥

जो वस्त्रको काँखमें रस्सीकी भाँति लपेट करके वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसके कर्मको राक्षस, दानव और दैत्य बड़े हर्षमें भरकर नष्ट कर डालते हैं; इसलिये सब प्रकारके प्रयत्नसे काँखको वस्त्रसे बाँधना नहीं चाहिये ॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ च हस्तौ चैव मृदा शनैः ।
आचम्य पुनराचामेत् पुनः सावित्रिया द्विजः॥

ब्राह्मणको चाहिये कि वस्त्र-धारणके पश्चात् धीरे-धीरे हाथ और पैरोंको मिट्टीसे मलकर धो डाले, फिर गायत्री-मन्त्र पढ़कर आचमन करे ॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि ध्यायन्वेदान्समाहितः।
जले जलगतः शुद्धः स्थल एव स्थलस्थितः ।
उभयत्र स्थितस्तस्मादाचामेदात्मशुद्धये ॥

तथा पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके एकाग्रचित्तसे वेदोंका स्वाध्याय करे । जलमें खड़ा हुआ द्विज जलमें ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है और स्थलमें स्थित पुरुष स्थलमें ही आचमनके द्वारा शुद्ध होता है, अतः जल और स्थलमेंसे कहीं भी स्थित होनेवाले द्विजको आत्मशुद्धिके लिये आचमन करना चाहिये ॥

दर्भेषु दर्भपाणिः सन् प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
प्राणायामांस्ततः कुर्यान्मद्गतेनान्तरात्मना ॥

इसके बाद संध्योपासन करनेके लिये हाथोंमें कुश लेकर पूर्वाभिमुख हो कुशासनपर बैठे और मुझमें मन लगाकर एकाग्रभावसे प्राणायाम करे ॥

सहस्रकृत्वः सावित्रीं शतकृत्वस्तु वा जपेत् ॥
समाहितो जपेत् तस्मात् सावित्र्या चाभिमन्त्र्य च।
मन्देहानां विनाशाय रक्षसां विक्षिपेज्जलम् ॥

फिर एकाग्रचित्त होकर एक हजार या एक सौ गायत्री-मन्त्रका जप करे । मन्देह नामक राक्षसोंका नाश करनेके उद्देश्यसे गायत्रीमन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित जल लेकर सूर्यको अर्घ्य प्रदान करे ॥

उद्वर्गोऽसीत्यथाचान्तः प्रायश्चित्तजलं क्षिपेत् ॥

उसके बाद आचमन करके 'उद्वर्गोऽसि' इस मन्त्रसे प्रायश्चित्तके लिये जल छोड़े ॥

अथादाय सुपुष्पाणि तोयमञ्जलिना द्विजः ।
प्रक्षिप्य प्रतिसूर्यं च व्योममुद्रां प्रकल्पयेत् ॥

फिर द्विजको चाहिये कि अञ्जलिमें सुगन्धित पुष्प और जल लेकर सूर्यको अर्घ्य दे और आकाशमुद्राका प्रदर्शन करे ॥

ततो द्वादशकृत्वस्तु सूर्यस्यैकाक्षरं जपेत् ।
ततः षडक्षरादीनि षट्कृत्वः परिवर्तयेत् ॥

तदनन्तर सूर्यके एकाक्षर मन्त्रका बारह बार जप करे और उनके षडक्षर आदि मन्त्रोंकी छः बार पुनरावृत्ति करे ॥

प्रदक्षिणं परामृष्य मुद्रया स्वमुखान्तरे ।

---

१. ॐ आपो हि ष्ठा मयोभुवः । ॐ ता न ऊर्जे दधातन । ॐ महे रणाय चक्षसे । ॐ यो वः शिवतमो रसः । ॐ तस्य भाजयतेह नः । ॐ उशतीरिव मातरः । ॐ तस्मा अरं गमाम वः । ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ । ॐ आपो जनयथा च नः ।
(यजु० ११ मं० ५०—५२)

२. ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋ० अ० ८ अ०८व० ४८)

ऊर्ध्वबाहुस्ततो भूत्वा सूर्यमीक्षेत् समाहितः ॥
तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत् तेजोमूर्तिं चतुर्भुजम् ।
उदुत्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि ॥
सावित्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा सूक्तं च मामकम्।
मन्मयानि च सामानि पुरुषव्रतमेव च ॥

आकाशमुद्राको दाहिनी ओरसे घुमाकर अपने मुखमें विलीन करे । इसके बाद दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर एकाग्रचित्तसे सूर्यकी ओर देखते हुए उनके मण्डलमें स्थित मुझ चार भुजाधारी तेजोमूर्ति नारायणका एकाग्रचित्तसे ध्यान करे । उस समय 'उदुत्यम्'[1] 'चित्रं देवानाम्'[2] 'तच्चक्षुः'[3] इन मन्त्रोंका, यथाशक्ति गायत्री-मन्त्रका तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले सूक्तोंका जप करके मेरे साममन्त्रों और पुरुषसूक्तका भी पाठ करे ॥

ततश्चालोकयेदर्कं हंसः शुचिषदित्यपि ।
प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्य दिवाकरम् ॥

तत्पश्चात् 'हंसः शुचिर्षत्'[4] इस मन्त्रको पढ़कर सूर्यकी ओर देखे और प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें नमस्कार करे ॥

ततस्तु तर्पयेदद्भिर्ब्रह्माणं मां च शङ्करम् ।
प्रजापतिं च देवांश्च तथा देवमुनीनपि ॥
साङ्गानपि तथा वेदानितिहासान् क्रतूनपि ।
पुराणानि च सर्वाणि कुलान्यप्सरसां तथा ॥
ऋतून् संवत्सरं चैव कलाकाष्ठात्मकं तथा ।
भूतग्रामांश्च भूतानि सरितः सागरांस्तथा ।
शैलाञ्छैलस्थितान् देवानौषधीः सवनस्पतीः॥
तर्पयेदुपवीती च प्रत्येकं तृप्यतामिति ।
अन्वारभ्य च सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ॥

इस प्रकार संध्योपासन समाप्त होनेपर क्रमशः ब्रह्माजीका, मेरा, शङ्करजीका, प्रजापतिका, देवताओं और देवर्षियोंका, अङ्गसहित वेदों, इतिहासों, यज्ञों और समस्त पुराणोंका, अप्सराओंका, ऋतु-कलाकाष्ठारूप संवत्सर तथा भूतसमुदायोंका, भूतोंका, नदियों और समुद्रोंका तथा पर्वतों, उनपर रहनेवाले देवताओं, ओषधियों और वनस्पतियोंका जलसे तर्पण करे । तर्पणके समय जनेऊको बायें कंधेपर रक्खे तथा दायें और बायें हाथकी अञ्जलिसे जल देते हुए उपर्युक्त देवताओंमेंसे प्रत्येकका नाम लेकर 'तृप्यताम्' पदका उच्चारण करे (यदि दो या अधिक देवताओंको एक साथ जल दिया जाय तो क्रमशः द्विवचन और बहुवचन— 'तृप्येताम्' और 'तृप्यन्ताम्' इन पदोंका उच्चारण करना चाहिये) ॥

निवीती तर्पयेद् विद्वानृषीन् मन्त्रकृतस्तथा ।
मरीच्यादीनृषींश्चैव नारदाद्यान् समाहितः ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि मन्त्रद्रष्टा मरीचि आदि तथा नारद आदि ऋषियोंको निवीती होकर अर्थात् जनेऊको गलेमें मालाकी भाँति पहन करके एकाग्रचित्तसे तर्पण करे ॥

प्राचीनावीत्यथैतांस्तु तर्पयेद् देवताः पितॄन् ।
ततस्तु कव्यवाडग्निं सोमं वैवस्वतं तथा ॥
ततश्चार्यमणं चापि ह्यग्निष्वात्तांस्तथैव च ।
सोमपांश्चैव दर्भेषु सतिलैरेव वारिभिः ।
तृप्यतामिति पश्चात् तु स पितॄंस्तर्पयेत् ततः॥

इसके बाद जनेऊको दाहिने कंधेपर करके आगे बताये जानेवाले पितृ-सम्बन्धी देवताओं एवं पितरोंका तर्पण करे । कव्यवाट्, अग्नि, सोम, वैवस्वत, अर्यमा, अग्निष्वात्त और सोमप—ये पितृ-सम्बन्धी देवता हैं । इनका तिलसहित जलसे कुशाओंपर तर्पण करे और 'तृप्यताम्' पदका उच्चारण करे । तदनन्तर पितरोंका तर्पण आरम्भ करे ॥

पितॄन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् ।
पितामहीस्तथा चापि तथैव प्रपितामहीः ॥
मातरं चात्मनश्चैव गुरुमाचार्यमेव च ।
पितृमातृस्वसारौ च तथा मातामहीमपि ॥
उपाध्यायान् सखीन् बन्धून् शिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान्
प्रमीताननृशंस्यार्थं तर्पयेत् तानमत्सरः ॥

उनका क्रम इस प्रकार है—पिता, पितामह और प्रपितामह तथा अपनी माता, पितामही और प्रपितामही ! इनके सिवा गुरु, आचार्य, पितृष्वसा (बुआ), मातृष्वसा (मौसी), मातामही, उपाध्याय, मित्र, बन्धु, शिष्य, ऋत्विज और जाति-भाई आदिमेंसे भी जो मर गये हों, उनपर दया करके ईर्ष्या-द्वेष त्यागकर उनका भी तर्पण करना चाहिये ॥

तर्पयित्वा तथाऽऽचम्य स्नानवस्त्रं प्रपीडयेत्।
वृत्तिं भृत्यजनस्याहुः स्नानं पानं च तद्विदः ।
अतर्पयित्वा तान् पूर्वं स्नानवस्त्रं न पीडयेत् ।

---

१. ॐ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ (यजु० अ० ७ मं० ४१)

२. ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष१ँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ (यजु० अ० ७ मं० ४२)

३. ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत१ँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ (यजु० अ० ३६ मं० २४)

४. हँ१सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योम सदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (यजु० १० । २४)

पीडयेच्च पुरा मोहाद् देवाः सर्षिगणास्तथा ॥

तर्पणके पश्चात् आचमन करके स्नानके समय पहने हुए वस्त्रको निचोड़ डाले। उस वस्त्रका जल भी कुलके मरे हुए संतानहीन पुरुषोंका भाग है। यह उनके स्नान करने और पीनेके काम आता है। अतः उस जलसे उनका तर्पण करना चाहिये, ऐसा विद्वानोंका कथन है। पूर्वोक्त देवताओं तथा पितरोंका तर्पण किये बिना स्नानका वस्त्र नहीं धोना चाहिये। जो मोहवश तर्पणके पहले ही धौतवस्त्रको धो लेता है, वह ऋषियों और देवताओंको कष्ट पहुँचाता है ॥

तर्पयित्वा तथाऽऽचम्य स्नानवस्त्रं निपीडयेत्।
पितरस्तु निराशास्ते शप्त्वा यान्ति यथागतम्॥

उस अवस्थामें उसके पितर उसे शाप देकर निराश लौट जाते हैं, इसलिये तर्पणके पश्चात् आचमन करके ही स्नान-वस्त्र निचोड़ना चाहिये ॥

प्रक्षाल्य तु मृदा पादावाचम्य प्रयतः पुनः।
दर्भेषु दर्भपाणिः सन् स्वाध्यायं तु समारभेत्॥

तर्पणकी क्रिया पूर्ण होनेपर दोनों पैरोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें धो डाले और फिर आचमन करके पवित्र हो कुशासन-पर बैठ जाय और हाथोंमें कुशा लेकर स्वाध्याय आरम्भ करे ॥

वेदमादौ समारभ्य ततो पर्युपरि क्रमात्।
यदधीतेऽन्वहं शक्त्या तत् स्वाध्यायं प्रचक्षते ॥

पहले वेदका पाठ करके फिर क्रमसे उसके अन्य अङ्गोंका अध्ययन करे। अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जो अध्ययन किया जाता है, उसको स्वाध्याय कहते हैं ॥

ऋचो वापि यजुर्वापि सामगायमथापि च।
इतिहासपुराणानि यथाशक्ति न हापयेत् ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका स्वाध्याय करे। इतिहास और पुराणोंके अध्ययनको भी यथाशक्ति न छोड़े ॥

उत्थाय तु नमस्कृत्य दिशो दिग्देवता अपि।
ब्रह्माणं च ततश्चाग्निं पृथिवीमोषधीस्तथा ॥
वाचं वाचस्पतिं चैव मां चैव सरितस्तथा।
नमस्कृत्य तथाद्भिस्तु प्रणवादि च पूर्ववत् ॥
ततो नमोऽद्भ्य इत्युक्त्वा नमस्कुर्यात् तु तज्जलम्।

स्वाध्याय पूर्ण करके खड़ा होकर दिशाओं, उनके देवताओं, ब्रह्माजी, अग्नि, पृथ्वी, ओषधि, वाणी, वाचस्पति और सरिताओंको तथा मुझे भी प्रणाम करे। फिर जल लेकर प्रणवयुक्त 'नमोऽद्भ्यः' यह मन्त्र पढ़कर पूर्ववत् जल-देवताको नमस्कार करे ॥

घृणिः सूर्यस्तथाऽऽदित्यस्तं प्रणम्य स्वमूर्धनि ॥
ततस्त्वालोकयन्नर्कं प्रणवेन समाहितः।
ततो मामर्चयेत् पुष्पैर्मत्प्रियैरेव नित्यशः ॥

इसके बाद घृणि, सूर्य तथा आदित्य आदि नामोंका उच्चारण करके अपने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर सूर्यदेवको प्रणाम करे और प्रणवका जप करते हुए एकाग्रचित्तसे उनका दर्शन करे। उसके बाद मुझे प्रिय लगनेवाले पुष्पोंसे नित्यप्रति मेरी पूजा करे ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्प्रियाणि प्रसूनानि त्वदधिष्ठानि माधव।
सर्वाण्याचक्ष्व देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥

युधिष्ठिरने कहा—अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले माधव! जो पुष्प आपको अत्यन्त प्रिय हों तथा जिनमें आपका निवास हो, उन सबका मुझ अपने भक्तसे वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्वावहितो राजन् पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे।
कुमुदं करवीरं च चणकं चम्पकं तथा ॥
मल्लिकाजातिपुष्पं च नन्द्यावर्तं च नन्दिकम्।
पलाशपुष्पपत्राणि दूर्वाभृङ्गकमेव च ॥
वनमाला च राजेन्द्र मत्प्रियाणि विशेषतः।

श्रीभगवान् बोले—राजन्! जो फूल मुझे बहुत प्रिय हैं, उनके नाम बताता हूँ, सावधान होकर सुनो। राजेन्द्र! कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला—ये फूल मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम् ॥
तस्मात् पद्मं तथा राजन् पद्मात् तु शतपत्रकम्।
तस्मात् सहस्रपत्रं तु पुण्डरीकं ततः परम् ॥
पुण्डरीकसहस्रात् तु तुलसी गुणतोऽधिका।

सब प्रकारके फूलोंसे हजारगुना अच्छा उत्पल माना गया है। राजन्! उत्पलसे बढ़कर पद्म, पद्मसे शतदल, शतदलसे सहस्रदल, सहस्रदलसे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण माना गया है ॥

वकपुष्पं ततस्तस्मात् सौवर्णं तु ततोऽधिकम्।
सौवर्णात् तु प्रसूनाच्च मत्प्रियं नास्ति पाण्डव॥

पाण्डुनन्दन! तुलसीसे श्रेष्ठ है वकपुष्प और उससे भी उत्तम है सौवर्ण, सौवर्णके फूलसे बढ़कर दूसरा कोई भी फूल मुझे प्रिय नहीं है ॥

पुष्पाभावे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेत् पुनः।
पत्रालाभे तु शाखाभिः शाखालाभे शिफालवैः ॥
शिफाभावे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम्।

फूल न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे, पत्तोंके न मिलनेपर उसकी शाखाओंसे और शाखाओंके न मिलनेपर तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे। यदि वह भी न मिल सके

तो जहाँ तुलसीका वृक्ष रहा हो, वहाँकी मिट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरा पूजन करे ॥

वर्जनीयानि पुष्पाणि शृणु राजन् समाहितः ॥
किंकिणीं मुनिपुष्पं च धुर्धूरं पाटलं तथा ॥
तथातिमुक्तकं चैव पुन्नागं नक्तमालिकम् ।
यौधिकं क्षीरिकापुष्पं निर्गुण्डी लांगुली जपाः ॥
कर्णिकारं तथाशोकं शाल्मलीपुष्पमेव च ।
ककुभाः कोविदाराश्च वैभीतकमथापि च ॥
कुरण्टकप्रसूनं च कल्पकं कालकं तथा ।
अङ्कोलं गिरिकर्णी च नीलान्येव च सर्वशः ।
एकपर्णानि चान्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥

राजन् ! अब त्यागनेयोग्य फूलोंके नाम बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो । किङ्किणी, मुनिपुष्प, धुर्धूर, पाटल, अतिमुक्तक, पुन्नाग, नक्तमालिक, यौधिक, क्षीरिकापुष्प, निर्गुण्डी, लाङ्गुली, जपा, कर्णिकार, अशोक, सेमलका फूल, ककुभ, कोविदार, वैभीतक, कुरण्टक, कल्पक, कालक, अंकोल, गिरिकर्णी, नीले रंगके फूल तथा एक पंखड़ीवाले फूल—इन सबका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिये ॥

अर्कपुष्पाणि वर्ज्यानि अर्कपत्रस्थितानि च ।
व्याधूताः पिचुमन्दानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥

आक (मदार) के फूल तथा आकके पत्तेपर रक्खे हुए फूल भी वर्जित हैं । नीमके फूलोंका भी परित्याग कर देना चाहिये ॥

अन्यैस्तु शुक्लपत्रैस्तु गन्धवद्भिर्नराधिप ।
अवर्ज्यैस्तैर्यथालाभं मद्भक्तो मां समर्चयेत् ॥

नराधिप ! इनके अतिरिक्त जिनका निषेध नहीं किया गया है, ऐसे सफेद पंखड़ियोंवाले सुगन्धित पुष्प जितने मिल सकें, उनके द्वारा भक्त पुरुषको मेरी पूजा करनी चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशास्तु ते ।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! आपकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये ? आपकी मूर्तियाँ कैसी हैं ? इस विषयमें वानप्रस्थलोग किस प्रकार बताते हैं और पञ्चरात्रवाले किस प्रकार बताते हैं ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः ।
स्थण्डिले पद्मकं कृत्वा चाष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥
अष्टाक्षरविधानेन ह्यथवा द्वादशाक्षरैः ।
वैदिकैरथ मन्त्रैश्च मम सूक्तेन वा पुनः ॥
स्थापितं मां ततस्तस्मिन्नर्चयित्वा विचक्षणः ।
पुरुषं च ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! मेरे अर्चनकी सब विधि सुनो । वेदीपर कर्णिकाओंसे युक्त अष्टदल कमल बनावे । उसपर अष्टाक्षर अथवा द्वादशाक्षर मन्त्रके विधानसे तथा वैदिक मन्त्रोंके द्वारा और पुरुषसूक्तसे मेरी मूर्तिकी स्थापना करे । फिर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मुझ सत्यस्वरूप अच्युत पुरुषका पूजन करे ॥

अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ॥
वासुदेवं च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथापि वा ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्तिं प्रवक्ष्यते ॥

नृपश्रेष्ठ महाराज ! वानप्रस्थधर्मके ज्ञाता मनुष्य मुझे अनिरुद्ध स्वरूप बताते हैं । उनसे भिन्न जो पाञ्चरात्रिक हैं वे मुझे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस प्रकार चतुर्व्यूह स्वरूप बताते हैं ॥

एताश्चान्याश्च राजेन्द्र संज्ञाभेदेन मूर्त्तयः ।
विद्ध्यनर्थान्तरा एव मामेवं चार्चयेद् बुधः ॥

राजेन्द्र ! ये सभी तथा अन्य नामभेदसे मेरी मूर्तियाँ हैं, उन सबका अर्थ एक ही समझना चाहिये । इस प्रकार बुद्धिमान्‌लोग मेरी पूजा करते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वद्भक्ताः कीदृशा देव कानि तेषां व्रतानि च ।
एतत् कथय देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अच्युत ! भगवन् ! आपके भक्त कैसे होते हैं और उनके नियम कौन-कौन-से हैं ? यह बतानेकी कृपा कीजिये; क्योंकि देवेश्वर ! मैं भी आपके चरणोंमें भक्ति रखता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनन्यदेवताभक्ता ये मद्भक्तजनप्रियाः ।
मामेव शरणं प्राप्ता मद्भक्तास्ते प्रकीर्तिताः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! जो दूसरे किसी देवताके भक्त न होकर केवल मेरी ही शरण ले चुके हों तथा मेरे भक्तजनोंके साथ प्रेम रखते हों, वे ही मेरे भक्त कहे गये हैं ॥

स्वर्ग्याण्यपि यशस्यानि मत्प्रियाणि विशेषतः ।
मद्भक्तः पाण्डवश्रेष्ठ व्रतानीमानि धारयेत् ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! स्वर्ग और यश देनेवाले होनेके साथ ही जो मुझे विशेष प्रिय हों, ऐसे व्रतोंका ही मेरे भक्त पालन करते हैं ॥

नान्यदाच्छादयेद् वस्त्रं मद्भक्तो जलतारणे ।
स्वस्थस्तु न दिवा स्वप्येन्मधुमांसानि वर्जयेत् ॥

भक्त पुरुषको जलमें तैरते समय एक वस्त्रके सिवा दूसरा नहीं धारण करना चाहिये। स्वस्थ रहते हुए दिनमें कभी नहीं सोना चाहिये। मधु और मांसको त्याग देना चाहिये ॥

प्रदक्षिणं व्रजेद् विप्रान् गामश्वत्थं हुताशनम्।
न धावेत् पतिते वर्षे नाग्रभिक्षां च लोपयेत् ॥

मार्गमें ब्राह्मण, गौ, पीपल और अग्निके मिलनेपर उनको दाहिने करके जाना चाहिये। पानी बरसते समय दौड़ना नहीं चाहिये। पहले मिलनेवाली भिक्षाका त्याग नहीं करना चाहिये ॥

प्रत्यक्षलवणं नाद्यात् सौभाञ्जनकरञ्जनौ।
ग्रासमुष्टिं गवे दद्याद् धान्याम्लं चैव वर्जयेत्॥

खाली नमक नहीं खाना चाहिये तथा सौभाञ्जन और करञ्जनका भक्षण नहीं करना चाहिये। गौको प्रतिदिन ग्रास अर्पण करे और अन्नमें खटाई मिलाकर न खाय ॥

तथा पर्युषितं चापि पक्वं परगृहागतम्।
अनिवेदितं च यद् द्रव्यं तत् प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥

दूसरेके घरसे उठाकर आयी हुई रसोई, बासी अन्न तथा भगवान्‌को भोग न लगाये हुए पदार्थका भी प्रयत्नपूर्वक त्याग करे ॥

विभीतककरञ्जानां छायां दूरे विवर्जयेत्।
विप्रदेवपरीवादान् न वदेत् पीडितोऽपि सन् ॥

बहेड़े और करञ्जकी छायासे दूर रहे, कष्टमें पड़नेपर भी ब्राह्मणों और देवताओंकी निन्दा न करे ॥

उदिते सवितर्याप्य क्रियायुक्तस्य धीमतः।
चतुर्वेदविदश्चापि देहे षड् वृषलाः स्मृताः ॥

सूर्योदयके बाद नित्य क्रियाशील रहनेवाले बुद्धिमान् और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मणके शरीरमें भी छः वृषल बताये जाते हैं ॥

क्षत्रियाः सप्त विज्ञेया वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः।
नियताः पाण्डवश्रेष्ठ शूद्राणामेकविंशतिः ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! क्षत्रियोंके शरीरमें सात वृषल जानने चाहिये, वैश्योंके देहमें आठ वृषल बताये गये हैं और शूद्रोंमें इक्कीस वृषलोंका निवास माना गया है ॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव च।
महामोहश्च इत्येते देहे षड् वृषलाः स्मृताः ॥

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और महामोह—ये छः वृषल ब्राह्मणके शरीरमें स्थित बताये गये हैं ॥

गर्वः स्तम्भो ह्यहंकार ईर्ष्या च द्रोह एव च।
पारुष्यं क्रूरता चैव सप्तैते क्षत्रियाः स्मृताः ॥

गर्व, स्तम्भ (जडता), अहंकार, ईर्ष्या, द्रोह, पारुष्य (कठोर बोलना) और क्रूरता—ये सात क्षत्रिय-शरीरमें रहनेवाले वृषल हैं ॥

तीक्ष्णता निकृतिर्माया शाठ्यं दम्भो ह्यनार्जवम्।
पैशुन्यमनृतं चैव वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

तीक्ष्णता, कपट, माया, शठता, दम्भ, सरलताका अभाव, चुगली और असत्य-भाषण—ये आठ वैश्य-शरीरके वृषल हैं ॥

तृष्णा बुभुक्षा निद्रा च ह्यालस्यं चाघृणादयः।
आधिश्चापि विषादश्च प्रमादो हीनसत्त्वता ॥
भयं विक्लवता जाड्यं पापकं मन्युरेव च।
आशा चाश्रद्दधानत्वमनवस्थाप्ययन्त्रणम् ॥
आशौचं मलिनत्वं च शूद्रा ह्येते प्रकीर्तिताः।
यस्मिन्नेते न दृश्यन्ते स वै ब्राह्मण उच्यते ॥

तृष्णा, खानेकी इच्छा, निद्रा, आलस्य, निर्दयता, क्रूरता, मानसिक चिन्ता, विषाद, प्रमाद, अधीरता, भय, घबराहट, जडता, पाप, क्रोध, आशा, अश्रद्धा, अनवस्था, निरङ्कुशता, अपवित्रता और मलिनता—ये इक्कीस वृषल शूद्रके शरीरमें रहनेवाले बताये गये हैं। ये सभी वृषल जिसके भीतर न दिखायी दें, वही वास्तवमें ब्राह्मण कहलाता है ॥

तस्मात् तु सात्त्विको भूत्वा शुचिः क्रोधविवर्जितः।
मामर्चयेत् तु सततं मत्प्रियत्वं यदीच्छति ॥

अतः ब्राह्मण यदि मेरा प्रिय होना चाहे तो सात्त्विक, पवित्र और क्रोधहीन होकर सदा मेरी पूजा करता रहे ॥

अलोलजिह्वः समुपस्थितो धृतिं
निधाय चक्षुर्युगमात्रमेव तत्।
मनश्च वाचं च निगृह्य चञ्चलं
भयान्निवृत्तो मम भक्त उच्यते॥

जिसकी जिह्वा चञ्चल नहीं है, जो धैर्य धारण किये रहता है और चार हाथ आगेतक दृष्टि रखते हुए चलता है, जिसने अपने चञ्चल मन और वाणीको वशमें करके भयसे छुटकारा पा लिया है, वह मेरा भक्त कहलाता है ॥

ईदृशाध्यात्मिनो ये तु ब्राह्मणा नियतेन्द्रियाः।
तेषां श्राद्धेषु तृप्यन्ति तेन तृप्ताः पितामहाः ॥

ऐसे अध्यात्मज्ञानसे युक्त जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके यहाँ श्राद्धमें तृप्तिपूर्वक भोजन करते हैं, उनके पितर उस भोजनसे पूर्ण तृप्त होते हैं ॥

धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत्॥

धर्मकी जय होती है, अधर्मकी नहीं; सत्यकी विजय होती है, असत्यकी नहीं तथा क्षमाकी जीत होती है, क्रोधकी नहीं। इसलिये ब्राह्मणको क्षमाशील होना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कपिला गौका तथा उसके दानका माहात्म्य और कपिला गौके दस भेद]

वैशम्पायन उवाच

दानपुण्यफलं श्रुत्वा तपःपुण्यफलानि च ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दान और तपस्याके पुण्य-फलोंको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—॥

या चैषा कपिला देव पूर्वमुत्पादिता विभो ।
होमधेनुः सदा पुण्या चतुर्वक्त्रेण माधव ॥
सा कथं ब्राह्मणेभ्यो हि देया कस्मिन् दिनेऽपि वा।
कीदृशाय च विप्राय दातव्या पुण्यलक्षणा ॥

'भगवन्! विभो! जिसे ब्रह्माजीने अग्निहोत्रकी सिद्धिके लिये पूर्वकालमें उत्पन्न किया था तथा जो सदा ही पवित्र मानी गयी है, उस कपिला गौका ब्राह्मणोंको किस प्रकार दान करना चाहिये? माधव! वह पवित्र लक्षणोंवाली गौ किस दिन और कैसे ब्राह्मणको देनी चाहिये? ॥

कति वा कपिला प्रोक्ता स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
कैर्वा देयाश्च ता देव श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

'ब्रह्माजीने कपिला गौके कितने भेद बतलाये हैं? तथा कपिला गौका दान करनेवाला मनुष्य कैसा होना चाहिये? इन सब बातोंको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो धर्मपुत्रेण संसदि ।
अब्रवीत् कपिलासंख्यां तासां माहात्म्यमेव च॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके द्वारा सभामें इस प्रकार कहे जानेपर श्रीकृष्ण कपिला गौकी संख्या और उनकी महिमाका वर्णन करने लगे—॥

शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पावनं परम् ।
यच्छ्रुत्वा पापकर्मापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥

'पाण्डुनन्दन! यह विषय बड़ा ही पवित्र और पावन है। इसका श्रवण करनेसे पापी पुरुष भी पापसे मुक्त हो जाता है, अतः ध्यान देकर सुनो ॥

कपिला ह्यग्निहोत्रार्थे विप्रार्थे वा स्वयम्भुवा ।
सर्वं तेजः समुद्धृत्य निर्मिता ब्रह्मणा पुरा ॥

'पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने अग्निहोत्र तथा ब्राह्मणोंके लिये सम्पूर्ण तेजोंका संग्रह करके कपिला गौको उत्पन्न किया था ॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
पुण्यानां परमं पुण्यं कपिला पाण्डुनन्दन ॥

'पाण्डुनन्दन! कपिला गौ पवित्र वस्तुओंमें सबसे बढ़कर पवित्र, मङ्गलजनक पदार्थोंमें सबसे अधिक मङ्गलस्वरूप तथा पुण्योंमें परमपुण्यस्वरूपा है ॥

तपसां तप एवाग्र्यं व्रतानामुत्तमं व्रतम् ।
दानानां परमं दानं निदानं ह्येतदक्षयम् ॥

'वह तपस्याओंमें श्रेष्ठ तपस्या, व्रतोंमें उत्तम व्रत, दानोंमें श्रेष्ठ दान और सबका अक्षय कारण है ॥

क्षीरेण कपिलायास्तु दध्ना वा सघृतेन वा ।
होतव्यान्यग्निहोत्राणि सायं प्रातर्द्विजातिभिः ॥

'द्विजातियोंको चाहिये कि वे सायंकाल और प्रातःकाल कपिला गौके दूध, दही अथवा घीसे अग्निहोत्र करें ॥

कपिलाया घृतेनापि दध्ना क्षीरेण वा पुनः ।
जुह्वते येऽग्निहोत्राणि ब्राह्मणा विधिवत् प्रभो॥
पूजयन्त्यतिथींश्चैव परां भक्तिमुपागताः ।
शूद्रान्नाद् विरता नित्यं दम्भानृतविवर्जिताः ॥
ते यान्त्यादित्यसंकाशैर्विमानैर्द्विजसत्तमाः ।
सूर्यमण्डलमध्येन ब्रह्मलोकमनुत्तमम् ॥

'प्रभो! जो ब्राह्मण कपिला गौके घी, दही अथवा दूधसे विधिवत् अग्निहोत्र करते हैं, भक्तिपूर्वक अतिथियोंकी पूजा करते हैं, शूद्रके अन्नसे दूर रहते हैं तथा दम्भ और असत्यका सदा त्याग करते हैं, वे सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंद्वारा सूर्यमण्डलके बीचसे होकर परम उत्तम ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥

शृङ्गाग्रे कपिलायास्तु सर्वतीर्थानि पाण्डव ।
ब्रह्मणो हि नियोगेन निवसन्ति दिने दिने ॥
प्रातरुत्थाय यो मर्त्यः कपिलाशृङ्गमस्तकात् ।
यश्च्युतामम्बुधारां वै शिरसा प्रयतः शुचिः ॥
स तेन पुण्यतीर्थेन सहसा हतकिल्बिषः ।
जन्मत्रयकृतं पापं प्रदहत्यग्निवत् तृणम् ॥

'युधिष्ठिर! ब्रह्माजीकी आज्ञासे कपिलाके सींगके अग्रभागमें सदा सम्पूर्ण तीर्थ निवास करते हैं। जो मनुष्य शुद्धभावसे नियमपूर्वक प्रतिदिन सबेरे उठकर कपिला गौके सींग और मस्तकसे गिरती हुई जल-धाराको अपने सिरपर धारण करता है, वह उस पुण्यके प्रभावसे सहसा पापरहित हो जाता है। जैसे आग तिनकेको जला डालती है, उसी प्रकार वह जल मनुष्यके तीन जन्मोंके पापोंको भस्म कर डालता है ॥

मूत्रेण कपिलायास्तु यश्च प्राणानुपस्पृशेत् ।
स्नानेन तेन पुण्येन नष्टपापः स मानवः ।
त्रिंशद् वर्षकृतात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥

'जो मनुष्य कपिलाका मूत्र लेकर अपनी नेत्र आदि इन्द्रियोंमें लगाता तथा उससे स्नान करता है, वह उस स्नानके पुण्यसे निष्पाप हो जाता है; उसके तीस जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

ातरुत्थाय यो भक्त्या प्रयच्छेत् तृणमुष्टिकम् ।
स्य नश्यति तत् पापं त्रिंशद्रात्रकृतं नृप ॥

'नरपते ! जो प्रातःकाल उठकर भक्तिके साथ कपिला ौको घासकी मुट्ठी अर्पण करता है, उसके एक महीनेके ापोंका नाश हो जाता है ॥

ातरुत्थाय यद्भक्त्या कुर्याद् यस्मात् प्रदक्षिणम् ।
दक्षिणीकृता तेन पृथिवी नात्र संशयः ॥

'जो सबेरे शयनसे उठकर भक्तिपूर्वक कपिला गौकी रिक्रमा करता है, उसके द्वारा समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो ाती है, इसमें संशय नहीं है ॥

पिलापञ्चगव्येन यः स्नायात् तु शुचिर्नरः ।
गङ्गाद्येषु तीर्थेषु स्नातो भवति पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! जो पुरुष कपिला गौके पञ्चगव्यसे नहाकर ुद्ध होता है, वह मानो गङ्गा आदि समस्त तीर्थोंमें स्नान र लेता है ॥

ष्ट्वा तु कपिलां भक्त्या श्रुत्वा हुंकारनिःस्वनम् ।
पोहति नरः पापमहोरात्रकृतं नृप ॥

'राजन् ! भक्तिपूर्वक कपिला गौका दर्शन करके तथा उसके मानेकी आवाज सुनकर मनुष्य एक दिन-रातके पापोंको ष्ट कर डालता है ॥

ोसहस्रं तु यो दद्यादेकां च कपिलां नरः ।
मं तस्य फलं प्राह ब्रह्मा लोकपितामहः ॥

'एक मनुष्य एक हजार गौओंका दान करे और दूसरा क ही कपिला गौको दानमें दे तो लोकपितामह ब्रह्माजीने न दोनोंका फल बराबर बतलाया है ॥

स्त्वेवं कपिलां हन्यान्नरः कश्चित् प्रमादतः ।
ोसहस्रं हतं तेन भवेन्नात्र विचारणा ॥

'इसी प्रकार कोई मनुष्य प्रमादवश यदि एक ही कपिला ौकी हत्या कर डाले तो उसे एक हजार गौओंके वधका प लगता है, इसमें संशय नहीं है ॥

श वै कपिलाः प्रोक्ताः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
थमा स्वर्णकपिला द्वितीया गौरपिङ्गला ।
तीया रक्तपिङ्गाक्षी चतुर्थी गलपिङ्गला ॥
ञ्चमी बभ्रुवर्णाभा षष्ठी च श्वेतपिङ्गला ।
ातमी रक्तपिङ्गाक्षी त्वष्टमी खुरपिङ्गला ॥
वमी पाटला ज्ञेया दशमी पुच्छपिङ्गला ।
ेताः कपिलाः प्रोक्तास्तारयन्ति नरान् सदा ॥

'ब्रह्माजीने कपिला गौके दस भेद बतलाये हैं। पहली स्वर्णकपिला[1], दूसरी गौरपिङ्गला[2], तीसरी आरक्तपिङ्गाक्षी[3], चौथी गलपिङ्गला[4], पाँचवीं बभ्रुवर्णाभा[5], छठी श्वेतपिङ्गला[6], सातवीं रक्तपिङ्गाक्षी[7], आठवीं खुरपिङ्गला[8], नवीं पाटला[9] और दसवीं पुच्छपिङ्गला[10]—ये दस प्रकारकी कपिला गौएँ बतलायी गयी हैं, जो सदा मनुष्योंका उद्धार करती हैं ॥

मङ्गल्याश्च पवित्राश्च सर्वपापप्रणाशनाः ।
एवमेव ह्यनड्वाहो दश प्रोक्ता नरेश्वर ॥

'नरेश्वर ! वे मङ्गलमयी, पवित्र और सब पापोंको नष्ट करनेवाली हैं । गाड़ी खींचनेवाले बैलोंके भी ऐसे ही दस भेद बताये गये हैं ॥

ब्राह्मणो वाहयेत् तांस्तु नान्यो वर्णः कथंचन ।
न वाहयेच्च कपिलां क्षेत्रे वाध्वनि वा द्विजः ॥

'उन बैलोंको ब्राह्मण ही अपनी सवारीमें जोते। दूसरे वर्ण-का मनुष्य उनसे सवारीका काम किसी प्रकार भी न ले । ब्राह्मण भी कपिला गौको खेतमें या रास्तेमें न जोते ॥

वाहयेद्धुङ्कृतेनैव शाखया वा सपत्रया ।
न दण्डेन न वा यष्ट्या न पाशेन न वा पुनः ॥

'गाड़ीमें जुते रहनेपर उन बैलोंको हुङ्कारकी आवाज देकर अथवा पत्तेवाली टहनीसे हाँके । डंडेसे, छड़ीसे और रस्सीसे मारकर न हाँके ॥

न क्षुत्तृष्णाश्रमश्रान्तान् वाहयेद् विकलेन्द्रियान् ।
अतृप्तेषु न भुञ्जीयात् पिबेत् पीतेषु चोदकम् ॥

'जब बैल भूख-प्यास और परिश्रमसे थके हुए हों तथा उनकी इन्द्रियाँ घबरायी हुई हों, तब उन्हें गाड़ीमें न जोते । जबतक बैलोंको खिलाकर तृप्त न कर ले तबतक स्वयं भी भोजन न करे । उन्हें पानी पिलाकर ही स्वयं जल-पान करे ॥

शुश्रूषोर्मातरश्चैताः पितरस्ते प्रकीर्तिताः ।
अह्नः पूर्वत्र भागे च धुर्याणां वाहनं स्मृतम् ॥

'सेवा करनेवाले पुरुषकी कपिला गौएँ माता और बैल पिता हैं । दिनके पहले भागमें ही भार ढोनेवाले बैलोंको सवारीमें जोतना उचित माना गया है ॥

विश्रामेन्मध्यमे भागे भागे चान्ते यथासुखम् ।
यत्र च त्वरया कृत्यं संशयो यत्र वाध्वनि ।
वाहयेत् तत्र धुर्यांस्तु न स पापेन लिप्यते ॥

---

१. सुवर्णके समान पीले रंगवाली । २. गौर तथा पीले रंग-वाली । ३. कुछ लालिमा लिये हुए पीले नेत्रोंवाली । ४. जिसके गरदनके बाल कुछ पीले हों । ५. जिसका सारा शरीर पीले रंगका हो । ६. कुछ सफेदी लिये हुए पीले रोमवाली । ७. सुर्ख और पीली आँखोंवाली । ८. जिसके खुर पीले रंगके हों । ९. जिसका हल्का लाल रंग हो । १०. जिसकी पूँछके बाल पीले रंगके हों ।

'दिनके मध्य भागमें—दुपहरीके समय उन्हें विश्राम देना चाहिये; किंतु दिनके अन्तिम भागमें अपनी रुचिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये अर्थात् आवश्यकता हो तो उनसे काम ले और न हो तो न ले। जहाँ जल्दीका काम हो अथवा जहाँ मार्गमें किसी प्रकारका भय आनेवाला हो, वहाँ विश्रामके समय भी यदि बैलोंको सवारीमें जोते तो पाप नहीं लगता ॥

भ्रूणहत्यासमं पापं तस्य स्यात् पाण्डुनन्दन ।
अन्यथा वाहयन् राजन् निरयं याति रौरवम् ॥

'पाण्डुनन्दन ! परंतु जो विशेष आवश्यकता न होनेपर भी ऐसे समयमें बैलोंको गाड़ीमें जोतता है, उसे भ्रूण-हत्याके समान पाप लगता है और वह रौरव नरकमें पड़ता है ॥

रुधिरं पातयेत् तेषां यस्तु मोहान्नराधिप ।
तेन पापेन पापात्मा नरकं यात्यसंशयम् ॥

'नराधिप ! जो मोहवश बैलोंके शरीरसे रक्त निकाल देता है, वह पापात्मा उस पापके प्रभावसे निःसंदेह नरकमें गिरता है ॥

नरकेषु च सर्वेषु समाः स्थित्वा शतं शतम् ।
इह मानुष्यके लोके बलीवर्दो भविष्यति ॥

'वह सभी नरकोंमें सौ-सौ वर्ष रहकर इस मनुष्यलोकमें बैलका जन्म पाता है ॥

तस्मात् तु मुक्तिमन्विच्छन् दद्यात् तु कपिलां नरः ॥

'अतः जो मनुष्य संसारसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कपिला गौका दान करना चाहिये ॥

कपिला सर्वयज्ञेषु दक्षिणार्थं विधीयते ।
तस्मात् तद्दक्षिणा देया यज्ञेष्वेव द्विजातिभिः ॥

'सब प्रकारके यज्ञोंमें दक्षिणा देनेके लिये कपिला गौकी सृष्टि हुई है, इसलिये द्विजातियोंको यज्ञमें उनकी दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये ॥

होमार्थं चाग्निहोत्रस्य यां प्रयच्छेत् प्रयत्नतः ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय श्रान्तायामिततेजसे ।
तेन दानेन पूतात्मा मम लोके महीयते ॥

'जो मनुष्य अग्निहोत्रके होमके लिये अमिततेजस्वी एवं धनहीन श्रोत्रिय ब्राह्मणको प्रयत्नपूर्वक कपिला गौ दानमें देता है, वह उस दानसे शुद्धचित्त होकर मेरे परमधाममें प्रतिष्ठित होता है ॥

सुवर्णखुरशृङ्गीं च कपिलां यः प्रयच्छति ।
विषुवे चायने चापि सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥
तेनाश्वमेधतुल्येन मम लोकं स गच्छति ॥

'जो मनुष्य कपिलाके सींग और खुरोंमें सोना मढ़ाकर उसे विषुवयोगमें अथवा उत्तरायण-दक्षिणायनके आरम्भमें दान करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है तथा पुण्यके प्रभावसे वह मेरे लोकमें जाता है ॥

अग्निष्टोमसहस्रस्य वाजपेयं च तत्समम् ।
वाजपेयसहस्रस्य अश्वमेधं च तत्समम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य राजसूयं च तत्समम् ॥

'एक हजार अग्निष्टोमके समान एक वाजपेय यज्ञ है। एक हजार वाजपेयके समान एक अश्वमेध होता है एक हजार अश्वमेधके समान एक राजसूय-यज्ञ होता है

कपिलानां सहस्रेण विधिदत्तेन पाण्डव ।
राजसूयफलं प्राप्य मम लोके महीयते ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्विद्यते कुरुपुङ्गव ॥

'कुरुश्रेष्ठ पाण्डव ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह राजसूय- फल पाकर मेरे परमधाममें प्रतिष्ठित होता है; उसे पुन लोकमें नहीं लौटना पड़ता ॥

तैस्तैर्गुणैः कामदुघा च भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ।
स्वकर्मभिश्चाप्यनुबध्यमानं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वायुनीता
दत्ता हि गौस्तारयते मनुष्यम् ॥

'दानमें दी हुई गौ अपने विभिन्न गुणोंद्वारा क बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँचती है। वह अपने बँधकर घोर अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हुए मनुष्यक प्रकार उद्धार कर देती है, जैसे वायुके सहारेसे चलत नाव मनुष्यको महासागरमें डूबनेसे बचाती है ॥

यथौषधं मन्त्रकृतं नरस्य
प्रयुक्तमात्रं विनिहन्ति रोगान् ।
तथैव दत्ता कपिला सुपात्रे
पापं नरस्याशु निहन्ति सर्वम् ॥

'जैसे मन्त्रके साथ दी हुई ओषधि प्रयोग कर मनुष्यके रोगोंका नाश कर देती है, उसी प्रकार सुप दी हुई कपिला गौ मनुष्यके सब पापोंको तत्काल नष्ट डालती है ॥

यथा त्वचं वै भुजगो विहाय
पुनर्नवं रूपमुपैति पुण्यम् ।
तथैव मुक्तः पुरुषः स्वपापै-
र्विरज्यते वै कपिलाप्रदानात् ॥

'जैसे साँप केंचुल छोड़कर नये स्वरूपको धारण है, वैसे ही पुरुष कपिला गौके दानसे पाप-मुक्त होकर शोभाको प्राप्त होता है ॥

यथान्धकारं भवने विलग्नं
दीप्तो हि निर्यातयति प्रदीपः ।

तथा नरः पापमपि प्रलीनं
निष्कामयेद् वै कपिलाप्रदानात् ॥

'जैसे प्रज्वलित दीपक घरमें फैले हुए अन्धकारको दूर र देता है, उसी प्रकार मनुष्य कपिला गौका दान करके पने भीतर छिपे हुए पापको भी निकाल देता है ॥

यस्याहिताग्नेरतिथिप्रियस्य
शूद्रान्नदूरस्य जितेन्द्रियस्य ।
सत्यव्रतस्याध्ययनान्वितस्य
दत्ता हि गौस्तारयते परत्र ॥

'जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला, अतिथिका प्रेमी, द्रके अन्नसे दूर रहनेवाला, जितेन्द्रिय, सत्यवादी तथा ाध्यायपरायण हो, उसे दी हुई गौ परलोकमें दाताका अवश्य द्धार करती है' ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कपिला गौमें देवताओंके निवासस्थानका तथा उसके माहात्म्यका, अयोग्य ब्राह्मणका, नरकमें ले जानेवाले पापोंका तथा स्वर्गमें ले जानेवाले पुण्योंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

वं श्रुत्वा परं पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् ।
र्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार रम पुण्यमय कपिला गौके उत्तम दानका वर्णन सुनकर र्मपुत्र युधिष्ठिरका मन बहुत प्रसन्न हुआ और उन्होंने गवान् श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥

वदेवेश कपिला यदा विप्राय दीयते ।
थं सर्वेषु चाङ्गेषु तस्यास्तिष्ठन्ति देवताः ॥

'देवदेवेश्वर ! जो कपिला गौ ब्राह्मणको दानमें दी जाती , उसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें देवता किस प्रकार रहते हैं ? ॥

ाश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश चैव त्वया मम ।
ासां कति सुरश्रेष्ठ कपिलाः पुण्यलक्षणाः ॥

'सुरश्रेष्ठ ! आपने जो दस प्रकारकी कपिला गौएँ तलायी हैं, उनमेंसे कितनी कपिलाएँ पुण्यमयी मानी जाती हैं'? ॥

ुधिष्ठिरेणैवमुक्तः केशवः सत्यवाक् तदा ।
ुह्यानां परमं गुह्यं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥
ृणु राजन् पवित्रं वै रहस्यं धर्ममुत्तमम् ।

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उस समय सत्यवादी भगवान् ीकृष्ण गोपनीयसे भी अत्यन्त गोपनीय कथा कहने लगे—'राजन् ! मैं परम पवित्र, गोपनीय एवं उत्तम र्मका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

इदं पठति यः पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् ।
प्रातरुत्थाय मद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'जो मनुष्य सबेरे उठकर मुझमें भक्ति रखते हुए इस परम पुण्यमय उत्तम कपिला-दानके माहात्म्यका पाठ करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

मनसा कर्मणा वाचा मतिपूर्वं युधिष्ठिर ।
पापं रात्रिकृतं हन्यादस्याध्यायस्य पाठकः ॥

'युधिष्ठिर ! इस अध्यायका पाठ करनेवाला मनुष्य रात्रिमें मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा जान-बूझकर किये हुए सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

इदमावर्तमानस्तु श्राद्धे यस्तर्पयेद् द्विजान् ।
तस्याप्यमृतमश्नन्ति पितरोऽत्यन्तहर्षिताः ॥

'जो श्राद्धकालमें इस अध्यायका पाठ करते हुए ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे तृप्त करता है, उसके पितर अत्यन्त प्रसन्न होकर अमृत भोजन करते हैं ॥

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना ।
तस्य रात्रिकृतं सर्वं पापमाशु प्रणश्यति ॥

'जो मुझमें चित्त लगाकर इस प्रसङ्गको भक्तिपूर्वक सुनता है, उसके एक रातके सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥

अतः परं विशेषं तु कपिलानां ब्रवीमि ते ।
याश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश राजन् मया तव ।
तासां चतस्रः प्रवराः पुण्याः पापविनाशनाः ॥

'अब मैं कपिला गौके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला रहा हूँ । राजन्! पहले जो मैंने तुम्हें दस प्रकारकी कपिला गौएँ बतलायी हैं, उनमें चार कपिलाएँ अत्यन्त श्रेष्ठ, पुण्य प्रदान करनेवाली तथा पाप नष्ट करनेवाली हैं ॥

सुवर्णकपिला पुण्या तथा रक्ताक्षपिङ्गला ।
पिङ्गलाक्षी च या गौश्च स्यात् पिङ्गलपिङ्गला ॥
एताश्चतस्रः प्रवराः पवित्राः पापनाशनाः ।
नमस्कृता वा दृष्टा वा घ्नन्ति पापं नरस्य तु ॥

'सुवर्णकपिला, रक्ताक्षपिङ्गला, पिङ्गलाक्षी और पिङ्गलपिङ्गला—ये चार प्रकारकी कपिलाएँ श्रेष्ठ, पवित्र और पाप दूर करनेवाली हैं । इनके दर्शन और नमस्कारसे भी मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

यस्यैताः कपिलाः सन्ति गृहे पापप्रणाशनाः ।
तत्र श्रीर्विजयः कीर्तिः स्फीता नित्यं युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! ये पापनाशिनी कपिला गौएँ जिसके घरमें मौजूद रहती हैं वहाँ श्री, विजय और विशाल कीर्तिका नित्य निवास होता है ॥

एतासां प्रीतिमायाति क्षीरेण तु वृषध्वजः ।
दध्ना च त्रिदशाः सर्वे घृतेन तु हुताशनः ॥

'इनके दूधसे भगवान् शङ्कर, दहीसे सम्पूर्ण देवता और घीसे अग्निदेव तृप्त होते हैं ॥

कपिलायाः घृतं क्षीरं दधि पायसमेव वा ।
श्रोत्रियेभ्यः सकृद् दत्त्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

'कपिला गौके घी, दूध, दही अथवा खीरका एक बार भी श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको दान करके मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

उपवासं तु यः कृत्वाप्यहोरात्रं जितेन्द्रियः ।
कपिलापञ्चगव्यं तु पीत्वा चान्द्रायणात् परम् ॥

'जो जितेन्द्रिय रहकर एक दिन-रात उपवास करके कपिला गौका पञ्चगव्य पान करता है, उसे चान्द्रायणसे बढ़कर उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥

सौम्ये मुहूर्ते तत् प्राश्य शुद्धात्मा शुद्धमानसः ।
क्रोधानृतविनिर्मुक्तो मद्गतेनान्तरात्मना ॥

'जो क्रोध और असत्यका त्याग करके मुझमें चित्त लगाकर शुभ मुहूर्तमें कपिला गौके पञ्चगव्यका आचमन करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ॥

कपिलापञ्चगव्येन समन्त्रेण पृथक् पृथक् ।
यो मत्प्रतिकृतिं वापि शङ्कराकृतिमेव वा ।
स्नापयेद् विषुवे यस्तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

'जो विषुवयोगमें पृथक्-पृथक् मन्त्र पढ़कर कपिलाके पञ्चगव्यसे मेरी या शङ्करकी प्रतिमाको स्नान कराता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

स मुक्तपापः शुद्धात्मा यानेनाम्बरशोभिना ।
मम लोकं व्रजेन्मुक्तो रुद्रलोकमथापि वा ॥

'वह मुक्त,निष्पाप एवं शुद्धचित्त होकर आकाशकी शोभा बढ़ानेवाले विमानके द्वारा मेरे अथवा रुद्रके लोकमें गमन करता है ॥

तस्मात् तु कपिला देया परत्र हितमिच्छता ॥
यदा च दीयते राजन् कपिला ह्यग्निहोत्रिणे ।
तदा च शृङ्गयोस्तस्या विष्णुरिन्द्रश्च तिष्ठतः ।

'राजन्! इसलिये परलोकमें हित चाहनेवाले पुरुषको कपिला गौका दान अवश्य करना चाहिये। जिस समय अग्निहोत्री ब्राह्मणको कपिला गौ दानमें दी जाती है, उस समय उसके सींगोंके ऊपरी भागमें विष्णु और इन्द्र निवास करते हैं ॥

चन्द्रवज्रधरौ चापि तिष्ठतः शृङ्गमूलयोः ।
शृङ्गमध्ये तथा ब्रह्मा ललाटे गोवृषध्वजः ॥

'सींगोंकी जड़में चन्द्रमा और वज्रधारी इन्द्र रहते सींगोंके बीचमें ब्रह्मा तथा ललाटमें भगवान् शङ्करका [illegible] होता है ॥

कर्णयोरश्विनौ देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
दन्तेषु मरुतो देवा जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥
रोमकूपेषु मुनयश्चर्मण्येव प्रजापतिः ।
निःश्वासेषु स्थिता वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः ॥

'दोनों कानोंमें अश्विनीकुमार, नेत्रोंमें चन्द्रमा और दाँतोंमें मरुद्गण, जिह्वामें सरस्वती, रोमकूपोंमें मुनि, च प्रजापति एवं श्वासोंमें षडङ्ग, पद और क्रमसहित वेदोंका निवास है ॥

नासापुटे स्थिता गन्धाः पुष्पाणि सुरभीणि च ।
अधरे वसवः सर्वे मुखे चाग्निः प्रतिष्ठितः ॥

'नासिका-छिद्रोंमें गन्ध और सुगन्धित पुष्प, नी ओठमें सब वसुगण तथा मुखमें अग्नि निवास करते हैं

साध्या देवाः स्थिताः कक्षे ग्रीवायां पार्वती स्थिता
पृष्ठे च नक्षत्रगणाः ककुद्देशे नभःस्थलम् ॥
अपाने सर्वतीर्थानि गोमूत्रे जाह्नवी स्वयम् ।
अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते तदा ॥

'कक्षमें साध्य-देवता, गरदनमें पार्वती, पीठपर नक्षत्र ककुद्के स्थानमें आकाश, अपानमें सारे तीर्थ, मूत्रमें सा गङ्गाजी तथा गोबरमें आठ ऐश्वर्योंसे सम्पन्न लक्ष्मीजी रहती

नासिकायां सदा देवी ज्येष्ठा वसति भामिनी ।
श्रोणीतटस्थाः पितरो रमा लाङ्गूलमाश्रिता ॥

'नासिकामें परम सुन्दरी ज्येष्ठादेवी, नितम्बोंमें पि एवं पूँछमें भगवती रमा रहती हैं ॥

पार्श्वयोरुभयोः सर्वे विश्वेदेवाः प्रतिष्ठिताः ।
तिष्ठत्युरसि तासां तु प्रीतः शक्तिधरो गुहः ॥

'दोनों पसलियोंमें सब विश्वेदेव स्थित हैं और छा प्रसन्न-चित्त शक्तिधारी कार्तिकेय रहते हैं ॥

जानुजङ्घोरुदेशेषु पञ्च तिष्ठन्ति वायवः ।
खुरमध्येषु गन्धर्वाः खुराग्रेषु च पन्नगाः ॥

'घुटनों और ऊरुओंमें पाँच वायु रहते हैं, खु मध्यमें गन्धर्व और खुरोंके अग्रभागमें सर्प निवास करते

चत्वारः सागराः पूर्णास्तस्या एव पयोधराः ।
रतिर्मेधा क्षमा स्वाहा श्रद्धा शान्तिर्धृतिः स्मृतिः ॥
कीर्तिर्दीप्तिः क्रिया कान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च संततिः ।
दिशश्च प्रदिशश्चैव सेवन्ते कपिलां सदा ॥

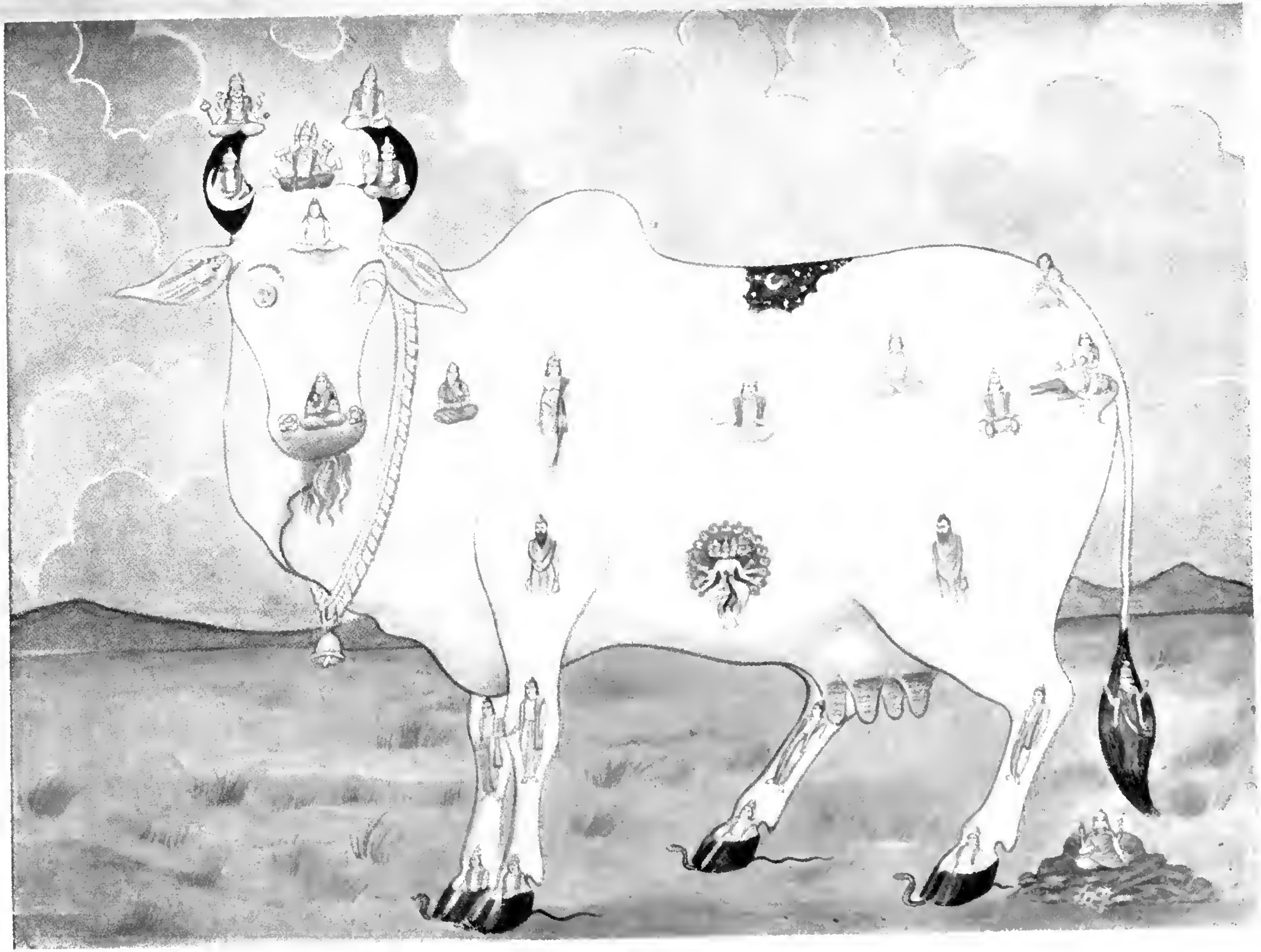

सर्वदेवमयी गो-माता

'जलसे परिपूर्ण चारों समुद्र उसके चारों स्तन हैं। रति, धा, क्षमा, स्वाहा, श्रद्धा, शान्ति, धृति, स्मृति, कीर्ति, ीप्ति, क्रिया, कान्ति, तुष्टि, पुष्टि, संतति, दिशा और प्रदिशा गादि देवियाँ सदा कपिला गौका सेवन किया करती हैं ॥

वाः पितृगणाश्चापि गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ोका द्वीपार्णवाश्चैव गङ्गाद्याः सरितस्तथा ॥
वाः पितृगणाश्चापि वेदाः साङ्गाः सहाध्वरैः ।
ोक्तैर्विविधैर्मन्त्रैः स्तुवन्ति हृषितास्तथा ॥
विद्याधराश्च ये सिद्धा भूतास्ताराणणास्तथा ।
ुष्पवृष्टिं च वर्षन्ति प्रनृत्यन्ति च हर्षिताः ॥

'देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सराएँ, लोक, द्वीप, समुद्र, ङ्गा आदि नदियाँ तथा अङ्गों और यज्ञोंसहित सम्पूर्ण वेद ाना प्रकारके मन्त्रोंसे कपिला गौकी प्रसन्नतापूर्वक स्तुति िया करते हैं। विद्याधर, सिद्ध, भूतगण और तारागण— कपिला गौको देखकर फूलोंकी वर्षा करते और हर्षमें भरकर ाचने लगते हैं ॥

ह्मणोत्पादिता देवी वह्निकुण्डान्महाप्रभा ।
मस्ते कपिले पुण्ये सर्वदेवैर्नमस्कृते ॥
पिलेऽथ महासत्त्वे सर्वतीर्थमये शुभे ।

'वे कहते हैं—'सम्पूर्ण देवताओंसे वन्दित पुण्यमयी पिलादेवी ! तुम्हें नमस्कार है। ब्रह्माजीने तुम्हें अग्नि- ुण्डसे उत्पन्न किया है। तुम्हारी प्रभा विस्तृत और शक्ति हान् है। कपिलादेवी ! समस्त तीर्थ तुम्हारे ही स्वरूप हैं और तुम सबका शुभ करनेवाली हो' ॥

अहो रत्नमिदं पुण्यं सर्वदुःखघ्नमुत्तमम् ।
अहो धर्मार्जितं शुद्धमिदमग्र्यं महाधनम् ॥
त्याकाशस्थितास्ते तु सर्वदेवा जपन्ति च ॥

'समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर कहा करते हैं— अहो ! यह कपिला गौरूपी रत्न कितना पवित्र और कितना उत्तम है ! यह सब दुःखोंको दूर करनेवाला है। अहा ! यह र्मसे उपार्जित, शुद्ध, श्रेष्ठ और महान् धन है' ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न कालः को हव्यकव्ययोः ।
के तत्र पूजामर्हन्ति वर्जनीयाश्च के द्विजाः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दैत्योंके विनाशक देवदेवेश्वर ! हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध) का उत्तम समय कौन- सा है ? उसमें किन ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये और किनका परित्याग ?॥

श्रीभगवानुवाच

दैवं पूर्वाह्णिकं ज्ञेयं पैतृकं चापराह्णिकम् ।
कालहीनं च यद् दानं तद् दानं राजसं विदुः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—युधिष्ठिर ! देवकर्म (यज्ञ) पूर्वाह्णकालमें करने योग्य है और पितृकर्म (श्राद्ध) अपराह्ण- कालमें—ऐसा समझना चाहिये। जो दान अयोग्य समयमें किया जाता है, उस दानको राजस माना गया है।

अवघुष्टं च यद् भुक्तमनृतेन च भारत ।
परामृष्टं शुना वापि तद् भागं राक्षसं विदुः ॥

जिसके लिये लोगोंमें ढिंढोरा पीटा गया हो, जिसमेंसे किसी असत्यवादी मनुष्यने भोजन कर लिया हो तथा जो कुत्तेसे छू गया हो, उस अन्नको राक्षसोंका भाग समझना चाहिये ॥

यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तादयोऽपि च ।
दैवे च पित्र्ये ते विप्रा राजन् नार्हन्ति सत्क्रियाम् ॥

राजन् ! जितने पतित, जड और उन्मत्त ब्राह्मण हों, उनका देव-यज्ञ और पितृ-यज्ञमें सत्कार नहीं करना चाहिये ॥

क्लीबः प्लीही च कुष्ठी च राजयक्ष्मान्वितश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चापि पित्र्ये नार्हति सत्कृतिम् ॥

नपुंसक, प्लीहा रोगसे ग्रस्त, कोढ़ी और राजयक्ष्मा तथा मृगीका रोगी भी श्राद्धमें आदरके योग्य नहीं माना गया है ॥

चिकित्सका देवलका मिथ्यानियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥

वैद्य, पुजारी, झूठे नियम धारण करनेवाले (पाखण्डी) तथा सोमरस बेचनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें सत्कार पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥

गायका नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका यौधिकाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥

गवैये, नाचने-कूदनेवाले, बाजा बजानेवाले, बकवादी और योद्धा श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं हैं ॥

अनग्नयश्च ये विप्राः शवनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्चापि विकर्मस्था राजन् नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥

राजन् ! अग्निहोत्र न करनेवाले, मुर्दा ढोनेवाले, चोरी करनेवाले और शास्त्रविरुद्ध कर्मसे संलग्न रहनेवाले ब्राह्मण भी श्राद्धमें सत्कार पानेयोग्य नहीं माने जाते ॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपुत्राश्च ये द्विजाः ।
पुत्रिकापुत्रकाश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥

जो अपरिचित हों, जो किसी समुदायके पुत्र हों अर्थात् जिनके पिताका निश्चित पता न हो तथा जो पुत्रिका-धर्मके अनुसार नानाके घरमें रहते हों, वे ब्राह्मण भी श्राद्धके अधिकारी नहीं हैं ॥

रणकर्ता च यो विप्रो यश्च वाणिज्यको द्विजः ।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥

युद्धमें लड़नेवाला, रोजगार करनेवाला तथा पशु- पक्षियोंकी बिक्रीसे जीविका चलानेवाला ब्राह्मण भी श्राद्धमें सत्कार पानेका अधिकारी नहीं है ॥

चीर्णव्रतगुणैर्युक्ता नित्यं स्वाध्यायतत्पराः ।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते श्राद्धे सत्कृतिक्षमाः ॥

परंतु जो ब्राह्मण व्रतका आचरण करनेवाले, गुणवान्, सदा स्वाध्यायपरायण, गायत्रीमन्त्रके ज्ञाता और क्रियानिष्ठ हों, वे श्राद्धमें सत्कारके योग्य माने गये हैं ॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा ।
दर्भाः सुमनसः क्षेत्रं तत्काले श्राद्धदो भवेत् ॥

श्राद्धका सबसे उत्तम काल है सुपात्र ब्राह्मणका मिलना। जिस समय भी ब्राह्मण, दही, घी, कुशा, फूल और उत्तम क्षेत्र प्राप्त हो जायँ, उसी समय श्राद्धका दान आरम्भ कर देना चाहिये ॥

चारित्रनिरता राजन् कृशा ये कृशवृत्तयः ।
तपस्विनश्च ये विप्रास्तथा भैक्षचराश्च ये ॥
अर्थिनः केचिदिच्छन्ति तेषां दत्तं महत् फलम् ।

राजन्! जो ब्राह्मण सदाचारी, थोड़ी-सी आजीविका-पर गुजारा करनेवाले, दुर्बल, तपस्वी और भिक्षासे निर्वाह करनेवाले हों, वे यदि याचक होकर कुछ माँगने आवें तो उन्हें दिये हुए दानका महान् फल होता है ॥

एवं धर्मभृतां श्रेष्ठ ज्ञात्वा सर्वात्मना तदा ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय प्रयच्छानुपकारिणे ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! इन सब बातोंको पूर्ण-रूपसे जानकर धनहीन और अपना उपकार न करनेवाले वेदवेत्ता ब्राह्मणको दान करो ॥

दानं यत् ते प्रियं किंचिच्छ्रोत्रियाणां च यत् प्रियम् ।
तत् प्रयच्छस्व धर्मज्ञ यदीच्छसि तदक्षयम् ॥

धर्मज्ञ! यदि तुम अपने दानको अक्षय बनाना चाहते हो तो जो दान तुम्हें प्रिय लगता हो तथा जिसे वेदवेत्ता ब्राह्मण पसंद करते हों, वही दान करो ॥

निरयं ये च गच्छन्ति तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! अब नरकमें जानेवाले पुरुषोंका वर्णन सुनो ॥

परदारापहर्तारः परदाराभिमर्शकाः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥

जो परायी स्त्रीका अपहरण करते हैं, परस्त्रीके साथ व्यभिचार करते हैं और दूसरोंकी स्त्रियोंको दूसरे पुरुषोंसे मिलाया करते हैं, वे भी नरकमें पड़ते हैं ॥

सूचकाः संधिभेत्तारः परद्रव्योपजीविनः ।
वर्णाश्रमाणां ये बाह्याः पाखण्डाश्चैव पापिनः ।
उपासते च तानेव ते सर्वे नरकालयाः ॥

चुगुलखोर, सुलहकी शर्त तोड़नेवाले, पराये धनसे जीविका चलानेवाले, वर्ण और आश्रमसे विरुद्ध आचरण करनेवाले, पाखण्डी, पापाचारी तथा जो उनकी सेवा करते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं ॥

श्रान्तान् दान्तान् कृशान् प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषिता
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥

जो मनुष्य चिरकालतक अपने साथ रहे हुए सह शील, जितेन्द्रिय, दुर्बल और बुद्धिमान् मनुष्योंको काम निकल जानेपर त्याग देते हैं, वे नरकगामी होते हैं

बालानामपि वृद्धानां श्रान्तानां चापि ये नराः ।
अदत्त्वाश्नन्ति मृष्टान्नं ते वै निरयगामिनः ॥

जो बच्चों, बूढ़ों तथा थके हुए मनुष्योंको कुछ न दे अकेले ही मिठाई खाते हैं, उन्हें भी नरकमें गिर पड़ता है ॥

एते पूर्वर्षिभिः प्रोक्ता नरा निरयगामिनः ।
ये स्वर्गं समनुप्राप्तास्ताञ्शृणुष्व युधिष्ठिर ॥

प्राचीन कालके ऋषियोंने इस प्रकार नरकगा मनुष्योंका वर्णन किया है। युधिष्ठिर! अब स्वर्गमें जा वालोंका वर्णन सुनो ॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च ।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो दान, तपस्या, सत्य-भाषण और इन्द्रियसंयम द्वारा निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगा होते हैं ॥

शुश्रूषयाप्युपाध्यायाच्छ्रुतमादाय पाण्डव ।
ये प्रतिग्रहनिस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

पाण्डुनन्दन! जो उपाध्यायकी सेवा करके उनसे वे पढ़ते तथा प्रतिग्रहमें आसक्ति नहीं रखते, वे मनुष्य स्व गामी होते हैं ॥

मधुमांसासवेभ्यस्तु निवृत्ता व्रतिनस्तु ये ।
परदारनिवृत्ता ये ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मधु, मांस, आसव (मदिरा) से निवृत्त हो उत्तम व्रतका पालन करते हैं और परस्त्रीके संसर्गसे अ रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नराः ।
भ्रातॄणामपि सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मनुष्य माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयों प्रति स्नेह रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं ॥

ये तु भोजनकाले तु निर्याताश्चातिथिप्रियाः ।
द्वाररोधं न कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो भोजनके समय घरसे बाहर निकलकर अतिथि-से करते हैं, अतिथियोंसे प्रेम रखते हैं और उनके लिये क अपना दरवाजा बंद नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगा होते हैं ॥

वैवाहिकं तु कन्यानां दरिद्राणां च ये नराः।
कारयन्ति च कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो दरिद्र मनुष्योंकी कन्याओंका धनियोंसे ब्याह करा देते हैं अथवा स्वयं धनी होते हुए भी दरिद्रकी कन्यासे ब्याह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥

रसानामथ बीजानामोषधीनां तथैव च।
दातारः श्रद्धयोपेतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो श्रद्धापूर्वक रस, बीज और ओषधियोंका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

क्षेमाक्षेमं च मार्गेषु समानि विषमाणि च।
अर्थिनां ये च वक्ष्यन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो मार्गमें जिज्ञासा करनेवाले पथिकोंको अच्छे-बुरे, सुखदायक और दुःखदायक मार्गका ठीक-ठीक परिचय दे देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

पर्वद्वये चतुर्दश्यामष्टम्यां संध्ययोर्द्वयोः।
आर्द्रायां जन्मनक्षत्रे विषुवे श्रवणेऽथवा।
ये ग्राम्यधर्मविरतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी—इन तिथियोंमें, दोनों संध्याओंके समय, आर्द्रा नक्षत्रमें, जन्म-नक्षत्रमें, विषुव योगमें और श्रवणनक्षत्रमें स्त्रीसमागमसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य भी स्वर्गमें जाते हैं॥

हव्यकव्यविधानं च नरकस्वर्गगामिनौ।
धर्माधर्मौ च कथितौ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

राजन्! इस प्रकार हव्य-कव्यके विधानका समय बताया गया और स्वर्ग तथा नरकमें ले जानेवाले धर्म-अधर्मोंका वर्णन किया गया। अब और क्या सुनना चाहते हो॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[ब्रह्महत्याके समान पापका, अन्नदानकी प्रशंसाका, जिनका अन्न वर्जनीय है, उन पापियोंका, दानके फलका और धर्मकी प्रशंसाका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो देव वक्तुमर्हस्यशेषतः।
हिंसामकृत्वा यो मर्त्यो ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! मनुष्य ब्राह्मणकी हिंसा किये बिना ही ब्रह्महत्याके पापसे कैसे लिप्त हो जाता है, इस विषयको पूर्णतया ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये॥

श्रीभगवानुवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थं वृत्तिकर्शितम्।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात् तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! जो जीविकारहित ब्राह्मणको स्वयं ही भिक्षा देनेके लिये बुलाकर पीछे इनकार कर जाता है, उसे ब्रह्महत्यारा कहते हैं॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

भरतनन्दन! जो दुष्ट बुद्धिवाला पुरुष मध्यस्थ और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही कहते हैं॥

आश्रमे वाऽऽलये वापि ग्रामे वा नगरेऽपि वा।
अग्निं यः प्रक्षिपेत् क्रुद्धस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो क्रोधमें भरकर किसी आश्रम, घर, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलान्ते वसुधाधिप।
उत्पादयति यो विघ्नं तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

पृथ्वीनाथ! प्याससे तड़पते हुए गोसमुदायको जो पानीके निकट पहुँचनेमें बाधा डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक्छास्त्रं वा मुनिभिः कृतम्।
दूषयत्यनभिज्ञाय तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो परम्परागत वैदिक श्रुतियों और ऋषिप्रणीत सच्छास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा कहते हैं॥

चक्षुषा वापि हीनस्य पङ्गोर्वापि जडस्य वा।
हरेद् वै यस्तु सर्वस्वं तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो अन्धे, पङ्गु और गूँगे मनुष्यका सर्वस्व हरण कर लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

गुरुं त्वंकृत्य हुंकृत्य अतिक्रम्य च शासनम्।
वर्तते यस्तु मूढात्मा तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो मूर्खतावश गुरुको 'तू' कहकर पुकारता है, हुङ्कारके द्वारा उनका तिरस्कार करता है तथा उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मनमाना बर्ताव करता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

यावत्सारो भवेद् दीनस्तन्नाशो यस्य दुःस्थितिः।
तत् सर्वस्वं हरेद् यो वै तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो दीन मनुष्य किंचित् प्राप्त वस्तुओंको ही अपने लिये सार-सर्वस्व समझता है और उनके नाशसे जिसकी दुर्दशा हो जाती है, ऐसे मनुष्यका जो पुरुष सर्वस्व छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामपि दानानां यत् तु दानं विशिष्यते।
अभोज्यान्नाश्च ये विप्रास्तान् वदस्व सुरोत्तम॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! जो दान सब दानोंसे

श्रेष्ठ माना गया हो, उसको बतलाइये । सुरश्रेष्ठ ! जिन ब्राह्मणोंका अन्न खाने योग्य न हो, उनका परिचय दीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ब्रह्मपुरस्सराः ।
अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! ब्रह्मा आदि सभी देवता अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं, अतः अन्नके समान दान न कोई हुआ है न होगा ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके ह्यन्नात् प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।
अभोज्यान्नान् मया राजन् वक्ष्यमाणान् निबोध मे ॥

क्योंकि अन्न ही इस जगत्‌में बल देनेवाला है तथा अन्नके ही आधारपर प्राण टिके रहते हैं । राजन् ! अब मैं उन लोगोंका परिचय दे रहा हूँ, जिनका अन्न ग्रहण करने योग्य नहीं माना गया है, ध्यान देकर सुनो ॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रुद्धस्य निकृतस्य च ।
अभिशप्तस्य षण्ढस्य पाकभेदकरस्य च ॥
चिकित्सकस्य दूतस्य तथा चोच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतकान्नं च शूद्रोच्छेषणमेव च ॥
द्विषदन्नं न भोक्तव्यं पतितान्नं च यच्छ्रुतम् ।

यज्ञमें दीक्षित, कदर्य, क्रोधी, शठ, शापग्रस्त, नपुंसक, भोजनमें भेद करनेवाले, चिकित्सक, दूत, उच्छिष्टभोजी, वर्णसंकर तथा अशौचमें पड़े हुए मनुष्यका अन्न, शूद्रकी जूठन, शत्रुका अन्न और जो पतितका अन्न माना गया है, उसे भी नहीं खाना चाहिये ॥

तथा च पिशुनस्यान्नं यज्ञविक्रयिणस्तथा ॥
शैलूषं तन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ।
अम्बष्ठकनिषादानां रङ्गावतरकस्य च ॥
सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ।
सूतानां शौण्डिकानां च वैद्यस्य रजकस्य च ॥
स्त्रीजितस्य नृशंसस्य तथा माहिषिकस्य च ।
अनिर्दशानां प्रेतानां गणिकानां तथैव च ॥

इसी प्रकार चुगुलखोर, यज्ञका फल बेचनेवाले, नट और कपड़ा बुननेवाले जुलाहेका अन्न एवं कृतघ्नका अन्न, अम्बष्ठ, निषाद, रङ्गभूमिमें नाटक खेलनेवाले, सुनार, वीणा बजाकर जीनेवाले, हथियार बेचनेवाले, सूत, शराब बेचनेवाले, वैद्य, धोबी, स्त्रीके वशमें रहनेवाले, क्रूर और भैंस चरानेवालेका अन्न भी अग्राह्य माना गया है । जिनके यहाँ मरणाशौचके दस दिन न बीते हों, उनका तथा वेश्याओं-का अन्न नहीं खाना चाहिये ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मविकर्तिनः ॥

राजाका अन्न तेजका, शूद्रका अन्न ब्राह्मणत्वका, सुनारका अन्न आयुका और चमारका अन्न सुयशका न[ष्ट] करता है ॥

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकीर्तितम् ।
पूयं चिकित्सकस्यान्नं शुक्लं तु वृषलीपतेः ॥
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ।

किसी समूहका और वेश्याका अन्न भी लोकनि[न्दित] माना गया है । वैद्यका अन्न पीब तथा व्यभिचारिणीके प[ति]का अन्न वीर्यके समान एवं ब्याजखोरका अन्न विष्ट[ाके] समान माना गया है, इसलिये उसका त्याग कर दे[ना] चाहिये ॥

अमत्यान्नमथैतेषां भुक्त्वा तु त्रियहं क्षिपेत् ।
मत्या भुक्त्वा सकृद् वापि प्राजापत्यं चरेद् द्विजः ॥

यदि अनजानमें इनका अन्न ग्रहण कर लिया गया तो तीन दिनतक उपवास करना चाहिये; किंतु जान-बूझ[कर] एक बार भी इनका अन्न खा लेनेपर ब्राह्मणको प्राजाप[त्य] व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

दानानां च फलं यद् वै शृणु पाण्डव तत्त्वतः ।
जलदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ॥

पाण्डुनन्दन ! अब मैं दानोंका यथार्थ फल बतला [रहा] हूँ, सुनो । जल-दान करनेवालेको तृप्ति होती है और अ[न्न] देनेवालेको अक्षय सुख मिलता है ॥

तिलदश्च प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ।
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ॥

तिलका दान करनेवाला मनुष्य मनके अनुरूप संता[न], दीप-दान करनेवाला पुरुष उत्तम नेत्र, भूमि देनेवाला भू[मि] और सुवर्ण-दान करनेवाला दीर्घ आयु पाता है ॥

गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ।
वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ॥

गृह देनेवालेको सुन्दर भवन और चाँदी दान कर[ने]वालेको उत्तम रूपकी प्राप्ति होती है । वस्त्र देनेवाला च[न्द्र]लोकमें और अश्वदान करनेवाला अश्विनीकुमारोंके लो[क]में जाता है ॥

अनडुहः श्रियं जुष्टां गोदो गोलोकमश्नुते ।
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ॥

गाड़ी ढोनेवाले बैलका दान करनेवाला मनोऽनुकू[ल] लक्ष्मीको पाता है और गो-दान करनेवाला पुरुष गोलोक[के] सुखका अनुभव करता है । सवारी और शय्या-दान करनेवा[ले] पुरुषको स्त्रीकी तथा अभय-दान देनेवालेको ऐश्वर्यकी प्रा[प्ति] होती है ॥

धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसाम्यताम् ।
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ॥

धान्य दान करनेवाला मनुष्य शाश्वत सुख पाता है और वेद प्रदान करनेवाला पुरुष परब्रह्मकी समताको प्राप्त होता है। वेदका दान सब दानोंमें श्रेष्ठ है ॥

हिरण्यभूगवाश्वाजवस्त्रशय्यासनादिषु ।
योऽर्चितः प्रतिगृह्णाति दद्यादुचितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं च विपर्यये ॥

जो सोना, पृथ्वी, गौ, अश्व, बकरा, वस्त्र, शय्या और आसन आदि वस्तुओंको सम्मानपूर्वक ग्रहण करता है तथा जो दाता न्यायानुसार आदरपूर्वक दान करता है, वे दोनों ही स्वर्गमें जाते हैं; परंतु जो इसके विपरीत अनुचितरूपसे देते और लेते हैं, उन दोनोंको नरकमें गिरना पड़ता है ॥

अनृतं न वदेद् विद्वांस्तपस्तप्त्वा न विस्मयेत्।
नार्तोऽप्यभिभवेद् विप्रान् न दत्त्वा परिकीर्तयेत्॥

विद्वान् पुरुष कभी झूठ न बोले, तपस्या करके उसपर गर्व न करे, कष्टमें पड़ जानेपर भी ब्राह्मणोंका अनादर न करे तथा दान देकर उसका बखान न करे ॥

यशोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रावमानेन दानं तु परिकीर्तनात् ॥

झूठ बोलनेसे यशका क्षय होता है, गर्व करनेसे तपस्याका क्षय होता है, ब्राह्मणके अपमानसे आयुका और अपने मुँहसे बखान करनेपर दानका नाश हो जाता है ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रमीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकश्चाप्नोति दुष्कृतम्॥

जीव अकेले जन्म लेता है, अकेले मरता है तथा अकेले ही पुण्यका फल भोगता है और अकेले ही पापका फल भोगता है ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुवर्तते ॥

बन्धु-बान्धव मनुष्यके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर डालकर मुँह फेरकर चल देते हैं। उस समय केवल धर्म ही जीवके पीछे-पीछे जाता है ॥

अनागतानि कार्याणि कर्तुं गणयते मनः ।
शरीरकं समुद्दिश्य स्मयते नूनमन्तकः ॥
तस्माद् धर्मसहायस्तु धर्मं संचिनुयात् सदा ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

मनुष्यका मन भविष्यके कार्योंको करनेका हिसाब लगाया करता है, किंतु काल उसके नाशवान् शरीरको लक्ष्य करके मुसकराता रहता है; इसलिये धर्मको ही सहायक मानकर सदा उसीके संग्रहमें लगे रहना चाहिये; क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकके पार हो जाता है ॥

येषां तडागानि बहूदकानि
सभाश्च कूपाश्च शुभाः प्रपाश्च ।
अन्नप्रदानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्विषया भवन्ति ॥

जिन्होंने अधिक जलसे भरे हुए अनेकों सरोवर, धर्मशालाएँ, कुएँ और सुन्दर पौंसले बनवाये हैं तथा जो सदा अन्नका दान करते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, उनपर यमराजका जोर नहीं चलता ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[धर्म और शौचके लक्षण, संन्यासी और अतिथिके सत्कारके उपदेश, शिष्टाचार, दानपात्र ब्राह्मण तथा अन्न-दानकी प्रशंसा]

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किंलक्षणोऽसौ भवति तन्मे ब्रूहि जनार्दन ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जनार्दन ! मनीषी पुरुष धर्मको अनेकों प्रकारका और बहुत-से द्वारवाला बतलाते हैं। वास्तवमें उसका लक्षण क्या है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् समासेन धर्मशौचविधिक्रमम् ।
अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! तुम धर्म और शौचकी विधिका क्रम संक्षेपसे सुनो। राजेन्द्र ! अहिंसा, शौच, क्रोधका अभाव, क्रूरताका अभाव, दम, शम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं ॥

ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ॥

ब्रह्मचर्य, तपस्या, क्षमा, मधु-मांसका त्याग, धर्ममर्यादाके भीतर रहना और मनको वशमें रखना—ये सब शौच (पवित्रता) के लक्षण हैं ॥

बाल्ये विद्यां निषेवेत यौवने दारसंग्रहम् ।
वार्धके मौनमातिष्ठेत् सर्वदा धर्ममाचरेत् ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह बचपनमें विद्याध्ययन करे, युवावस्था होनेपर स्त्रीके साथ विवाह करे और बुढ़ापेमें मुनिवृत्तिका आश्रय ले एवं धर्मका आचरण सदा ही सब अवस्थाओंमें करता रहे ॥

ब्राह्मणान् नावमन्येत गुरून् परिवदेन्न च ।
यतीनामनुकूलः स्यादेष धर्मः सनातनः ॥

ब्राह्मणोंका अपमान न करे, गुरुजनोंकी निन्दा न करे

और संन्यासी महात्माओंके अनुकूल बर्ताव करे—यह सनातन धर्म है ॥

यतिर्गुरुर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥

ब्राह्मणोंका गुरु संन्यासी है, चारों वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है, समस्त स्त्रियोंके लिये गुरु उनका पति है और सबका गुरु राजा है ॥

एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखी वा मुण्डितोऽपि वा।
काषायदण्डधारोऽपि यतिः पूज्यो न संशयः ॥

संन्यासी एक दण्ड धारण करनेवाला हो या तीन दण्ड, बड़ी-बड़ी जटाएँ रखता हो या माथा मुँडाये रहता हो अथवा गेरुआ वस्त्र पहननेवाला हो, निःसंदेह उसका सत्कार करना चाहिये ॥

तस्मात् तु यत्नतः पूज्या मद्भक्ता मत्परायणाः।
मयि संन्यस्तकर्माणः परत्र हितकाङ्क्षिभिः ॥

इसलिये जो परलोकमें अपना कल्याण चाहते हों, उन पुरुषोंको उचित है कि वे मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पण करनेवाले मेरे शरणागत भक्तोंका यत्नपूर्वक सत्कार करें ॥

प्रहरेन्न द्विजान् विप्रो गां न हन्यात् कदाचन ।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥

ब्राह्मणोंपर हाथ न छोड़े और गायको कभी न मारे। जो ब्राह्मण इन दोनोंपर प्रहार करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप लगता है ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्न च पादौ प्रतापयेत् ।
नाधः कुर्यात् कदाचित् तु न पृष्ठं परितापयेत्॥

अग्निको मुँहसे न फूँके, पैरोंको आगपर न तपावे और आगको पैरसे न कुचले तथा पीठकी ओरसे अग्निका सेवन न करे ॥

श्वचण्डालादिभिः स्पृष्टो नाङ्गमग्नौ प्रतापयेत् ।
सर्वदेवमयो वह्निस्तस्माच्छुद्धः सदा स्पृशेत् ॥

जो मनुष्य कुत्ते या चाण्डालसे छू गया हो, उसे अपना अङ्ग अग्निमें नहीं तपाना चाहिये; क्योंकि अग्नि सर्वदेवतारूप है। अतः सदा शुद्ध होकर उसका स्पर्श करना चाहिये ॥

प्राप्तमूत्रपुरीषस्तु न स्पृशेद् वह्निमात्मवान् ।
यावत् तु धारयेद् वेगं तावदप्रयतो भवेत् ॥

मल या मूत्रकी हाजत होनेपर बुद्धिमान् पुरुषको अग्निका स्पर्श नहीं करना चाहिये, क्योंकि जबतक यह मल-मूत्रका वेग धारण करता है, तबतक अशुद्ध रहता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
कीदृशेभ्यो हि दातव्यं तन्मे ब्रूहि जनार्दन ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जनार्दन ! जिनको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कैसे होते हैं ? तथा किस प्रकारके ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्रोधनाः सत्यपरा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! जो क्रोध न करनेवाले, सत्यपरायण, सदा धर्ममें लगे रहनेवाले और जितेन्द्रिय हों, वे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं तथा उन्हींको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

अमानिनः सर्वसहा दृष्टार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

जो अभिमानशून्य, सब कुछ सहनेवाले, शास्त्रीय अर्थके ज्ञाता, इन्द्रियजयी, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी, सबके साथ मैत्रीका भाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक है ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वधर्मनिरता ये तु तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, संकोची, सत्यवादी और स्वधर्मपरायण हों, उनको दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदान् योऽधीयेत दिने दिने ।
शूद्रान्नं यस्य नो देहे तत् पात्रमृषयो विदुः ॥

जो प्रतिदिन अङ्गोंसहित चारों वेदोंका स्वाध्याय करता हो और जिसके उदरमें शूद्रका अन्न न पड़ा हो, उसको ऋषियोंने दानका उत्तम पात्र माना है ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत् तत्कुलं सर्वमेकोऽपीह युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! यदि शुद्ध बुद्धि, शास्त्रीय ज्ञान, सदाचार और उत्तम शीलसे युक्त एक ब्राह्मण भी दान ग्रहण कर ले तो वह दाताके समस्त कुलका उद्धार कर देता है ॥

गामश्वमन्नं वित्तं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
निशम्य तु गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम् ।
दूरादाहृत्य सत्कृत्य तं प्रयत्नेन पूजयेत् ॥

ऐसे ब्राह्मणको गाय, घोड़ा, अन्न और धन देना चाहिये। सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित किसी गुणवान् ब्राह्मणका नाम सुनकर उसे दूरसे भी बुलाना और प्रयत्नपूर्वक उसका सत्कार तथा पूजन करना चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविधिस्त्वेवं भीष्मेण सम्प्रभाषितम् ।

भीष्मवाक्यात् सारभूतं वद धर्मं सुरेश्वर ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवेश्वर ! धर्म और अधर्मकी इस विधिका भीष्मजीने विस्तारके साथ वर्णन किया था । आप उनके वचनोंमेंसे सारभूत धर्म छाँटकर बतलाइये ॥

श्रीभगवानुवाच

अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
अन्नात् प्रभवति प्राणः प्रत्यक्षं नास्ति संशयः॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! समस्त चराचर जगत् अन्नके ही आधारपर टिका हुआ है । अन्नसे प्राणकी उत्पत्ति होती है, यह बात प्रत्यक्ष है; इसमें संशय नहीं है ॥

कलत्रं पीडयित्वा तु देशे काले च शक्तितः ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको स्त्रीको कष्ट देकर अर्थात् उसके भोजनमेंसे बचाकर भी देश और कालका विचार करके भिक्षुकको शक्तिके अनुसार अवश्य अन्न-दान करना चाहिये ॥

विप्रमध्वपरिश्रान्तं बालं वृद्धमथापि वा ।
अर्चयेद् गुरुवत् प्रीतो गृहस्थो गृहमागतम् ॥

ब्राह्मण बालक हो अथवा बूढ़ा, यदि वह रास्तेका थका-माँदा घरपर आ जाय तो गृहस्थ पुरुषको बड़ी प्रसन्नताके साथ गुरुकी भाँति उसका सत्कार करना चाहिये ॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अर्चयेदतिथिं प्रीतः परत्र हितभूतये ॥

परलोकमें कल्याणकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अपने प्रकट हुए क्रोधको भी रोककर, मत्सरताका त्याग करके सुशीलता और प्रसन्नतापूर्वक अतिथिकी पूजा करनी चाहिये ॥

अतिथिं नावमन्येत नानृतां गिरमीरयेत् ।
न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन ॥

गृहस्थ पुरुष कभी अतिथिका अनादर न करे, उससे झूठी बात न कहे तथा उसके गोत्र, शाखा और अध्ययनके विषयमें भी कभी प्रश्न न करे ॥

चण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः ।
अन्नेन पूजनीयः स्यात् परत्र हितमिच्छता ॥

भोजनके समयपर चाण्डाल या श्वपाक (महा चाण्डाल) भी घर आ जाय तो परलोकमें हित चाहनेवाले गृहस्थको अन्नके द्वारा उसका सत्कार करना चाहिये ॥

पिधाय तु गृहद्वारं भुङ्क्ते योऽन्नं प्रहृष्टवान् ।
स्वर्गद्वारपिधानं वै कृतं तेन युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! जो (किसी भिक्षुकके भयसे) अपने घरका दरवाजा बंद करके प्रसन्नतापूर्वक भोजन करता है, उसने मानो अपने लिये स्वर्गका दरवाजा बंद कर दिया है ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च निराश्रयान् ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥

जो देवताओं, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों, अतिथियों और निराश्रय मनुष्योंको अन्नसे तृप्त करता है, उसको महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥

कृत्वा तु पापं बहुशो यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

जिसने अपने जीवनमें बहुत-से पाप किये हों, वह भी यदि याचक ब्राह्मणको विशेषरूपसे अन्नदान करता है तो सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत् ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

संसारमें अन्न देनेवाला पुरुष प्राणदाता माना जाता है

और जो प्राणदाता है, वही सब कुछ देनेवाला है । अतः कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अन्नका दान विशेषरूपसे करना चाहिये ॥

अन्नं ह्यमृतमित्याहुरन्नं प्रजननं स्मृतम् ।
अन्नप्रणाशे सीदन्ति शरीरे पञ्च धातवः ॥

अन्नको अमृत कहते हैं और अन्न ही प्रजाको जन्म देनेवाला माना गया है । अन्नके नाश होनेपर शरीरके पाँचों धातुओंका नाश हो जाता है ॥

बलं बलवतो नश्येदन्नहीनस्य देहिनः ।
तस्मादन्नं विशेषेण श्रद्धयाश्रद्धयापि वा ॥

बलवान् पुरुष भी यदि अन्नका त्याग कर दे तो उसका बल नष्ट हो जाता है। इसलिये श्रद्धासे हो या अश्रद्धासे, अधिक चेष्टा करके अन्न-दान देना चाहिये ॥

आदत्ते हि रसं सर्वमादित्यः स्वगभस्तिभिः।
वायुस्तस्मात् समादाय रसं मेघेषु धारयेत् ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीका सारा रस खींचते हैं और हवा उसे लेकर बादलोंमें स्थापित कर देती है ॥

तत् तु मेघगतं भूमौ शक्रो वर्षति तादृशम्।
तेन दिग्धा भवेद् देवी मही प्रीता च भारत ॥

भरतनन्दन ! बादलोंमें पड़े हुए उस रसको इन्द्र पुनः इस पृथ्वीपर बरसाते हैं। उससे आप्लावित होकर पृथ्वी देवी तृप्त होती है ॥

तस्यां सस्यानि रोहन्ति यैर्जीवन्त्यखिलाः प्रजाः।
मांसमेदोऽस्थिमज्ज्ञानां सम्भवस्तेभ्य एव हि ॥

तब उसमेंसे अन्नके पौधे उगते हैं, जिनसे सम्पूर्ण प्रजाका जीवन-निर्वाह होता है। मांस, मेद, अस्थि और मज्जाकी उत्पत्ति नाना प्रकारके अन्नसे ही होती है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भोजनकी विधि, गौओंको घास डालनेका विधान और तिलका माहात्म्य तथा ब्राह्मणके लिये तिल और गन्ना पेरनेका निषेध]

युधिष्ठिर उवाच

अन्नदानफलं श्रुत्वा प्रीतोऽस्मि मधुसूदन।
भोजनस्य विधिं वक्तुं देवदेव त्वमर्हसि ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवाधिदेव मधुसूदन ! अन्न-दानका फल सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, अब आप भोजनकी विधि बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

भोजनस्य द्विजातीनां विधानं शृणु पाण्डव।
स्नातः शुचिः शुचौ देशे निर्जने हुतपावकः ॥
मण्डलं कारयित्वा च चतुरस्रं द्विजोत्तमः।
क्षत्रियश्चेत् ततो वृत्तं वैश्योऽर्धेन्दुसमाकृतम् ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! द्विजातियोंके भोजनका जो विधान है, उसे सुनो। श्रेष्ठ द्विजको उचित है कि वह स्नान करके पवित्र हो अग्निहोत्र करनेके बाद शुद्ध और एकान्त स्थानमें बैठकर ब्राह्मण हो तो चौकोना, क्षत्रिय हो तो गोलाकार और वैश्य हो तो अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीयात् प्राङ्मुखश्चासने शुचौ।
पादाभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा पादेनैकेन वा पुनः ॥

उसके बाद पैर धोकर उसी मण्डलमें बिछे हुए शुद्ध आसनके ऊपर पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाय और दोनों पैरोंसे अथवा एक पैरके द्वारा पृथ्वीका स्पर्श किये रहे ॥

नैकवासास्तु भुञ्जीयान्न चान्तर्धाय वा द्विजः।
न भिन्नपात्रे भुञ्जीत पर्णपृष्ठे तथैव च ॥

द्विज एक वस्त्र पहनकर तथा सारे शरीरको कपड़ेसे ढककर भी भोजन न करे। इसी प्रकार फूटे हुए बर्तनमें तथा उल्टी पत्तलमें भी भोजन करना निषिद्ध है ॥

अन्नं पूर्वं नमस्कुर्यात् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
नान्यदालोकयेदन्नान्न जुगुप्सेत तत्परः ॥

भोजन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि प्रसन्नचित्त होकर पहले अन्नको नमस्कार करे। अन्नके सिवा दूसरी ओर दृष्टि न डाले तथा भोजन करते समय परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे ॥

जुगुप्सितं च यच्चान्नं राक्षसा एव भुञ्जते।
पाणिना जलमुद्धृत्य कुर्यादन्नं प्रदक्षिणम् ॥

जिस अन्नकी निन्दा की जाती है, उसे राक्षस खाते हैं। भोजन आरम्भ करनेसे पहले हाथमें जल लेकर उसके द्वारा अन्नकी प्रदक्षिणा करे ॥

पञ्च प्राणाहुतीः कुर्यात् समन्त्रं तु पृथक्पृथक् ॥

फिर मन्त्र पढ़कर पृथक्-पृथक् पाँचों प्राणोंको अन्नकी आहुति दे ॥

यथा रसं न जानाति जिह्वा प्राणाहुतौ नृप।
तथा समाहितः कुर्यात् प्राणाहुतिमतन्द्रितः ॥

राजन् ! प्राणोंको आहुति देते समय स्थिरचित्त और सावधान होकर इस प्रकार प्राणोंको आहुति दे, जिससे जिह्वाको रसका ज्ञान न हो ॥

विदित्वान्नमथान्नादं पञ्च प्राणांश्च पाण्डव।
यः कुर्यादाहुतीः पञ्च तेनेष्टाः पञ्च वायवः ॥

पाण्डुनन्दन ! अन्न, अन्नाद और पाँचों प्राणोंके तत्त्वको जानकर जो प्राणाग्निहोत्र करता है, उसके द्वारा पञ्च वायुओंका यजन हो जाता है ॥

अतोऽन्यथा तु भुञ्जानो ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
तेनान्नेनासुरान् प्रेतान् राक्षसांस्तर्पयिष्यति ॥

इसके विपरीत भोजन करनेवाला मूर्ख ब्राह्मण अन्नके द्वारा असुर, प्रेत और राक्षसोंको ही तृप्त करता है ॥

वक्त्रप्रमाणान् पिण्डांश्च ग्रसेदेकैकशः पुनः।
वक्त्राधिकं तु यत् पिण्डमात्मोच्छिष्टं तदुच्यते ॥

प्राणोंको आहुति देनेके पश्चात् अपने मुखमें पड़ने लायक एक-एक ग्रास अन्न उठाकर भोजन करे। जो ग्रा

अपने मुखमें जानेकी अपेक्षा बड़ा होनेके कारण एक बारमें न खाया जा सके, उसमेंसे बचा हुआ ग्रास अपना उच्छिष्ट कहा जाता है ॥

पिण्डावशिष्टमन्यच्च वक्त्रान्निस्सृतमेव च।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।

ग्राससे बचे हुए तथा मुँहसे निकले हुए अन्नको अखाद्य समझे और उसे खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करे ॥

स्वमुच्छिष्टं तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभोजनम् ॥
चान्द्रायणं चरेत् कृच्छ्रं प्राजापत्यमथापि वा ।

जो अपना जूठा खाता है तथा एक बार खाकर छोड़े हुए भोजनको फिर ग्रहण करता है, उसको चान्द्रायण, कृच्छ्र अथवा प्राजापत्य-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

स्त्रीपात्रभुङ्नरः पापः स्त्रीणामुच्छिष्टभुक्तथा ॥
तया सह च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते मद्यमेव हि।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

जो पापी स्त्रीके भोजन किये हुए पात्रमें भोजन करता है, स्त्रीका जूठा खाता है तथा स्त्रीके साथ एक बर्तनमें भोजन करता है, वह मानो मदिरा पान करता है। तत्त्वदर्शी मुनियोंने उस पापसे छूटनेका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं देखा है ॥

पिबतः पतिते तोये भोजने मुखनिस्सृते ।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि पानी पीते-पीते उसकी बूँद मुँहसे निकलकर भोजनमें गिर पड़े तो वह खाने योग्य नहीं रह जाता। जो उसे खा लेता है, उस पुरुषको चान्द्रायणव्रतका आचरण करना चाहिये ॥

पीतशेषं तु तन्नाम न पेयं पाण्डुनन्दन।
पिबेद् यदि हि तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥

पाण्डुनन्दन! इसी प्रकार पीनेसे बचा हुआ पानी भी पुनः पीनेके योग्य नहीं रहता। यदि कोई ब्राह्मण मोहवश उसको पी ले तो उसे चान्द्रायणव्रतका आचरण करना चाहिये ॥

मौनी वाप्यथवा भूमौ नावलोक्य दिशस्तथा।
भुञ्जीत विधिवद् विप्रो न चोच्छिष्टं प्रदापयेत् ॥

ब्राह्मणको उचित है कि वह मौन होकर पृथ्वी या दिशाओंकी ओर न देखते हुए विधिवत् भोजन करे, किसीको अपना जूठा न दे ॥

सदा चात्यशनं नाद्यान्नातिहीनं च कर्हिचित्।
यथान्नेन व्यथा न स्यात् तथा भुञ्जीत नित्यशः ॥

कभी भी न तो बहुत अधिक और न कम ही भोजन करे। प्रतिदिन उतना ही अन्न खाय, जिससे अपनेको कष्ट न हो ॥

केशकीटोपपन्नं च मुखमारुतवीजितम्।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

जिस भोजनमें बाल या कोई कीड़ा पड़ा हो, जिसे मुँहसे फूँककर ठंडा किया गया हो, उसको अखाद्य समझना चाहिये। ऐसे अन्नको भोजन कर लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

उत्थाय च पुनः स्पृष्टं पादस्पृष्टं च लङ्घितम्।
अन्नं तद् राक्षसं विद्यात् तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥

भोजनके स्थानसे उठ जानेके बाद जिसे फिर छू दिया गया हो, जो पैरसे छू गया या लाँघ दिया गया हो, वह राक्षसके खाने योग्य अन्न है; ऐसा समझकर उसका त्याग कर देना चाहिये ॥

यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्तवानासनात् ततः।
स्नानं सद्यः प्रकुर्वीत सोऽन्यथाप्रयतो भवेत् ॥

यदि आचमन किये बिना ही भोजन करनेवाला द्विज भोजनके आसनसे उठ जाय तो उसे तुरंत स्नान करना चाहिये, अन्यथा वह अपवित्र ही रहता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

तृणमुष्टिविधानं च तिलमाहात्म्यमेव च।
इक्षोः सोमसमुद्भूतिं वक्तुमर्हसि मानद ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! गौओंके आगे घासकी मुट्ठी डालनेका विधान और तिलका माहात्म्य क्या है तथा गन्नेसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है—यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

पितरो वृषभा ज्ञेया गावो लोकस्य मातरः।
तासां तु पूजया राजन् पूजिताः पितृदेवताः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! बैलोंको जगत्‌का पिता समझना चाहिये और गौएँ संसारकी माताएँ हैं, उनकी पूजा करनेसे सम्पूर्ण पितरों और देवताओंकी पूजा हो जाती है ॥

सभा प्रपा गृहाश्चापि देवतायतनानि च।
शुद्ध्यन्ति शकृता यासां किं भूतमधिकं ततः ॥

जिनके गोबरसे लीपनेपर सभा-भवन, पौंसले, घर और देवमन्दिर भी शुद्ध हो जाते हैं, उन गौओंसे बढ़कर और कौन प्राणी हो सकता है? ॥

ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं तु यः।
अकृत्वा स्वयमाहारं प्राप्तस्तत् सार्वकालिकम् ॥

जो मनुष्य एक सालतक स्वयं भोजन करनेके पहले प्रतिदिन दूसरेकी गायको मुट्ठीभर घास खिलाया करता है, उसको प्रत्येक समय गौकी सेवा करनेका फल प्राप्त होता है ॥

गावो मे मातरः सर्वाः पितरश्चैव गोवृषाः ।
ग्रासमुष्टिं मया दत्तं प्रतिगृह्णीत मातरः ॥

गोमाताके सामने घास रखकर इस प्रकार कहना चाहिये—'संसारकी समस्त गौएँ मेरी माताएँ और सम्पूर्ण वृषभ मेरे पिता हैं। गोमाताओ ! मैंने तुम्हारी सेवामें यह घासकी मुट्ठी अर्पण की है, इसे स्वीकार करो' ॥

इत्युक्त्वानेन मन्त्रेण गायत्र्या वा समाहितः ।
अभिमन्त्र्य ग्रासमुष्टिं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

यह मन्त्र पढ़कर अथवा गायत्रीका उच्चारण करके एकाग्रचित्तसे घासको अभिमन्त्रित करके गौको खिला दे। ऐसा करनेसे जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होती है, उसे सुनो ॥

यत् कृतं दुष्कृतं तेन ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
तस्य नश्यति तत् सर्वं दुःस्वप्नं च विनश्यति ॥

उस पुरुषने जान-बूझकर या अनजानमें जो-जो पाप किये होते हैं, वह सब नष्ट हो जाते हैं तथा उसको कभी बुरे स्वप्न नहीं दिखायी देते ॥

तिलाः पवित्राः पापघ्ना नारायणसमुद्भवाः ।
तिलाञ्श्राद्धे प्रशंसन्ति दानं चेदमनुत्तमम् ॥

तिल बड़े पवित्र और पापनाशक होते हैं, भगवान् नारायणसे उनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिये श्राद्धमें तिलकी बड़ी प्रशंसा की गयी है और तिलका दान अत्यन्त उत्तम दान बताया गया है ॥

तिलान् दद्यात् तिलान् भक्ष्यात् तिलान् प्रातरुपस्पृशेत्।
तिलं तिलमिति ब्रूयात् तिलाः पापहरा हि ते ॥

तिल दान करे, तिल भक्षण करे और सबेरे तिलका उबटन लगाकर स्नान करे तथा सदा ही अपने मुँहसे 'तिल-तिल'का उच्चारण किया करे; क्योंकि तिल सब पापोंको नष्ट करनेवाले होते हैं ॥

तिलान् न पीडयेद् विप्रो यन्त्रचक्रे स्वयं नृप ।
पीडयन् हि द्विजो मोहान्नरकं याति रौरवम् ॥

राजन् ! ब्राह्मणको स्वयं तिल पेरनेकी मशीनमें तिल डालकर तेल नहीं पेरना चाहिये। जो मोहवश स्वयं ही तिल पेरता है, वह रौरव नरकमें पड़ता है ॥

इक्षुवंशोद्भवः सोमः सोमवंशोद्भवा द्विजाः ।
तस्मान्न पीडयेदिक्षुं यन्त्रचक्रे द्विजोत्तमः ॥

युधिष्ठिर ! चन्द्रमा इक्षु (गन्ने) के वंशमें उत्पन्न हुआ है और ब्राह्मण चन्द्रमाके वंशमें उत्पन्न हुए इसलिये ब्राह्मणको कोल्हूमें गन्ना नहीं पेरना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[आपद्धर्म, श्रेष्ठ और निन्द्य ब्राह्मण, श्राद्धका उत्तम का और मानव-धर्म-सारका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

समुच्चयं च धर्माणां भोज्याभोज्यं तथैव च ।
श्रुतं मया त्वत्प्रसादादापद्धर्मं वदस्व मे ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मैंने धर्मोंके संग्रहका एवं भोजनके योग्य और भोजनके अ अन्नका विषय भी सुन लिया। अब कृपा करके आपद्ध वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

दुर्भिक्षे राष्ट्रसम्बाधेऽप्याशौचे मृतसूतके ।
धर्मकालेऽध्वनि तथा नियमो येन लुप्यते ॥
दूराध्वगमनात् खिन्नो द्विजालाभेऽथ शूद्रतः ।
अकृतान्नं तु यत् किंचिद् गृह्णीयादात्मवृत्तये ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! जब देशमें अकाल हो, राष्ट्रके ऊपर कोई आपत्ति आयी हो, जन्म या मृत सूतक हो तथा कड़ी धूपमें रास्ता चलना पड़ा हो और सब कारणोंसे नियमका निर्वाह न हो सके तथा दूरका तै करनेके कारण विशेष थकावट आ गयी हो, उस अवस ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके न मिलनेपर शूद्रसे भी जी निर्वाहके लिये थोड़ा-सा कच्चा अन्न लिया सकता है ॥

आतुरो दुःखितो वापि तथार्तो वा बुभुक्षितः ।
भुञ्जन्नविधिना विप्रः प्रायश्चित्तायते न च ॥

रोगी, दुखी, पीड़ित और भूखा ब्राह्मण यदि वि विधानके बिना भोजन कर ले तो भी उसे प्राय नहीं लगता ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥

जल, मूल, घी, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा करना, गुरुकी आज्ञाका पालन और ओषधि—इन आ सेवनसे व्रतका भंग नहीं होता ॥

अशक्तो विधिवत् कर्तुं प्रायश्चित्तानि यो नरः ।
विदुषां वचनेनापि दानेनापि विशुद्ध्यति ॥

जो मनुष्य विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करनेमें असमर्थ वह विद्वानोंके वचनसे तथा दानके द्वारा भी शुद्ध सकता है ॥

अनृतावृतुकाले वा दिवा रात्रौ तथापि वा ।

...षितस्तु स्त्रियं गच्छेत् प्रायश्चित्तीयते न च ॥

परदेशमें रहनेवाला पुरुष यदि कुछ कालके लिये घर ...वे तो वह ऋतुकालमें तथा उससे भिन्न समयमें भी, ...तमें या दिनमें भी अपनी स्त्रीके साथ समागम करनेपर ...यश्चित्तका भागी नहीं होता ॥

युधिष्ठिर उवाच

...शस्याः कीदृशा विप्रा निन्द्याश्चापि सुरेश्वर ।
...ष्टकायाश्च कः कालस्तन्मे कथय सुव्रत ॥

युधिष्ठिरने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ...श्वर ! कैसे ब्राह्मण प्रशंसाके योग्य होते हैं और कैसे ...न्दाके योग्य ? तथा अष्टका-श्राद्धका कौन-सा समय है ? यह ...से बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

...लीनः कर्मकृद् वैद्यस्तथा चाप्यानृशंस्यवान् ।
...ीमानृजुः सत्यवादी पात्राः सर्व इमे द्विजाः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! उत्तम कुलमें उत्पन्न, ...स्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले, विद्वान्, दयालु, श्री- ...मन्न, सरल और सत्यवादी—ये सभी ब्राह्मण सुपात्र ...प्रशंसाके योग्य) माने जाते हैं ॥

...ते चाग्रासनस्थास्ते भुञ्जानाः प्रथमं द्विजाः ।
...स्यां पङ्क्त्यां तु ये चान्ये तान् पुनन्त्येव दर्शनात् ॥

ये आगेके आसनपर बैठकर सबसे पहले भोजन करनेके ...धिकारी हैं तथा उस पंक्तिमें जितने लोग बैठे होते हैं, उन ...बको ये अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥

...द्भक्ता ये द्विजश्रेष्ठा मद्गता मत्परायणाः ।
...ान् पङ्क्तिपावनान् विद्धि पूज्यांश्चैव विशेषतः ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझमें मन लगानेवाले और मेरे शरणा- ...त भक्त हों, उन्हें पङ्क्तिपावन समझो । वे विशेषरूपसे ...जा करनेके योग्य हैं ॥

...न्द्याञ्शृणु द्विजान् राजन्नपि वा वेदपारगान् ॥
...ाह्मणच्छद्मना लोके चरतः पापकारिणः ।

राजन् ! अब निन्दाके योग्य ब्राह्मणोंका वर्णन सुनो । ...ो ब्राह्मण संसारमें कपटपूर्ण बर्ताव करते हैं, वे वेदोंके पार- ...ामी विद्वान् होनेपर भी पापाचारी ही माने जाते हैं ॥

...नग्निरनधीयानः प्रतिग्रहरुचिस्तु यः ॥
...तस्ततस्तु भुञ्जानस्तं विद्याद् ब्रह्मदूषकम् ।

जो अग्निहोत्र और स्वाध्याय न करता हो, सदा दान ...नेकी ही रुचि रखता हो और जहाँ कहीं भी भोजन कर ...ता हो, उसको ब्राह्मणजातिका कलंक समझना चाहिये ॥

...तसूतकपुष्टाङ्गो यश्च शूद्रान्नभुग् द्विजः ।
अहं चापि न जानामि गतिं तस्य नराधिप ॥
शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गोऽप्यधीयानो हि नित्यशः ।
जपतो जुह्वतो वापि गतिरूर्ध्वं न विद्यते ॥

नरेश्वर ! जिसका शरीर मरणाशौचका अन्न खाकर मोटा हुआ हो, जो शूद्रका अन्न भोजन करता हो और शूद्रके ही अन्नके रससे पुष्ट हुआ हो, उस ब्राह्मणकी किस प्रकार गति होती है, मैं नहीं जानता; क्योंकि प्रतिदिन स्वाध्याय, जप और होम करनेपर भी उसकी उत्तम गति नहीं होती ॥

आहिताग्निश्च यो विप्रः शूद्रान्नान्न निवर्तते ।
पञ्च तस्य प्रणश्यन्ति आत्मा ब्रह्म त्रयोऽग्नयः ॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेपर भी शूद्रके अन्नसे बचा न रहता हो, उसके आत्मा, वेदाध्ययन और तीनों अग्नि—इन पाँचोंका नाश हो जाता है ॥

शूद्रप्रेषणकर्तुश्च ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
भूमावन्नं प्रदातव्यं श्वशृगालसमो हि सः ॥

शूद्रकी सेवा करनेवाले ब्राह्मणको खानेके लिये विशेषतः जमीनपर ही अन्न डाल देना चाहिये; क्योंकि वह कुत्ते और गीदड़के ही समान होता है ॥

प्रेतभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

जो ब्राह्मण मूर्खतावश मरे हुए शूद्रके शवके पीछे-पीछे श्मशानभूमिमें जाता है, उसको तीन रातका अशौच लगता है ॥

त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

तीन रात पूर्ण होनेपर किसी समुद्रमें मिलनेवाली नदीके भीतर स्नान करके सौ बार प्राणायाम करे और घी पीवे तो वह शुद्ध होता है ॥

अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजोत्तमाः ।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं ते प्राप्नुवन्ति हि ॥

जो श्रेष्ठ द्विज किसी अनाथ ब्राह्मणके शवको श्मशानमें ले जाते हैं, उन्हें पग-पगपर अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

न तेषामशुभं किंचित् पापं वा शुभकर्मणाम् ।
जलावगाहनादेव सद्यः शौचं विधीयते ॥

उन शुभ कर्म करनेवालोंको किसी प्रकारका अशुभ या पाप नहीं लगता । वे जलमें स्नान करनेमात्रसे तत्काल शुद्ध हो जाते हैं ॥

शूद्रवेश्मनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि ।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं विद्धि शूद्रान्नमेव तत् ॥

निवृत्तिमार्गपरायण ब्राह्मणको शूद्रके घरमें दूध या दही भी नहीं खाना चाहिये । उसे भी शूद्रान्न ही समझना चाहिये ॥

विप्राणां भोक्तुकामानामत्यन्तं चान्नकाङ्क्षिणाम्।
यो विघ्नं कुरुते मर्त्यस्ततो नान्योऽस्ति पापकृत्॥

अत्यन्त भूखे होनेके कारण अन्नकी इच्छावाले ब्राह्मणोंके भोजनमें जो मनुष्य विघ्न डालता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं है ॥

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः
सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति
शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य॥

राजन्! यदि ब्राह्मण शील एवं सदाचारसे रहित हो जाय तो छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेद, सांख्य, पुराण और उत्तम कुलका जन्म—ये सब मिलकर भी उसे सद्गति नहीं दे सकते ॥

ग्रहोपरागे विषुवेऽयनान्ते
पित्र्ये मघासु स्वसुते च जाते।
गयेषु पिण्डेषु च पाण्डुपुत्र
दत्तं भवेन्निष्कसहस्रतुल्यम्॥

पाण्डुनन्दन! ग्रहणके समय, विषुवयोगमें, अयन समाप्त होनेपर, पितृकर्म (श्राद्ध आदि) में, मघानक्षत्रमें, अपने यहाँ पुत्रका जन्म होनेपर तथा गयामें पिण्डदान करते समय जो दान दिया जाता है, वह एक हजार स्वर्णमुद्राके दान देनेके समान होता है ॥

वैशाखमासस्य तु या तृतीया-
नवम्यसौ कार्त्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे
त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे॥
उपप्लवे चन्द्रमसो रवेश्च
श्राद्धस्य कालो ह्ययनद्वये च।
पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं
दद्यात् पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः।
श्राद्धं कृतं तेन समा सहस्रं
रहस्यमेतत् पितरो वदन्ति॥

वैशाखमासकी शुक्ला तृतीया, कार्तिक शुक्लपक्षकी तृतीया, भाद्रपद मासकी कृष्णा त्रयोदशी, माघकी अमावास्या, चन्द्रमा और सूर्यका ग्रहण तथा उत्तरायण और दक्षिणायनके प्रारम्भिक दिन—ये श्राद्धके उत्तम काल हैं। इन दिनोंमें मनुष्य पवित्र-चित्त होकर यदि पितरोंके लिये तिलमिश्रित जलका भी दान कर दे तो उसके द्वारा एक हजार वर्षतक श्राद्ध किया हुआ हो जाता है। यह रहस्य स्वयं पितरोंका बतलाया हुआ है ॥

यस्त्वेकपङ्क्त्यां विषमं ददाति
स्नेहाद् भयाद् वा यदि वार्थहेतोः।
क्रूरं दुराचारमनात्मवन्तं
ब्रह्मघ्नमेनं कवयो वदन्ति॥

जो मनुष्य स्नेह या भयके कारण अथवा धन पानेकी इच्छासे एक पङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंको भोजन परोसनेमें भेद करता है, उसे विद्वान् पुरुष क्रूर, दुराचारी, अजितात्मा और ब्रह्महत्यारा बतलाते हैं ॥

धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते परलोकमूढाः।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नान्यत् सुखं देहसुखे रतानाम्॥

शत्रुसूदन! जिनके पास धनका भण्डार भरा हुआ है और जो परलोकके विषयमें कुछ भी न जाननेके कारण सदा भोग-विलासमें ही रम रहे हैं, वे केवल दैहिक सुखमें ही आसक्त हैं। अतः उनके लिये इस लोकका ही सुख सुलभ है, पारलौकिक सुख तो उन्हें कभी नहीं मिलता ॥

ये चैव मुक्तास्तपसि प्रयुक्ताः
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहम्।
जितेन्द्रिया भूतहिते निविष्टा-
स्तेषामसौ चापि परश्च लोकः॥

जो विषयोंकी आसक्तिसे मुक्त होकर तपस्यामें संलग्न रहते हों, जिन्होंने नित्य स्वाध्याय करते हुए अपने शरीरको दुर्बल कर दिया हो, जो इन्द्रियोंको वशमें रखते हों और समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें लगे रहते हों, उनके लिये इस लोकका भी सुख सुलभ है और परलोकका भी ॥

ये चैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ते।
न चापि गच्छन्ति सुखानि भोगां-
स्तेषामयं चापि परश्च नास्ति॥

परंतु जो मूर्ख न विद्या पढ़ते हैं, न तप करते हैं, न दान देते हैं, न शास्त्रानुसार संतानोत्पादनका प्रयत्न करते हैं और न अन्य सुख-भोगोंका ही अनुभव कर पाते हैं, उनके लिये न इस लोकमें सुख है न परलोकमें ॥

युधिष्ठिर उवाच

नारायण पुराणेश लोकावास नमोऽस्तु ते।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन धर्मसारसमुच्चयम्॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन्! आप साक्षात् नारायण, पुरातन ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्के निवासस्थान हैं। आपको नमस्कार है। अब मैं सम्पूर्ण धर्मोंका सार पूर्णतया भवसे सुनना चाहता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्मसारं महाप्राज्ञ मनुना प्रोक्तमादितः।
प्रवक्ष्यामि मनुप्रोक्तं पौराणं श्रुतिसंहितम्॥

श्रीभगवान् बोले—महाप्राज्ञ ! मनुजीने सृष्टिके आदिकालमें जो धर्मके सार-तत्त्वका वर्णन किया है, वह पुराणोंके अनुकूल और वेदके द्वारा समर्थित है। उसी मनुप्रोक्त धर्मका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः।
दृष्टमात्रात् पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत तान् सदा ॥

अग्निहोत्री द्विज, कपिला गौ, यज्ञ करनेवाला पुरुष, राजा, संन्यासी और महासागर—ये दर्शनमात्रसे मनुष्यको पवित्र कर देते हैं, इसलिये सदा इनका दर्शन करना चाहिये ॥

बहूनां न प्रदातव्या गौर्वस्त्रं शयनं स्त्रियः।
तादृग्भूतं तु तद् दानं दातारं नोपतिष्ठति ॥

एक गौ, एक वस्त्र, एक शय्या और एक स्त्रीको कभी अनेक मनुष्योंके अधिकारमें नहीं देना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर उस दानका फल दाताको नहीं मिलता ॥

मा ददात्विति यो ब्रूयाद् ब्राह्मणेषु च गोषु च।
तिर्यग्योनिशतं गत्वा चण्डालेषूपजायते ॥

जो ब्राह्मणको और गौको आहार देते समय 'मत दो' कहकर मना करता है, वह सौ बार पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेकर अन्तमें चाण्डाल होता है ॥

ब्राह्मणस्वं च यद् दैवं दरिद्रस्यैव यद् धनम्।
गुरोश्चापि हृतं राजन् स्वर्गस्थानपि पातयेत् ॥

राजन् ! ब्राह्मणका, देवताका, दरिद्रका और गुरुका धन यदि चुरा लिया जाय तो वह स्वर्गवासियोंको भी नीचे गिरा देता है ॥

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
द्वितीयं धर्मशास्त्राणि तृतीयं लोकसंग्रहः ॥

जो धर्मका तत्त्व जानना चाहते हैं, उनके लिये वेद मुख्य प्रमाण हैं, धर्मशास्त्र दूसरा प्रमाण है और लोकाचार तीसरा प्रमाण है ॥

आसमुद्राच्च यत् पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।
हिमाद्रिविन्ध्ययोर्मध्यमार्यावर्तं प्रचक्षते ॥

पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक और हिमालय तथा विन्ध्याचलके बीचका जो देश है, उसे आर्यावर्त कहते हैं ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तद् देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

सरस्वती और दृषद्वती—इन दोनों देवनदियोंके बीचका जो देवताओंद्वारा रचा हुआ देश है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

जिस देशमें चारों वर्णों तथा उनके अवान्तर भेदोंका जो आचार पूर्वपरम्परासे चला आता है, वही उनके लिये सदाचार कहलाता है ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनयः।
एते ब्रह्मर्षिदेशास्तु ब्रह्मावर्तादनन्तराः ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन—ये ब्रह्मर्षियोंके देश हैं और ब्रह्मावर्तके समीप हैं ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं गृह्णीयुः पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इस देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पास जाकर भूमण्डलके सम्पूर्ण मनुष्योंको अपने-अपने आचारकी शिक्षा लेनी चाहिये ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विशसनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागात् तु मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥

हिमालय और विन्ध्याचलके बीचमें कुरुक्षेत्रसे पूर्व और प्रयागसे पश्चिमका जो देश है, वह मध्यदेश कहलाता है ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो याज्ञिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परम् ॥

जिस देशमें कृष्णसारनामक मृग स्वभावतः विचरा करता है, वही यज्ञके लिये उपयोगी देश है; उससे भिन्न म्लेच्छोंका देश है ॥

एतान् विज्ञाय देशांस्तु संश्रयेरन् द्विजातयः।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥

इन देशोंका परिचय प्राप्त करके द्विजातियोंको इन्हींमें निवास करना चाहिये; किंतु शूद्र जीविका न मिलनेपर निर्वाहके लिये किसी भी देशमें निवास कर सकता है ॥

आचारः प्रथमो धर्मो ह्यहिंसा सत्यमेव च।
दानं चैव यथाशक्ति नियमाश्च यमैः सह ॥

सदाचार, अहिंसा, सत्य, शक्तिके अनुसार दान तथा यम और नियमोंका पालन—ये मुख्य धर्म हैं ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सब संस्कार वेदोक्त पवित्र विधियों और मन्त्रोंके अनुसार कराना चाहिये; क्योंकि संस्कार इहलोक और परलोकमें भी पवित्र करनेवाला है ॥

गर्भहोमैर्जातकर्मनामचौलोपनायनैः ।
स्वाध्यायैस्तद्व्रतैश्चैव विवाहस्नातकव्रतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

गर्भाधान-संस्कारमें किये जानेवाले हवनके द्वारा और जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन, वेदोक्त व्रतोंके पालन, स्नातकके पालनेयोग्य व्रत, विवाह,

पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठान तथा अन्यान्य यज्ञोंके द्वारा इस शरीरको परब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है ॥

धर्मार्थौ यदि न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
विद्या तस्मिन् न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥

जिससे न धर्मका लाभ होता हो, न अर्थका तथा विद्या-प्राप्तिके अनुकूल जो सेवा भी नहीं करता हो, उस शिष्यको विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये, ठीक उसी तरह जैसे ऊसर खेतमें उत्तम बीज नहीं बोया जाता ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा।
यस्माज्ज्ञानमिदं प्राप्तं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥

जिस पुरुषसे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उस गुरुको पहले प्रणाम करना चाहिये ॥

सव्येन सव्यं संगृह्य दक्षिणेन तु दक्षिणम्।
न कुर्यादेकहस्तेन गुरोः पादाभिवादनम् ॥

अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण पकड़कर प्रणाम करना चाहिये। गुरुको एक हाथसे कभी प्रणाम नहीं करना चाहिये ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
अध्यापयति चैवैनं स विप्रो गुरुरुच्यते ॥

जो गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिवत् कराता है और वेद पढ़ाता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है ॥

कृत्वोपनयनं वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सकल्पान् सरहस्यांश्च स चोपाध्याय उच्यते ॥

जो उपनयन-संस्कार कराकर कल्प और रहस्योंसहित वेदोंका नित्य अध्ययन कराता है, उसे उपाध्याय कहते हैं ॥

साङ्गांश्च वेदानध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते ॥

जो षडङ्गयुक्त वेदोंको पढ़ाकर वैदिक व्रतोंकी शिक्षा देता है और मन्त्रार्थोंकी व्याख्या करता है, वह आचार्य कहलाता है ॥

उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

गौरवमें दस उपाध्यायोंसे बढ़कर एक आचार्य, सौ आचार्योंसे बढ़कर पिता और सौ पितासे भी बढ़कर माता है ॥

एतेषामपि सर्वेषां गरीयान् ज्ञानदो गुरुः।
गुरोः परतरं किंचिन्न भूतं न भविष्यति ॥

किंतु जो ज्ञान देनेवाले गुरु हैं, वे इन सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। गुरुसे बढ़कर न कोई हुआ, न होगा ॥

तस्मात् तेषां वशे तिष्ठेच्छुश्रूषापरमो भवेत्।
अवमानाद्धि तेषां तु नरकं स्यान्न संशयः ॥

इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त गुरुजनोंके अधीन रहक[र] उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहना चाहिये। इसमें तनिक भ[ी] संदेह नहीं कि गुरुजनोंके अपमानसे नरकमें गिरना पड़ता है ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

जो लोग किसी अङ्गसे हीन हों, जिनका कोई अङ्[ग] अधिक हो, जो विद्यासे हीन, अवस्थाके बूढ़े, रूप और धन[से] रहित तथा जातिसे भी नीच हों, उनपर आक्षेप नहीं करन[ा] चाहिये ॥

शपता यत् कृतं पुण्यं शप्यमानं तु गच्छति।
शप्यमानस्य यत् पापं शपन्तमनुगच्छति ॥

क्योंकि आक्षेप करनेवाले मनुष्यका पुण्य, जिसप[र] आक्षेप किया जाता है, उसके पास चला जाता है और उसक[ा] पाप आक्षेप करनेवालेके पास चला आता है ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं विवर्जयेत् ॥

नास्तिकता, वेदोंकी निन्दा, देवताओंपर दोषारोपण, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध तथा कठोरता—इनका परित्या[ग] कर देना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अग्निके स्वरूपमें अग्निहोत्रकी विधि तथा उसके माहात्म्यका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

कथं तद् ब्राह्मणैर्देव होतव्यं क्षत्रियैः कथम्।
वैश्यैर्वा देवदेवेश कथं वा सुहुतं भवेत् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवदेवेश्वर ! ब्राह्मण, क्षत्रि[य] और वैश्योंको किस प्रकार हवन करना चाहिये ? औ[र] उनके द्वारा किस प्रकार किया हुआ हवन शुभ होता है ? ॥

कत्यग्नयः किमात्मानः स्थानं किं कस्य वा विभो।
कतरस्मिन् हुते स्थानं कं व्रजेदाग्निहोत्रिकः ॥

विभो ! अग्निके कितने भेद हैं ? उनके पृथक्-पृथ[क्] स्वरूप क्या हैं ? किस अग्निका कहाँ स्थान है ? अग्निहोत्[री] पुरुष किस अग्निमें हवन करके किस लोकको प्रा[प्त] होता है ? ॥

अग्निहोत्रनिमित्तं च किमुत्पन्नं पुरानघ।
कथमेवाथ हूयन्ते प्रीयन्ते च सुराः कथम् ॥

निष्पाप ! पूर्वकालमें अग्निहोत्र किसके निमित्तसे उत्पन्[न] हुआ था ? देवताओंके लिये किस प्रकार हवन किया जात[ा] है और कैसे उनकी तृप्ति होती है ? ॥

विधिवन्मन्त्रवत् कृत्वा पूजितास्त्वग्नयः कथम्।
कां गतिं वदतां श्रेष्ठ नयन्ति ह्यग्निहोत्रिणः ॥

प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! विधिके अनुसार मन्त्रों-सहित पूजा की जानेपर तीनों अग्नियाँ अग्निहोत्रीको किस प्रकार किस गतिको प्राप्त कराती हैं ? ॥

दुर्हुताश्चापि भगवन्नविज्ञातास्त्रयोऽग्नयः ।
किमाहिताग्नेः कुर्वन्ति दुश्चीर्णा वापि केशव ॥

भगवन् ! केशव ! यदि तीनों अग्नियोंके स्वरूपको न जानकर उनमें अविधिपूर्वक हवन किया जाय अथवा उनकी उपासनामें त्रुटि रह जाय तो वे त्रिविध अग्नि अग्निहोत्रीका क्या अनिष्ट करते हैं ? ॥

उत्सन्नाग्निस्तु पापात्मा कां योनिं देव गच्छति ।
एतत् सर्वं समासेन भक्त्या ह्युपगतस्य मे ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ सर्वाधिक नमोऽस्तु ते ॥

देवेश्वर ! जिसने अग्निका परित्याग कर दिया हो, वह पापात्मा किस योनिमें जन्म लेता है ? ये सारी बातें संक्षेपमें मुझे सुनाइये; क्योंकि मैं भक्तिभावसे आपकी शरणमें आया हूँ । भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, सबसे महान् हैं; अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् महापुण्यमिदं धर्मामृतं परम् ।
यत् तु तारयते युक्तान् ब्राह्मणानग्निहोत्रिणः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! इस महान् पुण्यदायक और परम धर्मरूपी अमृतका वर्णन सुनो । यह धर्मपरायण अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको भवसागरसे पार कर देता है ॥

ब्रह्मत्वेनासृजं लोकानहमादौ महाद्युते ।
सृष्टोऽग्निर्मुखतः पूर्वं लोकानां हितकाम्यया ॥

महातेजस्वी महाराज ! मैंने सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मस्वरूपसे सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की और लोगोंकी भलाईके लिये अपने मुखसे सर्वप्रथम अग्निको प्रकट किया ॥

यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया ।
तस्मादग्नीत्यभिहितः पुराणज्ञैर्मनीषिभिः ॥

इस प्रकार अग्नि-तत्त्व मेरे द्वारा सब भूतोंके पहले उत्पन्न किया गया है, इसलिये पुराणोंके ज्ञाता मनीषी विद्वान् उसे अग्नि कहते हैं ॥

यस्मात् तु सर्वकृत्येषु पूर्वमस्मै प्रदीयते ।
आहुतिर्दीप्यमानाय तस्मादग्नीति कथ्यते ॥

समस्त कार्योंमें सबसे आगे प्रज्वलित आगमें ही आहुति दी जाती है, इसलिये यह अग्नि कहा जाता है ॥

यस्माच्च तु नयत्यग्र्यां गतिं विप्रान् सुपूजितः ।
तस्माच्च नयनाद् राजन् देवेष्वग्नीति कथ्यते ॥

राजन् ! यह भलीभाँति पूजित होनेपर ब्राह्मणोंको अग्रय गति (परमपद) की प्राप्ति कराता है, इसलिये भी देवताओंमें अग्निके नामसे विख्यात है ॥

यस्माच्च दुर्हुतः सोऽयमलं भक्षयितुं क्षणात् ।
यजमानं नरश्रेष्ठ क्रव्यादोऽग्निस्ततः स्मृतः ॥
सर्वभूतात्मको राजन् देवानामेष वै मुखम् ।

नरोत्तम ! यदि इसमें विधिका उल्लङ्घन करके हवन किया जाय तो यह एक क्षणमें ही यजमानको खा जानेकी शक्ति रखता है, इसलिये अग्निको क्रव्याद कहा गया है । राजन् ! यह अग्नि सम्पूर्ण भूतोंका स्वरूप और देवताओंका मुख है ॥

तेन सप्तर्षयः सिद्धाः संयतेन्द्रियबुद्धयः ।
गता ह्यमरसायुज्यं ते ह्यग्न्यर्चनतत्पराः ॥

अतः इन्द्रियों और मन-बुद्धिपर संयम रखनेवाले सिद्ध सप्तर्षिगण अग्निकी आराधनामें तत्पर रहनेके कारण ही देवताओंके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ॥

अग्निहोत्रप्रकारं च शृणु राजन् समाहितः ।
त्रयाणां गुणनामानि वह्नीनामुच्यते मया ॥

राजन् ! अब एकाग्रचित्त होकर अग्निहोत्रका प्रकार सुनो । अब मैं तीनों अग्नियोंके गुणके अनुसार नाम बता रहा हूँ ॥

गृहाणां हि पतित्वं हि गृहपत्यमिति स्मृतम् ।
गृहपत्यं तु यस्यासीत् तत् तस्माद् गार्हपत्यता ॥

गृहोंका आधिपत्य ही गृहपत्य माना गया है । यह गृहपत्य जिस अग्निमें प्रतिष्ठित है, वही 'गार्हपत्य अग्नि'के नामसे प्रसिद्ध है ॥

यजमानं तु यस्मात् तु दक्षिणां तु गतिं नयेत् ।
दक्षिणाग्निं तमाहुस्ते दक्षिणायतनं द्विजाः ॥

जो अग्नि यजमानको दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें ले जाता है, उस दक्षिणमें रहनेवाले अग्निको ब्राह्मणलोग 'दक्षिणाग्नि' कहते हैं ॥

आहुतिः सर्वमाख्याति हव्यं वै वहनं स्मृतम् ।
सर्वहव्यवहो वह्निर्गतश्चाहवनीयताम् ॥

'आहुति' शब्द सर्वका वाचक है और हवन नाम ही है हव्यका । सब प्रकारके हव्यको स्वीकार करनेवाला वह्नि 'आहवनीय अग्नि' कहलाता है ॥

ब्रह्मा च गार्हपत्योऽग्निस्तस्मिन्नेव हि सोऽभवत् ।
दक्षिणाग्निस्त्वयं रुद्रः क्रोधात्मा चण्ड एव सः ॥

गार्हपत्य अग्नि ब्रह्माका स्वरूप है, क्योंकि ब्रह्माजीसे ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है और यह दक्षिणाग्नि रुद्रस्वरूप है, क्योंकि वह क्रोधरूप और प्रचण्ड है ॥

अहमाहवनीयोऽग्निराहोमाद् यस्य वै मुखे ।

होमके आरम्भसे लेकर अन्ततक जिसके मुखमें आहुति डाली जाती है, वह आहवनीय अग्नि स्वयं मैं हूँ ॥

पृथिवीमन्तरिक्षं च दिवमृषिगणैः सह ।
जयत्याहवनीयं यो जुहुयाद् भक्तिमान् नरः ॥

जो मनुष्य भक्तियुक्त चित्तसे प्रतिदिन आहवनीय अग्निमें हवन करता है, वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और ऋषियों-सहित स्वर्गलोकपर भी अधिकार प्राप्त कर लेता है ॥

आभिमुख्येन होमस्तु यस्य यज्ञेषु वर्तते ।
तेनाप्याहवनीयत्वं गतो वह्निर्महाद्युतिः ॥

यज्ञोंमें सब ओरसे अग्निके मुखमें हवन किया जाता है, इसलिये वह अत्यन्त कान्तिमान् अग्नि 'आहवनीय' संज्ञाको प्राप्त होता है ॥

आहोमादग्निहोत्रेषु यज्ञैर्वा यत्र सर्वशः ।
यस्मात् तस्मात् प्रवर्तन्ते ततो ह्याहवनीयता ॥

अग्निहोत्र अथवा अन्यान्य यज्ञोंमें होमके आरम्भसे ही अग्निके भीतर सब प्रकारसे आहुति डाली जाती है, इसलिये भी उसे आहवनीय कहते हैं ॥

आध्यात्मिकं चाधिदैवमाधिभौतिकमेव च ।
एतत् तापत्रयं प्रोक्तमात्मवद्भिर्नराधिप ॥

नरेश्वर ! आत्मवेत्ता विद्वानोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीन प्रकारके दुःख बतलाये हैं ॥

यस्माद् वै त्रायते दुःखाद् यजमानं हुतोऽनलः ।
तस्मात् तु विधिवत् प्रोक्तमग्निहोत्रमिति श्रुतौ ॥

विधिवत् होम करनेपर अग्नि इन तीनों प्रकारके दुःखोंसे यजमानका त्राण करता है, इसलिये उस कर्मको वेदमें अग्निहोत्र नाम दिया गया है ॥

तदग्निहोत्रं सृष्टं वै ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
वेदाश्चाप्यग्निहोत्रं तु जज्ञिरे स्वयमेव तु ॥

विश्वविधाता ब्रह्माजीने ही सबसे पहले अग्निहोत्रको प्रकट किया । वेद और अग्निहोत्र स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥

वेदाध्ययनका फल अग्निहोत्र है (अर्थात् वेद पढ़कर जिसने अग्निहोत्र नहीं किया, उसका वह अध्ययन निष्फल है) । शास्त्रज्ञानका फल शील और सदाचार है, स्त्रीका फल रति और पुत्र है तथा धनकी सफलता दान और उपभोग करनेमें है ॥

त्रिवेदमन्त्रसंयोगादग्निहोत्रं प्रवर्तते ।
ऋग्यजुःसामभिः पुण्यैः स्थाप्यते सूत्रसंयुतैः ॥

तीनों वेदोंके मन्त्रोंके संयोगसे अग्निहोत्रकी प्रवृत्ति होती है । ऋक्, यजुः और सामवेदके पवित्र मन्त्रों तथा मीमांसासूत्रोंके द्वारा अग्निहोत्र कर्मका प्रतिपादन किया जाता है ॥

वसन्ते ब्राह्मणस्य स्यादाधेयोऽग्निर्नराधिप ।
वसन्तो ब्राह्मणो ज्ञेयो वेदयोनिः स उच्यते ॥

नरेश्वर ! वसन्त ऋतुको ब्राह्मणका स्वरूप समझना चाहिये तथा वह वेदकी योनिरूप है, इसलिये ब्राह्मणको वसन्त ऋतुमें अग्निकी स्थापना करनी चाहिये ॥

अग्न्याधेयं तु येनाथ वसन्ते क्रियतेऽनघ ।
तस्य श्रीर्ब्रह्मवृद्धिश्च ब्राह्मणस्य विवर्धते ॥

निष्पाप ! जो वसन्त ऋतुमें अग्न्याधान करता है, उस ब्राह्मणकी श्रीवृद्धि होती है तथा उसका वैदिक ज्ञान भी बढ़ता है ॥

क्षत्रियस्याग्निराधेयो ग्रीष्मे श्रेष्ठः स वै नृप ।
येनाधानं तु वै ग्रीष्मे क्रियते तस्य वर्धते ।
श्रीः प्रजाः पशवश्चैव वित्तं तेजो बलं यशः ॥

राजन् ! क्षत्रियके लिये ग्रीष्म ऋतुमें अग्न्याधान करना श्रेष्ठ माना गया है । जो क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमें अग्नि-स्थापन करता है, उसकी सम्पत्ति, प्रजा, पशु, धन, तेज, बल और यशकी अभिवृद्धि होती है ॥

शरदृतौ तु वैश्यस्य ह्याधानीयो हुताशनः ।
शरद्रात्रं स्वयं वैश्यो वैश्ययोनिः स उच्यते ॥

शरत्कालकी रात्रि साक्षात् वैश्यका स्वरूप है, इसलिये वैश्यको शरद् ऋतुमें अग्निका आधान करना चाहिये; उस समयकी स्थापित की हुई अग्निको वैश्य योनि कहते हैं ।

शरद्याधानमेवं वै क्रियते येन पाण्डव ।
तस्यापि श्रीः प्रजायुश्च पशवोऽर्थश्च वर्धते ॥

पाण्डुनन्दन ! जो वैश्य शरद् ऋतुमें अग्निकी स्थापना करता है, उसकी सम्पत्ति, प्रजा, आयु, पशु और धनकी वृद्धि होती है ॥

रसाः स्नेहास्तथा गन्धा रत्नानि मणयस्तथा ।
काञ्चनानि च लौहानि ह्यग्निहोत्रकृतेऽभवन् ॥

सब प्रकारके रस, घी आदि स्निग्ध पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य, रत्न, मणि, सुवर्ण और लोहा—इन सबकी उत्पत्ति अग्निहोत्रके लिये ही है ॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं च तत्सर्वमग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

अग्निहोत्रको ही जाननेके लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, मीमांसा, विस्तृत न्याय-शास्त्र और धर्मशास्त्रका निर्माण किया गया है ॥

छन्दः शिक्षा च कल्पश्च तथा व्याकरणानि च ।
शास्त्रं ज्योतिर्निरुक्तं चाप्यग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

छन्द, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्यौतिषशास्त्र और निरुक्त भी अग्निहोत्रके लिये ही रचे गये हैं ॥

इतिहासपुराणं च गाथाश्चोपनिषत् तथा ।
आथर्वणानि कर्माणि चाग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

इतिहास, पुराण, गाथा, उपनिषद् और अथर्ववेदके कर्म भी अग्निहोत्रके ही लिये हैं ॥

तिथिनक्षत्रयोगानां मुहूर्तकरणात्मकम् ।
कालस्य वेदनार्थं तु ज्योतिर्ज्ञानं पुरानघ ॥

निष्पाप ! तिथि, नक्षत्र, योग, मुहूर्त और करणरूप कालका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पूर्वकालमें ज्यौतिषशास्त्रका निर्माण हुआ है ॥

ऋग्यजुःसाममन्त्राणां श्लोकतत्त्वार्थचिन्तनात् ।
सत्यापत्तिविकल्पानां छन्दोज्ञानं प्रकल्पितम् ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंके छन्दका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तथा संशय और विकल्पके निराकरण-पूर्वक उनका तात्त्विक अर्थ समझनेके लिये छन्दःशास्त्रकी रचना की गयी है ॥

वर्णाक्षरपदार्थानां संधिलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
नामधातुविवेकार्थं पुरा व्याकरणं स्मृतम् ॥

वर्ण, अक्षर और पदोंके अर्थका, संधि और लिङ्गका तथा नाम और धातुका विवेक होनेके लिये पूर्वकालमें व्याकरणशास्त्रकी रचना हुई है ॥

यूपवेद्यध्वरार्थं तु प्रोक्षणश्रपणाय तु ।
यज्ञदैवतयोगार्थं शिक्षाज्ञानं प्रकल्पितम् ॥

यूप, वेदी और यज्ञका स्वरूप जाननेके लिये, प्रोक्षण और श्रपण (चरु पकाना) आदिकी इतिकर्तव्यताको समझनेके लिये तथा यज्ञ और देवताके सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये शिक्षा नामक वेदाङ्गकी रचना हुई है ॥

यज्ञपात्रपवित्रार्थं द्रव्यसम्भारणाय च ।
सर्वयज्ञविकल्पाय पुरा कल्पं प्रकीर्तितम् ॥

यज्ञके पात्रोंकी शुद्धि, यज्ञसम्बन्धी सामग्रियोंके संग्रह तथा समस्त यज्ञोंके वैकल्पिक विधानोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पूर्वकालमें कल्पशास्त्रका निर्माण किया गया है ॥

नामधातुविकल्पानां तत्त्वार्थनियमाय च ।
सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम् ॥

सम्पूर्ण वेदोंमें प्रयुक्त नाम, धातु और विकल्पोंके तात्त्विक अर्थका निश्चय करनेके लिये ऋषियोंने निरुक्तकी रचना की है ॥

वेद्यर्थं पृथिवी सृष्टा सम्भारार्थं तथैव च ।
इध्मार्थमथ यूपार्थं ब्रह्मा चक्रे वनस्पतिम् ॥

यज्ञकी वेदी बनाने तथा अन्य सामग्रियोंको धारण करनेके लिये ब्रह्माजीने पृथ्वीकी सृष्टि की है । समिधा और यूप बनानेके लिये वनस्पतियोंकी रचना की है ॥

गावो यज्ञार्थमुत्पन्ना दक्षिणार्थं तथैव च ।
सुवर्णं रजतं चैव पात्रकुम्भार्थमेव च ॥

गौएँ यज्ञ और दक्षिणाके लिये उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि गोघृत और गोदक्षिणाके बिना यज्ञ सम्पन्न नहीं होता । सुवर्ण और चाँदी—ये यज्ञके पात्र और कलश बनानेका काम लेनेके लिये पैदा हुए हैं ॥

दर्भाः संस्तरणार्थं तु रक्षसां रक्षणाय च ।
पूजनार्थं द्विजाः सृष्टास्तारका दिवि देवताः ॥

कुशोंकी उत्पत्ति हवनकुण्डके चारों ओर फैलाने और राक्षसोंसे यज्ञकी रक्षा करनेके लिये हुई है । पूजन करनेके लिये ब्राह्मणोंको, नक्षत्रोंको और स्वर्गके देवताओंको उत्पन्न किया गया है ॥

क्षत्रियाः रक्षणार्थं तु वैश्या वार्तानिमित्ततः ।
शुश्रूषार्थं त्रयाणां वै शूद्राः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥

सबकी रक्षाके लिये क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की गयी है । कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदि जीविकाका साधन जुटानेके लिये वैश्योंकी उत्पत्ति हुई है और तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये ब्रह्माजीने शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥

यथोक्तमग्निहोत्राणां शुश्रूषन्ति च ये द्विजाः ।
तैर्दत्तं सहुतं चेष्टं दत्तमध्यापितं भवेत् ॥

जो द्विज विधिपूर्वक अग्निहोत्रका सेवन करते हैं उनके, द्वारा दान, होम, यज्ञ और अध्यापन—ये समस्त कर्म पूर्ण हो जाते हैं ॥

एवमिष्टं च पूर्तं च यद् विप्रैः क्रियते नृप ।
तत् सर्वं सम्यगाहृत्य चादित्ये स्थापयाम्यहम् ॥

राजन् ! इसी प्रकार ब्राह्मणोंके द्वारा जो यज्ञ करने, बगीचे लगाने और कुएँ खुदवाने आदिके कार्य होते हैं, उन सबके पुण्यको लेकर मैं सूर्यमण्डलमें स्थापित कर देता हूँ ॥

मया स्थापितमादित्ये लोकस्य सुकृतं हि तत् ।
धारयेद् यत् सहस्रांशुः सुकृतं ह्यग्निहोत्रिणाम् ॥

मेरे द्वारा आदित्यमें स्थापित किये हुए संसारके पुण्य और अग्निहोत्रियोंके सुकृतको सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव धारण किये रहते हैं ॥

तस्मादप्रोषितैर्नित्यमग्निहोत्रं द्विजातिभिः ।
होतव्यं विधिवद् राजन्नूर्ध्वामिच्छन्ति ये गतिम् ॥

इसलिये राजन् ! जो द्विज परदेशमें न रहते हों और ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें प्रतिदिन विधिपूर्वक अग्निहोत्र करना चाहिये ॥

आत्मवन्नावमन्तव्यमग्निहोत्रं युधिष्ठिर ।
न त्याज्यं क्षणमप्येतदग्निहोत्रं युधिष्ठिर ॥

महाराज युधिष्ठिर ! अग्निहोत्रको अपने आत्माके समान समझकर कभी भी उसका अपमान या एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं करना चाहिये ॥

बालाहिताग्नयो ये च शूद्रान्नाद् विरताः सदा ।
क्रोधलोभविनिर्मुक्ताः प्रातःस्नानपरायणाः ।
यथोक्तमग्निहोत्रं वै जुह्वते विजितेन्द्रियाः ॥
आतिथेयाः सदा सौम्या द्विकालं मत्परायणाः ।
ते यान्त्यपुनरावृत्तिं भित्त्वा चादित्यमण्डलम् ॥

जो बाल्यकालसे ही अग्निहोत्रका सेवन करते और शूद्रके अन्नसे सदा दूर रहते हैं, जो क्रोध और लोभसे रहित हैं, जो प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके जितेन्द्रियभावसे विधिवत् अग्निहोत्रका अनुष्ठान करते हैं, सदा अतिथिकी सेवामें लगे रहते हैं तथा शान्तभावसे रहकर दोनों समय मेरे परायण होकर मेरा ध्यान करते हैं, वे सूर्यमण्डलको भेदकर मेरे परमधामको प्राप्त होते हैं, जहाँसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता ॥

श्रुतिं केचिन्निन्दमानाः श्रुतिं दूष्यन्त्यबुद्धयः ।
प्रमाणं न च कुर्वन्ति ये यान्तीहापि दुर्गतिम् ॥

इस संसारमें कुछ मूर्ख मनुष्य श्रुतिपर दोषारोपण करते हुए उसकी निन्दा करते हैं तथा उसे प्रमाणभूत नहीं मानते, ऐसे लोगोंकी बड़ी दुर्गति होती है ॥

प्रमाणमितिहासं च वेदान् कुर्वन्ति ये द्विजाः ।
ते यान्त्यमरसायुज्यं नित्यमास्तिक्यबुद्धयः ॥

परंतु जो द्विज नित्य आस्तिक्यबुद्धिसे युक्त होकर वेदों और इतिहासोंको प्रामाणिक मानते हैं, वे देवताओंका सायुज्य प्राप्त करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[चान्द्रायण-व्रतकी विधि, प्रायश्चित्तरूपमें उसके करनेका विधान तथा महिमाका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

चक्रायुध नमस्तेऽस्तु देवेश गरुडध्वज ।
चान्द्रायणविधिं पुण्यमाख्याहि भगवन् मम ॥

युधिष्ठिरने कहा—चक्रधारी देवेश्वर ! आपको नमस्कार है। गरुडध्वज भगवन् ! अब आप मुझसे चान्द्रायणकी परम पावन विधिका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत्त्वेन सर्वपापप्रणाशनम् ।
पापिनो येन शुद्ध्यन्ति तत् ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! समस्त पापोंका नाश करनेवाले चान्द्रायण-व्रतका यथार्थ वर्णन सुनो। इसके आचरणसे पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं। उसे मैं तुम्हें पूर्णतया बताता हूँ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा चरितव्रतः ।
यथावत् कर्तुकामो वै तस्यैवं प्रथमा क्रिया ॥
शोधयेत् तु शरीरं स्वं पञ्चगव्येन यन्त्रितः ।
सशिरः कृष्णपक्षस्य ततः कुर्वीत वापनम् ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य—जो कोई भी चान्द्रायण व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करना चाहते हों, उनके लिये पहला काम यह है कि वे नियमके अंदर रहकर पञ्चगव्यके द्वारा समस्त शरीरका शोधन करें। फिर कृष्णपक्षके अन्तमें मस्तकसहित दाढ़ी-मूँछ आदिका मुण्डन करावें ॥

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा मौञ्जीं बध्नीत मेखलाम् ।
पालाशदण्डमादाय ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥

तत्पश्चात् स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण करे। कमरमें मूँजकी बनी हुई मेखला बाँधें और पलाशका दण्ड हाथमें लेकर ब्रह्मचारीके व्रतका पालन करते रहें ॥

कृतोपवासः पूर्वं तु शुक्लप्रतिपदि द्विजः ।
नदीसंगमतीर्थेषु शुचौ देशे गृहेऽपि वा ॥

द्विजको चाहिये कि वह पहले दिन उपवास करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको नदियोंके संगमपर, किसी पवित्र स्थानमें अथवा घरपर ही व्रत आरम्भ करे ॥

आघारावाज्यभागौ च प्रणवं व्याहृतीस्तथा ।
वारुणं चैव पञ्चैव हुत्वा सर्वान् यथाक्रमम् ॥
सत्याय विष्णवे चेति ब्रह्मर्षिभ्योऽथ ब्रह्मणे ।
विश्वेभ्यो हि च देवेभ्यः सप्रजापतये तथा ॥
षडुक्त्वा जुहुयात् पश्चात् प्रायश्चित्ताहुतिं द्विजः ।

पहले नित्य-नियमसे निवृत्त होकर एक वेदीपर अग्निकी स्थापना करे और उसमें क्रमशः आधार, आज्यभाग, प्रणव, महाव्याहृति और पञ्चवारुण होम करके सत्य, विष्णु, ब्रह्मर्षिगण, ब्रह्मा, विश्वेदेव तथा प्रजापति—इन छः देवताओंके निमित्त हवन करे। अन्तमें प्रायश्चित्त-होम करे ॥

अतः समापयेदग्निं शान्तिं कृत्वाथ पौष्टिकीम् ॥
प्रणम्य चाग्निं सोमं च भस्म धृत्वा यथाविधि ।
नदीं गत्वा विशुद्धात्मा सोमाय वरुणाय च ।

आदित्याय नमस्कृत्वा ततः स्नायात् समाहितः ॥

फिर शान्ति और पौष्टिक कर्मका अनुष्ठान करके अग्निमें हवनका कार्य समाप्त कर दे। तत्पश्चात् अग्नि तथा सोमदेवताको प्रणाम करे और विधिपूर्वक शरीरमें भस्म लगाकर नदीके तटपर जा विशुद्धचित्त होकर सोम, वरुण तथा आदित्यको प्रणाम करके एकाग्र भावसे जलमें स्नान करे ॥

उत्तीर्योदकमाचम्य चासीनः पूर्वतोमुखः।
प्राणायामं ततः कृत्वा पवित्रैरभिषेचनम् ॥

इसके बाद बाहर निकलकर आचमन करनेके पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर बैठे और प्राणायाम करके कुशकी पवित्रीसे अपने शरीरका मार्जन करे ॥

आचान्तस्त्वभिवीक्षेत ऊर्ध्वबाहुर्दिवाकरम्।
कृताञ्जलिपुटः स्थित्वा कुर्याच्चैव प्रदक्षिणम् ॥

फिर आचमन करके दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यका दर्शन करे और हाथ जोड़कर खड़ा हो सूर्यकी प्रदक्षिणा करे ॥

नारायणं वा रुद्रं वा ब्रह्माणमथवापि वा।
वारुणं मन्त्रसूक्तं वा प्राग्भोजनमथापि वा ॥

उसके बाद भोजनसे पूर्व ही नारायण, रुद्र, ब्रह्मा या वरुणसम्बन्धी सूक्तका पाठ करे ॥

वीरघ्नमृषभं वापि तथा चाप्यघमर्षणम्।
गायत्रीं मम देवीं वा सावित्रीं वा जपेत् ततः।
शतं वाष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् ॥

अथवा वीरघ्न, ऋषभ, अघमर्षण, गायत्री या मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले वैष्णव गायत्री-मन्त्रका जप करे। यह जप सौ बार या एक सौ आठ बार अथवा एक हजार बार करना चाहिये ॥

ततो मध्याह्नकाले वै पायसं यावकं हि वा।
पाचयित्वा प्रयत्नेन प्रयतः सुसमाहितः ॥

तदनन्तर पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर मध्याह्नकालमें यत्नपूर्वक खीर या जौकी लप्सी बनाकर तैयार करे ॥

पात्रं तु सुसमादाय सौवर्णं राजतं तु वा।
ताम्रं वा मृण्मयं वापि औदुम्बरमथापि वा ॥
वृक्षाणां यज्ञियानां तु पर्णैरार्द्रैरकुत्सितैः।
पुटकेन तु गुप्तेन चरेद् भैक्षं समाहितः ॥

अथवा सोने, चाँदी, ताँबे, मिट्टी या गूलरकी लकड़ीका पात्र अथवा यज्ञके लिये उपयोगी वृक्षोंके हरे पत्तोंका दोना बनाकर हाथमें ले ले और उसको ऊपरसे ढक ले। फिर सावधानतापूर्वक भिक्षाके लिये जाय ॥

ब्राह्मणानां गृहाणां तु सप्तानां नापरं व्रजेत्।
गोदोहमात्रं तिष्ठेत् तु वाग्यतः संयतेन्द्रियः ॥

सात ब्राह्मणोंके घरपर जाकर भिक्षा माँगे, सातसे अधिक घरोंपर न जाय। गौ दुहनेमें जितनी देर लगती है, उतने ही समयतक एक द्वारपर खड़ा होकर भिक्षाके लिये प्रतीक्षा करे, मौन रहे और इन्द्रियोंपर काबू रक्खे ॥

न हसेन्न च वीक्षेत नाभिभाषेत वा स्त्रियम् ॥

भिक्षा माँगनेवाला पुरुष न तो हँसे, न इधर-उधर दृष्टि डाले और न किसी स्त्रीसे बातचीत करे ॥

दृष्ट्वा मूत्रं पुरीषं वा चाण्डालं वा रजस्वलाम्।
पतितं च तथा श्वानमादित्यमवलोकयेत् ॥

यदि मल, मूत्र, चाण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित मनुष्य तथा कुत्तेपर दृष्टि पड़ जाय तो सूर्यका दर्शन करे ॥

ततस्त्वावसथं प्राप्तो भिक्षां निक्षिप्य भूतले।
प्रक्षाल्य पादावाजान्वोर्हस्तावाकूर्परं पुनः।
आचम्य वारिणा तेन वह्निं विप्रांश्च पूजयेत् ॥

तदनन्तर अपने निवासस्थानपर आकर भिक्षापात्रको जमीनपर रख दे और पैरोंको घुटनोंतक तथा हाथोंको दोनों कोहनियोंतक धो डाले। इसके बाद जलसे आचमन करके अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥

पञ्च सप्ताथवा कुर्याद् भागान् भैक्षस्य तस्य वै।
तेषामन्यतमं पिण्डमादित्याय निवेदयेत् ॥

फिर उस भिक्षाके पाँच या सात भाग करके उतने ही ग्रास बना ले। उनमेंसे एक ग्रास सूर्यको निवेदन करे ॥

ब्रह्मणे चाग्नये चैव सोमाय वरुणाय च।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो दद्यादन्नं यथाक्रमम् ॥

फिर क्रमशः ब्रह्मा, अग्नि, सोम, वरुण तथा विश्वेदेवोंको एक-एक ग्रास दे ॥

अवशिष्टमथैकं तु वक्त्रमात्रं प्रकल्पयेत्।

अन्तमें जो एक ग्रास बच जाय, उसको ऐसा बना ले, जिससे वह सुगमतापूर्वक मुँहमें आ सके ॥

अङ्गुल्यग्रे स्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्।
अङ्गुलीभिस्त्रिभिः पिण्डं प्राश्नीयात् प्राङ्मुखः शुचिः ॥

फिर पवित्र भावसे पूर्वाभिमुख होकर उस ग्रासको दाहिने हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागपर रखकर गायत्री-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे और तीन अङ्गुलियोंसे ही उसे मुँहमें डालकर खा जाय ॥

यथा च वर्धते सोमो ह्रसते च यथा पुनः।
तथा पिण्डाश्च वर्धन्ते ह्रसन्ते च दिने दिने ॥

जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन घटता रहता है, उसी प्रकार ग्रासोंकी मात्रा भी शुक्लपक्षमें बढ़ती है और कृष्णपक्षमें घटती रहती है ॥ *

* अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको एक ग्रास और द्वितीयाको

त्रिकालं स्नानमस्योक्तं द्विकालमथवा सकृत्।
ब्रह्मचारी सदा वापि न च वस्त्रं प्रपीडयेत् ॥

चान्द्रायण-व्रत करनेवालेके लिये प्रतिदिन तीन समय, दो समय अथवा एक समय भी स्नान करनेका विधान मिलता है। उसे सदा ब्रह्मचारी रहना चाहिये और तर्पणके पूर्व वस्त्र नहीं निचोड़ना चाहिये ॥

स्थाने न दिवसं तिष्ठेद् रात्रौ वीरासनं व्रजेत्।
भवेत् स्थण्डिलशायी वाप्यथवा वृक्षमूलिकः ॥

दिनमें एक जगह खड़ा न रहे, रातको वीरासनसे बैठे अथवा वेदीपर या वृक्षकी जड़पर सो रहे ॥

वल्कलं यदि वा क्षौमं शाणं कार्पासकं तथा।
आच्छादनं भवेत् तस्य वस्त्रार्थं पाण्डुनन्दन ॥

पाण्डुनन्दन ! उसे शरीर ढकनेके लिये वल्कल, रेशम, सन अथवा कपासका वस्त्र धारण करना चाहिये ॥

एवं चान्द्रायणे पूर्णे मासस्यान्ते प्रयत्नवान्।
ब्राह्मणान् भोजयेद् भक्त्या दद्याच्चैव च दक्षिणाम्।

इस प्रकार एक महीने बाद चान्द्रायणव्रत पूर्ण होनेपर उद्योग करके भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा दे ॥

चान्द्रायणेन चीर्णेन यत् कृतं तेन दुष्कृतम् ॥
तत् सर्वं तत्क्षणादेव भस्मीभवति काष्ठवत् ॥

चान्द्रायण-व्रतके आचरणसे मनुष्यके समस्त पाप सूखे काठकी भाँति तुरंत जलकर खाक हो जाते हैं ॥

ब्रह्महत्या च गोहत्या सुवर्णस्तैन्यमेव च।
भ्रूणहत्या सुरापानं गुरोर्दारव्यतिक्रमः ॥
एवमन्यानि पापानि पातकीयानि यानि च।
चान्द्रायणेन नश्यन्ति वायुना पांसवो यथा ॥

ब्रह्महत्या, गोहत्या, सुवर्णकी चोरी, भ्रूणहत्या, मदिरा-पान और गुरु-स्त्री-गमन तथा और भी जितने पाप या पातक हैं, वे चान्द्रायण-व्रतसे उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे हवाके वेगसे धूल उड़ जाती है ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमाविकमेव च।
मृतसूतकयोश्चान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

जिस गौको ब्याये हुए दस दिन भी न हुए हों, उसका दूध तथा ऊँटनी एवं भेड़का दूध पी जानेपर और मरणाशौचका तथा जननाशौचका अन्न खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करे ॥

उपपातकिनश्चान्नं पतितान्नं तथैव च।
शूद्रस्योच्छेषणं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

उपपातकी तथा पतितका अन्न और शूद्रका जूठा अन्न खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

आकाशस्थं तु हस्तस्थमधःस्रस्तं तथैव च।
परहस्तस्थितं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

आकाशमें लटकते हुए वृक्ष आदिके फलोंको, हाथपर रक्खे हुए, नीचे गिरे हुए तथा दूसरेके हाथपर पड़े हुए अन्नको खा लेनेपर भी चान्द्रायण-व्रत करे ॥

अथाग्रे दिधिषोरन्नं दिधिषूपपतेस्तथा।
परिवेत्तुस्तथा चान्नं परिवित्तान्नमेव च ॥
कुण्डान्नं गोलकान्नं च देवलान्नं तथैव च।
तथा पुरोहितस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

बड़ी बहिनके अविवाहित रहते पहले विवाह कर लेनेवाली छोटी बहिनका तथा अपने भाईकी विधवा स्त्रीसे विवाह करनेवालेका एवं बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाईका और अविवाहित बड़े भाईका अन्न, कुण्डका, गोलकका और पुजारीका अन्न तथा पुरोहितका अन्न भोजन कर लेनेपर भी चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

सुरासवं विषं सर्पिर्लाक्षा लवणमेव च।
तैलं चापि च विक्रीणन् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

मदिरा, आसव, विष, घी, लाख, नमक और तेलकी बिक्री करनेवाले ब्राह्मणको भी चान्द्रायण-व्रत करना आवश्यक है ॥

एकोद्दिष्टं तु यो भुङ्क्ते जनमध्यगतोऽपि यः।
भिन्नभाण्डेषु यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥

जो द्विज एकोद्दिष्ट श्राद्धका अन्न खाता है और अधिक मनुष्योंकी भीड़में भोजन करता है तथा फूटे बर्तनोंमें खाता है, उसे चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

यो भुङ्क्तेऽनुपनीतेन यो भुङ्क्ते च स्त्रिया सह।
कन्यया सह यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

जो उपनयन-संस्कारसे रहित बालक, कन्या और स्त्री-के साथ (एकपात्रमें) भोजन करता है, वह ब्राह्मण चान्द्रायण-व्रत करे ॥

उच्छिष्टं स्थापयेद् विप्रो यो मोहाद् भोजनान्तरे।
दद्याद् वा यदि वा मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

जो मोहवश अपना जूठा दूसरेके भोजनमें मिला देता

दो ग्रास भोजन करना चाहिये। इसी तरह पूर्णिमाको पंद्रह ग्रास भोजन करके कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे चतुर्दशीतक प्रतिदिन एक-एक ग्रास कम करना चाहिये। अमावस्याको उपवास करनेपर इस व्रतकी समाप्ति होती है। यह एक प्रकारका चान्द्रायण है। स्मृतियों-में इसके और भी अनेकों प्रकार उपलब्ध होते हैं ।

है अथवा मोहके कारण दूसरेको देता है, उस ब्राह्मणको भी चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

तुम्बकोशातकं चैव पलाण्डुं गृञ्जनं तथा ।
छत्राकं लशुनं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि द्विज तुम्बा और जिसमें केश पड़ा हो, ऐसा अन्न तथा प्याज, गाजर, छत्राक (कुकुरमुत्ते) और लहसुनको खा ले तो उसे चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

उदक्यया शुना वापि चाण्डालैर्वा द्विजोत्तमः ।
दृष्टमन्नं तु भुञ्जानो द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि ब्राह्मण रजस्वला स्त्री, कुत्ते अथवा चाण्डालके द्वारा देखा हुआ अन्न खा ले तो उस ब्राह्मणको चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

एतत् पुरा विशुद्ध्यर्थमृषिभिश्चरितं व्रतम् ।
पावनं सर्वभूतानां पुण्यं पाण्डव चोदितम् ॥

पाण्डुनन्दन ! पूर्वकालमें ऋषियोंने आत्मशुद्धिके लिये इस व्रतका आचरण किया था, यह सब प्राणियोंको पवित्र करनेवाला और पुण्यरूप बताया गया है ॥

यथोक्तमेतद् यः कुर्याद् द्विजः पापप्रणाशनम् ।
स दिवं याति पूतात्मा निर्मलादित्यसंनिभः ॥

जो द्विज इस पूर्वोक्त पापनाशक व्रतका अनुष्ठान करता है, वह पवित्रात्मा तथा निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी होकर स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सर्वहितकारी धर्मका वर्णन, द्वादशी-व्रतका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके द्वारा भगवान्की स्तुति]

युधिष्ठिर उवाच

सर्वभूतपते श्रीमन् सर्वभूतनमस्कृत ।
सर्वभूतहितं धर्मं सर्वज्ञ कथयस्व नः ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! आप सब प्राणियोंके स्वामी, सबके द्वारा नमस्कृत, शोभासम्पन्न और सर्वज्ञ हैं। अब आप मुझसे समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी धर्मका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

यद् दरिद्रजनस्यापि स्वर्ग्यं सुखकरं भवेत् ।
सर्वपापप्रशमनं तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—युधिष्ठिर ! जो धर्म दरिद्र मनुष्योंको भी स्वर्ग और सुख प्रदान करनेवाला तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

एकभुक्तेन वर्तेत नरः संवत्सरं तु यः ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधो ह्यधःशायी जितेन्द्रियः ॥
शुचिश्च स्नातो ह्यव्यग्रः सत्यवागनसूयकः ।
अर्चन्नेव तु मां नित्यं मद्गतेनान्तरात्मना ।
संध्ययोस्तु जपेन्नित्यं मद्गायत्रीं समाहितः ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यसकृन्मां प्रणम्य च[1] ।
विप्रमग्रासने कृत्वा यावकं भैक्षमेव वा ॥
भुक्त्वा तु वाग्यतो भूमावाचान्तस्य द्विजन्मनः ।
नमोऽस्तु वासुदेवायेत्युक्त्वा तु चरणौ स्पृशेत् ॥
मासे मासे समाप्ते तु भोजयित्वा द्विजाञ्शुचीन् ।
संवत्सरे ततः पूर्णे दद्यात् तु व्रतदक्षिणाम् ॥
नवनीतमयीं गां वा तिलधेनुमथापि वा ।
विप्रहस्तच्युतैस्तोयैः सहिरण्यैः समुक्षितः ।
तस्य पुण्यफलं राजन् कथ्यमानं मया शृणु ॥

राजन् ! जो मनुष्य एक वर्षतक प्रतिदिन एक समय भोजन करता है, ब्रह्मचारी रहता है, क्रोधको काबूमें रखता है, नीचे सोता है और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, जो स्नान करके पवित्र रहता है, व्यग्र नहीं होता है, सत्य बोलता है, किसीके दोष नहीं देखता है और मुझमें चित्त लगाकर सदा मेरी पूजामें ही संलग्न रहता है, जो दोनों संध्याओंके समय एकाग्रचित्त होकर मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करता है, 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय' कहकर सदा मुझे प्रणाम किया करता है, पहले ब्राह्मणको भोजनके आसनपर बिठाकर भोजन करानेके पश्चात् स्वयं मौन होकर जौकी लप्सी अथवा भिक्षान्नका भोजन करता है तथा 'नमोऽस्तु वासुदेवाय' कहकर ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करता है; जो प्रत्येक मास समाप्त होनेपर पवित्र ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और एक सालतक इस नियमका पालन करके ब्राह्मणको इस व्रतकी दक्षिणाके रूपमें माखन अथवा तिलकी गौ दान करता है तथा ब्राह्मणके हाथसे सुवर्णयुक्त जल लेकर अपने शरीरपर छिड़कता है, उसके पुण्यका फल बतलाता हूँ, सुनो ॥

दशजन्मकृतं पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
तद् विनश्यति तस्याशु नात्र कार्या विचारणा ॥

उसके जान-बूझकर या अनजानमें किये हुए दस जन्मोंतकके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं—इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामुपवासानां यच्छ्रेयः सुमहत्फलम् ।
यच्च निःश्रेयसं लोके तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! सब प्रकारके उपवासोंमें

१. नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

जो सबसे श्रेष्ठ, महान् फल देनेवाला और कल्याणका सर्वोत्तम साधन हो, उसका वर्णन करनेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् मया पूर्वं यथा गीतं तु नारदे ।
तथा ते कथयिष्यामि मद्भक्ताय युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—महाराज युधिष्ठिर ! तुम मेरे भक्त हो। जैसे पूर्वमें मैंने नारदसे कहा था, वैसे ही तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥

यस्तु भक्त्या शुचिर्भूत्वा पञ्चम्यां मे नराधिप ।
उपवासव्रतं कुर्यात् त्रिकालं चार्चयंस्तु माम् ।
सर्वक्रतुफलं लब्ध्वा मम लोके महीयते ॥

नरेश ! जो पुरुष स्नान आदिसे पवित्र होकर मेरी पञ्चमीके दिन भक्तिपूर्वक उपवास करता है तथा तीनों समय मेरी पूजामें संलग्न रहता है, वह सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाकर मेरे परम धाममें प्रतिष्ठित होता है ॥

पर्वद्वयं च द्वादश्यौ श्रवणं च नराधिप ।
मत्पञ्चमीति विख्याता मत्प्रिया च विशेषतः॥

नरेश्वर ! अमावास्या और पूर्णिमा—ये दोनों पर्व, दोनों पक्षकी द्वादशी तथा श्रवण नक्षत्र—ये पाँच तिथियाँ मेरी पञ्चमी कहलाती हैं। ये मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

तस्मात् तु ब्राह्मणश्रेष्ठैर्मन्निवेशितबुद्धिभिः ।
उपवासस्तु कर्तव्यो मत्प्रियार्थं विशेषतः ॥

अतः श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उचित है कि वे मेरा विशेष प्रिय करनेके लिये मुझमें चित्त लगाकर इन तिथियोंमें उपवास करें ॥

द्वादश्यामेव वा कुर्यादुपवासमशक्नुवन् ।
तेनाहं परमां प्रीतिं यास्यामि नरपुङ्गव ॥

नरश्रेष्ठ ! जो सबमें उपवास न कर सके, वह केवल द्वादशीको ही उपवास करे; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां मार्गशीर्षेण केशवम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

जो मार्गशीर्षकी द्वादशीको दिन-रात उपवास करके 'केशव' नामसे मेरी पूजा करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां पुष्यमासे तु नाम्ना नारायणं तु माम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां वाजिमेधफलं लभेत् ॥

जो पौष मासकी द्वादशीको उपवास करके 'नारायण' नामसे मेरी पूजा करता है, वह वाजिमेध-यज्ञका फल पाता है ॥

द्वादश्यां माघमासे तु मामुपोष्य तु माधवम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति राजसूयफलं नृप ॥

राजन् ! जो माघकी द्वादशीको उपवास करके 'माधव' नामसे मेरा पूजन करता है, उसे राजसूय-यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां फाल्गुने मासि गोविन्दाख्यमुपोष्य माम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति ह्यतिरात्रफलं नृप ॥

नरेश्वर ! फाल्गुनके महीनेमें द्वादशीको उपवास करके जो 'गोविन्द' के नामसे मेरा अर्चन करता है, उसे अतिरात्र यागका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां मासि चैत्रे तु मां विष्णुं समुपोष्य यः ।
पूजयंस्तदवाप्नोति पौण्डरीकस्य यत् फलम् ॥

चैत्र महीनेकी द्वादशी तिथिको व्रत धारण करके 'विष्णु' नामसे मेरी पूजा करता है, वह पुण्डरीक-यज्ञके फलका भागी होता है ॥

द्वादश्यां मासि वैशाखे मधुसूदनसंज्ञितम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां सोऽग्निष्टोमस्य पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! वैशाखकी द्वादशीको उपवास करके 'मधुसूदन' नामसे मेरी पूजा करनेवालेको अग्निष्टोम-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां ज्येष्ठमासे तु मामुपोष्य त्रिविक्रमम् ।
अर्चयेद् यःसमाप्नोति गवां मेधफलं नृप ॥

राजन् ! जो मनुष्य ज्येष्ठमासकी द्वादशी तिथिको उपवास करके 'त्रिविक्रम' नामसे मेरी पूजा करता है, वह गोमेध-यज्ञके फलका भागी होता है ॥

आषाढे वामनाख्यं मां द्वादश्यां समुपोष्य यः ।
नरमेधस्य स फलं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आषाढ़ मासकी द्वादशीको व्रत रहकर 'वामन' नामसे मेरी पूजा करनेवाले पुरुषको नरमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधराख्यमुपोष्य माम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति पञ्चयज्ञफलं नृप ॥

राजन् ! श्रावण महीनेमें द्वादशी तिथिको उपवास करके 'श्रीधर' नामसे मेरा पूजन करता है, वह पञ्च-यज्ञोंका फल पाता है ॥

मासे भाद्रपदे यो मां हृषीकेशाख्यमर्चयेत् ।
उपोष्य स समाप्नोति सौत्रामणिफलं नृप ॥

नरेश्वर ! भाद्रपदमासकी द्वादशी तिथिको उपवास करके हृषीकेश' नामसे मेरा अर्चन करनेवालेको सौत्रामणि-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यामाश्वयुङ्मासे पद्मनाभमुपोष्य माम् ।
अर्चयेद् यः समाप्नोति गोसहस्रफलं नृप ॥

महाराज ! आश्विनकी द्वादशीको उपवास करके जो पद्मनाभ' नामसे मेरा अर्चन करता है, उसे एक हजार गो-दानका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां कार्त्तिके मासि मां दामोदरसंज्ञितम् ।
उपोष्य पूजयेद् यस्तु सर्वक्रतुफलं नृप ॥

राजन् ! कार्तिक महीनेकी द्वादशी तिथिको व्रत रहकर जो 'दामोदर' नामसे मेरी पूजा करता है, उसको सम्पूर्ण यज्ञोंका फल मिलता है ॥

केवलेनोपवासेन द्वादश्यां पाण्डुनन्दन ।
यत् फलं पूर्वमुद्दिष्टं तस्यार्धं लभते नृप ॥

नरपते ! जो द्वादशीको केवल उपवास ही करता है, उसे पूर्वोक्त फलका आधा भाग ही प्राप्त होता है ॥

श्रावणेऽप्येवमेवं मामर्चयेद् भक्तिमान् नरः ।
मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा॥

इसी प्रकार श्रावणमें भी यदि मनुष्य भक्तियुक्त चित्तसे मेरी पूजा करता है तो वह मेरी सालोक्य मुक्तिको प्राप्त होता है, इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

मासे मासे समभ्यर्च्य क्रमशो मामतन्द्रितः ।
पूर्णे संवत्सरे कुर्यात् पुनः संवत्सरं तु माम् ॥

उपर्युक्तरूपसे प्रतिमास आलस्य छोड़कर मेरी पूजा करते-करते जब एक साल पूरा हो जाय, तब पुनः दूसरे साल भी मासिक पूजन प्रारम्भ कर दे ॥

एवं द्वादशवर्षं यो मद्भक्तो मत्परायणः ।
अविघ्नमर्चयानस्तु मम सायुज्यमाप्नुयात् ॥

इस प्रकार जो मेरा भक्त मेरी आराधनामें तत्पर होकर बारह वर्षतक बिना किसी विघ्न-बाधाके मेरी पूजा करता रहता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥

अर्चयेत् प्रीतिमान् यो मां द्वादश्यां वेदसंहिताम् ।
स पूर्वोक्तफलं राजँल्लभते नात्र संशयः ॥

राजन् ! जो मनुष्य द्वादशी तिथिको प्रेमपूर्वक मेरी और वेदसंहिताकी पूजा करता है, उसे पूर्वोक्त फलोंकी प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं है ॥

गन्धं पुष्पं फलं तोयं पत्रं वा मूलमेव वा ।
द्वादश्यां मम यो दद्यात् तत्समो नास्ति मत्प्रियः ॥

जो द्वादशी तिथिको मेरे लिये चन्दन, पुष्प, फल, जल, पत्र अथवा मूल अर्पण करता है उसके समान मेरा प्रिय भक्त कोई नहीं है ॥

एतेन विधिना सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः ।
मद्भक्ता नरशार्दूल स्वर्गलोकं तु भुञ्जते ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उपर्युक्त विधिसे मेरा भजन करनेके कारण ही आज स्वर्गीय सुखका उपभोग कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति देवेशे केशवे पाण्डुनन्दनः ।
कृताञ्जलिः स्तोत्रमिदं भक्त्या धर्मात्मजोऽब्रवीत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार उपदेश देनेपर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥

सर्वलोकेश देवेश हृषीकेश नमोऽस्तु ते ।
सहस्रशिरसे नित्यं सहस्राक्ष नमोऽस्तु ते ॥

'हृषीकेश ! आप सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और देवताओंके भी ईश्वर हैं । आपको नमस्कार है । हजारों नेत्र धारण करनेवाले परमेश्वर ! आपके सहस्रों मस्तक हैं, आपको सदा प्रणाम है ॥

त्रयीमय त्रयीनाथ त्रयीस्तुत नमो नमः ।
यज्ञात्मन् यज्ञसम्भूत यज्ञनाथ नमो नमः ॥

'वेदत्रयी आपका स्वरूप है, तीनों वेदोंके आप अधीश्वर हैं और वेदत्रयीके द्वारा आपकी ही स्तुति की गयी है । आप ही यज्ञस्वरूप, यज्ञमें प्रकट होनेवाले और यज्ञके स्वामी हैं । आपको बारंबार नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते चतुर्बाहो चतुर्व्यूह नमो नमः ।
लोकात्मँल्लोककृन्नाथ लोकावास नमो नमः ॥

'आप चार रूप धारण करनेवाले, चार भुजाधारी और चतुर्व्यूहस्वरूप हैं । आपको बारंबार नमस्कार है । आप विश्वरूप, लोकेश्वरोंके अधीश्वर तथा सम्पूर्ण लोकोंके निवास-स्थान हैं, आपको मेरा पुनः-पुनः प्रणाम है ॥

सृष्टिसंहारकर्त्रे ते नरसिंह नमो नमः ।
भक्तप्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्ण नाथ नमो नमः ॥

'नरसिंह ! आप ही इस जगत्की सृष्टि और संहार करनेवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । भक्तोंके प्रियतम श्रीकृष्ण ! स्वामिन् ! आपको बारंबार प्रणाम है ॥

लोकप्रिय नमस्तेऽस्तु भक्तवत्सल ते नमः ।
ब्रह्मावास नमस्तेऽस्तु ब्रह्मनाथ नमो नमः ॥

'आप सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय हैं। आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है। आप ब्रह्माके निवास-स्थान और उनके स्वामी हैं। आपको प्रणाम है ॥

रुद्ररूप नमस्तेऽस्तु रुद्रकर्मरताय ते ।
पञ्चयज्ञ नमस्तेऽस्तु सर्वयज्ञ नमो नमः ॥

'रुद्ररूप ! आपको नमस्कार है। रौद्र कर्ममें रत रहनेवाले आपको नमस्कार है। पञ्चयज्ञरूप ! आपको नमस्कार है। सर्वयज्ञस्वरूप ! आपको नमस्कार है ॥

कृष्ण प्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्ण नाथ नमो नमः।
योगिप्रिय नमस्तेऽस्तु योगिनाथ नमो नमः ॥

'प्यारे श्रीकृष्ण ! आपको प्रणाम है। स्वामिन् ! श्रीकृष्ण ! आपको बारंबार नमस्कार है। योगियोंके प्रिय ! आपको नमस्कार है। योगियोंके स्वामी ! आपको बार-बार प्रणाम है ॥

हयवक्त्र नमस्तेऽस्तु चक्रपाणे नमो नमः ।
पञ्चभूत नमस्तेऽस्तु पञ्चायुध नमो नमः ॥

'हयग्रीव ! आपको नमस्कार है। चक्रपाणे ! आपको बारंबार नमस्कार है। पञ्चभूतस्वरूप ! आपको नमस्कार है। आप पाँच आयुध धारण करनेवाले हैं; आपको नमस्कार है' ॥

वैशम्पायन उवाच

भक्तिगद्गदया वाचा स्तुवत्येवं युधिष्ठिरे ।
गृहीत्वा केशवो हस्ते प्रीतात्मा तं न्यवारयत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर जब भक्तिगद्गद वाणीसे इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक धर्मराजका हाथ पकड़कर उन्हें रोका ॥

निवार्य च पुनर्वाचा भक्तिनम्रं युधिष्ठिरम् ।
वक्तुमेव नरश्रेष्ठ धर्मपुत्रं प्रचक्रमे ॥

नरोत्तम ! भगवान् श्रीकृष्ण पुनः वाणीद्वारा निवारण करके भक्तिसे विनम्र हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे यों कहने लगे ॥

श्रीभगवानुवाच

अन्यवत् किमिदं राजन् मां स्तौषि नरपुङ्गव ।
तिष्ठ प्रच्छ यथापूर्वं धर्मपुत्र युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! यह क्या ? तुम भेदभाव रखनेवाले मनुष्यकी भाँति मेरी स्तुति क्यों करने लगे ? पुरुषप्रवर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! इसे बंद करके पहलेके ही समान प्रश्न करो ॥

युधिष्ठिर उवाच

इदं च धर्मसम्पन्नं वक्तुमर्हसि मानद ।
कृष्णपक्षेषु द्वादश्यामर्चनीयः कथं भवेत् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मानद ! कृष्णपक्षमें द्वादशी आपकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये ? इस धर्मयु विषयका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथा पूर्वं तत् सर्वं कथयामि ते ।
परमं कृष्णद्वादश्यामर्चनायां फलं मम ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! मैं पूर्ववत् तुम्हारे स प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ, सुनो। कृष्णपक्षकी द्वादशीको मे पूजा करनेका बहुत बड़ा फल है ॥

एकादश्यामुपोष्याथ द्वादश्यामर्चयेत् तु माम् ।
विप्रानपि यथालाभं पूजयेद् भक्तिमान् नरः ॥

एकादशीको उपवास करके द्वादशीको मेरा पूजन कर चाहिये। उस दिन भक्तियुक्त मनुष्यको यथाशक्ति ब्राह्मणों भी पूजन करना चाहिये ॥

स गच्छेद् दक्षिणामूर्तिं मां वा नात्र विचारणा ।
चन्द्रसालोक्यमथवा ग्रहनक्षत्रपूजितः ॥

ऐसा करनेसे मनुष्य दक्षिणामूर्ति शिवको अथवा मु प्राप्त होता है; इसमें कोई संशय नहीं है। अथवा वह ग्र नक्षत्रोंसे पूजित हुआ चन्द्रमाके लोकको प्राप्त हो जाता है

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[विषुवयोग और ग्रहण आदिमें दानकी महिमा, पीपलका महत्त्व, तीर्थभूत गुणोंकी प्रशंसा और उत्तम प्रायश्चित्त]

युधिष्ठिर उवाच

देव किं फलमाख्यातं विषुवेष्वमरेश्वर ।
सूर्येन्दूपप्लवे चैव वक्तुमर्हसि तत् फलम् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! देवेश्वर ! विषुवयोग तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय दान देनेसे कि फलकी प्राप्ति बतायी गयी है, यह बतलानेकी कृपा करें ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्व राजन् विषुवे सोमार्कग्रहणेषु च ।
व्यतीपातेऽयने चैव दानं स्यादक्षयं फलम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! विषुवयोगमें, सूर्यग्र और चन्द्रग्रहणके समय, व्यतीपातयोगमें तथा उत्तरायण दक्षिणायन आरम्भ होनेके दिन जो दान दिया जाता है, वह अ फल देनेवाला होता है। इस विषयका वर्णन करता हूँ, सुनो

राजन्नयनयोर्मध्ये विषुवं सम्प्रचक्षते ।
समे रात्रिदिने तत्र संध्यायां विषुवे नृप ॥
ब्रह्माहं शङ्करश्चापि तिष्ठामः सहिताः सकृत् ।
क्रियाकरणकार्याणामेकीभावत्वकारणात् ॥

महाराज युधिष्ठिर ! उत्तरायण और दक्षिणायनके मध्य भागमें जब कि रात और दिन बराबर होते हैं, वह समय 'विषुवयोग' के नामसे पुकारा जाता है। उस दिन संध्याके समय मैं, ब्रह्मा और महादेवजी क्रिया, करण और कार्योंकी एकतापर विचार करनेके लिये एक बार एकत्रित होते हैं ॥

अस्माकमेकीभूतानां निष्कलं परमं पदम् ।
तन्मुहूर्तं परं पुण्यं राजन् विषुवसंज्ञितम् ॥

नरेश्वर ! जिस मुहूर्तमें हमलोगोंका समागम होता है, वह कलारहित परम पद है। वह मुहूर्त परम पवित्र और विषुष-पर्वके नामसे प्रसिद्ध है ॥

तदेवाद्यक्षरं ब्रह्म परं ब्रह्मेति कीर्तितम् ।
तस्मिन् मुहूर्ते सर्वे तु चिन्तयन्ति परं पदम् ॥

उसे अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म भी कहते हैं। उस मुहूर्तमें सब लोग परम पदका चिन्तन करते हैं ॥

देवाश्च वसवो रुद्राः पितरश्चाश्विनौ तथा ।
साध्याश्च विश्वे गन्धर्वाः सिद्धा ब्रह्मर्षयस्तथा ॥
सोमाद्यो ग्रहाश्चैव सरितः सागरास्तथा ।
मरुतोऽप्सरसो नागा यक्षराक्षसगुह्यकाः ॥
एते चान्ये च राजेन्द्र विषुवे संयतेन्द्रियाः ।
सोपवासाः प्रयत्नेन भवन्ति ध्यानतत्पराः ॥

राजेन्द्र ! देवता, वसु, रुद्र, पितर, अश्विनीकुमार, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व, सिद्ध, ब्रह्मर्षि, सोम आदि ग्रह, नदियाँ, समुद्र, मरुत्, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और गुह्यक—ये तथा दूसरे देवता भी विषुवपर्वमें इन्द्रियसंयम-पूर्वक उपवास करते हैं और प्रयत्नपूर्वक परमात्माके ध्यानमें संलग्न होते हैं ॥

अन्नं गावस्तिलान् भूमिं कन्यादानं तथैव च ।
गृहमायतनं धान्यं वाहनं शयनं तथा ॥
यच्चान्यच्च मया प्रोक्तं तत् प्रयच्छ युधिष्ठिर ।

इसलिये युधिष्ठिर ! तुम अन्न, गौ, तिल, भूमि, कन्या, घर, विश्रामस्थान, धान्य, वाहन, शय्या तथा और जो वस्तुएँ मेरे द्वारा दानके योग्य बतलायी गयी हैं, उन सबका विषुवपर्वमें दान करो ॥

दीयते विषुवेष्वेवं श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥
तस्य दानस्य कौन्तेय क्षयं नैवोपपद्यते ।
वर्धतेऽहरहः पुण्यं तद् दानं कोटिसम्मितम् ॥

कुन्तीनन्दन ! जो दान विषुवयोगमें विशेषतः श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको दिया जाता है, उस दानका कभी नाश नहीं होता। उस दानका पुण्य प्रतिदिन बढ़ते-बढ़ते करोड़गुना हो जाता है ॥

चन्द्रसूर्यग्रहे व्योम्नि मम वा शङ्करस्य वा ।
गायत्रीं मामिकां वापि जपेद् यः शङ्करस्य वा ॥
शङ्खतूर्यस्वनैश्चैव कांस्यघण्टास्वनैरपि ।
कारयेत् तु ध्वनिं भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

आकाशमें जब चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण लगा हो, उस समय जो मेरी अथवा भगवान् शङ्करकी पूजा करता हुआ मेरी या शङ्करकी गायत्रीका जप करता है तथा भक्तिके साथ शङ्ख, तूर्य, झाँझ और घंटा बजाकर उनकी ध्वनि करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो ॥

गान्धर्वैर्होमजप्यैस्तु जप्तैरुत्कृष्टनामभिः ।
दुर्बलोऽपि भवेद् राहुः सोमश्च बलवान् भवेत् ॥

मेरे सामने गीत गाने, होम और जप करने तथा मेरे उत्तम नामोंका कीर्तन करनेसे राहु दुर्बल और चन्द्रमा बलवान् होते हैं ॥

सूर्येन्दूपप्लवे चैव श्रोत्रियेभ्यः प्रदीयते ।
तत्सहस्रगुणं भूत्वा दातारमुपतिष्ठति ॥

सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहणकालमें श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको जो दान दिया जाता है, वह हजारगुना होकर दाताको मिलता है ॥

महापातकयुक्तोऽपि यद्यपि स्यान्नरोत्तमः ।
निष्पापस्तत्क्षणादेव तेन दानेन जायते ॥

महान् पातकी मनुष्य भी उस दानसे तत्काल पापरहित होकर पुरुषश्रेष्ठ हो जाता है ॥

चन्द्रसूर्यप्रकाशेन विमानेन विराजता ।
याति सोमपुरं रम्यं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

वह चन्द्रमा और सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित सुन्दर विमान-पर बैठकर रमणीय चन्द्रलोकमें गमन करता है और वहाँ अप्सरागणोंसे उसकी सेवा की जाती है ॥

यावदृक्षाणि तिष्ठन्ति गगने शशिना सह ।
तावत् कालं स राजेन्द्र सोमलोके महीयते ॥

राजेन्द्र ! जबतक आकाशमें चन्द्रमाके साथ तारे मौजूद रहते हैं, तबतक चन्द्रलोकमें वह सम्मानके साथ निवास करता है ॥

ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके युधिष्ठिर ।
वेदवेदाङ्गविद् विप्रः कोटीधनपतिर्भवेत् ॥

युधिष्ठिर ! फिर समयानुसार वहाँसे लौटनेपर इस संसारमें वह वेद-वेदाङ्गोंका विद्वान् और करोड़पति ब्राह्मण होता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवंस्तव गायत्री जप्यते च कथं विभो।
किं वा तस्य फलं देव ममाचक्ष्व सुरेश्वर ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! विभो ! आपकी गायत्रीका जप किस तरह किया जाता है ? देवदेवेश्वर ! उसका क्या फल होता है—यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

द्वादश्यां विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा।
अयने श्रवणे चैव व्यतीपाते तथैव च ॥
अश्वत्थदर्शने चैव तथा मद्दर्शनेऽपि च।
जप्या तु मम गायत्री चाथवाष्टाक्षरं नृप।
अर्जितं दुष्कृतं तस्य नाशयेन्नात्र संशयः ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! द्वादशी तिथिको, विषुवपर्वमें, चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय, उत्तरायण तथा दक्षिणायनके आरम्भके दिन, श्रवण-नक्षत्रमें तथा व्यतीपात योगमें पीपलका या मेरा दर्शन होनेपर मेरी गायत्रीका अथवा अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यके पूर्वकृत पापोंका निःसंदेह नाश हो जाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वत्थदर्शनं चैव किं त्वद्दर्शनसम्मितम्।
एतत् कथय मे देव परं कौतूहलं हि मे ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देव ! अब यह बतलाइये कि पीपलका दर्शन आपके दर्शनके समान क्यों माना जाता है। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमश्वत्थरूपेण पालयामि जगत्त्रयम्।
अश्वत्थो न स्थितो यत्र नाहं तत्र प्रतिष्ठितः ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! मैं ही पीपलके वृक्षके रूपमें रहकर तीनों लोकोंका पालन करता हूँ। जहाँ पीपलका वृक्ष नहीं है, वहाँ मेरा वास नहीं है ॥

यत्राहं संस्थितो राजन्नश्वत्थश्चापि तिष्ठति।
यस्त्वेनमर्चयेद् भक्त्या स मां साक्षात् समर्चति॥

राजन् ! जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ पीपल भी रहता है। जो मनुष्य भक्तिभावसे पीपल वृक्षकी पूजा करता है, वह साक्षात् मेरी ही पूजा करता है ॥

यस्त्वेनं प्रहरेत् कोपान्मामेव प्रहरेत् तु सः।
तस्मात् प्रदक्षिणं कुर्यान्न छिन्द्यादेनमन्वहम् ॥

जो क्रोध करके पीपलपर प्रहार करता है, वह वास्तवमें मुझपर ही प्रहार करता है। इसलिये पीपलकी सदा प्रदक्षिणा करनी चाहिये, उसको काटना नहीं चाहिये ॥

व्रतस्य पारणं तीर्थमार्जवं तीर्थमुच्यते।
देवशुश्रूषणं तीर्थं गुरुशुश्रूषणं तथा ॥

व्रतका पारण, सरलता, देवताओंकी सेवा और गुरुशुश्रूषा—ये सब तीर्थ कहे जाते हैं ॥

पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणं तथा।
दाराणां तोषणं तीर्थं गार्हस्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥

माता-पिताकी सेवा, स्त्रियोंको संतुष्ट रखना और गृहस्थधर्मका पालन करना—ये सब तीर्थ कहे गये हैं ॥

आतिथेयः परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम्।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥

अतिथि-सेवामें लगे रहना परम तीर्थ है। वेदका अध्ययन सनातन तीर्थ है। ब्रह्मचर्यका पालन करना परम तीर्थ है। आहवनीयादि तीन प्रकारकी अग्नियाँ—ये तीर्थ कहे जाते हैं ॥

मूलं धर्मं तु विज्ञाय मनस्तत्रावधार्यताम्।
गच्छ तीर्थानि कौन्तेय धर्मो धर्मेण वर्धते ॥

कुन्तीनन्दन ! इन सबका मूल है 'धर्म'—ऐसा जानकर इनमें मन लगाओ तथा तीर्थोंमें जाओ; क्योंकि धर्म करनेसे धर्मकी वृद्धि होती है ॥

द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमं तथा।
स्थावराज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः ॥

दो प्रकारके तीर्थ बताये जाते हैं—स्थावर और जङ्गम। स्थावर तीर्थसे जङ्गम तीर्थ श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥

कर्मणापि विशुद्धस्य पुरुषस्येह भारत।
हृदये सर्वतीर्थानि तीर्थभूतः स उच्यते ॥

भारत ! इस लोकमें पुण्य कर्मके अनुष्ठानसे विशुद्ध हुए पुरुषके हृदयमें सब तीर्थ वास करते हैं, इसलिये वह तीर्थस्वरूप कहलाता है ॥

गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते।
ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ॥

गुरुरूपी तीर्थसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये उससे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। ज्ञानतीर्थ सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और ब्रह्मतीर्थ सनातन है ॥

क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥

पाण्डुनन्दन ! समस्त तीर्थोंमें भी क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ है । क्षमाशील मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥

मानितोऽमानितो वापि पूजितोऽपूजितोऽपि वा ।
आक्रुष्टस्तर्जितो वापि क्षमावांस्तीर्थमुच्यते ॥

कोई मान करे या अपमान, पूजा करे या तिरस्कार, अथवा गाली दे या डाँट बतावे, इन सभी परिस्थितियोंमें जो क्षमाशील बना रहता है, वह तीर्थ कहलाता है ॥

क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः ।
क्षमाहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ॥

क्षमा ही यश, दान, यज्ञ और मनोनिग्रह है । अहिंसा, धर्म और इन्द्रियोंका संयम क्षमाके ही स्वरूप हैं ॥

क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत् ।
क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः॥

क्षमा ही दया और क्षमा ही यज्ञ है । क्षमासे ही सारा जगत् टिका हुआ है; अतः जो ब्राह्मण क्षमावान् है, वह देवता कहलाता है, वही सबसे श्रेष्ठ है ॥

क्षमावान् प्राप्नुयात् स्वर्गं क्षमावानाप्नुयाद् यशः ।
क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं तस्मात् साधुः स उच्यते ॥

क्षमाशील मनुष्यको स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति होती है; इसलिये क्षमावान् पुरुष साधु कहलाता है ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्थ-
मात्मा तीर्थं सर्वतीर्थप्रधानम् ।
आत्मा यज्ञः सततं मन्यते वै
स्वर्गो मोक्षः सर्वमात्मन्यधीनम् ॥

राजन् ! आत्मारूप नदी परम पावन तीर्थ है, यह सब तीर्थोंमें प्रधान है । आत्माको सदा यज्ञरूप माना गया है । स्वर्ग, मोक्ष—सब आत्माके ही अधीन हैं ॥

आचारनैर्मल्यमुपागतेन
सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन ।
ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं
किं तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम्॥

जो सदाचारके पालनसे अत्यन्त निर्मल हो गया है तथा सत्य और क्षमाके द्वारा जिसमें अतुलनीय शीतलता आ गयी है—ऐसे ज्ञानरूपी जलमें निरन्तर स्नान करनेवाले पुरुषको केवल पानीसे भरे हुए तीर्थकी क्या आवश्यकता है ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वपापघ्नं प्रायश्चित्तमदुष्करम् ।
भक्तस्य सुरश्रेष्ठ मम त्वं वक्तुमर्हसि ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवश्रेष्ठ भगवन् ! मैं आपका भक्त हूँ । अब मुझे कोई ऐसा प्रायश्चित्त बतलाइये, जो करनेमें सरल और समस्त पापोंका नाश करनेवाला हो ॥

श्रीभगवानुवाच

रहस्यमिदमत्यर्थमश्राव्यं पापकर्मणाम् ।
अधार्मिकाणामश्राव्यं प्रायश्चित्तं ब्रवीमि ते ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय प्रायश्चित्त बता रहा हूँ । यह अधर्ममें रुचि रखनेवाले पापाचारी मनुष्योंको सुनाने योग्य नहीं है ॥

पावनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा मद्गतेनान्तरात्मना ।
नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यभिवादनमाचरेत् ॥

किसी पवित्र ब्राह्मणको सामने देखनेपर सहसा मेरा स्मरण करे और 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय' कहकर भगवद्-बुद्धिसे उन्हें प्रणाम करे ॥

प्रदक्षिणं च यः कुर्यात् पुनरष्टाक्षरेण तु ।
तेन तुष्टेन विप्रेण तत्पापं क्षपयाम्यहम् ॥

इसके बाद अष्टाक्षर मन्त्रका जप करते हुए ब्राह्मण-देवताकी परिक्रमा करे । ऐसा करनेसे ब्राह्मण संतुष्ट होते हैं और मैं उस प्रणाम करनेवाले मनुष्यके पापोंका नाश कर देता हूँ ॥

यत्र कृष्टां वराहस्य मृत्तिकां शिरसा वहन् ।
प्राणायामशतं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

जहाँ वराहद्वारा उखाड़ी हुई मृत्तिका हो, उसको सिरपर धारण करके मनुष्य सौ प्राणायाम करता है तो वह पापोंसे छूट जाता है ॥

दक्षिणावर्तशङ्खाद् वा कपिलाशृङ्गतोऽपि वा ।
प्राक्स्रोतसं नदीं गत्वा ममायतनसंनिधौ ॥
सलिलेन तु यः स्नायात् सकृदेव रविग्रहे ।
तस्य यत् संचितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

जो मनुष्य सूर्यग्रहणके समय पूर्ववाहिनी नदीके तटपर जाकर मेरे मन्दिरके निकट दक्षिणावर्त शङ्खके जलसे अथवा कपिला गायके सींगका स्पर्श कराये हुए जलसे एक बार भी स्नान कर लेता है, उसके समस्त संचित पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥

पिबेत् तु पञ्चगव्यं यः पौर्णमास्यामुपोष्य तु ।
तस्य नश्यति तत् पापं यत् पापं पूर्वसंचितम् ॥

जो पूर्णिमाको उपवास करके पञ्चगव्यका पान करता है, उसके भी पूर्वसंचित पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

तथैव ब्रह्मकूर्चं तु समन्त्रं तु पृथक् पृथक् ।
मासि मासि पिबेद् यस्तु तस्य पापं प्रणश्यति ॥

इसी प्रकार जो प्रतिमास अलग-अलग मन्त्र पढ़कर संग्रह किये हुए ब्रह्मकूर्चका पान करता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

पात्रं च ब्रह्मकूर्चं च शृणु तत्र च भारत ।
पलाशं पद्मपत्रं च ताम्रं वाथ हिरण्मयम् ।
सादयित्वा तु गृह्णीयात् तत् तु पात्रमुदाहृतम् ॥

भरतनन्दन ! अब मैं ब्रह्मकूर्च और उसके पात्रका वर्णन करता हूँ, सुनो । पलाश या कमलके पत्तेमें अथवा ताँबे या सोनेके बने हुए बर्तनमें ब्रह्मकूर्च रखकर पीना चाहिये । ये ही उसके उपयुक्त पात्र कहे गये हैं ॥

गायत्र्या गृह्यते मूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधि क्राव्णेति वै दधि ॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
आपो हिष्ठेत्यृचा गृह्य यवचूर्णं यथाविधि ॥
ब्रह्मणे च यथा हुत्वा समिद्धे च हुताशने ।
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ॥

(ब्रह्मकूर्चकी विधि इस प्रकार है—) गायत्री[1] मन्त्र पढ़कर गौका मूत्र, 'गन्धद्वार०'[2] इत्यादि मन्त्रसे गौका गोबर, 'आप्यायस्व०'[3] इस मन्त्रसे गायका दूध, 'दधिक्राव्ण०'[4] इस मन्त्रसे दही, 'तेजोऽसि शुक्रम'[5] इस मन्त्रसे घी, 'देवस्य[6] त्वा०' आदि मन्त्रके द्वारा कुशका जल तथा 'आपो हिष्ठा मयो०' इस ऋचाके द्वारा जौका आटा लेकर सबको एकमें मिला दे और प्रज्वलित अग्निमें ब्रह्माके उद्देश्यसे विधिपूर्वक हवन करके प्रणवका उच्चारण करते हुए उपर्युक्त वस्तुओंका आलोडन और मन्थन करे ॥

उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेत् तु प्रणवेन तु ।
महतापि स पापेन त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥

फिर प्रणवका उच्चारण करके उसे पात्रमेंसे निकालकर हाथमें ले और प्रणवका पाठ करते हुए ही उसे पी जाय । इस प्रकार ब्रह्मकूर्चका पान करनेसे मनुष्य बड़े-से-बड़े पापसे भी उसी प्रकार छुटकारा पा जाता है, जैसे साँप अपनी केंचुलसे पृथक् हो जाता है ॥

भद्रं न इति यः पादं पठन्नृक्संहितां तदा ।
अन्तर्जले वाभ्यादित्ये तस्य पापं प्रणश्यति ॥

जो मनुष्य जलके भीतर बैठकर अथवा सूर्यके सामने दृष्टि रखकर 'भद्रं[1] नः०' इस ऋचाके एक चरणका या ऋक्संहिताका पाठ करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।

मम सूक्तं जपेद् यस्तु नित्यं मद्गतमानसः ।
न पापेन स लिप्येत पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जो मुझमें चित्त लगाकर प्रतिदिन मेरे सूक्त (पुरुष सूक्त) का पाठ करता है, वह जलसे निर्लिप्त रहनेवाले कमलके पत्तेकी तरह कभी भी पापसे लिप्त नहीं होता ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[उत्तम और अधम ब्राह्मणोंके लक्षण, भक्त, गौ, और पीपलकी महिमा]

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशा ब्राह्मणाः पुण्या भावशुद्धाः सुरेश्वर ।
यत्कर्म सफलं नेति कथयस्व ममानघ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप देवेश्वर ! जिनके भाव शुद्ध हों, वे पुण्यात्मा ब्राह्मण कैसे होते हैं तथा ब्राह्मणके अपने कर्ममें सफलता न मिलनेका क्या कारण है ? यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत् सर्वं ब्राह्मणानां यथाक्रमम् ।
सफलं निष्फलं चैव तेषां कर्म ब्रवीमि ते ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—पाण्डुनन्दन ! ब्राह्मणोंका कर्म क्यों सफल होता है और क्यों निष्फल—इन बातोंको मैं क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाधारणमुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवासो ब्रह्मचर्याभिषेचनम् ॥
अग्निहोत्रं गृहे वासः स्वाध्यायं दारसत्क्रिया ।
सर्वाण्येतानि वै मिथ्या यदि भावो न निर्मलः ॥

यदि हृदयका भाव शुद्ध न हो तो त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, जटा रखाना, माथा मुँड़ाना, वल्कल

---

१. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

२. गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् । ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥

३. आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ (यजु० अ० १२ मं० ११२)

४. दधिक्राव्णोऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभिनो मुखाकरत्प्रणऽआयूꣳषि तारिषत् ॥ (यजु० अ० २३ । ३२)

५. ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि । धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ (यजु० १ । ३१)

६. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे । (यजु० अ० ३८ । १)

१. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् । अध ते सख्ये अन्धसो विवो मदे रणन्गावो न यवसे विवक्षसे ॥ (ऋ० मं० १० अ० २ सू० २६ मन्त्र १)

या मृगचर्म पहनना, व्रत और अभिषेक करना, अग्निमें आहुति देना, गृहस्थ-धर्मका पालन करना, स्वाध्यायमें संलग्न रहना और अपनी स्त्रीका सत्कार करना—ये सारे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥

क्षान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम् ।
तमग्र्यं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा इति स्मृताः ॥

जो क्षमाशील, दमका पालन करनेवाला, क्रोधरहित तथा मन और इन्द्रियोंको जीतनेवाला हो, उसीको मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण मानता हूँ । उसके अतिरिक्त जो ब्राह्मण कहलानेवाले लोग हैं, वे सब शूद्र माने गये हैं ॥

अग्निहोत्रव्रतपरान् स्वाध्यायनिरताञ्शुचीन् ।
उपवासरतान् दान्तांस्तान् देवा ब्राह्मणा विदुः ॥
न जात्या पूजितो राजन् गुणाः कल्याणकारणाः ।

जो अग्निहोत्र, व्रत और स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले, पवित्र, उपवास करनेवाले और जितेन्द्रिय हैं, उन्हीं पुरुषोंको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं । राजन् ! केवल जातिसे किसीकी पूजा नहीं होती, उत्तम गुण ही कल्याण करनेवाले होते हैं ॥

मनश्शौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत ।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्-शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है ॥

पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते ।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥

इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है । हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥

अग्निहोत्रपरिभ्रष्टः प्रसक्तः क्रयविक्रयैः ।
वर्णसंकरकर्ता च ब्राह्मणो वृषलैः समः ॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रका त्याग करके खरीद-बिक्रीमें लग गया है, वह वर्णसंकरताका प्रचार करनेवाला और शूद्रके समान माना गया है ॥

यस्य वेदश्रुतिर्नष्टा कर्षकश्चापि यो द्विजः ।
विकर्मसेवी कौन्तेय स वै वृषल उच्यते ॥

कुन्तीनन्दन ! जिसने वैदिक श्रुतियोंको भुला दिया है तथा जो खेतमें हल जोतता है, अपने वर्णके विरुद्ध काम करनेवाला वह ब्राह्मण वृषल माना गया है ॥

वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते लयम् ।
वृषलं तं विदुर्देवा निकृष्टं श्वपचादपि ॥

वृष शब्दका अर्थ है धर्म; उसका जो लय करता है, उसको देवतालोग वृषल मानते हैं । वह चाण्डालसे भी नीच होता है ॥

स्तुतिभिर्ब्रह्मगीताभिर्यः शूद्रं स्तौति मानवः ।
न तु मां स्तौति पापात्मा स तु चण्डालतः समः ॥

जो पापात्मा मनुष्य ब्रह्मगीता आदिके द्वारा मेरी स्तुति न करके किसी शूद्रका स्तवन करता है, वह चाण्डालके समान है ॥

श्वदृतौ तु यथा क्षीरं ब्रह्म वै वृषले तथा ।
दुष्टतामेति तत् सर्वं शुना लीढं हविर्यथा ॥

जैसे कुत्तेकी खालमें रक्खा हुआ दूध और कुत्तेका चाटा हुआ हविष्य अशुद्ध होता है, उसी प्रकार वृषल मनुष्यकी बुद्धिमें स्थित वेद भी दूषित हो जाता है ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

चार वेद, छः अङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ हैं ॥

यान्युक्तानि मया सम्यग् विद्यास्थानानि भारत ।
उत्पन्नानि पवित्राणि भुवनार्थं तथैव च ॥
तस्मात् तानि न शूद्रस्य स्प्रष्टव्यानि युधिष्ठिर ।
सर्वं च शूद्रसंस्पृष्टमपवित्रं न संशयः ॥

भरतनन्दन ! मैंने जो विद्याके चौदह पवित्र स्थान पूर्णतया बताये हैं, वे तीनों लोकोंके कल्याणके लिये प्रकट हुए हैं । अतः शूद्रको इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये । युधिष्ठिर ! शूद्रके सम्पर्कमें आनेवाली सभी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

लोके त्रीण्यपवित्राणि पञ्चामेध्यानि भारत ।
श्वा च शूद्रः श्वपाकश्च अपवित्राणि पाण्डव ॥

भारत ! इस संसारमें तीन अपवित्र और पाँच अमेध्य हैं । पाण्डुनन्दन ! कुत्ता, शूद्र और श्वपाक (चाण्डाल)—ये तीन अपवित्र होते हैं ॥

गायकः कुक्कुटो यूपो ह्युदक्या वृषलीपतिः ।
पञ्चैते स्युरमेध्याश्च स्प्रष्टव्या न कदाचन ।
स्पृष्ट्वैतानष्ट वै विप्रः सचैलो जलमाविशेत् ॥

तथा अश्लील गायक, मुर्गा, जिसमें वध करनेके लिये पशुओंको बाँधा जाय वह खम्भा, रजस्वला स्त्री और वृषल जातिकी स्त्रीसे ब्याह करनेवाला द्विज—ये पाँच अमेध्य माने गये हैं; इनका कभी भी स्पर्श नहीं करना चाहिये । यदि ब्राह्मण इन आठोंमेंसे किसीका स्पर्श कर ले तो वस्त्रसहित जलमें प्रवेश करके स्नान करे ॥

मद्भक्ताञ्शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः ।
नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटिं नराधमाः ॥

जो मनुष्य मेरे भक्तोंका शूद्र जातिमें जन्म होनेके कारण अपमान करते हैं, वे नराधम करोड़ों वर्षतक नरकोंमें निवास करते हैं ॥

चण्डालमपि मद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान् ।
अवमानात् पतन्त्येव नरके रौरवे नराः ॥

अतः चाण्डाल भी यदि मेरा भक्त हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसका अपमान नहीं करना चाहिये । अपमान करनेसे मनुष्यको रौरव नरकमें गिरना पड़ता है ॥

मम भक्तस्य भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका मम ।
तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥

जो मनुष्य मेरे भक्तोंके भक्त होते हैं, उनपर मेरा विशेष प्रेम होता है, इसलिये मेरे भक्तके भक्तोंका विशेष सत्कार करना चाहिये ॥

कीटपक्षिमृगाणां च मयि संन्यस्तचेतसाम् ।
ऊर्ध्वामेव गतिं विद्धि किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम् ॥

मुझमें चित्त लगानेपर कीड़े, पक्षी और पशु भी ऊर्ध्व-गतिको ही प्राप्त होते हैं, फिर ज्ञानी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥

पत्रं वाप्यथवा पुष्पं फलं वाप्यप एव वा ।
ददाति मम शूद्रो यच्छिरसा धारयामि तत् ॥

मेरा भक्त शूद्र भी यदि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल ही अर्पण करे तो मैं उसे सिरपर धारण करता हूँ ॥

वेदोक्तेनैव मार्गेण सर्वभूतहृदि स्थितम् ।
मामर्चयन्ति ये विप्रा मत्सायुज्यं व्रजन्ति ते ॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें विराजमान मुझ परमेश्वरका वेदोक्त रीतिसे पूजन करते हैं, वे मेरे सायुज्यको प्राप्त होते हैं ॥

मद्भक्तानां हितायैव प्रादुर्भावः कृतो मया ।
प्रादुर्भावकृता काचिदर्चनीया युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! मैं अपने भक्तोंका हित करनेके लिये ही अवतार धारण करता हूँ; अतः मेरे प्रत्येक अवतार-विग्रहका पूजन करना चाहिये ॥

आसामन्यतमां मूर्तिं यो मद्भक्त्या समर्चति ।
तेनैव परितुष्टोऽहं भविष्यामि न संशयः ॥

जो मनुष्य मेरे अवतार-विग्रहोंमेंसे किसी एककी भी भक्ति-भावसे आराधना करता है, उसके ऊपर मैं निःसंदेह प्रसन्न होता हूँ ॥

मृदा च मणिरत्नैश्च ताम्रेण रजतेन च ।
कृत्वा प्रतिकृतिं कुर्यादर्चनां काञ्चनेन वा ।
पुण्यं दशगुणं विद्यादेतेषामुत्तरोत्तरम् ॥

मिट्टी, ताँबा, चाँदी, स्वर्ण अथवा मणि एवं रत्नोंकी मेरी प्रतिमा बनवाकर उसकी पूजा करनी चाहिये । इनमें उत्तरो-त्तर मूर्तियोंकी पूजासे दसगुना अधिक पुण्य समझना चाहिये॥

जयकामो भवेद् राजा विद्याकामो द्विजोत्तमः ।
वैश्यो वा धनकामस्तु शूद्रः सुखफलप्रियः ।
सर्वकामाः स्त्रियो वापि सर्वान् कामानवाप्नुयुः ।

यदि ब्राह्मणको विद्याकी, क्षत्रियको युद्धमें विजय[illegible] वैश्यको धनकी, शूद्रको सुखरूप फलकी तथा स्त्रियोंको [illegible] प्रकारकी कामना हो तो ये सब मेरी आराधनासे अ[illegible] सभी मनोरथोंको प्राप्त कर सकते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशानां तु शूद्राणां नानुगृह्णासि चार्चनम् ।
उद्वेगस्तव कस्माद्धि तन्मे ब्रूहि सुरेश्वर ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवेश्वर ! आप किस तर[illegible] शूद्रोंकी पूजा नहीं स्वीकार करते तथा आपको कौन-सा [illegible] बुरा लगता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

अव्रतेनाप्यभक्तेन स्पृष्टां शूद्रेण चार्चनाम् ।
तां वर्जयामि राजेन्द्र श्वपाकविहितामिव ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! जो व्रतका पालन न करने[illegible] और मेरा भक्त नहीं है, उस शूद्रकी स्पर्श की हुई पूजाको कुत्ता पकानेवाले चाण्डालकी की हुई समझकर त्याग देता हूँ

नन्वहं शङ्करश्चापि गावो विप्रास्तथैव च ।
अश्वत्थोऽमररूपं हि त्रयमेतद् युधिष्ठिर ॥
एतत्त्रयं हि मद्भक्तो नावमन्येत कर्हिचित् ।

युधिष्ठिर ! गौ, ब्राह्मण और पीपलका वृक्ष—ये ती[illegible] देवरूप हैं । इन्हें मेरा और भगवान् शङ्करका स्वरूप समझ[illegible] चाहिये । मेरे भक्त पुरुषको उचित है कि वह इन तीनों[illegible] कभी अपमान न करे ॥

अश्वत्थो ब्राह्मणा गावो मन्मयास्तारयन्ति हि ।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन त्रयं पूजय पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! मेरे स्वरूप होनेके कारण पीपल, ब्राह्म[illegible] और गौ—ये तीनों मनुष्यका उद्धार करनेवाले हैं, इसलि[illegible] तुम यत्नपूर्वक इन तीनोंकी पूजा किया करो ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान्‌के उपदेशका उपसंहार और द्वारकागमन]

युधिष्ठिर उवाच

देशान्तरगते विप्रे संयुक्ते कालधर्मणा ।
शरीरनाशे सम्प्राप्ते कथं प्रेतत्वकल्पना ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! यदि कोई ब्राह्मण प[illegible] देश गया हो और वहीं कालकी प्रेरणासे उसका शरीर छ[illegible] जाय तो उसकी प्रेतक्रिया (अन्त्येष्टि-संस्कार) किस प्रका[illegible] सम्भव है ? ॥

श्रीभगवानुवाच

श्रूयतामाहिताग्नेस्तु तथाभूतस्य संस्क्रिया।
पालाशवृन्दैः प्रतिमा कर्तव्या कल्पचोदिता॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! यदि किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी इस प्रकार मृत्यु हो जाय तो उसका संस्कार करनेके लिये प्रेतकल्पमें बताये अनुसार उसकी काष्ठमयी प्रतिमा बनवानी चाहिये। वह काष्ठ पलाशका ही होना उचित है॥

त्रीणि षष्टिशतान्याहुरस्थीन्यस्य युधिष्ठिर।
तेषां विकल्पना कार्या यथाशास्त्रं विनिश्चितम्॥

युधिष्ठिर! मनुष्यके शरीरमें तीन सौ साठ हड्डियाँ बतायी गयी हैं। उन सबकी शास्त्रोक्त रीतिसे कल्पना करके उस प्रतिमाका दाह करना चाहिये॥

युधिष्ठिर उवाच

विशेषतीर्थं सर्वेषामशक्तानामनुग्रहात्।
भक्तानां तारणार्थं तु वक्तुमर्हसि धर्मतः॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! जो भक्त तीर्थयात्रा करनेमें असमर्थ हों, उन सबको तारनेके लिये कृपया किसी विशेष तीर्थका धर्मानुसार वर्णन कीजिये॥

श्रीभगवानुवाच

पावनं सर्वतीर्थानां सत्यं गायन्ति सामगाः।
सत्यस्य वचनं तीर्थमहिंसा तीर्थमुच्यते॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! सामवेदका गायन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सत्य सब तीर्थोंको पवित्र करनेवाला है। सत्य बोलना और किसी जीवकी हिंसा न करना—ये तीर्थ कहलाते हैं॥

तपस्तीर्थं दया तीर्थं शीलं तीर्थं युधिष्ठिर।
अल्पसंतोषकं तीर्थं नारी तीर्थं पतिव्रता॥

युधिष्ठिर! तप, दया, शील, थोड़ेमें संतोष करना—ये सद्गुण भी तीर्थरूपमें ही हैं तथा पतिव्रता नारी भी तीर्थ है॥

संतुष्टो ब्राह्मणस्तीर्थं ज्ञानं वा तीर्थमुच्यते।
मद्भक्ताः सततं तीर्थं शङ्करस्य विशेषतः॥

संतोषी ब्राह्मण और ज्ञानको भी तीर्थ कहते हैं। मेरे भक्त सदैव तीर्थरूप हैं और शङ्करके भक्त विशेषतया तीर्थ हैं॥

यतयस्तीर्थमित्येवं विद्वांसस्तीर्थमुच्यते।
शरण्यपुरुषस्तीर्थमभयं तीर्थमुच्यते॥

संन्यासी और विद्वान् भी तीर्थ कहे जाते हैं। दूसरोंको शरण देनेवाले पुरुष भी तीर्थ हैं। जीवोंको अभय-दान देना भी तीर्थ ही कहलाता है॥

त्रैलोक्येऽस्मिन् निरुद्विग्नो न बिभेमि कुतश्चन।
न दिवा यदि वा रात्रावुद्वेगः शूद्रलङ्घनात्॥

मैं तीनों लोकोंमें उद्वेगशून्य हूँ। दिन हो या रात, मुझे कभी किसीसे भी भय नहीं होता; किंतु शूद्रका मर्यादा-भंग करना मुझे बुरा लगता है॥

न भयं देवदैत्येभ्यो रक्षोभ्यश्चैव मे नृप।
शूद्रवक्त्राच्च्युतं ब्रह्म भयं तु मम सर्वदा॥

राजन्! देवता, दैत्य और राक्षसोंसे भी मैं नहीं डरता। परंतु शूद्रके मुखसे जो वेदका उच्चारण होता है, उससे मुझे सदा ही भय बना रहता है॥

तस्मात् सप्रणवं शूद्रो मन्नामापि न कीर्तयेत्।
प्रणवं हि परं लोके ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः॥

इसलिये शूद्रको मेरे नामका भी प्रणवके साथ उच्चारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेदवेत्ता विद्वान् इस संसारमें प्रणवको सर्वोत्कृष्ट वेद मानते हैं॥

द्विजशुश्रूषणं धर्मः शूद्राणां भक्तितो मयि।

शूद्र मुझमें भक्ति रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा करे—यही उनका परम धर्म है॥

द्विजशुश्रूषया शूद्रः परं श्रेयोऽधिगच्छति।
द्विजशुश्रूषणादन्यन्नास्ति शूद्रस्य निष्कृतिः॥

द्विजोंकी सेवासे ही शूद्र परम कल्याणके भागी होते हैं। इसके सिवा उनके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है॥

सृष्ट्वा पितामहः शूद्रमभिभूतं तु तामसैः।
द्विजशुश्रूषणं धर्मं शूद्राणां तु प्रयुक्तवान्।
नश्यन्ति तामसा भावाः शूद्रस्य द्विजभक्तितः॥

ब्रह्माजीने शूद्रोंको तामस गुणोंसे युक्त उत्पन्न करके उनके लिये द्विजोंकी सेवारूप धर्मका उपदेश किया। द्विजोंकी भक्तिसे शूद्रके तामस भाव नष्ट हो जाते हैं॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं मूर्ध्ना गृह्णामि शूद्रतः॥

शूद्र भी यदि भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है तो मैं उसके भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको सादर शीश चढ़ाता हूँ॥

अग्रजो वापि यः कश्चित् सर्वपापसमन्वितः।
यदि मां सततं ध्यायेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

सम्पूर्ण पापोंसे युक्त होनेपर भी यदि कोई ब्राह्मण सदा मेरा ध्यान करता रहता है तो वह अपने सम्पूर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥

विद्याविनयसम्पन्ना ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मयि भक्तिं न कुर्वन्ति चाण्डालसदृशा हि ते॥

विद्या और विनयसे सम्पन्न तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् होनेपर भी जो ब्राह्मण मुझमें भक्ति नहीं करते, वे चाण्डालके समान हैं ॥

वृथा दानं वृथा तप्तं वृथा चेष्टं वृथा हुतम् ।
वृथाऽऽतिथ्यं च तत् तस्य यो न भक्तो मम द्विजः ॥

जो द्विज मेरा भक्त नहीं है, उसके दान, तप, यज्ञ, होम और अतिथि-सत्कार—ये सब व्यर्थ हैं ॥

स्थावरे जङ्गमे वापि सर्वभूतेषु पाण्डव ।
समत्वेन यदा कुर्यान्मद्भक्तो मित्रशत्रुषु ॥

पाण्डुनन्दन ! जब मनुष्य समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें एवं मित्र और शत्रुमें समान दृष्टि कर लेता है, उस समय वह मेरा सच्चा भक्त होता है ॥

आनृशंस्यमहिंसा च यथा सत्यं तथाऽऽर्जवम् ।
अद्रोहश्चैव भूतानां मद्व्रतानां व्रतं नृप ॥

राजन् ! क्रूरताका अभाव, अहिंसा, सत्य, सरलता तथा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना—यह मेरे भक्तोंका व्रत है ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तं श्रद्धयान्वितः ।
तस्याक्षयाऽभवँल्लोकाः श्वपाकस्यापि पार्थिव ॥

पृथ्वीनाथ ! जो मनुष्य मेरे भक्तको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां सदारं विधिपूर्वकम् ।
मद्भक्ता मद्गतप्राणाः कथयन्तश्च मां सदा ॥

फिर जो साक्षात् मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे रहते हैं तथा जो सदा मेरे ही नाम और गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं, वे यदि लक्ष्मीसहित मेरी विधिवत् पूजा करते हैं तो उनकी सद्गतिके विषयमें क्या कहना है ? ॥

बहुवर्षसहस्राणि तपस्तपति यो नरः ।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

अनेकों हजार वर्षोंतक तपस्या करनेवाला मनुष्य भी उस पदको प्राप्त नहीं होता, जो मेरे भक्तोंको अनायास ही मिल जाता है ॥

मामेव तस्माद् राजेन्द्र ध्यायन् नित्यमतन्द्रितः ।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव परं पदम् ॥

इसलिये राजेन्द्र ! तुम सदा सजग रहकर निरन्तर मेरा ही ध्यान करते रहो, इससे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी और तुम निश्चय ही परम पदका साक्षात्कार कर सकोगे ॥

ऋग्वेदेनैव होता च यजुषाध्वर्युरेव च ।
सामवेदेन चोद्गाता पुण्येनाभिष्टुवन्ति माम् ॥
अथर्वशिरसा चैव नित्यमाथर्वणा द्विजाः ।
स्तुवन्ति सततं ये मां ते वै भागवताः स्मृताः ॥

जो होता बनकर ऋग्वेदके द्वारा, अध्वर्यु होकर यजुर्वेदके द्वारा, उद्गाता बनकर परम पवित्र सामवेदके द्वारा मेरा स्तवन करते हैं तथा अथर्ववेदीय द्विजोंके रूपमें जो अथर्ववेदके द्वारा हमेशा मेरी स्तुति किया करते हैं, वे भगवद्भक्त माने गये हैं ॥

वेदाधीनाः सदा यज्ञा यज्ञाधीनास्तु देवताः ।
देवताः ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् विप्रास्तु देवताः ॥

यज्ञ सदा वेदोंके अधीन हैं और देवता यज्ञोंतथा ब्राह्मणोंके अधीन होते हैं, इसलिये ब्राह्मण देवता हैं ॥

अनाश्रित्योच्छ्रयं नास्ति मुख्यमाश्रयमाश्रयेत् ।
रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ॥

किसीका सहारा लिये बिना कोई ऊँचे नहीं चढ़ सकता अतः सबको किसी प्रधान आश्रयका सहारा लेना चाहिये देवतालोग भगवान् रुद्रके आश्रयमें रहते हैं, रुद्र ब्रह्माजीके आश्रित हैं ॥

ब्रह्मा मामाश्रितो राजन् नाहं कंचिदुपाश्रितः ।
ममाश्रयो न कश्चित् तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम् ॥

ब्रह्माजी मेरे आश्रयमें रहते हैं, किंतु मैं किसीके आश्रित नहीं हूँ । राजन् ! मेरा आश्रय कोई नहीं है । मैं ही सबका आश्रय हूँ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तं रहस्यमिदमुत्तमम् ।
धर्मप्रियस्य ते नित्यं राजन्नेवं समाचर ॥

राजन् ! इस प्रकार ये उत्तम रहस्यकी बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, क्योंकि तुम धर्मके प्रेमी हो । अब तुम इस उपदेशके ही अनुसार सदा आचरण करो ॥

इदं पवित्रमाख्यानं पुण्यं वेदेन सम्मितम् ।
यः पठेन्मामकं धर्ममहन्यहनि पाण्डव ॥
धर्मोऽपि वर्धते तस्य बुद्धिश्चापि प्रसीदति ।
पापक्षयमुपेत्यैवं कल्याणं च विवर्धते ॥

यह पवित्र आख्यान पुण्यदायक एवं वेदके समान मान्य है । पाण्डुनन्दन ! जो मेरे बताये हुए इस वैष्णव-धर्मका प्रतिदिन पाठ करेगा, उसके धर्मकी वृद्धि होगी और बुद्धि निर्मल । साथ ही उसके समस्त पापोंका नाश होकर परम कल्याणका विस्तार होगा ॥

एतत् पुण्यं पवित्रं च पापनाशनमुत्तमम् ।
श्रोतव्यं श्रद्धया युक्तैः श्रोत्रियैश्च विशेषतः ॥

यह प्रसंग परम पवित्र, पुण्यदायक, पापनाशक और अत्यन्त उत्कृष्ट है । सभी मनुष्योंको, विशेषतः श्रोत्रिय विद्वानोंको श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करना चाहिये ॥

श्रावयेद् यस्त्विदं भक्त्या प्रयतोऽथ शृणोति वा ।

स गच्छेन्मम सायुज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इसे सुनाता और पवित्रचित्त होकर सुनता है, वह मेरे सायुज्यको प्राप्त होता है, इसमें कोई शङ्का नहीं है ॥

यश्चेमं श्रावयेच्छ्राद्धे मद्भक्तो मत्परायणः ।
पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

मेरी भक्तिमें तत्पर रहनेवाला जो भक्त पुरुष श्राद्धमें इस धर्मको सुनाता है, उसके पितर इस ब्रह्माण्डके प्रलय होनेतक सदा तृप्त बने रहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा भागवतान् धर्मान् साक्षाद् विष्णोर्जगद्गुरोः
प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोऽद्भुताः कथाः ॥
ऋषयः पाण्डवाश्चैव प्रणेमुस्तं जनार्दनम् ।
पूजयामास गोविन्दं धर्मपुत्रः पुनः पुनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! साक्षात् विष्णुस्वरूप जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भागवत-धर्मोंका श्रवण करके इस अद्भुत प्रसंगपर विचार करते हुए ऋषि और पाण्डवलोग बहुत प्रसन्न हुए और सबने भगवान्को प्रणाम किया । धर्मनन्दन युधिष्ठिरने तो बारंबार गोविन्दका पूजन किया ॥

देवा ब्रह्मर्षयः सिद्धा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
ऋषयश्च महात्मानो गुह्यका भुजगास्तथा ॥
वालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः ॥
कौतूहलसमायुक्ता भगवद्भक्तिमागताः ।
श्रुत्वा तु परमं पुण्यं वैष्णवं धर्मशासनम् ॥
विमुक्तपापाः पूतास्ते संवृत्तास्तत्क्षणेन तु ।

देवता, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सराएँ, ऋषि, महात्मा, गुह्यक, सर्प, महात्मा वालखिल्य, तत्त्वदर्शी योगी तथा पञ्चयाम उपासना करनेवाले भगवद्भक्त पुरुष, जो अत्यन्त उत्कण्ठित होकर उपदेश सुननेके लिये पधारे थे, इस परम पवित्र वैष्णव-धर्मका उपदेश सुनकर तत्क्षण निष्पाप एवं पवित्र हो गये । सबमें भगवद्भक्ति उमड़ आयी ॥

प्रणम्य शिरसा विष्णुं प्रतिनन्द्य च ताः कथाः ॥

फिर उन सबने भगवान्के चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उनके उपदेशकी प्रशंसा की ॥

द्रष्टारो द्वारकायां वै वयं सर्वे जगद्गुरुम् ।
इति प्रहृष्टमनसो ययुर्देवगणैः सह ।
सर्वे ऋषिगणा राजन् ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥

फिर 'भगवन् ! अब हम द्वारकामें पुनः आप जगद्गुरुका दर्शन करेंगे ।' यों कहकर सब ऋषि प्रसन्नचित्त हो देवताओंके साथ अपने-अपने स्थानको चले गये ॥

गतेषु तेषु सर्वेषु केशवः केशिहा हरिः ।
सस्मार दारुकं राजन् स च सात्यकिना सह ।
समीपस्थोऽभवत् सूतो याहि देवेति चाब्रवीत् ॥

राजन् ! उन सबके चले जानेपर केशिनिषूदन भगवान् श्रीकृष्णने सात्यकिसहित दारुकको याद किया । सारथि दारुक पास ही बैठा था, उसने निवेदन किया—'भगवन् ! रथ तैयार है, पधारिये ॥'

ततो विषण्णवदनाः पाण्डवाः पुरुषोत्तमम् ।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय नेत्रैरश्रुपरिप्लुतैः ।
पिबन्तः सततं कृष्णं नोचुरार्ततरास्तदा ॥

यह सुनकर पाण्डवोंका मुँह उदास हो गया । उन्होंने हाथ जोड़कर सिरसे लगाया और वे आँसूभरे नेत्रोंसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ओर एकटक देखने लगे, किंतु अत्यन्त दुखी होनेके कारण उस समय कुछ बोल न सके ॥

कृष्णोऽपि भगवान् देवः पृथामामन्त्र्य चार्तवत् ।
धृतराष्ट्रं च गान्धारीं विदुरं द्रौपदीं तथा ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषीनन्यांश्च मन्त्रिणः ।
सुभद्रामात्मजयुतामुत्तरां स्पृश्य पाणिना ।
निर्गत्य वेश्मनस्तस्मादारुरोह तदा रथम् ॥

देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी उनकी दशा देखकर दुखी-से हो गये और उन्होंने कुन्ती, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, द्रौपदी, महर्षि व्यास और अन्यान्य ऋषियों एवं मन्त्रियोंसे बिदा लेकर सुभद्रा तथा पुत्रसहित उत्तराकी पीठपर हाथ फेरा और आशीर्वाद देकर वे उस राजभवनसे बाहर निकल आये और रथपर सवार हो गये ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।
युक्तं तु ध्वजभूतेन पतगेन्द्रेण धीमता ॥

उस रथमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे तथा बुद्धिमान् गरुड़का ध्वज फहरा रहा था ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चाशु यन्तारं दारुकं सूतसत्तमम् ।
अभीषून् प्रतिजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ॥

उस समय कुरुदेशके राजा युधिष्ठिर भी प्रेमवश भगवान्के पीछे-पीछे स्वयं भी रथपर जा बैठे और तुरंत ही श्रेष्ठ दारुकको सारथिके स्थानसे हटाकर उन्होंने घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें ले ली ॥

उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं शुभम् ।
रुक्मदण्डं बृहन्मूर्ध्नि दुधावाभिप्रदक्षिणम् ॥

फिर अर्जुन भी रथपर आरूढ़ हो स्वर्णदण्डयुक्त विशाल चँवर हाथमें लेकर दाहिनी ओरसे भगवान्‌के मस्तकपर हवा करने लगे ॥

तथैव भीमसेनोऽपि रथमारुह्य वीर्यवान् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन भी रथपर जा चढ़े और भगवान्‌के ऊपर छत्र लगाये खड़े हो गये। वह छत्र सौ कमानियोंसे युक्त तथा दिव्य मालाओंसे सुशोभित था ॥

वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ।
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वनः ॥

उसका डंडा वैदूर्य मणिका बना हुआ था तथा सोनेकी झालरें उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। भीमसेनने शार्ङ्गधनुषधारी श्रीकृष्णके उस छत्रको शीघ्र ही धारण कर लिया ॥

उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ।
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ॥

नकुल और सहदेव भी अपने हाथोंमें सफेद चँवर लिये शीघ्र रथपर सवार हो गये और भगवान् जनार्दनके ऊपर डुलाने लगे ॥

भीमसेनोऽर्जुनश्चैव यमावप्यरिसूदनौ ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं मा शब्द इति हर्षिताः ॥

इस प्रकार युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने हर्षपूर्वक श्रीकृष्णका अनुसरण किया और कहने लगे—'आप मत जाइये' ॥

त्रियोजने व्यतीते तु परिष्वज्य च पाण्डवान् ।
विसृज्य कृष्णस्तान् सर्वान् प्रणतान् द्वारकां ययौ॥

तीन योजन (चौबीस मील) तक चले आनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपने चरणोंमें पड़े हुए पाण्डवोंको गलेसे लगाकर बिदा किया और स्वयं द्वारकाको चले गये ॥

तथा प्रणम्य गोविन्दं तदाप्रभृति पाण्डवाः ।
कपिलाद्यानि दानानि ददुर्धर्मपरायणाः ॥

इस प्रकार भगवान् गोविन्दको प्रणाम करके जब पाण्डव घर लौटे, उस दिनसे सदा धर्ममें तत्पर रहकर कपिला आदि गौओंका दान करने लगे ॥

मधुसूदनवाक्यानि स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः।
मनसा पूजयामासुर्हृदयस्थानि पाण्डवाः ॥

वे सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको बारंबार याद करके और उनको हृदयमें धारण करके मन-ही-मन उनकी सराहना करते थे ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा हृदि कृत्वा जनार्दनम् ।
तद्भक्तस्तन्मना युक्तस्तद्याजी तत्परोऽभवत् ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर ध्यानद्वारा भगवान्‌को अपने हृदयमें विराजमान करके उन्हींके भजनमें लग गये, उन्हींका स्मरण करने लगे और योगयुक्त होकर भगवान्‌का यजन करते हुए उन्हींके परायण हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलोपाख्याने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें नकुलोपाख्यानविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२२० श्लोक मिलाकर कुल १२७३ श्लोक हैं)

आश्वमेधिकपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२७४७॥	(१२२॥)	१६८।≡	२९१५॥।≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१२६५	(२१)	२८॥।=	१२९३॥।=

आश्वमेधिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—४२०९॥।-

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

आश्रमवासिकपर्व

(आश्रमवासपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भाइयोंसहित युधिष्ठिर तथा कुन्ती आदि देवियोंके द्वारा धृतराष्ट्र और गान्धारीकी सेवा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओं-का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा मे पितामहाः।
कथमासन् महाराज्ञि धृतराष्ट्रे महात्मनि॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह महात्मा पाण्डव अपने राज्यपर अधिकार प्राप्त कर लेनेके बाद महाराज धृतराष्ट्रके प्रति कैसा बर्ताव करते थे? ॥ १ ॥

स तु राजा हतामात्यो हतपुत्रो निराश्रयः।
कथमासीद्धतैश्वर्यो गान्धारी च यशस्विनी॥ २ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री और पुत्रोंके मारे जानेसे निराश्रय हो गये थे। उनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया था। ऐसी अवस्थामें वे और यशस्विनी गान्धारी देवी किस प्रकार जीवन व्यतीत करते थे ॥ २ ॥

कियन्तं चैव कालं ते मम पूर्वपितामहाः।
स्थिता राज्ये महात्मानस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३ ॥

मेरे पूर्वपितामह महात्मा पाण्डव कितने समयतक अपने राज्यपर प्रतिष्ठित रहे? ये सब बातें मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन्॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जिनके शत्रु मारे गये थे, वे महात्मा पाण्डव राज्य पानेके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रको ही आगे रखकर पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद् विदुरः संजयस्तथा।
वैश्यापुत्रश्च मेधावी युयुत्सुः कुरुसत्तम॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ! विदुर, संजय तथा वैश्यापुत्र मेधावी युयुत्सु—ये लोग सदा धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ५ ॥

पाण्डवाः सर्वकार्याणि सम्पृच्छन्ति स्म तं नृपम्।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च॥ ६ ॥

पाण्डवलोग सभी कार्योंमें राजा धृतराष्ट्रकी सलाह पूछा करते थे और उनकी आज्ञा लेकर प्रत्येक कार्य करते थे। इस तरह उन्होंने पंद्रह वर्षोंतक राज्यका शासन किया ॥ ६ ॥

सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नृपम्।
पादाभिवादनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः॥ ७ ॥

वीर पाण्डव प्रतिदिन राजा धृतराष्ट्रके पास जा उनके चरणोंमें प्रणाम करके कुछ कालतक उनकी सेवामें बैठे रहते थे और सदा धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञाके अधीन रहते थे ॥

ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्वकार्याणि चक्रिरे।
कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र भी स्नेहवश पाण्डवोंका मस्तक सूँघकर जब उन्हें जानेकी आज्ञा देते, तब वे आकर सब कार्य किया करते थे। कुन्तीदेवी भी सदा गान्धारीकी सेवामें लगी रहती थीं ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि॥ ९ ॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा पाण्डवोंकी अन्य स्त्रियाँ भी कुन्ती और गान्धारी दोनों सासुओंकी समान भावसे विधिवत् सेवा किया करती थीं ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः॥ १० ॥
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत्।
तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत॥ ११ ॥

महाराज ! राजा युधिष्ठिर बहुमूल्य शय्या, वस्त्र, आभूषण तथा राजाके उपभोगमें आने योग्य सब प्रकारके उत्तम पदार्थ एवं अनेकानेक भक्ष्य, भोज्य पदार्थ धृतराष्ट्रको अर्पण किया करते थे। इसी प्रकार कुन्तीदेवी भी अपनी सासकी भाँति गान्धारीकी परिचर्या किया करती थीं ॥

विदुरः संजयश्चैव युयुत्सुश्चैव कौरव।
उपासते स्म तं वृद्धं हतपुत्रं जनाधिपम् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जिनके पुत्र मारे गये थे, उन बूढ़े राजा धृतराष्ट्रकी विदुर, संजय और युयुत्सु—ये तीनों सदा सेवा करते रहते थे ॥ १२ ॥

श्यालो द्रोणस्य यश्चासीद् दयितो ब्राह्मणो महान्।
स च तस्मिन् महेष्वासः कृपः समभवत् तदा ॥ १३ ॥

द्रोणाचार्यके प्रिय साले महान् ब्राह्मण महाधनुर्धर कृपाचार्य तो उन दिनों सदा धृतराष्ट्रके ही पास रहते थे ॥ १३ ॥

व्यासश्च भगवान् नित्यमासांचक्रे नृपेण ह।
कथाः कुर्वन् पुराणर्षिर्देवर्षिपितृरक्षसाम् ॥ १४ ॥

पुरातन ऋषि भगवान् व्यास भी प्रतिदिन उनके पास आकर बैठते और उन्हें देवर्षि, पितर तथा राक्षसोंकी कथाएँ सुनाया करते थे ॥ १४ ॥

धर्मयुक्तानि कार्याणि व्यवहारान्वितानि च।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो विदुरस्तान्यकारयत् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी उनके समस्त धार्मिक और व्यावहारिक कार्य करते-कराते थे ॥ १५ ॥

सामन्तेभ्यः प्रियाण्यस्य कार्याणि सुबहून्यपि।
प्राप्यन्तेऽर्थैः सुलघुभिः सुनयाद् विदुरस्य वै ॥ १६ ॥

विदुरजीकी अच्छी नीतिके कारण उनके बहुतेरे प्रिय कार्य थोड़े खर्चमें ही सामन्तों (सीमावर्ती राजाओं) से सिद्ध हो जाया करते थे ॥ १६ ॥

अकरोद् बन्धमोक्षं च वध्यानां मोक्षणं तथा।
न च धर्मसुतो राजा कदाचित् किंचिदब्रवीत् ॥ १७ ॥

वे कैदियोंको कैदसे छुटकारा दे देते और वधके योग्य मनुष्योंको भी प्राणदान देकर छोड़ देते थे; किंतु धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर इसके लिये उनसे कभी कुछ कहते नहीं थे ॥ १७ ॥

विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
सर्वान् कामान् महातेजाः प्रददावम्बिकासुते ॥ १८ ॥

महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर विहार और यात्राके अवसरोंपर राजा धृतराष्ट्रको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओंकी सुविधा देते थे ॥ १८ ॥

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥ १९ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें पहलेकी ही भाँति उक्त अवसर पर भी रसोईके काममें निपुण आरालिक[1], सूपकार[2] और रागखाण्डविक[3] मौजूद रहते थे ॥ १९ ॥

वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च।
उपाजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥ २० ॥

पाण्डवलोग धृतराष्ट्रको यथोचित रूपसे बहुमूल्य व[स्त्र] और नाना प्रकारकी मालाएँ भेंट करते थे ॥ २० ॥

मैरेयकाणि मांसानि पानकानि लघूनि च।
चित्रान् भक्ष्यविकारांश्च चक्रुस्तस्य यथा पुरा ॥ २१ ॥

वे उनकी सेवामें पहलेकी ही भाँति सुखभोगप्रद फल[,] गूदे, हल्के पानक (मीठे शर्बत) और अन्यान्य विचि[त्र] प्रकारके भोजन प्रस्तुत करते थे ॥ २१ ॥

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुस्ततस्ततः।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥ २२ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंसे जो-जो भूपाल वहाँ पधारते थे, सब पहलेकी ही भाँति कौरवराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थि[त] होते थे ॥ २२ ॥

कुन्ती च द्रौपदी चैव सात्वती च यशस्विनी।
उलूपी नागकन्या च देवी चित्राङ्गदा तथा ॥ २३ ॥
धृष्टकेतोश्च भगिनी जरासंधसुता तथा।
एताश्चान्याश्च बह्व्यो वै योषितः पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
किंकराः पर्युपातिष्ठन् सर्वाः सुबलजां तथा।

पुरुषप्रवर ! कुन्ती, द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा, नाग[-]कन्या उलूपी, देवी चित्राङ्गदा, धृष्टकेतुकी बहिन तथा जर[ा]संधकी पुत्री—ये तथा कुरुकुलकी दूसरी बहुत-सी स्त्रि[याँ] दासीकी भाँति सुबलपुत्री गान्धारीकी सेवामें लगी रहती थीं [।]

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किंचिद् दुःखमाप्नुयात् ॥ २५ ॥
इति तानन्वशाद् भ्रातॄन् नित्यमेव युधिष्ठिरः।

राजा युधिष्ठिर सदा भाइयोंको यह उपदेश देते [थे] कि 'बन्धुओ ! तुम ऐसा बर्ताव करो, जिससे अपने पुत्रों[से] बिछुड़े हुए इन राजा धृतराष्ट्रको किंचिन्मात्र भी दुः[ख] न प्राप्त हो' ॥ २५½ ॥

एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ॥ २६ ॥
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं तदा विना।

धर्मराजका यह सार्थक वचन सुनकर भीमसेनको छो[ड़]

---

१. 'अरा' नामक शस्त्रसे काटकर बनाये जानेके कारण साग भाजी आदिको 'अरालु' कहते हैं। उसको सुन्दर रीतिसे तैया[र] करनेवाले रसोइये 'आरालिक' कहलाते हैं। २. दाल आदि बनानेवा[ले] सामान्यतः सभी रसोइयोंको 'सूपकार' कहते हैं। ३. पीपल, सों[ठ] और चीनी मिलाकर मूँगका रस तैयार करनेवाले रसोइ[ये] 'रागखाण्डविक' कहलाते हैं।

अन्य सभी भाई धृतराष्ट्रका विशेष आदर-सत्कार करते थे ॥ २६½ ॥

न हि तत् तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्ध्या यद् वृत्तं द्यूतकारितम् ॥ २७ ॥

वीरवर भीमसेनके हृदयसे कभी भी यह बात दूर नहीं होती थी कि जूएके समय जो कुछ भी अनर्थ हुआ था, वह धृतराष्ट्रकी ही खोटी बुद्धिका परिणाम था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

पाण्डवोंका धृतराष्ट्र और गान्धारीके अनुकूल बर्ताव

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजितो राजा पाण्डवैरम्बिकासुतः ।
विजहार यथापूर्वमृषिभिः पर्युपासितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पाण्डवोंसे भलीभाँति सम्मानित हो अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र पूर्ववत् ऋषियोंके साथ गोष्ठी-सुखका अनुभव करते हुए वहाँ सानन्द निवास करने लगे ॥ १ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च प्रददौ स कुरूद्वहः ।
तच्च कुन्तीसुतो राजा सर्वमेवान्वपद्यत ॥ २ ॥

कुरुकुलके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंको देनेयोग्य अग्रहार (माफी जमीन) देते थे और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर सभी कार्योंमें उन्हें सहयोग देते थे ॥ २ ॥

आनृशंस्यपरो राजा प्रीयमाणो युधिष्ठिरः ।
उवाच स तदा भ्रातॄनमात्यांश्च महीपतिः ॥ ३ ॥
मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः ।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यस्तिष्ठति स मे सुहृत् ॥ ४ ॥
विपरीतश्च मे शत्रुर्नियम्यश्च भवेन्नरः ।

राजा युधिष्ठिर बड़े दयालु थे । वे सदा प्रसन्न रहकर अपने भाइयों और मन्त्रियोंसे कहा करते थे कि 'ये राजा धृतराष्ट्र मेरे और आपलोगोंके माननीय हैं । जो इनकी आज्ञाके अधीन रहता है, वही मेरा सुहृद् है । विपरीत आचरण करनेवाला मेरा शत्रु है । वह मेरे दण्डका भागी होगा ॥ ३-४½ ॥

पितृवृत्तेषु चाहःसु पुत्राणां श्राद्धकर्मणि ॥ ५ ॥
सुहृदां चैव सर्वेषां यावदस्य चिकीर्षितम् ।

'पिता आदिकी क्षयाह तिथियोंपर तथा पुत्रों और समस्त सुहृदोंके श्राद्धकर्ममें राजा धृतराष्ट्र जितना धन खर्च करना चाहें, वह सब इन्हें मिलना चाहिये' ॥ ५½ ॥

ततः स राजा कौरव्यो धृतराष्ट्रो महामनाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणेभ्यो यथार्हेभ्यो ददौ वित्तान्यनेकशः ।
धर्मराजश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ॥ ७ ॥
तत् सर्वमन्ववर्तन्त तस्य प्रियचिकीर्षया ।

तदनन्तर महामना कुरुकुलनन्दन राजा धृतराष्ट्र उक्त अवसरोंपर सुयोग्य ब्राह्मणोंको बारंबार प्रचुर धनका दान करते थे । धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, सव्यसाची अर्जुन और नकुल-सहदेव भी उनका प्रिय करनेकी इच्छासे सब कार्योंमें उनका साथ देते थे ॥ ६-७½ ॥

कथं नु राजा वृद्धः स पुत्रपौत्रवधार्दितः ॥ ८ ॥
शोकमस्मत्कृतं प्राप्य न म्रियेतेति चिन्त्यते ।

उन्हें सदा इस बातकी चिन्ता बनी रहती थी कि पुत्र-पौत्रोंके वधसे पीड़ित हुए बूढ़े राजा धृतराष्ट्र हमारी ओरसे शोक पाकर कहीं अपने प्राण न त्याग दें ॥ ८½ ॥

यावद्धि कुरुवीरस्य जीवत्पुत्रस्य वै सुखम् ॥ ९ ॥
बभूव तदवाप्नोति भोगांश्चेति व्यवस्थिताः ।

अपने पुत्रोंकी जीवितावस्थामें कुरुवीर धृतराष्ट्रको जितने सुख और भोग प्राप्त थे, वे अब भी उन्हें मिलते रहें—इसके लिये पाण्डवोंने पूरी व्यवस्था की थी ॥ ९½ ॥

ततस्ते सहिताः पञ्च भ्रातरः पाण्डुनन्दनाः ॥ १० ॥
तथाशीलाः समातस्थुर्धृतराष्ट्रस्य शासने ।

इस प्रकारके शील और बर्तावसे युक्त होकर वे पाँचों भाई पाण्डव एक साथ धृतराष्ट्रकी आज्ञाके अधीन रहते थे ॥ १०½ ॥

धृतराष्ट्रश्च तान् सर्वान् विनीतान् नियमे स्थितान् ॥ ११ ॥
शिष्यवृत्तिं समापन्नान् गुरुवत् प्रत्यपद्यत ।

धृतराष्ट्र भी उन सबको परम विनीत, अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले और शिष्य-भावसे सेवामें संलग्न जानकर पिताकी भाँति उनसे स्नेह रखते थे ॥ ११½ ॥

गान्धारी चैव पुत्राणां विविधैः श्राद्धकर्मभिः ॥ १२ ॥
आनृण्यमगमत् कामान् विप्रेभ्यः प्रतिपाद्य सा ।

गान्धारी देवीने भी अपने पुत्रोंके निमित्त नाना प्रकारके श्राद्धकर्मका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार धन दान किया और ऐसा करके वे पुत्रोंके ऋणसे मुक्त हो गयीं ॥ १२½ ॥

एवं धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् पूजयामास तं नृपम् ।

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ रहकर सदा राजा धृतराष्ट्रका आदर-सत्कार करते रहते थे ॥ १३½ ॥

स राजा सुमहातेजा वृद्धः कुरुकुलोद्वहः ॥ १४ ॥
न ददर्श तदा किंचिदप्रियं पाण्डुनन्दने ।

कुरुकुलशिरोमणि महातेजस्वी बूढ़े राजा धृतराष्ट्रने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका कोई ऐसा बर्ताव नहीं देखा, जो उनके मनको अप्रिय लगनेवाला हो ॥ १४½ ॥

वर्तमानेषु सद्वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १५ ॥
प्रीतिमानभवद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।

महात्मा पाण्डव सदा अच्छा बर्ताव करते थे; इसलिये अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र उनके ऊपर बहुत प्रसन्न रहते थे ॥ १५½ ॥

सौबलेयी च गान्धारी पुत्रशोकमपास्य तम् ॥ १६ ॥
सदैव प्रीतिमत्यासीत् तनयेषु निजेष्विव ।

सुबलपुत्री गान्धारी भी अपने पुत्रोंका शोक छोड़कर पाण्डवोंपर सदा अपने सगे पुत्रोंके समान प्रेम करती थीं ॥ १६½ ॥

प्रियाण्येव तु कौरव्यो नाप्रियाणि कुरूद्वहः ॥ १७ ॥
वैचित्रवीर्ये नृपतौ समाचरत वीर्यवान् ।

पराक्रमी कुरुकुलतिलक राजा युधिष्ठिर महाराज धृतराष्ट्रका सदा प्रिय ही करते थे, अप्रिय नहीं करते थे ॥

यद् यद् ब्रूते च किंचित् स धृतराष्ट्रो जनाधिपः॥ १८ ॥
गुरु वा लघु वा कार्यं गान्धारी च तपस्विनी ।
तं स राजा महाराज पाण्डवानां धुरंधरः ॥ १९ ॥
पूजयित्वा वचस्तत् तदकार्षीत् परवीरहा ।

महाराज ! राजा धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारी देवी ये दोनों जो कोई भी छोटा या बड़ा कार्य करनेके लिये कहते, पाण्डवधुरन्धर शत्रुसूदन राजा युधिष्ठिर उनके उस आदेशको सादर शिरोधार्य करके वह सारा कार्य पूर्ण करते थे ॥ १८-१९½ ॥

तेन तस्याभवत् प्रीतो वृत्तेन स नराधिपः ॥ २० ॥
अन्वतप्यत संस्मृत्य पुत्रं तं मन्दचेतसम् ।

उनके उस बर्तावसे राजा धृतराष्ट्र सदा प्रसन्न रहते और अपने उस मन्दबुद्धि दुर्योधनको याद करके पछताया करते थे ॥ २०½ ॥

सदा च प्रातरुत्थाय कृतजप्यः शुचिर्नृपः ॥ २१ ॥
आशास्ते पाण्डुपुत्राणां समरेष्वपराजयम् ।

प्रतिदिन सबेरे उठकर स्नान-संध्या एवं गायत्रीजप कर लेनेके पश्चात् पवित्र हुए राजा धृतराष्ट्र सदा पाण्डवोंके समरविजयी होनेका आशीर्वाद देते थे ॥ २१½ ॥

ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्याथ हुत्वा चैव हुताशनम्॥ २२॥
आयूंषि पाण्डुपुत्राणामाशंसत नराधिपः ।

ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर अग्निमें हवन करनेके पश्चात् राजा धृतराष्ट्र सदा यह शुभकामना करते थे कि पाण्डवोंकी आयु बढ़े ॥ २२½ ॥

न तां प्रीतिं परामाप पुत्रेभ्यः स कुरूद्वहः ॥ २३ ॥
यां प्रीतिं पाण्डुपुत्रेभ्यः सदावाप नराधिपः ।

राजा धृतराष्ट्रको सदा पाण्डवोंके बर्तावसे जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी उत्कृष्ट प्रीति उन्हें अपने पुत्रोंसे भी कभी प्राप्त नहीं हुई थी ॥ २३½ ॥

ब्राह्मणानां यथावृत्तः क्षत्रियाणां यथाविधः ॥ २४ ॥
तथा विट्शूद्रसंघानामभवत् स प्रियस्तदा ।

युधिष्ठिर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके साथ जैसा सद्बर्ताव करते थे, वैसा ही वैश्यों और शूद्रोंके साथ भी करते थे। इसलिये वे उन दिनों सबके प्रिय हो गये थे ॥ २४½ ॥

यच्च किंचित् तदा पापं धृतराष्ट्रसुतैः कृतम् ॥ २५ ॥
अकृत्वा हृदि तत् पापं तं नृपं सोऽन्ववर्तत ।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके साथ जो कुछ बुराई की थी, उसे अपने हृदयमें स्थान न देकर वे युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें संलग्न रहते थे ॥ २५½ ॥

यश्च कश्चिन्नरः किंचिदप्रियं चाम्बिकासुते ॥ २६ ॥
कुरुते द्वेष्यतामेति स कौन्तेयस्य धीमतः ।

जो कोई मनुष्य राजा धृतराष्ट्रका थोड़ा-सा भी अप्रिय कर देता, वह बुद्धिमान् कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके द्वेषका पात्र बन जाता था ॥ २६½ ॥

न राज्ञो धृतराष्ट्रस्य न च दुर्योधनस्य वै ॥ २७ ॥
उवाच दुष्कृतं कश्चिद् युधिष्ठिरभयान्नरः ।

युधिष्ठिरके भयसे कोई भी मनुष्य कभी राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधनके कुकृत्योंकी चर्चा नहीं करता था ॥ २७½ ॥

धृत्या तुष्टो नरेन्द्रः स गान्धारी विदुरस्तथा ॥ २८ ॥
शौचेन चाजातशत्रोर्न तु भीमस्य शत्रुहन् ।

शत्रुसूदन जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और विदुरजी अजातशत्रु युधिष्ठिरके धैर्य और शुद्ध व्यवहारसे विशेष प्रसन्न थे, किंतु भीमसेनके बर्तावसे उन्हें संतोष नहीं था ॥

अन्ववर्तत भीमोऽपि निश्चितो धर्मजं नृपम् ॥ २९ ॥
धृतराष्ट्रं च सम्प्रेक्ष्य सदा भवति दुर्मनाः ।

यद्यपि भीमसेन भी दृढ़ निश्चयके साथ युधिष्ठिरके ही पथका अनुसरण करते थे, तथापि धृतराष्ट्रको देखकर उनके मनमें सदा ही दुर्भावना जाग उठती थी ॥ २९½ ॥

राजानमनुवर्तन्तं धर्मपुत्रममित्रहा ।
अन्ववर्तत कौरव्यो हृदयेन पराङ्मुखः ॥ ३० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके अनुकूल बर्ताव करते देख शत्रुसूदन कुरुनन्दन भीमसेन स्वयं भी ऊपरसे उनका अनुसरण ही करते थे, तथापि उनका हृदय धृतराष्ट्रसे विमुख ही रहता था ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका गान्धारीके साथ वनमें जानेके लिये उद्योग एवं युधिष्ठिरसे अनुमति देनेके लिये अनुरोध तथा युधिष्ठिर और कुन्ती आदिका दुखी होना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तदा ।
नान्तरं ददृशू राज्ये पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर और धृतराष्ट्रमें जो पारस्परिक प्रेम था, उसमें राज्यके लोगोंने कभी कोई अन्तर नहीं देखा ॥ १ ॥

यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिम् ।
तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥ २ ॥

राजन् ! परंतु वे कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र जब अपने दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधनका स्मरण करते थे, तब मन-ही-मन भीमसेनका अनिष्ट-चिन्तन किया करते थे ॥ २ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैव दुष्टवद्धृदा ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! उसी प्रकार भीमसेन भी सदा ही राजा धृतराष्ट्रके प्रति अपने मनमें दुर्भावना रखते थे। वे कभी उन्हें क्षमा नहीं कर पाते थे ॥ ३ ॥

अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्यहरच्चापि कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥ ४ ॥

भीमसेन गुप्त रीतिसे धृतराष्ट्रको अप्रिय लगनेवाले काम किया करते थे तथा अपने द्वारा नियुक्त किये हुए कृतज्ञ पुरुषोंसे उनकी आज्ञा भी भङ्ग करा दिया करते थे ॥ ४ ॥

स्मरन् दुर्मन्त्रितं तस्य वृत्तान्यप्यस्य कानिचित् ।
अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाकरोत् ॥ ५ ॥
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ।
स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ॥ ६ ॥
प्रोवाचेदं सुसंरब्धो भीमः स परुषं वचः ।

राजा धृतराष्ट्रकी जो दुष्टतापूर्ण मन्त्रणाएँ होती थीं और तदनुसार ही जो उनके कई दुर्बर्ताव हुए थे, उन्हें सदा भीमसेन याद रखते थे। एक दिन अमर्षमें भरे हुए भीमसेनने अपने मित्रोंके बीचमें बारंबार अपनी भुजाओंपर ताल ठोंका और धृतराष्ट्र एवं गान्धारीको सुनाते हुए रोषपूर्वक यह कठोर वचन कहा। वे अपने शत्रु दुर्योधन, कर्ण और दुःशासनको याद करके यों कहने लगे— ॥ ५-६½ ॥

अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ॥ ७ ॥
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ।

'मित्रो ! मेरी भुजाएँ परिघके समान सुदृढ़ हैं। मैंने ही उस अंधे राजाके समस्त पुत्रोंको, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा युद्ध करते थे, यमलोकका अतिथि बनाया है ॥ ७½ ॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ॥ ८ ॥
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ।

'देखो, ये हैं मेरे दोनों परिघके समान सुदृढ़ एवं दुर्जय बाहुदण्ड; जिनके बीचमें पड़कर धृतराष्ट्रके बेटे पिस गये हैं ॥ ८½ ॥

ताविमौ चन्दनेनाक्तौ चन्दनार्हौ च मे भुजौ ॥ ९ ॥
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः ।

'ये मेरी दोनों भुजाएँ चन्दनसे चर्चित एवं चन्दन लगानेके ही योग्य हैं, जिनके द्वारा पुत्रों और बन्धु-बान्धवों-सहित राजा दुर्योधन नष्ट कर दिया गया' ॥ ९½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः ॥ १० ॥
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ।

ये तथा और भी नाना प्रकारकी भीमसेनकी कही हुई कठोर बातें जो हृदयमें काँटोंके समान कसक पैदा करनेवाली थीं, राजा धृतराष्ट्रने सुनीं। सुनकर उन्हें बड़ा खेद हुआ ॥

सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ॥ ११ ॥
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ।

समयके उलट-फेरको समझने और समस्त धर्मोंको जाननेवाली बुद्धिमती गान्धारी देवीने भी इन कठोर वचनोंको सुना था ॥ ११½ ॥

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ॥ १२ ॥
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ।

उस समयतक उन्हें राजा युधिष्ठिरके आश्रयमें रहते

पंद्रह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। पंद्रहवाँ वर्ष बीतनेपर भीमसेनके वाग्बाणोंसे पीड़ित हुए राजा धृतराष्ट्रको खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ १२½ ॥

नान्वबुध्यत तद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरको इस बातकी जानकारी नहीं थी। अर्जुन, कुन्ती तथा यशस्विनी द्रौपदीको भी इसका पता नहीं था ॥ १३½ ॥

माद्रीपुत्रौ च धर्मज्ञौ चित्तं तस्यान्ववर्तताम् ॥ १४ ॥
राज्ञस्तु चित्तं रक्षन्तौ नोचतुः किंचिदप्रियम् ।

धर्मके ज्ञाता माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव सदा राजा धृतराष्ट्रके मनोऽनुकूल ही बर्ताव करते थे । वे उनका मन रखते हुए कभी कोई अप्रिय बात नहीं कहते थे ॥ १४½ ॥

ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ॥ १५ ॥
बाष्पसंदिग्धमत्यर्थमिदमाह च तान् भृशम् ।

तदनन्तर धृतराष्ट्रने अपने मित्रोंको बुलवाया और नेत्रोंमें आँसू भरकर अत्यन्त गद्गद वाणीमें इस प्रकार कहा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विदितं भवतामेतद् यथा वृत्तः कुरुक्षयः ॥ १६ ॥
ममापराधात् तत् सर्वमनुज्ञातं च कौरवैः ।

धृतराष्ट्र बोले—मित्रो ! आपलोगोंको यह मालूम ही है कि कौरववंशका विनाश किस प्रकार हुआ है । समस्त कौरव इस बातको जानते हैं कि मेरे ही अपराधसे सारा अनर्थ हुआ है ॥ १६½ ॥

योऽहं दुष्टमतिं मन्दो ज्ञातीनां भयवर्धनम् ॥ १७ ॥
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।

दुर्योधनकी बुद्धिमें दुष्टता भरी थी। वह जाति-भाइयोंका भय बढ़ानेवाला था तो भी मुझ मूर्खने उसे कौरवोंके राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १७½ ॥

यच्चाहं वासुदेवस्य नाश्रौषं वाक्यमर्थवत् ॥ १८ ॥
वध्यतां साध्वयं पापः सामात्य इति दुर्मतिः ।
पुत्रस्नेहाभिभूतस्तु हितमुक्तो मनीषिभिः ॥ १९ ॥

मैंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी अर्थभरी बातें नहीं सुनीं। मनीषी पुरुषोंने मुझे यह हितकी बात बतायी थी कि इस खोटी बुद्धिवाले पापी दुर्योधनको मन्त्रियोंसहित मार डाला जाय, इसीमें संसारका हित है; किंतु पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर मैंने ऐसा नहीं किया ॥ १८-१९ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
पदे पदे भगवता व्यासेन च महात्मना ॥ २० ॥
संजयेनाथ गान्धार्या तदिदं तप्यते च माम् ।

विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, महात्मा भगवान् व्यास, संजय और गान्धारी देवीने भी मुझे पग-पगपर उचित सलाह दी, किंतु मैंने किसीकी बात नहीं मानी। यह भूल मुझे सदा संताप देती रहती है ॥ २०½ ॥

यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु गुणवत्सु महात्मसु ॥ २१ ॥
न दत्तवाञ्छ्रियं दीप्तां पितृपैतामहीमिमाम् ।

महात्मा पाण्डव गुणवान् हैं तथापि उनके बाप-दादोंकी यह उज्ज्वल सम्पत्ति भी मैंने उन्हें नहीं दी ॥ २१½ ॥

विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ॥ २२ ॥
एतच्छ्रेयस्तु परमममन्यत जनार्दनः ।

समस्त राजाओंका विनाश देखते हुए गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने यही परम कल्याणकारी माना कि मैं पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दूँ; परंतु मैं वैसा नहीं कर सका ॥२२½॥

सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनस्तदा ॥ २३ ॥
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ।

इस तरह अपनी की हुई हजारों भूलें मैं अपने हृदयमें धारण करता हूँ, जो इस समय काँटोंके समान कसक पैदा करती हैं ॥ २३½ ॥

विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽद्य वै ॥ २४ ॥
अस्य पापस्य शुद्ध्यर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ।

विशेषतः पंद्रहवें वर्षमें आज मुझ दुर्बुद्धिकी आँखें खुली हैं और अब मैं इस पापकी शुद्धिके लिये नियमका पालन करने लगा हूँ ॥ २४½ ॥

चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ॥ २५ ॥
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ।
करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ॥ २६ ॥

कभी चौथे समय (अर्थात् दो दिनपर) और कभी आठवें समय अर्थात् चार दिनपर केवल भूखकी आग बुझानेके लिये मैं थोड़ा-सा आहार करता हूँ । मेरे इस नियमको केवल गान्धारी देवी जानती हैं। अन्य सब लोगोंको यही मालूम है कि मैं प्रतिदिन पूरा भोजन करता हूँ ॥

युधिष्ठिरभयादेति भृशं तप्यति पाण्डवः ।
भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ॥ २७ ॥
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ।

लोग युधिष्ठिरके भयसे मेरे पास आते हैं। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझे आराम देनेके लिये अत्यन्त चिन्तित रहते हैं। मैं और यशस्विनी गान्धारी दोनों नियम-पालनके व्याजसे मृगचर्म पहन कुशासनपर बैठकर मन्त्रजप करते और भूमिपर सोते हैं ॥ २७½ ॥

हतं शतं तु पुत्राणां ययोर्युद्धेऽपलायिनाम् ॥ २८ ॥
नानुतप्यामि तच्चाहं क्षत्रधर्मं हि ते विदुः ।

हम दोनोंके युद्धमें पीठ न दिखानेवाले सौ पुत्र मारे गये हैं, किंतु उनके लिये मुझे दुःख नहीं है; क्योंकि वे क्षत्रिय धर्मको जानते थे (और उसीके अनुसार उन्होंने युद्धमें प्राण-त्याग किया है) ॥ २८½ ॥

इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ॥ २९ ॥
भद्रं ते यादवीमातर्वचश्चेदं निबोध मे ।

अपने सुहृदोंसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्र राजा युधिष्ठिरसे बोले—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम मेरी यह बात सुनो ॥ २९½ ॥

सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ॥ ३० ॥
महादानानि दत्तानि श्राद्धानि च पुनः पुनः ।

'बेटा ! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित होकर मैं यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ । मैंने बड़े-बड़े दान दिये हैं और बारंबार श्राद्धकर्मोंका अनुष्ठान किया है ॥ ३०½ ॥

प्रकृष्टं च यया पुत्र पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ॥ ३१ ॥
गान्धारी हतपुत्रेयं धैर्येणोदीक्षते च माम् ।

'पुत्र ! जिसने अपनी शक्तिके अनुसार उत्कृष्ट पुण्यका अनुष्ठान किया है और जिसके सौ पुत्र मारे गये हैं, वही यह गान्धारीदेवी धैर्यपूर्वक मेरी देख-भाल करती है ॥

द्रौपद्या ह्यपकर्तारस्तव चैश्वर्यहारिणः ॥ ३२ ॥
समतीता नृशंसास्ते स्वधर्मेण हता युधि ।
न तेषु प्रतिकर्तव्यं पश्यामि कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन ! जिन्होंने द्रौपदीके साथ अत्याचार किया, तुम्हारे ऐश्वर्यका अपहरण किया, वे क्रूरकर्मी मेरे पुत्र क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये हैं । अब उनके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती है ॥ ३२-३३ ॥

सर्वे शस्त्रभृतां लोकान् गतास्तेऽभिमुखं हताः ।
आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्यमद्य वै ॥ ३४ ॥
गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि ।

'वे सब युद्धमें सम्मुख मारे गये हैं, अतः शस्त्रधारियोंको मिलनेवाले लोकोंमें गये हैं । राजेन्द्र ! अब तो मुझे और गान्धारीदेवीको अपने हितके लिये पवित्र तप करना है; अतः इसके लिये हमें अनुमति दो ॥ ३४½ ॥

त्वं तु शस्त्रभृतां श्रेष्ठः सततं धर्मवत्सलः ॥ ३५ ॥
राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ॥ ३६ ॥

'तुम शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले हो । राजा समस्त प्राणियोंके लिये गुरुजनकी भाँति आदरणीय होता है । इसलिये तुमसे ऐसा अनुरोध करता हूँ । वीर ! तुम्हारी अनुमति मिल जानेपर मैं वनको चला जाऊँगा ॥ ३५-३६ ॥

चीरवल्कलभृद् राजन् गान्धार्या सहितोऽनया ।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥ ३७ ॥

'राजन् ! वहाँ मैं चीर और वल्कल धारण करके इस गान्धारीके साथ वनमें विचरूँगा और तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा ॥ ३७ ॥

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥ ३८ ॥

'तात ! भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! हमारे कुलके सभी राजाओंके लिये यही उचित है कि वे अन्तिम अवस्थामें पुत्रोंको राज्य देकर स्वयं वनमें पधारें ॥ ३८ ॥

तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन् ।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ॥ ३९ ॥

'वीर ! वहाँ मैं वायु पीकर अथवा उपवास करके रहूँगा तथा अपनी इस धर्मपत्नीके साथ उत्तम तपस्या करूँगा॥

त्वं चापि फलभाक् तात तपसः पार्थिवो ह्यसि ।
फलभाजो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम भी उस तपस्याके उत्तम फलके भागी बनोगे; क्योंकि तुम राजा हो और राजा अपने राज्यके भीतर होनेवाले भले-बुरे सभी कर्मोंके फलभागी होते हैं' ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप ।
धिङ्मामस्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! आप यहाँ रहकर इस प्रकार दुःख उठा रहे थे और मुझे इसकी जानकारी न हो सकी, इसलिये अब यह राज्य मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता । हाय ! मेरी बुद्धि कितनी खराब है ? मुझ-जैसे प्रमादी और राज्यासक्त पुरुषको धिक्कार है ॥ ४१ ॥

योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं भृशम् ।
जिताहारं क्षितिशयं न विन्दे भ्रातृभिः सह ॥ ४२ ॥

आप दुःखसे आतुर और उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल होकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं तथा भोजनपर भी संयम कर लिया है और मैं भाइयोंसहित आपकी इस अवस्थाका पता ही न पा सका ॥ ४२ ॥

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना ।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमन्वभूः ॥ ४३ ॥

अहो ! आपने अपने विचारोंको छिपाकर मुझ मूर्खको अबतक धोखेमें ही डाल रखा था; क्योंकि पहले मुझे यह विश्वास दिलाकर कि मैं सुखी हूँ, आप आजतक यह दुःख भोगते रहे ॥ ४३ ॥

किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा ।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ॥ ४४ ॥

महाराज ! इस राज्यसे, इन भोगोंसे, इन यज्ञोंसे अथवा

इस सुख-सामग्रीसे मुझे क्या लाभ हुआ ? जब कि मेरे ही पास रहकर आपको इतने दुःख उठाने पड़े ॥ ४४ ॥

पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च ।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! आप दुखी होकर जो ऐसी बात कह रहे हैं, इससे मैं उस समस्त राज्यको और अपनेको भी दुःखित समझता हूँ ॥ ४५ ॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः।
भवता विप्रहीणा वै क्व नु तिष्ठामहे वयम् ॥ ४६ ॥

आप ही हमारे पिता, आप ही माता और आप ही हमारे परम गुरु हैं । आपसे विलग होकर हम कहाँ रहेंगे ॥

औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम ।
अस्तु राजा महाराज यमन्यं मन्यते भवान् ॥ ४७ ॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु ।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥ ४८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! युयुत्सु आपके औरस पुत्र हैं; ये ही राजा हों अथवा और किसीको जिसे आप उचित समझते हों, राजा बना दें या स्वयं ही इस राज्यका शासन करें । मैं ही वनको चला जाऊँगा । पिताजी ! मैं पहलेसे ही अपयश-की आगमें जल चुका हूँ, अब पुनः आप भी मुझे न जलाइये ॥ ४७-४८ ॥

नाहं राजा भवान् राजा भवतः परवानहम् ।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥ ४९ ॥

मैं राजा नहीं, आप ही राजा हैं । मैं तो आपकी आज्ञा-के अधीन रहनेवाला सेवक हूँ । आप धर्मके ज्ञाता गुरु हैं । मैं आपको कैसे आज्ञा दे सकता हूँ ॥ ४९ ॥

न मन्युर्हृदि नः कश्चित् सुयोधनकृतेऽनघ ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥ ५० ॥

निष्पाप नरेश ! दुर्योधनने जो कुछ किया है, उसके लिये हमारे हृदयमें तनिक भी क्रोध नहीं है । जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी । हम और दूसरे लोग उसीसे मोहित थे ॥ ५० ॥

वयं पुत्रा हि भवतो यथा दुर्योधनादयः ।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥ ५१ ॥

जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र थे, वैसे ही हम भी हैं । मेरे लिये गान्धारी और कुन्तीमें कोई अन्तर नहीं है ॥५१॥

स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि ।
पृष्ठतस्त्वनुयास्यामि सत्यमात्मानमालभे ॥ ५२ ॥

राजन् ! यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अपनी सौगन्ध खाकर सत्य कहता हूँ कि मैं भी आपके पीछे-पीछे चल दूँगा ॥ ५२ ॥

इयं हि वसुसम्पूर्णा मही सागरमेखला ।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥ ५३ ॥

आपके त्याग देनेपर यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीका राज्य भी मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता ॥ ५३ ॥

भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये ।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५४ ॥

राजेन्द्र ! यह सब कुछ आपका है । मैं आपके चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न हो जाइये । हम सब लोग आपके अधीन हैं । आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ५४ ॥

भवितव्यमनुप्राप्तो मन्ये त्वं वसुधाधिप ।
दिष्ट्या शुश्रूषमाणस्त्वां मोक्षिष्ये मनसो ज्वरम् ॥ ५५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैं समझता हूँ कि आप भवितव्यताके वशमें पड़ गये थे । यदि सौभाग्यवश मुझे आपकी सेवाका अवसर मिलता रहा तो मेरी मानसिक चिन्ता दूर हो जायगी ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन ।
उचितं च कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥ ५६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! कुरुनन्दन ! अब मेरा मन तपस्यामें ही लग रहा है । प्रभो ! जीवनकी अन्तिम अवस्थामें वनको जाना हमारे कुलके लिये उचित भी है ॥ ५६ ॥

चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया ।
वृद्धं मामप्यनुज्ञातुमर्हसि त्वं नराधिप ॥ ५७ ॥

पुत्र ! नरेश्वर ! मैं दीर्घकालतक तुम्हारे पास रह चुका और तुमने भी बहुत दिनोंतक मेरी सेवा-शुश्रूषा की । अब मेरी वृद्धावस्था आ गयी । अब तो मुझे वनमें जानेकी अनुमति देनी ही चाहिये ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजानं वेपमानं कृताञ्जलिम् ।
उवाच वचनं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ५८ ॥
संजयं च महात्मानं कृपं चापि महारथम् ।
अनुनेतुमिहेच्छामि भवद्भिर्वसुधाधिपम् ॥ ५९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर काँपने लगे और हाथ जोड़कर चुपचाप बैठे रहे । अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने उनसे उपर्युक्त बात कहकर महात्मा संजय और महारथी कृपाचार्यसे कहा—'मैं आपलोगोंके द्वारा राजा युधिष्ठिरको समझाना चाहता हूँ' ॥ ५८-५९ ॥

[ग्]लायते मे मनो हीदं मुखं च परिशुष्यति ।
[व]यसा च प्रकृष्टेन वाग्व्यायामेन चैव ह ॥ ६० ॥

'एक तो मेरी वृद्धावस्था और दूसरे बोलनेका परिश्रम, [इ]न कारणोंसे मेरा जी घबरा रहा है और मुँह सूखा [ज]ाता है' ॥ ६० ॥

[इ]त्युक्त्वा स तु धर्मात्मा वृद्धो राजा कुरूद्वहः ।
[ग]ान्धारीं शिश्रिये धीमान् सहसैव गतासुवत्॥ ६१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा बूढ़े राजा कुरुकुलशिरोमणि [बु]द्धिमान् धृतराष्ट्रने सहसा ही निर्जीवकी भाँति गान्धारीका [स]हारा ले लिया ॥ ६१ ॥

[त]ं तु दृष्ट्वा समासीनं विसंज्ञमिव कौरवम् ।
[आ]र्तिं राजागमत् तीव्रां कौन्तेयः परवीरहा ॥ ६२ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रको संज्ञाहीन-सा बैठा देख शत्रुवीरोंका [संह]ार करनेवाले कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरको बड़ा दुःख [हु]आ ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

[य]स्य नागसहस्रेण शतसंख्येन वै बलम् ।
[सो]ऽयं नारीं व्यपाश्रित्य शेते राजा गतासुवत्॥ ६३ ॥

युधिष्ठिरने कहा--ओह ! जिसमें एक लाख हाथियों-[के] समान बल था, वे ही ये राजा धृतराष्ट्र आज प्राणहीन-से [हो]कर स्त्रीका सहारा लिये सो रहे हैं ॥ ६३ ॥

[आ]यसी प्रतिमा येन भीमसेनस्य सा पुरा ।
[चू]र्णीकृता बलवता सोऽबलामाश्रितः स्त्रियम् ॥ ६४ ॥

जिन बलवान् नरेशने पहले भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमा-को चूर्ण कर डाला था, वे आज अबला नारीके सहारे पड़े हैं ॥ ६४ ॥

धिगस्तु मामधर्मज्ञं धिग् बुद्धिं धिक् च मे श्रुतम्।
यत्कृते पृथिवीपालः शेतेऽयमतथोचितः ॥ ६५ ॥

मुझे धर्मका कोई ज्ञान नहीं है । मुझे धिक्कार है । मेरी बुद्धि और विद्याको भी धिक्कार है, जिसके कारण ये महाराज इस समय अपने लिये अयोग्य अवस्थामें पड़े हुए हैं ॥६५॥

अहमप्युपवत्स्यामि यथैवायं गुरुर्मम ।
यदि राजा न भुङ्क्तेऽयं गान्धारी च यशस्विनी॥ ६६ ॥

यदि यशस्विनी गान्धारी देवी और राजा धृतराष्ट्र भोजन नहीं करते हैं तो अपने इन गुरुजनोंकी भाँति मैं भी उपवास करूँगा ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्य पाणिना राजन् जलशीतेन पाण्डवः ।
उरो मुखं च शनकैः पर्यमार्जत धर्मवित् ॥ ६७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर धर्मके ज्ञाता पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने जलसे शीतल किये हुए हाथसे धृतराष्ट्रकी छाती और मुँहको धीरे-धीरे पोंछा ॥६७॥

तेन रत्नौषधिमता पुण्येन च सुगन्धिना ।
पाणिस्पर्शेन राज्ञः स राजा संज्ञामवाप ह ॥ ६८ ॥

महाराज युधिष्ठिरके रत्नौषधिसम्पन्न उस पवित्र एवं सुगन्धित कर-स्पर्शसे राजा धृतराष्ट्रकी चेतना लौट आयी॥६८॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्पृश मां पाणिना भूयः परिष्वज च पाण्डव ।
जीवामीवातिसंस्पर्शात् तव राजीवलोचन ॥ ६९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कमलनयन पाण्डुनन्दन ! तुम फिरसे मेरे शरीरपर अपना हाथ फेरो और मुझे छातीसे लगा लो । तुम्हारे सुखदायक स्पर्शसे मानो मेरे शरीरमें प्राण आ जाते हैं ॥ ६९ ॥

मूर्धानं च तवाघ्रातुमिच्छामि मनुजाधिप ।
पाणिभ्यां हि परिस्प्रष्टुं प्रीणनं हि महन्मम ॥ ७० ॥

नरेश्वर ! मैं तुम्हारा मस्तक सूँघना चाहता हूँ और अपने दोनों हाथोंसे तुम्हें स्पर्श करनेकी इच्छा रखता हूँ । इससे मुझे परम तृप्ति मिल रही है ॥ ७० ॥

अष्टमो ह्यद्य कालोऽयमाहारस्य कृतस्य मे ।
येनाहं कुरुशार्दूल शक्नोमि न विचेष्टितुम् ॥ ७१ ॥

पिछले दिनों जब मैंने भोजन किया था, तबसे आज यह आठवाँ समय–चौथा दिन पूरा हो गया है। कुरुश्रेष्ठ ! इसीसे शिथिल होकर मैं कोई चेष्टा नहीं कर पाता ॥ ७१ ॥

व्यायामश्चायमत्यर्थं कृतस्त्वामभियाचता ।
ततो ग्लानमनास्तात नष्टसंज्ञ इवाभवम् ॥ ७२ ॥

तात ! तुमसे अनुरोध करनेके लिये बोलते समय मुझे बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ा है । अतः क्षीणशक्ति होकर मैं अचेत-सा हो गया था ॥ ७२ ॥

तवामृतरसप्रख्यं हस्तस्पर्शमिमं प्रभो ।
लब्ध्वा संजीवितोऽस्मीति मन्ये कुरुकुलोद्वह ॥ ७३ ॥

प्रभो ! तुम्हारे हाथोंका यह स्पर्श अमृत-रसके समान शीतल एवं सुखद है । कुरुकुलनाथ ! इसे पाकर मुझमें नया जीवन आ गया है, मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पित्रा ज्येष्ठेन भारत ।
पस्पर्श सर्वगात्रेषु सौहार्दात् तं शनैस्तदा ॥ ७४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! अपने ज्येष्ठ पितृव्य धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बड़े स्नेहके साथ उनके समस्त अङ्गोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरा ॥ ७४ ॥

उपलभ्य ततः प्राणान् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्याजिघ्रत पाण्डवम् ॥ ७५ ॥

उनके स्पर्शसे राजा धृतराष्ट्रके शरीरमें मानो नूतन प्राण आ गये और उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे युधिष्ठिरको छातीसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा ॥ ७५ ॥

विदुरादयश्च ते सर्वे रुरुदुर्दुःखिता भृशम् ।
अतिदुःखात् तु राजानं नोचुः किंचन पाण्डवम् ॥ ७६ ॥

यह करुण दृश्य देखकर विदुर आदि सब लोग अत्यन्त दुखी हो रोने लगे । अधिक दुःखके कारण वे लोग पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कुछ न बोले ॥ ७६ ॥

गान्धारी त्वेव धर्मज्ञा मनसोद्वहती भृशम् ।
दुःखान्यधारयद् राजन् मैवमित्येव चाब्रवीत् ॥ ७७ ॥

धर्मको जाननेवाली गान्धारी अपने मनमें दुःखका बड़ा भारी बोझ ढो रही थी । उसने दुःखोंको मनमें ही दबा लिया और रोते हुए लोगोंसे कहा—'ऐसा न करो' ॥ ७७ ॥

इतरास्तु स्त्रियः सर्वाः कुन्त्या सह सुदुःखिताः ।
नेत्रैरागतविक्लेदैः परिवार्य स्थिताऽभवन् ॥ ७८ ॥

कुन्तीके साथ कुरुकुलकी अन्य स्त्रियाँ भी अत्यन्त दुखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई उन्हें घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ ७८ ॥

अथाब्रवीत् पुनर्वाक्यं धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम् ।
अनुजानीहि मां राजंस्तापस्ये भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! मुझे तपस्याके लिये अनुमति दे दो ॥ ७९ ॥

ग्लायते मे मनस्तात भूयो भूयः प्रजल्पतः ।
न मामतः परं पुत्र परिक्लेष्टुमिहार्हसि ॥ ८०

'तात ! बार-बार बोलनेसे मेरा जी घबराता है, अ बेटा ! अब मुझे अधिक कष्टमें न डालो' ॥ ८० ॥

तस्मिंस्तु कौरवेन्द्रे तं तथा ब्रुवति पाण्डवम् ।
सर्वेषामेव योधानामार्तनादो महानभूत् ॥ ८१

कौरव-राज धृतराष्ट्र जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसी कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित हुए समस्त यो महान् आर्तनाद (हाहाकार) करने लगे ॥ ८१ ॥

दृष्ट्वा कृशं विवर्णं च राजानमतथोचितम् ।
उपवासपरिश्रान्तं त्वगस्थिपरिवारणम् ॥ ८२
धर्मपुत्रः स्वपितरं परिष्वज्य महाप्रभुम् ।
शोकजं बाष्पमुत्सृज्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ८३

अपने ताऊ महाप्रभु राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार उपव करनेके कारण थके हुए, दुर्बल, कान्तिहीन, अस्थिचर्मावशि और अयोग्य अवस्थामें स्थित देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर शो जनित आँसू बहाते हुए उनसे इस प्रकार बोले—॥८२-८

न कामये नरश्रेष्ठ जीवितं पृथिवीं तथा ।
यथा तव प्रियं राजंश्चिकीर्षामि परंतप ॥ ८४

'नरश्रेष्ठ ! मैं न तो जीवन चाहता हूँ न पृथ्वीका राज्य परंतप नरेश ! जिस तरह भी आपका प्रिय हो, वही करना चाहता हूँ ॥ ८४ ॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतो दयितोऽपि वा ।
क्रियतां तावदाहारस्ततो वेत्स्याम्यहं परम् ॥ ८५

'यदि आप मुझे अपनी कृपाका पात्र समझते हों अ यदि मैं आपका प्रिय होऊँ तो मेरी प्रार्थनासे इस सम भोजन कीजिये । इसके बाद मैं आगेकी बात सोचूँगा'॥८५

ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम् ।
अनुज्ञातस्त्वया पुत्र भुञ्जीयामिति कामये ॥ ८६

तब महातेजस्वी धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा ! तु मुझे वनमें जानेकी अनुमति दे दो तो मैं भोजन करूँ; य मेरी इच्छा है' ॥ ८६ ॥

इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम् ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ८७

महाराज धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे ये बातें कह ही रहे थे । सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और इ प्रकार कहने लगे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्वेदे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका निर्वेदविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

व्यासजीके समझानेसे युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रको वनमें जानेके लिये अनुमति देना

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो यथाह कुरुनन्दनः।
धृतराष्ट्रो महातेजास्तत् कुरुष्वाविचारयन्॥ १॥

व्यासजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महातेजस्वी धृतराष्ट्र जो कुछ कह रहे हैं, उसे बिना विचारे पूरा करो॥ १॥

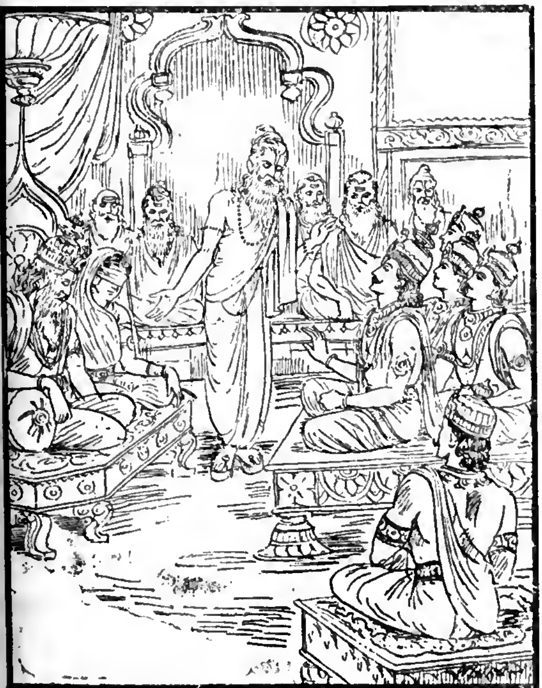

अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम॥ २॥

अब ये राजा बूढ़े हो गये हैं, विशेषतः इनके सभी पुत्र नष्ट हो चुके हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि अब ये इस कष्टको अधिक कालतक नहीं सह सकेंगे॥ २॥

गान्धारी च महाभागा प्राज्ञा करुणवेदिनी।
पुत्रशोकं महाराज धैर्येणोद्वहते भृशम्॥ ३॥

महाराज! महाभागा गान्धारी परम विदुषी और करुणाका अनुभव करनेवाली हैं;इसीलिये ये महान् पुत्रशोक-को धैर्यपूर्वक सहती चली आ रही हैं॥ ३॥

अहमप्येतदेव त्वां ब्रवीमि कुरु मे वचः।
अनुज्ञां लभतां राजा मा वृथेह मरिष्यति॥ ४॥

मैं भी तुमसे यही कहता हूँ, तुम मेरी बात मानो। राजा धृतराष्ट्रको तुम्हारी ओरसे वनमें जानेकी अनुमति मिलनी ही चाहिये, नहीं तो यहाँ रहनेसे इनकी व्यर्थ मृत्यु होगी॥ ४॥

राजर्षीणां पुराणानामनुयातु गतिं नृपः।
राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रयः॥ ५॥

तुम उन्हें अवसर दो, जिससे ये नरेश प्राचीन राजर्षियोंके पथका अनुसरण कर सकें। समस्त राजर्षियोंने जीवनके अन्तिम भागमें वनका ही आश्रय लिया है॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तदा राजा व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
प्रत्युवाच महातेजा धर्मराजो महामुनिम्॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अद्भुतकर्मा व्यासजीके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने उन महामुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६॥

भगवानेव नो मान्यो भगवानेव नो गुरुः।
भगवानस्य राज्यस्य कुलस्य च परायणम्॥ ७॥

'भगवन्! आप ही हमलोगोंके माननीय और आप ही हमारे गुरु हैं। इस राज्य और पुरके परम आधार भी आप ही हैं॥ ७॥

अहं तु पुत्रो भगवन् पिता राजा गुरुश्च मे।
निदेशवर्ती च पितुः पुत्रो भवति धर्मतः॥ ८॥

'भगवन्! राजा धृतराष्ट्र हमारे पिता और गुरु हैं। धर्मतः पुत्र ही पिताकी आज्ञाके अधीन होता है। (वह पिताको आज्ञा कैसे दे सकता है)'॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु तं प्राह व्यासो वेदविदां वरः।
युधिष्ठिरं महातेजाः पुनरेव महाकविः॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, महातेजस्वी, महाज्ञानी व्यासजीने युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उन्हें समझाते हुए पुनः इस प्रकार कहा—॥ ९॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
राजायं वृद्धतां प्राप्तः प्रमाणे परमे स्थितः॥ १०॥

'महाबाहु भरतनन्दन! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही ठीक है, तथापि राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो गये हैं और अन्तिम अवस्थामें स्थित हैं॥ १०॥

सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः।
करोतु स्वमभिप्रायं मास्य विघ्नकरो भव॥ ११॥

'अतः अब ये भूपाल मेरी और तुम्हारी अनुमति लेकर तपस्याके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करें। इनके शुभ कार्यमें विघ्न न डालो॥ ११॥

एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम्॥ १२॥

'युधिष्ठिर! राजर्षियोंका यही परम धर्म है कि युद्धमें अथवा वनमें उनकी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मृत्यु हो॥ १२॥

पित्रा तु तव राजेन्द्र पाण्डुना पृथिवीक्षिता।
शिष्यवृत्तेन राजायं गुरुवत् पर्युपासितः॥ १३॥

'राजेन्द्र! तुम्हारे पिता राजा पाण्डुने भी धृतराष्ट्रको गुरुके समान मानकर शिष्यभावसे इनकी सेवा की थी॥ १३॥

क्रतुभिर्दक्षिणावद्भी रत्नपर्वतशोभितैः।
महद्भिरिष्टं गौर्भुक्ता प्रजाश्च परिपालिताः॥ १४॥

'इन्होंने रत्नमय पर्वतोंसे सुशोभित और प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं, पृथ्वीका राज्य भोगा है और प्रजाका भलीभाँति पालन किया है॥ १४॥

पुत्रसंस्थं च विपुलं राज्यं विप्रोषिते त्वयि।
त्रयोदशसमा भुक्तं दत्तं च विविधं वसु॥ १५॥

'जब तुम वनमें चले गये थे, उन दिनों तेरह वर्षोंतक अपने पुत्रके अधीन रहनेवाले विशाल राज्यका इन्होंने उपभोग किया और नाना प्रकारके धन दिये हैं॥ १५॥

त्वया चायं नरव्याघ्र गुरुशुश्रूषयानघ।
आराधितः सभृत्येन गान्धारी च यशस्विनी॥ १६॥

'निष्पाप नरव्याघ्र! सेवकोंसहित तुमने भी गुरुसेवाके भावसे इनकी तथा यशस्विनी गान्धारी देवीकी आराधना की है॥ १६॥

अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ।
न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर॥ १७॥

'अतः तुम अपने पिताको वनमें जानेकी अनुमति दे दो; क्योंकि अब इनके तप करनेका समय आया है। युधिष्ठिर! इनके मनमें तुम्हारे ऊपर अणुमात्र भी रोष नहीं है'॥ १७॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनमनुमान्य च पार्थिवम्।
तथास्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम्॥ १८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर महर्षि व्यासने राजा युधिष्ठिरको राजी कर लिया और 'बहुत अच्छा,' कहकर जब युधिष्ठिरने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब वे वनमें अपने आश्रमपर चले गये॥ १८॥

गते भगवति व्यासे राजा पाण्डुसुतस्तदा।
प्रोवाच पितरं वृद्धं मन्दं मन्दमिवानतः॥ १९॥

भगवान् व्यासके चले जानेपर राजा युधिष्ठिरने अपने बूढ़े ताऊ धृतराष्ट्रसे नम्रतापूर्वक धीरे-धीरे कहा—॥ १९॥

यदाह भगवान् व्यासो यच्चापि भवतो मतम्।
यथाऽऽह च महेष्वासः कृपो विदुर एव च॥ २०॥
युयुत्सुः संजयश्चैव तत्कर्तास्म्यहमञ्जसा।
सर्वे एव हि मान्या मे कुलस्य हि हितैषिणः॥ २१॥

'पिताजी! भगवान् व्यासने जो आज्ञा दी है और आपने जो कुछ करनेका निश्चय किया है तथा महान् धनुर्धर कृपाचार्य, विदुर, युयुत्सु और संजय जैसा कहेंगे, निस्संदेह मैं वैसा ही करूँगा; क्योंकि ये सब लोग इस कुलके हितैषी होनेके कारण मेरे लिये माननीय हैं॥२०-२१॥

इदं तु याचे नृपते त्वामहं शिरसा नतः।
क्रियतां तावदाहारस्ततो गच्छाश्रमं प्रति॥ २२॥

'किंतु नरेश्वर! इस समय आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि पहले भोजन कर लीजिये, फिर आश्रमको जाइयेगा'॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासानुज्ञायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासकी आज्ञाविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा युधिष्ठिरको राजनीतिका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
ययौ स्वभवनं राजा गान्धार्यानुगतस्तदा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर जनमेजय! राजा युधिष्ठिरकी अनुमति पाकर प्रतापी राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके साथ अपने भवनमें गये॥ १॥

मन्दप्राणगतिर्धीमान् कृच्छ्रादिव समुद्वहन्।
पदातिः स महीपालो जीर्णो गजपतिर्यथा॥ २॥

उस समय उनकी चलने-फिरनेकी शक्ति बहुत कम हो गयी थी। वे बुद्धिमान् भूपाल बूढ़े हाथीकी भाँति पैदल चलते समय बड़ी कठिनाईसे पैर उठाते थे॥ २॥

तमन्वगच्छद् विदुरो विद्वान् सूतश्च संजयः।
स चापि परमेष्वासः कृपः शारद्वतस्तथा॥ ३॥

उस समय उनके पीछे-पीछे ज्ञानी विदुर, सारथि संजय तथा शरद्वान्‌के पुत्र महाधनुर्धर कृपाचार्य भी गये॥ ३॥

स प्रविश्य गृहं राजन् कृतपूर्वाह्णिकक्रियः।
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठानाहारमकरोत् तदा॥ ४॥

राजन् ! घरमें प्रवेश करके उन्होंने पूर्वाह्णकालकी धार्मिक क्रिया पूरी की; फिर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अन्न-पान आदिसे तृप्त करके स्वयं भी भोजन किया ॥ ४ ॥

गान्धारी चैव धर्मज्ञा कुन्त्या सह मनस्विनी ।
वधूभिरुपचारेण पूजिताभुङ्क्त भारत ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! इसी प्रकार धर्मको जाननेवाली मनस्विनी गान्धारी देवीने भी कुन्तीसहित पुत्रवधुओंद्वारा विविध उपचारोंसे पूजित होकर आहार ग्रहण किया ॥ ५ ॥

कृताहारं कृताहाराः सर्वे ते विदुरादयः ।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रके भोजन कर लेनेपर पाण्डव तथा विदुर आदि सब लोगोंने भी भोजन किया, फिर सब-के-सब धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे ।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥ ७ ॥

महाराज ! उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको एकान्तमें अपने निकट बैठा जान धृतराष्ट्रने उनकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—॥ ७ ॥

अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन ।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥ ८ ॥

'कुरुनन्दन ! राजसिंह ! इस आठ अङ्गोंवाले राज्यमें तुम सदा धर्मको ही आगे रखना और इसके संरक्षण और संचालनमें कभी किसी तरह भी प्रमाद न करना ॥ ८ ॥

तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन ।
राज्यं धर्मेण कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत् ॥ ९ ॥

'महाराज पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! राज्यकी रक्षा धर्मसे ही हो सकती है। इस बातको तुम स्वयं भी जानते हो तथापि मुझसे भी सुनो ॥ ९ ॥

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर ।
शृणुयास्ते च यद् ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥ १० ॥

'युधिष्ठिर ! विद्यामें बढ़े-चढ़े विद्वान् पुरुषोंका सदा ही सङ्ग किया करो। वे जो कुछ कहें, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और उसका बिना विचारे पालन करो ॥ १० ॥

प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ॥ ११ ॥

'राजन् ! प्रातःकाल उठकर उन विद्वानोंका यथायोग्य सत्कार करके कोई कार्य उपस्थित होनेपर उनसे अपना कर्तव्य पूछो ॥ ११ ॥

ते तु सम्मानिता राजंस्त्वया कार्यहितार्थिना ।
प्रवक्ष्यन्ति हितं तात सर्वथा तव भारत ॥ १२ ॥

'राजन् ! तात ! भरतनन्दन ! अपना हित करनेकी इच्छासे तुम्हारे द्वारा सम्मानित होनेपर वे सर्वथा तुम्हारे हितकी ही बात बतायेंगे ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत् परिपालय ।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ॥ १३ ॥

'जैसे सारथि घोड़ोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखकर उनकी रक्षा करो। ऐसा करनेसे वे इन्द्रियाँ सुरक्षित धनकी भाँति भविष्यमें तुम्हारे लिये निश्चय ही हितकर होंगी ॥ १३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्यांश्च पुण्यान् सर्वेषु योजयेः ॥ १४ ॥

'जो जाँचे-बूझे हुए तथा निष्कपटभावसे काम करनेवाले हों, जो पिता-पितामहोंके समयसे काम देखते आ रहे हों तथा जो बाहर-भीतरसे शुद्ध, संयमी और जन्म एवं कर्मसे भी पवित्र हों, ऐसे मन्त्रियोंको ही सब तरहके उत्तरदायित्वपूर्ण कार्योंमें नियुक्त करना ॥ १४ ॥

चारयेथाश्च सततं चारैरविदितः परैः ।
परीक्षितैर्बहुविधैः स्वराष्ट्रप्रतिवासिभिः ॥ १५ ॥

'जिनकी किसी अवसरपर परीक्षा कर ली गयी हो और जो अपने ही राज्यके भीतर निवास करनेवाले हों, ऐसे अनेक जासूसोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुओंका गुप्त भेद लेते रहना और प्रयत्नपूर्वक ऐसी चेष्टा करना, जिससे शत्रु तुम्हारा भेद न जान सकें ॥ १५ ॥

पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसम्बाधं षट्पदं सर्वतोदिशम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारे नगरकी रक्षाका पूर्ण प्रबन्ध रहना चाहिये ।

उसके चारों ओरकी दीवारें तथा मुख्य द्वार अत्यन्त सुदृढ़ होने चाहिये। बीचका सारा नगर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओंसे भरा होना चाहिये। सब दिशाओंमें छः चहारदीवारियाँ बननी चाहिये ॥ १६ ॥

तस्य द्वाराणि सर्वाणि पर्याप्तानि बृहन्ति च।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ॥ १७ ॥

'नगरके सभी दरवाजे विस्तृत एवं विशाल हों। सब ओर उनकी रक्षाके लिये यन्त्र लगे हों तथा उन द्वारोंका विभाग सुन्दर ढंगसे सम्पन्न हो ॥ १७ ॥

पुरुषैरलमर्थस्ते विदितैः कुलशीलतः।
आत्मा च रक्ष्यः सततं भोजनादिषु भारत ॥ १८ ॥

'भारत ! जिन मनुष्योंके कुल और शील अच्छी तरह ज्ञात हों, उन्हींसे तुम्हें काम लेना चाहिये। भोजन आदिके अवसरोंपर सदा तुम्हें आत्मरक्षापर ध्यान देना चाहिये ॥१८॥

विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च।
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ॥ १९ ॥
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर।

'आहार-विहारके समय तथा माला पहनने, शय्यापर सोने और आसनोंपर बैठनेके समय भी तुम्हें सावधानीके साथ अपनी रक्षा करनी चाहिये। युधिष्ठिर ! कुलीन, शीलवान्, विद्वान्, विश्वासपात्र एवं वृद्ध पुरुषोंकी अध्यक्षतामें रखकर तुम्हें अन्तःपुरकी स्त्रियोंकी रक्षाका सुन्दर प्रबन्ध करना चाहिये ॥ १९½ ॥

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान् विद्याविशारदान्॥२०॥
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून्।
तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ॥ २१ ॥

'राजन् ! तुम उन्हीं ब्राह्मणोंको अपने मन्त्री बनाओ, जो विद्यामें प्रवीण, विनम्रशील, कुलीन, धर्म और अर्थमें कुशल तथा सरल स्वभाववाले हों। उन्हींके साथ तुम गूढ़ विषयपर विचार करो; किंतु अधिक लोगोंको साथ लेकर देरतक मन्त्रणा नहीं करनी चाहिये ॥ २०-२१ ॥

समस्तैरपि च व्यस्तैर्व्यपदेशेन केनचित्।
सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलं चारुह्य मन्त्रयेः ॥ २२ ॥

'सम्पूर्ण मन्त्रियोंको अथवा उनमेंसे दो-एकको किसी कामके बहाने चारों ओरसे घिरे हुए बंद कमरेमें या खुले मैदानमें ले जाकर उनके साथ किसी गूढ़ विषयपर विचार करना ॥ २२ ॥

अरण्ये निःशलाके वा न च रात्रौ कथंचन।
वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुसारिणः ॥ २३ ॥
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गवः।

'जहाँ अधिक घास-फूस या झाड़-झंखाड़ न हो, ऐसे जंगलमें भी गुप्त मन्त्रणा की जा सकती है; परंतु रात्रिके समय इन स्थानोंमें किसी तरह गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। मनुष्योंका अनुसरण करनेवाले जो वानर और पक्षी आदि हैं, उन सबको तथा मूर्ख एवं पङ्गु मनुष्योंको भी मन्त्रणागृहमें नहीं आने देना चाहिये ॥ २३½ ॥

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ॥ २४ ॥
न ते शक्याः समाधातुं कथंचिदिति मे मतिः।

'गुप्त मन्त्रणाके दूसरोंपर प्रकट हो जानेसे राजाओंको जो संकट प्राप्त होते हैं, उनका किसी तरह समाधान नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २४½ ॥

दोषांश्च मन्त्रभेदस्य ब्रूयास्त्वं मन्त्रिमण्डले ॥ २५ ॥
अभेदे च गुणा राजन् पुनः पुनररिंदम।

'शत्रुदमन नरेश ! गुप्त मन्त्रणा फूट जानेपर जो दोष पैदा होते हैं और न फूटनेसे जो लाभ होते हैं, उनको तुम मन्त्रिमण्डलके समक्ष बारंबार बतलाते रहना ॥ २५½ ॥

पौरजानपदानां च शौचाशौचे युधिष्ठिर ॥ २६ ॥
यथा स्याद् विदितं राजंस्तथा कार्यं कुरूद्वह।

'राजन् ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! नगर और जनपदके लोगोंका हृदय तुम्हारे प्रति शुद्ध है या अशुद्ध, इस बातका तुम्हें जैसे भी ज्ञान प्राप्त हो सके, वैसा उपाय करना ॥ २६½ ॥

व्यवहारश्च ते राजन् नित्यमाप्तैरधिष्ठितः ॥ २७ ॥
योज्यस्तुष्टैर्हितै राजन् नित्यं चारैरनुष्ठितः।

'नरेश्वर ! न्याय करनेके कामपर तुम सदा ऐसे ही पुरुषोंको नियुक्त करना, जो विश्वासपात्र, संतोषी और हितैषी हों तथा गुप्तचरोंके द्वारा सदा उनके कार्योंपर दृष्टि रखना ॥

परिमाणं विदित्वा च दण्डं दण्ड्येषु भारत ॥ २८ ॥
प्रणयेयुर्यथान्यायं पुरुषास्ते युधिष्ठिर।

'भरतनन्दन युधिष्ठिर ! तुम्हें ऐसा विधान बनाना चाहिये, जिससे तुम्हारे नियुक्त किये हुए न्यायाधिकारी पुरुष अपराधियोंके अपराधकी मात्राको भलीभाँति जानकर जो दण्डनीय हों, उन्हें ही उचित दण्ड दें ॥ २८½ ॥

आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शिनः ॥ २९ ॥
उग्रदण्डप्रधानाश्च मिथ्या व्याहारिणस्तथा।
आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हर्तारः साहसप्रियाः ॥ ३० ॥
सभाविहारभेत्तारो वर्णानां च प्रदूषकाः।
हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥ ३१ ॥

'जो दूसरोंसे घूस लेनेकी रुचि रखते हों, परायी स्त्रियोंसे जिनका सम्पर्क हो, जो विशेषतः कठोर दण्ड देनेके पक्षपाती हों, झूठा फैसला देते हों, जो कटुवादी, लोभी, दूसरोंका धन हड़पनेवाले, दुस्साहसी, सभाभवन और उद्यान आदिको नष्ट करनेवाले तथा सभी वर्णके लोगोंको कलङ्कित करनेवाले हों,

उन न्यायाधिकारियोंको देश-कालका ध्यान रखते हुए सुवर्णदण्ड अथवा प्राणदण्डके द्वारा दण्डित करना चाहिये ॥२९–३१॥

प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते।
अलंकारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥ ३२ ॥

'प्रातःकाल उठकर (नित्य नियमसे निवृत्त होनेके बाद) पहले तुम्हें उन लोगोंसे मिलना चाहिये, जो तुम्हारे खर्च-वर्चके कामपर नियुक्त हों। उसके बाद आभूषण पहनने या भोजन करनेके कामपर ध्यान देना चाहिये ॥ ३२ ॥

पश्येथाश्च ततो योधान् सदा त्वं प्रतिहर्षयन्।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥ ३३ ॥

'तत्पश्चात् सैनिकोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए उनसे मिलना चाहिये। दूतों और जासूसोंसे मिलनेके लिये तुम्हारे लिये सर्वोत्तम समय संध्याकाल है ॥ ३३ ॥

सदा चापररात्रान्ते भवेत् कार्यार्थनिर्णयः।
मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥ ३४ ॥

'पहरभर रात बाकी रहते ही उठकर अगले दिनके कार्य-क्रमका निश्चय कर लेना चाहिये। आधी रात और दोपहरके समय तुम्हें स्वयं घूम-फिरकर प्रजाकी अवस्थाका निरीक्षण करना उचित है ॥ ३४ ॥

सर्वे त्वौपयिकाः कालाः कार्याणां भरतर्षभ।
तथैवालंकृतः काले तिष्ठेथा भूरिदक्षिण ॥ ३५ ॥

'प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भरतश्रेष्ठ! काम करनेके लिये सभी समय उपयोगी हैं तथा तुम्हें समय-समयपर सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत रहना चाहिये ॥ ३५ ॥

चक्रवत् तात कार्याणां पर्यायो दृश्यते सदा।
कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा ॥ ३६ ॥
विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः।

'तात! चक्रकी भाँति सदा कार्योंका क्रम चलता रहता है, यह देखनेमें आता है। महाराज! नाना प्रकारके कोषका संग्रह करनेके लिये तुम्हें सदा न्यायानुकूल प्रयत्न करना चाहिये। इसके विपरीत अन्यायपूर्ण प्रयत्नको त्याग देना चाहिये ॥ ३६½ ॥

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः ॥ ३७ ॥
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद् घातयेथा नराधिप।

'नरेश्वर! जो राजाओंके छिद्र देखा करते हैं, ऐसे राज-विद्रोही शत्रुओंका गुप्तचरोंद्वारा पता लगाकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मरवा डालना चाहिये ॥ ३७½ ॥

कर्म दृष्ट्वाथ भृत्यांस्त्वं वरयेथाः कुरूद्वह ॥ ३८ ॥
कारयेथाश्च कर्माणि युक्तायुक्तैरधिष्ठितैः।

'कुरुश्रेष्ठ! पहले काम देखकर सेवकोंको नियुक्त करना चाहिये और अपने आश्रित मनुष्य योग्य हों या अयोग्य, उनसे काम अवश्य लेना चाहिये ॥ ३८½ ॥

सेनाप्रणेता च भवेत् तव तात दृढव्रतः ॥ ३९ ॥
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः।

'तात! तुम्हारे सेनापतिको दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर, क्लेश सह सकनेवाला, हितैषी, पुरुषार्थी और स्वामिभक्त होना चाहिये ॥ ३९½ ॥

सर्वे जनपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव ॥ ४० ॥
गोवद्रासभवश्चैव कुर्युर्ये व्यवहारिणः।

'पाण्डुनन्दन! तुम्हारे राज्यके अंदर रहनेवाले जो कारीगर और शिल्पी तुम्हारा काम करें, तुम्हें उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये; जैसे गधों और बैलोंसे काम लेनेवाले लोग उन्हें खानेको देते हैं ॥ ४०½ ॥

स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च ॥ ४१ ॥
उपलक्षयितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर।

'युधिष्ठिर! तुम्हें सदा ही स्वजनों और शत्रुओंके छिद्रोंपर दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ४१½ ॥

देशजाश्चैव पुरुषा विक्रान्ताः स्वेषु कर्मसु ॥ ४२ ॥
यात्राभिरनुरूपाभिरनुग्राह्या हितास्त्वया।
गुणार्थिनां गुणः कार्यो विदुषां वै जनाधिप।
अविचार्याश्च ते ते स्युरचला इव नित्यशः ॥ ४३ ॥

'जनेश्वर! अपने देशमें उत्पन्न होनेवाले पुरुषोंमेंसे जो लोग अपने कार्यमें विशेष कुशल और हितैषी हों, उन्हें उनके योग्य आजीविका देकर अनुग्रहपूर्वक अपनाना चाहिये। विद्वान् राजाको उचित है कि वह गुणार्थी मनुष्यके गुण बढ़ानेका प्रयत्न करता रहे। उनके सम्बन्धमें तुम्हें कोई विचार नहीं करना चाहिये। वे तुम्हारे लिये सदा पर्वतके समान अविचल सहायक सिद्ध होंगे' ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा राजनीतिका उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा ।
उदासीनगणानां च मध्यस्थानां च भारत ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—भरतनन्दन ! तुम्हें शत्रुओंके, अपने, उदासीन राजाओंके तथा मध्यस्थ पुरुषोंके मण्डलोंका ज्ञान रखना चाहिये ॥ १ ॥

चतुर्णां शत्रुजातानां सर्वेषामाततायिनाम् ।
मित्रं चामित्रमित्रं च बोद्धव्यं तेऽरिकर्शन ॥ २ ॥

शत्रुसूदन ! तुम्हें चार प्रकारके शत्रुओंके और छः प्रकारके आततायियोंके भेदोंको एवं मित्र और शत्रुके मित्रको भी पहचानना चाहिये ॥ २ ॥

तथामात्या जनपदा दुर्गाणि विविधानि च ।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवत्येषां यथेच्छकम् ॥ ३ ॥
ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वै विषयात्मकाः ।
मन्त्रिप्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादश च प्रभो ॥ ४ ॥
एतन्मण्डलमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः ।

कुरुश्रेष्ठ ! अमात्य (मन्त्री), जनपद (देश), नाना प्रकारके दुर्ग और सेना—इनपर शत्रुओंका यथेष्ट लक्ष्य रहता है (अतः इनकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहना चाहिये) । प्रभो ! कुन्तीनन्दन ! उपर्युक्त बारह प्रकारके मनुष्य राजाओंके ही मुख्य विषय हैं । मन्त्रीके अधीन रहनेवाले कृषी आदि साठ[१] गुण और पूर्वोक्त बारह प्रकारके मनुष्य—इन सबको नीतिज्ञ आचार्योंने 'मण्डल' नाम दिया है ॥ ३-४½ ॥

अत्र षाड्गुण्यमायत्तं युधिष्ठिर निबोध तत् ॥ ५ ॥
वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुसत्तम ।

युधिष्ठिर ! तुम इस मण्डलको अच्छी तरह जानो; क्योंकि राज्यकी रक्षाके संधि-विग्रह आदि छः उपायोंका उचित उपभोग इन्हींके अधीन है । कुरुश्रेष्ठ ! राजाको चाहिये कि वह अपनी वृद्धि, क्षय और स्थितिका सदा ही ज्ञान रखे ॥ ५½ ॥

द्विसप्तत्यां महाबाहो ततः षाड्गुण्यजा गुणाः ॥ ६ ॥
यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाबलः ।
विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा ॥ ७ ॥

महाबाहो ! पहले राजप्रधान बारह और मन्त्रिप्रधान साठ—इन बहत्तरका ज्ञान प्राप्त करके संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छः गुणोंका यथावसर उपयोग किया जाता है । कुन्तीनन्दन ! जब अपना पक्ष बलवान् तथा शत्रुका पक्ष निर्बल जान पड़े, उस समय शत्रुके साथ युद्ध छेड़कर विपक्षी राजाको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६-७ ॥

यदा परे च बलिनः स्वपक्षश्चैव दुर्बलः ।
सार्धं विद्वांस्तदा क्षीणः परैः संधिं समाश्रयेत् ॥ ८ ॥

परंतु जब शत्रु-पक्ष प्रबल और अपना ही पक्ष दुर्बल हो, उस समय क्षीणशक्ति विद्वान् पुरुष शत्रुओंके साथ संधि कर ले ॥ ८ ॥

द्रव्याणां संचयश्चैव कर्तव्यः सुमहांस्तथा ।
यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत ॥ ९ ॥
तदा सर्वं विधेयं स्यात् स्थाने न स विचारयेत् ।

भारत ! राजाको सदैव द्रव्योंका महान् संग्रह करते रहना चाहिये । जब वह शीघ्र ही शत्रुपर आक्रमण करनेमें समर्थ हो, उस समय उसका जो कर्तव्य हो, उसे वह स्थिरतापूर्वक भलीभाँति विचार ले ॥ ९½ ॥

भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत ॥ १० ॥
हिरण्यं कुप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमथो बलम् ।

भारत ! यदि अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रुको कम उपजाऊ भूमि, थोड़ा-सा सोना और अधिक मात्रामें जस्ता-पीतल आदि धातु तथा दुर्बल मित्र एवं सेना देकर उसके साथ संधि करे ॥ १०½ ॥

विपरीतान्निगृह्णीयात् स्वयं हि संधिविशारदः ॥ ११ ॥
संध्यर्थं राजपुत्रं वा लिप्सेथा भरतर्षभ ।
विपरीतं न तच्छ्रेयः पुत्र कस्यांचिदापदि ॥ १२ ॥
तस्याः प्रमोक्षे यत्नं च कुर्याः सोपायमन्त्रवित् ।

यदि शत्रुकी विपरीत दशा हो और वह संधिके लिये प्रार्थना करे तो संधिविशारद पुरुष उससे उपजाऊ भूमि, सोना-चाँदी आदि धातु तथा बलवान् मित्र एवं सेना लेकर उसके साथ संधि करे अथवा भरतश्रेष्ठ ! प्रतिद्वन्द्वी राजाके राजकुमारको ही अपने यहाँ जमानतके तौरपर रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इसके विपरीत बर्ताव करना अच्छा नहीं है । बेटा ! यदि कोई आपत्ति आ जाय तो उचित उपाय और मन्त्रणाके ज्ञाता तुम-जैसे राजाको उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ११-१२½ ॥

---

१. कृषी आदि आठ सन्धान कर्म हैं । बाल आदि बीस असन्धेय हैं । नास्तिकता आदि चौदह दोष हैं और मन्त्र आदि अठारह तीर्थ हैं । उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन पहले आ चुका है ।

क्रतीनां च राजेन्द्र राजा दीनान् विभावयेत्॥ १३ ॥
क्रमेण युगपत् सर्वं व्यवसायं महाबलः ।
ीडनं स्तम्भनं चैव कोशभङ्गस्तथैव च ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! प्रजाजनोंके भीतर जो दीन-दरिद्र (अन्ध-धिर आदि) मनुष्य हों, उनका भी राजा आदर करे। हाबली राजा अपने शत्रुके विपरीत क्रमशः अथवा एक ाथ सारा उद्योग आरम्भ कर दे। वह उसे पीड़ा दे। सकी गति अवरुद्ध करे और उसका खजाना नष्ट कर ॥ १३-१४ ॥

ार्यं यत्नेन शत्रूणां स्वराज्यं रक्षता स्वयम् ।
च हिंस्योऽभ्युपगतः सामन्तो वृद्धिमिच्छता ॥१५॥

अपने राज्यकी रक्षा करनेवाले राजाको यत्नपूर्वक त्रुओंके साथ उपर्युक्त बर्ताव करना चाहिये; परंतु अपनी द्धि चाहनेवाले नरेशको शरणमें आये हुए सामन्तका वध दापि नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

ौन्तेय तं न हिंसेत् स यो महीं विजिगीषते ।
णानां भेदने योगमीप्सेथाः सह मन्त्रिभिः ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमार ! जो समूची पृथ्वीपर विजय पाना चाहता ; वह तो कदापि उस (सामन्त) की हिंसा न करे। तुम पने मन्त्रियोंसहित सदा शत्रुगणोंमें फूट डालनेकी इच्छा खना ॥ १६ ॥

ाधुसंग्रहणाच्चैव पापनिग्रहणात् तथा ।
ुर्बलाश्चैव सततं नान्वेष्टव्या बलीयसा ॥ १७ ॥

अच्छे पुरुषोंसे मेल-जोल बढ़ाये और दुष्टोंको कैद करके उन्हें दण्ड दे। महाबली नरेशको दुर्बल शत्रुके पीछे सदा नहीं पड़े रहना चाहिये ॥ १७ ॥

तिष्ठेथा राजशार्दूल वैतसीं वृत्तिमास्थितः ।
यद्येनमभियायाच्च बलवान् दुर्बलं नृपः ॥ १८ ॥
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेः ।

राजसिंह ! तुम्हें बेंतकी-सी वृत्ति (नम्रता) का आश्रय लेकर रहना चाहिये। यदि किसी दुर्बल राजापर बलवान् राजा आक्रमण करे तो क्रमशः साम आदि उपायोंद्वारा उस बलवान् राजाको लौटानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥१८½॥

अशक्नुवंश्च युद्धाय निष्पतेत् सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥
कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चास्य प्रियकारिणः ।

यदि अपनेमें युद्धकी शक्ति न हो तो मन्त्रियोंके साथ उस आक्रमणकारी राजाकी शरणमें जाय तथा कोश, पुरवासी मनुष्य, दण्डशक्ति एवं अन्य जो प्रिय कार्य हों, उन सबको अर्पित करके उस प्रतिद्वन्द्वीको लौटानेकी चेष्टा करे ॥१९½॥

असम्भवे तु सर्वस्य यथा मुख्येन निष्पतेत् ।
क्रमेणानेन मुक्तिः स्याच्छरीरमिति केवलम् ॥ २० ॥

यदि किसी भी उपायसे संधि न हो तो मुख्य साधनको लेकर विपक्षीपर युद्धके लिये टूट पड़े। इस क्रमसे शरीर चला जाय तो भी वीर पुरुषकी मुक्ति ही होती है। केवल शरीर दे देना ही उसका मुख्य साधन है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपदेशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके द्वारा राजनीतिका उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

संधिविग्रहमप्यत्र पश्येथा राजसत्तम ।
द्वयोर्नि विविधोपायं बहुकल्पं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हें संधि और विग्रहपर भी दृष्टि रखनी चाहिये। शत्रु प्रबल हो तो उसके साथ संधि करना और दुर्बल हो तो उसके साथ युद्ध छेड़ना—ये संधि और विग्रहके दो आधार हैं। इनके प्रयोगके उपाय भी नाना प्रकारके हैं और इनके प्रकार भी बहुत हैं ॥ १ ॥

कौरव्य पर्युपासीथाः स्थित्वा द्वैविध्यमात्मनः ।
तुष्टपुष्टबलः शत्रुरात्मवानिति च स्मरेत् ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! अपनी द्विविध अवस्था—बलाबलका अच्छी तरह विचार करके शत्रुसे युद्ध या मेल करना उचित है। यदि शत्रु मनस्वी है और उसके सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट हैं तो उसपर सहसा धावा न करके उसे परास्त करनेका कोई दूसरा उपाय सोचे ॥ २ ॥

पर्युपासनकाले तु विपरीतं विधीयते ।
आमर्दकाले राजेन्द्र व्यपसर्पेत् ततः परम् ॥ ३ ॥

आक्रमणकालमें शत्रुकी स्थिति विपरीत रहनी चाहिये अर्थात् उसके सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट नहीं होने चाहिये। राजेन्द्र ! यदि शत्रुसे अपना मान मर्दन होनेकी सम्भावना हो तो वहाँसे भागकर किसी दूसरे मित्र राजाकी शरण लेनी चाहिये ॥ ३ ॥

व्यसनं भेदनं चैव शत्रूणां कारयेत् ततः।
कर्षणं भीषणं चैव युद्धे चैव बलक्षयम् ॥ ४ ॥

वहाँ यह प्रयत्न करना चाहिये कि शत्रुओंपर कोई संकट आ जाय या उनमें फूट पड़ जाय, वे क्षीण और भयभीत हो जायँ तथा युद्धमें उनकी सेना नष्ट हो जाय ॥४॥

प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत्।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः ॥ ५ ॥

शत्रुपर चढ़ाई करनेवाले शास्त्रविशारद राजाको अपनी और शत्रुकी त्रिविध शक्तियोंपर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥

उत्साहप्रभुशक्तिभ्यां मन्त्रशक्त्या च भारत।
उपपन्नो नृपो यायाद् विपरीतं च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

भारत ! जो राजा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्र-शक्तिमें शत्रुकी अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा हो, उसे ही आक्रमण करना चाहिये। यदि इसके विपरीत अवस्था हो तो आक्रमणका विचार त्याग देना चाहिये ॥ ६ ॥

आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणीबलं प्रभो ॥ ७ ॥

प्रभो ! राजाको अपने पास सैनिकबल, धनबल, मित्रबल, अरण्यबल, भृत्यबल और श्रेणीबलका संग्रह करना चाहिये ॥ ७ ॥

तत्र मित्रबलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते।
श्रेणीबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः ॥ ८ ॥

राजन् ! इनमें मित्रबल और धनबल सबसे बढ़कर है। श्रेणीबल और भृत्यबल—ये दोनों समान ही हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ८ ॥

तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप।
विज्ञेयं बहुकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! चारबल (दूतोंका बल) भी परस्पर समान ही है। राजाको समय आनेपर अधिक अवसरोंपर इस तत्त्वको समझे रहना चाहिये ॥ ९ ॥

आपदश्चापि बोद्धव्या बहुरूपा नराधिप।
भवन्ति राज्ञः कौरव्य यास्ताः पृथगतः शृणु ॥ १० ॥

महाराज ! कुरुनन्दन ! राजापर आनेवाली अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ भी होती हैं, जिन्हें जानना चाहिये। अतः उनका पृथक्-पृथक् वर्णन सुनो ॥ १० ॥

विकल्पा बहुधा राजन्नापदां पाण्डुनन्दन।
सामादिभिरुपन्यस्य गणयेत् तान् नृपः सदा ॥ ११

राजन् ! पाण्डुनन्दन ! उन आपत्तियोंके अनेक प्रकार विकल्प हैं। राजा साम आदि उपायोंद्वारा उन सबको साम लाकर सदा गिने ॥ ११ ॥

यात्रां गच्छेद् बलैर्युक्तो राजा सद्भिः परंतप।
युक्तश्च देशकालाभ्यां बलैरात्मगुणैस्तथा ॥ १२

परंतप नरेश ! देश-कालकी अनुकूलता होनेपर सैनि बल तथा राजोचित गुणोंसे युक्त राजा अच्छी सेना स लेकर विजयके लिये यात्रा करे ॥ १२ ॥

हृष्टपुष्टबलो गच्छेद् राजा वृद्धयुदये रतः।
अकृशश्चाप्यथो यायादनृतावपि पाण्डव ॥ १३

पाण्डुनन्दन ! अपने अभ्युदयके लिये तत्पर रहनेवा राजा यदि दुर्बल न हो और उसकी सेना हृष्ट-पुष्ट हो वह युद्धके अनुकूल मौसम न होनेपर भी शत्रु चढ़ाई करे ॥ १३ ॥

तूणाश्मानं वाजिरथप्रवाहां
ध्वजद्रुमैः संवृतकूलरोधसम्।
पदातिनागैर्बहुकर्दमां नदीं
सपत्ननाशे नृपतिः प्रयोजयेत् ॥ १४

शत्रुओंके विनाशके लिये राजा अपनी सेनारूपी नदी प्रयोग करे। जिसमें तरकस ही प्रस्तरखण्डके समान घोड़े और रथरूपी प्रवाह शोभा पाते हैं, जिसका कूल-किन ध्वजरूपी वृक्षोंसे आच्छादित है तथा पैदल और हाथी जि भीतर अगाध पङ्कके समान जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥

अथोपपत्त्या शकटं पद्मवज्रं च भारत।
उशना वेद यच्छास्त्रं तत्रैतद् विहितं विभो ॥ १५

भारत ! युद्धके समय युक्ति करके सेनाका शकट, अथवा वज्र नामक व्यूह बना ले। प्रभो ! शुक्राचार्य शास्त्रको जानते हैं, उसमें ऐसा ही विधान मिलता है ॥१

चारयित्वा परबलं कृत्वा स्वबलदर्शनम्।
स्वभूमौ योजयेद् युद्धं परभूमौ तथैव च ॥ १

गुप्तचरोंद्वारा शत्रुसेनाकी जाँच-पड़ताल करके अ सैनिक शक्तिका भी निरीक्षण करे। फिर अपनी या शत्रु भूमिपर युद्ध आरम्भ करे ॥ १६ ॥

बलं प्रसादयेद् राजा निक्षिपेद् बलिनो नरान्।
ज्ञात्वा स्वविषयं तत्र सामादिभिरुपक्रमेत् ॥ १

राजाको चाहिये कि वह पारितोषिक आदिके द्वारा सेन संतुष्ट रखे और उसमें बलवान् मनुष्योंकी भर्ती करे। अ

बलाबलको अच्छी तरह समझकर साम आदि उपायोंके द्वारा संधि या युद्धके लिये उद्योग करे ॥ १७ ॥

सर्वथैव महाराज शरीरं धारयेदिह ।
प्रेत्य चेह च कर्तव्यमात्मनिःश्रेयसं परम् ॥ १८ ॥

महाराज ! इस जगत्‌में सभी उपायोंद्वारा शरीरकी रक्षा करनी चाहिये और उसके द्वारा इहलोक तथा परलोकमें भी अपने कल्याणका उत्तम साधन करना उचित है ॥ १८ ॥

एवमेतन्महाराज राजा सम्यक् समाचरन् ।
प्रेत्य स्वर्गमवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १९ ॥

महाराज ! जो राजा इन सब बातोंका विचार करके इनके अनुसार ठीक-ठीक आचरण और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है, वह मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १९ ॥

एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम् ।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव हि ॥ २० ॥

तात ! कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हें इहलोक और परलोकमें सुख पानेके लिये सदा ही प्रजावर्गके हित-साधनमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २० ॥

भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च ।
मयाप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥ २१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भीष्मजी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा विदुरने तुम्हें सभी बातोंका उपदेश कर दिया है । मेरा भी तुम्हारे ऊपर प्रेम है, इसलिये मैंने भी तुम्हें कुछ बताना आवश्यक समझा है ॥ २१ ॥

एतत् सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण ।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥ २२ ॥

यज्ञमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले महाराज ! इन सब बातोंका यथोचित रूपसे पालन करना । इससे तुम प्रजाके प्रिय बनोगे और स्वर्गमें भी सुख पाओगे ॥ २२ ॥

अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत् पृथिवीपतिः ।
पालयेद् वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं लभेत् ॥ २३ ॥

जो राजा एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उन दोनोंको समान फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपसंवादविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका कुरुजाङ्गलदेशकी प्रजासे वनमें जानेके लिये आज्ञा माँगना

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथाऽऽत्थ पृथिवीपते ।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही करूँगा । अभी आप मुझे कुछ और उपदेश दीजिये ॥ १ ॥

भीष्मे स्वर्गमनुप्राप्ते गते च मधुसूदने ।
विदुरे संजये चैव कोऽन्यो मां वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

भीष्मजी स्वर्ग सिधारे, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका पधारे और विदुर तथा संजय भी आपके साथ ही जा रहे हैं । अब दूसरा कौन रह जाता है, जो मुझे उपदेश दे सके ॥ २ ॥

यत् तु मामनुशास्तीह भवानद्य हिते स्थितः ।
कर्तास्मि तन्महीपाल निर्वृतो भव पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! पृथ्वीपते ! आज मेरे हितसाधनमें संलग्न होकर आप मुझे यहाँ जो कुछ उपदेश देते हैं, मैं उसका पालन करूँगा । आप संतुष्ट हों ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता ।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर राजर्षि धृतराष्ट्रने कुन्तीकुमारसे जानेके लिये अनुमति लेनेकी इच्छा की और कहा—॥ ४ ॥

पुत्र संशाम्यतां तावन्ममापि बलवाञ्श्रमः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद् राजा गान्धार्या भवनं तदा॥ ५ ॥

'बेटा ! अब शान्त रहो । मुझे बोलनेमें बड़ा परिश्रम होता है (अब तो मैं जानेकी ही अनुमति चाहता हूँ) ।' ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने उस समय गान्धारीके भवनमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी ।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ॥ ६ ॥

वहाँ जब वे आसनपर विराजमान हुए, तब समयका

ज्ञान रखनेवाली धर्मपरायणा गान्धारी देवीने उस समय प्रजापतिके समान अपने पतिसे इस प्रकार पूछा—॥ ६ ॥

अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेन त्वं महर्षिणा।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदारण्यं गमिष्यसि ॥ ७ ॥

'महाराज ! स्वयं महर्षि व्यासने आपको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है और युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल ही गयी है। अब आप कब वनको चलेंगे ?' ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्तास्मि नचिराद् वनम् ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि ! मेरे महात्मा पिता व्यासने स्वयं तो आज्ञा दे ही दी है, युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल गयी है; अतः अब मैं जल्दी ही वनको चलूँगा ॥ ८ ॥

अहं हि तावत् सर्वेषां तेषां दुर्द्यूतदेविनाम्।
पुत्राणां दातुमिच्छामि प्रेतभावानुगं वसु ॥ ९ ॥
सर्वप्रकृतिसांनिध्यं कारयित्वा स्ववेश्मनि।

जानेके पहले मैं चाहता हूँ कि समस्त प्रजाको घरपर बुलाकर अपने मरे हुए उन जुआरी पुत्रोंके उद्देश्यसे उनके पारलौकिक लाभके लिये कुछ धन दान कर दूँ ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजाय प्रेषयामास वै तदा ॥ १० ॥
स च तद्वचनात् सर्वं समानिन्ये महीपतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके पास अपना विचार कहला भेजा। राजा युधिष्ठिरने देनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार वह सब सामग्री जुटा दी (धृतराष्ट्रने उसका यथायोग्य वितरण कर दिया) ॥ १०½ ॥

ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ॥ ११ ॥
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः।

उधर राजाका संदेश पाकर कुरुजाङ्गलदेशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ आये। उन सबके हृदयमें बड़ी प्रसन्नता थी ॥ ११½ ॥

ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात् तदा ॥ १२ ॥
ददृशे तं जनं सर्वं सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा।

तदनन्तर महाराज धृतराष्ट्र अन्तःपुरसे बाहर निकले और वहाँ नगर तथा जनपदकी समस्त प्रजाके उपस्थित होनेका समाचार सुना ॥ १२½ ॥

समवेतांश्च तान् सर्वान् पौरान् जानपदांस्तथा॥ १३॥
तानागतानभिप्रेक्ष्य समस्तं च सुहृज्जनम्।
ब्राह्मणांश्च महीपाल नानादेशसमागतान् ॥ १४ ॥
उवाच मतिमान् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।

भूपाल जनमेजय ! राजाने देखा कि समस्त पुरवासी और जनपदके लोग वहाँ आ गये हैं। सम्पूर्ण सुहृद्-वर्गके लोग भी उपस्थित हैं और नाना देशोंके ब्राह्मण भी पधारे हैं। तब बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने उन सबको लक्ष्य करके कहा—॥ १३–१४½ ॥

भवन्तः कुरवश्चैव चिरकालं सहोषिताः ॥ १५ ॥
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः।

'सज्जनो ! आप और कौरव चिरकालसे एक साथ रहते आये हैं। आप दोनों एक-दूसरेके सुहृद् हैं और दोनों सदा एक-दूसरेके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ १५½ ॥

यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन् काल उपस्थिते ॥ १६ ॥
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम।

'इस समय मैं आपलोगोंसे वर्तमान अवसरपर जो कुछ कहूँ, मेरी उस बातको आपलोग बिना विचारे स्वीकार करें; यही मेरी प्रार्थना है ॥ १६½ ॥

अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे ॥ १७ ॥
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य मे।

'मैंने गान्धारीके साथ वनमें जानेका निश्चय किया है; इसके लिये मुझे महर्षि व्यास तथा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल गयी है ॥ १७½ ॥

भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा च वोऽभूद् विचारणा॥१८॥
अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती।
न च सान्येषु देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥ १९ ॥

'अब आपलोग भी मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दें। इस विषयमें आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आपलोगोंका हमारे साथ जो यह प्रेम-सम्बन्ध सदासे चला आ रहा है, ऐसा सम्बन्ध दूसरे देशके राजाओंके साथ वहाँकी प्रजाका नहीं होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १८-१९ ॥

शान्तोऽस्मि वयसानेन तथा पुत्रविनाकृतः।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥ २० ॥

'निष्पाप प्रजाजन ! अब इस बुढ़ापेने गान्धारीसहित मुझको बहुत थका दिया है। पुत्रोंके मारे जानेका दुःख भी बना ही रहता है तथा उपवास करनेके कारण भी हम दोनों अधिक दुर्बल हो गये हैं ॥ २० ॥

युधिष्ठिरगते राज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत्।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद् विशिष्टमिति सत्तमाः ॥ २१ ॥

'सज्जनो ! युधिष्ठिरके राज्यमें मुझे बड़ा सुख मिला है। मैं समझता हूँ कि दुर्योधनके राज्यसे भी बढ़कर सुख मुझे प्राप्त हुआ है ॥ २१ ॥

मम चान्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः।
ऋते वनं महाभागास्तन्मानुज्ञातुमर्हथ ॥ २२ ॥

'एक तो मैं जन्मका अन्धा हूँ, दूसरे बूढ़ा हो गया हूँ, तीसरे मेरे सभी पुत्र मारे गये हैं। महाभाग प्रजाजन ! अब आप ही बतायें, वनमें जानेके सिवा मेरे लिये दूसरी कौन-सी गति है ? इसलिये अब आपलोग मुझे जानेकी आज्ञा दें' ॥ २२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वे ते कुरुजाङ्गलाः।
बाष्पसंदिग्धया वाचा रुरुदुर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्रकी ये बातें सुनकर वहाँ उपस्थित हुए कुरुजाङ्गलनिवासी सभी मनुष्योंके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २३ ॥

तानविब्रुवतः किंचित् सर्वाञ्शोकपरायणान्।
पुनरेव महातेजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

उन सबको शोकमग्न होकर कुछ भी उत्तर न देते देख महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः बोलना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रकृतवनगमनप्रार्थनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रकी वनमें जानेके लिये प्रार्थनाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

प्रजाजनोंसे धृतराष्ट्रकी क्षमा-प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

शान्तनुः पालयामास यथावद् वसुधामिमाम्।
तथा विचित्रवीर्यश्च भीष्मेण परिपालितः ॥ १ ॥
पालयामास नस्तातो विदितार्थो न संशयः।

धृतराष्ट्र बोले—सज्जनो ! महाराज शान्तनुने इस पृथ्वीका यथावत्‌रूपसे पालन किया था। उसके बाद भीष्म-द्वारा सुरक्षित हमारे तत्त्वज्ञ पिता विचित्रवीर्यने इस भूमण्डल-की रक्षा की; इसमें संशय नहीं है ॥ १½ ॥

यथा च पाण्डुर्भ्राता मे दयितो भवतामभूत् ॥ २ ॥
स चापि पालयामास यथावत् तच्च वेत्थ ह।

उनके बाद मेरे भाई पाण्डुने इस राज्यका यथावत्‌रूपसे पालन किया। इसे आप सब लोग जानते हैं। अपने प्रजा-पालनरूपी गुणके कारण ही वे आपलोगोंके परम प्रिय हो गये थे ॥ २½ ॥

मया च भवतां सम्यक् शुश्रूषा या कृतानघाः ॥ ३ ॥
असम्यग् वा महाभागास्तत् क्षन्तव्यमतन्द्रितैः।

निष्पाप महाभागगण ! पाण्डुके बाद मैंने भी आप-लोगोंकी भली या बुरी सेवा की है, उसमें जो भूल हुई हो, उसके लिये आप आलस्यरहित प्रजाजन मुझे क्षमा करें ॥ ३½ ॥

यदा दुर्योधनेनेदं भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
अपि तत्र न वो मन्दो दुर्बुद्धिरपराद्धवान्।

दुर्योधनने जब अकण्टक राज्यका उपभोग किया था, उस समय उस खोटी बुद्धिवाले मूर्ख नरेशने भी आपलोगोंका कोई अपराध नहीं किया था (वह केवल पाण्डवोंके साथ अन्याय करता रहा) ॥ ४½ ॥

तस्यापराधाद् दुर्बुद्धेरभिमानान्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥
विमर्दः सुमहानासीदनयात् स्वकृतादथ।
(घातिताः कौरवेयाश्च पृथिवी च विनाशिता।)

उस दुर्बुद्धिके अपने ही किये हुए अन्याय, अपराध और अभिमानसे यहाँ असंख्य राजाओंका महान् संहार हो गया। सारे कौरव मारे गये और पृथ्वीका विनाश हो गया ॥ ५½ ॥

तन्मया साधु वापीदं यदि वासाधु वै कृतम् ॥ ६ ॥
तद् वो हृदि न कर्तव्यं मया बद्धोऽयमञ्जलिः।

उस अवसरपर मुझसे भला या बुरा जो कुछ भी कृत्य हो गया, उसे आपलोग अपने मनमें न लावें। इसके लिये मैं आपलोगोंसे हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करता हूँ ॥ ६½ ॥

वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं नराधिपः ॥ ७ ॥
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वानुजानथ।

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़ा है। इसके पुत्र मारे गये हैं; अतः यह दुःखमें डूबा हुआ है और यह अपने प्राचीन राजाओंका वंशज है'—ऐसा समझकर आपलोग मेरे अपराधों-को क्षमा करते हुए मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दें ॥ ७½ ॥

इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी ॥ ८ ॥
गान्धारी पुत्रशोकार्ता युष्मान् याचति वै मया।

यह बेचारी वृद्धा तपस्विनी गान्धारी, जिसके सभी पुत्र

मारे गये हैं तथा जो पुत्रशोकसे व्याकुल रहती है, मेरे साथ आपलोगोंसे क्षमा-याचना करती है ॥ ८½ ॥

हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा ॥ ९ ॥
अनुजानीत भद्रं वो व्रजाव शरणं च वः ।

इन दोनों बूढ़ोंको पुत्रोंके मारे जानेसे दुखी जानकर आपलोग वनमें जानेकी आज्ञा दें। आपका कल्याण हो। हम दोनों आपकी शरणमें आये हैं ॥ ९½ ॥

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ।

ये कुरुकुलरत्न कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर आपलोगोंके पालक हैं। अच्छे और बुरे सभी समयोंमें आप सब लोग इनपर कृपादृष्टि रखें ॥ १०½ ॥

न जातु विषमं चैव गमिष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः ।
लोकपालसमा ह्येते सर्वधर्मार्थदर्शिनः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेव भगवानेष सर्वभूतजगत्पतिः ।
(एवमेव महाबाहुर्भीमार्जुनयमैर्वृतः ।)
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥ १३ ॥

ये कभी आपलोगोंके प्रति विषमभाव नहीं रक्खेंगे। लोकपालोंके समान महातेजस्वी तथा सम्पूर्ण धर्म और अर्थके मर्मज्ञ ये चार भाई जिनके सचिव हैं, वे भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे घिरे हुए महाबाहु महातेजस्वी युधिष्ठिर सम्पूर्ण जीव-जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्माकी भाँति आपलोगोंका इसी तरह पालन करेंगे, जैसे पहलेके लोग करते आये हैं ॥ ११-१३ ॥

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः ।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया ।

मुझे ये बातें अवश्य कहनी चाहिये, ऐसा सोचकर ही मैं आपलोगोंसे यह सब कहता हूँ। मैं इन राजा युधिष्ठिरको धरोहरके रूपमें आप सब लोगोंके हाथ सौंप रहा हूँ और आपलोगोंको भी इन वीर नरेशके हाथमें धरोहरकी ही भाँति दे रहा हूँ ॥ १४½ ॥

यदेव तैः कृतं किंचिद् व्यलीकं वः सुतैर्मम ॥ १५ ॥
यदन्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ।

मेरे पुत्रोंने तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले और किसीने आपलोगोंका जो कुछ भी अपराध किया हो, उसके लिये मुझे क्षमा करें और जानेकी आज्ञा दें ॥ १५½ ॥

भवद्भिर्न हि मे मन्युः कृतपूर्वः कथंचन ॥ १६ ॥
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ।

आपलोगोंने पहले मुझपर किसी तरह कोई रोष नहीं प्रकट किया है। आपलोग अत्यन्त गुरुभक्त हैं; अतः आपके सामने मेरे ये दोनों हाथ जुड़े हुए हैं और मैं आपको यह प्रणाम करता हूँ ॥ १६½ ॥

तेषामस्थिरबुद्धीनां लुब्धानां कामचारिणाम् ॥ १७ ॥
कृते याचेऽद्य वः सर्वान् गान्धारीसहितोऽनघाः ।

निष्पाप प्रजाजन ! मेरे पुत्रोंकी बुद्धि चञ्चल थी। वे लोभी और स्वेच्छाचारी थे। उनके अपराधोंके लिये आज गान्धारीसहित मैं आप सब लोगोंसे क्षमा-याचना करता हूँ ॥ १७½ ॥

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पौरजानपदा जनाः ।
नोचुर्बाष्पकलाः किंचिद् वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर नगर और जनपदमें निवास करनेवाले सब लोग नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। किसीने कोई उत्तर नहीं दिया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रप्रार्थने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रकी प्रार्थनाविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

प्रजाकी ओरसे साम्ब नामक ब्राह्मणका धृतराष्ट्रको सान्त्वनापूर्ण उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन पौरजानपदा जनाः ।
वृद्धेन राज्ञा कौरव्य नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके ऐसे करुणामय वचन कहनेपर नगर और जनपदके निवासी सभी लोग दुःखसे अचेत-से हो गये ॥ १ ॥

तूष्णीम्भूतांस्ततस्तांस्तु बाष्पकण्ठान् महीपतिः ।
धृतराष्ट्रो महीपालः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ २ ॥

उन सबके कण्ठ आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये थे; अतः वे कुछ बोल नहीं पाते थे। उन्हें मौन देख महाराज धृतराष्ट्रने फिर कहा— ॥ २ ॥

वृद्धं च हतपुत्रं च धर्मपत्न्या सहानया ।
विलपन्तं बहुविधं कृपणं चैव सत्तमाः ॥ ३ ॥
पित्रा स्वयमनुज्ञातं कृष्णद्वैपायनेन वै ।
वनवासाय धर्मज्ञा धर्मज्ञेन नृपेण ह ॥ ४ ॥
सोऽहं पुनः पुनश्चैव शिरसावनतोऽनघाः ।
गान्धार्या सहितं तन्मां समनुज्ञातुमर्हथ ॥ ५ ॥

'सज्जनो ! मैं बूढ़ा हूँ । मेरे सभी पुत्र मार डाले गये हैं । मैं अपनी इस धर्मपत्नीके साथ बारंबार दीनतापूर्वक विलाप कर रहा हूँ । मेरे पिता स्वयं महर्षि व्यासने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है । धर्मज्ञ पुरुषो ! धर्मके ज्ञाता राजा युधिष्ठिरने भी वनवासके लिये अनुमति दे दी है । वही मैं अब पुनः बारंबार आपके सामने मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ । पुण्यात्मा प्रजाजन ! आपलोग गान्धारीसहित मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दें' ॥ ३—५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते ।
रुरुदुः सर्वशो राजन् समेताः कुरुजाङ्गलाः ॥ ६ ॥
उत्तरीयैः करैश्चापि संच्छाद्य वदनानि ते ।
रुरुदुः शोकसंतप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुराजकी ये करुणाभरी बातें सुनकर वहाँ एकत्र हुए कुरुजाङ्गलदेशके सब लोग दुपट्टों और हाथोंसे अपना-अपना मुँह ढँककर रोने लगे । अपनी संतानको विदा करते समय दुःखसे कातर हुए पिता-माताकी भाँति वे दो घड़ीतक शोकसे संतप्त होकर रोते रहे ॥ ६-७ ॥

हृदयैः शून्यभूतैस्ते धृतराष्ट्रप्रवासजम् ।
दुःखं संधारयन्तो हि नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ८ ॥

उनका हृदय शून्य-सा हो गया था । वे उस सूने हृदयमें धृतराष्ट्रके प्रवासजनित दुःखको धारण करके अचेत-से हो गये ॥ ८ ॥

ते विनीय तमायासं धृतराष्ट्रवियोगजम् ।
शनैः शनैस्तदान्योन्यमब्रुवन् सम्मतान्युत ॥ ९ ॥

फिर धीरे-धीरे उनके वियोगजनित दुःखको दूर करके उन सबने आपसमें वार्तालाप किया और अपनी सम्मति प्रकट की ॥ ९ ॥

ततः संधाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः ।
एकस्मिन् ब्राह्मणे राजन् निवेश्योचुर्नराधिपम् ॥ १० ॥

राजन् ! तदनन्तर एकमत होकर उन सब लोगोंने थोड़ेमें अपनी सारी बातें कहनेका भार एक ब्राह्मणपर रखा । उन ब्राह्मणके द्वारा ही उन्होंने राजासे अपनी बात कही ॥ १० ॥

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थविशारदः ।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ११ ॥
अनुमान्य महाराजं तत् सदः सम्प्रसाद्य च ।
विप्रः प्रगल्भो मेधावी स राजानमुवाच ह ॥ १२ ॥

वे ब्राह्मण देवता सदाचारी, सबके माननीय और अर्थ-ज्ञानमें निपुण थे, उनका नाम था साम्ब । वे वेदके विद्वान्, निर्भय होकर बोलनेवाले और बुद्धिमान् थे । वे महाराजको सम्मान देकर सारी सभाको प्रसन्न करके बोलनेको उद्यत हुए । उन्होंने राजासे इस प्रकार कहा—॥ ११-१२ ॥

राजन् वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम् ।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ॥ १३ ॥

'राजन् ! वीर नरेश्वर ! यहाँ उपस्थित हुए समस्त जनसमुदायने अपना मन्तव्य प्रकट करनेका सारा भार मुझे सौंप दिया है; अतः मैं ही इनकी बातें आपकी सेवामें निवेदन करूँगा । आप सुननेकी कृपा करें ॥ १३ ॥

यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत् तथा विभो ।
नात्र मिथ्या वचः किंचित् सुहृत्त्वं नः परस्परम् ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र ! प्रभो ! आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें असत्यका लेश भी नहीं है । वास्तवमें इस राजवंशमें और हमलोगोंमें परस्पर दृढ़ सौहार्द स्थापित हो चुका है ॥ १४ ॥

न जात्वस्य च वंशस्य राज्ञां कश्चित् कदाचन ।
राजाऽऽसीद् यः प्रजापालः प्रजानामप्रियोऽभवत् ॥ १५ ॥

'इस राजवंशमें कभी कोई भी ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजापालन करते समय समस्त प्रजाओंको प्रिय न रहा हो ॥

पितृवद् भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः ।
न च दुर्योधनः किंचिदयुक्तं कृतवान् नृपः ॥ १६ ॥

'आपलोग पिता और बड़े भाईके समान हमारा पालन करते आये हैं । राजा दुर्योधनने भी हमारे साथ कोई अनुचित बर्ताव नहीं किया है ॥ १६ ॥

यथा ब्रवीति धर्मात्मा मुनिः सत्यवतीसुतः ।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥ १७ ॥

'महाराज ! परम धर्मात्मा सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासजी आपको जैसी सलाह देते हैं, वैसा ही कीजिये; क्योंकि वे हम सब लोगोंके परम गुरु हैं ॥ १७ ॥

त्यक्ता वयं तु भवता दुःखशोकपरायणाः ।
भविष्यामश्चिरं राजन् भवद्गुणशतैर्युताः ॥ १८ ॥

'राजन् ! आप जब हमें त्याग देंगे, हमें छोड़कर चले जायँगे, तब हम बहुत दिनोंतक दुःख और शोकमें डूबे रहेंगे । आपके सैकड़ों गुणोंकी याद सदा हमें घेरे रहेगी ॥

यथा शान्तनुना गुप्ता राज्ञा चित्राङ्गदेन च ।
भीष्मवीर्योपगूढेन पित्रा तव च पार्थिव ॥ १९ ॥

भवद्वीक्षणाच्चैव पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
तथा दुर्योधनेनापि राज्ञा सुपरिपालिताः ॥ २० ॥

'पृथ्वीनाथ ! महाराज शान्तनु तथा राजा चित्राङ्गदने जिस प्रकार हमारी रक्षा की है, भीष्मके पराक्रमसे सुरक्षित आपके पिता विचित्रवीर्यने जिस तरह हमलोगोंका पालन किया है तथा आपकी देख-रेखमें रहकर पृथ्वीपति पाण्डुने जिस प्रकार प्रजाजनोंकी रक्षा की है, उसी प्रकार राजा दुर्योधनने भी हमलोगोंका यथावत् पालन किया है ॥१९-२०॥

न स्वल्पमपि पुत्रस्ते व्यलीकं कृतवान् नृप ।
पितरीव सुविश्वस्तास्तस्मिन्नपि नराधिपे ॥ २१ ॥
वयमास्म यथा सम्यग् भवतो विदितं तथा ।

'नरेश्वर ! आपके पुत्रने कभी थोड़ा-सा भी अन्याय हमलोगोंके साथ नहीं किया । हमलोग उन राजा दुर्योधनपर भी पिताके समान विश्वास करते थे और उनके राज्यमें बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करते थे । यह बात आपको भी विदित ही है ॥ २१½ ॥

तथा वर्षसहस्राणि कुन्तीपुत्रेण धीमता ॥ २२ ॥
पाल्यमाना धृतिमता सुखं विन्दामहे नृप ।

'नरेश्वर ! भगवान् करें कि बुद्धिमान् कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर धैर्यपूर्वक सहस्रों वर्षतक हमारा पालन करें और हम इनके राज्यमें सुखसे रहें ॥ २२½ ॥

राजर्षीणां पुराणानां भवतां पुण्यकर्मणाम् ॥ २३ ॥
कुरुसंवरणादीनां भरतस्य च धीमतः ।
वृत्तं समनुयात्येष धर्मात्मा भूरिदक्षिणः ॥ २४ ॥

'यज्ञोंमें बड़ी-बड़ी दक्षिणा प्रदान करनेवाले ये धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्राचीन कालके पुण्यात्मा राजर्षि कुरु और संवरण आदिके तथा बुद्धिमान् राजा भरतके बर्तावका अनुसरण करते हैं ॥ २३-२४ ॥

नात्र वाच्यं महाराज सुसूक्ष्ममपि विद्यते ।
उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः ॥ २५ ॥

'महाराज ! इनमें कोई छोटे-से-छोटा दोष भी नहीं है । इनके राज्यमें आपके द्वारा सुरक्षित होकर हमलोग सदा सुखसे रहते आये हैं ॥ २५ ॥

सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ।
यत् तु ज्ञातिविमर्देऽस्मिन्नात्थ दुर्योधनं प्रति ॥ २६ ॥
भवन्तमनुनेष्यामि तत्रापि कुरुनन्दन ।

'कुरुनन्दन ! पुत्रसहित आपका कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी हमारे देखनेमें नहीं आया है । महाभारत-युद्धमें जो जाति-भाइयोंका संहार हुआ है, उसके विषयमें आपने जो दुर्योधनके अपराधकी चर्चा की है, इसके सम्बन्धमें भी मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ॥ २६½ ॥

न तद् दुर्योधनकृतं न च तद् भवता कृतम् ॥ २७ ॥
न कर्णसौबलाभ्यां च कुरवो यत् क्षयं गताः ।

'कौरवोंका जो संहार हुआ है, उसमें न दुर्योधनका हाथ है, न आपका । कर्ण और शकुनिने भी इसमें कुछ नहीं किया है ॥ २७½ ॥

दैवं तत् तु विजानीमो यन्न शक्यं प्रबाधितुम् ॥२८॥
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमपि बाधितुम् ।

'हमारी समझमें तो यह दैवका विधान था । इसे कोई टाल नहीं सकता था । दैवको पुरुषार्थसे मिटा देना असम्भव है ॥ २८½ ॥

अक्षौहिण्यो महाराज दशाष्टौ च समागताः ॥ २९ ॥
अष्टादशाहेन हताः कुरुभिर्योधपुङ्गवैः ।
भीष्मद्रोणकृपाद्यैश्च कर्णेन च महात्मना ॥ ३० ॥
युयुधानेन वीरेण धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
चतुर्भिः पाण्डुपुत्रैश्च भीमार्जुनयमैस्तथा ॥ ३१ ॥

'महाराज ! उस युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं; किंतु कौरवपक्षके प्रधान योद्धा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि तथा महामना कर्णने एवं पाण्डवदलके प्रमुख वीर सात्यकि, धृष्टद्युम्न, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आदिने अठारह दिनोंमें ही सबका संहार कर डाला।

न च क्षयोऽयं नृपते ऋते दैवबलादभूत् ।
अवश्यमेव संग्रामे क्षत्रियेण विशेषतः ॥ ३२ ॥
कर्तव्यं निधनं काले मर्तव्यं क्षत्रबन्धुना ।

'नरेश्वर ! ऐसा विकट संहार दैवीशक्तिके बिना कदापि नहीं हो सकता था । अवश्य ही संग्राममें मनुष्यको विशेषतः क्षत्रियको समयानुसार शत्रुओंका संहार एवं प्राणोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ३२½ ॥

तैरियं पुरुषव्याघ्रैर्विद्याबाहुबलान्वितैः ॥ ३३ ॥
पृथिवी निहता सर्वा सहया सरथद्विपा ।

'उन विद्या और बाहुबलसे सम्पन्न पुरुषसिंहोंने रथ, घोड़े और हाथियोंसहित इस सारी पृथ्वीका नाश कर डाला ॥ ३३½ ॥

न स राज्ञां वधे सूनुः कारणं ते महात्मनाम् ॥ ३४ ॥
न भवान् न च ते भृत्या न कर्णो न च सौबलः ।

'आपका पुत्र उन महात्मा नरेशोंके वधमें कारण नहीं हुआ है । इसी प्रकार न आप, न आपके सेवक, न कर्ण और न शकुनि ही इसमें कारण हैं ॥ ३४½ ॥

यद् विशस्ताः कुरुश्रेष्ठ राजानश्च सहस्रशः ॥ ३५ ॥
सर्वं दैवकृतं विद्धि कोऽत्र किं वक्तुमर्हति ।

'कुरुश्रेष्ठ ! उस युद्धमें जो सहस्रों राजा काट डाले गये हैं, वह सब दैवकी ही करतूत समझिये । इस विषयमें दूसरा कोई क्या कह सकता है ॥ ३५½ ॥

गुरुर्मतो भवानस्य कृत्स्नस्य जगतः प्रभुः ॥ ३६ ॥
धर्मात्मानमतस्तुभ्यमनुजानीमहे सुतम् ।

'आप इस सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं; इसलिये हम आपको अपना गुरु मानते हैं और आप धर्मात्मा नरेशको वनमें जानेकी अनुमति देते हैं तथा आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हमारा यह कथन है—॥ ३६½ ॥

लभतां वीरलोकं स ससहायो नराधिपः ॥ ३७ ॥
द्विजाग्र्यैः समनुज्ञातस्त्रिदिवे मोदतां सुखम् ।

'अपने सहायकोंसहित राजा दुर्योधन इन श्रेष्ठ द्विजोंके आशीर्वादसे वीरलोक प्राप्त करे और स्वर्गमें सुख एवं आनन्द भोगे ॥ ३७½ ॥

प्राप्स्यते च भवान् पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम् ॥ ३८ ॥
वेद धर्मं च कृत्स्नेन सम्यक् त्वं भव सुव्रतः ।

'आप भी पुण्य एवं धर्ममें ऊँची स्थिति प्राप्त करें। आप सम्पूर्ण धर्मोंको ठीक-ठीक जानते हैं, इसलिये उत्तम व्रतोंके अनुष्ठानमें लग जाइये ॥ ३८½ ॥

दृष्टिप्रदानमपि ते पाण्डवान् प्रति नो वृथा ॥ ३९ ॥
समर्थास्त्रिदिवस्यापि पालने किं पुनः क्षितेः ।

'आप जो हमारी देख-रेख करनेके लिये हमें पाण्डवोंको सौंप रहे हैं, वह सब व्यर्थ है। ये पाण्डव तो स्वर्गका भी पालन करनेमें समर्थ हैं; फिर इस भूमण्डलकी तो बात ही क्या है ॥ ३९½ ॥

अनुवर्त्स्यन्ति वा धीमन् समेषु विषमेषु च ॥ ४० ॥
प्रजाः कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवाञ्शीलभूषणान् ।

'बुद्धिमान् कुरुकुलश्रेष्ठ ! समस्त पाण्डव शीलरूपी भूषणसे विभूषित हैं; अतः भले-बुरे सभी समयोंमें सारी प्रजा निश्चय ही उनका अनुसरण करेगी ॥ ४०½ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पारिबर्हांश्च पार्थिवः ॥ ४१ ॥
पौराजाभिपन्नांश्च पालयत्येव पाण्डवः ।

'ये पृथ्वीनाथ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अपने दिये हुए तथा पहलेके राजाओंद्वारा अर्पित किये गये ब्राह्मणोंके लिये दातव्य अग्रहारों (दानमें दिये गये ग्रामों) तथा पारिबर्हों (पुरस्कार-रूपमें दिये गये ग्रामों) की भी रक्षा करते ही हैं ॥ ४१½ ॥

दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः सदा वैश्रवणो यथा ॥ ४२ ॥
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ।

'ये कुन्तीकुमार सदा कुबेरके समान दीर्घदर्शी, कोमल स्वभाववाले और जितेन्द्रिय हैं। इनके मन्त्री भी उच्च विचारके हैं। इनका हृदय बड़ा ही विशाल है ॥ ४२½ ॥

अमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभः ॥ ४३ ॥
ऋजु पश्यति मेधावी पुत्रवत् पाति नः सदा ।

'ये भरतकुलभूषण युधिष्ठिर शत्रुओंपर भी दया करनेवाले और परम पवित्र हैं। बुद्धिमान् होनेके साथ ही ये सबको सरलभावसे देखनेवाले हैं और हमलोगोंका सदा पुत्रवत् पालन करते हैं ॥ ४३½ ॥

विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद् धर्मजस्य वै ॥ ४४ ॥
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ।

'राजर्षे ! इन धर्मपुत्र युधिष्ठिरके संसर्गसे भीमसेन और अर्जुन आदि भी इस जनसमुदाय (प्रजावर्ग) का कभी अप्रिय नहीं करेंगे ॥ ४४½ ॥

मन्दा मृदुषु कौरव्य तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः ॥ ४५ ॥
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ।

'कुरुनन्दन ! ये पाँचों भाई पाण्डव बड़े पराक्रमी, महामनस्वी और पुरवासियोंके हितसाधनमें लगे रहनेवाले हैं। ये कोमल स्वभाववाले सत्पुरुषोंके प्रति मृदुतापूर्ण बर्ताव करते हैं, किंतु तीखे स्वभाववाले दुष्टोंके लिये ये विषधर सर्पोंके समान भयंकर बन जाते हैं ॥ ४५½ ॥

न कुन्ती न च पाञ्चाली न चोलूपी न सात्वती ॥ ४६ ॥
अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ।

'कुन्ती, द्रौपदी, उलूपी और सुभद्रा भी कभी प्रजाजनोंके प्रति प्रतिकूल बर्ताव नहीं करेंगी ॥ ४६½ ॥

भवत्कृतमिमं स्नेहं युधिष्ठिरविवर्धितम् ॥ ४७ ॥
न पृष्ठतः करिष्यन्ति पौरा जानपदा जनाः ।

'आपका प्रजाके साथ जो स्नेह था, उसे युधिष्ठिरने और भी बढ़ा दिया है। नगर और जनपदके लोग आप-लोगोंके इस प्रजाप्रेमकी कभी अवहेलना नहीं करेंगे ॥ ४७½ ॥

अधर्मिष्ठानपि सतः कुन्तीपुत्रा महारथाः ॥ ४८ ॥
मानवान् पालयिष्यन्ति भूत्वा धर्मपरायणाः ।

'कुन्तीके महारथी पुत्र स्वयं धर्मपरायण रहकर अधर्मी मनुष्योंका भी पालन करेंगे ॥ ४८½ ॥

स राजन् मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात् ॥ ४९ ॥
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ।

'अतः पुरुषप्रवर महाराज ! आप युधिष्ठिरकी ओरसे अपने मानसिक दुःखको हटाकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें लग जाइये। आपको समस्त प्रजाका नमस्कार है' ॥ ४९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं धर्म्यमनुमान्य गुणोत्तरम् ॥ ५० ॥
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! साम्बके धर्मानुकूल और उत्तम गुणयुक्त वचन सुनकर समस्त प्रजा

उन्हें सादर साधुवाद देने लगी तथा सबने उनकी बातका अनुमोदन किया ॥ ५०½ ॥

धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः ॥ ५१ ॥
विसर्जयामास तदा प्रकृतीस्तु शनैः शनैः ।
स तैः सम्पूजितो राजा शिवेनावेक्षितस्तथा ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्रने भी बारंबार साम्बके वचनोंकी सराहना की और सब लोगोंसे सम्मानित होकर धीरे-धीरे सबको विदा कर दिया। उस समय सबने उन्हें शुभ दृष्टिसे ही देखा ॥ ५१-५२ ॥

प्राञ्जलिः पूजयामास तं जनं भरतर्षभ ।
ततो विवेश भवनं गान्धार्या सहितो निजम् ॥
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यच्चकार निबोध तत् ॥ ५३

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने हाथ जोड़कर उ ब्राह्मण देवताका सत्कार किया और गान्धारीके साथ अपने महलमें चले गये । जब रात बीती और सवेरा हु तब उन्होंने जो कुछ किया, उसे बता रहा हूँ; सुनो ॥ ५३

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रकृतिसान्त्वने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रको प्रजाद्वारा दी गयी सान्त्वनाविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विदुरके द्वारा युधिष्ठिरसे श्राद्धके लिये धन माँगना, अर्जुनकी सहमति और भीमसेनका विरोध

वैशम्पायन उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विदुरं प्रेषयामास युधिष्ठिरनिवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीको युधिष्ठिरके महलमें भेजा ॥ १ ॥

स गत्वा राजवचनादुवाचाच्युतमीश्वरम् ।
युधिष्ठिरं महातेजाः सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २ ॥

राजाकी आज्ञासे अपने धर्मसे कभी विचलित न होनेवाले राजा युधिष्ठिरके पास जाकर समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विदुरने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजो वनवासाय दीक्षितः ।
गमिष्यति वनं राजन्नागतां कार्तिकीमिमाम् ॥ ३ ॥

'राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र वनवासकी दीक्षा ले चुके हैं । इसी कार्तिकी पूर्णिमाको जो कि अब निकट आ पहुँची है, वे वनकी यात्रा करेंगे ॥ ३ ॥

स त्वां कुरुकुलश्रेष्ठ किंचिदर्थमभीप्सति ।
श्राद्धमिच्छति दातुं स गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ ४ ॥
द्रोणस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
पुत्राणां चैव सर्वेषां ये चान्ये सुहृदो हताः ॥ ५ ॥

'कुरुकुलश्रेष्ठ ! इस समय वे तुमसे कुछ धन लेना चाहते हैं । उनकी इच्छा है कि महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक और युद्धमें मारे गये अपने समस्त पुत्रों तथा अन्य सुहृदोंका श्राद्ध करें ॥ ४-५ ॥

यदि चाप्यनुजानीषे सैन्धवापसदस्य च ।

'यदि तुम्हारी सम्मति हो तो वे उस नराधम सिन्धुरा जयद्रथका भी श्राद्ध करना चाहते हैं' ॥ ५½॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य युधिष्ठिरः ॥ ६
हृष्टः सम्पूजयामास गुडाकेशश्च पाण्डवः ।

विदुरकी यह बात सुनकर युधिष्ठिर तथा पाण्डु अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और उनकी सराहना करने लगे ॥ ६

न च भीमो दृढक्रोधस्तद्वचो जगृहे तदा ॥ ७ ॥
विदुरस्य महातेजा दुर्योधनकृतं स्मरन् ।

परंतु महातेजस्वी भीमसेनके हृदयमें उनके प्रति अमिट क्रोध जमा हुआ था । उन्हें दुर्योधनके अत्याचारोंका स्मरण हो आया, अतः उन्होंने विदुरजीकी बात नहीं स्वीकार की ॥ ७½ ॥

अभिप्रायं विदित्वा तु भीमसेनस्य फाल्गुनः ॥ ८ ॥
किरीटी किंचिदानम्य तमुवाच नरर्षभम् ।

भीमसेनके उस अभिप्रायको जानकर किरीटधारी अर्जुन कुछ विनीत हो उन नरश्रेष्ठसे इस प्रकार बोले—॥ ८½ ॥

भीम राजा पिता वृद्धो वनवासाय दीक्षितः ॥ ९ ॥
दातुमिच्छति सर्वेषां सुहृदामौर्ध्वदेहिकम् ।

'भैया भीम ! राजा धृतराष्ट्र हमारे ताऊ और वृद्ध पुरुष हैं । इस समय वे वनवासकी दीक्षा ले चुके हैं और जानेके पहले वे भीष्म आदि समस्त सुहृदोंका और्ध्वदेहिक श्राद्ध कर लेना चाहते हैं ॥ ९½ ॥

भवता निर्जितं वित्तं दातुमिच्छति कौरवः ॥ १० ॥
भीष्मादीनां महाबाहो तदनुज्ञातुमर्हसि ।

'महाबाहो ! कुरुपति धृतराष्ट्र आपके द्वारा जीते गये धनको आपसे माँगकर उसे भीष्म आदिके लिये देना चाहते हैं; अतः आपको इसके लिये स्वीकृति दे देनी चाहिये ॥ १०½ ॥

दिष्ट्या त्वद्य महाबाहो धृतराष्ट्रः प्रयाचते ॥ ११ ॥
याचितो यः पुरास्माभिः पश्य कालस्य पर्ययम् ।

'महाबाहो ! सौभाग्यकी बात है कि आज राजा धृतराष्ट्र हमलोगोंसे धनकी याचना करते हैं । समयका उलट-फेर तो देखिये । पहले हमलोग जिनसे याचना करते थे, आज वे ही हमसे याचना करते हैं ॥ ११½ ॥

योऽसौ पृथिव्याः कृत्स्नाया भर्ता भूत्वा नराधिपः ॥ १२ ॥
परैर्विनिहतामात्यो वनं गन्तुमभीप्सति ।

'एक दिन जो सम्पूर्ण भूमण्डलका भरण-पोषण करनेवाले नरेश थे, उनके सारे मन्त्री और सहायक शत्रुओंद्वारा मार डाले गये और आज वे वनमें जाना चाहते हैं ॥ १२½ ॥

मा तेऽन्यत् पुरुषव्याघ्र दानाद् भवतु दर्शनम् ॥ १३ ॥
अयशस्यमतोऽन्यत् स्यादधर्मश्च महाभुज ।

'पुरुषसिंह ! अतः आप उन्हें धन देनेके सिवा दूसरा कोई दृष्टिकोण न अपनावें । महाबाहो ! उनकी याचना ठुकरा देनेसे बढ़कर हमारे लिये और कोई कलङ्ककी बात न होगी । उन्हें धन न देनेसे हमें अधर्मका भी भागी होना पड़ेगा ॥ १३½ ॥

राजानमुपशिक्षस्व ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ॥ १४ ॥
नार्हस्त्वमपि दातुं वै नादातुं भरतर्षभ ।

'आप अपने बड़े भाई ऐश्वर्यशाली महाराज युधिष्ठिरके बर्तावसे शिक्षा ग्रहण करें । भरतश्रेष्ठ ! आप भी दूसरोंको देनेके ही योग्य हैं; दूसरोंसे लेनेके योग्य नहीं' ॥ १४½ ॥

एवं ब्रुवाणं बीभत्सुं धर्मराजोऽप्यपूजयत् ॥ १५ ॥
भीमसेनस्तु सक्रोधः प्रोवाचेदं वचस्तदा ।

ऐसी बात कहते हुए अर्जुनकी धर्मराज युधिष्ठिरने भूरि-भूरि प्रशंसा की । तब भीमसेनने कुपित होकर उनसे यह बात कही—॥ १५½ ॥

वयं भीष्मस्य दास्यामः प्रेतकार्यं तु फाल्गुन ॥ १६ ॥
सोमदत्तस्य नृपतेर्भूरिश्रवस एव च ।
बाह्लीकस्य च राजर्षेर्द्रोणस्य च महात्मनः ॥ १७ ॥
अन्येषां चैव सर्वेषां कुन्ती कर्णाय दास्यति ।

'अर्जुन ! हमलोग स्वयं ही भीष्म, राजा सोमदत्त, भूरिश्रवा, राजर्षि बाह्लीक, महात्मा द्रोणाचार्य तथा अन्य सब सम्बन्धियोंका श्राद्ध करेंगे । हमारी माता कुन्ती कर्णके लिये पिण्डदान करेगी ॥ १६-१७½ ॥

श्राद्धानि पुरुषव्याघ्र मा प्रादात् कौरवो नृपः ॥ १८ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा नो निन्दन्तु शात्रवः ।

'पुरुषसिंह ! मेरा यही विचार है कि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र उक्त महानुभावोंका श्राद्ध न करें । इसके लिये हमारे शत्रु हमारी निन्दा न करें ॥ १८½ ॥

कष्टात् कष्टतरं यान्तु सर्वे दुर्योधनादयः ॥ १९ ॥
यैरियं पृथिवी कृत्स्ना घातिता कुलपांसनैः ।

'जिन कुलाङ्गारोंने इस सारी पृथ्वीका विनाश करा डाला, वे दुर्योधन आदि सब लोग भारी-से-भारी कष्टमें पड़ जायँ ॥ १९½ ॥

कुतस्त्वमसि विस्मृत्य वैरं द्वादशवार्षिकम् ॥ २० ॥
अज्ञातवासं गहनं द्रौपदीशोकवर्धनम् ।

'तुम वह पुराना वैर, वह बारह वर्षोंका वनवास और द्रौपदीके शोकको बढ़ानेवाला एक वर्षका गहन अज्ञातवास सहसा भूल कैसे गये ? ॥ २०½ ॥

क्व तदा धृतराष्ट्रस्य स्नेहोऽस्मद्गोचरो गतः ॥ २१ ॥
कृष्णाजिनोपसंवीतो हृताभरणभूषणः ।
सार्धं पाञ्चालपुत्र्या त्वं राजानमुपजग्मिवान् ॥ २२ ॥
क्व तदा द्रोणभीष्मौ तौ सोमदत्तोऽपि वाभवत् ।

'उन दिनों धृतराष्ट्रका हमारे प्रति स्नेह कहाँ चला गया था ? जब तुम्हारे आभरण एवं आभूषण उतार लिये गये और तुम काले मृगचर्मसे अपने शरीरको ढककर द्रौपदीके साथ राजाके समीप गये, उस समय द्रोणाचार्य और भीष्म कहाँ थे ? सोमदत्तजी भी कहाँ चले गये थे ॥ २१-२२½ ॥

यत्र त्रयोदशसमा वने वन्येन जीवथ ॥ २३ ॥
न तदा त्वां पिता ज्येष्ठः पितृत्वेनाभिवीक्षते ।

'जब तुम सब लोग तेरह वर्षोंतक वनमें जंगली फल-मूल खाकर किसी तरह जी रहे थे, उन दिनों तुम्हारे ये ताऊजी पिताके भावसे तुम्हारी ओर नहीं देखते थे ॥ २३½ ॥

किं ते तद् विस्मृतं पार्थ यदेष कुलपांसनः ॥ २४ ॥
दुर्बुद्धिर्विदुरं प्राह द्यूते किं जितमित्युत ।

'पार्थ ! क्या तुम उस बातको भूल गये, जब कि यह कुलाङ्गार दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र जुआ आरम्भ कराकर विदुरजीसे बार-बार पूछता था कि 'इस दाँवमें हमलोगोंने क्या जीता है ?' ॥ २४½ ॥

तमेवंवादिनं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच वचनं धीमान् जोषमास्वेति भर्त्सयन् ॥ २५ ॥

भीमसेनको ऐसी बातें करते देख बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उन्हें डाँटकर कहा —'चुप रहो' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुनका भीमको समझाना और युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रको यथेष्ट धन देनेकी स्वीकृति प्रदान करना

अर्जुन उवाच

भीम ज्येष्ठो गुरुर्मे त्वं नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिः सर्वथा मानमर्हति ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन ! आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता और गुरुजन हैं; अतः आपके सामने मैं इसके सिवा और कुछ नहीं कह सकता कि राजर्षि धृतराष्ट्र सर्वथा समादरके योग्य हैं ॥ १ ॥

न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि ।
असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ॥ २ ॥

जिन्होंने आर्योंकी मर्यादा भङ्ग नहीं की है, वे साधुस्वभाववाले श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंके अपराधोंको नहीं, उपकारोंको ही याद रखते हैं ॥ २ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।
विदुरं प्राह धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

महात्मा अर्जुनकी यह बात सुनकर धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने विदुरजीसे कहा—॥ ३ ॥

इदं मद्वचनात् क्षत्तः कौरवं ब्रूहि पार्थिवम् ।
यावदिच्छति पुत्राणां श्राद्धं तावद् ददाम्यहम् ॥ ४ ॥

'चाचाजी ! आप मेरी ओरसे कौरवनरेश धृतराष्ट्रसे जाकर कह दीजिये कि वे अपने पुत्रोंका श्राद्ध करनेके लिये जितना धन चाहते हों, वह सब मैं दे दूँगा ॥ ४ ॥

भीष्मादीनां च सर्वेषां सुहृदामुपकारिणाम् ।
मम कोशादिति विभो मा भूद् भीमः सुदुर्मनाः ॥ ५ ॥

'प्रभो ! भीष्म आदि समस्त उपकारी सुहृदोंका श्राद्ध करनेके लिये केवल मेरे भण्डारसे धन मिल जायगा । इसके लिये भीमसेन अपने मनमें दुखी न हों' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजस्तमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ।
भीमसेनः कटाक्षेण वीक्षां चक्रे धनंजयम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मराजने अर्जुनकी बड़ी प्रशंसा की । उस समय भीमसेनने अर्जुनकी ओर कटाक्षपूर्वक देखा ॥ ६ ॥

ततः स विदुरं धीमान् वाक्यमाह युधिष्ठिरः ।
भीमसेने न कोपं स नृपतिः कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

तब बुद्धिमान् युधिष्ठिरने विदुरसे कहा—'चाचाजी ! राजा धृतराष्ट्रको भीमसेनपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

परिक्लिष्टो हि भीमोऽपि हिमवृष्ट्यातपादिभिः ।
दुःखैर्बहुविधैर्धीमानरण्ये विदितं तव ॥ ८ ॥

'आपको तो मालूम ही है कि वनमें हिम, वर्षा और धूप आदि नाना प्रकारके दुःखोंसे बुद्धिमान् भीमसेनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है ॥ ८ ॥

किं तु मद्वचनाद् ब्रूहि राजानं भरतर्षभ ।
यद् यदिच्छसि यावच्च गृह्यतां मद्गृहादिति ॥ ९ ॥

'आप मेरी ओरसे राजा धृतराष्ट्रसे कहिये कि भरतश्रेष्ठ ! आप जो-जो वस्तु जितनी मात्रामें लेना चाहते हों, उसे मेरे घरसे ग्रहण कीजिये' ॥ ९ ॥

यन्मात्सर्यमयं भीमः करोति भृशदुःखितः ।
न तन्मनसि कर्तव्यमिति वाच्यः स पार्थिवः ॥ १० ॥

'भीमसेन अत्यन्त दुखी होनेके कारण जो कभी ईर्ष्या प्रकट करते हैं, उसे वे मनमें न लावें। यह बात आप महाराजसे अवश्य कह दीजियेगा' ॥ १० ॥

यन्ममास्ति धनं किंचिदर्जुनस्य च वेश्मनि।
तस्य स्वामी महाराज इति वाच्यः स पार्थिवः ॥ ११ ॥

'मेरे और अर्जुनके घरमें जो कुछ भी धन है, उस सबके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र हैं; यह बात उन्हें बता दीजिये ॥ ११ ॥

ददातु राजा विप्रेभ्यो यथेष्टं क्रियतां व्ययः।
पुत्राणां सुहृदां चैव गच्छत्वानृण्यमद्य सः ॥ १२ ॥

'वे ब्राह्मणोंको यथेष्ट धन दें। जितना खर्च करना चाहें, करें। आज वे अपने पुत्रों और सुहृदोंके ऋणसे मुक्त हो जायँ ॥ १२ ॥

इदं चापि शरीरं मे तवायत्तं जनाधिप।
धनानि चेति विद्धि त्वं न मे तत्रास्ति संशयः ॥ १३ ॥

'उनसे कहिये, जनेश्वर! मेरा यह शरीर और सारा धन आपके ही अधीन है। इस बातको आप अच्छी तरह जान लें। इस विषयमें मेरे मनमें संशय नहीं है' ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरानुमोदने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिरका अनुमोदनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको युधिष्ठिरका उदारतापूर्ण उत्तर सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राज्ञा स विदुरो बुद्धिसत्तमः।
धृतराष्ट्रमुपेत्यैवं वाक्यमाह महार्थवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुरजी धृतराष्ट्रके पास जाकर यह महान् अर्थसे युक्त बात बोले— ॥ १ ॥

उक्तो युधिष्ठिरो राजा भवद्वचनमादितः।
स च संश्रुत्य वाक्यं ते प्रशशंस महाद्युतिः ॥ २ ॥

'महाराज! मैंने महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरके यहाँ जाकर आपका संदेश आरम्भसे ही कह सुनाया। उसे सुनकर उन्होंने आपकी बड़ी प्रशंसा की ॥ २ ॥

बीभत्सुश्च महातेजा निवेदयति ते गृहान्।
वसु तस्य गृहे यच्च प्राणानपि च केवलान् ॥ ३ ॥

'महातेजस्वी अर्जुन भी आपको अपना सारा घर सौंपते हैं। उनके घरमें जो कुछ धन है, उसे और अपने प्राणोंको भी वे आपकी सेवामें समर्पित करनेको तैयार हैं ॥ ३ ॥

धर्मराजश्च पुत्रस्ते राज्यं प्राणान् धनानि च।
अनुजानाति राजर्षे यच्चान्यदपि किंचन ॥ ४ ॥

'राजर्षे! आपके पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर अपना राज्य, प्राण, धन तथा और जो कुछ उनके पास है, सब आपको दे रहे हैं ॥ ४ ॥

भीमश्च सर्वदुःखानि संस्मृत्य बहुलान्युत।
कृच्छ्रादिव महाबाहुरनुजज्ञे विनिःश्वसन् ॥ ५ ॥

'परंतु महाबाहु भीमसेनने पहलेके समस्त क्लेशोंका, जिनकी संख्या अधिक है, स्मरण करके लंबी साँस खींचते हुए बड़ी कठिनाईसे धन देनेकी अनुमति दी है ॥ ५ ॥

स राजन् धर्मशीलेन राज्ञा बीभत्सुना तथा।
अनुनीतो महाबाहुः सौहृदे स्थापितोऽपि च ॥ ६ ॥

'राजन्! धर्मशील राजा युधिष्ठिर तथा अर्जुनने भी महाबाहु भीमसेनको भलीभाँति समझाकर उनके हृदयमें भी आपके प्रति सौहार्द उत्पन्न कर दिया है ॥ ६ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्य इति त्वां प्राह धर्मराट्।
संस्मृत्य भीमस्तद्वैरं यदन्यायवदाचरत् ॥ ७ ॥

'धर्मराजने आपसे कहलाया है कि भीमसेन पूर्व वैरका स्मरण करके जो कभी-कभी आपके साथ अन्याय-सा कर बैठते हैं, उसके लिये आप इनपर क्रोध न कीजियेगा ॥ ७ ॥

एवं प्रायो हि धर्मोऽयं क्षत्रियाणां नराधिप।
युद्धे क्षत्रियधर्मे च निरतोऽयं वृकोदरः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर! क्षत्रियोंका यह धर्म प्रायः ऐसा ही है। भीमसेन युद्ध और क्षत्रिय-धर्ममें प्रायः निरत रहते हैं ॥ ८ ॥

वृकोदरकृते चाहमर्जुनश्च पुनः पुनः।
प्रसीद याचे नृपते भवान् प्रभुरिहास्ति यत् ॥ ९ ॥

'भीमसेनके कटु बर्तावके लिये मैं और अर्जुन दोनों आपसे बार-बार क्षमायाचना करते हैं। नरेश्वर! आप प्रसन्न हों। मेरे पास जो कुछ भी है, उसके स्वामी आप ही हैं ॥ ९ ॥

तद् ददातु भवान् वित्तं यावदिच्छसि पार्थिव।
त्वमीश्वरोऽस्य राज्यस्य प्राणानामपि भारत ॥ १० ॥

'पृथ्वीनाथ! भरतनन्दन! आप जितना धन दान करना चाहें, करें। आप मेरे राज्य और प्राणोंके भी ईश्वर हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
इतो रत्नानि गाश्चैव दासीदासमजाविकम् ॥ ११ ॥
आनयित्वा कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छतु ।

'ब्राह्मणोंको माफी जमीन दीजिये और पुत्रोंका श्राद्ध कीजिये ।' युधिष्ठिरने यह भी कहा है कि 'महाराज धृतराष्ट्र मेरे यहाँसे नाना प्रकारके रत्न, गौएँ, दास, दासियाँ और भेंड़-बकरे मँगवाकर ब्राह्मणोंको दान करें ॥ ११½ ॥

दीनान्धकृपणेभ्यश्च तत्र तत्र नृपाज्ञया ॥ १२ ॥
बह्वन्नरसपानाढ्याः सभा विदुर कारय ।
गवां निपानान्यन्यच्च विविधं पुण्यकं कुरु ॥ १३ ॥

'विदुरजी ! आप राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे दीनों, अन्धों और कंगालोंके लिये भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्रचुर अन्न, रस और पीनेयोग्य पदार्थोंसे भरी हुई अनेक धर्मशालाएँ बनवाइये तथा गौओंके पानी पीनेके लिये बहुत-से पौसलोंका निर्माण कीजिये । साथ ही दूसरे भी विविध प्रकारके पुण्य कीजिये ॥ १२-१३ ॥

इति मामब्रवीद् राजा पार्थश्चैव धनंजयः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥

'इस प्रकार राजा युधिष्ठिर और अर्जुनने मुझसे बार-बार कहा है । अब इसके बाद जो कार्य करना हो, उसे आप बताइये' ॥ १४ ॥

इत्युक्ते विदुरेणाथ धृतराष्ट्रोऽभिनन्द्य तान् ।
मनश्चक्रे महादाने कार्तिक्यां जनमेजय ॥ १५ ॥

जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंकी बड़ी प्रशंसा की और कार्तिककी तिथियोंमें बहुत बड़ा दान करनेका निश्चय किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि विदुरवाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें विदुरका वाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रके द्वारा मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध एवं विशाल दान-यज्ञका अनुष्ठान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् राज्ञो जिष्णोश्च कर्मणि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिर और अर्जुनके कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततोऽभिरूपान् भीष्माय ब्राह्मणानृषिसत्तमान् ।
पुत्रार्थे सुहृदश्चैव स समीक्ष्य सहस्रशः ॥ २ ॥
कारयित्वान्नपानानि यानान्याच्छादनानि च ।
सुवर्णमणिरत्नानि दासीदासमजाविकम् ॥ ३ ॥
कम्बलानि च रत्नानि ग्रामान् क्षेत्रं तथा धनम् ।
सालङ्कारान् गजानश्वान् कन्याश्चैव वरस्त्रियः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने भीष्मजी तथा अपने पुत्रोंके श्राद्धके लिये सुयोग्य एवं श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों तथा सहस्रों सुहृदोंको निमन्त्रित किया । निमन्त्रित करके उनके लिये अन्न, पान, सवारी, ओढ़नेके वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास-दासी, भेंड़-बकरे, कम्बल, उत्तम-उत्तम रत्न, ग्राम, खेत, धन, आभूषणोंसे विभूषित हाथी और घोड़े तथा सुन्दरी कन्याएँ एकत्र कीं ॥ २–४ ॥

उद्दिश्योद्दिश्य सर्वेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः ।
द्रोणं संकीर्त्य भीष्मं च सोमदत्तं च बाह्लिकम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक् पृथक् ।
जयद्रथपुरोगांश्च सुहृदश्चापि सर्वशः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् उन नृपश्रेष्ठने सम्पूर्ण मृत व्यक्तियोंके उद्देश्यसे एक-एकका नाम लेकर उपर्युक्त वस्तुओंका दान किया । द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, राजा दुर्योधन तथा अन्य पुत्रोंका और जयद्रथ आदि सभी सगे-सम्बन्धियोंका नामोच्चारण करके उन सबके निमित्त पृथक्-पृथक् दान किया ॥ ५-६ ॥

स श्राद्धयज्ञो ववृते बहुशो धनदक्षिणः ।
अनेकधनरत्नौघो युधिष्ठिरमते तदा ॥ ७ ॥

वह श्राद्धयज्ञ युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बहुत-से धनकी दक्षिणासे सुशोभित हुआ । उसमें नाना प्रकारके धन और रत्नोंकी राशियाँ लुटायी गयीं ॥ ७ ॥

अनिशं यत्र पुरुषा गणका लेखकास्तदा ।
युधिष्ठिरस्य वचनादपृच्छन्त स्म तं नृपम् ॥ ८ ॥
आज्ञापय किमेतेभ्यः प्रदेयं दीयतामिति ।
तदुपस्थितमेवात्र वचनान्ते ददुस्तदा ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे हिसाब लगाने और लिखनेवाले बहुतेरे कार्यकर्ता वहाँ निरन्तर उपस्थित रहकर धृतराष्ट्रसे पूछते रहते थे कि बताइये, इन याचकोंको क्या दिया जाय ? यहाँ सब सामग्री उपस्थित ही है । धृतराष्ट्र ज्यों

ही कहते त्यों ही उतना धन उन याचकोंको वे कर्मचारी दे देते थे ॥ ८-९ ॥

शतदेये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा ।
दीयते वचनाद् राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ॥ १० ॥

बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे जहाँ सौ देना था, वहाँ हजार दिया गया और हजारकी जगह दस हजार बाँटा गया है ॥ १० ॥

एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः ।
तर्पयामास विप्रांस्तान् वर्षन् सस्यमिवाम्बुदः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार मेघ पानीकी धारा बहाकर खेतीको हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्ररूपी मेघने धनरूपी वारिधाराकी वर्षा करके समस्त ब्राह्मणरूपी खेतीको तृप्त एवं हरी-भरी कर दिया ॥ ११ ॥

ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान् महामते ।
अन्नपानरसौघेण प्लावयामास पार्थिवः ॥ १२ ॥

महामते ! तदनन्तर सभी वर्णके लोगोंको भाँति-भाँतिके भोजन और पीनेयोग्य रस प्रदान करके राजाने उन सबको संतुष्ट कर दिया ॥ १२ ॥

स वस्त्रधनरत्नौघो मृदङ्गनिनदो महान् ।
गवाश्वमकरावर्तो नानारत्नमहाकरः ॥ १३ ॥
ग्रामाग्रहारद्वीपाढ्यो मणिहेमजलार्णवः ।
जगत् सम्प्लावयामास धृतराष्ट्रोडुपोद्धतः ॥ १४ ॥

वह दानयज्ञ एक उमड़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था । वस्त्र, धन और रत्न—ये ही उसके प्रवाह थे । मृदङ्गोंकी ध्वनि उस समुद्रकी गर्जना थी । उसका स्वरूप विशाल था । गाय, बैल और घोड़े उसमें घड़ियालों और भँवरोंके समान जान पड़ते थे । नाना प्रकारके रत्नोंका वह महान् आकर बना हुआ था । दानमें दिये जानेवाले गाँव और माफी भूमि—ये ही उस समुद्रके द्वीप थे । मणि और सुवर्णमय जलसे वह लबालब भरा था और धृतराष्ट्ररूपी पूर्ण चन्द्रमाको देखकर उसमें ज्वार-सा उठ गया था । इस प्रकार उस दान-सिन्धुने सम्पूर्ण जगत्को आप्लावित कर दिया था ॥ १३-१४ ॥

एवं स पुत्रपौत्राणां पितृणामात्मनस्तथा ।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदेहिकम् ॥ १५ ॥

महाराज ! इस प्रकार उन्होंने पुत्रों, पौत्रों और पितरोंका तथा अपना एवं गान्धारीका भी श्राद्ध किया ॥ १५ ॥

परिश्रान्तो यदासीत् स ददद् दानान्यनेकशः ।
निवर्तयामास तदा दानयज्ञं नराधिपः ॥ १६ ॥

जब अनेक प्रकारके दान देते-देते राजा धृतराष्ट्र बहुत थक गये, तब उन्होंने उस दान-यज्ञको बंद किया ॥ १६ ॥

एवं स राजा कौरव्य चक्रे दानमहाक्रतुम् ।
नटनर्तकलास्याढ्यं बह्वन्नरसदक्षिणम् ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने दान नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया । उसमें प्रचुर अन्न, रस एवं असंख्य दक्षिणाका दान हुआ । उस उत्सवमें नटों और नर्तकोंके नाच-गानका भी आयोजन किया गया था ॥१७॥

दशाहमेवं दानानि दत्त्वा राजाम्बिकासुतः ।
बभूव पुत्रपौत्राणामनृणो भरतर्षभ ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार लगातार दस दिनोंतक दान देकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र पुत्रों और पौत्रोंके ऋण-से मुक्त हो गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि दानयज्ञे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें दानयज्ञ-विषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका वनको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
आहूय पाण्डवान् वीरान् वनवासे कृतक्षणः ॥ १ ॥
गान्धारीसहितो धीमानभ्यनन्दद् यथाविधि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर ग्यारहवें दिन प्रातःकाल गान्धारीसहित बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने वनवासकी तैयारी करके वीर पाण्डवोंको बुलाया और उनका यथावत् अभिनन्दन किया ॥ १½ ॥

कार्तिक्यां कारयित्वेष्टिं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २ ॥
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः ।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः ॥ ३ ॥

उस दिन कार्तिककी पूर्णिमा थी । उसमें उन्होंने वेदके

पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंसे यात्राकालोचित इष्टि करवाकर वल्कल और मृगचर्म धारण किये और अग्निहोत्रको आगे करके पुत्र-वधुओंसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र राजभवनसे बाहर निकले ॥ २-३ ॥

ततः स्त्रियः कौरवपाण्डवानां
याश्चापराः कौरवराजवंश्याः ।
तासां नादः प्रादुरासीत् तदानीं
वैचित्रवीर्ये नृपतौ प्रयाते ॥ ४ ॥

विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार प्रस्थान करनेपर कौरवों और पाण्डवोंकी स्त्रियाँ तथा कौरवराजवंश-की अन्यान्य महिलाएँ सहसा रो पड़ीं । उनके रोनेका महान् शब्द उस समय सब ओर गूँज उठा था ॥ ४ ॥

ततो लाजैः सुमनोभिश्च राजा
विचित्राभिस्तद् गृहं पूजयित्वा ।
सम्पूज्यार्थैर्भृत्यवर्गं च सर्वं
ततः समुत्सृज्य ययौ नरेन्द्रः ॥ ५ ॥

घरसे निकलकर राजा धृतराष्ट्रने लावा और भाँति-भाँति-के फूलोंसे उस राजभवनकी पूजा की और समस्त सेवकवर्गका धनसे सत्कार करके उन सबको छोड़कर वे महाराज वहाँसे चल दिये ॥ ५ ॥

ततो राजा प्राञ्जलिर्वेपमानो
युधिष्ठिरः सस्वरं बाष्पकण्ठः ।
विमुच्योच्चैर्महानादं हि साधो
क यास्यसीत्यपतत् तात भूमौ ॥ ६ ॥

तात ! उस समय राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए काँपने लगे । आँसुओंसे उनका गला भर आया । वे जोर-जोरसे महान् आर्तनाद करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे । और 'महात्मन् ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले जा रहे हैं ।' ऐसा कहते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६ ॥

तथार्जुनस्तीव्रदुःखाभितप्तो
मुहुर्मुहुर्निःश्वसन् भारताग्र्यः ।
युधिष्ठिरं मैवमित्येवमुक्त्वा
निगृह्याथो दीनवत् सीदमानः ॥ ७ ॥

उस समय भरतवंशके अग्रगण्य वीर अर्जुन दुस्सह दुःख-से संतप्त हो बारंबार लंबी साँस खींचते हुए वहाँ युधिष्ठिरसे बोले—'भैया ! आप ऐसे अधीर न हो जाइये ।' यों कहकर वे उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़कर दीनकी भाँति शिथिल होकर बैठ गये ॥ ७ ॥

वृकोदरः फाल्गुनश्चैव वीरौ
माद्रीपुत्रौ विदुरः संजयश्च ।
वैश्यापुत्रः सहितो गौतमेन
धौम्यो विप्राश्चान्वयुर्बाष्पकण्ठाः ॥ ८ ॥
कुन्ती गान्धारीं बद्धनेत्रां व्रजन्तीं
स्कन्धासक्तं हस्तमथोद्वहन्ती ।
राजा गान्धार्याः स्कन्धदेशेऽवसज्य
पाणिं ययौ धृतराष्ट्रः प्रतीतः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिरसहित भीमसेन, अर्जुन, वीर माद्री-कुमार, विदुर, संजय, वैश्यापुत्र युयुत्सु, कृपाचार्य, धौम्य तथा और भी बहुत-से ब्राह्मण आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठ होकर उनके पीछे-पीछे चले । आगे-आगे कुन्ती अपने कंधेपर रक्खे हुए गान्धारीके हाथको पकड़े चल रही थीं । उनके पीछे आँखोंपर पट्टी बाँधे गान्धारी थीं और राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके कंधेपर हाथ रक्खे निश्चिन्ततापूर्वक चले जा रहे थे ॥ ८-९ ॥

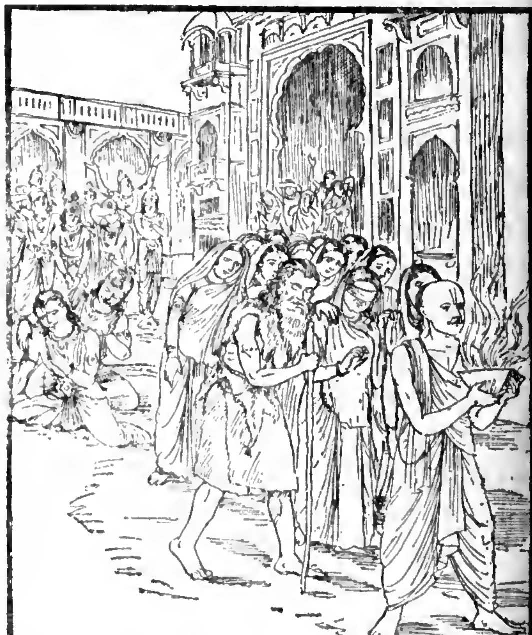

तथा कृष्णा द्रौपदी सात्वती च
बालापत्या चोत्तरा कौरवी च ।
चित्राङ्गदा याश्च काश्चित्स्त्रियोऽन्याः
सार्धं राज्ञा प्रस्थितास्ता वधूभिः ॥१०॥

द्रुपदकुमारी कृष्णा, सुभद्रा, गोदमें नन्हा-सा बालक लिये उत्तरा, कौरव्यनागकी पुत्री उलूपी, बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदा तथा अन्य जो कोई भी अन्तःपुरकी स्त्रियाँ थीं; वे सब अपनी बहुओंसहित राजा धृतराष्ट्रके साथ चल पड़ीं ॥ १० ॥

तासां नादो रुदतीनां तदासीद्
राजन् दुःखात् कुररीणामिवोच्चैः ।

ततो निष्पेतुर्ब्राह्मणक्षत्रियाणां
विट्शूद्राणां चैव भार्याः समन्तात् ॥११॥

राजन्! उस समय वे सब स्त्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो कुररियोंके समान उच्चस्वरसे विलाप कर रही थीं। उनके रोनेका कोलाहल सब ओर व्याप्त हो गया था। उसे सुनकर पुरवासी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंकी स्त्रियाँ भी चारों ओरसे घर छोड़कर बाहर निकल आयीं ॥ ११ ॥

तन्निर्याणे दुःखितः पौरवर्गो
गजाह्वये चैव बभूव राजन्।
यथा पूर्वं गच्छतां पाण्डवानां
द्यूते राजन् कौरवाणां सभायाः ॥१२॥

राजन्! जैसे पूर्वकालमें द्यूतक्रीड़ाके समय कौरवसभासे निकलकर वनवासके लिये पाण्डवोंके प्रस्थान करनेपर हस्तिनापुरके नागरिकोंका समुदाय दुःखमें डूब गया था, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके जाते समय भी समस्त पुरवासी शोकसे संतप्त हो उठे थे ॥ १२ ॥

या नापश्यंश्चन्द्रमसं न सूर्यं
रामाः कदाचिदपि तस्मिन् नरेन्द्रे।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे
शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः ॥१३॥

रनिवासकी जिन रमणियोंने कभी बाहर आकर सूर्य और चन्द्रमाको भी नहीं देखा था, वे ही कौरवराज धृतराष्ट्रके महावनके लिये प्रस्थान करते समय शोकसे व्याकुल होकर खुली सड़कपर आ गयी थीं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्याणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका नगरसे निकलनाविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका पुरवासियोंको लौटाना और पाण्डवोंके अनुरोध करनेपर भी कुन्तीका वनमें जानेसे न रुकना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव।
नारीणां च नराणां च निःस्वनः सुमहानभूत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पृथ्वीनाथ! तदनन्तर महलों और अट्टालिकाओंमें तथा पृथ्वीपर भी रोते हुए नर-नारियोंका महान् कोलाहल छा गया ॥ १ ॥

स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च।
कथंचिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥

सारी सड़क पुरुषों और स्त्रियोंकी भीड़से भरी हुई थी। उसपर चलते हुए बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे। उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और शरीर काँप रहा था ॥ २ ॥

स वर्द्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात्।
विसर्जयामास च तं जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥

राजा धृतराष्ट्र वर्धमान नामक द्वारसे होते हुए हस्तिनापुरसे बाहर निकले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बारंबार आग्रह करके अपने साथ आये हुए जनसमूहको विदा किया ॥ ३ ॥

वनं गन्तुं च विदुरो राज्ञा सह कृतक्षणः।
संजयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥ ४ ॥

विदुर और गवल्गणकुमार महामात्र सूत संजयने राजाके साथ ही वनमें जानेका निश्चय कर लिया था ॥ ४ ॥

कृपं निवर्तयामास युयुत्सुं च महारथम्।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाप्य युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

महाराज धृतराष्ट्रने कृपाचार्य और महारथी युयुत्सुको युधिष्ठिरके हाथों सौंपकर लौटाया ॥ ५ ॥

निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तदा।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निवर्तितुमियेष ह ॥ ६ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर अन्तःपुरकी रानियोंसहित राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर लौट जानेका विचार किया ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीम्।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥ ७ ॥
वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तापस्ये कृतनिश्चयः ॥ ८ ॥

उस समय उन्होंने वनकी ओर जाती हुई अपनी माता

कुन्तीसे कहा—'रानी मा ! आप अपनी पुत्रवधुओंके साथ लौटिये, नगरको जाइये । मैं राजाके पीछे-पीछे जाऊँगा; क्योंकि ये धर्मात्मा नरेश तपस्याके लिये निश्चय करके वनमें जा रहे हैं, अतः इन्हें जाने दीजिये' ॥ ७-८ ॥

इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना ।
जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया तो भी वे गान्धारीका हाथ पकड़े चलती ही गयीं ॥ ९ ॥

कुन्त्युवाच

सहदेवे महाराज माप्रसादं कृथाः क्वचित् ।
एष मामनुरक्तो हि राजंस्त्वां चैव सर्वदा ॥ १० ॥

जाते-जाते ही कुन्तीने कहा—महाराज ! तुम सहदेवपर कभी अप्रसन्न न होना । राजन् ! यह सदा मेरे और तुम्हारे प्रति भक्ति रखता आया है ॥ १० ॥

कर्णं स्मरेथाः सततं संग्रामेष्वपलायिनम् ।
अवकीर्णो हि समरे वीरो दुष्प्रज्ञया तदा ॥ ११ ॥

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले अपने भाई कर्णको भी सदा याद रखना, क्योंकि मेरी ही दुर्बुद्धिके कारण वह वीर युद्धमें मारा गया ॥ ११ ॥

आयसं हृदयं नूनं मन्दाया मम पुत्रक ।
यत् सूर्यजमपश्यन्त्याः शतधा न विदीर्यते ॥ १२ ॥

बेटा ! मुझ अभागिनीका हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है; तभी तो आज सूर्यनन्दन कर्णको न देखकर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १२ ॥

एवं गते तु किं शक्यं मया कर्तुमरिंदम ।
मम दोषोऽयमत्यर्थं ख्यापितो यन्न सूर्यजः ॥ १३ ॥

शत्रुदमन ! ऐसी दशामें मैं क्या कर सकती हूँ । यह मेरा ही महान् दोष है कि मैंने सूर्यपुत्र कर्णका तुमलोगोंको परिचय नहीं दिया ॥ १३ ॥

तन्निमित्तं महाबाहो दानं दद्यास्त्वमुत्तमम् ।
सदैव भ्रातृभिः सार्धं सूर्यजस्यारिमर्दन ॥ १४ ॥

महाबाहो ! शत्रुमर्दन ! तुम अपने भाइयोंके साथ सदा ही सूर्यपुत्र कर्णके लिये भी उत्तम दान देते रहना ॥ १४ ॥

द्रौपद्याश्च प्रिये नित्यं स्थातव्यमरिकर्शन ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव नकुलश्च कुरूद्वह ॥ १५ ॥
समाधेयास्त्वया राजंस्त्वय्यद्य कुलधूर्गता ।

शत्रुसूदन ! मेरी बहू द्रौपदीका भी सदा प्रिय करते रहना । कुरुश्रेष्ठ ! तुम भीमसेन, अर्जुन और नकुलको भी सदा संतुष्ट रखना । आजसे कुरुकुलका भार तुम्हारे ही ऊपर है ॥ १५½ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम् ॥ १६ ॥
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ।

अब मैं वनमें गान्धारीके साथ शरीरपर मैल एवं कीचड़ धारण किये तपस्विनी बनकर रहूँगी और अपने इन सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी ।
विषादमगमद् धीमान् न च किंचिदुवाच ह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके ऐसा कहनेपर अपने मनको वशमें रखनेवाले धर्मात्मा एवं बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाइयोंसहित बहुत दुखी हुए । वे अपने मुँहसे कुछ न बोले ॥ १७ ॥

मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥ १८ ॥

दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर चिन्ता और शोकमें डूबे हुए धर्मराज युधिष्ठिरने मातासे दीन होकर कहा—॥ १८ ॥

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'माताजी ! आपने यह क्या निश्चय कर लिया ? आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मैं आपको वन जानेकी अनुमति नहीं दे सकता । आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

पुरोद्यतान् पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने ।
विदुलाया वचोभिस्त्वं नास्मान् संत्यक्तुमर्हसि ॥ २० ॥

'प्रियदर्शने ! पहले जब हमलोग नगरसे बाहर जानेको उद्यत थे, आपने विदुलाके वचनोंद्वारा हमें क्षत्रियधर्मके पालनके लिये उत्साह दिलाया था । अतः आज हमें त्यागकर जाना आपके लिये उचित नहीं है ॥ २० ॥

निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया ।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥ २१ ॥

'पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे आपका विचार सुनकर ही मैंने बहुत-से राजाओंका संहार करके इस राज्यको प्राप्त किया है ॥ २१ ॥

क सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या यच्छ्रुतं मया ।
क्षत्रधर्मे स्थितिं चोक्त्वा तस्याश्च्यवितुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'कहाँ आपकी वह बुद्धि और कहाँ आपका यह विचार ! मैंने आपका जो विचार सुना है, उसके अनुसार हमें क्षत्रिय

धर्ममें स्थित रहनेका उपदेश देकर आप स्वयं उससे गिरना चाहती हैं ॥ २२ ॥

अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषा हीमा यशस्विनि ।
कथं वत्स्यसि दुर्गेषु वनेष्वद्य प्रसीद मे ॥ २३ ॥

'यशस्विनी मा ! भला आप हमको, अपनी इन बहुओंको और इस राज्यको छोड़कर अब उन दुर्गम वनोंमें कैसे रह सकेंगी; अतः हमलोगोंपर कृपा करके यहीं रहिये' ॥ २३ ॥

इति बाष्पकला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
सा जगामाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रके ये अश्रुगद्गद वचन सुनकर कुन्तीके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये तो भी वे रुक न सकीं। आगे बढ़ती ही गयीं। तब भीमसेनने उनसे कहा—॥ २४ ॥

यदा राज्यमिदं कुन्ति भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥ २५ ॥

'माताजी ! जब पुत्रोंके जीते हुए इस राज्यके भोगनेका अवसर आया और राजधर्मके पालनकी सुविधा प्राप्त हुई, तब आपको ऐसी बुद्धि कैसे हो गयी ? ॥ २५ ॥

किं वयं कारिताः पूर्वं भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥ २६ ॥

'यदि ऐसा ही करना था तो आपने इस भूमण्डलका विनाश क्यों करवाया ? क्या कारण है कि आप हमें छोड़कर वनमें जाना चाहती हैं ? ॥ २६ ॥

वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥ २७ ॥

'जब आपको वनमें ही जाना था, तब आप हमको और दुःख-शोकमें डूबे हुए उन माद्रीकुमारोंको बाल्यावस्थामें वनसे नगरमें क्यों ले आयीं ? ॥ २७ ॥

प्रसीद मातर्मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं मातर्भुङ्क्ष्व तावद् बलार्जिताम् ॥ २८ ॥

'मेरी यशस्विनी मा ! आप प्रसन्न हों। आप हमें छोड़कर वनमें न जायँ। बलपूर्वक प्राप्त की हुई राजा युधिष्ठिरकी उस राजलक्ष्मीका उपभोग करें' ॥ २८ ॥

इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनी ।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद् वचः ॥ २९ ॥

शुद्ध हृदयवाली कुन्ती देवी वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं; अतः नाना प्रकारसे विलाप करते हुए अपने पुत्रोंका अनुरोध उन्होंने नहीं माना ॥ २९ ॥

द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा ।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥ ३० ॥

सासको इस प्रकार वनवासके लिये जाती देख द्रौपदीके मुखपर भी विषाद छा गया। वह सुभद्राके साथ रोती हुई स्वयं भी कुन्तीके पीछे-पीछे जाने लगी ॥ ३० ॥

सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती ।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥ ३१ ॥

कुन्तीकी बुद्धि विशाल थी। वे वनवासका पक्का निश्चय कर चुकी थीं; इसलिये अपने रोते हुए समस्त पुत्रोंकी ओर बार-बार देखती हुई वे आगे बढ़ती ही चली गयीं ॥ ३१ ॥

अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरास्तथा ।
ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान् वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

पाण्डव भी अपने सेवकों और अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ उनके पीछे-पीछे जाने लगे। तब उन्होंने आँसू पोंछकर अपने पुत्रोंसे इस प्रकार कहा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवनप्रस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें कुन्तीका वनको प्रस्थानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंको उनके अनुरोधका उत्तर

कुन्त्युवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु पाण्डुनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, वही ठीक है। राजाओ ! पूर्वकालमें तुम नाना प्रकारके कष्ट उठाकर शिथिल हो गये थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ १ ॥

द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥ २ ॥

जूएमें तुम्हारा राज्य छीन लिया गया था। तुम सुखसे भ्रष्ट हो चुके थे और तुम्हारे ही बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार करते थे; इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साह प्रदान किया था ॥ २ ॥

कथं पाण्डोर्न नश्येत संततिः पुरुषर्षभाः ।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषो ! मैं चाहती थी कि पाण्डुकी संतान किसी तरह नष्ट न हो और तुम्हारे यशका भी नाश न होने पाये। इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ ३ ॥

यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येवं तत् कृतं मया ॥ ४ ॥

तुम सब लोग इन्द्रके समान शक्तिशाली और देवताओंके तुल्य पराक्रमी होकर जीविकाके लिये दूसरोंका मुँह न देखो, इसलिये मैंने वह सब किया था ॥ ४ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठो राजा त्वं वासवोपमः ।
पुनर्वने न दुःखी स्या इति चोद्धर्षणं कृतम्॥ ५ ॥

तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली राजा होकर पुनः वनवासका कष्ट न भोगो, इसी उद्देश्यसे मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ ५ ॥

नागायुतसमप्राणः ख्यातविक्रमपौरुषः ।
नायं भीमोऽत्ययं गच्छेदिति चोद्धर्षणं कृतम्॥ ६ ॥

ये दस हजार हाथियोंके समान बलशाली और विख्यात बल-पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेन पराजयको न प्राप्त हों; इसीलिये मैंने युद्धके हेतु उत्साह दिलाया था ॥ ६ ॥

भीमसेनादवरजस्तथायं वासवोपमः ।
विजयो नावसीदेत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ७ ॥

भीमसेनके छोटे भाई ये इन्द्रतुल्य पराक्रमी विजयशील अर्जुन शिथिल होकर न बैठ जायँ, इसीलिये मैंने उत्साह दिलाया था ॥ ७ ॥

नकुलः सहदेवश्च तथेमौ गुरुवर्तिनौ ।
क्षुधा कथं न सीदेतामिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ८ ॥

गुरुजनोंकी आज्ञाके पालनमें लगे रहनेवाले ये दोनों भाई नकुल और सहदेव भूखका कष्ट न उठावें, इसके लिये मैंने तुम्हें उत्साह दिलाया था ॥ ८ ॥

इयं च बृहती श्यामा तथात्यायतलोचना ।
वृथा सभातले क्लिष्टा मा भूदिति च तत् कृतम् ॥ ९ ॥

यह ऊँचे कदवाली श्यामवर्णा विशाललोचना मेरी बहू भरी सभामें पुनः व्यर्थ अपमानित होनेका कष्ट न भोगे, इसी उद्देश्यसे मैंने वह सब किया था ॥ ९ ॥

प्रेक्षतामेव वो भीम वेपन्तीं कदलीमिव ।
स्त्रीधर्मिणीमरिष्टाङ्गीं तथा द्यूतपराजिताम् ॥ १० ॥
दुःशासनो यदा मौर्ख्याद् दासीवत् पर्यकर्षत ।
तदैव विदितं मह्यं पराभूतमिदं कुलम् ॥ ११ ॥

भीमसेन ! तुम सब लोगोंके देखते-देखते केलेके पत्तेकी तरह काँपती हुई, जूएमें हारी गयी, रजस्वला और निर्दोष अङ्गवाली द्रौपदीको दुःशासनने मूर्खतावश जब दासीकी भाँति घसीटा था, तभी मुझे मालूम हो गया था कि अब इस कुलका पराभव होकर ही रहेगा ॥ १०-११ ॥

निषण्णाः कुरवश्चैव तदा मे श्वशुरादयः ।
सा दैवं नाथमिच्छन्ती व्यलपत् कुररी यथा ॥ १२ ॥

मेरे श्वशुर आदि समस्त कौरव चुपचाप बैठे थे और द्रौपदी अपने लिये रक्षक चाहती हुई भगवान्‌को पुकार-पुकारकर कुररीकी भाँति विलाप कर रही थी ॥ १२ ॥

केशपक्षे परामृष्टा पापेन हतबुद्धिना ।
यदा दुःशासनेनैषा तदा मुह्याम्यहं नृपाः ॥ १३ ॥
युष्मत्तेजोविवृद्ध्यर्थं मया ह्युद्धर्षणं कृतम् ।
तदानीं विदुलावाक्यैरिति तद् वित्त पुत्रकाः ॥ १४ ॥

राजाओ ! जिसकी बुद्धि मारी गयी थी, उस पापी दुःशासनने जब मेरी इस बहूका केश पकड़कर खींचा था, तभी मैं दुःखसे मोहित हो गयी थी। यही कारण था कि उस समय विदुलाके वचनोंद्वारा मैंने तुम्हारे तेजकी वृद्धिके लिये उत्साहवर्धन किया था। पुत्रो ! इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ १३-१४ ॥

कथं न राजवंशोऽयं नश्येत् प्राप्य सुतान् मम ।
पाण्डोरिति मया पुत्रास्तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ॥ १५ ॥

मेरे और पाण्डुके पुत्रोंतक पहुँचकर यह राजवंश किसी तरह नष्ट न हो जाय; इसीलिये मैंने तुम्हारे उत्साहकी वृद्धि की थी ॥ १५ ॥

न तस्य पुत्राः पौत्रा वा क्षतवंशस्य पार्थिव ।
लभन्ते सुकृताँल्लोकान् यस्माद् वंशः प्रणश्यति॥ १६ ॥

राजन् ! जिसका वंश नष्ट हो जाता है, उस कुलके पुत्र या पौत्र कभी पुण्यलोक नहीं पाते; क्योंकि उस वंशका तो नाश ही हो जाता है ॥ १६ ॥

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा ।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ॥ १७ ॥

पुत्रो ! मैंने पूर्वकालमें अपने स्वामी महाराज पाण्डुके विशाल राज्यका सुख भोग लिया है, बड़े-बड़े दान दिये हैं और यज्ञमें विधिपूर्वक सोमपान भी किया है ॥ १७ ॥

नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम् ।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत् कृतम् ॥ १८ ॥

मैंने अपने लाभके लिये श्रीकृष्णको प्रेरित नहीं किया था। विदुलाके वचन सुनाकर जो उनके द्वारा तुम्हारे पास संदेश भेजा था, वह सब तुमलोगोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही किया था ॥ १८ ॥

नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम् ।
पतिलोकानहं पुण्यान् कामये तपसा विभो ॥ १९ ॥

पुत्रो ! मैं पुत्रके जीते हुए राज्यका फल भोगना नहीं चाहती । प्रभो ! मैं तपस्याद्वारा पुण्यमय पतिलोकमें जानेकी कामना रखती हूँ ॥ १९ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः ।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं अपने इन वनवासी सास-ससुरकी सेवा करके तपके द्वारा इस शरीरको सुखा डालूँगी ॥ २० ॥

निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह ।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ॥ २१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तुम भीमसेन आदिके साथ लौट जाओ । तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी रहे और तुम्हारा हृदय विशाल (अत्यन्त उदार) हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें कुन्तीका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

पाण्डवोंका स्त्रियोंसहित निराश लौटना, कुन्तीसहित गान्धारी और धृतराष्ट्र आदिका मार्गमें गङ्गातटपर निवास करना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम ।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहिताऽनघाः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्तीकी बात सुनकर निष्पाप पाण्डव बहुत लज्जित हुए और द्रौपदीके साथ वहाँसे लौटने लगे ॥ १ ॥

ततः शब्दो महानेव सर्वेषामभवत् तदा ।
अन्तःपुराणां रुदतां दृष्ट्वा कुन्तीं तथागताम् ॥ २ ॥
प्रदक्षिणमथावृत्य राजानं पाण्डवास्तदा ।
अभिवाद्य न्यवर्तन्त पृथां तामनिवर्त्य वै ॥ ३ ॥

कुन्तीको इस प्रकार वनवासके लिये उद्यत देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ रोने लगीं । उन सबके रोनेका महान् शब्द सब ओर गूँज उठा । उस समय पाण्डव कुन्तीको लौटानेमें सफल न हो राजा धृतराष्ट्रकी परिक्रमा और अभिवादन करके लौटने लगे ॥ २-३ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
गान्धारीं विदुरं चैव समाभाष्यावगृह्य च ॥ ४ ॥

तब महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने गान्धारी और विदुरको सम्बोधित करके उनका हाथ पकड़कर कहा—॥४॥

युधिष्ठिरस्य जननी देवी साधु निवर्त्यताम् ।
यथा युधिष्ठिरः प्राह तत् सर्वं सत्यमेव हि ॥ ५ ॥

'गान्धारी और विदुर ! तुमलोग युधिष्ठिरकी माता कुन्तीदेवीको अच्छी तरह समझा-बुझाकर लौटा दो । युधिष्ठिर जैसा कह रहे हैं, वह सब ठीक ही है ॥ ५ ॥

पुत्रैश्वर्यं महदिदमपास्य च महाफलम् ।
का नु गच्छेद् वनं दुर्गं पुत्रानुत्सृज्य मूढवत्॥ ६ ॥

'पुत्रोंका महान् फलदायक यह महान् ऐश्वर्य छोड़कर और पुत्रोंका त्याग करके कौन नारी मूढ़की भाँति दुर्गम वनमें जायगी ? ॥ ६ ॥

राज्यस्थया तपस्तप्तुं कर्तुं दानव्रतं महत् ।
अनया शक्यमेवाद्य श्रूयतां च वचो मम ॥ ७ ॥

'यह राज्यमें रहकर भी तपस्या कर सकती है और महान् दान-व्रतका अनुष्ठान करनेमें समर्थ हो सकती है; अतः यह आज मेरी बात ध्यान देकर सुने ॥ ७ ॥

गान्धारि परितुष्टोऽस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै ।
तस्मात् त्वमेनां धर्मज्ञे समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ८ ॥

'धर्मको जाननेवाली गान्धारी ! मैं बहू कुन्तीकी सेवा-शुश्रूषासे बहुत संतुष्ट हूँ; अतः आज तुम इसे घर लौटनेकी आज्ञा दे दो' ॥ ८ ॥

इत्युक्ता सौबलेयी तु राज्ञा कुन्तीमुवाच ह ।
तत् सर्वं राजवचनं स्वं च वाक्यं विशेषवत् ॥ ९ ॥

राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर सुबलकुमारी गान्धारीने कुन्तीसे राजाकी आज्ञा कह सुनायी और अपनी ओरसे भी उन्हें लौटनेके लिये विशेष जोर दिया ॥ ९ ॥

न च सा वनवासाय देवी कृतमतिं तदा ।
शक्नोत्युपावर्तयितुं कुन्तीं धर्मपरां सतीम् ॥ १० ॥

परंतु धर्मपरायणा सती-साध्वी कुन्तीदेवी वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं, अतः गान्धारी देवी उन्हें घरकी ओर लौटा न सकीं ॥ १० ॥

तस्यास्तां तु स्थितिं ज्ञात्वा व्यवसायं कुरुस्त्रियः।
निवृत्तांश्च कुरुश्रेष्ठान् दृष्ट्वा प्ररुरुदुस्तदा ॥ ११ ॥

कुन्तीकी यह स्थिति और वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय जान कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको निराश लौटते देख कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ११ ॥

उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ॥ १२ ॥

कुन्तीके सभी पुत्र और सारी बहुएँ जब लौट गयीं, तब महाज्ञानी राजा धृतराष्ट्र वनकी ओर चले ॥ १२ ॥

पाण्डवाश्चातिदीनास्ते दुःखशोकपरायणाः।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ १३ ॥

उस समय पाण्डव अत्यन्त दीन और दुःख-शोकमें मग्न हो रहे थे। उन्होंने वाहनोंपर बैठकर स्त्रियोंसहित नगरमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥

तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सवमिवाभवत्।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥ १४ ॥

उस दिन बालक, वृद्ध और स्त्रियोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्ष और आनन्दसे रहित तथा उत्सवशून्य-सा हो रहा था ॥ १४ ॥

सर्वे चासन् निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ॥ १५ ॥

समस्त पाण्डवोंका उत्साह नष्ट हो गया था। वे दीन एवं दुखी हो गये थे। कुन्तीसे बिछुड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वे बिना गायके बछड़ोंके समान व्याकुल हो गये थे॥

धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम्।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत् प्रभुः ॥ १६ ॥

उधर राजा धृतराष्ट्रने उस दिन बहुत दूरतक यात्रा करके संध्याके समय गङ्गाके तटपर निवास किया ॥ १६ ॥

प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोवने ॥ १७ ॥

वहाँके तपोवनमें वेदोंके पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने जहाँ-तहाँ विधिपूर्वक जो आग प्रकट करके प्रज्वलित की थी, वह बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १७ ॥

प्रादुष्कृताग्निरभवत् स च वृद्धो नराधिपः।
स राजाग्नीन् पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत् तदा ॥१८॥
संध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत।

भारतनन्दन ! फिर बूढ़े राजा धृतराष्ट्रने भी अग्निको प्रकट एवं प्रज्वलित किया। त्रिविध अग्नियोंकी उपासना करके उनमें विधिपूर्वक आहुति दे राजाने संध्याकालिक सूर्यदेवका उपस्थान किया ॥ १८½ ॥

विदुरः संजयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः ॥ १९ ॥
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः।

तदनन्तर विदुर और संजयने कुरुप्रवीर राजा धृतराष्ट्रके लिये कुशोंकी शय्या बिछा दी। उनके पास ही गान्धारीके लिये एक पृथक् आसन लगा दिया ॥१९½॥

गान्धार्याः संनिकर्षे तु निषसाद कुशे सुखम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता।

गान्धारीके निकट ही उत्तम व्रतमें स्थित हुई युधिष्ठिरकी माता कुन्ती भी कुशासनपर सोयीं और उसीमें उन्होंने सुख माना ॥ २०½ ॥

तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः ॥ २१ ॥
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः।

विदुर आदि भी राजासे उतनी ही दूरपर सोये, जहाँसे उनकी बोली सुनायी दे सके। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तथा राजाके साथ आये हुए अन्य द्विज यथायोग्य स्थानपर सोये ॥

प्राधीतद्विजमुख्या सा सम्प्रज्वलितपावका ॥ २२ ॥
बभूव तेषां रजनी ब्राह्मीव प्रीतिवर्धिनी।

उस रातमें मुख्य-मुख्य ब्राह्मण स्वाध्याय करते थे और जहाँ-तहाँ अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी। इससे वह रजनी उन लोगोंके लिये ब्राह्मी निशाके समान आनन्द बढ़ानेवाली हो रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ॥ २३ ॥
हुत्वाग्निं विधिवत् सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम्।
उदङ्मुखा निरीक्षन्त उपवासपरायणाः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् रात बीतनेपर पूर्वाह्णकालकी क्रिया पूरी करके विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देनेके पश्चात् वे सब लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे। उन सबने रात्रिमें उपवास किया था और सभी उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके उधर ही देखते हुए चले जा रहे थे ॥ २३-२४ ॥

स तेषामतिदुःखोऽभून्निवासः प्रथमेऽहनि।
शोचतां शोच्यमानानां पौरजानपदैर्जनैः ॥ २५ ॥

नगर और जनपदके लोग जिनके लिये शोक कर रहे थे तथा जो स्वयं भी शोकमग्न थे, उन धृतराष्ट्र आदिके लिये यह पहले दिनका निवास बड़ा ही दुःखदायी प्रतीत हुआ ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिका गङ्गातटपर निवास करके वहाँसे कुरुक्षेत्रमें जाना और शतयूपके आश्रमपर निवास करना

वैशम्पायन उवाच

ततो भागीरथीतीरे मेध्ये पुण्यजनोचिते ।
निवासमकरोद् राजा विदुरस्य मते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दूसरा दिन व्यतीत होनेपर राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीकी बात मानकर पुण्यात्मा पुरुषोंके रहनेयोग्य भागीरथीके पावन-तटपर निवास किया ॥ १ ॥

तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् ब्राह्मणा वनवासिनः ।
क्षत्रविट्शूद्रसंघाश्च बहवो भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ वनवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बहुत बड़ी संख्यामें एकत्र होकर राजासे मिलनेको आये ॥ २ ॥

स तैः परिवृतो राजा कथाभिः परिनन्द्य तान् ।
अनुजज्ञे सशिष्यान् वै विधिवत् प्रतिपूज्य च ॥ ३ ॥

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्रने अनेक प्रकारकी बातें करके सबको प्रसन्न किया और शिष्योंसहित ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करके उन्हें जानेकी अनुमति दी ॥ ३ ॥

सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य च ।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् सायंकालमें राजा तथा यशस्विनी गान्धारी-देवीने गङ्गाजीके जलमें प्रवेश करके विधिपूर्वक स्नान-कार्य सम्पन्न किया ॥ ४ ॥

ते चैवान्ये पृथक् सर्वे तीर्थेष्वाप्लुत्य भारत ।
चक्रुः सर्वाः क्रियास्तत्र पुरुषा विदुरादयः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! वे तथा विदुर आदि पुरुषवर्गके लोग सबने पृथक्-पृथक् घाटोंमें गोता लगाकर संध्योपासन आदि समस्त शुभ कार्य पूर्ण किये ॥ ५ ॥

कृतशौचं ततो वृद्धं श्वशुरं कुन्तिभोजजा ।
गान्धारीं च पृथा राजन् गङ्गातीरमुपानयत् ॥ ६ ॥

राजन् ! स्नानादि कर लेनेके पश्चात् अपने बूढ़े श्वशुर धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवीको कुन्तीदेवी गङ्गाके किनारे ले आयीं ॥ ६ ॥

राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः ।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसङ्गरः ॥ ७ ॥

वहाँ यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंने राजाके लिये एक वेदी तैयार की, जिसपर अग्नि-स्थापना करके उस सत्यप्रतिज्ञ नरेशने विधिवत् अग्निहोत्र किया ॥ ७ ॥

ततो भागीरथीतीरात् कुरुक्षेत्रं जगाम सः ।
सानुगो नृपतिर्वृद्धो नियतः संयतेन्द्रियः ॥ ८ ॥

इस प्रकार नित्यकर्मसे निवृत्त हो बूढ़े राजा धृतराष्ट्र इन्द्रियसंयमपूर्वक नियमपरायण हो सेवकोंसहित गङ्गातटसे चलकर कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ८ ॥

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः ।
आससादाथ राजर्षिं शतयूपं मनीषिणम् ॥ ९ ॥

वहाँ बुद्धिमान् भूपाल एक आश्रमपर जाकर वहाँके मनीषी राजर्षि शतयूपसे मिले ॥ ९ ॥

स हि राजा महानासीत् केकयेषु परंतपः ।
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥ १० ॥

वे परंतप राजा शतयूप कभी केकय देशके महाराज थे । अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर वनमें चले आये थे ॥ १० ॥

तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति ।
तत्रैनं विधिवद् राजा प्रत्यगृह्णात् कुरूद्वहः ॥ ११ ॥

राजा धृतराष्ट्र उन्हें साथ लेकर व्यास-आश्रमपर गये । वहाँ कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने विधिपूर्वक व्यासजीकी पूजा की ॥ ११ ॥

स दीक्षां तत्र सम्प्राप्य राजा कौरवनन्दनः ।
शतयूपाश्रमे तस्मिन् निवासमकरोत् तदा ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्हींसे वनवासकी दीक्षा लेकर कौरवनन्दन राजा धृतराष्ट्र पूर्वोक्त शतयूपके आश्रममें लौट आये और वहीं निवास करने लगे ॥ १२ ॥

तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाऽऽचख्यौ महामतिः ।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥ १३ ॥

महाराज ! वहाँ परम बुद्धिमान् राजा शतयूपने व्यासजीकी आज्ञासे धृतराष्ट्रको वनमें रहनेकी सम्पूर्ण विधि बतला दी ॥ १३ ॥

एवं स तपसा राजन् धृतराष्ट्रो महामनाः ।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा ॥ १४ ॥

राजन् ! इस प्रकार महामनस्वी राजा धृतराष्ट्रने अपने आपको तथा साथ आये हुए लोगोंको भी तपस्यामें लगा दिया ॥ १४ ॥

तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनधारिणी ।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी ॥ १५ ॥

महाराज ! इसी प्रकार वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाली गान्धारीदेवी भी कुन्तीके साथ रहकर धृतराष्ट्रके समान ही व्रतका पालन करने लगीं ॥ १५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप।
संनियम्येन्द्रियग्राममास्थिते परमं तपः ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! वे दोनों नारियाँ इन्द्रियोंको अपने अधीन करके मन, वाणी, कर्म तथा नेत्रोंके द्वारा भी उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो
जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार
महर्षिवत्तीव्रमपेतमोहः ॥ १७ ॥

राजा धृतराष्ट्रके शरीरका मांस सूख गया । अस्थिचर्मावशिष्ट होकर मस्तकपर जटा और शरीरपर मृगछाला एवं वल्कल धारण किये महर्षियोंकी भाँति तीव्र तपस्या प्रवृत्त हो गये । उनके चित्तका सम्पूर्ण मोह दूर हो गया ॥ १७ ॥

क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः
ससंजयस्तं नृपतिं सदारम्।
उपाचरद् घोरतपो जितात्मा
तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥ १८

धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उत्तम बुद्धिवाले विदुर भी संजयसहित वल्कल और चीरवस्त्र धारण किये गान्धारी और धृतराष्ट्रकी सेवा करने लगे । वे मनको वशमें कर अपने दुर्बल शरीरसे घोर तपस्यामें संलग्न रहते थे ॥ १८

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि शतयूपाश्रमनिवासे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका शतयूपके आश्रमपर निवासविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

नारदजीका प्राचीन राजर्षियोंकी तपःसिद्धिका दृष्टान्त देकर धृतराष्ट्रकी तपस्याविषयक श्रद्धाको बढ़ाना तथा शतयूपके पूछनेपर धृतराष्ट्रको मिलनेवाली गतिका भी वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र मुनिश्रेष्ठा राजानं द्रष्टुमभ्ययुः।
नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ॥ १ ॥
द्वैपायनः सशिष्यश्च सिद्धाश्चान्ये मनीषिणः।
शतयूपश्च राजर्षिर्वृद्धः परमधार्मिकः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वहाँ राजा धृतराष्ट्रसे मिलनेके लिये नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, शिष्योंसहित महर्षि व्यास तथा अन्यान्य सिद्ध, मनीषी, श्रेष्ठ मुनिगण आये । उनके साथ परम धर्मात्मा वृद्ध राजर्षि शतयूप भी पधारे थे ॥ १-२ ॥

तेषां कुन्ती महाराज पूजां चक्रे यथाविधि।
ते चापि तुतुषुस्तस्यास्तापसाः परिचर्यया ॥ ३ ॥

महाराज ! कुन्तीदेवीने उन सबकी यथायोग्य पूजा की। वे तपस्वी ऋषि भी कुन्तीकी सेवासे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३ ॥

तत्र धर्म्याः कथास्तात चक्रुस्ते परमर्षयः।
रमयन्तो महात्मानं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ४ ॥

तात ! वहाँ उन महर्षियोंने महात्मा राजा धृतराष्ट्रका मन लगानेके लिये अनेक प्रकारकी धार्मिक कथाएँ कहीं ॥ ४ ॥

कथान्तरे तु कस्मिंश्चिद् देवर्षिर्नारदस्ततः।
कथामिमामकथयत् सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ५

सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले देवर्षि नारदने किसी कथा प्रसंगमें यह कथा कहनी आरम्भ की ॥ ५ ॥

नारद उवाच

केकयाधिपतिः श्रीमान् राजाऽऽसीदकुतोभयः।
सहस्रचित्य इत्युक्तः शतयूपपितामहः ॥ ६

नारदजी बोले—राजन् ! पूर्वकालमें सहस्रचित्य नाम प्रसिद्ध एक तेजस्वी राजा थे, जो केकयदेशकी प्रजाका पालन करते थे । उन्हें कभी किसीसे भय नहीं होता था । यहाँ जो ये राजर्षि शतयूप विराज रहे हैं, इनके वे पितामह थे ॥ ६

स पुत्रे राज्यमासज्य ज्येष्ठे परमधार्मिके।
सहस्रचित्यो धर्मात्मा प्रविवेश वनं नृपः ॥ ७

धर्मात्मा राजा सहस्रचित्य अपने परम धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्रको राज्यका भार सौंपकर तपस्याके लिये इसी वनमें प्रविष्ट हुए ॥ ७ ॥

स गत्वा तपसः पारं दीप्तस्य वसुधाधिपः।
पुरंदरस्य संस्थानं प्रतिपेदे महाद्युतिः ॥ ८

वे महातेजस्वी भूपाल अपनी उद्दीप्त तपस्या पूरी करके इन्द्रलोकको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

दृष्टपूर्वः स बहुशो राजन् सम्पतता मया।
महेन्द्रसदने राजा तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ९ ॥

तपस्यासे उनके सारे पाप भस्म हो गये थे। राजन्! इन्द्रलोकमें आते-जाते समय मैंने उन राजर्षिको अनेक बार देखा है ॥ ९ ॥

तथा शैलालयो राजा भगदत्तपितामहः।
तपोबलेनैव नृपो महेन्द्रसदनं गतः ॥ १० ॥

इसी प्रकार भगदत्तके पितामह राजा शैलालय भी तपस्याके बलसे ही इन्द्रलोकको गये हैं ॥ १० ॥

तथा पृषध्रो राजाऽऽसीद् राजन् वज्रधरोपमः।
स चापि तपसा लेभे नाकपृष्ठमितो गतः ॥ ११ ॥

महाराज! राजा पृषध्र वज्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उन्होंने भी तपस्याके बलसे इस लोकसे जानेपर स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ११ ॥

अस्मिन्नरण्ये नृपते मान्धातुरपि चात्मजः।
पुरुकुत्सो नृपः सिद्धिं महतीं समवाप्तवान् ॥ १२ ॥
भार्या समभवद् यस्य नर्मदा सरितां वरा।
सोऽस्मिन्नरण्ये नृपतिस्तपस्तप्त्वा दिवं गतः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मान्धाताके पुत्र पुरुकुत्सने भी, सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा जिनकी पत्नी हुई थी, इसी वनमें तपस्या करके बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त की थी। वहीं तपस्या करके वे नरेश स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १२-१३ ॥

शशलोमा च राजाऽऽसीद् राजन् परमधार्मिकः।
सम्यगस्मिन् वने तप्त्वा ततो दिवमवाप्तवान् ॥ १४ ॥

राजन्! परम धर्मात्मा राजा शशलोमाने भी इसी वनमें उत्तम तपस्या करके स्वर्ग प्राप्त किया था ॥ १४ ॥

द्वैपायनप्रसादाच्च त्वमपीदं तपोवनम्।
राजन्नवाप्य दुष्प्रापां गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ १५ ॥

नरेश्वर! व्यासजीकी कृपासे तुम भी इसी तपोवनमें आ पहुँचे हो। अब यहाँ तपस्या करके दुर्लभ सिद्धिका आश्रय ले श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लोगे ॥ १५ ॥

त्वं चापि राजशार्दूल तपसोऽन्ते श्रिया वृतः।
गान्धारीसहितो गन्ता गतिं तेषां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ! तुम भी तपस्याके अन्तमें तेजसे सम्पन्न हो गान्धारीके साथ उन्हीं महात्माओंकी गति प्राप्त करोगे ॥ १६ ॥

पाण्डुः स्मरति ते नित्यं बलहन्तुः समीपगः।
त्वां सदैव महाराज श्रेयसा स च योक्ष्यति ॥ १७ ॥

महाराज! तुम्हारे छोटे भाई पाण्डु इन्द्रके पास ही रहते हैं। वे सदा तुम्हें याद करते रहते हैं। निश्चय ही वे तुम्हें कल्याणके भागी बनायेंगे ॥ १७ ॥

तव शुश्रूषया चैव गान्धार्याश्च यशस्विनी।
भर्तुः सलोकतामेषा गमिष्यति वधूस्तव ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्य जननी स हि धर्मः सनातनः।

तुम्हारी और गान्धारीदेवीकी सेवा करनेसे यह तुम्हारी यशस्विनी बहू युधिष्ठिरजननी कुन्ती अपने पतिके लोकमें पहुँच जायगी। युधिष्ठिर साक्षात् सनातन धर्मस्वरूप हैं (अतः उनकी माता कुन्तीकी सद्गतिमें कोई संदेह ही नहीं है) ॥ १८½ ॥

वयमेतत् प्रपश्यामो नृपते दिव्यचक्षुषा ॥ १९ ॥
प्रवेक्ष्यति महात्मानं विदुरश्च युधिष्ठिरम्।
संजयस्तदनुध्यानादितः स्वर्गमवाप्स्यति ॥ २० ॥

नरेश्वर! यह सब हम अपनी दिव्य दृष्टिसे देख रहे हैं। विदुर महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश करेंगे और संजय उन्हींका चिन्तन करनेके कारण यहाँसे सीधे स्वर्गको जायँगे ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा कौरवेन्द्रो महात्मा
सार्धं पत्न्या प्रीतिमान् सम्बभूव।
विद्वान् वाक्यं नारदस्य प्रशस्य
चक्रे पूजां चातुलां नारदाय ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर महात्मा कौरवराज धृतराष्ट्र अपनी पत्नीके साथ बहुत प्रसन्न हुए। उन विद्वान् नरेशने नारदजीके वचनोंकी प्रशंसा करके उनकी अनुपम पूजा की ॥ २१ ॥

ततः सर्वे नारदं विप्रसंघाः
सम्पूजयामासुरतीव राजन्।
राज्ञः प्रीत्या धृतराष्ट्रस्य ते वै
पुनः पुनः सम्प्रहृष्टास्तदानीम् ॥ २२ ॥

राजन्! तदनन्तर समस्त ब्राह्मण-समुदायने नारदजीका विशेष पूजन किया। राजा धृतराष्ट्रकी प्रसन्नतासे उस समय उन सब लोगोंको बारंबार हर्ष हो रहा था ॥ २२ ॥

नारदस्य तु तद् वाक्यं शशंसुर्द्विजसत्तमाः।
शतयूपस्तु राजर्षिर्नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नारदजीके पूर्वोक्त वचनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् राजर्षि शतयूपने नारदजीसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

अहो भगवता श्रद्धा कुरुराजस्य वर्धिता।
सर्वस्य च जनस्यास्य मम चैव महाद्युते ॥ २४ ॥

'महातेजस्वी देवर्षे! बड़े हर्षकी बात है कि आपने कुरुराज धृतराष्ट्रकी, यहाँ आये हुए सब लोगोंकी और

मेरी भी तपस्याविषयक श्रद्धाको अधिक बढ़ा दिया है ॥ २४ ॥

अस्ति काचिद् विवक्षा तु तां मे निगदतः शृणु ।
धृतराष्ट्रं प्रति नृपं देवर्षे लोकपूजित ॥ २५ ॥

'लोकपूजित देवर्षे ! राजा धृतराष्ट्रके विषयमें मुझे कुछ कहने या पूछनेकी इच्छा हो रही है। अपनी उस इच्छाको मैं बता रहा हूँ, सुनिये ॥ २५ ॥

सर्ववृत्तान्ततत्त्वज्ञो भवान् दिव्येन चक्षुषा ।
युक्तः पश्यसि विप्रर्षे गतिर्या विविधा नृणाम् ॥ २६ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सम्पूर्ण वृत्तान्तोंके तत्त्वज्ञ हैं। आप योगयुक्त होकर अपनी दिव्य दृष्टिसे मनुष्योंको जो नाना प्रकारकी गति प्राप्त होती है, उसे प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ २६ ॥

उक्तवान् नृपतीनां त्वं महेन्द्रस्य सलोकताम् ।
न त्वस्य नृपतेर्लोकाः कथितास्ते महामुने ॥ २७ ॥

'महामुने ! आपने अनेक राजाओंकी इन्द्रलोकप्राप्तिका वर्णन किया; किंतु यह नहीं बताया कि ये राजा धृतराष्ट्र किस लोकको जायँगे ॥ २७ ॥

स्थानमप्यस्य नृपतेः श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
त्वत्तः कीदृक् कदा चेति तन्ममाख्याहि तत्त्वतः ॥ २८ ॥

'प्रभो ! इन नरेशको जो स्थान प्राप्त होनेवाला है, उसे भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ। वह स्थान कैसा होगा और कब प्राप्त होगा—यह मुझे ठीक-ठीक बताइये' ॥ २८ ॥

इत्युक्तो नारदस्तेन वाक्यं सर्वमनोऽनुगम् ।
व्याजहार सभामध्ये दिव्यदर्शी महातपाः ॥ २९ ॥

शतयूपके इस प्रकार प्रश्न करनेपर दिव्यदर्शी महातपस्वी देवर्षि नारदने उस सभामें सबके मनको प्रिय लगनेवाली यह बात कही ॥ २९ ॥

नारद उवाच

यदृच्छया शक्रसदो गत्वा शक्रं शचीपतिम् ।
दृष्टवानस्मि राजर्षे तत्र पाण्डुं नराधिपम् ॥ ३० ॥

नारदजी बोले—राजर्षे ! एक दिन मैं दैवेच्छासे घूमता-फिरता इन्द्रलोकमें चला गया और वहाँ जाकर शचीपति इन्द्रसे मिला। वहीं मैंने राजा पाण्डुको भी देखा था ॥ ३० ॥

तत्रेयं धृतराष्ट्रस्य कथा समभवन्नृप ।
तपसो दुष्करस्यास्य यदयं तपते नृपः ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! वहाँ राजा धृतराष्ट्रकी ही बातचीत चल रही थी। ये जो तपस्या करते हैं, इनके इस दुष्कर तपकी ही चर्चा हो रही थी ॥ ३१ ॥

तत्राहमिदमश्रौषं शक्रस्य वदतः स्वयम् ।
वर्षाणि त्रीणि शिष्टानि राज्ञोऽस्य परमायुषः ॥ ३२ ॥

उस सभामें साक्षात् इन्द्रके मुखसे मैंने सुना था कि इन राजा धृतराष्ट्रकी आयुकी जो अन्तिम सीमा है, उसके पूर्ण होनेमें अब केवल तीन वर्ष ही शेष रह गये हैं ॥ ३२ ॥

ततः कुबेरभवनं गान्धारीसहितो नृपः ।
प्रयाता धृतराष्ट्रोऽयं राजराजाभिसत्कृतः ॥ ३३ ॥
कामगेन विमानेन दिव्याभरणभूषितः ।
ऋषिपुत्रो महाभागस्तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ३४ ॥
संचरिष्यति लोकांश्च देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
स्वच्छन्देनेति धर्मात्मा यन्मां त्वमनुपृच्छसि ॥ ३५ ॥

उसके समाप्त होनेपर ये राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके साथ कुबेरके लोकमें जायँगे और वहाँ राजाधिराज कुबेरसे सम्मानित हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानपर बैठकर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो देव, गन्धर्व तथा राक्षसोंके लोकोंमें स्वेच्छानुसार विचरते रहेंगे। ऋषिपुत्र महाभाग धर्मात्मा धृतराष्ट्रके सारे पाप इनकी तपस्याके प्रभावसे भस्म हो जायँगे। राजन् ! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, उसका उत्तर यही है ॥ ३३–३५ ॥

देवगुह्यमिदं प्रीत्या मया वः कथितं महत् ।
भवन्तो हि श्रुतधनास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ३६ ॥

यह देवताओंका अत्यन्त गुप्त विचार है। परंतु आप लोगोंपर प्रेम होनेके कारण मैंने इसे आपके सामने प्रकट कर दिया है। आपलोग वेदके धनी हैं और तपस्यासे निष्पाप हो चुके हैं (अतः आपके सामने इस रहस्यको प्रकट करनेमें कोई हर्ज नहीं है) ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति ते तस्य तच्छ्रुत्वा देवर्षेर्मधुरं वचः ।
सर्वे सुमनसः प्रीता बभूवुः स च पार्थिवः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! देवर्षिके ये मधुर वचन सुनकर वे सब लोग बहुत प्रसन्न हुए और राजा धृतराष्ट्रको भी इससे बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३७ ॥

एवं कथाभिरन्वास्य धृतराष्ट्रं मनीषिणः ।
विप्रजग्मुर्यथाकामं ते सिद्धगतिमास्थिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वे मनीषी महर्षिगण अपनी कथाओंसे धृतराष्ट्रको संतुष्ट करके सिद्ध गतिका आश्रय ले इच्छानुसार विभिन्न स्थानोंको चले गये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि नारदवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें नारदजीका वाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

विदुरका सूक्ष्मशरीरसे युधिष्ठिरमें प्रवेश

एकविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके लिये पाण्डवों तथा पुरवासियोंकी चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमन्विताः ।
बभूवुः पाण्डवा राजन् मातृशोकेन चान्विताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवराज धृतराष्ट्रके वनमें चले जानेपर पाण्डव दुःख और शोकसे संतप्त रहने लगे । माताके विछोहका शोक उनके हृदयको दग्ध किये देता था ॥ १ ॥

तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति ॥ २ ॥

इसी प्रकार समस्त पुरवासी मनुष्य भी राजा धृतराष्ट्रके लिये निरन्तर शोकमग्न रहते थे तथा ब्राह्मणलोग सदा उन वृद्ध नरेशके विषयमें वहाँ इस प्रकार चर्चा किया करते थे ॥ २ ॥

कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने ।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम् ॥ ३ ॥

'हाय ! हमारे बूढ़े महाराज उस निर्जन वनमें कैसे रहते होंगे ? महाभागा गान्धारी तथा कुन्तिभोजकुमारी पृथा देवी भी किस तरह वहाँ दिन बिताती होंगी ? ॥ ३ ॥

सुखार्हः स हि राजर्षिरसुखी तद् वनं महत् ।
किमवस्थः समासाद्य प्रज्ञाचक्षुर्हतात्मजः ॥ ४ ॥

'जिनके सारे पुत्र मारे गये, वे प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र सुख भोगनेके योग्य होकर भी उस विशाल वनमें जाकर किस अवस्थामें दुःखके दिन बिताते होंगे ? ॥ ४ ॥

सुदुष्कृतं कृतवती कुन्ती पुत्रानपश्यती ।
राज्यश्रियं परित्यज्य वनं सा समरोचयत् ॥ ५ ॥

'कुन्तीदेवीने तो बड़ा ही दुष्कर कर्म किया । अपने पुत्रोंके दर्शनसे वञ्चित हो राज्यलक्ष्मीको ठुकराकर उन्होंने वनमें रहना पसंद किया है ॥ ५ ॥

विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान् ।
स च गावल्गणिर्धीमान् भर्तृपिण्डानुपालकः ॥ ६ ॥

'अपने भाईकी सेवामें लगे रहनेवाले मनस्वी विदुरजी किस अवस्थामें होंगे ? अपने स्वामीके शरीरकी रक्षा करनेवाले बुद्धिमान् संजय भी कैसे होंगे ?' ॥ ६ ॥

आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः ।
तत्र तत्र कथाश्चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥ ७ ॥

बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक समस्त पुरवासी चिन्ता और शोकसे पीड़ित हो जहाँ-तहाँ एक दूसरेसे मिलकर उपर्युक्त बातें ही किया करते थे ॥ ७ ॥

पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥ ८ ॥

समस्त पाण्डव तो निरन्तर अत्यन्त शोकमें ही डूबे रहते थे । वे अपनी बूढ़ी माताके लिये इतने चिन्तित हो गये कि अधिक कालतक नगरमें नहीं रह सके ॥ ८ ॥

तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरम् ।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम् ॥ ९ ॥
नैषां बभूव सम्प्रीतिस्तान् विचिन्तयतां तदा ।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययनेषु च ॥ १० ॥

जिनके पुत्र मारे गये थे, उन बूढ़े ताऊ महाराज धृतराष्ट्रकी, महाभागा गान्धारीकी और परम बुद्धिमान् विदुरकी अधिक चिन्ता करनेके कारण उन्हें कभी चैन नहीं पड़ती थी । न तो राजकाजमें उनका मन लगता था न स्त्रियोंमें । वेदाध्ययनमें भी उनकी रुचि नहीं होती थी ॥ ९-१० ॥

परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम् ।
तं च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥

राजा धृतराष्ट्रको याद करके वे अत्यन्त खिन्न एवं विरक्त हो उठते थे । भाई-बन्धुओंके उस भयंकर वधका उन्हें बारंबार स्मरण हो आता था ॥ ११ ॥

अभिमन्योश्च बालस्य विनाशं रणमूर्धनि ।
कर्णस्य च महाबाहो संग्रामेष्वपलायिनः ॥ १२ ॥

महाबाहु जनमेजय ! युद्धके मुहानेपर जो बालक अभिमन्युका अन्यायपूर्वक विनाश किया गया, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले कर्णका (परिचय न होनेसे) जो वध किया गया—इन घटनाओंको याद करके वे बेचैन हो जाते थे ॥ १२ ॥

तथैव द्रौपदेयानामन्येषां सुहृदामपि ।
वधं संस्मृत्य ते वीरा नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार द्रौपदीके पुत्रों तथा अन्यान्य सुहृदोंके वधकी बात याद करके उनके मनकी सारी प्रसन्नता भाग जाती थी ॥ १३ ॥

हतप्रवीरां पृथिवीं हतरत्नां च भारत ।
सदैव चिन्तयन्तस्ते न शर्म चोपलेभिरे ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! जिसके प्रमुख वीर मारे गये तथा रत्नोंका अपहरण हो गया, उस पृथ्वीकी दुर्दशाका सदैव चिन्तन करते हुए पाण्डव कभी थोड़ी देरके लिये भी शान्ति नहीं पाते थे ॥ १४ ॥

द्रौपदी हतपुत्रा च सुभद्रा चैव भाविनी।
नातिप्रीतियुते देव्यौ तदाऽऽस्तामप्रहृष्टवत् ॥ १५ ॥

जिनके बेटे मारे गये थे, वे द्रुपदकुमारी कृष्णा और भाविनी सुभद्रा दोनों देवियाँ निरन्तर अप्रसन्न और हर्ष-शून्य-सी होकर चुपचाप बैठी रहती थीं ॥ १५ ॥

वैराट्यास्तनयं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम्।
धारयन्ति स्म ते प्राणांस्तव पूर्वपितामहाः ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उन दिनों तुम्हारे पूर्व पितामह पाण्डव उत्तराके पुत्र और तुम्हारे पिता परीक्षित्‌को देखकर ही अपने प्राणोंको धारण करते थे ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

माताके लिये पाण्डवोंकी चिन्ता, युधिष्ठिरकी वनमें जानेकी इच्छा, सहदेव और द्रौपदीका साथ जानेका उत्साह तथा रनिवास और सेनासहित युधिष्ठिरका वनको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा मातृनन्दनाः।
स्मरन्तो मातरं वीरा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी माताको आनन्द प्रदान करनेवाले वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव इस प्रकार माताकी याद करते हुए अत्यन्त दुखी हो गये थे ॥ १ ॥

ये राजकार्येषु पुरा व्यासक्ता नित्यशोऽभवन्।
ते राजकार्याणि तदा नाकार्षुः सर्वतः पुरे ॥ २ ॥
प्रविष्टा इव शोकेन नाभ्यनन्दन्त किंचन।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न किंचित् प्रत्यपूजयन् ॥ ३ ॥

जो पहले प्रतिदिन राजकीय कार्योंमें निरन्तर आसक्त रहते थे, वे ही उन दिनों नगरमें कहीं कोई राजकाज नहीं करते थे। मानो उनके हृदयमें शोकने घर बना लिया था। वे किसी भी वस्तुको पाकर प्रसन्न नहीं होते थे। किसीके बातचीत करनेपर भी वे उस बातकी ओर न तो ध्यान देते और न उसकी सराहना करते थे ॥ २-३ ॥

ते स्म वीरा दुराधर्षा गाम्भीर्ये सागरोपमाः।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ४ ॥

समुद्रके समान गाम्भीर्यशाली दुर्धर्ष वीर पाण्डव उन दिनों शोकसे सुध-बुध खो जानेके कारण अचेत-से हो गये थे ॥ ४ ॥

अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यतिकृशा पृथा ॥ ५ ॥

तदनन्तर एक दिन पाण्डव अपनी माताके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'हाय ! मेरी माता कुन्ती अत्यन्त दुबली हो गयी होंगी। वे उन बूढ़े पति-पत्नी गान्धारी और धृतराष्ट्रकी सेवा कैसे निभाती होंगी ? ॥ ५ ॥

कथं च स महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥ ६ ॥

'शिकारी जन्तुओंसे भरे हुए उस जंगलमें आश्रयहीन एवं पुत्ररहित राजा धृतराष्ट्र अपनी पत्नीके साथ अकेले कैसे रहते होंगे ? ॥ ६ ॥

सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥ ७ ॥

'जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, वे महाभागा गान्धारी देवी, उस निर्जन वनमें अपने अन्धे और बूढ़े पतिका अनुसरण कैसे करती होंगी ? ॥ ७ ॥

एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत् तदा।
गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ८ ॥

इस प्रकार बात करते-करते उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो गयी और उन्होंने धृतराष्ट्रके दर्शनकी इच्छासे वनमें जानेका विचार कर लिया ॥ ८ ॥

सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत्।
अहो मे भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥ ९ ॥

उस समय सहदेवने राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके कहा—'भैया, मुझे ऐसा दिखायी देता है कि आपका हृदय तपोवनमें जानेके लिये उत्सुक है—यह बड़े हर्षकी बात है ॥ ९ ॥

न हि त्वां गौरवेणाहमशकं वक्तुमञ्जसा।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ॥ १० ॥

'राजेन्द्र ! मैं आपके गौरवका ख्याल करके संकोचवश वहाँ जानेकी बात स्पष्टरूपसे कह नहीं पाता था। आज सौभाग्यवश वह अवसर अपने आप उपस्थित हो गया ॥ १० ॥

दिष्ट्या द्रक्ष्यामि तां कुन्तीं
वर्तयन्तीं तपस्विनीम्।

जटिलां तापसीं वृद्धां कुशकाशपरिक्षताम् ॥ ११ ॥

'मेरा अहोभाग्य कि मैं तपस्यामें लगी हुई माता कुन्तीका दर्शन करूँगा। उनके सिरके बाल जटारूपमें परिणत हो गये होंगे! वे तपस्विनी बूढ़ी माता कुश और काशके आसनोंपर शयन करनेके कारण क्षतविक्षत हो रही होंगी ॥ ११ ॥

प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा तु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ॥ १२ ॥

'जो महलों और अट्टालिकाओंमें पलकर बड़ी हुई हैं, अत्यन्त सुखकी भागिनी रही हैं, वे ही माता कुन्ती अब थककर अत्यन्त दुःख उठाती होंगी ! मुझे कब उनके दर्शन होंगे ? ॥ १२ ॥

अनित्याः खलु मर्त्यानां गतयो भरतर्षभ ।
कुन्ती राजसुता यत्र वसत्यसुखिता वने ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी गतियाँ निश्चय ही अनित्य होती हैं, जिनमें पड़कर राजकुमारी कुन्ती सुखोंसे वञ्चित हो वनमें निवास करती हैं' ॥ १३ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १४ ॥

सहदेवकी बात सुनकर नारियोंमें श्रेष्ठ महारानी द्रौपदी राजाका सत्कार करके उन्हें प्रसन्न करती हुई बोली—॥१४॥

कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य मे प्रीतिर्भविष्यति जनाधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! मैं अपनी सास कुन्तीदेवीका दर्शन कब करूँगी ? क्या वे अबतक जीवित होंगी ? यदि वे जीवित हों तो आज उनका दर्शन पाकर मुझे असीम प्रसन्नता होगी॥१५॥

एषा तेऽस्तु मतिर्नित्यं धर्मे ते रमतां मनः ।
योऽद्य त्वमस्मान् राजेन्द्र श्रेयसा योजयिष्यसि ॥१६॥

'राजेन्द्र ! आपकी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। आपका मन धर्ममें ही रमता रहे; क्योंकि आज आप हमलोगोंको माता कुन्तीका दर्शन कराकर परम कल्याणकी भागिनी बनायेंगे ॥ १६ ॥

अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन् वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ॥ १७ ॥

'राजन् ! आपको विदित हो कि अन्तःपुरकी सभी बहुएँ वनमें जानेके लिये पैर आगे बढ़ाये खड़ी हैं। वे सब-की-सब कुन्ती, गान्धारी तथा ससुरजीके दर्शन करना चाहती हैं' ॥ १७ ॥

इत्युक्तः स नृपो देव्या द्रौपद्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह ॥ १८ ॥

'भरतभूषण ! द्रौपदीदेवीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने समस्त सेनापतियोंको बुलाकर कहा—॥ १८ ॥

निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥ १९ ॥

'तुमलोग बहुत-से रथ और हाथी-घोड़ोंसे सुसज्जित सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दो । मैं वनवासी महाराज धृतराष्ट्रके दर्शन करनेके लिये चलूँगा' ॥ १९ ॥

स्त्र्यध्यक्षांश्चाब्रवीद् राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियन्तां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

इसके बाद राजाने रनिवासके अध्यक्षोंको आज्ञा दी—'तुम सब लोग हमारे लिये भाँति-भाँतिके वाहन और पालकियोंको हजारोंकी संख्यामें तैयार करो ॥ २० ॥

शकटापणवेशाश्च कोशः शिल्पिन एव च ।
निर्यान्तु कोषपालाश्च कुरुक्षेत्राश्रमं प्रति ॥ २१ ॥

'आवश्यक सामानोंसे लदे हुए छकड़े, बाजार, दुकानें, खजाना, कारीगर और कोषाध्यक्ष—ये सब कुरुक्षेत्रके आश्रमकी ओर रवाना हो जायँ ॥ २१ ॥

यश्च पौरजनः कश्चिद् द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ॥ २२ ॥

'नगरवासियोंमेंसे जो कोई भी महाराजका दर्शन करना चाहता हो, उसे बेरोक-टोक सुविधापूर्वक सुरक्षितरूपसे चलने दिया जाय ॥ २२ ॥

सूदाः पौरोगवाश्चैव सर्वं चैव महानसम् ।
विविधं भक्ष्यभोज्यं च शकटैरुह्यतां मम ॥ २३ ॥

'पाकशालाके अध्यक्ष और रसोइये भोजन बनानेके सब सामानों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको मेरे छकड़ोंपर लादकर ले चलें ॥ २३ ॥

प्रयाणं घुष्यतां चैव श्वोभूत इति मा चिरम् ।
क्रियतां पथि चाप्यद्य वेश्मानि विविधानि च ॥ २४ ॥

'नगरमें यह घोषणा करा दी जाय कि 'कल सबेरे यात्रा की जायगी; इसलिये चलनेवालोंको विलम्ब नहीं करना चाहिये।' मार्गमें हमलोगोंके ठहरनेके लिये आज ही कई तरहके डेरे तैयार कर दिये जायँ ॥ २४ ॥

एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सहपाण्डवः ।
श्वोभूते निर्ययौ राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २५ ॥

राजन् ! इस प्रकार आज्ञा देकर सबेरा होते ही अपने भाई पाण्डवोंसहित राजा युधिष्ठिरने स्त्री और बूढ़ोंको आगे करके नगरसे प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

स बहिर्दिवसानेव जनौघं परिपालयन् ।

न्यवसन्नृपतिः पञ्च ततोऽगच्छद् वनं प्रति ॥ २६ ॥

बाहर जाकर पुरवासी मनुष्योंकी प्रतीक्षा करते हुए वे पाँच दिनोंतक एक ही स्थानपर टिके रहे। फिर सबको साथ लेकर वनमें गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरयात्रायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिरकी वनको यात्राविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

सेनासहित पाण्डवोंकी यात्रा और उनका कुरुक्षेत्रमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

आज्ञापयामास ततः सेनां भरतसत्तमः।
अर्जुनप्रमुखैर्गुप्तां लोकपालोपमैर्नरैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भरतकुलभूषण राजा युधिष्ठिरने लोकपालोंके समान पराक्रमी अर्जुन आदि वीरोंद्वारा सुरक्षित अपनी सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

योगो योग इति प्रीत्या ततः शब्दो महानभूत्।
क्रोशतां सादिनां तत्र युज्यतां युज्यतामिति ॥ २ ॥

'चलनेको तैयार हो जाओ, तैयार हो जाओ' इस प्रकार उनका प्रेमपूर्ण आदेश प्राप्त होते ही घुड़सवार सब ओर पुकार-पुकारकर कहने लगे, 'सवारियोंको जोतो, जोतो!' इस तरहकी घोषणा करनेसे वहाँ महान् कोलाहल मच गया ॥ २ ॥

केचिद् यानैर्नरा जग्मुः केचिदश्वैर्महाजवैः।
काञ्चनैश्च रथैः केचिज्ज्वलितज्वलनोपमैः ॥ ३ ॥

कुछ लोग पालकियोंपर सवार होकर चले और कुछ लोग महान् वेगशाली घोड़ोंद्वारा यात्रा करने लगे। कितने ही मनुष्य प्रज्वलित अग्निके समान चमकीले सुवर्णमय रथोंपर आरूढ़ होकर वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

गजेन्द्रैश्च तथैवान्ये केचिदुष्ट्रैर्नराधिप।
पदातिनस्तथैवान्ये नखरप्रासयोधिनः ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! कुछ लोग गजराजोंपर सवार थे और कुछ ऊँटोंपर। कितने ही बघनखों और भालोंसे युद्ध करनेवाले वीर पैदल ही चल रहे थे ॥ ४ ॥

पौरजानपदाश्चैव यानैर्बहुविधैस्तथा।
अन्वयुः कुरुराजानं धृतराष्ट्रं दिदृक्षवः ॥ ५ ॥

नगर और जनपदके लोग भी राजा धृतराष्ट्रको देखनेकी इच्छासे नाना प्रकारके वाहनोंद्वारा कुरुराज युधिष्ठिरका अनुसरण करते थे ॥ ५ ॥

स चापि राजवचनादाचार्यो गौतमः कृपः।
सेनामादाय सेनानीः प्रययावाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सेनापति कृपाचार्य भी सेनाको साथ लेकर आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ६ ॥

ततो द्विजैः परिवृतः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
संस्तूयमानो बहुभिः सूतमागधबन्दिभिः ॥ ७ ॥
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
रथानीकेन महता निर्जगाम कुरूद्वहः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् ब्राह्मणोंसे घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर बहुसंख्यक सूत, मागध और बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए मस्तकपर श्वेत छत्र धारण किये विशाल रथ-सेनाके साथ वहाँसे चले ॥ ७-८ ॥

गजैश्चाचलसंकाशैर्भीमकर्मा वृकोदरः।
सज्जयन्त्रायुधोपेतैः प्रययौ पवनात्मजः ॥ ९ ॥

भयंकर पराक्रम करनेवाले पवनपुत्र भीमसेन पर्वताकार गजराजोंकी सेनाके साथ जा रहे थे। उन गजराजोंकी पीठपर अनेकानेक यन्त्र और आयुध सुसज्जित किये गये थे ॥ ९ ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा हयारोहौ सुसंवृतौ।
जग्मतुः शीघ्रगमनौ संनद्धकवचध्वजौ ॥ १० ॥

माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी घोड़ोंपर सवार थे और घुड़सवारोंसे ही घिरे हुए शीघ्रतापूर्वक चल रहे थे। उन्होंने अपने शरीरमें कवच और घोड़ोंकी पीठपर ध्वज बाँध रक्खे थे ॥ १० ॥

अर्जुनश्च महातेजा रथेनादित्यवर्चसा।
वशी श्वेतैर्हयैर्युक्तैर्दिव्येनान्वगमन्नृपम् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी जितेन्द्रिय अर्जुन श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य रथपर आरूढ़ हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण करते थे ॥ ११ ॥

द्रौपदीप्रमुखाश्चापि स्त्रीसंघाः शिबिकायुताः।
स्त्र्यध्यक्षगुप्ताः प्रययुर्विसृजन्तोऽमितं वसु ॥ १२ ॥

द्रौपदी आदि स्त्रियाँ भी शिबिकाओंमें बैठकर दीन-दुखियोंको असंख्य धन बाँटती हुई जा रही थीं। रनिवासके अध्यक्ष सब ओरसे उनकी रक्षा कर रहे थे ॥ १२ ॥

समृद्धरथहस्त्यश्वं वेणुवीणानुनादितम्।
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं तत् तदा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी सेनामें रथ, हाथी और घोड़ोंकी अधिकता

थी। उसमें कहीं वंशी बजती थी और कहीं वीणा। भरतश्रेष्ठ! इन वाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होनेके कारण वह पाण्डव-सेना उस समय बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३ ॥

नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशाम्पते।
वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! वे कुरुश्रेष्ठ वीर नदियोंके रमणीय तटों तथा अनेक सरोवरोंपर पड़ाव डालते हुए क्रमशः आगे बढ़ते गये ॥ १४ ॥

युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः।
युधिष्ठिरस्य वचनात् पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ॥ १५ ॥

महातेजस्वी युयुत्सु और पुरोहित धौम्य मुनि युधिष्ठिरके आदेशसे हस्तिनापुरमें ही रहकर राजधानीकी रक्षा करते थे ॥ १५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत्।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥ १६ ॥

उधर राजा युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ते हुए परम पावन यमुना नदीको पार करके कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ १६ ॥

स ददर्शाश्रमं दूराद् राजर्षेस्तस्य धीमतः।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन! वहाँ पहुँचकर उन्होंने दूरसे ही बुद्धिमान् राजर्षि शतयूप तथा धृतराष्ट्रके आश्रमको देखा ॥ १७ ॥

ततः प्रमुदितः सर्वो जनस्तद् वनमञ्जसा।
विवेश सुमहानादैरापूर्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

भरतभूषण! इससे उन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उस वनमें महान् कोलाहल फैलाते हुए अनायास ही प्रवेश किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्राश्रमगमने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिर आदिका धृतराष्ट्रके आश्रमपर गमनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाण्डवों तथा पुरवासियोंका कुन्ती, गान्धारी और धृतराष्ट्रके दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे समस्त पाण्डव दूरसे ही अपनी सवारियोंसे उतर पड़े और पैदल चलकर बड़ी विनयके साथ राजाके आश्रमपर आये ॥ १ ॥

स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥ २ ॥

साथ आये हुए समस्त सैनिक, राज्यके निवासी मनुष्य तथा कुरुवंशके प्रधान पुरुषोंकी स्त्रियाँ भी पैदल ही आश्रमतक गयीं ॥ २ ॥

आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥ ३ ॥
ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः।
पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रका वह पवित्र आश्रम मनुष्योंसे सूना था। उसमें सब ओर मृगोंके झुंड विचर रहे थे और केलेका सुन्दर उद्यान उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता था। पाण्डव लोग ज्यों ही उस आश्रममें पहुँचे त्यों ही वहाँ नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले बहुत-से तपस्वी कौतूहलवश वहाँ पधारे हुए पाण्डवोंको देखनेके लिये आ गये ॥ ३-४ ॥

तानपृच्छत् ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत्।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिरने उन सबको प्रणाम करके नेत्रोंमें आँसू भरकर उन सबसे पूछा—'मुनिवरो! कौरववंशका पालन करनेवाले हमारे ज्येष्ठ पिता इस समय कहाँ गये हैं?' ॥ ५ ॥

ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम्।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥ ६ ॥

उन्होंने उत्तर दिया—'प्रभो! वे यमुनामें स्नान करने, फूल लाने और पानीका घड़ा भरनेके लिये गये हुए हैं' ॥ ६ ॥

तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा।
ददृशुश्चाविदूरे तान् सर्वानथ पदातयः ॥ ७ ॥

यह सुनकर उन्हींके बताये हुए मार्गसे वे सब-के-सब पैदल ही यमुनातटकी ओर चल दिये। कुछ ही दूर जानेपर उन्होंने उन सब लोगोंको वहाँसे आते देखा ॥ ७ ॥

ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकाङ्क्षिणः।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद् यत्र सा पृथा ॥ ८ ॥
सुस्वरं रुरुदे धीमान् मातुः पादावुपस्पृशन्।

फिर तो समस्त पाण्डव अपने ताऊके दर्शनकी इच्छासे

बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े। बुद्धिमान् सहदेव तो बड़े वेगसे दौड़े और जहाँ कुन्ती थी, वहाँ पहुँचकर माताके दोनों चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ८½ ॥

सा च बाष्पाकुलमुखी ददर्श दयितं सुतम् ॥ ९ ॥
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम्।
गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥ १० ॥
अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम्।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥ ११ ॥

कुन्तीने भी जब अपने प्यारे पुत्र सहदेवको देखा तो उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने दोनों हाथोंसे पुत्रको उठाकर छातीसे लगा लिया और गान्धारीसे कहा—'दीदी! सहदेव आपकी सेवामें उपस्थित है'। तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुलको देखकर कुन्तीदेवी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर चलीं ॥ ९–११ ॥

सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयोः।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन् भुवि ॥ १२ ॥

वे आगे-आगे चलती थीं और उन पुत्रहीन दम्पतिको अपने साथ खींचे लाती थीं। उन्हें देखते ही पाण्डव उनके चरणोंमें पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

राजा तान् स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ॥ १३ ॥

महामना बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बोलनेके स्वरसे और स्पर्शसे पाण्डवोंको पहचानकर उन सबको आश्वासन दिया ॥ १३ ॥

ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम्।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् अपने नेत्रोंके आँसू पोंछकर महात्मा पाण्डवोंने गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र तथा माता कुन्तीको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ १४ ॥

सर्वेषां तोयकलशाञ्जगृहुस्ते स्वयं तदा।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ॥१५॥

इसके बाद मातासे बार-बार सान्त्वना पाकर जब पाण्डव कुछ स्वस्थ एवं सचेत हुए तब उन्होंने उन सबके हाथसे जलके भरे हुए कलश स्वयं ले लिये ॥ १५ ॥

तथा नार्यो नृसिंहानां सोऽवरोधजनस्तदा।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं जनाधिपम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर उन पुरुषसिंहोंकी स्त्रियों तथा अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंने और नगर एवं जनपदके लोगोंने भी क्रमशः राजा धृतराष्ट्रका दर्शन किया ॥ १६ ॥

निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनं प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥

उस समय स्वयं राजा युधिष्ठिरने एक-एक व्यक्तिका नाम और गोत्र बताकर परिचय दिया और परिचय पाकर धृतराष्ट्रने उन सबका वाणीद्वारा सत्कार किया ॥ १७ ॥

स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः।
राजाऽऽत्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ॥ १८ ॥

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र अपने नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहाने लगे। उस समय उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो मैं पहलेकी ही भाँति हस्तिनापुरके राजमहलमें बैठा हूँ ॥ १८ ॥

अभिवादितो वधूभिश्च
कृष्णाद्याभिः स पार्थिवः।
गान्धार्या सहितो धीमान्
कुन्त्या च प्रत्यनन्दत ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदी आदि बहुओंने गान्धारी और कुन्तीसहित बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको प्रणाम किया और उन्होंने भी उन सबको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ १९ ॥

ततश्चाश्रममागच्छत् सिद्धचारणसेवितम्।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ॥ २० ॥

इसके बाद वे सबके साथ सिद्ध और चारणोंसे सेवित अपने आश्रमपर आये। उस समय उनका आश्रम तारोंसे व्याप्त हुए आकाशकी भाँति दर्शकोंसे भरा था ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरादिधृतराष्ट्रसमागमे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिर आदिका धृतराष्ट्रसे मिलनविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका ऋषियोंसे पाण्डवों, उनकी पत्नियों तथा अन्यान्य स्त्रियोंका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ॥ १ ॥
तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान् पाण्डवान् पृथुवक्षसः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा

धृतराष्ट्र सुन्दर कमलके-से नेत्रोंवाले पुरुषसिंह युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंके साथ आश्रममें विराजमान हुए, उस समय वहाँ अनेक देशोंसे आये हुए महाभाग तपस्वीगण कुरुराज पाण्डुके पुत्र—विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंको देखनेके लिये पहलेसे उपस्थित थे ॥ १-२ ॥

तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः।
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ३ ॥

उन्होंने पूछा—'हमलोग यह जानना चाहते हैं कि यहाँ आये हुए लोगोंमें महाराज युधिष्ठिर कौन हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी कौन हैं?' ॥ ३ ॥

तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वांस्तानभिनामतः।
संजयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ॥ ४ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर सूत संजयने उन सबके नाम बताकर पाण्डवों, द्रौपदी तथा कुरुकुलकी अन्य स्त्रियोंका इस प्रकार परिचय दिया ॥ ४ ॥

संजय उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
स्तनुर्महासिंह इव प्रवृद्धः।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ ५ ॥

संजय बोले—ये जो विशुद्ध सुवर्णके समान गोरे और सबसे बड़े हैं, देखनेमें महान् सिंहके समान जान पड़ते हैं, जिनकी नासिका नुकीली तथा नेत्र बड़े-बड़े और कुछ-कुछ लालिमा लिये हुए हैं, ये कुरुराज युधिष्ठिर हैं ॥ ५ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसः पृथुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतेमम् ॥ ६ ॥

जो मतवाले गजराजके समान चलनेवाले, तपाये हुए सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्ण तथा मोटे और चौड़े कन्धेवाले हैं, जिनकी भुजाएँ मोटी और बड़ी-बड़ी हैं, ये ही भीमसेन हैं। आप लोग इन्हें अच्छी तरह देख लें, देख लें ॥

यस्त्वेष पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपाभः।
सिंहोन्नतांसो गजखेलगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ ७ ॥

इनके बगलमें जो ये महाधनुर्धर और श्याम रंगके नवयुवक दिखायी देते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे हैं, जो हाथियोंके यूथपति गजराजके समान प्रतीत होते हैं और हाथीके ही समान मस्तानी चालसे चलते हैं, ये कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ ७ ॥

कुन्तीसमीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ ८ ॥

कुन्तीके पास जो ये दो श्रेष्ठ पुरुष बैठे दिखायी देते हैं, ये एक ही साथ उत्पन्न हुए नकुल और सहदेव हैं। ये दोनों भाई भगवान् विष्णु और इन्द्रके समान शोभा पाते हैं। रूप, बल और शीलमें इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ ८ ॥

इयं पुनः पद्मदलायताक्षी
मध्यं वयः किंचिदिव स्पृशन्ती।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

ये जो किंचित् मध्यम वयका स्पर्श करती हुई, नील कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली एवं नील उत्पलकी-सी श्यामकान्तिसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी मूर्तिमती लक्ष्मी तथा देवताओंकी देवी-सी जान पड़ती हैं, ये ही महारानी द्रुपदकुमारी कृष्णा हैं ॥ ९ ॥

अस्यास्तु पार्श्वे कनकोत्तमाभा
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव सौमी।
मध्ये स्थिता सा भगिनी द्विजाग्र्या-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य तस्य ॥ १० ॥

विप्रवरो! इनके बगलमें जो ये सुवर्णसे भी उत्तम कान्तिवाली देवी चन्द्रमाकी मूर्तिमती प्रभा-सी विराजमान हो रही हैं और सब स्त्रियोंके बीचमें बैठी हैं, ये अनुपम प्रभावशाली चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा हैं ॥ १० ॥

इयं च जाम्बूनदशुद्धगौरी
पार्थस्य भार्या भुजगेन्द्रकन्या।
चित्राङ्गदा चैव नरेन्द्रकन्या
यैषा सवर्णार्द्रमधूकपुष्पैः ॥ ११ ॥

ये जो विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान गौर वर्णवाली सुन्दरी देवी बैठी हैं, ये नागराजकन्या उलूपी हैं तथा जिनकी अङ्गकान्ति नूतन मधूक-पुष्पोंके समान प्रतीत होती है, ये राजकुमारी चित्राङ्गदा हैं। ये दोनों भी अर्जुनकी ही पत्नियाँ हैं ॥ ११ ॥

इयं स्वसा राजचमूपतेश्च
प्रवृद्धनीलोत्पलदामवर्णा ।
पस्पर्ध कृष्णेन सदा नृपो यो
वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्र्यः ॥ १२ ॥

ये जो इन्दीवरके समान श्यामवर्णवाली राजमहिला विराजमान हैं, भीमसेनकी श्रेष्ठ पत्नी हैं। ये उस राजसेनापति

एवं नरेशकी बहन हैं, जो सदा भगवान् श्रीकृष्णसे टक्कर लेनेका हौसला रखता था ॥ १२ ॥

इयं च राज्ञो मगधाधिपस्य
सुता जरासन्ध इति श्रुतस्य ।
यवीयसो माद्रवतीसुतस्य
भार्या मता चम्पकदामगौरी ॥ १३ ॥

साथ ही यह जो चम्पाकी मालाके समान गौरवर्णवाली सुन्दरी बैठी हुई है, यह सुविख्यात मगधनरेश जरासंधकी पुत्री एवं माद्रीके छोटे पुत्र सहदेवकी भार्या है ॥ १३ ॥

इन्दीवरश्यामतनुः स्थिता तु
यैषा परासन्नमहीतले च ।
भार्या मता माद्रवतीसुतस्य
ज्येष्ठस्य सेयं कमलायताक्षी ॥ १४ ॥

इसके पास जो नीलकमलके समान श्याम रंगवाली महिला है, वह कमलनयनी सुन्दरी माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र नकुलकी पत्नी है ॥ १४ ॥

इयं तु निष्टप्तसुवर्णगौरी
राज्ञो विराटस्य सुता सपुत्रा ।
भार्याभिमन्योर्निहतो रणे यो
द्रोणादिभिस्तैर्विरथो रथस्थैः ॥ १५ ॥

यह जो तपाये हुए कुन्दनके समान कान्तिवाली तरुणी गोदमें बालक लिये बैठी है, यह राजा विराटकी पुत्री उत्तरा है । यह उस वीर अभिमन्युकी धर्मपत्नी है, जो महाभारत-युद्धमें रथपर बैठे हुए द्रोणाचार्य आदि अनेक महारथियोंद्वारा रथहीन कर दिया जानेपर मारा गया था ॥ १५ ॥

एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा याः
शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः ।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शताख्याः
स्नुषा नृवीराहतपुत्रनाथाः ॥ १६ ॥

इन सबके सिवा ये जितनी स्त्रियाँ सफेद चादर ओढ़े बैठी हुई हैं, जिनकी माँगोंमें सिन्दूर नहीं है, ये सब दुर्योधन आदि सौ भाइयोंकी पत्नियाँ और इन बूढ़े महाराजकी सौ पुत्रवधुएँ हैं । इनके पति और पुत्र रणमें नरवीरोंद्वारा मारे गये हैं ॥ १६ ॥

एता यथामुख्यमुदाहृता वो
ब्राह्मण्यभावादृजुबुद्धिसत्त्वाः ।
सर्वा भवद्भिः परिपृच्छ्यमाना
नरेन्द्रपत्न्यः सुविशुद्धसत्त्वाः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणत्वके प्रभावसे सरल बुद्धि और विशुद्ध अन्तःकरण-वाले महर्षियो ! आपने सबका परिचय पूछा था; इसलिये मैंने इनमेंसे मुख्य-मुख्य व्यक्तियोंका परिचय दे दिया है । ये सभी राजपत्नियाँ विशुद्ध हृदयवाली हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स राजा कुरुवृद्धवर्यः
समागतस्तैर्नरदेवपुत्रैः ।
पप्रच्छ सर्वं कुशलं तदानीं
गतेषु सर्वेष्वथ तापसेषु ॥ १८ ॥

इस प्रकार संजयके मुखसे सबका परिचय पाकर जब सभी तपस्वी अपनी-अपनी कुटियामें चले गये, तब कुरुकुलके वृद्ध एवं श्रेष्ठ पुरुष राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार उन नरदेव-कुमारोंसे मिलकर उस समय सबका कुशल-मङ्गल पूछने लगे ॥

योधेषु वाप्याश्रममण्डलं तं
मुक्त्वा निविष्टेषु विमुच्य पत्रम् ।
स्त्रीवृद्धबाले च सुसंनिविष्टे
यथार्हतस्तान् कुशलान्यपृच्छत् ॥ १९ ॥

पाण्डवोंके सैनिकोंने आश्रममण्डलकी सीमाको छोड़कर कुछ दूरपर समस्त वाहनोंको खोल दिया और वहीं पड़ाव डाल दिया तथा स्त्री, वृद्ध और बालकोंका समुदाय छावनीमें सुखपूर्वक विश्राम लेने लगा । उस समय राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंसे मिलकर उनका कुशल-समाचार पूछने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि ऋषीन् प्रति युधिष्ठिरादिकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें ऋषियोंके प्रति युधिष्ठिर आदिका परिचयविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा विदुरजीका युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित् त्वं कुशली ह्यसि ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाबाहो युधिष्ठिर ! तुम नगर तथा जनपदकी समस्त प्रजाओं और भाइयोंसहित कुशलसे तो हो न ? ॥ १ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति कच्चित् तेऽपि निरामयाः ।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते नृप ॥ २ ॥

नरेश्वर ! जो तुम्हारे आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मन्त्री, भृत्यवर्ग और गुरुजन भी सुखी और स्वस्थ तो हैं न ? ॥ २ ॥

कच्चित् तेऽपि निरातङ्का वसन्ति विषये तव ।
कच्चिद् वर्तसि पौराणीं वृत्तिं राजर्षिसेविताम् ॥ ३ ॥

क्या वे भी तुम्हारे राज्यमें निर्भय होकर रहते हैं ? क्या तुम प्राचीन राजर्षियोंसे सेवित पुरानी रीति-नीतिका पालन करते हो ? ॥ ३ ॥

कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ।
अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ॥ ४ ॥

क्या तुम्हारा खजाना न्यायमार्गका उल्लङ्घन किये बिना ही भरा जाता है ? क्या तुम शत्रु, मित्र और उदासीन पुरुषोंके प्रति यथायोग्य बर्ताव करते हो ? ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानग्रहारैर्वा यथावदनुपश्यसि ।
कच्चित् ते परितुष्यन्ति शीलेन भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम ब्राह्मणोंको माफी जमीन देकर उनपर यथोचित दृष्टि रखते हो ? क्या तुम्हारे शील-स्वभावसे वे संतुष्ट रहते हैं ? ॥ ५ ॥

शत्रवोऽपि कुतः पौरा
भृत्या वा स्वजनोऽपि वा ।
कच्चिद् यजसि राजेन्द्र श्रद्धावान् पितृदेवताः ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! पुरवासी स्वजनों और सेवकोंकी तो बात ही क्या है, क्या शत्रु भी तुम्हारे बर्तावसे संतुष्ट रहते हैं ? क्या तुम श्रद्धापूर्वक देवताओं और पितरोंका यजन करते हो ? ॥

अतिथीनन्नपानेन कच्चिदर्चसि भारत ।
कच्चिन्नयपथे विप्राः स्वकर्मनिरतास्तव ॥ ७ ॥
क्षत्रिया वैश्यवर्गो वा शूद्रा वापि कुटुम्बिनः ।

भारत ! क्या तुम अन्न और जलके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करते हो ? क्या तुम्हारे राज्यमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा कुटुम्बीजन न्यायमार्गका अवलम्बन करते हुए अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं ? ॥ ७½ ॥

कच्चित् स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ॥ ८ ॥
जामयः पूजिताः कच्चित् तव गेहे नरर्षभ ।

नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे राज्यमें स्त्रियों, बालकों और वृद्धोंको दुःख तो नहीं भोगना पड़ता ? वे जीविकाके लिये भीख तो नहीं माँगते हैं ? तुम्हारे घरमें सौभाग्यवती बहू-बेटियोंका आदर-सत्कार तो होता है न ? ॥ ८½ ॥

कच्चिद् राजर्षिवंशोऽयं त्वामासाद्य महीपतिम् ॥ ९ ॥
यथोचितं महाराज यशसा नावसीदति ।

महाराज ! राजर्षियोंका यह वंश तुम-जैसे राजाको पाकर यथोचित प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है न ? इसे यशसे वञ्चित होकर अपयशका भागी तो नहीं होना पड़ता है ? ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं तं स न्यायवित् प्रत्यभाषत ॥ १० ॥
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रके इस प्रकार कुशल-समाचार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल न्यायवेत्ता राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ १०½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित् ते वर्धते राजंस्तपो दमशमौ च ते ॥ ११ ॥
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा ।
अथास्याः सफलो राजन् वनवासो भविष्यति॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! (मेरे यहाँ सब कुशल है) आपके तप, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि सद्गुणोंकी वृद्धि तो हो रही है न ? ये मेरी माता कुन्ती आपकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें क्लेशका अनुभव तो नहीं करतीं ? क्या इनका वनवास सफल होगा ? ॥ ११-१२ ॥

इयं च माता ज्येष्ठा मे शीतवाताध्वकर्शिता ।
घोरेण तपसा युक्ता देवी कच्चिन्न शोचति ॥ १३ ॥
हतान् पुत्रान् महावीर्यान् क्षत्रधर्मपरायणान् ।
नापध्यायति वा कच्चिदस्मान् पापकृतः सदा ॥ १४ ॥

ये मेरी बड़ी माता गान्धारीदेवी सर्दी, हवा और रास्ता चलनेके परिश्रमसे कष्ट पाकर अत्यन्त दुबली हो गयी हैं और घोर तपस्यामें लगी हुई हैं । ये देवी युद्धमें मारे गये अपने क्षत्रिय-धर्मपरायण महापराक्रमी पुत्रोंके लिये कभी शोक तो नहीं करतीं ? और हम अपराधियोंका कभी कोई अनिष्ट तो नहीं सोचती हैं ? ॥ १३-१४ ॥

क चासौ विदुरो राजन् नेमं पश्यामहे वयम् ।
सञ्जयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थिरः ॥ १५ ॥

राजन् ! ये संजय तो कुशलपूर्वक स्थिरभावसे तपस्यामें लगे हुए हैं न ? इस समय विदुरजी कहाँ हैं ? इन्हें हमलोग नहीं देख पा रहे हैं ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम् ।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समाश्रितः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर धृतराष्ट्रने उनसे कहा—'बेटा ! विदुरजी कुशलपूर्वक हैं । वे बड़ी कठोर तपस्यामें लगे हैं ॥ १६ ॥

वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसन्ततः ।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन् कानने क्वचित् ॥

'वे निरन्तर उपवास करते और वायु पीकर रहते हैं, इसलिये अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । उनके सारे शरीरमें व्याप्त हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं । इस सूने वनमें ब्राह्मणोंको कभी-कभी कहीं उनके दर्शन हो जाया करते हैं' ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य जटी वीटामुखः कृशः ।

दिग्वासा मलदिग्धाङ्गो वनरेणुसमुक्षितः ॥ १८ ॥
दूरादालक्षितः क्षत्ता तत्राख्यातो महीपतेः ।
निवर्तमानः सहसा राजन् दृष्ट्वाऽऽश्रमं प्रति ॥ १९ ॥

राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार कह ही रहे थे कि मुखमें पत्थर-का टुकड़ा लिये जटाधारी कृशकाय विदुरजी दूरसे आते दिखायी दिये । वे दिगम्बर (वस्त्रहीन) थे । उनके सारे शरीरमें मैल जमी हुई थी । वे वनमें उड़ती हुई धूलोंसे नहा गये थे । राजा युधिष्ठिरको उनके आनेकी सूचना दी गयी । राजन् ! विदुरजी उस आश्रमकी ओर देखकर सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े ॥ १८-१९ ॥

तमन्वधावन्नृपतिरेक एव युधिष्ठिरः ।
प्रविशन्तं वनं घोरं लक्ष्यालक्ष्यं क्वचित् क्वचित् ॥२०॥
भो भो विदुर राजाहं दयितस्ते युधिष्ठिरः ।
इति ब्रुवन्नरपतिस्तं यत्नादभ्यधावत ॥ २१ ॥

यह देख राजा युधिष्ठिर अकेले ही उनके पीछे-पीछे दौड़े । विदुरजी कभी दिखायी देते और कभी अदृश्य हो जाते थे । जब वे एक घोर वनमें प्रवेश करने लगे, तब राजा युधिष्ठिर यत्नपूर्वक उनकी ओर दौड़े और इस प्रकार कहने लगे— 'ओ विदुरजी ! मैं आपका परमप्रिय राजा युधिष्ठिर आपके दर्शनके लिये आया हूँ' ॥ २०-२१ ॥

ततो विविक्त एकान्ते तस्थौ बुद्धिमतां वरः ।
विदुरो वृक्षमाश्रित्य कंचित्तत्र वनान्तरे ॥ २२ ॥

तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुरजी वनके भीतर एक परम पवित्र एकान्त प्रदेशमें किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

तं राजा क्षीणभूयिष्ठमाकृतीमात्रसूचितम् ।
अभिजज्ञे महाबुद्धिं महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

वे बहुत ही दुर्बल हो गये थे । उनके शरीरका ढाँचा-मात्र रह गया था, इतनेहीसे उनके जीवित होनेकी सूचना मिलती थी । परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उन महाबुद्धिमान् विदुरको पहचान लिया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरोऽहमस्मीति वाक्यमुक्त्वाग्रतः स्थितः ।
विदुरस्य श्रवे राजा तं च प्रत्यभ्यपूजयत् ॥ २४ ॥

'मैं युधिष्ठिर हूँ' ऐसा कहकर वे उनके आगे खड़े हो गये । यह बात उन्होंने उतनी ही दूरसे कही थी, जहाँसे विदुरजी सुन सकें; फिर पास जाकर राजाने उनका बड़ा सत्कार किया ॥ २४ ॥

ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजानं तमुदैक्षत ।
संयोज्य विदुरस्तस्मिन् दृष्टिं दृष्ट्या समाहितः ॥ २५ ॥

तदनन्तर महात्मा विदुरजी राजा युधिष्ठिरकी ओर एकटक देखने लगे । वे अपनी दृष्टिको उनकी दृष्टिसे जोड़कर एकाग्र हो गये ॥ २५ ॥

विवेश विदुरो धीमान् गात्रैर्गात्राणि चैव ह ।
प्राणान् प्राणेषु च दधदिन्द्रियाणीन्द्रियेषु च ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् विदुर अपने शरीरको युधिष्ठिरके शरीरमें, प्राणोंको प्राणोंमें और इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें स्थापित करके उनके भीतर समा गये ॥ २६ ॥

स योगबलमास्थाय विवेश नृपतेस्तनुम् ।
विदुरो धर्मराजस्य तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २७ ॥

उस समय विदुरजी तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे । उन्होंने योगबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

विदुरस्य शरीरं तु तथैव स्तब्धलोचनम् ।
वृक्षाश्रितं तदा राजा ददर्श गतचेतनम् ॥ २८ ॥

राजाने देखा, विदुरजीका शरीर पूर्ववत् वृक्षके सहारे खड़ा है । उनकी आँखें अब भी उसी तरह निर्निमेष हैं, किंतु अब उनके शरीरमें चेतना नहीं रह गयी है ॥ २८ ॥

बलवन्तं तथाऽऽत्मानं मेने बहुगुणं तदा ।
धर्मराजो महातेजास्तच्च सस्मार पाण्डवः ॥ २९ ॥
पौराणमात्मनः सर्वं विद्यावान् स विशाम्पते ।
योगधर्मं महातेजा व्यासेन कथितं यथा ॥ ३० ॥

इसके विपरीत उन्होंने अपनेमें विशेष बल और अधिक गुणोंका अनुमान किया । प्रजानाथ ! इसके बाद महातेजस्वी पाण्डुपुत्र विद्यावान् धर्मराज युधिष्ठिरने अपने समस्त पुरातन स्वरूपका स्मरण किया । (मैं और विदुरजी एक ही धर्मके अंशसे प्रकट हुए थे, इस बातका अनुभव किया) । इतना

ही नहीं, उन महातेजस्वी नरेशने व्यासजीके बताये हुए योगधर्मका भी स्मरण कर लिया ॥ २९-३० ॥

धर्मराजश्च तत्रैव संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद् विद्वानथ वागभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
भो भो राजन्न दग्धव्यमेतद् विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ॥ ३२ ॥
लोकाः सान्तानिका नाम भविष्यन्त्यस्य भारत ।
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैष शोच्यः परंतप ॥ ३३ ॥

अब विद्वान् धर्मराजने वहीं विदुरके शरीरका दाह-संस्कार करनेका विचार किया। इतनेहीमें आकाशवाणी हुई—'राजन् ! शत्रुसंतापी भरतनन्दन ! इस विदुर नामक शरीरका यहाँ दाह-संस्कार करना उचित नहीं है; क्योंकि वे संन्यास-धर्मका पालन करते थे। यहाँ उनका दाह न करना ही तुम्हारे लिये सनातन धर्म है। विदुरजीको सान्तानिक नामक लोकोंकी प्राप्ति होगी; अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये' ॥ ३१-३३ ॥

इत्युक्तो धर्मराजः स विनिवृत्य ततः पुनः ।
राज्ञो वैचित्रवीर्यस्य तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ ३४ ॥

आकाशवाणीद्वारा ऐसी बात कही जानेपर धर्मराज युधिष्ठिर फिर वहाँसे लौट गये और राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्होंने वे सारी बातें उनसे बतायीं ॥ ३४ ॥

ततः स राजा द्युतिमान् स च सर्वो जनस्तदा ।
भीमसेनादयश्चैव परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रीतिमान् राजा भूत्वा धर्मजमब्रवीत् ।
आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३६ ॥

विदुरजीके देहत्यागका यह अद्भुत समाचार सुनकर तेजस्वी राजा धृतराष्ट्र तथा भीमसेन आदि सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। इसके बाद राजाने प्रसन्न होकर धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा ! अब तुम मेरे दिये हुए इस फल-मूल और जलको ग्रहण करो ॥ ३५-३६ ॥

यदर्थो हि नरो राजंस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृतः ।
इत्युक्तः स तथेत्येवं प्राह धर्मात्मजो नृपम् ॥ ३७ ॥
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं सहानुजः ।
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः ।
तां रात्रिमवसन् सर्वे फलमूलजलाशनाः ॥ ३८ ॥

'राजन् ! मनुष्य जिन वस्तुओंका स्वयं उपयोग करता है, उन्हीं वस्तुओंसे वह अतिथिका भी सत्कार करे—ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है।' उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और उनके दिये हुए फल-मूलका भाइयोंसहित भोजन किया। तदनन्तर उन सब लोगोंने फल-मूल और जलका ही आहार करके वृक्षोंके नीचे ही रहनेका निश्चय कर वहीं वह रात्रि व्यतीत की ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि विदुरनिर्याणे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें विदुरका देहत्यागविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदिका ऋषियोंके आश्रम देखना, कलश आदि बाँटना और धृतराष्ट्रके पास आकर बैठना, उन सबके पास अन्यान्य ऋषियोंसहित महर्षि व्यासका आगमन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु राजन्नेतेषामाश्रमे पुण्यकर्मणाम् ।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस आश्रमपर निवास करनेवाले इन समस्त पुण्यकर्मा मनुष्योंकी नक्षत्र-मालाओंसे सुशोभित वह मङ्गलमयी रात्रि सकुशल व्यतीत हुई ॥ १ ॥

ततस्तत्र कथाश्चासंस्तेषां धर्मार्थलक्षणाः ।
विचित्रपदसंचारा नानाश्रुतिभिरन्विताः ॥ २ ॥

उस समय उन लोगोंमें विचित्र पदों और नाना श्रुतियोंसे युक्त धर्म और अर्थसम्बन्धी चर्चाएँ होती रहीं ॥ २ ॥

पाण्डवास्त्वभितो मातुर्धरण्यां सुषुपुस्तदा ।
उत्सृज्य तु महार्हाणि शयनानि नराधिप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! पाण्डवलोग बहुमूल्य शय्याओंको छोड़कर अपनी माताके चारों ओर धरतीपर ही सोये थे ॥ ३ ॥

यदाहारोऽभवद् राजा धृतराष्ट्रो महामनाः ।
तदाहारा नृवीरास्ते न्यवसंस्तां निशां तदा ॥ ४ ॥

महामनस्वी राजा धृतराष्ट्रने जिस वस्तुका आहार किया था, उसी वस्तुका आहार उस रातमें उन नरवीर पाण्डवोंने भी किया था ॥ ४ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ५ ॥
सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः ।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ६ ॥

रात बीत जानेपर पूर्वाह्णकालिक नैत्यिक नियम पूरे करके राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले भाइयों, अन्तःपुरकी स्त्रियों, सेवकों और पुरोहितोंके साथ सुखपूर्वक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूम-फिरकर मुनियोंके आश्रम देखे ॥ ५-६ ॥

ददर्श तत्र वेदीश्च संप्रज्वलितपावकाः ।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥ ७ ॥
वानेयपुष्पनिकरैराज्यधूमोद्गमैरपि ।
ब्राह्मेण वपुषा युक्ता युक्ता मुनिगणस्य ताः ॥ ८ ॥

उन्होंने देखा, वहाँ आश्रमोंमें यज्ञकी वेदियाँ बनी हैं, जिनपर अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं । मुनिलोग स्नान करके उन वेदियोंके पास बैठे हैं और अग्निमें आहुति दे रहे हैं । वनके फूलों और घृतकी आहुतिसे उठे हुए धूमोंसे भी उन वेदियोंकी शोभा हो रही है । वहाँ निरन्तर वेदध्वनि होनेके कारण मानो वे वेदियाँ वेदमय शरीरसे संयुक्त जान पड़ती थीं । मुनियोंके समुदाय सदा उनसे सम्पर्क बनाये रखते थे ॥ ७-८ ॥

मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः ।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥ ९ ॥

प्रभो ! उन आश्रमोंमें जहाँ-तहाँ मृगोंके झुंड निर्भय एवं शान्तचित्त होकर आरामसे बैठे थे । पक्षियोंके समुदाय निःशङ्क होकर उच्च स्वरसे कलरव करते थे ॥ ९ ॥

केकाभिर्नीलकण्ठानां दात्यूहानां च कूजितैः ।
कोकिलानां कुहुरवैः सुखैः श्रुतिमनोहरैः ॥ १० ॥
प्राधीतद्विजघोषैश्च क्वचित् क्वचिदलंकृतम् ।
फलमूलसमाहारैर्महद्भिश्चोपशोभितम् ॥ ११ ॥

मोरोंके मधुर केकारव, दात्यूह नामक पक्षियोंके कल-कूजन और कोयलोंकी कुहू-कुहू ध्वनि हो रही थी । उनके शब्द बड़े ही सुखद तथा कानों और मनको हर लेनेवाले थे । कहीं-कहीं स्वाध्यायशील ब्राह्मणोंके वेद-मन्त्रोंका गम्भीर घोष गूँज रहा था और इन सबके कारण उन आश्रमोंकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी एवं वह आश्रम फल-मूलका आहार करनेवाले महापुरुषोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ १०-११ ॥

ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान् ।
कलशान् काञ्चनान् राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥ १२ ॥
अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक् स्रुवं च महीपतिः ।
कमण्डलूंश्च स्थालीश्च पिठराणि च भारत ॥ १३ ॥
भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप ।
यद् यदिच्छति यावच्च यच्चान्यदपि भाजनम् ॥ १४ ॥

राजन् ! उस समय राजा युधिष्ठिरने तपस्वियोंके लिये लाये हुए सोने और ताँबेके कलश, मृगचर्म, कम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, बटलोई, कड़ाही, अन्यान्य लोहेके बने हुए पात्र तथा और भी भाँति-भाँतिके बर्तन बाँटे । जो जितना और जो-जो बर्तन चाहता था, उसको उतना ही और वही बर्तन दिया जाता था । दूसरा भी आवश्यक पात्र दे दिया जाता था ॥ १२-१४ ॥

एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम् ।
वसु विश्राण्य तत् सर्वं पुनरायान्महीपतिः ॥ १५ ॥

इस प्रकार धर्मात्मा राजा पृथ्वीपति युधिष्ठिर आश्रमोंमें घूम-घूमकर वह सारा धन बाँटनेके पश्चात् धृतराष्ट्रके आश्रम-पर लौट आये ॥ १५ ॥

कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।
ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥ १६ ॥
मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत् प्रणतां स्थिताम् ।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा शिष्टाचारसमन्विताम् ॥ १७ ॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि राजा धृतराष्ट्र नित्य कर्म करके गान्धारीके साथ शान्त भावसे बैठे हुए हैं और उनसे थोड़ी ही दूरपर शिष्टाचारका पालन करनेवाली माता कुन्ती शिष्याकी भाँति विनीत भावसे खड़ी है ॥ १६-१७ ॥

स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः ।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने अपना नाम सुनाकर राजा धृतराष्ट्रका प्रणाम-पूर्वक पूजन किया और 'बैठो' यह आज्ञा मिलनेपर वे कुशके आसनपर बैठ गये ॥ १८ ॥

भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा भरतर्षभ ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन आदि पाण्डव भी राजाके चरण छूकर प्रणाम करनेके पश्चात् उनकी आज्ञासे बैठ गये ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतो राजा शुशुभेऽतीव कौरवः ।
बिभ्रद् ब्राह्मीं श्रियं दीप्तां देवैरिव बृहस्पतिः ॥ २० ॥

उनसे घिरे हुए कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र वैसी ही शोभा पा रहे थे, जैसे उज्ज्वल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले बृहस्पति देवताओंसे घिरे हुए सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

वे सब लोग इस प्रकार बैठे ही थे कि कुरुक्षेत्रनिवासी शतयूप आदि महर्षि वहाँ आ पहुँचे ॥ २१ ॥

व्यासश्च भगवान् विप्रो देवर्षिगणसेवितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास पार्थिवम् ॥ २२ ॥

देवर्षियोंसे सेवित महातेजस्वी विप्रवर भगवान् व्यासने भी शिष्योंसहित आकर राजाको दर्शन दिया ॥ २२ ॥

ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभ्यवादयन् ॥ २३ ॥

उस समय कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र, पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदिने उठकर समागत महर्षियोंको प्रणाम किया ॥ २३ ॥

समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ॥ २४ ॥

तदनन्तर शतयूप आदिसे घिरे हुए नवागत महर्षि व्यास राजा धृतराष्ट्रसे बोले—'बैठ जाओ' ॥ २४ ॥

वरं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम् ।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ॥ २५ ॥

इसके बाद व्यासजी स्वयं एक सुन्दर कुशासनपर, जो काले मृगचर्मसे आच्छादित तथा उन्हींके लिये बिछाया गया था, विराजमान हुए ॥ २५ ॥

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ॥ २६ ॥

फिर व्यासजीकी आज्ञासे अन्य सब महातेजस्वी श्रेष्ठ द्विजगण चारों ओर बिछे हुए कुशासनोंपर बैठ गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासागमने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासका आगमनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

महर्षि व्यासका धृतराष्ट्रसे कुशल पूछते हुए विदुर और युधिष्ठिरकी धर्मरूपताका प्रतिपादन करना और उनसे अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये कहना

वैशम्पायन उवाच

ततः समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महात्मा पाण्डवोंके बैठ जानेपर सत्यवतीनन्दन व्यासने इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो कच्चित् ते वर्धते तपः ।
कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे नराधिप ॥ २ ॥

'महाबाहु धृतराष्ट्र ! तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है न ? नरेश्वर ! वनवासमें तुम्हारा मन तो लगता है न ? ॥ २ ॥

कच्चिद्धृदि न ते शोको राजन् पुत्रविनाशजः ।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि सुप्रसन्नानि तेऽनघ ॥ ३ ॥

'राजन् ! अब कभी तुम्हारे मनमें अपने पुत्रोंके मारे जानेका शोक तो नहीं होता ? निष्पाप नरेश ! तुम्हारी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल तो हो गयी हैं न ? ॥ ३ ॥

कच्चिद् बुद्धिं दृढां कृत्वा चरस्यारण्यकं विधिम् ।
कच्चिद् वधूश्च गान्धारी न शोकेनाभिभूयते ॥ ४ ॥

'क्या तुम अपनी बुद्धिको दृढ़ करके वनवासके कठोर नियमोंका पालन करते हो ? बहू गान्धारी कभी शोकके वशीभूत तो नहीं होती ? ॥ ४ ॥

महाप्रज्ञा बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी ।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति ॥ ५ ॥

'गान्धारी बड़ी बुद्धिमती और महाविदुषी है । यह देवी धर्म और अर्थको समझनेवाली तथा जन्म-मरणके तत्त्वको जाननेवाली है । इसे तो कभी शोक नहीं होता है ॥ ५ ॥

कच्चित् कुन्ती च राजंस्त्वां शुश्रूषत्यनहंकृता ।
या परित्यज्य स्वं पुत्रं गुरुशुश्रूषणे रता ॥ ६ ॥

'राजन् ! जो अपने पुत्रोंको त्यागकर गुरुजनोंकी सेवामें लगी हुई है, वह कुन्ती क्या अहंकारशून्य होकर तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा करती है ? ॥ ६ ॥

कच्चिद् धर्मसुतो राजा त्वया प्रत्यभिनन्दितः ।
भीमार्जुनयमाश्चैव कच्चिदेतेऽपि सान्त्विताः ॥ ७ ॥

'क्या तुमने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया है ? भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको भी धीरज बँधाया है ? ॥ ७ ॥

कच्चिन्नन्दसि दृष्ट्वैतान् कच्चित् ते निर्मलं मनः ।
कच्चिच्च शुद्धभावोऽसि जातज्ञानो नराधिप ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! क्या इन्हें देखकर तुम प्रसन्न होते हो ? क्या इनकी ओरसे तुम्हारे मनकी मैल दूर हो गयी है ? क्या ज्ञान-सम्पन्न होनेके कारण तुम्हारे हृदयका भाव शुद्ध हो गया है ? ॥ ८ ॥

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत ।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च ॥ ९ ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! किसीसे वैर न रखना, सत्य बोलना और क्रोधको सर्वथा त्याग देना—ये तीन गुण सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ ९ ॥

कच्चित् ते न च मोहोऽस्ति वनवासेन भारत ।
स्ववशे वन्यमन्नं वा उपवासोऽपि वा भवेत् ॥ १० ॥

'भारत ! वनमें उत्पन्न हुआ अन्न तुम्हारे वशमें रहे

अथवा तुम्हें उपवास करना पड़े, सभी दशाओंमें वनवाससे तुम्हें मोह तो नहीं होता है ? ॥ १० ॥

विदितं चापि राजेन्द्र विदुरस्य महात्मनः।
गमनं विधिनानेन धर्मस्य सुमहात्मनः॥ ११ ॥

'राजेन्द्र ! महात्मा विदुरके, जो साक्षात् महामना धर्मके स्वरूप थे, इस विधिसे परलोकगमनका समाचार तो तुम्हें ज्ञात हुआ ही होगा ॥ ११ ॥

माण्डव्यशापाद्धि स वै धर्मो विदुरतां गतः।
महाबुद्धिर्महायोगी महात्मा सुमहामनाः॥ १२ ॥

'माण्डव्यमुनिके शापसे धर्म ही विदुररूपमें अवतीर्ण हुए थे। वे परम बुद्धिमान्, महान् योगी, महात्मा और महामनस्वी थे ॥ १२ ॥

बृहस्पतिर्वा देवेषु शुक्रो वाप्यसुरेषु च।
न तथा बुद्धिसम्पन्नो यथा स पुरुषर्षभः॥ १३ ॥

'देवताओंमें बृहस्पति और असुरोंमें शुक्राचार्य भी वैसे बुद्धिमान् नहीं हैं, जैसे पुरुषप्रवर विदुर थे ॥ १३ ॥

तपोबलव्ययं कृत्वा सुचिरात् सम्भृतं तदा।
माण्डव्येनर्षिणा धर्मो ह्यभिभूतः सनातनः॥ १४ ॥

'माण्डव्य ऋषिने चिरकालसे संचित किये हुए तपोबलका क्षय करके सनातन धर्मदेवको (शाप देकर) पराभूत किया था ॥ १४ ॥

नियोगाद् ब्रह्मणः पूर्वं मया स्वेन बलेन च।
वैचित्रवीर्यके क्षेत्रे जातः स सुमहामतिः॥ १५ ॥

'मैंने पूर्वकालमें ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार अपने तपोबलसे विचित्रवीर्यके क्षेत्र (भार्या) में उस परम बुद्धिमान् विदुरको उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥

भ्राता तव महाराज देवदेवः सनातनः।
धारणान्मनसा ध्यानाद् यं धर्मं कवयो विदुः॥ १६ ॥

'महाराज ! तुम्हारे भाई विदुर देवताओंके भी देवता सनातन धर्म थे। मनके द्वारा धर्मका धारण और ध्यान किया जाता है, इसलिये विद्वान् पुरुष उन्हें धर्मके नामसे जानते हैं ॥ १६ ॥

सत्येन संवर्धयति यो दमेन शमेन च।
अहिंसया च दानेन तप्यमानः सनातनः॥ १७ ॥

'जो सत्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, अहिंसा और दानके रूपमें सेवित होनेपर जगत्के अभ्युदयका साधक होता है, वह सनातनधर्म विदुरसे भिन्न नहीं है ॥ १७ ॥

येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
धर्म इत्येष नृपते प्राज्ञेनामितबुद्धिना॥ १८ ॥

'जिस अमित बुद्धिमान् और प्राज्ञ देवताने योगबलसे कुरुराज युधिष्ठिरको जन्म दिया था, वह धर्म विदुरका ही स्वरूप है ॥ १८ ॥

यथा वह्निर्यथा वायुर्यथाऽऽपः पृथिवी यथा।
यथाऽऽकाशं तथा धर्म इह चामुत्र च स्थितः॥ १९ ॥

'जैसे अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाशकी सत्ता इहलोक और परलोकमें भी है, उसी प्रकार धर्म भी उभय लोकमें व्याप्त है ॥ १९ ॥

सर्वगश्चैव राजेन्द्र सर्वं व्याप्य चराचरम्।
दृश्यते देवदेवैः स सिद्धैर्निर्मुक्तकल्मषैः॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! धर्मकी सर्वत्र गति है तथा वह सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है। जिनके समस्त पाप धुल गये हैं, वे सिद्ध पुरुष तथा देवताओंके देवता ही धर्मका साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

यो हि धर्मः स विदुरो विदुरो यः स पाण्डवः।
स एष राजन् दृश्यस्ते पाण्डवः प्रेष्यवत् स्थितः॥ २१ ॥

'जिन्हें धर्म कहते हैं वे ही विदुर थे और जो विदुर थे वे ही ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर हैं, जो इस समय तुम्हारे सामने दासकी भाँति खड़े हैं ॥ २१ ॥

प्रविष्टः स महात्मानं भ्राता ते बुद्धिसत्तमः।
दृष्ट्वा महात्मा कौन्तेयं महायोगबलान्वितः॥ २२ ॥

'महान् योगबलसे सम्पन्न और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे भाई महात्मा विदुर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको सामने देखकर इन्हींके शरीरमें प्रविष्ट हो गये हैं ॥ २२ ॥

त्वां चापि श्रेयसा योक्ष्ये न चिराद् भरतर्षभ।
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तं मां विद्धि पुत्रक॥ २३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अब तुम्हें भी मैं शीघ्र ही कल्याणका भागी बनाऊँगा। बेटा ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि इस समय मैं तुम्हारे संशयोंका निवारण करनेके लिये आया हूँ ॥ २३ ॥

न कृतं यैः पुरा कैश्चित् कर्म लोके महर्षिभिः।
आश्चर्यभूतं तपसः फलं तद् दर्शयामि वः॥ २४ ॥

'पूर्वकालके किन्हीं महर्षियोंने संसारमें अबतक जो चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं किया था, वह भी आज मैं करके दिखाऊँगा। आज मैं तुम्हें अपनी तपस्याका आश्चर्यजनक फल दिखलाता हूँ ॥ २४ ॥

किमिच्छसि महीपाल मत्तः प्राप्तुमभीप्सितम्।
द्रष्टुं स्प्रष्टुमथ श्रोतुं तत्कर्ताऽस्मि तवानघ॥ २५ ॥

'निष्पाप महीपाल ! बताओ, तुम मुझसे कौन-सी अभीष्ट वस्तु पाना चाहते हो ? किसको देखने, सुनने अथवा स्पर्श करनेकी तुम्हारी इच्छा है ? मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(पुत्रदर्शनपर्व)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका मृत बान्धवोंके शोकसे दुखी होना तथा गान्धारी और कुन्तीका व्यासजीसे अपने मरे हुए पुत्रोंके दर्शन करनेका अनुरोध

जनमेजय उवाच

नवासं गते विप्र धृतराष्ट्रे महीपतौ।
सभार्ये नृपशार्दूले वध्वा कुन्त्या समन्विते ॥ १ ॥
विदुरे चापि संसिद्धे धर्मराजं व्यपाश्रिते।
सत्सु पाण्डुपुत्रेषु सर्वेष्वाश्रममण्डले ॥ २ ॥
त् तदाश्चर्यमिति वै करिष्यामीत्युवाच ह।
यासः परमतेजस्वी महर्षिस्तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब अपनी धर्मपत्नी न्धारी और बहू कुन्तीके साथ नृपश्रेष्ठ पृथ्वीपति धृतराष्ट्र नवासके लिये चले गये, विदुरजी सिद्धिको प्राप्त होकर र्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें प्रविष्ट हो गये और समस्त पाण्डव श्रममण्डलमें निवास करने लगे, उस समय परम तेजस्वी ासजीने जो यह कहा था कि 'मैं आश्चर्यजनक घटना कट करूँगा' वह किस प्रकार हुई? यह मुझे बताइये? ॥

नवासे च कौरव्यः कियन्तं कालमच्युतः।
धिष्ठिरो नरपतिर्न्यवसत् सजनस्तदा ॥ ४ ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कुरुवंशी राजा धिष्ठिर कितने दिनोंतक सब लोगोंके साथ वनमें रहे थे? ॥

कमाहाराश्च ते तत्र ससैन्या न्यवसन् प्रभो।
ान्तःपुरा महात्मान इति तद् ब्रूहि मेऽनघ ॥ ५ ॥

प्रभो! निष्पाप मुने! सैनिकों और अन्तःपुरकी स्त्रियों- साथ वे महात्मा पाण्डव क्या आहार करके वहाँ निवास रते थे? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ऽनुज्ञातास्तदा राजन् कुरुराजेन पाण्डवाः।
विधान्यन्नपानानि विश्राम्यानुभवन्ति ते ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! कुरुराज धृतराष्ट्रने ण्डवोंको नाना प्रकारके अन्न-पान ग्रहण करनेकी आज्ञा दे थी; अतः वे वहाँ विश्राम पाकर सभी तरहके उत्तम जन करते थे ॥ ६ ॥

ासमेकं विजह्रुस्ते ससैन्यान्तःपुरा वने।
थ तत्रागमद् व्यासो यथोक्तं ते मयानघ ॥ ७ ॥

वे सेनाओं तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ वहाँ एक ासतक वनमें विहार करते रहे। अनघ! इसी बीचमें जैसा मैंने तुम्हें बताया है, वहाँ व्यासजीका आगमन हुआ ॥

तथा च तेषां सर्वेषां कथाभिर्नृपसंनिधौ।
व्यासमन्वास्यतां राजन्नाजग्मुर्मुनयो परे ॥ ८ ॥

राजन्! राजा धृतराष्ट्रके समीप व्यासजीके पीछे बैठे हुए उन सबलोगोंमें जब उपर्युक्त बातें होती रहीं, उसी समय वहाँ दूसरे-दूसरे मुनि भी आये ॥ ८ ॥

नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः।
विश्वावसुस्तुम्बुरुश्च चित्रसेनश्च भारत ॥ ९ ॥

भारत! उनमें नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, विश्वा- वसु, तुम्बुरु तथा चित्रसेन भी थे ॥ ९ ॥

तेषामपि यथान्यायं पूजां चक्रे महातपाः।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे महातपस्वी कुरुराज युधिष्ठिरने उन सबकी भी यथोचित पूजा की ॥ १० ॥

निषेदुस्ते ततः सर्वे पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात्।
आसनेषु च पुण्येषु बर्हिणेषु वरेषु च ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरसे पूजा ग्रहण करके वे सब-के-सब मोरपंखके बने हुए पवित्र एवं श्रेष्ठ आसनोंपर विराजमान हुए ॥ ११॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु स तु राजा महामतिः।
पाण्डुपुत्रैः परिवृतो निषसाद कुरूद्वह ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! उन सबके बैठ जानेपर पाण्डवोंसे घिरे हुए परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बैठे ॥ १२ ॥

गान्धारी चैव कुन्ती च द्रौपदी सात्वती तथा।
स्त्रियश्चान्यास्तथान्याभिः सहोपविविशुस्ततः ॥ १३ ॥

गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा दूसरी स्त्रियाँ अन्य स्त्रियोंके साथ आसपास ही एक साथ बैठ गयीं ॥१३॥

तेषां तत्र कथा दिव्या धर्मिष्ठाश्चाभवन् नृप।
ऋषीणां च पुराणानां देवासुरविमिश्रिताः ॥ १४ ॥

नरेश्वर! उस समय उन लोगोंमें धर्मसे सम्बन्ध रखने- वाली दिव्य कथाएँ होने लगीं। प्राचीन ऋषियों तथा देव- ताओं और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाएँ छिड़ गयीं ॥

ततः कथान्ते व्यासस्तं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठः पुनरेव स तद् वचः ॥ १५ ॥
प्रीयमाणो महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।

बातचीतके अन्तमें सम्पूर्ण वेदवेत्ताओं और वक्ताओंमें

श्रेष्ठ महातेजस्वी महर्षि व्यासजीने प्रसन्न होकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रसे पुनः वही बात कही ॥ १५½ ॥

विदितं मम राजेन्द्र यत् ते हृदि विवक्षितम् ॥ १६ ॥
दह्यमानस्य शोकेन तव पुत्रकृतेन वै ।

'राजेन्द्र ! तुम्हारे हृदयमें जो कहनेकी इच्छा हो रही है, उसे मैं जानता हूँ । तुम निरन्तर अपने मरे हुए पुत्रोंके शोकसे जलते रहते हो ॥ १६½ ॥

गान्धार्याश्चैव यद् दुःखं हृदि तिष्ठति नित्यदा ॥ १७ ॥
कुन्त्याश्च यन्महाराज द्रौपद्याश्च हृदि स्थितम् ।

'महाराज ! गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदीके हृदयमें भी जो दुःख सदा बना रहता है, वह भी मुझे ज्ञात है ॥१७½॥

यच्च धारयते तीव्रं दुःखं पुत्रविनाशजम् ॥ १८ ॥
सुभद्रा कृष्णभगिनी तच्चापि विदितं मम ।

'श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा अपने पुत्र अभिमन्युके मारे जानेका जो दुःसह दुःख हृदयमें धारण करती है, वह भी मुझसे अज्ञात नहीं है ॥ १८½ ॥

श्रुत्वा समागममिमं सर्वेषां वस्तुतो नृप ॥ १९ ॥
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तः कौरवनन्दन ।

'कौरवनन्दन ! नरेश्वर ! वास्तवमें तुम सब लोगोंका यह समागम सुनकर तुम्हारे मानसिक संदेहोंका निवारण करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ ॥ १९½ ॥

इमे च देवगन्धर्वाः सर्वे चेमे महर्षयः ॥ २० ॥
पश्यन्तु तपसो वीर्यमद्य मे चिरसम्भृतम् ।

'ये देवता, गन्धर्व और महर्षि सब लोग आज मेरी चिरसंचित तपस्याका प्रभाव देखें ॥ २०½ ॥

तदुच्यतां महाप्राज्ञ कं कामं प्रददामि ते ॥ २१ ॥
प्रवणोऽस्मि वरं दातुं पश्य मे तपसः फलम् ।

'महाप्राज्ञ नरेश ! बोलो, मैं तुम्हें कौन-सा अभीष्ट मनोरथ प्रदान करूँ ? आज मैं तुम्हें मनोवाञ्छित वर देनेको तैयार हूँ । तुम मेरी तपस्याका फल देखो' ॥ २१½ ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्रो व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २२ ॥
मुहूर्तमिव संचिन्त्य वचनायोपचक्रमे ।

अमित बुद्धिमान् महर्षि व्यासके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने दो घड़ीतक विचार करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २२½॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतश्च सफलं जीवितं च मे ॥ २३ ॥
यन्मे समागमोऽद्येह भवद्भिः सह साधुभिः ।

'भगवन् ! आज मैं धन्य हूँ, आपलोगोंकी कृपाका पात्र हूँ तथा मेरा यह जीवन भी सफल है; क्योंकि आज यहाँ आप-जैसे साधु-महात्माओंका समागम मुझे प्राप्त हुआ है २३½

अद्य चाप्यवगच्छामि गतिमिष्टामिहात्मनः ॥ २४ ॥
ब्रह्मकल्पैर्भवद्भिर्यत् समेतोऽहं तपोधनाः ।

'तपोधनो ! आप ब्रह्मतुल्य महात्माओंका जो संग मुझे प्राप्त हुआ उससे मैं समझता हूँ कि यहाँ अपने लिये अभीष्ट गति मुझे प्राप्त हो गयी ॥ २४½ ॥

दर्शनादेव भवतां पूतोऽहं नात्र संशयः ॥ २५ ॥
विद्यते न भयं चापि परलोकान्ममानघाः ।

'इसमें संदेह नहीं कि मैं आपलोगोंके दर्शनमात्रसे पवित्र हो गया । निष्पाप महर्षियो ! अब मुझे परलोकसे कोई भय नहीं है ॥ २५½ ॥

किं तु तस्य सुदुर्बुद्धेर्मन्दस्यापनयैर्भृशम् ॥ २६ ॥
दूयते मे मनो नित्यं स्मरतः पुत्रगृद्धिनः ।

'परंतु अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले उस मन्दमति दुर्योधनके अन्यायोंसे जो मेरे सारे पुत्र मारे गये हैं, उन्हें पुत्रोंमें आसक्त रहनेवाला मैं सदा याद करता हूँ; इसलिये मेरे मनको बड़ा दुःख होता है ॥ २६½ ॥

अपापाः पाण्डवा येन निकृताः पापबुद्धिना ॥ २७ ॥
घातिता पृथिवी येन सहया सनरद्विपा ।

पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस दुर्योधनने निरपराध पाण्डवोंको सताया तथा घोड़ों, मनुष्यों और हाथियोंसहित इस सारी पृथ्वीके वीरोंका विनाश करा डाला ॥ २७½ ॥

राजानश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः ॥ २८ ॥
आगम्य मम पुत्रार्थे सर्वे मृत्युवशं गताः ।

अनेक देशोंके स्वामी महामनस्वी नरेश मेरे पुत्रकी सहायताके लिये आकर सब-के-सब मृत्युके अधीन हो गये ।

ये ते पितॄंश्च दारांश्च प्राणांश्च मनसः प्रियान् ॥ २९ ॥
परित्यज्य गताः शूराः प्रेतराजनिवेशनम् ।

वे सब शूरवीर भूपाल अपने पिताओं, पत्नियों, प्राणों और मनको प्रिय लगनेवाले भोगोंका परित्याग करके यमलोकको चले गये ॥ २९½ ॥

का नु तेषां गतिर्ब्रह्मन् मित्रार्थे ये हता मृधे ॥ ३० ॥
तथैव पुत्रपौत्राणां मम ये निहता युधि ।

'ब्रह्मन् ! जो मित्रके लिये युद्धमें मारे गये उन राजाओंकी क्या गति हुई होगी ? तथा जो रणभूमिमें वीरगतिको प्राप्त हुए हैं, उन मेरे पुत्रों और पौत्रोंको किस गतिकी प्राप्ति हुई होगी ? ॥ ३०½ ॥

दूयते मे मनोऽभीक्ष्णं घातयित्वा महाबलम् ॥ ३१ ॥
भीष्मं शान्तनवं वृद्धं द्रोणं च द्विजसत्तमम् ।

'महाबली शान्तनुनन्दन भीष्म तथा वृद्ध ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यका वध कराकर मेरे मनको बारंबार दुःसह संताप प्राप्त होता है ॥ ३१½ ॥

[म]म पुत्रेण मूढेन पापेनाकृतबुद्धिना ॥ ३२ ॥
[क्ष]यं नीतं कुलं दीप्तं पृथिवीराज्यमिच्छता ।

'अपवित्र बुद्धिवाले मेरे पापी एवं मूर्ख पुत्रने समस्त [भ]ूमण्डलके राज्यका लोभ करके अपने दीप्तिमान् कुलका [वि]नाश कर डाला ॥ ३२½ ॥

[ए]तत् सर्वमनुस्मृत्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३३ ॥
[न] शान्तिमधिगच्छामि दुःखशोकसमाहतः ।
[इ]ति मे चिन्तयानस्य पितः शान्तिर्न विद्यते ॥ ३४ ॥

'ये सारी बातें याद करके मैं दिन-रात जलता रहता हूँ । [द]ुःख और शोकसे पीड़ित होनेके कारण मुझे शान्ति नहीं [म]िलती है। पिताजी ! इन्हीं चिन्ताओंमें पड़े-पड़े मुझे कभी [श]ान्ति नहीं प्राप्त होती' ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

[त]च्छ्रुत्वा विविधं तस्य राजर्षेः परिदेवितम् ।
[प]ुनर्नवीकृतः शोको गान्धार्या जनमेजय ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजर्षि धृतराष्ट्र- [क]ा वह भाँति-भाँतिसे विलाप सुनकर गान्धारीका शोक फिरसे [न]या-सा हो गया ॥ ३५ ॥

[क]ुन्त्या द्रुपदपुत्र्याश्च सुभद्रायास्तथैव च ।
[त]ासां च वरनारीणां वधूनां कौरवस्य ह ॥ ३६ ॥

कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा कुरुराजकी उन सुन्दरी [ब]हुओंका शोक भी फिरसे उमड़ आया ॥ ३६ ॥

[प]ुत्रशोकसमाविष्टा गान्धारी त्विदमब्रवीत् ।
[श्व]शुरं बद्धनयना देवी प्राञ्जलिरुत्थिता ॥ ३७ ॥

आँखोंपर पट्टी बाँधे गान्धारी देवी श्वशुरके सामने हाथ [ज]ोड़कर खड़ी हो गयीं और पुत्रशोकसे संतप्त होकर इस [प्र]कार बोलीं ॥ ३७ ॥

[ष]ोडशेमानि वर्षाणि गतानि मुनिपुङ्गव ।
[अ]स्य राज्ञो हतान् पुत्राञ्शोचतो न शमो विभो ॥ ३८ ॥

मुनिवर ! प्रभो ! इन महाराजको अपने मरे हुए पुत्रोंके [ल]िये शोक करते आज सोलह वर्ष बीत गये; किंतु अबतक [इन्]हें शान्ति नहीं मिली ॥ ३८ ॥

[पु]त्रशोकसमाविष्टो निःश्वसन् ह्येष भूमिपः ।
[न] शेते वसतीः सर्वा धृतराष्ट्रो महामुने ॥ ३९ ॥

'महामुने ! ये भूमिपाल धृतराष्ट्र पुत्रशोकसे संतप्त हो [स]दा लम्बी साँस खींचते और आहें भरते रहते हैं । इन्हें रात- [भ]र कभी नींद नहीं आती ॥३९ ॥

[ल]ोकानन्यान् समर्थोऽसि स्रष्टुं सर्वांस्तपोबलात् ।
[कि]मु लोकान्तरगतान् राज्ञो दर्शयितुं सुतान् ॥ ४० ॥

'आप अपने तपोबलसे इन सब लोकोंकी दूसरी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, फिर लोकान्तरमें गये हुए पुत्रोंको एक बार राजासे मिला देना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ४० ॥

इयं च द्रौपदी कृष्णा हतज्ञातिसुता भृशम् ।
शोचत्यतीव सर्वासां स्नुषाणां दयिता स्नुषा ॥ ४१ ॥

'यह द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपनी समस्त पुत्र-वधुओं- में सबसे अधिक प्रिय है । इस बेचारीके भाई-बन्धु और पुत्र सभी मारे गये हैं; जिससे यह अत्यन्त शोकमग्न रहा करती है॥

तथा कृष्णस्य भगिनी सुभद्रा भद्रभाषिणी ।
सौभद्रवधसंतप्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४२ ॥

'सदा मङ्गलमय वचन बोलनेवाली श्रीकृष्णकी बहिन भाविनी सुभद्रा सर्वदा अपने पुत्र अभिमन्युके वधसे संतप्त हो निरन्तर शोकमें ही डूबी रहती है ॥ ४२ ॥

इयं च भूरिश्रवसो भार्या परमसम्मता ।
भर्तृव्यसनशोकार्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४३ ॥
यस्यास्तु श्वशुरो धीमान् बाह्लिकः स कुरूद्वहः ।
निहतः सोमदत्तश्च पित्रा सह महारणे ॥ ४४ ॥

'ये भूरिश्रवाकी परमप्यारी पत्नी बैठी है, जो पतिकी मृत्यु- के शोकसे व्याकुल हो अत्यन्त दुःखमें मग्न रहती है । इसके बुद्धिमान् श्वशुर कुरुश्रेष्ठ बाह्लिक भी मारे गये हैं । भूरिश्रवाके पिता सोमदत्त भी अपने पिताके साथ ही उस महासमरमें वीरगतिको प्राप्त हुए थे ॥ ४३—४४ ॥

श्रीमतोऽस्य महाबुद्धेः संग्रामेष्वपलायिनः ।
पुत्रस्य ते पुत्रशतं निहतं यद् रणाजिरे ॥ ४५ ॥
तस्य भार्याशतमिदं दुःखशोकसमाहतम् ।
पुनः पुनर्वर्धयानं शोकं राज्ञो ममैव च ॥ ४६ ॥
तेनारम्भेण महता मामुपास्ते महामुने ।

'आपके पुत्र, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले, परम बुद्धिमान् जो ये श्रीमान् महाराज हैं, इनके जो सौ पुत्र समराङ्गणमें मारे गये थे, उनकी ये सौ स्त्रियाँ बैठी हैं । ये मेरी बहुएँ दुःख और शोकके आघात सहन करती हुई मेरे और महाराजके भी शोकको बारंबार बढ़ा रही हैं । महामुने ! ये सब-की-सब शोकके महान् आवेगसे रोती हुई मुझे ही घेरकर बैठी रहती हैं ॥

ये च शूरा महात्मानः श्वशुरा मे महारथाः ॥ ४७ ॥
सोमदत्तप्रभृतयः का नु तेषां गतिः प्रभो ।

'प्रभो ! जो मेरे महामनस्वी श्वशुर शूरवीर महारथी सोमदत्त आदि मारे गये हैं, उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई है ?॥

तव प्रसादाद् भगवन् विशोकोऽयं महीपतिः ॥ ४८ ॥
यथा स्याद् भविता चाहं कुन्ती चेयं वधूस्तव ।

'भगवन् ! आपके प्रसादसे ये महाराज, मैं और आपकी बहू कुन्ती—ये सब-के-सब जैसे भी शोकरहित हो जायँ, ऐसी कृपा कीजिये ॥ ४८½ ॥

इत्युक्तवत्यां गान्धार्यां कुन्ती व्रतकृशानना ॥ ४९ ॥
प्रच्छन्नजातं पुत्रं तं सस्मारादित्यसंनिभम् ।

जब गान्धारीने इस प्रकार कहा, तब व्रतसे दुर्बल मुखवाली कुन्तीने गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी पुत्र कर्णका स्मरण किया ॥ ४९½ ॥

तामृषिर्वरदो व्यासो दूरश्रवणदर्शनः ॥ ५० ॥
अपश्यद् दुःखितां देवीं मातरं सव्यसाचिनः ।

दूरतककी देखने-सुनने और समझनेवाले वरदायक ऋषि व्यासने अर्जुनकी माता कुन्तीदेवीको दुःखमें डूबी हुई देखा ॥ ५०½ ॥

तामुवाच ततो व्यासो यत् ते कार्यं विवक्षितम् ॥ ५१ ॥
तद् ब्रूहि त्वं महाभागे यत् ते मनसि वर्तते ।

तब भगवान् व्यासने उनसे कहा—'महाभागे ! तुम्हें किसी कार्यके लिये यदि कुछ कहनेकी इच्छा हो, तुम्हारे मनमें यदि कोई बात उठी हो, तो उसे कहो ॥ ५१½ ॥

श्वशुराय ततः कुन्ती प्रणम्य शिरसा तदा ॥ ५२ ॥
उवाच वाक्यं सव्रीडा विवृण्वाना पुरातनम् ॥ ५३ ॥

तब कुन्तीने मस्तक झुकाकर श्वशुरको प्रणाम किया और लज्जित हो प्राचीन गुप्त रहस्यको प्रकट करते हुए कहा ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि धृतराष्ट्रादिकृतप्रार्थने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें धृतराष्ट्र आदिकी की हुई प्रार्थनाविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णके जन्मका गुप्त रहस्य बताना और व्यासजीका उन्हें सान्त्वना देना

कुन्त्युवाच

भगवञ्श्वशुरो मेऽसि दैवतस्यापि दैवतम् ।
स मे देवातिदेवस्त्वं शृणु सत्यां गिरं मम ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! आप मेरे श्वशुर हैं, मेरे देवताके भी देवता हैं; अतः मेरे लिये देवताओंसे भी बढ़कर हैं (आज मैं आपके सामने अपने जीवनका एक गुप्त रहस्य प्रकट करती हूँ)। मेरी यह सच्ची बात सुनिये ॥ १ ॥

तपस्वी कोपनो विप्रो दुर्वासा नाम मे पितुः ।
भिक्षामुपागतो भोक्तुं तमहं पर्यतोषयम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, परम क्रोधी तपस्वी ब्राह्मण दुर्वासा मेरे पिताके यहाँ भिक्षाके लिये आये थे। मैंने उन्हें अपने द्वारा की गयी सेवाओंसे संतुष्ट कर लिया ॥ २ ॥

शौचेन त्वागसस्त्यागैः शुद्धेन मनसा तथा ।
कोपस्थानेष्वपि महत्स्वकुप्यन्न कदाचन ॥ ३ ॥

मैं शौचाचारका पालन करती, अपराधसे बची रहती और शुद्ध हृदयसे उनकी आराधना करती थी। क्रोधके बड़े-से-बड़े कारण उपस्थित होनेपर भी मैंने कभी उनपर क्रोध नहीं किया ॥ ३ ॥

स प्रीतो वरदो मेऽभूत् कृतकृत्यो महामुनिः ।
अवश्यं ते गृहीतव्यमिति मां सोऽब्रवीद् वचः ॥ ४ ॥

इससे वे वरदायक महामुनि मुझपर बहुत प्रसन्न हुए। जब उनका कार्य पूरा हो गया तब वे बोले—'तुम्हें मेरा दिया हुआ वरदान अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा' ॥ ४ ॥

ततः शापभयाद् विप्रमवोचं पुनरेव तम् ।
एवमस्त्विति च प्राह पुनरेव स मे द्विजः ॥ ५ ॥

उनकी बात सुनकर मैंने शापके भयसे पुनः उन ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! ऐसा ही हो।' तब वे ब्राह्मणदेवता फिर मुझसे बोले—॥ ५ ॥

धर्मस्य जननी भद्रे भवित्री त्वं शुभानने ।
वशे स्थास्यन्ति ते देवा यांस्त्वमावाहयिष्यसि ॥ ६ ॥

'भद्रे ! तुम धर्मकी जननी होओगी। शुभानने ! तुम जिन देवताओंका आवाहन करोगी वे तुम्हारे वशमें हो जायँगे।

इत्युक्त्वान्तर्हितो विप्रस्ततोऽहं विस्मिताभवम् ।
न च सर्वास्ववस्थासु स्मृतिर्मे विप्रणश्यति ॥ ७ ॥

यों कहकर वे ब्रह्मर्षि अन्तर्धान हो गये। उस समय मैं वहाँ आश्चर्यसे चकित हो गयी। किसी भी अवस्थामें उनकी बात मुझे भूलती नहीं थी ॥ ७ ॥

अथ हर्म्यतलस्थाहं रविमुद्यन्तमीक्षती ।
संस्मृत्य तदृषेर्वाक्यं स्पृहयन्ती दिवानिशम् ॥ ८ ॥

एक दिन जब मैं अपने महलकी छतपर खड़ी थी, उगते हुए सूर्यपर मेरी दृष्टि पड़ी। महर्षि दुर्वासाके वचनोंका स्मरण करके मैं दिन-रात सूर्यदेवको चाहने लगी ॥ ८ ॥

स्थिताऽहं बालभावेन तत्र दोषमबुद्ध्यती ।
अथ देवः सहस्रांशुर्मत्समीपगतोऽभवत् ॥ ९ ॥

उस समय मैं बाल-स्वभावसे युक्त थी। सूर्यदेवके आगमनसे किस दोषकी प्राप्ति होगी, इसे मैं नहीं समझ सकी।

इधर मेरे आवाहन करते ही भगवान् सूर्य पास आकर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहं भूमौ च गगनेऽपि च।
तताप लोकानेकेन द्वितीयेनागमत् स माम् ॥ १० ॥

वे अपने दो शरीर बनाकर एकसे आकाशमें रहकर सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करने लगे और दूसरेसे पृथ्वीपर मेरे पास आ गये ॥ १० ॥

स मामुवाच वेपन्तीं वरं मत्तो वृणीष्व ह।
गम्यतामिति तं चाहं प्रणम्य शिरसावदम् ॥ ११ ॥

मैं उन्हें देखते ही काँपने लगी। वे बोले—'देवि! मुझसे कोई वर माँगो।' तब मैंने सिर झुकाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'कृपया यहाँसे चले जाइये॥'

स मामुवाच तिग्मांशुर्वृथाऽऽह्वानं न मे क्षमम्।
धक्ष्यामि त्वां च विप्रं च येन दत्तो वरस्तव ॥ १२ ॥

तब उन प्रचण्डरश्मि सूर्यने मुझसे कहा—'मेरा आवाहन व्यर्थ नहीं हो सकता। तुम कोई-न-कोई वर अवश्य माँग लो अन्यथा मैं तुमको और जिसने तुम्हें वर दिया है, उस ब्राह्मणको भी भस्म कर डालूँगा' ॥ १२ ॥

तमहं रक्षती विप्रं शापादनपकारिणम्।
पुत्रो मे त्वत्समो देव भवेदिति ततोऽब्रवम् ॥ १३ ॥
ततो मां तेजसाऽऽविश्य मोहयित्वा च भानुमान्।
उवाच भविता पुत्रस्तवेत्यभ्यगमद् दिवम् ॥ १४ ॥

तब मैं उन निरपराध ब्राह्मणको शापसे बचाती हुई बोली—'देव! मुझे आपके समान पुत्र प्राप्त हो।' इतना कहते ही सूर्यदेव मुझे मोहित करके अपने तेजके द्वारा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो गये। तत्पश्चात् बोले—'तुम्हें एक तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा।' ऐसा कहकर वे आकाशमें चले गये ॥

ततोऽहमन्तर्भवने पितुर्वृत्तान्तरक्षिणी।
गूढोत्पन्नं सुतं बालं जले कर्णमवासृजम् ॥ १५ ॥

तबसे मैं इस वृत्तान्तको पिताजीसे छिपाये रखनेके लिये महलके भीतर ही रहने लगी और जब गुप्तरूपसे बालक उत्पन्न हुआ तो उसे मैंने पानीमें बहा दिया। वही मेरा पुत्र कर्ण था॥

नूनं तस्यैव देवस्य प्रसादात् पुनरेव तु।
कन्याहमभवं विप्र यथा प्राह स मामृषिः ॥ १६ ॥

विप्रवर! उसके जन्मके बाद पुनः उन्हीं भगवान् सूर्यकी कृपासे मैं कन्याभावको प्राप्त हो गयी। जैसा कि उन महर्षिने कहा था, वैसा ही हुआ ॥ १६ ॥

स मया मूढया पुत्रो ज्ञायमानोऽप्युपेक्षितः।
तन्मां दहति विप्रर्षे यथा सुविदितं तव ॥ १७ ॥

ब्रह्मर्षे! मुझ मूढ़ नारीने अपने पुत्रको पहचान लिया तो भी उसकी उपेक्षा कर दी। यह भूल मुझे शोकाग्निसे दग्ध करती रहती है। आपको तो यह बात अच्छी तरह ज्ञात ही है ॥ १७ ॥

यदि पापमपापं वा तवैतद् विवृतं मया।
तन्मे दहन्तं भगवन् व्यपनेतुं त्वमर्हसि ॥ १८ ॥

भगवन्! मेरा यह कार्य पाप हो या पुण्य, मैंने इसे आपके सामने प्रकट कर दिया। आप मेरे उस दाहक शोकको दूर कर दें॥ १८ ॥

यच्चास्य राज्ञो विदितं हृदिस्थं भवतोऽनघ।
तं चायं लभतां काममद्यैव मुनिसत्तम ॥ १९ ॥

निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! इन महाराजके हृदयमें जो बात है, वह भी आपको विदित ही है। ये अपने मनोरथको आज ही प्राप्त करें, ऐसी कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो वेदविदां वरः।
साधु सर्वमिदं भाव्यमेवमेतद् यथाऽऽत्थ माम् ॥ २० ॥

कुन्तीके इस प्रकार कहनेपर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यासने कहा—'बेटी! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है, ऐसी ही होनहार थी ॥ २० ॥

अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि।
देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै ॥ २१ ॥

'इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है; क्योंकि उस समय तुम अभी कुमारी बालिका थी। देवतालोग अणिमा आदि ऐश्वर्योंसे सम्पन्न होते हैं; अतः दूसरेके शरीरोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये।
वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा ॥ २२ ॥

'बहुत-से ऐसे देवसमुदाय हैं, जो संकल्प, वचन, दृष्टि, स्पर्श तथा समागम—इन पाँचों प्रकारोंसे पुत्र उत्पन्न करते हैं॥

मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति।
इति कुन्ति विजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २३ ॥

'कुन्ती! देवधर्मके द्वारा मनुष्यधर्म दूषित नहीं होता, इस बातको जान लो। अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ २३ ॥

सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि।
सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ॥ २४ ॥

'बलवानोंका सब कुछ ठीक या लाभदायक है। बलवानोंका सारा कार्य पवित्र है। बलवानोंका सब कुछ धर्म है और बलवानोंके लिये सारी वस्तुएं अपनी हैं' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि व्यासकुन्तीसंवादे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें व्यास और कुन्तीका संवादविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा धृतराष्ट्र आदिके पूर्वजन्मका परिचय तथा उनके कहनेसे सब लोगोंका गङ्गा-तटपर जाना

व्यास उवाच

भद्रे द्रक्ष्यसि गान्धारि पुत्रान् भ्रातॄन् सखींस्तथा।
वधूश्च पतिभिः सार्धं निशि सुप्तोत्थिता इव ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—भद्रे गान्धारि ! आज रातमें तुम अपने पुत्रों, भाइयों और उनके मित्रोंको देखोगी । तुम्हारी वधुएँ तुम्हें पतियोंके साथ-साथ सोकर उठी हुई-सी दिखायी देंगी ॥ १ ॥

कर्णं द्रक्ष्यति कुन्ती च सौभद्रं चापि यादवी।
द्रौपदी पञ्च पुत्रांश्च पितॄन् भ्रातॄंस्तथैव च ॥ २ ॥

कुन्ती कर्णको, सुभद्रा अभिमन्युको तथा द्रौपदी पाँचों पुत्रोंको, पिताको और भाइयोंको भी देखेगी ॥ २ ॥

पूर्वमेवैष हृदये व्यवसायोऽभवन्मम।
यदास्मि चोदितो राज्ञा भवत्या पृथयैव च ॥ ३ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने, तुमने और कुन्तीने भी मुझे इसके लिये प्रेरित किया था, उससे पहले ही मेरे हृदयमें यह (मृत व्यक्तियोंके दर्शन करानेका) निश्चय हो गया था ॥ ३ ॥

न ते शोच्या महात्मानः सर्व एव नरर्षभाः।
क्षत्रधर्मपराः सन्तस्तथा हि निधनं गताः ॥ ४ ॥

तुम्हें क्षत्रिय-धर्मपरायण होकर तदनुसार ही वीरगतिको प्राप्त हुए उन समस्त महामनस्वी, नरश्रेष्ठ वीरोंके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

भवितव्यमवश्यं तत् सुरकार्यमनिन्दिते।
अवतेरुस्ततः सर्वे देवभागा महीतलम् ॥ ५ ॥

सती-साध्वी देवि ! यह देवताओंका कार्य था और इसी रूपमें अवश्य होनेवाला था; इसलिये सभी देवताओंके अंश इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे ॥ ५ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव पिशाचा गुह्यराक्षसाः।
तथा पुण्यजनाश्चैव सिद्धा देवर्षयोऽपि च ॥ ६ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव तथा देवर्षयोऽमलाः।
त एते निधनं प्राप्ताः कुरुक्षेत्रे रणाजिरे ॥ ७ ॥

गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच, गुह्यक, राक्षस, पुण्यजन, सिद्ध, देवर्षि, देवता, दानव तथा निर्मल देवर्षिगण—ये सभी यहाँ अवतार लेकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें वधको प्राप्त हुए हैं॥

गन्धर्वराजो यो धीमान् धृतराष्ट्र इति श्रुतः।
स एव मानुषे लोके धृतराष्ट्रः पतिस्तव ॥ ८ ॥

गन्धर्वोंके लोकमें जो बुद्धिमान् गन्धर्वराज धृतराष्ट्रके नामसे विख्यात हैं, वे ही मनुष्यलोकमें तुम्हारे पति धृतराष्ट्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ८ ॥

पाण्डुं मरुद्गणाद् विद्धि विशिष्टतममच्युतम्।
धर्मस्यांशोऽभवत् क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः॥ ९ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले राजा पाण्डुको तुम मरुद्गणोंसे भी श्रेष्ठतम समझो । विदुर धर्मके अंश थे राजा युधिष्ठिर भी धर्मके ही अंश हैं ॥ ९ ॥

कलिं दुर्योधनं विद्धि शकुनिं द्वापरं तथा।
दुःशासनादीन् विद्धि त्वं राक्षसाञ्शुभदर्शने ॥ १० ॥

दुर्योधनको कलियुग समझो और शकुनिको द्वापर शुभदर्शने ! अपने दुःशासन आदि पुत्रोंको राक्षस जानो ॥

मरुद्गणाद् भीमसेनं बलवन्तमरिंदमम्।
विद्धि त्वं तु नरमृषिमिमं पार्थं धनंजयम् ॥ ११ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले बलवान् भीमसेनको मरुद्गणों-के अंशसे उत्पन्न मानो । इन कुन्तीपुत्र धनंजयको तुम पुरातन ऋषि 'नर' समझो ॥ ११ ॥

नारायणं हृषीकेशमश्विनौ यमजौ तथा।
यः स वैरार्थमुद्भूतः संघर्षजननस्तथा।
तं कर्णं विद्धि कल्याणि भास्करं शुभदर्शने ॥ १२ ॥
यश्च पाण्डवदायादो हतः षड्भिर्महारथैः।
स सोम इह सौभद्रो योगादेवाभवद् द्विधा ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण नारायण ऋषिके अवतार हैं । नकुल और सहदेव दोनोंको अश्विनीकुमार समझो । कल्याणि ! जो केवल वैर बढ़ानेके लिये उत्पन्न हुआ था और कौरव-पाण्डवोंमें संघर्ष पैदा करानेवाला था, उस कर्णको सूर्य समझो। जिस पाण्डवपुत्रको छः महारथियोंने मिलकर मारा था, उस सुभद्राकुमार अभिमन्युके रूपमें साक्षात् चन्द्रमा ही इस भूतलपर अवतीर्ण हुए थे । वे अपने योगबलसे दो रूपोंमें प्रकट हो गये थे (एक रूपसे चन्द्रलोकमें रहते थे और दूसरेसे भूतलपर) ॥ १२-१३ ॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमादित्यं तपतां वरम्।
लोकांश्च तापयानं वै विद्धि कर्णं च शोभने ॥ १४ ॥

शोभने ! तपनेवालोंमें श्रेष्ठ सूर्यदेव अपने शरीरके दो भाग करके एकसे सम्पूर्ण लोकोंको ताप देते रहे और दूसरे भागसे कर्णके रूपमें अवतीर्ण हुए । इस तरह कर्णको तुम सूर्यरूप जानो ॥ १४ ॥

द्रौपद्या सह सम्भूतं धृष्टद्युम्नं च पावकात्।
अग्नेर्भागं शुभं विद्धि राक्षसं तु शिखण्डिनम् ॥ १५ ॥

तुम्हें यह भी ज्ञात होना चाहिये कि जो द्रौपदीके साथ अग्निसे प्रकट हुआ था, वह धृष्टद्युम्न अग्निका शुभ अंश था और शिखण्डीके रूपमें एक राक्षसने अवतार लिया था ॥ १५ ॥

द्रोणं बृहस्पतेर्भागं विद्धि द्रौणिं च रुद्रजम्।
भीष्मं च विद्धि गाङ्गेयं वसुं मानुषतां गतम् ॥ १६ ॥

द्रोणाचार्यको बृहस्पतिका और अश्वत्थामाको रुद्रका अंश जानो। गङ्गापुत्र भीष्मको मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ एक वसु समझो ॥ १६ ॥

एवमेते महाप्रज्ञे देवा मानुष्यमेत्य हि।
ततः पुनर्गताः स्वर्गं कृते कर्मणि शोभने ॥ १७ ॥

महाप्रज्ञे ! शोभने ! इस प्रकार ये देवता कार्यवश मानव-शरीरमें जन्म ले अपना काम पूरा कर लेनेपर पुनः स्वर्गलोकको चले गये हैं ॥ १७ ॥

यच्च वै हृदि सर्वेषां दुःखमेतच्चिरं स्थितम्।
तदद्य व्यपनेष्यामि परलोककृताद् भयात् ॥ १८ ॥

तुम सब लोगोंके हृदयमें इनके लिये पारलौकिक भयके कारण जो चिरकालसे दुःख भरा हुआ है, उसे आज दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति।
तत्र द्रक्ष्यथ तान् सर्वान् ये हतास्तत्र संयुगे ॥ १९ ॥

इस समय तुम सब लोग गङ्गाजीके तटपर चलो। वहीं सबको समराङ्गणमें मारे गये अपने सभी सम्बन्धियोंके दर्शन होंगे ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति व्यासस्य वचनं श्रुत्वा सर्वो जनस्तदा।
महता सिंहनादेन गङ्गामभिमुखो ययौ ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महर्षि व्यासका यह वचन सुनकर सब लोग महान् सिंहनाद करते हुए प्रसन्नतापूर्वक गङ्गातटकी ओर चल दिये ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रश्च सामात्यः प्रययौ सह पाण्डवैः।
सहितो मुनिशार्दूलैर्गन्धर्वैश्च समागतैः ॥ २१ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियों, पाण्डवों, मुनिवरों तथा वहाँ आये हुए गन्धर्वोंके साथ गङ्गाजीके समीप गये ॥ २१ ॥

ततो गङ्गां समासाद्य क्रमेण स जनार्णवः।
निवासमकरोत् सर्वो यथाप्रीति यथासुखम् ॥ २२ ॥

क्रमशः वह सारा जनसमुद्र गङ्गातटपर जा पहुँचा और सब लोग अपनी-अपनी रुचि तथा सुख-सुविधाके अनुसार जहाँ-तहाँ ठहर गये ॥ २२ ॥

राजा च पाण्डवैः सार्धमिष्टे देशे सहानुगः।
निवासमकरोद् धीमान् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २३ ॥

बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र स्त्रियों और वृद्धोंको आगे करके पाण्डवों तथा सेवकोंके साथ वहाँ अभीष्ट स्थानमें ठहरे ॥ २३ ॥

जगाम तदहश्चापि तेषां वर्षशतं यथा।
निशां प्रतीक्षमाणानां दिदृक्षूणां मृतान् नृपान् ॥ २४ ॥

मृत राजाओंको देखनेकी इच्छासे सभी लोग वहाँ रात होनेकी प्रतीक्षा करते रहे; अतः वह दिन उनके लिये सौ वर्षोंके समान जान पड़ा तो भी वह धीरे-धीरे बीत ही गया ॥ २४ ॥

अथ पुण्यं गिरिवरमस्तमभ्यगमद् रविः।
ततः कृताभिषेकास्ते नैशं कर्म समाचरन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सूर्यदेव परम पवित्र अस्ताचलको जा पहुँचे। उस समय सब लोग स्नान करके सायंकालोचित संध्यावन्दन आदि कर्म करने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि गङ्गातीरगमने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें सबका गङ्गातीरपर गमनविषयक एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीके प्रभावसे कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये कौरव-पाण्डववीरोंका गङ्गाजीके जलसे प्रकट होना

वैशम्पायन उवाच

ततो निशायां प्राप्तायां कृतसायाह्निकक्रियाः।
व्यासमभ्यगमन् सर्वे ये तत्रासन् समागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब रात होनेको आयी, तब जो लोग वहाँ आये थे, वे सब सायंकालोचित नित्य-नियम पूर्ण करके भगवान् व्यासके समीप गये ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रस्तु धर्मात्मा पाण्डवैः सहितस्तदा।
शुचिरेकमना सार्धमृषिभिस्तैरुपाविशत् ॥ २ ॥
गान्धार्या सह नार्यस्तु सहिताः समुपाविशन्।
पौरजानपदश्चापि जनः सर्वो यथावयः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंसहित धर्मात्मा धृतराष्ट्र पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उन ऋषियोंके साथ व्यासजीके निकट जा बैठे। कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ एक साथ हो गान्धारीके समीप बैठ

गयीं तथा नगर और जनपदके निवासी भी अवस्थाके अनुसार यथास्थान विराजमान हो गये ॥ २-३ ॥

ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् ।
अवगाह्याजुहावाथ सर्वान् लोकान् महामुनिः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी महामुनि व्यासजीने भागीरथीके पवित्र जलमें प्रवेश करके पाण्डव तथा कौरवपक्षके सब लोगोंका आवाहन किया ॥ ४ ॥

पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः ।
राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ॥ ५ ॥

पाण्डवों तथा कौरवोंके पक्षमें जो नाना देशोंके निवासी महाभाग नरेश योद्धा बनकर आये थे, उन सबका व्यासजीने आह्वान किया ॥ ५ ॥

ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्ते जनमेजय ।
प्रादुरासीद् यथापूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर जलके भीतरसे कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका पहले-जैसा ही भयङ्कर शब्द प्रकट होने लगा ॥ ६ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
ससैन्याः सलिलात् तस्मात् समुत्तस्थुः सहस्रशः ॥

फिर तो भीष्म-द्रोण आदि समस्त राजा अपनी सेनाओंके साथ सहस्रोंकी संख्यामें उस जलसे बाहर निकलने लगे ॥ ७ ॥

विराटद्रुपदौ चैव सहपुत्रौ ससैनिकौ ।
द्रौपदेयाश्च सौभद्रो राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ८ ॥

पुत्रों और सैनिकोंसहित विराट और द्रुपद पानीसे बाहर आये । द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु तथा राक्षस घटोत्कच—ये सभी जलसे प्रकट हो गये ॥ ८ ॥

कर्णदुर्योधनौ चैव शकुनिश्च महारथः ।
दुःशासनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ ९ ॥
जारासंधिर्भगदत्तो जलसंधश्च वीर्यवान् ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनश्च सानुजः ॥ १० ॥
लक्ष्मणो राजपुत्रश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
शिखण्डिपुत्राः सर्वे च धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ११ ॥
अचलो वृषकश्चैव राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
वाह्लिकः सोमदत्तश्च चेकितानश्च पार्थिवः ॥ १२ ॥
एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद् ये न कीर्तिताः ।
सर्वे भासुरदेहास्ते समुत्तस्थुर्जलात्ततः ॥ १३ ॥

कर्ण, दुर्योधन, महारथी, शकुनि, धृतराष्ट्रके पुत्र महाबली दुःशासन आदि, जरासन्धकुमार सहदेव, भगदत्त, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, शल, शल्य, भाइयोंसहित वृषसेन, राजकुमार लक्ष्मण, धृष्टद्युम्नके पुत्र, शिखण्डीके सभी पुत्र, भाइयोंसहित धृष्टकेतु, अचल, वृषक, राक्षस अलायुध, राजा वाह्लिक, सोमदत्त और चेकितान—ये तथा दूसरे बहुत-से क्षत्रियवीर, जो संख्यामें अधिक होनेके कारण नाम लेकर नहीं बताये गये हैं, सभी देदीप्यमान शरीर धारण करके उस जलसे प्रकट हुए ॥ ९-१३॥

यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम् ।
तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः ॥ १४ ॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः ।
निर्वैरा निरहंकारा विगतक्रोधमत्सराः ॥ १५ ॥

जिस वीरका जैसा वेष, जैसी ध्वजा और जैसा वाहन था, वह उसीसे युक्त दिखायी दिया । वहाँ प्रकट हुए सभी नरेश दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे । सबके कानोंमें चमकीले कुण्डल शोभा पाते थे । उस समय वे वैर, अहंकार, क्रोध और मात्सर्य छोड़ चुके थे ॥ १४-१५ ॥

गन्धर्वैरुपगीयन्तः स्तूयमानाश्च वन्दिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा वृताश्चाप्सरसां गणैः ॥ १६ ॥

गन्धर्व उनके गुण गाते और बन्दीजन स्तुति करते थे । उन सबने दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे और सभी अप्सराओंसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य च तदा दिव्यं चक्षुर्नराधिप ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रः प्रीतः प्रादात् तपोबलात्॥ १७ ॥

नरेश्वर ! उस समय सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यासने प्रसन्न होकर अपने तपोबलसे धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र प्रदान किये ॥ १७ ॥

व्यासजीके द्वारा कौरव-पाण्डव-पक्षके मरे हुए सम्बन्धियोंका सेनासहित परलोकसे आवाहन

दिव्यज्ञानबलोपेता गान्धारी च यशस्विनी ।
ददर्श पुत्रांस्तान् सर्वान् ये चान्येऽपि मृधे हताः ॥ १८ ॥

यशस्विनी गान्धारी भी दिव्य ज्ञानबलसे सम्पन्न हो गयी थीं। उन दोनोंने युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों तथा अन्य सब सम्बन्धियोंको देखा ॥ १८ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च सुमहल्लोमहर्षणम् ।
विस्मितः स जनः सर्वो ददर्शानिमिषेक्षणः ॥ १९ ॥

वहाँ आये हुए सब लोग आश्चर्यचकित हो एकटक दृष्टिसे उस अद्भुत, अचिन्त्य एवं अत्यन्त रोमाञ्चकारी दृश्यको देख रहे थे ॥ १९ ॥

तदुत्सवमहोदग्रं हृष्टनारीनराकुलम् ।
आश्चर्यभूतं ददृशे चित्रं पटगतं यथा ॥ २० ॥

वह हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ महान् आश्चर्यजनक उत्सव कपड़ेपर अङ्कित किये गये चित्रकी भाँति दिखायी देता था ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रस्तु तान् सर्वान् पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ।
मुमुदे भरतश्रेष्ठ प्रसादात् तस्य वै मुनेः ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्र मुनिवर व्यासकी कृपासे मिले हुए दिव्य नेत्रोंद्वारा अपने समस्त पुत्रों और सम्बन्धियोंको देखते हुए आनन्दमग्न हो गये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि भीष्मादिदर्शने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें भीष्म आदिका दर्शनविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

परलोकसे आये हुए व्यक्तियोंका परस्पर रागद्वेषसे रहित होकर मिलना और रात बीतनेपर अदृश्य हो जाना, व्यासजीकी आज्ञासे विधवा क्षत्राणियोंका गङ्गाजीमें गोता लगाकर अपने-अपने पतिके लोकको प्राप्त करना तथा इस पर्वके श्रवणकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पुरुषश्रेष्ठाः समाजग्मुः परस्परम् ।
विगतक्रोधमात्सर्याः सर्वे विगतकल्मषाः ॥ १ ॥
विधिं परममास्थाय ब्रह्मर्षिविहितं शुभम् ।
संहृष्टमनसः सर्वे देवलोक इवामराः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोध और मात्सर्यसे रहित तथा पापशून्य हुए वे सभी श्रेष्ठ पुरुष ब्रह्मर्षियोंकी बनायी हुई उत्तम प्रणालीका आश्रय ले एक-दूसरेसे प्रेमपूर्वक मिले। उस समय देवलोकमें रहनेवाले देवताओंकी भाँति उन सबके मनमें हर्षोल्लास छा रहा था ॥ १-२ ॥

पुत्रः पित्रा च मात्रा च भार्याश्च पतिभिः सह ।
भ्रात्रा भ्राता सखा चैव सख्या राजन् समागताः ॥ ३ ॥

राजन् ! पुत्र पिता-माताके साथ, स्त्री पतिके साथ, भाई भाईके साथ और मित्र मित्रके साथ मिले ॥ ३ ॥

पाण्डवास्तु महेष्वासं कर्णं सौभद्रमेव च ।
सम्प्रहर्षात् समाजग्मुर्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ४ ॥

पाण्डव महाधनुर्धर कर्ण, सुभद्राकुमार अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबके साथ अत्यन्त हर्षपूर्वक मिले ॥

ततस्ते प्रीयमाणा वै कर्णेन सह पाण्डवाः ।
समेत्य पृथिवीपाल सौहृद्ये च स्थिता भवन् ॥ ५ ॥

भूपाल ! तत्पश्चात् सब पाण्डवोंने कर्णसे प्रसन्नतापूर्वक मिलकर उनके साथ सौहार्दपूर्ण बर्ताव किया ॥ ५ ॥

परस्परं समागम्य योधास्ते भरतर्षभ ।
मुनेः प्रसादात् ते ह्येवं क्षत्रिया नष्टमन्यवः ॥ ६ ॥
असौहृदं परित्यज्य सौहृदे पर्यवस्थिताः ।

भरतभूषण ! वे समस्त योद्धा एक-दूसरेसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। इस प्रकार मुनिकी कृपासे वे सभी क्षत्रिय अपने क्रोधको भुलाकर शत्रुभाव छोड़कर परस्पर सौहार्द स्थापित करके मिले ॥ ६½ ॥

एवं समागताः सर्वे गुरुभिर्बान्धवैः सह ॥ ७ ॥
पुत्रैश्च पुरुषव्याघ्राः कुरवोऽन्ये च पार्थिवाः ।

इस तरह वे सब पुरुषसिंह कौरव तथा अन्य नरेश गुरुजनों, बान्धवों और पुत्रोंके साथ मिले ॥ ७½ ॥

तां रात्रिमखिलामेवं विहृत्य प्रीतमानसाः ॥ ८ ॥
मेनिरे परितोषेण नृपाः स्वर्गसदो यथा ।

सारी रात एक-दूसरेके साथ घूमने-फिरनेके कारण उन सबके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। स्वर्गवासियोंके समान ही उन्हें वहाँ परम संतोषका अनुभव हुआ ॥ ८½ ॥

नात्र शोको भयं त्रासो नारतिर्नायशोऽभवत् ॥ ९ ॥
परस्परं समागम्य योधानां भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! एक-दूसरेसे मिलकर उन योद्धाओंके मनमें शोक, भय, त्रास, उद्वेग और अपयशको स्थान नहीं मिला ॥

समागतास्ताः पितृभिर्भ्रातृभिः पतिभिः सुतैः ॥ १० ॥
मुदं परमिकां प्राप्य नार्यो दुःखमथात्यजन् ।

वहाँ आयी हुई स्त्रियाँ अपने पिताओं, भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुईं। उनका सारा दुःख दूर हो गया ॥ १०½ ॥

एकां रात्रिं विहृत्यैव ते वीरास्ताश्च योषितः ॥ ११ ॥
आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम् ।

वे वीर और उनकी वे तरुणी स्त्रियाँ एक रात साथ-साथ विहार करके अन्तमें एक-दूसरेकी अनुमति ले परस्पर गले मिलकर जैसे आये थे, उसी प्रकार चले जानेको उद्यत हुए ॥

ततो विसर्जयामास लोकांस्तान् मुनिपुङ्गवः ॥ १२ ॥
क्षणेनान्तर्हिताश्चैव प्रेक्षतामेव तेऽभवन् ।
अवगाह्य महात्मानः पुण्यां भागीरथीं नदीम् ॥ १३ ॥
सरथाः सध्वजाश्चैव स्वानि वेश्मानि भेजिरे ।

तब मुनिवर व्यासजीने उन सब लोगोंका विसर्जन कर दिया और वे महामना नरेश एक ही क्षणमें सबके देखते-देखते पुण्यसलिला भागीरथीमें गोता लगाकर अदृश्य हो गये। रथों और ध्वजाओंसहित अपने-अपने लोकोंमें चले गये ॥

देवलोकं ययुः केचित् केचिद् ब्रह्मसदस्तथा ॥ १४ ॥
केचिच्च वारुणं लोकं केचित् कौबेरमाप्नुवन् ।
ततो वैवस्वतं लोकं केचिच्चैवाप्नुवन्नृपाः ॥ १५ ॥

कोई देवलोकमें गये, कोई ब्रह्मलोकमें, कुछ वरुणलोकमें पधारे और कुछ कुबेरके लोकमें। कितने ही नरेश भगवान् सूर्यके लोकमें चले गये ॥ १४-१५ ॥

राक्षसानां पिशाचानां केचिच्चाप्युत्तरान् कुरून् ।
विचित्रगतयः सर्वे यानवाप्यामरैः सह ॥ १६ ॥
आजग्मुस्ते महात्मानः सवाहाः सपदानुगाः ।

कितने ही राक्षसों और पिशाचोंके लोकोंमें चले गये और कितने ही उत्तरकुरुमें जा पहुँचे। इस प्रकार सबको विचित्र-विचित्र गतियोंकी प्राप्ति हुई थी और वे महामना वहींसे देवताओंके साथ अपने-अपने वाहनों और अनुचरोंसहित आये थे ॥ १६½ ॥

गतेषु तेषु सर्वेषु सलिलस्थो महामुनिः ॥ १७ ॥
धर्मशीलो महातेजाः कुरूणां हितकृत् तथा ।
ततः प्रोवाच ताः सर्वाः क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ १८ ॥

या याः पतिकृतान् लोका-
निच्छन्ति परमस्त्रियः ।
ता जाह्नवीजलं क्षिप्र-
मवगाहन्त्वतन्द्रिताः ॥ १९ ॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा श्रद्दधाना वराङ्गनाः ।
श्वशुरं समनुज्ञाप्य विविशुर्जाह्नवीजलम् ॥ २० ॥

उन सबके अदृश्य हो जानेपर कौरवोंके हितकारी महातेजस्वी धर्मशील महामुनि व्यासजीने जलमें खड़े-खड़े उन सब विधवा क्षत्राणियोंसे कहा—'देवियो ! तुम लोगोंमेंसे जो जो सती-साध्वी स्त्रियाँ अपने-अपने पतिके लोकको जाना चाहती हों, वे आलस्य त्यागकर तुरंत गङ्गाजीके जलमें गोता लगावें।' उनकी बात सुनकर उनमें श्रद्धा रखनेवाली वे सती स्त्रियाँ अपने श्वशुर धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले गङ्गाजीके जलमें समा गयीं ॥ १७-२० ॥

विमुक्ता मानुषैर्देहैस्ततस्ता भर्तृभिः सह ।
समाजग्मुस्तदा साध्व्यः सर्वा एव विशाम्पते ॥ २१ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ वे सभी साध्वी स्त्रियाँ मनुष्य-शरीरसे छुटकारा पाकर अपने-अपने पतिके साथ जा मिलीं ॥ २१ ॥

एवं क्रमेण सर्वास्ताः शीलवत्यः पतिव्रताः ।
प्रविश्य क्षत्रिया मुक्ता जग्मुर्भर्तृसलोकताम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार क्रमशः वे सभी शीलवती पतिव्रता क्षत्राणियाँ इस शरीरसे मुक्त हो पतिलोकको चली गयीं ॥ २२ ॥

दिव्यरूपसमायुक्ता दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा यथाऽऽसां पतयस्तथा ॥ २३ ॥

जैसे उनके पति थे, उसी प्रकार वे भी दिव्यरूपसे सम्पन्न हो गयीं। दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ाने लगे तथा उन्होंने दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण कर लिये ॥

ताः शीलगुणसम्पन्ना विमानस्था गतक्लमाः ।
सर्वाः सर्वगुणोपेताः स्वस्थानं प्रतिपेदिरे ॥ २४ ॥

शील और सद्गुणसे सम्पन्न हुई वे सभी क्षत्रियबालाएँ समस्त सद्गुणोंसे अलंकृत हो विमानपर बैठकर अपने-अपने योग्य स्थानको चली गयीं। उनका सारा कष्ट दूर हो गया ॥

यस्य यस्य तु यः कामस्तस्मिन् काले बभूव ह ।
तं तं विसृष्टवान् व्यासो वरदो धर्मवत्सलः ॥ २५ ॥

उस समय जिसके-जिसके मनमें जो-जो कामना उत्पन्न हुई, धर्मवत्सल वरदायक भगवान् व्यासने वह सब पूर्ण की ॥

तच्छ्रुत्वा नरदेवानां पुनरागमनं नराः ।
जहृषुर्मुदिताश्चासन् नानादेशगता अपि ॥ २६ ॥

संग्राममें मरे हुए राजाओंके पुनरागमनका वृत्तान्त सुनकर भिन्न-भिन्न देशके मनुष्योंको बड़ा आश्चर्य और आनन्द हुआ ॥ २६ ॥

प्रियैः समागमं तेषां यः सम्यक् शृणुयान्नरः ।
प्रियाणि लभते नित्यमिह च प्रेत्य चैव सः ॥ २७ ॥

जो मनुष्य कौरव-पाण्डवोंके प्रियजन समागमका यह

ृत्तान्त भलीभाँति सुनेगा, उसे इहलोक और परलोकमें भी ्रेय वस्तुकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

ृष्टबान्धवसंयोगमनायासमनामयम् ।
श्चैतच्छ्रावयेद् विद्वान् विदुषो धर्मवित्तमः ॥ २८ ॥
 यशः प्राप्नुयाल्लोके परत्र च शुभां गतिम् ।

इतना ही नहीं, उसे अनायास ही इष्ट बन्धुओंसे मिलन ोगा तथा कोई दुःख-शोक नहीं सतावेगा । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ ो विद्वान् विद्वानोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, वह इस लोकमें श और परलोकमें शुभ गति प्राप्त करेगा ॥ २८½ ॥

स्वाध्याययुक्ता मनुजास्तपोयुक्ताश्च भारत ॥ २९ ॥
साध्वाचारा दमोपेता दाननिर्धूतकल्मषाः ।
ऋजवः शुचयः शान्ता हिंसानृतविवर्जिताः ॥ ३० ॥
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च धृतिमन्तश्च मानवाः ।
श्रुत्वाऽऽश्चर्यमिदं पर्व ह्यवाप्स्यन्ति परां गतिम् ॥ ३१ ॥

भारत ! जो मनुष्य स्वाध्यायपरायण, तपस्वी, सदाचारी, जितेन्द्रिय, दानके द्वारा पापरहित, सरल, शुद्ध, शान्त, हिंसा और असत्यसे दूर, आस्तिक, श्रद्धालु और धैर्यवान् हैं, वे इस आश्चर्यजनक पर्वको सुनकर उत्तम गति प्राप्त करेंगे ।२९-३१।

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि स्त्रीणां स्वस्वपतिलोकगमने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें स्त्रियोंका अपने-अपने पतिके लोकमें गमनविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

मरे हुए पुरुषोंका अपने पूर्व शरीरसे ही यहाँ पुनः दर्शन देना कैसे सम्भव है, जनमेजयकी इस शङ्काका वैशम्पायनद्वारा समाधान

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा नृपो विद्वान् हृष्टोऽभूज्जनमेजयः
पितामहानां सर्वेषां गमनागमनं तदा ॥ १ ॥

सौति कहते हैं—अपने समस्त पितामहोंके इस प्रकार परलोकसे आने और जानेका वृत्तान्त सुनकर विद्वान् राजा जनमेजय बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

अब्रवीच्च मुदा युक्तः पुनरागमनं प्रति ।
कथं नु त्यक्तदेहानां पुनस्तद्रूपदर्शनम् ॥ २ ॥

प्रसन्न होकर वे पुनरागमनके विषयमें संदेह करते हुए बोले—'भला, जिन्होंने अपने शरीरका परित्याग कर दिया है, उन पुरुषोंका उसी रूपमें दर्शन कैसे हो सकता है ?' ॥

इत्युक्तः स द्विजश्रेष्ठो व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठस्तं नृपं जनमेजयम् ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्यासशिष्य विप्रवर वैशम्पायनने उन राजा जनमेजयसे कहा ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।
कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—नरेश्वर ! यह सिद्धान्त है कि समस्त कर्मोंका फल भोग किये बिना उनका नाश नहीं होता । जीवात्माको जो शरीर और नाना प्रकारकी आकृतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब कर्मजनित ही हैं ॥ ४ ॥

महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात् ।
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥ ५ ॥

भूतनाथ भगवान्के आश्रयसे पाँचों महाभूत हमारे शरीरोंकी अपेक्षा नित्य हैं । उन नित्य महाभूतोंका अनित्य शरीरोंके साथ संसार-दशामें नित्य संयोग है । अनित्य शरीरोंका नाश होनेपर इन नित्य महाभूतोंका उनसे वियोगमात्र होता है, विनाश नहीं ॥ ५ ॥

अनायासकृतं कर्म सत्यः श्रेष्ठः फलागमः ।
आत्मा चैभिः समायुक्तः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६ ॥

कर्तृत्व-अभिमानके बिना अनायास किये जानेवाले कर्मका जो फल प्राप्त होता है, वह सत्य और श्रेष्ठ है अर्थात् मुक्तिदायक है । कर्तृत्व-अभिमान और परिश्रमपूर्वक किये हुए कर्मोंसे बँधा हुआ जीवात्मा सुख-दुःखका उपभोग करता है ॥

अविनाश्यस्तथायुक्तः क्षेत्रज्ञ इति निश्चयः ।
भूतानामात्मको भावो यथासौ न वियुज्यते ॥ ७ ॥

क्षेत्रज्ञ इस प्रकार कर्मोंसे संयुक्त होकर भी वास्तवमें अविनाशी ही है, यह निश्चित है । किंतु भूतोंके साथ तादात्म्यभाव स्वीकार कर लेनेके कारण वह ज्ञानके बिना उनसे अलग नहीं हो पाता ॥ ७ ॥

यावन्न क्षीयते कर्म तावत् तस्य स्वरूपता ।
क्षीणकर्मा नरो लोके रूपान्यत्वं नियच्छति ॥ ८ ॥

जबतक शरीरके प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता तबतक उस जीवकी उस शरीरसे एकरूपता रहती है । जब कर्मोंका

क्षय हो जाता है, तब वह दूसरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

नानाभावास्तथैकत्वं शरीरं प्राप्य संहताः ।
भवन्ति ते तथा नित्याः पृथग्भावं विजानताम् ॥ ९ ॥

भूत-इन्द्रिय आदि नाना प्रकारके पदार्थ शरीरको पाकर एकत्वको प्राप्त हो गये हैं। जो देह आदिको आत्मासे पृथक् जानते हैं, उन योगियोंके लिये वे सारे पदार्थ नित्य आत्म-स्वरूप हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अश्वमेधे श्रुतिश्चेयमश्वसंज्ञपनं प्रति ।
लोकान्तरगता नित्यं प्राणा नित्यं शरीरिणाम् ॥ १० ॥

अश्वमेध यज्ञमें जब अश्वका वध किया जाता है, उस समय जो 'सूर्यं ते चक्षुः वातं प्राणः (तुम्हारे नेत्र सूर्यको और प्राण वायुको प्राप्त हों)' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनसे यह सूचित होता है कि देहधारियोंके प्राण—इन्द्रियाँ निश्चितरूपसे सर्वदा लोकान्तरमें स्थित होती हैं। (अतः परलोकमें गये हुए जीवोंका वैसे ही रूपसे इस लोकमें पुनः प्रकट हो जाना असम्भव नहीं है)॥१० ॥

अहं हितं वदाम्येतत् प्रियं चेत् तव पार्थिव ।
देवयाना हि पन्थानः श्रुतास्ते यज्ञसंस्तरे ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम्हें प्रिय लगे तो मैं तुम्हारे हितकी बात बताता हूँ। यज्ञ आरम्भ करते समय तुमने देवयान-मार्गोंकी बात सुनी होगी। वे ही तुम्हारे योग्य हैं ॥ ११ ॥

आहूतो यत्र यज्ञस्ते तत्र देवा हितास्तव ।
यदा समन्विता देवाः पशूनां गमनेश्वराः ॥ १२ ॥

जब तुमने यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया, तभीसे देवतालोग तुम्हारे हितैषी सुहृद् हो गये। जब इस प्रकार देवता मित्रभावसे युक्त होते हैं, तब वे जीवोंको लोकान्तरकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होनेके कारण उनपर अनुग्रह करके उन्हें अभीष्ट लोकोंकी प्राप्ति करा देते हैं ॥ १२ ॥

गतिमन्तश्च तेनेष्ट्वा नान्ये नित्या भवन्त्युत ।
नित्येऽस्मिन् पञ्चके वर्गे नित्ये चात्मनि पूरुषः ॥ १३ ॥
अस्य नानासमायोगं यः पश्यति वृथामतिः ।
वियोगे शोचतेऽत्यर्थं स बाल इति मे मतिः ॥ १४ ॥

इसलिये नित्य जीव यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आराधना करके लोकान्तरमें जानेकी शक्ति पाते हैं। जो यज्ञ नहीं करते वे वैसे नहीं हो पाते। यह पाञ्चभौतिक वर्ग नित्य है औ आत्मा भी नित्य है। ऐसी दशामें जो मनुष्य उस आत्माव अनेक प्रकारके देहोंसे सम्बन्ध तथा उनके जन्म और नाशर आत्माका भी जन्म और नाश समझता है, उसकी बुि व्यर्थ है। इसी प्रकार किसीसे किसीका वियोग हो जानेप जो अत्यन्त शोक करता है, वह भी मेरे मतमें बाल ही है ॥ १३-१४ ॥

वियोगे दोषदर्शी यः संयोगं स विसर्जयेत् ।
असङ्गे सङ्गमो नास्ति दुःखं भुवि वियोगजम् ॥ १५ ॥

जो वियोगमें दोष देखता है, वह संयोगका त्याग क दे, क्योंकि असंग आत्मामें संगम या संयोग नहीं है। जे उसमें संयोगका आरोप करता है, उसीको इस भूतलप वियोगका दुःख सहना पड़ता है ॥ १५ ॥

परापरज्ञस्त्वपरो नाभिमानादुदीरितः ।
अपरज्ञः परां बुद्धिं ज्ञात्वा मोहाद् विमुच्यते ॥ १६

दूसरा जो अपने-परायेके ज्ञानमें ही उलझा रहता है, व अभिमानसे ऊपर नहीं उठ पाता। जो किसीके लिये पराय नहीं है, उस परमात्माको जाननेवाला पुरुष उत्तम बुद्धिव पाकर मोहसे मुक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नाहं तं वेद्मि नासौ मां न च मेऽस्ति विरागता ॥ १७

वह मुक्त पुरुष अव्यक्तसे ही प्रकट हुआ था और पुन अव्यक्तमें ही लीन हो गया। न मैं उसे जानता हूँ* न व मुझे †। (फिर तुम भी वैसे ही बन्धनमुक्त क्यों न ह गये ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं।) मुझमें वैराग्य न है (पर वैराग्य ही मोक्षका मुख्य साधन है।) ॥ १७ ॥

येन येन शरीरेण करोत्ययमनीश्वरः ।
तेन तेन शरीरेण तदवश्यमुपाश्नुते ।
मानसं मनसाऽऽप्नोति शारीरं च शरीरवान् ॥ १८

यह पराधीन जीव जिस-जिस शरीरसे कर्म करता है, उस उस शरीरसे उसका फल अवश्य भोगता है। मानस कर्मक फल मनसे और शारीरिक कर्मका फल शरीर धारण कर भोगता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयं प्रति वैशम्पायनवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें जनमेजयके प्रति वैशम्पायनका वाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

---

* क्योंकि वह इन्द्रियोंका विषय नहीं रहा।

† क्योंकि उसके लिये मुझे जाननेका कोई कारण नहीं रहा।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी कृपासे जनमेजयको अपने पिताका दर्शन प्राप्त होना

वैशम्पायन उवाच

अदृष्ट्वा तु नृपः पुत्रान् दर्शनं प्रतिलब्धवान् ।
ऋषेः प्रसादात् पुत्राणां स्वरूपाणां कुरूद्वह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने पहले कभी अपने पुत्रोंको नहीं देखा था, परंतु महर्षि व्यासके प्रसादसे उन्होंने उनके स्वरूपका दर्शन प्राप्त कर लिया ॥ १ ॥

स राजा राजधर्मांश्च ब्रह्मोपनिषदं तथा ।
अवाप्तवान्नरश्रेष्ठो बुद्धिनिश्चयमेव च ॥ २ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो ययौ सिद्धिं तपोबलात् ।
धृतराष्ट्रः समासाद्य व्यासं चैव तपस्विनम् ॥ ३ ॥

उन नरश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने राजधर्म, ब्रह्मविद्या तथा बुद्धिका यथार्थ निश्चय भी पा लिया था। महाज्ञानी विदुरने तो अपने तपोबलसे सिद्धि प्राप्त की थी; परंतु धृतराष्ट्रने तपस्वी व्यासका आश्रय लेकर सिद्धिलाभ किया था ॥ २-३ ॥

जनमेजय उवाच

ममापि वरदो व्यासो दर्शयेत् पितरं यदि ।
तद्रूपवेषवयसं श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ४ ॥
प्रियं मे स्यात् कृतार्थश्च स्यामहं कृतनिश्चयः ।
प्रसादादृषिमुख्यस्य मम कामः समृध्यताम् ॥ ५ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! यदि वरदायक भगवान् व्यास मुझे भी मेरे पिताका उसी रूप, वेश और अवस्थामें दर्शन करा दें तो मैं आपकी बतायी हुई सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ। उस अवस्थामें मैं कृतार्थ होकर दृढ़ निश्चयको प्राप्त हो जाऊँगा। इससे मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सिद्ध होगा। आज मुनिश्रेष्ठ, व्यासजीके प्रसादसे मेरी इच्छा भी पूर्ण होनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तवचने तस्मिन् नृपे व्यासः प्रतापवान् ।
प्रसादमकरोद् धीमानानयच्च परीक्षितम् ॥ ६ ॥

सौति कहते हैं—राजा जनमेजयके इस प्रकार कहनेपर परम प्रतापी बुद्धिमान् महर्षि व्यासने उनपर भी कृपा की। उन्होंने राजा परीक्षित्को उस यज्ञभूमिमें बुला दिया ॥ ६ ॥

ततस्तद्रूपवयसमागतं नृपतिं दिवः ।
श्रीमन्तं पितरं राजा ददर्श जनमेजयः ॥ ७ ॥

स्वर्गसे उसी रूप और अवस्थामें (आये) अपने तेजस्वी पिता राजा परीक्षित्का भूपाल जनमेजयने दर्शन किया ॥ ७ ॥

शमीकं च महात्मानं पुत्रं तं चास्य शृङ्गिणम् ।
अमात्या ये बभूवुश्च राज्ञस्तांश्च ददर्श ह ॥ ८ ॥

उनके साथ ही महात्मा शमीक और उनके पुत्र शृङ्गी-ऋषि भी थे। राजा परीक्षित्के जो मन्त्री थे, उनका भी जनमेजयने दर्शन किया ॥ ८ ॥

ततः सोऽवभृथे राजा मुदितो जनमेजयः ।
पितरं स्नापयामास स्वयं सस्नौ च पार्थिवः ॥ ९ ॥
(परीक्षिदपि तत्रैव बभूव स तिरोहितः ।)

तदनन्तर राजा जनमेजयने प्रसन्न होकर यज्ञान्तस्नानके समय पहले अपने पिताको नहलाया; फिर स्वयं स्नान किया। फिर राजा परीक्षित् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९ ॥

स्नात्वा स नृपतिर्विप्रमास्तीकमिदमब्रवीत् ।
यायावरकुलोत्पन्नं जरत्कारुसुतं तदा ॥ १० ॥

स्नान करके उन नरेशने यायावरकुलमें उत्पन्न जरत्कारुकुमार आस्तीक मुनिसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

आस्तीक विविधाश्चर्यो यज्ञोऽयमिति मे मतिः ।
यद्द्यायं पिता प्राप्तो मम शोकप्रणाशनः ॥ ११ ॥

'आस्तीकजी ! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मेरा यह यज्ञ नाना प्रकारके आश्चर्योंका केन्द्र हो रहा है; क्योंकि आज मेरे शोकोंका नाश करनेवाले ये पिताजी भी यहाँ उपस्थित हो गये थे' ॥ ११ ॥

आस्तीक उवाच

ऋषिर्द्वैपायनो यत्र पुराणस्तपसो निधिः ।
यज्ञे कुरुकुलश्रेष्ठ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १२ ॥

आस्तीक बोले—कुरुकुलश्रेष्ठ ! राजन् ! जिसके यज्ञमें तपस्याकी निधि पुरातन ऋषि महर्षि द्वैपायन व्यास विराजमान हों, उसकी तो दोनों लोकोंमें विजय है ॥ १२ ॥

श्रुतं विचित्रमाख्यानं त्वया पाण्डवनन्दन ।
सर्पाश्च भस्मसान्नीता गताश्च पदवीं पितुः ॥ १३ ॥

पाण्डवनन्दन ! तुमने यह विचित्र उपाख्यान सुना। तुम्हारे शत्रु सर्पगण भस्म होकर तुम्हारे पिताकी ही पदवीको पहुँच गये ॥ १३ ॥

कथंचित् तक्षको मुक्तः सत्यत्वात् तव पार्थिव ।
ऋषयः पूजिताः सर्वे गतिर्दृष्टा महात्मनः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम्हारी सत्यपरायणताके कारण किसी तरह तक्षकके प्राण बच गये हैं। तुमने समस्त ऋषियोंकी

पूजा की और महात्मा व्यासकी कहाँतक पहुँच है, इसे प्रत्यक्ष देख लिया ॥ १४ ॥

प्राप्तः सुविपुलो धर्मः श्रुत्वा पापविनाशनम्।
विमुक्तो हृदयग्रन्थिरुदारजनदर्शनात् ॥ १५ ॥

इस पापनाशक कथाको सुनकर तुम्हें महान् धर्मकी प्राप्ति हुई है। उदार हृदयवाले संतोंके दर्शनसे तुम्हारे हृदय-की गाँठ खुल गयी—तुम्हारा सारा संशय दूर हो गया॥१५॥

ये च पक्षधरा धर्मे सद्वृत्तरुचयश्च ये।
यान् दृष्ट्वा हीयते पापं तेभ्यः कार्या नमस्क्रिया ॥ १६ ॥

जो लोग धर्मके पक्षपाती हैं, जो सदाचारके पालनमें रुचि रखते हैं तथा जिनके दर्शनसे पापका नाश होता है, उन महात्माओंको अब तुम्हें नमस्कार करना चाहिये ॥ १६ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठात् स राजा जनमेजयः।
पूजयामास तमृषिमनुमान्य पुनः पुनः ॥ १७ ॥

सौति कहते हैं—शौनक ! विप्रवर आस्तीकके मुखसे यह बात सुनकर राजा जनमेजयने उन महर्षि व्यासका बार-बार पूजन और सत्कार किया ॥ १७ ॥

पप्रच्छ तमृषिं चापि वैशम्पायनमच्युतम्।
कथावशेषं धर्मज्ञो वनवासस्य सत्तम ॥ १८ ॥

साधुशिरोमणे ! तत्पश्चात् उन धर्मज्ञ नरेशने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महर्षि वैशम्पायनसे पुनः धृतराष्ट्रके वन-वासकी अवशिष्ट कथा पूछी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयस्य स्वपितृदर्शने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें जनमेजयके द्वारा अपने पिताका दर्शनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी आज्ञासे धृतराष्ट्र आदिका पाण्डवोंको विदा करना और पाण्डवोंका सदलबल हस्तिनापुरमें आना

जनमेजय उवाच

दृष्ट्वा पुत्रांस्तथा पौत्रान् सानुबन्धान् जनाधिपः।
धृतराष्ट्रः किमकरोद् राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! राजा धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरने परलोकसे आये हुए पुत्रों, पौत्रों तथा सगे-सम्बन्धियोंके दर्शन करके क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं पुत्राणां दर्शनं नृप।
वीतशोकः स राजर्षिः पुनराश्रममागमत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर ! मरे हुए पुत्रोंका दर्शन एक महान् आश्चर्यकी घटना थी। उसे देखकर राजर्षि धृतराष्ट्रका दुःख-शोक दूर हो गया। वे फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २ ॥

इतरस्तु जनः सर्वस्ते चैव परमर्षयः।
प्रतिजग्मुर्यथाकामं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ३ ॥

दूसरे सब लोग तथा महर्षिगण धृतराष्ट्रकी अनुमति ले अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको चले गये ॥ ३ ॥

पाण्डवास्तु महात्मानो लघुभूयिष्ठसैनिकाः।
पुनर्जग्मुर्महात्मानं सदारास्तं महीपतिम् ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डव छोटे-बड़े सैनिकों और अपनी स्त्रियोंके साथ पुनः महामना राजा धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे गये ॥ ४ ॥

तत्राश्रमपदं धीमान् ब्रह्मर्षिर्लोकपूजितः।
मुनिः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ५ ॥

उस समय लोकपूजित बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन ब्रह्मर्षि व्यास भी उस आश्रमपर गये तथा इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो शृणु कौरवनन्दन।
श्रुतं ते ज्ञानवृद्धानामृषीणां पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥
श्रद्धाभिजनवृद्धानां वेदवेदाङ्गवेदिनाम्।
धर्मज्ञानां पुराणानां वदतां विविधाः कथाः ॥ ७ ॥
मा स्म शोके मनः कार्षीर्दिष्टे न व्यथते बुधः।

'कौरवनन्दन महाबाहु धृतराष्ट्र ! तुमने श्रद्धा और कुलमें बढ़े-चढ़े, वेद-वेदाङ्गवेत्ता, ज्ञानवृद्ध, पुण्यकर्मा एवं धर्मज्ञ प्राचीन महर्षियोंके मुखसे नाना प्रकारकी कथाएँ सुनी हैं; अतः अपने मनसे शोकको निकाल दो; क्योंकि विद्वान् पुरुष प्रारब्धके विधानमें दुःख नहीं मानते हैं ॥ ६-७½ ॥

श्रुतं देवरहस्यं ते नारदाद् देवदर्शनात् ॥ ८ ॥
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूतां गतिं शुभाम्।
यथा दृष्टास्त्वया पुत्रास्तथा कामविहारिणः ॥ ९ ॥

'तुमने देवदर्शी नारद मुनिसे देवताओंका गुप्त रहस्य

भी सुन लिया है। वे सब वीर क्षत्रिय धर्मके अनुसार शास्त्रोंसे पवित्र हुई शुभ गतिको प्राप्त हुए हैं। जैसा कि तुमने देखा है, तुम्हारे सभी पुत्र इच्छानुसार विहार करनेवाले स्वर्गवासी हुए हैं॥ ८-९॥

युधिष्ठिरः स्वयं धीमान् भवन्तमनुरुध्यते।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः॥ १०॥

'ये बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर अपने समस्त भाइयों, घरकी स्त्रियों और सुहृदोंके साथ स्वयं तुम्हारी सेवामें लगे हुए हैं॥ १०॥

विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम्।
मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने॥ ११॥

'अब इन्हें विदा कर दो। ये जायँ और अपने राज्यका काम सँभालें। इन लोगोंको वनमें रहते एक महीनेसे अधिक हो गया॥ ११॥

एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप।
बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद् राज्यं नाम कुरूद्वह॥ १२॥

'कुरुश्रेष्ठ! नरेश्वर! राज्यके बहुत-से शत्रु होते हैं; अतः इसकी सदा ही यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये'॥ १२॥

इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनातुलतेजसा।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत्॥ १३॥

अनुपम तेजस्वी व्यासजीके ऐसा कहनेपर प्रवचनकुशल कुरुराज धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ १३॥

अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान् प्रबाधते॥ १४॥

'अजातशत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने भाइयोंसहित मेरी बात सुनो। भूपाल! तुम्हारे प्रसादसे अब हमलोगोंको किसी प्रकारका शोक कष्ट नहीं दे रहा है॥ १४॥

रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये।
नाथेनानुगतो विद्वन् प्रियेषु परिवर्तिना॥ १५॥
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम्॥ १६॥

'बेटा! तुम्हारे साथ रहकर तथा तुम-जैसे रक्षकसे सुरक्षित होकर मैं उसी तरह आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ, जैसे पहले हस्तिनापुरमें करता था। विद्वन्! प्रियजनोंकी सेवामें लगे रहनेवाले तुम्हारे द्वारा मुझे पुत्रका फल प्राप्त हो गया। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। महाबाहो! पुत्र! मेरे मनमें तुम्हारे प्रति किंचिन्मात्र भी क्रोध नहीं है; अतः तुम राजधानीको जाओ, अब विलम्ब न करो॥ १५-१६॥

भवन्तं चेह सम्प्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धारितं पुनः॥ १७॥

'तुमको यहाँ देखकर मेरी तपस्यामें बाधा पड़ रही है। यह शरीर तपस्यामें लगा दिया था, परंतु तुम्हें देखकर फिर इसकी रक्षा करने लगा॥ १७॥

मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने।
मम तुल्यव्रते पुत्र न चिरं वर्तयिष्यतः॥ १८॥

बेटा! मेरी ही तरह तुम्हारी ये दोनों माताएँ भी व्रत-धारणपूर्वक सूखे पत्ते चबाकर रहा करती हैं। अब ये अधिक दिनोंतक जीवन धारण नहीं कर सकतीं॥ १८॥

दुर्योधनप्रभृतयो दृष्टा लोकान्तरं गताः।
व्यासस्य तपसो वीर्याद् भवतश्च समागमात्॥ १९॥
प्रयोजनं च निर्वृत्तं जीवितस्य ममानघ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि॥ २०॥

'तुम्हारे समागम और व्यासजीके तपोबलसे मुझे अपने परलोकवासी पुत्र दुर्योधन आदिके दर्शन हो गये; इसलिये मेरे जीवित रहनेका प्रयोजन पूरा हो गया। अनघ! अब मैं कठोर तपस्यामें संलग्न होऊँगा। तुम इसके लिये मुझे अनुमति दे दो॥ १९-२०॥

त्वय्यद्य पिण्डः कीर्तिश्च कुलं चेदं प्रतिष्ठितम्।
श्वो वाद्य वा महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम्॥ २१॥

'महाबाहो! आजसे पितरोंके पिण्डका, सुयशका और इस कुलका भार भी तुम्हारे ही ऊपर है। पुत्र! आज या कल अवश्य चले जाओ; विलम्ब न करना॥ २१॥

राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ।
संदेष्टव्यं न पश्यामि कृतं मे भवता विभो॥ २२॥

'भरतश्रेष्ठ! प्रभो! तुमने राजनीति बहुत बार सुनी है; अतः तुम्हें संदेश देने लायक कोई बात मुझे नहीं दिखायी देती। तुमने मेरे लिये बहुत कुछ किया है॥ २२॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवचनं तं तु नृपो राजानमब्रवीत्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम्॥ २३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा धृतराष्ट्रने वैसी बात कही, तब युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा—'धर्मके ज्ञाता महाराज! आप मेरा परित्याग न करें, क्योंकि मैं सर्वथा निरपराध हूँ॥ २३॥

कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरास्तथा।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रतः॥ २४॥

'मेरे ये सब भाई और सेवक इच्छा हो तो चले जायँ; किंतु मैं नियम और व्रतका पालन करता हुआ आपकी तथा इन दोनों माताओंकी सेवा करूँगा॥ २४॥

तमुवाचाथ गान्धारी मैवं पुत्र शृणुष्व च।
त्वय्यधीनं कुरुकुलं पिण्डश्च श्वशुरस्य मे ॥ २५ ॥
गम्यतां पुत्र पर्याप्तमेतावत् पूजिता वयम्।
राजा यदाह तत् कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥ २६ ॥

यह सुनकर गान्धारीने कहा—'बेटा! ऐसी बात न कहो। मैं जो कहती हूँ उसे सुनो। यह सारा कुरुकुल तुम्हारे ही अधीन है। मेरे श्वशुरका पिण्ड भी तुमपर ही अवलम्बित है; अतः पुत्र! तुम जाओ, तुमने हमारे लिये जितना किया है, वही बहुत है। तुम्हारे द्वारा हमलोगोंका स्वागत-सत्कार भलीभाँति हो चुका है। इस समय महाराज जो आज्ञा दे रहे हैं, वही करो; क्योंकि पिताका वचन मानना तुम्हारा कर्तव्य है' ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमभाषत।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! गान्धारीके इस प्रकार आदेश देनेपर राजा युधिष्ठिरने अपने आँसूभरे नेत्रोंको पोंछकर रोती हुई कुन्तीसे कहा—॥ २७ ॥

विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥ २८ ॥

'माँ! राजा और यशस्विनी गान्धारीदेवी मुझे घर लौटनेकी आज्ञा दे रही हैं; किंतु मेरा मन आपमें लगा हुआ है। जानेका नाम सुनकर ही मैं बहुत दुखी हो जाता हूँ। ऐसी दशामें मैं कैसे जा सकूँगा? ॥ २८ ॥

न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ २९ ॥

'धर्मचारिणि! मैं आपकी तपस्यामें विघ्न डालना नहीं चाहता; क्योंकि तपसे बढ़कर कुछ नहीं है। (निष्काम भावपूर्वक) तपस्यासे परब्रह्म परमात्माकी भी प्राप्ति हो जाती है ॥

ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥ ३० ॥

'रानी माँ! अब मेरा मन भी पहलेकी तरह राजकाजमें नहीं लगता है। हर तरहसे तपस्या करनेको ही जी चाहता है॥

शून्येयं च मही कृत्स्ना न मे प्रीतिकरी शुभे।
बान्धवा नः परिक्षीणा बलं नो न यथा पुरा ॥ ३१ ॥

'शुभे! यह सारी पृथ्वी मेरे लिये सूनी हो गयी है; अतः इससे मुझे प्रसन्नता नहीं होती। हमारे सगे-सम्बन्धी नष्ट हो गये; अब हमारे पास पहलेकी तरह सैन्यबल भी नहीं है॥

पञ्चालाः सुभृशं क्षीणाः कथामात्रावशेषिताः।
न तेषां कुलकर्तारं कंचित् पश्याम्यहं शुभे ॥ ३२ ॥

'पाञ्चालोंका तो सर्वथा नाश ही हो गया। उनकी कथामात्र शेष रह गयी है। शुभे! अब मुझे कोई ऐसा नहीं दिखायी देता, जो उनके वंशको चलानेवाला हो ॥ ३२ ॥

सर्वे हि भस्मसान्नीतास्ते द्रोणेन रणाजिरे।
अवशिष्टाश्च निहता द्रोणपुत्रेण वै निशि ॥ ३३ ॥

'प्रायः द्रोणाचार्यने ही सबको समराङ्गणमें भस्म कर डाला था। जो थोड़े-से बच गये थे, उन्हें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रातको सोते समय मार डाला ॥ ३३ ॥

चेदयश्चैव मत्स्याश्च दृष्टपूर्वास्तथैव नः।
केवलं वृष्णिचक्रं च वासुदेवपरिग्रहात् ॥ ३४ ॥

'हमारे सम्बन्धी चेदि और मत्स्यदेशके लोग भी जैसे पहले देखे गये थे, वैसे ही अब नहीं रहे। केवल भगवान् श्रीकृष्णके आश्रयसे वृष्णिवंशी वीरोंका समुदाय अबतक सुरक्षित है ।

यद् दृष्ट्वा स्थातुमिच्छामि धर्मार्थं नार्थहेतुतः।
शिवेन पश्य नः सर्वान् दुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ३५ ॥
अविषह्यं च राजा हि तीव्रं चारप्स्यते तपः।

'उसे ही देखकर अब मैं केवल धर्मसम्पादनकी इच्छासे यहाँ रहना चाहता हूँ, धनके लिये नहीं। तुम हम सब लोगोंकी ओर कल्याणमयी दृष्टिसे देखो; क्योंकि तुम्हारा दर्शन हमलोगोंके लिये अब दुर्लभ हो जायगा। कारण कि राजा धृतराष्ट्र अब बड़ी कठोर और असह्य तपस्या आरम्भ करेंगे॥

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः सहदेवो युधां पतिः ॥ ३६ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं बाष्पव्याकुललोचनः।

यह सुनकर योद्धाओंके स्वामी महाबाहु सहदेव अपने दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ॥

नोत्सहेऽहं परित्यक्तुं मातरं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
प्रतियातु भवान् क्षिप्रं तपस्तप्स्याम्यहं विभो।
इहैव शोषयिष्यामि तपसेदं कलेवरम् ॥ ३८ ॥
पादशुश्रूषणे रक्तो राज्ञो मात्रोस्तथानयोः।

'भरतश्रेष्ठ! मुझमें माताजीको छोड़कर जानेका साहस नहीं है। प्रभो! आप शीघ्र लौट जायँ। मैं यहीं रहकर तपस्या करूँगा और तपके द्वारा अपने शरीरको सुखा डालूँगा। मैं यहाँ महाराज और इन दोनों माताओंके चरणोंकी सेवामें ही अनुरक्त रहना चाहता हूँ' ॥ ३७-३८½ ॥

तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम् ॥ ३९ ॥
गम्यतां पुत्र मैवं त्वं वोचः कुरु वचो मम।
आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ॥ ४० ॥

यह सुनकर कुन्तीने महाबाहु सहदेवको छातीसे लगा

लिया और कहा—'बेटा ! ऐसा न कहो । तुम मेरी बात मानो और चले जाओ । पुत्रो ! तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों और तुम सदा स्वस्थ रहो ॥ ३९-४० ॥

उपरोधो भवेदेवमस्माकं तपसः कृते ।
त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेयं तपसः परात् ॥ ४१ ॥
तस्मात् पुत्रक गच्छ त्वं शिष्टमल्पं च नः प्रभो ।

'तुम लोगोंके रहनेसे हमलोगोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ेगा । मैं तुम्हारे स्नेहपाशमें बँधकर उत्तम तपस्यासे गिर जाऊँगी, अतः सामर्थ्यशाली पुत्र ! चले जाओ । अब हमलोगोंकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है' ॥ ४१½ ॥

एवं संस्तम्भितं वाक्यैः कुन्त्या बहुविधैर्मनः ॥ ४२ ॥
सहदेवस्य राजेन्द्र राज्ञश्चैव विशेषतः ।

राजेन्द्र ! इस तरह अनेक प्रकारकी बातें कहकर कुन्तीने सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरके मनको धीरज बँधाया ॥ ४२½ ॥

ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन् ।

माता तथा धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने कुरुकुलतिलक धृतराष्ट्रको प्रणाम किया और उनसे विदा लेनेके लिये इस प्रकार कहा ॥ ४३½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राज्यं प्रतिगमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः ॥ ४४ ॥
अनुज्ञातास्त्वया राजन् गमिष्यामो विकल्मषाः ।

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! आपके आशीर्वादसे आनन्दित होकर हमलोग कुशलपूर्वक राजधानीको लौट जायँगे । राजन् ! इसके लिये आप हमें आज्ञा दें । आपकी आज्ञा पाकर हम पापरहित हो यहाँसे यात्रा करेंगे ॥ ४४½ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराज्ञा महात्मना ॥ ४५ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यमभिनन्द्य युधिष्ठिरम् ।

महात्मा धर्मराजके ऐसा कहनेपर राजर्षि धृतराष्ट्रने कुरुनन्दन युधिष्ठिरका अभिनन्दन करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ४५½ ॥

भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः ॥ ४६ ॥
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान् ।

इसके बाद राजा धृतराष्ट्रने बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको सान्त्वना दी । बुद्धिमान् एवं पराक्रमी भीमसेनने भी उनकी बातोंको यथार्थरूपसे ग्रहण किया—हृदयसे स्वीकार किया ॥

अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ४७ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च ।
गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवादनाः ॥ ४८ ॥
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम् ।
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे ॥ ४९ ॥
पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रचक्रुस्ते प्रदक्षिणम् ।

तदनन्तर धृतराष्ट्रने अर्जुन और पुरुषप्रवर नकुल-सहदेवको छातीसे लगा उनका अभिनन्दन करके विदा किया । इसके बाद उन पाण्डवोंने गान्धारीके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ली । फिर माता कुन्तीने उन्हें हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा । जैसे बछड़े अपनी माताका दूध पीनेसे रोके जानेपर बार-बार उसकी ओर देखते हुए उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने राजा तथा माताकी ओर बार-बार देखते हुए उन नरेशकी परिक्रमा की ॥ ४७—४९½ ॥

द्रौपदीप्रमुखाश्चैव सर्वाः कौरवयोषितः ॥ ५० ॥
न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः ।
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः ॥ ५१ ॥
संदिष्टाश्चेति कर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह ।

द्रौपदी आदि समस्त कौरवस्त्रियोंने अपने श्वशुरको न्यायपूर्वक प्रणाम किया । फिर दोनों सासुओंने उन्हें गलेसे लगाकर आशीर्वाद दे जानेकी आज्ञा दी और उन्हें उनके कर्तव्यका उपदेश भी दिया । तत्पश्चात् वे अपने पतियोंके साथ चली गयीं ॥ ५०-५१½ ॥

ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति ॥ ५२ ॥
उष्ट्राणां क्रोशतां चापि हयानां हेषतामपि ।
ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः ।

नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात् सबान्धवः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर सारथियोंने 'रथ जोतो, रथ जोतो' की पुकार मचायी। फिर ऊँटोंके चिग्घाड़ने और घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाज हुई। इसके बाद अपने घरकी स्त्रियों, भाइयों और सैनिकोंके साथ राजा युधिष्ठिर पुनः हस्तिनापुर नगरको लौट आये ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यागमे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें युधिष्ठिरका प्रत्यागमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(नारदागमनपर्व)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

नारदजीसे धृतराष्ट्र आदिके दावानलमें दग्ध हो जानेका हाल जानकर युधिष्ठिर आदिका शोक

वैशम्पायन उवाच

द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको तपोवनसे आये जब दो वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन देवर्षि नारद दैवेच्छासे घूमते-घामते राजा युधिष्ठिरके यहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ॥ २ ॥

महाबाहु कुरुराज युधिष्ठिरने नारदजीकी पूजा करके उन्हें आसनपर बिठाया। जब वे आसनपर बैठकर थोड़ी देर विश्राम कर चुके, तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार पूछा ॥ २ ॥

चिरात्तु नानुपश्यामि भगवन्तमुपस्थितम्।
कच्चित् ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ॥ ३ ॥

'भगवन्! इधर दीर्घकालसे मैं आपकी उपस्थिति यहाँ नहीं देखता हूँ। ब्रह्मन्! कुशल तो है न? अथवा आपको शुभकी ही प्राप्ति होती है न? ॥ ३ ॥

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते।
तद् ब्रूहि द्विजमुख्य त्वं त्वं ह्यस्माकं परा गतिः ॥ ४ ॥

'विप्रवर! इस समय आपने किन-किन देशोंका निरीक्षण किया है? बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? क्योंकि आप हमलोगोंकी परम गति हैं' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

चिरदृष्टोऽसि मेत्येवमागतोऽहं तपोवनात्।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—नरेश्वर! बहुत दिन पहले मैंने तुम्हें देखा था, इसीलिये मैं तपोवनसे सीधे यहाँ चला आ रहा हूँ। रास्तेमें मैंने बहुत-से तीर्थों और गङ्गाजीका भी दर्शन किया है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! गङ्गाके किनारे रहनेवाले मनुष्य मेरे पास आकर कहा करते हैं कि महामनस्वी महाराज धृतराष्ट्र इन दिनों बड़ी कठोर तपस्यामें लगे हुए हैं ॥ ६ ॥

अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च संजयः ॥ ७ ॥

क्या आपने भी उन्हें देखा है? वे कुरुश्रेष्ठ वहाँ कुशलसे तो हैं न? गान्धारी, कुन्ती तथा सूतपुत्र संजय भी सकुशल हैं न? ॥ ७ ॥

कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि दृष्टस्त्वया नृपः ॥ ८ ॥

आजकल मेरे ताऊ राजा धृतराष्ट्र कैसे रहते हैं? भगवन्! यदि आपने उन्हें देखा हो तो मैं उनका समाचार सुनना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

नारद उवाच

स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथम्।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥ ९ ॥

नारदजीने कहा—महाराज! मैंने उस तपोवनमें जो कुछ देखा और सुना है, वह सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रहा हूँ। तुम स्थिरचित्त होकर सुनो ॥ ९ ॥

वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन।
कुरुक्षेत्रात् पिता तुभ्यं गङ्गाद्वारं ययौ नृप ॥ १० ॥

गान्धार्या सहितो धीमान् वध्वा कुन्त्या समन्वितः।
संजयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ॥ ११ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश ! जब तुमलोग नसे लौट आये, तब तुम्हारे बुद्धिमान् ताऊ राजा धृतराष्ट्र गान्धारी, बहू कुन्ती, सूत सञ्जय, अग्निहोत्र और पुरोहितके साथ कुरुक्षेत्रसे गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को चले गये १०-११

गतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः।
वीटां मुखे समाधाय वायुभक्षोऽभवन्मुनिः॥ १२ ॥

वहाँ जाकर तपस्याके धनी तुम्हारे ताऊने कठोर तपस्या आरम्भ की। वे मुँहमें पत्थरका टुकड़ा रखकर वायुका आहार करते और मौन रहते थे ॥ १२ ॥

वने स मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महातपाः।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ॥ १३ ॥

उस वनमें जितने ऋषि रहते थे, वे लोग उनका विशेष सम्मान करने लगे। महातपस्वी धृतराष्ट्रके शरीरपर चमड़ेसे की हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया था। उस अवस्थामें उन्होंने छः महीने व्यतीत किये ॥ १३ ॥

गान्धारी तु जलाहारा कुन्ती मासोपवासिनी।
संजयः षष्ठभुक्तेन वर्तयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! गान्धारी केवल जल पीकर रहने लगीं। कुन्ती-देवी एक महीनेतक उपवास करके एक दिन भोजन करती थीं और संजय छठे समय अर्थात् दो दिन उपवास करके तीसरे दिन संध्याको आहार ग्रहण करते थे ॥ १४॥

अग्नींस्तु याजकास्तत्र जुहुवुर्विधिवत् प्रभो।
दृश्यतोऽदृश्यतश्चैव वने तस्मिन् नृपस्य वै ॥ १५ ॥

प्रभो ! राजा धृतराष्ट्र उस वनमें कभी दिखायी देते और कभी अदृश्य हो जाते थे। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण वहाँ उनके द्वारा स्थापित की हुई अग्निमें विधिवत् हवन करते रहते थे १५

अनिकेतोऽथ राजा स बभूव वनगोचरः।
ते चापि सहिते देव्यौ संजयश्च तमन्वयुः ॥ १६ ॥

अब राजाका कोई निश्चित स्थान नहीं रह गया। वे वन-में सब ओर विचरते रहते थे। गान्धारी और कुन्ती ये दोनों देवियाँ साथ रहकर राजाके पीछे-पीछे लगी रहती थीं। संजय भी उन्हींका अनुसरण करते थे ॥ १६ ॥

संजयो नृपतेर्नेता समेषु विषमेषु च।
गान्धार्याश्च पृथा चैव चक्षुरासीदनिन्दिता ॥ १७ ॥

ऊँची-नीची भूमि आ जानेपर संजय ही राजा धृतराष्ट्रको ले जाते थे और अनिन्दिता सती-साध्वी कुन्ती गान्धारीके लिये नेत्र बनी हुई थीं ॥ १७ ॥

ततः कदाचिद् गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्रने गङ्गाके कछारमें जाकर उनके जलमें डुबकी लगायी और स्नानके पश्चात् वे अपने आश्रमकी ओर चल पड़े ॥१८॥

अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान्।
ददाह तद् वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें वहाँ बड़े जोरकी हवा चली। जिससे उस वनमें बड़ी भारी दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने चारों ओरसे उस सारे वनको जलाना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

दह्यत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ॥ २० ॥

सब ओर मृगोंके झुंड और सर्प दग्ध होने लगे। बनैले सूअर भाग-भागकर जलाशयोंकी शरण लेने लगे ॥ २० ॥

समाविद्धे वने तस्मिन् प्राप्ते व्यसन उत्तमे।
निराहारतया राजन् मन्दप्राणविचेष्टितः ॥ २१ ॥
असमर्थोऽपसरणे सुकृशे मातरौ च ते।

राजन् ! सारा वन आगसे घिर गया और उन लोगोंपर बड़ा भारी संकट आ गया। उपवास करनेसे प्राणशक्ति क्षीण हो जानेके कारण राजा धृतराष्ट्र वहाँसे भागनेमें असमर्थ थे, तुम्हारी दोनों माताएँ भी अत्यन्त दुर्बल हो गयी थीं; अतः वे भी भागनेमें असमर्थ थीं ॥ २१½ ॥

ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ॥ २२ ॥
इदमाह ततः सूतं संजयं जयतां वरः।

तदनन्तर विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने उस अग्निको निकट आती जान सूत संजयसे इस प्रकार कहा—॥ २२½ ॥

गच्छ संजय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ॥ २३ ॥
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम्।

'संजय ! तुम किसी ऐसे स्थानमें भाग जाओ, जहाँ यह दावाग्नि तुम्हें कदापि जला न सके। हमलोग तो अब यहीं अपनेको अग्निमें होम कर परम गति प्राप्त करेंगे' ॥ २३½ ॥

तमुवाच किलोद्विग्नः संजयो वदतां वरः ॥ २४ ॥
राजन् मृत्युरनिष्टोऽयं भविता ते वृथाग्निना।
न चोपायं प्रपश्यामि मोक्षणे जातवेदसः ॥ २५ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ संजयने अत्यन्त उद्विग्न होकर कहा—'राजन् ! इस लौकिक अग्निसे आपकी मृत्यु होना ठीक नहीं है, (आपके शरीरका दाह-संस्कार तो आहवनीय अग्निमें होना चाहिये।) किंतु इस समय इस दावानलसे छुटकारा पानेका कोई उपाय भी मुझे नहीं दिखायी देता २४-२५

यदत्रानन्तरं कार्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति।
इत्युक्तः संजयेनेदं पुनराह स पार्थिवः ॥ २६ ॥

'अब इसके बाद क्या करना चाहिये—यह बतानेकी

कृपा करें ।' संजयके ऐसा कहनेपर राजाने फिर कहा—॥२६॥

नैष मृत्युरनिष्टो नो निःसृतानां गृहात् स्वयम् ।
जलमग्निस्तथा वायुरथवापि विकर्षणम् ॥ २७ ॥
तापसानां प्रशस्यन्ते गच्छ संजय मा चिरम् ।

'संजय ! हमलोग स्वयं गृहस्थाश्रमका परित्याग करके चले आये हैं, अतः हमारे लिये इस तरहकी मृत्यु अनिष्टकारक नहीं हो सकती । जल, अग्नि तथा वायुके संयोगसे अथवा उपवास करके प्राण त्यागना तपस्वियोंके लिये प्रशंसनीय माना गया है; इसलिये अब तुम शीघ्र यहाँसे चले जाओ । विलम्ब न करो' ॥ २७½ ॥

इत्युक्त्वा संजयं राजा समाधाय मनस्तथा ॥ २८ ॥
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत् तदा ।

संजयसे ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने मनको एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्तीके साथ वे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये ॥ २८½ ॥

संजयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ २९ ॥
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो ।

उन्हें उस अवस्थामें देख मेधावी संजयने उनकी परिक्रमा की और कहा—'महाराज ! अब अपनेको योगयुक्त कीजिये ॥ २९½ ॥

ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद् वचः ॥ ३० ॥
सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा ।

महर्षि व्यासके पुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्रने संजयकी वह बात मान ली । वे इन्द्रियसमुदायको रोककर काष्ठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये ॥ ३०½ ॥

गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ॥ ३१
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव ।
संजयस्तु महामात्रस्तस्माद् दावादमुच्यत ॥ ३२

इसके बाद महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कु[न्ती] तथा तुम्हारे ताऊ राजा धृतराष्ट्र—ये तीनों ही दावाग्निमें ज[ल]कर भस्म हो गये; परंतु महामात्य संजय उस दावाग्नि[से] जीवित बच गये हैं ॥ ३१-३२ ॥

गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ।
स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः ॥ ३३
प्रययौ संजयो धीमान् हिमवन्तं महीधरम् ।

मैंने संजयको गङ्गातटपर तापसोंसे घिरा देखा है बुद्धिमान् और तेजस्वी संजय तापसोंको यह सब समाच[ार] बताकर उनसे विदा ले हिमालयपर्वतपर चले गये ॥ ३३½

एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः ॥ ३४
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार महामनस्वी कुरुराज धृतराष्ट्र त[था] तुम्हारी दोनों माताएँ गान्धारी और कुन्ती मृत्युको प्रा[प्त] हो गयीं ॥ ३४½ ॥

यदृच्छयानुव्रजता मया राज्ञः कलेवरम् ॥ ३५
तयोश्च देव्योरुभयोर्मया दृष्टानि भारत ।

भरतनन्दन ! वनमें घूमते समय अकस्मात् रा[जा] धृतराष्ट्र तथा उन देवियोंके मृत शरीर मेरी दृष्टि[में] पड़े थे ॥ ३५½ ॥

ततस्तपोवने तस्मिन् समाजग्मुस्तपोधनाः ॥ ३६
श्रुत्वा राज्ञस्तदा निष्ठां न त्वशोचन् गतीश्च ते ।

तदनन्तर राजाकी मृत्युका समाचार सुनकर बहुत-[से] तपोधन उस तपोवनमें आये । उन्होंने उनके लिये को[ई] शोक नहीं किया; क्योंकि उन तीनोंकी सद्गतिके विषयमें उन[के] मनमें संशय नहीं था ॥ ३६½ ॥

तत्राश्रौषमहं सर्वमेतत् पुरुषसत्तम ॥ ३७
यथा च नृपतिर्दग्धो देव्यौ ते चेति पाण्डव ।

पुरुषप्रवर पाण्डव ! जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्र त[था] उन दोनों देवियोंका दाह हुआ है, यह सारा समाचार मैं[ने] वहीं सुना था ॥ ३७½ ॥

न शोचितव्यं राजेन्द्र स्वतः स पृथिवीपतिः ॥ ३८
प्राप्तवानग्निसंयोगं गान्धारी जननी च ते ।

राजेन्द्र ! राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और तुम्हारी मा[ता] कुन्ती—तीनोंने स्वतः अग्निसंयोग प्राप्त किया था; अतः उन[के] लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम्॥ ३९ ॥
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रका यह परलोकगमनका समाचार सुनकर उन सभी महामना पाण्डवोंको बड़ा शोक हुआ ॥ ३९½ ॥

अन्तःपुराणां च तदा महानार्तस्वरोऽभवत्॥ ४० ॥
पौराणां च महाराज श्रुत्वा राज्ञस्तदा गतिम्।

महाराज ! उनके अन्तःपुरमें उस समय महान् आर्तनाद होने लगा। राजाकी वैसी गति सुनकर पुरवासियोंमें भी हाहाकार मच गया ॥ ४०½ ॥

अहो धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वबाहुः स्मरन् मातुः प्ररुरोद युधिष्ठिरः।

'अहो ! धिक्कार है !' इस प्रकार अपनी निन्दा करके राजा युधिष्ठिर बहुत दुखी हो गये तथा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर अपनी माताको याद करके फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४१½ ॥

भीमसेनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते॥ ४२ ॥
अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम्॥ ४३ ॥

भीमसेन आदि सभी भाई रोने लगे। महाराज ! कुन्तीकी वैसी दशा सुनकर अन्तःपुरमें भी रोने-बिलखनेका महान् शब्द सुनायी देने लगा ॥ ४२-४३ ॥

तं च वृद्धं तथा दग्धं हतपुत्रं नराधिपम्।
अन्वशोचन्त ते सर्वे गान्धारीं च तपस्विनीम्॥ ४४ ॥

पुत्रहीन बूढ़े राजा धृतराष्ट्र तथा तपस्विनी गान्धारीदेवीको इस प्रकार दग्ध हुई सुनकर सब लोग बारंबार शोक करने लगे ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम्॥ ४५ ॥

भरतनन्दन ! दो घड़ी बाद जब रोने-धोनेकी आवाज बंद हुई, तब धर्मराज युधिष्ठिर धैर्यपूर्वक अपने आँसू पोंछकर नारदजीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि दावाग्निना धृतराष्ट्रादिदाहे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें धृतराष्ट्र आदिका दावाग्निसे दाहविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

नारदजीके सम्मुख युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिके लौकिक अग्निमें दग्ध हो जानेका वर्णन करते हुए विलाप और अन्य पाण्डवोंका भी रोदन

युधिष्ठिर उवाच

तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः।
अनाथस्येव निधनं तिष्ठत्स्वास्मासु बन्धुषु॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! हम-जैसे बन्धु-बान्धवोंके रहते हुए भी कठोर तपस्यामें लगे हुए महामना धृतराष्ट्रकी अनाथके समान मृत्यु हुई, यह कितने दुःखकी बात है ?॥ १॥

दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् पुरुषाणां मतिर्मम।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्योंकी गतिका ठीक-ठीक ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है; जब कि विचित्रवीर्यकुमार धृतराष्ट्रको इस तरह दावानलसे दग्ध होकर मरना पड़ा ॥२॥

यस्य पुत्रशतं श्रीमदभवद् बाहुशालिनः।
नागायुतबलो राजा स दग्धो हि दवाग्निना॥ ३ ॥

जिन बाहुबलशाली नरेशके सौ पुत्र थे, जो स्वयं भी दस हजार हाथियोंके समान बलवान् थे, वे ही दावानलसे जलकर मरे हैं, यह कितने दुःखकी बात है ! ॥ ३ ॥

यं पुरा पर्यवीजन्त तालवृन्तैर्वरस्त्रियः।
तं गृध्राः पर्यवीजन्त दावाग्निपरिकालितम्॥ ४ ॥

पूर्वकालमें सुन्दरी स्त्रियाँ जिन्हें सब ओरसे ताड़के पंखोंद्वारा हवा करती थीं, उन्हें दावानलसे दग्ध हो जानेपर गीधोंने अपनी पाँखोंसे हवा की है ॥ ४ ॥

सूतमागधसंघैश्च शयानो यः प्रबोध्यते।
धरण्यां स नृपः शेते पापस्य मम कर्मभिः॥ ५ ॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोते थे और जिन्हें सूत तथा मागधोंके समुदाय मधुर गीतोंद्वारा जगाया करते थे, वे ही महाराज मुझ पापीकी करतूतोंसे पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥ ५ ॥

न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम्।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम्॥ ६ ॥

मुझे पुत्रहीना यशस्विनी गान्धारीके लिये उतना शोक

नहीं है, क्योंकि वे पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती थीं; अतः पतिलोकमें गयी हैं ॥ ६ ॥

पृथामेव च शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत्।
उत्सृज्य सुमहद् दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥ ७ ॥

मैं तो उन माता कुन्तीके लिये ही अधिक शोक करता हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके समृद्धिशाली एवं परम समुज्ज्वल ऐश्वर्यको ठुकराकर वनमें रहना पसंद किया था ॥ ७ ॥

धिग् राज्यमिदमस्माकं धिग् बलं धिक् पराक्रमम्।
क्षत्रधर्मं च धिग् यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥ ८ ॥

हमारे इस राज्यको धिक्कार है, बल और पराक्रमको धिक्कार है तथा इस क्षत्रिय-धर्मको भी धिक्कार है ! जिससे आज हमलोग मृतकतुल्य जीवन बिता रहे हैं ॥ ८ ॥

सुसूक्ष्मा किल कालस्य गतिर्द्विजवरोत्तम।
यत् समुत्सृज्य राज्यं सा वनवासमरोचयत् ॥ ९ ॥

विप्रवर ! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, जिससे प्रेरित होकर माता कुन्तीने राज्य त्यागकर वनमें ही रहना ठीक समझा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरस्य जननी भीमस्य विजयस्य च।
अनाथवत् कथं दग्धा इति मुह्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुनकी माता अनाथकी भाँति कैसे जल गयी, यह सोचकर मैं मोहित हो जाता हूँ ॥

वृथा संतर्पितो वह्निः खाण्डवे सव्यसाचिना।
उपकारमजानन् स कृतघ्न इति मे मतिः ॥ ११ ॥

सव्यसाची अर्जुनने जो खाण्डववनमें अग्निदेवको तृप्त किया था, वह व्यर्थ हो गया। वे उस उपकारको याद न रखनेके कारण कृतघ्न हैं—ऐसी मेरी धारणा है ॥ ११ ॥

यत्रादहत् स भगवान् मातरं सव्यसाचिनः।
कृत्वा यो ब्राह्मणच्छद्म भिक्षार्थी समुपागतः ॥ १२ ॥
धिगग्निं धिक् च पार्थस्य विश्रुतां सत्यसंधताम्।

जो एक दिन ब्राह्मणका वेश बनाकर अर्जुनसे भीख माँगने आये थे, उन्हीं भगवान् अग्निदेवने अर्जुनकी माँको जलाकर भस्म कर दिया। अग्निदेवको धिक्कार है ! अर्जुनकी जो सुप्रसिद्ध सत्यप्रतिज्ञता है, उसको भी धिक्कार है ! ॥ १२½ ॥

इदं कष्टतरं चान्यद् भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥
वृथाग्निना समायोगो यदभूत् पृथिवीपतेः।

भगवन् ! राजा धृतराष्ट्रके शरीरको जो व्यर्थ (लौकिक) अग्निका संयोग प्राप्त हुआ, यह दूसरी अत्यन्त कष्ट देनेवाली बात जान पड़ती है ॥ १३½ ॥

तथा तपस्विनस्तस्य राजर्षेः कौरवस्य ह ॥ १४ ॥
कथमेवंविधो मृत्युः प्रशास्य पृथिवीमिमाम्।

जिन्होंने पहले इस पृथ्वीका शासन करके अन्तमें वैसे कठोर तपस्याका आश्रय लिया था, उन कुरुवंशी राजर्षिको ऐसी मृत्यु क्यों प्राप्त हुई ? ॥ १४½ ॥

तिष्ठत्सु मन्त्रपूतेषु तस्याग्निषु महावने ॥ १५ ॥
वृथाग्निना समायुक्तो निष्ठां प्राप्तः पिता मम।

हाय, उस महान् वनमें मन्त्रोंसे पवित्र हुई अग्नियोंके रहते हुए भी मेरे ताऊ लौकिक अग्निसे दग्ध होकर क्यों मृत्युको प्राप्त हुए ! ॥ १५½ ॥

मन्ये पृथा वेपमाना कृशा धमनिसंतता ॥ १६ ॥
हा तात ! धर्मराजेति समाक्रन्दन्महाभये।

मैं तो समझता हूँ कि अत्यन्त दुर्बल हो जानेके कारण जिनके शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँतक स्पष्ट दिखायी देती थीं, वे मेरी माता कुन्ती अग्निका महान् भय उपस्थित होनेपर 'हा तात ! हा धर्मराज !' कहकर कातर पुकार मचाने लगी होंगी ॥ १६½ ॥

भीम पर्याप्नुहि भयादिति चैवाभिवाशती ॥ १७ ॥
समन्ततः परिक्षिप्ता माताभून्मे दवाग्निना।

'भीमसेन ! इस भयसे मुझे बचाओ' ऐसा कहकर चारों ओर चीखती-चिल्लाती हुई मेरी माताको दावानलने जलाकर भस्म कर दिया होगा ॥ १७½ ॥

सहदेवः प्रियस्तस्याः पुत्रेभ्योऽधिक एव तु ॥ १८ ॥
न चैनां मोक्षयामास वीरो माद्रवतीसुतः।

सहदेव मेरी माताको अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय था; परंतु वह वीर माद्रीकुमार भी माको उस संकटसे बचा न सका ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा रुरुदुः सर्वे समालिङ्ग्य परस्परम् ॥ १९ ॥
पाण्डवाः पञ्च दुःखार्ता भूतानीव युगक्षये।

यह सुनकर समस्त पाण्डव एक दूसरेको हृदयसे लगाकर रोने लगे। जैसे प्रलयकालमें पाँचों भूत पीडित हो जाते हैं, उसी प्रकार उस समय पाँचों पाण्डव दुःखसे आतुर हो उठे।

तेषां तु पुरुषेन्द्राणां रुदतां रुदितस्वनः ॥ २० ॥
प्रासादाभोगसंरुद्धे अन्वरौत्सीत् स रोदसी ॥ २१ ॥

वहाँ रोदन करते हुए उन पुरुषप्रवर पाण्डवोंके रोनेका शब्द महलके विस्तारसे अवरुद्ध हुए भूतल और आकाशमें गूँजने लगा ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि युधिष्ठिरविलापे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें युधिष्ठिरका विलापविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरद्वारा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती—इन तीनोंकी हड्डियोंको गङ्गामें प्रवाहित कराना तथा श्राद्धकर्म करना

नारद उवाच

ासौ वृथाग्निना दग्धो यथा तत्र श्रुतं मया।
ंचित्रवीर्यो नृपतिस्तत् ते वक्ष्यामि सुव्रत॥ १ ॥

नारदजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले रेश ! विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रका दाह व्यर्थ लौकिक) अग्निसे नहीं हुआ है। इस विषयमें मैंने वहाँ सा सुना था, वह सब तुम्हें बताऊँगा॥ १॥

नं प्रविशतानेन वायुभक्षेण धीमता।
ग्नयः कारयित्वेष्टिमुत्सृष्टा इति नः श्रुतम्॥ २ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि वायु पीकर रहनेवाले वे द्धिमान् नरेश जब घने वनमें प्रवेश करने लगे, उस समय न्होंने याजकोंद्वारा इष्टि कराकर तीनों अग्नियोंको वहीं त्याग देया॥ २॥

ाजकास्तु ततस्तस्य तानग्नीन्निर्जने वने।
समुत्सृज्य यथाकामं जग्मुर्भरतसत्तम॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनकी उन अग्नियोंको उसी निर्जन वनमें छोड़कर उनके याजकगण इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये॥ ३॥

स विवृद्धस्तदा वह्निर्वने तस्मिन्नभूत् किल।
तेन तद् वनमादीप्तमिति ते तापसाब्रुवन्॥ ४ ॥

कहते हैं, वही अग्नि बढ़कर उस वनमें सब ओर फैल गयी और उसीने उस सारे वनको भस्मसात् कर दिया—यह बात मुझसे वहाँके तापसोंने बतायी थी॥ ४॥

स राजा जाह्नवीतीरे यथा ते कथितं मया।
तेनाग्निना समायुक्तः स्वेनैव भरतर्षभ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे राजा गङ्गाके तटपर, जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, उस अपनी ही अग्निसे दग्ध हुए हैं॥ ५॥

एवमावेदयामासुर्मुनयस्ते ममानघ।
ये ते भागीरथीतीरे मया दृष्टा युधिष्ठिर॥ ६ ॥

निष्पाप नरेश ! गङ्गाजीके तटपर मुझे जिनके दर्शन हुए थे, उन मुनियोंने मुझसे ऐसा ही बताया था॥ ६॥

एवं स्वेनाग्निना राजा समायुक्तो महीपते।
मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम्॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र अपनी ही अग्निसे दाहको प्राप्त हुए हैं, तुम उन नरेशके लिये शोक न करो। वे परम उत्तम गतिको प्राप्त हुए हैं॥ ७॥

गुरुशुश्रूषया चैव जननी ते जनाधिप।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः॥ ८ ॥

जनेश्वर ! तुम्हारी माता कुन्तीदेवी गुरुजनोंकी सेवाके प्रभावसे बहुत बड़ी सिद्धिको प्राप्त हुई हैं, इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है॥ ८॥

कर्तुमर्हसि राजेन्द्र तेषां त्वमुदकक्रियाम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरेतदत्र विधीयताम्॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! अब अपने सब भाइयोंके साथ जाकर तुम्हें उन तीनोंके लिये जलाञ्जलि देनी चाहिये। इस समय यहाँ इसी कर्तव्यका पालन करना चाहिये॥ ९॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पृथिवीपालः पाण्डवानां धुरंधरः।
निर्ययौ सहसोदर्यः सदारश्च नरर्षभः॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब पाण्डव-धुरन्धर पृथ्वीपाल नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने भाइयों और स्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकले॥ १०॥

पौरजानपदाश्चैव राजभक्तिपुरस्कृताः।
गङ्गां प्रजग्मुरभितो वाससैकेन संवृताः॥ ११ ॥

उनके साथ राजभक्तिको सामने रखनेवाले पुरवासी और जनपदनिवासी भी थे। वे सब एकवस्त्र धारण करके गङ्गाजीके समीप गये॥ ११॥

ततोऽवगाह्य सलिले सर्वे ते नरपुङ्गवाः।
युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने॥ १२ ॥

उन सभी श्रेष्ठ पुरुषोंने गङ्गाजीके जलमें स्नान करके युयुत्सुको आगे रखते हुए महात्मा धृतराष्ट्रके लिये जलाञ्जलि दी॥ १२॥

गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः।
शौचं निर्वर्तयन्तस्ते तत्रोषुर्नगराद् बहिः॥ १३ ॥

फिर विधिपूर्वक नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए गान्धारी और कुन्तीके लिये भी उन्होंने जल-दान किया। तत्पश्चात् शौचसम्पादन या अशौचनिवृत्तिके लिये प्रयत्न करते हुए वे सब लोग नगरसे बाहर ही ठहर गये॥ १३॥

प्रेषयामास स नरान् विधिज्ञानाप्तकारिणः।
गङ्गाद्वारं नरश्रेष्ठो यत्र दग्धोऽभवन्नृपः॥ १४ ॥
तत्रैव तेषां कृत्यानि गङ्गाद्वारेऽन्वशात् तदा।
कर्तव्यानीति पुरुषान् दत्तदेयान्महीपतिः॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने जहाँ राजा धृतराष्ट्र दग्ध हुए थे, उस स्थानपर भी हरद्वारमें विधि-विधानके जाननेवाले विश्वासपात्र मनुष्योंको भेजा और वहीं उनके श्राद्धकर्म करनेकी आज्ञा दी। फिर उन भूपालने उन पुरुषोंको दानमें देनेयोग्य नाना प्रकारकी वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ १४-१५ ॥

द्वादशेऽहनि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः ।
ददौ श्राद्धानि विधिवद् दक्षिणावन्ति पाण्डवः ॥ १६ ॥

शौच-सम्पादनके लिये दशाह आदि कर्म कर लेनेके पश्चात् पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने बारहवें दिन धृतराष्ट्र आदिके उद्देश्यसे विधिवत् श्राद्ध किया तथा उन श्राद्धोंमें ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणाएँ दीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रं समुद्दिश्य ददौ स पृथिवीपतिः ।
सुवर्णं रजतं गाश्च शय्याश्च सुमहाधनाः ॥ १७ ॥
गान्धार्याश्चैव तेजस्वी पृथायाश्च पृथक् पृथक् ।
संकीर्त्य नामनी राजा ददौ दानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके लिये पृथक्-पृथक् उनके नाम ले-लेकर सोना, चाँदी, गौ तथा बहुमूल्य शय्याएँ प्रदान कीं तथा परम उत्तम दान दिया ॥ १७-१८ ॥

यो यदिच्छति यावच्च तावत् स लभते नरः ।
शयनं भोजनं यानं मणिरत्नमथो धनम् ॥ १९ ॥
यानमाच्छादनं भोगान् दासीश्च समलंकृताः ।
ददौ राजा समुद्दिश्य तयोर्मात्रोर्महीपतिः ॥ २० ॥

उस समय जो मनुष्य जिस वस्तुको जितनी मात्रामें लेना चाहता, वह उस वस्तुको उतनी ही मात्रामें प्राप्त कर लेता था। राजा युधिष्ठिरने अपनी उन दोनों माताओंके उद्देश्यसे शय्या, भोजन, सवारी, मणि, रत्न, धन, वाहन, वस्त्र, नाना प्रकारके भोग तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित दासियाँ प्रदान कीं ॥ १९-२० ॥

ततः स पृथिवीपालो दत्त्वा श्राद्धान्यनेकशः ।
प्रविवेश पुरं राजा नगरं वारणाह्वयम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार अनेक बार श्राद्धके दान देकर पृथ्वीपाल राजा युधिष्ठिरने हस्तिनापुरनामक नगरमें प्रवेश किया।

ते चापि राजवचनात् पुरुषा ये गताभवन् ।
संकल्प्य तेषां कुल्यानि पुनः प्रत्यागमंस्ततः ॥ २२ ॥
माल्यैर्गन्धैश्च विविधैरर्चयित्वा यथाविधि ।
कुल्यानि तेषां संयोज्य तदाचख्युर्महीपतेः ॥ २३ ॥

जो लोग राजाकी आज्ञासे हरद्वारमें भेजे गये थे, वे उन तीनोंकी हड्डियोंको संचित करके वहाँसे फिर गङ्गाजीके तटपर गये। फिर भाँति-भाँतिकी मालाओं और चन्दनोंसे विधिपूर्वक उनकी पूजा की। पूजा करके उन सबको गङ्गाजीमें प्रवाहित कर दिया। इसके बाद हस्तिनापुरमें लौटकर उन्होंने यह सब समाचार राजाको कह सुनाया ॥ २२-२३ ॥

समाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
नारदोऽप्यगमद् राजन् परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥ २४ ॥

राजन्! तदनन्तर देवर्षि नारदजी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ २४ ॥

एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
वनवासे तथा त्रीणि नगरे दश पञ्च च ॥ २५ ॥
हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा ।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥ २६ ॥

इस प्रकार जिनके पुत्र रणभूमिमें मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्रने अपने जाति-भाई, सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और स्वजनोंके निमित्त सदा दान देते हुए (युद्ध समाप्त होनेके बाद) पंद्रह वर्ष हस्तिनापुर नगरमें व्यतीत किये थे और तीन वर्ष वनमें तपस्या करते हुए बिताये थे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतमनास्तदा ।
धारयामास तद् राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥ २७ ॥

जिनके बन्धु-बान्धव नष्ट हो गये थे, वे राजा युधिष्ठिर मनमें अधिक प्रसन्न न रहते हुए किसी प्रकार राज्यका भार सँभालने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि श्राद्धदाने ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें श्राद्धदानविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

आश्रमवासिकपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१०६१	(३४)	४६॥	११०७॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१॥	×	×	१॥

आश्रमवासिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—११०९

सामबके पेटसे यदुवंश-विनाशके लिये मूसल पैदा होनेका ऋषियोंद्वारा शाप

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

मौसलपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अपशकुन देखना, यादवोंके विनाशका समाचार सुनना, द्वारकामें ऋषियोंके शापवश साम्बके पेटसे मूसलकी उत्पत्ति तथा मदिराके निषेधकी कठोर आज्ञा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाभारत-युद्धके पश्चात् जब छत्तीसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तब कौरवनन्दन राजा युधिष्ठिरको कई तरहके अपशकुन दिखायी देने लगे॥

ववुर्वाताश्च निर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
अपसव्यानि शकुना मण्डलानि प्रचक्रिरे॥ २॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ बालू और कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड आँधी चलने लगी। पक्षी दाहिनी ओर मण्डल बनाकर उड़ते दिखायी देने लगे॥ २॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यो दिशो नीहारसंवृताः।
उल्काश्चाङ्गारवर्षिण्यः प्रापतन् गगनाद् भुवि॥ ३॥

बड़ी-बड़ी नदियाँ बालूके भीतर छिपकर बहने लगीं। दिशाएँ कुहरेसे आच्छादित हो गयीं। आकाशसे पृथ्वीपर अङ्गार बरसानेवाली उल्काएँ गिरने लगीं॥ ३॥

आदित्यो रजसा राजन् समवच्छन्नमण्डलः।
विरश्मिरुदये नित्यं कबन्धैः समदृश्यत॥ ४॥

राजन्! सूर्यमण्डल धूलसे आच्छन्न हो गया था। उदय-कालमें सूर्य तेजोहीन प्रतीत होते थे और उनका मण्डल प्रतिदिन अनेक कबन्धों (बिना सिरके धड़ों) से युक्त दिखायी देता था॥ ४॥

परिवेषाश्च दृश्यन्ते दारुणाश्चन्द्रसूर्ययोः।
त्रिवर्णाः श्यामरूक्षान्तास्तथा भस्मारुणप्रभाः॥ ५॥

चन्द्रमा और सूर्य दोनोंके चारों ओर भयानक घेरे दृष्टिगोचर होते थे। उन घेरोंमें तीन रंग प्रतीत होते थे। उनका किनारेका भाग काला एवं रूखा होता था। बीचमें भस्मके समान धूसर रंग दीखता था और भीतरी किनारेकी कान्ति अरुणवर्णकी दृष्टिगोचर होती थी॥ ५॥

एते चान्ये च बहव उत्पाता भयशंसिनः।
दृश्यन्ते बहवो राजन् हृदयोद्वेगकारकाः॥ ६॥

राजन्! ये तथा और भी बहुत-से भयसूचक उत्पात दिखायी देने लगे, जो हृदयको उद्विग्न कर देनेवाले थे॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसले कदनं कृतम्॥ ७॥
विमुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः।
समानीयाब्रवीद् भ्रातॄन् किं करिष्याम इत्युत॥ ८॥

इसके थोड़े ही दिनों बाद कुरुराज युधिष्ठिरने यह समाचार सुना कि मूसलको निमित्त बनाकर आपसमें महान् युद्ध हुआ है; जिसमें समस्त वृष्णिवंशियोंका संहार हो गया। केवल भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी ही उस विनाशसे बचे हुए हैं। यह सब सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने समस्त भाइयोंको बुलाया और पूछा—'अब हमें क्या करना चाहिये?'॥

परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात् कृतान्।
वृष्णीन् विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवाभवन्॥ ९॥
निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम्।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः॥ १०॥

ब्राह्मणोंके शापके बलसे विवश हो आपसमें लड़-भिड़कर

सारे वृष्णिवंशी विनष्ट हो गये । यह बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ी वेदना हुई । भगवान् श्रीकृष्णका वध तो समुद्रको सोख लेनेके समान असम्भव था; अतः उन वीरोंने भगवान् श्रीकृष्णके विनाशकी बातपर विश्वास नहीं किया ॥ ९-१० ॥

मौसलं ते समाश्रित्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसंकल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ ११ ॥

इस मौसलकाण्डकी बातको लेकर सारे पाण्डव दुःख-शोकमें डूब गये । उनके मनमें विषाद छा गया और वे हताश हो मन मारकर बैठ गये ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच

कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।
पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते वृष्णियोंसहित अन्धक तथा महारथी भोजवंशी क्षत्रिय कैसे नष्ट हो गये ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् ।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महाभारतयुद्धके बाद छत्तीसवें वर्ष वृष्णिवंशियोंमें महान् अन्यायपूर्ण कलह आरम्भ हो गया । उसमें कालसे प्रेरित होकर उन्होंने एक-दूसरेको मूसलों (अरों) से मार डाला ॥ १३ ॥

जनमेजय उवाच

केनानुशप्तास्ते वीराः क्षयं वृष्ण्यन्धका गताः ।
भोजाश्च द्विजवर्य त्वं विस्तरेण वदस्व मे ॥ १४ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके उन वीरोंको किसने शाप दिया था, जिससे उनका संहार हो गया ? आप यह प्रसङ्ग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥ १५ ॥
ते तान् साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है, महर्षि विश्वामित्र, कण्व और तपस्याके धनी नारदजी द्वारकामें गये हुए थे । उस समय दैवके मारे हुए सारण आदि वीर साम्बको स्त्रीके वेषमें विभूषित करके उनके पास ले गये । उन सबने उन मुनियोंका दर्शन किया और इस प्रकार पूछा—॥ १५-१६ ॥

इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमियं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

'महर्षियो ! यह स्त्री अमित तेजस्वी बभ्रुकी पत्नी है । बभ्रुके मनमें पुत्रकी बड़ी लालसा है । आपलोग ऋषि हैं; अतः अच्छी तरह सोचकर बतावें, इसके गर्भसे क्या उत्पन्न होगा ? ॥ १७ ॥

इत्युक्तास्ते तदा राजन् विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् मुनयो यत् तच्छृणु नराधिप ॥ १८ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! ऐसी बात कहकर उन यादवोंने जब ऋषियोंको धोखा दिया और इस प्रकार उनका तिरस्कार किया, तब उन्होंने उन बालकोंको जो उत्तर दिया, उसे सुनो ॥१८॥

वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।
वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनयिष्यति ॥ १९ ॥
येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥ २० ॥
समुद्रं यास्यति श्रीमांस्त्यक्त्वा देहं हलायुधः ।
जरा कृष्णं महात्मानं शयानं भुवि भेत्स्यति ॥ २१ ॥
इत्यब्रुवन्त ते राजन् प्रलब्धास्तैर्दुरात्मभिः ।
मुनयः क्रोधरक्ताक्षाः समीक्ष्याथ परस्परम् ॥ २२ ॥

राजन् ! उन दुर्बुद्धि बालकोंके वञ्चनापूर्ण बर्तावसे वे सभी महर्षि कुपित हो उठे । क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे एक-दूसरेकी ओर देखकर इस प्रकार बोले—'क्रूर, क्रोधी और दुराचारी यादवकुमारो ! भगवान् श्रीकृष्णका यह पुत्र साम्ब एक भयंकर लोहेका मूसल उत्पन्न करेगा, जो वृष्णि और अन्धकवंशके विनाशका कारण होगा । उसीसे तुम

लोग बलराम और श्रीकृष्णके सिवा अपने शेष समस्त कुलका संहार कर डालोगे। हलधारी श्रीमान् बलरामजी स्वयं ही अपने शरीरको त्यागकर समुद्रमें चले जायँगे और महात्मा श्रीकृष्ण जब भूतलपर सो रहे होंगे, उस समय जरा नामक व्याध उन्हें अपने बाणोंसे बींध डालेगा ॥ १९-२२ ॥

तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः।
अथाब्रवीत् तदा वृष्णीञ्छ्रुत्वैवं मधुसूदनः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे मुनि भगवान् श्रीकृष्णके पास चले गये। (वहाँ उन्होंने उनसे सारी बातें कह सुनायीं।) यह सब सुनकर भगवान् मधुसूदनने वृष्णिवंशियोंसे कहा—॥ २३ ॥

अन्तज्ञो मतिमांस्तस्य भवितव्यं तथेति तान्।
एवमुक्त्वा हृषीकेशः प्रविवेश पुरं तदा ॥ २४ ॥

'ऋषियोंने जैसा कहा है, वैसा ही होगा।' बुद्धिमान् श्रीकृष्ण सबके अन्तको जाननेवाले हैं। उन्होंने उपर्युक्त बात कहकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

कृतान्तमन्यथा नैच्छत् कर्तुं स जगतः प्रभुः।
श्वोभूतेऽथ ततः साम्बो मुसलं तदसूत वै ॥ २५ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं तथापि यदुवंशियोंपर आनेवाले उस कालको उन्होंने पलटनेकी इच्छा नहीं की। दूसरे दिन सबेरा होते ही साम्बने उस मूसलको जन्म दिया ॥ २५ ॥

येन वृष्ण्यन्धककुले पुरुषा भस्मसात् कृताः।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय किंकरप्रतिमं महत् ॥ २६ ॥

वह वही मूसल था, जिसने वृष्णि और अन्धककुलके समस्त पुरुषोंको भस्मसात् कर दिया। वृष्णि और अन्धक-वंशके वीरोंका विनाश करनेके लिये वह महान् यमदूतके ही तुल्य था ॥ २६ ॥

असूत शापजं घोरं तच्च राज्ञे न्यवेदयन्।
विषण्णरूपस्तद् राजा सूक्ष्मं चूर्णमकारयत् ॥ २७ ॥

जब साम्बने उस शापजनित भयंकर मूसलको पैदा किया, तब यदुवंशियोंने उसे ले जाकर राजा उग्रसेनको दे दिया। उसे देखते ही राजाके मनमें विषाद छा गया। उन्होंने उस मूसलको कुटवाकर अत्यन्त महीन चूर्ण करा दिया ॥

तच्चूर्णं सागरे चापि प्राक्षिपन् पुरुषा नृप।
अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते ॥ २८ ॥
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः।
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ॥ २९ ॥
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः।

नरेश्वर! राजाकी आज्ञासे उनके सेवकोंने उस लोहचूर्ण-को समुद्रमें फेंक दिया। फिर उग्रसेन, भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम और महामना बभ्रुके आदेशसे राजपुरुषोंने नगरमें यह घोषणा करा दी कि 'आजसे समस्त वृष्णिवंशी और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके यहाँ कोई भी नगरनिवासी मदिरा न तैयार करें ॥ २८-२९½ ॥

यश्च नोऽविदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ॥ ३० ॥
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः।

'जो मनुष्य कहीं भी हमलोगोंसे छिपकर कोई नशीली पीनेकी वस्तु तैयार करेगा, वह स्वयं वह अपराध करके जीते-जी अपने भाई-बन्धुओंसहित शूलीपर चढ़ा दिया जायगा' ॥

ततो राजभयात् सर्वे नियमं चक्रिरे तदा।
नराः शासनमाज्ञाय रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले बलरामजीका यह शासन समझकर सब लोगोंने राजाके भयसे यह नियम बना लिया कि 'आजसे न तो मदिरा बनाना है न पीना' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि मुसलोत्पत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें मुसलकी उत्पत्तिविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

द्वारकामें भयंकर उत्पात देखकर भगवान् श्रीकृष्णका यदुवंशियोंको तीर्थयात्राके लिये आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग अपने ऊपर आनेवाले संकटका निवारण करनेके लिये भाँति-भाँतिके प्रयत्न कर रहे थे और उधर काल प्रतिदिन सबके घरोंमें चक्कर लगाया करता था ॥ १ ॥

करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः।
गृहाण्यावेक्ष्य वृष्णीनां नादृश्यत क्वचित् क्वचित् ॥ २ ॥

उसका स्वरूप विकराल और वेष विकट था। उसके शरीरका रंग काला और पीला था। वह मूँड़ मुड़ाये हुए पुरुषके रूपमें वृष्णिवंशियोंके घरोंमें प्रवेश करके सबको देखता और कभी-कभी अदृश्य हो जाता था ॥ २ ॥

तमघ्नन्त महेष्वासाः शरैः शतसहस्रशः।

न चाशक्यत वेद्धुं स सर्वभूतात्ययस्तदा ॥ ३ ॥

उसे देखनेपर बड़े-बड़े धनुर्धर वीर उसके ऊपर लाखों बाणोंका प्रहार करते थे; परंतु सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले उस कालको वे वेध नहीं पाते थे ॥ ३ ॥

उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो लोमहर्षणाः ॥ ४ ॥

अब प्रतिदिन अनेक बार भयंकर आँधी उठने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उससे वृष्णियों और अन्धकोंके विनाशकी सूचना मिल रही थी ॥ ४॥

विवृद्धमूषिका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा ।
केशा नखाश्च सुप्तानामद्यन्ते मूषिकैर्निशि ॥ ५ ॥

चूहे इतने बढ़ गये थे कि वे सड़कोंपर छाये रहते थे। मिट्टीके बरतनोंमें छेद कर देते थे तथा रातमें सोये हुए मनुष्योंके केश और नख कुतरकर खा जाया करते थे ॥ ५ ॥

चीचीकूचीति वाशन्ति सारिका वृष्णिवेश्मसु ।
नोपशाम्यति शब्दश्च स दिवारात्रमेव हि ॥ ६ ॥

वृष्णिवंशियोंके घरोंमें मैनाएँ दिन-रात चें-चें किया करती थीं। उनकी आवाज कभी एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होती थी ॥ ६ ॥

अन्वकुर्वन्नुलूकानां सारसा विरुतं तथा ।
अजाः शिवानां विरुतमन्वकुर्वत भारत ॥ ७ ॥

भारत ! सारस उल्लुओंकी और बकरे गीदड़ोंकी बोलीकी नकल करने लगे ॥ ७ ॥

पाण्डुरा रक्तपादाश्च विहगाः कालचोदिताः ।
वृष्ण्यन्धकानां गेहेषु कपोता व्यचरंस्तदा ॥ ८ ॥

कालकी प्रेरणासे वृष्णियों और अन्धकोंके घरोंमें सफेद पंख और लाल पैरोंवाले कबूतर घूमने लगे ॥ ८ ॥

व्यजायन्त खरा गोषु करभाऽश्वतरीषु च ।
शुनीष्वपि बिडालाश्च मूषिका नकुलीषु च ॥ ९ ॥

गौओंके पेटसे गदहे, खचरियोंसे हाथी, कुतियोंसे बिलाव और नेवलियोंके गर्भसे चूहे पैदा होने लगे ॥ ९ ॥

नापत्रपन्त पापानि कुर्वन्तो वृष्णयस्तदा ।
प्राद्विषन् ब्राह्मणांश्चापि पितॄन् देवांस्तथैव च ॥ १० ॥

उन दिनों वृष्णिवंशी खुल्लमखुल्ला पाप करते और उसके लिये लज्जित नहीं होते थे। वे ब्राह्मणों, देवताओं और पितरोंसे भी द्वेष रखने लगे ॥ १० ॥

गुरूंश्चाप्यवमन्यन्ते न तु रामजनार्दनौ ।
पत्न्यः पतीनुच्चरन्त पत्नीश्च पतयस्तथा ॥ ११ ॥

इतना ही नहीं, वे गुरुजनोंका भी अपमान करते थे। केवल बलराम और श्रीकृष्णका ही तिरस्कार नहीं करते थे। पत्नियाँ पतियोंको और पति अपनी पत्नियोंको धोखा देने लगे ॥ ११ ॥

विभावसुः प्रज्वलितो वामं विपरिवर्तते ।
नीललोहितमञ्जिष्ठा विसृजन्नर्चिषः पृथक् ॥ १२ ॥

अग्निदेव प्रज्वलित होकर अपनी लपटोंको वामावर्त घुमाते थे। उनसे कभी नीले रंगकी, कभी रक्त वर्णकी और कभी मजीठके रंगकी पृथक्-पृथक् लपटें निकलती थीं॥ १२॥

उदयास्तमने नित्यं पुर्यां तस्यां दिवाकरः ।
व्यदृश्यतासकृत् पुम्भिः कबन्धैः परिवारितः ॥ १३ ॥

उस नगरीमें रहनेवाले लोगोंको उदय और अस्तके समय सूर्यदेव प्रतिदिन बारंबार कबन्धोंसे घिरे दिखायी देते थे ॥ १३ ॥

महानसेषु सिद्धेषु संस्कृतेऽतीव भारत ।
आहार्यमाणे कृमयो व्यदृश्यन्त सहस्रशः ॥ १४ ॥

अच्छी तरह छौंक-बघारकर जो रसोइयाँ तैयार की जाती थीं, उन्हें परोसकर जब लोग भोजनके लिये बैठते थे, तब उनमें हजारों कीड़े दिखायी देने लगते थे ॥ १४ ॥

पुण्याहे वाच्यमाने तु जपत्सु च महात्मसु ।
अभिधावन्तः श्रूयन्ते न चादृश्यत कश्चन ॥ १५ ॥

जब पुण्याहवाचन किया जाता और महात्मा पुरुष जप करने लगते थे, उस समय कुछ लोगोंके दौड़नेकी आवाज सुनायी देती थी; परंतु कोई दिखायी नहीं देता था ॥ १५ ॥

परस्परं च नक्षत्रं हन्यमानं पुनः पुनः ।
ग्रहैरपश्यन् सर्वे ते नात्मनस्तु कथंचन ॥ १६ ॥

सब लोग बारंबार यह देखते थे कि नक्षत्र आपसमें तथा ग्रहोंके साथ भी टकरा जाते हैं, परंतु कोई भी किसी तरह अपने नक्षत्रको नहीं देख पाता था ॥ १६ ॥

नदन्तं पाञ्चजन्यं च वृष्ण्यन्धकनिवेशने ।
समन्तात् पर्यवाशन्त रासभा दारुणस्वराः ॥ १७ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णका पाञ्चजन्य शङ्ख बजता था, तब वृष्णियों और अन्धकोंके घरके आसपास चारों ओर भयंकर स्वरवाले गदहे रेंकने लगते थे ॥ १७ ॥

एवं पश्यन् हृषीकेशः सम्प्राप्तं कालपर्ययम् ।
त्रयोदश्याममावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम् ॥ १८ ॥

इस तरह कालका उलट-फेर प्राप्त हुआ देख और त्रयोदशी तिथिको अमावास्याका संयोग जान भगवान् श्रीकृष्णने सब लोगोंसे कहा—॥ १८ ॥

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः ।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥ १९ ॥

'वीरो ! इस समय राहुने फिर चतुर्दशीको ही अमावास्या

बना दिया है। महाभारतयुद्धके समय जैसा योग था वैसा ही आज भी है। यह सब हमलोगोंके विनाशका सूचक है' ॥१९॥

विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥ २० ॥

इस प्रकार समयका विचार करते हुए केशिहन्ता श्रीकृष्णने जब उसका विशेष चिन्तन किया, तब उन्हें मालूम हुआ कि महाभारतयुद्धके बाद यह छत्तीसवाँ वर्ष आ पहुँचा ॥२०॥

पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी हतबान्धवा।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागमत् ॥ २१ ॥

वे बोले—'बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर पुत्रशोकसे संतप्त हुई गान्धारी देवीने अत्यन्त व्यथित होकर हमारे कुलके लिये जो शाप दिया था, उसके सफल होनेका यह समय आ गया है ॥ २१ ॥

इदं च तदनुप्राप्तमब्रवीद् यद् युधिष्ठिरः।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान् ॥ २२ ॥

'पूर्वकालमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाएँ जब व्यूहबद्ध होकर आमने-सामने खड़ी हुईं, उस समय भयानक उत्पातोंको देखकर युधिष्ठिरने जो कुछ कहा था, वैसा ही लक्षण इस समय भी उपस्थित है' ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत्।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिंदमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णने गान्धारीके उस कथनको सत्य करनेकी इच्छासे यदुवंशियोंको उस समय तीर्थयात्राके लिये आज्ञा दी ॥ २३ ॥

अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात्।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः ॥ २४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे राजकीय पुरुषोंने उस पुरीमें यह घोषणा कर दी कि 'पुरुषप्रवर यादवो! तुम्हें समुद्रमें ही तीर्थयात्राके लिये चलना चाहिये। अर्थात् सबको प्रभासक्षेत्रमें उपस्थित होना चाहिये' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि उत्पातदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें उत्पातदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कृतवर्मा आदि समस्त यादवोंका परस्पर संहार

वैशम्पायन उवाच

काली स्त्री पाण्डुरैर्दन्तैः प्रविश्य हसती निशि।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्ती द्वारकां परिधावति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्वारकाके लोग रातको स्वप्नोंमें देखते थे कि एक काले रंगकी स्त्री अपने सफेद दाँतोंको दिखा-दिखाकर हँसती हुई आयी है और घरोंमें प्रवेश करके स्त्रियोंका सौभाग्य-चिह्न लूटती हुई सारी द्वारकामें दौड़ लगा रही है ॥ १ ॥

अग्निहोत्रनिकेतेषु वास्तुमध्येषु वेश्मसु।
वृष्ण्यन्धकानखादन्त स्वप्ने गृध्रा भयानकाः ॥ २ ॥

अग्निहोत्रगृहोंमें जिनके मध्यभागमें वास्तुकी पूजा-प्रतिष्ठा हुई है, ऐसे घरोंमें भयंकर गृध्र आकर वृष्णि और अन्धक-वंशके मनुष्योंको पकड़-पकड़कर खा रहे हैं। यह भी स्वप्नमें दिखायी देता था ॥ २ ॥

अलंकाराश्च छत्रं च ध्वजाश्च कवचानि च।
ह्रियमाणान्यदृश्यन्त रक्षोभिः सुभयानकैः ॥ ३ ॥

अत्यन्त भयानक राक्षस उनके आभूषण, छत्र, ध्वजा और कवच चुराकर भागते देखे जाते थे ॥ ३ ॥

तच्चाग्निदत्तं कृष्णस्य वज्रनाभमयोमयम्।
दिवमाचक्रमे चक्रं वृष्णीनां पश्यतां तदा ॥ ४ ॥

जिसकी नाभिमें वज्र लगा हुआ था, जो सब-का-सब लोहेका ही बना था, वह अग्निदेवका दिया हुआ श्रीविष्णुका चक्र वृष्णिवंशियोंके देखते-देखते दिव्य लोकमें चला गया ॥४॥

युक्तं रथं दिव्यमादित्यवर्णं
हया हरन् पश्यतो दारुकस्य।
ते सागरस्योपरिष्टादवर्तन्
मनोजवाश्चतुरो वाजिमुख्याः ॥ ५ ॥

भगवान्‌का जो सूर्यके समान तेजस्वी और जुता हुआ दिव्य रथ था, उसे दारुकके देखते-देखते घोड़े उड़ा ले गये। वे मनके समान वेगशाली चारों श्रेष्ठ घोड़े समुद्रके जलके ऊपर-ऊपरसे ही चले गये ॥ ५ ॥

तालः सुपर्णश्च महाध्वजौ तौ
सुपूजितौ रामजनार्दनाभ्याम्।
उच्चैर्जह्रुरप्सरसो दिवानिशं
वाचश्चोचुर्गम्यतां तीर्थयात्रा ॥ ६ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण जिनकी सदा पूजा करते थे, उन ताल और गरुड़के चिह्नसे युक्त दोनों विशाल ध्वजोंको अप्सराएँ ऊँचे उठा ले गयीं और दिन-रात लोगोंसे यह बात कहने लगीं कि 'अब तुमलोग तीर्थयात्राके लिये निकलो' ॥६॥

ततो जिगमिषन्तस्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सान्तःपुरास्तदा तीर्थयात्रामैच्छन् नरर्षभाः ॥ ७ ॥

तदनन्तर पुरुषश्रेष्ठ वृष्णि और अन्धक महारथियोंने अपनी स्त्रियोंके साथ उस समय तीर्थयात्रा करनेका विचार किया। अब उनमें द्वारका छोड़कर अन्यत्र जानेकी इच्छा हो गयी थी ॥ ७ ॥

ततो भोज्यं च भक्ष्यं च पेयं चान्धकवृष्णयः ।
बहु नानाविधं चक्रुर्मद्यं मांसमनेकशः ॥ ८ ॥

तब अन्धकों और वृष्णियोंने नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, पेय, मद्य और भाँति-भाँतिके मांस तैयार कराये ॥ ८ ॥

ततः सैनिकवर्गाश्च निर्ययुर्नगराद् बहिः ।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः ॥ ९ ॥

इसके बाद सैनिकोंके समुदाय, जो शोभासम्पन्न और प्रचण्ड तेजस्वी थे, रथ, घोड़े और हाथियोंपर सवार होकर नगरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

ततः प्रभासे न्यवसन् यथोद्दिष्टं यथागृहम् ।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा ॥ १० ॥

उस समय स्त्रियोंसहित समस्त यदुवंशी प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर अपने-अपने अनुकूल घरोंमें ठहर गये। उनके साथ खाने-पीनेकी बहुत-सी सामग्री थी ॥ १० ॥

निविष्टांस्तान् निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित् ।
जगामामन्त्र्य तान् वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥ ११ ॥

परमार्थ-ज्ञानमें कुशल और योगवेत्ता उद्धवजीने देखा कि समस्त वीर यदुवंशी समुद्रतटपर डेरा डाले बैठे हैं। तब वे उन सबसे पूछकर— विदा लेकर वहाँसे चल दिये ॥ ११ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिम् ।
जानन् विनाशं वृष्णीनां नैच्छद् वारयितुं हरिः ॥ १२ ॥

महात्मा उद्धव भगवान् श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर प्रणाम करके जब वहाँसे प्रस्थित हुए, तब श्रीकृष्णने उन्हें वहाँ रोकनेकी इच्छा नहीं की; क्योंकि वे जानते थे कि यहाँ ठहरे हुए वृष्णिवंशियोंका विनाश होनेवाला है ॥ १२ ॥

ततः कालपरीतास्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
अपश्यन्नुद्धवं यान्तं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ १३ ॥

कालसे घिरे हुए वृष्णि और अन्धक महारथियोंने देखा कि उद्धव अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके यहाँसे चले जा रहे हैं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणार्थेषु यत् सिद्धमन्नं तेषां महात्मनाम् ।
तद् वानरेभ्यः प्रददुः सुरागन्धसमन्वितम् ॥ १४ ॥

उन महामनस्वी यादवोंके यहाँ ब्राह्मणोंको जिमानेके लिये जो अन्न तैयार किया गया था, उसमें मदिरा मिलाकर उसकी गन्धसे युक्त हुए उस भोजनको उन्होंने वानरोंको बाँट दिया ॥

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकुलम् ।
अवर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बजने लगे। सब ओर नटों और नर्तकोंका नृत्य होने लगा। इस प्रकार प्रभासक्षेत्रमें प्रचण्ड तेजस्वी यादवोंका वह महापान आरम्भ हुआ।

कृष्णस्य संनिधौ रामः सहितः कृतवर्मणा ।
अपिबद् युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णके पास ही कृतवर्मासहित बलराम, सात्यकि, गद और बभ्रु पीने लगे ॥ १६ ॥

ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः ।
अब्रवीत् कृतवर्माणमवहास्यावमन्य च ॥ १७ ॥

पीते-पीते सात्यकि मदसे उन्मत्त हो उठे और यादवोंकी उस सभामें कृतवर्माका उपहास तथा अपमान करते हुए इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

कः क्षत्रियोऽहन्यमानः सुप्तान् हन्यान्मृतानिव ।
तन्न मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत् त्वया कृतम् ॥ १८ ॥

'हार्दिक्य! तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो अपने ऊपर आघात न होते हुए भी रातमें मुर्दोंके समान अचेत पड़े हुए मनुष्योंकी हत्या करेगा। तूने जो अन्याय किया है, उसे यदुवंशी कभी क्षमा नहीं करेंगे' ॥ १८ ॥

इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ॥ १९ ॥

सात्यकिके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने कृतवर्माका तिरस्कार करके सात्यकिके उपर्युक्त वचनकी प्रशंसा एवं अनुमोदन किया ॥ १९ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ॥ २० ॥

यह सुनकर कृतवर्मा अत्यन्त कुपित हो उठा और बायें हाथसे अंगुलिका इशारा करके सात्यकिका अपमान करता हुआ बोला—॥ २० ॥

भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ॥ २१ ॥

'अरे! युद्धमें भूरिश्रवाकी बाँह कट गयी थी और वे मरणान्त उपवासका निश्चय करके पृथ्वीपर बैठ गये थे, उस अवस्थामें तूने वीर कहलाकर भी उनकी क्रूरतापूर्ण हत्या क्यों की?' ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
तिर्यक्सरोषया दृष्ट्या वीक्षांचक्रे स मन्युमान् ॥ २२ ॥

कृतवर्माकी यह बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको क्रोध आ गया। उन्होंने रोषपूर्ण टेढ़ी दृष्टिसे उसकी ओर देखा ॥ २२ ॥

मणिः स्यमन्तकश्चैव यः स सत्राजितोऽभवत् ।
तां कथां श्रावयामास सात्यकिर्मधुसूदनम् ॥ २३ ॥

उस समय सात्यकिने मधुसूदनको सत्राजित्के पास जो स्यमन्तकमणि थी, उसकी कथा कह सुनायी (अर्थात् यह

बताया कि कृतवर्माने ही मणिके लोभसे सत्राजित्का वध करवाया था) ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा केशवस्याङ्कमगमद् रुदती तदा ।
सत्यभामा प्रकुपिता कोपयन्ती जनार्दनम् ॥ २४ ॥

यह सुनकर सत्यभामाके क्रोधकी सीमा न रही। वह श्रीकृष्णका क्रोध बढ़ाती और रोती हुई उनके अङ्कमें चली गयी ॥ २४ ॥

तत उत्थाय सक्रोधः सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
पञ्चानां द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ॥ २५ ॥
एष गच्छामि पदवीं सत्येन च तथा शपे ।
सौप्तिके ये च निहताः सुप्ता येन दुरात्मना ॥ २६ ॥
द्रोणपुत्रसहायेन पापेन कृतवर्मणा ।
समाप्तमायुरस्याद्य यशश्चैव सुमध्यमे ॥ २७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकि उठे और इस प्रकार बोले—'सुमध्यमे ! यह देखो, मैं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंके, धृष्टद्युम्नके और शिखण्डीके मार्गपर चलता हूँ, अर्थात् उनके मारनेका बदला लेता हूँ और सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जिस पापी दुरात्मा कृतवर्माने द्रोणपुत्रका सहायक बनकर रातमें सोते समय उन वीरोंका वध किया था, आज उसकी भी आयु और यशका अन्त हो गया' ॥ २५–२७ ॥

इत्येवमुक्त्वा खड्गेन केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए सात्यकिने श्रीकृष्णके पाससे दौड़कर तलवारसे कृतवर्माका सिर काट लिया ॥ २८ ॥

तथान्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ॥ २९ ॥

फिर वे दूसरे-दूसरे लोगोंका भी सब ओर घूमकर वध करने लगे। यह देख भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें रोकनेके लिये दौड़े ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायचोदिताः ।
भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ॥ ३० ॥

महाराज ! इतनेहीमें कालकी प्रेरणासे भोज और अन्धक-वंशके समस्त वीरोंने एकमत होकर सात्यकिको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णमभिक्रुद्धाञ्जनार्दनः ।
न चुक्रोध महातेजा जानन् कालस्य पर्ययम् ॥ ३१ ॥

उन्हें कुपित होकर तुरंत धावा करते देख महातेजस्वी श्रीकृष्ण कालके उलट-फेरको जाननेके कारण कुपित नहीं हुए॥

ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताः कालधर्मणा ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तदा ॥ ३२ ॥

वे सब-के-सब मदिरापानजनित मदके आवेशसे उन्मत्त हो उठे थे। इधर कालधर्मा मृत्यु भी उन्हें प्रेरित कर रहा था। इसलिये वे जूठे बरतनोंसे सात्यकिपर आघात करने लगे ॥ ३२॥

हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यन् शिनेः सुतम् ॥ ३३ ॥

जब सात्यकि इस प्रकार मारे जाने लगे, तब क्रोधमें भरे हुए रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न उन्हें संकटसे बचानेके लिये स्वयं उनके और आक्रमणकारियोंके बीचमें कूद पड़े ॥ ३३ ॥

स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
व्यायच्छमानौ तौ वीरौ बाहुद्रविणशालिनौ ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्न भोजोंसे भिड़ गये और सात्यकि अन्धकोंके साथ जूझने लगे। अपनी भुजाओंके बलसे सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर बड़े परिश्रमके साथ विरोधियोंका सामना करते रहे॥

बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ।
हतं दृष्ट्वा च शैनेयं पुत्रं च यदुनन्दनः ॥ ३५ ॥
एरकाणां ततो मुष्टिं कोपाज्जग्राह केशवः ।

परंतु विपक्षियोंकी संख्या बहुत अधिक थी; इसलिये वे दोनों श्रीकृष्णके देखते-देखते उनके हाथसे मार डाले गये। सात्यकि तथा अपने पुत्रको मारा गया देख यदुनन्दन श्रीकृष्णने कुपित होकर एक मुट्ठी एरका उखाड़ ली ॥ ३५½ ॥

तदभून्मुसलं घोरं वज्रकल्पमयोमयम् ॥ ३६ ॥
जघान कृष्णस्तांस्तेन ये ये प्रमुखतोऽभवन् ।

उनके हाथमें आते ही वह घास वज्रके समान भयंकर लोहेका मूसल बन गयी। फिर तो जो-जो सामने आये, उन सबको श्रीकृष्णने उसीसे मार गिराया ॥ ३६½ ॥

ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ॥ ३७ ॥
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालचोदिताः ।

उस समय कालसे प्रेरित हुए अन्धक, भोज, शिनि और वृष्णिवंशके लोगोंने उस भीषण मारकाटमें उन्हीं मूसलोंसे एक-दूसरेको मारना आरम्भ किया ॥ ३७½ ॥

यस्तेषामेरकां कश्चिज्जग्राह कुपितो नृप ॥ ३८ ॥
वज्रभूतेव सा राजन्नदृश्यत तदा विभो ।

नरेश्वर ! उनमेंसे जो कोई भी क्रोधमें आकर एरका नामक घास लेता, उसीके हाथमें वह वज्रके समान दिखायी देने लगती थी ॥ ३८½ ॥

तृणं च मुसलीभूतमपि तत्र व्यदृश्यत ॥ ३९ ॥
ब्रह्मदण्डकृतं सर्वमिति तद् विद्धि पार्थिव ।

पृथ्वीनाथ ! एक साधारण तिनका भी मूसल होकर दिखायी देता था; यह सब ब्राह्मणोंके शापका ही प्रभाव समझो॥

अविध्यान् विध्यते राजन् प्रक्षिपन्ति स्म यत् तृणम् ॥
तद् वज्रभूतं मुसलं व्यदृश्यत तदा दृढम् ।

राजन् ! वे जिस किसी भी तृणका प्रहार करते, वह अभेद्य वस्तुका भी भेदन कर डालता था और वज्रमय मूसलके समान सुदृढ़ दिखायी देता था ॥ ४०½ ॥

अवधीत् पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ॥ ४१ ॥
मत्ताः परिपतन्ति स्म योधयन्तः परस्परम् ।
पतङ्गा इव चाग्नौ ते निपेतुः कुकुरान्धकाः ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! उस मूसलसे पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला। जैसे पतिंगे आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार कुकुर और अन्धकवंशके लोग परस्पर जूझते हुए एक दूसरेपर मतवाले होकर टूटते थे ॥ ४१-४२ ॥

नासीत् पलायने बुद्धिर्वध्यमानस्य कस्यचित् ।
तत्रापश्यन्महाबाहुर्जानन् कालस्य पर्ययम् ॥ ४३ ॥
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ स मधुसूदनः ।

वहाँ मारे जानेवाले किसी योद्धाके मनमें वहाँसे भाग जानेका विचार नहीं होता था। कालचक्रके इस परिवर्तनको जानते हुए महाबाहु मधुसूदन वहाँ चुपचाप सब कुछ देखते रहे और मूसलका सहारा लेकर खड़े रहे ॥ ४३½ ॥

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः ॥ ४४ ॥
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ।

भारत ! श्रीकृष्ण जब अपने पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण और प्रद्युम्नको तथा पोते अनिरुद्धको भी मारा गया देखा, तब उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी ॥ ४४½ ॥

गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः ॥ ४५ ॥
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ।

अपने छोटे भाई गदको रणशय्यापर पड़ा देख वे अत्यन्त रोषसे आगबबूला हो उठे; फिर तो शार्ङ्गधनुष, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीकृष्णने उस समय शेष बचे हुए समस्त यादवोंका संहार कर डाला ॥ ४५½ ॥

तन्निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरंजयः ॥ ४६ ॥
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ।

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले महातेजस्वी बभ्रु और दारुकने उस समय यादवोंका संहार करते हुए श्रीकृष्णसे जो कुछ कहा, उसे सुनो—॥ ४६½ ॥

भगवन् निहताः सर्वे त्वया भूयिष्ठशो नराः ।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ॥ ४७ ॥

'भगवन् ! अब सबका विनाश हो गया । इनमेंसे अधिकांश तो आपके हाथों मारे गये हैं । अब बलरामजीका पता लगाइये । अब हम तीनों उधर ही चलें, जिधर बलराम-जी गये हैं' ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि कृतवर्मादीनां परस्परहनने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें कृतवर्मा आदि समस्त यादवोंका संहारविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

दारुकका अर्जुनको सूचना देनेके लिये हस्तिनापुर जाना, बभ्रुका देहावसान एवं बलराम और श्रीकृष्णका परमधाम-गमन

वैशम्पायन उवाच

ततो ययुर्दारुकः केशवश्च
बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः ।
अथापश्यन् राममनन्तवीर्यं
वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दारुक, बभ्रु और भगवान् श्रीकृष्ण तीनों ही बलरामजीके चरणचिह्न देखते हुए वहाँसे चल दिये । थोड़ी ही देर बाद उन्होंने अनन्त पराक्रमी बलरामजीको एक वृक्षके नीचे विराजमान देखा, जो एकान्तमें बैठकर ध्यान कर रहे थे ॥ १ ॥

ततः समासाद्य महानुभावं
कृष्णस्तदा दारुकमन्वशासत् ।

गत्वा कुरून् सर्वमिमं महान्तं
पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ॥ २ ॥

उन महानुभावके पास पहुँचकर श्रीकृष्णने तत्काल दारुकको आज्ञा दी कि 'तुम शीघ्र ही कुरुदेशकी राजधानी हस्तिनापुरमें जाकर अर्जुनको यादवोंके इस महासंहारका सारा समाचार कह सुनाओ ॥ २ ॥

ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु
श्रुत्वा मृतान् यादवान् ब्रह्मशापात्।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन
कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ॥ ३ ॥

'ब्राह्मणोंके शापसे यदुवंशियोंकी मृत्युका समाचार पाकर अर्जुन शीघ्र ही द्वारका चले आवें।' श्रीकृष्णके इस प्रकार आज्ञा देनेपर दारुक रथपर सवार हो तत्काल कुरुदेशको चला गया। वह भी इस महान् शोकसे अचेत-सा हो रहा था॥

ततो गते दारुके केशवोऽथ
दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम्।
स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं
नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥ ४ ॥

दारुकके चले जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने निकट खड़े हुए बभ्रुसे कहा—'आप स्त्रियोंकी रक्षाके लिये शीघ्र ही द्वारकाको चले जाइये। कहीं ऐसा न हो कि डाकू धनकी लालचसे उनकी हत्या कर डालें' ॥ ४ ॥

स प्रस्थितः केशवेनानुशिष्टो
मदातुरो ज्ञातिवधार्दितश्च।
तं विश्रान्तं संनिधौ केशवस्य
दुरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद् वै
कूटे युक्तं मुसलं लुब्धकस्य।
ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह
कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर बभ्रु वहाँसे प्रस्थित हुए। वे मदिराके मदसे आतुर थे ही, भाई-बन्धुओंके वधसे भी अत्यन्त शोकपीड़ित थे। वे श्रीकृष्णके निकट अभी विश्राम कर ही रहे थे कि ब्राह्मणोंके शापके प्रभावसे उत्पन्न हुआ एक महान् दुर्धर्ष मूसल किसी व्याधके बाणसे लगा हुआ सहसा उनके ऊपर आकर गिरा। उसने तुरंत ही उनके प्राण ले लिये। बभ्रुको मारा गया देख उग्र तेजस्वी श्रीकृष्णने अपने बड़े भाईसे कहा—॥ ५-६ ॥

इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम
यावत् स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि।
ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य
जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम् ॥ ७ ॥

'भैया बलराम! आप यहीं रहकर मेरी प्रतीक्षा करें। जबतक मैं स्त्रियोंको कुटुम्बी जनोंके संरक्षणमें सौंप आता हूँ।' यों कहकर श्रीकृष्ण द्वारिकापुरीमें गये और वहाँ अपने पिता वसुदेवजीसे बोले—॥ ७ ॥

स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा
धनंजयस्यागमनं प्रतीक्षन्।
रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मा-
मास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये ॥ ८ ॥

'तात! आप अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए हमारे कुलकी समस्त स्त्रियोंकी रक्षा करें। इस समय बलरामजी मेरी राह देखते हुए वनके भीतर बैठे हैं। मैं आज ही वहाँ जाकर उनसे मिलूँगा॥ ८ ॥

दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां
राज्ञां च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम्।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां
पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य ॥ ९ ॥

'मैंने इस समय यह यदुवंशियोंका विनाश देखा है और पूर्वकालमें कुरुकुलके श्रेष्ठ राजाओंका भी संहार देख चुका हूँ। अब मैं उन यादव वीरोंके विना उनकी इस पुरीको देखनेमें भी असमर्थ हूँ॥ ९ ॥

तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे
रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य।
इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ
संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम ॥ १० ॥

'अब मुझे क्या करना है, यह सुन लीजिये। वनमें जाकर मैं बलरामजीके साथ तपस्या करूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने

अपने सिरसे पिताके चरणोंका स्पर्श किया। फिर वे भगवान् श्रीकृष्ण वहाँसे तुरंत चल दिये ॥ १० ॥

ततो महान् निनदः प्रादुरासीत्
सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य।
अथाब्रवीत् केशवः संनिवर्त्य
शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम् ॥ ११ ॥

इतनेहीमें उस नगरकी स्त्रियों और बालकोंके रोनेका महान् आर्तनाद सुनायी पड़ा। विलाप करती हुई उन युवतियोंके करुणक्रन्दन सुनकर श्रीकृष्ण पुनः लौट आये और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—॥ ११ ॥

पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची
स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः।
ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श
रामं वने स्थितमेकं विविक्ते ॥ १२ ॥

'देखिये! नरश्रेष्ठ अर्जुन शीघ्र ही इस नगरमें आनेवाले हैं। वे तुम्हें संकटसे बचायेंगे।' यह कहकर वे चले गये। वहाँ जाकर श्रीकृष्णने वनके एकान्त प्रदेशमें बैठे हुए बलरामजीका दर्शन किया ॥ १२ ॥

अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य
नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तम्।
श्वेतं ययौ स ततः प्रेक्ष्यमाणो
महार्णवो येन महानुभावः ॥ १३ ॥

बलरामजी योगयुक्त हो समाधि लगाये बैठे थे। श्रीकृष्णने उनके मुखसे एक श्वेत वर्णके विशालकाय सर्पको निकलते देखा। उनसे देखा जाता हुआ वह महानुभाव नाग जिस ओर महासागर था, उसी मार्गपर चल दिया ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षः पर्वताभोगवर्ष्मा
रक्ताननः स्वां तनुं तां विमुच्य।
सम्यक् च तं सागरः प्रत्यगृह्णा-
न्नागा दिव्याः सरितश्चैव पुण्याः ॥ १४ ॥

वह अपने पूर्व शरीरको त्यागकर इस रूपमें प्रकट हुआ था। उसके सहस्रों मस्तक थे। उसका विशाल शरीर पर्वतके विस्तार-सा जान पड़ता था। उसके मुखकी कान्ति लाल रंगकी थी। समुद्रने स्वयं प्रकट होकर उस नागका—साक्षात् भगवान् अनन्तका भलीभाँति स्वागत किया। दिव्य नागों और पवित्र सरिताओंने भी उनका सत्कार किया ॥ १४ ॥

कर्कोटको वासुकिस्तक्षकश्च
पृथुश्रवा अरुणः कुञ्जरश्च।
मिश्री शङ्खः कुमुदः पुण्डरीक-
स्तथा नागो धृतराष्ट्रो महात्मा ॥ १५ ॥
ह्रादः क्राथः शितिकण्ठोग्रतेजा-
स्तथा नागौ चक्रमन्दातिषण्डौ।
नागश्रेष्ठो दुर्मुखश्चाम्बरीषः
स्वयं राजा वरुणश्चापि राजन् ॥ १६ ॥

राजन्! कर्कोटक, वासुकि, तक्षक, पृथुश्रवा, अरुण, कुञ्जर, मिश्री, शङ्ख, कुमुद, पुण्डरीक, महामना धृतराष्ट्र, ह्राद, क्राथ, शितिकण्ठ, उग्रतेजा, चक्रमन्द, अतिषण्ड, नागप्रवर दुर्मुख, अम्बरीष और स्वयं राजा वरुणने भी उनका स्वागत किया ॥ १५-१६ ॥

प्रत्युद्गम्य स्वागतेनाभ्यनन्दं-
स्तेऽपूजयंश्चार्घ्यपाद्यक्रियाभिः ।
ततो गते भ्रातरि वासुदेवो
जानन् सर्वा गतयो दिव्यदृष्टिः ॥ १७ ॥
वने शून्ये विचरंश्चिन्तयानो
भूमौ चाथ संविवेशाग्र्यतेजाः।
सर्वं तेन प्राक्तदा वित्तमासीद्
गान्धार्या यद् वाक्यमुक्तः स पूर्वम् ॥ १८ ॥

उपर्युक्त सब लोगोंने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की, स्वागतपूर्वक अभिनन्दन किया और अर्घ्य-पाद्य आदि उपचारोंद्वारा उनकी पूजा सम्पन्न की। भाई बलरामके परम-धाम पधारनेके पश्चात् सम्पूर्ण गतियोंको जाननेवाले दिव्यदर्शी भगवान् श्रीकृष्ण कुछ सोचते-विचारते हुए उस सूने वनमें विचरने लगे। फिर वे श्रेष्ठ तेजवाले भगवान् पृथ्वीपर बैठ गये। सबसे पहले उन्होंने वहाँ उस समय उन सारी बातोंको स्मरण किया, जिन्हें पूर्वकालमें गान्धारी देवीने कहा था ॥ १७-१८ ॥

बलरामजीका परमधाम गमन

दुर्वाससा पायसोच्छिष्टलिप्ते
यच्चाप्युक्तं तच्च सस्मार वाक्यम् ।
स चिन्तयन्नन्धकवृष्णिनाशं
कुरुक्षयं चैव महानुभावः ॥ १९ ॥

जूठी खीरको शरीरमें लगानेके समय दुर्वासाने जो बात कही थी, उसका भी उन्हें स्मरण हो आया । फिर वे महानुभाव श्रीकृष्ण अन्धक, वृष्णि और कुरुकुलके विनाशकी बात सोचने लगे ॥ १९ ॥

मेने ततः संक्रमणस्य कालं
ततश्चकारेन्द्रियसंनिरोधम् ।
तथा च लोकत्रयपालनार्थ-
मात्रेयवाक्यप्रतिपालनाय ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने तीनों लोकोंकी रक्षा तथा दुर्वासाके वचनका पालन करनेके लिये अपने परम धाम पधारनेका उपयुक्त समय प्राप्त हुआ समझा तथा इसी उद्देश्यसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियोंका निरोध किया ॥ २० ॥

देवोऽपि सन् देहविमोक्षहेतो-
र्निमित्तमैच्छत् सकलार्थतत्त्ववित् ।
स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अर्थोंके तत्त्ववेत्ता और अविनाशी देवता हैं । तो भी उस समय उन्होंने देहमोक्ष या ऐहलौकिक लीलाका संवरण करनेके लिये किसी निमित्तके प्राप्त होनेकी इच्छा की । फिर वे मन, वाणी और इन्द्रियोंका निरोध करके महायोग (समाधि) का आश्रय ले पृथ्वीपर लेट गये ॥२१॥

जराथ तं देशमुपाजगाम
लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः ।
स केशवं योगयुक्तं शयानं
मृगासक्तो लुब्धकः सायकेन ॥ २२ ॥
जराविध्यत् पादतले त्वरावां-
स्तं चाभितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम ।
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम् ॥ २३ ॥

उसी समय जरानामक एक भयंकर व्याध मृगोंको मार ले जानेकी इच्छासे उस स्थानपर आया । उस समय श्रीकृष्ण योगयुक्त होकर सो रहे थे । मृगोंमें आसक्त हुए उस व्याधने श्रीकृष्णको भी मृग ही समझा और बड़ी उतावलीके साथ बाण मारकर उनके पैरके तलवेमें घाव कर दिया । फिर उस मृगको पकड़नेके लिये जब वह निकट आया, तब योगमें स्थित, चार भुजावाले, पीताम्बरधारी पुरुष भगवान् श्रीकृष्णपर उसकी दृष्टि पड़ी ॥ २२-२३ ॥

मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शंकितात्मा ।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं
गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

अब तो जरा अपनेको अपराधी मानकर मन-ही-मन बहुत डर गया । उसने भगवान् श्रीकृष्णके दोनों पैर पकड़ लिये । तब महात्मा श्रीकृष्णने उसे आश्वासन दिया और अपनी कान्तिसे पृथ्वी एवं आकाशको व्याप्त करते हुए वे ऊर्ध्वलोकमें (अपने परमधामको) चले गये ॥ २४ ॥

दिवं प्राप्तं वासवोऽथाश्विनौ च
रुद्रादित्या वसवश्चाथ विश्वे ।
प्रत्युद्ययुर्मुनयश्चापि सिद्धा
गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः ॥ २५ ॥

अन्तरिक्षमें पहुँचनेपर इन्द्र, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेव, मुनि, सिद्ध, अप्सराओंसहित मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंने आगे बढ़कर भगवान्का स्वागत किया ॥

ततो राजन् भगवानुग्रतेजा
नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च ।
योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या
स्थानं प्राप स्वं महात्माप्रमेयम् ॥ २६ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् जगत्की उत्पत्तिके कारणरूप, उग्र-तेजस्वी, अविनाशी, योगाचार्य महात्मा भगवान् नारायण अपनी प्रभासे पृथ्वी और आकाशको प्रकाशमान करते हुए अपने अप्रमेयधामको प्राप्त हो गये ॥ २६ ॥

ततो देवैर्ऋषिभिश्चापि कृष्णः
समागतश्चारणैश्चैव राजन् ।
गन्धर्वाग्र्यैरप्सरोभिर्वराभिः
सिद्धैः साध्यैश्चानतैः पूज्यमानः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ गन्धर्वों, सुन्दरी अप्सराओं, सिद्धों और साध्योंद्वारा विनीत भावसे पूजित हो देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंसे भी मिले ॥२७॥

तं वै देवाः प्रत्यनन्दन्त राजन्
मुनिश्रेष्ठा ऋग्भिरानर्चुरीशम् ।
तं गन्धर्वाश्चापि तस्थुः स्तुवन्तः
प्रीत्या चैनं पुरुहूतोऽभ्यनन्दत् ॥ २८ ॥

राजन् ! देवताओंने भगवान्का अभिनन्दन किया । श्रेष्ठ महर्षियोंने ऋग्वेदकी ऋचाओंद्वारा उनकी पूजा की । गन्धर्व स्तुति करते हुए खड़े रहे तथा इन्द्रने भी प्रेमवश उनका अभिनन्दन किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि श्रीकृष्णस्य स्वलोकगमने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें श्रीकृष्णका परमधामगमनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुनका द्वारकामें आना और द्वारका तथा श्रीकृष्ण-पत्नियोंकी दशा देखकर दुखी होना

वैशम्पायन उवाच

दारुकोऽपि कुरून् गत्वा दृष्ट्वा पार्थान् महारथान्।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योन्येनोपसंहृतान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दारुकने भी कुरुदेशमें जाकर महारथी कुन्तीकुमारोंका दर्शन किया और उन्हें यह बताया कि समस्त वृष्णिवंशी मौसलयुद्धमें एक दूसरेके द्वारा मार डाले गये ॥ १ ॥

श्रुत्वा विनष्टान् वार्ष्णेयान् सभोजान्धककौकुरान्।
पाण्डवाः शोकसंतप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥ २ ॥

वृष्णि, भोज, अन्धक और कुकुरवंशके वीरोंका विनाश हुआ सुनकर समस्त पाण्डव शोकसे संतप्त हो उठे । वे मन-ही-मन संत्रस्त हो गये ॥ २ ॥

ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा ।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुन अपने भाइयोंसे पूछकर मामासे मिलनेके लिये चल दिये और बोले—'ऐसा नहीं हुआ होगा (समस्त यदुवंशियोंका एक साथ विनाश असम्भव है)' ॥ ३ ॥

स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो ।
ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम् ॥ ४ ॥

प्रभो ! दारुकके साथ वृष्णियोंके निवासस्थानपर पहुँचकर वीर अर्जुनने देखा कि द्वारका नगरी विधवा स्त्रीकी भाँति श्रीहीन हो गयी है ॥ ४ ॥

याः स्म ता लोकनाथेन नाथवत्यः पुराभवन्।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥ ५ ॥
षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः ।

पूर्वकालमें लोकनाथ श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण जो सबसे अधिक सनाथा थीं, वे ही भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार अनाथा स्त्रियाँ अर्जुनको रक्षकके रूपमें आया देख उच्चस्वरसे करुणक्रन्दन करने लगीं ॥ ५½ ॥

तासामासीन्महान् नादो दृष्ट्वैवार्जुनमागतम् ॥ ६ ॥
तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेणापिहितेक्षणः ।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत् सोऽभिवीक्षितुम् ॥ ७ ॥

वहाँ पधारे हुए अर्जुनको देखते ही उन स्त्रियोंका आर्तनाद बहुत बढ़ गया । उन सबपर दृष्टि पड़ते ही अर्जुनकी आँखोंमें आँसू भर आये । पुत्रों और श्रीकृष्णसे हीन हुई उन अनाथ अबलाओंकी ओर उनसे देखा नहीं गया ॥६-७॥

स तां वृष्ण्यन्धकजलां हयमीनां रथोडुपाम् ।
वादित्ररथघोषौघां वेश्मतीर्थमहाह्रदाम् ॥ ८
रत्नशैवलसंघातां वज्रप्राकारमालिनीम् ।
रथ्यास्रोतोजलावर्तां चत्वरस्तिमितह्रदाम् ॥ ९
रामकृष्णमहाग्राहां द्वारकां सरितं तदा ।
कालपाशग्रहां भीमां नदीं वैतरणीमिव ॥ १०
ददर्श वासविर्धीमान् विहीनां वृष्णिपुङ्गवैः ।
गतश्रियं निरानन्दां पद्मिनीं शिशिरे यथा ॥ ११

द्वारकापुरी एक नदीके समान थी । वृष्णि और अन्धक वंशके लोग उसके भीतर जलके समान थे । घोड़े मछली समान थे । रथ नावका काम करते थे । वाद्योंकी ध्वनि और रथकी घरघराहट मानो उस नदीके बहते हुए जलका कलकल नाद थी । लोगोंके घर ही तीर्थ एवं बड़े-बड़े जलाशय थे रत्नोंकी राशि ही वहाँ सेवारसमूहके समान शोभा पात थी । वज्र नामक मणिकी बनी हुई चहारदीवारी ही उसक तटपंक्ति थी । सड़कें और गलियाँ उसमें जलके सोते औ भँवरें थीं, चौराहे मानो उसके स्थिर जलवाले तालाब थे बलराम और श्रीकृष्ण उसके भीतर दो बड़े-बड़े ग्राह थे कालपाश ही उसमें मगर और घड़ियालके समान था । ऐस द्वारकारूपी नदीको बुद्धिमान् अर्जुनने वृष्णिवीरोंसे रहित ह जानेके कारण वैतरणीके समान भयानक देखा । वह शिशिर कालकी कमलिनीके समान श्रीहीन तथा आनन्दशून्य जा पड़ती थी ॥ ८–११ ॥

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च कृष्णस्य योषितः ।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥ १२ ॥

वैसी द्वारकाको और उन श्रीकृष्णकी पत्नियोंको देखकर अर्जुन आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

सात्राजिती ततः सत्या रुक्मिणी च विशाम्पते ।
अभिपत्य प्ररुरुदुः परिवार्य धनंजयम् ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! तब सत्राजित्की पुत्री सत्यभामा तथा रुक्मिणी आदि रानियाँ वहाँ दौड़ी आयीं और अर्जुनको घेरकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगीं ॥ १३ ॥

ततस्तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च ।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ १४ ॥

तदनन्तर अर्जुनको उठाकर उन्होंने सोनेकी चौकीपर बिठाया और उन महात्माको घेरकर बिना कुछ बोले उनके पास बैठ गयीं ॥ १४ ॥

ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः ।

ाश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात्॥ १५ ॥

उस समय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनकी कथा कही और उन रानियोंको आश्वासन देकर वे अपने मामासे मिलनेके लिये गये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि अर्जुनागमने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुनका आगमनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और वसुदेवजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम् ।
ुत्रशोकेन संतप्तं ददर्श कुरुपुङ्गवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मामाके महलमें हुँचकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने देखा कि वीर महात्मा वसुदेवजी ुत्रशोकसे दुखी होकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ १ ॥

स्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
ार्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! चौड़ी छाती और विशाल भुजावाले कुन्ती-ुमार अर्जुन अपने शोकाकुल मामाकी वह दशा देखकर त्यन्त संतप्त हो उठे । उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और न्होंने मामाके दोनों पैर पकड़ लिये ॥ २ ॥

स्य मूर्धानमाघ्रातुमियेषानकदुन्दुभिः ।
स्रीयस्य महाबाहुर्न शशाक च शत्रुहन् ॥ ३ ॥

शत्रुघाती नरेश ! महाबाहु आनकदुन्दुभि (वसुदेव) ने ाहा कि मैं अपने भानजे अर्जुनका मस्तक सूँघ लूँ; परंतु समर्थतावश वे ऐसा न कर सके ॥ ३ ॥

समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः ।
ुदन् पुत्रान् स्मरन् सर्वान् विललाप सुविह्वलः॥ ४ ॥
ातन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च दौहित्रान् ससखीनपि ।

महाबाहु बूढ़े वसुदेवजीने अपनी दोनों भुजाओंसे अर्जुनको ींचकर छातीसे लगा लिया और अपने समस्त पुत्रोंका स्मरण रके रोने लगे । फिर भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, दौहित्रों और मित्रों-ी भी याद करके अत्यन्त व्याकुल हो वे विलाप करने लगे ॥

वसुदेव उवाच

र्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ॥ ५ ॥
ान् दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवाम्यर्जुन दुर्मरः ।

वसुदेव बोले—अर्जुन ! जिन वीरोंने सैकड़ों दैत्यों था राजाओंपर विजय पायी थी, उन्हें आज यहाँ मैं नहीं ख पा रहा हूँ तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते । जान पड़ता , मेरे लिये मृत्यु दुर्लभ है ॥ ५½ ॥

यौ तावर्जुन शिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ॥ ६ ॥
तयोरपनयात् पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ।

अर्जुन ! जो तुम्हारे प्रिय शिष्य थे और जिनका तुम बहुत सम्मान किया करते थे, उन्हीं दोनों (सात्यकि और प्रद्युम्न) के अन्यायसे समस्त वृष्णिवंशी मृत्युको प्राप्त हो गये हैं ॥ ६½ ॥

यौ तौ वृष्णिप्रवीराणां द्वावेवातिरथौ मतौ ॥ ७ ॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च कथयन् कत्थसे च यौ ।
तौ सदा कुरुशार्दूल कृष्णस्य प्रियभाजनौ ॥ ८ ॥
तावुभौ वृष्णिनाशस्य मुखमास्तां धनंजय ।

कुरुश्रेष्ठ धनंजय ! वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें जिन दोको ही अतिरथी माना जाता था तथा तुम भी चर्चा चलाकर जिनकी प्रशंसाके गीत गाते थे, वे श्रीकृष्णके प्रीतिभाजन प्रद्युम्न और सात्यकि ही इस समय वृष्णिवंशियोंके विनाशके प्रमुख कारण बने हैं ॥ ७-८½ ॥

न तु गर्हामि शैनेयं हार्दिक्यं चाहमर्जुन ॥ ९ ॥
अक्रूरं रौक्मिणेयं च शापो ह्येवात्र कारणम् ।

अथवा अर्जुन ! इस विषयमें मैं सात्यकि, कृतवर्मा, अक्रूर और प्रद्युम्नकी निन्दा नहीं करूँगा । वास्तवमें ऋषियोंका शाप ही यादवोंके इस सर्वनाशका प्रधान कारण है ॥ ९½ ॥

केशिनं यस्तु कंसं च विक्रम्य जगतः प्रभुः ॥ १० ॥
विदेहावकरोत् पार्थ चैद्यं च बलगर्वितम् ।
नैषादिमेकलव्यं च चक्रे कालिङ्गमागधान् ॥ ११ ॥
गान्धारान् काशिराजं च मरुभूमौ च पार्थिवान् ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च पर्वतीयांस्तथा नृपान् ॥ १२ ॥
सोऽभ्युपेक्षितवानेतमनयान्मधुसूदनः ।

कुन्तीनन्दन ! जिन जगदीश्वरने पराक्रम प्रकट करके केशी और कंसको देह-बन्धनसे मुक्त कर दिया। बलका घमंड रखनेवाले चेदिराज शिशुपाल, निषादपुत्र एकलव्य, कलिङ्ग-राज, मगधनिवासी क्षत्रिय, गान्धार, काशिराज तथा मरुभूमिके राजाओंको भी यमलोक भेज दिया था, जिन्होंने पूर्व, दक्षिण तथा पर्वतीय प्रान्तके नरेशोंका भी संहार कर डाला था, उन्हीं मधुसूदनने बालकोंकी अनीतिके कारण प्राप्त हुए इस संकटकी उपेक्षा कर दी ॥ १०–१२½ ॥

त्वं हि तं नारदश्चैव मुनयश्च सनातनम् ॥ १३ ॥
गोविन्दमनघं देवमभिजानीध्वमच्युतम् ।
प्रत्यपश्यच्च स विभुर्ज्ञातिक्षयमधोक्षजः ॥ १४ ॥

तुम, देवर्षि नारद तथा अन्य महर्षि भी श्रीकृष्णको पापके सम्पर्कसे रहित, सनातन, अच्युत परमेश्वररूपसे जानते हैं । वे ही सर्वव्यापी अधोक्षज अपने कुटुम्बी जनोंके इस विनाशको चुपचाप देखते रहे ॥ १३-१४ ॥

समुपेक्षितवान् नित्यं स्वयं स मम पुत्रकः ।
गान्धार्या वचनं यत् तदृषीणां च परंतप ॥ १५ ॥
तन्नूनमन्यथा कर्तुं नैच्छत् स जगतः प्रभुः ।

परंतप अर्जुन ! मेरे पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए वे जगदीश्वर गान्धारी तथा महर्षियोंके शापको पलटना नहीं चाहते थे, इसीलिये उन्होंने सदा ही इस संकटकी उपेक्षा की ॥१५½ ॥

प्रत्यक्षं भवतश्चापि तव पौत्रः परंतप ॥ १६ ॥
अश्वत्थाम्ना हतश्चापि जीवितस्तस्य तेजसा ।

परंतप ! तुम्हारा पौत्र परीक्षित् अश्वत्थामाद्वारा मार डाला गया था तो भी श्रीकृष्णके तेजसे वह जीवित हो गया । यह तो तुमलोगोंकी आँखों-देखी घटना है ॥ १६½ ॥

इमांस्तु नैच्छत् स्वाञ्ज्ञातीन् रक्षितुं च सखा तव॥ १७ ॥
ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा ।
शयानान् निहतान् दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ॥ १८ ॥

इतने शक्तिशाली होते हुए भी तुम्हारे सखाने अपने इन भाई-बन्धुओंको प्राणसंकटसे बचानेकी इच्छा नहीं की । जब पुत्र, पौत्र, भाई और मित्र सभी एक दूसरेके हाथसे मरकर धराशायी हो गये, तब उन्हें उस अवस्थामें देखकर श्रीकृष्ण मेरे पास आये और इस प्रकार बोले— ॥ १७-१८ ॥

सम्प्राप्तोऽद्यायमस्यान्तः कुलस्य पुरुषर्षभ ।
आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम् ॥ १९ ॥
आख्येयं तस्य यद् वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत् ।

'पुरुषप्रवर पिताजी ! आज इस कुलका संहार हो गया । अर्जुन द्वारकापुरीमें आनेवाले हैं । आनेपर उनसे वृष्णिवंशियोंके इस महान् विनाशका वृत्तान्त कहियेगा॥१९½॥

स तु श्रुत्वा महातेजा यदूनां निधनं प्रभो ॥ २० ॥
आगन्ता क्षिप्रमेवेह न मेऽत्रास्ति विचारणा ।

'प्रभो ! अर्जुनके पास संदेश भी पहुँचा होगा । वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार यदुवंशियोंके विनाशका यह समाचार सुनकर शीघ्र ही यहाँ आ पहुँचेंगे । इस विषयमें मेरा कोई अन्यथा विचार नहीं है ॥ २०½ ॥

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ॥ २१ ॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति बुद्ध्यस्व माधव ।

'जो मैं हूँ उसे अर्जुन समझिये, जो अर्जुन हैं वह मैं ही हूँ । माधव ! अर्जुन जो कुछ भी कहें वैसा ही आपलोगोंको करना चाहिये । इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥२१½॥

स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च ॥ २२ ॥
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम् ।

'जिन स्त्रियोंका प्रसवकाल समीप हो, उनपर और छोटे बालकोंपर अर्जुन विशेषरूपसे ध्यान देंगे और वे ही आपका और्ध्वदेहिक संस्कार भी करेंगे ॥ २२½ ॥

इमां च नगरीं सद्यः प्रतियाते धनंजये ॥ २३ ॥
प्राकाराट्टालकोपेतां समुद्रः प्लावयिष्यति ।

'अर्जुनके चले जानेपर चहारदीवारी और अट्टालिकाओं सहित इस नगरीको समुद्र तत्काल डुबो देगा ॥ २३½ ॥

अहं देशे तु कस्मिंश्चित् पुण्ये नियममास्थितः ॥ २४ ॥
कालं काङ्क्षे सद्य एव रामेण सह धीमता ।

'मैं किसी पवित्र स्थानमें रहकर शौच-संतोषादि नियमोंका आश्रय ले बुद्धिमान् बलरामजीके साथ शीघ्र ही कालकी प्रतीक्षा करूँगा' ॥ २४½ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः ॥ २५ ॥
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात् प्रभुः ।

ऐसा कहकर अचिन्त्य पराक्रमी प्रभावशाली श्रीकृष्ण बालकोंके साथ मुझे यहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाको चले गये हैं ॥ २५½ ॥

सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन् भ्रातरौ तव ॥ २६ ॥
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः ।
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोऽसि पाण्डव॥ २७ ॥

तबसे मैं तुम्हारे दोनों भाई महात्मा बलराम और श्रीकृष्णका तथा कुटुम्बीजनोंके इस घोर संहारका चिन्तन करके शोकसे गलता जा रहा हूँ । मुझसे भोजन नहीं कि

वसुदेवजी अर्जुनको यादव-विनाशका वृत्तान्त और श्रीकृष्णका संदेश सुना रहे हैं

जाता। अब मैं न तो भोजन करूँगा और न इस जीवनको ही रक्खूँगा। पाण्डुनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि तुम यहाँ आ गये ॥ २६-२७ ॥

यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत् सर्वमखिलं कुरु।
एतत् ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव हि ॥
इष्टान् प्राणानहं हीमांस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन ॥ २८ ॥

पार्थ ! श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, वह सब करो। यह राज्य, ये स्त्रियाँ और ये रत्न—सब तुम्हारे अधीन हैं। शत्रुसूदन ! अब मैं निश्चिन्त होकर अपने इन प्यारे प्राणोंका परित्याग करूँगा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि अर्जुनवसुदेवसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुन और वसुदेवका संवादविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

वसुदेवजी तथा मौसल युद्धमें मरे हुए यादवोंका अन्त्येष्टि-संस्कार करके अर्जुनका द्वारकावासी स्त्री-पुरुषोंको अपने साथ ले जाना, समुद्रका द्वारकाको डुबो देना और मार्गमें अर्जुनपर डाकुओंका आक्रमण, अवशिष्ट यादवोंको अपनी राजधानीमें बसा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परंतप।
दुर्मना दीनवदनो वसुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप ! अपने मामा वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर अर्जुन मन-ही-मन बहुत दुखी हुए। उनका मुख मलिन हो गया। वे वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्यामीह कथंचन ॥ २ ॥

'मामाजी ! वृष्णिवंशके प्रमुख वीर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अपने भाइयोंसे हीन हुई यह पृथ्वी मुझसे अब किसी तरह देखी नहीं जा सकेगी ॥ २ ॥

राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥ ३ ॥

'राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, पाण्डव सहदेव, नकुल, द्रौपदी तथा मैं—ये छः व्यक्ति एक ही हृदय रखते हैं (इनमेंसे कोई भी अब यहाँ रहना नहीं चाहेगा) ॥ ३ ॥

राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम्।
तमिमं विद्धि सम्प्राप्तं कालं कालविदां वर ॥ ४ ॥

'राजा युधिष्ठिरके भी परलोक-गमनका समय निश्चय ही आ गया है। कालज्ञोंमें श्रेष्ठ मामाजी ! यह वही काल प्राप्त हुआ है—ऐसा समझें ॥ ४ ॥

सर्वथा वृष्णिदारास्तु बालं वृद्धं तथैव च।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिंदम ॥ ५ ॥

'शत्रुदमन ! अब मैं वृष्णिवंशकी स्त्रियों, बालकों और बूढ़ोंको अपने साथ ले जाकर इन्द्रप्रस्थ पहुँचाऊँगा' ॥ ५ ॥

इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनंजयः।
अमात्यान् वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि मा चिरम् ॥

मामासे यों कहकर अर्जुनने दारुकसे कहा—'अब मैं वृष्णिवंशी वीरोंके मन्त्रियोंसे शीघ्र मिलना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम्।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान् ॥ ७ ॥

ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुन यादव महारथियोंके लिये शोक करते हुए यादवोंकी सुधर्मा नामक सभामें प्रविष्ट हुए ॥ ७ ॥

तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥

वहाँ एक सिंहासनपर बैठे हुए अर्जुनके पास मन्त्री आदि समस्त प्रकृतिवर्गके लोग तथा वेदवेत्ता ब्राह्मण आये और उन्हें सब ओरसे घेरकर पास ही बैठ गये ॥ ८ ॥

तान् दीनमनसः सर्वान् विमूढान् गतचेतसः।
उवाचेदं वचः काले पार्थो दीनतरस्तथा ॥ ९ ॥

उन सबके मनमें दीनता छा गयी थी। सभी किंकर्तव्य-विमूढ़ एवं अचेत हो रहे थे। अर्जुनकी दशा तो उनसे भी अधिक दयनीय थी। वे उन सभासदोंसे समयोचित वचन बोले—॥ ९ ॥

शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम्।
इदं तु नगरं सर्वं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ १० ॥
सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च।
वज्रोऽयं भवतां राजा शक्रप्रस्थे भविष्यति ॥ ११ ॥

'मन्त्रियो ! मैं वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंको अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले जाऊँगा; क्योंकि समुद्र अब इस सारे नगरको डुबो देगा; अतः तुमलोग तरह-तरहके वाहन और रत्न लेकर तैयार हो जाओ। इन्द्रप्रस्थमें चलनेपर ये श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र तुमलोगोंके राजा बनाये जायँगे ॥ १०-११ ॥

सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम् ॥ १२ ॥

'आजके सातवें दिन निर्मल सूर्योदय होते ही हम सब

लोग इस नगरसे बाहर हो जायँगे। इसलिये सब लोग शीघ्र तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो' ॥ १२ ॥

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वसिद्ध्यर्थं समुत्सुकाः ॥ १३ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर समस्त मन्त्रियोंने अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये अत्यन्त उत्सुक होकर शीघ्र ही तैयारी आरम्भ कर दी ॥ १३ ॥

तां रात्रिमवसत् पार्थः केशवस्य निवेशने ।
महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः ॥ १४ ॥

अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके महलमें ही उस रातको निवास किया। वे वहाँ पहुँचते ही सहसा महान् शोक और मोहमें डूब गये ॥ १४ ॥

श्वोभूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान् ।
युक्त्वाऽऽत्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

सबेरा होते ही महातेजस्वी शूरनन्दन प्रतापी वसुदेवजीने अपने चित्तको परमात्मामें लगाकर योगके द्वारा उत्तम गति प्राप्त की ॥ १५ ॥

ततः शब्दो महानासीद् वसुदेवनिवेशने ।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम् ॥ १६ ॥

फिर तो वसुदेवजीके महलमें बड़ा भारी कुहराम मचा। रोती-चिल्लाती हुई स्त्रियोंका आर्तनाद बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १६ ॥

प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः ।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन् करुणं स्त्रियः ॥ १७ ॥

उन सबके बाल खुले हुए थे। उन्होंने आभूषण और मालाएँ तोड़कर फेंक दी थीं और वे सारी स्त्रियाँ अपने हाथोंसे छाती पीटती हुई करुणाजनक विलाप कर रही थीं ॥ १७ ॥

तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा ।
अन्वारोहन्त च तदा भर्तारं योषितां वराः ॥ १८ ॥

युवतियोंमें श्रेष्ठ देवकी, भद्रा, रोहिणी तथा मदिरा—ये सब-की-सब अपने पतिके साथ चितापर आरूढ़ होनेको उद्यत हो गयीं ॥ १८ ॥

ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत ।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत् तदा ॥ १९ ॥

भारत! तदनन्तर अर्जुनने एक बहुमूल्य विमान सजाकर उसपर वसुदेवजीके शवको सुलाया और मनुष्योंके कंधोंपर उठवाकर वे उसे नगरसे बाहर ले गये ॥ १९ ॥

तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमन्विताः ।
द्वारकावासिनः सर्वे पौरजानपदा हिताः ॥ २० ॥

उस समय समस्त द्वारकावासी तथा आनर्त जनपदके लोग जो यादवोंके हितैषी थे, वहाँ दुःख-शोकमें मग्न होकर वसुदेवजीके शवके पीछे-पीछे गये ॥ २० ॥

तस्याश्वमेधिकं छत्रं दीप्यमानाश्च पावकाः ।
पुरस्तात् तस्य यानस्य याजकाश्च ततो ययुः ॥ २१ ॥

उनकी अरथीके आगे-आगे अश्वमेध-यज्ञमें उपयोग किया हुआ छत्र तथा अग्निहोत्रकी प्रज्वलित अग्नि लिये याजक ब्राह्मण चल रहे थे ॥ २१ ॥

अनुजग्मुश्च तं वीरं देव्यस्ता वै स्वलंकृताः ।
स्त्रीसहस्रैः परिवृता वधूभिश्च सहस्रशः ॥ २२ ॥

वीर वसुदेवजीकी पत्नियाँ वस्त्र और आभूषणोंसे सज-धजकर हजारों पुत्र वधुओं तथा अन्य स्त्रियोंके साथ अपने पतिकी अरथीके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ २२ ॥

यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः ।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥ २३ ॥

महात्मा वसुदेवजीको अपने जीवनकालमें जो स्थान विशेष प्रिय था, वहीं ले जाकर अर्जुन आदिने उनका पितृ-मेधकर्म (दाह-संस्कार) किया ॥ २३ ॥

तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वराङ्गनाः ।
ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः ॥ २४ ॥

चिताकी प्रज्वलित अग्निमें सोये हुए वीर शूरपुत्र वसुदेवजीके साथ उनकी पूर्वोक्त चारों पत्नियाँ भी चितापर जा बैठीं और उन्हींके साथ भस्म हो पतिलोकको प्राप्त हुईं ॥ २४ ॥

तं वै चतसृभिः स्त्रीभिरन्वितं पाण्डुनन्दनः ।
अदाहयच्चन्दनैश्च गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ २५ ॥

चारों पत्नियोंसे संयुक्त हुए वसुदेवजीके शवका पाण्डुनन्दन अर्जुनने चन्दनकी लकड़ियों तथा नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा दाह किया ॥ २५ ॥

ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः ।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥ २६ ॥

उस समय प्रज्वलित अग्निका चट-चट शब्द, सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोच्चारणका गम्भीर घोष तथा रोते हुए मनुष्योंका आर्तनाद एक साथ ही प्रकट हुआ ॥ २६ ॥

ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्ण्यन्धककुमारकाः ।
सर्वे चैवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः ॥ २७ ॥

इसके बाद वज्र आदि वृष्णि और अन्धकवंशके कुमारों तथा स्त्रियोंने महात्मा वसुदेवजीको जलाञ्जलि दी ॥ २७ ॥

अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः ।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! अर्जुनने कभी धर्मका लोप नहीं किया था। वह धर्मकृत्य पूर्ण कराकर अर्जुन उस स्थानपर गये जहाँ वृष्णियोंका संहार हुआ था ॥ २८ ॥

स तान् दृष्ट्वा निपतितान् कदने भृशदुःखितः ।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह ॥ २९ ॥

था प्रधानतश्चैव चक्रे सर्वास्तथा क्रियाः ।
हता ब्रह्मशापेन मुसलैरेरकोद्भवैः ॥ ३० ॥

उस भीषण मारकाटमें मरकर धराशायी हुए यादवोंको [दे]खकर कुरुकुलनन्दन अर्जुनको बड़ा भारी दुःख हुआ। [उ]न्होंने ब्रह्मशापके कारण एरकासे उत्पन्न हुए मूसलोंद्वारा [मा]रे गये यदुवंशी वीरोंके बड़े-छोटेके क्रमसे सारे समयोचित [का]र्य (अन्त्येष्टि कर्म) सम्पन्न किये ॥ २९-३० ॥

[त]तः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
[अ]न्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर विश्वस्त पुरुषोंद्वारा बलराम तथा वसुदेवनन्दन [श्र]ीकृष्ण दोनोंके शरीरोंकी खोज कराकर अर्जुनने उनका भी [द]ाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

[स] तेषां विधिवत् कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः ।
[स]प्तमे दिवसे प्रायाद् रथमारुह्य सत्वरः ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन उन सबके प्रेतकर्म विधिपूर्वक [स]म्पन्न करके तुरंत रथपर आरूढ़ हो सातवें दिन द्वारकासे [च]ल दिये ॥ ३२ ॥

[अ]श्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि ।
[स्त्रि]यस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः ॥ ३३ ॥
[अ]नुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनंजयम् ।

उनके साथ घोड़े, बैल, गधे और ऊँटोंसे जुते हुए [र]थोंपर बैठकर शोकसे दुर्बल हुई वृष्णिवंशी वीरोंकी पत्नियाँ [र]ोती हुई चलीं। उन सबने पाण्डुपुत्र महात्मा अर्जुनका अनुगमन किया ॥ ३३½ ॥

[भृ]त्याश्चान्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये ॥ ३४ ॥
[व]ीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा ।
[य]युस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥ ३५ ॥

अर्जुनकी आज्ञासे अन्धकों और वृष्णियोंके नौकर, [घ]ुड़सवार, रथी तथा नगर और प्रान्तके लोग बूढ़े और बालकोंसे युक्त विधवा स्त्रियोंको चारों ओरसे घेरकर चलने लगे ॥ ३४-३५ ॥

कुञ्जरैश्च गजारोहा ययुः शैलनिभैस्तथा ।
[स]पादरक्षैः संयुक्ताः सान्तरायुधिका ययुः ॥ ३६ ॥

हाथी-सवार पर्वताकार हाथियोंद्वारा गुप्तरूपसे अस्त्र-शस्त्र धारण किये यात्रा करने लगे। उनके साथ हाथियोंके पादरक्षक भी थे ॥ ३६ ॥

पुत्राश्चान्धकवृष्णीनां सर्वे पार्थमनुव्रताः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महाधनाः ॥ ३७ ॥
दश षट् च सहस्राणि वासुदेवावरोधनम् ।
पुरस्कृत्य ययुर्वज्रं पौत्रं कृष्णस्य धीमतः ॥ ३८ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके समस्त बालक अर्जुनके प्रति [श्र]द्धा रखनेवाले थे। वे तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, महाधनी शूद्र और भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार स्त्रियाँ—ये सब-की-सब बुद्धिमान् श्रीकृष्णके पौत्र वज्रको आगे करके चल रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रीणां हतनाथानि निर्ययुः ॥ ३९ ॥
तत्सागरसमप्रख्यं वृष्णिचक्रं महर्धिमत् ।
उवाह रथिनां श्रेष्ठः पार्थः परपुरंजयः ॥ ४० ॥

भोज, वृष्णि और अन्धक कुलकी अनाथ स्त्रियोंकी संख्या कई हजारों, लाखों और अर्बुदोंतक पहुँच गयी थी। वे सब द्वारकापुरीसे बाहर निकलीं। वृष्णियोंका वह महान् समृद्धिशाली मण्डल महासागरके समान जान पड़ता था। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उसे अपने साथ लेकर चले ॥ ३९-४० ॥

निर्याते तु जने तस्मिन् सागरो मकरालयः ।
द्वारकां रत्नसम्पूर्णां जलेनाप्लावयत् तदा ॥ ४१ ॥

उस जनसमुदायके निकलते ही मगरों और घड़ियालोंके निवासस्थान समुद्रने रत्नोंसे भरी-पूरी द्वारका नगरीको जलसे डुबो दिया ॥ ४१ ॥

यद् यद्धि पुरुषव्याघ्रो भूमेस्तस्या व्यमुञ्चत ।
तत् तत् सम्प्लावयामास सलिलेन स सागरः ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह अर्जुनने उस नगरका जो-जो भाग छोड़ा, उसे समुद्रने अपने जलसे आप्लावित कर दिया ॥ ४२ ॥

तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य द्वारकावासिनो जनाः ।
तूर्णात् तूर्णतरं जग्मुरहो दैवमिति ब्रुवन् ॥ ४३ ॥

यह अद्भुत दृश्य देखकर द्वारकावासी मनुष्य बड़ी तेजीसे चलने लगे। उस समय उनके मुखसे बारंबार यही निकलता था कि 'दैवकी लीला विचित्र है' ॥ ४३ ॥

काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनंजयः ॥ ४४ ॥

अर्जुन रमणीय काननों, पर्वतों और नदियोंके तटपर निवास करते हुए वृष्णिवंशकी स्त्रियोंको ले जा रहे थे ॥ ४४ ॥

स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत् प्रभुः ॥ ४५ ॥

चलते-चलते बुद्धिमान् एवं सामर्थ्यशाली अर्जुनने अत्यन्त समृद्धिशाली पञ्चनद देशमें पहुँचकर जो गौ, पशु तथा धन-धान्यसे सम्पन्न था, ऐसे प्रदेशमें पड़ाव डाला ॥ ४५ ॥

ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः ।
दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ॥ ४६ ॥

भरतनन्दन ! एकमात्र अर्जुनके संरक्षणमें ले जायी जाती हुई इतनी अनाथ स्त्रियोंको देखकर वहाँ रहनेवाले लुटेरोंके मनमें लोभ पैदा हुआ ॥ ४६ ॥

ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः।
आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्याशुभदर्शनाः ॥ ४७ ॥

लोभसे उनके चित्तकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी। उन अशुभदर्शी पापाचारी आभीरोंने परस्पर मिलकर सलाह की ॥

अयमेकोऽर्जुनो धन्वी वृद्धबालं हतेश्वरम्।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः॥ ४८ ॥

'भाइयो! देखो, यह अकेला धनुर्धर अर्जुन और ये हतोत्साह सैनिक हमलोगोंको लाँघकर वृद्धों और बालकोंके इस अनाथ समुदायको लिये जा रहे हैं (अतः इनपर आक्रमण करना चाहिये)' ॥ ४८ ॥

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ॥ ४९ ॥

ऐसा निश्चय करके लूटका माल उड़ानेवाले वे लट्ठधारी लुटेरे वृष्णिवंशियोंके उस समुदायपर हजारोंकी संख्यामें टूट पड़े ॥ ४९ ॥

महता सिंहनादेन त्रासयन्तः पृथग्जनम्।
अभिपेतुर्वधार्थं ते कालपर्यायचोदिताः ॥ ५० ॥

समयके उलट-फेरसे प्रेरणा पाकर वे लुटेरे उन सबके वधके लिये उतारू हो अपने महान् सिंहनादसे साधारण लोगोंको डराते हुए उनकी ओर दौड़े ॥ ५० ॥

ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः।
उवाच तान् महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ॥ ५१ ॥

आक्रमणकारियोंको पीछेकी ओरसे धावा करते देख कुन्तीकुमार महाबाहु अर्जुन सेवकोंसहित सहसा लौट पड़े और उनसे हँसते हुए-से बोले—॥ ५१ ॥

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि जीवितुमिच्छथ।
इदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ॥ ५२ ॥

'धर्मको न जाननेवाले पापियो! यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ; नहीं तो मेरे द्वारा मारे जाकर या मेरे बाणोंसे विदीर्ण होकर इस समय तुम बड़े शोकमें पड़ जाओगे' ॥ ५२ ॥

तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

वीरवर अर्जुनके ऐसा कहनेपर उनकी बातोंकी अवहेलना करके वे मूर्ख अहीर उनके बारंबार मना करनेपर भी उस जनसमुदायपर टूट पड़े ॥ ५३ ॥

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत्।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथंचन ॥ ५४ ॥

तब अर्जुनने अपने दिव्य एवं कभी जीर्ण न होनेवाले विशाल धनुष गाण्डीवको चढ़ाना आरम्भ किया और बड़े प्रयत्नसे किसी तरह उसे चढ़ा दिया ॥ ५४ ॥

चकार सज्जं कृच्छ्रेण सम्भ्रमे तुमुले सति।
चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ॥ ५५ ॥

भयङ्कर मारकाट छिड़नेपर बड़ी कठिनाईसे उन्हों धनुषपर प्रत्यञ्चा तो चढ़ा दी; परंतु जब वे अपने अस्त्र शस्त्रोंका चिन्तन करने लगे, तब उन्हें उनकी याद बिल्कु नहीं आयी ॥ ५५ ॥

वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद् व्रीडितोऽभवत्॥५६

युद्धके अवसरपर अपने बाहुबलमें यह महान् विक आया देख और महान् दिव्यास्त्रोंका विस्मरण हुआ जान लज्जित हो गये ॥ ५६ ॥

वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ॥ ५७

हाथी, घोड़े और रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले सम वृष्णिसैनिक भी उन डाकुओंके हाथमें पड़े हुए अप मनुष्योंको लौटा न सके ॥ ५७ ॥

कलत्रस्य बहुत्वाद्धि सम्पतत्सु ततस्ततः।
प्रयत्नमकरोत् पार्थो जनस्य परिरक्षणे ॥ ५८

उस समुदायमें स्त्रियोंकी संख्या बहुत थी; इसलिये डा कई ओरसे उनपर धावा करने लगे तो भी अर्जुन उन रक्षाका यथासाध्य प्रयत्न करते रहे ॥ ५८ ॥

मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥ ५९

सब योद्धाओंके देखते-देखते वे डाकू उन सुन्द स्त्रियोंको चारों ओरसे खींच-खींचकर ले जाने लगे। दूस स्त्रियाँ उनके स्पर्शके भयसे उनकी इच्छाके अनुसार चुपच उनके साथ चली गयीं ॥ ५९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनंजयः।
जघान दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ॥ ६०

तब कुन्तीकुमार अर्जुन उद्विग्न होकर सहस्रों वृष्णि सैनिकोंको साथ ले गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उ लुटेरोंके प्राण लेने लगे ॥ ६० ॥

क्षणेन तस्य ते राजन् क्षयं जग्मुरजिह्मगाः।
अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥ ६१

राजन्! अर्जुनके सीधे जानेवाले बाण क्षणभरमें क्षी हो गये। जो रक्तभोगी बाण पहले अक्षय थे, वे ही उ समय सर्वथा क्षयको प्राप्त हो गये ॥ ६१ ॥

स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहतः।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत् पाकशासनिः ॥ ६२

बाणोंके समाप्त हो जानेपर दुःख और शोकके आघ सहते हुए इन्द्रकुमार अर्जुन धनुषकी नोकसे ही उन डाकुओं वध करने लगे ॥ ६२ ॥

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय ॥ ६३

जनमेजय ! अर्जुन देखते ही रह गये और वे म्लेच्छ डाकू सब ओरसे वृष्णि और अन्धकवंशकी सुन्दरी स्त्रियोंको लूट ले गये ॥ ६३ ॥

धनंजयस्तु दैवं तन्मनसाऽचिन्तयत् प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ॥ ६४ ॥

प्रभावशाली अर्जुनने मन-ही-मन इसे दैवका विधान समझा और दुःख-शोकमें डूबकर वे लंबी साँस लेने लगे ॥

अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संक्षयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ॥ ६५ ॥
बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।

अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान लुप्त हो गया । भुजाओंका बल भी घट गया । धनुष भी काबूके बाहर हो गया और अक्षय बाणोंका भी क्षय हो गया । इन सब बातोंसे अर्जुनका मन उदास हो गया । वे इन सब घटनाओंको दैवका विधान मानने लगे ॥ ६५½ ॥

न्यवर्तत ततो राजन् नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ६६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो गये और बोले—'यह अस्त्रज्ञान आदि कुछ भी नित्य नहीं है' ॥६६॥

ततः शेषं समादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ॥ ६७ ॥

फिर अपहरणसे बची हुई स्त्रियों और जिनका अधिक भाग लूट लिया गया था, ऐसे बचे-खुचे रत्नोंको साथ लेकर परम बुद्धिमान् अर्जुन कुरुक्षेत्रमें उतरे ॥ ६७ ॥

एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनंजयः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार अपहरणसे बची हुई वृष्णिवंशकी स्त्रियोंको ले आकर कुरुनन्दन अर्जुनने उनको जहाँ-तहाँ बसा दिया ॥

हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरे मार्तिकावते ।
भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ॥ ६९ ॥

कृतवर्माके पुत्रको और भोजराजके परिवारकी अपहरणसे बची हुई स्त्रियोंको नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्तिकावत नगरमें बसा दिया ॥ ६९ ॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान् सर्वांस्तान्शक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् वीरविहीन समस्त वृद्धों, बालकों तथा अन्य स्त्रियोंको साथ लेकर वे इन्द्रप्रस्थ आये और उन सबको वहाँका निवासी बना दिया ॥ ७० ॥

यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम् ।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ॥ ७१ ॥

धर्मात्मा अर्जुनने सात्यकिके प्रिय पुत्र यौयुधानिको सरस्वतीके तटवर्ती देशका अधिकारी एवं निवासी बना दिया और वृद्धों तथा बालकोंको उसके साथ कर दिया ॥ ७१ ॥

इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा ।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने वज्रको इन्द्रप्रस्थका राज्य दे दिया । अक्रूरजीकी स्त्रियाँ वज्रके बहुत रोकनेपर भी वनमें तपस्या करनेके लिये चली गयीं ॥ ७२ ॥

रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैब्या हैमवतीत्यपि ।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम् ॥ ७३ ॥

रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हैमवती तथा जाम्बवती देवीने पतिलोककी प्राप्तिके लिये अग्निमें प्रवेश किया ॥७३॥

सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य सम्मताः ।
वनं प्रविविशू राजंस्तापस्ये कृतनिश्चयाः ॥ ७४ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामा तथा अन्य देवियाँ तपस्याका निश्चय करके वनमें चलीं गयीं ॥ ७४ ॥

द्वारकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमभ्ययुः ।
यथार्हं संविभज्यैनान् वज्रे पर्यददज्जयः ॥ ७५ ॥

जो-जो द्वारकावासी मनुष्य पार्थके साथ आये थे, उन सबका यथायोग्य विभाग करके अर्जुनने उन्हें वज्रको सौंप दिया ॥ ७५ ॥

स तत् कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं ददर्शासीनमाश्रमे ॥ ७६ ॥

इस प्रकार समयोचित व्यवस्था करके अर्जुन नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए महर्षि व्यासके आश्रमपर गये और वहाँ बैठे हुए महर्षिका उन्होंने दर्शन किया ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि वृष्णिकलत्राद्यानयने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुनद्वारा वृष्णिवंशकी स्त्रियों और बालकोंका आनयनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन और व्यासजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्नर्जुनो राजन्नाश्रमं सत्यवादिनः ।
ददर्शासीनमेकान्ते मुनिं सत्यवतीसुतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सत्यवादी व्यासजीके आश्रममें प्रवेश करके अर्जुनने देखा कि सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यास एकान्तमें बैठे हुए हैं ॥ १ ॥

स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम् ।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत् ततः ॥ २ ॥

महान् व्रतधारी तथा धर्मके ज्ञाता व्यासजीके पास पहुँचकर 'मैं अर्जुन हूँ' ऐसा कहते हुए धनंजयने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वे उनके पास ही खड़े हो गये॥

स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः।
आस्यतामिति होवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः॥ ३॥

उस समय प्रसन्नचित्त हुए महामुनि सत्यवतीनन्दन व्यासने अर्जुनसे कहा—'बेटा! तुम्हारा स्वागत है; आओ यहाँ बैठो'॥ ३॥

तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम्॥ ४॥

अर्जुनका मन अशान्त था। वे बारंबार लंबी साँस खींच रहे थे। उनका चित्त खिन्न एवं विरक्त हो चुका था। उन्हें इस अवस्थामें देखकर व्यासजीने पूछा—॥ ४॥

नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया॥ ५॥

'पार्थ! क्या तुमने नख, बाल अथवा अधोवस्त्र (धोती) की कोर पड़ जानेसे अशुद्ध हुए घड़ेके जलसे स्नान कर लिया है? अथवा तुमने रजस्वला स्त्रीसे समागम या किसी ब्राह्मणका वध तो नहीं किया है?॥ ५॥

युद्धे पराजितो वासि गतश्रीरिव लक्ष्यसे।
न त्वां प्रभिन्नं जानामि किमिदं भरतर्षभ॥ ६॥
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि।

'कहीं तुम युद्धमें परास्त तो नहीं हो गये? क्योंकि श्रीहीन-से दिखायी देते हो। भरतश्रेष्ठ! तुम कभी पराजित हुए हो—यह मैं नहीं जानता; फिर तुम्हारी ऐसी दशा क्यों है? पार्थ! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो अपनी इस मलिनताका कारण मुझे शीघ्र बताओ'॥ ६½॥

अर्जुन उवाच

यः स मेघवपुः श्रीमान् बृहत्पङ्कजलोचनः॥ ७
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः।

अर्जुनने कहा—भगवन्! जिनका सुन्दर विग्रह मेघ समान श्याम था और जिनके नेत्र विशाल कमलदलके समा शोभा पाते थे, वे श्रीमान् भगवान् कृष्ण बलरामजीके सा देहत्याग करके अपने परमधामको पधार गये॥ ७½॥

(तद्वाक्यस्पर्शनालोकसुखं त्वमृतसंनिभम्।
संस्मृत्य देवदेवस्य प्रमुह्याम्यमृतात्मनः॥)

देवताओंके भी देवता, अमृतस्वरूप श्रीकृष्णके म वचनोंको सुनने, उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श करने और उ देखनेका जो अमृतके समान सुख था, उसे बार-बार य करके मैं अपनी सुध-बुध खो बैठता हूँ॥

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो ब्रह्मशापजः॥ ८
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे लोमहर्षणः।

ब्राह्मणोंके शापसे मौसलयुद्धमें वृष्णिवंशी वीरोंका विन हो गया। बड़े-बड़े वीरोंका अन्त कर देनेवाला वह रोमा कारी संग्राम प्रभासक्षेत्रमें घटित हुआ था॥ ८½॥

एते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः॥ ९
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योन्यं तैर्हतं युधि।

ब्रह्मन्! भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके ये महामनस शूरवीर सिंहके समान दर्पशाली और महान् बलवान् थे; प वे गृहयुद्धमें एक-दूसरेके द्वारा मार डाले गये॥ ९½॥

गदापरिघशक्तीनां सहाः परिघबाहवः॥ १०
त एरकाभिर्निहताः पश्य कालस्य पर्ययम्।

जो गदा, परिघ और शक्तियोंकी मार सह सकते थे, परिघके समान सुदृढ़ बाहोंवाले यदुवंशी एरका नामक तृ विशेषके द्वारा मारे गये—यह समयका उलट-फेर तो देखिये

हतं पञ्चशतं तेषां सहस्रं बाहुशालिनाम्॥ ११
निधनं समनुप्राप्तं समासाद्येतरेतरम्।

अपने बाहुबलसे शोभा पानेवाले पाँच लाख वीर आप ही लड़-भिड़कर मर मिटे॥ ११½॥

पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम्॥ १२
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः।
शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम्॥ १३
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च।
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः॥ १४

उन अमित तेजस्वी वीरोंके विनाशका दुःख मुझसे वि तरह सहा नहीं जाता। मैं बार-बार उस दुःखसे व्या हो जाता हूँ। यशस्वी श्रीकृष्ण और यदुवंशियोंके परलो गमनकी बात सोचकर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, म समुद्र सूख गया, पर्वत हिलने लगे, आकाश फट पड़ा अ

अग्निके स्वभावमें शीतलता आ गयी। शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भी मृत्युके अधीन हुए होंगे—यह बात विश्वासके योग्य नहीं है। मैं इसे नहीं मानता ॥ १२–१४ ॥

न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः।
इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद् वै तपोधन ॥ १५ ॥

फिर भी श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर चले गये। मैं इस संसारमें उनके बिना नहीं रहना चाहता। तपोधन! इसके सिवा जो दूसरी घटना घटित हुई है, वह इससे भी अधिक कष्टदायक है। आप इसे सुनिये ॥ १५ ॥

मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः।
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन् सहस्रशः ॥ १६ ॥
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः।

जब मैं उस घटनाका चिन्तन करता हूँ, तब बारंबार मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। ब्रह्मन्! पंजावके अहीरोंने मुझसे युद्ध ठानकर मेरे देखते-देखते वृष्णिवंशकी हजारों स्त्रियोंका अपहरण कर लिया ॥ १६½ ॥

धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे ॥ १७ ॥
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाभवत्।

मैंने धनुष लेकर उनका सामना करना चाहा, परंतु मैं उसे चढ़ा न सका। मेरी भुजाओंमें पहले-जैसा बल था वैसा अब नहीं रहा ॥ १७½ ॥

अस्त्राणि मे प्रणष्टानि विविधानि महामुने ॥ १८ ॥
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः।

महामुने! मेरा नाना प्रकारके अस्त्रोंका ज्ञान विलुप्त हो गया। मेरे सभी बाण सब ओर जाकर क्षणभरमें नष्ट हो गये॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १९ ॥
चतुर्भुजः पीतवासाः श्यामः पद्मदलेक्षणः।
यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ॥ २० ॥
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम्।

जिनका स्वरूप अप्रमेय है, जो शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले, चतुर्भुज, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर तथा कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले हैं, जो महातेजस्वी प्रभु शत्रुओंकी सेनाओंको भस्म करते हुए मेरे रथके आगे-आगे चलते थे, उन्हीं भगवान् अच्युतको अब मैं नहीं देख पाता हूँ॥

येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा ॥ २१ ॥
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैरहं पश्चाच्च नाशयम्।
तमपश्यन् विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम ॥ २२ ॥

साधुशिरोमणे! जो पहले स्वयं ही अपने तेजसे शत्रु-सेनाओंको दग्ध कर देते थे, उसके बाद मैं गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उन शत्रुओंका नाश करता था, उन्हीं भगवान्‌को आज न देखनेके कारण मैं विषादमें डूबा हुआ हूँ। मुझे चक्कर-सा आ रहा है ॥ २१-२२ ॥

परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च।
(देवकीनन्दनं देवं वासुदेवमजं प्रभुम्।)
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २३ ॥

मेरे चित्तमें निर्वेद छा गया है। मुझे शान्ति नहीं मिलती है। मैं देवस्वरूप, अजन्मा, भगवान् देवकीनन्दन वासुदेव वीर जनार्दनके बिना अब जीवित रहना नहीं चाहता ॥२३॥

श्रुत्वैव हि गतं विष्णुं ममापि मुमुहुर्दिशः।
प्रणष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः ॥ २४ ॥
उपदेष्टुं मम श्रेयो भवानर्हति सत्तम।

सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये, यह बात सुनते ही मुझे सम्पूर्ण दिशाओंका ज्ञान भूल जाता है। मेरे भी जाति-भाइयोंका नाश तो पहले ही हो गया था, अब मेरा पराक्रम भी नष्ट हो गया; अतः शून्यहृदय होकर इधर-उधर दौड़ लगा रहा हूँ। संतोंमें श्रेष्ठ महर्षे! आप कृपा करके मुझे यह उपदेश दें कि मेरा कल्याण कैसे होगा? ॥ २४½ ॥

व्यास उवाच

(देवांशा देवदेवेन सम्मतास्ते गताः सह।
धर्मव्यवस्थारक्षार्थं देवेन समुपेक्षिताः ॥)

व्यासजी बोले—कुन्तीकुमार! वे समस्त यदुवंशी देवताओंके अंश थे। वे देवाधिदेव श्रीकृष्णके साथ ही यहाँ आये थे और साथ ही चले गये। उनके रहनेसे धर्मकी मर्यादा-के भङ्ग होनेका डर था; अतः भगवान् श्रीकृष्णने धर्म-व्यवस्था-की रक्षाके लिये उन मरते हुए यादवोंकी उपेक्षा कर दी ॥

ब्रह्मशापविनिर्दग्धा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥ २५ ॥
विनष्टाः कुरुशार्दूल न ताञ्शोचितुमर्हसि।
भवितव्यं तथा तच्च दिष्टमेतन्महात्मनाम् ॥ २६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी ब्राह्मणोंके शापसे दग्ध होकर नष्ट हुए हैं; अतः तुम उनके लिये शोक न करो। उन महामनस्वी वीरोंकी भवितव्यता ही ऐसी थी। उनका प्रारब्ध ही वैसा बन गया था ॥ २५-२६ ॥

उपेक्षितं च कृष्णेन शक्तेनापि व्यपोहितुम्।
त्रैलोक्यमपि गोविन्दः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २७ ॥
प्रसहेदन्यथाकर्तुं कुतः शापं महात्मनाम्।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण उनके संकटको टाल सकते थे तथापि उन्होंने इसकी उपेक्षा कर दी। श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंकी गतिको पलट सकते हैं, फिर उन महामनस्वी वीरोंको प्राप्त हुए शापको पलट देना उनके लिये कौन बड़ी बात थी ॥ २७½ ॥

(स्त्रियश्च ताः पुरा शप्ताः प्रहासकुपितेन वै।
अष्टावक्रेण मुनिना तदर्थं त्वद्वलक्षयः ॥)

(तुम्हारे देखते-देखते स्त्रियोंका जो अपहरण हुआ है, उसमें भी देवताओंका एक रहस्य है।) वे स्त्रियाँ पूर्वजन्ममें अप्सराएँ थीं। उन्होंने अष्टावक्र मुनिके रूपका उपहास किया था। मुनिने शाप दिया था (कि 'तुमलोग मानवी हो जाओ और दस्युओंके हाथमें पड़नेपर तुम्हारा इस शापसे उद्धार

होगा।') इसीलिये तुम्हारे बलका क्षय हुआ (जिससे वे डाकुओंके हाथमें पड़कर उस शापसे छुटकारा पा जायँ), (अब वे अपना पूर्वरूप और स्थान पा चुकी हैं, अतः उनके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है)॥

रथस्य पुरतो याति यः स चक्रगदाधरः॥ २८॥
तव स्नेहात् पुराणर्षिर्वासुदेवश्चतुर्भुजः।

जो स्नेहवश तुम्हारे रथके आगे चलते थे (सारथिका काम करते थे), वे वासुदेव कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् चक्र-गदाधारी पुरातन ऋषि चतुर्भुज नारायण थे॥ २८½॥

कृत्वा भारावतरणं पृथिव्याः पृथुलोचनः॥ २९॥
मोक्षयित्वा तनुं प्राप्तः कृष्णः स्वस्थानमुत्तमम्।

वे विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस पृथ्वीका भार उतारकर शरीर त्याग अपने उत्तम परमधामको जा पहुँचे हैं॥ २९½॥

त्वयापीह महत् कर्म देवानां पुरुषर्षभ॥ ३०॥
कृतं भीमसहायेन यमाभ्यां च महाभुज।

पुरुषप्रवर! महाबाहो! तुमने भी भीमसेन और नकुल-सहदेवकी सहायतासे देवताओंका महान् कार्य सिद्ध किया है॥

कृतकृत्यांश्च वो मन्ये संसिद्धान् कुरुपुङ्गव॥ ३१॥
गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो।

कुरुश्रेष्ठ! मैं समझता हूँ कि अब तुमलोगोंने अपना कर्तव्य पूर्ण कर लिया है। तुम्हें सब प्रकारसे सफलता प्राप्त हो चुकी है। प्रभो! अब तुम्हारे परलोकगमनका समय आया है और यही तुमलोगोंके लिये श्रेयस्कर है॥ ३१½॥

एवं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत॥ ३२॥
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये।

भरतनन्दन! जब उद्भवका समय आता है, तब इसी प्रकार मनुष्यकी बुद्धि, तेज और ज्ञानका विकास होता है और जब विपरीत समय उपस्थित होता है, तब इन सबका नाश हो जाता है॥ ३२½॥

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनंजय॥ ३३॥
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।

धनंजय! काल ही इन सबकी जड़ है। संसारकी उत्पत्तिका बीज भी काल ही है और काल ही फिर अकस्मात् सबका संहार कर देता है॥ ३३½॥

स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः॥ ३४॥
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः।

वही बलवान् होकर फिर दुर्बल हो जाता है और वही एक समय दूसरोंका शासक होकर कालान्तरमें स्वयं दूसरोंका आज्ञापालक हो जाता है॥ ३४½॥

कृतकृत्यानि चास्त्राणि गतान्यद्य यथागतम्॥ ३५॥
पुनरेष्यन्ति ते हस्ते यदा कालो भविष्यति।

तुम्हारे अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोजन भी पूरा हो गया है, इसलिये वे जैसे मिले थे, वैसे ही चले गये। जब उपयुक्त समय होगा, तब वे फिर तुम्हारे हाथमें आयेंगे॥ ३५½॥

कालो गन्तुं गतिं मुख्यां भवतामपि भारत॥ ३६॥
एतच्छ्रेयो हि वो मन्ये परमं भरतर्षभ।

भारत! अब तुमलोगोंके उत्तम गति प्राप्त करनेका समय उपस्थित है। भरतश्रेष्ठ! मुझे इसीमें तुमलोगोंका परम कल्याण जान पड़ता है॥ ३६½॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः॥ ३७॥
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अमिततेजस्वी व्यासजीके इस वचनका तत्त्व समझकर अर्जुन उनकी आज्ञा ले हस्तिनापुरको चले गये॥ ३७½॥

प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम्।
आचष्ट तद् यथावृत्तं वृष्ण्यन्धककुलं प्रति॥ ३८॥

नगरमें प्रवेश करके वीर अर्जुन युधिष्ठिरसे मिले और वृष्णि तथा अन्धकवंशका यथावत् समाचार उन्होंने कह सुनाया॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि व्यासार्जुनसंवादे अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें व्यास और अर्जुनका संवादविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

मौसलपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२६०	(३०)	४१।	३०१।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	३॥			३॥
			मौसलपर्वकी कुल श्लोक-संख्या	३०४॥।

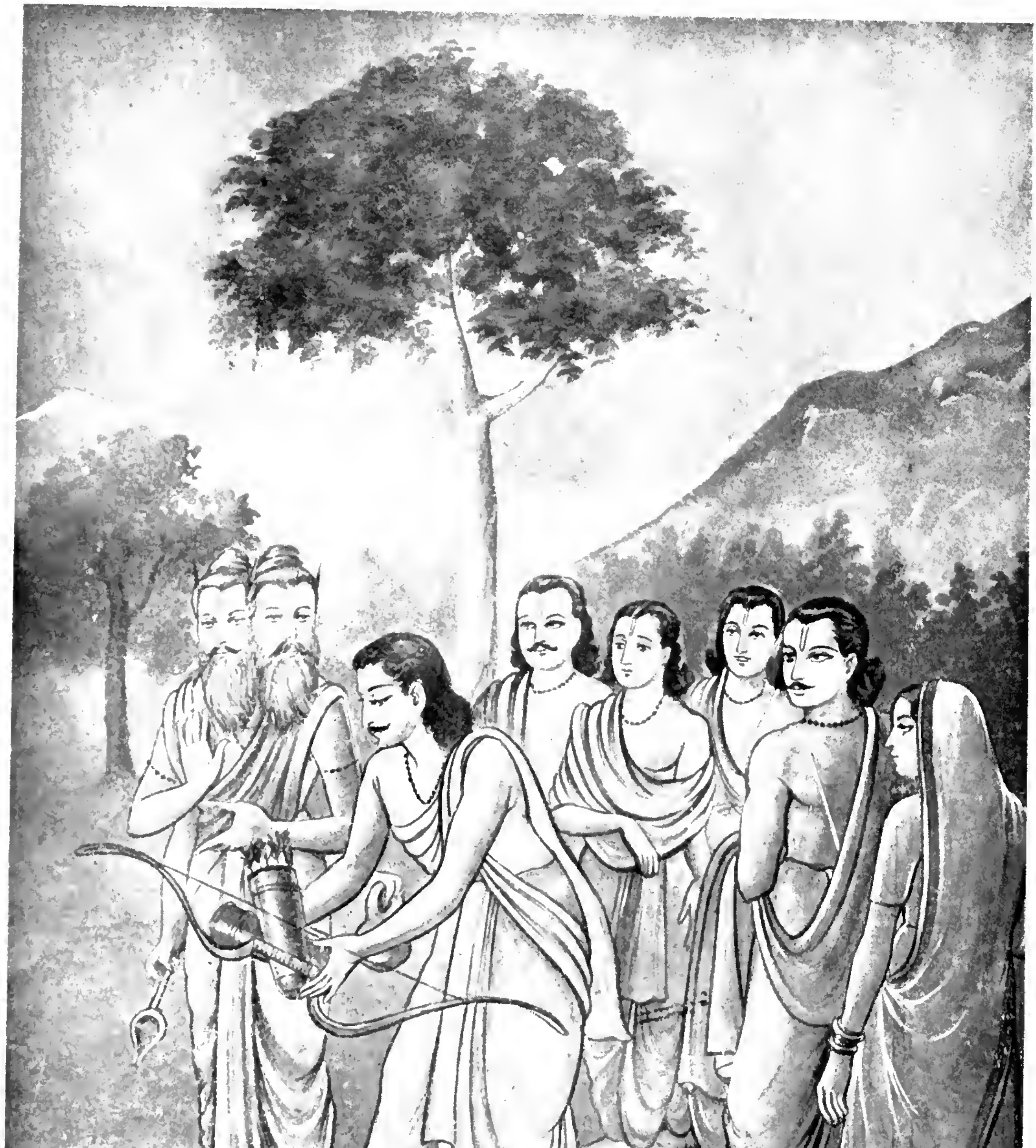

अग्निकी प्रेरणासे अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष और अक्षय तरकसको जलमें डाल रहे हैं।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

महाप्रस्थानिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

वृष्णिवंशियोंका श्राद्ध करके प्रजाजनोंकी अनुमति ले द्रौपदीसहित पाण्डवोंका महाप्रस्थान

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

एवं वृष्ण्यन्धककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम्।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंमें मूसलयुद्ध होनेका समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधारनेके पश्चात् पाण्डवोंने क्या किया?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत्।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत्॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! कुरुराज युधिष्ठिरने जब इस प्रकार वृष्णिवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब महाप्रस्थानका निश्चय करके अर्जुनसे कहा—॥२॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि॥ ३॥

'महामते! काल ही सम्पूर्ण भूतोंको पका रहा है—विनाशकी ओर ले जा रहा है। अब मैं कालके बन्धनको स्वीकार करता हूँ। तुम भी इसकी ओर दृष्टिपात करो'॥ ३॥

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन्।
अन्वपद्यत तद् वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः॥ ४॥

भाईके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने 'काल तो काल ही है, इसे टाला नहीं जा सकता' ऐसा कहकर अपने बुद्धिमान् बड़े भाईके कथनका अनुमोदन किया॥ ४॥

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा।
अन्वपद्यन्त तद् वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना॥ ५॥

अर्जुनका विचार जानकर भीमसेन और नकुल-सहदेवने भी उनकी कही हुई बातका अनुमोदन किया॥ ५॥

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः॥ ६॥

तत्पश्चात् धर्मकी इच्छासे राज्य छोड़कर जानेवाले युधिष्ठिरने वैश्यापुत्र युयुत्सुको बुलाकर उन्हींको सम्पूर्ण राज्यकी देख-भालका भार सौंप दिया॥ ६॥

अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम्।
दुःखार्तश्चाब्रवीद् राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः॥ ७॥

फिर अपने राज्यपर राजा परीक्षित्‌का अभिषेक करके पाण्डवोंके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिरने दुःखसे आर्त होकर सुभद्रासे कहा—॥ ७॥

एष पुत्रस्य पुत्रस्ते कुरुराजो भविष्यति।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह॥ ८॥

'बेटी! यह तुम्हारे पुत्रका पुत्र परीक्षित् कुरुदेश तथा कौरवोंका राजा होगा और यादवोंमें जो लोग बच गये हैं; उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्रको बनाया गया है॥ ८॥

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः॥ ९॥

'परीक्षित् हस्तिनापुरमें राज्य करेंगे और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थमें। तुम्हें राजा वज्रकी भी रक्षा करनी चाहिये और अपने मनको कभी अधर्मकी ओर नहीं जाने देना चाहिये'॥ ९॥

इत्युक्त्वा धर्मराजः स वासुदेवस्य धीमतः।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीनां तथैव च॥ १०॥
भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः।
श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत् तदा॥ ११॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित आलस्य छोड़कर बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण, बूढ़े मामा वसुदेव तथा बलराम आदिके लिये जलाञ्जलि दी और उन सबके उद्देश्यसे विधिपूर्वक श्राद्ध किया॥ १०-११॥

द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम् ।
भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान् ॥ १२ ॥
अभोजयत् स्वादु भोज्यं कीर्तयित्वा च शार्ङ्गिणम्।
ददौ रत्नानि वासांसि ग्रामानश्वान् रथांस्तथा ॥१३ ॥
स्त्रियश्च द्विजमुख्येभ्यस्तदा शतसहस्रशः ।

प्रयत्नशील युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, तपोधन मार्कण्डेय, भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनिको सुस्वादु भोजन कराया । भगवान्का नाम कीर्तन करके उन्होंने उत्तम ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र, ग्राम, घोड़े और रथ प्रदान किये । बहुत-से ब्राह्मणशिरोमणियोंको लाखों कुमारी कन्याएँ दीं ॥ १२-१३½॥

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः ।

तत्पश्चात् गुरुवर कृपाचार्यकी पूजा करके पुरवासियों-सहित परीक्षित्को शिष्यभावसे उनकी सेवामें सौंप दिया ॥ १४½॥

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ।

इसके बाद समस्त प्रकृतियों (प्रजा-मन्त्री आदि) को बुलाकर राजर्षि युधिष्ठिरने, वे जो कुछ करना चाहते थे अपना वह सारा विचार उनसे कह सुनाया ॥ १५½ ॥

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ॥ १६ ॥
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ।
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम् ॥ १७ ॥

उनकी वह बात सुनते ही नगर और जनपदके लोग मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । उन्होंने उस प्रस्तावका स्वागत नहीं किया । वे सब राजासे एक साथ बोले, 'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये (आप हमें छोड़कर कहीं न जायँ)' ॥ १६-१७ ॥

न च राजा तथाकार्षीत् कालपर्यायधर्मवित् ।

परंतु धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर कालके उलट-फेरके अनुसार जो धर्म या कर्तव्य प्राप्त था, उसे जानते थे; अतः उन्होंने प्रजाके कथनानुसार कार्य नहीं किया ॥ १७½ ॥

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ॥ १८ ॥
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा।

उन धर्मात्मा नरेशने नगर और जनपदके लोगोंको समझा-बुझाकर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली । फिर उन्होंने और उनके भाइयोंने सब कुछ त्यागकर महाप्रस्थान करनेका ही निश्चय किया ॥ १८½ ॥

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ २० ॥
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप ।

इसके बाद कुरुकुलरत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने अङ्गोंसे आभूषण उतारकर वल्कलवस्त्र धारण कर लिया । नरेश्वर ! फिर भीमसेन अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यशस्विनी द्रौपदी देवी—इन सबने भी उसी प्रकार वल्कल धारण किये ॥ १९-२०½ ॥

विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ॥ २१ ॥
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः ।

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद ब्राह्मणोंसे विधिपूर्वक उत्सर्ग-कालिक इष्टि करवाकर उन सभी नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने अग्नियोंका जलमें विसर्जन कर दिया और स्वयं वे महायात्राके लिये प्रस्थित हुए ॥ २१½ ॥

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ॥ २२ ॥
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा ।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ॥ २३ ॥

पहले जूएमें परास्त होकर पाण्डवलोग जिस प्रकार वनमें गये थे, उसी प्रकार उस दिन द्रौपदीसहित उन नरोत्तम पाण्डवोंको इस प्रकार जाते देख नगरकी सभी स्त्रियाँ रोने लगीं । परंतु उन सभी भाइयोंको इस यात्रासे महान् हर्ष हुआ ॥ २२-२३ ॥

युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरका अभिप्राय जान और वृष्णिवंशियोंका संहार देखकर पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी और एक कुत्ता—ये सब साथ-साथ चले ॥ २४ ॥

आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥ २५ ॥
न चैनमशकत् कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुम् ।

उन छहोंको साथ लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुरसे बाहर निकले, तब नगरनिवासी प्रजा और अन्तः-पुरकी स्त्रियाँ उन्हें बहुत दूरतक पहुँचाने गयीं; किंतु कोई भी मनुष्य राजा युधिष्ठिरसे यह नहीं कह सका कि आप लौट चलिये ॥ २५½ ॥

न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ॥ २६ ॥
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ।

धीरे-धीरे समस्त पुरवासी और कृपाचार्य आदि युयुत्सुको घेरकर उनके साथ ही लौट आये ॥ २६½ ॥

विवेश गङ्गां कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा ॥ २७ ॥
चित्राङ्गदा ययौ चापि मणिपूरपुरं प्रति ।
शिष्टाः परिक्षितं त्वन्या मातरः पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

जनमेजय ! नागराजकी कन्या उलूपी उसी समय गङ्गाजीमें समा गयी । चित्राङ्गदा मणिपूर नगरमें चली गयी । तथा शेष माताएँ परीक्षित्को घेरे हुए पीछे लौट आयीं॥२७-२८॥

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥२९ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर महात्मा पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी सब-के-सब उपवासका व्रत लेकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये ॥ २९ ॥

योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून् देशान् सरितः सागरांस्तथा ॥ ३० ॥

वे सब-के-सब योगयुक्त महात्मा तथा त्यागधर्मका पालन करनेवाले थे । उन्होंने अनेक देशों, नदियों और समुद्रोंकी यात्रा की ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥

आगे-आगे युधिष्ठिर चलते थे। उनके पीछे भीमसेन थे। भीमसेनके भी पीछे अर्जुन थे और उनके भी पीछे क्रमशः नकुल और सहदेव चल रहे थे ॥ ३१ ॥

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे सुन्दर शरीरवाली, श्यामवर्णा, कमलदललोचना, युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी चल रही थीं ॥३२॥

श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान् पाण्डवान् वनम्।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥ ३३ ॥

वनको प्रस्थित हुए पाण्डवोंके पीछे एक कुत्ता भी चला जा रहा था । क्रमशः चलते हुए वे वीर पाण्डव लालसागरके तटपर जा पहुँचे ॥ ३३ ॥

गाण्डीवं तु धनुर्दिव्यं न मुमोच धनंजयः ।
रत्नलोभान्महाराज ते चाक्षय्ये महेषुधी ॥ ३४ ॥

महाराज ! अर्जुनने दिव्यरत्नके लोभसे अभीतक अपने दिव्य गाण्डीव धनुष तथा दोनों अक्षय तूणीरोंका परित्याग नहीं किया था॥

अग्निं ते ददृशुस्तत्र स्थितं शैलमिवाग्रतः ।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्तं साक्षात्पुरुषविग्रहम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने पर्वतकी भाँति मार्ग रोककर सामने खड़े हुए पुरुषरूपधारी साक्षात् अग्निदेवको देखा ॥ ३५॥

ततो देवः स सप्तार्चिः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
भो भोः पाण्डुसुता वीराः पावकं मां निबोधत ॥ ३६ ॥

तब सात प्रकारकी ज्वालारूप जिह्वाओंसे सुशोभित होनेवाले उन अग्निदेवने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'वीर पाण्डुकुमारो ! मुझे अग्नि समझो ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो भीमसेन परंतप ।
अर्जुनाश्विसुतौ वीरौ निबोधत वचो मम ॥ ३७ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! शत्रुसंतापी भीमसेन ! अर्जुन ! और वीर अश्विनीकुमारो ! तुम सब लोग मेरी इस बातपर ध्यान दो ॥ ३७ ॥

अहमग्निः कुरुश्रेष्ठा मया दग्धं च खाण्डवम् ।
अर्जुनस्य प्रभावेण तथा नारायणस्य च ॥ ३८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ वीरो ! मैं अग्नि हूँ । मैंने ही अर्जुन तथा नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे खाण्डववनको जलाया था ॥ ३८ ॥

अयं वः फाल्गुनो भ्राता गाण्डीवं परमायुधम् ।
परित्यज्य वने यातु नानेनार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ३९ ॥

'तुम्हारे भाई अर्जुनको चाहिये कि ये इस उत्तम आयुध गाण्डीव धनुषको त्यागकर वनमें जायँ । अब इन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

चक्ररत्नं तु यत् कृष्णे स्थितमासीन्महात्मनि ।
गतं तच्च पुनर्हस्ते कालेनैष्यति तस्य ह ॥ ४० ॥

'पहले जो चक्ररत्न महात्मा श्रीकृष्णके हाथमें था, वह चला गया। वह पुनः समय आनेपर उनके हाथमें जायगा ॥४०॥

वरुणादाहृतं पूर्वं मयैतत् पार्थकारणात् ।
गाण्डीवं धनुषां श्रेष्ठं वरुणायैव दीयताम् ॥ ४१ ॥

'यह गाण्डीव धनुष सब प्रकारके धनुषोंमें श्रेष्ठ है । इसे पहले मैं अर्जुनके लिये ही वरुणसे माँगकर ले आया था । अब पुनः इसे वरुणको वापस कर देना चाहिये' ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे धनंजयमचोदयन् ।
स जले प्राक्षिपच्चैतत्तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ ४२ ॥

यह सुनकर उन सब भाइयोंने अर्जुनको वह धनुष त्याग देनेके लिये कहा । तब अर्जुनने वह धनुष और दोनों अक्षय तरकस पानीमें फेंक दिये ॥ ४२ ॥

ततोऽग्निर्भरतश्रेष्ठ तत्रैवान्तरधीयत ।
ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद अग्निदेव वहीं अन्तर्धान हो गये और पाण्डववीर वहाँसे दक्षिणाभिमुख होकर चल दिये ॥४३॥

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः ।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे लवणसमुद्रके उत्तर तटपर होते हुए दक्षिण-पश्चिमदिशाकी ओर अग्रसर होने लगे ॥ ४४॥

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते ।

ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥ ४५ ॥
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः ।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ ४६ ॥

इसके बाद वे केवल पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ गये। आगे जाकर उन्होंने समुद्रमें डूबी हुई द्वारकापुरीको देखा। फिर योगधर्ममें स्थित हुए भरतभूषण पाण्डवोंने वहाँसे लौटकर पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करनेकी इच्छासे उत्तर दिशाकी ओर यात्रा की ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

मार्गमें द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेनका गिरना तथा युधिष्ठिरद्वारा प्रत्येकके गिरनेका कारण बताया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः ।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनको संयममें रखकर उत्तर दिशाका आश्रय लेनेवाले योगयुक्त पाण्डवोंने मार्गमें महापर्वत हिमालयका दर्शन किया ॥ १ ॥

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥ २ ॥

उसे भी लाँघकर जब वे आगे बढ़े, तब उन्हें वालूका समुद्र दिखायी दिया। साथ ही उन्होंने पर्वतोंमें श्रेष्ठ महागिरि मेरुका दर्शन किया ॥ २ ॥

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥

सब पाण्डव योगधर्ममें स्थित हो बड़ी शीघ्रतासे चल रहे थे। उनमेंसे द्रुपदकुमारी कृष्णाका मन योगसे विचलित हो गया; अतः वह लड़खड़ाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३ ॥

तां तु प्रपतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
उवाच धर्मराजानं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥ ४ ॥

उसे नीचे गिरी देख महाबली भीमसेनने धर्मराजसे पूछा—॥

नाधर्मश्चरितः कश्चिद् राजपुत्र्या परंतप ।
कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत् कृष्णा पतिता भुवि॥ ५ ॥

'परंतप ! राजकुमारी द्रौपदीने कभी कोई पाप नहीं किया था। फिर बताइये, कौन-सा कारण है, जिससे वह नीचे गिर गयी ?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये ।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पुरुषप्रवर ! उसके मनमें अर्जुनके प्रति विशेष पक्षपात था; आज यह उसीका फल भोग रही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः ।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही भरतभूषण नरश्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मात्मा युधिष्ठिर मनको एकाग्र करके आगे बढ़ गये ॥ ७ ॥

सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले ।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥

थोड़ी देर बाद विद्वान् सहदेव भी धरतीपर गिर पड़े। उन्हें भी गिरा देख भीमसेनने राजासे पूछा—॥ ८ ॥

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः ।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ९ ॥

'भैया ! जो सदा हमलोगोंकी सेवा किया करता था और जिसमें अहंकारका नाम भी नहीं था, यह माद्रीनन्दन सहदेव किस दोषके कारण धराशायी हुआ है ?' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन ।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—यह राजकुमार सहदेव किसीको

अपने-जैसा विद्वान् या बुद्धिमान् नहीं समझता था; अतः उसी दोषसे इसका पतन हुआ है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर सहदेवको भी छोड़कर शेष भाइयों और एक कुत्तेके साथ कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आगे बढ़ गये ॥ ११ ॥

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम् ।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ १२ ॥

कृष्णा और पाण्डव सहदेवको गिरे देख शोकसे आर्त हो बन्धुप्रेमी शूरवीर नकुल भी गिर पड़े ॥ १२ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने ।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मनोहर दिखायी देनेवाले वीर नकुलके धराशायी होनेपर भीमसेनने पुनः राजा युधिष्ठिरसे यह प्रश्न किया—॥ १३ ॥

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः ।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥ १४ ॥

'भैया ! संसारमें जिसके रूपकी समानता करनेवाला कोई नहीं था तो भी जिसने कभी अपने धर्ममें त्रुटि नहीं आने दी तथा जो सदा हमलोगोंकी आज्ञाका पालन करता था, वह हमारा प्रियबन्धु नकुल क्यों पृथ्वीपर गिरा है ?' ॥ १४ ॥

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ १५ ॥

भीमसेनके इस प्रकार पूछनेपर समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिरने नकुलके विषयमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥ १६ ॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद् विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥ १७ ॥

'भीमसेन ! नकुलकी दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूपमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है । इसके मनमें यही बात बैठी रहती थी कि 'एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ ।' इसीलिये नकुल नीचे गिरा है । तुम आओ । वीर ! जिसकी जैसी करनी है, वह उसका फल अवश्य भोगता है ॥१६-१७॥

तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
पपात शोकसन्तप्तस्ततो नु परवीरहा ॥ १८ ॥

द्रौपदी तथा नकुल और सहदेव तीनों गिर गये, यह देखकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुन शोकसे संतप्त हो स्वयं भी गिर पड़े ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी दुर्धर्ष वीर पुरुषसिंह अर्जुन जब पृथ्वीपर गिरकर प्राणत्याग करने लगे, उस समय भीमसेनने राजा युधिष्ठिरसे पूछा ॥ १९ ॥

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ २० ॥

'भैया ! महात्मा अर्जुन कभी परिहासमें भी झूठ बोले हों—ऐसा मुझे याद नहीं आता ! फिर यह किस कर्मका फल है, जिससे इन्हें पृथ्वीपर गिरना पड़ा ?' ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत् कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले—अर्जुनको अपनी शूरताका अभिमान था । इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिनमें शत्रुओंको भस्म कर डालूँगा'; किंतु ऐसा किया नहीं; इसीसे आज इन्हें धराशायी होना पड़ा है ॥ २१ ॥

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः ।
तथा चैतन्न तु तथा कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ २२ ॥

अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंका अपमान भी किया था; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसा नहीं करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर राजा युधिष्ठिर आगे बढ़ गये । इतनेहीमें भीमसेन भी गिर पड़े । गिरनेके साथ ही भीमने धर्मराज युधिष्ठिरको पुकारकर पूछा—॥

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥ २४ ॥

'राजन् ! जरा मेरी ओर तो देखिये, मैं आपका प्रिय भीमसेन यहाँ गिर पड़ा हूँ । यदि जानते हों तो बताइये, मेरे इस पतनका क्या कारण है ?' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरोंको कुछ भी न समझकर अपने बलकी डींग हाँका करते थे; इसीसे तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा है ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥ २६ ॥

यह कहकर महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देखे बिना ही आगे चल दिये । एक कुत्ता भी बराबर उनका अनुसरण करता रहा, जिसकी चर्चा मैंने तुमसे अनेक बार की है ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि द्रौपद्यादिपतने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें द्रौपदी आदिका पतनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरका इन्द्र और धर्म आदिके साथ वार्तालाप, युधिष्ठिरका अपने धर्ममें दृढ़ रहना तथा सदेह स्वर्गमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सन्नादयञ्शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर आकाश और पृथ्वीको सब ओरसे प्रतिध्वनित करते हुए देवराज इन्द्र रथके साथ युधिष्ठिरके पास आ पहुँचे और उनसे बोले—'कुन्तीनन्दन! तुम इस रथपर सवार हो जाओ'॥ १॥

स्वभ्रातॄन् पतितान् दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः॥ २॥

अपने भाइयोंको धराशायी हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर शोकसे संतप्त हो इन्द्रसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर॥ ३॥

'देवेश्वर! मेरे भाई मार्गमें गिरे पड़े हैं। वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था कीजिये; क्योंकि मैं भाइयोंके विना स्वर्गमें जाना नहीं चाहता॥ ३॥

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरंदर।
सास्माभिः सह गच्छेत तद् भवाननुमन्यताम्॥ ४॥

'पुरन्दर! राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है। वह सुख पानेके योग्य है। वह भी हमलोगोंके साथ चले, इसकी अनुमति दीजिये'॥ ४॥

शक्र उवाच

भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान्।
कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ॥ ५॥

इन्द्रने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे सभी भाई तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच गये हैं। उनके साथ द्रौपदी भी है। वहाँ चलनेपर वे सब तुम्हें मिलेंगे॥ ५॥

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः॥ ६॥

भरतभूषण! वे मानवशरीरका परित्याग करके स्वर्गमें गये हैं; किंतु तुम इसी शरीरसे वहाँ चलोगे, इसमें संशय नहीं है॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः॥ ७॥

युधिष्ठिर बोले—भूत और वर्तमानके स्वामी देवराज! यह कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है। इसने सदा ही मेरा साथ दिया है; अतः यह भी मेरे साथ चले—ऐसी आज्ञा दीजिये; क्योंकि मेरी बुद्धिमें निष्ठुरताका अभाव है॥ ७॥

शक्र उवाच

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्
श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम्।
सम्प्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥ ८॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम्हें अमरता, मेरी समानता, पूर्ण लक्ष्मी और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है, साथ ही तुम्हें स्वर्गीय सुख भी उपलब्ध हुए हैं; अतः इस कुत्तेको छोड़ो और मेरे साथ चलो। इसमें कोई कठोरता नहीं है॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र
शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु
यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—सहस्रनेत्रधारी देवराज! किसी आर्यपुरुषके द्वारा निम्नश्रेणीका काम होना अत्यन्त कठिन है। मुझे ऐसी लक्ष्मीकी प्राप्ति कभी न हो, जिसके लिये भक्तजनका त्याग करना पड़े॥ ९॥

इन्द्र उवाच

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्य-
मिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥ १०॥

इन्द्रने कहा—धर्मराज! कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गलोकमें स्थान नहीं है। उनके यज्ञ करने और कुआँ, बावड़ी आदि बनवानेका जो पुण्य होता है, उसे क्रोधवश नामक राक्षस हर लेते हैं; इसलिये सोच-विचारकर काम करो। छोड़ दो इस कुत्तेको। ऐसा करनेमें कोई निर्दयता नहीं है॥ १०॥

युधिष्ठिर उवाच

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र॥ ११॥

युधिष्ठिर बोले—महेन्द्र! भक्तका त्याग करनेसे जो पाप होता है, उसका अन्त कभी नहीं होता—ऐसा महात्मा पुरुष कहते हैं। संसारमें भक्तका त्याग ब्रह्महत्याके समान माना गया है; अतः मैं अपने सुखके लिये कभी किसी तरह भी आज इस कुत्तेका त्याग नहीं करूँगा॥ ११॥

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥ १२ ॥

जो डरा हुआ हो, भक्त हो, मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है—ऐसा कहते हुए आर्तभावसे शरणमें आया हो, अपनी रक्षामें असमर्थ—दुर्बल हो और अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुषको प्राण जानेपर भी मैं नहीं छोड़ सकता; यह मेरा सदाका व्रत है ॥ १२ ॥

इन्द्र उवाच

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति
यद्दत्तमिष्टं विवृतमथो हुतं च।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व
शुनस्त्यागात् प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—वीरवर ! मनुष्य जो कुछ दान, यज्ञ, स्वाध्याय और हवन आदि पुण्यकर्म करता है, उसपर यदि कुत्तेकी दृष्टि भी पड़ जाय तो उसके फलको क्रोधवश नामक राक्षस हर ले जाते हैं; इसलिये इस कुत्तेका त्याग कर दो। कुत्तेको त्याग देनेसे ही तुम देवलोकमें पहुँच सकोगे ॥ १३ ॥

त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां
प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु
त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥ १४ ॥

वीर ! तुमने अपने भाइयों तथा प्यारी पत्नी द्रौपदीका परित्याग करके अपने किये हुए पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप देवलोकको प्राप्त किया है। फिर तुम इस कुत्तेको क्यों नहीं त्याग देते ! सब कुछ छोड़कर अब कुत्तेके मोहमें कैसे पड़ गये ॥

युधिष्ठिर उवाच

न विद्यते संधिरथापि विग्रहो
मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या-
स्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! संसारमें यह निश्चित बात है कि मरे हुए मनुष्योंके साथ न तो किसीका मेल होता है, न विरोध ही। द्रौपदी तथा अपने भाइयोंको जीवित करना मेरे वशकी बात नहीं है; अतः मर जानेपर मैंने उनका त्याग किया है, जीवितावस्थामें नहीं ॥ १५ ॥

भीतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ १६ ॥

शरणमें आये हुएको भय देना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन लूटना और मित्रोंके साथ द्रोह करना—ये चार अधर्म एक ओर और भक्तका त्याग दूसरी ओर हो तो मेरी समझमें यह अकेला ही उन चारोंके बराबर है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् धर्मराजस्य वचो निशम्य
धर्मस्वरूपी भगवानुवाच।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं
श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसम्प्रयुक्तैः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर कुत्तेका रूप धारण करके आये हुए धर्मस्वरूपी भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए मधुर वचनोंद्वारा उनसे इस प्रकार बोले—॥

धर्मराज उवाच

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ १८ ॥

साक्षात् धर्मराजने कहा—राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! तुम अपने सदाचार, बुद्धि तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति होनेवाली इस दयाके कारण वास्तवमें सुयोग्य पिताके उत्तम कुलमें उत्पन्न सिद्ध हो रहे हो ॥ १८ ॥

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥ १९ ॥

बेटा ! पूर्वकालमें द्वैतवनके भीतर रहते समय भी एक बार मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी; जब कि तुम्हारे सभी भाई पानी लानेके लिये उद्योग करते हुए मारे गये थे ॥ १९ ॥

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥ २० ॥

उस समय तुमने कुन्ती और माद्री दोनों माताओंमें समानताकी इच्छा रखकर अपने सगे भाई भीम और अर्जुनको छोड़ केवल नकुलको जीवित करना चाहा था ॥ २० ॥

अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया।
तस्मात् स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिपः ॥ २१ ॥

इस समय भी 'यह कुत्ता मेरा भक्त है' ऐसा सोचकर तुमने देवराज इन्द्रके भी रथका परित्याग कर दिया है; अतः स्वर्गलोकमें तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा नहीं है ॥ २१ ॥

अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत।
प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ॥ २२ ॥

भारत ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि तुम्हें अपने इसी शरीरसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई है। तुम परम उत्तम दिव्य गतिको पा गये हो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि।
देवा देवर्षयश्चैव रथमारोप्य पाण्डवम् ॥ २३ ॥
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते सिद्धाः कामविहारिणः।
सर्वे विरजसः पुण्याः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मिणः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, देवता तथा देवर्षियोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रथपर बिठाकर अपने-अपने विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। वे सब-के-सब इच्छानुसार

विचरनेवाले, रजोगुणशून्य पुण्यात्मा, पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मवाले तथा सिद्ध थे ॥ २३-२४ ॥

स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ २५ ॥

कुरुकुलतिलक राजा युधिष्ठिर उस रथमें बैठकर अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करते हुए तीव्र गतिसे ऊपरकी ओर जाने लगे ॥ २५ ॥

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥ २६ ॥

उस समय सम्पूर्ण लोकोंका वृत्तान्त जाननेवाले, बोलनेमें कुशल तथा महान् तपस्वी देवर्षि नारदजीने देवमण्डलमें स्थित हो उच्च स्वरसे कहा ॥ २६ ॥

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥ २७ ॥

'जितने राजर्षि स्वर्गमें आये हैं, वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, किंतु कुरुराज युधिष्ठिर अपने सुयशसे उन सबकी कीर्तिको आच्छादित करके विराजमान हो रहे हैं ॥ २७ ॥

लोकानावृत्य यशसा तेजसा वृत्तसम्पदा ।
स्वशरीरेण सम्प्राप्तं नान्यं शुश्रुम पाण्डवात् ॥ २८ ॥

'अपने यश, तेज और सदाचाररूप सम्पत्तिसे तीनों लोकोंको आवृत करके अपने भौतिक शरीरसे स्वर्गलोकमें आनेका सौभाग्य पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके सिवा और किसी-राजाको प्राप्त हुआ हो, ऐसा हमने कभी नहीं सुना है ॥२८॥

तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो ।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ॥ २९ ॥

'प्रभो ! युधिष्ठिर ! पृथ्वीपर रहते हुए तुमने आकाशमें नक्षत्र और ताराओंके रूपमें जितने तेज देखे हैं, वे इन देवताओंके सहस्रों लोक हैं; इनकी ओर देखो' ॥ २९ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।
देवानामन्त्र्य धर्मात्मा स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ॥ ३० ॥

नारदजीकी बात सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने देवताओं तथा अपने पक्षके राजाओंकी अनुमति लेकर कहा—॥

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥ ३१ ॥

'देवेश्वर ! मेरे भाइयोंको शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, उसीको मैं भी पाना चाहता हूँ । उसके सिवा दूसरे लोकोंमें जानेकी मेरी इच्छा नहीं है' ॥ ३१ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवराजः पुरंदरः ।
आनृशंस्यसमायुक्तं प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३२ ॥

राजाकी बात सुनकर देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरसे कोमल वाणीमें कहा ॥ ३२ ॥

स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥ ३३ ॥

'महाराज ! तुम अपने शुभ कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोकमें निवास करो । मनुष्यलोकके स्नेहपाशको क्यों अभीतक खींचे ला रहे हो ? ॥ ३३ ॥

सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं सम्प्राप्ताः कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

'कुरुनन्दन ! तुम्हें वह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है जिसे दूसरा मनुष्य कभी और कहीं नहीं पा सका । तुम्हारे भाई ऐसा स्थान नहीं पा सके हैं ॥ ३४ ॥

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ॥ ३५ ॥

'नरेश्वर ! क्या अब भी मानवभाव तुम्हारा स्पर्श कर रहा है ? राजन् ! यह स्वर्गलोक है । इन स्वर्गवासी देवर्षियों तथा सिद्धोंका दर्शन करो' ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्तु देवेन्द्रमेवंवादिनमीश्वरम् ।
पुनरेवाब्रवीद् धीमानिदं वचनमर्थवत् ॥ ३६ ॥

ऐसी बात कहते हुए ऐश्वर्यशाली देवराजसे बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पुनः यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ ३६ ॥

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र ते भ्रातरो गताः ॥ ३७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव गता मम ॥ ३८ ॥

'दैत्यसूदन ! अपने भाइयोंके बिना मुझे यहाँ रहनेका उत्साह नहीं होता; अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई गये हैं तथा जहाँ ऊँचे कदवाली, श्यामवर्णा, बुद्धिमती सत्त्वगुणसम्पन्ना एवं युवतियोंमें श्रेष्ठ मेरी द्रौपदी गयी है ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि युधिष्ठिरस्वर्गारोहे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें युधिष्ठिरका स्वर्गारोहणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

महाप्रस्थानिकपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१०१	(१०)	१३॥	११४॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	×	×	×	

महाप्रस्थानिकपर्वकी कुल श्लोक संख्या ११४॥

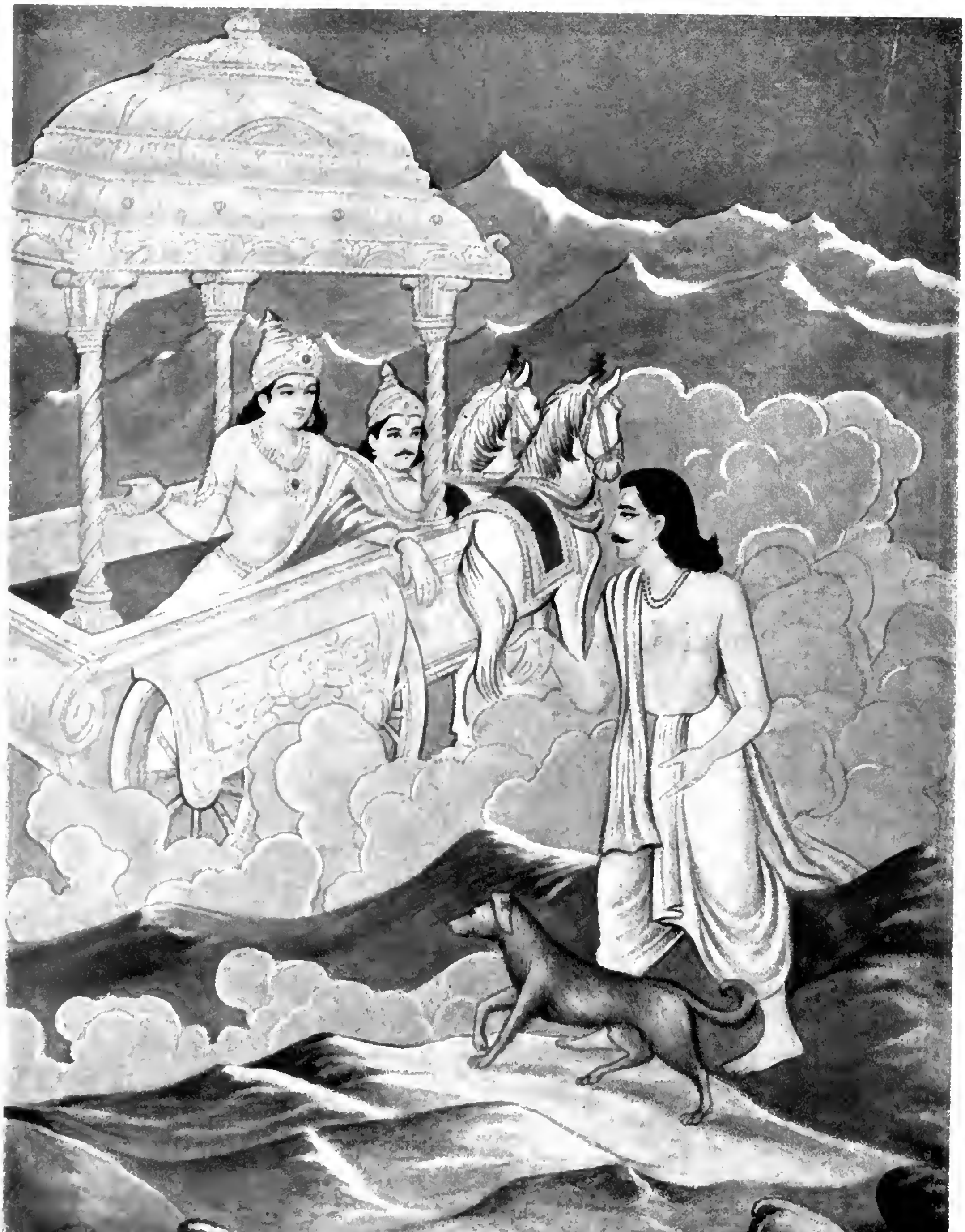

युधिष्ठिरका अपने आश्रित कुत्तेके लिये त्याग

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

स्वर्गारोहणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और युधिष्ठिरकी बातचीत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे॥ १॥

जनमेजयने पूछा—मुने! मेरे पूर्वपितामह पाण्डव और धृतराष्ट्रके पुत्र स्वर्गलोकमें पहुँचकर किन-किन स्थानोंको प्राप्त हुए?॥ १॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वविच्चासि मे मतः।
महर्षिणाभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा॥ २॥

मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। आप अद्भुतकर्मा महर्षि व्यासकी आज्ञा पाकर सर्वज्ञ हो गये हैं—ऐसा मेरा विश्वास है॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! जहाँ तीनों लोकोंका अन्तर्भाव है, उस स्वर्गमें पहुँचकर तुम्हारे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदिने जो कुछ किया, वह बताया जाता है, सुनो॥ ३॥

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने॥ ४॥
भ्राजमानमिवादित्यं वीरलक्ष्म्याभिसंवृतम्।
देवैर्भ्राजिष्णुभिः साध्यैः सहितं पुण्यकर्मभिः॥ ५॥

स्वर्गलोकमें पहुँचकर धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि दुर्योधन स्वर्गीय शोभासे सम्पन्न हो तेजस्वी देवताओं तथा पुण्यकर्मा साध्यगणोंके साथ एक दिव्य सिंहासनपर बैठकर वीरोचित शोभासे संयुक्त हो सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा है॥ ४-५॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः।
सहसा संनिवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने॥ ६॥

दुर्योधनको ऐसी अवस्थामें देख उसे मिली हुई शोभा और सम्पत्तिका अवलोकन कर राजा युधिष्ठिर अमर्षसे भर गये और सहसा दूसरी ओर लौट पड़े॥ ६॥

ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तान् वै नाहं दुर्योधनेन वै।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना॥ ७॥
यत्कृते पृथिवी सर्वा सुहृदो बान्धवास्तथा।
हतास्माभिः प्रसह्याजौ क्लिष्टैः पूर्वं महावने॥ ८॥
द्रौपदी च सभामध्ये पाञ्चाली धर्मचारिणी।
पर्याकृष्टानवद्याङ्गी पत्नी नो गुरुसंनिधौ॥ ९॥

फिर उच्चस्वरसे उन सब लोगोंसे बोले—"देवताओ! जिसके कारण हमने अपने समस्त सुहृदों और बन्धुओंका हठपूर्वक युद्धमें संहार कर डाला और सारी पृथ्वी उजाड़ डाली, जिसने पहले हमलोगोंको महान् वनमें भारी क्लेश पहुँचाया था तथा जो निर्दोष अङ्गोंवाली हमारी धर्मपरायणा पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको भरी सभामें गुरुजनोंके समीप घसीट लाया था, उस लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन-

के साथ रहकर मैं इन पुण्यलोकोंको पानेकी इच्छा नहीं रखता ॥ ७–९ ॥

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम् ।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥ १० ॥

'देवगण ! मैं दुर्योधनको देखना भी नहीं चाहता; मेरी तो वहीं जानेकी इच्छा है, जहाँ मेरे भाई हैं' ॥ १० ॥

नैवमित्यब्रवीत् तं तु नारदः प्रहसन्निव ।
स्वर्गे निवासे राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥ ११ ॥

यह सुनकर नारदजी उनसे हँसते हुए-से बोले, 'नहीं-नहीं, ऐसा न कहो; स्वर्गमें निवास करनेपर पहलेका वैर-विरोध शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो मैवं वोचः कथंचन ।
दुर्योधनं प्रति नृपं शृणु चेदं वचो मम ॥ १२ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें राजा दुर्योधनके प्रति किसी तरह ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये । मेरी इस बातको ध्यान देकर सुनो ॥ १२ ॥

एष दुर्योधनो राजा पूज्यते त्रिदशैः सह ।
सद्भिश्च राजप्रवरैर्य इमे स्वर्गवासिनः ॥ १३ ॥

'ये राजा दुर्योधन देवताओंसहित उन श्रेष्ठ नरेशोंद्वारा भी पूजित एवं सम्मानित होते हैं, जो कि ये चिरकालसे स्वर्ग-लोकमें निवास करते हैं ॥ १३ ॥

वीरलोकगतिः प्राप्ता युद्धे हुत्वाऽऽत्मनस्तनुम् ।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥ १४ ॥
स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान् ।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥

'इन्होंने युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देकर वीरोंकी गति पायी है । जिन्होंने युद्धमें देवतुल्य तेजस्वी तुम समस्त भाइयोंका डटकर सामना किया है, जो पृथ्वीपति दुर्योधन महान् भयके समय भी निर्भय बने रहे, उन्होंने क्षत्रियधर्मके अनुसार यह स्थान प्राप्त किया है ॥ १४-१५ ॥

न तन्मनसि कर्तव्यं पुत्र यद् द्यूतकारितम् ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १६ ॥

'वत्स ! इनके द्वारा जूएमें जो अपराध हुआ है, उसे अब तुम्हें मनमें नहीं लाना चाहिये । द्रौपदीको भी इनसे जो क्लेश प्राप्त हुआ है, इसे अब तुम्हें भुला देना चाहिये ॥ १६ ॥

ये चान्येऽपि परिक्लेशा युष्माकं ज्ञातिकारिताः ।
संग्रामेष्वथ वान्यत्र न तान् संस्मर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

'तुम लोगोंको अपने भाई-बन्धुओंसे युद्धमें या अन्यत्र और भी जो कष्ट उठाने पड़े हैं, उन सबको यहाँ याद रखना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १७ ॥

समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥ १८ ॥

'अब तुम राजा दुर्योधनके साथ न्यायपूर्वक मिलो । नरेश्वर ! यह स्वर्गलोक है, यहाँ पहलेके वैर-विरोध नहीं रहते हैं' ॥ १८ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन् पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १९ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंका पता पूछा और यह बात कही—॥ १९ ॥

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः ।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदां द्रुहः ॥ २० ॥
यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सनरद्विपा ।
वयं च मन्युना दग्धा वैरं प्रतिचिकीर्षवः ॥ २१ ॥
ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ।
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः ॥ २२ ॥
तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।
कर्णं चैव महात्मानं कौन्तेयं सत्यसंगरम् ॥ २३ ॥

देवर्षे ! जिसके कारण घोड़े, हाथी और मनुष्योंसहित सारी पृथ्वी नष्ट हो गयी, जिसके वैरका बदला लेनेकी इच्छा-से हमें भी क्रोधकी आगमें जलना पड़ा, जो धर्मका नाम भी नहीं जानता था, जिसने जीवनभर भूमण्डलके समस्त सुहृदोंके साथ द्रोह ही किया है, उस पापी दुर्योधनको यदि ये सनातन वीरलोक प्राप्त हुए हैं तो जो वे वीर, महात्मा, महान् व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ विश्वविख्यात शूर और सत्यवादी मेरे भाई हैं, उन्हें इस समय कौन-से लोक प्राप्त हुए हैं ? मैं उनको देखना चाहता हूँ । कुन्तीके सत्यप्रतिज्ञ पुत्र महात्मा कर्णसे भी मिलना चाहता हूँ ॥ २०–२३ ॥

धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २४ ॥
क्व नु ते पार्थिवा ब्रह्मन्नैतान् पश्यामि नारद ।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ॥ २५ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि नारद ॥ २६ ॥

'धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा धृष्टद्युम्नके पुत्रोंको भी देखना चाहता हूँ ! ब्रह्मन् ! नारदजी ! जो भूपाल क्षत्रिय-धर्मके अनुसार शस्त्रोंद्वारा वधको प्राप्त हुए हैं, वे कहाँ हैं ? मैं इन राजाओंको यहाँ नहीं देखता हूँ ।

मैं इन समस्त राजाओंसे मिलना चाहता हूँ। विराट, द्रुपद धृष्टकेतु आदि पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी, द्रौपदीके सभी पुत्रों तथा दुर्धर्ष वीर अभिमन्युको भी मैं देखना चाहता हूँ" ॥ २४—२६ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि स्वर्गे नारदयुधिष्ठिरसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें स्वर्गमें नारद और युधिष्ठिरका संवादविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

देवदूतका युधिष्ठिरको नरकका दर्शन कराना तथा भाइयोंका करुणक्रन्दन सुनकर उनका वहीं रहनेका निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

नेह पश्यामि विबुधा राधेयममितौजसम्।
भ्रातरौ च महात्मानौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवताओ ! मैं यहाँ अमित-तेजस्वी राधानन्दन कर्णको क्यों नहीं देख रहा हूँ ? दोनों भाई महामनस्वी युधामन्यु और उत्तमौजा कहाँ हैं ? वे भी नहीं दिखायी देते ॥ १ ॥

जुहुवुर्ये शरीराणि रणवह्नौ महारथाः।
राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे ॥ २ ॥
क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः।
तैरप्ययं जितो लोकः कच्चित् पुरुषसत्तमैः ॥ ३ ॥

जिन महारथियोंने समराग्निमें अपने शरीरोंकी आहुति दे दी, जो राजा और राजकुमार रणभूमिमें मेरे लिये मारे गये, वे सिंहके समान पराक्रमी समस्त महारथी वीर कहाँ हैं ? क्या उन पुरुषप्रवर वीरोंने भी इस स्वर्गलोकपर विजय पायी है ? ॥ २-३ ॥

यदि लोकानिमान् प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥

देवताओ ! यदि वे सम्पूर्ण महारथी इन लोकोंमें आये हैं तो आप समझ लें कि मैं उन महात्माओंके साथ रहूँगा ॥ ४ ॥

कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः।
न तैरहं विना रंस्ये भ्रातृभिर्ज्ञातिभिस्तथा ॥ ५ ॥

परंतु यदि उन नरेशोंने यह शुभ एवं अक्षयलोक नहीं प्राप्त किया है तो मैं उन जाति-भाइयोंके बिना यहाँ नहीं रहूँगा ॥ ५ ॥

मातुर्हि वचनं श्रुत्वा तदा सलिलकर्मणि।
कर्णस्य क्रियतां तोयमिति तप्यामि तेन वै ॥ ६ ॥

युद्धके बाद जब मैं अपने मृत सम्बन्धियोंको जलाञ्जलि दे रहा था, उस समय मेरी माता कुन्तीने कहा था, 'बेटा ! कर्णको भी जलाञ्जलि देना।' माताकी यह बात सुनकर मुझे मालूम हुआ कि महात्मा कर्ण मेरे ही भाई थे। तबसे मुझे उनके लिये बड़ा दुःख होता है ॥ ६ ॥

इदं च परितप्यामि पुनः पुनरहं सुराः।
यन्मातुः सदृशौ पादौ तस्याहममितात्मनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वैव तौ नानुगतः कर्णं परबलार्दनम्।
न ह्यस्मान् कर्णसहितान् जयेच्छक्रोऽपि संयुगे॥ ८ ॥

देवताओ ! यह सोचकर तो मैं और भी पश्चात्ताप करता रहता हूँ कि 'महामना कर्णके दोनों चरणोंको माता कुन्तीके चरणोंके समान देखकर भी मैं क्यों नहीं शत्रुदलमर्दन कर्णका अनुगामी हो गया ?' यदि कर्ण हमारे साथ होते तो हमें इन्द्र भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते ॥ ७-८ ॥

तमहं यत्र तत्रस्थं द्रष्टुमिच्छामि सूर्यजम्।
अविज्ञातो मया योऽसौ घातितः सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

ये सूर्यनन्दन कर्ण जहाँ कहीं भी हों, मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ; जिन्हें न जाननेके कारण मैंने अर्जुन-द्वारा उनका वध करवा दिया ॥ ९ ॥

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ॥ १० ॥
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम्।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेवं ब्रवीमि वः ॥ ११ ॥

मैं अपने प्राणोंसे भी प्रियतम भयंकर पराक्रमी भाई भीमसेनको, इन्द्रतुल्य तेजस्वी अर्जुनको, यमराजके समान अजेय नकुल-सहदेवको तथा धर्मपरायणा देवी द्रौपदीको भी देखना चाहता हूँ। यहाँ रहनेकी मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। मैं आप लोगोंसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ १०-११ ॥

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥ १२ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! अपने भाइयोंसे अलग रहकर इस स्वर्गसे भी मुझे क्या लेना है ? जहाँ मेरे भाई हैं, वही मेरा स्वर्ग है। उनके बिना मैं इस लोकको स्वर्ग नहीं मानता ॥ १२ ॥

देवा ऊचुः

यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र मा चिरम्।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥ १३ ॥

देवता बोले—वत्स ! यदि उन लोगोंमें तुम्हारी श्रद्धा है, तो चलो, विलम्ब न करो। हमलोग देवराजकी आज्ञासे सर्वथा तुम्हारा प्रिय करना चाहते हैं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपादिशन्।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परंतप ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय ! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर देवताओंने देवदूतको आज्ञा दी—'तुम युधिष्ठिरको इनके सुहृदोंका दर्शन कराओ' ॥ १४ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर और देवदूत दोनों साथ-साथ उस स्थानकी ओर चले, जहाँ वे पुरुषप्रवर भीमसेन आदि थे ॥ १५ ॥

अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः।
पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥ १६ ॥

आगे-आगे देवदूत जा रहा था और पीछे-पीछे राजा युधिष्ठिर। दोनों ऐसे दुर्गम मार्गपर जा पहुँचे, जो बहुत ही अशुभ था। पापाचारी मनुष्य ही यातना भोगनेके लिये उसपर आते-जाते थे ॥ १६ ॥

तमसा संवृतं घोरं केशशैवलशाद्वलम्।
युक्तं पापकृतां गन्धैर्मांसशोणितकर्दमम् ॥ १७ ॥

वहाँ घोर अन्धकार छा रहा था। केश, सेवार और घास इन्हींसे वह मार्ग भरा हुआ था। वह पापियोंके ही योग्य था। वहाँ दुर्गन्ध फैल रही थी। मांस और रक्तकी कीच जमी हुई थी ॥ १७ ॥

दंशोत्पातकभल्लूकमक्षिकामशकावृतम्।
इतश्चेतश्च कुणपैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १८ ॥

उस रास्तेपर डाँस, मच्छर, मक्खी, उत्पाती जीवजन्तु और भालू आदि फैले हुए थे। इधर-उधर सब ओर सड़े मुर्दे पड़े हुए थे ॥ १८ ॥

अस्थिकेशसमाकीर्णं कृमिकीटसमाकुलम्।
ज्वलनेन प्रदीप्तेन समन्तात् परिवेष्टितम् ॥ १९ ॥

हड्डियाँ और केश चारों ओर फैले हुए थे। कृमि और कीटोंसे वह मार्ग भरा हुआ था। उसे चारों ओरसे जलती आगने घेर रक्खा था ॥ १९ ॥

अयोमुखैश्च काकाद्यैर्गृध्रैश्च समभिद्रुतम्।
सूचीमुखैस्तथा प्रेतैर्विन्ध्यशैलोपमैर्वृतम् ॥ २० ॥

लोहेकी-सी चोंचवाले कौए और गीध आदि पक्षी मँडरा रहे थे। सूईके समान चुभते हुए मुखोंवाले और विन्ध्यपर्वतके समान विशालकाय प्रेत वहाँ सब ओर घूम रहे थे ॥ २० ॥

मेदोरुधिरयुक्तैश्च छिन्नबाहूरुपाणिभिः।
निकृत्तोदरपादैश्च तत्र तत्र प्रवेरितैः ॥ २१ ॥

वहाँ यत्र-तत्र बहुत-से मुर्दे बिखरे पड़े थे, उनमेंसे किसीके शरीरसे रुधिर और मेद बहते थे, किसीके बाहु, ऊरु, पेट और हाथ-पैर कट गये थे ॥ २१ ॥

स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणम्।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥ २२ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत चिन्ता करते हुए उसी मार्गके बीचसे होकर निकले, जहाँ सड़े मुर्दोंकी बदबू फैल रही थी और अमङ्गलकारी बीभत्स दृश्य दिखायी

देवदूतका युधिष्ठिरको मायामय नरकका दर्शन कराना

देता था। वह भयंकर मार्ग रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २२ ॥

ददर्शोष्णोदकैः पूर्णां नदीं चापि सुदुर्गमाम्।
असिपत्रवनं चैव निशितं क्षुरसंवृतम् ॥ २३ ॥

आगे जाकर उन्होंने देखा, खौलते हुए पानीसे भरी हुई एक नदी बह रही है, जिसके पार जाना बहुत ही कठिन है। दूसरी ओर तीखी तलवारों या छूरोंके-से पत्तोंसे परिपूर्ण तेज धारवाला असिपत्र नामक वन है ॥ २३ ॥

करम्भवालुकास्तप्ता आयसीश्च शिलाः पृथक्।
लोहकुम्भीश्च तैलस्य क्वाथ्यमानाः समन्ततः ॥ २४ ॥

कहीं गरम-गरम बालू बिछी है तो कहीं तपाये हुए लोहेकी बड़ी-बड़ी चट्टानें रक्खी गयी हैं। चारों ओर लोहेके कलशोंमें तेल खौलाया जा रहा है ॥ २४ ॥

कूटशाल्मलिकं चापि दुःस्पर्शं तीक्ष्णकण्टकम्।
ददर्श चापि कौन्तेयो यातनाः पापकर्मिणाम् ॥ २५ ॥

जहाँ-तहाँ पैने काँटोंसे भरे हुए सेमलके वृक्ष हैं, जिनको हाथसे छूना भी कठिन है। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने यह भी देखा कि वहाँ पापाचारी जीवोंको बड़ी कठोर यातनाएँ दी जा रही हैं ॥ २५ ॥

स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिममीदृशम् ॥ २६ ॥
क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २७ ॥

वहाँकी दुर्गन्धका अनुभव करके उन्होंने देवदूतसे पूछा—'भैया! ऐसे रास्तेपर अभी हमलोगोंको कितनी दूर और चलना है? तथा मेरे वे भाई कहाँ हैं? यह तुम्हें मुझे बता देना चाहिये। देवताओंका यह कौन-सा देश है, इस बातको मैं जानना चाहता हूँ' ॥ २६-२७ ॥

स संनिववृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम्।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद् गमनं तव ॥ २८ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर देवदूत लौट पड़ा और बोला—'बस, यहींतक आपको आना था ॥ २८ ॥

निवर्तितव्यो हि मया तथास्म्युक्तो दिवौकसैः।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

'महाराज! देवताओंने मुझसे कहा है कि जब युधिष्ठिर थक जायँ, तब उन्हें वापस लौटा लाना; अतः अब मुझे आपको लौटा ले चलना है। यदि आप थक गये हों तो मेरे साथ आइये' ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥ ३० ॥

भरतनन्दन! युधिष्ठिर वहाँकी दुर्गन्धसे घबरा गये थे। उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगी थी। इसलिये उन्होंने मनमें लौट जानेका ही निश्चय किया और उस निश्चयके अनुसार वे लौट पड़े ॥ ३० ॥

स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥ ३१ ॥

दुःख और शोकसे पीड़ित हुए धर्मात्मा युधिष्ठिर ज्यों ही वहाँसे लौटने लगे, त्यों ही उन्हें चारों ओरसे पुकारनेवाले आर्त मनुष्योंकी दीन वाणी सुनायी पड़ी— ॥ ३१ ॥

भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ ३२ ॥

'हे धर्मनन्दन! हे राजर्षे! हे पवित्र कुलमें उत्पन्न पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! आप हमलोगोंपर कृपा करनेके लिये दो घड़ीतक यहीं ठहरिये ॥ ३२ ॥

आयाति त्वयि दुर्धर्षे वाति पुण्यः समीरणः।
तव गन्धानुगस्तात येनास्मान् सुखमागमत् ॥ ३३ ॥

'आप दुर्धर्ष महापुरुषके आते ही परम पवित्र हवा चलने लगी है। तात! वह हवा आपके शरीरकी सुगन्ध लेकर आ रही है, जिससे हमलोगोंको बड़ा सुख मिला है ॥ ३३ ॥

ते वयं पार्थ दीर्घस्य कालस्य पुरुषर्षभ।
सुखमासादयिष्यामस्त्वां दृष्ट्वा राजसत्तम ॥ ३४ ॥

'पुरुषप्रवर! कुन्तीकुमार! नृपश्रेष्ठ! आज दीर्घकालके पश्चात् आपका दर्शन पाकर हम सुखका अनुभव करेंगे ॥ ३४ ॥

संतिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान् न बाधते ॥ ३५ ॥

'महाबाहु भरतनन्दन! हो सके तो दो घड़ी भी ठहर जाइये। कुरुनन्दन! आपके रहनेसे यहाँकी यातना हमें कष्ट नहीं दे रही है' ॥ ३५ ॥

एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम्।
तस्मिन् देशे स शुश्राव समन्ताद् वदतां नृप ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार वहाँ कष्ट पानेवाले दुखी प्राणियोंके भाँति-भाँतिके दीन वचन उस प्रदेशमें उन्हें चारों ओरसे सुनायी देने लगे ॥ ३६ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान् दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

दीनतापूर्ण वचन कहनेवाले उन प्राणियोंकी बातें सुनकर दयालु राजा युधिष्ठिर वहाँ खड़े हो गये। उनके मुँहसे सहसा निकल पड़ा, 'अहो ! इन बेचारोंको बड़ा कष्ट है' ॥ ३७ ॥

स ता गिरः पुरस्ताद् वै श्रुतपूर्वा पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥ ३८ ॥

महान् कष्ट और दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंकी वे ही पहलेकी सुनी हुई करुणाजनक बातें सामनेकी ओरसे बारंबार उनके कानोंमें पड़ने लगीं तो भी वे पाण्डुकुमार उन्हें पहचान न सके ॥ ३८ ॥

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥ ३९ ॥

उनकी वे बातें पूर्णरूपसे न समझकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने पूछा—'आपलोग कौन हैं और किस लिये यहाँ रहते हैं ?' ॥ ३९ ॥

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥ ४० ॥
नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर वे सब चारों ओरसे बोलने लगे—'प्रभो ! मैं कर्ण हूँ। मैं भीमसेन हूँ। मैं अर्जुन हूँ। मैं नकुल हूँ। मैं सहदेव हूँ। मैं धृष्टद्युम्न हूँ। मैं द्रौपदी हूँ और हमलोग द्रौपदीके पुत्र हैं।' इस प्रकार वे सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर अपना-अपना नाम बताने लगे ॥ ४०-४१ ॥

ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विममृशे राजा किं त्विदं दैवकारितम् ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! उस देशके अनुरूप उन बातोंको सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन विचार करने लगे 'कि दैवका यह कैसा विधान है ॥ ४२ ॥

किं तु तत् कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः ।
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥ ४३ ॥

य इमे पापगन्धेऽस्मिन् देशे सन्ति सुदारुणे ।
नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

'मेरे इन महामना भाइयोंने, कर्णने, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंने अथवा स्वयं सुमध्यमा द्रौपदीने भी कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे ये लोग इस दुर्गन्धपूर्ण भयंकर स्थानमें निवास करते हैं। इन समस्त पुण्यात्मा पुरुषोंने कभी कोई पाप किया था, इसे मैं नहीं जानता ॥ ४३-४४ ॥

किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥ ४५ ॥

'धृतराष्ट्रका पुत्र राजा सुयोधन कौन-सा पुण्यकर्म करके अपने समस्त पापी सेवकोंके साथ वैसी अद्भुत शोभा और सम्पत्तिसे संयुक्त हुआ है ? ॥ ४५ ॥

महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं य इमे नरकं गताः ॥ ४६ ॥

'वह तो यहाँ अत्यन्त सम्मानित होकर महेन्द्रके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हुआ है। इधर यह किस कर्मका फल है कि ये मेरे सगे-सम्बन्धी नरकमें पड़े हुए हैं ? ॥ ४६ ॥

सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षत्रधर्मरताः सन्तो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ ४७ ॥

'मेरे भाई सम्पूर्ण धर्मके ज्ञाता, शूरवीर, सत्यवादी तथा शास्त्रके अनुकूल चलनेवाले थे। इन्होंने क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहकर बड़े-बड़े यज्ञ किये और बहुत-सी दक्षिणाएँ दी हैं (तथापि इनकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई) ? ॥ ४७ ॥

किं नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये ।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद् वा मे चित्तविभ्रमः॥ ४८ ॥

'क्या मैं सोता हूँ या जागता हूँ ? मुझे चेत है या नहीं ? अहो ! यह मेरे चित्तका विकार तो नहीं है अथवा हो सकता है यह मेरे मनका भ्रम हो' ॥ ४८ ॥

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः ।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

दुःख और शोकके आवेशसे युक्त हो राजा युधिष्ठिर इस तरह नाना प्रकारसे विचार करने लगे। उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ चिन्तासे व्याकुल हो गयी थीं ॥ ४९ ॥

क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः ।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥ ५० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें तीव्र रोष जाग उठा। वे देवताओं और धर्मको कोसने लगे ॥ ५० ॥

स तीव्रगन्धसंतप्तो देवदूतमुवाच ह।
गम्यतां तत्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥ ५१ ॥
न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम्।
मत्संश्रयादिमे दूताः सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥ ५२ ॥

उन्होंने वहाँकी दुःसह दुर्गन्धसे संतप्त होकर देवदूतसे कहा—'तुम जिनके दूत हो, उनके पास लौट जाओ। मैं वहाँ नहीं चलूँगा। यहीं ठहर गया हूँ, अपने मालिकोंको इसकी सूचना दे देना। यहाँ ठहरनेका कारण यह है कि मेरे निकट रहनेसे यहाँ मेरे इन दुखी भाई-बन्धुओंको सुख मिलता है' ॥ ५१-५२ ॥

इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्रके ऐसा कहनेपर देवदूत उस समय उस स्थानको चला गया, जहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र विराजमान थे ॥ ५३ ॥

निवेदयामास च तद् धर्मराजचिकीर्षितम्।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥ ५४ ॥

नरेश्वर! दूतने वहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं और यह भी निवेदन कर दिया कि वे क्या करना चाहते हैं ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि युधिष्ठिरनरकदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें युधिष्ठिरको नरकका दर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र और धर्मका युधिष्ठिरको सान्त्वना देना तथा युधिष्ठिरका शरीर त्यागकर दिव्य लोकको जाना

वैशम्पायन उवाच

स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको उस स्थानपर खड़े हुए अभी दो ही घड़ी बीतने पायी थी कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता वहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

स च विग्रहवान् धर्मो राजानं प्रसमीक्षितुम्।
तत्राजगाम यत्रासौ कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

साक्षात् धर्म भी शरीर धारण करके राजासे मिलनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे कुरुराज युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥

तेषु भासुरदेहेषु पुण्याभिजनकर्मसु।
समागतेषु देवेषु व्यगमत् तत् तमो नृप ॥ ३ ॥

राजन्! जिनके कुल और कर्म पवित्र हैं, उन तेजस्वी शरीर-वाले देवताओंके आते ही वहाँका सारा अन्धकार दूर हो गया ॥

नादृश्यन्त च तास्तत्र यातनाः पापकर्मिणाम्।
नदी वैतरणी चैव कूटशाल्मलिना सह ॥ ४ ॥
लोहकुम्भ्यः शिलाश्चैव नादृश्यन्त भयानकाः।

वहाँ पापकर्मी पुरुषोंको जो यातनाएँ दी जाती थीं, वे सहसा अदृश्य हो गयीं। न वैतरणी नदी रह गयी, न कूट-शाल्मलि वृक्ष। लोहेके कुम्भ और लोहमयी भयंकर तप्त शिलाएँ भी नहीं दिखायी देती थीं ॥ ४½ ॥

विकृतानि शरीराणि यानि तत्र समन्ततः ॥ ५ ॥
ददर्श राजा कौरव्यस्तान्यदृश्यानि चाभवन्।
ततो वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥ ६ ॥
ववौ देवसमीपस्थः शीतलोऽतीव भारत।

कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ चारों ओर जो विकृत शरीर देखे थे, वे सभी अदृश्य हो गये। तदनन्तर वहाँ पावन सुगन्ध लेकर बहनेवाली पवित्र सुखदायिनी वायु चलने लगी। भारत! देवताओंके समीप बहती हुई वह वायु अत्यन्त शीतल प्रतीत होती थी ॥ ५-६½ ॥

मरुतः सह शक्रेण वसवश्चाश्विनौ सह ॥ ७ ॥
साध्या रुद्रास्तथाऽऽदित्या ये चान्येऽपि दिवौकसः।
सर्वे तत्र समाजग्मुः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ८ ॥
यत्र राजा महातेजा धर्मपुत्रः स्थितोऽभवत्।

इन्द्रके साथ मरुद्गण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, रुद्रगण, आदित्यगण, अन्यान्य देवलोकवासी सिद्ध और महर्षि सभी उस स्थानपर आये, जहाँ महातेजस्वी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ७-८½ ॥

ततः शक्रः सुरपतिः श्रिया परमया युतः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

तदनन्तर उत्तम शोभासे सम्पन्न देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ ९½ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ १० ॥
एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो ।
सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ ११ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें अक्षयलोक प्राप्त हुए हैं। पुरुषसिंह ! प्रभो ! अबतक जो हुआ सो हुआ। अब अधिक कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं है। आओ हमारे साथ चलो। महाबाहो ! तुम्हें बहुत बड़ी सिद्धि मिली है। साथ ही अक्षयलोकोंकी भी प्राप्ति हुई है ॥ १०-११ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः श‍ृणु चेदं वचो मम ।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥ १२ ॥

'तात ! तुम्हें जो नरक देखना पड़ा है, इसके लिये क्रोध न करना। मेरी यह बात सुनो। समस्त राजाओंको निश्चय ही नरक देखना पड़ता है ॥ १२ ॥

शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ।
यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥ १३ ॥

'पुरुषप्रवर ! मनुष्यके जीवनमें शुभ और अशुभ कर्मोंकी दो राशियाँ सञ्चित होती हैं। जो पहले ही शुभ कर्म भोग लेता है, उसे पीछे नरकमें ही जाना पड़ता है ॥ १३ ॥

पूर्वं नरकभाग् यस्तु पश्चात् स्वर्गमुपैति सः ।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥ १४ ॥

'परंतु जो पहले नरक भोग लेता है, वह पीछे स्वर्गमें जाता है। जिसके पास पापकर्मोंका संग्रह अधिक है, वह पहले ही स्वर्ग भोग लेता है ॥ १४ ॥

तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ॥ १५ ॥
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ।

'नरेश्वर ! मैंने तुम्हारे कल्याणकी इच्छासे तुम्हें पहले ही इस प्रकार नरकका दर्शन करानेके लिये यहाँ भेज दिया है। राजन् ! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामाके विषयमें छलसे काम लेकर द्रोणाचार्यको उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसलिये तुम्हें भी छलसे ही नरक दिखलाया गया है ॥

यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा ॥ १६ ॥
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ।

'जैसे तुम यहाँ लाये गये थे, उसी प्रकार भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा—ये सभी छलसे नरकके निकट लाये गये थे ॥ १६½ ॥

आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात् ॥ १७ ॥
स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे ।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान् पश्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह ! आओ, वे सभी पापसे मुक्त हो गये हैं। भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे पक्षके जो-जो राजा युद्धमें मारे गये हैं, वे सभी स्वर्गलोकमें आ पहुँचे हैं। चलो, उनका दर्शन करो ॥ १७-१८ ॥

कर्णश्चैव महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
स गतः परमां सिद्धिं यदर्थं परितप्यसे ॥ १९ ॥

'तुम जिनके लिये सदा संतप्त रहते हो, वे सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्ण भी परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १९ ॥

तं पश्य पुरुषव्याघ्रमादित्यतनयं विभो ।
स्वस्थानस्थं महाबाहो जहि शोकं नरर्षभ ॥ २० ॥

'प्रभो ! नरश्रेष्ठ ! महाबाहो ! तुम पुरुषसिंह सूर्यकुमार कर्णका दर्शन करो। वे अपने स्थानमें स्थित हैं। तुम उनके लिये शोक त्याग दो ॥ २० ॥

भ्रातॄंश्चान्यांस्तथा पश्य स्वपक्ष्यांश्चैव पार्थिवान् ।
स्वं स्वं स्थानमनुप्राप्तान् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २१ ॥

'अपने दूसरे भाइयोंको तथा पाण्डवपक्षके अन्यान्य राजाओंको भी देखो। वे सब अपने-अपने योग्य स्थानको प्राप्त हुए हैं। उन सबकी सद्गतिके विषयमें अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ २१ ॥

कृच्छ्रं पूर्वं चानुभूय इतःप्रभृति कौरव ।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन ! पहले कष्टका अनुभव करके अबसे तुम

मेरे साथ रहकर रोग-शोकसे रहित हो स्वच्छन्द विहार करो ॥

कर्मणां तात पुण्यानां जितानां तपसा स्वयम् ।
दानानां च महाबाहो फलं प्राप्नुहि पार्थिव ॥ २३ ॥

'तात ! महाबाहु ! पृथ्वीनाथ ! अपने किये हुए पुण्य-कर्मोंका, तपस्यासे जीते हुए लोकोंका और दानोंका फल भोगो ॥ २३ ॥

अद्य त्वां देवगन्धर्वा दिव्याश्चाप्सरसो दिवि ।
उपसेवन्तु कल्याण्यो विरजोऽम्बरभूषणाः ॥ २४ ॥

'आजसे देव, गन्धर्व तथा कल्याणस्वरूपा दिव्य अप्सराएँ स्वच्छ वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो स्वर्गलोकमें तुम्हारी सेवा करें ॥ २४ ॥

राजसूयजिताँल्लोकानश्वमेधाभिवर्धितान् ।
प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च महाफलम् ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! राजसूय यज्ञद्वारा जीते हुए तथा अश्वमेध यज्ञद्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए पुण्य लोकोंको प्राप्त करो और अपने तपके महान् फलको भोगो ॥ २५ ॥

उपर्युपरि राज्ञां हि तव लोका युधिष्ठिर ।
हरिश्चन्द्रसमाः पार्थ येषु त्वं विहरिष्यसि ॥ २६ ॥

'कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम्हें प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोक राजा हरिश्चन्द्रके लोकोंकी भाँति सब राजाओंके लोकोंसे ऊपर है; जिनमें तुम विचरण करोगे ॥ २६ ॥

मान्धाता यत्र राजर्षिर्यत्र राजा भगीरथः ।
दौष्यन्तिर्यत्र भरतस्तत्र त्वं विहरिष्यसि ॥ २७ ॥

'जहाँ राजर्षि मान्धाता, राजा भगीरथ और दुष्यन्त-कुमार भरत गये हैं, उन्हीं लोकोंमें तुम भी विहार करोगे ॥

एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी ।
आकाशगङ्गा राजेन्द्र तत्राप्लुत्य गमिष्यसि ॥ २८ ॥

'पार्थ ! ये तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली पुण्यसलिला देवनदी आकाशगङ्गा हैं । राजेन्द्र ! इनके जलमें गोता लगाकर तुम दिव्य लोकोंमें जा सकोगे ॥ २८ ॥

अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति ।
गतशोको निरायासो मुक्तवैरो भविष्यसि ॥ २९ ॥

'मन्दाकिनीके इस पवित्र जलमें स्नान कर लेनेपर तुम्हारा मानव-स्वभाव दूर हो जायगा । तुम शोक, संताप और वैरभावसे छुटकारा पा जाओगे' ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम् ।
धर्मो विग्रहवान् साक्षादुवाच सुतमात्मनः ॥ ३० ॥

देवराज इन्द्र जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय शरीर धारण करके आये हुए साक्षात् धर्मने अपने पुत्र कौरवराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३० ॥

भो भो राजन् महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक ।
मद्भक्त्या सत्यवाक्यैश्च क्षमया च दमेन च ॥ ३१ ॥

'महाप्राज्ञ नरेश ! मेरे पुत्र ! तुम्हारे धर्मविषयक अनुराग, सत्यभाषण, क्षमा और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे मै बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ३१ ॥

एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् कृता मया ।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात् पार्थ हेतुतः ॥ ३२ ॥

'राजन् ! यह मैंने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। पार्थ ! किसी भी युक्तिसे कोई तुम्हें अपने स्वभावसे विचलित नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

पूर्वं परीक्षितो हि त्वं प्रश्नाद् द्वैतवने मया ।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि ॥ ३३ ॥

'द्वैतवनमें अरणिकाष्ठका अपहरण करनेके पश्चात् जब यक्षके रूपमें मैंने तुमसे कई प्रश्न किये थे, वह मेरे द्वारा तुम्हारी पहली परीक्षा थी । उसमें तुम भलीभाँति उत्तीर्ण हो गये ॥ ३३ ॥

सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्या तत्र भारत ।
श्वरूपधारिणा तत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः ॥ ३४ ॥

'भारत ! फिर द्रौपदीसहित तुम्हारे सभी भाइयोंकी मृत्यु हो जानेपर कुत्तेका रूप धारण करके मैंने दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी । उसमें भी तुम सफल हुए ॥ ३४ ॥

इदं तृतीयं भ्रातॄणामर्थे यत् स्थातुमिच्छसि ।
विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥ ३५ ॥

'अब यह तुम्हारी परीक्षाका तीसरा अवसर था; किंतु इस बार भी तुम अपने सुखकी परवा न करके भाइयोंके हितके लिये नरकमें रहना चाहते थे, अतः महाभाग ! तुम हर तरहसे शुद्ध प्रमाणित हुए । तुममें पापका नाम भी नहीं है; अतः सुखी होओ ॥ ३५ ॥

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकार्हा विशाम्पते ।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥ ३६ ॥

'पार्थ ! प्रजानाथ ! तुम्हारे भाई नरकमें रहनेके योग्य

नहीं हैं। तुमने जो उन्हें नरक भोगते देखा है, वह देवराज इन्द्रद्वारा प्रकट की हुई माया थी ॥ ३६ ॥

अवश्यं नरकास्तात द्रष्टव्याः सर्वराजभिः ।
ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

'तात! समस्त राजाओंको नरकका दर्शन अवश्य करना पड़ता है; इसलिये तुमने दो घड़ीतक यह महान् दुःख प्राप्त किया है ॥ ३७ ॥

न सव्यसाची भीमो वा यमौ वा पुरुषर्षभौ ।
कर्णो वा सत्यवाक् शूरो नरकार्हाश्चिरं नृप ॥ ३८ ॥

'नरेश्वर! सव्यसाची अर्जुन, भीमसेन, पुरुषप्रवर नकुल-सहदेव अथवा सत्यवादी शूरवीर कर्ण—इनमेंसे कोई भी चिरकालतक नरकमें रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३८ ॥

न कृष्णा राजपुत्री च नरकार्हा कथंचन ।
एह्येहि भरतश्रेष्ठ पश्य गङ्गां त्रिलोकगाम् ॥ ३९ ॥

'भरतश्रेष्ठ! राजकुमारी कृष्णा भी किसी तरह नरकमें जानेयोग्य नहीं है। आओ, त्रिभुवनगामिनी गङ्गाजीका दर्शन करो' ॥ ३९ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तव पूर्वपितामहः ।
जगाम सह धर्मेण सर्वैश्च त्रिदिवालयैः ॥ ४० ॥
गङ्गां देवनदीं पुण्यां पावनीमृषिसंस्तुताम् ।
अवगाह्य ततो राजा तनुं तत्याज मानुषीम् ॥ ४१ ॥

जनमेजय! धर्मके यों कहनेपर तुम्हारे पूर्वपितामह राजर्षि युधिष्ठिरने धर्म तथा समस्त स्वर्गवासी देवताओंके साथ जाकर मुनिजनवन्दित परमपावन पुण्यसलिला देवनदी गङ्गाजीमें स्नान किया। स्नान करके राजाने तत्काल अपने मानवशरीरको त्याग दिया ॥ ४०-४१ ॥

ततो दिव्यवपुर्भूत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निर्वैरो गतसंतापो जले तस्मिन् समाप्लुतः ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् दिव्यदेह धारण करके धर्मराज युधिष्ठिर वैर-भावसे रहित हो गये। मन्दाकिनीके शीतल जलमें स्नान करते ही उनका सारा संताप दूर हो गया ॥ ४२ ॥

ततो ययौ वृतो देवैः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण सहितो धीमान् स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ४३ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शूरा विगतमन्यवः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् देवताओंसे घिरे हुए बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए धर्मके साथ उस स्थानको गये, जहाँ वे पुरुषसिंह शूरवीर पाण्डव और धृतराष्ट्रपुत्र क्रोध त्यागकर आनन्दपूर्वक अपने-अपने स्थानोंपर रहते थे ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि युधिष्ठिरतनुत्यागे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें युधिष्ठिरका देहत्यागविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

युधिष्ठिरका दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण, अर्जुन आदिका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
स्तूयमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए राजा युधिष्ठिर क्रमशः उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ वे कुरुश्रेष्ठ भीमसेन और अर्जुन आदि विराजमान थे ॥ १ ॥

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनैव सूचितम् ॥ २ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने ब्राह्मविग्रहसे सम्पन्न हैं। पहलेके देखे गये सादृश्यसे ही वे पहचाने जाते हैं ॥ २ ॥

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥ ३ ॥

उनके श्रीविग्रहसे अद्भुत दीप्ति छिटक रही है। चक्र आदि दिव्य एवं भयंकर अस्त्र-शस्त्र दिव्य पुरुषविग्रह धारण करके उनकी सेवामें उपस्थित हैं ॥ ३ ॥

उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।
तथास्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम्॥ ४॥

अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भगवान्‌की आराधनामें लगे हुए हैं। कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनका उसी स्वरूपमें दर्शन किया॥ ४॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ समुद्वीक्ष्य युधिष्ठिरम्।
यथावत् प्रतिपेदाते पूजया देवपूजितौ॥ ५॥

पुरुषसिंह अर्जुन और श्रीकृष्ण देवताओंद्वारा पूजित थे। इन दोनोंने युधिष्ठिरको उपस्थित देख उनका यथावत् सम्मान किया॥ ५॥

अपरस्मिन्नथोद्देशे कर्णं शस्त्रभृतां वरम्।
द्वादशादित्यसहितं ददर्श कुरुनन्दनः॥ ६॥

इसके बाद दूसरी ओर दृष्टि डालनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्णको देखा, जो बारह आदित्योंके साथ (तेजोमय स्वरूप धारण किये) विराजमान थे॥

तथापरस्मिन्नुद्देशे मरुद्गणवृतं विभुम्।
भीमसेनमथापश्यत् तेनैव वपुषान्वितम्॥ ७॥
वायोर्मूर्तिमतः पार्श्वे दिव्यमूर्तिसमन्वितम्।
श्रिया परमया युक्तं सिद्धिं परमिकां गतम्॥ ८॥

फिर दूसरे स्थानमें उन्होंने दिव्यरूपधारी भीमसेनको देखा, जो पहलेहीके समान शरीर धारण किये मूर्तिमान् वायुदेवताके पास बैठे थे। उन्हें सब ओरसे मरुद्गणोंने घेर रखा था। वे उत्तम कान्तिसे सुशोभित एवं उत्कृष्ट सिद्धिको प्राप्त थे॥ ७-८॥

अश्विनोस्तु तथा स्थाने दीप्यमानौ स्वतेजसा।
नकुलं सहदेवं च ददर्श कुरुनन्दनः॥ ९॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिरने नकुल और सहदेवको अश्विनीकुमारोंके स्थानमें विराजमान देखा, जो अपने तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे॥ ९॥

तथा ददर्श पाञ्चालीं कमलोत्पलमालिनीम्।
वपुषा स्वर्गमाक्रम्य तिष्ठन्तीमर्कवर्चसम्॥ १०॥

तदनन्तर उन्होंने कमलोंकी मालासे अलंकृत पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको देखा, जो अपने तेजस्वी स्वरूपसे स्वर्गलोकको अभिभूत करके विराज रही थीं। उनकी दिव्य कान्ति सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित हो रही थी॥ १०॥

अखिलं सहसा राजा प्रष्टुमैच्छद् युधिष्ठिरः।
ततोऽस्य भगवानिन्द्रः कथयामास देवराट्॥ ११॥

राजा युधिष्ठिरने इन सबके विषयमें सहसा प्रश्न करनेका विचार किया। तब देवराज भगवान् इन्द्र स्वयं ही उन्हें सबका परिचय देने लगे—॥ ११॥

श्रीरेषा द्रौपदीरूपा त्वदर्थे मानुषं गता।
अयोनिजा लोककान्ता पुण्यगन्धा युधिष्ठिर॥ १२॥

'युधिष्ठिर! ये जो लोककमनीय विग्रहसे युक्त पवित्र गन्धवाली देवी दिखायी दे रही हैं, साक्षात् भगवती लक्ष्मी हैं। ये ही तुम्हारे लिये मनुष्यलोकमें जाकर अयोनिसम्भूता द्रौपदीके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं॥ १२॥

रत्यर्थं भवतां ह्येषा निर्मिता शूलपाणिना।
द्रुपदस्य कुले जाता भवद्भिश्चोपजीविता॥ १३॥

'स्वयं भगवान् शंकरने तुमलोगोंकी प्रसन्नताके लिये इन्हें प्रकट किया था और ये ही द्रुपदके कुलमें जन्म धारणकर तुम सब भाइयोंके द्वारा अनुगृहीत हुई थीं॥ १३॥

एते पञ्च महाभागा गन्धर्वाः पावकप्रभाः।
द्रौपद्यास्तनया राजन् युष्माकममितौजसः॥ १४॥

'राजन्! ये जो अग्निके समान तेजस्वी और महान् सौभाग्यशाली पाँच गन्धर्व दिखायी देते हैं, ये ही तुमलोगोंके वीर्यसे उत्पन्न हुए द्रौपदीके अनन्त बलशाली पुत्र हुए थे॥ १४॥

पश्य गन्धर्वराजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
एनं च त्वं विजानीहि भ्रातरं पूर्वजं पितुः॥ १५॥

'इन मनीषी गन्धर्वराज धृतराष्ट्रका दर्शन करो और इन्हींको अपने पिताका बड़ा भाई समझो॥ १५॥

अयं ते पूर्वजो भ्राता कौन्तेयः पावकद्युतिः।
सूतपुत्राग्रजः श्रेष्ठो राधेय इति विश्रुतः॥ १६॥

'ये रहे तुम्हारे बड़े भाई कुन्तीकुमार कर्ण, जो अग्नितुल्य तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं। ये ही सूतपुत्रोंके श्रेष्ठ अग्रज थे और ये ही राधापुत्रके नामसे विख्यात हुए थे॥ १६॥

आदित्यसहितो याति पश्यैनं पुरुषर्षभम्।

'इन पुरुषप्रवर कर्णका दर्शन करो, ये आदित्योंके साथ जा रहे हैं॥ १६½॥

साध्यानामथ देवानां विश्वेषां मरुतामपि॥ १७॥
गणेषु पश्य राजेन्द्र वृष्ण्यन्धकमहारथान्।
सात्यकिप्रमुखान् वीरान् भोजांश्चैव महाबलान्॥ १८॥

'राजेन्द्र! उधर वृष्णि और अन्धककुलके सात्यकि आदि वीर महारथियों और महान् बलशाली भोजोंको देखो! वे साध्यों, विश्वेदेवों तथा मरुद्गणोंमें विराजमान हैं॥ १७-१८॥

सोमेन सहितं पश्य सौभद्रमपराजितम्।
अभिमन्युं महेष्वासं निशाकरसमद्युतिम्॥ १९॥

'इधर किसीसे परास्त न होनेवाले महाधनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युकी ओर दृष्टि डालो। यह चन्द्रमाके साथ इन्हींके समान कान्ति धारण किये बैठा है॥ १९॥

एष पाण्डुर्महेष्वासः कुन्त्या माद्र्या च संगतः।
विमानेन सदाभ्येति पिता तव ममान्तिकम्॥ २०॥

'ये महाधनुर्धर राजा पाण्डु हैं, जो कुन्ती और माद्री दोनोंके साथ हैं। ये तुम्हारे पिता पाण्डु विमानद्वारा सदा मेरे पास आया करते हैं॥ २०॥

वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम्।
द्रोणं बृहस्पतेः पार्श्वे गुरुमेनं निशामय॥ २१॥

'शान्तनुनन्दन राजा भीष्मका दर्शन करो, ये वसुओंके साथ विराज रहे हैं। द्रोणाचार्य बृहस्पतिके साथ हैं। अपने इन गुरुदेवको अच्छी तरह देख लो॥ २१॥

एते चान्ये महीपाला योधास्तव च पाण्डव।
गन्धर्वसहिता यान्ति यक्षपुण्यजनैस्तथा॥ २२॥

'पाण्डुनन्दन! ये तुम्हारे पक्षके दूसरे भूपाल योद्धा गन्धर्वों, यक्षों तथा पुण्यजनोंके साथ जा रहे हैं॥ २२॥

गुह्यकानां गतिं चापि केचित् प्राप्ता नराधिपाः।
त्यक्त्वा देहं जितः स्वर्गः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मभिः॥ २३॥

'किन्हीं-किन्हीं राजाओंको गुह्यकोंकी गति प्राप्त हुई है। ये सब युद्धमें शरीर त्यागकर अपनी पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मोंके द्वारा स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर चुके हैं'॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि द्रौपद्यादिस्वस्वस्थानगमने चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें द्रौपदी आदिका अपने-अपने स्थानमें गमनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

भीष्म आदि वीरोंका अपने-अपने मूलस्वरूपमें मिलना और महाभारतका उपसंहार तथा माहात्म्य

जनमेजय उवाच

भीष्मद्रोणौ महात्मानौ धृतराष्ट्रश्च पार्थिवः।
विराटद्रुपदौ चोभौ शङ्खश्चैवोत्तरस्तथा॥ १॥
धृष्टकेतुर्जयत्सेनो राजा चैव स सत्यजित्।
दुर्योधनसुताश्चैव शकुनिश्चैव सौबलः॥ २॥
कर्णपुत्राश्च विक्रान्ता राजा चैव जयद्रथः।
घटोत्कचादयश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः॥ ३॥
ये चान्ये कीर्तिता वीरा राजानो दीप्तमूर्तयः।
स्वर्गे कालं कियन्तं ते तस्थुस्तदपि शंस मे॥ ४॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा भीष्म और द्रोण, राजा धृतराष्ट्र, विराट, द्रुपद, शंख, उत्तर, धृष्टकेतु, जयत्सेन, राजा सत्यजित्, दुर्योधनके पुत्र, सुबलपुत्र शकुनि, कर्णके पराक्रमी पुत्र, राजा जयद्रथ तथा घटोत्कच आदि तथा दूसरे जो नरेश यहाँ नहीं बताये गये हैं और जिनका नाम लेकर यहाँ वर्णन किया गया है, वे सभी तेजस्वी शरीर धारण करनेवाले वीर राजा स्वर्गलोकमें कितने समयतक एक साथ रहे? यह मुझे बताइये॥ १—४॥

आहोस्विच्छाश्वतं स्थानं तेषां तत्र द्विजोत्तम।
अन्ते वा कर्मणां कां ते गतिं प्राप्ता नरर्षभाः॥ ५॥

द्विजश्रेष्ठ! क्या उन्हें वहाँ सनातन स्थानकी प्राप्ति हुई थी? अथवा कर्मोंका अन्त होनेपर वे पुरुषश्रेष्ठ किस गतिको प्राप्त हुए?॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं प्रोच्यमानं द्विजोत्तम।
तपसा हि प्रदीप्तेन सर्वं त्वमनुपश्यसि॥ ६॥

विप्रवर! मैं आपके मुखसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप अपनी उद्दीप्त तपस्यासे सब कुछ देखते हैं।

सौतिरुवाच

इत्युक्तः स तु विप्रर्षिरनुज्ञातो महात्मना।
व्यासेन तस्य नृपतेराख्यातुमुपचक्रमे॥ ७॥

सौति कहते हैं—राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर महात्मा व्यासकी आज्ञा ले ब्रह्मर्षि वैशम्पायनने राजासे इस प्रकार कहना आरम्भ किया॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

न शक्यं कर्मणामन्ते सर्वेण मनुजाधिप।
प्रकृतिं किं नु सम्यक्ते पृच्छैषा सम्प्रयोजिता॥ ८॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! कर्मोंका भोग समाप्त हो जानेपर सभी लोग अपनी प्रकृति (मूल कारण) को नहीं प्राप्त हो जाते हैं; (कोई-कोई ही अपने कारणमें विलीन होता है) यदि पूछो, क्या मेरा प्रश्न असंगत है? तो इसका उत्तर यह है कि जो प्रकृतिको प्राप्त नहीं हैं, उनके उद्देश्यसे तुम्हारा यह प्रश्न सर्वथा ठीक है॥ ८॥

शृणु गुह्यमिदं राजन् देवानां भरतर्षभ।
यदुवाच महातेजा दिव्यचक्षुः प्रतापवान्॥ ९॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! यह देवताओंका गूढ़ रहस्य है। स विषयमें दिव्य नेत्रवाले, महातेजस्वी, प्रतापी मुनि व्यास-नेने जो कहा है, उसे बताता हूँ; सुनो— ॥ ९ ॥

मुनिः पुराणः कौरव्य पाराशर्यो महाव्रतः।
अगाधबुद्धिः सर्वज्ञो गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ॥ १० ॥
तेनोक्तं कर्मणामन्ते प्रविशन्ति स्विकां तनुम्।
वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! जो सब कर्मोंकी गतिको जाननेवाले, अगाध बुद्धिसम्पन्न एवं सर्वज्ञ हैं; उन महान् व्रतधारी, पुरातन मुनि, पराशरनन्दन व्यासजीने तो मुझसे यही कहा है कि 'वे सभी वीर कर्मभोगके पश्चात् अन्ततोगत्वा अपने मूल स्वरूपमें ही मिल गये थे। महातेजस्वी, परम कान्तिमान् भीष्म वसुओंके स्वरूपमें ही प्रविष्ट हो गये' ॥ १०-११ ॥

अष्टावेव हि दृश्यन्ते वसवो भरतर्षभ।
बृहस्पतिं विवेशाथ द्रोणो ह्याङ्गिरसां वरम् ॥ १२ ॥

भरतभूषण ! यही कारण है कि वसु आठ ही देखे जाते हैं (अन्यथा भीष्मजीको लेकर नौ वसु हो जाते)। आचार्य द्रोणने आङ्गिरसोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीके स्वरूपमें प्रवेश किया ॥

कृतवर्मा तु हार्दिक्यः प्रविवेश मरुद्गणान्।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नः प्रविवेश यथागतम् ॥ १३ ॥

हृदिकपुत्र कृतवर्मा मरुद्गणोंमें मिल गया। प्रद्युम्न जैसे आये थे, उसी तरह सनत्कुमारके स्वरूपमें प्रविष्ट हो गये ॥

धृतराष्ट्रो धनेशस्य लोकान् प्राप दुरासदान्।
धृतराष्ट्रेण सहिता गान्धारी च यशस्विनी ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने धनाध्यक्ष कुबेरके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त किया। उनके साथ यशस्विनी गान्धारी देवी भी थीं ॥ १४ ॥

पत्नीभ्यां सहितः पाण्डुर्महेन्द्रसदनं ययौ।
विराटद्रुपदौ चोभौ धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
निशठाक्रूरसाम्बाश्च भानुः कम्पो विदूरथः।
भूरिश्रवाः शलश्चैव भूरिश्च पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कंसश्चैवोग्रसेनश्च वसुदेवस्तथैव च।
उत्तरश्च सह भ्रात्रा शङ्खेन नरपुङ्गवः ॥ १७ ॥
विश्वेषां देवतानां ते विविशुर्नरसत्तमाः।

राजा पाण्डु अपनी दोनों पत्नियोंके साथ महेन्द्रके भवन-में चले गये। राजा विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, निशठ, अक्रूर, साम्ब, भानु, कम्प, विदूरथ, भूरिश्रवा, शल, पृथ्वीपति भूरि, कंस, उग्रसेन, वसुदेव और अपने भाई शङ्खके साथ नरश्रेष्ठ उत्तर—ये सभी सत्पुरुष विश्वेदेवोंके स्वरूपमें मिल गये ॥ १५–१७½ ॥

वर्चा नाम महातेजाः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
सोऽभिमन्युर्नृसिंहस्य फाल्गुनस्य सुतोऽभवत्।
स युद्ध्वा क्षत्रधर्मेण यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥ १९ ॥
विवेश सोमं धर्मात्मा कर्मणोऽन्ते महारथः।

चन्द्रमाके महातेजस्वी और प्रतापी पुत्र जो वर्चा हैं, वे ही पुरुषसिंह अर्जुनके पुत्र होकर अभिमन्यु नामसे विख्यात हुए थे। उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ऐसा युद्ध किया था, जैसा दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं कर सका था। उन धर्मात्मा महारथी अभिमन्युने अपना कार्य पूरा करके चन्द्रमामें ही प्रवेश किया ॥ १८-१९½ ॥

आविवेश रविं कर्णो निहतः पुरुषर्षभः ॥ २० ॥
द्वापरं शकुनिः प्राप धृष्टद्युम्नस्तु पावकम्।

पुरुषप्रवर कर्ण जो अर्जुनके द्वारा मारे गये थे, सूर्यमें प्रविष्ट हुए। शकुनिने द्वापरमें और धृष्टद्युम्नने अग्निके स्वरूपमें प्रवेश किया ॥ २०½ ॥

धृतराष्ट्रात्मजाः सर्वे यातुधाना बलोत्कटाः ॥ २१ ॥
ऋद्धिमन्तो महात्मानः शस्त्रपूता दिवं गताः।

धृतराष्ट्रके सभी पुत्र स्वर्गभोगके पश्चात् मूलतः बलोन्मत्त यातुधान (राक्षस) थे। वे समृद्धिशाली महामनस्वी क्षत्रिय होकर युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये थे॥

धर्ममेवाविशत् क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
अनन्तो भगवान् देवः प्रविवेश रसातलम्।
पितामहनियोगाद् वै यो योगाद् गामधारयत् ॥ २३ ॥

विदुर और राजा युधिष्ठिरने धर्मके ही स्वरूपमें प्रवेश किया। बलरामजी साक्षात् भगवान् अनन्तदेवके अवतार थे। वे रसातलमें अपने स्थानको चले गये। ये वे ही अनन्तदेव हैं, जिन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर योगबलसे इस पृथ्वीको धारण कर रखा है ॥ २२-२३ ॥

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणोऽन्ते विवेश ह ॥ २४ ॥

वे जो नारायण नामसे प्रसिद्ध सनातन देवाधिदेव हैं, उन्हींके अंश वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण थे, जो अवतारका कार्य पूरा करके पुनः अपने स्वरूपमें प्रविष्ट हो गये ॥ २४ ॥

षोडश स्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः।
अमज्जंस्ताः सरस्वत्यां कालेन जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार स्त्रियाँ थीं, उन्होंने अवसर पाकर सरस्वती नदीमें कूदकर अपने प्राण दे दिये ॥ २५ ॥

तत्र त्यक्त्वा शरीराणि दिवमारुरुहुः पुनः।
ताश्चैवाप्सरसो भूत्वा वासुदेवमुपाविशन् ॥ २६ ॥

वहाँ देहत्याग करनेके पश्चात् वे सब-की-सब पुनः स्वर्ग-लोकमें जा पहुँचीं और अप्सराएँ होकर पुनः भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हो गयीं ॥ २६ ॥

हतास्तस्मिन् महायुद्धे ये वीरास्तु महारथाः।
घटोत्कचादयश्चैव देवान् यक्षांश्च भेजिरे ॥ २७ ॥

इस प्रकार उस महाभारत नामक महायुद्धमें जो-जो वीर महारथी घटोत्कच आदि मारे गये थे, वे देवताओं और यक्षों-के लोकोंमें गये ॥ २७ ॥

दुर्योधनसहायाश्च राक्षसाः परिकीर्तिताः ।
प्राप्तास्ते क्रमशो राजन् सर्वलोकाननुत्तमान् ॥ २८ ॥

राजन्! जो दुर्योधनके सहायक थे, वे सब-के-सब राक्षस बताये गये हैं। उन्हें क्रमशः सभी उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई॥

भवनं च महेन्द्रस्य कुबेरस्य च धीमतः ।
वरुणस्य तथा लोकान् विविशुः पुरुषर्षभाः ॥ २९ ॥

वे श्रेष्ठ पुरुष क्रमशः देवराज इन्द्रके, बुद्धिमान् कुबेरके तथा वरुण देवताके लोकोंमें गये ॥ २९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥ ३० ॥

महातेजस्वी भरतनन्दन! यह सारा प्रसंग—कौरवों और पाण्डवोंका सम्पूर्ण चरित्र तुम्हें विस्तारके साथ बताया गया ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठाः स राजा जनमेजयः ।
विस्मितोऽभवदत्यर्थं यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ ३१ ॥

सौति कहते हैं—विप्रवरो! यज्ञकर्मके बीचमें जो अवसर प्राप्त होते थे, उन्हींमें यह महाभारतका आख्यान सुनकर राजा जनमेजयको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३१ ॥

ततः समापयामासुः कर्म तत् तस्य याजकाः ।
आस्तीकश्चाभवत् प्रीतः परिमोक्ष्य भुजङ्गमान्॥ ३२ ॥

तदनन्तर उनके पुरोहितोंने उस यज्ञकर्मको समाप्त कराया। सर्पोंको प्राणसंकटसे छुटकारा दिलाकर आस्तीक मुनिको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३२ ॥

ततो द्विजातीन् सर्वांस्तान् दक्षिणाभिरतोषयत्।
पूजिताश्चापि ते राज्ञा ततो जग्मुर्यथागतम् ॥ ३३ ॥

राजाने यज्ञकर्ममें सम्मिलित हुए समस्त ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा देकर संतुष्ट किया तथा वे ब्राह्मण भी राजासे यथोचित सम्मान पाकर जैसे आये थे उसी तरह अपने घरको लौट गये॥

विसर्जयित्वा विप्रांस्तान् राजापि जनमेजयः ।
ततस्तक्षशिलायाः स पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ ३४ ॥

उन ब्राह्मणोंको विदा करके राजा जनमेजय भी तक्षशिलासे फिर हस्तिनापुरको चले आये ॥ ३४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ।
व्यासाज्ञया समाज्ञातं सर्पसत्रे नृपस्य हि ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासजीकी आज्ञासे मुनिवर वैशम्पायनजीने जो इतिहास सुनाया था तथा मैंने अपने पिता सूतजीसे जिसका ज्ञान प्राप्त किया था, वह सारा-का-सारा मैंने आपलोगोंके समक्ष यह वर्णन किया है ॥३५॥

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना ॥ ३६ ॥

ब्रह्मन्! सत्यवादी मुनि व्यासजीके द्वारा निर्मित यह पुण्यमय इतिहास परम पवित्र एवं बहुत उत्तम है ॥ ३६ ॥

सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता ।
अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना ॥ ३७ ॥
ऐश्वर्ये वर्तता चैव सांख्ययोगवता तथा ।
नैकतन्त्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ ३८ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ ३९ ॥

सर्वज्ञ, विधिविधानके ज्ञाता, धर्मज्ञ, साधु, इन्द्रियातीत ज्ञानसे सम्पन्न, शुद्ध, तपके प्रभावसे पवित्र अन्तःकरणवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न, सांख्य एवं योगके विद्वान् तथा अनेक शास्त्रोंके पारदर्शी मुनिवर व्यासजीने दिव्य दृष्टिसे देखकर महात्मा पाण्डवों तथा अन्य प्रचुर धनसम्पन्न महातेजस्वी राजाओंकी कीर्तिका प्रसार करनेके लिये इस इतिहासकी रचना की है ॥ ३७–३९ ॥

यश्चेदं श्रावयेद् विद्वान् सदा पर्वणि पर्वणि ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४० ॥

जो विद्वान् प्रत्येक पर्वपर सदा इसे दूसरोंको सुनाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं। उसका स्वर्गपर अधिकार हो जाता है तथा वह ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है ॥ ४० ॥

कार्ष्णं वेदमिमं सर्वं शृणुयाद् यः समाहितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानां कोटिस्तस्य विनश्यति ॥ ४१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण 'कार्ष्ण वेद'[1] का श्रवण करता है, उसके ब्रह्महत्या आदि करोड़ों पापोंका नाश हो जाता है ॥ ४१ ॥

यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४२ ॥

जो श्राद्धकर्ममें ब्राह्मणोंको निकटसे महाभारतका थोड़ा-सा अंश भी सुना देता है, उसका दिया हुआ अन्नपान अक्षय होकर पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

अह्ना यदेनः कुरुते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
महाभारतमाख्याय पश्चात् संध्यां प्रमुच्यते ॥ ४३ ॥

मनुष्य अपनी इन्द्रियों तथा मनसे दिनभरमें जो पाप करता है, वह सायंकालकी संध्याके समय महाभारतका पाठ करनेसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

यद् रात्रौ कुरुते पापं ब्राह्मणः स्त्रीगणैर्वृतः ।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण रात्रिके समय स्त्रियोंके समुदायसे घिरकर जो पाप करता है, वह प्रातःकालकी संध्याके समय महाभारतका पाठ करनेसे छूट जाता है ॥ ४४ ॥

भरतानां महज्जन्म तस्माद् भारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।

१. श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके द्वारा प्रकट होनेके कारण 'कृष्णादागतः कार्ष्णः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह उपाख्यान 'कार्ष्णवेद' के नामसे प्रसिद्ध है।

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४५ ॥

इस ग्रन्थमें भरतवंशियोंके महान् जन्मकर्मका वर्णन है, इसलिये इसे महाभारत कहते हैं। महान् और भारी होनेके कारण भी इसका नाम महाभारत हुआ है। जो महाभारतकी इस व्युत्पत्तिको जानता और समझता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥ ४६ ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥ ४७ ॥

अठारह पुराणोंके निर्माता और वेदविद्याके महासागर महात्मा व्यास मुनिका यह सिंहनाद सुनो। वे कहते हैं— 'अठारह पुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित चारों वेद एक ओर तथा केवल महाभारत दूसरी ओर, यह अकेला ही उन सबके बराबर है' ॥ ४६-४७ ॥

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥ ४८ ॥

मुनिवर भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने तीन वर्षोंमें इस सम्पूर्ण महाभारतको पूर्ण किया था ॥ ४८ ॥

आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत्।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा॥ ४९ ॥

जो जय नामक इस महाभारत इतिहासको सदा भक्तिपूर्वक सुनता रहता है, उसके यहाँ श्री, कीर्ति और विद्या तीनों साथ-साथ रहती हैं ॥ ४९ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ महाभारतमें कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है ॥ ५० ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥ ५१ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणको, राज्य चाहनेवाले क्षत्रियको तथा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखनेवाली गर्भिणी स्त्रीको भी इस जय नामक इतिहासका श्रवण करना चाहिये ।५१।

स्वर्गकामो लभेत् स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम्।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥ ५२ ॥

महाभारतका श्रवण या पाठ करनेवाला मनुष्य यदि स्वर्गकी इच्छा करे तो उसे स्वर्ग मिलता है और युद्धमें विजय पाना चाहे तो विजय मिलती है। इसी प्रकार गर्भिणी स्त्रीको महाभारतके श्रवणसे सुयोग्य पुत्र या परम सौभाग्यशालिनी कन्याकी प्राप्ति होती है ॥ ५२ ॥

अनागतश्च मोक्षश्च कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
संदर्भं भारतस्यास्य कृतवान् धर्मकाम्यया ॥ ५३ ॥

नित्यसिद्ध मोक्षस्वरूप भगवान् कृष्णद्वैपायनने धर्मकी कामनासे इस महाभारतसंदर्भकी रचना की है ॥ ५३ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्।
त्रिंशच्छतसहस्राणि देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ५४ ॥
पित्र्ये पञ्चदशं ज्ञेयं यक्षलोके चतुर्दश।
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रभाषितम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने पहले साठ लाख श्लोकोंकी महाभारतसंहिता बनायी थी। उसमें तीस लाख श्लोकोंकी संहिताका देवलोकमें प्रचार हुआ। पंद्रह लाखकी दूसरी संहिता पितृलोकमें प्रचलित हुई। चौदह लाख श्लोकोंकी तीसरी संहिताका यक्षलोकमें आदर हुआ तथा एक लाख श्लोकोंकी चौथी संहिता मनुष्योंमें प्रचारित हुई ॥ ५४-५५ ॥

नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन्।
रक्षोयक्षाञ्छुको मर्त्यान् वैशम्पायन एव तु ॥ ५६ ॥

देवताओंको देवर्षि नारदने, पितरोंको असित देवलने, यक्ष और राक्षसोंको शुकदेवजीने और मनुष्योंको वैशम्पायनजीने ही पहले-पहल महाभारत-संहिता सुनायी है ॥ ५६ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसम्मितम्।
व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥ ५७ ॥
स नरः सर्वकामांश्च कीर्तिं प्राप्येह शौनक।
गच्छेत् परमिकां सिद्धिमत्र मे नास्ति संशयः॥ ५८ ॥

शौनकजी ! जो मनुष्य ब्राह्मणोंको आगे करके गम्भीर अर्थसे परिपूर्ण और वेदकी समानता करनेवाले इस व्यास-प्रणीत पवित्र इतिहासका श्रवण करता है, वह इस जगत्में सारे मनोवाञ्छित भोगों और उत्तम कीर्तिको पाकर परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस विषयमें मुझे तनिक भी संशय नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

भारताध्ययनात् पुण्यादपि पादमधीयतः।
श्रद्धया परया भक्त्या श्राव्यते चापि येन तु ॥ ५९ ॥

जो अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिके साथ महाभारतके एक अंशको भी सुनता या दूसरोंको सुनाता है, उसे सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका पुण्य प्राप्त होता है और उसीके प्रभावसे उसे उत्तम सिद्धि मिल जाती है ॥ ५९ ॥

य इमां संहितां पुण्यां पुत्रमध्यापयच्छुकम्।
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥ ६० ॥

जिन भगवान् वेदव्यासने इस पवित्र संहिताको प्रकट करके अपने पुत्र शुकदेवजीको पढ़ाया था (वे महाभारतके सारभूत उपदेशका इस प्रकार वर्णन करते हैं—) 'मनुष्य इस जगत्में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों

स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे ॥ ६० ॥

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ६१ ॥

'अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किंतु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ॥ ६१ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ ६२ ॥

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता । धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ॥ ६२ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ ६३ ॥

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे । धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य' ॥ ६३ ॥

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६४ ॥

यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है । जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ६४ ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ६५ ॥

जैसे ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमालय पर्वत दोनों ही रत्नोंकी निधि कहे गये हैं, उसी प्रकार महाभारत भी नाना प्रकारके उपदेशमय रत्नोंका भण्डार कहलाता है ॥ ६५ ॥

कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ।
इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः ।
स गच्छेत् परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः॥ ६६ ॥

जो विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायनके द्वारा प्रसिद्ध किये गये इस महाभारतरूप पञ्चम वेदको सुनाता है, उसे अर्थकी प्राप्ति होती है । जो एकाग्रचित्त होकर इस भारत-उपाख्यानका पाठ करता है, वह मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ ६७ ॥

जो वेदव्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय), पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ६७ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥ ६८॥

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको सौ गौएँ दान देता है और जो महाभारतकथाका प्रतिदिन श्रवणमात्र करता है, इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतनामक व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके स्वर्गारोहणपर्वमें पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

स्वर्गारोहणपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२१४॥	(३)	४=	२१८॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	×	×	×	

स्वर्गारोहणपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—२१८॥=

श्रीमहाभारतं सम्पूर्णम्

महाभारतश्रवणविधिः

माहात्म्य, कथा सुननेकी विधि और उसका फल

जनमेजय उवाच

भगवन् केन विधिना श्रोतव्यं भारतं बुधैः।
फलं किं के च देवाश्च पूज्या वै पारणेष्विह ॥ १ ॥
देयं समाप्ते भगवन् किं च पर्वणि पर्वणि।
वाचकः कीदृशश्चात्र एष्टव्यस्तद् वदस्व मे ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! विद्वानोंको किस विधिसे महाभारतका श्रवण करना चाहिये? इसके सुननेसे क्या फल होता है? इसकी पारणाके समय किन-किन देवताओंका पूजन करना चाहिये? भगवन्! प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर क्या दान देना चाहिये? और इस कथाका वाचक कैसा होना चाहिये? यह सब मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् विधिमिमं फलं यच्चापि भारतात्।
श्रुताद् भवति राजेन्द्र यत् त्वं मामनुपृच्छसि ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र! महाभारत सुननेकी जो विधि है और उसके श्रवणसे जो फल होता है, जिसके विषयमें तुमने मुझसे जिज्ञासा प्रकट की है, वह सब बता रहा हूँ; सुनो ॥ ३ ॥

दिवि देवा महीपाल क्रीडार्थमवनिं गताः।
कृत्वा कार्यमिदं चैव ततश्च दिवमागताः ॥ ४ ॥

भूपाल! स्वर्गके देवता भगवान्‌की लीलामें सहायता करनेके लिये पृथ्वीपर आये थे और इस कार्यको पूरा करके वे पुनः स्वर्गमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

हन्त यत् ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व समाहितः।
ऋषीणां देवतानां च सम्भवं वसुधातले ॥ ५ ॥

अब मैं इस भूतलपर ऋषियों और देवताओंके प्रादुर्भावके विषयमें प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें जो कुछ बताता हूँ, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ५ ॥

अत्र रुद्रास्तथा साध्या विश्वेदेवाश्च शाश्वताः।
आदित्याश्चाश्विनौ देवौ लोकपाला महर्षयः ॥ ६ ॥
गुह्यकाश्च सगन्धर्वा नागा विद्याधरास्तथा।
सिद्धा धर्मः स्वयम्भूश्च मुनिः कात्यायनो वरः ॥ ७ ॥
गिरयः सागरा नद्यस्तथैवाप्सरसां गणाः।
ग्रहाः संवत्सराश्चैव अयनान्यृतवस्तथा ॥ ८ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव जगत् सर्वं सुरासुरम्।
भारते भरतश्रेष्ठ एकस्थमिह दृश्यते ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! यहाँ महाभारतमें रुद्र, साध्य, सनातन विश्वेदेव, सूर्य, अश्विनीकुमार, लोकपाल, महर्षि, गुह्यक, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, सिद्ध, धर्म, स्वयम्भू ब्रह्मा, श्रेष्ठ मुनि कात्यायन, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, अप्सराओंके समुदाय, ग्रह, संवत्सर, अयन, ऋतु, सम्पूर्ण चराचर जगत्, देवता और असुर—ये सब-के-सब एकत्र हुए देखे जाते हैं ॥ ६–९ ॥

तेषां श्रुत्वा प्रतिष्ठानं नामकर्मानुकीर्तनात्।
कृत्वापि पातकं घोरं सद्यो मुच्येत मानवः ॥ १० ॥

मनुष्य घोर पातक करनेपर भी उन सबकी प्रतिष्ठा सुनकर तथा प्रतिदिन उनके नाम और कर्मोंका कीर्तन करता हुआ उससे तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा यथावदनुपूर्वशः।
संयतात्मा शुचिर्भूत्वा पारं गत्वा च भारते ॥ ११ ॥
तेषां श्राद्धानि देयानि श्रुत्वा भारत भारतम्।
ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्त्या भक्त्या च भरतर्षभ ॥ १२ ॥
महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च।

मनुष्य अपने मनको संयममें रखते हुए बाहर-भीतरसे शुद्ध हो महाभारतमें वर्णित इस इतिहासको क्रमशः यथावत् रूपसे सुनकर इसे समाप्त करनेके पश्चात् इनमें मारे गये प्रमुख वीरोंके लिये श्राद्ध करे। भारत! भरतभूषण! महाभारत सुनकर श्रोता अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको भक्तिभावसे नाना प्रकारके रत्न आदि बड़े-बड़े दान दे ॥ ११-१२½ ॥

गावः कांस्योपदोहाश्च कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
सर्वकामगुणोपेता यानानि विविधानि च।
भवनानि विचित्राणि भूमिर्वासांसि काञ्चनम् ॥ १४ ॥
वाहनानि च देयानि हया मत्ताश्च वारणाः।
शयनं शिबिकाश्चैव स्यन्दनाश्च स्वलंकृताः ॥ १५ ॥
यद् यद् गृहे वरं किंचिद् यद् यदस्ति महद् वसु।
तत् तद् देयं द्विजातिभ्य आत्मा दाराश्च सूनवः ॥ १६ ॥

गौएँ, काँसीके दुग्धपात्र, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और सम्पूर्ण मनोवाञ्छित गुणोंसे युक्त कन्याएँ, नाना प्रकारके

यान, विचित्र भवन, भूमि, वस्त्र, सुवर्ण, वाहन, घोड़े, मतवाले हाथी, शय्या, शिविकाएँ, सजे-सजाये रथ तथा घरमें जो कोई भी श्रेष्ठ वस्तु और महान् धन हो, वह सब ब्राह्मणोंको देने चाहिये । स्त्री-पुत्रोंसहित अपने शरीरको भी उनकी सेवामें लगा देना चाहिये ॥ १३—१६ ॥

श्रद्धया परया युक्तं क्रमशस्तस्य पारगः ।
शक्तितः सुमना हृष्टः शुश्रूषुरविकल्पकः ॥ १७ ॥

पूर्ण श्रद्धाके साथ क्रमशः कथा सुनते हुए उसे अन्ततक पूर्णरूपसे श्रवण करना चाहिये । यथाशक्ति श्रवणके लिये उद्यत रहकर मनको प्रसन्न रखे । हृदयमें हर्षसे उल्लसित हो मनमें संशय या तर्क-वितर्क न करे ॥ १७ ॥

सत्यार्जवरतो दान्तः शुचिः शौचसमन्वितः ।
श्रद्दधानो जितक्रोधो यथा सिध्यति तच्छृणु ॥ १८ ॥

सत्य और सरलताके सेवनमें संलग्न रहे । इन्द्रियोंका दमन करे, शुद्ध एवं शौचाचारसे सम्पन्न रहे । श्रद्धालु बना रहे और क्रोधको काबूमें रखे । ऐसे श्रोताको जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ १८ ॥

शुचिः शीलान्विताचारः शुक्लवासा जितेन्द्रियः ।
संस्कृतः सर्वशास्त्रज्ञः श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ १९ ॥
रूपवान् सुभगो दान्तः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दानमानगृहीतश्च कार्यो भवति वाचकः ॥ २० ॥

जो बाहर-भीतरसे पवित्र, शीलवान्, सदाचारी, शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाला, जितेन्द्रिय, संस्कारसम्पन्न, सम्पूर्ण शास्त्रोंका तत्त्वज्ञ, श्रद्धालु, दोषदृष्टिसे रहित, रूपवान्, सौभाग्यशाली, मनको वशमें रखनेवाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हो, ऐसे विद्वान् पुरुषको दान और मानसे अनुगृहीत करके वाचक बनाना चाहिये ॥ १९-२० ॥

अविलम्बमनायस्तमद्रुतं धीरमूर्जितम् ।
असंसक्ताक्षरपदं स्वरभावसमन्वितम् ॥ २१ ॥

कथावाचकको न तो बहुत रुक-रुककर कथा बाँचनी चाहिये और न बहुत जल्दी ही । आरामके साथ धीरगतिसे अक्षरों और पदोंका स्पष्ट उच्चारण करते हुए उच्चस्वरसे कथा बाँचनी चाहिये । मीठे स्वरसे भावार्थ समझाकर कथा कहनी चाहिये ॥ २१ ॥

त्रिषष्टिवर्णसंयुक्तमष्टस्थानसमीरितम् ।
वाचयेद् वाचकः स्वस्थः स्वासीनः सुसमाहितः॥ २२ ॥

तिरसठ अक्षरोंका उनके आठों स्थानोंसे ठीक-ठीक उच्चारण करे । कथा सुनाते समय वाचकके लिये स्वस्थ और एकाग्रचित्त होना आवश्यक है । उसके लिये आसन ऐसा होना चाहिये, जिसपर वह सुखपूर्वक बैठ सके ॥ २२ ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ २३ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ २३ ॥

ईदृशाद् वाचकाद् राजञ्श्रुत्वा भारत भारतम् ।
नियमस्थः शुचिः श्रोता शृण्वन् स फलमश्नुते ॥ २४ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! नियमपरायण पवित्र श्रोता ऐसे वाचकसे महाभारतकी कथा सुनकर श्रवणका पूरा-पूरा फल पाता है ॥ २४ ॥

पारणं प्रथमं प्राप्य द्विजान् कामैश्च तर्पयन् ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं वै लभते नरः ॥ २५ ॥
अप्सरोगणसंकीर्णं विमानं लभते महत् ।
प्रहृष्टः स तु देवैश्च दिवं याति समाहितः ॥ २६ ॥

जो मनुष्य प्रथम पारणके समय ब्राह्मणोंको अभीष्ट वस्तुएँ देकर तृप्त करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है । उसे अप्सराओंसे भरा हुआ विमान प्राप्त होता है और वह प्रसन्नतापूर्वक एकाग्रचित्त हो देवताओंके साथ स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २५-२६ ॥

द्वितीयं पारणं प्राप्य सोऽतिरात्रफलं लभेत् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥ २७ ॥

जो मनुष्य दूसरा पारण पूरा करता है, उसे अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है । वह सर्वरत्नमय दिव्य विमानपर आरूढ़ होता है ॥ २७ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धविभूषितः ।
दिव्याङ्गदधरो नित्यं देवलोके महीयते ॥ २८ ॥

वह दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करता, दिव्य चन्दनसे चर्चित एवं दिव्य सुगन्धसे वासित होता और दिव्य अङ्गद धारण करके सदा देवलोकमें सम्मानित होता है ॥ २८ ॥

तृतीयं पारणं प्राप्य द्वादशाहफलं लभेत् ।

वसत्यमरसंकाशो वर्षाण्ययुतशो दिवि ॥ २९ ॥

तीसरा पारण पूरा करनेपर मनुष्य द्वादशाहयज्ञका फल पाता है और देवताओंके तुल्य तेजस्वी होकर हजारों वर्षोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ २९ ॥

चतुर्थे वाजपेयस्य पञ्चमे द्विगुणं फलम् ।
उदितादित्यसंकाशं ज्वलन्तमनलोपमम् ॥ ३० ॥
विमानं विबुधैः सार्धमारुह्य दिवि गच्छति ।
वर्षायुतानि भवने शक्रस्य दिवि मोदते ॥ ३१ ॥

चौथे पारणमें वाजपेय-यज्ञका और पाँचवेंमें उससे दूना फल प्राप्त होता है । वह पुरुष उदयकालके सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी विमानपर आरूढ़ हो देवताओंके साथ स्वर्गलोकमें जाता है और वहाँ इन्द्रभवनमें दस हजार वर्षोंतक आनन्द भोगता है ॥ ३०-३१ ॥

षष्ठे द्विगुणमस्तीति सप्तमे त्रिगुणं फलम् ।
कैलासशिखराकारं वैदूर्यमणिवेदिकम् ॥ ३२ ॥
परिक्षिप्तं च बहुधा मणिविद्रुमभूषितम् ।
विमानं समधिष्ठाय कामगं साप्सरोगणम् ॥ ३३ ॥
सर्वाँल्लोकान् विचरते द्वितीय इव भास्करः ।

छठे पारणमें इससे दूना और सातवेंमें तिगुना फल मिलता है । वह मनुष्य अप्सराओंसे भरे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले, कैलासशिखरकी भाँति उज्ज्वल, वैदूर्यमणिकी वेदियोंसे विभूषित, नाना प्रकारसे सुसज्जित तथा मणियों और मूँगोंसे अलंकृत विमानपर बैठकर दूसरे सूर्यकी भाँति सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है ॥ ३२-३३½ ॥

अष्टमे राजसूयस्य पारणे लभते फलम् ॥ ३४ ॥
चन्द्रोदयनिभं रम्यं विमानमधिरोहति ।
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशैर्हयैर्युक्तं मनोजवैः ॥ ३५ ॥

आठवें पारणमें मनुष्य राजसूय यज्ञका फल पाता है । वह मनके समान वेगशाली और चन्द्रमाकी किरणोंके समान रंगवाले श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए चन्द्रोदयतुल्य रमणीय विमानपर आरूढ़ होता है ॥ ३४-३५ ॥

सेव्यमानो वरस्त्रीणां चन्द्रात् कान्ततरैर्मुखैः ।
मेखलानां निनादेन नूपुराणां च निःस्वनैः ॥ ३६ ॥
अङ्के परमनारीणां सुखसुप्तो विबुध्यते ।

चन्द्रमासे भी अधिक कमनीय मुखोंद्वारा सुशोभित होनेवाली सुन्दरी दिव्याङ्गनाएँ उसकी सेवामें रहती हैं तथा सुरसुन्दरियोंके अङ्कमें सुखसे सोया हुआ वह पुरुष उन्हींकी मेखलाओंके खन-खन शब्दों और नूपुरोंकी मधुर झनकारोंसे जगाया जाता है ॥ ३६½ ॥

नवमे क्रतुराजस्य वाजिमेधस्य भारत ॥ ३७ ॥
काञ्चनस्तम्भनिर्यूहवैदूर्यकृतवेदिकम् ।
जाम्बूनदमयैर्दिव्यैर्गवाक्षैः सर्वतो वृतम् ॥ ३८ ॥
सेवितं चाप्सरःसङ्घैर्गन्धर्वैर्दिविचारिभिः ।
विमानं समधिष्ठाय श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३९ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यचन्दनरूषितः ।
मोदते दैवतैः सार्धं दिवि देव इवापरः ॥ ४० ॥

भारत ! नवाँ पारण पूर्ण होनेपर श्रोताको यज्ञोंके राजा अश्वमेधका फल प्राप्त होता है । वह सोनेके खंभों और छज्जोंसे सुशोभित, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वेदियोंसे विभूषित, चारों ओरसे जाम्बूनदमय दिव्य वातायनोंसे अलंकृत, स्वर्गवासी गन्धर्वों एवं अप्सराओंसे सेवित दिव्य विमानपर आरूढ़ हो अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होता हुआ स्वर्गमें दूसरे देवताकी भाँति देवताओंके साथ आनन्द भोगता है । उसके अङ्गोंमें दिव्य माला एवं दिव्य वस्त्र शोभा पाते हैं तथा वह दिव्य चन्दनसे चर्चित होता है ॥ ३७–४० ॥

दशमं पारणं प्राप्य द्विजातीनभिवन्द्य च ।
किंकिणीजालनिर्घोषं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ४१ ॥
रत्नवेदिकसम्बाधं वैदूर्यमणितोरणम् ।
हेमजालपरिक्षिप्तं प्रवालवलभीमुखम् ॥ ४२ ॥
गन्धर्वैर्गीतकुशलैरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
विमानं सुकृतावासं सुखेनैवोपपद्यते ॥ ४३ ॥

दसवाँ पारण पूरा होनेपर ब्राह्मणोंको प्रणाम करनेके पश्चात् श्रोताको पुण्यनिकेतन विमान अनायास ही प्राप्त हो जाता है । उसमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी होती हैं और उनसे मधुर ध्वनि फैलती रहती है । बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ उस विमानकी शोभा बढ़ाती हैं । उसमें जगह-जगह रत्नमय चबूतरे बने होते हैं । वैदूर्यमणिका बना हुआ फाटक लगा होता है । सब ओरसे सोनेकी जालीद्वारा वह विमान घिरा होता है । उसके छज्जोंके नीचे मूँगे जड़े होते हैं । संगीत-कुशल गन्धर्वों और अप्सराओंसे उस विमानकी शोभा और बढ़ जाती है ॥ ४१–४३ ॥

मुकुटेनाग्निवर्णेन जाम्बूनदविभूषिणा ।
दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गो दिव्यमाल्यविभूषितः ॥ ४४ ॥

दिव्याल्ँलोकान् विचरति दिव्यैर्भोगैः समन्वितः।
विबुधानां प्रसादेन श्रिया परमया युतः ॥४५॥

उसपर बैठा हुआ पुण्यात्मा पुरुष अग्नितुल्य तेजस्वी मुकुटसे अलंकृत तथा जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित होता है। उसका शरीर दिव्य चन्दनसे चर्चित तथा दिव्य मालाओंसे विभूषित होता है। दिव्य भोगोंसे सम्पन्न हो वह दिव्य लोकोंमें विचरता है और देवताओंकी कृपासे उत्कृष्ट शोभा-सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४४-४५ ॥

अथ वर्षगणानेवं स्वर्गलोके महीयते।
ततो गन्धर्वसहितः सहस्राण्येकविंशतिम् ॥ ४६ ॥
पुरन्दरपुरे रम्ये शक्रेण सह मोदते।

इस प्रकार बहुत वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है। तदनन्तर इक्कीस हजार वर्षोंतक गन्धर्वोंके साथ इन्द्रकी रमणीय नगरीमें रहकर देवेन्द्रके साथ ही वहाँका सुख भोगता है ॥ ४६½ ॥

दिव्ययानविमानेषु लोकेषु विविधेषु च ॥ ४७ ॥
दिव्यनारीगणाकीर्णो निवसत्यमरो यथा।

दिव्य रथों और विमानोंपर आरूढ़ हो नाना प्रकारके लोकोंमें विचरता और दिव्य नारियोंसे घिरा हुआ देवताकी भाँति वहाँ निवास करता है ॥ ४७½ ॥

ततः सूर्यस्य भवने चन्द्रस्य भवने तथा ॥ ४८ ॥
शिवस्य भवने राजन् विष्णोर्याति सलोकताम्।

राजन्! इसके बाद वह सूर्य, चन्द्रमा, शिव तथा भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ४८½ ॥

एवमेतन्महाराज नात्र कार्या विचारणा ॥ ४९ ॥
श्रद्दधानेन वै भाव्यमेवमाह गुरुर्मम।

महाराज! ठीक ऐसी ही बात है। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे गुरुका कथन है कि महाभारतकी इस महिमा और फलपर श्रद्धा रखनी चाहिये ॥ ४९½ ॥

वाचकस्य तु दातव्यं मनसा यद् यदिच्छति ॥ ५० ॥
हस्त्यश्वरथयानानि वाहनानि विशेषतः।

वाचकको उसके मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह सब देनी चाहिये। हाथी, घोड़े, रथ, पालकी तथा दूसरे-दूसरे वाहन विशेषरूपसे देने चाहिये ॥ ५०½ ॥

कटके कुण्डले चैव ब्रह्मसूत्रं तथा परम् ॥ ५१ ॥
वस्त्रं चैव विचित्रं च गन्धं चैव विशेषतः।
देववत् पूजयेत् तं तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ५२ ॥

कड़े, कुण्डल, यज्ञोपवीत, विचित्र वस्त्र और विशेषतः गन्ध अर्पित करके वाचककी देवताके समान पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला श्रोता भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ५१-५२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि यानि देयानि भारते।
वाच्यमाने तु विप्रेभ्यो राजन् पर्वणि पर्वणि ॥ ५३ ॥
जातिं देशं च सत्यं च माहात्म्यं भरतर्षभ।
धर्मं वृत्तिं च विज्ञाय क्षत्रियाणां नराधिप ॥ ५४ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! महाभारतकी कथा प्रारम्भ हो जानेपर प्रत्येक पर्वमें क्षत्रियोंकी जाति, देश, सत्यता, माहात्म्य, धर्म और वृत्तिको जानकर ब्राह्मणोंको जो-जो वस्तुएँ अर्पित करनी चाहिये, अब उनका वर्णन करूँगा ॥ ५३-५४ ॥

स्वस्ति वाच्य द्विजानादौ ततः कार्ये प्रवर्तिते।
समाप्ते पर्वणि ततः स्वशक्त्या पूजयेद् द्विजान्॥ ५५ ॥

पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर कथावाचनका कार्य प्रारम्भ कराये। फिर पर्व समाप्त होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार उन ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥ ५५ ॥

आदौ तु वाचकं चैव वस्त्रगन्धसमन्वितम्।
विधिवद् भोजयेद् राजन् मधु पायसमुत्तमम् ॥ ५६ ॥

राजन्! आदिपर्वकी कथाके समय वाचकको नूतन वस्त्र पहनाकर चन्दन आदिसे उसकी पूजा करे और विधिपूर्वक उसे मीठी एवं उत्तम खीर भोजन कराये ॥५६॥

ततो मूलफलप्रायं पायसं मधुसर्पिषा।
आस्तीके भोजयेद् राजन् दद्याच्चैव गुडौदनम् ॥५७॥

राजन्! तत्पश्चात् आस्तीकपर्वकी कथाके समय ब्राह्मणोंको मधु और घीसे युक्त खीर भोजन कराये। उस भोजनमें फल-मूलकी अधिकता होनी चाहिये। फिर गुड़ और भात दान करे ॥ ५७ ॥

अपूपैश्चैव पूपैश्च मोदकैश्च समन्वितम् ।
सभापर्वणि राजेन्द्र हविष्यं भोजयेद् द्विजान्॥ ५८ ॥

राजेन्द्र ! सभापर्व आरम्भ होनेपर ब्राह्मणोंको पूओं, कचौड़ियों और मिठाइयोंके साथ खीर भोजन कराये ॥ ५८ ॥

आरण्यके मूलफलैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।
अरणीपर्व चासाद्य जलकुम्भान् प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥

वनपर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फल-मूलोंद्वारा तृप्त करे । अरणीपर्वमें पहुँचकर जलसे भरे हुए घड़ोंका दान करे॥५९॥

तर्पणानि च मुख्यानि वन्यमूलफलानि च ।
सर्वकामगुणोपेतं विप्रेभ्योऽन्नं प्रदापयेत् ॥ ६० ॥

इतना ही नहीं, जिनको खानेसे तृप्ति हो सके, ऐसे उत्तम-उत्तम जंगली मूल-फल और सभी अभीष्ट गुणोंसे सम्पन्न अन्न ब्राह्मणोंको दान करे ॥ ६० ॥

विराटपर्वणि तथा वासांसि विविधानि च ।
उद्योगे भरतश्रेष्ठ सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ६१ ॥
भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।

भरतश्रेष्ठ ! विराटपर्वमें भाँति-भाँतिके वस्त्र दान करे तथा उद्योगपर्वमें ब्राह्मणोंको चन्दन और फूलोंकी मालासे अलंकृत करके उन्हें सर्वगुणसम्पन्न अन्न भोजन कराये॥६१½॥

भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दत्त्वा यानमनुत्तमम् ॥ ६२॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ।

राजेन्द्र ! भीष्मपर्वमें उत्तम सवारी देकर अच्छी तरह छौंक-बघारकर तैयार किया हुआ सभी उत्तम गुणोंसे युक्त भोजन दान करे ॥ ६२½ ॥

द्रोणपर्वणि विप्रेभ्यो भोजनं परमार्चितम् ॥ ६३ ॥
शराश्च देया राजेन्द्र चापान्यसिवरास्तथा ।

राजेन्द्र ! द्रोणपर्वमें ब्राह्मणोंको परम उत्तम भोजन कराये और उन्हें धनुष, बाण तथा उत्तम खड्ग प्रदान करे ॥ ६३½ ॥

कर्णपर्वण्यपि तथा भोजनं सार्वकामिकम् ॥ ६४ ॥
विप्रेभ्यः संस्कृतं सम्यग् दद्यात् संयतमानसः ।

कर्णपर्वमें भी ब्राह्मणोंको अच्छे ढंगसे तैयार किया हुआ सबकी रुचिके अनुकूल उत्तम भोजन दे और अपने मनको वशमें रक्खे ॥ ६४½ ॥

शल्यपर्वणि राजेन्द्र मोदकैः सगुडौदनैः ॥ ६५ ॥
अपूपैस्तर्पणैश्चैव सर्वमन्नं प्रदापयेत् ।

राजेन्द्र ! शल्यपर्वमें मिठाई, गुड़, भात, पूआ तथा तृप्तिकारक फल आदिके साथ सब प्रकारके उत्तम अन्न दान करे ॥ ६५½ ॥

गदापर्वण्यपि तथा मुद्गमिश्रं प्रदापयेत् ॥ ६६ ॥
स्त्रीपर्वणि तथा रत्नैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।

गदापर्वमें भी मूँग मिलाये हुए चावलका दान करे । स्त्रीपर्वमें रत्नोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त करे ॥ ६६½ ॥

घृतौदनं पुरस्ताच्च ऐषीके दापयेत् पुनः ॥ ६७ ॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ।

ऐषीकपर्वमें पहले घी मिलाया हुआ भात जिमाये । फिर अच्छी तरह संस्कार किये हुए सर्वगुणसम्पन्न अन्नका दान करे ॥ ६७½ ॥

शान्तिपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान्॥६८ ॥
आश्वमेधिकमासाद्य भोजनं सार्वकामिकम् ।

शान्तिपर्वमें भी ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन कराये । आश्वमेधिकपर्वमें पहुँचनेपर सबकी रुचिके अनुकूल उत्तम भोजन दे ॥ ६८½ ॥

तथाऽऽश्रमनिवासे तु हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥ ६९ ॥
मौसले सार्वगुणिकं गन्धमाल्यानुलेपनम् ।

आश्रमवासिकपर्वमें ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन कराये । मौसलपर्वमें सर्वगुणसम्पन्न अन्न, चन्दन, माला और अनुलेपनका दान करे ॥ ६९½ ॥

महाप्रास्थानिके तद्वत् सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ७० ॥
स्वर्गपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ।

इसी प्रकार महाप्रस्थानिकपर्वमें भी समस्त वाञ्छनीय गुणोंसे युक्त अन्न आदिका दान करे । स्वर्गारोहणपर्वमें भी ब्राह्मणोंको हविष्य खिलाये ॥ ७०½ ॥

हरिवंशसमाप्तौ तु सहस्रं भोजयेद् द्विजान् ॥ ७१ ॥
गामेकां निष्कसंयुक्तां ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।

हरिवंशकी समाप्ति होनेपर एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराये तथा स्वर्णमुद्रासहित एक गौ ब्राह्मणको दान दे ॥ ७१½ ॥

तदर्धेनापि दातव्या दरिद्रेणापि पार्थिव ॥ ७२ ॥
प्रतिपर्वसमाप्तौ तु पुस्तकं वै विचक्षणः ।

सुवर्णेन च संयुक्तं वाचकाय निवेदयेत् ॥ ७३॥

पृथ्वीनाथ ! यदि श्रोता दरिद्र हो तो उसे भी आधी दक्षिणाके साथ गोदान अवश्य करना चाहिये। प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर विद्वान् पुरुष सुवर्णसहित पुस्तक वाचकको समर्पित करे ॥ ७२-७३ ॥

हरिवंशे पर्वणि च पायसं तत्र भोजयेत्।
पारणे पारणे राजन् यथावद् भरतर्षभ ॥ ७४॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! हरिवंशपर्वमें भी प्रत्येक पारणके समय ब्राह्मणोंको यथावत् रूपसे खीर भोजन कराये ॥ ७४॥

समाप्य सर्वाः प्रयतः संहिताः शास्त्रकोविदः।
शुभे देशे निवेश्याथ क्षौमवस्त्राभिसंवृताः ॥ ७५ ॥
शुक्लाम्बरधरः स्रग्वी शुचिर्भूत्वा स्वलंकृतः।
अर्चयेत यथान्यायं गन्धमाल्यैः पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥
संहितापुस्तकान् राजन् प्रयतः सुसमाहितः।
भक्ष्यैर्माल्यैश्च पेयैश्च कामैश्च विविधैः शुभैः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार एकाग्रचित्त हो सब पर्वोंकी संहिताओंको समाप्त करके शास्त्रवेत्ता पुरुषको चाहिये कि वह उन्हें रेशमी वस्त्रोंमें लपेटकर किसी उत्तम स्थानमें रक्खे और स्वयं स्नान आदिसे पवित्र हो श्वेत वस्त्र, फूलकी माला तथा आभूषण धारण करके चन्दन-माला आदि उपचारोंसे उन संहिता-पुस्तकोंकी पृथक्-पृथक् विधिवत् पूजा करे। पूजाके समय चित्तको एकाग्र एवं शुद्ध रक्खे । भाँति-भाँतिके उत्तम भक्ष्य, भोजन, पेय, माल्य तथा अन्य कमनीय वस्तुएँ भेंटके रूपमें चढ़ाये ॥ ७५–७७ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च दक्षिणामथ दापयेत्।
सर्वत्र त्रिपलं स्वर्णं दातव्यं प्रयतात्मना ॥ ७८ ॥

इसके बाद हिरण्य एवं सुवर्णकी दक्षिणा दे। मनको वशमें रखकर सभी पुस्तकोंपर तीन-तीन पल सोना चढ़ाना चाहिये ॥ ७८ ॥

तदर्धं पादशेषं वा वित्तशाठ्यविवर्जितम्।
यद् यदेवात्मनोऽभीष्टं तत् तद् देयं द्विजातये ॥ ७९॥

इतना न हो सके तो सबपर डेढ़-डेढ़ पल सोना चढ़ाये और यह भी सम्भव न हो तो पौन-पौन पल चढ़ाये; परंतु धन रहते हुए कंजूसी नहीं करनी चाहिये। जो-जो वस्तु अपनेको प्रिय लगती हो, वही-वही ब्राह्मणको दानमें देनी चाहिये ॥ ७९ ॥

सर्वथा तोषयेद् भक्त्या वाचकं गुरुमात्मनः।
देवताः कीर्तयेत् सर्वा नरनारायणौ तथा ॥ ८० ॥

कथावाचक अपना गुरु होता है, अतः उसके प्रति भक्तिभाव रखते हुए उसे सर्वथा संतुष्ट करना चाहिये। उस समय सम्पूर्ण देवताओं तथा भगवान् नर-नारायणका कीर्तन करना चाहिये ॥ ८० ॥

ततो गन्धैश्च माल्यैश्च स्वलंकृत्य द्विजोत्तमान्।
तर्पयेद् विविधैः कामैर्दानैश्चोच्चावचैस्तथा ॥ ८१ ॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको चन्दन और माला आदिसे विभूषित करके उन्हें नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ और भाँति-भाँतिके छोटे-बड़े आवश्यक पदार्थ देकर संतुष्ट करे ॥ ८१ ॥

अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
प्राप्नुयाच्च क्रतुफलं तथा पर्वणि पर्वणि ॥ ८२ ॥

ऐसा करनेसे मनुष्यको अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है तथा प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर ब्राह्मणकी पूजा करनेसे श्रौत यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

वाचको भरतश्रेष्ठ व्यक्ताक्षरपदस्वरः।
भविष्यं श्रावयेद् विद्वान् भारतं भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कथावाचकको विद्वान् होना चाहिये और प्रत्येक अक्षर, पद तथा स्वरका सुस्पष्ट उच्चारण करते हुए उसे महाभारत या हरिवंशके भविष्यपर्वकी कथा सुनानी चाहिये ॥ ८३ ॥

भुक्तवत्सु द्विजेन्द्रेषु यथावत् सम्प्रदापयेत्।
वाचकं भरतश्रेष्ठ भोजयित्वा स्वलंकृतम् ॥ ८४ ॥

भरतभूषण ! सम्पूर्ण कथाकी समाप्ति होनेके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर उन्हें यथोचित दान देना चाहिये। फिर वाचकको भी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उत्तम अन्न भोजन कराना चाहिये। इसके बाद उसे दान-मानसे संतुष्ट करना उचित है ॥ ८४ ॥

वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा।
ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रसन्नाः सर्वदेवताः ॥ ८५ ॥

कथावाचकके संतुष्ट होनेपर ही परम उत्तम एवं मङ्गलमयी प्रीति प्राप्त होती है। ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर श्रोताके ऊपर समस्त देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ८५ ॥

ततो हि वरणं कार्यं द्विजानां भरतर्षभ।

सर्वकामैर्यथान्यायं साधुभिश्च पृथग्विधैः ॥ ८६ ॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! साधुस्वभावके श्रोताओंको चाहिये कि वे न्यायपूर्वक ब्राह्मणोंका वरण करें तथा उनकी विभिन्न प्रकारकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण करते हुए उनका यथोचित पूजन करें ॥ ८६ ॥

इत्येष विधिरुद्दिष्टो मया ते द्विपदां वर ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ८७ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, उसके अनुसार यह मैंने महाभारतके सुनने तथा उसका पारायण करनेकी विधि बतलायी है । तुम्हें इसपर श्रद्धा करनी चाहिये ॥ ८७ ॥

भारतश्रवणे राजन् पारणे च नृपोत्तम ।
सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥ ८८ ॥

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! अपने परम कल्याणकी इच्छा रखनेवाले श्रोताको महाभारतको सुनने तथा इसका पारायण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ८८ ॥

भारतं शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत् ।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः ॥ ८९ ॥

प्रतिदिन महाभारत सुने । नित्यप्रति महाभारतका पाठ करे । जिसके घरमें महाभारत ग्रन्थ मौजूद है, विजय उसके हाथमें है ॥ ८९ ॥

भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम् ॥ ९० ॥

महाभारत परम पवित्र ग्रन्थ है । इसमें नाना प्रकारकी कथाएँ हैं । देवता भी महाभारतका सेवन करते हैं। महाभारत परमपदस्वरूप है ॥ ९० ॥

भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
भारतात् प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद् ब्रवीमि तत् ॥ ९१॥

भरतश्रेष्ठ ! महाभारत सम्पूर्ण शास्त्रोंमें उत्तम है। महाभारतसे मोक्ष प्राप्त होता है । यह मैं तुमसे सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम् ।
ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन् नावसीदति ॥९२॥

महाभारत नामक इसिहास, पृथ्वी, गौ, सरस्वती, ब्राह्मण और भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन करनेवाला मनुष्य कभी विपत्तिमें नहीं पड़ता ॥ ९२ ॥

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥९३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वेद, रामायण तथा पवित्र महाभारतके आदि, मध्य एवं अन्तमें सर्वत्र भगवान् श्रीहरिका ही गान किया जाता है ॥ ९३ ॥

यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः ।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥ ९४ ॥

जहाँ भगवान् विष्णुकी दिव्य कथाओं तथा सनातन श्रुतियोंका समावेश है, उस महाभारतका इस जगत्में परम-पदकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको अवश्य श्रवण करना चाहिये ॥ ९४ ॥

एतत् पवित्रं परममेतद् धर्मनिदर्शनम् ।
एतत् सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥ ९५ ॥

यह महाभारत परम पवित्र है । यह धर्मके स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाला है तथा यह समस्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है । अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इसका श्रवण अवश्य करना चाहिये ॥ ९५ ॥

कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम् ।
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ॥ ९६ ॥

महाभारतके श्रवणसे शरीर, वाणी और मनके द्वारा संचित किये हुए सारे पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार ॥ ९६ ॥

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत् फलं भवेत् ।
तत् फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

अठारह पुराणोंके सुननेसे जो फल होता है, वह सारा फल वैष्णव पुरुषको अकेले महाभारतके श्रवणसे मिल जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९७ ॥

स्त्रियश्च पुरुषाश्चैव वैष्णवं पदमाप्नुयुः ।
स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः ॥ ९८ ॥

स्त्रियाँ हों या पुरुष, सभी इसके श्रवणसे भगवान् विष्णुके धामको चले जाते हैं । पुत्रकी कामना रखनेवाली स्त्रियोंको भगवान् विष्णुके यशस्वरूप इस महाभारतका श्रवण अवश्य करना चाहिये ॥ ९८ ॥

दक्षिणा चात्र देया वै निष्कपञ्चसुवर्णकम् ।
वाचकाय यथाशक्त्या यथोक्तं फलमिच्छता ॥ ९९ ॥

शास्त्रोक्त फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि

वह महाभारत-श्रवणके पश्चात् वाचकको यथाशक्ति सोनेके पाँच सिक्के दक्षिणाके रूपमें दान करे ॥ ९९ ॥

स्वर्णशृङ्गीं च कपिलां सवत्सां वस्त्रसंवृताम् ।
वाचकाय च दद्याद्धि आत्मनः श्रेय इच्छता ॥१००॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह कपिला गौके सींगोंमें सोना मढ़ाकर उसे वस्त्रसे आच्छादित करके बछड़ेसहित वाचकको दान दे ॥ १०० ॥

अलङ्कारं प्रदद्याच्च पाण्योर्वै भरतर्षभ ।
कर्णस्याभरणं दद्याद् धनं चैव विशेषतः ॥१०१॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा कथावाचकके लिये दोनों हाथोंके कड़े, कानोंके कुण्डल और विशेषतः धन प्रदान करे ॥१०१॥

भूमिदानं समादद्याद् वाचकाय नराधिप ।
भूमिदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥१०२॥

नरेश्वर ! वाचकके लिये भूमिदान तो अवश्य ही करना चाहिये; क्योंकि भूमिदानके समान दूसरा कोई दान न हुआ है, न होगा ॥ १०२ ॥

शृणोति श्रावयेद् वापि सततं चैव यो नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥ १०३॥

जो मनुष्य सदा महाभारतको सुनता अथवा सुनाता रहता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान् विष्णुके धामको जाता है ॥ १०३ ॥

पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान् ।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥१०४॥

भरतश्रेष्ठ ! वह पुरुष अपनी ग्यारह पीढ़ीमें समस्त पितरोंका, अपना तथा अपनी स्त्री और पुत्रका भी उद्धार कर देता है ॥ १०४ ॥

दशांशश्चैव होमोऽपि कर्तव्योऽत्र नराधिप ।
इदं मया तवाग्रे च प्रोक्तं सर्वं नरर्षभ ॥१०५॥

नरेश्वर ! महाभारत सुननेके बाद उसके लिये दशांश होम भी करना आवश्यक है । नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष इन सब बातोंका विस्तारके साथ वर्णन कर दिया ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां हरिवंशोक्तभारतश्रवणविधावध्यायः समाप्तः ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत शतसाहस्री संहितामें हरिवंशोक्त भारतश्रवणविधिविषयक अध्याय पूरा हुआ ॥

महाभारत-माहात्म्य

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा ॥
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥

पराशरके पुत्र महर्षि व्यासकी वाणीरूपी सरोवरमें उदित यह महाभारतरूपी अमल कमल, जो गीतार्थरूपी तीव्र सुगन्धसे युक्त, नानाप्रकारके आख्यानरूपी केसरसे सम्पन्न तथा हरिकथारूपी सूर्यतापसे प्रफुल्लित है, सज्जनरूपी भ्रमर इस लोकमें जिसके रसका निरन्तर प्रमुदित होकर पान किया करते हैं और जो कलिकालके पापरूपी मलका नाश करनेवाला है, सदा हमारा कल्याण करनेवाला हो ॥

यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः ।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः ।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥

जिसमें भगवान् विष्णुकी दिव्य कथाओंका वर्णन है और जिसमें कल्याणमयी श्रुतियोंका सार दिया गया है, इस लोकमें परमपदकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको उस महाभारतका श्रवण करना चाहिये । अष्टादश पुराणोंके रचयिता और वेद (-ज्ञान) के महान् समुद्र महात्मा श्रीव्यासदेवका यह सिंहनाद है कि 'तुम नित्य महाभारतका श्रवण करो ॥'

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥
भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे ॥

अपरिमितबुद्धि भगवान् व्यासदेवके द्वारा कथित यह महाभारत पवित्र धर्मशास्त्र है, श्रेष्ठ अर्थशास्त्र है और सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी है । हे भरतश्रेष्ठ ! महाभारत समस्त शास्त्रोंका शिरोमणि है, इसीसे सम्प्रति विद्वान् लोग इसका पठन-श्रवण करते हैं और आगे भी करेंगे ॥

योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ।
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन् सततं शुचिः ।
वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ॥

जो ब्राह्मण नियमित व्रतका पालन करता हुआ वर्षाऋतुके चार महीनोंमें पवित्र भारतका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । जो पुरुष शुद्ध होकर कुरुके प्रसिद्ध वंशका सदा कीर्तन करता है, उसके वंशका विपुल विस्तार होता है और लोकमें वह पूज्यतम बन जाता है ॥

अनागतश्च मोक्षश्च कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
संदर्भं भारतस्यास्य कृतवान् धर्मकाम्यया ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥

दीर्घदृष्टि तथा मोक्षरूप भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने केवल धर्मकी कामनासे ही इस महाभारतको रचा है । हे भरतर्षभ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो कुछ इस (महाभारत) में कहा गया है, वही अन्य शास्त्रोंमें भी कहा गया है । जो इसमें नहीं कहा गया, वह कहीं नहीं कहा गया है ॥

एतत् पवित्रं परममेतद् धर्मनिदर्शनम् ।
एतत् सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥
कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम् ।
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ॥

यह महाभारत परम पवित्र है, धर्मके लिये प्रमाणरूप है, समस्त गुणोंसे सम्पन्न है; कल्याणकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इसे अवश्य सुनना चाहिये । क्योंकि, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही इस महाभारतसे तन, वचन और मनसे किये हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन् ।
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः ॥
महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम् ।
ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन्नावसीदति ॥

जो मनुष्य महान् पवित्र इस इतिहासको पुण्यार्थ पवित्र ब्राह्मणोंको श्रवण कराता है, वह सनातन धर्मको प्राप्त होता है । महाभारतके आख्यान, पृथ्वी, गौ, सरस्वती, ब्राह्मण तथा भगवान् केशव—इनका कीर्तन करनेवाला मनुष्य कभी दुखी नहीं होता ॥

शृणोति श्रावयेद् वापि सततं चैव यो नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥
पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान् ।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥

जो मनुष्य निरन्तर श्रीमहाभारत सुनता है या सुनाता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णु-पदको प्राप्त होता है; इतना ही नहीं, वह पुरुष अपनी ग्यारह पीढ़ीके समस्त पितरोंका तथा पुत्र और पत्नीसहित अपना भी उद्धार करता है ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महान् गिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥

जैसे समुद्र तथा महापर्वत सुमेरु दोनों रत्ननिधिके नामसे विख्यात हैं, वैसे ही यह महाभारत भी रत्नोंका भंडार कहा गया है । मनुष्यको इस महान् पवित्र इतिहासके पढ़ने-सुननेसे जैसी तुष्टि प्राप्त होती है, वैसी स्वर्गमें जानेसे भी नहीं प्राप्त होती ॥

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च ।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥
भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम् ।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥

जो मनुष्य इस महाभारतको पढ़ता-सुनता है, वह शरीर, वाणी तथा मनसे किये हुए सब पापोंका निःशेषरूपसे त्याग कर देता है। अर्थात् उसके ये सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य दोषबुद्धिका त्याग करके भरतवंशियोंके महान् जीवनकी बातोंको पढ़ते-सुनते हैं, उनको यहाँ व्याधिका भी भय नहीं रहता, फिर परलोकका भय तो रहता ही कहाँसे?

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्॥
य इदं भारतं राजन् वाचकाय प्रयच्छति।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत् सागरमेखला॥

यह महाभारत वेदसदृश (पञ्चम वेद) है, उत्तम है, साथ ही पवित्र भी है, श्रवण करने योग्य है, कानोंको सुख देनेवाला है, पवित्र शीलको बढ़ानेवाला है। अतएव हे राजन्! जो मनुष्य यह भारत ग्रन्थ पढ़नेवालेको दान करता है, उसको समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीके दानका फल मिलता है।

अष्टादश पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम्॥
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

अठारहों पुराण, समस्त धर्मशास्त्र, अङ्गोंसहित वेद—इन सबकी बराबरी अकेला महाभारत कर सकता है। क्योंकि यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है और रहस्यरूपी असाधारण भारसे युक्त है, इसीसे इसे महाभारत कहा जाता है। जो पुरुष 'महाभारत' शब्दके इस अर्थको जानता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता॥
स्वर्गकामो लभेत् स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम्।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम्॥

'जय' नामक यह इतिहास मोक्षकी इच्छा रखनेवाले, ब्राह्मण, राजा और गर्भवती स्त्रियोंको तो अवश्य सुनना चाहिये। इसके सुननेसे स्वर्गकी इच्छा करनेवालेको स्वर्ग, जयकी इच्छावालेको जय और गर्भवती स्त्रीको पुत्र या बड़े भाग्यवाली कन्या प्राप्त होती है।

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥

वेदको जाननेवाले बहुश्रुत ब्राह्मणको कोई सुवर्णसे मँढ़े सींगोंवाली सौ गौदान दे, और दूसरा कोई निरन्तर महाभारतकी कथा सुने तो इन दोनोंको समान फलकी प्राप्ति होती है।

कार्ष्णं वेदमिमं सर्वं शृणुयाद् यः समाहितः।
ब्रह्महत्यादिपापानां कोटिस्तस्य विनश्यति॥
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते॥

व्यासदेवरचित इस (पञ्चम) वेदरूप महाभारतका जो समाहितचित्तसे आद्योपान्त श्रवण करता है, उसके ब्रह्महत्या आदि करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर, इस इतिहासको सुननेवाले पुत्र माता-पिताके सेवकोन्मुख, तथा सेवक अपने स्वामीका प्रिय कार्य करनेवाले बन जाते हैं। इसमें महान् भरतवंशियोंकी जीवन-कथाका वर्णन है, इससे भी इसको महाभारत कहते हैं।

देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा॥
भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते।
अनेकजननो यत्र कार्तिकेयस्य सम्भवः॥

इस महाभारतमें पवित्र देवताओं, राजर्षियों और पुण्यस्वरूप ब्रह्मर्षियोंका वर्णन है; इसमें भगवान् केशवके चरित्रोंका कीर्तन है, इसमें भगवान् महादेव तथा देवी पार्वतीका वर्णन है। और इसमें अनेक माताओंवाले कार्तिकेयके जन्मका भी वर्णन है।

ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते।
सर्वं श्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा॥

फिर इस इतिहासमें ब्राह्मणों तथा गौओंका माहात्म्य बतलाया गया है। और यह समस्त श्रुतियोंका समूहरूप है। अतः धर्मबुद्धि मनुष्योंको इसे पढ़ना-सुनना चाहिये। विजयकी इच्छा करनेवालोंको यह 'जय' नामक इतिहास अवश्य सुनना चाहिये। इसके सुननेसे मनुष्य सब पापोंसे वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे राहुके ग्रहणसे चन्द्रमा मुक्त हो जाता है।

अस्मिन्नर्थश्च कामश्च निखिलेनोपदेक्ष्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी॥
भारतं शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत्।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः॥

इस महान् पवित्र इतिहासमें अर्थ और कामका ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण उपदेश है कि जिससे इसे पढ़ने-सुननेवालेकी बुद्धि परमात्मामें परिनिष्ठित हो जाती है। अतएव महाभारतका श्रवण-कीर्तन सदा करना चाहिये। जिसके घर महाभारतका श्रवण-कीर्तन होता है, उसके विजय तो हस्तगत ही है।

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम्।
कृष्णेन मुनिना विप्रनिर्मितं सत्यवादिना॥
सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता।
अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना॥
ऐश्वर्ये वर्तता चैव सांख्ययोगवता तथा।
नैकतन्त्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम्॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी सत्यवादी, सर्वज्ञ, शास्त्रविधिके ज्ञाता, धर्मज्ञानयुक्त संत, अतीन्द्रियज्ञानी, पवित्र, तपस्याके द्वारा शुद्धचित्त, ऐश्वर्यवान्, सांख्ययोगी, योगनिष्ठ तथा अनेक

शास्त्रोंके ज्ञाता तथा दिव्यदृष्टिसम्पन्न हैं । उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखकर ही महात्मा पाण्डव तथा अन्यान्य महान् तेजस्वी एवं ऐश्वर्यशाली क्षत्रियोंकी कीर्तिको जगत्में प्रसिद्ध किया है । उन्होंने 'इतिहास' नामसे प्रसिद्ध इस पुण्यमय पवित्र महाभारतकी रचना की है, इसीसे यह ऐसा उत्तम हुआ है ।

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत् फलं भवेत् ।
तत् फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥
स्त्रियश्च पुरुषाश्चैव वैष्णवं पदमाप्नुयुः ।
स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः ॥

अठारह पुराणोंके श्रवणसे जो फल होता है, वही फल महाभारतके श्रवणसे वैष्णवोंको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं है । स्त्री और पुरुष इस महाभारतके श्रवणसे वैष्णव पदको प्राप्त कर सकते हैं । पुत्रकी इच्छावाली स्त्रियोंको तो भगवान् विष्णुकी कीर्तिरूप महाभारत अवश्य सुनना चाहिये ।

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम् ।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥

धर्मकी कामनावाले मनुष्यको यह सम्पूर्ण इतिहास सुनना चाहिये, इससे सिद्धिकी प्राप्ति होती है । जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और पुण्यस्वभाव होकर इस अद्भुत इतिहासका श्रवण करता है या कराता है, वह राजसूय और अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त करता है ।

त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ॥
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ।
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम् ॥

शक्तिशाली श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव पवित्रताके साथ तीन वर्ष लगातार लगे रहकर इसकी प्रारम्भसे रचना करके पूर्ण-मनोरथ हुए थे । महर्षि व्यासने तप और नियम धारण करके इसकी रचना की थी । अतएव ब्राह्मणोंको भी नियमयुक्त होकर ही इसका श्रवण-कीर्तन करना चाहिये ।

महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥
महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥

इस इतिहासके सुननेसे राजा पृथ्वीपर विजय प्राप्त करता तथा शत्रुओंको पराजित करता है । उसे श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्ति और महान् कल्याण होता है । यह इतिहास राजरानियोंको अपने युवराजके साथ बार-बार सुनना चाहिये । इससे वीर पुत्रका जन्म होता है अथवा राज्यभागिनी कन्या होती है ।

यश्चेदं श्रावयेद् विद्वान् सदा पर्वणि पर्वणि ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितृंस्तस्योपतिष्ठते ॥

जो विद्वान् पुरुष सदा प्रत्येक पर्वपर इसका श्रवण कराता है, वह पापरहित और स्वर्गविजयी होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है । जो पुरुष श्राद्धके अवसरपर ब्राह्मणोंको इसका एक पाद भी श्रवण कराता है, उसके पितृगण अक्षय अन्नपानको प्राप्त करते हैं ।

इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसम्मितम् ।
व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥
स नरः सर्वकामांश्च कीर्तिं प्राप्येह शौनक ।
गच्छेत् परमिकां सिद्धिमत्र मे नास्ति संशयः ॥

हे शौनक ! जो मनुष्य व्यासजीके द्वारा कथित महान् अर्थमय और वेदतुल्य इस पवित्र इतिहासका श्रेष्ठ ब्राह्मणके द्वारा श्रवण करता है, वह इस लोकमें सब मनोरथोंको और कीर्तिको प्राप्त करता है और अन्तमें परमसिद्धि मोक्षको प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है ।

श्रावयेद् ब्राह्मणाञ्छ्राद्धे यश्चैनं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्तेत् पितॄनिह ॥
भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम् ॥

जो मनुष्य श्राद्धके अन्तमें इसका कम-से-कम एक पाद भी ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसका श्राद्ध उसके पितृगणको अक्षय होकर प्राप्त होता है । महाभारत परमपुण्यदायक है, इसमें विविध कथाएँ हैं, देवता भी महाभारतका सेवन करते हैं; क्योंकि महाभारतसे परमपदकी प्राप्ति होती है ।

भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
भारतात् प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद् ब्रवीमि तत् ॥
एवमेतन्महाराज नात्र कार्या विचारणा ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यमेवमाह गुरुर्मम ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि महाभारत सभी शास्त्रोंमें उत्तम है, और उसके श्रवण-कीर्तनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है—यह मैं तुमसे यथार्थ कहता हूँ । हे महाराज! मैंने जो कुछ कहा है, वह ऐसा ही है; यहाँ कोई विचार-वितर्क नहीं करना है । मेरे गुरुने भी मुझसे यही कहा है कि महाभारतपर मनुष्यको श्रद्धावान् होना चाहिये ।

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥
भारतश्रवणे राजन् पारणे च नृपोत्तम ।
सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥

हे भरतर्षभ ! वेद, रामायण और पवित्र महाभारत—इन सबमें आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ही कीर्तन किया गया है । अतः हे नृपश्रेष्ठ ! उत्तम श्रेय—मोक्षकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक पुरुषको महाभारतका श्रवण और पारायण करनेमें सदा प्रयत्नवान् रहना चाहिये ।

सम्पूर्ण महाभारतकी श्लोक-संख्या (अनुष्टुप् छन्दके अनुसार)

	उत्तरभारतीय पाठ	दाक्षिणात्य पाठ	उवाच	कुल
आदिपर्व	८८९०	७३६॥	१०६०	१०६८६॥
सभापर्व	२८१३=	१२४३।=	३८४	४४४०॥
वनपर्व	१२१८८॥।=	८७॥	६८७	१२९६३।=
विराटपर्व	२४०८॥	२८२॥	३२४	३०१५
उद्योगपर्व	७०५६॥।≡	७६–	५७४	७७०७
भीष्मपर्व	६०२२।–	७७॥≡	२६७	६३६७
द्रोणपर्व	९७८०।–	१३६॥।=	४४८	१०३६५≡
कर्णपर्व	५३४०।–	१६४	२२९	५७३३।–
शल्यपर्व	३६८९=	४८॥।=	१६६	३९०४
सौप्तिकपर्व	८०९॥।	१	४४	८५४॥।
स्त्रीपर्व	८२८॥।=	१	६०	८८९॥।=
शान्तिपर्व	१४२७१॥≡	४५३॥।=	११३९	१५८६४॥–
अनुशासनपर्व	७८४०।≡	१९७०॥	११२१	१०९३१॥।≡
आश्वमेधिकपर्व	२९१७॥।≡	१२९९।=	४०३	४६२०।–
आश्रमवासिकपर्व	११०७॥।	१॥	७८	११८१।
मौसलपर्व	३०१।	३॥	१६	३२०॥।
महाप्रस्थानिकपर्व	११४॥।	×	२२	१३६॥।
स्वर्गारोहणपर्व	२१८॥=	×	११	२२९॥=
कुल संख्या	८६६००॥–	६५८४=	७०३३	१००२१७॥≡

This book/document is uploaded by nyktrivedi.

Please acknowledge to encourage.